श्री अभिधान राजेन्द्र कोष

(तृतीय भागः)

रचयिताः

प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी म.

प्रकाशकः

अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था.

अहमदाबाद-१

णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स
श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय विश्वपूज्य
प्रातः स्मरणीय प्रभु श्रीमद्विजय राजेन्द्रसूरीश्वर पट्टप्रभावक चर्चाचक्रवर्ती परमपूज्य
आचार्यदेव श्रीमद् विजय धनचन्द्रसूरीश्वर साहित्यविशारद विद्याभूषण
श्रीमद् विजय भूपेन्द्रसूरीश्वर व्याख्यानवाचस्पति श्रीमद् विजय
यतीन्द्रसूरीश्वर, शान्तमूर्ति कविरत्न श्रीमद् विजय
विद्याचन्द्रसूरीश्वर गुरुभ्यो नमः
सकलागम रहस्यवेदी कलिकाल सर्वज्ञकल्प–विद्वन्मान्य प्रातःस्मरणीय
प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वर निर्मित

श्री अभिधान राजेन्द्र कोष

卐 तृतीय भागः 卐

[द्वितीय संस्करण]

–ः प्रकाशक ः–
शांतमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद्विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वर पट्टालंकार
परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनीषी आचार्यदेव
श्रीमद्विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज
एवं संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज
के उपदेश से
अ. भा. श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ
प्रदत्त द्रव्यसहाय से
श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था, अहमदाबाद.
卐
श्री वीर संवत २५१३ प्रति : १०५० श्री राजेन्द्रसूरि संवत ७८
ईस्वी सन १९८६
मूल्य : संपूर्ण सेट (७ भागका) २५०१
(दो हजार पांचसो एक रुपयें)

प्राप्तिस्थान

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष प्रकाशन संस्था
C/o. श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञान मन्दिर,
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चोक, अहमदाबाद.

मुद्रक : पं. मफतलाल झवेरचंद गांधी
नयन प्रि. प्रेस, का. २–६१
गांधीरोड, ढींकवावाडी, अहमदाबाद–१

अभिधान राजेन्द्रकोषस्य रचना तु सर्वथा अपूर्वेवाऽस्ति
पण्डित शितिकण्ठशास्त्री

श्री अभिधान राजेन्द्रकोष!

शब्दकोशोंकी परंपरा में 'अभिधानराजेन्द्र' यथार्थमें एक विशिष्ट उपलब्धि है ।

श्रीमद् की जीवनसाधनाका यह अत्यंत उदाहरण है। जब इस कोषका पहिला अक्षर लिखा गया तब वे तिरसठ वर्ष के थे ।

सात भागों में तथा दस हजार पांचसो छियासठ पृष्ठों में प्रकाशित यह कोश वस्तुतः एक विश्वकोष के समान है । जिसमें जिनागमों तथा बिभिन्न दार्शनिक ग्रन्थों के उद्धरण संकलित कर विस्तृत विवेचन किया गया हैं

— वसंतीलाल जैन

अभिधानराजेन्द्र कोष जैसे अतिविशाल ग्रन्थरत्नकी रचना उनके सम्यग् ज्ञानके सर्वांगी समर्पणकी साहजिक निष्पत्ति हैं । अन्यथा असंभव सा यह कार्य उनसे होता ही नहीं । अभिधानराजेन्द्र कोष सामान्य शब्दकोष नहीं हैं । किन्तु शास्त्रवचनोंकी समीचीन अभिव्यक्ति और अर्थघटनका सर्वश्रेष्ठ सहायक माध्यम है ।

— रमेश आर. जवेरी

सुविहितसूरिशक्रचक्रचूडामणि–कलिकालसर्वज्ञकल्प–परमयोगिराज

जगत्पूज्य–गुरूदेव–प्रभुश्रीमद्–विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ।

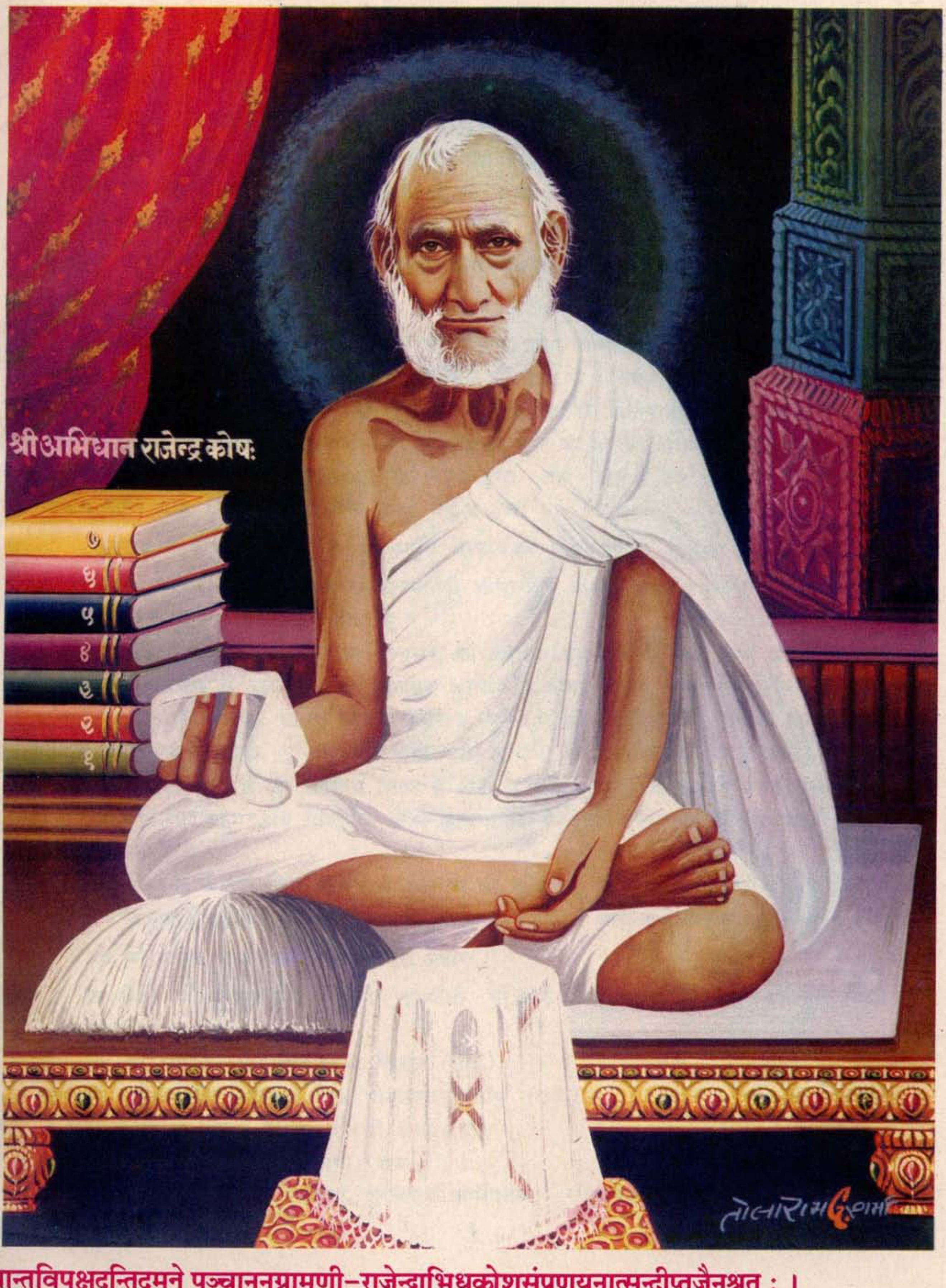

दृप्तभ्रान्तविपक्षदन्तिदमने पञ्चाननग्रामणी–राजेन्द्राभिधकोशसंप्रणयनात्सन्दीप्तजैनश्रुत : ।
सङ्घस्योपकृतिप्रयोगकरणे नित्यं कृती तादृशः, कोऽन्यः सूरिपदाङ्कितो विजयराजेन्द्रात्परः पुण्यवान् ? ॥ १ ॥

प्रकाशकीय निवेदन

कलिकाल सर्वज्ञकल्प, सकलागमरहस्यवेदी, विश्वपूज्य, परमयोगीन्द्र, परमकृपालु, पूज्यपाद गुरुदेव **प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने** अपने तप, जप, एवं ज्ञान, ध्यान की आत्मोन्नतिकारिणी प्रवृत्ति में अप्रमत्त भाव से रममाण होते हुए जिन प्रवचन में निर्दिष्ट सत्य वस्तु तत्व का जीवनभर प्रचार, प्रसार किया । साथ ही अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया-ग्रन्थ सम्पदा का सर्जन किया । एक विशाल ग्रन्थागार सम उन की जो सर्वोत्तम, और सर्वतोमुखी रचना है श्री **अभिधान राजेन्द्र** कोश ! इस अलौकिक कृति के निर्माण द्वारा श्रीमद्ने विश्व के सभी विद्वज्जनों को युगों युगों के लिये अद्भुत प्रेरणा प्रदान की है ।

बीसवीं शताब्दी के संध्याकाल में इस ग्रन्थराज की प्रथम आवृत्ति श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्री जैन प्रभाकर प्रिन्टींग प्रेस, रतलाम (म. प्र.) से प्रकाशित की गई थी । प्रथमावृत्ति की प्रतियां समाप्त प्रायः हो जाने के कारण यह ग्रन्थ दुर्लभ हो गया था । विश्व इस की द्वितियावृत्ति का इन्तेजार कर रहा था और हम भी इस के पुनः प्रकाशन के लिये प्रयत्नशील थे । अ. भा. श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक जैन संघ का श्रीमांडवपुरतीर्थ पर विराट अधिवेशन हुआ और उस में इस ग्रन्थराज के प्रकाशन का निर्णय लिया गया । तदनुसार प्रकाशन कार्य प्रारंभ हुआ ।

इस महान कार्य में परमपूज्य शान्तमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद् विजय **विद्याचंद्रसूरीश्वरजी महाराज** के पट्टप्रभावक परमपूज्य तीर्थप्रभावक साहित्यमनिषी आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज का श्रम साध्य सहयोग हमें प्राप्त हुआ है ।

वर्षों के बाद पुनः एक बार इस ग्रन्थराज का प्रकाशन हम सब के लिये परम आनन्ददायक है। इस के पुनः प्रकाशन में परमपूज्य तीर्थ प्रभावक आचार्यदेव श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज संयमवयःस्थविर मुनिराजश्री शान्तिविजयजी महाराज, मुनिराज श्री पुण्यविजयजी, मुनिश्री विनयविजयजी, मुनिश्री नित्यानन्द विजयजी, मुनिश्री जयरत्नविजयजी मुनिश्री जयानन्दविजयजी आदि मुनि मण्डल, एवं साध्वी-मण्डल को ओर से जो सहयोग मिला है उस के लिये हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं :

श्री सौधर्मबृहत्तपागच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-अहमदाबाद के ट्रस्टी मंडल का भी इस कार्य में पूर्ण सहयोग मिला हैं ।

इस प्रकाशन में हमें जिन जिन ग्राम नगरों के श्री संघ एवं महानुभावों का जो अनमोल आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। नियमानुसार उनका नाम निर्देश करते हुए हमें अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है ।

उन की मंगल नामावली प्रस्तुत है इस प्रकार ।

१ साध्वीजी श्री सुन्दरश्रीजी, विदुषी साध्वीजी श्री गंभीरश्रीजी के उपदेश से श्री मालवदेशीय त्रिस्तुतिक संघ ।

२ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, चोराउ (राज.)

३ श्री महावीर जैन श्वेताम्बर पेढ़ी, श्रीभाण्डवपुर तीर्थ (राज.)

४ श्री भेंसवाड़ा सिल्क मिल्स, भीवंडी (महाराष्ट्र)

५ श्री वस्तीमलजी हेमाजी, जीवाणा (राज.)

६ शाह नेमिचन्द देवीचन्द फूलचन्द, शुकनराज, कान्तिलाल, राजु बेटापोता श्री लखमाजी वलदरिया, कोशेलाव (राज.)

७ श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक (त्रिस्तुतिक) संघ थराद (उ. गुजरात)
८ श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ अने थराद जैन युवक मंडल, अहमदाबाद
९ श्री सौधर्मबृहत्तापोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ दाधाल
१० श्री सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय त्रिस्तुतिक संघ-सुराणा
११ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ-धानेरा
१२ श्री जैनश्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ थराद जैन मित्रमण्डल, बम्बई ।
१३ श्री जैन श्वेताम्बर सकल संघ, नेनावा (गुजरात)
१४ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, मेंगलवा (राज.)
१५ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, सियाणा (राज.)
१६ श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ, आकोली (,,)
१७ श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर, राणीस्टेशन (,,)
१८ श्री मांगीलाल, फूटरमल, शान्तिलाल, किशोरचन्द्र बेटा पोता शेषमलजी खसाजी रामाणी, गुड़ाबालोतान् (राज.)
१९ श्री दरजमल, उकचन्द, हस्तिमल, तगराज हीराणी, रेवतड़ा (राज)
२० श्री चेतनकुमार अशोककुमार, कन्हैयालालजी काश्यप, रतलाम (म. प्र.)
२१ श्री चीमनलाल भीखालाल लाधाणी वासणवाला, धानेरा (गुजरात)
२२ शा. जेठमल, जुहारमल, लक्ष्मणराज, पृथ्वीराज, वीरचन्द, गौतमचन्द, अशोककुमार, रतनलाल, गणपतराज, बेटापोता केनाजी मेंगलवा, (राजस्थान)
२३ श्री अमरचन्द देशमल तिलोकचन्द मीठालाल ओटमल धरमाजी पटियात (धाणसा)
२४ शाह मगराज सुखराज एन्ड कं. मद्रास
२५ शाह सरेमलजी हरखचन्दजी तिलोकचन्दजी बेटा पोता हांसाजी रतनपुराबोरा, मोदरा (राज.)

इन के अतिरिक्त गाँव नगरों के महानुभावोंने लाभ लिया है उन के नाम हैं.

भीनमाल, जोधपुर, मेंगलवा, सायला, सुराणा, मद्रास, नल्लोर, विजयवाडा, मांडवला, धाणसा, आहोर, भेंसवाडा, सुरा, सियाणा, कोमता, सुराणा, दाधाल, रेवतडा, उनडी, पांथेडी, बम्बई, सुमेरपुर, सांचोर, तखतगढ, कोशेलाव, थराद, अहमदाबाद, लोवाणा, दूधवा, आणंद, वासणा, डीसा, लाखणी, बाभी, धानेरा, कलोल, झाबुआ, टांडा, पारा, रिंगणोद, (धार)

इस प्रकार गुरु कृपा से एवं पू. आचार्यश्री के सतत प्रयत्न से यह प्रकाशन हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है, शुभम् ।

निवेदक

श्री अभिधान राजेन्द्र कोश प्रकाशन संस्था
अहमदाबाद

श्री राजेन्द्रसूरि जैन ज्ञानमन्दिर
रतनपोल, श्री राजेन्द्रसूरि चौक
पो. अहमदाबाद
२०४२ पोष सुद७ (गुरुसप्तमी)

द्वितीयावृत्ति

प्रस्तावना

अनादि से प्रवहमान है श्री वीतराग परमात्मा का परम पावन शासन ! अनादि मिथ्यात्व से मुक्त हो कर आत्मा जब सम्यक्त्व गुण प्राप्त करता है, तब आत्मिक उत्क्रान्ति का शुभारंभ होता है। सम्यग्दर्शन की उपलब्धि के पश्चात् ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का क्रम आत्मा में परिलक्षित होता है।

मतिज्ञान एवं श्रुतज्ञान दोनों ही इन्द्रिय तथा मन से ग्राह्य हैं, अतः इनका समावेश परोक्षज्ञान में होता है; परन्तु अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान एवं केवलज्ञान आत्म ग्राह्य हैं; अतः ये ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान में समाविष्ट हैं।

सम्यक्त्व का सूर्योदय होते ही मिथ्यात्व का घना अन्धेरा दूर हो जाता है और आत्मा संपूर्णता की ओर गतिमान होता है। यही सम्यक्त्व आत्मा को परोक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष ज्ञान की ओर अग्रसर करता है। प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा लौकिक भावों से अलग हो कर लोकोत्तर भावों की चिन्तनधारा में स्वयं को डुबो दे। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पठा।'

संसार परिभ्रमण का प्रमुख कारण है आस्रव और बन्ध। दुःख से मुक्ति के लिए इनको दूर करना आवश्यक है तथा इसके साथ ही संवर और निर्जरा भी आवश्यक है। बन्धन सहज है, पर यदि उसके कारण भाव एवं कारण स्थिति से स्वयं को अलग रखा जाये तो अवश्य ही हम निर्बन्ध अथवा अपुनर्बन्धक अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं।

जिनागम में अध्यात्म समाया हुआ है। सहज स्थिति की कामना करनेवालों को चाहिये कि वे जिनवाणी का श्रवण, अध्ययन, चिन्तन, अनुशीलन आदि करते रहें।

कर्म और आत्मा का अनादि से घना रिश्ता है; अतः कर्म आत्मा के साथ ही लगा रहता है; जैसे खान में रहे हुए सोने के साथ मिट्टी लगी हुई होती है। मिट्टी सुवर्ण की मलिनता है और कर्म आत्मा की। प्रयोग के द्वारा मिट्टी सुवर्ण से अलग की जा सकती है। जब दोनों अलग अलग होते हैं तब मिट्टी मिट्टी रूप में और सुवर्ण सुवर्ण के रूप में प्रकट होता है। मिट्टी को कोई सुवर्ण नहीं कहता और न ही सुवर्ण को कोई मिट्टी कहता है। ठीक उसी प्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त आत्मा सम्यग्ज्ञान के उज्ज्वल आलोक में सम्यक् चारित्र के प्रयोग द्वारा अपने पर से कर्म रज पूरी तरह झटक देती है और अपनी मलिनता दूर करके उज्ज्वलता प्रकट कर देती है।

कर्म की आठों प्रकृतियाँ अपने अपने स्वभावानुसार सांसारिक प्रवृत्तियों में रममाण आत्मा को कर्म भुगतान के लिए प्रेरित करती रहती हैं। जिन्हें स्वयं का ख्याल नहीं है और जो असमंजस स्थिति में हैं; ऐसे संसारी जीवों का ये कर्म प्रकृतियाँ विभाव परिणमन करा लेती हैं

ज्ञानावरणीय कर्म आँखों पर रही हुई पट्टी के समान है। नजर चाहे जितनी सूक्ष्म हो, पर यदि आंखों पर कपडे की पट्टी लगी हो, तो कुछ भी दिखाई नहीं देता; ठीक इसी प्रकार आत्मा की निर्मल ज्ञानदृष्टि को ज्ञानवरणीय कर्म आवृत्त कर लेता है। इससे ज्ञानदृष्टि पर आवरण छा जाता है। यह कर्म जीव को उल्टी चाल चलाता है।

दर्शनावरणीय कर्म राजा के पहरेदार के समान है। जिस प्रकार पहरेदार दर्शनार्थी को राजदर्शन से वंचित रखता है, उसे महल में प्रवेश करने से रोकता है; उसी प्रकार दर्शनावरणीय कर्म जीव को आत्मदर्शन से वंचित रखता है। यह जीव को प्रमत्त भाव में आकण्ठ डुबो देता है; अतः जीव अप्रमत्त भाव से सर्वथा दूर रह जाता है। यह जीव के आत्मदर्शन के राजमार्ग को अवरुद्ध कर देता है और जीव को उन्मार्गगामी बनाता है।

मधुलिप्त असि धार के समान है वेदनीय कर्म। यह जीव को क्षणभंगुर सुख का लालची बना कर उसे अनन्त दुःख समुद्र में धकेल देता है। साता का वेदन तो यह अत्यल्प करवाता है, पर असाता का वेदन यह अत्यधिक करवाता है। शहद लगी तलवार की धार को चाटनेवाला शहद की मधुरता तो पाता है और सुख का अनुभव भी करता है; पर जीभ कट जाते ही असह्य दुःख का अनुभव भी उसे करना पडता है। इस प्रकार वेदनीय कर्म सुख के साथ अपार दुःख का भी वेदन कराता है।

मोहनीय कर्म मदिरा के समान है। मदिरा प्राशन करनेवाला मनुष्य अपने होश-हवास खो बैठता है; इसी प्रकार मोहनीय कर्म से प्रभावित जीव अपने आत्म-स्वरुप को भूल जाता है और पर पदार्थों को आत्म स्वरुप मान लेता है। यही एकमेव कारण है उसके संसार परिभ्रमण का। 'मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपकुं भरमत वादि।' यह जीव के सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र के मार्ग में रुकावट डालता है।

जो मनुष्य इस मोहनीय कर्म के स्वरुप से अनभिज्ञ रहता है और जो इसकी स्थिति का अनुभव नहीं करता; वह अपने जीवन में आत्म विकास से वंचित रह जाता है। अहंकार और ममकार जब तक हममें विद्यमान हैं; तब तक हम मोहनीय कर्म के बन्धन में जकडे हुए ही हैं। अहंकार और ममकार जितना जितना घटता जाता है; उतना ही मोहनीय कर्म का बन्धन शिथिल होता जाता है। यह मोहनीय कर्म समस्त कर्मसत्ता का अधिपति है और सबसे लम्बी उम्र वाला है। इस मोहराजा के निर्देशन में ही कर्म सेना आगेकूच करती है। जीव को भेदविज्ञान से वंचित रखनेवाला यही कर्म है। इसने ही जीव को संसार की भूलभुलैया में अटकाये रखा है।

और बेडी के समान है आयुष्य कर्म। इसने जीव को शरीर रुपी बेडी लगा दी है; जो अनादि से आज तक चली आ रही है। एक बेडी टूटती है; तो दूसरी पुनः तुरन्त लग जाती है। सजा की अवधि पूर्ण हुए बिना कैदी मुक्त नहीं होता; इसी प्रकार जब तक जीव की जन्म जन्म की कैद की अवधि पूरी नहीं होती; तब तक जीव मुक्ति की मौज नहीं पा सकता।

नाम कर्म का स्वभाव है चित्रकार के समान। चित्रकार नाना प्रकार के चित्र पट पर अंकित करता है; ठीक इसी प्रकार नाम कर्म चतुर्गति में भ्रमण करने विविध जीवों को भिन्न भिन्न नाम प्रदान करता है। इसके प्रभाव से जीव इस संसार पट पर नाना प्रकार के नाम धारण करके देव, मनुष्य तिर्यंच और नरक गति में भ्रमण करता है।

गोत्र कर्म का स्वभाव कुम्हार के समान है। कुम्हार अनेक प्रकार के छोटे बडे बर्तन बनाता है और उन्हें विभिन्न आकार प्रदान करता है। गोत्र कर्म भी जीव को उच्च और नीच गोत्र प्रदान करता है, जिससे जीव को उच्च या नीच गोत्र में जन्म धारण करना पडता है।

इसी प्रकार अन्तराय कर्म है-राजा के खजाँची के समान। खज़ाने में माल तो बहुत होता है, पर कुञ्जी खजाँची के हाथ में होती है; अतः खज़ाने में से याचक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता। यही कार्य अन्तराय कर्म करता है। इसके प्रभाव से जीव को इच्छित वस्तु उपलब्ध नहीं हो पाती। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (आत्मशक्ति) के विषय में अन्तराय कर्म के उदय से जीव किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं कर सकता। संक्षेप में यह है जैन दर्शन का कर्मवाद।

इसी प्रकार जिनागमों में आत्मवाद, अनेकान्तवाद, षट्द्रव्य, नवतत्त्व, मोक्ष मार्ग आदि अनेक ऐसे विषयों का समावेश है; जो जीव के आत्म विकास में परम सहायक हैं। द्वादशांगी जिनवाणी का विस्तार है। आत्म कल्याण की कामना करनेवालों के लिए द्वादशांगी का गहन अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

संसारस्थ प्रत्येक जीव को स्वस्वरूप अर्थात् ईश्वरत्व प्राप्त करने का अधिकार केवल जैन धर्म दर्शन ही देता है, अन्य कोई नहीं। 'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज।', 'बुद्धं शरणं गच्छामि......धम्मं सरणं गच्छामि।' और 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि। इन तीनों पक्षों के सूक्ष्म एवं गहन अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम पक्ष जीव के लिए केवलीप्रणीत धर्म के दरवाजे खुले रखता है। इस धर्म में प्रवेश करके जीव स्वयं अनन्त ऐश्वर्यवान केवलज्ञान सम्पन्न बन जाता है। जीव अपने पुरुषार्थ के बल पर परमात्म पद प्राप्त कर सकता है। अन्य समस्त धर्म दर्शनों में जीव को परमात्मप्राप्ति के बाद भी परमात्मा से हीन माना गया है; जब कि जैनधर्मदर्शन में परमात्म पद प्राप्ति के पश्चात् जीव को परमात्म स्वरुप ही माना गया है। यह जैन धर्म की अपनी अलग विशेषता है।

परमज्ञानी परमात्मा की पावन वाणी जीव की इस अनुपम एवं असाधारण स्थिति का स्पष्ट बोध कराती है। प्रमाण, नय, निक्षेप, सप्तभंगी एवं स्याद्वाद शैली से संवृत्त जिनवाणीमय जिनागमों के गहन अध्ययन के लिए विभिन्न सन्दर्भ ग्रन्थों का अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक है।

आज से सौ साल पूर्व उचित साधनों के अभाव में जिनागमों का अध्ययन अत्यन्त दुष्कर था। विश्व के विद्वान जिनागम की एक ऐसी कुञ्जी तलाश रहे थे; जो सारे रहस्य खोल दे और उनकी ज्ञानपिपासा बुझा सके।

ऐसे समय में एक तिरसठ वर्षीय वयोवृद्ध त्यागवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध दिव्य पुरुष ने यह काम अपने हाथ में लिया। वे दिव्य पुरुष थे-उत्कृष्ट चारित्र क्रिया पालक गुरुदेवप्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज। उन्होंने जिनागम की कुञ्जी निर्माण करने का जटिल कार्य सियाणा नगरस्थ श्री सुविधिनाथ जिनालय की छत्र छाया में अपने हाथ में लिया। कुञ्जीनिर्माण की यह प्रक्रिया पूरे चौदह वर्ष तक चलती रही और सूरत में कुञ्जी बन कर तैयार हो गयी। वह कुञ्जी है-'अभिधान राजेन्द्र'। यह कहना जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि आगमों का अध्ययन करते वक्त 'अभिधान राजेन्द्र' पास में हो तो और कोई ग्रन्थ पास में रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैनागमों में निर्दिष्ट

वस्तुतत्त्व जो 'अभिधान राजेन्द्र' में है, वह अन्यत्र हो या न हो; पर जो नहीं हैं; वह कहीं नहीं है। यह महान ग्रन्थ जिज्ञासु की तमाम जिज्ञासाएँ पूर्ण करता है।

भारतीय संस्कृति में इतिहास पूर्व काल से कोश साहित्य की परंपरा आज तक चली आ रही है। निघंटु कोश में वेद की संहिताओं का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। 'यास्क' की रचना 'निरुक्त' में और पाणिनी के 'अष्टाध्यायी' में भी विशाल शब्दसंग्रह दृष्टिगोचर होता है। ये सब कोश गद्य लेखन में हैं।

इसके पश्चात् प्रारंभ हुआ पद्य रचनाकाल। जो कोश पद्य में रचे गये, वे दो प्रकार से रचे गये। एक प्रकार है, एकार्थक कोश और दूसरा प्रकार है—अनेकार्थक कोश।

कात्यायन की 'नाममाला', वाचस्पति का 'शब्दार्णव', विक्रमादित्य का 'शब्दार्णव' भागुरी का 'त्रिकाण्ड' और धन्वन्तरी का निघण्टु; इनमें से कुछ प्राप्य हैं और कुछ अप्राप्य। उपलब्ध कोशों में अमरसिंह का 'अमरकोश' बहु प्रचलित है।

धनपाल का 'पाइय लच्छी नाम माला' २७९ गाथात्मक हैं और एकार्थक शब्दों का बोध कराता हैं। इसमें ९९८ शब्दों के प्राकृत रूप प्रस्तुत किये गये हैं। आचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिजीने 'पाइयलच्छी नाम माला' पर प्रामाणिकता की मुहर लगाई है।

धनञ्जयने 'धनञ्जय नाम माला' में शब्दान्तर करने की एक विशिष्ट पद्धति प्रस्तुत की है। 'धर' शब्द के योग से पृथ्वी वाचक शब्द पर्वत वाचक बन जाते हैं—जैसे भूधर, कुधर, इत्यादि। इस पद्धति से अनेक नये शब्दों निर्माण होता हैं।

इसी प्रकार धनञ्जयने 'अनेकार्थ नाममाला' की रचना भी की है।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य के 'अभिधान चिन्तामणि', 'अनेकार्थ संग्रह', 'निघण्टु संग्रह' और 'देशी नाममाला' आदि कोश ग्रन्थ सुप्रसिद्ध हैं।

इसके अलावा 'शिलोंछ कोश', 'नाम कोश', 'शब्द चन्द्रिका', 'सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव', 'शब्दभेद नाममाला', 'नाम संग्रह', 'शारदीय नाममाला', 'शब्द रत्नाकर', 'अव्ययैकाक्षर नाममाला', 'शेष नाममाला', 'शब्द सन्दोह संग्रह', 'शब्द रत्न प्रदीप', 'विश्वलोचन कोश', 'नानार्थ कोश', 'पंचवर्ग संग्रह नाम माला', 'अपवर्ग नाम माला', 'एकाक्षरी-नानार्थ कोश', 'एकाक्षर नाममालिका', 'एकाक्षर कोश', 'एकाक्षर नाममाला', 'द्व्यक्षर कोश', 'देश्य निर्देश निघण्टु', 'पाइय सद्दमहण्णव', 'अर्धमागधी डिक्शनरी', 'जैनागम कोश', 'अल्पपरिचित सैद्धान्तिक कोश', 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' इत्यादि अनेक कोश ग्रन्थ भाषा के अध्ययनार्थ रचे गये हैं।

इनमें से कई कोश ग्रन्थ 'अभिधान राजेन्द्र' के पूर्व प्रकाशित हुए हैं और कुछ पश्चात् भी। 'अभिधान राजेन्द्र' की अपनी अलग विशेषता है। इसी विशेषता के कारण यह आज भी समस्त कोश ग्रन्थों का सिरमौर बना हुआ है। सच तो यह है कि जिस प्रकार सूर्य को दिया दिखाने की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार इस महा ग्रन्थ को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं है। सूर्य स्वयमेव प्रकाशित है और यह ग्रन्थराज भी स्वयमेव प्रमाणित है; फिर भी इसकी कुछ विशेषताए प्रस्तुत करना अप्रासंगिक तो नहीं होगा।

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरपट्टप्रभाकर–चर्चाचक्रवर्ति–आगमरहस्यवेदी–श्रुतस्थविरमान्य–
श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–श्रीमद्विजयधनचन्द्रसूरिजी महाराज।

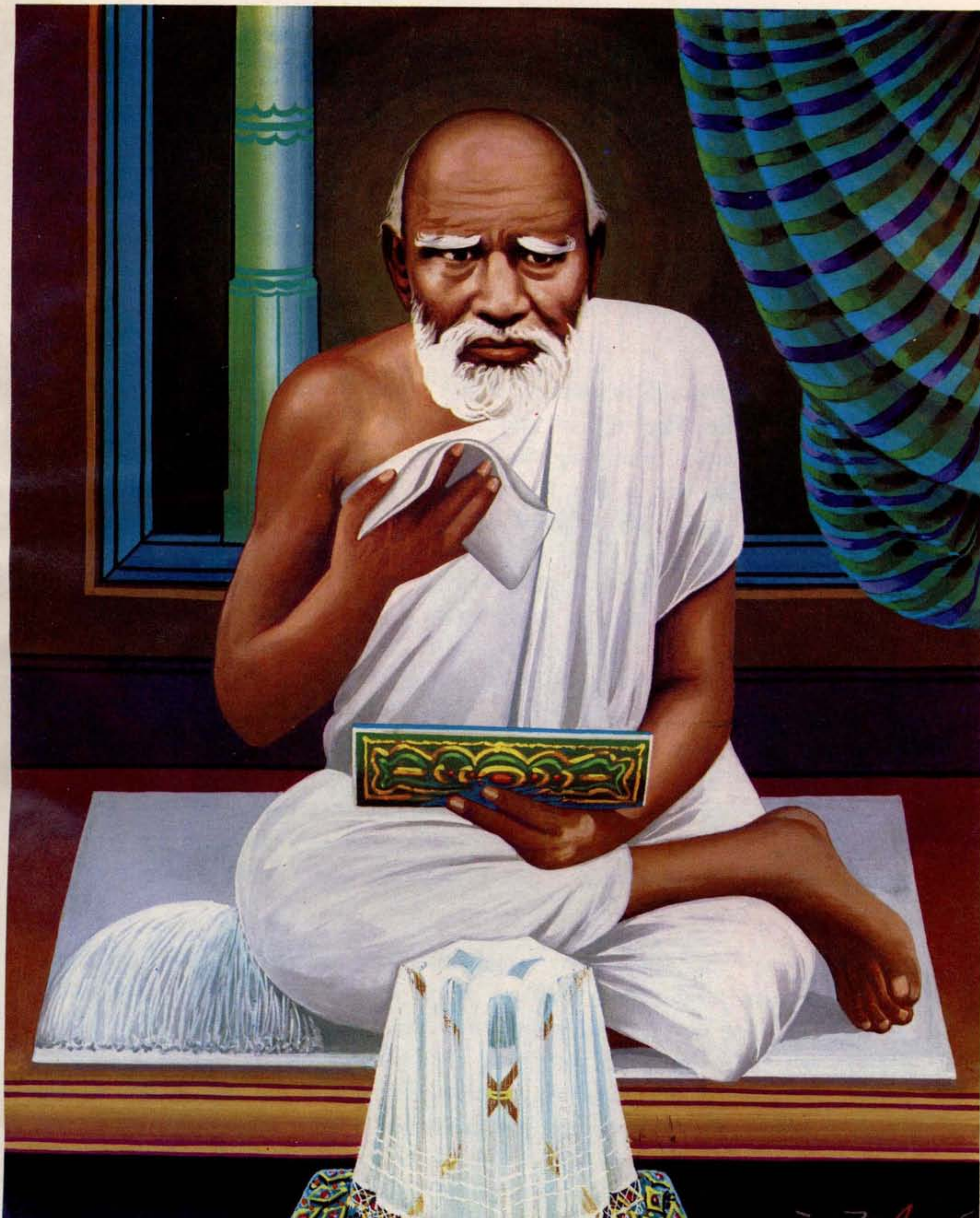

विद्वच्चकोरजनमोदकरं प्रसन्नं, शुभ्रव्रतं सुकविकैरवसद्विलासम्।
हृद्ध्वान्तनाशकरणे प्रसरत्प्रतापं, वन्दे कलानिधिसमं धनचन्द्रसूरिम् ॥ १ ॥

'अभिधान राजेन्द्र' अर्धमागधी प्राकृत भाषा का कोश है। भगवान महावीर के समय में प्राकृत लोक भाषा थी। उन्होंने इसी भाषा में आम आदमी को धर्म का मर्म समझाया। यही कारण है कि जैन आगमों की रचना अर्धमागधी प्राकृत में की गई है। इस महाकोश में श्रीमद् ने प्राकृत शब्दों का मर्म 'अ' कारादि क्रम से समझाया है; यह इस महाग्रन्थ की वैज्ञानिकता है। उन्होंने मूल प्राकृत शब्द का अर्थ स्पष्ट करते वक्त उसका संस्कृत रूप, लिंग, व्युत्पत्ति का ज्ञान कराया है; इसके अलावा उस शब्द के तमाम अर्थ सन्दर्भ सहित प्रस्तुत किये हैं।

वैज्ञानिकता के अलावा इसमें व्यापकता भी है जैनधर्म-दर्शन का कोई भी विषय इससे अछूता नहीं रह गया है। इसमें तथ्य प्रमाण सहित प्रस्तुत किये गये हैं। इसमें स्याद्वाद, ईश्वरवाद सप्तनय, सप्तभंगी, षड्दर्शन, नवतत्त्व, अनुयोग, तीर्थ परिचय आदि समस्त विषयों की सप्रमाण जानकारी है। सत्तानवे सन्दर्भ ग्रन्थ इसमें समाविष्ट हैं।

वैज्ञानिक और व्यापक होने के साथ साथ यह सुविशाल भी है। सात भागों में विभक्त यह विश्वकोश लगभग दस हजार रॉयल पेजी पृष्ठों में विस्तारित है। इसमें धर्म-संकृति से संबंधित लगभग साठ हजार शब्द सार्थ व्याख्यायित हुए हैं। उनको पुष्ट-सप्रमाण व्याख्या के लिए इसमें चार लाख से भी अधिक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। इसके सातों भागों को यदि कोई सामान्य मनुष्य एक साथ उठाना चाहे; तो उठाने के पहले उसे कुछ विचार अवश्य ही करना पड़ेगा।

इस महाग्रन्थ के प्रारंभिक लेखन की भी अपनी अलग कहानी है। जिस जमाने में यह महाग्रन्थ लिखा गया; उस समय लेखन साहित्य का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। श्रीमद् गुरुदेव ने रात के समय लेखन कभी नहीं किया। कहते हैं, वे कपड़े का एक छोटा सा टुकड़ा स्याही से तर कर देते थे और उसमें कलम गीली करके लिखते थे। एक स्थान पर बैठ कर उन्होंने कभी नहीं लिखा। चातुर्मास काल के अलावा वे सदैव विहार-रत रहे। मालवा, मारवाड, गुजरात के प्रदेशों में उन्होंने दीर्घ विहार किये; प्रतिष्ठा-अंजनशलाका, उपधान, संघप्रयाण आदि अनेक धार्मिक व सामाजिक कार्य संपन्न किये; जिज्ञासुओं की शंकाओं का समाधान किया और प्रतिपक्षियों द्वारा प्रदत्त मानसिक सन्ताप भी सहन किये। साथ साथ ध्यान और तपश्चर्या भी चलती रही। ऐसी विषम परिस्थिति में केवल चौदह वर्ष में एक व्यक्ति द्वारा इस 'जैन विश्वकोश' का निर्माण हुआ; यह एक महान आश्चर्य है। इस महाग्रन्थ के प्रणयन ने उन्हें विश्वपुरुष की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है और विश्वपूज्यता प्रदान की है।

श्रीमद् विजय यशोदेवसूरिजी महाराज 'अभिधान राजेन्द्र' और इसके कर्त्ता के प्रति अपना भावोल्लास प्रकट करते हुए लिखते हैं—आज भी यह (अभिधान राजेन्द्र) मेरा निकटतम सहचर है। साधनों के अभाव के जमाने में यह जो महान कार्य सम्पन्न हुआ है; इसका अवलोकन करके मेरा मन आश्चर्य के भावों से भर जाता है और मेरा मस्तक इसके कर्ता के इस भगीरथ पुण्य पुरुषार्थ के आगे झुक जाता है। मेरे मन में उनके प्रति सन्मान का भाव उत्पन्न होता है; क्योंकि इस प्रकार के (महा) कोश को रचना करने का आद्य विचार केवल उन्हें ही उत्पन्न हुआ और उस विकट समय में अपने विचार पर उन्होंने अमल भी किया। यदि कोई मुझसे यह पूछे कि जैन साहित्य के क्षेत्र में बीसवीं सदी की असाधारण घटना कौनसी है; तो मेरा संकेत इस कोश की ओर ही होगा; जो बड़ा कष्ट साध्य एवं अर्थसाध्य है।

प्रस्तुत बृहद् विश्वकोश को पुनः प्रकाशित करने की हलचल और हमारा दक्षिण विहार दोनों एक साथ प्रारम्भ हुए। बंबई चातुर्मास में हमारा अनेक मुनिजनों और विद्वानों से साक्षात्कार हुआ। जो भी मिला, उसने यही कहा कि 'अभिधान राजेन्द्र' जो कि दुर्लभ हो गया है, उसे पुनः प्रकाशित करके सर्वजन सुलभ किया जाये। हमें यह भी सुनना पड़ा कि यदि आपके समाज के पास वर्तमान में इसके प्रकाशन की कोई योजना न हो; तो हमें इसके प्रकाशन का अधिकार दीजिये। हमने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा कि त्रिस्तुतिक जैन संघ इस मामले में सम्पन्न एवं समर्थ है! 'अभिधान राजेन्द्र' यथावसर शीघ्र प्रकाशित होगा।

श्रीमद् पूज्य गुरुदेव की यह महती कृपा हुई कि हम क्रमशः विहार करते हुए मद्रास पहुँच गये। तामिलनाडु राज्य की राजधानी है यह मद्रास। दक्षिण में बसे हुए दूर दूर के हजारों श्रद्धालुओं ने इस चातुर्मास में मद्रास की यात्रा की। मद्रास चातुर्मास आज भी हमारे लिए स्मरणीय है। चातुर्मास समाप्ति के पश्चात् पोष सुदी सप्तमी के दिन मद्रास में गुरु सप्तमी उत्सव मनाया गया। गुरु सप्तमी प्रातःस्मरणीय पूज्य गुरुदेव श्री राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज साहब का जन्म और स्मृति दिन है। गुरु सप्तमी के पावन अवसर पर एक विद्वद् गोष्ठी का आयोजन किया गया। उपस्थित विद्वानों ने अपने प्रवचन में पूज्य गुरुदेवश्री के महान कार्यों की प्रशस्ति करते हुए उनकी समीचीनता प्रकट की और प्रशस्ति में 'अभिधान राजेन्द्र' का उचित मूल्यांकन करते हुए इसके पुनर्मुद्रण की आवश्यकता पर जोर दिया।

इस ग्रन्थराज का प्रकाशन एक भगीरथ कार्य है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य का बीड़ा उठाने का आह्वान मैंने मद्रास संघ को किया। आह्वान होते ही संघ हिमाचल से गुरुभक्ति गंगा उमड़ पड़ी। इस महत्कार्य के लिए भरपूर सहयोग का हमें आश्वासन प्राप्त हुआ। ग्रन्थ की छपाई गतिमान हुई; पर 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति के अनुसार हमे यह पुनीत कार्य स्थगित करना पड़ा। कोई ऐसा अवरोध इसके प्रकाशन मार्ग में उपस्थित हो गया कि उसे दूर करना आसान नहीं था। प्रकाशन की स्थगिति सबके लिए दुःखद थी; पर मैं मजबूर था। आंतरिक विरोध को जन्म दे कर कार्य करना मुझे पसन्द नहीं है।

हमारी इस मजबूरी से नाजायज लाभ उठाया-दिल्ली की प्रकाशन संस्थाओंने .... । उन्होंने इस पुनीत ग्रन्थ को शुद्ध व्यवसायिक दृष्टि से चुपचाप प्रकाशित कर दिया। श्रीमद् ने जो भी लिखा, स्वान्तःसुखाय और सर्वजन हिताय लिखा; व्यवसायियों के लिये नहीं। यही कारण है कि इसकी प्रथम आवृत्ति में यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'इसके पुनःप्रकाशन का अधिकार त्रिस्तुतिक सकल संघ को है।' त्रिस्तुतिक समाज की इस अनमोल धरोहर को प्रकाशित करने से पहले त्रिस्तुतिक समाज को इसके प्रकाशन से आगाह करना आवश्यक था। ऐसा न करके इसके अन्य प्रकाशकों ने एक तरह से नैतिकता का भंग ही किया है।

श्री भाण्डवपुर तीर्थ पर अखिल भारतीय श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीजैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ का विराट अधिवेशन सम्पन्न हुआ। देश के कोने कोने से गुरुभक्त उस अधिवेशन के लिए उपस्थित हुए। पावनपुण्यस्थल श्री भाण्डवपुर भक्तजनों के भक्तिभाव की स्वर लहरियों से गूंज उठा।

अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। संयमवयःस्थविर मुनिप्रवर श्री शान्तिविजयजी महाराज साहब आदि मुनि मण्डल की सान्निध्यता में मैंने संघ के समक्ष विश्व की असाधारण कृति इस 'अभिधान राजेन्द्र' के पुनःप्रकाशन का प्रस्ताव रखा। श्री संघने हार्दिक प्रसन्नता व अपूर्व भावोल्लास के साथ मेरा प्रस्ताव स्वीकार किया और उसी जाजम पर श्रीसंघ ने इसे प्रकाशित करने की घोषणा कर दी। परमकृपालु श्रीमद् गुरुदेव के प्रति श्री संघ की यह अनन्य असाधारण भक्ति सराहनीय है।

और आज अखिल भारतीय श्री सौधर्म बृहत्तपोगच्छीय श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ के द्वारा यह कोश ग्रन्थ पुनर्मुद्रित हो कर विद्वज्जनों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है; यह हम सब के लिए परम आनन्द का विषय है।

इस महाग्रन्थ के पुनर्मुद्रण हेतु एक समिति का गठन किया गया है; फिर भी इस प्रकाशन में अपना अमूल्य योगदान देनेवाले श्रेष्ठिवर्य संघवी श्री गगलभाई अध्यक्ष अ. भा. सौ. बृ. त्रिस्तुतिक संघ गुजरात विभागीय अध्यक्ष श्री हीराभाई, मंत्री श्री हिम्मतभाई एवं स्थानीय समस्त कार्यकर्ताओं की सेवाओं को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। इनकी सेवाएं सदा स्मरणीय हैं।

इस कार्य में हमें पंडित श्री मफतलाल झवेरचन्द का स्मरणीय योगदान मिला है। प्रेसकार्य, प्रूफरीडिंग एवं प्रकाशन में हमें उनसे अनमोल सहायता मिली है। हम उन्हें नहीं भूल सकते।

त्रिस्तुतिक संघ के समस्त गुरुभक्तों ने इस प्रकाशन हेतु जो गुरुभक्ति प्रदर्शित की है, वह इतिहास में अमर हो गयी हैं। वे सब धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इस कार्य में भाग लिया है। शुभम्।

नेनावा (बनासकांठा)
दिनांक २-१२-८५

आचार्य जयन्तसेनसूरि

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय पट्टावली

श्रीमहावीरस्वामीशासननायक

१ श्रीसुधर्मास्वामी
२ श्रीजम्बूस्वामी
३ श्रीप्रभवस्वामी
४ श्रीसय्यंभवस्वामी
५ श्रीयशोभद्रसूरि
६ श्रीसंभूतविजयजी / श्रीभद्रबाहुस्वामी
७ श्रीस्थूलभद्रस्वामी
८ श्रीआर्यसुहस्तीसूरि / श्रीआर्यमहागिरि
९ श्रीसुस्थितसूरि / श्रीसुप्रतिबद्धसूरि
१० श्रीइन्द्रदिन्नसूरि
११ श्रीदिन्नसूरि
१२ श्रीसिंहगिरिसूरि
१३ श्रीवज्रस्वामीजी
१४ श्रीवज्रसेनसूरिजी
१५ श्रीचन्द्रसूरिजी
१६ श्रीसामन्तभद्रसूरि
१७ श्रीवृद्धदेवसूरि
१८ श्रीप्रद्योतनसूरि
१९ श्रीमानदेवसूरि
२० श्रीमानतुङ्गसूरि
२१ श्रीवीरसूरि
२२ श्रीजयदेवसूरि
२३ श्रीदेवानन्दसूरि
२४ श्रीविक्रमसूरि
२५ श्रीनरसिंहसूरि
२६ श्रीसमुद्रसूरि
२७ श्रीमानदेवसूरि
२८ श्रीविबुधप्रभसूरि
२९ श्रीजयानन्दसूरि
३० श्रीरविप्रभसूरि
३१ श्रीयशोदेवसूरि
३२ श्रीप्रद्युम्नसूरि
३३ श्रीमानदेवसूरि
३४ श्रीविमलचन्द्रसूरि
३५ श्रीउद्योतनसूरि
३६ श्रीसर्वदेवसूरि
३७ श्रीदेवसूरि
३८ श्रीसर्वदेवसूरि
३९ श्रीयशोभद्रसूरि / श्रीनेमिचन्द्रसूरि
४० श्रीमुनिचन्द्रसूरि
४१ श्रीअजितदेवसूरि
४२ श्रीविजयसिंहसूरि
४३ श्रीसोमप्रभसूरि / श्रीमणिरत्नसूरि
४४ श्रीजगच्चन्द्रसूरि
४५ श्रीदेवेन्द्रसूरि / श्रीविद्यानन्दसूरि
४६ श्रीधर्मघोषसूरि
४७ श्रीसोमप्रभसूरि
४८ श्रीसोमतिलकसूरि
४९ श्रीदेवसुन्दरसूरि
५० श्रीसोमसुन्दरसूरि
५१ श्रीमुनिसुन्दरसूरि
५२ श्रीरत्नशेखरसूरि
५३ श्रीलक्ष्मीसागरसूरि
५४ श्रीसुमतिसाधुसूरि
५५ श्रीहेमविमलसूरि
५६ श्रीआनन्दविमलसूरि
५७ श्रीविजयदानसूरि
५८ श्रीहीरविजयसूरि
५९ श्रीविजयसेनसूरि
६० श्रीविजयदेवसूरि / श्रीविजयसिंहसूरि
६१ श्रीविजयप्रभसूरि
६२ श्रीविजयरत्नसूरि
६३ श्रीविजयक्षमासूरि
६४ श्रीविजयदेवेन्द्रसूरि
६५ श्रीविजयकल्याणसूरि
६६ श्रीविजयप्रमोदसूरि
६७ श्रीविजयराजेन्द्रसूरि
६८ श्री विजयधनचन्द्रसूरी
६९ श्री विजयभूपेन्द्रसूरि
७० श्री विजययतीन्द्रसूरि
७१ श्री विजयविद्याचन्द्रसूरि
७२ वर्तमानाचार्य
श्री विजयजयन्तसेनसूरि

राजेन्द्र कोष ७
६
५
४
३
२
१
प्रभु श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज
श्रीमद् विजय धनचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज
उपाध्याय मोहनविजयजी महाराज
श्रीमद् विजय भूपेन्द्रसूरीश्वरजी महाराज
विजय यतीन्द्रसूरीश्वरजी महाराज
उपाध्याय गुलाबविजयजी महाराज
विजय विद्याचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज
श्रीमद् विजय जयन्तसेनसूरीश्वरजी महाराज

आभार-प्रदर्शनम् ।

सुविहितसूरिकुलतिलकायमान-सकलजैनागमपारदृश्व-आबालब्रह्मचारी-जङ्गमयुगप्रधान-प्रातःस्मरणीय-परमयोगिराज-क्रियाशुद्ध्युपकारक-श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-सितपटाचार्य-जगत्पूज्य-गुरुदेव-भट्टारक श्री १००८ प्रभु श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरजी महाराजने 'श्रीअभिधानराजेन्द्र' प्राकृत-मागधी महाकोश का सङ्कलनकार्य मरुधरदेशीय श्रीसियाणा नगर में संवत् १९४६ के आश्विनशुक्लद्वितीया के दिन शुभ लग्न में आरम्भ किया। इस महान् संकलनकार्य में समय समय पर कोशकर्त्ता के मुख्य पट्टधर शिष्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराजने भी आपको बहुत सहायता दी। इस प्रकार करीब साढ चौदह वर्ष के अविश्रान्त परिश्रम के फलस्वरूप में यह प्राकृत बृहत्कोष संवत् १९६० चैत्र-शुक्ला १३ बुधवार के दिन श्रीसूर्यपुर (सूरत-गुजरात) में बनकर परिपूर्ण (तैयार) हुआ।

ग्वालियर-रियासत के राजगढ (मालवा) में गुरुनिर्वाणोत्सव के दरमियान संवत् १९६३ पौष-शुक्ला १३ के दिन महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी, मुनिश्रीदीपविजयजी, मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी, आदि सुयोग्य मुनिमहाराजाओं की अध्यक्षता में मालवदेशीय-छोटे बड़े ग्राम-नगरों के प्रतिष्ठित-सद्गृहस्थों की सामाजिक-मिटिंग में सर्वानुमत से यह प्रस्ताव पास हुआ कि-मर्हुम-गुरुदेव के निर्माण किये हुए 'अभिधानराजेन्द्र' प्राकृत मागधी महा-कोश का जैन और जैनेतर समानरूप से लाभ प्राप्त कर सकें, इसलिये इसको अवश्य छपाना चाहिये, और इसके छपाने के लिये रतलाम (मालवा) में सेठ जसुजी चतुर्भुजजीत्-मिश्रीमलजी मथुरालालजी, रूपचंदजी रखबदासजीत्-भागीरथजी, भीसाजी जवरचंदजीत्-प्यारचंदजी और गोमाजी गंभीरचंदजीत्-निहालचंदजी, आदि प्रतिष्ठित सद्गृहस्थों की देख-रेख में श्रीअभिधानराजेन्द्र-कार्यालय और 'श्रीजैनप्रभाकरप्रिन्टिंगप्रेस' स्वतन्त्र खोलना चाहिये। कोष के संशोधन और कार्यालय के प्रबन्ध का

समस्त-भार महूम-गुरुदेव के सुयोग्य-शिष्य-मुनिश्रीदीपविजयजी (श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी) और मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी को सौंपा जाय। बस, प्रस्ताव पास होने के बाद सं० १९६४ श्रावणसुदी ५ के दिन उक्त कोश को छपाने के लिये रतलाम में उपर्युक्त कार्यालय और प्रेस खोला गया और उक्त दोनों पूज्य-मुनिराजों की देख-रेख से कोश क्रमशः छपना शुरू हुआ, जो सं० १९८१ चैत्र-वदि ५ गुरुवार के दिन संपूर्ण छप जाने की सफलता को प्राप्त हुआ।

इस महान् कोश के मुद्रणकार्य में कुवादिमतमतंगजमदभञ्जनकेसरी-कलिकालसिद्धान्तशिरोमणी-प्रातःस्मरणीय-आचार्य-श्रीमद्धनचन्द्रसूरिजी महाराज, उपाध्याय-श्रीमन्मोहनविजयजी महाराज, सच्चारित्री-मुनिश्रीटीकमविजयजी महाराज, पूर्णगुरुदेवसेवाहेवाक-मुनिश्रीहुकुमविजयजी महाराज, सत्क्रियावान्-महातपस्वी-मुनिश्रीरूपविजयजी महाराज; साहित्यविशारद-विद्याभूषण-श्रीमद्विजयभूपेन्द्रसूरिजी महाराज, व्याख्यानवाचस्पत्युपाध्याय-मुनिश्रीयतीन्द्रविजयजी महाराज, ज्ञानी ध्यानी मौनी महातपस्वी-मुनिश्रीहिम्मतविजयजी, मुनिश्री-लक्ष्मीविजयजी, मुनिश्री-गुलाबविजयजी, मुनिश्री-हर्षविजयजी, मुनिश्री-हंसविजयजी, मुनिश्री—अमृतविजयजी, आदि मुनिवरों ने अपने अपने विहार के दरमियान समय समय पर श्रीसंघ को उपदेश दे दे कर तन, मन और धन से पूर्ण सहायता पहोंचाई, और स्वयं भी अनेक भाँति परिश्रम उठाया है, अतएव उक्त मुनिवरों का कार्यालय आभारी है।

जिन जिन ग्राम-नगरों के सौधर्मबृहत्तपोगच्छीय-श्रीसंघ ने इस महान् कोषाङ्कन-कार्य में आर्थिक-सहायता प्रदान की है, उनकी शुभ-सुवर्णाक्षरी नामावली इस प्रकार है—

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय श्रीसंघ-मालवा—

श्रीसंघ-रतलाम।	श्रीसंघ-बाँगरोद।	श्रीसंघ-राजगढ़।
,, जावरा।	,, बारोदा-बड़ा।	,, झाबुआ।

श्रीसंघ-बड़नगर ।	श्रीसंघ-सरसी ।	श्रीसंघ-झकणावदा ।
,, खाचरोद ।	,, मुंजाखेड़ी ।	,, कूकसी ।
,, मन्दसोर ।	,, खरसोद-बड़ी ।	,, आलिराजपुर ।
,, सीतामऊ ।	,, चीरोला-बड़ा ।	,, रींगनोद ।
,, निम्बाहेड़ा ।	,, मकरावन ।	,, राणापुर ।
,, इन्दौर ।	,, बरड़िया ।	,, पारां ।
,, उज्जैन ।	,, (भाट)पचलाना ।	,, टांडा ।
,, महेन्द्रपुर ।	,, पटलावदिया ।	,, बाग ।
,, नयागाम ।	,, पिपलोदा ।	,, खवासा ।
,, नीमच-सिटी ।	,, दयाई ।	,, रंभापुर ।
,, संजीत ।	,, बड़ी-कड़ोद ।	,, अमला ।
,, नारायणगढ़ ।	,, घामणदा ।	,, बोरी ।
,, बरड़ावदा ।	,, राजोद ।	,, नानपुर ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीयसंघ–गुजरात—

श्रीसंघ-अहमदाबाद ।	श्रीसंघ-थिरपुर (थराद) ।	श्रीसंघ-डीसा ।
,, वीरमगाम ।	,, वाव ।	,, दूधवा ।
,, सूरत ।	,, भोरोल ।	,, वात्यम ।
,, साणंद ।	,, धानेरा ।	,, वासण ।
,, बम्बई ।	,, धोराजी ।	,, जामनगर ।
,, पालनपुर ।	,, डुवा ।	,, खंभात ।

श्रीसौधर्मबृहत्तपोगच्छीय–संघ-मारवाड़—

श्रीसंघ-जोधपुर ।	श्रीसंघ-भीनमाल ।	श्रीसंघ-शिवगंज ।
,, आहोर ।	,, सांचोर ।	,, कोरटा ।
,, जालोर ।	,, बागरा ।	,, फतापुरा ।
,, भेंसवाड़ा ।	,, धानपुर ।	,, जोगापुरा ।
,, रमणिया ।	,, आकोली ।	,, भारुंदा ।
,, मांकलेसर ।	,, साथू ।	,, पोमावा ।
,, देवावस ।	,, सियाणा ।	,, बीजापुर ।
,, विशनगढ़ ।	,, काणोदर ।	,, बाली ।
,, मांडवला ।	,, देलंदर ।	,, खिमेल ।

श्रीसंघ-गोल।	श्रीसंघ-मंडवारिया।	श्रीसंघ-साँडेराव।
,, साहेला।	,, बलदूट।	,, खुड़ाला।
,, आलासण।	,, जावाल।	,, राणी।
,, रेवतड़ा।	,, सिरोही।	,, खिमाड़ा।
,, धाणसा।	,, सिरोड़ी।	,, कोशीलाव।
,, बाकरा।	,, हरजी।	,, पावा।
,, मोदरा।	,, गुडाबालोतरा।	,, एंदला का गुड़ा।
,, थलवाड़।	,, भूति।	,, चाँणोद।
,, मेंगलवा।	,, तखतगढ।	,, कूडसी।
,, सूराणा।	,, सेदरिया।	,, थाँवला।
,, दाधाल।	,, रोवाडा।	,, ओयला।
,, धनारी।	,, भावरी।	,, काचोली।

इनके सिवाय दूसरे भी कई गाँवो के संघों के तरफ से मदद मिली है, उन सभी का कार्यालय शुद्धान्तःकरण से पूर्ण आभारी है।

श्रीअभिधानराजेन्द्रकार्यालय.

रतलाम (मालवा)

श्रीसर्वज्ञेभ्यो नमः ।

अभिधानराजेन्द्रः ।

वाणिं जिणाणं चरणं गुरूणं, काऊण चित्तम्मि सुयप्पभावा ।
सारं गहीऊण सुयस्स एयं, वोच्छामि भागे तइयम्मि सव्वं ॥ १ ॥

(एकार)

ए-ए-पुं० एकारः स्वरवर्णभेदः "एदैतोः कण्ठतालव्यावित्युक्तेः कण्ठताल्वोः स्थानयोरुच्चार्य्यः । स च दीर्घः द्विमात्रः प्लुतस्तु त्रिमात्रः उदात्तानुदात्तस्वरितभेदैरनुनासिकाननुनासिकभेदाभ्यां च द्वादशविधः । वाच० । प्राकृतभाषासूत्रे एकारान्तता मागधभाषालक्षणाऽनुरोधात् इति । जी० ३ प्रति० । एकारान्तः शब्दः प्राकृतशैल्या प्रथमाद्वितीयान्तोऽपि द्रष्टव्यः । यथा " कयरे आगच्छइ दित्तरूवे " दश० १ अ० । " ते एं काले एं " तस्मिन् काले एकारस्य प्राकृतप्रभवत्वादिति । विपा० १ अ० ।

ए-अव्य० इण् विच् । स्मृतौ, असूयायाम्, अनुकम्पायाम्, सम्बोधने, आह्वाने च । मेदिनिः । वाक्यालङ्कारे, " से जहाणामए " ए इति वाक्यालंकारे, । अनु० । शा० । विष्णौ,-पुं० एका० " कामसम्बोधने स्याद्वे-तत्परे ब्रह्मकेवले । ए शब्देनोदिता चान्द्री, गोचरे गोपता वयम् " इति । एकारः कथ्यते विष्णौ, नगरीवारिधारयोः । हर्म्ये हरे दिग्मुखे, गगने मणिकुट्टिमे । तेजस्यैकादशाख्यायां, संख्यायामपि दृश्यते । इति च । एका० । पापस्य परिवर्जने, । आ० म० द्वि० ।

ऐ-पुं०ऐकारः स्वरवर्णभेदः "एदैतोः कण्ठतालव्यावित्युक्तेः कण्ठतालुस्थानयोरुच्चार्यः स च दीर्घः द्विमात्रत्वात्, प्लुतस्तु त्रिमात्रः । द्विमात्रस्य उदात्तानुदात्तस्वरितभेदैः प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकाभ्याञ्च षड्विधः एवं प्लुतस्यापीति द्वादशविधः तपरत्वे कारपरत्वे च तत्स्वरूपपरः । वाच० । ऐकारस्य प्राकृते सर्वत्र एकारः । तथा च । "ऐत एत्" ।८।१।१४८। इति आदौ वर्तमानस्यैकारस्य एत्वं भवति । "सेलासेन्नं तेलुक्कं ।प्रा०।

ऐ-अव्य० आ-इण्-विच्-आह्वाने, स्मरणे, आमन्त्रणे च । महेश्वरे,-पुं० । तस्य सर्वगतत्वात्तथात्वम् । वाच० । " ऐः स्वरोऽपि च पुल्लिङ्गः शम्भुश्रीपतिवायुषु । शारदायां स्वरे सूर्ये, मूर्छायामैरपि स्मृतः" । इति । ऐकारः शङ्करे हस्ति—दिक्-नागेष्विन्द्रबाणयोः । तमालावर्त्तदेशेषु, कचित्स्यान्छिखरे-गिरेः " । इति च । एका० ।

ऐइज्झ-ऐतिह्य-न० इतिह पारम्पर्योपदेशः । अनिर्दिष्टप्रवक्तृकोपदेश इति यावत् । स्वार्थे ष्यञ् पारंपर्य्योपदेशे, यथात्र वटे यक्षः प्रतिवसतीत्यादिपरम्परोपदेशमात्रम् नतु केनाप्येतदुपलभ्य कथितम् । अष्टप्रमाणवादिनः पौराणिका इदं प्रमाणान्तरमुररीचक्रुः । "ऐतिह्यमनुमानं च, प्रत्यक्षमपि चागमम् । ये हि सम्यक्परीक्षन्ते, कुतस्तेषामबुद्धिता" । रामा० । वाच० । तदेतन्मतं रत्नावतारिकायां निराकृतम् यथा-ऐतिह्यं त्वनिर्दिष्टप्रवक्तृकप्रवादपारम्पर्यमितिहोचुर्वृद्धाः । यथेह वटे यक्षः प्रतिवसती ति तदप्रमाणमनिर्दिष्टप्रवक्तृकत्वेन सांशयिकत्वात् । आप्तप्रवक्तृकत्वनिश्चये त्वागम इति । रत्ना० १ परि० ।

एइय-एजित-त्रि० कम्पिते. स्था० ३ ठा० । जी० । "वाएहिं मंदाय २ एइयाणं " वातैर्मन्दायन्ति मन्दं मन्दमेजितानां कम्पितानामिति । राज० ।

एई (या) एता-स्त्री० " अजातेः पुंसः " ८ । ३ । ३२ । इति सूत्रे एकजातिवाचिनः पुंल्लिङ्गात् स्त्रियां वर्तमानात् ङीर्वा भवति कर्तुरवर्णायाम्, लोपधवर्णवाचित्वात्स्त्रियां ङीप् नञ । एनी । एईए-आप् । एइणं एआणं । प्रा० ।

एक्क (ग) (य)-एक- त्रि० इण् कन् " सेवादौ वा " ८ । २ । ९९ । इति सेवादिष्वनादौ यथादर्शनमन्त्यस्यानन्त्यस्य च वा द्वित्वं भवति । प्रा० । संख्यानभेदे, कल्प० । एकसंख्योपेते द्रव्यादौ, स्था० ४ ठा० । एकत्वरूपप्रथमसंख्यान्विते च । प्रायशः संख्यावाचकस्य संख्यासंख्येयोभयपरत्वेऽपि एकशब्दस्य भूरिशः एकत्वसंख्यान्वितपरत्वम् । तेन एको घट इत्यादि, न तु घटस्यैकः । कचित्तु भावप्रधाननिर्देशपरत्वेन संख्यावाचकत्वमपि "द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने" पा० । इह द्वित्वमेकत्वं च द्व्येकशब्दयोरर्थः । अत्र द्विवचनान्तत्वमेव तथार्थत्वे लिङ्गम् । संख्येयपरत्वे द्व्येकेषामिति स्यात् । द्वन्द्वार्थानां संख्यान्वितानां बहुत्वात्तेन एकद्विवचनशब्दोऽपि एकत्वद्वित्वार्थकः । तत्रार्थे तयोः परिभाषितत्वात् । एकश्च गणनां नोपैति तथा चानुयोगद्वारे " एको गणणं न उवेई " एकस्तावद्गणनं संख्यां नोपैति यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादि वस्त्विदं तिष्ठतीत्येवमेव प्रायः प्रतीतिरुत्पद्यते नैकसंख्याविषयत्वेन । अथवाऽऽदानसमर्पणादिव्यवहारकाले एकं वस्तु प्रायो न कश्चिद्गणयतीत्यतोऽसंव्यवहार्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनसंख्यामवतरति तस्माद्द्विप्रभृतिरेव गणनसंख्येति । तथाच-संख्यासंख्येयोभयपरत्वमेकशब्दस्य द्रव्यप्रमाणविशेषस्य विभागनिष्पन्नप्रमाणस्य पञ्चसु मानादिभेदेषु, गणिमं द्रव्यप्रमाणमधिकृत्यानुयोगद्वारे उक्तम् ॥

सेकिंतं गणिमे गणिमे जण्णं गणिज्जइ तं जहा-एगो दससयं सहस्सं दससहस्साइं सयसहस्सं दससयसहस्साइं कोडीत्ति

गण्यते संख्यायते वस्त्वनेनेति गणिममेकादि । अथवा गण्यते संख्यायते यत्तद्गणिमं रूपकादि । तत्र कर्मसाधनपक्षमङ्गीकृत्याह । जण्णमित्यादि । गण्यते यत्तद्गणिमम् । कथं गण्यते इत्याह । एगो इत्यादि । अनु० । एकाकिनि, स्था० ४ ठा० अद्वितीये, वाच० । उत्त० । आचा० । असहाये, नं० । स्था० । 'एकस्यैकाकिनोऽसहायस्येति ' स्था० ४ ठा० । "अकालत्तकालसमयंसि एगे अबीए सखरू जाव पहरणे साओ गेहाओ णिगच्छई" (एगेत्ति)

सहायाभावात्। विपा० । प्रश्न० । केवले, स्था० ३ ठा० । वाच० । केवलमेकमसहायमिति । नं० । तथाच सूत्रकृताङ्गे ॥

अन्नागमितम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमितेन भवंति ।
एगस्स गती अ आगती, विदुमंता सरणं ण मन्नई ॥

पूर्वोपात्ताऽसातवेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे सत्येकाक्येव दुःखमनुभवति । न ज्ञातिवर्गेण वित्तेन वा किञ्चित्क्रियते । तथाच । " सयणस्स वि मज्झगओ, रोगाभिहतो किलिस्सइ इहेगो । सयणो वि य से रोगं, न विरंचइ नेव नासेइ । १ ।" अथवोपक्रमकारणैरुपक्रान्ते स्वायुषि स्थितिक्षयेण वा भवान्तरे भवान्तिके वा मरणे समुपस्थिते सति एकस्यैवाऽसुमतो गतिरागतिश्च भवति । विद्वान् विवेकी यथावस्थितसंसारस्वभावस्य वेत्ता ईषदपि तावत् शरणं न मन्यते । कुतः सर्वात्मना त्राणमिति । तथाहि " एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्त्ते । तस्मादाकालिक हित-मेकेनैवात्मनः कार्यम ।१। " एक्को करेइ कम्मं, फलमवि तस्सिकओ समणुहवइ । एक्को जायइ मरइ य, परलोयं एक्कओ जाई " । १७ ।

सव्वे सयकम्म कप्पिआ, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो ।
हिंमंति भयाउला सढा, जाइजरमरणेहिं भिद्दुता ।१८।

सर्वेऽपि संसारोदरविवरवर्तिनः प्राणिनः संसारे पर्यटन्तः स्वकृतेन ज्ञानावरणीयादिना कर्मणा कल्पिताः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकैकेन्द्रियादिना भेदेन व्यवस्थिताः तथा तेनैव कर्मणैकेन्द्रियाद्यवस्थायामव्यक्तेनापरिस्फुटेन शिरःशूलाद्यलक्षितस्वभावेनोपलक्षणत्वात् प्रव्यक्तेन च दुःखेनाऽसातावेदनीयस्वभावेन समन्विताः प्राणिनः पर्यटन्त्यरघट्टघटीन्यायेन तास्वेव योनिषु भयाकुलाः शठकर्मकारित्वात् शठा भ्रमन्ति । जातिजरामरणैरभिद्रुता धर्माधावादिभिर्दुःखैः पीडिता इति सूत्र० १ श्रु० २ अ० । " एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खम " तदेवमेकोऽसहायो यदर्थं यत्पापं समर्जितं तै रहितस्तत्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवति न कश्चिद्दुःखसंविभागं गृह्णातीत्यर्थः । उक्तंच " मया परिजनस्यार्थे. कृतं कर्म सुदारुणम् । एकाकी तेन दह्येहं, गतास्ते फलभोगिनः " इत्यादि सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । " एगस्स जंतो गतिरागती य " एकस्यासहायस्य जन्तोः शुभाशुभसहायस्य गतिर्गमनं परलोकं भवति तथा आगतिरागमनं भवान्तरादुपजायते कर्मसहायस्यैवेति । उक्तं च "एकः प्रकुरुते कर्म्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम । जायते म्रियते चैकः, एको याति भवान्तरमिति" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

इक्को करेइ कम्मं, इक्को अणुहवइ दुकयविवागं ।
इक्को संसरइ जीओ, जरमरणचउगगइगुविलं-४४म०प० ।
इक्को हं नत्थि मे कोई, नवाहमवि कस्सई ।
एवं अदीणमणसा, अप्पाणमणुसासए ॥ १३ ॥
इक्को उप्पज्जए जीवो, इक्को एव विवज्जई ।
इक्कस्स होइ मरणं, इक्को सिज्झइ नीरओ ॥१४॥
इक्को करेइ कम्मं, फलमिव तस्सिकओ समणुहवइ ।
इक्को जायइ मरई, परलोयं इक्कओजायइ ॥१५॥
इक्को मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजमो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा।१६।महा.प.

एकश्च द्रव्यतोऽसहायो भावतो रागद्वेषरहितः तथा च-

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया ।

एकोऽसहायो द्रव्यत एकाकिविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्चरेत् । तथा स्थानं कायोत्सर्गादिकमेक एव कुर्यात् । तथाऽऽसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत् एवं शयनेऽप्येकाक्येव समाहितो धर्म्मादिध्यानयुक्तः स्यात्ऽधेत् । एतदुक्तं भवति । सर्वास्वप्यवस्थानासनशयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति । सूत्र०१ श्रु०२ अ० । "एगे एग विऊ बुद्धे" एको रागद्वेषरहिततया ओजा यदिवाऽस्मिन् संसारचक्रवाले पर्यटन्नसुमान् स्वकृतसुखदुःखफलभाक्त्वेनैकस्यैव परलोकगमनतया सदैकक एव भवति । तत्रोद्यतविहारी द्रव्यतोऽप्येकको भावतोऽपि गच्छान्तर्गतस्तु कारणिको द्रव्यतो भाज्यो भावतस्त्वेकक एवेति । सूत्र०१श्रु०१६अ० "एग एव चरे लाढे" एक एव रागद्वेषविरहितश्चरेदप्रतिनिबद्धविहारेण विहरेत् सहायवैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थो यथोक्तम् ।"ण वा लभिज्जा निउणं सहायं,गुणाहियं वा गुणओ समं वा एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो १ " उत्त० ३ अ० । एको रागद्वेषसहायविरहित इति । कल्प० । " एगे सहिते चरिस्सामि " एको मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वेति । सूत्र०१ श्रु०२ अ० । अस्य द्विविधत्वं व्यवहारकल्पे

एगेव पुव्वभणिए, कारणनिक्कारणे दुविहभेदे

एक एकाकी द्विविधभेदः पूर्वमोघनिर्युक्तौ भणितस्तद्यथा कारणे निष्कारणे च साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः कारणैकप्रतिपादनार्थमाह ।

असिवादी कारणिया, निक्कारणिया य चक्कथूभादि ।
उवएसअणुवएसा दुविहा आहिंडगा हुंति ॥

अशिवादिरिरादिशब्दादवमौदर्यराजद्विष्टादिपरिग्रहः । कारणैरेकाकिनः कारणिकाः चक्रस्तूपादौ आदिशब्दात्प्रतिमानिष्क्रमणादिपरिग्रहस्तेषां वन्दनाय गच्छन्त एकाकिनो निष्कारिणिकाः । व्य० द्वि० ८ उ० । एकस्य चातुर्विध्यम स्थानाङ्गे यथा । "चत्तारिक्का पण्णत्ता तंजहा दविए एक्कए माउ एक्कए पज्जव एक्कए संगहएक्कए" एकसंख्योपेतानि द्रव्यादीनि स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादेककानि । स्था० ४ ठा० ।

अस्य च सप्तविधो निक्षेपो यथा-

नामं ठवणा दविए, माउय पयसंगहेक्कए चेव ।
पज्जव भावे य तहा, सत्तेए एक्कगा होंति ॥

इहैक एव एकक: तत्र नामैककः एक इति नाम स्थापनैककः एकक इति स्थापना द्रव्यैकक त्रिधा सचित्तादि । तत्र सचित्तमेकं पुरुषद्रव्यमचित्तमेकं रूपकद्रव्यं मिश्रं तदेव कटकादिभूषितं पुरुषद्रव्यमिति । मातृकापदैककमेकं मातृकापदं तद्यथा । उप्पन्नेइवेत्यादि । इह प्रवचने दृष्टिवादे समस्तनयवादबीजभूतानि मातृकापदानि भवन्ति । तद्यथा । उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा । अमूनि च मातृकापदानि च'अ आ इ ई'इत्येवमादीनि सकलव्यवहारशब्दव्यापकत्वान्मातृकापदानि । इह चाभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति कृत्वेत्थमुपन्यासः । संग्रहैककः शालिरिति । अयमत्र भावार्थः । संग्रहः समुदायस्तमप्याश्रित्यैकवचनगर्भशब्दप्रवृत्तेस्तथा चैकापि शालिः शालिरित्युच्यते । बहवोऽपि शालयः शालिरिति लोके तथा दर्शनात् । अयं चादिष्टानादिष्टभेदेन समान्यविशेषभेदेन द्विधा । तत्रानादिष्टो यथा शालिः आदिष्टो यथा कलमशालिरिति । एवमादिष्टानादिष्टभेदौ उत्तरद्वारेष्वपि यथानुरूपमायोज्यौ । पर्यायैककः एकपर्यायः पर्यायो विशेषो धर्म इत्यनर्थान्तरम । स चानादिष्टो वर्णादिः । आदिष्टः कृष्णादिरिति । अन्येतु समस्तश्रुतस्कन्धवस्त्वपेक्षयेत्थं व्याच-

क्रते अनादिष्टः श्रुतस्कन्धः आदिष्टो दशवैकालिकाख्य इति । अन्यस्त्वनादिष्टो दशवैकालिकाख्यः आदिष्टस्तु तदध्ययनविशेषो द्रुमपुष्पिकादिरिति व्याचष्टे । नचैतद्दलिचारु तस्य दशकालिकाभिधानत एवादेशसिद्धेः । भावैककः एको भावः स चानादिष्टो भाव इति आदिष्टस्त्वौदयिकादिरिति सप्तैते अनन्तरोक्ता एकका भवन्ति । इह च किल यस्माद्दशपर्यायाध्ययनविशेषाः संग्रहैकेन संगृहीतास्तस्मात्तेनाऽधिकारः । अन्ये तु व्याचक्षते यतः किल श्रुतज्ञानक्षायोपशमिके भावे वर्त्तते तस्माद्भावैककेनाधिकार इति गाथार्थः । दश० १ अ० ।

अथ निर्युक्तिविस्तरमाह ।

एकस्स उ अभावे, कत्तो लिंगं तेण एकगस्से वि ।

णिक्खेवं काऊणं, णिप्फत्ती होइ तिण्हं तु ॥

इह त्रयाणां संख्या प्रथमतो वक्तव्या तत्रैकस्याभावे कुतः संभवति तेन कारणेन प्रथमत एकस्यैव निक्षेपं कृत्वा ततस्त्रयाणां निक्षेपस्य निष्पत्तिः कर्त्तव्या भवति । यथाप्रतिज्ञातमेव करोति ।

नामं ठवणा दविए, माउगपदसंगहेकए चेव ।

पज्जव भावे य तहा, सत्तेए एकगा होंति ॥

(अत्रैव पूर्वं व्याख्यातार्थो) ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तमाह ।

दव्वे तिविहं माढुक–पदम्मि उप्पएणभूयविगतादी ।

सालिति वगामीति, वसयोत्तिवसंगहिकं तु ॥

द्रव्ये द्रव्यविषये एककं त्रिविधं तद्यथा सचित्तमचित्तं मिश्रं वा । सचित्तं पुनरपि द्विपदचतुष्पदापदभेदात् त्रिधा । द्विपदैककमेकः पुरुषश्चतुष्पदैककमेको हस्ती अपदैकको वृक्ष इत्यादि अचित्तैककमेकः परमाणुरेकमाभरणं मिश्रैककं सालंकार एकः पुरुषः । मातृकापदे तु चिन्त्यमाने एककम् उत्पन्नभूतविगतादिकमुप्पन्नेइ वा विगतेइ वा धुवेइ वा इत्यस्य पदत्रयस्यैकतरमित्यर्थः । आदिशब्दादकाराद्यक्षरात्मिकाया आद्यक्षरात्मिकाया वा मातृकाया एकतरं पदं संग्रहैककं बहुत्वेऽप्येकवचनं विधेयं यथा शालिरिति वा ग्राम इति वा संघ इति वा ।

अथ पर्यायैककादीनि दर्शयति ।

दुविकप्पं पज्जाए, आदिट्ठं देवदत्तो त्ति ।

आणादिट्ठं एक्को–त्थियपसत्थमियरं व भावम्मि ॥

पर्यायैककं द्विविकल्पं द्विप्रकारं तद्यथा–आदिष्टमनादिष्टं च । विशेषणसामान्यरूपं चेत्यर्थः । तत्रादिष्टं यद्वद्त्तो देवदत्त इत्यादि ॥ अनादिष्टमेकः कोऽपि मनुष्य इत्यादि । अथवा पर्यायैककं वर्णादिना मन्यते एकः पर्यायः । भावैककं द्विधा । आगमतो नोआगमतश्च । आगमतो ज्ञाता तदुपयुक्तः । नोआगमतः प्रशस्तमितरस्त्वप्रशस्तमिति द्विधा प्रशस्तमौपशमिकादीनामितरो भावः अथ प्रसस्तमौदयिको भावः । अत्राप्रशस्तभावैककेनाधिकारो हस्तकर्मादीनामप्रशस्तभावोदयादेव संभवात् बृ० ४ उ० । श्रेष्ठे, अन्यार्थे, प्राच० । "एवमेगे वदंति मोसा" एके केचनेति । प्रश्न०२ द्वा० । अल्पे, मुख्ये, सत्ये, वाच० । अवधारणे, नि० चू० । सदृशे, उपा० २ अ० । " एगपएसो गाढे " अत्रैकशब्दोऽभिन्नार्थवाची । यथा द्वयोरप्यावयोरेकं कुटुम्बमिति । पं० सं० । एक शब्दस्य प्राकृते–एको–एक्को–एगो । प्रा० । एको । " इक्कंमि जम्मिपए " वैदा० प० । स्त्रियां एकी " अप्पयाए एकीए मायंगीए " नि० चू० १ उ० । सो एक्को देउलियं पविस्सइ । आ० म० प्र० ।

एक (ग) (एकइ) (गइ) अ–एकक–त्रि० एक–असहायेऽर्थे स्वार्थे वा कन् । असहाये, " तओ फाइज्ज एकओ " तत एककः एकाकी सन् ध्यायेत् । एको भावतो द्रव्यतश्च । भावतो रागद्वेषरहितः द्रव्यतः पशुपण्डकादिरहित इति । उत्त० १ अ० । "एगओ वा" कारणिकावस्थायामसहायो वा पा० । "स ओ भुंजेज्ज एगओ" ततो भुञ्जीत एकको रागादिरहित इति । दश० ५ अ० । एकसंख्योपेतानि द्रव्याणीति स्वार्थिककप्रत्ययोपादानादेककानि । एकसंख्योपेते द्रव्यादौ, अन्यार्थे, "संते गइया समणा माहणा वा " स्था०७ठा० " एगइया अत्थ समुस्सयं भवति" एकका एकतरा इति । स्था० ५ ठा० "जीवेणं गब्भगए समाणे नरएसु अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा" एककः कश्चित् सगर्भजरादिगर्भकः उत्पद्यते नास्ति अयं पक्षो यदुत एककः कश्चिन्नोपपद्यते इति । तं० ।

एक (ग) म–एकग–त्रि० एको गच्छतीत्येकगः एकस्मिन् गन्तरि, एकं वा कर्म साहित्यविगमान्मोक्षं गच्छतीत्येकगः मोक्षगन्तरि, " उक्कमुले व एगओ" एक तक्करूपः स एवैककः एको वा प्रति माप्रतिपत्त्यादौ गच्छतीत्येकग एकं वा कर्मसाहित्यविगमान्मोक्षं गच्छति तत्प्राप्तियोग्यानुष्ठानप्रवृत्तेर्यातीत्येकग इति । उत्त० ३अ० ।

एक (ग) इ (य) अ– एककिक–त्रि० एकक एव एककिकः एकशब्दार्थे, "एगइआओ पाणाइवायाओ पडिविरया " एकक एवैककिकः तस्मादेककिकात् । ओ० । स्था० ।

एक (इ)(सि) (सिअं) (ग) (गया) आ–एकदा–अव्य० " एकदावैकाद्दः सिसियंइ आ " ८ । २ । १६२ । इत्येकशब्दात्परस्य दाप्रत्ययस्य सि सिअं इआ इत्यादेशा वा । पक्षे एगया । प्रा० । एकस्मिन् काले, वाच० । कदाचिदित्यर्थे, एगया गुणसमियस्स" आचा० । विविक्तदेशकालादौ च, " इत्थिआ एगता–णिमंतंति" एकदेति विविक्तदेशकालादौ इति,सूत्र०१श्रु०४अ० ।

एक (ग) ओ (त्तो) (एकदो)–एकतस्–अव्य० एक तसिल्–" तो दो तसो वा " ८ । २ । १६० । इति सूत्रेण तसः स्थाने तो दो इत्यादेशौ वा । पक्षे एकओ एकस्मिन्नित्यर्थे, वाच० एकत्र–एकस्मिन्स्थाने, एगतो मिलंति द्रव्यतो ह्येकस्थाने मिलन्ति भावतस्तु परस्परविरोधपरिहारेण सम्मता भवन्तीति । दशा० १० अ० । " एगओ अंगुणं कट्टु " एकत्रायतं सुखकं भाएककमिति । कल्प० । एकतः एकीभूय संयुज्येत्यर्थः । भ० २० श० १ उ० । "दो साहम्मिया एगओ विहरंति" द्वौ साधर्मिकावेकत्र एकस्मिन् स्थाने विहरन्ति इति । व्य० द्वि० २ उ० । एकतयेत्यर्थे च । "एगओसा इणिसा" एकत्वत एकतयेत्यर्थः इति । भ० १२ श० ३ उ० । विविक्ते प्रदेशे, प्रत्यासन्ने, दूरतरे च । "ते एगतो निसीइंति" एकत एकान्ते विविक्ते प्रदेशे प्रत्यासन्ने दूरतरेवेति । व्य० द्वि० १ उ० ।

एक(ग) ओखहा–एकतःखा–स्त्री० श्रेणिभेदे " एगओखहा " एकस्यां दिशि अङ्कुशाकारेति । स्था० ७ ठा० । तस्याः स्वरूपं यथा यया जीवः पुद्गलो वा नाड्या वामपार्श्वादेस्तां प्रविष्टस्तयैव गत्वा पुनस्तद्वामपार्श्वादावुत्पद्यते सा एकतःखा । एकस्यां दिशि वा मादिपार्श्वलक्षणायां स्वस्याकाशस्य लोकनाडीव्यतिरिक्तलक्षणस्य भावादिति । इयञ्च द्वित्रिचतुर्वक्रोपेतापि क्षेत्रविशेषाश्रितेति भेदेनोक्ता । भ० २५ श० ३ उ० ।

एक (ग) ओणंतय–एकतोनन्तक–न० अनन्तकभेदे, एकतोऽनन्तकमतीताद्धा अनागताद्धा वेति । स्था० १० ठा० ।

एक(ग)ओपडाग–एकतःपताक–त्रि० एकत एकस्यां दिशि पताका यत्र तदेकतःपताकम् । एकपताकोपेते, स्थापना त्वियम् " कि

एगओ पमागं गच्छइ । दुहओ पमागं गच्छइ" भ०३श०४उ० ।

एक (ग) ओवंका-एकतोवक्रा-स्त्री० श्रेणिभेदे, सा च एकत एकस्यां दिशि यूमा वक्रा एकतो वक्रा यया जीव पुद्गला ऋजुगत्या वक्रं कुर्वन्ति श्रेण्यन्तरेण यान्तीति । भ० २५ श० ३ उ० । "एगओवंका" एकस्यां दिशि वक्रा स्थापना । स्था०७ठा० ।

एक (ग) ओवत्त-एकतोवृत्त-पुं० द्वीन्द्रियजीवविशेषे, जीवा० १ प्रति० ।

एक (ग) ओसमुवागय-एकतस्समुपागत-त्रि० स्थानान्तरेभ्य एकत्र स्थाने समागते, " एगयओ समुवागयाणं " (एगओत्ति) एकत्र समुपागतानाम् । भ०७श०१०उ० ।

एक(ग)ओसहिय-एकतस्सहित-त्रि० एकत एकस्मिन् स्थाने सहित एकतस्सहितः । एकस्मिन्स्थाने समुदिते, "एगओ सहियाणं " भ०७श०१०उ० । एकस्मिन्स्थाने सहितानां समुदितानामिति । जं०१वक्ष० । एकतो मिलिते च । भ०११श० ११उ० ।

एकं (गं) गिय-एकाङ्गिक-त्रि० एकेनाङ्गेन कृते, तथाच संक्रममधिकृत्योक्तम् " एक्केको दुविहो एगंगिओ अणेगंगिओ य " एकानेकपदकृतेत्यर्थः " नि० चू० १ उ० । "एगंगिअ दुम्गलिखंडं न भवतीति " नि० चू० १६ उ० । अपरिशाटिनि संस्तारकभेदमधिकृत्य चोक्तम् " जो अपरिसाडी सो दुविहो एगंगिओ अ अणेगंगिओ य " एगंगिता उ दुविधा संघायाए तरो उ नायव्वो । दोमादी गियमात्, होति अणेगम्मि उ तत्थ " "एगंगिओ दुविहो संघातिमो असंघातिमो य । दुग्गतिता व सकंवियाउवा अणेगम्मिउ एते । नि०चू०

एकं (गं)त-एकान्त-त्रि० एकः अन्तः निश्चयः शोभा वा । अत्यन्ते, सूत्र०१ श्रु०१७ अ० " एगन्तरइया" एकान्तेन सर्वात्मना रतौ रमणे प्रसक्ता इति । आ० म० प्र० । एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासावेकान्तः । एकस्मिन्, 'एगतमंतं गच्छइ' एक इत्येवमन्तो निश्चयो यत्रासावेकान्त एक इत्यर्थोऽतस्तमन्तं भूमिभागं गच्छतीति । भ० ७ श० १ उ० । अवश्यंभावे, पंचा० ५ विव० अवश्यमित्यर्थे, सूत्र १ श्रु० ६ अ० । निश्चये, विशे० । आ० । सर्वथार्थे, स्था० ५ ठा० । प्रश्न० । एक एवान्तो यत्र । निर्जने, रहसि, वाच० । निर्व्यजनप्रदेशे, संथा० । विविक्तप्रदेशे, व्य० प्र० १ उ० । जनरहितप्रदेशे, सूत्र०१ श्रु०६ अ० । जनालोकवर्जिते, भ० ८ श० ६ उ० । विजने, भ० ३ श० २ उ० । "एगंते य विवित्ते " आ० म० द्वि० । " आया एगतमंतमवक्कमेज्जा " आत्मना एकान्तं विजनमन्तभूमिभागमवक्रामेत गच्छेदिति । स्था०३ ठा० । एक एवाहमित्यन्तो निश्चय एकान्तः । एक एवाहमित्येवमेकत्वभावनायाम् " " सव्वओ विप्पमुक्कस्स एगंतमणुपस्सओ " एक एवाहं इत्यन्तो निश्चयः एकान्तस्तं निश्चयं विचारयत एकत्वभावनां भावयत इति । उत्त० ए अ० ।

एकं (गं) तओ-एकान्ततस्-अव्य० एकान्त-तसिल् । एकान्ते इत्याद्यर्थे, वाच० । सर्वथार्थे च । "वज्जइ अबंभमेगं, ततोयरायंपि थिरचित्ते " अब्रह्ममैथुनमेकान्ततस्तु सर्वथैव (रायंपित्ति) सर्वरजनीमप्यास्तां सर्वदिनमिति" पंचा० १० विव० "जम्हा एगंततो अविरुद्धो " यस्माद् यतो हेतोरेकान्ततस्तु सर्वथैवाविरुद्धो युक्त इति " पंचा० १७ विव० ।

एकं (गं) तकूम-एकान्तकूट-त्रि०एकान्तेन कूटानि दुःखोत्पत्तिस्थानानि यस्मिन् एकान्तदुःखोत्पादकस्थानेनोपेते नरकादौ, "एगंत कूमे नरए महंते, कूमेण तत्थ वि समेहताओ" । एकान्तेन कूटानि दुःखोत्पत्तिस्थानानि यस्मिन् तथा तस्मिन्नेवंभूते नरके महति विस्तीर्णे पतिता प्राणिनस्तेन च कूटेन गलयन्त्रपाशादिना पाषाणसमूहलक्षणेन वा तत्र तस्मिन् विषमे हता इति । सूत्र०१ श्रु० ५ अ० । कूटवत् कूटमेकान्तेन कूटमेकान्तकूटम् । एकान्तेन गलयन्त्रपाशादिबद्धन्धके, "एगंतकूमेण उ से पलेइ " यथा कूटेन मृगादिर्बद्धः परवशः सन्नेकान्तदुःखभाग् भवति एवं भावकूटेन स्नेहमयेनैकान्ततोऽसौ संसारचक्रवालं पर्येति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एगंतचा (या) रिण्-एकान्तचारिन्-एकान्ते जनरहिते प्रदेशे चरितुं शीलमस्येत्येकान्तचारी । जनरहितप्रदेशे चारिणि, "एगंतयारीसमणेपुरासी" "एगन्तचारिस्सिह अम्ह धम्मे तवस्सिणो णाभिसमेति पावं " अस्मदीये धर्मे प्रवृत्तस्यैकान्तचारिणः आरामोद्यानादिष्वेकाकिविहारोद्यतस्य तपस्विनो नाभिसमेति न संबन्धमुपयाति । पापमशुभकर्मेति । सूत्र०२श्रु०६अ० ।

एगंतणाण-एकान्तज्ञान-न० नित्यमेवेदमनित्यमेवेदमित्येकपक्षस्थापनरूपे मिथ्याज्ञाने, अष्ट० ।

एगंतदंम-एकान्तदण्ड-एकान्तेन सर्वथैव परान् दण्डयतीति एकान्तदण्डः । सर्वथैव परेषां दण्डके, भ० ७ श०२ उ० ।

एगंतदिट्ठि-एकान्तदृष्टि-त्रि० एकान्तेन तत्त्वेन जीवादिषु पदार्थेषु दृष्टिर्यस्याः सा एकान्तदृष्टिः । सूत्र० । एकान्तेन निश्चयेन जीवादितत्त्वेषु सम्यक्दर्शनं यस्य स एकान्तदृष्टिः । निष्प्रकम्पे सम्यक्त्वे, सूत्र०१ श्रु० १३ अ० । एकान्तवादिनि च । सूत्र०२ श्रु०६ अ० । (तद्वक्तव्यता एगंतवाय शब्दे)

एगंतदिट्ठिय-एकान्तदृष्टिक- पुं० एकान्तग्राह्यमेवेदं मयेत्येवं निश्चया दृष्टिर्यस्य स तथा । एकान्तग्राह्यमेवेदं मयेत्येवं निश्चयदृष्टिके, ज्ञा० २ अ० । भ० ॥

एगंतदुक्ख-एकान्तदुःख- त्रि० एकान्तेनावश्यं सुखलेशरहितं दुःखमेव यस्मिन् नरकादिके भवे स तथा । एकान्तेन सुखलेशरहितदुःखोपेते नरकादिके भवे, सूत्र १ श्रु०६ अ० । "एगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता" सूत्र०१ श्रु०५ अ० । "एगंतदुक्खे जरिए व लोए" सूत्र १ श्रु० अ० । तथैकान्तेनोभयतोऽन्तर्बहिश्च म्लाना अपगतप्रमोदा सदा दुःखमनुभवन्तीति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ॥

एगंतदूसमा-एकान्तदुःषमा- स्त्री० दुष्टा समा वर्षो दुःषमासुसमा षष्ठम्" एकान्तं षमा २ त० । दुःषमदुःषमायाम् । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । (तद्वक्तव्यता ओसप्पिणीशब्द)

एगंतधार-एकान्तधार- त्रि० एकान्ता एकविभागाश्रया धारा यस्य एकधारोपिते चक्रादौ, ज्ञा० १ अ० । एकान्ता उत्सर्गलक्षणैकविभागाश्रया धारेव धारा क्रिया यत्र । भ०९ श०३३ उ० । अपवादपरित्यागेनोत्सर्गक्रियामेवाश्रिते निर्ग्रन्थप्रवचनादौ, "खुरो इव एगंतधाराए" क्षुर इवैकान्तधारं द्वितीयधाराकल्पाया अपवादक्रियाया अभावादिति । भ० ९ श० ३३ उ० । एकत्रान्ते वस्तुविभागे प्रहर्तव्यलक्षणे धारेव धारा परोपतापप्रवृत्तिलक्षणो यस्य स तथा एकप्रहर्तव्यप्रवृत्ते चौरादौ, तथा च तस्करवर्णकमधिकृत्य "खुरिव्वएगंतधाराए" यथा क्षुर एकधार एवमसौ मोषलक्षणैकप्रवृत्तिक एवेति भावः । ज्ञा० २ अ० ॥

एगंतधी-एकान्तधी- त्रि० एकान्ताभिनिवेशे, धुत्वा ग्रुच्छनयं नवात्र सुधियामेकान्तधीर्युज्यते, सुधियां पण्डितानामेकान्तधीरेकान्ताभिनिवेशो न युज्यते एकतयाभिनिवेशस्य मिथ्यात्वरूपत्वात् " इति । प्रति० ।

एगंतपंमिय-एकान्तपण्डित-पुं० साधौ, "एगंतपंमिएणं भंते !

मणुस्से नेरइयाउयं पकरेइ" एकान्तपण्डितः साधुः (मणुस्सेत्ति) विशेषणं स्वरूपज्ञानार्थमेव अमनुष्यस्यैकान्तपण्डितत्वायोगा-त्तद्योगश्च सर्वविरतेरन्यस्याभावादिति । भ० १ श० ८ उ० ।

एगंतबाल-एकान्तबाल-पुं० मिथ्यादृष्टौ, अविरते च । "एगंतबा-लेणं भंते ! मणुस्से " भ० १ श० ८ उ० ।

एगंतमिच्छा-एकान्तमिथ्या-अव्य० एकान्तेन मिथ्याभूते, "ए-गंतमिच्छेअसाहु" एकान्तेनैव तत्स्थानतो मिथ्याभूतं मिथ्यात्वोप-हतबुद्धीनां यतस्तद् भवत्यत एवासाधु असद्भूतत्वात् न ह्ययं सत्पु-रुषसेवितः पन्था येन निषयान्धाः प्रवर्तन्त इति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । (अत्रैगंतादिशब्देषु द्वित्वककारस्यापि रूपाणि भवन्ति तानि वि-स्तरभयान्न प्रदर्श्यन्ते स्वयमूह्यानि)

एगंतमोण-एकान्तमौन-न० संयमे, "एगंतमोणेण वियागरेज्जा" केनचित्पृष्टोऽपृष्टो वैकान्तमौनेन संयमेन करणभूतेन व्यागृणी-यादिति " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एगंतर-एकान्तर-न० एकमन्तरं व्यवधानम् । एकव्यवधाने, वाच० । "अट्ठोवासा एगं-तरेण विहियारणं च आयामं" एकदिन-व्यवधानेन भोजनरूपे व्रतभेदे, पंचा १६ विव० । एकान्तरवर्तिनि त्रि० एकान्तरासु जातानां धर्म विद्यादिमं विधिम् " वाच० । एकस्मादन्य एकान्तरम् । अनन्तरे एकस्मिन्, । तथाच "वाग्द्र-व्याणाम् ग्रहणविसर्गविधिकृत्य " एगंतरं च गिण्हई, निसिरइ एगंतरं चेव" " एकान्तरमेव गृह्णाति निसृजत्येकान्तरं चैव ", अयमत्र भावार्थः । प्रतिसमयं गृह्णाति मुञ्चति कथं यथा ग्रामा-दन्यो ग्रामो ग्रामान्तरं पुरुषाद्वाऽन्यः पुरुषनिरन्तरोऽपि सन् पुरु-षान्तरमेवैकैकस्मात्समयादेकक एवैकान्तरोऽनन्तरसमय एवे-त्यर्थः । विशे० । एकदिनव्यवधानेन जायमाने ज्वरभेदे, वाच० ।

एगंतरइपसत्त-एकान्तरतिप्रसक्त-त्रि० एकान्तेन सर्वात्मनारतौ रमणे प्रसक्ता एकान्तरतिप्रसक्तास्सर्वात्मना रतौ प्रसक्ते, राज० ।

एगंतलूसग-एकान्तलूषक-पुं० एकान्तेन जन्तूनां हिंसके एका-न्तेन सदनुष्ठानस्य ध्वंसके च, " आतईमा एगंतलूसगा गंता ते पावलोगयं" एकान्तेन जन्तूनां लूषकाः हिंसकाः सदनुष्ठानस्य वा ध्वंसकास्ते । ते एवंभूता गन्तारो यास्यन्ति पापं लोकं पाप-कर्मकारिणां यो लोको नरकादिश्चिरराज्ञमिति प्रभूतं कालं तन्नि-वासिनो भवन्तीति । सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

एगंतवदात-एकान्तावदात-त्रि० शुभ्रे, "संखेंदुएगंतवदातसुक्कं" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

एगंतवाइ (न्)-एकान्तवादिन्-पुं० नित्यानित्याद्येकपक्षाभ्युप-गन्तरि, स्या० । सूत्र० ।

एगंतवाय-एकान्तवाद-पुं० नित्यानित्याद्येकपक्षाभ्युपगमे, स्या० एकान्तवादस्य च मिथ्यात्वम् तदेवेति नियमेनैकान्ताभ्युप-गमे सर्व एवैते मिथ्यावादा उक्तन्यायेन नियमेन मिथ्यात्वमित्यभि-धानात् कथंचिदभ्युपगमे सम्यग्वाद एवैत इत्युक्तं भवति यत उ-त्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वे वस्तुनः स्थिते तद्वस्तु तत्तदपेक्षया का-र्यमकार्यं च कारणमकारणं च कारणे कार्यं सव्वासव्वकारणं का-र्ये काले विनाशवदविनाशवच्च तथैव प्रतीतेरन्यथा वा प्रतीतेरत एकान्तरूपस्य वस्तुनोऽभावात् । सम्म० ।। तथाच नित्यानित्या-द्येकान्तवादे दोषसामान्यमभिहितमिदानीं कतिपयतद्विशे-षाणामग्राह्यं दर्शयंस्तत्प्ररूपकाणामसद्भूतोद्भावकतयोद्भूते तथा विधरिपुजनजनितोपद्रवमिव परित्रातुर्धरित्रीपतेस्त्रिजगत्पतेः पुरतो भुवनत्रयं प्रत्ययकारिकारितामाविष्करोति ।

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगौ, न पुण्यपापे न च बन्धमोक्षौ ।
दुर्नीतिवादव्यसनासिनैवं, परैर्विलुप्तं जगदप्यशेषम् ॥२७॥

एकान्तवादे नित्यानित्यैकान्तपक्षाभ्युपगमे न सुखदुःखभोगौ घटेते न च पुण्यपापे घटेते न च बन्धमोक्षौ घटेते, पुनः पुनर्नञ्प्रयोगोत्यन्ता घटमानताद्रर्शनार्थः । तथाह्येकान्तनित्ये आत्मनि तावत्सुखदुःखभोगौ नोपपद्येते नित्यस्य हि लक्षणाप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपत्वम् । ततो यदात्मा सुखमनुभूय स्वकारणकलापसामग्रीवशाद् दुःखमुपभुङ्क्ते तदा स्वभावभेदादनित्यत्वापत्त्या स्थिरैकरूपताहानिप्रसङ्गः । एवं दुःखमनुभूया सुखमुपभुञ्जानस्यापि वक्तव्यम् । अथावस्थाभेदादयं व्यवहारो न चावस्थासु भिद्यमानास्वपि तद्वतो भेदः सर्पस्यैव कुण्ड-लार्जवाद्यवस्थास्विति चेन्ननु तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा व्यतिरेके तास्तस्येति संबन्धाभावेऽतिप्रसङ्गात् । अव्यतिरेके तु तद्वानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैकरूपताहानिः । कथंचित्तदेका-न्तरूपत्वेऽवस्थाभेदो भवेदिति । किंच सुखदुःखभोगौ पुण्यपाप-निर्वर्त्यैतन्निवर्तनं चार्थक्रिया सा च कूटस्थनित्यस्य क्रमेणाक्रमेण वा नोपपद्यत इत्युक्तप्रायम् । तत एवोक्तं न पुण्यपापे इति पुण्यं दानादिक्रियोपार्जनीयं शुभं कर्म पापं हिंसादिक्रियासाध्यमशु-भं कर्म ते अपि न घटेते प्रागुक्तनीतेः । तथा न बन्धमोक्षौ बन्धः कर्मपुद्गलैः सह प्रतिप्रदेशमात्मनो वह्न्ययःपिण्डवद-न्योन्यसंश्लेषः । मोक्षः कृत्स्नकर्मक्षयस्तावप्येकान्तनित्येन स्याता-म् । बन्धो हि संयोगविशेषः स चाप्राप्तानां प्राप्तिरितिलक्षणः प्राक्कालभाविनि अप्राप्तिरन्यावस्था उत्तरकालभाविनि प्राप्तिर-न्या तदनयोरप्यवस्थाभेददोषो दुस्तरः कथंचनैकरूपत्वे सति तस्याकस्मिको बन्धनसंयोगः बन्धनसंयोगाच्च प्राक् किं नायं मुक्तोऽ मुक्तो वाऽभवत् । किंच तेन बन्धनेनासौ विकृतिमनुभवति न वा-अनुभवति चेच्चर्मादिवदनित्यः नानुभवति चेन्निर्विकारत्वे सता ऽसता वा तेन गगनस्येव न कोऽप्यस्य विशेष इति बन्धवैफल्या-न्नित्यमुक्त एव स्यात्ततश्च विशीर्णा जगति बन्धमोक्षव्यवस्था तथा च पठन्ति " वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम् । चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः खतुल्यश्चेदसत्फलः " बन्धानुपपत्तौ मोक्ष-स्याप्यनुपपत्तिर्बन्धनविच्छेदपर्यायत्वान्मुक्तिशब्दस्येति । एवम नित्यैकान्तवादेऽपि सुखदुःखाद्यनुपपत्तिरनित्यं हि अत्यन्तोच्छे-द धर्मकत्वं तथाभूते चात्मनि पुण्योपादानक्रियाकारिणो निरन्वयं विनष्टत्वात्कस्य नाम तत्फलभूतसुखानुभवः । एवं पापोपादानक्रिया कारिणोऽपि निरन्वयविनाशे कस्य दुःखसंवेदनमस्तु एवं चान्यः क्रियाकारि अन्यश्च तत्फलभोक्तेत्यसमञ्जसमापद्यते । अथ "य-स्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संधत्ते, क-र्पासे रक्तता यथा" इति वचनादसमञ्जसमित्यपि वाङ्मात्रं सन्ता-नवासनयोरवास्तवत्वेन प्रागेव निर्लोचितत्वात् तथा पुण्यपापे अपि न घटेते तयोर्हि अर्थक्रियासुखदुःखोपभोगस्तदनुपपत्तिश्चा-नन्तरमेवोक्ता ततोऽर्थक्रियाकारित्वाभावात्तयोरप्यघटमानत्वम् । किंचानित्यः क्षणमात्रस्थायी तस्मिंश्च क्षणे उत्पत्तिमात्रव्यग्रत्वा-त्तस्य कुतः पुण्यपापोपादानक्रियार्जनम् । द्वितीयादिक्षणे चाव-स्थात्वमेव न लभते पुण्यपापोपादानक्रियाभावे च पुण्यपापे कुतो निर्मूलत्वात्तदसत्वे च कुतस्तत्सुखदुःखभोगः । आस्तां वा कथंचिदेतत्तथापि पूर्वक्षणसदृशेनोत्तरक्षणेन भवितव्य-मुपादानानुरूपत्वादुपादेयस्य ततः पूर्वक्षणदुःखितादुत्तरक्षणः कथं सुखित उत्पद्यते कथं च सुखितात्ततः स दुःखितः स्यादवि-सदृशभागतापत्तेः । एवं पुण्यपापादावपि तस्मादर्थकिंचिदेतत् । एवं बन्धमोक्षयोरप्यसंभवो लोकेऽपि हि य एव बद्धः स एव मु-च्यते निरन्वयनाशाभ्युपगमे च एकाधिकरणत्वाभावात् संता-नस्य वा अवस्तवत्वात्कुतस्तयोः संभावनामात्रमपीति । एगिणामि

नि चात्मनि स्वीक्रियमाणे सर्वं निर्बाधमुपपद्यते । परिणामोऽवस्थान्तरगमनं न च सर्वथा ह्यवस्थानं न च सर्वथा विनाशः परिणामस्तद्विदामिष्ट इति वचनात् पातञ्जलटीकाकारोऽप्याह । अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणाम इति । एवं सामान्यविशेषसदसदभिलाप्यानभिलाप्यैकान्तवादेष्वपि सुखदुःखाद्यभावः स्वयमभियुक्तैरभ्यूह्यः ॥ अथोत्तरार्द्धव्याख्या । एवमनुपपद्यमानेऽपि सुखदुःखभोगादिव्यवहारपरैः परतीर्थिकैरयं च परमार्थतः शत्रुभिः परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति दुर्नीतिवादव्यसनादिना नीयते एकदेशविशिष्टोऽर्थः प्रतीतिविषयमिति नीतिः । नीतयो नयाः दुष्टा नीतयो दुर्नीतयो दुर्नयास्तेषां वदनं परेभ्यः प्रतिपादनं दुर्नीतिवादस्तत्र यद्व्यसनमत्याशक्तिरौचित्यनिरपेक्षाप्रवृत्तिरिति यावत् दुर्नीतिवादव्यसनम् । तदेव सद्बोधशिरोच्छेदनशक्तियुक्तत्वादसिरिवासिः कृपाणो दुर्नीतवादव्यसनासिना करणभूतेन दुर्नयप्ररूपणहेवाकखड्गेन एवमित्यनुभवसिद्धप्रकारमाह अपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वात्, अशेषमपि जगन्निखिलमपि त्रैलोक्यं तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति त्रैलोक्यगतजन्तुजातं विलुप्तं सम्यग्ज्ञानादिभावप्राणव्यपरोपणेन व्यापादितम् । तत्त्रायस्वेत्याशयः । सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणाः प्रावचनिकैर्गीयन्तेऽत एव सिद्धेष्वपि जीवव्यपदेशोऽन्यथा हि जीवधातुः प्राणधारणार्थोऽधीयते तेषां च दशविधप्राणधारणाभावादजीवत्वप्राप्तिः सा च विरुद्धा तस्मात्संसारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणा जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादिभावप्राणधारणादिति सिद्धं दुर्नयस्वरूपं चोत्तरकाव्ये व्याख्यातमिति काव्यार्थः स्या० २७ श्लो० ॥ (एकान्तवादस्य मिथ्यात्वम्, अट्टगशब्दे वर्णितम्) ॥ अधुना सामान्येनैकान्तवादिमतदूषणार्थमाह—

सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं ।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते वि उस्सिया ॥२३॥

स्वकं स्वकमात्मीयं च दर्शनमभ्युपगतं प्रशंसन्तो वर्णयन्तः समर्थयन्तो वा तथा गर्हमाणा निन्दन्तः परकीयां वाचं तथा हि सांख्याः सर्वस्याविर्भावतिरोभाववादिनः सर्वं वस्तु क्षणिकं निरन्वयनिरीश्वरं वेत्यादिवादिनो बौद्धान् दूषयन्ति तेऽपि नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहात् सांख्यान् एवमन्येऽपि द्रष्टव्या इति । तदेवं य एकान्तवादिनः तुरवधारणे भिन्नक्रमश्च तत्रैव तेष्वेवात्मीयात्मीयेषु दर्शनेषु प्रशंसां कुर्वाणाः परवाचं च विगर्हमाणाः विद्विष्यन्ते विद्वांस इवाचरन्ति तेषु वा विशेषेणोशंति स्वशास्त्रविषये विशिष्टयुक्तिवातं वदन्ति ते चैवंवादिनः संसारं चतुर्गतिभेदेन संसृतिरूपं विविधमनेकप्रकारमुच्चावलयेन श्रिताः संबद्धास्तत्र वा संसारे उषिता संसारान्तर्वर्तिनः सर्वदा भवन्तीत्यर्थः । २३ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

एगंतसड्ढि–एकान्तश्रद्धावत्–त्रि० एकान्तेन श्रद्धावान् एकान्तश्रद्धावान् । एकान्तेन श्रद्धालौ, "एगंतसड्ढी य अमाइरूवे" मौनीन्द्रोक्तमार्गे एकान्तेन श्रद्धालुरित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एगंतसमाहि–एकान्तसमाधि–पुं० आत्यन्तिके भावरूपे ज्ञानादिसमाधौ, "मंताओ एगंतसमाहिमाहु" मत्वा अवधार्य एकान्तेनात्यन्तेन च यो भावरूपो ज्ञानादिसमाधिस्तमाहुः संसारोत्तरणाय तीर्थकरगणधरादयः । द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादका अनैकान्तिका अनात्यन्तिकाश्च भवन्त्यतो भावसमाधिमुत्पादयन्ति । सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

एगंतसरण–एकान्तशरण्य–त्रि० सर्वाश्रितहितकारके, "एगंतसरणा अरहंता सरणं" पं० सू० ।

एगंतसुसमा–एकान्तसुषमा–स्त्री० सुषुसमावर्षैः सुसमादित्वात् षत्वम् २ त० । उत्सर्पिणीकालभेदे, नं० । (तद्वक्तव्यता ओसप्पिणी शब्दे)

एगंतसुह–एकान्तसुख–न० सर्वथा शर्मणि, अव्यभिचारिसुखे च । पंचा० ७ विव० ॥

एगंतसुहावह–एकान्तसुखावह–त्रि० सर्वथैव शर्मप्रापके, सिद्धिसुखावहे च "एगंतसुहावहा जयणा" एकान्तेन सर्वथैव सुखावहा शर्मप्रापिका एकान्तसुखावहा एकान्तसुखं वा सिद्धिसुखं तदावहा यतनेति । मोक्षशर्मावहे अव्यभिचारिसुखावहे च । भावचरणप्रतिपत्तिमधिकृत्य "भावचरणस्स जायति, एगंतसुहावहा णियमा" एकान्तसुखावहा मोक्षशर्मावहा अव्यभिचारिसुखावहा नियमादवश्यतयेति पंचा० ७ विव०

एगंतसोक्ख–एकान्तसौख्य–न० दुःखलेशैरकलङ्किते सौख्ये "एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं" एकान्तसौख्यं दुःखलेशैरकलङ्कितं मोक्षं समुपैति मोक्षश्च दुःखमोक्षेणैव संसारस्य निवृत्त्यैव स्यादिति । उत्त० ३२ अ० ।

एगंतहरण–एकान्तहरण–न० एकान्ते विजने हरणं, एकान्तहरणम् । विजनैकस्थविनयने, तं० ॥

एगंतहरणकोला–एकान्तहरणकोला–स्त्री० एकान्ते विजने हरणं नेतव्यं पुरुषाणां विषयार्थमेकान्तहरणम् । यद्वा एकान्ते दूरग्रामनगरदेशादौ स्वकुटुम्बादि जनरहिते हरणं तत्र पुरुषाणां विषयार्थं लात्वा गमनमित्यर्थः । तत्र कोला वनसूकरतुल्या यथा सूकरः किमपि सारकन्दादिकं भक्ष्यं प्राप्य विजने गत्वा भक्षयति तथा विषयार्थमेकान्ते पुरुषाणां नेत्र्यो योषितो भवन्ति । तं० ।

एगंतहिय–एकान्तहित–त्रि० अतिशयेन हिते, "से केइ एगंतहियं धम्ममाहु" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

एगंतिय–ऐकान्तिक–त्रि० एकान्तेन भवतीत्यैकान्तिकः एकान्तभाविनि, दश० । आव० । अवश्यंभाविनि, विशे० ।

एगक्खरिय–एकाक्षरिक–त्रि० एकं च तदक्षरं च तेन निर्वृत्तमेकाक्षरिकम् । एकाक्षरोपेते, तदात्मके द्विनामभेदे च । तद्यथा "से किं तं एगक्खरिए" एकक्खरिए ह्रीः श्रीः श्री सेत्तं एगक्खरिए यदस्ति वस्तुतत्सर्वमेकाक्षरेण वा नाम्नाऽभिधीयत इति । अनु० ।

एगखंधी–एकस्कंध–त्रि० प्रत्येकमेव स्कन्धोपेते वृक्षादौ, ते पादपाः प्रत्येकमेकस्कन्धाः प्राकृतेचास्य स्त्रीत्वमिति । "एगखंधीति" सूत्रपाठ इति । जी० ३ प्रति० ।

एगखुर–एकखुर–पुं० प्रतिपदमेकः खुरः शफो येषान्ते एकखुराः प्रज्ञा० १ पद । एकः खुरश्चरणाधोवर्तिहड्डविशेषो येषान्ते एकखुराः । उत्त० ३६ अ० । चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, प्रज्ञा० १ पद । स्था० । ते चाश्वादय इति । भ० १५ श० १ उ० । तथाच "चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं एगखुराणं इति" एकखुराणामित्यश्वादीनामिति सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ॥

एगखंभ–एकस्तम्भ–त्रि० एकस्तम्भोपेते प्रासादादौ, "एकखंभे पासायं करेहि । दश० १ अ० अतीर्ष्यालुस्ततः सौधमेकस्तम्भं विधाप्य सः । आ० क० ।

एगगंध–एकगन्ध–त्रि. सुगन्धीतरान्यतरगन्धोपेते, उत्त. १ अ० ।

एगगम–एकगम–पुं० तुल्याभिलापे, " सेसा एकगमापत्ति " स्था० २ ठा० ।

एगगुण–एकगुण–न० सिद्धश्रेणिकपरिकर्मश्रुतभेदे, । सम० । (तद्वक्तव्यता 'सिद्धसेणिपरिकम्म' शब्दे) एकेन गुणनेन गुणनं ताडनं यस्य स एकगुणः । एकेनगुणिते, त्रि० । पोग्गलाणं वण्णेति " एगापगगुणकालगाणं । एकेन गुणनन्तामतं यस्य स एकगुणः । स कालो वर्णो येषान्ते एकगुणकालकास्तारतम्येन कृष्णतरकृष्णतमादीनां येभ्य आरभ्य प्रथममुत्कर्षवृत्तिर्भवति तस्मिन् स्था० १ ठा० ।

एगग्ग–एकाग्र–त्रि० " एगग्गो कालस्सग्गम्मि " एकाग्र एकचित्तः शेषव्यापाराभावादिति । आव० ५ अ० " एगग्गस्स य संतस्स " एकमग्रमालम्बनं यस्यासावेकाग्रः । एकावलम्बने, । आ० म० द्वि० । विक्षेपरहितज्ञाने च । वाच० ।

एकाग्र्य–त्रि० एकमग्र्यं यस्य । एकतावे, एकावलम्बने, वाच० ।

ऐकाग्र–त्रि० स्वार्थेऽण् एकाग्रचित्ते, एकतानचित्ते, वाच० ।

ऐकाग्र्य–न० एकाग्रस्य भावः ष्यञ् अनन्यासक्तचित्तत्वे, एकमात्रावलम्बिचित्तत्वे, वाच० ।

एगग्गचित्त–एकाग्रचित्त–त्रि० एकाग्रमेककं विषयं चित्तं यस्य सः । एकविषयकचित्ते, घोषणाश्रवणमधिकृत्य "एगग्गचित्तजत्तसमाणसाणं " एकाग्रं घोषणाश्रवणैकविषयं चित्तं येषान्ते एकाग्रचित्ताः । राज० । एकावलम्बने, " नाणमेगग्गचित्तो " दश० ७ अ० ४ उ० ।

एगग्गजोग–एकाग्रयोग–पुं० अनालम्बनयोगपरनामधेये योगभेदे, एकाग्रयोगस्यैवापरनामानालम्बनयोग इति । अष्ट० । (तद्वक्तव्यता जोग शब्दे) ।

एगग्गया–एकाग्रता–स्त्री० एकाग्र-तल्-एकाग्रत्वे, वाच० एकस्मिन्नालम्बनसदृशपरिणामतायाम, " तुल्यावेकाग्रताशान्तोदितौ च प्रत्ययाविह " इहाधिकृतदर्शने तुल्यावेककपावलम्बनत्वेन सदृशौ शान्तोदितावतीताधः प्रविष्टवर्तमानाधःस्फुरितलक्षणौ च प्रत्ययावेकाग्रता उच्यते । समाहितचित्तान्वयिनी । तदुक्तं शान्तोदितौ हि तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः । द्वा० २४ द्वा० ॥

एगचक्खु–एकचक्षुष्–त्रि० एकं चक्षुरस्येत्येकचक्षुः स्था० ३ ठा० । काणे, तथा च प्रश्नव्याकरणे अन्धैकचक्षुषावधिकृत्योक्तम् । एतच्च दोषद्वयं गर्भगतस्योपपद्यते जातस्य च । तत्र गर्भस्थस्य दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो आत्यन्त्यरूपं करोति तदेकाक्षिगतं काणत्वं विदधत इति । प्रश्न० ५ द्वा० । एकचक्षुस्के च कुष्ठस्यभेदे च । स्था० ३ ठा० । (तद्वक्तव्यता चक्खु शब्दे) ।

एगचक्खुविणिहय–एकचक्षुर्विनिहत–त्रि० एकं चक्षुर्विनिहतं येषान्ते एकचक्षुर्विनिहताः । विनिहतैकचक्षुस्के, प्रश्न० १ द्वा० ।

एगचर–एकचर त्रि० एकः सन् चरति चर्-पचा० अच् । सुप्सुपेति समासः । एक एव चरतीत्येकचरः । एकाकिनि, आचा० ५ अ० १ उ० । एकाकीभूत्वा चारिणि, असहायचारिणि, वाच० " णिब्भयमेगचरंति पासेणं " निर्भयं गतशंकं निर्भयत्वादेवैकचरमिति । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

एगचरिया–एकचर्या–स्त्री० चरणं चर्यते वा चर्या " चरण तिभक्षणयोः " गदमदचरयमश्चानुपसर्गे इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । एकस्य चर्या ६ त० । एकाकिविहारप्रतिमाभ्युपगमे, आचा० ६ अ० २ उ० । असहायगमने, वाच० । " चारो चरिया चरणं एगट्ठं " आचा० नि० । एकचर्यानिक्षेपो यथा सा च प्रशस्तेतरभेदेन द्विधा । सापि द्रव्यभावभेदात् प्रत्येकं द्विधा । तत्र द्रव्यतो गृहस्थपापरिंडकादेर्विषयकषायनिमित्तमेकाकिनो विरहणं भावतस्तु अप्रशस्ता न विद्यते । सा हि रागद्वेषविरहाद्भवति । न च तद्रहितस्याप्रशस्ता वेति । प्रशस्ता तु द्रव्यतः प्रतिमाप्रतिपन्नस्य गच्छतः निर्गतस्य स्थविरकल्पिकस्य चैकाकिनः संघादिकार्यनिमित्तान्निर्गतस्य भावतस्तु पुनः रागद्वेषविरहाद्भवति । तत्र द्रव्यतो भावतश्चैकचर्यानुत्पन्नज्ञानानां तीर्थकृतां प्रतिपन्नसंयमानामन्ये तु चतुर्भङ्गपतितास्तत्राप्रशस्तद्रव्यैकचर्योदाहरणम् । तद्यथा पूर्वदेशे धान्यपूरकाभिधाने सन्निवेशे एकस्तापसःप्रथमवय स एव कुमारसदृशविग्रहः षष्ठभक्तेन तद्ग्रामनिर्गमपथे तपस्तेपे । द्वितीयोऽप्युग्रग्रामगिरिगह्वरेऽष्टमभक्तेन तपः कर्मणा तापनां विधत्ते । तस्मै च ग्रामनिर्गमपथवर्तिने शीतोष्णसहिष्णवे गुणैराकृष्टो लोक आहारादिभिः सपर्ययोपतिष्ठते । स तथालोकेन पूज्यमानो वाग्भिरभिष्टूयमान आहारादिनोपचर्यमाणो जनमूचे मत्तोऽपि गिरिपरिसरतोऽपि दुष्करकारकस्ततोऽसौ लोकस्तेन भूयो भूयः प्रोच्यमानस्तमेकाकिनं तापसमद्रिकुहरवासिनं पर्यपूजयत । दुष्करं च परगुणोत्कीर्तनमिति कृत्वा तस्यापि सपर्यादिकं व्यधात् । तदेवमाभ्यां पूज्याख्यात्यर्थमेकचर्या विदधे । अतोऽप्रशस्तैवमनया दिशाऽन्येप्यप्रशस्तैकचर्याश्रिता दृष्टान्ता यथासंभवमायोज्या इति । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

सा च शिथिलकर्मणां भवति तथाह–

इहमेगेसिं एगचरिया होति तत्थि अराइयरेहिं कुलेहिं सुद्धेसणाए सव्वेसणाए सो मेहावी परिव्वए सुब्भिं अदुवा दुब्भिं अदुवा तत्थ भेरवा याणायाणे परिकिलेसंति । ते फासे पुट्ठो अधीरो अहियासिज्जासि त्ति वेमि ॥

(इहमेगेसिं इत्यादि) इहास्मिन् प्रवचने एकेषां शिथिलकर्मणामेकचर्या भवत्येकाकिविहारप्रतिमाभ्युपगमो भवति । तत्र च नानारूपा अभिग्रहविशेषास्तपश्चरणविशेषाश्च भवन्तीत्यतस्तावत्प्राभृतिकामधिकृत्याह (तत्थियरा इत्यादि)तत्र तस्मिन्नेकाकिविहारे इतरे सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतरा इतरश्चान्तप्रान्तेषु कुलेषु सिद्धैषणया दशैषणादोषरहितेनाहारादिना सर्वैषणयेति सर्वा आहारादुद्गमोत्पादनग्रासैषणारूपा तया सुपरिविशुद्धेन विधिना संयमे परिव्रजन्ति बहुत्वेऽप्येकदेशतामाह (से मेहावि इत्यादि) स मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः संयमं परिव्रजेदिति । किंच (सुब्भि इत्यादि) स आहारस्तेष्वितरेषु कुलेषु सुरभिर्वा स्यादथवा दुर्गन्धो न तत्र रागद्वेषौ विदध्यात् । किंच (अदुवा इत्यादि) अथवा तत्रैकाकिविहारिन्वे पितृवनप्रतिमाप्रतिपन्नस्य सतो भैरवा भयानका यातुधानादिकृताः शब्दाः प्रादुर्भवेयुः । यदिवा भैरवा बीभत्साः प्राणाः प्राणिनो दीप्तजिह्वादयोऽपरान् प्राणिनः क्लेशयान्त्युपतापयन्ति त्वं तु पुनस्तः स्पृष्टस्तान् स्पर्शान् दुःखविशेषान् धीरोऽक्षोभ्यः सन्नतिसहस्वेति । आचा० १श्रु० ६ अ० २ उ० ।

यस्य विषयकषायनिमित्तमेकचर्या तस्य न मुनित्वम् अन्ये प्रव्रज्यामप्यभ्युपेत्य केचिद् विषयपिपासार्तास्तान् कटकाचारानाचरन्तीति दर्शयितुमाह ॥

इहमेगेसिं एगचरिया भवति से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए बहुलोहे बहुरए बहुणमे बहुसठे बहुसंकप्पे आसव–

सक्को पलिओच्छण्णे उट्ठितवादं पवदमाणे मा मे केइ य दक्खु अण्णाणपमायदोसेणं सययं मूढे धम्मं णाभिजाणति अट्टापया माणवककम्मकोविया जे अणुवरया अभिज्जाए परिमोक्खमाहु आवट्टमेव अणुपरियट्टंतित्ति ॥

इह मनुष्यलोके एकेषां न सर्वेषां चरणं चर्यते वा चर्या एकस्य चर्या तत्र विषयकषायनिमित्तं यस्यैकचर्या स्यात्स किंभूतः स्यादित्याह (से बहुकोहे इत्यादि) स विषयगृध्नुरिन्द्रियानुकूलवर्त्येकचर्याप्रतिपन्नस्तीर्थिको गृहस्थो वा परैः परिभूयमानो बहुक्रोधो यस्येति बहुक्रोधस्तथा वन्द्यमानो मानमुद्वहत इति बहुमानस्तथा कुरु कुचादिभिः कल्कतपसा च बहुमायी सर्वमेतदाहारादिलोभात्करोतीत्यतो बहुलोभः । यत एवमतो बहुरजो बहुपापो बहुषु चारम्भादिषु रतस्तथा नटवद्भोगार्थं बहून्वेषान्विधत्त इति बहुनटस्तथा बहुभिः प्रकारैः शठो बहुशठस्तथा बहवः संकल्पाः कर्तव्या अध्यवशाया यस्य बहुसंकल्प इत्येवमन्येषामपि चौरादीनामेकचर्या वाच्येति । स एवंभूतः किमवस्थः स्यादित्याह (आसव इत्यादि) आश्रवा हिंसादयस्तेषु शक्तं सङ्गः आश्रवशक्तं तद्विद्यते यस्यासावाश्रवशक्ती हिंसाद्यनुसङ्गवानवछिन्नं कर्म तेनावच्छन्नः कर्मावष्टब्ध इति यावत् । सचैवंभूतोऽपि किं ब्रूयादित्याह (उट्ठिय इत्यादि) धर्मचरणायोद्युक्त उत्थितस्तद्वादस्तं प्रवदन् तीर्थिकोऽप्येवमाह यथा अहमपि प्रव्रजितो धर्मचरणायोद्यत इत्येवं प्रवदन् कर्मणाऽवच्छाद्यत इति सर्वोत्थितवादी आश्रवेषु प्रवर्तमानः आजीविकाभयात् कथं प्रवर्तेत इत्याह (मामे इत्यादि) मा मां केचनान्येऽशुचिरवद्यकारिणमित्यतः प्रच्छन्नकार्यं विदधात्येवं ज्ञानदोषेण प्रमाददोषेण वा विदधत्स इति किंवा (सययमित्यादि) सततमनवरतं मूढे मोहनीयोदयादज्ञानाद्वा धर्मश्रुतचारित्राख्यं नाभिजानाति न विवेचयतीत्यर्थः । यद्येवं ततः किमित्याह (अट्टा इत्यादि) आर्ता विषयकषायैः प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवो हेमानव मनुजास्तेषोपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणं कर्मण्यष्टप्रकारे बीभत्स्यन्ते कोविदाः कुशला न धर्मानुष्ठान इति के पुनस्ते ये सततं धर्मं नाभिजानन्ति कर्मबन्धकोविदाश्चेत्यत आह (जे अणुवरया इत्यादि) ये केचनानिर्दिष्टस्वरूपा अनुपरताः पापानुष्ठानेभ्योऽनिवृत्ता ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्येषा विद्या ततो विपर्ययेण विद्या तया परि समन्ततः मोक्षमाहुस्ते धर्मं नाभिजानत इति संबन्धः । धर्ममजानानाश्च किमाप्नुयुरित्याह (आवट्ट इत्यादि) आवर्तः संसारस्तमरहट्टघटीयन्त्रन्यायेनानुपरिवर्तते तास्वेव नरकादिगतिषु भूयो भूयो भवन्तीति यावत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । हिंसकस्य विषयारम्भकस्यैकचरस्यामुनिभावे दोषोद्भावनतः कारणमाह ।

गामाणुगामं दुइज्जमाणस्स दुज्जातं दुप्परिक्कंतं भवति । अवियत्तस्स भिक्खुणो वयसा वि एगे चोइया कुप्पंति माणवा उण्णयमाणे य णरे महता मोहेण मुज्झति संबाहा बहवे भुज्जो भुज्जो दुरतिकमा अजाणओ अप्पा सत्तो एयं ते मा होउ एयं कुशलस्स दंसणं ॥

ग्रसते बुद्ध्यादिगुणानिति ग्रामः ग्रामादनु पश्चादपरो ग्रामो ग्रामानुग्रामस्तं दूयमानस्यानेकार्थत्वाद्धातूनां विहरत एकाकिनः साधोर्यस्मात्तद्दर्शयति (दुयति) दुष्टं यातं दुर्यातं गमनक्रिया वा गर्हा गच्छत पथानुकूलप्रतिकूलोपसर्गसद्भावादर्हनकस्यैव कृतगतिभेद दुष्टव्यन्तरीजङ्घाच्छेदनवत् । तथा दुष्टं पराक्रान्तमाक्रान्तं स्थानमेकाकिनो भवति स्थूलभद्रस्येर्ष्यासतोपकोशा गृहसाधोरिवेति । यदिवा चतुः प्रोषितभर्तृका गृहायितसाधोरिव तस्य महासत्त्वतया अक्षोभेऽपि तु पराक्रान्तमेवेति । एतच्च न सर्वस्यैव दुर्यातं दुःखपराक्रान्तञ्च भवतीत्यतो विशिनष्टि अव्यक्तस्य भिक्षोरिति भिक्षणशीलो भिक्षुस्तस्य किंभूतस्याव्यक्तस्य स चाव्यक्तः श्रुतवयोभ्यां स्यात्तत्र श्रुताव्यक्तो येनाचारप्रकल्पोऽर्थतो नाधिगतो गच्छगतानां तन्निर्गतानां तु नवमपूर्वतृतीयवस्त्विति । वयसा वा व्यक्त आ षोडशवर्षाद्गच्छगतानां तन्निर्गतानाञ्च त्रिंशत इति । अत्र चतुर्भङ्गिका श्रुतवयोभ्यामव्यक्तस्यैकचर्या न कल्पते । संयमात्मविराधनात इत्याद्यो भङ्गः । तथा श्रुतेनाव्यक्तो वयसा च व्यक्तस्तस्याप्येकचर्या न कल्पते । अगीतार्थत्वादुभयविराधनासद्भावादिति द्वितीयः । तथा श्रुतेन व्यक्तो वयसा चाव्यक्तस्तस्यापि न कल्पते बालतया सर्वपरिभवास्पदत्वाद्विशेषतस्तेन कुलिङ्गादीनामिति तृतीयः । यस्तूभयव्यक्तः स सति कारणे प्रतिमामेकाकिविहारित्वमभ्युद्यतविहारं वा प्रतिपद्यतामस्यापि कारणाभावे एकचर्या नानुमता । यतस्तस्यां गुप्तेर्या भाषैषणादिविषया बहवो दोषाः प्रादुःष्यन्ति । तथा ह्येकाकी पर्यटन् यदीर्यापथं शोधयति ततश्चाशुपयोगाद् भ्रस्यति तदुपयुक्तश्चेदीर्यापथं शोधयेदित्यादिका शेषाऽपि समितयो वाच्याः । अन्यच्चाजीर्णेन वातादिक्षोभेण वा व्याध्युद्भवसंयमात्मविराधना प्रवचनहीलना च । तत्र यदि करुणापन्ना गृहस्थाः प्रतिजागरणं कुर्युस्तदज्ञानतया षट्कायोपमर्दं न कुर्वाणाः संयमबाधामापादयेयुरथ न कश्चित्तत्र तथाभूतकर्तव्योद्यतः स्यात्ततः आत्मविराधना । तथातीसारादौ मूत्रपुरीषजं वाल्यन्तर्वर्तित्वात्प्रवचनहीलना । अपिच ग्रामादिव्यवस्थितः सन् धिग्जात्यादिना केशलुञ्चिताद्यधिक्षेपेणाविक्षिप्तः सन् परस्परोपमर्दकारि दण्डादण्डिभण्डनं विदध्यात्तच्च गच्छगतस्य न संभवति गुर्वाद्युपदेशसंभवात्तदुक्तम् " अक्कोसहणणमारण-धम्मब्भंसणेबालसुलभाणं । लंभमइ धीरो-जहुत्तराणं अभावम्मि " इत्येवमादिनोपदेशेन गच्छान्तर्गतो गुरुणानुशास्यते गच्छनिर्गतस्य तु पुनः दोषा एव केवला इत्युक्तञ्च " साहम्मिएहिं समुज्जएहिं । एगागीओ य जो विहरे । आयंकपउरयाए, छक्कायवहम्मि आवडइ । एगाणियस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए । भिक्खविसोहिमहव्वय, तम्हा सविइज्जए गमणं " इत्यादि गच्छान्तर्वर्तिनस्तु बहवो गुणास्तथाभ्याऽपरस्यापि बालवृद्धादेरुद्यतविहाराभ्युपगमात् । यथा प्लवके समर्थस्तरन्नपरमपि काष्ठादिविलग्नं तारयत्येवं गच्छेऽप्युद्यतविहार्यपरं सीदन्तमुद्यमयति तदेवमेकाकिनो दोषान् बहून् गच्छान्तर्विहारिणश्च गुणान् कारणाभावे व्यक्तेनापि नैकचर्या विधेया कुतः पुनरव्यक्तेनेति स्थितम् । ननु वसतिसंभवे प्रतिषेधोऽयुक्तो न चास्ति संभवः एकाकिविहारितायाः को हि नाम बालिशः सहायान्विहाय समस्तापायास्पदमेकाकिविहारितामभ्युपेयादित्यत्रोच्यते न किञ्चिदपि कर्मपरिणतेरशक्यमस्ति तथा हि स्वातन्त्र्यगदागदकल्पस्य समस्तव्यसनप्रवाहसेतुभूतस्याशेषकल्याणनिकेतनस्य शुभाचाराधारस्य गच्छस्यान्तर्वर्तिनः कचित् प्रमादस्खलिते चोदिता अपरिगणय्य सदुपदेशमपर्यालोच्य सद्धर्ममविचार्य कषायविपाककटुकतामनवधार्य परमार्थं पृष्ठतः कृत्वा कुलपुत्रतां वाम्भाशादपि किंचित्कोपनिघ्नाः सुखैषिणो गणितापदो गच्छान्निर्गच्छन्ति । तत्र चैहिकामुष्मिकापायानवाप्नुवन्तीत्युक्तं च " जह सायरम्मि मीणा, संखोहं सायरस्स असहंता । णिंति तओ सुहकामी, णिग्गयमेत्ता विणस्सन्ति ॥ एवं गच्छसमुद्दे, सारणवीचीहिं चोइया संता । णिंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा-

विणस्संति । "गच्छम्मि केइ पुरिसा, सउणी जह पञ्जरं तरुणि-रुद्धा । सारणवारणचोइया, पासत्थगया य विहरंति ॥" "जहा-दिया जोयमय रक्कजायं, सवासया पविउमणं मणागं । तमयाइया तरुणमपत्तजाइं, ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा" एवमजातसूत्रा-र्थपवः परतीर्थिकध्वांक्षादिभिर्विलुप्यते गच्छालयान्निर्गतो वाग्मात्रेणापि चोदितः सन्नित्येतद्दर्शयितुमाह (वयसावि एगे इत्यादि) कश्चित्तपःसंयमानुष्ठानेनावसीदन्तः प्रमादस्खलिता वा गुर्वादिना धर्मेण वचसाऽप्येके अपुष्टधर्माणः अनवगतपरमार्था उक्ताश्चोदिताः कुप्यन्ति एते मानवा मनुजाः क्रोधवशगा भवन्ति । ब्रुवते च कथमहमनेन इयतां साधूनां मध्ये तिरस्कृतः किं मया कृतमथवान्येऽप्येतत्कारिणः सन्त्येव ममाप्येवंभूतोऽधिकारोऽभूत्किमे जीवितमित्यादि महामोहोदयेन क्रोधतमिस्राच्छादितदृष्टयः वर्जितसमुचिताचारा व्रजयतो ऽन्यतो व्यक्ता मीना इव गच्छसमुद्रान्निर्गत्य विनाशमुपयान्ति । यदि वा वचसापि यथा क इमे लुञ्चिता मलोपहतगात्रदृष्टयः प्राक्तनावसर एवास्माभिर्दृष्टव्या इत्यादिनोक्ता एके क्रोधान्धाः कुप्यन्ति मानवाः । अपिशब्दात् कायेनापि स्पृष्टाः कुप्यन्ति, कुपिताश्चाधिकरणादिकुर्वन्तीत्येवमादयो दोषा अव्यक्तैकचराणां गुर्वादिनियामकाभावात्प्रादुःष्युरिति । गुरुसान्निध्ये चैवंभूत उपदेशः संभाव्यते । तद्यथा-"आकुष्टेन मतिमता, तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः, स्यादनृतं किंनु कोपेन" तथा "अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते।धर्मार्थकाममोक्षाणां, प्रसह्य परिपन्थिनी" त्यादि किं पुनः कारणं वचसाप्यभिहिता ऐहिकामुष्मिकापकारिणः स्वपरबाधकस्य क्रोधस्यावकाशं ददतीत्याह (उन्नयइत्यादि) उन्नतो मानोऽस्येत्युन्नतमान उन्नतं वात्मानं मन्य इति स चैवंभूतो नरो मनुष्यो महता मोहेन प्रबलमोहनीयोदयेनाज्ञानोदयेन वा मुह्यति कार्याकार्यविचारविवेकविकलो भवति । स च मोहमोहितः केनचिच्छिक्षणार्थमभिहितो मिथ्यादृष्टिना वा वाचा तिरस्कृतो जात्यादिमदस्थानान्यतरसद्भावेनोन्नतमानमन्दिरारूढः कुप्यति ममाप्येवमयं तिरस्करोति धिग्मे जातिं पौरुषं विज्ञानं चेत्येवमभिमानग्रहगृहीतो वाग्मात्रादपि गच्छान्निर्गच्छति तन्निर्गच्छतो वाधिकरणादिविडम्बनयात्मानं विडम्बयति । अथवोन्नम्यमानः केनचिद्वैदग्ध्येनाहो अयं महाकुलप्रसूतः आकृतिमान् पटुप्रज्ञो मिष्टवाक् समस्तशास्त्रवेत्ता सुभगः सुखसेव्यो वेत्यादिना वचसा तथ्येन चोत्प्रास्यमान उन्नतमानो गर्वाध्मातो महता चारित्रमोहेन मुह्यति संसारमोहेन मुह्यत इति तस्य चोन्नतमानतया महामोहेन मुह्यतो मोहाच्च वाग्मात्रेणापि कुप्यतः कोपाच्च गच्छनिर्गतस्यानभिव्यक्तस्य भिक्षोर्ग्रामानुग्राममेकाकिनः पर्यटतो यत्स्यात्तदाह (संबाहाइत्यादि) तस्याव्यक्तस्यैकचरस्य पर्यटतः संबाधयन्तीति संबाधाः पीडा उपसर्गजनिता नानाप्रकारातङ्कजनिता वा भूयो भूयो बहव्यः स्युस्ताश्चैकाकिना व्यक्तेन निरवद्यविधिना दुरतिक्रमा दुरतिलङ्घनीयाः किंभूतस्य दुरतिक्रमा इत्याह (अजाणओ इत्यादि) तासां नानाप्रकारनिमित्तोत्थापितानां बाधानामतिसहनोपायमजानानस्य सम्यक्करणसहनफलं वा ऽपश्यतो दुरतिक्रमणीया पीडा भवति ततश्चातङ्कपीडाकुलीभूतः सन्नेषणामपि लङ्घयेत्प्राण्युपमर्दमप्यनुमन्येत, वाक्कण्टकनुदितः सन्नव्यक्ततया प्रज्वलेत्क्रोधयेत् । यथा मत्कर्मविपाकापादिता एताः पीडाः परोऽत्र केवलं निमित्तभूतः । किञ्चात्मद्रुहममर्यादं मूढमुज्झितसत्पथं सुतरामनुकम्पेन नरकाग्निमन्दिन्धनमित्यादिका भावना आगमापरिमलितमतेर्न भवेदित्येतत्प्रदर्श्य भगवान्विनेयमाह (एयंतेमाहोउ त्ति) एतदेकचर्याप्रतिपन्नस्य बाधा दुरतिक्रमणीयत्वमजानानस्य पश्यतश्च ते तव मदुपदेशवर्तिनो मा भवतु आगमानुसारितया सदा गच्छान्तर्वर्ती भवेदित्यर्थः । सुधर्मस्वाम्याह । (एयंइत्यादि) एतद्यत्पूर्वोक्तं तत् कुशलस्य श्रीवर्द्धमानस्वामिनो दर्शनमभिप्रायो यथा अव्यक्तस्यैकचरस्य दोषाः सततमाचार्यसमीपवर्तिनश्च गुणा इति । आचा०१श्रु०५अ०४उ०।

एगचरियापरि(री)सह-एकचर्यापरि(री)षह-पुं० परीषहभेदे, अयंच साधुना सोढव्यस्तथा च स्त्रीपरिषहं प्रतिपाद्य अयं चैकत्र वसतस्तथाविधस्त्रीजनसंसर्गतो मन्दसत्वस्य भवतीत्यतोऽनेकस्थेन भाव्यं किन्तु चर्यापरिषहः सोढव्य इति । तमाह ।

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वावि, निगमे वा रायहाणिए ॥

एक एव रागद्वेषविरहितश्चरेदप्रतिबद्धविहारेण विहरेत्सहायवैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थो यथोक्तं "ण वा लभिज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा । एक्को वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो" (लाढेत्ति) लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण साधुगुणैर्वात्मानं यापयतीति लाढः । प्रशंसाभिधायि वा देशीपदमेतत् पठ्यते (एगेचरेलाढेति) तत्र चैकोऽसहायः प्रतिमाप्रतिपन्नादिः स चैको रागादिवैकल्याद्वाभिभूय निर्जित्य परीषहान् क्व पुनश्चरेदित्याह ग्रामे चोक्तरूपे नगरे वा करविरहितसन्निवेशे अपिः पादपूरणे निगमे वा वणिग्निवासे राजधान्यां वा प्रसिद्धायामुभयत्र वा शब्दानुवृत्तेर्मडम्बाद्युपलक्षणं चैतदप्रदाभावं चानेनेति सूत्रार्थः ।

पुनः प्रस्तुतमेवाह-

असमाणे चरे भिक्खू, नो पकुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिकेओ परिव्वए ॥

न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयामूर्छितत्वेनान्यतीर्थिकेषु वा नियतविहारादित्यसमानोऽसदृशः । यद्वा समानः साहंकारो न तथेत्यसमानः । अथवा समाणो प्राकृतत्वादसन्निवासन् यत्रास्ते तत्राप्यसन्निहित इति हृदयसन्निहितो हि सर्वः स्वाश्रयस्योद्वन्तमावहत्ययं तु न तथेत्येवंविधः स चरेदप्रतिबद्धविहारितया विहरेत्किंकुर्वन्निति कथमेतत्स्यादित्याह नैव कुर्यात्परिग्रहं ग्रामादिषु ममत्वबुद्ध्यात्मकमथाह च "गामे कुले वा नगरे व देसे, ममत्ति भावं न कहिं वि कुज्जा" इति इदमपि यथा स्यात्तथाह असंसक्तोऽसंबन्धो गृहस्थैर्गृहिभिरनिकेतोऽविद्यमानगृहो नैकत्र बद्धास्पदः परिव्रजेत् सर्वतो विहरेत् न नियतदेशादौ गृहिसंपर्केऽपकत्र बद्धास्पदत्वे नियतदेशादिविहारितायां वा स्यादपि ममत्वबुद्धिस्तदभावे तु निरवकाशैवेयमिति भाव इति सूत्रार्थः अत्र शिष्यद्वारमनुसरन् "असमाणो चरेइत्यादि" सूत्रसूचितमुदाहरणमाह ।

कोल्लइरे वत्थव्वो, दत्तो सीसो य हिंमतो तस्स ।
उवहरइ धाइपिंडं अंगुलिजलना य सा देवी ॥

कोल्लइरे कोल्लइरनाम्नि नगरे वास्तव्य आचार्य इति शेषः दत्तः शिष्यश्च हिण्डकस्तस्य उपहरति धात्रीपिण्डमङ्गुलिज्वलनाच्च सा देवीति गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवगन्तव्यः । सचायं कोल्लयरे णयरे वत्थव्वा संगमथेरो आयरिया दुब्भिक्खे तेहिं सेजया विसज्जिया तं नगरं नवभागे काऊणं जंघाबलपरिहाणा विहरंति णगरदेवीया य तेसिं किर उवसंता तेसिं सीसो दत्तो नाम आहिंडओ चिरेणं कालेणं

उ ब्रूसवाहओ आगतो सो तेसिं पडिस्सयं न पविट्ठो नितया वालिसि भिक्खा वेलाए उम्माहियं हिंडंताणं संकिलस्सइ कुढे सड्ढकुलाइं ण दावेतित्ति तेहिं नायं एगत्थ सेढिकुले रेवइयाए गहितो दारओ छम्मासा रोव्वंतस्स आयरिएहिं चप्पुडिया कया मा रोवत्ति वाणमंतराए मुक्को तेहिं तुट्ठेहिं पडिलाभिया जहिच्छिएणं सो विसज्जितो एयाणि कुलाणित्ति आयरिया सुचिरं हिंडिऊण अंतपंतं गहाय आगया समुद्दिट्ठा आवस्सए आलोयणाए आलोएहिं भणति तुब्भेहिं समं हिंडतो वि धातिपिंडो ते भुत्तो भणति अतिसुहुमाइं पेच्छहत्ति एक्कट्ठो देवयाए अकुरत्ते वासं अंधकारो य विगुरुविलो एसो हिंमोहित्ति आयरिएहिं भणितो अतिहिलि सो भणइ अंधकारो त्ति आयरिएहिं अंगुली दाइया सा पज्जलिया आउट्टो आलोएति आयरिया वि से णवजागे करेंति तताश्च यथा महात्मभिर्मीभिः संगमस्थविरैश्चर्यापरीषहोऽध्यासितस्तथान्यैरप्यध्यासितव्य इति । उत्त० २ अ० ।

एगचारि [न्] एकचारिन्–त्रि० एकः सन् चरति चर गिनि सुप्सुपेति स० असहायचरे, एकचरे, बुद्धिसहचरभेदे, पुं० वाच० । एक एव चरति तच्छीलश्चैकचारी प्रतिमाप्रतिपन्ने एकल्लविहारिणि जिनकल्पादिके, "बहुजणे वा तह एगचारी" सच प्रतिमाप्रतिपन्न एकल्लविहारी जिनकल्पादिर्वा स्यात्स च बहुजन एकाकी वा । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एगचोर–एकचौर पुं० चौरभेदे, एकचौरा ये एकाकिनः सन्तो हरन्तीति । प्रश्न० ३ द्वा० ।

एगच्च–एकार्च त्रि० एका असदृशी अर्चा शरीरं येषान्ते एकार्चाः असदृशशरीरे, अद्वितीयपूज्ये, संयमानुष्ठाने च । "एग च्चा पुण एगजयंतारो" एकार्च्या अद्वितीयपूज्याः संयमानुष्ठानं वा एका असदृशी अर्चा शरीरं येषान्ते एकार्चा इति । उपा० २ अ० ।

एगच्छत्त–एकच्छत्र–एकराजके, एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहंति' प्रश्न० २ द्वा० ।

एगजडि [न्] एकजटिन्–पुं० अष्टाशीतिषु महाग्रहेषु एकाशीतितमे महाग्रहे, सू० प्र० २० । चं० प्र० । कल्प० । स्थानाङ्गटीकायां तु त्र्यशीतितमः 'दो एगजडी' स्था० २ ठा० ।

एगजाय–एकजात–त्रि० रागादिसहायवैकल्यादेकीभूते, स्था० ७ ठा० । खग्गिविसाणं व एगजाए, खड्ग आटव्यपशुविशेषः चतुष्पदविशेषः स ह्येकशृङ्गो भवतीत्युच्यते खड्गविषाणमिवैकजातो रागादिसहायवैकल्यादेकीभूत इत्यर्थः । प्रश्न० ५ द्वा० ।

एगट्ठ–एकार्थ–पुं० एकः अर्थः प्रयोजनमभिधेयं पदार्थो वा । एकस्मिन्प्रयोजने, एकस्मिन्नभिधेये पदार्थे च । वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः । वाच० एकोऽभिन्नोऽर्थोऽस्येत्येकार्थः । वृहु० । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आ० म० प्र० । अभिन्नार्थे, पंचा० ११ विव० । अनन्याभिधेये, पंचा० १३ विव० । एकार्थवाचके शब्दे, स्था० १० ठा० । "चारो चरिया चरणं एगट्ठं वंजणं तहिं भिन्नं" एकोऽभिन्नोऽर्थोऽस्येत्येकार्थः किं तद् व्यञ्जनम् । व्यज्यतेऽभिव्यक्तियतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनम् आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । एकार्थश्च एकशक्त्योपस्थितार्थकः वाच० । "पच्चक्खाणं नियमो, चरित्तधम्मो य होंति एगट्ठा" एकार्था अभिन्नार्था इति पंचा० ५ विव० "एक्केक्कस्स य एसो नाम इगट्ठिया" एकोऽर्थो येषान्तान्येकार्थिकानीति आ० म० प्र० "नायं आहारपंति दिट्ठंतोवमनिदरिसणं चेव एगट्ठं" एकार्थमेकार्थिकजातमिति । दश० १ अ० । "तस्सुगामो समुहे पभवो पमादि होंति एगट्ठा" पंचा० १३ विव० । एकप्रयोजनयुक्ते, त्रि० वाच० ।

एकस्थ–त्रि० एकस्मिन् तिष्ठति स्था० । एकत्रस्थिते, एकत्राश्रिते, "दो वि तुल्ला एगट्ठा अवि से समणायत्ता" एकस्थौ वा एकत्राश्रितौ सिद्धिरूपतापेक्षयेति भावः । भ० १४ श० ६ उ० ।

एकार्थ्य–न० एकार्थस्य भावः ष्यञ्-एकशक्त्या विशिष्टैकार्थोपस्थापने एकार्थीभावे, एकप्रयोजने च । वाच० ।

एगट्ठाण–एकस्थान– न० एकमचलनेनाद्वितीयादिकं स्थान–मङ्गन्यासमेकरूपे स्थाने, तद्विषयं प्रत्याख्यानमप्येकस्थानमेकमेव वा स्थानं यत्र तत्तथा । पंचा० ५ विव० । एकमद्वितीयं स्थानमङ्गविन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानम् । प्रत्याख्यानभेदे, ध० २ अधि० । तथा चाह "एकट्ठाणं पच्चक्खाति चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगणं सहसागारीयागारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणियागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तियागारेणं वोसिरइत्ति" आव० ६ अ० । "सत्तेगट्ठाणस्स उ त्ति" सप्तैकस्थानस्य तु एकस्थानं नाम प्रत्याख्यानं तत्र सप्ताकारा भवन्ति इहेदं सूत्रं एगट्ठाणमित्यादि एगट्ठाणए जं जहा अंगोवंगं ठवियं तेण तहाट्ठिएण चेव समुद्दिसिअव्वं मागारा से सत्त आउट्टणपसारणा णत्थि सेसं जहा एकासणए" पं० व० । आव० । सप्ताकारा भवन्ति । एकमचलनेनाद्वितीयादिकं स्थानमङ्गन्यासमेकरूपं स्थानं तद्विषयं प्रत्याख्यानमप्येकस्थानमेक एव वा स्थानं यत्र तत्तथा । तस्यैकस्थानस्य पुनस्तु शब्दः पुनःशब्दार्थो व्याख्यात एव । ते च यथैवैकाशनके नवरमाकुञ्चनप्रसारणमिह नास्ति एकस्थानकस्य मुखहस्तवर्जाङ्गावयवानामचलरूपत्वादिति । पंचा० ५ विव० । तथा च अथैकस्थानकं तत्र सप्ताकाराः अथ सूत्रम् । "एकट्ठाणं पच्चक्खाइ" इत्याद्येकासनवदाकुञ्चनप्रसारणाकारवर्जमेकमद्वितीयं स्थानमङ्गविन्यासरूपं यत्र तदेकस्थानप्रत्याख्यानं यद्यथा भोजनकालेऽङ्गोपाङ्गं स्थापितं तस्मिंस्तथा स्थापित एव भोक्तव्यम् मुखस्य पाणेश्चाशक्यपरिहारत्वाच्चालनं न प्रतिषिद्धम् । आकुञ्चनप्रसारणाकारवर्जनं च एकाशनतो भेदज्ञापनार्थम् अन्यथा एकाशनमेव स्यादिति । ध० २ अधि० ।

एगट्ठाणज्झयण–एकस्थानाध्ययन– न० एकलक्षणं स्थानं संख्याभेदः एकस्थानन्तद्विशिष्टजीवाद्यर्थप्रतिपादनपरमध्ययनमप्येकस्थानमिति । एकस्थानकाख्यं प्रथममध्ययनमिति च । तत्र सामान्यमाश्रित्य प्रथमाध्ययने आत्मादिवस्त्वेकत्वेन प्ररूपितमिति स्था० २ ठा० ।

एगट्ठाणिय–एकस्थानिक–त्रि० सहजे स्वभावस्थे, "निबुच्छुरसो सहजो दुग्गइ चउभागकाढिइक्कभागंतो इगट्ठाणाए" यथा निम्बरस एव इक्षुरस एव सहजः स्वभावस्थ एकस्थानिकरस उच्यते इति । कर्म० ॥

एगट्ठिय–एकार्थिक–पुं० एकश्चासावर्थश्चाभिधेय एकार्थः । स यस्यास्ति एकार्थिकः । एकार्थवाचके पर्यायशब्दे, स्था० १ ठा० आ० म० प्र० । पंचा० । तदात्मके सामान्यापेक्षया शब्दविशेषरूपे विशेषभेदे, तथाच स्थानाङ्गे दशविधविशेषमधिकृत्य "एगट्ठिए य" (एगट्ठिएइयत्ति) एकश्चासावर्थश्चाभिधेय एकार्थः स यस्यास्ति स एकार्थिकः । एकार्थवाचक इत्यर्थः इतिः रूपप्रदर्शने चः समुच्चये स च शब्दसामान्यापेक्षयैकार्थिको नाम शब्दविशेषो भवति यथा घट इति तथा अनेकार्थिको यथा गौःयथोक्तं "दिशि दृशि वाचि जले भुवि दिवि वज्रे पशौ च गोशब्दः" इति इहैकार्थिकविशेषग्रहणेनानेकार्थिकोऽपि गृहीतस्तद्विपरीतत्वाच्चेदासौ गण्यते दशस्थानकानुरोधाद्वा वा

कथंचिदेकार्थिके शब्दग्रामे यः कथञ्चिद्भेदः स विशेषः स्यादिति प्रक्रमः (इच्छत्ति) पूरणे यथा शक्रपुरन्दर इत्यत्रैकार्थे शब्दद्वये शकनकाल एव शक्रः पूर्दारणकाल एव पुरन्दर एवं भूतनयादेशादिति । स्था० १० ठा० । आचाराङ्गनिर्युक्तौ आचारमधिकृत्य "तस्सेगट्ठयवत्तणं" तस्य भावाचारस्य एकार्थाभिधायिनो वाच्याः ते च किंचिद्विशेषादेकमेवार्थं विशेषतः प्रवर्तन्त इत्येकार्थिकाः शक्रपुरन्दरादिवत् एकार्थाभिधायिनां च बन्धानुलोम्यादिप्रतिपत्त्यर्थमुद्भटनम् । आचा० १ उ० ।

एकार्थाभिधाने को गुण इत्याह ।

बंधाणुलोमया खलु, सुत्तम्मि य लाघवं असंमोहो ।
सत्थगुणदीवणा वि य, एगट्ठगुणा हवंतेए ॥

एकार्थिकाभिधाने वान्यर्थपदानि गाथादिनिबन्धमिष्यन्ते तेषां बन्धे अनुलोमता भवति अननुकूलाभिधानपरिहारेणानुकूलाभिधाने बन्धो भवतीत्यर्थः । अनुकूलेन च विधानेन बन्धे सूत्रस्य लाघवं भवति । तथा विवक्षितार्थस्यासंमोहो निःसंदिग्धप्रतीतिर्यथा शक्र इति वा पुरन्दर इति वा इन्द्र इति वा इत्याद्युक्ते शक्रशब्दार्थस्य तथा शास्ता तीर्थकरस्तस्य गुणास्तेषां दीपना प्रकाशना भवति यथा अहो भगवान् एकैकस्यार्थस्य बहूनि पर्यायनामानि जानातीति एते एकार्थिनामभिधाने गुणा भवन्ति । बृ०१ उ० । (एकार्थिकाश्च तत्तच्छब्दे द्रष्टव्याः) ।

एकास्थिक–त्रि० फलं फलं प्रति एकमस्थि येषान्ते एकास्थिकाः शेषाद्वेति कप्रत्ययः एकमास्थिकं फलमध्ये बीजं येषान्ते एकास्थिकाः । प्रत्येकबादर वनस्पतिकायिकवृक्षभेदे, प्रज्ञा०१ पद०। ज्ञ० । " एगट्ठियं एगबीजं जहा अंबगोत्ति " नि० चू० १ उ० ।

तथा चैकास्थिकप्रतिपादनार्थमाह ।

से किं तं एगट्ठिया ? एगट्ठिया अणेगविहा पएणत्ता तंजहा " निंबंब जंबुकोसं–बसाल अंकोल्लपीलुसेलूया । सल्लइ मोयइ मालूय, वउल पलासे करंजे य ॥१॥ पुत्तंजीवअरिट्ठे, विभेलए हरिडए य जल्लाए । उंबेभरिया खीरिणि, बोधव्वे धायइ पियाले ॥ पूई य निंबकरए, सएहा तह सीसवा य असणे य । पुएणाग नागरुक्खे,सिरवएणी तह असोगे य" जे यावन्ने तहप्पगारा एतेसिणं मूलाविअसंखिज्जजीविया कंधावि खंधावि तयावि सालावि पवालावि पत्तापत्ते य जीविया पुप्फा अणेगजीवा फला एगट्ठिया सेत्तं एगट्ठिया ॥

अथ के ते एकास्थिका अनेकविधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा । निंबंबे इत्यादि गाथात्रयम् तत्र निम्बाम्रजम्बूकोशम्बाः प्रतीताः । शालः सर्जः । (अंकोल्लत्ति) अंकोठः प्राकृतत्वात्सूत्रे च ठकारस्य ल्लादेशः अंकोट्टेल्लइति वचनात् । पीलुः प्रतीतः शैलुः श्लेष्मान्तकः, शल्लकी गजप्रिया मोचिकीमालुकौ देशविशेषप्रतीतौ । बकुल: केसरः पलाशः किंशुकः करञ्जो नक्तमालः पुत्रजीवको देशविशेषप्रतीतः अरिष्टः पिचुमन्दः बिभीतकोऽक्षः हरीतकः कोङ्कणदेशप्रसिद्धः कषायबहुलः भल्लातको यस्य भिल्लातकाभिधानानि फलानि लोकप्रसिद्धानि । उम्बेभरिका क्षीरिणी । धातकी प्रियालपूतिकरञ्जश्लक्ष्णशिंशपाशनपुन्नागनागश्रीपर्णशोका लोकप्रतीताः (जे यावन्ने तहप्पगारा इति) येऽपि चान्ये तथाप्रकारा एवंप्रकारास्तत्तद्देशविशेषभाविनस्ते सर्वेऽप्येकास्थिका वेदितव्याः एतेषामेकास्थिकानां मूलान्यप्यसंख्येयप्रत्येकशरीरजीवात्मकानि एव । कन्दा अपि स्कन्धा अपि त्वचोऽपि शाखा अपि प्रवाला अपि प्रत्येकमसंख्येयप्रत्येकशरीरजीविकाः । तत्र मूलानि यानि कन्दस्याधस्ताद्भूमेरन्तः प्रसरन्ति तेषामुपरि कन्दास्ते च लोकप्रतीताः स्कन्धाः स्थूणाः त्वचः छल्यः शालाः शाखाः प्रवालाः पल्लवाङ्कुराः ४ (पत्तापत्तेय जीवयत्ति) पत्राणि प्रत्येकजीवकानि एकैकं पत्रमेकैकेन जीवेनाधिष्ठितामिति भावः । पुष्पाण्यनेकजीवानि प्रायः प्रतिपुष्पं प्रतिपत्रं जीवत्वाचा फलान्येकास्थिकानि उपसंहारमाह (सेत्तं एगट्ठिया) सुगमम् । प्रज्ञा०१ पद ।

अह भंते अत्थिया तंदुयवोरकविट्ठअंबाडगमाउलिंगविल्लआमलगफणसदालिमअसोट्ठअवरवडणगोअग्गाढिरुक्खपिप्पलिसतरपिल्लक्खुकाउंबरियकुच्छुंभरियदेवदालितिलगलउयछत्तोहसरीससत्तवएणदधिवएणलोद्धवचंदणज्जुएणीवकुमीगकलंवाणं । एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति तेणं भंते ! एवं एत्थावि मूलादीया दस उद्देसगा तालवग्गसरिसा णेयव्वा जाव बीयं । भ० २२ श० २ उ० ।

एगट्ठियदोस–एकार्थिकदोष– पुं० शब्दान्तरापेक्षयैकार्थिकशब्द इत्येवंरूपे दोषसामान्यापेक्षया दोषविशेषे, स च स्थानाङ्गे यथा " दोसे एगट्ठिए इय " अथवा दोषशब्द इहापि संबध्यते । ततश्चायं न्यायो भवति शब्दान्तरापेक्षयैकार्थिकः शब्दो नाम यो दोष इति । अन्यमपि च दोषसामान्यापेक्षया विशेष इति । स्था० १० ठा० ।

एगट्ठियपय एकार्थिकपद– न० सिद्धश्रेणिकपरिकर्मनिकश्रुतविशेषे, स० । (तद्वक्तव्यता सिद्धसेणियपरिकम्मिय शब्दे)

एगट्ठियाणुजोग एकार्थिकानुयोग–पुं० एकश्चासावर्थश्चाभिधेयो जीवादिः स येषामस्ति ते एकार्थिकाः शब्दास्तैरनुयोगस्तत्कथनमित्यर्थः । एकार्थिकशब्दैः कथनरूपे द्रव्यानुयोगभेदे, एकार्थिकानुयोगो यथा जीवद्रव्यं प्रतिप्राणिभूतः सत्त्व इति एकार्थिकानां वाऽनुयोगो यथा जीवनात्प्राणधारणाज्जीवः प्राणानामुच्छ्वासादीनामस्तित्वात्प्राणी सर्वदा भवनाद् भूतः सदा सत्वात्सत्व इत्यादि । स्था० १० ठा० ।

एगणाम [न] एकनामन्– न० नामोपक्रमभेदे,

से किं तं एगणामे ? नामाणि जाणि काणि अदव्वाणं गुणाणं पज्जवाणं च तेसिं आगमनिहसेनातियक्खे आसिणासे तेणे एगनामे ।

इह येन केनचिन्नाम्ना एकेनापि सता विवक्षितपदार्था अभिधातुं शक्यन्ते तदेकनामोच्यते इति । अनु० । एकं नामयति क्षपयतीत्येकनामः । एकस्य क्षपके, त्रि०

जे एगणामे से बहुणामे जे बहुणामे से एगणामे इति

यो हि प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायाधिरूढकश्रेणकः एकमनन्तानुबन्धिनं क्रोधं नामयति क्षपयति स बहून् मानादीन्नाशयति क्षपयत्यप्रत्याख्यानादींश्च स्वभेदान्नामयति मोहनीयं चैकं यो नामयति स शेषा अपि प्रकृतीर्नामयति यो वा बहून् स्थितिविशेषान्नामयति सोऽनन्तानुबन्धिनमेकं नामयति मोहनीयं वातः अस्यैकोनसप्ततिभिर्मोहनीयकोटाकोटीभिः क्षयमुपगताभिर्ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयान्तरायाणामेकोनत्रिंशद्भिर्नामगोत्रयोरेकोनविंशतिभिः शेषकोटाकोट्यापि देशोनया मोहनीयक्षपणाहों भवति नान्यदेत्यतोऽपदिश्यते यो बहु नाम स एव परमार्थत एकनाम इति क्षपकोऽभिधीयते उपशामको वा उपशमश्रेण्याश्रयेणैकबहूपशमतावदेकोपशमता वा वाच्येति । आचा० १ श्रु०३ अ० ।

एगणासा–एकनासा–स्त्री० पश्चिमरुचकवास्तव्यायां स्वनामख्यातायां पश्चिमदिक्कुमार्याम्, आव० १ अ० । आ० म० प्र० । स्था० । द्वा० । आ०चू० ।

एगणिक्खमण––एकनिष्क्रमण––त्रि० एकनिष्क्रमणोपेते, तथा चावश्यके द्वादशावर्त्ते वन्दनकमाधिकृत्य " एगनिक्खमणं चेव " एकनिष्क्रमणमावश्यिकया निर्गच्छत इति–आव० ३ अ०। एकनिष्क्रमणमवग्रहादावश्यिकया निर्गच्छतो द्वितीयवेलायां ह्यवग्रहान्न निर्गच्छति पादपतित एव सूत्रं समापयतीति। सम.१ स०।

एगणिसिज्जा–एकनिषद्या–स्त्री० एकासनपरिग्रहे, " से जगवं महावीरे एगदिवसेणं एकनिसिज्जाए चउप्पन्नाइं वागरणाइं वागरित्था " सम० ।

एगत [य] र–एकतर–त्रि० एक उत्तरद्वयोर्मध्ये जातिगुणक्रियादिभिर्निर्धार्य्ये एकस्मिन्, एकतरो ब्राह्मणःएकतरः शूद्रः एकतरो नील एकतरः शुक्ल इत्यादि । वाच० । "एत्तो एकतरमवि" एकतरमपि अन्यतरदपीति, । विपा० ७ अ० । " एगतरे अण्णतरे अभिण्णाय " आचा० १ श्रु० ६अ० २उ० । " अब्भुज्जियमेगयरं " अभ्युद्यतं प्रयतमेकतरं द्वयोरन्यतरमिति पंचा० । १८ विव० ।

एगतल्लिय–एकतल्लिक– त्रि० एकतल्लोपेते, [तल्लिगत्ति] उपानहस्ताश्च एकतल्लिकास्तदभावे यावच्चतुस्तल्लिका अपि गृह्यन्त इति । प्रव० ८३ द्वा० ।

एगता(या)-एकता–स्त्री० एकस्वभावः एक-तल्-एकत्वे, वाच० ।

एगताणया–एकतानता–स्त्री० विसदृशपरिहारेण सदृशपरिणामधारावन्धे, "चित्तस्य धारणादेशे प्रत्ययस्यैकतानता" द्वा०२४द्वा. अनेदपरिणतौ, अष्ट० ।

एगत्त–एकत्व–न० एकस्य भावे त्व-एकत्वसंख्यायाम्,साम्ये, श्रेष्ठत्वे, वाच०। अभेदे च । स्था० ४ ठा० । आव० । एकरूपत्वे, स्था०७ ठा० । एकवचने च। स्था०१० ठा० [एगत्ति] एकत्वमेकवचनं तदनुयोगो यथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यत्रैकवचनं सम्यग्दर्शनादीनां समुदितानामेवैकमोक्षमार्गत्वख्यापनार्थमसमुदितत्वे त्वमोक्षमार्गतेति प्रतिपादनार्थमिति । स्था०१० ठा० । " दो सा एगसमावण्णा " नि० चू० २० उ० ॥

एगत्तगय–एकत्वगत– त्रि० एकत्वभावनाभावितान्तःकरणे, " णिक्खंते एगत्तगए " आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

एगत्तभावना–एकत्वभावना– स्त्री० भावनाभेदे, तत्स्वरूपं यथा

अण्णो देहातो अहं–नाणत्तं जस्स एवमुवलद्धं ।
सो किं विसहारिक्कं, न कुणइ देहस्स भंगे वि ॥

अहं देहादन्य इत्येवमेकत्वभावनया यस्य साधोः परिकर्म्मणां कुर्वतः शरीरादात्मा नानात्वमुपलब्धः स दिव्यादिषु उपसर्गवेलायां देहस्य भङ्गेऽपि विनाशेऽपि न किञ्चिदपि [आहरिक्कमिति] उपासं न करोति । गता एकत्वभावना । व्य० प्र० १ उ० । अथैकत्वभावना ' उत्पद्यते जन्तुरिहैक एव , विपद्यते चैकक एव दुःखी । कर्म्मार्जयत्येकक एव चित्र-मासेवते तत्फलमेक एव १ यज्जीवेन धनं स्वयं बहुविधैः कष्टैरिहोपार्ज्यते, तत्संभूय कलत्रमित्रतनयैर्भ्रात्रादिभिर्भुज्यते । तत्तत्कर्म्मवशाच्च नारकमरस्त्ववासितिर्य्यग्भवे–प्येकः सैष सुदुःसहानि सहते दुःखान्यसंख्यान्यहो ॥ २ ॥ जीवो यस्य कृते भ्रमत्यनुदिशं दैन्यं समालम्बते, धर्म्माद्भ्रस्यति वञ्चयत्यतिहितान्न्यायादपक्रामति । देहः सोऽपि सहात्मना न पदमप्येकः परस्मिन् भवे, गच्छत्यस्य ततः कथं वदत भोः साहाय्यमाधास्यति ॥ ३ ॥ स्वार्थैकनिष्ठं स्वजनं स्वदेह-मुख्यं ततः सर्वमवेत्य सम्यक् । सर्वस्य कल्याणनिमित्तमेकं, धर्मं सहायं विदधीत धीमान् ॥ ४ ॥ प्रव०६७

अस्याः स्वरूपमुदाहरणञ्च यथा––

जइ वि य पुव्वं ममत्तं, छिन्नं साहूहिं दारमाईसु ।
आयरियाइममत्तं, तहा वि संजायए पच्छा ॥

यद्यपि च पूर्वं गृहवासकालभावि ममत्वं साधुभिर्दाराःकलत्रं तेष्वादिग्रहणात्पुत्रादिषु छिन्नमेव तथाप्याचार्यादिविषयं ममत्वं पश्चात्प्रव्रज्यापर्यायकाले संजायते । तच्च कथं परिहापयितव्यम् । उच्यते ।

दिट्ठिनिवायालावे, अ परोप्परकारिय सपरिपुच्छं ।
परिहासमिहो य कहा, पुव्वपवित्ता परिहवेइ ॥

गुर्वादिषु ये पूर्वं दृष्टिनिपाताः सस्निग्धावलोकनानि ये च तैः सहालापास्तान् तथा परस्परोपकारितां मिथो भक्तपानदानग्रहणाद्युपकारं प्रतिपृच्छं सूत्रार्थविप्रतिपृच्छया सहितं परिहासं हास्यं मिथः कथाश्च परस्परवार्ताः पूर्वप्रवृत्ताः सर्वा अपि परिहापयति । ततश्च ।

तणुईकयम्मि पुव्वं, बाहिरपेम्मे सहायमाईसु ।
आहारे उवहिम्मि य, देहे य न सज्जए पच्छा ॥

सहायः संघाटिकसाधुस्तद्विषये आदिशब्दादाचार्यादिविषये च बाह्यप्रेमणि पूर्वं तनुकीकृते परिहापिते सति ततः पश्चादाहारे उपधौ देहे च न सज्जति न ममत्वं करोति । ततः किं भवतीत्याह ।

पुव्वं छिन्नममत्तो, उत्तरकालं विवज्जमाणे वि ।
साभावियइयरे वा, खुब्भइ दट्ठुं न संगइ ए ॥

पूर्वं छिन्नममत्वाः सर्वेऽपि जीवा असकृदनन्तशो वा सर्वजन्तूनां स्वजनभावेन शत्रुभावेन च संजाता अतः कोऽत्र स्वजनः को वा पर इति भावनया त्रुटितप्रेमबन्धः सन्नुत्तरकालं जिनकल्पप्रतिपत्त्यनन्तरं व्यापाद्यमानानपि सङ्गति ॥ कान् स्वजनान् स्वजातिकानितरान् वा वैक्रियशक्त्या देवादिनिर्मितान् दृष्ट्वा न क्षुभ्यति ध्यानाच्च चलति । अत्रदृष्टान्तमाह ।

पुप्फपुर पुप्फकेऊ, पुप्फवई देविजुअलयं पसवे ।
पुत्तं च पुप्फचूलं, धूअं च सनामियं तस्स ।
सह वड्ढियाण रागो, रायत्तं चेव पुप्फचूलस्स ।
घरजामातुदगाणं, मिलइ निसि केवलं तेणं ।
पव्वज्जा य नरिंदे, अणुपव्वयणं च रोगत्ते ।
वीमंसा उवसग्गे, विडेहि समुहिं च कंदयणा ।

पुप्फपुरं नयरं तत्थ पुप्फकेऊ राया पुप्फवई देवी सा अन्नया जुयलं पसूया पुप्फचूलो दारओ पुप्फचूला दारिया । ताणि दोण्णि सह वड्ढियाणि परोप्परं अईव अणुरत्ताणि । अन्नया पुप्फचूलो राया पव्वइओ अणुरागेणं पुप्फचूलावि भगिणी पव्वइया । सो य पुप्फचूलो अन्नया जिनकप्पं पडिवज्जिउकामो एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेइ । इओ य एगेणं देवेणं वीमंसणानिमित्तं पुप्फचूलाए अज्जाए रूवं विउव्विय हुत्ता धरिसिउं पवत्ता । पुप्फचूलो य अणगारो तेणं ओगासेणं बोलेइ ताहे सा पुप्फचूला अज्जा जेट्ठज्जे सरणं भवाहित्ति वाहइ सो य भगवं वुच्छिन्नपेमबंधणो 'एगो हं नत्थि मे को वि नाहमन्नस्स कस्सई' इच्चाइ एगत्तभावणं भावितो गओ सट्ठणं । एवं एगत्तभावणाए अप्पाणं भावेयव्वोत्ति । गाथाक्षरयोजना त्वेवं पुप्फपुरे पुप्फकेतू राजा पुप्फवती देवी युगलं प्रसूते वर्तमाननिर्देशस्तत्कालविवक्षया पुत्रं च

पुष्पचूलं दुहितरं च तस्य सनामिकां समानाभिधानां तयोश्च सहवर्द्धितयोरनुरागो राजत्वं चैव पुष्पचूलस्य पुष्पचूलायाश्च गृहया मात्रे दानम् । सा च तेन भर्त्रा समं केवलं निशि रात्रौ भिक्षते, प्रव्रज्या च नरेन्द्रपुष्पचूलस्य तदनुरागेणानुप्रव्रजनं च पुष्पचूलायाः । ततो जिनकल्पं प्रतिपित्सुरेकत्वभावनां भावयितुं लग्नो विमर्शपरीक्षां तदर्थं देवेनोपसर्गे क्रियमाणे विदैः संमुखीं पुष्पचूलां कृत्वा धर्षणं कर्तुमारब्धम् । ततः क्रन्दना आर्य ! शरणं शरणमिति । अथोपसंहारमाह ।

एगत्तभावणाए, न कामभोगे गणे सरीरे वा ।

सज्जइ वेरग्गगओ, फासेइ अणुत्तरं करणं ॥

एगत्वभावनया भाव्यमानो यः कामभोगेषु शब्दादिषु गणे गच्छे शरीरे वा न सज्जति न सङ्गं करोति किंतु वैराग्यगतः सन् स्पृशत्याराधयति अनुत्तरं करणं प्रधानयोगसाधनं जिनकल्पपरिकर्मेति । गता एकत्वभावना । एकत्वभावनया चात्मानं भावयन् गुर्वादिषु दर्शनालापादिपूर्वं परिहरति । ततो बादरममत्वे मूलत एव विच्छिन्ने देहोपध्यादिभ्योऽप्यात्मानं भिन्नमेव लोकयन् सर्वथा तेषु निरभिष्वङ्गो भवति—ध० ४ अधि० । तथा चाह ।

एगंतमेयं अभिपत्थएज्जा, एवं पमोक्खो न मुसंति पासं ।

एस प्पमोक्खो अमुसे वरे वि, अकोहणे सच्चरते तवस्सी ॥ १२ ॥

एकत्वमसहायत्वमभिप्रार्थयेदेकत्वाध्यवसायी स्यात् । तथाहि जन्मजरामरणरोगशोकाकुले संसारे स्वकृतकर्मणा विलुप्यमानानामसुमतां न कश्चित्त्राणसमर्थः सहायः स्यात् । तथा चोक्तं " एको मे सासओ अप्पा णाणदंसणसंजुओ ॥ सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संयोगलक्खणा " इत्यादिकामेकत्वभावनां भावयेदेवमनयैकत्वभावनया प्रकर्षेण मोक्षः प्रमोक्षो विप्रमुक्तसंगता न मृषा अलीकमेतद्भवतीत्येवं पश्य । एष चैकत्वभावनाभिप्रायः प्रमोक्षो वर्त्तते अमृषारूपः सत्यश्चायमेव । तथा वरोऽपि प्रधानोऽप्ययमेव भावसमाधिर्वा यदि वा तपस्वी तपोनिष्टप्तदेहोऽक्रोधनः उपलक्षणार्थत्वादमानो निर्मायो निर्लोभः सत्यरतश्च एष एव प्रमोक्षोऽमृषासत्यो वरः प्रधानश्च वर्तत इति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

एगे चरे ठाणमासणे, सयणे एगे समाहिए सिया ।

भिक्खू उवहाणवीरिए, वइगुत्ते अज्झत्तसंवुडो ॥ १२ ॥

[एगेचरे इत्यादि] एकोऽसहायो द्रव्यत एकल्लविहारी भावतो रागद्वेषरहितश्चरेत् । तथा स्थानं कायोत्सर्गादिकमेक एव कुर्यात् । तथा आसनेऽपि व्यवस्थितोऽपि रागद्वेषरहित एव तिष्ठेत् । एवं शयनेऽप्येकाक्येव समाहितो धर्मादिध्यानयुक्तः स्यात् भवेत् । एतदुक्तं भवति । सर्वास्वप्यवस्थासु स्थानासनशयनरूपासु रागद्वेषविरहात् समाहित एव स्यादिति । तथा भिक्षणशीलो भिक्षुः । उपधानं तपस्तत्र वीर्यं यस्य स उपधानवीर्यः । तपस्यनिगूहितबलवीर्य इत्यर्थः । तथा वाग्गुप्तः सुपर्यालोचिताभिधायी अध्यात्मं मनस्तेन संवृतो भिक्षुर्भवेदिति ॥ १२ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

एगत्तवियक्क—एकत्ववितर्क— त्रि० एकत्वेनाभेदेनोत्पादादिपर्यायाणामन्यतमैकपर्यायालम्बनयेत्यर्थः वितर्कः पूर्वगतश्रुताश्रयो व्यञ्जनरूपोऽर्थरूपो वा यस्य तदेकत्ववितर्कम् । शुक्लध्यानभेदे, स्था० ४ ठा० । भ० । आव० । [तद्वक्तव्यता सुक्कज्झाण शब्दे]

एगत्ताणुओग—एकत्वानुयोग—पुं० एकत्वमेकवचनन्तदनुयोग एकत्वानुयोगः । शुकवागनुयोगभेदे, स च यथा सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यत्रैकवचनं सम्यग्दर्शनादीनां समुदितानामेवैकमोक्षमार्गत्वख्यापनार्थमसमुदितत्वे—त्वमोक्षमार्गतेति प्रतिपादनार्थमिति । स्था० १० ठा० ।

एगत्तिय—एकत्रिक—त्रि० एकनरकाद्याश्रिते, एए एगइया सत्त दंडगा भवंति ॥ (एगत्तियत्ति) एकत्विका एका नारकाद्याश्रिता इति । भ० १२ श० ४ उ० ।

एगत्तीकरण—एकत्वीकरण—न० अनेकावलम्बनत्वस्यैकावलम्बनत्वकरणे, " मणसा एगत्तीकरणेणं " अनेकत्वस्यानेकावलम्बनत्वस्य एकत्वकरणमेकावलम्बनत्वकरणमेकत्वीकरणं तेनेति भ० २ श० ५ उ० ।

एगत्तीगय—एकत्वगत—त्रि० संघातमापन्ने, "नाहे से एएसा एगत्तीगया भवंति" एकत्वगताः संघातमापन्ना भवन्तीति । भ० ८ श० ९ उ० ।

एगत्तीभावकरण—एकत्वीभावकरण—न० अनेकस्य सत एकतालक्षणभावकरणे, भ० ७ श० ९ उ० । एकाग्रतायाम्, "मणसा एगत्तीभावकरणेणं " अनेकत्वस्य एकत्वस्य भवनमेकत्वीभावस्तस्य यत्करणं तत्तथा तेन एकत्वीभावकरणेन आत्मन इति गम्यते मनस एकाग्रतयेत्यर्थः । औप० । तथा च भगवत्याम् योगप्रतिसंलीनतायास्तृतीयभेदमधिकृत्योक्तम् ॥ " मणस्स एगत्तीभावकरणं " विशिष्टैकाग्रत्वेन एकता तद्रूपस्य भावस्य करणमेकताभावकरणम् । आत्मना वा सहैकता निरालम्बनत्वं तद्रूपो भावस्तस्य करणं यत्तत्तथा । वाक्प्रतिसंलीनताया अपि तृतीयं भेदमधिकृत्य तत्रैवोक्तम् "वइएगत्तीभावकरणं" ॥ वाचो वा विशिष्टैकाग्रत्वेन एकतारूपभावकरणमिति । भ० २५ श० ७ उ० ।

एगत्थ—एकत्र—अव्य० एक० त्रल् एकस्मिन्नित्यर्थे, वाच० । "इय एगत्थ लोगं मिलितंति" नि० चू० १ उ० ।

एगदंडिन्—एकदण्डिन्—पुं० एकः केवलः शिखायज्ञोपवीतादिशून्यो वा दण्डोऽस्यास्तीति इन् । "यदा हृदाऽध्यवसितं परं ब्रह्म सनातनम् । तदैकदण्डं संगृह्य, सोपवीतां शिखां त्यजेत्" इत्युक्तलक्षणे (वाच०) परतीर्थिके परिव्राजकभेदे, सन्यासी तावच्चतुर्विधः कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसभेदात् । तत्र कुटीचकबहूदकयोस्त्रिदण्डधारणम् । हंसस्यैकदण्डधारणम् । परमहंसस्य न दण्डधारणमिति भेदः । वाच० । एकदण्डिकाः पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मुक्तिरित्याभिहितवन्तः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

एगदंतसेढि—एकदन्तश्रेणि—त्रि० एकदन्तस्य श्रेणिः पङ्क्तिर्यस्य स तथा । औप० । एकाकारदन्तपङ्क्तौ, जी० ३ प्रति० । "एगदंतसेढी विव अणेगदंतो " एकस्य दन्तस्य श्रेणिः पङ्क्तिर्यस्य स तथा स इव परस्परानुपलक्ष्यमाणदन्तविभागत्वात् अनेके दन्ता यस्य स तथा । औप० । एको दन्तो यस्याः सा एकदन्ता सा श्रेणिर्येषां ते तथा त इव दन्तानामपि घनत्वादेकदन्तेव दन्तश्रेणिस्तेषामिति भावः । अनेकदन्तो द्वात्रिंशद्दन्त इति भावः । प्रश्न० ४ द्वा० । तं० । जी० ।

एगदा [या]—एकदा— अव्य० कदाचिदित्यर्थे, " एगया समियस्स " एकदा कदाचित् गुणसमितस्य गुणयुक्तस्येति आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । " इत्थिओ एकता णिमंतंति " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० "सजणेहिं तस्स पुच्छिसु एगचरा वि एगदा" आचा० १ श्रु० ९ अ० १ उ० ।

एगदिट्ठि—एकदृष्टि—स्त्री० एका अभिन्ना अनन्यविषयत्वात् दृष्टिः । अनन्यविषयदर्शने, बहु० तथादृष्टियुक्ते, त्रि० वाच० । " अणिमिसणयणेगदिट्ठीए " एकदृष्टिक एकपुद्गलगतदृष्टिरिति

पंचा० १८ विव०। काणे च। त्रि० । काणत्वञ्च चक्षुःशून्यैकगोलकवत्त्वमन्धत्वं चक्षुरिन्द्रियशून्यत्वमिति भेदः। काके, पुं०। वाच०।

एगदुक्ख–एकदुःख–त्रि० एकदुःखोपेते, "एगे दुक्खे जीवाणं" एकमेवान्तिमभवग्रहणसंभवं दुःखं यस्य स एकदुःख इति। स्था० १ ठा०।

एगपएसता–एकप्रदेशता–स्त्री० एकप्रदेशस्वभावे, "एकप्रदेशता चेहाखण्डस्कन्धनिवासता एकप्रदेशस्वभाव एकप्रदेशता। सा चेहैकत्वपरिणतिः। अखण्डाकारबन्धस्य संनिवेशस्तस्य निवासता भाजनत्वं ज्ञातव्यम्। निष्कर्षस्त्वयम् अखण्डतया आकृतीनां सन्निवेशः परिणमनव्यवहारः तस्य भाजनमाधाराधेयत्वमेकप्रदेशतोच्यते। द्रव्य० १२ अध्या०।

एगपएसोगाढ–एकप्रदेशावगाढ–त्रि० एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढम्। कर्म०। एकप्रदेशव्यवस्थिते, "एगपएसोगाढं परमोही लहइ कम्मगसरीरं" प्रकृष्टो देशः प्रदेशः एकश्चासौ प्रदेशश्च एकप्रदेशः तस्मिन्नवगाढं व्यवस्थितमेकप्रदेशावगाढं परमाणुद्व्यणुकादि द्रव्यमिति। आ० म० प्र०। स्था०।

एगपक्ख–एकपक्ष–पुं० एकः पक्षो यस्य। असहाये, कर्म०। एकत्रपक्षे, वाच०। एकः पक्षोऽस्येति एकपक्षाश्रिते, एकान्तिके च। "इमं दुपक्खं इममेगपक्खं" इदमस्मदभ्युपगतं दर्शनमेकः पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थः। तथेदमेकः पक्षोऽस्येत्येकपक्षम्। इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात् तच्चेदमविज्ञोपचितं परिज्ञोपचितमीर्यापथं स्वप्नादिकञ्चेत्यक्रियावादिनश्चार्वाकबौद्धादयः। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

एगपत्तय–एकपत्रक–त्रि० एकं पत्रं यत्र तदेकपत्रकम्। अथवैकं च तत्पत्रं चैकपत्रं तदेवैकपत्रकम्। एकपत्रोपेते, एकपत्रे, न०। "उप्पले णं भंते! एगपत्तए किं एगजीवे" एकपत्रकं चेह किशलावस्थाया उपरि द्रष्टव्यम्। भ० ११ श० १ उ०।

एगपरियय–एकपर्यय–त्रि० एकपर्याये, "एगपरियंति वा एगपज्जायंति वा एगणामभेदं ति वा एगट्ठा तं च जहा कसति दव्वस्स एगेव णाम भवति णो वितियंति" आ० चू० १ अ०।

एगपिंडिय–एकपिण्डित–त्रि० एकका: सन्तः पिण्डिता एकपिण्डिताः। एकवर्गेण पिण्डिते, "एगदुगपिंडियाणंपि" एक द्विकपिण्डितानामपि पञ्चाप्येकका: सन्तः पिण्डिता एकपिण्डिताः। अथवा द्विकेन वर्गद्वयेन एक एकाकी एकश्चतुर्वर्गः। अथवा एको द्विवर्गोऽपरस्त्रिवर्ग इत्येवंरूपेण पिण्डिता एकद्विकपिण्डितास्तेषामेकद्विकपिण्डितानामपीति। 'एगदुगपिंडिया वि हु' एकका: पिण्डिता एकपिण्डिता द्विपिण्डिता द्विकेन वर्गद्वयेन पिण्डिता अपिशब्दात् त्रिकपिण्डिताश्चतुष्कपिण्डिताश्चेति। व्य० प्र० १ उ०।

एगपुड–एकपुट–त्रि० एकतले, नि० चू० २ उ०।

एगप्प–एकात्मन्–पुं० एकस्मिन्नात्मनि, । एक आत्मा स्वरूपं स्वभावो वा यस्याः। एकस्वरूपे, एकस्वभावे, त्रि० स्त्रियां टाप् वाच०। चेतनाचेतनं सर्वमेकात्मविवर्त इत्यात्माद्वैतवादे, तस्य च सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमाध्ययनप्रथमोद्देशके द्वितीयोऽर्थाधिकारः। तथोद्देशार्थाधिकारमधिकृत्य निर्युक्तिकृत "पंचमहभूय एकप्पए य" चेतनाचेतनं सर्वमेकात्मविवर्त इत्यात्माद्वैतवादः प्रतिपाद्यत इत्यर्थाधिकारो द्वितीय इति। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। (आत्माद्वैतवादस्य निरूपणनिराकरणे एगावादि शब्दे)

एगप्पवाइ (न्)–एकात्मवादिन्–आत्माद्वैतवादिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

एगप्पवाय-एकात्मवाद-पुं० आत्माद्वैतवादिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

एगप्पमुह–एकप्रमुख–पुं० एको मोक्षोऽशेषमलकलङ्करहितत्वात्संयमो वा रागद्वेषरहितत्वात् तत्र प्रगतं मुखं यस्य स तथा। मोक्षे, तदुपाये वा दत्तदृष्टौ, "णारभेकचरणं सव्वए एकप्पमुहे" आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०।

एगभत्त० एकभक्त०–न० एकं भक्तं भोजनं यत्र। एकाशनके, "तह एगभत्तं च" एकभक्तं च एकाशनकं चेति। पंचा० १२ विव०। एकस्मिन् भक्तः। नितान्तभक्ते, त्रि० वाच०।

एगभत्तट्ठ–एकभक्तार्थ–पुं० एकयोग्ये भक्ते, "दसुवक्खंडियम्मि एगभत्तट्ठो" यावद्दशानां योग्यमुपस्कृतं तावदेकभक्तार्थो ग्राह्यः। एकयोग्यं तत्र भक्तं ग्राह्यमिति भावः। व्य० १ उ०।

एगभविय–एकभविक–पुं० य एकेन भवेन गतेनानन्तरभव एवोत्पत्स्यते तस्मिन्। सूत्रकृताङ्गे द्रव्यपौण्डरीकमधिकृत्य "एगभविए य बद्धाउए य" ॥ एकेन भवेन गतेनानन्तरभवे एव पौण्डरीकेषूत्पत्स्यते स एकभविक इति। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। द्रव्यार्द्रकमधिकृत्यापि "एगभावियबद्धाउया" एकेन भवेन यो जीवः स्वर्गादेरागत्यार्द्रककुमारत्वेनोत्पद्यते इति। सूत्र० १ श्रु० ६ अ० एगभविओ जो अणंतरं उव्वट्टित्ता चितिए भवे भिक्खू होहित्ति" नि० चू० १ उ०।

एगभाव–एकभाव–पुं० एको भावः। अनन्यविषये रागे, एकस्वभावे, एकाशये, अभिन्नत्वे, अभेदे, तुल्यभावके, त्रि० वाच०। एकस्वभावे, "तओ पच्छा एगभावे एगभूते सिया" एको भावः सांसारिकसुखविपर्ययात् स्वाभाविकसुखरूपो यस्यासावेकभावोऽत एव च एकभूत एकत्वं प्राप्त इति–भ० १४ श० ४ उ०।

एगभूय–एकभूत–त्रि० एकत्वं प्राप्ते, भ० १४ श० १ उ०। एकस्मिन् भूते एकासक्ते च। वाच०। अनन्यतया व्यवस्थिते, "एतेगे दुक्खे जीवाणं एगभूते" एकभूतमनन्यतया व्यवस्थिते प्राणिषु न सांख्यानामिव बाह्यमिति। स्था० १ ठा०। एक इव एकभूतः। एकतुल्ये, "एगे दुक्खे जीवाणं" एगभूत इवात्मोपम इत्यर्थ इति। स्था० १० ठा०।

एगमडंब–एकमडम्ब–न० निवेशविशेषे, "कारणमेगमडंबे" कारणमशिवादिलक्षणमधिकृत्य कोऽपि साधुरेकाकी जातः कथमप्येकमडम्बे गतः एकमडम्बं नाम यस्य निवेशस्य सर्वासु दिक्षु च नास्ति कोऽप्यन्यो ग्रामो नगरं वा तस्मिन्नेकमडम्बे गत इति। व्य० ३ उ०।

एगमण–एकमनस्–त्रि० एकाग्रचित्ते, "जाणइ सुहमेगमणो" एकमना एकाग्रचित्त इति। आव० ५ अ०। "जं तं कुयंति एगमणा" एकाग्रमनसस्सन्त इत्यर्थः" संथा०।

एगमेग–एकमेक–एकैक-इक्किक एकैक-त्रि० सुबन्तस्यैकस्य वीप्सार्थे द्वित्वम् "एकं बहुव्रीहिवत्" पा. इति द्विरुक्त एकशब्दो बहुव्रीहिवत् तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ। वाच०। वीप्स्यात्स्यादेर्वीप्स्ये स्वरे मो वा" ८। ३। १। इति सूत्रेण वीप्सार्थात्पदात्परस्य स्यादेः स्थाने स्वरादौ वीप्सार्थे पदे परे मो वा भवति। एकमेकम्। प्रा०। प्रत्येकपदार्थे, वाच०। "ता एएणं दुवे सूरिया तीसाए मुहुत्तेहिं एगमेगं अद्धमंडलं चरतः" इति चं० १ पाहु०

एक्केक्कमसंजुत्तं भत्तहुं एगमेगस्स" एकैकेन संयुक्तमेकः साधुः एकेन सह संयुक्तो यस्मिन्नानयने तदेकैकमिति। औघ०। "एवमिक्किक्के आलावगा भाणियव्वा" स्था० २ ठा०।

एगमेक्कपक्ख–एकैकपक्ष–पुं० उभयगणे, "एक्कमेक्कपक्खोणाम जो उभयगणो भवतीति"। नि० चू० १५ उ०।

एगरस–एकरस–त्रि० एक अद्वितीयस्तिक्तादिरसान्यतमो रसोऽस्येत्येकरसः। तिक्तादिरसान्यतमरसोपेते, उत्त० १ अ०। एकोऽनन्यविषयको रसः रागः अभिप्रायः एकोऽभिन्नः स्वभावो वा अस्य। एकरागे, एकाभिप्राये, अभिन्नस्वभावे च। एको रसो यत्र। एकरागविषये, वाच०।

एगराइया–एकरात्रिकी–स्त्री० एका रात्रिः प्रमाणमस्या इत्येकरात्रिकी। सर्वरात्रिक्यां द्वादश्यां भिक्षुप्रतिमायाम्,। "पमिमं ता एगरातीयं" पंचा० १० विव०। द्वादशी एकरात्रमानेति। ज्ञा० १ अ०। अस्याः स्वरूपं यथा। "एक्का राइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा" (एगराइयंति) एका रात्रिः प्रमाणमस्या इत्येकरात्रिकी ताम्। अस्यां चाष्टमभक्तिको ग्रामादिबहिरीषदवनतगात्रोऽनिमिषनयनः शुष्कपुद्गलनिरुद्धदृष्टिर्जिनमुद्रास्थापितपादः प्रलम्बितभुजस्तिष्ठतीति विशिष्टसंहननादियुक्ता एव चैता प्रतिपद्यन्ते। आह च "पडिवज्जइ एयाओ संघयणधिइजुओ महासत्तो। पडिमाओ भावियप्पा सम्मं गुरुणा अणुन्नाओ" इत्यादि। औप०। भ०। सम०। तथा चावश्यकसूत्रम्।

एमेव एगराइअ, अट्ठमभत्तेण ठाणबाहिरिओ।
ईसीपब्भारगए, अणिमिसनयणेगदिट्ठीए।
सा हट्टु दो वि पाए, वग्घारिअपाणिठायए ठाणं।
वग्घारिलंबिअभुओ, सेसदसासुं जहा भणियं। आव० ४ अ०।

एगरातियं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणगारस्स निच्चं वोसट्ठकाए जाव अहियासेति। कप्पति से अट्ठमेणं भत्तेणं अपाणएणं बहिया गामस्स वा जाव रायहाणिए वा ईसी पब्भारगतेणं एव खलु मूलगताए दिट्ठीए अणिमिसनयणे अहापडिगतेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं दो वि पाए साहट्टु वग्घारितपाणिस्स ठाणं ठाइत्तए नवरं तक्कुडुयस्स वालुगं म साइयस्स वा मंमातियस्स वा ठाणं ठाइत्तए। तत्थ से दिव्वमाणुस्स तिरिक्खाए जोणिआ जाव आधाविध मेव ठाणं ठाइत्तए एगराइयं णं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे त उठाणा आहिताए असुभाए अखमाए अणिस्सेसाए अणाणुगामियत्ताए भवंति। तंजधा उम्मयं वालतेज्जा दीहकालिअं वा रोगातंकं पाउणेज्जा केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा एगरातियं णं भिक्खुपडिमं सम्मं अणुपालेमाणस्स अणगारस्स इमे तओ ठाणाहिताए जाव अणुगामियत्ताए भवंति तंजहा ओहिणाणे वा समुप्पज्जेज्जा मणपज्जवणाणे वा सेसमुप्पज्जेज्जा केवलणाणे वा से समुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा। एवं खलु एसा एगरातिइंदिया भिक्खुपडिमा अहासुत्तं आधाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं सम्मं काएणं फासिया पालिता सोहिता तीरिता किट्टिगता आराहिता आणाए अणुपालिया वि भवति। आ० चू० ४ अ०।

एगराय–एकरात्र–न० एका चासौ रात्रिश्चेत्येकरात्रम्। एकस्यां रात्रौ, एगराइं वा दुराइं वा वसमाणे नाइक्कमइ"॥ स्था० ५ ठा० "गामे गामे य एगरायं" ग्रामे ग्रामे चैकरात्रिं यावदिति। प्रश्न० ५ द्वा०। एका रात्रिर्यत्र तदेकरात्रम्। एकरात्रोपेते, त्रि०। "किमेगराइं करिस्सइ" ॥ जिनकल्पापेक्षया एकरात्रिर्यत्र तदेकरात्रमुपाश्रयं वसेत। जिनकल्पो हि एकरात्रमुपाश्रयं शुभमशुभं वा सेवेतेति। उत्त० २ अ०॥

एगरायवासि (न्)–एकरात्रवासिन्० पुं० अहोरात्रमेव वस्तुं शीले, एकरात्रं ग्रामादौ वस्तुशीले च। "णाए एगरायवासी" ॥ ज्ञातः प्रतिमाप्रतिपन्नोऽयमित्येवं जनेनावसितः सन् एकरात्रवासी एकत्र ग्रामादावहोरात्रमेव वस्तुं शीलः। तथा एकं वा एकरात्रं द्विकं वा रात्रिद्वयं ग्रामादौ वस्तुं शीलमिति गम्यमिति। पंचा० १७ द्वा०।

एगरूव०–एकरूप–त्रि० एकं समानं रूपमस्य। तुल्यरूपे, वाच० एकविधाकारे, "पभू एगवण्णं एगरूवं विउव्वित्तए" एकरूपं एकविधाकारं स्वशरीरादीति भ० ६ श० ९ उ०। कर्म०। एकस्मिन् रूपे, वाच०।

एगलभि (न्) एकलम्भिन् त्रि० एकलाभवति, तथा चाह "खज्जूमा य अवस्सा, एगालंभी पहाणाओ। तं एगं न विचत्ती, अविसेसे देइ जे गुरूणं तु। अहवा वि एगदव्वं, लभंति जे ते देइ उ गुरूणं" व्य० प्र० ३ उ० (व्याख्या आयरिय शब्दे)

एगलंभिय–एकला(म्भि) भिक–त्रि० एकस्य लाभेन चरति, "एगलंभिए" एकलाभिकान् अथवा य एकं प्रधानं शिष्यमात्मना लभते गृह्णाति शेषास्त्वाचार्यस्य समर्पयति स एकलाभेन चरतीत्येकलाभिकः। व्य० प्र० ३ उ०।

एगल्ल–एक–त्रि० "ल्लो नवैकाद्वा" ८। २। १६५। इति सूत्रेण वा ल्लः। सेवादित्वात् कस्य द्वित्वे एकल्लो। पक्षे एक्को एओ। प्रा०। एकाकिनि, स्था० ७ ठा०।

एगल्लविहार–एकविहार–पुं० एकाकिनो विचरणे, स्था० ८ ठा०। एकाकिविहारनिषेधस्तत्र दोषश्च। तत्र एकाकिविहारे दोषा यथा।

एगागियस्स दोसा, इत्थीसाणे तहेव पडणीए।
भिक्खविसेहि महव्वय, तम्हा सबितिज्जए गमणं। ३१।
गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ।
एत्तो तइयविहारो, णाणुण्णाओ जिणवरेहिं॥ ३२॥

(एगागियस्सत्ति) एकाकिनोऽसहायस्य विहरतः सतो दोषा दूषणानि भवन्ति तद्यथा (इत्थीसाणेत्ति) स्त्री शुनी अयं च समाहारद्वन्द्वस्ततश्च स्त्रीविषये श्वविषये च। तत्र स्त्रीविषये "विह विहवा पउत्थवइ, इयारमइहंति दट्ठुमेगागिं। दारपिहुणे य गहणं, इत्थमणिच्छे य दोसाओ" तथा श्वा कौलेयकस्तद्दोषस्ततोऽनेकस्य परिभवः तथा चेति समुच्चयार्थः प्रत्यनीके साधुप्रद्विष्टविषये स ह्येकाकिनमभिभवत् (भिक्खविसोहिमहव्वयत्ति) इह सप्तमी बहुवचनदर्शनाद्भिक्षाविशुद्धौ विषये दोषा महाव्रतेषु तत्र युगपत् गृहत्रयस्य भिक्षाग्रहणे एकस्योपयोगकरणे अशक्तत्वात्तदशुद्धिस्तत एव च प्राणातिपातविरमणविराधनानिमित्तप्रश्ने च निःशङ्कतया तद्भणने मृषावादो विप्रकीर्णद्रव्यदर्शने जिघृक्षादिभावाददत्तादानम्। स्त्रीमुखनिरीक्षणादौ मैथुनं तत्र स्नेहात्परिग्रह इति। यस्मादेतेऽसहायस्य दोषास्तस्मात् (सबिइज्जइत्ति) सद्वितीयस्य सप्तमीषष्ठ्योरभेदाद्गमनं भिक्षार्थमटनं यदि च भिक्षाटनमपि ससहायस्यैव युक्तं तदा सुतरां विहारः ससहायस्यैव युज्यते। ससहायो हि सर्वानेतान् प्रायः परिहर्तुं प्रभुर्भवतीति गीतार्थसाधुसंबन्धित्वात् गीतार्थः। च शब्दः समुच्चये भिन्नक्रमश्च। विहारो विचरणमेक इति गम्यते। द्वितीयश्चान्यो विहारो गीतार्थमिश्राणां बहुश्रुतसमन्वितानामगीतार्था-

नामपि साधूनां यः स गीतार्थमिश्रको भणितः । उक्तो जिनैर्विधेयतया इत आभ्यां द्वाभ्यां विहाराभ्यामन्यस्तृतीयो विहारः । एकानेकागीतार्थसाधुरूपो नानुज्ञातो नानुमतो विधेयतया जिनवरैर्जिननायकैर्यतः " सामग्गगजोगाणं, बाउफागिहिसन्निसंयुओ होइ । दंसणणाणचरित्ताए, पइलणं पावए एको " इति गाथाद्वयार्थः ।

विशेषविषयत्वमेवास्य स्पष्टयन्नाह ॥

ता गीयम्मि इमं खलु, तदण्णालाभंतरायविसयं तु ।
सुत्तं अवगंतव्वं, णिउणेहिं तं तजुत्तीए ॥ ३३ ॥

ता इति तस्मादेतान्यागमवचनानि सामान्यसाधोरेकाकित्वस्य निषेधकानि सन्ति तस्माद्गीते गीतार्थसाधुविषये इदम् । " एगो वि पावाइं विवज्जयंतो " इत्येतत्सूत्रमवगन्तव्यमिति योगः । खलुरवधारणार्थः । स च योक्ष्यते । अथ गीतार्थविषयं किमिदं साधुः सामान्यत एव नेत्याह । तस्माद्गीतार्थसाधोरन्ये अपरे ये गुणवन्तः साधवस्तेषां यो लाभः प्राप्तिस्तत्र योऽन्तरायो विघ्नः स एव विषयो गोचरो यस्य तत्तथा। अतस्तदन्यान्तरायविषयमेव गीतार्थस्यापि साध्वन्तराप्राप्तावेकाकित्वानुज्ञातपरमिदमिति भावोऽन्यथा ससहायतैव युक्ता । यतोऽभिधीयते " कालम्मि संकिलिट्ठे, छक्कायदयावरो वि संविग्गो। जइ जोगीण लभेपण, गन्नयरेण संवसइ " पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दाभिधानानां पञ्चानां साधूनामेकतरेण सह वसतीत्यर्थः। इति शब्दः प्राग्वत् । सूत्रं " नयालभेत्यादि " बतरूपमवगन्तव्यमवसेयं निपुणैः सद्बुद्धिभिस्तन्त्रयुक्त्यागमिकोपपत्त्योक्तरूपयेति गाथार्थः । पंचा० ११ विव०। (कीदृशस्यैकाकिविहारः कथं च तद्योग्यता भवतीत्युवसंपया शब्दे) (एकाकिविहारस्य परिचितादिव्याख्या व्यवहारकल्पे सा चोवसंपया शब्दे) एकाकिविहारे कारणान्योघनिर्युक्तौ। तत्र प्रथममेकाकिविहारिणः कतिविधा इत्याह

एगेव पुव्वभणिए, कारणनिक्कारणे दुविहभेदे ।

एक एकाकी द्विविधभेदः पूर्वमोघनिर्युक्तौ भणितः । तद्यथा कारणे निष्कारणे च । सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः कारणैकप्रतिपादनार्थमाह ।

असिवादी कारणिया, निक्कारणिया य चक्क थूभादी ॥
ओहावेंतो दुविहा, लिंगेन विहारेण वाहोंति ।

अशिवादिभिरादिशब्दादवमौदर्या राजद्विष्टादिपरिग्रहः । कारणैरेकाकिनः कारणिकाः । चक्रस्तूपादौ आदिशब्दात्प्रतिमानिष्क्रमणादिपरिग्रहस्तेषां वन्दनाय गच्छन्त एकाकिनो निष्कारणिका लिङ्गेनोत्प्रव्रजितुकामा विहारेण पार्श्वस्थविहारेण विहर्तुकामा भवन्ति ज्ञातव्याः । षडप्येते कारणिकाः १ निष्कारणिकाः २ औपदेशिकाः ३ अनौपदेशिकाः ४ लिङ्गेनावधाविनः ५ विहारेणावधाविनश्च । ६ । प्रायेणैते एकाकिनो विहरन्ति गच्छन्ति । या उपदेशिका यद्यपि नियमतः ससहायास्तथापि येन गच्छाद्विनिर्गतास्तेन एकाकिनो भण्यन्ते इतरेऽपि पञ्च यद्यपि वृन्देन हिण्डन्ते तथापि गच्छान्निर्गता एकाकिनः प्रोच्यन्ते । तत उक्तम् । षडप्येते विहारिण एकाकिनः । व्य० द्वि० ७ उ० ।
कियन्ति पुनः तान्यशिवादीनि येष्वसावेकाकी भवतीत्याह ।

असिवे ओमोदरिए, रायभए खुभिय उत्तिमट्ठे य ।
फिडियगिला अइसेसिं, देवया चेव आयरिए । ११ ।

न शिवमशिवं दैवतादिजनितो ज्वराद्युपद्रवः । अवमौदरिकं दुर्भिक्षं राज्ञो भयं क्षुभितं क्षोभः संत्रास इत्यर्थः । उत्तमार्थोऽनशनं फिडित इति भ्रष्टो मार्गात् ग्लानो मन्दः अतिशेषोऽतिशययुक्तः देवताचार्यौ प्रतीतौ अयं तावदक्षरार्थः । भावार्थस्य भाष्यकार एकैकं द्वारमङ्गीकृत्य प्रतिपादकः । " यथोद्देशं निर्देशम् " इति न्यायमाश्रित्य यो विधिःयतेरसावभिधीयते इहाशिवमेकाकीत्यस्य हेतुत्वं वर्तते तस्मात्तथा कर्तव्यं यथा तत्र भवत्येव। केन पुनः प्रकारेण तत्र भवतीति चेदुच्यते ।

संवच्छरवारसए ण, होहिइ असिवंति ते तओ णिग्गंति ।
सुत्तत्थं कुव्वंता, अइसइमाईहि नाऊणं ॥ १३ ॥

संवत्सराणां द्वादशकं २ द्वौ च दश च द्वादश तेन भविष्यत्यशिवमिति ज्ञात्वा ते इति तदैव तत इति तस्मात् क्षेत्रात् (णिमान्ति) निर्गच्छन्ति सूत्रपौरुषीमर्थपौरुषीं च कुर्वन्तो निष्पादयन्तोऽन्यदेशमभविष्यदशिवं विश्वस्ताः संक्रामन्ति । कथं पुनर्ज्ञायते। अतिशय आदिर्येषां ते अतिशयादयो ज्ञानहेतवः । अतिशयादिज्ञानहेतवस्तैः । अतिशयादिप्रतिपादनायाह ।

अइसेसदेवया वा, निमित्तगहणं सयं व सीसो वा ।
परिहाणि जाव पत्तं, निग्गमण गिलाण पडिबंधो ॥१४॥

अतिशयोऽवध्यादिस्तदभावे क्षपकगुणाकृष्टा देवता कथयति । अथवा "आयरियाएणं सुत्तत्थे सुणिएण सयमेव णिमित्तं घेत्तव्वं अहवा सीसो गहणधारणासंपन्नो निव्विकारी जो सो गिण्हाविज्जइ जया आयरिओ वुड्ढो भवति तया अविकारिस्स सीसस्स दिज्जि । जाहे सो न होज्जा ताहे अन्नो कोइ पुच्छिज्जइ ताहे वारसहिं निग्गंतव्वं । अह वारसहिं ण णायं ताहे इक्कारसहिं जाव जाहे एक्केण वि णायं होज्जा ताहे छम्मासेहिं सुयभाहे णिग्गच्छंतु । अह वा ण चेव णायं असिवं जायं ताहे णिग्गच्छन्तु । अक्षरव्याख्या । अतिशयनमतिशयः प्रत्यक्षं ज्ञानमवधिमनः पर्यायकेवलाख्यं तेन ज्ञात्वा देवता वा कथयति । भविष्यत्यशिवमिति निमित्तमनागतार्थपरिज्ञाहेतुग्रन्थस्तस्य ग्रहणं स्वयमेव करोत्याचार्यः शिष्यो वा योग्यो ग्राह्यते निमित्तं । परिहाणिजाव पत्तत्ति) द्वादशकेन यदा न ज्ञानं यदा एकादशकेनेत्येकैकहान्या परिहाणिरिति यावत् प्राप्तमिति तावत् स्थिताः । कथंचिद्यावत् प्राप्तमागतमशिवं तत्र किमिति निर्गमनं निर्गमः कार्यः सर्वैरेवेति कथं तर्हि अतिशयमाश्रित्य एकाकित्वमिति चेत्तदाह । (गिलाणपडिबंधो) ग्लानो मन्दस्तथैव अशिवकारिण्या देवतया कृतः पूर्वभूतो वा तेन प्रतिबन्धो न निर्गमः सर्वेषां तस्य पूर्वशिवकारिण्याः स्वतपः प्रतिपादनायाह ।

संजयगिहि तदुभय, भद्दिया तह तदुभयस्स ।
वियपंता चउवज्जण, उवस्सययतिपरंपराभत्तं ॥ १५॥
असिवे सदसंवत्थं, लोहं लोणं च तह य विगई य ।
एयाइं वा घेज्जा, चउवज्जयणयंति जं भणियं ॥ १६॥

संयताः साधवस्तेषां भद्रिका न गृहिणामिति प्रथमो भङ्गः । गृहिणां भद्रिका न संयतानामिति द्वितीयः । तयोभयभद्रिकेति तृतीयः । तयोभयभद्रिका नेति चतुर्थः । उभयप्रान्ता अभद्रिका अशोभनेत्यर्थः । सा पुण चउप्पगारा संजयभद्दिगा उ भयवंता संजयपंता उभयभद्दिगा कहं पुण संजयभद्दिगा होज्जा था गिहिभद्दिगा संजयप्पंता संजए चेव पढमं । [गिण्हत्ति) जहा एते महातवसी य ते चेव पढमं पेलेयव्वा । एतेसु निज्जिएसु अवसेसा णिज्जिया चेव भवंति एत्थ जा होउ सा होउ णिग्गंतव्वं जाहेण णिग्गया केइ णइवाघाएण को वाघाओ एव्वं गिलाणो होज्जा ताए वा तो हावियाए कोइ संजओ गहिओ जो पंथा वा ण वहति ताहे तत्थ जयणाए अत्थियव्वं । को जयणा इमाणि चत्तारि परिहारियव्वाणि विगई दसविहा । विलोहं लोणं

च सद्दसवत्थं च जाणि य कुलाणि असिवेण गहियाणि तेसु आहारादीणि ण गिण्हासि जाहे सव्वाणि वि गहियाणि होज्जा ताहे दिठं दिट्ठीएण पासिति तो मच्छिया गिण्हंति दिट्ठी य संकमइ [चउवज्जणत्ति] चतुर्णां वर्जनापरिहारः चतुर्वर्जनाद्विकृत्यानां चतुर्षु वर्जनीयक्षेत्रस्य संयतजडिकागृहिप्रान्ता इत्यादिषु भक्तेषु [विसुउवस्सपयासि] ग्लानविधिः विष्वग्भेदेन उपाश्रय आश्रयः कर्त्तव्य इत्यर्थः । "जो संतो होज्जा तस्स दूरे ठितस्स भत्तंति परंपरेण दिज्जंति त्ति परंपराभत्तंति " प्रयाणां परंपराभक्तमाहारः । तदेको गृह्णाति द्वितीयस्थानयति तृतीयो ऽवज्ञया ददातीत्यर्थः । अवधूतमवज्ञानम् । यथावभूतानामतिक्षानोद्वर्त्तनादिविधिप्रदर्शनायाह ।

उव्वत्तणनिल्लेवण, वीहं ते अणभिओग अत्तीरुयं ।

अगहियकुलेसु भत्तं, गहिए दिट्ठि परिहरिज्जा ॥२७॥

उद्वर्तनं यदसाधु वर्त्तते निर्लेपनं यदसौ निर्लेपः क्रियते । उपलक्षणं चैतत् तस्य सकाशे स्थातव्यम । दिवा रात्रौ वा अथ कीदृशेन साधुना कर्तव्यमित्याह (वीहंतोणभियोगत्ति) अनभियोगः विद्यतीति भयं गच्छति भीरावित्यर्थः । न अभियोगोऽनभियोगः यो भीरुः स तत्र न नियोक्तव्यः । कस्तर्हि करोतीत्याह (अभीरुयत्ति) अभीरुश्च न भीरुरभीरुस्तत्र क्रियते नियुज्यते । च शब्दो वक्ष्यान्तरादिप्रयत्नप्रदर्शनार्थः । अगृहीतेषु अशिवेन भक्तं ग्राह्यं तदभावे दृष्टि २ संघातपरिहारः । आह चतुर्वर्जनेत्युक्तं तत्र भक्तकाः अपि गृह्यन्त इति । " जो चितुं उव्वत्तेति वा परियत्तेइ वा सो हत्थस्स अंतरे वत्थं दाऊणं ताहे उव्वत्तेइ वा तव्वत्तेऊणं हत्थे महिट्टियाए धोवंती जो य वीहेइ सो तत्थायरिएण ण भाणियव्वो । जहा अज्जो तुमं वसाहित्ति जो धम्मस्स ठिओ साहू सो अप्पणा चेव भणति । अहं वसामि ।

प्रतिबन्धस्थाने सति कर्तव्यान्तरप्रदर्शनायाह ।

पुव्वाभिग्गहवुड्डी, विवेगसंभाइएसु णिक्खमणं ।

ते वि य पमिबंधठिया, इयरेसु वसायगाइगं ॥ २८ ॥

पूर्वमित्यशिवे काले येऽभिग्रहास्तपःप्रभृतयस्तेषां वृद्धिः कार्या चतुर्थाभिग्रहः षष्ठं करोति । मृते तस्मिन् को विधिरित्याह । (विवेगत्ति) विवेचनं विवेकः विचिर पृथग्भावे परित्याग इति यावत् । कस्यासाविति तदुपकरणस्य अमृते तस्मिन् गमनावसरे च प्राप्ते किं कर्त्तव्यमित्याह । (संभाइएसुणिक्खमिणत्ति) अशेषसमानसमाचारिकेषु विमुच्य गम्यते ते तत्राशिवे कथं स्थिता इत्याह । (ते वि य पडिबंधठियत्ति) न तेषां गमनावसरः कुतश्चित्प्रतिबन्धात्तदभावे किं कर्तव्यमित्याह (इतरेसु त्ति) असांभोगिकेष्वित्यर्थः । तदभावे देवकुलिकेषु अतीव सुवक्षस्कारेण तदभावे शय्यान्तरे यथा भद्रकः मिथ्यादृष्टिः सो य गिलाणो जइ अत्थि अण्णा वसही तहिं ठविज्जइ असतीए ताइ चेव वसहीए एगपासे चिलिमीली किज्जइ । वोरं दुहा कज्जइ जेण गिलाणो णिक्खमइत्ति पविसइ वा तेण अंतेण साहू णो णिगच्छतु पमियारगविज्जंता व पत्तेहिं अत्थंति जाव सत्थो ण लब्भति ताय जोगवड्ढिं करेंति जो न पोक्कारं करेतओ सो पोरिसिं करोति एव वसति जइ पउणो सो साहू योगहिओ ताहेव वच्चंति । अह कालं करेति ताहे जं तस्स उ करणं तं सव्वं उज्झिज्जइ ते उज्झिता ताहे वच्चंति अह से ण चेव मुक्को ताहे अन्नेसिं संभोइयाणं स कज्जपमिबंधट्ठियाणं तले णिक्खिप्पाति जाहे संभोइया ण होज्जा ताहेव असंभोइयाणं जाहे ते ण वि होज्जा ताहे ण सत्थो समकुसीलादीणं तेसिं वसाविओ वेमिज्जइ तेसिं देवकुलाणि भुज्जाति साहू वि य सिद्धपुत्ताणं तेसिं असइसावगाणं उवाणिक्खिवइ पच्छा सिज्झायरे अहाभद्दगेसु वा एवं भणिज्जइ ताहे वच्चंति । यदि पुनरसौ मुच्यते न आक्रोशति ततः किं कर्तव्यमित्याह ।

कूयंते अब्भथणं, समत्थ भिक्खू अणिच्छ तद्दिवसं ।

जइ विंदघाइओ, तिदुएगो जाव ता दुवमा ॥ २९ ॥

कूज अव्यक्ते शब्दे कूजयत्यव्यक्तं शब्दं कुर्वाणे किं कार्यमित्याह (अब्भत्थणंति) समर्थः शक्तोऽभ्यर्थ्यते तिष्ठ त्वं यावद्वयं निर्गच्छाम इति निर्गतेषु वक्तव्य इच्छतु भवानहमपि गच्छामि यदीच्छति क्षिप्रं निर्गतो वाऽसौ धर्मनिरपेक्षतया नेच्छति ततः किमित्याह । अथ तद्दिवसमनिच्छति तस्मिंस्तस्य साधोर्गमनं तद्दिवसं स्थित्वा भिद्धं लब्ध्वा न द्रष्टव्याः । तैश्च किं सह निर्गन्तव्यमाहोस्विदन्येनापीत्याह (यदि विंदघातित्ति) वृन्दघातिनी ततो द्विधा भेदस्तथापि न तिष्ठति त्रिधा त्रयस्त्रयो द्वौ द्वौ एकैको यावत्तथा (वालंति) नान्यथेति तदर्थं भेदः । एवमशिवादेकाकी भवति यदि सो कुव्वति ताहे एक्को भण्णइ त्ति जो समत्थो तुमं अत्थ ताहे भिद्दं नाऊण विइयदिवसे इज्जासि तस्स मज्झायाते वि सेज्जेयव्वा मा मम कज्जे तुमं करेतु जाहे सो वि मल्लीणो ताहे सव्वे एगओ वच्चंति जाहे तेसिं एगओ वच्चंताणं कोइ विहामो होज्जा एस वंदघाति जत्थ बहूणा तत्थ पडइ दिट्ठंतो कट्ठसंघातो पलित्तो सो दुहा कतो पच्छा एक्केक्के दारुगं कज्जं ण जलति । एवं ते वि जे गहिया ताहे दुहा कज्जं तिहा जाव तिण्णि तिण्णि जणा एगो पडिस्सयवालो संघामतो हिंमइ । अह तहवि न मुयइ ताहे दो दो हुंति अह दो वि जणा ण मुयइ ताहे एक्केक्को भवति तेसिं उपगरणं ण छड्डिज्जइ एवं ता एकल्लओ दिट्ठो असिवेण छक्केन पुनरुपायेन एकत्वविशेषणे ज्येष्ठा नष्टास्सन्त एकत्र प्रदेशे संढूयन्त इत्याह ।

संगारो राइणिए, आलायणपुव्वपत्तपच्छा वा ।

सोम्ममुहिकालरत्तं, जणंतरे एक दो त्रि सए ॥ ३० ॥

संगारः संकेतः पृथग्भावकाले कर्तव्यः । यथा अमुकप्रदेशे सर्वैः संहितव्यमित्युपायस्तं च प्रदेशं प्राप्तानां को विधिरित्याह (राइणिएत्ति) वयोधिकस्य गीतार्थस्य पूर्वप्राप्ते वा लोचना, तदभावे लघोरपि गीतार्थस्य दातव्या । कियत्पुनः क्षेत्रमतिक्रमणीयमित्याह । (सोम्ममुहीत्यादि) अशिवकारिण्या विशेषणानि सौम्यं मुखं यस्या सा । तया कथमुपद्रवकारिण्या सौम्यमुखीत्वे अनन्तरविषयं प्रत्युपद्रवाकरणात् कृष्णमुखी द्वितीयविषयेऽपि न मुञ्चति । रक्ताक्षी तृतीयेऽपि न मुञ्चति यथासंख्यमनन्तरमेव स्थीयते । सौम्यमुखी एक इति एकमन्तरे कृत्वा द्वितीये स्थीयते कृष्णमुख्याम (दोइत्ति) द्वौ द्वावन्तं कृत्वा चतुर्थे स्थीयन्ते रक्ताक्ष्यां "ते सिंगारो दिल्लेल्लओ भवति जहा अमुगत्थ मे ठाई तत्थ त्ति जाहे मिलीणो भवति ताहे तत्थ जो राइणिओ पुव्वपत्तो वा पच्छापत्तो वा तस्स आलोइज्जति सा पुण तिविहाओ धाइया सोम्ममुही कालमुही रत्तच्छी य जा सा सोम्ममुही तीसे एक्कं सवीयं गम्मइ । कालमुहीए एगो वि सओ अंतरिज्जइ रत्तच्छीए दोसविसए अंतरेऊण चउत्थे विसइए ग इ इति असिवित्ति दारं सम्मत्तं" अशिवेन यथैकाकी भवति तथा व्याख्यातम । सांप्रतम् "उमोयरियात्ति" यदुक्तं तद्व्याख्यानायाह

एमेव ओमम्मि वि भेदो, उ अलंभे गोणिदिट्ठंते ।
रायभयं ति चउद्धा, चरिमट्ठिगो होइ गणभेओ ॥३१॥

(एमेवत्ति) अनेनैव प्रकारेण अवमद्वारमपि व्याख्येयम् । यथा अशिवद्वारव्याख्यानं यो विधिरशिवद्वारे सोऽत्रापीत्यर्थः । चशब्दो बहुसादृश्यप्रतिपादनार्थम् । अवमे दुर्भिक्षे अपिशब्दः सादृश्यसंभवेन तदुच्यते " संवच्छरबारसएण होहि उवमंति तो भणीत्ति " इत्यादि । भेदनं भेद एकैकता तुशब्द एवकारार्थः । कस्मिन् पुनरसौ भवतीत्याह । अलाभे भक्तपानादाहारस्येत्यर्थः । यदेको लभते ततो द्वावपि द्वौ वा दृष्ट्वा न किञ्चिद्विजहाति एकैक एव लभत इत्येवमाहारकैकाकिनो अत्र दृष्टान्तमाह [गोणिदिट्ठंतेत्ति] गोदृष्टान्तः यथा संहतानां गवां स्वल्पेन तृणोदकेन तृप्तिः पृथग्भूतानां न स्यात्तथेहापीति [ओमो आरियाएवत्ति] एमेव कामो बारसहिं संवच्छरेहिं आरद्धं जोहे परं ण पुच्छंति ताहे गणभेदं करेति । णाणत्तं गिलाणो ण तहा परिहरिज्जति एत्थ गोणिदिट्ठंतो कायव्वो " अहवं गोब्राह्मणं निंदिति ओमेण वि एगागिओ दिट्ठो । साम्प्रतं राजभयद्वारप्रतिपादनायाह । [रायभयंति] राज्ञो भयं राजभयं चशब्दः एवमेवेत्यस्यानुकर्षणार्थः । " संवच्छरबारसएइत्यादि " कियन्तः पुनस्तस्य भेदा इत्याह चतुर्धा संख्यायाः प्रकारवचने धा चतुःप्रकारमित्यर्थः । कैः पुनस्ते इति मा त्वरिष्ठाः अनन्तरमेवोच्यन्ते किं चतुर्ष्वपि भेदो नेत्याह [चरिमट्ठइत्यादि] चरिमे पश्चिमे द्वये भवति जायते गणभेदो गच्छपृथग्भाव एकैकतेत्यर्थः । " रायदुट्ठमवि तहेव बारसहिं संवच्छरेहिं होंति "

भेदचतुष्टयस्वरूपदर्शनायाह ।

णिव्विसउत्तिय पढमो, बिइओ मा देह भत्तपाणं तु ।
तइओ उवगरणहरो, जीवचरित्तस्स वा भेओ ॥ ३२ ॥

सुगमं नवरं जीवितभेदकरश्चतुर्थो भेदश्चारित्रभेदकारी वा चतुर्थोभेदो राजा उपकरणहारी जीवितचरित्रहारिणो गणभेदः कार्य इति । "तं चउव्विहं निव्विसउत्तिय पढमो । बीओ मा देहभत्तपाणं से तइओ उवगरणहारी जीवचरित्तस्स वा भेओ" आह कथं पुनः साधूनां त्यक्तापराधानां राजभयं भवति " यस्य हस्तौ च पादौ च जीह्वाग्रं च सुयन्त्रितम् । इन्द्रियाणि च गुप्तानि तस्य राजा करोति किम " सत्यमेतत्किं तर्हि ॥

अहिमर अणिट्ठ दरिसण, वुग्गाहणया तहा अणायारो ।
अवहरणदिक्खणाए, आणाल्लोए य कुप्पेज्जा ॥ ३३ ॥
अंतेउरप्पवेसो, वाइणिमित्तं च सो पदूसेज्जा ।
खुभिओ मालुज्जेणी, पलियणं जो जओ तुरियं ॥३४॥

अभिमुखमाकार्य मारयति म्रियन्ते चेत्यभिगमः । कुतश्चित्कोपाद्राजकुलं प्रविश्यापरं व्यापादयन्तीति साधूनां किमाघातमिति चेदुच्यते । अन्यथा प्रवेशमलभमानः कश्चित्साधुवेषेण प्रविश्य तं कृन्तति ततश्च विकृतत्वात् स राजा साधुभ्यः कुप्येत् कुप्येदिति चैतत् क्रिया प्रतिपदं योजनीया । अजन्यत्वादनिष्टान् प्रसस्तान्मन्यमानो दर्शनं नेच्छति प्रस्थानादौ च दृष्टा इति कुप्येत् । व्युद्ग्राहणता विशब्दः कुत्सायामुत्प्राबल्येन केनचित्प्रत्यनीकेन व्युद्ग्राहितो यथैते तवानिष्टं ध्यायन्तीति कुप्येत् लोकं प्रत्यनाचारं समुद्देशादौ दृष्ट्वा कुप्येत् । अपहरणं कृत्वा तत्प्रतिबद्धो दीक्षित इति कुप्येत् । आज्ञालोपे वा आज्ञा काचिल्लोपिता न कृता ततश्च कुप्येत् । अन्तःपुरे प्रवेशं कृत्वा केनचिल्लिङ्गधारिणा विकर्म कृतं ततः प्रद्वेषं यावत् वादिना वा केनचित् भिक्षुणा परिभूत इति ततो निमित्तात्स इति राजा प्रद्विष्यात् " तं पुण रायदुट्ठं कहं होज्जा केणइ लिंगत्थेण अंतेउरे अवरद्धं होज्जा अहवा अधा वा वाइणा वादे 'तस्स पंमियमाणिस्स बुड्डिलस्स दुरप्पणो । सुद्धं पाएण अक्कम्म वादी वायुरिवागतो' एवं रायदुट्ठं भविज्जा । णिव्विसए भत्तपाणपडिसेहे उवकरणहारे एत्थ गच्छेण चेव वज्जंति । जत्थ जीयचरित्तभेओ तत्थ एगागिओ होज्जा" । क्षुभितद्वारं व्याचिख्यासुराह [खुभियउमालुज्जेणित्ति] क्षुभित एकाकी भवति क्षोभ आकस्मिकसंत्रासस्तत्र [मालुज्जेणित्ति] माला अहरट्टस्य पतिता उज्जयिनी नगरी तत्र बहुशो मालवा आगत्य मानुषादीन् हरन्ति । अन्यदा च कूपे अहरट्टमाला पतिता तत्र केनचिदुक्तं माला पतिताऽन्येन सहसा प्रतिपन्नं मलवा पतिता ततश्च संक्षोभस्तत्र किं भवतीत्याह [पलायणं जो अओ तुरियं] पलायनं नाशनं यः कश्चित्तत्र व्यवस्थितवान् स तत एव नष्ट इति [मालुज्जेणित्ति] वृत्तान्तसूचकं वचनं क्षुभिते वा एगागी होज्जा जहा उज्जइणीए अरहट्टमाला पडिया लोगो सव्वो पलाइतो माला वा पडियत्ति एरिसे क्षुभिते एगागी होज्जा जो जओ होज्जाओ सो तओ णासइ" अधुना यदुक्तं राजद्वारे " वायणिमित्तं च पदिसेज्जत्ति " तद्व्याचिख्यासुराह ।

तस्स पंडियमाणिस्स, बुद्धिलस्स दुरप्पणो ।
सुद्धं पाएण अक्कम्म--वादी वायुरिवागतो ॥ ३५ ॥

आह चोदकः शोभनं स्थाने तद्व्याख्या ननु क्षुभिततरेणान्तरितत्वात् कोऽयं प्रकार इत्यत्रोच्यते निर्युक्तिग्रन्थवशाददोषः यतोऽत्रैव गाथया अन्तेउरे इत्यादिकया राजभयक्षुभितद्वारे उक्ते ततस्तत्रानवसरत्वादिहैव युक्ता व्याख्या । तस्येति तस्य राज्ञो भयहेतोः कथंभूतस्य पण्डितमानिनः पण्डितमात्मानं मन्यते स एव मान्यो ज्ञानलवदुर्विदग्धत्वात् । बुद्धिं लातीति बुद्धिलस्तस्य बुद्धिलस्य दुरात्मनः मिथ्यादृष्टत्वाद्भद्रत्वाच्चासन्नप्रत्यनीकत्वात्स तथा तस्य किमित्याह मूर्धानमुत्तमाङ्गं पादेनाक्रम्य वादी वादलब्धिसंपन्नः साधुर्वायुरिवागतोऽभीष्टं स्थानं प्राप्त इत्यक्षरार्थः । समुदायार्थस्तु स राजा पण्डितंमन्यतया दर्शनं निन्दति तद्वादी वा कश्चित्तत्र साधुवादितेन सभां प्रविश्य न्यायेन पराजितस्तथापि न साधुकारं ददाति प्रभूतत्वात्तथापि निन्दति पुनश्चासौ साधुवादी विद्यादिवादनसभामध्ये शिरसि पादं कृत्वा दर्शनीभूतस्ततश्चासौ परपराभवमसहमानः प्रकर्षेण द्वेषं यायादिति श्लोकार्थः ।

उत्तमार्थद्वारप्रतिपादनायाह ।

निज्जवगस्स सगासं, असइ एगागिउ वि गच्छेज्जा ।
सुत्तत्थ पुच्छगो वा, गच्छे अहवा वि पडियरिओ ॥३६॥

निर्यामयत्याराधयतीति निर्यामकः । आराधकस्तस्य सकाशं मूलमसति द्वितीयाभावे एकाक्यपि कालं कर्तुं कामो गच्छेदिति सूत्रार्थः । प्रच्छको वा गच्छेदुत्तमार्थं स्थिता एकाक्यपि मा भूद्व्यवच्छेदोऽथवापि प्रतिचरितुं प्रतिचरणकरणार्थम् । " उत्तिमट्ठे वा सो साहू उत्तिमट्ठं पडिवज्जिउकामो आयरियसगासे य णत्थि गिज्झाओ ताहे अन्नत्थ वच्चेज्जा तो संघाडओ नत्थि असइ नाहणंगो एगागिओ वच्चेज्जा अहवा उत्तिमट्ठपडिवन्नओ साहू सुत्तो तस्स यदु सुत्तत्थ तदुभयाणि य अन्नव्वाणि दुमस्स य संकियाणि अन्नस्स य णत्थि ताहे तत्थ पडिपुच्छणाणिमित्तं वच्चेज्जा अहवा उत्तिमट्ठपडियरएहिं गम्मइ ।

फिमियद्वारं व्याचिख्यासुराह ।

फिमियस्स य परिरएणं, मंदगई वा वि जाव ण मिलिज्जा ।
सोऊणं व गिलाणं, उसहक्कज्जे असइ एगो । ३७ ।

फिमितन्ति ते पंथेण वच्चंति तत्थ कोइ पंथाओ उत्तिष्णो अन्नेण वच्चेज्जा अहवा थेरो तस्स एगंतरा गड्डा वा मोगरो वा जे समत्था ते उज्जुएण वच्चंति । जो असमत्थो सो परिरएणं भमामेणं वच्चइ ततो जाव ताणं ण मिलइ ताव एगागी होज्जा इदानीं गाथार्थः । फिमितः प्रभ्रष्टः किमुक्तं भवति प्रभ्रष्टगच्छतामेव सर्वेषां पथिद्वयदर्शनात् संजातमाह । अन्येनैव पथा प्रयातस्तत एकाकी भवति (परिरएणत्ति, वा) परिरयो गिर्यादेः परिहरणं तेन वा एकाकी कश्चिदसहिष्णुः मन्दगतिर्वा कश्चित्साधुर्यावन्न मिलति तावदेकाकी भवतीति । उक्तं फिडितद्वारम् । इदानीं ग्लानद्वारमुच्यते (सोउणं च गिलाणंति) गिलाणणिमित्तेण एगागी होज्जा तस्स ओसहं वा भेसहं वा सेसहं वा आणियव्वं असइ संघाडगस्स ताहे एगागी होज्ज वच्चेज्जा अहवा गिलाणो सुतो ताहे सव्वेहिं गंतव्वं अह अप्पणो आयरिया थेरा ताहे तेसिं पासे अच्छियव्वं ताहे संघाडस्स असइ एगागि वच्चेज्जा इदानीमक्षरगमनिका श्रुत्वाऽन्यत्र ग्लानिसंघाटे एकाकी व्रजति यदि वा स्वगच्छ एव ग्लानः कश्चित्तदर्थमौषधादीनामानयनार्थं व्रजत्येकाकी द्वितीयाभावे सति । उक्तं ग्लानद्वार मथातिशयद्वारम् ।

अइसेसिउ वासेहं, असइ एगाणि उवगच्छेज्जा ।
देवकलिंगओउवणा–पारणए खीररुहिरं च ॥

कोई अतिसयसंपन्नो सो जाणइ जहा एयस्स सेहस्स सइणिज्जगा आयगा ताहे सो भणइ एयं सेहं अवणेह जइ अवणेह ताहे एसा ण करेइ पव्वज्जं ततो सो असइ संघाडस्स एगाणिउवि य हविज्जति । इदानीमक्षरार्थः । अतिशयी वा कश्चिदभिनवप्रव्रजितं द्वितीयेऽसति एकाकिनमपि प्रवर्त्तयेत् । उक्तमतिशयद्वारम् । इदानीं देवताद्वारम् (देवकलिंगत्ति) इह कलिंगेसु जणवएसु कंचणपुरं तत्थायरिया बहुस्सुया बहुागमा बहुसिस्सपरिवारा ते अन्नया सिस्साणं सुत्तत्थे दाऊणं सन्नाभूमिं वच्चंति । तस्स य गच्छंतस्स पंथे महइमहालयो रुक्खो तस्स य हेट्ठा देवया महिलारूवं विउव्वित्ता कलुणकलुणाणि रोइय सा तेण दिट्ठा एवं बिइयदिवसे वि तओ आयरियस्स संका जाया । अहो किसइ मा एवं रोवइत्ति ताहे उव्वत्तेऊण पुच्छिया किं पुण धम्मसीले रुवसि । सो भणइ किं मम थोवं रोइयव्वं आयरियओ भणइ किं कहं वा सा भणइ । अहमेयस्स कंचणपुरस्स देवया एयं च अइरा सव्वं महाजलप्पवाहेण पलाविज्जाहि त्ति तेण रुयामित्ति । एते य साहुणो एत्थ सज्झयंति ते य अन्नत्थ गमिस्संति त्ति । अतो रुवामि आयरिएहिं भणियं कहं पुण एयं पियाणिज्जति । सा भणइ जओ तुब्भं खमओ पारणए दुद्धं लभिस्सइ तं से रुहिरं भविस्सतित्ति । जइ एवं होज्जा तो पत्तिएज्जह तं च घेत्तूण सव्वसाहूणं पत्तेसु थोवं थोवं दिज्जाह जत्थ देसे तं सज्झायं जाहि तत्थ ण जलप्पवाहो पत्तविस्सतित्ति सुणिज्जइ ततो एवंति आयरिएण पमिवन्नं । ताहे बितियदिवसे तहेव रुद्धं तहा य संजातं ततो आयरिएहिं सव्वेसिं मत्तए पत्तेयं तं दिन्नं ततो जहासत्तीए पलायंति जत्थ तं पमलं जायं तत्थ मिलिया एवं एगागी होज्जा । उक्तं देवताद्वारम् । अथाचार्यद्वारम् ॥

चरिमाए संदिट्ठो, उग्गहे उण मत्तए गंठी ।
इह एकयउस्सग्गो, परिच्छया मत्तए सगणं ॥ ३९ ॥

चरिमा चतुर्थी पौरुषी तस्यां संदिष्टा उक्ता यदुत त्वयाऽमुकत्र गन्तव्यं सचाभिग्रहिकः साधुः ततश्चासावेवमाचार्येणोक्तः किं करोति सकलमुपकरणं पत्रकपटलादिकोद्ग्राहयति मात्रकं च तेन गच्छता ग्राह्यमतस्तस्मिन्ग्रन्थि ददाति मा भूद्भूयः प्रत्युपेक्षणीयं स्यात् एवमसावाभिग्राहिकः संयमे तिष्ठतीति (इह रंति) आभिग्रहिकाभावेऽपि कालवेलायां च गमनप्रयोजनमापतितं ततः कृतोत्सर्गः कृतावश्यकः किं करोतीत्याह । परीक्षार्थमिति पश्यामः को वा पथि गमनान्तरं प्रवर्तते को वा न प्रवर्तते इति स्वगणमाश्रमयते ते च प्रतिक्रमणानन्तरं तत्रैवान्तर्मुहूर्तमानकालमासते कदाचिदाचार्याः खल्वपूर्वां सामाचारीं प्ररूपयेयुरपूर्वपदं तत्रस्थान् तानामन्त्रयतेऽसौ भो भिक्षवो मुख्यं मे गमनकार्यमुपस्थितम ॥

गच्छेज्जा काणुसव्वे, अणुग्गहो कारणाणि दीविंता ।
अमुगो एत्थ समत्थो, अणुग्गहोउन्नयकिइकम्मं ॥४०॥

कतमस्साधुस्तत्र गमनक्रमस्तत्र आचार्यवाक्श्रवणानन्तरं सर्वेऽपि साधव एवं ब्रुवन्ति अहं गच्छाम्यहं गच्छामीति । अनुग्रहो यं स्तोकं तत आचार्यो वैयावृत्यकरयोगवाहिदुर्बलादीनि दापयित्वा स्वयं प्रदर्श्य इदं भणत्यमुको न कार्ये समर्थः क्षमः । ततश्च योऽसावाचार्येणोक्तोऽयं क्रम इति स भणत्यनुग्रहो मेऽयं ततः को विधिस्ततः संजिगमिषुः साधुराचार्यस्य चैत्यसाधुवन्दनां करोति । यदि पर्यायेण लघुस्ततः शेषाणामपि चैत्यसाधूनां वन्दनां करोति । अथासौ गन्तुमनाः साधूनां रत्नाधिकस्ततस्ते साधवस्तस्य चैत्यसाधुवन्दनां विदधति तदुभयकृतिकर्मवन्दनं ततः सङ्घतस्साधुः किं करोति जिगमिषुः सन् ॥

पोरिसिकरणं अहवा, करणं दोच्चं पुंछणे दोसा ।
सरणसुयसाधुसन्नी, अंतोवहि अनंतजात्रेणं ॥ ४१ ॥

यद्यसौ सूर्योद्गमे यास्यति ततः प्रादोषिकां तत्र पौरुषीं करोति । अथवा रात्रिशेषे यास्यति प्रयोजनवशात्ततस्तत्र पौरुषीमकृत्वैव स्वपिति । एतत्पौरुषीकरणमकरणं चेति । पुनरपि च तेन गच्छताऽऽचार्यः पृच्छनीयः । प्रत्यूषसि यास्याम्यहमिति । अथ न पृच्छत्यतः (दोच्चं पुंछणा दोसत्ति) द्वितीयवारमपृच्छतः दोषा वक्ष्यमाणाः के च ते इत्याह (समरणत्ति) स्मरणमाचार्यस्यैव संजातमेवंविधमन्यथा व्यवस्थितं कार्यमन्यथा कदाचित् संदिष्टम् (सुतत्ति) श्रुतमाचार्यैर्यथा ते तत्राचार्या न विद्यन्ते यन्निमित्तं चासौ प्रेष्यते तद्वा कार्यमन्यथा तत्र नास्ति (साधुत्ति) अथवा विकाले साधुः कस्मिंश्चित्तस्मात्स्थानादागतस्तेन कथितं यथा स आचार्यस्तत्र नास्तीति (सन्निति) अथवा संज्ञी श्रावक आयातः तेनाख्यातम् (अंतोत्ति) अभ्यन्तरतः कस्य प्रतिश्रयस्य केनचिदुल्लपितं यथाऽस्माकमप्येवंविधाः साधवः आसन् ते च ततो गता मृता वा (बहित्ति) बाह्यतः प्रतिश्रयस्य श्रुतमन्यस्मै कथमानं केनचित् [अन्नजात्रेणंति] योऽसौ गन्ता सोऽन्यभाव उपनिष्क्रमितुकाम एतच्चाचार्याय तत्संघाटिकेनाख्यातं ततश्चासौ ध्रियते केनचिद्व्याजेन यदि पुनरसौ गन्ता न प्रबोधयत्यतः ॥

बोहणअप्पडिबुद्धे, गुरुवंदणघट्टणा अपडिबुद्धे ।
निच्चल्लनिसन्नझाइ, दट्ठुं चिट्ठेव्वलं पुच्छे ॥ ४२ ॥

अचेतयति सति तस्मिन् गन्तरि बोधनं गीतार्थः करोति ततः साधुरुत्थायाचार्यस्य समीपं गत्वा च यद्याचार्यो विबुद्धस्ततोऽसौ गुरुवन्दनं करोति । अथाद्यापि स्वपिति ततः घट्टना चार्यपादयोः शिरसाघट्टनात्मकं क्रियते । अथासौ प्रतिबुद्ध एव

किंतु निश्चलः निष्प्रकम्प उपविष्टो ध्यायी चास्ते ततस्तमेवंभूतं निश्चलनिषण्णध्यायितं दृष्ट्वा किं कर्त्तव्यमित्याह (चिट्ठेत्ति) स्थातव्यं तेन गुरुव्याघातेन महाहानिसंभवात् यथा चलोऽसौ ततः पृष्टव्यो भगवन् स एषोऽहं गमिष्यामीति ततश्चासावाचार्येण संदिष्ट इदमेवं त्वया कर्त्तव्यमिति व्रज स चेदानीं गन्तुं प्रवृत्तः इत्येतदेवाह

अप्पा हि अणुन्नाओ, ससहाउणीति जा पभायं तु ।
उवयोगं आसन्ने, करेइ गामस्स सा वय जयए ॥ ४३ ॥

संदिष्टः प्राक् पश्चादनुज्ञातो गच्छेति कथं ससहायः कियन्तं कालं यावत् ससहायो व्रजति तावत्प्रभातं जातं सूर्योदय इत्यर्थः। ससहायश्च प्रभातं यावत् व्रजति स्वापदादिभयात् एवमसौ साधुर्व्रजन् ग्रामसमीपं प्राप्तः सन् किं करोतीत्याह । उपयोगं करोति द्विवयमुभयविषयं मूत्रपुरीषपरित्याग इत्यर्थः । कस्मादेवं चेत् ग्रामसंनिधान एव स्थण्डिलसद्भावात् गवादिसंस्थानात्। अथ रात्रौ गच्छतः कश्चिदपायः संभाव्यते ततः प्रभातं यावत् स्थातव्यम् । तथाचाह ।

हिमतेणसावयभया, दारा पिहिया पहं अजाणंतो ।
अत्थइ जाव पभायं, वासियभत्तं च से वसभा ॥ ४४ ॥

हिमं शीतं स्तेनाश्चौराः स्वापदानि सिंहादीनि एतद्भयात् प्रभातं यावदास्ते यदि पुरस्य द्वाराणि पिहितानि ग्रामस्य कश्चिद्दकः पन्थानं वा अजानन् तिष्ठति यावत् प्रभातमिति । एवं च प्रभातं यावत् स्थिते गन्तरि वासिकभक्तं दोषान्नं (से) तस्य वृषभा गीतार्था आनयन्ति । अथ केऽन्यस्तदानीयते ।

ठवणकुलसंखमीए, अणहिंमते सिणेहपयवज्जं ।
भत्तट्ठियस्स गमणं, अपरिणपगाउयं वहइ ॥ ४५ ॥

स्थापना कुलेभ्यस्तथा (संखडीएत्ति) सामायिकी भाषा भोजनप्रकरणार्थे तस्य वा के पुनस्तदानयन्त्यत आह (अणहिं डंतोत्ति) ये भिक्षां पर्यटितवन्तः कस्मात्पुनस्ते भक्तमानयन्ति उच्यते तेषामहिण्डकानां गृहस्था गौरवेण प्रयच्छन्ति। कीदृशं पुनस्तैर्भक्तमानयनीयम् (सिणेहपयवज्जंति) स्नेहेन घृतादिना पयसा क्षीरेण वर्जितं भक्तं गृह्णन्ति न तैलं ग्राह्यम् अमङ्गलत्वात्, न घृतं परितापहेतुत्वात् । न दुग्धं भेदकत्वात् काञ्जिकविरोधित्वात् काञ्जिकं प्रायोपायित्वाच्च । संयतानां किं पुनस्ते गृह्णन्ति दधिशक्तुकादि तदसौ भुक्त्वा व्रजति । तथा चाह (भत्तट्ठियस्स गमणंति) भुक्तवतस्ततो गमनं भवति अथ न तस्य भक्तं परिजातमित्यतोऽपरिणते भुक्ते सति स गव्यूतमात्रं यावन्मार्गं वहति क्रोशद्वयं च गव्यूतमिति । ओघ० ।

(एगागिशब्दे एकाकित्वकारणानि तत्र दोषाश्च द्रष्टव्याः)

एगल्लविहारपडिमा– एकाकिविहारप्रतिमा–स्त्री० एकाकिनो विहारो ग्रामादिचर्या स एव प्रतिमाऽभिग्रहः एकाकिविहारप्रतिमा । जिनकल्पप्रतिमायाम्, मासिक्यादिकायां भिक्षुप्रतिमायां च । अष्टभिश्च स्थानैः सम्पन्नोऽनगारोऽर्हत्येकाकिविहारप्रतिमाम् । तथा चाह ।

अट्ठहिं गणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहइ एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए तं जहा सड्ढी पुरिसजाए सच्चे पुरिसजाए मेहावी पुरिसजाए बहुस्सुए पुरिसजाए सत्तिमं अप्पाहिगरणे धिइमं वीरियसंपन्ने ।

अष्टाभिः स्थानैर्गुणविशेषैः सम्पन्नो युक्तोऽनगारः साधुरर्हति योग्यो भवति । (एगल्लत्ति) एकाकिनो विहारो ग्रामादिचर्या स एव प्रतिमाऽभिग्रहः एकाकिविहारप्रतिमा जिनकल्पप्रतिमा मासिक्यादिका वा भिक्षुप्रतिमा तामुपसंपद्याश्रित्य णमित्यलंकारे विहर्तुं ग्रामादिषु चरितुं तद्यथा (सड्ढित्ति) श्रद्धा तत्त्वेषु श्रद्धानमास्तिक्यमित्यर्थोऽनुष्ठानेषु वा निजोभिलाषस्तद्वत्सकलनाकिनायकैरप्यचलनीयसम्यक्त्वचारित्रमित्यर्थः। पुरुषजातं पुरुषप्रकारः १ तथा सत्यं सत्यवादी प्रतिज्ञाशूरत्वात्सद्भ्यो हितत्वाद्वा सत्यम् २ तथा मेधा श्रुतग्रहणशक्तिस्तद्वन्मेधावी अथवा (मेहावत्ति) । मेधावी मर्यादावृत्तिः ३ तथा मेधावित्वाद्बहु प्रचुरं श्रुतमागमः सूत्रतोऽर्थतश्च यस्य तद्बहुश्रुतं तथोत्कृष्टतोऽसंपूर्णदशपूर्वधरं जघन्यतो नवमस्य तृतीयवस्तुवेदीति ४ तथा शक्तिमत्समर्थं पञ्चविधकृततुलनमित्यर्थस्तथाहि "तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य । तुलणा पंचहा वुत्ता, जिणकप्पं पडिवज्जओत्ति" ५ अल्पाधिकरणं निष्कलहः ६ धृतिमच्चित्तस्वास्थ्ययुक्तमरतिरत्यनुलोमप्रतिलोमोपसर्गसहमित्यर्थः ७ वीर्यमुत्साहातिरेकस्तेन सम्पन्नमिति । इहाद्यानामेव चतुर्णां पदानां प्रत्येकमन्ते पुरुषजातशब्दो दृश्यते ततोन्त्यपादानामप्ययं सम्बन्धनीय इति । अयं चैवंविधोऽनगारः सर्वप्राणिनां रक्षणक्षमो भवतीति । स्था० ८ ठा० ।

(सूत्रम्) जे भिक्खू गणाओ अवक्कम्म एकल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा पुणो छेयपरिहारस्स उवट्ठावेज्जा । २६ । एवं गणावच्छेइए । २७ । एवं आयरियउवज्झाए ॥ २८ ॥

भिक्खू य गणातो अवक्कम्म इत्यादि॥ अथास्य सूत्रस्य पूर्वसूत्रेण सह कः संबन्धः । तत आह ।

निग्गमणं तु अहिकयं, अणुवत्तनिवा हाधिकाराओ ।
तं पुण विंतिसगमणं, इमं तु सुत्तं उभयहा वि ॥

अनन्तरसूत्रे पारिहारिकनिर्गमनमधिकृतमुक्तमिहापि तदेव निर्गमनमुच्यते । अथवा अनन्तरसूत्रे तपसोऽधिकारोऽनुवर्त्तते । इहापि स एव तपोऽधिकारः । तत्पुनरनन्तरसूत्रे निर्गमनमभिहितवत् । वितीर्णमनुज्ञातवत् इदं सूत्रं निर्गमनमुभयथापि वितीर्णमवितीर्णं च भण्यते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य सूत्रस्य व्याख्या । भिक्षुः प्रागुक्तशब्दार्थः । चः पुनरर्थो वाक्यभेदे स च वाक्यभेदः सुप्रतीतः पूर्वसूत्रवाक्याद्वितीर्णगमनाभिधायिनोऽस्य सूत्रवाक्यस्य वितीर्णगमनाभिधायितया कथंचिद्भिन्नत्वात् । गणात् गच्छादवक्रम्य विनिर्गत्य एकाकिविहारप्रतिमां एकाकिविहारयोग्यां मासिक्यादिकां प्रतिमामुपसंपद्य विहरेत । स च गणस्य स्मरति । संभाव्यते चैतत् तथा हि यः सूत्रार्थतदुभयैरव्यक्तोऽयथाविधिना प्रतिमां च प्रतिपद्यते स मा भङ्गमुपैतु इति । ततः स गणं स्मरन् इच्छेत् । द्वितीयमपि वारम् । एकं वारं पूर्वमपि प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालगणमाश्रितवान् इदानीं द्वितीयं वारमतः उक्तं द्वितीयमपि वारं तमेवात्मीयं पूर्वमुक्तगुणमतमुपसंपद्य पुनस्तमेकाकिविहारप्रतिमाभङ्गमालोचयेत् । गुरुसमीपे आलोच्य पुनः पुनरकरणतया तस्मात्स्थानात्प्रतिक्रम्य च यदापन्नं प्रायश्चित्तं छेदं परिहारं वा तस्य छेदस्य परिहारस्य वा करणाय पुनरुपतिष्ठेत इह प्रतिमाप्रतिपन्नेन यत्रवाकृत्यं समासेवितं तत्रवाह । दुष्कृतं मयेत्यादि चिन्तनतस्तदालोचितं प्रतिक्रान्तं च । गुरुसमक्षं तु द्वितीयवारमिति पुनःशब्दोपपत्तिरेषसूत्रसंक्षेपार्थः

विस्तरार्थं भाष्यकृदाह ।

संथरमाणस्स विही, आयारदसासु वन्नितो पुव्विं ।
सो चेव य होइ विही, तस्स विजासा इमा होति ॥

संस्तरन् नाम उच्यते यः सूत्रोक्तविधिना प्रतिमाप्रतिपत्तियोग्यतामुपागतः मासिक्यादीनां च प्रतिमानां मध्ये यां प्रतिमां प्रतिपन्नस्तां सम्यक्परिपालयितुं क्षमस्तस्य संस्तरतो विधिः समाचारी। आचारप्रधाना दशा आचारदशास्तासु दशाश्रुतस्कन्धेष्वित्यर्थः । भिक्षुप्रतिमाध्ययने पूर्वं वर्णितः स एव इहापि अस्मिन्नप्यधिकृतसूत्रव्याख्याप्रस्तावे परिपूर्णो भवति ज्ञातव्यः तस्य प्रस्तावायातत्वात् । तथाहि एकाकिविहारप्रतिमामुपसंपद्य विहरेदित्युक्तं ततः साक्षादुपात्ता एकाकिविहारिप्रतिमेति भवति । तद्विधिप्ररूपणावसरः । केवलं स एव भिक्षुप्रतिमाध्ययनं प्रतिपाद्य इति तत एवावधारणीयः । इह पुनस्तस्यैकाकिविहारिप्रतिमाविधिर्विभाषा कर्त्तव्यः । यथा ईदृशस्य एकाकिविहारि प्रतिमाप्रतिपत्तिः कल्पते अनेन च प्रकारेण प्रतिपद्यते । ईदृशश्च एकाकिविहारिप्रतिमाया अयोग्य इति । सा इयं वक्ष्यमाणा भवति । तामेवाभिधित्सुराह ।

घरसउणिसीहपव्वइय–सिक्खपरिकम्मकरणे दो जोहा ।
करणेलगच्छखमदुग, गच्छाएमा ततो नीती ॥

परिकर्म्मकरणे द्वौ दृष्टान्तौ तद्यथा गृहेऽवस्थितःशकुनिर्गृहशकुनिस्तथा सिंहश्च वने व्यवस्थित इति गम्यते तथा (पव्वइयसिक्खत्ति) प्रव्रजनं प्रव्रजितं प्रव्रज्या इत्यर्थः । शिक्षा ग्रहणासेवनरूपं शिक्षाद्विकं एते द्वे द्वारे वक्तव्ये एतच्च शेषद्वाराणामर्थग्रहणादीनामुपलक्षणमतस्तान्यपि वक्तव्यानि । ततः परिकर्म्मकरणं वक्तव्यं तदनन्तरं परिकर्म्मितः परीक्षायां द्वौ योधौ दृष्टान्तत्वेनोपन्यसनीयौ । ततः स्थिरीकरणनिमित्तं तस्योपसर्गव्यावर्णनायां सूत्रार्थकरणव्यवस्थितैमकाङ्करूपं क्षपकद्विकज्ञातं वक्तव्यम् । तत एवं कृतपरिकर्म्मा सन् गच्छारामात् सर्वर्तुकपुष्पफलोपगमारामरूपात् गच्छाद्विनिर्गच्छति । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो गृहकुशनिदृष्टान्तं भावयति ॥

वासगगयं तु पोसति, चंचूपूरेहि सउणियां सावं ।
वारेइ य उड्डतं, जाव समत्थं न जायं तु ॥

शकुनिका पक्षिणी आत्मीयं शावं (वासगगयंति) प्राकृतत्वादाद्याकारस्य लोपः आवासो नीममावास एवावासकस्तङ्गतं तुरेवकारार्थः। आवासकगतमेव शावं चञ्चूपुरैश्चञ्चूभरणैः पुष्णाति पुष्टीकरोति। यदि कथमप्यसंजातपक्षोऽपि बालचापलेनावासाद्बहिर्जिगमिषुरुड्डीयते ततस्तमुड्डीयमानं वारयति प्रतिषेधयति । सा चैवं तावत्करोति यावत्समर्थो न जायते । गाथायां तु नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात । समर्थस्तु जातः सन्न प्रतिषिध्यते। ततो निरुपद्रवं स्वेच्छया विहरति । भावितः शकुनिदृष्टान्तः ॥

संप्रति सिंहदृष्टान्तं भावयति ॥

एमेव वणे सीही, सा रक्खइ छावपोयगं गहणे ।
खीरमिउपिसियचव्विय, जा खायइ अत्थियाइं पि ॥

एवमेव शकुनिकागतेनैव प्रकारेण वने किं विशिष्टे इत्याह गहने अतिशयेन शुषिरे स्थिता सती सिंही शावपोतकं शाव एवातिलघुत्वात् पोतः पोतकः शावपोतकस्तं रक्षयति । व्याघ्रादिभ्यस्तथा क्षीरेण स्तन्येन मृदुचर्वितपिशितेन च तावदात्मीयं शावपोतकं पुष्णाति यावदस्थीन्यपि खादति ॥

मारियममारिएहिं, ता तीरावेति छावएहिं तु ।
वणमहिसहत्थिवग्घाण, पच्चलो जाव सो जातो ॥

वनमहिषादीनां शावकैर्मारितैरमारितैर्वा तावन्तमात्मीयशावं तीरयति समर्थीकरोति यावत्तेषां वनमहिषहस्तिव्याघ्राणां स्वयमेव व्यापादने प्रत्यलः समर्थो जातो भवति । कृता सिंहदृष्टान्तभावना ॥

सांप्रतमनयोरेव निदर्शनयोरुपमानार्थमिदमाह ॥

अकयपरिकम्मअसहं, दुविहा सिक्खा अकोवियमवत्तं ।
पडिवक्खेण उवमियो, सउणिगसीहादिगावेहिं ॥

न कृतानि परिकर्म्माणि वक्ष्यमाणानि येन स तथा तमकृतपरिकर्माणमकृतपरिकर्मत्वादेवासहमेकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपत्तुमसमर्थम् । तथा द्विविधायां शिक्षायां ग्रहणासेवनरूपायामकोविदमनभिज्ञम् । तथा श्रुतेन वयसा वा प्राप्तयोग्यताकं (पडिवक्खेणंति) ये ये प्राक् शकुनिपोतसिंहशावकानां संजातपक्षत्वादयो गुणा उक्तास्तेषां प्रतिपक्षेण प्रातिकुल्येनासंजातपक्षत्वादिना विशिष्टः शकुनिसिंहादिशावका आदिशब्दात् व्याघ्रादिपरिग्रहस्तैरुपमितस्तथाहि यथा शकुनिपोतोऽसंजातपक्षो यथावासाद्विनिर्गत्य स्वच्छन्दमापरिभ्रमति ततः स काकढङ्कादिभ्यो विनाशमाविशति। सिंहपोतकोऽपि यदि क्षीराहारो गुहातो विनिर्गत्य वने स्वेच्छया विरहति ततः सोऽपि वनमहिषव्याघ्रादिभिरुपहन्यते । एवं साधुरप्यकृतपरिकर्मा द्विविधशिक्षायामकोविदः श्रुतेन वयसाऽप्राप्तयोग्यताको यदि गच्छादेकाकिविहारप्रतिमाप्रतिपत्तये विनिर्गच्छति ततः स नियमादात्मविराधनां संयमविराधनां च प्राप्नोतीति । तदेवं "घरसउणिसीहत्ति" व्याख्यातम् । संप्रति प्रव्रजितशिक्षादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि । तत्संग्राहिका चेयं गाथा ।

पव्वज्जा सिक्खावय–सत्थग्गहणं च अणियतो वासे ।
निप्पत्तियवीहारो, सामायारी ठिती चेव ॥

अस्या व्याख्यानं कल्पे सविस्तरमुक्तमत्र तु लेशतोऽर्थमात्रमभिधीयते । प्रथमतस्तावत्प्रव्रज्या भवति । सा च द्विविधा धर्म्मश्रवणतोऽभिसमागमतश्च तत्र या आचार्यादिभ्यो धर्म्मदेशनामाकर्ण्य संसाराद्विरज्य प्रतिपद्यते सा धर्म्मश्रवणतः या पुनर्जातिस्मरणादिना सा अभिसमागमतः। प्रव्रजितस्य च शिक्षापदं भवति । शिक्षा च द्विधा ग्रहणशिक्षा आसेवनाशिक्षा च । तत्र ग्रहणशिक्षा सूत्रावगाहनम् आसेवनाशिक्षा सामाचार्यभ्यसनं शिक्षापदनन्तरं चार्थग्रहणकरणं तदनन्तरं चानियतो वासो नानादेशपरिभ्रमणं कर्त्तव्यं गतमन्तरेण नानादेशीयशब्दाकौशलेन नानादेशीयभाषात्मकस्य सूत्रस्य परिस्फुटपूरणार्थनिर्णयकारित्वानुपपत्तेः । तदनन्तरं वाचनाप्रदानादिना गच्छस्य निष्पत्तिर्निष्पादनं कर्त्तव्यम् । तदनन्तरं विहारोऽभ्युद्यतो विहारो जिनकल्पादिप्रतिपत्तिलक्षणः करणीयः । तस्य च विहारस्य या सामाचारी सा वक्तव्या । तथा स्थितिर्जिनकल्पादीनां क्षेत्रकालादिद्वारेषु चिन्तनीया । तत्र प्रव्रज्या, शिक्षा, पदमर्थग्रहण-मनियतो वासः, निष्पत्ति–विहारः, सामाचारीति सप्त द्वाराणि प्रतिमायामुपयोगीनि । तत्रापि प्रव्रज्या शिक्षापदमर्थग्रहणं चेति । त्रीणि द्वाराणि प्रतिमां प्रतिपत्तुकामस्य नियमतो भवन्ति शेषाणां भजना तथा चाह ॥

पव्वज्जासिक्खावय–मत्थग्गहणं च सेसए भयणा ।

सामायारिविसेसे, नवरं वुत्तो उ पडिमाए ॥

प्रव्रज्या प्रव्रजनं शिक्षापदमर्थग्रहणमानियतो वासः शिक्षाद्विकमर्थग्रहणमर्थपरिज्ञानमित्येतत् त्रयं प्रतिपित्सोर्नियमेन भवति शेषिके अनियतवासनिष्पत्तिलक्षणद्वारद्विके भजना विकल्पना य आचार्यपदार्हस्तस्य नियमादिदं द्वारद्वयमस्ति शेषस्य तु नास्तीत्यर्थः । विहारः पुनः प्रतिमाप्रतिपत्तिलक्षणोऽस्त्येव सामाचार्या अपि जिनकल्पिकसामाचारीतो विशेषोऽस्ति नवरं सामाचारीविशेषः प्रतिमायां प्रतिमागतो दशाश्रुतस्कन्धे भिक्षुप्रतिमामध्ये योऽन्य उक्तः प्रतिपादित इति स न पुनरुच्यते । संप्रति परिकर्मकरणं वक्तव्यम् । तत्र पर आह ननु तत्परिकर्म किं गच्छ एव स्थितः करोति उत गच्छाद्विनिर्गत्येति । सूरिराह ।

गणहरगुणेहिं जुत्तो, जति अन्नो गणहरो गणे अत्थि ।
निग्गति गणातो इहरा, कुणति गणे चेव परिकम्मं ॥

यदि नाम गणे गच्छे अन्योऽन्यगणधरः गणधरपदार्ह इत्यर्थः । गणधरगुणयुक्तो विद्यते न च प्रयोजनेनान्यत्र गतस्ततस्तं गणे स्थापयित्वा गणाद्विनिर्गच्छति विनिर्गत्य च परिकर्म करोति । इतरथा तथाविधान्यगणधरयुक्तगणधरत्वार्हाभावे गण एव स्थितः सन्परिकर्म करोति अत्र पर आह । ननु तेन पूर्वं द्विधा शिक्षां शिक्षमाणेनात्मा भावित एव ततः किमिदानीं भावनाभिः परिकर्मणयेत्यत आह ।

जइ वि हु दुविहा सिक्खा, आइल्ला होति गच्छवासम्मि ।
तहवि य एगविहारे, जा जोग्गा तीए भावेंति ॥

यद्यपि द्विविधा शिक्षा आद्यसूत्रग्रहणसामाचार्यासेवनलक्षणा भवति गच्छवासे तथापि गच्छवासे योग्यतातः एकाकिविहारे या योग्या शिक्षा तद्योग्यसामाचार्यभ्यासरूपा तया स आत्मानं भावयति तद्भूतसामाचार्यभ्यासश्च पञ्चभिर्भावनाभिर्भवति । ततस्ताभिर्विशेषतः आत्मानं परिकर्मयति ।

तवेण सत्तेण सुत्तेण, एगत्तेण बलेण य ।
तुलणा पंचहा वुत्ता, पडिमं पडिवज्जत्तो ॥

प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य प्रतिपत्तुकामस्य तुलना परिकर्मणा । पञ्चधा पञ्चप्रकारा प्रोक्ता तद्यथा तपसा सत्वेन सूत्रेण एकत्वेन बलेन च । तत्र तपोभावनाप्रतिपादनार्थमाह ।

चउत्थेण उ जतते, छट्ठेहिं अट्ठमेहिं दसमेहिं ।
बारसचउदसमेहि य, धीरो धीमं तुलेअप्पा ॥

प्रथमतश्चतुर्थेन यतते । किमुक्तं भवति । प्रथमतो नियमेन त्रीन् वारान् चतुर्थं करोति तत्र यदि त्रिरपि कृते चतुर्थे क्लाम्यति ततस्तावदभ्यस्यति चतुर्थं यावच्चतुर्थं कुर्वन् मनागपि न क्लाम्यमुपयाति । एवं चतुर्थेन यतित्वा त्रीन्वारान्षष्ठं करोति तत्रापि यदि वारत्रयं कृते षष्ठे क्लाममुपैति ततश्चतुर्थवत् षष्ठेऽप्यभ्यासं तावत्करोति यावत्तस्यापि करणे ग्लानिर्नोपपद्यते एवं षष्ठैरात्मानं भावयित्वा अष्टमैर्भावयति । तदनन्तरं दशमैस्ततो द्वादशैरुपलक्षणमेतत् ततोऽनेन प्रकारेण षोडशादिभिश्च धीरो धृतिमान् आत्मानं तुलयति परिकर्मयति स च तावत्तुलयति । यावत्षण्मासान् सोपसर्गेऽपि न क्षुधाहानिमुपगच्छति उक्तंच ।

जाव छम्मासो पोरिसि–माई तवो उ तं तिगुणं ।
कुणइ छुहा वि जइक्का, गिरिनदिसीहेण दिट्ठंतो ॥
एक्केक्कं ताव तवं, करेति जह तेण कीरमाणेणं ।
हाणी न होइ जइया वि, होज्ज छम्मास उवसग्गो ॥

तत्र यदुक्तं चतुर्थादिषु तावदभ्यासं करोति यावन्न क्लाम्यति तत्र गिरिनदीसिंहदृष्टान्तः । तथाहि यथा सिंहो गिरिनदीं तरन् परतटे चिह्नं करोति यथा अमुकप्रदेशे वृक्षाद्युपलक्षिते मया गन्तव्यमिति संचरन् तीक्ष्णेनोदकवेगेनापह्रियते । ततः प्रत्यावृत्त्योत्तरति । एवं प्रमाणतस्तावत्तरणं करोति यावदभग्नः सन् सकलामपि गिरिनदीं शीघ्रं तरति । एवं साधुरपि यदि चतुर्थं षष्ठमष्टमादि वा त्रीन् वारान् कृत्वा क्लमं याति ततश्चतुर्थादिकं प्रत्येकं तावदभ्यस्यति यावन्न क्लाम्यतीति । तथा चैनामेव सिंहदृष्टान्तयोजनामाह ।

जह सीहो तह साहू, गिरिनदिसीहो तवोधणो साहू ।
वेयावच्चकिलंतो, अभिन्नरोमो य आवासे ॥

यथा सामान्येन गुहायां वर्त्तमानः सिंहस्तथा गच्छे वर्त्तमानः साधुर्यथा च गिरिनदीमुत्तरन् अभ्यासकरणे प्रवृत्तः सिंहस्तथा तपोधनः तपःकरणाभ्यासप्रवृत्तः साधुः । एवं चतुर्थषष्ठाष्टमादि तपः कुर्वन् स आत्मवैयावृत्त्यकरो ज्ञातव्यः । कस्मादिति चेदुच्यते । यस्मात्स तपसा पूर्वसंचितं कर्ममलं शोधयन्नात्मन एवोपकारे वर्त्तते । ततः स आत्मवैयावृत्त्यकरः एवमात्मनो वैयावृत्त्ये अक्लान्तः सन् (आवासेत्ति) अवश्यकरणीयेषु योगेषु न भिन्नरोमा भवति । गतं तपोभावनाद्वारम् ।

अधुना सत्वभावनाद्वारमाह ।

पढमा उवस्सयम्मि, बिइया बाहिं तइया चउक्कम्मि ।
सुण्णघरम्मि चउत्थी, पंचमिया तह मसाणम्मि ॥

प्रथमा सत्वभावना उपाश्रये कथमिति चेत् उपाश्रयस्यान्तर्निशि प्रतिमया प्रतिदिवसमवतिष्ठते स च तथावतिष्ठमानो मूषिकमार्जारादिस्पर्शनदर्शनादिभयं तावद् जयति यावत्तत्स्पर्शनादिभावे रोमोद्भेदमात्रकरमपि भयं नोपजायते । उक्तंच "मक्कस्स व खइयस्स व, मूसियमाईहि वा निसिचरेहिं । जह न विजायइ रोमु–ग्गमो वि तह चेव वाहेवा " द्वितीया सत्वभावना उपाश्रयस्य बहिरुपच्छन्ने तत्र हि प्रतिमां प्रतिपन्नस्य बहुतरं मार्जारादिभयं संभवति । ततस्तज्जयार्थं द्वितीया । अथ सत्वभावना तृतीया सत्वभावना चतुष्के तत्रातिप्रभूततरं त्रिविधं तस्कराराक्षिकस्वापदादिभ्यो भयम् । चतुर्थी शून्यगृहे, पञ्चमीका श्मशाने । तत्र हि यथोत्तरं सविशेषा सविशेषतरा त्रिविधा बाधा उक्तं च 'सविसेसतरा बाहिं, तक्करआरक्खिसावयादीया । सुण्णघरमसाणेसु य, सविसेसतरा भवे तिविहा' एताभिः पञ्चभिरपि सत्वभावनाभिस्तावदात्मानं भावयति यावद्दिवा रात्रौ वा देवैरपि भीमरूपैर्न चालयितुं शक्यते । उक्तं च " देवेहिं भेसिया अवि दिया वा रातो वा भीमरूवेहिंतो सत्तभावणाए वहति भरं निज्झतो संगलं" । गता सत्वभावना ।

संप्रति सूत्रभावनामाह ।

उक्कितोवक्कवियाइं, सुत्ताइं करेइ सोयव्वाइं ।
मुत्तट्ठपोरिसीतो, दिणे य काले अहोरत्ते ॥

सोऽधिकृतप्रतिमाप्रतिपत्तिनिमित्तं परिकर्मकारी साधुः सर्वाण्यपि सूत्राणि उत्कवितोऽपकवितानि करोति । किमुक्तं भवति उपरितनादारभ्योत्क्रमेणाधोऽवतरति मूलाद्वा समारभ्य क्रमेणोपर्युपर्यवगाहते । एकान्तरितया एकग्रहणेन सर्वं मूलादारभ्य तावत्परावर्तयति यावत्पर्यन्तः । ततः उपरितनभागादारभ्य गुणितं मुञ्चन् सर्वमगुणितं तावत्पश्चादानुपूर्व्या गुणयति

यावन्मूलमित्यादि । ननु पूर्वमपि तस्य स्वाभिधानमिव सर्वमपि श्रुतं पूर्वानुपूर्व्यादिरूपमतिपरिचितमेव ततः कस्मादेवमिदानीमभ्यस्यति उच्यते कालपरिमाणावबोधनिमित्तम् । तथा हि स तथा सूत्रमाचारनामकनवमपूर्वगततृतीयवस्तूक्तप्रकारेण परावर्तयति। यथा उच्छ्वासपरिमाणं यथोक्तरूपमवधारयति । तत उच्छ्वासपरिमाणावधारणात् उच्छ्वासनिःश्वासपरिमाणावधारणं तस्मात्स्तोकस्य स्तोकान्मुक्तस्य मुहूर्तार्द्धपौरुष्याऽऽत्यां पौरुष्याः पौरुषीभिर्दिनानामुपलक्षणमेतत् रात्रीणां च दिनरात्रीभ्यां वाऽहोरात्राणामेवं मुहूर्तात् पौरुषीदिनानि अहोरात्रांश्च काले कालविषये जानाति । उक्तं च । "जइ वि य से वयादी, सनाममिव परिचियं सुयं तस्स । कालपरिमाणहेतुं, तहावि खलु तज्जयं कुणति । उस्सासीतो पाणू, ततो य थोवो ततो वि य मुहुत्तो । मुहुत्तेहिं पोरिसीतो, जाणंति निसाय दिवसा य" उक्ता सूत्रभावना ।

सांप्रतमेकत्वभावनामाह ।

आणो देहातो अहं, नाणत्तं जस्स एवमुवलद्धं ।
सो किं वि साहसिकं, न कुणइ देहस्स भंगे वि ॥

अहं देहादन्य इत्येवमेकत्वभावनया यस्य साधोः परिकर्म्मणां कुर्वतः शरीरादात्मा नानात्वमुपलब्धः स दिव्यादिषु उपसर्गवेलायां देहस्य भङ्गेऽपि विनाशेऽपि किञ्चिदपि (आहसिकमिति) उत्त्रासं न करोति । गता एकत्वभावना ।

संप्रति बलभावनामाह ।

एमेव य देहबलं, अभिक्खमासेवणाए तं होइ ।
लंखकमल्ले उवमा, आसकिसोरे य जोग्गविए ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण बलभावनयापि देहस्तथा भावयितव्यो यथा देहस्य करणीयेषु योगेषु बलं न हानिमुपगच्छति ननु तपसा क्रियमाणेन नियमतो देहबलमुपगच्छति ततः कथमुच्यते बलभावनया तथा देहो भावयितव्यो यथा देहबलं न हानिमुपयातीति सत्यमेतत् किं तु देहबलं धृतिबलसूचनार्थं ततोऽयं भावार्थो बलभावनया तथा यतेत यथा देहोपचयेऽपि धृतिः समुत्साहवती समुत्साहमतितरां समुपजायते । यथा प्रबलामपि परीषहचमूर्मतिसोपसर्गामपि लीलया योधयति । तथा चोक्तं "कामं तु सरीरबलं, हायति तवभावणा पमुत्तस्स । देहावए वि सत्ती, जह होति धिती तहा जयइ । कारिणो परीसहचमू, जइ उव्वेज्जाहि सोवसग्गावि । दुद्धरपहकर वेगा, भय जणणी अप्पसत्थीणं ॥ धितिधणियबद्धकच्छो, जो होइ अणाकुलो तमव्वहितो । बलभावणाए धीरो, संपुन्नमणोरहो होइ" ततो ऽपि च सर्वा अपि भावना धृतिबलपुरस्सराः । विशेषतो धृतिबलभावना भावयितव्या । प्रबलदैवाद्युपसर्गोपनिपातेऽपि स्वकार्यं साधयति न खलु धृतेः किंचिदसाध्यमस्ति । आह च । "धितिबलपुरस्सरातो, हवंति सव्वावि भावणा तोया । तं तु न विज्जइ सत्तं, जं धिइमंतो न साहेइ" । तथा तपोबलप्रभृतीनामभीक्ष्णसेवनया भवंति । अत्रोपमा दृष्टान्तो लंखको मल्लश्च न केवलं लंखको मल्लकश्च दृष्टान्तः किं त्वश्वकिशोरश्च किंविशिष्ट इत्याह । योग्यापितः परिकर्म्मित इत्यर्थः । एषां च दृष्टान्तानामियं भावना । लंखको ऽभ्यासं कुर्वन्नभ्यासप्रकर्षवशतो रज्जावपि नृत्यं करोति । मल्लोऽपि करणानि पूर्वं दुःखेनाभ्यस्यन् कालेन कृताभ्यासः पश्चादयत्नेन प्रतिमल्लं जयति । अश्वकिशोरोऽपि हस्त्यादिभ्यो भयं गृह्णानो दुःखं तत्पार्श्वे प्रथमतः स्थाप्यमानोऽभ्यासप्रकर्षवशतो न मनागपि तद्भयं करोति । तथा च सति संग्रामे हस्त्यादिभिश्च परि भवनेऽपि न भङ्गमुपयाति । एषा दृष्टान्तभावना । दार्ष्टान्तिकयोजना त्वियम् एवमभीक्ष्णासेवनया तपसा न क्लाम्यति सत्त्वावष्टम्भतो देवादिभ्यो न बिभेति । सूत्रतः सूत्रार्थचिन्तनप्रभावेन कालं दिनरात्रिगतागतरूपं जानाति । एकत्वभावनातो यथोक्तस्वरूपो निस्सङ्गो भवति । बलभावनातोऽत्यन्तमवष्टम्भतः प्राणात्ययेऽपि नात्मानं मुञ्चति । तदेवं परिकर्म्मकरणं व्याख्यातम् । संप्रति 'दो जोहा' इत्येतद्व्याख्यातव्यम् । तत्र परिकर्म्माणि कृते आचार्येण स परीक्षणीयः किमसौ कृतसम्यक्परिकर्म्मा किं वा नेति तत्र द्वे योधनिदर्शने ते एवाह ।

पज्जोयमंतीवई खंड–कम्मसाहस्सिमल्लपारिच्छा ।
महकाल उगलसुरघड, ताल पिसाए करे मंसं ॥

अवन्तीपतिः प्रद्योतः खण्डकर्णो नाम मन्त्री । अन्यदा राज्ञः पार्श्वे साहस्रिकः साहस्रिकयोधी मल्लः समागतः । तस्य खण्डकर्णेनामात्येन महाकालश्मशाने छागेन सुराघटेन परीक्षा कृता ॥ तत्र तालप्रमाणः पिशाचस्तालपिशाचस्तस्य करे हस्ते मांसं दत्तवान् । द्वितीयो मल्ल आगतः सोऽपि तथैव परीक्षितः केवलं स तालपिशाचाद्भयमगमत् ॥ एष गाथा संक्षेपार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम् । अवंती जणवए पज्जोयस्स रण्णो मंती खंडकण्णो नाम अण्णया सहस्संपि जो जुज्झेइ सो आगतो ओलग्गामित्ति रायाण विण्णवेत्ति रण्णा भणियं ओलग्गाहि ततो सो भणइ मम वित्ती जा सहस्सजोहाणं सा दायव्वा ॥ ततो खंडकण्णो चिंतेइ । परिक्खामि ताव एयस्स सत्तं जइ सत्तमंतो । होइ ततो सच्चं सहस्सजोही ततो खंडकण्णेण छगलओ सुरघडओ य दातुं भणितो अज्ज कण्हचउद्दसीए रत्तिं महाकाले मसाणे भक्खेयव्वं । ततो सो महाकालं गंतुं छगलयं उद्दवेत्ता पउलेउं मंसं खाइयं सुरं च पाउमाढत्तो नवरं तालपिसातो आगंतुं हत्थं पसारेति मम वि देहित्ति । ततो सो सहस्सजोही अभीतो पिसायस्स वि देइ । अप्पणो य खायति य रण्णा य पच्छंतियपुरिसा पडियारगा पेसिया ते जहवित्तं पासित्ता रण्णो खंडकण्णस्स य कहेंति । सच्चं सहस्सजोही एसोत्ति वित्ती दिण्णा अण्णो वि आगंतुं विण्णवेति ओलग्गामित्ति । सोवि तहेव परिक्खिउमाढत्तो । तालपिसातो आगतो । भीतो नट्ठो परिचारगेहिं रण्णो खंडकण्णस्स य जहावित्तं कहियं । न दिण्णा सहस्सजोहवित्ती" । एवमाचार्योऽपि किमयं कृतसम्यक्परिकर्म्मा किं वा नेति तपःप्रभृतिभिः तं परीक्षेत । कथमिति चेदत आह ॥

न किलामाति दीहेण वि, तवेण न वि तासितो वि वीहेति ।
छुण्णो वि भिते वेलं, सहेति पुट्ठो अवितहं तु ॥
परपच्छसंथुएहिं, निसिज्जई दिट्ठि एगमाईहिं ।
दिट्ठीसुहवण्णेहि य, अब्भत्थवलं समूहंति ॥

आचार्यस्तपःकारापणादिना प्रकारेण तं सम्यक्परीक्षेत तद्यदा दीर्घेणापि तपसा न क्लाम्यति तदा स तपःपरिकर्म्मितो ज्ञातव्यः । यदा तु न विभासितो मार्जारप्रभृतिश्वापदादिभिर्न बिभेति तदा सत्त्वपरिकर्म्मितः यदा तु मेघच्छन्ने नभसि वसतिमध्ये वा स्थितः कियत्कृतं दिवसस्य कियद्वा गतं रात्रेः कियद्वा शेषमिति दिवसस्य रात्रेर्वा वेलां पृष्टः सत्यवितथां साधयति कथयति तदा ज्ञातव्यः स सूत्रभावनापरिकर्म्मितः । तथा पूर्वसंस्तुता भार्याश्वश्रूश्वशुरादयस्तेषु पूर्वसंस्तुतेषु च,

न्दनार्थमुपागतेषु गाथायां तृतीया सप्तम्यर्थे प्राकृतत्वात् । दृष्टिरागादिभिर्न स्निग्धदृष्ट्यादिभिः आदिशब्दात् मुखविकाशादिपरिग्रहः न सज्यते न सङ्गमुपयाति । तदा स एकत्वभावनापरिकर्म्मितो वेदितव्यः । एतदेव व्याचष्टे । दृष्टिमुखवर्णाभ्यां स्निग्धया दृष्ट्या अर्द्धावलोकनेन स्फारीकृतकान्तिमुखवर्णकरणेन च उपलक्षणमेतत् । संभाषादिना च तस्याध्यात्मबलमेकाकित्वभावनाबलं (समूहंति) परिभावयन्ति सूरयः । बलभावनामाह ।

उभयतो किसो किसदढो, दढो किसोया वि दोहि वि दढो य ।
बीयचरमापसत्था, धितिदेहं समप्पिया भंगा ॥

बलचिन्तायां चतुर्भङ्गी तद्यथा उभयतो धृतिदेहाभ्यां कृशः किमुक्तं भवति । शरीरेण कृशो धृत्या च कृशः एष प्रथमो भङ्गः (किसदढोत्ति) शरीरेण कृशो धृत्या च दृढः एष द्वितीयः (दढो किसो यावित्ति) शरीरेण दृढो धृत्या कृशः एष तृतीयः । द्वाभ्यामपि च शरीरेण धृत्या च दृढः एष चतुर्थः । अत्र द्वितीयचतुर्थौ भङ्गौ धृतिदेहसमाश्रितौ धृतिदेहविषयौ प्रशस्तावेकाकिविहारप्रतिमायोग्यौ द्वितीयस्य दृढधृत्याश्रयत्वात् । चरमस्य दृढधृतिदेहाश्रयत्वात् । एते च एकाकिविहारप्रतिपत्तये कृतपरिकर्म्माणः स्वयमेवात्मानं तुलितमतुलितं वा प्रायो जानन्ति । ज्ञात्वा च प्रतिमाप्रतिपत्तये आचार्यान्विज्ञपयन्ति तथा चाह ।

सुत्तत्थभावियसारा, सुत्तेण कालं तु सुट्ठु नाऊणं ।
परिचिय परिकम्मेण य, सुट्ठु तुलेऊण अप्पाणं ॥
तो विन्नवेंति धीरा, आयरिए एगविहरणमतीओ ।
परिणगसुयसरीरे, कयकरणा निव्वसट्ठाणे ॥

सूत्रार्थयोर्भरणेन भरणेन साराः शोभनाः सूत्रार्थभरणसाराः सूत्रेण सूत्रपरिकर्म्मतः कालं दिवसरात्रिगतमभ्रच्छन्नगगनादावपि सुष्ठु ज्ञात्वा परिचितेन स्वभ्यस्तेन परिकर्म्मणा तपःप्रभृतिपरिकर्म्मणा सुष्ठु आत्मानं तुलयित्वा धीरा महासत्वा एकविहरणमतिका एकाकिविहाराभिप्रायाः पर्याये गृहस्थपर्याये प्रव्रज्यापर्याये च श्रुते पूर्वगते शरीरे च कृतकरणाः कृताभ्यासास्तीव्रश्रद्धाकाः प्रवर्द्धमानश्रद्धाकास्ततस्तुलनानन्तरमाचार्यादीन् विज्ञपयन्ति । अत्र यो नाचार्यः स आचार्यं विज्ञपयति । यथा भगवन् कृतपरिकर्म्माहमिच्छामि युष्माभिरनुज्ञात एकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपत्तुमिति । यः पुनराचार्यस्स स्वगच्छाय कथयति तथा परिकर्म्मितोऽहमतः प्रतिपद्ये एकाकिविहारप्रतिमामिति यदुक्तं । "परियागसुयसरीरे इति" तद्व्याख्यानार्थमाह ।

एगूणतीसवीसा, कोडी आयारवत्थुदसमं च ।
संघयणं पुणआदि-ल्लगाण तिण्हं तु अन्नयरं ॥

द्विविधपर्यायो गृहिपर्यायो व्रतपर्यायश्च । तत्र यो जन्मत आरभ्य पर्यायः स गृहिपर्यायः स च जघन्यतः एकोनत्रिंशद्वर्षाणि कथमिति चेदुच्यते । इदं गर्भाष्टमवर्षप्रव्रजितो विंशतिवर्षपर्यायस्य च दृष्टिवाद उद्दिष्टः । एकेन वर्षेण योगः समाप्तः । सर्वमीलनेन जाताभ्येकोनत्रिंशद्वर्षाणि । व्रतपर्यायः प्रव्रज्याप्रतिपत्तेरारभ्य स च जघन्यतो विंशतिवर्षाणि तावत्प्रमाणपर्यायस्यैव दृष्टिवादोद्देशभावात् । उत्कर्षतो जन्मपर्यायो वा देशोना पूर्वकोटी । एतच्च पूर्वकोट्यायुष्के वेदितव्यं नान्यस्य । उक्तं च । "पडिमापडिवज्जस्स उ, गिहिपरियातो जहण्णगुणतीसा । जति परियातो वीसा, दोण्हवि उक्कोसदेसूणा" । श्रुतं जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारनामकं वस्तु यावत्तत्र कालज्ञानस्याभिधानात् । उत्कर्षतो यावद्दशमं पूर्वं चशब्दस्यानुक्तार्थसूचनाद्देशोनमिति द्रष्टव्यम् । तथा चोक्तम् " आयारवत्थुतइयं, जहन्नगं होइ नवमपुव्वस्स । तहियं कालण्णाणं, दस उक्कोसाणि भिन्नाणि" । संहननं पुनरादिमानां त्रयाणां संहननानामन्यतमद्यदा तेन पृष्टं प्रतिमां प्रतिपद्येऽहमिति तदा स स्थिरीकरणनिमित्तमिति वक्तव्यः ॥

जइ विसि तीए भवेओ, आयपरे दुक्करं खु वेरग्गं ।
आपुच्छणेणुसज्जण-पमिवज्जणगच्छसमवायं ॥

यद्यप्यसि भवसि त्वं तया परिकर्म्मणया उपेतो युक्तः तथाऽप्यात्मपरेषु आत्मपरविषयेषु आत्मसमुत्थेषु परसमुत्थेषु उभयसमुत्थेषु चेत्यर्थः । परीषहेष्विति गम्यते । दुष्करं खलु वैराग्यं रागनिग्रहणमुपलक्षणमेतत् द्वेषनिग्रहणं चेति हेतोर्भूय आप्रच्छना क्रियते किं त्वया कृता सम्यक्परिकर्म्मणा किं वा नेति । एवमाप्रच्छनायां कृतायां यदि सम्यक्कृतपरिकर्म्मा ज्ञातो भवति ततस्तस्य विसर्जनमनुज्ञा तस्य क्रियते । अनुज्ञातश्च गच्छसमवायं कृत्वा प्रशस्तेषु द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु प्रतिपादनं प्रतिमायाः प्रतिपत्तिं करोति । एष गाथासंक्षेपार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः पूर्वार्द्धं तावद्व्याख्यानयति ॥

परिकम्मितो वि वुच्चइ, किमु य अपरिकम्मंमंदपरिकम्मा ।
आयपरोभयदोसेसु, होइ दुक्खं खु वेरग्गं ॥

परिकर्म्मितोऽपि सुष्ठु कृतपरिकर्म्मापि उच्यते आपृच्छ्यते इति तात्पर्यार्थः । यथा त्वया कृता सत्परिकर्म्मणा किं वा न कृतेति किमुत अकृतपरिकर्म्मा मन्दपरिकर्म्मा वा ते सुतरामाप्रच्छनीया इति भावः । कस्मादेवमाप्रच्छना क्रियते इति चेदत आह । यत आत्मपरोभयदोषेषु आत्मपरोभयसमुत्थेषु परीषहेषु समुत्थितेषु दुःखं खलु भवति । वैराग्यं रागोपशमलक्षणमेतत् । द्वेषोपशमो वा ततो मा भूत प्रतिपत्तौ कश्चिद्व्याघात इत्याप्रच्छना क्रियते । अथ के ते आत्मपरोभयाः समुत्थाः परीषहा इति तान्प्रतिपादयति ।

पढमवीयाइलाभे, रोगे पण्णाविणा य आयाए ।
सीउण्हादीउ परे, निसहियादी उ उभए वि ॥

प्रथमः परीषहः क्षुद् द्वितीयः पिपासा आदिशब्दात्तत्पर इत्यादिपरीषहपरिग्रहः । तथा लाभपरीषहः रोगपरीषहः प्रज्ञादिकाः प्रज्ञादयः परीषहा आदिशब्दादज्ञानादिपरिग्रहः । एते आत्मानि आत्मसमुत्थाः परीषहाः । तथा शीतोष्णादयः शीतोष्णदंशमशकादिपरीषहाः परे परविषयाः परसमुत्था इत्यर्थः । नैषेधिकीवर्षादयः पुनः परीषहा उभयास्मिन् उभयसमुत्थाः ।

संप्रति "करणेलगच्छगत्ति" व्याख्यानार्थमुपक्रमते ।

एएसु समुप्पन्नेसु, दुक्खं वेरग्गभावणा काउं ।
पुव्वं अभावितो खलु, स होइ एलगच्छोओ ॥

यः खलु पूर्वमभावितो यथोक्तपरिकर्म्मणया अपरिकर्म्मितो भवति । यथा शैक्ष एडकाक्षस्तस्य एतेषु आत्मपरोभयसमुत्थेषु परीषहेषु दुःखं महत्कष्टं वैराग्यभावना । उपलक्षणमेतत् द्वेषनिग्रहभावनाश्च कर्तुं न शक्यन्ते एवं रागद्वेषनिग्रहभावनां कर्तुमिति भावः । यस्तु सम्यक्कृतपरिकर्म्मा भवति स करोत्ययत्नेन वैराग्यभावनां यथा रूपकस्तथा चाह ।

परिकम्मणाए खवगो, सेह वलामोमिए वि तहगत्ति ।
पाभातियउवस्सग्गे, कयम्मि पारेइ सो सेहो ॥

पारेहि तं पि भंते, ! देव य अच्छी चवेडपाडणया ।
काउस्सग्गा कंपण-एलगमए एइ निव्वित्ती ॥

परिकर्म्मणायामुदाहरणं क्षपकः । यलामोटिकायां श्रुतपर्यायत्वेन परिकर्म्मणायामेव प्रतिपत्तावाहरणं शैक्षकः सोऽपि शैक्षकस्तथा क्षपक इव तिष्ठति कायोत्सर्गेणावतिष्ठते । ततो देवतया प्रात्यतिके उपसर्गे कृते स शैक्षकः पारयति पारयित्वा च क्षपकं ब्रूते । यथा भदन्त ! त्वमपि पारय जातं प्रभातमिति ततो देवतया चपेटाप्रदानेन तस्याक्ष्णोः पातनमकारि तदनन्तरं शैक्षकानुकम्पया देवताराधनार्थं कायोत्सर्गः कृतस्तेन देवताया आकम्पनमावर्जनमभूत्ततः सद्योमारितस्य एडकस्य प्रदेशयोरक्ष्णोस्तत्र निर्युक्तिर्निष्पत्तिः कृता । एष गाथाद्वयसंक्षेपार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम् " एगो खवगो एगल्लविहारपडिमाए परिकम्मं करेइ सो पडिमं ठितो सुत्तत्थाणि करेति । अन्नो खवगो अप्पसुत्तो आयरियं विन्नवेति । अहंपि परिकम्मं करेमि । आयरिएणं भणियं तुमं सुएणं अपज्जत्तो न पाओग्गोसि वारिज्जमाणो असुणित्ता तस्स जमलतो तहेव पडिमं ठितो । देवया चिंतेइ एस आणाभंगे वट्टतित्ति । अक्खरसे पजायं दंसेति । ततो सेहखवगो पारित्ता भणति । तं खवगं पारेहि । सेह खवगो देवयाए चवेडाए आहतो । दोवि अच्छीणि पडियाणि तं दट्टुं इयरो तदणुकंपणट्ठा देवयाए आकंपणनिमित्तं धणियं काउस्सग्गेण ठितो ॥ ततो सा देवया आगता भणति खवग ! संदिसह किं करेमि । खवगेण भणियं कीस ते सेहो दुक्खावितो । देहि से अच्छीणि । ताहे तीए देवयाए भणीयं अच्छीणि अप्पदेसी चुयाणि खवगो भणइ कहवि करेहि । ताहे सज्जो मारियस्स एलगस्स सप्पएसाणि । सेहखवगस्स लाइयाणि " । सांप्रतमेतस्य निदर्शनोपनयमाह ।

भावियमभाविया‌णं, गुणा गुणण्णाइ विंति तो थेरा ।
वितरंति भावियाणं, दव्वाइसु नेयपडिवत्ती ॥

भावितानां कृतपरिकर्म्मणानां गुणा यथा क्षपकस्य अभावितानामकृतपरिकर्मणानामगुणा यथा शैक्षकः क्षपकस्य इति एवं भाविता गुणा गुणज्ञाः स्थविराः आचार्यास्तत आपृच्छानन्तरं यान् भावितान् सम्यग् जानन्ति तेषां भावितानां प्रतिमाप्रतिपत्तिं वितरन्ति समनुजानन्ति एतेन " आपुच्छणा विसज्जण " इत्येतद्व्याख्यातमधुना पडिवज्जणं इत्येतद्व्याख्यानायाह । (दव्वादिसु,भेयपडिवत्ती) द्रव्यादौ द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु शुभेषु प्रशस्तेषु प्रतिमायाः प्रतिपत्तिर्भवति कथमित्याह ।

निरुवसग्गनिमित्तं, उस्सग्गं वंदिऊण आयरिए ।
आवस्सियं च काउं, निरवेक्खो वच्चए भयवं ॥

पूर्वं समस्तमपि स्वगच्छमागत्य यथार्हं क्षमयित्वा तदनन्तरमाचार्येण सकलस्वगच्छसमन्वितेन सकलसंघसमन्वितेन च शैक्षनिरुपसर्गनिमित्तमुपसर्गाभावेन सकलमपि प्रतिमानुष्ठानं निर्वहत्वित्येतन्निमित्तं कायोत्सर्गं करोति तद्यथा " निरुवसग्गवत्तियाए सद्धाए मेहाए " इत्यादि । कायोत्सर्गानन्तरं च सूत्रोक्तविधिना प्रतिमां प्रतिपद्य आचार्यान् वन्दते वन्दित्वा च आवश्यकीं कृत्वा स भाण्डमात्रोपकरणः सिंहगुहातो निरपेक्षं पूर्वापेक्षाविरहितो भगवान् व्रजति आचार्याश्च सकलसंघसमन्विताः पृष्ठतोऽनुव्रजन्ति । ते च तावद्गच्छन्ति यावद्ग्रामस्य नगरस्य वा आघाटस्ततो निरीक्षमाणास्तावदासते यावत् । दृष्टिपथातीतो भवति ततः सर्वे विनिवर्त्तन्ते ।

संप्रति वक्ष्यमाणवक्तव्यतासंसूचनाय द्वारगाथामाह ।

परिचियकालामंतण-खामणतवसंजमे य संघयणा ।
भत्तोवहिनिक्खेवे, आवसणे लाभगमणे य ॥

परिचितश्रुतः सन् यावन्तं कालं परिकर्म यस्य करोति तस्य तावत्कालो वक्तव्यः तथा स्वगणामन्त्रणं वक्तव्यं तथा तपः संयमः संहननं तथा भक्तमलेपकृदादि उपधिर्यावत्संख्याको जघन्यत उत्कर्षतश्च तावत्संख्याको वक्तव्यः ॥ तथा निक्षेप उपधेर्न कर्तव्यो वसतेरन्यत्र गच्छतेति वाच्यम् । तथा मनसापि यत्प्रायश्चित्तमपन्नं भवति तद्दातव्यम् । तथा सचित्ताचित्तलाभो यथा कर्त्तव्यस्तथा भणनीयः । तथा गमनं विहारस्तद्यस्यां पौरुष्यां कर्तव्यं तस्याः कथयितव्यम् । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव व्याचिख्यासुः प्रथमतः परिचितकालद्वारमाह ।

परिचितसुओ उ मग्गसिर-मादि जाते उ कुणति परिकम्मं ।
एसो च्चिय सो कालो, पुणरेव गणं उवगम्मि ॥

परिचितमत्यन्तमभ्यस्तं स्वीकृतं श्रुतं येन स परिचितश्रुतः सन्मार्गशीर्षमासमादिं कृत्वा यत्परिकर्म्म करोति । एष एतावत्प्रमाण एव साधोः प्रतिमाप्रतिपित्सोर्जघन्यपदे उत्कर्षतः कालः परिकर्म्मणाया एतावत्प्रमाणोत्कृष्टपरिकर्म्मणाकालानन्तरं च यद्यप्यवधानप्रतिमां प्रतिपित्सुस्तथापि अत्ययस्य मुखस्य वर्षाकालसंबन्धिनः समीपमुपाद्यमाषाढमास इत्यर्थः । तस्मिन्वर्षाकालयोग्यमुपधिं ग्रहीतुं पुनरेत्यागच्छति । स्वगणमिति एवं तच्चेदमुत्कालितमुक्तमिदानीमेतदेव सविशेषतरं विवृणोति ।

जो जति मासे काहिति, पडिमं सो तत्तिए जहण्णेण ।
कुणति मुणी परिकम्मं, उक्कोसं भावितो जाव ॥

यो मुनिर्यति(यावत्) मासान् प्रतिमां करिष्यति स तति(तावत्) मासान् जघन्येन परिकर्म्म करोति तद्यथा मासिकां प्रतिमां प्रतिपित्सुरेकं मासं द्वैमासिकीं द्वौ मासौ त्रैमासिकीं त्रीन् मासान् एवं यावत्सप्तमासिकीं सप्त मासान् एवं च मार्गशीर्षादारभ्य सप्तमासिक्याः परिकर्म्म ज्येष्ठमासे समाप्तिमुपयाति । एतावेव च जघन्यपदे उत्कृष्टकालः । ततः परं प्रतिमानां मासैः परिमाणासंभवात् उत्कर्षतस्तमधिकृत्य पुनः परिकर्म्मणाकालो यावता कालेन परिपूर्णमागमोक्तेन प्रकारेण भावितो भवति तावान्वेदितव्यः । तत्र जघन्यपदपरिकर्म्मणाकालमधिकृत्य कासांचित्प्रतिमानां तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्तिः कासांचिद्वर्षान्तरेऽभिधित्सुराह ॥

तव्वरिसे कासिंची, पडिवत्ती अन्नहिं उवरिमाणं ।
आइल्लपइयस्स उ, इच्छाए भावणा सेसे ॥

कासांचिदाद्यानां प्रतिमानां तद्वर्षे एव यस्मिन्वर्षे परिकर्म्मसमारब्धवान् तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्तिरुपरितनीनामन्यस्मिन्वर्षे । इयमत्र भावना । मासिक्या द्वैमासिक्यास्त्रैमासिक्याश्चतुर्मासिक्या वा तस्मिन्नेव वर्षे प्रतिपत्तिः । कस्मादिति चेत्परिकर्म्मणाकालस्य प्रतिमाकालस्य च आषाढमासपर्यन्तादर्वाक् लभ्यमानत्वात् । पाञ्चमासिकी षाण्मासिकीसाप्तमासिकीनामन्यस्मिन्वर्षे परिकर्म्म अन्यस्मिन्वर्षे प्रतिपत्तिर्मार्गशीर्षमासादारभ्य परिकर्म्मकालस्य प्रतिमाकालस्य चाषाढमासपर्यन्तादर्वाग् लभ्यमानत्वादिति येन च या प्रतिमा पूर्वमाचीर्णा । तस्याचीर्णप्रतिमस्य तां प्रतिमां प्रति परिकर्म्मणा इच्छया यदीच्छा भवति ततः करोति नो चेन्नेति । किमुक्तं भवति । चिरकालकृततया यदि गताभ्यासो भवति ततः करोति परिकर्म्मणा-

मन्यथातिशेषे येन या प्रतिमा पूर्वं नाचीर्णा तस्य तां प्रति नियामाद्भावना परिकर्मणा भवति ।

सांप्रतमामन्त्रणक्षामणतपःसंयमद्वाराण्याह ।

आमंतेऊण गणं, सबालवुड्ढा उ खामवेत्ता ।
उग्गतवभावियप्पा, संजमपढमेव बितिए वा ॥

गणं गच्छं सह बाला येस्ते सबालास्ते च ते वृद्धाश्च तैराकुलमामन्त्र्य समाहूय क्षमयति । यथा यदि किञ्चित्प्रमादतो मया न सुष्ठु भवतां वर्त्तितं तदहं निःशल्यो निष्कषायं क्षमयामीति । ये च पूर्वविरुद्धास्तानेवं सविशेषतः क्षमयति । एवमुक्ते ये लघवस्ते आनन्दाश्रुप्रपातं कुर्वाणः भूमिगतशीर्षास्तं क्षमयन्ति ये पुनः श्रुतपर्यायवृद्धास्तान् पादेषु पतित्वा स क्षमयति । उक्तं च "जइ किंचि पमाएणं, न सुट्ठु भे वट्टियं मए पुव्विं । तं खामेमि अहं खु, निस्सल्लो निक्कसाओ य । आणंदअंसुपायं, कुणमाणा ते वि भूमिगयसीसा । तं खामेंति जहारिहं, जहारिहं खामिया तेण" । एवं क्षमयतस्तस्य के गुणा इति चेत् उच्यते । निःशल्यता विनयप्रतिपत्तिर्मार्गस्य प्रकाशनम् अपहृतभारस्येव भारवाहस्य लघुता एकाकित्वप्रतिपत्त्यभ्युपगमः । क्वचिदप्यप्रतिबद्धता । एते प्रतिमासु प्रतिपद्यमानासु क्षमयतो गुणाः । उक्तं च "खामंतस्स गुणा खलु, निस्सल्लय विणयदीवणा मग्गे ; लाघविणं एगत्तं, अपडिबंधो उ पडिमासु" । गतमामन्त्रणाद्वारम् । स एवं च क्षामयित्वा भावितात्मा तपोभावनाभावितान्तः उग्रं तपः करोति । गतं तपोद्वारम् । स च तथा प्रतिमां प्रतिपन्नः संयमे प्रथमे वा सामायिकलक्षणे वर्त्तते । द्वितीये वा छेदोपस्थापने । तत्र प्रथमे मध्यमतीर्थंकरतीर्थेषु विदेहतीर्थकरतीर्थेषु च द्वितीये भरतादिषु प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थेषु एतच्च प्रतिपद्यमानकानधिकृत्योक्तं वेदितव्यम् । पूर्वप्रतिपन्नाः पुनः पञ्चानां संयमानामन्यतमस्मिन् संयमे भवेयुः उक्तं च । "पढमे वा बीए वा, पडिवज्जइ संजमम्मि पडिमातो । पुव्वपडिवण्णतो पुण,अन्नयरे संजमे हुज्जा" गतं संयमद्वारम् । अधुना भक्तद्वारमुपधिद्वारं चाह ।

पग्गहियमलेवकमं, भत्तजहण्णेण नवविहो उवही ।
पाउरणवज्जियस्स उ, इयरस्स दसा वि जावाए ॥

भक्तमुपलक्षणमेतत् पानकं च अलेपकृतं कल्पते तथा प्रगृहीतमिहालेपकृद्भिक्षाया उपरितनानां तिसृणां भिक्षाणां मध्यमा-मध्यमग्रहणे चाद्यन्तयोरपि ग्रहणं ततोऽयमर्थः सप्तसु पिण्डैषणासु मध्ये उपरितनानां चतसृणामन्यतमस्याः पिण्डैषणायाः अभिग्रहः । आद्यानां तिसृणां पिण्डैषणानां प्रतिषेधः एतच्च चूर्णिकारोपदेशात् विवृतम् तथाचाह चूर्णिकृत " उवरिल्लाहिं चउहिं पिंडेसणाहिं अन्नयरीए । अभिग्गहो सेसासु तिसु उग्गहो इति " ॥ गतं भक्तद्वारमुपधिद्वारमाह । जघन्येनोपधिर्नवविधः । पात्र-पात्रबन्ध--पात्रस्थापना-पात्रकसरिका-पटल-रजस्त्राण--गोच्छक-मुखवस्त्रिका-रजोहरणलक्षण एष च नवविधो जघन्यत उपधिर्यः प्रावरणवर्जीकृतप्रावरणपरिहाराभिग्रहस्तस्य वेदितव्यः । इतरस्य कृतप्रावरणपरिग्रहस्य दशाद्विको भिक्षोर्यावत् द्वादशविधः । तत्रैकसौत्रिककल्पपरिग्रहे दशविधः सौत्रिककल्पद्वयपरिग्रहे एकादशविधः । कल्पत्रयस्यापि परिग्रहे द्वादशविधः । गतमुपधिद्वारम् ।

संप्रति निक्षेपद्वारमाह ।

वसहीए निग्गमणं, हिंडंतो सव्वभंडमादाय ।
नयनिक्खिवइ जलाइसु, जत्थ से सूरो वयति अत्थं ॥

वसतेः सकाशाद्यदि निर्गमनं भवति ततो नवविधोपध्याधारणैनैव भाण्डमुपकरणमात्मीयं वसतौ न निक्षिपति । किंतु सर्वं भाण्डमादाय हिण्डते हिण्डमानश्च यत्रैव जलादिषु जले स्थले ग्रामे नगरे कानने वने वा तस्य सूर्यो व्रजत्यस्तं तत्रैव कायोत्सर्गेण अन्यथा वाऽवतिष्ठते न पुनः पदमात्र मुत्क्षिपति । गतं निक्षेपद्वारम् ।

अधुना आपन्नलाभगमनद्वाराण्याह ।

मणसावि अणुग्घाया, सच्चित्ते चेव कुणति उवदेसं ।
अच्चित्तजोगगहणं, भत्तं पंथो य तइयाए ॥

मनसापि आस्तां वाचा कायेन चेत्यपिशब्दार्थः । यानि प्रायश्चित्तानि आपद्यते तानि सर्वाण्यपि तस्यानुद्घातानि गुरूणि भवन्ति । गतमापन्नद्वारम् । लाभद्वारमाह (सच्चित्तेचेत्यादि) लाभो द्विविधः सचित्तस्य अचित्तस्य च तत्र सचित्तस्य प्रव्रजितुं कामस्य मनुष्यस्य अचित्तस्य भक्तपानादेः । तत्र यदा सचित्तस्य लाभ उपस्थितो ज्ञायते यथा नूनमेष प्रव्रजिष्यति मत्तु स्थास्यति तदा तस्मिन्सचित्ते प्रव्राजितुमुपसंपद्यमानतया संभाविते उपदेशमेव करोति ननु तं प्रव्राजयति । तस्य तामवस्थामुपगतस्य प्रव्रज्यादानानर्हत्वात् । एवकारो भिन्नक्रमः स च यथास्थानं योजितः अचित्तस्य पुनर्योग्यस्य भक्तस्य पानस्य वा ग्रहणं करोति । गतं लाभद्वारम् । गमनद्वारमाह । भक्तं भिक्षाचर्याः पन्थाः पथि विहारक्रमकरणाय गमनं तृतीयस्यां पौरुष्यां नान्यदा । तदा कल्पत्वात् तदेवं भिक्षोः प्रतिमाप्रतिपत्तिविधिरुक्तः ।

संप्रति गणावच्छेदादिषु तमाह ।

एमेव गणायरिए, गणनिक्खिवणम्मि नवरि णाणत्तं ।
पुव्वोवहिस्स अहवा, निक्खिवणमपुव्वगहणं तु ॥

एवमेव अनेनैव भिक्षुगतेन प्रकारेण (गणित्ति) गणावच्छेदिनि (आयरिएत्ति) आचार्योपाध्याये वक्तव्यं किमुक्तं भवति यथा भिक्षौ प्रतिमां प्रतिपत्तुं प्रतिपन्ने च विधिरुक्तस्तथा गणावच्छेदिनि आचार्योपाध्याये च प्रतिपत्तव्यः । तथा च सूत्रकारोऽपि तत्सूत्रे अतिदेशत आह " एवं गणावच्छेदं एवं आयरिओवज्झाए" एवं भिक्षुगतेन सूत्रप्रकारेण गणावच्छेद एवमेव आचार्यश्च उपाध्यायश्च आचार्योपाध्यायम् । तद्यथा "गणावच्छेयए वा गणातो अवक्कम्मा एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरेज्जा से इयज्जा दोच्चं पि तमेव ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए पुणो आलोएज्जा पुणो पडिक्कमेज्जा । पुणो छेदस्स परिहारस्स वा उवट्ठाएज्जा । तथा आयरिओवज्झाए य गणातो अस्स एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरे इत्यादि " व्याख्याऽप्यस्य सूत्रद्वयस्य तथैव । अथ किमविशेषेण भिक्षाविव प्रतिमाप्रतिपत्तिविधिरनुसरणीयो यदि वास्ति कश्चिद्विशेषस्तत आह (गणनिक्खेवणंइत्यादि) नवरं नानात्वं भेदो गणनिक्षेपणे । इयमत्र भावना गणावच्छेदी गणावच्छेदित्वं मुक्त्वा प्रतिमां प्रतिपद्यते आचार्योऽन्यं गणधरं स्थापयित्वेति विशेषः । अथवा इदं भिक्षुगतविधेर्गणावच्छेदाचार्ययोर्विधिः नानात्वं गणावच्छेदी आचार्यो वा पूर्वगृहीतमुपधिं निक्षिप्य अन्यमुपधिं प्रायोग्यमुत्पाद्य प्रतिमां प्रतिपद्यते इत्युक्तम् । समाप्तप्रतिमानुष्ठानस्य गच्छे प्रत्यागमने राजादिभिः क्रियमाणं सत्कारं कोऽपि भिक्षुर्गणावच्छेदी आचार्यो वा दृष्ट्वा जातसंवेगः सन् स्वाचार्याणां पुरत आपृच्छनं करोति । यथा भगवन्नहमप्येकाकिविहारप्रतिमां प्रतिपद्य इति । ते चाचार्या विशिष्टश्रुतविदो जानन्ति भूतं भाविनं चेति ॥ तस्यायोग्यतामुदीक्षमा-

णाः प्रतिषेधनं कृतवन्तः यथा त्वमयोग्यः श्रुतेन वयसा वाऽप्राप्तत्वात् न च परिकर्म्मणा तद्योग्यता त्वया कृतेति । स एवं प्रतिषिध्यमानोऽपि यदा न तिष्ठति तदा सूरेर्वक्तव्यो यदि न स्थास्यसि तर्हि विनङ्क्ष्यसि यथा सा देवी का सा देवीति चेत्। अत आह। (देवीसंगामतो नीति) देवी राज्ञा वार्यमाणाऽपि ततो राज्ञः सकाशाद्विनिर्गच्छति संग्रामे प्रविशतीति प्रतिमाप्रतिपत्तिविधिः ।

इदानीं समाप्तिविधिमाह ।

तीरियउब्भामणियोग-दरिसणं साहु सन्नि व प्पाहे ।
दंमियजोइय असती, सावगसंघो व सक्कारं ॥

तीरितायां समाप्तायां प्रतिमायामुत्प्राबल्येन भ्रमन्तीत्युद्भ्रमाः भिक्षाचरास्तेषां नियोगो व्यापारो यत्र स उद्भ्रामनियोगो ग्रामस्तत्र दर्शनात्मनः प्रकटनं करोति । ततः साधुं संयतं संज्ञिनं वा सम्यग्दृष्टिं श्रावकं (अप्पाहेत्ति) सन्देशयति । ततो दण्डिकस्य राज्ञो निवेदनं सत्कारकं करोति। तदभावे भोजिकस्तस्याप्यभावे श्रावकवर्गस्तस्याप्यभावे संघः साधुसाध्वीवर्गः। इयमत्र भावना । प्रतिमायां समाप्तायां यस्मिन् ग्रामे प्रत्यासन्ने बहवो भिक्षाचराः साधवश्च समागच्छन्ति तत्रागत्यात्मानं दर्शयति । दर्शयंश्च यं साधुं श्रावकं वा पश्यति तस्य सन्देशं कथयति । यथा समापिता मया प्रतिमा ततोऽहमागत इति । तत्राचार्या राज्ञो निवेदयन्ति । यथा अमुको महातपस्वी समाप्ततपःकर्मा संस्तदतिमहता सत्कारेण गच्छे प्रवेशनीय इति । ततः स राजा तस्य सत्कारं कारयितव्यस्तदभावे अधिकृतस्य ग्रामस्य नगरस्य वा नायकः तदभावे समृद्धः श्रावकवर्गस्तदभावे साधुसाध्वीप्रभृतिकः संघो यथाशक्ति सत्कारं करोति । सत्कारो नाम तस्योपरि चन्द्रोदयधारणं नान्दीतूर्यास्फालनं सुगन्धवासप्रक्षेपणमित्यादि । एवंरूपेण सत्कारेण गच्छं प्रवेशयेत् ।

सत्कारेण प्रवेशनायामिमे गुणाः ।

उब्भावणा पवयणे, सद्धाजणणं तहेव बहुमाणो ।
ओहावणा कुतित्थे, जीयं तह तित्थवुड्ढी य ॥

प्रवेशसत्कारेण प्रवचने प्रवचनस्य उद्भावनं प्राबल्येन प्रकाशनं भवति । तथा अन्येषां बहूनां साधूनां श्रद्धाजननं यथा वयमप्येवं कुर्म्मो महती शासनस्य प्रभावना भवति । यथा श्रावकश्राविकाणामन्येषां च बहु मानमुपजायते शासनस्योपरि यथा अहो महाप्रतापि पारमेश्वरं शासनं यत्रेदृशा महातपस्विन इति। तथा कुतीर्थे जातावेकवचनम् । कुतीर्थानामपभ्राजना हीलना । तत्र ईदृशां महासत्त्वानां तपस्विनामभावात् । तथा जीतमेतत्कल्प एष यथा समाप्तिप्रतिमानुष्ठानः सत्करणीय इति । तथा तीर्थवृद्धिश्च । एवं हि प्रवचनस्यातिशयमुदीक्षमाणा बहवः संसारात् विरज्यन्ते विरक्ताश्च परित्यक्तसङ्गाः प्रव्रज्यां प्रतिपद्यन्ते ततो भवति तीर्थप्रवृद्धिरिति । तदेवं परिकर्म्मणाभिधानं प्रतिमाप्रतिपत्तिः प्रवेशसत्कारश्च भणितः । सांप्रतमधिकृतसूत्रं यत्र योगमर्हति तद्विवक्षुरिदमाह ।

एएण सुत्तं न गयं, सुत्तनिवातो इमो उ अव्वत्ते ।
उच्चारियसरिसं पुण, परूवियं पुव्वभणियं पि ॥

यदेतदनन्तरं परिकर्म्मणादिकमुक्तं नैतेन सूत्रं गतं व्याख्यातं जातावेकवचनस्य भावात् । नैतेन त्रीणि सूत्राणि व्याख्यातानि । सूत्राणामन्यविषयत्वात् । तथा चाह । " सुत्तनिवातो इमो उ अव्वत्ते" तुशब्दः पुनरर्थे स च पुनरर्थं प्रकाशयन् हेत्वर्थमपि प्रकाशयति । ततोऽयमधिकृतः सूत्रनिपातो व्यक्तोऽव्यक्तशब्दविषयः । अव्यक्तो नाम श्रुतेन वयसा वाऽप्राप्तोऽपरिकर्मितश्च पूर्वभणितं च समस्तं व्यक्तविषयमतोऽन्यविषयत्वं च प्रागुक्तमिति । नैतेन प्रागुक्तेन सूत्रत्रयं गतमिति । अत्राह । यद्येतत्प्राग्व्याख्यातं न तेन यदि सूत्रत्रयं गतं तर्हि तदेतत् कुत आगतम् । सूत्रात्तावन्न भवति सूत्रस्यान्यविषयत्वात् । अन्यस्माच्चेत्तर्हि न वक्तव्यमसंबद्धत्वात् अत आह (उच्चारिय सरिसमित्यादि) परिकर्म्मणाभिधानं यच्च पूर्वमाचारदशासु भिक्षुप्रतिमागतमुक्तं यथा " घरसउणीसीह इत्यादि " । तथा "परिचियकालामंतेणेत्यादि " च प्राग्भणितमपि प्ररूपितमुच्चरितस्य सदृशमनुगतमिति कृत्वा किमुक्तं भवति ॥ "एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए"इत्युक्तमेतच्च सूत्रखण्डे व्यक्ते ऽव्यक्ते च समानं ततो यद्यपि सकलसूत्रोपनिपातोऽव्यक्तविषयस्तथापि यदेतत्सूत्रखण्डं तद् व्यक्तेऽपि समानमिति । व्यक्तविषयं परिकर्म्मणादिकमुक्तमित्यदोषः । यदुक्तमयमधिकृतसूत्रोपनिपातो ऽव्यक्तविषय इति । तत्राव्यक्ते यथा प्रतिमाप्रतिपत्तिसम्भवस्तथोपपादयति ।

आगमणे सक्कारं, को यं दट्ठूण जायसंवेगो ।
आपुच्छणपडिसेहण, देवी संगामतो नीति ॥
संगामे निवपमिमं, देवी काऊण जुज्झति रणम्मि ।
वितियवले नरवती, नाउं गहिया धरिसिया य ॥

संग्रामे देवी नृपप्रतिमां राज्ञ आकारं कृत्वा युध्यते सा च तथा रणे संग्रामे युध्यमाना द्वितीयबले प्रतिपक्षबले यो नरपतिस्तेन कथमपि ज्ञाता अरे महिला युध्यतीति सन्नाहापेक्षं कृत्वा गृहीता चक्रवालैर्धर्षापिता मारिता च एषोऽक्षरार्थः। भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्चेदम् । "एगेण रण्णा एगस्स रण्णो नगरं वेढियं । रायासु अंतेउरो नगरब्भंतरे अग्गमहिसी भणइ : जुज्झामि वारिज्जंती वि रण्णा न ठाति ततो सा सन्नाहिता खंधावारेण समं निगंतु परबलेण समं जुज्झइ महिलात्ति काउं गहिया.चंमालेहिं धरिसाविता मारिया ।

दूरेतो पमिमातो, गच्छविहारे त्ति सो न निम्माते ।
निग्गंतुं आसन्ना, नियति लहुओ गुरू दूरे ॥

दूरे तावत्प्रतिमाः। किमुक्तं भवति । तद्विषयमिदं सूत्रत्रिकं तस्य प्रतिमाः प्रतिपत्तव्यास्तावत् दूरे त्रिशिष्टश्रुतवयोऽवस्थामप्राप्ततया तत्सामाचारीपरिज्ञानस्य परिकर्म्मणायाश्चाभावात् गच्छविहारे गच्छसामाचार्यामपि सोऽधिकृतसूत्रत्रयविषयो निर्मातो न परिनिष्ठामुपगतः स आचार्येण वार्यते । स च वार्यमाणोऽपि यदा स्वगच्छान्निर्गत्य यदि कथमपि बुद्धिपरावर्तेनेनासन्नादेव निवर्त्तते ततस्तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः। दूरे दूराद्विनिवर्त्तते तत आह

गच्छं दोसो गच्छा, निग्गंतूणं ठितो उ सुप्पघरं ।
सुत्तत्थमुक्कहियओ, संभरइ इमेसि मे गामी ॥

स्वमात्मीयं छन्दोऽभिप्रायो यस्य स स्वच्छन्दः सन् गच्छाद्विनिर्गत्य शून्यगृहे उपलक्षणमेतत् । श्मशाने वा वृक्षमूले वा देवकुलसमीपे वा कायोत्सर्गेण स्थितः स च सूत्रमर्थं वा न किमपि जानाति यच्चिन्तयति । ततः सूत्रार्थशून्यहृदय एकाकी सन् एषां वक्ष्यमाणानामाचार्यादीनां स्मरति । तानेवाह ।

आयरियवसभसंघा-डएयकंदप्पमासियं लहुयं ।
एगाणिपत्तसुण्णघरे, अत्थमिए पत्थरे गुरुगा ॥

आचार्यो गच्छाधिपतिस्तं वा यदि स्मरति । यदि वा वृषभमथवा संघाटिकं (कंदप्पत्ति) अत्र विभक्तिलोपो मत्वर्थीयलोपश्च प्राकृतत्वात् । यैर्वा साधुभिः समं गच्छे वसन् कन्दर्प्यर्हं स च सूर्यादिरूपं कृतवान् । कन्द (पैकात्) पैकृतान् स्मराति तदा प्रायश्चित्तं मासिकं लघुकं तथा (एकाणियत्ति) एकाकी सन् शून्यगृहे उपलक्षणमेतत् । श्मशानादौ वा दिवसे विभेति तदा चत्वारो लघुमासाः यदि पुनरस्तमिते सूर्ये भयं गृह्णन् प्रस्तरान् पाषाणान् (छुहइत्ति) तदा चतुर्गुरुकाः

पत्थरे छुहइ रत्ता, गमणे गुरुलहुगदिवसतो हुंति ।
आयसमुत्था एए, देवयकरणं तु वुच्छामि ॥

यदि रात्रौ मार्जारादिश्वापदादिभ्यो बिभ्यन् प्रस्तरान् शून्यगृहादौ च गृहस्यान्तः (छुहइत्ति) प्रवेशयति । यदि वा स्तेनादिभयेन रात्रौ गच्छमागच्छति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । यदा पुनर्दिवसे एव शून्यगृहादाववतिष्ठमानो भयात्प्रस्तरान्प्रवेशयति गच्छं वा भयमजीर्यन्समायाति तदा चत्वारो लघुका मासाः । एते आत्मसमुत्था दोषा उक्ताः । इदानीं यद्देवता करोति तद्देवताकरणं वक्ष्यामि । सांप्रत 'भेगाणियसुण्णघरे इत्यादि' यदुक्तं तद्भिक्षुगणावच्छेदाचार्यभेदेषु प्रत्येकं सविशेषतरं भावयति ॥

पत्थरमणसंकप्पे, मग्गणादिट्ठे य गहियखेत्ते य ।
पडियपरितावियमए, पच्छित्तं होइ तिएहं पि ॥

मासा लहुतो गुरुतो, चउरो लहुगा य चउर गुरुगा य ।
छम्मासा लहुगुरुगा, छेओ मूलं तह दुगं च ॥

प्रस्तराणां ग्रहणाय मनःसंकल्पे मार्गणे तथा ग्रहणबुद्ध्या प्रस्तरे दृष्टे तथा गृहीते तथा क्षिप्ते यस्योपरि प्रक्षिप्तः प्रस्तरस्तस्योपरि पतिते नवरमपरितापिते अनागाढं परितापिते तथा मृते च त्रयाणामपि भिक्षुगणावच्छेद्याचार्याणां प्रायश्चित्तं वक्ष्यमाणं यथाक्रमं भवति । तदेवाह (मासो इत्यादि) मासो लघुको गुरुकाः षण्मासाः लघवः षण्मासा गुरुकाश्छेदो मूलं तथा द्विकमनवस्थाप्यपाराञ्चितरूपमिति गाथाद्वयसंक्षेपार्थः । भावार्थस्त्वयम् । यदि भिक्षुर्भयवशात्प्रस्तरविषयं मनःसंकल्पं करोति गृह्णामि प्रस्तरमिति तदा तस्य प्रायश्चित्तं लघुमासः । प्रस्तरस्य मार्गणे गुरुमासः प्रस्तरे ग्राह्योऽयमिति बुद्ध्या अवलोकिते चत्वारो लघुमासाः गृहीते प्रस्तरे चत्वारो गुरुकाः क्षिप्ते मार्जारादिश्वापदादीनामुपरि प्रस्तरे षण्मासा लघवः । यस्योपरि क्षिप्तस्तस्योपरि पतिते तस्मिन्नपरितापिते षण्मासाः गुरवः ॥ गाढं परितापिते च्छेदः मृते मूलम् । तदेवं भिक्षोर्लघुमासादारब्धं मूले निष्ठितम् । गणावच्छेदिनः प्रस्तरमनःसंकल्पे प्रायश्चित्तं गुरुको मासः प्रस्तरमार्गणे चत्वारो लघुमासाः प्रस्तरे ग्राह्यबुद्ध्या दृष्टे चत्वारो गुरुकाः । प्रस्तरे गृहीते षण्मासा गुरवः प्रस्तरे घात्यस्योपरि पतिते छेदः । घात्यवगाढे परितापिते मूलं मृते अनवस्थाप्यं तदेवं गणावच्छेदिनो गुरुमासादारब्ध्य अनवस्थाप्ये निष्ठितम् । आचार्यस्य प्रस्तरमनःसंकल्पे चत्वारो लघुमासाः प्रस्तरमार्गणे चत्वारो गुरुकाः प्रस्तरे ग्राह्यबुद्ध्या दृष्टे षण्मासा लघवः प्रस्तरे गृहीते गुरवः षण्मासाः क्षिप्ते छेदः घात्यस्योपरि पतिते प्रस्तरे मूलं गाढं परितापिते घात्येऽनवस्थाप्यं मृते पाराञ्चितमिति । संप्रति यदुक्तं । " देवयकरणं तु वुच्छामि " इति तत् अन्यथा विवक्षुर्द्वारगाथामाह ।

बहुपुत्तपरिसमेहे, उदयग्गे जड्ड सप्प चउलहुगा ।
अत्थणअवलोगनियट्ट कंटक, गिएहणदिट्ठे य भावे य ॥

देवताया बहुपुत्रविकुर्वणानन्तरं चोदिते तथा पुरुषमेधे पुरुषयज्ञे तथा उदके उदकप्रवाहे अग्नौ प्रदीपनकरूपे जड्डे हस्तिनि सर्पे च समागच्छति पलायमानादौ चत्वारो लघुका मासाः । तथा देवताया विकुर्वितसंयतीरूपायाः पृष्ठतो लग्नायाः प्रतीक्षणे यावत् कण्टकं पादलग्नमपनयामीत्येवं ब्रुवन्त्याः (अत्थणत्ति) प्रतिश्रवणे तथा अवलोकने तथा दूरादासन्नाद्वा निवर्त्तने कण्टकग्रहणे उपलक्षणमेतत् । कण्टकोद्धरणाय पादग्रहणे पादोत्क्षेपणे च तथा दृष्टे सागारिके मृगपदीरूपे प्रतिसेवे इति परिणते भावे चशब्दात्प्रतिसेवाकरणे च यथायोगं प्रायश्चित्तमिति द्वारगाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव गाथां विवरीषुः प्रथमतो बहुपुत्रद्वारं विवृणोति ।

बहुपुत्ति त्थी आगम, दोसु व छण्हेसु थालिविज्झवणा ।
अन्नोन्नं पडिचोयण, वच्च गणं मा छलेपंता ॥

बहुपुत्रा स्त्री देवतारूपा तस्या आगमयोर्द्वयोरुपलब्धयोर्द्वपरितया स्थाली निवेशिता सा पतिता जातमग्नेर्विध्यापनं ततः परं प्रतिचोदना तदनन्तरं तया उक्तं व्रज गणं गच्छं मा प्रान्तदेवता त्वां छलयिष्यतीति एष गाथाक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम् । "सम्मद्दिट्ठी देवया इत्थीरूवं बहुयपुत्ते चकयरूवे विउव्वेत्ता पडिमागयस्स साहुस्स समीवमल्लीणा । चेकरूवाणि रोवमाणाणि भणति भत्तं देहेत्ति । सा भणइ खिप्पं रंधेमि जाव ताव मा रोयह । ताहे सा दोन्नि पाहणे जमले ठविउं तेसिं मज्झे अग्गिं पज्जालित्ता तेसिं उवरि पिहडं पाणियस्स भरित्ता मुक्कं । तं पिहडं तइयपत्थरेण विणा पडियं । सो अग्गी विज्झवितो पुणो वि अग्गिं पज्जालिऊण पिहडं पाणियभरियं मुक्कं तहेव पडियं । अग्गी विज्झवितो । एवं तं तियं पि वारं विज्झावितो ततो पडिमागतो साहू भणति पक्खिएण विसारेणं तुमं पत्तियाणि चेरूरूवाणि निप्फाएसि एवं भणमाणस्स पच्छित्तं चउलहुयं सा भणइ तुमं कहमेसिएण सुएण अप्पायोगो पडिमं पडिवन्नो सिग्घं जाहि गच्छं मा ते पंतदेवया छलेहित्ति" । गतं बहुपुत्रद्वारम् ।

इदानीं पुरुषद्वारमाह ।

ओवाइयं समिच्छं, महापसुं देमि सेज्ज भज्जाए ।
एत्थेव ताणि रिक्खह, दिट्ठे वामं व समणा वा ॥

स कदाचिदन्यक आर्यासमीपे कायोत्सर्गेण स्थितस्तत्र बहवो मनुष्या आर्यावन्दनार्थमागतास्ते च तस्य साधोः समीपदेशे स्थिता ब्रुवते । यथा यदौपयाचितकमार्या भट्टारिकायाः समीपे याचितं यथा यद्यमुकं प्रयोजनमस्माकं सेत्स्यति ततो महापशुं प्रयच्छामः इति तदिदानीं समृद्धं निष्पन्नमित्यर्थः । ततः सद्यः इदानीं महापशुं दद्मः । महापशुर्नाम पुरुषः । ततो गवेषयन्तोऽत्रैव किञ्चिन्मनुष्यं गता गवेषणाय मनुष्याः दृष्टः स प्रतिमाप्रतिपन्नो दृष्ट्वा च कथितं मूलपुरुषाय यथैष श्रमणो दीयतामार्यायै इति एवमुक्ते यदि भयेन वामं करोति देशीवचनमेतत् न समं करोति नश्यतीत्यर्थः । यदि वा श्रमणोऽहमिति ब्रूते तदा प्रायश्चित्तं चतुर्लघु ।

उदगभएण पलायइ, पवइ रुक्खं व दुरुहए सहसा ।
एमेव सेसएसुं, पडियाररूवेसु सो कुणइ ॥

सोऽव्यक्तप्रतिपन्नः कायोत्सर्गेण स्थित उदकप्रवाहे नद्यादिगतो

समागच्छति । यदुदकभयेन पलायते यदि वा प्लवते तरति । अथवा सहसा वृक्षमारोहति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु एवमेव अनेनैव प्रकारेण शेषेष्वप्यग्न्यादिसमुत्थितेषु यदि प्रतीकारं करोति चतुर्लघु । इयमत्र भावना । अग्नौ प्रसर्पति सर्पे वा समागच्छति यदि पलायते अन्यं वा प्रतीकारं करोति तदा प्रायश्चित्तं प्रत्येकं चतुर्लघु एतानि च पुरुषमेघोदकाग्निद्स्तिसर्परूपाणि देवताकृतान्यपि संभाव्यन्ते स्वाभाविकानि च तत्र यदि देवताकृतानि यदि वा स्वाभाविकानि सर्वेष्वप्येतेषु प्रत्येकं चतुर्लघु । सांप्रतमत्थण आलोयणेत्यादि व्याचिख्यासुराह ।

जेट्ठ अज्ज पडिच्छाहि, अहं तुब्भेहिं समं वच्चामि ।
इति सकलुणमालत्तो, मुज्झिज्जइ से अथिरभावो ॥

अथ वा देवता संयतीवेषं कृत्वा कायोत्सर्गे समाप्ते विहारक्रमं प्रति प्रस्थितं तमव्यक्तं साधुं प्रतिपन्नं ब्रूयात् । अहो ज्येष्ठार्य ! अहमपि युष्माभिः समं व्रजामि तत्प्रतीक्षस्व तावत् यावत्पादलग्नं कण्टकमपनयामि इति एवं तया देवतया कृतसंयतीवेषया सकरुणमालप्तः स वराकः शैक्षत्वादेवास्थिरभावो मुह्यति मोहमुपगच्छति मुग्धश्च यदि प्रतीक्षणादि करोति तथा प्रायश्चित्तं तदेवाह ॥

अत्थति अवलोए तिय-लहुगा पुण कंटओ उ मे लग्गति ।
गुरुगा नियत्तमाणे, तह कंटगमग्गणे चेव ।

तत्र यदि कण्टको मे लग्न इति वचः श्रुत्वा [अत्थतित्ति] प्रतीक्षते तदा प्रायश्चित्तं लघुकाश्चत्वारो लघुमासाः । अथापि तत्संमुखमवलोकते तदापि चतुर्लघु । एतच्च " आसन्नतो लहुओ " इति वक्ष्यमाणग्रन्थादवसितम् । अथ दूरात्तदा तस्मिन् दूरान्निवर्तमाने चत्वारो गुरुका गुरुमासास्तथा [कंटगमग्गणे चेवेति] यदि कण्टकमपनेष्यामीति तत्पादलग्नं कण्टकं मृगयते तदापि प्रायश्चित्तं चतुर्गुरु ॥

छेदो कंटकपाय-ग्गहणे छल्लहुछग्गुरू वा ।
चलण मुक्खिवइ दिट्ठम्मि, छग्गुरुगा परिणतो भवति ॥

यदाहं प्रतिसेवे इति तदा छेदः अकरणे प्रतिसेवायाः षट् लघवो लघुमासाः । अथ तस्याः संयत्याः पादं गृह्णाति कण्टकोद्धारणाय तदापि षट् लघु यदि पुनश्चरणं पादमुत्क्षिपति उत्पाटयति कण्टकोद्धारणाय तदा षट् गुरु । पादे उत्पाटिते सति यदि सागारिकं पश्यति तदा तस्मिन्नपि दृष्टे षण् गुरु सागारिकदर्शनानन्तरं यदि भावः परिणतो भवति यदाहं प्रतिसेवे इति तदा छेदः करणे प्रतिसेवाकरणे मूलं एतत्प्रायश्चित्तविधानं भिक्षोरुक्तं गणावच्छेद्याचार्ययोः पुनरिदमाह [सत्तइत्ति] अत्र पूरणप्रत्ययान्तस्य लोपः प्राकृतत्वात्ततोऽयमर्थः । गणावच्छेदिनः प्रायश्चित्तविधानं द्वितीयाच्चतुर्लघुकमारब्धं समाप्तमनवस्थाप्यं प्रायश्चित्तं यावदवसेयम् । आचार्यस्य प्रथमा चतुर्थगुरुकादारब्धमष्टमं पाराञ्चितं प्रायश्चित्तं यावत् । एतदेवाह ॥

लहुया य दोसु दोसु य, गुरुगा छम्मासलहुगुरू छेदो ।
भिक्खुगणायरियाणं, मूलं अणवट्ठ पारंची ॥

भिक्षुगणाचार्याणां भिक्षुगणावच्छेद्याचार्याणां यथाक्रमं प्रायश्चित्तविधानं मूलमनवस्थाप्यं पाराञ्चितं च यावत्तद्यथा भिक्षोर्द्वयोः प्रतीक्षणेऽवलोकने च चत्वारो मासा लघवः द्वयोर्निवर्तने कण्टकमार्गणे च चत्वारो गुरुकाः [छम्मासलहुगुरुत्ति] अत्र दोसु इति प्रत्येकमभिसंबध्यते द्वयोः कण्टकग्रहणे पादग्रहणे च षण्मासा लघवः द्वयोः पादोत्क्षेपे सागारिकदर्शने च षण् गुरु प्रतिसेवाभिप्राये छेदः प्रतिसेवाकरणे मूलं गणावच्छेदिनो यथाऽनवस्थाप्यं पर्यन्ते भवति तथा वक्तव्यम् । तथैवं गणावच्छेदिनः प्रतीक्षणे चत्वारो लघुकाः अवलोकने चत्वारो गुरवः । निवर्तने चत्वारो गुरवः कण्टकमार्गणे षट् लघु कण्टकग्रहणे षट् लघु संयतीपादग्रहणे षट् गुरु पादोत्पाटने छेदः । सागारिकदर्शने छेदः । प्रतिसेवाभिप्राये मूलम् । प्रतिसेवाकरणेऽनवस्थाप्यम् । आचार्यस्य यथा पाराञ्चितमन्ते भवति तथा वक्तव्यं तथैवमाचार्यस्य प्रतीक्षणे चतुर्गुरु निवर्तने कण्टकमार्गणे च षट् लघु कण्टकग्रहणे पादग्रहणे च षट् गुरु । पादोत्पाटने छेदः । सागारिकदर्शने मूलं प्रति सेवाभिप्राये मूलम् । प्रतिसेवाकरणे पाराञ्चितमिति । संप्रति यदुक्तं " गुरुगा नियत्तमाणे " इति तत्र विशेषमाह ।

आसन्नातो लहुओ, दूरनियत्तस्स गुरुतरो दंडो ।
चोगयसंगामदुगं, नियट्ट खिंसंति अणुग्घाया ॥

संयत्या आसन्नात्प्रदेशान्निवृत्ते लघुको दण्डः चत्वारो लघुमासा दण्ड इत्यर्थः । दूरान्निवृत्तस्य गुरुतरश्चत्वारो गुरुमासाः । एवमाचार्येण प्ररूपिते चोदकः प्रश्नयति । तत्र चोदकाचार्यनिदर्शनं संग्रामद्विकं निदर्शनं तं च भग्नप्रतिज्ञं निवृत्तं प्रत्यागतं सन्तं ये (खिंसंतित्ति) हीलयन्ति तेषामनुद्धाताश्चत्वारो गुरुका मासा प्रायश्चित्तमित्युत्तरार्द्धसंक्षेपार्थः । इदानीमेतदेवोत्तरार्द्धं विवरीषुः प्रथमतश्चोदकवचनं भावयति ॥

दिट्ठं लोए आलो य, भंगविणिए य अवणियनियत्तो ।
अवराहे णाणत्तं, न रोयए केयणं तुज्झे ॥

प्रागुक्ताचार्यप्ररूपणानन्तरं परः प्रश्नयति । ननु संयत्याः प्रत्यासन्नात्प्रदेशात्प्रतिनिवृत्तस्य गुरुतरेण दण्डेन भवितव्यं दूरात्प्रतिनिवृत्तस्य लघुतरेण न चैतदनुपपन्नं यतो लोकेऽपि दृष्टं तथा ह्येकस्य राज्ञो नगरमपरो राजा वेष्टयितुकामः समागच्छति तं च समागच्छन्तं श्रुत्वा नगरस्वामी भयात्प्रेषयति । तथा यूयं तत्र गत्वा युध्यध्वमिति । तत्रैको भटः परबलमतिप्रभूतमालोक्य दर्शनमात्र एव भग्नः प्रत्यागतोऽन्यो युद्ध्वा चिरकालं संजातव्रणो भग्नः समागतः अपरः परबलेन सह युद्ध्वाऽसंजातव्रण एव भग्नः प्रतिनिवृत्तः । तत्रैषां भटानां मध्ये यः आलोकभङ्गी दर्शनमात्रतो भग्नः प्रतिनिवृत्तस्तस्य बहुतरोऽपराधः यः पुनः संजातव्रणो यश्चाव्रणित एतौ द्वावपि भग्नौ सन्तौ प्रतिनिवृत्तावित्यपराधिनौ केवलमालोकभङ्ग्यपेक्षयाऽल्पतरापराधौ दूरात्प्रतिनिवृत्तत्वादेवं लोके दूरासन्नभेदेनापराधे नानात्वमिदमुपलब्धं तत एव दृष्टान्तबलेन यन्मयोक्तं संयत्याः प्रत्यासन्नात्प्रदेशात् प्रतिनिवृत्तस्य भूयान् दण्डो दूरात्प्रतिनिवृत्तस्याल्पतर इति । ततः केन कारणेन युष्मभ्यं न रोचते । सूरिराह ॥

अक्खयदेहनियत्तं, बहुदुक्खभएण जं समारोह ।
एयमहं न रोयति, को ते विसेसो भवे एत्थ ॥

यद्बहुदुःखभयेन परबलेन सह युध्यमानस्य प्रभूतं दुःखं मरणपर्यवसानं भविष्यतीति भयेन सुकृतदेहः सन् निवृत्तः प्रतिनिवृत्तोऽकृतदेहनिवृत्तस्तत्समानम् एतन्मह्यं न रोचते विषमत्वात्तथा हि । न सर्वथा अनाकृतचारित्रः प्रतिनिवर्तते किं तु कृतचारित्रस्ततोऽप्यत्र स उपन्यसनीयो योऽधिकृतस्तदा वान्तिकेन सहमानतामवलम्ब्यते न चासौ तथेति पर आह । यदेष दृष्टान्तस्तव न भासते ततः कोऽन्यस्मिन् विचारे तत्र विशेषो भवेत विशिष्टो दृष्टान्तः स्यात् । सूरिराह ।

एसेव य दिट्ठंतो, पुररोहे जत्थ वारियं रन्ना ।
मा णीह तत्थ निंते, दूरासन्ने य णाणत्ता ॥

एष एव अत्रडुपन्यस्तो दृष्टान्तः पुररोधे सति उक्त्यो यत्र पुररोधे राज्ञा वा वारितं यथा मा कोऽपि पुराभिर्नीर्गमादिति तत्रैवं निवारिते तत्र निर्गच्छति दूरादासन्नाच्च प्रतिनिवृत्ते यथा नानात्वमपराधविषयं तथेहापि योजनीयम् । तद्यथा एरकन्नेन नगरे रोधे कृते राज्ञा पटहेन घोषितं यथा यो नगराभिर्यास्यति स मया निग्राह्य इति ततः कोऽपि निर्गत्य आसन्नात्प्रतिनिवृत्तो ऽपरो दूरात्तत्र तथैतयोरासन्नात्प्रतिनिवृत्तस्याल्पतरो राज्ञा दण्डो दूरात्प्रतिनिवृत्तस्य बहुतरः एवं यो दूरात्संरत्याः प्रतिनिवृत्तस्तस्य गरीयान् भावदोष इति चतुर्गुरुकमासन्नात्प्रतिनिवृत्तस्य स्वल्पीयान्भावदोष इति चतुर्लघु । संप्रति "पुणो आलोएज्जा" इत्यादि सूत्रं व्याख्यानयति ।

संसम्मि चरित्तस्सा–लोयणया पुणो पडिक्कमणं ।
छेदं परिहारं वा, जं आवन्नो तयं पावो ॥

यद्यपि प्रतिमाप्रतिपन्नस्य चारित्रविराधनाऽऽसीत् तथापि न चारित्रं सर्वथाऽपगतं किं तु शेषोऽधतिष्ठते व्यवहारनयमतेन देशभङ्गेन सर्वभङ्गाभावात् । ततः शेषे चारित्रस्य सति पुनरालोचना पुनः प्रतिक्रमणं न पुनः शब्दो द्वितीयवारापेक्षः । तथा च लोके वक्तारः कृतमिदमेवैकवारमिदानीं पुनः क्रियते इति । अत्र तु प्रथममेवालोचनं प्रथममेव च प्रतिक्रमणं ततः कथं पुनः शब्दोपपत्तिः । उच्यते यत्रैव स्थाने सोऽकृत्यं कृतवान् तत्रैव स इत्थमचिन्तयत् आलोचयामि प्रतिक्रमामि च तावदहमेतस्याकृत्यस्य पश्चाद्गुरुसमक्षं भूयः आलोचयिष्यामि प्रतिक्रमयिष्यामि च । एवं च चिन्तयित्वा तथैव अकार्षीत् ततो घटते पुनः शब्दोपादानमिति । यदि वा यदेव तदानीं हा दुष्ठु कारितमित्यादि चिन्तनं तदेवालोचनं तदेव च प्रतिक्रमणं भवति । तदपेक्षया पुनः शब्दोपपत्तिः । यदपि च छेदं परिहारं वा प्रायश्चित्तमापन्नस्तत्कमापन्नतममाप्नोति प्रतिपद्यते । संप्रति यदुक्तं "नियट्टखिंसंत गुग्धाया" इति तद्व्याख्यानयति ॥

एवं सुभपरिणामं, पुणो वि गच्छंति तं पडिनियत्तं ।
जे हीलइ खिंसइ वा, पावइ गुरुए चउम्मासे ॥

एवं पुनरालोचनाप्रतिपत्त्यादिप्रकारेण शुभपरिणामं शोभनाध्यवसायं पुनरपि गच्छं प्रतिनिवृत्तं सन्तं यो हीलयति खिंसयति वा तत्र यदि असूया निन्दनं तत् यथा समाप्तिं नीता अनेन प्रतिमा सांप्रतमागतो वर्त्तते ततः क्रियतामस्य पूजेति । यत्पुनः प्रकटनं निन्दनं सा खिंसा यथा धिक् तव भ्रष्टप्रतिज्ञस्येत्यादि स प्राप्नोति प्रायश्चित्तं गुरुकान् अनुद्घातान् चतुरो मासान् व्य० प्र० १ उ० ॥

एगल्लविहारसामायारी–एकाकिविहारसमाचारी–स्त्री० आचारविनयभेद,–एकाकिविहारप्रतिमां स्वयं प्रतिपद्यते परं च ग्राहयतीति एकाकिविहारसामाचारीति । प्रव० ६४ द्वा० ॥

सांप्रतमेकाकिविहारसामाचारीमाह ।

एगल्लविहारादी, पडिमापडिवज्जती य सयणं वा ।
पडिवज्जावे एवं, अप्पाण परं च विणएति ॥

एकैकविहार आदिर्यासां ता एकैकविहारादय आदिशब्दात्प्रतिमागतविशेषानुष्ठानपरिग्रहः । एवंभूताः प्रतिमाः स्वयं प्रतिपद्यन्ते अन्यं च प्रतिपादयन्ति । एवमाचारविनयमात्मानं परं च विनयति व्य० द्वि० १० उ० ।

एगवगडा–एकवगडा–स्त्री० एको वगडः परिक्षेपो यस्याः सा । एकवृत्तिपरिक्षेपायां वसतौ, "एगवगडाए अंतोबहिया संबद्धसंबद्धा" तद्यथा साधुर्वसतेः एगवगडाए इति । एकवृत्तिपरिक्षेपाया अन्तर्बहिश्चेति । व्य० ७ उ० ।

एगवण्ण–एकवर्ण–त्रि० एको वर्णो रूपं यस्याः । अन्यरूपाभिभितवर्णयुक्ते, एको वर्णः जातिभेदो यत्र । ब्राह्मणादिवर्णविभागशून्ये कलियुगावशेषस्यलोके, वर्ण्यते अनेन वर्णः एकवर्णः स्वरूपं यस्य । एकस्वरूपे, शुक्लादौ रूपे, एकस्मिन् शब्दे च । श्रेष्ठवर्णे श्रेष्ठजातौ च ॥ वाच० । बीजगणितोक्ते सजातीये तुल्यवर्णे ऽव्यक्तभेदे च । वाच० । एकः कृष्णादिवर्णान्यतमो वर्णोऽस्येत्येकवर्णः । उत्त० १ अ० । कालाद्येकवर्णे, भ० ५ श० ७ उ० ।

एगवण्णसमीकरण–एकवर्णसमीकरण–न० एकवर्णौ तुल्यरूपौ समीक्रियेते अनेन करणे ल्युट् बीजगणितोक्ते बीजचतुष्टयान्तर्गतबीजभेदे, वाचस्पतौ अव्यक्तशब्दे तद्गणितप्रकारो दर्शितः प्रथममेकवर्णसमीकरणं बीजं द्वितीयमनेकवर्णसमीकरणं बीजं यत्रैकवर्णयोर्द्वयोर्बहूनां च वर्गादिगतानां समीकरणं तन्मध्यमाहरणम् । यत्र भावितस्य तद्भावितमिति बीजचतुष्टयं वदन्त्याचार्या भास्कराचार्याः । अस्योदाहरणम् । एकस्य रूपत्रिशती षडश्वा अश्वा दशान्यस्य तु तुल्यमूल्याः । ऋणं तथा रूपशतञ्च तस्य तौ तुल्यवित्तौ च किमश्वमूल्यम् । एतच्चाव्यक्तशब्दे व्याख्यातम् । अत्र तुल्यमूल्यस्याश्वरूपस्यैकाविधस्यैव पृष्टसंख्यान्वितस्य समीकरणात् एकवर्णसमीकरणमित्यनुगतार्था संज्ञा वाच० ।

एगवयण–एकवचन–न० एकोऽर्थ उच्यतेऽनेनोक्तिर्वेति वचनमेकस्यार्थस्य वचनमेकवचनम् । वचनभेदे, उदाहरणं देवः स्था० ९ ठा० । एकवचनं वृक्ष इति । आचा० २ श्रु० । बहुत्वेऽपि क्वचिज्जातावेकवचनम् "इह जयमत्तासे हंता" अत्र बहुवचनप्रक्रमेऽपि जात्यपेक्षयैकवचनेन निर्देश इति । आचा० १ श्रु० १ अ० । लोगस्स परियागं जाणइ पासइ, (परियागं) जातावेकवचनमिति पर्यायान् विचित्रपरिणामान् इति स्था० १० ठा० ।

एगविऊ–एकवित्–पुं० एकस्य ज्ञातरि, "एगे एगविऊ बुद्धे" एकमेवात्मानं परलोकगामिनं वेत्तीत्येकवित् न मे कश्चिद् दुःखपरित्राणकारी सहायोऽस्तीत्येवमेकवित् । यदि वैकान्तेन विदितसंसारस्वभावतया मौनीन्द्रमेव शासनं तथ्यं नान्यदित्येवं वेत्तीत्येकान्तवित् । अथवैको मोक्षः संयमो वा तं वेत्तीति । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

एगविह–एकविध–त्रि० एका विधा प्रकारोऽस्य । एकप्रकारे, भ० २४ श० १ उ० । "एकविहं केवलं नाणं" एकविधं भेदविप्रमुक्तमिति । विशे० ।

एगविहारिन्–एकविहारिन्–पुं० एकः सन् विहरतीत्येवं शीलः । वृ० १ उ० । एकाकिविहारिणि जिनकल्पिकादौ, वृ० ७ उ० (एतद्वक्तव्यता एगल्लविहार शब्दे)

एगविहिविहाण–एकविधिविधान–त्रि० एकप्रकारेण व्यवस्थिते, "लवणादीया समुद्दा संठाणओ एगविहिविहाणा" एकेन विधिना प्रकारेण विधानं व्यवस्थानं येषां ते तथा सर्वेषां वृत्तत्वात् भ० ११ श० ९ उ० ॥

एगवीसरइगुण–एकविंशतिरतिगुण–पुं० कामशास्त्रप्रसिद्धे एक-

विंशतिसंख्याके रतिगुणे " एक्कवीसरइगुणप्पहाणा " एकविंशती रतिगुणाः कामशास्त्रप्रसिद्धाः ॥ विपा० १ अ० ।

एगसंसय-एकसंश्रय-त्रि० एकाधारे, "सर्वत्राप्यविरोधेन, धर्मौ द्वावेकसंश्रयौ " । एकस्मिन् द्रव्ये संश्रय आधारो ययोस्तौ एकसंश्रयाविति । द्रव्य० ४ अध्या० ।

एगसमइय-एकसामयिक-त्रि० एकः समयो यत्रास्त्यसावेकसामयिकः । एकसमयोपेते, " एगसमइएण वा विग्गहेण उववज्जेज्जा० " भ० २४ श० १ उ० ।

एगसमय-एकसमय-पुं० एकस्मिन् समये, णेरइयाणं एगसमये ण वा एकेन समयेन उपपद्यन्त इति योगः भ० १४ श० १ उ० ॥

एकसमयट्ठिइ-एकसमयस्थिति-त्रि० एकं समयं यावत् स्थितिः परमाणुत्वादिना एकप्रदेशावगाढादित्वेन एकगुणकालादित्वेनावस्था येषां ते एकसमयस्थितिकास्तेषु स्था० १ ठा० । भ० ।

एगसट्ठि-एकषष्टि-स्त्री० एकाधिका षष्टिः एकाधिकषष्टिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च । "एकसट्ठिं उउमासा पण्णत्ता " स० ।

एगसरियं-अव्य० झगित्यर्थे, संप्रत्यर्थे च । एकसरिअं झगिति संप्रति एक्कसरिअं झगित्यर्थे संप्रत्यर्थे च प्रयोक्तव्यम् । एक्कसरिअं झगिति सांप्रतं वा । प्रा० ८ अ० ३ पा० ।

एगसरिया-एकसरिका-स्त्री० एकावलयाम्, एकावली च विचित्रमणिककृतः एकसरिकेति । जं० १ वक्ष० ।

एगसाडय-एकशाटक-त्रि० एकवस्त्रे, "अदुवा एकसाडे" अथवा शनैः शनैः शीतेऽपगच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् एकशाटकस्संवृत इति । आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ० ।

एगसाडिय-एकशाटिक-त्रि० एकपटे, " एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ " (एगसाडिअंति) एकपटमुत्तरासङ्गं करोतीति । कल्प० । "एगसाडिएणं उत्तरासंगकरणेणं" भ० २ श० १ उ० ।

एगसाहिल्लो-देशी० एकस्थानवासिनि, दे० ना० ॥

एगसि-एकशस्-अव्य० अल्पाद्यर्थकात् कारकार्थे वीप्सार्थे शस् । एकशो डिः । ८ । ४ । २८ । इति सूत्रेणापभ्रंशे एकशश्शब्दात्स्वार्थे डिः ॥ एकसिसीलकलंकि अहं देज्जहिं पच्छित्ताई जो पुण खंडइ अणुदिअहुतसुपच्छित्ते काइं । प्रा० । अल्पमल्पमेकमेकं वेत्याद्यर्थे, वाच० । " वत्तोणामं एकसि " एकस्मिन्नेकवारं यः प्रवृत्तः स वृत्त इति । व्य० १० उ० ।

एगसिंबलि-देशी० शाल्मलीपुष्पैर्नवफलिकायाम्, दे० ना० ॥

एगसिद्ध-एकसिद्ध-पुं० एकस्मिन् समये एकका एव सन्तः सिद्धाः । सिद्धभेदे, प्रज्ञा० १ पद । ल० । ध० । एकस्मिन् २ समये एककाः सन्तो ये सिद्धास्ते एकसिद्धा इति । नं० । एकैकसमये एकैकजीवसिद्धिगमनादेकसिद्धा इति । पा० ॥

एगसेल-एकशैल- पुं० जंबूद्वीपस्थमन्दरपर्वतसमीपस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० । धातकीखण्डपश्चिमार्धस्थमन्दरपर्वतस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० २ ठा० । (तयोर्वक्तव्यता वक्खार शब्दे) तथाच " इहेव जंबूदीवे२ पुव्वविदेहे सीताए महानईए उत्तरिल्ले कूले नीलवंतस्स दाहिणेण उत्तरिल्लस्स सीतामुहवणसंडस्स पच्चत्थिमेणं एगसेलस्स वक्खारपव्वतस्सेति " । ज्ञा० १८ अ० ।

एगसेलकूड-एकशैलकूट-पुं० न० महाविदेहवर्षस्थैकशैलवक्षस्कारपर्वतस्थे स्वनामख्याते कूटे, जं० ४ वक्ष० । धातकीखण्डपश्चिमार्धस्थमन्दरपर्वतस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते, स्था० २ ठा० । (तद्वक्तव्यता वक्खार शब्दे) महाविदेहवर्षस्थे स्वनामख्याते वक्षस्कारपर्वते च । तद्वक्तव्यता यथा ।

कहिणं भंते महाविदेहे वासे एगसेले णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते गोअमा पुक्खलावत्तचक्कवट्टिविजयस्स पुरच्छिमेणं पोक्खलावत्तचक्कवट्टिविजयस्स पच्चच्छिमेणं णीलवंतस्स दक्खिणेणं सीआए उत्तरेणं एत्थणं एगसेले णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते । चित्तकूडगमेणं णेअव्वो जाव देवा आसंपति चत्तारि कूडा तंजहा सिद्धायणकूडे १ एगसेलकूडे २ पुक्खलावत्तकूडे ३ पुक्खलावइकूडे ४ कूडाणं तं चेव पंचसइअं परियाण जाव एगसेले अ देवे महिए ॥ जं० ४ वक्ष० ॥

एगसेस-एकशेष-पुं० एकः शिष्यतेऽन्यो लुप्यते यत्र शिषआधारे-घञ्-समासभेदे, तथाच ॥

सेकिंत एगसेसे एगसेसे जहा एगो पुरिसो तहा बहवे पुरिसा जहा बहवे पुरिसा तहा एगो पुरिसो जहा बहवे साली तहा एगो साली जहा एगो साली तहा बहवे साली सेत्तं एगसेसे सेत्तं समासिए ॥

सरूपाणामेकशेष एकविभक्तावित्यनेन सूत्रेण समानरूपाणामेकविभक्तियुक्तानां पदानामेकशेषः समासो भवति सति समासे एकः शिष्यतेऽन्ये तु लुप्यन्ते यश्च शेषोऽवतिष्ठते स आत्मार्थे लुप्तस्य लुप्तयोर्लुप्तानां चार्थे वर्तते । अथ एकस्य लुप्तस्यात्मनश्चार्थे वर्तमानात्तस्मात् द्विवचनं भवति । यथा पुरुषश्च पुरुषश्चेति पुरुषौ । द्वयोश्च लुप्तयोरात्मनश्चार्थे वर्तमानाद्बहुवचनं यथा पुरुषश्च३ पुरुषाः । एवं बहूनां लुप्तानामात्मनश्चार्थे वर्तमानादपि बहुवचनं यथा पुरुषश्च ४ पुरुषाः इति । जातिविवक्षायां तु सर्वत्रैकवचनमपि प्राकृतीयमितः सूत्रमनुश्रियते (जहा एगो पुरिसोत्ति) यथैकः पुरुषः एकवचनान्तपुरुषशब्द इत्यर्थः । एके शेषे समासे सति बह्वर्थवाचक इति शेषः । (तहा बहवे पुरिसत्ति) तथा बहवः पुरुषा बहुवचनान्तः पुरुषशब्द इत्यर्थः । एकशेषे समासे सति बह्वर्थवाचक इति शेषः । यथा चैकशेषे समासे बहुवचनान्तः पुरुषशब्दो बह्वर्थवाचकस्तथैकवचनान्तोऽपीति न कश्चिद्विशेषः । एतदुक्तं भवति यथा पुरुषश्च इति विधाय एकपुरुषशब्दशेषता क्रियते तदा यथैकवचनान्तः पुरुषशब्दो बह्वर्थान्यक्ति तथा बहुवचनान्तोऽपि यथा बहुवचनान्तस्तथैकवचनान्तोऽपीति न कश्चिदेकवचनान्तत्वबहुवचनान्तत्वयोर्विशेषः केवलं जातिविवक्षायामेकवचनं बह्वर्थविवक्षायां तु बहुवचनमिति । एवं कार्षापणशाल्यादिष्वपि भावनीयम् । अयं च समासो रूढविशेष एवोच्यते केवलमेकशेषताऽत्र विधीयते इत्येतावता पृथगुपात्त इति लक्ष्यते तत्त्वं तु सकलव्याकरणवेदिनो वदन्तीत्यलमिति विजृम्भितेन ॥ अनु० । एकः प्रधानं शेषोऽन्तः । एकान्ते, पुं० । बहु० अतिशयिते, त्रि० । वाच० ।

एगस्सय- एकाश्रय-त्रि-एक आश्रय आधारोऽवलम्बनं वा यस्य । १ अनन्यगतिके, । २ एकाधारवृत्तौ, । ३ वैशेषिकोक्तगुणभेदे च । ते च गुणाः अनेकाश्रितगुणभिन्नाः ॥ " संयोगश्च विभागश्च संख्याद्वित्वादिकास्तथा । द्विपृथक्त्वादयस्तद्वदेतेऽनेकाश्रिता गुणाः " । अतः शेषगुणाः सर्वे मता एकैकवृत्तयः ' ॥ भाषाप० । एकस्मिन् आधारे, पुं० वाच० ।

एगहक्ख–एकधाख्य–त्रि० एकप्रकारकाख्योपेते, ।

एकवाक्ख–त्रि० एकप्राकारजीवोपेते, "एगे दुक्खे जीवाणं एगभू-ते०" पाठान्तरे त्वेकधैवाख्या संशुद्धादिर्व्यपदेशो यस्य नत्वसंशु-द्धसंशुद्धासंशुद्ध इत्यादिकोऽपि व्यपदेशान्तरनिमित्तस्य कषाया-देरभावादिति । संभवत्येकधाख्य एकधा अङ्गो वा जीवो यस्य स तथेति जीवानां प्राणिनामेकभूत एक इवात्मोपम इत्यर्थः ॥ स्था० १ ठा० ।

एगहा–एकधा–अव्य० एकप्रकारे-धा- । एकप्रकारे, वाच० ।

एगाइ–एकादि–त्रि० एक आदिर्यस्याः १ एकत्वसंख्यान्वितमा-रभ्य परार्द्धान्तसंख्यायुक्ते, । २ तत्स्मारके रेखासन्निवेशविशेषरूपे अङ्के च । वाच० । ३ द्वारनगरस्थे स्वनामख्याते राष्ट्रकूटे च । "इहेव जंबूदीवे भारहे वासे सयदुवारे णामं णयरे होत्था "–" तस्स णं सयदुवारस्स णयरस्स अदूरसामंते दाहिणपुरच्छिमे दिसि भाए विजयवद्धमाणे णामं खेडे होत्था " " तस्सणं विजयव-द्धमाणखेडे एक्काइ णामं रट्ठकूडे होत्था ' इति" विपा० राष्ट्र-कूटो मण्डलोपजीवी राजनियोगिक इति । विपा० १ अ० । एकाकिन्या निर्ग्रन्थ्या उपाश्रयरक्षणे दोषाः । एकाकिन्या क्षु-ल्लिकादिकया व्रतिन्योपाश्रयरक्षणे दोषमेव दर्शयति ।

जत्थ य एगा खुड्डी, एगा तरुणी य रक्खए वसहिं ।
गोयम तत्थ विहारे, का सुद्धी बंभचेरस्स ॥

यत्र च साध्वीविहारे एकाकिनी क्षुल्लिका एकाकिनी तरुणी वा तु शब्दाच्चवृद्धिका वैकाकिन्युपाश्रयं रक्षति हे गौतम! तत्र साध्वीविहारे ब्रह्मचर्यस्य का शुद्धिः न कापीत्यर्थः " इत्थ वि-दोसा कयाई वसहीए एगा खुड्डी किड्डिज्जा कोइ तं अवहरिज्जा वा बलाओ वा कोइ सेविज्जा इच्चाइ बहु दोसा तरुणी वि एगा-गिणी मोहोदएण फलादिणा च तत्थ सेविज्जा एगागिणि वा तं दट्ठूण तरुणा समागच्छंति हासाइयं कुव्वंति अंगे वा लग्गंति तओ उड्डाहो भवति । तं फासाओ वा मोहोदओ भवति सीलं भंजि-ज्ज वा गब्भो वा भवेज्ज तं च जइ गावे महादोसा भवइ अह वट्टइ तो पवयणे महा उड्डाहो भवति । अहवा पुव्वकीलियं स-मरमाणी वासाइयं वा दट्ठूण गच्छं मुत्तूण एगागिणी तरुणी सा-हुणी गच्छिज्जा एवमाइ बहुदोसा एवं नवदिक्खियाए वि एगा-गिणीए एगागिसेहसाहुव्वदोसा नायव्वेति गाथाच्छन्दः १० ७ । अथैकाकिन्या व्रतिन्या रात्रौ वसतेर्बहिर्गमने निर्मर्यादत्वमाह ।

जत्थ य उवस्सयाओ, बाहिं गच्छे दुहत्थमित्तं पि ।
एगा रत्तिं समणी, का मेरा तत्थ गच्छस्स ॥

यत्र च गणे उपाश्रयाद्बहिरेकाकिनी ' रत्तिंति ' सप्तम्या द्वि-तीयेति सूत्रेण सप्तमीस्थाने द्वितीयाविधानात् रात्रौ श्रमणी सा-ध्वी द्विहस्तमात्रमपि भूमिं गच्छेत् तत्र गच्छे गच्छस्य का म-र्यादा । अथवा कचिद् द्वितीयादेरिति प्राकृतसूत्रेणात्र सप्तम्यर्थे षष्ठी ततस्तत्र गच्छे का मर्यादा न काचिदपीत्यर्थः । "इत्थवि दोसा-कयाइ परदारसेवका रयणीए एगागिणिसमाणिं दट्ठूण हरिज्जा उड्डाहं वा करेज्जा एवज्जं वा रायाई भमभाणो संकिज्जा का एसा चोरा वा अवहरंति चत्याइयं वा गिण्हंति । अहवा कयाई गुरु-णीए फरुसचोयणं संभरमाणी पुव्वकीलियं वा रयणीए विसेसं ससंभरमाणो एगागिणो गच्छिज्जा इच्चाइ बहुदोसात्ति" ॥ १०८ ॥ अथैकाकिश्रमणाधिकारादेतेदमाह ।

जत्थ य एगा समणी, एगो समणो य जंपए सोम ।
नियबंधुणा वि सद्धिं, तं गच्छं गच्छगुणहीणं ॥

यत्र च एकाकिनी श्रमणी एकाकिना निजबन्धुनाऽपि सार्द्धं जल्पति अथवा एकाकी साधुरेकाकिन्या निजभगिन्याऽपि सार्द्धं जल्पति हेसौम्य ! हे गौतम ! तं गच्छं गच्छगुणहीनं जानीहीति शेषः । यतः एकाकिन्याः श्रमण्याः निजबन्धुनापि सार्द्धमेकाकिनः साधोर्वा निजभगिन्याऽपि सार्द्धं संदर्शनसंभाषणादिना बहुदो-षोत्पत्तिर्भवति कामवृत्तेर्मलिनत्वात् तथाचोक्तम् "संदंसणेण पीई १ पीओ २ रओ ३ रई ४ वीसंभो ४ वीसंभाओ पणओ ५ पंचविहवड्ढए पिम्मं " ॥१॥ जह जह करेमि नेहं, तह तह नेहो-मि वड्ढइ तुमंमि । तणनमिओमि बलियं, जं पुच्छसि दुब्बलतरो सि २ भिसिममइथरं सणसंजा-सणेण संदीविउ मयणवराही । चंजाई गुणरयणे, महइ अणिच्छ वि पमायाओ ३ अनिच्छतोऽपि दहति तथा "मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामः पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति" ॥ १ ॥ इति गाथा-छन्दः ॥ ग० ३ अ० ।

एकाकिन्या निर्ग्रन्थ्या गृहपतिकुलप्रवेशादिनिषेधो यथा

नो कप्पइ निग्गंथीए एगाणियाए गाहावइकुलं पिंडवायप-डियाए निक्खमित्तए वा पविसत्तए वा बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमित्तए वा एवं गामाणुगामं वा दूइज्जत्तए वासावासं वा वत्थए ॥

एवं यावदेकपार्श्वशायिसूत्रं तावत् सर्वाण्यपि सूत्राण्युच्चार-यितव्यानि । अथामीषां सूत्राणां संबन्धमाह ।

बंभवयरक्खणट्ठाए, अधिगारो तु होंति ते सुत्ता ।
जो एगपासमायी, विसेसतो संजतीवग्गो ॥

ब्रह्मव्रतरक्षणार्थमनन्तरं सूत्रद्वयमुक्तममून्यपि सूत्राणि याव-देकं पार्श्वशायिसूत्रं तावत्सर्वाण्यपि अधिकाराणि तस्यैव ब्रह्म-व्रतस्य रक्षणार्थमभिधीयन्ते (विसेसओ संजई वग्गोत्ति) एतेषु सूत्रेषु किंचिन्निर्ग्रन्थानामपि संभवति । तथा एकाकी सूत्रं परं वि-शेषतः संयतीवर्गमधिकृत्यामूनि सर्वाण्यपि द्रष्टव्यानि । अनेन संबन्धेनायातानाममीषां प्रथमसूत्रस्य ऋजुव्याख्या न कल्पते । निर्ग्रन्थ्या एकाकिन्या गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया निष्क्रमितुं प्रवेष्टुं वा बहिर्विचारभूमौ विहारभूमौ वा निष्क्रमितुं वा प्रवे-ष्टुं वा ग्रामानुग्रामं वा व्रजितुं वर्षावासं वा वस्तुमिति सूत्रार्थः ।

संप्रति निर्युक्तिविस्तरः ।

एगागी वच्चती अप्पा, तमहं वत्ता परिच्चत्ता ।
लहुगुरु लहुगा गुरुगा, भिक्खवियारे वसहिगामे ॥

एकाकिनी निर्ग्रन्थी यदि भिक्षादौ व्रजति तत आत्मा महाव्र-तानि च तया परित्यक्तानि भवन्ति स्तेनाद्युपद्रवः संभवेत् अतो भिक्षायामेकाकिन्या गच्छन्त्या लघुमासा बहिर्विचारभूमौ गच्छ-न्त्या गुरुमासा ऋतुबद्धे वर्षावासे वा वसति एकाकिनी गृह्णाति चतुर्लघु ग्रामानुग्राममेकाकिनी व्रजति चतुर्गुरु । इदमेव शोधितं प्रायश्चित्तमुक्तम् । अथ विशोधितमाह ।

मासादीया गुरुगा, थेरी खुड्डी विमज्झिमतरुणीणं ।
तवकालविसिट्टा वा, चउसुं पि चउण्हमासाई ॥

स्थविराया एकाकिन्या भिक्षादौ व्रजन्त्या मासलघु क्षुल्लिका-या मासगुरु विमध्यमायाश्चतुर्लघु तरुण्याश्चतुर्गुरु । अथवा स्थ-विरा यद्येकाकिनी भिक्षां याति ततो मासलघु तपसा कालेन च लघुकं बहिर्विचारभूमौ विहारभूमौ वा याति मासलघु काले-न गुरुकं च मतिं गृह्णाति मासलघु । तपसा गुरुकं ग्रामानुग्रामं

भवति मासलघु । तपसा कालेन चतुर्गुरुकम् । एवमेव चतुर्षु स्थानेषु चत्वारि मासगुरूणि तपःकालविशेषितानि कर्तव्यानि । विमध्यमवयसश्चतुर्षु स्थानेषु चत्वारि चतुर्लघूनि तपःकालविशेषितानि तरुण्याः स्थानचतुष्टयेऽपि तथैव तपःकालविशेषितानि चत्वारि चतुर्गुरूणि ॥

अथ दोषानाह ।

चिट्ठंती वेगागी, किएहइ दोसे ण इत्थिगा पावे ।
आमोसगतरुणेहिं, किं पुण पंथम्मि संका य ॥

किमेकाकिनी स्त्री प्रतिश्रये तिष्ठन्ती दोषान्न प्राप्नोति येनैवं भिक्षाटनादिकमेवैकाकिन्याः प्रतिषिध्यते इति शिष्येण पृष्टः सूरिराह । तत्रापि तिष्ठन्ती प्राप्नोत्येव दोषान् । एवमामोषकाः स्तेनास्तरुणा वा तत्स्थास्तत्कृता एकाकिन्याः पथि गच्छन्त्या भूयांसो दोषाः । शङ्का च तत्र भवति । अवश्यमेषा दुःशीला येनैकाकिनी गच्छति । किंच ॥

एगागिणिए दोसा, साणा तरुणे तहेव पडिणीए ।
भिक्खविसोहि महव्वत, तम्हा सवितिज्जया गमणं ॥

एकाकिन्या भिक्षामटन्त्या एते दोषा भवन्ति श्वानः समागत्य दशेयुस्तरुणो वा कश्चिदुपसंगमयेत् । प्रत्यनीको वा हन्यात् । गृहभयादानीतायां भिक्षायामनुपयुज्य गृह्यमाणायामेषणाशुद्धिर्न भवति । कोदण्डविट्ठलप्रयोगादिना च महाव्रतानि विराध्यन्ते । येन एते दोषाः अतः सद्वितीयया निर्ग्रन्थ्या भिक्षादौ गमनं कर्तव्यम् ॥

द्वितीयपदमाह ।

असिवादि मीससत्थे, इत्थी पुरिसे य पूजिते लिंगे ।
एसा उ पंथजयणा, भावियवसही य भिक्खा य ॥

अशिवादिभिः कारणैः कदाचिदेकाकिन्यपि भवेत् तत्रेयं यतना ग्रामान्तरं गच्छन्ती स्त्रीसार्थेन व्रजति तदभावे पुरुषमिश्रेण स्त्रीसार्थेन तदभावे संबन्धिपुरुषसार्थेन व्रजति । अथवा यत्तत्र परिव्राजिकादिलिङ्गं पूजितं तद्विधाय गच्छति एषा पथि गच्छतो यतना भणिता । ग्रामे च प्राप्ताया यानि साधुभावितानि कुलानि तेषु वसतिं गृह्णाति भिक्षामपि तेष्वेव कुलेषु पर्यटति । बृ० ५ उ० ॥

एगाणउइ–एकनवति–स्त्री० एकाधिका नवतिः शा० त० एकाधिकनवतिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च वाच० "एकाणउइ-परत्तेयावच्चकम्मपडिमाओ पण्णत्ताओ" सम० ।

एगाणुप्पेहा–एकानुप्रेक्षा–स्त्री० एकस्यैकाकिनोऽसहायस्यानुप्रेक्षा भावना एकानुप्रेक्षा "एकोऽहं नास्ति मे कश्चि-न्नाहमन्यस्य कस्यचित् । न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम" इत्येवमात्मनः एकत्वभावनायाम् , । स्था० ४ ठा० ।

एगाभरण एकाभरण–न० एकजातीये आभरणे, "एगाभरणवसणगहियनिज्जोयं कोडुंबियवरतरुणसहस्सं सद्दावेह" एक एकादश आभरणवसनलक्षणो गृहीतो निर्योगपरिकरो यैस्ते तथेति भ० ९ श० ३३ उ० ॥ "एगाभरणपिहाणा" एकाभरणानि एकजातीयहेमरूप्यरत्नाभरणानि पिधानानि च वस्त्राणि यस्याः सा तथेति । दशा० १० अ० ।

एगाभोग–एकाभोग–पुं० अत्र कोपकरणादीनामेकत्र बन्धने, "एगाभोगपडिग्गह केई य सव्वाणि य पुरओ" एगाभोगो एगो य योगो भण्णति एगठ्ठबंधणोत्ति भणियं भवति होति तं च भण्डोवकरणाणं एगट्ठांति" नि० चू० १ उ० । (एगाभोगत्ति) एकत्राभोगः आभोग उपकरणे (एगत्ति) एकत्र करोति एकत्र बध्नातीत्यर्थ इति । ओघ० ।

एगामोस–एकामर्ष–पुं० एकामर्षणे, ओघ० ।

एकामर्श–पुं० एकस्मिन् स्पर्शे, ध०३ अधि० । तथा च धर्मसंग्रहे प्रत्युपेक्षणदोषमधिकृत्य "एगामोसा" एकामर्शा वस्त्रं मध्ये गृहीत्वा तावदाकर्षणं करोति यावन्निभागावशेषे ग्रहणं जानमेकाकर्षणमित्यर्थः । अथवाऽनेकामर्शा आकर्षणे ग्रहणे चाऽनेके आमर्शाः स्पर्शा भवन्ति तद्वस्त्रमनेकधा स्पृशतीत्यर्थ इति । ध०३ अधि० ॥

एगायत–एकायत–त्रि० एकाकिनि, "एगा य ताणुक्कमणं करेंति" एकाकिनोऽत्राणा अनुक्रमणं तस्यां गमनं प्लवनं कुर्वन्तीति एकस्मिन् दीर्घे च "एगायते पव्वयमंतलिक्खे" एकशिला घटितो दीर्घ इति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

एगाययण–एकायतन–न० ज्ञानादित्रये, अद्वितीये आयतने, "एगायतणरयस्स इविप्पमुक्कस्स णत्थि मग्गे त्ति रतस्सत्ति" आङ्भिविधौ समस्तपापारम्भेभ्य आत्माऽऽयत्यते आनियम्यते तस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नवान् क्रियत इत्यायतनं ज्ञानादित्रयमेकमद्वितीयमायतनमेकायतनं तत्र रतस्तस्य नास्ति न विद्यते कोऽसौ मार्गो नरकतिर्यग्मनुष्यगमनपद्धतिरिति । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

एगार–अयस्कार–त्रि० अयोविकारं करोति कृ—अण्—उप० स० सत्वम् । स्थविरविचकिलायस्कारे ८।१।६६। इति सूत्रेणादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एत्वं भवति । लोहकारे, प्रा० ।

एगारस (ह) एकादशन्–त्रि० एकाधिका दश नि० आत्० "संख्यागद्गदे रः ८।१।२१९। इति प्राकृतसूत्रेण दस्य रः । प्रा० । एकादशसंख्यान्विते, वाच०" "एकारस उवासगाणं" एकादश चोपासकानां प्रतिमा भवन्तीति । प्रश्न० ५ द्वा० ।

एगारसंगसुत्तत्थधारय–एकादशाङ्गसूत्रार्थधारक–पुं० एकादशानामङ्गानां सूत्रार्थमवधारयन्तीत्येकादशाङ्गसूत्रार्थधारकाः । व्य०९ उ० । एकादशानामङ्गानां सूत्रार्थयोर्धारके, "एकारसंगसुत्तत्थधारए सव्वसाहू य" एकादश च तान्यङ्गानि च एकादशाङ्गानि एकादशाङ्गानां सूत्रार्थौ एकादशाङ्गसूत्रार्थौ तौ धारयन्ति ये ते तानेकादशाङ्गसूत्रार्थधारकानिति । ओघ० ।

एगारसम–एकादशम–त्रि० एकादशानां पूरणे डटि संख्यापूर्वकादपि कश्चिन्मुट् । यत्संख्यया एकादश संख्या पूर्यते तादृशसंख्यान्विते, वाच० । 'एकारसमे पव्वे' स्था०६ ठा० (एकारसमंति) एकादशीं श्रमणभूतप्रतिमामिति । उपा०२ अ० ।

एगावन्न–एकपंचाशत्–स्त्री० एकाधिका पञ्चाशत् शा० त० एकाधिकपञ्चाशत्संख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च । वाच० । "नवण्हं बंभचेराणं एकावन्नं उद्देसणकाला पण्णत्ता" । सम० ५१ स० ।

एगावतारि–(न्) एकावतारिन्– पुं० एकावतारवति जीवे, तद्विषये पण्डितजगमालगणिकृतप्रश्नो हीरप्रश्ने यथा वनस्पत्यादिषु जीवा एकावतारिणः शास्त्रे उक्तास्तथा मतान्तरीयवृन्दमध्येऽपि कश्चिद् भवति नवेत्यत्रोत्तरमेकान्तेन निषेधो ज्ञातो नास्तीति । हीर० ।

एगावली–एकावली–स्त्री० एकाऽद्वितीयाऽऽवली माला मणिश्रेणी । आभरणविशेषे, सम० । सा च नानामणिकमयी हा-

लेति । औप० एकावली विचित्रमणिकृता एकसरिकेति । ज्ञा० १ अ० । " एकावलिकंठलइयवच्छा " एकावली आभरणविशेषः सा कण्ठे ग्रीवायां लगिता विलम्बिता सती वक्षसि उरसि वर्त्तते येषां ते तथेति । सम० । " एगावलिं पिणद्धेति " प्रश्न० १ सं० ४ द्वा० ।

एगावलीपविभत्ति–एकावलीप्रविभक्ति–न० नाट्यभेदे, राज० ।

एगावाइ–(न्) एकवादिन्–पुं० एक एवात्मादिरर्थ इत्येवं वदतीत्येकवादी दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् । अक्रियावादिभेदे, उक्तं चैतन्मतानुसारिभिः " एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवदिति " ॥ १ ॥ अपरस्त्वात्मैवास्ति नान्यदिति प्रतिपन्नस्तदुक्तं " पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यमुतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति " ॥ १ ॥ यदेजति यन्नेजति यद्दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यत इति । तथा " नित्यज्ञानविवर्त्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः । आत्मा तदात्मकश्चेति संगिरन्ते परे पुनः " रिति ॥ १ ॥ शब्दाद्वैतवादे तु सर्वं शब्दात्मकमिदमित्येकत्वं प्रतिपन्नः । उक्तञ्च " अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत " इति ॥ १ ॥ अथवा सामान्यवादी सर्वमेवैकं प्रतिपद्यते । सामान्यस्यैकत्वादित्येवमनेकधैकवादे अक्रियावादिता चास्य सद्भूतस्यापि तदन्यस्य नास्तीति प्रतिपादनात् । आत्माद्वैतपुरुषाद्वैतशब्दाद्वैतादीनां युक्तिभिरघटमानानामनस्तित्वाभ्युपगमाच्च । स्था० ८ ठा० ३ उ० ।

एकात्माद्वैतवादमुद्देशार्थाधिकारप्राप्तं पूर्वपक्षयितुमाह ।

जहा य पुढवी थूभे, एगे नाणाहि दीसइ ।
एवं भो कसिणे लोए, विन्नू नाणाइ दीसइ ॥ ९ ॥

दृष्टान्तबलेनेष्टार्थस्वरूपावगतेः पूर्वं दृष्टान्तोपन्यासः । यथेत्युपदर्शने चशब्दोऽपिशब्दार्थे स च भिन्नक्रम एके इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । पृथिव्येव स्तूपः पृथिव्या वा स्तूपः पृथिवीसंघातावयवी । स चैकोऽपि यथा नानारूपः सरित्समुद्रपर्वतनगरसन्निवेशाद्याधारतया विचित्रो दृश्यते । निम्नोन्नतमृदुकठिनरक्तपीतादिभेदेन वा दृश्यते न च तस्य पृथिवीतत्त्वस्यैतावता भेदेन भेदो भवत्येवमुक्तरीत्या भो इत्यामन्त्रणं कृत्स्नोऽपि लोकश्चेतनाचेतनरूप एको विद्वान् वर्त्तते । इदमत्र हृदयम् । एक एव ह्यात्मा विद्वान् ज्ञानपिण्डः पृथिव्याद्याकारतया नाना दृश्यते न च तस्यात्मन एतावताऽऽत्मतत्त्वभेदो भवति तथा चोक्तमेक एव हि भूतात्मेत्यादि ।

अस्योत्तरदानायाह ।

एवमेगेति जप्पंति, मंदा आरंभणिस्सिआ ।
एगे किच्चा सयं पावं, तिव्वं दुक्खं नियच्छइ ॥ १० ॥

एवमित्यनन्तरोक्तात्माद्वैतवादोपदर्शनम् । एके केचन पुरुषाः कारणवादिनो जल्पन्ति प्रतिपादयन्ति किंभूतास्ते इत्याह मन्दा जडाः सम्यक्परिज्ञानविकलाः । मन्दत्वं चैषां युक्तिविकलात्माऽद्वैतपक्षसमाश्रयणात् । तथाहि–यद्येक एवात्मा स्यान्नात्मबहुत्वं ततो ये सत्वाः प्राणिनः कृषीबलादय एके केचन आरम्भे प्राण्युपमर्दकारिणि व्यापारे निःश्रिता आसक्ताः संबद्धा अध्युपपन्नास्ते च संरम्भसमारम्भैः कृत्वोपादाय स्वयमात्मना पापमशुभप्रकृतिरूपमसातोदयफलं तीव्रं दुःखं तदनुभवस्थानं वा नरकादिकं (नियच्छतीति) आर्षत्वाद्बहुवचनार्थे एकवचनमकारि । ततश्चायमर्थो निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यतया गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति त एवाकृतास्ते नान्य इत्येतच्च स्यादपि चाशुभे कर्मणि कृते सर्वेषां शुभानुष्ठायिनामपि तीव्रदुःखाभिसंबन्धः स्यादेकत्वादात्मन इति न चैतदेवं दृश्यते । तथाहि य एव कश्चिदसमञ्जसकारी स एव लोके तदनुरूपा विडम्बनाः समनुभवन्नुपलक्ष्यते नान्य इति । तथा सर्वगतत्वे आत्मनो बन्धमोक्षाद्यभावस्तथा प्रतिपाद्यप्रतिपादकविवेकाभावाच्छास्त्रप्रणयनाभावश्च स्यादिति । एतदर्थसंवादित्वात्प्राक्तन्येव निर्युक्तिकृद्गाथाऽत्र व्याख्यायते । तद्यथा पञ्चानां पृथिव्यादीनां भूतानामेकत्र कायाकारपरिणतानां चैतन्यमुपलभ्यते । यदि पुनरेक एवात्मा व्यापी स्यात्तदा घटादिष्वपि चैतन्योपलब्धिः स्यान्न चैवं तस्मान्नैक आत्मा । भूतानां चान्योन्यगुणत्वं न स्यादेकस्मादात्मनोऽभिन्नत्वात् । तथा पञ्चेन्द्रियस्थानां पञ्चेन्द्रियाश्रितानां ज्ञानानां प्रवृत्तौ सत्यामन्येन ज्ञात्वा विदितमन्यो न जानातीत्येतदपि न स्याद्यद्येक एवात्मा स्यादिति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० (विस्तरः पुंडरीयशब्दे दर्शयिष्यते)

तथाच विशेषावश्यके आत्मनो बहुभेदत्वमधिकृत्य ॥

संसारीयरथावर–तसाइभेयं मुणे जीवं ॥

तथा संसारीतरस्थावरत्रसादिभेदं संसारिणश्चेतरे सिद्धाः आदिशब्दाच्च सूक्ष्मबादरपर्याप्तादिभेदपरिग्रह इति । अत्र वेदान्तवादी प्राह । ननु बहुभेदत्वमात्मनोऽसिद्धं तस्य सर्वत्रैकत्वात् । तदुक्तम् । एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते प्रतिष्ठितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् । " यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः । संकीर्णमिव मात्राभि–श्चित्राभिरभिमन्यते ॥ " तथेदममलं ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया । कलुषत्वमिवापन्नं, भेदरूपं प्रकाशते ॥ ऊर्ध्वमूलमधः शाख–मश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद स वेदवित् । पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नेजति यद्दूरे यदन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यत्सर्वस्यास्य बाह्यत इत्यादि " इत्येतदेव पूर्वार्द्धेनोत्क्षिप्योत्तरार्द्धेन परिहरन्नाह ।

जइ पुण सो एगो च्चिय, हवेज्ज वोमं व सव्वपिंडेसु ।
गोयम ! तदेगलिंगं, पिंडेसु तहा न जीवो य ॥

परः प्राह यदि पुनर्दर्शितन्यायेन स आत्मा सर्वेष्वपि नारकतिर्यङ्नरामरपिण्डेषु व्योमवदेक एव भवेन्न तु संसारीतरादिभेदभिन्नस्तर्हि किं नाम दूषणं स्यादेवमुक्ते भगवानाह । गौतम ! तद्व्योम सर्वेष्वपि पिण्डेषु मूर्तिविशेषेषु स्थितम् एकलिङ्गमविसदृश्याभावादेकरूपमेवेति युक्तं तस्यैकत्वं जीवस्त्वेवं विचार्यमाणत्वेन प्रस्तुतो न तथा नैकलिङ्गः सर्वत्र दृश्यते प्रतिपिण्डं तस्य विलक्षणत्वप्रलक्षणभेदेन च लक्षणभेदादिति न तस्यैकत्वमिति ॥

अत्र प्रयोगमाह ।

नाणा जीवा कुंभा–दओ व्व विलक्खणाइभेयाओ ।
सुहदुक्खबंधमोक्खा–भावा य जओ तदेगत्ते ॥

नानारूपा इति जीवाः परस्परं भेदभाज इत्यर्थः । लक्षणादिभेदादिति हेतुः कुम्भादय इवेति दृष्टान्तः । यच्च न भिन्नं तस्य न लक्षणभेदो यथा नभस इति । सुखदुःखबन्धमोक्षाभावश्च यस्मात्तदेकत्वे तस्माद्भिन्ना एव सर्वेऽपि जीवा इति ।

कथं पुनस्तेषां प्रतिपिण्डलक्षणभेद इत्याह ॥

जेणोवओगलिंगो, जीवो भिन्नो य सो पइसरीरं ।
उवओगो उक्करिसा व, गरिसोउत्तेण तेणंतो ॥

येन ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणोऽसौ जीवः स चोपयोगः प्रतिशरी–

रमुत्कर्षापकर्षभेदादनन्तभेदस्तेन भेदादनन्तभेदा एवेति तदेवं भावितं (णाणाजीवा इत्यादि) पूर्वार्द्धमिदानीं सुखदुःखेत्याद्युत्तरार्द्धं भावयन्नाह ॥

एगत्ते सव्वगय-त्तओ य न सोक्खादओ नभस्सेव ।

कत्ता भोत्ता मंता, न य संसारी जहागासं ॥

एकत्वे जीवानां सुखदुःखबन्धमोक्षादयो नोपपद्यन्ते सर्वग-तत्वान्नभस इव । यत्र तु सुखादयो न तत्सर्वगतं यथा देवदत्त इति । किञ्च न कर्त्ता न भोक्ता न मन्ता न संसारी जीवः एकत्वात् सर्वजीवानां, यच्चैकं न तस्य कर्तृत्वादयो यथा नभस इति । अपि च ।

एगत्ते नत्थि सुही,बहुयरुवघाउ त्ति देसनिरुओव्व ।

बहुतरबद्धत्तणाउ य, न य मुक्को देसमुक्को व्व ॥

इदमत्र हृदयं नारकतिर्यगादयोऽनन्ता जीवा नानाविधशारीरमानसा यथा तैर्दुःखिता एव तदनन्तभागवर्त्तिनस्तु सुखिनः । एवमनन्ता बद्धास्तदनन्तभागवर्त्तिनस्तु मुक्तास्तेषां चैकत्वेन कोऽपि सुखी प्राप्नोति बहुतरोपघातान्वितत्वाद्यथा सर्वाङ्गरोगग्रस्तोऽङ्गुल्येकदेशेन नीरोगो यज्ञदत्तः एवं न कोऽपि मुक्तो घटते बहुतरबद्धत्वाद्यथा सर्वाङ्गकीलितोऽङ्गुल्येकदेशमुक्तस्तस्मादेकत्वे सुखाद्यनुपपत्तेर्नानात्वं जीवानामिति स्थितम् (विशे०) तथा च नन्द्यध्ययने आत्माद्वैतमतमुपक्रम्य आत्माद्वैतवादिनो नाम पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि प्रतिपन्नास्तन्मतनिराकरणं च तत्रैव पुरुष एवेदमिति सर्वमिति प्रतिपन्नास्तेऽपि महामोहोरगगरलपूरमूर्च्छितमानसा वेदितव्यास्तथाहि यदि नाम पुरुषमात्ररूपमद्वैतत्वं तर्हि यदि तदुपलभ्यते सुखितदुःखितत्वादि तत्सर्वं परमार्थतोऽसत्प्राप्नोति ततश्चैवं स्थिते यदेतदुच्यते प्रमाणतोऽधिगम्य संसारनैर्गुण्यं तद्विमुखया प्रज्ञया तदुच्छेदाय प्रवृत्तिरित्यादि तदेतदाकाशकुसुमसौरभवर्णनोपमानमवसेयम् । अद्वैतरूपे हि तत्त्वे कुतो नरकादिभवभ्रमणरूपः संसारो यन्नैर्गुण्यमवगम्य तदुच्छेदाय प्रवृत्तिरुपपद्येत । यदप्युच्यते पुरुषमात्रमेवाद्वैतत्वं यत्तु संसारनैर्गुण्यं भावभेददर्शनं च तत्सर्वदा सर्वेषामविगानप्रतिपत्तावपि चित्रे निम्नोन्नतभेददर्शनमिव भ्रान्तमवसेयमिति तदप्यचारु एतद्विषयवास्तवप्रमाणाभावात् । तथाहि नाद्वैताभ्युपगमे किञ्चिदद्वैतग्राहकं ततः पृथग्भूतं प्रमाणमस्ति द्वैतत्वप्रसक्तेः न च प्रमाणमन्तरेण निष्प्रतिपक्षा तत्त्वव्यवस्था भवति मा प्रापत्सर्वस्य सर्वेष्टार्थसिद्धिप्रसङ्गः । तथा भ्रान्तिरपि प्रमाणभूतादद्वैताद्भिन्नाऽभ्युपगन्तव्या अन्यथा प्रमाणभूतमद्वैतमप्रमाणमेव भवेत्तदव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवत । तथा च कुतस्तत्त्वव्यवस्था भिन्नायां च भ्रान्तावभ्युपगम्यमानायां द्वैतं प्रसक्तमित्यद्वैतहानिः अपि च यदीदं स्तम्भे नकुम्भाम्भोरुहादिभेददर्शनं भ्रान्तमुच्यते तर्हि नियमात्तदपि क्वचित्सत्यमवगन्तव्यमभ्रान्तदर्शनमन्तरेण भ्रान्तेरयोगात् न खलु येन पूर्वमाशीविषो दृष्टस्तस्य रज्ज्वामाशीविषभ्रान्तिरुपजायते तदुक्तम् "नादृष्टपूर्वसर्पस्य रज्ज्वां सर्पमतिः क्वचित् । ततः पूर्वानुसारित्वाद्भ्रान्तिरभ्रान्तिपूर्विका" १ तत एवमप्यव्याहतो भेदः । अन्यच्च पुरुषाद्वैतरूपतत्त्वमवश्यं पूर्वं परस्मै निवेदनीयं नात्मने आत्मनो व्यामोहाभावात् विमोहश्चेदद्वैतप्रतिपत्तिरेव न भवेत् । अथोच्येत यत एव व्यामोहोऽत एव तन्निवृत्यर्थमात्मनोऽद्वैतप्रतिपत्तिरास्थेया तदयुक्तमेवं सति अद्वैतप्रतिपत्त्युपायेनात्मनो व्यामोहे निवर्त्यमानेऽवश्यं पूर्वरूपत्यागोऽपररूपस्य चाव्यामोहलक्षणस्योत्पत्तिरित्यद्वैतप्रतिज्ञाहानिः परस्मै च प्रतिपादयन् नियमतः परमभ्युपगच्छेत्परं वाऽभ्युपगच्छन् तस्मै चाद्वैतरूपं तत्त्वं निवेदयन् पिता मे कुमारब्रह्मचारीत्यादि वदन्निव कथं नोन्मत्तः स्वपराभ्युपगमेनाद्वैतवचसो बाधनादिति यत्किञ्चिदेतत् (नंदी०) तथा च सम्मतितर्केऽद्वैतमात्रस्य तात्त्विकत्वं निराकृतम् तथाहि अपरस्तु कार्यकारणभावस्य कल्पनाशिल्पिविरचितत्वात् तदुभयव्यतिरिक्तमद्वैतमात्रं तत्त्वमित्यभ्युपपन्नस्तन्मतमपि मिथ्या,कार्यकारणोभयशून्यत्वात्खरविषाणवदद्वैतमात्रस्य व्योमोत्पलतुल्यत्वात् । तथाह्यद्वैतप्रतिपादकप्रमाणस्य सद्भावे द्वैतापत्तितो नाद्वैतं प्रमाणाभावे अद्वैतासिद्धेः प्रमेयसिद्धेः प्रमाणनिबन्धनत्वात् । किञ्चाद्वैतमिति प्रसज्यप्रतिषेधः पर्युदासो वा प्रसज्यपक्षे प्रतिषेधमात्रपर्यवसानत्वान्नास्य नाद्वैतसिद्धिः प्रधानोपसर्जनभावेनाङ्गाङ्गिभावकल्पनायां द्वैतप्रसक्तिः द्वितीयपक्षेऽपि द्वैतप्रसक्तिरेव प्रमाणान्तरप्रतिपन्ने द्वैतलक्षणे वस्तुनि तत्प्रतिषेधेनाद्वैतसिद्धेः । द्वैतादद्वैतस्य व्यतिरेके च द्वैतप्रसक्तिरेव पररूपव्यावृत्तस्वरूपाव्यावृत्तात्मकत्वेन तस्य द्विरूपिताप्रसक्तेरव्यतिरेके पुनर्द्वैतप्रसक्तिर्न चाद्वैतस्यापि विद्यमानत्वात् द्वैताव्यावृत्तासंभवो विद्यमानस्यापि विद्यमानाद्व्यावृत्तिप्रसक्तेरन्यथा सद्रूपभाग् विशेषप्रसक्तिर्भवेत् । प्रमाणादिचतुष्टयसद्भावे च न द्वैतवादान्मुक्तिस्तदभावे शून्यतावादादिति नाद्वैतकल्पना ज्यायसी । न च नित्यत्वाद् द्वैतकल्पना भावानामनेकत्वेऽपि युक्तिसंगता सर्वदा सर्वभावानां नित्यत्वे ग्राह्यग्राहकरूपताभावप्रसक्तेस्तद्भावाद्याश्रयणं ग्राह्यग्राहकरूपताया विकारिताव्यतिरेकेण योगात् सा च कथञ्चिदेक स्यानेकरूपानुषक्तादिति कथं नानेकान्तसिद्धिः । द्रव्याद्वैतवादे रूपादिभेदाभावप्रसङ्गश्च न च चक्षुरादिसंबन्धात्तदेव द्रव्यं रूपादिप्रतिपत्तिजनकं सर्वात्मना तत्संबन्धस्य तथैव प्रतीतिप्रसक्तेः । रूपान्तरस्य तद्व्यतिरिक्तस्य तत्राभावात् । तत्र द्रव्याद्वैतमपि प्रधानाद्वैतं युक्तमेव सत्त्वादिव्यतिरेकेण तस्याभावान्न च सत्त्वादेस्तदव्यतिरेकाद्द्वैतं प्रधानस्य सत्त्वाद्यव्यतिरिक्तात् द्वैतप्रसक्तेर्महदादिविकारस्य चाभ्युपगमे कथमद्वैतं विकारस्य च विकारिणोऽत्यन्तमभेदेन विकारीति प्रतिपादितं भेदाभेदेऽनेकान्तसिद्धेर्व्यतिरेके द्वैतापत्तिरिति । (सम्म०) ब्रह्माद्वैतस्य तात्त्विकत्वं प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं च निराकृतं तद्यथा ब्रह्मवादं वावदूका वदन्ति युक्तं यदेष सकलप्रलापी पापीयानपापस्य आत्मब्रह्मणस्तात्त्विकस्य सत्त्वात् । न च सरलसालरसालप्रियालहिंतालतालतमालप्रवालप्रमुखपदार्थसार्थोऽप्यहमहमिकया प्रतीयमानः कथं न पारमार्थिकः स्यादिति वक्तव्यं तस्य मिथ्यारूपत्वात् । तथाहि प्रपञ्चो मिथ्या प्रतीयमानत्वाद्यदेवं तदेवं यथा शुक्तिशकले कलधौतं तथा चायं तस्मात्तथा तदेतदेतस्य न तर्ककार्कश्यं सूचयति । तथाहि मिथ्यात्वमत्र कीदृक्षमाकाङ्क्षितं सूक्ष्मदृशा किमत्यन्तासत्त्वमुतान्यस्यान्याकारतया प्रतीतत्वमाहोस्विदनिर्वाच्यत्वमिति भेदत्रयी त्रिनेत्रनेत्रत्रयीव भीक्ष्यते । प्राचि पक्षद्वये तदनङ्गीकारः परीहारः । तार्त्तीयीकविकल्पे तु किमिदमनिर्वाच्यत्वं नाम किं निरुक्तिविरह एव निरुक्तिनिमित्तविरहो निःस्वभावत्वं वा । न प्रथमः कल्पः कल्पनार्हः सरसोऽयं सालोयमिति निश्चितोक्तेरनुभवात् । नापि द्वितीयः निरुक्तेर्हि निमित्तं ज्ञानं वा स्याद्विषयो वा न प्रथमस्य विरहः सरससालादिसंवेदनस्य प्रतिप्राणि प्रतीतेर्नापि द्वितीयस्य यतो विषयः किंभावस्वरूपो नास्त्यभावरूपो वा । प्रथमकल्पनायामसत्यात्वात्यभ्युपगमप्रसङ्गः । द्वितीयकल्पनायां तु सत्त्वाभावरेव भावावपि न स्त इति चेत् ननु भावाभावशब्दाभ्यां लोकप्रतीति-

सिद्धौ तावभिप्रेतौ विपरीतौ वा । प्रथमपक्षे तावद्यथोभयोरेकत्र विधिर्नास्ति तथा प्रतिषेधोऽपि परस्परविरुद्धयोर्मध्यादेकतरविधिनिषेधयोरन्यतरनिषेधविधिनान्तरीयकत्वात् । द्वितीयपक्षे तु न काचित्क्षतिर्न ह्यलौकिकविषयसद्भावनिवृत्तावपि लौकिकज्ञानविषयनिवृत्तिस्तन्निरुक्तिनिवृत्तिर्वा । निःस्वभावत्वपक्षेऽपि निसः प्रतिषेधार्थत्वे स्वभावशब्दस्यापि भावाभावयोरन्यतरार्थतेति पूर्ववत्प्रसङ्गः । प्रतीत्यगोचरत्वं निःस्वभावत्वमिति चेदत्र विरोधः । प्रपञ्चो न प्रतीयते चेत्कथं धर्मितया प्रतीयमानत्वं च हेतुतयोपाददे तथोपादाने वा कथं न प्रतीयते यथा प्रतीयते न तथेति चेत्तर्हि विपरीतख्यातेरभ्युपगमः स्यात् । किं चेयमनिर्वाच्यता प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षेण प्रत्यक्षेऽपि सरलोऽयमित्याद्याकारं हि प्रत्यक्षं प्रपञ्चस्य सत्यतामेव व्यवस्यति सरलादिप्रतिनियतपदार्थपरिच्छेदात्मनस्तस्योत्पादादितरेतरविविक्तवस्तूनामेव च प्रपञ्चवचो वाच्यत्वेन सम्मतत्वात् । अथ कथमेतत्प्रत्यक्षं पक्षप्रतिक्षेपकं तद्धि विधायकमेवेति तथा तथा ह्येतत् विदधाति न पुनः प्रपञ्चसत्यतां प्ररूपयति । सा हि तदा प्ररूपता स्याद्यदेतरास्मिन्नितरेषां प्रतिषेधः कृतः स्यान्न चैवं निषेधे कुण्ठत्वात्प्रत्यक्षस्येति चेत्तदयुक्तं यतो विधायकमिति कोऽर्थः इदमिति वस्तुस्वरूपं गृह्णाति नान्यस्वरूपं प्रतिषेधति । प्रत्यक्षमिति चेन्मैवम् अन्यरूपनिषेधमन्तरेण तत्स्वरूपपरिच्छेदस्याप्यसंपत्तेः पीतादिव्यवच्छिन्नं हि नीलं नीलमिति गृहीतं भवति नेतरथा यदिदमिति वस्तुस्वरूपमेव गृह्णाति प्रत्यक्षमित्युच्यते तदावश्यमपरस्य प्रतिषेधनेऽपि तत्प्रतिपद्यत इत्यभिहितमेव भवति केवलवस्तुस्वरूपप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात् । अपि च विधायकमेव प्रत्यक्षमिति नियमस्याङ्गीकारे विद्यावदविद्याया अपि विधानं तत्रानुषज्यते सोऽयमविद्या विवेकेन सन्मात्रं प्रत्यक्षात्प्रतियन्तो च निषेधकं तदिति ब्रुवाणः कथं स्वस्थ इति सिद्धं प्रत्यक्षबाधितः पक्ष इति । अनुमानबाधितश्च प्रपञ्चो मिथ्या न भवत्यसद्विलक्षणत्वाद्य एवं स एवं यथात्मा तथा चायं तस्मात्तथेति । प्रतीयमानत्वं च हेतुर्ब्रह्मात्मना व्यभिचारी । स हि प्रतीयते न च मिथ्या अप्रतीयमानत्वे त्वस्य तद्गोचरवचनानामप्रवृत्तेर्मूकतैव तत्र वः श्रेयसी स्यात् । दृष्टान्तश्च साध्यविकलः शुक्तिशकलकलधौतेऽपि प्रपञ्चान्तर्गतत्वेनानिर्वचनीयतायाः साध्यमानत्वात् । किं चेदमनुमानं प्रपञ्चाद्भिन्नमभिन्नं वा । यदि भिन्नं तर्हि सत्यमसत्यं वा । यदि सत्यं तर्हि तद्वदेव प्रपञ्चस्यापि सत्यत्वं स्यात् । अथासत्यं तत्रापि शून्यमन्यथा ख्यातमनिर्वचनीयं वा आद्यपक्षद्वये न साध्यसाधकत्वं नृशृङ्गवच्छुक्तिकलधौतवच्चेति तृतीयपक्षोऽप्यक्षमः । अनिर्वचनीयस्यासंभवित्वेनाभिहितत्वात् । व्यवहारसत्यमिदमनुमानमतोऽसत्यत्वाभावान्न च साध्यसाधकमिति चेत् किमिदं व्यवहारसत्यं नाम व्यवहृतिर्व्यवहारो ज्ञानं तेन चेत्सत्यं तर्हि पारमार्थिकमेव तत्तत्र चोक्तो दोषः । अथ व्यवहारः शब्दस्तेन सत्यम् । ननु शब्दोऽपि सत्यस्वरूपस्तदितरो वा यद्याद्यस्तर्हि तेन यत्सत्यं तत्पारमार्थिकमेवेति तदेव दूषणम् । अथासत्यस्वरूपः शब्दः कथं ततस्तस्य सत्यत्वं नाम । नहि स्वयमसत्यमन्यस्य सत्यत्वव्यवस्थाहेतुरतिप्रसङ्गात् । अथ कूटकार्षापणे सत्यकार्षापणोचितक्रयविक्रयव्यवहारजनकत्वेन सत्यकार्षापणव्यवहारवदसत्येऽप्यनुमाने सत्यव्यवहार इति चेत्तर्हि असत्यमेव तदनुमानं तत्र चोक्तो दोषः । अतो न प्रपञ्चाद्भिन्नमनुमानमुपपत्तिपदवीमापद्यते नाप्यभिन्नं प्रपञ्चस्वभावतया तस्यापि मिथ्यात्वप्रसक्तेर्मिथ्यारूपं च तत्कथं नाम स्वसाध्यं साधयेदित्युक्तमेव ॥ एवं च प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वासिद्धेः कथं परब्रह्मणस्तात्त्विकत्वं स्याद्यतो बाह्यार्थाभावो भवेदिति । रत्ना०१परि०

पुरुषाद्वैतस्य निराकरणं षोडशप्रकरणे यथा

> पुरुषाद्वैतं तु यदा, भवति विशिष्टमवबोधमात्रं वा ।
> भवभवविगमविभेद–स्तदा कथं युज्यते मुख्यः ॥ ७ ॥

द्वयोर्भावो द्विता तस्यां भवं सैव वा द्वैतं पुरुषस्याद्वैतमेकत्वं तु यदा भवत्यङ्गीकरणेन वादिनो विशिष्टं केवलं रागादिवासनारहितमवबोधमात्रं वा बोधस्वलक्षणं वा वेदान्तवादिनः पुरुषाद्वैतं मन्यन्ते । यथाहुरेके "पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि" तथा "विद्याविनयसंपन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः" इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धेर्विज्ञानवादिनस्तु शेषनीलादिविकल्पशून्यं पारमार्थिकरागादिवासनादिविशेषरहितं बोधस्वलक्षणमात्रमेव प्रतिजानते यथोक्तम् "चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते" । भवश्च भवविगमश्च तौ संसारमोक्षौ तयोर्विभेदो भवभवविगमविभेदस्तदा कथं युज्यते मुख्यसंसारमोक्षयोर्मुख्यो भेदो न युज्यते । अर्थान्तरे ह्यविद्यादौ तत्त्वे भेदके सति तयोर्विशेषो युज्यते इति भावः ॥ ७ ॥

कस्मात्पुनः पुरुषाद्वैतं बोधमात्रं वा विशिष्टं भवतीत्याह ।

> अग्निजलभूमयो य–त्परितापकरा भवे तु भवसिद्धाः ।
> रागादयश्च रौद्रा, असत्प्रवृत्त्यास्पदं लोके ॥ ८ ॥

अग्निश्च जलं च भूमिश्चाग्निजलभूमयो यद्यस्मात्परितापकराः परमार्थतो दुःखानुभवकरा वैषयिकसुखस्य भावतो दुःखरूपत्वात् भवे संसारे तु भवसिद्धाः किं पुनर्वह्निरूपाणामुपादाने वायोरपि पठितत्वाल्लोकसिद्धत्वाच्च उच्यते–वायुपदार्थद्रव्यगुणरूपतायां विप्रतिपद्यन्ते वादिनो नाग्निजलभूमिषु तेषां द्रव्यरूपेण प्रतीतेरतो न वायुग्रहणं सर्वेन्द्रियानुपलम्भाच्चाथवाऽग्निसहचरितत्वेनैव वायोर्ग्रहणं यत्र तेजस्तत्र वायुरिति वचनात् । रागादयश्च रागद्वेषमोहाश्च रौद्रा दारुणास्तीव्रसंक्लेशरूपेणासत्प्रवृत्त्यास्पदमसत्प्रवृत्तीनां सुन्दरप्रवृत्तीनामास्पदं प्रतिष्ठा लोके सर्वत्रैवानुभवसिद्धा यतो वर्त्तते यदि पुरुषाद्वैतमेव भवेत् प्रत्यक्षसिद्धा बाह्या ज्वलनादयः पदार्था न स्युस्तेषां चैतन्यस्वरूपपुरुषव्यतिरेकेण रूपान्तरोपलब्धेस्तेषां तु बहिर्वर्तिनां ज्वलनादीनां पुरुषत्वाङ्गीकरणे सर्वपदार्थानां नाममात्रमेव कृतं स्यात्पुरुष इति न तत्र विप्रतिपत्तिः । विज्ञानाद्वैतमपि यदि भवेत्तदा रागादयोऽनुभवसिद्धाः प्रतिप्राणिनं भवेयुस्तथा च सकललोकपरीक्षकविरोधस्तेषां सर्वैरभ्युपगमादनुभवस्य चान्यथाकर्त्तुमशक्यत्वादिति ॥ ८ ॥

अथ सर्वेऽप्येते बाह्या आन्तराश्च परिकल्पितरूपा एवेत्याशङ्कायामिदमाह ॥

> परिकल्पिता यदि ततो, न सन्ति तत्त्वेन कथममी स्युरिति ।
> तन्मात्र एव तत्त्वे, भवभवविगमौ कथं युक्तौ ॥ ९ ॥

परिकल्पिता अवस्तुसन्तः कल्पनामात्रनिर्मितशरीरा बाह्या आन्तराश्च यदि भवताऽभ्युपगम्यन्ते ततः परिकल्पितत्वादेव न सन्ति न विद्यन्ते तत्त्वेन परमार्थेन कथममी पदार्थाः स्युर्भवेयुर्न कथंचिद्भवेयुर्भवताऽप्यनभ्युपगमात् । इत्येवं तन्मात्र एव पुरुषमात्र एव बोधमात्र एव तत्त्वे परमार्थे भवभवविगमौ संसारमोक्षौ कथं केन प्रकारेण युक्तौ संगतौ न कथंचिदित्यर्थः ॥ ९ ॥

कस्मात्पुनः परिकल्पिता एते न सन्तीत्युच्यते परिकल्पनाया एवाभावादित्याह ॥

परिकल्पनाऽपि चैषा, हन्त विकल्पात्मिका न संभवति ।
तन्मात्र एव तत्वे, यदि वा भावो न जात्वस्याः ॥१०॥

परिकल्पनाऽपि च एषा बाह्यान्तराणामर्थानां हन्त ! विकल्पात्मिका वस्तुशून्यनिश्चयात्मिका न संभवति न युज्यते निर्बीजत्वात् । युक्तिमाह तन्मात्र एव पुरुषमात्र एव ज्ञानमात्रम् । एवं च तत्वे तदतिरेकेणेतरपदार्थाभावात् । अभ्युपगम्य परिकल्पनादूषणान्तरमाह । यदि वा भावोऽसंभवो नैव जातु कदाचिदप्यस्याः परिकल्पनाया यदि निर्बीजापीयं बाह्यान्तरपदार्थपरिकल्पनेष्यते ततः संसारवन्मुक्तावपि भवेदियमिति भावस्ततश्च संसारमोक्षभेदानुपपत्तिः परिकल्पनाबीजसद्भावाभ्युपगमे तु पुरुषबोधस्य लक्षणव्यतिरिक्तवस्त्वन्तरापत्त्या प्रस्तुताद्वैतपक्षक्षयहानिः षो०१६ विव०। (सम्मतावपि शुद्धद्रव्यास्तिकनयमतमधिकृत्य विस्तरेणाद्वैतमतं निरूपितं विस्तरभयान्नात्रमाभिर्लिख्यते तत्तु तत एवावधार्यम्) तत्र नयोपदेशे यथा ॥

जातं द्रव्यास्तिकाच्छुद्धा–दर्शनं ब्रह्मवादिनाम् ।
तत्रैके शब्दसन्मात्रं, चित्सन्मात्रं परे जगुः ॥ ११० ॥

शुद्धाद् द्रव्यास्तिकात् ब्रह्मवादिनां दर्शनं जातं तदाह " वादीदव्वट्ठियणयपयडीसुद्धासंगहपरूवणाविसओ त्ति " तत्रैके ब्रह्मवादिनः शब्दसन्मात्रमिच्छन्ति अन्ये च चित्सन्मात्रम् । तत्राद्यमतावलम्बी शब्दस्वभावं ब्रह्म सर्वेषां शब्दानां सर्वेषां चार्थानां प्रकृतिरित्यभ्युपैति तदाह तदभियुक्तो भर्तृहरिः । " अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत " इति । अस्यार्थः आदिरुत्पादो निधनं विनाशस्तदभावादनादिनिधनं ब्रह्मशब्दतत्त्वं शब्दात्मकं वैखर्यात्मशब्देनैवसर्वोल्लेखान्मध्यमाख्यशब्दसंसृष्टसविकल्पकज्ञानेनैव सर्वार्थग्रहणात् पश्यन्त्याख्यशुद्धशब्दात्मकज्ञानेनैव चाखण्डैकस्वरूपनिश्चयात् सर्वत्रानुस्यूतत्वात् । सर्वोपादानत्वाच्च शब्दतत्त्वमखण्डं ब्रह्मेत्यर्थः । एतदेवाह । " यदक्षरमकारादि " एतेनाभिधानरूपो विवर्त्तो दर्शितः । तथा यदर्थभावस्तद् विवर्तते एतेनाभिधेयरूपो विवर्त्तो दर्शितः तथा यतो जगतः प्रक्रिया प्रतिनियता व्यवस्था भेदानां संकीर्त्तनमेतदिति । अयं च वर्णक्रमरूपो वेदस्तदधिगमोपायः प्रतिच्छेदकन्यायेन तस्यावस्थितत्वात् । तच्च परमब्रह्माभ्युदयनिःश्रेयसफलधर्मानुगृहीतान्तःकरणैरवगम्यते । अन्यैस्तु प्रयोगादवगम्यते शब्द एव जगतस्तत्त्वं तद्बाधेऽप्यबाध्यमानत्वादहोरात्रवत् ग्रामारामादयः शब्दात्मकास्तदाकारानुस्यूतत्वात् सुवर्णात्मककुण्डलादिस्यादितः शब्दब्रह्मसाम्राज्यसिद्धेः । न च प्रमाणाधीना प्रमेयव्यवस्था प्रमाणं च चिदात्मकमेवानुभूयत इति तत्र शब्दरूपत्वासिद्धिर्निराकारस्य ज्ञानस्यार्थग्राहकत्वेन व्यवहारेऽनाश्रयणीयत्वात् साकारस्य च तस्य वाग्रूपतां विनाऽसंभवात्तदुक्तं " वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। स्यादशाश्वती न प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनीति१ अत एव शब्दार्थसंबन्धो वैयाकरणैरभेदेनैव प्रतिपादितः । युक्तं चैतत्कथमन्यथाऽदृष्टदशरथादीनामिदानींतनानां दशरथादिपदाच्छाब्दबोधः शुद्धदशरथत्वादिनोपस्थितेस्तत्रासंभवनीयत्वात् तथापूर्वकमनुभवाभावात् प्रमेयत्वादिना दशरथत्वादिप्रकारकोपस्थितौ च ततः प्रमेयवानित्याकारकबोधस्यैव संभवात् । न च प्रमेयवानित्याकारकसंस्कारात् प्रमेयत्वांशे उद्बोधकरहिता शुद्धदशरथत्वादिप्रकारकस्मरणोपपत्तिः तत्प्रकारकस्मृतौ तत्प्रकारकानुभवत्वेनैव हेतुत्वादिति वाच्यमन्वयव्यतिरेकाभ्यां शुद्धतत्प्रकारकस्मृतिं प्रति शुद्धतत्प्रकारकानुभवत्वेनैव हेतुत्वसिद्धेर्न च प्रमेयाभाववदित्यादिज्ञानात्संसर्गविधया शुद्धदशरथत्वादिस्वरूपप्रतियोगित्वलक्षणसंबन्धविषयकात् ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्तेः शुद्धदशरथत्वादिप्रकारको मानसानुभवः सुलभः सर्वाङ्गापत्तिभिया सांसर्गिकज्ञानस्यानुपनायकत्वस्वीकारात् तस्मादत्र दशरथपदवाच्यत्वं भवति दशरथपदवृत्तिप्रकारकज्ञानात् । यथा दशरथपदवाच्यत्वेन वाच्यत्वासंबन्धेन दशरथपदत्वेन वा शाब्दबोधः स्वीकर्त्तव्यस्तथा तुल्यन्यायात् सर्वेषामपीति शब्दानुभवोऽप्यर्थस्य शब्दात्मक एव साक्षीति । न चानवगतचित्तोऽपि रूपं चक्षुषा वीक्षमाणोऽभिलापासंसृष्टमेव विपर्यीकरोतीति नीलादेरशब्दात्मकत्वसिद्धिः शब्दासंसृष्टार्थानुभवस्य ज्ञानवादिना ज्ञानाभावकाल इव शब्दवादिना शब्दाभावकाले बाह्यार्थस्यैवानभ्युपगमेन शब्दातिरिक्तग्राह्यासिद्धेर्बाह्यत्वनियतदेशवृत्तित्वादिव घटादावविद्यावशादेव भासत इति न तत्तदाकारैः शब्दब्रह्मभेदसिद्धिस्तदुक्तम् । "यथा विशुद्धमाकाशं, तिमिरोपप्लुतो जनः । संकीर्णमिव मात्राभि–श्चित्राभिरभिमन्यते । तथेदममलं ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया । कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्त्तत" इति यदि वा ग्रामारामादिप्रपञ्चो व्यवहारः सत्यः स्वीक्रियते स्वार्थिकवैलक्षण्यानुभवात्तदाऽविद्या सहितं शब्दब्रह्मैव तदुपादानं वाच्यम् । अद्वैतशास्त्रेणाविद्यानिवृत्तौ च तन्मूलप्रपञ्चविगमे शुद्धं शब्दब्रह्मैवावशिष्यते स एव मोक्ष इति निरवद्यं केवलं तस्य शब्दात्मकत्वे शुद्धशब्दत्वादिधर्मवत्त्वं निर्धर्मकत्वेऽप्यसदादिव्यावृत्तिवदशब्दादिव्यावृत्तौ चोपपत्तिरिति संक्षेपः ।१। द्वितीयमतावलम्बिनो वेदान्तिनस्तन्मते अखण्डमद्वितीयमानन्दैकरूपं स्वप्रकाशं चैतन्यमेव जगतः स्वरूपमनिर्वचनीयस्यैव सर्पस्य रज्जुः । कथं तर्हि जीवेश्वरविभाग इति चेदज्ञानरूपादुपाधेः यथा ह्येकस्यैव मुखस्य दर्पणोपाधिसंबन्धाद्बिम्बप्रतिबिम्बभावः एवं चिन्मात्रस्योक्तोपाधिसंबन्धाज्जीवेश्वरभावो न तत्त्वान्तरमस्ति अज्ञानं त्वनाद्यनिर्वचनीयमायाविद्यादिशब्दाभिधेयं तच्चैकेनैवोपपत्तावनेककल्पनानवकाशादेकमेवेत्येके ब-द्धमुक्तव्यवस्थानिरूपणायमानमित्यन्ये तदवस्थाऽतिमूलाज्ञानानि व्यवहारसौकर्याय निरूपयन्ति । तत्रैव मायाविद्याशब्दद्वयनिमित्तं शक्तिद्वयं विक्षेपशक्तिरावरणशक्तिश्च । कार्यजननशक्तिर्विक्षेपशक्तिस्तिरोधानशक्तिरावरणशक्तिर्यथाऽवस्थारूपस्य रज्जुज्ञानस्य सर्पजननशक्ती रज्जुतिरोधानशक्तिश्च । एवं मूलाज्ञानस्याद्वितीयपूर्णानन्दैकरसचिदावरणशक्तिराकाशादिप्रपञ्चजननशक्तिश्चेति । निवृत्ते चाज्ञाने तन्निमित्ते च जीवेश्वरादिप्रपञ्चे चिन्मात्रमेव शिष्यते । जीवस्त्वज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यमिति विचारणाचार्याः । रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति" श्रुतेः । " एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवदिति " स्मृतेश्च । न चामूर्तस्य प्रतिबिम्बाभावः शक्यो वक्तुममूर्तानामपि रूपपरिमाणादीनां गुणानामादर्शमूर्त्तद्रव्यस्यापि प्रद्युतकेऽप्याकाशस्य जानुमात्रे जले विशालरूपेण प्रतिबिम्बदर्शनात् प्रतिबिम्बस्यापि च चिद्रूपत्वं प्रत्यक्षशास्त्राभ्यां सिद्धम् । न च घटादिविच्छिन्नाकाशवदविद्यावच्छिन्नं चैतन्यमेव जीवोऽस्तु किं प्रतिबिम्बत्वेनेति वाच्यं तथा सति जीवभावेनावच्छिन्नस्य पुण्यावच्छेदान्तरायोगाद्घटाकाशादौ तथा दर्शनाद्ब्रह्मणः सर्वे-

नियन्तृत्वानुपपत्तौ यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमन्तरो यमयतीति श्रुतिव्याकोपप्रसङ्गात् । प्रतिबिम्बपक्षे तु जलगतस्वाभाविकाकाशे सत्येव प्रतिबिम्बाकाशदर्शनादिगुणीकृत्य बुद्ध्युपहितजीवावच्छेदेषु ब्रह्मणोऽपि नियन्तृतादिरूपेणावस्थानमुपपद्यत इति न दोषः । अस्मिन् पक्षे बिम्बं चैतन्यं नेश्वरः बिम्बस्यापि प्रतिबिम्बान्तर्द्विगुणीकृत्य वृत्त्ययोगेन प्रतिबिम्बात्मकजीवान्तर्यामित्वानुपपत्तेः कार्योनुपाधिभूतस्य शक्तिद्वयस्य व्यापकतया तत्प्रतिबिम्बयोर्जीवेश्वरयोरपि व्यापकत्वाज्जीवान्तर्यामित्वश्रुतेरप्यव्याघातात् । अज्ञानप्रतिबिम्बमित्यत्राज्ञानपदं चाविद्यापरम् अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं साक्षी स चोक्तशक्तिद्वयप्रतिबिम्बितो जीव इतीश्वरश्चेति यन्तु शुद्धमिति दिक् । एते ज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरः बुद्धिप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीवः अज्ञानोपहितं बिम्बचैतन्यं शुद्धमिति संक्षेपः । शारीरककारमतमप्युपसंगृहीतं तात्पर्यतोऽभेदात् । अज्ञानावच्छिन्नं चैतन्यं जीव इति वाचस्पतिमिश्राः । तेषामयमाशयः वस्तुतः सजातीयविजातीयभेदशून्यं चैतन्यमनादिसिद्धानिर्वचनीयाज्ञानोपाध्यवच्छिन्नजीव इत्यज्ञानेश्वर इति द्वैविध्यं प्रतिपद्यते । अज्ञानत्वम् अज्ञानविषयत्वं तदेवेश्वरोपाधिः सच व्यापकमिति तदुपहितस्येश्वरस्यापि व्यापकत्वात् सर्वान्तर्यामित्वमुपपद्यते विचारणाचार्यैस्त्वनवच्छिन्नस्येश्वरत्वमवच्छिन्नस्य च जीवत्वं दूषितमिति नात्र दोषस्पर्शः । नन्वेवमज्ञानस्य चैतन्यस्येश्वरत्वेऽहं मां न जानामीत्यनुभवादीश्वरस्य प्रत्यक्षपातः । न ह्यज्ञाततयेश्वरस्य प्रत्यक्षत्वमनापाद्य सर्वस्यैव वस्तुनो ज्ञाततयाऽज्ञाततया वा साक्षिप्रत्यक्षत्वाङ्गीकारादिति वाच्यं न ह्यज्ञाततयेश्वरप्रत्यक्षमापद्यते ईश्वरं न जानामीति येनाभ्युपगमव्याघातापत्तिः स्यात् किन्त्वहं मां न जानामीत्यज्ञानं चैतन्यमनुभूयते स चेश्वर इति तस्य स्वरूपेणापरोक्षत्वं स्यादिति चेन्नाहं मां जानामीत्यत्राज्ञाततया जीवस्याखण्डजगज्जीवेश्वरादिभ्रमाधिष्ठानचैतन्यरूपस्य हानेरप्यज्ञानोपहितचैतन्यरूपस्येश्वरस्याभानादज्ञानतास्फुरणे तदुपहितस्येश्वरस्य स्फुरणापत्तेः कर्तुमशक्यत्वात्तस्यायोग्यत्वान्न हि घटस्फुरणे घटोपहिताकाशादेरपि स्फुरणं केनचिदापादयितुं शक्यत इति तत्र विशेष्यस्यायोग्यत्वम् अत्र तु विशेषणविशेष्ययोर्योग्यत्वमित्यस्ति विशेष इति चेन्न तथाप्युपहितत्वसंबन्धगर्भत्वेनादृष्टवज्जीवत्वे तेनैवायोग्यतायाः प्रौढ्यात् । आभासवादिनो वार्तिकाचार्यास्तु दर्पणादौ मुखान्तरोत्पत्तिं स्वीकुर्वाणाश्चैतन्यस्यानादिभूताज्ञानेऽज्ञानादिरिवाभासः समस्ति तत्रस्थो जीवो जडत्वात् अतस्तत्तादात्म्यापन्नं चैतन्यं जीवः किमात्राभासाङ्गीकारे बीजमिति चेत् चैतन्येऽहंकाराध्यासस्य निरुपाधिकस्येष्टत्वान्निरुपाधिकाध्यासत्वावच्छेदेन च सादृश्यस्यापेक्षणादाभासतादात्म्यापत्त्या च सादृश्यापन्ने चैतन्येऽहंकाराध्याससंभवान्न चाभासाध्यासेऽपि तदपेक्षायामनवस्थापत्तिस्तस्यानादित्वात् । जन्माध्यास एव निरुपाधिके सादृश्यापेक्षणात् । न चाज्ञानाध्यासेनैव सादृश्यापत्तिः सुवचा जाड्येन हि सादृश्यं वाच्यं तच्च जडतादात्म्यापत्त्या । न चाज्ञानं तादात्म्येनाध्यस्तं किन्त्वहं मत्त इति संसर्गेणाध्यस्तमिति अतो नात्राभासतादात्म्याध्यासेन जाड्यापत्त्या सादृश्ये सत्यहंकाराध्यासो युज्यते । न चाभासे प्रमाणाभावः आदर्शे मुखमिति स्पष्टमुखान्तरावभासात् एकत्र क्लृप्तमन्यत्रापि प्रतिसंधीयत इति न्यायेनाज्ञानेऽपि चैतन्याभासाङ्गीकारात् । एवमन्तःकरणादावपि चैतन्याभासः । अज्ञानगतचैतन्याभासस्तु जीवशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तत्तादात्म्यापन्नचैतन्यजीवत्वादिति विचारणाचार्यास्तु मुखान्तरोत्पत्तिं नेच्छन्ति किं तु मुखेऽधिष्ठानभेदमात्रस्य द्वित्वापरपर्यायस्यादर्शस्थत्वस्य चानिर्वचनीयस्योत्पत्तिं तावतैव प्रतीत्युपपत्तेर्मुखान्तरकल्पने गौरवात् । न चैवं शुक्तावपि रजतोत्पत्तिर्न स्यात् तादात्म्यमात्रोत्पत्त्यैवेदं रजतमिति धीनिर्वाहोपपत्तेरिति वाच्यं तथा सति रजतस्यापरोक्षत्वापत्तेर्मुखं त्वधिष्ठानमपरोक्षमिन्द्रियसन्निकर्षादत एवादर्शे मुखमित्यपरोक्षभ्रमोत्पत्तेर्न निर्वचनीयमुखान्तरोत्पत्तिः । न च मुखस्येन्द्रियसन्निकर्षभावः कतिपयावयवावच्छेदेन तत्सत्त्वादासत्तेर्विशदावभासप्रतिबन्धकत्वेऽपि तत्रादर्शसान्निध्यस्योत्तेजकत्वेन दोषाभावादादर्शादिनाऽभिहितचक्षुषो मुखाभिमुखविजातीयसंयोगात्तदपरोक्षत्वमित्यपि कश्चित् । ननु किमित्येवं वर्ण्यते मुखमधिष्ठानमिति आदर्श एवाधिष्ठानमस्तु तत्र च मुखाभावाज्ञानेन मुखोत्पत्तिस्तत्संसर्गोत्पत्तिर्वास्तु । आदर्शे मुखमिति प्रतीतेरेवमप्युपपत्तेर्मुखं यद्यपरोक्षं तर्हि तु संसर्गस्य यदि च नापरोक्षं तर्हि तदुत्पत्तेः स्वीकर्तव्यत्वान्मुखमधिष्ठानं तस्य चानुभवानुसारित्वादिति चेन्न एवं ह्यधिष्ठानत्वाभिमतस्योपाधिकत्वोक्तौ सर्वभ्रमाणां सोपाधिकत्वे प्रसक्ते सोपाधिकनिरुपाधिकभ्रमव्यवच्छेदप्रसङ्गात् । लोहितः स्फटिक इत्यत्रापि शुक्त्यज्ञानाद्रजतभ्रमवज्जपाकुसुमत्वाज्ञानाल्लोहिते तस्मिन् स्फटिकतादात्म्यभ्रम इति सोपाधिकभ्रमत्वासिद्धेः शक्यं ह्यत्रापि वक्तुं स्फटिको यद्यपरोक्षस्तर्हि तत्संसर्गमात्रमुत्पद्यते यदि नापरोक्षस्तर्हि तदुत्पत्तिस्तस्मादादर्शोऽधिष्ठानं किं तु मुखमेव तत्र च भेदोऽस्य तेन मुखान्तरं प्रत्यभिज्ञानाच्च न मुखान्तरोत्पत्तिः स्वीक्रियते कथं तर्हि भेदभ्रमोऽपि स्यात् प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानेनाज्ञाननिवृत्त्या भेदभ्रमनिवृत्तिप्रसङ्गादिति चेदुच्यते सोपाधिकभ्रमनिवृत्तावुपाधिनिवृत्तेः पुष्कलकारणत्वान्न ततो भेदभ्रमनिवृत्तिः मुखान्तरोत्पत्तिपक्षे तु सोपाधिकत्वमेव नास्ति । उपाधिर्हि उप समीपे स्थित्वा स्वकीयं धर्ममन्यत्रादधातीत्युच्यते नहि मुखान्तराध्यासे उपाधिरस्ति रजताध्यासवत् भेदाध्यासे दर्पणस्योपाधित्वं संभवति अतः सत्यपि प्रत्यभिज्ञाने यावदुपाधिभेदाध्यासानुवृत्तिर्युक्ता तस्मात् मुखमधिष्ठानं तत्र भेदोऽध्यस्यते एवं चाज्ञानादौ प्रतिबिम्बे सत्यपि नाभासान्तरं मानाभावात् । सादृश्यापत्तिस्त्वज्ञानाध्यासेन परिच्छिन्नत्वापत्त्याऽहंकाराध्यासापेक्षिता भविष्यति तस्मान्नाभासवादो ज्यायानिति विवरणाचार्याभिप्रायः । अज्ञानोपहितबिम्बचैतन्यमीश्वरः अज्ञानप्रतिबिम्बितं चैतन्यं जीव इति वाऽज्ञानानुपहितं शुद्धचैतन्यमीश्वरः अज्ञानोपहितं च जीव इति वा मुख्यो वेदान्तसिद्धान्त एकजीववादाख्य इदमेव दृष्टिसृष्टिवादमाचक्षते । अस्मिंश्च पक्षे जीव एवेश्वरज्ञानवशादुपादानं निमित्तं च दृश्यं च सर्वप्रतीतिः । किं देहभेदाज्जीवभेदो भ्रान्तिः । एकस्यैव स्वकल्पितगुरुशास्त्राद्युपबृंहितश्रवणमननादिदार्ढ्यादात्मसाक्षात्कारे सति मोक्षः शुकादीनां मोक्षश्रवणं चार्थवाद इत्याद्यूह्यम् । ननु वस्तुनि विकल्पासंभवात्कथं परस्परविरुद्धमतप्रामाण्यात्तस्मात् किमत्र हेयं किमुपादेयमिति चेत्क एवमाह वस्तुनि विकल्पो न संभवति स्थाणुर्वा पुरुषो वा राक्षसो वेत्यादिविकल्पानां वस्तुनि प्रवृत्तिदर्शनात् अतात्त्विकी सा कल्पना पुरुषबुद्धिमात्रप्रभवेयं तु शास्त्रीया जीवेश्वरविभागादिव्यवस्थेति कथं तत्र विकल्पस्पर्श इति चेन्नूनमतिमेधावी भवान् येनेत्थं वदति अद्वितीया हि प्रधानं फलवत्त्वादज्ञातत्वाच्च प्रमेयं शास्त्रस्य जीवेश्वरविभागादिकल्पनास्तु पुरुषबुद्धिप्रभवा अपि

शास्त्रेणानूद्यन्ते तत्वज्ञानोपयोगित्वात् । फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायात् भूतसिद्धस्यापि श्रुत्यानुवादनसंभवादेतेन द्वैतसमानाश्रयविषयत्वनियमाज्जीवे च प्रमाणाप्रयोजनाभावनाज्ञानानङ्गीकारात्तदवच्छिन्नचैतन्याज्ञानादेव तन्नाज्ञानाव्यवहारोपपत्तेः । प्रामाण्यस्य वा ज्ञातज्ञापकत्वरूपत्वादन्यथा स्मृतेरपि तदापत्तेरिति वेदान्तेषु सर्वत्रैवं विरोधेऽयमेव परिहारः । तदाह वार्त्तिककारः " यया यया भवेत्पुंसो व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि । सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया, साध्वी सा चानवस्थिते" रिति श्रुतेस्तात्पर्यविषयीभूतार्थविरुद्धं मतं हेयमेवेति नाति प्रसङ्गः । स च जीवोऽज्ञानबहुत्ववादिनां हिरण्यगर्भविराडिभेदेनाज्ञानैक्येऽपि तत्तच्छक्तिभेदात्तदीयान्तःकरणभेदाद्वा नानेत्यपि वदन्ति । तत्र तत्वज्ञानेन शक्तिरन्तःकरणस्य वा निवृत्तिरिति बद्धमुक्तव्यवस्था जीवभेद एव क्रममुक्तिफलानां हिरण्यगर्भाद्युपासनावाक्यानां न तस्य प्राणा इत्यादीनां चाञ्जस्येनोपपत्तिः एकजीवादेस्तूपासनावाक्यानां क्रममुक्तिफलश्रवणमर्थवादमात्रं क्रमेणैव मुक्त्यङ्गीकारे क्रममुक्तिफलानामुपासनाबहुत्वेनैकस्यैव फलवत्त्वेऽपीतरेषु तच्छ्रवणस्यार्थवादताया आवश्यकत्वात् । फलवत्ता तु तासां सत्वशुद्धिराश्रयणाद्यधिकारोपयोगात् प्रमातृभेदाङ्गीकारात्तत्तत्फलभोगोत्तरमिममिति विशेषणादेतत्कल्पावच्छेदेन मानवभवानावृत्त्या वा भविष्यति तदेवं व्यवस्थितमेकानेकवादिनां जीवस्वरूपं तत्र चान्तःकरणमध्यस्यतेऽहमिति रज्ज्वामिव सर्पः केवलस्य तस्य साक्ष्यभास्यत्वात् तत्कार्याकारपरिणतस्यैव साक्षिणो ज्ञानमित्यहमाकारेण परिणतस्य तस्याध्यासोऽयमहंकाराध्यास इति गीयते । अयं च न सोपाधिक उपाधेरभावादहमज्ञ इति त्वहंकाराज्ञानयोरेकचैतन्याध्यासाद्दग्धृत्वायसोरेकवह्निसंबन्धाद्योदहतीतिवत् । तच्चान्तःकरणं स्मृतिप्रमाणवृत्तिसंकल्पविकल्पाद्यवृत्त्याकारेण परिणतं चित्तबुद्धिमनोऽहंकारशब्दैर्व्यवह्रियते इदमेवात्मतादात्म्येनाध्यस्यमानमात्मनि सुखदुःखादिस्वधर्माध्यासे उपाधिः स्फटिके जपाकुसुममिव लौहित्यावभासे एवं प्राणादयस्तद्धर्माश्चाशनीयापिपासादयस्तथा श्रोत्रादयो वागादयश्च तद्धर्माश्च बधिरत्वादयोऽध्यस्यन्ते तथा देहस्तद्धर्माः स्थूलत्वादयश्चात्मन्यध्यस्यन्ते तत्रेन्द्रियादीनां न तादात्म्याध्यासोऽहं श्रोत्रमित्यप्रतीतेः । देहस्तु मनुष्योऽहमिति प्रतीतेस्तादात्म्येनाध्यस्यते एवं चैतन्यस्याप्यहंकारादिषु पर्यन्तेष्वध्यासः स्वीकार्यः अध्यासव्यवधानतारतम्याच्च प्रेमतारतम्यम् । तदुक्तं वार्त्तिकामृते "वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिण्डः पिण्डात्तथेन्द्रियः इन्द्रियेभ्यः परः प्राणः प्राणादात्मा परः प्रियः " तेनान्योन्याध्यासाच्चिदचिद्ग्रन्थिरूपोऽयमध्यासः समूहालम्बनभ्रमवदवश्यमेतरेतराध्यासस्यावश्यमभ्युपगन्तव्यत्वात् । अयमेव संसारो माया शबलाच्चिदात्मन आकाशादिक्रमेण लिङ्गशरीरात्मकपञ्चीकृतभूतोत्पत्तौ केषांचिन्मते तेभ्य एव पञ्चीकृतभूतोत्पत्तौ संप्रदायमते च तेषामेव संयोगविशेषावस्थानां तत्वस्वीकारे तेभ्यो ब्रह्माण्डभूधरादिचतुर्दशभुवनचतुर्विधस्थूलशरीरोत्पत्तेरत एव सिद्धाभिधानात् (नयो०) आत्मज्ञानमात्रे प्रत्यक्षादिप्रसराभावमविद्याद्वारे च सूत्रमात्रे साधनान्तरप्राप्तेऽर्थे यजेतेत्यादावपि तत्प्रसङ्गोऽत एव न भ्रान्त्या साधनान्तरप्राप्तेरपि नियमविध्यङ्गत्वं यजेतेत्यादावतिप्रसङ्गादेवेति वाच्यं निर्विशेषात्मबोधेऽपि "इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेदि"त्यादिना पुराणप्राकृतवाक्यश्रवणादेः प्राप्त्वा वेदान्तश्रवणं नियम्यत इति दोषाभावात् । एतच्च श्रवणाद्यवृत्तं तत्वधीहेतुर्दृष्टार्थत्वात्तदेवं बहुजन्मसञ्चयपरिपाकवशादसौ तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थविशुद्धं प्रत्यगभिन्नं परमात्मानं साक्षात् कुरुते । न च प्रामाण्यस्योत्पत्तौ स्वतःस्वभङ्गः श्रवणादेः प्रतिबन्धकनिवर्तकत्वात्तन्निवृत्तेश्च स्वरवेनोत्पत्तावतिरिक्तानपेक्षणात् । तत्त्वमिति पदयोः परोक्षत्वापरोक्षत्वविशिष्टचैतन्यरूपपृथगर्थवाचकयोः श्रूयमाणं सामानाधिकरण्यम् । न तावत् सिंहो देवदत्त इतिवद्गौणमुख्यभावः संभवति तस्याभाज्ञातत्वात् । नापि मनो ब्रह्मेतिवदुपासनार्थं श्रुतहान्यश्रुतकल्पनाप्रसङ्गात् । मुख्यत्वेऽपि न नीलोत्पलादिवत्सामानाधिकरण्यं गुणगुणिनां भावाद्यसंभवात् निर्गुणा स्थूलादिवचनविरोधाच्च नापि यः सर्पः सा रज्जुरिति वद्बाधीयमुभयोश्चिद्रूपतया बाधायोगान्मुक्त्यभावप्रसङ्गाच्च । नहि स्वबाधार्थं जीवप्रवृत्तिरुपपद्यते तस्मात्पदार्थयोः परस्परव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावप्रतीत्यनन्तरं लक्षणया सोऽयं देवदत्त इति तद्विशुद्धप्रत्यगभिन्नाखण्डपरमात्मप्रतीतेः सा च लक्षणा पदद्वयेऽप्यन्यथाऽखण्डार्थप्रतीत्यनुपपत्तेर्लक्षणाबीजविरोधासमानाच्च इयं लक्षणा विशेषणं सत्यागाद्विशेष्यांशत्यागाच्च जहदजहती । नन्वेवं चैतन्याद्वैतसिद्धावपि कथं प्रपञ्चस्य परमार्थिकत्वाभाव इति चेदुच्यते यदि त्वं पदार्थे भोक्तृत्वादिपारमार्थिकं कथं तत्पदार्थैक्यसिद्धिरेवं तत्पदार्थेऽपि परोक्षत्वादि । यदि पारमार्थिकं कथं त्वंपदार्थैक्यसिद्धिस्तदेवं भोक्तृत्वादेः कल्पितत्वे भोग्यादि कल्पितमेव एवं जगत्कर्तृत्वादेः कल्पितत्वे जगतः कल्पितत्वमित्यपि तत्त्वमस्यादिवाक्यसामर्थ्येनैव निरस्तसमस्तप्रपञ्चात्मैक्यसिद्धिः । सोऽयमित्यत्रेव पदार्थभेदभ्रमानिवृत्तेर्महावाक्याश्रयणस्यावश्यकत्वं तदिदमात्मज्ञानमुत्पन्नमेवानन्तजन्मार्जितकर्मराशिं विनाशयति " क्षीयन्ते चास्य कर्माणी"ति श्रुतेः । नच देहनाशप्रसङ्गः प्रारब्धस्याविनाशात् । तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति श्रुतेः कर्मविपाकेन प्रारब्धनिवृत्तावप्युक्तशास्त्रेण ज्ञानान्निवर्त्यत्वाभिधानात् ततश्च ज्ञानेन तदानीमेवाज्ञानसर्वात्मना निवर्त्तयितव्ये प्रारब्धप्रतिबन्धाप्यनिवृत्तिस्तस्यां चावस्थायां प्रारब्धफलं भुञ्जानः सकलसंसारं बाधितानुवृत्त्या पश्यन् स्वात्मारामो विधिनिषेधाधिकारशून्यः संस्कारमात्रःसदाचारः प्रारब्धक्षयं प्रतीक्षमाणो जीवन्मुक्त इत्युच्यतेऽस्य प्रारब्धक्षये संसक्तिकनिरवशेषाज्ञाननिवृत्तौ परममुक्तिर्ननु केयमज्ञाननिवृत्तिर्नासती नाप्यसतो नापि सदसती ज्ञानजन्यताद्वैतप्रसङ्गोद्देश्यत्वविरोधेभ्यश्चास्तु तर्ह्यनिर्वचनीयाजन्यत्वात् । तदुक्तं " जन्यत्वमेव अन्यस्य, मायिकत्वसमर्पक" मिति मैवम् अनिर्वचनीयस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वनियमेव निवृत्तिपरंपराप्रसङ्गात् सदद्वैतीव्याकोपमङ्गीकृत्य तस्या असत्वाभिधानेऽपि विनाप्रमाणमद्वैतसंकोच एव दूषणम् । पञ्चमप्रकाराश्रयणं त्वत्यन्ताप्रसिद्धमस्तु तर्हि चैतन्यात्मिकेति चेन्न जन्यत्वादेव नास्त्येव जन्यत्वमिति चेन्न ज्ञानार्थस्य प्रसङ्गात् चैतन्यस्य सदा सत्वेन प्रयत्नविशेषानुपपत्तेश्च । अत्र केचित् तत्वज्ञानोपलक्षितं चैतन्यमेवाज्ञाननिवृत्तिः तच्च न तत्वज्ञानं प्रागस्ति उपलक्षणत्वस्य संबन्धाधीनत्वात्काकसंबन्धो हि गृहस्य काकोपलक्षितत्वं तदपि न ज्ञानोपलक्षितत्वस्यापि सत्वेऽद्वैतव्याघातात् असत्वे उद्देश्यत्वानुपपत्तेः । मिथ्यात्वे ज्ञाननिवर्त्यत्वापत्ते श्चिन्मात्रत्वे उक्तदोषानतिवृत्तेः । न च तत्वज्ञानानुपलक्षिताभिन्नं चैतन्यमेव साऽवस्थाभेदं विना तस्यापि दुर्वचत्वादतो दुर्वचस्वरूपेऽयमज्ञाननिवृत्तिरत्रोच्यते ज्ञानस्य निवृत्तिरूर्ध्वं च रूपान्तरपरिणतोपादानस्येव तद्रूपत्वात्

घटध्वंसो हि चूर्णाकारपरिणता मृदेव। नच चैतन्यस्य रूपान्तरमस्ति तस्मान्नास्त्येवाज्ञानध्वंसः किंत्वज्ञानस्य कल्पितत्वात्सदत्यन्ताभाव एव तन्निवृत्तिः किं तर्हि तत्त्वज्ञानस्य साध्यमिति चेन्नास्त्येवाज्ञानात्यन्ताभावबोधात्मकत्ववाधव्यतिरेकेण तदुक्तं " तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थ—सम्यग्धीजन्ममात्रतः । अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यतीति" शुक्तिबोधेनापि हि रजतात्यन्ताभावबोधरूपो बाध एव क्रियते मिथ्याभूतस्य च बाध एव ध्वंस इत्यभिधीयते तद्वदिहापि द्रष्टव्यम् सत्त्वायमधिष्ठानात्मक एव कथं तर्हि सर्वथा सत इच्छाप्रयत्नाविति चेत्कण्ठगतचामीकरन्यायेनानवाप्तत्वभ्रमात्पुरुषार्थत्वं तु तत्राभिलषितत्वादेव कृतिसाध्यत्वस्य तत्र गौरवेणाप्रवेशाच्चन्द्रामृतपानादौ पुरुषार्थत्वमिष्टमेव । प्रवृत्तिस्तु तत्र कृतिसाध्यत्वज्ञानरूपकारणान्तराभावादिति प्रतिपत्तव्यम् । कथं पुनर्दृष्टिसृष्टिवादे श्रवणादिपरिपाकजन्मना ज्ञानेनाज्ञानातिबाधः तथाहि तस्मिन् मते चैतन्यातिरिक्तपदार्थानामज्ञानसत्त्वं नातिमिथ्यात्वस्य स्वप्नादिदृष्टान्तसिद्धत्वात्तादृशस्यैव सत्त्वस्याङ्गीकारात्। एवं च घटादीनां यदा प्रतीतिस्तदा सत्त्वं नान्यदेति न दण्डादिजन्यत्वं किंत्वज्ञानमात्रजन्यत्वं स्वप्नवच्च दण्डाद्युपादानम् । अज्ञानदेहादिकं तु भासमानमेव तिष्ठति अनावनिश्चयाभावाच्च पुत्राद्यभावकृतरोदनाद्यप्रसङ्गः प्रत्यभिज्ञानमपि भ्रम एव ततश्चाकाशादिक्रमेण सृष्टिःपञ्चीकरणं ब्रह्माण्डाद्युत्पत्तिश्चैतन्मतेनास्त्येव घटादेरपरोक्षत्वं तत्तदभ्यासादेव अधिष्ठानस्य स्थानादेः सकलदृष्टिहेतोरङ्गीकाराच्च न बौद्धमतप्रवेशस्तदेवमज्ञानातिरिक्तकारणाभावात् कथं श्रवणादिजन्यं तत्त्वज्ञानमिति । अत्रोच्यते लोकेऽज्ञानातिरिक्तानात्मदृष्टिकारणाभावेऽपि वेदे यागस्वर्गादौ कार्यकारणदार्थिनां यथेष्टाचरणप्रसङ्गात्तस्माद् घटादेरिव स्वर्गनरकादेर्नाज्ञानमात्रजन्यत्वमपि तु विहितनिषिद्धक्रियाजन्यत्वमपीति दृष्टानुश्रविकत्वेऽद्वैऽजरतीयं प्रामाणिकं नो वेदनात्मदृष्टिसृष्टेरनवसानप्रसङ्गोऽधिष्ठानज्ञाने तदवसानमिति चेन्न तस्यैव हेतुत्वभावादज्ञानं तद्धेतुरिति चेन्न ततो दण्डकारणनिरपेक्षा तदुत्पत्त्या शमाद्यननुष्ठानप्रसङ्गात् । भ्रान्त्या शमाद्यनुष्ठानमिति चेन्न यस्तद्वेदान्तार्थश्रवणवतां तदभावप्रसङ्गात् । किं च भ्रमे ज्ञानमात्रजन्यत्वं युक्तम् । नन्वधिष्ठानज्ञाने हि रजतभ्रमवच्छुक्तिज्ञाने शुक्त्यज्ञानजन्यत्वं तदवश्यं दृष्टिसृष्टिपक्षे लोकेऽज्ञानातिरिक्तकारणाभावेऽपि वेदे यागादौ स्वर्गादिसाधनता संमतैव ततश्च यागादेः स्वर्गादिसाधनत्वं प्रतीत्य यागमनुतिष्ठतामुत्पन्नस्य स्वर्गसूक्ष्मरूपस्य वाऽपूर्वस्य साक्षिसिद्धस्य स्वर्गजनकत्वमपूर्वस्य साक्षिसिद्धत्वं नानुभूयत इति चेन्नाज्ञातसत्त्वानङ्गीकारेण ज्ञानकारणताया इवापूर्वस्य साक्षिसिद्धताभ्युपगमस्यावश्यकत्वाच्च यागादेः स्वर्गादिजनकवत् श्रवणमननादिसहकृतवेदान्तवाक्यात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिरविरुद्धा। दृष्टिसृष्टिवादे ईश्वरो भासतीति तत्त्वमसीत्यत्र कथं तद्भेदप्रतीतिरिति चेत् कुत एतदवगतं सर्वदाऽप्रतीतेरिति चेत्तर्हि जीवोऽपि नास्त्येव चिद्रूपतया भासमानत्वमप्युभयत्र तुल्यमीश्वरत्वं सदा न भासत इति चेज्जीवत्वेऽपि तुल्यमेतत् उभयमपि तर्हि नास्त्येवेति चेन्न साक्षित्वस्यानुभवसिद्धत्वात् घटकाज्ञाने शक्तिद्वयस्यावश्यकत्वेन तत्कृतजीवत्वेश्वरत्वयोरनादित्वस्य यौक्तिकत्वात्तयोरभेदानुपपत्तेर्लक्षणयाऽद्वये चिन्मात्रधीर्वक्तव्या तस्माद् दृष्टिसृष्टिवादेऽपि यथोक्तानुष्ठानानुभवस्तत्त्वज्ञानादखण्डानन्दब्रह्मस्वरूपा मुक्तिर्युक्तिवदेतद्दुर्बुद्ध्यास्तिकप्रकृतिकाप्रकृतिकमतद्वयं पर्यायार्थिकनययुक्तिभिर्निर्लोचनीयमवतारणीयं च स्याद्वादे ॥ ११० ॥ नयो० । (पर्य्यायास्तिकनयमतेनाद्वैतवादे दोषाः सम्मतितर्के)

एगासण–एकाशन–न० एकं सकृदशनं भोजनमेकं चासनं पुताऽचालनतो यत्र तदेकाशनमेकासनं च। प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूपम् । प्रत्याख्यानभेदे, अथैकाशनप्रत्याख्यानं तत्राष्टावाकाराः स्तद्यथा ।

एगासणं पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थणाभोगेणं सहसागारेणं सागारिआगारेणं आउट्टणपसारेणं गुरुअब्भुट्ठाणेणं पारिट्ठावणिआगारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ ॥

एकं सकृदशनं भोजनमेकं चासनं पुताऽचालनतो यत्र तदेकाशनमेकासनं च प्राकृते द्वयोरपि एगासणमिति रूपं तत्प्रत्याख्याति एकाशनप्रत्याख्यानं करोतीत्यर्थः । अत्राद्यावन्त्यौ च द्वावाकारौ च पूर्ववत् " सागारियागारेणं " सह आगारेण वर्तते इति सागारः स एव सागारिको गृहस्थः। स एवाकारः प्रत्याख्यानापवादः सागारिकाकारस्तस्मादन्यत्र गृहस्थसमक्षं हि साधूनां भोक्तुं न कल्पते प्रवचनोपघातसंभवात् । अत एवोक्तं "छक्कायदयावंतो, विसंजओ दुल्लहं कुणइ वोहिं । आहारे नीहारे, दुगुंछिए पिंडगहणे य" ततश्च भुञ्जानस्य यदा सागारिकः समायाति स यदि चलस्तदा क्षणं प्रतीक्षते। अथ स्थिरस्तदा स्वाध्यायादिव्याघातो मा भूदिति ततः स्थानादन्यत्रोपविश्य भुञ्जानस्यापि न भङ्गः गृहस्थस्य तु येन दृष्टं भोजनं न जीर्यति तदादिः (आउंटणपसारेणं) आउण्टणमाकुञ्चनं जङ्घादेः संकोचनं प्रसारणं च तस्यैवाकुञ्चितस्य ऋजुकरणमाकुञ्चने प्रसारणे चासहिष्णुतया क्रियमाणे किंचिदासनं चलति ततोऽन्यत्र (गुरुअब्भुट्ठाणेणं) गुरोरभ्युत्थानार्हस्याचार्यस्य प्राघूर्णकस्य वाऽभ्युत्थानं प्रतीत्यासमत्यजनं गुर्वभ्युत्थानं ततोऽन्यत्राऽभ्युत्थानं चावश्यं कर्तव्यत्वात् । भुञ्जानेनापि कर्तव्यमिति न तत्र प्रत्याख्यानभङ्गः । (पारिट्ठावणियागारेणं) साधोरेव यथा परिष्ठापनं सर्वथा त्यजनं प्रयोजनमस्य पारिष्ठापनिकमन्नं तदेवाकारः पारिष्ठापनिकाकारस्ततोऽन्यत्र तत्र हि त्यज्यमाने बहुदोषसंभवाद्ध्रियमाणे चागमिकन्यायेन गुणसंभवाच्च तस्य गुर्वाज्ञया पुनर्भुञ्जानस्य तु न भङ्गः " विहिगहिअं विहिभुत्तं, उव्वरिअं जं भवे असणमाई । तं गुरुणाणुन्नायं, कप्पइ आयंविलाईणं " श्रावकस्तु खण्डसूत्रत्वादुच्चरति (वोसिरइत्ति) अनेकासनमनेकाशनाद्याहारं च परिहरति ध० २ अधि० । आव० ३ । आ०चू० । एकाशने पण्डितकीर्त्तिगणिकृतप्रश्नो हीरप्रश्ने यथा प्रातःकृतद्विविधाहारैकाशनस्य श्राद्धस्य निशि द्विविधाहारप्रत्याख्यानं शुध्यति न वेति अत्रोत्तरं शुध्यतीतिबोध्यम् । ही० ।

एगाह–एकाह–पुं० एकमहः टच्-समा० एकशब्दोत्तरत्वान्नाह्नादेशः । " रात्राह्नाहाः पुंसि " इति पुंस्त्वम् एकस्मिन् दिवसे, वाच० । (सेज्जं पुण जिहं जाणेज्जा एगाहेण वा दुआहेण वा) आचा० २ श्रु०३ अ०१ उ० ।

एगाहच्च–एकाहत्य–त्रि० एकैवाहत्याऽऽहननं प्रहारो यत्र । एकप्रहारोपेते, " एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेमि " एकैवाहत्याऽऽहननं प्रहारो यत्र भस्मीकरणे तदेकाहत्यं तद्यथा भवत्येवमिति भ० १५ श०१ उ० । "एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवेइ " एकाहत्या हननं प्रहारो यत्र जीवितव्यपरोपणे तदेकाहत्यं तद्यथा भवतीति भ० ७ श० ९ उ० । निर० ।

एगाहिय-एकाधिक-त्रि० एकेनाधिके, पं० सं० ।

एगाहिक-त्रि० एकेनाह्ना प्ररूढे, एकेनाह्ना प्ररूढा एकाहिका इति ज्यो० । रोगभेदे च " एकाहिका इति वा " जी० ३ प्रति० । एकाहिकज्वरश्च एकाहानन्तर एकादिनव्यापको ज्वर इति वैद्यके प्रसिद्धम् । वाच० ।

एगाहिगम-एकाधिगम-त्रि० एकदिनगमागमे, "एगाहिगमद्धाणे" एकाधिगमे एकदिनगमागमे अध्वनीति, व्य० ६ उ० ।

एगाहिगारिय-ए (ऐ) काधिकारिक- त्रि० एकाधिकारे भव ऐकाधिकारिकः अध्यात्मादित्वादिकण् । एकाधिकारभवे,- प्रायश्चित्तभेदे च । तथाच प्रायश्चित्तमधिकृत्य "एगाहिगारिगाण वि, नाणत्तं केत्तिया व हिज्जंति" एकाधिकारिकानि नाम एकस्मिन् शय्यातरपिण्डादावधिकृते दोषेणाऽऽचिते एव यानि शेषदोषसमुत्थितानि प्रायश्चित्तानि तान्येकाधिकारिकाणि एकाधिकारभवान्यैकाधिकारिकाणि अध्यात्मादित्वादिकणिति व्युत्पत्तेः । तेषामप्येकाधिकारिकाणां नानात्वं न पुनरेकाधिकारिकतया एकत्वमिति ॥ व्य० ४ उ० ।

एगिंदिय-एकेन्द्रिय-पुं० एकमिन्द्रियं करणं स्पर्शनलक्षणमेकेन्द्रियजातिनामकर्मोदयात्तदावरणक्षयोपशमाच्च येषान्ते एकेन्द्रियाः । पृथिवीकायिकादौ, स्था० ५ ठा० । ध० । प्रज्ञा० । आव० । प्रश्न० । सूत्र० । एकेन्द्रियाणां जीवत्वं यथा ।

चउरिंदिआइ जीवा, इच्छंति प्पायसो सव्वे ।
एगिंदिएसु उ बहू, विप्पमिवन्ना जओ मोहो ॥४२॥

तत्र चतुरिन्द्रियादीन् द्वीन्द्रियावसानान् जीवान् इच्छन्ति प्रायः सर्वेऽपि वादिनः एकेन्द्रियेषु तु बहवो विप्रतिपन्ना यतो मोहादिरिति गाथार्थः ।

ततः किमित्याह ।

जीवत्तं तेसि तओ, जह जुज्जइ संपयं तहा वोच्छं ।
सिद्धं पि अ ओहेणं, संखेवेणं विसेसेणं ॥४३॥

जीवत्वं तेषामेकेन्द्रियाणां यतस्तथा युज्यते घटते सांप्रतं तथा वक्ष्ये सिद्धमपि चौघेन सामान्येन संक्षेपेण इति गाथार्थः ।

आह णणु तेसि दीसइ, दव्विंदिअयो ण एवमेएसिं ।
तं कम्मपरिणईओ, न तहा चउरिंदिआणं च ॥ ४४ ॥

आह ननु तेषां बधिरादीनां दृश्यते द्रव्येन्द्रियं निर्वृत्त्युपकरणलक्षणं नैवमेतेषामेकेन्द्रियाणामत्रोत्तरमाह तद्द्रव्येन्द्रियं कर्मपरिणतेः कारणान्न तथा तिष्ठत्येवं चतुरिन्द्रियाणामिव श्रोत्रेन्द्रियमपि नास्त्यन्यथा च ते जीवा इति गाथार्थः ॥ पं० व० । (एकेन्द्रियाणां जीवत्वं कायशब्देऽपि) ते च पञ्चविधा यथा "पुढवी आउक्काए, तेऊ वाऊ वणप्फई चेवए । गिंदियपंचविहा" पृथिव्यप्कायस्तेजोवायुर्वनस्पतिश्चैवमेकेन्द्रियाः पञ्चविधा एकमिन्द्रियं येषां ते एकेन्द्रियाः । पञ्चविधाः पञ्चप्रकारा इति आव० ४ अ० । जी० । एकेन्द्रियभेदा यथा ।

कइविहा णं भंते । एगिंदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा एगिंदिया पन्नत्ता तंजहा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया पुढविकाइया णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता तंजहा-सुहुमपुढविकाइया य बादरपुढविकाइया य सुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता तंजहा पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया य अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया य । बादरपुढवीकाइया णं भंते ? कइविहा पन्नत्ता एवं चेव । एवं आउकाइया वि एवं चउक्कएणं भेदेणं जाणियव्वा । जाव वणस्सइकाइयाणं । अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइकम्मपगमीओ पन्नत्ताओ गोयमा ! अट्ठ कम्मपगमीओ पन्नत्ताओ तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं । पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगमीओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ तंजहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं । अपज्जत्तबादरपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगमीओ पन्नत्ताओ गोयमा ! एवं चेव । पज्जत्तबादरपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ एवं चेव । एवं एएणं कमेणं जाव बादरवणस्सइकाइयाणं अपज्जत्ताणं ति । अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाणं कइ कम्मपगमीओ बंधंति ? गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि सत्तबंधमाणा आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधंति, अट्ठ बंधमाणा पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मपगमीओ बंधंति । पज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगमीओ ? एवं चेव एवं सव्वे जाव । पज्जत्तबादरवणस्सइकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगमीओ बंधंति एवं चेव । अपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगमीओ वेदेंति ? गोयमा ! चउद्दसकम्मपगडीओ वेदेंति तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं सोइंदियवज्जं चक्खिदियवज्जं घाणिंदियवज्जं जिब्भिंदियवज्जं इत्थिवेदवज्जं पुरिसवेदवज्जं । एवं चउक्कएणं भेदेणं जाव पज्जत्तबादरवणस्सइकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगमीओ वेदेंति ? गोयमा ! एवं चेव चउद्दसकम्मपगमीओ वेदेंति । सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ कइविहाणं भंते ! अणंतरोववन्नगा एगिंदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववन्नगा एगिंदिया पन्नत्ता तं जहा पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया । अणंतरोववन्नगा णं भंते ! पुढविकाइया कइविहा पन्नत्ता ? गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य णवरं दुपदेसिए णं भेदेणं जाव वणस्सइकाइया ।

सर्वं पाठसिद्धं नवरम् (एवं दुपएण भेयणंति) अनन्तरोपपन्नकानामेकेन्द्रियाणां पर्याप्तकापर्याप्तकभेदयोरभावेन चतुर्विधभेदस्यासम्भवाद्द्विपदेन भेदेनेत्युक्तम् । तथा ॥

अणंतरोववन्नगसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगमीओ पन्नत्ता तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं अणंतरोववन्नगबादरपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगमीओ पन्नत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कम्मपगमीओ पन्नत्ताओ तं जहा णाणावरणिज्जं जाव अंत-

राइयं एवं चेव एवं जाव अणंतरोववएगगबादरवणस्सइकाइयाणं ति अणंतरोववएगगसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! आउयवज्जाओ सत्त कम्मपगडीओ बंधंति एवं जाव अणंतरोववएगगबादरवणस्सइकाइयत्ति । अणंतरोववएगगसुहुमपुढवीकाइयाणं भंते ! कइ कम्मपगडीओ वेदेंति ? गोयमा ! चउद्दस कम्मपगडीओ वेदेंति तंजहा णाणावरणिज्जं तहेव पुरिसवेदवज्जं । एवं अणंतरोववएगगबादरवणस्सइकाइयंति सेवं भंते! भंते ! त्ति । कइविहा णं भंते ! परंपरोववएगगा एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववएगगा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया चउक्कभेदो जहा ओहियउद्देसए । परंपरोववएगगअपज्जत्तसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइ कम्मपगडीओ पएणत्ता एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहियउद्देसए तहेव णिरवसेसं भाणियव्वं जाव चउद्दस वेदेंति सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥ अणंतरोगाढा जहा अणंतरोववएणगा परंपरोगाढा जहा परंपरोववएणगा अणंतराहारगा जहा अणंतरोववएणगा परंपराहारगा जहा परंपरोववएणगा अणंतरपज्जत्तगा जहा अणंतरोववएणगा परंपरपज्जत्तगा जहा परंपरोववएणगा चरिमा वि जहा परंपरोववएणगा तहेव एवं अचरिमावि एवं एए इक्कारस उद्देसगा पढमं एगिंदियसयं संमत्तं सेवं भंते ! भंते! त्ति जाव विहरइ ॥ कइविहा णं भंते ! कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया कएहलेस्सा णं भंते ! पुढवीकाइया कइविहा पएणत्ता ? गोयमा ! दुविहा पएणत्ता ! तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य। कएहलेस्सा णं भंते ! सुहुमपुढवीकाइया कइविहा पएणत्ता ? एवं एएणं अभिलावेणं चउक्कभेदो जहेव ओहिए उद्देसए जाव वणस्सइकाइय त्ति । कइविहा णं भंते ! अणंतरोववएणगा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववएणगा कएहलेस्सा एगिंदिया एवं एएणं अभिलावेणं तहेव दुपदो भेदो जाव वणस्सइकाइय त्ति । कइविहा णं भंते ! परंपरोववएणगा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहपरंपरोववएणगा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता ? तं जहा पुढवीकाइया एवं एएणं अभिलावेणं चउक्कभेदो जाव वणस्सइकायइत्ति एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिओ परंपरोववएणगा उद्देसओ तहेव जाव वेदेंति। एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिए एगिंदियसए एक्कारस उद्देसगा भणिया तहेव कएहलेस्ससते वि भाणियव्वा जाव अचरिमचरिमकएहलेस्सा एगिंदिया जहा कएहलेस्सेहिं भणियं एवं णीललेस्सेहिं वि सयं भाणियव्वं सेवं भंते ! भंते ! त्ति एवं काउलेस्सेहिं वि सयं भाणियव्वं णवरं काउलेस्सेत्ति अभिलावो भाणियव्वो कइविहा णं भंते ! भवसिद्धिया पएणत्ता? गोयमा ! पंचविहा भवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइया वि (भ०) कइविहाणं भंते ! कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया कएहलेस्सा भवसिद्धिया । पुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पएणत्ता ? गोयमा ! दुविहा पएणत्ता ! तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य कएहलेस्सभवसिद्धियसुहुमपुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पएणत्ता ? गोयमा ! दुविहा पएणत्ता तंजहा पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य एवं बायरा वि । एवं एएणं अभिलावेणं तहेव चउक्कओ भेदो भाणियव्वो (भ०) कइविहा णं भंते ! अणंतरोववएणगा कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववएणगा जाव वणस्सइकाइया । अणंतरोववएणा कएहलेस्सा । भवसिद्धियपुढवीकाइया णं भंते ! कइविहा पएणत्ता?गोयमा ! दुविहा पएणत्ता तंजहा सुहुमपुढवीकाइया य बादरपुढवीकाइया य एवं दुपओ भेदो जहा कएहलेस्सभवसिद्धिएहिं सयं भणियं एवं णीललेस्सभवसिद्धिएहिं वि सयं भाणियव्वं सत्तममेगिंदियसयं एवं काउलेस्सभवसिद्धिएहिं वि सयं अट्ठममेगिंदियसयं कइविहा णं भंते ! अभवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा अभवसिद्धिया पएणत्ता तं जहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया एवं जहेव भवसिद्धियसयं भणियं एवं णीललेस्स अभवसिद्धियसयं णवरं णव उद्देसगा चरिमअचरिमउद्देसगवज्जं सेसं तहेव णवममेगिंदियसयं एवं कएहलेस्सअभवसिद्धियएगिंदियसयंपि दसममेगिंदियसयं णीललेस्सअभवसिद्धियएगिंदियेहिं एएहिं एगदसमेगिंदियसयं काउलेस्सअभवसिद्धियसयं बारसमेगिंदियसयं एवं चत्तारि अभवसिद्धिया सयाणि णव णव उद्देसगा भवंति । भ० ॥

एकेन्द्रियश्रेणिशतकेषु प्रथमशतके ।

कइविहा णं भंते ! एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया जाव वणस्सइकाइया एवमेते वि चउक्कएणं भेदेणं भाणियव्वा जाव वणस्सइकाइया [भ०] एगिंदिया चउव्विहा पएणत्ता तं जहा अत्थेगइया समाउया समोववएणगा जाव अत्थेगइया विसमाउया विसमोववएणगा । कइविहा णं भंते !

अणंतरोववण्णगा एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववण्णगा एगिंदिया पएणत्ता तं जहा-पुढविकाइया दुपदो भेदो जहा एगिंदियसएसु जाव बादरवणस्सइकाइया भ० ॥

(दुपदो भेदोत्ति) अनन्तरोपपन्नैकेन्द्रियाधिकारादनन्तरोपपन्नानां च पर्याप्तकत्वाभावादपर्याप्तकानां सतां सूक्ष्मा बादराश्चेति द्विपदो भेदः भ० ।

अणंतरोववण्णगा एगिंदिया दुविहा पएणत्ता तं जहा अत्थेगइया समाउया समोववण्णगा अत्थेगइया समाउया विसमोववण्णगा । कइविहा णं भंते ! परंपरोववण्णगा एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववण्णगा एगिंदिया पएणत्ता तंजहा-पुढविकाइया भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइयत्ति [भ०] एवं सेसा वि अट्ठ उद्देसगा जाव अचरिमो त्ति [पढमएगिं०] णवरं अणंतरा अणंतरसरिसा परंपरा परंपरसरिसा चरिमाया अचरिमाया एवं चेव एवं एते एक्कारस उद्देसगा [भ०] कइविहा णं भंते ! कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा कएहलेस्सा एगिंदिया पएणत्ता भेदो चउक्कओ जहा कएहलेस्सा एगिंदियसए जाव वणस्सइकाइय त्ति । एवं एएणं अभिलावेणं जहेव पढमं सेढिसयं तहेव एक्कारस उद्देसगा भाणियव्वा [बिवियएगिंदि०] एवं णीललेस्सेहिं वि [ततियं सयं ३] काउलेस्सेहिं वि सयं एवं चेव [चउत्थं सयं ४] भवसिद्धियएगिंदिएहिं सयं (पंचमं सयं५) कइविहा णं भंते ! कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया एवं जहेव ओहिय उद्देसओ [छट्ठं सयं ६] कइविहा णं भंते ! अणंतरोववएणगा कएहलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता ? जहेव अणंतरोववएणगा उद्देसओ ओहिओ तहेव । कइविहा णं भंते ! परंपरोववएणगभवसिद्धिया एगिंदिया पएणत्ता गोयमा ! पंचविहा परंपरोववएणगकएहलेस्सभवसिद्धियएगिंदिया पएणत्ता ओहिओ भेदो चउक्कओ जाव वणस्सइकाइय त्ति । णीललेस्सभवसिद्धियएगिंदिएसु [सत्तमसयं सम्मत्तं ७] एवं काउलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहिं वि सयं [अट्ठमं सयं ८] जहा भवसिद्धिएहिं चत्तारि सयाणि भणियाणि एवं अभवसिद्धिएहिं वि चत्तारि सयाणि भाणियव्वाणि णवरं चरिमअचरिमवज्जा णव उद्देसगा भाणियव्वा सेसं तं चेव एवं एयाइं बारसएगिंदियसेढीसयाइं भाणियव्वाइं भ० ३४ श० १ उ०

एगिंदियरयण-एकेन्द्रियरत्न-न० पृथिवीरूपे रत्ने, ।

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त एगिंदियरयणा पएणत्ता तं जहा चक्करयणे छत्तरयणे चम्मरयणे दंडरयणे असिरयणे मणिरयणे काकणिरयणे ।

रत्नं निगद्यते तत् जातौ जातौ यदुत्कृष्टमिति वचनात् चक्रादिजातिषु यानि वीर्यत उत्कृष्टानि तानि चक्ररत्नादीनि मन्तव्यानि । तत्र चक्रादीनि सप्तैकेन्द्रियाणि पृथिवीरूपाणि तेषाञ्च प्रमाणं "चक्कं छत्तं दंडो, तिण्णि वि एयाइं वामतुल्लाइं । चम्मं दुहत्थदीहं, बत्तीसं अंगुलाइं असी ॥ १ ॥ चउरंगुलो मणी पुण, तस्सद्धं चेव होइ विच्छिन्नो । चउरंगुलप्पमाणा, सुवण्णवरकागणी नेया" ॥ २ ॥ स्था० ७ ठा० ।

एगिंदियसंसारसमावण्ण एकेन्द्रियसंसारसमापन्न-पुं० । एकं स्पर्शनलक्षणमिन्द्रियं येषान्ते एकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुतेजोवायुवनस्पतयस्ते च ते संसारसमापन्नजीवाश्च एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवाः संसारसमापन्नजीवविशेषे, ।

ते च पञ्चविधास्तद्यथा

से किं तं एगिंदियसंसारसमावण्णजीवा पएणत्ता ? एगिंदियसंसारसमावण्णजीवपएणवणा पंचविहा पएणत्ता तंजहा पुढवीकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया । अथ का सा एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना ? सूरिराह एकेन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना पञ्चविधा प्रज्ञप्ता एकेन्द्रियाणां पञ्चविधत्वात् ॥ प्रज्ञा० १ पद ।

एगूणचत्तालिस-एकोनचत्वारिंशत्- स्त्री० एकेनोना चत्वारिंशत् एकोनचत्वारिंशत्संख्यायाम, तत्संख्यान्विते च । एवं एकोनविंशत्यादयोऽपि एकोनतत्संख्यासंख्येययोः स्त्री० । वाच० । "नमिस्स णं अरहओ एगूणचत्तालीसं अहोहियसया होत्था" । सम० ३९ स० ।

एगूणणउइ-एकोननवति-स्त्री० एकोननवतिसंख्यायाम, तत्संख्यान्विते, च । वाच० । "एगूणणउएहिं अहमासेहिं" सम० ८९ स० ।

एगूणतीस-एकोनत्रिंशत्- स्त्री० एकोनत्रिंशत्संख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च । वाच० । "एगूणतीसविहे पावसुयपसंगेणं पएणत्ते" सम० २९ स० ।

एगूणपन्न-एकोनपञ्चाशत्- स्त्री० एकोनपञ्चाशत्संख्यायाम, तत्संख्यान्विते च । वाच० । "एगूणपन्नराइंदिएहिं" सम० ४९ स० । स्था० ।

एगूणवीस (इ) एकोनविंशति-स्त्री० एकोनविंशतिसंख्यायाम, तत्संख्यान्विते, च । वाच० । "एगूणवीसणायज्झयणा पएणत्ता" सम० १९ स० । "गूणवीसइमे पव्वे" स्था० ६ ठा० ।

एगूणवीसइमपव्व-एकोनविंशतितमपर्वन्-न० फाल्गुनकृष्णपक्षे, स्था० ६ ठा० । (तस्य पर्वत्वमवमरात्रत्वे चावमरात्रशब्दे)

एगूणसट्ठि-एकोनषष्टि-स्त्री० एकोनषष्टिसंख्यायाम, तत्संख्यान्विते, च वाच० । "एगूणसट्ठिराइंदियाइं" सम० ५८ स० ।

एगूणसत्तरि-एकोनसप्तति- स्त्री० एकोनसप्ततिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च । वाच० । "एगूणसत्तरिं वासा वासहरपव्वया पएणत्ता" सम० ६९ स० ।

एगूणासीइ-एकोनाशीति-स्त्री० एकोनाशीतिसंख्यायाम् तत्संख्यान्विते च । वाच० । "एगूणासीइं जोयणसहस्साइं" सम० । ७९ स० ।

एगोरुय-एकोरुक-पुं० अष्टादशानामन्तरद्वीपानाम्प्रथमेऽन्तरद्वीपे, तत्स्थे मनुष्ये च । इह एकोरुकादिनामानो द्वीपाः पर्यन्तास्थ्यात्

तद्व्यपदेश इति न्यायान्मनुष्या अप्येकोरुकादय उक्ताः। यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पुरुषाः पञ्चाला इति। जी० ३ प्रति०।

एगोरुयदीव–एकोरुकद्वीप–पुं० अष्टाविंशत्यन्तरद्वीपानामप्रथमे स्वनामख्याते अन्तरद्वीपे, जी० ३ प्रति० (तद्वक्तव्यता विस्तरेणा-न्तरदीव शब्दे)

एगोवणीय–एकोपनीत–न०एकेन समीपानीते,"एगस्स भुंजमाणस्स, उवणीयं तु गेएहइ । न गेह्न दुगमादीणं, अवियत्तं तु मा भवे" ॥ एकस्य भुञ्जानस्य उपनीतं भगवान् गृह्णाति न द्विकादीनां द्वयोस्त्रयाणां पञ्चानां वा उपनीतं न गृह्णाति कस्मादिति चेत् मा भूदप्रीतिहेतोः व्य० १० उ०।

एज (य) एज–पुं० एजयतीत्येजः वायौ, " एडुपजस्स दुगुंछणाए (दुगुंछणएत्ति) जुगुप्सा प्रभवतीति प्रभुः समर्थः योग्यो वा तस्य परतुतः समर्थ इति एजृ कम्पने एजयतीत्येजो वायुः कम्पनशीलत्वात्तस्यैजस्य जुगुप्सा निन्दा तदा सेवनपरिहारो निवृत्तिरिति यावत् तस्यां तद्विषये प्रभुर्भवति वायुकायसमारम्भनिवृत्तौ सक्तो भवतीति यावत्। आचा० १ श्रु० १ अ०।

एज (यं) त–एजत्–त्रि० कम्पमाने, स्था० ७ ठा०।

एज(य)ण–एजन–न० एजृ कम्पने, ल्युट् कम्पने, सूत्र० १श्रु०२ अ० " निरेयणं झाणं" निष्प्रकम्प्यं ध्यानमिति आव० ४ अ०। चलने च। यदेजयति यन्नेजयति आ. म. द्वि.। विशे.। तथा च द्रव्यक्रियामधिकृत्य सूत्रकृताङ्गे " दव्वेकिरियएयणया " तत्र द्रव्यविषये या क्रिया एजनता एजृ कम्पने जीवस्याजीवस्य वा कम्पनरूपा चलनस्वभावा सा द्रव्यक्रियेति। सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

एज (य) णा–एजना–स्त्री० कम्पने, चलने च सूत्र० २ श्रु० २ अ०। तस्या भेदा यथा।

कइविहा णं भंते ! एयणा पएणत्ता ? गोयमा ! पंचविहा एयणा पएणत्ता, तं जहा दव्वेयणा खेत्तेयणा कालेयणा भवेयणा भावेयणा ॥

" योऽयं निषेधः सोऽन्यत्रैकस्मात्परप्रयोगादेजनादिकारणेषु मध्ये परप्रयोगेणैवैकेन शैलेश्यामेजनादि भवति न कारणान्तरेणेति भावः (इत्युपक्रम्याह) (दव्वेयणत्ति) द्रव्याणां नारकादिजीवसम्पृक्तपुद्गलद्रव्याणां नारकादिजीवद्रव्याणां वैजना चलना द्रव्यैजना (खेत्तेयणत्ति) क्षेत्रे नारकादिक्षेत्रे वर्तमानानामेजना क्षेत्रैजना (कालेयणत्ति) काले नारकादिकाले वर्तमानानामेजना कालैजना (भवेयणत्ति) भवे नारकादिभवे वर्तमानानामेजना भवैजना (भावेयणत्ति) भावे औदयिकादिरूपे वर्तमानानां नारकादीनां तद्गतपुद्गलद्रव्याणां वैजना भावैजना ॥

दव्वेयणा णं भंते ! कइविहा पएणत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा पएणत्ता तं जहा णेरइयदव्वेयणा तिरिक्खमणुस्सदेवदव्वेयणा से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयदव्वेयणा गोयमा ! जेणं णेरइया णेरइयदव्वे वट्टिंसु वा वट्टंति वा वट्टिस्संति वा तेणं तत्थ णेरइया णेरइयदव्वे वट्टमाणा णेरइयदव्वेयणं एयंसु वा एयंति वा एयस्संति वा से तेणट्ठेणं जाव दव्वेयणा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ तिरिक्खजोणिय एवं चेव तिरिक्खजोणियदव्वेयणं भाणियव्वं सेसं तं चेव। एवं जाव देवदव्वेयणा ॥

(नेरइयदव्वे वट्टिंसुत्ति) नैरयिकलक्षणं यज्जीवद्रव्यपर्यायोः कथञ्चिदभेदात् नारकत्वमेवेत्यर्थः ॥ तत्र (वट्टिंसुत्ति) वृत्तवन्त(नेरइयदव्वेयणंति) नैरयिकजीवसम्पृक्तपुद्गलद्रव्याणां नैरयिकजीवद्रव्याणां वैजना नैरयिकद्रव्यैजना ताम् ॥(एयंसुत्ति) कृतवन्तोऽनुभूतवन्तो वेत्यर्थः ॥

खेत्तेयणा णं भंते ! कइविहा पएणत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा पएणत्ता तं जहा णेरइयखेत्तेयणा जाव देवखेत्तेयणा। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयखेत्तेयणा ? एवं चेव। णेरइयखेत्तेयणा भाणियव्वा एवं जावदेवखेत्तेयणा एवं कालेयणा वि एवं भावेयणा वि। एवं जाव देवभावेयणा वि। भ० १७ श० ३उ०।

दएमकक्रमेण जीवानां सैजत्वनिरैजत्वं यथा

जीवाणं भंते ! किं सेया णिरेया ? गोयमा ! जीवा सेया वि णिरेया वि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा सेया वि णिरेया वि ? गोयमा ! जीवा दुविहा पएणत्ता तं जहा संसारसमावएणगा य असंसारसमावएणगा य तत्थ णं जेते असंसारसमावएणगा तेणं सिद्धा। सिद्धाणं दुविहा पएणत्ता तं जहा अणंतरसिद्धा य परंपरसिद्धा य। तत्थ णं जेते परंपरसिद्धा तेणं णिरेया तत्थ णं जेते अणंतरसिद्धा तेणं सेया तेणं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! णो देसेया सव्वेया तत्थ णं जेते संसारसमावएणगा ते दुविहा पएणत्ता तं जहा सेलेसीपडिवएणगा य असेलेसीपडिवएणगा य। तत्थ णं जे ते सेलेसीपडिवएणगा तेणं णिरेया। तत्थ णं जे ते असेलेसीपडिवएणगा ते णं सेया। तेणं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! देसेया वि सव्वेया वि। से तेणट्ठेणं जाव णेरइया वि।

(जीवाणमित्यादि सेयत्ति) सहैजेन चलनेन सैजाः (निरेयत्ति) निश्चलनाः (अणंतरसिद्धायत्ति) न विद्यतेऽन्तरं व्यवधानं सिद्धत्वस्य येषां तेऽनन्तरास्ते च ते सिद्धाश्चेत्यनन्तरसिद्धा ये सिद्धत्वस्य प्रथमसमये वर्त्तन्ते ते च सैजाः सिद्धिगमनसमयस्य सिद्धत्वप्राप्तिसमयस्य चैकत्वादिति। परम्परसिद्धास्तु सिद्धत्वस्य द्व्यादिसमयवृत्तयः (देसेयत्ति) देशैजा देशतश्चलाः (सव्वेयत्ति) सर्वैजाः सर्वतश्चलाः (नोदेसेयासव्वेयत्ति) सिद्धानां सर्वात्मना सिद्धौ गमनात्सर्वैजत्वमेव।" तत्थ णं जे ते सेलेसीपडिवएणगा तेणं निरेयत्ति "। निरुद्धयोगत्वेन स्वभावचलत्वात्तेषाम् (देसेया वि सव्वेयावित्ति) ईलिकागत्योत्पत्तिस्थानं गच्छन्तो देशैजाः प्राक्तनशरीरस्थस्य देशस्य विवक्षया निश्चलत्वात्। गेन्दुकगत्या तु गच्छन्तः सर्वैजाः सर्वात्मना तेषां गमनप्रवृत्तत्वादिति (जीवः सदा एजते न वा तत्र किं किं बन्धक इति इरीया वहिया शब्देऽस्माभिरदर्शि)

णेरइयाणं भंते ! किं देसेया सव्वेया ? गोयमा ! देसेया वि सव्वेया वि। से केणट्ठेणं जाव सव्वेया वि ? गोयमा ! णेरइया दुविहा पएणत्ता तं जहा विग्गहगइसमावएणगा य अविग्गहगइसमावएणगा य तत्थ णं जे ते विग्गहगइ

समावरणगा ते णं सव्वेया । तत्थ णं जे ते अविग्गहगइसमावरणगा ते णं देसेया से तेणट्ठेणं जाव सव्वेया वि । एवं जाव वेमाणिया ॥

(विग्गहगइसमावरणगत्ति) विग्रहगतिसमापन्नका ये मृत्वा विग्रहगत्योत्पत्तिस्थानं गच्छन्ति । (अविग्गहगइसमावरणगत्ति) अविग्रहगतिसमापन्नका विग्रहगतिनिषेधादृजुगतिका अव-स्थिताश्च तत्र विग्रहगतिसमापन्ना गेन्दुकगत्या गच्छन्तीति कृत्वा सर्वैजाः अविग्रहगतिसमापन्नकास्त्ववस्थिता एवेह विवक्षिता इति सम्भाव्यते ते च देहस्था एव मारणान्तिकसमुद्घाता देशेनेलिकागत्योत्पत्तिक्षेत्रं स्पृशन्तीति देशैजाः । स्वक्षेत्राव-स्थिता वा हस्तादिदेशानामेजनादिति ॥

परमाणुपुद्गलानां सैजत्वनिरेजत्वादि यथा ।

परमाणुपोग्गलेणं भंते ! किं सेए णिरेए ? गोयमा! सिय सेए सिय णिरेए । एवं जाव अणंतपदेसिए । परमाणुपोग्गलाणं भंते! किं सेया णिरेया ? गोयमा ! सेया वि णिरेया वि एवं जाव अणंतपदेसिया ॥

(सएत्ति) चलः (निरेएत्ति) निश्चलः ।

अथ परमाएवादीनेव सैजत्वादिना निरूपयन्नाह ॥

परमाणुपोग्गलेणं भंते ! किं देसेए सव्वेए णिरेए ? गोयमा ! णो देसेए सिय सव्वेए सिय णिरेए दुपदेसिएणं भंते ! खंधे पुच्छा? गोयमा ! सिय देसेए सिय सव्वेए सिय णिरेए एवं जाव अणंतपदेसिए । परमाणुपोग्गला णं भंते! किं देसेया सव्वेया णिरेया?गोयमा! णो देसेया सव्वेया वि णिरेया वि । दुपदेसिया णं भंते! खंधा पुच्छा?गोयमा! देसेया वि सव्वेया वि णिरेया वि एवं जाव अणंतपदेसिया ॥ भ० २५ श० ४ उ० २५ ।

एज्जण–एजन–न० आगमने, (पज्जणत्ति) सिंहस्य कूपसमीपागमनमिति । व्य०३उ० ।

ए (इ) ज्जमाण–एज्यमान–त्रि० कम्प्यमाने, "मंदायं मंदायं एइज्जमाणाणं" एज्यमाना विकम्पनवशादेव प्रकम्पेत इतस्ततो मनाक् चलनेन प्रलम्बमानानीति" आ० म० द्वि० । एज्यमानानि कम्पमानानीति'– जी० ३ प्रति० ।

एज्जमाण–एजमान–त्रि० आगच्छति गच्छति च । "महावायं वा एज्जमाणं पासन्ति" महावातं वा (एज्जमाणमिति) आयान्तं गच्छन्तं वा पश्यतीति । राज० ।

एण–एण–पुं० स्त्री० इ ण तस्य नेत्त्वम् । कृष्णवर्णे मृगे, स्त्रियां ङीप् । एणा हरिणा कमला मया कुरङ्गा य सारङ्गाः । को० ।

एणस–एनस्–न० गच्छति प्रायश्चित्तेन क्षमापणेन वा आगसि अर्थे इण् असुन् नुट् च । अपराधे, ईश्वराज्ञालङ्घनरूपनिषिद्धाचरणापराधजन्यत्वात् पापे च । वाच० ।

एणग–एणक–पुं०स्वार्थे कन् कृष्णवर्णे मृगे, शब्दर० ।

एणि (णे) ज्ज–ऐणेय–त्रि० एएया इदम् ढक् । कृष्णमृगचर्मादौ, "ऐणेयरौरवाजानि अजिनानि" गोभिरितिमध्यन्नेदे,हेम० । "मृगमांसे एणिज्जरसए य" विपा० ८ अ० ।

एणि (णे) ज्जय–ऐणेयक–पुं० श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य सकाशं प्रव्रजिते राजर्षिभेदे, तथाच स्थानाङ्गे भगवतो महावीरसकाशे प्रव्रजितानष्टौ राज्ञोऽधिकृत्य "एणिज्जए य रायरिसी" ऐणेयको गोत्रतः स च केतकयर्द्धजनपदश्वेताम्बीनगरीराजस्य प्रदेशिनाम्नः श्रमणोपासकस्य निजकः कश्चिद्राजर्षिस्तथा सोऽयमामलकल्पानगर्याः स्वामी यस्यां हि सूर्याभो देवः सौधर्म्मादेवलोकाद्भगवतो महावीरस्य वन्दनार्थमवततार नाट्यविधिञ्च उपदर्शयामास यत्र च प्रदेशिराजचरितं भगवता प्रत्यपादीति ॥ स्था० ८ ठा० । एणेज्जगस्स सरीरगं अणुप्पविसामि इति " भ० १५ श० १ उ० ।

एणी–एणी–स्त्री० हरिण्याम्, प्रश्न० ४ द्वा० "एणीकुरुविंदवत्तवट्टाणुपुव्वजंघे" एणी हरिणी तस्या इव कुरुविन्दस्तृणविशेषः वर्तञ्च सूत्रवलनकं ते इव च वृत्ते वर्तुले आनुपूर्व्येण तनुके चेति गम्यं जङ्घे प्रसृते यस्य स तथा । औप० । तं० । जी० । क्वापि च "एणीकुरुविंदावत्तवट्टाणुपुव्वजंघे" अन्ये त्वाहुः एवयः क्वायवः कुरुविन्दा कुटिलकाभिधानो रोगविशेषः तान्नि-स्त्यक्ते शेषं तथैवेति । औप० ।

एणीपएणीणिम्मिय–एणीप्रैणीनिर्मित–त्रि० एणीप्रैणीचर्मनिर्मिते वस्त्रादौ, " एणीपएणीणिम्मिय " एणी हरिणी प्रैणी च तद्विशेष एव तच्चर्मनिर्मितानि यानि वस्त्राणि तानि एणीप्रैणीनिर्मितान्युच्यन्ते श्रूयन्ते च निशीथे कालमृगाणि वेत्यादिभिर्वचनैर्मृगचर्मवस्त्राणीति । प्रश्न० ४ द्वा० ।

एणिंह (एत्ताहे) इदानीम्–अव्य० "एण्हि एत्ताहे इदानीमः" ८।२।१३४। इति प्राकृत सूत्रेणेदानीम एतावादेशौ वा भवतः प्रा० अधुनेत्यर्थे, " एण्हि पि आमघाय " इदानीमप्यनापीति " पंचा ९ विव० ।

एत [य] एत–पुं० इण तन् । कर्बुरवर्णे, । तद्वति त्रि० । आ–इण् । कर्त्तरि क्त । आगते, त्रि० । वाच० ।

एत [य] द्–एतद्–त्रि०इण्–अदादि–तुक् च । बुद्धिस्थे समीपवर्तिनि, "इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपवर्ति चैतदो रूपम् । अदसस्तु विप्रकृष्टं तदतिपरोक्षं विजानीयात् इत्युक्ते " समीपवर्तिबुद्धिस्थोपलक्षितधर्म्मावच्छिन्ने एतदो वृत्तिः । क्रियाविशेषणत्वेऽस्य क्लीवता । अन्त्यव्यञ्जनस्य ८।१।११ इति प्राकृतसूत्रेणान्त्यव्यञ्जनस्य लुक् ' एयग्गुणाः ' एतद्गुणाः । 'एयं खु हसइ' सौ वैतत्तदः ८।२।३ इति प्राकृतसूत्रेणैतदोऽकारात्परस्य स्यादेः सेर्वा रुः । एसो एस । वैसेणमिणमो सिना ८।३।८५ इति प्राकृतसूत्रेण सिना सह एस इणम् इणमो इत्यादेशा वा भवन्ति । "सव्वस्स वि एस गई" सव्वाण वि पत्थिवाण एस मही । एससहावो च्चिअ ससहरस्स एस सिरं इणं इणमो । एके एत्ते एसा एसो । तदश्च तः सोऽक्लीवे ८।३।८६ इति प्राकृत सूत्रेण तकारस्य सौ परेऽक्लीवे सो भवति । सो पुरिसो सा महिला एसो पिओ । एसा मुद्दा सावित्येव एए धन्ना ताए आओ महिलाओ अक्लीव इति किम् तं एअं धणं । टा विभक्तौ " किमेतत्किंयत्तद्भ्यष्टो भिणा " ८।३।७१ इति प्राकृत सूत्रेण टास्थाने भिल् इणादेशः एदिणा एदेण पञ्चम्येकवचने ङसौ "वैतत्तदो ङसेस्त्तोत्ताहे" ८।३।८२ इति प्राकृतसूत्रेणैतदः परस्य ङसेः स्थाने त्तो त्ताहे इत्येतावादेशौ वा । त्थे च तस्य लुक् ८।३। ८३ इति प्राकृतसूत्रेण त्थे परे त्तो त्ताहे इत्येतयोश्च परयोरेतदो लुक् एत्तो एत्ताहे एके एआओ एआउ एआहिन्तो एआ । ङसिआमि च " वेदंतदेतदो ङसाम्भ्यां सेसिमौ " ८।३।८१ इति सूत्रेण ङस

आम इत्येताभ्यां सह यथासंख्यमेतदः से सिम् इत्यादेशौ वा। से अहिअं । एतस्या हितमित्यर्थः । सिं गुणाः सिं सीअम् एतेषां गुणाः शीलं चेत्यर्थः । पक्षे एअस्स एएसिं एआणं । ङौ " एअस्सि " " आमो ङेः स्सिः " ८।३।६१। इति प्राकृतसूत्रेणामो ङेः स्सिमित्यादेशः एएसिं । एरदीतौम्मौ वा ८।३।८४ इति प्राकृतसूत्रेणैतद एकारस्य ङ्यादेशे म्मौ परे अदीतौ वा भवत । अयम्मि इअम्मि एयम्मि । प्रा० स्त्रियां टाप् एआहिं विआहिं । आ० क०। ' एतं तुडमसेसि ' एतां तुलां यथोक्तरूपामन्वेषयेत् गवेषयेत् ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । वाच०।

एत (य) कम्म–एतत्कर्मन्–न० एतद्व्यापारे। विपा० १ अ०।

एतत्काम्य–त्रि० एतदेव काम्यं कमनीयं यस्य स तथा। एतत्कर्मणि,"एतकम्मे एयपहाणे एयविज्जे एयसमायारे" विपा०१अ०।

एत [य] प्पगार–एतत्प्रकार–त्रि० एवम्प्रकारे, " एयप्पगारं भासं सावज्जं णो भासेज्जा " एवं प्रकारामसावद्यां भाषामिति एवमादिकां सावद्यां भाषाम्नो भाषते इति च वृत्तिः । आचा० । २ श्रु० ४ अ०२ उ०।

एत [य] प्पहाण–एतत्प्रधान–त्रि० एतन्निष्ठे, विपा० १ अ०।

एत [य] समायार–एतत्समाचार–त्रि०एतज्जीवितकल्पे, विपा० १ अ०।

एता (या) रि [स] एता (या) रिस-एता (या) रिच्छ-एतादृश् एतादृश एतादृक्ष–त्रि० एतदि दृश्०—क्विप्—टक् सक्—आदन्तादेशः । दृशेः क्विप् टक्सकः ८ । १ । ४२ इति प्राकृतसूत्रेण क्विप् टक् सक् इत्येतदन्तस्य दृशेर्धातोरिसादेशः । प्रा० । एतत्तुल्यदर्शने, वाच० । एयारिसे महादोसे " एतादृशाननन्तरोदितरूपान् महादोषान् ज्ञात्वेति । दश० ४ अ० । टगन्तस्य स्त्रियां ङीप् । वाच० । " एयारिसीए इड्ढीए " एतादृश्या समीपतरवर्त्तिन्या ऋद्ध्येति ॥ उत्त०२२ अ० ।

एता (या) रूव–एतद्रूप–त्रि० अकृत्रिमोपलभ्यमानस्वरूपे,— "इमेया रूवे ज्वाला माणुस्सरिद्धी" इयं प्रत्यक्षा एतद्रूपा उपलभ्यमानस्वरूपैव अकृत्रिमेत्यर्थः । विपा० १० अ० । "एयारूवा दिव्वा देवड्ढी" इयं प्रत्यक्षासन्ना एतदेव रूपं यस्या न कालान्तरादावपि रूपान्तरभाग् सा तथेति स्था० ४ ठा० ।

एता (या)वंति–देशी० एतावन्त इत्यर्थे, "एआवंति सव्वावंति लोगंसि" एतावन्तीत्यादि "एआवंती सव्वावंतीति" एतौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्ध्या एतावन्तः सर्वेऽपीत्येतत्पर्यायाः । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

एतोवम–एतदुपम–त्रि० एवाऽनन्तरोक्तोपमा यस्य स एतदुपमः एतत्सदृशे, " एतोवमे समणे नायपुत्ते " सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

एत्तहे–इतस्–अव्य० इदम्-तसिल्–इशादेशः । " पश्चादेवमेवेदानीं प्रत्युतेतसः पच्छइ एम्बइ जिएम्बहिं पच्चुलिउएत्तहे, ८ । ४ । ४२० । इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे इतस् एत्तहे इत्यादेशः । प्रा० अस्मादित्यर्थे, वाच० ।

अत्र–अव्य० "इदम एतद् अत्-त्रस्य मेत्तहे" ८ । ४ । ३६ । इति प्राकृतसूत्रेणत्रप्रत्ययस्य ङेत्तहे इत्यादेशः । प्रा० । अस्मिन्नित्यर्थे, एतस्मिन्नित्यर्थे, च वाच० ।

एतिअ-एत्तिल्ल-एद्दह इयत्–त्रि० इदम्परिमाणमस्य इदम्-वतुप्। इदं किमश्च मेत्तिअ मेत्तिल मेद्दहाः ८ । १ ५७ इति प्राकृतसूत्रेण इदमशब्दात्परस्यातोर्मावतो वा भिल् एत्तिअ एत्तिल्ल एद्दह इत्यादेशा एतल्लुक् च । प्रा० । एतावदर्थे, स्त्रियां ङीप् । वाच० ।

एत्तिअ–एत्तिल्ल–एद्दहअ–एतावत्–त्रि० इदंकिमश्च ङेत्तिअ ङेत्तिल्ल ङेद्दहाः । ८।२। ५७ । इति प्राकृतसूत्रेणैतच्छब्दात्परस्यातोर्मा वतोर्वा एत्तिअ एत्तिल्ल एद्दह इत्यादेशा एतल्लुक् च । यत्तदेतदोऽतोरित्ति अ एतल्लुक् च ८। २ । ५६ इति प्राकृतसूत्रेणतच्छब्दात्परस्य डावादेरतोः परिमाणार्थस्य इत्तिअ इत्यादेशः प्रा० एतत्परिमाणे, स्त्रियां ङीप् वाच० ।

एत्तो–इतः–अव्य० अस्मादित्यर्थे,–"एत्तो परिग्गहो" इतश्चतुर्थाश्रवद्वारादनन्तरमिति, प्रश्न० ५ द्वा० ।

एत्थ–अत्र–अव्य० इदम्-त्रल्–एत्थप्पादौ ८ । १५७ इति प्राकृतसूत्रेणैकारादेशः । प्रा० । अस्मिन्नित्यर्थे, वाच० । " के एत्थखत्ता उवजोइया वा " केचिदत्रास्मिन् यज्ञपाटके इति । उत्त० १२ अ० । "एत्थ णं माणिभद्दे णामं चेइए होत्था" अत्रास्मिन्निति सू० प्र० १ पाहु० ।

एत्थ–एतत्र–अव्य० दिग्देशकालवृत्तेरेतच्छब्दात् प्रथमापञ्चमीसप्तम्यर्थे त्रल् । त्थे च तस्य लुक् ८ । ३ । ८३ । इति प्राकृत सूत्रेणैतदो लुक् । प्रा० । प्रथमाद्यर्थयुक्तैतच्छब्दार्थदिगादौ, वाच० ।

एत्थु–अत्र–अव्य० इदम् एतद् त्रल्–एत्थुकुत्रात्रे ८ । ४ । ५ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंसेऽत्र इत्येतस्य त्रशब्दस्य डित् एत्थु इत्यादेशः । प्रा० । अस्मिन्नित्यर्थे, एतस्मिन्नित्यर्थे च वाच० ।

एत्तुल्ल–इयान्–त्रि० एतत्परिमाणे, वाच०। अतो डेत्तुल्ल ८।४।३५ इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंसे यदेतद्भ्यः परस्यातो प्रत्ययस्य डेत्तुल्ल इत्यादेशः । प्रा० ।

एमेव–एवमेव–अव्य० यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवमेव वः ८ । १ । २७१ । इति प्राकृतसूत्रेणान्तर्वर्त्तमानस्य वकारस्य लुक् । प्रा० । एवम्प्रकारेणैवेत्यर्थे, वाच० ।

एम्व–एवम्– अव्य० एवं परं समं ध्रुवं मा मनाक् एम्व परसमाणुध्रुवु मं मणाउ ८ । ४।४१८ । इति प्राकृतसूत्रेणैवम् अपभ्रंशे एम्व इत्यादेशः । प्रा० । एवम् प्रकारेणेत्यर्थे, वाच० ।

एम्वइ–एवमेव– अव्य० ' पश्चादेवमेवेदानीं प्रत्युत तसः पच्छइ एम्वइ जि एम्वहिं पच्चुलिउ एत्तहे, ८ । ४ । ४२० इति प्राकृतसूत्रेणापभ्रंशे एवमेवेत्यस्य एम्वइ इत्यादेशः । प्रा० । एवम्प्रकारेणैवेत्यर्थे, वाच० ॥

एम्वहिं–इदानीम्– अव्य० पश्चादेवमेवेदानीमः ८ । ४ । ४२० इत्यादि प्राकृतसूत्रेणेदानीमः एम्वहिं इत्यादेशः । प्रा० । अधुनेत्यर्थे, वाच० ।

एरंड–एरण्ड–पुं० ईरयति वायुं मलं वाऽधः ईर् अण्डच् निपातनात् गुणश्च । एरण्डाभिधाने वृक्षे, स्था० ४ ठा० तृणभेदे, प्रज्ञा० १ पद । "एरंडेणेरंडे एरण्डेन वा हिमिञ्छितेन वेति" बृ० ३ उ० । तथा चाचाराङ्गे ऽल्पसारमधिकृत्य "घणे एरंडे वइरे" स्थूलानां मध्ये एरण्डो मेरुर्वा प्रकर्षभूत इति, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रज्ञापनायामुत्कारिकाभेदमधिकृत्य । 'एरंडबीयाण वा' प्रज्ञा० ११ पद । एरण्ड इव एरण्डः । श्रुतादिभिर्हीने, स्था० ४ ठा० । विप्लव्यां स्त्री० टाप् गौ० ङीष् वा । वाच० ।

एरंडइय–एरण्डकित– त्रि० हमकयिते,–"एरंडए साणे एरंडइयसाणेति हमकयित" इति । बृह० १ उ० ।

एरंडपरियाय-एरण्डपर्य्याय- पुं० एरण्डस्येव पर्य्याया धर्मा अबद्धशुक्लायत्वासेव्यत्वादयो यस्य स एरण्डपर्य्यायः । अबद्धलचुड्यायत्वाद्येरण्डधर्मयुक्ते, स्था० ४ ठा० ।

एरंडपरिवार-एरण्डपरिवार- पुं० एरण्डकल्पनिर्गुणपरिकरे एरंमणामेगे एरंडपरिवारे, एरंडपरिवार' एरण्डकल्पनिर्गुण-साधुपरिकरत्वादिति । स्था० ४ ठा० ।

एरंममज्झयार-एरण्डमध्याकार- त्रि० एरण्डमध्यवन्निर्गुणे, "एरंममज्झयारे एरंमेणामहेोइ डुमराया " स्था० ४ ठा० ।

एरंममिंजिया-एरण्डमिञ्जिका- स्त्री० एरण्डफले, (एरंडमिंजियाइ वा) एरण्डमिञ्जिका एरण्डफलमिति । भ० ७ श०१ उ० ।

एरंमसगडिया-एरण्डशकटिका- स्त्री० एरण्डकाष्ठमय्यां शकटिकायाम्, ज्ञा० १ अ० ।

एरण्वय-एरण्वत-पुं०हिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये जम्बूद्वीपस्य उत्तरतः स्थिते वर्षभेदे, स्था० २ ठा.। सम. एरण्यवते जात एरण्यवतो वाऽस्यनिवास इति तत्र जातः सोऽस्य निवास इति वाऽस्य निवास इति तत्र जातः सोऽस्य निवास इति वाऽण् प्रत्यये ऐरण्यवतः ऐरण्यवतवर्षजाते, ऐरण्यवतवर्षनिवासिनि च । अनु० दोएरण्वय" स्था० २ ठा० ।

एरवई-ऐरावती-स्त्री० स्वनामख्याते नदीभेदे, "अह पुण एवं जाणिज्जा एरवई कुणालाए । जत्थ चक्किया एगं पायं जले किच्चा एगं पायं थले किच्चा " ऐरावती नामनदी कुणालाया नगर्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोद्वेगेन वहति तस्यामन्यस्यां वा यत्रैवं चक्किया शक्नुयात् उत्तरीतुमिति शेषः । कथमित्याह एकपादं जले कृत्वा एकं पादं स्थले आकाशे कृत्वेति । बृ० ५ उ० । (एतस्याः सन्तरणादिवक्तव्यता णईसंतरण शब्दे)

एरवय-एरवत- न० जम्बूद्वीपस्थे वर्षभेदे, सम० । ध०। स्था०। जं० । जम्बूद्वीपस्य दक्षिणे भागे भरतमहाहिमवतस्तस्यैवोत्तरेभागे ऐरवतं शिखरिणः परत इति । स्था० २ ठा० । स्वनामख्याते दीर्घवैताढ्यपर्वते, पुं०। स्था० १० ठा०। ऐरवते जात ऐरवतो वाऽस्य निवास इति तत्र जातः "सोऽस्य निवास" इति वाऽण्प्रत्यये ऐरवतः ऐरवतजाते, ऐरवतनिवासिनि च । अनु० " तत्थ खलु इमे दुवे सूरिया पण्णत्ता । तं जहा भारहे चेव सूरिए एरवए चेव सूरिए " चन्द्र० प्र०१ पाहु० ।

एरवयकूड-ऐरवतकूट-न०जम्बूमन्दरोत्तरस्थैरवतदीर्घवैताढ्यपर्वतस्थे कूटभेदे, स्था० १० ठा० शिखरवर्षधरपर्वतस्थे कूटभेदे, स्था० २ ठा० ।

एरावई-ऐरावती-स्त्री० जम्बूमन्दरदक्षिणेन सिन्धुं महानदीं समाऽनुयत्यां स्वनामख्यातायाम्महानद्याम्, स्था० ५ ठा० पञ्चालदेशस्थे नदीभेदे, इराः सन्त्यस्य भूम्ना मतुपो मस्य वः इरावान् मेघः तत्र भवा अण् विद्युति, ऐरावतयोषायां च मेदि०। वाच० ।

एरावण-ऐरावण-पुं० इरा सुरा वनमुदकं यत्र तत्र भवः अण् पूर्वपदादिति णत्वम्। इन्द्रगजे ऐरावते, वाच०। उपा०। कल्प.। जी० । " सक्को य देवराया एरावणं विलग्गो" आ० म० द्वि० । आव० । स च शक्रस्य देवेन्द्रस्य कुञ्जरानीकाधिपतिः " एरावणे हत्थिराया कुंजराणीयाहिवई " स्था० ५ ठा० । "हत्थीसु एरावणमाहुणाए" हस्तिषु करिवरेषु मध्ये यथा ऐरावतं शक्रवाहनं ज्ञातं प्रसिद्धं दृष्टान्तभूतं वा प्रधानमाहुस्तज्ज्ञा इति सूत्र० १ श्रु०५ अ० अत्रार्थे ऐरावणशब्दे ऐरावत शब्दश्च तत्रैरावणशब्दस्य प्राकृते एरावण इति ऐरावतशब्दस्य एरावय इति कथमेरावणो ? ऐरावणशब्दस्य एरावणो इति तु-ऐरावतस्येति । प्रा०। गुच्छात्मके वनस्पतिभेदे, प्रज्ञा०१ पद। ऐरावतह्रदवासिनि स्वनामख्याते देवे च, जी०३प्रति० ।

एरावणद्दह-ऐरावतन्ह्द-पुं० जम्बूमन्दरोत्तरस्थे उत्तरकुरुस्थिते महाह्रदे, स्था० ५ ठा० (ऐरावतह्रदवक्तव्यता उत्तरकुरुशब्दे उक्ता)

एरावणवाहण-ऐरावणवाहन-पुं० ऐरावणो हस्ती स वाहनं यस्य स तथा शक्रे,"एरावणवाहणे सुरिंदे" उपा०२अ० कल्प०। ऐरावणनाम्नो गजपतेस्तद्वाहनस्य सत्वादिति, जी०३ प्रति० ।

एरावय-ऐरावत-त्रि० लकुचद्रुमे, । मेदि० । पञ्चकलामात्राप्रस्तारे आदिलघुके अन्त्यगुरुद्वयके, प्रथमे भेदे, पुं० ऋजुदीर्घे शक्रधनुषि मेदि० । इरावत्याः नद्याः सन्निकृष्टो देशः अण् । मरुस्थलभेदे, न०। वाच०। ऐरावतन्ह्रदवासिनि स्वनामख्याते देवे च, जी०३ प्रति० ।

एरि [लि] क्ख-ईदृक्-त्रि० अयमिव पश्यति इदम् दृश् कर्मकर्तरि कञ् इशादेशः दीर्घः ॥ वाच० ॥ दृशेःकिप्टक्सकः ८।१।४२। इति सूत्रेण ऋतोरिकारादेशः। "एतपीयूषापीडविभीतककीदृशे दृशे" ८।१।५। इति प्राकृतसूत्रेणैत एत्वम् प्रा० । एवं विधदर्शनवति, वाच० 'अक्खाइसेणाणमएलिसं' ज्ञानमनन्यसदृशमाख्यातीति " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । "सूयेण एरिसं भत्तं कयं" आ० म० द्वि० " एरिसगुणजुत्ताणं ताणं " ईदृशगुणयुक्तानामुक्तवक्ष्यमाणभक्त्याण्वितानां तासां नारीणामिति । तं० । " एरिसा जावई एसा " येयमीदृशा वागिति सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

एलकक्ख-[च्छ] एलकाक्ष-न० पुरभेदे, " तस्स कहं एलकच्छं नामं तं पुव्वं दसण्णपुरं नगरं आसी तत्थ साविगा एगस्स मिच्छद्दिट्ठिस्स दिन्ना वेयालिया आवस्सयं करेइ । पच्चक्खाइया सो भणति किं रत्तिं उट्ठित्ता कोइ जेमइ एवं उप्पासेइ अन्नया सो भणति अहं पि पच्चक्खामि । सा भणति भंजिहिसि सो भणति किं अन्नया वि अहरत्ति उट्ठित्ता जेमेमि दिन्नं देवआ चिंतेइ साविगं उप्पासेइ अज्ज णं उवलभाति तस्स भगिणी तत्थेव वसति तीसे रत्तिं रूवेण पहेणगं गहाय आगया पच्चक्खाओ साविगाए वारितो भणइ तुब्भच्चएहिं आलपालेहिं किं मम देवयाए पहारो दिन्नो दो वि अच्छिगोलगा भूमीए पडिया सा मम अयसो होतित्ति काउस्सग्गयट्ठिया अद्धरत्ते देवया आगया भणति किं साविए सा भणति मम एएण अयसोत्ति ताहे अन्नस्स एलगस्स अच्छीणि सप्पएसाणि तक्खणमारियस्स आणेत्ता लाइआयाणि ततो से सयणो भणति तुब्भत्थाणि एलगस्स जारिसाणिति तेण सव्वं कहियं सड्ढजाओ जणो कोउहल्लेण एइ पेच्छगो सव्वत्थरज्जे फुड्ढं भज्जइ कओ एसि जत्थ सो एलकच्छओ अघे भणंति सोचेव राया ताहे दसण्णपुरस्स एलकच्छं नामं जायं आव० ४ अ० । (आणिसिओवहाणशब्देऽपि एषा कथोक्ता)

तथाचावश्यककथायाम् ॥

गजाग्रपदवन्दारु-रैलकच्छपुरे ययौ ॥

तद्दशार्णपुरं पूर्व-मासीत्तत्सिन्धुपासिका ॥१०॥

चक्रे वैकालिकं नित्यं, प्रत्याख्याति स्म साथ सा ।

उपाहसत्पतिस्तस्याः, सायं भुक्तः परोऽपि किम् ॥११॥
निश्चयात्सोऽपि भुक्त्वेह, प्रत्याख्यास्यहमप्यतः ।
भंक्ष्यसि त्वं तयेत्यूचे, न भंक्ष्यामीति सोऽवदत् ॥१२॥
देवताऽचिन्तयच्छ्राद्धा-मसावुपहसत्यदः ।
निशीथे स्वसृरूपेणा-भ्यागाद्दाय लाभनं ॥ १३ ॥
श्राद्धश्चिषिद्धः पत्न्योचे, किं मेतद्बालजालकैः ।
देवता तं प्रहृत्याथ-द्दग्गोलौ च व्यपातयत् ॥ १४ ॥
मा भून्ममायशः श्राद्धा, कायोत्सर्गेऽथ सा स्थिता ।
देवता स्माह तां श्राद्धा-प्युवाचैवं ममायशः ॥ १५ ॥
साथानीयाद्धौ सद्यो, मारितैडस्य चक्षुषी ।
एडकाक्ष्यस्ततः ख्यातः, स श्राद्धः प्रत्ययादभूत् ॥ १६ ॥
लोकः समेति तं द्रष्टु-मेडकाक्षं कुतूहलात् ।
एडकाक्षं पुरमपि-तन्नाम्ना तदभूत्ततः ॥ १७ ॥

एलग (य) एमक-पुं० स्त्री-इल-एवुल्-डस्य लः चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । एलकागड्डरिका इति । प्रव० ४ द्वा० । एडकोऽजविशेष इति-प्रव० ८४ द्वा०। प्रज्ञा० । एडका ऊरभ्रा इति। जं०२ वक्ष०। उपा०। स्था०। उच्चकप्पा सा उवा उग्गति एलालारणं गरुरा उप्पति । नि. चू० ३ उ० । वनच्छागे, पृथुशृङ्गे मेषे, मेषमात्रे च दश० ५ अ० ।

एलामूग-एलकमूक-पुं० मूकभेदे, यथैलक इवाव्यक्तं मूकतया शब्दमात्रमेव करोति स एलकमूक इति । ध० ३ अधि० ।

एलमूग-एड [ल] मूक-त्रि० श्रुतिरहित एडो बधिरश्चासौ मूकः वाक्श्रुतिशक्तिरहिते, वाच०। एलवन्मूक एलमूकः सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अजाभाषानुकारिणि मूकभेदे, दश० ५ अ० । सो एलगो जहा पुण बुब्बुअइ एलमूओ व । आव० ४ अ० । एलमूगो भासइ एलगो जहा बुरबुरति जहा पुण बुब्बुअई एलमूगो भासइ अंतरे अंतरे खलतीति। नि० चू०११ उ०। "ततो विप्पमुच्चमाणे भुज्जो भुज्जो एलमूयत्ताए " तस्मादपि स्थानादायुषः क्षयाद्विप्रमुच्यमानाश्च्युताः किल्बिषिकबहुलास्तत्कर्मशेषैरेलवन्मूका एलमूकास्तद्भावेनोत्पद्यन्ते किल्बिषिकस्थानाच्च्युतः सन्ननन्तरभवे वा मानुषत्वमवाप्य यथैलमूकोऽव्यक्तवाक् समुत्पद्यत इति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । एडमूकत्वकारणम् मृषावादेन किल्बिषिकत्वप्राप्तिमभिधाय यथा ।

तत्तो वि से चइत्ताणं, लब्भई एलमूयगं ।
नरगतिरिक्खजोणिं व, बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥ ४८ ॥

ततोऽपि देवलोकादसौ च्युत्वा लप्स्यते एलमूकतामजाभाषानुकारित्वं मानुषत्वे तथा नरकं तिर्यग्योनिं वा पारंपर्येण लप्स्यते बोधिर्यत्र सुदुर्लभः सकलसम्पन्निबन्धना यत्र जिनधर्मप्राप्तिर्दुरापा इह च प्राप्नोत्येलमूकतामिति वाच्ये असकृद्भावप्राप्तिख्यापनाय लप्स्यत इति भविष्यत्कालनिर्देश इति सूत्रार्थः ॥ दश० ५ अ० ॥

एला-एला—स्त्री० इल्-अच्-स्वनामख्याते वल्ल्यात्मके वनस्पति भेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

एलावच्च-ऐलापत्य-पुं० इलापतेरपत्यमैलापत्यः पत्युत्तरपदयमादितो ण्योऽणपवादे वाच्ये इति ण्यप्रत्ययः । नं०। माढरस्य मूलगोत्रस्य सप्तसु गोत्रभेदेष्वन्यतमे गोत्रे, स्था० ७ ठा० । थेरस्स णं अज्जथूलभद्दस्स गोयमगुत्तस्स अंतेवासी थेरे अज्ज महागिरि एलावच्चसगोत्ते" कल्प० । "एलावच्चसगोत्तं वंदामि महागिरिं सुहत्थिं च " नं० (धन्नानन्तेत्यादि) इह यः स्वापत्यसंतानस्य स्वव्यपदेशकारणमाद्यः प्रकाशकः पुरुषः तदपत्यसन्तानो गोत्रमिलापतेः अपत्यमैलापत्यः पत्युत्तरपदयमादित्यो ण्योऽणपवादे वाच्य इति ण्यप्रत्ययः । एलापत्येन सह गोत्रेण वर्त्तते यः स एलापत्यसगोत्रस्तं वन्दे महागिरिम् । पक्षस्य पञ्चदशसु रात्रिषु स्वनामख्यातायां तृतीयस्यां रात्रौ, ज्यो० चन्द्र० १४ पाहु० ।

एलासाढ-एलाषाढ-पुं० अवन्त्यां जिनोद्यानसमागतानां धूर्तानामधिपे स्वनामख्याते धूर्ते, ग०२ अधि०। "एलासाढेण भणियं अहं भेकहायामि" नि० चू०१ उ०।

एलुग-एलुक-न० इल० उक् गन्धद्रव्यभेदे, भद्रादार्वेलुकाख्ये च सर्वेषु लवणेषु च, सुश्रु०। वाच० । देहल्याम् , पुं० जी० ३ प्रति० । व्य० । " हंसगब्भमये एलुगे " हंसगर्भो रत्नविशेषस्तन्मय एलुको देहलीति । जी०३ प्रति० । " गिहेलुगंसि वा गिहेलुक उंबर इति " आचा० २ श्रु० ॥

साधुना चैलुकात्परतो न प्रवेष्टव्यम् तथा चाह ।

णो से कप्पति अंतो एलुयस्स दो वि पाए साहट्टु दलयमाणीए पडिग्गाहित्तए अहं पुण एवं जाणेज्जा एगं पायं अंतो किच्चा एगं पायं बाहिं किच्चा एलुयविक्खंभइत्ता एयाए एसणाए एसमाणे लभेज्जा आहारेज्जा ॥

सांप्रतमेलुगविक्खंभणे दोसा इत्यस्य व्याख्यामाह ।

गच्छगयनिग्गए वा, लहुगा गुरुगा य एलुगा परतो ।
आणादिणो य दोसा, दुविहा य विराहणा इणमो ॥

एलुकात् परतः साधुरतिगच्छति उपलक्षणमेतत् । यदि साधुरेलुकं विष्कम्भयति आसन्ने वा प्रदेशे एलुकस्य तिष्ठति तदा गतस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः गच्छनिर्गतस्य चत्वारो गुरुकाः । तथा आज्ञादय आज्ञाभङ्गादयो दोषाः । द्विविधा च विराधना आत्मविराधना संयमविराधना च । इयं वक्ष्यमाणा तामेवाह ।

संकग्गहणे इच्छा, दुविहा उवाउमा ।
निहरणुक्खणण विरेगो, णे अ विदित पाहुडए ॥
बंधवह उद्दवणे य, खिंसण असीयावणे चेव ।
उव्वेयगकुरुडिय, दीणे अ विदिष्ठवज्जणया ॥

एलुकात्परतो यदि गच्छति तदा स्तैन्ये मैथुने वा लोकस्य शङ्का स्यात्तदनन्तरं च ग्रहणं तथा यस्या गृहमभ्यन्तरं प्रविष्टस्तस्या विषयेऽस्य साधोः किं तु येन इच्छा येनाभ्यन्तरं गत इति लोकस्य शङ्का स्यात्तथा दुर्निविष्टा अप्रावृता वा मध्ये अगारी स्याल्लज्जा स्यात् दोषाश्चान्ये शङ्कादयः तथा मध्ये गृहस्वामी हिरण्यादेर्निधानं करोति तत्खननं वा परस्परं विरेचनं तत्र स्तेनोऽयमिति शङ्का स्यात्तथा अतिभूमिप्रवेशनं तीर्थकृद्भिर्गृहस्थैश्चावितीर्णमननुज्ञातं ततोऽदत्तादानदोषः तस्मात्कस्मादतिभूमिमेष प्रविष्ट इति गृहस्थः प्राकृतमधिकरणं कुर्यात्तथा बन्धं निगडादिभिः ताडनमपद्रावणं जीवितादुपरोपणं तथा खिंसना हीलना यथैते वराका अलभमाना अतः प्रविशन्ति (असियावणाचेवत्ति)'आसीआवणा' नाम निष्काशयितुमासादनं किमुक्तं भवति गले गृहीत्वा बहिर्धने निक्षिपति तथा स व्रती धिग् इव प्रविष्टस्तासामगारीणामुद्वेजको भवति । तथा कुरुपिरुतो नाम उपचारक इत्युच्यते तं शङ्कमाना गृहिणो वधबन्ध-

मादीनि कुर्युरेतैः कारणैरवितीर्णस्यातिभूमिप्रवेशनस्य वर्जना एष द्वारगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेतदेव विवरीषुः प्रथमतः शङ्काद्वारमाह ॥

पच्छित्ते आदेसा, संकियनिस्संकिए य गहणादी ।
तेऊणं व चउत्थे, संकियगुरुगा निसंकिए मूलं ॥

एलुकापरतः प्रवेशे स्तैन्यविषये चतुर्थे चतुर्थव्रतविषये वा शङ्का स्यात् तस्यां च शङ्कायां सत्यां निःशङ्किते च जनस्य जाते प्रायश्चित्तविषये चतुर्थे चतुर्थव्रतविषये वा आदेशौ प्रकारौ । तावेव च दर्शयति । शङ्किते चत्वारो गुरुका निःशङ्किते मूलमिति । तथा ग्रहणादयश्च शङ्कायां दोषास्तानेव कथयति ॥

गेण्हण कड्ढण ववहार, पच्छकमुड्डाह तह य निव्विसए ।
किं उ हु इमस्स इच्छा, अब्भंतरमइगतो जाए ॥

ग्रहणं स्तेनः परदारको वेति बुद्ध्या प्रतिग्रहणं ततो राजकुलं प्रति कर्षणं तदनन्तरं राजकुले व्यवहरणं ततः पश्चात्कृतकरणं व्रतमोचनमित्यर्थः एवं च सति महाप्रवचनस्योड्डाहः । तथा निर्विषय आज्ञाऽप्येतद्द्वारगाथायां तु ग्रहणे इति कर्षणादीनामुपलक्षणं गतं ग्रहणद्वारम् । इच्छाद्वारमाह किं तु इति वितर्के हुरिति निश्चितं यस्या गृहमभ्यन्तरमतिगतस्तस्या विषये अस्य साधोरिच्छा येनायमभ्यन्तरं सहसा प्रविष्ट इति । अधुना दुर्विन्यस्ता अप्रावृतेति पदद्वयं व्याख्यानयति । मध्ये आगारी दुर्निविष्टा वा भवेत् अप्रावृता वा ततः सहसा साधोरभ्यन्तरप्रवेशे साऽपि लज्जिता भवेत् शङ्का वा तस्याः समुत्पद्येत्तामेवाह ॥

किं मन्ने घेत्तुकामो, एस ममं जेण तेत्तिए दूरं ।
अन्नो वा संकेज्जा, गुरुगा मूलं तु निस्संके ॥
आउत्थपरा वा वि, उभयसमुत्था व होज्ज दोसाओ ।
उक्खणनिहणविरेगं, तत्थ किंची करेज्जाहि ॥

किं मन्ये एष संयतो मां ग्रहीतुकामो येन एतद् दूरमागच्छति । अन्यो वा एवं शङ्केत तस्यां शङ्कायां सत्यां तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका निःशङ्किते तस्य वा जाते मूलं प्रायश्चित्तम् आत्मोत्थः परस्मात् उभयसमुत्था दोषा भवेयुः ' संप्रति निहणुक्खणणेत्यादि ' व्याख्यानयति (उक्खणणेत्यादि) तत्र गृहस्थो गृहमध्ये हिरण्यादेरुत्खननं वा कुर्यात् निधानं परस्परं विवेकं वा विरेचनं किंचित्कुर्यात्ततः किमित्याह ॥

दिट्ठं एएण इमं, साहेज्जा मा उ एस अन्नेसिं ।
तेणो त्ति व एसो उ, संका गहणादि कुज्जाए ॥

दृष्टमेतेन साधुना इदं हिरण्यादि उत्खन्यमानादिकं ततो मा एष अन्येषां कथयेत् यदि वा एष स्तेन इति शङ्कायां ग्रहणादिग्रहणवधबन्धादि कुर्यात । सांप्रतमवितीर्णपदव्याख्यानार्थमाह ॥

तित्थगरगिहत्थेहिं, विअतिभूमिपविसणपदिसं ।
कीसे दूरमतिगतो, असंखमं बंधवहमादी ॥

तीर्थकरेण गृहस्थेन चाज्ञामप्यतिभूमिप्रवेशमदत्तं तीर्थकरेणादत्तमतिभूमिं न गच्छेज्जा इत्यादिवचनात् गृहस्थेनात्मीकरणात् प्राभृतादिद्वारकलापमाह कस्मादेतद्दूरमयमागत इति गृहस्थोऽसंखमं कलहं कुर्यादतिरोषाद्बन्धवधादिकम् ।

संप्रति खिंसाद्वारमाह ।

खिंसेज्ज व जह एए, अलभंत वरागअंते पविसंति ।
गलए घेत्तूण वणम्मि, निच्छुभेज्जाहि वाहिरतो ॥

खिंसेत् हीलयेत् गृहस्थो यथा एते वराका अलभमाना मध्ये प्रविशन्ति । आसियावणद्वारमाह गलके गृहीत्वा बहिर्वने निक्षिपेत् ।

उद्वेजकद्वारमाह ॥

वा उय आगारीतो, वीरल्लेणेव तासिया सउणी ।
उव्वेगं गच्छेज्जा, कुरुंडितो नाम उवचरओ ॥

यथा वीरल्लेण त्रासिता शकुनिका उद्वेगं गच्छन्ति तथा ता अगार्यः सहसान्तःप्रविष्टेन साधुना त्रासिताः सत्य उद्वेगं गच्छेयुः । कुरुण्डितद्वारमाह । कुरुण्डितो नाम उपचारकस्तदाशङ्कया वधबन्धनादि कुर्यात् ।

अहवा भणेज्ज एते, गिहिवासम्मि वि अदिट्ठकल्लाणा ।
दीणा अदिण्णदाणा, दोसा ते णाउ नो पविसे ॥

अथवा ब्रूयात् गृहवासेऽप्येते अदृष्टकल्याणा दीना अदत्तदाना आसीरन् तेन मध्ये प्रविशन्ति । उपसंहारमाह । एतान् दोषान् ज्ञात्वा नो मध्ये प्रविशेत् । अत्र चोदकः प्राह । यदि एलुकविष्कम्भे एते दोषा अन्तः प्रविष्टे सविशेषास्तत एलुकविष्कम्भसूत्रमफलं स्यात्तत आह ।

उस्सरविक्खंभमात्रे जति, दोसा अतिगयम्मि सविसेसा ।
तह वि अफलं न सुत्तं, सुत्तनिवातो इमो जम्हा ॥

यद्यपि उत्सरविष्कम्भे दोषा अतिगते मध्यप्रवेशे सविशेषास्तथाऽपि सूत्रमफलं न भवति । यस्मादयं सूत्रनिपातः सूत्रविषयत्वमेव दर्शयति ।

उज्जाणघडासत्थे, सेणासंवट्टवयपवादी वा ।
बहिनिग्गमणा जत्थे, भुंजइ पजत्थ हि पहियवग्गो ॥

औद्यानिक्यां निर्गतो यत उद्याने भुङ्क्ते घटाभोज्यं नाम महत्तरा तु महत्तराद्विबहिरावासितः सार्थो वणिक्सार्थः । सेना स्कन्धावारः संवर्तो नाम यत्र विषमादौ भयेनालोकः संवर्तीभूतस्तिष्ठति व्रजिका गोकुलं प्रपा पानीयशाला सभा ग्रामजनसमवायस्थानमेतेषु स्थानेषु ये भुञ्जते जनास्तथा बहिर्निर्गमने यत्रपाटवा यत्र वा पथिकवर्गो भुङ्क्ते एतेषु स्थानेषु प्रतिमाप्रतिपन्नो हिण्डते न विधिना ग्रहीतव्यम् ।

पासट्ठितो एलुगम–त्तमेव पासति न वेयरे दोसा ।
निक्खमणपवेसणे वि य, अप्पडियादी जे एवं ॥

तत्र गत्वा निष्क्रमणप्रवेशौ वर्जयित्वा ईषदेकपार्श्वे तिष्ठति यथा एलुकमात्रं पश्यति नोत्क्षेपनिक्षेपविरेचनानि ततो वधबन्धादयः प्रागुक्तदोषाः परिहृता भवन्ति । तथा निष्क्रमणे प्रवेशे च य अप्रतीत्यादयो दोषास्तेऽप्येवं परित्यक्ताः ।

उज्जाणघमाईणं, असतीप्पेसाट्ठितो अ गंभीरे ।
निक्कमणपवेसे मो–त्तूण एलुगविक्खंभमेतम्मि ॥

औद्यानिकी घटादीनामसत्यभावे यः शालायाः प्रमुखे कोष्ठको विशालो यत्र दूरस्थितैरपि एलुक उत्क्षेपनिक्षेपौ च दृश्येते मण्डपे वा यत्र परिवेषणं रसवत्यां वा महानसे गम्भीरेऽतिप्रकाशे तत्रापि निष्क्रमणप्रवेशौ वर्जयित्वा यत्र उत्क्षेपनिक्षेपौ न दृश्येते एलुकविष्कम्भमात्रे क्षेत्रे एकपार्श्वे स्थित्वा भिक्षामादत्ते एष एलुकसूत्रस्य विषयः । व्य० १० उ० ।

एलुगविक्खंभ–एलुकविष्कम्भ– पुं० उदुम्बरस्याऽऽक्रमणे, बृ० १ उ० ।

एव–एव–अव्य० इण्–वन्–सादृश्ये, अनियोगे, चारनियोगे, विनिग्रहे, परिभवे, ईषदर्थे च। वाक्यभूषणे, वाच०। एवेति गाथालङ्कारमात्र इति विशे०। अवधारणे, दर्श०। पंचा०। दशा०। "अवंभपरिग्गहे चेव" एवशब्दोऽवधारणे इति प्रश्न० १ द्वा०। "यामिद्धं चेव आहडं" "दुक्खमेव विजाणिया" एवकारोऽवधारण इति। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। विशेष्यसङ्गतोऽन्ययोगव्यवच्छेदे, यथा पार्थ एव धनुर्द्धर इत्यादौ पार्थान्यपदार्थे प्रशस्तधनुर्द्धरत्वम् व्यवच्छिद्यते। विशेषणसंगतः अयोगव्यवच्छेदे, यथा शङ्खः पाण्डुर एवेत्यादौ शङ्खे पाण्डुरत्वायोगो व्यवच्छिद्यते। क्रियासंगतः अत्यन्तायोगव्यवच्छेदे, यथा नीलं सरोजं भवत्येवेत्यादौ सरोजे नीलत्वात्यन्तायोगो व्यवच्छिद्यते। वाच०।

एव–(वं) एवम्–अव्य० इण् वा बमु–" मांसादेर्वा ८।१।२६। इति प्राकृतसूत्रेणानुस्वारस्य वा लुक्। प्रा०। उपप्रदर्शने, "एवमेयाणि जंपंता" एवमित्यनन्तरोक्तस्योपप्रदर्शने इति। "एवमेगेणियायट्टी" एवमिति पूर्वोक्तार्थोपप्रदर्शने, इति। सूत्र० १ श्रु० १ अ०। "एवं आउली करिंति" इहैवं शब्दः पूर्वोक्ताभिलापसंसूचनार्थ इति। भ०१श०६उ०। "एवं सेहे वि अपुट्ठे" एवमिति प्रक्रान्तपरामर्शार्थ इति सूत्र० १ श्रु० २ अ०। प्रकारे, एवं शब्दः प्रकारवचन इति। आ० म० द्वि०। प्रश्न०। व्य०। दर्श०। पं० वं०। दर्श०। एवमिति प्रकृतपरामर्शप्रकारेवार्थोपदेशनिर्देशनिश्चयाङ्गीकारवाक्यार्थेषु, समुच्चयार्थे, समन्वये, परकृतौ, प्रश्ने च। मेदि०। वाच०। अपरिमाणे, पृथग्भावे, एकत्वे, अवधारणे च। तथा च व्यवहारकल्पे "अपरीमाणेपिहब्भावे, एगत्ते अवधारणे। एवसद्दो उ एएसिं" इति। एवं शब्दोऽपरिमाणे पृथग्भावे एकत्वे अवधारणे तत्रापरिमाणे यथा एवमन्येऽपीत्यादौ पृथग्भावे यथा घटात्पटः पृथक्। एवमाकाशास्तिकायवत् धर्म्मास्तिकायोऽपीति। एकत्वे यथाऽयमेतरूपा एवमेषोऽपि। अत्र ह्येवंशब्दस्तयोरेकरूपतामभिद्योतयति अवधारणे यथा केनापि पृष्टमिदमित्थं भवति। इतरः प्राह एवं। इत्थमेवेति भावः। एवमेवंशब्द एतेष्वर्थेषु वर्त्तते इति। व्य० ४ उ०।

एवइय–एतावत्–त्रि० एतत्परिमाणे, वाच०। "एवइयं वा एवखुत्तो वा एवइयंति" तां विकृतिमेतावतीमिति। कल्प०।

एवंकरण–एवंकरण–न० एवम्प्रकारेण करणे, "एवं करणया पत्तिकट्टु" भ० ३ श० १ उ०।

एवंभूय–एवंभूत पुं० सप्तमे नयभेदे, तत्स्वरूपं यथा।

वंजण अत्थतदुभयं–एवंभूओ विसेसेइ॥

(वंजण अत्थे इत्यादि) यत्क्रियाविशिष्टशब्देनोच्यते तामेव क्रियां कुर्वद्वस्त्वेवंभूतमुच्यते एवं शब्देनोच्यते चेष्टा क्रियादिकः प्रकारस्तमेवंभूतं प्राप्तमिति कृत्वा ततश्चैवंभूतवस्तुप्रतिपादको नयोऽप्युपचारादेवंभूतः। अथवा एवं शब्देनोच्यते चेष्टा क्रियादिकः प्रकारस्तद्विशिष्टस्यैव वस्तुनोऽभ्युपगमात्तमेवंभूतः प्राप्त एवंभूत इत्युपचारमन्तरेणापि व्याख्यायते स एवंभूतो नयः। किमित्याह व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं शब्दः अर्थस्तु तदभिधेयवस्तुरूपः व्यञ्जनं चार्थश्च व्यञ्जनार्थौ तौ च तौ तदुभयं चेति समासः। व्यञ्जनार्थशब्दयोर्व्यस्तनिर्देशः प्राकृतत्वाद्व्यञ्जनार्थं तदुभयं विशेषयति नैयत्येन स्थापयति। इदमत्र हृदयं शब्दमर्थेनार्थं च शब्देन विशेषयति। यथा घट चेष्टायां घटते योषिन्मस्तकाद्यारूढश्चेष्टत इति घट इत्यत्र तदैवासौ घटो यदा योषिन्मस्तकाद्यारूढतया जलाहरणचेष्टावानन्यदा घटध्वनिरपि चेष्टां कुर्वत एव तस्य वाचको नान्यदेत्येवं चेष्टावस्थातोऽन्यत्र घटस्य घटत्वं घटशब्देन निवर्त्यते घटध्वनेरपि तदवस्थातोऽन्यत्र घटेन स्ववाचकत्वं निवर्त्यत इति भाव इति गाथार्थः॥ अनु०।

एवं जह सद्दत्थो, संतूओ तह अन्नहाभूओ।
तेणेवंभूयनओ, सद्दत्थपरो विसेसेण॥

एवं यथा घटचेष्टायामित्यादिरूपेण शब्दार्थो व्यवस्थितः (तहत्ति) तथैव वर्त्तते घटादिकोऽर्थः स एवं सन् भूतो विद्यमानः (अन्नहाभूओत्ति) यस्त्वन्यथा शब्दार्थोल्लङ्घनेन वर्त्तते स तत्त्वतो घटाद्यर्थोऽपि न भवति किंत्वेवंभूतोऽविद्यमानः येनैवं मन्यते तेन कारणेन शब्दनयसमभिरूढनयाभ्यां सकाशादेवंभूतनयो विशेषणशब्दार्थतत्परः। अयं हि योषिन्मस्तकारूढं जलाहरणक्रियानिमित्तं घटमानमेव चेष्टमानमेव घटं मन्यते न तु गृहकोणादिव्यवस्थितम्। अथवेत्थमादिर्येवं विशेषतः शब्दार्थतत्परोऽयमिति "वंजणमत्थतदुभयं एवंभूओ विसेसेइ इति" निर्युक्तिगाथादलं व्याचिख्यासुराह॥

वंजणमत्थेणत्थं, च वंजणेणोभयं विसेसेइ।
जह घडसद्दं चेट्ठा–व या तहा तं पि तेणेव॥

व्यज्यतेऽर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं वाचकशब्दो घटादिस्तं चेष्टावता एतदाव्येनार्थेन विशिनष्टि स एव घटशब्दो यच्चेष्टावन्तमर्थं प्रतिपादयति नान्य इत्येवं शब्दमर्थेन नैयत्ये व्यवस्थापयतीत्यर्थः। तथाऽर्थमप्युक्तलक्षणमभिहितरूपेण व्यञ्जनेन विशेषयति चेष्टाऽपि सैव या घटशब्दवाच्यत्वेन प्रसिद्धा योषिन्मस्तकारूढस्य घटस्य जलाहरणादिक्रियारूपा न तु स्थानभरणक्रियात्मिका इत्येवमर्थं शब्देन नैयत्ये स्थापयतीत्यर्थः। इत्येवमुभयं विशेषयति। शब्दमर्थेनार्थं नैयत्ये स्थापयतीत्यर्थः। एतदेवाह (जह घंमसद्दमित्यादि) इदमत्र हृदयं यदा योषिन्मस्तकारूढचेष्टावानर्थो घटशब्देनोच्यते तदा स घटलक्षणोऽर्थः स च तद्वाचको घटशब्दः अन्यदा तु वस्त्वन्तरस्यैव तच्चेष्टाभावादघटत्वं घटध्वनेस्तद्वाचकत्वमित्येवमुभयविशेषक एवंभूतनयमिति॥

एतदेव प्रमाणतः समर्थयन्नाह॥

सद्दवसादभिधेयं, तप्पच्चइ वप्प इव कुंभो व्व।
संसयविवज्जएग–त्तसंकराइप्पसंगाओ॥

यथा अभिधायकः शब्दस्तथैवाभिधेयं प्रतिपत्तव्यमिति प्रतिज्ञा तत्प्रत्ययत्वात्तथाभूत एवार्थस्तः प्रत्ययसंभूतेरिति हेतुः प्रदीपवत्कुम्भवच्चेति दृष्टान्तः। विपर्यये बाधकमाह (संसयेत्यादि) इदमुक्तं भवति प्रदीपशब्देन प्रकाशवानेवार्थोऽभिधीयते अन्यथा संशयादयः प्रसज्जेरंस्तथा हि यदि दीपनक्रियाविकलोऽपि दीपस्तर्हि दीपशब्दे समुच्चरिते किमनेन प्रदीपेन प्रकाशवानर्थोऽभिहितः किं वा प्रकाशकोऽप्यन्धोपलादिरिति संशयः अन्धोपलादिरेवानेनाभिहितो न दीप इति विपर्ययः। तथा दीप इत्युक्तेऽप्यन्धोपलादौ चोक्ते दीपे प्रत्ययात्पदार्थानामेकत्वं साङ्कर्यं वा स्यात्तस्माच्छब्दवशादेवाभिधेयमभिधेयवशाच्च शब्द इति। विशे०। (समभिरूढनयाद्विवक्ष्यता नयशब्दे) शब्दाभिधेयक्रियापरिणतिवेलायामेव तद्वस्त्विति भूतः। एवंभूतः प्राह यथा संज्ञाभेदाद्भेदवद्वस्तु तथा क्रियाभेदाद्–

सा च क्रिया तद्वेशी यदैव तामाविशति तदैतन्निमित्तं तत्तद्व्यपदेशमासादयति नान्यदेत्यभिप्रसङ्गात् । तथाहि यदा घटते तदैवासौ घटो न पुनर्घटितवान् घटिष्यते वा घट इति व्यपदेष्टुं युक्तः सर्ववस्तूनां घटतापत्तिप्रसङ्गादपि च चेष्टासमये एव चक्षुरादिव्यापारसमुद्भूतशब्दानुविद्धप्रत्ययमास्कन्दति चेष्टावन्तः पदार्था यथाऽवस्थितार्थप्रतिभास एव च वस्तूनां व्यवस्थापको नान्यथाभूतोऽन्यथा चेष्टावत्तया शब्दानुविद्धाध्यक्षप्रत्यये प्रतिभासस्याभ्युपगमे तत्प्रत्ययस्य निर्विषयतया भ्रान्तस्यापि वस्तुव्यवस्थापकत्वे सर्वः प्रत्ययः सर्वस्यार्थस्य व्यवस्थापकः स्यादित्यतिप्रसङ्गः तन्न घटनसमयात्प्राक् पश्चाद्वा घटस्तद्व्यपदेशमासादयतीत्येवंभूतनयमतमुक्तं च "एकस्यापि ध्वनेर्वाच्यं सदा तन्नोपपद्यते । क्रियाभेदेन भिन्नत्वादेवंभूतोऽभिमन्यते" इति (सम्म०) एवंभूतनयं प्रकाशयन्ति शब्दानां स्वप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाविष्टमर्थं वाच्यत्वेनाभ्युपगच्छन्नेवंभूत इति समभिरूढनयो हीन्दनादिक्रियायां सत्यामसत्यां च वासवादेरर्थस्येन्द्रादिव्यपदेशमभिप्रैति पशुविशेषस्य गमनक्रियायां सत्यामसत्यां च गोव्यपदेशवत्तथा रूढेः सद्भावात् एवंभूतः पुनरिन्दनादिक्रियापरिणतमर्थं तत्क्रियाकाले इन्द्रादिव्यपदेशभाजमभिमन्यते न हि कश्चिदक्रियाशब्दोऽस्यास्ति गौरश्व इत्यादिजातिशब्दाभिमतानामपि क्रियाशब्दत्वात् । गच्छतीति गौराशुगामित्वादश्व इति शुक्लो नील इति गुणशब्दाभिमती अपि क्रिया शब्दा एव शुचिभवनात् शुक्लो नीलनान्नील इति देवदत्तो यज्ञदत्त इति यदृच्छाशब्दाभिमती अपि क्रिया शब्दा एव देव एनं देयात् । यज्ञ एनं देयादिति । संयोगिद्रव्यशब्दाः समवायिद्रव्यशब्दाश्चाभिमताः क्रियाशब्दा एव दण्डो ऽस्यास्तीति दण्डी । विषाणमस्यास्तीति विषाणीत्यस्ति क्रियाप्रधानत्वात् पञ्चतयी तु शब्दानां व्यवहारमात्रान्न निश्चयादित्ययं नयः स्वीकुरुते । उदाहरन्ति यथेन्दनमनुभवन्निन्द्रः शकनक्रियापरिणतः शक्रः पुरदारणप्रवृत्तः पुरन्दर इत्युच्यत इति । रत्ना० ।

एवम्भूतस्तु सर्वत्र, व्यञ्जनार्थविशेषणः ।
रागचिह्नैर्यथा राजा, नान्यदा राजशब्दभाक् ॥३०॥

एवंभूतस्त्विति सर्वत्र व्यञ्जनं शब्दस्तेनार्थं विशेषयति यः स एवंभूत "वंजणअत्थतदुभयं एवंभूओ विसेसे" इति निर्युक्तिकारः व्यञ्जनार्थयोरेवंभूतः इति तत्त्वार्थभाष्यं पदानां व्युत्पत्त्यर्थान्वयनियतार्थबोधकत्वाभ्युपगन्तृत्वमेवंभूतत्वमिति निष्कर्षः । नियमश्च कालतो देशतश्चेति न समभिरूढातिव्याप्तिरियं चास्याभिमानः यदि घटपदव्युत्पत्त्यर्थाभावात्कूटपदार्थोऽपि न घटपदार्थस्तदा जलाहरणादिक्रियाविरहकालेऽपि घटो न घटपदार्थः धात्वर्थविरहाविशेषादिति व्यञ्जनार्थविशेषकत्वमस्य यदुक्तं तदुदाहरति । चिह्नैश्छत्रचामरादिभिर्यथा राजन् शोभमानः सभायामुपविष्टो राजोच्यतेऽन्यदा छत्रचामरादिशोभाविरहकाले राजशब्दभाग् राजशब्दवाच्यो न भवति राजपदव्युत्पत्तिनिमित्ताभावादित्यर्थः । नन्वेतन्मते व्युत्पत्तिनिमित्तमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति केनचिद्रूपेण तदतिप्रशक्तवाच्यमन्यथा तु गच्छतीति गौरिति व्युत्पत्त्या गच्छदश्वादिरपि गौः स्यात्तथा च छत्रचामरादिविरहकाले तत्प्रयुक्तराजताभावेऽभीतरातिशायिपुण्यादिप्रयुक्तराजत्वस्यानतिप्रशक्तस्याव्याहतत्वात्कथं न राजशब्दवाच्यत्वमिति चेत्सत्यं प्रसिद्धार्थपुरस्कारेण प्रवृत्तस्यैवंभूतनयस्य स्वार्थातिप्रसङ्गे न दूषणं किंतु तन्निवारकनयान्तरोपस्थापकत्वेन भूषणमेव । नयो० । सूत्र० । अष्ट० । स्था० । रत्नावतारिकायामेवंभूताभासमाचक्षते क्रियानाविष्टं वस्तु शब्दवाच्यतया प्रतिक्षिपंस्तु तदाभास इति क्रियाविष्टं वस्तुध्वनीनामभिधेयतया प्रतिजानानोऽपि यः परामर्शस्तदनाविष्टं न तेषां तथा प्रतिक्षिपति नत्वपेक्षातः स एवंभूतनयाभासः प्रतीतिविघातात् उदाहरन्ति । यथा विशिष्टचेष्टाशून्यं घटाख्यं वस्तु न घटशब्दवाच्यं घटशब्दप्रवृत्तिनिमित्तभूतक्रियाशून्यत्वात्पटवदित्यादिरिति । अनेन हि वचसा क्रियानाविष्टस्य घटादेर्वस्तुनो घटादिशब्दवाच्यतानिषेधः क्रियते स च प्रमाणबाधित इति तद्वचनमेवंभूतनयाभासोदाहरणतयोक्तम् । स्या० । अस्य च मिथ्यादृष्टित्वं एवमेवंभूताभिप्रायमुपवर्ण्योक्तम् सूत्रकृताङ्गे एवंभूताभिप्रायस्त्वयं यदैव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं चेष्टादिकं तस्मिन्घटादिके वस्तुनि तदैवासौ युवतिमस्तकारूढउदकाद्याहरणक्रियाप्रवृत्तो घटो भवति न निर्व्यापार एव एवंभूतः तस्यार्थस्य समाश्रयणादेवंभूतोऽभिधानो नयो भवति तदयमप्यनन्तधर्माध्यासितस्य वस्तुनो नाश्रयणान्मिथ्यादृष्टिः । रत्नावल्यवयवे पद्मरागादौ । कृतरत्नावलीव्यपदेशपुरुषवदिति ॥ आ० चू० । आ० म० ॥

एवखुत्तो-एतावत्कृत्वस्- अव्य० एतावतो वारान् कृत्वेत्यर्थे, कल्प० ।

एवमु-इयत्- त्रि० वेदंकिमोर्यादेः ८ । ४ । ८ । इति प्राकृतसूत्रेणेदमोऽत्वमिथतो यकारादेरवयवस्य वा डित् एवडु इत्यादेशः प्रा० । एतावदर्थे, वाच० ।

एवमाइ-एवमादि- त्रि० एवम्प्रकारे, "एवमाइ करेइ एवमाइओवेयणा" आ एवम्प्रकारा वेदना इति (प्रश्न०) "एवमाईणि णामधेज्जाणि" एवमादीन्येवं प्रकाराणि उक्तस्वरूपाणीत्यर्थ इति । प्रश्न० अध० १ द्वा० ३ अ० ।

एस-एष्य-कर्माणि-एयत्-वाऽऽगामिनि भाविनि, "एसो न तावजायइ" एष्यो जानी न तावज्जायते इति । आव.४अ. एष्यत्काले च । "जुत्तं संपयमिस्सं" युक्तं साम्प्रतैष्यत्कालयोरिति । विशे० ।

एसंतभद्द-एष्यद्भद्र-त्रि०कल्याणानुबन्धिनि "एष्यद्भद्रां समाश्रित्य पुंसः प्रकृतिमीदृशीम्" एष्यद्भद्रामिति ईदृशीं संक्लेशायोगविशिष्टामेष्यद्भद्रां कल्याणानुबन्धिनीं पुंसः प्रकृतिं समाश्रित्येति । द्वा० १४ द्वा० ।

एसकाल-एष्यत्काल-पुं० आगामिनि काले, "बारसवाईं एसकालो" द्वादशभिर्वर्षैरेष्यत्कालः परित्याज्य इति वर्तते । तत एवापायसंभवादिति । दश० १ अ० ।

एसज्ज-ऐश्वर्य-न० प्रभुत्वे, वाच० । "रिसभेण व एसज्जं" एसज्जत्ति ऐश्वर्यमिति । स्था० ७ ठा० ।

एसण-एषण-न०ग्रहणे, "विय उस्सेसणं चरे" एषणाय ग्रहणाय चरेदिति । गवेषणे, एसणंति चतुर्थ्यर्थे द्वितीया ततश्चैषणाय गवेषणार्थं, चरेदिति । उत्त० २ अ० । एषते शत्रुहृदयम् ल्यु० मोहमयबाणे, पुं० हलायुधः ॥

एसणघाय-एषणघात- पुं० एषणाय घातः प्रेरणमेषणघातः एषणाप्रेरणे, "दुविहा निहारसोही, य एसणघातो य आयपरिहाणी" एषणाया घातः प्रेरणमेषणघातः स च स्यात्-तथाहि

भवत्युपधिपात्रादिकमन्तरेण एषणघातः तत एषणाप्रेरणे यत्प्रायश्चित्तं तदापद्यत इति व्य० १ उ० ।

एसणा–एषणा–स्त्री० इष इच्छायाम् णिच्-भावे-युच्-प्रेरणायाम्, पुत्रलोकवित्तकामनायाञ्च वाच०। अन्वेषणायाम्,'णो लोयस्से सणंचरे' लोकस्य प्राणिगणस्यैषणाऽन्वेषणेति आचा०४ श्रु०१ अ०१ उ० प्राप्तौ, "मच्छेसणं झियायंति" मत्स्यप्राप्तिं ध्यायन्तीति 'विसएसणं झियायंति' विषयाणां शब्दादीनां प्राप्तिं ध्यायन्तीति च । सूत्र०१ श्रु० ११ अ० । प्रार्थनायाम्, "एवं कामेसणं विन्नू" कामानां शब्दादीनां विषयाणां या गवेषणा प्रार्थना तस्यां कर्त्तव्यतायां विद्वान् निपुण इति सूत्र० १ श्रु०२ अ० । ' घायमेसंति तं तहा ' घातं चान्तशस्तथा सन्मार्गविराधनतया उन्मार्गगमनं चैषन्त्यन्वेषयन्ति दुःखमरणे शतशः प्रार्थयन्तीति सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । ' णिवायमेसंति ' निवातमेषयन्ति घट्टशालादिवसतीर्वातायनादिरहिताः प्रार्थयन्तीति । आचा०२ श्रु०९ अ०२ उ० याचनायाम्, 'कएसु घासमेसेज्जा' ग्रस्यत इति ग्रास आहारस्तमेवंभूतमन्वेषयेत् मृगयेत् याचेदित्यर्थ इति । सूत्र०१श्रु०१अ०। एषणमेषणा अशनादेर्ग्रहणकाले, शङ्कादिभिः प्रकारैरन्वेषणे, प्रव० ६७ द्वा० । उद्गमादिदोषविप्रमुक्ते भक्तपानादिगवेषणे, स्था० ६ ठा० । गृहिणा दीयमानपिण्डादेर्ग्रहणे, स्था० ३ ठा० । एष्यतइत्येषणा उत्त० १ अ० शुद्धाहारादौ, च (चरंतमेसणं) एषणायां चरन्तं परिशुद्धाहारादिना वर्त्तमानमिति । आचा०२श्रु०।

(१) एषणायाः भेदाः ।
(२) पिण्डोपसंहारः एषणायाः अपक्षेपनिराकरणम् ।
(३) एषणानिक्षेपः ।
(४) एषणाया विस्तरतो भेदनिरूपणम् ।
(५) ग्रहणैषणादिनिक्षेपः ।
(६) एषणायाः शङ्कितादिदोषाणामपि बहुभेदत्वम् ।
(७) विस्तरेण ग्रासैषणानिक्षेपादिकम् ।
(८) एषणासमितेन अनेषणीयपरिहारः ।
(९) पुराऽऽयातान्यभिक्षुकसंभवे विधिः ।
(१०) ग्रासैषणाविधिः ।
(११) शतसहस्रगच्छे एषणाभेदपरिहारप्रकारः ।
(१२) एषणादोषप्रायश्चित्तम् ।
(१३) पिण्डैषणापिण्डग्रहणप्रकारः ।
(१४) एषणायां कर्त्तव्यतानिरूपणम् ।

(१) एषणायाः भेदाः—

सा च त्रिविधा गवेषणग्रहणग्रासैषणाभेदात् । स्था० ५ ठा० तथा च पिण्डनिर्युक्तेरादावियमधिकारसंग्रहगाथा ॥

पिंमुग्गमउप्पाय–णेसणासंजोयणापमाणं च ।
इंगालधूमकारण–अट्ठविहा पिंडनिज्जुत्ती ॥

एषणमेषणा सा वक्तव्या एषणाभिधा तद्यथा गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा च । तत्र गवेषणे एषणा अभिलाषो गवेषणैषणा । एवं ग्रहणैषणाग्रासैषणे अपि भावनीये । तत्र गवेषणैषणा उद्गमोत्पादनाविषयेति तद्ग्रहणेनैव गृहीता । ग्रासैषणा त्वभ्यवहारविषया ततः संयोजनादिग्रहणेन सा ग्रहीष्यते तस्मादिह पारिशेष्यादेषणाशब्देन ग्रहणैषणा गृहीता द्रष्टव्या । ग्रहणैषणाग्रहणेन च ग्रहणैषणा गता दोषा वेदितव्यास्तथा विचक्षणास्ततोऽयं भावार्थः उत्पादनादोषाभिधानानन्तरं ग्रहणैषणा गता दोषाः शङ्कितम्रक्षितादयोऽभिधातव्याः ।

(२) पिण्डस्योपसंहारमेषणायाश्चापक्षेपं चिकीर्षुरिदमाह ॥

संखेवपिंडियत्थो, एसो पिंडो मए समक्खाओ ।
फुडवियडपायडत्थं, वोच्छामी एसणं एत्तो ॥ ७३ ॥

एवं पूर्वोक्तेन प्रकारेण संक्षेपपिण्डितार्थं संक्षेपेण समासेन सामान्यरूपतयेत्यर्थः पिण्डित एकत्र मीलितस्तात्पर्यमात्रव्यवस्थितोऽर्थोऽभिधेयं यस्य स तथा रूपपिण्डो मया व्याख्यातः इत ऊर्द्धमेषणामेषणाभिधायिकां गाथासंततिं स्फुटविकटप्रकटार्थां स्फुटो निर्मलो न तात्पर्यानवबोधेन कश्मलरूपो विकटः सूक्ष्ममतिगम्यतया दुर्भेदः प्रकटस्तथाविधविशिष्टवचनरचनाविशेषतः सुखप्रतिपाद्या याऽक्षरा एष्वव्याख्यातेष्वपि प्रायः स्वयमेव परिस्फुरन्निव लक्ष्यते सप्रकट इति भावार्थः अर्थोऽभिधेयं यस्याः स तथा तां वक्ष्ये तत्र तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति प्रथमतः सुखावबोधार्थमेषणाया एकार्थिकान्यभिधित्सुराह ॥

एसणगवेसणमग्ग–णा य उग्गोवणा य बोधव्वा ॥
एए उ एसणाए, नामा एगट्ठिया होंति ॥

एषणा गवेषणा मार्गणा उद्गोपना । एतानि चशब्दादन्वेषणाप्रभृतीनि च एषणाया एकार्थिकानि नामानि भवन्ति । तत्र इषु इच्छायाम् एषणं एषणा इच्छा गवेषणमार्गणे गवेषणं गवेषणा मार्गणं मार्गणा उद्गोपनमुद्गोपना पिण्ड० ।

(३) एषणाया निक्षेपो यथा ॥

नामं ठवणा दविए, भावम्मि य एसणा मुणेयव्वा ।
दव्वम्मि हिरण्णाई, गवेसणाभुंजणाभावे ॥ ६५२ ॥

नामस्थापने सुगमे द्रव्यविषयां यदा हिरण्यादिगवेषणां करोति कश्चिद्भावे भावविषया त्रिविधा गवेषणैषणा अन्वेषणैषणा ग्रहणैषणा पिण्डादीनामेषणा भुञ्जानैषणा चेति सा च गवेषणैषणा ओघ० । तथा च दशवैकालिके क्षुण्णत्वान्नामस्थापने अनादृत्य द्रव्यैषणामाह ॥

दव्वेसणा उ तिविहा, सचित्ताचित्तमीसदव्वाणं ।
दुपयचउप्पयअपया, नरगयकरिसावणदुमाणं ॥ २ ॥

द्रव्यैषणा तु त्रिविधा भवति सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामेषणा द्रव्यैषणा । सचित्तानां द्विपदचतुष्पदापदानां यथासंख्यम् नरगजद्रुमाणामिति कार्षापणग्रहणादचित्तद्रव्यैषणालंकृतद्विपदादिगोचरामिश्रद्रव्यैषणा च द्रष्टव्येति गाथार्थः । भावैषणामाह

भावेसणा उ दुविहा, पसत्थअपसत्थगा य नायव्वा ।
नाणाईण पसत्था, अपसत्था कोहमाईणं ॥ ३ ॥

भावैषणा तु पुनर्द्विविधा प्रशस्ता अप्रशस्ता ज्ञातव्या । एतदेवाह ज्ञानादीनामेषणा प्रशस्ता अप्रशस्ता क्रोधादिनामेषणेति गाथार्थः । प्रकृतयोजनामाह ।

भावस्सुवगारित्ता, एत्थं दव्वेसणाए अहिगारो ।
तीइ पुण अत्थजुत्ती, वत्तव्वा पिंडनिज्जुत्ती ॥ ४ ॥

भावस्य ज्ञानादेरुपकारित्वादत्र प्रक्रमे द्रव्यैषणयाधिकारः तस्याः पुनर्द्रव्यैषणाया अर्थयुक्तिर्हेयेतररूपार्थयोजना वक्तव्या पिण्डनिर्युक्तिरिति गाथार्थः दश० ५ अ० । तथा च विस्तरेणभेदानभिधित्सुराह ।

नामं ठवणा दविए, भावम्मि य एसणा मुणेयव्वा ।
दव्वे भावे एक्के-क्कया उ तिविहा मुणेयव्वा ॥ ७४ ॥

एषणा चतुर्विधा ज्ञातव्या । तद्यथा नामैषणा स्थापनैषणा तथा द्रव्ये द्रव्यविषया एषणा भावे भावविषया च । तत्र नामैषणा एषणा इति नाम । यद्वा जीवस्याजीवस्य वा एषणा शब्दान्वर्थरहितस्य एषणा इति नाम क्रियते सा नामनामवतोरभेदोपचारात् । यद्वा नाम्ना एषणा नामैषणा इति व्युत्पत्तेर्नामैषणेत्यभिधीयते । स्थापनैषणा एषणावतः साध्वादेः स्थापना इह एषणा साध्वादेरभिन्ना तत उपचारात्साध्वादिरेव एषणेत्यभिधीयते ततः स्थाप्यमानस्थापनैषणा; स्थाप्यते इति स्थापना स्थापना चासौ एषणा च स्थापनैषणा । द्रव्यैषणा द्विधा आगमतो नोआगमतश्च । तत्रागमत एषणाशब्दार्थस्य ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः "अनुपयोगो द्रव्यमिति" वचनात् नोआगमतस्त्रिधा तद्यथा ज्ञशरीरद्रव्यैषणा भव्यशरीरद्रव्यैषणा ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यैषणा च । यत्र एषणाशब्दार्थज्ञस्य यत् शरीरमपगतजीवितं सुसिद्धशिलातलादिगतं तत्र भूतभावतया ज्ञशरीरद्रव्यैषणा । यस्तु बालको नेदानीमेषणाशब्दार्थमवबुध्यते अथवा यत्नेनैव शरीरसमुच्छ्रयेण परिवर्द्धमानेन सोऽध्यते स भाविभावकरणत्वाद्भव्यशरीरद्रव्यैषणा । ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता तु द्रव्यैषणा सचित्तादिद्रव्यविषया । भावैषणाऽपि द्विधा आगमतो नोआगमतश्च । तत्र आगमत एषणाशब्दार्थस्य परिज्ञाता तत्र च उपयुक्तः "उपयोगो भावनिक्षेप" इति वचनात् नोआगमतो गवेषणैषणादिभेदात्त्रिधा तत्र नामैषणा स्थापनैषणा द्रव्यैषणा आगमतो नोआगतश्च ज्ञशरीरभव्यशरीररूपां भावैषणां त्वागमतः सुज्ञानत्वादनादृत्य शेषां द्रव्यैषणां च व्याचिख्यासुरिदमाह (दव्वेत्यादि) द्रव्ये द्रव्यविषया भावे च भावविषया एकैका त्रिधा त्रिप्रकारा ज्ञातव्या । तत्र द्रव्यविषया त्रिधा सचित्तादिभेदात् । तद्यथा सचित्तद्रव्यविषया अचित्तद्रव्यविषया मिश्रद्रव्यविषया च । भावविषयाऽपि त्रिधा गवेषणादिभेदात् तद्यथा गवेषणैषणा ग्रहणैषणा ग्रासैषणा च । तत्र द्रव्यैषणाऽपि सचित्तद्रव्यविषया त्रिधा तद्यथा द्विपदविषया चतुष्पदविषया अपदविषया च । तत्र प्रथमतो द्विपदद्रव्यविषयामेषणामाह ।

जम्मं एसइ एगो, सुयस्स अन्नो तमेसए नहं ।
सत्तुं एसइ अन्नो, एसो अन्नो परो मच्चुं ॥ ७५ ॥

इह यद्यपि एषणादीनि चत्वारि नामानि प्राक् एकार्थिकान्युक्तानि तथाऽपि तेषां कथंचिदर्थभेदोऽप्यस्ति । तथा होषणा इच्छामात्रमभिधीयते तच्च गवेषणादावपि विद्यते । अत एव गवेषणादय एषणायाः पर्याया उक्ताः । गवेषणादीनां तु परस्परं नियतोऽप्यर्थभेदोऽस्ति तथाहि गवेषणमनुपलभ्यमानस्य पदार्थस्य सर्वतः परिभावनं मार्गणं निपुणबुद्ध्या अन्वेषणम् । उत्प्रेक्षणं विवक्षितस्य पदार्थस्य जनप्रकाशं चिकीर्षा तत एतेषां क्रमेणोदाहरणान्याह एकः कोऽप्यनिर्दिष्टनामा देवदत्तादिकः संतत्यादिनिमित्तं सुतस्य जन्म उत्पत्तिमेषते इच्छति इदमेषणाया उदाहरणम् । अन्यः पुनः कोऽपि यज्ञदत्तादिकः सुतं क्वापि नष्टमेषते गवेषयते गवेषणाया उदाहरणम् । अन्यः कोऽपि विष्णुमित्रादिकः पदेन पदानुसारेण धूलीबहुलभूमिसमुत्थचरणप्रतिबिम्बानुसारेणेत्यर्थः शत्रुमेषते मृगयते इदं मार्गणाया उदाहरणम् । अन्यः पुनस्तस्य शत्रोर्मृत्युं मरणमेषते उत्प्रेक्षते सर्वजनप्रकाशं मृत्युमभिधातुमभिलषतीत्यर्थः इदमुत्प्रेक्षणाया उदाहरणम् । तदेवमुक्ता सचित्तद्विपदद्रव्यविषया एषणा । संप्रति सचित्तचतुष्पदापदविषयां मिश्रविषयामचित्तविषयां च प्रतिपादयति ।

एमेव सेसएसु वि, चउप्पयापयअचित्तमीसेसु ।
जो जत्थ जुज्जए ए-सणा उ तं तत्थ जोएज्जा ॥ ७६ ॥

एवमेव द्विपदेष्वपि द्विपदेभ्यो व्यतिरिक्तेष्वपि चतुष्पदाऽपदाचित्तमिश्रेषु गवादिवीजपूरकादिद्रम्मादिकटककेयूराद्याभरणविभूषितसुतादिरूपेषु द्रव्येषु विषयेषु या यत्रैषणा इच्छा गवेषणा मार्गणादिरूपा युज्यते घटते तां तत्र पूर्वोक्तगाथानुसारेण योजयेत् । यथा कोऽपि दुग्धाद्यवहाराय गामिच्छति । कोऽपि पुनस्तामेव क्वापि नष्टां गवेषयते अन्यः पुनस्तामेव गां परस्कन्दिभिरपह्रियमाणां गवादिपदप्रतिबिम्बानुसारेण मृगयते कोऽपि पुनः स्वशौर्यप्रकटनाय जनप्रकाशं व्याघ्रमपगतासुं चिकीर्षति एवमपदादिष्वपि भावना कार्या । उक्ता द्रव्यैषणा ।

सांप्रतं भावैषणां त्रिप्रकारामभिधित्सुराह ।

भावेसणा उ तिविहा, गवेसणगहणेसणा उ बोधव्वा ।
घासेसणा उ कमसो, पण्णत्ता वीयरागेहिं ॥

भावो ज्ञानादिरूपपरिणामविशेषः तद्विषया एषणा भावैषणा यथा ज्ञानदर्शनचारित्रैकदेशतः समूलघातं व्याघातो न भवति तथा पिण्डादेरेषणमिति भावः साऽपि त्रिधा त्रिप्रकारा क्रमशः क्रमेण प्रज्ञप्ता वीतरागैः केन क्रमेणेत्यत आह गवेसणेत्यादि पूर्वं गवेषणैषणा ततो ग्रहणैषणा ततो ग्रासैषणा ।

कस्मात्पुनरित्थं गवेषणादीनां क्रम इत्याह ।

अगविट्ठस्स उ गहणं, न होइ न य अगहियस्स परिभोगो ।
एसणतिगस्स एसा, नायव्वा आणुपुव्वीउ ॥

इह न गवेषितस्यापरिभावितस्य पिण्डादेर्ग्रहणं न्याय्यं नाप्यगृहीतस्य परिभोगः ततः एषणात्रिकस्य एष पूर्वोक्त आनुपूर्वीक्रमो ज्ञातव्यः । पिं० । (गवेषणानिक्षेपादि गवेसणा शब्दे)

(४) ग्रहणैषणादिनिक्षेपस्तत्र ग्रहणैषणामाह ।

गहणेसणाइदोसे, आईपरसमुट्ठिए वोच्छं ।

ग्रहणैषणादोषांस्त्वात्मपरसमुत्थितान् तानहं वक्ष्ये ॥ तत्र ये आत्मसमुत्थास्तान् विभागतो दर्शयति ।

दोन्नि य साहुसमुत्था, संकिय तह भावओ अपरिणयं च ।
सेसा अट्ठ वि नियमा, गिहिणो य समुट्ठिए जाण ॥

द्वौ दोषौ साधुसमुत्थितौ तद्यथा शङ्कितं भावतोऽपरिणतं च । एतच्च द्वयमपि वक्ष्यमाणस्वरूपं शेषानष्टावपि दोषान् गृहिणः समुत्थितान् जानीहि । संप्रति ग्रहणैषणाया निक्षेपमाह ।

नामं ठवणा दविए, भावे गहणेसणा मुणेयव्वा ।
दव्वे वानरजूहं, भावम्मि य दसविहा होंति ॥

तद्यथा नामग्रहणैषणा स्थापनाग्रहणैषणा च । द्रव्यग्रहणैषणा भावग्रहणैषणा च । सा तत्र नामस्थापने ग्रहणैषणाऽपि यावद्भव्यशरीररूपा तावत् गवेषणावद्वक्तव्या । ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तां तु द्रव्यग्रहणैषणामाह । द्रव्ये द्रव्यग्रहणैषणायामुदाहरणं वानरयूथम् । भावग्रहणैषणा द्विधा । तद्यथा आगमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो नोआगमतस्तु द्विधा तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता सम्यग्ज्ञानादिविषया अप्रशस्ता शङ्कितादिदोषदुष्टभक्तपानादिविषया । सा च दश-

त्रिधा वक्ष्यमाणभेदैर्दशप्रकारा । पिं० । ओघनिर्युक्तौ तु ।

गहणेसणम्मि पत्तो, वोच्छं अप्पक्खरमहत्थं ॥ ए० ॥

सुगमा तत्र यदुक्तमत ऊर्ध्वं ग्रहणैषणां वक्ष्यामि तत्प्रतिपादनायाह ।

नामं ठवणा दविए, भावे गहणेसणा य बोधव्वा ।

दव्वे वानरजूहं, भावम्मि य ठाणमाईणि ॥ एए ॥

याऽसौ ग्रहणैषणा सा चतुर्विधा नामग्रहणैषणा स्थापनाग्रहणैषणा द्रव्यग्रहणैषणा भावग्रहणैषणा च ज्ञेया । नामग्रहणैषणा सुगमा । तत्र स्थापनाग्रहणैषणा द्विविधा सद्भावस्थापनाग्रहणैषणां कुर्वन् देशतः असद्भावस्थापनाग्रहणैषणा अक्षादिषु तत्र द्रव्यैषणा आगमतो नो आगमतश्च । आगमतो ग्रहणैषणापदार्थज्ञः तत्र चाऽनुपयुक्तः नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरोभयव्यतिरिक्ता तथा ज्ञशरीरे भव्यशरीरे ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तग्रहणैषणायां वानरयूथं भावग्रहणैषणायां तु स्थानादीनि भवन्ति । एतदुक्तं भवति भावग्रहणैषणां कुर्वन् स्थाने विवक्षिते तिष्ठति दातृप्रभृतीनि च परीक्षते भावग्रहणैषणायाम् । तत्र द्रव्यग्रहणैषणायामिदं व्याख्यानकम् "एगो णं तत्थ वानरजूहं परिभमइ काले ण य परिसाडियपंडुपत्तं जायं उण्हकाले य ताहे जूहवई भणइ अन्नं वणं गच्छामो तत्थ तेसिं जूहवई अन्नवणपरिक्खणत्थं दुन्नि व तिन्नि व पंचे व सत्त पयट्टावेइ वणंतरे जोएह ताहे गया एगं वणसंडं पासंति पउरफलपुप्फं तस्स वणस्स मज्झे एगो महद्दहो तो तं दट्ठूणं हट्ठतुट्ठा गया जूहवइणो साहंति । ताहे सो जूहवई सव्वेसिं समं आगओ ताहे तं वणं नक्खेणं रुक्खं पलोएइ ताहे तं वणं सुरूं तेण भणिया खायह वणफलाइ आहिने तत्थ धाया पाणियं गया ताहे सो जूहवई दहस्स परिसरंतेहं पलोएइ जाव उयरं ताणि पदाणि दीसंति उत्तरंताणि न दीसंति ताहे सो भणइ एस दहो सावओ ता मा एत्थत्थनीरे पासत्थे वाउयरिय पाणिय पियह किंतु नालेण । तत्थ जेहिं सुयं वयणं तस्स तं पुप्फफलाणं आभोगिणो जाया जेहिं ण सुयं तस्स ते रुक्खेहिंतो तम्मि दहे जे पाओ देंति ण चेव उत्तरंति ते अणाभोगिणो जाया एवं चेव आयरिओ ताणं साहूणं आहाकम्मुद्देसियाणि समोसरणण्हवणादिसु परिहरावेइ उवायणं फासुयं गेण्हावेइ जहा नत्थि छिज्जंति आहाकम्माइणा तधा करेइ । तत्थ पुव्वकयाणि खीरदधिघयमाईणि तारिसाणि गिण्हावेइ अकयअकारियसंकप्पियाणि तत्थ ये आयरियाणं सुणेंति ते परिहारंति ते य अचिरेण कालेण कम्मक्खयं करेहिंति जे ण सुणेंति ते न भणंति । एए उदाहारया असत् विकप्पा किं कारणं एवं ण घेप्पइ तिविहिं णं सुयं पुणो ते अन्नेनाणं जाइयव्वमरियव्वगाणं अभागिणो जाया "ओघ० ॥

इदानीममुमेवार्थं गाथाभिः प्रदर्शयन्नाह ।

पाडिसमियपंडुपत्तं, वणसंडं दट्ठु अन्नहिं पेसे ।

जूहवई पडियरए, जूहेण स संतयं गच्छे ॥

सयमेवालोए उ, जूहवई तं वणं समंतेण ।

वियरइ तेसि पयारं, चारिऊण ततो दहं गच्छे ॥

उयरंते पि य दिट्ठं, नीहारं तं न दीसई ।

नालेण पियह पाणिं, यं न एस निक्कारणो दहो ॥

विशालशृङ्गो नाम पर्वतस्तत्रैकस्मिन् वनखण्डे वानरयूथमभिरमते । अथ च तत्रैव पर्वते द्वितीयमपि वनखण्डं सर्वर्तुपुष्पफलसमृद्धं समस्ति परं तन्मध्यभागवर्तिनि ह्रदे शिशुमारोऽवतिष्ठते स यत्किमपि मृगादिकं पानीयाय प्रविशति तत्सर्वमाकृष्य भक्षयति । अन्यदा च तद्वनखण्डं परिशटितपाण्डुपत्रमपगतपुष्पफलमवलोक्य यूथाधिपतिरन्यस्य वनखण्डस्य निर्वाहसमर्थस्य गवेषणाय वानरयुग्मं प्रेषितवान् । गवेषयित्वा च तेन यूथाधिपतेर्निवेदितमस्ति नवं वनखण्डम् । क प्रदेशे सर्वर्तुपुष्पफलपत्रसमृद्धमस्माकं निर्वाहयोग्यं ततो यूथाधिपतिः सह यूथेन तत्र गतवान् परिभावयितुं च प्रवृत्तः समन्ततस्तद्वनखण्डं ततो दृष्टस्तन्मध्ये जलपरिपूर्णो ह्रदः परं तत्र प्रविशन्ति श्वापदानां पदानि दृश्यन्ते न निर्गच्छन्ति । यूथमाहूय यूथाधिपतिरुक्तवान् माऽत्र यूयं प्रविश्य पिबत पानीयं किंतु तटस्थिता एव नालेन पिबत यतो नैष ह्रदो निष्कारणो निरुपद्रवस्तथाहि मृगादीनामत्र पदानि प्रविशन्ति दृश्यन्ते न निर्गच्छन्तीति एवं चोक्ते यैस्तद्वचः कृतं ते वने स्वेच्छाविहारसुखभागिनो जाता इतरे विनष्टाः । उक्ता द्रव्यग्रहणैषणा । संप्रति भावग्रहणैषणा वक्तव्या तया चाधिकारोऽप्रशस्तया पिण्डदोषाणां वक्तुं प्रक्रान्तत्वात् सा च शङ्कितादिभेदाद्दशप्रकारा ततस्तानेव शङ्कितादीन् भेदान् दर्शयति ॥

संकियमक्खियनिक्खित्त, पिहियसंहरियदायगुम्मिस्से ।

अपरिणयलित्तछड्डिय, एसणदोसा दस हवंति ॥

शङ्कितं संभावितांधाकर्मादिदोषं, म्रक्षितं सचित्तपृथिव्यादिना गुण्ठितम् । निक्षिप्तं सचित्तस्योपरि स्थापितम् । पिहितं सचित्तेन स्थगितम् । संहृतमन्यत्र क्षिप्तम् । दायकदोषदुष्टा । उन्मिश्रा पुष्पादिसन्मिश्रम् । अपरिणतमप्रासुकीभूतम् । लिप्तं छर्दितं भूमौ विक्षिप्तम् । एते दश एषणादोषाः भवन्ति (एतेषां वक्ष्यता तत्तच्छब्दे)

तत्र शङ्कितपदं व्याचिख्यासुराह ॥

संकाए चउभंगो, दोसु वि गहणे य भुंजणे लग्गो ।

जं संकियमावन्नो, पणवीसा चरिमए सुद्धो ॥

शङ्कायां शङ्किते चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गाः सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । सा चेयं चतुर्भङ्गी ग्रहणे शङ्कितो भोजने चेति प्रथमो भङ्गः । ग्रहणे शङ्कितं न भोजने इति द्वितीयः । भोजने शङ्कितो न ग्रहणे इति तृतीयः । न ग्रहणे न भोजने इति चतुर्थः । अत्र दोषानाह (दोसुवीत्यादि) द्वयोरपि शङ्कितस्य ग्रहणभोजनयोरपि यो वर्तते यश्च ग्रहणमति । ग्रहणे अर्थापत्त्या न भोजने तथा भोजने सामर्थ्याच्च ग्रहणे स सर्वोऽपि लग्नो दोषेण संबद्धः । केन दोषेणेत्याह (जं संकियमित्यादि) षोडशोद्गमदोषाणामेषणादोषरूपाणां पञ्चविंशतिदोषेण शङ्कितं संभावितमापन्नो वर्तते तेन दोषेण संबद्धः । इदमुक्तं भवति यदाधाकर्मत्वेन शङ्कितं तद् गृह्णानो भुञ्जानो वाऽऽधाकर्मदोषेण संबध्यते यदि पुनरौद्देशिकत्वेन तत औद्देशिकेनेत्यादि । चरमे चतुर्थभङ्गे पुनर्वर्तमानः शुद्धो न केनापि दोषेण संबध्यते इत्यर्थः । इह 'पणवीसा' इत्युक्तं ततस्तानेव पञ्चविंशतिदोषानाह ।

उग्गमदोसा सोलस, आहाकम्माइ एसणा दोसा ।

नवमक्खियाइ एए, पणवीसा चरिमए सुद्धे ॥

आधाकर्मादयः षोडश उद्गमदोषा नव च म्रक्षितादयः एषणादोषा एते मिलिताः पञ्चविंशतिः चरमे तु भङ्गे न ग्रहणे न

भोजने इत्येवंरूपे वर्तमानो यतिः । यत इहाशुद्धमपि छद्मस्थपरीक्षया निःशङ्कितं गृहीतं शुद्धं भवतीत्येतदेवोपदर्शयति ॥

छउमत्थो सुयनाणी, उवउत्तो उज्जुओ पयत्तेण ।
आवन्नो पणवीसं, सुयनाणपमाणओ सुद्धो ॥

छद्मस्थः श्रुतज्ञानी ऋजुको मायारहितः प्रयत्नेन यथागमानुसारेण गवेषयन् पञ्चविंशतेर्दोषाणामन्यतमं दोषमापन्नोऽपि श्रुतज्ञानप्रमाणतः आगमप्रामाण्यतः शुद्धः । एतमेवार्थं स्पष्टयति ॥

ओहो सुओवउत्तो, सुय नाणी जइ वि गिण्हइ असुद्धं ।
तं केवली वि भुंजइ, अपमाणसुयं भवे इयरहा ॥

"ओहो" इत्यत्र प्रथमा तृतीयार्थे तत ओघेन सामान्येन श्रुतेपिण्डनिर्युक्त्यादिरूपे आगमे उपयुक्तः स तु तदनुसारेण कल्प्याकल्प्यं परिभावयन् श्रुतज्ञानी यद्यपि कथमप्यशुद्धं गृह्णाति तथाऽपि ततः केवल्यपि केवलज्ञान्यपि भुङ्क्ते इतरथा श्रुतज्ञानमप्रमाणं भवेत् । तथा हि छद्मस्थः श्रुतज्ञानबलेन शुद्धं गवेषयितुमीष्टे न प्रकारान्तरेण । ततो यदि केवली श्रुतज्ञानिना यथागमं गवेषयितमप्यशुद्धमिति कृत्वा न भुञ्जीत ततः श्रुतेऽनाश्वासः स्यादिति न कोऽपि श्रुतं प्रमाणत्वेन प्रपद्येत श्रुतज्ञानस्य चाप्रामाण्ये सर्वक्रियाविलोपप्रसङ्गः । श्रुतमन्तरेण छद्मस्थानां क्रियाकाण्डस्य परिज्ञानासंभवात् । ततः किमित्याह ।

सुत्तस्स अप्पमाणे, चरणाभावो तओ य मोक्खस्स ।
मोक्खस्स वि य अभावे, दिक्खपवित्ती निरत्था उ ॥

सूत्रस्याप्रामाण्ये चरणस्य चारित्रस्याभावः श्रुतमन्तरेण यथावत्सावद्येतरविधिप्रतिषेधपरिज्ञानासंभवात् । चरणाभावे च मोक्षाभावो मोक्षाभावे च दीक्षा निरर्थिका तस्या अनल्पार्थत्वात् । संप्रति ग्रहणे शङ्कितो भोजने च इत्यस्य प्रथमभङ्गस्य संभवमाह ।

किं नु हु खद्धा भिक्खा, दिज्जइ न य तरइ पुच्छिउं हिरिमं ।
इइ संकाए घेत्तुं, न भुंजइ संकिओ चेव ॥

कोऽपि साधुः स्वभावतो लज्जावान् भवति । तत्र कापि गृहे भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् प्रचुरां भिक्षां लभमानः स्वचेतसि शङ्कते किमत्र प्रचुरा भिक्षा दीयते । न च लज्जया प्रष्टुं शक्नोति तत एवं शङ्कया गृहीत्वा शङ्कित एव तद् भुङ्क्ते इति प्रथमभङ्गे वर्तते ।

संप्रति ग्रहणे शङ्कितो न भोजने इत्यस्य संभवमाह ।

हियएण संकिणा गहि-या अन्नेण सोहिया सा य ।
पगयं पहेणगं वा, सोउं निस्संकियं भुंजे ।

इह केनापि साधुना लज्जादिना प्रष्टुमशक्नुवता प्रथमतः शङ्कितेन हृदयेन या गृहीता भिक्षा सा अन्यसंघाटकेन शोधिता यथा प्रकृतं प्रकरणं किमपि प्राघूर्णभोजनादिकं यदि वा प्रहेणकं कुतश्चिदन्यस्माद् गृहादायातमिति । ततो द्वितीयसंघाटकादेतत् श्रुत्वा यो निःशङ्कितो भुङ्क्ते स द्वितीये भङ्गे वर्तते ।

तृतीयस्य भङ्गस्य संभवमाह ।

जारिसए च्चिय लद्धा, खद्धा भिक्खा मए असुयगेहे ।
अन्नेहि वि तारिसिया, वियडंतनिसामणे तइए ॥

इह कोऽपि साधुर्लब्धप्रचुरभिक्षाको विकटयतो गुरोरग्रतः सम्यगालोचनाश्रवणे सति शङ्कते यादृश्येव मया भिक्षा प्रचुरा लब्धा तादृश्येवान्यैरपि संघाटकैस्तत्र न मे तदाधाकर्मादिदोषदुष्टं भविष्यतीति भुञ्जानो यतिस्तृतीये भङ्गे वर्तते ।

अत्र पर आह ।

जइ संका दोसकरी, एवं सुद्धम्मि होइ अविसुद्धं ।
निस्संकामसियंति य, अणेसणिज्जम्मि निद्दोसं ॥

यदि शङ्का दोषकरी तत एवं सति इदमायातं शुद्धमपि शङ्कितं सत् अशुद्धं भवति । शङ्कादोषदुष्टत्वात् । तथा अनेषणीयमपि निःशङ्कितमन्वेषितं शुद्धं प्राप्नोति शङ्कारहितत्वात् न चैवं युक्तं स्वभावतः शुद्धस्याशुद्धस्य वा शङ्काभावाभावमात्रेण अन्यथा कर्तुमशक्यत्वात् । अत्राचार्य आह सत्यमेतत्तथा हि ।

अविसुद्धो परिणामो, एगयरे अवडिओ य पक्खम्मि ।
एसिं पि कुणइ णेसिं, अणेसिमेसिं वि सुद्धो उ ॥

अविशुद्धः परिणामः अध्यवसायः किंरूपो विशुद्ध इत्याह । एकतरस्मिन्नपि शुद्धमेवेदं भक्तादिकं यदि वा अशुद्धमेवेत्यन्यतरस्मिन्नपि पक्षेऽपतन् (एसिं पित्ति) एषणीयमशुद्धं विशुद्धस्तु परिणामो यथोक्तागमविधिना गवेषयतः शुद्धमेवेदमित्यध्यवसायः । अनेषणीयमपि स्वभावतोऽशुद्धमपि शुद्धं करोति श्रुतज्ञानस्य प्रामाण्यात्तस्मान्न कश्चित् प्रागुक्तो दोषः । तदेवमुक्तं शङ्कितद्वारमधुना म्रक्षितद्वारमाह ।

दुविहं च मक्खियं खलु, सच्चित्तं चेव होइ अच्चित्तं ।
सच्चित्तं पुण तिविहं, अच्चित्तं होइ दुविहं तु ॥

म्रक्षितं द्विधा तद्यथा सचित्तमचित्तं च सचित्तम्रक्षितं चेत्यर्थः । तत्र यत्सचित्तेन पृथिव्यादिनाऽवगुण्ठितं तत्सचित्तं यत्पुनरचित्तेन पृथिवीरजःप्रभृतिनाऽवगुण्ठितं तदचित्तं तत्र सचित्तं सचित्तम्रक्षितं च । अचित्तमचित्तम्रक्षितम् । पुनस्त्रेधा एतदेव व्याख्यानयति ।

पुढवीआउवणस्सइ, तिविहं सच्चित्तमक्खियं होइ ॥
अच्चित्तं पुण दुविहं, गरहियमियरे य भयणा उ ॥

सचित्तम्रक्षितं त्रेधा तद्यथा पृथ्वीम्रक्षितम् अप्कायम्रक्षितं वनस्पतिकायम्रक्षितं च । तत्रैव पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पृथिव्यादिम्रक्षितं पृथिवीत्याद्युक्तम् । अचित्तमचित्तम्रक्षितं पुनर्द्विधा तद्यथा गर्हितं वसादिना अगर्हितमितरत्पूतादिना ॥ अत्र च कल्प्याकल्प्यविधौ भजना विकल्पना सा चाग्रे वक्ष्यते । संप्रति सचित्तपृथिवीकायम्रक्षितं प्रपञ्चतो भावयति ॥

सुक्खेण ससरक्खेण, मक्खियमोल्लेण पुढविकाएण ॥
सव्वं पि मक्खियत्तं, एत्तो आउम्मि वोच्छामि ।

इह सचित्तपृथिवीकायो द्विधा तद्यथा शुष्क आर्द्रश्च । तत्र शुष्केण सरजस्केनातिश्लक्ष्णतया भस्मकल्पेन यत् देहमात्रं हस्तो वा म्रक्षितो यच्चार्द्रेण पृथिवीकायेन सचित्तेन म्रक्षितं तत्सर्वं हस्तादिम्रक्षितं सचित्तपृथिवीकायम्रक्षितमवगन्तव्यम् । तत ऊर्ध्वमप्कायविषये म्रक्षितं वक्ष्यामि ॥

पुरपच्छकम्म ससणि-द्धुदउल्ले चउर आउभेया उ ।
उक्कमरसावलित्तं, परित्तणत्तं महिरुहेसु ॥

अप्काये अप्कायम्रक्षिते चत्वारो भेदाः तद्यथा पुरः कर्म पश्चात्कर्म सस्निग्धमुदकार्द्रं च । तत्र भक्तादेर्दानात्पूर्वं यत्साध्वर्थं कर्म हस्तपात्रादेर्जलप्रक्षालनादि क्रियते तत्पुरः कर्म । यत्पुनर्भक्तादेर्दानात्पश्चात् क्रियते तत्पश्चात्कर्म । सस्निग्धमीषद्-दृश्यमाणजललवरहितं हस्तादि उदकार्द्रस्पृष्टो लभ्यमानजलसं

सर्गः । संप्रति वनस्पतिकायम्रक्षितं प्रपञ्चयति (उक्कडेत्ति) उत्कटरसानि प्रचुररसोपेतानि यानि परीतानां प्रत्येकवनस्पतीनां चूतफलादीनामनन्तानामनन्तकायिकानां च पनसफलादीनां सद्यःकृत्तानि श्लक्ष्णखण्डानि इति सामर्थ्याद्गम्यते तैः संलिप्तं खरण्टितं यत् हस्तादि तन्महीरुहेषु अत्र तृतीयार्थे सप्तमी महीरुहैर्म्रक्षितमवसेयं परित्तणन्तमित्यत्र प्राकृतत्वाद्विभक्तिवचनव्यत्यय इति षष्ठीबहुवचनं व्याख्यातम् ॥

सेसेहिं य काएहिं, तिहि वि तेउसमीरणतसेहिं ।
सच्चित्तं मीसं वा, न मक्खिअत्थि उल्लं व ॥

शेषैस्तेजःसमीरणत्रसरूपैस्त्रिभिरपि सचित्तरूपमिश्ररूपमार्द्रतारूपं वा म्रक्षितं न भवति । सचित्तादितेजस्कायादिसंसर्गेऽपि लोके म्रक्षितशब्दप्रवृत्त्यदर्शनात् अचित्तैस्तु तैर्भस्मादिरूपैः पृथिवीकायादौ न च म्रक्षितत्वसंभव इति न तस्य प्रतिषेधः । वातकायेन सचित्तेनापि न म्रक्षितत्वं घटते तथा लोके प्रतीत्यभावात् । संप्रति सचित्तपृथिवीकायादिनिर्म्रक्षिते हस्तपात्रे आश्रित्य भङ्गान् कल्प्याकल्प्यविधिं च प्रतिपादयति ।

सच्चित्तमक्खियम्मि, हत्थपत्ते य होइ चउभंगो ।
आइतिए पडिसेहो, चरिमे भंगे अणुण्णा उ ॥

सचित्तैः पृथिवीकायादिनिर्म्रक्षिते हस्तपात्रे च चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गाः सूत्रे च पुंस्त्वनिर्देश आर्षत्वात् । ते च चत्वारो भङ्गा अमी तद्यथा हस्तो म्रक्षितो पात्रं च, हस्तो म्रक्षितो न पात्रं, पात्रं म्रक्षितं न हस्तो, हस्तो न नापि पात्रं, तत्रादिमे भङ्गत्रिके प्रतिषेधो न कल्पते ग्रहीतुमिति भावः । चरमे भङ्गे पुनरनुज्ञातो यस्तीर्थकरगणधरैस्तत्र दोषाभावात् । अचित्तम्रक्षितमाश्रित्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ।

अच्चित्तमक्खियम्मि उ, चउभंगेसु होइ भयणा उ ।
अगरहिएण उ गहणं, पडिसेहो गरहिए होइ ॥

अचित्तम्रक्षितेऽपि हस्तपात्रे अधिकृत्य प्राग्वत् चत्वारो भङ्गास्तत्र च चतुर्ष्वपि भङ्गेषु विभजना विकल्पना तामेवाह अगर्हितेन लोकानिन्दितेन घृतादिना म्रक्षिते ग्रहणं, गर्हितेन तु वसादिना म्रक्षिते भवति प्रतिषेधः । तत्रापि चतुर्थो भङ्गः शुद्ध एवेति ग्रहणम् । अगर्हितम्रक्षितमप्यधिकृत्य विशेषमाह ।

संसज्जिमेहि वज्जं, अगरहिएहिं पि गोरसदवेहिं ।
महुघयतिल्लगुलेहि य, मा मच्छिपिपीलियाघाओ ॥

संसक्तिमद्भ्यां तन्मध्यनिपतितजीवयुक्ताभ्यां गोरसद्रवाभ्यां दध्यादिनामकाभ्यामगर्हिताभ्यामपि म्रक्षितं म्रक्षिताभ्यां हस्तपात्राभ्यां वा दीयमानं वर्ज्यं परिहार्यं न ग्राह्यमित्यर्थः । तथा मधुघृततैलद्रवगुडैरगर्हितैरपि म्रक्षितं म्रक्षिताभ्यां वा हस्तपात्राभ्यां दीयमानं वर्ज्यं कुत इत्याह (मा मच्छिपिपीलियाघाओ त्ति) मा मक्षिकापिपीलिकानामुपलक्षणमेतत् पतङ्गादीनां घातादीनां यतो लग्नानां घातो विनाशो मा भूदिति कृत्वा एतच्चोक्तानुष्ठानं जिनकल्पिकाद्यधिकृत्योक्तमवसेयं स्थविरकल्पिकास्तु यथाविधियतनया घृतादपि गुडादिम्रक्षितमशोकवर्ज्यादपि च गृह्णन्ति । संप्रति गर्हितागर्हितविशेषमाह ।

मंसवसासोणियासव, लोए वा गरहिए विवज्जाउ ।
उभओ विगरहिएहिं, मुत्तुच्चारेहि छिन्नं पि ॥

मांसवसाशोणितासवैरत्र सूत्रे विभक्तिलोप आर्षत्वात् लोके गर्हितैरपि वा शब्दः पूर्वापेक्षया समुच्चये म्रक्षितं वर्जयेत् । तथा उभयस्मिन्नपि लोके लोकोत्तरे च गर्हिताभ्यां मूत्रोच्चाराभ्यां माऽऽस्तां म्रक्षितं स्पृष्टमपि वर्जयेत् । उक्तं म्रक्षितद्वारम् ।

अथ निक्षिप्तद्वारमाह ।

सच्चित्तमीसएसु, दुविहं काएसु होइ निक्खित्तं ।
एक्केक्कं तं दुविहं, अणंतरं परंपरं चेव ॥

इह कल्पनीयं निक्षिप्तं द्विविधा सचित्तेषु मिश्रेषु च । एकैकमपि द्विधा । तद्यथा अनन्तरं परंपरं च । तत्रानन्तरमव्यवधानेन परंपरं व्यवधानेन यथा सचित्तपृथिवीकायस्योपरि स्थापनिका तस्या उपरि देयं वस्त्विति । इह परिहार्यापरिहार्यविभागं विना सामान्यतो निक्षिप्तं सचित्ताचित्तमिश्ररूपतया त्रिधा । तत्र च त्रयश्चतुर्भङ्ग्यस्तद्यथा । सचित्ते सचित्तं १ मिश्रे सचित्तं २ सचित्ते मिश्रं ३ मिश्रे मिश्रमित्येका चतुर्भङ्गी । तथा सचित्ते सचित्तम् १ अचित्ते सचित्तं २ सचित्ते अचित्तम् ३ अचित्ते अचित्तम् इति ४ । द्वितीया चतुर्भङ्गी । तथा मिश्रे मिश्रम् १ अचित्ते मिश्रं २ मिश्रे अचित्तम् ३ अचित्ते अचित्तम् ४ इति तृतीया चतुर्भङ्गी । संप्रत्यस्यैवानन्तरपरंपरविभागमाह ॥

पुढवीआउक्काए, तेऊवाऊवणस्सइतसाणं ।
एक्केक्कदुहाणंतर-परंपराणम्मि सत्तविहो ॥

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायानां सचित्तानां प्रत्येकं सचित्तपृथिव्यादिषु निक्षेपः संभवति । तत्र पृथिवीकायस्य निक्षेपः षोढा । तद्यथा पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेप इत्येको भेदः । पृथिवीकायस्याप्काये इति द्वितीयः । पृथिवीकायस्य तेजस्काये इति तृतीयः । वातकाये इति चतुर्थः । वनस्पतिकाये इति पञ्चमः । त्रसकाये इति षष्ठः । एवमप्कायादीनामपि निक्षेपः प्रत्येकं षोढा भावनीयः सर्वसंख्यया षट्त्रिंशद्भङ्गाः । एकैकोऽपि च भेदो द्विधा तद्यथा अनन्तरपरम्परया च । अनन्तरपरंपरव्याख्यानं च प्रागेव कृतम् । केवलमग्निकाये पृथिव्यादीनां निक्षेपः सप्तधा एतच्च स्वयमेव वक्ष्यति । संप्रति पृथिवीकाये निक्षेपस्य यदुक्तं पूर्वं षोढात्वं तत्सूत्रकृत् साक्षाद्दर्शयति ।

सच्चित्तपुढविकाए, सच्चित्तो चेव पुढविनिक्खित्तो ।
आऊतेउवणस्सइ-समीरणतसेसु एमेव ॥

सचित्ते पृथिवीकाये सचित्तपृथिवीकायो निक्षिप्तः एवमेव पृथिवीकाये इव अप्तेजोवनस्पतिसमीरणत्रसेषु सचित्त एव पृथिवीकायो निक्षिप्त इति पृथिवीकायनिक्षेपः षोढा एवं शेषकायेष्वपि दर्शयन्नाह ।

एमेव सेसयाण वि, निक्खेवो होइ जाव काएसु ।
एक्केक्को सट्ठाणे, परट्ठाणे पंच पंचेव ॥

एवमेव पृथिवीकायस्येव शेषाणामप्कायादीनां निक्षेपो भवति जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु तत्र एकैको भङ्गः स्वस्थाने शेषाः पञ्च पञ्च परस्थाने । तथाहि पृथिवीकायस्य पृथिवीकाये निक्षेपः स्वस्थाने अप्कायादिषु शेषेषु पञ्चसु परस्थानेषु । एवमप्कायादीनामपि भावनीयम् । ततः स्वस्थाने एकैको भङ्गः परस्थाने पञ्च पञ्च तदेवं प्रथमचतुर्भङ्गिकायाः सचित्ते सचित्तमित्येवंरूपे प्रथमे भङ्गे षट्त्रिंशद्भेदाः । संप्रति प्रथमचतुर्भङ्ग्या एव शेषं भङ्गत्रयं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्यौ चातिदिशन् प्रतिपादयति ।

एमेव मीसएसु वि, मीसाणसचेयणेसु निक्खेवो ।

मीसाणं मीसेसु य, दोएहं पि य होइ चित्तेसु ॥

एवमेव सचित्तेष्विव मिश्रेष्वपि मिश्रपृथिव्यादिनिक्षेपः षट्त्रिंशत् भेदोऽवगन्तव्यः। एतेन प्रथमचतुर्भङ्गो व्याख्यातः। एवमेव मिश्राणां पृथिव्यादीनां मिश्रेषु पृथिव्यादिषु निक्षेपः षट्त्रिंशद्भेदः। अनेन प्रथमचतुर्भङ्ग्याश्चतुर्थो भङ्गो व्याख्यातः सर्वसंख्यया प्रथमचतुर्भङ्ग्यां चतुश्चत्वारिंशद्भङ्गशतम्।एवमेव द्वयोरपि सचित्तमिश्रयोरचित्तेषु निक्षिप्यमाणयोर्ये द्वे चतुर्भङ्ग्यौ प्रागुक्ते तथाऽपि प्रत्येकं चत्वारिंशद्भङ्गशतं भवति सर्वसंख्यया भङ्गानां शतानि चत्वारि द्वात्रिंशदधिकानि भवन्ति । उक्ता निक्षेपस्य भेदाः। संप्रत्यस्यैव निक्षेपस्य पूर्वोक्तचतुर्भङ्गीत्रयमधिकृत्य कल्प्याकल्प्यविधिमाह ।

जत्थ उ सचित्तमीसे, चउभंगो तत्थ चउसु वि भंगेसु ।
तं तु अणंतरइयरं, परित्ताणं तं च वणकाए ॥

यत्र निक्षेपे सचित्तमिश्रे आद्यचतुर्भङ्गी भवति। प्रथमा चतुर्भङ्गी भवतीत्यर्थः। तत्र चतुर्ष्वपि भङ्गेषु अपिशब्दात् द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योरपि आद्येषु त्रिषु विभङ्गेषु वर्तमानमनन्तरं परंपरं वा वनस्पतिविषये प्रत्येकमनन्तं वा तत्सर्वमग्राह्यं सामर्थ्यात्। द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्याश्चतुर्थे चतुर्थभङ्गे वर्तमानं ग्राह्यं तत्र दोषाभावात् । संप्रति सचित्तादिभिस्त्रिभिरपि मतान्तरेणैकमेव चतुर्भङ्गीकल्प्याकल्प्यविधिं प्रदर्शयति ।

अहव ण सचित्तमीसो, से एगओ एगउ अचित्तो ।
एत्थं चउक्कभंगो, तत्थाइत्तिए कहा नत्थि ॥

अथवेति प्रकारान्तरताद्योतको णमिति वाक्यालङ्कारे इह चतुर्भङ्गीप्रतिपक्षपदोपस्थित्या (से) तस्य भवति। तत्र एकस्मिन् पक्षे सचित्तमिश्रे एकचतुष्के अचित्तः। ततः प्रागुक्तक्रमेण चतुर्भङ्गी भवति तद्यथा सचित्तमिश्रे सचित्तमिश्रं सचित्तमिश्रे अचित्तम् अचित्ते अचित्तमिति। अत्रापि प्रागिव एकैकस्मिन् भङ्गे पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिभेदात् । तत्र षट्त्रिंशद् भेदाः सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतं तत्रादित्रिके आदिमे भङ्गत्रये कथा नास्ति ग्रहणे वार्ता न विद्यते सामर्थ्याच्चतुर्थो भङ्गः कल्पते। तदेवं "पुढवीत्यादि" स्थलमाद्ययोः पूर्वार्द्धम् व्याख्यातं। संप्रति "एक्केक्के दुहाणंतरमि" त्यवयवं व्याचिख्यासुर्द्वितीयचतुर्भङ्ग्याः सत्कस्य तृतीयस्य भङ्गस्य सामान्यतोऽशुद्धस्य विषये विशेषं विभणिषुरनन्तरपरंपरया वा मार्गणां करोति।

जं पुण अचित्तदव्वं, निक्खिप्पइ चेयणेसु दव्वेसु ।
तह मग्गणा उ इणमो, अणंतरपरंपरं होइ ॥

यत् किमपि अचित्तं द्रव्यमोदनादि चेतनेषु सचित्तेषु मिश्रेषु वा निक्षिप्यते तत्रेयमनन्तरं परंपरया वा मार्गणा परिभावनं भवति।

ओगाहिमादणंतर–परपिढरगाइपुढवीए ।
नवणीयाइ अणंतर–परंपरा ताव माईसु ॥

अवगाहिमादि पक्वान्नं मण्डकप्रभृति पृथिव्यामनन्तरनिक्षिप्तं पृथिव्या एवोपरि स्थिते पिठरकादौ यन्निक्षिप्तमवगाहिमादि तत्परंपरानिक्षेप उक्तः। सम्प्रत्यप्कायमाश्रित्य "नवणीए" इत्यादि नवनीतादि म्रक्षणस्थानीभूतघृतादिसचित्तादिरूपे उदके निक्षिप्तमनन्तरनिक्षिप्तं तदेव नवनीतादि वा अवगाहिमादि वा जलमध्यस्थितेषु नावादिषु स्थितं परंपरनिक्षिप्तम्। सम्प्रति तेजस्कायमधिकृत्यानन्तरे परंपरे व्याख्यानयन् " अगणिम्मि सत्तविहो " इत्याद्यवयवं व्याख्यानयति ॥

विज्झायमम्मुरिंगा–लमेव अप्पत्तपत्तसमजाले ।
वोकंते सत्त इगं, जंतोलित्ते य जयणाए ॥

इह सप्तधा वह्निस्तद्यथा विध्यातो, मर्मुरो, ऽङ्गारः, अप्राप्तः, प्राप्तः, समज्वालो व्युत्क्रान्तश्च । तत्र यः स्पष्टतया प्रथमं नोपलभ्यते। पश्चादिन्धनप्रक्षेपे वृद्धिमपि गच्छति स व्युत्क्रान्तः। एते सप्त भेदास्तेजस्कायस्य। तत्र एकैकस्मिन् भेदे द्विकं तद्यथा अनन्तरनिक्षिप्तं परंपरनिक्षिप्तं च। तत्र यत् विध्यातादिरूपे वह्नौ मण्डकादि प्रक्षिप्यते तत् अनन्तरनिक्षिप्तम् यत्पुनरग्नेरुपरस्थापिते पिठरादौ क्षिप्तं तत्परंपरनिक्षिप्तम् तत्र सप्तानां भेदानां मध्ये यमेव तमेवाधिकृत्य यन्त्रेषु रसपाकस्थाने कटाहादौ अवलिप्ते मृत्तिकाखरण्टिते यतनया परिसाटिपरिहारेण ग्रहणमिक्षुरसस्य कल्पते। संप्रत्येनामेव गाथां व्याख्यानयन् प्रथमतो विध्यातादीनां स्वरूपं गाथाद्वयेनाह ।

विज्झाउं ति न दीसइ, अग्गी दीसेइ इंधणे छूढे ।
आपिंगलअगणिकणा, मम्मुरनिज्झालइंगाले ॥
अप्पत्ता उ चउत्थे, जाला पिढरं तु पंचमे पत्ता ।
छट्ठ पुण कन्नसमा, जालासमइत्थिया चरिमे ॥

सुगमं नवरं (अप्पत्ता उ चउत्थे जाला इत्ति) चतुर्थे अप्राप्ताख्ये भेदे पिठरमप्राप्ता ज्वाला द्रष्टव्याः। पञ्चमेत्यत्राप्यक्षरगमनिका कार्या। संप्रति (जं तोलिते य जयणाए) इत्यवयवं व्याचिख्यासुराह ॥

यं सो लित्तकडाहे, परिसाडी नत्थि तं पि य विसालं ।
सो वि य अचिरछूढो, इच्छुरसो नाइउसिणो य ॥

इह यदीति सर्वत्राध्याह्रियते यत् यदि कटाहः पिठरविशेषः पिठरः पार्श्वेषु मृत्तिकया वा लिप्तो भवति। दीयमाने चेक्षुरसे यदि परिसाटिर्नोपजायते तदपि च कटाहरूपं भाजनं यदि विशालं विशालमुखं भवति। सोऽपि चेक्षुरसोऽचिरक्षिप्त इति कृत्वा यदि नात्युष्णो भवति तदा स दीयमान इक्षुरसः कल्पते। इह यदि दीयमानस्येक्षुरसस्य कथमपि बिन्दुर्बहिः पतति तर्हि स लेप एव वर्त्तते न तु चुल्लीमध्यस्थिततेजस्कायमध्ये पतति, ततः पार्श्वावलिप्त इति कटाहस्य विशेषणमुक्तम्। तथा विशालमुखादाकृष्यमाण उदञ्चनः पिठरस्य कर्णे न लगति। ततो न पिठरस्य भङ्ग इति न तेजस्कायविराधनेति विशालग्रहणम्। अनत्युष्णग्रहणे तु कारणं स्वयमेव वक्ष्यति। संप्रत्युदकमधिकृत्य विशेषमाह ।

उसिणोदगं पि घेप्पइ, गुलरसपरिणामियं न अच्चुसिणं ।
जं तु अघट्टियकंतं, कड्ढिय परूणं पि मा अग्गी ॥

उष्णोदकमपि गुडरसपरिणामितमनत्युष्णं गृह्यते । किमुक्तं भवति यत्र कटाहे गुडः पूर्वं क्वथितो भवति तस्मिन् निक्षिप्तं जलमीषत्तप्तमपि कटाहसंसक्तगुडरसमिश्रणात् सत्वरं सचित्तीभवति। ततस्तदनन्तरमपि कल्पते। अत्रापि पार्श्वावलिप्तकटाहस्थितमपरिसाटि मन्वेति विशेषणद्वयमनुपात्तमपि द्रष्टव्यम्। तथा यत् अघट्टितकर्णं न यस्मिन् दीयमाने पिठरस्य कर्णावुदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा घट्येते तद्दीयमानः कल्प्यते इत्याह। (कड्ढियपरूणं पि मा अग्गी) उदञ्चनेन प्रविशता निर्गच्छता वा पिठरस्य कर्णयोर्घट्यमानयोर्लेपस्योदकस्य वा पतनेन नाग्निर्विराध्यतेति कृत्वा एतेन वक्ष्यमाणः षोडशभङ्गानामाद्यो भङ्गो दर्शितः। संप्रति तानेव षोडशभङ्गान् दर्शयति ।

पासोलित्तकडाहे, नच्चुसिणो अपरिसाडिघट्टंते ।
सोलसभंगविगप्पो, पढमे सुद्धा न सेसेसु ॥

पार्श्वावलिप्तः कटाहः अनत्युष्णो दीयमान इक्षुरसादिः अपरिसाटिः परिसाटयभावः (अघट्टंते इति) उदञ्चनेन पिठरकर्णाघट्टने इत्यन्तानि चत्वारि पदान्यधिकृत्य षोडश भङ्गा भवन्ति । भङ्गानां च नयनार्थमियं गाथा ।

एय समदुग अब्भा, सेसा भंगाण तेसि महुरयणा ।
एगंतरियं लहु गुरु-लहुगुरुगा य वामेसु ॥

अस्य व्याख्या इह यावतां पदानां भङ्गा आनेतुं चिन्त्यन्ते । तावन्तो द्विका ऊर्ध्वाधः क्रमेण स्थाप्यन्ते । ततः प्रथमो

२
२
२
२

द्विको द्वितीयेन द्विकेन गुण्यते जाताश्चत्वारस्तैस्तृतीयो द्विको गुण्यते जाता अष्टौ तैरपि चतुर्थो द्विको गुण्यते जाताः षोडश एतावन्तश्चतुर्णां पदानां भङ्गा भवन्ति । तेषां च पुनर्भङ्गानामेषा रचना प्रथमपङ्क्तावेकान्तरितम् । लघु गुरु प्रथमं लघु ततो गुरु पुनर्लघु पुनर्गुरु एवं यावत् षोडशो भङ्गाः । ततः प्रज्ञापकापेक्षया वामेषु वामपार्श्वेषु द्विगुणा लघुगुरवः । तद्यथा द्वितीयपङ्क्तौ प्रथमं द्वौ लघू ततो द्वौ गुरू ततो भूयोऽपि द्वौ लघू एवं यावत् षोडशो भङ्गाः । तृतीयपङ्क्तौ प्रथमं चत्वारो लघवस्ततश्चत्वारो गुरवस्ततः पुनश्चत्वारो गुरवः चतुर्थपङ्क्त्यां प्रथममष्टौ लघवः । ततोऽष्टौ गुरवः । स्थापना ।

IIII	ISII	SIII	SSII
IIIS	ISIS	SIIS	SSIS
IISI	ISSI	SISI	SSSI
IISS	SSS	SISS	SSS

अत्र ऋजवोऽशाः शुद्धाः वक्राश्चाशुद्धाः । इह षोडशानां भङ्गानामाद्यो भङ्गोऽनुज्ञातः शेषेषु पञ्चदशसु भङ्गेषु समत्युष्णग्रहणे दोषानाह ।

दुविह विराहण उसिणे, छडुणहाणी य भाणभेओ य ।
वाउक्खित्ताणंतर-परंपरा य पामयवत्थि ॥

तप्तेऽत्युष्णे इक्षुरसादौ दीयमाने द्विधा विराधना आत्मविराधना परविराधना च । तथाहि यस्मिन् भाजने ततस्ततोऽत्युष्णं गृह्णाति । तेन ततः सत् भाजनं हस्तेन साधुर्गृह्णन् दह्यते इत्यात्मविराधना । येनापि स्थानेन दात्री ददाति तेनाप्यत्युष्णेन सा दह्यत इति । तथा (छडुणे हाणीयत्ति) अत्युष्णमिक्षुरसादि कष्टेन दात्री दातुं शक्नोति कष्टेन च दाने कथमपि साधुसत्कभाजनाद्बहिरुज्झने हानिर्दीयमानस्येक्षुरसादेः । तथा (भाणभेओ इत्ति)तस्य भाजनस्य साधुना वा नयनायोत्पाटितस्य पतद्ग्रहणादेर्दात्र्या वा दानायोत्पाटितस्योदञ्चनस्य गण्डरहितस्यात्युष्णतया झगिति भूमौ मोचने भङ्गः स्यात् । तथा च षड्जीवनिकायविराधनेति । संयमविराधना संयमप्रतिकायमधिकृत्यानन्तरपरंपरे दर्शयन्ति । वातोत्क्षिप्ताः समीरणोत्पाटिताः पर्पटिताः पर्पटिका शालिपर्पटिका अनन्तरं निक्षिप्तं परंपरनिक्षिप्तम् (वत्थिति) बिलाक्लिलोपाङ्गस्तौ उपलक्षणमेतत् समीरणापूरितवस्तिप्रभृति व्यवस्थितं मण्डकादि । संप्रति वनस्पतिविषयं द्विविधमपि निक्षिप्तमाह ।

हरियाइ अणंतरिया, परंपरं पिठरगाइसु वराणम्मि ।
पूपाइ पिट्ठिणंतर-भरये कुउवाइसु इयरा ॥

वने वनस्पतिविषये अनन्तरनिक्षिप्ता हरितादिषु सचित्तव्रीहिकाप्रभृतिषु अनन्तरिता निक्षिप्ता अपूपादय इति शेषः । हरितादीनामेवोपरिस्थितेष्वपि पिठरादिषु निक्षिप्ताः अपूपादयः परंपरनिक्षिप्तम् । तथा बलीवर्दादीनां पृष्ठे अनन्तरनिक्षिप्ता अपूपादयः असेष्वनन्तरनिक्षिप्तं बलीवर्दादिपृष्ठ एव भरके कुतुपादिषु वा भाजनेषु निक्षिप्ता मोदकादयः परंपरनिक्षिप्तम् इह सर्वत्रानन्तरनिक्षिप्तं न ग्राह्यं सचित्तसङ्घट्टनादिदोषसम्भवात् । परंपरनिक्षिप्तं तु सचित्तसंघट्टनादि परिहारेण यतनया ग्राह्यमिति संप्रदायः । उक्तं निक्षिप्तद्वारम् ।

अथ पिहितद्वारमाह ।

सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसगपिहियम्मि होइ चउभंगो ।
आगतिगे पडिसेहो, चरिमे भवम्मि भयणा उ ॥

इह सचित्त इत्यादौ सप्तमी तृतीयार्थे ततोऽयमर्थः सचित्तेन अचित्तेन मिश्रेण वा पिहिते चतुर्भङ्गी भवति । अत्र जातावेकवचनम् । तत्र तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति द्रष्टव्यम् । तत्रैका सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्याम् । तत्र सचित्तेन सचित्तं पिहितं, मिश्रेण, सचित्तं सचित्तेन मिश्रं, मिश्रेण मिश्रमिति प्रथमा चतुर्भङ्गी । तथा सचित्तेन सचित्तं पिहितम् । अचित्तेन सचित्तं । सचित्तेनाचित्तम् अचित्तेनाचित्तमिति द्वितीया चतुर्भङ्गी । तथा मिश्रेण मिश्रं पिहितं, मिश्रेणाचित्तम् । अचित्तेन मिश्रम् । अचित्तेनाचित्तमिति । तृतीया । तत्र गाथापर्यन्तं तुशब्दवचनात्प्रथमचतुर्भङ्ग्यां सर्वेष्वपि भङ्गेषु न कल्पते द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकायास्तु प्रत्येकमादिमेषु त्रिषु भङ्गेषु न कल्पते इत्यर्थः । चरमे तु भङ्गे ' अनसोवगुरुणेत्यादिना ' स्वयमेव वक्ष्यते । संप्रति चतुर्भङ्गीत्रयविषयावान्तरभङ्गकथनेऽतिदेशमाह ॥

जह चेव उ निक्खित्ते, संजोगा चेव होंति भंगा य ।
एमेव य पिहियम्मि वि, नाणत्तमिणं तइयभंगे ॥

यथैव निक्षिप्ते निक्षिप्तद्वारे सचित्ताचित्तमिश्राणां संयोगाः प्रागुक्ता यथैव सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निक्षिप्त इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गीत्रयसङ्ख्येकैकस्मिन् भङ्गे षट्त्रिंशद्भेदाः सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि । तथात्रापि पिहितद्वारे द्रष्टव्याः । तथाहि प्रागिवात्रापि चतुर्भङ्गीत्रयम् एकैकस्मिंश्च भङ्गे सचित्तपृथिवीकायं सचित्तपृथिवीकायेन पिहितम् । सचित्तपृथिवीकायेनावष्टब्धं मण्डकादि सचित्तपृथिवीकायानन्तरपिहितं, सचित्तपृथिवीकायगर्भपिठरादिपिहितादिरूपतया स्वस्थानपरस्थाने अधिकृत्य षट्त्रिंशत् भेदाः सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गानाम् । नवरं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्ग्योः प्रत्येकं तृतीये २ भङ्गे अनन्तरपरंपरमार्गणाविधौ निक्षिप्तद्वारादिकं वक्ष्यमाणनानात्वमवसेयं निक्षिप्ते अनेन प्रकारेणानन्तरपरंपरमार्गणा कृता अत्र त्वन्येन प्रकारेण करिष्यते इति भावः । तत्र सचित्तपृथिवीकायेनावष्टब्धं मण्डकादि सचित्तपृथिवीकायानन्तरपिहितं सचित्तपृथिवीकायगर्भपिठरादिपिहितं सचित्तपृथिवीकायपरंपरमोदकादि सचित्ताप्कायानन्तरपिहितं हिमादिगर्भपिठरादिना पिहितं सचित्ताप्कायानन्तरपिहितं सचित्ततेजस्कायादिपिहितमनन्तरपरंपरञ्च गाथाद्वयेनाह ।

अंगारधूवियाई, अणंतरो परंपरो सरावाई ।
तत्थेव अइरवाऊ, परपरं वत्थिणं पिहियं ॥

अइरं फलाइपिहियं, वणम्मि इयरं तु छव्वपिढराई ।
कत्थइ संचाराई, अणंतरो णंतरो छट्ठे ॥

इह यदा स्थाल्यादौ संस्वेदनादीनां मध्ये अङ्गारं स्थापयित्वा हिङ्ग्वादिना वासो दीयते तदा तेनाङ्गारेण केषाञ्चित् संस्वेदनादीनां संस्पर्शोऽस्तीति ता अनन्तरपिहिताः ॥ आदिशब्दाच्चणकादिकं मुर्मुरादिक्षिप्तमनन्तरपिहितमवगन्तव्यम् । अङ्गारभृतेन शरावादिना स्थगितं पिठरादि परंपरपिहितम् । तथा तत्रैव अङ्गारधूपितादौ (अइरत्ति) अतिरोहितमनन्तरपिहितं वायौ द्रष्टव्यं 'यत्राग्निस्तत्र वायुरिति' वचनात् समीरणे भूते न तु वस्तिना उपलक्षणमेतत् वस्तिदृतिप्रभृतिना पिहितं परंपरपिहितमवसेयम् । यथा वने वनस्पतिकायविषये फलादिना (अइरत्ति) अतिरोहितेन पिहितमनन्तरपिहितम् ॥ छव्वपिठरादौ छव्वकस्थाल्यादौ स्थितेन फलादिना पिहितं (इयरंति) परंपरपिहितम् । तथा त्रसे त्रसकायविषये कच्छपेन संचारादिना वा कीटिकापङ्क्त्यादिना यत्पिहितं तत् अनन्तरपिहितम् । कच्छपसंचारादिगर्भपिठरादिना पिहितम् । इहानन्तरपिहितमकल्प्यं परंपरपिहितं तु भजनया ग्राह्यम् । यदुक्तं " चरमे भङ्गम्मि भयणाउ" इति तद्व्याख्यानयन्नाह ।

गुरु गुरुएण गुरु लहुणा य, लहुयं गुरुएण दो वि लहुयाई ।
अच्चित्तेण वि पिहिए, चउभंगो दोसु आगइयं ॥

अचित्तेनापि अचित्ते देयवस्तुनि पिहिते चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गास्तद्यथा गुरु गुरुणा पिहितमित्येको भङ्गः । गुरु लघुनेति द्वितीयः । लघु गुरुणेति तृतीयः (दो वि लहुयाइत्ति) लघु लघुना पिहितमिति चतुर्थः । एषु च चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये द्वयोः प्रथमतृतीयभङ्गयोरग्राह्यं गुरुद्रव्यस्योत्पाटने कथमपि तस्य पाते पादादिभङ्गसंभवात् ततः पारिशेष्यात् द्वितीयचतुर्थयोर्भङ्गयोर्ग्राह्यमुक्तदोषाभावात् । देयवस्त्वाधारस्य पिठरादेर्गुरुत्वेऽपि ततः करोटिकादीनां दानसंभवात् । उक्तं पिहितद्वारम् ।

अथ संहृतद्वारमाह ।

सच्चित्ते अचित्ते, मीसगसंहरणे य चउभंगो ।
आइतिए पडिसेहो, चरिमे भंगम्मि भयणा उ ॥

इह येन मात्रकेण कृत्वा भक्तादिकं दातुमिच्छति दात्री तत्र यद्दातव्यं किमपि सचित्तमचित्तं मिश्रं वाऽस्ति ततस्तदन्यत्र स्त्रीस्यादौ क्षिप्त्वा तेनान्यत्र ददाति तच्च कदाचित्सचित्तेषु पृथिव्यादिषु मध्ये क्षिपति कदाचिदचित्तेषु कदाचिन्मिश्रेषु क्षपणा च संहरणमुच्यते । ततः संहरणे सचित्ताद्यधिकृत्य चतुर्भङ्गी । अत्र जातावेकवचनं मिश्रचतुर्भङ्गी अत्र जातावेकवचनात्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीत्यर्थः । तथाहि एका चतुर्भङ्गी सचित्तमिश्रपदाभ्यां, द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां, मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीयेति । तत्र सचित्ते सचित्तं संहृतं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमिति प्रथमा चतुर्भङ्गी । तथा सचित्ते सचित्तं संहृतमचित्ते सचित्तं सचित्ते अचित्तम् अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया । मिश्रे मिश्रं संहृतम्, अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया । अत्र गाथापर्यन्तं तुशब्दसामर्थ्यात्प्रथमचतुर्भङ्गिकायाः सर्वेष्वपि भङ्गेषु प्रतिषेधः । द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकयोस्तु आदिकेष्वादिमेषु त्रिषु त्रिषु भङ्गेषु प्रतिषेधश्चरमे भजना ।

अधुना चतुर्भङ्गीत्रयसत्कावान्तरभङ्गकथने अतिदेशमाह ॥

जह चेव उ निक्खित्ते, संजोगा चेव होंति भंगा य ।
तह चेव उ साहरणे, नाणत्तमिणं तइयभंगे ॥

यथैव निक्षिप्ते निक्षिप्तद्वारे सचित्ताचित्तमिश्रपदानां संयोगाः कृता यथैव च सचित्तः पृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकायस्योपरि निक्षिप्त इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया चतुर्भङ्गीत्रयभङ्गेष्वेकैकस्मिन् भङ्गे षट्त्रिंशत् २ भङ्गा उक्ताः सर्वसंख्यया चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि भङ्गानां तथात्रापि संहृतद्वारे द्रष्टव्याः । तथाहि प्रागिवात्रापि चतुर्भङ्गीत्रयमेकैकस्मिंश्च भङ्गे सचित्तः पृथिवीकायः मध्ये संहृत इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थाने अधिकृत्य षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्भेदाः सर्वसंख्यया भङ्गानां चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि नवरं द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गिकयोः प्रत्येकं तृतीये भङ्गे अनन्तरपरंपरमार्गणाविधौ निक्षिप्तद्वारादाविदं वक्ष्यमाणं नानात्वमवसेयम् । निक्षिप्तद्वारे अन्येन प्रकारेणानन्तरमार्गणा कृता अन्यत्र संहृतद्वारे अन्यथा करिष्यते इति भावः तदेवान्यथात्वं दर्शयन् संहरणलक्षणमाह ॥

मत्तेण जेण दाहिइ, तत्थ अदिज्जं तु होज्ज असणाइ ।
छुंतुं यं तह ते मा, देइ अह होइ साहरणं ।

येन मात्रकेण दास्यति दात्री तत्रादेयं किमप्यस्ति अशनादिकं प्रकारादि सचित्तं पृथिवीकायादिकं वा ततस्तत् अदेयमन्यस्थानान्तरे क्षिप्त्वा ददाति (अहत्ति) एतत्संहरणम् । तत एतल्लक्षणानुसारेणानन्तरपरंपरमार्गणाऽनुसारणीया । तद्यथा सचित्तपृथिवीकायमध्ये यदा संहरति तदाऽनन्तरसचित्तपृथिवीकाये संहृतम् । यदा तु सचित्तपृथिवीकायस्योपरिस्थिते पिठरादौ संहरति तदा परंपरया सचित्तपृथिवीकाये संहृतमेवमप्कायादिष्वपि भावनीयम् । अनन्तरसंहृते न ग्राह्यं परंपरसंहृते पृथिवीकायादिषु घट्टने ग्राह्यमिति । संप्रति द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गीसत्कं तृतीयं भङ्गमाश्रित्य येषु वस्तुषु मा[पा]त्रकस्थितमदेयं वस्तु संहरति तान्युपदर्शयति ।

भूमाइएसु तं पुण, साहरणं होइ छसु निकाएसु ।
जं तं दुहा अचित्तं, साहरणं तत्थ चउभंगो ।

तत् पुनर्मात्रकस्थितस्यादेयस्य वस्तुनः संहरणं भूम्यादिकेषु सचित्तपृथिवीकायादिषु षट्सु जीवनिकायेषु प्रक्षप्ति जायते । तत्र चानन्तरोक्त एव कल्प्याकल्प्यविधिरवधारणीयः । तथा यत्संहरणं द्विधाऽपि आधारापेक्षया च अचित्तमचित्तसचित्ते यत्संह्रियते इत्यर्थः । तत्र चतुर्भङ्गी चत्वारो भङ्गास्तानेवाह ।

सुक्खे सुक्खं पढम, सुक्खे उल्लं तु बिइयओ भंगो ।
उल्ले सुक्खं तइओ, उल्ले उल्लं चउत्थो उ ।

शुष्के शुष्कं संहृतमिति प्रथमो भङ्गः । शुष्के आर्द्रमिति द्वितीयः । आर्द्रे शुष्कमिति तृतीयः । आर्द्रे आर्द्रमिति चतुर्थः ।

एकेके चउभंगो, सुक्खाईएसु चउसु भंगेसु ।
थोवे थोवं थोवे, बहुं च विवरीय दो अन्ने ।

शुष्कादिषु शुष्के शुष्कसंहृतमित्यादिषु चतुर्षु भङ्गेषु मध्ये एकैकस्मिन् भङ्गे चतुर्भङ्गी तद्यथा स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं स्तोके शुष्के बहु शुष्कं (विवरीय दो अन्नेत्ति) एतद्विपरीतौ द्वौ अन्यौ भङ्गौ द्रष्टव्यौ । तद्यथा शुष्के बहुकं स्तोके शुष्कम् । बहुके शुष्के बहु शुष्कमिति । एवं शुष्के आर्द्रमित्यादिष्वपि त्रिषु भङ्गेषु स्तोके स्तोकमित्यादिरूपा चतुर्भङ्गी प्रत्येकं भावनीया । सर्वसंख्यया षोडश भङ्गाः । अत्र कल्प्यविधिमाह ।

जत्थ उ थोवे थोवं, सुक्खे उल्लं व होइ तं गिज्झं ।
जइ तं तु समुक्खित्तं, थोवाहारं दलइ अन्नो ।

यत्र तु भङ्गे स्तोकं तुशब्दाद्बहुके च संहृतं भवति तदपि शुष्के शुष्कं कल्पते एव अथवा शुष्के आर्द्रे चाशब्दादार्द्रे शुष्कमार्द्रे आर्द्रं वा तदा तत् ग्राह्यं न शेषम् । कुत इत्याह (जइ इत्यादि) यदि तत् अदेयं वस्तु स्तोकाभारं बहुभाररहितमन्यत्र समुत्क्षिप्तत्ये-तद्ददाति तर्हि तदार्द्रं कल्पते नान्यथा बहु । किञ्च संह्रियमाणं बहु भारं भवति । ततः शुष्के शुष्कमित्यादिषु चतुर्ष्वपि भङ्गेषु प्रत्येकं स्तोके स्तोकमिति । प्रथमतृतीयौ भङ्गौ कल्पेते न द्वितीयचतुर्थौ तत्र दोषानाह ।

उक्खेवे निक्खेवे, महल्लभाणम्मि लुद्धवह भाहो ।
अवियत्तं वोच्छेउ, छक्कायवहो य गुरुमत्ते ।

महति भाजने प्रभूतादेयवस्तुभारयुक्ते गुरुमात्रकरूपे उत्क्षेपे उत्पाट्यमाने(निक्खेवेत्ति,) निक्षिप्यमाणे दाज्याः पीडा भवति । तथा क्षयवयं न परपीडां गणयतीति निन्दा तथा तद् भाजनं कदाचिदुष्णभक्तादिभृतं स्यात्ततस्तस्योत्पाटने कथमपि तस्य च विभिन्नाशो दाज्याः साधोर्वा दाहः स्यात् । तथा मुण्डस्य भिक्षादानायोत्पादितमिदं भ्रममित्येवं खेदवशतः कदाचिदप्रीतिरुपजायते ततस्तत्र द्रव्यस्य तद्व्यवच्छेदः । तथा महति भाजने भग्ने तन्मध्ये स्थिते भक्तादौ सर्वतो विसर्पति भूम्यादिस्थितपृथिवीकायादिजन्तुविनाशः । यत एवमेते दोषास्ततः स्तोके बहुकं बहुके बहुकमिति द्वौ भङ्गौ सर्वथापि न कल्पेते । एतदेवाह ।

थोवे थोवं छूढं, सुक्के उल्लं तु आइन्नं ।
बहुयं तु अणाइन्नं, कमदोसो त्ति काऊणं ।

स्तोके स्तोकम् उपलक्षणमेतत् । बहुके वा स्तोकं यन्निक्षिप्तं तदपि शुष्के शुष्कं कल्पते एव ततः । शुष्के आर्द्रे तुशब्दात् आर्द्रे शुष्कम् आर्द्रे आर्द्रे च तत् भवति । आचीर्णं कल्पते इति भावः । यत्तु बहुकं स्तोके बहुके वा संह्रियते तत् अनाचीर्णं कुत इत्याह । स बहुकसंहारः कृतदोषोऽनन्तरगाथायामुक्तदोष इति कृत्वा, उक्तं संहृतद्वारम् । अथ दायकद्वारं गाथाषट्केनाह ।

बाले वुड्ढे मत्ते, उम्मत्ते वेविए य जरिए य ।
अंधेल्लए पगलिए, आरूढे पाउयाहिं च ।
हत्थन्दुनियलबद्धे, विवज्जिए चेव हत्थपाएहिं ।
तेरासिगुव्विणी बा–लवच्छभुंजंति फसुलेंती ॥
भज्जंती य दलंती य, कडुंती चेव तह य पीसंती ।
पिंजंती सेवंती, कन्नंति य मद्दमाणी य ।
छक्कायवग्गहत्था, समणट्ठा निक्खिवित्तु ते चेव ॥
तं वा वोगाहंती, संघट्टंती रभंती य ॥
संसत्तेण य दव्वेण, लित्तहत्था य लित्तमत्ता य ।
उव्वत्तंती साहा–रणं व दिंती य चोरियं ॥
पाहुडियं व ठवंती, सपच्चवाया परं च उद्दिस्स ।
आभोगमणाभोगे–ण दलंती वज्जणिज्जाए ॥

बालादौ या वर्जनीया इति क्रियायोगः । तत्र बालो जन्मतो वर्षाष्टकास्यान्तर्वर्ती १ वृद्धः सप्ततिवर्षाणां मतान्तरापेक्षया षष्ठिवर्षाणां वा उपरिवर्ती २ मत्तः पीतमदिरादिः ३ उन्मत्तो दृप्तो ग्रहगृहीतो वा ४ वेपमानः कम्पमानशरीरः ५ ज्वरितो ज्वररोगपीडितः ६ अन्धश्चक्षुर्विकलः ७ प्रगलितो गलत्कुष्ठः ८ आरूढपादुकयोः काष्ठमयोपानहोः । ९ । तथा हस्तान्दुना करविषयकाष्ठबन्धने १० निगडेन च पादविषयलोहमयबन्धनेन बद्धः ११ हस्ताभ्यां १२ पादाभ्यां वर्जितस्थिलत्वात् ॥ १३ त्रैराशिको नपुंसकः १४ । गुर्वी आपन्नसत्वा ।१५। बालवत्सशून्योपजीविविशिशुका १५ भुञ्जाना भोजनं कुर्वती १६ फसुलंती दध्यादि मन्थन्ती । १७ । भर्जयन्ती चुल्ल्यां कटिल्लकादि चनकादि स्फोटयन्ती । १८ दलन्ती घरट्टेन गोधूमादि चूर्णयन्ती १९ कण्डयन्ती उदूखले तण्डुलादिकं कण्डयन्ती । २० पिषन्ती शिलया तिलामलकादि प्रमृद्नन्ती २१ पिञ्जयन्ती पिञ्जनेन रुतादिकं विरलं कुर्वती । २२ सेवन्ती कार्पासं लोठिन्यां लोठयन्ती २३ कृन्तन्ती कर्त्तनं कुर्वती । २४ । प्रमृज्यन्ती रुतकसाभ्यां पौनःपुन्येन विरलं कुर्वती २५ षट्कायव्यग्रहस्ता षट्काययुक्तहस्ता २६ यथा श्रमणस्य भिक्षामादाय तानेव षट्कायान् भूमौ निक्षिप्य ददती २७ तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती । २८ । संघट्टयन्ती तानेव षट्कायान् शेषशरीरावयवेनैव स्पृशन्ती । २९ । आरभमाणा तानेव षट्कायान् विनाशयन्ती । ३० । संसक्तेन दध्यादिना द्रव्येण लिप्तहस्ता खरण्टितहस्ता । ३१ । तथाऽनेनैव द्रव्येण दध्यादिना संसक्तेन लिप्तमात्रा खरण्टितमात्रा । ३२ । उद्वर्तयन्ती महत्पिठरादिकमुद्वर्त्य तन्मध्याद्ददती ३३ साधारणं बहूनां सत्कं ददती ३४ तथा चोरितं ददती ३५ अग्रकूरादिनिमित्तं मूलस्थाल्यामाकृष्य स्थगनिकादौ मुञ्चन्ती ३६ संप्रत्यपाया संभाव्यमानापाया दात्री ३७ तथा विवक्षितसाधुव्यतिरेकेण परमन्यं साध्वादिकमुद्दिश्य यत् स्थापितं तद्ददती ३८ तथाऽऽभोगेन साधूनामित्थं न कल्पत इति परिज्ञाप्योपपत्त्या शुद्धं ददती ३९ अथवा अनाभोगेनाशुद्धं ददती ४० सर्वसंख्यया चत्वारिंशद्दोषाः । इह म्रक्षितादिद्वारेषु "संसज्जिमेहि वज्ज अगारिहिं एहिं पि गोरसद्दवेहिं"। इत्यादिग्रन्थेन संसक्तादिदोषाणामभिधानेऽपि यद्भूयोऽप्यत्र "संसत्तेण य दव्वेण लित्तहत्था य लित्तमत्ताये" त्याद्यभिधानं तद्दोषदायकदोषाणामेकत्रोपदर्शनार्थमित्यदोषः । संप्रत्येतेषामेव दायकानामपवादमधिकृत्य वर्जनावर्जनविभागमाह ।

एएसि दायगाणं, गहणं केसिं वि होइ भइयव्वं ।
केसिं चीअग्गहणं, तव्विवरीए जवग्गहणं ॥

एतेषां बालादीनां दायकानां मध्ये केषाञ्चिन्मूलत आरभ्य पञ्चविंशतिसंख्यानां ग्रहणं भजनीयं कदाचित्तथाविधं महत्प्रयोजनमुद्दिश्य कल्पते शेषकाले नेति । तथा केषाञ्चित्षट्कायव्यग्रहस्तादीनां पञ्चदशानां हस्ताद्ग्रहणं भिक्षायाः तद्विपरीतेषु बालादिविपरीतेषु दातरि ध्रुवो ग्रहणं संप्रति बालादीनां हस्तादितो भिक्षाया ग्रहणे ये दोषाः संभवन्ति ते दर्शनीयास्तत्र प्रथमतो बालमधिकृत्य दोषानाह ॥

केउट्टिगअप्पाहि–ऊणं दिन्ने व नगहणपज्जत्तं ।
खंतियमग्गणदिन्ने, उड्डाहं पउसचारजमा ॥

काचिदभिनवा श्राद्धिका श्रमणेभ्यो भिक्षां दद्यादिति निजपुत्रिकां (अप्पाहिऊणं ति) संदिश्य भक्तं गृहीत्वा क्षेत्रं जगाम । गतायां तस्यां कोऽपि साधुः संघाटको भिक्षामागतः तया च बालिकया तस्मै तन्दुलौदनो वितीर्णः सोऽपि च संघाटकमुख्यसाधुस्तां बालिकां मुग्धतरामवगत्य लम्पटतो भूयो भूय ददाव पुनर्देहि पुनर्देहीति ततस्तया समस्तोऽप्योदनो दत्तस्तत एव

मुरूपूततक्रदध्यादिकमपि । अपराह्णे च समागता जननी उपविश्य भोजनाय भणिता निजपुत्रिका । देहि पुत्रि ! मह्यमोदनमिति । साऽवोचत् दत्तः समस्तोऽप्योदनः साधवे । साऽब्रवीत् शोभनं कृतवती । मुद्गान् मे देहि सा प्राह मुद्गा अपि साधवे सर्वे प्रदत्ताः । एवं यद् यत् किमपि सा याचते तत्तत्सर्वं साधवे दत्तमिति । ततः पर्यन्ते काञ्जिकमात्रं यावत्तदपि बालिका भणति साधवे दत्तमिति । ततः साऽभिनवश्राविका रुष्टा सती पुत्रिकामेवमपवदति किमिति त्वया सर्वं साधवे दत्तं सा ब्रूते स साधुर्भूयो भूयो याचते ततो मया सर्वमदायि ततः सा साधोरुपरि कोपावेशमाविशन्ती सूरीणामन्तिकमगमत् । अचकथच्च सकलमपि साधुवृत्तान्तं यथा भवदीयो यः साधुरित्थमित्थं मत्पुत्रिकायाः सकाशात् याचित्वा याचित्वा सर्वमोदनादिकमानीतवानिति । एवं तस्यां महता शब्देन कथयन्त्यां शब्दश्रवणतः प्रातिवेश्मिकजनोऽन्योऽपि च परंपरया भूयान्मिलितो ज्ञातश्च सर्वैरपि साधुवृत्तान्तस्ततो विदधति तेऽपि कोपावेशिनः साधूनामवर्णवादम्, नूनममी साधुवेषविडम्बिनश्चारभटा इव लुण्टका न साधुसदृशा इति ततः प्रवचनावर्णवादापनोदाय सूरिभिस्तस्याः सर्वजनस्य च समक्षं स साधुर्निजस्योपकरणं च सकलमागृह्य सर्वजनैर्निष्काशितः । तत एवं तस्मिन्निष्काशिते श्राविकायाः कोपः शममगमत् । ततः सूरीणां क्षमाश्रमणमादायोक्तवती भगवन् ! मा मन्निमित्तमेष निष्काश्यतां क्षमस्वैकं ममापराधमिति । ततो भूयोऽपि यथावत्साधुः शिक्षयित्वा प्रवेशितः सूत्रं सुगमम् । नवरं (उड्डाहपओसचारभडा इति) लोके उड्डाहस्ततो लोकस्य प्रद्वेषभावतश्चारभटा इव लुण्टका अमी न साधव इत्यवर्णवादः । यत एवं बालाद्भिक्षाग्रहणे दोषास्ततो बालान्न ग्राह्यमिति ।

संप्रति स्थविरदायकदोषानाह ।

थेरो गलंतलालो, कंपणहत्थो पडिज्ज वा देंतो ॥

अपहुत्ति य अचियत्तं, एगयरे वा उभयओ वा ।

अत्यन्तस्थविरो हि प्रायो गलल्लालो भवति । ततो देयमपि वस्तु लालया खरण्टितं भवतीति तद्ग्रहणे लोके जुगुप्सा । तथा कम्पमानहस्तो भवति । ततो हस्तकम्पने चशब्दोऽयं वस्तु भूमौ निपतति तथा च षड्जीवनिकायविराधना । स्वयं वा स्थविरो ददत् निपतेत् तथा च सति तस्य पीडा भूम्याश्रितषड्जीवनिकायविराधना च । अपि च प्रायः स्थविरो गृहस्याप्रभुरस्वामी भवति ततस्तेन दीयमाने प्रचुर एष इति विचिन्त्य गृहे स्वामित्वेन नियुक्तस्य चित्तं प्रद्वेषः स्यात् । स च एकतरस्मिन् साधौ गृहे वा यद्वा उभयोरपीति ।

मत्तोन्मत्तावाश्रित्य दोषानाह ।

अवयासभाणभेओ, वमणं असुइ त्ति लोगगरहा य ।

पंतावणं च मत्ते, वमणविवज्जा य उम्मत्ते ।

मत्तः कदाचिन्मत्ततया साधोरालिङ्गनं विदधाति भाजनं वा भिनत्ति । यद्वा कदाचित्पीतमासवं ददानो वमति वमंश्च साधुं साधुपात्रं वा खरण्टयति । ततो लोके जुगुप्सा धिग् इमे साधवोऽशुचयो ये मत्तादपीत्थं भिक्षां गृह्णन्तीति । तथा कोऽपि मत्तो मदवशान्निर्बलतया रे मुण्ड ! किमत्रायात इति ब्रुवन् घातमिति विदधाति तत एवं यतो मत्तेऽपायादयो दोषास्तस्मान्न ततो ग्राह्यम् । येन त एवालिङ्गनादयो दोषा वमनवर्जा उन्मत्तेऽपि तस्मात्ततोऽपि न ग्राह्यम् ।

संप्रति वेपितज्वरितावाश्रित्य दोषानाह ।

वेविरयपरिसाडणया, पासे वत्थु भेज्ज भाणभेओ वा ।

एमेव य जरियम्मि वि, जरसंकमणं च उड्डाहो ।

वेपितात्तु दातुः सकाशाद्भिक्षाग्रहणे देयवस्तुनः परिशातनं भवति यद्वा पार्श्वे साधुभाजनाद्बहिः स वेपितो देयं वस्तु क्षिपेत् यद्वा येन स्थाल्यादिना भाजनेन कृत्वा भिक्षामानयति तस्य भूमौ निपाते भेदः स्फोटनं स्यात् एवमेव ज्वरितेऽपि दोषा भावनीयाः । किञ्च ज्वरिताद्ग्रहणे ज्वरं संक्रमेण साधोर्भवेत् । तथा जने उड्डाहो यथा अहो अमी आहारलम्पटा यदित्थं ज्वरपीडितादपि भिक्षां गृह्णन्तीति ।

अन्धगलत्कुष्ठावाश्रित्य दोषानाह ।

उड्डाहकायपडणं, अंधे भेओ य पासछुहणं च ।

तद्दोसी संकमणं, गलितभिसभिन्नदेहे य ॥

अन्धाद्भिक्षाग्रहणे उड्डाहः । स चायमहो अमी औदरिका यदन्धादपि भिक्षां दातुमशक्नुवतो भिक्षां गृह्णन्तीति । तथा अन्धोऽपश्यन् पादाभ्यां भूम्याश्रितषड्जीवनिकायघातं विदधाति । तथा लोष्ठादौ स्खलितः सन् भूमौ निपतेत् । तथा च सति भिक्षादानायोत्पाटितहस्तगृहीतस्थाल्यादिभाजनभङ्गः । तथा स देयं वस्तु पार्श्वे भाजनबहिस्तात् प्रक्षेपदर्शनात् तस्मादन्धादपि न ग्राह्यम् । तथा त्वग्दोषिणि किं विशिष्ट इत्याह । गलितं भृशं भिन्नदेहमत्रार्षत्वात् व्यत्यासेन पदयोजना सा चैवं भृशमतिशयेन गलितमर्द्धपक्वं रुधिरं च बहिर्वहनभिन्नश्च स्फुटितो देहो यस्य स तथा तस्मिन् तद्दोषसंक्रमणं कुष्ठव्याधिसंक्रान्तिः स्यात् तस्मात्ततोऽपि न ग्राह्यम् ।

संप्रति पादुकारूढादिचतुष्टयदोषानाह ।

पाउयदुरूढपडणं, बद्धे परियाव असुइखिंसा य ।

करछिन्ना सुइखिंसा, तेच्चिय पायम्मि पडणं च ॥

पादुकारूढस्य भिक्षादानाय प्रचलतः कदाचिद्दुःस्थितत्वात् पतनं स्यात् । तथा बद्धे दातरि भिक्षां प्रयच्छति परितापो दुःखं तस्य भवेत् । तथा (असुइत्ति) तत्र पुरीषोत्सर्गादौ जलेन तस्याशौचकरणासंभवात् । ततो भिक्षाग्रहणे लोके जुगुप्सा यथामी अशुचयो यदेतस्मादप्यशुचित्वयुक्तात् भिक्षामाददते इति । एवं छिन्नकरेऽपि भिक्षां प्रयच्छति लोके जुगुप्सा तथा हस्ताभावेन शौचकरणासंभवात् । एतच्चोपलक्षणं तेन हस्ताभावेन कृत्वा भाजनेन भिक्षां ददाति यद्वा देयं वस्तु तस्य पतनमपि भवति । तथा च सति षड्जीवनिकायव्याघातः । एत एव दोषाः यदि विच्छिन्नपादेऽपि दातरि द्रष्टव्याः केवलं पादाभावेन तस्य भिक्षादानाय प्रचलतः प्रायो नियमतः पतनं पातो भवेत्तथा च सति भूम्याश्रितकीटिकादिकसत्त्वव्याघातः ।

संप्रति नपुंसकमधिकृत्य दोषानाह ।

आयपरोभयदोसा, अभिक्खगहणम्मि खोभणनपुंसे ।

लोकदुगुंछा संका, एरिसया नूणमेए वि ॥

नपुंसके भिक्षां प्रयच्छति आत्मपरोभयदोषः । तथाहि नपुंसकादभीक्ष्णं भिक्षाग्रहणे अतिपरिचयो भवति अतीव परिचयाच्च तस्य नपुंसकस्य साधोर्वा क्षोभो वेदोदयरूपः समुपजायते । ततो नपुंसकस्य साधुलिङ्गाद्यासेवनेन द्वयस्यापि मैथुनसेवया कर्मबन्धः । अभीक्ष्णग्रहणशब्दोपादानाच्च कदाचिद्भिक्षाग्रहणे दोषाभावमाह । परिचयाभावात् । तथा लोके जुगु-

प्सा यथैते नपुंसकादपि भिक्षामाददते इति । साधूनामप्युपरि जनस्य शङ्का भवति तस्माद्यथैतेऽपि साधवो नूनमीदृशा नपुंसकाः कथमन्यथाऽनेन सह भिक्षाग्रहणव्याजतोऽतिपरिचयं विदधते इति । संप्रति गुर्विणीबालवत्से आश्रित्य दोषानुपदर्शयति ॥

गुव्विणिगब्भे संघ-ट्टणा उ उट्ठंतवेसमाणीए ।
बालाई मंसेंदुग, मज्जाराई विराहिज्जा ।

गुर्विण्या भिक्षादानार्थमुत्तिष्ठन्त्या भिक्षां दत्वा स्थाने उपविशन्त्याश्च गर्भे तस्य संघट्टनं संचलनं भवति । तस्मान्न ततो ग्राह्यम् (बालाई मंसेंदुगत्ति) अत्रार्षत्वाद्व्यत्यासेन पदयोजना (बालमिति) शिशुं भूमौ मञ्चिकादौ वा निक्षिप्य यदि भिक्षां ददाति तर्हि तं बालं मार्जारादयो बिडालसारमेयादयो मांसेण्डुकादि मांसखण्डं शशकशिशुरिति वा कृत्वा विराधयेत् विनाशयेत् । तथा आहारखरण्टितौ शुष्कौ हस्तौ भवतस्ततो भिक्षां दत्वा पुनर्दाभ्यां हस्ताभ्यां गृह्यमाणस्य बालस्य पीडा भवेत् ततो बालवत्सातोऽपि न ग्राह्यम् ।

भुञ्जानां मथ्नन्तीं चाश्रित्य दोषानाह ।

भुंजंती आयमणे, उदगं वोमी य लोगगरहा य ।
घुसुलंती संसत्ते, करम्मि लित्ते भवे रसगा ।

भुञ्जाना दात्री भिक्षादानार्थमाचमनं करोति आचमने च क्रियमाणे उदकं विराध्यते । अथ न करोत्याचमनं तर्हि लोके वोटिरिति कृत्वा गर्हा स्यात् तथा (घुसुलंती) दध्यादि मथ्नन्ती यदि तद्दध्यादिसंसक्तं मथ्नाति तर्हि तेन संसक्तदध्यादिना लिप्ते करे तस्य भिक्षां ददत्यास्तेषां रसजीवानां वधो भवति ततस्तस्या अपि हस्तान्न कल्पते ।

संप्रति पेषणादिदोषानुपदर्शयति ।

दगबीए संघट्टण,पीसेण कंडदलभज्जणे महणं ।
पिंजंतरुंचणाई, दिन्ने लित्ते करे उदगं ।

पेषणकण्डनदलनानि कुर्वतीनां हस्ताद्भिक्षाग्रहणे उदकबीजसंघट्टनं स्यात् तथाहि पिषन्ती यदा भिक्षादानायोत्तिष्ठति तदा पिष्यमाणतिलादिसत्काः काश्चिन्मक्षिकाः सचित्ता अपि हस्तादौ लगिताः संभवन्ति ततो भिक्षादानाय हस्तादिप्रस्फोटने भिक्षां वा ददत्या भिक्षासंपर्कतस्तासां विराधना भवति भिक्षां च दत्वा भिक्षावयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत् । ततः पेषणे उदकबीजसंघट्टना । एवं कण्डनदलनयोरपि यथायोगं भावनीयम् । तथा भर्जने भिक्षां ददत्या वेलालगनेन कामिल्लचिरगोधूमादीनां दहनं स्यात् । तथा पिञ्जनं रुञ्जनमादिशब्दात्कर्तनप्रमर्दने च कुर्वती भिक्षां दत्वा भिक्षावयवखरण्टितौ हस्तौ जलेन प्रक्षालयेत् ततस्तत्राप्युदकं विनश्यतीति न ततो भिक्षा कल्पते ।

संप्रति षट्कायव्यग्रहस्तादिपञ्चकस्वरूपं गाथाद्वयेनाह ।

लोणदगअगणिवत्थी, फलाइ मच्छाइ सजीयहत्थम्मि ।
पाएणोगाहणया, संघट्टणसेसकाएणं ॥
खणमाणी आरभये, मज्जणधोयइ सिंचए किंचि ।
छक्कायविसरणमाई, छिंदइ छड्डे फुरफुरंते ॥

इह सा षट्कायव्यग्रहस्ता उच्यते यस्या हस्ते सजीवं लवणमुदकमग्निर्वायुपूरितो वा वस्तिः फलादिकं बीजपूरादिकं मत्स्यादयो वा विद्यन्ते ततः सा यद्येतेषां सजीवलवणादीनामादानं तदपि श्रमणभिक्षादानार्थं भूम्यादौ निक्षिपं तर्हि न कल्पते । तथा अवगाहना नामादयस्तेषां षड्जीवनिकायानां पादे संघट्टनं शेषकायेन हस्तादिना संमर्द्दनं संघट्टनमारभमाणा कुश्यादिना भूम्यादि खनन्ती । अनेन पृथिवीकायारम्भ उक्तः । यद्वा मज्जन्ती शुद्धेन जलेन स्नान्ती अथवा धावन्ती शुद्धेनोदकेन वस्त्राणि प्रक्षालयन्ती यदि वा किञ्चिद्वृक्षवल्ल्यादिकं सिंचन्ती एतेनाप्कायारम्भो दर्शितः । उपलक्षणमेतत् ज्वलयन्ती वा फूत्कारेण वैश्वानरं वस्त्यादिकं वा सचित्तवातभृतमितस्ततः प्रक्षिपन्ती एतेनाग्निवायुसमारम्भ उक्तः । तथा शोकादेश्छेदविशारणे कुर्वती । तत्र छेदः पुष्पफलादेः खण्डनं विशरणं तेषामेव खण्डनां शोषणायोन्मोचनाम् । आदिशब्दात्तन्दुलमुद्गादीनां शोधनादिपरिग्रहः । तथा छिन्दन्ती षष्ठान् त्रसकायान् । मत्स्यादीन् फुरफुरन्ते इति पोस्फूर्यमाणान् पीडयोद्वेष्ठ इत्यर्थः । अनेन त्रसकायारम्भ उक्तः । इत्थं षड्जीवनिकायमारभमाणाया हस्ताश्च कल्पते ।

संप्रति षट्कायव्यग्रहस्त इति पदस्य व्याख्याने मतान्तरमुपदर्शयति ।

छक्कायवग्गहत्था, केई कोलाइकन्नलइयाई ।
सिद्धत्थगपुप्फाणि य, सिरम्मि दिन्नाइ वज्जंति ।

केचिदाचार्याः षट्कायव्यग्रहस्तेति वचनतः कोलादीनि बदरादीनि आदिशब्दात्करीरादिपरिग्रहः । (कन्नलयाइति) कर्णपिनद्धानि तथा सिद्धार्थकपुष्पानि शिरसि दत्तानि वर्जयन्ति । हस्तग्रहणं हि तस्य पदस्य विशेषो दुरुपपादः ।

अन्ने भणंति दससु वि, एसणदोसेसु नत्थि तग्गहणं ।
तेण न वज्जं भन्नइ, तग्गहणं दायगहणे य ।

अन्ये त्वाचार्यदेशीया भणन्ति । यथा दशस्वपि शङ्कितादिषु एषणादोषेषु मध्ये तद्ग्रहणं षट्कायव्यग्रहस्तेत्युपादानमस्ति तेन कारणेन लोकादियुक्तदशभिक्षाग्रहणं न वर्ज्यं तदेतत्पाणीयो यत आह भण्यते अत्रोत्तरं दीयते । यत्तु दायकग्रहणादेषणादोषमध्ये षट्कायव्यग्रहस्तेत्यस्य ग्रहणं विद्यते तत्कथमुच्यते न तद्ग्रहणमिति ।

संप्रति संसक्तिमद्रव्यादिदोषानाह ।

संसज्जिमंदि देसे, संसज्जमदव्वलित्तकरमत्ता ।
संचाए यतणाउ, उक्खिप्पंते वि ते चेव ॥

संसक्तिमति संसक्तिमद्रव्यवति देशे मण्डले संसक्तिमता द्रव्येण लिप्तः करो मात्रं वा यस्याः सा तथाविधा दात्री भिक्षां ददती करविलग्नान् सत्वान् हन्ति । तस्मात्सा वर्ज्यते तथा महतः पिठरादेरपवर्त्तनं संचारः । सूचनात्सूत्रमिति संचारिमत्कीटादिसत्वव्याघातः इदमुक्तं भवति महत्पिठरं यदा तदा वा नोत्पाद्यते नापि यथा तथा वा संचार्यते महत्त्वादेव किं तु प्रयोजनविशेषोत्पत्तौ सकृत् ततस्तदाश्रित्य प्रायः कीटिकादयः सत्वाः संभवन्ति । ततो यदा तत्पिठरादिकमुद्धृत्य किंचिद्ददाति तदा तदाश्रितजन्तुव्यापादः । एते च दोषा उत्पाट्यमानेऽपि महति पिठरादौ । तत्रापि हि भूयो निक्षिप्यमाणे हस्तसंस्पर्शतो वा संचारिमत्कीटिकादिसत्वव्याघातः । अपि च तथाभूतस्य महत उत्पाटने दातुः पीडाऽपि भवति । तस्माच्च तदुत्पाटनेऽपि भिक्षा कल्पते ।

संप्रति साधारणं चोरितं वा ददत्या दोषानाह ॥

साधारणं बहूणं, तत्थ उ दोसा जहेव अणिसट्ठे ।
चोरियए गहणाई, भयए सुण्हाइ वा देंते ॥

बहूनां साधारणं यदि ददाति तर्हि तत्र यथा प्राक् अनिसृष्टे दोषा उक्तास्तथैव द्रष्टव्याः। तथा चौर्येण भृतककर्मकरैः स्नुषादौ वा ददति ग्रहणादयो ग्रहणबन्धनताडनादयो दोषा द्रष्टव्यास्तस्मात्ततोऽपि न कल्पते । संप्रति प्राभृतिकास्थापनादिद्वारत्रयदोषानाह ॥

पाहुम ठाविय दोसा, तिरिउड्ढमहे तिहा अवायाउ ।
धम्मियमाईठवियं, परप्परं संति यं वा वि ॥

प्राभृतिकाश्राद्धल्यादिनिमित्तं संस्थाप्य या ददाति भिक्षां तत्र दोषाः प्रवर्तनादयः। संप्रत्यपायेति द्वारम्। अपायास्त्रिविधा तद्यथा तिर्यक् ऊर्ध्वमधश्च तत्र तिर्यग्गवादिभ्य ऊर्ध्वमुत्तरं काष्ठादेरधः सर्पकण्टकादेः इत्थं च त्रिविधानामप्यपायानामन्यतममपायं बुद्ध्या संभावयन् ततो भिक्षां गृह्णीयात् "परंचोद्देशेति" ॥ यदुक्तं तत्राह धार्मिकाद्यर्थमपरसाधुकार्पटिकप्रभृतिनिमित्तं यत्स्थापितं तत्परस्य परमार्थतः संबन्धीति न तद् गृह्णीयात् । तद्ग्रहणे अदत्तादानदोषसंभवात्। यद्वा परसत्कं मुञ्चति परस्य ग्लानादेःसत्कं यद्ददाति तदपि स्वयमादातुं न कल्पते अदत्तादानदोषात् किन्तु यस्मै ग्लानाय दापितं तस्मै नीत्वा दातव्यं स चेन्न गृह्णाति तर्हि भूयोऽपि दात्र्याः समानीय समर्पणीयम्। यदि पुनरेवं दात्री वदति यदि ग्लानादिको न गृह्णाति तर्हि स्वयं ग्राह्यमिति तर्हि ग्लानाद्यग्रहणे तस्य कल्पत इति ।

संप्रत्याभोगानाभोगदायकस्वरूपमाह ।

अणुकंपापडणीयट्ठं,याचेते कुणइ जाणमाणो वि ।
एसणदोसे वि इउ, कुणइ उ असढो अ याणंतो ॥

सदैवैते महानुभावा यतयोऽन्नप्रान्तमशनमश्नन्ति तस्मात्करोति तेषां शरीरोपष्टम्भाय घृतपूरादीनामित्येवमनुकम्पया यदि वा मयैतेषामनेषणीयाग्रहणनियमभङ्गो भक्तव्य इति प्रत्यनीकार्थतया जानन्नपि तान् आधाकर्मादिरूपानेषणादोषान् करोति द्वितीयः सुकरोऽत्यजमानो ऽशठभावम्। तदेव व्याख्यानयति चत्वारिंशदपि बालादिद्वाराणि॥ संप्रति यदुक्तं "एएसि दायगाणं गहणं केसिं चि होइ भइयव्वमित्यादि" तद्व्याचिख्यासुः प्रथमतो बालमाश्रित्य भजनामाह ॥

भिक्खामित्ते अवियल–णा उ बालेण दिज्जमाणम्मि ।
संदिट्ठे वा गहणं, अइबहुयवियालणे णुन्ना ।

मातुः परोक्षे भिक्षामात्रे बालेन दीयमाने अविचारणा कल्पते इदं न वेति विचारणाया अपि भावः किंतु ग्रहणं भिक्षाया भवति। अतिबहुके तु बालेन दीयमाने किमद्य त्वं प्रभूतं ददासीति विचारणे सति अनुज्ञा पार्श्ववर्तिमात्रादिसत्कमुत्कलना भवति तदा ग्राह्यं नान्यथा । संप्रति स्थविरमत्तविषयां भजनामाह ।

थेरपहु थरथरंते, धरिए अन्नेण दढसरीरे वा ।
अव्वत्तमत्तसड्ढे, अविज्जले वा असागारिए ।

स्थविरो यदि प्रभुर्भवति (थरथरंति त्ति) कम्पमानो यदि अन्येन विधृतो वर्तते स्वरूपेण वा दृढतरशरीरो भवति तर्हि ततः कल्पते। यथा अव्यक्तं मनाक् यो मत्तः सोऽपि च यदि श्राद्धोऽविह्वलश्चापरवशश्च भवति। तस्मादेवंविधान्मत्तात् तत्र सागारिको न विद्यते तर्हि कल्पते नान्यथा। उन्मत्तादिचतुष्कविषयां भजनामाह ।

सुइभद्दगदित्ताई–दढग्गहो वेविए जरम्मि सिवे ।
अन्नधरियं तु सढो, देयं धन्नेण वा धरियं ।

उन्मत्तो दृप्तादिर्दृप्तो ग्रहगृहीतादिः स चेत् शुचिर्भद्रकश्च भवति तदा तद्धस्तात्कल्पते नान्यदा। वेपितोऽपि यदि दृढहस्तो भवति न हस्तेन गृहीतं किमपि तस्य पतति तदा तस्मादपि कल्पते। ज्वरितादपि ग्राह्यम्। ज्वरे शिवे सति। अन्धोऽपि यदि देयं वस्तु अन्येन पुत्रादिना धृतं ददाति स्वरूपेण श्राद्धश्च यदि वा स एवाऽन्धोऽन्येन विधृतः सन् देयं ददाति तर्हि ततो ग्राह्यं नान्यथा पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् । त्वग्दोषादिपञ्चविषयां भजनामाह ।

मंमलपसुत्तिकुट्ठी,असागारिए पाउया गए अयले ।
कमबद्धेसवियारे, इयरविच्छे असागारिए ।

मण्डलानि वृत्ताकारहृद्विशेषरूपाणि प्रसूतिर्नखादिविदारणेऽपि चेतनाया असंभवात्तद्रूपो यः कुष्ठो रोगविशेषः सोऽस्यास्तीति मण्डलप्रसूतिकुष्ठी स चेदसागारिके सागारिकाभावे ददाति तर्हि ततः कल्पते न शेषकुष्ठिनः सागारिके वा पश्यति पादुकारूढोऽपि यदि भवत्यचलस्थानस्थितस्तदा कारणे सति कल्पते। तथा क्रमयोः पादयोर्बद्धो यदि सविचार इतश्चेतश्च परिक्रमान्तरेण गन्तुं शक्तस्ततो बद्धादपि तस्मात्कल्पते । इतरस्तु य इतश्चेतश्च गन्तुमशक्तः स चेदुपविष्टः सन् ददाति न च कोऽपि च तत्र सागारिको विद्यते तर्हि ततोऽपि कल्पते हस्तबद्धस्तु भिक्षां दातुमपि न शक्नोति तत्र प्रतिषेध एव न भजना उपलक्षणमेतत्। तेन छिन्नकरोऽपि यदि सागारिकाभावे ददाति तर्हि न कल्पते छिन्नपादो यद्युपविष्टः सन् सागारिकासंपाते प्रयच्छति ततस्ततोऽपि कल्पते । नपुंसकादिसप्तकविषयां भजनामाह ।

पिंमग अप्पडिसेवी, वेलाथणजीविणेरियरसत्वं ।
उक्खित्तपणावाए, अकिंचिलग्गे ठवंतीए ॥

नपुंसको यदि अप्रतिसेवी लिङ्गाद्यनासेवकस्तर्हि ततः कल्पते तथा आपन्नसत्वाऽपि यदि (वेलत्ति) सूचनात्सूत्रमिति न्यायात् वेला मासप्राप्ता न भवति। नवममासगर्भा यदि भवतीत्यर्थः तर्हि स्थविरकल्पिकैः परिहार्या। अर्थात्तद्विपरीताया हस्तात्स्थविरकल्पिकानामुपकल्पते इति द्रष्टव्यम्। तथा याऽपि बालवत्सा स्तन्यमात्रोपजीविशिशुका सा स्थविरकल्पिकानां परिहार्या न ततः स्थविरकल्पिकानामपि कल्पते किमपीति भावः। यस्यास्तु बाल आहारेऽपि लगति तस्या हस्तात्कल्पते। स हि प्रायः शरीरेण महान् भवति ततो न मार्जारादिविराधनादोषप्रसङ्गः। ये तु भगवन्तो जिनकल्पिकास्ते मूलत एवापन्नसत्वां बालवत्सां च सर्वथा परिहरन्ति। एवं भुञ्जानाभर्जमानादलन्तीष्वपि भजना भावनीया। सा चैवं भुञ्जाना अनुच्छिष्टा सती यावदद्यापि न कवलं मुखे प्रक्षिपति तावत्तद्धस्तात्कल्पते। भर्जमानाऽपि यत्सचित्तं गोधूमादिकडिल्लके क्षिप्तं तद्भ्रष्टोत्तारितमन्यच्च नोऽद्यापि हस्तेन गृह्णाति अत्रान्तरे यदि साधुरायातो भवति सा चेद्ददाति तर्हि कल्पते । तथा दलयन्ती सचित्तमुद्गादिना दल्यमानेन सह घरट्टं मुक्तवती अत्रान्तरे च साधुरायातस्ततो यद्युत्तिष्ठति अचेतनं वा भ्रष्टे मुद्गादिकं दलयति तर्हि तद्धस्तात्कल्पते। कण्डयन्त्याः कण्डनायोत्पाटितं मुशलं न च तस्मिन् मुशले किमपि काञ्च्या बीजं लग्नमस्ति अत्रान्तरे च समायातः साधुस्ततो यदि साऽनपाये प्रदेशे मुशले स्थापयित्वा भिक्षां ददाति तर्हि कल्पते पिषन्त्यादिविषयां भजनामाह ॥

पीसंती निप्पिट्ठे, फासं वा फुसुअणे असंसत्तं ।
कत्तए असंखचुन्नी, चिन्ने वा जा अत्रोक्खलिणी ॥
उव्वट्टेण असंस–त्तेण वि अट्ठिन्नए न घट्टेइ ।
पिंजणपमद्दणेसु य, पच्छाकम्मं जहा नत्थि ॥

पिषन्ती निष्पिष्टे पेषणपरिसमाप्तौ प्रासुकं वा पिषन्ती यदि ददाति तर्हि तस्या हस्तात्कल्पते। तथा फुसुकरणे असंसक्तं दध्यादि मन्थन्त्याः कल्पते। तथा कर्तने या अशंखचूर्णशंखचूर्णखरण्टितहस्तं कृन्तति। इह काचित् स्विन्नस्यातिशयस्वेदताऽपनोदाय शंखचूर्णेन हस्तौ जङ्घां च खरण्टयित्वा कृन्तति तत उच्यते। अशंखचूर्णमिति। अथवा चूर्णमपि शंखचूर्णमपि अग्रहस्तात्कृन्तन्ती या (अवोक्खलिणी) अभुत्ताशीलानां जलेन हस्तौ प्रक्षालयतीति भावः। तस्या हस्तात्कल्प्यते। तथा उद्वर्तनेन कार्पासलोठने (असंसत्तेण वा विति) असंसक्तेनागृहीतकार्पासेन हस्तेनोपलक्षिता सती यदि उत्तिष्ठति (अट्ठिन्नयत्ति) अर्थिकान् कार्पासिकानित्यर्थः। न घट्टयति तदा तद्धस्तात्कल्पते। पिञ्जनप्रमर्दनयोरपि पश्चात्कर्म न भवति। तथा ग्राह्यमिति।

सेसेसु य पडिवक्खे, न संजवइ कायगहणमाईसु ।
पडिवक्खस्स अभावे, नियमाउ भवे तदग्गहणं ॥

शेषेषु कायेषु (कायगहणमाईसु) षट्कायव्यग्रहस्तादिषु प्रतिपक्ष उत्सर्गापेक्षयाऽपवादरूपो न विद्यते न संभवति ततः प्रतिपक्षस्याभावो नियमात् भवति। तथा ग्रहणमिति। उक्तं दायकद्वारम्। अथोन्मिश्रद्वारमाह।

सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसगउम्मीसगम्मि चउभंगो ।
आइतिए पडिसेहो, चरिमे भंगम्मि भयणा उ ॥

इह यन्नोन्मिश्र्यते ते द्वे अपि वस्तुनी त्रिधा। तद्यथा सचित्ते अचित्ते मिश्रे च। तत उन्मिश्रके मिश्रकतश्चतुर्भङ्गी अत्र जातावेकवचनं ततस्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्तीति वेदितव्यम् तत्र प्रथमा सचित्तमिश्रपदाभ्यां द्वितीया सचित्ताचित्तपदाभ्यां तृतीया मिश्राचित्तपदाभ्यामिति। तत्र सचित्तमिश्रपदाभ्यामियं सचित्ते सचित्तम्। मिश्रे सचित्तम्। सचित्ते मिश्रम्। मिश्रे मिश्रमिति। द्वितीया त्वियं। सचित्ते सचित्तम्। अचित्ते सचित्तम्। सचित्ते अचित्तम्। अचित्ते अचित्तमिति। तृतीया इयं मिश्रे मिश्रम्, अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति। तत्र गाथापर्यन्ते तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वाद्दाधायां चतुर्भङ्गिकायां सकलायामपि प्रतिषेधः विशेषचतुर्भङ्गीरूपे प्रत्येकमादित्रिके आदिमेषु त्रिषु भङ्गेषु प्रतिषेधश्चरमे तु भङ्गे भजना वक्ष्यमाणा।

अत्रैवातिदेशं कुर्वन्नाह।

जह चेव य संजोगा, कायाणं हेट्ठओ य साहरणे ।
तह चेव य उम्मीसे, होइ विसेसो तत्थ ॥

यथा चैवाधः प्राक् संहरणद्वारे कायानां पृथिवीकायानां सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नानां स्वस्थानपरस्थानाभ्यां संयोगभङ्गाः प्रदर्शिता द्वात्रिंशदधिकचतुःशतसंख्याप्रमाणास्तथैवोन्मिश्रेऽपि उन्मिश्रद्वारेऽपि दर्शनीयास्तद्यथा। सचित्तः पृथिवीकायः सचित्तपृथिवीकाये उन्मिश्रे उन्मिश्रद्वारेऽपि दर्शनीयास्तद्यथा सचित्तः पृथिवीकायः सचित्ताप्काये उन्मिश्र इत्येवं स्वस्थानपरस्थानापेक्षया षट्त्रिंशत्संयोगाः एकैकस्मिंश्च संयोगाः सचित्तमिश्रपदाभ्यां सचित्ताचित्तपदाभ्यां मिश्राचित्तपदाभ्यां च प्रत्येकं चतुर्भङ्गीति द्वादशभिर्गुणिता जातानि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि न तु संहिते उन्मिश्रे च। सचित्तादिवस्तुनः सचित्तादिवस्तुनिक्षेपान्नास्ति परस्परं विशेषः। अत आह तत्र तयोः संहृतोन्मिश्रयोर्भवति परस्परमर्थविशेषो वक्ष्यमाणः। तमेवाह।

दायव्वमदायव्वं च, दोइ दव्वाइ देइ मीसाइं ।
ओयणकुसुयाईणं, साहरणतयम्मि होइ ॥

दातव्यं साधुदानयोग्यमितरददातव्यं तच्च सचित्तं मिश्रं तुषादिर्वा ते द्वे अपि द्रव्ये मिश्रयित्वा यद्ददाति यथौदनं कुसितेन दध्यादिना मिश्रयित्वा तत उन्मिश्रे एवंविधमुन्मिश्रलक्षणमित्यर्थः। संहरणं तु यद्भाजनस्थमदेयं वस्तु तदन्यत्र क्वापि स्थगनिकादौ संहृत्य ददाति। ततोऽयमनयोः परस्परं विशेषः द्वितीयतृतीयचतुर्भङ्गात्मकचतुर्भङ्गीभजनामाह।

तं पि य सुक्खे सुक्खं, भंगा चत्तारि जहेव साहरणे ।
अप्पबहुए वि चउरो, तहेव आइन्नणाइन्ने ॥

यदि च तदचित्तं मिश्रयति तदपि तथापि शुष्के शुष्कं मिश्रितमित्येवं भङ्गाश्चत्वारो यथा संहरणे। तद्यथा शुष्कमुन्मिश्रं शुष्के शुष्केआर्द्रमार्द्रे शुष्कमार्द्रे आर्द्रमिति। तत एकैकस्मिन् भङ्गे संहरणे इव अल्पबहुत्वे अधिकृत्य चत्वारश्चत्वारो भङ्गाः। तद्यथा स्तोके शुष्के स्तोकं शुष्कं, स्तोके शुष्के बहुकं शुष्कमिति। एवं शुष्के आर्द्रमित्यादावपि भङ्गत्रिके प्रत्येकं चतुर्भङ्गी भावनीया सर्वसंख्यया भङ्गाः षोडश। तथा तथैव संहरणे इव आचीर्णानाचीर्णे कल्प्याकल्प्यमुन्मिश्रे ज्ञातव्याः। तद्यथा शुष्के शुष्कमित्यादीनां चतुर्णां भङ्गानां प्रत्येकं यौ द्वौ द्वौ भङ्गौ स्तोके स्तोकमुन्मिश्रं बहुके स्तोकमित्येवंरूपौ तौ कल्प्यौ दातृपीडादिदोषाभावात् स्तोके बहुकं बहुके बहुकमित्येवंरूपौ तु यौ द्वौ भङ्गौ तावकल्प्यौ तत्र दातृपीडादिदोषसंभवात् शेषानुभावा यथासंभवं संहरण इव द्रष्टव्याः। उक्तमुन्मिश्रद्वारम्।

इदानीमपरिणतद्वारमाह ॥

अपरिणयं पि य दुविहं, दव्वे भावे य दुविहमिक्केक्कं ।
दव्वम्मि होइ छक्कं, भावम्मि य होइ सज्झिलगा ॥

अपरिणतमपि द्विविधं तद्यथा द्रव्ये द्रव्यत्वविषयं भावे भावत्वविषयं द्रव्यरूपमपरिणतं भावत्वमपरिणतं चेत्यर्थः। पुनरप्येकैकं दातृगृहीतृसंबन्धात् द्विधा। तद्यथा द्रव्यापरिणतं दातृसत्कं च एवं भावापरिणतमपि। तत्र द्रव्यापरिणतस्वरूपमाह।

जीवत्तम्मि अविगए, अपरिणयं परिणयं गए जीवे ।
दिट्ठंतो दुद्धदही, इय अपरिणयं परिणयं तं व ॥

जीवत्वे सचेतनत्वे अविगते अभ्रष्टे पृथिवीकायादिकं द्रव्यमपरिणतमुच्यते गते तु जीवे परिणतम्। अत्र दृष्टान्तो दुग्धदधिनी। यथाहि दुग्धत्वात्परिभ्रष्टं दधिभावमापन्नं परिणतमुच्यते दुग्धभावे वाऽवस्थिते अपरिणतमेवं पृथिवीकायादिकमपि स्वरूपेण सजीवं सजीवत्वात्परिभ्रष्टमपरिणतमुच्यते जीवेन च विप्रमुक्तं परिणतमिति। ते च यदा दातुः सत्तायां वर्तन्ते तदा दातृसत्कं यदा तु ग्रहीतुः सत्तायां तदा ग्रहीतृसत्कमिति।

संप्रति दातृविषयं भावापरिणतमाह।

दुगमाइसामन्नं, जइ परिणमइ तत्थ एगस्स ।
देमि त्ति न सेसाणं, इय अपरिणयं भावओ एयं ॥

एवं छिकादिसामान्ये भ्रात्रादिछिकादिसाधारणे देयवस्तुनि यद्येकस्य कस्यचिद्ददामीत्येवं भावः परिणमति शेषाणाञ्चैतत् तद्भावतोऽपरिणमतां तद्भावापेक्षया देयतयाऽपरिणतमित्यर्थः । अथ साधारणानिसृष्टस्य दातृभावपरिणतस्य च कः परस्परं प्रतिविशेषः उच्यते साधारणानिसृष्टं दायकपरोक्षत्वे दातृभावापरिणतं तु दायकसमक्षत्वे इति । संप्रति गृहीतविषयं भावापरिणतमाह ।

एगेण वा वि तेसिं, मणम्मि परिणामियं न इयरेणं ।
तं पि हु होइ अगेज्झं,सज्झिल्लगा सामिसाहू य ॥

एकेनापि केनचित् अग्रेतनेन पाश्चात्येन वा एषणीयमिति मनसि परिणमितं न इतरेण द्वितीयेन तदपि भावतोऽपरिणतमपि कृत्वा साधूनामग्राह्यं शङ्कितत्वात्कलहादिदोषसंभवाच्च । संप्रति द्विविधस्यापि भावापरिणतस्य विषयमाह(सज्झिल्लगेत्यादि) तत्र दातृविषयं भावापरिणतं भ्रातृविषयं स्वामिविषयं च ग्रहीतृविषयं भावापरिणतं साधुविषयम् । उक्तमपरिणतद्वारम् । संप्रति लिप्तद्वारं वक्तव्यं तत्र लिप्तं यत्र दध्यादिद्रव्यलेपो लगति तच्च न ग्राह्यम् ।

घेत्तव्वमलेवकडं, लेवकडे मा हु पच्छकम्माई ।
न य रसगेहि पसंगो, इइ वुत्ते चोयगो भणइ ॥

इह साधुना सदैव ग्रहीतव्यमलेपकृतं वल्लचनकादि मा भूवन् लेपकृति गृह्यमाणे पश्चात्कर्मादयो दध्यादिलिप्तहस्तादिप्रक्षालनादिरूपा दोषाः आदिशब्दात्कीटिकादिसंसक्तवस्त्रादिप्रोञ्छनादिपरिग्रहः । अतो लेपकृन्न ग्रहीतव्यम् । अलेपग्रहणे गुणमाह । न च सदैवालेपकृतो ग्रहणे रसगृद्धिप्रसङ्गो रसाभ्यवहारलाम्पट्यवृद्धिस्तस्मात्तदेव साधुभिः सदैवाभ्यवहार्यम् । एवमुक्ते सति चोदको भणति ।

जइ पच्छकम्मदोसा, हवंति मा चेव भुंजउ सययं ।
तवनियमसंजमाणं, चोयगहाणी खमंतस्स ॥

यदि लेपकृद्ग्रहणे पश्चात्कर्मदोषाः पश्चात्कर्मप्रभृतयो दोषा भवन्ति ततस्तन्न गृह्यते तर्हि मा कदाचनापि साधुर्भुङ्क्ताम् । एवं हि दोषाणां सर्वेषां मूलत एवोत्थानं निषिद्धं भवति । सूरिराह हे चोदक ! सर्वकालं क्षमापयतोऽनशनतपोरूपं क्षपणं कुर्वतः साधोश्चरमकालभवे तपोनियमसंयमानां हानिर्भवति तस्मान्न यावज्जीवं क्षपणं कार्यम् । पुनरपि परः प्राह यदि सर्वकालं क्षपणं कर्तुमशक्तस्तर्हि षण्मासक्षपणं कृत्वा पारणकमलेपकृता विधुत्तम् । गुरुराह यद्येवं कुर्वन् तपःसंयमयोगान् कर्तुं शक्नोति तर्हि करोतु न कोऽपि तस्य निषेधः । ततो भूयोऽपि चोदको ब्रूते । यद्येवं तर्हि षण्मासान् उपोष्याचाम्लेन भुङ्क्तां न तेन तच्छक्नोति तत एकादिनहान्या तावत्परिभावयेत् यावच्चतुर्थमुपेक्ष्याचाम्लेन पारणकं करोति एव "मप्यसंस्तरेणत्ति" सदैवालेपकृतं गृह्णीयात् । अमुमेव गाथया निर्दिशति ।

छिसंति भाणिऊणं, छम्मासा हायए चउत्थं तु ।
आयंबिलस्स गहणं, असंथरे अप्पलेवं तु ।

लिप्तं सदोषमिति भणित्वा अलेपकृतभोक्तव्यं तीर्थकरगणधरैरनुज्ञातमिति गुरुवचनम् अत्र चोदक आह । यावज्जीवमेवन भुङ्क्तां न चेत् यावज्जीवमभोजने न शक्नोति तर्हि षण्मासानुपोष्य आचाम्लेन भुङ्क्तां न चेदेवमपि शक्नोति तत एकादिनाऽपि हान्या तावदात्मानं तोलयेत् यावच्चतुर्थमुपोष्याचाम्लस्य ग्रहणं करोतु एवमप्यसंस्तरेण अशक्तौ अल्पलेपं गृह्णन् एतमेव गाथाद्वयेन विवृणोति

आयंबिल पारणए,छम्मासनिरंतरं तु खविऊणं ।
जइ न तरइ छम्मासे, एगदिणूणं तओ कुणइ ।
एवं एक्केकदिणं, आयंबिलपारणं ठवेऊण ।
दिवसे दिवसे गिण्हउ, आयंबिलमेव निल्लेवं ।

यदि सर्वकाले क्षपणं कर्तुमशक्तस्तर्हि षण्मासान्निरन्तरं क्षपयित्वा पारणके आचाम्लं करोतु । यदि षण्मासानुपवस्तुं न शक्नोति तत एकादिनोनं तु करोतु । एवं षण्मासावधिरेकैकदिनं परित्यजन्नाचाम्लेन पारणकं तावत्करोतु यावच्चतुर्थमेवमप्यशक्तौ प्रतिदिनं निर्लेपमाचाम्लमेव गृह्णातु ।

जइ से न जोगहाणी, संपइए से व होइ तो खमओ ।
खमणंतरेण आयं-बिलं तु नियमं तवं कुणइ ।

यदि (से) तस्य साधोः संप्रति दार्ढ्यं एष्यति वा कालेन योगहानिः संप्रत्युपेक्षणादिरूपसंयमयोगभ्रंशो न भवति तर्हि भवानुक्षपकः षण्मासाद्युपकर्ता तत्र च क्षपकमानानामेकैकदिनहान्या पूर्वोक्तस्वरूपाणामनन्तरं यावत्षण्मासावधिरुपोऽयं करोतु एवमप्यशक्तौ नियतं सदैव आचाम्लरूपं तपः करोतु केवलं संप्रति सेवार्तसंहननानां नास्ति तादृशी शक्तिरिति न तथोपदेशो विधीयते । पुनरपि पर आह ॥

हिंडावणिकोसलगा, सोवीरगत्तरभोयणो मणुया ।
जइ ति विजयंति तहा, किं नाम जई न जावेंति ॥

अथो वा मम ये महाराष्ट्राः कोशलकाः कोशलदेशोद्भवाः सदैव सौवीरकक्तरमात्रभोजिनस्तेऽपि च सेवार्तसंहननास्ततो यदि तेऽपीत्थं यापयन्ति यावज्जीवं तर्हि तथा सौवीरकमात्रभोजनेन किन्न यतयो मोक्षगमनकटिबद्धकक्षा यापयन्ति तैः सुतरामेव यापनीयं प्रभूतगुणसंभवात् । अत्र सूरिराह ॥

तिय सीयं समणेणं, तिय उण्हं गिहीण तेणणुन्नायं ।
तक्काईणं गहणं, कठरमाईसु भइयव्वं ॥

त्रिकं वक्ष्यमाणं शीतं श्रमणानां तेन प्रतिदिवसमाचाम्लकरणे तक्राद्यभावत आहारपाकासंभवेनाजीर्णादयो दोषाः प्रादुःष्यन्ति तदेवं त्रिकमुक्तं गृहिणां तेन सौवीरकमात्रभोजनेऽपि तेषामाहारपाकभावतो नाजीर्णादिदोषा जायन्ते ततस्तेषां तथा प्रयततामपि न कश्चिद्दोषः साधूनां तून्नीत्या दोषास्तेन कारणेन तक्रादिग्रहणं साधूनामनुज्ञातम् । इह प्रायो यतिना विकृतिपरिभोगपरित्यागेन सदैवात्मशरीरं यापनीयं कदाचिदेव च शरीरस्यापाटवे संयमयोगवृद्धिनिमित्तं बलाधानाय विकृतिपरिभोगः तथा चोक्तं सूत्रे " अभिक्खणं निव्विगई गया य इत्ति " निर्विकृतिपरिभोगे च तक्राद्येवोपयोगीति तक्रादिग्रहणं कठरादिषु घृतघटिकोन्मिश्रतीमनादिषु ग्रहणं भाज्यं विकल्पनीयम् । ग्लानत्वादिप्रयोजनोत्पत्तौ कार्यं न शेषकालमिति तेषां बहुलेपत्वात् गृद्ध्यादिजनकत्वाच्च । अथ किं तत्रिकमित्यत आह ॥

आहार उवहि सेज्जा,तिन्नि वि उण्हा गिहीण सीए वि ।
तिन्नि उ जीरइ तेसिं, उहउ उसिणेण आहारो ॥

आहार उपधिः शय्या त्रीण्यपि गृहिणां शीतेऽपि शीतलेऽपि उष्णानि भवन्ति ततो जीर्यते विग्रहमन्तरेणापि (उहउत्ति) उभयतो बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्चोष्णेन तापेनाहारो जीर्यते । तत्राभ्यन्तरो भोजनवशात् बाह्यः शय्योपधिवशात् ॥

एयाई वि य तिन्नि वि, जईण सीयाइं होंति गिम्हे वि ।
तेणुवहम्मइ अग्गी, तओ य दोसो अजीरमाइ ॥

एतान्येव आहारोपधिशय्यारूपाणि त्रीणि यतीनां ग्रीष्मेऽपि ग्रीष्मकालेऽपि शीतानि भवन्ति तत्राहारस्य शीतता भिक्षाचर्यायां प्रविष्टस्य बहुकगृहेषु स्तोकास्तोकलाभेन वृहद्वेलालगनात् उपधेरेकमेकवारं वर्षमध्ये वर्षाकालादर्वाक् प्रक्षालनेन मलिनत्वात् । शय्यायास्तु प्रत्यासन्नाग्निकरणाभावेन तेन कारणेन ग्रीष्मकालेऽप्याहारादीनां शीतत्वसंभवरूपेणोपहन्यते । अग्निर्जाठरो वह्निः । तस्माच्चाग्न्युपघातो दोषाः (अजीरमाइत्ति) अजीर्णबुभुक्षामान्द्यादयो जायन्ते । ततस्तक्रादिग्रहणं साधूनामनुज्ञातं तक्रादिनापि हि जाठरोऽग्निरुद्दीप्यते तेषामपि तथा स्वभावत्वात् । संप्रत्यलेपानि द्रव्याणि प्रदर्शयति ।

ओयणमंडगसत्तुय–कुम्मासरायमासकलवट्टा ।
तुयरि मसूरि मुग्गा–मासा य अलेवकडा सुक्खा ॥

ओदनस्तन्दुलादिभक्तं मण्डका कणिक्कमयाः प्रतीता एव । शक्तवो यवाः क्षोदरूपाः । कुल्माषा उडदाः राजमाषाः सामान्यतश्चवलाः श्वेतचवलिका वा । कला वृत्तचनकाः सामान्येन वा चनकाः । तुवरा आढकी । मसूरा द्विदलविशेषाः । मुद्गा माषाश्च प्रतीताः । चकारादन्येऽप्येवंविधधान्यविशेषाः शुष्का अनार्द्रा अलेपकृताः । संप्रत्यल्पलेपानि द्रव्याणि प्रदर्शयति ॥

उब्भिज्जपेज्जकंगु, तक्कोल्लुणसूवकंजिकढियाइं ।
एए उ अप्पलेवा, पच्छा कम्मं तहा जइयं ॥

उद्भिद्या वस्तुलप्रभृतिशाकभर्जिका पेया यवागूः कङ्गुः कोद्रवौदनः । तक्रं तक्राख्यम् उल्लणं येनौदनमनार्द्रीकृत्योपयुज्यते । सूपो राजमुद्गदालयादिः काञ्जिकं सौवीरं क्वथितं तीमनादि । आदिशब्दादन्यस्यैवंविधस्य परिग्रहः । एतानि द्रव्याण्यल्पलेपानि । एतेषु पश्चात्कर्म भाज्यं कदाचिद्भवति । कदाचिन्नेति भावः । संप्रति बहुलेपानि द्रव्याणि दर्शयति ॥

खीरदहिजाउकढर, तेल्लघयं फाणियं सपिंडरसं ।
इच्चाई बहुलेवं–पच्छा कम्मं तहिं नियमा ॥

क्षीरं दुग्धं दधि प्रतीतं क्षीरपेया कट्टरं प्रागुक्तस्वरूपं तैलं घृतं च प्रतीतं फाणितं गुडपानकं सपिण्डरसम् अतोचारसाधिकं खर्जूरादि इत्यादि द्रव्यजातं बहुलेपं द्रष्टव्यम् । तत्र च पश्चात्कर्म नियमतः । अत एव यतयो दोषभीरवस्तानि न गृह्णन्ति । यदुक्तं "पच्छाकम्मं तहिं भइयंति" । संप्रति तामेव भजनामष्टभङ्गिकया दर्शयति ॥

संसट्ठेयरहत्थो, मत्तो वि य दव्वसावसेसियरं ।
एएसु अट्ठभंगा, नियमा गहणं तु एएसु ॥

दातुः संबन्धी हस्तः संसृष्टोऽसंसृष्टो वा भवति । येन च कृत्वा भिक्षां ददाति तदपि मात्रं संसृष्टमसंसृष्टं वा द्रव्यमपि सावशेषमितरद्वा असावशेषम् । एतेषां च त्रयाणां पदानां संसृष्टहस्तासंसृष्टमात्रसावशेषद्रव्यरूपाणां सप्रतिपक्षाणां परस्परं संयोगतोऽष्टौ भङ्गा भवन्ति ते चामी । संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् । १ । संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ २ ॥ संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् ॥ ३ ॥ संसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ ४ ॥ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् ॥ ५ ॥ असंसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ ६ ॥ असंसृष्टो हस्तः असंसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यम् ॥ ७ ॥ असंसृष्टो हस्तोऽसंसृष्टं मात्रं निरवशेषं द्रव्यम् ॥ ८ ॥ एतेषु चाष्टसु भङ्गेषु मध्ये नियमाभिप्रायेण ओजस्सु विषमेषु भङ्गेषु प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमेषु ग्रहणमादानं कर्तव्यम् न समेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमरूपेषु । इयं चात्र भावना । इह हस्तो मात्रं वा द्वे वा स्वयोगेन संसृष्टे भवतोऽसंसृष्टे वा न तद्वशेन पश्चात्कर्म संभवति किं तर्हि द्रव्यवशेन तथा हि यत्र द्रव्यं सावशेषं तत्रैते साध्वर्थं खरण्टिते अपि न दात्री प्रक्षालयति भूयोऽपि परिवेषणसंभवात् । यत्र तु निरवशेषं द्रव्यं तत्र साधुदानानन्तरं नियमतस्तद्द्रव्याधारस्थालीं हस्तं मात्रं वा प्रक्षालयति । ततो द्वितीयादिषु भङ्गेषु द्रव्ये निरवशेषे पश्चात्कर्मसंभवान्न कल्पते प्रथमादिषु न पश्चात्कर्मसंभवस्ततः कल्पते इति । उक्तं लिप्तद्वारम् । अथ छर्दितद्वारमाह ॥

सच्चित्ते अच्चित्ते–मीसग तह छड्डणे य चउभंगे ।
चउभंगे पडिसेहो, गहणे आणाइणो दोसा ॥

छर्दितमुज्झितं त्यक्तमिति पर्यायाः तच्च त्रिधा तद्यथा सचित्तमचित्तं मिश्रं च तदपि च । कदाचिच्छर्द्यते सचित्ते सचित्तमध्ये कदाचिदचित्ते कदाचिन्मिश्रे तत एवं छर्दिते सचित्ताचित्तमिश्रद्रव्याणामाधारभूतानाधेयभूतानां च संयोगतश्चतुर्भङ्गी भवति । अत्र जातावेकवचनं ततोऽयमर्थस्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्ति । तद्यथा सचित्तमिश्रपदाभ्यामेका सचित्ताचित्तपदाभ्यां द्वितीया मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीया । तत्र सचित्ते सचित्तं छर्दितं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमिति । प्रथमा । सचित्ते सचित्तम्, अचित्ते सचित्तं, सचित्ते अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया । मिश्रे मिश्रम् अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति तृतीया । सर्वे संख्यया द्वादश भङ्गाः । सर्वेषु च भङ्गेषु सचित्तपृथिवीकायमध्ये छर्दित इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थानाभ्यां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद् विकल्पास्ततः षट्त्रिंशत् द्वादशभिर्गुणितानि जातानि चत्वारि शतानि द्वात्रिंशदधिकानि । एतेषु च सर्वेषु भङ्गेषु प्रतिषेधो भक्तादिग्रहणे निवारणम् । यदि पुनर्ग्रहणं कुर्यात्तत आज्ञादय आज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपदोषाः । इहाद्यन्तग्रहणे मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायादौद्देशिकादिदोषदुष्टानामपि भक्तादीनां ग्रहणे आज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः । संप्रति छर्दितग्रहणे दोषानाह ।

उसिणस्स छड्डणे दें-ते उब्भडज्झेज्ज कायदाहो वा ।
सीयपडणम्मि काया, पडिए महु विंदुआहरणं ॥

उष्णस्य द्रव्यस्य छर्दने समुज्झने ददमानो वा भिक्षां दह्येत भूम्याश्रितानां वा कायानां पृथिव्यादीनां दाहः स्यात् । शीतद्रव्यस्य भूमौ पतने भूम्याश्रिताः कायाः पृथिव्यादयो विराध्यन्तेऽत्र पतिते मधुबिन्दूदाहरणम् । वारत्तपुरं नाम नगरं तत्राभयसेनो नाम राजा तस्यामात्यो वारत्तकोऽन्यदा चात्वरितमचपलमसंभ्रान्तमेषणासमितिसमितो धर्मघोषनामा संयतो भिक्षामटन् तस्य गृहं प्राविशत् । तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय प्रभूतघृतखण्डसन्मिश्रपायसभृतस्थालीमुत्पाटितवती । अत्रान्तरे चकथमपि ततः खण्डमिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ निपतितः । ततो भगवान् धर्मघोषो मुक्तिपदैकनिहितमानसो जलधिरिव गम्भीरो मेरुरिव निष्प्रकम्पो वसुधेव सर्वसहः शङ्ख इव रागादिनिरञ्जनो महासुभट इव कर्मरिपुविदारणनिबद्धकक्षो भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानकृतोद्यमो भिक्षेयं छर्दितदोषदुष्टा तस्मान्न मे कल्पते इति परिभाव्य ततो निर्जगाम । वारत्तकेन चामात्येन मत्तवारणस्थि-

तेन दृष्टो भगवान् निर्गच्छन् चिन्तयति च स्वचेतसि किमनेन भगवता न गृह्यतेऽस्मद्गृहे भिक्षेति । एवं च यावच्चिन्तयति तावत्तद्भूमौ निपतितं खण्डयुक्तं घृतविन्दुं मक्षिकाः समागत्याऽश्रयन् तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका गृहगोधिकाया अपि विघाताय चलितः सरटः तस्यापि च भक्षणाय प्रधावतिस्म मार्जारी तस्या अपि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णकःश्वा तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितोऽन्यो वास्तव्यश्वा ततो द्वयोरपि तयोः शुनोरन्योन्यपरस्परं कलहस्ततः स्वस्वसारमेयपराभवदूरनमस्कृतयोः प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वामिनोरन्योन्यपरस्परं महद्युद्धम् । एतच्च सर्वं धारत्तकामात्येन परिभावितं ततश्चिन्तयति स्वचेतसि घृतादेर्बिन्दुमात्रेऽपि भूमौ निपतिते यतः एवमधिकरणप्रवृत्तिरत एवाधिकरणभीरुर्भगवान् घृतविन्दुं भूमौ निपतितमवलोक्य भिक्षां न गृहीतवान् । अहो सुदृष्टो भवति प्राप्तधर्मा को हि नाम भगवन्तं सर्वज्ञमन्तरेणेत्थमनपायिनं धर्ममुपदेष्टुमीशो न खल्वन्धो रूपविशेषं जानाति । यथमसर्वज्ञोऽपि नेत्थं सकलकालमनपायं धर्ममुपदेष्टुमलम । तस्माद्भगवानेव सर्वज्ञः । एवं च मे जिनो देवता तदुक्तमेव वाऽनुष्ठानं मयाऽनुष्ठातव्यमित्यादि विचिन्त्य संसारविमुखश्चो मुक्तिवनिताश्लेषसुखलम्पटसिंह इव गिरिकन्दरया निजप्रसादाद्विनिर्गत्य धर्मघोषस्य साधोरुपकण्ठं प्रव्रज्यामग्रहीत् । स च महात्मा शरीरेऽपि निःस्पृहो यथोक्तभिक्षाग्रहणादिविधिसेवी संयमानुष्ठानपरायणः स्वाध्याये भावितान्तःकरणो दीर्घकालं संयममनुपाल्य आतप्ततकर्मा समुच्छ्लितदुर्निवार्यप्रसरः क्षपकश्रेणिमारुह्य घातितकर्मचतुष्टयं समूलघातं हत्वा केवलज्ञानलक्ष्मीमासादितवान्, ततः कालक्रमेण सिद्ध इति । उक्तमेषणाद्वारम् । पिं० । ध० । दर्श० । ग० । पं० व० । पंचा० । महा० । स्था० । आचा० । प्रव० । (एषणायाः शङ्कितादयो दश दोषास्ते चाचाराङ्गे पिण्डाधिकारे एवैषणादोषमधिकृत्योक्तास्ते च गोयरचरियाशब्दे व्याख्यास्यन्ते)

(६) एतेषां शङ्कितादिदोषाणामपि बहुभेदत्वं यथा शङ्कितं शङ्कितदोषः अत्र चत्वारो भेदाः शङ्कितग्राही शङ्कितभोजी निःशङ्कितग्राही शङ्कितभोजी २ शङ्कितग्राही निःशङ्कितभोजी ३ निःशङ्कितग्राही निश्शङ्कितभोजी ४ म्रक्षितं द्वेधा सचित्ताचित्तम्रक्षितं वा । आद्यं त्रिधा पृथिव्यब्वनस्पतिभेदात् । ततः पृथिवीम्रक्षितं चतुर्धा सरजस्कं सचित्तं पृथिवीरजोगुण्ठितं तच्च तन्म्रक्षितं च सरजस्कम्रक्षितं मिश्रसचित्तासचित्तरूपः कर्दमस्तेन म्रक्षितं मिश्रकर्दमम्रक्षितं मिश्रोऽपरिणतसचेतनकर्दमस्तेन म्रक्षितमिति मिश्रकर्दमम्रक्षितम् । ऊषमृत्तिका हरितालहिङ्गुलकास्ततः शिलाञ्जनलवणगैरिकाश्वेत्यादिका ऊषरकादिपृथ्वीकायम्रक्षितं च अप्कायम्रक्षितं पुरःकर्म पश्चात्कर्म सस्निग्धोदकार्द्ररूपं चतुर्भेदं दानात्पूर्वं हस्तमात्रकायक्षालने पुरःकर्म दानानन्तरं क्षालने पश्चात्कर्म सस्निग्धमीषदुदकयुक्तमुदकार्द्रमुदकबिन्दुयुक्तम् । वनस्पतिम्रक्षितं द्विधा प्रत्येकानन्तभेदात् प्रत्येकं म्रक्षितं त्रिधा पृष्टं आमं तन्दुलक्षोदविकुक्कुसा प्रतीता उत्कृष्टकालिङ्गालाबुच्च्यादिफलादीनां शुक्लीकृतानि खण्डानि अम्लिकापत्रसमुदायो वा उदूखलखरण्डितैर्म्रक्षितं प्रत्येकवनस्पतिम्रक्षितं कुट्टितानन्तम्रक्षितं द्वितीयस्य पश्यतोऽपि भावापरिणतत्वेन । गृहीतभावापरिणतं तु अनन्तम्रक्षितम् अचित्तम्रक्षितं द्विधा गर्हितागर्हितभेदात् गर्हितैर्मांसवसाशोणितसुरामूत्रोच्चारादिभिः शिष्टजनस्याभक्ष्यापेयैर्म्रक्षितं गर्हिताचित्तम्रक्षितम् संभजन्ति विगलन्ति संलपत्वात्कीटिका-मक्षिकादयो येषु दध्यादिषु तानि संसक्तानि तैः १ अगर्हितैरचित्तैर्म्रक्षितमगर्हितसंसक्ताचित्तम्रक्षितं २ निक्षिप्तं सचित्तादौ न्यस्तं ३ पिहितं सचित्तादिभिः स्थगितं ४ संहृतं येन हस्तमात्रा कणदात्री साधोरशनादिकं दास्यति तत्र शिष्यादिकं वा यदि स्यात्तदन्यत्र सचित्तेऽचित्ते वा क्षिप्त्वा तेन यद्ददाति तत्संहृतं ५ दायकदोषा बालादिभिर्दीयमाने ६ उन्मिश्रं सचित्तादिभिर्मिश्रितम् ७ । अपरिणतं द्वेधा द्रव्यभावभेदात् तत्र सचित्तं वस्तु दीयमानं द्रव्यापरिणतं भावापरिणतं द्विधा दातृग्रहीतृभेदात् द्वयोः साधारणेऽन्नादावेकेन दीयमाने द्वितीयस्य भावोऽपरिणतो न दानपरिणामवान् तद्दातृभावापरिणतम् । अत्राह अनिसृष्टस्य भावापरिणतस्य च को विशेषः उच्यते द्वितीयादीनां परोक्षमेकस्याददतो निसृष्टं भवति भावापरिणतं तु यत्र द्वयोः साध्वोर्भिक्षार्थं गतयोरेकस्य मनसि तदन्नादिकमशुद्धं परिणतम् अन्यस्य च तदेव शुद्धमिति ८ । लिप्तदोषः दध्याद्युपलिप्तेन हस्तेन मात्रकेण चाशनादिषु ग्रहणे पश्चात्कर्मादिसंभवात् तथा चोक्तम् "घित्तव्वमिलेवकडं–माहु पुरकम्म पच्छकम्माइ । न य रसगेहि पयं, सामुत्ते वत्तपीडा य"९ छर्दितम् दीयमानस्याशनादेः पृथ्वीकायादिसंसक्तादि छर्दितम् १०॥ जीत० । ग्रासैषणानिक्षेपे ग्रहणैषणां प्रतिपाद्योक्तम् । साम्प्रतं ग्रासैषणा उच्यते तथाचाह ।

दव्वे भावे घासे–सणा उ दव्वम्मि मच्छआहरणं ।
गलमंसुंडगजक्खण,गलस्स पुच्छेण घट्टणया ८१५ ।

सा च ग्रासैषणा द्विविधा द्रव्यतो भावतश्च तत्र द्रव्यतो मत्स्योदाहरणम् "एगो किल मच्छबन्धो गुले मंसपेसिं दाऊण दहे छुहति तं च एगो मच्छो जाणइ जहा एस गलो त्ति सो परिसरं तेण मंसं खाइ जेण ताहे पराहुत्तो घेप्पए गलमाहणइ मच्छबंधो जाणइ एस गहिओत्ति । एवं तेण सव्वं खइयं मंसं खायमच्छबंधो खइएण मंसेण अट्टिए लद्धो अत्थइ तत्थ आहरणं दुविहं चरियं कप्पियं च । तं च मच्छबंधं ओहयमणसंकप्पं झायंतं दट्ठुं मच्छो भणइ अहं पमत्तो चरंतो गहिओ बलाए ताहेतायएहि सा उक्खित्ता पच्छा गिलइ ताहे अहं वा कातीसमुद्दे पडिओ एवं बिइयं पि तिइयं पि उग्गालित्तो ताहे मुक्को अनया समुद्दे अहं गओ तत्थ मच्छबंधा वलया महाइ करेंति करपाहि ताहे समुद्दवेलापाणिएण सह अहं तत्थ वंकीकए कमे पविट्ठो ताहे तस्स कडगस्स अणुसारेण अतिगतो एवंति निरावलया मुहाओ मुक्को जालतो एक्कवीसं वाराउ फिडिओ कीहिं पुण जाहे जाले बूमं भवति ताहे हं भूमिं घेत्तूण अच्छामि तहा एकम्मि जिण्णोदयम्मि दहे अत्थिया अम्हे किं कह वि ण णायं जहा एसो दहे सुक्किहिति ताहे सो दहो सुक्को मच्छाणं थले गती णत्थि ते सव्वे सुक्कंते पाणिए मया केइ जीवंति तत्थ कोइ मच्छबंधो आगओ सो हत्थेण गहाय सूलए पोएत्ति ताहे मएणं ले तं अहं पि अचिरा विज्झाइहामि जाव ण विज्झामि ताव उवायं चिंतेमि ताहे तेसिं मच्छाणं अन्तरालं सूलं मुहे गहिऊण ठिओ सो जाणइ एए सव्वे पोइल्लयासो गंतूण अन्नहिं दोहं धोवइ । तत्थ अहं मच्छयं घयं करेंतो वे बुड्डाणो पाणिए पविट्ठो तं एयारिसं मनसत्तं च हाविइच्छसि गलेघित्तुं अहो ते निल्लज्जत्तणंति" ओघ० ।

(७) विस्तरेण ग्रासैषणा निक्षेपादिकं तत्र ।

संयोजनादीनि द्वाराणि वक्तव्यानि तानि च ग्रासैषणारूपाणीति प्रथमतो ग्रासैषणाया निक्षेपमाह ।

नामं ठवणा दविए, भावे घासेसणा मुणेयव्वा ।
दव्वे मच्छाहरणं, भावम्मि य होइ पंचविहा ॥

ग्रासैषणा चतुर्द्धा । तद्यथा नामग्रासैषणा स्थापनाग्रासैषणा द्रव्ये द्रव्यविषया ग्रासैषणा भावे भावविषया ग्रासैषणा। स्थापना ग्रासैषणा द्रव्यग्रासैषणाऽपि यावद्भव्यशरीररूपा ग्रहणैषणा भावनीया । ज्ञशरीरव्यतिरिक्तायां तु ग्रासैषणायां मत्स्य उदाहरणं दृष्टान्तः । भावविषया पुनर्ग्रासैषणा द्विधा । तद्यथा आगमतो नो आगमतश्च । तत्रागमतो ज्ञातस्तत्र चोपयुक्तः । नो आगमतो द्विधा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता संयोजनादिदोषरहिताऽप्रशस्ता संयोजनादिरूपा तामेव निर्दिशति । "भावम्मि य" इत्यादि भावे भावविषया पुनर्ग्रासैषणा पञ्चविधा संयोजनादिभेदात्पञ्चप्रकारा । तत्र द्रव्यग्रासैषणोदाहरस्य संबन्धमाह ॥

चरियं च कप्पियं वा, ओहरणं दुविहमेव नायव्वं ।
अत्थस्स साहणत्था, इंधणमिव ओयणट्ठाय ॥

इह विवक्षितस्यार्थस्य साधनार्थं प्रतिपादनार्थं द्विविधमुदाहरणं ज्ञातव्यम् । तद्यथा चरितं संकल्पितं च कथमिव विवक्षितस्यार्थस्य प्रसाधनायोदाहरणं भवतीत्यत आह । इन्धनमिव ओदनार्थमिन्धनमिव ओदनस्येति भावस्तत्र प्रस्तुतस्यार्थस्य प्रसाधनार्थमिदं कल्पितमुदाहरणम । कोऽप्येको मत्स्यसंबन्धी मत्स्यग्रहणनिमित्तं सरो गतवान् गत्वा च तेन तदवस्थानाग्रभागे मांसपेसीसमेतो गलः सरो मध्ये प्रचिक्षिपे तत्र च सरसि परिणतबुद्धिरेको महादक्षो जीर्णमत्स्यो वर्तते स गलगतमांसगन्धमाघ्राय तद्भक्षणार्थं गलस्य समीपमुपागत्य यत्नतः पर्यन्ते सकलमपि मांसं खादित्वा पुच्छेन च गलमाहत्य दूरतोऽपचक्राम । मत्स्यबन्धी च गृहीतो गलेन मत्स्य इति विचिन्त्य गलमाकृष्टवान् न पश्यति मत्स्यं पुनः मांसपेसीसहितं गलं प्रचिक्षेप तथैव स मत्स्यो मांसं खादित्वा पुनश्च गलमाहत्य पलायितवान् । एवं त्रीन् वारान् मत्स्यो मांसं खादितवान् न च गृहीतो मत्स्यबन्धिना ।

अह मंसम्मि पहीणे, झायंतं मच्छियं भणइ मच्छो ।
किं झायसि तं एवं, सुण ताव जहा अहिरिओसि ॥

अथ मांसे प्रक्षीणे ध्यायन्तं मात्स्यिकं मत्स्यो भणति यथा किं त्वमेवं ध्यायसि चिन्तयसि शृणु तावत् यथा त्वमन्हीको निर्लज्जो भवसि ॥

तिबलागे मुहामुक्को, तिक्खुत्तो बलयामुहे ।
तिसत्तखुत्तो जालेणं, सइंछिन्नोदए दहे ॥

अहमेकदा त्रीन् वारान् बलाकाया मुखादुन्मुक्तस्तथा हि कदाचिदहं बलाकया गृहीतस्ततस्तया मुखे प्रक्षेपार्थमूर्ध्वमुत्क्षिप्तस्ततो मया चिन्तितं यद्यहमृजुरेवास्याः मुखे निपतिष्यामि तर्हि पतितोऽहमस्सन्मुखे इति न मे प्राणकौशलं तस्मात्तिर्यग्निपतामीति एवं विचिन्त्य दक्षतया तथैव कृतं परिभ्रष्टस्तस्या मुखात् । ततो भूयोऽपि तयोर्ध्वमुत्क्षिप्तस्तथैव च द्वितीयमपि वारं मुखात्परिभ्रष्टः । तृतीयवेलायां तु जले निपतितस्ततो दूरं पलायितस्तथा त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान् वलयाकाया मुखे वलयाकामुखे भ्राष्ट्ररूपे निपतितो दक्षतया शीघ्रं वेलयैव सह विनिर्गतः । तथा त्रिःसप्तकृत्व एकविंशतिवारान् मात्स्यिकेन प्रक्षिप्ते जाले पतितोऽपि यावन्नाद्यापि स मत्स्यबन्धी संकोचयति जालं तावत् येनैव पथा प्रविष्टस्तेनैव ततो जालाद्विनिर्गतः । " जालेनेति " तृतीया पञ्चम्यर्थे द्रष्टव्या । तथा सकृत् एकवारं मात्स्यिकेन न्हदजलमन्यत्र संचार्य तस्मिन् न्हदे छिन्नोदके बहुभिर्मत्स्यैः सहाहं गृहीतः । स च सर्वानपि तान् मत्स्यानेकत्र पिण्डीकृत्य तीक्ष्णायःशलाकया प्रोतयति । ततो ऽहं दक्षतया यथा स मात्स्यिको न पश्यति तथा स्वयमेव तामयःशलाकां वदनेन लगित्वा स्थितः । स च मात्स्यिकस्तान् मत्स्यान् कर्दमलिप्तान् प्रक्षालयितुं सरसि जगाम तेषु च प्रक्षाल्यमानेष्वन्तरमवज्ञाय झटित्येव जलमध्ये निमग्नवान् ॥

एयारिसं मम सत्तं, सढं घटियघट्टणं ।
इच्छसि गलेण घेत्तुं, अहो ते अहिरीयया ॥

एतादृशं पूर्वोक्तस्वरूपं मम सत्त्वं शठं कुटिलं घटितस्य धारादिकृतस्योपायस्य घट्टनं चालकत्वमिच्छसि मां गलेन गृहीतुमित्यहो ते तव अन्हीकता निर्लज्जतेति । तदेवमुक्तो द्रव्यग्रासैषणायां दृष्टान्तः । संप्रति भावग्रासैषणायामुपनयः क्रियते । मत्स्यस्थानीयः साधुर्मांसस्थानीयं भक्तपानीयं मात्स्यिकस्थानीयो रागादिदोषगणः यथा न छलितो मत्स्य उपायशतेन तथा साधुरपि भक्तादिकमभ्यवहरन्नात्मानमनुशास्तिप्रदानेन रक्षयेत् ।

तामेवानुशास्तिं प्रदर्शयति ॥

बायालीसेसणसं-कडम्मि गहणम्मि जीव न हु छलिओ ।
इण्हिं जइ न छलिज्जसि, भुंजंतो रागदोसेहिं ॥

इह एषणाग्रहणेन एषणागता दोषा अभिधीयन्ते ततोऽयमर्थः द्विचत्वारिंशत्संख्या ये एषणादोषा गवेषणाग्रहणैषणादोषास्तैः संकटे विषमे ग्रहणे भक्तपानादीनामादाने हेजीव ! त्वं नैव छलितस्तत इदानीं संप्रति भुञ्जानो रागद्वेषाभ्यां यथा न छल्यसे तथा कर्त्तव्यम ।

संप्रति तामेव भावग्रासैषणां प्रतिपादयति ।

घासेसणा उ भावे, होउ पसत्था तहेव अपसत्था ।
अपसत्था पंचविहा, तव्विवरीया पसत्था उ ॥

भावे भावविषया ग्रासैषणा द्विविधा तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ता च । तत्र प्रशस्ता पञ्चविधा संयोजनातिबहुकाङ्गारधूमनिष्कारणरूपा । तद्विपरीता संयोजनादिदोषरहिता प्रशस्ता पिं०(संयोजनादि वक्तव्यता संजोजणा शब्दे) (भोजने कारणमाहारप्रमाणं च आहारशब्दे) (अङ्गारधूमदोषा अंगारधूमादिशब्दे)

तथा च—

गवेसणाए गहणे, परिभोगेसणा जहा ।
आहारोवहिसज्जाए, एए तिन्नि विसोहिए ॥ ११ ॥

गवेषणायामेषणा गवेषणैषणा गौरिव एषणा गवेषणा विशुद्धाहारदर्शनविचारणा प्रथमा एषणा १ द्वितीया ग्रहणैषणा विशुद्धाहारस्य ग्रहणं ग्रहणैषणा २ तृतीया परिभोगैषणा परि समन्तात् भुज्यन्ते आहारादिकमस्मिन्निति परिभोगो मण्डलीभोजनसमयस्तत्रैषा विचारणा परिभोगैषणा एतास्तिस्रोऽपि एषणा आहारोपधिशय्यासु विशोधयेत् केवलमाहारे एव एता एषणा न भवेयुः किंतु आहारे उपधौ वस्त्रपात्रादौ शय्या उपाश्रयः संस्तारकादिस्तत्र सर्वत्रैषणा विधेया इत्यर्थः ।

उग्गमउप्पायणं पढमे, बिइए सोहिज्ज एसणं ।
परिभोगं चउत्थं च, विसोहिज्ज जयं जयी ॥ १२ ॥

(जयं इति) यत्नवान् (जयीति) यतिः साधुः (प्रथमे इति) प्रथमायां गवेषणायामुद्गमोत्पादनादोषान् विशोधयेत् विशेषेण विचारयेत् पुनः साधुर्द्वितीयायां ग्रहणैषणायां शङ्कितादिदोषान् विचारयेत् पुनस्तृतीयायां परिभोगैषणायां चतुष्कं दोषचतुष्टयं विशोधयेत् १२ इति गाथार्थः । अत्र प्रथमायां गवेषणैषणायां द्वात्रिंशद्दोषा भवन्ति तद्यथा प्रथमं षोडश उद्गमदोषाः उद्गमशब्देन आधाकर्म्मिकादि षोडश दोषाः तथा प्रथमैषणायामेव उत्पादनादिदोषाः भवन्ति । उत्पाद्यन्ते साधुना ये ते उत्पादनाः साधोः सकाशादेव षोडश दोषा उत्पद्यन्ते । ते च धात्रीप्रमुखाः एवं द्वात्रिंशद्दोषा द्वितीयायामेषणायां ग्रहणैषणायां शङ्कितादि दश दोषाः । उभयतो दायकाद् ग्राहकाच्च भवन्ति उत्त० २४ अ० । (गवेषणायां द्वात्रिंशद्दोषाः तत्रोद्गमदोषा आधाकार्मिकादयः षोडश ते च उग्गमशब्दे-उत्पादनाया धात्रीप्रमुखाः षोडश ते च उप्पायणाशब्दे) अथ ग्रहणैषणाया दश दोषाः कथ्यन्ते । यदा दायकः शङ्कां कुर्वन् ददाति साधुरपि जानाति असौ दायकः शङ्कां करोति एवं सति आहारं गृह्णाति तदा प्रथमः शङ्कितो दोषः १ द्वितीयो म्रक्षितो दोषः स द्विविधः यद् सचित्तेन खरण्टितः आहारः अचित्तेन खरण्टितश्चाहारो भवति तदा म्रक्षितदोष उक्तः उच्यते २ यदा पृथिव्यां जले अग्निवनस्पतिमध्ये त्रसजीवानां मध्ये निक्षिप्तमाहारं ददाति तदा निक्षिप्तस्तृतीयो दोषः ३ यदा अचित्तमाहारमपि सचित्तेन आच्छादितं स्यात्तदा पिहितदोषश्चतुर्थः ४ पिहितदोषस्य चतुर्भङ्गी सचित्तमाहारं सचित्तेन पिहितम्, अचित्तं सचित्तेन पिहितम्, सचित्तमचित्तेन पिहितमचित्तमचित्तेन पिहितमेवं चतुर्भङ्ग्या अचित्त आहारः अचित्तेन पिहितः । अत्र कोऽपि न दोषः । यदा बृहद्भाजने स्थितमाहारं तत्रस्थभाजनेन दातुमशक्यत्वेन तद्भाजने परत्रोत्तार्य अथवा तस्माद्भाजनादपरस्मिन् भाजने उत्तार्य आहारं ददाति स संहृतदोषः पञ्चमः ५ यदा असमर्थः पण्डकः शिशुः स्थविरः अन्ध उन्मत्तो मत्तो ज्वरपीडितः कम्पमानशरीरो निगडबद्धो हस्ते छिन्नो गलितहस्तछिन्नपादः एतादृशो वा दाता ददाति तदा दायकदोषः । पुनर्यदा कश्चिद्दायको दायिका वा अग्निं प्रज्वालयन् अरहट्टकं भ्रामयन् घरट्टके चान्नपेषणं कुर्वन् मुसलेन खण्डयन् शिलायां लोष्टके वर्त्तयन् चरख्यां कार्पासादिकं लोढयन् रुतं वा पिञ्जयन् सूर्पकेण धान्यमाच्छोटयन् फलादिकं विदारयन् प्रमार्जनेन रजःप्रमार्जयन् इत्याद्यारम्भं कुर्वन् तथा भोजनं कुर्वन् स्त्री च या सम्पूर्णगर्भस्थिता भवति पुनर्या च स्त्री बालं प्रति स्तन्यं पाययन्ती पुनस्तं बालं रुदन्तं मुक्त्वा आहारदानाय उत्तिष्ठति पुनर्यः षट्कायसम्मर्दनं सङ्घट्टनं वा कुर्वन् साधुं दृष्ट्वा हण्डिकोपरिस्थमग्रपिण्डमुत्तारयति इत्यादयो बहवो दायकदोषा इति षष्ठो दायकदोषः ॥ ६ ॥ यदा अनाभोगेन अविचार्यैव शुद्धाशुद्धमाहारं संमील्य ददाति तदा सप्तम उन्मिश्रितदोषः ॥ ७ ॥ यदा द्रव्येण अपरिणतमाहारं भावेन उभयोः पुरुषयोराहारं वर्तते तन्मध्ये एकस्य साधवे दातुं मनोऽस्ति एकस्य च नास्ति तदाहारमपरिणतदोषयुक्तं स्यात् अपरिणतदोषश्चाष्टमः ॥ ८ ॥ यदा दधिदुग्धक्षैरेय्यादिद्रव्यं येन द्रव्येण दर्वीकरो वा लिप्तः स्यात्तदा पश्चात्कर्मत्वेन लिप्तपिण्डो नवमो दोषः स्यात् ॥ ९ ॥ यदा सिक्थानि घृतदधिदुग्धादिबिन्दून् पातयन् आहारं ददाति तदा छर्दितो दशमो दोषः स्यात् ॥१०॥ इति ग्रहणैषणायां दायकग्राहकयोरन्योन्यं दोषसम्भवः ॥

अथ परिभोगैषणायां ग्रासैषणायाः पञ्च दोषाः सम्भवन्ति तद्यथा यदा क्षीरखण्डघृतादिद्रव्यं सम्मील्य रसलौल्येन भुङ्क्ते तदा संयोजनादोषः प्रथमः । १ । यदा सिद्धान्ते पुरुषस्याहार उक्तोऽस्ति तस्मादाहारप्रमाणात्स्वादुलोभेन अधिकमाहारं करोति तदा अप्रमाणो द्वितीयो दोषः । २ । यदा सरसाहारं कुर्वन् धनवन्तं दातारं वर्णयति तदा इङ्गालदोषस्तृतीयः । ३ । विरसमाहारं कुर्वन् दरिद्रं कृपणं वा निन्दति तदा चतुर्थो धूमदोषः । ४ । यदा तपःस्वाध्यायवैयावृत्यादिकारणषट्कं विना बलवीर्याद्यर्थं सरसाहारं करोति तदा पञ्चमोऽकारणदोषः । ५ । एते पञ्च दोषाः परिभोगैषणायाः ज्ञेयाः । एवं सर्वे । ४७ । सप्तचत्वारिंशद्दोषा भवन्ति परिभोगैषणायां चतुष्कं दोषचतुष्टयं सूत्रे उक्तं तत्तु इङ्गालधूमयोः मोहनीयकर्म्मोदयादेव दायकस्य प्रशंसावतो निन्दावतश्च प्रादुर्भावात् एकत्वमेव अङ्गीकृतं तस्माच्चत्वारि एव दोषा गृहीताः एवं । ४६ । षट्चत्वारिंशद्दोषा भवन्ति अथवा परिभोगैषणायां परिभोगसमये आसेवनासमये पिण्डं (१) शय्या (२) वस्त्रं (३) पात्रं (४) एतच्चतुष्कं विशोधयेत् । अयमपि अर्थो विद्यते इत्यनेन " उग्गमुप्पायणं पढमे " इति गाथार्थः ॥ १२ ॥ एषणासमितेन चानेषणा परिवर्जनीया उत्त० २४ अ० ।

तथा चोत्तरगुणानधिकृत्याह ॥

संवुडे से महापन्ने, धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं, वज्जयंते अणेसणं ॥ १३ ॥

आश्रवद्वाराणां रोधेनेन्द्रियनिरोधेन च संवृतः स भिक्षुर्महती प्रज्ञा यस्यासौ महाप्रज्ञो विपुलबुद्धिरित्यर्थः । तदनेन जीवाजीवादिपदार्थाभिज्ञता वेदिता भवति । धीरोऽक्षोभ्यः क्षुत्पिपासादिपरीषहैर्न क्षोभ्यते । तदेव दर्शयति । आहारोपधिशय्यादिके स्वस्वामिना तत्संदिष्टेन वा दत्ते सत्येषणां चरत्येषणीयं गृह्णातीत्यर्थः । एषणाया एषणायां वा गवेषणाग्रहणैषणाग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः समितः स साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां परिवर्जयन् परित्यजन्संयममनुपालयेत् । उपलक्षणार्थत्वादस्य शेषाभिरपीर्यासमित्यादिभिः समितो द्रष्टव्य इति ॥ १३ ॥

अनेषणीयपरिहारमधिकृत्याह ॥

भूयाइं च समारम्भ, तमुद्दिस्सा य जं कडं ।
तारिसं तु ण गिण्हेज्जा, अन्नपाणं सुसंजए ॥ १४ ॥

अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि भूतानि प्राणिनः समारभ्य संरम्भसमारम्भारम्भैरुपतापयित्वा तं साधुमुद्दिश्य साध्वर्थं यत्कृतं तदकल्पितमाहारोपकरणादिकं तादृशमाधाकर्मदोषदुष्टं सुसंयतः सुतपस्वी तदन्नं पानकं वा न भुञ्जीत । तुशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैवाभ्यवहरेदेवं तेन मार्गोऽनुपालितो भवति ॥ १४ ॥ सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

तथाचोत्तराध्ययने ।

परिवाडिए न चिट्ठेज्जा, भिक्खुदत्तेसणं चरे ।
पडिरूवेण एसित्ता, मियं कालेण भक्खए ॥ ३२ ॥

परिपाटिर्गृहपङ्क्तिस्तस्यां न तिष्ठेत् न पङ्क्तिस्थगृहभिक्षोपादानायैकत्रावस्थितो भवेत् तत्र दायकदोषोऽनवगमप्रसङ्गात् । यद्वा पङ्क्त्यां भोक्तुमुपविष्टपुरुषादिसंबन्धिन्यां न तिष्ठेदप्रीत्यदृष्टकल्याण-

तादिदोषसंभवात् । किंच भिक्षुर्यतिर्दत्तं दानं तस्मिन् गृहिणा दीयमाने एषणां तद्गतदोषान्वेषणात्मिकां चरेदासेवेत । चरतिरासेवायामपि वर्तत इति वचनात् । अनेन ग्रहणैषणोक्ता किं विधाय दर्शेषणां चरेत् प्रतिरूपेण प्रधानेन रूपेणेति गम्यम् । यद्वा प्रतिः प्रतिबिम्बं चिरन्तनमुनीनां यद्रूपं तेनोभयत्र पतद्ग्रहादिधारणात्मकेन सकलान्यधार्मिकविलक्षणेन ननु वस्त्रं छत्रं शस्त्रं पात्रं यष्टिं चर्चयेत् भिक्षुः वेषेण परिकरेण च कियताऽपि विना न भिक्षाऽपि इत्यादिवचनाकर्णनाद्विभूषात्मकेनैषयित्वा गवेषयित्वाऽनेन च गवेषणाविधिरुक्तः । ग्रासैषणाविधिमाह मितं परिमितमदन्ति बहुभोजनात् स्वाध्यायविघातादिबहुदोषसंभवात् कालेनेति "नमोक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं । सज्झायं पट्ठवित्ताणं, वीसमिज्जक्खणं मुणी" १ इत्यद्यागमोक्तप्रस्तावेनाहतायवलम्बितरूपेण वा भक्षयेत् भुञ्जीतेति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

(९) यत्र पुरायातान्यभिक्षुकसम्भवस्तत्र विधिमाह ।

नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खुफासओ ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे ।

नातिदूरं सुब्व्यत्ययान्नातिदूरेऽतिविप्रकर्षवति देशे तिष्ठेदिति संबन्धः । तत्र च निर्गमावस्थानानवगमप्रसङ्गादेषणाशुद्ध्यसंभवाच्च । तथा (अनासन्नेत्ति) प्रसज्यप्रतिषेधार्थत्वान्नञो नासन्ने प्रस्तावान्नातिनिकटवर्तिनि भूभागे तिष्ठेत्तत्र पुरा प्रविष्टापरभिक्षुकाप्रीतिप्रसक्तेः नान्येषां भिक्षुकापेक्षया परेषां गृहस्थानां चक्षुःस्पर्शत इति सप्तम्यर्थे तसिस्ततश्चक्षुःस्पर्शे दृग्गोचरे चक्षुःस्पर्शगोचरगतः तिष्ठेदासीत किंतु विविक्तप्रदेशस्थो यथा न गृहिणो विदन्ति यदुतैष भिक्षुकनिष्क्रमणं प्रतीक्षत इति एक इति किममी मम पुरतः प्रविष्टा इति तदुपरि द्वेषरहितो भक्तार्थं भोजननिमित्तं न च लङ्घयन्ति । तमुल्लङ्घ्य तमिति भिक्षुकं नातिक्रामेत् प्रविशेत् तत्रापि तदप्रीत्यपवादादिसंभवादिह च मितं कालेन भक्षयेदिति भोजनविधिमभिधाय यत्पुनर्भिक्षाटनाभिधानं तदग्लानादिनिमित्तं स्वयं वा बुभुक्षावेदनीयमसहिष्णोः पुनर्भ्रमणमिति न दोषायेति ज्ञापनार्थम् । उक्तं च "जइ तेण संथरे तत्थ कारणमुप्पन्ने भत्तपाणं गवेसये" इत्यादि सूत्रार्थः ॥ ३३ ॥

पुनस्तद्गतविधिमेवाभिधित्सुराह ।

नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ ।
फासुयं परकडं पिंडं, पडिगाहेज्ज संजये ।

नात्युच्चे प्रासादोपरिभूमिकादौ नीचे वा भूमिगृहादौ तत्र तदुत्क्षेपनिक्षेपनिरीक्षणासंभवाद्दायकापायसंभवाच्च । यद्वा नात्युच्चः उच्चस्थानस्थितत्वेन ऊर्ध्वीकृतकन्धरतया वा द्रव्यतो भावतस्त्वहो अहं लब्धिमानिति मदाध्मातमानसो नीचोऽत्यन्तावनतकन्धरो वा निम्नस्थानस्थितो वा द्रव्यतो भावतस्तु न मयाऽद्य किंचित्कुतोऽप्यवाप्तमिति दैन्यवान् उभयत्र वा समुच्चये तथा नासन्ने समीपवर्तिनि नातिदूरे अतिविप्रकर्षवति प्रदेशे स्थित इति गम्यते यथायोगं जुगुप्साशङ्कैषणाशुद्ध्यसंभवादयो दोषाः । अथवा अत एवानासन्नो नातिदूरगतः प्रगता असव इति सूत्रत्वेन मतुब्लोपादसुमन्तः सहजसंसक्तिजन्मानो यस्मात्तत्प्रासुकं परेण गृहिणाऽऽत्मार्थं परार्थं वा कृतं निर्वर्तितं परकृतं किं तत्पिण्डमाहारं प्रतिगृह्णीयात् स्वीकुर्यात् संयतो यतिरिति सूत्रार्थः । १०

(१०) इत्थं सूत्रद्वयेन गवेषणाग्रहणैषणाविषयविधिमुक्त्वा ग्रासैषणाविधिमाह ।

अप्पपाणेप्पबीयम्मि, पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
समयं संजए भुंजे, जयं अपरिसाडियं ॥ ३८ ॥

अल्पशब्दो भावाभिधायी तथेहापि सूत्रत्वेन मत्वर्थीयलोपात्प्राणाः प्राणिनस्ततश्चाल्पा अविद्यमानाः प्राणिनो यस्मिंस्तदल्पप्राणं तस्मिन्नवस्थितागन्तुकजन्तुविरहिते उपाश्रयादाविति गम्यते । तथाऽल्पानि अविद्यमानानि बीजानि शाल्यादीनि यस्मिंस्तदल्पबीजं तस्मिन्नुपलक्षणत्वाच्चास्य सकलैकेन्द्रियादिरहिते । ननु चाल्पप्राण इत्युक्तेऽल्पबीज इति गतार्थं बीजादीनामपि प्राणित्वादुच्यते मुखनासिकाभ्यां यो निर्गच्छति वायुः स चेह लोके रूढितः प्राणो गृह्यते अयं च द्वीन्द्रियादीनामेव संभवति न बीजाद्येकेन्द्रियाणामिति कथं गतार्थता तत्रापि प्रतिच्छन्ने उपरि प्रावरणान्विते अन्यथा संपातिमसत्त्वसंपातसंभवात् संवृते पार्श्वतः कटकुड्यादिना संकटद्वारे अटव्यां कुण्डादिषु वा अन्यथा दानादियाचने दानादानयोः पुण्यबन्धप्रद्वेषादिदर्शनात् संवृतो वा सकलाश्रवविरमणात् । समकमन्यैः सह नत्वेकाक्येव रसलम्पटतया समूहासहिष्णुतया वा । यदाह । "साहवो तो चियत्तेणं, निमंतेज्ज जहक्कमं । जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजइत्ति" गच्छस्थितसामाचारी चेयं गच्छे एव जिनकल्पिकादीनामपि मूलत्वख्यापनायोक्ता उक्तं हि "गच्छे च्चिय निम्माउ" इत्यादि । यद्वा (समयंति) सममेव समकं सरसविरसादिष्वभिष्वङ्गादिविशेषरहितं सम्यग्यतः संयतो यतिरित्यर्थः भुञ्जीताश्नीयात् (जयंति) यतमानः (अपरिसाडियंति) परिसाटिविरहितमिति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥ उत्त० १ अ० ।

(११) शतसहस्रगच्छे एषणादोषपरिहारप्रकारो यथा ।

णोअगजिणकालम्मि, किह परिहरणा जहेव अणुजाणे ।
अइगमणम्मि य पुच्छा, निक्कारणकारणे लहुगा ॥

नोदकः प्रश्नयति यदि शते केष्वपि गच्छेषु सांप्रतमित्थमाधाकर्मादयो दोषा जायन्ते तर्हि जिनस्तीर्थकरस्तस्य काले सहस्रेषु गच्छेषु साधवः कथमाधाकर्मादीनां परिहरणं कृतवन्त इति । सूरिराह यथैवानुयाने रथयात्रायां सांप्रतमपि परिहरन्ति तथा पूर्वमपि परिहृतवन्तः (अतिगमणम्मि य पुच्छत्ति) शिष्यः पृच्छति किमनुज्ञाने अतिगमनं प्रवेशनं कर्तव्यम् उत नेति आचार्यः प्राह (निक्कारणकारणे लहुगत्ति) निष्कारणे यदि गच्छति तदा चत्वारो लघवः कारणे यदि न गच्छति तदाऽपि चत्वारो लघवः । अथैतदेव भावयति ।

ण्हाणाणुजाणमाई, सुजंतीति जह संपयं समोसरिया ।
सतसो सहस्ससो वा, तह जिणकाले विसोहिंसु ॥

स्नानं वर्षतः प्रतिनियतदिवसभावी भगवत्प्रतिमायाः स्नानं पर्वविशेषः अनुयानं रथयात्रा तदादिषु कार्येषु सांप्रतमपि शतशः शतसंख्या सहस्रशः सहस्रसंख्याः साधवः समवसृताः । संयते यथा यतन्ते आधाकर्मादिदोषशोधनायां प्रयत्नं कुर्वते तथा जिनकालेऽपि ते भगवन्तः एषणाशुद्धिं कृतवन्त इत्यर्थः । भूयोऽपि परः प्राह । ननु च स सर इव सागरः खद्योत इव प्रद्योतनः मृग इव मृगेन्द्रः इत्यादि तदिदं युगीनसमवसरणसत्कमेषणाशुद्ध्युपमानं तीर्थकरकालभाविनीमेषणाशुद्धिमुपमातुमभिधीयमानं हीनत्वान्न समीचीनम् अत आह "पच्चक्खेण परोक्खं, साहिज्जइ" न चेयं सर इव सागर इत्यादिवद्धीनोपमा तीर्थकरकालेऽपि सहस्रसंख्या एव साधव एकत्र क्षेत्रे समवसरन्ति स्म एतावन्तश्च ते सांप्रतमपि स्नानानुयानादौ पर्वणि समवसरन्त उपलभ्यन्ते शोधयन्तश्चैषणां ततोऽनुमीयते तीर्थकरका-

तेऽप्येवमेव दोषान् शोधितवन्त इति । "नेव पसहीणुवमा जं पुरिसजगे तईए वोच्छिन्नो सिद्धिमग्गे" इह प्रत्यक्षेणोपमानवस्तुना परोक्षमुपमेयं साक्षादनुपलभ्यमानमपि साध्यते शास्त्रे लोकेऽवस्थितिः ततोऽत्रापि प्रत्यक्षमाणेन सांप्रतकालीनसमवसरणसत्कैषणाशोधनेन परोक्षमपि तीर्थंकरकालीनाविसमवसरणसाधूनामेषणाशोधनं साध्यते इति "नेव पसहीणुवसत्ति" अपि च श्रीमन्महावीरस्वामी श्रीसुधर्मस्वामी जम्बूस्वामी चेति त्रीणि पुरुषयुगानि यावदनगाराणां निर्वाणपदवीगमनप्रवृत्तीये च पुरुषयुगे निर्वृते सति सिद्धमार्गः क्षपकश्रेणिकेवलोत्पत्त्यादिरूपो व्यवच्छिन्नः न पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपः शास्त्रपरिज्ञापितस्तस्येदानीमप्यनुवर्तमानत्वात्ततश्च यदि तेषां साधूनामुद्गमादिदोषशोधनं नाभविष्यत् ततस्ते सिद्धमार्गमपि नासादयिष्यन् अतो निश्चीयते तेऽपि जगवन्त इत्थमेवैषणाशुद्धिं कृतवन्त इति । वृ० १ उ० ।

(१२) विस्तरेण दशस्वेषणादोषेषु प्रायश्चित्तमाह ।

ससरक्खे ससणिद्धे, पणगं लहुगा दुगुंछसंसत्ते ।
उक्कुट्टएांते गुरुगो, सेसे सव्वेसु मासलहू ॥

शङ्किते पञ्चविंशतेर्दोषाणां मध्ये यच्छङ्कितं तन्निष्पन्नमापद्यते । प्रायश्चित्तं म्रक्षिते सरजस्केन सचित्तमिश्रपृथिवीकायरजोम्रक्षितेन हस्तेन मात्रकेण वा भिक्षां गृह्णतः पञ्च रात्रिन्दिवानि । सचित्तमिश्राप्कायस्निग्धेन हस्तकेन मात्रकेण वा भिक्षामाददानस्य पञ्च रात्रिंदिवानि , अचित्तेन जुगुप्सितेन विष्ठामूत्रमद्यमांसलशुनपलाण्डुप्रभृतिना म्रक्षितेन गृह्यमाणे चत्वारो गुरुकाः, गुडघृततैलादिभिरपि कीटिकासंसक्तैर्म्रक्षितमाददानस्य चत्वारो लघवः । पुरःकर्मणि पश्चात्कर्मणि च चतुर्लघुकाः । अन्ये मासलघु प्रतिपन्नवन्तः। उत्कुट्टिते अनन्तेसचित्ते वनस्पतिकायिके मासगुरु चूर्णेऽप्यनन्ते सचित्ते मासगुरु "सेसेसु सव्वेसु मासलहु" परीते प्रत्येके कुट्टिते चूर्णिते वा प्रत्येकं मासगुरु, मिश्रे परीते सर्वत्र मासलघु अनन्ते मासगुरु । तथा मृत्तिकालिप्तहस्ते यावन्तः सेटिकादयो मृत्तिकाया भेदास्तेषु सर्वेषु मासलघु । निक्षिप्ते प्रायश्चित्तमाह ।

चउलहुगा चउगुरुगा, मासो लहुगुरुयपणगलहुगुरुगं ।
कुव्वंति परित्तणंतर, मीसे बीए य अणंतपरे य ॥

प्रत्येकं सचित्तानन्तरप्रतिष्ठितमाददानस्य चत्वारो लघुकाः प्रत्येकसचित्तपरंपरप्रतिष्ठितमपि चत्वारो लघवः अनन्तसचित्तानन्तरप्रतिष्ठितमादानस्य चत्वारो गुरुकाः। अनन्तसचित्तपरंपरप्रतिष्ठितमपि गृह्णतश्चत्वारो गुरुकाः प्रत्येकमिश्रानन्तरप्रतिष्ठितं परप्रतिष्ठितं वा गृह्णतो मासलघु । अनन्तरं परंपरया वा प्रतिष्ठितमाददानस्य मासगुरु । बीजेषु परित्तेष्वनन्तरं वा प्रतिष्ठितं गृह्णतः पञ्चरात्रिंदिवानि लघुकानि। अनन्तेषु गुरुकानि। अन्ये तु ब्रुवते प्रत्येकमिश्रेऽनन्तरं परं वा प्रतिष्ठितमाददानस्य लघु रात्रिंदिवसपञ्चकम् । अनन्ते अनन्तरं परं वा प्रतिष्ठितं गृह्णतो गुरुकमिति । तथा परे प्रत्येके सचित्तमनन्तरप्रतिष्ठितं गृह्णतश्चतुर्लघवः परंपरप्रतिष्ठितं मासलघु ।तथा प्रत्येके मिश्रे अनन्तरप्रतिष्ठितमाददानस्य लघुको मासः परंपरप्रतिष्ठितं गृह्णतो लघु रात्रिंदिवपञ्चकम्। अनन्ते मिश्रेऽनन्तरं प्रतिष्ठिते मासगुरु परंपरप्रतिष्ठिते गुरु रात्रिंदिवपञ्चकमिति । उक्तं च "पुढवी आऊ तेऊ, परित्ते चेव तह य वणकाये । चउलहु अणंतरम्मि, सचित्ते परंपरे मासो ।मासाणंतरलहुगो, लघुपणगपरंपरे परित्तेसु।एए चेव य गुरुगा, होंति अणंते परट्ठाणे" इति त्रसकाये अनन्तरप्रतिष्ठितं गृह्णतश्चतुर्लघुकं परंपरप्रतिष्ठितं गृह्णतो मासलघु त्रसकाये "चतुलहुगा अनंतरपरंपरट्ठिए लहुगो" इतिवचनात् एवं षड्जीवनिकायेषु प्रत्येकेऽनन्ते मिश्रे च पृथिव्यादौ बीजे च प्रत्येके अनन्ते मिश्रे चानन्तरं परंपरं च प्रतिष्ठितमाददानस्य प्रायश्चित्तमिति ।

अधुना पिहितं संहरणं चाधिकृत्य प्रायश्चित्तमाह ।

एमेव य पिहियम्मि, लहुगा दव्वम्मि चेव अपरिणए ।
बीसुम्मिस्से पणगं, अणंतबीए य पणगगुरू ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण पिहितेऽपि प्रायश्चित्तं वक्तव्यं किमुक्तं भवति यथा निक्षिप्ते प्रायश्चित्तमुक्तमेवं येन द्रव्येण सचित्तेनाचित्तेन मिश्रेण वाऽनन्तरं परकं चापि धीयते तत्रापि द्रष्टव्यं नवरमचित्तेन गुरुकेण पिहिते गृह्णतश्चतुर्गुरुकं संहरणे येन मात्रकेण भिक्षां दातुकामस्तत्र यदि किञ्चित्प्रक्षिप्तं वर्तते तदन्यत्र संहृत्य ददाति तच्च संह्रियमाणमद्यापि अपरिणतं तस्मिन्नपरिणते द्रव्ये संहृते गृह्णतश्चत्वारो लघुकाः । दायके प्रगलिते नपुंसके चत्वारो गुरुकाः । पिञ्जनकर्तनक्षुद्रखण्डकरणप्रमर्दनप्रवृत्तेषु प्रत्येकं मासलघु । शेषेषु दायकदोषेषु चत्वारो लघुकाः । उन्मिश्रे सचित्तानन्तमिश्रे चतुर्गुरु । मिश्रानन्तमिश्रे मासगुरु । सचित्तप्रत्येकमिश्रे चतुर्लघु । प्रत्येकमिश्रमिश्रे मासलघु। विष्वक् उन्मिश्रे प्रत्येकबीजोन्मिश्रे लघु रात्रिंदिवपञ्चकम्। अनन्तबीजोन्मिश्रे गुरु रात्रिंदिवपञ्चकम् । अपरिणते द्रव्यापरिणते कायनिष्पन्नं ये कायाः प्रत्येकरूपा अनन्तरूपा वा अपरिणता तन्निष्पन्नमित्यर्थः। तत्र पृथिव्यादिष्वपरिणतेषु चतुर्लघुकम । अनन्तेष्वपरिणतेषु चतुर्गुरु। उक्तं च "दव्वापरिणते चउलहु पुढवादी चउगुरु अनंतेसु । भावापरिणते "दोण्हं तु भुंजमाणेणमेगो तत्थ निमतए" इत्येवं रूपेषु लघुको मासः "भावापरिणते लहुगो" इति वचनात् लिप्ते आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु चत्वारो लघुकाश्चरमभङ्गेऽनेषणायां चतुर्गुरवः । छर्दिते आद्येषु त्रिषु भङ्गेषु प्रत्येकं चतुर्लघुकं चरमभङ्गे नाचीर्णम् ॥

सजोगसइंगाले, अणंतमीसे चउगुरू होंति ।
वीसुम्मीसे मासो, सेसे लघुका य सव्वेसु ॥

संयोजना द्विविधा अन्तर्बहिश्च । तत्रान्तःसंयोजनायां चत्वारो लघवः बहिः संयोजनायां चत्वारो गुरुका अन्ये चान्तर्बहिर्वा संयोजनायां चत्वारो गुरुका इति प्रतिपन्नाः। प्रमाणातिरिक्तमाहारयति चत्वारो लघवः (सइंगालेत्ति) साङ्गारे आहार्यमाणे चत्वारो गुरुकाः, सधूमे चतुर्लघु निष्कारणे चतुर्लघु सचित्तानन्तमिश्रे चतुर्गुरुकम् । एतच्च प्रागेव स्वस्थानेऽभिहितम् । तथा विष्वगुन्मिश्रे पृथिवीकायादिभिः प्रत्येकैर्मिश्रे लघुको मासोऽनन्तैरुन्मिश्रे गुरुकः (सेसे लहुगा उ सव्वेसुत्ति) शेषेषु सर्वेष्वपि ग्रहणैषणाभेदेषु ग्रासैषणाभेदेषु चत्वारो लघुकास्ते च तथैव योजिताः । वृ० १ उ० ।

(१३) पिण्डैषणा च पिण्डग्रहणप्रकारास्ताश्च सप्त तथा चाह ।

सत्त पिंडेसणाओ पण्णत्ताओ सत्त पाणेसणाओ पण्णत्ताओ ॥

पिण्डं समयभाषया भक्तं तस्यैषणा ग्रहणप्रकाराः पिण्डैषणास्ताश्चैताः " संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तहप्पलेविया चेव ४। उग्गहिया ५ पग्गहिया, ६ उज्झियधम्मा, ७ सत्तमिया" ॥ १ ॥ त-

असंसृष्टा हस्तमात्राभ्यां चिन्तनीया । "असंसट्ठे मत्ते खरंडियम्मि धुत्तं भवइ " ॥ एवं गृह्णतः प्रथमा भवति गाथायां तु सुखमुखोच्चारणार्थोऽन्यथापाठः । संसृष्टा ताभ्यामेव चिन्त्या " संसट्ठे हत्थे संसट्ठे मत्ते खरंडिए त्ति धुत्तं भवइ "॥ एवं गृह्णतो द्वितीया । उद्धृता नाम स्थाल्यादौ स्वयोगेन भोजनजातमुद्धृतं ततः " असंसट्ठे हत्थे असंसट्ठे मत्ते संसट्ठे वा मत्ते संसट्ठे वा हत्थे "॥ एवं गृह्णतस्तृतीया । अल्पलेपा नाम अल्पशब्दोऽभाववाचकः निर्लेपं पृथुकादि गृह्णतश्चतुर्थी । अवगृहीता नाम भोजनकाले शरावादिषूपहृतमेव भोजनजातं यत्ततो गृह्णतः पञ्चमी । प्रगृहीता नाम भोजनवेलायां दातुमभ्युद्यतेन करादिना प्रगृहीतं यद्भोजनजातं भोक्तुं वा स्वहस्तादिना तद्गृह्णत इति षष्ठी । उज्झितधर्मा नाम यत्परित्यागार्हं भोजनजातमन्ये च द्विपदादयो नावकाङ्क्षन्ति तदर्द्धत्यक्तं वा गृह्णत इति इदयं सप्तमीति । पानकैषणा एता एव नवरं चतुर्थ्यां नानात्वं तत्र ह्यायामसौवीरकादि निर्लेपनं विज्ञेयमिति स्था० ७ ठा० । आव० । प्रव० । नि० चू० । पंचा० (तथा चाचाराङ्गे पिण्डाधिकार एव सप्त पिण्डैषणा अधिकृत्य सूत्रमाह् । तच्च पिंडेसणाशब्दे द्रष्टव्यम्)

(१४) एषणायां कर्तव्यम् तथा चाह—

भिक्खू मुयच्चे कयदिट्ठधम्मे,
गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा ।
से एसणं जाणमणेसणं च,
अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥

स एवं मदस्थानरहितो भिक्षणशीलो भिक्षुः तं विशिनष्टि । मृतं च स्नानविलेपनादिसंस्काराभावादर्चा तनुः शरीरं यस्य स मृतार्चः । यदि वा मोदनं मुत् तद्भूता शोभनाऽर्चा पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदर्चः । प्रशस्तदर्शलेश्यः । तथा दृष्टोऽवगतो यथावस्थितो धर्मः श्रुतधर्मचारित्राख्यो येन स तथा चैवंभूतः कचिदवसरे ग्रामं नगरमन्यद्वा मठादिकमनुप्रविश्य भिक्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहननोपपन्नः सन्नेषणागवेषणग्रहणैषणात्रिकां जानन् सम्यगवगच्छन्ननेषणां चोद्गमदोषादिकां तत्परिहारं विपाकं च सम्यगवगच्छन्नन्नस्य पानस्य वा न तु गृद्धोऽनध्युपपन्नः सम्यग्विहरेत् । तथा हि स्थविरकल्पिकां द्विचत्वारिंशद्दोषरहितां भिक्षां गृह्णीयुर्जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रहो द्वयोर्ग्रहस्तश्चेमाः 'संसट्ठमसंसट्ठा उद्धड तह होंति अप्पलेवाय । उग्गाहिया पग्गाहिया उज्झियधम्मा य सत्तमिया अथवा यो यस्याभिग्रहः स तस्यैषणा अपरा त्वनेषणेत्येवमेषणानेषणाभिज्ञः कचित्प्रविष्टः सन्नाहारादावमूर्च्छितः सम्यक् शुद्धां भिक्षां गृह्णीयादिति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

एसणाअसमिय-एषणाऽसमित पुं०असमाधिस्थानभेदे,"एसणाए असमिएया विभवइ " तथा " एसणासमिए असमिएया चि भवतित्ति " एषणायां समितश्चापि संयुक्तोऽपि नानैषणां परिहरति प्रतिप्रेरितश्चासौ साधुभिः सह कलहायते अनेषणीयतां परिहरन् जीवोपरोधे वर्त्तते एवं चात्मपरयोरसमाधिकरणादसमाधिकस्थानमिदं विंशतितममिति । दशा० १ अ० । "अणेसणं णपरिहरति पभिचोदितो साधूहिं समं भंडइ अपरिहरंतो य कायाणमुवरोधे वट्टती वट्टंतो य अप्पाणं चेव असमाहीए जोजयतीति " आव० ४ अ० ।

एसणागोयर-एषणागोचर—पुं०एषणा उद्गमादिदोषविप्रमुक्तभक्तपानादिगवेषणरूपा तत्प्रधानो यो गौरिव मध्यस्थतया भिक्षार्थं चरणं स एषणागोचरः । एषणाप्रधानायां गोचरचर्यायाम्, बृह० ६ उ० "तितिणिए एसणागोयरस्स पलिमंथू" तिन्तिणिकोऽलाभे सति खेदाद्यत्किंचनाभिधायी स च खेदप्रधानत्वादेषणा उद्गमादिदोषविमुक्तपानादिगवेषणग्रहणलक्षणा तत्प्रधानो यो गोचरो गौरिव मध्यस्थया भिक्षार्थं चरणं स एषणागोचरस्तस्य परिमन्थुः । सखेदो हि अनेषणीयमपि गृह्णातीति भावः । स्था० ६ ठा० ।

एसणादोस—एषणादोष—पुं० एषणमेषणाऽशनादेर्ग्रहणकाले शङ्कितादिभिः प्रकारैरन्वेषणं तद्विषया दोषा एषणादोषाः । प्रव० ६७ द्वा० । एषणायाः शङ्कितादिके दोषे, एषणा गृहिणा दीयमानपिण्डादेर्ग्रहणं तद्दोषाः शङ्कितादयो दशेति । स्था० ३ ठा० (ते च एसणा शब्दे) ।

एसणाविसोहि-एषणाविशुद्धि-स्त्री०विशुद्धिभेदे,स्था०१०ठा० ।

(तद्वक्तव्यता विसोहि शब्दे)

एसणासमिइ—एषणासमिति—स्त्री०एषणमेषो गवेषणं तं करोतीति णिच्-ततः स्त्रीलिङ्गे भावे युचि एषणा । उत्त० २४ अ० । एषणायामुद्गमादिदोषवर्जनतः समितिरेषणासमितिः पा० । एषणमेषणा गवेषणग्रहणग्रासैषणभेदाः शङ्कितादिलक्षणा वा तस्यां समितिरेषणा समितिः । समितिभेदे, उक्तं च एषणासमितिर्नाम गोचरगतेन मुनिना सम्यगुपयुक्तेन नवकोटीपरिशुद्धं ग्राह्यमिति- । स्था० ५ ठा० । आव० । गवेषणग्रहणग्रासैषणादोषैरदूषितस्यान्नपानादे रजोहरणमुखवस्त्रिकाद्यौघिकोपधेः शय्यापीठफलकचर्मदण्डाद्यौपग्रहिकोपधेश्च विशुद्धस्य यद् ग्रहणम् एषणासमितिर्यदाह "उत्पादनोद्गमैषण-धूमाङ्गारप्रमाणकारणतः । संयोजनाच्च पिण्डं, शोधयतामेषणासमिति" रिति । ध० २ अधि० । प्रश्न० । " सुत्तानुसारेण रयहरणवत्थपादासणपाणिलओ सहस्सेसणं एसणासमिति " " दिट्ठमणेसियगहणे दिट्ठमणेसियगहणे त्ति एस एसणासमिति एसणासमितिए उवउत्तेण दिट्ठमणेसणिज्जं पच्छा दिट्ठं ण सक्किओ गहणजोग्गो णियत्तेउं एवं सहसक्कारो एसणासमितिए भवतीति " नि० चू० १ उ० । एषणासमितिर्द्विचत्वारिंशद्दोषवर्जनेन भक्तादिग्रहणे प्रवृत्तिरिति । सम० । एषणासमितावुदाहरणं यथा " वसुदेवपुव्वं जम्मं आहरणं एसणासमितिए मगहनंदिग्गामे (गोयरग्गामे इति पाक्षिक सूत्रवृत्तौ) गोयम धिज्जाइ चक्कयरो तस्स य धारिणिभज्जागब्भो ताए कओ वि पाहुओ धिज्जाई मओ छम्मासगब्भधिज्जाइणी जाते माउलसंवुड्ढणकम्मकरणवेलापारणयएण नत्थि तुह इत्थ किंचि तो वेतामाउलो तं च मा सुण लोगस्स तुमं धुयाओ तिन्न तेसिजेट्ठयरं दाहामि करेमि कम्मं पकम्मो उ पत्तो य विवाहो सा नेच्छई विसन्नो माउलोवेइ द्वितीय दाहामि सा वि य तहेव नेच्छई ततियं पि नेच्छइ सा वि निधिन्नंदिवद्धणआयरियाणं सगासे निक्खंतो जाओ छट्ठक्खमओ गेण्हति य । अभिग्गहमिमं तु बालगिलाणादीणं वेयावच्चं मए उ कायव्वं तं कुणइ तिव्वसड्ढो खायजसो सक्कगुणकित्ती असद्दहणे देवस्स आगमो कुप्पति दो समणरूवो अतिसारगहियमग्गो अडिवितिओ अतिगओ वितिओ वेइ गिलाणो पडिओ वेयावच्चं तु सद्देह जोओ सो उट्ठेतु अक्खिप्पं सुयं च तं नंदिसेणेणं छट्ठो व-

घासपारणमाणीयं कवलखेसुकामेणं तं सुयमेत्तं रद्दसु निओ य जणकेण कज्जंति पाणगदव्वं च तहिं जणच्छ्रीवेइ तेण कज्जति । निमांथं हिंरुइ ततो कुणइ अणेसणं निविश पेच्छेइ इति । एकवारं बितियं च हिंरितो न लद्धं ततियवारम्मि अणुकंपाए चरंतो ततो गतो तस्सगासं तु खरफरुसनिठरेहिं अकोसई सो गिलाणओ सक्को हेमंदभग्ग ! फुक्कियनूससितनामभेत्तेण सावदुवकारित्ति । अहं नाम हंसमुद्दिसिउमाओ एयाइ अवत्थाए तं अच्छसि जत्तओजिल्लो अमियमिव मणमाणे तं फरुसगिरं तु सो तु संजंतो खलणगतो खामेती धुवति यत असुहमलसितं चठेह वयामो त्ति तह कहामि जहा हु अचिरेण होहिह । निरुप्प तुब्भे वेसा न तरामि गंतुं जे आरुहतापट्ठीए आरूढो तो पयारं च परमासुहदुग्गंधिमुयतीपठीए फरुसं च वेति गिरिं धि मुंभिय वेगविधाओ कओ त्ति । दुक्खविओ इय बहुविहमुक्कोसति पदेसो वि भगवं तु न गणेइ फरुसगिरं न पत्तं चिकुसइत्ता रसं गंधं चंदणमिव मणंतो मिच्छामि दुक्कडं भणति । चिंतेइ किं करेमि किह कुसमाही हवेज्ज साहुस्स इय बहुविहप्पओरेण चिंतितो जाहे खोजेउ ताहे अभित्थुणंतो तओ आगतो य इयरो व आलोएइ गुरुहिं धन्नोत्ति ततो य अणुसट्ठो जह तेणं न विपेलिअय एसणाए जइयव्वं । अहवा वि इमं अन्नं आहरणं दिट्ठि वा दीयं जह केइ पंच संजया तए बुहह किलंतसुमहमरूाणं उसिन्ना वेयालियपत्तगामं च ते एगं मग्गंति पाणगं ते लोगो य अणेसणंतेहि कुणति न गहिय न लरूमियरं कालगयतिसाभिभूया य आव० ४ अ० । आवश्यकचूर्णौ तु " एसणासमितीए नंदिसेणो अणगारो मगधाजणवए सालिग्गामो तत्थेगो गाहावती तस्स पुत्तो नंदिसेणो तस्स गब्भत्थस्स पितो मतो माता छम्मासियस्स मातुपिताए संवड्ढितो । अण्णदा णंदिवरूणो अणगारो साधुसंपरिवुडो विहरमाणो तं गाममागओ उज्जाणे ठितो । साधुजिक्खस्स गतो नंदिसेणो भणाति । के तुब्भे केरिसो वा तुब्भ धम्मं साधुहिं भणितो आयरिया जाणंति उज्जाणे तत्थ गंतुं पुच्छाहि गतो पुच्छित्ता पव्वइतो । छट्ठक्खमओ जातो । अभिग्गहं गेण्हति । वेयावच्चं मए कायव्वंति । सक्को गुणग्गहणं करेति । अद्दीणमणसो वेयावच्चे अब्भुट्ठितो । जो जं दव्वं इच्छति साहू तं तस्स सो देति । एगो देवो मिच्छादिट्ठी असद्दहंतो आगतो साधु रूवं विउव्वित्ता उब्भंडग परिस्सयं आगतो नंदिसेणस्स छट्ठस्स पारणगा पढमे कवले उक्खित्ते देवक्खमणो तं एसो भणति । वितिउ तिसाए परितो । अंतरंतो ठितो थाहिं जइ कोइ सद्दहति वेयावच्चं तुरितं घेत्तूण पाणगं जातु । नंदिसेणो अपारितो चेव पाणगस्स गामं अतिगतो जिक्खू तो हिंरुंतो देवाणुभावेणं न लभति । चिरस्स लद्धं गहाय गतो साहुं न पेच्छति वाहराति । चिरेण वायादिणा देवेण अतिसारजुत्तो साहू विउव्वितो भणति एएणं धि मुंरुए चिरस्स आगतो वेयावच्चे वि कवडकुडी भणति । मिच्छादुक्कडंति । पाणगं चिरेण लद्धंति । भणति किह ते ग्गामं नेमि । किं असेण पिट्ठीए त्ति । भणति असेणं असे काउं पट्ठितो असुभकलमलं मुयति गुरुगं च । अप्पगं करेति भणति य मसरखलखला विज्झामि । पुणो तुराहित्ति । एवं बहुसो विक्खोभवेउ आहे ण तरति खामेत्तुं ताहे सो तुट्ठो संमत्तं पडिवण्णो वंदित्ता पडिगतो । एस एसणासट्ठितो । अहवा इमं दिट्ठिवातियं पंच संजता महज्झाओ अट्ठाणाओ तण्हा छुहा किलंता निग्गता । वेयाले गामं अतिगतो पाणगं मग्गंति । अणेसणं लोगो करेति । न लद्धं कालगता पंच वि एते एसणाए । आ० चू० ४ अ० ।

एसणासमिय–एषणासमित–पुं० एषणायाम् उत्पादनग्रहणग्रासविषयायां सम्यगितः स्थितः समितः एषणासमितः । एषणायां सम्यक् स्थिते, निर्दोषाहारग्राहिणि, उत्त० ६ अ० । " एसणासमिए णिच्चं वज्जयंते अणेसणं " एषणायां गवेषणग्रहणैषणग्रासरूपायां त्रिविधायामपि सम्यगितः समितः साधुर्नित्यमेषणासमितः सन्ननेषणां परिवर्जयन् परित्यजन् संयममनुपालयेदिति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । तथा च ।

एसणासमिओ लज्जू, गामे अणियओ चरे ।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिंडवायं गवेसए ॥

एषणासमितिनिर्दोषाहारग्राही ग्रामे नगरे वा अनियतो नित्यवासरहितः सन् चरेत् संयममार्गे प्रवर्तेत । कीदृशः साधुर्लज्जूर्लज्जालुः लज्जासंयमस्तेन सहितः । पुनः कीदृशः अप्रमत्तः प्रमादरहितः । पुनः साधुः(पमत्तेहिं इति) प्रमत्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः पिण्डपातं भिक्षां गवेषयेत् गृह्णीत प्राकृतत्वात्पञ्चमीस्थाने तृतीया उत्त० ६ अ० । तदात्मके समाधिभेदे च । स्था० १० ठा० ।

एसणिज्ज–एषणीय–त्रि० इष-एष वा कर्मणि अनीयर् आशास्ये, गम्ये च वाच० । एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषविकलतया साधुभिर्यत्तदेषणीयम् कल्पे, । स्था० ३ ठा० । " फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स णो सम्मं गवेसइत्ता भवइ "। एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषरहिततयेत्येषणीयः कल्पस्तस्येति । स्था० ४ ठा० । " एसणिज्जमिति संकितमक्खियादिदोसविमुक्कमिति " पं० चू० । " एसणिज्जं तु दसदोसविप्पमुक्कं ति " पं० भा० ।

एसणोवघाय–एषणोपघात–पुं० एषणया शङ्कितादिभेदया योघातः स एषणोपघातः । उपघातभेदे, स्था० १० ठा० । एषणोपघात एषणया तद्दोषैर्दशभिः शङ्कितादिभिरुपघात इति स्था० ५ ठा० ।

एसमाण–एषयत्–त्रि० अन्वेषति, "एसणाए एसमाणं परो वदेज्जा " एतया अनन्तरोक्तया वस्त्रैषणया वस्त्रमन्वेषयन्तं साधुं परो वदेत् । आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

एसित्तए–एषितुम्–अव्य० अन्वेष्टुमित्यर्थे, "संथारगमेसित्तए" संस्तारकमन्वेष्टुमिति० आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

एसित्ता–एषित्वा–अव्य० अन्विष्येत्यर्थे, "पिंडवायं एसित्ता" पिण्डपातं भिक्षामेषित्वाऽन्विष्येति । आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

एषित्वा–अव्य० निर्दोषमाहारं गृहीत्वेत्यर्थे "पडिरूवेण एसित्ता" आहारं निर्दोषं गृहीत्वेति । अन्विष्येत्यर्थे, उत्त० १ अ० ।

एसिय–एषिक–पुं० एषितुं शीलमस्येत्येषिकः । मृगलुब्धक हस्तितापसादौ, पाखण्डिके च । (एसिया वेसिया लुद्दा) एषितुं शीलमित्येषिका मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एष्यन्ति तथा कन्दमूलफलादिके च । तथा ये चाऽन्ये पाखण्डिका नानाविधैरुपायैर्भक्ष्यमेष्यन्त्यन्यानि वा विषयसाधनानि ते सर्वेऽप्येषिका इत्युच्यन्ते । सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । जातिभेदे, [एसियकुलाणि वा) एसियति गोष्ठा इति " आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ॥

एषित–त्रि० एषणीये, एषयन्ति एषणीयमुद्गमादिदोषरहितमिति आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ० । (एसियस्सत्ति) एषणीयस्य गवे-

षणाविशुद्ध्या गवेषितस्येति भ० ७ श० १ उ० । एषितं प्रासुकमित्यर्थ इति व्य० द्वि० ४ उ० । एषितमन्वेषितं भिक्षाचर्य्याविधिना प्राप्तमिति सूत्र० २ श्रु० १ अ० ॥

एसिया–एषित्वा–अव्य० अन्वेष्यत्यर्थे, "सुविसुद्धमेसिया" सुविशुद्धमुत्पादनादोषरहिततयैषणादोषपरिहारेणैषित्वाऽन्विष्येति । आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

एहंत–एधयत्–त्रि० अनुभवति, "दीसंति दुहमेहंता" दुःखक्लेशलक्षणमेधयन्तोऽनेकार्थत्वादनुभवन्त इति । दश० ए अ० ।

एहिय–ऐहिक–त्रि० इह भवः काळादृञ्, इहलोकभवे, गृहीतशरीरसम्बधिनि स्रक्चन्दनादिसुखानुभवादौ च वाच० । ऐहिकमेव चर्क्कं सांसारिकसुखहेतुत्वादिति । आ० म० प्र० ।

ऐ–अयि–अव्य० इण् इन् । अयौ वैत् ८ । १ । १६ए । इति प्राकृतसूत्रेणायिशब्दे आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह वा ऐकारः । प्रा० । प्रश्ने, अनुनये, सम्बोधने, अनुरागे च । वाच० । "ऐ बिहेमि" अइउम्मास्मिय वचनादैकारस्यापि प्राकृते प्रयोगः प्रा०

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे
एकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्–

ओकार

ओ-अव-अप-उत्-अव्य०अवादिप्रकरणोकार्थेषु, " अवापोते च ८। १। ७२ अवापयोरुपसर्गयोरुत इति विकल्पार्थनिपाते च आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओद् वा भवति । ओअरइ अवअरइ । ओआसो अवआसो । अप । ओसरइ । अवसरइ । ओसारिअं । अवसारिअं । उत्-ओवणं उअवणं । ओघणो । उअघणो । क्वचिन्न भवति अवगअं । अवशद्दो उअरवी प्रा० । अव-अधःशब्दार्थे, वोसिरामि । विशे० ।

ओ-अव्य० उ-विच् । संबोधने, आह्वाने, स्मरणे, अनुकम्पने, च मेदि०। प्राकृतेऽपि ओ सूचना पश्चात्तापे, ॥२॥ ओ इति सूचनापश्चात्तापयोः प्रयोक्तव्यम् सूचनायाम् " ओ अविणअतत्तिल्ले" पश्चात्तापे-"ओ नमए गायाइतिआए" विकल्पे तु उतादेशेन ओकारेणैव सिद्धम् । "ओविरएमि न हअले" प्रा० । ओ इति निपातः । पादपूरणे, पंचा०३ विव०। "सामाईयमोवयं तु यं विषं" " पंचा० १ विव० । सुहुमे परमुस्सकण-मवसक्कणमोयपाहुमिया" पंचा० १७ विव० ।

ओ-पुं० रक्षणे, शेषे, मन्त्रे, श्रुतावपि ब्रह्मणि, शीतांशौ, पङ्के, दायादे, त्रिदिवेशे, पयोवाहे, यवे, वेधे, नदे, योनौ, सरसिजे, तोये, रुद्रस्वामिनि, मातरि, एका० ।

ओअक्ख-दृश्-धा० भ्वा-पर-सक० । प्रेक्षणे "दृशो निअच्छपेच्छा वयच्छ वयज्झ वज्ज सव्वव देक्खो अक्खा वक्खा वअक्ख पुलोये पुलअ निआव आस पासाः " ८।४।८०। इति दृशेरोअक्खादेशः । ओअक्खइ । पासइ पश्यति प्रा० ।

ओअग्ग-वि-आप्-धा० स्वा-उभ० व्यापेरोअग्गः ८।४।४० । इति व्याप्नोतेरोअग्ग इत्यादेशो वा भवति । ओअग्गइ । वावेइ । प्राप्नोति प्रा० ।

ओअंद-आ-छिद्-धा०रुधा० हस्तादिनाऽऽकर्षणे, । आङा ओअंदोद्दालौ ८।४।५। इति आङा युक्तस्य छिदेरोअंदादेशः। ओअंदइ । आच्छिदइ । आच्छिनत्ति । प्रा० ।

ओआस-अवकाश-पुं० अव्-कश्-घञ्-अवापोते च ८।१। ७२। इति सस्वरव्यञ्जनेन सह ओत् प्रा० । आश्रये, पं० व० १ द्वा० ॥

ओआसविवज्जिअ-अवकाशविवर्जित-त्रि० आश्रयरहिते,"च सम्मि घरावासे, ओआसविवज्जिओ पि वासत्तो" पं०व०१ द्वा०

ओइण्ण-अवतीर्ण-त्रि० गन्तुमुपक्रान्ते, " विसमं मग्गमो इण्णो, अक्खे भग्गमि सोयइ " उत्त० ५ अ० ।

ओउ-ओतु-पुं० स्त्री० अव्-तुन्-ऊठ् गुणः । बिडाले, मार्जारे, आ-वे-तुन्-वा संप्रसारणम् । तिरश्चीनसूत्रे, वाच० ।

ओउय-आर्तव-न०ऋतौ यदुचितं तदार्त्तवम् । ऋतूचिते, "अगहरुवेरपवरधूवणओउयमल्लाणुलेवणविही"ज्ञा०१७अ० ।

ओऊल-अवचूल-न०हस्त्यादेः कण्ठस्याधोमुखकूर्चके, "पसंवओऊलमहुपरकयंधयारं " ज्ञा० १६ अ० ।

ओं-ॐ-पुं०अव्य० अश्च अश्च आश्च उश्च म् च द्वन्द्वः। परमेष्ठिपञ्चके, "ॐभूर्भुवःस्वःतत्सवितुर्वरेण्यं," ओमिति परमेष्ठिपञ्चकमाह। कथमिति चेदुच्यते । अ इति अर्हत आद्याक्षरम् । अ इत्यशरीरा इत्यस्य सिद्धवाचकस्याद्याक्षरम्। आ इत्याचार्यस्याद्याक्षरं, उ इत्युपाध्यायस्याद्याक्षरम्, म इति मुनीत्यस्याद्याक्षरम् अअआउम् इति ततः सन्धिवशात् ओं इति । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादेवमुक्तिः॥ ओमित्यनेन "आद्यक्कला अरिहंता,-निक्कला सिद्धा य ओक्करसूरी । उवज्झाय विसुद्धकला, दोहकला साहुणो भणिय" ॥ १ ॥ " इति गाथोक्तरहस्येन परमेष्ठिपञ्चकमेव महानन्दार्थिना ध्येयमिति ॥ परमतत्त्वे यतः अक्षपादाः स्वं देवमीश्वरं प्रणिदधानाः प्रार्थनापुरःसरमेवमभिदधति । (ओंभूर्भुवेत्यादि) ओमिति सर्वविद्यानामाद्यबीजं सकलागमोपनिषद्भूतं सर्वविघ्नविघातनिघ्नमखिलदृष्टादृष्टफलसंकल्पकल्पद्रुमोपममित्यस्य प्रणिधानस्यादावुपन्यस्तं परममक्षरम् न चैतद्व्यतिरिक्तमन्यत्सत्त्वमस्ति इति ॥ ओमित्यक्षरं छन्दःसमादिभूतत्वात्तस्य किंविशिष्टस्य भूर्भुवः स्वस्तद्भुवनत्रयव्यापि तर्हि किंचिदभिधेयसत्तासमाविष्टं वस्तु गुरुसंप्रदाययुक्त्यान्विष्यमाणमत्र ओकारे शब्दपर्यायेणावाप्यते सर्ववादिभिरविगानेनास्य सकलभुवनत्रयकमलाधिगमे बीजतयोपवर्णितत्वादिति परिभावनीयमेतत् । गा० । अश्च उश्च मश्च तेषां समाहारः । विष्णुमहेश्वरब्रह्मरूपत्रयात्मके ईश्वरे, । अत्रोंकारोऽत्र विज्ञेयः अकारो विष्णुरुच्यते । महेश्वरो मकारस्तु त्रयमेकत्र तत्त्वतः । पं०व० ४ द्वा०३२ पत्र०। प्रणवे,। आरम्भे,। स्वीकारे,। अनुमतौ, अपाकृतौ, अस्वीकारे, मङ्गले, शुभे, ज्ञेये, ब्रह्मणि च । वाच० ।

ओंकार-ओंकार-पुं-ओम्-स्वरूपे कारप्रत्ययः। प्रणवे, स्तुतीत कृतं सर्वमित्युक्तेश्च ओंकारस्य सर्वकर्मारम्भादौ पाठ्यत्वात् आरम्भसाधनत्वेन आरम्भे,। सप्तानां समावयवानां प्रथमावयवे च । बुद्धिशक्तिभेदे च स्त्री० । वाच० ।

ओक-ओक-पुं०उच्-घ-चस्य कः। पक्षिणि, वृषले, आश्रये च । उच् भावे घञ् कुत्वम् । समवाये । वाच० ।

ओक्य-ओकाय हितं यत् निवासाय हिते,। त्रि० वाच० ।

ओकस्-न०उच्-असुन् न्यङ्क्वादित्वात्कुत्वम् । गृहे, आश्रयमात्रे च । वनौकसः त्रिदिवौकसः इत्यादि । वाच० । "कुलपत्यर्पिते वर्षास्तस्थौ स्वामी तृणौकसि । गावो बहिस्तृणानाप्त्या वर्षारम्भेक्षुधातुराः" आ० क० ।

ओकुंजिय-अवकूजित- न० ऊर्ध्वं तिर्यग्बाहुमिति करणे, "उद्धर्ततरियं हुत्ति करणं ओ अवकुंजियं" । नि० चू० १७ उ०।

ओक्खल-उदूखल- न० उद्-ऊर्ध्वं खं खाति । खा-क पृषो-नि० नवा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्थचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले ८।१।७१। इति आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओद् वा। ओक्खलं। उलूखलं। तैलादित्वात्सद्वित्वे 'द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः' ८।२।९०। इति द्वितीयस्योपरि प्रथमः । तन्दुलादिसाधने गृहोपकरणे, प्रा० ।

ओगसण-अपकसन-न० ह्रसने, सू० ६ उ० ।

ओगहिय-अवगृहीत- न० येन केनचित्प्रकारेण दायकेनासे भक्तादौ, ॥

तिविहे ओगहिए पन्नत्ते तं जहा जं च ओगिएहइ जं च साहरई जं च आसगंसि पक्खिवइ ॥

अवगृहीतं नाम येन केनचित्प्रकारेण दायकेनात्तं भक्तादि यदिति भक्तम् । चकाराः समुच्चयार्थाः । अवगृह्णाति आदत्ते हस्तेन दायकस्तदवगृहीतमेतच्च षष्ठी पिण्डैषणेति एवं च वृद्धव्याख्या परिवेषकः पिटकायाः कूरं गृहीत्वा यस्मै दातुकामः तद्भाजने क्षेप्तुमुपस्थितस्तेन च भणितं मा देहि अत्रावसरे प्राप्तेन साधुना धर्मलाभितं ततः परिवेषको भणति प्रसारय साधो! पात्रं ततः साधुना प्रसारिते पात्रे क्षिप्तमोदनम् । इह च संयतप्रयोजनगृहस्थेन हस्त एव परिवर्तितो नान्यद्गमनादि कृतमिति जघन्यमाहृतं जातमिति । इह च व्यवहारभाष्यश्लोकः । "भुंजमाणस्स उक्खित्तं, पडिसिद्धं च तेण उ । जहन्नोवहडं तं तु, हत्थस्स परियत्तणेति" । तथा तच्च परिवेषकः स्थानादविचलन् संहरति भक्तभाजनात्क्षेत्रभाजनेषु क्षिपति तच्चावगृहीतमिति प्रक्रमः श्लोकोऽत्र । " अह साहारमाणं (परिवेषयन्नित्यर्थः)तु, वहंतो जो उ दायओ । देलेज्जा चलिओ तत्तो, छट्ठा एसा वि एसणत्ति " तथा यच्च भक्तमास्यके पिठरादिमुखे क्षिपति तच्चावगृहीतमिति । एवं चात्र वृद्धव्याख्या कूरमवसादननिमित्तं कांस्यादि भाजने विशालोत्तानरूपे क्षिप्तं ततो भक्तिकेभ्यो दत्तं ततो भक्तशेषं यद्भूयः पिठरके प्रकाशमुखे क्षिपति दद्यात् परिवेषयतीति वा प्रकाशमुखे भाजने तत्तृतीयमवगृहीतम् । श्लोकोऽत्र । "भुत्तसेसं तु जं भूओ, चुवंती पिठरोदये । संवट्टंती च अन्नस्स, आसगंसि पएसयत्ति ॥ १ ॥, ननु आस्ये मुखे यत्प्रक्षिपतीति मुख्येऽर्थे सति किं पिठरादिमुखे इति व्याख्यायत इत्युच्यते अस्य प्रक्षेपव्याख्यानमयुक्तमिति जुगुप्साभावादिति । आह च । " पक्खेवए दुगुंछा आएसो कुभमुहाईसुत्ति " स्था० ३ ठा० ॥

ओगाढ-अवगाढ-त्रि० अव-गाह्-क्त । आश्रिते, । स्था० १० ठा० । अवस्थिते, स्था० १ ठा० । व्यवस्थिते, आ० म० प्र० । व्याप्ते, ज्ञा० १६ अ० । स्थिते, आचा० २ श्रु० । निमग्ने, स्था० ४ ठा० ।

ओगाढरुइ-अवगाढरुचि- स्त्री० अवगाढः साधुप्रत्यासन्नीभूतस्तस्य साधूपदेशाद् रुचिरवगाढरुचिः । धर्मध्यानस्य चतुर्थे, । लक्षणे, । स्था० ४ ठा० ।

ओगाहइत्ता-अवगाह्य-अ० उदकमेव आत्माभिमुखमाकृष्येऽर्थे " ओगाहइत्ता चलइत्ता आहारे पाणभोयणे" द० ५ अ० ।

ओगाहंत-अवगाहत्-अवगाहमान-त्रि० अवगाहनां कुर्वति, "सूरुद्दयपच्छिमाए ओगाहंतीइ पुव्वं उवेइ " अवगाहन्त्यामागच्छन्त्यामित्यर्थः । आव० २ अ० । "ते चोगाहंती संघट्टंती रमंती य"। तानेव षट्कायानवगाहमाना पादाभ्यां चालयन्ती । पिं० ।

ओगाहणसेणियापरिकम्म-अवगाहनश्रेणिकापरिकर्मन्- न० दृष्टिवादान्तर्गतपरिकर्मभेदे, सम० ।

ओगाहणा-अवगाहना- स्त्री० अवगाहन्ते आसते यस्यां साऽवगाहना । क्षेत्रप्रदेशे, स्था० १ ठा० । अवगाहन्ते अवतिष्ठन्ते जीवा अस्यामित्यवगाहना । नारकादितनुसमवगाढे क्षेत्रे, । अनु० । आधारैकभूते क्षेत्रे, सम० । अवगाहन्ते आसते यस्यामाश्रयन्ति वा यां जीवाः साऽवगाहना स्था० ४ ठा० । अवगाहन्ते क्षेत्रं यस्यां स्थिता जन्तवः साऽवगाहना । आ० म० प्र० । उत्त० ३६ अ० । अवगाह्यते जीवेन आकाशोऽनयेति अवगाहना औणादिकः प्रत्ययः । प्रव० १ द्वा० । औदारिकादौ शरीरे, सम० ।

(१) अवगाहनाया भेदाः ।
(२) औदारिकशरीरावगाहनामानम् ।
(३) पृथ्व्यादीनामौदारिकावगाहनामानम् ।
(४) द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामौदारिकावगाहना ।
(५) तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहना ।
(६) मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहना ।
(७) वैक्रियशरीरस्यावगाहनामानम् ।
(८) पृथ्व्यादीनां वैक्रियशरीरावगाहना ।
(९) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वैक्रियशरीरावगाहनामानम् ।
(१०) असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीरावगाहना ।
(११) आहारकशरीरस्यावगाहनामानम् ।
(१२) तैजसशरीरस्यावगाहनामानम् ।
(१३) निगोदजीवस्यावगाहनामानम् ।
(१४) एकत्र एक एव धर्मास्तिकायादिप्रदेशावगाढः ।
(१५) धर्मास्तिकायादेरवगाढानवगाढस्य चिन्ता ।

(१) अवगाहनायाः भेदास्तद्यथा

चउव्विहा ओगाहणा पण्णत्ता तं जहा दव्वोगाहणा खेत्तोगाहणा कालोगाहणा भावोगाहणा ॥

अवगाहन्ते आसते यस्यामाश्रयन्ति वा यां जीवाः साऽवगाहना शरीरं द्रव्यतोऽवगाहना द्रव्यावगाहना । एवं सर्वत्र । तत्र द्रव्यतोऽनन्तद्रव्या क्षेत्रतोऽसंख्येयप्रदेशावगाढा । कालतोऽसंख्येयसमयस्थितिका भावतो वर्णाद्यनन्तगुणेति । अथवा अवगाहना विवक्षितद्रव्यस्याधारभूता आकाशप्रदेशास्तत्र द्रव्याणामवगाहना द्रव्यावगाहना । क्षेत्रमेवावगाहना क्षेत्रावगाहना । कालस्यावगाहना समयक्षेत्रलक्षणा कालावगाहना । भाववतां द्रव्याणामवगाहना भावावगाहना भावप्राधान्यादिति । आश्रयणमात्रं वा अवगाहना । तत्र द्रव्यस्य पर्यायैरवगाहना श्रयणं द्रव्यावगाहना । एवं क्षेत्रस्य कालस्य भावानां द्रव्येणेति अन्यथा चोपयुज्य व्याख्येयमिति स्था० ४ ठा० ।

नवविहा जीवोगाहना पण्णत्ता तं जहा पुढविकाइयओगाहणा आउकाइय जाव वणस्सइकाइयओगाहणा बेंदियोगाहणा तेंदियोगाहणा चउरिंदियोगाहणा पंचेंदियोगाहणा ॥ स्था० ९ ठा० ।

(२) सामान्यत औदारिकशरीरावगाहनामानम् ।

ओरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं । एगिंदियओरालियस्स वि एवं चेव जहा ओहियस्स ॥

औदारिकस्य जघन्यतोऽवगाहना अङ्गुलासंख्येयभागा स चोत्पत्तिप्रथमसमये पृथिवीकायिकादीनां वाऽवसातव्या । उत्कर्षतः सातिरेकं योजनसहस्रमेषा लवणसमुद्रगोतीर्थादिषु पद्मनालाद्यधिकृत्यावसातव्या । अन्यथैतावत् औदारिकशरीरस्यासंभवात् । एवमेकेन्द्रियसूत्रेऽपि तथा चाह । " एगिंदियउरालियस्स एवं चेव जहा ओहियस्स इति " प्रज्ञा० २१ पद

(३) औदारिकपृथिव्यादीनामवगाहनामानम् ।

पुढविकाइयएगिंदियओरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया पुच्छा । गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं एवं अपज्जत्तयाण वि पज्जत्तयाण वि । एवं सुहुमाणं पज्जत्तापज्जत्ताणं बायराणं पज्जत्तापज्जत्ताण वि । एवं एसो णवभेओ जहा पुढविकाइयाणं तहा आउकाइयाण वि । तेउकाइयाण वि वाउकाइयाण वि । वणस्सइकाइयओरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं । अपज्जत्ताणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । पज्जत्तगाणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं । बादराणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं सातिरेगं । पज्जत्ताण वि एवं चेव । अपज्जत्ताणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । सुहुमाणं पज्जत्तापज्जत्ताण य तिण्ह वि जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं ।

पृथिव्यप्तेजोवायूनां सूक्ष्माणां बादराणां प्रत्येकं पर्याप्तानामपर्याप्तानां चौदारिकशरीरस्य जघन्यत उत्कर्षतश्चावगाहना अङ्गुलासंख्येयभागः । प्रत्येकं च नव सूत्राणि तेषामौघिकसूत्रमौघिकपर्याप्तसूत्रम् । तथा सूक्ष्मसूत्रं सूक्ष्मापर्याप्तकसूत्रं सूक्ष्मपर्याप्तकसूत्रमेवं बादरेऽपि सूत्रत्रिकमिति । एवं वनस्पतिकायिकानामपि च सूत्राणि । नवरमौघिकं वनस्पतिसूत्रे औघिकवनस्पतिपर्याप्तकसूत्रे बादरसूत्रे बादरपर्याप्तसूत्रे जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभाग उत्कर्षतः सातिरेकं योजनसहस्रं तच्च पद्मनालाद्यधिकृत्य वेदितव्यम् । शेषेषु तु जघन्यत उत्कर्षतो वाऽङ्गुलासंख्येयभागः ॥

(४) द्वित्रिचतुरिन्द्रियौदारिकाणामवगाहनामानम् ।

बेइंदियओरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं बारसजोयणाइं । एवं सव्वत्थ वि अपज्जत्तयाणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि पज्जत्तगाणं । जहेव ओरालियस्स ओहियस्स । एवं तेइंदियाणं तिन्नि गाउयाइं । चउरिंदियाणं चत्तारि गाउयाइं ।

द्वित्रिचतुरिन्द्रियाणां प्रत्येकं त्रीणि २ सूत्राणि तद्यथा औघिकसूत्रं पर्याप्तसूत्रमपर्याप्तसूत्रं च । तत्रौघिकसूत्रे पर्याप्तसूत्रे च द्वीन्द्रियाणामुत्कर्षतो द्वादश योजनानि । त्रीन्द्रियाणां त्रीणि गव्यूतानि । चतुरिन्द्रियाणां चत्वारि गव्यूतानि । अपर्याप्तसूत्रे तु जघन्यत उत्कर्षतश्चाङ्गुलासंख्येयभागः ॥

(५) तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानम् ॥

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं जोयणसहस्सं ३ । एवं सम्मुच्छिमाणं ३ । गब्भवक्कंतियाण वि ३ । एवं चेव णवओ भेदो भाणियव्वो । एवं जलयराण वि जोयणसहस्सं णवओ भेदो । थलयराण वि णवओ भेदो उक्कोसेणं छगाउयाइं । पज्जत्ताण वि एवं चेव ३ । सम्मुच्छिमाणं पज्जत्ताण य उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं ३ । गब्भवक्कंतियाणं उक्कोसेणं छ गाउयाइं । पज्जत्ताण य ओहियचउप्पयपज्जत्तयगब्भवक्कंतियपज्जत्तयाण य उक्कोसेणं छ गाउयाइं सम्मुच्छिमाणं पज्जत्ताणं गाउयपुहत्तं उक्कोसेणं एवं, उरपरिसप्पाण वि । ओहियगब्भवक्कंतियपज्जत्तयाणं जोयणसहस्सं । सम्मुच्छिमाण जोयणपुहत्तं भुयपरिसप्पाणं ओहियगब्भवक्कंतियाण वि उक्कोसेणं गाउयपुहत्तं, सम्मुच्छिमाणं धणुपुहत्तं, खहयराण ओहियगब्भवक्कंतियाणं सम्मुच्छिमाण य तिण्ह वि उक्कोसेणं धणुपुहत्तं । इमाओ संगहणिगाहाओ जोयणसहस्सछगाउयाइं, तत्तो य जोयणसहस्सं । गाउयपुहत्त भुयपरि-धणुहे पुहत्तं च पक्खीसु ॥ १ ॥ जोयणसहस्सगाउय-पुहत्तं तत्तो य जोयणपुहत्तं । दोण्हं धणुपुहत्तं, सम्मुच्छिमे होंति उच्चत्तं ॥

तथा सामान्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां जलचराणां सामान्यतः स्थलचराणां चतुष्पदानामुरःपरिसर्पाणां भुजपरिसर्पाणां खचरपञ्चेन्द्रियतिरश्चां च प्रत्येकं नव २ सूत्राणि । तद्यथा त्रीणि अधिकानि । त्रीणि संमूर्च्छिमविषयाणि । त्रीणि गर्भव्युत्क्रान्तिकविषयाणि । तत्रापर्याप्तेषु स्थानेषु सर्वेष्वपि जघन्यत उत्कर्षतो वाऽङ्गुलासंख्येयभागः । शेषेषु तु स्थानेषु जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागः । उत्कर्षतः सामान्यतस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु जलचरेषु चोत्कर्षतो योजनसहस्रं सामान्यतः स्थलचरेषु चतुष्पदस्थलचरेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु षट् गव्यूतानि संमूर्च्छिमेषु गव्यूतपृथक्त्वम् । उरःपरिसर्पेष्वौघिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तिकेषु च योजनसहस्रं संमूर्च्छिमेषु योजनपृथक्त्वं भुजपरिसर्पेष्वौघिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तेषु च गव्यूतपृथक्त्वम् । संमूर्च्छिमेषु धनुःपृथक्त्वं खचरेष्वौघिकेषु गर्भव्युत्क्रान्तेषु संमूर्च्छिमेषु च सर्वेषु स्थानेषु धनुःपृथक्त्वम् अत्रेमे संग्रहगाथे (जोयणसहस्समित्यादि) गर्भव्युत्क्रान्तानां जलचराणामुत्कर्षतः शरीरावगाहनामानं योजनसहस्रं चतुष्पदस्थलचराणां षट् गव्यूतानि । उरःपरिसर्पस्थलचराणां षट् गव्यूतानि । उरःपरिसर्पस्थलचराणां योजनसहस्रं भुजपरिसर्पस्थलचराणां गव्यूतपृथक्त्वं पक्षिणां धनुःपृथक्त्वम् । तथा संमूर्च्छिमानां जलचराणामुत्कर्षतः शरीरावगाहनायाः प्रमाणं योजनसहस्रं चतुष्पदस्थलचराणां गव्यूतपृथक्त्वं, पक्षिणां धनुःपृथक्त्वम् । तथा संमूर्च्छिमानां जलचराणामुत्कर्षतः शरीरावगाहनायाः प्रमाणं योजनसहस्रश्चतुष्पदस्थलचराणां गव्यूतपृथक्त्वम् , पक्षिणां धनुःपृथक्त्वमुरःपरिसर्पस्थलचराणां योजनपृथक्त्वं, भुजपरिसर्पस्थलचराणां च धनुःपृथक्त्वमिति । उक्तं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानम् ।

(६) इदानीं मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरावगाहनामानमाह ।

मणुस्सोरालियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं । अपज्जत्ताणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । सम्मुच्छिमाणं जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्ज-

इभागं । गब्भवक्कंतियाणं पज्जत्ताण य जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं ॥

कण्ठ्यम् । नवरं त्रीणि गव्यूतानि देवकुर्वाद्यपेक्षया तदेवमौदारिकशरीरस्य विधयः संस्थानानि प्रमाणानि चोक्तानि ।

(७) संप्रति वैक्रियशरीरस्यावगाहनामानमाह ।

वेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसयसहस्सं । वाउकाइयएगिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । णेरइयपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं धनुस्सहस्सं ।

(वेउव्वियसरीरस्स णमित्यादि) जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागं नैरयिकादीनां भवधारणीयस्यापर्याप्तावस्थायां वातकायस्य वा उत्कर्षतः सातिरेकं योजनशतसहस्रं देवानामुत्तरवैक्रियस्य मनुष्याणां वा (एगिंदियवेउव्वियसरीरस्स णमित्यादि) अत्र एकेन्द्रियो वातकायोऽन्यस्य वैक्रियलब्ध्यसंभवात् । तस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽवगाहनामानमङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणमेतावत्प्रमाणं विकुर्वणायामेव तस्य शक्तिसंभवात् । सामान्यनैरयिकसूत्रे भवधारणीया भवो धार्यते यया सा भवधारणीया कुट्टलमिति वचनात्करणे अनीयप्रत्ययः । उत्कर्षतः पञ्च धनुःशतानि उत्तरवैक्रियधनुःसहस्रं सप्तमनरकपृथिव्यपेक्षया अन्यत्रैतावत्या भवधारणीयाया उत्तरवैक्रियाया वा शरीरावगाहनाया अप्राप्यमाणत्वात् ।

(८) संप्रति पृथिव्यादीनां वैक्रियशरीरावगाहनामानमाह ।

रयणप्पभ पुढविणेर याणं के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य तत्थ णं जा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्तधणूइं तिण्णि रयणीओ छच्च अंगुलाइं । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं पन्नरसधणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ । सक्करप्पभाए पुच्छा गोयमा ! जाव तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं पन्नरसधणूइं अड्ढाइज्जाओ रयणीओ । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं एक्कतीसं धणूइं एक्का य रयणी । वालुयप्पभाए पुच्छा, भवधारणिज्जा एक्कतीसधणूइं एक्का य रयणी । उत्तरवेउव्विया बावट्ठिधणूइं दोण्णि य रयणीओ । पंकप्पभाए पुच्छा, भवधारणिज्जा बावट्ठिधणूइं दोण्णि य रयणीओ । उत्तरवेउव्विया पणवीसं धणुसतं । धूमप्पभाए भवधारणिज्जा पणवीसं धणुसतं । उत्तरवेउव्विया अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं । तमाए भवधारणिज्जा अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं । उत्तरवेउव्विया पंचधणुसयाइं । अहेसत्तमाए भवधारणिज्जा पंचधणुसयाइं । उत्तरवेउव्विया धणुसहस्सं । एयं उक्कोसेणं जहन्नेणं भवधारणिज्जा अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उत्तरवेउव्विया अंगुलस्स संखेज्जइभागं ॥

अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणता प्रथमोत्पत्तिकाले वेदितव्या । उत्कर्षतः सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलानि पर्याप्तावस्थायामिदं चोत्कर्षतः शरीरावगाहनामानं त्रयोदशे प्रस्तटे द्रष्टव्यं शेषेषु त्वर्वाक्तनेषु प्रस्तटेषु स्तोकं स्तोकतरम् । तथैवं रत्नप्रभायाः प्रथमे प्रस्तटे त्रयो हस्ता उत्कर्षतः शरीरप्रमाणम् द्वितीये प्रस्तटे धनुरेकमेको हस्तः सार्द्धानि चाष्टाङ्गुलानि । तृतीये प्रस्तटे धनुरेकं त्रयो हस्ताः सप्तदशाङ्गुलानि । चतुर्थे द्वे धनुषी द्वौ हस्तौ सार्धमेकमङ्गुलम् । पञ्चमे त्रीणि धनूंषि दशाङ्गुलानि । षष्ठे त्रीणि धनूंषि द्वौ हस्तौ सार्धान्यष्टादशाङ्गुलानि । सप्तमे चत्वारि धनूंषि त्रयो हस्ताः सार्धान्येकादशाङ्गुलानि । नवमे पञ्च धनूंषि एको हस्तो विंशतिरङ्गुलानि । दशमे षट् धनूंषि सार्धानि चत्वार्यङ्गुलानि । एकादशे षट् धनूंषि द्वौ हस्तौ त्रयोदशाङ्गुलानि । द्वादशे सप्त धनूंषि सार्धान्येकविंशतिरङ्गुलानि । त्रयोदशे सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् परिपूर्णान्यङ्गुलानि । एष चायं तात्पर्यार्थः । प्रथमे प्रस्तटे यच्छरीरावगाहनापरिमाणं त्रयो हस्ता इति तस्योपरि प्रस्तटक्रमेण सार्धानि षट् पञ्चाशदङ्गुलानि प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तं प्रस्तटेषु शरीरावगाहनापरिमाणं भवति । उक्तं च । "रयणाए पढमपयरे, हत्थतिगं देहउस्सेहभणिओ । छप्पन्नंगुलसड्ढा, पयरे पयरे हवइ वुड्ढी " १ (तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया इत्यादि) जघन्यतोऽङ्गुलसंख्येयभागं प्रथमसमयेऽपि तस्या अङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणाया एव भावात् । न त्वसंख्येयभागप्रमाणा । आह च । संग्रहणिमूलटीकाकारो हरिभद्रसूरिः-उत्तरवैक्रिया तु तथाविधप्रयत्नभावादाद्यसमये अङ्गुलसंख्येयभागमात्रे च उत्कर्षतः पञ्चदशधनूंषि अर्द्धतृतीयहस्ता इदं च उत्तरवैक्रियशरीरावगाहनापरिमाणं त्रयोदशे प्रस्तटेऽवसातव्यं शेषेषु प्रस्तटेषु प्रागुक्तं भवधारणीयमानापेक्षया द्विगुणं प्रत्येतव्यम् । शर्करप्रभायां भवधारणाया उत्कर्षतः पञ्चदशधनूंषि अर्द्धतृतीयहस्ता इदं चोत्कर्षतो भवधारणीयावगाहना परिमाणमेकादशे प्रस्तटे ऽवसातव्यम् । शेषेषु प्रस्तटेष्विदं शर्करायाः प्रथमे प्रस्तटे सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलानि । द्वितीये प्रस्तटेऽष्टौ धनूंषि द्वौ हस्तौ नव चाङ्गुलानि । तृतीये नव धनूंषि एको हस्तो द्वादशाङ्गुलानि । चतुर्थे दश धनूंषि पञ्चदशाङ्गुलानि । पञ्चमे दश धनूंषि त्रयो हस्ताः अष्टादश अङ्गुलानि । षष्ठे एकादश धनूंषि द्वौ हस्तावेकविंशतिरङ्गुलानि । सप्तमे द्वादश धनूंषि द्वौ हस्तौ । अष्टमे त्रयोदश धनूंषि एको हस्तस्त्रीणि अङ्गुलानि । नवमे चतुर्दश धनूंषि षट् चाङ्गुलानि । दशमे चतुर्दश धनूंषि त्रयो हस्ता नव चाङ्गुलानि । एकादशे सूत्रोक्तमेव परिमाणम् । अत्रापीदं तात्पर्यम् । प्रथमे प्रस्तटे यत्परिमाणमुक्तं तस्योपरि प्रथमे

प्रस्तटे क्रमेण त्रयो हस्तास्त्रीणि चाङ्गुलानि प्रक्षेप्तव्यानि । ततो यथोक्तं प्रस्तटे परिमाणं भवति । "सो चेव य बीयाए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । हत्थतियं तिन्नि अंगुल-पयरे पयरे य वुड्ढीओ ॥ १ ॥ एकारसमे पयरे, पन्नरस धणूणि दोण्णि रयणीओ । बारसयअंगुलाइं, देहपमाणं तु विन्नेयं ॥ २ ॥" गाथाद्वयस्यापीयमक्षरगमनिका य एव प्रथमपृथिव्यास्त्रयोदशे प्रस्तटे उत्कर्षत उत्सेधो भणितः सप्त धनूंषि त्रयो हस्ताः षट् चाङ्गुलानीति स एव द्वितीयस्यां शर्करप्रभायां पृथिव्यां प्रथमे प्रस्तटे उत्सेधो भवति ज्ञातव्यः। ततः प्रतरे प्रतरे वृद्धिरवसेया। त्रयो हस्तास्त्रीणि चाङ्गुलानि । तथा च सत्येकादशे प्रस्तटे उत्कर्षतो भवधारणीयशरीरपरिमाणमायाति। पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानीति । उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणमाह । एकविंशतिधनूंषि एको हस्तः । इदं च एकादशे प्रस्तटे वेदितव्यम् । शेषेषु तु प्रस्तटेषु स्वस्वधारणीयापेक्षया द्विगुणमवसेयम् । तथा तृतीयस्यां वालुकप्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षतो भवधारणीया । एकत्रिंशत् धनूंषि एको हस्त एतच्च नवमप्रस्तटमधिकृत्योक्तमवसेयम् । शेषेषु प्रस्तटेष्वेवम् । तत्र प्रथमप्रस्तटे भवधारणीया पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादशाङ्गुलानि । द्वितीये प्रस्तटे सप्त धनूंषि द्वौ हस्तौ सार्धानि सप्ताङ्गुलानि । तृतीये एकोनविंशतिधनूंषि द्वौ हस्तौ त्रीण्यङ्गुलानि । चतुर्थे एकविंशतिधनूंषि एको हस्तः सार्धानि द्वाविंशतिरङ्गुलानि । पञ्चमे त्रयोविंशतिधनूंषि एको हस्तोऽष्टादश चाङ्गुलानि । षष्ठे पञ्चविंशति धनूंषि एको हस्तः सार्धानि त्रयोदशाङ्गुलानि सप्तमे सप्तविंशतिधनूंषि एको हस्तो नव चाङ्गुलानि । अष्टमे एकोनत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः सार्धानि चत्वार्यङ्गुलानि । नवमे यथोक्तरूपं परिमाणम् । अत्रापि चायं भावार्थः । प्रथमप्रस्तटेषु यत्परिमाणमुक्तं तत्तस्योपरि प्रस्तटे प्रस्तटे सप्त हस्ताः सार्धानि च एकोनविंशतिरङ्गुलानि क्रमेण प्रक्षेप्तव्यानि । ततो यथोक्तं प्रस्तटेषु परिमाणं भवति । उक्तं च । "सो चेव य तइयाए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । सत्तरयणी उ अंगुल, उणवीसं सड्ढवुड्ढी य ॥ १ ॥ पयरे पयरे य तहा, नवमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । धणुआणि एगतीसं, एका रयणी य नायव्वा ॥२॥" अस्यापि गाथाद्वयस्येयमक्षरगमनिका य एव द्वितीयस्याः शर्करप्रभायाः एकादशप्रस्तटे भवधारणीयाया उत्कर्षत उत्सेध उक्तः पञ्चदश धनूंषि द्वौ हस्तौ द्वादश चाङ्गुलानि स एव तृतीयस्या वालुकप्रभायाः पृथिव्याः प्रथमे प्रस्तटे उत्सेधो भवति ततः प्रतरे प्रतरे वृद्धिरवसेया । सप्त हस्ताः सार्धानि चैकोनविंशतिरङ्गुलानि । तथा च सति नवमे प्रस्तटे यथोक्तं भवधारणीयावगाहनामानं भवति । एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्त इति । उत्तरवैक्रियोत्कृष्टपरिमाणमाह । द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ एतच्च नवमप्रस्तटापेक्षमवसेयम् । शेषेषु तु प्रस्तटेषु निजनिजभवधारणीयप्रमाणापेक्षया द्विगुणमिति । चतुर्थ्यां पङ्कप्रभायाः पृथिव्याः उत्कर्षतो भवधारणीया द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ इदं च सप्तमे प्रस्तटे प्रत्येयं शेषेषु तु प्रस्तटेष्वेवं पङ्कप्रभायां प्रथमे प्रस्तटे एकत्रिंशद्धनूंषि एको हस्तः । द्वितीये षट्त्रिंशत् धनूंषि एको हस्तः विंशतिरङ्गुलानि । तृतीये एकचत्वारिंशद्धनूंषि द्वौ हस्तौ षोडशाङ्गुलानि । चतुर्थे षट्चत्वारिंशद्धनूंषि त्रयो हस्ता द्वादशाङ्गुलानि । पञ्चमे द्विपञ्चाशत् धनूंषि अष्टावङ्गुलानि । षष्ठे सप्तपञ्चाशत् धनूंषि एको हस्तः चत्वार्यङ्गुलानि । सप्तमे यथोक्तरूपं परिमाणमत्रापि चैष भावार्थः । प्रथमे प्रस्तटे यत्परिमाणमुक्तं तस्योपरि प्रस्तटे प्रस्तटे क्रमेण पञ्च धनूंषि विंशतिरङ्गुलानीत्येवंरूपा वृद्धिरवगन्तव्या । ततः पृथमे प्रस्तटे सूत्रोक्तपरिमाणं भवति । उक्तं च । "सो चेव चउत्थीए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । पंचधणुवीसअंगुल, पयरे पयरे य वुड्ढी य॥१॥ जो सत्तमए पयरे, नेरइयाणं तु होइ उस्सेहो ॥ बावट्ठीधणुयाइं, दोन्नि य रयणी य बोधव्वा" ॥२॥ अस्यापि गाथाद्वयस्याक्षरगमनिका प्राग्वद्भावनीया ॥ उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणं पञ्चविंशतिधनुःशतं तच्च सप्तमे प्रस्तटे । शेषेषु तु प्रस्तटेषु स्वस्वभवधारणीयापेक्षया द्विगुणमिति । पञ्चम्यां धूमप्रभायां पृथिव्यां भवधारणीयोत्कर्षतः पञ्चविंशद्धनुःशतं, तच्च पञ्चमं प्रस्तटमधिकृत्योक्तमवसेयम् । शेषेषु प्रस्तटेष्विदम् । प्रथमे प्रस्तटे द्वाषष्टिधनूंषि द्वौ हस्तौ । द्वितीयेऽष्टसप्ततिधनूंषि एका वितस्तिः । तृतीये त्रिनवति धनूंषि त्रयो हस्ताः । चतुर्थे नवोत्तरं धनुःशतं एको हस्त एका च वितस्तिः । पञ्चमे सूत्रोक्तपरिमाणम् । अत्रापि चायं तात्पर्यार्थः । यत्प्रथमे प्रस्तटे परिमाणमुक्तं तदुपरि प्रस्तटे प्रस्तटे क्रमेण पञ्चदश धनूंषि सार्धहस्तद्वयाधिकानि प्रक्षेप्तव्यानि । तथा च सति यथोक्तं पञ्चमे प्रस्तटे परिमाणं भवति । उक्तं च । " सो चेव य पंचमीए पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । पन्नरसधणूण दो हत्थ, सड्ढपयरेसु वुड्ढीय ॥ १ ॥ तह पंचमए पयरे, उस्सेहो धणुसत्तं तु पणवीसं । " अस्याः सार्धगाथाया अक्षरगमनिका प्राग्वत् कर्तव्या । उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणमर्धतृतीयानि धनुःशतानि । एतानि च प्रथमे प्रस्तटे वेदितव्यानि । शेषेषु प्रस्तटेषु स्वस्वभवधारणीया द्विगुणमिति । षष्ठ्यां तमःप्रभायां पृथिव्यामुत्कर्षतो भवधारणीया। अर्धतृतीयानि धनुःशतानि । तानि च तृतीये प्रस्तटे प्रत्येतव्यानि । प्रथमे तु प्रस्तटे पञ्चविंशतिधनुःशतं, द्वितीये सार्धसप्ताशीत्यधिकं धनुःशतं, तृतीये तु सूत्रोक्तमेव परिमाणं भवति । उक्तं च । " सो चेव य छट्ठीए, पढमे पयरम्मि होइ उस्सेहो । बावट्ठिधणुयसड्ढा, पयरे पयरे य वुड्ढीए ॥१ ॥ छट्ठीए तइयपयरे, दो सदपन्नासया होंति" । अस्याप्युत्तरार्धपूर्विकाया गाथाया अक्षरगमनिका प्राग्वत् कर्तव्या । उत्तरवैक्रियोत्कर्षपरिमाणं पञ्च धनुःशतानि तानि च तृतीये प्रस्तटे वेदितव्यानि । आद्ययोस्तु द्वयोः प्रस्तटयोः स्वस्वभवधारणीयापेक्षया द्विगुणमवबोद्धव्यम् । अथ सप्तम्यां तु पृथिव्यां भवधारणीया उत्कर्षतः पञ्चधनुःशतानि उत्तरवैक्रियधनुःसहस्रं सर्वत्र भवधारणीया जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा उत्तरवैक्रियसंख्येयभागप्रमाणेति ।

(६) पञ्चेन्द्रियतिरश्चां वैक्रियशरीरावगाहनामानम् ।

तिरिक्खजोणियपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं । उक्कोसेणं जोयणसतपुहत्तं ॥

तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वैक्रियशरीरावगाहना उत्कर्षतो योजनशतपृथक्त्वं तत ऊर्ध्वकरणशक्तेरभावात् । मनुष्याणां यथा-

मणुस्सपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं । उक्कोसेणं सातिरेकं जोयणसतसहस्सं ॥

मनुष्याणां सातिरेकं योजनशतसहस्रं, विष्णुकुमारप्रभृतीनां तथा भवनात् । जघन्या तूभयेषामप्यङ्गुलसंख्येयभागप्रमाणा। न त्वसंख्येयभागमाना । तथा रूपप्रयत्नासंभवात् ।

(१०) असुरकुमारादीनां वैक्रियशरीराद्यवगाहनामानम् ।

असुरकुमारेणं भवणवासिदेवपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहा सरीरोगाहणा पण्णत्ता तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं सत्त रयणीओ । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहण्णेणं अंगुलस्स संखेज्जइभागं उक्कोसेणं जोयणसयसहस्सं । एवं जाव थणियकुमारा । एवं ओहियाए वाणमंतराणं । एवं जोइसियाण वि सोहम्मीसाणगदेवाणं एवं चेव उत्तरवेउव्विए जाव अच्चुओ कप्पो । नवरं सणंकुमारभवधारणिज्जा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं छ रयणीओ । एवं माहिंदे वि बंभलोयलंतगेसु पंच रयणीओ महासुक्कसहस्सारेसु चत्तारि रयणीओ । आणयपाणयआरणअच्चुए ५ तिन्नि रयणीओ गेविज्जगकप्पातीतवेमाणि य देवपंचिंदियवेउव्वियसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! गेविज्जगदेवाणं एगा भवधारणिज्जा सरीरोगाहणा पण्णत्ता सा जहण्णेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभाग उक्कोसेणं दो रयणीओ । एवं अणुत्तरोववाइयदेवाण वि नवरं एका रयणी ॥

असुरकुमारादीनां स्तनितकुमारपर्यवसानानां व्यन्तराणां ज्योतिष्काणां सौधर्मेशानदेवानां प्रत्येकं जघन्या भवधारणीया वैक्रियशरीरावगाहना अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा । सा चोत्पत्तिसमये द्रष्टव्या । उत्कृष्टाः सप्त रत्नयः उत्तरवैक्रिया जघन्या अङ्गुलसंख्येयभागमात्रा उत्कृष्टा योजनशतसहस्रम् (उत्तरवेउव्विया जाव अच्चुओ कप्पोत्ति) उत्तरवैक्रियासंभवात् । एतच्च प्रागेवोक्तं सर्वत्र जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागमाना उत्कर्षतो योजनलक्षम् । भवधारणीया तु विचित्रा ततस्तां पृथगाह (नवरमित्यादि) नवरमयं भवधारणीयां प्रति विशेषः सनत्कुमारे कल्पे जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागः उत्कर्षतः षट् रत्नयः (एवं माहिंदे वि इति) एवमुक्तेन प्रकारेण जघन्या उत्कृष्टा च भवधारणीया महेन्द्रकल्पेऽपि वक्तव्या । एतच्च समसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तमवसेयं द्व्यादिसागरोपमस्थितिष्वेव येषां सनत्कुमारमाहेन्द्रकल्पयोर्द्वे सागरोपमस्थिती तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया परिपूर्णसप्तहस्तप्रमाणा येषां त्रीणि सागरोपमाणि तेषां षट् हस्ताश्चत्वारश्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां चत्वारि सागरोपमाणि तेषां षट् हस्तास्त्रयो हस्तस्यैकादशभागाः । येषां पञ्चसागरोपमाणि तेषां षट् हस्ताः द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां षट् सागरोपमाणि तेषां षट् हस्ता एकस्य हस्तस्यैकादशभागः । येषां तु परिपूर्णानि सप्तसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णा षट् हस्ता भवधारणीया । उक्तं च " भवणवणजोइसोहम्मीसाणे सत्त होंति रयणीओ । इगइगहाणि सेसे, दुदुगे य दुगे चउक्के य ॥" " अइरथिगंविइजेसिं, सणंकुमारे तहेव माहिंदे । रयणीउक्कं तेसिं, भागचउक्काहियं देहो ॥१॥ तत्तो अयरे अयरे, भागो एक्कक्को परूइ जाव । सागरसत्तठिईणं, रयणीछक्कं तणुपमाणं ॥ २ ॥ " इह जघन्या भवधारणीया सर्वत्राप्यङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा । सा च प्रतीतेति तामवधार्योत्कृष्टां प्रतिपादयति । (बंभलोगलंतगेसु पंच रयणीओ इति) इह यद्यपि ब्रह्मलोकस्योपरि लान्तको न समश्रेण्या तथापीह शरीरप्रमाणचिन्तायामिदं द्विकं विवक्ष्यते द्विकपर्यन्त एव हस्तस्य त्रुटिततया लभ्यमानत्वात् एवमुत्तरत्रापि द्विकचतुष्कादिपरिग्रहे कारणं वाच्यम् । तत्र ब्रह्मलोकलान्तकयोरुत्कर्षतया भवधारणीयाः पञ्च रत्नयः एतच्च लान्तके चतुर्दशसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्य प्रतिपादितमवसेयं शेषसागरोपमस्थितिष्वेवं येषां ब्रह्मलोके सप्तसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां षट् रत्नयः परिपूर्णा भवधारणीया । येषामष्टौ सागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता षट् हस्तस्यैकादशभागाः । येषां नवसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ताः पञ्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां दशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ताश्चत्वारश्चैकादशभागा हस्तस्य । लान्तकेऽपि येषां दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती भवधारणीयोत्कर्षतो येषामेकादशसागरोपमाणि लान्तकस्थितिस्तेषां पञ्च हस्तास्त्रयो हस्तस्यैकादशभागाः । येषां द्वादशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां त्रयोदशसागरोपमाणि तेषां पञ्च हस्ता एको हस्तस्यैकादशभागः । येषां चतुर्दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णा पञ्च हस्ता भवधारणीया (महासुक्कसहस्सारेसु चत्तारि रयणीओ त्ति) महाशुक्रसहस्रारयोश्चतस्रो रत्नयः उत्कर्षतो भवधारणीया । एतच्च सहस्रारगतान् अष्टादशसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तं वेदितव्यम् । शेषसागरोपमस्थितिष्वेवम् । येषां महाशुक्रे कल्पे चतुर्दशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया परिपूर्णाः पञ्च हस्ताः । येषां पञ्चदशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्तास्त्रयश्च हस्तस्यैकादशभागाः । येषां षोडशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषां सप्तदशसागरोपमाणि तेषां चत्वारो हस्ता एको हस्तस्यैकादशभागः । सहस्रारेऽपि येषां सप्तदशसागरोपमाणि तेषामेतावती भवधारणीया । येषां पुनः सहस्रारे परिपूर्णान्यष्टादशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णाश्चत्वारो हस्ता भवधारणीया (आणयपाणयआरणअच्चुएसु तिन्नि रयणीओ त्ति) आनतप्राणतारणाच्युतेषु तिस्रो रत्नय उत्कृष्टा भवधारणीया । एतच्चाच्युते कल्पे द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिकान् देवानधिकृत्योक्तं द्रष्टव्यं, शेषसागरोपमस्थितिष्वेवम् । येषामानतेऽपि कल्पपरिपूर्णानि किञ्चित्समधिकानि वाऽष्टादशसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णाश्चत्वारो हस्ताः उत्कृष्टा भवधारणीया । येषां पुनरेकोनविंशतिसागरोपमाणि तेषां त्रयो हस्तास्त्रयश्च हस्तस्यैकादशभागाः । प्राणतेऽपि कल्पे येषामेकोनविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती च भवधारणीया । येषां पुनः प्राणते कल्पे विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां त्रयो हस्ता द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ । येषामारणेऽपि कल्पे विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती भवधारणीया । येषां पुनरारणेऽपि कल्पे एकविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां त्रयो हस्ता एकस्य हस्तस्यैकादशभागा भवधारणीया । अच्युतेऽपि कल्पे येषामेकविंशतिःसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावत्येव भवधारणीया येषां पुनरच्युते कल्पे द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामुत्कर्षतो भवधारणीया । परिपूर्णास्त्रयो हस्ताः "गेविज्जकप्पातीतेत्यादि" भावितम् । नवरम्(उक्कोसेणं दो

रयणिओत्ति) एतच्चरमे ग्रैवेयके एकत्रिंशत्सागरोपमस्थितिकान् देवान्प्रति द्रष्टव्यं । शेषसागरोपमस्थितिष्वेवम्। प्रथमे ग्रैवेयके येषां द्वाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां त्रयो हस्ता अवधारणीया। येषां पुनस्तत्रैव त्रयोविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ अष्टौ हस्तस्यैकादशभागाः। द्वितीयेऽपि ग्रैवेयके येषां त्रयोविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती अवधारणीया। येषां पुनस्तत्र चतुर्विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ सप्त च हस्तस्यैकादशभागा अवधारणीया। तृतीयेऽपि ग्रैवेयके येषां चतुर्विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावत्येव अवधारणीया। येषां पुनः पञ्चविंशतिसागरोपमाणि तत्र स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ षट् हस्तस्यैकादशभागा अवधारणीया। चतुर्थेऽपि ग्रैवेयके येषां पञ्चविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषामेतावती अवधारणीया। येषां पुनस्तत्र षड्विंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ पञ्च हस्तस्यैकादशभागाः। पञ्चमेऽपि ग्रैवेयके येषां षड्विंशतिसागरोपमाणि तेषामेतावती। येषां तु तत्र सप्तविंशतिसागरोपमाणि तेषां द्वौ हस्तौ चत्वारो हस्तस्यैकादशभागाः अवधारणीया। षष्ठेऽपि ग्रैवेयके येषां सप्तविंशतिसागरोपमाणि तेषामेतावत्येव अवधारणीया। येषां पुनस्तत्राष्टाविंशतिसागरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ त्रयो हस्तस्यैकादशभागाः अवधारणीया। सप्तमेऽपि ग्रैवेयके येषामष्टाविंशतिसागरोपमाणि तेषामेतावती। येषां पुनस्तत्र एकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि तेषां अवधारणीया। द्वौ हस्तौ द्वौ च हस्तस्यैकादशभागौ। अष्टमेऽपि ग्रैवेयके येषां स्थितिरेकोनत्रिंशत्सागरोपमाणि तेषामेतावत्प्रमाणा येषां पुनस्तत्र त्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिस्तेषां द्वौ हस्तौ एकस्य हस्तस्यैकादश भागा अवधारणीया। नवमेऽपि ग्रैवेयके येषां स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तेषां अवधारणीया एतावत्प्रमाणा। येषां पुनरेकत्रिंशत्सागरोपमाणि तत्र स्थितिस्तेषां परिपूर्णौ द्वौ हस्तौ अवधारणीया (एवं अणुत्तरे इत्यादि) एवं ग्रैवेयकोक्तेन प्रकारेण अनुत्तरोपपातिकदेवानामपि सूत्रं वक्तव्यं नवरमुत्कर्षतो अवधारणीया। एका रत्निर्हस्तो वक्तव्यः। एतच्च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिकान् प्रति ज्ञातव्यं येषां पुनर्विजयादिषु चतुर्षु विमानेषु एकत्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिस्तेषां परिपूर्णौ द्वौ हस्तौ अवधारणीया। येषां पुनस्तत्रैव मध्यमा द्वात्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिस्तेषां एको हस्त एकस्य हस्तस्यैकादश भागो अवधारणीया। येषां पुनस्तत्र सर्वार्थसिद्धे महाविमाने त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि तेषामेको हस्तो अवधारणीया। जघन्या सर्वत्राङ्गुलासंख्येयभागमात्रा । तदेवमुक्तानि वैक्रियशरीरस्यापि विभिन्नसंस्थानावगाहनाप्रमाणानि ॥

(११) आहारकशरीरस्यावगाहना मानं यथा ।

आहारगसरीरस्स णं भंते ! के महालिया सरीरोगाहना पणत्ता ? गोयमा ! जहएणेणं देसूणा रयणी उक्कोसेणं पडिपुणा रयणी ॥

(जहएणेणं देसूणा रयणीइति) आहारकशरीरस्य जघन्यतोऽवगाहना देशोना किञ्चिदूनारत्निर्हस्तः तथाविधप्रयत्नभावप्रारम्भसमयेऽपि तस्या एतावत्या एवाभावात् । तदेवमुक्तान्याहारकशरीरस्य विभिन्नसंस्थावगाहनामानानि ॥

(१२) तैजसशरीरस्यावगाहनामानमाह ॥

जीवस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहना पणत्ता ? सरीरप्पमाणमित्ता विक्खंभबाहल्लेणं । आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागो उक्कोसेणं लोगंताओ लोगंते । एगिंदियस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेया सरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पणत्ता ? गोयमा ! एवं चेव जाव पुढवी आउ तेउ वाउ वणस्सइकाइयस्स । वेइंदियस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेया सरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमित्ता विक्खंभबाहल्लेणं । आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उक्कोसेणं तिरियलोगाओ लोगंतो एवं जाव चउरिंदियस्स ॥

जीवस्य नैरयिकत्वादिविशेषणाविवक्षायां सामान्यतः संसारिणो, णमिति वाक्यालङ्कारे। मारणान्तिकसमुद्घातेन वक्ष्यमाणलक्षणेन समवहतस्य सतः (के महालिया इति) किं महती किं प्रमाणमहत्त्वा शरीरावगाहना । शरीरमौदारिकादिकमप्यस्ति तत आह। तैजसः शरीरस्य प्रज्ञप्ता ? भगवानाह। गौतम! शरीरप्रमाणमात्रा विष्कम्भबाहुल्येन। विष्कम्भश्च बाहुल्यं च विष्कम्भबाहुल्यं समाहारो द्वन्द्वस्तेन विष्कम्भेन बाहुल्येन चेत्यर्थः। तत्र विष्कम्भ उदरादिविस्तारः बाहुल्यमुरः पृष्ठस्थूलता आयामो दैर्घ्यम्। तत्र आयामेन जघन्यतोऽङ्गुलस्यासंख्येयभागः। अङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा । इयं च एकेन्द्रियस्यैकेन्द्रियेष्वासन्नमुत्पद्यमानस्य द्रष्टव्या। उत्कर्षतो लोकान्ताल्लोकान्तः। किमुक्तं भवति। अधोलोकान्तादारभ्य यावदूर्ध्वलोकान्तः ऊर्ध्वलोकान्तादारभ्य यावदधोलोकान्तस्तावत्प्रमाणा इति। इयं च सूक्ष्मस्य बादरस्य एकेन्द्रियस्य वेदितव्या न शेषस्यासम्भवात्। एकेन्द्रिया हि सूक्ष्मा बादराश्च यथायोगं समस्तेऽपि लोके वर्तन्ते न शेषास्ततो यदा सूक्ष्मो बादरो वा एकेन्द्रियोऽधोलोके वर्तमानः ऊर्ध्वलोकान्ते सूक्ष्मतया बादरतया वोत्पत्तुमिच्छन्ति ऊर्ध्वलोकान्ते वा वर्तमानः सूक्ष्मो बादरो वा अधोलोकान्ते सूक्ष्मतया बादरतया चोत्पत्स्यते तदा तस्य मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतस्य यथोक्तप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना भवति । एतेन पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिसूत्राण्यपि भावितानि द्रष्टव्यानि। तथा हि-सूक्ष्मपृथिवीकायिकेऽधोलोके ऊर्ध्वलोके वा वर्तमानो यदा सूक्ष्मपृथिवीकायिकादितया बादरवायुकायिकतया वा ऊर्ध्वलोकेऽधोलोके वा समुत्पत्तुमिच्छति तदा भवति तस्य मारणान्तिकसमुद्घातेन समवहतस्योत्कर्षतो लोकान्तात् लोकान्तं यावत्तैजसशरीरावगाहना। एवमप्कायिकादिष्वपि भाव्यम्। द्वीन्द्रियसूत्रे आयामेन जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणो, यदा अपर्याप्तो द्वीन्द्रियोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणौदारिकशरीरः स्वप्रत्यासन्नप्रदेशे एकेन्द्रियादितयोत्पद्यते तदाऽवसेया। अथवा यस्मिन् शरीरे स्थितः सन् मारणान्तिकसमुद्घातं करोति तस्मात् शरीरात् मारणान्तिकसमुद्घातवशाद्बहिर्विनिर्गततैजसशरीरस्यायामविष्कम्भविस्तारैरवगाहना चिन्त्यते न तच्छरीरसहितस्य, अन्यथा भवनपत्यादेर्यज्जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागत्वं वक्ष्यते तद्विरुध्येत। भवनपत्यादिशरीराणां सप्तादिहस्तप्रमाणत्वात्। ततो महाकायोऽपि द्वीन्द्रियो यदा स्वप्रत्यासन्ने देशे एकेन्द्रियतयोत्पद्यते तदाऽप्यङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा वेदितव्या। उत्कर्षतस्तिर्यग्लोकाल्लोकान्तः।

किमुक्तं भवति । तिर्यग्लोकादधोलोकान्त ऊर्ध्वलोकान्तो वा यावता भवति तावत्प्रमाणा इत्यर्थः। कथमेतावत्प्रमाणेति चेदुच्यते इह द्वीन्द्रिया एकेन्द्रियेष्वप्युत्पद्यन्ते । एकेन्द्रियाश्च सकललोकव्यापिनस्ततो यदा तिर्यग्लोकस्थितो द्वीन्द्रियः ऊर्ध्वलोकान्ते अधोलोकान्ते वा एकेन्द्रियतया समुत्पद्यते तदा भवति तस्य मारणान्तिकसमुद्घातसमवहतस्य यथोक्तप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना । तिर्यग्लोकग्रहणं च प्रायस्तेषां तिर्यग्लोकस्वस्थानमिति कृतमन्यथा अधोलोकैकदेशेऽप्यधोलौकिकग्रामादौ ऊर्ध्वलोकैकदेशेऽपि पण्डकवनादौ द्वीन्द्रियाः सम्भवन्ति इति तदपेक्षयाऽतिरिक्तापि तैजसशरीरावगाहना द्रष्टव्या । एवं त्रिचतुरिन्द्रियसूत्रे अपि भावनीये ॥

नेरइयस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभमाणबाहल्लेणं आयामेणं जहन्नेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं उक्कोसेणं अहे जाव अहे सत्तमा पुढवी तिरियं जाव सयंभूरमणे समुद्दे उड्ढं जाव पंडगवणे पुक्खरणीओ पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! जहा बेइंदियसरीरस्स ॥

नैरयिकसूत्रे आयामेन जघन्यतो यत्सातिरेकं योजनसहस्रमुक्तं तदेवं परिभावनीयम् । इह वडवामुखादयश्चत्वारः पातालकलशा लक्षयोजनावगाहयोजनसहस्रबाहल्यठिक्करिकास्तेषामधस्त्रिभागो वायुपरिपूर्ण उपरितनस्त्रिभाग उदकपरिपूर्णो मध्यस्त्रिभागो वायूदकयोरुत्सरणापसरणधर्मस्तत्र यदा कश्चित्सीमन्तकादिषु नरकेन्द्रकेषु वर्तमानो नैरयिकपातालकलशप्रत्यासन्नवर्ती च स्वायुःक्षयादुद्धृत्य पातालकलशकुड्यं योजनसहस्रबाहुल्यं भित्वा पातालकलशमध्ये द्वितीये तृतीये वा त्रिभागे मत्स्यतयोत्पद्यते तदा भवति सातिरेकयोजनसहस्रमाना नैरयिकस्य मारणान्तिकसमुद्घातसमवहतस्य जघन्या तैजसशरीरावगाहना । उत्कर्षतो यावदधःसप्तमपृथ्वीतिर्यक् यावत्स्वयंभूरमणपर्यन्तमूर्ध्वं यावत्पण्डकवने पुष्करिण्यस्तावद् द्रष्टव्या । किमुक्तं भवत्यधः सप्तमपृथिव्या आरभ्य तिर्यक् यावत्स्वयंभूरमणपर्यन्त ऊर्ध्वं यावत्पण्डकवने पुष्करिण्यस्तावत्प्रमाणा एतावती च तदा लभ्यते यदाऽधः सप्तमपृथिवीनारकः स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यन्तं मत्स्यतयोत्पद्यते पण्डकवने पुष्करिणीषु चेति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्योत्कर्षतस्तिर्यग्लोकान्तोऽत्रापि भावना द्वीन्द्रियवत्कर्तव्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषूत्पादसम्भवात् ।

मणुस्सस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहना पण्णत्ता ? गोयमा ! समयखित्ताओ लोगंतो । असुरकुमारस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमित्ता विक्खंभबाहल्लेणं आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं अहे जाव तच्चाए पुढवीहेट्ठिल्ले चरिमंते तिरियं जाव सयंभूरमणसमुद्दस्स बाहिरिल्ले वेइयंते उड्ढं जाव ईसीपब्भारा पुढवी । एवं जाव थणियकुमारो वाणमंतरजोइसियसोहम्मीसाणगा य एवं चेव । सणंकुमारदेवस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमित्ता विक्खंभबाहल्लेणं । आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उक्कोसेणं अहे जाव महापातालाणं दोच्चे तिभागे तिरियं जाव सयंभूरमणसमुद्दे । उड्ढं जाव अच्चुओ कप्पो । एवं जाव सहस्सारदेवस्स । आणयदेवस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमित्ता विक्खंभबाहल्लेणं । आयामेणं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । उक्कोसेणं जाव अहो लोइयगामा । तिरियं जाव मणुस्सखेत्ते उड्ढं जाव अच्चुओ कप्पो । एवं जाव आरणदेवस्स अच्चुयदेवस्स वि एवं चेव नवरं उड्ढं जाव सगाइं विमाणाइं । गेविज्जगदेवस्स णं भंते ! मारणंतियसमुग्घाएणं समोहयस्स तेयासरीरस्स के महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ? गोयमा ! सरीरप्पमाणमेत्ता विक्खंभेणं बाहल्लेणं आयामेणं जहन्नेणं विज्जाहरसेढीओ उक्कोसेणं जाव अहो लोइयगामा । तिरियं जाव मणुस्सखेत्ते । उड्ढं जाव सगाइं विमाणाइं अणुत्तरोववाइयस्स वि एवं चेव ॥

मनुष्यस्योत्कर्षतः समयक्षेत्रात् समयप्रधानं क्षेत्रं मयूरव्यंसकादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः । यस्मिन् अर्धतृतीये द्वीपप्रमाणे सूर्यादिक्रियाव्यङ्ग्यः समयो नाम कालद्रव्यमस्ति तत्समयक्षेत्रं मानुषक्षेत्रमिति भावः तस्माद्यावदध ऊर्ध्वं वा लोकान्तस्तावत्प्रमाणा मनुष्यस्याप्येकेन्द्रियेषूत्पादसंभवात् । समयक्षेत्रग्रहणं समयक्षेत्रादन्यत्र मनुष्यजन्मनः संहरणस्य वा संभवेनातिरिक्ताया अवगाहनाया असंभवात् । असुरकुमारादिस्तनितकुमारपर्यवसाना भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कसौधर्मेशानदेवानां जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागः कथमिति चेदुच्यते । एते ह्येकेन्द्रियेषूत्पद्यन्ते ततो यदा ते स्वाभरणेष्वङ्गदादिषु कुण्डलादिषु वा ये मणयः पद्मरागादयः तेषु गृद्धा मूर्च्छितास्तदध्यवसायिनस्तेष्वेव शरीरस्थेष्वाभरणादिषु पृथिवीकायिकत्वेनोत्पद्यते तदा भवति जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना । अन्ये त्वन्यथाऽत्र भावनिकां कुर्वन्ति सा च नातिश्लिष्टेति न लिखिता न च दूषिता । कुमार्गं न हि तिल्यक्षुः पुनस्तमनुधावतीति न्यायानुसरणात् । उत्कर्षतो यावदधस्तृतीयस्याः पृथिव्या अधस्तनश्चरमान्तस्तिर्यक् यावत्स्वयंभूरमणसमुद्रस्य बाह्यो वेदिकान्तः ऊर्ध्वं यावदीषत्प्राग्भारा पृथिवी तावद्द्रष्टव्या कथमिति चेदुच्यते । यदा भवनपत्यादिको देवस्तृतीयस्याः पृथिव्या अधस्तनं चरमान्तं यावत्कुतश्चित् प्रयोजनवशात् गतो भवति तत्र च गतः सन् कथमपि स्वायुःक्षयान्मृत्वा तिर्यक्स्वयंभूरमण-

समुद्रबाह्यवेदिकान्ते यदि वा ईषत्प्राग्भाराभिधपृथिवीपर्यन्तं पृथिवीकायिकतयोत्पद्यते तदा भवत्युत्कर्षतो यथोक्ता, तथा तैजसशरीरावगाहना । सनत्कुमारदेवस्यापि जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना। कथमिति चेदुच्यते इह सनत्कुमारादय एकेन्द्रियेषु विकलेन्द्रियेषु वा नोत्पद्यन्ते तथा भवस्वाभाव्यात् किन्तु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वा ततो यदा मन्दरादिषु पुष्करिण्यादिषु जलावगाहं कुर्वन्तः स्वभवायुःक्षयात्तत्रैव प्रत्यासन्ने देशे मत्स्यतयोत्पद्यन्ते तदाऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा द्रष्टव्या । अथवा पूर्वसम्बन्धिनीं मनुष्यस्त्रियं मनुष्येणोपभुक्तामुपलभ्य गाढानुरागादिहागत्य परिष्वजते परिष्वज्य च तदवाच्यप्रदेशे स्वावाच्यं प्रक्षिप्य कालं कृत्वा तस्या एव गर्भे पुरुषबीजे समुत्पद्यते तदा लभ्यते ततोऽधः पातालकलशानां लक्षयोजनप्रमाणावगाहानां द्वितीयत्रिभागं यावत् तिर्यक् यावत्स्वयंभूरमणपर्यन्तमूर्ध्वं यावदच्युतकल्पस्तावदवगन्तव्या । कथमिति चेदुच्यते इह सनत्कुमारादिदेवानामन्यदेव निश्रया अच्युतकल्पं यावद्गमने भवति न च तत्र वाप्यादिषु मत्स्यादयः सन्ति तत इह तिर्यग्मनुष्येषूत्पत्तव्यम् । तत्र यदा सनत्कुमारदेवोऽन्यदेव निश्रया अच्युतकल्पं गतो भवति तत्र च गतः सन् स्वायुःक्षयात्कालं कृत्वा तिर्यक् स्वयंभूरमणपर्यन्ते यदि वाऽधःपातालकलशानां द्वितीये त्रिभागे वायूदकयोरुत्सरणापसरणभाविनि मत्स्यादितयोत्पद्यते तदा भवति तस्य तिर्यगधो वा यथोक्तक्रमेण तैजसशरीरावगाहनेति (एवं जाव सहस्सारदेवस्सत्ति) एवं सनत्कुमारदेवगतेन प्रकारेण जघन्यत उत्कर्षतश्च तैजसशरीरावगाहना तावद्वाच्या यावत्सहस्रारदेवभावनाऽपि च सर्वत्रापि च समाना आनतदेवस्यापि जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा तैजसशरीरावगाहना नन्वानतादयो देवा मनुष्येष्वेवोत्पद्यन्ते । मनुष्याश्च मनुष्यक्षेत्र एवेति कथमङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणा उच्यते । इह पूर्वसम्बन्धिनीं मनुष्यस्त्रियमन्येन मनुष्येणोपभुक्तामानतदेवः कश्चनाप्यवधिज्ञानत उपलभ्यासन्नमृत्युतया विपरीतस्वभावत्वात् सत्त्वचरितवैचित्र्यात् कर्मगतेरचिन्त्यत्वात् कामवृत्तेर्मलिनत्वाच्च । उक्तं च । " सत्वानां चरितं चित्रं, विचित्रा कर्मणां गतिः । मलिनत्वं च कामानां, वृत्तिः पर्यन्तदारुणा " इति । गाढानुरागादिहागत्य कुतोऽपि गूढान्तां परिष्वज्य तदवाच्यप्रदेशे स्वावाच्यं प्रक्षिप्यातीव मूर्च्छितं स्वायुःक्षयात्कालं कृत्वा यदा तस्या एव गर्भे मनुष्यबीजे मनुष्यत्वेनोत्पद्यते । मनुष्यबीजं च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतो द्वादश मुहूर्तान् यावदवतिष्ठति । उक्तं च । " मणुस्सबीएणं भंते ! कालाओ केव चिरं होइ ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता इति" । ततो द्वादशमुहूर्ताभ्यन्तरे उपभुक्तां परिष्वज्य मृतस्य तत्रैवोत्पत्तिर्मनुष्यत्वेन लब्धा । उत्कर्षतोऽधो-यावदधोलौकिका ग्रामास्तिर्यग् यावन्मनुष्यक्षेत्रमूर्ध्वं यावदच्युतः कल्पस्तावदवसेया । कथमिति चेदुच्यते । इह यदानतदेवः कस्याप्यन्यस्य निश्रया अच्युतकल्पं गतो भवति स च तत्र गतः सन् कालं कृत्वाऽधो लौकिकग्रामेषु यदि वा मनुष्यक्षेत्रपर्यन्तं मनुष्यत्वेनोत्पद्यते तदा लभ्यते । एवं प्राणतारणाच्युतकल्पदेवानामपि भावनीयं तथा चाह । " एवं जाव आरणदेवस्स अच्चुयदेवस्स एवं चेव नवरं उड्ढं जाव सयाइं विमाणाइं " इति अच्युतदेवस्यापि जघन्यत उत्कर्षतश्च तैजसशरीरावगाहना । एवमेव एवं प्रमाणैव परं सूत्रपाठे । " उड्ढं जाव सयाइं विमाणाइं " इति वक्तव्यम् । न तु " उड्ढं जाव अच्चुओ कप्पो " इति । अच्युतदेवो हि यदा च्यवते तदा कथमूर्ध्वं यावदच्युतकल्प इति घटते तस्य तस्य विद्यमानत्वात् केवलमच्युतदेवोऽपि कदाचिदूर्ध्वं स्वविमानपर्यन्तं यावद्गच्छति तत्र च गतः सन् कालमपि करोति तत उक्तम् " उड्ढं जाव सयाइं विमाणाइं " इति । ग्रैवेयकानुत्तरसुरा भगवद्वन्दनादिकमपि तत्रस्था एव कुर्वन्ति तत इहागमनासंभवादङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणता न लभ्यते । किन्तु यदा वैताढ्यगतासु विद्याधरश्रेणिषूत्पद्यन्ते तदा स्वस्थानादारभ्याधो यावद्विद्याधरश्रेण्यस्तावत्प्रमाणा जघन्या तैजसशरीरावगाहना । अतोऽपि मध्ये जघन्यतराया असंभवात् । उत्कृष्टा यावदधोलौकिका ग्रामास्ततोऽप्यध उत्पादासंभवात् । तिर्यग् यावन्मनुष्यक्षेत्रपर्यन्तस्ततः परं तिर्यगप्युत्पादाभावात् । यद्यपि हि विद्याधरा विद्याधर्यश्च नन्दीश्वरं यावद्गच्छन्ति अर्वाक् संभोगमपि कुर्वन्ति तथापि मनुष्यक्षेत्रात्परतो गर्भे मनुष्येषु नोत्पद्यन्ते ततस्तिर्यग् यावन्मनुष्यक्षेत्रमित्युक्तम् । प्रज्ञा० २१ पद । स्था० । (सिद्धानामवगाहना सिद्धशब्दे वक्ष्यामि-उत्पन्नजीवानामवगाहनाऽत्रैवोक्ता-पर्याप्तानां संक्षिप्तपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकस्य नैरयिकेषूपपन्नस्यावगाहना उववायशब्दे)

(१२) अथ जीवप्रदेशपरिमाणनिरूपणपूर्वकं निगोदादीनामवगाहनामानमभिधित्सुराह ।

लोगस्स य जीवस्स य, होंति पएसा असंखया तुल्ला ।
अंगुलअसंखभागो, निगोयजीयगोलगोगाहो ॥ १३ ॥

लोकजीवयोः प्रत्येकमसंख्येयाः प्रदेशा भवन्ति ते च परस्परेण तुल्या एव । एषां च संकोचविशेषात् । अङ्गुलासंख्येयभागो निगोदस्य तज्जीवस्य गोलकस्य चावगाह इति । निगोदादिसमावगाहनतामेव समर्थयन्नाह ।

जम्मि जीओ तमेव, निगोयतो तम्मि चेव गोलो वि ।
निप्फज्जइ जं खेत्ते, तो ते तुल्लावगाहणया ॥ १४ ॥

यस्मिन् क्षेत्रे जीवोऽवगाहते तस्मिन्नेव निगोदो निगोदव्याप्त्या जीवस्यावस्थानात् । (तोत्ति) ततस्तदनन्तरं तस्मिन्नेव गोलोऽपि निष्पद्यते विवक्षितनिगोदावगाहनातिरिक्तायाः शेषनिगोदावगाहनाया गोलकान्तरप्रवेशेन निगोदमात्रत्वाद् गोलकावगाहनाया इति । यद्यस्मात्क्षेत्रे आकाशे ततस्ते जीवनिगोदगोलास्तुल्यावगाहनकाः समावगाहनका इति । अथ जीवाद्यवगाहनासमता सामर्थ्येन यदेकत्र प्रदेशे जीवप्रदेशमानं भवति तद्विभणिषुस्तत्प्रस्थापनार्थं प्रश्नं कारयन्नाह ।

उक्कोसपयपएसे, किमेगजीवप्पएसरासिस्स ।
होज्जेगनिगोयस्स व, गोलस्स व किं समोगाढं ॥ १५ ॥

तत्र जीवमाश्रित्योत्तरम् ।

जीवस्स लोगमेत्तस्स, सुहुमओगाहणावगाढस्स ।
एक्केक्कम्मि पएसे, होंति पएसा असंखेज्जा ॥ १६ ॥

ते च किल कल्पनया कोटिशतसंख्यस्य जीवप्रदेशराशेः प्रदेशदशसहस्रे स्वरूपजीवावगाहनया भागे हृते लभ्यमाना भवन्तीति । अथ निगोदमाश्रित्याह ।

लोगस्स हिए भागे, निगोयओगाहणाइ जं लद्धं ।
उक्कोसपए तिगयं, एत्तियमेक्केक्कजीवाओ ॥ १७ ॥

लोकस्य कल्पनया प्रदेशकोटिशतमानस्य हृते भागे निगोदावगाहनया कल्पनातः प्रदेशदशसहस्रीमानया यल्लब्धं तच्च

किल लक्षपरिमाणमुत्कृष्टपदेऽतिगतमवगाढमेतावदेकैकजीवानन्तजीवात्मकनिगोदसंबन्धिनः एकैकजीवसत्कमित्यर्थोऽनेन निगोदसत्कमुत्कृष्टपदे यदवगाढं तद्दर्शितम्। अथ गोलकसत्कं यत्तत्रावगाढं तद्दर्शयति ।

एवं दव्वट्ठाओ, सव्वेसिं एकगोलजीवाणं ।

उक्कोसपयमइगया, होंति पएसा असंखगुणा ॥ १८ ॥

यथा निगोदजीवेभ्योऽसंख्येयगुणास्तत्प्रदेशा उत्कृष्टपदेऽतिगता एवं द्रव्यार्थात् द्रव्यार्थतया न तु प्रदेशार्थतया (सव्वेसिंति) सर्वेभ्यः । (एकगोलजीवाणंति) एकगोलगतजीवद्रव्येभ्यः सकाशात् उत्कृष्टपदमतिगता भवन्ति । प्रदेशा असंख्यातगुणाः । इह किल अनन्तजीवोऽपि निगोदः कल्पनया लक्षजीवः । गोलकश्चासंख्यातनिगोदोऽपि कल्पनया लक्षनिगोदस्ततश्च लक्षस्य लक्षगुणने कोटिसहस्रसंख्याकल्पनया गोलके जीवा भवन्ति । तत्प्रदेशानां च लक्षं लक्षमुत्कृष्टपदेऽतिगतमतश्चैकगोलकजीवेभ्यः सकाशादेकत्र प्रदेशेऽसंख्येयगुणा जीवप्रदेशा भवन्तीत्युक्तम् । अथ तत्र गुणकारराशेः परिमाणनिर्णयार्थमुच्यते ।

तं पुण केवइएणं, गुणियमसंखेज्जयं जवेज्जाहि ।

भणइ दव्वट्ठाए, जावइया सव्वगोलत्ति ॥ १९ ॥

तत्पुनरनन्तरोक्तमुत्कृष्टपदातिगतजीवप्रदेशराशेः सम्बन्धि कियता किं परिमाणेन संख्येयराशिना गुणितं सत् (असंखेज्जयंति) असंख्येयकमसंख्यातगुणनाद्वारा यातं भवेत्स्यादिति । भण्यते अत्रोत्तरम् । द्रव्यार्थतया न तु प्रदेशार्थतया यावन्तः सर्वगोलकाः सकललोकगोलकास्तावन्त एवेति गम्यं, स चोत्कृष्टपदगतैकजीवप्रदेशराशिर्मन्तव्यः । सकलगोलकानां तत्तुल्यत्वादिति ॥

किं कारणमोगाहण–तुल्लत्ता जियनिगोयगोलाणं ।

गोला उक्कोसपए–क जियपएसेहिं तो तुल्ला ॥ २० ॥

(किं कारणंति) कस्मात्कारणात् यावन्तः सर्वगोलास्तावन्त एवोत्कृष्टपदगतैकजीवप्रदेशा इति प्रश्नः । अत्रोत्तरमवगाहनातुल्यत्वात् केषामित्याह । जीवनिगोदगोलानामवगाहनातुल्यत्वं चैषामङ्गुलासंख्येयभागमात्रावगाहित्वादिति । यस्मादेवं (तोत्ति) तस्माद्गोलाः सकललोकसंबन्धिन उत्कृष्टपदे ये एकस्य जीवस्य प्रदेशास्ते तथा तैरुत्कृष्टपदैकजीवप्रदेशैस्तुल्या भवन्ति । एतस्यैव भावनार्थमुच्यते ।

गोलेहिं हिए लोगे, आगच्छइ जं तमेगजीवस्स ।

उक्कोसपयगयपए–सरासितुल्लं भवइ जम्हा ॥ २१ ॥

गोलैर्गोलावगाहनाप्रदेशैः कल्पनया दशसहस्रसंख्यैः हृते विभक्ते हृतविभाग इत्यर्थः । लोके लोकप्रदेशराशौ कल्पनयैककोटिशतप्रमाणे आगच्छति लभ्यते । यत्सर्वगोलकसंख्यानं कल्पनया लक्षमित्यर्थः तदेकजीवस्य संबन्धिना पूर्वोक्तप्रकारतः कल्पनया लक्षप्रमाणेनोत्कृष्टपदगतप्रदेशराशिना तुल्यं भवति । यस्मात्तस्माद्गोला उत्कृष्टपदैकजीवप्रदेशैस्तुल्या भवन्ति ॥ प्रकृतमेवेति । एवं गोलकानामुत्कृष्टपदगतैकजीवप्रदेशानां च तुल्यत्वं समर्थितम् । पुनस्तदेव प्रकारान्तरेण समर्थयति ॥

अहवा लोगपएसे, एकेके ठवय गोलमेकेकं ।

एवं उक्कोसपए–कजियपएसेसु मायत्ति ॥ २२ ॥

अथवा लोकस्यैव प्रदेशे एकैकस्मिन् स्थापय निधेहि । विवक्षितसमत्वबुद्ध्या गोलकमेकैकं ततश्च एवमुक्तप्रकारस्थापने उत्कृष्टपदे ये एकजीवप्रदेशास्ते तथा तेषु तत्परिमाणेष्वाकाशप्रदेशेष्वित्यर्थः । मान्ति गोला इति गम्यं यावन्त उत्कृष्टपदे एकजीवप्रदेशास्तावन्तो गोलका अपि भवन्तीत्यर्थस्ते च कल्पनया किल लक्षमाना भजयेऽपीति भ० ११ श० १० उ० । (टीकोक्ता अपि गाथाः सार्थकत्वात्स्थूलाक्षरैर्व्याख्याताः) प्रज्ञा० [परमाणुपुद्गलादीनामसिधारादिषु पुद्गलशब्दे–केवली यस्मिन्नाकाशप्रदेशेष्ववगाढस्तत्रैव हस्ताद्यवगाह्य स्थातुं शक्त इति केवलिशब्दे)
(१४) एकत्रैक एव धर्मास्तिकायादिप्रदेशा अवगाढाः । यथा ।

जत्थ णं भंते ! एगे धम्मत्थिकायपदेसे ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसा ओगाढा णत्थि एक्को वि, केवइया अहम्मत्थिकायपदेसा ओगाढा एक्को, केवइया आगासत्थिकायपदेसा एक्को, केवइया जीवत्थिकायपदेसा अणंता । केवइया पोग्गलत्थिकायपदेसा अणंता । केवइया अद्धा समया ? सिय ओगाढा सिय णोओगाढा । जइ ओगाढा अणंता । जत्थ णं भंते ! एगे अहम्मत्थिकायपदेसे ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसा ओगाढा ? एक्को । केवइया अहम्मत्थि कायपदेसा ? णत्थि एक्को वि । सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स । जत्थ णं भंते ! एगे आगासत्थिकायपदेसे ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसा ओगाढा ? सिय ओगाढा सिय णोओगाढा, जइ ओगाढा एक्को, एवं अहम्मत्थिकायपदेसा वि । केवइया आगासत्थिकाय० ? णत्थि एक्को वि । केवइया जीवत्थि० ? सिय ओगाढा सिय णो ओगाढा । जइ ओगाढा अणंता, एवं जाव अद्धा समया । जत्थ णं भंते ! एगे जीवत्थिकायपदेसे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसे एक्को, एवं अहम्मत्थिकायपदेसा वि एवं आगासत्थिकायपदेसा वि । केवइया जीवत्थिकाय० ? अणंता सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स । जत्थ णं भंते ! पोग्गलत्थिकायपदेसे ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसे ? एवं जहा जीवत्थिकायपदेसे तहेव णिरवसेसं जत्थ णं भंते ! दो पोग्गलत्थिकायपदेसा ओगाढा तत्थ णं केवइया धम्मत्थिकाय० ? सिय एक्को, सिय दोण्णि, एवं अहम्मत्थिकायस्स वि एवं आगासत्थिकायस्स वि सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स । जत्थ णं भंते ! तिण्णि पोग्गलत्थिकायप्पएसा ओगाढा तत्थ केवइया धम्मत्थिकायपदेसा ओगाढा ? सिय एक्को सिय दोण्णि सिय तिण्णि एवं अहम्मत्थिकायस्स वि । एवं आगासत्थिकायस्स वि । सेसं जहेव दोण्हं । एवं एकेको वड्ढेयव्वो पएसो आदिल्लेहिं तिण्णि अत्थिकाएहिं सेसेहिं जहेव दोण्हं जाव दसण्हं सिय एक्को, सिय दोण्णि, सिय तिण्णि, जाव सिय दस । संखेज्जाणं सिय एक्को सिय दोण्णि, जाव सिय दस सिय संखेज्जा । असंखेज्जाणं सिय एक्को जाव सिय संखेज्जा सिय असंखेज्जा, जहा असंखेज्जा एवं अणंता वि ।

(जत्थ णं भंते ! इत्यादि) यत्र प्रदेशे एको धर्मास्तिकायस्य प्रदेशोऽवगाढस्तत्रान्यः प्रदेशो नास्तीति कृत्वाऽऽह (नत्थि एक्कोवित्ति) धर्मास्तिकायप्रदेशस्थाने अधर्मास्तिकायस्य प्रदेशस्य विद्यमानत्वादाह (एक्कोत्ति) एवमाकाशास्तिकायस्याप्येक एव जीवास्तिकायपुद्गलास्तिकाययोः पुनरनन्ताः प्रदेशा एकैकस्य धर्मास्तिकायप्रदेशस्य स्थाने सन्ति तैः प्रत्येकमनन्तैर्व्याप्तोऽसावत उक्तम् । (अणंतत्ति) अद्धासमयास्तु मनुष्यलोक एव सन्ति न परतोऽतो धर्मास्तिकायप्रदेशे तेषामवगाहोऽस्ति नास्ति च। यत्रास्ति तत्रानन्तानां भावना तु प्राग्वदेतदेवाह । 'अद्धासमये त्यादि'। जत्थ णमित्यादीन्यधर्मास्तिकायसूत्राणि षड् धर्मास्तिकायसूत्राणीव वाच्यानि । आकाशास्तिकायसूत्रेषु (सियओगाढा सियनोओगाढात्ति) लोकालोकरूपत्वादाकाशस्य लोकाकाशेऽवगाढा। अलोकाकाशे तु न तदभावात् जित्थ णं भंते ! दो पोग्गलत्थिकायप्पदेसेत्यादि सियएक्कोसियदोण्णित्ति) यदा एक आकाशप्रदेशे द्व्यणुकः स्कन्धोऽवगाढः स्यात्तदा तत्र धर्मास्तिकायप्रदेश एक एव यदा तु द्वयोराकाशप्रदेशयोरसाववगाढः स्यात्तदा तत्र द्वौ धर्मप्रदेशाववगाढौ स्यातामित्येवमवगाहनाऽनुसारेणाधर्माकाशास्तिकाययोरपि स्यादेकः स्याद् द्वाविति भावनीयम् (सेसं जहा धम्मत्थिकायस्सत्ति) शेषमित्युक्तापेक्षया जीवास्तिकायपुद्गलास्तिकायाद्धासमयलक्षणत्रयं यथा धर्मास्तिकायप्रदेशवक्तव्यतायामुक्तं तथा पुद्गलप्रदेशद्वयवक्तव्यतायामपि पुद्गलप्रदेशद्वयस्थाने तदीया अनन्ताः प्रदेशा अवगाढा इत्यर्थः। पुद्गलप्रदेशत्रयसूत्रेषु (सिय एक्को इत्यादि) यदा त्रयोऽप्यणव एकत्रावगाढास्तदा तत्रैको धर्मास्तिकायप्रदेशोऽवगाढो यदा तु द्वयोः तदा द्वाववगाढौ । यदा तु त्रिषु तदा त्रय इति । एवमधर्मास्तिकायस्याकाशास्तिकायस्य च वाच्यम (सेसं जहेव दोण्हंति) शेषं जीवपुद्गलाद्धासमयाश्रितं सूत्रत्रयं यथैव द्वयोः पुद्गलप्रदेशयोरवगाहचिन्तायामधीतं तथैव पुद्गलप्रदेशत्रयचिन्तायामप्यध्येयं पुद्गलप्रदेशत्रयस्थाने अनन्ता जीवप्रदेशा अवगाढा इत्येवमध्येयमित्यर्थः (एवं एक्केक्को वड्डियव्वो) यथा पुद्गलप्रदेशत्रयावगाहचिन्तायां धर्मास्तिकायादिसूत्रत्रये एकैकः प्रदेशो वृद्धिं नीतः एवं पुद्गलप्रदेशचतुष्टयाद्यवगाहचिन्तायामप्येकैकस्तत्र वर्धनीयस्तथा हि " जत्थ णं भंते ! चत्तारि पुग्गलत्थिकायप्पदेसा अवगाढा तत्थ केवइया धम्मत्थिकायप्पएसा ओगाढा । सिय एक्को सिय दोण्णि सिय तिण्णि सिय चत्तारि" इत्यादि भावना चास्य प्रागेव (सेसेहिं जहेव दोण्हंति) शेषेषु जीवास्तिकायादिषु त्रिषु सूत्रेषु पुद्गलप्रदेशचतुष्टयचिन्तायां तथा वाच्यं यथा तेष्वेव पुद्गलप्रदेशद्वयावगाहचिन्तायामुक्तं तद्यथा " जत्थ णं भंते ! चत्तारि पुग्गलत्थिकायप्पदेसा ओगाढा तत्थ केवइया जीवत्थिकायप्पदेसा ओगाढा अणंतेत्यादि इति जहा असंखेज्जा एवं अणंता चेति " । अस्यायं भावार्थः। "जत्थ णं भंते ! अणंता पोग्गलत्थिकायप्पएसा ओगाढा तत्थ केवइया धम्मत्थिकायप्पदेसा ओगाढा सिय एक्को सिय दोण्णि जाव सिय असंखेज्जा " । एतावदेवाध्येयं न तु सिय अणंतत्ति । धर्मास्तिकायाधर्मास्तिकायलोकाकाशप्रदेशानामनन्तानाम भावादिति ॥

अथ प्रकारान्तरेणावगाहद्वारमेवाह ।

जत्थ णं भंते ! एगे अद्धासमए ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायप्पदेसा एक्को । केवइया अधम्मत्थिकायप्पदेसा एक्को केवइया आगासत्थि० एक्को केवइया जीवत्थिकायप्पदेसा अणंता एवं जाव अद्धा समया । जत्थ णं भंते ! धम्मत्थिकाये ओगाढे तत्थ केइया धम्मत्थिकायपदेसा ओगाढा णत्थि एक्को वि केवइया अहम्मत्थिकायप्पदेसा असंखेज्जा केवइया जीवत्थिकाय० अणंता एवं जाव अद्धा समया । जत्थ णं भंते ! अहम्मत्थिकाए ओगाढे तत्थ केवइया धम्मत्थिकायप्पदेसा असंखेज्जा। केवइया अहम्मत्थिकायप्पदेसा णत्थि एक्को वि । सेसं जहा धम्मत्थिकायस्स । एवं सव्वे सट्ठाणे णत्थि एक्को वि भाणियव्वं । परट्ठाणे आदिल्ला तिण्णि संखेज्जा भाणियव्वा । पच्छिल्ला तिण्णि अणंता भाणियव्वा । जाव अद्धा समओत्ति । जाव केवइया अद्धा समया ओगाढा । णत्थि एक्को वि । जत्थ णं भंते ! एगे पुढवीकाइए ओगाढे तत्थ णं केवइया पुढवीकाइया ओगाढा असंखेज्जा ! केवइया आउकाइया ओगाढा असंखेज्जा । केवइया तेउकाइया ओगाढा असंखेज्जा । केवइया वाउकाइया ओगाढा असंखेज्जा । केवइया वणस्सइकाइया ओगाढा अणंता । जत्थ णं भंते ! एगे आउकाइए ओगाढे तत्थ केवइया पुढवीकाइया असंखेज्जा । केवइया आउकाइया असंखेज्जा । एवं जहेव पुढवीकाइयाणं वत्तव्वं तहेव सव्वे णिरवसेसं भाणियव्वं । जाव वणस्सइकाइयाणं जाव केवइया वणस्सइकाइया ओगाढा अणंता।

(जत्थ णमित्यादि) धर्मास्तिकायशब्देन समस्ततत्प्रदेशसंग्रहात्प्रदेशान्तराणां वाऽभावात् उच्यते। यत्र धर्मास्तिकायोऽवगाढस्तत्र नास्त्येकोऽपि तत्प्रदेशोऽवगाढः । अधर्मास्तिकायाकाशास्तिकाययोरसंख्येयाः प्रदेशा अवगाढा । असंख्येयप्रदेशत्वादधर्मास्तिकायलोकाकाशयोः जीवास्तिकायसूत्रे चानन्तास्तत्प्रदेशा अनन्तप्रदेशत्वाज्जीवास्तिकायस्य । पुद्गलास्तिकायसूत्राद्धासूत्रयोरप्येवमेव तदाह (एवं जाव अद्धासमयत्ति) अथैकस्य पृथिव्यादिजीवस्य स्थाने कियन्तः पृथिव्यादिजीवा अवगाढा इत्येवमर्थं "जीवमोगाढत्ति" द्वारं प्रतिपादयितुमाह (जत्थ णं भंते ! एगे पुढविकाइए इत्यादि) एकपृथिवीकायिकावगाहे असंख्येयाः प्रत्येकं पृथिवीकायिकादयश्चत्वारः सूक्ष्मा अवगाढाः । यदाह । " जत्थ एगो तत्थ नियमा असंखेज्जत्ति " वनस्पतयस्त्वनन्ता इति । भ०१३ श०४उ० ।

(१५) (धर्मास्तिकायादेरवगाढाऽनवगाहत्वचिन्ता कृतयुगादिविशेषणेन जुम्मशब्दे) अव-गाह-भावे ल्युट् । अवस्थाने, विशे०। अवग्रहणपरिच्छेदे, । स च परिच्छेदोऽपायादिभेदादनेकविधः । प्रज्ञा० १५ पद० ।

ओगाहणानाम–अवगाहनानामन्–न० अवगाहते यस्यां जीवः साऽवगाहना शरीरमौदारिकादि तस्या नाम । औदारिकादिशरीरनामकर्मणि, भ० ६ श० ८ उ० । अवगाहना शरीरमौदारिकादि पञ्चविधं तत्करणं कर्माप्यवगाहना तद्रूपं नामकर्मावगाहनानाम । औदारिकादिशरीरनामकर्मणि, स० ॥

अवगाहनानाम–पुं० अवगाहनारूपो नाम परिणामः । अवगाहनात्मके परिणामे, भ० ६ श० ८ उ० ।

ओगाहणाणामनिहत्ताउय—अवगाहननामनिधत्तायुष्— न० अवगाहननाम्ना सह यन्निधत्तमायुस्तदवगाहननामनिधत्तायुः। आयुर्बन्धभेदे, भ० ६ श० ८ उ० । स्था० । स० । प्रज्ञा० ।

ओगाहणारुइ—अवगाहनारुचि— पुं० स्त्री० अवगाढरुच्यपरनामके धर्मध्यानस्य चतुर्थे लक्षणे, "ओगाहणारुईण य पवादभंगगुहविलं सुत्तमत्थतो सारुणसंवेगमावन्नं सड्ढो झायति" । आ० च० ४ अ० ॥

ओगाहित्ता—अवगाह्य— अव्य० आक्रम्येत्यर्थे, भ० ५ श० ४ उ० ।

ओगाहिमय—अवगाहिमक— न० अवगाहेन स्नेहबोलनेन निर्वृत्तमवगाहिमं—" भावादिम " इतीमः । ध०२ अधि० । तदेवावगाहिमकम्—पक्वान्ने, पञ्चा०५ विव० । प्रव० । बृ० । अस्य विकृतित्वविचारः यत्तापिकायां घृतादिपूर्णायां चलाचलं खाद्यकादि पच्यते तस्यामेव तापिकायां तेनैव घृतेन द्वितीयं तृतीयं च खाद्यकादिविकृतिः ततः परं पक्वान्नानि अयोगवाहिनां निर्विकृतिप्रत्याख्यानेऽपि कल्पन्ते । अथैकेनैव पूपकेन तापिका पूर्यते तदा द्वितीयं पक्वान्नं निर्विकृतिप्रत्याख्यानेऽपि कल्पते लेपकृतं तु भवतीत्येषा वृद्धसामाचारी । ध०२ अधि० । तदुक्तं निशीथे "चलचलओगाहिमं च जं पक्कं" "आदिमे जे तिण्णि घाणा पयन्ति ते चलचलेत्ति तेण तेऽचलचलेत्ति तव्वच्चमं जं घयं खित्तं । तच्चणअपरिकतंती आदिमे जे तिण्णि घाणा पयंति ते चलचलेत्ति तेण ते अचलचलओगाहिमं भण्णति । तत्थ तथा जे सेसा पच्चंति ते ण चलेति अतो तेण आतिल्ला तिण्णि घाणो मोत्तुं सेसा पच्चक्खाणिस्स कप्पंति जति अण्णं घयं ण परिकप्पति जोगवाहिस्स पुण सेसगा वि गता" । नि० चू० ४ उ० । ध० । पक्वान्नाद्याश्रित्य चैवमुक्तं "वासासु पन्नरदिवसं, सीउण्हकाले सु मासदिणवीसं । उग्गाहिमं जईणं, कप्पइ आरब्भ पढमदिणे" केचित्तस्या गाथाया अदृश्यमानस्थानत्वं वदन्तो यावद्वर्णगन्धरसादिना न विनश्यति तावदवगाहिमं शुद्ध्यतीत्याहुः । ध० २ अधि० । ध० प्र० । पं० व० । आव० ।

ओगिज्झिय—अवगृह्य—अ०अव्-ग्रह्-ल्यप्-आश्रित्येत्यर्थे,"ओगिज्झिय ओगिज्झियत्ता उवणिमंतेज्जा" आचा०१ श्रु०२ अ०३ उ०॥

ओगिण्हइत्ता—अवगृह्य—अव्य० अव्-गृह्-ल्यप्-अनुज्ञापूर्वकं गृहीत्वेत्यर्थे, " अहापडिरूवं ओगिण्हइ ओगिण्हइत्ता संजमेणं अप्पाणं भावेमाणे " ज्ञा० १ अ० ॥

ओगिण्हण—अवग्रहण— न० अवगृह्यतेऽनेनेति अवग्रहणं करणेऽनट् । व्यञ्जनावग्रहप्रथमसमयप्रविष्टशब्दादिपुद्गलादानपरिणामे, । नं० । भावे ल्युट् । प्रतिरोधे, अनादरे, मेदि० । ज्ञाने च वाच० ।

ओगिण्हणया—अवग्रहणता—स्त्री० अवग्रहणस्य भावोऽवग्रहणता । मतिभेदावग्रहे, नं० । मनोविषयीकरणे च "सुयाणं धम्माणं ओगिण्हणयाए ओवहारणयाए अब्भुट्ठेयव्वं" स्था०८ ठा० ।

ओगुंमिय—अवगुम्फित— स्त्री० मलदिग्धगात्रे, बृ०१ उ० ॥

ओगूहिय—अवगूहित— न० आश्लिष्टे, ज्ञा० ए अ० ॥

ओग्गाल—रोमन्थ—रोमन्थ-ना-धा-णिच्-आत्मयुक्तस्य घासादेः पश्वादिभिरुद्गीर्य चर्वणे, वाच० । " रोमन्थेरोग्गालवग्गोलौ" ८ । ४ । ४३ । रोमन्थेर्नामधातोर्ण्यन्तस्य एतावादेशौ भवत इति ओग्गालादेशः । ओग्गालइ वग्गोलइ रोमंथइ—रोमन्थयते । प्रा० ॥

ओघ—ओघ—पुं० संघाते,"मेघो घरिसिस्रं गंभीरमहुरसहं" । रा० । सामान्ये, ओघुवक्कमिओ । संसारे, "एते ओघं तरिस्संति समुद्दं ववहारिणो" सूत्र० १ श्रु० ३ अ० । अविच्छेदे, अविलुप्तित्वे च प्रश्न० ४ द्वा० ॥

ओघसण्णा—ओघसंज्ञा— स्त्री० मतिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमात् शब्दाद्यर्थगोचरसामान्यावबोधक्रियायाम, प्रज्ञा०७ पद ॥

ओघ (ग्घ) सिय—अवघर्षित— न० अवघर्षणमवघर्षितं भावे क्तप्रत्ययः । चूर्यादिना निर्माजने, "अघोग्घसियणिम्मलाए छायाए' । रा० ॥

ओघादेस—ओघादेश— पुं० सामान्यतः आदेशने, "ओघादेसेणं-सिय कमजुम्मा " भ० २५ श० ३ उ० ॥

ओं (ङ्) घ—निद्रा-अदा० अक-शयने, निद्रातेरोहीरोंघौ ८ । ४ । १२ । इति निपूर्वस्य द्रातेरोंघादेशः : ओंघइ निद्राति । प्रा० ॥

ओचिइयत्त—औचित्य— न० उचितस्य भावः । न्यायप्रधानत्वे, उचितवृत्तौ, द्वा०१८ द्वा० । "औचित्यमेकमेकत्र, गुणानां कोटिरेकतः । विषायते गुणग्राम, औचित्यपरिवर्जितः" ध० १ अधि० । अनौचित्यपरिहारे, "विधिसेवादानादौ, सूत्रानुगता तु सा नियोगेन । गुरुपारतन्त्र्ययोगा-दौचित्या चैव सर्वत्र" षो०५ विव० ॥

ओचिइय (च्च) जोग—औचित्ययोग—पुं० औचित्यव्यापारे, । षो० ६ विव० ।

ओचूल—अवचूल—पुं० स्त्री० । अधोमुखचूडायाम, वि०२ अ० । प्रलम्बमानगुच्छे, । औ० ।

ओचूलगवत्थणियत्थ—अवचूलकवस्त्रनिवासित—त्रि० । अवचूला अधोमुखाऽञ्चूला यत्र तदवचूलं मुत्कलाञ्चलं यथा भवतीत्येवं वस्त्रं निवसितं येन स तथा । मुत्कलाञ्चलतया निवसितवस्त्रे, । " सरससस्स उल्लपरुसारूए ओचूलगवत्थनियत्थे " । ज्ञा० १६ अ० ।

ओच्छिण्ण—अवच्छिन्न—त्रि० । अवष्टब्धे, "पलिओच्छण्णे उचितवादं पवदमाणे" । अवलितं कर्म तेनावच्छिन्नः कर्मावष्टब्ध इति यावत् । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ॥

ओच्छिण्णपलिच्छीण—अवच्छिन्नपरिच्छिन्न—त्रि० अत्यन्तमाच्छादिते, । "पत्तेहि य पुप्फेहि य ओच्छिण्णपलिच्छीणा " जी० ३ प्रति० ।

ओज्झर—निर्झर—पुं० । वा निर्झरे ना । ८।१।६८। इति निर्झरशब्दे नकारेण सह इत ओकारो वा भवति । ओज्झरो । निज्झरो गिरिप्रस्रवणे, प्रा० ।

ओणय—अवनत—न० अवनतिरवनतं भावे क्तः । उत्तमाङ्गप्रधाने प्रणमने, "दुओणयं" प्रव०२ द्वा० । "कइ ओणयं कइ सिरं" आव० २ अ० ।

ओणामणी—अवनमनी— स्त्री० अलौकिकावनमनसाधने विद्याभेदे , । " ओणामणीए अणामिस्ता गहियाणि पज्जत्तगाणि " । नि० चू० १ उ० ।

ओणमिअ—अवनम्य—अव्य० अवनतं कृत्वेत्यर्थे, । "ओणमियउण्णमियणिज्झाएज्जा " । आचा० २ श्रु० ॥

ओणमिऊण—अवनम्य—अव्य० अवनतं कृत्वेत्यर्थे, । "तं च सिवो ओणामिऊण पभिच्छइ " नि० चू० १ उ० ।

ओत्तरिय—अवतारित—त्रि० शरीरात् पृथक् कृते, ज्ञा० ४ अ० ।

ओत्थय—अवस्तृत—त्रि० आच्छादिते, । " हारोत्थयसुकयरइ-

यवत्थे" । ज्ञा० । "सम्मं ततो ओत्थियं गयणं" । आ०म० द्वि० ।

ओदइय-औदयिक-पुं० उदयः कर्मणां विपाकः स एवौदयिकः । क्रियामात्रे जावभेदे, उदयेन निष्पन्न औदयिको भावः । नारकत्वादिपर्यायविशेषे, भ० ७ श० १४ उ० । सूत्र० । कर्मोदयापादितगत्याद्यनुभावलक्षणे भावभेदे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । अनु० । आचा० । कर्म० । आ० म० द्वि० । उत्त० ।

से किं तं ओदइए ओदइए दुविहे पत्नत्ते तं जहा उदए य उदयनिप्फन्ने अ अनु० ॥

औदयिको द्विविधः उदय उदयनिष्पन्नश्च । तत्रोदयोऽष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयः शान्तावस्थापरित्यागेनोदीरणावलिकामतिक्रम्य उदयावलिकायामात्मीयरूपेण विपाक इत्यर्थः । अत्र चैवं व्युत्पत्तिः । उदय एव औदयिकः (स्था०) विनयादेराकृतिगणतयोदयशब्दस्य तन्मध्यपाठाभ्युपगमात् । विनयादिभ्य इति स्वार्थे इकण् प्रत्ययः । पं० सं० २ द्वा० । उदयनिष्पन्नस्तु कर्मोदयजनितो जीवस्य मानुषत्वादिपर्यायस्तत्र च उदयेन निर्वृत्तस्तत्र भव इत्यौदयिकः इत्येवं व्युत्पत्तिरिति । स्था० ६ ठा० ।

एतदेव सूत्रकृदाह ।

से किं तं उदए उदए अट्ठएहं कम्मपयमीणं उदएणं सेत्तं उदए । से किं तं उदयनिप्फन्ने उदयनिप्फन्ने दुविहे पत्नत्ते तं जहा जीवोदयनिप्फन्ने अ अजीवोदयनिप्फन्ने अ ॥

औदयिको भावो द्विविधः अष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयस्तत्र निष्पन्नश्च । अयं चार्थः प्रकारद्वयेन व्युत्पत्तिकरणादावेव दर्शितः । उदयनिष्पन्नः पुनरपि द्विविधो जीवे उदयनिष्पन्नः जीवोदयनिष्पन्नः । अजीवे उदयनिष्पन्नः अजीवोदयनिष्पन्नः ।

से किं तं जीवोदयनिप्फन्ने अणेगविहे पत्नत्ते तं जहा णेरइए तिरिक्खजोणिए मणुस्से देवे पुढविकाइए जाव तसकाइए कोहकसाई लोहकसाई इत्थीवेदए पुरिसवेदए णपुंसगवेदए कएहलेसे जाव सुक्कलेसे मिच्छादिट्ठी अविरए अण्णाणी आहारए छउमत्थे सजोगी संसारत्थे असिद्धे सेत्तं जीवोदयनिप्फन्ने ॥

जीवोदयनिष्पन्नस्योदाहरणानि (नेरइए इत्यादि) इदमुक्तं भवति । कर्मणामुदयेनैव सर्वेऽप्येते पर्याया जीवे निष्पन्नास्तद्यथा नारकास्तिर्यङ्मनुष्य इत्यादि । अत्राह । ननु यद्येवमपरेऽपि निद्रापञ्चकवेदनीयहास्यादयो बहवः कर्मोदयजन्या जीवे पर्यायाः सन्ति किमिति नारकत्वादयः कियन्तोऽप्युपन्यस्ताः सत्यमुपलक्षणत्वादमीषामन्येऽपि संभविनो द्रष्टव्याः । अपरस्त्वाह । ननु कर्मोदयजनितानां नारकत्वादीनां भवत्विहोपन्यासो लेश्यास्तु कस्यचित् कर्मण उदये भवन्तीत्येतन्न प्रसिद्धं तत्किमितीह तदुपन्यासः । सत्यं किं तु योगपरिणामो लेश्याः । योगस्तु त्रिविधोऽपि कर्मोदयजन्य एव ततो लेश्यानामपि तदुभयजन्यत्वं न विहन्यते । अन्ये तु मन्यन्ते कर्माष्टकोदयात् संसारस्थत्वासिद्धत्ववल्लेश्यात्वमपि भावनीयमित्यलं विस्तरेण । तदर्थिना तु गन्धहस्तिवृत्तिरनुसर्तव्येति सेत्तं जीवोदयनिष्पन्नेति निगमनम् ।

अथाजीवोदयनिष्पन्नं निरूपयितुमाह ।

से किं तं अजीवोदयनिप्फन्ने २ अणेगविहे पएणत्ते तं जहा उरालिअं वा सरीरं उरालिअसरीरप्पयोगपरिणामिअं वा दव्वं वेउव्विअं वा सरीरं वेउव्विअसरीरप्पओगपरिणामिअं वा दव्वं । एवं आहारगं सरीरं तेअगं सरीरं कम्मगं सरीरं च जाणिअव्वं । पओगपरिणामिए वण्णे गंधे रसे फासे सेत्तं अजीवोदयनिप्फएणे सेत्तं उदयनिप्फएणे सेत्तं उदइए ।

विशिष्टाकारपरिणतं तिर्यङ्मनुष्यदेहरूपमौदारिकं शरीरम् । (उरालियसरीरप्पओगे इत्यादि) औदारिकशरीरप्रयोगपरिणमितं द्रव्यमौदारिकशरीरस्य प्रयोगो व्यापारस्तेन परिणमितं स्वप्रयोगित्वात् गृहीतं तत्तथा । तच्च वर्णगन्धरसस्पर्शानां पानादिरूपं स्वत एवोपरिष्टाद्दर्शयिष्यति वाशब्दः परसमुच्चये एतद्द्वितयमप्यजीवे पुद्गलद्रव्यलक्षणे औदारिकशरीरनामकर्मोदयेन निष्पन्नत्वादजीवोदयनिष्पन्न औदयिको भाव उच्यते । एवं वैक्रियशरीरादिष्वपि भावना कार्या । नवरं वैक्रियशरीरनामकर्मोदयजन्यत्वं यथास्वं वाच्यमिति औदारिकादिशरीरप्रयोगेण यत्परिणमति द्रव्यं तत् स्वत एव दर्शयितुमाह । (पओगपरिणामिए वण्ण इत्यादि) पञ्चानामपि शरीराणां प्रयोगेण व्यापारेण परिणमितं गृहीतं वर्णादिकं शरीरे वर्णादिसंपादकं द्रव्यमिदं द्रव्यम् उपलक्षणत्वाच्च वर्णादीनामपरमपि यच्छरीरे संभवत्यानापानादि तत्स्वत एव द्रष्टव्यमिति । अत्राह । ननु यथा नारकत्वादयः पर्याया जीवे भवन्ति जीवोदयनिष्पन्ने औदयिके पठ्यन्ते एवं शरीराण्यपि जीव एव भवन्त्यतस्तान्यपि तत्रैव पठनीयानि स्युः । किमित्यजीवोदयनिष्पन्नैः धीयन्ते, अस्त्वेतत्किन्त्वौदारिकादिशरीरनामकर्मोदयस्य मुख्यतया शरीरपुद्गलेष्वेव विपाकदर्शनात्तन्निष्पन्न औदयिको भावः शरीरलक्षणे जीव एव प्राधान्याद्दर्शित इत्यदोषः सेत्तमित्यादिनिगमनत्रयम् । उक्तो द्विविधोऽप्यौदयिकः । अनु० ।

एते चौदयिकभावभेदा एकविंशतिरिति दर्शयन्नाह ।

चउगइचउक्कसाया, लिंगतिग लेसछक्कमन्नाणं ।
मिच्छत्तमसिद्धत्तं, असंयमो तह चउत्थम्मि ॥

एते सर्वेऽपि गत्यादयो भावाश्चतुर्थे औदयिके भावे भवन्ति । तथा हि चतस्रो नरकादिगतयो नरकगत्यादिनामकर्मोदयादेव जीवे प्रादुःषन्ति कषाया अपि क्रोधाद्यश्चत्वारः कषायमोहनीयकर्मोदयात् । लिङ्गत्रिकमपि स्त्रीवेदादिरूपं स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदं मोहनीयकर्मोदयात् । लेश्याषट्कं तु योगपरिणामो लेश्या इत्याश्रयणेन योगत्रिकजनककर्मोदयात् । येषां तु मते कषायनिष्पन्दो लेश्यास्तदभिप्रायेण कषायमोहनीयकर्मोदयात् । येषां तु कर्मनिष्यन्दो लेश्यास्तन्मते संसारित्वासिद्धत्ववदष्टप्रकारकर्मोदयादिति । अज्ञानमपि विपर्यस्तबोधरूपमत्यज्ञानादिकं ज्ञानावरणमिथ्यात्वमोहनीयोदयात् । यत्तु पूर्वमस्यैव मत्याद्यज्ञानस्य क्षायोपशमिकत्वमुक्तं तद्वस्तुवबोधमात्रापेक्षया सर्वमपि हि वस्त्ववबोधमात्रं विपर्यस्तं चाज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशम एव भवति । यत्पुनस्तस्यैव विपर्यासलक्षणमज्ञानत्वं तत् ज्ञानावरणमिथ्यात्वमोहनीय एव संपद्यते । इत्येकस्यैवाज्ञानस्य क्षायोपशमिकत्वमौदयिकत्वं च न विरुध्यत इत्येवमन्यत्रापि विरोधपरिहारः कर्तव्य इति । मिथ्यात्वमपि मिथ्यात्वमोहनीयोदयात् असिद्धत्वं कर्माष्टकोदयात् । असंयमोऽविरतत्वं तदप्रत्याख्यानावरणकषायोदयात् उपजायत इति । ननु निद्रापञ्चकासातादिवेदनीयहास्यरत्यरतिप्रभृतयः प्रभूततरभावा अन्येऽपि

कर्मोदयजन्याः सन्ति तत्किमित्येतावन्त एवेति निर्दिष्टाः। सत्यमुपलक्षणमात्रत्वादमीषां संजविनोऽन्येऽपि द्रष्टव्याः । केवलं शास्त्रेषु प्राय एतावन्त एव निर्दिष्टाः दृश्यन्ते इत्यत्राप्येतावन्त एव प्रदर्शिता इति अदोष इति। प्रव० २२१ द्वा०। सूत्र०।

ओद (य) ण--ओदन--न० उद्-युच्-नलोपो गुणश्च । कूरे, उपा० १ अ०। पंचा०। कोद्रवौदनादौ, । आचा० १ श्रु० ९ अ०। तण्डुलादिभक्ते, । बृ०१ उ०। शाल्यादिभक्ते,। पिं० । " सूओ १ दणे २ जवएणं । ३।" इति व्यञ्जनभेदत्वं तस्य। स्था० ३ ठा० । (कूरविधानान्यार्यविज्ञशब्दे उक्तानि) उष्णाद्य ओदनः प्रशस्यते न शीतः । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ॥

ओद (य) णविहि--ओदनविधि--पुं० । कोद्रवादिधान्यनिष्पाद्ये ओदनप्रकारे, । दर्श० (अस्य विधिः आर्यादशब्दे)

ओदरिय--औदरिक--त्रि० उदरे प्रसृतः ठक् ।आधूने, उदरमात्रपूरणापेक्षके, विजिगीषा विवर्जिते, अमरः । विजिगीषा विगानेच्छा निन्देच्छा तस्याः स्वोदरपूरणासक्ततया त्याग एवास्य प्रवृत्तिः। वाच०। जीविकार्थं प्रव्रजिते,"ओदरिया णाम जीविताहेतुं पव्वइया" नि० चू०१उ० । औदरिकानां यत्रागतास्तत्र रूपकादिकं प्रक्षिप्य समुद्दिशन्ति। समुद्देशनानन्तरं भूयोऽप्यग्रतो गच्छन्ति । बृ० १ उ० ।

औदर्य--त्रि० उदरे भवः यत् उदर्यः ततः स्वार्थे अण् । उदरभवेऽनलादौ, अभ्यन्तरप्रविष्टे च । वाच० ।

ओदहण--अवदहन--न० दम्भने, ज्ञा० १३ अ० ।

ओदासिस--औदासीन्य--न० उदासीनस्य भावः ष्यञ् । शुभाशुभयोरुपेक्षायाम्, तटस्थ्ये, राहित्ये, रागनिवृत्तौ च । औदास्यमप्यत्र वाच० ।

ओप्प--अर्पि--धा० समर्पणे, " वार्पौ " ८।१।६३। अर्पयतौ धातौ आदेरस्य ओत्वं वा भवति । ओप्पेइ । अप्पेइ । ओप्पिअं । अप्पिअं । प्रा० ।

ओबद्धपीठफलय--अवबद्धपीठफलक--पुं० यः पक्षस्याभ्यन्तरे पीठफलकादीनां बन्धनानि मुक्त्वा प्रत्युपेक्षणं न करोति यो वा नित्यावस्तृतसंस्तारकः सोऽवबद्धपीठफलकः । सर्वतोऽवसन्ने, " ओबद्धपीठफलगं ओसण्णमंजयं वियाणाहि" । व्य० १ उ० ।

ओबुज्झमाण--अवबुध्यमान--त्रि०विजानाने, "ओबुज्झमाणे इह माणवेसु"। स्वर्गापवर्गौ तत्कारणानि चावबुध्यमानोऽनावारकज्ञानसद्भावात् इहेति मर्त्यलोके मानवेषु विषयभूतेषु धर्ममाख्याति । आचा० ६ अ० १ उ० ।

ओभावणा--अपभ्राजना--स्त्री० लोकप्रवादे, ओभावणा मा मे भूदन्यसावप्यस्ति विद्वान् किमन्येषां वन्दनकं प्रयच्छतीत्येवंभूताऽपभ्राजना मम मा भूदित्यर्थः । प्रव० २ द्वा० ।

ओभास--अवभास--पुं० अष्टाशीतिमहाग्रहाणां पञ्चषष्टितमे ग्रहे, सू० प्र०२० पाहु०। कल्प० । षट्षष्टितमे, इति चं०प्र० २० पाहु०। सप्तषष्टितमे वा महाग्रहे, । " दो ओभासा " । स्था० २ ठा० ॥

ओभा (हा) सण--अवभासन--न०। ईषद्द्योतने, भ०८ श० ८ उ० । आविर्भावे, प्राप्यमाणतायाम्, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ॥ देशतः खद्योतवत्सर्वतः प्रदीपवत् द्योतते, । देशतः फड्डकावधिना सर्वतोऽभ्यन्तरावधिना ज्ञाने च । स्था० २ ठा० ॥

अवभाषण--न० याचने, व्य० द्वि० ८ उ० ॥

ओभा (हा) सणभिक्खा--अवभाषणभिक्षा--स्त्री० विशिष्टद्रव्ययाचनं समयपरिभाषया। "ओहासणंति जमइ" तत्प्रधाना भिक्षा । विशिष्टद्रव्ययाचनेन भिक्षणे, आव० ४ अ० । ध० ।

ओभा (हा) समाण--अवभासयत्--त्रि० । उद्भासयति, । "ओभासमाणे दवियस्स वित्तं, णाणिकसे बहिया आसु पन्नो" अवभासयन्नुद्भासयन् सम्यगनुतिष्ठन् द्रव्यस्य मुक्तिगमनयोग्यस्य तत्साधो रागद्वेषरहितस्य सर्वज्ञस्य व्यावृत्तमनुष्ठानं तत्सदनुष्ठानतोऽवभासयेत् धर्मकथिकः कथनतो वोद्भासयेदिति। सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

ओभासमाणवीइ--अवभासमानवीचि--स्त्री० । शोभमानतरङ्गे, भ० ११ श० ६ उ० ।

ओभासिज्जमाण--अवभाष्यमाण--त्रि० याच्यमाने, । " सेज्जापरस्स जे पुरपच्छसंथुता ते परघरेसु ओभासिज्जमाण एवं करेज्जा" । नि० चू० २ उ० ।

ओभासिय--अवभाषित--त्रि० याचिते, व्य० द्वि० ६ उ० । प्रार्थिते, । ओ० । अवभाषणमवभाषितं भावे क्तः । याचने, वृ० १ उ० ।

ओभुग्ग--अवभुग्न--त्रि० वक्रे, " रोसागयधमधामिं तमारुयणिट्ठुरखरफरुसकुसिरओ भुग्गाणासियपुमगा" । ज्ञा० ८ अ० ।

ओम--अवम--त्रि० ऊने, स्था०३ ठा०। न्यूने, ।" आमं ओमं भुंजीया" । आ० म० प्र० । हीने, मिथ्यादर्शनाऽविरत्यादिके, । आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । बाले, ओ० । लघुतरे, व्य० द्वि० ८ उ० । लघुपर्याये, । ओ०। स्था०। "ओमोत्ति वरिसारेणं"। अवमो नाम आरात्ति वर्षारतो यस्य प्रव्रज्यापर्यायेण त्रीणि वर्षाणि नाद्यापि परिपूर्णानीत्यर्थः । व्य० प्र० ३ उ० । दुर्भिक्षे, न० " अचिए ओमे" । दीर्घदुर्भिक्षमित्यर्थः । बि० चू० ३ उ० ॥ " ओमे विगम्ममाणे ओमोदरियाए अरस विसयं गंतव्वं " ॥ नि० चू०१ उ० ॥

ओमंथ--अवमन्थ--त्रि० । अवाङ्मुखकरणे, । बृ० १ उ० ॥

ओमंथिय--अवमथित--त्रि० । अधोमुखीकृते, " ओमंथियणयणवयणकमला " अधोमुखीकृतानि नयनवदनरूपाणि कमलानि यया सा तथा विपा० २ अ० । ज्ञा० ।

ओमकोट्ठया--अवमकोष्ठता--स्त्री० रिक्तोदरतायाम्, स्था० ४ ठा०

ओमचेलय--अवमचेलक--पुं० अवमानि असाराणि चेलानि वस्त्राणि यस्य स अवमचेलकः । मलाविलत्वेन जीर्णत्वेन त्याज्यप्रायवस्त्रधारिणि, 'ओमचेलगा य सुपिसायभूया गच्छखला हि किमिहं ठिओसि, उत्त० १२ अ० ।

ओमचेलिय--अवमचेलिक--पुं० अवमं च चेलं चावमचेलं प्रमाणतः परिणामतो मूल्यतश्च तदस्यास्त्यसावनमचेलिकः । एककल्पपरित्यागात् विकल्पधारिणि, " अदुवा संतदुत्तरे अदुवा ओमचेलए अदुवा एगसाडे" आचा० १ श्रु०७ अ० ३उ० । असारवस्त्रधारिणि । आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ॥

ओमत्थय-अवमात्यथ-पुं० दुर्भिक्षापगमे, पंचा०१३ विव० ।

ओमज्जणपुरक्खार-अवमज्जनपुरस्कार-पुं० न्यूनजनपूजायाम्, "ओमज्जणपुरक्खारे" इति पञ्चमं स्थानं प्रत्युपेक्षणीयम् । व्याख्याऽन्यत्र दश० १ चू० ॥

ओमज्जायण–अवमज्जा (घा) यन–पुं० ऋषिभेदे, यस्य गोत्रे पुष्यनक्षत्रम, जं०७ वक्ष० । सू० प्र० । चं० प्र० ॥

ओमत्त–अवमत्व–न० ऊनतायाम,–भ० १८ श० ३ उ० । हीनत्वे, व्य० प्र० १ उ० ॥

ओमदोस–अवमदोष–पुं० संखडीशब्दे दर्शयिष्यमाणे संखड्यां स्तोकसंस्कृतत्वेनानेषणीयपरिभोगात्मके दोषे, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ॥

ओमरत्त–अवमरात्र–पुं० अवमा हीना रात्रिरवमरात्रः समासान्ते टचि " रात्राह्नाहाः पुंसि" इति पुंस्त्वम् । दिनक्षये, "छ ओमरत्ता पएणत्ता तं जहा तइए पव्वे सत्तमे पव्वे एक्कारसमे पव्वे पएणरसमे पव्वे एगूणवीसइमे पव्वे तेवीसइमे पव्वे" स्था० ४ ठा० कर्ममासापेक्षया एकैकस्मिन् ऋतौ लौकिकमेकैकं चन्द्रर्तुमधिकृत्य व्यवहारत एकैकोऽवमरात्रो भवति । सकले तु कर्मसंवत्सरे षडवमरात्रास्तथा चाह ॥

ता सव्वे वि णं एते चंदउऊ दुवे दुवे मासा तिचउपव्वेणं ।
आदाणेणं गणिज्जमाणा सातिरेगाइं एगूणसट्ठि एगूणसट्ठि
राइंदियाइं राइंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा तत्थ खलु इमे छ
ओमरत्ता पएणत्ता तं जहा ततिए पव्वे सत्तमे पव्वे एक्कारसमे
पव्वे पन्नरसमे पव्वे एकूणवीसतिमे पव्वे तेवीसतिमे पव्वे ।

तत्र कर्मसंवत्सरे चन्द्रसंवत्सरमधिकृत्य व्यवहारतः खल्विमे वक्ष्यमाणक्रमाः षट् अवमरात्राः प्रज्ञप्तास्तद्यथा 'तइए पव्वेत्यादि' सुगमम् । सू० प्र० १२ पाहु० ॥

एसा तिहिनिप्पत्ती, भणिया मे वित्थरं य परिहऊणं ।
वोच्छामि ओमरत्तं, उल्लिंगितो समासेण ॥

एषा अनन्तरोदितस्वरूपा तिथिनिष्पत्तिर्मया विस्तरं प्रहाय परिहृत्य भणिता प्रतिपादिता । संप्रति समासेन संक्षेपेण उल्लिङ्गन् किंचिन्मात्रतया प्रतिपादयन् अवमरात्रान् वक्ष्यामि । ननु कालः सर्वदानादिप्रवाहपतिततया प्रतिनियतस्वभाव एव परावर्तते न तस्य कापि हानिर्नापि कश्चिदपि स्वरूपोपचयः । ततः कथमवरात्रतासंभव इत्यत आह ॥

कालस्स नेव हाणी, न वि वुड्ढी वा अवट्ठिओ कालो ।
जायइ वुड्ढवुड्ढी, मासाणं एकमेकाओ ।

कालस्य सूर्यादिक्रियोपलक्षितस्यानादिप्रवाहपतितप्रतिनियतस्वरूपतो न हानिर्नापि कश्चिदपि स्वरूपोपचयः किं तु सदा तथा जगत्स्वाभाव्यादवस्थित एव । तथा प्रतिनियतरूपतया कालः केवलं यो जायते जायमाने प्रतीयते वृद्ध्यपवृद्धी मासानां ते एकमेकस्मात् एकस्यान्यतरस्य सूत्रे द्वितीया प्राकृतत्वात् भवति हि प्राकृतलक्षणवशाद्व्यत्ययः स्यादिविभक्तीनां यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे "व्यत्ययोऽप्यासामिति" एकस्मादन्यतरस्मान् मासात् अत्र स्थाने पः कर्मधारय इत्यनेन पञ्चमी ततोऽयमर्थ एकमपरं मासमधिकृत्यैकस्यान्यतरस्य मासस्य वृद्ध्यपवृद्धी भवतः । किमुक्तं भवति । कर्ममासात्सूर्यमासकालचिन्तायां वृद्धिः स्वरूपापेक्षया तु अथोऽपि मासास्तदप्रतिनियतस्वरूपभावाः परावर्तन्ते न तु कश्चित् कालस्य वृद्धिहानिसंभवः । संप्रति ते एव वृद्धिहानिमपेक्ष्य चन्द्रमासे कर्ममासमपेक्ष्य मासचिन्तायां कालस्य हानिं दर्शयति ।

चंदउऊ मासाणं, अंसा जे दिस्सए विसेसम्मि ।
ते ओमरत्तभागा, भवंति मासस्स नायव्वा ।

इह कर्ममासपरिपूर्णत्रिंशदहोरात्रप्रमाणश्चन्द्रमास एकोनत्रिंशदहोरात्रो द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य । ततश्चन्द्रमासपरिमाणस्य ऋतुमासस्य कर्ममासपरिमाणस्य चेत्यर्थः । परस्परं विश्लेषः क्रियते विश्लेषे च कृते सति ये अंशा उद्धरिता दृश्यन्ते त्रिंशद् द्वाषष्टिभागरूपास्ते अवमरात्रस्य भागास्तच्चावमरात्रं परिपूर्णं भवति । मासद्वयपर्यन्ते ततस्तस्य सक्तास्ते भागा मासस्यावसाने द्रष्टव्याः । किमुक्तं भवति एकस्मिन् कर्ममासे परिपूर्णे सति त्रिमासद्वयमपर्यन्तेषु शतद्वाषष्टिभागा अवमरात्रस्य संबन्धिनः प्राप्यन्ते इति । यदि मासपर्यन्ते एतावतोऽवमरात्रा भागाः प्राप्यन्ते ततः प्रतिदिवसं कति प्राप्यन्ते इति । यन्निमासपर्यन्ते एतन्निरूपणायेमाह ।

बावट्ठिभागमेगं, दिव संजाइ ओमरत्तस्स ।
बावट्ठिएहि दिवसेहि, ओमरत्तं तओ भवइ ।

एकस्मिन् एकस्मिन् एकैकस्मिन् दिवसे कर्ममाससंबन्धिनि अवमरात्रस्य संबन्धी द्वाषष्टिभागः एकैकः संजायते । सूत्रे च नपुंसकता प्राकृतत्वात् कथमेतदवसीयत इति चेदुच्यते त्रैराशिकबलात् । तथाहि यत एकैकस्मिन् दिवसे एकैको द्वाषष्टिभागोऽवमरात्रस्य संबन्धी प्राप्यते ततो द्वाषष्ट्या दिवसैरेकोऽवमरात्रो भवति । किमुक्तं भवति । दिवसे दिवसे अवमरात्रसत्कैकद्वाषष्टिभागवृद्ध्या द्वाषष्टितमे दिवसे त्रिषष्टितमा तिथिः प्रवर्तत इति । एवं च सति य एकषष्टितमोऽहोरात्रस्तस्मिन्नेकषष्टितमा द्वाषष्टितमा च तिथिर्निधनमुपगतेति द्वाषष्टितमा तिथिर्लोके पतितेति व्यवह्रियते । तथा चाह ।

एकम्मि अहोरत्ते, दो वि तिहिनिहणमेज्जासु ।
सोत्थ तिही परिहायइ, सुहमेण हविज्ज सो चरिमो ॥

एकैकस्मिन्नहोरात्रे तिथिसक्तो द्वाषष्टिभागो द्वाषष्टिहानिमुपगच्छन् यस्मिन्नेकषष्टितमे अहोरात्रे द्वे अपि एकषष्टितमारूपे तिथी निधनमायातः सा द्वाषष्टितमा तिथिरत्र एकषष्टितमे अहोरात्रैः परिहीयते । एवं च सति सूक्ष्मेण द्वाषष्टितमरूपतया अतिश्लक्ष्णेन एकैकेन भागेन परिहीयमानाया द्वाषष्टितमायास्तिथेः स एकषष्टितमो दिवसश्चरमपर्यवसानसर्वात्मना निधनमुपगतेति भावः । संप्रति वर्षाहिमग्रीष्मकालेषु चतुर्मासप्रमाणेषु प्रत्येकं कस्मिन् पक्षे अवमरात्रं भवतीत्येतन्निरूपयति ।

तइयम्मि ओमरत्तं, कायव्वं सत्तमम्मि पक्खम्मि ।
वासहिमगिम्हकाले, चाउम्मासे विधीयंते ॥

इह कालत्रिधा तद्यथा । वर्षाकालो हिमसंबन्धी शीतकाल इत्यर्थः । ग्रीष्मकालश्च एते च त्रयोऽपि चतुर्मासकप्रमाणाः । वर्षाकालस्य चतुर्मासप्रमाणस्य श्रावणादेस्तृतीये पर्वणि प्रथमोऽवमरात्रः । तस्यैव वर्षाकालस्य संबन्धिनि सप्तमे पर्वणि द्वितीयोऽवमरात्रस्तदनन्तरशीतकालस्य तृतीये पर्वणि मूलापेक्षया एकादशे तृतीयोऽवमरात्रस्तस्यैव शीतकालस्य सप्तमे पर्वणि मूलात्पञ्चदशे चतुर्थस्तदनन्तरग्रीष्मकालस्य सप्तमे पर्वणि मूलापेक्षया त्रयोविंशतितमे षष्ठः । इह आषाढाद्या लोके ऋतवः प्रसिद्धिमैयरुस्ततो लौकिकव्यवहारमपेक्ष्याषाढादारभ्य प्रतिदिवसमेकैकद्वाषष्टिभागहान्या वर्षाकालादिगतेषु तृतीयादिपर्वसु यथोक्ता अवमरात्री भूतया तया सह का तिथिः परिसमाप्तिमुपैतीति शिष्यः प्रश्नं कारयति ॥

पाडिव य ओमरत्ते, कइया बिइया समप्पि होइ तिही ।
बिइयाए तिइयाए, ओमरत्ते चउत्थी उ ॥
सेसासु चेव काहिइ, तिहीसु ववहारगणियदिट्ठासु ।
सुहुमेण परिहतिही, संजायइ कम्मि पव्वम्मि ॥

इह प्रतिपदमारभ्य यावत्पञ्चदशी तावत्यस्तिथयस्तासां च मध्ये प्रतिपद्यवमरात्रीभूतायां सत्यां कस्मिन् पर्वणि पक्के द्वितीया तिथिः समाप्स्यति प्रतिपदा सह एकस्मिन्नहोरात्रे समाप्तिमेष्यति तृतीयायां वा तिथाववमरात्रिसंपन्नायां कस्मिन् पर्वणि चतुर्थी तृतीयया सह निधनमुपयास्यति। एवं शेषास्वपि तिथिषु व्यवहारगणितदृष्टासु लोकप्रसिद्धव्यवहारगणितपरिज्ञातासु पञ्चमीषष्ठीसप्तम्यष्टमीदशम्येकादशीद्वादशीत्रयोदशीचतुर्दशीरूपासु शिष्यः प्रश्नं करिष्यति यथा सूक्ष्मेण प्रतिदिवसमेकैकेन द्वाषष्टितमरूपेण शुक्लेन भागेन परिहीयमानायाः परिहीयमानायां तिथौ पूर्वस्या अवमरात्रीभूतायास्तिथेरानन्तर्येण परा तिथिः कस्मिन् पर्वणि गते संजायते समाप्ता। एतदुक्तं भवति। चतुर्थ्यां तिथाववमरात्रीभूतायां कस्मिन् पर्वणि पञ्चमी समाप्तिमुपैति। पञ्चम्यां वा षष्ठी एवं यावत् पञ्चदश्यां तिथाववमरात्रीभूतायां कस्मिन् पर्वणि प्रतिपद्रूपा तिथिः समाप्तेति। एवं शिष्यस्य प्रश्नमवधार्य निर्वचनमाचार्य आह ॥

रूवाहिगा उ ओ वा, बिगुणा पव्वा हवंति कायव्वा ।
एमेव हवइ जुम्मे, एकतीसाजुया पव्वा ॥

इह याः शिष्येण प्रश्नं कुर्वता तिथय उद्दिष्टास्ता द्विविधास्तद्यथा। ओजोरूपा युग्मरूपाश्च। ओजो विषमं समं युग्मं तत्र च या ओजोरूपास्ताः प्रथमतो रूपाधिकाः क्रियन्ते ततो द्विगुणास्तथा च सति तस्यास्तस्यास्तिथेर्युग्मपर्वाणि निर्वचनरूपाणि समागतानि भवन्ति। (एमेव हवइ जुम्मे इति) या अपि युग्मरूपास्तिथयस्तास्वपि एवमेव पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण करणं प्रवर्तनीयं नवरं द्विगुणीकरणानन्तरमेकत्रिंशद्युक्ताः सत्यः पर्वाणि निर्वचनरूपाणि भवन्ति। इयमत्र भावनाऽयं प्रश्नः कस्मिन्पर्वणि प्रतिपद्यवमरात्रीभूतायां समुपयातीति तदा प्रतिपत् किलोद्दिष्टा सा च प्रथमा तिथिरित्येको ध्रियते सरूपाधिकः क्रियते जाते द्वे रूपे ते अपि द्विगुणीक्रियेते जाताश्चत्वार आगतानि चत्वारि पर्वाणि। ततोऽयमर्थो युगादितश्चतुर्थे पर्वणि प्रतिपद्यवमरात्रीभूतायां द्वितीया समाप्तिमुपयातीति युक्तं चैतत्तथा हि प्रतिपद्युद्दिष्टायां चत्वारि पर्वाणि लब्धानि पर्व च पञ्चदशतिथ्यात्मकं ततः पञ्चदश चतुर्भिर्गुण्यन्ते जाता षष्टिः। प्रतिपदि द्वितीया समापयतीति द्वे रूपे तत्राधिके प्रक्षिप्ते जाता द्वाषष्टिः सा च द्वाषष्ट्या भज्यमाना निरंशं भागं प्रयच्छति लब्ध एकक इत्यागतः प्रथमोऽवमरात्र इत्यविसंवादिकरणम्। यदा तु कस्मिन् पर्वणि द्वितीयायामवमरात्रीभूतायां तृतीया समाप्नोतीति प्रश्नस्तदा द्वितीया किल परेणोद्दिष्टेति द्विको ध्रियते। सरूपाधिकः क्रियते जातानि त्रीणि रूपाणि तानि द्विगुणीक्रियन्ते जाताः षट् द्वितीया च तिथिः समेति षट् एकत्रिंशद्युताः क्रियन्ते जाताः सप्तत्रिंशत् आगतानि निर्वचनरूपाणि सप्तत्रिंशत्पर्वाणि। किमुक्तं भवति युगादितः सप्तत्रिंशत्तमे पर्वणि गते द्वितीयायामवमरात्रीभूतायां तृतीया समाप्नोतीति इदमपि करणं समीचीनम्। तथा हि। द्वितीयायामुद्दिष्टायां सप्तत्रिंशत्पर्वाणि समागतानि। ततः सप्तत्रिंशत् पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते जातानि पञ्चशतानि पञ्चपञ्चाशदधिकानि। द्वितीया नष्टा तृतीया जातेति त्रीणि रूपाणि तत्र प्रक्षिप्यन्ते जातानि पञ्चशतान्यष्टापञ्चाशदधिकानि। एषोऽपि राशिर्द्वाषष्ट्या भज्यमानो निरंशं भागं प्रयच्छतीति लब्धाश्च नवेत्यागतो नवमोऽवमरात्र इति समीचीनं करणम्। एवं सर्वास्वपि तिथिषु करणभावनाकरणसमीचीनत्वभावना अवमरात्रसंख्या च स्वयं भावनीया। पर्वनिर्देशमात्रं क्रियते तत्र तृतीयायां चतुर्थी समाप्तेत्यष्टमे पर्वणि गते चतुर्थ्यां पञ्चमी एकचत्वारिंशत्तमे पर्वणि पञ्चम्यां षष्ठी द्वादशे पर्वणि षष्ठ्यां सप्तमी पञ्चचत्वारिंशत्तमे पर्वणि सप्तम्यामष्टमी षोडशे अष्टम्यां नवमी एकोनपञ्चाशत्तमे नवम्यां दशमी विंशतितमे दशम्यामेकादशी त्रिपञ्चाशत्तमे एकादश्यां द्वादशी चतुर्विंतितमे द्वादश्यां त्रयोदशी सप्तपञ्चाशत्तमे त्रयोदश्यां चतुर्दशी अष्टाविंशतितमे चतुर्दश्यां पञ्चदशी एकषष्टितमे पञ्चदश्यां प्रतिपत् द्वात्रिंशत्तमे इति एवमेता युगपूर्वार्धे एवं युगोत्तरार्धेऽपि द्रष्टव्याः। ज्यो० ५ पाहु०। सू० प्र०। चं० प्र०।

ओमराइणियभाव–अवमरात्निकभाव–पुं० अवमो लघुः स चासौ रात्निकश्च गुणरत्नव्यवहारी तस्य भावोऽवमरात्निकभावः। न्यूनपर्यायतायाम्, पंचा० १६ विव०।

ओमराइणियभावकिरिया–अवमरात्निकभावक्रिया–स्त्री० अवमरात्निकभावो न्यूनपर्यायता तस्य या क्रिया करणं सा तथा लघुतापादने, पंचा० १६ विव०।

ओमाण–अपमान–न० अवमदर्शित्वे, सूत्र० १ श्रु० १ अ०। "भिक्खाअसिए एगे एगे ओमाणभीरुए" अपमानभीरुः अपमानात् भीरुः अपमानभीरुः। उत्त० २६ अ०।

अवमान–न० अवमीयते परिच्छिद्यते खाताद्यनेनेति अवमानम्। हस्तदण्डादौ, अवमीयते परिच्छिद्यते हस्तादिना यत्तदवमानम्। खातादौ, करणकर्मसाधनद्वयव्युत्पत्तिः।

तत्र कर्मसाधनपक्षमधिकृत्य तावदाह ।

से किं तं ओमाणे जसं ओमिणिज्जइ तं जहा हत्थेण वा दंडेन वा धनुक्केण वा जुगेण वा नालिआए वा अक्खेण वा मुसलेण वा, दंडधणूजुगनालिआ य, अक्खं मुसलं च चउत्थं। दस नालिअं च रज्जुं, विआण ओमाणसण्णाए ॥ वत्थम्मि हत्थमेज्जं, खित्ते दंडं धणुं च पत्थम्मि । खायं च नालिआए, विआण तो माणसण्णाए । एएणं अवमाणप्पमाणेणं किं पओअणं ? एएणं अवमाणपमाणेण खायाचिअकरकचियकडपडभित्ति परिक्खेवसंसियाणं दव्वाणं अवमाणपमाणं निव्वित्तिलक्खणं भवइ सेत्तं अवमाणे ॥

यदवमीयते खातादि तदवमानं केनावमीयते इत्यादि "हत्थेण वा दंडेन वा इत्यादि" तत्र हस्तो वक्ष्यमाणस्वरूपश्चतुर्विंशत्यङ्गुलमानोऽनेनैव हस्तेन चतुर्भिर्हस्तैः निष्पन्ना अवमानविशेषा दण्डधनुर्युगनालिकाक्षमुसलरूपा षट् संज्ञा लभन्ते। अत एवाह "दण्डं हस्तो दण्डं, धनुर्युगं नालिकां चाक्षमुसलं च" करणसाधनपक्षमङ्गीकृत्यावमानसंज्ञया विजानीहीति संबन्धः। दण्डादिकं प्रत्येकं कथंभूतमित्याह। चतुर्हस्तं दशभिर्नालिकाभिर्निष्पन्नां रज्जुं च विजानीह्यवमानसंज्ञयेति गाथार्थः। ननु यदि दण्डादयः सर्वे चतुर्हस्तप्रमाणास्तर्ह्येकेनैव दण्डाद्यन्यतरोपादानेन चरितार्थत्वात्किमिति षण्णामप्युपादानम्। उच्यते मेयवस्तुषु

भेदेन व्याप्रियमाणत्वात् तथा चाह " वत्थुम्मि गाहा " वास्तुनि गृहभूमौ मीयतेऽनेनेति मेयं मानमित्यर्थः । लुप्तह्निती- यैकवचनत्वेन हस्तं विजानीहीति संबन्धः । हस्तेनैव वास्तु मीयत इति तात्पर्यम् । क्षेत्रे कृषिकर्मादिविषयभूते चतुर्हस्तं वंशलक्षणं दण्डमेव मानं विजानीहि । धनुरादीनां चतुर्हस्तत्वे समानेऽपि रूढिवशात् दण्डसंज्ञा । प्रसिद्धेनैवावमानप्रमाणेन विशेषेण क्षेत्रं मीयते इति हृदयम् । पथि मार्गविधाने धनुरेव मानम् । मार्गे गव्यूत्यादिपरिच्छेदो धनुःसंज्ञा प्रसिद्धेनैवाव- मानविशेषेण क्रियते न दण्डादिभिरिति भावः । खातं कूपा- दिनालिकयैव यदि विशेषरूपया मीयते इति गम्यते । एवं यु- गादिरपि यस्य तत्र व्यापारो रूढस्तत्र वाच्यस्तत्कथंभूतं हस्तदण्डादिकमित्याह । अवमानसंज्ञयोपलक्षितमिति गा- थार्थः । एतेनावमानप्रमाणेन किं प्रयोजनमित्यादिभावितार्थ- मेव । नगरं स्यातं कूपादिचितं त्विष्टिकादिरचितं प्रासादपी- ठादिकक्रचितं करपत्रविदारितं काष्ठादि कटादयः प्रतीता एव । परिक्षेपो भित्त्यादेरेव परिधिर्नगरपरिखादिर्वा एतेषां खाता- दिसंज्ञितानामभेदेऽपि भेदविकल्पनया खातादिविषयाणां द्र- व्याणां खातादीनामेवेति तात्पर्यम् । अवमानमेव प्रमाणं तस्य निर्वृत्तिर्लक्षणं भवतीति तदेतदवमानमिति निगमनम् । अनु० । आ० म० प्र० । स्था० । प्रवेशे च । " खिति ओमाणाई " नि- त्यम् (ओमाणंति) प्रवेशः स्वपक्षपरपक्षयोर्येषां तानि । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

ओमिय–अवमित–त्रि० परिच्छिन्ने, सू० प्र० ६ पाहु० ।

ओमुद्धग–अवमूर्द्धक–त्रि० अधोमुखे, "ओमुद्धगा धरणितले पडंति " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

ओमुयंत–अवमुञ्चत्–त्रि० परिदधति, कल्प० ।

ओमोय–अवमोक–पुं० अवमुच्यते परिधीयते यः स अव- मोकः । आभरणे, भ० ११ श० ११ उ० ।

ओमोयरिय–अवमौदरिक–न० अवममूनमुदरं यस्मिंस्तदव- मोदरं तत्र भवमवमौदरिकम् । बाह्यतपोभेदे, उत्त० ३० अ० । आचा० । न्यूनोदरतायाम्, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । दुर्भिक्षे, ओ० । व्य० । " असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए य गेलण्णे " । नि० चू० १ उ० ।

ओमोयरिया–अवमोद (रता) रिका–स्त्री० अवममूनमुदरं यस्य सोऽवमोदरः । अवमं चोदरमवमोदरं तद्भावोऽवमोद- रता । प्राकृतत्वात् । अवमोदरस्य वा करणमवमोदरिका । व्युत्पत्तिरेवेयमस्य प्रवृत्तिस्तून्नतामात्रे । बाह्यतपोभेदे, स्था०३ ठा० । आव० । सा च द्रव्यस्य उपकरणभक्तपानविषया प्र- तीता भावतस्तु क्रोधादित्यागः । स्था० ६ ठा० । पा० । (वि- शेषतो वर्णनं साक्षात्सूत्रैरेव व्यासेन ऊनोदरताशब्देऽदर्शि । ऊनोदरताशब्दस्यैतत्पर्यायत्वात्) धर्मधर्मिणोरभेदात्साधौ च । " चउव्वीसं कुक्कुडीअंडगप्पमाणे जाव आहारमाणे ओमोयरिया " अवमोदरिका भवति धर्मधर्मिणोरभेदाद् वा अवमोदरिका साधुर्भवतीति गम्यम् भ० ७ श० १ उ० ।

ओम्वाल–छद्– णिच्–धा० । छादने , छदेर्णेर्णुमनूमसन्नूमढ- क्कौम्वालपव्वालाः ८ । ४ । २ । छदेर्ण्यन्तस्यैते षमादेशा भव- न्ति इत्योम्वालादेशः । ओम्वालइ । छादयति । प्रा० ॥

प्लव–इ–णिच्–धा० प्लवने । प्लावेरोम्वालपव्वालौ ८ । ४।४१। इति प्लवतेर्ण्यन्तस्य एतावादेशौ वा भवतः । ओम्वालइ । प्लाव- यति । प्रा० ।

ओय–ओकस्–न० निवासे, 'संजलिविणोयकेयणवेलवणं' । व्य० द्वि० ५ उ० ।

ओज–त्रि०ओज–अच्–एके, असहाये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० । आचा० । द्रव्यतः परमाणौ, भावतस्तु रागद्वेषवियुते, । "ओ- एसयाणरज्जेज्जा भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा " सूत्र०१ श्रु०४अ०। आचा० । "खेत्तोयं कालोयं, करणभिणं साहओ उवाओ यं । कत्त- त्तियजोमितिय-इय कमजोगी वियाणाहि" । यो न रागे न द्वेषे किं- तु तुलादण्डवद्द्वयोरपि मध्ये प्रवर्तते स ओजो भण्यते । क्षेत्रेऽ- ल्पादौ ओजाः क्षेत्रौजाः । काले अवमौदर्यादौ ओजाः कालौजाः । क्षेत्रे काले च प्रतिसेवमानो न रागद्वेषाभ्यां दूष्यत इत्यर्थः । सू० १ उ० । रागद्वेषरहिते चित्ते, । दशा० ५ अ० । विषमराशौ, । पुं० । इह गणितपरिभाषया समराशिर्युग्म इत्युच्यते विषमस्तु ओजः । स्था० ४ ठा० ।

ओजस्–न०–असुन्–बलोपे गुणः । मानसावष्टम्भे, नि० । ज्ञा० । शारीरे, । विद्यादिसत्के वा बले, । आचा १ श्रु०३ अ०१उ० । प्र- काशे, चं० प्र०५पाहु० । सू० प्र० । दाहापचयनादिस्वकार्यकर- णशक्तौ, ज्ञा० १० अ० । शस्त्रादिकौशल्ये, धातुतेजसि, । ज्ञानेन्द्रियाणां पाटवे, गौड्यां रीत्याम्, " भ्रमरैः फलपुष्पेभ्यो, यथा संभ्रियते मधु । तद्वदोजः शरीरेभ्यो, धातुभिः भ्रियते नृणां हृदि तिष्ठति यच्छुक्रं–मीषदुष्णं सपित्तकम् । ओजः शरीरे सं- ख्यातं, तन्नाशान्नासमृच्छति " । इत्युक्तलक्षणे धातुरसपोषके वस्तुभेदे, । वाच० । शुक्रशोणितसमुदाये, तं० । उत्पत्तिदेशे आहतयोग्यपुद्गलसमूहे, प्रज्ञा० ८ पद । आर्तवे, स्त्रीसं- बन्धिनि रक्ते, । " अप्पसुक्कं बहू ओयं इत्थी तत्थ पजायइ । अप्पओयं बहू सुक्कं पुरिसो तत्थ जायइ " स्था० ४ ठा० । 'रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा । एवमाधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा । इति गुणान् विभज्य तत्तल्लक्षणमुक्तम् । ओजश्चित्तस्य विस्तार–रूपं दीप्तत्वमुच्यते । वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु" इति तद्व्यञ्जकवर्णादयश्च तत्रोक्ताः "व- र्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ । उपर्यधो द्वयोर्वा स्यात् रेफः टठडढैः सह । शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः । तथा समासबहुला घटनौद्धत्यशालिनी " इति । वाच० ।

ओयंसि (ण्)–ओजस्विन्–त्रि० ओजो मानसावष्टम्भस्तद्वा- नोजस्वी । ज्ञा० १ अ० । नि० । मानसावष्टम्भयुक्ते, । प्र० २५ श० ३ उ० । मानसबलोपेते, स० ॥ आचा० । " आरोहपरिणाह चियमंसो इंदियापतिपुरस्तं" अह उउ तेउ पुण होइ अणो तप्पया देहो" आरोहो नामशारीरेण नातिदैर्घ्यं नातिह्रस्वता परिणाहो ना तिस्थौल्यं नातिदुर्बलता अथवा आरोहः शरीरोच्छ्रयः परिणा- हो बाहोर्विष्कम्भ एतौ द्वावपि तुल्यौ न हीनाधिकप्रमाणौ । (चियमंसोत्ति) अवप्रानत्वाभिर्देशस्य चितमांसत्वं नाम व- पुषि पांशुलिका नावलोक्यते । तथा इन्द्रियाणि च परिपूर्णानि न चक्षुःश्रोत्राद्यवयवविकलतेति भावः । अथैतदारोहादिकमोज उच्यते तदस्यास्तीति ओजस्वी । सू०१ उ० । "ओयंसी ओयंसी- ति वा तेअंसी तेअंसीति वा " आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

ओयपएसिय–ओजःप्रदेशिक–त्रि० विषमसंख्यप्रदेशनिष्पन्ने , प्र० २५ श० ३ उ० ।

ओयन्नूय–ओजोभूत–त्रि० रागद्वेषविरहिते, । सू० १ उ० ।

ओयरिय–औदरिक–त्रि० उदरभरणैकचित्ते, सू० १ उ० ।

ओयल्ल-अपदीर्ण-त्रि०, कुण्ठीभूते, ज्ञा० १४ अ० ।

ओयविय-ओयविय-त्रि० विशिष्टपरिकर्मणा परिकार्मिते, आ० म० प्र० । ज्ञा० । जी० । " ओयवियखोमदुगुल्लपडिच्छयणे " । शयनीयानि (ओयवियत्ति) विशिष्टपरिकार्मितं क्षौमं कार्पासिकं दुकूलं वस्त्रं तदेव पट्ट ओयवियक्षौमदुकूलपट्टः स प्रतिच्छदनमाच्छादनं यस्य तत्तथा । रा० । जी० । प्रज्ञा० ।

ओयसंठिइ–ओजःसंस्थिति-स्त्री० ओजसः प्रकाशस्य संस्थितिरवस्थानम् । प्रकाशावस्थाने, कथमोजसः संस्थितिराख्याता तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह ।

ता कहं तेतोयसंठिती आहिताति वदेज्जा । तत्थ खलु इमातो पणुवीस पडिवत्तीओ पन्नत्ता तो तं जहा तत्थेगे एवमाहंसु ता अणुसमयमेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जाति अन्नावेती आहिताति वदेज्जा । १ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुमुहुत्तमेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जति अन्ना वेति आहिता० २ एवं एएणं अभिलावेणं ता अणुराइंदितमेव सूरि० ३ ता अणुपक्खमेव सूरि० ४ ता अणुमासमेव सूरि० ५ ता अणुउउमेव सूरि० ६ ता अणुअयणमेव सूरिय० ७ ता अणुसंवच्छरमेव सूरि० ८ ता अणुवासमेव सूरि० ९ ता अणुवाससयमेव सूरि० १० ता अणुवाससहस्समेव सूरि० ११ ता अणुवाससयसहस्समेव सूरि० १२ ता अणुपुव्वमेव सूरि० १३ ता अणुपुव्वसतमेव सूरि० १४ ता अणुपुव्वसहस्समेव सूरि० १५ ता अणुपुव्वसतसहस्समेव सूरि० १६ ता अणुपलितोवममेव सूरि० १७ ता अणुपलितोवमसयमेव सतसूरि० १८ ता अणुपलितोवमसहस्समेव सूरि० १९ ता अणुपलितोवमसतसहस्समेव सूरि० २० ता अणुसागरोवममेव सूरि० २१ ता अणुसागरोवमसतमेव सूरि० २२ ता अणुसागरोवमसहस्समेव सूरि० २३ ता अणुसागरोवमसतसहस्समेव सूरि० एगे एव० २४ एगे पुण ता अणुउस्सप्पिणी २ मेव सूरियस्स ओआ अन्ना उपज्जइ अन्ना विति आहियाति वएज्जा एगे एवमाहंसु ॥ २५ ॥

(ता कहं तेओयात्ति) ता इति पूर्ववत् कथं केनप्रकारेण किं सर्वकालमेकरूपावस्थायितया उतान्यथा ओजसः प्रकाशस्य संस्थितिरवस्थानमाख्याता इति वदेत् । एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावत्यः प्रतिपत्तयः सम्भवन्ति तावतीः कथयति (तत्थेत्यादि) तत्र ओजसः संस्थितौ विषये खल्विमाः पञ्चविंशतिः प्रतिपत्तयः प्रज्ञप्तास्तद्यथा । तत्र तेषां पञ्चविंशतेः परतीर्थिकानां मध्ये एके वादिन एवमाहुः। ता इति पूर्ववत् । अनुसमयं प्रतिक्षणमेव सूर्यस्यौजोऽन्यदुत्पद्यते अन्यदपैति । किमुक्तं भवति प्रतिक्षणं सूर्यस्यौजः प्राक्तनं भिन्नप्रमाणं विनश्यति । अन्यदेव प्राक्तनाद्भिन्नप्रमाणमोज उत्पद्यते सूत्रे च ओजःशब्दस्य स्त्रीत्वेन निर्देशः प्राकृतत्वादार्षत्वाद्वा । अत्रोपसंहारः, ता एगे एवमाहंसु १ एके पुनरेवमाहुः । ता इति पूर्ववत् अनुमुहूर्त्तमेव सूर्यस्यौजोऽन्यदुत्पद्यते अन्यत्प्राक्तनमपैति इत्याख्यातमिति वदेत् । अत्रोपसंहारः एगे एवमाहंसु २ "एवमित्यादि" एवमुक्तेन प्रकारेण एतेन वक्ष्यमाणेन प्रतिपत्तिजातेन नेतव्यस्तानेवाभिलापविशेषान् दर्शयति । "ता अणुराइंदियमेवेत्यादि" सुगमं नवरं रात्रिंदिवसमित्येवं सर्वत्र विग्रहभावना करणीया पाठः पुनरेवं सूत्रस्य वेदितव्यः ॥ "एगे एवमाहंसु ता अणुराइंदियमेव सूरियस्स ओया अन्ना उववज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ३ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपक्खमेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ४ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुमासं एव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ५ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुउउमेव सूरियस्स अन्ना ओया उप्पज्जइ अन्ना अवेति आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ६ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुअयणमेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ७ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुसंवच्छरमेव सूरियस्स अन्ना ओया उप्पज्जइ अन्ना अवेति आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु । ८ । एगे पुण एवमाहंसु ता अणुवासमेव सूरियस्स ओआ अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ९ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुवाससयमेव सूरियस्स ओआ अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १० एगे पुण एवमाहंसु ता अणुवाससहस्समेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु ११ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुवाससयसहस्समेव सूरियस्स अन्ना ओआ उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १२ एगे पुण एवमाहंसु अणुपुव्वमेव सूरियस्स अन्ना ओया उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १३ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपुव्वसयमेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १४ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपुव्वसहस्समेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १५ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपुव्वसयसहस्समेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १६ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपलिओवममेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १७ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपलिओवमसयमेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अणा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १८ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपलिओवमसहस्समेव सूरियस्स अन्ना ओया उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु १९ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुपलिओवमसयसहस्समेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २० एगे पुण एवमाहंसु ता अणुसागरोवममेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २१ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुसागरोवमसयमेव सूरियस्स अन्ना ओया उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २२ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुसागरोवमसहस्समेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २३ एगे पुण एवमाहंसु ता अणुसागरोवमसयसहस्समेव सूरियस्स ओया अन्ना उप्पज्जइ अन्ना अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु २४ एगे पुण एवमाहंसु

सा अणुउसप्पिणि २ मेव सूरियस्स ओया अण्णा उप्पज्जइ अण्णा अवेइ आहियत्ति वएज्जा एगे एवमाहंसु" २५ एताश्च प्रतिपत्तयः सर्वा अपि मिथ्यारूपाः अत एतासामपोहेन भगवान् स्वमतमुपदर्शयति ।

वयं पुण एवं वयामो ता तीसं मुहुत्तं सूरितस्स ओयातो अवट्ठिताओ भवति तेण परं सूरियस्स ओता अणवट्ठिता भवति छम्मासे सूरिये ओमं णिव्वुट्ठेति छम्मासे सूरिए ओयं अभिवड्ढेति णिक्खममाणे सूरिए ओयं निव्वुट्ठेति पविसमाणे सूरिए ओयं अभिवड्ढेति तत्थ णं को हेतू ति वदेज्जा ॥

(वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामस्तमेव प्रकारमाह (ता तीसमित्यादि) ता इति पूर्ववत् जम्बूद्वीपे प्रतिवर्षं परिपूर्णतया त्रिंशतं त्रिंशन्मुहूर्तान् यावत्सूर्यस्य ओजः प्रकाशोऽवस्थितं भवति । किमुक्तं भवति सूर्यसंवत्सरपर्यन्ते यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरे मण्डले चारं चरति तदा सूर्यस्य जम्बूद्वीपगतौजःपरिपूर्णप्रमाणं त्रिंशन्मुहूर्तान् यावत्सूर्यस्य ओजः प्रकाश उद्भवति (तेण परंति) ततः परं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् परमित्यर्थः । सूर्यस्य ओजोऽनवस्थितं भवति । कस्मादनवस्थितं भवतीति चेदत आह (छम्मासे इत्यादि) यस्मात्कारणात्सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् परतः प्रथमान् सूर्यसंवत्सरसत्कान् षण्मासान् यावत्सूर्यो जम्बूद्वीपगतमोजः प्रकाशं प्रत्यहोरात्रमेकैकस्य त्रिंशदधिकाष्टादशशतसंख्यभागसत्कस्य भागस्य हापनेन निर्वेष्टयति हापयति । तदनन्तरं द्वितीयान् षण्मासान् सूर्यसंवत्सरसत्कान् यावत्सूर्यः प्रत्यहोरात्रमेकैकत्रिंशदधिकाष्टादशशतसंख्यभागसत्कभागवर्धनेन ओजः प्रकाशमभिवर्धयति । एतदेव व्यक्तं व्याचष्टे । (निष्क्रममाणे इत्यादि) सुगमं । तेनोच्यते सर्वाभ्यन्तरे मण्डले परिपूर्णतया त्रिंशन्मुहूर्तान् यावत् अवस्थितं सूर्यस्य ओजः ततः परमनवस्थितमिति । एतदेव वैतत्येन विभावयिषुः प्रश्नसूत्रमुपन्यस्यति (तत्थेत्यादि) तत्र एवंविधायां वस्तुव्यवस्थायां को हेतुः का उपपत्तिः इति वदेत् भगवानाह ।

ता अयणं जंबुद्दीवे दीवे जाव परिक्खेवेणं ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति । तता णं उत्तमकट्ठपत्ता अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति । जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राती भवति से णिक्खममाणे सूरिए णवसंवच्छरं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि अब्भंतराणंतरं मंडलं जाव चारं चरति ता जता णं एगभागं ओत्ताए एगेणं रातिंदिएणं दिवसखेत्तस्स णिवुड्ढेत्ता एति खेएस्स अभिवड्ढित्ता चारं चरति अट्ठारसहिं तीसेहिं सएहिं मंडलं छेत्ता तता णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति दोहिं एगट्ठिभागे ऊणे दुवालसमुहुत्ता राती भवति । दोहिं अहिया से णिक्खममाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि अब्भंतरं तच्चं मंडलं जाव चारं चरति ता जया णं सूरिए अब्भंतरं तच्चं मंडलं जाव चारं चरति । तता णं दो भागे उयाए दोहिं रातिंदिएहिं दिवसखेत्तस्स णिव्वुड्ढित्ता रातिक्खेत्तस्स अभिवड्ढित्ता चारं चरति अट्ठारसहिं तीसेहिं सतेहिं मंडलं छेत्ता तता णं अट्ठारसदिवसे चउहिं ऊणे दुवालसराती भवति । चउहिं अहिता एवं खलु एएणं उवाएणं णिक्खममाणे सूरिते तता णं तयणंतरातो तयाणंतरं मंडलातो मंडलं संकममाणे २ एगमेगं भागं ओयाए एगमेगं मंडले एगमेगेणं रातिंदिएणं दिवसे खेत्तस्स णिव्वुड्ढेमाणे २ अभिवड्ढेमाणे २ सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति ता जता णं सूरिए सव्वब्भंतरातो मंडलातो सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं सव्वब्भंतरं मंडलं पणिहाए एतेणं ते सीतेणं रातिंदियसं तेणं एगंते सीतं ता एगसयं उयाए दिवसखेत्तस्स णिव्वुड्ढित्ता रातिखेत्तस्स अभिवड्ढित्ता चारं चरति अट्ठारसहिं तीसेहिं मंडलं छेत्ता तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसं अट्ठारसमुहुत्ता राती भवति जहण्णिए दुवालसमुहुत्ते दिवसे भवति एसणं पढमे छम्मासे एसणं जाव पज्जवसाणे से पविसमाणे सूरिए दोच्चं छम्मासं अयमाणे पढमंसि अहोरत्तंसि बाहिराणंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति । ता जता णं सूरिए बाहिराणंतरं मंडलं जाव चारं चरति तता णं एगं भागं ओयाए एगेणं रातिंदिएणं रातिखेत्तस्स णिव्वुड्ढित्ता दिवसखेत्तस्स अभिवड्ढित्ता चारं चरति। अट्ठारसहिं तीसेहिं सएहिं मंडलं छेत्ता तता णं अट्ठारसमुहुत्ता राती दोहिं ऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे दोहिं अहिए से पविसमाणे सूरिए दोच्चंसि अहोरत्तंसि बाहिरं तच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति । ता जता णं सूरिए बाहिरं तच्चं मंडलं जाव चारं चरति । तता णं दो भाए ओयाए दोहिं रातिंदिएहिं रातिखेत्तस्स निव्वुड्ढित्ता दिवसखेत्तस्स अभिवड्ढित्ता चारं चरति । अट्ठारसहिं तीसेहिं सएहिं मंडलं छेत्ता तता णं अट्ठारसराती चउऊणा दुवालसमुहुत्ते दिवसे चउअहिए एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे सूरिए तताणंतरातो तताणंतरं मंडलाओ मंडलं संकममाणे २ एगमेगं भागं उयाए एगमेगं मंडलं एगमेगेणं रातिंदिएणं रातिखेत्तस्स णिव्वुड्ढेमाणे २ दिवसखेत्तस्स अभिवड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति । ता जता णं सूरिए सव्वबाहिरातो मंडलातो सव्वब्भंतरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरति तता णं सव्वबाहिरं मंडलं पणिहाए एगेणं तीसेणं रातिंदियसतेणं एगंते तीसभागसतं । ओताए रातिखेत्तस्स णिव्वुड्ढेत्ता दिवसे खेतस्स अभिवड्ढेत्ता चारं चरति अट्ठारसहिं तीसेहिं मंडलं छेत्ता तता णं उत्तमकट्ठपत्ते उक्कोसे अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे भवति जहण्णिया दुवालसमुहुत्ता राती भवति एसणं दोच्चे छम्मासे एसणं जाव पज्जवसाणे एसणं आदिच्चे संवच्छरे एसणं आइच्चसंवच्छरस्स जाव पज्जवसाणे (उट्ठं पाहुडं सम्मत्तं) ता

के ते सूरिए चरयति आहितेति वदेज्जा तत्थ खलु इमा ता वीसं पडिवत्तीओ पसत्ताओ तत्थ खलु एगे एवमाहंसु ता मंदरेणं पव्वते सूरियं चरयति आहितेति वदेज्जा एगे एव० १ एगे पुण ता मेरूणं पव्वते सूरितं चरयति । २ । आहिएति एवं एतेणं अभिलावेणं जाव वीसतिमापभिवत्ती जाव ता पव्वतरायाणं पव्वते सूरितं चरयति । आहितेति बदेज्जा एगे एवमाहंसु वयं पुण एवं वयामो ता मंदरे वि य वुच्चति मेरु वि य वुच्चति एवं जाव पव्वतराया य वुच्चति । ता जेणं पोग्गला सूरियस्स लेसं फुसंति तेणं पोग्गला सूरियं चरति । अएट्ठावि णं पुग्गला सूरियं चरति । चरिमल्ले संतरगताविणं पोग्गला सूरियं चरयाति । आहितेति वदेज्जा ॥

(ता अयणामित्यादि) इदं जम्बूद्वीपवाक्यं पूर्ववत् परिपूर्ण पठनीयं व्याख्यानीयं च (ता अया णामित्यादि) तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रमे चारं चरति तदा उत्तमकाष्ठा प्राप्ता । उत्कर्षतोऽष्टादशमुहूर्तो दिवसो भवति । जघन्या च द्वादशमुहूर्ता रात्रिः ततः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलादुक्तप्रकारेण निष्क्रामन् सूर्यो नवं संवत्सरमाददानो नवस्य संवत्सरस्य प्रथमेऽहोरात्रे अभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति (ता अया णामित्यादि) तत्र यदा सूर्यः सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति तदा एकेन रात्रिन्दिवेन सर्वाभ्यन्तरमण्डलगतेन प्रथमक्षणादूर्ध्वं शनैः शनैः कलामात्रहापनेनाहोरात्रपर्यन्ते एकभागमोजसः । प्रकाशस्य दिवसगतक्षेत्रगतस्य निर्वेष्टय हापयित्वा तमेव चैकं भागं रजनिक्षेत्रस्याभिवर्धयित्वा चारं चरति । कियत्प्रमाणं पुनर्भागं दिवसक्षेत्रगतस्य प्रकाशस्य हापयित्वा रजनिक्षेत्रस्य वर्धयित्वा तत्र आह । मण्डलस्य अष्टादशभिस्त्रिंशदधिकैः शतैर्वा किमुक्तं भवति । द्वितीयमण्डलमष्टादशभिस्त्रिंशदधिकैर्भागशतैर्विभज्य तत्सत्कमेकं भागमिति । कस्मात्पुनर्मण्डलस्याष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि भागानां परिकल्पन्ते । उच्यते इहैकैकं मण्डलं द्वाभ्यां सूर्याभ्यामेकेनाहोरात्रेण परिभ्रम्यापूर्यते अहोरात्रश्च त्रिंशन्मुहूर्तप्रमाणः प्रतिसूर्यं चाऽहोरात्रगणने परमार्थतो द्वौ अहोरात्रौ भवतः । द्वयोश्चाहोरात्रयोः षष्टिर्मुहूर्ताः ततो मण्डलं प्रथमतः षष्ट्या भागैर्विभज्यते निष्क्रामन्तौ च सूर्यौ प्रत्यहोरात्रं प्रत्येकं द्वौ द्वौ मुहूर्तैकषष्टिभागौ हापयतः । प्रविशन्तौ च अभिवर्धयतः । यौ च द्वौ मुहूर्तैकषष्टिभागौ समुदितौ । एकसार्द्धत्रिंशत्समो भागस्ततः षष्टिरपि भागाः सार्द्धया त्रिंशता गुण्यन्ते जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि भागानाम् । एवं निष्क्रामन् सूर्यः प्रतिमण्डलं त्रिंशदधिकाष्टादशशतसंख्यानां भागानां सत्कमेकैकं भागं दिवसक्षेत्रगतस्य प्रकाशस्य हापयन् रजनिक्षेत्रस्याभिवर्द्धयन् तावद्वक्तव्यो यावत्सर्वबाह्यमण्डले त्र्यशीत्यधिकं भागशतं दिवसक्षेत्रगतस्य प्रकाशस्य हापयिता रजनिक्षेत्रस्य चाभिवर्धयिता भवति । त्र्यशीत्यधिकं च भागशतमष्टादशशतानां त्रिंशदधिकानां दशमो भागस्ततः सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात् सर्वबाह्यमण्डले जम्बूद्वीपचक्रवालदशभागस्त्रुट्यति रजनिक्षेत्रस्याभिवर्द्धते इति यत्प्रागभिहितं तदपि समीचीनं जातमिति । एवमभ्यन्तरं प्रविशन् प्रतिमण्डलमष्टादशशतभागानां त्रिंशदधिकानां सत्कमेकैकं भागमभिवर्धयन् तावद्वक्तव्यो यावत्सर्वाभ्यन्तरे मण्डले त्र्यशीत्यधिकं भागशतं दिवसक्षेत्रगतस्य प्रकाशस्याभिवर्धयति । रजनिक्षेत्रस्य च हापयति त्र्यशीत्यधिकं च भागशतं जम्बूद्वीपचक्रवालस्य दशमभागः । ततः सर्वबाह्यान्मण्डलात्सर्वाभ्यन्तरे मण्डले दिवसक्षेत्रगतस्य प्रकाशस्यैको दशमश्चक्रवालभागोऽभिवर्धते रजनिक्षेत्रस्य त्रुट्यतीति यत् प्रागवादि तदविरोधे इति सूत्रं तु "तया णं अट्ठारसमुहुत्ते दिवसे इत्यादिकं" सकलमपि प्राभृतपरिसमाप्तिं यावत् सुगमम् । नवरमेवमत्रोपसंहारो यत एवं सूर्यचारस्ततः प्रतिसूर्यं सूर्यसंवत्सरपर्यन्ते सर्वाभ्यन्तरे मण्डले त्रिंशतं त्रिंशन्मुहूर्तान् यावदवस्थितं परिपूर्णमोजः ततः परमनवस्थितम् । सर्वाभ्यन्तरे च मण्डले त्रिंशतं मुहूर्तान् यावत्परिपूर्णमवस्थितमोज उच्यते व्यवहारतो निश्चयतः पुनस्तत्रापि क्षणादूर्ध्वं शनैः शनैः हीयमानमवसेयम् । प्रथमक्षणादूर्ध्वं सूर्यस्य सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयमण्डलाभिमुखं चारचरणादिति (षष्ठं प्राभृतं समाप्तम्) तदेवमुक्तं षष्ठं प्राभृतं संप्रति सप्तममारभ्यते । तस्य चायमर्थाधिकारः कस्ते तव मतेन भगवन्! सूर्यं चरयतीति तत एतद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह । "ता के इत्यादि" ता इति पूर्ववत् । कस्ते तव मतेन भगवन्! सूर्यं चरयति चरयन् चर ईप्सायां आप्तुमिच्छन् स्वप्रकाशत्वेन स्वीकुर्वन् आख्यात इति वदेत् एवमुक्ते भगवानेतद्विषये यावत्यः परतीर्थिकानां प्रतिपत्तयः तावतीः कथयति (तत्थेत्यादि) तत्र सूर्यः प्रतिचरन् विषये खल्विमा विंशतिप्रतिपत्तयः प्रज्ञप्ताः । तद्यथा तत्र तेषां विंशते अपरतीर्थिकानां मध्ये एके प्रथमा एवमाहुः । मन्दरपर्वतः सूर्यं चरयति मन्दरपर्वतो हि सूर्येण मण्डलं परिभ्रम्य सर्वतः प्रकाश्यते ततः सूर्यः प्रकाशयन् चरयतीत्युच्यते । अत्रोपसंहारः (एगे एवमाहंसु) एके पुनरेवमाहुः । मेरुपर्वतः सूर्यं चरयन् आख्यात इति वदेत् अत्राप्युपसंहारः (एगे एवमाहंसु) एवमित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण लेश्याप्रतिहतिविषयप्रतिपत्तिवत् तावन्नेतव्या यावद्विंशतितमा प्रतिपत्तिः सा चैवं (पव्वयरायाणमित्यादि) पर्वतराजः पर्वतः सूर्यं चरयन् आख्यात इति वदेत् एके एवमाहुरिति किमुक्तं भवति यथा प्राक् लेश्याप्रतिहतिविषयविंशतिप्रतिपत्तयो येन क्रमेणोक्ताः तेन क्रमेणात्रापि वाच्याः । सूत्रपाठोऽपि प्रथमप्रतिपत्तिगतपाठानुसारेण स्वयमन्यूनातिरिक्तः परिभावनीयो ग्रन्थगौरवभयात्तु न लिख्यते तदेवमुक्ताः परतीर्थिकप्रतिपत्तयः । संप्रति भगवान् स्वमतमुपदर्शयति (वयं पुण इत्यादि) वयं पुनरेवं वक्ष्यमाणप्रकारेण वदामस्तमेव प्रकारमाह (ता मंदरे वि इत्यादि) ता इति पूर्ववत् । योऽसौ पर्वतः सूर्यं चरयन् आख्यातः स मन्दरोऽप्युच्यते यावत्पर्वतराजोऽप्युच्यते । एतच्च प्रागेव भावितं ततो भिन्नभिन्नविषयतया प्रवृत्ताः प्राक्तन्यः प्रतिपत्तयः सर्वा अपि मिथ्यारूपा अवगन्तव्याः । अपि च न केवलं मेरुरेव सूर्यं चरयाति किंत्वन्येऽपि पुद्गलास्तथाचाह (ता जे णामित्यादि) ता इति पूर्ववत् ये णमिति वाक्यालङ्कारे । पुद्गला मेरुगता अमेरुगता वा सूर्यस्य लेश्याः स्पृशन्ति ते पुद्गलाः स्वप्रकाशकत्वेन सूर्यं चरयन्ति । ईप्सितं हि सूर्येण प्रकाश्यते । ततो लेश्याः पुद्गलैः सह संबन्धात्परंपरतया तैः सूर्यं स्वीकुर्वन्तीत्युच्यन्ते । ये च प्रकाश्यमानपुद्गलाः पुद्गलाः स्कन्धान्तर्गता मेरुगता वा सूर्येण प्रकाशिता अपि सूक्ष्मत्वाच्चक्षुःस्पर्शमुपगच्छन्ति । तेऽपि प्रागुक्तयुक्त्या सूर्यं चरयन्ति येऽपि च चरमलेश्यान्तर्गताः चरमलेश्या विशेषसंस्पर्शिनः पुद्गलास्तेऽपि सूर्यं चरयन्ति तेषामपि सूर्येण प्रकाश्यमा-

नत्वात् ।(इति सप्तमं प्राभृतं समाप्तम्) चं० प्र० ७ पाहु० ।

ओयाय–उपयात–त्रि० उपागते, "पोयवहणेणं लवणसमुद्दं ओयाए" । ज्ञा० ए अ० ।

ओयारग-अवतारक-त्रि० प्रवर्त्तके, " मोक्खपहोयारगा " मोक्षपथावतारकौ सम्यग्दर्शनादिषु प्राणिनां प्रवर्त्तकावित्यर्थः । सम० ।

ओयावइत्ता–ओजयित्वा–अव्य० ओजो बलं शरीरं विद्यादिसत्कं वा तत्कृत्वा प्रदर्श्य दीयतेऽसा ओजयित्वेत्यभिधीयते । प्रव्रज्याभेदे, स्था० ४ ठा० ।

ओयाहार–ओजआहार–पुं० भावाहारभेदे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । (सरीरेणोयाहारो इति तल्लक्षणमाहारशब्दे–व्याख्यातम्) ।

ओरस–अवतृ–धा० भ्वा०–प० अवतरणे,"अवतरेरोहओरसौ" ८ । ४ । ८५ । इति ओरसादेशः । ओरसइ ओअरइ । अवतरति । प्रा० ।

उपरस–त्रि० उपगतो जातो रसः पुत्रस्नेहलक्षणो वा यस्यासावुपरसः अपत्यस्नेहयुक्ते, स्था० १० ठा० ॥

औरस–त्रि० उरसि वा हृदये स्नेहाद्वर्त्तते यः स औरसः । स्था०१० ठा० । स्वयमुत्पादिते पुत्रादौ, उत्त० १ अ० । सूत्र० ।

ओरस(उरस्स)बलसमएणागय-औरस-(उरस्य)बलसमन्वागत-त्रि० । उरसि भवमुरस्यम् (औरसं) तच्च तद्बलं च उरस्यबलं तत्समन्वागतः समनुप्राप्तः उरस्यबलसमन्वागतः । अन्तरोत्साहवीर्ययुक्ते । जी० ३ प्रति० ॥

ओराल–(उदार) ओराल- त्रि० । प्रधाने " ओरालकित्तिवंतसद्दसि लोगा" । स्था०१० ठा०। चन्द०। बहुजन्मान्तरसंचिते कर्मणि, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । आशंसादोषरहिततयोदारचित्तयुक्ते,स्थूले द्वीन्द्रियादौ, स्था०४ ठा० "से किं तं उरालातसापाणा चउव्विहा पन्नत्ता तं जहा बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया पंचेंदिया" । जी०१ प्रति०। "ओरालं जगतो जोगं विवज्जासं पलिंतिय" (ओरालमिति) स्थूलमुदारं जगत औदारिकजन्तुग्रामस्य योगं व्यापारं चेष्टामवस्थाविशेषमित्यर्थः । सूत्र० १ श्रु०१ अ० । " ओरालपोग्गलाणि चत्तेज्जा " उदारा बादराणि पतेयुर्विश्रसापरिणामात्ततो विघटेयुरन्यतो वाऽऽगत्य लगेयुर्यन्त्रयुक्तमहोपलवत् । स्था० ३ठा० भीष्मे, उग्रादिविशेषणविशिष्टतपःकरणतः पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वानां भयानके, चं० प्र० १ पाहु० ।

ओरालिय–औदारिक–न० । उदारं प्रधानं प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्यापि अनन्तगुणहीनत्वात् । यद्वा उदारं सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् । शेषशरीरापेक्षया बृहत्प्रमाणं बृहत्ता चास्य वैक्रियं प्रतिभवधारणीयं सहस्रशरीरापेक्षया द्रष्टव्या । अन्यथोत्तरवैक्रियं योजनलक्षमानमपि लभ्यते । उदारमेवौदारिकं विनयादिभ्य इतीकण् प्रत्ययः (कर्म०) अथवा उरालं स्वल्पप्रदेशोपचितत्वात् बृहत्त्वाच्च भाण्डवदिति अथवा मांसास्थिस्नाय्वाद्यवबद्धं यच्छरीरं तत्समयपरिभाषया उरालमिति प्राकृतत्वादोरालियम् (स०) औदारिकशरीरनामकर्मोदयादुदारपुद्गलनिर्वृत्ते केवलमेकेन्द्रियाणामस्थ्यादिविरहिते वा शरीरभेदे, । स्था० २ ठा० । आव० । कर्म० । इह प्रसिद्धसिद्धान्तसंदोहविवरणप्रकरणप्रमाणग्रन्थनावसत्सुधामधवलयशःप्रसरधवलितसकलवसुन्धरावलयप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिदर्शिता व्युत्पत्तिर्लिख्यते । "तत्थ ताव उदारं उरालं, उरलं ओरालं वा तित्थयरगणधरसरीराइं पडुच्च उदारं वुच्चइ तत उ उदारतरमन्नमत्थित्तिकाउं" उदारं नाम प्रधानं उरालं नाम विस्तरालं " विसालंति वा जं भणियं होइ कहं साइरेगजोयणसहस्समवट्ठियप्पमाणमोरालियं अन्नमिहहमित्तं नत्थि वेउव्वियं हुज्जलक्खमियं अवट्ठियं पंचधणुसयाइं अहेसत्तमाए इत्थं पुण अवट्ठियपमाणं अइरेगं जोयणसहस्सं" वनस्पत्यादीनामिति उरालं नाम स्वल्पप्रदेशोपचितत्वाच्च भिण्डवत् । उरालं नाम मांसास्थिस्नाय्वाद्यवयवबद्धत्वात् श्रीपूज्या अप्याहुः तत्थोदारमुरालमुरलं उरलमहवमहल्लगतेण । ओरालियंति पढमं, पडुच्च तित्थेसरसरीरं ।१। भण्णइ य तहोरालं, वित्थरवंतं वणप्फतिं पप्प । पयइ इ नत्थि अन्नं, इद्दहमित्तं विसालंति ।२। उरलं थेवपएसो, चियं पि महल्लग जहा भिंडं । मंसट्ठिण्हारुबद्धं, उरालं समयपरिभासी ।३। सर्वत्र स्वार्थिक इकप्रत्ययः । उदारमेव उरालमेव उरलमेव ओरालमेव औदारिकं पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः । कर्म० । दशा० । अनु० । जी० । सूत्र० । प्रज्ञा० । स्था० । प्रव० । आचा० । संप्रत्यौदारिकशरीरस्य जीवजातिभेदतोऽवस्थाभेदतश्च भेदानभिधित्सुराह ।

उरालियसरीरेणं भंते ? कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तं जहा एगिंदियउरालियसरीरे जाव पंचिंदियउरालियसरीरे । एगिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तं जहा पुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरे जाव वणस्सइकाइय एगिंदियउरालियसरीरे पुढवीकाइय एगिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा सुहुमपुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरे य बादरपुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरे य सुहुमपुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा पज्जत्तगसुहुमपुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरे य अपज्जत्तगसुहुमपुढविकाइय एगिंदियउरालियसरीरे य । बादरपुढविकाइया वि एवं चेव एवं जाव वणस्सइकाइय एगिंदियउरालियसरीरे येति । बेइंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा पज्जत्ता बेइंदियउरालियसरीरे य । अपज्जत्ता बेइंदियउरालियसरीरे य । एवं तेइंदियचउरिंदिया वि । पंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते तं जहा तिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य मणुस्सपंचिंदियउरालियसरीरे य । तिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते? गोयमा ! तिविहे पण्णत्ते तं जहा । जलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य । थलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य । खहयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य जलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा सम्मुच्छिमजलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरालि-

यसरीरे य गब्भवक्कंतिय जलयरपंचिंदिय० । सम्मुच्छिमजलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते तं जहा पज्जत्तगसम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरालियसरीरे य । अपज्जत्तगसम्मुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरालियसरीरे य एवं गब्भवक्कंतिए वि । थलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते तं जहा चउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य परिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य । चउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते । तं जहा सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य गब्भवक्कंतियचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य । सम्मुच्छिमचउप्पयउरालियसरीरे दुविहे पन्नत्ते तं जहा । पज्जत्ता सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य । अपज्जत्ता सम्मुच्छिमचउप्पयथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य । एवं गब्भवक्कंतिए वि परिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते । तं जहा । उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरालियसरीरे य । भुयपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरालियसरीरे य । उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते तं जहा । सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियउरालियसरीरे य गब्भवक्कंति य उरपरिसप्पथलयर० । सम्मुच्छिमे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा । अपज्जत्ता सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य । पज्जत्ता सम्मुच्छिमउरपरिसप्पथलयरतिरिक्खजोणियपंचिंदियउरालियसरीरे य । एवं गब्भवक्कंतिए वि । उरपरिसप्पचउभेदो । एवं भुयपरिसप्पा वि ; सम्मुच्छिमगब्भवक्कंति य पज्जत्ता य अपज्जत्ता य । खहयरा दुविहा पणत्ता । तं जहा । सम्मुच्छिमा य गब्भवक्कंतिया य । सम्मुच्छिमा दुविहा । पज्जत्ता य अपज्जत्ता य । गब्भवक्कंतिया वि । पज्जत्ता य अपज्जत्ता य । मणुस्सपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा । सम्मुच्छिममणुस्सपंचिंदियउरालियसरीरे य । गब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियउरालियसरीरे य । गब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियउरालियसरीरेणं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा । पज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियउरालियसरीरे य । अपज्जत्तगगब्भवक्कंतियमणुस्सपंचिंदियउरालियसरीरेण य ॥

औदारिकशरीरमेकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियभेदात्पञ्चधा । एकेन्द्रियौदारिकशरीरमपि पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पत्येकेन्द्रियभेदात्पञ्चविधम् । पृथिवीकायिकैकेन्द्रियौदारिकशरीरमपि सूक्ष्मेतरभेदाद् द्विधा । पुनरेकैकं द्विधा । पर्याप्तापर्याप्तभेदात् । एवमप्तेजोवायुवनस्पत्येकेन्द्रियौदारिकशरीराण्यपि प्रत्येकं । चतुर्विधानीति सर्वसंख्ययैकेन्द्रियौदारिकशरीराणि विंशतिधा । द्वित्रिचतुरिन्द्रियौदारिकशरीराणि प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्तभेदात् द्विभेदानि । पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं द्विविधं तिर्यग्मनुष्यभेदात् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं त्रिधा । जलचरस्थलचरखचरभेदात् । जलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं द्विविधं संमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकभेदात् । एकैकमपि पुनर्द्विभेदं, पर्याप्तापर्याप्तभेदात् । स्थलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरमपि द्विविधम् । चतुष्पदपरिसर्पभेदात् । चतुष्पदस्थलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरमपि द्विविधम् संमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकभेदात् । पुनरेकैकं द्विधा पर्याप्तापर्याप्तभेदात् । परिसर्पस्थलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरमपि उरःपरिसर्पभुजपरिसर्पभेदतो द्विविधम् । पुनरेकैकं द्विधा संमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकभेदात् । तत्रापि पुनः प्रत्येकं द्विविधं पर्याप्तापर्याप्तभेदात् ॥ सर्वसंख्यया ऽष्टभेदम् । परिसर्पस्थलचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरखचरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरसंमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकभेदात् द्विभेदम् । पुनरेकैकं द्विधा । पर्याप्तापर्याप्तभेदादिति सर्वसंख्यया तिर्यक्पञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं विंशतिभेदम् । मनुष्यपञ्चेन्द्रियौदारिकशरीरं संमूर्च्छिमगर्भव्युत्क्रान्तिकभेदात् द्विभेदम् ॥ पुनरेकैकं द्विधा पर्याप्तापर्याप्तभेदादेवमौदारिकभेदा उक्ताः । प्रज्ञा० २१ पद (अत्रगाहनाल्पत्वावगाहनादिशब्देषु) शरीरान्तरैः सह संयोगश्च सर्वशब्दे वक्ष्यते) शरीरतद्वतोरभेदोपचारात् मत्वर्थीयलोपाद्वा औदारिकशरीरवति जीवे, । विपा० १ श्रु० ३ अ० घटितरूपे द्रविणे, । "धम्मियरूवं दविणं ओरालियंति जम्मइ" । नि० चू० १ उ० ॥ औदारिकस्य मनुष्यतिर्यक्शरीरस्येदमौदारिकम्, । अस्वाध्यायिकभेदे, स्था० १० ठा० । (तत्स्वरूपम् असज्झाय शब्दे)

ओरालियंगोवंगणाम-औदारिकाङ्गोपाङ्गनामन्-न. अङ्गोपाङ्गनामकर्मभेदे, । यदुदयादौदारिकशरीरत्वेन परिणतानां पुद्गलानामङ्गोपाङ्गविभागपरिणतिरुपजायते तदौदारिकाङ्गोपाङ्गनाम कर्म० ।

ओरालियकायजोग-औदारिककायजोग-पुं० । औदारिकमेव चीयमानत्वात् कायस्तेन सहकारिकारणभूतेन तद्विषयो वा योगः औदारिककाययोगः । काययोगभेदे, । कर्म० ।

ओरालियणाम--औदारिकनामन्-न० औदारिकनिबन्धनं नाम औदारिकनाम शरीरनामभेदे, यदुदयवशादौदारिकशरीरप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय औदारिकशरीररूपतया परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योन्यानुगमरूपतया संबन्धयति तदौदारिकशरीरनामेत्यर्थः कर्म० ।

ओरालियदुग-औदारिकद्विक-न० औदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गमित्येवं लक्षणे द्विके, कर्म० ।

ओरालियपरदारगमण-औदारिकपरदारगमन-न० परस्त्र्यादिगमनलक्षणे परदारगमनभेदे, । आव० ६ अ० ।

ओरालियबंधण–औदारिकबन्धन–न० यदुदयादौदारिकपुद्गलानां पूर्वगृहीतानां गृह्यमाणानां च परस्परं तैजसादिशरीरपुद्गलैश्च सह सम्बन्धस्तस्मिन् । बन्धनभेदे, । कर्म० ।

ओरालियमीसकायजोग-औदारिकमिश्रकाययोग-पुं० औदारिकं मिश्रं यत्र कार्मणेनेति गम्यते स औदारिकमिश्रः। उत्पत्तिदेशे हि पूर्वभवादनन्तरमागतो जीवः प्रथमसमये कार्मणेनैव केवलेनाहारयति ततः परमौदारिकस्याप्यारब्धत्वादौदारिकेण कार्मणमिश्रेण यावच्छरीरस्य निष्पत्तिः यदाह सकलश्रुताम्भोनिधिपारदृश्वाऽनुग्रहकाम्यया निर्मितानेकशास्त्रसंबन्धः श्रीभद्रबाहुस्वामी "जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो । तेण परं मीसेणं, जावसरीरस्स निप्पत्ती" केवलिसमुद्घातावस्थायां तु द्वितीयषष्ठसप्तमसमयेषु कार्मणेन मिश्रमौदारिकं प्रतीतमेव । मिश्रौदारिकयोगः सप्तमषष्ठद्वितीयेष्विति वचनात्। औदारिकमिश्रश्चासौ कायश्च तेन योगः औदारिकमिश्रकाययोगः। काययोगभेदे, कर्म्म० ।

ओरालियमीससरीरकायप्पओग–औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोग–पुं० औदारिकमुत्पत्तिकालेऽसंपूर्ण सन्मिश्रं कार्मणेनेति औदारिकमिश्रं तदेवौदारिकमिश्रकं तल्लक्षणं शरीरमौदारिकमिश्रकशरीरं तदेव कायस्तस्य यः प्रयोग औदारिकमिश्रकशरीरस्य वा यः कायप्रयोगः स औदारिकमिश्रकशरीरकायप्रयोगः कायप्रयोगभेदे, अयं पुनरौदारिकमिश्रकशरीरकायप्रयोगेऽपर्याप्तकस्यैव वेदितव्यः । यत आह । " जोएण कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवो । तेण परं मीसेणं, जावसरीरस्स निप्पत्ती । १ । " एवं तावत्कार्मणेनौदारिकशरीरस्य मिश्रतोत्पत्तिमाश्रित्य तस्य प्रधानत्वात् । यदा पुनरौदारिकशरीरो वैक्रियलब्धिसंपन्नो मनुष्यः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकः पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिककाययोग एव वर्तमानप्रदेशान्विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानुपादाय यावद्वैक्रियशरीरपर्याप्त्या न पर्याप्तिं गच्छति तावद्वैक्रियेणौदारिकशरीरस्य मिश्रता प्रारम्भकत्वेन तस्य प्रधानत्वादेवमाहारकेणाप्यौदारिकशरीरस्य मिश्रता वेदितव्येति । भ० ८ श०१ उ० ।

ओरालियमीससरीरकायप्पओगपरिणय-औदारिकमिश्रशरीरकायप्रयोगपरिणत त्रि० औदारिकमिश्रशरीरे कायप्रयोगेण परिणतं यत्तत्तथा । कायप्रयोगपरिणतभेदे, । भ० ८ श०१ उ०।

ओरालियसंघायणाम-औदारिकसंघातनामन्–न० संघातनामभेदे, । यदुदयादौदारिकपुद्गला ये यत्र योग्यास्तानुसरत्र संघातयति । यथा शिरोयोग्यान् शिरसि पादयोग्यान् पादयोः शेषाङ्गयोग्यान् शेषाङ्गेषु तदौदारिकसंघातनाम । कर्म० ।

ओरालियसरीर–औदारिकशरीर–न० उदारा स्फारतामात्रसारा वैक्रियादिशरीरापेक्षया स्थूला इत्यर्थः। तैरित्थंभूतैः पुद्गलैर्निष्पन्नमौदारिकशरीरम् । शरीरभेदे, कर्म० ।

ओरालियसरीरप्पओगणाम–औदारिकशरीरप्रयोगनामन्–न० औदारिकशरीरप्रयोगस्य संपादके नामभेदे, भ० ८ श० ६ उ०।

ओरालियसरीरप्पओगबंध–औदारिकशरीरप्रयोगबन्ध– पुं० औदारिकशरीरप्रयोगस्य संघातरूपे शरीरबन्धभेदे, । भ० ८ श० ७ उ० ।

ओरुहमाण–अवरोहयत्–त्रि० उत्तारयति, स्था० ५ ठा० ।

ओरोह–अवरोध–पुं० अन्तःपुरे, बृ० १ उ० । प्रतोलीद्वारेऽभ्यन्तरद्वारे, रा० । औ० । संघाते, । "पहकरओरोहसंघाया " । इति देशीनाममालावचनात् । जी० ३ प्रति० ।

ओलंबणदीव–अवलम्बनदीप–पुं० शृङ्खलाबद्धदीपे, भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० ।

ओलंबिय–अवलम्बित–त्रि० दत्तावलम्बे, । " सा भणइ ओलंबितत्ति अम्हेहिं " नि० चू० १ उ० । रज्ज्वा बन्ध्वा गर्तादाववतारिते, औ० । कूपनदीप्रभृतिषु लम्बिते, कुत्सितमारेण मारिते, दशा० ६ अ० । " जिब्भुपाडियं ओलंबियं " करे । सूत्र० । २ श्रु० २ अ० ।

ओलग्ग–अवरुग्ण–त्रि० जग्नमनोवृत्तौ, । विपा० १ श्रु० २ अ० नि० । ग्लाने, दुर्बले च । ज्ञा० १ अ० ।

ओलग्गसरीर–अवरुग्णशरीर–त्रि० अवरुग्णं ग्लानं दुर्बलं च शरीरं यस्य स तथा । ज्ञा० १ अ० । जग्नदेहे, विपा० १ श्रु० २ अ० । ज्ञा० । नि० ।

ओलोयणा–अवलोकना–स्त्री० गवेषणायाम , व्य० ४ उ० ।

ओलि (ली) आलि(ली)-स्त्री० ओदाल्यां पङ्क्तौ ८ । १ । ८३ । आलिशब्दे पङ्क्तिवाचिनि आत ओत्वं भवति । ओली । पङ्क्ती, । पङ्क्तिरिति किं आली सखी । प्रा० । बृ० ।

ओलिंपमाण-अवलिम्पत्-त्रि० अवलेपं कुर्वति,। आचा० । २ श्रु० ।

ओलिज्झमाण–अवलिह्यमान–त्रि० आस्वाद्यमाने, कल्प० ।

ओलित्त–अवलिप्त– त्रि० द्वारदेशे पिधानेन सह गोमयादिना कृतालेपे, । बृ० २ उ० । भ० । स्था० । आचा० ।

ओलुंड–विरिच्–धा० एयन्तः । विरेचने, । " विरेचेरोलुण्डोलुण्डपल्हत्थाः ८ । ४ । २६ । विरेचयतेर्ण्यन्तस्य ओलुण्डादयः आदेशा जवन्ति । ओलुण्डइ । विरेअइ । विरेचयति । प्रा० ।

ओलोट्टमाण-अपवर्तमान–त्रि० यतो गतस्तत्रैव पुनरागच्छति तस्मिन् , । " लोट्टआपट्टए " प्रश्न० अध० ४ अ० ॥

ओवइय–अवपतित–न० अप्-पत्-भावे क्तः निपतने, औ० । अवतीर्णे, । औ० । कर्तरि क्तः । अवतीर्णे, औ० ॥

औपचयिक–त्रि० उपचयनिर्वृत्ते उपचिते, प्रश्न० अध० ४ अ० ।

ओवगारियलेण–औपकारिकलयन–न० प्रासादादिपीठकल्पे आश्रये, भ० १३ श० ६ उ० ॥

ओवग्गहिय–औपग्रहिक–त्रि० उपष्टम्भप्रयोजने, " तासिं च णं उवग्गहिए अणंताणुबंधी कोहमाणमायालोभे" भ०९.श०३१ उ०। उप आत्मनः समीपे संयमोऽवष्टम्भार्थं वस्तुनो ग्रहणमुपग्रहः स प्रयोजनमस्येत्यौपग्रहिकः । उपाधिभेदे, आपन्ने संयममात्रार्थं यो गृह्यते न पुनर्नित्यमेव स औपग्रहिक इत्यर्थः । प्रव० ६० द्वा० " ओहेण जस्स गहणं भोगा पुण कारणा सओ होदि । जस्स उ दुगं पि नियमा, कारणसो उवग्गहिओ " यस्य तु पीठकादेर्द्वयमपि ग्रहणं भोगश्चेत्येतन्नियमात्कारणतो निमित्तेन स्नेहादिना स पीठकादिरौपग्रहिकः कादाचित्कप्रयोजननिर्वृत्त इति गाथार्थः । पं० व० । ध० (तस्यजघन्यमध्यमोत्कृष्टत्वमुवहि शब्दे) ॥

ओवघाइय–औपघातिक–न० उपघातनिर्वृत्ते तत्फले वा बन्धने

यथा चौरस्वमिति "सुयं वा जइ वा दिट्ठं न लविज्जोवघाइयं" द० ८ अ० ॥

ओवट्टणा-अपवर्तना-स्त्री० भागहरणे, विशे० ।

ओवड्ढोमोयरिया-उपार्धावमौदरिका-स्त्री० द्वात्रिंशतोर्ध्वपोऽरूरा एवं च द्वादशानामर्धसमीपवर्तित्वादुपार्धावमौदरिका। द्वादशभिरिति द्वादशकवलाहाररूपेऽवमौदरिकाभेदे, तदुक्ता सद्भेदोपचारात् साधौ च"दुवालसकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे ओवड्ढोमोयरिया " उपार्द्धावमौदरिकेति रूपम। भ० ७ श० १ उ० ॥

ओवड्ढि-अपवृद्धि-स्त्री० ह्रासे, नि० चू० २० उ० ।

ओवणिहिय-औपनिधि (निहिति) क-त्रि० उपनिधिः प्रत्यासन्नं यद्यथा कथंचिदानीतं तेन चरतीति । तद्ग्रहणार्थं स्त्यर्थः इत्यौपनिधिकः । उपनिहितमेव वा यस्य ग्रहणविषयतयाऽस्ति स प्रज्ञादेराकृतिगणत्वेन मत्वर्थीये ण प्रत्यये औपनिहित इति । स्था० ५ ठा० । उपनिहितं यथाकथंचित्प्रत्यासन्नीभूतं तेन चरति यः स औपनिहितिकः । भिक्षाचरकभेदे, औ० ।

ओवणिहिया-औपनिधिकी-स्त्री० उपनिधिर्निक्षेपो विरचनं प्रयोजनमस्य इत्यौपनिधिकी (औ०) प्रयोजनार्थे इकण प्रत्ययः । सामयिकाध्ययनादिवस्तूनां (आणुपुव्वी शब्दोक्त) पूर्वानुपूर्व्यादिविस्तारप्रयोजनायामानुपूर्व्याम् (द्रव्यानुपूर्व्यादीनामौपनिधिकीत्वम् आणुपुव्वीशब्दे दर्शितम्)

ओवतिणी-अवपतिनी-स्त्री० विद्याभेदे, यां हि अपतः स्वत एव पतत्यन्यं वा पातयति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

ओवत्तिय-अपवर्तित-त्रि० क्षिप्ते, ज्ञा० १ अ० ।

ओवत्तिय-अपवर्त्य-अव्य० अपवर्तनेन अग्निविक्षिप्तेन भाजनेनान्येन वा इत्येवमादिलक्षणेन कृत्येऽर्थे, दश०५ अ० ।

ओवत्थाणिया-औपस्थानिकी-स्त्री० चेटीभेदे, या आस्थानगतानां समीपे वर्तन्ते भ० ११ श० ११ उ० ।

ओवमिय-औपमिक-न० उपमया निर्वृत्तमौपमिकम् । गणितस्याविषये कालभेदे, उपमानमन्तरेण यत्कालप्रमाणमनतिशयिना ग्रहीतुं न शक्यते तदौपमिकमिति भावः । अनु० । भ० । स्था०। जं०। "से किं तं ओवमिए? दुविहे पण्णत्ते तं जहा पलिओवमे अ सागरोवमे अ " अनु० । उपमया निर्दिष्टः ठक् । उपमया निर्दिष्टे, वाच० ।

औपम्य-न० उपमायाम, स्था० ८ ठा० ।

ओवम्म-औपम्य-न-उपमीयते सदृशतया वस्तु गृह्यतेऽनयेत्युपमा सैवौपम्यम् अनु० । ध० । प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनरूपे प्रमाणभेदे, यथा गौर्गवयस्तथा। अत्र च संज्ञासंज्ञिसंबन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थः । सूत्र०१श्रु०१० अ० । (अस्य प्रमाणयविचार उवमाणशब्दे कृतः)

तद्भेदा इमे ।

से किं तं ओवम्मे ? ओवम्मे दुविहे पण्णत्ते तं जहा साहम्मोवणीए अ वेहम्मोवणीए अ । से किं तं साहम्मोवणीए ? साहम्मोवणीए तिविहे पण्णत्ते । तं जहा । किंचिसाहम्मोवणीए पायसाहम्मोवणीए सव्वसाहम्मोवणीए । से किं तं किंचिसाहम्मोवणीए ? अणेगविहे जहा मंदरो तहा सरिसवो जहा सरिसवो तहा मंदरो जहा समुद्दो तहा गोप्पयं जहा गोप्पयं तहा समुद्दो जहा आइच्चो तहा खज्जोतो जहा खज्जोतो तहा आइच्चो जहा चंदो तहा कुमुदो जहा कुमुदो तहा चंदो । से किं तं पायसाहम्मोवणीए ? अणेगविहे जहा गौ तहा गवओ जहा गवओ तहा गौ सेत्तं पायसाहम्मोवणीए। से किं तं सव्वसाहम्मोवणीए सव्वसाहम्मे ओवम्मे नत्थि तहा वि तेणे व तस्स तोवम्मं कीरइ जहा अरिहंतेहिं अरिहंतसरिसं कयं चक्कवट्टिणा चक्कवट्टिसरिसं कयं बलदेवेण बलदेवसरिसं कयं वासुदेवेण वासुदेवसरिसं कयं साहुणा साहुसरिसं कयं सेत्तं सव्वसाहम्मे सेत्तं साहम्मोवणीए ।

तच्च द्विविधं साधर्म्येणोपनीतमुपनयो यत्र तत्साधर्म्योपनीतम । वैधर्म्येणोपनीतमुपनयो यत्र तद्वैधर्म्योपनीतम । तत्र साधर्म्योपनीतं त्रिविधं किंचित्साधर्म्यादिभेदात् किंचित्साधर्म्यं च मन्दरसर्षपादीनाम तत्र मन्दरसर्षपयोर्द्वयोरपि मूर्तत्वं सादृश्यम । समुद्रगोष्पदयोः सोदकत्वमात्रम । आदित्यखद्योतयोराकाशगमनोद्योतकत्वरूपम । चन्द्रकुमुदयोः शुक्लत्वमिति (से किं तं पायसाहम्मेत्यादि) खुरककुदविषाणलाङ्गूलादिद्वयोरपि समानत्वात्परं सकम्बलो गौर्वृत्तकण्ठस्तु गवय इति प्रायः साधर्म्यता । सर्वसाधर्म्यं तु द्रव्यकालादिभिर्भेदात् न कस्यापि केनचित्साधर्म्यं संभवति संभवे त्वेकताप्रसङ्गः । तर्हि उपमानस्य तृतीयभेदोपन्यासोऽनर्थक एवेत्याशङ्क्याह । तथापि तस्य विवक्षितस्याऽर्हदादेस्तेनैवार्हदादिना औपम्यं क्रियते । तद्यथा अर्हता अर्हत्सदृशं कृतं तत्किमपि सर्वोत्तमं तीर्थप्रवर्तनादिकार्यमर्हता कृतं यदर्हन्नेव करोति नापरः कश्चिदिति भावः एवं च स एवोपमीयते । लोकेऽपि हि केनचित्दत्यद्भुते कार्ये कृते वक्तारो दृश्यन्ते तत्किमपीदं भवद्भिः कृतं यत् भवन्त एव कुर्वन्ति नान्यः कश्चिदिति । एवं चक्रवर्तिवासुदेवादिष्वपि वाच्यम ।

से किं तं वेहम्मोवणीए ? तिविहे पण्णत्ते तं जहा । किंचिवेहम्मे पायवेहम्मे सव्ववेहम्मे से किं तं किंचिवेहम्मे ? जहा सामलेरो न तहा बाहुलेरो जहा बाहुलेरो न तहा सामलेरो सेत्तं किंचिवेहम्मे । से किं तं पायवेहम्मे ? जहा वायसो न तहा पायसो जहा पायसो न तहा वायसो । सेत्तं पायवेहम्मे । से किं तं । सव्ववेहम्मे सव्ववेहम्मे ओवम्मे नत्थि तहा वि तेणेव तस्स तोवम्मं कीरइ जहा णीएणं णीअसरिसं कयं दासेण दाससरिसं कयं काकेण काकसरिसं कयं साणेण साणसरिसं कयं पाणेण पाणसरिसं कयं सेत्तं सव्ववेहम्मे सेत्तं वेहम्मोवणीए सेत्तं ओवम्मे ।

यथेति यादृशः शबलाया गोरपत्यं शाबलेयो न तादृशो बहुलाया अपत्यं बाहुलेयो यथाचायं न तथा इतरः अत्र च शेषधर्मैस्तुल्यत्वाद्भिन्ननिमित्तजन्मादिमात्रतस्तु बैलक्षण्यात्किंचिद्वैधर्म्यं भावनीयम (से किं तं पायवेहम्मे इत्यादि) अत्र वायसपायसयोः सचेतनत्वाचेतनत्वादिभिर्बहुभिर्धर्मैर्विसंवादात् अभिधानगतवर्णद्वयेन सत्वादिमात्रतश्च साम्यात्प्रायो वैधर्म्यता भावनीया । सर्ववैधर्म्यं तु न कस्यचित्केनापि संभवति सत्वप्र-

मेयत्वादिभिः सर्वभावानां समानत्वेऽसत्वप्रसङ्गात्तथाऽपितृतीयभेदोपन्यासवैयर्थ्यमाशङ्क्याह । तथापि तस्य तैर्वैधर्म्यं क्रियते यथा नीचेन नीचसदृशं कृतं गुरुघातादीत्यादि । आह-नीचेन नीचसदृशं कृतमित्युक्तवता साधर्म्यमेवोक्तं स्यान्न वैधर्म्यं सत्यं किंतु नीचोऽपि प्रायो नैवंविधं पापमाचरति किं पुनरनीचः ततः सकलजगद्विलक्षणप्रवृत्तत्वविवक्षया वैधर्म्यमिह भावनीयम् । एवं दासाद्युदाहरणेष्वपि वाच्यम् । सेत्तं सव्वेहम्म इत्यादि निगमत्रयम् । अनु० । नि० चू०

ओवम्मसच्च-औपम्यसत्य-न० उपमैवौपम्यं तेन सत्यमौपम्यसत्यम् । सत्यभेदे, । यथा समुद्रवत्तडागं देवोऽयं सिंहः । स्था० १० ठा० । प्रश्न० । प्रज्ञा० ॥

ओवम्मसंखा-औपम्यसंख्या-स्त्री० संख्यानं संख्या परिच्छेदो वस्तुनिर्णय इत्यर्थः । औपम्येन उपमाप्रधाना संख्या औपम्यसंख्या । संख्याभेदे, अ० ।

ओवयंत अवपतत्-त्रि० ऊर्ध्वादधोभागेऽवतरति, "उत्तरत्ति देवेहि य देवीहि य ओवयंतेहि" अवपतद्भिः स्वर्गाद्भुवमागच्छद्भिः । कल्प० ।

ओवयमाण-अवपतत्-त्रि० व्योमाङ्गणादवतरति, ज्ञा० १ अ० ॥

ओवयाइयय-औपयाचितक-पुं० उपयाचिते देवाराधने भव औपयाचितकः । पुत्रभेदे, स्था० १० ठा० ॥

ओवयाण-अवपदान-न० प्रेक्षणके, ज्ञा० १ अ० ॥

ओवयारियविणय-औपचारिकविनय-पुं० उपचारो लोकव्यवहारः पूजा वा प्रयोजनमस्येत्यौपचारिकः स चासौ विनयश्च । भक्तिरूपे, । पंचा० ६ विव० । प्रतिरूपयोग्यव्यापारात्मके विनयभेदे, दश० ९ अ० ॥

ओववाइय-औपपातिक-पुं० उपपातः प्रादुर्भावो जन्मान्तरसंक्रान्तिः । उपपाते भव औपपातिकः । संसारिणि, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ॥ उपपाताज्जाता उपपातजाः । अथवा उपपति भवा औपपातिकाः । देवनारकेषु, दश० ४ अ० । आचा० । विशे० । उपपातेन भवे, उत्त० ५ अ० । उपपातेन निर्वृत्ते वा पदार्थमात्रे, न० । उपपातजन्मनिमित्ते देवनारकाणां संबन्धिनि वैक्रियशरीरे, न० । पं० सं० १ द्वा० । आचाराङ्गसंबन्धिनि प्रथमे उपाङ्गे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । औ० । " श्रीवर्धमानमानम्य प्रायोऽन्यग्रन्थवीक्षिता । औपपातिकशास्त्रस्य, व्याख्या काचिद्विधीयते " अथौपपातिकमिति कः शब्दार्थः उच्यते । उपपतनमुपपातो देवनारकजन्म सिद्धिगमनं चातस्तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकमिदं चोपाङ्गं वर्तते । आचाराङ्गस्य हि प्रथममध्ययनं शस्त्रपरिज्ञा तस्याद्योद्देशके सूत्रमिदम् " एवमेगेसिं नोनायं भवइ अत्थि वा मे आया उववाइए नत्थि वा मे आया उववाइए के वा अहं आसी के वा इह च्चुए पेच्चा इह भविस्सामीत्यादि " इह च सूत्रे यदौपपातिकत्वमात्मनो निर्दिष्टं तदिह प्रपञ्च्यत इत्यर्थतोऽङ्गस्य समीपभावेनेदमुपाङ्गम् । इति व्युत्पत्तेः । औ० ।

ओवसग्गिय-औपसर्गिक-पुं० उपसर्गाय प्रभवति सन्तापा० ठक् । उपसर्गसमर्थे रोगभेदे, । वातादिसंनिपाते, दैवारिष्टसूचके ग्रहदौस्थ्यादौ च वाच० । उपसर्गेण निर्वृत्तम् प्रपरेत्यादिके नामभेदे, आ० म० द्वि० । विशे० । परीत्यौपसर्गिकमुपसर्गेषु पठितत्वात् । अनु० ॥

ओवसामिय-औपशामिक-पुं० उपशमो भस्मच्छन्नाग्निरिवानुद्रेकावस्थाप्रदेशतोऽप्युदयाभावः । द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणम् (कर्म०) इति यावत् । इत्थं भूतश्चोपशमः सर्वोपशम उच्यते । स च मोहनीयस्यैव कर्मणो न शेषस्य । "सव्वोवसमो मोहस्सेव उ " इति वचनात् तत्र चैवं शब्दव्युत्पत्तिरुपशम एवौपशमिकः स्वार्थ इकण्प्रत्ययः । यद्वा उपशमेन निर्वृत्त औपशमिकः । क्रोधाद्युदयाभावफलरूपे जीवस्य परमशान्तावस्थालक्षणपरिणामविशेषे, । अयं च षण्णां भावानां प्रथमो द्वितीयो वा । प्रव० २२१ द्वा० । पं० सं० । आ० म० द्वि० ।

औपशमिकस्य द्वैधं निर्दिदिक्षुराह ।

से किं तं उवसमिए २ दुविहे पएणत्ते । तं जहा । उवसमे अ उवसमनिप्पन्ने अ । से किं तं उवसमे २ मोहणिज्जस्स कम्मस्स उवसमेणं सेत्तं उवसमे । से किं तं उवसमनिप्पणे २ अणेगविहे पण्णत्ते तं जहा उवसंतकोहे जाव उवसंतलोभे उवसंतपेज्जे उवसंतदोसे उवसंतदंसणमोहणिज्जे उवसंतमोहणिज्जे उवसमिआसम्मत्तलद्धी उवसमिआचरित्तलद्धी । उवसंतकसाया छउमत्थवीतरागो सेत्तं उवसमणिप्पन्ने सेत्तं उवसमिए ।

औपशमिको द्विविध उपशमस्तन्निष्पन्नश्च उपशमनिष्पन्ने तु (उवसंतकोहे इत्यादि) इहोपशान्तक्रोधादिव्यपदेशास्त्वापि याचनाविशेषाः कियन्तोऽपि दृश्यन्ते । तत्र मोहनीयस्योपशमेन दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं चोपशान्तं भवति । तदुपशान्ततायां च स्वेच्छया देशाः संभवन्ति ते सर्वेऽप्यत्रादुष्टा न दोषा इति भावनीयम् । (सेत्तमित्यादि) निगमनद्वयं निर्दिष्टो द्विविधोऽप्यौपशमिकः । अनु० । द्विभेदोऽयम् । (सम्मंचरणं पढमभावेत्ति) इह यथासंख्यं दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयकर्मोपशमभूतं सम्यक्त्वं चरणं च प्रथमे आद्ये भावे औपशमिकलक्षणे भवतीति शेषः । इति निरूपितौ द्वौ भेदावौपशमिकभावस्य । कर्म० । प्रव० ।

ओवसामियसम्मत्त-औपशमिकसम्यक्त्व--न० उपशम उदीर्णस्य मिथ्यात्वस्य क्षये सति अनुदीर्णस्य उपशमे विपाकप्रदेशवेदनरूपस्य द्विविधस्यापि उदयस्य विष्कम्भणं तेन निर्वृत्तमौपशमिकम् । कर्म० । भस्मच्छन्नाग्निवत् मिथ्यात्वमोहनीयस्यानन्तानुबन्धिनां च क्रोधमानमायालोभानामनुदयावस्था उपशमः प्रयोजनं प्रवर्तकमस्य औपशमिकं तच्च तत्सम्यक्त्वं च । सम्यक्त्वभेदे, तच्चानादिमिथ्यादृष्टेः करणत्रयपूर्वकमान्तर्मुहूर्तिकं चतुर्गतिकस्यापि संज्ञिपर्याप्तपञ्चेन्द्रियस्य जन्तोर्ग्रन्थिभेदानन्तरं भवतीत्युक्तप्रायम् । यद्वा उपशमश्रेण्यारूढस्य भवति । यदाह । " उवसमसेढिगयस्स उ, होइ उवसामिअं तु सम्मत्तं । जीवा अकयति पुंजो, अखवि अमित्था लहइ सम्मत्ति " । ग्रन्थिप्रदेशं यावत्तु अभव्योऽपि संख्येयमसंख्येयं वा कालं तिष्ठति तत्र स्थितश्च भव्यो द्रव्यश्रुतं भिन्नानि दशपूर्वाणि यावल्लभते । जिनर्द्धिदर्शनात् स्वर्गसुखार्थित्वादेव दीक्षाग्रहणे तत्संभवात् । अत एव भिन्नदशपूर्वान्तं श्रुतं मिथ्याश्रुतमपि स्यादित्यन्यदेतत् । ध० २ अ० । एतत्सर्वं सम्मत्त शब्दे सोपपत्तिकमुपपादयिष्यामि)

ओवहिय-औपधिक-पुं० मायित्वेन प्रच्छन्नचारिणि, ज्ञा० २ अ० । प्रश्न० ।

ओवाइय–**औपपातिक**–न० उपपतनमुपपातो देवनारकजन्मसिद्धिगमनं च । तदधिकृतमध्ययनमौपपातिकं प्राकृतात्वाद्वर्णलोपः । आचाराङ्गस्योपाङ्गे, पा० ।

आवपातिक–पुं० अवपातः सेवा सा प्रयोजनमस्येति आवपातिकः । सेवके, तत्प्रकारे पुत्रभेदे, स्था० १० ठा० ।

ओवाई–**अवपायी**–स्त्री० पोताकीप्रतिपक्षभूतायां परिव्राजकमन्त्रिन्यां विद्यायाम, " ततो पोयागिं मुयइ इयरो तासिं ओवाइं " आ० म० द्वि० ।

ओवाडण–**अवपातन**–न० विदारणे, ज्ञा० १६ अ० । स्था० ।

ओवाय–**अवपात**–पुं० गर्तादौ, दश० ४ अ० । आचा० । सद्गुरूणां सेवायाम, स्था० ३ ठा० । ज्ञा० । गर्तविशेषे, प्रश्न० । प्रपातस्थाने यत्र चलन् जनः सप्रकाशेऽपि पतति । जं०२ वक्ष० ।

ओवायपव्वज्जा–**अवपातप्रव्रज्या**–स्त्री०अवपात· सद्गुरूणां सेवा ततो या प्रव्रज्या साऽवपातप्रव्रज्या । प्रव्रज्याभेदे, स्था०४ ठा० ।

ओवायवं–**अवपातवत्**–त्रि० वन्दनशीले, निकटवर्तिनि च । दश० ६ अ० ।

ओवारि–**अपवारि**–न० दीर्घतरधान्यकोष्ठागारविशेषे, अनु० ।

ओवाहिय–**औपाधिक**–त्रि० उपाधिरेव विनयादित्वात् स्वार्थे ठञ् । साध्यसमव्यापकत्वरूपे उपाधौ, वाच० । उपाधेरागतमौपाधिकम । समवायसंबन्धलक्षणेनोपाधिनाऽऽत्मनि समवेत ज्ञानादौ, आत्मनः स्वयं जडरूपत्वात्समवायसंबन्धोपढौकिते, स्या० । उपाधिना निर्वृत्तः वा ठञ् । उपाधिकृते, स्त्रियां ङीप् । " रूढं संकेतवन्नाम सैव संज्ञेति कीर्त्यते । नैमित्तिकी पारिभाषिक्यौपाधिक्यपि तद्विदा " वाच० ।

ओविय–**ओपित**–त्रि० उज्ज्वालिते, ज्ञा० १६ अ० । खचिते, । आ०म०प्र० । परिकर्मिते, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । रा० ।

ओवीलय–**अपव्रीडक**–पुं० लज्जयाऽतीचारान् गोपायन्तमुपदेशविशेषैरपव्रीडयति विगतलज्जं करोतीति अपव्रीडकः आलोचनाकारयितरि योग्ये गुरौ, अयं ह्यालोचकस्यात्यन्तमुपकारको भवति । पंचा० १५ विव० ।

ओस–**अवश्याय**–पुं०स्नेहे, "उदगं वा ओसं वा हिमं वा" दश० ४ अ० । विशे० । आचा० । "अवश्यायो रजन्यां यः स्नेहः पतति । उदकसूक्ष्मतुषारे, अप्कायभेद एषः । आचा० २ श्रु० १ अ० ॥

ओसक्कइत्ता–**अवष्वष्क्य**– अव्य० पृष्ठतो गत्वेत्यर्थे, आ० म० प्र० " ओसक्कइत्ता " विवादे अवष्वष्क्य अपसृत्यावसरलाभाय-कालहरणं कृत्वा यो विधीयते स तथोच्यते । विवादभेदे, स्था० ८ ठा० ॥

ओसक्कंत–**अवष्वष्कत्**– त्रि० अपसरणं कुर्वति, ग० २ अधि० ॥

ओसक्कण–**अवष्वष्कण**–न० स्वयोगप्रवृत्तिकालावधेरेव अर्वाक्करणमवष्वष्कणम् । ध०३ अधि० । स्वयोगप्रवृत्तिनियतकालावधेरर्वाक्करणे, पिं० । विवक्षितविध्वंसनादिकालस्य ह्रासकरणे, अर्वाक्करणे, बृ० १ उ० । (अवष्वष्कणे प्राभृतिकदोष इति तत्स्थान एवास्य स्वरूपमाख्यास्यते) अपसर्पणे, पंचा० १३ विव० । ज्वलदुल्मुकानां प्रज्वलनार्थमुदीरणे, बृ० २ उ० ।

ओसक्किय–**अवष्वष्क्य**–अव्य० अतिदाहभयादुल्मुकान्युत्सार्येत्यर्थे, दश० ४ अ० ॥

ओसचारण–**अवश्यायचारण**– पुं० अवश्यायमाश्रित्य तदाश्रयजीवानुपरोधेन याति । चारणभेदे, ग० २ अ० ।

ओसण्ण–**अवसन्न**– पुं० सामाचारीविषये अवसीदति प्रमाद्यति यः सोऽवसन्नः । प्रव० २ द्वा० । व्य० । सूत्र० । आव० । अवसन्न इव श्रान्त इवावसन्नः । आवस्यादनुष्ठानात् सम्यक्करणात् (भ० ६ श० ७ उ०) अवसीदति स्म । क्रियाशैथिल्यान्मोक्षमार्गे श्रान्त इवावसन्नः । ध० २ अधि० । विवक्षितानुष्ठानालसे, आवश्यकस्वाध्यायप्रत्युपेक्षणध्यानादीनामसम्यक्कारिणि, ज्ञा० ६ अ० । आवश्यकादिष्वनुद्यमे, व्य० द्वि० ३ उ० ॥

तद्भेदा यथा–

दुविहो खलु ओसन्नो, देसे सव्वे य हीति नायव्वो ।
देसोसन्नो तहियं, आवासाई इमो होई ॥

अवसन्नो खलु भवति द्विविधो ज्ञातव्यः । तद्यथा देशे देशतः तत्र देशावसन्न आवश्यकाद्यविकृत्यायां वक्ष्यमाणो भवति । तमेवाह ॥

आवासगसज्झाए, पडिलेहणझाणभिक्खभत्तट्ठे ।
आगमणे निग्गमणे, ठाणे निसीयणतुयट्ठे ॥

आवश्यकादिष्ववसीदन् देशतोऽवसन्न इत्यायातो गाथाक्षरयोजनार्थः । भावार्थस्त्वयम् । आवश्यकमनियतकालं करोति । यदि वा हीनं हीनकायोत्सर्गादिकरणात् । अतिरिक्तं वा अनुपेक्षार्थमधिककायोत्सर्गकरणात् । अथवा यद्दैवसिके आवश्यके कर्तव्यं तत् रात्रिके करोति । रात्रिके कर्तव्यं दैवसिके । तथा स्वाध्यायं सूत्रपौरुषीलक्षणं वा । अत्र गर्दितं " कुरु त्वमिति" गुरुणोक्ते गुरुसन्मुखीभूय किंचिद्यदनिष्टं जल्पित्वा अप्रियेण करोति न करोति वा सर्वथा विपरीतं वा करोति । कालिकवेलायामुत्कालिकं वा कालवेलायां प्रतिलेखनामपि वस्त्रादीनामावर्तनादिभिरूणामतिरिक्तां वा विपरीतां वा दोषैर्वा संसक्तां करोति तथा ध्यानं धर्मध्यानं शुक्लध्यानं वा यथा कालं न ध्यायति । तथा भिक्षां न हिण्डते गुरुणा वा भिक्षानियुक्तो गुरुसन्मुखं किञ्चिदनिष्टं जल्पित्वा हिण्डते । तथा भक्तविषयं प्रयोजनं सम्यक् न करोति न मण्डल्यां समुद्दिशति । काकशृगालादिभक्षितं वा करोति । अन्ये तु व्याचक्षते (भत्तट्ठित्ति) अभक्तार्थग्रहणं सकलप्रत्याख्यानोपलक्षणं ततोऽयमर्थः । प्रत्याख्यानं करोति गुरुणा वा भणितो गुरुमुखं किंचिदनिष्टमुक्त्वा करोति आगमने नैषेधिकीं न करोति निर्गमने आवश्यिकीं च स्थाने ऊर्ध्वस्थाने निषीदने उपवेशने त्वग्वर्तने शयने एतेषु क्रियमाणेषु न प्रत्युपेक्षणां करोति । नापि प्रमार्जनां करोति । अथवा प्रत्युपेक्षणप्रमार्जने दोषदुष्टे ॥

सांप्रतमावश्यकद्वारं व्याख्यानयति ॥

आवस्सयं अणियय, करेइ हीणाइरित्तविवरीयं ।
गुरुवयणेण नियोगे, वलाइ इणमो उ ओसन्नो ॥

आवश्यकमनियतमनियतकालं यदि वा हीनमथवाऽतिरिक्तं विपरीतं वा करोति गुरुराचार्यस्तस्य वचनं गुरुवचनं तेन नियोगो व्यापारस्तस्मिन् सति सन्मुखो वलति । किमुक्तं भवति । गुरुणा भिक्षादिषु नियुक्तः सन् गुरुसंमुखमेव किंचिदनिष्टं भाषमाणो वलनेन गुरुवचस्तथैवानुतिष्ठति । एकदेशतोऽवसन्नः । अत्र प्रायश्चित्तविधिः पार्श्वस्थस्यैवानुसरणीयः । यदुक्तं " गुरुसन्मुखो वलते " इति तत्सविशेषं विवृणोति ॥

जह उ वइल्लो वलवं, भंजति समिलं तु सो वि एमेव ।
गुरुवयणं अकरेंतो, वलाइ कुणतीव उस्सोढुं ॥

यथा बलवान् वलीवर्दः प्रेरितः सन् दुःशीलतया संमुखं व्यावर्त्यमानः समिलां भनक्ति । एवमेव अनेनैव प्रकारेण सोऽप्यवसन्नो गुरुवचनमकुर्वन् संमुखो वलते न पुनः करोति । ततः कार्यं करोति वा उत्सह्य उच्छब्दोऽत्र निषेधार्थं आसाद्य इत्यर्थः । किमुक्तं भवति । गुरुसन्मुखं किंचिदनिष्टमुक्त्वाऽमर्षं करोतीति उक्तो देशतोऽवसन्नः । सर्वतोऽवसन्नमाह ॥

ओवद्धपीठफलगं, ओसन्नं संजयं वियाणाहि ।
ठावियगरइयभोई, एमेया पडिवत्तिओ ॥

यः पक्षस्याभ्यन्तरे पीठफलकादीनां बन्धनानि मुक्त्वा प्रत्युपेक्षं न करोति यो वा नित्यविस्तृतसंस्तारकः सोऽववद्धपीठफलकः । तं संयतं सर्वतोऽवसन्नं तद्विजानीहि । यथा यः स्थापितकभोजी स्थापनादोषदुष्टप्राभृतिकभोजी रचितकं नाम कांस्यपात्रादि देयबुद्ध्या वैविक्त्येन स्थापितं तद् भुङ्क्ते इत्येवं शीलो रचितकभोजी तमपि सर्वतोऽवसन्नं जानीहि । एवममुना प्रकारेण एता अवसन्नविषये प्रतिपत्तयो वेदितव्याः ॥

अधुना प्रायश्चित्तविधिमाह ॥

सामायारी वितहं, ओसन्नो जं च पावए जत्थ ।
सम्मत्तो व अलंदो, नडरुवी एलगो वेव ॥

सामाचारीं ज्ञानादिसामाचारीं " काले विणए " इत्यादिरूपां यदि वा सूत्रमण्डल्यर्थं मण्डल्यादिगतां सामाचारीं वितथा कुर्वन् । यत्र स्थाने यत्प्रायश्चित्तं प्राप्नोति तत्र तस्य स्वस्थाननिष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति । गतमवसन्नसूत्रम् । व्य० प्र० १ उ० ॥ " जे भिक्खू ओसण्णं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ " । जे भिक्खू ओसण्णं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ नि० चू० १३ उ० । शिथिले, ग० १ अधि० । शिथिलतां गते, व्य० ३ उ० । मग्ने, । सूत्र० १ श्रु० २ अ० । श्रान्ते, । ज्ञ० १० श० ४ उ० ॥

उत्सन्न–त्रि० प्राचुर्ये, । प्रश्न० १ द्वा० । प्रायोऽर्थे, कल्प० । आव० ।

ओसण्णचरणकरण–अवसन्नचरणकरण–पुं० स्त्री० अवसन्ने शिथिलतां गते चरणकरणे व्रतश्रमणधर्मादिपिण्डविशोधितमित्यादिरूपे यस्य सोऽवसन्नचरणकरणः । शिथिलचरणकरणे, व्य० प्र० ३ उ० ।

ओसण्णदोस–अवसन्नदोष–पुं० हिंसादीनामन्यतरस्मिन्, अवसन्नं प्रवृत्तेः प्राचुर्यं बाहुल्यं यत्स एव दोषः । अथवा 'ओसन्नमिति' बाहुल्येनानुपरतत्वेन दोषो हिंसादीनां चतुर्णामन्यतरोऽवसन्नदोषः । धर्मध्यानस्य प्रथमे लक्षणे, स्था० ४ ठा० । ग० ।

ओसण्णविहारि (ण्)–अवसन्नविहारिन्–पुं० आजन्मशिथिलाचारे, ज्ञ० १० श० ४ उ० ।

ओसत्त–अवसक्त–त्रि० संवद्धे, ज्ञा० ३ अ० ।

ओसप्पिणी–अवसर्पिणी–स्त्री० । अवसर्पयति भावानित्येवंशीलाऽवसर्पिणी । ज्ञ० ५ श० १ उ० । अवसर्पति हीयमानारकतया अवसर्पयति वाऽऽयुष्कशरीरादिभावान् हापयतीत्यवसर्पिणी । स्था० १ ठा० । अवसर्पन्ति क्रमेण हानिमुपपद्यन्ते शुभा भावा अस्यामित्यवसर्पिणी । (सागरोपमशब्दे वक्ष्यमाणस्वरूपाणां सागरोपमाणां) सूक्ष्माद्धासागरोपमाणां परिपूर्णादिसागरोपमकोटाकोट्यात्मके कालविशेषे, । अवसर्पिण्यां च समस्ता अपि शुभा भावाः क्रमेणानन्तगुणतया हीयन्ते । अशुभा भावाः क्रमेणानन्तगुणतया परिवर्धन्ते । ज्यो० १ पाहु० । नं० । अनु० । विशे० । "दससागरोवमकोडाकोडीओ कालो ओसप्पिणी ए " । स्था० १० ठा० ॥ अत्र षडरकाः " छव्विहा ओसप्पिणी पण्णत्ता तंजहा सुसमसुसमा जाव दुस्समदुस्समा" स्था० ६ ठा०

(१) अवसर्पिण्या भेदाः ।
(२) सुषमादीनां प्रमाणम् ।
(३) सुषमसुषमास्वरूपम् ।
(४) मेरुतालादिवृक्षवर्णनम् ।
(५) वनश्रेणिवर्णनं तत्र कल्पवृक्षस्वरूपवर्णनं च ।
(६) तत्कालभाविमनुष्यादिस्वरूपम् ।
(७) मनुष्यादीनां भवस्थितिः ।
(८) द्वितीयारकस्वरूपम् ।
(९) तृतीयारकस्वरूपं तत्र जगद्व्यवस्थावर्णनं च ।
(१०) चतुर्थारकस्वरूपनिरूपणम् ।
(११) पञ्चमारकस्वरूपम् ।
(१२) षष्ठारकस्वरूपकथनम् ।
(१३) भरतभूमिस्वरूपम् ।

(१) अवसर्पिण्या भेदाः ।

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे कतिविहे काले पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे काले पण्णत्ते तं जहा उस्सप्पिणीकाले अ ओसप्पिणीकाले अ । ओसप्पिणीकाले णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! छव्विहे पण्णत्ते तं जहा सुसमसुसमाकाले सुसमाकाले सुसमदुस्समा काले दुस्समसुसमाकाले दुस्समाकाले दुस्समदुस्समाकाले ॥

अवसर्पिणीकालः कतिविधः प्रज्ञप्तः गौतम ! षड्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा सुष्ठु शोभनाः समाः वर्षाणि यस्यां सा सुषमा "निर्दुःसुवेःसमसुतेरिति " षत्वं सुषमा चासौ सुषमा च सुषमसुषमा द्वयोः समानार्थयोः प्रकृष्टार्थवाचकत्वादत्यन्तसुषमा एकान्तसुखस्वरूपोऽस्या एव प्रथमारके इत्यर्थः । सा चासौ कालश्चेति । द्वितीयः सुषमाकालः । तृतीयः सुषमदुःषमा दुष्टाः समा अस्यामिति दुःषमा । सुषमा चासौ दुःषमा च सुषमदुःषमा । सुषमानुभावबहुलाल्पदुःषमानुभावेत्यर्थः । चतुर्थो दुःषमसुषमा । दुःषमा चासौ सुषमा च दुःषमसुषमा । दुःषमानुभावबहुलाल्पसुषमानुभावेत्यर्थः । पञ्चमो दुःषमा । षष्ठो दुःषमदुःषमाकालः । निरुक्तं तु सुषमसुषमावत् ॥

(२) सुषमादीनां प्रमाणमित्थम् ॥

एएणं सागरोवमप्पमाणेणं चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमसुसमा । १ । तिण्णि सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमा २ दो सागरोवमकोडाकोडीओ कालो सुसमदुस्समा ३ एगा सागरोवमकोडाकोडी बायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिआ कालो दुस्समसुसमा ४ एक्कवीसं वाससहस्साइं कालो दुस्समा ५ एक्कवीसं वास सहस्साइं कालो दुस्समदुस्समा ६ पुणरवि ओसप्पिणीए एक्कवीसं वाससहस्साइं । कालो दुस्समदुस्समा । एवं पडिलोमं णेअव्वं जाव चत्तारि सागरोवमकोडाकोडीओ

कालो सुसमसुसमा। दससागरोवमकोडाकोडीओ कालो ओसप्पिणी ॥

एतेन सागरोपमप्रमाणेनान्यूनाधिकेनेत्यर्थः। चतस्रः सागरोपमकोटाकोट्यः कालः सुषमसुषमा प्राग्वर्णितान्वर्था। अयमर्थः। चतुःसागरोपमकोटीलक्षणः कालः प्रथमारक इत्युच्यते (वायालीसत्ति) या च सागरोपमकोटाकोट्येकाद्विचत्वारिंशत्सहस्रैरूनैवोनिका असौ कालश्चतुर्थोऽरः सा दुःषमासत्कैरेकविंशतिसहस्रैश्च वर्षाणां पूरणीया। तेन पूर्णकोटाकोट्येका भवति। अवसर्पिणीकालस्य दशसागरकोटाकोटीपूरिका भवतीत्यर्थः। एवं प्रतिलोमेति पश्चानुपूर्व्या ज्ञेयम। उक्तं भरतकालस्वरूपम् ॥

(३) अथ काले भरतस्वरूपं पृच्छन्नाह। तत्रावसर्पिण्या वर्तमानत्वेनादौ सुषमसुषमायां प्रश्नः ॥

जंबुद्दीवे णं भंते! दीवे भरहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए उत्तमकट्ठपत्ताए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोयारे होत्था? गोयमा! बहुसमरमणिज्जभूमिभागे होत्था से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव णाणामणिपंचवण्णेहिं। तणेहि य मणीहि य उवसोभिए। तं जहा किण्हेहिं जाव सुक्किल्लेहिं एवं वण्णो गंधो फासो सद्दो अ तणाण य मणीण य भाणिअव्वो जाव तत्थ णं बहवे मणुस्सा मणुस्सीओ अ आसयंति सयंति चिट्ठंति णिसीअंति तुअट्टंति हसंति रमंति ललंति। तीसे णं समाए भरहे वासे बहवे उद्दाला कुद्दाला समुद्दाला कयमाला णट्टमाला दंतमाला सिंगमाला संखमाला सेअमाला णामं दुमगणा पण्णत्ता? कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला मूलमंतो कंदमंतो जाव बीअमंतो पत्तेहि अ पुप्फेहि अ फलेहि अ अउच्छण्णपडिच्छण्णा सिरीए अईवोवसोभेमाणा चिट्ठंति ॥

जम्बूद्वीपे भदन्त! द्वीपे भरतक्षेत्रेऽस्यामवसर्पिण्यां संप्रति यावर्तमानेति शेषः। सुषमसुषमानाम्न्यां समायां कालविभागलक्षणायां अरके इत्यर्थः। किंलक्षणायामित्याह। उत्तमकाष्ठां प्रकृष्टामवस्थां प्राप्तायां "क्वचिदुत्तमकठपत्ताए इति" पाठस्तत्रोत्तमान् सत्कालापेक्षयोत्कृष्टान् अर्थान् वर्णादीन् प्राप्ता उत्तमार्थप्राप्ता तस्यां भरतस्य वर्षस्य कीदृश आकारभावप्रत्यवतारः (होत्थेत्ति) अभवत्। सर्वमन्यत्प्राग्व्याख्यातार्थं नवरमत्र मनुष्योपभोगाधिकारे शयनमुभयथापि संगच्छते निद्रासहितत्वभेदात्। अथ सविशेषमनुजिघृक्षुणा गुरुणा पृष्टमपि शिष्यायोपदेष्टव्यमिति प्रश्नपद्धतिरहितं प्रथमारकानुभावजनितभरतभूमिसौभाग्यसूचकं सूत्रचतुर्दशकमाह (तीसेणमित्यादि) तस्यां समायां भरतवर्षे बहवे उद्दालाः कोद्दालाः समुद्दालाः कृतमालाः दन्तमालाः शृङ्गमालाः शङ्खमालाः श्वेतमाला नाम द्रुमगणा द्रुमजातिविशेषसमूहाः प्रज्ञप्तास्तीर्थकरगणधरैः। हे श्रमण! आयुष्मन् ते च कथंभूता इत्याह। कुशाः दर्भाः विकुशा विल्वजादयस्तृणविशेषास्तैर्विशुद्धं रहितं वृक्षमूलं तदधोभागो येषां ते तथा। इह मूलं शाखादीनामपि आदिमो भागो लक्षणया प्रोच्यते यथा शाखामूलमित्यादि। तथा सकलवृक्षसत्कमूलप्रतिपत्तये वृक्षग्रहणं मूलमन्तः कन्दमन्त इति पदद्वयं यावत्पदसंग्राह्यं च जगतीवनगततरुगणवद्व्याख्येयम। पत्रैश्च पुष्पैश्च फलैश्च अवच्छन्नप्रतिच्छन्ना इति प्राग्वत्। श्रिया अतीवोपशोभमानास्तिष्ठन्ति वर्तन्ते इति भावः।

(४) तत्र भेरुतालादिवृक्षनिरूपणायाह।

तीसे णं समाए भरहे वासे तत्थ तत्थ बहवे भेरुतालवणाइं हेरुतालवणाइं सेरुतालवणाइं सालवणाइं सरलवणाइं सत्तिवण्णवणाइं पूअफलिवणाइं खज्जूरीवणाइं णालिएरिवणाइं कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूलाइं जाव चिट्ठति। तीसे णं समाए भरहे वासे तत्थ तत्थ बहवे सेरिआगुम्मा णोमालिआगुम्मा कोरंटयगुम्मा बंधुजीवगगुम्मा बीअगुम्मा बाणगुम्मा कणइरगुम्मा कुज्जायगुम्मा सिंदुवारगुम्मा जोईगुम्मा मोग्गरगुम्मा जूहिआगुम्मा मल्लिआगुम्मा वासंतिआगुम्मा वत्थुलगुम्मा वालगुम्मा आगत्थिगुम्मा चंपगगुम्मा जावीगुम्मा णवणीआगुम्मा कुंदगुम्मा महाजाईगुम्मा रम्मा महामेहणिकुरंबभूआ दसद्धवण्णं कुसुमं कुसुमेंति जेणं भरहे वासे बहुसमरमणिज्जं भूमिभागं वायविधुअग्गसालामुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिअं करेंति। तीसे णं समाए भरहे वासे तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहुईओ पउमलयाओ जाव सामलयाओ णिच्चं कुसुमिआओ जाव लयावण्णाओ ॥

तस्यां समायां बहूनि सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् भेरुतालादयो वृक्षविशेषाः 'क्वचित्पभवालवणा इति' पाठस्तत्र प्रभवालास्तरुविशेषाः सालः सर्जः सरलो देवदारुः सप्तपर्णः प्रतीतस्तेषां वनानि पूगफली क्रमुकतरुः खर्जूरीनारिकेरे प्रतीते तासां वनानि शेषं प्राग्वत् (तीसेणमित्यादि) तस्यां समायां बहवः सेरिकागुल्माः नवमालिकागुल्माः बन्धूजीवकगुल्मा यत्पुष्पाणि मध्याह्ने विकसन्ति मनोवगुल्माः बीजकगुल्माः बाणगुल्माः कुब्जगुल्माः सिन्दुवारगुल्माः जातिगुल्माः मुद्गरगुल्माः यूथिकागुल्माः मल्लिकागुल्माः वासन्तिकगुल्माः वस्तुलगुल्माः सेवालगुल्माः अगस्त्यगुल्माः चम्पकगुल्माः जातिगुल्माः नवनीतिकागुल्माः कुन्दगुल्मा महाजातिगुल्माः। गुल्मा नाम ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेताः। एषाश्च केचित् प्रतीताः। केचिद्देशविशेषतोऽवगन्तव्याः। रम्याः महामेघनिकुरम्बभूताः। दशार्धवर्णं पञ्चवर्णं कुसुमं जातावेकवचनं कुसुमसमूहं कुसुमयन्ति उत्पादयन्तीति भावः "ये णमिति" प्राग्वत्। भरते वर्षे इति षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात् भरतस्य वर्षस्य समरमणीयं भूमिभागं वातविधूता वायुकम्पिता या अग्रशालास्ताभिर्मुक्तो यः पुष्पपुञ्जः स एवोपचारः पूजा तेन कलितं युक्तं कुर्वन्तीति (तीसेणमित्यादि) सर्वमेतत् प्राग्वत् ॥

(५) अथात्रैव वनश्रेणिवर्णनायाह।

तीसे णं समाए भरहे वासे तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहुईओ वणराईओ पण्णत्ताओ किण्हाओ किण्हाभासाओ जाव मणोहराओ रयमत्तछप्पयकोरगभिंगारगकोंडलगजीवंजीवगनंदीमुहकविलपिंगलक्खगकारंडवचक्कवायगकलहंससारसअणेगसउणगणमिहुणविअरिआओ सद्दुण्णइयमहुरसरणाइआओ संपिंडिअणाणाविहगुच्छवावीपुक्खरिणीदी-

हिआसुअसुणिविचित्तअभिन्तरसाहुणिरोगकसव्वोउअपुप्फलसमिद्धिओ पिंमिमजातपासादिआओ तीसे णं समए भरहे वासे तत्थ तत्थ तहिं तहिं मत्तंगा णामं दुमगणा पण्णत्ता । जहा से चंदप्पभा जाव छणपामिच्छण्णा चिट्ठंति। एवं जाव अणिगणा णाम दुमगणा पण्णत्ता ।

तत्र तत्र प्रदेशे तस्य देशस्य तत्र तत्र प्रदेशे बहवो वनराजयः प्रज्ञप्ताः इहानेकजातीयानां वृक्षाणां पङ्क्तयो वनराजयः ततः पूर्वोक्तसूत्रेभ्योऽस्य भिन्नार्थतेति न पौनरुक्त्यं ताश्च कृष्णाः कृष्णावभासा इत्यादिविशेषेण जातं प्राग्वत् । यावन्मनोहारिण्यः। यावत्पदसंग्रहश्चायं "णीलो भासाओ हरिआओ हरिओभासाओ सीआओ सीओभासाओ णिद्धाओ णिद्धो भासाओ तिव्वाओ तिव्वोभासाओ किण्हाओ किण्हच्छायाओ णीलाओ णीलच्छायाओ हरिआओ हरिअच्छायाओ सीआओ सीअच्छायाओ णिद्धाओ णिद्धच्छायाओ तिव्वाओ तिव्वच्छायाओ घणकमिअरुच्छायाओ" वाचनान्तरे " घणकडिअकडच्छायाओ महामेहणिकुरंबभूयाओ रम्माओ" इति एतत्सूत्रं प्राक् पद्मवरवेदिकावनवर्णनाधिकारे निखिलमपि यत्पुनर्लिखितं तदतिदेशदर्शितानां सूत्रे साक्षाद्दर्शितानां च वनवर्णकविशेषणपदानां विभागज्ञापनार्थमिति सूत्रे कानिचिदेकदेशग्रहणेन कानिचित्सर्वग्रहणेन कानिचित्क्रमेण कानिचिदुत्क्रमेण साक्षाल्लिखितानि सन्ति तेन मा भूद्वाचयितॄणां व्यामोह इति सम्यक् पाठज्ञापनाय वृत्तौ पुनर्लिख्यते । " रयमत्तछप्पयकोरगभिंगारगकोंडलगजीवंजीवगनंदीमुहकविलपिंगलक्खगकारंडवचक्कवायकलहंससारसअणेगसउणगणमिहुणविअरिआओ सद्दुण्णइअमहुरसरणादिआओ संपिंडिअदरिअभमरमहुकरपहकरपरिलिंतमत्तछप्पयकुसुमासवलोलमहुरगुमगुमेतगुंजंतदेसभागाओ (णाणाविह गुच्छत्ति) णाणाविहगुच्छगुम्ममंडवगसोहिआओ वावीपुक्खरिणीदीहिआसु-(असुअसुणित्ति)असुणिवेसे रम्मजालघरय(ओविचित्तत्ति)विचित्तसुहकेउभूआओ (अभिंतरमिति)अभिंतरपुप्फफलाओ बाहिरपत्तो वणाओ पत्तेहि अपुप्फेहि अ उच्छण्णपरिच्छण्णाओ 'साहुत्ति' साहुफलाओ (णिरोगकत्ति) णिरोगयाओ सव्वाओ अपुप्फफलसमिद्धाओ (पिंमिमत्ति) पिंडिमनीहारिमं सुगंधिसुहसुरभिमणहरं च महयागंधद्धुणिं मुअंतीउ जाव पासादीआउ ४ इति । व्याख्या प्राग्वत् नवरं (रतमत्ताः) सुरतोन्मादिनो ये षट्पदाद्या जीवा इत्यादि । एवमेव हि सूत्रकाराः पदैकांशग्रहणतः। " एवं जाव तहेव इच्चाइयाओ सेसं जहा इत्यादि' ' पदाभिव्यञ्जकैरिति देशैर्दर्शितविचक्षणाय वाच्याःसूत्रे लाघवं दर्शयन्ति। यत उक्तं निशीथभाष्ये षोडशोद्देशे "कत्थइ देसग्गहणं, कत्थइ भणंति निरवसेसाइं। उक्कमकमजुत्ताइं, कारणवसओ निरुत्ताइं " अथात्र वृक्षाधिकारात्कल्पद्रुमस्वरूपमाह (तीसेणमित्यादि) तस्यां समायां भरते वर्षे तत्र तत्र देशे तस्मिन् तस्मिन् प्रदेशे मत्तं मदस्तस्याङ्गं कारणं मदिरारूपं येषु ते मत्ताङ्गा नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ताः । कीदृशास्ते इत्याह । यथा ते चन्द्रप्रभादयो मद्यविधयो बहुप्रकाराः । सूत्रे चैकवचनं प्राकृतत्वात् । यावच्छन्नप्रतिच्छन्नास्तिष्ठन्ति एवं यावदनग्ना नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता इति । अत्र सर्वो यावच्छब्दाद्ग्राह्यः सूचितो मत्ताङ्गादिद्रुमवर्णको जीवाभिगमोक्तानुसारेण भावनीयः। स चायं " जहा से चंदप्पभामणिसिलागवरसीधुवरवारुणिसुजायपत्तपुप्फफलचोअणिज्जा ससारबहुदव्वजुत्तिसंभारकालसंधिआसवा महुमेरगरिट्ठाभदुद्धजातिपसन्नतल्लगसताउ खज्जूरमुद्दिआ सारकाविसायणसुपक्कखोअरसवरसुरावण्णगंधरसफरिसजुत्तबलविरिअपरिणामा मज्जविही बहुप्पगारा तहेव ते मत्तंगा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणया मज्जविहीए उववेया फलेहिं पुण्णा वीसंदंति कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूला । यावच्छन्नप्रतिच्छन्ना सिरीए अईव उवसोभेमाणा २ चिट्ठंतित्ति"। अत्र व्याख्या । "इदं च संकेतवाक्यमपरेष्वपि व्याख्यास्यमानकल्पद्रुमसूत्रेषु बोध्यम् चन्द्रस्येव प्रभा आकारो यस्याः सा चन्द्रप्रभा । मणिशिलाकेव मणिशिलाकावरा च तत् साधु च वरा चासौ वारुणी च वरवारुणी तथा सुजातानां सुपरिपाकागतानां पुष्पाणां फलानां चोयस्य गन्धद्रव्यस्य यो निर्यासो रसस्तेन साराः । तथा बहूनां द्रव्याणामुपबृंहकाणां युक्तयो मीलनानि तासां संभारःप्राभूत्यं येषु ते तथा काले स्वस्वोचिते सन्धिस्तदङ्गभूतानां द्रव्याणां संधानंयोजनमित्यर्थः तस्माज्जायन्ते इति कालसन्धिजा एवंविधाश्च ते आसवाः । किमुक्तं भवति । पत्रादिवासकद्रव्यभेदात् अनेकप्रकारो ह्यासवः । पत्रासवादिराननिर्दिष्टो भवतीति ततः पदद्वयपदद्वयमीलनेन विशेषण समासः। मधुमेरकौ मद्यविशेषौ रिष्टा भरिष्टा रत्नवर्णाभा याःशास्त्रान्तरे जम्बूकफलफलिकेति प्रसिद्धा दुग्धजातिः आस्वादतः क्षीरसदृशी प्रसन्ना सुराविशेषः । तल्लकोऽपि सुराविशेषः । शतायुर्नाम या शतवारं शोधिताऽपि स्वस्वरूपं न जहाति । सारशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् खर्जूरसारनिष्पन्न आसवविशेषः । सुपक्वः परिपाकागतो यः क्षोदरस इक्षुरसस्तन्निष्पन्ना वरसुरा एते सर्वेऽपि मद्यविशेषाः। पूर्वकाले लोकप्रसिद्धा इदानीमपि शास्त्रान्तरतो लोकतो वा यथास्वरूपं वेदितव्याः । कथंभूता एते मद्यविशेषा इत्याह वर्णेन प्रस्तावादतिशायिना एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेन च युक्ताः सहिता बलहेतवो वीर्यपरिणामा येषां ते तथा बहवः प्रकारा जातिभेदेन येषां ते बहुप्रकाराः तथैवेति पदभिन्नक्रमेण योजनात् । तथा स्वरूपेणैव न त्वन्यादेशेन मद्यविधिना मद्यप्रकारेणोपपेतास्ते मत्ताङ्गा अपि द्रुमगणा इति भावः । अन्यथा दृष्टान्तयोजना न सम्यग् भवति। इति किंविशिष्टेन मद्यविधिनेत्याह । अनेको व्यक्तिभेदात् बहुप्रभूतं यथा स्यात्तथाविधो जातिभेदान्नानाप्रकारो जातिभेदतो नानाविध इति भावः । स च केनापि कल्पपालादिना निष्पादितोऽपि संभाव्यते तत आह विस्रसया स्वभावेन तथाविधक्षेत्रादिसामग्रीविशेषजनिते परिणतो न पुनरीश्वरादिना निष्पादित इति । तत्र पदत्रयस्य पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । सूत्रे च स्त्रीत्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । ते च मद्यविधिनोपपेता न तालादिवृक्षा इवाङ्कुरादिषु किं तु फलादिषु । तथा चाह । फलेषु पूर्णाः मद्यविधिभिरिति गम्यम । सप्तम्यर्थे तृतीया प्राकृतत्वात् । यत् विष्यन्दन्ति स्रवन्ति सामर्थ्यात्तानेवानन्तरोदितान्मद्यविधीन् क्वचिद्विगसंतीति पाठः । तत्र विकसन्तीति व्याख्येयम् । किमुक्तं भवति । तेषां फलानि परिपाकगतमद्यविधिभिः पूर्णानि स्फुटित्वा २ तान् मद्यविधीन्मुञ्चन्तीति भावः । शेषं तथैव

अथ द्वितीयकल्पवृक्षजातिस्वरूपमाख्यातुमाह ।

तीसेणं समाए तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहवे भिंगा णामं दुमगणा पण्णत्ता। ता समया सो जहा सेवारगघमगकलसकमगकक्करिपायकांचणिउदंकबद्धणिसुपइट्ठगविट्ठरपारीचसकभिंगारकरोमिसरगपरगपत्तीथालणल्लगचवलिअअवमद

दगवारगविचित्तवट्टगमणिवट्टगसुत्तिवापीणया कंचणमणिरयणभत्तिचित्ता भायणविही य बहुप्पगारा तहेव ते भिंगा वि दुमगणा। अणेगबहुविहवीससा परिणयाए भायणविहीए उववेअफलेहिं पुण्णा विव विसंतीति ॥

तस्यां समायां तत्रेत्यादि प्राग्वत् भृतं भरणं पूरणमित्यर्थः। तत्राङ्गानि कारणानि न हि भरणक्रियाभरणीयं भाजनं वा भवतीति तत्संपादकत्वात् । वृत्ता अपि भृताङ्गाः । प्राकृतत्वाच्च भिंगा उच्यन्ते। यथा सेयारको मरुदेशप्रसिद्धनामा मङ्गल्यघटः घटको लघुघटः कलशो महाघटः करकः प्रतीतः । कर्करी स एव सविशेषः । पादकाञ्चनिका पादधावनयोग्या काञ्चनमयी पात्री उदङ्को येनोदकं मुच्यते वार्द्धानी लन्तिका यद्यपि नामकोशे करककर्करीवार्द्धानीनां न कश्चिद्विशेषस्तथापीह संस्थानादिकृतो विशेषो लोकतोऽवसेय इति सुप्रतिष्ठकः पुष्पपात्रविशेषः पारी स्नेहभाण्डं चषकः सुरापानपात्रं भृङ्गारः कनकालुकः शरको मदिरापात्रं पात्रीस्थले प्रसिद्धे दकवारको जलघटः विचित्राणि विविधचित्रोपेतानि वृत्तकानि भोजनक्षणोपयोगिघृतादिपात्राणि तान्येव मणिप्रधानानि वृत्तकानि मणिवृत्तकानि शुक्तिश्चन्दनाद्याधारभूता शेषा 'विट्ठरकरोडिनलकचपालितावमद्दगवारग' ०पीनकालोलतो विशिष्टसंप्रदायाद्वाऽवगम्याः काञ्चनमणिरत्नानां भक्तयो विच्छित्तयस्ताभिः चित्रा भाजनविधयो भाजनप्रकारा बहुप्रकारा एकैकस्मिन् विधाववान्तरानेकभेदभावात् । तथैवेति पूर्ववत् । ते भृताङ्गा अपि द्रुमगणा "अणेगेति" पूर्ववत् । भाजनविधिनोपपेताः फलैः पूर्णा इव विकसन्ति । अयमर्थस्तेषां भाजनविधयः फलानीव शोभन्ते । अथवा इवशब्दस्य भिन्नक्रमेण योजना तेन फलैः पूर्णा भाजनविधिना वोपपन्ना दृश्यन्ते इति ॥

अथ तृतीयकल्पवृक्षस्वरूपमाह ॥

तीसेणं समाए तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहवे तुडिअंगा णामं दुमगणा पण्णत्ता ! समणाउसो जहा से आलिंगमुइंगपणवपमहदद्दरगकरडिडिंडिमभंभाहोरंभकणियखरमुहिमुगुंदसंखिअपिरलीवच्चकपरिवाइणिवंसवेणुघोसविवंचिमहतिकच्छभिभिरिआ तलतालकंसतालसुसंपउत्ता। आतोज्जविहीनिउणगंधव्वसमयकुसलेहिं फंदिआ तिट्ठाणकरणसुद्धा तहेव ते तुडिअंगा वि दुमगणा। अणेगबहुविहवीससा परिणयाए ततविततघणसुसिराए आतोज्जविहीए उववेआ फलेहिं पुण्णा विव विसंट्टंति कुसविकुसं जाव चिट्ठंतीति ॥

यथा ते आलिङ्ग्यो नाम यो वादकेन मुरज आलिङ्ग्य वाद्यते हृदि धृत्वा वाद्यते इत्यर्थः मृदङ्गो लघुमर्दलः पणवो भाण्डपटहो लघुपटहो वा पटहः स्पष्टः दर्दरकः यस्य चतुर्भिश्चरणैरवस्थानं भुवि लगाधो चर्मावनद्धो वाद्यविशेषः। करटी सुप्रसिद्धा। भिंभः प्रथमप्रस्तावनासूचकः पणवविशेषः भम्भा ढक्का निःस्वनानि इति संप्रदायः होरम्भा महाढक्का महानिःस्वनानीत्यर्थः । क्वणिता काचिद्वीणा खरमुखी काहली मुकुन्दो मुरजविशेषो योऽतिलीनं प्रायो वाद्यते। शङ्खिका लघुशङ्खरूपा तस्याः स्वरो मनाक् तीक्ष्णो भवति न तु शङ्खस्येवातिगम्भीरः पिरलीवच्चकौ तृणरूपवाद्यविशेषौ। परिवादिनी। सप्ततन्त्री विणा वंशः प्रतीतः वेणुर्वंशविशेषः । सुघोषा वीणाविशेषः विपञ्चीतितन्त्री वीणा महती सप्ततन्त्रिका सा कच्छपी भारती वीणा। रिगसिगिका घर्ष्यमाणवादित्रविशेषः । इति श्राद्धविधिवृत्तौ एते कथंभूता इति । तलं हस्तपुटं तालाः कांस्यतालाश्च प्रतीताः एतैः सुसंप्रयुक्ताः सुष्ठु अतिशयेन सम्यग्यथोक्तनीत्या प्रयुक्ताः संबद्धाः यद्यपि हस्तपुटं न कश्चित्तूर्यविशेषः तथापि तदुत्थितशब्दप्रतिकृतिः शब्दशब्दो लक्ष्यते । एतादृशा आतोद्यविधयस्तूर्यप्रकाराः निपुणं यथा भवन्ति एवं गन्धर्वसमये नाट्यसमये कुशलास्तैः स्पन्दिता व्यापारत इति भावः । पुनः किंविशिष्टा इत्याह । त्रिषु आदिमध्यावसानेषु स्थानेषु करणेन क्रियया यथोक्तवादनक्रियया शुद्धा अवदाता न पुनरस्थानव्यापारणरूपदोषलेशेनापि कलङ्किताः तत्र त्रुटिताङ्गा अपि द्रुमगणास्तथैव तथा प्रकारेण नत्यन्यादृशेन । ततं वीणादिकं विततं पटहादिकं घनं कांस्यतालादिकं सुषिरं वंशादिकमेतद्रूपेण सामान्यतश्चतुर्विधेन आतोद्यविधिनोपपेताः शेषं प्राग्वत् इति ।

अथ चतुर्थकल्पवृक्षस्वरूपमाह ॥

तीसेणं समाए तत्थ तत्थ तहिं तहिं बहवे दीवसिहा णामं दुमगणा पण्णत्ता ? समणाउसो जहा सेसं जाविसमए नवनिहिवइणो दीविआचक्कवालविंदपभूयवट्टिपलित्तणाहे धणिउज्जालिए तिमिरमद्दए कणगनिगरकुसुमिअपालिअत्तगवणप्पगासे कंचणमणिरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंमाहिं दीविआहिं सहसा पज्जालिउस्सप्पिअनिद्धतेअदिप्पंतविमलगहगणसमप्पहाहिं वितिमिरकरसूरपसरिउज्जो अ विल्लिआहिं जालुज्जलपहसिअभिरामाहिं सोभमाणाहिं सोभमाणं तहेव ते दीवसिहा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए उज्जोअविहीए उववेआ फलेहिं पुण्णा कुसविकुसं जाव चिट्ठंतित्ति ॥

तस्यां समायां दीपशिखा इव दीपशिखास्तत्कार्यकारित्वात् । अन्यथा व्याघातकालत्वेन तत्राग्नेरभावात् दीपशिखानामप्यसंभवात् । योजना प्राग्वत् । यथा तत्संध्यारूपो विरूद्ध उपरि समयवर्तित्वेन मन्दो रागस्तत्समये तदवसरे नवनिधिपतेश्चक्रवर्तिन इव म्हस्वा दीपा दीपिकास्तासां चक्रवालं सर्वतः परिमण्डलरूपं वृन्दं कीदृगित्याह। प्रभूता भूयस्यः स्थूरा शिखवर्तीया दशा यस्य तत्तथा । पर्याप्तः परिपूर्णः स्नेहस्तैलादिरूपो यस्य तत्तथा। धणिअमित्यर्थमुज्ज्वालितमत एव तिमिरमर्दकम् । पुनः किं विशिष्टमित्याह। कनकनिकरः सुवर्णराशिः कुसुमितं च तत् पारिजातकवनं च पुष्पितसुरतरुविशेषवनं ततो द्वन्द्वस्तत्प्रकाशः प्रभा आकारो यस्य तत्तथा । एतावता समुदायविशेषणमुक्तमिदानीं समुदायसमुदायिनोः कथंचित् भेद इति ख्यापयन् समुदायविशेषणमेव विवक्षुः समुदायिविशेषणान्याह । लोकेऽपि वक्तारो भवन्ति । यदि जन्ययात्रा महर्द्धिकजनैराकीर्णेति (कंचणेत्यादि) काभिः शोभमानमिति संबन्धः। कथंभूताभिः दीपिकाभिरत आह काञ्चनमणिरत्नमालाविमलाः स्वाभाविकागन्तुकमलरहिता महार्हा महोत्सवार्हाः । तपनीयं सुवर्णविशेषस्तेनोज्ज्वला दीप्ताः विचित्रवर्णा दण्डा यासां तास्तथा ताभिः सहसा एककाल प्रज्वालिताश्च ता उत्सर्पिताश्च वर्त्युत्सर्पणेन । तथा स्निग्धं मनोहरं तेजो यासां तास्तथा दीप्यमानो रजन्यां भास्वान् विमलोऽत्र धूल्याद्यपगमेन ग्रहगणो ग्रहसमूहस्तेन समा प्रभा यासां ता-

स्ताभिः । ततः पदद्वयपदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । तथा वितिमिराः करा यस्यासौ वितिमिरकरो निरन्धकारकिरणः स चासौ सूरश्च तस्येव यः प्रसृत उद्योतः प्रभासमूहस्तेन (चिल्लिआहिं ति) देशीयपदमेतत् । दीप्यमानाभिरित्यर्थः । ज्वाला एव यदुज्ज्वलं प्रहसितं हासस्तेनाभिरामा रमणीयास्ताभिः अत एव शोभमानम् । तथैव ते दीपशिखा अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसा परिणतेनोद्योतविधिनोपपेताः । यथा दीपशिखा रात्रौ गृहान्तरुद्योतन्ते दिवा गृहादौ तद्वदेते द्रुमा इत्याशयः । एवं च वक्ष्यमाणज्योतिषिकाख्यद्रुमेभ्यो विशेषः कृतोऽपि भवतीति शेषं प्राग्वत् ॥

अथ पञ्चमकल्पवृक्षस्वरूपमाह ।

तीसे णं समाए तत्थ २ बहवे जोइसिआ णामं दुमगणा पण्णत्ता । समणाउसो जहा से अइरुग्गयसरयसूरमंडलपमंतउक्कासहस्सदिप्पंतविज्जुज्जलहुअवहणिद्धूमजलिअणिद्धंतधोअतत्ततवणिज्जकिंसुआसोअजपाकुसुमविमउलिअपुंजमणिरयणकिरणजच्चहिंगुलरयणिगररूवाइरेगरूवा तहेव तेजोइसिआ वि दुमगणा । अणेगबहुविविहवीससा परिणया य उज्जोअविहीए उववेया सुहलेसा मंदलेसा मंदयवलेसा कूमा इव ठाणट्ठिआ अन्नोन्नसमोगाढाहिं लेसाहिं साए पहाए तिप्पएसे सव्वओ समंताओ हासेंति उज्जोअंति पभासंति कुसुमं जाव चिट्ठंतीति ।

अत्र व्याख्या । तस्यां समायां तत्थेत्यादि पूर्ववत् । ज्योतिषिका नाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ता इत्यन्वययोजना । अन्वर्थस्त्वयं ज्योतींषि ज्योतिष्का देवास्त एव ज्योतिषिकाः । अत्र मन्तावरणस्वार्थे इकप्रत्ययः । उणादयो व्युत्पन्नानि नामानि इत्यव्युत्पत्तिपक्षाश्रयणाद्धि सप्रत्ययान्तत्वाभावादिकारलोपाभावश्च संभाव्यते । जीवाभिगमवृत्तौ ज्योतिषिका इति संस्कारदर्शनात् । तत्रापि प्रधानाप्रधानयोः प्रधानस्यैव ग्रहणं तेनात्र ज्योतिषिकशब्देन सूर्यो गृह्यते तत्सदृशप्रकाशकारित्वेन वृक्षा अपि ज्योतिषिकाः । ज्योतिर्वह्निदिनेशयोरिति वचनात् । ज्योतिःशब्दः सूर्यवाचको वह्निवाचको वा शेषस्वार्थिकप्रत्ययादिकं तथैव । ते च किं विशिष्टा इत्याह । तथा ते अचिरेत्यादिना हुतवह इत्यन्तेन संबन्धः । अचिरोद्गतं शरत्सूर्यमण्डलं यथा वा पतदुल्कासहस्रं प्रसिद्धं यथा वा दीप्यमाना विद्युत् यथा वा जटिला ज्वाला यस्य स उज्ज्वालस्तथा निर्धूमो धूमरहितो ज्वलितो दीप्तो यो हुतवहो दहनः सूत्रे पदोपन्यासव्यत्ययः प्राकृतत्वात् । ततः सर्वेषामेषां द्वन्द्वः । एते च कथंभूता इत्याह । निर्ध्मातततरमग्निसंयोगेन यद्धौतं शोधितं तप्तं च तपनीयं ये च किंशुकाशोकजपाकुसुमानां विकासितानां पुञ्जा ये च मणिरत्नकिरणाः । यश्च जात्यहिङ्गुलकनिकरस्तद्रूपेभ्योऽतिरेकेणातिशयेन यथायोग्यं वर्णतः प्रभया च रूपं स्वरूपं येषां ते तथा । ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः । तथैव ते ज्योतिषिका अपि द्रुमगणा अनेकबहुविधविस्रसा परिणतेनोद्योतविधिनोपपेता यावत्तिष्ठन्तीति संटङ्कः । ननु यदि सूर्यमण्डलादिवत्तेजःप्रकाशकास्तर्हि तद्वत्ते दुर्निरीक्ष्यत्वतीव्रत्वजङ्गमत्वादिधर्मोपेता अपि भवन्तीत्याह । सुखलेश्या सुखकारिणी लेश्यास्तथा मन्दलेश्यास्तथा मन्दातपस्य जनितप्रकाशस्य लेश्या येषां ते तथा सूर्यानलाद्यातपस्य तेजो यथा दुःसहं न तथा तेषामित्यर्थः । तथा कूटानीव पर्वतादिशृङ्गाणीव स्थानस्थिताः स्थिरा इति समयक्षेत्रबहिर्वर्ती ज्योतिष्का इव तेऽवभासयन्तीति भावः । तथा अन्योऽन्यं परस्परं समवगाढाभिर्लेश्याभिः सहिता इति शेषः किमुक्तं भवति । यत्र विवक्षितज्योतिषिकाख्यतरुलेश्या अवगाढा तत्रान्यस्य लेश्या अवगाढा यत्रान्यतरुतललेश्या अवगाढा तत्र विवक्षिततरुलेश्या अवगाढा इति "साए पभाए इत्यादि पभाए संतीत्यन्तं" सूत्रं विजयद्वारतोरणसंबन्धिरत्नकरण्डकवर्णने व्याख्यातमिति । कुशविकुशेत्यादि पूर्ववत् । एषां च बहुव्यापी दीपशिखावृक्षप्रकाशापेक्षया तीव्रश्च प्रकाशो भवतीति पूर्वेभ्यो विशेषः ।

अथ षष्ठकल्पवृक्षस्वरूपमाह ।

तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे चित्तंगा णामं दुमगणा पण्णत्ता । समणाउसो जहा से पेच्छाघरे विचित्ते रम्मे वरकुसुमदाममालुज्जले भासंतमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए विरल्लिअविचित्तमल्लसिरिसमुदयपगब्भे गंतिमवेढिमपूरिमसंघाइमेण मल्लेण छेअसिप्पिविभागरइएणं सव्वओ चेव समणुबद्धे पविरललंबंतविप्पइट्ठपंचवण्णेहिं कुसुमदामेहिं सोभमाणे वणमाले कयग्गए चेव दिप्पमाणे तहेव ते चित्तंगा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए मल्लविहीए उववेआ कुसविकुसं जाव चिट्ठंतीति ।

तस्यां समायामित्यादि प्राग्वत् नवरं 'चित्तंगा' इति चित्रस्यानेकप्रकारस्य विवक्षायाः प्राधान्यान्माल्यस्याङ्गं कारणं तत्संपादकत्वात् वृक्षा अपि चित्राङ्गाः । यथा तत्प्रेक्षागृहं विचित्रं नानाचित्रोपेतमत एव रम्यं रमयति द्रष्टॄणां मनांसि इति बाहुलकात्कर्तरि यप्रत्ययः । किं विशिष्टमित्याह । वरकुसुमदाम्नां मालाः श्रेणयस्ताभिरुज्ज्वलं देदीप्यमानत्वात् । तथा भास्वान् विकासिततया मनोहरतया च देदीप्यमानो मुक्तो यः पुञ्जोपचारस्तेन कलितं तथा विरल्लितानि तनु विस्तारे इत्यस्य स्तेनस्तम्भवत् विरल्ला इत्यनेन विरल्लादेशे कृते क्तप्रत्यये च विरल्लितानि विरलीकृतानि विचित्राणि यानि माल्यानि ग्रथितपुष्पमालास्तेषां यः श्रीसमुदयः शोभाप्रकर्षस्तेन प्रगल्भमतीव परिपुष्टम् । तथा ग्रथितं यत्सूत्रेण ग्रथितं वेष्टितं यतः पुष्पमुकुटमिन्दोरुपर्युपरि शिखराकृत्या मालास्थापनं पूरितं यल्लघुच्छिद्रेषु पुष्पनिवेशेन पूर्यते संघातिमं यत्पुष्पं पुष्पेण परस्परं नालप्रवेशेन संयोज्यते ततः समाहारद्वन्द्वे एवंविधेन माल्येन छेकशिल्पिना परमदक्षेण कलावता विभागरचितेन विभक्तिपूर्वककृत्येन यद्यत्र योग्यं ग्रथितादि तत्प्रयत्नेन सर्वतः सर्वासु दिक्षु समनुबद्धम् । तथा प्रविरलैर्लम्बमानैस्तत्र प्रविरलत्वं मनागप्यसंहतत्वमात्रेण भवति ततो विप्रकृष्टत्वप्रतिपादनायाह । विप्रकृष्टैर्बृहदन्तरालैः पञ्चवर्णैः ततः कर्मधारयः कुसुमदामभिः शोभमानं वनमाला वन्दनमाला वन्दनमालाकृता अग्रभागे यस्य तत्तथा । तथाभूतं सद्दीप्यमानं तथैव चित्राङ्गा अपि नाम द्रुमगणाः । अनेकबहुविविधविस्रसा परिणतेन माल्यविधिनोपपेताः "कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूलादि" प्राग्वत् ।

अथ सप्तमकल्पवृक्षस्वरूपमाह ।

तीसेणं समाए तत्थ तत्थ बहवे चित्तरसा णाम दुमगणा पण्णत्ता समणाउसो जहा से सुगंधवरकमलसालितंडुलविसिट्ठणिरुवहयदुद्धरद्धे सारयघयगुलखंडमहुमेलिए अइरसे परमरमणे होज्जा उत्तमवण्णगंधपंते । अहवा रण्णो चक्कवट्टि-

स्स होज्ज णिउणेहिं सूयपुरिसेहिं संनिए चउकप्पसेअसित्ते इव उदणे कलमसालिणिव्वत्तिए विपक्के सवप्फमिउविसयसगलसित्ते । अणेगसालणगसंजुत्ते अहवा पमिपुण्णदव्वुवक्खमे सुसक्खए वण्णगंधरसफरिसजुत्तबलविरिअपरिणामे इंदिअबलपुट्ठिविवद्धणे खुप्पिवासमहणे पहाणगुलकाढिअखंमम्मच्छंडिघओवणीएव्वमोअगेसएहसमिइगब्भे हवेज्ज परमइट्ठगसंजुत्ते तहेव ते चित्तरसा वि दुमगणा । अणेगबहुविविहविस्ससा परिणयाए भोअणविहीए उववेआ कुसविकुसं जाव चिट्ठंतीति ॥

तस्यां समायामित्यादियोजना प्राग्वत् । नवरं चित्रो मधुरादिभेदभिन्नत्वेनानेकप्रकार आस्वादयितॄणामाश्चर्यकारी वा रसो येषां ते तथा । यथा तत्परमान्नपायसं भवेदिति संबन्धः । किंविशिष्टमिह ये सुगन्धाः प्रवरगन्धोपेताः समासान्तविधेरनित्यत्वादत्रेदं रूपस्य समासान्तस्याभावो यथा सुरभिगन्धेन वारिणेति वराः प्रधाना दोषरहिताः क्षेत्रकालादिसामग्रीसंपादितात्मलाभा इति भावः । कलमशालेः शालिविशेषस्य तण्डुला निस्तुषितकणाः । यच्च विशिष्टं विशिष्टगवादिसंबन्धिनिरुपहतमिति पाकादिभिरविनाशितं दुग्धं तैराद्धं पक्वं परमकलमशालिभिः परमदुग्धेन च यथोचितमात्रेण केन निष्पादितमित्यर्थः । तथा शारदं घृतं गुडखण्डं मधु वा शर्करा परपर्यायं मेलितं यत्र तत्तथा क्तान्तस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । सुखादिदर्शनाद्वा । अत एवातिरसमुत्तमवर्णगन्धवत् । यथा वा राजश्चक्रवर्तिन ओदन इव भवेदित्यर्थः । निपुणैः सूपपुरुषैः सूपकारैः संस्कृतो निष्पादितः चत्वारः कल्पा यत्र स चासौ सेकश्च चतुष्कल्पसेकस्तेन सिक्तः रसवती शास्त्राभिज्ञा हि ओदनेषु सौकुमार्योत्पादनाय सेकविषयांश्चतुरः कल्पान् विदधति । स च ओदनः किंविशिष्ट इत्याह । कलमशालिनिर्वर्तितः कलमशालिमय इत्यर्थः । विपक्वो विशिष्टपरिपाकमागतः सबाष्पानि बाष्पं मुञ्चन्ति । मृदूनि कोमलानि चतुष्कल्पसेकादिना परिकर्मितत्वात् विशदानि सर्वथा तुषादिमलापगमात् । सकलानि पूर्णानि सिक्तानि यत्र स तथा । अनेकानि शालनकानि पुष्पफलप्रभृतीनि प्रसिद्धानि तैः संयुक्तः अथवा मोदक इव भवेदिति किं विशिष्ट इत्याह । परिपूर्णानि समस्तानि द्रव्याणि एलाप्रभृतीनि उपस्कृतानि नियुक्तानि यत्र तत्तथा निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात् । सुसंस्कृतो यथोक्तमात्राग्निपरितापादिना परमसंस्कारमुपनीतः वर्णगन्धरसस्पर्शाः सामर्थ्यादतिशायिनस्तैर्युक्ता बलवीर्यहेतवश्च परिणामा आयतिकाले यस्य स तथा । अतिशायिभिर्वर्णादिभिः बलवीर्यहेतुपरिणामैश्चोपेता इति भावः । तत्र बलं शारीरं वीर्यमान्तरोत्साहः । तथा इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां बलं स्वस्वविषयग्रहणपाटवं तस्य पुष्टिरतिशायी पोषस्तां वर्धयति । नन्द्यादित्वादनः । तथा क्षुत्पिपासामथन इति व्यक्तम् । तथा प्रधानः क्वथितो निष्पक्वो गुडस्तादृशं वा खण्डं तादृशी वा मत्स्यण्डी खण्डशर्करा तादृशं वा घृतं तान्युपनीतानि योजितानि यस्मिन् तथा निष्ठान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात् । तथा श्लक्ष्णा सूक्ष्मा निर्बहुगालितत्वेन समिता गोधूमचूर्णं तद्गर्भस्तन्मूलदलनिष्पन्न इति भावः । परम इष्टकमत्यन्तवल्लभं तदुपयोगिद्रव्यं तेन संयुक्त एतद्व्याक्तिः संप्रदायगम्या । तथैव ते चित्ररसा अपि द्रुमगणा अनेकबहुविविधविस्रसापरिणतेन भोजनविधिनोपपेताः इत्यादि प्राग्वत् ।

अथाष्टमकल्पवृक्षस्वरूपमाह ।

तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे मणिअंगा णामं दुमगणा पण्णत्ता । समणाउसो जहा से हारद्धहारवेट्टणयमउडकुंमलवासुत्तगहेमजालमणिजालकणगजालगसुत्तगउचिअकमगखुड्डयएकावलिकंठसुत्तगमगरिअउरत्थगेविज्जसोणिसुत्तगचूलामणिकणगतिलगपुप्फगसिद्धत्थयकण्णवालिससिसूरउसहचक्कगतलभंगयतुमिअं हत्थमालगहरिसयकेयूरवलयपलंबअंगुलिज्जगवलक्खदीणारमालिआकंचिमेहलकलावपयरगपारिहेरगपायजालघंटिआखिंखिणिरयणोरुजालखुड्डिअवरणेउरचलणमालिआ कणगणिगलमालिआ कंचणमणिरयणभत्तिचित्ता तहेव ते मणिअंगा वि दुमगणा अणेगा जाव भूसणविहीए उववेआ जाव चिट्ठंतीति ।

तस्यां समायामित्यादि प्राग्वत् नवरं मणिमयानि आभरणान्याधाराधेयोपचारान्मणीनि तान्येव अङ्गानि अवयवा येषां ते मण्यङ्गा भूषणसंपादका इत्यर्थः । यथा ते हारोऽष्टादशसरिकः अर्धहारो नवसरिकः । वेष्टनकः कर्णाभरणविशेषः मुकुटकुण्डले व्यक्ते वासुत्तगं हेमजालं सच्छिद्रसुवर्णालङ्कारविशेषः । एवं मणिजालककनकजालके अपि परं कनकजालकस्य हेमजालतो भेदो रूढिगम्यः । सूत्रं कण्ठैकक्रकृतं सुवर्णसूत्रम् । उचितकटकानि योग्यवलयानि क्षुद्रकमङ्गुलीयकविशेषः । एकावली च विचित्रमणिकृता एकसूत्रिका च कण्ठसूत्रं प्रसिद्धं मकरिकामकराकार आभरणविशेषः । उरस्थं हृदयाभरणविशेषः । ग्रैवेयं ग्रीवाभरणविशेषः । अत्र सामान्यतो विवक्षया ग्रैवेयमिति जीवाभिगमवृत्त्यनुसारेणोक्तम् । अन्यथा हेमव्याकरणादावलङ्कारविवक्षायां ग्रैवेयकमिति स्यात् । एवमन्यत्रापि तत्तद्वृत्त्यनुसारेण ज्ञेयं श्रोणिसूत्रकं कटिसूत्रकं चूडामणिनामं सकलनृपरत्नसारो नरामरेन्द्रमौलिस्थायी । अमङ्गलमयप्रमुखदोषहृत् परममङ्गलभूत् आभरणविशेषः । कनकतिलकं ललाटाभरणं पुष्पकं पुष्पाकृतिललाटाभरणं । सिद्धार्थकं सर्षपप्रमाणस्वर्णकणरचितसुवर्णमणिमयं । कर्णपाली कर्णोपरितनविभागभूषणविशेषः । शशिसूर्यवृषभाः स्वर्णमयचन्द्रिकादिरूपा आभरणविशेषाः । चक्रकं चक्राकारः शिरोभूषणविशेषः तलभङ्गकं त्रुटिकानि च बाह्वाभरणानि अनयोर्विशेषस्तु आकारकृतः । हस्तमालकं हर्षकम् केयूरमङ्गदम् । पूर्वस्माच्चाकृतिकृतो विशेषः । वलयं कङ्कणम् । प्रालम्ब झुंबनकम् । अङ्गुलीयकं मुद्रिकावलक्षं रूढिगम्यम् । दीनारमालिका सूर्यमालिका दीनाराद्याकृतिमाणिकमाला । काञ्ची मेखला । कलापाः स्त्रीकट्याभरणविशेषाः विशेषश्चैषां रूढिगम्यः । प्रतरकं वृत्तप्रतल आभरणविशेषः । पारिहार्यं वलयविशेषः । पादेषु जालाकृतयो घण्टिका घर्घरिकाः । किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिकाः । रत्नोरुजालं रत्नमयम् । जङ्घयोः प्रलम्बमानं संकलकं संभाव्यते । क्षुद्रिका वराणि नूपुराणि व्यक्तानि चरणमालिका संस्थानविशेषकृतपादाभरणम् (लोके पागमां इति प्रसिद्धम्) कनकनिगमः निगमाकारः पादाभरणविशेषः सौवर्णः (संभाव्यन्ते च कमला इति प्रसिद्धाः) एतेषां मालिका श्रेणिः । अत्र च व्याख्यातव्यतिरिक्तं भूषणस्वरूपं लोकतो गम्यम् । ईत्यादिका भूष-

णविधयो मणरूतप्रकाराः बहुप्रकाराः अवान्तरभेदात् । ते च किं विशिष्टा इत्याह काञ्चनमणिरत्नभक्तिचित्रा इति व्यक्तम् । तथैव तथा प्रकारेण भूषणविधिनोपपेतास्ते मण्यङ्गा इति तात्पर्यार्थः । शेषं प्राग्वत् ।

अथ नवमकल्पवृक्षस्वरूपमाह ।

तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे गेहागारा णामं दुमगणा पएणत्ता । समणाउसो जहा से पागारट्टालयचरियदारगोपुरपासायागासतलमंडलएगसालगविसालगतिसालग - चउसालगगब्भघरमोहणघरवलभीहरचित्तमालयघरभत्तिघरवट्टतंसचउरंसणंदिआवत्तसंठिआ पंडुतरतलमुंडमालहम्मिअं अहवा णं धवलहरअद्धमागहविब्भमसेलद्धसेलसंठिअकूडागारड्ढसुविहिकोट्ठगअणेगघरसरणलेणआवणविडंगजालविंदणिज्जजूहअपवरगचंदसालिआ रूवविभत्तिकलिआ भवणविही बहुविकप्पा तहेव ते गेहागारा वि दुमगणा अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए सुहारुहणसुहोत्ताराए सुहणिक्खमणपवेसाए दद्दरसोपाणपंतिकलिआए पइरिकसुहविहाराए मणोणुकूलाए भवणविहीए उववेया जाव चिट्ठंतित्ति ॥

तस्यां समायामित्यादि प्राग्वत् । गेहाकारानाम द्रुमगणाः प्रज्ञप्ताः । यथा ते प्राकारो वप्रः अट्टालकः प्राकारोपरिवर्त्याश्रयविशेषः चरिका नगरप्रकारान्तरालेऽष्टहस्तप्रमाणो मार्गद्वारं व्यक्तं गोपुरं पुरद्वारं प्रासादो नरेन्द्राश्रयः आकाशतलं कुट्टाद्याच्छिन्नकुट्टिमं मण्डपः छायाद्यर्थं पटादिमय आश्रयविशेषः । एकशालकद्विशालकत्रिशालकचतुःशालकादीनि भवनानि । नवरं गर्भगृहं सर्वतो वर्ति गृहान्तरमभ्यन्तरगृहमित्यर्थः । अन्यथोत्तरत्र वक्ष्यमाणेनावरकेण पौनरुक्त्यं स्यात् मोहनगृहं सुरतगृहं वलभीच्छदिराधारस्तत्प्रधानं गृहं वृत्तं वर्तुलाकारम् । त्र्यस्रं त्रिकोणं चतुरस्रं चतुष्कोणं नन्द्यावर्तः प्रासादविशेषस्तद्वत्संस्थितानि नन्द्यावर्ताकाराणि गृहाणि पश्चाद् द्वन्द्वः पाण्डुरतलं शुभ्रामयतलं मुण्डमालहर्म्यम् उपर्यनाच्छादितं शिखरादिभागरहितं हर्म्यम् । अथवा णमिति प्राग्वत् धवलं गृहं सौधम् अर्द्धमागधविभ्रमाणि गृहविशेषाः । शैलसंस्थितानि पर्वताकाराणि गृहाणि अर्द्धशैलसंस्थितानि तथैव कूटाकारेण शिखराकृत्याद्यानि सुविधिकोष्ठकानि सुसूत्राएयपूर्वकरचितोपरितनभागविशेषाणि अनेकानि गृहाणि सामान्यतः शरणानि तृणमयानि लयनानि पर्वतनिकुट्टितगृहाणि । सामान्यतः शरणानि आपणा हट्टाः । इत्यादिकाः भवनविधयो वास्तुप्रकारा बहुविकल्पा इत्यन्वयः । कथंभूता इत्याह । विटङ्कः कपोतपाली जालवृन्दो गवाक्षसमूहः । निर्यूहः द्वारोपरितनपार्श्वविनिर्गतदारु अपवरकः प्रतीतः । चन्द्रशालिका शिरोगृहम् । एवं रूपाभिर्विभक्तीभिः कलिताः । तथैव भवनविधिनोपपेतास्ते गेहाकारा अपि द्रुमगणास्तिष्ठन्तीति । संबन्धः किं विशिष्टेन विधिनेत्याह । सुखेनारोहणमूर्ध्वगमनं सुखेनावतारोऽधस्तादवतरणं यस्य स तथा । सुखेन निष्क्रमणं निर्गमः प्रवेशश्च यत्र स तथा । कथमुक्तं स्वरूपमित्याह । दर्दरसोपानपङ्क्तिकलितेन अत्र हेतौ तृतीया । तथा प्रतिरिक्ते एकान्ते सुखो विहारोऽवस्थानशयनादिरूपो यत्र स तथा । मनोऽनुकूलेनेति व्यक्तं शेषं प्राग्वत् ॥

अथ दशमकल्पवृक्षस्वरूपमाह ॥

तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे अणिगणा णामं दुमगणा पएणत्ता । समणाउसो जहा से अइणगखोमतणुलकंबलदुगूलकोसेज्जकालमिगपट्टअंसुअचीणअंसुअपट्टा आभरणचित्तसिलक्खणगकल्लाणगभिंगणीलकज्जलबहुवण्णरत्तपीअसुक्किलसक्खयमिगलोमहेमप्परल्लग अवरुत्तरसिंधुउसभदविलवंगकलिंगतलिणतंतुमयभत्तिचित्तवत्थविहीबहुप्पगारा वरपट्टणुग्गया वएणरागकलिआ तहेव ते अणिगणा वि दुमगणा । अणेगबहुविविहवीससा परिणयाए वत्थविहीए उववेआ कुसविकुसं जाव चिट्ठंति ॥

वाक्ययोजना पूर्ववत् । नामार्थस्तु विचित्रवस्त्रदायित्वात् । न विद्यन्ते नग्नास्तात्कालीनजना येभ्यस्ते अनग्नाः । यच्च प्राक्तनेषु बहुषु जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्रादर्शेषु (आयाणा इति) दृश्यते स लिपिप्रमादः संभाव्यते । प्रस्तुतसूत्रालापकविस्तारोपदर्शके जीवाभिगमे एतादृशपाठस्यादर्शनात् । आजिनकं चर्ममयं वस्त्रं । क्षौमं सामान्यतः कार्पासिकं । अतसीमयमित्यन्ये । तनुं शरीरं सुखस्पर्शतया लाति अनुगृह्णातीति तनुलं तनुसुखादिकम्बलः प्रतीतः । अणुअकंबल इति पाठे तु तनुकः सूक्ष्मोर्णाकम्बलः । दुकूलं गौडविषयविशिष्टकार्पासिकं अथवा । दुकूलो वृक्षविशेषस्तस्य वल्कं गृहीत्वोदूखले जलेन सह कुट्टयित्वा बुसीकृत्य च वीयते यत्तद्दुकूलं कौशेयं च सारितन्तु निष्पन्नं । कालमृगपट्टः कालमृगचर्म । अंशुकचीनांशुकानि नानादेशेषु प्रसिद्धानि । दुकूलविशेषणरूपाणि । पूर्वोक्तस्यैव वस्त्रस्य यान्यभ्यन्तरहारिभिर्निष्पाद्यन्ते सूक्ष्मतराणि भवन्ति तानि चीनांशुकानि वा पट्टानि पट्टसूत्रनिष्पन्नानि आभरणैश्चित्राणि विचित्राणि आभरणचित्राणि । श्लक्ष्णानि सूक्ष्मतन्तुनिष्पन्नानि कल्याणकानि परमलक्षणोपेतानि । भृङ्गः कीटविशेषः स इव नीलम् ॥ तथा कज्जलवर्णं बहुवर्णं विचित्रवर्णं रक्तपीतशुक्लसंस्कृतं परिकर्मितं यन्मृगलोमहेम च तदात्मकं कनकरसच्छुरितत्वादिधर्मयोगात् ॥ रल्लकः कम्बलविशेषो जीर्णादि पश्चाद् द्वन्द्वः । एते च कथंभूता इत्याह । अपरः पश्चिमदेशः उत्तर उत्तरदेशः सिन्धुदेशविशेषः (उसभत्ति) संप्रदायगम्यं । द्रविडवङ्गकलिङ्गा देशविशेषाः ॥ एतेषां संबन्धिनस्तत्र देशोत्पन्नत्वेन ये ते तथा । तलिनतन्तवः सूक्ष्मतन्तवः तन्मया या भक्तयो विच्छित्तयो विशिष्टरचनास्ताभिश्चित्राः इत्यादिका वस्त्रविधयो बहुप्रकारा भवेयुर्वरपत्तनं तत्तत्प्रसिद्धपत्तनं तस्मादुद्गता विनिर्गता विविधैर्वर्णैर्विविधैरागैर्मञ्जिष्ठरागादिभिः कलितास्तथैव ते नग्नका अपि द्रुमगणाः । अनेकबहुविविधविस्रसा परिणतत्वेन वस्त्रविधिनोपपेता इत्यादि । अत्र चाधिकारे जीवाभिगमसूत्रादर्शे क्वचित् २ किंचिदधिकपदमपि दृश्यते । तत्तु वृत्तौ व्याख्यातं स्वयं पर्यालोच्यमानमपि च नार्थप्रदमिति न लिखितम् ॥ तेन तत्संप्रदायादवगन्तव्यं तमन्तरेण सम्यक् पाठशुद्धेरपि कर्तुमशक्यत्वादिति उक्तं सुषमसुषमायां कल्पद्रुमस्वरूपम् ॥

(६) अथ तत्कालभाविमनुजस्वरूपं पृच्छन्नाह ॥

तीसे णं भंते ! समाए भरहे वासे मणुआणं केरिसए । आयारभावपडोयारे पएणत्ते । गोयमा ? ते णं मणुआ सुप्पइट्ठिअकुम्मचारुचलणा जाव लक्खणवंजणगुणोववेआ

सुजायसुविभत्तसंगयंगा पासादीआ जाव पडिरूवा ।

तस्यां समायां भदन्त ! भरतवर्षे मनुजानां प्रक्रमाद्युग्मिनां कीदृशक आकारभावप्रत्यवतारः प्रज्ञप्तः । भगवानाह गौतम ! ते मनुजाः सुप्रतिष्ठिताः सत्प्रतिष्ठानवन्तः संगतनिवेशा इत्यर्थः । कूर्मवत् कच्छपवत् उन्नतत्वेन चारवश्चरणा येषां ते तथा ननु मानवा मौलितो वर्ण्या देवाश्चरणतः पुनरिति कविसमयान्मनुजजन्मिनां युग्मिनां पादादारभ्य वर्णनं कथं युक्तिमदित्युच्यते । वरेण्यपुण्यप्रकृतिकत्वेन ते देवत्वेन चाभिमता इति न कदाचिदनुपपत्तिरिति । अत्र यावच्छब्दसंग्राह्य "मुद्धसिरया" इत्यन्तं जीवाभिगमादिप्रसिद्धं सूत्रं चैतत् ।

रत्तुप्पलपत्तमउअसुकुमालकोमलतला णगणगरमगरसागरचक्कंकहरंकलक्खणंकिअचलणा अणुपुव्वसुसाहयंगुलीआ । उण्णयतणुतंबणिद्धणक्खा संठिअसुसिलिट्ठगूढगुप्फा एणीकुरुविंदवत्तवट्टाणुपुव्वजंघा समुग्गनिमग्गगूढजाणू गयससणसुजायसण्णिभोरू वरवारणमत्ततुल्लविक्कमविलसिअगई पमुइअवरतुरगसीहवरवट्टिअकडी वरतुरगसुजायगुज्झदेसा आइण्णहउव्व निरुवलेवा साहयसोणंदमुसलदप्पणणिगरिअवरकणगच्छरुसरिसवरवइरवलिअमज्झा उसविहगसुजायपीणकुच्छी झसोअरा सुइकरणा गंगावत्तपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोहिअअकोसायंतपउमगंभीरविअडणाभा उज्जुअसमसहिअजच्चतणुकसिणणिद्धआदेज्जलडहसूमालमउअरमणिज्जरोमराई संणयपासा संगयपासा सुंदरपासा सुजायपासा मिअमाइअपीणरइअपासा अकरंडुअकणगरुअगणिम्मलसुजायणिरुवहयदेहधारी पसत्थबत्तीसलक्खणधरा कणगसिलायलुज्जलपसत्थसमतलउवइअवित्थिण्णपिहुलवच्छा जुअसणिभपीणरइअपीवरपउट्ठसंठिअसुसिलिट्ठघणथिरसुबद्धसंधिपुरवरफलिहवट्टिअभुजा भुजगीसरविउलभोगआयाणफलिहउच्छूढदीहबाहू रत्ततलोवइअमउअमंसलसुजायपसत्थलक्खणअछिद्दजालपाणी पीवरकोमलवरंगुलीआ आयंबतलिणसुइरुइलणिद्धणक्खा चंदपाणिलेहा सूरपाणिलेहा संखपाणिलेहा चक्कपाणिलेहा दिसासोवत्थियपाणिलेहा चंदसूरसंखचक्कदिसासोवत्थिअपाणिलेहा अणेगवरलक्खणुत्तमपसत्थसुइरइयपाणिरेहा वरमहिसवराहसीहसद्दूलउसहणागवरपडिपुण्णविउलक्खंधा चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठिअपसत्थसद्दूलविपुलहणुआ अवट्ठिअसुविभत्तचित्तमंसूउअचिअसिलप्पवालबिंबफलसण्णिभाधरोट्ठा पंडुरससिसगलविमलणिम्मलसंखगोखीरफेणकुंददगरयमुणालिआ धवलदंतसेढी अखंडदंता अफुडिअदंता सुजायदंता अविरलदंता एगदंतसेढीव्व अणेगदंता हुअवहणिद्धंतधोअतत्ततवणिज्जरत्ततलतालुजीहा गरुलायतउज्जुतुंगणासा अवदालिअपोंडरीकणयणा कोआसीयधवलपत्तलच्छीआ णमिआवरुइलकिण्हब्भराइसंठिअसंगयआययसुजायतणुकसिणणिद्धभुमआ अल्लीणपमाणजुत्तसवणा सुस्सवणा पीणमंसलकवोलदेसभागा णिव्वणसमलट्ठमट्ठचंदद्धसमणिडाला उडुवइपडिपुण्णसोमवयणा घणणिचिअसुबद्धलक्खणुण्णयकूडागारणिभपिंडिअग्गसिरा छत्तागारुत्तमंगदेसा दाडिमपुप्फप्पगासतवणिज्जसरिसणिम्मलसुजायकेसंतकेसभूमी सामलीबोंडघणणिचिआ छोडिअमिउविसयपसत्थसुहुमलक्खणसुगंधसुंदरभुअमोअगभिंगणीलकज्जलपहिट्ठभमरगणणिद्धणिकुरुंबणिचिअपयाहिणावत्तमुद्धसिरआ ॥

अत्र व्याख्या । रक्तं लोहितमुत्पलपत्रवन्मृदुकं मार्दवगुणोपेतमकर्कशमित्यर्थः । तच्चासुकुमारमपि संभवति । यथा घृष्टमृष्टपाषाणप्रतिमा । तत आह । सुकुमारेभ्योऽपि शिरीषकुसुमादिभ्योऽपि कोमलं सुकुमालं तलं पादतलं येषां ते तथा नगो गिरिः नगरमकरसागरचक्राणि स्पष्टानि अङ्कधरश्चन्द्रः अङ्कस्तस्यैव लाञ्छनं यल्लोके मृगादिव्यपदेशं लभते । एवं रूपैर्लक्षणैरुक्तवस्त्वाकारपरिणताभिः रेखाभिरङ्किताश्चरणा येषां ते तथा । पूर्वस्या अनुलघव इति गम्यते अनुपूर्वाः किमुक्तं भवति । पूर्वस्या उत्तरोत्तरा नखं नखेन हीनाः "नहणहेणहीणाउ" इति सामुद्रिकशास्त्रवचनात् । अथवा आनुपूर्व्येण परिपाट्या वर्धमाना हीयमाना वा इति गम्यते । सुसंहता अविरला अङ्गुल्यः पादाग्रावयवा येषां ते तथा । अत्रानुपूर्व्येति विशेषणात् पादाङ्गुलीग्रहणं तासामेव नखं नखेन हीनत्वात् । उन्नता मध्ये तुङ्गास्तनवः प्रतलास्ताम्रा रक्ताः स्निग्धाः स्निग्धकान्तिमन्नखाः पादगता इति सामर्थ्यलभ्यम् । तरुणेनाधिकारात् येषां ते तथा । णक्खेत्यत्र द्वित्वं सेवादित्वात् । संस्थितौ सम्यक् स्वरूपप्रमाणतया स्थितौ सुश्लिष्टौ सुघनौ सुस्थिरावित्यर्थः । गूढौ गुप्तौ मांसलत्वादनुपलक्ष्यौ गुल्फौ घुटिकौ येषां ते तथा । एणी हरिणी तस्या इह जङ्घा ग्राह्या । कुरुविन्दस्तृणविशेषः । वर्त्तं च सूत्रवलनकम् । एतानीव वृत्ते वर्तुले आनुपूर्व्येण क्रमेण उर्ध्वं स्थूलतरे इति शेषः जङ्घे येषां ते तथा । औपपातिकवृत्तौ तु अन्ये त्वाहुः । एणयस्तापः कुरुविन्दकुटिलिकाभिधानो रोगविशेषस्तावजिंस्त्यके इत्यपि व्याख्यातमस्ति वृत्तेत्यादि । तथैव समुद्गकः समुद्गकाख्यभाजनविशेषः तस्य तत्पिधानस्य च संधिस्तन्निमग्ने गूढे मांसलत्वादनुपलक्ष्ये जानुनी येषां ते तथा । क्वचित् "समुग्गणिमग्गगूढजाणू" इति पाठस्तत्र समुद्गकस्येव पक्षिविशेषस्येव निमग्नतो गूढे स्वभावतो मांसलत्वादनुन्नते न तु शोफादिविकारतः शेषं तथैव गजस्य हस्तिनः श्वसनः शुण्डादण्डः सुजातः सुनिष्पन्नः तस्य संनिभावूरू येषां ते तथा । सुजातशब्दस्य विशेषणस्य परनिपातः प्राकृतत्वात् । मत्तो वरः प्रधानो भद्रजातीयत्वाद्वारणो हस्ती तस्य विक्रमश्चङ्क्रमणं तद्वद्विलसितः विलासः संजातोऽस्या इति तारकादित्वादितच्प्रत्ययः । विलासवती गतिर्गमनं येषां ते तथा अत्रापि मत्तशब्दस्य विशेष्यात् परनिपातः प्राकृतत्वात् । प्रमुदितो रोगाद्यभावेनातिपुष्टो यौवनप्राप्त इति गम्यते । एवंविधो यो वरतुरगः सिंहवरश्च तद्वद्वर्तिता वृत्ता कटी येषां ते तथा वरतुरगस्येव सुजातसुगुप्तत्वेन सुनिष्पन्नो गुह्यदेशो येषां ते तथा । आकीर्णहय इव जात्याश्व इव निरुपलेपाः । जात्याश्वो हि मूत्राद्यनुपलिप्तगात्रो भवती-

ति सौहतं सौनन्दं नाम ऊर्ध्वीकृतमुदूखलाकृतिकाष्ठं तच्च मध्ये तनु उभयोः पार्श्वयोर्बृहत्। अथवा संहृतं संक्षिप्तमध्यं सौनन्दं रामायुधं मुसलविशेष एव मुसले सामान्यतः । दर्पणशब्देनेहावयवे समुदायोपचाराद्दर्पणं गण्डो गृह्यते । तथा निगरितं सारीकृतं वरकनकं तस्य त्सरुः खड्गादिमुष्टिस्तैः सदृशं तेषामिवेत्यर्थः । तथा वरवज्रस्येव सौधर्मेन्द्रायुधस्येव क्षामो, वलितो वलयः संजाता अस्येति वलितो वलित्रयोपेतो मध्यो मध्यभागो येषां ते तथा । ऊषस्येवानन्तरोक्तस्येवोदरं येषां ते तथा । शुचीनि पवित्राणि निरुपलेपानीति भावः करणानि चक्षुरादीनीन्द्रियाणि येषां ते तथा । अत्र च "पउमवियडणाभा" इति पदं कचिद्वाचनान्तरे प्रसिद्धमपि उत्तरपदेन सह पुनरुक्तत्वात्सौ सूत्रादिषु न व्याख्यातम् । गङ्गाया आवर्तकः पयसां भ्रमः स इव प्रदक्षिणावर्ता न तु वामावर्ताः तरङ्गा इव तरङ्गास्तिस्रो वलयस्ताभिः भङ्गुरा क्षुग्ना रविकिरणैस्तरुणैरभिनवैर्बोधितमुकुलीकृतं सत् अकोशायमानं विकचीभवदित्यर्थः । पद्मं तद्वद्गम्भीरा विकटा विशाला नाभिर्येषां ते तथा । विशेषणस्य परनिपातः प्राग्वत् । अस्माच्च निर्देशादनाम्न्यपि समासान्तः । ऋजुका अवक्रा समा न क्वापि दन्तुरा संहिता संततिरूपेण स्थिता न त्वपान्तरालव्यवच्छिन्ना सुजाता सुजन्मा न तु कालादिवैगुण्यतो दुर्जन्मा । अत एव जात्या प्रधाना तन्वी न तु स्थूला कृष्णा न तु मर्कटवर्णा । स्निग्धा चिक्कणा आदेया दर्शनपथमुपगता सती पुनः पुनराकाङ्क्षणीया । उक्तमेव विशेषणद्वारेण समर्थयते (लडहत्ति) सलवणिमा अत आदेया सुकुमारा मृद्वी अतिकोमला रमणीया रम्या रोमराजिर्येषां ते तथा । सम्यक् अधोऽधः क्रमेण नते पार्श्वे येषां ते तथा । संगते देहप्रमाणोचिते पार्श्वे येषां ते तथा । अत एव सुन्दरपार्श्वाः सुजातपार्श्वा इति पदद्वयं व्यक्तम् । तथा मिते परिमिते मात्रिके मात्रोपेते । एकार्थपदद्वययोगादतीवमात्रान्वितेनोचितप्रमाणे अन्यूनाधिके पीने उपचिते रतिदे पार्श्वे येषां ते तथा । अविद्यमानं मांसलत्वेनानुपलक्ष्यमाणं करण्डुकं पृष्ठवंशास्थिकं यस्य देहस्य सोऽकरण्डुकः । अत्राल्पत्वेनानाविवक्षणात् एवं निर्देशः । अनुदराकन्येत्यादिवत् । अथवा अकरण्डुकमेवेति व्याख्येयं कनकस्येव रुचको रुचिर्यस्य सः । निर्मलः स्वाभाविकागन्तुकमलरहितः । सुजातो बीजाधानादारभ्य जन्मदोषरहितः । निरुपद्रवो ज्वरादिदंशाद्युपद्रवरहितः । एवंविधो यो देहस्तद्धारयन्तीत्येवंशीलास्तथा कनकशिलातलवदुज्ज्वलं प्रशस्तं समतलविषममुपचितं मांसलं विस्तीर्णमूर्ध्वाधोपेक्षया पृथुलं दक्षिणोत्तरतो वक्ष उरो येषां ते तथा । श्रीवत्सो लाञ्छनविशेषः तेनाङ्कितं वक्षो येषां ते । युगसंनिभौ वृत्तत्वेनायतत्वेन च यूपतुल्योपमौ तौ मांसलौ रतिदौ पश्यतां सुभगौ पीवरप्रकोष्ठकावकुशकलाचिकौ तथा । संस्थिताः संस्थानविशेषवन्तः सुश्लिष्टाः सुघना विशिष्टाः प्रधानाः घना निबिडाः स्थिरा नातिश्लथाः । सुबद्धाः स्नायुभिः सुष्ठु नद्धाः संधयोऽस्थिसंधानानि ययोस्तौ तथा । पुरवरपरिघवन्महानगरार्गलावद्वर्तितौ वृत्तौ भुजौ येषां ते तथा । ततः पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः पुनर्बाहुमेवायामतो विशिनष्टि । भुजगेश्वरो भुजगराजस्तस्य विपुलो यो भोगः शरीरं तथा आदीयते । द्वारस्थगनार्थं गृह्यत इत्यादानः स चासौ परिघोऽर्गला "उच्छूढत्ति" स्वस्थानादवक्षिप्तो निष्कासितो द्वारपृष्ठभागे दत्त इत्यर्थः । विशेषणव्यस्तता चार्षत्वात् । ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः तद्वद्दीर्घौ बाहू येषां ते तथा । न चात्रानन्तरोक्तविशेषणेन पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् । अत्रा यामतादर्शनीयप्रस्तुतविशेषणस्य विशेष्यदर्शनात् । रक्ततलावरुणावधोभागे उपचितावुन्नतौ औपचयिकौ वोचितौ अवपतितौ वा क्रमेण हीयमानोपचयौ मृदुलौ मांसलौ सुजाताविति पदत्रयं प्राग्वत् । प्रशस्यलक्षणौ अच्छिद्रजालौ अविरलाङ्गुलिसमुदायौ पाणी हस्तौ येषां ते तथा । "पीवरकोमलवरङ्गुलीआ" इति व्यक्तम् । आताम्रा ईषद्रक्ताः तलीनाः प्रतलाः शुचयः पवित्राः रुचिरा मनोज्ञाः स्निग्धा अरूक्षा नखा येषां ते तथा नखशब्दे द्विर्भावस्तु प्राग्वत् । चन्द्र इव चन्द्राकारा पाणिरेखा येषां ते तथा । एवमन्यान्यपि त्रीणि पदानि "दिसासोवत्थिअत्ति" दिक्सौवस्तिको दिक्प्रोक्षुकः दिक्प्रधानः स्वस्तिको दक्षिणावर्तः स्वस्तिक इत्यन्ये स पाणौ रेखा येषां ते तथा । एतदेवानन्तरोक्तविशेषणपञ्चकं तत् प्रशस्तता प्रकर्षप्रतिपादनाय संग्रहवचनेनाह । "चंदसूरेति" गतार्थम् । ननु इयन्त्येव लक्षणानि तेषां शरीरस्थानीत्याह । अनेकैः प्रभूतैर्वरैः प्रधानैर्लक्षणैरुत्तमाः प्रशंसास्पदीभूताः शुचयः पवित्रा रचिताः स्वकर्मणा निष्पादिताः पाणिरेखा येषां ते तथा । वरमहिषैः प्रधानसैरिभैः । वराहो वनशूकरः । सिंहः केसरी शार्दूलो व्याघ्रः वृषभो गौः नागवरः प्रधानगजः एषामिव परिपूर्णः स्वप्रमाणेनाहीनो विपुलो विस्तीर्णः स्कन्धप्रदेशो येषां ते तथा । चतुरङ्गुलं स्वाङ्गापेक्षया चतुरङ्गुलप्रमितं सुष्ठु शोभनं प्रमाणं यस्याः सा तथा । कम्बुवरसदृशा उन्नततया वलित्रययोगेन च प्रधानशङ्खसंनिभा ग्रीवा येषां ते तथा । विवेकविलासे तु प्रतिमाया एकादशाङ्कस्थानसंख्यायां चतुःपञ्च चतुर्वहि, इति श्लोके ग्रीवायास्त्र्यङ्गुलमानमिति । मांसलं पुष्टं तथा संस्थितं संस्थानं तेन प्रशस्तसंकुचितं कमलाकारत्वात् । शार्दूलस्येव व्याघ्रस्येव विपुलं विस्तीर्णं हनुकं येषां ते अवस्थितान्यवर्द्धिष्णूनि सुविभक्तानि परस्परं शोभमानविभागानि । न तु पुनर्मरुजाताभीरस्येव व्यादानमात्रलक्षवदनविवरस्य कूर्चकेशपुञ्जा इव पुञ्जीभूतानि चित्राणि अतिरम्यतयाद्भुतानि श्मश्रूणि कूर्चकेशा येषां ते तथा श्मश्रूणामभावे षण्ढभावे प्रतिपत्तिः । हीयमानत्वे चेन्द्रलुप्तिकत्ववार्द्धकप्रतिपत्तिः । वर्धमानत्वे च संस्कारकजनाभावाद्गहनभूतानि तानि स्युरित्यवस्थितत्वम् । 'उअचिअत्ति' परिकर्मितं शिलारूपं प्रवालं आयतविद्रुमखण्डमित्यर्थः । न तु मणिकादिरूपं तस्यैतदुपमानानुपपत्तेः । बिम्बफलं पक्वगोहलाफलं तयोः संनिभो रक्ततयोन्नतमध्यतया अधरोष्ठोऽधस्तनो दन्तच्छदो येषां ते तथा पाण्डुरं यच्छशिशकलं चन्द्रमण्डलखण्डमकलङ्कः चन्द्रमण्डलभाग इत्यर्थः । विमलानां मध्ये निर्मलश्च यः शङ्खो गोक्षीरफेनश्च प्रतीतः । कुन्दं च कुन्दकुसुमं दकरजश्च वाताहतजलकणः । मृणालिका च पद्मिनीमूलं तद्वद्धवला दन्तश्रेणिर्दशनपङ्क्तिर्येषां ते तथा । अखण्डदन्ताः परिपूर्णदशनाः अस्फुटितदन्ताः अजर्जरदन्ताः अत एव सुजातदन्ताः जन्मदोषरहितदन्ता अविरलदन्ता निरन्तरालदन्ता एकाकारा दन्तश्रेणिर्येषां ते तथा । त इव परस्परानुपलक्ष्यमाणदन्तविभागत्वात् अनेके द्वात्रिंशद्दन्ता येषां ते तथा । एवं नाम तेऽविरलदन्ता यथा अनेकदन्ता अपि सन्तः एकाकारपङ्क्त्य इव लक्ष्यन्त इति भावः । हुतवहेनाग्निना निर्ध्मातं निर्दग्धं सत् धौतं शोधितमलं तप्तं सतापं तपनीयं सुवर्णविशेषस्तद्वद्रक्ततलं लोहितरूपं तालु च काकुदं जिह्वा च रसना येषां ते तथा । गरुडस्येव पक्षिराजस्येव यथा दीर्घा ऋज्वी सरला तुङ्गा उन्नता न तु मुकुलाजातीयस्येव चिपिटा नासा नासिका येषां ते तथा । अवदा-

लितं रविकरैर्विकासितं यत्पुण्डरीकं श्वेतपद्मं तद्वन्नयने येषां ते तथा । "कोः कासीइअतिविकसेक्को आसविसपवि" इत्यनेन कोकसिते धवले च क्वचिद्देशे पक्ष्मले पक्ष्मवती अक्षिणी नेत्रे येषां ते तथा आनामितमीषन्नामितमारोपितमिति भावः । यच्चापं च धनुस्तद्वद्रुचिरे संस्थानविशेषभावतो रमणीये कृष्णराजीइवावस्थिते संगते यथोक्तप्रमाणोपपन्ने आयते दीर्घे सुजाते सुनिष्पन्ने तनू तनुके श्लक्ष्णपरिमितबालपङ्क्त्यात्मकत्वात् कृष्णे कालिमोपेते स्निग्धच्छाये भ्रुवौ येषां ते तथा । आलीनौ मस्तकभित्तौ किंचिल्लग्नौ न तु ढपरौ प्रमाणयुक्तौ स्वप्रमाणोपेतौ श्रवणौ कर्णौ येषां ते तथा । अत एव सुश्रवणा इति स्पष्टम् । अथवा सुष्ठु श्रवणः शब्दोपलम्भो येषां ते तथा । पीनौ पुष्टौ यतो मांसलौ उपचितौ कपोलौ तल्लक्षणो देशभागो मुखावयवो येषां ते तथा । वर्ण्यं विस्फोटकादिक्षतरहितं समविषमं लष्टं मनोज्ञं मृष्टमसृणं चन्द्रार्द्धसमम् । अष्टमीचन्द्रसदृशं ललाटं येषां ते तथा । सूत्रे निरूढेति प्राकृतलक्षणवशात् । प्रतिपूर्णः पौर्णमासीय उडुपतिश्चन्द्रः स इव सोमं सश्रीकं वदनं येषां ते तथा । पदव्यत्यये प्राकृतता एव हेतुः घनवन्निचितं निबिडं सुबद्धं सुष्ठु स्नायुनद्धं लक्षणोन्नतं प्रशस्तलक्षणं कूटस्य गिरिशिखरस्याकारेण निभं सदृशं पिण्डिकेव पाषाणपिण्डिकेव वर्तुलत्वेन च पिण्डितकायमानमग्राशिरउष्णीषलक्षणं येषां ते तथा । छत्राकारः छत्रसदृश उत्तमाङ्गरूपो देशो येषां ते तथा । दाडिमपुष्पस्य प्रकाशेनारुणिम्ना । तथा तपनीयेन च सदृशी निर्मला सुजाता केशान्ते बालसमीपकेशभूमिः केशोत्पत्तिस्थानभूता मस्तकत्वक् येषां ते तथा । शाल्मल्या वृक्षविशेषस्य यद्घोण्टफलं तद्वद् घना निचिता अतिशयेन निबिडा छोटिता अपि युग्मिनां परिक्लेशाभावेन केशपाशाकरणात् । परं छोटिता अपि तथा स्वभावेन शाल्मली घोण्टाकारवद् घना निचिता एवावतिष्ठन्ते । तेनैतद्विशेषणोपादानम् । तथा मृदवोऽखराः विशदा निर्मलाः प्रशस्ताः प्रशंसास्पदीभूताः । सूक्ष्माः श्लक्ष्णाः लक्षणं विद्यन्ते येषां ते लक्षणवन्तः अत्राविस्यादप्रत्ययः । सुगन्धाः परमगन्धोपेताः । अत एव सुन्दराः । तथा भुजमेचको रत्नविशेषः । भृङ्गो नीलकीटः । अस्य ग्रहणं तु नीलकृष्णयोरैक्यात् । नीलो मरकतमणिः कज्जलं प्रतीतं प्रहृष्टः पुष्टो भ्रमरगणः स चात्यन्तं कालिमोपेतः स्यादिति ते इव स्निग्धाः निकुरम्बभूताः सन्तो निचिता न तु विकर्णाः सन्तः कुञ्चिताः ईषत्कुटिलाः कुण्डलीभूता इत्यर्थः । प्रदक्षिणावर्ताश्च मूर्द्धनि शिरोजा बाला येषां ते तथा । इत्येतत्पर्यन्तमतिदेशसूत्रम् । अथ मूलसूत्रमनुश्रियते लक्षणानि स्वस्तिकादीनि व्यञ्जनमषीतिलकादीनि । गुणाः क्षान्त्यादयस्तैरुपेताः । सुजातं पूर्ववत् । सुविभक्ताङ्गप्रत्यङ्गानां यथोक्तवैविक्त्यसद्भावात् । संगतं प्रमाणोपपन्नं न तु षमङ्गुलिकादिवन्न्यूनाधिकमङ्गं देहो येषां ते तथा । प्रासादीया इति पदचतुष्कं गतार्थमिति ।

अथ युगलधर्मे समानेऽपि माभूत्पङ्क्तिभेद
इति युग्मिनीरूपं पृच्छति ॥

तीसे णं भंते ! समाए भरहे वासे मणुईणं केरिसए आगारभावपडोआरे पण्णत्ते गोयमा ! ता उणं मणुईओ सुजायसव्वंगसुंदरीओ पहाणमहिलागुणेहिं जुत्ता अइकंतविसप्पमाणमउअसुकुमाला कुम्मसंठिआ विसिट्ठचलणा उजुमउअपीवरसुसंहयंगुलीओ अब्भुण्णयरइअतलिणितंबसुइणिद्धणक्खा रोमरहिअवट्टलट्ठसंठिअअजहण्णपसत्थलक्खण अकोप्पजंघजुअला सुणिम्मिअसुगूढसुजाणुमंडलसुबद्धसंधी कयलीखंभाइरेकसंठिअणिव्वणसुकुमालमउअमंसलअविरलसमसहिअसुजायवट्टपीवरणिरंतरोरुअट्ठावयवीइपट्ठसंठिअपसत्थविच्छिण्णपिहुलसोणिवयणायामप्पमाणदुगुणिअविसालमंसलसुबद्धजहणवरधारिणीओ वज्जविराइअपसत्थलक्खणनिरोदरतिवलिअवलिअतणुणमिअमज्झिमाओ उज्जुअसमसहिअजच्चतणुकसिणणिद्धआइज्जलडहसुजायसुविभत्तकंतसोभंतरुइलरमणिज्जरोमराई गंगावत्तयपयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोहिअकोसायंतपउमगंभीरविअडणाभा अणुब्भडपसत्थपीणकुच्छी सण्णयपासा संगयपासा सुजायपासा मिअमाइअपीणरइयपासा अकरंडुअकणगरुअगणिम्मलसुजायणिरुवहयगायलट्ठीकंचणकलसप्पमाणसमसंहिअसु.पट्ठचुच्चुओमेलगजमलजुयलवट्टियअब्भुण्णयपीणरइयपीवरपओहराओ भुअंगअणुपुव्वतणुअगोपुच्छवट्टसमसंहिअणमिअआइज्जललिअबाहू तंबणहा मंसलग्गहत्था पीवरकोमलवरंगुलीआ णिद्धपाणिरेहा रविससिसंखचक्कसोत्थियसुविभत्तसुविरइयपाणिलेहा पीणुण्णयकक्खवक्खवत्थिप्पएसा पडिपुण्णगलकपोला चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसगीवा मंसलसंठिअपसत्थहणुगा दाडिमपुप्फप्पगासपीवरपलंबकुंचिअवराधरा सुंदरुत्तरोट्ठा दहिदगरयचंदकुंदवासंतिमउलधवलअच्छिद्दविमलदसणा रत्तुप्पलरत्तमउअसुकुमालतालुजीहा करवीरमउलअकुडिलअब्भुग्गयउज्जुतुंगणासा सारयणवकमलकुमुअकुवलयदलणिअरसारिसलक्खणपसत्थअजिम्हकंतणयणा पत्तलधवलायतआयंबलोअणाओ आणामिअचावरुइलकिण्हब्भराइसंगयसुजायभुमगा उल्लीणपमाणजुत्तसवणा पीणमट्ठगंडलेहा । चउरंसपसत्थसमणिडाला कोमुइरयणिअरविमलपडिपुण्णसोम्मवयणा छत्तुण्णयउत्तिमंगा अकविलसुसिणिद्धसुगंधदीहसिरया छत्त १ ज्झय २ जूअ ३ थूभ ४ दामणि ५ कमंडलु ६ कलस ७ वावि ८ सोत्थिअ ९ पडाग १० जव ११ मच्छ १२ कुम्भ १३ रहवर १४ मगरज्झय १५ अंक १६ थाल १७ अंकुस १८ अट्ठावय १९ सुपइट्ठग २० मयूर २१ सिरिआभिसेस २२ तोरण २३ मेइणि २४ उदहि २५ वरभवण २६ गिरि २७ वरआयंस २८ सलीलगय २९ उसभ ३० सीह ३१ चामर ३२ उत्तमपसत्थबत्तीसलक्खणधरीओ । हंससरिसगइ उ कोइलमहुरगिरसुस्सराओ कंतसव्वस्स अणुमयाओ ववगयवलिपलिअवंगदुव्वण्णवाहिदोहग्गसोगमुक्का उच्चत्तेण य णराणं थोवूणमूसिआ उ सभावसिंगारचेसा संगयगयहसिअभणिअचिट्ठिअविलाससंलावणिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदरथणजहणवयणकरचलणणयणलावण्णरूवजो-

णयणविलासकलिआ णंदणवणविअरचारिणी व्व अच्छरा ओ भरहवासमाणुसच्छाओ अच्छेरगपेच्छणिज्जाओ पासाईआओ जाव पडिरूवाओ ते णं मणुआ ओहस्सरा हंसस्सरा कोंचस्सरा णंदिस्सरा णंदिघोसा सीहस्सरा सीहघोसा सुस्सरा सुस्सरणिग्घोसा छायाउज्जोइअगमंगा वज्जरिसहनारायसंघयणा समचउरंससंठाणसंठिआ छविणिरातंका अणुलोमवाउवेगा कंकग्गहणी कवोयपरिणामा सउणिपोसपिट्ठंतरोरुपरिणया छद्धणुसहस्समूसिआ तेसि णं मणुआणं बेछप्पण्णपिट्ठकरंडुअसया पण्णत्ता। समणाउसो पउमुप्पलगंधसरिसणीसाससुरभिवयणा ते णं मणुअ पगईउवसंतपगई पयणुकोहमाणमायालोभा मिउमद्दवसंपण्णा अल्लीणा भद्दगा विणीआ अपिच्छा असण्णिहिसंचया विमवंतरपरिवसणा जहिच्छिअकामकामिणी तेसि णं भंते! मणुआणं केइकालस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ गोयमा ! अट्ठमभत्तस्स आहारट्ठे समुप्पज्जइ पुढवीपुप्फफलाहाराणं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो तीसे णं भंते! पुढवीए केरिसए आसाए पण्णत्ते ? गोअमा ! से जहा णामए गुलेइ वा खंमइ वा सक्कराइ वा मच्छंडिकाइ वा पप्पडमोअएइ वा भिसेइ वा पुप्फुत्तराइ वा पउमुत्तराइ वा विजयाइ वा महाविजयाइ वा आकासिआइ वा अदंसिआइ वा आगासफलोवमाइ वा उमाइ वा अणोवमाइ वा भवेए असाए णो इणट्ठे समट्ठे सा णं पुढवी इतो इट्ठत्तरिआ चेव जाव मणापत्तरिआ चेव आसाएणं पण्णत्ता ॥

तस्यां समायां भदन्त! भरते वर्षे मनुजीनां प्रस्तावाद् युग्मिनीनां कीदृशाकारभावप्रत्यवतारः प्रज्ञप्तः। गौतमेत्यादि प्राग्वत्। ता मनुज्यः सुजातानि यथोक्तप्रमाणोपेततया शोभनजन्मानि सर्वाण्यङ्गानि शिरःप्रभृतीनि यासां ता अत एव सुन्दर्यश्च सुन्दराकाराः। अत्र पदद्वयस्य कर्मधारयः तथा प्रधाना ये महिलागुणाः स्त्रीगुणाः प्रियंवदत्वस्वभर्तृचित्तानुवर्तकत्वप्रभृतयस्तैर्युक्ताः अनेनान्तरोक्तविशेषणद्वयेन सामान्यतो वर्णने कृतेऽपि तासां तद्भर्तृणां च प्राचीनदानफलोद्भावनाय विशिष्य वर्णयति अतिकान्तौ अतिरम्यावत एव विशिष्टस्वप्रमाणौ स्वशरीरानुसारिप्रमाणौ न न्यूनाधिकमात्रावित्यर्थः। अथवा विसर्पन्तावपि संचरन्तावपि मृदूनां मध्ये सुकुमारौ कूर्मसंस्थितावुन्नतत्वेन कच्छपसंस्थानौ विशिष्टौ मनोज्ञौ चरणौ पादौ यासां तास्तथा। ऋजवः सरलाः मृदवः कोमलाः पीवराः अदृश्यमानस्नसादिसन्धिकत्वेनोपचिताः सुसंहताः श्लिष्टा निर्विवरा इत्यर्थः। अङ्गुल्यः पादाङ्गुलयो यासां तास्तथा अभ्युन्नता उन्नता रतिदाः सुखदा दृष्टॄणामथवा सुरतरमणादन्यत्राप्यनुषङ्गलोपघादिमताश्रयणादञ्जिता इव लाक्षारसेन तलिनाः प्रतलास्ताम्रा ईषद्रक्ताः शुचयः पवित्राः स्निग्धाः चिक्कणाः नखा यासां तास्तथा "णक्खेत्यत्र" द्विर्भावः प्राग्वत् रोमरहितं निर्लोमकं वृत्तं वर्तुलं लष्टं संस्थितं मनोज्ञसंस्थानं क्रमेणोर्ध्वं स्थूरं स्थूरतरमिति भावः। अजघन्यान्युत्कृष्टानि प्रशस्तानि लक्षणानि यत्र तत्तथा एतादृश-

मकोऽप्यमद्वेष्यमतिसुभगत्वेन जङ्घायुगलं यासां तास्तथा सुष्ठुतरां मिते परिमाणोपेते सुगूढे अनुपलक्ष्ये ये जानुमण्डले तयोः सुबद्धे दृढस्नायुकत्वादश्लथसन्धी सन्धाने यासां तास्तथा कदलीस्तम्भादतिरेकेणातिशयेन संस्थितं संस्थानं ययोस्ते निर्व्रणे विस्फोटकादिकृतरहिते सुकुमारे मृदुके अत्यर्थकोमले मांसले मांससंपूर्णे न तु काकजङ्घावद् दुर्बले अविरले परस्परासक्ते समे प्रमाणतस्तुल्ये सहिके क्रमे सुजाते सुनिष्पन्ने वृत्ते वर्तुलेऽन्ने पीवरे सोपचये निरन्तरे परस्परनिर्विशेषे ऊरू सक्थिनी यासां तास्तथा वीतिर्विगतेति कोधुणाद्यकृत इति भावः। एवंविधोऽष्टापदो द्यूतफलकः विशेषणव्यत्ययः प्राकृतत्वात्। यद्वा पृष्ठसंस्थिता प्रधानसंस्थाना प्रशस्ता विस्तीर्णा पृथुला अतिविपुला श्रोणिः कटेरग्रभागो यासां तास्तथा। वदनायामप्रमाणस्य मुखदीर्घत्वस्य द्वादशाङ्गुलप्रमाणस्य तस्माद् द्विगुणितं द्विगुणं चतुर्विंशत्यङ्गुलं विशालं विस्तीर्णं मांसलं पुष्टं सुबद्धं श्लथं जघनवरं प्रधानकटिपूर्वभागं धारयन्तीत्येवं शीलाः अत्रापि विशेषणस्य परनिपातः प्राग्वत्। वज्रवद्विराजितं क्षामत्वेन तथा प्रशस्तलक्षणं सामुद्रिकप्रशस्यगुणोपेतं निरुदरं विकृतोदररहितम् अथवा निरुदरमल्पत्वेनाभावविवक्षणात्। तिस्रो वलयो यत्र तत्त्रिवलिकम्। तथा वलितं संजातबलं न च क्षामत्वेन दुर्बलमाशङ्क्यं तनु कृशं नतं नम्रं तनुनतमीषन्नम्रमित्यर्थः। ईदृशं मध्यं यासां तास्तथा स्वार्थे कप्रत्ययः। ऋजुकानामवक्राणां समानां तुल्यानां न क्वापि दन्तुराणां संहितानां सन्ततानां न स्वपान्तरालव्यवच्छिन्नानां स्वभावजानां प्रधानानां वा तनूनां सूक्ष्माणां कृष्णानां कालानां न तु मर्कटवर्णानां स्निग्धानां सतेजस्कानाम् आदेयानां दृष्टिसुभगानां (लरुहत्ति) ललितानां सुजातानां सुविभक्तानां कान्तानां कमनीयानामत एव शोभमानानां रुचिररमणीयानामतिमनोहराणां रोम्णां राजिरवलिर्यासां तास्तथा। "गंगावत्तेति" पदं प्राग्वत्। अनुद्भटावनुल्बणौ प्रशस्तौ पीनौ कुक्षी यासां तास्तथा। सन्नतपार्श्वादिविशेषणानि प्राग्वत्। काञ्चनकलशयोरिव प्रमाणं ययोस्तौ। तथा समौ परस्परतुल्यौ नैको हीन एकोऽधिक इति भावः। संहितौ संहतौ अनयोरन्तराले मृणालसूत्रमपि न प्रवेशं लभते इति भावः। सुजातौ जन्मदोषरहितौ स्पष्टचूचुकामेलकौ मनोज्ञस्तनमुखशेखरौ यमलौ समश्रेणिकौ युगलौ युगलरूपौ वर्तितौ वृत्तौ अभ्युन्नतौ परस्पराभिमुखमुन्नतौ। पीनां पुष्टां रतिं पत्युर्दत्तामिति पीवररतिदौ पीवरौ पुष्टौ पयोधरौ यासां तास्तथा। भुजङ्गवदानुपूर्व्येण क्रमेणाधोऽधोभागे इत्यर्थः। तनुकौ अत एव गोपुच्छवद्वृत्तौ समौ परस्परं तुल्यौ संहितौ मध्यकायापेक्षया विरलौ नतौ नम्रौ स्कन्धदेशस्यानतत्वात्। आदेयावतिसुभगतयोपादेयौ ललितौ मनोज्ञचेष्टाकलितौ बाहू यासां तास्तथा। पीवेति प्राग्वत्। स्निग्धपाणिरेखा इति व्यक्तम्। रविशशिशंखचक्रस्वस्तिका एव सुविभक्ताः सुप्रकटाः सुविरचिताः सुनिर्मिताः पाणिरेखा यासां तास्तथा। पीना उपचितावयवा उन्नता अभ्युन्नताः कक्षावक्षोवस्तिप्रदेशा भुजमूलहृदयगुह्यप्रदेशा यासां तास्तथा। परिपूर्णा गलकपोला यासां तास्तथा। "चउरंगुलेति" पूर्ववत्। मंसलेति च वक्तव्यं। दाडिमपुष्पप्रकाशो रक्त इत्यर्थः। पीवर उपचितः प्रलम्ब ओष्ठापेक्षया ईषल्लम्बमानः। कुञ्चित आकुञ्चितो मनाग् वलित इत्यर्थः। वरः प्रधानोऽधरोऽधस्तनदशनच्छदो यासां तास्तथा। सुन्दरोष्ठा इति कण्ठ्यं दधिप्रतीतं दकरज उदककणश्चन्द्रः प्रतीतः। कुन्दं कुसुमं वासन्तीमुकुलवनस्पतिविशेषकलिका तद्वद्धवला। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिप्रश्न-

व्याकरणाद्यादर्शेष्वदृष्टोऽपि धवलशब्दो जीवाभिगमवृत्तौ दर्शनाल्लिखितोऽस्ति । अच्छिद्रा अविरला विमला निर्मला दशना दन्ता यासां तास्तथा । रक्तोत्पलवद्रक्तं मृदु सुकुमारमतिकोमलं तालु जिह्वा च यासां तास्तथा । करवीरकलिकावत् नासापुटद्वयस्य यथोक्तप्रमाणतया संवृताकारतया वाऽकुटिला अवक्रा अत्युद्गता भ्रूजद्वयमध्यतो विनिर्गता । अत एव ऋज्वी सरला सती तुङ्गा उच्चा न तु गवादिशृङ्गवद् वक्रा सती तुङ्गेत्यर्थः। एवंविधा नासा यासां तास्तथा । शरदि भवं शारदं नवं कमलं रविबोध्यं कुमुदं चन्द्रबोध्यं कुवलयं तदेव नीलमेषां यो दलनिकरः पत्रसमूहस्तत्सदृशो लक्षणप्रशस्ते । अजिह्मे अमन्दे भद्रभावतया निर्विकारचपले इत्यर्थः । कान्ते नयने यासां तास्तथा । एतेन तदीयदृशामजितभुजगत्वमायतत्वं सहजचपलत्वं चाह । स्त्रीणामङ्गे हि नयनसौभाग्यमेव परमशृङ्गाराङ्गमिति पुनस्तद्विशेषणेन विशिनष्टि । पत्रले पक्ष्मवती न तु रोगविशेषाकृतरोमके कचित्धवले कर्णान्तवर्तिनी कचित्काचिताभ्रे लोचने यासां तास्तथा (आणामिअत्ति) अल्लीणविशेषणे प्राग्वत् । पीना मांसलतया न कूपाकारा मृष्टाः शुद्धा न तु श्यामच्छायामापन्ना गण्डलेखा कपोलपाली यासां तास्तथा । चतुर्षु अस्रेषु कोणेषु दक्षिणोत्तरयोः प्रत्येकमूर्ध्वाधोभागरूपेषु प्रशस्तमहीनाधिकलक्षणत्वात् सममविषमं ललाटं यासां तास्तथा । कौमुदी कार्तिकी पौर्णिमा तस्या रजनिकरश्चन्द्रस्तद्वद्विमलं प्रतिपूर्णमहीनं सौम्यमक्रूरं न तु यूककान्तानामिव भीषणं वदनं यासां तास्तथा । छत्रोन्नतोत्तमाङ्गा इति प्रतीतम् । अकपिलाः श्यामाः सुस्निग्धाः स्थूला भावादन्यद्रव्यनिरपेक्षतया निसर्गचिक्कणा सुगन्धा दीर्घा न तु पुरुषकेशा इव निकुरम्बभूताः । नापि धम्मिल्ला विपरिणाममापन्नाः । संयमविज्ञाभावात् शिरोजा यासां तास्तथा। छत्रं १ ध्वजः २ यूपः स्तंभविशेषः ३ स्तूपः पीठः ४ दामिणीति रूढिगम्यं ५ कमण्डलुस्तापसपानीयपात्रं ६ कलसः ७ वापी ८ स्वस्तिकः ९ पताका १० यवः ११ मत्स्यः १२ कूर्मः १३ रथवरः १४ मकरध्वजः कामदेवस्तत्संसूचकं सूत्रनीये सूचकोपचाराल्लक्षणमिति । तच्च सर्वकालमविधवात्वादिसूचकम् १५ अङ्कश्चन्द्रबिम्बान्तर्वर्ती मृगावयवः १६ कचिदङ्कस्थाने शुक इति दृश्यते । स्थालम् १७ अङ्कुशः १८ अष्टापदं द्यूतफलकं १९ सुप्रतिष्ठकं स्थापनकं २० मयूरः २१ श्रियोऽभिषेको लक्ष्म्यभिषेकः २२ तोरणं २३ मेदिनी २४ उदधिः २५ वरभवनं प्रधानगृहं २६ गिरिः २७ वरादर्शो वरदर्पणः २८ सलीलगजो लीलावान् गजः २९ ऋषभो गौः ३० सिंहः ३१ चामरं ३२ एतान्युत्तमानि प्रधानानि प्रशस्तानि सामुद्रिकशास्त्रेषु प्रशंसास्पदीभूतानि द्वात्रिंशल्लक्षणानि धरन्ति यास्तास्तथा हंसस्य सदृशी गतिर्यासां तास्तथा । कोकिलायाः आम्रमञ्जरीसंस्कृतत्वेन पञ्चमस्वरो लालमयी या मधुरा गीस्तद्वत् सुष्ठु शोभनः स्वरो यासां तास्तथा । कान्ताः कमनीयाः सर्वस्य तत् प्रत्यासन्नवर्तिनो लोकस्यानुमताः सम्मता न कस्यापि मनागपि द्वेष्या इति भावः । वलिः शैथिल्यसमुद्भवश्चर्मविकारः । पलितं पाण्डुरः कचः व्यपगतानि वलिपलितानि याभ्यस्तास्तथा । तथा विरूपमङ्गं व्यङ्गं विकारवानवयवः । दुर्वर्णो दुष्टशरीरच्छविः व्याधिदौर्भाग्यशोकाः तैर्मुक्ताः । पश्चाद्विशेषणद्वयकर्मधारयः उच्चत्वेन च नराणां स्वभर्तॄणां स्तोकोनं यथा स्यात्तथोच्छ्रिताः । किञ्चिन्न्यूनत्रिगव्यूतोच्छ्रा इत्यर्थः । न हि ऐदंयुगीनमनुष्यपत्न्य इव स्वभर्तुः समोच्चत्वादधिकोच्चत्वा भवेयुः । किमुक्तं भवति तथा हि संप्रति पुरुषस्य अन्यूनोच्चत्वादयो लोके उपहासपात्रं स्यात्र तथा । तेषां मनुष्याणामिति । तथा स्वभावत एव शृङ्गारः शृङ्गाररूपश्चारुः प्रधानो वेषो यासां तास्तथा । प्रायो निर्विकारमनस्कत्वेनादृष्टपूर्वकत्वेन च तासां सीमन्तोन्नयनाद्यौपाधिकशृङ्गाराभावात् । संगतमुचितं गतं गमनं हंसीगमनवत् । हसितं हसनं कपोलविकासिप्रेमसंदर्शि च भणितं भणनं गम्भीरकन्दर्पकोद्दीपि च चेष्टनं सकाममङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गदर्शनादिविलासो नेत्रचेष्टा । संलापः पत्या सह सकामं स्वहृदयप्रत्यर्पणक्षमं परस्परसंभाषणं तत्र निपुणास्तथा युक्ताः संगता ये उपचारा लोकव्यवहारास्तेषु कुशलाः । ततः पदद्वयकर्मधारयः एवं विधविशेषणाश्च स्वपतिं प्रतिद्रष्टव्याः। न तु परपुरुषं प्रति तथाविधकालस्वभावात् प्रतनुकामतया परपुरुषं प्रति तासामभिलाषासंभवात् । एवं च युग्मिपुरुषाणामपि परस्त्रीं प्रति नाभिलाष इति प्रतिपत्तव्यम् । नन्वेवं सति प्रथमं भगवतः सुनन्दापाणिग्रहणं कथमुचितं मृतेऽपि पुंसि तस्याः परसंबन्धित्वाविरोधात्। उच्यते मा ब्रूहि निषिद्धविरुद्धाचरणस्य भगवतः श्रवणाश्रव्यमनपवादं कन्यावस्थायामेव तस्याः पाणिग्रहणकरणात् । यतः “ पढमो अकालमच्चू, तहिं तालफलेण दारओ पहओ । कण्णा य कुलगरेणं, सिट्ठे गाहिआ उसभपत्ती ” । एवं तर्हि सहजातयोः सुमङ्गलायाः पाणिग्रहणं कथं सत्यम् । तदानींतनलोकाचीर्णत्वेन तदानीं तस्या अविरुद्धत्वादिति । पूर्वोक्तमेवार्थं संपीड्याह सुन्दरेत्यादिव्यक्तमेव । नवरं जघन्यं पूर्वकोटीभागः लावण्यमाकारस्य स्पृहणीयता विलासः । स्त्रीणां चेष्टाविशेषः । आह च।“स्थानासनगमनानां, हस्तभ्रूनेत्रकर्मणां चैव । उत्पद्यते विशेषो,यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात्” । नन्दनवनं मेरोर्द्वितीयवनं तस्य विवरमवकाशो वृक्षरहितभूभागः तत्र चारिण्य इव अप्सरसो देव्यः । भरतवर्षे मानुषरूपा अप्सरसः आश्चर्यमद्भुतमिति प्रेक्षणीयाः । प्रासादीया इत्यादि । संप्रति स्त्रीपुंससाधारण्येन तत्कालभाविमनुष्यस्वरूपं विवक्षुरिदमाह । (तेणं मणुआ इत्यादि) ते सुषमसुषमाभाविनो मनुष्या ओघः प्रवाही स्वरो येषां ते तथा । हंसस्येव मधुरः स्वरो येषां ते तथा । क्रौञ्चस्येवाप्रयासविनिर्गतोऽपि दीर्घदेशव्यापी स्वरो येषां ते तथा । नन्दी द्वादशविधतूर्यसमुदयस्तस्य इव शब्दोऽन्तःतिरोधायी स्वरो येषां ते तथा । नन्द्या इव घोषोऽनुनादो येषां ते तथा । सिंहस्येव बलिष्ठस्वरो येषां ते तथा । एवं सिंहघोषाः उक्तविशेषणानां विशेषणद्वारहेतुमाचष्टे । सुस्वरानिर्घोषाः छायया प्रभयोद्योतिताङ्गाङ्गान्यवयवा यस्य तदेवंविधमङ्गं शरीरं येषां ते तथा । मकारो लाक्षणिकः । वज्रऋषभनाराचं नाम सर्वोत्कृष्टमाद्यं संहननं येषां ते तथा । समचतुरस्रं संस्थानं सर्वोत्कृष्ट आकृतिविशेषास्तेन संस्थिताः छव्यां त्वचि निरातङ्काः निरोगा दद्रुकुष्ठकिलासादित्वग्दोषरहितवपुष इत्यर्थः । अथवा (छविच्ति) छविमन्तः। छविछविमतोरभेदोपचारादार्षत्वेमतुब्लोपाद्वा । यथा मरीचिरित्यत्र मलयगिरीयावश्यकवृत्तौ उदात्तवर्णसुकुमारत्वयुक्ता इत्यर्थः । पश्चान्निरातङ्कपदेन कर्मधारयः। अनुलोमोऽनुकूलो वायुवेगः शरीरान्तर्वर्ती वातजवो येषां ते तथा । वायुगुल्मरहितोदरमध्यप्रदेशाः सति गुल्मे प्रतिकूलो वायुवेगो भवतीति भावः। कङ्कः पक्षिविशेषस्तस्येव ग्रहणी गुदाशयो नीरोगवर्चस्कतया येषां ते तथा कपोतस्येव पक्षिविशेषस्येव परिणाम आहारपरिपाको येषां ते तथा । कपोतस्य हि जाठराग्निः पाषाणलवानपि जरयतीति लौकिकश्रुतिरेवं तेषामपि अत्याहारग्रहणेऽपि न जातु कदाचिदपि अजीर्णदोषोदयः। शकुनेरिव पक्षिण

इव पुरीषोत्सर्गे निर्लेपतया पोसोऽपानदेशो येषां ते तथा । पुंसउत्सर्गे पुरीषमुत्सृजन्त्यनेनेति व्युत्पत्तेः तथा। पृष्ठभागान्तरे पृष्ठोदरयोरन्तराले पार्श्वे इत्यर्थः । ऊरू च सक्थिनी च इति द्वन्द्वः । एतानि परिणतानि परिनिष्ठितताङ्गतानि येषां ते तथा । क्तान्तस्य परनिपातः सुखादिदर्शनात् । ततः पदद्वयकर्मधारयः । यथोचितपरिणामेन तानि संजातानीत्यर्थः । षड्धनुः सहस्रोच्छ्रिता अत्रापि मकारोऽलाक्षणिकः । उत्सेधाङ्गुलतस्त्रिगव्यूतप्रमाणकाया इत्यर्थः । यच्च युग्मिनीनां किंचिदूनत्रिगव्यूतप्रमाणोच्चत्वमुक्तं तदन्यतया न विवक्षितमिति भावः । अथ तेषां वपुषि पृष्ठकरण्डकसंख्यामाह (तेसि णमित्यादि) तेषां मनुष्याणां द्वे षट्पञ्चाशदधिके पृष्ठकरण्डकशते पाठान्तरेण पृष्ठकरण्डकशते वा प्रज्ञप्ते पृष्ठकरण्डकानि च पृष्ठवंशवल्युन्नताः अस्थिखण्डाः पंशुलिका इत्यर्थः । हे श्रमणेत्यादि प्राग्वत् । पुनस्तानेव विशिनष्टि (पउमुप्पलइत्यादि) ते णमिति पूर्ववत् । मनुजाः पद्मं कमलमुत्पलं च नीलोत्पलम् । अथवा पद्मं पद्मकाभिधानं गन्धद्रव्यम् उत्पलं कुष्ठं तयोर्गन्धेन परिमलेन सदृशः समो यो निःश्वासस्तेन सुरभि सुगन्धि वदनं येषां ते तथा । प्रकृत्या स्वभावेन उपशान्ता न तु क्रूराः । प्रकृत्या प्रतनवोऽतिमन्दीभूताः क्रोधमानमायालोभा येषां ते तथा । अतएव मृदु मनोज्ञं परिणामसुखावहमिति भावः । यन्मार्दवं तेन संपन्नाः न तु कपटमार्दवोपेताः । आलीना गुरुजनमाश्रिता अनुशासनेऽपि न गुरुषु द्वेषमापद्यन्ते इत्याशयः । अथवा आसमन्तात् सर्वासु क्रियासु लीना गुप्ता नोल्वणचेष्टाकारिण इत्यर्थः । भद्रकाः कल्याणभागिनः । भद्रगा वा भद्रहस्तिगतयः । विनीता वृद्धपुरुषविनयकरणशीलाः । अथवा विनीता इव विजितेन्द्रिया इव अल्पेच्छा मणिकनकादिप्रतिबन्धरहिताः । अत एव न विद्यते सन्निधिः पर्युषितखाद्यादेः संचयो धारणं येषां ते तथा विटपान्तरेषु शाखान्तरेषु प्रासादाद्याकृतिषु परिवसनमाकालमावासो येषां ते तथा । यथेप्सितान् कामान् शब्दान् कामयन्ते अर्थात् भुञ्जते इत्यर्थः । एवं शीला येषां ते तथा इति । अत्र जीवाभिगमादिषु युग्मिवर्णनाधिकारे आहारार्थप्रश्नोत्तरसूत्रं दृश्यते । अत्र च कालदोषेण त्रुटितं संभाव्यते अत्रैवोत्तरत्र द्वितीयतृतीयारकवर्णनकसूत्रे आहारार्थसूत्रस्य साक्षाद् दृश्यमानत्वादिति तेनावस्थापनाशून्यार्थं जीवाभिगमादिभ्यो लिख्यते (तेसिणं भंते ! मणुआणमित्यादि) तेषां भदन्त ! मनुजानां (केवइकालस्सत्ति) सप्तम्यर्थे षष्ठी । कियति काले गते भूय आहारार्थे समुत्पद्यत इति । यद्यपि सरसाहारित्वेनैतावत्कालं तेषां क्षुद्वेदनोदयाभावात् प्रत्याख्यानकार्थता न निर्जरार्थं तपः तथाप्यनकार्थत्वसाधर्म्यादष्टमभक्तमिति । अष्टमभक्तं चोपवासत्रयस्य संज्ञा इति । अथैते यदाहारयन्ति तदाह (पुढवीपुप्फेत्यादि) पृथिवी भूमिः फलानि च कल्पतरुफलाहारो येषां ते तथा । एवंविधास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः । हेश्रमणेत्यादि पूर्ववत् । अथानयोराहारयोर्मध्ये पृथिवीस्वरूपं पृच्छन्नाह (तीसेणमित्यादि) तस्याः पृथिव्याः कीदृशः आस्वादः प्रज्ञप्तो वा युगलधर्मिणामनन्तरपूर्वसूत्रे आहारत्वेनोक्तेत्यध्याहार्यं भगवानाह गौतम ! तद्यथा "नामए इत्यादि" प्राग्वत् । गुड इक्षुरसक्काथ इति । इति वा शब्दः प्राग्वत् । खण्डं गुडविकारः । शर्करा काशादिप्रभवा । मत्स्यण्डिका खण्डशर्करा । पुष्पोत्तरापद्मोत्तरे शर्करादावेव अन्ये तु पर्पटमोदकादयः खाद्यविशेषा लोकतोऽवसेयाः । एषां मधुरद्रव्यविशेषाणां स्वामिना निर्दिष्टेषु नामसु एतादृशरसा पृथिवी भवेत् । कदाचिदिति विकल्पारूढमतिर्गौतम आह । भवेदेतद्रूपः पृथिव्या आस्वादः । स्वाम्याह गौतम ! नायमर्थः समर्थः सा पृथिवी इतो गुडशर्करादेरिष्टतरिका एव स्वार्थे कप्रत्ययः यावत् करणात् कान्ततरिका चैव प्रियतरिका चैवेति परिग्रहः । मन आपत्तरिका एव आस्वादेन प्रज्ञप्ता इति ॥

अथ पुष्पफलानामास्वादं पृच्छन्नाह ।

तीसे णं भंते ! पुप्फफलाणं केरिसए आसाए पण्णत्ते ? गोयमा ! से जहा णामए रण्णो चउरंतचक्कवट्टिस्स कल्लाणे भोअणजाए सयसहस्सनिप्पन्ने वण्णेणुववेए आसायणिज्जे विसायणिज्जे भवे एआरूवे णो इणट्ठे समट्ठे तेसि णं पुप्फफलाणं एत्तो इट्ठतरा चेव जाव आसाए पण्णत्ते ।

तेषां पुष्पफलानां कल्पद्रुमसंबन्धिनां कीदृशक आस्वादः प्रज्ञप्तो यानि पूर्वसूत्रे युग्मिनामाहारत्वेन व्याख्यातानीति गम्यम् । भगवानाह गौतम ! तद्यथा नामराज्ञः स च लोके राजा कतिपयदेशाधीशोऽपि स्यादत आह । चतुर्थ तेषु समुद्रत्रयहिमवत्परिच्छिन्नेषु चक्रेण वर्तितुं शीलमस्येति चतुरन्तचक्रवर्ती अतः समृद्ध्यादौ वेत्यनेन दीर्घत्वम् । अनेन वासुदेवतो व्यावृत्तिः कृता तस्य कल्याणमेकान्तसुखावहं भोजनविशेषः । शतसहस्रनिष्पन्नं लक्षव्ययनिष्पन्नं वर्णेनातिशायिनेति गम्यते । अन्यथा सामान्यभोजनस्यापि वर्णमात्रवत्ता संभवत्येवेति । किमाधिक्यवर्णनमुपपेतं युक्तं यावदतिशायिना स्पर्शेनोपपेतं यावद्गन्धेन रसेन वातिशायिनोपपेतम् । आस्वादनीयं सामान्येन विस्वादनीयं विशेषतस्तद्रसमधिकृत्य दीपनीयमग्निवृद्धिकरं दीपयति जाठराग्निमिति दीपनीयं बाहुलकात्कर्तर्यनीयप्रत्ययः । एवं दर्पणीयमुत्साहवृद्धिहेतुत्वात् । मदनीयं मन्मथजनकत्वात् । बृंहणीयं धातूपचयकारित्वात् । सर्वाणि इन्द्रियाणि गात्रं च प्रह्लादयतीति सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयं वैशद्यहेतुत्वात् तेषामेवमुक्तम् । गौतम आह भगवन् ! भवेदेतद्रूपस्तेषां पुष्पफलानामास्वादः । भगवानाह गौतम ! नायमर्थः समर्थः तेषां पुष्पफलानामितश्चक्रवर्तिभोजनादिष्टतरकादिरेवास्वादः । अत्र कल्याणभोजनसंप्रदायः । एवं चक्रवर्तिसंबन्धिनीनां पुण्ड्रेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां गवां लक्षस्यार्द्धार्द्धक्रमेण पीतगोक्षीरस्य पर्यन्ते यावदेकस्याः गोः संबन्धि यत् क्षीरं तत्प्रासकलमशालिपरमान्नरूपमनेकसंस्कारकद्रव्यसन्मिश्रं कल्याणं भोजनमिति प्रसिद्धं चक्रिणं स्त्रीरत्नं च विना अन्यस्य भोक्तुर्दुर्जरं महदुन्मादकं चेति ।

अथैते उक्तस्वरूपमाहारमाहार्य क्व वसन्तीति पृच्छति ।

ते णं भंते ! तमाहारमाहारेत्ता कहिं वसहिं उवेंति ? गोअमा ! रुक्खगेहालया णं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो ! तेसि णं भंते ! रुक्खाणं केरिसए आयारभावपडोआरे पण्णत्ते ? गोअमा ! कूडागारसंठिआ पेच्छा छत्तज्झयतोरणथूभगोउरवेइआ चोप्फालअट्टालगपासायहम्मिअगवक्खवालग्गपोइआ वलभीघरसंठिआ अण्णे इत्थं बहवे वरभवणविसिट्ठसंठाणसंठिआ दुमगणा सुहसीअलच्छाया समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! तीसे समाए भरहे वासे गेहाइ वा गेहावणाइ वा गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे रुक्खगेहालया णं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो ! ॥

ते भदन्त ! मनुजास्तमनन्तरोदितस्वरूपमाहारमाहार्य्य कवसतौ कस्मिन्नुपाश्रये उपयान्ति उपगच्छन्ति। भगवानाह गौतम ! वृक्षरूपाणि गृहाणि आलया आश्रया येषां ते तथा। एवं विधास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमणेत्यादि पूर्ववत्। अथैते गेहाकाराः वृक्षाः किं स्वरूपा इति पृच्छति "तेसि णं भंते! रुक्खाणमि"त्यादिप्रश्नसूत्रपदयोजना सुलभा आकारभावप्रत्यवतारः प्राग्वत्। भगवानाह गौतम ! ते वृक्षाः कूटं शिखरं तदाकारसंस्थिताः। प्रेक्षा इति पदैकदेशे समुदायोपचारात्। प्रेक्षागृहं नाट्यगृहं द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते इति संस्थितशब्दः सर्वत्र योज्यः। तेनोऽप्रेक्षागृहं संस्थिता इति व्याख्येयप्रेक्षागृहाकारेण संस्थानवन्त इत्यर्थः। एवं छत्रध्वजतोरणस्तूपगोपुरवेदिका चोप्फालं अट्टालकं प्रसादहर्म्यगवाक्षवालाग्रपोतिकावलभीगृहसंस्थिताः तत्र छत्राद्याः प्रतीताः। गोपुरं पुरद्वारं वेदिका उपवेशनयोग्या भूमिः। चोप्फालं नाम मत्तवारणम्। अट्टालकः प्राग्वत्। प्रासादो देवतानां राज्ञां वा गृहम्। उच्छ्रयबहुला वा प्रासादाः ते चोभयेऽपि पर्यन्तशिखराः। हर्म्यं शिखररहितं धनवतां भवनं गवाक्षः स्पष्टः। वालाग्रपोतिका नाम जलस्योपरिप्रासादा वलभी छदिराधारस्तत्प्रधानं गृहम्। अत्रायमाशयः। केचिद्वृक्षाः कूटसंस्थिताः तदन्ये प्रेक्षागृहसंस्थिताः तदपरे छत्रसंस्थिताः। एवं सर्वत्र भाव्यम्। अन्ये अत्र सुषमसुषमायां भरते वर्षे बहवो वरभवनं सामान्यतो विशिष्टगृहं तस्येव यद्विशिष्टं संस्थानं तेन संस्थिताः शुभा शीतला छाया येषां ते तथा। एवंविधा द्रुमगणाः प्रज्ञप्ताः हे श्रमणेत्यादि पूर्ववत् प्राग्गेहाकारकल्पद्रुमस्वरूपवर्णके उक्तेऽपि एते परमपुण्यप्रकृतिका युग्मिन एषु सौन्दर्याश्रयेषु वसन्तीति ज्ञापनार्थं पुनस्तद्वर्णकरसूत्रारम्भः सार्थक इति। ननु तदा गृहाणि न सन्त्यपि वा गृहाणि धान्ति न तेषामुपभोगाय यान्तीत्याशंकमानः पृच्छति (अत्थि णमित्यादि) अस्तीत्यस्य त्यादिप्रतिरूपकाव्ययस्य वचनत्रयसदृशरूपत्वेन सन्ति व्याख्येयं सन्ति भदन्त ! तस्यां समायां भरतवर्षे गेहानि वा प्रतीतानि गृहेषु आतपनानि वा उपभोगार्थमागमनानि उत्तरसूत्रं प्राग्वत् एतेन तदा मनुष्यादिप्रयोगजन्यगृहाभावस्तन्न एव तेषामुपभोगार्थः तत्रापतनाभावश्चोक्तः॥

अत्थि णं भंते ! तीसे समाए भरहे वासे गामाइ वा जाव सण्णिवेसाइ वा । णो इणट्ठे समट्ठे जहिच्छियकामगामिणो भंते ! मणुआ पण्णत्ता अत्थि णं भंते ! असीइ वा मसीइ वा किसीइ वा वणिएत्ति वा पणिएत्ति वा वाणिज्जेइ वा। णो इणट्ठे समट्ठे ववगयअसिमसिकिसिवणिअपणिअवाणिज्जा णं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! हिरण्णेइ वा सुवण्णेइ वा कंसेइ वा दूसेइ वा मणिमोत्तिअसंखसिलप्पवालरत्तरयणसावइज्जेइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छइ ।

वक्ष्यमाणेषु एषु युग्मिसूत्रेषु प्रश्नोत्तरालापकवाक्ययोजना प्राग्वत् नवरं ग्रामा वृत्या वृताः करणा ग्राम्या वा यावत् करणान्नगरादिपरिग्रहः तत्र नगराणि चतुर्गोपुरोद्भासीनि न विद्यते करो येषु तानि नकराणि वा कररहितानि नखादिनिपातनादुपसिद्धिः निगमाः। प्रभूतवणिग्वर्गावासाः प्रांसुप्राकारनिबद्धानि क्वचिन्नद्धिवेष्टितानि वा खेटानि क्षुल्लप्राकारवेष्टितानि अभितः पर्वतवृतानि वा खर्वटानि अर्द्धतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितानि ग्रामपञ्च शत उपजीव्यानि वा मडम्बानि पत्तनानि जलस्थलपथयुक्तानि रत्नयोनिभूतानि वा सिन्धुवेलावलयपर्यन्तानि द्रोणमुखानि आकराः हिरण्याकरादय आश्रमास्तापसाश्रयाः। संबाधाः शैलशृङ्गस्थायिनो निवासाः यत्र समागतप्रभूतजननिवेशा वा राजधान्यो यत्र नगरे पत्तने अन्यत्र वा स्वयं राजा वसति संनिवेशो यत्र सार्थकटकादेरावासा भवन्ति । अत्रोत्तरम् नायमर्थः समर्थः । अत्रार्थे विशेषणद्वारहेतुमाह । यथेप्सित इच्छामनतिक्रम्य काममत्यर्थं गामिनो गमनशीलास्ते मनुजाः अत्रात्यर्थं कथनेन तेषां सर्वदा स्वातन्त्र्यमुक्तम्। ग्रामनगरादिव्यवस्थायां तु नियताश्रयत्वेन तेषामिच्छानिरोधः स्यात्। जीवाभिगमे तु "जहिच्छिअकामगामिनो" इत्यस्य स्थाने "जनेच्छिअकामगामिणो" इति पाठस्तत्रायमर्थः। यद्यस्मान्नेच्छितकामे गामिनः न इच्छितमिच्छाविषयीकृतं नेच्छितं नायं नञ् किंतु नशब्द इत्यनादेशाभावः यथा नैकेपस्य पर्याया इत्यत्र नेच्छितमिच्छया विषयीकृतं कामं स्वेच्छां गच्छतीत्येवंशीला नेच्छितकामगामिनस्ते मनुजाः इति यद्यपि गृहसूत्रेणैवार्थापत्त्या ग्रामाद्यभावः सूचितः तथाप्यव्युत्पन्नविनेयजनव्युत्पत्त्यर्थमेतत्सूत्रोपन्यासः (अत्थिणमित्यादि) अत्रासिः खड्गो यमुपजीव्य स न सुखवृत्तिको भवति। अस्याः साहचर्यलक्षणाया असिशब्देनात्र अस्युपलक्षिताः पुरुषा गृह्यन्ते एवमग्रेतनविशेषणेष्वपि यथायोग्यं ज्ञेयम्। यदुपजीवनेन लेखककला, कृषिः कर्षणं, वणिक् पण्याजीवः, पणितं क्रयाणकं, वाणिज्यं सत्यानृतमर्पणग्रहणादिषु न्यूनाधिकार्पणमित्यर्थः। अत्राह नायमर्थः समर्थः। यतस्ते व्यपगतानि असिमषीकृषिवणिक्पणितवाणिज्यानि येभ्यस्ते तथा। मनुजाः प्रज्ञप्ताः। इति (अत्थिणमित्यादि) हिरण्यं रूप्यमघटितसुवर्णं वा सुवर्णं घटितं कांस्यं प्रतीतं, दूष्यं वस्त्रजातिः। मणिश्चन्द्रकान्तादिः। मौक्तिकं व्यक्तं, शङ्खो दक्षिणावर्तादिः, शिला गन्धपेषणादिका, प्रवालं प्रतीतं, रक्तरत्नानि पद्मरागादीनि। स्वापतेयं रजतसुवर्णादिद्रव्यम्। ननु यदि हिरण्यं रूप्यं तदा रूप्यखानौ तत्संभवः यदि वा घटितसुवर्णं तदा सुवर्णखानौ परं घटितं सुवर्णं, तथा ताम्रत्रपुसंयोगजं कांस्यं तथा तन्तुसन्तानसंभवं दूष्यं, तत्र कथं संभवेयुः। शिल्पिप्रयोगजन्यत्वात्तेषां न च तान्यत्रातीतोत्सर्पिणीसत्कनिधानगतानि संभवन्तीति वाच्यं सा हि सपर्यवसितप्रयोगबन्धस्यासंख्येयं कालं स्थितेरसंभवात्। एगोरुगोत्तरकुरुसूत्रयोरेतदालापकस्याकथनप्रसङ्गात्। उच्यते संहरणप्रवृत्तक्रीडाप्रवृत्तदेवप्रयोगात्। तानि संभवन्तीति संभाव्यते। इहोत्तरं हन्तीति वाक्यारम्भे कोमलामन्त्रणे वा अस्ति हिरण्यादिकमिति शेषः। नैव तेषां मनुजानां परिभोग्यतया (हव्वमिति) कदाचिदागच्छति ।

अत्थि णं भंते ! भरहे राया इइ वा जुवराया ईसरतलवरमाडंबिअकोडुंबिअइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयइड्ढिसक्काराणं ते मणुआ ।

अस्ति राजा इति वा चक्रवर्त्यादिः। युवराजा राज्यार्ह इति यावत्। ईश्वरो भोगिकादिः। अणिमाद्यष्टविधैश्वर्ययुक्तो वा तलवरः सन्तुष्टनरपतिप्रदत्तसौवर्णपट्टालङ्कृतशिरस्कश्चौरादिशुद्ध्यधिकारी "मांमविय" पूर्वोक्तमडम्बाधिपः कौटुम्बिकः कतिपयकुटुम्बप्रभुः इभ्यो यद् द्रव्यनिचयं तैरिभो हस्त्यपि न दृश्यते। इभो हस्ती तत्प्रमाणं द्रव्यमर्हतीति निरुक्तादिभ्यः। श्रेष्ठी देवताध्यासितसौपर्णपट्टालङ्कृतशिराः पुरज्येष्ठो वणिग्विशेषः। सेनापति-

येदायत्ता नृपेण चतुरङ्गसेना कृता भवति । सार्थवाहो यो गणिमादिक्रयाणकं गृहीत्वा देशान्तरं गच्छन् सहचारिणामध्वसहायो भवति । अत्रोत्तरं नायमर्थः समर्थः । व्यपगता ऋद्धिर्विभवैश्वर्यं सत्कारश्च सेव्यतालक्षणो येभ्यस्ते तथा ।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे दासेइ वा पेसेइ वा सिस्सेइ वा भयगेइ वा भाइल्लाएइ वा कंमारएइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयआभिओगाणंति मणुआ पन्नत्ता । समणाउसो ! अत्थि णं भंते ! तीसे समाए भरहे वासे मायाइ वा पियाइ वा भायभगिणिभज्जपुत्तधूआसुण्हाइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तिव्वो पेमबंधणे समुप्पज्जइ ।

आसरणं क्रयः क्रीतः गृहदासीपुत्रो वा प्रेष्यः प्रेषणार्हो जनो दूतादिः । शिष्य उपाध्यायस्योपासकः शिक्षणीय इत्यर्थः । भृतकानि यत्कालमवधिं कृत्वा वेतनेन कर्मकरणाय भृतः दुष्कालादौ निःश्रितो वा भागिको द्वितीयाद्यंशग्राही कर्मकरः गणपुत्राद्यपनेता । अत्राह नायमर्थः । स० । यतस्ते मनुजा व्यपगतमाभियोगिकं कर्म येभ्यस्ते तथा । अत्राभियोग्यशब्दात् कर्मणि यप्रत्यये व्यञ्जनात्पञ्चमस्थायाः स्वरूपे वा इत्यनेनैकस्य यकारस्य लोप इति (अत्थिणमित्यादि) माता या प्रसूते । पिता यो बीजं निषिक्तवान् । भ्राता यः सहजातः । भगिनी सहजाता । भार्या भोग्या । पुत्रो जन्यः, धूता दुहिता । स्नुषा पुत्रवधूः । अत्र भगवानाह । हन्तेत्यादिनैव चः पुनरर्थे तेषां मनुजानां तीव्रमुत्कटं प्रेमबन्धनं समुत्पद्यते । तथाविधक्षेत्रस्वभावात् प्रतनुप्रेमबन्धास्ते युग्मिन इति ननु चतुर्षु कुटुम्बमनुष्येषु स्नुषासंबन्धो यथा आपेक्षिकस्तथा भ्रातृव्यभागिनेयादिसंबन्धः कथं न संभवी । उच्यते कुबेरदत्ता स्वकनाववत् सोऽप्युपलक्षणाद् ग्राह्यः । परं स्फुटव्यवहारत्वेनेमे एव संबन्धाः ।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे अरीइ वा घायएइ वा वहएइ वा पडिणीएइ वा पच्चामित्तेइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयवेराणुसया णं ते मणुआ पण्णत्ता । समणाउसो ! ।

अरिः सामान्यतः शत्रुः वैरिको जातिनिबद्धवैरोपेतः । घातको योऽन्येन घातयति वधकः । स्वयं हन्ता व्यथको वा चपेटादिना ताडकः । प्रत्यनीकः कार्योपघातकः । प्रत्यमित्रो यः पूर्वं मित्रं भूत्वा पश्चादमित्रो जातः अमित्रसहायो वा । इहाचार्यः नायमिति यतो व्यपगतो वैरजन्योऽनुशयः पश्चात्तापो येभ्यस्ते तथा । वैरं कृत्वा हि तदुत्थफलविपाके पुमाननुशोते इति ।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे मित्ताइ वा वइंसाइ वा णायएइ वा संघाटिएइ वा सहाइ वा सुहीइ वा संगएइति वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं तिव्वे रागबंधणे समुप्पज्जइ ।

अत्र मित्रं स्नेहास्पदवयस्यः समानवयाः गाढतरस्नेहास्पदं ज्ञातकः स्वज्ञातीयः । यद्वा ज्ञातकः संवासादिना ज्ञातसहजपरिचित इत्यर्थः । संघाटिकः सहचारी । सखा समानखादनपानोद्गाढतमस्नेहास्पदम् । सुहृद् यः मित्रमेव सकलकालमव्यभिचारी हितोपदेशदायी च । साङ्गतिकः संगतिमात्रघटितः । हंतेत्यादि पूर्ववत् । न चैवं तेषां मनुजानां तीव्रं रागरूपं बन्धनं समुत्पद्यते ।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे आवाहाइ वा वीवाहाइ वा जण्णाइ वा सद्धाइ वा थालीपागाइ वा मितपिंडनिवेदणाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयआवाहवीवाहजण्णसद्धथालीपागमितपिंडनिवेदणा णं ते मनुआ पण्णत्ता समणाउसो ! ।

अत्र चाह । आहूयन्ते स्वजनास्ताम्बूलदानाय यत्र स आवाहः । विवाहात्पूर्वं ताम्बूलदानोत्सवः । विवाहः परिणयनं । यज्ञः प्रतिदिवसं स्वस्वेष्टदेवतापूजा । श्राद्धं पितृक्रिया । स्थालीपाकः संप्रदायगम्यः । मृतपिण्डनिवेदनानि मृतेभ्यः श्मशाने तु तृतीयनवमादिषु दिनेषु पिण्डसमर्पणानि । अत्रोत्तरं नायमर्थः समर्थः । व्यपगताऽऽवाहविवाहयज्ञश्राद्धस्थालीपाकमृतपिण्डनिवेदनास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः ।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे इंदमहाइ वा खंदणागजक्खभूअअवडतडागदहणदीरुक्खपव्वयथूभचेइअमहाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयमहिमा णं ते मणुआ पण्णत्ता ।

इन्द्रः प्रतीतः तस्य महः प्रतिनियतदिवसभावी उत्सवः । एवमग्रेऽपि । स्कन्दः कार्तिकेयः । नागो भवनपतिविशेषः । यक्षभूतौ व्यन्तरविशेषौ । (अवडत्ति) अवटः कूपः । तडागः सरः । ह्रदनदीवृक्षपर्वताः प्रतीताः । स्तूपः पीठविशेषः । चैत्यं चैत्यदेवतायतनम् । अत्राह । व्यपगतमहिमानस्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः ।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे णडपेच्छाइ वा णट्टजल्लमल्लमुट्ठिअवेलंबगकहगपवगलासगपेच्छाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयकोउहल्लाणं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो ! ।

नटा नाटयितारः तेषां प्रेक्षणकं कौतुकदर्शनोत्सुकजनमेलकः । एवमग्रेऽपि । नृत्यन्ति स्म नृत्ताः कर्तरि क्तप्रत्ययः नृत्तविधायिनः । जल्लावरत्राखेलकाः । मल्ला भुजयुद्धकारिणः । मौष्टिका मल्ला एव ये मुष्टिभिः प्रहरन्ति । विडम्बका विदूषकाः मुखविकारादिभिर्जनहास्योत्पादकाः । कथकाः सरसकथाकथनेन श्रोतृरसोत्पत्तिकारकाः । प्लवका ये झम्पादिभिर्गर्तादिकमुत्प्लवन्ते गर्तादिलङ्घनकारिण इत्यर्थः । अथवा तरन्ति नद्यादिकं ये इति लासका ये रासकान् ददति तेषां प्रेक्षा उपलक्षणादाख्यायकप्रेक्षादिग्रहः । अत्रोत्तरं नायमर्थः समर्थः । यतो व्यपगतकुतूहलास्ते मनुजाः प्रज्ञप्ताः ॥

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे सगडाइ वा रहाइ वा जाणाइ वा जुग्गागिल्लिथिल्लिसिविअसंदमाणिआइ वा णो इणट्ठे समट्ठे पायचारविहारा णं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो ।

अत्र शकटानि प्रतीतानि । रथाः क्रीडारथादयः । यायन्ते गम्यन्ते एभिरिति व्युत्पत्त्या यानानि उक्तवक्ष्यमाणातिरिक्तानि गन्त्र्यादीनि । युग्यं पुरुषोत्क्षिप्तमाकाशयानं जम्पानमित्यर्थः (गिल्लित्ति) पुरुषद्वयोत्क्षिप्ता झोलिका (थिल्लित्ति) वेसरादिद्वयनिर्मितो यानविशेषः शिबिका प्रतीता । स्यन्दमानिका पुरुषायामप्रमाणा शिबिकाविशेषः । अत्र प्रतिवचनं नायमित्यादि पादचारेण न तु शकटादिचारेण विहारो विचरणं येषां ते तथा । मनुजा इति ॥

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे गावीइ वा महिसीइ वा अयाइ वा एलगाइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छति ॥

अत्र गोमहिष्यजाः स्पष्टाः । एडका उरभ्रा आह । न च तेषां मनु-

ष्याणां परिभोग्यतया कदाचिदागच्छन्ति नैतासां दुग्धादि तेषामुपभोग्यमिति यावत् ॥

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे आसाइ हत्थिउट्टगोणगवयअयएलगपसयमिअवराहरुरुसरभचमरसंवरकुरंगगोकण्ण—माइआ हंता । अत्थि णो चेव णं तेसिं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ॥

अत्राश्वाः हस्तिनः उष्ट्राः प्रतीताः । गोणा गावः गवयो वनगवः । अजैडकौ स्पष्टौ । प्रश्रया द्विखुरा आटव्यपशुविशेषाः । मृगवराहौ व्यक्तौ । रुरवो मृगविशेषाः । शरभा अष्टापदाः । चमरा अरण्यगवा यासां पुच्छकेशाश्चामरतया भवन्ति । शम्बरा येषामनेकशाखे शृङ्गे भवतः । कुरङ्गगोकर्णौ मृगभेदौ । शृङ्गवर्णादिविशेषाश्च सामर्थ्याद्गम्याः । अत्रोत्तरं हन्तेति कोमलामन्त्रणे सन्ति न चैव तेषां प्रथमसमाभाविनां मनुष्याणां यथासंभवमारोहणादिकार्येषूपयुज्यन्ते ॥

अथ श्वापदप्रश्नसूत्रमाह ॥

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे सीहाइ वा वग्घाइ वा विगदीविगच्छतरच्छसिआलाइ वा बेरालसुणगकोकंतिअकोलसुणगाइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं आबाहं वा पबाहं वा छविच्छेअं वा उप्पाएंति पयइभद्दयाणं ते सावयगणा पण्णत्ता । समणाउसो ! ॥

अत्र सिंहाः केसरिणः । व्याघ्राः प्रतीताः । वृकाः ईहामृगाः । द्वीपिनश्चित्रकाः । ऋक्षाः अच्छभल्लाः । तरक्षवो मृगादनाः । शृगाला व्यक्ताः । बिडाला मार्जाराः । श्वनकाः श्वानः । कोकन्तिका लोमटिका ये रात्रौ कोको इत्येवं रवन्ति । कोलशुनका महाशूकराः । अत्रोत्तरं सन्ति परं नैव तेषां मनुजानामाबाधां वा ईषद्बाधां वा प्रबाधां वा विशेषेण बाधां छविच्छेदं वा चर्मकर्त्तनमुत्पादयन्ति । यतः प्रकृतिभद्रकास्ते श्वापदगणाः प्रज्ञप्ताः ॥

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे सालीति वा वीहिगोहूमजवजवा कलमसूरमुग्गमासतिलकुलत्थिणिप्फावआलिसंदगअयसिकुसुंभकोद्दवकंगुवरगरालगसणसरिसवमूलगवीआइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ॥

अत्र शालयः कलमादिविशेषाः । व्रीहयः सामान्यतः । गोधूमयवौ प्रतीतौ । यवयवा यवविशेषाः (कलत्ति) कलास्त्रिपुटाख्या वृहच्चणका वा मसूरा मालवादिदेशप्रसिद्धाः धान्यविशेषाः । मुद्गमाषतिलाः । कुलत्थाश्च चवलकतुल्याश्चिपिटा भवन्ति । निष्पावा वल्लाः (आलिसंदगत्ति) चपलकाः अतसी धान्यं यस्य तैलमतसीतैलमिति प्रतीतम् कुसुंभत्ति) लट्टकेणाः यत्पुष्पैर्वस्त्रादिरागः समुत्पाद्यते । कोद्रवाः प्रतीताः । कङ्गवः पीततण्डुलाः । (वरगत्ति) वरगो धान्यविशेषः सपादलक्षादिषु प्रसिद्धः । रालकः कङ्गुविशेष एव स चायं बृहच्छिराः । कङ्गुरल्पशिरा रालकः । शणे त्वक्प्रधाननालो धान्यविशेषः । सर्षपाः प्रतीताः । मूलकबीजकादिकाः रूढितोऽवसेयाः सन्त्येते परं न च ते उपभोगमागच्छन्ति कल्पद्रुमपुष्पफलाहारकत्वात्तेषामिति ॥

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे गत्ताइ वा दरी ओवाय पवायविसमविज्जलाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे भरहे णं वासे बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते । से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा ॥

अत्र गर्ता महाखण्डाः । दरी मूषिकादिकृता लघ्वीखण्डा । अवपातः प्रपातस्थानम् । यत्र चलन् जनः सप्रकाशेऽपि पतति । प्रपातो भृगुः यत्र जनः कांचित्कामनां कृत्वा प्रपतति । विषमं दुरारोहावरोहस्थानम् । जलं स्निग्धकर्दमाविलस्थानं यत्र जनोऽतर्कित एव पतति । नायमर्थः समर्थ इत्यादि न सन्तीत्यर्थः भरते वर्षे बहुसमरमणीयो भूमिभागो यतः प्रज्ञप्तः । "से जहाणामए" इत्यादि वर्णकं प्राग्वज् ज्ञेयम् ॥

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे ठाणूइ वा कंटगतणकयवराइ वा पत्तकयवराइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयखाणुकंटगतणकयवरपत्तकयवराणं सा समा पण्णत्ता ॥

अत्र स्थाणुरूर्ध्वकाष्ठं कण्टकः स्पष्टः । तृणान्येव कचवरः पत्राण्येव कचवरः । अत्राह नेत्यादि । यतो व्यपगतस्थाणुर्यावत्पत्रकचवरा सा सुषमसुषमानाम्नी समारकः प्रज्ञप्तः ॥

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे डंसाइ वा मसगाइ वा जूआइ वा लिक्खाइ वा ढिंकुणाइ वा पिसुआइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयडंसमसगजूअलिक्खढिंकुणपिसुअउवद्दवविरहिआणं सा समा पण्णत्ता ॥

अत्र दंशमशकयूकालिक्षाः स्पष्टाः । ढिङ्कुणा मत्कुणाः यदाहुः । श्रीहेमसूरयो देश्यां "मकुणए ढिंकुणढंकुणा तहा ढंकणपिहाणीए इति" पिशुकाश्चञ्चटा अत्राचार्यैः । व्यपगतदंशमशकयूकालिक्षा तथा ढिङ्कुणाः पिशुकोपद्रवविरहिताः पश्चात्कर्मधारयः सा समा प्रज्ञप्ता । अत्र सूत्रे व्यपगतेत्यादिविशेषणस्य कर्मधारयं विना व्याख्यानं करणे प्रस्तुतमूलादर्शे "विरहिअत्ति" पदं प्रमादापतितमिति ज्ञेयम् । तदर्थस्य तत्त्वतो व्यपगतपदेनैवोक्तत्वात् ।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे अहीइ वा अयगराइ वा हंता अत्थि णो चेव णं तेसिं मणुआणं आबाहं वा जाव पगइभद्दयाणं ते वालगणा पण्णत्ता ॥

अत्राहये सामान्यतः सर्पाः अजगराः महाकायसर्पाः शेषं पूर्ववत् । यतः प्रकृतिभद्रकास्ते व्यालगणाः सरीसृपजातीयगणाः प्रज्ञप्ता इति । अग्रे ग्रहयुद्धसूत्रं जीवाभिगमादिषु साक्षाद् दृष्टमपि एतत्सूत्रादर्शेषु न दृष्टमिति व्याख्यायामप्युलेखि ।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे डिंबाइ वा कलहबोलखारवइरमहाजुद्धाइ वा महासंगामाइ वा महासत्थपडणाइ वा महापुरिसपडणाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे ववगयवेराणुबंधा णं ते मणुआ पण्णत्ता ॥

अत्र डिंबडमरौ पूर्ववत् कलहो वचनादिः । बोलो बहूनामार्त्तानामव्यक्ताक्षरध्वनिकलकलः क्षारः परस्परं मत्सरः । वैरं परस्परमसहमानतया हिंस्यहिंसकताध्यवसायः । महायुद्धानि व्यवस्थाहीनमहारणाः महासंग्रामाश्चक्रादिव्यूहरचनोपेततया संव्यवस्था महारणाः । महाशस्त्राणि नागबाणादीनि तेषां निपतनानि हिंसाबुध्या वैरिषु मोचनानि । महाशस्त्रत्वं चैतेषामद्भुतविचित्रशक्तिकत्वात् । तथा हि नागबाणा धनुष्यारोपिता बाणाकारा मुक्ताश्च सन्तो जाज्वल्यमानाः सद्यश्चोल्कादण्ड-

रूपास्ततः परशरीरे संक्रान्ता नागमूर्तीभूय तत्रात्रमश्नुवन्ते । तामसबाणास्तु सकलरणव्यापिमहान्धतमसरूपतया पवनबाणाश्च तथाविधपवनस्वरूपतया वह्निबाणाश्च तादृशवह्निप्रकारेण ते प्रतिवैरिवाहिनीषु विघ्नोत्पादका भवन्ति । एवमन्येऽपि स्वस्वनामानुसारेण स्वस्वजन्यकार्यमुत्पादयन्ति।उक्तंच "चित्रं श्रेणिकबाणास्ते, भवन्ति धनुराश्रिताः। उल्कारूपाश्च गच्छन्तः, शरीरे नागमूर्तयः। क्षणं बाणाः क्षणं दण्डाः, क्षणं पाशत्वमागताः। अमराद्यस्त्रभेदास्ते, यथा चिन्तितमूर्तयः" । महापुरुषाश्छत्रपत्यादयस्तेषां पतनानि कालधर्मनयनानि । तत एव महारुधिराणि छत्रपत्यादिसत्करुधिराणि तेषां निपतनानि प्रवाहरूपतया वाहनानि । अत्रोत्तरं नेत्यादि । यतस्तव्यपगतो वैरस्यानुबन्धः सन्तानभावेन प्रवर्ती येभ्यस्ते तथा मनुजाः प्रज्ञप्ताः ।

अत्थि णं भंते ! भरहे वासे अब्भूआणि वा कुलरोगाइ वा गामरोगाइ वा मंडलरोगाइ वा पेट्टसीसवेअणाइ वा कण्णोट्ठअच्छिणहदंतवेअणाइ वा कासाइ वा सासाइ वा सोसाइ वा दाहाइ वा अरिसाइ वा अजिण्णगाइ वा उदओदराइ वा पंडुरोगाइ वा भगंदराइ वा एगाहिइ वा वेगाहिइ वा तेआहिआइ वा चउत्थाहिआइ वा इंदग्गहाइ वा धणुग्गहाइ वा खंदग्गहाइ वा कुमारग्गहाइ वा जक्खग्गहाइ वा भूअग्गहाइ वा मत्थसूलाइ वा हिअयपोट्टकुच्छिजोणिसूलाइ वा गाममारीइ वा जाव सण्णिवेसमारीइ वा पाणिक्खया जणक्खया कुलक्खया वसणभूअमणारिआ णो इणट्ठे समट्ठे ववगयरोगायंका णं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो ! ॥

अत्र दुष्टा जनधान्यादीनामुपद्रवहेतुभूताः सत्वाः । उन्दुरुशलभप्रमुखा ईतय इत्यर्थः। कुलरोगा ग्रामरोगा मण्डलरोगा यथोत्तरं बहुस्थानव्यापिनः (पेट्टत्ति) देशत्वादुदरं शीर्षं मस्तकं तद्वेदना कर्णोष्ठाक्षिनखदन्तवेदनाः कण्ठ्याः कासश्वासौ व्यक्तौ। शोषः क्षयरोगः दाहः स्पष्टः । अर्शो गुदाङ्कुरः । अजीर्णं व्यक्तं दकोदरं जलोदरं पाण्डुरोगभगन्दरौ प्रतीतौ । एकाहिको यो ज्वर एकदिनान्तरित आयाति। एवं द्विदिनान्तरितो द्व्याहिकः। त्रिभिर्दिनैरन्तरितः त्र्याहिकः चतुर्थेन दिनेनान्तरितश्चातुर्थाहिकः । इन्द्रग्रहादयस्तु उन्मत्ततादिहेतवो व्यन्तरादिदेवकृतोपद्रवाः धनुर्ग्रहः संप्रदायगम्यः। मस्तकशूलादीनि प्रतीतानि। ग्रामे उक्तस्वरूपे मारिर्युगपद्रोगविशेषादिना बहूनां कालधर्मप्राप्तिः । एवमग्रेऽपि यावत्करणान्नगरमारिप्रभृतिपरिग्रहः प्राणिक्षयो गवादिक्षयः। जनक्षयो मनुष्यक्षयः। कुलक्षयो वंशक्षयः । एते च कथंभूता इत्याह । व्यसनभूता जनानामापद्भूताः । अनार्याः पापात्मकाः अत्र विभक्तिलोपमकारागमौ प्राकृतत्वात् । अत्राह नेत्यादि । व्यपगतो रोगश्चिरस्थायी कुष्ठादिरातङ्क आशुघाती शूलादिर्येभ्यस्ते तथा मनुजाः । प्रज्ञप्ताः । हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ।

(७) अथैषां भवस्थितिं पृच्छति ।

तीसे णं भंते ! समाए भरहे वासे मणुआ णं केवइअं कालं ठिई पण्णत्ता । गोयमा ! जहण्णेणं देसूणाइं तिण्णिपलिओवमाइं उक्कोसेणं तिण्णिपलिओवमाइं ॥

व्यक्तं सूत्रमेतत् । नवरं देशोनानि त्रीणि पल्योपमानि स्थितिर्युग्मिनीप्रतीत्यमेतद्व्याख्यानं देशश्चात्र पल्योपमासंख्येयभागरूपो ज्ञेयो यदुक्तं जीवाभिगमे देवकुरूत्तरकुरुस्त्रियमधिकृत्य "देवकुरुउत्तरकुरुअकम्मभूमगमणुस्सित्थीणं भंते ! केवइअं कालं ठिई पण्णत्ता । गोयमा ! देसूणाइं तिण्णिपलिओवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगाइं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं " ।

अथावगाहनां पृच्छन्नाह ।

तीसे णं भंते ! समाए भरहे वासे मणुआणं सरीरा केवइआ उच्चत्तेणं पण्णत्ता गोयमा ! देसूणाइं तिण्णिगाउआइं उक्कोसेणं तिण्णिगाउआइं तेणं भंते ! मणुआ किं संघयणी पण्णत्ता गोयमा ! वइरोसभणारायसंघयणी ।

सुगमं नवरं देशोनास्त्रयः क्रोशा अत्रियुग्मिनीप्रत्ययः " उच्चत्तेणं णराद्धयणुक्कोसियाउ " इति वचनात् यद्यपि " छधणुसहस्सूसिआउ " इति पूर्वसूत्रेणैतेषामवगाहना लभ्यते तथाऽपि जघन्योत्कृष्टविधानार्थं पुनरवगाहनासूत्रारम्भ इति (तेणमित्यादि) अत्र किं च तत् संहननं चेति कर्मधारयः । पश्चादस्त्यर्थे इनिः । प्रत्ययः गौतमेत्यादि वज्रर्षभनाराचसंहनिनस्ते मनुजा इति ॥

एतेसि णं भंते ! मणुआणं सरीरा किं संठिआ पण्णत्ता गोयमा ! समचउरस्ससंठाणसंठिआ तेसि णं मणुआणं बिछप्पण्णा पिट्ठकरंडयसया पण्णत्ता समणाउसो ! ।

सुगमं नवरं किं संस्थितं संस्थानं येषां ते तथा यद्यपि पूर्ववर्णकसूत्रे विशेषणद्वारा एषां संहननादिकमाख्यातं तथापि सर्वेषामपि तत्कालभाविनामेकसंहननादिमात्रताख्यापनार्थमस्य सूत्रस्य प्रश्नोत्तरपद्धत्यादिनिर्देशेन न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम् । गत एवाग्रवर्तिनि पृष्ठकरण्डकसूत्रे" तीसेणं भंते ! मणुआणमि " त्यत्र " केवइया पिट्ठकरंडगसया पण्णत्ता गोअमा ! " इति प्रश्नसूत्रांशोऽध्याहार्य इति (तेसिणमित्यादि) तेषां पृष्ठकरण्डकशतानि पूर्वोक्तरूपाणि क्रियन्ति अत्र भगवानाह। द्वे षट् पंचाशदधिके पृष्ठकरण्डकशते प्रज्ञप्ते इत्यर्थः ॥

ते णं भंते ! मणुआ कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छंति कहिं उववज्जंति गोयमा ! छम्मासावसेसाउआ णं जुअलगं पसवंति एगूणपण्णसयराइंदिआइं संरक्खेंति संगोवेंति कासित्ता छीइत्ता जंभाइत्ता अकिलिट्ठा अव्वहिआ अपरिआविआ कालमासे कालं किच्चा देवलोएसु उववज्जंति देवलोए अपरिग्गहा णं ते मणुआ य देवलोए अपरिग्गहा णं ते मणुआ पण्णत्ता ।

ते मनुजाः कालस्य मरणस्य मासो यस्मिन् कालविशेषः अवश्यकालधर्मः तस्मिन् कालं कृत्वा मासस्योपलक्षणत्वात् कालदिवसे इत्याद्यपि द्रष्टव्यं, क गच्छन्ति कोत्पद्यन्ते इति प्रश्नद्वयेऽपि "देवलोएसु उववज्जंती"त्येकमेवोत्तरं गमनपूर्वकत्वादुत्पादस्योत्पादाभिधाने गमनं सामर्थ्यादवगतमेवोत्पातशय्याया इति । अथवा गतिर्देशान्तरप्राप्तिरपि भवतीति क गच्छन्तीत्येतदेव पर्यायेणाचष्टे उत्पद्यन्ते उत्पत्तिधर्माणो भवन्ति । अत एवोत्तरसूत्रे'उववज्जंती' त्येवोक्तः स्वाम्याह गौतमेति । षण्मासावशेषायुषः कृतपरभवायुर्बन्धा इति गम्यं युगलकं प्रसुवत इति । एतेनैषामायुस्त्रिभागादौ परभवायुर्बन्धाभावमाह । तच्चैकोनपञ्चाशतं रात्रिन्दिवान्यहोरात्राणि यावत् संरक्षन्ति । उचितोपचारकरणतः पालयन्ति संगोपायन्ति अनाभोगेन हस्तस्खलत्कृष्टेभ्यः संरक्ष्य संगोप्य

चकासित्वा कासं विधाय क्षुतं विधाय जृम्भयित्वा जृम्भां विधाय अक्लिष्टाः स्वशरीरोत्थक्लेशवर्जिता अव्यथिता परेणानापादितदुःखा अपरितापिताः स्वतः परतो वा अनुपजातकायमनःपरितापाः एतेन तेषां सुखमरणमाह । कालमासे कालं कृत्वा देवलोकेषु ईशानान्तं सुरलोकेषूत्पद्यन्ते । स्वसमानायुष्कसुरेष्वेव तदुत्पत्तिसंभवात् । अत्र कालमास इति कथनेन तत्कालभाविमनुजानामकालमरणाभावमाह । अपर्याप्तकान्तर्मुहूर्तकालानन्तरमनपवर्तनीयायुष्कत्वात् । अत्राह कश्चित् । ननु सर्वथा वर्तमानभवायुः कर्मपुद्गलपरिशाटकालस्यैव मरणकालत्वात् । कथमकालमरणमुपपद्यते । यद्भावो वर्तमानसमयो निरूप्यते इति चेत्सत्यं द्विधा ह्यायुर्नरतिरश्चामपवर्तनीयमनपवर्तनीयं च । तत्राद्यं बहुकालवेद्यं तत्तथाऽध्यवसाययोगजनितश्लथबन्धनबद्धतयोदीर्णसर्वप्रदेशाग्रमपवर्तनाकरणवशादल्पायुः । कालेन रज्जुदहनन्यायेन क्लिन्नवासो न्यायेन मुष्टिजलन्यायेन वा युगपद्वेद्यते । इतरस्तु गाढबन्धनबद्धतया न प्रवर्तनायोग्यं क्रमेणावेद्यते । तेन बहुषु वर्तमानारकोचितमनपवर्तनीयमायुः क्रमेणानुभवत्सु सत्सु यावदेकस्य कस्यचिदायुः परिवर्तते तदा तस्य लोकैरकालमरणमिति व्यपदिश्यते "पढमो अकालमच्चू" इत्यादिवत् । ते चान्यदाऽकालमरणस्यापि संभवात्तु तदानीं तन्निषेध इति न दोष इति । अथ कथं तद्देवलोकेषूत्पद्यन्ते इत्याह । यतो देवलोको भवनपत्याद्याश्रयस्तस्य तथाविधकालस्वभावात् । तद्योग्यायुर्बन्धेन परिग्रहोऽङ्गीकारो येषां ते तथा । देवलोकगामिन इत्यर्थः । एवा चैकोनपञ्चाशद्दिन वधिपरिपालने केचिदेवमवस्थामाहुः । "सप्तोत्तानशया लिहन्ति दिवसान्, स्वाङ्गुष्ठमार्यास्ततः कौ रिङ्गन्ति पदैस्ततः कलगिरो यान्ति स्खलद्भिस्ततः । स्थेयोभिश्च ततः कलागणभृतस्तारुण्यभोगोद्भवाः, सप्ताहेन ततो भवन्ति सुदृगादानेऽपि योग्यास्ततः" अत्र व्याख्या आर्याः सप्तदिवसान् जन्मदिवसादिकात् यावत् उत्तानशयाः सन्तः स्वाङ्गुष्ठं लिहन्ति ततो द्वितीयसप्तके पृथिव्यां रिङ्गन्ति ततस्तृतीयसप्तके कलगिरोऽव्यक्तवाचो भवन्ति ततश्चतुर्थसप्तके स्खलद्भिः पदैः यान्ति । ततः षष्ठसप्तके कलागणभृतो भवन्ति । ततः सप्तमसप्तके तारुण्यभोगोद्भवाः भवन्ति । केचिच्च सुदृग्दानेऽपि सम्यक्त्वग्रहणेऽपि योग्या भवन्तीति क्रमः । इदं चावस्थाकालमानं सुषमायामादौ ज्ञेयम् ततः परं किञ्चिदधिकमपि संभाव्यते इति । अत्र प्रस्तावात् कश्चिदाह । अथ तदाग्निसंस्कारादेरप्रादुर्भूतत्वेन मृतकशरीराणां का गतिरित्युच्यते । भारुण्डप्रभृतिपक्षिणस्तानि तथा जगत्स्वाभाव्यात् नीमकाष्ठमिवोत्पाद्य मध्येसमुद्रं क्षिपन्ते । यदुक्तं श्रीहेमाचार्यकृतऋषभचरित्रे "पुरा हि मृतमिथुनानां, शरीराणि महाखगाः । नीडकाष्ठमिवोत्पाद्य, क्षिपन्ति स्मपुरम्बुधौ । १ ।" किंचात्र श्लोके अम्बुधावित्युपलक्षणं तेन यथायोगं गङ्गाप्रभृतिनदीष्वपि ते तानि क्षिपन्तीति ज्ञेयम् । ननु चोत्कृष्टतोऽपि धनुःपृथक्त्वमानशरीरैस्तैरुत्कृष्टप्रमाणानि तानि कथं सुवहानि इत्यत्रापि समाधीयते । युग्मिशरीराणामम्बुधिक्षेपस्य महारागकृतत्वेन बहुषु स्थानेषु प्रतिपादनाददर्शीयते । यत्परं "का भणुहंतमि" त्यत्र सूत्रे जात्यपेक्षया एकवचननिर्देशस्तेन क्वचिद्बहुवचनं व्याख्येयं तथा त्रसतिपक्षिशरीरमानस्य यथासंभवमरकापेक्षया बहु बहुतरबहुतमधनुःपृथक्त्वरूपस्यापि संभवात्ततः कालवर्तियुग्मिनरहस्त्यादिशरीरापेक्षया बहुधनुःपृथक्त्वपरिमाणशरीरैस्तैर्न कैचिदपि तानि दुर्वहानीति न काप्यनुपपत्तिः संभाव्यते । तत्त्वं बहुश्रुतगम्यम् । एवं च सूत्रे एकवचननिर्देशोऽपि बहुवचनेन व्याख्यातम् । श्रीमलयगिरिपादैरपि श्रीबृहत्संग्रहणीवृत्तौ देवानामाहारोच्छ्वासान्तरकालमानाधिकारे "दसवाससहस्साइं, समयाई जाव सागरं ऊणं । दिवसमुहुत्तपुहुत्ता, आहारस्स समासेणं" इत्यस्या गाथाया अर्थकथनावसरे कृतमस्तीति सर्वं सुस्थमिति ।

अथ तदा मनुजानामेकत्वमुत नानात्वमिति प्रश्नयन्नाह ।

तीसेणं भंते ! समाए भरहे वासे कइविहा मणुस्सा । आणुसज्जित्या गोयमा ! छव्विहा तं जहा पम्हगंधा १ मिअगंधा २ अममा ३ तेअतली ४ सहा ५ सणिचारी ६ ।

तस्यां समायां भगवन् ! भरते वर्षे कतिविधा जातिभेदेन कति प्रकारा मनुष्या अनुषक्तवन्तः तत्कालान्तरमनुवृत्तवन्तः । सन्ततिभावेन भवन्ति स्मेत्यर्थः । भगवानाह । गौतम ! षड्विधास्तद्यथा । पद्मगन्धाः १ मृगगन्धाः २ अममाः ३ तेजस्तलिनः ४ सहाः ५ शनैश्चारिणः ६ इमे जातिवाचकाः शब्दाः संज्ञाशब्दत्वेन रूढाः । यथा पूर्वमेकाकारापि मनुष्यजातिस्तृतीयारकप्रान्ते श्रीऋषभदेवेन उग्रभोगराजन्यक्षत्रियभेदैश्चतुर्धा कृता । तथाऽत्राप्येवं षड्विधा सा स्वभावत एवास्तीति । यद्यपि श्री अभयदेवसूरिपादैः पञ्चमाङ्गषष्ठशतसप्तमोद्देशके पद्मसमगन्धयः मृगमदगन्धयः ममकाररहिताः तेजश्च तलं च रूपं येषामस्तीति तेजस्तलिनः सहिष्णवः समर्थाः । शनैर्मन्दमुत्सुकत्वाभावाच्चरन्तीत्येवं शीला इत्यन्वर्थता व्याख्यातास्ति । तथापि तथाविधसंप्रदायाभावात् असाधारणव्यञ्जकाभावे नैतेषां जातिप्रकाराणां दुर्बोधत्वं जीवाभिगमवृत्तौ च सामान्यतो जातिवाचकतया व्याख्यानदर्शनाच्च न विशेषतो व्यक्तिकृतेति प्रथमारकः ।

(८) अथ द्वितीयारकव्याख्या ।

तीसे णं समाए चउहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं अणंतेहिं गंधपज्जवेहिं अणंतेहिं रसपज्जवेहिं अणंतेहिं फासपज्जवेहिं अणंतेहिं संघयणपज्जवेहिं अणंतेहिं संठाणपज्जवेहिं अणंतेहिं उच्चत्तपज्जवेहिं अणंतेहिं आयुपज्जवेहिं अणंतेहिं गुरुलहुपज्जवेहिं अणंतेहिं अगुरुलहुपज्जवेहिं अणंतेहिं उट्ठाणकम्मबलवीरिअपुरिसक्कारपज्जवेहिं अणंतेहिं गुणपरिहाणीए परिहायमाणे २ । एत्थ णं सुसमसुसमाणामं समा काले पडिवज्जिंसु समणाउसो ! ।

तस्यां सुषमसुषमानाम्न्यां समायां चतसृषु सागरोपमकोटाकोटीषु काले व्यतिक्रान्ते सति सूत्रे च तृतीयानिर्देशः आर्षत्वात् । अथवा चतसृभिः सागरोपमकोटाकोटीभिः कालमिते गमिते या एतेनेत्यादि शब्दाध्याहारेण योजना कार्या । अत्र च पक्षे करणे तृतीया ज्ञेया । अत्रान्तरे सुषमानाम्ना समाकालः प्रतिपन्नवान् लगति स्मेति वाक्यान्तरसत्त्रयोजना सुषमाचोत्सर्पिण्यामपि भवेदित्याह । अनन्तगुणपरिहायमाणं २ हानिमुपगच्छन् २ सूत्रे च द्विर्वचनमनुसमयं हानिरिति हानेः पौनःपुन्यज्ञापनार्थम् । अथ कालस्य नित्यद्रव्यत्वेन हानिरुपपद्यते । अन्यथाऽहोरात्रं सर्वदा त्रिंशन्मुहूर्तात्मकमेव न स्यादित्यत आह । अनन्तैर्वर्णपर्यायैरित्यादिवर्णाः श्वेतपीतरक्तनीलकृष्णभेदात् पञ्च । कपिशादयस्तु तत्संयोगजास्ततः । श्वेतादेरन्यतमवर्णस्य पर्यवबुद्धिकृता निर्विभागाभागा एकगुणाश्च तत्सादयः । सकलजीवराशेरनन्तगुणाधिकास्तैरनन्ता ये गुणा अनन्तरोक्तस्वरूपाभागास्तेषां

परिहानिरपचयस्तया प्रकारभूतया इत्यर्थः । हीयमानः २ सुषमा कालविशेष इति योज्यम् । एवमग्रेऽपि योजना कार्या । अथ यथैषामनन्तत्वमनुसमयमनन्तगुणहानिश्च तथा दर्श्यते । " तीसे णं समाए उत्तमकट्ठपत्ताए" इति प्रागुक्तबलात् । प्रथमसमये कल्पद्रुमपुष्पफलादिगतो यः श्वेतो वर्णः स उत्कृष्टः तस्य केवलिप्रज्ञया छिद्यमाना यदि निर्विभागा भागाः क्रियन्ते तर्हि अनन्ता भवन्ति तेषां मध्यादनन्तभागात्मक एको राशिः प्रथमारकद्वितीयसमये त्रुट्यति एवं तृतीयादिसमयेष्वपि वाच्यम् । यावत्प्रथमारकान्तसमयः । एषैव रीतिरवसर्पिणीचरमसमयं यावत् ज्ञेया । अत एवानन्तगुणपरिहाणीत्यत्र अनन्तगुणानां परिहाणिरिति षष्ठीतत्पुरुष एव विधेयो न तु अनन्तगुणा चासौ परिहाणिश्चेति कर्मधारयः । गुणशब्दश्च भागपर्यायवचनोऽनुयोगद्वारवृत्तिकृता एकगुणकालकपर्यवविचारे सुस्पष्टमाख्यातः आह । एवं सति श्वेतवर्णस्यासन्न एव सर्वथोच्छेदस्तथा च सति श्वेतवस्तुनोऽश्वेतत्वप्रसङ्गः । एतच्च जातिपुष्पादिषु प्रत्यक्षविरुद्धम् । उच्यते । आगमेऽनन्तकस्यानन्तभेदत्वात् । हीयमानभागानामनन्तकमल्पं ततो मौलराशेः भागानन्तकं बृहत्तरमवगन्तव्यम् । यदि नाम सिद्धस्यापि भव्येषु लोकेषु न तेषामनन्तकालतोऽपि निर्लेपता आगमेऽभिहिता किं पुनः सर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणानामुत्कृष्टवर्णगतभागानां न च ते संख्याता एव सिद्ध्यन्ति इमे तु प्रतिसमयेऽनन्ता हीयन्ते इति महद्दृष्टान्तवैषम्यमिति वाच्यं यतस्तत्र यथा सिध्यतां भव्यानां संख्याकानां तथा सिद्धेः कालोऽनन्तः । एवमन्यत्रापि यथा प्रतिसमयमनन्तानामेषां हीयमानता । तथा हानिकालोऽवसर्पिणीप्रमाण एव ततः परमुत्सर्पिणीप्रथमसमयादौ तान्येव क्रमेण वर्द्धन्ते इति सर्वं सुस्थमेव । पीतादिषु गन्धरसस्पर्शेषु च यथासंभवमागमाविरोधेन भावनीयं, तथा अनन्तैः संहननपर्यवैरिति संहननानि अस्थिनिचयरचनाविशेषरूपाणि । वज्रऋषभनाराच-ऋषभनाराच-नाराचा-ऽर्द्धनाराच-कीलिका-सेवार्त-भेदात् षट् । प्रस्तुते चारके आद्यमेव ग्राह्यम् । ऋषभनाराचादीनामभावात् । अन्यत्र यथासंभवं तानि ग्राह्याणि तत्पर्यवा अपि तथैव हापयनीयाः । संहननैश्च शरीरे दार्ढ्यमुपजायते । तच्च सर्वोत्कृष्टं सुषमसुषमाद्यसमये ततः परमनन्तैः पर्यवैः समये २ हीयते इति । तथा संस्थानानि आकृतिरूपाणि । समचतुरस्रन्यग्रोधसादिकुब्जकवामनहुण्डभेदात्षोढा । तच्च तत्र प्रथमं प्रथमे समये सर्वोत्कृष्टं ततः परं तथैव हीयते । इति तथोच्चत्वं शरीरोत्सेधस्तच्च तत्र प्रथमे समये त्रिगव्यूतप्रमाणमुत्कृष्टं ततः परं तत्प्रमाणतारतम्यरूपाः पर्यवाः अनन्ताः समये २ हीयन्ते । ननु उच्चत्वं हि शरीरस्य स्वावगाढमूलक्षेत्रादुपरितनोपरितननभःप्रदेशावगाहित्वं तत्पर्यवाश्च एकद्वित्रिप्रतराद्यवगाहित्वान्तादयोऽसंख्याता एवमवगाहसंख्या तत्प्रदेशात्मकत्वात् । तर्हि कथमेषामनन्तत्वं कथं चानन्तभागपरिहाण्या हीयन्ते इति चेदुच्यते । प्रथमारके प्रथमसमयोत्पन्नमुत्कृष्टं शरीरोच्चत्वं भवति । ततो द्वितीयादिसमयोत्पन्नानां यावतामेकनभःप्रतरावगाहि च लक्षणपर्यवाणां हानिस्तावत्पुद्गलानन्तकं हीयमानं द्रष्टव्यम् । आधारहीनाधेयहानेरावश्यकत्वादिति । तेनोच्चपर्यवाणामप्यनन्तत्वं सिद्धम् नभःप्रतरावगाहस्य पुद्गलोपचयसाध्यत्वात् । तथा आयुर्जीवितं तदपि । तत्र प्रथमसमये त्रिपल्योपमप्रमाणमुत्कृष्टं तदनन्तरं तत्पर्यवा अपि अनन्ताः प्रतिसमयं हीयन्ते । ननु पर्यवा एकसमयोना द्वितीयोना यावदसंख्यातसमया उत्कृष्टा स्थितिरिति स्थितिः स्थानतारतम्यरूपा असंख्याता एव आयुःस्थितेरसंख्याते समयात्मकत्वात् तर्हि कथं सूत्रेऽनन्तैरायुःपर्यवैरित्युक्तम् । उच्यते प्रतिसमयं हीयमानस्थितिस्थानकारणीभूतानि अनन्तानि आयुःकर्मदलिकानि परिहीयन्ते । ततः कारणहानौ कार्यहानेरावश्यकत्वात् तानि च भवस्थितिकारणत्वादायुःपर्यवा एव । अतस्ते अनन्ता इति । यथा अनन्तैर्गुरुलघुपर्यवैरिति गुरुलघुद्रव्याणि बादरस्कन्धद्रव्याणि । औदारिकवैक्रियाहारकतैजसरूपाणि तत्पर्यवास्तत्र प्रकृते वैक्रियाहारकयोरनुपयोगस्तेनौदारिकशरीरमाश्रित्योत्कृष्टवर्णादयस्तत्राद्यसमये बोध्याः । ततः परं तथैव हीयन्ते तैजसमाश्रित्य कपोतपरिणामकजाठराग्निरुत्कृष्टस्तत्रादिसमये तदनन्तरं मन्दमन्दतरादिवीर्यकत्वात् एव इति । तथा अनन्तैरगुरुलघुपर्यवैरिति । अगुरुलघुद्रव्याणि सूक्ष्मद्रव्याणि प्रस्तुते च पौद्गलिकानि मन्तव्यानि । अन्यथा पौद्गलिकानां धर्मास्तिकायादीनामपि पर्यवहानिप्रसङ्गः । तानि च कार्मणमनोभाषादिद्रव्याणि । तेषां पर्यवैरनन्तैस्तत्र कार्मणस्य सातवेदनीयशुभनिर्माणसुस्वरसौभाग्यादेयादिरूपस्य बहु स्थितिमनुगृह्य प्रदेशकत्वेन मनोद्रव्यस्य बहुग्रहणासंदिग्धग्रहणं झटिति ग्रहणबहुधारणादिमत्तया भाषाद्रव्यस्योदात्तत्वं गम्भीरोपनीतरागत्वेप्रतिनादविधायितादिरूपतया च तत्रापि समये उत्कृष्टता । ततः परं क्रमेणानन्ताः पर्यवा हीयन्ते । अनन्तैरुत्थानादिपर्यवैः तत्रोत्थानमूर्ध्वभवनं कर्मोत्क्षेपणादि गमनादि वा बलं शारीरं प्राणाः । वीर्यं जीवोत्साहः । पुरुषकारः पौरुषाभिमानः पराक्रमश्च स एव साधिताभिमतप्रयोजनः । अथवा पुरुषकारः पुरुषक्रिया सा च प्रिया स्त्री क्रियते प्रकर्षवतीति तत्स्वभावत्वादिति विशेषेण तद्ग्रहणं पराक्रमस्तु शत्रुवित्रासनं तत एते प्राक्तनसमये उत्कृष्टास्ततः परं प्रतिपाद्याः तथैव हीयन्ते । तथा " संघयणं संठाणं, उच्चत्तं आउअं च मणुआणं । अणुसमयं परिहायइ, ओस्सप्पिणी कालदोसेणं ॥१॥ कोहमयमायलोभा, उस्सभं वड्ढए अ मणुआणं । कूडतुलकूडमाणं, तेणाणुमाणेण सव्वं पि ॥ २ ॥ विसमा अज्जतुला उ, विसमाणि अ जणवएसु माणाणं । विसमाए य कुलाइं, तेण उ विसमाइं वासाइं ॥ ३ ॥ विसमेसु अ वासेसु, हुंतिअ साराइं ओसहिबलाइं । ओसहिदुब्बल्ले ण य, आउं परिहायइ णराणं" ॥४॥ इति तण्डुलवैकालिके अवसर्पिणीकालदोषेण हानिरुक्ता । सा बाहुल्येन दुःषमामाश्रित्य शेषारकेषु तु यथासंभवं ज्ञेयेति । ननु निर्द्रव्यस्यापि कालस्य कथं हानिरिति परकृतासंभवाशङ्कानिवारणार्थं वर्णादिपर्यवाणां हानिरुक्ता ते च पुद्गलधर्मास्तर्हि अन्यधर्म हीयमाने विवक्षितः कालः कथं हीयत इति महदसंगतं तथा सति वृद्धाया वयोहानौ युवत्या अपि वयोहानिप्रसङ्ग इति चेन्न कालस्य कार्यवस्तुमात्रे कारणत्वाङ्गीकरात् कार्यगता धर्माः कारण उपचर्यन्ते कारणत्वसंबन्धादिति ॥

अथ प्रस्तुतारकस्य रूपप्रश्नायाह ।

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे इमीसे ओसप्पिणीए सुसमाए उत्तमकट्ठपत्ताए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोयारे होत्था गोयमा ? बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे होत्था । से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा तं चेव जं सुसमसुसमाए पुव्ववण्णिअं णवरं णाणत्तं चउधणुसहस्सभूसिआ एगे अट्ठावीसे पिट्ठकरंडगसए छट्ठभत्तस्स आहारट्ठे चउसट्ठिं राइंदिआइं संरक्खंति दो पलिओवमाइं आउसेसं तं चे

प्रायः सूत्रं गतार्थमेव नवरं केवलं नानात्वं भेदः स चायं चतुर्धनुः सहस्रोच्छ्रिताः क्रोशद्वयोच्चास्ते मनुजाः इति योगः मकारोऽलाक्षणिकः अष्टाविंशत्यधिकमेकं पृष्ठकरण्डुकशतं प्रथमकारोकपृष्ठकरण्डुकानामर्द्धमिति यावत् तेषां मनुजानामिति योगः षष्ठभक्तेऽतिक्रान्ते आहारार्थः समुत्पद्यते इति योगसूत्रे सप्तम्यर्थे षष्ठी सूत्रत्वात् चतुःषष्टिं रात्रिन्दिवानि यावत् संरक्षन्ति। अपत्यानि ते मनुजा इति योगः तत्र सप्तावस्थाक्रमः पूर्वोक्त एव नवरमेकैकस्या अथाऽवस्थायाः कालमानं नव दिनानि अष्टौ घट्यश्चतुस्त्रिंशत्पलानि । सप्तदश चाक्षराणि किंचिदधिकानीति चतुःषष्टौ सप्तभिर्भागे एतावत एव लाभात् । यच्च पूर्वेभ्योऽधिकोऽपत्यसंरक्षणकालस्य हीयमानत्वेनोच्छ्रादीनां हीयमानत्वादल्पीयसाऽनेहसा व्यक्तताभवनादिति एवमग्रेऽपि ज्ञेयम् द्वे पल्योपमे आयुः तेषां मनुजानामिति योगः एवमन्यत्रापि यथासंभवमध्याहारेण सूत्राक्षरयोजना कार्या । अन्यत्सर्वं सुषमसुषमोक्तमेवेति । अत्रापि यथोक्तमायुःशरीरोच्छ्रायादिकं सुषमायामादौ ज्ञेयं ततः परं क्रमेण हीयमानमिति ॥

अथात्र भगवान् स्वयमेवापृष्टानपि मनुष्यभेदानाह ।

तीसे णं समाए चउव्विहा मणुस्सा अणुसज्जित्था तं जहा एका १ पउरजंघा २ कुसुमा ३ सुसमणा ४ ॥

अत्रान्वययोजना प्राग्वत् । एकाः १ प्रचुरजङ्घाः २ कुसुमाः ३ सुशमनाः ४ एतेऽपि प्राग्वज्जातिशब्दा ज्ञेयाः । अन्वर्थता चैवम् । एकाः श्रेष्ठाः संज्ञाशब्दत्वान्न सर्वादित्वं । प्रचुरं जङ्घाः पुष्टजङ्घा न तु काकजङ्घा इति भावः । कुसुमसदृशत्वात् सौकुमार्यादिगुणयोगेन कुसुमाः पुंस्यपि कुसुमशब्दः । सुष्ठुतिशयेन शमनं शान्तेर्भावो येषां ते तथा प्रचुरतनुकषायत्वात् । अत्र पूर्वोक्तषट्प्रकारमनुष्याणां भावादेतेऽन्ये जातिभेदाः गतो द्वितीयारकः ।

(९) अथ तृतीयारकव्याख्या ।

तीसे णं समाए तिहिं सागरोवमकोमाकोमीहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं जाव अणंतगुणपरिहाणीए परिहायमाणी २ एत्थ णं सुसमदुस्समाणामं समा काले पभिवज्जिंसु समणाउसो ! ।

व्याख्या पूर्ववत् । नवरं परिहायमाणी इत्यत्र स्त्रीलिङ्गनिर्देशः समाविशेषणार्थस्तेन समाकाले इतिपदद्वयं पृथक् मन्तव्यम् । अयमेवाशयः सूत्रकृता "साणंसमे" त्युत्तरसूत्रं प्रादुश्चक्रे इति । अथास्या एव विभागप्रदर्शनार्थमाह ।

सा णं समा तिहा विभज्जइ तं पढमे तिभाए १ मज्झिमे तिभाए २ पच्छिमे तिभाए ३ ।

सा सुषमदुष्षमानाम्नी समा तृतीयारकलक्षणा त्रिधा विभज्यते त्रिभागीक्रियते । तद्यथा प्रथमतृतीये भागे मयूरव्यंसकादित्वात् पूरणप्रत्ययलोपः । एवमग्रेऽपि अयं भावः द्वयोः सागरोपमकोटाकोट्योः त्रिभिर्भागे यदागतं तदेकैकस्य भागप्रमाणं तच्चेदं षट्षष्टिः कोटीलक्षाणां षट्षष्टिः कोटीसहस्राणां षट्कं कोटिः शतानि षट्षष्टिः कोटीनां षट्षष्टिः लक्षाणां षट्षष्टिः सहस्राणां षट्कं शतानां षट्षष्टिश्च सागरोपमाणां द्वौ च सागरोपमत्रिभागौ स्थापना चेयम् । ६६६६६६६६६६६६६६६२ इति ।

अथाद्यभागयोः स्वरूपप्रश्नायाह ।

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे इमीसे ओसप्पिणीए सुसमदुस्समाए समाए पढममज्झिमेसु तिभाएसु भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपमोआरे पुच्छा, गोअमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे होत्था सो चेव गमो णेअव्वो णाणत्तं दो धणुसहस्साइं । उड्ढं उच्चत्तेणं तेसिं णं च मणुआणं चउसट्ठिपिट्ठकरंडुगा चउत्थभत्तस्स आहारत्थे समुप्पज्जइ ठिई पलिओवमएगूणासीइराइंदिआइं संरक्खंति संगोवेंति जाव देवलोगपरिग्गहिआणं ते मणुआ पण्णत्ता समणाउसो !

"जंबुद्दीवेणमित्यादि" सर्वं गतार्थं नानात्वमित्ययं विशेषः । द्वे धनुःसहस्रे ऊर्ध्वोच्चत्वेन क्रोशोच्चा इत्यर्थः । तेषां च मनुष्याणां चतुःषष्टिपृष्ठकरण्डुकानि अष्टाविंशत्यधिकशतस्यार्धीकरणे एतावत एव लाभात् । चतुर्थे भक्तेऽतिक्रान्ते आहारार्थः । समुत्पद्यते । एकदिनान्तरित आहार इत्यर्थः । स्थितिः पल्योपमैकोनाशीतिरात्रिंदिवानि संरक्षन्ति संगोपायन्ति अपत्ययुगलकमित्यर्थः । तत्रावस्थाक्रमः तथैव नवरमेकैकस्या अवस्थायाः कालमानमेकादश दिनानि सप्तदशघट्यः अष्टौ पलानि । चतुस्त्रिंशच्चाक्षराणि किंचिदधिकानि । एकोनाशीतेः सप्तभिर्भागे एतावत एव लाभात् । अस्यां च भिन्नजातिमनुष्याणामणुष्यंजना नास्ति तदा तेषामसंभवादिति संभाव्यते । तत्त्वं तु तत्त्वविद्वेद्यम् । यत्तु " उग्गाभोगारायन्नखत्तिअ संगहो भवे चउहा " इत्युक्तम् । तदरकान्त्यभागभावित्वेन नेहाधिक्रियते । न त्वस्याः समायाः त्रिधा विभजनं किमर्थमुच्यते । यथा प्रथमारकादौ त्रिपल्योपमायुषस्त्रिगव्यूतोच्छ्रयास्त्रिदिनान्तरितभोजना एकोनपञ्चाशद्दिनानि कृतापत्यसंरक्षणास्ततः क्रमेण कालपरिहाण्या द्वितीयारकादौ द्विपल्योपमायुषः द्विगव्यूतोच्छ्रया द्विदिनान्तरितभोजनाश्चतुःषष्टिदिनानि कृतापत्यसंरक्षणास्ततोऽपि तथैवं परिहाण्या तृतीयारकादौ एकपल्योपमायुष एकगव्यूतोच्छ्राया एकदिनान्तरितभोजना अशीतिदिनानि कृतापत्यसंरक्षणास्तदनन्तरमपि त्रिधा विभज्य तृतीयारकप्रथमत्रिभागद्वयं यावत् तथैव नियतपरिहाण्या हीयमानयुग्मिमनुजा अभूवन्नन्तिमत्रिभागेषु सा परिहाणिरनियता जातेति सूचनार्थं त्रिभागकरणं सार्थकमिति संभाव्यते । अन्यथागमसंप्रदायत्रिभागकरणे हेतुरवगन्तव्य इति ।

अथ तृतीयारकस्वरूपप्रश्नायाह ।

तीसे णं भंते ! समाए पच्छिमे तिभागे भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोयारे य होत्था गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे होत्था से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव मणीहिं उवसोभिए तं जहा कित्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव ॥

(तीसेणमित्यादि) यदेव दक्षिणार्धभरतस्वरूपप्रतिपादनाधिकारे व्याख्यातं तदत्र सूत्रे निरवशेषं ग्राह्यं नवरमत्र कृष्यादिकर्माणि प्रवृत्तानीति कृत्रिमैस्तृणैरकृत्रिमैर्मणिभिरित्युक्तम् ।

अथात्रैव मनुजानां स्वरूपं पृच्छन्नाह ।

तीसे णं भंते ! समाए पच्छिमे तिभागे भरहे वासे मणुआणं केरिसए आयारभावपडोआरे होत्था गोयमा ! तेसिं णं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूणि धणुसयाणि उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं संखिज्जाणि वासाणि उक्कोसेणं असंखिज्जाणि वासाणि आउअं पालेंति पा-

लेंतित्ता अप्पेगइया णिरयगामी अप्पेगइया तिरिअगामी अप्पेगइया मणुस्सगामी अप्पेगइया देवगामी अप्पेगइया सिज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ॥

व्याख्या प्राग्वदनुसरणीया ।

अथ यथास्मिन् जगद्व्यवस्थाऽभूत्तदाह ।

तीसे णं समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमट्ठभागावसेए एत्थ णं इमे पन्नरसकुलगरा समुप्पज्जित्था । तं जहा सुमई १ पडिस्सुई २ सीमंकरे ३ सीमंधरे ४ खेमंकरे ५ खेमंधरे ६ विमलवाहणे ७ चक्खुम ८ जसस्सम ९ अभिचंदे १० चंदाभे ११ पासेणइ १२ मरुदेवे १३ णाभी १४ उसभे १५ त्ति ॥

(कुलकराणां सव्याख्यानं वर्णनं कुलगर शब्दे करिष्यामि)

(ऋषभचरित्रम् उसह शब्दे उक्तम्)

(१०) अथ चतुर्थारकस्वरूपं निरूप्यते ।

तीसे णं समाए दोहिं सागरोवमकोडाकोडीहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं तहेव जाव अणंतेहिं उट्ठाणकम्मबलवीरिया जाव परिहीयमाणे २ एत्थ णं दुस्समसुसमाणामं समा कालो पडिवज्जिसु समणाउसो ! ।

तस्यामनन्तरव्यावर्णितायां समायां द्वाभ्यां सागरोपमकोटाकोटीभ्यां द्वे सागरोपमकोटाकोटी इत्येवं प्रकारेण काले व्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्णपर्यवैस्तथैव द्वितीयारकप्रतिपत्तिक्रमवत् ज्ञेयम् । यावदनन्तैरुत्थानबलवीर्यपुरुषाकारपराक्रमैरनन्तगुणपरिहाण्या हीयमानोऽतिक्रान्तो दुष्षमसुषमानाम्ना समा कालः प्रत्यपद्यत । हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! अथ पूर्वारकवद्भरतस्वरूपं प्रष्टुमाह ।

अथ तत्र मनुष्यस्वरूपप्रश्नमाह ।

तीसे णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आयारभावपडोआरे पण्णत्ते ? गोअमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते । से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव मणीहिं उवसोभिए तं जहा कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव तीसेणं भंते ! समाए भरहे मणुआणं केरिसए आगारभावपडोयारे पण्णत्ते ? गोअमा ! तेसिं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहूहिं धणूहिं उड्ढं उच्चत्तेणं जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडि आउअं पालेंति पालेत्तित्ता अप्पेगइआ णिरयगामी जाव देवगामी अप्पेगइआ सिज्झंति जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति । तीसेणं समाए तओ वंसा समुप्पज्जित्ता तं जहा अरहंतवंसे चक्कवट्टिवंसे दसारवंसे तीसेणं समाए तेवीसं तित्थयरा एक्कारस चक्कवट्टी णव बलदेवा णव वासुदेवा समुप्पज्जित्ता ॥

इदं च सूत्रत्रयमपि प्रायः पूर्वसूत्रसदृशं गमकत्वात् सुगमम् । नवरं जघन्येनान्तर्मुहूर्तमायुस्तत्कालीनमनुष्या उत्कृष्टं पूर्वकोटिमायुः पालयन्ति पालयित्वा च पञ्चस्वपि गतिष्वतिथौ भवति । अथ पूर्वसमातो विशेषमाह (तीसेणमित्यादि) तस्यां समायां ये वंशा इव वंशाः प्रवाहा आवलिका इत्येकार्थाः । ननु सन्तानरूपाः परम्परा परस्परं पितृपुत्रपौत्रप्रपौत्रादिव्यवहाराभावात् समुत्पद्यन्ते । तद्यथा अर्हद्वंशः चक्रवर्तिवंशः दशार्हाणां बलदेववासुदेवानां वंशः यदत्र दशार्हशब्देन द्वयोः कथनं तदुत्तरसूत्रबलादेव । अन्यथा दशार्हशब्देन वासुदेवा एव प्रतिपाद्या भवन्ति । " अह पंच दसाराणमिति " वचनात् । यत्तु प्रतिवासुदेववंशो नोक्तस्तत्र प्रायोऽङ्गानुयायीन्युपाङ्गानीति स्थानाङ्गे वंशत्रयस्यैव प्ररूपणात् । येन हेतुना तत्रैवं निर्देशस्तत्रायं वृद्धभावः । प्रतिवासुदेवानां वासुदेववध्यत्वेन पुरुषोत्तमत्वाविवक्षणात् । एवमेवार्थं व्यनक्ति । तस्यां समायां त्रयोविंशतिस्तीर्थंकराः एकादश चक्रवर्तिनः । ऋषभभरतयोस्तृतीयारके भवनात् नव बलदेवाः नव वासुदेवाः ज्येष्ठबन्धुत्वात् प्रथमं बलदेवग्रहणमुपलक्षणात्प्रतिवासुदेववंशोऽपि ग्राह्यः समुत्पद्यन्तश्च गतश्चतुर्थारकः ।

(११) अथ पञ्चमारकः ।

तीसे णं समाए एक्काए सागरोवमकोडाकोडीए बायालीसाए वाससहस्सेहिं ऊणिआए काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं तहेव जाव परिहाणीए परिहीयमाणे २ एत्थ णं दुस्समाणामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो ! ॥

तस्यां समायामेकया सागरोपमकोटाकोट्या द्विचत्वारिंशदब्दसहस्रैरूनतयोन्नीभूतया अनयैव प्रत्येकमेकविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणयोः पञ्चमषष्ठारकयोः पूरणात् काले व्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्णादिपर्यवैस्तथैव यावत्परिहाण्या परिहीयमाणः २ अत्र समये दुष्षमानाम्ना समा कालः प्रतिपत्स्यते । वक्तुरपेक्षया भविष्यत्कालप्रयोगः ।

अथाऽत्र भरतस्य स्वरूपं पृच्छन्नाह ॥

तीसे णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स केरिसए आगारभावपडोआरे भविस्सइ गोअमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे भविस्सइ । से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा मुइंगपुक्खरेइ वा जाव णाणामणिपंचवण्णेहिं कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव ।

(तीसेणमित्यादि) सर्वं प्राग्व्याख्यातार्थं नवरं भविष्यतीति प्रयोगः पृच्छकापेक्षया अत्र भूमौ बहुसमरमणीयत्वादिकं चतुर्थारकतो हीयमानं २ नितरां ज्ञातव्यम् । ननु स्थाणुबहुले कण्टकबहुले विसमबहुले इत्यादिनाऽधस्तनसूत्रेण लोकप्रसिद्धेन च विरुध्यते । नैवमतिचारितचतुरश्चिन्तयेः यतोऽत्र बहुलशब्देन स्थाण्वादिबाहुल्यं सूचितम् । न च षष्ठारक इवैकान्तिकत्वं तेन च कचिन्नदीतटादौ आरामादौ वैताढ्यगिरिकुञ्जादौ वा बहुसमरणीयत्वादिकमुपलभ्यत एवेति न विरोधः

अथ तत्र मनुजरूपं प्रष्टुकाम आह ।

तीसे णं भंते ! समाए भरहे वासे मणुआणं केरिसए आयारभावपडोयारे पण्णत्ते ? गोअमा ! तेसिं मणुआणं छव्विहे संघयणे छव्विहे संठाणे बहुईओ रयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं । जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं साइरेगं वाससयं आउअं पालेंति पालेंतित्ता अप्पेगइआ णिरयगामी जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ॥

(तीसेणमित्यादि) पूर्वं व्याख्यातार्थमेतत् । नवरं बाहुरत्नयो हस्ताः सप्तहस्तोच्छ्रयत्वात्तेषां यद्यपि नामकोशे बद्धमुष्टिको ह-

स्तो रत्निरुक्तास्तथापि समपरिभाषया पूर्ण इति ते मनुजा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तं उत्कर्षेण सातिरेकं त्रिंशदधिकं वर्षशतमायुः पालयन्ति । अप्येका नैरयिकगतिगामिनः यावत् सर्वदुःखानामन्तं कुर्वन्ति । अत्र चान्तक्रिया चतुर्थारकजातपुरुषजातमपेक्ष्य तस्यैवं पञ्चसमये सिद्ध्यमानत्वाज्जम्बूस्वामिन इव न च संहरणं प्रतीत्येदं भावनीयम् । तथा च सति प्रथमषष्ठारकादावपि एतत् सूत्रपाठ उपलभ्यत एवेति आह । अत्र पालयन्ति अन्तं कुर्वन्तीत्यादौ भविष्यत्कालप्रयोगे कथं वर्तमाननिर्देशः । उच्यते सर्वासु अवसर्पिणीषु पञ्चमसमासु इदमेव स्वरूपमिति नित्यप्रवृत्तवर्तमानलक्षणप्रयोगः । यथा द्वे सागरोपमे राज्ञो राज्यं कुरुते इत्यादौ तर्हि दुष्षमा समा कालः प्रतिपत्स्यते इत्यादि प्रयोगः कथमिति चेदुच्यते । प्रज्ञापकपुरुषापेक्षयैतत्प्रयोगस्यापि साधुत्वात् ।

पुनरपि तस्यां किं किं वृत्तमित्याह ॥

तीसे णं समाए पच्छिमे तिभागे गणधम्मे पासंडधम्मे रायधम्मे जायतेए अ धम्मचरणे अ वोच्छिज्जिस्सइ ।

तस्या दुष्षमानाम्न्याः समायाः पश्चिमे त्रिभागे वर्षसहस्रसप्तकप्रमाणे अतिक्रामति सति न तु अवशिष्टे तथा सति एकविंशतिसहस्रवर्षप्रमाणश्रीवीरतीर्थस्याव्युच्छित्तिकालस्यापूर्तेः गणः समुदायो निजजातिरिति यावत् । तस्य धर्मः स्वस्वप्रवर्तितो व्यवहारो विवाहादिकः । पाखण्डाः शाक्यादयस्तेषां धर्मः प्रतीत एव । राजधर्मो निग्रहानुग्रहादिः । जाततेजा अग्निस्सहितोऽतिस्निग्धे सुषमसुषमादौ, नातिरूक्षे दुष्षमदुष्षमादौ चोत्पद्यत इति चकारादग्निहेतुको व्यवहारो रन्धनादिरपि चरणधर्मश्चारित्रधर्मः । चशब्दाद्गच्छव्यवहारश्च । अत्र धर्मपदव्यत्ययः । प्राकृतत्वात् । विच्छेत्स्यति विच्छेदं प्राप्स्यति सम्यक्त्वधर्मस्तु केषांचित्संभवत्यपि बिलवासिनां हि अतिक्लिष्टत्वेन चारित्रभावः अत एवाह । प्रकृतौ "वसणं धम्मसण्णपनट्ठा" इति वसन्नमिति प्रायो ग्रहणात् । क्वचित् सम्यक्त्वं प्राप्यतेऽपीति भावः गतः पञ्चमोऽरकः ।

(१२) अथ षष्ठारकः उपक्रम्यते ।

तीसे णं समाए एकवीसाए वाससहस्सेहिं काले वीइक्कंते अणंतेहिं वण्णपज्जवेहिं गंधरसफासपज्जवेहिं जाव परिहीयमाणे २ एत्थ णं दूसमदूसमाणामं समा काले पडिवज्जिस्सइ समणाउसो ! ॥

तस्यां समायामेकविंशत्या वर्षसहस्रैः प्रमिते काले व्यतिक्रान्ते अनन्तैर्वर्णपर्यवैरेव गन्धरसस्पर्शपर्यवैर्यावत् परिहीयमाणः २ दुष्षमदुष्षमानाम्ना समा कालः प्रतिपत्स्यते । हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! ।

अथ तत्र भरतरूपप्रश्नायाह ।

तीसे णं भंते ! समाए उत्तमकट्ठपत्ताए भरहस्स केरिसए आयारभावपडोआरे भविस्सइ । गोअमा ! काले भविस्सइ हाहाभूए भंभाभूए कोलाहलभूए समाणुभावेणं य खरफरुसधूलिमइला दुव्विसहा वाउला भयंकरा य वाया संवट्टगा य वाहिंति इह अभिक्खणं धूमाहिंति अ दिसा समंता रउस्सला रेणुकलुसतमपडलणिरालोआ समयलुक्खयाए णं अहिअं चंदा सीअं मोच्छिहिंति अहिअं सूरिआ तविस्संति ।

तस्यां समायामुत्तमकाष्ठाप्राप्तायामुत्तमावस्थागतायामित्यर्थः परमकाष्ठाप्राप्तायां वा भरतस्य कीदृशः क आकारभावस्याकृतिलक्षणपर्यायस्य प्रत्यवतारोऽवतरणम् आकारभावः प्रत्यवतारः प्रज्ञप्तः । भगवानाह । गौतमेत्यामन्त्र्य वक्ष्यमाणविशिष्टः कालो भविष्यति कीदृश इत्याह । हाहाभूतः हाहा इत्येतस्य शब्दस्य दुःखार्तलोकेन करणं हाहोच्यते । तद्भूतः प्रायो यः कालः स हाहाभूतः । भम्भा इत्यस्य दुःखार्तगवादिभिः करणं भम्भोच्यते । तद्भूतो यः स भम्भाभूतः ध्वन्यनुकरणशब्दाविमौ । भम्भा वा भेरी सा चान्तःशून्या ततो भम्भेव यः कालो जनक्षयासच्छून्यः स भम्भाभूत इत्युच्यते । कोलाहल इवार्तशाकुनसमूहध्वनिः । तं भूतः प्राप्तः कोलाहलभूतः समानुभावेन कालविशेषसामर्थ्येन च चकारोऽत्र वाच्यान्तरदर्शनार्थः । णमित्यलङ्कारे खरपरुषा अत्यन्तकठोरा । धूल्या च मलिना ये वातास्ते तथा । दुर्विषहा दुस्सहाः व्याकुलाः असमञ्जसा इत्यर्थः । भयङ्कराः चः विशेषणसमुच्चयसूचकः । वास्यन्तीत्यनेन संबन्धः । संवर्तकाश्च तृणकाष्ठादीनामपहारका वातविशेषाश्च तेऽपि वास्यन्तीति इहास्मिन् काले अभीक्ष्णं पुनः पुनर्धूमायिष्यन्ते च । धूममुद्वमिष्यन्तीति दिशः किंभूतास्ता इत्याह । समन्तात् सर्वतो रजस्वला रजोयुक्ताः अत एव रेणुना रजसा कलुषा मलिनास्तथा । तमःपटलेनान्धकारवृन्देन निरालोका निरस्तप्रकाशा निरस्तदृष्टिप्रसरा वा । ततः पदद्वयकर्मधारयः । समया रूक्षतया च कालरूक्षतया चेत्यर्थः अहितं अधिकं चापथ्यं चन्द्राः शीतं हिमं मोक्ष्यन्ति मोक्ष्यन्ति । तथैव सूर्यास्तपन्ति तापं मोक्ष्यन्तीत्यर्थः । कालरौक्ष्येण शरीररौक्ष्यं तस्माच्चाधिकशीतोष्णपराभव इति ॥

अथ पुनस्तत्स्वरूपं भगवान् स्वयमेवाह ।

अदुत्तरं च णं गोअमा ! अभिक्खणं अरसमेहा विरसमेहा खारमेहा खत्तमेहा अग्गिमेहा विज्जुमेहा विसमेहा अजवणिजोदगा वाहिरोगवेदणोदीरणपरिणामसलिला अमणुण्णपाणिअगा चंडानिलपहतत्तिक्खधाराणिवातपउरवासिहिंति जे णं भरहे वासे गामागारणगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणा समगयजणवयचउप्पयगवेलए खहयरे खहसंघे गामारण्णप्पयाराणिरए तसे अ पाणे बहुप्पयारे रुक्खगुच्छगुम्मलयवल्लिप्पवालंकुरमादीए तणवणस्सइकाइए ओसहीओ अ विद्धं सेहिंति पव्वयगिरिमुंगरुत्थलभट्ठिमादीए । वेअड्ढगिरिवज्जे विरावेहिंति सलिलबिलविसमगड्ढणिण्णुण्णयाणि अ गंगासिंधुवज्जाइ समीकरेहिंति ।

अथापरं च हे गौतम ! अभीक्ष्णं पुनः पुनः अरसा अमनोज्ञा रसवर्जितजला ये मेघास्ते तथा । विरसा विरुद्धरसा ये मेघास्ते तथा । एतदेवाभिव्यज्यते । क्षारमेघाः सर्जादिक्षारसमानजलोपेतमेघाः । करीषसमानरसजलोपेतमेघाः । (खट्टमेहत्ति) क्वचिद्दृश्यते । तत्राम्लजला मेघाः । अग्निमेघाः अग्निवद्दाहकारिजला इत्यर्थः । विद्युत्प्रधाना एव जलवर्जिता इत्यर्थः । विद्युन्निपातवन्तो वा विद्युन्निपातकार्यकारिजलनिपातवन्तो वा मेघाः । विषमेघाः । जनमरणहेतुजलाः । अत्र "असणि मेहा" इत्यपि पदं क्वचित् दृश्यते । तत्रायमर्थः । करकादिनिपातवन्तः पर्वतादिदारणसमर्थजलत्वेन वा वज्रमेघाः । अयापनीयं न यापना प्रयोजकमुदकं येषां ते तथा । असमाधानकारिजला इत्यर्थः । क्वचिदपि (वणिजोदगा इति) तत्रायातव्यजला इत्यर्थः । एतदेव व्यनक्ति । व्याधिरोगवेदनोदीरणापरिणामसलिलाः । व्याधयः स्थिराः ।

कुष्ठादयो रोगाः । सद्योघातिशूलादयः तदुत्थाया वेदनाया योदीरणा प्रवासस्समये उदयप्रापणा सैव परिणामः परिपाको यस्य सलिलस्य तत्तथा । तदेवंविधं सलिलं येषां ते तथा । अत एवामनोज्ञपानीयकाः । चण्डाऽनिलेन प्रहतानामाच्छोटितानां तीक्ष्णानां वेगवतीनां धाराणां निपातः । स प्रचुरो यत्र वर्षे स तथा । तं वर्षं वर्षिष्यन्ति करिष्यन्तीत्यर्थः । ग्रन्थान्तरे तु एते क्षीरमेघादयो वर्षशतोनैकविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणदुष्षमाकालातिक्रमे वर्षिष्यन्तीति । अतस्तेन वर्षणेनारभ्य मेघादयः किं करिष्यन्तीत्याह (जेणं भरहेत्यादि) येन वर्षणेन करणभूतेन पूर्वोक्तविशेषणा मेघा विध्वंसयिष्यन्तीति संबन्धः । भरतवर्षे ग्रामाद्या आश्रमान्ताः प्राग्व्याख्यातार्थाः । तत्र गतं जानपदं मनुष्यलोकं तथा चतुष्पदा मनुष्यादयो गोशब्देन गोजातीया एलका उरभ्रास्तान् तथा खचरान् वैताढ्यवासिनो विद्याधरान् तथा पक्षिसंघान् तथा ग्राम्यारण्ययोर्यः प्रचारस्तत्र निरतानासक्तान् । त्रसांश्च प्राणान् द्वीन्द्रियादीन् बहुप्रकारान् । तथा वृक्षानाम्रादीन् गुच्छान् वृन्ताकीप्रभृतीन् गुल्मान् नवमालिकादीन् लता अशोकलताद्याः वल्लीः वालुक्यादिकाः प्रवालान् पल्लवाङ्कुरान् अङ्कुरान् शाल्यादिबीजसूचीत्यादीन् तृणवनस्पतिकायिकान् बादरवनस्पतिकायिकान् सूक्ष्मवनस्पतिकायिकानां तैरुपघातासंभवात् । तथा औषधीश्च शाल्यादिकाश्चोऽभ्युच्चये (पव्वएइत्यादि) यद्यपि पर्वतादयोऽन्यत्रैकार्थतया रूढास्तथापीह विशेषो दृश्यस्तथा हि पर्वतनादुत्सवविस्तारणात् । पर्वताः क्रीडापर्वताः । उज्जयन्तवैभारादयः । गृह्णन्ति शब्दायन्ते जननिवासभूतत्वेनेति गिरयः गोपालगिरिचित्रकूटप्रभृतयः । डुङ्गानि शिलावृन्दानि चोरवृन्दानि वा सन्त्येषु इत्यस्त्यर्थे रप्रत्ययः डुङ्गराः शिलोच्चयमात्ररूपाः । उत् उन्नतानि स्थलानि धूल्युच्छ्रयरूपाणि (भट्टित्ति) भ्राष्ट्राः पांस्वादिवर्जिताः भूमयः । तत एतेषां द्वन्द्वस्ते आदिर्येषां ते तथा तान् आदिशब्दात् प्रासादशिखरादिपरिग्रहः । मकारोऽलाक्षणिकः चशब्दो मेघानां क्रियान्तरद्योतकः विद्रावयिष्यन्तीति क्रियायोगः । अत्रार्थेऽपवादसूत्रमाह वैताढ्यगिरिवर्जान् पर्वतादीनित्यर्थः । शाश्वतत्वेन तस्याऽविध्वंसात् । उपलक्षणादृषभकूटं शाश्वतप्रायश्रीशत्रुंजयगिरिप्रभृतींश्च वर्जयित्वा तथा सलिलबिलानि भूनिर्झराः विषमगर्ताश्च दुःपूरश्वभ्राणि कश्चिद्दुर्गपदमपि दृश्यते । तत्र दुर्गाणि च खातवलयप्राकारादिदुर्गमाणि निम्नानि च तान्युन्नतानि निम्नोन्नतानि उच्चावचानीत्यर्थः । पश्चाद् द्वन्द्वः । तानि च कर्मभूतानि शाश्वतनदीत्वात् गङ्गासिन्धुवर्ज्यानि समीकरिष्यन्ति ।

(१३) अथ तत्र भरतभूमिस्वरूपप्रश्नमाह ।

तीसे णं भंते ! समाए भरहस्स वासस्स भूमीए केरिसए आगारभावपमोआरे भविस्सइ । गोयमा ! भूमी भविस्सइ इंगालभूआ मुम्मुरभूआ छारिअभूआ तवेल्लुअभूआ तत्तसमजोइभूआ धूलिबहुला रेणुबहुला पंकबहुला पणयबहुला चलणिबहुला बहूणि धरणिगोअराणं सत्ताणं दुन्निक्कमाया वि भविस्सइ ।

तस्यां भदन्त ! समायां भरतस्य भूमेः कीदृशक आकारभावप्रत्यवतारो भविष्यति । भगवानाह गौतम ! भूमिर्भविष्यति । अङ्गारभूता ज्वालारहितवह्निपिण्डरूपा मुर्मुरभूतविरलाग्निकणरूपा क्षारिकभूता भस्मरूपा तप्तकवेल्लुकभूता वह्निप्रतप्तकवेल्लुकरूपा । तप्तसमज्योतिर्भूता तप्तेन भावे क्तप्रत्ययविधानात् तापेन समा तुल्या ज्योतिषा वह्निना भूता जाता या सा तथा । पदव्यत्ययः । एवं समासश्च प्राकृतत्वात् । धूलिबहुलेत्यादौ धूलिः पांसुः रेणुः वालुका पङ्कः कर्दमः । पनकः प्रतलः कर्दमः । चलनप्रमाणकर्दमश्चलनीत्युच्यते । अत एव बहूनां धरणिगोचराणां सत्वानां दुःखेन नितरां क्रमः क्रमणं यस्यां सा । दुर्निष्क्रमा दुरतिक्रमणीयेत्यर्थः । चः समुच्चये अपिशब्देन दुर्निषदादिपरिग्रहः । अत्र बहूनामित्यादितः प्रारभ्य भिन्नवाक्यत्वेनोत्तरसूत्रवर्तिना भविष्यति पदेन पौनरुक्त्यम् ।

अथ तत्र मनुष्यस्वरूपं पृच्छति ॥

तीसे णं भंते ! समाए भरहे वासे मणुआणं केरिसए आयारभावपमोयारे भविस्सइ । गोयमा ! मणुआ भविस्संति दुरूवा दुव्वण्णा दुग्गंधा दुरसा दुफासा अणिट्ठा अकंता अप्पिआ असुभा अमणुण्णा अमणामा हीणस्सरा दीणस्सरा अकंतस्सरा अप्पिअस्सरा अमणुण्णस्सरा अणादेज्जवयणपच्चायाता णिलज्जा कूडकवडकलहवहबंधवेरनिरया मज्जायातिक्कमप्पहाणा अकज्जणिच्चुज्जाया गुरुणिओगविणयरहिआ य विकलरूवा परूढणहकेसमंसुरोमा काला खरफरुससमावण्णपुट्ठसिरा कविलपलिअकेसा बहुण्हारुसंपिणद्धदुद्दंसिणज्जरूवा संकुमिअवलीतरंगपरिवेढिअंगमंगा जरापरिणयव्वथेरगणरा पविरलपरिसडिअदंतसेढी उब्भडघडमुहा विसमणयणा वंकणासा वंकवलिविगयभीसणमुहा दहुकिट्टिभसिध्मफुडिअफरुसच्छवी चित्तलंगमंगा कच्छूखसराभिभूआ खरतिक्खणक्खकंडूइअविकयतणू टोलगतिविसमसंधिबंधणा उक्कुडिअट्ठिअविभत्तदुब्बलकुसंघयणकुप्पमाणकुसंठिआ कुरूवा कुट्ठाणासणकुसेज्जकुभोइणो असुइणो अणेगवाहिपीलिअअंगमंगा खलंतविब्भलगई णिरुच्छाहा सत्तपरिवज्जिआ विगयचेट्ठा नट्ठतेआ अभिक्खणं सीउण्हखरफरुसवायविज्झडिअमलिणपंसुरओगुंडिअअंगमंगा बहुकोहमाणमाया लोभा बहुमोहा असुभदुक्खभागी ओसण्णधम्मसण्णसम्मत्तपरिभट्ठा उक्कोसेणं रयणिप्पमाणमेत्ता सोलसवीसइवासपरमाउसो । बहुपुत्तणत्तुपरिआलपणयबहुला गंगासिंधूओ महाणईओ वेअड्ढं च पव्वयं नीसाए बावत्तरिणिगोआ बीअं बीअमेत्ता बिलवासिणो मणुआ भविस्संति ॥

(तीसेणमित्यादि) प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् निर्वचनसूत्रे गौतम ! मनुजा भवन्ति कीदृशा इत्याह । दुरूपाः दुःस्वभावा । दुर्वर्णाः कुत्सितवर्णाः । एवं दुर्गन्धाः । दुरसाः रोहिण्यादिवत् कुत्सितरसोपेताः । दुःस्पर्शाः । कर्कशादिकुत्सितस्पर्शाः । अनिष्टा अनिच्छाविषयाः । अनिष्टमपि किंचित्कमनीयं स्यादित्यत आह । अकान्ताः अकमनीयाः । अकान्तमपि किंचित् कारणवशात्प्रीतये स्यादतोऽप्रिया अप्रीतिहेतवः । अप्रियत्वं च तेषां कुत इत्याह । अशुभा अशोभनभावरूपत्वात् । अशुभत्वं च विशेषत आह । न मनसा सातवेदनेन शुभतया ज्ञायन्ते इत्यमनोज्ञाः । अमनोज्ञतया अनुभूतमपि स्मृतिदशायां दशाविशेषेण किंचिन्मनोज्ञं स्यादत आह । अमनोमाः न मनसा अम्यन्ते गम्यन्ते पुनः स्मृत्या इत्यमनोमाः । ए-

कार्थिका वा एते शब्दा अनिष्टताप्रकर्षवाचका इति मूर्त्या अनिष्टादिविशेषणोपेता अपि केचित्कुम्भा इव सुस्वराः स्युरित्याह । हीनो ग्लानस्येव स्वरो येषां ते तथा । दीनो दुःखितस्येव स्वरो येषां ते तथा । अनिष्टादिशब्दा उक्तार्था एवात्र स्वरेण योजनीयाः । अनादेयवचनप्रत्याजाता अनादेयमशुभगत्वादग्राह्यं वचनं वचः प्रत्याजातं च जन्म येषां ते तथा । निर्लज्जाः व्यक्तम् । कूटं भ्रान्तिजनकं द्रव्यं कपटं परवञ्चनाय वेषान्तरकरणं कलहः प्रतीतः । वधो हस्तादिभिस्ताडनं बन्धो रज्जुभिः संयमनं वैरं प्रतीतं तेषु निरताः मर्यादातिक्रमे प्रधाना मुख्याः अकार्यनित्योद्यताः गुरूणां मात्रादिकानां नियोग आज्ञा तत्र यो विनयरूपमित्यादिरूपस्तेन रहिताः चः पूर्ववत् । विकलमसंपूर्णं काणं चतुरङ्गुलिकादिस्वभावत्वाद्रूपं येषां ते तथा । प्ररूढा गर्ता सूकराणामिवाजन्मसंस्काराभावात् । वृद्धिं गता नखाः केशाः श्मश्रुरोमाणि च येषां ते तथा । कालाः कृतान्तसदृशाः क्रूरप्रकृतित्वात् कृष्णा वा खरपरुषाः स्पर्शतोऽतीव कठोराः श्यामवर्णा नीलीकुण्डे निक्षिप्तोत्क्षिप्ता इव ततः कर्मधारयः क्वचिद् ध्मानवर्णा इत्यपि पदं दृश्यते तत्रानुज्ज्वलवर्णा इत्यर्थः स्फुटितशिरसः स्फुटितानीव स्फुटितानि वामिभवत् शिरांसि मस्तकानि येषां तथा । कपिलाः केचन पलिताश्च शुक्लाश्च केचन केशाः येषां ते तथा । बहुस्नायुभिः प्रचुरस्नायुभिः संपिनद्धं बद्धमत एव दुःखेन दर्शनीयं रूपं येषां ते तथा । संकुटितं संकुचितं वल्यो निर्मांसत्वग्विकारास्त एव तदनुरूपाकारत्वात्तरङ्गा वीचयः तैः परिवेष्टितानि अङ्गान्यवयवा यत्र तमेवं विधमङ्गं शरीरं येषां ते तथा । क इवेत्याह । जरा परिणता इव स्थविरकनरा जरा व्याप्ताः स्थविरतरा इवेत्यर्थः । स्थविराश्चान्यथापि व्यपदिश्यन्ते इति जरापरिणतग्रहणम् । प्रविरला सान्तरालत्वेन परिशाटिता च दन्तानां केशानां केषांचित् पतितत्वेन दन्तश्रेणिर्येषां ते तथा उद्भटं विकरालं घटवन्मुखं तुच्छदशनच्छदत्वाद्येषां ते तथा क्वचित् 'तुब्भमधमोमुहा' इति पाठस्तत्र उद्भटे स्पष्टे घटोन्मुखे कृकाटिकावदने येषां ते तथा । विसमे नयने येषां ते तथा । वक्रा नासा येषां ते तथा । ततः पदद्वयकर्मधारयः । वक्रं पाठान्तरेणव्यङ्गं सलाञ्छनं वलिभिर्विकृतं बीभत्सं भीषणं भयजनकं मुखं येषां ते तथा । दद्रुकिट्टिभसिध्मानि क्षुद्रकुष्ठविशेषास्तत्प्रधाना स्फुटिता परुषा च छविः शरीरत्वग् येषां ते तथा । अत एव चित्रलाङ्गाः कर्बुरावयवशरीराः कच्छूः पामा तया कसरैश्च खसरैरभिभूता व्याप्ता ये ते तथा । अत एव खरतीक्ष्णनखानां कठिनतीक्ष्णनखानां कण्डूयितेन खर्जूकरणेन विकृता कृतव्रणा तनुः शरीरं येषां ते तथा । टोलाकृतयो प्रशस्ताकाराः क्वचित् टोलग इति पाठस्तत्र टोलगतय उष्ट्रादिसमप्रचाराः तथा । विषमाणि दीर्घह्रस्वभावेन सन्धिरूपाणि बन्धनानि येषां ते विषमसन्धिबन्धनाः तथा उत्कुटुकानि यथास्थानमनिविष्टानि अस्थिकानि कीकसानि विभक्तानीव च दृश्यमानान्तरालानि येषां ते तथा । अत्र विशेषणपदव्यत्ययः प्राग्वत् । अथवा उत्कुटुकस्थितास्तथा स्वभावत्वात् विभक्ताश्च भोजनविशेषरहिता येषां ते तथा । दुर्बला बलहीना कुसंहननाः सेवार्तसंहननाः कुप्रमाणहीनाः कुसंस्थिताः । दुःसंस्थानाः ततः एषां टोलाकृत्यादिपदानां कर्मधारयः अत एव कुरूपाः कुमूर्तयः तथा । कुस्थानासनाः । कुशय्याः कुत्सितशयनाः । कुभोजिनो दुर्भोजनास्ततः एभिः पदैः कर्मधारयः । अशुचयः स्नानब्रह्मचर्यादिवर्जिताः । अश्रुतयो वा शास्त्रवर्जिताः । अनेकव्याधिपरिपीडिताङ्गाः स्खलन्ती विह्वला च चार्दवितर्दा गतिर्येषां ते तथा । निरुत्साहाः सत्वपरिवर्जिताः । विकृतचेष्टाः नष्टतेजसः । स्पष्टानि अभीक्ष्णं शीतोष्णखरपरुषवातैः (विज्झडिअं) मिश्रितं व्याप्तमित्यर्थः । मलिनं पांशुरूपेण रजसा न तु पौष्परजसावगुण्ठितान्युद्धूलितानि अङ्गान्यवयवा यस्य एतादृशमङ्गं येषां ते तथा । बहुक्रोधमानमायालोभाः । बहुमोहाः न विद्यते शुभमनुकूलवेद्यं कर्म येषां ते तथा । अत एव दुःखभागिनः ततः कर्मधारयः । अथवा दुःखानुबन्धिदुःखभागिनः ततः कर्मधारयः (उसण्णंति) बाहुल्येन धर्मसंज्ञा धर्मश्रद्धा सम्यक्त्वं च ताभ्यां परिभ्रष्टाः । बाहुल्यग्रहणेन यथा सम्यक् दृष्टत्वमेषां कदाचित्संभवति । तथाधस्तनग्रन्थे व्याख्यातम् । उत्कर्षेण रत्निर्हस्तस्य चतुर्विंशत्यङ्गुललक्षणं प्रमाणं तेन मात्रा परिमाणं येषां ते तथा । इह कदाचित् षोडश वर्षाणि कदाचिच्च विंशतिवर्षाणि परममायुर्येषां ते तथा । श्रीवीरचरित्रेषु तु षोडश स्त्रीणां वर्षाणि विंशतिः पुंसां परमायुरिति । बहूनां पुत्राणां नप्तॄणां पौत्राणां यः परिवारस्तस्य प्रणयः स बहुलो येषां ते तथा । अपि नाल्पायुष्कत्वेऽपि बह्वपत्यता तेषामुक्ता अल्पेनापि कालेन यौवनसद्भावादिति । ननु तदानीं गृहाद्यभावेन क्व ते वसन्तीत्याह । गङ्गासिन्धुमहानद्यौ वैताढ्यं च पर्वतं निश्रां कृत्वा (वावत्तरिति) द्वासप्ततिस्थानविशेषाश्रिता निगोदाः कुटुम्बानि द्विसप्ततिसंख्या चैवं वैताढ्यादर्वाग्गङ्गायास्तटे ये नवनवविलसंभवादष्टादश एवं सिन्ध्वा अपि अष्टादश एषु च दक्षिणार्धे भरतमनुजा वसन्ति । वैताढ्येन परतो गङ्गातटद्वयेऽष्टादश एवं तत्रापि सिन्धुतटद्वये अष्टादश एतेषु चोत्तरार्धभरतवासिनो मनुजा वसन्ति । बीजमिव बीजं भविष्यतां जनसमूहानां हेतुत्वात् । बीजस्येव मात्रा परिमाणं येषां ते तथा । स्वल्पाः स्वरूपत इत्यर्थः । विलवासिनो मनुजा भविष्यन्तीति पुनः सूत्रं निगमनवाक्यत्वेन न पुनरुक्तमवसातव्यम् ।

अथ तेषामाहारस्वरूपं पृच्छन्नाह ।

ते णं भंते ! मणुआ किमाहारमाहारिस्संति ? गोअमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं गंगासिंधुओ महाणईओ रहपहमित्तवित्थराओ अक्खसोअप्पमाणमेत्तं जलं वोज्झिहंति सेविअ णं जले बहुमच्छकच्छभाइण्णं णो चेव णं आउबहुले भविस्सइ ॥

ते भगवन् ! मनुजाः किमाहारमाहरिष्यन्ति । किं भोक्ष्यन्ते ? भगवानाह गौतम ! तस्मिन् काले एकान्तदुष्षमालक्षणे तस्मिन् समये षष्ठारकप्रान्त्यरूपे गङ्गासिन्धुमहानद्यौ रथपथः शकटचक्रद्वयप्रमितो मार्गस्तेन मात्रा परिमाणं यस्य स तादृशो विस्तरः प्रवाहव्यासो ययोस्ते तथा । अक्षं चक्रनाभिक्षेप्यकाष्ठं तत्र स्रोतो धुरः प्रवेशरन्ध्रं तदेव प्रमाणं तेन मात्रावगाहनो यस्य स तथाविधं जलं वक्षतः इव प्रमाणेन गम्भीरं जलं धरिष्यन्त इत्यर्थः । ननु क्षुल्लहिमवतोरेकव्यवस्थाराहित्येन तत्पद्मह्रदनिर्गतयोरनयोः प्रवाहस्य नैयत्येनोक्तरूपौ कथं संगच्छेते । उच्यते गङ्गाप्रपातकुण्डनिर्गमादनन्तरं क्रमेण कालानुभावजनितभरतभूमिगततापवशादपरजलशोषे समुद्रप्रवेशे तयोरुक्तमात्रावशेषजलवाहित्वमिति । न काप्यनुपपत्तिरिति । तदपि च जलबहुमत्स्यकच्छपाकीर्णं न चैवम् अप्कायबहुलं बह्वप्कायं सजातीयापराप्कायपिण्डबहुलमित्यर्थः । ततस्ते मनुजाः सूरोद्गमनमुहूर्तसूरास्तसमयेन मुहूर्ते च यकार-

लोपोऽत्र प्राकृतत्वात् । चकारौ परस्परं समुच्चयार्थौ विलेभ्यो निर्द्धाविष्यन्ति । शीघ्रया गत्या निर्गमिष्यन्ति । मुहूर्तात्परतोऽतितापातिशीतयोरसहनीयत्वात् । विलेभ्यो निर्द्धाव्य मत्स्य-कच्छपानां स्थलानि । ततः भूमिः णिजन्तत्वात् द्विकर्मकत्वं ग्राहयिष्यन्ति प्रापयिष्यन्ति । ग्राहयित्वा च शीतातपतप्तैः रात्रौ शीतेन दिवा तपनेन तप्तैः रसशोषं प्रापितैराहारयोग्यतां प्रापितैरित्यर्थः । अतिसरसानां तज्जठराग्निना परिपच्यमानत्वाद् मत्स्यकच्छपैरेकविंशतिवर्षसहस्राणि यावद्वृत्तिमाजीविकां कल्पयन्तो विदधाना विहरिष्यन्ति । व्याख्यातस्येदम् ।

तए णं ते मणुआ सूरुग्गमणमुहुत्तंमि अ सूरत्थमुहुत्तंमि अ विलेहिंतो णिद्धाइस्संति विलेहिंतो णिद्दत्ता मच्छकच्छभेयलाइं गाहिंहिंति गाहिंहिंतित्ता सीयातवेहिं इक्कवीसं वाससहस्साइं वित्तिं कप्पेमाणा विहरिस्संति ॥

अथ तेषामस्तित्वरूपं पृच्छन्नाह ।

ते णं भंते ! मणुआ णिस्सीला णिव्वया णिग्गुणा णिम्मेरा णिप्पच्चक्खाणपोसहोववासा उसण्णं मंसाहारा मच्छाहारा खोड्डाहारा कुणवाहारा कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छंति कहिं उववज्जिहिंति गोयमा ! उसण्णं णरगतिरिक्ख-जोणिएसु उववज्जिहिंति ॥

ते मनुजा भगवन् ! निश्शीला गताचारा निर्व्रता महाव्रताणुव्रतविकलाः निर्गुणा उत्तरगुणविकलाः निर्मर्यादाः अविद्यमानकुलादिमर्यादाः । निष्प्रत्याख्यानपौषधोपवासा असत्पौरुष्यादिनियमा अविद्यमानाष्टम्यादिपर्वोपवासाश्चेत्यर्थः । 'उसण्णं' प्रायो मांसाहाराः कथमित्याह । मत्स्याहाराः यतः तथा क्षौद्राहाराः मधुभोजिनः कुड्डं वा तुच्छावशिष्टं । तुच्छं धान्यादिकमाहारो येषां ते तथा । इदं विशेषणं सूपपन्नमेव । पूर्वविशेषणे प्रायो ग्रहणात् । केषुचिदादर्शेषु अत्र । 'गममाहारा' इति दृश्यते । स लिपिप्रमाद एव संभाव्यते पञ्चमाङ्गे सप्तमशते षष्ठोद्देशे दुष्षमदुष्षमावर्णने दृश्यमानत्वात् । अथवा यथासंप्रदायमेतत्पदं व्याख्येयम् । कुणपः शवस्तद्रसोऽपि वसादिः । कुणपस्तदाहाराः कालमासे इत्यादिकं प्राग्वत् । निर्वचनसूत्रमपि प्राग्वत् नवरम् "उसण्णमिति" ग्रहणात् । कश्चित् क्षुद्राहारवान् देवलोकगम्येऽपि अक्लिष्टाध्यवसायात् ।

अथ ये तदानीं क्षीणावशेषाश्चतुष्पदास्तेषां
का गतिरिति पृच्छति ।

तीसे णं भंते ! समाए सीहा वग्घा विगा दीविआ अच्छा तरस्सपरस्सरासरभसियाला बिराला सुणगा कोलसुणगा ससगा चित्तगा उसण्णं मंसाहारा मच्छाहारा खोड्डाहारा कुणवाहारा कालमासे कालं किच्चा कहिं गच्छीहिंति कहिं उववज्जिंति । गोयमा ! उसण्णं णरगतिरिक्खजोणिएसु उववज्जिहीति तेणं भंते ! ढंका कंका पिलगा मग्गुगा सिही उसण्णं मंसाहारा जाव कहिं गच्छिहिंति कहिं उववज्जिहिंति गोयमा ! उसण्णं णरगतिरिक्खजोणिएसु जाव उववज्जिहिंति

तस्यां भगवन् ! समायां चतुष्पदाः सिंहादयः प्राग्व्याख्यातार्थाः श्वापदाः । प्रायो मांसाहारादिविशेषणविशिष्टाः क गमिष्यन्ति क उत्पत्स्यन्ते । भगवानाह गौतम ! प्रायः नरकतिर्यग्योनिकेषूत्पत्स्यन्ते प्रायो ग्रहणात् । कचिद्मांसादिदेवयोनावपि नवरं चिल्लगा खरविशेषा इति ।

अथ तदानींतनपक्षिगतिं प्रश्नयति । "तेणमित्यादि" कण्ठ्यं नवरं "तेणमिति" । क्षीणावशिष्टा ये पक्षिणः इति तच्छब्दबलात् ग्राह्यम् । ढङ्काः काकविशेषाः कङ्काः दीर्घपादाः । पिलका रूढिगम्याः । मद्गुका जलवायसाः । शिखिनो मयूरा इति गतः षष्ठारकः तेन चावसर्पिण्यपि गता । जं २ वक्ष० । सा त्रिविधा ।

तिविहा ओसप्पिणी पण्णत्ता । तं जहा । उक्कोसा मज्झिमा जहुन्ना । एवं छप्पियसमाओ भाणियव्वाओ जाव सुसमसुसमा ।

कालविशेषनिरूपणायाह "तिविहेत्यादि" । सूत्राणि चतुर्दश कण्ठ्यानि नवरमवसर्पिणी । प्रथमे अरके उत्कृष्टा चतुर्षु मध्यमा पश्चिमे जघन्या एवं सुषमसुखमादिषु प्रत्येकं त्रयं त्रयं कल्पनीयम् । स्था० ३ ठा० स्थानाङ्गेऽपि "जंबुद्दीवे भरहे एरवएसु वासेसु तीआए ओसप्पिणीए" । तथा सुखमा सुखमसुखमा "मणुस्साणं आउ सरीरमाणं" । स्थानाङ्गस्य द्विस्थाने त्रिस्थाने सूत्रं तस्य परमार्थः कालादिशब्दे गतमस्ति नात्र लिखितं तेन । स्था० ३ ठा०

तिविहा ओसप्पिणी पण्णत्ता तीता पडुप्पंना अणागया स्था० ३ ठा० ।

ओसप्पिणी उस्सप्पिणी–अवसर्पिण्युत्सर्पिणी–स्त्री० अवसर्पिणीयुक्ता उत्सर्पिणी अवसर्पिण्युत्सर्पिणी । विंशतिसागरोपमकोटाकोटीलक्षणे कालचक्रे, "विंसं सागरोवमकोडाकोडीओ कालेओ ओसप्पिणी उस्सप्पिणी" । जं० २ वक्ष० ।

ओसप्पिणीकाल–अवसर्पिणीकाल–पुं० । अवसर्पिणी चासौ कालश्च अवसर्पिणीलक्षणे कालभेदे,–जं० २ वक्ष० ।

ओसप्पिणीगंडिया–अवसर्पिणीगण्डिका–स्त्री० । अवसर्पिण्येकवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां गण्डिकायाम् ॥ सं० ॥

ओसर–अवसर–पुं० अन्तरे,–नि० अवसरो विभागः । पर्याय इत्यनर्थान्तरम्, विशे० क्षणे, ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० ॥

औषर–न० ऊषरे भवः अण्–पांशुलवणे, राजनि० ॥ वा० ।

ओसरण–अवसरण–न० बहूनां साधूनामेकत्र मीलके, वृ० ६ उ० ॥ मेलापके, –सूत्र० १० श्रु० १२ अ० ॥ देवसंस्कृतव्याख्यानभूमौ, पंचा० ६ विव० ॥

ओसरणकम–अवसरणक्रम–पुं० समवसरणन्याये, पञ्चा० ८ विव० ॥

ओसरणाइ–अवसरणादि–पुं० जिनसमवसरणप्रभृतौ, आदिशब्दात्समवसरणसंबन्धिमहेन्द्रध्वजचामरतोरणादिपरिग्रहः ॥ पञ्चा० १२ विव० ॥

ओसह–औषध–न० ओषधेरिदम् । ओषधेरजातौ । पा० सूत्रेणाण् । ओषधिजाते अन्नादौ, । वाच० । एकद्रव्यरूपे, ज्ञा० १३ अ० ॥ औ० प्रश्न० विपा० । केवलद्रव्यरूपे बहिरुपयोगिनि, । गच्छ० १ अधि० । ध० ३० एकद्रव्याश्रये, । दशा० १० अ० । अगदे, वृ० ३ उ० । बहुद्रव्यसमुदाये, नि० चू० २ उ० । पलाण्डचूर्णकादौ, नि० चू० १ उ० ज्ञा० ॥ महातिक्तकघृतादौ, प्र० ७ श० १० उ० । त्रिकटुकादौ, । ज्ञा० ८ अ० ॥ त्रिफलादौ, च ॥ औ० चिकित्साङ्गे, "बहुकल्पं बहुगुणं संपन्नं योग्यमौषधम्" स्था० ४ ठा० ॥ स्वार्थेऽण् । ओषधौ च । वाच० ॥

ओसहभेसज्ज–औषधभैषज्य–उपा० ॥

ओस (हि) ही–ओष (धी) धि–स्त्री० ओषः पाको धीयतेऽत्र ओष्-धा० किः जातिविषयत्वात् स्त्रीत्वे वा ङीष् ॥ ओषधी च । वाच० । फलपाकान्ते शाल्यादौ, । जीवा० १ प्रति० प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिकायिकभेदे । तद्भेदा, यथा—

से किं तं ओसहीओ ? ओसहीओ अणेगविहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा । सालिवीहीगोहू–मजवा कलमसूरतिलमुग्गा । मासणिप्फावकुलत्थ–अलिसंदसतीणपलिंघा । १ । अयसीकुसुंभकोद्दव–कंगूरालगवरट्टकोद्दूसा । सणसरिसवमूलगवीया–जेयावण्णे तहप्पगारा । सेत्तं ओसहीओ । टीका नास्ति । प्रज्ञा० १ पद ॥ तं० उत्त० जं० आ० म० प्र० पंचा० भ० सूत्र० । (इत्यौषधिलक्षणनिषेधसूत्रं तद्ग्रहणशब्दे निषेधअरगोयरचरियाशब्दे) पुष्कलाख्यविजयक्षेत्रयुगले, पुरीयुगले, । " दो पुक्खलाश्रो " । तत्र "दो ओसहीओ" स्था० २ ठा० ।

ओसहिबल–ओषधिबल–न० गोधूमादिवीर्ये, । तं० " तं चासिवालग्गही अणोसहिबलो अ परिहत्थो " आव० ४ अ० ।

ओसहिवीरिय–ओषधिवीर्य–न० शल्योद्धरणसंरोहणाविषापहारमेधाकरणादिके ओषधीनां वीर्ये, । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

ओसहुव्वरियतिल्ल–औषधोर्वरिततैल–न० तैलपक्वौषधितरिकायाम्, । ध० २ अधि० ॥

ओसा–अवश्याय–पुं० लेहे, बादराप्कायिकभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । दशा० ।

ओसाण–अवसान–न० अन्ते, । स्था० ४ ठा० । गुरोरन्तिके, ॥ ध० ३ अधि० । गुरोरन्तिके स्थाने, । "ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं, अणोसिए णंतकरिंति णच्चा । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ॥

अवश्यानक–न० स्वनामख्याते स्थाने, । यत्र प्रह्लादस्तो प्रान्तः " कपिंदिगिरितलागं पाहत्थिणपुरं च सा पत्थं ससकगं नंदिओसाणं वीसं पासा य समकरगं । उत्त० १५ उ० ॥

ओसायण–अवसादनता–न० पुद्गलानां परिशाटने, विशे० ॥

ओसारिंधणभर–अपसारितेन्धनभर–पुं० अपनीतदाह्यसङ्घाते, ॥ " ओसारिइंधणभरो, जह परिहाइ कमसो हु आसे । " आव० ४ अ० ।

ओसारिय–अप (व) सारिय–अपसारित–त्रि० अप् सृ णिच् क्त–अवापोते च ७ ४० ७२ ॥ इति अवापयोरुपसर्गयोरादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह ओत् प्रा० ॥

अपसारित–त्रि० अपनीते, । आव० ४ अ० । अवलम्बिते, । ज्ञा० १६ अ० । औ० । "ओसारियपक्खरे ' अवसारिता अवलम्बिताः पक्षास्तनुत्राणविशेषा येषां ते तान् ॥ विपा० २ अ० ॥ " ओसारियजमलजुगलघंटं " अवसारितमवलम्बितं जमलं समं युगलं द्विकं घण्टयोर्यत्र तत्तथा । औ० । भ० ॥

ओसिअंत–अवसीदत्–त्रि० ॥ पानीयादिष्वित् ८ । १ । १० ॥ इति इकारस्य इत्वम् । श्राम्यति, । प्रा० ।

ओसिंचिइत्त–अपसिञ्चयितृ–त्रि० उण्डद्रव्येणापसेककर्तरि, । " उसिणोदगवियडेण वा कायं ओसिंचित्ता भवति " ॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

ओसिय–अवसित–त्रि० पर्यवसिते, उपशान्ते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । जिते, । विशे० ॥

ओसुक्क–तिज्–धा० तीक्ष्णीकरणे, चुरा–उभ० सक० सेट । तिजेरोसुक्कः । ८ । ४ । ४ ॥ तिजेरोसुक्क इत्यादेशो वा । " ओसुक्कइ, तेअणं " प्रा० ।

ओसोवणी–अवस्वापिनी–स्त्री० विद्याभेदे, । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । कल्प० ।

ओह–ओघ–पुं० उच्-पृषो० घ० संसारसमुद्रे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । सामान्यप्रकारे, । द्र० सूत्र० विसे० । व्य० सामान्ये, । आ० म० द्वि० । पंचा० ॥ ओघः समासः सामान्यमित्यनर्थान्तरम् । नि० चू० १९ उ० । ओघः संक्षेपः स्तोकः, नि० चू० २ उ० ॥ सामान्यशास्त्राभिधाने, आ० म० प्र० ॥ प्रवाहे, । जं० १ वक्ष० सङ्घे, । को० ओघो द्विधा द्रव्यभावभेदात् । द्रव्यौघो नदीपूरादिकः । भावौघोऽष्टप्रकारं कर्म संसारो वा तेन हि प्राण्यनन्तमपि कालमुह्यते ॥ १ ॥ आचा० २ श्र० ३ उ० द्रुतनृत्यादौ, ॥ आध्यात्मिके तुष्टिभेदे ॥ परंपरायाम् । उपदेशे च ॥ मेदि० ॥ वाच० ॥

ओह–अव तृ–धा० अवतरणे, । भ्वा० प० अक० । अवतरेरोहओरसौ । ८ । ४ । ८५ अवतरतेरोहादेशः । ओहइ । ओहरइ । अवतरति । प्रा० ।

ओहंजलिया–देशी० चतुरिन्द्रियजीवविशेषे,–जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० उत्त० ।

ओहंतर–ओघन्तर–पुं० ओघं संसारसमुद्रं तरितुं शीलमस्य स तथा । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञानदर्शनचारित्रबोहित्थत्वेन । आचा० २ अ० ३ उ० । संसारतरणशीले, । सूत्र० १ श्रु० १ अ० । "एस ओहंतरे मुणी" २ अ० । इति प्रान्तरूक्षाहारसेवनेन कर्मादिशरीरं धुन्वानो जायतो भवौघं तरति कोऽसौ मुनिः स एव भवौघं तरति यो मुक्तः स बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः कश्च परिग्रहान्मुक्तो भवति । यो जावतः शब्दादिविषयाभिष्वङ्गाद्विरतः ततश्च यो मुक्तत्वेन वा विख्यातो मुनिः स एव भवौघं तरति तीर्ण एवेति वा इति । आचा० २ अ० ६ उ०

ओहट्टय–अपघट्टक–त्रि० यदृच्छया प्रवर्तमानायाः स्त्रिया हस्तग्रहादिना निवर्तके, । " अणोहट्टियाए " । ज्ञा० १६ अ० । बाधा निवारके, । ज्ञा० १८ अ० ।

अपहर्तृक–त्रि० अकार्ये प्रवर्तमानस्य हस्ते गृहीत्वाऽपहारके व्यावर्तके, । ज्ञा० ७ अ० ।

ओहणिज्जुत्ति–ओघनिर्युक्ति–स्त्री० । ओघसामाचारीप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे, । तत्र हि "णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं नमो आयरियाणं नमो उवज्झायाणं नमो लोए सव्वसाहूणं एसो पंचणमुक्कारो" इति नमस्कारमुच्चार्य "दुविहोवक्कमकालो, सामायारी अहा उ पंचेव । सामायारी तिविहा ओहे दसहा पयविभावे" इत्युपक्रम्य कालभेदमुपदर्श्य । तत्रौघसमाचारी तावदभिधीयते । अस्याश्च महार्थत्वात् । कथंचिच्छास्त्रान्तरत्वादाद्योपवाचार्यः मङ्गलार्थं संबन्धादित्रयप्रतिपादनार्थं च गाथाद्वयमाहुः "अरहंते वंदित्ता, चोद्दसपुव्वी तहेव दसपुव्वी । एक्कारसंगसुत्त–त्थधारए सव्वसाहू य" अर्हन्तः वन्दित्वा चतुर्दशपूर्विणः तथा । एवं दशपूर्विणः एकादशाङ्गसूत्रार्थधारकान् सर्वसाधूंश्च एतावन्ति पदानि आद्यगाथासूत्रे द्वितीयगाथासूत्रपदान्युच्यन्ते ओघेन तु निर्यु-

र्क्ति वक्ष्ये । चरणकरणानुयोगात् अल्पाक्षरां महार्थामनुग्रहार्थं सुविहितानामेतावन्ति पदानि ।

अधुना कृतमङ्गलः सन् संबन्धाभिधेयप्रयोजनत्रयप्रदर्शनार्थं द्वितीयं गाथासूत्रमाह ।

ओहेण निज्जुत्ती, वोच्छं चरणकरणाणुओगाओ ।
अप्पक्खरं महत्थं, अणुग्गहत्थं सुविहियाणं ॥

ओघः संक्षेपः समासः सामान्यमित्येकोऽर्थः तेन ओघेन निर्युक्तिं वक्ष्ये । इति योगः तदनेन गाथाखण्डकेन संबन्धः प्रतिपादितः । क्रियानन्तर्यलक्षणः तथा च व्यासक्रियायाः समासक्रियानन्तरभूता वर्तते अतः क्रियानन्तर्यलक्षणः संबन्धः एवं कार्यकारणलक्षणोऽपि द्रष्टव्यः । कार्यमोघनिर्युक्त्यर्थपरिज्ञानमनुष्ठानं च कारणं तु वचनरूपापन्ना ओघनिर्युक्तिरेव एवं साध्यसाधनादयोऽपि द्रष्टव्याः । इतिशब्दो विशेषणे किं विशिनष्टि । ओघेन वक्ष्ये तुशब्दात्किञ्चिद्विस्तरतोऽपि "पुरिसमित्यादि" निर्युक्तिं वक्ष्य इति निराधिक्ये योजनं युक्तिः सूत्रार्थयोर्योगो नित्यव्यवस्थित एवास्ते वाच्यवाचकतयेत्यर्थः अधिका योजना निर्युक्तिरुच्यते नियता निश्चिता वा योजनेति । ततश्च निर्युक्तियुक्तिरित्येवं वक्तव्ये एकस्य युक्तिशब्दस्य लोपं कृत्वा एवमुपन्यासः । यथोष्ट्रमुखी कन्येति 'वोच्छमिति' वक्ष्येऽभिधास्ये इति । यदुक्तं भवति । कुतो वक्ष्यत इत्यत आह । चरणकरणानुयोगात् चर्यत इति चरणं वक्ष्यमाणलक्षणं व्रतादि क्रियत इति करणं पिण्डविशुद्ध्यादि चरणं च करणं च चरणकरणे तयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः अनुयोजनमनुयोगः अनुरूपो योगोऽनुयोगः । अनुकूलो वा योगोऽनुयोगः । अथवा अणु सूत्रं महानर्थः । ततो महतार्थस्य अणुना सूत्रेण योगोऽनुयोगः तस्माच्चरणकरणानुयोगात् निर्युक्तिं वक्ष्ये चरणकरणात्मिकामेवेति गम्यते । यथा मृदो घटं करोति मृदात्मकमेव तद्वदत्रापीति अथवा । चरणं च तत्करणं च तस्यानुयोगः तस्माच्चरणकरणानुयोगान्निर्युक्तिं वक्ष्य इति तदनेनावयवेनाभिधेयमुक्तम् चरणकरणनिर्युक्तिरभिधीयते किं स्वरूपां निर्युक्तिं वक्ष्य इत्यत आह । अल्पान्यक्षराणि यस्याः सा अल्पाक्षरा तामल्पाक्षरामथवा क्रियाविशेषणमेतत्कथं वक्ष्ये इत्यत आह । अल्पाक्षरं स्तोकाक्षरं वक्ष्ये प्रभूताक्षरमित्यर्थः किमल्पाक्षरमेव नेत्याह । महार्थं वक्ष्ये अथवा महान्तो यस्याः सा महार्था तां महार्थां वक्ष्ये तदनेनाभिधेयविशेषणं प्रतिपादितं भवति अल्पाक्षरामहार्थामित्यनेन चतुर्भङ्गिका प्रतिपादिता भवति । एकमल्पाक्षरं प्रभूतार्थं भवति, तथान्यत् प्रभूताक्षरं अल्पार्थं तथा प्रभूतार्थं प्रभूतार्थमल्पाक्षरमल्पार्थं भवति किं निमित्तं वक्ष्य इत्याह । अनुग्रहार्थमनुग्रह उपकारोऽभिधीयते अर्थशब्दः प्रयोजनवचनं ततः उपकारः प्रयोजनं वक्ष्ये तदनेन प्रयोजनं प्रतिपादितं द्रष्टव्यम् । केषां वक्ष्य इत्यत आह । सुविहितानां शोभनं विहितमनुष्ठानं येषामिति सुविहिताः साधवस्तेषां सुविहितानामनुग्रहार्थमोघनिर्युक्तिं वक्ष्य इति योगः ओ० ॥

अधुना भाष्यकृदेकैकमवयवं व्याख्यानयति तत्र तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति पर्यायतो व्याख्यां कुर्वन्निदानीं गाथाद्वयमाह ।

ओहे पिंडसमासे, संखेवे चेव होंति एगट्ठा ।
णिज्जुज्जंतिय अत्थाउ, जं बद्धा तेण णिज्जुत्ती ।

ओघः पिण्डो भवतीति योगः पिण्डनं पिण्डः संघातरूप इत्यर्थः । (समासेत्ति) समसनं समासः । असु क्षेपणे समेकीभावेन असनं क्षेपणमित्यर्थः । तथाच समासेन सर्व एव विशेषा गृह्यन्ते । ओघः समासो भवतीति योगः । एवं भवतीति क्रिया सर्वत्र मीलनीया (संखेवेत्ति) संक्षेपणं संक्षेपः समेकीभावेन प्रेरणमित्यर्थः । चशब्दः उक्तसमुच्चये कदाचिदनुक्तसमुच्चये एव शब्दः प्रकारवाचकः । एवमेतेषामपि पिण्डादीनां ये पर्यायास्ते मीलनीया इति निर्युक्तिपदव्याख्यानार्थमाह (णिज्जुत्तिय) इत्यादि निराधिक्ये योजनं युक्ति आधिक्येन युक्ता निर्युक्ताः अर्थत इत्यर्थः । ओ० ।

अधुनाल्पाक्षरं महार्थामिति यदुक्तं तद्व्याख्यानायाह ।

अप्पक्खरं महत्थं, महक्खरप्पत्थं दोसु वि महत्थं ।
दोसु वि अप्पं च तहा, भणिअं सत्थं चउवियप्पं ।

अत्र चतुर्भङ्गिका अल्पान्यक्षराणि यस्मिन् तदल्पाक्षरं स्तोकाक्षरमित्यर्थः । (महत्थंति) महानर्थो यस्मिन् महार्थं प्रभूतार्थमित्यर्थः । तत्रैकं शास्त्रं अल्पाक्षरं भवति महार्थं च प्रथमो भङ्गः । अथवान्यत्किंभूतं भवति (महक्खरप्पत्थंति) महाक्षरं प्रभूताक्षरं भवति । अल्पार्थं स्वल्पार्थमिति हृदयं द्वितीयो भङ्गः । अथवान्यत्किंभूतं भवति (दोसु वि महत्थं) द्वयोरपीति अक्षरार्थयोः श्रुतत्वादक्षरार्थोभयं परिगृह्यते । एतदुक्तं भवति । प्रभूताक्षरं प्रभूतार्थं च तृतीयो भङ्गः तथान्यत् किंभूतं भवति तदाह (दोसु वि अप्पं च तहा) द्वयोरपि अल्पमक्षरार्थयोः एतदुक्तं भवति । अल्पाक्षरमल्पार्थं चेति तथेति तेन आगमोक्तेन प्रकारेण भणितमुक्तं शास्त्रं चतुर्विकल्पं चतुर्विधमित्यर्थः ।

अधुना चतुर्णामपि भङ्गिकानां मुदाहरणदर्शनार्थमिदं गाथासूत्रमाह ।

सामायारीओहे, णायज्झयणा य दिट्ठिवाओ य ।
लोइयकथासादी, अणुकमाकारगा चउरो ॥ १४ ॥

ओघसामाचारी प्रथमभङ्गके उदाहरणं भवति । ततः प्रभूताक्षरत्व मल्पार्थं चेति द्वितीयः कृतः ज्ञाताध्ययनादिषष्ठाङ्गे प्रथमश्रुतस्कन्धेषु कथानकान्युच्यन्ते । ततः प्रभूताक्षरत्वमल्पार्थं चेति द्वितीयभङ्गके ज्ञाताध्ययनान्युदाहरणं चशब्दादन्यच्च यदस्यां कोटौ व्यवस्थितं दृष्टिवादश्च तृतीयभङ्गक उदाहरणमाख्यातोऽसौ प्रभूताक्षरः प्रभूतार्थश्च चशब्दात्तदेकदेशोऽपि चतुर्भङ्गोदाहरणप्रतिपादनार्थमाह (लोइयकथासादिति) लौकिकं चतुर्भङ्गोदाहरणं किंभूतं कथासादि आदिशब्दाच्छिवभद्रादिग्रहः (अणुकम्मत्ति) अनुक्रमादिति अनुक्रमेण परिपाट्येव तृतीयार्थे पञ्चमी कारकाणि कुर्वन्तीति कारकाण्युदाहरणान्युच्यन्ते चत्वारीति । यथासंख्येनैवेति । अनुग्रहार्थं सुविहितानामिति यदुक्तं तद्व्याख्यानायोदाहरणगाथा ।

बालाईणणुकंपा, संखमिकरणंमि होइ अगारीणं ।
ओमे य बीयभत्तं, रत्नादीनं जणवयस्स ॥ १५ ॥

एवमित्युपन्यासाय यथेति गम्यते ततोऽयमर्थो भवति । यथा ह्यङ्गारिणामनुकम्पा भवति बालादीनामुपरि संखडिकरणे एवं स्थविरैः साधूनामनुकम्पार्थमुद्दिष्टा ओघनिर्युक्तिरिति संबन्धः अधुनाक्षरगमनिका बालाः शिशवोऽभिधीयन्ते ते आदिर्येषां आदिशब्दात्कर्मकरादिपरिग्रहः तेषां बालादीनामुपर्यनुकम्पा दयेत्यर्थः । संखमि करणं संखड्यन्ते प्राणिनो यस्यां सा संखडिः अनेकसत्वव्यापत्तिहेतुरित्यर्थः कृतिः करणं संखड्याः करणं संखडिकरणं तस्मिन् संखमिकरणे यथानुकम्पा भवति केषामित्याह । अगारिणां अगारं विद्यते येषान्ते अगारिणस्तेषामगारिणाम् । तथा हि य-

भोजनं प्रहरत्रयादेशो भवति तस्मिन् । यदि बालादीनां प्रथमालिका न दीयन्ते ततोऽतिक्षुत्क्षामाक्रान्तादीनां केषांचिन्मूर्च्छागमनं भवति । केचित्पुनः कर्मादिकर्तुं न शक्नुवन्ति ततोऽनुकम्पार्थं प्रथमालिकाप्यसौ गृहपतिं प्रयच्छति । अस्यैव दर्शनार्थं दृष्टान्तरमाह । (ओमे इत्यादि) । अवमं दुर्भिक्षं तस्मिन्नवमे बीजानि शाल्यादीनि भक्तमन्नं बीजानि च भक्तं च बीजभक्तम् । एकवद्भावः । राज्ञा नरपतिना दत्तं स्वीकृतं कस्य तदाह । जनपदस्य कस्यचिद्राज्ञो विषये दुर्भिक्षं प्रभूतवार्षिकं संजातं ततस्तेन दुर्भिक्षेण सर्वमेव धान्यं क्रयं नीतं लोकश्च विषण्णः । तस्मिन्नवसरे राज्ञा किं चिन्तितं सर्वमेव राज्यं मम जनपदायत्तं । यदि जनपदो भवति ततः कोष्ठागारादीनां प्रभवः जनपदाभावे तु सर्वाभावः । ततस्तत्संरक्षणार्थं बीजनिमित्तं भक्तनिमित्तं च कोष्ठागारादिधान्यं ददामीति एवमनुचिन्त्य दापितं जनपदस्य लोकस्य प्रसन्नः संजातः पुनर्द्विगुणं त्रिगुणं प्रेषितं राज्ञ इति । अयं दृष्टान्तः

अधुना दार्ष्टान्तिकप्रतिपादनार्थमाह ।

एवं थेरेहि इमा, अपावमाणाणं पयविभागं तु ।
साहूणणुकंपट्ठा, उवइट्ठा ओहनिज्जुत्ती ॥ १६ ॥

एवमित्युपनयग्रन्थः यथा गृहपतिना बालादीनामनुकम्पार्थं भक्तं दत्तं राज्ञा च बीजभक्तमनुग्रहार्थमेव दत्तं एवं स्थविरैः ओघनिर्युक्तिः साधूनामनुग्रहार्थं निर्व्यूढेति । स्थविरा भद्रबाहुस्वामिनस्तैरात्मनि गुरुषु च बहुवचनमिति बहुवचनेन निर्देशः कृतः (इमेत्ति) इयं वक्ष्यमाणलक्षणा प्रतिलेखनादिरूपा किमर्थं निर्व्यूढा ॥ तदाह । (अपावमाणाणमित्यादि) अप्राप्नुवतां अनासादयतां किमप्राप्नुवतामित्याह पदविभागं वर्त्तमानकालापेक्षया कल्परूपं चिरं रूपं चिरन्तनकालापेक्षया तु दृष्टिवादव्यवस्थितं पदविभागसामाचारीमित्यर्थः । तु शब्दाद्दशधा सामाचारी च अप्राप्नुवतां केषामनुकम्पार्थं निर्व्यूढा तदाह । साधूनां ज्ञानभिरूपाभिः पौरुषेयीभिः क्रियाभिः मोक्षं साधयन्तीति साधवस्तेषां साधूनां किमनुकम्पार्थम् । अनुकम्पा कृपा दय इत्येकोर्थः तया अर्थः प्रयोजनं उपदिष्टा कथिता ओघनिर्युक्तिः सामान्यार्थप्रतिपादिकेतीत्यर्थः ॥

अथ केयमोघनिर्युक्तिः या स्थविरैः प्रतिपादिता तां
प्रतिपादयन्नाह ॥

पडिलेहणं च पिंडं, उवहिपमाणं अणायतणवज्जं ।
पडिसेवणमालोयण, जह य विसोही सुविहियाणं १७

एवं संबन्धे कृते सत्याह परः ननु पूर्वमभिहितमर्हतो वन्दित्वौघनिर्युक्तिं वक्ष्ये तत्किमर्थं वन्दनादिक्रियामकृत्वैवौघनिर्युक्तिं प्रतिपाद्यतीत्यत्रोच्यते । अविज्ञायैव परमार्थं भवतः तच्चोत्पद्यते । इह हि वन्दनादिक्रिया प्रतिपादितैव असाधारणनामोत्कीर्त्तनात् एव तथा हि अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हतीत्यर्थतः तदनेनैव स्तवोऽभिहितः एवं चतुर्दशपूर्वधरादयो योजनीयाः । अलं प्रसङ्गेन प्रकृतं प्रस्तुमः (पडिलेहणंति) लिख अक्षरविन्यासे प्रतिलेखनं प्रतिलेखना तां वक्ष्याम इति । एतदुक्तं भवति आगमानुसारेण या निरूपणा क्षेत्रादेः सा प्रतिलेखनेति । चशब्दात्प्रतिलेखकं प्रतिलेखनीयं वक्ष्ये । अथवा अनेकाकारां प्रतिलेखनां च वक्ष्ये । उपाधिभेदात् । (पिंडंति) पिण्डनं पिण्डः ॥ संघातरूपस्तं वक्ष्य इति प्रत्येकं मीलनीयं विवक्षितशोधिमित्यर्थः (उवहिपमाणमिति) उपदधातीत्युपधिः उपसामीप्येन संयमं धारयति पोषयति चेत्यर्थः । स च पात्रादिरूपः तस्य प्रमाणं तच्च गणनाप्रमाणं प्रमाणप्रमाणं च । (अणायतणवज्जति) न आयतनमनायतनं तद्वर्ज्यं त्याज्यमित्येतच्च वक्ष्ये । तत्रानायतनं पशुपण्डकः संशक्तं यद्वर्त्तते तद्विपरीतमायतनं (पडिसेवणत्ति) प्रतिसेवना एतदुक्तं भवति संयमानुद्यमात् । प्रतीपसंयमानुद्यमात्सदासेवना तां (आलोयणत्ति) आलोचनमालोचना ने परे मर्यादया लोचनं दर्शनमार्यादेः । आलोचनेत्यभिधीयते । किमालोचनमेव नेत्याह (जह य इत्यादि) यथा येन प्रकारेण विशोधिः विशेषेण शोधिः विशोधिः एतदुक्तं भवति । शिष्येणालोचिते अपराधे सति तद्योग्यं यत्प्रायश्चित्तप्रदानं सा विशोधिरभिधीयते । तां विशोधिं केषां संबन्धिनीं विशोधिं तदाह । सुविहितानाम् शोभनं विहितमनुष्ठानं येषां ते सुविहितास्तेषां संबन्धिनी यथा विशोधिस्तथा वक्ष्ये । चशब्दः समुच्चये किं समुच्चिनोति कारणप्रतिसेवने अकारणप्रतिसेवने च । यथा शोधिस्तथा वक्ष्य इति । अत्राह यथैषां द्वारेण इत्थं क्रमोपन्यासे किं प्रयोजनमित्यत्रोच्यते । यत्प्रतिलेखनाद्वारस्य पूर्वमुपन्यासः कृतस्तत्रैतत्प्रयोजनं सर्वैव विवक्षया प्रतिलेखनाद्वारमुपन्यस्तं प्रतिलेखनोत्तरकालपिण्डस्य ग्रहणं भवति । अतः पिण्डस्योपन्यास अशेषदोषः विशुद्धपिण्डो ग्राह्यः । इति तदनन्तरमुपधिद्वारस्योपन्यासः क्रियते किमर्थमितिचेत्स हि पिण्डः न पात्रबन्धादिमन्तरेण ग्रहीतुं शक्यते । अत उपधिप्रमाणं तदनन्तरमभिधीयते । स च गृहीतं उपधिपिण्डश्च न वसतिमन्तरेणोपभोक्तुं शक्यते । अतो नायतनवर्ज्यमित्यस्य द्वारस्योपन्यासः क्रियते प्रतिलेखनां कुर्वतः पिण्डग्रहणमुपधिप्रमाणम् अनायतनमायतनवर्जनं गच्छतः कदाचित् क्वचित् कश्चित् अतिचारो भवतीत्यतोऽतिचारद्वारं क्रियते स चातिचारोऽवश्यमालोचनीयो भावशुद्ध्यर्थमतः आलोचनोत्तरकालं प्रायश्चित्तं तद्योग्यं यतो दीयते । अतो विशुद्धिद्वारस्योपन्यासः कृतः । इत्यलमतिविस्तरेण । ओ० (प्रतिलेखनादिशब्देषु तद्विधानम्) ग्रन्थमानम् । ओ० ।

एसा सामायारी, कहिया भे धीरपुरिसपन्नत्ता ।
संजमसयत्तवड्ढगाणं, णिग्गंथाणं महारिसीणं ।

सुगमा ।

एवं सामायारी, जुंजंता चरणकरणमाउत्ता ।
साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचियमणंतं १२३२

सुगमा ।

एसा अणुग्गहत्था, फुमत्तियफविसुद्धवंजणा इणमो ।
एकारसहिं सएहिं, तेतीसहिएहिं संगहिया ।

११३३ सुगमा । ओ० ।

ओहणिप्पएण-ओघनिष्पन्न-पुं० ओघः सामान्यमध्ययनादिकं । श्रुताभिधानं तेन निष्पन्न ओघनिष्पन्नः निक्षेपभेदे,

से किं तं ओघनिप्फण्णे २ चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा अज्झयणे अज्झीणे आए खवणा ।

ओघनिष्पन्नश्चतुर्विधः प्रज्ञप्तस्तद्यथा अध्ययनमक्षीणमायः क्षपणा एतानि चत्वारि अपि सामायिकचतुर्विंशतिस्तवादिश्रुतविशेषाणां सामान्यानि । यथा हि सामायिकमध्ययनमुच्यते यदि वा अक्षीणं निगद्यते इदमेव यः प्रतिपद्यते एतदेव क्षपणाभिधीयते । एवं चतुर्विंशतिस्तवादिष्वभिधानीयम् । अनु० द्वार० ।

ओहबल-ओघबल-पुं० ओघेन प्रवाहेण बलं यस्य न तु क-

थयतो बलं हानिरुपजायते इति भावः । रा० । अव्यवच्छिन्नबलत्वात् प्रवाहबलिः । स० । औ० । प्रश्न० ।

ओहय–उपहत–त्रि० विनाशिते, औ० ।

ओहयकंटय–अपहृतकण्टक–पुं०। न०इह देशोपद्रवकारिणश्चाराः कण्टका इव कण्टकास्ते अपहताः । अवकाशनासीदनेन स्थगिता यस्मिन् तत् अपहतकण्टकम् । निरवकाशीकृतचारटे राज्ये, रा० । उपहता राज्यापहारात् कण्टका दायादा यत्र राज्ये तत्तथा । स्था० ६ ठा० । कण्टकाः प्रतिस्पर्धिनो गोत्रजाः अपहता विनाशेन निहता यत्र तत्तथा । राज्यापहारात् विनाशितस्वगोत्रजवैरिके राज्ये, । ज्ञा० १ अ० । सूत्र० औ० ।

ओहयमणसंकप्प-उपहतमनःसंकल्प–पुं० उपहतः कलुषीभूतो मनःसंकल्पो यस्य । कलुषितपरामर्शी, । कल्प० । विपा० ।

ओहयसत्तु–अपहृतशत्रु– न० प्रत्यनीका राजानः शत्रवस्ते अपहताः स्वावकाशमलभमानीकृताः यत्र तत् अपहतशत्रु । निरवकाशशत्रुके राज्ये, रा० ।

उपहृतशत्रु–न० उपहता विनाशेन निहताः शत्रवोऽगोत्रजाः यत्र विनष्टागोत्रजप्रतिस्पर्द्धिनि, ज्ञा० १ अ० । स्था० ।

ओहयहय–उपहतहृत–त्रि० उपसामीप्येन मुद्गरादिना हता उपहताः पुनरप्युपहताः एव खड्गादिना हता उपहतहताः । पूर्वं मुद्गरादिना पश्चात्खड्गादिना हते, " ओहयहए य तालियं-सिरुसत्ते कप्पणीहि कप्पंति " सूत्र० १ श्रु०५ अ० ।

ओहर–उपगृह–न० आश्रयविशेषे, " वत्थोहरपरिमंडणठाए" प्रश्न० १ द्वा० ।

ओहरिय–अपहृत्य–अ० तिरश्चीनो भूत्वेत्यर्थे, " अवउज्झिया। ओहरिया आहट्टुदलएज्जा" आचा० । " अगणिउस्सिक्किया णिसिक्किया ओहरिय आहट्टुदलएज्जा " ओहरियअग्निकायोपरि व्यवस्थितं पिठरकादिकमाहारभाजनमपवृत्य तत आहृत्य गृहीत्वाऽऽहारं दद्यात् । आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

ओहसण्णा–ओघसंज्ञा–स्त्री० मतिज्ञानाद्यावरणक्षयोपशमाच्छब्दाद्यर्थगोचरा सामान्यावबोधक्रियैव संज्ञायतेऽनयेति ओघसंज्ञा । दर्शनोपयोगरूपे सामान्यप्रवृत्तिरूपे वा संज्ञाभेदे, स्था० १० ठा० ।

ओहसत्ति–ओघशक्ति–स्त्री० ओघोद्भवा शक्तिरोघशक्तिः सर्वेषां द्रव्याणां निजनिजगुणपर्याययोः शक्तिमात्रे, गुणपर्याययोः शक्तिमात्रमोघोद्भवादिमा 'गुणेति' सर्वेषां द्रव्याणां निजनिजगुणपर्याययोः शक्तिमात्रमोघशक्तिः आदिमा प्रथमभेदरूपा कथ्यते

अत्र दृष्टान्तः ।

> ज्ञायमाना तृणत्वेना–ज्यशक्तिरनुमानतः ।
> किंच दुग्धादिभावेन, प्रोक्ता लोकसुखप्रदा ॥

यथा आज्यशक्तिर्घृतशक्तिः तृणत्वेन तृणभविन अनुमानप्रमाणतो ज्ञायमानापि लोकानामग्रतः कथयितुं न शक्यते । यदि तृणपुद्गलेषु घृतशक्तिर्नास्ति तदा तृणाहारेण धेनुर्दुग्धं कथं दत्ते । तद्दुग्धान्तर्भूता घृतशक्तिः कुत आगता इत्थमनुमीयमाना तृणभावेन घृतशक्तिः ज्ञातापि लोकानां पुरतः प्रकाशयितुमशक्या । तस्मात् तृणभावेन या शक्तिः सा ओघशक्तिः इत्येकदृष्टान्तः । किञ्चानुमीयमानौघशक्तिराद्या पुनर्व्यवहारादेशं लभ्यते । तथाह तृणजन्यदुग्धादिभावेन दुग्धदध्यादिभावेन परिणमिता घृतशक्तिः प्रकाश्यमाना लोकसुखप्रदा । लोकचित्तगम्या भवेत् । ततः सा शक्तिः द्वितीया समुचितशक्तिः कथ्यते । अत्रायं विवेकः । अनन्तरकारणमध्ये समुचितशक्तिः परम्पराकारणमध्ये ओघशक्तिरिति । ओघशक्तौ तु तृणानि धेनुरश्नाति पुष्टा सती धेनुर्दुग्धं ददाति धेनुदुग्धेन दधि जायते दुग्धकारणकलापेन घृतं एवमोघेन घृतशक्तिः स्फुटीभवति । तथान्यत्र दुग्धदध्यादिर्घृतमेवेति व्यवहारयोग्यत्वं लोकप्रसिद्धमेवेति । अथ च घृतशक्तिसमुचितशक्त्योरन्यकारणता प्रयोजनतेति । नामान्तरद्वयमपि ग्रन्थान्तरात्कथितमिति ज्ञेयम् । अथ आत्मद्रव्यमध्ये एतच्छक्तिद्वयं विविनक्ति ।

> प्राक् पुद्गलपरावर्ते, धर्मशक्तिर्यथौघजा ।
> अन्त्यावर्ते तथा ख्याता, शक्तिः समुचिताङ्गिनाम् ॥

यथाङ्गिनां प्राणिनां भव्यानां प्राक्पुद्गलपरावर्ते प्रथमपुद्गलपरावर्ते जात्येकवचनमर्थात् अनन्तेषु पुद्गलपरावर्तेषु सा कुतः प्राप्स्यते यतो " नासतो विद्यते भाव " इत्यादिवचनात् । तथा पुनः अन्त्यावर्ते चरमपुद्गलपरावर्ते धर्मशक्तिः समुचिता ख्याता । अत एव चरमपुद्गलपरावर्तकालो धर्मयौवनकालश्च कथ्यते । उक्तं च "अचरमपरियट्टेसु, कालो भवबालकालगो भणिओ । चरमो य धम्मजुव्वण, कालो तहचित्तभेओत्ति ॥" एतद्विंशत्यां पठितमिति । द्र० ।

ओहसामायारी–ओघसामाचारी–स्त्री० ओघः सामान्यं तद्विषया सामाचारी । सामान्यतः संक्षेपाभिधानरूपौघनिर्युक्तिप्रतिपादितक्रियाकलापे, क्वचित् वाच्यवाचकयोरभेदादोघनिर्युक्तौ च । इह च सांप्रतकालप्रव्रजितानां तावत् श्रुतविज्ञानशक्तिविकलानामायुष्कह्रासविषये समपेक्ष्य ओघसामाचारी नवमात्पूर्वात्तृतीयवस्तुना आचाराभिधानात्तत्रापि विंशतितमात्प्राभृतात्तत्राप्योघप्राभृतप्राभृतात् (भद्रबाहुस्वामिना) निर्व्यूढा इयं च प्रथमदिवस एव दीयते प्रतिदिवसक्रियोपयोगिनीत्वादिति (त्रिविधसामाचारीभेदेषु) प्रथमोक्ता, ध० ३ अधि० । प्रव० । ओ० ।

ओहसिय–उपहसित–त्रि० उप-हस्-क्त-उक्षोपे ८।१।७३। उपशब्दे आदे स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह उत् ओत्वादेशौ वा भवत इति उप ओत्वम् । जातोपहासे, प्रा० ।

ओहसुय–ओघश्रुत–न० उत्सर्गश्रुते, नं० ।

ओहसुयसमायारग–ओघश्रुतसमाचारक–पुं० ओघश्रुतं समाचरन्ति ये ते ओघश्रुतसमाचारकाः। उत्सर्गश्रुतसमाचारकेषु नागार्जुनादिषु, । नं० ।

ओहस्सर–ओघस्वर–त्रि० ओघेन प्रवाहेन स्वरो यासां (येषां) ता (ते) ओघस्वराः । प्रवाहिस्वरे, जी० ३ प्रति० । तं० " ताओणं घंटा ओहस्सराओ मेहस्सराओ " रा०

ओहामण–अवघाटन– न० आच्छादके, व्य० १ उ० ॥

ओहाडिणी-अवघाटिनी-स्त्री० आच्छादनहेतुकम्बलोपरिस्थाप्यमानमहाप्रमाणकल्पे च स्थानीयेऽर्थे,"ओहामिणोहारमाहणं महमानमहाप्रमाणकल्पि च स्थानीयेऽर्थे" ...

ओहाडिय–अवघाटित–त्रि० पिहिते, "ओहामियगदाराए" अवघाटितं चिलिमिलिकया पिहितं द्वारमग्रद्वारं यासां ता अवघाटिताग्रद्वाराः । वृ० १ उ० ।"ओहारियमव्वसं, च होइ पाएण

चितं तु" "ओहामियंति" स्थगितं विषादिना तिरस्कृतस्वभावम् । आव० ५ अ० ।

ओहाण–अवधान–न० उपयोगे, । ध० ३ अधि० आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारे, । आ० म० प्र० । चित्तं चेतना संज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः । आव० ६ अ० ।

अवधावन–न० विहारावधावनेन लिङ्गावधावनेन वा द्विविधे गणावक्रमणे । " अब्भुज्जंतं ओहाणे, एक्केक्कदुभेदओ होज्ज वक्कमणं " नि० चू० १६ उ० ।

ओहाणुप्पेहि (ए्) अवधावनोत्प्रेक्षिन्–त्रि० । अवधावनमपसरणं संयमस्तात्प्राबल्येन प्रेक्षितुं शीलं यस्य तथाविधः । उत्प्रव्रजितुकामे, द०१ चूलि० ।

ओहाम–तुल–धा० ज्वा० पर० सक० सेट्–इयत्तापरिच्छेदे, तूलेरोहामः ८ । ४ । २५ । इति तूलेण्यन्तस्य ओहाम इत्यादेशो वा भवति । ओहामइ । तुलइ तूलति । प्रा० आ० चू० ॥

ओहारयित्ता–अवधारयितृ–त्रि० शङ्कितस्याप्यर्थस्य निःशङ्कितस्यैवमेवायमित्यर्थवक्तरि, ॥

अवहारयितृ–त्रि० परगुणानामपहारकारिणि, यथा अदासादिकमपि परं भणति दासस्त्वं चौरस्त्वमित्यादि " अभिक्खणं ओहारयित्ता भवइ" । असमाधिस्थानमेकादशम् । स०२० स० दशा० ॥

ओहारण-अवधारण-न० तत्तदाशङ्कितान्ययोगव्यवच्छेदादिफले निश्चये, आव०६ अ० विशे० (णय शब्देऽस्योदाहरणानि) सर्वं वाक्यं सावधारणमामनन्ति नं० । आ० म० प्र० ।

ओहारणी-अवधारणी–स्त्री० अवधार्यतेऽवगम्यते अनयेत्यवधारणी । भ० ९ श० ६ उ० अशोभन एवायमित्यादिरूपायाम् जी० ४ प्रति० अवबोधबीजभूतायाम्, प्रज्ञा० १० पद० निश्चयात्मिकायां वा भाषायाम् " मुसं परिहरे भिक्खू न य ओहारणिं वए" उत्त० १ अ० "ओहारणिं अप्पियकारिणिं च भासं न भासिज्ज सया स पुज्जो" द० ९ अ० ३ उ० (इति तद्भाषणनिषेधः से णूणं भंते ! मणामीति ओहारणी भासा इत्यादिभाषाशब्देऽस्याः स्वरूपमावेदिष्यते) ॥

ओहाव-आ-क्रम्-धा० आक्रमणे, भ्वा-उभ० आक्रमेरोहावोत्थारच्छुंदाः ८ । ४ । १५९ आक्रमेरेते त्रय आदेशा वा भवन्ति इति आक्रमेरोहावादेशः । ओहावइ अक्कमइ आक्रामति । प्रा० ।

ओहावण-अवधावन-न० व्रतपर्यायादवाङ्मुखीभवने, । व्य० १ उ० । उत्प्रव्राजने, । व्य० ३ उ० । अवसरणे, द० १ चूलि० ।

> निग्गमणमवक्कमणं, निस्सरणपलायणं च एगट्ठा ।
> छोट्टणलुट्टणपलोट्टण–ओहावणं चेव एगट्ठा ॥

निर्गमनमपक्रमणं निस्सरणं पलायनमित्येकार्थाः । छोटनं लुट्टनं प्रलोटनमवधावनमिति चैकार्थाः । तत्र छोटनमिति लुठविलोठने इत्यस्यैव प्रपूर्वस्य पर्यायशब्दैरप्यधिकृतशब्दार्थप्रतीतिरुपजायते । तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति वचनमप्यस्ति । ततस्तदुपन्यास इति व्य० १ उ० । गणादवधावेत्पुनस्तत्रैवागच्छेत् तत्र प्रायश्चित्तम् । व्य०, अ० ।

भिक्खू य गणाओ अवक्कम्म ओहाणुप्पेहो वजेज्जा से अहच्च अणोधाइत्ता से य इच्छेज्जा दोच्चं पि तमेव गणं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए तत्थ णं थेराणं इमेयारूवे विवाए समुप्पज्जित्ता इमणं अज्जो जाणह किं परिसेवि अपरिसेवी से य पुच्छियव्वे किं परिसेवी अपरिपसेवि से य वएज्जा परिसेविपरिहारपत्ते जे से पमाणं वयति से पमाणे घेतव्वे से किं एव माहु भंते ! सच्चपइण्णववहारस्स ।

भिक्षुश्च गणात्कच्छादपक्रम्य अवधावनमसंयमगमनं तदनुप्रेक्षा व्रजेत् । स चानवधावित एव असंयमगत एव सन् इच्छेत् इति द्वितीयमपि वारं तमेव गणमुपसंपद्य विहर्तुं तत्र स्थविराणामयं वक्ष्यमाणस्तद्रूपोऽनन्तर एवोच्यमानरूपो विवादः समुत्पद्यते । इद नो आर्याः ! जानीत किमयं प्रतिसेवी किंवा नेति तत्र स प्रष्टव्यः । किं प्रतिसेवी किं वा नेति । तत्र स प्रष्टव्यः । किं स प्रतिसेवी अप्रतिसेवी वा कृतप्रतिसेवनाकः । तत्र यदि स वदेत्प्रतिसेवी ततः परिहारं प्राप्तः प्रायश्चित्तं प्राप्तः स्यादथ वदेत् । न प्रतिसेवी तर्हि नो परिहारं प्राप्तो भवति । यत्स प्रमाणं वदति तस्मात्प्रमाणो ग्रहीतव्यः सत्योऽसत्यो वा । अथ कस्मादेवमाहुर्भदन्त ! सूरिराह । सत्यप्रतिज्ञाव्यवहारास्तीर्थकृद्भिर्दर्शिता इति कृता एषा सूत्राक्षरगमनिका संप्रति निर्युक्तिभाष्यविस्तरः ।

> सो पुण लिंगेण समं, ओहावइ मोत्तुलिंगमहवा वि ।
> किं पुण लिंगेण समं, ओहावइ मेहिं कज्जेहिं ।

स पुनरवधानापेक्षः कोऽपि लिङ्गेन सममवधावेत । अथवा कोऽपि मुक्त्वा लिङ्गं तत्र शिष्यः प्राह । किं केन कारणेन पुनर्लिङ्गेन सममेव धावति सूरिराह । एतैर्वक्ष्यमाणैः कार्यैः कारणैः "कज्जंति वा कारणं ति वा एगट्ठमिति " वचनात् तान्येव कारणान्यभिधित्सुराह ।

> जइ जीवेहिंति भज्जाइ, जइ वा वितं धणं धरइ जइ वोच्छं ।
> तो लिंगमोत्तुसंका, पविट्ठे तत्थेव उवहम्मे ।

यदि भार्यादयो मे जीविष्यन्ति जीवतो द्रक्ष्यामीति भावः । यदि वा तस्मै पितृपितामहोपार्जितं स्वभुजोपार्जितं वा धनं धरति विद्यमानमवतिष्ठते यदि वा वक्ष्यन्ति मुञ्च व्रतं भुङ्क्ष्व विपुलान्भोगानिति तदाहं लिङ्गं मोक्ष्यामि नान्यथा । एवं शङ्कया व्रजतस्तस्य संघाटको दातव्यः किं कारणमिति चेत् उच्यते । कदाचिदेतेन संघाटकेनान्येन वाऽनुशिष्यमाणः प्रतिनिवर्तेतापीति हेतोः । तथा संघाटके प्रतिनिवृत्ते सति किमुत प्रव्रजामि । किंवा नेति शङ्काप्रविष्टो रात्रौ व्युषितो भवेत् तदेव कारणमभिधित्सुराह ।

> गच्छंमि केइ पुरिसा, सीयंते विसयमोहियमयिया ।
> ओहावंताणगणा, चउव्विहा तेसिमा सोही ।

गच्छे केचित्पुरुषा विषयमोहितमतिका रूपादिकविषयविपर्यासितमतयो गणात् गच्छादवधावन्ति । तेषां तथा गणादवधावतां केनापि समनुशिष्टानामथवा न सुन्दरं वयं कुर्म इति । स्वयमेव परिभाव्य विनिवृत्तानामियं वक्ष्यमाणा चतुर्धा चतुःप्रकारा शोधिः प्रायश्चित्तं भवति । तामेवाह ।

> दव्वे खेत्ते काले, भावे सोही उ तत्थिमा दव्वे ।
> राया जुवे अमच्चे, पुरोहियकुमारकुलपुत्ते ।

द्रव्ये द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतः भावतश्च । तत्र तासु चतसृषु शोधिषु मध्ये द्रव्ये द्रव्यविषया इयं वक्ष्यमाणा अन्ये पुनरिदं वदन्ति द्विविधा द्रव्यतो शोधिः । सचित्तविषया अचित्तविषया च । तत्र सचित्तविषया " छक्कायचउसु लहुगा "इत्यादिका पूर्ववर्णिता । अचित्तविषया उद्गमोत्पादनादिकौघनिष्पन्ना । यथा

कल्पिकं यत्र कल्पनीयमपि सूत्रेण प्रतिषिद्धं तं तद्विषया। सर्वापि शोधिः उच्यत इति भाष्यकारः। संप्रति ज्ञातां द्रव्यशोधिमाह " राया इत्यादि " राजा प्रतीतः तस्मिन् युवराजे अमात्ये पुरोहिते कुमारे कुलपुत्रे द्रव्यशोधिरिति वाक्यशेषः। कथमेतद्विषया द्रव्यशोधिरत आह।

एएसिं रिद्धि तो, दट्ठुं लोगाउ संनियत्तंते ।
पणगादीया सोधी, बोधव्वा मासलहुअंता ।

एतेषां राजादीनां ऋद्धिं दृष्ट्वा अहो धर्मस्य फलं साक्षादुपलभ्यते तस्मादहमपि करोमि। धर्ममिति लोभाल्लोगाभिष्वङ्गरूपात् सन्निवर्तमाने षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदात्। सम्यग्निवर्तमानस्य बोधव्या शोधिः। पञ्चकादिमासलघुपर्यन्ता। तद्यथा राजानं स्फीतिमन्तमुपलभ्य अहो धर्मप्रभावतः कथमेषः स्फीतिमान्। तस्मान्न त्यजामि धर्ममिति प्रतिनिवर्तमानस्य पञ्चरात्रिन्दिनानि। अमात्यं दृष्ट्वा पञ्चदश, पुरोहितं विंशतिः, कुमारं पञ्चविंशतिः। कुलपुत्रं मासलघुकमिति।

चोएती कुलपुत्ते,गुरुगतरं राइणो उ लहुगतरं ।
पच्छित्तं किं कारणं, जणियं सुण चोयग इमं तु ।

चोदयति परः किं कारणं केन कारणेन कुलपुत्रेऽल्पर्द्धिके दृष्टे निवर्तमानस्य गुरुकतरं प्रायश्चित्तं भणितं, राज्ञो महर्द्धिकस्य दर्शनेन प्रतिनिवर्तमानस्य लघुकतरमत्र सूरिराह। चोदकाय येन कारणेनेत्थं प्रायश्चित्तं नानात्वं तत्कारणमिदं वक्ष्यमाणं शृणवेतदेवाह।

दीसइ धम्मस्स फलं, पेचत्थं तत्थ उज्जमं कुणिमो ।
इड्डीसु पइणत्तीसु वि, सज्जंते होइ नाणत्तं ।

दृश्यते खलु धर्मस्य फलं साक्षात् तस्मादत्र धर्मे वयमुद्यमं कुर्मः। एवमृद्धिषु राजसंबन्धिप्रभृतिषु प्रभूतास्वपि यथाक्रमं हीयमानतरास्वपि सज्यते सङ्गमुपयाति। यथा यथाल्पतरास्वपि ऋद्धिषु सङ्गमुपपद्यते। तथा तथा लक्ष्यते तीव्रातीव्रतरा तस्य भोगासक्तिरित्युक्तप्रकारेण भवति। प्रायश्चित्तनानात्वमिति। अपरे त्वियं भावशोधिरिति प्रतिपन्ना संप्रति क्षेत्रतः शोधिमभिधित्सुराह।

खेत्ते निवपहनगर–द्दारे उज्जाणा सीमाइक्कंते ।
पणगातीईआ लहुओ, एएसु य सन्नियत्तंते

क्षेत्रे क्षेत्रविषयां एतेभ्यः सन्निवर्तमाने इत्यत आह (निवपहेत्यादि) अत्रापि सप्तमी पञ्चम्यर्थे। ततोऽयमर्थः। नृपपथान्नगरद्वाराद्युद्यानाद्युद्यानात्परतः सीम्नोर्वा तथा सीम्नः सीमातिक्रमतः किं प्रमाणा शोधिरत आह। पञ्चकादिका यावल्लघुको मासः। इयमत्र भावना। राजपथात्पञ्चरात्रिन्दिनानि नगरद्वाराभिवर्तमानस्य दश, उद्यानात्पञ्चदश उद्यानात्परतः सीम्नोर्वा निवर्तमानस्य विंशतिरहोरात्राः सीम्नो भिन्नमासः सीमानमतिक्रम्य मासलघुः।

संप्रति कालतः शोधिमाह ॥

पढमेदिणनिवत्तंते, लहुओ दसहिं सपदं भवे ।
काले संयोगे पुण, एत्तो दव्वे य खेत्ते य ॥

यदि प्रथमे दिवसे निवर्तते ततस्तस्मिन् प्रथमे दिवसे निवर्तमाने लघुको मासलघु प्रायश्चित्तम्। एवं यावत् दशभिर्दिवसैः स्वपदं दशमं प्रायश्चित्तम् भवति। तद्यथा द्वितीये दिवसे निवर्तमानस्य मासगुरु तृतीये दिवसे चतुर्मासलघु। चतुर्थे चतुर्मासगुरु। पञ्चमे षड्लघु। षष्ठे षड्गुरु। सप्तमे छेदः। अष्टमे मूलम्। नवमे अनवस्थाप्यम्। दशमे पाराञ्चितमिति। एषा काले कालविषया शोधिः भावतो वक्ष्यमाणा। संप्रत्यत ऊर्ध्वं द्रव्ये क्षेत्रे काले च यः संयोगस्तस्मिन् वक्ष्ये प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति।

दव्वस्स य खेत्तस्स य, संजोगे होइ मा पुण विसोही ।
रायाणं रायपहे, दट्ठुं जासीमतिक्कंतो ॥
पणगादीआ मासो, जुवरायं निवपहाइ दट्ठूणं ।
दसराइंदियमाई, मासगुरु होइ अंतंमि ॥

द्रव्यस्य क्षेत्रस्य च संयोगे संबन्धे पुनरियं वक्ष्यमाणा भवति विशोधिस्तामाह। (रायाणमित्यादि) येषां हि राजादिकं द्रव्यं नृपपथादिकं क्षेत्रमधिकृत्योच्यते इतीयं द्रव्यक्षेत्रसंयोगजा विशोधिः। तत्र यदि राजानं राजपथे दृष्ट्वा निवृत्तः। ततस्तस्य पञ्चकं पञ्चरात्रिन्दिवं प्रायश्चित्तमेवं क्षेत्रं राजपथमादिं कृत्वा राज्ञि च द्रव्ये पञ्चकादिप्रायश्चित्तं क्रमेण तावद्वक्तव्यं यावत्क्षेत्रतः सीमातिक्रान्ते राज्ञि प्रायश्चित्तं यावन्मासस्तद्यथा नगरद्वारे राजानं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य दशरात्रिन्दिवानि उद्यानान्निवर्तमानस्य पञ्चदश उद्यानस्य सीम्नश्चान्तरा, तु विंशतिकं सीम्नो निवर्तमानस्य मासलघु। युवराजं द्रव्यं नृपपथादि क्षेत्रमेतद्दृष्ट्वा निवर्तमानस्य दशरात्रिन्दिवानि नगरद्वारे पञ्चदश उद्याने विंशतिरुद्यानसीम्नोरपान्तराले पञ्चविंशति सीम्नि मासलघु सीमातिक्रमेण मासगुरु ॥

सचिवे पणदसादि, लघुगतं वीसमादि उ पुरोहे ।
अंतम्मि चउगुरुगं, कुमारभिन्नादिआ छेओ ॥

सचिवे राजपथादिषु क्रमेण पञ्चदशादि चतुर्लघुपर्यन्तम्। तद्यथा राजपथे सचिवं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य पञ्चदश रात्रिन्दिवानि नगरद्वारे विंशतिरुद्याने सीम्नोरन्तराले मासलघु। सीम्नि मासगुरु। सीमातिक्रमे चतुर्मासलघु। तथा पुरोधसि विंशत्यादि प्रायश्चित्तमन्ते चतुर्गुरुकम्। तद्यथा राजपथे पुरोधसं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य विंशतिरहोरात्रं नगरद्वारे पञ्चविंशतिरुद्याने मासलघु। उद्यानसीम्नोरपान्तराले मासगुरु। सीम्नि चतुर्मासगुरु। कुमारे भिन्नमासादि यावत् षड्लघु। तद्यथा राजपथे कुमारं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य भिन्नो मासः। पञ्चविंशतिरात्रो, रात्राविन्द्यर्थः। नगरद्वारे मासलघु। उद्याने मासगुरु उद्यानसीम्नोरपान्तराले चतुर्मासलघु। सीम्नि चतुर्मासगुरु। सीमातिक्रमेण मासलघु ॥

कुलपुत्ते मासादी, छग्गुरगं होइ अंतिमेठाणे ।
एत्तो य दव्वकाले, संयोगमिमं तु वोच्छामि ॥

कुलपुत्रे मासादिमासलघ्वादिप्रायश्चित्तं क्रमेण तावद्द्रष्टव्यं यावदन्तिमस्थानं षड्गुरुकं भवति। तद्यथा राजपथे कुलपुत्रं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य मासलघु। नगरद्वारे मासगुरु। उद्याने चतुर्लघु। उद्यानसीम्नोरपान्तराले चतुर्गुरु। सीम्नि षण्मासलघु। सीमातिक्रमेण मासगुरु। तदेव द्रव्यक्षेत्रसंयोग उक्तम्। इत ऊर्ध्वं द्रव्ये काले च संयोगमिमं वक्ष्यमाणं वक्ष्यामि यथा प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति ॥

रायाणं तद्दिवसं, दट्ठूण नियत्ते होइ मासलहुं ।
दसहिं दिवसेहिं स–पयं जुयरमादि तवो वोच्छं ॥

राजानं दृष्ट्वा तस्मिन् दिवसे यदि प्रतिनिवर्तते। तेन तु अव-

धानानन्तरं तत्क्षणमेव तदा तस्य मासलघु प्रायश्चित्तम् । एवं क्रमेण तावन्नेतव्यं यावद्दशभिर्दिवसैः स्वपदं दशमं प्रायश्चित्तं भवति । तद्यथा द्वितीये दिवसे राजानं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य मासगुरु । तृतीये दिवसे चतुर्गुरु । पञ्चमे षण्मासलघु । षष्ठे षण्मासगुरु । सप्तमे छेदः । अष्टमे मूलं । नवमेऽनवस्थाप्यम् । दशमे पाराञ्चितम् । सांप्रतमत ऊर्ध्वं युवराजादिमधिकृत्य वक्ष्यामि । प्रतिज्ञातमेव करोति ॥

मासगुरु चउलहुया, चउगुरु छल्लहु छग्गुरुकमादी ।
नवहिं अट्ठहि सत्तहि, छहिं पंचहिं चेव चरमपयं ॥

युवराजामात्यपुरोहितकुमारकुलपुत्रेषु यथाक्रमं प्रथमदिवसे मासगुरु चतुर्लघुकं चतुर्गुरुकं षड्लघु षड्गुरुकादि कृत्वा यथाक्रमं नवभिरष्टभिः सप्तभिः षड्भिः पञ्चभिश्च दिवसैश्चरमं पाराञ्चितं वक्तव्यम् । तद्यथा प्रथमे दिवसे युवराजं दृष्ट्वा निवर्तमानस्य मासगुरु । द्वितीये दिवसे चतुर्मासलघु । तृतीये दिवसे चतुर्मासगुरु । चतुर्थे दिवसे षण्मासलघु । पञ्चमे दिवसे षण्मासगुरु । षष्ठे छेदः । सप्तमे मूलमष्टमेऽनवस्थाप्यं नवमे पाराञ्चितम् । तथा अमात्यं दृष्ट्वा प्रथमे दिवसे निवर्तमानस्य चतुर्मासलघु । द्वितीये दिवसे चतुर्मासगुरु । तृतीये षण्मासलघु । चतुर्थे षण्मासगुरु । पञ्चमे छेदः । षष्ठे मूलं । सप्तमे अनवस्थाप्यम् । अष्टमे पाराञ्चितमिति । तथा पुरोहितं दृष्ट्वा प्रथमे दिवसे निवर्तमानस्य चतुर्मासगुरु । द्वितीये षण्मासलघु । तृतीये षण्मासगुरु । चतुर्थे छेदः । पञ्चमे मूलं । षष्ठे अनवस्थाप्यं । सप्तमे पाराञ्चितम् । यथा कुमारं दृष्ट्वा प्रथमे दिवसे निवर्तमानस्य षण्मासलघु । द्वितीये दिवसे षण्मासगुरु । तृतीये छेदः । चतुर्थे मूलम् । पञ्चमे अनवस्थाप्यम् । षष्ठे पाराञ्चितम् । तथा कुलपुत्रकं प्रथमे दिवसे दृष्ट्वा निवर्तमानस्य षण्मासगुरु । द्वितीये छेदः । तृतीये मूलम् । चतुर्थे अनवस्थाप्यम् । पञ्चमे पाराञ्चितमिति । उपसंहारमाह ।

दव्वे खेत्ते काले, भणिया सोही उ भावइणमण्णा ।
दंमियचूणगसंके-ते भोइया विवण्णभुंजणे दोसु ॥

इत्येवमुक्तेन प्रकारेण प्रत्येकं संयोगतश्च द्रव्ये क्षेत्रे काले च भणिता शोधिरिदानीं भावत इत्ययमन्ये द्रव्यक्षेत्रकालव्यतिरिक्ता भण्यन्ते इति वाक्यशेषः । प्रतिज्ञातमेव कुर्वन् द्वारसंग्रहमाह । दण्डिमते राज्ञा भूणके देशीपदमेतत् बालकेषु पुत्रादावित्यर्थः । मृते इति वाक्यशेषः । तथा संक्रान्ते परपुरुषं गते विपन्ने मृते कलत्रे इति गम्यते । तथा (दोसुत्ति) तृतीयार्थे सप्तमी । यथा "तिसु तेसु अलंकिया पुहवी" इत्यत्र ततोऽयमर्थः द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां स्त्रीभ्यां वा वक्ष्यमाणस्वरूपाभ्यां भोजने भावतः शोधिर्भवति । तत्र यथोद्देशं निर्देश इति प्रथमतो दण्डिमतादिद्वारत्रयमाह ।

दंडिय सो उ नियत्ते, पुत्तादिमए व चउलहू हुंति ।
संकंतमयाए वा, भोएते चउगुरू हुंति ॥

यत्र स संप्रस्थितः तत्र ते मनुष्याः कस्मिंश्चिदपराधे राज्ञा दण्डिताः । यदि वा तेषां पुत्रादिकं किमपि मृतं अथवा द्रव्यमपीदं जातं ततो दण्डितवान् यदि वा पुत्रादीन् मृतानथवा लभ्यमपि श्रुत्वा निवर्तते । ततो निवृत्तिनिवृत्तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुमासा भवन्ति । तथा भोजिका नाम भार्या सान्यपुरुषं संक्रान्ता । अथवा मृता श्रुता ततोऽन्यपुरुषसंक्रान्तायां मृतायां वा भोजिकायां निवर्तमानस्य चत्वारो गुरुका गुरुमासा भवन्ति । संप्रति (भुंजणे दोसुत्ति) व्याख्यानयति ॥

अह पुण भुंजेज्जाही, होहि उ वग्गेहि तवो समयं तु ।
इत्थीहिं पुरिसेहिं, तवोहियं आरोवणा इणमो ॥

अथ पुनस्तत्र गतः सन् द्वाभ्यां वर्गाभ्यामेतदेव व्यक्तमाचष्टे । स्त्रीभ्यां पुरुषाभ्यां वा समकं सार्धं तु शब्दो वाल्पप्रमाणं समस्तविशेषसूचकः । भुञ्जीत तत्र इयमनन्तरमुच्यमाना आरोपणा प्रायश्चित्तं । तमेवाह ।

लहुगा य दोसु दोसु य, गुरुगा छम्मासगुरु लहूछेदो ।
निक्खिवणं चिय मूलं, जं सेवइ तं समावज्जे ॥

सेव्यते स्त्रीनपुंसकादिकं तन्निष्पन्नमपि प्रायश्चित्तं तस्य भवति एष गाथासंक्षेपार्थः । सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो " लहुगा य दोसु य गुरुगा " इति व्याख्यानयति ।

पुरिसे य नालवध्दे, अणुव्वतो पासएण चउलहुगा ।
एयासुं वि य थीसुं, अनालवध्दे य चउगुरुगा ॥

अत्रापि सर्वत्र सप्तमीतृतीयार्थे पुरुषेण नालबद्धेन तुशब्दो विशेषणार्थः । स चैतद्विशिनष्टि । मिथ्यादृष्टिना अथवाऽणुव्रतोपासकेन नालबद्धेन एताभ्यां द्वाभ्यां पुरुषाभ्यां चशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वात् । दर्शनमात्रश्रावकेण च सार्धं भुञ्जानस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुका व्याख्यातम् "लघुकाथदोसु तिगुरुगा" इति व्याख्यानयति । "एयासुं वि य थीसुमिति " । एताभ्यामेव स्त्रीभ्यां किमुक्तं भवति । नालबद्धमिथ्यादृष्टिस्त्रिया नालबद्धाणुव्रतोपासकस्त्रिया वा सार्धं भुञ्जानस्य चतुर्गुरुका ' अनालवद्धे य चउगुरुगा ' इति । अनालबद्धमिथ्यादृष्टिपुरुषेण अनालबद्धाणुव्रतोपासकेन वा समं भुञ्जानस्य चतुर्गुरुका इति व्याख्यापनार्थमाह ।

अनालदंसणित्थिसु, दिट्ठजढपुरिसे छल्लहुया ।
दिट्ठित्ति पुन अदिट्ठे, मेहुणभोजीए छग्गुरुगा य ॥

अनालबद्धा दर्शनमात्रश्राविका यश्च पूर्वं दृष्टः सन् तदानींमाभावितः पुरुषस्तेन च समं भुञ्जानस्य षड्लघुकाः । तथा (दिट्ठित्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् । पूर्वं या दृष्टा भाविता तथा अदृष्टाऽभाविता तेन पुरुषेण तथा (मेहुणत्ति) मैथुनकथा मैथुनजीवया वेश्यया इत्यर्थः । तथा भोजिकया भार्यया एतैः चतुर्भिः सह भुञ्जानस्य षण्मासगुरवः ।

संप्रति छेद इति व्याख्यानार्थमाह ।

अदिट्ठभट्ठासुं थीसुं, संभोइए संजती छेदो ।
अमणुण्ण संजतीए, मूलं थीन्नावसंबंधो ॥

पूर्वमदृष्टाभिस्तदानीमाभाविताभिः स्त्रीभिः सह तथा सांभोगिके संयत्याऽपि च समं भुञ्जानस्य छेदः । तथा असांभोगिकसंयत्या सह भोजने । तथा स्त्रीस्पर्शसंबन्धे च मूलं प्रायश्चित्तम् ।

सांप्रतमेव व्याख्यानान्तरमाह ।

अहवा वि पुव्वसंथुय-पुरिसेहिं सिच्चउलहू हुंति ।
पुरिसं थुइस्थीए, पुरसेयरदोसु वि गुरुगा ॥

अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शनेन पूर्वसंस्तुतपुरुषैः सह पूर्वसंस्तुतस्त्रिया च समं भुञ्जानस्य चत्वारो लघुका लघुमासा भवन्ति । एतेन (लहुगा य दोसुत्ति) व्याख्यातम् । तथा पुरुषेतराभ्यां पुरुषस्त्रीभ्यां द्वाभ्यामपि च भुञ्जानस्य गुरुकाश्चत्वारो गुरुमासाः । अनेन "दोसु य गुरुगा" इति व्याख्यातम् ।

पच्छा संथुयइत्थी–ए उब्भहु मेहुणीए चउगुरुगा ।
समणुन्नेयरसंजति, छेदो मूलं जहा कमसो ॥

पश्चात्संस्तुतया सह भुञ्जानस्य षट् लघवः । मैथुनक्या मैथुनजीवनया पण्याङ्गनया इत्यर्थः । मनोज्ञसंयत्या सह भुञ्जानस्य छेदः । अमोज्ञया संयत्या सह मूलम् । पुनः प्रकारान्तरमाह ।

अहवा पुर संथुए त–रपुरिसत्थी सो य सो य वादीसु ।
समणुन्नेयरसंजइ, अठ्ठोकंतीए मूलं तु ।

अस्य व्याख्यानं कल्पाध्ययनचूर्णितः कर्तव्यम् । संप्रति यदुक्तं प्राक् " संवधं सेवते दुविहं ति " तद्व्याख्यानार्थमाह ।

थीविग्गहकिलिवं वा, मेहुणकम्मं व चेयणमचेयं ।
मूलुग्गमकोमिदुगं, परित्तणंतकाएमादी ।

स्त्रीविग्रहो नाम स्त्रीशरीरं क्लीबो नपुंसकम् । एतद्विकं यत्सेवते । अथवा (मेहुणत्ति) मैथुनं (कम्मत्ति) हस्तकर्म । अथवा सचित्तमचित्तं वा यत्प्रतिसेवते । यदि वा मूलगुणविषयं यदि वा उद्गमकोटि विशुद्धिकोटि अथवा (परीतमिति) प्रत्येकशरीरम् (अनंतत्ति) अनन्तकायमेवमादि द्विविधं द्रष्टव्यम् । आदिशब्दात्तिर्यग्योनिकं मानुषिकं वा मैथुनमित्यादिक.द्विपरिग्रहः ।

एएसिं तु पयाणं, जं सेवइ पावई तमारुयणं ।
अन्नं तु जमावज्जे, पावइ तं तत्थ तहियं तु ।

एतेषामनन्तरोदितानां स्त्रीविग्रहक्लीबादीनां पदानां मध्ये यत्सेवते नामारोपणं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति । अन्यच्च यदापद्यते संयमविराधनाप्रत्ययं प्रायश्चित्तं तदपि तत्र प्राप्नोति ।

तत्तो य पडिनियत्ते, सुहुमं परिनिव्ववंति आयरिया ।
भरियं महातलागं, गलफलादिट्ठंतो चरणम्मि ॥

ततस्तस्मात् अवधावनाप्रतिनिवृत्तात् । यथा सूक्ष्मन्ते जानन्ति सूरयोऽस्माकमुपरि तथैव सस्नेहा वर्तन्ते । इत्येवमतिकोमलेनोपायेनाचार्याः परिनिर्वापयन्ति । सुखापयन्ति । येन ते सर्वमालोचयन्ति तेनानन्तरमेवं वदेयुः । यथा चारित्रमस्माकं सर्वं गलितमस्मज्यं व्रतानि दत्थ । एवमुक्ते सूरिभिः चरणे चरणविषये भरितं महातमागमतिचरणादेव कस्मिंश्चित्प्रदेशे पालीभेदात् गलदुदकं तत्क्षणादेव पतितेन फलेन तत्प्रदेशापूरणान्निरुद्धोदकं दृष्टान्तः करणीयः । इह "सुहुमं परिनिव्ववंती" त्युक्तम् । तच्च सूक्ष्मं परिनिर्वापणं द्विविधं । तद्यथा । लौकिकं लोकोत्तरिकं च । तत्र लौकिकं यथा रौहिणिकचौरस्याभयकुमारेण कृतम् । तच्चैवं "रायगिहं नगरं तत्थ रोहिणेयो चोरो बाहिं दुग्गे ठितो सगलं नगरं मूसइ । न कोइ तं घेत्तुं सक्कइ । अन्नया वद्धमाणसामी समोसढो तित्थगरवयणं सोउं चोरिउं न कहामित्ति कन्ने ठएइ तस्सेवं वोलमाणस्स । कंटकोपायलग्गो तं जाव एगेण हत्थेण उद्धरइ । ताव तित्थगरो इमं गाहत्थं पण्णवेइ "अमिला य मलदामा, अणिमिसनयणा य नीरजसरीरा । चउरंगुलेण भूमिं, न छिवंति सुरा जिणो कहए" सुरा देवाश्चतुर्निकायभाविनोऽपि अम्लानमाल्यदामानस्तथा न विद्यते निमेषो येषां ते । तथा अनिमेषे नयने येषां ते अनिमेषनयनाः । तथा नीरजा निर्मलं शरीरं येषां ते नीरजाः शरीराः । चतुरङ्गुलेन चतुर्भिरङ्गुलैः भूमिं न स्पृशन्तीति । जिनः सर्वज्ञः कथयति । अनेन सर्वतीर्थकृतामविसंवादिवचनतामावेदयति । एवं " सो उ कंटगं उद्धरित्ता पुणो कन्ने ठवेउं गतो अन्नया सो रोहिणेयो रायगिहमतिगतो रत्तिं चोरोत्ति गहितो न य तज्जइ रोहिणेओ उयाहु अन्नो चोरो ततो पिट्टिउमाढत्तो भणइ य अक्खाहि सव्वं तुमं रोहिणातो न वत्ति । जइ रोहिणेओ तोसिया तो मुयामो । एवं सो नीतिसत्थपढिठाहिं अट्ठारसाहिं कारणेहिं एक्केक्कातं पुच्छिज्जइ । सो न कहेइ कहाकहं रोहिणेओ चोरोत्ति । ताहे अट्ठारसमा सुहुमा कारणा करिउमाढत्ता मज्जं पाइत्तो मत्तो निव्वेयणो जातो ताहे देवलोगभवणसरिसं भवणं काउं तत्थ महरिहे सयणिज्जे तिवज्जा ठितो ततो पडिबोहिवेलाए निव्वतिज्जमाणे ताहिं भणइ । तुमं देवलोए उववण्णो देवलोएय एसो अणुभावो जो पुच्छित्तो पुव्वभवं सम्मं अक्खाति सो चिरट्ठिती देवतो अत्थत्ति जो न अक्खाइ सो तक्खणं पारुति तो मा अम्हे अणाढा काहिसि सव्वं अक्खाहि । ततो रोहिणीएण तित्थयरवयणं संभरित्ता चिंतियं । अद्भुतिवयणा तित्थगरा सामिणा भणियं । ' अमिलाय इत्यादि ' इमं सव्वं वि तहं दीसइ । तो कयगं एयंति भणइ नाहं रोहिणेतो ततो मुक्को रोहिणिएण चिंतियं । अहो एगस्स वि सामिणो वयणस्स केरिसं माहप्पं । अहं जीवियसुहआभोगी जातो जइ पुण निग्गंथं पावयणं सुणोमि । तो जह लोए य सुहिओ भवामित्ति चिंतिऊण पव्वइओ" । उक्तं सूक्ष्मं लौकिकं परिनिर्वापणं तथाचाह ॥

सुहुमाइ कारणा खलु, लोए एमादि उत्तरे इणमो ।
मिच्छदिट्ठीहिं कया, किंतु हु मे तत्थ उवसग्गो ॥

सूक्ष्मा खलु कारणयतना एवमादिका एवं प्रभृति आदिशब्दात्प्रभूतान्येवंविधो दृष्टान्तः सूचकः । उत्तरे लोकोत्तरे इयं वक्ष्यमाणस्वरूपा कारणता तामेवाह । मिथ्यादृष्टिभिः किंतु कृता मे भवतस्तत्र गतस्योपसर्गाः किमुक्तं भवति । न तव वत्स ! विरूपाचरणे किमपि चित्तं केवलं यदि मिथ्यादृष्टिभिः बलात्कारेण किमपि कारितः स्यात् । तत्र किं प्रतिसेवितं किं वा न प्रतिसेवितमिति एवमुक्ते सति यत्करोति तदाह ॥

अवि संधरति सिणेहो, पोराणो आइओ निप्पिवासाइ ।
इइ गोरवमारुवितो, कहेइ सव्वं जहा वत्तं ॥

अपीति संभावने संभावयामीत्येतत् पुराणायामवस्थायां भवः पौराणः स्नेहः आयातोऽद्यापि निष्पिपासया मदीया वैय्यावृत्यादिपियासाव्यतिरेकेणापि धरति विद्यते इति । एवं गौरवमारोपितः सन् किमेतेषां कुर्मो जीवितमपि मदीयमेतेषामेवेति । मत्वाऽतो यथावृत्तं समस्तमपि कथयति । एतदेव स्पष्टतरमाचष्टे ॥

एवं भणितो संतो, उन्नुइत्तो सो कहेइ सव्वं तु ।
जं जेणं समणुभूयं, जं वा से तहिं कयं तेहिं ॥

एवं पूर्वप्रदर्शितेन प्रकारेण भणितः सन् (उन्नुइत्तोत्ति) देशीपदमेतत् । गर्वे वर्तते अतोऽयमर्थः । अहमेव गुरूणां मान्यो नान्य इति गौरवमारोपितः । सर्वमेव तुरवधारणे यदनेन स्वयं समनुभूतं यद्वा (से) तस्य तैर्मिथ्यादृष्टिभिः कृतं तत्समस्तमेव कथयति । तत्र यदि सोऽगीतार्थो भवति तत इदं ब्रूते ॥

एहणादीणि कयाइं, देह वए मज्झ वएतु अगीतो ।
पुव्वं च उवसग्गो, किलिट्ठभावो अहं आसि ॥

मया स्नानादीनि स्नानाङ्गरागादीनि तथा पूर्वमुपसर्गादुपसर्गेष्वनारब्धेष्वहं संक्लिष्टपरिणामोऽभवमुपसर्गप्रारम्भसमकालमेव पुनर्विशुद्धपरिणामो जात इति । तत एतेन कारणेन मह्यं ददत ।

यूयं व्रतानि समारोपयतेति भावः । इति अगीतोऽगीतार्थो ब्रूते । एवं तेनोक्ते यदाचार्येण वक्तव्यं तदाह ॥

वेसकरणं पमाणं, न होइ नइ मज्जणं नलंकारो ।
अणुमणनं किय सेवी, अणणुमएणं असेवी उ ॥

वत्स ! न वेषकरणं न च मज्जनं नालङ्कारः प्रमाणं यथाक्रममप्रतिसेवना वा किंतु (सोइऽजपणंति) यदि स्नानादिविषये अनुमननं कृतं तेन सेवी प्रतिसेवनाकारी भवति । अननुमतेन तु असेवी प्रतिसेवी । अन्यच्च ॥

जो सो विसुद्धभावो, उप्पसो तेण ते चरित्तप्पा ।
धरितो निमज्जमाणा, जलेण नावा कुविंदेण ॥

योऽसौ विशुद्धभावस्तत उपसर्गप्रारम्भसमये समुत्पन्नस्तेन तव चरित्रात्मा धारितः । यथा कुविन्देन कौलिकेन निमज्जन्ती नौरिति।

जह वा महातलागं, भरितभिज्जंतमुपरिपालीगं ।
तज्जाएण निरुद्धं, तक्खणपामितेण तालेणं ॥

यथेति दृष्टान्तोपन्यासे वा इति दृष्टान्तान्तरसमुच्चये महातडागं भरितमिति वर्षे पानीयेन परिपूर्णं भृतमिति भरणादेव चोपर्ये कस्मिन् प्रदेशे भिद्यमानपालीकं (तज्जातेणेत्ति) प्राकृतत्वात् । तृतीया पञ्चम्यर्थे ततेऽयमर्थस्तत्पाल्यां जातस्तज्जातः । तस्मात्तालवृक्षाद्यस्मिन् क्षणे उदकगलनेन पालीभेत्तुमारब्धस्तत्क्षणे तस्मिन्नेव प्रदेशे पतितेनेति । तालफलेनेति गम्यते । उदकं गलत् तेन विरुद्धमेव दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः ।

एवं चरणतलागं, जाइकियउवसग्गवीचिवेगेहिं ।
भज्जंत तुमे धारियं, धिइबलवेरग्गतालेणं ॥

एवं महातडागदृष्टान्तगतप्रकारेण चरणमेव तडागं ज्ञातयः । स्वजनास्तैः कृता ये उपसर्गास्त एव वीचिवेगाः कल्लोलवेगास्तैर्ज्ञातिकृतोपसर्गवीचिवेगैर्भिद्यमानं त्वया धृतिबलं च वैराग्यं च धृतिबलवैराग्यं तदेव तालोऽवयवे समुदायोपचारात् । तालफलं तेन धृतबलवैराग्यतालेन धारितं केवलमवधानतः प्रायश्चित्तभाक् जातं तीर्थकराज्ञाभङ्गात्तदेवाह ।

पमिसेहियगमणम्मि, आवण्णो जेण तेण संसृट्ठो ।
संघाडगतिहवुच्छो, उवहिग्गहणे ततो विवादो ॥

प्रतिषिद्धं खलु भगवता तीर्थङ्करेणावधावनानुप्रेक्षिगमनं तस्मिन् प्रतिगमने कृते । तथा कारणेन स्त्रीवादित आपन्नं प्रायश्चित्तस्थानं तेन संसृष्टः कर्मसंबन्धेन ततस्तद्विशोधनाय तस्मै दीयते प्रायश्चित्तम् । अथ योऽसौ द्वितीयः । संघाटकप्रेषितस्तेन कियच्चिरं स प्रतीक्षणीयस्तत आह (संघाडगेत्यादि) संघाटक आह । त्रीन् दिवसान् यावत्प्रतीक्षते इह त्र्यहग्रहणं मध्यतो भवितुमर्हति ततः उपधिग्रहणं कर्तव्यं तदीय उपधिर्याचित्वा उपग्रहणीयः । ततो (विवादोत्ति) यत्र सोऽवधावितस्ततः प्रतिनिवृत्तस्य सहायैर्यदि विवादो वक्ष्यमाणस्वरूपः क्रियते । तदा सप्रमाणयितव्यमिति ।

संप्रत्येतदेवोत्तरार्द्धं व्याचिख्यासुराह

एगाहतिहे पंचा-ह इच्छितो निवत्तिओ सहायाणं ।
सव्वा उ अणिच्छंते, भणंति उवहिं पि तो देहि ॥

जघन्यत एकाहे एकस्मिन् दिवसे मध्यतः त्र्यहे उत्कर्षतः पञ्चाहे प्रतीक्षिते यदि स निवर्तितुं नेच्छति ततः "सहायाणमिति" तं ब्रुवते । कियच्चिरमस्माभिरवस्थातव्यमेहि व्रजाम एवमुक्ते यदि सोऽभिधत्ते नाहं व्रजामि । ततस्तस्मिन् प्रत्यागमच्छति । यदि नागच्छति तर्हि उपधिमपि तावद्देहि मा उपधेरप्युपहतोऽभूदिति ।

न वि देमित्ति य भणिए, गएसु जइ सो ससंकितो सुवति ।
उवहम्मइ नीसंके, न हम्मए अपमिवज्जंते ॥

यदि उपाधेर्याचने कृते स ब्रूते । नापि नैव ददाम्युपधिमहमिति । तत एवं भणिते संघाटको गच्छति । संघाडगतिगेति व्याख्यातमधुना (वुच्छो उवहिग्गहणा)इति तद्व्याख्यानयति । 'गएसु' इत्यादि । गतेषु तेषु सहायेषु यदि स शङ्कितः शङ्कनं शङ्कितं सह शङ्कितं यस्य येन वा सः । तथा का पुनः शङ्कोच्यते । किं व्रजामि किं वा नेति । एवंरूपशङ्कोपेतः स्वपिति रात्रौ तदा स उपधिरुपहन्यते । अथ निःशङ्कितः सन् स्वपिति यथा नियमात्मयोगात् प्रव्राजितव्यमिति । तदा नोपहन्यते । अथ निःशङ्क उषित्वा यदि वा यस्मिन् दिने सहायागतास्तद्दिवसमेवानुषित्वा यदि निवृत्य व्रजिकाद्भिर्वप्रतिबध्यमान आगच्छति । न चान्तरा रात्रौ दिवसे वा स्वपिति तदा तस्मिन्नप्रतिबध्यमानेनोपहन्यते । अथ स्वपिति तर्ह्युपहन्यते ।

संवेगसमावन्नो, अणुवहयं घेत्तुं एति तं चेव ।
अह होज्जाहि उवहतो, सो वि य जइ होज्ज गीयत्थो ।
तो अन्नं उप्पाए, तं चोवाहिं विगिंचिओ होइ ।
अप्पामिवज्झंते उ, सुचिरेण वि न हु उवहम्मे ॥

संवेगो मोक्षाभिलाषस्तं समापन्नस्तमेव गुरुप्रदत्तमुपधिमनुपहतं गृहीत्वा एति समागच्छति । अथ भवेत्कथमप्युपहतः सोऽपि च साधुर्यदि स्यात् गीतार्थस्ततस्तमुपहतमुपाधिं (विगिंचिओत्ति) परिस्थाप्यान्यमुपधिमुत्पाद्य एतिसमायाति । अथ स्यादगीतार्थस्तर्हि तेनोपधिरन्येनोत्पादनीयोऽगीतार्थतत्वेनान्येनोत्पादने योग्यताभावात् । किंतु तेनैवोपधिना गन्तव्यं । समागतस्य चान्यमुपधिमाचार्याः समर्प्पयन्ति । प्राक्तनं च साधुभिः परिस्थापयन्ति । संप्रति (अप्पारिवज्झंते) इत्यादि अप्रतिबध्यमाने । कर्मकर्तर्ययं प्रयोगः । क्वचिदपि प्रतिबन्धमकुर्वति । पुनः सुचिरेणापि कालेन हु निश्चितं नोपहन्यते उपधिः क्वचनापि प्रतिबन्धाकारणतः सततोद्यत्वात् । संप्रति विवाद इति व्याख्यानयति ।

गंतूण तेहिं कहियं, स यावि आगंतु तारिसं कहए ।
तो तं होइ पमाणं, विसरिसकहणे विवादो ओ ॥

यौ सहायौ तस्य प्रेषितौ ताभ्यां गत्वा गुरुसमीपं तस्य प्रतिसेवनमप्रतिसेवनं वा कथितं स चापि कृतावधावन साधुरागत्य तादृशं कथयति । ततस्तद्भवति प्रमाणमुभयेषामप्यविसंवादात् । अथ विसदृशं कथयति । ततो विवादः सहाया ब्रुवते । एष प्रतिसेवीति तत्र सत्यप्रतिज्ञा खलु व्यवहार इति । स एव प्रमाणीक्रियते न सहायाः तदेवं प्रतिसेवनामधिकृत्य विवादो दर्शितः संप्रति मज्जनादिकमधिकृत्याह ॥

अइवा वेंति अगीया, मज्जणमादीहिं एस गिहिभूतो ।
तं तु न होइ पमाणं, सो चेव तहिं पमाणं तु ॥

अथवेति प्रकारान्तरोपप्रदर्शने अगीतार्था ब्रुवते मज्जनादिभिर्मज्जनाङ्गरागधूपाधिवासादिभिरेष गृहिभूतो जातः स पुनरेवमाह । नाहं स्नानादिकं कृतवान् । यदि वा बलादहं स्वजनैः स्नानादिकं कारितो न पुनस्तेषु स्नानादिष्वनुरागवान् जात इति तत्रैवं भूते विवादे याते सहाया ब्रुवते तत्र भवति प्रमाणं

किंतु स एव तत्र प्रमाणमिति । एतदेव प्रविकटयिषुराह ॥
पमिसेवि य पडिसेवि, एवं थेराणं होइ उ विवादो ।
तत्थ वि होइ पमाणं, स एव पडिसेवणा न खलु ॥
स्थविरा अवेक्षन्ते एष प्रतिसेवी स प्राह । नाहं प्रतिसेवी एवं स्थविरैः सह गाथायां षष्ठी तृतीयार्थे विवादो भवति । तत्रापि प्रतिसेवनाविषयेऽपि भवति । स एव प्रमाणं न पुनः खलु सहायैरुच्यमाना प्रतिसेवना तेषां पुनरगीतार्थानां पुरतः सूत्र एतदभिदधाति ।
मज्जणगंधपरिवार--णादि जइ नेच्छतो अ दोसा य ।
अणुलोमा उवसग्गा, एमेव इमं पिपासाओ ॥
यथा अनिच्छतोऽनभिलषतोऽनुलोमा अनुकूलाः उपसर्गाः के ते इत्याह । मज्जनं स्नानं गन्धः पटवासादिरूपः परिवारणक्रिया बलात्कारेणोपभोग आदिशब्दादेवंविधान्योपसर्गपरिग्रहः । एते यथा । अदोषास्तद्विषयानुमननाभावात् । एवमिदमप्यधिकृतावधावितसाधुविषयं मज्जनादिपाश्यमत्तदप्यनुरागाभावतो निर्दोषमिति भावः । एतदेव भावयति ॥
जह चेव य पमिलोमा, अपडुस्संतस्स होंति दोसाय ।
एमेव य अणुलोमा, होंति असायज्भणे अफला ॥
यथेति दृष्टान्तोपन्यासे । च शब्दो दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यावधारणार्थः । यथा चैवं प्रतिलोमाः प्रतिकूलाः उपसर्गाः प्रद्वेषतः प्रद्वेषमागच्छतो भवन्त्यदोषाय एवमेव अनेनैव प्रतिकूलोपसर्गगतेन प्रकारेण अनुलोमा अपि स्वजनैः क्रियमाणा मज्जनादय उपसर्गा " असाइज्जमाणे " अननुमनने भवन्त्यफला । अन्यच्च ॥
सोहीएज्जोगजागी, आवि महती निज्जरा उ एयस्स ।
सुहुमो वि कम्मबंधो, न होइ उ नियत्तभावस्स ॥
अपीति गुणान्तरसमुच्चये स्वजनक्रियमाणमज्जनाङ्गरागाद्यनास्वादनादेव स्वाधीनभोगत्यागी स्वाधीनभोगत्यागाच्चैतस्य महती निर्जरा पुराणकर्मनिर्जरणं प्रवृद्धप्रवृद्धतर शुभाशयसंभवात् । नचाप्यभिनवकर्मसंगलनं यत आह । ननु निवृत्तपरिणामस्य सतः सूक्ष्मोऽपि कर्मसंबन्धो भवति । कर्मोपचयहेतोर्दुष्टाध्यवसायस्याभावात् । व्य० प्र० २ उ० ॥ (आचार्य उपाध्यायो वाऽवधावन् य वदेत्स आचार्यपदे स्थापयितव्य इति आयरियशब्दे उक्तम्) (गणादपक्रम्येच्छेदन्यं गणमुपसंपद्य विहर्तुमिति उपसंपच्छब्दे) (अवधावितुकामेनाष्टादशस्थानानि प्रत्युपेक्षणीयानीति अट्ठारसठाणशब्दे)
जया ओहाविओ होइ, इन्दो वा पडिओ छमं ।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ ॥२॥
यदा अवधावितोऽपसृतो भवति । संयमसुखविभूतेरुत्प्रव्रजित इत्यर्थः । इन्द्रो वेति देवराज इव पतितः दमां गतः स्वविभवभ्रंसेन भूमौ पतित इति भावः । दमा भूमिः सर्वधर्मपरिभ्रष्टः सर्वधर्मेभ्यः क्षान्त्यादिभ्यः आसेवितेभ्योऽपि यावत् प्रतिसमनमुपासनात् लौकिकेभ्योऽपि वा गौरवादिभ्यः परिभ्रष्टः सर्वतः च्युतः स पतितो भूत्वा पश्चान्मनाग् मोहावसाने परितप्यते । किमिदमकार्यं मयानुष्ठितमित्यनुतापं करोतीति सूत्रार्थः ॥
जया अ वंदिमो होइ, पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुअट्ठाणा, स पच्छा परितप्पई ॥ ३ ॥
यदा वन्द्यो भवति श्रमणपर्यायस्थो नरेन्द्रादीनां पश्चाद्भवति । उन्निष्क्रान्तः सन्नवन्द्यः । तथा च देवता इव काचिदिन्द्रवर्जा स्थानच्युता सती । स पश्चात्परितप्यत इत्येतत्पूर्ववदिति सूत्रार्थः । तथा ।
जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पई ॥ ४ ॥
यदा च पूज्यो भवति वस्त्रभक्तादिभिः श्रामण्यसामर्थ्याल्लोकानां पश्चाद्भवत्युत्प्रव्रजितः सन्नपूज्यो लोकानामेव । तदा राजेव राज्यप्रभ्रष्टः । महतो भोगर्द्धिप्रमुक्तः स पश्चात्परितप्यत इति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ तथा ॥
जया य माणिमो होई, पच्छा होइ अमाणिमो ।
सिट्ठिव्व कव्वडे छूढो, स पच्छा परितप्पई ॥ ५ ॥
यदा च मान्यो भवत्यभ्युत्थानाज्ञाकरणादिभिः माननीयः शीलप्रभावेन पश्चाद्भवत्यमान्यस्तत्परित्यागेन तदा श्रेष्ठीव कर्बटे महाक्षुद्रसंनिवेशे क्षिप्तः सन् पश्चात्परितप्यत एतत् समानं पूर्वेणेति सूत्रार्थः ॥
जया य थेरओ होइ, समइक्कंतजुव्वणो ।
मच्छोव्व गलिं गीलित्ता, स पच्छा परितप्पई ॥ ६ ॥
जया य कुकुडंबस्स, कुतत्तीहिं विहम्मई ।
हत्थीव बंधणे बद्धो, स पच्छा परितप्पई ॥ ७ ॥
यदा च स्थाविरो भवति स त्यक्तसंयमो वयःपरिणामेन एतद्विशेषप्रतिपादनायाह । समतिक्रान्तयौवनः एकान्तस्थविर इति भावः । तदा विपाककटुकत्वाद्भोगानां मत्स्य इव गलं बडिशं गिलित्वाभिगृह्य तथाविधकर्मलोहकण्टकविद्धः सन् स पश्चात्परितप्यत एतदपि समानं पूर्वेणेति सूत्रार्थः । एतदेव स्पष्टयति ॥
पुत्तदारपरिकिण्णो, मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसण्णो जहा नागो, स पच्छा परितप्पई ॥ ८ ॥
पुत्रदारपरिकीर्णो विषयसेवनात् पुत्रकलत्रादिभिः सर्वतो विक्षिप्तः मोहसन्तानसन्ततो दर्शनीयमोहनीयकर्मप्रवाहेण व्याप्तः । पङ्कावसन्नो यथा नागः कर्दमावमग्नो वनगज इव स पश्चात्परितप्यते । हाहा किं मयेदमसमञ्जसमनुष्ठितमिति सूत्रार्थः । कश्चित्सचेतनतर एवं च परितप्यत इत्याह ।
अज्ज याहं गणी हुंतो, भाविअप्पा बहुस्सुओ ।
जइ हं रमंतो परिआए, सामण्णे जिणदेसिए ॥ ९ ॥
अद्य तावदहमद्यास्मिनदिवसे । अहमित्यात्मनिर्देशे गणी स्यामाचार्यो भवेयम् । भावितात्मा प्रशस्तयोगभावनाभिः बहुश्रुत उभयलोकहितबह्वागमयुक्तो यदि किं स्यादित्याह । यद्यहमरमिष्यं पर्याये प्रव्रज्यारूपे सोऽनेकभेद इत्याह । श्रामण्ये श्रमणानां संबन्धिनि सोऽपि शाक्यादिभेदभिन्न इत्याह । जिनदेशिते निर्ग्रन्थसंबन्धिनीति सूत्रार्थः । अवधानोत्प्रेक्षिणः स्थिरीकरणार्थमाह ।
देवलोगसमाणो अ, परिआओ महेसिणं ।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो ॥१०॥
देवलोकसमानस्तु देवलोकसदृश एव पर्यायः प्रव्रज्यारूपः । महर्षीणां सुसाधूनां रतानां सक्तानां पर्याय एवेति गम्यते । एतदुक्तं भवति । यथा देवलोके देवाः प्रेक्षणकादिव्यापृता अदीनमनसस्तिष्ठन्त्येवं सुसाधवोऽपि ततोऽधिकं भावतः प्रत्युपेक्षणादि क्रियायां व्यापृता उपादेयविशेषत्वात् । प्रत्युपेक्षणादेरिति । देवलोकसमान एव पर्यायो महर्षीणां रतानामिति । अरतानां च भावतः सामाचार्यामसक्तानां च शब्दाद्विषयाभिला-

षिणां च भगवल्लिङ्गविडम्बकानां क्षुद्रसत्वानां महानरकसदृशो रौरवतुल्यस्तत्कारणत्वान्मानसदुःखातिरेकात्तथा विडम्बनाश्चेति सूत्रार्थः । एतदुपसंहारेणोपनिगमयन्नाह ।

अमरोवमं जाणिअ सुक्खमुत्तमं,
रयाण परिआइ तहा रयाणं ।
निरओवमं जाणिअ दुक्खमुत्तमं,
रमिज्ज तम्हा परिआइ पंडिए ॥ ११ ॥

अमरोपममुक्तन्यायाद्देवसदृशं ज्ञात्वा विज्ञाय सौख्यमुत्तमं प्रशमसौख्यं केषामित्याह । रतानां पर्याये सक्तानां सम्यक् प्रत्युपेक्षणादिक्रियायुक्ते श्रामण्ये । तथा अरतानां पर्याय एव किमित्याह । नरकोपमं नरकतुल्यं ज्ञात्वा दुःखमुत्तमं प्रधानमुक्तन्यायाद्यस्मादेवं रतारतविपाकस्तस्मात् रमेत शक्तिं कुर्यात् क्वेत्याह । पर्याये उक्तस्वरूपे पण्डितः । शास्त्रार्थज्ञ इति सूत्रार्थः पर्यायच्युतस्यैहिकं दोषमाह ।

धम्माउ भट्ठं सिरिओववेअं,
जन्नग्गिविज्झाअमिवप्पतेअं ।
हीलंति णं दुव्विहिअं कुसीला,
दाढुड्डिअं घोरविसं व नागं ॥ १२ ॥

धर्मात् श्रमणधर्मतः भ्रष्टं च्युतं श्रियोपेतं तपोलक्ष्म्या अपगतं यज्ञाग्निमग्निष्टोमाद्यनलं विध्यातमिव यागावसाने अल्पतेजसमल्पशब्दोऽभावे तेजः शून्यं भस्मकल्पमित्यर्थः । हीलयन्ति कदर्थयन्ति पतितस्त्वमिति पङ्क्त्यपसरणादिना एनमुन्निष्क्रान्तं दुर्विहितमुन्निष्क्रमणादेव दुष्टानुष्ठायिनं कुशीलास्तत्सङ्गोचिता लोकाः स एव विशेष्यते "दाढुड्डियंति" प्राकृतशैल्या उद्धृतदंष्ट्रमुत्खातदंष्ट्रं घोरविषमिव रौद्रविषमिव नागं सर्पं यथाग्निसर्पोपमानं लोकनीत्या प्रधानभावादप्रधानभावाख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः । एवमस्य भ्रष्टशीलस्यौघत ऐहिकं दोषमभिधाय ऐहिकामुष्मिकमाह ।

इहेव धम्मो अयसो अकित्ती,
दुन्नामधिज्जं च पि हुज्जणंमि ।
चुअस्सधम्मा उ अहम्मसेविणो,
संभिन्नचित्तस्स य हिट्ठओ गई ॥ १३ ॥

इहैवेह लोके एवाधर्मः इत्ययमधर्मः फलेन दर्शयति । यदुतायशःअपराक्रमकृतं न्यूनत्वं तथा अकीर्तिरदानपुण्यफलप्रवादरूपा । तथा दुर्नामधेयं च पुराणः पतितः इति कुत्सितनामधेयं च भवति । क्वेत्याह । पृथग्जने सामान्यलोकेऽप्यास्तां विशिष्टलोके कस्येत्याह । च्युतस्य धर्मात्प्रव्रजितस्येति भावः । तथा अधर्मसेविनः कलत्रादिनिमित्तं षट्कायोपमर्दकारिणः तथा संभिन्नवृत्तस्य चाखण्डनीयखण्डितचारित्रस्य च क्लिष्टकर्मबन्धात् अधस्ताद्गतिर्नरकेषूपपात इति सूत्रार्थः । अस्यैव विशेषप्रत्यपायमाह ।

भुंजित्तु भोगाइं पसज्ज चेअसा,
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणहिज्जिअं दुहं,
बोहीअ से नो सुलभा पुणो पुणो ॥ १४ ॥

स उत्प्रव्रजितो भुक्त्वा भोगान् शब्दादीन् प्रसह्य चेतसा धर्मनिरपेक्षतया प्रकटेन चित्तेन तथाविधमज्ञोचितमधर्मफलं कृत्वाभिनिर्वर्त्यासंयमं कृष्याद्यारम्भरूपं बहुमसंतोषात् प्रभूतं स इत्थंभूतो मृतः सन् गतिं च गच्छत्यनभिध्याताम् अनभिध्याता इष्टा नानिष्टामित्यर्थः । काचित्सुखाप्येवंभूता भवत्यत आह । दुःखां प्रकृत्यैवासुन्दरां दुःखजननीं बोधिश्चास्य जिनधर्मप्राप्तिश्चास्योन्निष्क्रान्तस्य न सुलभा पुनःपुनः प्रभूतेष्वपि जन्मसु दुर्लभैव प्रवचनविराधकत्वादिति सूत्रार्थः । यस्मादेवं तस्मादुत्पन्नदुःखोऽप्येतदनुचिन्त्य नोत्प्रव्रजेदित्याह ।

इमस्स ता नेरइअस्स जंतुणो,
दुहोवणीअस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं,
किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं ॥ १५ ॥

अस्य तावदित्यात्मन एव निर्देशः नारकस्य जन्तोर्नरकमनुप्राप्तस्येत्यर्थः । दुःखोपनीतस्य सामीप्येन प्राप्तदुःखस्य क्लेशवृत्तेः एकान्तक्लेशचेष्टितस्य सतो नरक एव पल्योपमं क्षीयते सागरोपमं च । यथा कर्मप्रत्ययं किमङ्ग पुनर्ममेदं संयमारतिनिष्पन्नं मनोदुःखं तथाविधक्लेशदोषरहितमेतत् क्षीयत एवैतत् चिन्तनेन नोत्प्रव्रजितव्यमिति सूत्रार्थः । विशेषेणैतदेवाह ।

न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ,
असासया भोगपिवासजंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणविस्सई,
अवस्सई जीविअपज्जवेण मे ॥ १६ ॥

न मम चिरं प्रभूतकालं दुःखमिदं संयमारतिलक्षणं भविष्यति किमित्यत आह । अशाश्वती प्रायो यौवनकालावस्थायिनी भोगपिपासा विषयतृष्णा जन्तोः प्राणिनः अशाश्वतीत्व एव कारणान्तरमाह । न चेच्छरीरेणानेनापयास्यति न यदि शरीरेणानेन करणभूतेन वृद्धस्यापि सतोऽपयास्यति । तथापि किमाकुलत्वं यतोऽपयास्यति जीवितपर्ययेण जीवितस्यापगमेन मरणेनेत्येवं निश्चिन्तः स्यादिति सूत्रार्थः । अस्यैव फलमाह ॥

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ,
चइज्ज देहं न हु धम्मसासणं ।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिआ,
उविंति वाआ व सुदंसिणं गिरिं ॥ १७ ॥

यस्येति साधोः एवमुक्तेन प्रकारेण आत्मा तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । आत्मैव भवेन्निश्चितो दृढः । स त्यजेद्देहं कचिद्विघ्ने उपस्थिते न तु धर्मशासनं न पुनर्धर्माज्ञामिति तं तादृशं धर्मे निश्चितं न प्रचालयन्ति । संयमस्थानात् कम्पयन्तीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि निदर्शनमाह । उत्पतद्वाता इव संपतत्पवना इव सुदर्शनं गिरिं मेरुं एतदुक्तं भवति । यथा मेरुं वाता न चालयन्ति । तथा तमपीन्द्रियाणीति सूत्रार्थः । उपसंहरन्नाह ।

इच्चेव संपासिअ बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं विआणिआ ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठिज्जा सित्तिबेमि ॥ १८ ॥

इत्येवमध्ययनोक्तं दुःप्रजीवित्वादि संप्रेक्ष्यादित आरभ्य य-

यथावद् दृष्ट्वा बुद्धिमान्नरः। सम्यक् बुद्ध्युपेतः। आयमुपायं विविधं विज्ञाय आयः सम्यग्ज्ञानादेः उपायस्तत्साधनप्रकारः कालविनयादिः विविधोऽनेकप्रकारस्तं ज्ञात्वा किमित्याह। कायेन वाचा अथ मनसा त्रिभिरपि करणैर्यथाप्रवृत्तैः त्रिगुप्तिगुप्तः सन् जिनवचनमर्हदुपदेशमधितिष्ठेत् । यथाशक्ति तदुक्तैकक्रियापालनपरो भूयात् । भावाय सिद्धौ तत्वतो मुक्तिसिद्धेः । ब्रवीमीति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः । दश० १ चूलि० ॥

ओहाविय–अवधावित– त्रि० । अपसृते, । संयमसुखविभूतेरुत्प्रव्राजिते, । दश० १ चूलि० ॥

अपभ्राजित–त्रि० । ग्लानिमापादिते, "ओहावितो न कुव्वइ, पुणो वि सो तारिसं अतीयारं " व्य० द्वि० ८ उ० ।

ओहावेंत–अवधावत्–त्रि० । प्रव्रज्यादेरपसर्पति, ओ० । " ओहावेंता दुविहा, लिंगे विहारे य होंति नायव्वा "अवधाविनो द्विविधाः । लिङ्गेन विहारेण च । लिङ्गेनोत्प्रव्रजितुकामा विहारेण पार्श्वस्थविहारेणोत्प्रव्रजितुकामा भवन्ति ज्ञातव्याः॥व्य० ८उ० ॥

ओहि–अवधि–पुं० अव–धा० किः ॥ अधो विस्तारभावेन धावतीत्यवधिः। उत्त० १८ अ०। रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तरूपायां मर्यादायाम, कर्म०। स्था०। स०। अभिविधौ, च । अवधिश्च द्विधा। अभिविधिर्मर्यादा च । प्रव० ३५ द्वा०

(१) अवधिशब्दस्य व्युत्पत्तिर्लक्षणं च ।
(२) अवधिभेदाः संख्यातीताः भवन्ति ।
(३) चतुर्दशविधो निक्षेपो द्वारसंग्रहश्च तत्र जघन्यादिभेदाः।
(४) नामादिसप्तविधो निक्षेपः ।
(५) भवप्रत्ययिकादितो द्वैविध्यम ।
(६) अवधेरानुगमिकादि षट् भेदाः ॥
(७) अवधिप्ररूपणे दण्डकः ।
(८) अवधिक्षेत्रप्रमाणं पनकजीवस्यावगाहना अग्निजीवप्रमाणं च ।
(९) अवधिविषयस्य द्रव्यस्य मानम् ।
(१०) क्षेत्रकालयोर्विषयत्वमानम ।
(११) भवप्रत्ययो देवनारकाणाम ।
(१२) पृथ्वीसुरादिविषयचिन्तनम ।
(१३) अवधेः संस्थानम ।
(१४) ज्ञानदर्शनविभङ्गलक्षणद्वारद्वयम ।
(१५) देशतः सर्वतश्चावधिनिरूपणम
[१६] क्षेत्रगत्यादिद्वाराणि ।
(१७) अवधेः संक्षेपप्ररूपणा प्रस्तावना च ।

[१] व्युत्पत्तिर्लक्षणञ्च ।

अवशब्दोऽधः शब्दार्थः अव अधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः। यद्वा अवधिर्मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः। यद्वा अवधानमात्मनोऽर्थः साक्षात्करणव्यापारोऽवधिः ॥ आ०म०प्र०॥ प्रव० "द्रव्याणि मूर्तिमन्त्येव, विषयो यस्य सर्वतः। नैयत्यरहितं ज्ञानं, तत्स्यादवधिलक्षणमि" त्युक्तलक्षणे मूर्तद्रव्यविषये,। प्रत्यक्षज्ञाने, गच्छ० २ अधि० । स्था० । पा० । अनु० ॥

अथ अवधिव्युत्पादनार्थमाह ।

तेणावही य एतम्मि, वावहाणं तओवही सो य ।
मज्जाया जंतीए, दव्वाइ परोपरं मुणइ ॥

(तओवहित्ति) ततःकरणादवधिरित्युच्यते । यतः किमित्याह । (तेणावहीयत्ति) अवशब्दस्याव्ययत्वेनानेकार्थत्वादधोऽधो विस्तृतं धीयते परिच्छिद्यते रूपि वस्तु तेन ज्ञानेनेत्यवधिः । अथवा अव मर्यादया एतावत्क्षेत्रे पश्यन् एतावन्ति द्रव्याण्येतावन्तं कालं पश्यतीत्यादिपरस्परनियमितक्षेत्रादिलक्षणया धीयते परिच्छिद्यते रूपि वस्तु तेनेत्यवधिः (तम्मिवत्ति) अथवा अवशब्दस्यार्थद्वयम । तथैवावधीयते जीवेन तस्मिन् वस्त्वित्यवधिः अकारस्य दर्शनाद् (अवहाणंति) वाशब्दोऽनुवर्तते ततश्च अथवा अवधानमवधिः। साक्षादर्थपरिच्छेदनमित्यर्थः । अथवाऽवधीयते तस्माज्जीवेन साक्षाद्वस्त्वित्यवधिरित्युपलक्षणव्याख्यानात्स्वयमेव द्रष्टव्यम (सो य मज्जायत्ति) स चोक्तस्वरूपोऽवधिर्मर्यादयार्थपरिच्छेदने प्रवर्तमानत्वादुपचारतो मर्यादा एतदेवाह (जंतीएत्यादि) पुँल्लिङ्गोऽप्यवधिशब्दः प्राकृतत्वात् स्त्रीत्वे निर्दिष्टस्ततश्च यद्यस्मात्कारणात्तेनानन्तरोक्तेनावधिना जीवो द्रव्यादि (मुणत्ति) जानाति । कथंभूतं सदित्याह । परस्परनियमितमिति शेषः। वक्ष्यति च । "अंगुलमावलियंतो, आवलिया अंगुलपुहुत्तं हत्थम्मि। मुहुत्तंतो दिवसंतो, गाउयम्मि बोधव्वो" इत्यादि तस्मादनया परस्परोपनिबन्धलक्षणया मर्यदया यतो जीवस्तेनावधिना द्रव्यादिकं मुणति। ततोऽवधिरप्युपचारान्मर्यादेति भावः। अवधिश्चासौ ज्ञानं चेत्यवधिज्ञानमिति प्रक्रमलब्धेन ज्ञानशब्देन समास इति विशे०। आ० चू०। पं० सं०। अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं रूपि द्रव्ये गोचरमवधिज्ञानमिति । अवधिज्ञानावरणस्य विलयविशेषः क्षयोपशमभेदस्तस्मात्समुद्भवति। यतः सुरनारकजन्मलक्षणो गुणः सम्यग्दर्शनादिस्तौ प्रत्ययौ हेतू यस्य तत्तथा। तत्र भवप्रत्ययं सुरनारकाणां गुणप्रत्ययं पुनर्नरतिरश्चां रूपि द्रव्यादि पृथ्वी आपः पावकपवनान्धकारच्छायाप्रभृतीनि तदालम्बनमवधिज्ञानम । रत्ना० ।

(२) तत्रावधिभेदाः संख्यातीता भवन्तीति दर्शयति ॥

संखाइयाओ खलु, ओहिण्णाणस्स सव्वपयडीओ ।
काइ भवपव्वइया, खओवसमियाउ काओ वि ॥

संख्यानं संख्या तामतीता अतिक्रान्ताः संख्यातीताः असंख्येया इत्यर्थः। प्रकृतयोंऽशाः भेदाः सर्वाश्च ताः प्रकृतयश्च सर्वप्रकृतयः ततश्च पूर्वोक्तशब्दार्थस्यावधिज्ञानस्य क्षेत्रकालौ विषयभूतावाश्रित्य सर्वा अप्यसंख्येयाः प्रकृतयो भेदा भवन्ति। तथा ह्यवधेर्जघन्यतोऽङ्गुलासंख्येयभागादारभ्य प्रदेशान्तरया वृद्ध्या उत्कृष्टतो लोकेऽपि लोकप्रमाणान्यसंख्येयखण्डानि क्षेत्रविषय इति वक्ष्यते। कालोऽपि जघन्यत आवलिकासंख्येयभागादारभ्य समयोत्तरया वृद्ध्या उत्कृष्टतोऽसंख्येयोत्सर्पिणीलक्षणो विषय इत्यभिधास्यते । एवं च विषयभेदाद्विषयिणोऽपि भेद इति न्यायात् क्षेत्रकाललक्षणविषयस्यासंख्येयभेदत्वादवधेरप्यसंख्येया भेदा भवन्ति । खलुशब्दश्चेह विशेषणार्थः । किंविशिनष्टीति चेदुच्यते । क्षेत्रकालावेवाङ्गीकृत्यावधेरसंख्येयाः प्रकृतयो भवन्ति। द्रव्यभावौ त्वाश्रित्यानन्ता अपि ताः प्राप्यन्ते तद्यथा ॥ "तेयाभासा दव्वाणमंतरा एत्थ लभइ पट्ठवओ" इत्यादि वचनात्तैजसभास्वाद्-द्रव्यापान्तरालवर्ति-अनन्तप्रदेशिकात् द्रव्यादारभ्य विचित्रवृद्ध्या सर्वमूर्तद्रव्याण्युत्कृष्टविषयपरिमाणमवधेर्वक्ष्यते। प्रतिवस्तुगतासंख्येयपर्यायरूपं च भावतो विषयमानमभिधास्यते । अतः सर्वमपि पुद्गलास्तिकायमवधिग्राह्यांश्च तत्पर्यायानाश्रित्यानन्तोऽवधिविषयः सिद्धो भवति। ज्ञेयभेदाच्च ज्ञानभेद इति । द्रव्यभावलक्षणविषयापेक्षया अवधेरन्ता अपि प्र–

कृतयो भवन्ति । तर्हि (संखाइयाओ खल्विति) विरुध्यते इति चेन्नैवम् । अनन्तस्यापि संख्यातीतत्वात् व्यभिचारादतः संख्यातीतशब्देनासंख्याता अनन्ताश्च प्रकृतयो गृह्यन्त इत्यविरोधः । एतासु च प्रकृतिषु मध्ये काश्चनान्यतमा भवप्रत्ययाः भवो नारकादिजन्म स पक्षिणां गगनोत्पतनलब्धिरिवोत्पत्तौ प्रत्ययः कारणं यासां ता भवप्रत्ययाः । ताश्च नारकामराणामेव काश्चन पुनरन्यतमाः क्षयोपशमेन निर्वृत्ताः क्षायोपशमिकाः । तपःप्रभृतिगुणपरिणामाविर्भूतक्षयोपशमप्रत्यया इत्यर्थः । एताश्च तिर्यङ्मनुष्याणामिति आह । क्षायोपशमिकभावेऽवधिज्ञानं पठ्यते । नारकादिभवश्चौदयिकः स कथं तत्प्रकृतीनां प्रत्ययः स्यादित्यत्रोच्यते । मुख्यतस्ता अपि क्षयोपशमनिबन्धना एव केवलं सोऽपि क्षयोपशमस्तस्मिन्नारकामरभवे सत्यवश्यं भवतीति कृत्वा भवप्रत्ययास्ता उक्ता इति । अथ सामान्यरूपतयोद्दिष्टानां संख्यातीतानामवधिप्रकृतीनां वाचः क्रमवर्तित्वात् । आयुषश्चाल्पत्वाद्यथावद्भेदेन प्रतिपादनसामर्थ्यमात्मनोऽपश्यन्नाह ॥

कत्तो मे वन्नेउं, सत्ती ओहिस्स सव्वपयमीओ ।
चउदसविहनिक्खेवं, इड्डीपत्ते य वोच्छामी ।

कुतो मम वर्णयितुं शक्तिरवधेः सर्वप्रकृतीरायुषः परिमितत्वाद्वाचः क्रमवर्तित्वात् । तथापि विनेयगणानुग्रहार्थं चतुर्दशविधश्चासौ निक्षेपश्च चतुर्दशविधनिक्षेपस्तमवध्यादिकं चतुर्दशविधनिक्षेपं वक्ष्यामि । आमर्षौषध्यादिका ऋद्धिः प्राप्ता यैस्ते प्राप्तर्धयस्तां च वक्ष्यामि । इह गाथाभङ्गभयाद्व्यत्ययोऽन्यथा निष्ठान्तस्य बहुव्रीहौ पूर्वनिपात एव भवतीति । निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः । अत्र प्रथमगाथापूर्वार्धव्याख्यानार्थं भाष्यम् ।

तस्स जमुक्कोसयखे-त्तकालसमयप्पएसपरिमाणं ।
तएणेयपरिच्छिन्नं, तं चिय से पयमिपरिमाणं ।
संखाई यमणंतं, च तेण तमणंतपयडिपरिमाणं ।
पेच्छइ पोग्गलकायं, जमणंतं पएसपज्जायं ।

तस्यावधेरसंख्येयाः प्रकृतयः कुत इत्याह । यतः (तं चिय से पयमिपरिमाणंति) (से) तस्यावधेस्तदेव प्रकृतीनां भेदपरिमाणं यत्किमित्याह । यदुत्कृष्टं क्षेत्रप्रदेशपरिमाणं यच्चोत्कृष्टं कालसमयपरिमाणमित्येवं यथासंभवं संबन्धः । क्षेत्रस्यैव प्रदेशानां युज्यमानत्वाद्गाथाभङ्गभयाच्च समयनिर्देशादनन्तरप्रदेशनिर्देशः आह । ननूत्कृष्टं क्षेत्रप्रदेशकालसमयपरिमाणमनन्तमपि भवति । नेत्याह । तज्ज्ञेयपरिच्छिन्नं भावप्रधानोऽयं निर्देशस्ततश्च तस्यावधेर्ज्ञेयं तद्भावस्तज्ज्ञेयत्वं तेन परिच्छिन्नं नैयत्ये व्यवस्थापितं तच्च वक्ष्यमाणप्रकारेणाङ्गुलासंख्येयभागादारभ्य यावदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशास्तथावलिका असंख्येयभागादारभ्य यावदसंख्येयोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयानिति । एतच्च क्षेत्रप्रदेशकालसमयानामसंख्येयपरिमाणमतः क्षेत्रकाललक्षणा ज्ञेयापेक्षयाऽवधेरसंख्येयाः प्रकृतय इति । अथ खलुशब्देन विशेषणार्थेन सूचितास्तस्यानन्ताः प्रकृतीर्दर्शयति (संखाईत्यादि) संख्यातीतं न केवलमसंख्येयमुच्यते । किं तर्हि अनन्तं च तस्यापि संख्यातीतत्वाद्व्यभिचारात्तेन तदवधिज्ञानमनन्तप्रकृतिपरिमाणमपि भवति । यद्यस्मात्संप्रेक्षते पश्यति । समस्तमपि पुद्गलास्तिकायं कथं भूतमित्याह । अनन्तदेशमनन्तपर्यायं च सत्यनन्तद्रव्यपर्यायलक्षणक्षयापेक्षयाऽवधेरनन्ताः प्रकृतय इति ।

अथ प्रथमनिर्युक्तिगाथोत्तरार्धं व्याचिख्यासुराह ।

भवपच्चइया नारय-सुराण पक्खीण वा नभोगमणं ।
गुणपरिणामनिमित्ता, सेसाणखओवसमियाओ ॥

गतार्थैव नवरं (पक्खीणवत्ति) वाशब्द इवार्थे नभोगमनमिवेत्यत्र संबध्यते । अथाक्षेपपरिहारायाह ।

ओहीखओवसमिए, भावे भणिओ भवो तहोदइए ।
तो किह भवपच्चइओ, वोत्तुं जुत्तोवही दोएहं ॥
सो वि हु खओवसमिओ, किंतु स एव ओवसमलाभो ।
तम्मिसओहोअवस्सं, भणइ भवपच्चओ तो सो ॥

व्याख्यातार्थे एव नवरं (दोएहत्ति) सुरनारकाणां सोऽपि सुरनारकावधिः (खओवसमओत्ति) क्षयोपशमादेव स च तस्मिन् सुरनारकभवे सत्यवश्यं भवत्यतोऽसौ सुरनारकावधिर्भवप्रत्ययो भण्यते । ननु कर्मणः क्षयोपशमादयः किं भवादिनिमित्ता भवन्तीत्याह ।

उदयखयखओवसमो-वसमा वि य जं च कम्मणो भणिया ।
दव्वं खित्तं कालं, भवं च भावं च संपप्पा ॥

यतः स्रक्चन्दनाहिविषादिद्रव्यादीनि प्राप्य प्राणिनां सुखदुःखोदयादयस्तीर्थकरगणधरैरागमे भणिताः । प्रत्यक्षतो दृश्यन्ते च । अतः सुरनारकाणां तद्भवमपेक्ष्यावधिः क्षयोपशमिकोऽप्यवश्यं भवतीति । अथ द्वितीयनिर्युक्तिगाथाव्याख्यानभाष्यम् ।

इयमव्वपयमिमाणं, किह कमवसवण्णवत्तिणीवाया ।
वोच्छित्ति सव्वं सव्वा-उ णाइसंखिज्जकालेण ॥

गतार्थैवेति गाथा ससकार्थः आह ।

(३) चतुर्दशविधो निक्षेपो द्वारसंग्रहश्च तत्र जघन्यादिभेदाः ।

अथ चतुर्दशविधं निक्षेपं दर्शयामि ।

ओहिखेत्तपरिमाणे, संठाणे आणुगामिए ।
अव्वट्ठिए चले तिव्व-मंदपयभि वाउप्पयाइ य ॥
णाणदंसणविब्भंगे, देसे खित्ते गई इय ।
इड्ढिपत्ताणुओगे य, एमेया पडिवत्तिओ ॥

इहावध्यादीनि गतिपर्यन्तानि चतुर्दश द्वाराणि । ऋद्धिस्तु चशब्दसमुच्चितत्वात् पञ्चदशचतुर्दश विधिनिक्षेपस्योपरिष्टात्पश्चाद्वक्ष्यते । तत्रावधिर्नामस्थापनादिभेदभिन्नो वक्तव्यः ॥१॥ तथा अर्थवशाद्विभक्तिविपरिणाम इत्यवधिजघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नं क्षेत्रपरिमाणं वक्तव्यम् ॥२॥ तथाऽवधेः संस्थानं वाच्यम् ॥ ३ ॥ तथाऽनुगमनशील आनुगामिकोऽवधिः सप्रतिपक्षो वाच्यः ॥४॥ तथा द्रव्यादिषु कियन्तं कालमप्रतिपतितः सन्नुपयोगतो लब्धितश्चास्ते इत्येषमवस्थितोऽवधिर्वक्तव्यः ॥५॥ तथा वर्धमानतया हीयमानतया चञ्चलोऽनवस्थितोऽवधिर्वक्तव्यः ॥६॥ तथा तीव्रो मन्दो मध्यमश्चावधिर्वक्तव्यः ॥७॥ तथा तीव्रो विशुद्धः मन्दोऽविशुद्धः इतरस्तूभयप्रकृतिः । तथा द्रव्याद्यपेक्षया एककाले प्रतिपातोत्पादौ अवधेर्वक्तव्यौ ॥ ८ ॥ तथा ज्ञानदर्शनविभङ्गा वाच्याः ॥९॥ किमत्र ज्ञानं किं वा दर्शनं को वा विभङ्गः परस्परतश्चामीषामल्पबहुत्वं चिन्तनीयम् ॥१०॥ ततश्च ज्ञानदर्शनविभङ्गैर्द्वारत्रयम् ॥११॥ तथा (देसेत्ति) कस्यादेशविषयः सर्वविषयोऽवधिर्वक्तव्यः ॥ १२ ॥ गतिरिति चेत्तत्र इतिशब्द आद्यर्थस्ततश्च "गइइंदियकाए" इत्यादि द्वारकलापोऽवधिर्वक्तव्यः ॥ १३ ॥ तथा प्राप्यर्द्ध्यनुयोगश्च व्याख्यानरूपः

कार्यः ॥१४॥ एवमनेन प्रकारेणैता अनन्तरोक्ताः प्रतिपत्तयः । प्रतिपादनानि परिच्छित्तय इत्यर्थः । कथं पुनरस्यायं निक्षेपश्चतुर्दशविध इत्याह भाष्यकारः ।

गइपज्जत्ता चोद्दस, रिद्धी व समुच्चियत्ति पंचदसी ।
ओहीपयं पि व मोत्तुं, सेयरमणुगामिउं काउं ॥
केई चोद्दसभेयं, जणंति ओहित्ति न पयमिजम्हा ।
पयमीण य निक्खेवो, जं भणिओ चउद्दस विहोत्ति ॥

अवध्या याः गतिपर्यन्ताश्चतुर्दश निक्षेपाः ऋद्धिस्तु चतुर्दशविधानिक्षेपमध्ये न भवति । किं तर्हि " इड्डिपत्तेयवोच्छामी " त्यत्र चसमुच्चितत्वात् । पृथग्भूता पञ्चदशी । अथवा (ओहीखेत्तपरिमाणे) इत्यत्राद्यमवधिपदं मुत्वा अनुगमनशीलमनुगामुकं सेतरं सप्रतिपक्षं कृत्वा अनुगामिकमनुगामुकसहितमर्थतो गणयित्वेत्यर्थः । केचनाप्याचार्याश्चतुर्दशविधनिक्षेपं पूरयन्ति । किमिति । ते एवं व्याख्यानयन्तीत्याह (ओहीत्यादि) अवधिर्यस्मान्न प्रकृतिः किंत्ववधेरेवेह प्रकृतयो विचारयितुं प्रक्रान्ताः कुत इत्याह । यतः प्रकृतीनामेव चतुर्दशविधो निक्षेप उक्तः । अविरुद्धं चैतदपि व्याख्यानमत्र च पक्षेऽवधिशब्दः सर्वत्र विशेषणतयैव योजनीयोऽवधेः क्षेत्रपरिमाणमवधेः संस्थानमित्यादीनीति गाथाद्वयार्थः । विशे० ।

प्रकारान्तरतो द्वारसंग्रहः ।

भेदविसयसंठाणे, अब्भिंतरबाहिरे य देसोही ।
ओहिस्सयखयवुड्ढी, पडिवायं चेव पमिवादी ॥

अवधिरवधिज्ञानस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य प्रथमं भेदतो वक्तव्यस्ततो विषयस्तदनन्तरं संस्थानमवधिना द्योतितस्य क्षेत्रस्य यस्तत्रादिरूप आकारविशेषः सोऽवधिनिबन्धन इत्यवधेः संस्थानत्वेन व्यपदिश्यते । तथा द्विविधोऽवधिर्वक्तव्यस्तद्यथा । आभ्यन्तरो बाह्यश्च । तत्र योऽवधिः सर्वासु दिक्षु स्वद्योत्यक्षेत्रं प्रकाशयति । अवधिमता च सह सातत्येन ततः स्वद्योत्यं क्षेत्रं संबद्धं सोऽभ्यन्तरावधिरेतद्विपरीतो बाह्यावधिः । स च द्विधा तद्यथा । अन्तर्गतो मध्यगतश्च । प्रज्ञा० ३२ पद । यदा अवधिना द्योतितं क्षेत्रमवधिमता संबद्धं भवति । तदा सोऽभ्यन्तरावधिर्मतः । सर्वदिगुपलब्धक्षेत्रमध्यवर्तित्वात् । एष चेह न ग्राह्योऽभ्यन्तरावधावस्यान्तर्भावात् । यदा तु तद्द्योतितं क्षेत्रमपान्तराले व्यवच्छिन्नत्वात् अवधिमता संबन्धं न भवति । तदा बाह्योऽवधिरेष चेह ग्राह्यः । प्रस्तुतत्वात् तथा (देसोहीइत्ति) देशावधिर्वक्तव्य उपलक्षणमेतत् । प्रतिपक्षभूतसर्वावधिश्च । अथ किंस्वरूपो देशावधिः । किंस्वरूपो वा सर्वावधिरिति । उच्यते इहावधिस्त्रिविधो भवति । तद्यथा सर्वजघन्यो मध्यमः सर्वोत्कृष्टश्च । तत्र यः सर्वजघन्यः स द्रव्यतोऽनन्तानि तैजसभाषणान्तरालवर्तीनि द्रव्याणि क्षेत्रतोऽङ्गुलासंख्येयभागं क्षेत्रं कालतोऽतीतमनागतं चावलिकायाः संख्येयं भागम् । इहावधिः क्षेत्रं कालं च स्वरूपतः साक्षान्न जानाति । तयोरमूर्तत्वादवधेश्च रूपिविषयत्वात् "रूपिष्ववधिरिति" वचनात् । इह क्षेत्रकालदर्शनमुपचारतो वेदितव्यम् । किमुक्तं भवत्येतावति क्षेत्रे काले च यानि द्रव्याणि तानि जानातीति । भावतोऽनन्तान् पर्यायान् जानाति । प्रतिद्रव्यं जघन्यपदेऽपि चतुर्णां रूपरसगन्धस्पर्शरूपाणां पर्यायाणामवगमात् । "दो पज्जवे दुगुणिए सव्वजहन्नस्स पिच्छए तेउवसाइया चउरो" इति वचनात् । द्रव्याणां चानन्तत्वात् । अत ऊर्ध्वं तु प्रदेशवृद्ध्या समयवृद्ध्या च प्रवर्द्धमानोऽवधिर्मध्यमो वेदितव्यः । स च तावत् यावत् सर्वोत्कृष्टपरमावधिर्न भवति सर्वोत्कृष्टपरमावधिर्द्रव्यतः सर्वाणि रूपिद्रव्याणि जानाति क्षेत्रतो लोकालोकमात्राणि खण्डानि । कालतोऽतीतानागताश्चासंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिणीर्भावतोऽनन्तान् पर्यायान् । प्रतिद्रव्यं संख्येयानामसंख्येयानां च पर्यायाणामवगमात् । "एगं दव्वं पेच्छं, खंधमणुं वा पज्जवे तस्स । उक्कोसमसंखेज्जे, संखेज्जे पेच्छ एक्कोइ " इति वचनात् । तत्र सर्वजघन्यो मध्यमश्च देशावधिः सर्वोत्कृष्टस्तु परमावधिः सर्वावधिः तथावधेः क्षयवृद्धी वक्तव्ये । किमुक्तं भवति । हीयमानकः प्रवर्द्धमानकश्चावधिर्वक्तव्य इति प्रज्ञा० ३३ पद ।

(४) पुनर्नामादिसप्तविधो निक्षेपः ।

अथ प्रथमव्याख्याभिमताद्यद्वारव्याचिख्यासया प्राह ।

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले भवे य भावे य ।
एसो खलु ओहिस्स, निक्खेवो होइ सत्तविहो ॥

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभवभावभेदादेष खल्ववधिनिक्षेपः । सप्तविधो भवतीति । निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः । अथ विस्तरार्थं विभणिषुर्भाष्यकारः प्राह ।

ओहित्ति जस्स नामं, जह मज्जायावहित्ति लोगम्मि ।
ठवणाविहिनिक्खेवो, होइ जहक्खाइ विन्नासो ॥

यस्य जीवादिपदार्थस्यावधिरिति नाम क्रियते । असौ नाम्ना नाममात्रेणावधिर्नामावधिरुच्यते । यथा लोके मर्यादावधिरभिधीयते । स्थापनया स्थापनामात्रेणावधिः स्थापनावधिर्भवति । कोऽयमित्याह । निक्षेपो विन्यासोऽवधेरेव वस्त्वन्तरे इति गम्यते । क्व यथेत्याह । यथाऽक्षादौ विन्यासो निक्षेपोऽवधिरक्षादिविन्यास इति । प्रकारान्तरेण नामस्थापनावधी प्राह ॥

अहवा नामं तस्से-व जमभिहाणं सपज्जओ तस्स ।
ठवणागारविसेसो, तद्दव्वं खित्तसामीणं ॥

अथवा (नामंति) नामावधिरुच्यते । यत्किमित्याह । तस्यैव प्रकृतस्यावधिज्ञानस्य यदवधिरिति वर्णावलीमात्ररूपमभिधानं संज्ञेति । नामैवावधिर्नामावधिरिति कृत्वा तच्चावधिरित्यभिधानं तस्यावधिज्ञानस्य वचनरूपः स्वपर्याय इति मन्तव्यम् । स्थापनावधिस्त्वाकारविशेषो भण्यते । केषामित्याह । तस्यावधिज्ञानस्य द्रव्यं विषयभूतं भूभृदादिक्षेत्रं तु भरतादिस्वामित्वाधारभूतसाध्वादिरेतेषामाकारविशेषः स्थापनावधिः । विषयविषयभावादिसंबन्धित्वेनैतेषामाकारेऽवधिः । स्थाप्यत इति भावः । पूर्वं मर्यादाऽक्षादाववधिज्ञानासंबन्धेऽपि नामस्थापने प्रोक्ते । अत्र त्वभिधानद्रव्याद्याकारयोरवधिज्ञानसंबन्धयोस्ते अभिहिते इति विशेष इति । अथ द्रव्यावधिरुच्यते । स च द्विविध आगमतो नो आगमतश्च । तत्रागमतोऽवधिपदार्थज्ञस्तत्र चानुपयुक्तोऽनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात् द्रव्यावधिः । नो आगमतो ज्ञशरीरद्रव्यावधिश्च ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु द्रव्यावधिं भाष्यकारः स्वयमेवाह ।

दव्वोही उप्पज्जइ, जत्थ तओ जं च पासए तेणं ।
जंवोवगारि दव्वं, देहाइ तदुब्भवे होइ ।

तद्द्रव्यं द्रव्यावधिर्भण्यते (उपज्जइ जत्थ तओयंति) यत्र विपुला अवसशिलादौ कायोत्सर्गादिस्थितस्य साध्वादेस्तत्कोऽसौ अवधिरुत्पद्यते । यद्वा भूभृदादिकं रूपि द्रव्यं तेनावधिना साध्वादिः पश्यति तद् द्रव्यावधिरुच्यते । यद्वा तस्यावधेरुद्भवे

उत्पत्तौ सहकारित्वेनोपकारकं देहादिद्रव्यं तत्सर्वं द्रव्यावधिरभिधीयते। इदमुक्तं भवति। इहाधारभूतशिलादिद्रव्याएयुत्पद्यमानस्यावधेः सहकारिकारणानि भवन्ति। कारणं च "भूतस्य भाविनो वा, भावस्य हि कारणं च यल्लोके। न द्रव्यं तत्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं गदितमिति" वचनात् द्रव्यमुच्यते। अतोऽन्यान्यपि तपःसंयमादीन्यवध्युत्पत्तिकारणानि द्रव्यावधित्वेनावसेयानीति ।

अत्र क्षेत्रकालावधी प्राह ।

खेत्ते जत्थुप्पज्जइ, कहिज्जए पेच्छए व दव्वाइं ।
एवं यजत्थ य काले, तउ पेच्छइ खित्तकाले सो ॥

यत्र नगरोद्यानादिक्षेत्रे स्थितस्यावधिरुत्पद्यते। स क्षेत्रेऽधिकरणभूतेऽवधिः क्षेत्रावधिरुच्यते। क्षेत्रस्याधारत्वेन प्राधान्यविवक्षया क्षेत्रेण व्यपदेश इति भावः। यत्र वा क्षेत्रेऽवधिः कथ्यते प्रज्ञापकेन स्वरूपतः प्ररूप्यते। यत्र वा क्षेत्रे व्यवस्थितानि द्रव्याणि अवधिज्ञानी प्रेक्षते। तत्प्राधान्यविवक्षया तेन व्यपदेशात् क्षेत्रावधिरभिधीयते । एवं यत्र प्रथमपौरुष्यादौ कालेऽवधिरुत्पद्यते। यत्र वा प्रज्ञापकेन प्ररूप्यते यत्कालं विशिष्टानि वा द्रव्याएयवधिज्ञानी पश्यति। तत्प्राधान्यविवक्षया तेन व्यपदेशात्स कालावधिरुच्यते । ननु किमिति क्षेत्रकालावस्थितानि द्रव्याणि पश्यत्यसावुच्यते। किं क्षेत्रकालावेव साक्षादेव न पश्यतीत्याशङ्क्याह । ननु पश्यति क्षेत्रकालावसौ तयोरमूर्तत्वादवधेश्च मूर्तविषयत्वाद्वर्तनारूपं तु कालं पश्येत् । द्रव्यपर्यायत्वात्तस्येति ।

अथ भवभावावधी निरूपयितुमाह ।

जम्मि भवे उप्पज्जइ, वट्टइ पेच्छइ च जं भवोही सो ।
एमेव य भावोही, वट्टई य तओ खओवसमे ॥

यस्मिन्नारकादिभवेऽवधिरवश्यमुत्पद्यते। यत्र वा भवे उत्पन्नोऽसाववधिर्वर्तते। नारकादिभव एवायं वा स्वकीयं परकीयं वा अतीतमनागतं वा एकादिकमसंख्याततमं वा तं भवं पश्यति। स भवावधिः। भवे आधारभूते विषयभूते वाऽवधिरिति कृत्वा एवमेव भावावधिरपि वक्तव्यः। यस्मिन् क्षयोपशमिके भावेऽवधिरुत्पद्यते। यत्र वा क्षायोपशमिक एव भावे उत्पन्नोऽसौ वर्तते। यं वा औदयिकादिभावपञ्चकान्यतरभावान् पश्यति स भावावधिरित्यर्थः। भावे अवधिर्भावावधिरिति कृत्वा स त्ववधिः। क भावे वर्तत इति। कथ्यतामित्याह । वर्तते च तत्कोऽसावधिः क्षायोपशमिके भाव इति। तदेवं प्रथमव्याख्याने द्वारतया समायातस्यावधेर्नामादिनिक्षेपोऽयमुक्तो द्वितीयव्याख्याने तु विशेषणतया समायातस्यास्यैषोऽभिहित इति। विशे०। आ०चू०।

(५) भवप्रत्ययिकादितो द्वैविध्यम् ।

से किं तं ओहिणाणपच्चक्खं ओहिनाणपच्चक्खं दुविहं पएणत्तं । तं जहा भवपच्चइयं च खओवसमियं च। से किं तं भवपच्चइयं भवपच्चइयं दुएहं तं जहा। देवाण य नेरइयाण य । से किं तं खओवसमियं २ दुएहं तं जहा मणूसाण य पंचिंदियातिरिक्खजोणियाण को हेऊ खाओवसमियं खाओवसमियं तया वरणिज्जाणं कम्माणं उदिन्नाणं खएणं अणुदिएणाणं उवसमेणं ओहिनाणं समुप्पज्जइ। अहवा गुणपडिवन्नस्स अणगारस्स ओहिनाणं समुप्पज्जइ ॥

अथ किं तदवधिज्ञानप्रत्यक्षम्। अवधिज्ञानप्रत्यक्षं द्विविधं प्रज्ञप्तम् तद्यथा। भवप्रत्ययं च क्षायोपशमिकं च। तत्र भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवो नारकादिजन्म पुंनाम्नीति। अधिकरणे घ प्रत्ययः। भव एव प्रत्ययः कारणं यस्य तद्भवप्रत्ययं प्रत्ययशब्दश्चेह कारणपर्यायः वर्तते च प्रत्ययशब्दः कारणत्वे यत उक्तं। "प्रत्ययाः शपथज्ञान-हेतुविश्वासनिश्चये" चशब्दः स्वगतदेवनारकाश्रितभेदद्वयसूचकः। तौ च द्वौ भेदावनन्तरमेव वक्ष्यति। यथा क्षयश्चोपशमश्च क्षयोपशमौ ताभ्यां निवृत्तं क्षायोपशमिकम्। चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। तत्र यद्येषां भवति। तत्तेषामुपदर्शयति। (दोएहमित्यादि) द्वयोर्जीवसमूहयोर्भवप्रत्ययं तद्यथा देवानां नारकाणां च तत्र दीव्यन्ति निरुपमक्रीमामनुभवन्तीति देवाः। तथा नरान् कायन्ति शब्दयन्ति योग्यतायां अनतिक्रमेणाकारयन्ति जन्तून् स्वस्थाने इति नरकाः। तेषु भवा नारकाः। तेषां चशब्द उभयत्रापि स्वगतानेकभेदसूचकः। ते च संस्थानचिन्तायामग्रे दर्शयिष्यन्ते। अत्राह परः। नन्ववधिज्ञानं क्षायोपशमिके भावे वर्तते। नारकादिभवश्चौदयिके तत्कथं देवादीनामवधिज्ञानं भवप्रत्ययमिति व्यपादिश्यते। नैष दोषः। यतस्तदपि परमार्थतः क्षायोपशमिकमेव केवलं सः क्षयोपशमो देवनारकभवेष्ववश्यंभावी। पक्षिणां गगनगमनलब्धिरिव ततो भवप्रत्ययमिति व्यपादिश्यते नैष दोषः। यतस्तदपि उक्तं च ॥ चूर्णौ ननु " ओही खओवसमिए भावे नरगाइभवे से उदइए भावे तओ कहं भवे पच्चइओ भएणइ उच्यते सो वि खओवसमिओ चेव किंतु सो खओवसमो नारगदेवभवेसु अवस्सं भवइ को इह दिठंतो पक्खीणं आगासगमणं च तओ भवपच्चइ " (ओभएणइत्ति) यथा द्वयोः क्षायोपशमिकम् तद्यथा मनुष्याणां च पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यग्योनिजानां चात्रापि चशब्दौ प्रत्येकं स्वगतानेकभेदसूचकौ पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां चावधिज्ञानं नावश्यम्भावि। ततः समानेऽपि क्षायोपशमिकत्वे भवप्रत्ययादिदं भिद्यते। परमार्थतः पुनः सकलमप्यवधिज्ञानं क्षायोपशमिकं संप्रति क्षायोपशमस्वरूपं प्रतिपादयति। (को हेऊ खाओवसमियंति) को हेतुः किं निमित्तं यद्वशादवधिज्ञानं क्षायोपशमिकमित्युच्यते। अत्र निर्वचनमभिधातुकाम आह (खाओवसमियमित्यादि) क्षायोपशमिकं येन कारणेन तदावरणीयानामवधिज्ञानावरणीयानां कर्मणामुदीर्णानां क्षयेणानुदीर्णानामुदयावलिकामप्राप्तानामुपशमेन विपाकोदयविष्कम्भणलक्षणेनावधिज्ञानमुत्पद्यते। तेन कारणेन क्षायोपशमिकमित्युच्यते। क्षयोपशमश्च देशघातिरसस्पर्द्धकानामुदये सति भवति। न सर्वघातिरसस्पर्धकानाम्। नं० ॥ तत्रावधिज्ञानावरणकर्मप्रकृतीनां तथाविधविशुद्धाध्यवसायभावतः सर्वघातिषु रसस्पर्धकेषु देशघातिरूपतया परिणमितेषु देशघातिरसस्पर्धकेष्वपि चातिस्निग्धेषु अल्परसीकृतेषु उदयावलिकाप्राप्तस्यांशस्य क्षये अनुदीर्णस्य चोपशमे विपाकोदयविष्कम्भरूपे जीवस्यावध्यादयो गुणाः प्रादुःसन्ति उक्तं च। " निहिएसु सव्वघाई, रसेसु फड्डेसु देशघाईणं। जीवस्स गुणा जायं-ति ओहिमणचक्खुमाईया। १। अत्र निहितेष्विति देशघातिरसस्पर्द्धकतया व्यवस्थितेषु शेषं सुगमम्। सर्वघातिनि च रसस्पर्द्धकान्यवधिज्ञानावरणीयस्य देशघातिरसस्पर्द्धकतया परिणमयति । कदाचिद्विशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण कदाचित्पुनर्विशिष्टगुणप्रतिपत्त्या विशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण कथमिति चेदुच्यते। इह यथा दिवसकरमण्डलस्य घनपटलाच्छादितस्य कथञ्चिद्विश्रसा परिणामेन घनपटलपुद्गलानां निस्नेहीभूय परिक्षयतः समुपजातेन रन्ध्रेण तिमिरनिकरो-

पसंहारहेतवो भानवः स्वावपातदेशास्पदं द्रव्यमुद्योतयन्ति । तथा प्रकृतिभासुरस्यात्मनो मिथ्यात्वादिहेतूपचयोपजनितावधिज्ञानावरणपटलतिरस्कृतस्वरूपस्य संसारे परिभ्रमतः कथञ्चिद्देवमेव तथाविधशुभाध्यवसायप्रवृत्तितोऽवधिज्ञानावरणसंबन्धिनां सर्वघातिरसस्पर्द्धकानां देशघातिरसस्पर्धकतया जातानामुदयावलिकाप्राप्तस्यांशस्य परिक्षयतोऽनुदयावलिकाप्राप्तस्योपशमतः समुद्भूतेन क्षयोपशमरूपेण रन्ध्रेण विनिर्गतोऽवधिज्ञानालोकः प्रसाधयति। स्वकार्यं कदाचित्पुनर्विशिष्टगुणप्रतिपत्तितः सर्वघातीनि रसस्पर्द्धकानि देशघातीनि भवन्ति। तथा चाह (अहवेत्यादि) अथवेति प्रकारान्तरोपदर्शनेन प्रकारान्तरता च गुणप्रतिपत्तिमन्तरेणेत्यपेक्ष्य द्रष्टव्या। गुणाः मूलोत्तररूपाः तान् प्रतिपन्नो गुणप्रतिपन्नः। अथवा गुणैः प्रतिपन्नः पात्रमिति कृत्वा गुणैराश्रितो गुणप्रतिपन्नः अनेन पात्रतायां सत्यां स्वयमेव गुणा भवन्तीति। प्रतिपादयति उक्तञ्च। "नोदन्वानर्थितामेति,न चाम्भोभिर्न पूर्यते। आत्मा तु पात्रतां नेयः, पात्रमायान्ति संपदः ।१। अगारं गृहं न विद्यते अगारं यस्यासावनगारः। परित्यक्तद्रव्यभावग्रह इत्यर्थः। तस्य प्रशस्तेष्वध्यवसायेषु वर्तमानस्य सर्वघातिरसस्पर्द्धकेषु देशघातिरसस्पर्धकतया जातेषु पूर्वोक्तक्रमेण क्षयोपशमजातोऽवधिज्ञानमुपजायते। मनःपर्यायज्ञानावरणीयस्य तु विशिष्टसंयमाप्रमादादिप्रतिपत्तावेव सर्वघातीनि रसस्पर्धकानि देशघातीनि भवन्ति। तथा स्वभाव्यात्तच्च तथा स्वभाव्यं बन्धकाले तथा रूपाणामेव तेषां बन्धनात् ततो मनःपर्यवज्ञानं विशिष्टगुणप्रतिपन्नस्यैव वेदितव्यम्। मतिश्रुतावरणाचक्षुर्दर्शनावरणान्तरायप्रकृतीनां पुनः सर्वघातीनि रसस्पर्द्धकानि। येन तेन वाध्यवसायेनाध्यवसायानुरूपं देशघातीनि स्पर्धकानि भवन्ति। तेषां तथा स्वभाव्यात् ततो मतिज्ञानावरणादीनां सदैव देशघातिनामेव रसस्पर्द्धकानामुदयः। सदैव च क्षयोपशमः। उक्तञ्च। पञ्चसंग्रहमूलटीकायाम् मतिश्रुतावरणाचक्षुर्दर्शनावरणान्तरायप्रकृतीनां च सदैव देशघातिरसस्पर्द्धकानामेवोदयः। ततस्तासां सदैवौदयिकक्षायोपशमिकौ भावाविति कृतं प्रसङ्गेन। नं०। स्था०। प्रज्ञ०। भ० ॥

(६) आनुगामिकादि षट् भेदाः ।

तं समासओ छव्विहं पएणत्तं। तं जहा आणुगामियं १ अणाणुगामियं २ वड्ढमाणयं ३ हीयमाणयं ४ पडिवाईयं ५ अप्पडिवाईयं ६।

एतेषां षण्णां भेदानामर्थाः। सभेदाः अनुगामिकादिशब्देषूक्ताः वक्ष्यन्ते च नवरमिह।

आणुगामिओ य ओही, नेरइयाणं तहेव देवाणं।
अणुगामि अणणुगामी, मीसो य मणुस्सतेरिच्छे ॥

अनुगमनशील आनुगामुको यः समुत्पन्नोऽवधिः स स्वामिनं देशान्तरमभिव्रजन्तमनुगच्छति। लोचनवदसौ आनुगामुक इत्यर्थः। ईदृश एवावधिर्भवति केषामित्याह। नारकाणां तथा देवानां चेति। तथा आनुगामुक उक्तस्वरूपः अनानुगामुकस्त्ववस्थितशृङ्खलानि यन्त्रितप्रदीपवद्विपरीतः यस्य तूत्पन्नस्यावधेर्देशो व्रजति। स्वामिना सहान्यत्र देशस्तु प्रदेशान्तरचलितपुरुषस्योपहतैकलोचनवदन्यत्र न व्रजति। असौ मिश्र उच्यते। एष त्रिविधोऽप्यवधिर्मनुष्यातिर्यक्षु च भवतीति। निर्युक्तिगाथार्थः। अथ भाष्यम्।

अणुगामिओणुगच्छंतं लोयणं जहा पुरिसं इयरो य नाणुगच्छइ ठियपइव्वो व्व गच्छंतं। उभयसहावो मीसो देसो जस्साणुजाइ नो अन्नो कासइ गयस्स कत्थइ एगं उवहम्मइ जहच्छि ॥

गतार्थ एव उक्तमानुगामुकद्वारम्।

अथावस्थितद्वारमुच्यते। अवस्थितं चावधेराधारभूतक्षेत्रत उपयोगतो लब्धितश्च चिन्तनीयम्। तत्र क्षेत्रत उपयोगतश्चाह।

खित्तस्स अवट्ठाणं, तेत्तीसं सागराउ कालेणं।
दव्वे भिन्नमुहुत्तो, पज्जवलंभे य सत्तट्ठ ॥

अवधेराधारपर्यायेण क्षेत्रस्यावस्थानं त्रयस्त्रिंशदेव सागरोपमानि कालेन कालमाश्रित्य भवन्ति। इदमुक्तं भवति। अनुत्तरसुरा यत्र क्षेत्रे जन्मसमये अवगाढास्तत्रैवाभवक्षयमवतिष्ठन्तेऽतस्तत्संबन्धिनोऽवधेरेकत्र क्षेत्रे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणकालमवस्थानं संपद्यते। उपयोगस्त्ववधेः सुरनारकपुद्गलादिके द्रव्ये द्रव्यविषयमुपयोगमाश्रित्य तत्रान्यत्र वा क्षेत्रे भिन्नमुहूर्तमेवावस्थानं न परतः सामर्थ्याभावादिति। तत्रैव द्रव्ये ये पर्यवाः पर्यायधर्मास्तल्लाभे पर्यायात्पर्यायान्तरं च सञ्चरतोऽवधेस्तदुपयोगे सप्ताष्टौ वा समयानवस्थानं न परतः। अन्ये तु व्याचक्षते। पर्यायात् द्विधा गुणाः पर्यायाश्च तत्र सहवर्तिनो गुणाः शुक्लादयः क्रमवर्तिनस्तु पर्याया नवपुराणादयस्तत्र गुणेष्वष्टौ समयानवध्युपयोगावस्थानं पर्यायेषु सप्तसमयानीति स्थूलं हि द्रव्यं तेन तत्रान्तर्मुहूर्तं तदुपयोगस्थितिगुणास्ततः। सूक्ष्मास्तेनैतेष्वष्टौ समया न गुणेभ्योऽपि पर्यायाः सूक्ष्मा इति। तेषु सप्तसमयान् यावदिति भावः। अथ लब्धितोऽवध्यवस्थानमाह।

अद्धाए अवट्ठाणं, छावट्ठिं सागराउ कालेणं।
उक्कोसगं तु एयं, एक्कोसमओ जहन्नेणं ॥

इहाद्धाशब्देनावधिज्ञानावरणक्षयोपशमलाभरूपा या लब्धिरभिप्रेता सा च तत्रान्यत्र वा क्षेत्रे तेष्वन्येषु वा द्रव्यादिषु युक्तस्य वा भवति। अथैतस्यावधिज्ञानावरणक्षयोपशमलाभरूपाया लब्धेर्निरन्तरमवस्थानं वक्ष्यमाणभाष्ययुक्त्या षट्षष्टिः सागरोपमाणि कालेन कालमाश्रित्य भवन्ति। तुशब्दस्य विशेषणार्थत्वान्नरभवसंबन्धिना कालेनैतान्यधिकानि द्रष्टव्यानि। इदं चाबाधद्रव्यादिषूपयोगस्य लब्धेश्चान्तमुहूर्तादिकमवस्थानमुत्कृष्टं द्रष्टव्यम्। जघन्यतस्त्वेक एव समयो मन्तव्यः। तत्र नरतिरश्चां समयादूर्ध्वमवधिः प्रतिपातादनुपयोगाद्वाऽसौ विज्ञेयो देवनारकाणां तु येषां भवस्य चरमसमये सम्यक्त्वलाभाद्विभङ्गज्ञानमवधिरूपतया परिणमति। ततः परं च मृतानां तदवधिज्ञानं च प्रच्यवते तेषामेष द्रष्टव्यः। इति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः। ७१७। अत्र भाष्यम्।

आहारे उवओगे, लद्धीए वा हविज्ज वत्थाए।
आहारो से खित्ते, तेत्तीसा सागरा तत्थ ॥
विजयाइसूववाए, जत्थो गाढो भवक्खओ जाव।
खित्ते व तिट्ठइ तहिं, दव्वेसु देहसयणेसु ॥

आधारोपयोगलब्धिविषयमवधेरवस्थानं भवेत्तत्राधारः (से) तस्यावधेः क्षेत्रं मन्तव्यं (तत्थत्ति) तत्राधारभूते क्षेत्रे त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यवधेरवस्थानमिति शेषः। कः पुनः क्षेत्रे एतावन्तं कालमवधिरवतिष्ठत इत्याह। विजयादिष्वनुत्तरविमानेषूपपा

तान्द्भवक्षयं यावद्यत्र क्वापि (खेत्तेत्ति) शयनीयाक्रान्तक्षेत्रे देवोऽवगाढोऽवतिष्ठते (तहिंति) । तत्र क्षेत्रे अस्यावधिः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यवस्थानं द्रष्टव्यम्। क्षेत्रस्योपलक्षणत्वाद्द्रव्येषु च देहशयनीयेष्ववधेरेतावन्तं कालमवस्थानमवसेयमिति । अथोपयोगतो द्रव्यगुणपर्यायेष्ववधेरवस्थानमाह ।

दव्वे भिन्नमुहुत्तं, तत्थ णत्थ हविज्ज खेत्तम्मि ।
उवओगो न उपरओ, सामत्थाभावतो तस्स ॥
दव्वे तत्थेव गुणा, संचरओ सत्तवट्ठवासमया ।
अस्से पुण अट्ठगुणा, भणंति तप्पज्जवे सत्त ॥

गतार्थैव । नवरं तत्र विवक्षिते क्षेत्रे अन्यत्र वा गतस्यावधिमतो द्रव्यविषयेऽन्तर्मुहूर्तमेवोपयोगो भवति (दव्वेत्यादि) तत्रैव विवक्षिते द्रव्ये (गुणत्ति) गुणेष्वपरापरेषु सञ्चरतः सप्ताष्टौ वा समया नावधेरुपयोगो भवति। अन्ये त्वाहुर्गुणेष्वष्टौ पर्यायेषु सप्त समयानिति । किमित्येवमित्याह ।

जह जह सुहुमं वत्थुं, तह तह थोवोवओगया होइ ।
दव्वगुणपज्जवेसुं, तह पत्तेयं पि नायव्वं ॥

गतार्थैवं । अथ लब्धितोऽवस्थानमाह ।

नत्थ णत्थ य खित्ते, दव्वे गुणपज्जवोवओगे य ।
चिट्ठइ लद्धी सा पुण, नाणावरणक्खओवसमो ॥
सा सागरोवमाइं, छावट्ठिं होइ साइरेगाइं ।
विजयाइ सु दो वारे, गयस्स नरजम्मणा समयं ।

गतार्थे । अथोपलब्धिविषयं जघन्यमवस्थानमाह ।

सव्वजहण्णो समओ, दव्वाईसु होइ सव्वजीवाणं ।

अत्र नरतिरश्चां समयादूर्ध्वमवधेः प्रतिपातादनुपयोगाद्वा । उभयोपलब्ध्यो समयमवस्थानं परोऽवगच्छत्येव । अतः सुरनारकविषयमेतत्पृच्छन् गाथार्द्धमाह ।

स पुण सुरनारगाणं, हविज्ज किह खित्तकालेसु ॥

स पुनः सुरनारकाणां द्रव्यादिष्ववधिलब्ध्युपयोगयोर्जघन्यतः कथं समयावस्थानं कतिष्ठतां सुरनारकाणामित्याह (खेत्तकालेसुत्ति) तयोरेव निजक्षेत्रकालयोः तिष्ठतामिदमुक्तं भवति । अन्यत्र नरतिर्यक्संबन्धिन्याधारभूते क्षेत्रे स्वायुष्करूपे च काले गतानाममीषामपि भवति । द्रव्यादिष्ववधेः समयावस्थानं केवलम् । ते तत्र गताः सुरनारका न भवन्त्येव । किंतु नरतिर्यञ्च एवेत्यत उक्तम् । तस्मिन्नेव स्वाधारभूते क्षेत्रे स्वायुष्कलक्षणे च काले तिष्ठतामिति । तत्र हि तिष्ठतां सुरनारकाणामवधेः प्रतिपाताभावात्समयमात्रावस्थानासंभव एवेति भावः। अत्र सूरिराह।

चरमसमयम्मि सम्मं, पमिवज्जं तस्स जं चिय विभंगं ।
तं होइ ओहिनाणं, गयस्स बीयम्मि तं पमइ ॥

व्याख्यातार्थैवेति गाथानवकार्थः ।७२६। उक्तमवस्थितद्वारम् ।

अथ चलद्वारमभिधित्सुराह ।

बुड्ढी वा हाणी वा, चउव्विहा होइ खेत्तकालाणं ।
दव्वेसु होइ दुविहा, छव्विह पुण पज्जवे होइ ॥

चलद्वारमिदमुच्यते । चलश्चावधिर्द्रव्यादिविषयमङ्गीकृत्य वर्धमानको हीयमानको वा भवति । वृद्धिहानी च षड्विधे सामान्येनागमे प्रोक्ते । तद्यथा । अनन्तभागवृद्धिः १ असंख्यातभागवृद्धिः २ संख्यातभागवृद्धिः ३ असंख्यातगुणवृद्धिः ४ संख्यातगुणवृद्धिः ५ अनन्तगुणवृद्धिः ६ अनन्तभागहानिः १ असंख्यातभागहानिः २ संख्यातभागहानिः ३ संख्यातगुणहानिः ४ असंख्यातगुणहानिः ५ अनन्तगुणहानिः ६ एतयोश्च षड्विधवृद्धिहान्योश्च मध्यादवधिविषयभूते क्षेत्रकालयोराद्यन्तपदद्वयवर्जिता चतुर्विधा वृद्धिर्हानिर्वा भवति । अनन्तभागवृद्धिरनन्तगुणवृद्धिर्वा तथा अनन्तभागहानिरनन्तगुणहानिर्वा क्षेत्रकालयोर्न संभवति । अवधिविषये विषयभूतक्षेत्रस्यानन्त्याभावात् कालस्याप्यवधिविषयभूतस्यानन्तत्वाप्रतिपादनात्तदिदमत्र हृदयं यावत्क्षेत्रं प्रथमावधिज्ञानिना दृष्टं ततः प्रतिसमयमसंख्यातभागवृद्धिं कश्चित्पश्यति कोऽपि संख्यातभागवृद्धिमन्यस्तु संख्यातगुणवृद्धिम् । अपरस्तु असंख्यातगुणवृद्धिं क्षेत्रं पश्यति । एवं हीयमानमपि वाच्यम् । एवं क्षेत्रे वृद्धिर्वा हानिर्वा चतुर्धा भवति। इत्थं कालेऽपि चतुर्धा वृद्धिहान्योश्चातुर्विध्यं भावनीयम्। द्रव्येषु पुनरवधिभूतेषु द्विविधा वृद्धिर्हानिर्वा भवति । इदमुक्तं भवति । अवधिज्ञानिना यावन्ति द्रव्याणि उपलब्धानि प्रथमं ततः परं तेभ्योऽनन्तभागाधिकानि कश्चित्पश्यति । अपरस्तु तेभ्योऽनन्तगुणान्येव तानि पश्यति। न त्वसंख्यातभागाधिक्यादिना वृद्धानि वस्तुस्वाभाव्यादपरस्ततः परं पूर्वोपलब्धेभ्योऽनन्तभागहीनानि द्रव्याणि पश्यत्यन्यस्त्वनन्तगुणहीनान्येव तानि तेभ्यः पश्यति । न त्वसंख्यातभागहीनत्वादिना हीनानि पश्यति । तथा स्वाभाव्यादिति पर्यायेषु पुनः पूर्वोक्ता षड्विधाऽपि वृद्धिर्हानिर्वा भवतीति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः । ७२७ ।

अथ विस्तरार्थं भाष्येणाह ।

बुड्ढी वा हाणी वा, णंतासंखिज्जसंखभागाणं ।
संखिज्जासंखिज्जा–णंतगुणा चेति उभेया ॥

अनन्तश्चासंख्येयश्च संख्येयश्च ते तथा । ते च ते भागाश्च तेषां वृद्धिर्हानिर्वेत्येवं त्रिविधे प्रत्येकं वृद्धिहानी भवतोऽपरमप्यनयोः प्रत्येकं त्रैविध्यमित्याह (संखिज्जेत्यादि) गुणशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । ततश्च संख्यातगुणा असंख्यातगुणा अनन्तगुणाश्चेत्येवं त्रिविधे प्रत्येकं वृद्धिहानिश्चेत्थं वृद्धिहान्योः प्रत्येकं पूर्वदर्शितं षड्विधत्वं भावनीयमिति। तदेवं वृद्धिहान्योः प्रत्येकं षड्विधत्वं सामान्येनोपदर्श्येदानीं क्षेत्रकालयोर्वृद्धिहान्योश्चातुर्विध्यस्य भावार्थं दर्शयन्नाह ।

पइसमयमसंखिज्जइ, भागहियं कोइ संखभागहियं ।
अन्नो संखेज्जगुणं, खित्तमसंखिज्जगुणमन्नो ॥
पेच्छइ विवड्ढमाणं, हायंतं वा तहेयकालं पि ।
नाणंतवुड्ढिहाणी, पेच्छइ जं दो वि नाणं तं ॥

गतार्थैव। नवरं क्षेत्रकालयोर्नानन्ते वृद्धिहानी कुत इत्याह (पेच्छइ इत्यादि) यद्यस्मात् द्वावपि क्षेत्रकालौ नानन्तौ अवधिज्ञानी पश्यति । पूर्वोक्तयुक्तेरिति । अथ द्रव्यविषये प्रत्येकं द्विविधवृद्धिहानी पर्यायविषयां तु वृद्धिं हानिं च प्रत्येकं षड्विधामाह "दव्वमणंतं सहियं,, इति अनन्ततमोऽंशो भागोऽनन्तांशस्तेनाधिकं द्रव्यं कश्चित्पश्यतीति । एतेषां च द्रव्यक्षेत्रकालभावानां परस्परसंयोगे चिन्त्यमाने एकस्य वृद्धावेवापरस्य वृद्धिर्न त्वेकस्य हानौ अन्यकस्य वृद्धिः । एकस्य हानावेवापरस्य हानिर्न त्वेकस्य वृद्धौ अपरस्यहानिर्भवति । अपरं चैकस्य द्रव्यादेर्भागेन वृद्धौ हानौ वा जायमानायामपरस्यापि भङ्गेनैव वृद्धिहानी प्रायो न तु गुणकारेण गुणकारेणाप्येकस्य वृद्धिहान्योः प्रवर्तमानयोरपरस्यापि प्रायस्तेनैव ते प्रवर्तेते इति दर्शयन्नाह ।

वुड्ढीए चिय वुड्ढी, हाणी हाणीए न उ विवज्जासो ।
भागे भागो गणणा, गुणो दव्वाइ संयोगे ॥

इह वृद्धिहानी समाश्रित्य द्रव्यक्षेत्रकालभावानां परस्परं संयोगे चिन्त्यमाने एकस्य द्रव्यादेर्वृद्धावेव तदपरस्य वृद्धिर्जायते। एकस्य हानावेव च तदन्यस्य हानिः प्रवर्त्तते। न च (विवज्जासोत्ति) न तूक्तस्य विपर्यासो विपर्ययो मन्तव्यः। एकस्य द्रव्यादेर्हानौ अपरस्य वृद्धिः। तथैकस्य द्रव्यादेर्वृद्धौ अन्यस्य हानिरित्येवं लक्षणो विपर्ययः। कदाचिदपि न भवतीत्यर्थः। अथवा गाथार्द्धमिदमन्यथा व्याख्यायते । एवकारस्य भिन्नक्रमेण योजनात्तथा। एकस्य द्रव्यादेर्वृद्धौ तदपरस्य वृद्धिरेव न तु हानिलक्षणो विपर्यासो भवति। "काले चउण्ह वुड्ढित्ति" वचनादेकस्मिन् वर्धमानेऽपरस्यावस्थानं तु स्यादपि " कालो भइयव्वो खित्तवुड्ढीएत्ति" वचनात्तथा एकस्य हानिरेव न तु वृद्धिलक्षणो विपर्यासः। अवस्थानं तु स्यादपीति (भागे भागोत्ति) एकस्य क्षेत्रादेरसंख्याततमादिके भागे वर्द्धमाने तदपरस्यापि भाग एव वर्धते। अवस्थानं वा भवति। न तु गुणकारेण वृद्धिः । तथा गुणकारेणाप्येकस्य वृद्धौ जायमानायामपरस्यापि तेनैवासौ भवत्यवस्थानं वा जायते। न तु भागेन वृद्धिः । प्रायेण चैतत् द्रष्टव्यं क्षेत्रादेर्भागेन वृद्धावपि द्रव्यादेर्गुणकारेण वृद्धिसंभवादिति। अथ परः प्रेरयति।

कह खित्तासंखभागा-इ संभवे संभवो न दव्वेत्ति ।
किह वा दव्वाणंते, पज्जवसंखिज्जभागाइ ॥

ननु कथं क्षेत्रस्यासंख्येयभागादिवृद्धौ सत्यां तदाधेयद्रव्याणामप्यसंख्येयभागादिवृद्धेर्न संभवः। कथं वा द्रव्यानन्त्ये द्रव्यस्यानन्तभागवृद्धौ जायमानायां पर्यायाणामसंख्येयभागादिवृद्धिर्द्रव्यानन्तगुणवृद्धौ वा पर्यायाणामसंख्यातगुणादिवृद्धिः प्रतिपाद्यते। इदमुक्तं भवति। क्षेत्राधाराणि हि द्रव्याणि द्रव्याधाराश्च पर्यायाः ततो यादृश्येवाधारस्य वृद्धिर्हानिर्वा तादृश्येवाधेयस्यापि युक्ता तत्कथमिह वैचित्र्यं क्षेत्रस्य चतुर्विधे वृद्धिहानी द्रव्यस्य द्विविधे पर्यायाणां तु षड्विधे इति। अत्र सूरिराह।

खेत्ताणुवत्तिणो पो-ग्गला गुणा पोग्गलाणुवत्ती य ।
सामन्ना विन्नेया, न उ ओहिनाणविसयम्मि ॥

क्षेत्रानुवर्तिनः पुद्गलाः परमाणुस्कन्धादयः गुणास्तत्पर्यायाः पुद्गलानुवर्तिनः इत्येवमेते सामान्याः सामान्येन विज्ञेयाः। कस्य किल हन्त नैतदभिमतम। अनभिमतप्रतिषेधं त्वाह। न त्ववधिज्ञानविषयत्वेनैवमेते अभिप्रेताः। इदमत्र हृदयम। अस्त्येवैतत्सामान्येन को वै न मन्यते। यदुत सामान्यतः समस्तलोकाकाशस्यासंख्येयतमादिके भागे समस्तपुद्गलास्तिकायस्याप्यसंख्येयतमादिक एव भागः स्वरूपेण वर्तते समस्तपुद्गलास्तिकायस्यानन्ततमादिके भागे समस्ततत्पर्यायराशेरप्यनन्ततमादिभागो वर्तते। अतः क्षेत्रस्यासंख्येयादिभागवृद्धिहान्योरपि तदनुवृत्त्या तथैव वृद्धिहानी स्याताम। द्रव्यस्यानन्ततमादिवृद्धिहान्योस्तत्पर्यायाणामपि तदनुवृत्त्या तथैव वृद्धिहानी भवेताम। परं किं तत्रावधिज्ञानविषयभूतस्य क्षेत्रादेर्वृद्धिहानी चिन्तयितुमभिप्रेते। ननु सामान्येन स्वरूपस्थस्य एव च विशेषिते ये वृद्धिहानी ते अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाधीनत्वाद्विचित्रे अतो यथोक्तप्रकारेणैवैते अत्र युक्ते नान्यथेति । एतद्यथोक्तमेवार्थं प्रपञ्चयन्नाह ।

दव्वाइं संखेत्ता, उ णंतगुणो पज्जवा सदव्वाओ ।
नियया हारा हीणा, तेसिं वुड्ढी य हाणी य ।
न उ नियया हारवसा, ओहिनिबंधो जओ परित्तो सो ।
चित्तो तह ण हाविय, आणागज्झो य पाएण ॥

इह स्वरूपेण तावत्समस्तपुद्गलास्तिकायलक्षणानि द्रव्याधारभूतात्स्वक्षेत्रादनन्तगुणा निवर्तन्ते इति लिङ्गव्यत्ययेनात्रापि योज्यते। एकैकाकाशप्रदेशेऽनन्तस्य परमाणुद्व्यणुकादिद्रव्यस्यावगाहनात्पर्यवापर्यायाः पुनः स्वाश्रयभूतात् द्रव्यादनन्तगुणाः एकैकस्य परमाण्वादेरनन्तपर्यायत्वादित्येवंभूतं क्षेत्रादीनां स्वरूपं वर्तत इति। स्वरूपकथनमात्रं तावत्कृतं प्रकृतोपयोग्याह (नियया हारेत्यादि) द्रव्यस्य निजकाधारः क्षेत्रं पर्यायाणां तु निजकाधारो द्रव्याणि तदधीना च तेषां द्रव्यपर्यायाणां सामान्येन वृद्धिर्हानिश्च भवति। क्षेत्रस्य चतुर्विधायां वृद्धौ हानौ वा द्रव्यस्यापि तथैव ते प्राप्नुतः। द्रव्यस्य द्विविधायां वृद्धौ हानौ वा पर्यायाणामपि तथैव ते युज्येते। इत्येवं यथा परः प्रतिपादयति तथा वयमपि स्वरूपस्थितिसामान्यचिन्तायां मन्यामहे।नाऽत्र विवाद इति भावः। परं किन्तु (न उ निययेत्यादि)न तु निजकाधारवशादवधिनिबन्धोऽवधिविषयो वर्धते हीयते वा यतः परीतः प्रतिनियतोऽसौ यथोक्तरूपेण क्षायोपशमनियमितोऽसौ चित्रक्षायोपशमाधीनत्वाच्चित्रोऽनेकरूपो यथा युक्त्या घटते तथैवायं प्रवर्तते। तामुल्लङ्घ्यान्यथापि वा वर्तत इति नात्रैकान्तः आज्ञाग्राह्यश्च प्रायेणायमित्याज्ञैवात्र प्रमाणं किं स्वेच्छाप्रवृत्तशुष्कतर्कयुक्त्योपन्यासेन प्रायो ग्रहणाद्यथासंभवं युक्तिरपि वाच्येति गाथानवकार्थः। गतं चलद्वारम ।

अथ तीव्रमन्दद्वारमभिधित्सुराह ।

फड्डा य असंखेज्जा, संखेज्जेया वि एगजीवस्स ।
एगप्फड्डुवओगे, नियमा सव्वत्थ उवउत्तो ॥
फड्डा य आणुगामी, अणाणुगामी य मीसया चेव ।
पडिवाइयपडिवाई, मीसा य मणुस्सतेरिच्छे ॥

अपवरकादिजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभानिर्गमस्थानानि चावधिज्ञानावरणे क्षयोपशमजन्यान्यवधिज्ञाननिर्गमस्थानानीह फड्डकान्युच्यन्ते। तानि चैकजीवस्य संख्येयान्यसंख्येयान्यपि च भवन्ति। तत्र चैकफड्डकोपयोगो जन्तुर्नियमात्सर्वत्र सर्वैरपि फड्डकैरुपयुक्तो भवत्येकोपयोगत्वाज्जीवस्यैकलोचनोपयोगे द्वितीयलोचनोपयुक्तवदिति। एतानि च फड्डकानि त्रिधा भवन्ति। तद्यथा अनुगमशीलान्यानुगामुकानि यत्र देशे तिष्ठतोऽवधिमतो जीवस्योत्पन्नानि ततोऽन्यत्रापि व्रजतस्तस्यानुयायिनीत्यर्थः। एतद्विपरीतानि त्वनानुगामुकानि आनुगामुकानानुगामुकोभयस्वरूपाणि तु मिश्राणि कानिचिद्देशान्तरानुयायीनि कानिचिन्नेत्यर्थः । एतानि प्रत्येकं च पुनस्त्रिधा भवन्ति। तद्यथा प्रतिपतनशीलानि प्रतिपातीनि कियन्तमपि कालं स्थित्वा ततो ध्वंसनस्वभावानीत्यर्थः। तद्विपरीतानि त्वप्रतिपातीनि आमरणान्तभावीनीत्यर्थः। प्रतिपात्यप्रतिपात्युभयरूपाणि तु मिश्राणि कानिचित्प्रतिपातीनि कानिचिन्नेत्यर्थः। एतानि च मनुष्यतिर्यक्षु योऽवधिस्तस्मिन्नेव भवन्ति। न देवनारकावधाविति। आह। ननु तीव्रमन्दद्वारे प्रस्तुते फड्डकावधिस्वरूपं प्रतिपादयतः प्रक्रमविरोध इत्यत्रोच्यते। प्रायोऽनुगामुकाऽप्रतिपातीनि फड्डकानि तीव्रविशुद्धियुक्तत्वात्तीव्राणि भण्यन्ते। अननुगामिप्रतिपातीनि त्वविशुद्धत्वान्मन्दान्युच्यन्ते ।

मिश्राणि तु मध्यमानीत्यतस्तीव्रमन्दद्वारमिदमित्यदोषः । अपरस्त्वाह । अनुगामुकाप्रतिपातिफड्डुकानां कः परस्परं विशेषः । अननुगामुकप्रतिपातिफड्डुकानां चान्योऽन्यं को भेद इत्यत्राभिधीयते अप्रतिपातिफड्डुकमनुगाम्येव भवति अनुगामुकं त्वप्रतिपाति प्रति पाति च भवतीति विशेषः तथा प्रतिपाति पतत्येव पतितमपि च देशान्तरे गतस्य कदाचिज्ज्ञायते । न चेत्थमनानुगामिकमिति निर्युक्तिगाथाद्वयसंक्षेपार्थः । ७३७ ।

विस्तरार्थं तु भाष्यकार एवाह ।

जालंतररत्थदीव-प्पहोवमो फड्डुगावही होइ ।

तिव्वो विमलो मंदो, मइलीमसो मीसरूवो य ॥

अपवरकजालकान्तरस्थप्रदीपप्रभोपमः फड्डुकावधिर्भवति । तत्र च विशुद्धक्षयोपशमजन्यफड्डुकप्रभवोऽवधिर्विमलः स च तीव्र उच्यते । अविशुद्धक्षयोपशमप्रवर्तितश्च मलीमसः स च मन्दोऽभिधीयते । मध्यमक्षयोपशमाविष्टस्तत्फड्डुकसमुत्थस्तु मिश्ररूपस्तीव्रमन्दस्वरूप इत्यर्थः । अत एव तीव्रमन्दद्वारमिदमुच्यते । " एगफड्डोवओगे " इत्युत्तरार्धं व्याचिख्यासुराह ॥

उवओगं एगेण, वि दिंतो सो फड्डुएहिँ सव्वेहिँ ।

उवउज्जइ जुगवं चिय, जह समयं दोहिँ नयणेहिँ ॥

गतार्था । अथ प्रेर्यमुत्थाप्य परिहरन्नाह ॥

किह नोवओगबहुया, भण्णइ न विसेसओ स सामण्णो ।

तग्गहविसेसविमुहो, खंधावारोवओगोव्व ॥

नन्वेवं सत्यवधिमतः कथं नोपयोगबहुता अनेकैः फड्डुकैरुपयुज्यमानत्वादत्रोक्तमेवोत्तरमेकस्मिन्समये जीवस्यैक एवोपयोगो भवति । तत्स्वाभाव्यात्नयनद्वयोपयोगवत्तदनेकफड्डुकैरुपयुज्यमानस्यापि न तस्योपयोगबहुता अथवा भण्यते । अत्रोत्तरम् । अनेकवस्तुविषयोपयोगे ह्येतत्स्याद्यथा । एते हस्तिनो दक्षिणतस्त्वमी वाजिनो वामतस्तु रथाः पुरतः पदातय इत्यादि । न चेहानेकवस्तुविशेषोपयोगोऽस्ति किं तर्हि सामान्योपयोग एव ग्राह्यवस्तुगतविशेषविमुख्याम्नयनरूपेण स्कन्धावारोपयोगवदयं चैक एवोपयोग इति न तद्बहुतेति ॥

फड्डुयाआणुगामीत्यादि विवृण्वन्नाह ।

अणुगामिनियमुद्धा, इं सेयराइं य मीसयाइं व ।

एकेकसो विभिन्नाइं, फड्डुयाइं विचित्ताइं ॥

इह तावत्फड्डुकानि त्रिधा भवन्ति । तद्यथा अनुगामीनि १ नियतान्यप्रतिपातीनीत्यर्थः २ शुद्धानि तीव्राणीत्यर्थः ३ (सेयराइयत्ति) सेतराणि चैतानि भवन्ति । तद्यथा अनुगामिभ्य इतराण्यननुगामीनि ४ अप्रतिपातिभ्य इतराणि प्रतिपातीनि ५ तीव्रेभ्य इतराणि मन्दानि ६ (मीसयाईवत्ति) मिश्राणि चैतानि । अनुगाम्यादीनि भवन्ति । तद्यथा । अनुगाम्यननुगामीनि ७ प्रतिपात्यप्रतिपातीनि । तीव्रमन्दानीति ८ (एक्केकसोभिन्ना इति) एतानि चानुगाम्यादीन्येकैकशो विभिन्नानि भवन्ति । तद्यथा । अनुगामीनि । प्रतिपात्यप्रतिपातिमिश्रभेदात्त्रिधा एवमनुगामीन्यपि त्रिधा । अनुगाम्यननुगामीन्यप्येवं पुनरप्यनुगाम्यादीनि । फड्डुकानि तीव्रमन्दमध्यमभेदात्प्रत्येकं त्रिधा वक्तव्यानि । तद्यथा अनुगामीनि तीव्रमन्दमध्यमानि । एवमननुगामीन्यपि एवमनुगाम्यननुगामीनीति (विचित्ता इति) एतानि च जघन्यमध्यमाद्विभेदाद्विचित्राणि नाना प्रकाराणि । अवस्थितानुगामिकयोर्भेदः अत्र प्रेरकः प्राह ॥

निययाणुगामियाणं, को भेओ को व तव्विवक्खाणं ।

नियओ अणुजाइ नियमा, नियओ नियओ व्व अणुगामी ॥

चयइ च्चियपडिवाई, अणाणुगामी चुओ पुणो होइ ।

नरतिरिगहणं पाउं-जत्तेसु विसोहिसंकिलेसा ॥

नियतानुगामिनोरप्रतिपात्यनुगामिनोः फड्डुकयोरित्यर्थः । को भेदो न कश्चिदिति पराभिप्रायको वाऽनुगाम्यप्रतिपात्यविवक्षयोरनुगामिप्रतिपातिनोर्भेदः । अत्रोत्तरमाह । यो नियतोऽप्रतिपाती स चक्षद्दीपिकेव नियमादन्यत्र गच्छन्तमनुयात्यनुगच्छत्येव यो रुच्यनुगामी स नियतो वा स्यादनियतो वा अप्रतिहतलोचनवदप्रतिपाती वा स्यादुपहतलोचनवत्प्रतिपाती वा स्यादित्यर्थः । प्रतिपक्षभेदमाह (चयइच्चियेत्यादि) च्यवत एव प्रतिपात्येव प्रतिपाती च्युतोऽपि च देशान्तरे जायत इत्यत्र संबध्यते । अनानुगामुकस्तु नैवं स्वरूपो यतोऽसौ यत्र देशे तिष्ठतः समुत्पन्नस्तत्रैव तिष्ठतश्च्यवते न वा च्युतोऽपि च देशान्तरे पुनरप्युत्पत्तिप्रदेशे समायातस्य भवतीति प्रतिपात्यननुगामुकयोर्भेदः (नरेत्यादि) इह तीव्रमन्दद्वारमिदं तीव्रमन्दता च फड्डुकानां विशुद्धिसंक्लेशवशाज्जायते । विशुद्धिसंक्लेशाश्च तथाविधाः । प्रायस्तिर्यङ्मनुष्येष्विवतीह फड्डुयाआणुगामीत्यादि गाथा पर्यन्तं (मणुस्सतिरिच्छेत्ति) नरतिर्यग्ग्रहणं कृतमिति ।

अथ प्रेर्यान्तमुत्थाप्य परिहरन्नाह ।

गहणमणुगामिमाई-ण किंकयतिव्वमंदचिंताए ।

पायमणुगामिनियता, तिव्वा मंदा य जइयरे ॥

ननु चास्यतीव्रमन्दद्वारवर्तितीव्रमन्दचिन्तायां प्रस्तुतायां किमित्यनुगामिकादिफड्डुकग्रहणं कृतमप्रस्तुतैव फड्डुकप्ररूपणेति भावः । प्रतिविधानमाह (पायमित्यादि) अनुगामीन्यप्रतिपातीनि च फड्डुकानि यस्मात् प्रायस्तीव्राणि भवन्ति । इतराणि त्वनुगामीनि प्रतिपातीनि च प्रायो मन्दानि मिश्राणि तूभयस्वभावान्यतः फड्डुकप्ररूपणायामिति तीव्रमन्दद्वारता गम्यत एवेति

अथ मतान्तरमुपदर्श्य तस्याप्यविरुद्धतामाह ।

अन्ने पमिवाउप्पा, य दारए आणुगामियाईणि ।

नरतिरियग्गहणेणं, अहवा दोसुं पि न विरुद्धं ॥

अन्ये त्वाचार्याः । " फड्डायअसंखेज्जा " इत्यादिगाथया तीव्रमन्दद्वारमभिधाय अनन्तरमेव वक्ष्यमाणे प्रतिपातोत्पादद्वारमेव । " फड्डयाआणुगामीत्यादि " गाथोक्तानुगामुकादीनिदानीमाचक्षते केन कारणेन त एवमाचक्षते इत्याह (नरतिरियग्गहणेणंति) इदमुक्तं भवति । प्रतिपातोत्पादयोस्तिर्यङ्मनुष्यादध्वेरेव घटनात्तथैतद्विषयमेव प्रतिपातोत्पादद्वारमतो नरतिर्यग्ग्रहणादेतेऽप्यनुगामिकादयो भेदाः । प्रतिपातोत्पादद्वारान्तर्भाविन एवेत्याचार्याभिप्रायः। अथवा द्वयोरपि तीव्रमन्दाप्रतिपातोत्पादद्वारयोरिदमनुगामुकादिभेदकथनमर्थतो न किंचिद्विरुद्धम् । तीव्रमन्दस्वरूपे प्रतिपातोत्पादवति चावधौ अनुगामुकादिभेदानां घटनादिति गाथाष्टकार्थः ॥ ७४७ ॥ गतं तीव्रमन्दद्वारम् ।

अथ प्रतिपातोत्पादद्वारमाह ।

बाहिरलंभे भज्जो, दव्वे खेत्ते य कालभावे य ।

उप्पापमिवाओ विय, तदुभयं चेमसमएणं ॥

अवधिमतो बहिः बाह्योऽवधिस्तस्य लाभः प्राप्तिरुत्पत्तिस्तस्मिन् बाह्यावधिज्ञाने भाज्यो भजनीयः कोऽसावित्याह । उत्पादः प्रतिपातस्तदुभयं चैकसमयेन क विषये उत्पादादय इत्याह । द्रव्यक्षेत्रकालेष्विति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः ॥

अथ भाष्यम् ॥

बाहिरओ एगदिसो, फड्डोहि वाहवा असंबद्धो ।
दव्वाइसु भयणिज्जा, तत्तुप्पायादओ समयं ॥

इह बाह्यावधिरुच्यते । क इत्याह । योऽवधिमत एकस्यां दिशि भवति । अथवा अनेकास्वपि दिक्षु यः फड्डकावधेरन्योन्यविच्छिन्नः सान्तरो भवति । सोऽपि बाह्यावधिस्तथा । अथवा सर्वतः परिमण्डलाकारोऽप्यवधेर्योऽवधिमतो जीवस्याङ्गुलमानादिना क्षेत्रव्यवधानेन सर्वतोऽसंबद्धः सोऽपि बाह्यावधिस्तथेति । तावत् भाष्यकारचिरन्तनटीकाकृतामभिप्रायः । आवश्यकचूर्णिकारस्त्वाह " बाहिरलंभो नाम जत्थ सेवियस्स ओहिनाणं समुप्पन्नं तम्मिठाणे से ओहिनाणं न किंचि पासइ तं पुण ठाणं जाहे अंतरियं होइ तं जहा । अंगुलेण वा अंगुलपुहुत्तेण वा विहत्थीए वा विहत्थीपुहुत्तेण वा एवं जाव संखेज्जेहिं वा असंखेज्जेहिं वा जोयणेहिं ताहे पासइ एस बाहिरलंभो भण्णइ" ॥ अनेन भाष्योक्तस्तृतीयपक्ष एव लिखितः । आद्यपक्षद्वयं तु किमुपलक्षणव्याख्यानाच्चूर्णौ द्रष्टव्यमाहोस्विदन्यत्किञ्चित्कारणमिति केवलिनो विदन्तीति । तत्र चैवंविधे बाह्यावधौ एकस्मिन् समये द्रव्यक्षेत्रकालभावेषु विषये उत्पादादयो भजनीया इति कथं भजनीया इत्याह ॥

उप्पाओ पडिवाओ, उभयं वा होज्ज एगसमयेणं ।
कइमुभयमेगसमये, विभागओ तं न सव्वस्स ॥

इह कदाचिदेकस्मिन् समये उत्पादो भवति । पूर्वैः स्वल्पद्रव्यादिविषयो बाह्यावधेरुत्पन्नः सन् वर्धत इत्यर्थः । अधिकान् द्रव्यक्षेत्रकालभावान् पश्यतीति भावः । कदाचित्त्वेकस्मिन् समये हीयतेऽसौ पूर्वदृष्टेभ्यो द्रव्यादिभ्यो हीनांस्तान्पश्यतीत्यर्थः । कदाचित्तूत्पादप्रतिपातलक्षणमुभयमपि एकस्मिन् समये भवेद्यतो बाह्यावधेर्देशावधिरयं ततश्च यदैवैकतो दिक्त्वे बाह्यावधौ तिरश्चीनं सङ्कोचलक्षणः प्रतिपातस्तदैवाग्रतो वृद्धिरूप उत्पादो भवति । यदा वाऽग्रतः सङ्कोचस्तदैव तिरश्चीनविस्तरः । एवं सान्तरानेकदिक्त्वेऽपि बाह्यावधौ यदैवैकस्यां दिशि अधिकस्योत्पादस्तदैवान्यस्यां प्रतिपातः । एवं वलयाकारे सर्वतो दिक्त्वेऽपि बाह्यावधौ यत्रैव समय एकस्मिन् देशे वलयस्य विस्ताराधिक्यलक्षण उत्पादस्तत्रैव समये अन्यस्यां दिशि वलयस्य सङ्कोचलक्षणः प्रतिपात इत्यादिप्रकारेणोत्पादादयोऽत्रैकस्मिन् समये भजनीयाः । अत्र परः प्राह (कइमुभयमित्यादि) कथमुत्पादप्रतिपातविरुद्धधर्मद्वयलक्षणमुभयमेकस्यैकस्मिन् समये युक्तं न घटते एव एतदिति पराभिप्रायः । अत्रोत्तरमाह (विभागओ तं न सव्वस्सत्ति) इदमुक्तं भवति । यदि हि सर्वस्याप्यवधेर्युगपदेवोत्पादप्रतिपातावभ्युपगम्येयातां तर्हि स्याद्विरोधः । एतच्च नास्ति विभागतो देशतस्तदभ्युपगमात्कथमित्याह ॥

दावानलोव्व कत्थइ, लग्गइ विज्झाइ समयमंतत्तो ।
तह कोइ ओहिदेसो, संजायइ नासए विहओ ।७५०।

यथा हि दावानलो यदैवैकतः शुष्ककुशस्तम्बादौ लगति दीप्यते । तदैवान्यतो दग्धशुष्कतृणादिके देशे विध्मति निर्वाति । तथा अस्यापि बाह्यावधेः सदेशत्वात्कोऽपि देशो जायते वृद्धिमासादयति । अन्यस्तु कोऽपि देशः तस्मिन्नेव समये नश्यति हीयत इति । नेहोत्पादप्रतिपातौ युगपद्विरुध्येते । इति गाथात्रयार्थः । अथैतावेवोत्पादप्रतिपातौ अभ्यन्तरावधौ निरूपयितुमाह ॥

अब्भिंतरलद्धीए, तदुभयं नत्थि एगसमएणं ।
उप्पापमिवाओ वि य, एगयरो एगसमयेणं ॥

यस्य नैरन्तर्येण सर्वतो भाविनोऽवधेस्तद्वान् जीवोऽभ्यन्तरे वर्तते । असौ अभ्यन्तरावधिरुक्तः तल्लब्धौ तत्प्राप्तौ पुनस्तदुभयं प्रतिपातोत्पादद्वयं युगपदेकसमये नास्ति । अयं हि अभ्यन्तरावधिः प्रदीपप्रभापटलवदवधिमता जीवेन सह सर्वतो नैरन्तर्येण संबन्धो खण्डो देशरहित एकस्वरूपः । अत एवायं संबन्धावधिर्देशावधिश्चोच्यते । तथा चोक्तं चूर्णौ । " तत्थ अब्भिंतरलद्धि नाम जत्थ सेठियस्स ओहिनाणं समुप्पन्नं ततो ठाणाओ आरब्भ सो ओहिनाणी निरंतरसंबद्धं संखेज्जं वा असंखेज्जं वा खित्तओ ओहिणा जाणइ पासइ एस अब्भिंतरलद्धित्ति" । अस्मिंश्चैवंविधे एकस्मिन्नखण्डेऽभ्यन्तरावधौ एकस्मिन् समये प्रतिपादोत्पातयोरेकतर एव भवति । न तु युगपदेवोभयं सदेशत्वप्रसङ्गादेकस्यैकदा विरुद्धधर्मयोगाच्च । तथा हि निरावरणे सर्वतः प्रसृते प्रदीपप्रभापटले एकस्मिन् समये सङ्कोचविस्तरयोरेकतर एव भवति । न त्वेकस्यां दिशि संकोचोऽन्यस्यां तु विस्तर इत्येवं युगपदेकसमये सङ्कोचविस्तरौ भवतः एवमत्रापीति भावः । एतदेवाह (उप्पापडिवाओ वि येत्यादि) इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

अब्भिंतरलद्धी सा, जत्थ पइ ऽप्पभव्वसव्वत्तो ।
संबद्धमोहिनाणं, अब्भिंतरओवहीनाणी ॥

गतार्थैव । नवरं संबद्धमिति । अथावधिज्ञानं जीवे संबद्धं सर्वतो भवति । अवधिज्ञानी त्ववधिज्ञानस्याभ्यन्तरतो भवतीति । अथाओत्पादप्रतिपातविधिमाह ।

उप्पाओ विगमो वा, दीवस्स व तस्स नोभयं समयं ।
न भवणनासो समयं, वत्थुस्स जमेगधम्मेणं ॥

अभिहितार्थैव । नवरं यद्यस्माद्वस्तुनो द्रव्यस्य एकेन धर्मेण स्वभावेन समकं युगपच्चैव भवननाशौ उत्पादव्ययौ कदाचनापि भवतः । न ह्यङ्गुलिद्रव्यं येनैव ऋजुत्वधर्मेण ऋजु प्राञ्जलं भवति । तेनैव विनश्यतीति युज्यते । विरुद्धत्वाद्धर्मान्तरेण त्वेकस्यैककालमपि युज्यते । उत्पादव्ययौ यथा तदेवाङ्गुलिद्रव्यं यस्मिन्नेव समये ऋजुतयोत्पद्यते । तस्मिन्नेव समये वक्रतया विनश्यति । द्रव्यतया त्ववस्थितमेवास्त इति तदेवाह ।

उप्पायव्वयधुवया, समयं धम्मंतरेण न विरुद्धा ।
जह रिउवकंगुलिता, सुरनरजीवत्तणाई वा ॥
उप्पज्जइ रिउयाए, नासइ वक्कत्तणेण तस्समयं ।
न उ चेव तम्मि रिउया, नासो वक्कत्तभवणं च ॥

गतार्थं एव । नवरं तत्प्रत्ययः प्रत्येकमभिसंबध्यते । तथा ऋजुता वक्रता अङ्गुलिता चेत्येतत्त्रितयमपि युगपद्धर्मान्तरेण न विरुद्धं यदि वा यथा कोऽपि मृतः साधुर्यस्मिन्नेव समये देवत्वेनोत्पद्यते । तस्मिन्नेव समये नरत्वेन विनश्यति । जीवत्वेन पुनरवतिष्ठते । एवमिहापि युगपद्धर्मान्तरेणोत्पादादयो न विरुध्यन्ते । न त्वेकेनैव धर्मेण युगपत्ते युज्यन्ते । तदेवाह (न उ तम्मि इत्यादि) न पुनरेतत् युज्यते किमित्याह (रिउयेत्यादि) यस्मिन्नेव स-

मये ऋजुत्वा ऋजुता जायते। तस्मिन्नेव समये तस्या ऋजुताया नाशो भाविवक्रत्वस्य भवनं चेति । एवं हि ऋजुता ऋजुत्वधर्मेणोत्पद्यते। तेनैव च धर्मेण तस्मिन्नेवोत्पत्तिसमये सा विनश्यतीत्यभ्युपगतं भवति। दूरविरुद्धं चैतत्कथमित्याह।

लद्धत्तलाभनासो, जुज्जइ ह्मणो य तस्स समएणं।
जइ तम्मि चेव नासो, निव्वविणट्ठे कुत्रो भवणं ॥
सव्वुप्पायाजावो, तदभावे य विगमो भवे कस्स।
उप्पायवयाजावे, कावट्ठिई सव्वहा सुर्म्म ॥

लब्ध आत्मनो लाभः सत्ता येन तल्लब्धात्मलाभं प्राप्तसत्ताकं तस्यैवेत्थंभूतस्य वस्तुनो नाशो युज्यते। न ह्यनासादितसत्ताकस्य खरविषाणस्य विनाश इति वक्तुं युज्यते । आत्मलाभश्च तस्य वस्तुनः समयेन भवति। यदि च यस्मिन्नेव समये ऋजुत्वधर्मेण ऋजुता समुत्पद्यते। तस्मिन्नेव समये तेनैव धर्मेण सा विनश्यतीत्यभ्युपगम्यते। तर्हि एवं सर्वदैवोत्पत्त्यभावान्नित्यविनष्टे कदाचिदप्यनवाप्तात्मलाभे वस्तुनि कुतो भवनं सत्तारूपं न कुतश्चिदित्यर्थः। ततः किमित्याह। "सव्वुपायेत्यादि"। तत इत्थं सर्वदैव विनाशाघ्रातत्वान्नित्यमेव वस्तूनामुत्पादाभावः प्रसजति। तथा च सति कस्य विगमो विनाशो युज्यते। इतरथा तु कस्य विनाश इति भावः। उत्पादव्ययाभावे च (कावट्ठिइत्ति) कावस्थितिस्तथा हि । यदुत्पादव्ययशून्यं तस्यावस्थितिरपि नास्ति यथा खरविषाणस्य तच्छून्यं च वस्तूक्तयुक्तेर्भवतः समापततः कुतस्तस्यावस्थितिरिति । एवं च सति सर्वथा शून्यं जगत्त्रयमिदं प्राप्नोति । तथा ह्युत्पादव्ययध्रौव्यरहितं वस्तु नास्त्येव सत्त्वायोगात् । खरविषाणवदिति अग्रेतननिर्युक्तिगाथासंबन्धं भाष्यकारः स्वत एव कुर्वन्नाह।

दव्वाईणं तिएहं, पुव्वं भणिओ परोप्परनिबंधो।
इह दव्वस्स गुणेणं, भएइ दव्वासिओ जं सो ॥

अत्रैव पूर्वं "संखेज्जमाणो दव्वे भागो लोगपलियस्स बोधव्वो"। इत्यादिना द्रव्यक्षेत्रकालक्षणत्रयस्य परस्परनिबन्धोऽभिहितः। इह तूत्पादप्रतिपातद्वारमेव प्रसङ्गतो द्रव्यस्यैव गुणेन सहायमुच्यते। न तु क्षेत्रकालयोर्यतो द्रव्याश्रितोऽसौ। ननु क्षेत्रकालाश्रित इति गाथासमुदायार्थः। तदेवाह। ७८७।

दव्वा उ असंखेज्जे, संखेज्जेया वि पज्जवे लहइ।
दो पज्जवे दुगुणिए, लहइ एगाउ दव्वाउ ॥

इह परमाण्वादिद्रव्यमेकं पश्यन्नवधिज्ञानी तत्पर्यायानेकगुणकालकादीनुत्कृष्टतोऽसंख्येयान् विमध्यमतः संख्येयान् लभते प्राप्नोति पश्यतीति तात्पर्यम्। जघन्यतस्तु द्वौ पर्यायौ द्विगुणितौ एकस्माद् द्रव्यात् लभते । सामान्यतो वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणांश्चतुरः पर्यायान् जघन्यत एकस्मिन् द्रव्ये पश्यति। न त्वेकगुणकालकादीन् बहूनित्यर्थः। एकद्रव्यगतानुत्कृष्टतोऽप्यनन्तपर्यायान्न पश्यति। किं त्वसंख्येयानेव अनन्तेषु अनन्तांस्तान्पश्यत्येवेति निर्युक्तिगाथार्थः। अथ भाष्यम्।

एगं दव्वं पिच्छं, खंधं मणुं वा सपज्जवे तस्स।
उक्कोसमसंखिज्जे, पेच्छइएकोइ संखेज्जे ॥
दो पज्जवे दुगुणिए, सव्वजहएणेण पेच्छए ते य।
वएणाईया चउरो, नाएं ते पिच्छइ कया ॥

गतार्था एव। अवसितमुत्पादप्रतिपातद्वारम् विशे०। स्था०।

(७) अवधिप्ररूपणे दण्डकः।

णेरइयाणं भंते! ओही किं आणुगामिए अणाणुगामिए पवड्ढमाणए हियमाणए पडिवाइए अपडिवाइए अवट्ठिए अणवट्ठिए। गोयमा! आणुगामिए नो अणाणुगामिए नो वड्ढमाणए नो पमिवाई अपमिवाई अवट्ठिए नो अणवट्ठिए । एवं जाव थणियकुमाराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा। गोयमा! आणुगामिए वि जाव अणवट्ठिए वि। एवं मणुसाण वि वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा णेरइयाणं।

आनुगामिकादिविन्तायां नैरयिकभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका अनुगामिका प्रतिपात्यवस्थिताऽवधयो न त्वनानुगामिका वर्धमानहीयमानप्रतिपात्यनवस्थितावधयस्तथाभवस्वाभाव्यात् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां त्वष्टधावधिरिति। प्रज्ञा० ३३ पद।

(८) अवधिक्षेत्रप्रमाणं पनकजीवस्यावगाहना अग्निजीवप्रमाणं च।

अथवाऽवधिक्षेत्रप्रमाणमभिधित्सुर्भाष्यकार एव प्रस्तावनामाह।

ओहिस्स खेत्तमाणं, जहएणमुक्कोसमज्झिमं तत्थ।
पाएण तदादीए, जं तेण जहन्नओ वोच्छं ।

अवधेर्यद्विषयभूतं क्षेत्रं तस्य मानं प्रमाणं जघन्यमुत्कृष्टं मध्यमं च भवति । तत्र प्रायो यद्यस्मादादौ प्रथमतस्तज्जघन्यं क्षेत्रं भवति। जघन्यक्षेत्रविषयावधिः प्रायेणादौ समुत्पद्यते। तेन कारणेन जघन्यमेव क्षेत्रप्रमाणमादौ वक्ष्ये इति गाथाषट्कार्थः। यथाप्रतिज्ञातमेवाह।

जावइया तीसमया-हारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्स।
ओगाहणा जहन्ना, ओहीखेत्तं जहन्नं तु ॥

यावती यावत्प्रमाणा त्रीन् समयानाहारयतीति त्रिसमयाहारकस्तस्य सूक्ष्मनामकर्मोदयात्सूक्ष्मस्तस्य पनकश्चासौ जीवश्च पनकजीवो वनस्पतिविशेषस्तदवगाहन्ते यस्यां प्राणिनः सावगाहना तनुरित्यर्थः। जघन्या सर्वस्तोका अवधेः क्षेत्रमवधिक्षेत्रं जघन्यं सर्वस्तोकं तुशब्दोऽवधारणे तस्य चैवं प्रयोगः अवधेर्विषयभूतं क्षेत्रं जघन्यमेतावदेवेति निर्युक्तिगाथासंक्षेपार्थः। अथ सांप्रदायिकार्थव्याख्यानपरं भाष्यम्।

जो जोयणसाहस्सो, मच्छो नियए सरीरदेहम्मि।
उववज्जंतो पढमे, समए संखिवइ आयामं ॥
पतरमसंखिज्जंगुल-भागतणुं मच्छदेहवित्थिएणं।
बीए तइए सूई, संखि वि उ होइ तो पणओ ॥
उववायाओ तइए, समए जं देहमाणमेयस्स।
तत्तियदव्वजायएण-मोहिक्खित्तं जहएणं तं ॥

यो मत्स्यो योजनसहस्रो योजनसहस्रायामः स्वदेहस्यैव बाह्यदेशेऽनुत्पद्यमानः प्रथमे समये आयामं संक्षिपति। तं च संक्षिपन् प्रतरं करोतीति शेषः । कथंभूतमित्याह (असंखेज्जंगुलभागतणुंति) बाहुल्येनाङ्गुलासंख्येयभागसूक्ष्ममित्यर्थः। पुनरपि तत्कथंभूतमित्याह। मत्स्यदेहविस्तीर्णशरीरान्तःसंबन्धत्वादूर्ध्वाधस्तिर्यक् यावान्मत्स्यदेहस्य विस्तरस्तावांस्तज्जीवप्रदेशप्रतरस्यापीत्यर्थः। एवं चायामतो विष्कम्भतश्च मत्स्यशरीरपृथुत्वतुल्योऽङ्गुला-

संख्येयभागबाहुल्यश्चायं प्रतरो भवतीत्येष प्रथमसमयव्यापारः॥ ननु च प्रथमे समये आयामं संक्षिपतीत्येतदेवोक्तं यथोक्तप्रतर-करणं तु कुतो लभ्यत इति चेदुच्यते । अनन्तरं द्वितीयसमये तत्संक्षेपस्य भणनात्तस्य च करणपूर्वकत्वादिति "बीएत्ति सं-खिवि उ मि" त्यत्रापि संबध्यते ततो द्वितीयसमये तं प्रतरमुभयतः संक्षिप्याङ्गुलासंख्येयभागबाहुल्यं मत्स्यशरीरपृथुत्वायामां सूचिं करोतीत्यध्याहारः । अत्राप्यनन्तरतृतीयसमये सूचिसंक्षेपाभि-धानात् तस्य च तत्करणापूर्वकत्वात् सूचीकरणमध्याह्रियते । (तईएत्ति) ततस्तृतीयसमये तामपि सूचिं संक्षिप्याङ्गुलासं-ख्येयभागमात्रावगाहनो भूत्वा निर्जीर्णमत्स्यभवायुरुदीर्णपरभवा-युश्चाविग्रहगत्या मत्स्यशरीरस्यैवैकदेशे पनकः सूक्ष्मवनस्पति-जीवविशेषो भवति । अस्मादुत्पादसमयात् तृतीयसमये यद्दे-हमानमेतस्य पनकस्य तत्किमित्याह (ओहिखित्तं जहन्नं त-मिति) तज्जघन्यमवधेर्विषयभूतं क्षेत्रं किं स्वरूपं तत् ज्ञेयम् । द्रव्यभाजनं तस्यावधेर्ज्ञेयानि ग्राह्याणि यानि द्रव्याणि तेषां भा-जनमाधारभूतमतेने तज्ज्ञेयद्रव्याधारत्वेनैव क्षेत्रमवधेर्विषय उच्य-ते । ननु साक्षात्तस्यामूर्तत्वादवधेस्तु मूर्तविषयत्वादिति एत-द्गाथात्रयव्याख्यातार्थसंवादि चोक्तं वृद्धैः " योजनसहस्रमानो, मत्स्यो मृत्वा स्वकायदेशे यः । उत्पद्यते हि सूक्ष्मः, पनकत्वेनेह स ग्राह्यः॥१॥ संहृत्य चाद्यसमये, स ह्यायामं करोति च प्रतरम् । सं-ख्यातीताख्याङ्गुल-विभागबाहुल्यमानं तु ॥ २ ॥ स्वकतनुपृथु-त्वमात्रं,दीर्घत्वेनापि जीवसामर्थ्यात् । तमपि द्वितीये समये, संहृत्य करोत्यसौ सूचिम् ॥ ३ ॥ संख्यातीताख्याङ्गुल-विभागविष्कम्भ-मानानिर्दिष्टाम् । निजतनुपृथुत्वदैर्घ्यां, तृतीयसमये तु संहृत्य ॥४॥ उत्पद्यते च पनकः, स्वदेहदेशे स सूक्ष्मपरिणामः ॥ समयत्रयेण तस्या-वगाहना यावती भवति ॥ ५ ॥ तावज्जघन्यमवधे-राल-म्बनवस्तुभाजनं क्षेत्रम् । इदमित्थमेव मुनिगण-सुसंप्रदायात्स-मवसेयम् ॥ ६ ॥ अत्र परः पृच्छति ।

किं मच्छोत्तिमहल्लो, किं तिसमयओदकोस वा सुहुमो ।
गाहिओ कीस व पणओ, किं व जहण्णावगाहणओ ॥

किमिति मत्स्योऽतिमहान् गृह्यते । किं वा त्रिसमयाहारकः तृ-तीयसमये निजशरीरदेशोत्पत्तिमात्रो गृह्यते । किं वा सूक्ष्मः कि-मिति वा पनको जघन्यावगाहनको वा गृहीत इति ।

अत्रोत्तरमाह ।

मच्छो महल्लकाउं, संखित्तो जो य तीहिं समएहिं ।
सो किर पयत्तविसेसे-ण सुहुमो व गाहणं कुणइ ॥
सण्हयरासण्हयरो, सुहुमो पणओ जहन्नदेहो य ।
सुबहुविसेसविसिट्ठो, सण्हयरो सव्वदेहेसु ॥

यो हि योजनसहस्रायामो महाकायो मत्स्यस्त्रिभिश्च समयै-रात्मानं संक्षिपति । स किल प्रयत्नविशेषादतिसूक्ष्मामवगाहनां कुरुते नान्यः अनेन किमिति । मत्स्यो महान् गृह्यते । तृतीयसम-यसंक्षिप्तश्चेत्येतस्योत्तरमदायि । दूरे च गत्वाऽन्यत्र यद्युत्पद्यते विग्रहेण च गच्छति तदा जीवप्रदेशाः किंचिद्विस्तरं यान्तीत्यव-गाहना स्थूलतरा स्यादित्यविग्रहगत्या स्वशरीरदेश एवोत्पा-दित इत्येतत्स्वयमेव द्रष्टव्यमिति । "कीसवासुहुमो" इत्यादेरुत्तर-माह "सण्हयरा" इत्यादि । श्लक्ष्णादपि श्लक्ष्णतरस्तावद्भवति कः पनकः कथंभूतः सूक्ष्मः जघन्यदेहश्च जघन्यावगाहनश्चेत्यर्थः । वस्तुतोऽर्थतात्पर्यमाह (सुबहु इत्यादि) " जो जोयणसाह-स्सो " इत्याद्युक्तप्रकारेण सुबहुविशेषणविशिष्टो गृह्यमाणपन-कजीवः सूक्ष्मतरः सूक्ष्मतमश्च सर्वदेहेभ्यो भवति इति । अथ किं त्रिसमयाहारक इत्यस्योत्तरमाह ।

पढमबिईए अतिसण्हो, जमइत्थूलो चउत्थयाईसु ।
तइयसमयम्मि जोगो, गहिओ तो तिसमयाहारो ॥

यस्मात्प्रथमद्वितीययोः समययोरतिसूक्ष्मो भवति । चतुर्था-दिषु च अतिस्थूलः संपद्यते । तृतीयसमये तु योग्योऽतस्त्रिस-मयाहारकग्रहणमिति । अत्र केषांचिन्मतमुद्भावयन्नाह ॥

केई दो मच्छसमया, तइओ पणगत्तणोववायम्मि ।
अह तिसमइओ आहा-रओ य सुहुमो य पणओ य ॥
उववाए चेव तओ, जहन्नो न सेससमएसु ।
तो किर तद्देहसमा, णमोहिखित्तं जहन्नं तु ॥

त्रिसमयाहारकत्वविषये केचनाचार्या व्याचक्षते । यदुत द्वौ तावन्मत्स्यस्य मत्स्यसंबन्धिनौ आद्यसमयौ गृहीते । आयामसंहा-रप्रतरकरणलक्षणः प्रथमः सूचिं तु यत्र करोति स द्वितीयः । तृतीयसमयस्तु तां संक्षिप्य पनकत्वेनोत्पादो भवति । ततश्च त्रयः समया यस्यासौ त्रिसमयः अविग्रहेणोत्पत्तेराहारकश्च । एवं च सति प्रत्युतातिसूक्ष्मश्च पनकश्चायं सिद्धो भवति । तथा च स " तिसमयाहारगस्स सुहुमस्स पणगजीवस्सेति " निर्युक्तिकारवचनमाराधितं भवति । किं चेह यथा सूक्ष्मः सूक्ष्म-तरोऽसौ भवति । तथा कर्तव्यम् एतस्मिन् व्याख्याने स वि-शेषं सिद्ध्यतीति दर्शयति (उववाए चेवेत्यादि) उत्पादसमय एव यतो यस्मात्तकोऽसौ पनकजीवो जघन्य इति । जघन्याव-गाहनो भवति । न शेषेषु समयेषु द्वितीयादिष्वीषन्महत्वाज्ज-घन्यावगाहनश्च निर्युक्तौ प्रोक्तास्ततोऽतिसूक्ष्मत्वसिद्धेस्तस्यान-न्तरोक्तस्वरूपस्य देहस्तद्देहस्तत्समानमेवमेतद् किलावधिविषय-भूतं जघन्यं क्षेत्रं भवतीति । अत्र भाष्यगाथामन्तरेणापि पूर्व-टीकाकारलिखितं प्रतिविधानमुच्यते । तदेवं न युक्तमिदं केषां-चिद्व्याख्यानं त्रिसमयाहारकत्वस्य पनकविशेषणत्वेनोक्तत्वान्म-त्स्यसमयद्वयस्य च पनकसमयत्वायोगाद्योऽपीत्थमपि जघन्याव-गाहनालाभलक्षणो गुण उद्भाव्यते । सोऽपि न युक्तो यस्मान्नेहाति-सूक्ष्मेणातिमहता वा किंचित्प्रयोजनं किं तर्हि योग्यो न यो-ग्यश्च स एव तद्धेतुभिर्दृष्टो यः प्रथमं जघन्यावगाहनस्तस्मिन्नेव भवे समयत्रयमाहारं गृह्णातीत्यलं विस्तरेणेति गाथानवकार्थः । तदेवमवधिविषयभूतस्य जघन्यक्षेत्रस्य परिमाणमुक्तमथोत्कृष्ट-स्य तदाह ।

सव्वबहुअगणिजीवा, निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु ।
खेत्तं सव्वदिसागं, परमोही खेत्तनिद्दिट्ठो ॥

सर्वेभ्यो विवक्षितकालावस्थायिभ्योऽनलजीवेभ्य एव बहवः सर्वबहवः । न तु भूतभाविभ्यो नापि च शेषजीवेभ्यः कुतोऽसं-भवादेवेति । अग्नयश्च ते जीवाश्च अग्निजीवाः सर्वबहवश्च ते अग्नि-जीवाश्च सर्वबह्वग्निजीवा निरन्तरं सततं नैरन्तर्येणेत्यर्थः । याव-द्विति यत्प्रमाणं क्षेत्रमाकाशं वक्ष्यमाणविशिष्टसूचीरचनया र-चिताः सन्तो भृतवन्तो व्याप्तवन्तः कालभूतनिर्देशश्चाजितस्वा-मिकाल एव वक्ष्यमाणयुक्त्या प्रायः सर्वबहवोऽनलजीवा भव-न्त्यस्यामवसर्पिण्यामित्यस्यार्थस्य ख्यापनार्थः । इदं चानन्तरो-क्तविशेषणं क्षेत्रमेकदिशामपि भवत्यत आह (सव्वदिसागंति) सर्वदिशो यत्र तत्सर्वदिशम् अनेन वक्ष्यमाणन्यायेन सर्व-तः सूचीभ्रमणप्रमितं तदाह । परमश्चासाववधिश्च परमावधिः

क्षेत्रमनन्तरव्याख्यावर्णितं प्रभूतानग्निजीवप्रमितमङ्गीकृत्य निर्दिष्टः । प्रतिपादितो महामुनिभिः । ततश्चावधेः पर्यायेणैतावत्क्षेत्रमुत्कृष्टतो विषयमित्युक्तं भवति । इति निर्युक्तिगाथाक्षरार्थः । भावार्थं तु सांप्रदायिकार्थप्रतिपादकभाष्यमुखेन भाष्यकार एवाह ॥

अव्वाघाए सव्वा-सु कम्मभूमीसु जं तदारम्भा ।

सव्वबहवो मणुस्सा, होंति अजियजिणिंदकालम्मि ॥

अव्याघातेऽनलजीवोत्पत्तेर्महावृष्ट्यादिव्याघाताभावे सर्वासु समस्तभरतैरावतविदेहलक्षणासु पञ्चदशसु कर्मभूमिषु सर्वेबहवो बादराग्निजीवा भवन्ति। इति प्रक्रमाल्लभ्यते। किमविशेषेण सर्वदैव एतावन्तो भवन्ति नेत्याह। अजितजिनेन्द्रकाले अजितजिनेन्द्रस्योपलक्षणत्वादवसर्पिण्या द्वितीयतीर्थङ्करकाले इत्यर्थः । किमिति तत्रैते बहवो भवन्तीत्याह । (जमित्यादि) यद्यस्मात्तदारम्भास्तेषां बादराग्निजीवानां संधुक्षणज्वालनाद्यारम्भपराः सर्वबहवः सर्वेभ्योऽप्यतीतानागतेभ्यो बहवः प्रचुरा गर्भजमनुष्याः स्वभावादेवेति भाव । किमेतैरेव बादराग्निजीवैः सर्वबह्वग्निजीवपरिमाणं पूर्यते । आहोस्वित् सूक्ष्माग्निभिः सह यदि तैः सह तदा ते अविशिष्टा अपि गृह्यन्ते । आहोस्वित्कश्चिदेव विशिष्टा इत्याह ॥

उक्कोसया य सुहुमा, जया तया सव्वबहुगमगणीणं ।

परिमाणं संभवओ, तं छट्ठा पूरणं कुणइ ॥

उत्कृष्टाश्च सूक्ष्माग्निजीवाः स्वभावत एव कथमपि यदा संभवन्ति । तदैवैतैर्बादराग्निजीवैः सह सर्वबह्वग्निजीवानां परिमाणं भवति । इदमत्र हृदयम् । अनन्तानन्तास्ववसर्पिणीषु मध्ये स एव कश्चिद्धि तीर्थकरकालो गृह्यते । यत्र सूक्ष्माग्निजीवा उत्कृष्टपदिनः प्राप्यन्ते। ततश्च तैर्बादरैः सूक्ष्मैश्चाग्निजीवैरुत्कृष्टपदिभिर्मीलितैः सर्वबह्वग्निजीवानां परिमाणं भवति। तच्च संभवमात्रमाश्रित्य बुद्ध्या षोढा षट्प्रकाररचनया व्यवस्थाप्यन्ते । ततश्च बहुतरक्षेत्रपूरणं करोति तत्र पञ्चानादेशाः । षष्ठः श्रुतादेश इति एतदेवाह ।

एक्केकागासपए-से जीवरयणाए सावगाहे य ।

चउरं संभ्रणपयरं, सेढीछट्ठो सुयाएसो ॥

तैः सर्वैरप्यग्निजीवैः समचतुरस्रो घनो द्विभेदः स्थाप्यते । कथमित्याह । एकैकाकाशप्रदेशे एकैकाग्निजीवरचनया स्वावगाहे च देहासंख्येयाकाशप्रदेशलक्षण एकैकाग्निजीवरचनयेति । अत्र-स्थापना ।

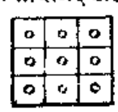

एतेषां नवानामग्निजीवानां प्रत्येकमेकैकाकाशप्रदेशेष्ववस्थापितानामध-स्तादुपरिष्टाच्चान्योऽपि नव २ जीवा इत्थमेव स्थाप्यन्ते । एव कल्पनया

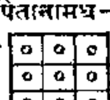

सप्तविंशत्या सद्भावतस्त्वसंख्येयैरग्निजीवैरेकैकाकाशप्रदेशव्यवस्थापितैर्घनो मन्तव्यः । द्वितीयोऽपि घन इत्थमेव द्रष्टव्यः । केवलमिहासंख्येयाकाशप्रदेशेष्वेकैकजीवो व्यवस्थाप्यते । एवमेकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनया असंख्येयप्रदेशात्मकस्वावगाहस्थापनया च प्रतरोऽपि द्विभेदः।सूचिरपि द्विभेदा तत्र घनप्रतरएकश्चतुर्भेदः। पञ्चमश्चैकाकाशप्रदेशस्थापितैकैकजीवलक्षणसूचिपक्षोऽपि न ग्राह्यो दोषद्वयानुषङ्गात् । तथा हि पञ्चविधयाप्यनया स्थापनया स्थापिता अग्निजीवाः परस्परं पि दिक्चवधिज्ञानिनोऽसत्कल्पनया भ्राम्यमाणाः स्तोकमेव क्षेत्रं स्पृशन्तीत्येको दोषः । एकैकाकाशप्रदेशे एकैकजीवस्थापनायामागमविरोधश्च द्वितीयदोषः । असंख्येयाकाशप्रदेशानन्तरेणागमे जीवावगाहनिषेधादसत्कल्पनया प्रदेशावगाहोऽप्यस्त्विति चेन्नैवं कल्पनापि सति संभवेऽविरोधिन्येव कर्तव्या । किं विरोधिनेत्यालोच्याह (छट्ठोसुयाएसोत्ति) असंख्येयाकाशप्रदेशलक्षणस्वावगाहे पङ्क्त्यामेकैकजीवस्थापनेन यः सूचिलक्षणः षष्ठः पक्षोऽयं श्रुते आदिष्टत्वाद्ग्राह्यः शेषास्तु पञ्चानादेशाः सम्भवोपदर्शनमात्रेणोक्तत्वातपरिहार्याः इयं हि यथोक्तसूचिरेकैकजीवस्यासंख्येयाकाशप्रदेशावगाहे व्यवस्थापितत्वाद्बहुतरं क्षेत्रं स्पृशतीत्येको गुणः अवगाहविरोधाभावस्तु द्वितीयः । ततश्चैषाग्निजीवसूचिरवधिज्ञानिनः षट्स्वपि दिक्ष्वसत्कल्पनया भ्रामिता सती अलोके लोकप्रमाणान्यसंख्येयखण्डानि स्पृशत्यत एतावदुत्कृष्टक्षेत्रमवधेर्विषय इत्युक्तं भवतीत्यादि स्वयमेव वक्ष्यतीति । अत्र कश्चिदाह ।

घणपयरसेढिगणियं,

ननु तुल्लं चिय तिगप्पणा कीस ।

वुट्ठा कीरइ भण्णइ,

पुरिसपरिक्खेवओ भेओ ॥

नन्वेकैकाकाशप्रदेशावगाढजीवघनप्रतरश्रेण्याक्रान्ताकाशप्रदेशानां संख्यारूपं गणितं तुल्यमेव तथाऽसंख्येयाकाशप्रदेशावगाढजीवघनप्रतरश्रेण्याक्रान्ताकाशप्रदेशानामपि गणितं स्थाने परस्परं तुल्यमेव । तथा हि । यावत एवैकैकाकाशप्रदेशावगाहिनां जीवानां घनाकाशप्रदेशानाक्रामन्ति प्रतरोऽपि तेषां तावत एव नाक्रामति सूचिरपि तेषां तावत एव तान् स्पृशति । संवृत्तप्रसारितनेत्रपट्टाक्रान्ताकाशप्रदेशवदित्येवमसंख्येयाकाशप्रदेशावगाढजीवघनप्रतरश्रेण्याक्रान्ताकाशप्रदेशानामपि स्वस्थाने गणिततुल्यता भावनीयेत्यतोऽवगाहभेदद्वयभिन्नो घन एवास्तु । प्रतरो वा सूचिर्वेति । षोढा तु विकल्पना षड्भेदानां कल्पनं किमिति । क्रियते न युक्तेयमित्यभिप्रायः । अत्र सूरिराह । भण्यते उत्तरं किमित्याह । (पुरिसपक्खिेवओ भेओत्ति) अस्यस्याः षड्विधकल्पनायाः भेदः कथमित्याह । पुरुषपरिक्षेपतः इदमुक्तं भवति नेह घनाद्याक्रान्ताकाशप्रदेशानां संख्यासमत्वविषयत्वे चिन्त्ये । इति किं तर्हि घनादीनां मध्यात् कश्चिदुत्तनाविशेषोऽवधिज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु भ्रम्यमाणो बहुतरं क्षेत्रं स्पृशति स एवेह ग्राह्यः । एवं च सत्यस्त्यमीषां भेदस्तथा ह्येकैकप्रदेशावगाढजीवघनो भ्रम्यमाणो यावत्क्षेत्रं स्पृशति । तस्मादसंख्येयप्रदेशावगाढजीवघनोऽसंख्येयगुणं स्पृशति । ततोऽप्येकैकप्रदेशावगाढजीवप्रतरोऽसंख्येयगुणं, तस्मादप्यसंख्येयप्रदेशावगाढजन्तुप्रतरोऽसंख्येयगुणं, ततोऽप्येकैकप्रदेशावगाढं जीवसूचिरसंख्येयगुणं,तस्मादप्यसंख्येयाकाशप्रदेशावगाढैकैकाग्निजीवसूचिरवधिज्ञानिनः सर्वासु दिक्षु भ्रम्यमाणा असंख्येयगुणं क्षेत्रं स्पृशति । तच्चालोके लोकप्रमाणान्यसंख्येयाकाशखण्डानि । अत एव तावदवधिरुत्कृष्टक्षेत्रविषय इत्युक्तमेवार्थं भाष्यकारः प्राह ।

निययावगाहणाग्गि-जीवसरीरावली समं तेणं ।

भामिज्जइ ओहिन्ना-णि देहपज्जतओ साइ ॥

अइगंतूण अलोगं, लोगागासप्पमाणमित्ताइं ।

ठाइं व असंखेज्जा-इं इमो हि खेत्तमुक्कोसं ॥

निजका आत्मीया एकैकस्यासंख्येयप्रदेशात्मिकाऽवगाहना येषां तानि-तथा तानि च तानि अग्निजीवशरीराणि च तेषामवली पङ्क्तिः । सूचिरवधिज्ञानिनो देहपर्यन्तात्समन्तात्सर्वासु

दिक्षु वृद्ध्या भ्राम्यति । स चालोकालोकप्रमाणमात्राण्यसंख्येयान्याकाशखण्डानीति गम्यते । अतीत्य गत्वा स्पृष्ट्वा वा इति तिष्ठत्युपरमते । इदमवधेरुत्कृष्टक्षेत्रविषय इति । आह । ननु रूपिद्रव्याण्येवावधिः पश्यतीति । गीयते क्षेत्रं त्वमूर्तत्वात्कथं तद्विषय इत्याह ।

सामत्थमेत्तमेयं, जइ दट्ठव्वं हविज्ज पिच्छेज्ज ।
न य तं तत्थ विज्जइ सो-रूविनिवंधनो भणिओ ॥

यदवधेरेतावत्क्षेत्रं विषय उच्यते । तदेतत्तस्य सामर्थ्यमात्रमेव कीर्त्यते । कोऽर्थ इत्याह । यद्येतावत्क्षेत्रे द्रष्टव्यं किमपि भवेत्तत्तदा पश्येदवधिज्ञानी न च तद् द्रष्टव्यं तत्रालोके समस्ति । यतोऽयमवधिस्तीर्थकरगणधरैः रूपिद्रव्यनिबन्धनो भणितः । तच्च रूपिद्रव्यमलोके नास्त्येवेति आह । यद्येवं लोकप्रमाणोऽवधिर्भूत्वा यस्य पुरतो विशुद्धिवशतो लोकाद्बहिरप्यसौ वर्धते । तस्य तद् वृद्धेः किं फलं लोकाद्बहिर्द्रव्याभावात् इत्याशङ्क्याह ।

वड्ढंतो उण ओहि, लोयत्थं चेव पासइ दव्वं ।
सुहुमयरं सुहुमयरं, परमोही जाव परमाणुं ॥

लोकात्पुनः बहिर्विशुद्धिवशाद्वर्धमानोऽवधिर्लोकस्थमेवाधिकतरं च पश्यति । कथंभूतं सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं सूक्ष्मतमं च । यावत्परमावधिः सर्वसूक्ष्मं परमाणुमपि पश्यतीति तद्वृद्धेस्तात्त्विकं फलमिति । अलोके तु लोकप्रमाणासंख्येयत्वं खण्डेषु द्रव्यदर्शनसामर्थ्यमेव तस्येति । अन्यकर्तृकीयां प्रक्षेपगाथा सोपयोगेति च व्याख्यातेति । तदेवं जघन्यमुत्कृष्टं वाऽभिहितमवधेर्विषयभूतं क्षेत्रमेतस्माच्चान्यत्सर्वं विमध्यममिति सामर्थ्यात् गम्यत एव । केवलं यदत्र विमध्यमे क्षेत्रविशेषे कालमानं भवति । यावति च काले यद्विमध्यमं क्षेत्रं भवतीति तदभिधित्सुः प्रस्तावनामाह ।

भणियं जहण्णमुक्को-सयं च खेत्तं विमज्झिमं सेसं ।
एयस्स कालमाणं, वोच्छं जं जम्मि खेत्तम्मि ॥

गतार्थैव । नवरमुपलक्षणत्वादिह यावति काले यद्विमध्यमं क्षेत्रं भवतीत्यभिधास्यत इति द्रष्टव्यमिति गाथानवकार्थः ।

यथा प्रतिज्ञातमेवाह ।

अंगुलमावलियाणं, भागमसंखिज्ज दोसु संखेज्जा ।
अंगुलमावलियंतो, आवलिया अंगुलपुहुत्तं ॥
हत्थम्मि मुहुत्तंतो, दिवसंतो गाउयम्मि बोधव्वो ।
जोयणदिवसपुहुत्तं, पक्खंतो पणवीसाओ ॥
भरहम्मि अद्धमासो, जंबुद्दीवम्मि साहिओ मासो ।
वासं च मणुयलोए, वासपुहुत्तं च रुयगम्मि ॥

अङ्गुलं क्षेत्राधिकारात् प्रमाणाङ्गुलं गृह्यते । अवध्यधिकारादुच्छ्रयाङ्गुलमिति च केचिदिति । असंख्येयसमयसंघातात्मकः कालविशेष आवलिका । अङ्गुलं चावलिका चाङ्गुलावलिके तयोरङ्गुलावलिकयोर्भागमसंख्येयम पश्यत्यवधिज्ञानी एतदुक्तं भवति । क्षेत्रमङ्गुलासंख्येयभागमात्रं पश्यन् कालत आवलिका असंख्येयमेव भागं पश्यत्यतीतमनागतं चेति क्षेत्रकालदर्शनं चोपचारेणोच्यते । अन्यथा हि क्षेत्रव्यवस्थितानि दर्शनयोग्यानि द्रव्याणि तत्पर्यायांश्च विवक्षितकालान्तर्वर्तिनः पश्यत्यवधिर्न तु क्षेत्रकालौ मूर्तद्रव्यालम्बनत्वात्तस्येति । एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र द्रष्टव्यम । क्रिया चेह गाथात्रयेणाध्याहारा दृश्यते (दोसु संखेज्जत्ति) द्वयोरङ्गुलावलिकयोः संख्येयौ भागौ पश्यति । अङ्गुलसंख्येयभागमात्रं पश्यन्नावलिकायाः संख्येयमेव भागं पश्यतीत्यर्थः । (अंगुलमावलियंतोत्ति) अङ्गुलं पश्यन् क्षेत्रतः कालतः आवलिकान्तर्भिन्नामावलिकां पश्यतीत्यर्थः । (आवलिया अंगुलपुहुत्तंति) कालतः आवलिकां वीक्ष्यमाणः क्षेत्रतोऽङ्गुलपृथक्त्वं पश्यति । पृथक्त्वं च समयपरिभाषया द्विप्रभृत्या नवभ्यः सर्वत्र द्रष्टव्यमिति (हत्थंमि मुहुत्तंतोत्ति) क्षेत्रतो हस्तप्रमाणक्षेत्रविषयोऽवधिः कालतो मुहूर्तान्तर्भिन्नं मुहूर्तं पश्यतीत्यर्थः (दिवसंतो इत्यादि) कालतो दिवसान्तर्भिन्नं दिवसं वीक्ष्यमाणः क्षेत्रतो गव्यूतविषयो बोद्धव्यः (जोयणदिवसपुहुत्तंति) योजनक्षेत्रविषयोऽवधिः कालतो दिवसपृथक्त्वं पश्यति (पक्खंतो इत्यादि) कालतः पक्षान्तर्भिन्नं पक्षं पश्यन् क्षेत्रतः पञ्चविंशतियोजनानि पश्यति (भरहम्मि इत्यादि) भरतक्षेत्रविषयेऽवधौ कालतोऽर्धमासस्तद्विषयत्वेन बोद्धव्यः । जम्बूद्वीपविषये तु साधिको मासः अर्धतृतीयद्वीपसमुद्रलक्षणे मनुष्यलोके तु वर्षं संवत्सरः रुचकाख्यबाह्यद्वीपविषयेऽवधौ वर्षपृथक्त्वं तद्विषयत्वेनावगन्तव्यम् । वर्षसहस्रमित्यन्ये । इति निर्युक्तिगाथात्रयार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

खेत्तमसंखेज्जंगुल-भागं पासत्तमेव कालेण ।
आवलिए भागं भू-यमणागयं च जाणाइ ॥
तत्थेव य जे दव्वा, तेसिं चिय जेहवन्निपज्जाया ।
इय खेत्ते कालम्मि य, जोएज्जा दव्वपज्जाए ॥
संखेज्जंगुलभाए, आवलियाए वि मुणइ तइ भागं ।
अंगुलमिह पेच्छंतो, आवलियंतो मुणइ कालं ॥
आवलियं मुणमाणो, संपुण्णं खेत्तमंगुलपुहुत्तं ।
एवं खेत्ते काले, काले खेत्तं च जोएज्जा ॥

गतार्था एव । नवर "मणागयं" चेत्यनागतम् । आह । नन्वमूर्तौ क्षेत्रकालौ कथमवधिः पश्यति । मूर्तालम्बनत्वात्तस्येत्याह । (तत्थेव ये इत्यादि) इदमत्र हृदयम् । अङ्गुलासंख्येयभागादिकं क्षेत्रं पश्यतीति कोऽर्थस्तत्रैवैतावति क्षेत्रप्रस्तुतावधिदर्शनयोग्यानि पुद्गलद्रव्याणि तान्येवासौ पश्यति । आवलिकासंख्येयभागादिकं कालं पश्यतीत्यत्रापि च कोऽर्थस्तेषामेव पुद्गलद्रव्याणां ये प्रस्तुतावधेर्दर्शनयोग्याः पर्यायास्तान् भूतेऽनागते चैतावति कालेऽसौ वीक्ष्यते । इत्येवं सर्वत्र क्षेत्रे काले चावधेर्विषयत्वेनोक्तम । यथासंख्यं क्षेत्रगतानि योग्यरूपिद्रव्याणि कालगतांस्तद्योग्यांस्तत्पर्यायानायोजयेत् । क्षेत्रकालौ तु मन्दाः क्रोशन्तीत्यादिन्यायेनोपचारत एवोच्येते । इति भाष्यगाथाचतुष्टयार्थः ।

संखेज्जम्मि उ काले, दीवसमुद्दा वि होंति संखेज्जा ।
कालम्मि असंखेज्जा, दीवसमुद्दा उ भइयव्वा ॥

संख्यायत इति संख्येयः स च संवत्सरमासादिरूपोऽपि भवत्यतस्तु शब्दो विशेषणार्थः कृतः । किं विशिनष्टि । संख्येयोऽत्र वर्षसहस्रात्परतो गृह्यते । अत एव पूर्वगाथायां "वाससहस्सं व रुयगमिति" पाठान्तरं तस्मिन् वर्षसहस्रात्परतो वर्तिनि संख्येये कालेऽवधिविषयप्राप्ते सति क्षेत्रतस्तस्यैवावधे-

विषयतया द्वीपसमुद्रास्तेऽपि भवन्ति संख्येयाः । अपिशब्दान्महानेकोऽपि तदेकदेशोपीऽति।तथा काले संख्येये पल्योपमादिलक्षणेऽवधिविषये सति तस्मै वा संख्येयकालपरिच्छेदकस्यावधेः क्षेत्रतः परिच्छेदकतया द्वीपसमुद्राश्च भक्तव्या विकल्पयितव्याः । कदाचिदसंख्येयाः यदिह कस्यचिन्मनुष्यस्यासंख्येयद्वीपसमुद्रविषयोऽवधिरुत्पद्यते। कदाचित् महान्तः संख्येयाः कदाचित्त्वतिमहानेकः कदाचित्तु तदेकदेशोऽपि स्वयंभूरमणतिरश्चोऽवधिर्ज्ञेयः स्वयंभूरमणविषयमनुष्यबाह्यावधिर्वा योजनापेक्षया तु सर्वपक्षेषु असंख्येयमेव क्षेत्रं द्रष्टव्यमिति निर्युक्तिगाथार्थः । अथ भाष्यम् ।

काले असंखए दी–वसागराखुड्डुया असंखेज्जा ।
भयणिज्जा य महल्ला, खेत्तं पुण तं असंखेज्जा ॥

गतार्थैव । एवं तावत्परिस्थूरन्यायमङ्गीकृत्य क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिरनियता कालवृद्धौ तु क्षेत्रवृद्धिर्भवत्येवेति प्रतिपादितम्। सांप्रतं द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया यद्वृद्धौ यस्य वृद्धिर्भवति । यस्य वा न भवत्यमुमर्थं प्रतिपादयन्नाह ॥

काले चउएहवुड्ढी, कालो भइयव्वखेत्तवुड्ढीए ।
वुड्ढीए दव्वपज्जव–भइअव्वा खेत्तकाला ओ ॥

काले अवधिगोचरे वर्धमाने सतीति गम्यते (चउएहवुड्ढीत्ति) नियमात्क्षेत्रादीनां चतुर्णामपि वृद्धिर्भवति । कालात्सूक्ष्मसूक्ष्मतरसूक्ष्मतमत्वात् क्षेत्रद्रव्यपर्यायाणाम् । तथाहि कालस्य समयेऽपि वर्द्धमाने क्षेत्रस्य प्रभूतप्रदेशा वर्धन्ते । तद्वृद्धौ चावश्यंभाविनी द्रव्यवृद्धिः प्रत्याकाशप्रदेशं देशद्रव्यप्राचुर्याद्द्रव्यवृद्धौ च पर्यायवृद्धिर्भवत्येवं प्रतिद्रव्यं पर्यायबाहुल्यादिति । यद्येवं काले वर्धमाने शेषस्य क्षेत्रादित्रयस्य वृद्धिर्भवतीत्येवमेव वक्तुमुचितं कथं चतुर्णामप्ययुक्तम् । सत्यं किंतु सामान्यवचनमेतत् तथाहि।देवदत्ते भुञ्जाने सर्वमपि कुटुम्बं भुङ्क्ते इत्यादि । अन्यथा ह्यत्रापि देवदत्तात्क्षेपमपि कुटुम्बं भुङ्क्ते इति वक्तव्यम् स्यादित्यदोषः (कालो भइयव्वो खेत्तवुड्ढीएत्ति) क्षेत्रस्यावधिगोचरस्य । वृद्धावाधिक्ये सति कालो भक्तव्यो विकल्पनीयो वर्द्धते वा न वा प्रभूते क्षेत्रवृद्धिगते वर्द्धते कालो न स्वल्प इति भावः । अन्यथा हि यदि क्षेत्रस्य प्रदेशादिवृद्धौ कालस्य नियमेन समयादिवृद्धिः स्यात्तदाङ्गुलमात्रादिकेऽपि वर्धिते क्षेत्रकालस्यासंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो वृद्धेरस्तथा च वक्ष्यति (अंगुलसेढीमत्ते, उसप्पिणीओ असंखेज्जत्ति) ततश्च आवलिकया " अंगुलपुहुत्तम्मि" त्यादि सर्वं विरुध्येत । तस्मात् क्षेत्रवृद्धौ कालवृद्धिर्भजनीयैव । द्रव्यपर्यायास्तु तद्वृद्धौ नियमाद्वर्द्धन्ते एवेति स्वयमेव द्रष्टव्यमिति (वुड्ढीए दव्वपज्जवेत्यादि) द्रव्यपर्याययोर्वृद्धौ सत्यां क्षेत्रकालौ भक्तव्यौ विकल्पनीयौ वर्द्धेते वा न वा । तथाह्यवस्थितयोरपि क्षेत्रकालयोस्तथा शुभाध्यवसायतः क्षयोपशमवृद्धौ द्रव्यं वर्धत एव तद्वृद्धौ च पर्यायवृद्धिरवश्यं भाविन्येव प्रतिद्रव्यं पर्यायानन्त्या जघन्यतोऽपि चैकैकद्रव्यादप्यवधेः पर्यायचतुष्टयलाभादिति । पर्यायवृद्धौ च द्रव्यवृद्धिर्भाज्या भवति वा न वेति स्वयमेव द्रष्टव्यम्। अवस्थितेऽपि हि द्रव्ये तथाविधक्षयोपशमवृद्धौ पर्याया वर्धन्त इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

काले पवड्ढमाणे, सव्वे दव्वादओ पवड्ढंति ।
खेत्ते कालो भइओ, वड्ढंति उ दव्वपज्जाया ॥
भयणाए खेत्तकाला, परिवड्ढंतेसु दव्वभावेसु ।
दव्वे वड्ढइ भावो, भावे दव्वं तु भयणिज्जा ॥

द्वे अपि व्याख्यातार्थे ; अथोत्तरगाथासंबन्धनार्थं विनेयमुखेन प्रश्नं कारयति ।

अएणोएणनिबद्धाणं, जहएणयाईणखित्तकालाणं ।
समयप्पएसमाणं, किं तुल्लं होज्ज हीणहियं ॥

अन्योन्यनिबद्धयोर्जघन्यादिरूपयोः क्षेत्रकालयोः समयप्रदेशमानं किं तुल्यं भवेद्धीनमधिकं वेति । इदमुक्तं भवति । "अंगुलमावलियाणंभागमसंखेज्जत्यादि " ना ग्रन्थेन परस्परसंबन्धत्वेनावधिविषयतया प्रोक्तयोर्जघन्ययोर्मध्यमयोरुत्कृष्टयोश्च क्षेत्रकालयोः संबन्धिनां प्रदेशानां च समयानां संख्यामाश्रित्य यन्मानं तत्परस्परं किं तुल्यमधिकं हीनं वा भवेदिति प्रश्नः । अत्रोच्यते सर्वत्र प्रतियोगिनः खल्वावलिकासंख्येयभागादेः कालादसंख्येयगुणमेव क्षेत्रं यतः प्राह ।

सुहुमो य होइ कालो, तत्तो सुहुमयरं हवइ खेत्तं ।
अंगुलसेढीमित्ते, उसप्पिणीओ असंखेज्जा ॥

सूक्ष्मस्तावत्कालो भवति यस्मादुत्पलपत्रशतभेदे प्रतिपत्रभेदमसंख्येयाः समया लगन्तीत्यागमे प्रतिपाद्यते। न चातिसूक्ष्मत्वेन ते पृथग्विभाव्यन्ते। तथापि ततः कालात्सूक्ष्मतरं भवति। क्षेत्रं यस्मादङ्गुलश्रेणिमात्रे क्षेत्रे प्रतिप्रदेशं समयगणनया प्रतिप्रदेशपरिमाणमवसर्पिण्योऽसंख्येयास्तीर्थकृद्भिरुक्ताः । इदमुक्तं भवति अङ्गुलश्रेणिमात्रे क्षेत्रे यः प्रदेशराशिः स प्रतिसमयं प्रदेशापहारेणापह्रियमाणोऽसंख्येयावसर्पिणीभिरपह्रियते। इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

खेत्तं बहुयरमंगुल–सेढीमित्ते पएसपरिमाणं ।
जमसंखेज्जासप्पिणि, समयसमं थोवओ कालो ॥

गतार्थैव आह । ननु कालात् क्षेत्रं सूक्ष्ममित्यवगतम् । क्षेत्रात्तु द्रव्यभावौ कथंभूताविति । कथ्यतामित्याशङ्क्य कालात् क्षेत्रद्रव्यभावानां यथोत्तरं सूक्ष्मत्वोपदर्शनार्थमाह ।

कालो खित्तं दव्वं, भावो य जहुत्तरं सुहुमभेया ।
थोवा असंखाणंता, संखाइजमोहि विसयम्मि ॥

कालादयो यथोत्तरं सूक्ष्मभेदाः समनुमीयन्ते । कुतो यतः सर्वत्रावधिविषयस्वप्रतियोगिक्षेत्राद्यपेक्षया स्तोकः कालो भणितः। ततः क्षेत्रमसंख्येयगुणं ततोऽपि द्रव्यमनन्तगुणं पर्यायास्तु "दव्वाओ संखेज्जे, संखेज्जाये विपज्जेव लहइ" इति वचनात् । द्रव्यादसंख्येयगुणावेति । एतदेव व्यक्तीकृत्य भावयति ।

सव्वमसंखेज्जगुणं, कालाओ खेत्तमोहिविसयम्मि ।
अवरोप्परसंवद्धं, समयपएसप्पमाणेणं ॥
खेत्तप्पएसेहिंतो, दव्वमनंतगुणियं पएसेहिं ।
दव्वेहिंतो भावो, संखगुणो संखगुणिओ वा ॥

गाथाद्वयमपि गतार्थम्।नवरं यस्मात्सर्वमप्यङ्गुलासंख्येयभागादिकं क्षेत्रं प्रदेशैरावलिकासंख्येयभागादेः कालात्स्वसमयानाश्रित्यासंख्येयगुणमवधिविषये प्रोक्तम् । क्षेत्रप्रदेशेभ्यस्तद्द्रव्यं प्रदेशैरनन्तगुणमित्यादि ।तस्मात्कालादयः स्तोकादितया अनुमेया इति । अथ पूर्वोक्तस्य निगमनार्थमुत्तरस्य च प्रस्तावनामाह ।

भणियं खेत्तपमाणं, तम्हाणमियं भणामि दव्वमओ ।
तं केरिसमारंभे, परिणित्थयणे वि मज्भेव ॥

भणितं जघन्यादिभेदं त्रिविधमवधिक्षेत्रप्रमाणम् । विशे० ।

(५) अवधिविषयस्य द्रव्यस्य मानम् ।

सांप्रतं तस्य जघन्यादिभेदस्य क्षेत्रस्य यदङ्गुलासंख्येयभागादिकं मानं तेन मितं परिच्छिन्नं द्रव्यमत ऊर्ध्वं भणामि । द्रव्यावस्थानापेक्षमेव क्षेत्रस्य भणनात् । अन्यथा हि मूर्तविषये अवधौ प्रक्रान्ते किममूर्तक्षेत्रभणनेनेति भावः। तच्च द्रव्यमारम्भे प्रस्तावने कीदृशमवधेर्विषयो भवति । परिनिष्ठानेऽवसाने विमध्ये वा कीदृशमित्येवं भणामि । इति गाथापञ्चकार्थः। स्वप्रतिज्ञातमेवाह।

तेयाभासादव्वाण-मंतरा एत्थ लभइ पट्ठवओ ।

गुरुलहुअगुरुलहुयं, तं पि य तेणावतिट्ठाई ॥

तैजसं च भाषा च तैजसभाषे तयोर्द्रव्याणि तेषां तैजसभाषाद्रव्याणामन्तरादपान्तराले (एत्थत्ति) अत्रान्यदेव तद्योग्यं द्रव्यं लभते पश्यति । प्रस्थापकोऽवधिज्ञानप्रारम्भकोऽवधिप्रतिपातीति यावत् । किं विशिष्टं तदित्याह । गुरुलघ्वगुरुलघु वेति । गुरुलघुपर्यायोपेतं गुरुलघु, अगुरुलघुपर्यायोपेतं त्वगुरुलघ्विति । तत्र तैजसद्रव्यासन्नं गुरुलघुभाषाद्रव्यासन्नमगुरुलघ्विति । तदपि चावधिज्ञानं तदावरणोदयात्प्रतिपतत्तैनैवोक्तस्वरूपद्रव्येणोपलभ्येन सता निष्ठां याति प्रतिपततीत्यर्थः। अपि शब्देन चैतज्ज्ञापयति प्रतिपातिन्यवधिज्ञानेऽयं न्यायो न चैतदवश्यं प्रतिपतत्येवेति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

पट्ठवओ नामावहि, नाणस्सारंभओ तयाईओ ।

उभया जोग्गं पेच्छइ, तेयाभासंतरे दव्वं ॥

गुरुलघुतेयासन्नं, भासासन्नमगुरुं च पासेज्जा ।

आरंभे जं दिट्ठं, दट्ठूणं पडइ तं चेव ॥

गाथाद्वयमपि गतार्थम् । नवरं नामेति शिष्यामन्त्रणे तैजसद्रव्यासन्नं गुरुलघुभाषाद्रव्यासन्नं त्वगुरुलघुपश्येदिति । तैजसभाषाद्रव्याणामन्तरे तद्योग्यं द्रव्यं पश्यतीत्युक्तम् । अतो विनेयः पृच्छति ।

तेयाभासाजोग्गं, किमजोग्गं वा तयंतराले जं ।

ओरालियाइतणुव-ग्गणाकम्मेणं तयं सज्जं ॥

यत्तैजसशरीरभाषाया योग्यमुचितं द्रव्यमयोग्यं वा तदन्तराले यदुक्तं तत्किं कतमस्वरूपं कियत्प्रदेशं वेति । कथ्यतामत्रोच्यते । हन्त ! परमाणुद्व्यणुकत्र्यणुकादि स्कन्धोपचयादौ नारकादिशरीरवर्गणाप्ररूपणक्रमेणैव तत्साध्यं प्ररूपयितुं शक्यं नान्यथा इत्यर्थः । विशे० । (वग्गणाशब्दे शरीरवर्गणादि प्ररूपणा)

प्रकृतं समर्थयन्नाह।

भणियं तेयाभासा, विमज्झदव्वावगाहपरिमाणं ।

ओहिस्साणारंभो, परिनिट्ठाणं च तं जेसु ॥

तदेवं भणितं प्रतिपादितं किमित्याह । तैजसभाषयोर्विमध्ये अन्तराले यानि तद्योग्यद्रव्याणि तेषामवगाहपरिमाणमुपलक्षणत्वादनन्तपरमाणुप्रचितस्कन्धात्मकत्वादिकं तत्स्वरूपं चोक्तं येषु द्रव्येषु किमित्याह । येष्ववधिज्ञानस्यारम्भः प्रथमोत्पत्तिलक्षणः परिनिष्ठानं च इति एतत्तं तत्समयप्रसिद्धं येषु इवमुक्तं भवति । "तेयाभासादव्वाणमंतरा एत्थ लभइ पट्ठवओ" इत्युपजीव्य पूर्वं विनेयेन पृष्टं तैजसभाषान्तराले यद्योग्यं द्रव्यं तत्कतमस्वरूपं कतिप्रदेशावगाढं चेति । अस्य शिष्यप्रश्नस्य गुरुणा औदारिकवर्गणाः प्ररूपयता दत्तमुत्तरमिति । इह च गुरुलघ्वगुरुलघु च द्रव्यमवधेः प्रथमं पश्यतीति पूर्वमुक्तम् । तत्र गुरुलघुद्रव्यारम्भस्य चावधेर्यत्स्वरूपं भवति। तद्दर्शयन्नाह।

गुरुलघुदव्वारद्धो, गुरुलघुदव्वाइं पिच्छियं पच्छा ।

इयराइं कोइ पेच्छइ, विसुज्झमाणो कमेणेव ॥

अगुरुलघुसमारद्धो, उड्ढं वड्ढइ कमेण सो नाहो ।

वड्ढंतो चिय कोइ, पिच्छइ इयराइ सयराहं ॥

गुरुलघुद्रव्यारब्धोऽवधिस्तैजसप्रत्यासन्नद्रव्यारब्ध इत्यर्थः । किमित्यत्रोच्यते। वर्धमानोऽधस्तात्तान्येव गुरुलघून्यौदारिकादिद्रव्याणि दृष्ट्वा कश्चित्पश्चाद्विशुध्यमानक्रमेणैवागुरुलघूनि भाषादिद्रव्याणि पश्यति । यस्तु न विशुद्धिमासादयति । स तेष्वेव गुरुलघुद्रव्येषु कियन्तं कालं स्थित्वा ततः प्रतिपतति । यस्त्वगुरुलघुद्रव्यव्ययसमारब्धोऽवधिर्भाषाद्रव्यारब्ध इत्यर्थः । स ऊर्ध्वमेव क्रमेण वर्धते नाधस्तादुपरिवर्तीन्येवागुरुलघूनि भाषादिद्रव्याणि पश्यति । कश्चित्तथाविधशुद्धमाने वर्धमान एव(सयराहमित्ति) युगपदितराण्यपि गुरुलघून्यौदारिकादीनि पश्यति । विशे०।

(अगुरुलघुशब्दे गुरुलघ्वादिप्ररूपणा कृता)

(१०) क्षेत्रकालयोर्विषयत्वमानमाह ।

ननु पूर्वं कर्मद्रव्यदर्शिनः प्रत्येकं लोकपल्योपमभागाः संख्येया विषयत्वेनोक्ताः । अत्र तु कार्मणशरीरदर्शिनः किमिति स्तोकौ क्षेत्रकालौ विषयत्वेनोक्तौ । अत्रोच्यते । पूर्वं कर्मद्रव्याणि कर्मवर्गणागतानि जीवेन शरीरतयाऽबद्धान्युक्तानि । अत्र तु तद्रूपतया बद्धानि गृहीतानि अवस्त्र्यश्च बद्धानि बादराणि भवन्ति । अच्युततन्तुभ्योऽच्युततन्तुषु तथादर्शनात्ततोऽत्र कार्मणशरीरदर्शिनः स्तोकौ क्षेत्रकालौ विषयत्वेनोक्ताविति । अत्र भाष्यम् ।

एयाइं जओ कम्म य, दव्वेहिंतोत्ति थूलतरयाइं ।

तेयाइयाइं तम्हा, थोवयरा खित्तकालत्थ ॥

एतानि यतस्तैजसादीनि तैजसशरीरकार्मणशरीरतैजसवर्गणाद्रव्यभाषाद्रव्याणीत्यर्थः । कार्मणशरीरयोग्यवर्गणाद्रव्येभ्योऽतिस्थूलतराणि बादराणि तस्मात्तौ कतरौ क्षेत्रकालावत्र प्रोक्ताविति । प्रागेव भावितमिति भाष्यनिर्युक्तिगाथार्थः। आह ननु यथा जघन्यमध्यमावधी निर्दिष्टन्यायेनासर्वरूपिद्रव्यविषयावुक्तौ तथोत्कृष्टावधिरपि आहोश्वित्सर्वमपि रूपिद्रव्यमसौ पश्यतीत्याशङ्क्याह ।

एगपएसोगाढं, परमोही लहइ कम्मगसरीरं ।

लहइ य अगुरुलहुयं, तेयसरीरे भवपुहुत्तं ॥

एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाढं स्थितमेकप्रदेशावगाढं परमाणुद्व्यणुकाद्यनन्ताणुस्कन्धपर्यन्तं सर्वमपि द्रव्यम्। परमश्चासावधिश्च परमावधिरुत्कृष्टावधिरित्यर्थः । लभते पश्यति । तथा कार्मणशरीरं च लभते । औहिकप्रदेशावगाढमिति । सामान्योक्तौ कथं परमाणुद्व्यणुकादिकं द्रव्यं गम्यते । यावता एकप्रदेशावगाढं कार्मणशरीरमित्युपात्तमेव कस्मान्न योज्यते । नैवं कार्मणशरीरस्यासंख्येयप्रदेशावगाहित्वेनैकप्रदेशावगाहत्वासंभवादिति । अगुरुलघु च द्रव्यं सर्वमपि परमावधिः पश्यति । चशब्दात् गुरुलघु च सर्वं पश्यति। आत्यपेक्षं चैकवचनमन्यथा ह्येकप्रदेशावगाढानि कार्मणशरीराण्यगुरुलघूनि गुरुलघूनि च सर्वाण्यपि द्रव्याण्यसौ पश्यतीत्यवगन्तव्यमिति । तथा तैजसशरीरविषयेऽवधौ कालतो भवपृथक्त्वं परिच्छेद्यतयाऽवगन्तव्यम् । एतदुक्त

भवति । यस्तैजसशरीरं पश्यति स कालतो भवं पृथक्त्वं च जानाति । तैजसमारभ्य यावत्कर्मद्रव्यं सर्वमपि भाषाद्रव्यम् । इह च य एव हि प्राक् तैजसं पश्यतः पल्योपमसंख्येयभागरूपोऽसंख्येयः कालोऽभिहितः । स एवानेन भवपृथक्त्वेन विशेष्यते । इदमपि च भवपृथक्त्वं तेनासंख्येयकालेन विशेष्यते । भवपृथक्त्वमध्य एव स पल्योपमासंख्येयभागः कालो नाधिकः एतन्मध्य एव च भवपृथक्त्वं न बहिस्तादिति । आह । नन्वेकप्रदेशावगाढस्य परमाण्वादेरतिसूक्ष्मत्वात्तदुपलम्भे बादराणां कार्मणशरीरादीनामुपलम्भो गम्यत एवेति व्यर्थस्तेषां पृथगुपन्यासोऽथवा एकप्रदेशावगाढमित्ययि न वक्तव्यम् । रूपगतं लभते सर्वमित्यस्य वक्ष्यमाणत्वादशोच्यते । यः सूक्ष्मं परमाण्वादि पश्यति तेन बादरं कार्मणशरीराद्यवश्यमेव द्रष्टव्यं यो वा बादरं पश्यति तेन सूक्ष्ममवश्यं ज्ञातव्यमित्ययं न कोऽपि नियमो यस्मा "तेयाभासा दव्वाणमंतरेत्यादि" । वचनाद्गुरुलघुद्रव्यं पश्यन्नप्यवधिर्न गुरुलघूपलभ्यते । अन्यच्चातिस्थूलमपि घटादिकं च मनःपर्यायज्ञानी मनोद्रव्याण्यपि सूक्ष्माणि पश्यति चिन्तनीयं घटादिस्थूलमपि न पश्यति । एवं विज्ञानविषयवैचित्र्यसंभवे सति संशयव्यवच्छेदार्थमेकप्रदेशावगाढग्रहणे सत्यपि विशेष्यविशेषणोपादानमदोषायैवेति । अथ च एकप्रदेशावगाढग्रहणेन परमाण्वादिद्रव्यं गृहीतम् । शेषं तु कार्मणवर्गणापर्यन्तं कार्मणशरीरग्रहणेनोपलक्षितं कर्मवर्गणोपरितनद्रव्यं तु सर्वमप्यगुरुलघुग्रहणेन संगृहीतम् । च शब्दसूचितागुरुलघुग्रहणे । ननु घटपटभूभूधरादिकं गृहीतमित्येवं समस्तपुद्गलास्तिकायविषयत्वं परमावधेराविष्कृतं भवति । एवं च सति रूपगतं लभते सर्वमित्येतद्वक्ष्यमाणमस्यैव नियमार्थं द्रष्टव्यमेवेत्येतदेव हि रूपगतं नान्यदित्यत्र प्रपञ्चेनेति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

एगपएसोगाढं, पेच्छइ पेच्छइ कम्म यत्तणुं पि ।
अगुरुलहू दव्वाणि य, वसहओ गुरुलहूइं पि ॥
ते य सरीरं पासं, पासइ सो भवपुहुत्तमेगभवे ।
णेगेसुं बहुतरए, समरिज्ज न उ ण सई सव्वे ॥

गतार्थ एव । नवरम् (एगभवेत्ति) एकस्मिन् विवक्षितभवे समुत्पन्नेऽवधौ अतीतमनागतं च पृथग्भवपृथक्त्वं पश्यति (णेगेसुमित्यादि) यदि पुनस्तस्याप्यतीतभवपृथक्त्वस्य मध्ये अनेकेषु भवेष्ववधिज्ञानमुत्पन्नं स्यात्तदा तेन पूर्वावधिना दृष्टान् भवपृथक्त्वादधिकानपि च बहुतरानतीतानागतभवान् स्मरेत् । स्मृतिज्ञानेन जानीयात् । न तु पृथक्त्वान्तर्वर्तिन इव तान् सर्वान् साक्षादवधिज्ञानेन पश्यति । भवपृथक्त्वमात्रमेव साक्षात्पश्यतीति भावः ॥

अत्र प्रेरकः प्राह ॥

एगपएसोगाढे, भणिए किं कम्म यं पुणो भणियं ।
एगपएसोगाढे, दिट्ठे का कम्मए चिंता ॥
अगुरुलहुगहणं पि य, एगपएसावगाहओ सिद्धं ।
सव्वयासिद्धमिओ, रूवगयं भणइ सव्वं पि ॥

गतार्थैव । नवरमेकप्रदेशावगाढे भणिते किमिति । कार्मणशरीरं पुनरप्यवधिविषयत्वेन भणितम् । कुतः कारणात्पुनर्न भणनीयमित्याह (एगपएसोगाढे दिट्ठे इत्यादि) दोषमनिगूढार्थमेवेति । अत्र गुरुराह ॥

एगोगाढे भणिए, विसेसओ सेसए जहारंभे ।
सएहयरं पिच्छंतो, थूलयरं न मुणइ घडाई ॥
जह वा मणो विओ न-त्थि दंसणं सेसए ति थूले वि ।
एगोगाढे गहिए, तह सेसे संसओ होज्जा ॥

उपसंहरन्नाह ॥

इय नाणविसयवइ चि-त्त संभवे संसयावणो यत्थ ।
भणिए वेगोगाढे, केइ विसेसे पयस्संति ॥

केचित्कार्मणशरीरागुरुलघ्वादीन् विशेषान् प्रदर्शयन्ति भद्रबाहुस्वामिन इति । प्रकारान्तरेण समाधानमाह ॥

एगोगाढग्गहणे, गुणादओ कम्मियं ति जा सव्वं ।
तदुवरिं अगुरुलहुइं, च सद्दओ गुरुलहूइं पि ॥
एवं वा सव्वाइं, गहियाइं तेसिं देवनियमत्थं ।
सव्वरूवगयंति य, एवं चिय नावरमउत्थि ॥

नियममेव दर्शयति (एवंचिय इत्यादि) एतदेव परमाण्वादिकं रूपगतं नातः परं किमपि रूपगतमस्तीति गाथानवकार्थः । तदेवं परमावधेर्द्रव्यतो विषय उक्तः । अथ क्षेत्रकालौ तद्विषयभूतौ प्राह ।

परमोहि य संखेज्जा, लोगमित्ता समा असंखेज्जा ।
रूवगयं लहइ सव्वं, खेत्तोवमियं अगणिजीवा ।

परमश्चासाववधिश्च परमावधिः । क्षेत्रतोऽसंख्येयानि लोकमात्राणि खण्डानीति गम्यते । लभत इति संबन्धः । कालतस्तु समा उत्सर्पिण्यवसर्पिणीरसंख्येया एव लभते । द्रव्यतस्तु रूपगतं मूर्तद्रव्यजातं सर्वं परमाण्वादिभेदभिन्नं पुद्गलास्तिकायमित्यर्थः । लभते पश्यति । भावतस्त्वसंख्येयांस्तत्पर्यायानिति । बहुकमसंख्येयानि लोकमात्राणि खण्डानि परमावधिः पश्यतीति तदसंख्येयकं न्यूनमधिकं च संभवेदतो नियतमानार्थमाह । उपमानमुपमितमावे निष्ठाप्रत्ययः क्षेत्रस्योपमितं क्षेत्रोपमितं प्रागभिहिता एवाग्निजीवाः । इदमुक्तं भवति । उत्कृष्टावधेर्विषयत्वेन क्षेत्रतो येऽसंख्येया लोकाः प्रोक्तास्ते प्रागभिहितस्वावगाहनाव्यवस्थापितोत्कृष्टसंख्येयसूक्ष्मबादराग्निजीवसूच्या परमावधिमतो जीवस्य सर्वतो भ्राम्यमाणया यत्प्रमाणं क्षेत्रं व्याप्यते तत्प्रमाणाः समवसेया इति । आह । ननु रूपगतं लभते सर्वमित्येतदनन्तरगाथायामर्थतोऽभिहितमेवेति किमर्थं पुनरत्राभिहितमत्रोच्यते । विस्मरणशीलस्य प्रेर्यमिदम् अप्रतिविहितत्वादथवा । अत्र रूपगतमित्येतत्प्रस्तुतक्षेत्रकालद्रव्यविशेषणतया व्याख्यायते । तद्यथा । लोकमात्रासंख्येयखण्डासंख्यातोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणं प्रस्तुतक्षेत्रकालद्वयं रूपगतं रूपिद्रव्यानुगतमेव लभते । नतु केवलं क्षेत्रकालयोरमूर्तत्वादवधेस्तु रूपिद्रव्यविषयत्वादिति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

खित्तमसंखेज्जाइं, लोगसमाइं समा उ कालं च ।
दव्वं तु सव्वरूवं, पासइ तेसिं वएज्जाए ॥

क्षेत्रमवधिः पश्यति कियदित्याह । असंख्येयानि लोकसमानि लोकतुल्यानि खण्डानीति गम्यते । कालं चासौ पश्यति । कियन्तमित्याह । समा उत्सर्पिणीः असंख्येया इति लिङ्गव्यत्ययेनात्रापि संबध्यते । द्रव्यं तु सर्वरूपं पश्यति । भावं तु तेषामेव रूपिद्रव्याणां पर्यायान् वक्ष्यमाणसंख्येयान् जानाति ।

अथ प्रेरकः प्राह ।

खेत्तोवमाणमुत्तं, जमगणिजीवेहिं किं पुणो भणियं ।

तं चिय संखाइयायं, लोगमित्ताइ निदिट्ठं ॥

आह । ननु यदाग्निजीवैः क्षेत्रोपमानमक्षेत्रोपमितं तन्निर्युक्तिकृता " सव्वबहुअगणिजीवा निरंतरं जत्तियं भरिज्जंसु " इत्यादिगाथायां प्रागेवोक्तं प्रतिपादितं किमर्थं पुनरप्यत्र " खेत्तोवमिअं अगणिजीवा " इत्यनेन गाथावयवेन भणितम । अत्रोत्तरमाह । (तं चियेत्यादि) तदेव प्रागुक्तमाग्निजीवैः क्षेत्रोपमानं क्षेत्रोपमितमिह परमो हि " असंखेज्जा " इत्यादिवचनादलोके लोकमात्राणि संख्यातीतानि खण्डानि भवन्तीति नियतमानतया निर्दिष्टम् । न पुनरपूर्वतयेति भावः । इह " रूवगयलहइ सव्वमि" त्येतद्भाष्यकृता " दव्वं तु सव्वरूवं पासइ " इति वचनादवधेर्द्रव्यतो विषयप्रतिपादनपरं व्याख्यानम । अथ " एगपएसोगाढमि " त्यादिनैव द्रव्यतोऽवधिविषयस्योक्तत्वात् क्षेत्रकालयोरेव विशेषत्वलक्षणेन प्रकारान्तरेण व्याख्यातुमाह ।

अहवा दव्वं भणिअं, इह रूवगयं ति खेत्तकालदुगं ।

रूवाणगयं पेच्छइ, न य तं चिय तं जओ अमुत्तं ॥

अथवा " एगपएसोगाढं परमोही लहइ कम्मगसरीर " मित्यादिनैवावधिविषयभूतं द्रव्यं भणितमतो रूपगतं लभते । सर्वमित्येतदवधेर्द्रव्यतो विषयाभिधायकतया न व्याख्यायते । तर्हि कथमिदं नीयत इत्याह (इहेत्यादि) इह यदसंख्येयलोकखण्डमासंख्यातोत्सर्पिण्यवसर्पिणीलक्षणं क्षेत्रकालद्वयमवधिविषयत्वेनोक्तं तद्रूपगतमिति रूपगतं लभते । सर्वं कोऽर्थ इत्याह । रूपानुगतं तत्स्थरूपिद्रव्याणां दर्शनात् रूपिद्रव्यसंबन्धमेव प्रेक्षते । न पुनस्तदेव क्षेत्रकालद्वयं केवलं पश्यति । यतस्तदमूर्तममूर्तविषयश्चावधिरिति । अथ विनेयानुग्रहार्थं प्रासङ्गिकं किञ्चिदभिधित्सुर्वक्ष्यमाणं च संबन्धयितुमाह ॥

परमोहिश्राणविओ, केवलिमन्तो मुहुत्तमित्तेण ।

मणुयक्खओवसमिओ, भणिओ तिरियाण वोच्छामि ॥

परमावधिज्ञानेन वेत्तीति परमावधिज्ञानवित् तस्य परमावधिज्ञानविदः । परमावधौ समुत्पन्ने सति कियान्तर्मुहूर्तेनाश्यमेव केवलज्ञानमुत्पद्यते । केवलज्ञानसूर्यस्य ह्युदयपदवीमासादयतः प्रथमप्रभास्फोटकल्पं परमावधिज्ञानमतस्तदनन्तरमवश्यं भवत्येव केवलज्ञानभास्करोदयमिति । तदेवं भणितो मनुष्यसंबन्धी क्षायोपशमिकोऽवधिरिदानीं तिरश्चामनुवक्ष्यामीति गाथाचतुष्टयार्थः । यथाप्रतिज्ञातमेवाह ।

आहारतेयलंभो, उक्कोसेणं तिरिक्खजोणीसु ।

गाउय जहन्नमोही, नरएसु य जोयणुक्कोसो ॥

आहारकतैजसयोरुपलक्षणत्वाद्यान्यौदारिकवैक्रियाहारकतैजसद्रव्याणि यानि च तदन्तरालेषु तद्योग्यानि द्रव्याणि तेषां लाभः परिच्छेदः उत्कृष्टतस्तिर्यग्योग्यानि मत्स्यादिषु भवन्ति । एतद्द्रव्यानुसारेण क्षेत्रकालभावाः स्वयमभ्यूह्या इति । तदेवं यदुक्तम । " काउं भवपच्चइया खओवसमियाउकाओ वि" तत्र क्षायोपशमिकप्रकृतयोऽभिहिताः । विशे० ।

(११) भवप्रत्ययाद्देवनारकाणाम ।

अथ भवप्रत्ययाः प्रतिपाद्यास्ताश्च सुरनारकाणां भवन्ति । तत्राल्पवक्तव्यत्वात्प्रथमं नारकाणामाह (गाउएत्यादि) नरकेषु पुनर्नारकाणामुत्कृष्टावधिः । क्षेत्रतो योजनं पश्यति जघन्यतस्तु गव्यूतं तच्च योजनप्रमाणो रत्नप्रभायां गव्यूतमानस्तु सप्तमपृथिव्यां द्रष्टव्यमिति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

ओरालिय वेउव्विय, आहारगतेयगाइ तिरिएसु ।

उक्कोसेणं पिच्छइ, जायं च तदंतरालेसु ॥

भणिओ खओवसमिओ, भवपच्चइओ सचरिमपुढवीए ।

गाउयमुक्कोसेणं, पढमाए जोयणं होइ ॥

गतार्थे एव । नवरं भणितः क्षायोपशमिकोऽवधिः अथ भवप्रत्ययो भण्यते (स चरिमपुढवीएत्ति) सचरमायां सप्तमपृथिव्यामुत्कृष्टतो गव्यूतं प्रथमायां योजनं भवतीति । विशे० ।

णेरइया णं भंते ! केवतियं खित्तं ओहिणा जाणंति पासंति ? गोयमा ! जहन्नेणं अद्धगाउयं उक्कोसेणं चत्तारि गाउया तं ओहिणा जाणंति पासंति ॥

' नेरइयाणमित्यादि ' सुगमं नवरं जघन्येनार्द्धगव्यूतमिति । सप्तमपृथिव्या जघन्यपदमपेक्ष्य उत्कर्षतश्चत्वारि गव्यूतानि रत्नप्रभायां गव्यूतपदमाश्रित्य ।

(१२) अधुना प्रतिपृथिवीविषयं चिन्तयन्नाह ।

रयणप्पभापुढविणेरइया णं भंते ! केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति ? गोयमा ! जहन्नेणं अद्धुट्ठाइं गाउयाइं उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं । ओहिणा जाणंति पासंति । सक्करप्पभा पुढवी णेरइया जहन्नेणं । तिन्नि गाउयाइं उक्कोसेणं अद्धुट्ठाइं ओहिणा जाणंति पासंति । वालुयप्पभापुढविणेरइया जहन्नेणं अड्ढाइज्जाइं गाउयाइं उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं ओहिणा जाणंति पासंति । पंकप्पभा पुढविणेरणिया जहन्नं दोणिह गाउयाइं उक्कोसेणं अड्ढाइज्जाइं गाउयाइं ओहिणा जाणंति पासंति । धूमप्पभापुढविणेरइयाणं पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं दिवड्ढं गाउयं उक्कोसेणं दो गाउयाइं ओहिणा जाणंति पासंति । तमापुढवि पुच्छा, गोयमा ! जहन्नेणं गाउयं उक्कोसेणं दिवड्ढं गाउयं ओहिणा जाणंति पासंति । अहे सत्तमाए पुच्छा, गोयमा ! जहन्नं अद्धगाउय उक्कोसेणं गाउयं ओहिणा जाणंति पासंति ॥ प्रज्ञा० ३५ पद । विशे० ।

तदेवं सामान्येन नारकजातिमधिकृत्याभिहितमुत्कृष्टमवधिक्षेत्रप्रमाणम । अथ तदेव रत्नप्रभादिपृथिवीविभागेनाह ।

चत्तारिगाउआइं, अद्धुट्ठाइं तिगाउयं चेव ।

अड्ढाइज्जा दोन्निय, दिवड्ढमेगं च नरएसु ॥

इह रत्नप्रभायां नरकावासेषु नारकाणां चत्वारि गव्यूतान्युत्कृष्टमवधिक्षेत्रप्रमाणं भवति । शर्कराप्रभायां त्वर्द्धं चतुर्थस्य येषु तान्यर्द्धचतुर्थानि गव्यूतानि, वालुकाप्रभायां गव्यूतत्रयं, पङ्कप्रभायामर्द्धं तृतीयस्य येषु तान्यर्द्धतृतीयानि गव्यूतानि, धूमप्रभायां द्वे गव्यूते, तमायां द्वितीयस्यार्द्धं यत्र तदद्ध्यर्धं गव्यूतं, सप्तमपृथिव्यां पुनर्नरकेषु नारकाणामेकगव्यूतमुत्कृष्टमवधिक्षेत्रप्रमाणं भवतीति निर्युक्तिगाथार्थः । सप्तस्वपि पृथिवीषु प्रत्येकमुत्कृष्टादवधिक्षेत्रप्रमाणादर्द्धगव्यूते अपनीते जघन्यमवधिक्षेत्रप्रमाणं भवति । तच्च निर्युक्तिकृता नोक्तमतो भाष्यकारः प्राह ।

अद्धुट्ठाईयाई, जहएणयं अद्धगाउयं ताइ ।
जं गाउयं तिभणियं, तंपइ उक्कोसयजहएणं ॥

अर्द्धोत्कृष्टानि सार्धानि त्रीणि गव्यूतानि रत्नप्रभायां जघन्यमवधिक्षेत्रप्रमाणं शर्कराप्रभायां त्रीणि गव्यूतानि । वालुकाप्रभायामर्द्धतृतीयानि, पङ्कप्रभायां द्वे । धूमप्रभायां सार्द्धं, तमायां गव्यूतं, सप्तमपृथिव्यामर्धगव्यूतं, जघन्यमवधिक्षेत्रप्रमाणम् । उक्तं च । अत्र च पूर्वम् (रयणप्पभेत्यादि) आह । यद्येवमर्धगव्यूतं जघन्यमवधिक्षेत्रं तर्हि "गाउयजहएणमोही नरएसुय" इत्येतद् व्याहन्यत इत्याह (जं गाउयमित्यादि) यत् गव्यूतं जघन्यमुक्तं तदुत्कृष्टमध्ये यज्जघन्यं तत्प्रति तदाश्रित्योक्तमित्यदोषः । इदमुक्तं भवति । सप्तस्वपि पृथिवीषु यद्गव्यूतचतुष्टयादिकमुत्कृष्टमवधिक्षेत्रं तन्मध्ये सप्तमपृथिवीनारकाणां गव्यूतलक्षणमवधिक्षेत्रं स्वस्थानमुत्कृष्टमपि शेषपृथिव्युत्कृष्टापेक्षया सर्वस्तोकत्वाज्जघन्यमुक्तमिति । गाथार्थः । विशे० ।

असुरादिविषयक्षेत्रज्ञानम् ।

असुरकुमाराणं भंते ! ओहिणा केवतियं खेत्तं जाणंति पासंति । गोयमा ! जहएणेणं पणवीसं जोयणाइं उक्कोसेणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे ओहिणा जाणंति पासंति । नागकुमाराणं जहन्नेणं पणवीसं जोयणाइं उक्कोसेणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे ओहिणा जाणंति पासंति । एवं जाव थणियकुमारा पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति । गोयमा ! जहन्नं अंगुलस्य असंखेज्जइभागे उक्कोसेणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे मणुस्सा णं भंते ! ओहिणा केवतियं खेत्तं जाणंति पासंति । गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोए लोयप्पमाणमेत्ताइं खंमाइं ओहिणा जाणंति पासंति । वाणमंतरा जहा नागकुमारा । जोइसियाणं भंते ! केवतियं ओहिणा जाणंति पासंति । जहन्नेण वि संखेज्जे दीवसमुद्दे उक्कोसेण वि असंखेज्जे दीवसमुद्दे सोहम्मदेवा णं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति । गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्य असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते तिरियं जाव असंखेज्जे दीवसमुद्दे उड्ढं जाव सयाइं विमाणाइं ओहिणा जाणंति पासंति । एवं ईसाणगदेवा वि सणंकुमारदेवा वि एवं चेव नवरं अहे जाव दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए हिट्ठिल्ले चरिमंते । एवं माहिंदगदेवा वि । बंभलोगलंतगदेवा तच्चाए पुढवीए हिट्ठिल्ले चरिमंते । महासुक्कसहस्सारदेवा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हिट्ठिल्ले चरिमंते । आणयपाणयआरणअच्चुयदेवा अहे जाव । पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते । हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जगदेवा अहे जाव छट्ठीए तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते उवरिमगेविज्जगदेवाणं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति । गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं उक्कोसेणं । अहे सत्तमाए पुढवीए हेट्ठिल्ले चरिमंते । तिरियं जाव असंखेज्जदीवसमुद्दे उड्ढं जाव सयाइं विमाणाइं ओहिणा जाणंति पासंति । अणुत्तरोववाइयदेवाणं भंते ! केवइयं खेत्तं ओहिणा जाणंति पासंति । गोयमा ! संभिन्नलोगनालिं ओहिणा जाणंति पासंति ॥

भवनपतिव्यन्तराणां जघन्यपदे यानि पञ्चविंशतियोजनानि तानि येषां सर्वजघन्यं दशवर्षसहस्रं प्रमाणमायुस्तेषां द्रष्टव्यानि न शेषाणामाह । च भाष्यकृत् "पणवीस जोयणाइं, दसवाससहस्सिया ठिई जेसिमिति" मनुष्यचिन्तायामुत्कृष्टपदे यान्यलोके लोकप्रमाणमात्राणि खण्डानि तानि परमावधिमपेक्ष्य द्रष्टव्यानि । तस्यैवैतावद्विषयसंभवात् । एतत्सामर्थ्यमात्रमुपवर्ण्यते । यद्येतावति क्षेत्रे द्रष्टव्यं भवति तर्हि पश्यति यावदिह स्कन्धानेव पश्यति । यदा पुनरलोकेऽपि प्रसरमवधिरधिरोहते । यथा यथाऽभिवृद्धिमासादयति । तथा तथा लोके सूक्ष्मान् सूक्ष्मतरान् स्कन्धान् पश्यति । यावदन्ते परमाणुमपि । उक्तं च । "सामत्थमेत्तमुत्तं, दट्ठव्वं जइ हवेज्ज पेच्छज्ज । नेवं तं तं तत्थइ, भिज्जउ सो रूविनिबंधणो भणिओ ॥ वड्ढंतो पुण ओहिं, लोगत्थं चेव पासई दव्वं । सुसुहयरं सुसुहयरं, परमोही जाव परमाणुं " इत्थभूतपरमावधिकलितश्च नियमादन्तर्मुहूर्तेन केवलालोकलक्ष्मीमालिङ्गति । यत उक्तं " परमोहीनाणविओ, केवलमंतो मुहुत्तमेत्तेण " इति वैमानिकानां यत् जघन्यपदेऽङ्गुलासंख्येयभागप्रमाणं क्षेत्रमुक्तं तत्र पर आह । नन्वङ्गुलासंख्येयभागमात्रक्षेत्रपरिमितोऽवधिः सर्वजघन्यो भवति । सर्वजघन्यश्चावधिस्तिर्यङ्मनुष्येष्वेव न शेषेषु यत आह । भाष्यकृत् स्वकृतटीकायाम् । उत्कृष्टो मनुष्येष्वेव नान्येषु मनुष्यतिर्यग्योनिष्वेव जघन्यो नान्येषु शेषाणां मध्यम एवेति । तत्कथमिह सर्वजघन्य उक्तः उच्यते । सौधर्मादिदेवानां पारभविकोऽप्युपपातकालेऽवधिः संभवति । स च कदाचित्सर्वजघन्योऽपि उपपातानन्तरं तु तद्भवजस्ततो न कश्चिद्दोषः आह । दुःखमन्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणः " वेमाणियाणमंगुल-भागमसंखं जहन्नओ होइ । उववाए परभविओ, तब्भवजो होइ तो पच्छा ॥ उड्ढं जाव सयाइं, विमाणा इति" ऊर्ध्वं यावत्स्वकीयानि विमानानि स्वकीयविमानस्तूपध्वजादिकं यावदित्यर्थः (संभिन्नलोगनालिन्ति) परिपूर्णचतुर्दशरज्ज्वात्मिकां लोकनाडीमिति भावः । प्रज्ञा० ३३ पद ।

पुनर्विशेषतस्तदेव दर्शयन्नाह ।

सक्केसाणा पढमं, दोच्चं च सणंकुमारमाहिंदा ।
तच्चं च बंभलंतग-सुक्कसहस्सारयचउत्थि ।
आणयपाणयकप्पे, देवा पासंति पंचमिं पुढविं ।
तं चेव आरणच्चुय, ओहीनाणेण पासंति ॥
छट्ठिमहेट्ठिममज्झिम-गेविज्जा सत्तमिं च उवरिल्ला ।
संभिन्नलोगनालिं, पासंति अणुत्तरा देवा ॥

तत्र शक्रश्चेशानश्च शक्रेशानौ सौधर्मेशानकल्पदेवेन्द्रौ तदुपलक्षिताश्चेह सौधर्मेशानकल्पनिवासिनः सामानिकादयो देवा अपि गृह्यन्ते । ते ह्यवधिना प्रथमां रत्नप्रभाभिधानां पृथिवीं पश्यन्तीति क्रिया द्वितीयगाथायां च वक्ष्यति । तथा द्वितीयां च पृथिवीमग्रतः संबध्यते । सनत्कुमारमाहेन्द्रावपि तृतीयचतुर्थ-

कल्पदेवाऽधिपौ। अत्रापि च तदुपलक्षितास्तत्कल्पनिवासिनः सामानिकादयो देवाः परिगृह्यन्ते। ते हि द्वितीयां पृथिवीमवधिना पश्यन्ति। तथा तृतीयां च पृथिवीं ब्रह्मलोकलान्तकदेवेन्द्रोपलक्षितास्तत्कल्पनिवासिनो देवाः सामानिकादयः पश्यन्ति। तथा शुक्रसहस्रारसुरेन्द्रोपलक्षितास्तत्कल्पवासिनोऽन्येऽपि सामानिकादयो देवाश्चतुर्थीं पृथिवीं पश्यन्ति। तथा आनतप्राणतयोः संबन्धिनो देवाः पश्यन्ति। पञ्चमीं पृथिवीं तामेवारणाच्युतदेवलोकयोः संबन्धिनो देवा विशुद्धतरां बहुपर्यायां चावधिज्ञानेन पश्यन्ति। स्वरूपकथनमेवेदं न तु व्यवच्छेदकमत्र अवधिज्ञानस्यैवेह विचारयितुं प्रस्तुतत्वाद् व्यवच्छेद्याभावादिति। लोकपुरुषग्रीवास्थाने भवानि विमानानि ग्रैवेयकाणि तत्राधस्त्यमध्यमग्रैवेयका विमानवासिनो देवा अधस्त्यमध्यग्रैवेयका उच्यन्ते। ते तमःप्रभाभिधानां पृथिवीं पश्यन्ति। तथा सप्तमीं च पृथिवीमुपरितनग्रैवेयका देवाः पश्यन्ति। ततः संभिन्नां चतसृष्वपि दिक्षु स्वज्ञानेन व्याप्तां कन्याचोलकसंस्थानां लोकनाडीमवधिना पश्यन्ति। अनुत्तरविमानवासिनो देवाः एष क्षेत्रतो नारकाणां देवानां च भवप्रत्ययावधेर्विषय उक्तः। एतदनुसारतो द्रव्यादयोऽप्यवसेया इति। तदेवमधो वैमानिकावधिक्षेत्रप्रमाणं प्रतिपाद्य तिर्यगूर्ध्वं च तत्प्रतिपादयन्नाह।

एएसिमसंखेज्जा, तिरियं दीवा य सागरा चेव।
बहुवहुयरमुवरिमग्गा, उड्ढं च सकप्पथूभाई ॥

एतेषां शक्रादीनामसंख्येयाः तिर्यग्द्वीपाश्च जम्बूद्वीपादयः समुद्राश्च लवणसागरादयः क्षेत्रतोऽवधिपरिच्छेद्यतयाऽवसेया इति वाक्यशेषः। तदेवं द्वीपसमुद्रासंख्येयकं बहु बहुतरकं पश्यति। उपरिमा एवोपरिमकाः उपर्युपरिवर्तिदेवलोकनिवासिनो देवा इत्यर्थः। तथा ऊर्ध्वं स्वकल्पस्तूभादेव यावत् क्षेत्रं ते पश्यन्ति न परतः आदिशब्दात् ध्वजादिपरिग्रह इति तदेवं वैमानिकानामवधिक्षेत्रमानमभिधायेदानीं सामान्यतस्तद्वर्ज्यं देवानां प्रतिपादयन्नाह।

संखेज्जा जोयणा खलु, देवाणं अद्धसागरे ऊणे।
तेण परमसंखिज्जा, जहन्नयं पन्नवीसं तु ॥

देवानामर्धसागरोपमे न्यूने आयुषि सति संख्येयानि योजनानि अवधिपरिच्छेद्यक्षेत्रमवसेयं ततः परं संपूर्णार्धसागरोपमादिके आयुषि सति पुनरसंख्येयानि योजनान्यवधिक्षेत्रमवगन्तव्यम्। उक्तमुत्कृष्टमवधिक्षेत्रमथ जघन्यमाह (जहन्नमित्यादि) दशवर्षसहस्रस्थितीनां भवनपतिव्यन्तराणां जघन्यमवधिक्षेत्रं पञ्चविंशतियोजनं ज्योतिष्कवैमानिकानां तु जघन्यं भाष्यकार एव वक्ष्यतीति निर्युक्तिगाथापञ्चकार्थः।

अथाऽनन्तरगाथाभाष्यम्।

वेमाणियवज्जाणं, सामन्नमिणं तहा वि उ विसेसो।
लब्भइ तिरियम्मि य, सट्ठाणवसेण विन्नेओ ॥

इदं च "संखेज्जयोजणाखलुइत्यादि" कमवधिक्षेत्रप्रमाणं वैमानिकवर्ज्यानां भवनपत्यादिदेवानां सामान्यमविशेषेण द्रष्टव्यम्। तथापि तूर्ध्वमवधिः तिर्यक्त्वं तेषां देवानां कयाचिद्दिशा हीनाधिकावधिक्षेत्रलक्षणो यो विशेषः स इहैव। " तप्पागारे पल्लगपडहगेत्यादि " वक्ष्यमाणावधिक्षेत्रसंस्थानवशेन विज्ञेय इति। अत्र यदुक्तम् " जहन्नयं पन्नवीसं तु " तद्विवृणवन्नुक्तम्। अधुना ज्योतिष्कवैमानिकानां जघन्यमवधिक्षेत्रमभिधित्सुराह।

पणवीसजोयणाइं, दसवरिससहस्सिया ठिई जेसिं।
दुविहो वि जोइसाणं, संखेज्जो ठिइविसेसेणं ॥
वेमाणियाणमंगुल-भागमसंखं जहन्नओ होइ।
उववाए परभविओ, तब्भवजो होइ तो पच्छा ॥

पञ्चविंशतियोजनानि यज्जघन्यमवधिक्षेत्रमुक्तं तदेषां देवानां दशवर्षसहस्रप्रमाणा स्थितिः तेषामेव विज्ञेयम्। ते च भवनपतिव्यन्तरविशेषा एव ज्योतिष्काणां पुनर्जघन्य उत्कृष्टश्च द्विविधोऽप्यवधिः स्थितिविशेषेण क्षेत्रतः संख्येयान्येव योजनानि विज्ञेयानि इदमुक्तं भवति। ज्योतिष्काणां जघन्यतोऽपि पल्योपमाष्टभागस्थितिर्न तु दशवर्षसहस्राणि। उत्कृष्टतस्तु वर्षलक्षाधिकं पल्योपममतो बह्वायुष्कत्वेन महर्द्धिकत्वादुत्कृष्टं तज्जघन्योऽप्यवधिस्तेषां संख्येयान्येव योजनानि भविष्यन्ति। केवलं जघन्यक्षेत्रादुत्कृष्टं बृहत्प्रमाणं द्रष्टव्यम्। " संखेज्जजोयणा खलु देवानामित्यादि" नैषामीषामुत्कृष्टमवधिक्षेत्रमुक्तं केवलं जघन्यभणनप्रस्तावात् पुनरपि तदुक्तमित्यदोषः। वैमानिकानां तु जघन्योऽवधिः क्षेत्रतोऽङ्गुलासंख्येयमानो भवति। अयं चोत्पादसमय एव पारभाविको विज्ञेयः ततः पश्चात्तावद्भाविक इति गाथात्रयार्थः। ७०१। अथायमेवावधिर्येषामुत्कृष्टादिभेदभिन्नो भवति। तानुपदर्शयन्नाह।

उक्कोसो मणुएसुं, मणुस्सतेरिच्छिएसु य जहन्नो।
उक्कोसलोगमित्तो, पडिवाइ परं अपडिवाइ ॥

इह द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्चोत्कृष्टोऽवधिर्मनुष्येष्वेव न देवादिषु। तथा मनुष्यास्तिर्यञ्चश्च तेष्वेव जघन्यो न तु सुरनारकेषु तत्र चोत्कृष्टोऽवधिर्द्विविधो लोकगतोऽलोकगतश्च तत्र योऽसौ समस्तलोकमात्रदर्शी उत्कृष्टः मात्रशब्दोऽलोकव्यवच्छेदार्थः स प्रतिपतनशीलः प्रतिपाती अप्रतिपाती च भवति। ततः परं येनालोकस्यैकोऽप्याकाशप्रदेशो दृष्टः सोऽप्रतिपात्येव भवति। क्षेत्रपरिमाणद्वारेऽपि प्रस्तुते प्रसङ्गतो विनेयानुग्रहार्थं प्रतिपात्यप्रतिपातिस्वरूपाभिधानमित्यदोषः। इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥७०२॥ उक्तं क्षेत्रपरिमाणद्वारम्। विशे० ॥

(१३) अथ संस्थानद्वारमभिधित्सुराह ॥

थिबुगागारजहन्नो, वट्टो उक्कोसमायओ किंचि।
अजहन्नमणुक्कोस य, खेत्तओ अणेगसंठाणो ॥

स्तिबुको बिन्दुरुच्यते। तदाकारो जघन्यावधिर्भवति। एतदेवाह (वट्टोत्ति) सर्वतो वृत्त इत्यर्थः। " जावइया तिसमयाहारगस्सेत्यादिना " प्रतिपादितस्य पनकावगाहनाक्षेत्रस्य एतदाकारत्वादिति। उत्कृष्टावधिस्तु परमावधिः किञ्चिदायतः किमपि प्रदीर्घो न तु सर्वथा वृत्त इत्यर्थः अग्निजीवसूचेरवधिमच्छरीरस्यापादमस्तकान्तं भ्रम्यमाणाया एतदाकारभावादिति। अजघन्योत्कृष्टो न जघन्यो नाप्युत्कृष्टो मध्यम इत्यर्थः। अयं पुनः क्षेत्रतः अनेकानि संस्थानानि यस्येत्यनेकसंस्थानो भवतीति निर्युक्तिगाथार्थः ७०३

अथ भाष्यम् ॥

पणओ थिबुयागारो, तेण जहन्नावही तयागारो।
इयरो सेढिपरिक्खे, व ओवउसहाणुवत्तीए ॥ ७०४ ॥

इतर उत्कृष्टः अवधिमत्स्वदेहानुवृत्याग्निजीवश्रेणिपरिक्षेपात्किञ्चिदायत इति शेषः। शेषं सुगमम्। ७०४। विशे० ॥

अथ मध्यमावधेर्यदनेकसंस्थानत्वमुक्तं तद्विशेषतो दर्शयन्नाह ॥

नेरइयाणं भंते ! ओहि किं संठिए पम्मत्ते ? गोयमा ! तप्पगारसंठिए पम्मत्ते । असुरकुमाराणं पुच्छा । गोयमा ! पल्लगसंठिए । एवं जाव थणियकुमाराणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! नाणासंठाणसंठिए पम्मत्ते? एवं मणुस्साणं वि वाणमंतराणं पुच्छा । गोयमा ! पमहसंठाणसंठिए पम्मत्ते ? जोइसियाणं पुच्छा । गोयमा ! झल्लरिसंठाणसंठिए पम्मत्ते ? सोहम्मगदेवाणं पुच्छा । गोयमा ! उड्ढमुइंगारसंठिए पम्मत्ते ? एवं अच्चुयदेवाणं गेवेज्जयदेवाणं पुच्छा । गोयमा ! पुप्फचंगेरिसंठिए पम्मत्ते? अणुत्तरोववाइयाणं पुच्छा । गोयमा ! जवनालिया संठिए ओही पम्मत्ते ॥ प्रज्ञा० ३३ पद ॥

तप्पागारे पल्लग-पडहगझल्लरीमुइंगपुप्फजवे ।
तिरियमणुएसु ओही, नाणाविहसंठिओ भणिओ ॥

तत्र उडुपकस्तस्येवाकारो यस्यासौ तप्राकारोऽवधिर्नारकाणां मन्तव्यः । तप्रश्च किलायतत्र्यस्रो भवति । पल्लको धान्याधारभूतो-ऽत्रैव प्रतीतः स चोर्ध्वायतः । उपरि च किंचित्संक्षिप्तस्तदाकारोऽवधिर्भवनपतीनां पटहक आतोद्यविशेषः प्रतीत एव स च नात्यायतोऽध उपरि च समः तदाकारोऽवधिर्व्यन्तराणां उभयतो विस्तीर्णचर्मावनद्धमुखो मध्ये संकीर्णो ढक्कालक्षण आतोद्यविशेषो झल्लरी तदाकारोऽवधिर्ज्योतिष्काणां मृदङ्गोऽप्यातोद्यमेव स चोर्ध्वायतोऽधोविस्तीर्ण उपरि च तनुकस्तदाकारोऽवधिः सौधर्माद्यच्युतान्तकल्पनिवासिदेवानां पुप्फेति सूचनात् सूत्रमिति कृत्वा समशिखापुष्पभृता चङ्गेरी पुष्पचङ्गेरी परिगृह्यते । तदाकारोऽवधिर्ग्रैवेयकविमानवासिदेवानां (जवेत्ति)यवो यवनालकः स च कन्याचोलकोऽवगन्तव्यः । अयं च मरुमण्डलादिप्रसिद्धश्चरणकरूपेण कन्यापरिधानेन सह सीवितो भवति । येन परिधानं न खिसति कन्यानां मस्तकक्षेपेणायं प्रक्षिप्यते । अयं चोर्द्धः सरकञ्चुक इति व्यपदिश्यते । एतदाकारोऽवधिरनुत्तरसुराणां भवति । तिर्यग्मनुष्येषु पुनरवधिर्नानाविधसंस्थानो भवति । यथा हि स्वयंभूरमणमत्स्याः सर्वैरप्याकारैः समये भणितास्तथा तिर्यग्मनुष्येष्ववधिरपि किं च स्वयंभूरमणमत्स्यानां वलयाकारता निषिद्धा । तिर्यग्मनुष्याणां पुनरवधिस्तदाकारोऽपि भवतीति निर्युक्तिगाथार्थः । ७५० ।

अथ भाष्यम् ।

नेरइयभवणवणयर-जोइसकप्पालयाण मोहिस्स ।
गेविज्जणुत्तराण य, होत्ता गिइयो जहा संखं ॥

एतास्तप्रादिसमाना आकृतयो नारकाद्यवधेर्यथासंख्यं द्रष्टव्याः तच्च यथासंख्यमेवेति । अथ तप्रादिस्वरूपं व्याचिख्यासुराह ।

तप्पेण समागारो, तप्पागारो समायपत्तंसो ।
उड्डाय उयपल्लो, उवरिं च सकिंचि संखित्तो ।
नच्चायओ समो वि य, पमहो हिट्ठो वरिपई एसो ।
चम्मावणद्धविच्छिण्णा-वलयरूवा य झल्लरिया ॥
उद्धायओ मुइंगो, हेट्ठारुंदे तहोवरिं तणुओ ।
पुप्फसिहावलिरइया, चंगेरी पुप्फचंगेरी ॥
जवनालउत्तिभणिओ, उज्झोमरकंचुओ कुमारीए ।
अह सव्वकालनियओ, कादाइको विसेसाणं ॥

गतार्था एव । नवरं (अह सव्वकालेत्यादि) अथ नारकभवनपत्यादीनां तिर्यग्मनुष्याणां चावधिसंस्थाने विशेष उच्यते । कः पुनरसावित्याह । सर्वकालनियतोऽवधिसंस्थानमाश्रित्यामीषां नारकभवनपत्यादिदेवानां शेषाणां तिर्यग्मनुष्याणां कदाचित्कोऽपि भवति इदमुक्तं भवति । तप्राद्याकारसमानतया नारकभवनपत्यादीनामवधेः संस्थानमुक्तं तदङ्गीकृत्य तेषामवधिः सर्वकालं नियतोऽवस्थित एव भवति । न त्वन्याकारतया परिणमति । तिर्यग्मनुष्याणां तु येनाकारेण प्रथममुत्पन्नोऽवधिः केषांचित्तेनैवाकारेण सर्वकालं भवति । केषांचित्त्वन्याकारेण परिणमतीति । अथ यदुक्तम् " तिरियमणुएसु ओहीत्यादि " तद्व्याचिख्यासुराह ।

नाणागारो तिरिय-मणुएसु मच्छासयंभूरमणे व्व ।
तत्थ वलयं निसिद्धं, तस्सिह पुण तं पि होज्जाहि ॥

तत्र स्वयंभूरमणे तस्य मत्स्याकारविषये वलयं निषिद्धम् । इह पुनस्तिर्यङ्मनुष्येषु तस्यावधिरित्येवमप्यावृत्त्या योज्यते । तदपि वलयमाकारमाश्रित्य भवेच्छेषं सुगममिति । तदेवं संस्थाने प्रोक्तेऽपि कयाऽपि दिशा बहुरवधिः कयाऽपि तु स्तोक इति न ज्ञायते । अत एतद्भवनपत्यादीनां दर्शयन्नाह ॥

भवणवइवंतराणं, उड्ढं बहुगो अ होय सेसाणं ।
नारगजोइसियाणं, तिरियं ओरालिओ चित्तो ॥

नारकज्योतिष्काणामवधिस्तिर्यग्बहुस्तिर्यग्मनुष्याणां तु संबन्धी अवधिरौदारिकावधिरुच्यते । अयं पुनश्चित्रो नानाप्रकारः केषांचिदूर्ध्वं बहुरन्येषां त्वधो परेषां तिर्यक्केषांचित्स्वल्प इति भावः । शेषं सुगममिति गाथार्थः । इत्यवसितं संस्थानद्वारम् ।

(१४) अथ ज्ञानलक्षणं दर्शनविभङ्गलक्षणद्वारद्वयं युगपदभिधित्सुराह ।

सागारमणागारा, ओहिविभंगा जहन्नया तुल्ला ।
उवरिमगे विज्जेसु अ, परेण ओही असंखेज्जा ॥

इहावधिविचारे प्रस्तुते एतच्चिन्त्यते । यदुत किमिह ज्ञानं किं वा दर्शनं को वा विभङ्गः किं वा परस्परतस्तुल्योऽधिकं चेति । तत्र यो वस्तुनो विशेषरूपग्राहकः स साकारः स च ज्ञानमिथ्यं सम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादृष्टेस्तु स एव विभङ्गज्ञानम् । यस्तु सामान्यरूपग्राहकोऽयमनाकारग्रहणात्स च दर्शनम् । तदिह गाथायां साकारग्रहणेनावधिज्ञानं गृहीतमनाकारग्रहणेन तु अवधिदर्शनं विभङ्गग्रहणे न तु विभङ्गज्ञानम् । अत एव दर्शनज्ञानविभङ्गलक्षणं द्वारत्रयमिदं भवति । तत्र चावधिज्ञानदर्शने तथा विभङ्गज्ञानं तस्य च संबन्धे यत्केषांचिन्मतेनावधिदर्शनं ते च पृथक्स्वस्थाने परस्परापेक्षयाऽपरस्थाने चावधिविभङ्गयोर्ज्ञानदर्शने भवनपतिदेवेभ्य आरभ्य यावदुपरितनग्रैवेयकविमानानि तावज्जघन्यादभ्यारभ्य यावदुपरिग्रैवेयकविमानोचितावधिकं विभङ्गोत्कृष्टता प्राप्तिस्तावत्क्षेत्रादिलक्षणं विषयमाश्रित्य तुल्ये भवतः । इदमुक्तं भवति भवनपतिदेवेभ्य आरभ्य यावदुपरितनग्रैवेयकविमानवासिनो देवास्तावद्ये जघन्यतुल्यस्थितयो देवास्तत्संबन्धिनी जघन्ये अवधिविभङ्गज्ञानदर्शने क्षेत्रादिविषयरूपं विषयमाश्रित्य परस्परतस्तुल्ये भवतः । मध्यमतुल्यस्थितीनां च मध्यमे ते तथैव तुल्ये भवतः । उत्कृष्टतुल्यस्थितीनां तु उत्कृष्टे ते तथैव तुल्ये भवतः । परेण (ओहिअसंखेज्जेत्ति) ग्रैवेयकवि-

मानेष्वस्तु परतोऽनुत्तरविमानेष्ववधिज्ञानावधिदर्शनरूपोऽवधिरेव भवति । न तु विभङ्गज्ञानमिथ्यादृष्टेरेव तद्भावादनुत्तरसुरेषु च मिथ्यादृष्टेरभावात् स चानुत्तरसुरावधिः क्षेत्रतः कालतश्चासंख्येयोऽसंख्यातविषयो भवति द्रव्यभावैस्त्वनन्तविषय इति । इह च तिर्यग्मनुष्याणां तुल्यस्थितीनामपि क्षयोपशमतीव्रमन्दतादिकारणवैचित्र्यात् क्षेत्रकालविषयेऽप्यवधिविभङ्गज्ञानदर्शनयोर्विचित्रता । न पुनस्तुल्यतैवेतीह देवेष्वेव तयोरियं प्रतिपादितेति विभावनीयमिति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ भाष्यम् ।

सविसेसं सागारं, तं नाणं निव्विसेसमणागारं ।
तं दंसणं ति ताइं, ओहिविभंगा ण तुल्लाइं ॥
आरब्भ जहएणाओ, उवरिमगेविज्जगावसाणाणं ।
परओहीनाणंचिय, न विभंगमसंखयं तं च ॥

गाताथी एव । गतं ज्ञानदर्शनविभङ्गद्वारत्रयम् । विशे० ॥

अथ देशद्वाराभिधानायाह ।

(१५) देशतः सर्वतश्चावधिः ।

णेरइयाणं भंते ! किं देसोही सव्वोही ? गोयमा ! देसोही नो सव्वोही । एवं जाव थणियकुमाराणं । पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! देसोही नो सव्वोही । मणुस्साणं पुच्छा । गोयमा ! देसोही वि सव्वोही वि वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं । जहा णेरइयाणं ।

देशावधिसर्वावधिचिन्तायां मनुष्यवर्जाः सर्वेऽपि देशावधयो मनुष्यास्तु देशावधयोऽपि भवन्ति । सर्वावधयोऽपि परमावधेरपि तेषां संभवात् प्रज्ञा० ३३ पद ।

णेरइयदेवतित्थं-करा य ओहिस्स बाहिरा हुंति ।
पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति ॥

नारका देवास्तीर्थकराश्चावधिज्ञानस्याबाह्या भवन्ति । अवध्युपलब्धस्य क्षेत्रस्यान्तर्वर्तिनः । अभ्यन्तरवर्तिन एव भवन्तीत्यर्थः । अत एव बाह्यावधय एवैते प्रतिपाद्यन्ते । अवधिप्रकाशितक्षेत्रस्य प्रदीपा इव निजनिजप्रभापटलस्य नैते बहिर्भवन्तीत्यर्थः । तथाऽवधिना पश्यन्त्यवलोकयन्ति । खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्सर्वत एव सर्वास्वेव दिक्षु विदिक्षु च न तु देशत । इत्यर्थः शेषास्तिर्यग्मनुष्या देशेनेत्येकदेशेन पश्यन्ति । तत्रावाक्यावधारणविधेरिष्टतः प्रवृत्तेः शेषा एव देशतः पश्यन्ति । न तु शेषा देशत एवेति द्रष्टव्यं शेषास्तिर्यग्मनुष्याः सर्वतो देशतश्च पश्यन्तीति भावः । अथवा पूर्वार्धमन्यथा व्याख्यायते । नारकदेवतीर्थकरा अवधेरबाह्या भवन्ति । इति कोऽर्थोऽवधिज्ञानवन्त एवामी भवन्ति । अवधिज्ञानं नियमेनैषां भवतीत्यर्थः । तत्र किममी तेन सर्वतः पश्यन्ति देशतो वेति संशये सत्याह । "पासंतीत्या" द्युत्तरार्द्धम् । अस्य व्याख्या तथैवेति निर्युक्तिगाथार्थः । अथ प्रथमं व्याख्यानं तावद्भाष्यकारोऽप्याह ।

ओहिखाणखित्त-ब्भिंतरगा होंति नारयाईया ।
सव्वदिसोवहिविसओ, तेसिं दीवप्पभोवम्मो ॥

उक्तार्थैव । चालणाप्रत्यवस्थाने प्राह ।

अब्भिंतरत्ति भणिए, भणइ य पासंति सव्वओ खलु ।
उयइ जमसंततदिसो, अंतो वि ठिओ न सव्वत्तो ॥

नन्ववधेरबाह्या भवन्त्यवध्युपलब्धक्षेत्रस्याभ्यन्तरे नारकादयो वर्तन्त इति प्रथमपदे व्याख्यातम् । एवं चोक्ते सति पश्यन्ति सर्वत इति । किमर्थं भण्यते । ये ह्यवधिप्रकाशितक्षेत्रस्य मध्ये वर्तन्ते ते सर्वतः पश्यन्त्येवेति गतार्थत्वादतिरिच्यते । एवेदमिति पराभिप्रायः । अत्र सूरिराह । (उयईत्यादि) सन्तता निरन्तरालाः सर्वा दिग्विदिग्लक्षणा दिशः प्रकाशविषयभूता यस्यावधेरसौ सन्ततदिकोऽवधिरबाह्यावधिरित्यर्थः । न विद्यते सन्ततदिकोऽवधिर्यस्यासौ असन्ततदिकोऽवधिमान् बाह्यावधियुक्तः साध्वादिरित्यर्थः । अयं यस्मात् (उ य इति) न पश्यति कथं सर्वतः किम्भूतः सन्नित्याह । अवधिद्योतितक्षेत्रस्यान्तर्मध्येऽपि स्थितस्तस्मात्कर्तव्यं (पासंति सव्वओ खल्विति) इदमुक्तं भवति । "फड्डोही वा असंबद्धो" इत्यनेन ग्रन्थेन यः प्राक् प्रतिपादितो द्विविधो बाह्यावधिः फड्डकावधिः असंबद्धवलयाकारक्षेत्रप्रकाशकावधिश्चेत्यर्थः । तद्वत्साध्वादिरवध्युपलब्धक्षेत्रस्यान्तःस्थितोऽपि न सर्वतः पश्यत्यन्तरालादर्शनादतः तद्व्यवच्छेदार्थं कर्तव्यम् । पश्यन्ति सर्वत इति आह । नन्वयमसन्ततदिकावधेरबाह्यावधिरेव न भवति । बाह्यावधित्वेनैव प्राक् प्रतिपादितत्वात् न तु किमेतद्व्यवच्छेदपरेण "पासंतीत्या" द्युपादानेनेत्यसमयपरिभाषितमबाह्यावधित्वमत्र नास्ति । लोकरूढं त्ववधिप्रकाशितक्षेत्रमध्यवर्तित्वमात्रमत्रापि विद्येत । इत्येतद्व्यवच्छेदार्थं "पासंतीत्या" दि स्थितमित्यलं विस्तरेणेति । अथ द्वितीयव्याख्यानं तत्र प्रेर्यं चाह ।

नियमावहिणो अब्भिं-तरत्ति वा संसयावणोयत्थं ।
तो सव्वओत्तिहाणं, होउ किमब्भंतरग्गहणं ॥

वा इत्यथवार्थः । स च व्याख्यानान्तरसूचकः । तत्र नारकादयोऽवधेरबाह्याभ्यन्तरा भवन्तीति कोऽर्थ इत्याह । नियतावधयो नियमेनैषामवधिर्भवत्येवेति । तर्हि ' पासंतीत्यादि ' किमर्थमित्याह (संसयावणोयत्थंति) किमेते देशतः पश्यन्त्याहोश्वित्सर्वत इत्येवंभूतसंशयापनोदार्थं पश्यन्ति सर्वतः खल्विति वाक्यशेषः । यद्येवं ततः संशयापनोदार्थं सर्वतोऽभिधानमेवास्तु किमभ्यन्तरग्रहणेनेति । अत्रोत्तरमाह ।

अब्भिंतरत्ति तेणं, नियमावहिणोवसेसया भइया ।
भवपच्चयाइवयसा, सिद्धे कालस्स नियमोयं ॥

यदि सर्वतो ग्रहणेन नारकादीनां देशदर्शनं निराकृत्य संशयो निरस्त इति ब्रूषे । तेन तर्हि भो प्रेरक ! अभ्यन्तरा अबाह्या इत्यनेन नियतावधयो नियमेनाऽवधिमन्तो नारकदेवतीर्थकराः अवशेषास्तु तिर्यग्मनुष्या भजनीया अवधियुक्तास्तद्विरहिता वा भवन्तीति प्रतिपादितं द्रष्टव्यम् । सर्वग्रहणेन हि सर्वदेशदर्शनविषय एव संदेहो निवर्त्यते । नियतावधित्वं पुनरमीषां न लभ्यते । अतस्तत्प्रतिपादनार्थमवधेरबाह्या भवन्तीत्येतद्वचनमिति भावः । तत्रैतस्याद्भवप्रत्ययो नारकदेवानामित्यादिवचनात्तथा । "तिहिं नाणेहिं समग्गा तित्थयरा जाव होंति गिहवासे" इत्यादिवचनाच्च सिद्धमेव । नारकदेवतीर्थकराणां नियतावधित्वं तत्किमनेनेत्याशङ्क्याह भवप्रत्ययादिवचसा सिद्धेऽमीषां नियतावधित्वे "ओहिस्स बाहिरा होंति" कालस्य नियमोऽयं विधीयते इदमुक्तं भवति भवप्रत्ययादिवचनात्सिद्ध्यति नियमेन नारकादीनामावधिमत्त्वं परं न ज्ञायते किमाभवक्षयममीषामवधेर्भवति आहोश्वित्कियन्तमपि कालं भूत्वाऽसौ प्रतिपततीति ततश्च "ओहिस्स बाहिरा होंतीत्य" नेन कालनियमः क्रियते सर्व-

दा सर्वकालममीषामवधिर्भवति। तदन्तरालेऽपि प्रतिपततीति । आह । यद्येवं तीर्थकृतां सर्वकालावस्थायित्वमवधेर्विरुध्यते केवलोत्पत्तौ तदभावान्न तेषां केवलोत्पत्तावपि वस्तुतस्तत्परिच्छेदस्याप्यनष्टत्वात्सुतरां केवलज्ञानेन संपूर्णानन्ततद्धर्मात्मकवस्तुपरिच्छित्तेः । छद्मस्थकालस्य वा विवक्षितत्वाददोष इत्यलं विस्तरेणेति " सेसा देसेण पासंती" त्येतद्व्याचिख्यासुराह ।

सेसच्चिय देसेणं, न उ देसेणेव सेसया किं तु ।

देसेण सव्वउच्चिय, पिच्छंति नरातिरिक्खा य ॥

गतार्थैवेति गाथापञ्चकार्थः । गतं देशद्वारम् । विशे० । नं० ।

अथ क्षेत्रद्वारम् ।

(१६) क्षेत्रगत्यादिद्वाराणि तत्र क्षेत्रद्वारमभिधित्सुराह ।

संखेज्जमसंखेज्जो, पुरिसमबाहाए खेत्तओ ओही ।

संबद्धमसंबद्धो, लोगमलोगे य संबद्धो ॥

(खेत्तओत्ति) इह क्षेत्रतोऽवधिमति जीवे प्रदीपे प्रभापटलमिव संबद्धो लग्नो भवति । जीवावष्टब्धक्षेत्रादारभ्य निरन्तरं द्रष्टव्यं वस्तुप्रकाशयतीत्यर्थः । कश्चित्पुनरतिप्रकृष्टतमो व्याकुलान्तरावर्तिप्रदेशमुल्लङ्घ्य दूरस्थितमित्यादि प्रतिफलितदीपप्रभेव जीवेऽसंबद्धो भवति कया हेतुभूतया ऽसंबद्ध इत्याह । मकारस्यालाक्षणिकत्वात्पुरुषाबाधयेति । पूर्णः सुखदुःखानामिति पुरुषः । पुरि शरीरे शयनाद्वा पुरुषो जीवः । अबाधनमबाधा अन्तरालमित्यर्थः पुरुषादबाधापुरुषाबाधा तया हेतुभूतया ऽसंबद्ध इति हेत्वर्थे तृतीया स च संबद्धोऽसंबद्धश्चावधिः क्षेत्रतः कियान् भवतीत्याह । संख्येयोऽसंख्येयश्च । योजनाऽपेक्षया संख्येयान्यसंख्येयानि वा योजनानि प्रत्येकं भवन्तीत्यर्थः । कया सहेत्याह । पुरुषाबाधयेत्येवं सहार्थे तृतीया । पुरुषाबाधापदमत्रापि योज्यते । न केवलमवधेः संख्येयान्यसंख्येयानि वा योजनानि वा भवन्ति । किं तर्हि पुरुषाद्यन्तरालरूपा बाधा साप्येतावन्माना भवतीत्यर्थः । इदं चान्तरमसंबद्ध एवावधौ भवति न तु संबद्धे तत्र संबद्धत्वेनैव तदसंभवादिह वा संबद्धे अवधौ अन्तरे चतुर्भङ्गिका संख्येयमन्तरं संख्येयोऽवधिः १ संख्येयमन्तरमसंख्येयोऽवधिः २ असंख्येयमन्तरं संख्येयोऽवधिः ३ असंख्येयमन्तरमसंख्येयोऽवधिरित्येवं चत्वारोऽपि भङ्गाः संभवन्ति । ४ । संबद्धे त्ववधौ विकल्पाभावः । तद्व्युत्थानहेतोरन्तरलक्षणस्य द्वितीयपदस्य तत्राभावादिति । अयं चावधिर्लोके अलोकेऽपि च संबद्धो भवतीत्याह (लोगमलोगे य संबद्धोत्ति) इह लोकशब्देन लोकान्तो गृह्यते अत्रापि च भङ्गकचतुष्टयम् । तत्र यो लोकप्रमाणोऽवधिः स पुरुषे संबद्धो भवति लोकान्ते च । १ । यस्तु लोकदेशवर्ती अभ्यन्तरोऽवधिः स पुरुषे संबद्धो न लोकान्ते । २ । लोकान्ते संबद्धो न पुरुष इति शून्योऽयं भङ्गः । यो हि लोकान्ते संबद्धः स पुरुषे नियमात्संबद्ध एव भवति न त्वऽसंबद्ध इत्येतद्भङ्गकासंभवः । ३ । न लोकान्ते नापि पुरुषेऽसंबद्धो बाह्यावधिः यस्त्वलोके संबद्धः स पुरुषे संबद्ध एव भवतीति । ४ । तत्र भङ्गकाभाव इति निर्युक्तिगाथार्थः । अथ भाष्यम् ।

ओही पुरिसे कोइ, संबद्धो जह प्पभावदीवम्मि ।

दूरंधयारदीवय–दरिसणमिव कोइ विच्छिन्नो ॥

संखिज्जमसंखिज्जं, देहाओ खेत्तमंतरं काउं ।

संखेज्जासंखेज्जं, पेच्छेज्ज तदंतरमबाहा ।

संबद्धासंबद्धो, नरलोयं तेसु होइ चउभंगो ।

संबद्धो उ अलोए, नियमा पुरिसे वि संबद्धो ।

तिस्रोऽपि गतार्थाः नवरं दूरान्धकारमित्यादिप्रतिफलितदीपस्य दर्शनं तदिव विच्छिन्नं (तदंतरमबाहत्ति) तयोर्देहावधिप्रकाशक्षेत्रयोरन्तरं तदन्तरं तदबाधोच्यत इति । अवसितं क्षेत्रद्वारम् । विशे० । प्रज्ञा० ।

णेरइयाणं भंते ! ओहिस्स किं अंतो बाहिं ? गोयमा ! अंतो नो बाहिं । एवं जाव थणियकुमाराणं । पंचिंदियतिरिक्खयोणियाणं पुच्छा । गोयमा ! नो अंतो बाहिं । मणुस्साणं पुच्छा, गोयमा ! अंतो वि बाहिं वि । वाणमंतरजोइसियवेमाणियाणं जहा णेरइयाणं ।

तथा नैरयिकभवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकाः तथा भवस्वाभाव्यादवधेर्मध्यवर्तिनो न पुनर्बहिः किमुक्तं भवति । सर्वतः प्रकाशिविस्तरार्द्धावधयो भवन्ति । न तु स्पर्द्धकावधयो विच्छिन्नावधयो वा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियास्त्ववधेरन्तर्न विद्यन्ते । किंतु बहिरवाध्येय भावार्थः । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियास्तथाभवस्वाभाव्यात् । स्पर्द्धकावधयो विच्छिन्ना अपान्तराले सर्वतः प्रकाश्यवधयो वा भवन्ति स्पर्द्धकाद्यवधियोग इति भावः । प्रज्ञा० ३३ पद० ।

गतिद्वारं विभणिषुराह ।

गइनेरइयाईया, हेट्ठा जह वण्णिया तहेहा वि ।

इड्ढी एसा य वणि–ज्जइ ति तो सेसियाओ वि ॥

गतिर्नरकगत्यादिका आदिशब्दादपरोपीन्द्रियादिद्वारकलापः प्राक् प्रतिपादितस्वरूपोऽत्र परिगृह्यते । ततश्च नारकादिगत्यादिद्वाराणि यथाप्रस्तात्पूर्वं मतिज्ञानप्ररूपणाप्रस्तावे " गइ इंदियकाए जोए वेए कसायलेसासम्मत्तनाणे" त्यादिना तथा "संतपयपरूवणया दव्वपमाणं" चेत्यादिना च प्रतिपादितानि । तथेहाप्यवधिप्ररूपणायां वक्तव्यानि । यस्तु विशेषस्तं भाष्यकारः स्वयमेव वक्ष्यति । एषा चावधिलक्षणा ऋद्धिः सिद्धान्ते वर्ण्यत इत्यतोऽनेन संबन्धेन शेषा अप्यामर्षौषध्यादिका ऋद्धयोऽत्र वर्ण्यन्त इति निर्युक्तिगाथार्थः ।

अथ गत्यादिषु द्वारेषु चिन्त्यमानस्यावधिज्ञानस्य मतिज्ञानाद्यो विशेषस्तं भाष्यकारः प्राह ।

जे पडिवज्जंति मई, ते वहिनाणं पि समहिया अत्थे ।

वेयकसायाईया, मणपज्जवनाणिणो चेव ॥

सम्मासुरनेरइया–णाहारा जे य होंति पज्जत्ता ।

तेच्चिय पुव्वपवन्ना, वियप्पसण्णीय मोत्तूणं ॥

ये मतिज्ञानस्य प्रतिपत्तारः प्रागुक्ता इहावधिज्ञानस्यापि प्रतिपत्तारस्ते एव द्रष्टव्याः केवलमत्राधिका अन्येऽपि केचित्ते अवगन्तव्यास्तद्यथा(वेयकसायाईयत्ति) वेदातीताः कषायातीता अवेदका अकषायिणश्चेत्यर्थः । तथा मनःपर्यायज्ञानिनश्चेत्येते मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना एवोक्ताः । इह त्ववधेरमी प्रतिपत्तारो भवन्ति । यतः श्रेणिद्वये वर्तमानानां वेदकानामकषायाणां च केषांचिदवधिज्ञानमुत्पद्यते । येषां चानुत्पन्नावधिज्ञानानां मतिश्रुतचारित्रवतां प्रथममेव मनःपर्यायज्ञानमुत्पद्यते । ते मनःपर्यायज्ञानिनोऽपि केचित्पश्चादवधिज्ञानस्य प्रतिपत्तारो भवन्ति । अपरञ्चानाहारका अपर्याप्तकाश्च मतिपूर्वप्रतिपन्ना एवोक्ताः । न तु प्रतिपद्यमानकाः । इह तु येऽप्रतिपतितसम्यक्त्वास्तिर्यङ्मनुष्येभ्यो देवनारका जायन्ते । तेऽवधिज्ञानस्य प्रतिपद्यमानकेष्वपि प्राप्यन्ते ।

इत्याह । "सम्मासुरत्ति" । ननूक्तः प्रतिपद्यमानकेषु विशेषः पूर्वप्रतिपन्नेषु का वार्त्तेत्याह (तेन्नियपुव्वपवन्नेत्यादि) य एव मतिज्ञानस्य पूर्वप्रतिपन्ना उक्ताः अवधिज्ञानस्यापि त एव द्रष्टव्याः । किं सर्वथा नेत्याह । (वियलेत्यादि) विकलेन्द्रिया न संज्ञिपञ्चेन्द्रियतिरश्चश्च मुक्त्वेत्यर्थः । एते हि सास्वादनसम्यग्दृष्टयो मतिज्ञानस्य प्रतिपन्ना उक्ताः । अवधेस्तु न प्रतिपद्यमानका नापूर्वप्रतिपन्ना भवन्तीति भावः । इति गाथाद्वयार्थः । अवसितं गत्यादिद्वारम् । विशे० ॥ (आमर्षौषध्यादिऋद्धिवर्णनम् इड्ढि शब्दे)

(१७) अवधेः संक्षेपप्ररूपणा प्रस्तावना च ।

तदेवं प्रसङ्गायातौ शेषद्वौ प्रतिपाद्य अवधिज्ञानं च सप्रसङ्गं विस्तरतः प्ररूप्योपसंहरन्वक्ष्यमाणसंक्षेपप्ररूपणस्य प्रस्तावनां च कर्तुमाह ।

भणिओ वहिणो विसओ, तहा वि तस्सं गई पुणो भणइ ।
संखेवरुईण हियं, अव्वामोहत्थमिड्ढं च ॥

भणितः प्ररूपितः "ओहीखेत्तपरिमाणे संठाणे" इत्यादीभां सर्वेणापि पूर्वोक्तग्रन्थेनावधेः स्वरूपाद्यन्वितो विषयो द्रव्यक्षेत्रादिकस्तथापि तत्संग्रहविषयसंक्षेपप्ररूपणं पुनरपि भणत्यत्रान्तरे देववाचको नन्द्यध्ययनसूत्रकारः । अनेन चेदं सूचितं नन्द्यध्ययनसूत्रकारेण प्रथमं विस्तरतोऽवधिज्ञानं प्ररूप्य पर्यन्ते पुनरपि संक्षेपतस्तद्यथा ॥ विशे० ।

"तं समासओ चउव्विहं पण्णत्तं । तं जहा । दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ तत्थ दव्वओ णं ओहीनाणी जहन्नेणं अणंताइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ । उक्कोसेणं सव्वाइं रूविदव्वाइं जाणइ पासइ । खेत्तओ णं ओहिनाणी जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं जाणइ पासइ । उक्कोसेणं असंखेज्जाइं अलोगे लोगप्पमाणमित्ताइं खंमाइं जाणइ पासइ । कालओ णं ओहीनाणी जहन्नेण आवलियाए असंखिज्जइभागं जाणइ पासइ । उक्कोसेणं असंखिज्जाओ उस्सप्पिणीओ ओसप्पिणीओ अईयमणागयं च कालं जाणइ पासइ । भावओ णं ओहीनाणी जहन्नेणं अणंते भावे जाणइ पासइ । उक्कोसेणं वि अणंते भावे जाणइ पासइ । सव्वभावाणमणंतभागं जाणइ पासइ । ओहीभवपच्चइओ, गुणपच्चइओ य वण्णिओ दुविहो । तस्स य बहुविगप्पा, दव्वे खेत्ते य काले य । १ । नेरइयदेवतित्थं-करा य ओहिस्स बाहिरा हुंति । पासंति सव्वओ खलु, सेसा देसेण पासंति । २ । सेत्तं ओहिनाणं ।

अवधिक्षेत्रप्ररूपणेन गतार्थीकृतेति न पुनरुक्तिभयादुपन्यस्ता । ननु नन्दिसूत्रकारेणापि किमिति विषयः पुनरपि प्ररूपितः पुनः-पुनरुक्तस्य प्रसङ्गादित्याशङ्क्याह (संखेवेत्यादि) यस्मादपि संक्षेपरुचीनां हितमिदं संक्षेपभणनमतस्तेषां हितार्थं मन्दमतीनामव्यामोहार्थं चेष्टमेतदिति । तमेव विषयसंग्रहमाह ।

दव्वाइं अंगुलावलि, संखेज्जाइयभागविसयाइं ।
पेच्छइ चउगुणाइं, जहन्नओ मुत्तिमंताइं ॥
उक्कोसमसंखाइं, लोगत्थिगुलसमानिबद्धाइं ।
पइदव्वं संखाइ य, पज्जायाइं च सव्वाइं ॥

जघन्यतो मूर्तिमन्ति द्रव्याण्यवधिज्ञानी पश्यतीति संटङ्कः । कथंभूतानीत्याह (अंगुलेत्यादि) अङ्गुलसंख्यातीतभागविषयाणि आवलिकासंख्यातीतभागविषयाणि चेत्यर्थः । विशे० ।

विवरीयवेसधारी, विज्जंजणसिद्धदेवया एव ।
छाइयसेवियसेवी, बीयादीओ वि पच्चक्खा ॥
पुढवीइतरुगिरिया, सरीरादिगया य जे भवे दव्वा ।
परमाणुसुहदुक्खा-दयो य ओहिस्स पच्चक्खा ॥

नेपथ्यपरावर्त्ततो गुटिकाप्रयोगतः स्वपरावर्त्ततो वर्णपरावर्त्ततो विपरीतं वेषं धारयन्तीति विपरीतवेषधारिणस्ते । तथा ये विद्यासिद्धा अञ्जनसिद्धा देवतया वा आच्छादिता ये च तैः सेवितसेविनो ये च बीजादयः कुशलादिभ्यस्ते सर्वेऽवधिज्ञानिनः । प्रत्यक्षाः । तथा यानि पृथिव्यां यानि च तरुषु यानि च गिरिषु गाथायामेकवचनं समाहारत्वात् । द्रव्याणि यानि च शरीरादिगतानि द्रव्याणि ये च परमाणवो ये सुखदुःखादय इन्द्रियमनःशरीरस्वास्थ्यास्वास्थ्यरूपास्तेऽप्यवधेः प्रत्यक्षाः ।

अच्चंतमणुवलद्धा, वि ओहिनाणस्स होंति पच्चक्खा ।
ओहिन्नाणपारिगया, दव्वा असमत्तपज्जाया ॥

अत्यन्तं चक्षुरादिना अनुपलब्धा अपि पदार्था अवधिज्ञानस्य भवन्ति प्रत्यक्षाः । अवधिज्ञानेन च द्रव्याणि परिगतानि परिणतानि भवन्त्यसमासपर्यायाणि न समस्ताः पर्याया द्रव्याणां ज्ञातुं शक्यन्ते इति भावः । यदि हि समस्तान् पर्यायान् आनीयान्नूनं स केवलीभवेत् । बृ० ८ उ० । भावतस्तु प्रतिद्रव्यं चत्वारो गुणा धर्माः पर्याया येषां तानि चतुर्गुणानि पश्यति । इदमुक्तं भवति । जघन्यतोऽवधिज्ञानी द्रव्यतः क्षेत्रतश्चाङ्गुलासंख्येयभागक्षेत्राऽभ्यन्तरवर्तीनि मूर्तद्रव्याणि पश्यति । कालतस्त्वेतावद्द्रव्याणामावलिकासंख्येयभागाऽभ्यन्तरवर्तिनोऽतीताननागतांश्च पर्यायान्पश्यति । भावतस्तु प्रतिद्रव्यं चतुरः पर्यायान्पश्यतीति । उत्कृष्टतस्तु द्रव्यतः क्षेत्रतश्चासंख्येयलोकाकाशखण्डमात्रगाढानि सर्वाण्यपि मूर्त्तद्रव्याणि पश्यति । एतानि चैकस्मिन्नेव लोकाकाशे अवगाढानि प्राप्यन्ते । शेषलोकाऽवगाढानामुपदर्शनं शक्तिमात्राऽपेक्षयैवोच्यते । कालतस्त्वेषां द्रव्याणामसंख्यातोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमान्तर्गतानतीताऽनागतांश्च पर्यायान्पश्यति । भावतस्त्वेकैकं द्रव्यमाश्रित्याऽसंख्येयपर्यायाण्येतानि पश्यति । इह च दर्शनक्रियासामान्यमात्रमाश्रित्य पश्यतीत्युक्तं विशेषतस्तु जानाति पश्यतीति च सर्वत्र द्रष्टव्यम् । तदेवं जघन्यत उत्कृष्टतश्च प्राग्विस्तरतः प्रोक्तोऽवधिविषयः । इदानीं तु स एव संक्षेपत उक्तस्तद्भणने च सप्रसङ्गमवधिज्ञानं समाप्तम् । विशे० । आ० म० प्र० । कर्म० । प्रव० । सम्म० । अवधिज्ञानवति जीवे अवध्यवधिमतोरभेदात् । प्रव० १५ द्वा० ।

ओहिजुय—अवधियुत—त्रि० अवधिलब्धियुक्ते, क० प्र० ।

ओहिणाण—अवधिज्ञान—न० अवधिः (अनन्तरोदितस्वरूपः) स एव ज्ञानमवधिना वा मर्य्यादया मूर्तद्रव्याण्येव जानाति नेतराणीति व्यवस्थया ज्ञानमवधिज्ञानम् भ० ८ श० २ उ० । अवध्युपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः । प्रव० २१६ द्वा० । पं० सं० । अवधिश्चाऽसौ ज्ञानञ्च अवधिज्ञानम् । इन्द्रियमनोनिरपेक्षे आत्मनो रूपिद्रव्यसाक्षात्कारकारणे ज्ञानभेदे, स्था० २ ठा० ।

उत्त० । नं० (ओहि शब्दे सर्वमुक्तम्) " णो केवलणाणे दुविहे पन्नत्ते तं जहा ओहिनाणे चेव मणपज्जवणाणे चेव " स्था० २ ठा० ।

ओहिणाणजिण–अवधिज्ञानजिन–पुं० अवधिज्ञानेन जिनोऽवधिज्ञानजिनः । जिनशब्दो विशुद्धाऽवधिप्रदर्शकः। विशुद्धाऽवधिज्ञाने, व्य० १ उ०। स्था० ।

ओहिणाणावरण–अवधिज्ञानावरण–न० अवधिज्ञानस्य प्राक्प्रदर्शितरूपस्य आवरणमवधिज्ञानावरणम् । ज्ञानावरणकर्मणस्तृतीयायामुत्तरप्रकृतौ, । कर्म० । उत्त० ।

ओहिदंसण–अवधिदर्शन–न० अवधिरेव दर्शनं रूपिसामान्यग्रहणमवधिदर्शनम् । पं० सं० १ द्वा० । अवधिना रूपिमर्य्यादया दर्शनं सामान्यांशग्रहणमवधिदर्शनं कर्म० । अवधिदर्शनावरणीयस्य क्षयोपशमाज्जायमाने सामान्यग्रहणस्वभावे दर्शनभेदे, स्था० ७ ठा० ।

(अवधिदर्शनक्षोभः)

पंचहिं ठाणेहिं ओहिदंसणे समुप्पज्जिउकामे वि तप्पढमयाए खभाएज्जा । तं जहा अप्पभूयं वा पुढविं पासित्ता तप्पढमयाए खभाएज्जा । कुंथुं कुंथुरासिभूयं वा पुढविं पासित्ता तप्पढमयाए खभाएज्जा । महइ महालयं वा महोरगसरीरं पासित्ता तप्पढमयाए खभाएज्जा । देवं वा महिड्डियं जाव महेसक्खं पासित्ता तप्पढमयाए खभाएज्जा । पुरेसु वा पुराणाइं महइ महालयाइं महाणिहाणाइं पहीणसेउयाइं पहीणगोत्तागाराइं उच्छिन्नसामियाइं उच्छिन्नसेउयाइं उच्छिन्नगोत्तागाराइं जाइं इमाइं गामागारनगरखेमकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणासमसंबाहसंनिवेसेसु सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु णगरणिद्धमणेसु मसाणसुन्नागारगिरिकंदरसंतिसेलोवट्ठाणभवणगिहेसु संनिक्खित्ताइं चिट्ठंति ताइं वा पासित्ता तप्पढमयाए खभाएज्जा इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं ओहिदंसणे समुप्पज्जिउकामे तप्पढमयाए खभाएज्जा ॥

व्यक्तमवरमवधिना दर्शनमवलोकनमर्थानामुत्पत्तुकामं भवितुकामं तत्प्रथमतायामवधिदर्शनोत्पादप्रथमसमये (खभाएज्जत्ति) स्कन्नीयात क्षुभ्येत् स्खलतीत्यर्थः । अवधिदर्शने वा समुत्पत्तुकामे सति अवधिमानिति गम्यते । क्षुभ्येदल्पभूतां स्तोकसत्त्वां पृथिवीं दृष्ट्वा वाशब्दो विकल्पार्थः। अनेकसत्त्वव्याकुलाभूरिति सम्भावना वा न कस्मादल्पसत्त्वभूदर्शनात्। आः किमेतदेवमित्येवं क्षुभ्येदेवाक्षीणमोहनीयत्वादिति भावः। अथवा भूतशब्दस्य प्रकृत्यर्थत्वादल्पभूतामल्पां पूर्वं हि तस्य बह्वी पृथिवीति सम्भावनासीदिति १ तथात्यन्तप्रचुरत्वात्कुन्थुं कुन्थुराशिभूतां कुन्थुराशित्वप्राप्तां पृथिवीं दृष्ट्वात्यन्तविस्मयभयाच्चेत्याभिति २ तथा (महइमहालयंति) महान्ति महन्महोरगशरीरं महाहितनुं बाह्यद्वीपवर्तियोजनसहस्रप्रमाणं दृष्ट्वा विस्मयाद्भयाद्वा ३ तथा- देवं महर्द्धिकं महाद्युतिकं महानुभागं महाबलं महासौख्यं दृष्ट्वा विस्मयादिति ।४। (पुरेसुवेति) नगराद्येकदेशभूतानि प्राकाराभृतानि पुराणीति प्रसिद्धं तेषु पुराणानि चिरन्तनानि (उराला- इंति) कचित्पाठस्तत्र मनोहराणीत्यर्थः । (महइमहालयाइंति) विस्तीर्णत्वेन महानिधानानीति महामूल्यरत्नादिमत्वेन प्रहीणाः स्वामिनो येषां तानि । तथा प्रहीणाः सेक्तारः सेचकास्तेष्वेवोपर्युपरिधनप्रक्षेपकाः पुत्रादयो येषां तानि । तथा अथवा प्रहीणाः सेतवस्तदभिज्ञानभूताः पालयस्तन्मार्गा वाऽतिचिरन्तनतया प्रतिजागरकाभावेन च येषां तानि प्रहीणसेतुकानि । किं बहुना निधायकानां यानि गोत्रागाराणि कुलगृहाणि तान्यपि प्रहीणानि येषामथवा तेषामेव गोत्राणि नामान्याकाराश्चाकृतयस्ते प्रहीणा येषां तानि प्रहीणगोत्रागाराणि प्रहीणगोत्राकाराणि वा एवमुच्छिन्नस्वामिकादीन्यपि । नवरमिह प्रहीणाः किञ्चित्सत्तावन्त उच्छिन्ना निर्लेपसत्ताका यानीमानि अनन्तरोक्तविशेषणानीति । स्था० ५ ठा० । (ग्रामादिशब्दव्याख्या स्वस्वशब्दे)

ओहिदंसणावरण–अवधिदर्शनावरण–न० रूपवद् द्रव्यं सामान्यप्रकारेण मर्य्यादासहितं दृश्यत इति । अवधिदर्शनं तदावृणोतीति अवधिदर्शनावरणम् । उत्त० ३३ अ० । अवधिना रूपिमर्य्यादयाऽवधिरेव वा करणनिरपेक्षो बोधरूपो दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमवधिदर्शनम् तस्यावरणमवधिदर्शनावरणम् । दर्शनावरणकर्मभेदे, स्था० ९ ठा० । स० ।

ओहिमरण–अवधिमरण–न० अवधिर्मर्य्यादा ततश्चाऽवधिना मरणमवधिमरणम् । मरणभेदे, यानि हि नारकादिभवनिबन्धनतया आयुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते । मृतो वा यदि पुनस्तान्येवानुभूय मरिष्यते । तदा तदवधिमरणमुच्यते । तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तद्ग्रहणावधि यावज्जीवस्य मृतत्वात् सम्भवति च गृहीतोज्झितानां कर्म्मदलिकानां पुनर्ग्रहणं परिणामवैचित्र्यादिति ॥

तद्भेदा यथा ।

ओहिमरणेणं भंते ! कइविहे पन्नत्ते? गोयमा ! पंचविहे पन्नत्ते तं जहा दव्वोहिमरणे खेत्तोहिमरणे जाव भावोहिमरणे । दव्वोहिमरणेणं भंते ! कइविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा णेरइए दव्वोहिमरणे जाव देवदव्वोहिमरणे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ णेरइयदव्वोहिमरणे ? गोयमा ! जं णं णेरइया णेरइयदव्वे वट्टमाणा जाइं दव्वाइं संपयं मरंति जं णं णेरइया ताइं दव्वाइं अणागए काले पुणो वि हरिस्संति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव दव्वोहिमरणे एवं तिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदव्वोहिमरणे वि । एवं एएणं गमएणं खेत्तोहिमरणे वि । कालोहिमरणे वि भवोहिमरणे वि भावोहिमरणे वि ।

नैरयिकद्रव्याणि सांप्रतं म्रियन्ते त्यजन्ति तानि द्रव्याण्यनागतकाले पुनस्ते नारका इति गम्यम् । मरिष्यन्ते त्यक्ष्यन्तीति यत्नैरयिकद्रव्यावधिमरणमुच्यत इति शेषः " से तेणमि " त्यादिनिगमनम् भ० १३ श० ७ उ० । "एमेव ओहिमरणं, जाणि मओ ताणि चेव मरइ पुणो" । २ । एवमेव यथा वीचिमरणं द्रव्यक्षेत्रकालभवभावभेदतः पञ्चविधं तथैवमवधिमरणमपीत्यर्थः तत्स्वरूपमाह । यानि मृतः संप्रतीतिः शेषस्तानि चैव (मरइ पुणत्ति) तिङ्व्यत्ययेन मरिष्यति । पुनः किमुक्तं भवति । अवधिर्मर्यादा ततश्च यानि नारकादीनि भवान्ति । बन्धनतयायुःकर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते पुनर्यदि तान्येवानुभूय मरिष्यति । तदा द्रव्यावधिमरणं तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तद्ग्रहणावधि यावज्जीवस्य मृतत्वात् संभवति हि गृहीतोज्झितानामपि कर्म्मदलिकानां ना-

पुनर्ग्रहणपरिणामवैचित्र्यादिति । एवं क्षेत्रकालादिष्वपि भावना कार्या । प्रव० १५७ द्वा० । उत्त० ।

ओहीर–नि–द्रा–धा० अदा० प्रचलायने, ईषत्स्वापे, निद्रातेरोहीरोङ्घौ ८ । ४ । १२ । इति निपूर्वस्य द्रातेरोहीरादेशः । थोहीरइ, णिद्दाइ, निद्राति, प्रा० ।

ओहीरमाण–निद्राण–त्रि० प्रचलायमाने, स० ११ श० ११ उ० । वारंवारमीषन्निद्रां गच्छति, ज्ञा० १ अ० ।

ओहीरिय–अवधीरित–त्रि० परिभूते, आचा० २ अ० १ उ० ।

ओहूणण–अवधूनन–न० अपूर्वकरणेन भिन्नग्रन्थे भेदापादने, आचा० ए अ० १ उ० ।

ओहूय–अवधूत–त्रि० उल्लङ्घिते, वृ० १ उ० ।

ओहोवहि–ओघोपधि–पुं० ओघः संक्षेपः स्तोकः लिङ्गकारकः अवश्यं ग्राह्यः उपधिः । उपधिभेदे, नि० चू० २ उ० । ओघोपधिर्नित्यमेव यो गृह्यते भुज्यते पुनः कारणेन स उच्यते । तदुक्तम् " ओहेण जस्स गहणं, भोगो पुण कारणा स ओहोवही " ध० ३ अधि० । ओघेन सामान्येन भोगे अभोगे वा यस्य पात्रादेर्ग्रहणमादानं भोगः पुनः कारणान्निमित्तेनैव भिक्षाटनादिना स ओघोपधिरभिधीयते । पं० व० । (उवहिशब्देऽस्य गणना प्रमाणं च दर्शितम्) [औकारः प्राकृते न भवतीति तदादयः शब्दा नोपदर्शिताः]

—×:※:+—

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञ–श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे ओकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्

ककार

क–क–पुं० कै–शब्दे, कक–दीप्तौ, वा ड+ब्रह्मणि, विष्णौ, कामदेवे, अग्नौ, वायौ, यमे, सूर्ये, आत्मनि, दक्षे, प्रजापतौ, राज्ञनि, कामग्रन्थौ, मयूरे, मेदिनी०। विहगे, शब्दचिं०। चित्ते, देहे, काले, घने, मेघे, शब्दे, अनेकार्थकोशः। प्रकाशे च एका०। शिरसि, न० जले, सुखे च न० मेदिनी। केशे, पुं०–धरणिः॥ को ब्रह्मात्मप्रकाशार्ककेकीवायुयमाग्निषु। २१। कं मौलिसुखतोयेषु कः शब्दः सर्वलिङ्गकः। सर्वनामगुणोक्तो यस्तस्य रूपं त्रिलिङ्गकम् १ कः स्यात्पितामहे ब्रह्मे, मारुते शमने नले। सितवर्णे मयूरे च, हरावात्मनि वारिधौ। २। वसावादतिशब्दे च प्रकाशे पुंसि कथ्यते। एका०। "कत्ति कमं मे पावं" क इत्ययं वर्णः कृतं मया पापमित्येवमभ्युपगमे वर्त्तते। आ० म० द्वि०। किमादेशः ककारः क्षेपे, यथा को राजा यो न रक्षति। नि० चू० १ उ०।

कअ–कृत–त्रि० कृ–क्त–निष्पादिते, "माझाए कअं। अह–वा यं कअकज्जो" प्रा०।

क (य) अग्गह–कचग्रह–पुं० कगचजतदपयवां प्रायो लुक् ८। १। ७७। इति चलुक् अवर्णो यश्रुतिः इति कगचजेत्यादिना लुकि सति शेषोऽवर्णोऽवर्णात्परो लघुप्रयत्नतरयकारश्रुतिर्भवति। कयग्गहो, कचग्रहः। रत्यर्थं स्त्रियाः केशाकर्षणे, । प्रा०।

कअर–कतर–त्रि० किम् डतरच् द्वयोर्मध्ये निर्धारणार्थं प्रश्नविषये एकस्मिन् पदार्थे, प्रा०। वाच०॥

कइ–कति–त्रि० बहुव०। किं परिमाणमेषां–किम् डति। किम्प्रमाणे, सू०प्र० ९ पाहु०। कियत्संख्येषु, विशे०। संख्यापरिमाणविशेषविषयप्रश्नविषयेषु पदार्थेषु, वाच०।

चत्तारि कइ पण्णत्ता तं जहा दवियकइ माउयकइ पज्जवकइ संगहकइ॥

कतीति प्रश्नगर्भपरिच्छेदवत् संख्यावचनो बहुवचनान्तस्तत्र द्रव्याणि च तानि कति च द्रव्यकति कति द्रव्याणीत्यर्थः। द्रव्यविषयो वा कतिशब्दो द्रव्यकति। एवं मातृकापदादिष्वपि नवरं संग्रहाः शालियवगोधूमा इत्यादि स्था० ३ ठा० २ उ०।

कपि–पुं० वानरे, प्र० ३ श० ६ उ०॥

कवि–पुं० कवते नवं नवं भणति भङ्गीवैदग्ध्यादि सहितैः पाकातिरेकरसनीयरसरहस्यास्वादमेदुरितसहृदयहृदयानन्दैर्निःशेषभाषावैशारद्यहृद्यैर्गद्यपद्यप्रबन्धैर्वर्णनां करोतीति कविः। गद्यपद्यप्रबन्धरचके, अष्टमः प्रवचनप्रभावक एषः॥ ध० २ अधि०। काव्यकर्तरि, । अनु०॥

कइअव–कैतव–न० कितवस्य भावः कर्म वा अण्। अइदैत्यादौ च ८।१।१५१। इत्यैतः अइ इत्यादेशः। कइअवं, कैतवम्, प्रा०। नेपथ्यमार्गगृहपरावर्तादौ, कपटे, दम्भे, तं०।

कतिपय–त्रि० कति–अयच्–पुक् च। डाहवौ कतिपये ८।१।२५०। इति यस्थाने वः। कतिशब्दार्थे, प्रा०।

कइ (य) अवपण्णत्ति–कैतवप्रज्ञ (ज्ञा) प्ति–स्त्री० कैतवानि कपटानि नेपथ्यभाषामार्गगृहपरावर्त्तादीनि (पण्णत्ति) प्रज्ञाप्यन्ते याभिस्ताः कैतवप्रज्ञप्तयः। यद्वा कैतवानां दम्भानां प्रकृष्टाः ज्ञप्तयो ज्ञानानि कमलश्रेष्ठिसुतापद्मिनीवत् यासु ताः कैतवप्रज्ञप्तयः। यद्वा कैतवेषु प्रज्ञाया बुद्धेराप्तिरादानं यासु ताः। स्त्रीषु "कइयवपण्णत्तीणं, ताणं अणायरसीलाणं" तं०।

कइ (य) अवपेमागिरितडी–कैतवप्रेमागिरितटी–स्त्री० कुशिष्यकुलबालकपातिकामागधिकागणिकावत् कैतवप्रेमभ्यां गिरितट्यामिव पातिकायां स्त्रियाम्, "कइयवपेमगिरितडीओ" तं०।

कइ (य) अविया–कैतविकी–स्त्री० कैतवेन निर्वृत्ता ठक्। कपटेनात्मन्यन्यन्मनस्यन्यद्वाचीत्यादिलक्षणेन निर्वृत्तायां स्त्रियाम्, व्य० ४ उ०।

कइउल्ल–शुके, देशी०।

कइअंकसई–निकरे, देशी०।

कइअंकोर–निकरे देशी०।

कइद्धअ–कपिध्वज–पुं० कपिर्ध्वजेऽस्य तैलादित्वात् द्वित्वे द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः ८।२।९०। इति चतुर्थस्योपरि द्वितीयः। कइद्धओ, कइधओ, अर्जुने, प्रा०।

कइम–कतम–त्रि० किम्–डतम्। मध्यमकतमे द्वितीयस्य ८।१। ४८। इति द्वितीयस्यात इत्वम्। कतमः। कइमः प्रा०। बहूनां मध्ये जात्यादिभिर्निर्धारणार्थं प्रश्नविषये एकस्मिन् पदार्थे, वाच०॥

कइरव–कैरव–न० के जले रौति–रु–अच्–अलुक् समासः। केरवो हंसस्तस्य प्रियम् अण्–वैरादौ ८।१।१५२। इति ऐत इरादेशः। कइरवं 'केरवं' प्रा०। कुमुदे, शुक्लोत्पले, अमरः। शत्रौ, पुं०। कैतवे, न० मेदि०।

कइलास–कैला(स)श–पुं० के जले लासो लसनं दीप्तिरस्य अलुक् समासः। केलासः स्फाटिकस्तस्येव शुभ्रः अण्। केलीनां समूहः अण् कैलं तेनास्यतेऽत्र आस्–आधारे–घञ्–वैरादौ वा ८। १। १५२। इति ऐत इत्वं वा प्रा०। जम्बूद्वीपे द्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य लवणसमुद्रे, दक्षिणापरस्यां कैलासस्यानुवेलन्धरनागराजस्यावासपर्वते, जी० ३ प्रति०। प्रवृत्तिनिमित्तं कैलाशे। कैलाशप्रभाणि उत्पलादीनि। कैलाशनामा च तत्र देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति। ततः कैलाशः (तस्य) दक्षिणापरया कैलाशा राजधानी (जी०) (अनुवेलंधरशब्दे तद्वर्णक उक्तः) तदधिपेऽनुवेलन्धरनागराजे, (जी०) नन्दीश्वरवरद्वीपस्य पूर्वार्द्धाधिपतौ महर्द्धिके पल्योपमस्थितिके देवे च जी० ३ प्रति०। शिवकुबेरयोः स्थाने, पर्वतभेदे च वाच०। मेरौ च नि०चू० १३ उ०।

कइलासभवण–कैलाशभवन–न० क० स०। कैलाशरूपे आश्रये, पिं०। कैलाशपर्वतो मेरुः "तत्थ जाणि देवभवणाणि" मन्दरस्थदेवालयेषु, । "केलासभवणा एते आगता तुज्झकामेहिं" नि० चू० १३ उ०। आर्हतग्रन्थे प्रायस्तालव्य एव कैलाशशब्दो दृश्यते।

कइलासा–कैलासा–स्त्री० कैलासनाम्नोऽनुवेलन्धरनागराजस्य कैलासाख्यस्यावासभूतायां राजधान्याम्, जी० ३ प्रति०।

कइमाह–कतिपय–त्रि० कति अयम्–पुक्–च। काहयौ कतिपये ८।१।५०। इति कतिपये यस्य काह इत्यादेशः। कतिशब्दार्थे, परिमिते च प्रा०।

कइवि–(का) य। कैतविका–स्त्री० कञ्चिकायाम्, ज्ञा०१ अ०।

कइस–कीदृश–त्रि० कस्येव दर्शनमस्य–किम्–दृशा–कञ्–। अपभ्रंशे–अतांडइसः। ८।४।३। इति दादिरवयवस्य कित अइस इत्यादेशः। किस्वाट्टिलोपः। किम्प्रकारे, प्रा०।

कइसंचिय–कतिसञ्चित–त्रि० कतीत्यनेन, संख्यावाचिनो द्व्यादयः संख्यावन्तोऽभिधीयन्ते। अयञ्चान्यत्र प्रश्नविशिष्टसंख्यावाचकतया रूढोऽपीह संख्यामात्रे द्रष्टव्यः। तत्र नारकाः कति संख्याताः एकैकसमये ये उत्पन्नाः सन्तः सञ्चिताः कत्युत्पत्तिसाधर्म्याद्बुद्ध्या राशीकृतास्ते कतिसञ्चिताः। स्था० ३ ठा०। एकसमये संख्यातोत्पादेन पिण्डितेषु नैरयिकादिवैमानिकपर्यन्तेषु, भ० २० श० १० उ०। (उववायशब्दे वक्तव्यतोक्ता)

कइहसिय–कपिहसित–न० अनभ्रे, सहसा विद्युति, आकाशे, वानरमुखसदृशस्य विकृतमुखस्य हसने, अनभ्रे या विद्युत्सहसा तत्कपिहसितमन्ये त्वाहुः कपिहसितं नाम यदाकाशे वानरमुखसदृशस्य विकृतमुखस्य हसनम्। भ० ३ श०६ उ०।

कउ–कुतस्–अव्य० कुतसः कउ कहंति हु ८। ३। १६। इति कुतः शब्दस्य कउ आदेशः। "महुकतहो गुणछिअहो, कउ कुंपला वलंति" तस्मादित्यर्थे, प्रा०।

क्रतु–पुं०। सयूपे यज्ञे, "सयूपो यज्ञ एव हि क्रतुरुच्यते। यूपरहितस्तु दानक्रियायुक्तो यज्ञ इति। विशे०। आ. म० प्र०। "वरं कूपशताद् वापी, वरं वापीशतात् क्रतुः। वरं क्रतुशतात् पुत्रः, सत्यं पुत्रशताद् वरम्" स्था०४ ठा० ३ उ०। संकल्पे, ब्रह्मणो मानसे पुत्रे, ऋषिभेदे, वैश्वदेवभेदे, इन्द्रियेषु विष्णौ, रुद्रेराधिक्ये, प्रज्ञायाम्, स्तवनादिकर्मणि च वाच०।

कउरव–कौरव–पुं० स्त्री० कुरोरपत्यादि–उत्सा० अञ् तद्देशस्य राजा अण्। तेषु भवो वा अण्। अउः पौरादौ च। ८। १। १६२। इति पौरादित्वात् औतः अउरादेशः प्रा०। कुरुवंश्ये, तद्देशनृपे, कुरुसम्बन्धिनि, तद्देशभवे च त्रि० स्त्रियां ङीप् वाच०।

कउल–करीषे, देशी०।

कउसल्ल–कौशल–न० कुशलस्य भावः युवा० अण् पौरादौ चेति औतः अउरादेशः। दक्षतायाम्, । प्रा०।

कउह–ककुद्–पुं० न० कस्य देहस्य मुखस्य वा कुं भूमिं ददाति दा–क–। ककुदे हः ८। १। २५। इति ककुदे दस्य हः। कउहं प्रा०। वृषभस्य स्कन्धासन्नोन्नतदेहावयवे, अनु०। नित्ये, देशी०। नृपचिह्ने छत्रादौ, पर्वताग्रभागे च। वाच०।

कउह–ककुभ्–स्त्री० कं प्रकाशं स्कुभ्नाति स्कुम्भ् क्विप् पृषोदरादित्वात्सिद्धिः। ककुभो हः ८। १। २१। ककुभ्शब्दस्यान्त्यव्यञ्जनस्य हो भवति। कउहा, प्रा०। दिशि, शोभायाम, चम्पकमालायाम, शास्त्रे, रागिणीभेदे, प्राणे च। वाच०।

कओ–कुतस्–अव्य० किम्–तस्। संस्कृते किमः कुः। कश्च–तसोश्च ८। ३। ७१। इति किमः कः। कस्मादित्यर्थे, प्रा०।

कंक–कङ्क–पुं० ककि–अच्। पक्षिविशेषे, प्रश्न०अध०द्वा० १ अ०। सूत्र०। स्था०। अनु०। "जहा ढंकाय कंकाय कुललामग्गुका–सिहा। मच्छेसणं झियायंति" ढङ्कादयः पक्षिविशेषाः आश्रया आमिषजीविनो मत्स्यप्राप्तिं प्रति ध्यायन्ति। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। लोमपक्षिविशेषे, । जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

कंकगहणी–कङ्कग्रहणी–स्त्री० पुं० कङ्कः पक्षिविशेषस्तस्येव ग्रहणी गुदाशयो यस्य स तथा। नीरोगवर्चस्के, औ०। कङ्कग्रहणी श्रमणो भगवान् महावीरः उत्तरकुर्वादिमनुष्याः सुषमसुषमासुषमयोर्भरतक्षेत्रजा मनुष्याश्च कङ्कग्रहण्यः (णयः) प्रश्न० १ अध० द्वा० ४ अ०। जी०।

कंकड–कङ्कट–पुं० कं देहं कटति क–कट–मुम्–च। ककि लौल्ये अटन्–वा–। वाच० कवचे, रा०। जं०। जी०। ज्ञा०। औ०। आ० म० प्र०। "सहकंकरुवर्भसगा इति" सह कङ्कटैः कवचैरवतंसकैश्च शेखरकैः शिरस्त्राणैर्वा ये ते तथा भ०९ श०३३ उ०। ज्ञा०।

कंकडुग–काङ्कटुक–पुं० दुर्भेद्यमाषे, तद्वत् दुर्व्यवहारिणि च। "मा किल कंकडुकं कुणिमं पक्खुत्तरं च वत्थाइं" इति तस्य दीघ्यम् " कंकडुओ विवमासो सिद्धिं न उवेइ अस्स ववहारो" यस्य व्यवहारः काङ्कटुक इव माष इव न सिद्धिमुपयाति स काङ्कटुकव्यवहारयोगात् काङ्कटुकः व्य० ३ उ०।

कंकण–कङ्कण–न० कं सुखं कणति कम् कण–अच्। रक्तद्वरकरूपे, भ०११ श०११ उ०। करभूषणे, भूषणमात्रे, शेखरे च। कमित्यव्ययं जलार्थकं तस्य कणः जलकणे, पुं०। वाच०।

कंक (य) त–कङ्कत–पुं० ककि–अतच्। केशसंमयनार्थे रुयुपकरणे, सूत्र०१श्रु० ४ अ०। नागबलावृक्षे, तक गतौ, अतच्। पृषो० अल्पविषे, मुष्ममुन्ने सर्पे, पुं० स्त्री० जातित्वात् स्त्रियाम् ङीष् केशप्रसाधन्याम्, गौरा० ङीष्। वाच०

कंकतिग्गाम–कङ्कतिग्राम–पुं० माघराजवंश्यानां पुरन्दिरस्त्रमराजादीनां काङ्कतीयानामभिजनग्रामे, ती०। कल्प०।

कंकतिज्ज–काङ्कतीय–त्रि० माघराजवंशजे नृपतौ, माघराजस्य कङ्कतिग्रामवास्तव्यत्वाद् वंशजाः पुरन्दिरस्त्रमराजपिम्मिकुशिरमराजप्रोलमराजरुद्रदेवगणपतिदेवपुत्री। च रुद्रमहादेवी पञ्चत्रिंशद्वर्षकृतराज्यस्ततः श्रीप्रतापरुद्र एते च काङ्कतीया इति प्रसिद्धाः ती०। कल्प०।

कंकलोह–कङ्कलोह–न० कङ्कायसि, "कर्तिकां कङ्कलोहस्य गोपितां चाददे तदा" आ० क०। उदायी नृपः कङ्कायःकर्तिकाकपटकतेन विनाशितः स्था० ६ ठा०।

कंकेल्लि–कङ्केलि–पुं० कङ्क– वा० पलिञ्–पृषो०। अशोकवृक्षे, प्रव० ३९ द्वा०। ल०प्र०। रक्ताशोके, दर्श०।

कक्कसार–दध्योदने, देशी०।

कंकोड–कर्कोट–पुं० कर्क–ओट–बक्रादावतः ८। १। २६ इति प्रथमस्वरस्यानुस्वारागमः। नागभेदे, प्रा०।

कंकोवम–कङ्कोपम–पुं० कङ्कः पक्षिविशेषस्तस्याहारेणोपमा यत्र स मध्यमपदलोपात् कङ्कोपमः। तिर्यग्आहारभेदे, अयमर्थो यथाहि कङ्कस्य दुर्जरोऽपि स्वरूपेणाहारः सुखभक्ष्यः सुखपरिणामश्च भवति एवं यस्तिरश्चां सुखभक्ष्यः सुपरिणामश्च स कङ्कोपम इति स्था० ४ ठा० ४ उ०।

कक्कस–दध्योदने, देशी०।

कंखज्झाण–काङ्क्षाध्यान–न० अन्यान्यदर्शनग्रहः काङ्क्षा तद्ध्यानम, " कविला इत्थं पि इह यं पि" इति वदतो मरीचेरिव परदर्शनग्रहध्याने, आतु०।

कंखण–काङ्क्षण–न० अन्यान्यदर्शनग्रहे, ध० २ अधि० ।

कं (खप्प) खाप ओस–काङ्क्षाप्रदोष– पुं० क–स– काङ्क्षा–मिथ्यात्वमोहनीयोदयसमुत्थोऽन्यान्यदर्शनग्रहरूपो जीवपरिणामः स एव प्रकृष्टो दोषो जीवदूषणं काङ्क्षा प्रदोषस्तद् विषयं उद्देशः । जीवेन भदन्त ! काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतमित्याद्यर्थनिर्णयार्थे भगवत्याः प्रथमशतस्य तृतीये उद्देशे, भ० १ श० १ उ० ॥ कांक्षा दर्शनानन्तरं गृद्धो गृद्धिर्वा सैव प्रकृष्टो दोषः कांक्षाप्रदोषः कांक्षाप्रद्वेषं वा रागद्वेषयोर्भवति (एतत्क्षय एवान्तकरो भवतीति अंतकिरियाशब्दे)

कंखा–काङ्क्षा–स्त्री० काक्षि–भावे अ+। अप्राप्तविविधार्थप्रार्थनायाम्, ध० ३ अधि० । कांक्षा गृद्धिराशक्तिरित्येकार्थाः । तं० । भोगेच्छायाम् , सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ॥ स्पृहायामभिलाषे, उत्त० १६ अ० । अभिलाषातिरेके, उपा० २ अ० । क्षमाऽहिंसादिगुणलेशदर्शनाद् (ध० २ अधि०) मिथ्यात्वमोहनीयोदयसमुत्थेऽन्यान्यदर्शनग्रहरूपे जीवपरिणामे, भ० १ श० १ उ० । आतु० । ज्ञा० । श्रा० । प्रव० । सूत्र० । संथा० । उपा० । पञ्चसु दर्शनातिचारेषु द्वितीय एषः । जीत० । तद्भेदाः कांक्षणं कांक्षासुगतादिप्रणीतदर्शनेषु ग्राहोऽभिलाष इत्यर्थः तथा चोक्तं "कंखा अन्नान्नदंसणग्गहो" सा पुनर्द्विभेदा देशकांक्षा सर्वकांक्षा च । देशकांक्षैकदेशविषया एकमेव सौगतं दर्शनं कांक्षति चित्तजयोऽत्र प्रतिपादितोऽयमेव च प्रधानो मुक्तिहेतुरित्यतो घटमानकमिदं न दूरापेतमिति । सर्वकांक्षा सर्वदर्शनान्येव कांक्षति अहिंसादिप्रतिपादनपराणि सर्वाण्येव कपिलकणभक्षाक्षपादादिमतानीह लोके च नात्यन्तक्लेशप्रतिपादनपराण्यतः शोभनान्येवेति । अथवैहिकामुष्मिकफलानि कांक्षति प्रतिषिद्धा चेयमर्हद्भिरतः प्रतिषिद्धानुष्ठानादेवैनां कुर्वतः सम्यक्त्वातिचारो भवति । तस्मादैकान्तिकात्यन्तिकाव्याबाधमपवर्गं विहायान्यत्राकांक्षा न कार्येति । आव० ६ अ० ।

काङ्क्षायामुदाहरणम् ।

राजाऽमात्यौ हयाकृष्टौ, कौचिदध्वरवीं गतौ ।
जक्षतु क्षुधितौ तत्र, वनस्पतिफलानि तौ ॥ १ ॥
मिलितेषु स्वसैन्येषु, ततः स्वस्थानमीयतुः ।
राज्ञोचे सूपकृत्सर्व–धान्यानि पच मत्कृते ॥ २ ॥
बलिभिर्दुर्वेलापास्तिः, प्रेक्षणे स्याद्यथा तथा ।
अशनेऽपीति मत्वा प्राक्, कदन्नं कांक्षयाऽहरत् ॥ ३ ॥
ततः कदन्नशूलेना–त्याहारान्मृतवानिति ।
कृत्वा मन्त्री पुनर्वान्ति, विरेकादीनि पथ्यभुक् ॥ ४ ॥
निराकांक्षः सुखी जातो, भोगानां भाजनं चिरम् ।

आ०क०।आ०चू० । प्रव० । मोहनीये कर्मणि, स० । परद्रव्यविषयाभिलाषरूपे चतुर्विंशे गौणादत्तादाने, प्रश्न० आश्र० द्वा० ३ अ० ।

कंखामोहणिज्ज–काङ्क्षामोहनीय–न० मोहयतीति मोहनीयं कर्म तच्चारित्रमोहनीयमपि भवतीति विशिष्यते कांक्षाऽन्यान्यदर्शनग्रहः । उपलक्षणत्वाच्चाऽस्य शङ्कादिपरिग्रहः । ततः कांक्षाया मोहनीयं कांक्षामोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीये, ॥

जीवाणं भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे ? हंता कडे से भंते ! किं देसेणं देसे कडे देसेणं सव्वे कडे सव्वेणं देसे कडे सव्वेणं सव्वे कडे ? गोयमा ! णो देसेणं देसे कडे णो देसेणं सव्वे कडे णो सव्वेणं देसे कडे सव्वेणं सव्वे कडे ।

"जीवाणमि" त्यादि व्यक्तश्चवरं जीवानां सम्बन्धि यत् (कंखामोहणिज्जत्ति) मोहयतीति मोहनीयं कर्म तच्चारित्रमोहनीयमपि भवतीति विशिष्यते कांक्षाऽन्यान्यदर्शनग्रहः उपलक्षणत्वाच्चाऽस्य शङ्कादिपरिग्रहस्ततः कांक्षाया मोहनीयं कांक्षामोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयमित्यर्थः (कडेत्ति) कृतं क्रियानिष्पाद्यमिति प्रश्नः उत्तरन्तु (हंता कडेत्ति) अकृतस्य कर्मत्वानुपपत्तेः।इह च वस्तुनः करणे चतुर्भङ्गी दृष्टा यथा देशेन हस्तादिना वस्तुनो देशस्याच्छादनं करोति। अथवा हस्तादिदेशेनैव समस्तस्य वस्तुनः। अथवा सर्वात्मना वस्तुदेशस्याथवा सर्वात्मना सर्वस्य वस्तुन इत्येवं कांक्षामोहनीयकरणं प्रति प्रश्नयन्नाह (से भंते ! इत्यादि) (सेत्ति) तस्य कर्मणः भदंत ! किमिति प्रश्ने देशेन जीवस्यांशेन देशः काङ्क्षामोहनीयस्य कर्मणोऽशः कृत इत्येको भङ्गः। अथ देशेन जीवांऽशेनैव सर्वं काङ्क्षामोहनीयं कृतमिति द्वितीयः। उत सर्वेण सर्वात्मना देशः काङ्क्षामोहस्य कृत इति तृतीयः। उताहो सर्वेण सर्वात्मना सर्वं कृतमिति चतुर्थः। अत्रोत्तरम् (सव्वेणं सव्वे कडेत्ति) जीवस्वाभाव्यात्सर्वस्वप्रदेशावगाढतदेकसमयबन्धनीयकर्मपुद्गलबन्धने सर्वजीवप्रदेशानां व्यापार इत्यत उच्यते सर्वात्मना सर्वं तदेककालं करणीयं काङ्क्षामोहनीयं कर्म कृतं कर्मतया बद्धमत एव च भङ्गत्रयप्रतिषेध इति अत एवोक्तम् । " एगपएसो गाढं, सव्वपएसेहिं कम्मुणो जोग्गं । बंधइ जहुत्तहेउं, तिए पएसोवगाढंति ॥१॥ " जीवापेक्षया कर्मद्रव्यपेक्षया च य एके प्रदेशास्तेष्ववगाढं सर्वजीवप्रदेशव्यापारत्वाच्च तदेकसमयबन्धनार्हं सर्वमिति गम्यम् । अथवा सर्वं यत्किञ्चित्काङ्क्षामोहनीयं तत्सर्वात्मना कृतं न देशेनेति जीवानामिति सामान्योक्तौ विशेषो नाऽवगम्यत इति विशेषावगमाय नारकादिदण्डकेन प्रश्नयन्नाह ॥

णेरइयाणं भंते ! कंखामोहणिज्जे कम्मे कडे हंता कडे जाव सव्वेणं सव्वे कडे एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ भाणियव्वो ॥

(नेरइयेणमित्यादि) भावितार्थमेव क्रियानिष्पाद्यं कर्मोक्तं तत्क्रिया च त्रिकालविषयाऽतस्तां दर्शयन्नाह ॥

जीवाणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं करिंसु ? हंता करिंसु तं भंते ! किं देसेणं देसं करिंसु एएणं अभिलावेणं दंडओ जाव वेमाणियाणं एवं करेंति एत्थ वि दंडओ जाव वेमाणियाणं एवं करिस्संति एत्थ वि दंडओ जाव वेमाणियाणं एवं चिए चिणिंसु चिणंति चिणिस्संति उवचिए उवचिणिंसु उवचिणंति उवचिणिस्संति उदीरेंसु उदीरेंति उदीरिस्संति वेदेंसु वेदेंति वेदिस्संति णिज्जरेंसु णिज्जरेंति णिज्जरिस्संति । गाहा । कडे चिए य उवचिए, उदीरिया वेदिया य णिज्जिण्णा । आदितिए चउब्भेया, तियभेया पच्छिमा तिण्णि ॥

"जीवाणमि" त्यादि व्यक्तश्चवरम् (करिंसुत्ति) अतीतकाले कृतवन्तः उत्तरन्तु हन्ताऽकार्षुस्तदकरणे अनादिसंसाराभावप्रसङ्गात् एवं (करेंति) सम्प्रति कुर्वन्ति । एवं (करिस्संति) अनेन च भविष्यत्कालताकरणस्य दर्शितेति कृतस्य च कर्मणश्चयादयो भवन्तीति तान् दर्शयन्नाह (एवं चिए इत्यादि) व्यक्तश्चवरं चयः प्रदेशानुभागादेर्वर्द्धनमुपचयस्तदेव पौनःपुन्येन अन्ये त्वाहुः । च

यत्र कर्म पुद्गलोपादानमात्रमुपचयस्तु चितस्याबाधाकालं मुक्त्वा वेदनार्थं निषेकः स चैवं प्रथमस्थितौ बहुतरं कर्मदलिकं निषिञ्चति । ततो द्वितीयायां विशेषहीनमेवं यावदुत्कृष्टायां विशेषहीनं निषिञ्चति । उक्तं च "मोत्तूणसगमबाहं, पढमाइठिइ बहुतरं दव्वं । सेसं विसेसहीणं, जावुक्कोसं ति सव्वासिं" १॥ उदीरणमनुदितस्य करणविशेषादुदयप्रवेशनं वेदनमनुभवनं निर्जरणं जीवप्रदेशेभ्यः कर्मप्रदेशानां शातनमिति । इह च सूत्रसङ्ग्रहगाथा भवति सा च "कडचियत्यादि, भावितार्था च नवरं (आइतियंत्ति) कृतचितोपचितलक्षणे (चउभेयत्ति) सामान्यक्रियाकालत्रयक्रियाभेदात् (तियभेयत्ति) सामान्यक्रियाविरहात् (पच्छिमत्ति) उदीरितवेदितनिर्जीर्णा मोहपुद्गला इति शेषः (तिविहत्ति) त्रयस्त्रिविधा इत्यर्थः तत्राद्ये सूत्रत्रये कृतचितोपचितान्युक्तान्युत्तरेषु कस्मान्नोदीरितवेदितनिर्जीर्णानीति उच्यते । कृतं चितमुपचितं कर्म चिरमप्यवतिष्ठत इति करणादीनां त्रिकालक्रियामात्रातिरिक्तश्चिरावस्थानलक्षणं कृतत्वाद्याश्रित्य कृतादीन्युक्तान्युदीरणादीनां तु न चिरावस्थानमस्तीति त्रिकालवर्त्तिना क्रियामात्रेणैव तान्यभिहितानीति जीवाः काङ्क्षामोहनीयं कर्म वेदयन्तीत्युक्तम् ।

अथ तद्वेदनकारणप्रतिपादनाय प्रस्तावयन्नाह ॥

वेदनं जीवा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ? हंता वेदेंति । कह णं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ? गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं संकिया कंखिया वितिगिच्छिया भेदसमावण्णगा कलुससमावण्णगा एवं खलु जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ।

(जीवा णं भंते ! इत्यादि) व्यक्तश्चरं ननु जीवाः कांक्षामोहनीयं कर्म वेदयन्तीति प्रागभिहितं किं पुनः प्रश्नः उच्यते वेदनोपायप्रतिपादनार्थम् । उक्तञ्च " पुव्वभणियं वि पच्छा, जं भन्नइ तत्थ कारणं अत्थि । पडिसेहो य अणुन्ना, हेउविसेसोवलंभो त्ति" ॥ १ ॥ (तेहिं तेहिं ति) तैस्तैर्दर्शनान्तरश्रवणकुतीर्थिकसंसर्गादिभिर्विकल्पप्रसिद्धैर्द्विर्वचनं चेह वीप्सायां कारणैः शङ्कादिहेतुभिः किमित्याह । शङ्किता जिनोक्तपदार्थान् प्रति सर्वतो देशतो वा संजातसंशयाः कांक्षिता देशतः सर्वतो वा सञ्जातान्यान्यदर्शनग्रहाः (वितिगिच्छियत्ति) विचिकित्सिताः सञ्जातफलविषयशङ्काः । भेदसमापन्ना इति किमिदं जिनशासनमाहोश्विदिदमित्येवं जिनशासनस्वरूपं प्रतिमतेर्द्वैधीभावं गता अनध्यवसायरूपं वा मतिभङ्गङ्गताः । अथवा यत एव शङ्कितादिविशेषणा अत एव मतेर्द्वैधीभावङ्गताः कलुषसमापन्ना नैतदेवमित्येवं मतिविपर्यासं गताः । एवमिति उक्तेन प्रकारेण (खलुत्ति) वाक्यालङ्कारे निश्चये अवधारणे वा एतच्च जीवानां कांक्षामोहनीयवेदनमित्थमेवावसेयं जिनप्रवेदितत्वात्तस्य च सत्यत्वादिति । भ०१ श० ३ उ० । (तदेव सत्यमिति सूत्रं सच्चशब्दे अत्थित्त शब्दे च उक्तम्) तद्बन्धो यथा ।

जीवा णं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति हंता गोयमा ! बंधंति कहणं भंते ! जीवा कंखामोहणिज्जं कम्मं बंधंति हंता गोयमा ! पमादपच्चयं जोगनिमित्तं च से णं भंते ! पमादे किं पवहे ? गोयमा ! जोगप्पवहे से णं भंते ! जाए किं पवहे गोयमा ! वीरियप्पवहे । से णं भंते ! वीरिए किं पवहे गोयमा ! सरीरप्पवहे । से णं भंते ! सरीरे किं पवहे ? गोयमा ! जीवप्पवहे एवं सइ अत्थि उट्ठाणेइ वा कम्मेइ वा बलेइ वीरिएइ वा पुरिसकारपरक्कमेइ वा ॥

"जीवा णं भंते ! कंखेत्या" दि (पमायपच्चयत्ति) प्रमादप्रत्ययाःप्रमत्ततालक्षणाद्धेतोः प्रमादश्च मद्यादिः । अथवा प्रमादग्रहणेन मिथ्यात्वाविरतिकषायलक्षणबन्धुहेतुत्रयं गृहीतम् । इष्यते च प्रमादेऽन्तर्भावोऽस्य यदाह " पमाओ य मुणिं देहिं, भणिओ अट्ठभेयओ । अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छाणाणं तहेव य ॥ १ ॥ रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो ॥ जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओत्ति " तथा योगनिमित्तञ्च योगा-मनःप्रभृतिव्यापारास्ते निमित्तं हेतुर्यत्र तत्तथा बध्नन्तीति क्रियाविशेषणं चेदमेतेन च योगाख्यश्चतुर्थः कर्मबन्धहेतुरुक्तः चः समुच्चये । अथ प्रमादादेरेव हेतुफलभावदर्शनायाह "सेणमि"त्यादि (पमाए किं पवहेत्ति) प्रमादोऽसौ कस्मात्प्रवहति प्रवर्तत इति । किं प्रवहः पाठान्तरेण किंप्रभवः (जोगप्पवहेत्ति) योगो मनःप्रभृतिव्यापारस्तत् प्रवहत्वञ्च प्रमादस्य मद्यासेवनस्य मिथ्यात्वादित्रयस्य च मनःप्रभृतिव्यापारसद्भावे भावात् (वीरियप्पवहेत्ति) वीर्यश्चात्र वीर्यान्तरायकर्मक्षयक्षयोपशमसमुत्थो जीवपरिणामविशेषः । (सरीरप्पवहेत्ति) वीर्यं द्विधा सकरणमकरणञ्च । तत्रालेश्यस्य केवलिनः कृत्स्नयोर्ज्ञेयदृश्ययोः केवलं ज्ञानं दर्शनं चोपयुञ्जानस्य योऽसावपरिस्पन्दोऽप्रतिघो जीवपरिणामविशेषस्तदकरणं तदिह नाधिक्रियते यस्तु मनोवाक्कायकरणसाधनः सलेश्यजीवकर्तृको जीवप्रदेशपरिस्पन्दात्मको व्यापारोऽसौ सकरणं वीर्यं तच्च शरीरप्रवहं शरीरं विना तदभावादिति (जीवप्पवहेत्ति)इह यद्यपि शरीरस्य कर्मापि कारणं न केवल एव जीवस्तथापि कर्मणो जीवकृतत्वेन जीवप्राधान्याज्जीवप्रवहं शरीरमित्युक्तम् अथ प्रसङ्गतो गोशालकमतं निषेधयन्नाह (एवं सइत्ति) एवमुक्तन्यायेन जीवस्य काङ्क्षामोहनीयकर्मबन्धकत्वे सति अस्ति विद्यते न तु नास्ति यथा गोशालकमते नास्ति जीवानामुत्थानादि पुरुषार्थासाधकत्वान्नियतित एव पुरुषार्थसिद्धेः । यदाह " प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः " इति ॥१॥ एवं हि अप्रमाणिकाया नियतेरभ्युपगमः कृतो भवति । अध्यक्षसिद्धपुरुषकारापलापश्च स्यादिति । (उट्ठाणे इवत्ति) उत्थानमिति वेति वाच्ये प्राकृतत्वात्सन्धिलोपाभ्यामेवन्निर्देशस्तत्र उत्थानमूर्द्धीभवनं इतिः रूपप्रदर्शने वाशब्दो विकल्पे समुच्चये वा (कम्मे इवत्ति) कर्म्म उत्क्षेपणापक्षेपणादि (बले इवत्ति) बलं शारीरः प्राणः । (वीरिए इवत्ति) वीर्यं जीवोत्साहः (पुरिसक्कारपरक्कमे इवत्ति) पुरुषकारश्च पौरुषाभिमानः पराक्रमश्च स एव साधिताभिमतप्रयोजनः पुरुषकारपराक्रमः । अथवा पुरुषकारः पुरुषक्रिया सा च प्रायः स्त्रीक्रियातः प्रकर्षवती भवति । तत्स्वभावत्वादिति विशेषेण तद्ग्रहणं पराक्रमस्तु शत्रुनिराकरणमिति । काङ्क्षामोहनीयस्य वेदनं बन्धश्च स हेतुक उक्तः ।

अथ तस्यैवोदीरणामन्यच्च तत्कृतमेव दर्शयन्नाह ।

से णूणं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ अप्पणा चेव गरहइ अप्पणा चेव संवरइ ? हंता गोयमा ! अप्पणा चेव

तं चेव उच्चारेयव्वं जं तं भंते ! अप्पणा चेव उदीरेइ अप्पणा चेव गरहइ अप्पणा चेव संवरइ तं किं उदिस्रं उदीरेइ १ अणुदिन्नं उदीरेइ २ अणुदिन्नं उदीरणा भवियं कम्मं उदीरेइ ३ उदयाणंतरं पच्छा कडं कम्मं उदीरेइ ४ गोयमा ! नो उदिस्रं उदीरेइ १ नो अणुदिन्नं उदीरेइ २ अणुदिन्नं उदीरणा भवियं कम्मं उदीरेइ ३ नो उदयाणंतरपच्छा कडं कम्मं उदीरेइ ४ जं तं भंते ! अणुदिन्नं उदीरणा भवियं कम्मं उदीरेइ तं किं उट्ठाणेणं कम्मेणं बलेणं वीरिएणं पुरिसकारपरक्कमेणं अणुदिन्नं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ उदाहु तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरिएणं अपुरिसकारपरक्कमेणं अणुदिन्नं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ गोयमा ! तं उट्ठाणेण वि कम्मेण वि बलेण वि वीरिएण वि पुरिसकारपरक्कमेण वि अणुदिन्नं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइ णो तं अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं अबलेणं अवीरिएणं अपुरिसकारपरक्कमेणं अणुदिन्नं उदीरणा भवियं कम्मं उदीरेइ एवं सइ अत्थि उट्ठाणेइ वा कम्मेइ वा बलेइ वा वीरिएइ वा पुरिसकारपरक्कमेइ वा ॥

"से णूणमि"त्यादि (अप्पणा चेवत्ति) आत्मनैव स्वयमेव जीवोऽनेन कर्मणो बन्धादिषु मुख्यवृत्त्याऽऽत्मन एवाधिकार उक्तो नापरस्य, आह च-"अणुमेत्तो वि ण कस्सइ, बंधो परवत्थुपच्चया भणिओत्ति" उदीरयति करणविशेषेणाकृष्य भविष्यत्कालवेद्यं क्षपणाय उदयावलिकायां प्रवेशयति तथा (गरहइत्ति) आत्मनैव गर्हते निन्दतीत्यतीतकालकृतं कर्मस्वरूपतस्तत्कारणगर्हणद्वारेण वा जातविशेषबोधः सन् तथा (संवरइत्ति) संवृणोति न करोति वर्तमानकालिकं कर्मस्वरूपतस्तद्धेतुसंवरणद्वारेण वेति गर्हादौ च यद्यपि गुर्वादीनामपि सहकारित्वमस्ति तथापि न तेषां प्राधान्यं जीववीर्यस्यैव तत्र कारणत्वाद्गुर्वादीनाञ्च वीर्योल्लासनमात्र एव हेतुत्वादिति। अथोदीरणामेवाश्रित्याह। "जं तं भंते!" इत्यादि व्यक्तं परम्। अथोदीरयतीत्यादि पदत्रयोद्देशकेऽपि कस्मात् "तं किं उदिस्रं उदीरेइ" इत्यादि नाद्यपदस्यैव निर्देशः कृतः उच्यते उदीर्णादिके कर्मविशेषणचतुष्टये उदीरणामेवाश्रित्य विशेषणस्य सद्भावादितरयोस्तु तदभावादेवं तदुद्देशसूत्रे गर्हते संवृणोतीत्येतत्पदद्वयं कस्मादुपात्तमुत्तरत्रानिर्दिश्यमानत्वात्तस्येति। उच्यते कर्मण उदीरणायां गर्हासंवरणौ प्राय उपायावित्यभिधानार्थमेवमुत्तरत्रापि वाच्यमिति प्रश्नार्थश्चेहोत्तरत्र व्याख्यानाद्बोद्धव्यः। तत्र (नो उदिस्रं उदीरेइत्ति) उदीर्णत्वादेव उदीर्णस्याप्युदीरणे उदीरणाविरामप्रसङ्गात् (नो अणुदिस्रं उदीरेइत्ति) इहानुदीर्णं चिरेण भविष्यदुदीरणमभविष्यदुदीरणञ्च तन्नोदीरयति तद्विषयोदीरणायाः संप्रत्यनागतकाले वा भावात् (अणुदिस्रं उदीरणाभवियं कम्मं उदीरेइत्ति) अनुदीर्णं स्वरूपेण किं त्वनन्तरसमये एव यदुदीरणाभविकं तदुदीरयति विशिष्टयोग्यताप्राप्तत्वात् तत्र भविष्यतीति भवा सैव भविका उदीरणा भविकाऽस्येति प्राकृतत्वादुदीरणा भविकमन्यथा भविकोदीरणमिति स्यादुदीरणायां वा भव्यं योग्यमुदीरणाभव्यमिति (नो उदयाणंतरं पच्छा कडत्ति) उदयेनानन्तरसमये पश्चात्कृतमतीततां नीतं यत्तत्तथा तदपि नोदीरयति। तस्यातीतत्वादतीतस्य चासत्त्वादसतश्चानुदीरणीयत्वादिति। इह च यद्यप्युदीरणादिष्कालस्वभावादीनाङ्कारणत्वमस्ति। तथापि प्राधान्येन पुरुषवीर्यस्यैव कारणत्वमुपदर्शयन्नाह (जं तमित्यादि) व्यक्तञ्चवरम्। उत्थानादिनोदीरयतीत्युक्तम्। तत्र च यदापन्नं तदाह (एवं स इत्ति) एवमुत्थानादिसाध्ये उदीरणे सतीत्यर्थः शेषं तथैव काङ्क्षामोहनीयस्योदीरणोक्ता।

अथ तस्यैवोपशमनमाह ।

से णूणं भंते ! अप्पणा चेव उवसामेइ अप्पणा चेव गरहइ अप्पणा चेव संवरइ ? हंता गोयमा ! एत्थ वि तहेव भाणियव्वं नवरं अणुदिन्नं उवसामेइ सेसा पडिसेहियव्वा तिण्णि। जं तं भंते ! अणुदिन्नं उवसामेइ तं किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसकारपरक्कमेइ वा से णूणं भंते ! अप्पणा चेव वेदेइ अप्पणा चेव गरहइ ? हंता गोयमा ! एत्थ वि सव्वे वि परिवाडी णवरं उदिन्नं वेदेइ नो अणुदिन्नं वेदेइ। एवं जाव पुरिसकारपरक्कमेइ वा से णूणं भंते ! अप्पणा चेव णिज्जरेइ अप्पणा चेव गरहइ हंता गोयमा ! एत्थ वि सव्वे वि परिवाडी णवरं उदयाणंतरं पच्छा कडं कम्मं निज्जरेइ एवं जाव परक्कमेइ वा ॥

" से णूणमित्यादि " उपशमनं मोहनीयस्यैव यदाह "मोहस्सेवोवसमो, खओवसमो चउण्ह घाईणं। उदयक्खयपरिणामा, अट्ठण्ह वि होंति कम्माणं" ॥१॥ उपशमश्च उदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य विपाकतः प्रदेशतश्चाननुभवनं सर्वथैव विष्कम्भितोदयत्वमित्यर्थः। अयञ्चानादिमिथ्यादृष्टेरौपशमिकस्य सम्यक्त्वस्य लाभे उपशमश्रेणिगतस्य वेति (अणुदिन्नं उवसामे इत्ति) उदीर्णस्य त्ववश्यं वेदनादुपशमनाभाव इति उदीर्णं सद्वेद्यत इति वेदनसूत्रं तत्र (उदिन्नं वेएइत्ति) अनुदीर्णस्य वेदनाभावात्। अथानुदीर्णमपि वेदयति। तर्हि उदीर्णानुदीर्णयोः को विशेषः स्यादिति वेदितं सन्निर्जीर्यते इति निर्जरासूत्रं तत्र (उदयाणंतरं पच्छा कडेत्ति) उदयेनानन्तरसमये यत्पश्चात्कृतमतीततामितं तत्तथा तन्निर्जरयति प्रदेशेभ्यः शातयति नान्यदननुभूतरसत्वादिति उदीरणोपशमवेदननिर्जरणसूत्रोक्तार्थसंग्रहगाथा "तइएणं उदीरेंती, उवसामेंति य पुणो वि बीएणं। वेइंति निज्जरंति य, पढमचउत्थेहिं सव्वे वि" ॥२॥ अथ काङ्क्षामोहनीयवेदनादिकं निर्जरान्तसूत्रप्रपञ्चं नारकादिचतुर्विंशतिदण्डके नियोजयन्नाह।

नेरइयाणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति हंता वेदेंति। जहा ओहिया जीवा तहा नेरइया जाव थणियकुमारा। पुढविकाइयाणं भंते ! कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति। कह णं भंते ! पुढविकाइया कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेंति ? गोयमा ! तेसि णं जीवा णं णो एवं तक्काइ वा सण्णाइ वा पण्णाइ वा मुणेइ वा वइइ वा अम्हेणं कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदेमो वेदेंति। पुण ते से णूणं भंते ! तमेव सच्चं नीसंकं

जं जिणेहिं पवेइयं सेसं तं चेव जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा ॥ एवं जाव चउरिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणिया जाव वेमाणिया जहा ओहिया जीवा ।

"नेरइयाणमि"त्यादि इह च " जहा ओहिया जीवा"इत्यादिना "हंता वेयंति कह णं भंते ! नेरइयाणं कंखमोहणिज्जं कम्मं वेयंति गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं" इत्यादि सूत्रम् । निर्जरासूत्रान्तं स्तनितकुमारप्रकरणान्तेषु प्रकरणेषु सूचितं तेषु च यत्र यत्र जीवपदं प्रागधीतं तत्र तत्र नारकादिपदमध्येयमिति । पञ्चेन्द्रियाणामेव शङ्कितत्वादयः काङ्क्षामोहनीयवेदनप्रकारा घटन्ते नैकेन्द्रियादीनामतस्तेषां विशेषेण तद्वेदनप्रकारदर्शनायाह ॥ "पुढविकाइयाणमि" त्यादि व्यक्तमपरम् (एवं तक्का इयत्ति) एवं वक्ष्यमाणोल्लेखेन तर्को विमर्शः स्त्रीलिङ्गनिर्देशश्च प्राकृतत्वात् (सण्णाइवत्ति) संज्ञार्थावग्रहरूपं ज्ञानम् (पण्णाइवत्ति) प्रज्ञा अशेषविशेषविषयं ज्ञानमेव (माणेइवत्ति) मनःस्मृत्यादिशेषमतिभेदरूपम् (वईइवत्ति) वाग्वचनम् (सेसं तं चेवत्ति) शेषं तदेव यदौघिकप्रकरणेऽधीतं तच्चेदं " हंता गोयमा ? तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं से णूणं भंते ! एवं मणं धारेमाणे" इत्यादि तावद्वाच्यं यावत् "से णूणं भंते ! अप्पणा चेव निज्जरेइ अप्पणा चेव गरिहइ" इत्यादेः सूत्रस्य (पुरिसक्कारपरक्कमेइवत्ति) पदं (एवं जाव चउरिंदियत्ति) पृथ्वीकायप्रकरणवदप्कायादिप्रकरणानि चतुरिन्द्रियप्रकरणान्तान्यध्येयानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रकरणादीनि तु वैमानिकप्रकरणान्तानि । औघिकजीवप्रकरणवत्तदभिलापेनाध्येयानीत्यत एवाह "पंचेंदिएत्यादि" भवतु नाम शेषजीवानां काङ्क्षामोहनीयवेदनं निर्ग्रन्थानां पुनस्तत्कथं सम्भवति, जिनागमावदातबुद्धित्वात्तेषामिति प्रश्नयन्नाह ।

अत्थि णं भंते ! समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति ? हंता अत्थि । कहण्णं भंते ! समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति ? गोयमा ! तेहिं तेहिं कारणेहिं नाणंतरेहिं दंसणंतरेहिं चरित्तंतरेहिं लिंगंतरेहिं पवयणंतरेहिं पावयणंतरेहिं कप्पंतरेहिं मग्गंतरेहिं मयंतरेहिं भंगंतरेहिं णयंतरेहिं णियमंतरेहिं पमाणंतरेहिं संकिया कंखिया वितिगिच्छिया भेदसमावण्णा कलुससमावण्णा एवं खलु समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति से णूणं भंते ! तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं हंता गोयमा ! तमेव सच्चं नीसंकं एवं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेइ वा, सेवं भंते ! भंतेत्ति ॥ पढमसए तइओ उद्देसओ सम्मत्तो ॥

"अत्थिणमि" त्यादि काङ्क्षाध्येयमस्ति विद्यतेऽयं पक्षो यदुत श्रमणा व्रतिनः अपिशब्दः श्रमणानां काङ्क्षामोहनीयस्यावेदनसम्भावनार्थस्ते च शाक्यादयोऽपि भवन्तीत्याह । निर्ग्रन्थाः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थान्निर्गताः साधव इत्यर्थः (नाणंतरेहिंति) एकस्माज्ज्ञानादन्यानि ज्ञानानि ज्ञानान्तराणि तैर्ज्ञानविशेषैर्ज्ञानविशेषेषु वा शङ्किता इत्यादिभिः सम्बन्ध एवं सर्वत्र तेषु चैवं शङ्कादयः स्युर्यदि नाम परमाण्वादिसकलरूपिद्रव्यावसानविषयग्राहकत्वेन संख्यातीतरूपाण्यवधिज्ञानानि सन्ति तत्किमपरेण मनःपर्यायज्ञानेन तद्विषयभूतानां मनोद्रव्याणामवधिनैव दृष्टत्वादुच्यते चागमे मनःपर्यायज्ञानमिति, किमत्र तत्वमिति ज्ञानतः शङ्कामिह समाधिः । यद्यपि मनोविषयमप्यवधिज्ञानमस्ति, तथापि न मनःपर्यायज्ञानमवधावन्तर्भवति भिन्नस्वभावत्वात्तथा हि मनःपर्यायज्ञानं मनोमात्रद्रव्यग्राहकमेवादर्शनपूर्वकञ्च अवधिज्ञानन्तु किञ्चिन्मनोद्रव्यव्यतिरिक्तद्रव्यग्राहकं किञ्चिच्चोभयग्राहकं दर्शनपूर्वकञ्च न तु केवलमनोद्रव्यग्राहकमित्यादिबहुवक्तव्यमतोऽवधिज्ञानातिरिक्तम्भवति । मनःपर्यायज्ञानमिति तथा दर्शनं सामान्यबोधस्तत्र च यदि नामेन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तः सामान्यार्थविषयो बोधो दर्शनं तदा किमेकञ्चक्षुर्दर्शनमन्यस्त्वचक्षुर्दर्शनमथेन्द्रियानिन्द्रियभेदाद्भेदस्तदा चक्षुष इव श्रोत्रादीनामपि दर्शनभावात् षमिन्द्रियनोइन्द्रियजानि दर्शनानि स्युर्न द्वे एवेति । अत्र समाधिः सामान्यविशेषात्मकत्वाद्वस्तुनः कश्चिद्विशेषवस्तन्निर्देशः कश्चिच्च सामान्यतस्तत्र चक्षुर्दर्शनमिति विशेषतोऽचक्षुर्दर्शनमिति च सामान्यतो यच्च प्रकारान्तरेणापि निर्देशस्य सम्भवे चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनञ्चेत्युक्तं तदिन्द्रियाणामप्राप्तकारित्वप्राप्तकारित्वविभागान्मनसस्त्वप्राप्तकारित्वेऽपि प्राप्तकारीन्द्रियवर्गस्य तदनुसरणीयस्य बहुत्वात्तद्दर्शनस्याचक्षुर्दर्शनशब्देन ग्रहणमिति । अथवा दर्शनं सम्यक्त्वं तत्र च शङ्का " मिच्छत्तं यमुदिन्नं, तं खीणं अणुदियं च उवसंतम्मि " इत्येवं लक्षणम् । क्षायोपशमिकमौपशमिकमप्येवं लक्षणमेव । यदाह-" खीणम्मि उइण्णम्मि, अणुदिज्जं ते य सेसमिच्छत्ते । अंतो मुहुत्तमेत्तं, उवसमसम्मं लहइ जीवो" ॥ १ ॥ ततोऽनयोर्न विशेष उक्तश्चासावितिः । समाधिश्च क्षयोपशमो ह्युदीर्णस्य क्षयोऽनुदीर्णस्य च विपाकानुभावापेक्षया उपशमप्रदेशानुभवतस्तूदयोऽस्त्येव उपशमे तु प्रदेशानुभवोऽपि नास्तीति । उक्तञ्च " वेएइ संतकम्मं, खओवसमिएसु नाणुभावं सो । उवसंतकसाओ पुण, वेदेइ ण संतकम्मं पि " ॥ १ ॥ तथा चारित्रं चरणं तत्र च यदि सामायिकं सर्वसावद्यविरतिलक्षणं छेदोपस्थापनीयमपि तल्लक्षणमेव महाव्रतानामवद्यविरतिरूपत्वात्तत्कोऽनयोर्भेद उक्तश्चासाविति । अत्र समाधिः ऋजुजडवक्रजडानां प्रथमचरमजिनसाधूनामाश्वासनाय छेदोपस्थापनीयमुक्तं व्रतारोपणे हि मनाक् सामायिकाशुद्धावपि व्रताखण्डनात् चारित्रिणो वयञ्चारित्रस्य व्रतरूपत्वादिति बुद्धिः स्यात्सामायिकमात्रे तु तदशुद्धौ भग्नं नश्चारित्रं चारित्रस्य सामायिकमात्रत्वादित्येवमनाश्वासस्तेषां स्यादिति । आह च " रिउवक्कजडापुरिसे, य राणसामाइए वयारुहणं । मणयमसुद्धे य जओ, सामइए हुंति हुवयाइं " ॥१॥ तथा लिङ्गं साधुवेषस्तत्र च यदि मध्यमजिनैर्यथालब्धवस्त्ररूपं लिङ्गं साधूनामुपदिष्टं तदा किमिति प्रथमचरमजिनाभ्यां सप्रमाणधवलवसनरूपं तदेवोक्तं सर्वज्ञानामविरोधिवचनत्वादिति ? अत्रापि ऋजुजडवक्रजडऋजुप्रज्ञशिष्यानाश्रित्य भगवतां तस्योपदेशस्तथैव तेषामुपकारसम्भवादिति समाधिः । तथा प्रवचनमलागमस्तत्र च यदि मध्यमजिनप्रवचनानि चतुर्यामधर्मप्रतिपादकानि कथं प्रथमेतरजिनप्रवचने पञ्चयामधर्मप्रतिपादके सर्वज्ञानामविरुद्धवचनत्वादत्रापि समाधिश्चातुर्यामोऽपि तत्वतः पञ्चयाम एवासौ चतुर्थव्रतस्य परिग्रहेऽन्तर्भूतत्वान्नायोषा हि नाम परिगृहीता भुज्यत इति न्यायादिति । तथा प्रवचनमधीते वेत्ति वा प्रावचनः कालापेक्षया बह्वागमः पुरुषस्तत्र एकः प्रावचनिक एवं कुरुते, अन्यस्त्वेवमिति किमित्यत्र तत्वमिति ? समाधिश्चेह, चारित्रमोहनीयक्षयोपशमविशेषेण उत्सर्गापवादादिभावितत्वेन च प्रावचनिकानां विचि-

था प्रवृत्तिरिति नासौ सर्वथाऽपि प्रमाणमागमाविरुद्धप्रवृत्तेरेव प्रमाणत्वादिति । तथा कल्पो जिनकल्पिकादिसमाचारस्तत्र यदि नाम जिनकल्पिकानां नाग्न्यादिरूपो महाकष्टः कल्पः कर्मक्षयाय तदा स्थविरकल्पिकानां वस्त्रपात्रादिपरिभोगरूपो यथाशक्तिकरणात्मको कष्टस्वभावः कथं कर्मक्षयायेति ? इह च समाधिः द्वावपि कर्मक्षयहेतू अवस्थाभेदेन जिनोक्तत्वात्कष्टाकष्टयोश्च विशिष्टकर्मक्षयं प्रति अकारणत्वादिति । तथा मार्गः पूर्वपुरुषक्रमागता सामाचारी तत्र केषाञ्चिद् द्विश्चैत्यवन्दनानेकविधकायोत्सर्गकरणादिकावश्यकसामाचारी तदन्येषां तु न तथेति किमत्र तत्वमिति ? समाधिश्च गीतार्थाशठप्रवर्त्तिताऽसौ सर्वापि न विरुद्धा आचरितलक्षणोपेतत्वादाचरितलक्षणं चेदम् "असढेण समाइन्नं, जं कत्थइ केण असावज्जं । न निवारियमन्नेहिं, बहुमणुमयमेयमायरियंति" ॥ १ ॥ तथा मतं समान एवागमे आचार्याणामभिप्रायस्तत्र च सिद्धसेनदिवाकरो मन्यते । केवलिनो युगपज्ज्ञानं दर्शनञ्चान्यथा तदावरणक्षयस्य निरर्थकता स्याज्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणस्तु भिन्नसमये ज्ञानदर्शने जीवस्वरूपत्वाद्यथा तदावरणक्षयोपशमे समानेऽपि क्रमेणैव मतिश्रुतोपयोगौ न चैकतरोपयोगे इतरक्षयोपशमाभावस्तत्क्षयोपशमस्योत्कृष्टतः षट्षष्टिसागरोपमप्रमाणत्वाद्वतः किं तत्वमिति ? इह च समाधिः यदेवमतमागमानुपाति तदेव सत्यमिति । मन्तव्य मितरत्पुनरुपेक्षणीयमथाबहुश्रुतेन नैतदवसातुं शक्यते तदैवं भावनीयमाचार्याणां सम्प्रदायादिदोषादयं मतभेदो जिनानान्तु मतमेकमेवाविरुद्धञ्च रागादिविरहितत्वात् । आह च "अणुवकयपराणुग्गह-परायणा जं जिणा जुगप्पवरा । जियरागदोसमोहा, यणन्नहावाइणो तेणं ति" ॥ १ ॥ तथा भङ्गाङ्कादिसंयोगभङ्गकास्तत्र च द्रव्यतो नामैका हिंसा न भावत इत्यादिचतुर्भङ्गयुक्ता न च तत्र प्रथमोऽपि भङ्गो युज्यते । यतः किल द्रव्यतो हिंसा ईर्यासमित्या गच्छतः पिपीलिकादिव्यापादनं न चेयं हिंसा तल्लक्षणायोगा तथा हि-" जो उ पमत्तो पुरिसो तस्स उ जोगं पमुच्च जे सत्ता । वावज्जंती नियमा, तेसिं सो हिंसओ होइत्ति" ॥ १ ॥ उक्ता चेयमतः शङ्का न चेयं युक्ता यतद्राथोक्तहिंसालक्षणस्य द्रव्यभावहिंसाश्रयत्वात् । द्रव्यहिंसायास्तु मरणमात्रतया रूढत्वादिति । तथानया । द्रव्यास्तिकादयस्तत्र यदि नाम द्रव्यास्तिकमतेन नित्यं वस्तु पर्यायास्तिकमतेन कथं तदेवानित्यं विरुद्धत्वादिति शङ्का इयञ्चायुक्ता द्रव्यापेक्षयैव तस्य नित्यत्वात् पर्यायापेक्षया चानित्यत्वात् दृश्यते चापेक्षयैकत्रैकदा विरुद्धानामपि धर्माणां समावेशो यथा जनकापेक्षया य एव पुत्रः स एव पुत्रापेक्षया पितेति । तथा नियमोऽभिग्रहस्तत्र यदि नाम सर्वविरतिसामायिकं तदा किमन्येन पौरुष्यादिनियमेन सामायिकेनैव सर्वगुणावाप्तेरुक्तश्चासाविति शङ्का इयञ्चायुक्ता यतः सत्यपि सामायिके युक्तः पौरुष्यादिनियमो प्रमादवृद्धिहेतुत्वादिति आह च " सामाइए वि हु सावज्ज-चायरूवे उ गुणकरं एयं । अपमायवुड्ढिजणगत्त-णेण आणाओ विण्णेयंति " ॥ १ ॥ तथा प्रमाणं प्रत्यक्षादि तत्रागमप्रमाणमादित्यो जम्बूमेरुपरियोजनशतैरष्टाभिः सञ्चरति चक्षुःप्रत्यक्षञ्च तस्य भुवो निर्गच्छतो ग्राहकमिति किमत्र सत्यमिति सन्देहः । अत्र समाधिर्न हि सम्यक् प्रत्यक्षमिदं दूरतरदेशतो विभ्रमादिति ॥ प्रथमशते तृतीयोद्देशकः ॥ भ० १ श० ३ उ० ।

कंखिय-काङ्क्षित- त्रि० देशसर्वकाङ्क्षायुक्ते, दशा० ३ अ० । मतान्तरमपि साध्विति बुद्धौ, स्था० ४ ठा० । मतान्तरस्याऽपि साधुत्वेन मन्तरि, स्था० ३ ठा० ४ उ० । "खंदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएणं णियंठेणं वेसालीसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए " इदमिहोत्तरं साधु अतः कथमन्योत्तरं लप्स्ये इत्युत्तरलाभाकाङ्क्षावान् कांक्षितः । भ० २ श० १ उ० । भक्तपानपरसमयपाखण्डमतपरिज्ञानान्यद्वस्तुदर्शनसमुत्पन्नाभिलाषे, "कंखियस्स कंखं छिंदित्ता भवति" दोषनिर्घातनाविनयः । दशा० ४ अ० ।

कंगु-कङ्गु- स्त्री० कं मुखमङ्गति मृगयत्वा-कु-शकन्धा० वाच० । बृहच्छिरसि धान्यविशेषे, जं० ३ वक्ष० । नि० चू० । स्था० । आचा० । स० । बदकङ्गौ, दश० ६ अ० । श्यामाकादौ, सूत्र० । २ श्रु० २ अ० । पीततण्डुले च । जं० २ वक्ष० ।

कंगुलया-कङ्गुलता- स्त्री० वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद० ।

कंगुलिया-कङ्गुलिका- स्त्री० लघुनृद्धनीतिकरणालक्षणे जिनभवनोत्कृष्टाशातनाभेदे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

कंचण-काञ्चन- न० काचि दीप्तौ भावे ल्युट् । दीप्तौ, काचिदीप्तौ ल्यु स्वर्णे, अमरः । पद्मकेशरे, मेदि० । नागकेशरपुष्पे, धने, राजनि० । चम्पके, नागकेशरवृक्षे, उदुम्बरे, धत्तूरे, स्वनामख्याते वृक्षे च पुं० मेदि० । स्वार्थे कन् काञ्चनवृक्षे, काञ्चनमिव कायति कै-क-हरिताले, न० राजनि० । शालिभेदे, सुश्रु० काञ्चनस्य विकारः अण् काञ्चनविकारे, त्रि० काचि बन्धने भावे ल्यु बन्धने, न० काञ्चिदित्यव्ययार्थे, अव्य० वाच० ।

कंचणउ(पु)र-काञ्चनपुर- न० कलिङ्गाख्यार्यदेशस्य प्रधाननगरे, प्रव० २७४ द्वा० । प्रज्ञा० " कंचणपुरं कलिंगा " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । " कलिंगविसए कंचणउरं नाम नयरं " दर्श० । जग्मुस्ते काञ्चनपुरं, तत्राऽपुत्रो नृपो मृतः । आ० क० । आव० ।

कंचणकुंभिया-काञ्चनकुण्डिका- स्त्री० सुवर्णकुम्भिकायाम्, आव० ४ अ० ।

कंचणकूड-काञ्चनकूट- न० वत्समित्राऽभिधानाधोलोकनिवासिदिक्कुमारीनिवासभूते सौमनसस्य वक्षस्कारपर्वतस्य षष्ठे कूटे, स्था० ७ ठा० ।

जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य प्राच्यां दिशि, रुचकवरपर्वतस्य तृतीये कूटे, यत्र आनन्दाभिधाना दिक्कुमारी महत्तरिका परिवसति जम्बूमन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां दिशि रुचकपर्वतस्य द्वितीये कूटे, यत्र सुप्रतिज्ञाऽऽख्या दिक्कुमारी परिवसति स्था० । ८ ठा० । सनत्कुमारदेवलोकस्थे विमानभेदे च । स० ।

कंचणकोसी-काञ्चनकोशी- स्त्री० काञ्चनमय्यां प्रतिमायाम् कावकोसीपविट्ठदंत उपा० २ अ० ।

कंचणग-काञ्चनक- पुं० काञ्चनपर्वतवास्तव्यमहर्द्धिकदेवेषु, जी०, ३ प्रति० ।

कंचणगपव्वय-काञ्चनकपर्वत- पुं० काञ्चनकाभिधानगिरिषु, भ० १४ श० ८ उ० । तेषु हि उत्पलादीनि काञ्चनप्रभाणि काञ्चननामानश्च देवास्तत्र परिवसन्ति तत्काञ्चनप्रभोत्पलादियोगात् काञ्चनकाभिधदेवस्वामिकत्वाच्च ते काञ्चनका इति ते चोत्तरकुरुषु नीलवदादिपञ्चहृदानां पूर्वस्यां पश्चिमायाञ्च दश दशेति उत्तरकुरुवक्तव्यताशेषे आवेदितम् प्रतिवर्णनम् जी० ३ प्रति० तेषां संख्या जंबूद्दीवेणं दीवे दो कंचणगपव्वयसया पण्णत्ता स० । जं० । उत्तरकुरुषु शीतानदीसम्बन्धिनां पञ्चानां नीलवदादिहृदानां

क्रमव्यवस्थितानां प्रत्येकं पूर्वापरतटयोर्दश दश काञ्चनकाभिधाना गिरयः सन्ति ते च शतं जवन्त्येवं देवकुरुष्वपि शीतोदा नद्याः सम्बन्धिनां निषधद्रहादीनां पञ्चानां ह्रदानामिति, तदेवं द्वे शते एवं धातकीखण्डपूर्वार्द्धादिष्वप्यतस्तेष्विति ॥ भ० १४ श० ८ उ० ।

कंचणगोरसरीर–काञ्चनगौरशरीर– त्रि० काञ्चनवद् गौरं शरीरं यस्य । सुवर्णच्छवि, दर्श० ।

कंचणत्थल–काञ्चनस्थल–न० भरतवर्षे चोडविषये स्वनामख्याते नगरे, " इहेव भारहे वासे कंचणत्थलं नाम नयरं तत्थ सुवंतनंदणो नाम सत्थवाहो " दर्श० ।

कंचणवलाणग–काञ्चनवलानक–न० चतुरशीतितीर्थमध्यगे तीर्थभेदे, यत्र अमृतनिधिनामा श्रीअमृतनिधिः। ती०। कल्प० ।

कंचणमट्ठवण्ण– काञ्चनमृष्टवर्ण–त्रि० काञ्चनस्येव मृष्टः श्लक्ष्णः शुद्धो वा वर्णो यस्य स तथा । स्वर्णप्रभे मेर्वादौ, "से पव्वए (मेरु) सद्दमहप्पगासे, विरायती कंचणमट्ठवण्णे " सूत्र० १श्रु० ६ अ० ।

कंचणमणिरयणथूभियाग–काञ्चनमणिरत्नस्तूपिकाक– त्रि० काञ्चनं च मणयश्च रत्नानि च काञ्चनमणिरत्नानि तेषां तन्मयो वा स्तूपिका शिखरं यस्य तत्तथा स्वर्णादिमयशिखरयुक्ते, रा०।जी०।

कंचणमणिसमूह–काञ्चनमणिसमूह– पुं० सुवर्णरत्नप्रकरे, कल्प० ॥

कंचणमाला–काञ्चनमाला–स्त्री० चण्डप्रद्योतनृपतनुजः सुताया वासवदत्ताया धात्र्याम्, यया कुब्जिन उपाध्यायस्य काणाया वासवदत्ताया इष्टिसंयोगो दृष्टः । आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० ।

कंचणरुइ–काञ्चनरुचि– पुं० सौराष्ट्रतिलकभूतायां रत्नसंचयायां नगर्यां ताहरनामसार्थवाहस्य काञ्चनशिखानामभार्यायामुत्पन्ने पुत्रे, दर्श० (चइय शब्दे देवद्रव्यभक्षणप्रस्तावे तत्कथा) महाविजयवैताढ्यासन्नतिलकनगरे सुवर्णसारश्रेष्ठिनः काञ्चनतिलयायां भार्यायामुत्पन्ने पुत्रे च । दर्श० ।

कंचणसिहा–काञ्चनशिखा– स्त्री० ताहरसार्थवाहभार्यायां काञ्चनरुचिमातरि, दर्श० ।

कंचणिया–काञ्चनिका–स्त्री०रुद्राक्षमयमालिकायाम्, औ०। भ०

कंचि (ची)–काञ्चि (ञ्ची)– स्त्री० काचि बन्धे कर्मणि इन्–कट्याभरणविशेषे, औ० । प्रश्न० । रशनायाम कटिबन्धद्रासभेदे, काचि दीप्तौ कर्तरि इन्–द्रविडविषयप्रतिबद्धायां पुर्याम्, वृ०३उ० । मुद्रासमुखे निक्षिप्यमाणे लोहवलये, दे० ना०

कंचुअ–कञ्चुक–पुं०कचि प्रीतिबन्धयोर्वा उकन्+ङ्णनोव्यञ्जने ८।१।२५ इतिवस्थाने व्यञ्जने परेऽनुस्वारः। प्रा० । वर्गेऽन्त्यो वा ८। १। ३०। इति अनुस्वारस्य वा ञः। "कञ्चुओ कंचुओ" प्रा०। योधादेश्चोलाकृतिसन्नाहे, ज्ञा० ९ अ० । विषधरनिर्मोके, विशे० । वारबाणे, भ० ९ श० ३ उ० । चोलके, स्तनाच्छादके वस्त्रे, वाच० । स च निर्ग्रन्थीभिर्यथा धार्यो यावांश्च तदेतदाह "गादेति अणुकुइय उरोरुहे कंचुओ असिव्वितओ" दैर्घ्यमाश्रित्य स्वहस्तेनार्द्धतृतीयहस्तप्रमाणः पृथुत्वेन तु हस्तमानः असीवितः उभयतः कसाबद्धः कञ्चुकः क्रियते स चोरोरुहौ छादयति किं भूतौ अनुकुञ्चितौ श्लथौ गाढपरिधाने हि विविक्तविभागौ जनेताम् वृ० ३ उ०। ध०। नि० चू० । वस्त्रमात्रे, वर्द्धापकगृहीताङ्गस्थितवस्त्रे, पुत्रादेर्जन्मोत्सवे भृतादिभिः स्वामिनोऽङ्गात् बलात्कारेण गृहीते वस्त्रे, हेमचं० । औषधिभेदे, स्त्री० गौरा० ङीष् मेदि० । क्षीरीशवृक्षे, रत्नमा० ।

कंचुअपरिक्खित्तिया–कञ्चुकपरिक्षिप्तिका–स्त्री० कञ्चुको वारबाणः परिक्षिप्तो विक्षिप्तो विस्तारितो दर्पातिरेकस्फूरीभूतशरीरतया यया सा तथा । हर्षवशात्त्रुटितबन्धनवारबाणायाम्, ज्ञ० ६ श० ३३ उ० ।

कंचुइ (ण्)–कञ्चुकिन्–पुं० कञ्चुक-अस्त्यर्थे इनिः+अन्तःपुरचरो वृद्धो, विप्रो गुणगणान्वितः । सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते । इत्युक्तलक्षणे अनुचरे, वाच० । अन्तःपुरप्रयोजननिवेदके प्रतीहारे च । भ० ९ श० ३३ उ० । ज्ञा० । आ आमन्त्र्ये सावेनोनः ८ । ४ । ६२ । इति शौरसैन्यामिनो नकारस्यामन्त्र्ये सौ परे आकारो वा भवति भो कंचुइआ । भो कञ्चुकिन् प्रा० । विषधरे, विशे० । जारे, यवे, चणके च । तुषरूपकञ्चुकावृतत्वात्तयोस्तथात्वम् आवरककवचे राजनि० धात्र० ।

कंचुइज्ज–कञ्चुकीय–पुं० प्रतीहारे, ज्ञ० ११ श० ११ उ० । आ० म० द्वि० ।

कंजिय–काञ्जिक–आरनाले, " देशीभासाए आरनालं भण्णति " नि० चू० १ उ० । ध० । वृ० ।

कंजियपत्त–काञ्जिकपत्र–न० काञ्जिकेन वाषिते अरणिकादिशाके, वृ० १ उ० ।

कंटइल–कण्टकिल–पुं० कण्टक अस्त्यर्थे इलच् वंशभेदे, कण्टकाकुले, सूत्र० १ श्रु०५ अ०। कण्टकवति, प्रश्न० १ अध० १अ० ।

कंटइल्ल–कण्टकिन्–त्रि० प्राकृते अस्त्यर्थे इल्लः कण्टकवति, प्रश्न० अध०द्वा०१अ०। कण्टकिनि बदरीबब्बूलप्रभृतौ,व्य०१उ०। मत्स्ये, शब्दर० । स्त्रियां ङीप्–खदिरवृक्षे, पुं० । शब्दमाला० । मदनवृक्षे, रत्नमा० । गोक्षुरे, वंशे, बदरवृक्षे च राजनि० । कण्टकयुक्तमात्रे च त्रि० । वाच० ।

कंटय–कण्टक– पुं० न० कटि- ण्वुल् । दुःखोत्पादके, उत्त० १ अ० । वृश्चिकलाङ्गूले, व्य०६ उ०। बदर्यादिप्रभवे (जं० १ वक्ष०) शल्ये, विपा० ७ अ० । बब्बूलशूलादौ, व्य०४ उ० । कण्टकाश्च द्रव्यतो बब्बूलकण्टकादयो भावतश्च चरकादिकुश्रुतयः । उत्त० ४ अ० । कण्टकाश्चेह सर्वे एव प्रतिकूलाः शीतोष्णादयो धर्मस्थानविघ्नहेतवः षो० ३ विव० । प्रतिस्पर्द्धिनि गोत्रजे शत्रौ, "अकंटयं ओहयकंटयं" ज्ञा० १ अ० । क्षुद्रशत्रौ, स्था० । रोमाञ्चे, भ्रमरः । मत्स्याद्यस्थ्नि, लग्नाम्बुधूनकर्माणि, केन्द्रमुक्तं च कण्टकम्" वाच० ॥

कंटयबोंदिया–कण्टकबोन्दिका–स्त्री० कण्टकशाखायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । सूत्र० ।

कंटयाइउद्धरण–कण्टकाद्युद्धरण–न० कण्टकादीनां शरीरादेः पृथक्करणे ।

निग्गंथस्स य आह पादं सिक्खाणं वा कंटगं वा हीरे वा सक्कारे वा परियावज्जेज्जा तं च निग्गंथे नो संचाइज्जा नो हरित्तए वा विसोहित्तए वा तं निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ निग्गंथस्स य अच्छिम्मि पाणे वा वीए वा रए वा परियावज्जेज्जा तं च निग्गंथी नाम वा-

इज्जा नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं निग्गंथी नीहरमाणी वा विसोहेमाणी वा नाइक्कमइ निग्गंथीए अाह पादं सिक्खाणं वा कंठए वा हीरए वा सक्कारे वा तं च निग्गंथी नो संचाइज्जा नीहरित्तए वा विसोहित्तए वा तं निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ निग्गंथीए अत्थियम्मि पाणे वा बीए वा रए वा जावति निग्गंथे नीहरमाणे वा विसोहेमाणे वा नाइक्कमइ ।

अस्य सूत्रचतुष्टयस्य संबन्धमाह ।

पायं गता अकप्पा, इयाणि वा कप्पिता इमे सुत्ता ।
आरोवणा गुरु त्ति य, तेण उ अण्णोण्णसमणुण्णा ।

प्रायः प्रायेण कल्पिकानि नो कल्पन्ते इति निबन्धप्रतिपादकानि सूत्राणि इहाध्ययने गतानि इदानीमित ऊर्द्धमिमानि कल्पिकसूत्राणि लभ्यन्ते । या त्रिगाथायां सूत्रेणानुज्ञायार्थतः प्रतिषेधः क्रियते । एवं वैकल्पिकान्यनुज्ञासूत्राणीत्यर्थः । अथ किमर्थमत्र सूत्र एवानुज्ञा कृतेत्याह । " आरोपणा " इत्यादि यदि कारणे निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थी निर्ग्रन्थ्या वा निर्ग्रन्थः कण्टकादिकं नीहरति तदा चतुर्गुरु एवमारोपणा गुरुका महती तेन कारणेनान्योन्यं परस्परं समनुज्ञा सूत्रेषु कृता । आह । यदि सूत्रेणानुज्ञातं ततः किमर्थमर्थतः प्रतिषिध्यते इत्यत आह ।

जह चेव य पडिसेहे, होति अणुन्ना तु सव्वसुत्तेसु ।
तह चेव अणुण्णाए, पडिसेहो अत्थतो पुव्वं ॥

यथैव कण्टतः सूत्रपदैः प्रतिषेधे कृते सर्वसूत्रेष्वप्यर्थतोऽनुज्ञा भवति तथैव येषु सूत्रेषु साक्षादनुज्ञानमनुज्ञा कृता तेषु पूर्वमर्थतः प्रतिषेधस्ततोऽनुज्ञा क्रियते । अथवा प्रकारान्तरेण संबन्धस्तमेवाह ।

नट्ठाणे वा वुत्तं, निग्गंथी वा जता उ ण तरेज्जा ।
सो जं कुणति दुहट्टो, तहा उवट्टणे मा वज्जे ॥

अथवा तत्स्थानं तस्य प्राणातिपातादिकर्त्तुः स्थानं प्रायश्चित्तं सम्यक् प्रतिपूरयतोऽभ्याख्यानदातुर्भवतीत्युक्तम् । अत्रापि निर्ग्रन्थः कण्टकादिकं यदा उद्धर्त्तुं न तरेत् शक्नुयात् तदा यदि निर्ग्रन्थी तस्य कण्टकादिनीहरणं न करोति तदा स निर्ग्रन्थो दुःखार्त्तः पीडितो यदात्मविराधनां करोति तत्स्थानं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तं सा निर्ग्रन्थी आपद्यते । अत इदं सूत्रमारभ्यते अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या । निर्ग्रन्थस्याधः पादे पादतले स्थाणुर्वा कण्टको वा हीरो वा शर्करा वा पर्यापतेदनुप्रविशेत् । तच्च कण्टकादिकं निर्ग्रन्थो न शक्नुयान्नीहर्त्तुं वा निष्काशयितुं वा निःशेषमपनेतुं ततो निर्ग्रन्थी नीहरन्ती वा विशोधयन्ती वा नातिक्रामति आज्ञामिति गम्यते तैः इति प्रथमसूत्रम् । द्वितीयसूत्रे निर्ग्रन्थस्याक्षिणि लोचने प्राणा वा मशकादयः सूक्ष्मा बीजानि वा सूक्ष्माणि शामाकादीनि रजो वा सचित्तमचित्तं वा पृथिवीरजः पर्यापतेत् प्रविशेत् । तच्च प्राण्यादिकं निर्ग्रन्थो न शक्नुयात् नीहर्त्तुमित्यादि प्राग्वत् तृतीयचतुर्थसूत्रे निर्ग्रन्थीविषये एवमेव व्याख्यातव्ये इति सूत्रचतुष्टयार्थः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः ।

पाए अच्छि विलग्गे, समणाणं संजएहिं कायव्वं ।
समणीणं समणीहिं, वोवुच्चे होंति चउगुरुगा ॥१॥

पादे अक्षिणि वा विलग्ने कण्टककणुकादौ श्रमणानां संयतैर्नीहरणं कर्त्तव्यम् श्रमणीनां पुनः श्रमणीभिः कार्यम् । अथ व्यत्यासेन कुर्वन्ति तदा चतुर्गुरवः । एते चापरदोषाः ।

अप्पत्तो व्वि य कुट्टसि, अप्पत्तो कंटओ खितं जाओ ।
दिट्ठं पि हरति दिट्ठिं, किं पुण अदिट्ठमितरस्स ॥

संयतः संयत्याः पार्श्वात् कण्टकमाकर्षयन् कैतवेन यथाभावेन अपावृत उपविसेत् ततः सा तं यथावस्थितं पश्यन्ती कण्टकस्थानादन्यत्रान्यत्र शल्योद्धरणादिना कुट्टयेत् खन्यादित्यर्थः । ततः साधुर्ब्रूयात् अन्यत एव त्वं कुट्टयासि कण्टकश्चान्यत्र प्रसमस्ति एवमीलितं संजातम् । सा प्राह इतरस्य पुरुषस्य संबन्धि सागारिकं दृष्टमपि भुक्तभोगिन्याः स्त्रिया अनेकशो विलोकितमपि दृष्टिं हरति किं पुनरदृष्टमभुक्तभोगिन्यास्तस्याः सुतरां दृष्टिं हरतीत्यर्थः । एवं भिन्नकथायां प्रतिगमनादयो दोषाः । यदा तु निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थ्याः कण्टकमुद्धरति तदाऽयं दोषः ।

कंटककणुए उद्धर, घाणितं अवलंब मे गतित्तम्मि ।
सूलं वत्थिसीसे, पिल्लेहि णं थणो फुरति ॥

काचिदार्यिका कैतवेनैव ब्रूयात् कण्टककणुके पादे कण्टकं चक्षुषि च कणुकमुद्धरणीयमित्यर्थः । मामवलम्बय मम भ्रमिवशेन भूमिर्भ्रमति शूलं चावस्ति शीर्षे मम समायाति तेन स्तनः स्फुरति । अतो घनं प्रेरय एवं भिन्नकथायां सद्यश्चारित्रविनाशः ।

एए चेव य दोसा, कहिया वा वेदआदिसुत्तेसु ।
अइपाल जंबुसीउण्ह--पारुणं लोगिगीरोहा ॥

एत एवानन्तरोक्ता दोषाः स्त्रीवेदविषया आदिसूत्रेषु सूत्रकृताङ्गनिर्गतस्त्रीपरिज्ञाध्ययनादिषु सविस्तरं कथिताः । अत्र चाज्ञापालकशीतोष्णजम्बूपातेनोपलक्षितलौकिकीरोहायाः कथा । तद्यथा "रोहा नामं परिव्वाइयतो एआए बालगो दिट्ठो सो ताए अभिरुईओ तीए चिंतयं विण्णाणं से परिक्खामि सो य नया जंबूतरुवगरुट्ठो तीए फलाणि य णईओ तेण भण्णइ किं उण्हाणि देमि उयाहु सीयलाणि त्ति । ताए भणइ उण्हाणि तओ तेण धूलीए उवरिं पाडियाणि भणिया खाहित्ति ताए फुमिओ धूलिं अवणेउं खइयाणि पच्छा सा भणइ कहं भणसि उण्हाणि तेण भण्णइ जं उण्हयं होइउं फुमिओ सीयलीकज्जइ सा वुक्का । पच्छा भणइ माइछाणेणं कंटओ मे लग्गो त्ति से उद्धरिउमारद्धो तीए सणियं सइसियं । सो वि उसिणीओ कंटकं पलोएत्ता भणइ न दीसइ कंटको त्ति । तीए तस्स पण्हो चिण्हा एमं तेसिं दाइयव्वं कंटयउद्धरणेणं तीए खलीकओ । एवं साहुणो वि एवंविहा दोसा उप्पज्जंति । किं च ।

मिच्छत्ते उड्डाहो, विराहणा भावफाससंबंधो ।
पडिगमणादी दोसा, भुत्तमभुत्ते य नेयव्वा ॥

मिथ्यात्वं नाम निर्ग्रन्थ्याः कण्टकमुद्धरन्तं दृष्ट्वा लोको ब्रूयात् यथा वादिनस्तथा कारिणोऽमी न भवन्ति उड्डाहो वा भवेत् कदौ यदेवमियं पादे गृहीता तन्नूनमन्यदाप्येनयोः साङ्गत्यं भविष्यति । विराधना वा संयमस्य भवति कथमित्याह स्पृशन्तं शरीरस्पर्शेणोभयोरपि भावसंबन्धो भवति । अतो भुक्तभोगिनोरभुक्तभोगिनोर्वा तयोः प्रतिगमनादयो दोषा ज्ञातव्याः ।

अथ मिथ्यात्वपदं भावयति ।

दिट्ठे संकाभोइय–धाडिगणातीयगामबहिया य ।

चत्तारि छच्च लहुगुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥

तस्यां कण्टकमुद्धरन्त् केनचित् दृष्टस्तस्य शङ्का किमियं मैथुनार्थमिति लक्षणा यदि भवेत् तदा चतुर्लघु भोजिकायाः कथने चतुर्गुरु, घाटितवेदने षड्लघु ज्ञातिज्ञापने षड्गुरु ग्रामाद्बहिः कथने छेदः । मूलादित्रयं पुनरित्थं मन्तव्यम् ।

आरक्खियपुरिसाणउ, काहणे पावति भवे मूलं ।

अणवट्ठो सेट्ठीणं, दसमं व णिवस्स कथितम्मि ॥

आरक्षिकपुरुषाणां कथने मूलं प्राप्नोति । श्रेष्ठिनः कथने अनवस्थाप्यं नृपस्य कथने दशमं पाराञ्चिकम् एते संयतानां संयतीनां च परस्परं कण्टकोद्धरणे दोषा उक्ताः ।

एए चेव य दोसा, असंजतिकाहि पच्छकम्मं वा ।

गिहिएहिं पच्छकम्मं, तम्हा समणेहिं कायव्वं ॥

एत एव दोषा असंयतिकाभिः कण्टकोद्धरणं कारयतो मन्तव्याः पश्चात्कर्म्म वा कायेन हस्तप्रक्षालनरूपं तासु भवति । गृहिभिस्तु कारयतः पश्चात्कर्म भवति न पूर्वोक्ता दोषा अतः श्रमणैः श्रमणानां कण्टकोद्धरणं कर्त्तव्यम् । अत्र परः प्राह ।

एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो अ असति समणाणं ।

गिहिअण्णतित्थिगिहिणी, परउत्थिगिणी तिविहभेदो ॥

यदि संयतीभिर्न कारयितव्यं तत एवं सूत्रमफलं प्राप्नोति सूरिराह । सूत्रनिपातः श्रमणानामभावे मन्तव्यः । तत्र च प्रथमं गृहिभिः कण्टकोद्धरणं कारणीयं तदभावे अन्यतीर्थिकैस्तदप्राप्तौ गृहस्थाभिस्तदसंभवे परतीर्थिकीभिरपि कारयितव्यम् एषु च प्रत्येकं त्रिविधो भेदस्तद्यथा । गृहस्थस्त्रिविधः पश्चात्कृतः श्रावको यथाभद्रकश्च । एवं परतीर्थिकोऽपि त्रिधा मन्तव्यः । गृहस्थपरतीर्थिकी च त्रिविधा स्थविरा मध्यमा तरुणी चेति । तत्र गृहस्थेन कारयन् प्रथमं पश्चात्कृतेन ततः श्रावकेण ततो यथाभद्रकेणापि कारयति । स च कण्टकाकर्षणानन्तरं प्रज्ञपनीयो मा हस्तप्रक्षालनं कार्षीः एवमुक्ते यद्यसौ अशौचवादी तदा हस्तं हस्तेनैव प्रोञ्छति प्रस्फोटयति वा । अथ शौचवादी ततः ।

जइ सीसम्मि ण पुञ्छति, तणुपोतेसु वत्यमा वि पप्फोडे ।

तो से असोसि अ सती, दवं दलति मा दगं घाते ॥

यदि हस्तं शीर्षे वा तनौ वा पोतेषु वा वस्त्रेषु न प्रोञ्छति न वा प्रस्फोटयति गृहं गतो हस्तं प्रक्षालयिष्यामीति कृत्वा ततः (से) तस्य अन्येषामसत्यभावे प्राशुकमात्मीयं द्रवं हस्तधावनाय ददाति मा दकमप्कायं घातयेदिति । वा गृहस्थानामभावे परतीर्थिकेनापि कारयेदेवमेव पश्चात् कृतादिक्रमेण कारयेत् तेषामभावे गृहस्थाभिरपि कारयेत् । कथमित्याह ।

माया भगिणी धूया, अज्जिय णत्ती य सेसतिविधाओ ।

आगाढे कारणम्मि, कुसलेहि दोहि कायव्वं ॥

या तस्य निर्ग्रन्थस्य माता भगिनी दुहिता आर्यिका वा पितामही नप्तृका वा पौत्री तया कारयितव्यम् एतासामभावे याःशेषाः अनालबद्धास्त्रियस्ताभिरपि कारयेत् । ताश्च त्रिविधाः स्थविरा मध्यमास्तरुण्यश्च । तत्र प्रथमं स्थविरया ततो मध्यमया ततस्तरुण्याऽपि कारयितव्यम् । आगाढे कारणे कुशलाभ्यां द्वाभ्यामपि कण्टकोद्धरणं कर्त्तव्यं कारयितव्यमित्यर्थः ॥

के पुनस्ते द्वे इत्याह ।

गिहिअण्णतित्थिपुरिसा,

इत्थी वि य गिहिणि अण्णतित्थी य ।

संबंधिएतरा वा,

वइणी एमेव दो एते ॥

गृहस्थपुरुषोऽन्यतीर्थिकपुरुषश्चेति द्वयं गृहस्थी अन्यतीर्थिकी चेति वा द्वयम् । संबन्धिनी इतरा वा असंबन्धिनी व्रतिनी एवं वा द्वयमेतेषां द्विकानामन्यतरेण कुलेनागाढे कारणे कारयितव्यम् । आह श्रमणानामभावे सूत्रनिपाते भवतीत्युक्तम् । कदा पुनरसौ साधूनामभावो भवतीत्याह ॥

तं पुण सुण्णारण्णे, वग्घादिभया अकुसलेहिं वा ।

कुसले वा दूरत्थे, ण चयइ पदं पि गंतुं जे ॥

साधवो न भवन्तीति । यदुक्तं तत्पुनरित्थं संभवति । शून्यारण्यं ग्रामादिभिर्विरहिता अटवी दुष्टारण्यं वा व्याघ्रसिंहादिभयाकुले तयोः साधूनामभावो भवेत् उपलक्षणत्वादशिवादिभिः कारणैरेकाकी संजात इत्यपि गृह्यते । एषा साधूनामसद्दसत्ता सद्सत्ता तु सन्ति साधवः परमकुशला कण्टकोद्धरणे अदक्षाः । अथवा यः कुशलः स दूरस्थो दूरे वर्त्तते स च कण्टकविद्धपादः पदमपि गन्तुं न शक्नोति ततः पूर्वोक्ता यतना कर्तव्या ।

अथ सामान्येन यतनामाह ॥

परपक्खपुरिसगिहिणी, असोयकुसलाण मोत्तु पभिपक्खं ।

पुरिसजयं तमणुघ्घे, होंति सपक्खेतरा वत्ते ॥

इह प्रथमं पश्चार्द्धं व्याख्याय ततः पूर्वार्द्धं व्याख्यास्यते । ये यतमानाः संविग्नाः सांभोगिकाः पुरुषास्तैः प्रथमं कारयेत् । तदभावे अमनोज्ञैरसाम्भोगिकैस्तदभावे ये इतरे पार्श्वस्थादयस्तैर्वा कारयेत् । एषा स्वपक्षे यतना भणिता । अथैष स्वपक्षो न प्राप्यते । ततः " परपक्खे " इत्यादि पूर्वार्द्धम् । परपक्षे गृहस्थान्यतीर्थिकरूपे प्रथमं पुरुषैस्ततो गेहिनीभिरपि कारयेत् । तत्राप्यशौचवादिभिः कुशलैश्च कारापणीयम् । अतएवाह । अशौचवादिकुशलानां प्रतिपक्षा ये शौचवादिनोऽकुशलाश्च तान् मुक्त्वा कारयितव्यम् । अथैतेऽपि न प्राप्यन्ते तदा संयतीभिरपि कारयेत् । तत्रापि प्रथमं मातृभगिन्यादिभिर्नालबद्धाभिस्तदभावे असंबन्धिनीभिरपि स्थविरामध्यमातरुणीभिर्यथाक्रमं कारयेत् ॥

कथं पुनस्तया कण्टक उद्धरणीय इत्याह ॥

सल्लुद्धरणणखेण व, अच्छिक्क व वत्थुंतरं व इत्थीसु ।

भूमीकट्टतलोरसु, काऊण सुसंवुता दो वि ॥

शल्योद्धरणेन नखेन वा पादं न संस्पृशन्ती कण्टकमुद्धरति । अथैवं न शक्यते वस्त्रान्तरितं पादं भूमौ कृत्वा यद्वा काष्ठे वा तले वा ऊरौ वा कृत्वा उद्धरेत् द्वावपि च संयतीसंयतौ सुसंवृतावुपविशतः । एष स्त्रीषु कण्टकमुद्धरन्तीषु विधिरवगन्तव्यः

एमेव य अच्छिम्मि, चंपादिट्ठंतो णवरि णाणत्तं ।

निग्गंथीण तहेव य, णवरिं तु असंवुभा काई ॥

एवमेवाक्षिसूत्रेऽपि सर्वमपि वक्तव्यम् नवरं नानात्वं चम्पादृष्टान्तोऽत्र भवति । यथा किल चम्पायां सुभद्रया तस्य साधोश्चक्षुषि पतितं तृणमपनीतं तथाऽन्यस्य साधोश्चक्षुषि प्रविष्टस्य तृणादेः कारणे निर्ग्रन्थ्या अपनयनं संभवतीति दृष्टान्तभावार्थः । निर्ग्रन्थीनामपि सूत्रद्वयं तथैव वक्तव्यं नवरं काचिदसंवृता भवति ततः प्रतिगमनादयो दोषा भवेयुः । द्वितीयपदे निर्ग्रन्थ्यस्तासां प्रागुक्तविधिना कण्टकादिकमुद्धरेत् ।

कंटयापह–कण्टकपथ–पुं० कण्टकाना चौरश्वरकसांख्यादीनां पन्थाः कण्टकपथः । आकारः प्राकृतिकः अथवा कण्टकैः कुतीर्थिकैराकीर्णो व्यासः कुत्सितः पन्थाः कण्टकपथः । उत्त० १० अ० । कण्टकाश्च द्रव्यतो बब्बुलकण्टकादयो भावतस्तु चरकादिकुश्रुतयस्तैराकुलः पन्थाः कण्टकपन्था आकारो लाक्षणिकः । उत्त० ४ अ० । कण्टकाकीर्णे पथि, व्य० १ उ० । "अविसोहियकंटयापहं, उत्तिण्णोसि पहं महालयं" उत्त० १० अ० ।

कंटिया–कण्टिका–स्त्री० कण्टकशिखायाम सू०१ उ० "तं वत्थं कंटियाए लग्गं तादि संधितं" आ० चू० १ अ० ।

कंठ–कण्ठ–पुं० कण धo तस्य नेत्वम । कठि–अच्–गले, वाच० ग्रीवापुरोभागे, " संकरडुसंपरिहरियकंठे" अत्र च कण्ठैकपार्श्वे कण्ठशब्द इति कण्ठे परिधृतेत्युच्यते उत्त० १० अ० । ज्ञा० । मदनवृक्षे, समीपे, होमकुण्डाद्वाह्येऽङ्गुलिमितस्थाने, कण्ठध्वनौ, ध्वनिमात्रे च हेमचं० वाच० । गलनाले च हेमचं० ॥

कंठकूव–कण्ठकूप–पुं० कण्ठे कूप इव । कण्ठस्थे गर्ताकारे प्रदेशे, तत्र संयमात् क्षुत्पिपासेजयो भवति घण्टिकाश्रोतःप्लावनात्तिसिद्धेस्तदुक्तं कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः" द्वा० २६द्वा० ।

कंठगयपाणसेस–कण्ठगतप्राणशेष–पुं० कण्ठे गतः कण्ठगतः कण्ठगतश्चासौ प्राणशेषश्च कण्ठगतप्राणशेषः । मरणान्तकष्टे, ग० २ अधि० ।

कंठमणिसुत्त–कण्ठमणिसूत्र–न०कण्ठस्थरत्नमयदवरके,कल्प० ।

कंठमुरय–कण्ठमुरज–पुं० आभरणविशेषे, ज्ञा० १ अ० । दशा०

कंठमुही–कण्ठमुखी–स्त्री० कण्ठासन्नतरावस्थाने मुरजाकारे आभरणे, भ० ९ श० ३३ उ० । औ० ।

कंठविसुद्ध–कण्ठविशुद्ध–न० यदि स्वरः कण्ठे वर्तितो भवति अस्फुटितश्च ततः सम्भवति गेयस्य कण्ठकरणविशुद्धे गाने, रा० ।

कंठसुत्त–कण्ठसूत्र–न० " यं कुर्वते वक्षसि वल्लभस्य, स्तनाभिघातं निबिडोपघातात् । परिश्रमार्ताः शनकैर्विदग्धास्तत्कण्ठसूत्रं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः " इत्युक्तलक्षणे सुरतबन्धे, वाच० गलावलम्बिसंकलनकविशेषे च । औ० । भ० ।

कंठाकंठि–कण्ठाकण्ठि–अव्य०कण्ठे कण्ठे गृहीत्वेत्यर्थे, "कंठाकंठियवयासेति" यद्यपि व्याकरणे युद्धविषय एवंविधोऽव्ययीभाव इष्यते । तथापि योगविभागादिभिरेतस्य साधुशब्दता दृश्यते । ज्ञा० २ अ० ।

कंठिया–कण्ठिका–स्त्री०कण्ठो भूष्यतयाऽस्त्यस्याः ठन् गलाभरणभेदे, हेमचं० । पृष्ठकायां च जी० ३ प्रति० ।

कंठुग्गय–(गण्ठोग्गक) कण्ठोद्गत–पुं० न० कण्ठश्चासावुग्रकश्चोत्कटः कण्ठोग्रकः कण्ठस्य चोग्रत्वं यत्तत्कण्ठोग्रत्वम । कण्ठाद् वा यदुद्गतमुत्कृतिः स्वरोऽमलक्षणा क्रिया तत् गान्धारस्वरस्य स्थाने यत्प्राप्य गान्धारस्वरो विशेषमासादयति । " कंठुग्गएण गंधारं " स्था० ७ ठा० ।

कंठेगुण– कण्ठेगुण–त्रि० कण्ठे गुण इव कण्ठेगुणम । कण्ठसूत्रसदृशे, प्रश्न० अध० द्वा० ३ अ० ।

कंठोट्ठ–कण्ठोष्ठ–न० कण्ठश्चौष्ठश्च कण्ठौष्ठम प्राण्यङ्गत्वात्समाहारः कण्ठौष्ठसमुदाये, अनु० ॥

कंठोट्ठविप्पमुक–कण्ठौष्ठविप्रमुक्त–न० कण्ठौष्ठेन विप्रमुक्तं कण्ठौष्ठाविप्रमुक्तम, व्यक्ते, बालमूकभाषितवद् पदव्यक्तं न भवतीत्यर्थः । अनु० ।

कंड–काण्ड–पुं० न० कनी दीप्तौ. ड, तस्य नेत्वम किञ्च दीर्घः। दण्डे, वाणे, पर्वणि, कुत्सिते, वर्गे, अवसरे, जले, अमरः । वृक्षस्कन्धे, स्तम्बे, निर्जने, धरणिः । नाडीवृक्षे वृक्षभेदे, मेदि० । श्लाघायाम, हेमचं० । वाच० । प्रश्न० । स० । विषयखण्डे, आव० ४ अ० । नाले, ज्ञा० २ अ० । प्रश्न० । समूहे, " सिरिदामकंडं " ज्ञा० ८ अ० । दण्डश्चात्र षोडशहस्तमितो वंशः वंशादिदण्डश्च संधिविच्छिन्नैकखण्डास्थिन, न० काण्डस्यावयवो विकारो वा विल्वा० अण् । काण्डावयवे, तद्विकारे च । त्रि० । अङ्कोटवृक्षे, पुं० शब्दचिं० । वाच० । एकादशदेवलोकस्थे विमानभेदे च न० स० ।

कंडंत–काण्डयत्–त्रि० उदूखले तण्डुलादिकं छण्टयति " कंडंती " पिं० । औ० । ध० ॥

कंडंतिया–कण्डयन्तिका–स्त्री० कण्डयन्ती–कन्–अनुकम्पायाम, तण्डुलादीन् उदूखलादौ क्षोदयन्त्याम, ज्ञा०७ अ० ।

कंडक [ग]–काण्डक–न० काण्ड–स्वार्थे–क खण्डे कर्मांशे । अथ किमिदं कण्डकमिति प्रश्ने ब्रूमहे कण्डकमिव कण्डकमुपमानार्थः । यथा लोके ताराः खण्डभागशः कण्डकमित्यभिधीयन्ते । तथा कर्मतरोरपि खण्डं कण्डकमिति सिद्धम । आ० चू०१अ० । आ०म०द्वि० । इक्षुपोतलिकादिदण्डके, आचा०२श्रु० । पल्योपमाऽसंख्येयभागलक्षणे, (पं० सं०) समयपरिभाषयाऽङ्गुलमात्रक्षेत्राऽसंख्येयभागगतप्रदेशराशिसंख्याप्रमाणे संयमश्रेणौ, सू०३ उ० (सेढि शब्दे उदाहरणम) स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र आलम्भिकातः कृतसप्तमवर्षारात्रः श्रीवीरः प्रस्थितः । आ० चू० १ अ० ।

कंडच्छारिय–काण्डाच्छारिक–पुं० स्वनामख्याते ग्रामे, ग्रामाधिपतौ च । "कण्डच्छारिउसहितो सयंवउरस्स बलवंतु" । काण्डाच्छारिको नाम ग्रामो ग्रामाधिपतिर्वा व्य०७ उ० ।

कंडरीय–काण्डरीक–पुं० मूलदेवसाहाय्येन वने गच्छतः कस्यचित्पुरुषस्य स्त्रीहारके, नं० (उप्पत्तिया शब्दे कथा) साकेतनगरवास्तव्यस्य पुण्डरीकनृपस्याऽनुजे, आ० क० । आव० । आ०चू० (स च यशोभद्राख्यस्वभार्यालिप्सयाऽग्रजेन मारित इत्यलोभ शब्दे उदाहृतम) पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिणीनगरीश्वरस्य महापद्मराजस्य पद्मावतीकुक्षिसम्भूते पुत्रे, पुण्डरीकस्याऽनुजे च उत्त० १० अ० । आ० चू० ।

तत्कथा चैवम ।

जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं अट्ठारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते एगूणवीसतिमस्स के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबूसमणेणं भगवया महावीरेणं तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे पुव्वविदेहे सीताए महानईए उत्तरिल्ले कूले नीलवंतस्स दाहिणेणं उत्तरिल्लस्स सीतामुहवणसंमस्स पच्चत्थिमेणं गए सेलगस्स वक्खारपव्वतस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं पुक्खलावती नामं विजये पन्नत्ते तत्थ णं पुंमरीगिणीमामं रायहाणी पन्नत्ता नवजोयणवित्थिन्ना दुवालसजोयणाया-

मा जाव पच्चक्खदेवलोगभूआ पासाइया । ४ । तीसे णं पुंमरीगिणीए नयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए नलिणवणे नामं उज्जाणे । तत्थ णं पुंडरीगिणीए नयरीए महापउमे नामं राजा होत्था तस्स णं पउमावती नामं देवी होत्था । तस्स णं पउमस्स रन्नो पउमावइदेवीए अत्तया दुवे कुमारे होत्था । तं जहा पुंडरीए य कंमरीए य । सुकुमालपाणिपाया जाव सरूवा पुंडरीए युवराया । तेणं कालेणं तेणं समएणं महापउमे राया निग्गए धम्मं सोच्चा पुंडरीयं रज्जे ठवेत्ता पव्वइए पुंमरीए राजा जाता कंमरीए युवराया महापउमे अणगारे चोद्दसपुव्वा अहिज्जंति । तते णं थेरा बहिया जणवयविहारं विहरंतए णं महापउमे बहुणि वासाणि जाव सिद्धे तए णं थेरा अन्नया कयाइं पुणरवि पोंमरीगिणीए नयरीए नलिणवणे उज्जाणे समोसढे पोंमरीए राया निग्गते कंमरीए महाजणसद्दं सोच्चा जहा महाबलो जाव पज्जुवासति थेरा धम्मं परिकहंते पोंमरीए समणोवासए जाए जाव पडिगते । तए णं कंमरीए उट्ठाए उट्ठेति उट्ठाए उट्ठेत्ता जाव से जयेय तुब्भे वयह जं नवरं पोंमरीयं आपुच्छामि ततेणं जाव पव्वयामि अहासुहं देवाणुपीया मा पडिबंधं करेइ । तए णं से कंमरीए राया जाव थेरे नमंसइ नमंसइत्ता अंतियाओ पडिनिक्खमइ पमिनिक्खमइत्ता तमेव चाउघंटं आसरहं दुरुहंति दुरुहंतित्ता जाव पच्चोरुहइ पच्चोरुहइत्ता जेणेव पोंमरीए राया तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता करयल जाव पुंडरीयं एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए थेराणं अंतिए धम्मे निसंते से धम्मे अविरुइए तए णं देवाणुप्पिया जाव पव्वतिए । ततेणं पुंडरीए कंमरीए य एवं वयासी मा णं तुमं भाउया इयाणिं मुंमे जाव पव्वयाहिं अहं तुमं महारायभिसिएणं अभिसिंचयामि । तए णं से कंमरीए पुंडरीयस्स रन्नो एतमट्ठं नो आढाति जायं तुसिणीए संचिट्ठति तए णं पोंमरीए राया कंमरीए कंमरीयं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी जाव तुसिणीए संचिट्ठति । तए णं पुंडरीए कंमरीयं कुमारं जाहे नो संचाएति बहुहिं आघवणाहि य पन्नवणाहि य ४ ताहे अकामए चेव एतमट्ठं अणुमन्निच्छा जाव निक्खमणाभिसेएणं अभिसिंचति जाव थेराणं सीसभिक्खं दलयंति दलयंतित्ता पव्वइए अणगारे जाए एक्कारसंगवीतए णं थेरा जगवंतो अन्नया कयाइं पुंमरीगिणीओ नयरीओ नलिणवणाओ उज्जाणाओ पमिनिक्खमति पमिनिक्खमतित्ता बहिआ जणवयविहारं विहरंति । तए णं तस्स कंडरीयस्स अणगारस्स तेहिं अंतेहिं य पंतेहिं य जहा सेलगस्स जाव दाहकक्कतिए या वि विहरंति तए णं थेरा अन्नया कयाइं जेणेव पुंडरिगिणी तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता नलिणवणे समोसढे पुंमरीए निग्गति निग्गतित्ता धम्मं सुणेति सुणेतित्ता तए णं पुंमरीए राया धम्मं सोच्चा जेणेव कंमरीए अणगारे तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता कंडरीयं वंदंति नमंसंति नमंसंतित्ता कंमरीयस्स अणगारस्स सरीरं सव्वाबाहं सरोगं पासइ पासइत्ता जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता थेरा जगवंते वंदंति नमंसंति एवं वयासी अहं णं भंते ! कंमरीयस्स अणगारस्स अहापवत्तेहिं ओसहे भिसज्जेहिं जाव नेइत्थं आउट्टामि तं तुब्भे णं मम जाणसालासु समोसरह । तते णं थेरा भगवंतो पुंमरीयस्स पमिसुणंति परिसुणंतित्ता जाव उपसंपज्जित्ता णं विहरति । तए णं पुंडरीए जहा मंडए सेलगस्स तहेव जाव बलियसरीरजाते तए णं थेरा भगवंतो पुमरीयं आपुच्छंति बहिया जणवयविहारं विहरंति तए णं से कंडरीए ताओ रोयायं काओ विप्पमुक्के समाणे तंसि मणुन्नंसि असणं पाणं खाइमं सातिमंसि संमुच्छिए गिद्धिए गढिए अज्झोववन्ने नो संचाएति पुंमरीयं आपुच्छित्ता बहित्ता अब्भुज्जएणं जाव विहरत्तए तत्थेव ओसन्ने जाए तए णं सा पोंमरीए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एहाए अंतेउरपरियालसंपरिवुडे जेणेव कंमरीए अणगारे तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता कंमरीयं तिखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति करेतित्ता वंदइ णमंसति णमंसतित्ता एवं वयासी धन्नोसि णं तुमं देवाणुप्पिया कयपुन्ने कयलक्खणे सुलद्धे णं देवाणुप्पिया तव माणुस्सए य जम्मजीवियफले जे णं तुमं रज्जं च जाव अंतेउरं च विच्छड्डइ विच्छड्डइत्ता विगोवइ विगोवइत्ता जाव पव्वइए । अहं णं अहन्ने अकयपुन्ने रज्जे य जाव अंतेउरे अ माणुस्सए य कामभोगेसु मुच्छित्ते जाव अज्झोववन्ने नो संचाएमि जाव पव्वइत्तए तं धन्नेसि णं तुमं देवाणुप्पिया ! जाव जीवियफले तते णं से कंमरीए अणगारे पुंमरीयस्स एतमट्ठं नो आढाति जाव संचिट्ठति । तए णं से कंमरीए पुंमरीए णं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे अकामए अव्वसवसे लज्जाए गारवेण पुंमरीयं आपुच्छति आपुच्छतित्ता थेरेहिं सिद्धि बहिया जणवयविहारं विहरति तते णं से कंमरीए थेरेहिं सद्धिं किंचि कालं उग्गं उग्गेणं विहरित्ता ततो पच्छा समणत्तणपरितंते समणत्तणनिव्विन्ने समणत्तणनिभच्छिए समणगुणमुक्कजोगी थेराणं अंतियाओ सणियं पच्चोसकति पच्चोसकतित्ता तेणेव पुंमरीगिणी नयरी जेणेव पोंमरीयस्स रन्नो तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता असोगवणियाए असोगवरपायवस्स अहे पुढवीसिलापट्टगंसे णिसीयइ णिसीयइत्ता ओहयमणसंकप्पे जावज्झियायमाणे संचिट्ठति । तते णं तस्स पोंमरीयस्स अम्मधाती

जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छति उवागच्छतित्ता कंमरीयं अणगारं असोगवरपायवस्स अहे पुढवीसिलाप-ट्टयंसि ओहयमणसंकप्पं जावज्झियायमाणं पासइ पासइत्ता जेणेव पुंमरीए राया तेणेव उवागच्छति उवागच्छइत्ता पोंमरीयं एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया ! तव पिय-भावए कंमरीए अणगारे असोगवणियाए असोगवरपा-यवस्स अहे पुढविसिलावट्टए ओहयमणसंकप्पे जावज्झि-याय भित्तए णं से पोंमरीए अमधाएइ एतमहं सोचा णिसम्म तहेव संभंते समाणे उट्ठाए उट्ठेति अंतेउरपरिवा-लसंपरिवुमे जेणेव असोगवणियाए जाव कंमरीयं ति-क्खुत्तो एवं वयासी धसेसि णं तुमे देवाणुप्पिया ! जाव पव्वइए अह णं अधसे अपुन्ने० जाव नो पव्वइए तं ध-न्नोसि णं तुमं देवाणुप्पिया ! जाव जीवियफले तते णं कंड-रीए पुंमरीए णं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठति दो-चं पि तचं पि जाव चिट्ठति । तए णं पोंडरीए कंमरीए एवं वयासी अट्ठो भंते ! भोगेहि हंता अत्थि अट्ठो । तए णं से पोंमरीए कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति सद्दावेतित्ता एवं वया-सी खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कंडरीयस्स महत्थं जाव रायाभिसेयं उवट्ठवेह जाव रायाभिसेएणं अभिसिंचंति तए णं पुंमरीए सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेति करेतित्ता स-यमेव चाउज्जामं धम्मं पडिवज्जति पडिवज्जतित्ता कंम-रीयस्स संतियं आयारभंमं गिएहति गिएहतित्ता इमं ए-यारूवं अभिग्गहं अभिगिएहंति कप्पति मे थेरे वंदित्ता नमं-सित्ता थेराणं अंतिए चाउज्जामं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । ततो पच्छा आहारं आहारित्तए कट्टु इमं ए-तारूवं अभिग्गहं अभिगिएिहत्ताणं पोंमरीगिणीओ प-मिनिक्खमति पडिनिक्खमतित्ता पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गा-माणुगामं दूतिज्जमाणे जेणेव थेरा भगवंता तेणेव पहारेच्छ गमणाए तए णं तस्स कंडरीयस्स रन्नो तं पणीयं पाणभोयणं आहारियं समाणस्स अतिजागरएण य अतिभोयणप्पसंगेण य से आहारे णो सम्मं परिणते तते णं तस्स सकंडरीयस्स रन्नो तंसि आहारंसि अपरिणममाणंसि पुव्वरत्तावरत्त-कालसमयंसि सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूता उज्जला विउला पगाढा जाव दुरुहीआ सा पित्तज्जरपरिगयसरीरा दाहवकंति एया वि विहरति । तते णं से कंमरीए राया रज्जे य रट्ठे य अंतेउरे य जाव अज्झोववन्ने अट्टदुहट्टवसट्टे अकामे अव-सव्वसे कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए उक्को-सकालाट्ठिइयं नरगंसि नेरइयत्ताए उववन्ने एवामेव समणाउसो जाव पव्वइए समाणे पुणरवि माणुस्सए कामभोगे आसादि-ति जाव अणुपरियट्टिस्संति । जहा व से कंमरीए राया तते

णं से पुंमरीए अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवाग-च्छति उवागच्छइत्ता थेरे भगवंते वंदति नमंसंति थेराणं अंतिए दोचं पि चाउज्जामं धम्मं पमिवज्जइ छट्ठक्खमणपा-रणगंसि पढमाए पोरिसीए सज्झायं करेंति करेंतित्ता । जाव अडमाणसीयं लुक्खं पाणं भोयणं पमिग्गहंति पमि-ग्गहंतित्ता अहापज्जतमं तिकट्टु पडिनियत्तए जेणेव थेरा भ-गवंतो तेणेव उवागच्छंति उवागच्छंतित्ता भत्तपाणं पडि-दंसेइ पमिदंसेइत्ता थेरेहिं भगवंतेहिं अब्भणुन्नाते समाणे अमुच्छीए ४ विलमिव पन्नगभूएणं अप्पाणेणं फासुए सणिज्जं असणं ४ सरीरकोट्ठगंसि पक्खिवंति । तते णं तस्स पोंमरीयस्स असणं ४ कालाइकंतं अरसं विरसं सीयं लु-क्खं पाणभोयणं आहारियस्स समाणस्स पुव्वरत्तावरत्त-कालसमयंसि धम्मजागरीयं जागरणमाणस्स से आहारे णो सम्मं परिणमति तते णं तस्स पुंडरीयस्स अणगारस्स स-रीरगंसि वेयणा पाउब्भूता उज्जला जाव दुरुहीया । सा-पित्तज्जरपरिगयसरीरदाहवकंतीए विहरति । तते णं से पोंम-रीए । अथामे अवले अवीरिए अपुरिसक्कारपरक्कमे करयल जाव एवं वयासी नमुत्थुणं अरहंताणं जाव संपत्तेणं जाव नमोत्थुणं थेराणं भगवंताणं मम धम्मायरियाणं धम्मोव-एसियाणं पुव्विं पि य णं मए थेराणं अंतिए सव्वे पाणाइ-वाए पच्चक्खाए जाव मिच्छादंसणसल्ले पच्चक्खाए जाव आलोइयपमिकंति कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे उ-ववन्ने । ततो अणंतरं उव्वट्टित्ता महाविदेहे वासे सिज्झति जाव दुक्खाणमंतं करेंति । एवामेव समणाउसो ! जाव पव्वइए समाणमाणुस्सएहिं कामभोगेहिं नो सज्जति नो रज्जति जाव नो विप्पमिघातमावज्जति । से णं इह भवे चेव बहुणं समणेणं ४ अच्चणिज्जे पूइणिज्जे वंदणिज्जे सक्का-रणिज्जे समाणणिज्जे कल्लाणमंगलं देवयं चेइयं पज्जुवास-णिज्जे तिकट्टु परलोए वि य णं नो आगच्छंति । बहूणि मंमणाणि य तज्जणाणि य तालणाणि य जाव चउरंत-संसारकंतारं जाव वियवतिस्सति जहा व से पुंडरीए अणगारे । एवं खलु जंबूसमणेणं भगवया महावीरेणं आदिगरेणं तित्थगरेणं जाव सिद्धिं नामधेज्जट्ठाणं संपत्ताणं एगूणवी-सातिमस्स नायज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते । एवं खलु जंबूसमणेणं भगवया महावीरेणं जाव सिद्धिगति नामधेज्जं सं-पत्ताणं छट्ठस्स अंगस्स पढमस्स सुयक्खंधस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति बेमि । इति कंमरीकपुंमरीकाध्ययनं एगूणवीसतिमं समत्तं ।

इदं सर्वं सुगमं नवरमिं । उपनयविशेषोऽयं " वाससहस्सं पि जई, काऊणं संजमं सुविउलं पि । अंते किलिट्टभावो, न विसु-ज्झइ कंमरीओ व्व ॥१॥ " तथा " अप्पेण वि कालेणं, केइ जह गहियसीलसामन्ना । साहंति निययकज्जं, पुंमरीयमहारिसि-

व्व जढा ॥ २ ॥ इत्येकोनविंशतितमं ज्ञातं विवरणतः समाप्तमिति । ज्ञा० १ श्रु० १९ अ० । महा० । सूत्र० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । तं० । स्था० ॥

कंमवा-कण्डवा-स्त्री० करटिकाख्ये वाद्यविशेषे, अष्टशतं कण्डवानामष्टशतं कण्डवादकानाम् । रा० ।

कंडिय-कण्डित- त्रि० बलातिबलिकया छटिते, आ० म० द्वि० । बलवत्या रामया छटिते, तं० ।

कंडियायन-कण्डिकायन- न० वैशाल्या नगर्या बहिस्ताच्चैत्ये, भ० १५ श० १ उ० ॥

कंडिल्ल-काण्डिल्य-पुं० माण्डव्यगोत्रान्तर्गतकाण्डिल्यगोत्रप्रवर्तके ऋषौ, तद्गोत्रजेषु च । स्था० ७ ठा० ।

कंडिल्लायण-कण्डिल्यायन- पुं० स्वनामख्याते ऋषौ, तद्गोत्रे शतभिषनक्षत्रम् " सतभिसया णक्खत्ते कंडिल्लायणसगोत्ते पण्णत्ते " चं० प्र० १० पाहु० ।

कंमु-कण्डू-धा० कण्ड्वादि० गात्रविघर्षणे कर्म्महनुमत्कण्डूयवात्-ले ८ । १ । २१ एषु ऊत उत्वम् जवतीत्युत्वम् । कंडुअइ । प्रा० । कण्डूयति (ते) काष्ठादिना गात्रस्य कण्डूत्यपनोदं विधत्ते आचा० १ श्रु० ९ अ० २ उ० ॥

कण्डु-स्त्री० कडि कृगण्वादि० उः । गात्रविघर्षणे तत्कारके रोगे, वाच० । पाकसंस्थाने च । जी० ३ प्रति० । " कंडुसु य पयणएसु य पयं ति " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

कंडुग-कान्दविक- पुं० मिष्टान्नविक्रेतरि, " राया चिंतेइ कतो कंडुयस्स जलकंतरयणसंपत्ती " आ० म० द्वि० । " पृष्टः कान्दविको राज्ञा, कुतस्ते तदिदं वद " । आ० क० ।

कंमु (दु) गगइ-कण्डु [न्दु] कगति-स्त्री० जीवगतिभेदे, कण्डुकस्येव गतिः कण्डुकगतिः किमुक्तं भवति यथा कन्दुकः स्वप्रदेशं पिण्डित ऊर्ध्वं गच्छति तथा जीवोऽपि कश्चित्परभवायुष उदये परलोकं गच्छन्नुदये परलोकं स्वप्रदेशानेकत्र संपीड्य गच्छति पं०सं० ।

कंमू-कण्डू- स्त्री० कण्डूय-क्विप्-अलोपयलोपौ सम्पदा० क्विप् वाच० । कण्डूतौ, ज्ञा० ५ अ० । खर्ज्वाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । ज्ञा० । स्था० ॥

कंमूइ-कण्डूति- स्त्री० कण्डूञ्शब्दः कण्ड्वादिषु पठ्यते ततः क्तिन् । षो०४ विव० । अलोपयलोपौ कण्डूयने, वाच० । आदीशात्करकण्डोः, कण्डूतिरभवत्ततः । आ० क० ॥

कंडूइय-कण्डूयित-न० नखैर्विलेखने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

कंडूयग-कण्डूयक-त्रि० कण्डूयत इति कण्डूयकः गात्रविघर्षके, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

कंमूयण-कण्डूयन-न० खर्जूविनोदनप्रवृत्तौ, पंचा० ४ विव० । करणे ल्युट् कण्डूयनसाधने, स्त्रियां ङीप् वाच० ।

कंडूल-कण्डूल-पुं० कण्डू-अस्त्यर्थे लच् । कण्डूकारके शूरणे, राजनि० । कण्डूयुक्ते, त्रि० वाच० । " स्वयं विवादग्रहिले वितण्डापाण्डित्यकण्डूलमुखे जनेऽस्मिन् " वितण्डापाण्डित्येन कण्डूलमिव कण्डूलं मुखं लपनं यस्य स तथा तस्मिन् कण्डूः खर्जूः कण्डूरस्याऽस्तीति कण्डूलं सिध्मादित्वान्मत्वर्थीयो लप्रत्ययः यथा किलान्तरुत्पन्नक्रमिकुलजनितां कण्डूतिं निरोद्धुमपारयन् पुरुषो व्याकुलतां कलयति एवं तन्मुखमपि वितण्डापाण्डित्येनासंबन्धप्रलापचापलमाकलयत् कण्डूलमित्युपचर्यते, स्या० ।

कंमूविणट्ठंग-कण्डूविनष्टाङ्ग-त्रि० कण्डूकच्छ्वादिभिर्व्याधिभिर्विकृतशरीरे, अप्रतिकर्मशरीरतया वा कश्चित् रोगसम्भवे सनत्कुमारवद्विनष्टाङ्गे, "मुंमा कंडूविणट्ठंगा, उज्जल्ला असमाहिता " सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ॥

कंत-कान्त-त्रि० कन् दीप्तौ कम वा-क्तः । दीप्ते, " कंतपियदंसणा " कान्तं दीप्तं प्रियं जनानां प्रमोदोत्पादकं दर्शनं रूपं येषां ते तथा स० । कल्प० । कमनीये, " ससिसोमाकारकंतपियदंसणं" शशिवत्सौम्याकारं कान्तश्च कमनीयमत एव प्रियं द्रष्टृणां दर्शनं रूपं यस्य स तथा तम् न० ११ श० ११ उ० । प्रज्ञा० । कल्प० । स्था० । काम्ये, औ० । शुभवर्णोपेतत्वात् विशिष्टवर्णादियुक्ते, जी० १ प्रति० । स्था० । शोभमाने, दशा० ७ अ० । मनोहारिणि, षो० ९ विव० । " वल्लभे हिययणयणकंते " कल्प० । औ० । पुनरभिलषणीये, दशा० १० अ० । अन्त० । अभिलषिते, ज्ञा० १ अ० । अभिप्रेते, आचा० २ श्रु० । घृतवरद्वीपदेवे, पुं० सू० प्र० १९ पाहु० । पत्यौ, चन्द्रे, वसन्ते, हिज्जलवृक्षे, कुङ्कुमे, न० " नार्यां, प्रियङ्गुवृक्षे च । स्त्री० मेदि० । भवेत् कान्तायुगरसहयैर्यभौनरसालगौ, इत्युक्तलक्षणे १८ छन्दोभेदे, स्त्री० कामदेवभेदे, पुं० वाच० ।

कंततर-कान्ततर-त्रि० कमनीयतरे, यथा कृष्णवस्तुवर्णके जीमूताद्युपमाऽभिधीयते । "एतो कंततराए चेव मणुण्णतराए चेव" अतिस्निग्धमनोहारिकालिमोपचिततया जीमूतादेः कमनीयतरकाः जी० ३ प्रति० ॥

कंतप्प-कन्दर्प-पुं० चूलिकापैशाचिके, तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ ८ । ४ । २४ । इति तृतीयस्य प्रथमः । कामे, प्रा० ।

कंतरूव-कान्तरूप-त्रि० कमनीयस्वरूपे, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

कंतविसयमिउसुकुमालकुम्मसंठियविसिट्ठचरणा -कान्तविशदमृदुसुकुमारकूर्मसंस्थितविशिष्टचरणा-स्त्री० कान्तौ कमनीयौ विशदौ निर्मलौ मृदू अकठिनौ सुकुमारावकर्कशौ कूर्मसंस्थितौ कूर्मवदुन्नतौ विशिष्टौ विशिष्टलक्षणोपेतौ चरणौ यासां ताः । सर्वलक्षणसंपन्नचरणासु युगलस्त्रीषु, जी० ३ प्रति० ।

कंतस्सर-कान्तस्वर-त्रि० कान्तः स्वरो यस्य स कान्तस्वरः । कमनीयस्वरे, प्रज्ञा० ३ पद ।

कंता-कान्ता-स्त्री० कामिन्याम्, द्वा० २२ द्वा० । कमनीयशब्दार्थां वाचि, ज० २ वक्ष० । भ० । अष्टानां योगदृष्टीनां षष्ठ्याम्, । कान्ता तु ताराभा तदवबोधस्ताराभासमानोऽतः स्थित एव प्रकृत्या निरतिचारमत्रानुष्ठानशुद्धोपयोगानुसारिविशिष्टाऽप्रमादसचिवविनियोगप्रधानगभीरोदाराशयमिति । द्वा० २० द्वा० । अस्याः फलम् ।

धारणाप्रीतयेऽन्येषां, कान्तायां नित्यदर्शनम् ।
नान्यमुत्स्थिरभावेन, मीमांसावहितोदया ॥ ८ ॥

(धारणेति) कान्तायामुक्तरीत्या नित्यदर्शनम् तथा धारणा वक्ष्यमाणलक्षणाऽन्येषां प्रीतये भवति । तथा स्थिरभावेन नान्यमुदित्यत्र हर्षस्तदा तत्प्रतिभासाभावात् हितोदया सम्यग्ज्ञानफला मीमांसा च सद्विचारात्मिका भवति ।

देशबन्धो हि चित्तस्य, धारणा तत्र सुस्थितः ।
प्रियो भवति भूतानां, धर्मैकाग्रमनास्तथा ॥ ९ ॥

(देशेति) देशे नाभिचक्रनासाग्रादौ बन्धो विषयान्तरपरिहारेण स्थिरीकरणात्मा हि चित्तस्य धारणा यदाह "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" तत्र धारणायां सुस्थितः मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मवासितान्तःकरणतया स्वञ्यस्तेयमानियमतया जितासनत्वेन परिहृतप्राणविक्षेपतया प्रत्याहृतेन्द्रियग्रामत्वेन ऋजुकायतया जितद्वन्द्वतया सन्तताऽभ्यासाविष्टतया च सम्यग् व्यवस्थितः भूतानां जगल्लोकानां प्रियो भवति । तथा धर्मैकाग्रमना भवति ।

अस्यामाक्षेपकज्ञानान्, न भोगा भवहेतवः ।
श्रुतधर्मे मनोयोगा-च्चेष्टाशुद्धेर्यथोदितम् ॥ १० ॥

अस्यामिति । अस्यां कान्तायां कायचेष्टाया अन्यपरत्वेऽपि श्रुतधर्मे आगमे मनोयोगान्नित्यं मनःसंबन्धादाक्षेपकज्ञानान्नित्यप्रतिबन्धरूपचित्ताक्षेपकारिज्ञानान्न भोगा इन्द्रियार्थसंबन्धा भवहेतवो भवन्ति चेष्टायाः प्रवृत्तेः शुद्धेर्मनोनैर्मल्यात् यथोदितं हरिभद्रसूरिभिर्योगदृष्टिसमुच्चये ।

मायाम्भस्तत्त्वतः पश्य-न्नुद्विग्नस्ततो द्रुतम् ।
तन्मध्येन प्रयात्येव, यथा व्याघातवर्जितः ॥ ११ ॥

मायाम्भस्तत्त्वतो मायाम्भस्तेनैव पश्यन् अनुद्विग्नस्ततो मायाम्भसो द्रुतं शीघ्रं तन्मध्येन मायाम्भोमध्येन प्रयात्येव न न प्रयाति यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः व्याघातवर्जितो मायाम्भस्त्वेन व्याघातासमर्थत्वात् ।

भोगान् स्वरूपतः पश्यं-स्तथा मायोदकोपमान् ।
भुञ्जानोऽपि ह्यसङ्गः सन्, प्रयात्येव परं पदम् ॥ १२ ॥

भोगानिन्द्रियार्थसंबन्धान् स्वरूपतः पश्यन् समारोपमन्तरेण तथा तेनैव प्रकारेण मायोदकोपमानसाराम्भुञ्जानोऽपि हि कर्माक्षिप्तानसंगतः सन् प्रयात्येव परं पदं तथाऽनभिष्वङ्गतया परवशभावात् ।

भोगतत्त्वस्य तु पुन-र्न भवोदधिलङ्घनम् ।
मायोदकदृढावेश-स्तेन यातीह कः पथा ॥ १३ ॥

भोगतत्त्वस्य तु भोगं परमार्थतया पश्यतस्तु न भवोदधिलङ्घनं मायोदकदृढावेशस्तथा विपर्यासात्तेन यातीह कः पथा यत्र मायायामुदकबुद्धिः ।

स तत्रैव भयोद्विग्नो, यथा तिष्ठत्यसंशयम् ।
मोक्षमार्गेऽपि हि तथा, भोगजम्बालमोहितः ॥ १४ ॥

स मायायामुदकदृढावेशस्तत्रैव पथि भयोद्विग्नः सन् यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थस्तिष्ठत्यसंशयं तिष्ठत्येव जलबुद्धिसमावेशान्मोक्षमार्गेऽपि हि ज्ञानादिलक्षणे तिष्ठत्यसंशयं भोगजम्बालमोहितो भोगनिबन्धनदेहादिप्रपञ्चमोहित इत्यर्थः ।

धर्मशक्तिं न हन्त्यस्यां, भोगशक्तिर्बलीयसीम् ।
हन्ति दीपापहो वायु-र्ज्वलन्तं न दवानलम् ॥ १५ ॥

अस्यां कान्तायां कर्माक्षिप्तत्वेन निर्बला भोगशक्तिरनवरतस्वरसप्रवृत्तत्वेन बलीयसीं धर्मशक्तिं न हन्ति विरोधिनोऽपि निर्बलस्याकिञ्चित्करत्वात् अत्र दृष्टान्तमाह । दीपापहो दीपविनाशको वायुर्ज्वलन्तं दवानलं न हन्ति प्रत्युत बलीयसस्तस्य सहायतामेवावलम्बते । इत्थमत्र धर्मशक्तेरपि बलीयस्या अवश्यभोग्यकर्मक्षये भोगशक्तिः सहायतामेवावलम्बते न तु निर्बलत्वेन तां विरुणद्धीति । यद्यपि स्थिरायामपि ज्ञानापेक्षया भोगानामकिञ्चित्करत्वमेव तथाऽपि तदंशे प्रमादसहकारित्वमपि तेषाम् । कान्तायां तु धारणया ज्ञानोत्कर्षात् तथात्वमपि तेषां गृहिणामप्येवंविधदशायामुपचारतो यतिभाव एव चारित्रमोहोदयमात्रात्केवलं न संयमस्थानलाभो न तु तद्विरोधपरिणामो लेशतोऽपीत्याचार्याणामाशयः ॥

मीमांसा दीपिका चास्या, मोहध्वान्तविनाशिनी ।
तत्त्वालोकेन तेन स्या-न्न कदाप्यसमञ्जसम् ॥ १६ ॥

मीमांसा सद्विचारणा दीपिका चास्याः कान्ताया मोहध्वान्तविनाशिनी अज्ञानतिमिरापहारिणी तत्त्वालोकेन परमार्थप्रकाशेन तेन कारणेन न कदाप्यसमञ्जसं स्यादज्ञाननिमित्तको हि तद्भाव इति । द्वा० २४ द्वा० । विमले, स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थे च । नं० ॥

कंताजुस–कान्ताजुष– त्रि० कामिनीसहिते, द्वा० २२० द्वा० ॥

कंतार–कान्तार–पुं० कान्ता अभीष्टा अरा इव ग्रन्थयोऽस्य । कस्य जलस्यान्तं कान्तं मनोज्ञं वा रसमृच्छति गच्छति ऋ- अण्-उप० स० । इक्षुभेदे, भावप्र० । कोविदारवृक्षे, वंशे च । राजनि० । कस्य सुखस्यान्तमृच्छत्यत्र ऋ-आधारे घञ् । छिद्रे, मेदि० । अटव्याम्, नि० चू० १ उ० । प्रव० । महत्यामटव्याम्, बृ० ३ उ० । ओ० । स्था० । अध्वनि, यत्र भक्तपानादिलाभो न सम्भवति । जीत० । "कंतारं नाम अरण्णं जत्थ भत्तपाणं ण लब्भति " नि० चू० १ उ० । निर्जले, सभये, त्राणरहिते अरण्यप्रदेशे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । दुष्टस्वापदाकुले महारण्ये, तं० । भ० । अरण्ये, आव० ६ अ० । स्था० ।

कंतारकवाडचारयसम–कान्तारकपाटचारकसम–त्रि० अरण्यकपाटकारागृहतुल्ये, " कंतारकवाडचारयसमाणं " (इत्थीणम्) अयमाशयः यथा गहनवनं व्याघ्राद्याकुलं जीवानां भयोत्पादकं भवति तथा नराणां नार्य्योऽपि भयं जनयन्ति धनजीवितादिविनाशहेतुत्वेनेति । यथा प्रतोल्या कपाटे दत्ते केनाऽपि गन्तुं न शक्यते तथा नरे नारीकपाटहृदये दत्ते सति केनापि कुत्रापि धर्मैवमादौ गन्तुं न शक्यते यथा च जीवानां कारागृहं दुःखोत्पादकं भवति तथा नराणां नार्य्योऽपि इति । तं० ।

कंतारगइट्ठाणभूया–कान्तारगतिस्थानभूता–स्त्री० कान्तारे दुष्टस्वापदाकुले महारण्ये गतिरेकाकित्वेन गमनं स्थानं चैकाकित्वेन वसनं तयोर्भूतास्तुल्याः । स्त्रीषु, तासां दारुणमहाभयोत्पादकत्वात् । तं० ।

कंतारभत्त–कान्तारभक्त–न० कान्तारमरण्यं तत्र भिक्षुकाणां निर्वाहार्थं यद्विहितं तत् कान्तारभक्तम् । भ० ५ श० ६ उ० । साध्वाद्यर्थमटव्यां संस्क्रियमाणे भोजने, स्था० ७ ठा० । एतच्च पाश्चयामिकानामकल्प्यम् । भ० ६ श० ३३ उ० ।

कंति–कान्ति–स्त्री–कम्–कामे–कन्–दीप्तौ–वा भावे क्तिन् । दीप्तौ, शोभायाम्, । वाच० । औ० । प्रभायाम्, ज्ञा० १६ अ० । कमनीयतायाम्, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । पञ्चम्यां गौणाऽहिंसायाम् । तस्याः कमनीयताकारणत्वात् । प्रश्न० सं० द्वा० १ अ० । इच्छायाम्, स्त्रीणां शृङ्गारजे सौन्दर्य्यगुणभेदे, " शोभा प्रोक्ता सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायिता" मन्मथोन्मेषेणातिविस्तीर्णशोभैव कान्तिरुच्यते इति व्याख्यातं सा० द० । चन्द्रमसः कलाभेदे, वाच० ।

कंतिकंदली–कान्तिकन्दली–स्त्री० गङ्गासमुद्रप्रवेशतटसंस्थितस्य जयसुन्दरनगरेश्वरजयवल्लभनामराजस्य भार्य्यायाम्, दर्श० ।

कंतिपुरी--कान्तिपुरी--स्त्री० काञ्चीपुर्य्याम्, वाच० । अन्यस्यां स्वनामख्यातायां पुर्य्याम्, "कंतिपुरीइं भयवं" (पार्श्वनाथः प्रतिमारूपः) "पुणो गमिस्सइ तओ अंजलहिम्मि" ती० ।

कंतिमई--कान्तिमती--स्त्री०कोशलपुरस्थनन्दनाभिधानश्रेष्ठिनो दुहितरि, आ० म० द्वि० । आ० चू० । (मायाशब्दे उदाहरणम्) अप्सरोभेदे, चन्द्रे, कामदेवभेदे च पुं० कान्तियुक्ते त्रि० वाच० ।

कंतिविजय--कान्तिविजय--पुं० श्रीमन्मानविजयवाचकेन विवृतस्य धर्मसङ्ग्रहस्य प्रथमादर्शलेखके स्वनामख्याते गणिनि, "ज्ञानाराधनमतिना, ज्ञानादिगुणान्वितेन वृत्तिरियम् । प्रथमादर्शे लिखिता, गणिना कान्त्यादिविजयेन" ध० ४ अधि० ।

कंथग--कन्थक--पुं०जात्याश्वे अश्वविशेषे,उत्त० २३अ० । स्था० ।

कंथारियावण--कन्थारिकावन--न० स्वनामख्यातेऽवन्तीपुर्यन्तर्गते वने, यत्र सुकुमारोऽनशनेन मृतः महाकालमन्दिरं च यत्र आ० क० । (अणिस्सयोवहाणशब्दे तद्वर्णनमुक्तम्)

कंथेर--कन्थेर--पुं० वृक्षभेदे, "मीढलमंजिट्ठकंकोल्लिकुमारिकंथेरवेरकुडा य" ल० प्र० ।

कंद--कन्द--पुं० न० कन्दति कन्दयति कन्दयते कदि-अच्-णिच्-घञ् वा० । विसे, रा० । जी० । मूलानामुपरि वृक्षावयवविशेषे, औ० । ज्ञा० । रा० । सूरणादिलक्षणे, द० ५ अ० । स्था० औ० । ज्ञा० । स्कन्धाधोभागरूपे, प्रश्न० सं० द्वा०५ अ० । भूमध्यगे वृक्षावयवे, प्रव० ४ द्वा० । (कन्दाश्च सूरणकन्दाद्या द्वात्रिंशत् ते च अणंतकाइयशब्दे दर्शिताः अनन्तजीवत्वमपि तत्रैवोक्तम्) सूरणे, गृञ्जने, मेघे, पुं० मेदि० ।

कंदणया--क्रन्दनता--स्त्री० महता शब्देन विरवणरूपे आर्तध्यानस्य प्रथमे लक्षणे, ग० १ अधि० । स्था० । औ० ।

कंदप्प--कन्दर्प--पुं० कं सुखं तस्मै तत्र वा दृप्यति कम्-दृप-अच् कुत्सितो दर्पोऽस्माद् वा । कामदेवे, अमरः । कन्दर्पः कामस्तद्धेतुर्विशिष्टो वाक्प्रयोगोऽपि कन्दर्प उच्यते । रागोद्रेकात्प्रहासमिश्रं मोहोद्दीपकं नर्माणि, आ० । ध० । अयं चातिचारः प्रमादाचरितलक्षणोऽनर्थदण्डभेदव्रतस्य सहसाकारादिना उपा० १ अ० । इह चेयं सामाचारी श्रावकेण न तादृशं वक्तव्यं येन स्वस्य परस्य वा मोहोद्रेको भवति अट्टाट्टहासोऽपि न कल्पते कर्तुं यदि नाम हसितव्यं तदैतदेवेति ध० १ अधि० । आव० । आ० चू० । पञ्चा० । प्रव० । पं० व० । अट्टाट्टहासहसने, ग० २ अधि० । आतु० । "कंदप्पकलहकेलिकोलाहलप्पिया" औ० । कन्दर्पः कामप्रधानः । कन्दर्पः कामोद्दीपनवचनचेष्टा" जी० ३ प्रति । कन्दर्पः कामस्तत्प्रधानः । निरन्तरं नर्मादिनिरततया विटप्राये देवविशेषे, प्रव० ७३ द्वा० । वृ० । प्रश्न० । कन्दर्पकथाकरणशीले, आतु० । स्था० । कामसम्बन्धिनि कषाये, कन्दर्पवति, त्रि० वृ० १ उ० ॥

कंदप्पकहाकहण--कन्दर्पकथाकथन--न०कामकथाग्रहे, पं०व० ।

कंदप्पदेव--कन्दर्पदेव--पुं० कन्दर्पोऽट्टाट्टहासहसनं कन्दर्पकरणशीलाः कन्दर्पाः कन्दर्पाश्च ते देवाश्च कन्दर्पदेवाः । कान्दर्पिकदेवेषु, तत्स्वरूपं तु " कहकहस्स हसणं " इत्यादिगाथयाऽग्रे वक्ष्यते । तं० ॥

कंदप्पभावणा--कान्दर्पभावना--स्त्री०कन्दर्पः कामस्तत्प्रधाना निरन्तरं नर्मादिनिरततया विटप्राया देवविशेषाः कन्दर्पास्तेषामियं कान्दर्पी सा चासौ भावना च पुंवद्भावः।संक्लिष्टभावनाभेदे, प्रव० ७३द्वा० । सा च० ॥

कंदप्पे १ कुक्कुइए २,
दुअसीले ३ आविहासणकरे य ४ ॥
विम्हार्वितो ५ अपरं,
कंदप्पभावणं कुणइ ॥

कन्दर्पे कौकुच्यद्रुः शीलत्वे हास्यकरणे परविस्मयजननेऽपि च विषये प्रवर्तति कन्दर्प्पः कंदर्प्पविषया भावना कान्दर्पिकीत्यर्थः । अनेकविधा पञ्चप्रकारा । ततः उच्चैः स्वरेण हसनं तथा परस्परं परिहासस्तथा गुर्वादिनाऽपि सह निष्ठुरवक्रोक्त्यादयः स्वेच्छालापास्तथा कामकथाकथनं तथा एवं चैवं च कुर्वेति विधानद्वारेण कामोपदेशस्तथा कामविषया प्रशंसा च कंदर्पशब्देनोच्यते यदुक्तं " कहकहकहस्स हसणं, कंदप्पो अणिहुया य संलावा । कंदप्पकहाकहणं, कंदप्पुवएससंसा य " तथा कुकुचो भण्डचेष्टा तस्य भावः । कौकुच्यं तद् द्वेधा कायकौकुच्यं वाक्कौकुच्यं च । तत्र कायकौच्यं यत्स्वयमहसन्नेव भ्रूनयनादिभिर्देहावयवैर्हासकारकैस्तथा चेष्टां करोति यथा परो हसतीति यदुक्तं " भुमनयणवयणदसण--च्छदेहिं करचरणकन्नमाईहिं । तं तं करेइ जह ह--सए परो अत्तणा अहस्सं वा " कौकुच्यं तु यत्परिहासप्रधानैस्तैस्तैर्वचनजालैर्विविधजीवविरुतैर्मुखातोद्यवादितया च परं हासयतीति । यदुक्तं च " वाया कुक्कुइओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो । नाणाविह जीवरुए, कुक्कुइ मुहत्तरए चेव " तथा दुष्टं शीलं स्वभावो यस्य स दुःशीलस्तद्भावो दुःशीलत्वं तत्र यत्संभ्रमावेशवशादपर्यालोच्य द्रुतं द्रुतं भाषते यच्च शरत्काले दर्प्पे धुरप्रधानवलीवर्द इव द्रुतं द्रुतं गच्छति यच्च सर्वत्रासमीक्षितं कार्यं द्रुतं द्रुतं करोति । यच्च स्वभावस्थितोऽपि तीव्रोद्रेकवशाद्दर्प्पेण स्फुटतीव एतद् दुःशीलत्वं यदुक्तं " भासइ दुयं दुयं ग--च्छए य दरिउ व्व गो व्व सो सरए । सव्वदुयदुयकारी,फुट्टइ व ठिओ वि दप्पेणं" तथा भाण्डइव परेषां छिद्राणि विरूपवेषभाषाविषयाणि निरन्तरमन्वेषयन् चित्रैस्तादृशैरेव वेषवचनैर्यत् द्रष्टृणामात्मनश्च हासं जनयति तत् हास्यकरणम् । यदुक्तं " वेसवयणेहिं हासं, जणयंतो अप्पणो परोसिं च । अहहासणोत्ति भण्णइ, घयणो व्व छले नियच्छंतो" " घयणोत्ति " भण्डः तथा इन्द्रजालप्रभृतिभिः कुतूहलैः प्रहेलिका कुहेटकादिभिश्च तथाविधग्राम्यलोकप्रसिद्धैर्यत्स्वयमविस्मयमानो बालिशप्रायस्य जनस्य मनोविभ्रममुत्पादयति तत्परविस्मयजननं यदुक्तम् " सुरजालमाइएहिं तु, विम्हयं कुणइ तव्विहजणस्स । तेसु न विम्हयइ सयं, आहट्टकुहेडेहिं च " अत्र " आहट्टत्ति " प्रहेलिका कुहेटक आभाणकप्रायः प्रसिद्ध एव प्रव० ७३ द्वा० । वृ० । दशा० । पं० व० ।

कंदप्पिय--कान्दर्पिक--न०कन्दर्पस्तद्वृद्धिः प्रयोजनमस्य ठक् । कन्दर्पवृद्धिसाधने वैद्यकोक्ते वाजीकरणादिके विधानभेदे, वाच० कन्दर्पः परिहासः स येषामस्ति तेन वा ये चरन्ति ते कन्दर्पिकाः कान्दर्पिका वा । व्यवहारतश्चरणवत्स्वेव कन्दर्पकौकुच्यादिकारकेषु, भ० १ श०२ उ० । तथा हि (कहकहकहस्स हसणं, इत्यादि चतस्रोऽपि कंदप्पभावणाशब्दे दर्शिताः) कामकन्दर्पप्रधानकेलिकारिषु नानाविधहास्यकारिषु, औ० । हास्यकारिषु भाण्डप्रायेषु देवविशेषेषु च प्रश्न० द्वा० २ अध्र० २ अ० ।

कंदप्पिया–कन्दर्पिकी–स्त्री० कन्दर्पाः कामस्तत्प्रधानाः षड्गप्राया देवविशेषाः कन्दर्पा उच्यन्ते तेषामियं कान्दर्पिकी । असंक्लिष्टभावनाभेदे, बृ० १ उ० (कन्दप्पभावणा शब्दे व्याख्यातम्)

कंदप्पुवएस–कन्दर्पोपदेश–पुं० विधानद्वारेणैवं कुर्वति, हास्यादिप्रवर्तने, पं० व० ।

कंदभोयण–कन्दभोजन–न० भुज्यत इति भोजनं कन्दः सूरणादिस्तस्य भोजनं तदेव वा भोजनमिति । कन्दाहारे, तच्च पाश्र्वापत्यिकानां प्रतिषिद्धम् स्था० ९ ठा० ।

कंदमंत–कन्दवत्–त्रि० कन्दो मूलानामुपरि वृक्षावयवविशेषः सोऽस्यास्ति मतुप्प्रत्ययश्चेह भूम्नि प्रशंसायां वा । कन्दप्रचुरे, प्रशस्तकन्दे च औ० । ज्ञा० ।

कंदमाण–क्रन्दत्–त्रि० शोकान्महाध्वनिं मुञ्चति, ज्ञा० ८ अ० ।

कंदमूल–कन्दमूल–न० कन्दरूपं मूलमस्य । मूलके, राजनि० । इतरेतरद्वन्द्वः । कन्दे मूले च "उदरिपत्थयणा सद्दयत्थयणा तेसिं कंदमूलफला" बृ० १ उ० ।

कंदर–कन्दर–न० कम् जलेन दीर्यते दृ–कर्मणि–अप्×आर्द्रके, अङ्कुशे च राजनि० । रन्ध्रे, ज्ञा० २ अ० । भूमिविवरे, न० ए३० ३३ उ० । कुहरे, "बिलमगिरिकंदरकालेवसायिविद्धा" विपा० १ श्रु० ३ अ० । संस्कृतायां गिरिगुहायाम्, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० । ज्ञा० । दर्याम्, स्त्री० औ० । प्रश्न० । कन्दरसन्निकृष्टदेशादौ, त्रि० कं गजशिरो दीर्यतेऽनेन करणे अप्–अङ्कुशे, मेदि० ।

कंदरकम्मायतण–कन्दरकर्मायतन–न० यत्र कन्दरपरिकर्म क्रियते तादृशे स्थाने, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

कंदरगिह–कन्दरगृह–न० गिरिगुहायां, गिरिकन्दरे च । स्था० ५ ठा० । भ० ।

कंदरबिल–कन्दरबिल–न० गुहालक्षणे रन्ध्रे, "हिंगुलयधाउकंदरबिलवंतस्स" उपा० २ अ० ।

कंदरी–कन्दरी–स्त्री० गुहासु, ज्ञा० १ अ० ।

कंदल–कन्दल–त्रि० कदि–अलच्–कलापे, उपरागे, कलध्वनौ च मेदि० । अपवादे, शब्दर० । वाग्युद्धे, कपाले चधरणिः । ओले, पुं० भावप्र० । प्रत्यग्रलतायाम्, ज्ञा० ८ अ० । प्ररोहे च न० "सज्जज्जुणनीवकंदुयकंदलसिलिंधकलिपसु" । ज्ञा० १ अ० ।

कंदलग–कन्दलक–पुं० एकखुरचतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकजीवविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

कंदलसिलिंध–कन्दलसिलिन्ध्र–पुं० कन्दलप्रधाने वृक्षविशेषे, ज्ञा० ए अ० ।

कंदली–कन्दली–स्त्री० कन्दल–गौरा० ङीष्–मृगभेदे, गुल्मभेदे च मेदि० । कन्दभेदे, उत्त० ३६ अ० । गुच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद । हरितभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । वलयभेदे, प्रज्ञा० १ पद । ज०

कंदलीमत्थय–कन्दलीमस्तक–न० कन्दलीमध्यवर्तिनि गर्भे, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । कन्दल्या मस्तकसदृशोऽवयवे, यच्छिन्नत्वाद्नन्तरमेव ध्वंसमुपयाति आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ॥

कंदलीसीसग–कन्दलीशीर्षक–न० कन्दलीस्तवके, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

कंदाहार–कन्दाहार–पुं० कन्दमात्राहारके वानप्रस्थभेदे, औ० । नि० । आ० म० प्र० ।

कंदिय–क्रन्दित–न० क्रदि–भावे–क्त– । आह्वाने, मेदि० । योधानां चीत्कारशब्दकरणे, शब्दर० । ध्वनिविशेषकरणे, प्रश्न० अध० १ द्वा० १ अ० अव–आक्रन्दो च प्रश्न० सं० २ द्वा० ५ अ० । व्यन्तरकायानामुपरि व्यन्तरजातिविशेषे, पुं० प्रश्न० अध० १ द्वा० ५ अ० । औ० । प्रव० ।

कंदियसद्द–क्रन्दितशब्द–पुं० प्रोषितभर्तृकाणां विरहिणीनां भर्तृवियोगदुःखाज्जाते, (उत्त० १६ अ०) आक्रन्दरूपे शब्दे, "कंदियसद्दं वा सुणमाणस्स बंभचेरस्स तं कहं" उत्त० २ अ० ॥

कंदिसिय–कान्दिशिक–त्रि० कां दिशं यामीत्याह तदाहेति भा शब्दादिभ्यः उपसंख्यानात् ठक् पृषो० मयू० आकृतिगणत्वात् समासः । कदि–वैक्लव्ये भावे–इन् । कन्दिः वैक्लव्यम् । शोकलेचने करणार्थत्वादश्रुपातार्थकता भावे–घञ् कन्दिश्च शोकः अश्रुपातश्च विद्यते अस्य वा अण् । भयद्रुते पलायिते, अमरः । कान्दिशीकः शतानीकः कालिन्द्याः परतोऽगमत्" आ० क० ।

कंदु–कन्दु–पुं० स्त्री० स्कन्द–उ–सलोपश्च– । मण्डकादिपचनभाजने, वि० ३ अ० । लेखाश्च प्रश्न० अध० १ द्वा० १ अ० । तप्तसुलादेर्भर्जनपात्रमात्रे च । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ।

कंदुकुंभी–कन्दुकुम्भी–स्त्री० लोहमयपाचनभाजनविशेषे, उत्त० १७ अ० ।

कंदुग–कन्दुक–पुं० कं सुखं ददाति–दा–डु×संज्ञायाम् कन् । कन्दु–यावादिकुमारकीमनकत्वेन कन् वा । वस्त्रादिनिर्मिते गोलाकारे क्रीडासाधने गेन्द इति प्रसिद्धेऽर्थे, वाच० (कन्दुगगत्यादिशब्दाः कंसुगादिप्रकरणे उक्ताः) साधारणवनस्पतिविशेषे, पुं० प्रज्ञा० १ पद ।

कंदुट्ठ–उत्पल–न– गोणादयः ८ । २ । ७४ । इति उत्पलस्थाने निपातः । प्रा० । कमले, को० ।

कंदुसोल्लिय–कंदुपक्व– त्रि० जलोपसेकं विना कन्दुपाके, पक्वे तप्तबालुकादिशुष्कतया भ्रष्टतण्डुलादौ, औ० । भ० ।

कंप–कम्प–पुं–कपि–चलने–घञ्+गात्रादिचलने, वेपथौ, कम्पश्चलनं स च वातादिना प्रेरणात् स्थावरस्य भूम्यादेर्भवति देहादेस्तु मनसो विकारभेदेन वातादिधातुना च चालनात् भवति वाच० । उक्तं च "प्रकामं वेपते यस्तु कम्पमानस्तु गच्छति । कलापखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिनिबन्धनम्" आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

कम्प्य–त्रि० कपि– णिच्– कर्मणि–यत्+क्षोभ्ये, चाल्ये, आतु० ।

कंपण–कम्पन–न० चलने, मेदि० । णिच्×ल्युट्×कम्पयितरि, त्रि० शिशिरे ऋतौ, पुं० ज्वरभेदे, सान्निपातिकज्वरभेदे च वाच० । भावे–ल्युट्×शीतजडाच्छेदनादिना शीतकाले गात्रोत्कम्पजनने, स०

कंपमाण–कंपमान–त्रि० चलनस्वभावे, कल्प० । उत्त० ।

कंपिल्ल–कम्पिल्ल–पुं० कपि–इलच्×रोचने, वृक्षभेदे, स च करञ्जभेदः स्वार्थे कन् कम्पिल्लकोऽप्युक्तार्थे वाच० । द्वारवत्यामन्धकवृष्णेर्धारण्यामुत्पन्ने षष्ठे पुत्रे, अयं च नेमिजिनान्तिके गृहीतप्रव्रज्यः शत्रुञ्जये सिद्ध इति अन्तगमदशाङ्गस्य प्रथमवर्गे षष्ठेऽध्ययने सूचितम् तत्र गौतमकुमारचरितवद्भावनीयम् अन्त० १ वर्ग ।

कम्पिल्य–न० पञ्चालाख्यार्थक्षेत्रराजधान्याम्, प्रज्ञा० १ पद । ज्ञा० । प्रव० । उत्त० । आ० चू० । आव० । सूत्र० । काम्पिल्यकल्पः । काम्पिल्यपुरे जातानां तीर्थकृन्महाराजादीनां सङ्क्षेपेणो-

ल्लेखः स चैवं," गंगामूलट्ठिअसिरि-विमलजिणाययणमणहरासिरिस्स । कित्तेमि समासेणं, कंपिल्लपुरस्स कप्पमहं । अत्थि इहेव जंबूद्दीवे दीवे दक्खिणभारहखंमे पुव्वदिसाए पंचाला नाम जणवओ । तत्थ गंगा नाम महानईतरंगभंगिपक्खालिज्जमाणपायारभित्तियं कंपिल्लनाम नयरं २ तत्थ तेरसमो तित्थयरो विमलनामा इक्खागुकुलपईव कयवम्मनरिंदनंदणो सामा देवी कुच्छिसिप्पमुत्ता हलोवमो वराहलंछणो जच्चकणयवन्नो पउणो ३ तत्थ तस्सेव भगवओ चवणजम्मणरज्जाभिसेअदिक्खाकेवलनाणलक्खणाइं जायाइं इत्तुच्चि तत्थ पएसे पंचकल्लाणयं नाम नयरं रूढं ४ जत्थ तस्सेव भगवओ सुअरलंछणाणत्थणं पउच्च देवेहिं महिमा कया । तत्थ य सुअरक्खित्तं पसिद्धिमुवगयं तत्थ नयरे दसमो चक्कवट्टी हरिसेणो नाम संजाओ । ५ तहा दुवालसमो सव्वजामो बंभदत्तनामा तत्थेव समुप्पन्नो ६ तहा वीरजिणनिव्वाणओ दोहिं सएहिं वीसाए समहिएहिं वरिसाणं मिहिलाए नयरीए लच्छिहरे चेइए महागिरीणं आयरियाणं कोडिन्नो नाम सीसो तस्स आसमित्तो नामं सीसो अणुप्पवायपुव्वे नेउणियवत्थुम्मि छिन्नच्छेयणए य वत्तव्वयाए आलावगं पढंतो विप्पमिवन्नो चउत्थो निन्हवो जाओ । समुच्छेइयदिट्ठि परूवितो एयं कंपिल्लपुरमागओ तत्थ खंडरक्खा नाम समणोवासगा ते अ सुंकपाला तेहिं भएणं उवसत्तीहि य पडिवोहिओ ७ इत्थ संजयो नाम राया होत्था सो अपारद्धीपगओ कंसरुज्जाणामिएहिं एवं पासंतो तत्थ गद्दभालिं अणगारं पासित्ता संविग्गो पव्वइत्ता सुगइं पत्तो ८ इत्थेव नयरे गागलीकुमारो पिट्ठी चंपाहिवसालमहासालाणं भाइणिज्जो पिढरजसवईणं पुत्तो आसी सो अ तेहिं माउलेहिं इत्तो य रज्जो आहविज्जा पिट्ठी चंपारज्जे अहिसित्तो । तेसिं च गोअमसामिपासे दिक्खा गहिया कालक्कमेणं गागली वि अम्मापिउसहिओ गोयमसामिपासे जिणदिक्खं पडिवन्नो सिद्धो अ ६ इत्थेव नयरे दिव्वमउडरयणविंविमहुद्दसणपसिद्धेण नामधिज्जेण डुम्मुहो नाम नरवई कोमुईमहूसवे इंदकेउअलंकिअविजूसिअं महाजणजणियहरिसकारं दट्ठुं दिणंतरे तं चेव भूमिं पमियं पाएहिं विलुप्पमाणं अणाढइमाणं दट्ठूण इड्ढिअणिद्धिसमुपेहिकाणिय पत्तेयबुद्धो जाओ । १० । इत्थेव पुरे दो वइमदासई दूरयनरिंदमहाभूआ पंचएहं पंडवाणं सयं चरमकासी ११ इत्थेव पुरे धम्मरुई नरिंदो अंगुलिज्जगरयणुक्खेमियनरिंदविवनमंसणदोसुज्झावणेणं पिसुणेहिं कोविएण कासीसरेण वि गहिओ वेसमणेण धम्मप्पभावेणं सबलवाहणं परचक्कं गमणगामेणं कासीए नेउं नित्थारिओ तस्सेव सम्माणभायणं जाओ १२ इच्चाइ अणेगसंवहाणगरयणनहीणं एवं नयरं महातित्थं इत्थ तित्थजत्ताकरणेणं भविअलोआ जिणसासणप्पभावणं कुणंता अज्जिंति इह लोअपरलोइअसुहाइं तित्थयरनामगुत्तं "चंपिल्लियकुकम्मारिउणा,कंपिल्लपुरस्स पवरतित्थस्स। कप्पपढंतअसढाइ य, भणइ जिणप्पहो सूरी ॥ १ ॥ "इति काम्पिल्यपुरकल्पः ती० । मलयवत्याः पितरि, उत्त० १३ अ० ॥

कंपिल्लणयर–काम्पिल्यनगर–न०पाञ्चालप्रधाननगरे, " कंपिल्ले नयरे राया चद्दिसबलवाहने नामेण संजओ नाममिव्वं उ वणिगए " उत्त० १८ अ० ।

कंपिल्लपट्टण–काम्पिल्यपत्तन– न० काम्पिल्यपुरे, " समुच्छेदं वदन् सोऽथ, ययौ काम्पिल्यपत्तनम् " आ० क० ।

कंपिल्लपुर–काम्पिल्यपुर– न० पाञ्चालजनपदेषु प्रधाननगरे, " पंचालेसु जणवएसु कंपिल्लपुरं णयरं तत्थ डुम्मुहो राया " उत्त० ९ अ० । राजगृहापरनामके नगरे च । यत्र खएमरक्षाऽभिधानैः श्रावकैः सामुच्छेदिकनिह्नवाः संबोधिताः । विशे० । आ० म० द्वि० ।

कंबल–कम्बल– पुं० कम्ब–कलच्–कुं कुत्सितं शिरोऽम्बु वा बलति बल संवरे, अच्–वा सर्पभेदे, कृमौ च । जले, उत्तरासङ्गे च मेदि० । मृगभेदे, पुं०स्त्री०जटा० । सास्नायाम्, विपा० २ अ० । और्णिके, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । कल्पे, । बृ० १ उ० । वर्षाकल्पादौ, द० ६ अ० । ऊर्णामये जीनादौ, भ०१३श०९उ० । वासोविशेषे,प्रश्न०सं २ द्वा०४अ० । आविके, पात्रनियोंगे, आचा० १ श्रु० २ अ० । तथा केवलोर्णिकाशरीरसंपर्के संमूर्च्छजजीवानामुत्पत्तिरस्ति न वेति । अत्र केवलिशरीरसंपर्के वस्त्रापेक्षया षट्पद्यो बहवः उत्पद्यन्ते इत्यक्षराणि छेदग्रन्थे स्मरन्ति नेतराणीति ही० । (वत्थशब्दे तद्ग्रहणम्) स्वनामख्याते गोवृषे, स चाऽनशनेन मृत्वा नागकुमारेषूपपन्नः । तत्कथा चैवम् ॥

महुराए जिणदासो, आजीरविवाहगोणउववासो ।
भंडीरमित्तवच्चे, भत्ते नागोहिआगमणं ॥

व्याख्या कथानकाज्ज्ञेया सा चेयम् ।

इहास्ति जम्बूद्वीपान्त-र्भरतक्षेत्रमण्डनम् ।
नगरी मथुरा नाम, यथा कामितकामधुक् ॥ १ ॥
जिनदासो वणिक् तत्र, श्रावकः परमार्हतः ।
अर्हद्धर्मः सदा यस्य, मानसे राजहंसति ॥ २ ॥
जिनदासी प्रिया तस्य, प्रियङ्करणदर्शना ।
धर्मे रक्तः स कोऽप्यस्या, न यो योगभृतामपि ॥ ३ ॥
एकान्तरदिनोपासे–कान्तरब्रह्मचारिणौ ।
कुमारत्वेऽप्यभूतां तौ, गुरूणामुपदेशतः ॥ ४ ॥
दैवयोगात्तयोरेवा–भवत्पाणिग्रहस्ततः ।
व्रतभङ्गभयाज्जातौ, तौ नित्यं ब्रह्मचारिणौ ॥ ५ ॥
तौ त्यक्तारम्भसंरम्भौ, प्रत्याख्यातचतुष्पदौ ।
कलान्तरार्जितद्रव्यौ, धर्मकर्मैककर्मठौ ॥ ६ ॥
धान्यैः प्रतिदिनानीतैः, कर्मकृत्प्रगुणीकृतैः ।
गोरसैर्गोकुलायातैः, प्रत्यहं कृतभोजनौ ॥ ७ ॥
त्रिसंध्यं कृतदेवार्चौ, गुरुव्याख्यारसोर्जितौ ।
सायं प्रातः प्रतिक्रान्ति–कारिणौ प्रतिवासरम् ॥८॥
(कलापकम्)
तदानीं जिनदास्याश्च, गोकुलिन्याश्च चेतसोः ।
उपप्रयागं मेलोऽभू–द्गङ्गायमुनयोरिव ॥ ९ ॥
निमन्त्रितौ गोकुलिकै–र्विवाहोपक्रमेऽथ तौ ।
ऊचतुः क्वापि नायावो, धर्मो वाध्येत नौ यतः ॥ १० ॥
वस्त्राभरणकुप्यादि–विवाहायोपकारि यत् ।
तथा कर्पूरकस्तूरी–कुङ्कुमाद्यं च गृह्यताम् ॥ ११ ॥
ते तदर्पितमादाय, विवाहं व्यधुरद्भुतम् ।
मध्यं वैवाहिकं तेषां, जज्ञे शोभातिशायिनी ॥ १२ ॥
विवाहातिक्रमे तेऽथ, तयोर्निर्याप्यमार्पयन् ।
हर्षोत्कर्षेण शाल्यादि–भोजनौ द्वौ च गोवृषौ ॥ १३ ॥
आददे सर्वमप्यन्यद्, गोवृषौ नेच्छतः पुनः ।
अनिच्छतोरपि तयो–र्बद्ध्वा तौ तत्र ते ययुः ॥ १४ ॥
दध्यौ श्राद्धोऽथ मोक्ष्ये चे–त्तल्लोको वाहयिष्यति ।
प्रासुकैश्चारिपानीयै–स्तदासातामिहाप्यमू ॥ १५ ॥

अथ कर्मकरं चक्रे, स तयोः प्रतिचारकम् ।
यथैतौ सुखमेधेते, पुत्रकाविवबल्लकौ ॥ १६ ॥
विधत्ते पुस्तकव्याख्यां,स भक्तार्थं च पर्वसु ।
तत् श्रुत्वा भद्रकौ जातौ, गावौ तावपि संज्ञिनौ ॥ १७ ॥
न श्राद्धो यद्दिनेऽश्नाति, नाश्नीतस्तत्र तावपि ।
ततस्तौ प्रति भावोऽभू-द्यथा साधर्मिकाविमौ ॥ १८ ॥
कम्बलः शवलश्चेति, कृतोल्लापननामकौ ।
संजातात्यधिकस्नेह-स्तयोः सारां व्यधात्पराम् ॥ १६ ॥
अनन्यसदृशौ स्थाम्ना, धाम्ना तेजोमयाविव ।
हरोक्ष इव मूर्त्तौ द्वे, अनापृच्छ्यैव गोत्तृपौ ॥ २० ॥
भण्डीरमणयात्रायां, बाहकोलिकुतूहली ।
वयस्यो जिनदासस्य, तौ निनाय परेद्यवि ॥ २१ ॥
बाहकेलीं ततस्ताभ्यां, कृत्वा जयमवाप्य च ।
तदैवानीय तत्रैव, विमुच्य व्रजति स्म सः ॥ २२ ॥
चैत्यादथागतः श्रेष्ठी, श्रान्तौ तौ वीक्ष्य दुःखितौ ।
धूलीधूसरसर्वाङ्गौ, तोत्रतोदोत्थशोणितौ ॥ २३ ॥
ज्ञात्वा तयोर्मित्रकृतं, दुष्कृतं तच्च तादृशम् ।
क्षालयित्वा तदङ्गानि, वारिचारिमढौकयत् ॥ २४ ॥
तौ न चारिमचारिष्टा-मयात्तां वारि वा न च ।
तिर्यग्वैद्यमथाकार्ष्यी-दर्शयत्तावुवाच सः ॥ २५ ॥
भद्र ! भद्रौ मृदू एतौ, त्रुटितावतिखेदनात् ।
देहि पर्यन्तपाथेय-मेतयोः सासितं पयः ॥ २६ ॥
तं विमृज्य तदाऽऽनाय्य, ढौकयामास तत्पुरः ।
पपतुस्तौ न तदपि, ज्ञात्वा पर्यन्तमात्मनः ॥ २७ ॥
वृषावनशनेच्छू तौ, विदित्वा ऽनशनं ददौ ।
पर्यन्ताराधनां श्रेष्ठी, कारयामास चाखिलाम् ॥ २८ ॥
कृतात्मकृत्यं कृत्यज्ञौ, नमस्कारश्रुतौ रतौ ।
तौ विपद्योदपद्येतां, देवौ नागकुमारकौ ॥ २६ ॥

आ० क० । (ताभ्यां नौस्थं श्रीवीरमुपसर्गयन् सुदाढः पराजित इति वीरशब्दे)

कंबलरयण-कम्बलरत्न-न० उत्कृष्टकम्बले, " उपहे करेइ सीयं, सीए उण्हत्तणं पुण करेइ । कंबलरयणादीणं, एस सहावो मुणेयव्वो " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

कंबलसाडय-कम्बलशाटक-पुं० कम्बलरूपे शाटके, ।

कंबलसामणेणं भंते ! आवेढियपरिवेढिए समाणे जावतियं उवासंतरं फुसित्ताणं चिट्ठइ विरल्ले वि य णं समाणे तावइयं चेव उवासंतरं फुसित्ताणं चिट्ठति हंता गोयमा ! कंबलसामणणं आवेढियपरिवेढिए समाणे यावति य चेव चिट्ठति ॥

कम्बलशाटकः कम्बलरूपः शाटकः कम्बलशाटक इति व्युत्पत्तेः । आवेष्टितः परिवेष्टितो गाढतरं सम्वेल्लितः एवंभूतः सन् यावत् अवकाशान्तरं यावत् आकाशप्रदेशानित्यर्थः । स्पृष्ट्वा अवगाह्य तिष्ठति (विरल्लएवीति) विरल्लितोऽपि विरलीकृतोऽपि तावदेवाकाशान्तरं तावदेवाकाशप्रदेशान् स्पृष्ट्वा तिष्ठति भगवानाह । "हंता गोयमा"इत्यादि हन्तेति प्रत्यवधारणमेवमेवैतत् गौतम ! यत् "कम्बलसामण्णमि"त्यादि तदेवमेषोऽत्र संक्षेपार्थः यावत् एवाकाशप्रदेशान् सम्वेल्लितः सन् कम्बलशाटकोऽवगाह्यावतिष्ठते तावत् एवाकाशप्रदेशान् वितताकृतोऽप्यवगाह्यावतिष्ठते केवलं घनप्रतरमात्रकृतो विशेषः । प्रदेशसंख्या तूभयत्रापि तुल्या । उक्तश्चायमर्थोऽन्यत्रापि नेत्रपटमधिकृत्य "जह खलु महप्पमाणो, नेत्तपमो कोडिओ महग्घम्मि । तम्मि वि तावि इच्चिय फुसइ पएसे इति" प्रज्ञा० १५ पद ।

कंबु-कम्बु-पुं० न० कम् अन् बुक् च०कम्ब गतौ मृगय्या-उन्-वा वाच० । शङ्खे, ध० २ अधि० । स्था० । "जलोयणरहुयाए कंबुगं मेल्लेउं ताव असेण खग्गं" आ० म० द्वि० ॥

कंबुवर-कम्बुवर- पुं० प्रधानशङ्खे, " कंबुवरसरिसगीवा " कम्बुवरेण प्रधानशङ्खेन सदृशी उन्नतवलित्रययोगान्यां समाना ग्रीवा कण्ठो येषां ते तथा तं० । जी० ।

कंबोय-कम्बोज-पुं०हस्तिभेदे, शङ्खभेदे, मेदि० । पञ्चनदं समारभ्य म्लेच्छादक्षिणपूर्वतः कम्बोजदेश इत्युक्ते देशे च वाच० । "सवद्वि जहा से कंबोयाणं आइन्ने कंथए सिया" यथा काम्बोजानां काम्बोजदेशोद्भवानामश्वानां मध्ये उत्त० ११ अ० ।

कंस-कंस-पुं० न० कम्-स. कांस्ये, स्वर्णरजतादिनिर्मिते पानपात्रे, आढक इति प्रसिद्धे परिमाणे च अमा० वाच० । करोटिकादौ पात्रे, दश० ६ अ० । कृष्णमातुले मथुराराजे, प्रश्न० १ अध. द्वा.४ अ० । (तत्कथा सर्वा वसुदेवहिण्ड्याः समवसेया) अष्टाशीतिमहाग्रहाणां द्वाविंशे त्रयोविंशे वा महाग्रहे, स्था० २ ठा० ३ उ० । " दो कंसाइत्ति " सूत्रात्तौ द्वाविति गम्यते स्था० २ ठा० ३ उ० । कल्प० । सूत्र० ।

कांस-पुं०कम-स०मांसादिष्वनुस्वारे ८ १ ७० । इति आतोऽत्वं प्रा० । मांसादेर्वा । ८ । १ । २९ । इति अनुस्वारस्य वा लुक् । लुकि अत्वं न प्रा० । कंसाधिष्ठितभोजदेशाभिजने नरादौ, वाच० ।

कांस्य-कंसाय पानपात्राय हितं कांसीयं तस्य विकारः । यञ् छलोपः वाच. । त्रपुकताम्रसंयोगजे,प्रश्न. अध. द्वा. ५ अ. । स्थलककोलकादिरूपे धातुभेदे, ग. १ अधि. । इज्यमानविशेषे च उपा. ८ अ. ।

कंसणाभ-कंसनाभ-पुं० अष्टाशीतिमहाग्रहाणां त्रयोविंशे ग्रहे, सू०प्र० २० पाहु० । चं० प्र० । कल्प० । अस्य कंसवर्ण इत्यपरं नाम कल्प० ।

कंसताल-कांस्यताल-न० कंसालियाख्ये आतोद्यभेदे, जी० ३ प्रति० । "अट्ठसयं कंसालियाणं" रा० । आचा० । आ० चू० ।

कंसपत्ती(पाई)-कांस्यपात्री-स्त्री० कांस्यभाजनविशेषे, स्था० ९ठा० । "कंसपाई व मुक्कतोए" कांस्यपात्रीव मुक्तं तोयमिव तोयं स्नेहो येन स तथा । यथा कांस्यपात्रं तोयेन न लिप्यते तथा भगवान् स्नेहेन न लिप्यते इत्यर्थः । कल्प० ।

कंसपाय-कंसपात्र-न० तिलकादिकांस्यभाजने, " कंसेसु कंसपाएसु, कुंममोएसु वा पुणो । भुञ्जतो असणपाणाइं, आयरो परिभस्सइ " दश० ६ अ० आचा० ।

कंसभायण-कांस्यभाजन-न० कांस्यपात्र्याम, "सुविभत्तवरकंसभायणं चेव मुक्कतोए " प्रश्न० २ सं० द्वा० ५ अ० ।

कंसवण्ण-कंसवर्ण-पुं०अष्टाशीतिमहाग्रहाणां त्रयोविंशे महाग्रहे, "दो कंसवण्णा" कंसनाभ इत्यपरं तस्य नाम चं० प्र०२० पाहु० ।

कंसवण्णाभ-कंसवर्णाभ-पुं० अष्टाशीतिमहाग्रहाणां चतुर्विंशे ग्रहे "दोकंसवण्णाभा" स्था०२ठा०३ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

कंसाला-कंसताला-स्त्री० द्वादशानां तूर्यनिर्घोषाणां सप्तमे, निर्घोषे, औ० । नं० ।

कंसालिया-कांस्यतालिका-कांस्यताले, जी० ३ प्रति० ।

कंसिया-कंसिका-स्त्री०ताले,ज्ञा० १७ अ०। औ० । आ० म०प्र०। कंसिकातालव्यमध्यमतिकाख्ये वादित्रे, आचा० २ श्रु० ।

ककारखकारगकारघकारङकारपविभत्ति-ककारखकारगकारघकारङकारप्रविभक्ति-न० कवर्गाकृतिरूपनर्तकमयमङ्गलाभिनयरूपे पञ्चदशे नाट्यविधौ, रा० ।

ककुध-ककुद-न० गोणादयः। ८ । २ । ७४ । इति निपातनात् द-घटितस्य धटितः वृषाङ्के, प्रा० ।

ककुह-ककुद-न० गोणादित्वादस्य धः। तस्य हः । चिह्ने, "रायककुहा" राज्ञां नृपतीनां ककुदानि चिह्नानि स्था० ५ ठा० १ उ०। प्रधाने च । ज्ञा० १७ अ० । औ० ।

कक्क-कल्क-पुं० कल-क-तस्य नेत्वम् घृततैलादिपाकसंस्कारविशेषे विभीतकवृक्षे, विष्ठायाम्, किट्टे, पापे च मेदि० । तुरुष्कनामगन्धद्रव्ये राजनि० । घृततैलादिपाके देये औषधिद्रव्यभेदे, वाच० । चन्दनकल्कादौ,प्रसूत्यादिषु रोगेषु क्षारपातने आत्मनः शरीरस्य देशतः सर्वतो वा लोध्रादिभिरुद्वर्तने, प्रव० २ द्वा० । लोध्रादिद्रव्यसमुदायेन शरीरोद्वर्तनके, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । "कक्कं उव्वलणयं" द्रव्यसंयोगेन वा कक्कं क्रियते नि० चू० १ उ० । पापे वञ्चनेच्छायाम् सत्तमे गौणमोहनीये कर्मणि, स० । कल्कं हिंसादिरूपं पापं तन्निमित्तो यो वञ्चनाभिप्रायः स कल्कमेवोच्यते भ० १२ श० ५ उ० ।

कक्कगुरुग-कल्कगुरुक-न०मायायाम्, प्रश्न०१अध०द्वा०२अ० ।

कक्कगुरुगकारक-कल्कगुरुककारक- पुं० मायाकारके चौरभेदे, प्रश्न० सं० २ द्वा० २ अ० ॥

कक्कड-कर्कट-पुं० कर्क-अटन् चिर्भटके, प्रव० ४ द्वा० । पंचा० । क्षुद्रामलकवत्कूष्माण्डफलके, वृक्षभेदे, जलजन्तुभेदे, कुलीरे, पक्षिभेदे, अलावूवृक्षे च मेदि० ॥

कक्कडग-कर्कटक-न० कर्कट-इव कायति-कै-क-यन्त्रभेदे, कर्कटो वृक्ष इव कायति कै क इक्षुभेदे, शब्दचिन्ता० । स्वार्थे कन् कुलीरे अमरः । हृदयस्थे वायुविशेषे च । " आसस्स णं धावमाणस्स हियस्स जगयस्स अंतरा एत्थ णं कक्कडए नामं वाए समुच्छिए जेणं आसस्स धावमाणस्स खुक्खु त्ति करेइ " भ० १० श० ३ उ० ।

कक्कडजल-कर्कटजल-न० ६ त० चिर्भटकमध्यवर्तिजले, प्रव० ४ द्वा० । कर्कटाख्यफलविशेषरसमिश्रोदके च । पञ्चा०५विव० ॥

कक्कडजलाइ-कर्कटजलादि-न० कर्कटकानि चिर्भटकानि तन्मध्यवर्ति जलं तदादिर्यस्य तत्कर्कटजलादिकम् । कर्कटाख्यफलविशेषरसमिश्रोदकादिपानके,पञ्चा० ५ विव० । आदिशब्दात्खर्जूरद्राक्षाचिञ्चिणिकापानकेक्षुरसादिपरिग्रहः।एतत्सर्वं पानकम् प्रव० ४ द्वा० ।

कक्कडिया-कर्कटिका-स्त्री० चिर्भटिकायाम्, "पंसुवरिकक्कडियाइ पंच तह खाइमं पंचा० १० विव० । पिं० ।

कक्कडी-कर्कटी-स्त्री० कर्कट-ङीप् । शाल्मलौ, मेदि० । सर्पे, शब्दरत्न० । देवदालीलतायाम्, घोषिकावृक्षे, राजनि० । उत्त० ।

कक्कर-कर्कर-पुं० कर्कर-हासे, दर्पणे, मेदि० । चूर्णसाधने क्षुद्रपाषाणखण्डे कङ्करे, दृढे, कठिने, त्रि० मेदि० । मुकुरे, शब्दचिं० । " कक्करेहिं विघइ " आ० म० द्वि० ।

कक्करणया-कर्करणता- स्त्री० शय्योपध्यादिदोषोद्भावनगर्भप्रलपने, स्था० ३ ठा० ३ उ० (एषा च साधूनामहिता)

कक्कराइय-कर्करायित-न० विषमा धर्मवर्तीत्यादिशय्यादोषोच्चारणे, आव० ४ अ० । " अहो विसमा सीतला धम्मिया दुग्गंधादि कक्कराइतं" कुत्सितं रसितं कुरसितं कक्करसरसितं कक्कराइतम् । आ० चू० ४ अ० ।

कक्कस-कर्कश-पुं० काम्पिल्यवृक्षे, अमरः। इक्षुवृक्षे,खड्गे च हेम० । साहसिके कठोरे च त्रि० अमरः । अश्लक्ष्णतया कठिने, " णिरुवहयसरसजोव्वणकक्कसतरुणवयभावमुवगयाओ " कर्कशोऽश्लक्ष्णतया यस्तरुणः औ० । प्रश्न० । " विपुला कक्कसा-पगाढा चंडा दुहा तिव्वा दुरहियासत्ति " एकार्थाः । विपा० १ श्रु० १ अ० । परुषे, प्रव० २ द्वा० । कर्कशद्रव्यमिव कर्कशः । अनिष्टे, भ०एश०३३उ०। उपा० । नम्रताया अभावाच्छिद्धुरे, उपा० २ अ० । कर्कश-टाप् । कर्कशैव कर्कशा । कर्कशस्पर्शसंपादितायां चण्डायां वा वेदनायाम्, स्था० ए ठा० । किमुक्तं भवति यथा कर्कशपाषाणसंघर्षः शरीरस्य खण्डानि त्रोटयति एवमात्मप्रदेशान् त्रोटयन्ती या वेदनोपजायते सा कर्कशा रा० । चर्वितांक्षरायां वाचि, । आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० । वृश्चिकालीवृक्षे, राजनि० ॥

कक्कसवियडफुडाडोवकरणदच्छ-कर्कशविकटस्फुटाटोपकरणदक्ष- पुं० कर्कशो निष्ठुरो नम्रताया अभावाद्विकटो विस्तीर्णो यः स्फुटाटोपः फणाडम्बरं तत्करणे दक्षः । फणविकाशनिपुणे सर्पे, उपा० २ अ० ॥

कक्कसवेयणिज्ज-कर्कशवेदनीय-न० कर्कशरौद्रदुःखैर्वेद्यन्ते यानि तानि कर्कशवेदनीयानि । स्कन्दिलाचार्य्यसाधूनामिवेति । असातवेदनीयेषु कर्मसु ॥

अत्थि णं भंते ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति ? हंता अत्थि । कहं णं भंते ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति गोयमा ! पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं । एवं खलु गोयमा ! जीवाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति । अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं कक्कसवेयणिज्जा कम्मा कज्जंति गोयमा ! एवं जाव वेमाणियाणं । भ० ७ श० ६ उ० ॥

कक्कसूरि-कर्कसूरि- पुं० उकेशगच्छीये देवगुप्तसूरिशिष्ये सिद्धसूरेर्गुरौ, हेमचन्द्राचार्यकुमारपालराजाभ्यामयमन्वनुज्ञातः चैत्यवासिसाधून् पराजित्ये मीमांसाजिनचैत्यवन्दनविधिपञ्चप्रमाणिकाख्यान् ग्रन्थांश्च व्यरीरचत जै० इ० ॥

कक्कसेण-कर्कसेन- पुं० जम्बूद्वीपे द्वीपे भरते वर्षेऽतीतायामुत्सर्पिण्यामुत्पन्ने पञ्चमे कुलकरे, स्था० १ ठा० ॥

कक्कि-कल्कि-पुं०कलकोऽस्यास्तीति । चतुर्मुखापरपर्याये श्रीवीरतीरविराधके पाटलिपुत्रेश्वरे, तच्चरित्रं यथा-दुष्षमायाः । " जो व्व पणुणवीसाए सएसु चउद्दसाहिएसु वरिसेसु वइक्कंतेसु चउदसदोआले विक्कमवरिसे पाडलिपुत्ते नयरे चित्तसुद्धट्ठमीए अट्ठरत्ते विट्ठिकरणे मयरलग्गे वट्टमाणे जसस्समयंतरे मग्गाविणभिहाणस्स गिहे जसदेवीए अयरे चंडालकुले कक्किरायस्स जम्मो हविस्सइ एगे एवमाहंसु । वीराओ इगुणवीस-

सएहिं वरिसाण अट्ठावीसाए पंचमासेहिं होही चंडालकुलम्मि कक्कि निवो। तस्स तिन्नि नामाणि भविस्संति तं जहा रुद्दो कक्की चउम्मुहो अ । तस्स जम्मे महुराए राममहुमहणभवणकच्छविगूढं चिट्ठमाणं तं पमिस्सइ दुब्भिक्खइ मरणेहिं वज्जणो पीमिज्जिहिओइ अट्ठारसमे वरिसे कत्तियसुक्कपक्खे कक्किणो रज्जाभिसेओ भविस्सइ । जहमुआ उ नाउ नंदरायस्स सुवण्णं थोभं पंचगाउसो गिण्हिस्सइ । धम्मयनाणस्स य पवित्तस्सइ । दुट्ठे पालिस्सइ सिट्ठे य निग्गहिस्सइ पुढवीं साहित्था छत्तीसइमे वरिसे तिखंडखंमाहिवई भविस्सइ । सव्वओ खणित्ता खणित्ता निहाणाणि गिण्हिस्सइ। तस्स भंडारे नवनवइसुवण्णकोडिकोडीओ चउद्दससहस्सा गयाणं सत्तासीइं लक्खाणं आसाणं पंचकोडीओ पाइक्काणं हिंदुचतुरक्कापुराणं तस्सेव एगच्छत्तं दविणत्थं रायमग्गं खणितस्स पहाणमई लवणदेवी नाम गावी पयडी होऊण गोयरचरियागए साहुणो सिंघेहिं घट्टिस्सइ । तेहिं पामिवयायरियस्स कहिए इत्थ पुरो जालाइसग्गो धरणियं होहिंति तेहिं आइसिस्संति । तओ के वि साहुणो अन्नत्थ विहरिस्संति के वि वसहीपडिबंधाइणा वाहिंति तग्गहणत्थं पयमीजविस्सं सत्तरसाहबुद्धीए सव्वत्थं निहाणाणि । तओ गंगाए पुरं समग्गं पि पल्लाविज्जिही राया संघो अ उत्तरदिसिट्ठियं महत्थलं आरुहिअ उट्टिस्संति राया तत्थेव नवं नगरं निवेसिस्सइ सव्वे वि पासंडत्तेण दंमिज्जिहित्ति साहुणं सगासाओ भिक्खत्थलं स मग्गंतो काउस्सग्गाइअ-सासणदेवयाए निवारिज्जीहा पंचासं वरिसाइं सुभिक्खं धम्मेण कयाणंदो णो लज्जिहिइ एवं निक्कंटयं निक्कंटयं रज्जमिव भुंजित्ता छासीइमे वरिसे पुणो सव्वपासंभे दंमित्ता सव्वलोअं निरूवं काउं भिक्खछट्ठंसं साहूहिंतो मग्गेहिइ ते अदिंते कारागारे खिविस्सइ । तओ पामिवयायरियपमुहाओ सासणदेविमाणं काउं काउस्सग्गोवाहितीए यिवोहिओ जाव न पसण्णिहिइ तओ आसणकंपेण नाउं माहणरूवो सक्को आगामिस्सइ । जया तस्स वि वयणं न पमिवज्जिहिइ तया सक्केण चवेमाहओ मरिउं नरए गमिस्सइ । तओ तस्स पुत्तं धम्मदत्तं नामे रज्जे ठविज्जिस्सइ संघस्स सुत्थयं आइसियसट्ठाणं सक्को गमिहा ती० । अत्रेदं चिन्त्यम् । विविधतीर्थकल्पे कल्किसमयो य इत्थं प्रतिपादितः दुष्षमायाः प्रारब्धवर्षादेकोनविंशतिवर्षशते चतुर्दशाधिके (१९१४) चतुश्चत्वारिंशदधिकचतुर्दशशते च विक्रमसंवत्सरे प्रतिपदाचार्यसमये पाटलिपुत्रे नगरे कल्किर्भविष्यति तदनन्तरमेकोनविंशतिवर्षसहस्राणि जिनधर्मो वर्त्स्यति स शङ्कामञ्चति। संप्रति विक्रमसंवत्सरस्य एकोनविंशशताब्द्या वर्तमानत्वेन चतुर्दशशत्या अतीतत्वेन तत्र जातस्य कल्किनृपतेः क्वापीतिहासेऽश्रवणात् सिद्धान्तविरोधाच्च । सिद्धान्ते हि कल्किनृपतिसमये आज्ञाभङ्गः प्रायश्चित्तव्युच्छित्तिश्च प्रतिपादिता न चेदानीमाज्ञा भग्ना प्रायश्चित्तं वा व्युच्छिन्नमिति न जातः कल्किः किंतु भविष्यति । तथा च महानिशीथे ।

से भयवं केवइयं कालं जाव एस आणा पवेइया ? गोयमा ! जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे सिरिप्पभे अणगारे । से भयवं ! केव णं कालेणं से सिरिप्पभे अणगारे भवेज्जा गोयमा ! होही दुरंतपंतलक्खणे अदव्वे रोद्दे चंडे उग्गपयंडदंमे निम्मिरे निक्किवे । निग्घणे निर्त्तिसे करयपावमई अणारिए मिच्छादिट्ठी । कक्की नाम राया सेसेणं पावे पाहुडियं भमामिउकामे सिरिसमणसंघं कयत्थेज्जा जाव णं कयत्थे ताव णं गोयमा ! जे केइ तत्थ सीलड्ढे महाणुभागे अचालियसत्ते तवोवहाणअणगारे तेसिं च पामिहेरियं कुज्जा सोहम्मे कुलिसपाणिए रावणगामी सुरवरिंदे एवं च गोयमा ! देविंदवंदिए दिट्ठपच्चएणं सिरिसमणसंघे णिहिज्जा ॥ कुणए पासंडधम्मे जाव णं गोयमा ! एगे अविइज्जो अहिंसालक्खणं खंतादिदसविहधम्मे एगे अरहा देवाहिदेवे एगे जिणालये एगे वंदे पूए दक्खे सक्कारे सम्माणे महाजसे महासत्ते महाणुभागे दढसीलव्वयनियमधारए तवोवहाणे साहू । तत्थ णं चंदमिव सोमलेसे सूरिए इव तवतेयरासी पुढवी इव परिसहोवसग्गसहे मेरुमंदरधरे इव निप्पकंपे ठिए अहिंसालक्खणखंतादिदसविहे धम्मे । से णं सुसमणगणपरिवुडे निरब्भगयणयलकोमुईजोगजुत्ते इव गहरिक्खपरिवारिए गहवईवंदेअ अहियरं विराएज्जा । गोयमा ! से णं सिरिप्पभे अणगारे जोगो एवंतिअं कालं जाव एसा आणा पवेइया [महा०] से भयवं केवइयं कालं जाव इमस्स विहीणं पायच्छित्तसुत्तस्साणुट्ठाणं वहिही ? गोयमा ! जाव णं कक्की नाम रायाणे निहिणं गच्छिय एक्कं जिणाययणमंडियं च सुहं सिरिप्पभे अणगारे भयवं उड्ढं पुच्छा गोयमा ! उड्ढं न केइ पुरिसे पुव्वभागे होही । जस्स णं इणमो सुयक्खंधं उवइसमेज्जा महा० ७ अ० ॥

तत्त्वं पुनर्बहुश्रुतगम्यम् । पौराणिकानान्तु कल्किरन्य एव यतः स स्वगुणोत्कर्षमनुप्राप्ते कलौ सुरप्रार्थितो विष्णुः सम्भले ग्रामे विष्णुयशसो विप्रस्य गृहे सुमत्यां संभविष्यति सर्वाधर्माचारान् दण्डयित्वा पुनः कृतयुगं स्थापयिष्यति । सर्वान् वेदधर्मान् प्रवर्तयिष्यति इति विभिन्नग्रामपितृकर्मादिक उक्तः । वाच० ।

कक्किण्-कल्किन्- पुं० कल्कोऽस्याऽस्ति कल्किशब्दार्थे, बुद्धः कल्की च ते दश०।वाच०।"कक्किणो रज्जाहिसेओ भविस्सइ"ती०।

कक्किपुत्त-कल्किपुत्र- पुं० धर्मदत्ते कल्किनृपात्मजे, ती० ॥

कक्किय--कल्किक- न० मांसखण्डपरिभाविते मांसे, मांसं कल्किकमित्यपदिश्य संज्ञान्तरसमाश्रयणान्निर्दोषं मन्यन्ते सूत्र० १श्रु० ११ अ० ॥

कक्केयण-कर्केतन- पुं० मणिविशेषे, " आगासकेसकज्जलकक्केयणइंदणीलअयसिकुसुमप्पगासे " रा०। रत्नविशेषे, औ०। "सोभमाणकक्केयणइंदनीलमरगयमसारगल्लमुहमंडवं" जं० ३ वक्ष०।

कक्कोम (ल) -कर्कोट-पुं० वल्लीनामवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । फलेन कक्कोलानि फलविशेषाः प्रश्न० सं २ द्वा० ५ अ० । तच्च सुरभि भवति । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ॥

कक्कोमय-कर्कोटक-- पुं० स्वनामख्यातेऽनुवेलन्धरनागराजे,तदा-

वासपर्वते च । कर्कोटकाभिधानोऽनुवेलन्धरनागराजवासभूतः पर्वतो लवणसमुद्रे ऐशान्यां दिश्यस्ति तन्निवासी नागराजः कर्कोटकः भ० ३ श० ६ उ० । जी० । (विस्तरत उत्तरकुरुशब्दे तद्वक्तव्यता शेषे आवेदितम्)

कक्खंतर-कक्षान्तर- न० कक्षाया अन्तरं कक्षान्तरम् । बृ०१उ०। स्तनान्तरे, कक्षयाऽन्तरिते च । यथा स्तम्भेनान्तरितं स्तम्भान्तरम् । नि० चू० १५ उ० ॥

कक्खगा-कक्षिका-स्त्री० कक्षायां भवा । कक्षागतकेशलतायाम्, "कक्खगकलियं" कक्षायां भवाः काक्षिकास्तत्कृतकेशलतास्ताभिः कलितम् । तं० ।

कक्खड-कर्कश-त्रि० स्तब्धताकारणे दृषदादिगते स्पर्शविशेषे, अनु० । स्था० । " एगे कक्खडे " कर्कशः कठिनोऽनमनलक्षणः स्था० १ ठा०१ उ० । कर्कशस्पर्शपरिणते पाषाणादिवत् प्रज्ञा०१ पद । कर्कशस्पर्शे, प्रज्ञा० २ पद । बहुबलत्वान्निष्ठुरे, "उक्कडफुडकुडिलजडुलकक्खडवियडफडाडोवकरणदच्छे" ज्ञा० ए अ० । कर्कशद्रव्य इवानिष्टे, प्रश्न० सं०२ द्वा०५ अ० । कठिने, "कक्खडफासा " कर्कशः कठिनो वज्रकण्टकादप्यधिकतरः स्पर्शो येषां ते तथा । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । अतिपरुषे, विशे० । ज्ञा० । तीव्रकर्मोदये वर्तमाने, " कक्खडो तिव्वकम्मोदए वट्टमाणो " नि० चू० ए उ० ।

कक्खपडिग्गहरयहरण-कक्षाप्रतिग्रहरजोहरण-न० कक्षाक्षिप्तप्रतिग्रहकरजोहरणद्वये, " अतिमुत्ते कुमारसमणे अन्नया कयाइं महावुट्ठिकायंसि निवयमाणंसि कक्खपडिग्गहरयहरणमायाए बहिया संपट्टिए विहाराए " इत्युक्तेः कक्षायां प्रतिग्रहकं रजोहरणं चादायैव गोचरचर्य्यायै गन्तव्यमिति । भ०५श०४उ० ।

कक्खरोम-कक्षारोमन्-न० दोर्मूलजे केशे, । "परूढणहकेसकक्खरोमाश्रो त्ति " श्रो० । " कक्खरोमाइं कप्पेज्ज वा संठवेज्ज वा " आचा० २ श्रु० १३ अ० ।

कक्खा-कक्षा-स्त्री० कष्-सा उरोबन्धने " उप्पीलिकक्खा " वि० १ श्रु० २ अ० । हृदयरज्ज्वाम्, ज्ञा० १६ अ० । औ० । " पीणुन्नयकक्खवत्थवत्थिप्पएसा " जं० वक्ष०२ । भुजमूले, । "कक्खणिक्खुडं " कक्षैव दोर्मूलमेव निष्कुटं कोटरं जीर्णशुष्कवृक्षवधन्न तत्कक्षानिष्कुटम् तं० । उत्तरीयवस्त्रे, काञ्च्याम्, हस्तिबन्धने, मध्यबन्धने च । विश्व० । मध्ये, संशयकोटौ तुल्यतायाञ्च । वाच० ।

कक्खापुड-कक्षापुट-पुं० सारसंग्रहग्रन्थे, हेम० ।

कच्च-कच्च-त्रि० आमे, आमगोरससंपृक्तं कच्चदुग्धदधितक्रसंमिलितम् । ध० २ अधि० ।

कच्चंत-कृत्यमान-त्रि० पीड्यमाने, सूत्र०१श्रु०२अ०१ उ० ।

कच्चायण-कात्यायन-पुं० कतस्याऽपत्यं कात्यः गर्गादित्वाद्यञिति यञ् प्रत्ययः । तस्यापत्यं कात्यायनः । नं० । कौशिकगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तदपत्यसंतानेषु च " जे कोसिया ते सत्तविहा पन्नत्ता तं जहा ते कोसिया ते कच्चायणा " स्था० ७ ठा० ॥

कच्चायणसगोत्त-कात्यायनसगोत्र- त्रि० कात्यायनगोत्रीयैः समानगोत्रे, " मूले नक्खत्ते कच्चायणसगोत्ते पन्नत्ते " सू० प्र० १० पाहु० । जं० । "सावत्थीए णयरीए गद्दभालिस्स अंतेवासी खंदए नामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायए परिवसइ " भ० २ श० १ उ० ।

कच्चूर-कर्चूर-न० तिक्तद्रव्यविशेषे, ध० २ अधि० ।

कच्छ-कक्ष-पुं० कष्-हिंसादौ-स । छोऽक्ष्यादौ ८ । २ । १७ । इति संयुक्तस्य छः । प्रा० । शरीराऽवयवविशेषे, वनगहने च भ० ३ श० ६ उ० । ज्ञा० ॥

कच्छ-पुं० केन-जलेन-छृणाति दीप्यते छाद्यते वा छृ-छद्-वा डः वाच० । नदीजलपरिवेष्टिते वृक्षादिमत्प्रदेशे, भ० १ श० ८ उ० । सूत्र० । नद्यासन्ननिम्नप्रदेशे,मूलकवालुङ्कादिवाटिकायाम्, आचा० २ श्रु० ३ अ० । तटे, नौकाङ्गे च पुं० परिधानाञ्चले, स्त्री० हेम० । वाराह्यां चीरिकायां च स्त्री० मेदि० । तुन्नवृक्षे, हेम० । मुखसंपुटे, आकाशाच्छादने,कूर्मकर्परे च निरु० । भगवदृषभदेवेन सह प्रव्रजिते नमिपितरि, स च महाकच्छेन भ्रात्रा सहितः भगवति प्रतिमास्थिते आहारमलभमानस्तापसपथप्रवर्तकोऽभूत् यत्सुतो नमिः वैताढ्यगिरेर्दक्षिणविद्याधरश्रेणे राजा जातः कल्प० आ० म० प्र० । आ० क० । आ०चू० । (उसभशब्दे वक्ष्यमेतत्) सिन्धुसागरसङ्गमसमीपे देशभेदे, "कच्छभुजः भरतः जाव सिंधुसागरं तो त्ति सव्वं पवरकच्छं च उअवेऊण पडिणिअत्तो । बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे तस्स कच्छस्स सुहणिसणे " जं० ३ वक्ष० । महाविदेहे वर्षे विजयक्षेत्रभेदे, तद्वक्तव्यता चैवम् ।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे कच्छे णामं विजए पण्णत्ते ? गोअमा ! सीआए महाणईए उत्तरेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दक्खिणेणं चित्तकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चिच्छमेणं मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबूदीवे दीवे महाविदेहे वासे कच्छे णामं विजए पण्णत्ते उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिण्णे पलिअंकसंठाणसंठिए गंगासिंधूहिं महाणईहिं वेयड्ढेणं पव्वएणं छभागपविभत्ते सोलसजोअणसहस्साइं पंच य बाणउए जोअणसए दोण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स आयामेणं दो जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तेरसुत्तरे जोअणसए किं चि विसेसूणे विक्खंभेणं ति ।

(कहि णं भंते ! त्ति) क भदन्त ! जम्बूद्वीपे महाविदेहे वर्षे कच्छो नाम विजयः प्रज्ञप्तः गौतम ! शीतामहानद्या उत्तरस्यां नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणस्यां चित्रकूटस्य सरलवक्षस्कारपर्वतस्य पश्चिमायां माल्यवतो गजदन्ताकारवक्षस्कारपर्वतस्य पूर्वस्याम् । अत्रान्तरे महाविदेहे वर्षे कच्छो नाम चक्रवर्तिविजेतव्यभूविभागरूपो विजयः प्रज्ञप्तः सर्वात्मना विजेतव्यश्चक्रवर्तिनामिति विजयः अनादिप्रवाहनिपतितेयं संज्ञा तेनेदमर्थसमानदर्शनं न तु साक्षात्प्रवृत्तिनिमित्तोपदर्शनमिति । उत्तरदक्षिणाभ्यामायतः पूर्वापरविस्तीर्णः पल्यङ्कसंस्थानसंस्थितः आयतचतुरस्रत्वात् । गङ्गासिन्धुभ्यां महानदीभ्यां वैताढ्येन च पर्वतेन षड्भागप्रविभक्तः षट्खण्डकृत इत्यर्थः । एवमन्येऽपि विजया भाव्याः । परं शीताया उदीच्याः कच्छादयः शीतोदाया याम्याः पद्मादयो गङ्गासिन्धुभ्यां षोढा कृता । शीताया याम्याश्छादयः शीतोदाया उदीच्या वप्रादयो रक्तारक्तवतीभ्यामिति उत्तरदक्षिणायतेति विवृणोति षोडशयोजनसहस्राणि पञ्चयोजनशतानि द्विनवत्यधिकानि द्वौ चैकोनविंशतिभागौ योजनस्यायामेन । अत्रोपपत्तिर्यथा विदेहविस्तारात् योजन (३३६८४) कला (४) रूपात् शीतायाः शीतोदाया वा विष्कम्भो योजन (५००) रूपः शोध्यते शेषस्यार्द्धे

लभ्यते यथोक्तं मानमिति । यद्यपि शीतायाः शीतोदाया वा समुद्रप्रवेशे एव पञ्चशतयोजनप्रमाणो विष्कम्भोऽन्यत्र तु हीनो हीनतरस्तथाऽपि कच्छादिविजयसमीपे उभयकूलवर्तिनो रमणप्रदेशानधिकृत्य पञ्चयोजनशतप्रमाणो विष्कम्भः प्राप्यते इति । प्राचीनप्रतीचीनेति विवृणोति द्वियोजनसहस्रे द्वे च योजनशते त्रयोदशोत्तरे किंचिदूने । अत्राप्युपपत्तिर्यथा इह महाविदेहेषु देवकुरुमेरुभद्रशालवनवक्षस्कारपर्वतान्तरनदीवनमुखव्यतिरेकेणान्यत्र सर्वत्र विजयाः । ते च पूर्वापरविस्तृतास्तुल्यविस्तारास्त्वेकस्मिन् दक्षिणभागे उत्तरभागे वाऽष्टौ वक्षस्कारगिरयः एकैकस्य पृथुत्वं पञ्चयोजनशतानि सर्ववक्षस्कारपृथुत्वमीलने चत्वारि योजनसहस्राणि अन्तरनद्यश्च षट् एकैकस्याश्चान्तरनद्या विष्कम्भः पञ्चविंशतियोजनशतं ततः सर्वान्तरनदीपृथुत्वमीलने जातानि सप्त शतानि पञ्चाशदधिकानि (७५०) द्वे च वनमुखे एकैकस्य वनमुखपृथुत्वमेकोनत्रिंशच्छतानि द्वाविंशदधिकानि (२९२२) उभयपृथुत्वमीलने जातानि अष्टपञ्चाशच्छतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि (५८४४) मेरुपृथुत्वं दशसहस्राणि (१००००) पूर्वापरभद्रशालवनयोरायामश्चतुश्चत्वारिंशत्सहस्राणि (४४०००) सर्वमीलने जातानि चतुःषष्टिसहस्राणि पञ्च शतानि चतुर्नवत्यधिकानि (६४५९४) एतज्जम्बूद्वीपविस्तारात् शोधिते च सति जातं शेषं पञ्चत्रिंशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि षडुत्तराणि (३५४०६) एकैकस्मिंश्च दक्षिणे उत्तरे वा भागे विजयषोडशविभागे हृते लब्धानि द्वाविंशतिशतानि किंचिदूनत्रयोदशाधिकानि (२२१३) त्रयोदशस्य योजनस्य षोडशचतुर्दशभागात्मकत्वात् । एतावानेवैकैकस्य विजयस्य विष्कम्भः । अयं च भरतवद्वैताढ्येन द्विधाकृत इति तत्र तद्विवक्षुराह ।

कच्छस्स णं विजयस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं वेअड्ढे णामं पव्वए पण्णत्ते जे णं कच्छं विजयं दुहा विभयमाणे भयमाणे चिट्ठइ तं जहा दाहिणद्धकच्छं च उत्तरद्धकच्छं च ।

(कच्छस्स णमित्यादि) कच्छस्य विजयस्य बहुमध्यदेशभागे वैताढ्यपर्वतः प्रज्ञप्तः यः कच्छं विजयं द्विधा विभजंस्तिष्ठति तद्यथा दक्षिणार्द्धकच्छं चोत्तरार्द्धकच्छं च । चशब्दौ उभयोस्तुल्यकक्षताद्योतनार्थौ । दक्षिणार्द्धकच्छं स्थानतः पृच्छन्नाह ।

कहि णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे दाहिणद्धकच्छे णामं विजए पण्णत्ते ? गोयमा ! वेयड्ढस्स पव्वयस्स दाहिणेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं चित्तकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चत्थिमेणं मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे दाहिणद्धकच्छे णामं विजए पण्णत्ते उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिण्णे अट्ठजोअणसहस्साइं दोण्णि अ एगसत्तरे जोअणसए एक्कं च एगूणवीसइभागं जोअणस्स आयामेणं दो जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तेरसुत्तरे जोअणसए किंचि विसेसूणे विक्खंभेणं पलिअंकसंठिए ॥

(कहि णमित्यादि) क भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे नाम्नि वर्षे दक्षिणार्द्धकच्छो नाम विजयः प्रज्ञप्तः गौतम ! वैताढ्यस्य पर्वतस्य दक्षिणस्यां शीताया महानद्याः उत्तरस्यां चित्रकूटस्य वक्षस्कारपर्वतस्य पश्चिमायां माल्यवतो वक्षस्कारपर्वतस्य पूर्वस्याम् । अत्रान्तरे जम्बूद्वीपे यावद्दक्षिणार्द्धकच्छो नाम विजयः प्रज्ञप्तः । उत्तरेत्यादिविशेषणद्वयं प्राग्वद्बोध्यम् । अष्टौ योजनसहस्राणि द्वे च एकसप्तत्युत्तरे योजनशते एकं चैकोनविंशतिभागं योजनस्यायामेन एतदङ्कोत्पत्तिषोडशसहस्रपञ्चशतद्विनवतियोजनकलाद्वयरूपात् कच्छविजयमानात् पञ्चाशद्योजनप्रमाणवैताढ्यव्यासेऽर्द्धीकृते भवति । शेषं प्राग्वत् ।

अयं च कर्मभूमिरूपोऽकर्मभूमिरूपो वेति निर्णेतुमाह ।

दाहिणद्धकच्छस्स णं भंते ! विजयस्स केरिसए आयारभावपडोआरे पण्णत्ते ? गोयमा ! बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते तं जहा जाव कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव । दाहिणद्धकच्छे णं भंते ! विजए मणुआणं केरिसए आयारभावपडोआरे पण्णत्ते गोयमा ! तेसि णं मणुआणं छव्विहे संघयणे जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति ॥

(दाहिणद्ध इत्यादि) दक्षिणार्धभरतप्रकरण इवेदं निर्विशेषं व्याख्येयम् । अत्र मनुजस्वरूपं पृच्छति " दाहिण " इत्यादि कण्ठ्यम् । अथास्य सीमाकारिणं वैताढ्येति नाम्ना प्रतीतं गिरिं स्थानतः पृच्छति ॥

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे वि कच्छे विजए वेअड्ढे णामं पव्वए पण्णत्ते ? गोयमा ! दाहिणद्धकच्छविजयस्स उत्तरेणं उत्तरद्धकच्छस्स दाहिणेणं चित्तकूडस्स पच्चत्थिमेणं मालवंतस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं कच्छे विजए वेअड्ढे णामं पव्वए पण्णत्ते पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा वक्खारपव्वए पुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए कोडीए जाव दोहिं वि पुट्ठे भरहवेअड्ढसरिसए । णवरं दो बाहाओ जीवा धणुपट्ठं च ण उ कायव्वं विजयविक्खंभसरिसे आयामेणं विक्खंभो उच्चत्तं उव्वेहो तह चेव विज्जाहरसेढीओ तहेव णवरं पणपण्णं विज्जाहरणगरा वासा पण्णत्ता अभिओगसेढीओ उत्तरिल्लाओ सेढीओ सीआए ईसाणस्स सेसाओ सक्कस्स कूडा सिद्धे १ कच्छे २ खंडग ३ माणी ४ वेअड्ढ ५ पुण्ण ६ तिमिसगुहा ७ कच्छे ८ वेसमणे ९ वेअड्ढे होंति कूडाइं ।

'कहिणमित्यादि' स्पष्टं नवरं द्विधा वक्षस्कारपर्वतौ माल्यवच्चित्रकूटवक्षस्कारौ स्पृष्टः इदमेव समर्थयति । पूर्वया कोट्या यावत्करणात् "पुरच्छिमिल्लं वक्खारपव्वयं पच्चत्थिमिल्लाए कोडीए पच्चत्थिमिल्लं वक्खारपव्वयमिति" बोध्यं तेन पौरस्त्यं वक्षस्कारं चित्रकूटनामानं पाश्चात्यया कोट्या पाश्चात्यं वक्षस्कारं माल्यवन्तमत्र पौरस्त्यां कोटिस्यां स्पृष्टः भरतवैताढ्यसदृशकः रजतमयत्वात् रुचकसंस्थानसंस्थितत्वाच्च । नवरं द्वे जीवा धनुःपृष्ठं च न कर्तव्यमवक्रक्षेत्रवर्तित्वात् लम्बभागश्च न भरतवैताढ्यसदृश इत्याह । विजयस्य कच्छादेर्यो विष्कम्भः किंचिदूनत्रयोदशाधिकद्वाविंशतिशतयोजनरूपस्तेन सदृश आयामेन । कोऽर्थः विजयस्य यो विष्कम्भविभागः सोऽस्यायामविभाग इति विष्कम्भः पञ्चाशद्योजनरूपः । उच्चत्वं पञ्चविंशतियोजनरूपमुद्वेधः पञ्चविंशतिक्रोशात्मकस्तथैव भरतवैताढ्यवद्वेदितव्यः । उच्चत्वस्य प्रथमं दशयोजनातिक्रमे विद्याधरश्रेण्यौ तथैव नवरमिति विशेषः पञ्चपञ्चाशत् विद्याधरनगरावासाः प्रज्ञप्ताः

एकैकस्यां श्रेणौ दक्षिणश्रेणौ उत्तरश्रेणौ भरतवैताढ्ये तु दक्षिणतः पञ्चाशदुत्तरस्तु षष्टिर्नगराणीति भेदः आभियोग्यश्रेणी तथैवेति गम्यं कोऽर्थः विद्याधरश्रेणिभ्यामूर्ध्वं दशयोजनातिक्रमे दक्षिणोत्तरभेदेन द्वे भवतः । अत्राधिकारात् सर्ववैताढ्याभियोग्यश्रेणिविशेषमाह । उत्तरदिक्स्था आभियोग्यश्रेणयः शीताया महानद्या ईशानस्य द्वितीयकल्पेन्द्रस्य शेषाः शीता दक्षिणस्थाः शक्रस्याद्यकल्पेन्द्रस्य । किमुक्तं भवति शीताया उत्तरदिशि ये विजयवैताढ्यास्तेषु या अभियोग्यश्रेणयो दक्षिणगा वा उत्तरगा वा ताः सर्वाः सौधर्मेन्द्रस्येति बहुवचनं चात्र विजयवर्ति सर्ववैताढ्यश्रेण्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । अथ कूटानि वक्तव्यानीति तद्देशमाह ।'कूमा इति' व्यक्तम् । अथ तन्नामान्याह । सिद्धे इत्यादि पूर्वस्यां प्रथमं सिद्धायतनकूटं ततः पश्चिमदिशमवलम्ब्येमान्यष्टावपि कूटानि वाच्यानि तद्यथा द्वितीयं दक्षिणकच्छार्द्धकूटं तृतीयं खण्डप्रपातगुहाकूटं चतुर्थं माणीति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् माणिभद्रकूटं शेषं व्यक्तं परं विजयवैताढ्येषु सर्वेष्वपि द्वितीयाष्टमकूटे स्वस्वदक्षिणोत्तरार्द्धविजयसमनामके यथा द्वितीयं दक्षिणकच्छार्द्धकूटमष्टममुत्तरकच्छार्द्धकूटम् इतराणि भरतवैताढ्यकूटसमनामकानीति ॥

अथोत्तरार्द्धकच्छं प्रश्नयति ॥

कहि णं भंते ! जंबूदीवे दीवे महाविदेहे वासे उत्तरड्ढकच्छे णामं विजए पन्नत्ते गोयमा ! वेअड्ढस्स पव्वयस्स उत्तरेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं चित्तकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं जंबूदीवे जाव सिज्झंति तहेव णेअव्वं ।

"कहिणमि" त्यादि व्यक्तं तथैव दक्षिणार्द्धकच्छवज्ज्ञेयं यावत् सिद्ध्यन्तीति । अथैतदन्तर्वर्ति सिन्धुकुण्डं वक्तव्यमित्याह ॥

कहि णं भंते ! जंबूदीवे दीवे महाविदेहे वासे उत्तरड्ढकच्छे विजए सिंधुकुंमे णामं कुंडे पन्नत्ते ! गोअमा ! मालवंतस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं उसभकुंमस्स पच्चच्छिमेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे एत्थ जंबुदीवे दीवे महाविदेहे वासे उत्तरड्ढकच्छविजए सिंधुकुंडे णामं कुंमे पन्नत्ते सट्ठिं जोअणाणि आयामविक्खंभेणं जाव भवणं अट्ठो रायहाणि अ णेअव्वा । भरहसिंधुकुंमसरिसं सव्वं णेअव्वं जाव तस्स णं सिंधुकुंमस्स दाहिणिल्लेणं तोरणेणं सिंधुं महाणई पवूढा समाणी उत्तरड्ढकच्छविजयं एज्जेमाणी एज्जेमाणी सत्तहिं सलिलासहस्सेहिं आकूरेमाणी आकूरेमाणी अहे तिमिसगुहाए वेअड्ढपव्वयं दालयित्ता दाहिणड्ढकच्छविजयं एज्जेमाणी एज्जेमाणी चोद्दसएहिं सलिलासहस्सेहिं समग्गा दाहिणेणं सीइमहाणइं समप्पेइ सिंधुमहाणई पवहे अमूले अ भरहसिंधुसरिसा य माणेणं जाव दोहिं वणसंमेहिं संपरिक्खित्ता । कहि णं भंते ! उत्तरड्ढकच्छविजए उसभकूडे णामं पव्वए पन्नत्ते गोअमा ! सिंधुकुंमस्स पुरच्छिमेणं गंगाकुंमस्स पच्चच्छिमेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे णं उत्तरड्ढकच्छविजए उसहकूडे णामं पव्वए पन्नत्ते अट्ठ जोअणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं तं चेव पमाणं जाव रायहाणी से णवरिं उत्तरेणं भाणिअव्वा । कहि णं भंते ! उत्तरड्ढकच्छे विजये गंगाकुंडे णामं कुंमे पन्नत्ते ? गोयमा ! चित्तकूडस्स वक्खारपव्वयस्स पच्चच्छिमेणं उसहकूमस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णितंबे एत्थ णं उत्तरड्ढकच्छे गंगाकुंडे णामं पन्नत्ते सट्ठिं जोअणाइं आयामविक्खंभेणं तहेव जहा सिंधु जाव वणसंमेण य संपरिक्खित्ता ॥

"कहिणमित्यादि" व्यक्तं परं नितम्बः कटकः लाघवार्थमतिदेशमाह । "भरहसिंधुकुंमसरिसं सव्वं णेअव्वं इत्यादि" सर्वं गतार्थम् । गङ्गागमेन व्याख्यानवत् । तत्रैव ऋषभकूटवक्तव्यमाह । "कहि णमित्यादि" प्राग्वत् । अथ गङ्गाकुण्डप्रस्तावनार्थमाह । "कहि णमित्यादि" सिन्धुकुण्डगमो निर्विशेषः सर्वोऽपि वाच्यः परं ततो गङ्गानदी खण्डप्रपातगुहाया अधो वैताढ्यं वैताढ्यदक्षिणे भागे शीता समुपसर्पतीति । ननु भरतनदीमुख्यत्वेन गङ्गामुपवर्ण्य सिन्धुरुपवर्णिता इह तु सिन्धुमुपवर्ण्य इति कथं व्यत्ययः उच्यते । इह माल्यवद्वक्षस्कारतो विजयप्ररूपणायाः प्रक्रान्तत्वेन तदासन्नत्वात्सिन्धुकुण्डस्य प्रथमं सिन्धुप्ररूपणा ततो गङ्गाया इति ।

नामनिमित्तमाह ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ कच्छे विजए ? गोअमा ! कच्छे विजए वेअड्ढस्स पव्वयस्स दाहिणेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं गंगाए महाणईए पच्चच्छिमेणं सिंधुए महाणईए पुरच्छिमेणं दाहिणड्ढकच्छविजयस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं खेमा णामं रायहाणीए पन्नत्ता विणीआ रायहाणी सरिसा भाणिअव्वा । तत्थ णं खेमाए रायहाणीए कच्छे णामं राया समुप्पज्जइ महया हिमवंतं जाव सव्वं भरहो ओअवण भाणिअव्वं निक्खमणवज्जं से सव्वं भाणिअव्वं जाव भुंजए माणुस्सए सुहे कच्छणामधेज्जे अकच्छे इत्थ देवे जाव पलिओमट्ठिई परिवसइ स एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ कच्छे विजए जाव णिच्चे ।

केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते कच्छो विजयः कच्छविजयः गौतम ! कच्छे विजये वैताढ्ये दक्षिणस्यां शीताया महानद्या उत्तरस्यां गङ्गायाः महानद्याः पश्चिमायां सिन्धोर्महानद्याः पूर्वस्यां दक्षिणार्द्धे कच्छविजयस्य बहुमध्यदेशभागे मध्यखण्डे । अत्रान्तरे क्षेमा नाम्नी राजधानी विनीताराजधानीसदृशी भणितव्या । विनीतावर्णकः सर्वोऽप्यत्र वाच्य इत्यर्थः । तत्र क्षेमायां राजधान्यां कच्छो नाम राजा चक्रवर्ती समुत्पद्यते कोऽर्थः यस्तत्र षट्खण्डभोक्ता समुत्पद्यते स तत्र लोकैः कच्छ इति व्यवह्रियते । अत्र वर्तमाननिर्देशेन सर्वदाऽपि यथासंभवं चक्रवर्त्युत्पत्तिः सूचिता न तु भरत इव चक्रवर्त्युत्पत्तौ कालनियम इति 'महया हिमवंतेत्यादिकः' सर्वो ग्रन्थो वाच्यः यावत् सर्वं भरतस्य क्षेत्रस्य 'ओअवणमिति' साधनं शेषः निष्क-

मणं प्रव्रज्याप्रतिपत्तिस्तद्धर्ज्यं भणितव्यं भरतचक्रिणा सर्वविरतिर्गृहीता । कच्छचक्रिणस्तु तद्ग्रहणेऽनियम इति । कियत्पर्यन्तमित्याह । यावद्भुङ्क्ते मानुष्यकाणि सुखानि । अथवा कच्छनामधेयश्चात्र कच्छे विजये देवः पल्योपमस्थितिकः परिवसति तेनार्थेन गौतम ! एवमुच्यते कच्छराजस्वामिकत्वात्कच्छदेवाधिष्ठितत्वाच्च कच्छविजयः इति यावन्नित्य इत्यन्तमन्योऽन्याश्रयनिवारणार्थकं सूत्रं प्राग्वदेव योजनीयमिति गतः प्रथमो विजयः । जं० ४ वक्ष० । स्था० । " दो कच्छा " दक्षिणोत्तराविति प्रतिभाति स्था०२ ठा०१ उ० । कच्छविजये समुत्पद्यमाने राजनि, तदधिष्ठातरि देवे च जं० ४ वक्ष० ।

कच्छकूम–कच्छकूट–न० माल्यवद् वक्षस्कारपर्वतस्थे चतुर्थे कूटे, स्था० ९ ठा० । कच्छविजयविभाजकवैताढ्यपर्वतस्य कूटद्वये, तत्र दक्षिणकच्छकूटं द्वितीयमुत्तरकच्छकूटमष्टमम्, स्था० ९ ठा० । जं० । चित्रकूटस्य वक्षस्कारपर्वतस्य तृतीये कूटे, जं० ४ वक्ष० ॥

कच्छकोह–कच्छकोथ–पुं० वनगहनानां कुथित्वे शटने, भ० ३ श० ६ उ० ।

कच्छगावई–कच्छकावती–स्त्री० कच्छा यत्र कच्छकाः भालुकाः कच्छादयः सन्त्यास्यामतिशायिनः इति अनजरेति सूत्रे शरादीनामाकृतिगणत्वेन सिद्धिः । महाविदेहे वर्षे चतुर्थविजयभेदे

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे कच्छगावतीणामं विजए पण्णत्ते ? गोयमा ! णीलवंतस्स दाहिणेणं सीआए महाणईए उत्तरेणं दाहिणावतीए महाणईए पच्चत्थिमेणं बम्हकूडस्स पुरत्थिमेणं एत्थ णं महाविदेहवासे कच्छगावती णामं विजए पण्णत्ते उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिण्णे सेसं जहा कच्छस्स विजयस्स जाव कच्छगावई अइत्थदेवे ।

(टीका सुगमत्वान्न व्याख्याता) जं० ४ वक्ष० । स्था० । "दो कच्छगावई" दक्षिणोत्तरभेदेन द्वित्वम् । स्था०२ठा०३उ० । कच्छगावतीविजयाधिपतौ राजनि, तदधिष्ठायके देवे च । जं०४वक्ष० ।

कच्छभ–कच्छप–पुं० स्त्री० कच्छमात्मनो मुखसंपुटं पाति स हि किञ्चिद् दृष्ट्वा शरीर एव मुखसंपुटं प्रवेशयति संपुटे हि कच्छशब्दः प्रसिद्धः । प्राणिवाच्यकच्छपुट इति कच्छेन कटाहेन इतराङ्गानि पाति वा अथवा कच्छेन मुखसंपुटेन पिबतीति कच्छपः । खमाकाशं छादयति कच्छः खच्छः खच्छदः अयमपीतरो नदीकच्छः एतदीयमुदकं तेन छाद्यते इति निरुक्तोक्तेः कच्छं पाति कच्छेन पाति वा कच्छेन पिबतीति वा पा-ड-वाच० । पकारस्य भकारः प्राकृतत्वात् । प्रज्ञा० १ पद । कूर्मे, जलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदे, उत्त० ३६ अ० । प्रश्न० । कच्छपा द्विविधा अस्थिकच्छपमांसकच्छपभेदात् । प्रश्न० १ अध० द्वा० १ अ० । प्रज्ञा० ।

से किं तं कच्छभा ? दुविहा पण्णत्ता तं जहा अत्थिकच्छभा य मांसकच्छभा य सेत्तं कच्छभा ॥ प्रज्ञा० १पद० नवरमस्थिकच्छपा मांसकच्छपा इति येऽस्थिबहुलाः कच्छपास्तेऽस्थिकच्छपाः ये मांसबहुलास्ते मांसकच्छपाः स० । वि० । जीव० । सूत्र० । राहौ, राहुदेवस्य अष्टमं कच्छप इति नाम, भ० १२ श० ६ उ० । चं० । कुबेरनिधिभेदे, मल्लबन्धभेदे च । पुं० । मेदि० ।

कच्छभरिंगिय–कच्छभरिङ्गित–न० सप्तमे वन्दनदोषे, तत्स्वरूपं चेत्थम् " ठिन्तु व विहरिंगए जं तं कच्छभरिंगियं नाम" स्थितस्योर्द्धस्थले " न तित्तीसं नयराए " इत्यादि सूत्रमुच्चारयन् उपविष्टस्य वाऽऽसीनस्य अहो कायं काय " इत्यादि सूत्रं भणतः कच्छपस्येव जलचरजीवविशेषस्य रिङ्गणमग्रतोऽभिमुखं यत्किंचिच्चलनं तद्यत्र करोति शिष्यस्तदादिकं कच्छपरिङ्गितं नामेति ॥ वृ० ३ उ० । आव० । प्रव० । आ० चू० ।

कच्छभी (वी) –कच्छपी–स्त्री० कच्छपः जातित्वात् ङीष् । कच्छपस्त्रियां चक्षूरोगभेदे च वाच० । वाद्यविशेषे, प्रश्न० सं० ५द्वा० ५ अ० । "अट्ठसयं कच्छभीणं" राय० । नारदवीणायाम्, "हत्थकच्छभीए" प्रति० । पुस्तकभेदे च । न० पुं० । "कच्छकच्छविअंते तणुओ मज्झे पिहलो मुणेयव्वो " वृ० ३ उ० । द० । जीत० । नि० चू० । ध० । आव० । कच्छपीपुस्तकं उभयोः पार्श्वयोरन्तःपर्यन्तभागे तनुकः सूक्ष्मो मध्यभागे पृथुलो कच्छपीपुस्तकं ज्ञेयम् । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

कच्छरी–कत्सरी–स्त्री० गुच्छविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

कच्छा–कक्षा–स्त्री० छोऽक्ष्यादौ ८ । २ । १७ । इति संयुक्तस्य छः । प्रा० । शरीरावयवविशेषे, भ० ३ श० ६ उ० । अन्तःपुरभागे, समूहे, स्था० ७ ठा० । इन्द्राणां कक्षाः ।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो दुमस्स पायत्ताणियाहिवइस्स सत्त कच्छाओ पण्णत्ताओ तं जहा पढमा कच्छा जाव सत्तमा कच्छा । चरमस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो दुमस्स पायत्ताणियाहिवइस्स पढमाए कच्छाए चउसट्ठिदेवसहस्सा पण्णत्ता जावइया पढमा कच्छा तव्विगुणा तच्चा कच्छा एवं जावइया छट्ठा कच्छा तव्विगुणा सत्तमा कच्छा एवं बलिस्स वि नवरं महद्दुमे सट्ठिदेवसाहस्सिओ सेसं तं चेव । धरणस्स एवं चेव नवरमट्ठावीसं देवसहस्सा सेसं तं चेव जहा धरणस्स एवं जाव महाघोसस्स नवरं पायत्ताणियाहिवई अन्ने ते पुव्वभणिया । सक्कस्स णं देविंदस्स देवरण्णो हरिणेगमेसिस्स सत्त कच्छाओ पण्णत्ताओ तं जहा पढमा कच्छा एवं जहा चमरस्स तहा जाव अच्चुयस्स नाणत्तं पायत्ताणियाहिवईणं ते पुव्वभणिया । देवपरिमाणमिमं सक्कस्स चउरासीइदेवसहस्सा । ईसाणस्स असीइदेवसहस्साइं देवा इमाए गाहाए अणुगंतव्वा । 'चउरासीइ असीई,बावत्तरिसत्तरी य सट्ठी य । पन्ना चत्तालीसा, तीसा वीसा दससहस्सा ॥ १ ॥ जाव अच्चुयस्स लहुपरक्कमस्स दसदेवसहस्सा जावइया छट्ठा कच्छा तव्विगुणा सत्तमा कच्छा ।

(कच्छत्ति) । समूहो यथा धरणस्य तथा सर्वेषां भवनपतीन्द्राणां महाघोषान्तानां केवलं पदात्यनीकाधिपतयो ये ज्ञेयास्ते च पूर्वमनन्तरसूत्रे भणिताः (नाणत्तंति) शक्रादीनामानतप्राणतेन्द्रान्तानामेकान्तरितानां 'हरिणेगमेसी' पादात्यनीकाधिपतिरीशादीनां मारणाच्युतेन्द्रान्तानामेकान्तरितानां लघुपराक्रम इति । देवेत्यादि । देवा प्रथमकच्छासंबन्धिनोऽनया गाथयाऽवगन्तव्याः (चउरासीगाहा) चतुरशीत्यादीनि पदानि सौधर्मादिषु क्रमेण योजनीयानि नवरं विंशतिपदमानतप्राणतयोर्योजनीयं तयोर्हि

प्रणताभिधानस्येन्द्रस्यैकत्वात् "दंसेति" पदं त्वारणाच्युनयोर्योजनीयमच्युताभिधानस्येन्द्रस्यैकत्वादिति । स्था० ७ ठा० ।

कच्छावई–कच्छकावती–स्त्री० कच्छकावतीविजये, "महाकच्छपुरच्छिमेणं कच्छावईए पच्चच्छिमेणं" जं० ४ वक्ष० ।

कच्छावईकूम–कच्छावतीकूट–न० महाविदेहे ब्रह्मकूटस्य चतुर्थे कूटे, । जं० ४ वक्ष० ।

कच्छु (च्छू) कच्छु (च्छू) स्त्री० कष- हिंसायां कषच्छुश्चेति उणा० ऊ छुश्च पृषो–वा ह्रस्वः । "सूक्ष्माः बाह्याः पिण्डकास्तापवत्यः पामेत्युक्ताः कण्डुमत्यः सदाहाः । सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेता, ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च" इत्युक्तलक्षणे रोगभेदे, वाच० । जी० । व्य० । तीव्रकण्डूतिकारके फलविशेषे, प्रश्न० सं०२ द्वा० ५ अ० । नि०चू० ।

कच्छुखसराभिभूय–कच्छूक[ख]सराभिभूत–त्रि० कच्छूः पामा तया कसरैश्च खसरैरभिभूता व्याप्ताः ये ते तथा । पामारोगार्तेषु, जं० २ वक्ष० । भ० ।

कच्छुडिय–कक्षापुटिक–त्रि० कक्षाप्रदेशे पुटा यस्य स कक्षापुटिकः । गृहीतोभयामोटके, बृ० २ उ० ।

कच्छुल [ल्ल]–कच्छूर–त्रि० कच्छूरस्त्यस्य कच्छ्वा ह्रस्वश्च । वाच० । कण्डूतिमति, प्रश्न० सं० २ द्वा० ५ अ० । वि० । कच्छूरोगयुते पुरुषे, पुं०स्त्री० । पामरे च त्रि०मेदि० वाच० । गुल्मविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । जं० ।

कच्छुल्लणारय–कच्छुरनारद–पुं० स्वनामख्याते तापसे, ज्ञा० ५ अ० । प्रति० ॥

कज्ज–कार्य–त्रि० कृ० कर्मणि ण्यत् । द्यय्यर्य्यां जः ८ । २ । २४ । इति संयुक्तस्य जः । प्रा० । ततो द्वित्वम् । असंयोगस्यैवेति नियमात्-कगचजतदपयवां प्रायो लुगिति न लुक् प्रा० । कृत्ये, नि० । "किं कज्जं भण्णति जं तु कीरती तेणं" यत्कृत्वाऽतिवर्त्यते । प्रयोजने, आ० चू०१ अ० । वि० । कारणे, व्य०२ उ० । कार्य्यं नाम प्रयोजनं ततोऽधिकृतप्रवृत्तेः प्रयोजकत्वात्कारणम् । एतच्चान्यत्र उक्तम् "कारणं ति वा कज्जं ति वा एगठं" व्य० २ उ० । निष्पाद्ये, यदर्थं चेष्टते तत्कार्य्यम् कर्म० । अशिवादिके, "अशिवाइयं कज्जं भण्णति" नि० चू० १ उ० । कुलगणसङ्घविषये कृत्ये, व्य० १ उ० । व्यापारे, प्रव० १ द्वा० । कर्मणि, सूत्र० २ श्रु०५ अ० । इदं वन्दनप्रकारेण कार्यं द्विविधा । वन्दनकार्य्यं कार्यकार्यं च । तत्र वन्दनकार्यं द्विधा अभ्युत्थानं कृतिकर्म च कार्य्यकार्य्यं कुलकार्यादिभेदादनेकविधम् । कार्य्यमवश्यकर्तव्यरूपं यत् कार्य्यं तत्कार्यकार्य्यमिति व्युत्पत्तेः । बृ० ३ उ० ।

कज्जंतर–कार्य्यान्तर–न० अन्यत् कार्य्यम् । प्रागादिष्टकार्य्यादपरकार्य्ये, "कज्जंतरेण कज्जं तेणं कालंतरे च कज्जंति" पञ्चा० १२ विव० ।

कज्जकज्ज–कार्यकार्य्य–त्रि० क० स० कुलकार्यादिभेदादनेकविधेऽवश्यकर्त्तव्यरूपे कार्य्ये, बृ० ३ उ० ।

कज्जकर–कार्य्यकर–पुं० आदिष्टकार्य्यनिर्वाहके राज्ञोऽष्टादशसु श्रेणिष्वन्यतमे, चं० प्र० १३ वक्ष० । प्रयोजननिष्पादके, त्रि० "न वा गेहे पविसे कुवक्खणणं कज्जकरं । जइ पुण दमगं खणणं, वा पुव्वकयं होति" आ० म० प्र० ॥

कज्जकरण–कार्यकरण–न० प्रयोजनविधाने, प्रश्न०१ द्वा०३ अ०

कज्जकारणभाव–कार्य्यकारणभाव–पुं० कार्यं च कारणं च तयोर्भावः । हेतुहेतुमद्भावे, यथा घटदण्डयोरत्र घटस्य दण्डं प्रति कार्य्यत्वं दण्डस्य घटं प्रति कारणत्वम् । अथात्र सत्कार्य्यासत्कार्य्यवादसदसत्कार्य्यवादप्रदिदर्शयिषया मनसं ग्रहमाह । तत्र असतः सज्जायते इति बौद्धाः । प्रागुत्पत्तेरसत्कारणव्यापारादुत्पद्यते इति नैयायिकादयः । प्रागुत्पत्तेः सदपि कारणव्यापारादभिव्यज्यते इति साङ्ख्यादयः । तत्र सतो विवर्त इति वेदान्तिनः । परिणाम इति साङ्ख्याः । कथंचित् सत् कथंचिदसदुत्पद्यते इति आर्हता इति वाच० ।

तत्रासत्कार्य्यवादमसंभावयन् सत्कार्य्यवादी कापिल आह । नन्वेतत्कुतो ज्ञायते प्रागुत्पत्तेः सत्कार्यमिति हेतुकदम्बकसद्भावात् । तत्सद्भावश्च "असदकरणादुपादान–ग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य शक्यकरणा–त्कारणभावाच्च सत्कार्य" मितीश्वरकृष्णेन प्रतिपादितः । अत्र चासदकरणादिति प्रथमो हेतुः सत्कार्यसाधनायोपन्यस्तः एवं समर्थितः यदि हि कारणात्मनि उत्पत्तेः प्राक् कार्यं न भविष्यत्तदा नतत्केनचिदकरिष्यत् । यथा गगनारविन्दप्रयोगः । यदसत्तन्न केनचित्क्रियते । यथा नभोनलिनम् असच्च प्रागुत्पत्तेः परमतेन कार्यमिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसङ्गः । न चैवं भवति । तस्माद्यत्क्रियते तिलादिभिस्तैलादिकार्यं तत्तस्मात्प्रागपि सदिति सिद्धं शक्तिरूपेणोत्पत्तेः प्रागपि कारणे कार्यम् । व्यक्तिरूपतया च तत्तदा कापिलैरपि । नेष्यते उपादानग्रहणादिति द्वितीयहेतुसमर्थनम् । यद्यसद्भावे कारणे कार्यं तदा पुरुषाणां प्रतिनियतोपादानग्रहणन्न स्यात् । शालिफलार्थिनस्तु शालिबीजमेवोपाददते न कोद्रवबीजं तत्र यथा शालिबीजादिषु शाल्यादीनामसत्वन्तथा यदि कोद्रवबीजादिष्वपि किमिति तुल्ये सर्वत्र शालिफलादीनामसत्वे प्रतिनियतान्येव शालिबीजादीनि गृह्णन्ति न कोद्रवबीजादिकं यावता कोद्रवादयोऽपि शालिफलार्थिभिरुपादीयेरन्नसत्वाविशेषात् । अथ तत्फलशून्यत्वात्तैस्ते नोपादीयन्ते यद्येवं शालिबीजमपि शालिफलार्थिना तत्फलशून्यत्वान्नोपादेयं स्यात् । कोद्रवबीजवन्न चैवं भवति तस्मात्तत्र तत्कार्यमस्तीति गम्यते । सर्व्वसंभवाभावादिति तृतीयो हेतुः । यदि ह्यसदेव कार्यमुत्पद्यते तदा सर्व्वस्मात्तृणपश्वादेः सर्व्वं सुवर्णरजतादिकार्यमुत्पद्येत सर्व्वस्मिन्नुत्पत्तिमति भावे तृणादिकारणभावात्मताविरहस्याविशिष्टत्वात्पूर्वं कारणमुखेन प्रसङ्ग उक्तः संप्रति तु कार्यद्वारेणेति विशेषः । न च सर्व्वं सतो भवति तस्मादयं नियमस्तत्रैव तस्य सद्भावादिति गम्यते । स्यादेतत्कारणानां प्रतिनियतेष्वेव कार्येषु शक्तयः प्रतिनियतास्तेन कार्यस्यासत्वेऽपि किंचिदेव कार्यं क्रियते न गगनाम्भोरुहं किंचिदेव वोपादानमुपादीयते तदेव समर्थं न तु सर्व्वं किंचिदेव च कुतश्चिद्भवति न तु सर्व्वं सर्व्वस्मादित्यसदेतद्यतः शक्ता अपि हेतवः कार्यं कुर्व्वाणाः शक्यक्रियमेव कुर्व्वन्ति नाशक्यं कुर्वन्तीति येनैतत्प्रतिषिध्यते भवता किन्त्वसदपि कार्यं कुर्व्वन्तीत्येतावदुच्यते तच्च तेषां शक्यक्रियमेवासदेतदकारित्वाभ्युपगमादेवाशक्यक्रियं कुर्वन्ति तथा हि यदसत्तन्नीरूपं तच्छशविषाणादिवदनाधेयातिशयं यच्चानाधेयातिशयं तदाकाशवदविकारि तथाभूतं वा समासादितविशेषरूपं कथं केनचिच्छक्येत कर्तुम् । अथ सदवस्थाप्रतिपत्तेर्विक्रियत एव तदेतदप्यसङ्गतं महानिप्रसक्तः ततो विकृताविष्यमाणायां यत्तस्यात्मा नीरूपाख्यो वर्ण्यते तस्य हानिः प्रसज्येत न ह्यसतः स्वभावापरित्यागे वा नासद्रूपता परित्यागापरित्यागे वा न सदसद्रूपतां प्रतिपन्नमिति सिद्ध्येदन्यदेव

हि सद्रूपमन्यथाऽसद्रूपं परस्परपरिहारेण तयोरवस्थितत्वात्तस्मादसत्तदशक्यक्रियमेवातस्तथाभूतपदार्थकारित्वाभ्युपगमे कारणानामशक्यकारित्वमेवाभ्युपगतं स्यान्न चाशक्यं केनचित्क्रियते। यथा गगनाम्भोरुहः। अतः शक्तिप्रतिनियमादित्यनुत्तरमेतदेतेन शक्तस्य शक्यकरणादिति चतुर्थोऽपि हेतुस्समर्थितः। कार्यस्यैवमयोगाच्च किं कुर्वत्कारणं भवेत्ततः कारणभावोऽपि बीजादेर्नावकल्पत इति पञ्चमहेतुसमर्थनमस्यार्थः। एवं यथोक्ताद्धेतुपञ्चकादसत्कार्यवादे सर्वथापि कार्यस्यायोगात्किं कुर्वद्बीजादिरविद्यमानकार्यत्वाद्गगनाम्भोजवन्न चैवं भवति तस्माद्विपर्यय इति सिद्धं प्रागुत्पत्तेः सत्कार्यमिति ॥

अथैतदसत्कार्य्यवादी दूषयति ।

यदेतदसदकरणादित्यादिदूषणमभ्यधायि तत्सत्कार्यवादेऽपि तुल्यं तथा हि असत्कार्यवादिनाऽपि शक्यमिदमित्थमभिधातुं न सदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावाच्छक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यमिति। अत्र च न सत्कार्यमिति व्यवहितेन संबन्धो विधातव्यः। कस्मात्सदकरणादुपादानग्रहणादित्यादेर्हेतुसमूहादुभययोर्यश्च दोषस्तमेकः प्रेर्यो न भवति। तथा हि यदि दुग्धादिषु दध्यादीनि काठिन्यादिना विभक्तेन रूपेण व्यवस्थावत्सन्ति तदा तेषां किमपरमुत्पाद्यं रूपमवशिष्यते यत्तैर्जन्यं स्यात् न हि विद्यमानमेव कारणायत्तोत्पत्तिकं भवति प्रकृतिचैतन्यरूपवत्। अत्र प्रयोगो यत्सर्वात्मना कारणे सन्न तत्केनचिज्जन्यं यथा प्रकृतिश्चैतन्यं वा तदेवं वा मध्यावस्थया कार्यं स तु सर्वात्मना परमनेन क्षीरादौ दध्यादीति व्यापकविरुद्धोपलब्धिप्रसङ्गः। न च हेतोरनैकान्तिकताऽनुत्पाद्यातिशयस्यापि जननीयत्वे सर्वेषां जन्यत्वप्रसक्तिश्च विपर्यये बाधकम्। प्रमाणजनितस्यापि पुनर्जन्यत्वप्रसङ्गात् तदेवं कार्यत्वाभिमतानामकार्यत्वप्रसक्तिः। सत्कार्यवादाभ्युपगमे कारणातिशयानामपि मूलप्रकृतिबीजदुग्धादीनां पदार्थानां विवक्षितमहदाद्यङ्कुरदध्यादिजनकत्वं न प्राप्नोत्यविद्यमानसाध्यत्वात् मुक्तात्मवत्। प्रयोगो यदविद्यमानसाध्यं न तत्कारणं यथा चैतन्यं विद्यमानसाध्यश्चाभिमतः पदार्थ इति व्यापकानुपलब्धिः। प्रसङ्गसाधनं चैतत् द्वयमप्यतो नोभयसिद्धोदाहरणेन प्रयोजनं भोगं प्रत्यात्मनोऽपि कर्तृत्वाभ्युपगमे मुक्तात्मा उदाहर्तव्यः। न च प्रथमप्रयोगे अभिव्यक्त्यादिरूपेणापि सविशेषेण हेतावुपादीयमाने सिद्धता नह्यस्माभिरभिव्यक्त्यादिरूपेणापि सत्त्वमिष्यते कार्यस्य किं तर्हि शक्तिरूपेण निर्विशेषणे तु तस्मिन्ननैकान्तिकता यतोऽभिव्यक्त्यादिलक्षणस्यातिशयस्योत्पद्यमानत्वाच्च सर्वस्य कार्यत्वप्रसङ्गो भविष्यति। अत एव द्वितीयोऽपि हेतुरसिद्धो विद्यमानत्वात्साध्यस्याभिव्यक्त्युद्रेकानुद्रेकाद्यवस्थाविशेषस्येति वक्तव्यम्। यतोऽत्र विकल्पद्वयं किमसावतिशयोऽभिव्यक्त्याद्यवस्थातः प्रागासीदाहोस्विन्नेति यद्यासीन्न तर्ह्यसिद्धतादिदूषणं प्रयोगद्वयोपन्यस्तहेतुद्वयस्य। अथ नासीदेवमप्यतिशयः कथं हेतुभ्यः प्रादुर्भावमश्नुवीत असदकारणादिति भवद्भिरभ्युपगतत्वात्। तन्निश्चितं सत्करणाच्च सत्कार्यं यथोक्तनीत्या सत्कार्यवादे साध्यस्याभावादुपादानग्रहणमनुपपन्नं स्यात्तत्साध्यस्याफलत्वाच्चैव प्रेक्षावद्भिरुपादानपरिग्रहान्नियतादेव क्षीरादेर्दध्यादीनामुद्भव इत्येतदप्यनुपपन्नं स्यात्साध्यस्यासंभवादेव यतः सर्वस्मात्संभवाभाव एव नियताज्जन्मेत्युच्यते तच्च सत्कार्यवादपक्षे न घटमानकम्। तथा शक्तस्य शक्यकारणादित्येतदपि सत्कार्यवादे न युक्तिसङ्गतं साध्याभावादेव यतो यदि किंचित्केनचिदभिनिर्वर्त्येत तदा निर्वर्तकस्य शक्तिर्व्यवस्थाप्येत निर्वर्त्यस्य च कारणं सिद्धिमध्यासीतेति नान्यथा कारणभावानां साध्याभावादेव सत्कार्यवादे न युक्तिसंगतो न चैतद् दृष्टं च तस्माच्च सत्कार्ये कारणावस्थायामतिप्रसङ्गविपर्ययः पञ्चस्वपि प्रसङ्गसाधनेषु योज्योऽपि च सर्वमेव हि साधनं स्वविषये प्रवर्तमानं द्वयं विदधाति स्वप्रमेयार्थविषये उत्पद्यमानौ संशयविपर्यासौ निवर्तयति। स्वसाध्यविषयं च निश्चयमुपजनयति। न चैतत्सत्कार्यवादे युक्त्या संगच्छते। तथा हि संदेहविपर्यासौ भवद्भिः किं चैतन्यस्वभावौ अभ्युपगम्येते आहोस्विद्बुद्धिमनःस्वरूपौ तत्र यदि प्रथमः पक्षः स न युक्तश्चैतन्यरूपतया तयोर्भवद्भिरनभ्युपगमादभ्युपगमे वा मुक्त्यवस्थायामपि चैतन्याभ्युपगमात्तत्स्वभावयोस्तयोरप्युत्पत्त्यनिवृत्तेरनिर्मोक्षप्रसङ्गः साधनव्यापारात्तयोरनिवृत्तिश्च चैतन्यवन्नित्यत्वात्। द्वितीयपक्षोऽपि न युक्तः बुद्धिमनसोर्नित्यत्वेन तयोरपि नित्यत्वान्निवृत्त्ययोगाच्च च निश्चयोत्पत्तिरपि साधनात्संभवति। तस्या अपि सर्वदावस्थितेरन्यथा सत्कार्यवादो विशीर्येत इति। साधनोपन्यासप्रयासो विफलः कापिलानां स्ववचनविरोधश्च प्राप्नोति। तथा हि निश्चयोत्पादनार्थं साधनं ब्रुवता निश्चयस्यासत उत्पत्तिरङ्गीकृता भवेत् सत्कार्यमिति च प्रतिज्ञा या सा निषिद्धेति। स्ववचनविरोधः स्पष्ट एव साधनप्रयोगवैयर्थ्यतां प्रापदिति निश्चयोऽसन्नेव साधनादुत्पद्यत इत्यङ्गीक्रियते। तर्ह्यसदकरणादित्यादेर्हेतुपञ्चकस्यानैकान्तिकता स्वत एवाभ्युपगता भवति निश्चयवत्कार्यस्यासत एव उत्पत्त्यविरोधात्। तथा हि यथा निश्चयस्यासतोऽपि करणं तदुत्पत्तिनिमित्तं च यथा विशिष्टसाधनपरिग्रहो न च यथा तस्य सर्वस्मात्साधनाभासादेः संभवो यथा चासन्नप्यसौ शक्तौ हेतुर्निर्वर्त्यते यथा च कारणभावो हेतूनां समस्ति तथा कार्येऽपि भविष्यतीति कथं नानैकान्तिकानिश्चयेनासदकरणादित्यादिहेतवः। न च यद्यपि प्राक् साधनप्रयोगात्सन्नेव निश्चयस्तस्यापि न साधनवैयर्थ्यं यतः प्रागनभिव्यक्तो निश्चयः पश्चात्साधनेभ्यो व्यक्तिमासादयतीत्यभिव्यक्त्यर्थं साधनप्रयोगः सफल इति नानर्थक्यमेषामिति वक्तव्यं व्यक्तेरसिद्धत्वात्। तथा हि किं स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिरभिधीयते आहोस्वित्तद्विषयं ज्ञानम् उत तदुपलम्भावारकापगम इति पक्षाः तत्र न तावत्स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिर्यतोऽसौ स्वभावातिशयो निश्चयस्वभावाद् व्यतिरिक्तः स्यादव्यतिरिक्तो वा। यद्यव्यतिरिक्तस्तदा निश्चयस्वरूपवत्तस्य सर्वदैवावस्थितेर्नो व्यक्तिर्युक्तमती। अथ व्यतिरिक्तस्तथापि तस्यासाविति संबन्धानुपपत्तिस्तथा ह्याधाराधेयलक्षणो जन्यजनकस्वभावोऽसौ भवेत्। न भवेत्प्रथमः परस्परमनुपकार्योपकारयोस्तदसंभवादुपकाराभ्युपगमेऽथोपकारकस्यापि नपृथग्भावे संबन्धासिद्धिः। अपरोपकारकल्पनायां चानवस्थाप्रसक्तिः। अथ पृथग्भावे च साधनोपन्यासवैयर्थ्यं निश्चयादेवोपकारपृथग्भूतस्यातिशयस्योत्पत्तेः। न चातिशयस्य कश्चिदाधारो युक्तो मूर्तत्वेनाधःप्रसर्पणाभावादधोगतिप्रतिबन्धकत्वेनाधारस्य व्यवस्थानात्। जन्यजनकभावलक्षणोऽपि न संबन्धो युक्तः सर्वदैव संबन्धाख्यस्य कारणस्य सन्निहितत्वान्नित्यमतिशयोत्पत्तिप्रसक्तेः। न च साधनप्रयोगापेक्षस्य निश्चयस्यातिशयोत्पादकत्वं युक्तमनुपकारिण्यपेक्षायोगात् उपकाराभ्युपगमे वा दोषः पूर्ववद्वाच्यः। अपि चातिशयोऽपि पृथग्भूतः क्रियमाणः किमसत् क्रियते आहोस्वित्सन्निति कल्पनाद्वयम्। असत्त्वं पूर्व-

एव साधनानामनैकान्तिकता चान्यथा सत्वं च वैयर्थ्यसाधनं तत्राप्यभिव्यक्त्यभ्युपगमे केनाभिव्यक्तिरित्याद्यनवस्थाप्रसङ्गो दुर्निवार इति । व्यतिरेकपक्षोऽपि संगत्यसंभवादसंभवी अतो न स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिर्नापि तद्विषया ज्ञानोत्पत्तिस्वरूपा अभिव्यक्तिर्युक्तिसंगता तद्विषयज्ञानस्य भवदभिप्रायेण नित्यत्वात् । न वा हि तद्विषयस्यापि संवित्तिः सत्कार्यवादिमतेन नित्यैव किमुत्पाद्यं तस्याः स्यात् अपि चैकैव भवन्मतेन संविदासर्गप्रलयादेका बुद्धिरिति श्रूयते । सैव च निश्चयस्तत्र कोऽपरस्तदुपलम्भोऽभिव्यक्तिस्वरूपो यः साधनैः संपाद्येत । न च तद्बुद्धिस्वभावा तद्विषया संवित्तिः किं तु मनःस्वभावेति वक्तव्यम् । बुद्धिरुपलब्धिरध्यवसायो मनःसंवित्तिरित्यादीनामनर्थान्तरत्वेन प्रदर्शयिष्यमाणत्वात् । तद्विषयोपलम्भावरणक्षयलक्षणाऽप्यभिव्यक्तिर्न घटां प्राञ्चति द्वितीयस्योपलम्भस्यासंभवेनोपलम्भावरणस्याप्यभावात् । न ह्यसत आवरणं युक्तिसंगतं तस्य वस्तुसद्विषयत्वात् । न वा सतस्तदावरणस्य कुतश्चित्क्षयो युक्तः सत्वेऽपि तदावरणस्य नित्यत्वान्न क्षयः संभवतीति । भावलक्षणेऽपि क्षयस्तस्यायुक्तोऽपरित्यक्तपूर्वरूपस्य तिरोभावानुपपत्तेः तद्विषयोपलम्भस्यासत्वेऽपि नित्यत्वान्नावरणसंभव इति कुतस्तत्क्षयाभिव्यक्तिः । न चाद्यावरणक्षयः केनचिद्विधातुं शक्यस्तस्य निःस्वभावत्वात्ततोऽभिव्यक्तेरघटमानत्वात्सत्कार्यवादपक्षे साधनोपन्यासवैयर्थ्यम् । एवं बन्धमोक्षाभावप्रसङ्गश्च तत्पक्षे । तथा हि प्रधानपुरुषयोः कैवल्योपलम्भलक्षणतत्वज्ञानप्रादुर्भावे सत्यपवर्गः कापिलैरभ्युपगम्यते तच्च तत्वज्ञानं सर्वदाऽवस्थितमेवेति सर्वदेहिनोऽपवृक्ताः स्युः अत एव न बन्धोऽपि तत्पक्षे संगतो मिथ्याज्ञानवशाद्धि बन्ध इष्यते तस्य च सर्वदा व्यवस्थितत्वात्सर्वेषां देहिनां बद्धत्वमिति कुतो मोक्षः । लोकव्यवहारोच्छेदश्च सत्कार्यवादाभ्युपगमे । तथा हि हिताहितप्राप्तिपरिहाराय लोकः प्रवर्तते न च तत्पक्षे किंचित्प्राप्यं हेयं वा समस्तीति निर्व्यापारमेव सकलं जगत्स्यादिति कथं न सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । निषिद्धे च सत्कार्यवादेऽसत्कार्यं कारण इति सिद्धमेव सदसतोः परस्परपरिहारस्थितत्वेन प्रकारान्तरासंभवात्तथापि परोपन्यस्तपक्षदूषणस्य दूषणाभासताप्रतिपादनप्रकारो लेशतः प्रदर्श्यते । तत्र यत्तावदुक्तं परेणासत्कर्तुं नैव शक्यते निःस्वभावत्वादिति तदसिद्धं वस्तुस्वभावस्यैव विधीयमानत्वाभ्युपगमात्तस्य च नैरूप्यसिद्धेः । अथ प्रागुत्पत्तेर्निःस्वभावमेव तन्न तस्यैव निःस्वभावत्वायोगात् । न च तत्स्वभाव एव निःस्वभावो युक्तो वस्तुस्वभावप्रतिषेधलक्षणत्वान्निःस्वभावत्वस्य । न च क्रियमाणं वस्तूत्पत्तेः प्रागस्ति येन तदेव निःस्वभावं सिध्येत् । न च वस्तुविरहलक्षणमेव धर्मिणं नीरूपं पक्षीकृत्य नैरूप्यादिति हेतुः पक्षीक्रियत इति वक्तव्यं सिद्धसाध्यताप्रसङ्गात् यतो न वस्तुविरहः केनचिद्विधायकेन तथाऽभ्युपगतः । अनैकान्तिकश्चायं हेतुर्विपक्षे बाधकप्रमाणप्रदर्शनात्कारणशक्तिप्रतिनियमाद्धि किंचिदेवासत्क्रियते यस्योत्पादको हेतुर्विद्यते । यस्य तु शशशृङ्गादेर्नास्त्युत्पादकस्तन्न क्रियत इति अनैकान्त एव यतो न सर्वं सर्वस्य कारणमिष्टम् । न च यद्यदसत्तत्तत्क्रियत एवेति व्याप्तिरभ्युपगम्यते किं तर्हि यद्विधीयत उत्पत्तेः प्राक् तदसदेवेत्यभ्युपगमः । अथ तुल्येऽपि असत्कारित्वे हेतूनां किमिति सर्वः सर्वस्यासतो हेतुर्न भवतीत्यभिधीयते असदेतत् भवत्पक्षेऽप्यस्य चोद्यस्य समानत्वात् । तथा हि तुल्ये सत्कारित्वे किमिति सर्वस्य सतो हेतुर्न भवतीत्यसत्कार्यवादिनोऽप्येतदभिधातुं शक्यमेव न च तन्मते किंचिदस्ति येन तन्न क्रियते न च कारणशक्तिनियमात्सदपि नभोम्बुरुहाणि न क्रियन्त इत्युत्तरमभिधानीयमितरत्र तदुक्तं "त्रैगुण्यस्याविशेषेऽपि, न सर्वं सर्वकारकम् । यद्वत्तद्वदसत्वेऽपि, न सर्वं सर्वकारकम् "। अभ्युपगमवादेन च यद्वत्तद्वदिति साम्यमुक्तं न पुनस्तदस्ति । तथा हि सत्यपि कार्यकारणयोर्भेदे कस्यचित्किंचित्कारणं भवति स्वहेतुपरम्परायातत्वात्तथाभूतस्वभावप्रतिनियमस्याभेदे च तयोरेकस्यैकतैकस्मिन्नेव काले हेतुत्वमहेतुत्वं वाऽन्योन्यविरुद्धं कथं संभवेत् विरुद्धधर्माध्यासनिबन्धनत्वाद्वस्तुभेदस्य । तदुक्तं "भेदे हि कारणं किंचिद्वस्तुधर्मतया भवेत् । अभेदे तु विरुध्येत, तस्यैकस्य क्रियाक्रिये" ॥ १ ॥ अथासत्कार्यवादिनः कारणानां प्रतिनियताः शक्तयो न घटन्ते कार्यात्मकानामवधीनामनिष्पत्तेः न ह्यवधिमतः सद्भावः संभवति प्रयोगश्चात्र ये सद्भूतकार्यावधिशून्या न ते नियतशक्तयो यथा शशशृङ्गादयः सद्भूतकार्यावधिशून्याश्च शालिबीजादयो भावा इति व्यापकानुपलब्धिः । सत्कार्यवादे तु कार्यावधिसद्भावाद्युक्तः कारणप्रतिनियमः । उक्तं च । "अवधीनामनिष्पत्तेर्नियतास्ते न शक्तयः । सत्वे च नियमस्तासां, युक्तः सावधिको नन्विति"। असदेतत् हेतोरनैकान्तिकत्वात् । तथा ह्यवधीनामनिष्पत्तौ क्षीरस्य दध्युत्पादने शक्तिरिति व्यपदेशः केवलं मा भूद्यत्पुनरनध्यारोपितं सर्वोपाधिनिरपेक्षं वस्तुस्वरूपं यदनन्तरं पूर्वमदृष्टमपि वस्त्वन्तरं प्रादुर्भवति तस्य प्रतिषेध एव । न च शब्दविकल्पानां यत्र व्यावृत्तिस्तत्र वस्तुस्वभावोऽपि निवर्तते यतो व्यापकस्वभावः कारणं वा व्यावर्तमानं स्वव्याप्यं स्वकार्यं वाऽऽदाय निवर्तेत इति युक्तं तयोस्ताभ्यां प्रतिबन्धात् न च पयसो दधिशक्तिरित्यादिव्यपदेशो विकल्पो वा भावानां व्यापकस्वभावः कारणं वा येनासौ निवर्तमानः स्वभावः स्वभावं निवर्तयेत् तद्व्यतिरेकेणापि भावसद्भावात् यतो व्यपदेशा विकल्पाश्च निरंशैकस्वभावे वस्तुनि यथाभ्यासमनेकप्रकाराः प्रवर्तमाना उपलभ्या एकस्यैव शब्दादेर्भावस्यानित्यादिरूपेण भिन्नस्य समयस्थायिभिर्वादिभिर्व्यपदेशाद्विकल्पनात्वात्तथा तादात्म्ये वस्तुनश्चित्रत्वप्रसक्तिर्व्यपदेशविकल्पवत् शब्दविकल्पानां वस्तुरूपवदेकत्वप्रसङ्गः । न ह्येकं चित्रशक्तमतिप्रसङ्गात्ततः शक्तिप्रतिनियमात्किंचिदेवासद्विधीयते न सर्वमित्यनैकान्तिकोऽपि नैरूप्यादिति हेतुः उपादानग्रहणादित्यादिहेतुचतुष्टयस्यात एवानैकान्तिकत्वम् । तथा हि यदि कार्यसत्वकृतमेव नियतोपादानग्रहणं क्वचित्सिद्धं भवेत् तथैव स्याद्यावता कारणशक्तिप्रतिनियमकृतमपि प्रतिनियततोपादानग्रहणं घटते एव सर्वस्मात्सर्वस्य संभवोऽपि कारणशक्तिप्रतिनियमादेव च न भवति सर्वस्य सर्वार्थक्रियाकारिभावत्वस्यासिद्धेः । यदपि कार्यातिशयमित्याद्युक्तं तदप्यभिप्रायापरिज्ञानादेव यतो नास्माभिरभाव उत्पद्यत इति निगद्यते विकारापत्तौ तस्य स्वभावहानिप्रसक्तिरापद्येत किं तु वस्त्वेव समुत्पद्यत इति प्राक् प्रतिपादितम् । तच्च वस्तु प्रागुत्पादादसमुपलब्धिलक्षणं प्राप्तस्यानुपलब्धेर्निष्पन्नस्यातिप्रसङ्गतः कार्यत्वानुपपत्तेश्चेत्युच्यते । यस्य च कारणस्य सन्निधानमात्रेण च तत्तथाभूतमुदेति तेन तत्क्रियत इति व्यपदिश्यते न व्यापारसमावेशात्किंचित्केनचित्क्रियते सर्वधर्माणामव्यापारत्वात् । नाप्यसत्किंचिदस्ति यन्नाम क्रियते । असत्वस्य वस्तुस्वभावप्रतिबन्धलक्षणत्वात् ।

अपि च यद्यत्कार्यातिशयं तत्तद्सच्च क्रियत इत्यभिधीयते तदपि सर्वस्य भावनिष्पत्तेरकार्यातिशयमेवेति कथं क्रियते । ततः शक्तस्य शक्यकरणादित्ययमप्यनैकान्तिकः । सत्कार्यवादे च कारणभावस्याघटमानत्वात्कारणभावादित्ययमप्यनैकान्तिकः । अथवा कार्यसंभवस्य सतः प्राक् प्रतिपादितत्वादसत्कार्यवाद एव चोपादानग्रहणादिनियमस्य युज्यमानत्वादुपादानग्रहणादित्यादिहेतुचतुष्टयस्य साध्यविपर्ययसाधनविरुद्धताऽवसेया । यद्यसदेवोत्पद्यत इति भवतां मतं तत् कथं सदसतोरुत्पादः सूत्रे प्रतिषिद्धः उक्तं च । तत्रानुत्पन्नाश्च महामतेः सर्वधर्म्माः सदसतोरनुत्पन्नत्वादिति वस्तूनां पूर्वापरकोटिशून्यक्षणमात्रावस्थायी स्वभाव एव उत्पाद उच्यते न तत्वान्तरं प्रतिक्षणेन तन्मात्रजिज्ञासायां न पुनर्वैभाषिकपरिकल्पिता जातिः संस्कृतलक्षणा प्रतिषेत्स्यमानत्वात्तस्याः । नापि वैशेषिकादिपरिकल्पितसामान्यसमवायः स्वकारणसमवायो वा निषेत्स्यमानत्वात्तयोः परमतेन नित्यस्य च जन्मानुपपत्तेः "सत्तास्वकारणाश्लेष-करणाकारणं किल । सा सत्ता स च संबन्धो, नित्यःकार्यमथेह किं" मिति ॥ १ ॥ स एवमात्मक उत्पादो नासन्नस्तादात्म्येन संबध्यते सदसतोर्विरोधात् न ह्यसत्सद्भवति । नापि सत्ता पूर्वभाविना संबध्यते तस्य पूर्वमसत्वात्कल्पनाबुद्ध्या तु केवलं सत्ता वस्तु संबध्यते न ह्यसन्नाम किंचिदस्ति यदुत्पत्तिमाविशेत् । असदुत्पद्यत इति तु कल्पनाविरचितव्यवहारमात्रं कल्पनाबीजं तु प्रतिनियतपदार्थानन्तरोपलब्धस्य रूपस्योपलब्धिलक्षणं प्राप्तस्योत्पत्त्यवस्थातः प्रागनुपलब्धिस्तदेवमुत्पत्तेः प्राक्कार्यस्य न सत्वं धर्मो नाप्यसत्वं तस्यैवाभावात् । अपि च पयःप्रभृतिषु कारणेषु दध्यादिकं कार्यमस्तीति यदि कल्पते तदा वक्तव्यं किं व्यक्तिरूपेण तत्तत्र सत् अथ शक्तिरूपेण तत्र यदि व्यक्तिरूपेणेति पक्षः स न युक्तः क्षीराद्यवस्थायामपि दध्यादीनां स्वरूपेणोपलब्धिप्रसङ्गात् नापि शक्तिरूपेण यतस्तद्रूपं दध्यादेः कार्यानुपलब्धिलक्षणरूपात् किमन्यदाहोस्वित्तदेव । यदि तदेव तदा पूर्वमेवोपलब्धिप्रसङ्गो दध्यादेः । अथान्यदिति पक्षस्तदा कारणात्मनि कार्यमस्तीति अभ्युपगमस्त्यक्तो भवेत् । कार्याद्भिन्नतनोः शक्तिनिधानस्य पदार्थान्तरस्य सद्भावाभ्युपगमात्तथा हि दुग्धेयाऽऽविर्भूतविशिष्टरसवीर्यविपाकादिगुणसम्पत्तिकमेतदेव दध्यादिकं कार्यमुच्यते क्षीरावस्थायां च तदुपलब्धिलक्षणप्राप्तमनुपलभ्यमानमसद्व्यवहारविषयत्वमवतरति यच्चान्यच्छक्तिरूपं तत्कार्यमेव न भवति न चान्यस्य भावेऽन्यत्सद्भवत्यतिप्रसङ्गात् । न चोपकारकल्पनया तद्व्यपदेशसद्भावेऽपि वस्तुव्यवस्था सद्वस्तु (पुस्तकान्तरे शब्दस्तु वस्तु इति) प्रतिबन्धाभावात्तद्भावेऽपि वस्तुसद्भावासिद्धेः सम्म० । अने० ।

सदसत्कार्यवादी सैद्धान्तिकस्त्वाह । यद्येकान्तेन कारणे कार्यमस्ति तदा कारणस्वरूपवत् कार्यस्वरूपानुत्पत्तिप्रसक्तिर्न हि सदेवोत्पद्यते उत्पत्तेरविरामप्रसङ्गात् । न च कारणव्यापारसाफल्यं तद्व्यापारनिर्वर्त्यस्य विद्यमानत्वात् तथा हि कारणव्यापारः किं कार्योत्पादने आहोस्वित् कार्याभिव्यक्तावुत तदावरणविनाश इति पक्षाः । तत्र न तावत्कार्योत्पादने तस्य सत्वे कारकव्यापारवैफल्यादसत्वे स्वाभ्युपगमविरोधादभिव्यक्तावपि पक्षद्वयेऽप्येतदेव दूषणम् । आवरणविनाशेऽपि न कारकव्यापारः सतो विनाशाभावादसतो भावस्योत्पादवत् तन्न सत्कार्यवादे कारकव्यापारसाफल्यम् । न चान्धकारपिहितघटाद्यनुपलम्भेऽन्धकारोपलम्भवत् कार्यावारकोपलम्भो येन प्रतिनियतं किंचित्तदावारकं व्यवस्थाप्येत न च कारणमेव कार्यावारकं तस्य तदुपकारकत्वे प्रसिद्धेः न ह्यालोकादिरूपज्ञानोपकारकं तदावरकत्वेन वक्तुं शक्यम् । किं च आवारकस्य मूर्तत्वे कारणमूर्तत्वे च न कारणरूपस्य तदभ्यन्तरप्रवेशो मूर्तस्य मूर्तेन प्रतिघातादप्रतिघाते च यथा कार्यं कारणाभ्यन्तरप्रविष्टत्वात्तेनावृतमिति नोपलभ्यते तथा कारणस्याप्यनुपलब्धिप्रसङ्गः अप्रतिघातेन तदनुप्रविष्टत्वाविशेषात् । अथान्धकारवत् तद्दर्शनप्रतिबन्धकत्वेन तदावारकं नन्वेवमदर्शनेऽपि तस्य स्पर्शोपलम्भप्रसङ्गस्तस्याप्यभावे तस्यासत्वमिति तदावारकं तत्स्वरूपविनाशकत्वं प्रसक्तम् । न च पटादेरिव घटादिकं प्रति कारणस्य कार्यावारकत्वमिति न स्पर्शोपलब्धिः पटध्वंस इव मृत्पिण्डध्वंसे तदावृतकार्योपलब्धिप्रसङ्गात् एकाभिव्यञ्जयोपलब्धेश्च भवेदेकप्रदीपव्यापारात् तत्संनिधानव्यवस्थितानेकघटादिवत् । किं च कारणं कार्यस्य सत्वे स काल इव कथमसौ तेनाव्रियते नापि मृत्पिण्डकार्यतया पटादिवत् घटो व्यपदिश्येत असत्वे च नावृतिरविद्यमानत्वादेवैकान्तसतः करणविरोधादसत्करणादिभ्यो न सत्कार्यसिद्धिः । प्रतिक्षिप्तश्च प्रागेव सत्कार्यवाद इति न पुनरुच्यते । अनर्थान्तरभूतपरिणामवादोऽपि प्रतिक्षिप्त एव न ह्यर्थान्तरपरिणामाभावे परिणाम्येव कारणलक्षणोऽर्थः पूर्वापरयोरेकत्वविरोधाच्च च परिणामाभावे परिणामिनोऽपि भावो युक्तः परिणामनिबन्धनत्वात् परिणामित्वस्याभिन्नस्य हि पूर्वापरावस्थाहानोपादानात्मतया एकस्य वृत्तिलक्षणपरिणामो न युक्तियुक्तस्तथैकान्ताभेदे कारणमेवानर्थान्तरकार्यमित्ययमप्येकान्तो मिथ्यावाद एव कार्योत्पत्तिकाले कारणस्याविचलितरूपस्य कार्याद्व्यतिरिक्तस्य सत्वे पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गात् तद्व्यतिरिक्तस्य तस्य सद्भावे कारणस्य प्राक्तनस्वरूपेणैवाप्यवस्थितत्वात् अकारणकार्योत्पत्तिर्भवेत् कारणस्य प्राक्तनकारणस्वरूपापरित्यागात् । परित्यागे वा कार्यकारणस्वरूपस्वीकारेण तस्यैवावस्थितत्वादनेकान्तसिद्धः । व्यतिरेके च कारणात्कार्यस्य पृथगुपलम्भप्रसङ्गो न च तदाश्रितत्वेन तस्योत्पत्तेर्न तत्प्रसङ्ग इति वक्तव्यमवयविनः समवायस्य च निषेत्स्यमानत्वान्निषिद्धत्वाच्च कारणाद्व्यतिरिक्तं तत्रासदेव कार्यमित्ययमपि पक्षो मिथ्यात्वमेव । तथा हि एकान्ततो निवृत्ते कारणे कार्यमुत्पद्यत इत्यत्र कारणनिवृत्तिः । सद्रूपासद्रूपा वेति वक्तव्यं सद्रूपत्वेऽपि न तावत्कारणस्य नित्यत्वप्रसक्तिः निवृत्तिकालेऽपि कारणसद्भावात् । न चाविचलितस्वरूपमृत्पिण्डसद्भावे घटोत्पत्तिर्दृष्टा कार्यानुत्पत्तिप्रसक्तेः नापि कार्यरूपा तन्निवृत्तिः कारणनिवृत्तौ कार्यस्यैवानुत्पत्तेरेवं च कार्य्यानुत्पादकत्वेन कारणस्याप्यसत्वमेव । न चोत्पत्तिरेव कारणनिवृत्तिरिति कारणनिवृत्तेर्न कार्योत्पत्तिरिति नायं दोषः कार्यगतोत्पादस्य कारणगतविनाशरूपत्वायोगाद्भिन्नाधिकारणत्वात् कारणनिवृत्तेश्च कार्यरूपत्वे कारणं कार्यरूपेण परिणतमिति घटस्य मृत्स्वरूपवत्कपालेष्वप्युपलब्धिप्रसङ्गः । नाप्युभयरूपा तन्निवृत्तिर्मृत्पिण्डविनाशकाले विचलितमृत्पिण्डघटव्यतिरिक्ताशेषजगदुत्पत्तिप्रसक्तिः । अथासद्रूपा तन्निवृत्तिस्तथापि यदि कारणाभावात कार्योत्पादप्रसक्तेर्निर्हेतुकः कार्योत्पाद इति देशकालाकारनियमः कार्यस्य न स्यात् अभावाच्च कार्योत्पत्तौ विश्वमदरिद्रं भवेत् । नापि कार्याभावरूपा तन्निवृत्तिः कार्यानुत्पत्तिप्रसङ्गात् । नाप्युभयाभावस्वभावा द्वयोरप्यनुपलब्धिप्रसक्तेः । नाप्यनुभयाभावरूपा विवक्षितकारणकार्यव्यतिरिक्तेण सर्वस्यानुपलब्धिप्रसक्तेः कारण-

स्योपलब्धिप्रसक्तेश्च कारणभावाभावरूपा न तन्निवृत्तिः कारणस्यानुगतव्यावृत्तताप्रसक्तेरत एव च सदसद्रूपं स्वपररूपापेक्षयाऽनेकान्तवादिभिर्वस्त्वभ्युपगम्यते पररूपेणास्य सत्वे वस्तुनो निःस्वभावताप्रसक्तेः स्वरूपवत् । पररूपेणापि सत्वे पररूपताप्रसक्तेः एकरूपापेक्षयैव सदसत्वविरोधादन्यथा वस्त्वेव न भवेत् । नापि कार्यभावाभावरूपा कार्यस्योत्पत्त्यनुत्पत्त्युभयरूपताप्रसक्तेः तथा च सिद्धसाध्यता केवलोभयपक्षोक्तदोषप्रसक्तिश्च नापि कार्यकारणोभयभावरूपा प्रत्येकपक्षोदितसकलदोषप्रसक्तेः परस्परव्यपदेश्यकार्यकारणभावाभावरूपकारणनिवृत्त्यभ्युपगमेऽनेकान्तवादप्रसक्तिश्च । नाप्यनुभयभावाभावरूपा अनुभयरूपस्य वस्तुनोऽभावाश्च च तन्निवृत्तेः सत्वमेकान्तभावाभावयोर्विरोधात् । अनुभयभावरूपत्वे तु तस्याः कारणस्याप्रच्युतत्वात् । तथैव चोपलब्धिप्रसङ्गः अपि च कारणनिवृत्तिस्तत्स्वरूपाद्भिन्नाऽभिन्ना वा यद्यभिन्ना निवृत्तिकालेऽपि कारणस्योपलब्धिप्रसङ्गस्तन्निवृत्तेः कारणात्मकत्वात् । स्वकालेऽपि वा कारणस्योपलब्धिर्न स्यात् तस्य तन्निवृत्तिरूपत्वाद्भिन्ना चेत्कारणस्य निवृत्तिरिति संबन्धाभावादभिधानानुपपत्तिः संकेतवशादभिधानप्रवृत्तावप्याधेयनिवृत्तिकालेऽधिकरणस्य सत्वमसत्वं वेति वक्तव्यम् । सत्वे कारणविनाशानुपपत्तिः आधेयनिवृत्त्या करणस्वरूपस्याधारस्याविरोधे विरोधे वा कारणतन्निवृत्त्योर्यौगपद्यासंभवादसत्वेऽप्यधिकरणविरोधोऽसतोऽधिकरणत्वायोगात् तस्य वस्तुधर्मत्वादथ कारणनिवृत्तेर्नाधिकरणमपि तु तद्धेतुस्तन्निवृत्तेरुत्तरकार्यवत् तत्कार्यत्वप्रसङ्गात् । तदनभ्युपगमे कारणस्य तद्धेतुत्वप्रतिज्ञाहानिरकार्यस्य तद्धेतुत्वविरोधे वन्ध्याया अपि सुतं प्रति हेतुत्वप्रसक्तेः । न च कारणहेतुकैव कारणानिवृत्तिः कारणानन्तरभावित्वविरोधात् न च कारणहेतुका तन्निवृत्तिः कारणसमानकालं तदुत्पत्तिप्रसङ्गतः प्रथमक्षणे एव कारणस्यानुपलब्धिर्भवेत् तन्निवृत्त्याऽविरुद्धत्वात् । न च कारणनिवृत्तिः स्वहेतुका स्वात्मनि क्रियाविरोधात् । न च निर्हेतुकैव कारणानन्तरमेव तस्याभावविरोधात् अहेतोर्देशादिनियमाभावात् । अथ कारणं निवृत्तेर्हेतुः कारणं वा किं तु स्वयमेव न भवति । नन्वत्र किं स्वसत्तासमय एव स्वयं न भवत्याहोश्विदुत्तरकालमिति विकल्पद्वयी गतिः । यदि प्राक्तनविकल्पस्तदा कारणानुत्पत्तिप्रसङ्गः । प्रथमक्षण एव निवृत्त्याक्रान्तत्वादुत्पत्त्यभावेन निवृत्तिरप्यनुत्पन्नस्य विनाशासंभवात् नापि द्वितीयस्तदा निवृत्तिभवनेनोत्पन्नानुत्पन्नतया कारणस्वरूपाभवनयोरविरोधात् स्वयमेव भावो न भवेदिति वचो घटते नान्यथा । न च जन्मान्तरं प्रागभावस्य भावात्मकत्वात्तद्व्यतिरिक्त एवाभावो नन्वेवमपि जन्मानन्तरं स एव न भवतीत्यनेनाभावस्य भावरूपतैवोक्तेत्युत्तरक्षणमपि कारणानिवृत्तेस्तथैवोपलब्ध्यादिप्रसङ्गो भावस्याभावात्मकत्वान्नायं दोष इति चेन्नात्रापि पर्युदासाभावात्मकत्वं भावस्य प्रसज्यरूपाभावात्मकत्वं वा । प्रथमपक्षे स्वरूपपरिहारेण तदात्मकता प्रतिपद्यते अपरिहारेण वा प्रथमपक्षे स्वभवनप्रतिषेधपर्यवसानत्वान्न पर्युदासाभावात्मको भावो भवेन्न वाऽसौ तथा तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । तथा भूतभावग्राहकप्रमाणाभ्युपगमे च प्रसज्यपर्युदासात्मको भावो भवेदित्यनेकान्तप्रसिद्धिर्द्वितीयपक्षेऽपि न पर्युदासोऽनिषिद्धस्तत्स्वरूपत्वात् पूर्वभावस्वरूपवत् । प्रसज्यरूपाभावात्मकत्वेऽपि भावस्य प्रतिषिध्यमानस्याश्रयो वक्तव्यो न भवेत् मृत्पिण्डलक्षणमाश्रयस्तस्य प्रतिषिध्यमानस्य चाश्रयत्वानुपपत्तेर्नापि घटलक्षणं कार्यमाश्रयः कारणनिवृत्तेर्हि प्राग्घटस्यासत्त्वेनायमिति प्रत्ययाविषयत्वादयं प्रत्ययविषयत्वे चायं ब्राह्मणो न तदन्योऽयमिति वचः प्रसज्यपर्युदासो व्यवहारो दृष्टो नान्यथेति प्रतिषेधप्रधानविध्युपसर्जनविधिप्रधानप्रतिषेधोपसर्जनयोः शब्दयोः प्रवृत्तिनिमित्तधर्मद्वयाधारभूतं द्रव्यं विषयत्वेनाभ्युपगन्तव्यमन्यथा तदयोगात् । तथा चानेकान्तवादापत्तिरयत्नसिद्धेति तथाभूतस्य वस्तुनः प्रमाणबलायातस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् । एकान्तेन घटस्योत्पत्तेः प्रागस्तित्वे क्रियायाः प्रवृत्त्यभावः फलसद्भावात्तत्सद्भावेऽपि वृत्तावनवस्थाप्रसक्तेः कारणेऽप्येतद्विशेषतस्तद्वत्प्रसङ्गद्वयोरप्यभावप्रसङ्गो न चैतदस्ति तथा प्रतीतेस्तन्न मृत्पिण्डे घटस्य सत्वं नाप्येकान्ततोऽसत्वं मृत्पिण्डस्यैव कथंचिद्घटरूपतया परिणतौ सर्वात्मना पिण्डनिवृत्तिपूर्वोक्तदोषो न निवृत्ते घटसदसत्वयोराधारभूतमेकं द्रव्यं मृल्लक्षणमेकाकारतया मृत्पिण्डघटयोः प्रतीयमानमभ्युपगन्तव्यम् । न च कारणप्रवृत्तिः कारणगता मृद्रूपता तन्निवृत्तिकाले च कार्यगता सा परैव नोभयत्रामृद्रूपताया एकत्वं भेदप्रतिपत्तावपि मृत्पिण्डघटरूपतया कथंचिदेकत्वस्याबाधितप्रत्ययगोचरत्वात् । उपलभ्यत एव हि कुम्भकारव्यापारसव्यपेक्षं मृद्द्रव्यं पिण्डाकारपरित्यागेन शिविकाद्याकारतया परिणममानम् । न हि तत्रेदं कार्यमाधेयभूतं भिन्नमुपजातं पङ्के पङ्कजवदिति प्रतिपत्तेः, नापि तत्करणनिर्वर्त्यतया दण्डोत्पादितघटं नापि तत्कर्तृतया कुविन्दव्यापारसमासादितात्मलाभः पटवत्, नापि तदुपादानतया आम्रवृक्षोत्पादिताम्रफलवत् । तस्मात्पूर्वपर्यायविनाश उत्तरपर्यायोत्पादात्मकस्तद्देशकालत्वादुत्पादात्मवत् । अभावरूपत्वाद्वा प्रदेशस्वरूपघटाद्यभाववत् प्रागभावाभावरूपत्वाद्वा घटस्यात्मवत्ता एवमनभ्युपगमे पूर्वपर्यायस्य ध्वंसादुत्तरस्य चानुत्पत्तेः शून्यताप्रसक्तिरुत्तरपर्यायोत्पादाभ्युपगमे वा तदुत्पादः पूर्वपर्यायप्रध्वंसात्मकः प्रागभावाभावरूपत्वात् प्रध्वंसाभाववश्च च प्राक्तनपर्यायविनाशात्मकत्वे उत्तरपर्यायभवनस्य तद्विनाशपूर्वपर्यायस्योन्मज्जनप्रसक्तिरभावाभावमात्रत्वानभ्युपगमाच्च । पुनस्तस्य प्रतिनियतपरिणतिरूपत्वात् भावाभावोभयरूपतया प्रतिनियतस्य वस्तुनः प्रादुर्भावे मुद्गरादिव्यापारानन्तरमुपलभ्यमानस्य कपालोदरभावस्य नाहेतुकता । न चोभयस्यैकव्यापारादुत्पत्तिविरोधस्तथा प्रतीयमाने विरोधासिद्धेः । ततस्तद्विपरीत एव विरोधासिद्धेरुभयैकान्ते प्रमाणानवतारात् तथात्मकैकत्वेन प्रतीयमानप्रतिहेतोर्जनकत्वविरोधे घटक्षणसत्तायाः स्वपरविनाशोत्पादकत्वं विरुध्यते । एवं चाकारणघटक्षणान्तरोत्पत्तिर्भवेत् । न च विनाशस्य प्रसज्यपर्युदासपक्षद्वयेऽपि व्यतिरिक्तादिविकल्पतो हेत्वयोगान्निर्हेतुकता युक्ता सत्ताहेतुत्वेऽपि तथा विकल्पनस्य समानत्वेन प्राक् प्रदर्शितत्वात् । यदपि विनाशस्य निर्हेतुकत्वात्स्वभावादनुबन्धितेति निरन्वयक्षणक्षयिता भावस्येति नान्वयस्तदप्यसङ्गतं विनाशहेतोर्मुद्गरादेर्घटविनाशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च प्रत्यक्षसिद्धे वस्तुन्यनुमानं विपरीतधर्मोपस्थापकत्वेन प्रामाण्यमात्मनाशात्करोति । यदपि विनाशं प्रति तद्धेतोरसामर्थ्यात् क्रियाप्रतिषेधाच्च स्वरससवृत्तिविनाश इति नान्वयस्तदप्यसंगतं विनाशहेतोर्भावाभावीकरणसामर्थ्यात् । यथा हि भावहेतुर्भावीकरोति अन्यथा स्वयमेव नाशेऽपि भावानां द्वितीयक्षणे स्वयमेव भावी भवतीति भवेत् । यथा हि निष्पन्नभावस्य नाभावो

नाम कश्चित्संबन्धी यद्यन्योऽभावो भवेत् निष्पन्नस्य भावस्य तदा तेन तस्य संबन्धासिद्धेः पूर्ववद्दर्शनप्रसङ्ग इति स्वयमेव भावो न भवतीत्यभिधीयते । तथा न निष्पन्नस्य भावस्य भावो नामान्यः कश्चित् तेन तस्य संबन्धासिद्धेर्न भावस्य सत्ता भवेदिति स्वयमेव हेतुनिरपेक्षो भावो भवतीत्येतदपि वक्तव्यम् । यदि पुनस्तत्र न किंचिद्भवतीति क्रियाप्रतिषेधमात्रमिति न हेतुव्यापारः कथं तर्हि तदवस्थस्य भावस्य दर्शनादिक्रिया न भवेदिति वक्तव्यम् । स एव न भवतीति चेत्तर्हि तस्योद्भवनं करोति विनाशहेतुरित्यभ्युपगन्तव्यमिति तद्धेतुनामकिंचित्करतयाऽनपेक्षणीयत्वमनुपपन्नमत एवापेक्षणीयत्वोपपत्तिर्भावस्यान्यथा सहानवस्थानलक्षणविरोधासिद्धेः प्रतिनियतव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिः । अपि च यदि नाम स एव न भवति तथापि प्रध्वंसाभावः प्रागभावाभावात्मक उत्तरकार्यवदभ्युपगन्तव्यस्तस्यापि तदनन्तरमुपलम्भात् । एतावान् विशेषो विनाशप्रतिपादनाभिप्राये सति तत्प्राधान्येतरोपसर्जनविवक्षायां विनष्टो भाव इति प्रयुज्यते । प्रतिपत्तिरपि तथैव विनाशोपसर्जनेतरप्राधान्यविवक्षायामुत्पन्नानि कपालानीति प्रतिपत्तिरपि तथैव । परमार्थतस्तूभयात्मकमन्यथा पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः । न च कारणस्य निरन्वयविनाशे कार्यदलस्यात्यन्तासती उत्पत्तिर्घटते विनष्टस्य सकलशक्तिविरहिणः कारणस्य कार्यक्रियायोगादविनष्टस्वसत्ताकाले कार्यनिवर्त्तने हेतुफलयोः सह भाव इति तद्व्यपदेशः सव्येतरगोविषाणयोरिव न भवेत् । स्वकाले पश्चात्कार्यस्य भावे तदाकारणस्य स्वसत्तामत्यजतः क्षणक्षयपरिक्षयोऽनिष्टोऽनुषज्यते किं च कारणसत्तासमये कार्यस्याभवतः स्वयमेव पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वप्रसक्तिश्च । तथा हि यस्मिन्नसति यन्न भवति असति च भवति तत्तस्य न कार्यमितरच्च न कारणं यथा कुलालस्य पटादिः । क्षणक्षयपक्षे च प्रथमक्षणे कारणाभिमतभावसद्भावेन भवति कार्यमसति तस्मिन् द्वितीयक्षणे भवति चेति न तत्तत्कार्यमितरच्च तत्कारणमिति हेतुफलभावाभावस्य तन्मात्रनिबन्धनत्वात् । अत एव क्षणिकादर्थक्रिया व्यावर्त्तमाना स्वव्याप्यसत्वलक्षणमादाय निवर्तत इति यत्र सत्वं तत्राक्षणिकत्वसिद्धिमासादयति । न च कार्यकालेऽभवतोऽपि कारणस्य प्राक्तनानन्तरक्षणे भावित्वात्कारणत्वं कार्यकाले स्वयमेवाभवतोऽकारणान्तरवत् कारणत्वयोगात् । कार्यस्य च कारणकाले आत्मनैवाभवतः । कार्यान्तरवत् तत्कार्यत्वानुपपत्तेः क्षणिकस्य च प्रमाणाविषयत्वान्न तत्र कार्यकारणभावकल्पनायुक्तिसङ्गता न चानुपलब्धेऽपि तत्र कारणभावाव्यवस्थाऽतिप्रसङ्गान्न च क्षणक्षयमीक्षमाणोऽपि सदृशापरापरोत्पत्त्यादिविभ्रमोपलक्षयतीति वक्तव्यं यतो नाध्यक्षात् क्षणक्षयलक्षणस्तत्र कार्यकारणभावं व्यवस्थापयितुं शक्नोति नाप्यनुमानात् क्षणिकत्वं व्यवस्थापयितुं समर्थस्तस्य स्वांशमात्रावलम्बितया वस्तुविषयत्वायोगात् । न च मिथ्याविकल्पनाध्यवसितं क्षणिकत्वं वस्तुनो व्यवस्थापितं भवति यदप्यक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधादित्याद्युक्तं तदपि सहकारिसन्निधानवशादक्षणिकस्य क्रमेणार्थक्रियां निर्वर्तयतोऽयुक्तमेव । यदप्युक्तं तत्करणस्वभावश्चेदक्षणिकः प्रागेव तत्करणप्रसङ्गः पश्चादिति स्वभावाविशेषादिति तदप्ययुक्तं यतो न वै किंचिदेकं जनकं सामग्रीतः फलोत्पत्तेः । अक्षणिकश्च सामग्रीसन्निधानापेक्षया कार्यनिर्वर्तनस्वभावः केवलस्तु तदकरणस्वभावः न च तदा भावि कार्याकरणादवस्तुत्वप्रसक्तेरत एकत्र कारणान्तरापेक्षानपेक्षाभ्यां जनकत्वाजनकत्वेऽविरुद्धे यतो न क्षणिकवादभ्युपगतक्षणस्यासंबन्धान्तरसन्निधानासन्निधानकृतस्वभावभेदः । अन्यथाऽनेकसामग्रीसन्निपातिन एकक्षणस्यैकदा विलक्षणानेककार्योत्पादनेऽनेकत्वप्रसक्तिर्भवेत् । दृश्यते च प्रदीपक्षणस्य समानजातीयक्षणान्तरकज्जलं चक्षुर्विज्ञानाद्यनेककार्यनिर्वर्त्तकत्वमेकस्य नानासामग्र्युपनिपातिन इति । क्रमेणाप्यक्षणिकस्य तदविरुद्धं यथा चैकक्षणस्य स्वपरकार्यापेक्षयैकदा जनकत्वाजनकत्वे अविरुद्धे तथाऽक्षणिकस्यापि सहकारिकारणसन्निधानासन्निधानाभ्यां क्रमेण कार्यजनकत्वेन विरोत्स्यते । विज्ञप्तिपरमाणुपक्षेऽपि यथैको ज्ञानपरमाणुः संबन्ध्यन्तरजनितस्वभावभेदेऽप्यभिन्नः अन्यथा दिक्षट्कयोगात् सावयवत्वकल्पनयाऽवस्तुत्वप्रसक्तेः सेनावनादिवत् । स्वसंविदि निर्विकल्पिकायामप्रतिभासतः सर्वप्रतिभासविशेषवत् एवमक्षणिकोऽपि क्रमभाव्यनेकतत्सहकारिसंबन्ध्यन्तरसव्यपेक्षकार्यजननस्वभावभेदेऽप्यभिन्नोऽभ्युपगन्तव्यो जनकत्वभेदेऽप्यभिन्नस्वभाव इति नाक्षणिकेऽर्थक्रियाविरोधो न च क्षणक्षयेऽध्यक्षप्रवृत्तिव्यतिरेकेणाक्षणिके अर्थक्रियाविरोधः सिध्यतीतरेतराश्रयप्रसक्तेः । तथा ह्यक्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधात् प्रतिक्षणविशरारुत्वव्यक्षप्रवृत्तिसिद्धिस्तस्याश्चाक्षणिके अर्थक्रियाविरोधसिद्धिरिति । न चाक्षणिकवादिमतेऽप्ययं समानो दोषः कालान्तरस्थायिनि भावेऽध्यक्षप्रवृत्तिनिश्चयादेव क्षणिकत्वेऽर्थक्रियाविरोधस्य सिद्धेर्न च क्षणिकेऽध्यक्षवृत्तिरपजातैव केवलं भ्रान्तिकारणसद्भावान्न निश्चितेति वक्तव्यं विहितोत्तरत्वात् । न चैकक्षणिकस्यार्थक्रियाकरणलक्षणं सत्वमन्यस्य सत्तासंबन्धादेः सत्वस्य परेणानभ्युपगमादसत एकान्तक्षणिकाक्षणिकवदेकान्ताक्षणिकेष्वप्यर्थक्रियालक्षणं सत्वं पूर्वोपदर्शितन्यायेन व्यावृत्तं संबन्धलक्षणस्य च सत्वस्यातिव्याप्तिवासंभवादिदोषदुष्टत्वादसत्वमित्येकान्ताक्षणिका अप्यसन्तो भावा इत्युत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणमेव भावानामभ्युपगन्तव्यमिति नैकान्ततः कारणेषु कार्यमसदिति न तदिति पक्षो मिथ्यात्वमिति स्थितम् । अपरस्तु कार्यकारणभावस्य कल्पना शिल्पिविरचितत्वात् । तदुभयव्यतिरिक्तमद्वैतमात्रं तत्वमित्यभ्युपपन्नस्तन्मतमपि मिथ्याकार्यकारणोभयशून्यत्वात् खरविषाणवदद्वैतमात्रस्य व्योमोत्पलतुल्यत्वात् सम्म० ।

किञ्च ॥

जे संतवाए दोसा, सक्कोलूया वयंति संखाणं ।
संखाए असव्वाए, तेसिं सव्वे पि ते सच्चा ॥

यानेकान्तसद्वादपक्षे द्रव्यास्तिकाभ्युपगमपदार्थाभ्युपगमे शाक्योलूका दोषान्वदन्ति सांख्यानां क्रियागुणव्यपदेशोपलब्ध्यादिप्रसङ्गादिलक्षणास्ते सर्वेऽपि तेषां सत्या इत्येवं संबन्धः कार्यः । ते च दोषा एवं सत्याः स्युः । यद्यन्यानिरपेक्षतयाऽभ्युपगतपदार्थप्रतिपादकं तच्छास्त्रं मिथ्या स्यात् नान्यथा प्रागपि कार्यावस्थात एकान्तेन तत्सत्वनिबन्धनत्वात्तेषामन्यथा कथंचित्सत्वे अनेकान्तवादापत्तेर्दोषाभाव एव स्यात् । सांख्या अप्यसत्कार्यदोषानसदकरणादीन् यान् वदन्ति ते सर्वे तेषां सत्या एव एकान्तासति कारणाभावात् अन्यथा शशशृङ्गादेरपि कारणव्यापारादुत्पत्तिः स्यात् । अथ शशशृङ्गस्य कारणाभावः अत्यन्ताभावरूपत्वात् तस्य इति चेत् तदेव कुतः कारणाभावादिति चेत् सोऽयमितरेतराश्रयदोषो घटादीनामपि च मृत्पिण्डावस्थायामसत्वेऽपि कुतः कारणसद्भावः प्रागसत्वादेव तत्र कारणसद्भावः सति कारणव्यापारासम्भवादिति चेत् । असदेतत् घटस्य मृत्पिण्डाव-

स्थायां सत्वे प्रागनवस्थायोगादसत्वेऽपि शशश्रृङ्गस्येव तदनुपपत्तेः।अथास्योत्पत्तिदर्शनात्प्रागभावो न शशश्रृङ्गस्येति नेतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। तथा हि यावदस्य प्रागभावत्वं न तावदुत्पत्तिसिद्धिः यावच्च नोत्पत्तिसिद्धिर्न तावत्प्रागभावित्वसिद्धिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयत्वम्।अथ कारणस्य कार्यशून्यताप्रागभावः प्रागेव सिद्धः असदेतत् अकारणस्यापि कार्यशून्यतोपलम्भात् तत्संबन्धात् घटस्य तत्कार्यताप्रसक्तेः। तथा हि यस्य प्रागभावित्वं तस्य कार्यता तच्च कार्यशून्यं पदार्थान्तरं कारकाभिमतादन्यत् । अपि च तत् प्रागभावस्वभावं प्राप्तं तत्संबन्धेन च घटादेः शशश्रृङ्गादिव्यवच्छेदेन कार्यता अभ्युपगतेति सूत्रपिण्डकार्यताऽपि घटस्यैवं भवेत् । न च तदन्वयव्यतिरेकस्तस्यैव तत्र प्रतिभासनात् । न च कारणस्वरूपमेव प्रागभावो निर्विशेषणस्य स्वरूपमात्रस्य कार्येऽपि सद्भावात् । तस्यापि प्रागभावरूपताप्रसक्तेः तथा प्रतीत्यभावात् न तद्रूपतेति तत्र प्रतीतिमात्रादनपेक्षात् वस्तुस्वरूपाद्वस्तुव्यवस्थायोगात् । ततो मृत्पिण्डादिरूपतया वस्तु गृह्यते । अध्यक्षादिना न पुनस्तद्व्यतिरिक्तकारणादिरूपतायास्तस्यास्तत्राप्रतिभासनात्।प्रतिभासनेऽपि विशिष्टकार्यापेक्षया कारणत्वस्य प्रतिपत्तौ कार्यप्रतिभासमन्तरेण तस्याप्रतीतेरसतस्तदानीं कार्यस्याप्रतिभासनात् प्रत्यक्षस्यासद्ग्राहकत्वेन भ्रान्तता प्रसक्तेः। तदा तत्कार्यस्य सत्वप्रशक्तिः स्यादिति । कथमसति कारणव्यापारः प्रतीयेत तत्रासतः कार्यत्वं युक्तम् । नाप्यसत्कारणं कार्ये तदानीमसति कारणे तस्य तस्य तत्कृतत्वायोगात्क्षणमात्रावस्थायिनः कारणस्वभावमात्रव्यवस्थितेरन्यत्र व्यापारायोगात् । अथ तदनन्तरं कार्यस्य भावात् प्रागभावित्वमात्रमेव कारणस्य व्यापारः असदेतत् समस्तभावलक्षणानन्तरं विवक्षितकार्यस्य सद्भावात् सर्वेषां तत् सर्वकालभावित्वस्य भावात् तत्कारणताप्रसक्तेः । अथ सर्वभावक्षणाभावेऽपि तदभावे इति न तस्य तत्कार्यता न क्षणिकेषु भावेषु विवक्षिताभाव एव सर्वत्र विवादाध्यासितकार्यसद्भावात्तदपेक्षयाऽपि तस्य कार्यता भवेत् । न च क्षणिकस्य कार्यस्य तदभावेऽपि पुनर्भवनसंभवस्तस्य तदेव भावादन्यदा कदाचिदप्यभावान्न च विशिष्टभावक्षणधर्मानुविधानात्तस्य तत्कार्यताव्यवस्था सर्वथा च तद्धर्मानुविधाने तस्य कारणरूपतापत्तेस्तत्प्राक्कालभावितया तत्कार्यताव्यतिक्रमात् । कथंचित्तद्धर्मानुविधाने अनेकान्तवादापत्तेरसत्कारणं कार्यमित्यभ्युपगमव्याघातात् । अथ सन्तानापेक्षः कार्यकारणभाव इत्ययमदोषो न सन्तानस्य पूर्वापरक्षणव्यतिरेकेणाभावात् । भावे वा तस्यैव कार्यकारणरूपस्यार्थक्रियासामर्थ्यात् सत्वं स्यान्न क्षणानामर्थक्रियासामर्थ्यविकलतया भवेत् । अथ तत्संबन्धिनः सन्तानस्य कार्यकारणत्वे तेषामपि कार्यकारणभावो न भिन्नयोः कार्यकारणभावादपरस्य संबन्धस्याभावात्सन्तानस्य च सर्वजगत्क्षणानन्तरभावित्वेन सर्वसन्तानताप्रसक्तिः स्यात् । किं च तस्यापि नित्यत्वे क्षणकार्यत्वे च सत्कार्यवादप्रसक्तिः क्षणिकत्वे चान्यथाप्रसिद्धेस्तस्य तत्कार्यताऽप्रसिद्धेर्व्यतिरेकश्च कार्यतानिबन्धनं क्षणिकपक्षे न संभवतीति प्रतिपादितमेव न चान्यापरसन्तानप्रकल्पनया कार्यकारणभावप्रकल्पनं युक्तमनवस्थाप्रसक्तेः। तथा हि सन्तानस्यापि कार्यताभ्युपगमे क्षणिकत्वान्न कार्यरूपताऽतः सन्तानान्तरमत्रापि कार्यतानिबन्धनमभ्युपगन्तव्यं तत्रापि च क्षणिकत्वे कार्यताप्रसिद्धेस्तन्निबन्धनमपरं सन्तानान्तरमभ्युपगमनीयमित्यनवस्था परिस्फुटैव । किंच क्षणिकभावाभ्युपगमवादिनो यदि भिन्नकार्योदयाद्धेतोः सत्वमभिमतं तदा तत्कार्यस्याप्यपरकार्योदयात् सत्वसिद्धिरित्यनवस्थाप्रशक्तेर्न क्वचित् सत्वव्यवस्था स्यादिति कुतस्तद्व्यवच्छेदेनासत्कार्यमिति व्यपदेशः । अथ ज्ञानलक्षणकार्यसद्भावाद्धेतोः सत्वव्यवस्थितिः । ननु ज्ञानस्यापि कथं ज्ञेयसत्ताव्यवस्थापकत्वं ज्ञेयकार्यत्वादिति चेत् ननु किं तेनैव ज्ञानेन ज्ञेयकार्यता स्वात्मनः प्रतीयेत उत ज्ञानान्तरेण । न तावत्तेनैव तस्य प्रागसत्वाभ्युपगमादप्रवृत्तेः प्रवृत्तौ वा तत्कार्यतावगतिः । अथ ज्ञानकालत्वेऽपि ज्ञानस्य ज्ञेयकार्यता नन्वेवमविशेषाज्ज्ञेयस्यापि ज्ञानकार्यतावगतिः स्यादिति तद्व्यवस्थापकं प्रसज्येत । न च समानकालयोस्तम्भकुम्भयोः कार्यकारणतोपलब्धेति प्रकृतेऽपि सा न स्यादथ केवलस्यापि कुम्भस्य दृष्टेरकार्यता ज्ञानस्यापि केवलस्य दृष्टेरकार्यताप्रशक्तिस्तस्य ततोऽन्यत्वव्यभिचार इति चेत् । ननु कुम्भोऽपि कुतोऽध्यः स न भवेत् प्रत्यभिज्ञानान्नान्य इति चेत् एतज्ज्ञानेऽपि समानं नित्यतावत्कुम्भस्यैवं भवेदिति कुतोऽसत्कार्यवादः । न च प्रत्यभिज्ञानं भवतः प्रमाणं पूर्वापररूपाधिकरणस्यैकतयाऽप्रतीतेः । न हि पूर्वापरप्रत्ययाभ्यामपरपूर्वरूपताग्रहः । नाप्येकप्रत्ययेन पूर्वापररूपद्वयस्य क्रमेण ग्रह एकस्याक्रमस्य क्रमवद्रूपग्राहकतयाऽप्रवृत्तेः। न च स्मरणस्य द्वयोर्वृत्तिः संभवति न वास्य प्रमाणता न च पूर्वापरस्य क्रमेण ग्रह एकस्याक्रमस्य क्रमवद्रूपग्रहकतया प्रवृत्तेः न च स्मरणस्य द्वयोः प्रत्यययोः परस्परपरिहारेण वृत्तौ तत उत्पद्यमानं स्मरणमेकत्वस्य वेदकं युक्तमग्रहीतग्राहितया अस्मरणरूपताप्रशक्तेः। न चात्माऽप्येकत्वमवैति प्रत्यक्षादप्रमाणवशेनार्थावेदकत्वात्तस्य चैकत्वेऽप्रवृत्तेर्न च प्रमाणनिरपेक्ष एवात्मैकत्वग्राहकः स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थामपि तस्य तद्ग्राहकत्वोपपत्तेः। न चैतस्याप्येकत्वं कुतश्चित्प्रमाणात् प्रसिद्धं तद्ग्राहकत्वेन तस्याप्रतीतेः । न च बौद्धस्यात्मा अन्यथा वस्तु नित्यमस्ति क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति वचनात् तत्र तेनैवात्मनः प्रमेयकार्यतावगतिः नाप्यनेन तस्यापि स्वप्रमेयकार्यावगतौ प्रागवृत्तितयाऽसामर्थ्यात् । तत्र ज्ञानलक्षणमपि कार्यं हेतोः सत्तां व्यवस्थापयितुं समर्थं क्षणिकैकान्तवादे अध्यक्षस्य यथोक्तन्यायेन पौर्वापर्ये अप्रवृत्तेरत एव नानुमानस्यापि पौर्वापर्ये प्रवृत्तिस्तस्य तत्पूर्वकत्वात्। प्रत्यक्षाप्रतिपन्नेऽर्थे परलोकादाविवार्थविकल्पनामात्रत्वेन सर्वज्ञानस्याभ्युपगमात् तन्नासत्कार्यवादः प्रमाणसङ्गतः । सत्कार्यवादस्तु प्रागेव निरस्तत्वादयुक्त एव । तथाहि नित्यस्य कार्यकारित्वं तत्र स्यात्तच्चायुक्तं नित्यस्य व्यतिरेकाप्रसिद्धितः कार्यकारणसामर्थ्याप्रसिद्धेः । न हि नित्यसर्वदेशकालव्यापिनः क्वचित्कार्यव्यापारविरहिणः सामर्थ्यमवगन्तुं शक्यम् । अथ सर्वदेशाव्यापिनस्तस्य तत्र सामर्थ्यं भविष्यति तदसद्यतः सर्वदेशा व्याप्तिः तस्य तथा प्रतीतेर्व्यवसीयते सर्वकाला व्याप्तिरपि तस्य तत एवाभ्युपगमनीया स्यात् । अभ्युपगम्यते एवेति चेन्नन्वेवं कतिपयदेशकालव्याप्तिरप्यप्रतिपत्तेरेवानुपपत्तेः निरंशैकक्षणरूपता भावानां समायाता । न च तदेवं कार्यजनकता प्राक् प्रतिक्षिप्तत्वान्न चैकान्तनित्यव्यापकत्वपक्षे प्रमाणप्रवृत्तिरित्यसकृत् प्रतिपादितम् । न चासति कार्ये निर्विषयत्वात् कारणव्यापारसंभवात् सत्येव तत्र तेषां व्यापारोऽतो न दृष्ट्वा श्रुत्वा ज्ञात्वा वा हेतूनां कार्ये व्यापारस्तेषां जडत्वेन तदसंभवात् । न चाह—

द्यमाना जमेश्वरादिहेतुकमकृष्टोत्पत्तिकं भूरुहादि संभवतीति प्राक् प्रतिपादितेन चासतः कार्यस्य विज्ञानं न ग्राहकमसत्पक्षादिबुद्धेः प्रवृत्तेः । अन्यथा कथं कार्यार्थप्रतिपादिता चोदना भवेत् । किं च यदि सत्येव कार्ये कारणव्यापारस्तदोत्पन्नेऽपि घटादिकार्ये कारणव्यापारादनवरतं तदुत्पत्तिप्रसक्तिस्तत्राविशेषात् । अथाभिव्यक्तत्वाभोत्पन्ने पुनरुत्पत्तिरुत्पत्तेरभिव्यक्तिरूपत्वात् तस्याश्च प्रथमकारणव्यापारादेव निवृत्तत्वात् नन्वभिव्यक्तिरपि यदि व्यज्यमानेवोत्पद्यते उत्पन्नाऽपि पुनः पुनरुत्पद्येत । अथाविद्यमाना तदा असदुत्पत्तिप्रसक्तिर्न चाभिव्यक्तावप्यसत्यां कार्य इव कारणव्यापारोऽभ्युपगन्तुं युक्तः । स्वसिद्धान्तप्रकोपप्रसङ्गात् । अथ सतः कारणात् कार्यमिति सत्कार्यवादोऽसतो हेतुत्वायोगात् तथाऽभ्युपगमे वा शशशृङ्गादेरपि पदार्थोत्पत्तिप्रसक्तिरत्यन्ताभावप्रागभावयोरसत्त्वेनाविशेषात् । न च प्रागभावी आसीदिति हेतुर्नात्यन्ताभावीति वक्तव्यं यतो यदा न हेतुरन्यदा हेतुरिति प्रसक्तेस्ततश्चेदं प्रसक्तम् । असन् हेतुः संश्चाहेतुरिति ततः सन्नेव हेतुस्तस्य कार्ये व्यापारात् । नासंस्तत्र तदयोगादेतदप्यसद् यतः सतोऽपि कारणस्य प्राक्तनरूपापरित्यागात् न कार्यं प्रति हेतुता प्राक्तनावस्थावत् । अथ तदा व्यापारायोगाद्धेतुताऽसदेतद्व्यापारेण कार्यं प्रति तस्य हेतुत्वे सोऽपि व्यापारः कुतस्तस्येति पर्यनुयोगासंभवाद् व्यापारवत्पदार्थत्वात् । ननु तत्रापि व्यापारोऽयं परव्यापारात् तदा व्यापारपरम्पराव्यवहितत्वात् कारणस्य न कदाचित्कार्योत्पादने प्रवृत्तिः स्यात् अनन्तरव्यापारापरम्परापर्यवसानं यावत् कस्यचिदनवस्थानादसतः कारणात् कार्योत्पत्तिश्च स्यात् । अथ कारणस्वरूपमेव व्यापारस्तत्काल एव कार्यं तेन नानवस्था नाप्यसतः कारणात्कार्योत्पत्तिः । नन्वेवं कारणसमानकाले कार्यं स्यात् तथा च सव्येतरगोविषाणवत् कुतः कार्यकारणभावः । अथ कार्यभावकाले कारणस्य न सद्भावस्तर्हि चिरतरनष्टादिवत्तत्कालध्वंसिनोऽपि कुतः कार्यसद्भावः कार्योत्पत्तिकाले तदनन्तरभाविनः सत्ता चेत्तर्हि कार्योत्पत्तिः । कार्योन्नतिकार्यकारणयोः समानकालता च स्यात् । तथा कुतः कार्यकारणभावो न च सतः कारणतः कार्योत्पत्तिरित्यभ्युपगमवादिनः कार्योत्पत्तिकाले कारणस्य सत्त्वं बौद्धस्यैव सिद्धमविचलितरूपस्य च तस्य सद्भावे तदापि न कार्यवत्त्वाविकलकारणत्वात् । प्राग्वत् तदा तद्वत्त्वे वा पूर्वमपि तद्वत्त्वं स्यादविकलकारणत्वात् । तदवश्यमनेकान्तसत्कार्यवादोऽसत्कार्यवादो वा युक्तोऽनेकदोषदुष्टत्वात् । अथैकान्तेन सदसतोरजन्यत्वादजनकत्वाच्च कार्यकारणभावाभावात् । सर्वशून्यतैव तदुक्तमयुक्तं सर्वमिति चेत्यादिना कथंचित् सदसतोर्जन्यत्वाच्च । न चैकस्यैव सदसद्रूपत्वं विरुद्धं कथंचिद्भिन्ननिमित्त-पक्षस्य सदसत्त्वस्यैकत्राबाधिताध्यक्षतः प्रतिपत्तेर्न चाध्यक्षे प्रतिपन्ने वस्तुनि विरोधोऽन्यथैकचित्रपटे ज्ञाने चित्ररूपतायाश्चित्रपटे च चित्रैकरूपस्य को विरोधः स्यात् तथा च शुक्लाद्यनेकप्रकारं पृथिव्या रूपमिति वैशेषिकस्य विरुद्धाभिधानं भवेत् । अथ तदवयवानां शुक्लाद्यनेकरूपयोगिताऽवयविनस्त्वेकमेव रूपं तत्तदवयवानामप्यवयवित्वेनानेकप्रकारैकप्रतियोगित्वविरोधात् । अथ प्रत्येकमवयवेषु शुक्लादिकमेकैकं रूपं तर्हि तदवयवादिष्वप्येकैकमेव रूपं यावत् परमाणव इतिविभिन्नघटपटादिपदार्थेष्विव चित्रपटे नीलपीतशुक्लरूपा एते भावा इति प्रतिपत्तिः स्यात् न पुनश्चित्ररूपः पट इत्यवयवावयविनोरन्यत्वात् अवयवानामनेकरूपसंबन्धित्वेऽप्यवयविनस्तथा भावाभावात् । अथावयविनोऽपि विभिन्नानेकरूपसंबन्धित्वमभ्युपगम्यते तथापि चित्रैकरूपप्रतिभासानुपपत्तिरनेकरूपसंबन्धित्वस्यैव तत्र सद्भावात्सूत्रव्याघातश्चैवं स्यात् । अविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामसंभवादिति सूत्रेणाभिधानात् । अव्यापके पटादिद्रव्ये एकेन्द्रियग्राह्याणां शुक्लादीनां विशेषगुणानामसंभवोऽनेन सूत्रेण प्रतिपादितः स च व्याहन्येत । किं च शुक्लादीनामेकत्र पटादावनेकस्वरूपाणां सद्भावाभ्युपगमे व्याप्यवृत्तित्वमव्याप्यवृत्तित्वं वा । अव्याप्यवृत्तित्वे शेषाणामाश्रयव्यापित्वमिति विरुध्येत । आश्रयव्यापित्वेऽप्येकावयवसहितेऽप्यवयविन्युपलभ्यमाने अपरावयवानुपलब्धावप्यनेकरूपप्रतिपत्तिः स्यात् सर्वरूपाणामाश्रयव्यापित्वात् । अथ शुक्लाद्यनेकाकारं चित्रमेकं तद्रूपं यथा शुक्लादिको रूपविशेषः कथं तर्ह्यनेकाकारमेकरूपविरुद्धं भवेत् । चित्रैकरूपाभ्युपगमस्य चित्रतरत्वात् । अथ चित्रैकरूपस्य तस्य प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्न विरोधस्तर्हि सदसद्रूपैकरूपतया कार्यकारणरूपस्य वस्तुनः प्रतिपत्तौ विरोधः कथं भवेन्न च चित्रपटादावपास्तशुक्लादिविशेषं रूपमात्रं तदुपलम्भान्यथानुपपत्त्यास्तीत्यभ्युपगन्तव्यं चित्ररूपः पट इति प्रतिभासाभावप्रसक्तेः । अथ परस्परविरुद्धानां शुक्लादिरूपाणां चित्रैकरूपानारम्भकत्वमेव कारणगुणानामित्यभ्युपगमः शुक्लाच्छुक्लमित्यादिप्रतीतेः कथं तर्हि कारणगतशुक्लादिरूपविशेषेभ्यः कार्यरूपमात्रस्यापास्ततद्विशेषस्योत्पत्तिर्भवेत् तेभ्यस्तस्यासमानत्वात् । अथ तद्गतरूपमात्रेभ्यस्तद्रूपमात्रस्योत्पत्तेर्न दोषोऽसदेतत् शुक्लादिरूपविशेषव्यतिरेकेण रूपत्वादिसामान्यमपहाय रूपमात्रस्यास्याभावात् सामान्यस्य च नित्यत्वेनाजन्यत्वान्न च रूपमात्रनिबन्धनश्चित्ररूपः पट इति प्रतिभासो युक्तः शुक्लादिप्रत्ययस्यापि तन्निबन्धनत्वेन शुक्लादिरूपविशेषस्याप्यभावप्रसक्तेः । न चावयवगतचित्ररूपात् पटादिचित्रप्रतिभासोऽवयवेष्वपि तद्रूपासंभवात् न चान्यरूपस्यान्यत्र विशिष्टप्रतिपत्तिजनकत्वं पृथिवीगतचित्ररूपमात्रमेव तत्र स्यात् क्षितौ रूपमनेकप्रकारमिति विरुध्येत अनेकप्रकारं हि शुक्लत्वादिभेदभिन्नमुच्यते रूपमात्रं च शुक्लादिविशेषरहितं तस्य शुक्लादिविशेषेष्वनन्तर्भावात् कथं न विरोधः । यदपि शुक्लाद्यनेकप्रकाररूपाभ्युपगमे क्षितौ तत्र विशेषपरिहाराभिधानं किलाविभुनि द्रव्ये समानेन्द्रियग्राह्याणां विशेषगुणानामेकाकाराणामसंभवो न त्वनेकाकाराणां तेषामुपलम्भात् एकाकाराणामेकत्र बहूनां सद्भावे एकेनैव शुक्लादिप्रतिपत्तेर्जनितत्वादपरतद्भेदकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गान्न तदभ्युपगमः । न चैवमनेकाकाराणामिति तदप्यसंगतं व्याप्याव्याप्यवृत्तित्वाविकल्पद्वयेऽपि दोषप्रतिपादनात् । अथ याप्यवृत्तित्वेन विरोधदोषः शेषाणामाश्रयव्यापित्वमेवेत्यवधारणानभ्युपगमात् नन्वेवं सूक्ष्मविवरप्रतिष्ठालोकोद्योतितान्यतरपटाविभागवृत्तिरूपदेशस्य प्रतिपत्तौ यदि तदारभ्य पटावयविनः प्रतिपत्तिस्तदाधेयाशेषशुक्लादिरूपप्रतिपत्तिरपि भवेत् । आधेयप्रतिपत्तिमन्तरेण तदाधारत्वस्य प्रतिपत्तुमसक्तेः । न चान्यतरान्यतमरूपाधारत्वव्यतिरिक्तं तस्य तदन्यरूपाधारत्वमनेकमनेकस्वभावयोगिनः पटस्यानेकत्वप्रसक्तेः स्वभावभेदलक्षणत्वाद्वस्तुभेदस्यान्यथा तदयोगात् । तदनेकत्वेऽपि तस्यैकत्वे कथं नानेकाकारमेकं स्यात् । अथ तत्प्रतिपत्तौ भवेद् विप्रतिपत्तिस्तर्हि निराधारस्य रूपस्य प्रतिपत्तौ गुणरूपता विशीर्येत द्रव्याश्रयादिलक्षणयोगित्वादस्य न च तद्रूपताप्रतिपत्तौ तल्लक्षणयोगिता तस्यावगन्तुं शक्या

प्रमेयव्यवस्थायाः प्रमाणाधीनत्वात् अणुपरिमाणयोगित्वे चाल्पतरपटादिरूपस्य परमाणोरिवाऽव्यक्तरूपताप्रसक्तिस्तस्यैव तद्योगित्वात् अत एवैकावयवसहितस्य पटस्यैवोपलम्भात् एकरूपोपलम्भेऽप्याश्रयाव्यापितया शेषरूपाणामनुपलम्भाच्च प्रतिभासाभाव इति यदुक्तं तदपि निरस्तम् एकरूपोपाध्युपकाराङ्गशक्यभिन्नस्य पटद्रव्यस्याशेषात्मनाऽप्यक्षेपेण ग्रहणे अशेषरूपोपाध्युपकारकशक्यभिन्नात्मनस्तस्यैकरूपतया ग्रहणात् उपकार्यग्रहणमन्तरेणोपकारकत्वग्रहणस्यासंभवात् । शक्तीनां ततो भेदे संबन्धासिद्धेरपरोपकारकशक्तिप्रकल्पनायामनवस्थाप्रसक्तेः कथं नाशेषोपकार्यरूपप्रतिभासाच्चित्रप्रतिभासप्रसक्तिः । एतेन तन्तूनां नीलाद्यनेकरूपसंबन्धित्वात् पटेऽप्यनेकरूपारम्भकत्वेन किंचित्साधकं प्रमाणं कारणगुणपूर्वप्रक्रमेण तथाविधस्य रूपस्योत्पादादित्यपि प्रत्युक्तम् । एकावयवप्रतिभासे चित्रप्रतिभासोत्पत्तिप्रसङ्गस्यैव बाधकत्वात् । यदपि भवतु वा एकं पटे चित्रं रूपं नीलादिरूपैरेकरूपभावात् । यथा हि शुक्लादिर्विशेषो रूपस्य तथा चित्रमपि रूपविशेष एव चित्रशब्दवाच्य इति तद्रूपगतमेव । अनेकाकारस्यैकत्वे चित्रैकशब्दवाच्यत्वे वाभ्युपगम्यमाने सदसदनेकाकारानुगतस्यैकस्य कारणादिशब्दवाच्यत्वेनाभ्युपगमाविरोधात् । यथा च बहूनां तन्त्वादिगतनीलादिरूपाणां पटगतैकचित्ररूपारम्भकत्वं दृष्टत्वादविरुद्धं तथाऽनेकाकारस्यैकरूपत्वं वस्तुनो दृष्टत्वादेव विरुद्धमभ्युपगन्तव्यमत एवैकानेकरूपत्वाच्चित्ररूपस्यैकावयवसहितेऽवयविन्युपलभ्यमाने शेषावयवावरणे चित्रप्रतिभासाभाव उपपत्तिमान् । सर्वथात्वे तत्रापि चित्रप्रतिभासः स्यात् अवयविव्याश्या तद्रूपस्य वृत्तेर्न चावयवनानारूपोपलम्भसहकारीन्द्रियमवयविनि चित्रप्रतिभासं जनयतीति तत्र सहकार्यभावात् । चित्रप्रतिभासानुत्पत्तिरिति वाच्यमवयविनोऽप्यनुपलब्धिप्रसङ्गात् न हि चाक्षुषप्रतिपत्त्या गृह्यमाणरूपतयाऽवयविनो वायोरिव ग्रहणं दृष्टं न च चित्ररूपव्यतिरेकेणापरं तत्र रूपमात्रमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्त्या पटग्रहणं भवेत् । न चावयवरूपोपलम्भोऽवयविरूपप्रतिपत्तौ अक्षिसहकारी तद्भावे वा तदवयवरूपोपलम्भाक्षिसहकारीति तमन्तरेण न स्यादिति पूर्वपूर्वावयवरूपोपलम्भापेक्षपरमाणुरूपोपलम्भाभावात् । तज्जन्यद्व्यणुकाद्यवयविरूपोपलम्भासंभवात् । न क्वचिदपि रूपोपलब्धिः स्यात्तदभावे च नावयव्युपलब्धिरिति तदाश्रितपदार्थानामप्युपलम्भाभावात् सर्वप्रतिभासाभावः स्यात् । तत एकानेकस्वभावं चित्रपटरूपवद्वस्त्वभ्युपगन्तव्यम् ॥ वैशेषिकेण बौद्धेनापि चित्रपटप्रतिभासस्यैकानेकरूपतामभ्युपगच्छता एकानेकरूपं वस्त्वभ्युपगतमेव । अथ प्रतिभासोऽप्येकानेकरूपो नाभ्युपगम्यते तर्हि सर्वथा प्रतिभासाभावः स्यादित्यसकृदावेदितं तत एकान्ततोऽसति कार्ये न करणव्यापारस्तेनाभ्युपगन्तव्योऽसति तत्र तदभावात् । नापि सति मृत्पिण्डे तमन्तरेणापि ततः प्रागेव निष्पन्नत्वात् न च मृत्पिण्डे कारकव्यापारः पृथुबुध्नोदराद्याकारता प्रतिपद्यत इति कारकव्यापारफलयोरैक्यविषयत्वे अनेकान्तवादसिद्धिस्तस्मात् द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकाभ्यां केवलाभ्यां सहिताभ्यामन्योऽन्यनिरपेक्षाभ्यां व्यवस्थापितं वस्त्वसत्यमिति तत्प्रतिपादकं शास्त्रं सर्वं मिथ्येति व्यवस्थितम् । अमुमेवार्थमन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढीकर्तुमाह

ते उ भयणोवणीया, सम्मदसणमणुत्तरं होंति ।
जं भवदुक्खविमोक्खं, दो वि न पुरोतिपाडेकं ॥ १४७ ॥

तौ द्रव्यपर्यायास्तिकनयौ भजनया परस्परस्वभावाविनाभूततयोपनीतौ सदसद्रूपैकान्तव्यवच्छेदेन तदात्मकैककार्यकारणादिवस्तुप्रतिपादकत्वेनोपयोजितौ यदा भवतस्तदा सम्यग्दर्शनमनुत्तरं नास्त्यस्मादन्यदुत्तरं प्रधानं यस्मिंस्तत्तथाभूतं भवतः परस्पराविनिर्भागवर्तिद्रव्यपर्यायात्मकैकवस्तुतत्त्वविषयरुच्यात्मकबोधितावबोधस्वभावत्वात् । यदा त्वन्योऽन्यनिरपेक्षद्रव्यपर्यायप्रतिपादकत्वेनोपनीतौ भवतो न तदा सम्यक्त्वं प्रतिपद्येते । यस्मात् संसारभाविजन्मादिदुःखविमोक्षमात्यन्तिकं च भेदं द्वावपि तौ प्रत्येकं न विधत्तः मिथ्याज्ञानात्सम्यग्क्रियाभक्ततया आत्यन्तिकभवोपद्रवानिवृत्त्यसिद्धेः । तद्विपर्ययकारणत्वात् । तच्चासकृत्प्राक् प्रतिपादितमिति न पुनः प्रतन्यते ततः कारणात्कार्यं कथंचिदन्यदत एव सदसद्रूपतया सच्चासच्चेत्यमुमेवार्थमुपसंहारद्वारेणोपदर्शयन्नाह ।

णत्थि पुढवीविसिट्ठो, घडोत्ति जं तेण जुज्जइ एगेण ।
जं तु ण घडत्ति पुव्वं, ण आसि पुढवी तओ अण्णा ।१४८।

नास्ति द्रव्यभूतपृथ्वीत्वादिभ्यो विशिष्टो भिन्नो घटः सदादिव्यतिरिक्तस्वभावतया तस्यानुपलम्भात् । किं च यदि सत्त्वादयो धर्मा घटादेकान्ततो भिन्नाः सोऽपि वा तेभ्यो भिन्नः स्यात्तदा न घटस्य सदन्वितत्वं स्यात् । स्वतोऽसदादेरन्यधर्मयोगेऽपि शशशृङ्गादेरिव तदयोगात् । सदादेरपि घटाद्याकारादाद्यन्तभेदे निराकारतयाऽत्यन्ताभावस्येवोपलम्भविषयत्वायोगात् । ज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिधर्माणामपि सदादिधर्मेभ्यो भेदे असत्त्वं सदसदादेस्तु तेभ्यो भेदे ज्ञेयत्वादसत्त्वमेवोपलम्भः सत्तेति वचनात् ततः सदादिरूपतया उपलभ्यमानत्वात् घटस्य तेभ्यो भिन्नरूपताभ्युपगन्तव्या प्रमेयव्यवस्थितेः प्रमाणनिबन्धनात् । यत्पुनः पृथुबुध्नोदराद्याकारतया पूर्वं सदादि नासीत् ततोऽसावन्यस्तेभ्यो घटरूपतया प्राक् सदादेरनुपलम्भात् प्रागपि तद्रूपस्य सदादौ अनुपलम्भायोगात् । दृश्यानुपलम्भस्य वा भावव्यभिचारित्वात्तद्रूपतायां च विरोधाऽभावात् प्रतीयमानायां तदयोगादबाधितप्रत्ययस्य च मिथ्यात्वाभ्युपगमाद्बाधानिरहस्य च प्रागेवोपपादितत्वात् सदेकान्तवादवत् । सम्म० ।

सदसत्कार्यवादश्च केषांचिन्नयानां सत् केषांचिदसदिति सङ्कलने सदसत्कार्यवाद इत्येवं भाष्यकृद् व्याख्यानयति ।

सम्मत्तनाणरहिअस्स-नाणमुप्पज्जइ त्ति ववहारो ।
नेच्छइ य न उ भासइ, उप्पज्जइ तेहिं सहियस्स ॥

पातनयैव व्याख्याता अत्र तावद्व्यवहारो निश्चयस्य दूषणमाह ।

ववहारनयं जायं, न जायए भावओ कयघडो व्व ।
अह वा कयं पि कज्जइ, कज्जउ निच्चं नयसमत्ती ॥

यदि हन्त ? सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यत इति त्वयाऽभ्युपगम्यते तर्हि जातमपि तत्सम्यक्त्वं ज्ञानं चासौ पुनरप्युत्पादयतीति सामर्थ्यादापन्नम् न च जातं विद्यमानं पुनरपि जायते न केनापि ततः क्रियत इत्यर्थः । कुत इत्याह । भावतोविद्यमानत्वात्पूर्वनिष्पन्नघटवदित्येतद्व्यवहारनयमतमसत्कार्यवादित्वात्तस्य प्रमाणयति चासौ यद्विद्यमानं तन्न केनचित्क्रियते यथा पूर्वनिष्पन्नो घटः विद्यमाने च सम्यग्दृष्टेः सम्यक्त्वज्ञानेऽतो न तत्करणमुपपद्यते । अथ कृतमपि क्रियते तर्हि क्रियतां नित्यमपीति क्रियानुपरमप्रसङ्गः । न चैवं सत्येकस्यापि कार्यस्य कदापि परिसमाप्तिरिति प्रस्तुतस्याभिनिबोधिकस्यापि

प्रतिप्रत्यनवस्थेति । अपि च यदि कृतमपि क्रियते तदाऽन्येऽपि दोषाः । क इत्याह ।

किरियाइवेफल्लं वि य-पुव्वमजूयं च दीसए होंतं ।
दीसइ दीहो य जहा, किरियाकालो घडाईणं

यदि कृतमपि क्रियत इत्यभ्युपगम्यते तर्हि घटादिकार्ये उत्पाद्ये क्रियायाश्चक्रभ्रमणादिकाया वैफल्यं निरर्थकता प्राप्नोति। कार्यस्य प्रागेव सत्त्वात् । किं चाध्यक्षविरोधः सत्कार्यवादे यतः पूर्वं मृत्पिण्डावस्थायामभूतमविद्यमानं पश्चात्तु कुम्भकारादिव्यापारे घटादिकार्यं भवज्जायमानं दृश्यतेऽतः कथमुच्यते सदुत्पद्यते इति यस्मिन्नेव समये प्रारभ्यते तस्मिन्नेव निष्पद्यतेऽतो निष्पन्नमेव तत् क्रियते । क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदादिति चेन्नैवम् । कुत इत्याह (दीसईत्यादि) दीर्घोऽसंख्येयसामयिको घटादीनामुत्पद्यमानानां क्रियाकालो लगन्नालोक्यते यस्मात्ततो न यस्मिन्नेव समये घटादि प्रारभ्यते तस्मिन्नेव समये निष्पद्यते मृदानयनतत्पिण्डविधानचक्रारोपणशिवकादिविधानादिचिरकालेनैव तदुत्पत्तिरिति । भवतु दीर्घक्रियाकालः कार्यं चारम्भसमयेऽप्युपलभ्यत इत्याह ।

नारंभे च्चिअ दीसइ, न सिवादद्धाए दीसइ तदंते ।
यइ न समणाइ काले, नाणं जुत्तं तदंतम्मि ।५७।

यदि क्रियाप्रथमसमय एव कार्यं निष्पद्येत तदा तत्रैवोपलभ्येत । न चारम्भसमय एव तद्दृश्यते । नापि शिवकाद्यद्धायां शिवकास्थासकोशकुसूलादिकाले क तर्हि दृश्यत इत्याह । दृश्यते घटादिकार्यं तस्य दीर्घक्रियाकालस्यान्तः परिसमाप्तिस्तदन्तस्तस्मिन्निति । तस्मात् क्रियाकालपर्यन्त एव तस्य सत्त्वं युज्यते न तु पूर्वमुपलभ्यमानत्वात् । यस्मादेवमित्यतो न गुरुसन्निधाने सिद्धान्तश्रमणचिन्तने हननादिक्रियाकाले ज्ञानमाभिनिबोधिकं युक्तं किं तु तस्य श्रमणादिक्रियाकालस्यान्तस्तदन्तस्तस्मिन्नेव तद्युक्तं तत्रैवोपलभ्यमानत्वादिति प्रस्तुतोपयोगः । तदेवं न क्रियाकाले कार्यमस्त्यनुपलभ्यमानत्वात्किं तु तन्निष्ठाकाल एव तदस्ति तत्रैवोपलभ्यमानत्वात्ततो न प्रतिपाद्यमानं प्रतिपन्नं कार्यं क्रियाकाल एव तस्य प्रतिपद्यमानत्वान्निष्ठाकाल एव च प्रतिपन्नत्वात् । क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्चात्यन्तं भेदात्तस्मान्मिथ्यादृष्टिरज्ञानी च सम्यक्त्वज्ञाने प्रतिपद्यते न सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी इति व्यवहारनयः ।

अत्र निश्चयनयः प्रतिविधानमाह ।

निच्छइओ नाजायं, जाय अभावत्तओ खपुप्फं च ।
अह व अजायं जायइ, जायउ तो खरविसाणं पि ॥५८॥

निश्चये भवो नैश्चयिको नयः प्राह । यथा जातं न जायते कृतघटवदिति भवता असत्कार्यवादिनाऽभिधीयते तथा वयमपि सत्कार्यवादिनो ब्रूमः । नाजातं जायते अत्रेकारलोपः । नाऽविद्यमानमुत्पद्यत इति प्रतिज्ञा अभावत्वादविद्यमानत्वादिति हेतुः खपुष्पवदिति दृष्टान्तः। अयमपि विपर्यये बाधामाह । अथाजातमपि जायते जायतां ततः खरविषाणमपि अभावाविशेषादिति। अपि च

निच्चकिरियाइदोसा, नणु तुल्ला असइ कट्ठतरगा वा ।
पुव्वमभूयं च न ते, दीसइ किं खरविसाणे पि ॥५९॥

ननु नित्यकरणादयः सत्कार्यवादे ये दोषाः प्रदत्तास्ते असति कार्ये असत्कार्यवादेऽपीत्यर्थः । तुल्याः समानास्तथा ह्यत्रापि शक्यते वक्तुं यद्यसत्क्रियते तर्हि क्रियतां नित्यमेव असत्त्वाद्यविशेषान्न चैवमेकस्यापि कार्यनिष्पत्तिर्युज्यते खरविषाणकल्पे वा सति कार्ये समुत्पाद्ये क्रियावैकल्यमित्यादि किं तुल्या एवासति कार्येऽमी दोषा नेत्याह । कष्टतरा वा दुष्परिहार्या वा। सतो हि कार्यस्य केनापि पर्यायविशेषेण करणं संभवत्यपि लोकेऽपि सतामाकाशादीनां पर्यायविशेषाधानापेक्षया कारणस्य रूढत्वात्तथा च तत्र व्यवहाराः समुपलभ्यन्ते " आकाशं कुरु पृष्ठं कुरु पादौ कुर्वित्यादि" खरविषाणकल्पे त्वसति कार्ये न केनापि प्रकारेण करणं संभवति । ततः कष्टतरास्तत्राऽमी दोषा इति भावः । यदुक्तं "पुव्वमभूयं च दीसए होंतमिति" तत्राह। (पुव्वमित्यादि) उत्पत्तेः पूर्वं च यद्यभूतं सर्वथाऽविद्यमानं कार्यमुत्पद्यत इतीष्यते तर्हि ते तव मतेन किं खरविषाणमपि पूर्वमभूतं पश्चादुत्पद्यमानं न दृश्यते प्रागसत्त्वाविशेषादिति यदुक्तम् " दीसइ दीहो य जहा किरियाकालो इति " तत्राह ।

पइसमउप्पन्नाणं, परोप्परविलक्खणाण सुबहूणं ।
दीहो किरियाकालो, जइ दीसइ किं च कुंभस्स ॥

समये समये प्रत्युत्पन्नानां परस्परविलक्षणानां सुबहूनामसंख्येयानां मृत्खननसंहरणपिण्डकरासभपृष्ठारोपणावतारणाम्भःसेचनपरिमर्दनपिण्डविधानभ्रमणचक्रारोपणशिवकस्थासककोशकुसूलादिकार्याणामिति शेषः । यदि दीर्घो द्राघीयान् क्रियाकालो दृश्यते तर्हि किमत्र हन्त? कुम्भस्य घटस्यायातम्। इदमुक्तं भवति प्रतिसमयं भिन्ना एव क्रियाः भिन्नान्येव च मृत्पिण्डशिवकादीनि कार्याणि घटस्तु चरमैकक्रियाक्षणमात्रभाव्येव। ततश्च प्रतिसमयभिन्नानामनेककार्याणां यदि दीर्घः क्रियाकालो भवति तर्हि चरमैकक्रियाक्षणमात्रभाविनि घटे दीर्घक्रियाकालप्रेरणं परस्याज्ञतामेव सूचयतीति। यदुक्तं "नारंभे च्चिय दीसईत्यादि" तत्राह ।

अणारंभे अणं, कह दीसइ जह घमो पडारंभे ।
सिवकादओ न घडओ, किह दीसइ सो तदद्धाए ॥

इह "नारंभे च्चिय दीसइ" इत्यत्र भवतोऽयमभिप्रायो यदुत मृच्चक्रचीवरकुम्भकारादिसामग्र्याः प्रथमेऽपि प्रवृत्तिसमये । घटः किं नोपलभ्यतेऽनुपलम्भाच्चायमसंस्तत्र पश्चादुत्पद्यते। एतच्चायुक्तमेव यतो न प्रथमे प्रारम्भसमये घटः प्रारब्धः किं तु चक्रमस्तकमृत्पिण्डारोपणादीन्येवारब्धानि अन्यारम्भे चान्यत्कथं दृश्यते न दृश्यत एवेत्यर्थः। यथा पटारम्भे घटः । यदुक्तं "न सिवादद्धापत्ति" तत्राह "सिवकादओ इत्यादि" शिवकादिकाले घटो न दृश्यत इत्युक्तं तदेतदुक्तमेव यतः शिवकादयो घटो न भवन्त्यतो यत एव शिवकादिकालोऽसौ अतः तदद्धायां तत्काले कथमसौ घटो दृश्यतामन्यारम्भकालेऽन्यस्य दर्शनानुपपत्तेरिति । यदुक्तं "दीसइ तदंतम्मि" इति तत्राह ।

अंतिच्चिय आरद्धो, जइ दीसइ तम्मि चेव को दोसो ।
अकयं व संपइ गए, किह किरइ किह व एसम्मि ॥

अन्त्य एव क्रियाक्षणे आरब्धो यदि घटस्तस्मिन्नेव दृश्यते तर्हि को दोषो न कश्चिदित्यर्थः। अतः किमुच्यते। यतोऽन्त्यसमय एवोपलभ्यते नान्यत्र ततोऽयं पूर्वमसन्नेव क्रियत इति स हि पूर्वं प्रथमादिक्रियाक्षणेषु नारब्धो न च दृश्यते । अन्त्ये तु क्रियाक्षणे प्रारब्धो दृश्यते च तस्मिन् क्रियासमये क्रियमाणः कृत एव समयस्य निरन्तत्वात् यच्च कृतं तत्सदेव ततः सदेव क्रियते नासत् यच्च सत्तदुपलभ्यत एवेति स्थितम्। अथ यस्मिन्समये क्रियमाणं

तस्मिन्नेव कृतं नेष्यते तत्राह (अकयं वेत्यादि) अकृतं वा संप्रति समये क्रियमाणसमये यदीष्यते तर्हि तत्कृतेऽतीते समये कथं क्रियतां तस्य विनष्टत्वेनासत्त्वात्कथं वा इष्येत भविष्यत्यनन्तरागामिनि समये क्रियतां तस्याप्यनुत्पन्नत्वेन असत्त्वादेव । अथ व्यवहारवादी ब्रूयात्क्रियासमयः सर्वोऽपि क्रियमाणकालः तत्र च क्रियमाणं वस्तु नास्त्येव उपरतायां तु क्रियायां योऽनन्तरसमयः स कृतकालस्तत्रैव कार्यनिष्पत्तेरतः कृतमेव कृतमुच्यते न क्रियमाणमिति । साध्वेतत्किं त्विदं प्रष्टव्योऽसि किं भवतः क्रियया कार्यं क्रियतेऽक्रियया वा । यदि क्रियया तर्हि कथमियमन्यत्र कार्यं त्वन्यत्रेति न हि खदिरे छेदनक्रिया पलाशे तु तत्कार्यभूतच्छेद इत्युच्यमानं शोभां बिभर्ति । किं च क्रियाकाले कार्यं न भवति पश्चात्तु भवतीत्यनेनैतदापद्यते यदुत क्रियैव हतका सर्वानर्थमूलमेषा कार्यस्योत्पित्सोर्विघ्नहेतुत्वाद्याघद्वेषा प्रवर्तते तावद्वराकं कार्यं नोत्पद्यते अतः प्रत्युतासौ तस्य विघ्नभूतैव ततस्त्वदभिप्रायेण विपर्यस्ततयैव प्रेक्षावन्त एतान् प्रारम्भन्त इति क्रियैव कार्यं करोति केवलं तद्विरामे तन्निष्पद्यत इति चेत्तर्हि हन्त ! कस्तस्यास्य विरोधो येन तत् कुर्वन्त्या अप्यस्यास्तत्कालमतिवाह्य पश्चान्निष्पद्यते न पुनस्तत्कालेऽपि क्रियोपरमेऽपि जायमानं कार्यम् । तदनारम्भेऽपि कस्मान्न भवति क्रियानारम्भतदुपरमयोरर्थतोऽभिन्नत्वादिति । अथाक्रिययेति द्वितीयः पक्षस्तर्हि हिमवन्मेरुसमुद्रादिवत् घटादयोऽप्यकृतका एव प्राप्तास्तद्वत्तेषामपि कारणभूतक्रियामन्तरेणैव प्रवृत्तेः । तपःस्वाध्यायादिक्रियाविधानं च मोक्षादीन् प्रति साध्वादीनामनर्थकमेव स्यात् क्रियामन्तरेणैव सर्वकार्योत्पत्तेः अतः तूष्णींभावमास्थाय निष्परिस्पन्दानि निराकुलानि तिष्ठन्तु त्रीण्यपि भुवनानि क्रियारम्भाविरहेणाप्यैहिकामुष्मिकसमस्तसमीहितसिद्धेः । न चैवं तस्मात्क्रियैव कार्यस्य कर्त्री तत्काल एव च तद्भवति न पुनस्तदुपरमेऽतः क्रियमाणमेव कृतमिति स्थितम् । विशे० । आ०म०प्र० । निश्चितं चैतत्तथाविधसूत्रोपलम्भात् । तथा हि ।

से णूणं भंते ! चलमाणे चलिए १ उदीरिज्जमाणे उदीरिए २ वेदिज्जमाणे वेदिए ३ पहेज्जमाणे पहीणे ४ छिज्जमाणे छिण्णे ५ भिज्जमाणे भिण्णे ६ दज्झमाणे दड्ढे ७ मिज्जमाणे मए ८ णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे ९ हंता गोयमा ! चलमाणे चलिए जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे ॥

अथ केनाभिप्रायेण भगवता सुधर्मस्वामिना पञ्चमाङ्गप्रथमशतकप्रथमोद्देशकस्यार्थानुकथनं कुर्वतैवमर्थवाचकं सूत्रमुपन्यस्तं नान्यानीति ? अत्रोच्यते इह चतुर्षु पुरुषार्थेषु मोक्षाख्यः पुरुषार्थो मुख्यः सर्वातिशायित्वात् तस्य च मोक्षस्य साध्यस्य साधनानां च सम्यग्दर्शनादीनां साधनत्वेनाव्यभिचारिणामुभयनियमस्य शासनाच्छास्त्रं सद्भिरिष्यते । उभयनियमस्त्वेवं सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षस्यैव साध्यस्य साधनानि नान्यस्यार्थस्य मोक्षश्च तेषामेव साधनानां साध्यो नान्येषामिति । स च मोक्षो विपक्षक्षयात्तद्विपक्षश्च बन्धः स च मुख्यः कर्मभिरात्मनः सम्बन्धस्तेषां तु कर्मणां प्रक्षयेऽयमनुक्रम उक्तः "चलमाणे इत्यादि" तत्र (चलमाणत्ति) । चलत् स्थितिक्षयादुदयमागच्छत् विपाकाभिमुखीभवद्यत्कर्मेति प्रकरणगम्यम् तच्चलितमुदितमिति व्यपदिश्यते । चलनकालो ह्युदयावलिका तस्य च कालस्यासङ्ख्येयसमयत्वादादिमध्यान्तयोगित्वं कर्मपुद्गलानामप्यनन्ताः स्कन्धा अनन्तप्रदेशास्ततश्च ते क्रमेण प्रतिसमयमेव चलन्ति तत्र योऽसावाद्यचलनसमयस्तस्मिंश्चलदेव तच्चलितमुच्यते कथं पुनस्तद्वर्तमानं सदतीतं भवतीत्यत्रोच्यते यथा पट उत्पद्यमानकाले प्रथमतन्तुप्रवेशे उत्पद्यमान एवोत्पन्नो भवतीति उत्पद्यमानत्वं च तस्य प्रथमतन्तुप्रवेशकालादारभ्य पट उत्पद्यत इत्येवं व्यपदेशदर्शनात्प्रसिद्धमेवोत्पन्नत्वं तूपपत्त्या प्रसाध्यते । तथा हि उत्पत्तिक्रियाकाल एव प्रथमतन्तुप्रवेशेऽसावुत्पन्नो यदि पुनर्नोत्पन्नोऽभविष्यत्तदा तस्याः क्रियाया वैयर्थ्यमभविष्यन्निष्फलत्वादुत्पाद्योत्पादनार्था हि क्रिया भवन्ति यथा च प्रथमे क्रियाक्षणे नासावुत्पन्नस्तथोत्तरेष्वपि क्षणेष्वनुत्पन्न एवासौ प्राप्नोति । को ह्युत्तरक्षणक्रियाणामात्मनि रूपविशेषो येन प्रथमसमये नोत्पन्नस्तदुत्तराभिस्तूत्पाद्यते । अतः सर्वदैवानुत्पत्तिप्रसङ्गः दृष्टा चोत्पत्तिरन्त्यतन्तुप्रवेशे पटस्य दर्शनात् । अतः प्रथमतन्तुप्रवेशकाल एव किञ्चिदुत्पन्नं पटस्य यावच्चोत्पन्नं न तदुत्तरक्रिययोत्पाद्यते । यदि पुनरुत्पाद्येत तदा तदेकदेशोत्पादन एव क्रियाणां कालानाञ्च क्षयः स्यात् यदि हि तदंशोत्पादननिरपेक्षा अन्याः क्रिया भवन्ति तदोत्तरांशानुक्रमणं युज्येत नान्यथा तदेवं यथा पट उत्पद्यमान एवोत्पन्नस्तथैवासंख्येयसमयपरिमाणत्वादुदयावलिकाया आदिसमयात्प्रभृति चलदेव कर्म चलितम् । कथं यतो यदि हि तत्कर्म चलनाभिमुखीभूतमुदयावलिकाया आदिसमय एव न चलितं स्यात्तदा तस्याद्यस्य चलनसमयस्य वैयर्थ्यं स्यात्तत्राचलितत्वात् यथा च तस्मिन् समये न चलितं तथा द्वितीयादिसमयेष्वपि न चलेत् को हि तेषामात्मनि रूपविशेषो येन प्रथमसमये न चलितमुत्तरेषु चलतीति । अतः सर्वदैवाचलनप्रसङ्गः । अस्ति चान्त्ये समये चलनं स्थितिपरिमितत्वेन कर्माभावाभ्युपगमात् अत आवलिकाकालादिसमय एव किञ्चिच्चलितं यच्च तस्मिंश्चलितं तन्नोत्तरेषु समयेषु चलति यदि तु तेष्वपि तदेवाद्यं चलनमभवेत्तदा तस्मिन्नेव चलने सर्वेषामुदयावलिकाचलनसमयानां क्षयः स्यात् । यदि हि तत्समयचलननिरपेक्षाण्यन्यसमयचलनानि भवन्ति तदोत्तरचलनानुक्रमणं युज्येत नान्यथा तदेवं चलदपि तत्कर्म चलितम्भवतीति ॥ १ ॥ तथा (उदीरिज्जमाणे उदीरिएत्ति) उदीरणा नाम अनुदयप्राप्तं चिरेणागामिना कालेन यद्वेदितव्यं कर्मदलिकं तस्य विशिष्टाध्यवसायलक्षणेन करणेनाकृष्योदये प्रक्षेपणं सा चासङ्ख्येयसमयवर्तिनी तथा च पुनरुदीरणया उदीरणाप्रथमसमय एवोदीर्यमाणं कर्म पूर्वोक्तपटदृष्टान्तेनोदीरितम्भवतीति ॥ २ ॥ तथा (वेइज्जमाणे वेइएत्ति) वेदनं कर्मणो भोगोऽनुभव इत्यर्थस्तच्च वेदनं स्थितिक्षयादुदयप्राप्तस्य कर्मण उदीरणाकरणेन चोदयमुपनीतस्य भवति तस्य च वेदनाकालस्यासङ्ख्येयसमयत्वादाद्यसमये वेद्यमानमेव वेदितम्भवतीति । ॥ ३ ॥ तथा । (पहेज्जमाणे पहीणेत्ति) प्रहीणं तु जीवप्रदेशैः सह संश्लिष्टस्य कर्मणस्तेभ्यः पतनमेतदप्यसंख्येयसमयपरिमाणमेव तस्य तु प्रहीणस्यादिसमये प्रहीयमाणं कर्म प्रहीणं स्यादिति ॥ ४ ॥ तथा (छिज्जमाणे छिण्णेत्ति) । छेदनं तु कर्मणो दीर्घकालानां स्थितीनां ह्रस्वताकरणं तच्चापवर्तनाभिधानेन करणविशेषेण करोति । तदपि च छेदनमसंख्येयसमयमेव तस्य त्वादिसमये स्थितितश्छिद्यमानं कर्म छिन्नमिति ॥ ५ ॥ तथा । (भिज्जमाणे भिण्णेत्ति) भेदस्तु कर्मणः शुभस्याशुभस्य वा तीव्ररसस्यापवर्तनाकरणेन मन्दताकरणं मन्दस्य चोद्वर्तनाकरणेन तीव्रताकरणं सोऽपि चासंख्येयसमय एव ततश्च तदा-

द्यसमये रसतो भिद्यमानं कर्म्म भिन्नमिति ॥ ६ ॥ तथा । (दज्झमाणे दड्ढेत्ति) दाहस्तु कर्मकलिकदारूणां ध्यानाग्निना तद्रूपापनयनमकर्म्मत्वजननमित्यर्थः । तथा हि काष्ठस्याग्निना दग्धस्य काष्ठरूपापनयनं भस्मात्मना च भवनं दाहस्तथा कर्म्मणोऽपीति तस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तवर्तित्वेनासंख्येयसमयस्याद्यसमये दह्यमानं दग्धमिति ॥ ७ ॥ तथा (मिज्जमाणे मडेत्ति) म्रियमाणमायुः कर्म मृतमिति व्यपदिश्यते मरणं ह्यायुःपुद्गलानां क्षयस्तच्चासंख्येयसमयवर्त्ति भवति तस्य च जन्मनः प्रथमसमयादारभ्यावीचिकमरणेनानुक्षणं मरणस्य भावान्म्रियमाणं मृतमिति ॥ ८ ॥ तथा । (णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णेत्ति) निर्जीर्यमाणं नितरामपुनर्भावेन क्षीयमाणङ्कर्म्म निर्जीर्णं क्षीणमिति व्यपदिश्यते निर्जरणस्यासंख्येयसमयभावित्वेन तत्प्रथमसमय एव पटनिष्पत्तिदृष्टान्तेन निर्ज्जीर्णत्वस्योपपद्यमानत्वादिति पटदृष्टान्तश्च सर्वपदेषु सम्भावनिको वाच्यः ॥ ६ ॥ तदेवमेतान्नव प्रश्नान् गौतमेन भगवता भगवान् महावीरः पृष्टः सन्नुवाच । (हन्तेत्यादि) अथ कस्माद्भगवन्तं गौतमः पृच्छति ? विरचितद्वादशाङ्गतया विदितसकलश्रुतविषयत्वेन निखिलसंशयातीतत्वेन च सर्वज्ञकल्पत्वात्तस्य आह च "संखाईए उ भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छेज्जा । णयणं अणाइसेसी, वियाणई एस छउमत्थोत्ति" ॥१॥ नैवमुक्तगुणत्वेऽपि छद्मस्थतयाऽनाभोगसम्भवात् । यदाह "न हि नामानाभोगा, छद्मस्थस्येह कस्यचिन्नास्ति । यस्माज्ज्ञानावरणं, ज्ञानावरणप्रकृतिकर्म्मेति ॥ १ ॥ अथवा जानत एव तस्य प्रश्नः सम्भवति स्वकीयबोधसंवादनार्थमज्ञलोकबोधनार्थं शिष्याणां वा स्ववचसि प्रत्ययोत्पादनार्थं सूत्ररचनाकल्पसम्पादनार्थं चेति तत्र (हंता ! गोयमेत्ति) हन्त इति कोमलामन्त्रणार्थो दीर्घत्वं च मागधदेशीप्रभवमुभयत्रापि (चलमाणे इत्यादि) प्रत्युच्चारयन्तु चलदेव चलितमित्यादीनां स्वानुमतत्वप्रदर्शनार्थम् । वृद्धाः पुनराहुः "हन्ता ! गोयमा ! इत्यत्र" हन्त इति एवमेतदित्यभ्युपगमवचनं यदनुमतं तत्प्रदर्शनार्थञ्चलमाणे इत्यादि प्रत्युच्चारितमिति, इह यावत् करणलभ्यानि पदानि सुप्रतीतान्येव एवमेतानि नव पदानि कर्माधिकृत्य वर्त्तमानातीतकालसमानाधिकरणजिज्ञासया पृष्टानि निर्णीतानि च । अथैतान्येव चलनादीनि परस्परतः किं तुल्यार्थानि भिन्नार्थानि वेति पृच्छां निर्णयं च दर्शयितुमाह ।

एए णं भंते! नव पदा किं एगट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा उदाहु णाणट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा । गोयमा ! चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए वेइज्जमाणे वेइए पहिज्जमाणे पहीणे एएणं चत्तारि पया एगट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा उप्पन्नपक्खस्स छिज्जमाणे छिन्ने भिज्जमाणे भिन्ने दज्झमाणे दड्ढे मिज्जमाणे मए णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे एएणं पंच पदा णाणट्ठा णाणाघोसा णाणावंजणा विगयपक्खस्स ।

"एएणं भंते" इत्यादि व्यक्तं नवरम् । (एगट्ठत्ति) एकार्थान्यनन्यविषयाणि एकप्रयोजनानि वा (णाणाघोसत्ति) इह घोषा उदात्तादयः । (णाणा वंजणेत्ति) इह व्यञ्जनान्यक्षराणि । (उदाहुत्ति) उताहो निपातो विकल्पार्थः (णाणट्ठत्ति) भिन्नाभिधेयानि इह च चतुर्भङ्गी पदेषु दृष्टा । तत्र च कानिचिदेकार्थान्येकव्यञ्जनानि यथा क्षीरं क्षीरमित्यादीनि ॥१॥ तथाऽन्यानि एकार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा क्षीरं पय इत्यादीनि ॥ २ ॥ तथाऽनेकार्थान्येकव्यञ्जनानि यथाऽर्कगव्यमाहिषाणि क्षीराणि ॥ ३ ॥ तथाऽन्यानि नानार्थानि नानाव्यञ्जनानि यथा घटपटलकुटादीनि ॥ ४ ॥ तदेवं चतुर्भङ्गीसम्भवेऽपि द्वितीयचतुर्थभङ्गकौ प्रश्नसूत्रे गृहीतौ, परिदृश्यमाननानाव्यञ्जनतया तदन्ययोरसम्भवात् निर्वचनसूत्रे तु चलनादीनि चत्वारि पदान्याश्रित्य द्वितीयः छिद्यमानादीनि तु पञ्च पदान्याश्रित्य चतुर्थ इति । ननु चलितादीनामर्थानां व्यक्तभेदत्वात्कथमाद्यानि चत्वारि पदान्येकार्थानीत्याशङ्क्याह । (उप्पन्नपक्खस्सत्ति) उत्पन्नमुत्पादो भावे क्तप्रत्ययविधानात् तस्य पक्षः परिग्रहोऽङ्गीकारः पक्षपरिग्रह इति धातुपाठादिति, उत्पन्नपक्ष इह च षष्ठ्यास्तृतीयार्थत्वादुत्पन्नपक्षेण उत्पादाङ्गीकारेण उत्पादाख्यं पर्यायं परिगृह्यैकार्थान्येतान्युच्यन्ते । अथवा उत्पन्नपक्षस्य उत्पादाख्यवस्तुविकल्पस्याभिधायकानीति शेषः सर्वेषामेषामुत्पादमाश्रित्यैकार्थकारित्वादेकान्तर्मुहूर्त्तमध्यभावित्वेन तुल्यकालत्वाच्चैकार्थिकत्वमिति भावः। स पुनरुत्पादाख्यः पर्यायो विशिष्टः केवलोत्पाद एव यतः कर्मचिन्तायाङ्कर्म्मणः प्रहाणे फलद्वयं केवलज्ञानमोक्षप्राप्ती तत्रैतानि पदानि केवलोत्पादविषयत्वादेकार्थान्युक्तानि यस्मात् केवलज्ञानपर्यायो जीवेन न कदाचिदपि प्राप्तपूर्वो यस्माच्च प्रधानस्ततस्तदर्थ एव पुरुषप्रयासस्तस्मात्स एव केवलज्ञानोत्पत्तिपर्यायोऽभ्युपगतः । एषाञ्च पदानामेकार्थानामपि सतामयमर्थः सामर्थ्यप्रापितक्रमो यदुत पूर्वं चलति उदेतीत्यर्थः । उदितञ्च वेद्यते अनुभूयत इत्यर्थः । तच्च द्विधा स्थितिक्षयादुदयप्राप्तमुदीरणया चोदयमुपनीतं ततश्चानुभवानन्तरं तत्प्रहीयते दत्तफलत्वाज्जीवादपयातीत्यर्थः । एतच्च टीकाकारमतेन व्याख्यातमन्ये तु व्याख्यान्ति स्थितिबन्धाद्यविशेषितसामान्यकर्माश्रयत्वादेकार्थिकान्येतानि केवलोत्पादपक्षस्य च साधकानीति चत्वारि चलनादीनि पदान्येकार्थिकानीत्युक्ते शेषाण्यनेकार्थिकानीति सामर्थ्यादवगतमपि सुखावबोधाय साक्षात्प्रतिपादयितुमाह । "छिज्जमाणेत्यादि" व्यक्तं नवरं (णाणट्ठत्ति) नानार्थानि नानार्थत्वं त्वेवं छिद्यमानं छिन्नमित्येतत्पदं स्थितिबन्धाश्रयं यतः सयोगिकेवली अन्तकाले योगनिरोधं कर्तुकामो वेदनीयनामगोत्राख्यानां तिसृणां प्रकृतीनां दीर्घकालस्थितिकानां सर्वापवर्त्तनान्तर्मौहूर्त्तिकं स्थितिपरिमाणं करोति । तथा भिद्यमानं भिन्नमित्येतत्पदमनुभावबन्धाश्रयं तत्र च यस्मिन् काले स्थितिघातं करोति तस्मिन्नेव काले रसघातमपि करोति केवलं रसघातः स्थितिखण्डकेभ्यः क्रमप्रवृत्तेभ्योऽनन्तगुणाभ्यधिकोऽतोऽनेन रसघातकरणेन पूर्वस्माद्भिन्नार्थं भवति । तथा दह्यमानं दग्धमित्येतत्पदं प्रदेशबन्धाश्रयं प्रदेशबन्धस्त्वनन्तानामनन्तप्रदेशानां स्कन्धानां कर्मत्वापादनं तस्य च प्रदेशबन्धकर्मणः सत्कानां पञ्च ह्रस्वाक्षरोच्चारणकालपरिमाणयाऽसंख्यातसमयया गुणश्रेणीरचनया पूर्वं रचितानां शैलेश्यवस्थाभाविसमुच्छिन्नक्रियाध्यानाग्निना प्रथमसमयादारभ्य यावदन्त्यसमयस्तावत्प्रतिसमयं क्रमेणासंख्यगुणवृद्धानां कर्मपुद्गलानां दहनं दाहोऽनेन च दहनार्थं नेदं पूर्वस्मात्पदाद् भिन्नार्थं पदं भवति दाहश्चान्यत्रान्यथारूढोऽपीह मोक्षचिन्ताधिकारान्मोक्षसाधन उक्तलक्षणकर्मविषय एव ग्राह्य इति । तथा म्रियमाणं मृतमित्येतत्पदमायुःकर्मविषयं यत आयुष्कपुद्गलानां प्रतिसमयं क्षयो मरणमनेन च मरणार्थेन पूर्वपदेभ्यो भिन्नार्थत्वाद्भिन्नार्थं पदं भवति तथा म्रियमाणं मृतमित्यनेनायुःकर्मैवोक्तं यतः कर्मैव तिष्ठज्जीवतीत्युच्यते कर्म्मैव च

जीवाद्पगच्छन्म्रियत इत्युच्यते । तच्च मरणं सामान्येनोक्तमपि विशिष्टमेवाभ्युपगन्तव्यं यतः संसारवर्त्तीनि मरणान्यनेकशोऽनुभूतानि दुःखरूपाणि चेति किं तैर्मरणैरिह पुनः पदे पुनर्यं मरणमन्त्यं सर्वकर्मक्षयसहचरितमपवर्गहेतुभूतमिति । विवक्षितमिति । तथा निर्जीर्यमाणं निर्जीर्णमित्येतत्पदं सर्वकर्माभावविषयं यतः सर्वकर्मनिर्जरणं न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं जीवेनेति अतोऽनेन सर्वकर्माभावरूपनिर्जरणार्थेन पूर्वपदेभ्यो भिन्नार्थत्वाद्भिन्नार्थं पदं भवति । अथैतानि पदानि विशेषतो नानार्थान्यपि सन्ति सामान्यतः कस्य पक्षस्याभिधायकतया प्रवृत्तानीत्यस्यामाशङ्कायामाह (विगयपक्खस्सत्ति) विगतं विगमो वस्तुनोऽवस्थान्तरापेक्षया विनाशः स एव पक्षो वस्तुधर्मस्तस्य वा पक्षः परिग्रहो विगतपक्षस्य वाचकानीति शेषः । विगतं ह्यशेषकर्माभावोऽभिमतो जीवेन तस्याप्राप्तपूर्वं यतोऽत्यन्तमुपादेयत्वात्सदर्थत्वाच्च पुरुषप्रयासस्येति एतानि चैवं विगमार्थानि भवन्ति । छिद्यमानपदे हि स्थितिखण्डनं विगम उक्तो, भिद्यमानपदे त्वनुभावभेदो विगमो, दह्यमानपदे त्वकर्मताभवनं विगमो, म्रियमाणपदे पुनरायुष्कर्माभावो विगमो निर्जीर्यमाणपदे त्वशेषकर्माभावो विगम, उक्तस्तदेवमेतानि विगतपक्षस्य प्रतिपादकानीत्युच्यन्ते । यच्च यत्पञ्चमाङ्गादिसूत्रोपन्यासे प्रेरितं यदुत केनाभिप्रायेणेदं सूत्रमुपन्यस्तमिति तत्केवलज्ञानोत्पादसर्वकर्मविगमाभिधानरूपसूत्राभिप्रायव्याख्यानेन निर्णीतमिति, एतत्सूत्रसंवादिसिद्धसेनाचार्योऽप्याह " उप्पज्जमाणकालं, उप्पन्नं विगयं विगच्छंतं । दवियं पन्नवयंतो, तिकालविसयं विसेसेत्ति ॥ १ ॥ उत्पद्यमानकालमित्यनेन आद्यसमयादारभ्योत्पत्त्यन्तसमयं यावदुत्पद्यमानत्वस्येष्टत्वाद्वर्तमानभविष्यत्कालविषयं द्रव्यमुक्तमुत्पन्नमित्यनेन तु अतीतकालविषयमेवं विगतं विगच्छदित्यनेनापीति ततश्चोत्पद्यमानादि प्रज्ञापयन् स भगवान् द्रव्यं विशेषयति । कथं त्रिकालविषयं यथा भवतीति संवादगाथार्थः । अन्ये तु कर्मेति पदस्य सूत्रेऽनभिधानाच्चलनादिपदानि सामान्येन व्याख्यान्ति न कर्म्मापेक्षयैव तथा हि (चलमाणे चलिएत्ति) इह चलनमस्थिरत्वपर्यायेण वस्तुन उत्पादः (वेइज्जमाणे वेइएत्ति) व्येज्यमानं कम्पमानं व्येजितं कम्पितमेजृ कम्पन इति वचनात् व्येजनमपि तद्रूपापेक्षयोत्पाद एव (उदीरिज्जमाणे उदीरिएत्ति) इहोदीरणं स्थिरस्य सतः प्रेरणं तदपि चलनमेव (पहेज्जमाणे पहीणेत्ति) प्रहीयमाणं प्रभ्रश्यत् परिपतदित्यर्थः प्रहीणं प्रभ्रष्टं परिपतितमित्यर्थः । इहापि प्रहाणं चलनमेव चलनादीनां चैकार्थत्वं सर्वेषां गत्यर्थत्वात् (उप्पन्नपक्खस्सति) चलनत्वादिना पर्यायेणोत्पन्नत्वलक्षणपक्षस्याभिधायकान्येतानीति तथा छेदभेददाहमरणनिर्जरणान्यकर्मार्थान्यपि व्याख्येयानि तद्व्याख्यानं च प्रतीतमेव भिन्नार्थता पुनरेषामेवं कुठारादिना लतादिविषयच्छेदस्तोमरादिना शरीरविषयो भेदोऽग्निना दार्वादिविषयो दाहो, मरणन्तु प्राणत्यागो, निर्जरा त्वतिपुराणी भवनमिति । (विगयपक्खस्सत्ति) भिन्नार्थान्यपि सामान्यतो विनाशाभिधायकान्येतानीत्यर्थः । न च वक्तव्यं किमेतैश्चलनादिभिरिह निरूपितैरतत्स्वरूपत्वादेषामिति अतत्स्वरूपस्यासिद्धत्वात् तदासिद्धिश्च निश्चयनयमतेन वस्तुस्वरूपस्य प्रज्ञापयितुमारब्धत्वात्तथा हि व्यवहारनयश्चलितमेव चलितमिति मन्यते निश्चयनयस्तु चलदपि चलितम । अत्र बहुवक्तव्यं तच्च विशेषावश्यकादिहैवाभिधास्यमानजमालिचरिताच्चावसेयमिति ॥ भ० १ श० १ उ० ॥

जमालिचरिते च वेदनाभिभूतो जमालिः संस्तारकसंस्तरणायाज्ञाप्य तैराज्ञैः श्रमणैः संस्तृते प्ररूपयत् ।

सेज्जासंथारए किं कमे कज्जइ तए णं समणा णिग्गंथा तं जमालिं अणगारं एवं वयासी । णो खलु देवाणुप्पिया णं सेज्जा संथारए कडे कज्जइ तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए जाव समुप्पज्जित्था जं णं समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ जाव एवं परूवेइ एवं खलु चलमाणे चलिए उदीरिज्जमाणे उदीरिए जाव णिज्जरिज्जमाणे णिज्जिण्णे तं णं मिच्छा इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ सेज्जा संथारए कज्जमाणे अकडे संथारिज्जमाणे असंथरिए जम्हा णं सेज्जासंथारए कज्जमाणे अकडे संथरिज्जमाणे असंथरिए तम्हा चलमाणे वि अचलिए जाव णिज्जरिज्जमाणे वि अणिज्जिण्णे एवं संपेहेइ संपेहेइत्ता समणे णिग्गंथे सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी जं णं देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ जाव परूवेइ एवं खलु चलमाणे चलिए तं चेव सव्वं जाव णिज्जरिज्जमाणे अणिज्जिण्णे तए णं तस्स जमालिस्स अणगारस्स एवमाइक्खमाणस्स जाव परूवेमाणस्स अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं सद्दहंति पत्तियंति रोयंति अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं णो सद्दहंति णो पत्तियंति णो रोयंति ॥

गाढतरं (किं कमे कज्जइत्ति) किं निष्पन्न उत निष्पद्यते अनेनातीतकालनिर्देशेन वर्त्तमानकालनिर्देशेन च कृतक्रियमाणयोर्भेद उक्तः । उत्तरेऽप्येवमेव तदेवं संस्तारककर्तृसाधुभिरपि क्रियमाणस्याकृततोक्ता ततश्चासौ स्वकीयवचनसंस्तारककर्तृसाधुवचनयोर्विमर्शात्प्ररूपितवान् क्रियमाणं कृतं यदभ्युपगम्यते तन्न सङ्गच्छते यतो येन क्रियमाणं कृतमित्यभ्युपगतं तेन विद्यमानस्य करणक्रिया प्रतिपन्ना तथा च बहवो दोषास्तथा हि यत्कृतं तत्क्रियमाणं न भवति विद्यमानत्वाच्चिरन्तनघटवत् । अथ कृतमपि क्रियते ततः क्रियतां नित्यं कृतत्वात्प्रथमसमय इवेति न च क्रियासमाप्तिर्भवति सर्वदा क्रियमाणत्वादिसमयवदिति । तथा यदि क्रियमाणं कृतं स्यात्तदा क्रियावैफल्यं स्यादकृतविषय एव तस्याः सफलत्वात् यथा पूर्वमसदेव भवद् दृश्यते इत्यध्यक्षविरोधश्च । तथा घटादिकार्यनिष्पत्तौ दीर्घः क्रियाकालो दृश्यते यतो नारम्भकाल एव घटादिकार्यं दृश्यते नापि स्थासादिकाले किं तर्हि तत्क्रियावसाने यतश्चैवं ततो न क्रियाकाले युक्तं कार्यं किं तु क्रियावसान एवेति (भ० ९ श० ३३ उ०) " अत्थेगइया समणा णिग्गंथा एयमट्ठं नो सद्दहंतित्ति " । ये च न श्रद्दधति तेषां मतमिदं नाकृतमभूतमविद्यमानमित्यर्थः क्रियते अभावात्खपुष्पवत् यदि पुनरकृतमप्यसदपीत्यर्थः क्रियते तदा खरविषाणमपि क्रियतामसत्वाविशेषात् । अपि च ये कृतकरणपक्षे नित्यक्रियादयो दोषा भणितास्तेऽसत्करणपक्षेऽपि तुल्या वर्त्तन्ते । तथा हि नात्यन्तमसत्क्रियतेऽसद्भावात् खरविषाणमिव । अथ वात्यन्तासदपि क्रियते तदा नित्यं तत्करणप्रसङ्गो न चात्यन्तासतः करणे क्रियासमाप्तिर्भवति तथात्यन्तासतः क-

रणे क्रियावैफल्यं च स्यादसत्वादेव खरविषाणवत् । अथवा विद्यमानस्य करणाभ्युपगमे नित्यक्रियादयो दोषाः कष्टतरका भवन्ति अत्यन्ताभावरूपत्वात् खरविषाण इव, विद्यमानपक्षे तु पर्यायविशेषणार्पणात्स्यादपि क्रियाव्यपदेशो यथा आकाशं कुरु तथा च नित्यक्रियादयो दोषा न भवन्ति न पुनरयं न्यायोऽत्यन्तासति खरविषाणादावस्तीति । यच्चोक्तं पूर्वमसदेवोत्पद्यमानं दृश्यत इति प्रत्यक्षविरोधस्तत्रोच्यते यदि पूर्वमभूतं सद्भवद् दृश्यते तदा पूर्वमभूतं सद्भवत्कस्मात्त्वया खरविषाणमपि न दृश्यते यच्चोक्तं दीर्घः क्रियाकालो दृश्यते तत्रोच्यते प्रतिसमयमुत्पन्नानां परस्परेण षड्विधलक्षणानां सुबहीनां स्थासकोशादीनामारम्भसमयेष्वेव निष्ठानुयायिनीनां कार्यकोटीनां दीर्घः क्रियाकालो यदि दृश्यते तदा किमत्र घटस्यायातं येनोच्यते दृश्यते दीर्घश्च क्रियाकालो घटादीनामिति यच्चोक्तं नारम्भे एव दृश्यते इत्यादि । तत्रोच्यते कार्यान्तरारम्भे कार्यान्तरं कथं दृश्यतां पटारम्भे घटवत् । शिवकस्थासकादयश्च कार्यविशेषा घटस्वरूपा न भवन्ति ततः शिवकादिकाले कथं घटो दृश्यतामिति ! किञ्च अन्त्यसमय एव घटः समारब्धस्तत्रैव च यद्यसौ दृश्यते तदा को दोषः ? एवञ्च क्रियमाण एव कृतो भवति क्रियमाणसमयस्य निरंशत्वात् । यदि च सम्प्रति समये क्रियाकालेऽप्यकृतं वस्तु तदा अतिक्रान्ते कथं क्रियतां कथं वा एष्यति क्रियायो उभयोरपि विनष्टत्वानुत्पन्नत्वेनासत्वादसम्बध्यमानत्वात्तस्मात्क्रियाकाल एव क्रियमाणं कृतमिति । आह च "थेराणमयं नाकय-मभावओकीरए खपुष्पं च । अहय अकयं पि कीरइ, कीरउ तो खरविसाणं पि" भ० ६श० १३ उ० । इत्यादिविस्तरेण प्रत्यपादि (एव चैवार्थो गंगदत्तशब्दे परिणमन्तः पुद्गलाः परिणताः इत्यमायिदेवेन प्रतिपादितस्य भगवतानुमोदनात्पुष्टीभविष्यति) आह । ननु यदि क्रियासमयेऽपि कार्यं भवति तर्हि तत्तत्र कस्मान्न दृश्यते एवेति चेन्नन्वहमपि किमिति तन्न पश्यामीत्याशङ्क्याह ॥

पइसमयकज्जकोडी–निरविक्खो घडगयाभिलासोसि ।
पइसमयकज्जकालं, थूलमए घडम्मि लाएसि ॥

इह यद्यस्मिन्समये प्रारभ्यते तत्तत्र निष्पद्यते दृश्यते च केवलं स्थूला सूक्ष्मेक्षिकाबहिर्भूतत्वाद्बादरदर्शिनी मतिर्यस्य तत्संबोधनं हे स्थूलमते ! त्वं घटे लगयसि किमित्याह । प्रतिसमयोत्पन्नानां कार्यकोटीनां कालः प्रतिसमयकालस्तं सर्वमपि घटस्यैवायं समस्तोऽपि मृत्पिण्डविधानचक्रभ्रमणादिक उत्पत्तिकाल इत्येवमेकस्मिन्नेव घटे संघटयसीत्यर्थः। कथं भूतः सन्नित्याह । प्रतिसमयोत्पद्यमानासु मृत्पिण्डशिवकस्थासकोशादिकासु सिद्धकेवलप्रभृतीनां ज्ञानजननादिकासु च कार्यकोटीषु निरपेक्षः कुतः पुनरेतदित्याह । यतो घटगताभिलाषोऽसि त्वं घटोऽस्यां मृद्गमचक्रचीवरादिसामग्र्यामुत्पत्स्यत इत्येवं केवलं घटाभिलाषयुक्तत्वाद्भवत इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति प्रतिसमयमपरापराण्येव शिवकादीनि कार्याण्युत्पद्यन्ते दृश्यन्ते च तानि च तथोत्पद्यमानानि त्वं नावबुध्यसे घटोत्पत्तिनिमित्तभूतैवेयं सर्वापि मृच्चक्रचीवरादिसामग्रीत्येवं केवलघटोऽभिलाषयुक्तत्वात् ततस्तन्निरपेक्ष एव स्थूलमतितया सर्वमपि तत्कालं घटे लगयसि । ततश्च प्राक्तनक्रियाक्षणेष्वनुत्पन्नत्वात् घटमदृष्ट्वा एवं भूते क्रियाकाले घटलक्षणं कार्यमहं न पश्यामि । इदं तु नावगच्छामि यदुत चरमक्रियाक्षण एव घटः प्रारभ्यते प्राक्तनक्रिया-काले तु शिवकादय एवारभ्यन्तेऽन्यारम्भे चान्यन्न दृश्यते एवेति व्यवहारवादी प्राह ।

को चरमसमयनियमो, पढमे च्चिय तो न कीरए कज्जं ।
नाकारणंति कज्जं, तं चेवं तम्मि से समए ॥

प्रथमसमयादारभ्य यद्यपरापराणि कार्याण्यारभ्यन्ते तर्हि कोऽयं चरमसमयनियमो येन विवक्षितं कार्यं प्रथमसमय एव न क्रियते अकरणे च ततस्तत्तत्र न दृश्यते नन्वाद्यकार्यवद्विवक्षितमपि तत्रैव क्रियतां दृश्यतां चेति भावः । अत्र निश्चयः प्रत्युत्तरमाह । नाकारणं कश्चित्कार्यमुत्पद्यते नित्यं सदसत्वप्रसङ्गान्न च तत्कारणं (से) तस्य विवक्षितकार्यस्य तदन्त्यसमये एवास्ति न प्रथमादिसमयेष्वतो न तेषूत्पद्यते नापि दृश्यत इति तदेवं क्रियाकाल एव कार्यं भवति न पुनस्तदुपरमे इत्युक्तम् । अथैवं नेष्यते तर्हि प्रस्तुतमाभिनिबोधिकज्ञानमेवाधिकृत्योच्यते ।

उप्पाए वि न नाणं, जइ तो सो कस्स होइ उप्पाओ ।
तम्मि य जइ अन्नाणं, तो नाणं कम्मि कालम्मि ॥

उत्पादनमुत्पादः कार्यस्योत्पत्तिहेतुभूतः क्रियाविशेषस्तत्रापि यदि मतिज्ञानं नेष्यते भवता क्रियमाणावस्थायामपि यदि कार्यं त्वया नाऽभ्युपगम्यत इति भावः । तर्हि उत्पाद्यमानस्यासत्वात्स कस्योत्पादो भवत्विति कथ्यतां न ह्यविद्यमानस्य खरविषाणस्यैवोत्पादो युक्तः यदि च तस्मिन् उत्पादकालेऽप्यज्ञानं तर्हि ज्ञानं कस्मिन् काले भविष्यतीति निवेद्यताम् । उत्पादोपरम इति चेन्ननु कथमन्यत्रोत्पादो ऽन्यत्र तूत्पन्नमिति । उत्पादोपरमे च भवत्कार्यमुत्पादात्प्रागपि कस्मान्न भवत्यविशेषादित्यायुक्तमेवेति यदुक्तम् " इय न सवेणाइकाले नाणमिति" तत्राह ।

को व सवणाइकालो, उप्पाओ जम्मि होज्ज से नाणं ।
नाणं च तदुप्पाओ, य दो वि चरिमम्मि समयम्मि ॥

वा च शब्दार्थे कश्च श्रवणादिकालो व्यवहारवादिन् ! भवतोऽभिप्रेतो यत्र ज्ञानं निषेधयसि हन्त ! त्वया मतिज्ञानस्योत्पादसमय एव श्रवणादिकालोऽवगन्तव्यो यत्र (से) तस्य शिष्यस्य मतिज्ञानं भवेन्नापरः । अथादित आरभ्य गुरुसन्निधाने धर्मश्रवणादय इव मतिज्ञानस्योत्पादकालो नाऽपरोऽवगन्तव्य इति चेन्नैवमित्याह । " नाण" मित्यादि ज्ञानं च मतिज्ञानलक्षणं तदुत्पादश्च तस्योत्पत्तिहेतुभूतः क्रियालक्षणः एतौ द्वावपि धर्मश्रवणादिक्रियासमयराशेश्चरमसमय एव भवतो न प्रथमादिसमयेषु तेष्वपराणामेव धर्मावबोधादिकार्याणामुत्पत्तेः । न च तद्बोधादिमात्रादपि सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिर्युज्यते अभव्येष्वपि तत्सद्भावात्तस्माद्विशिष्ट एव कस्मिंश्चिद्धर्मश्रवणादीनां चरमसमये मतिज्ञानं तदुत्पादश्च अतो युक्तमुक्तम् "जुत्तं न दत्तमिति" । अस्माभिरपि क्रियाकालस्यान्तसमये एव तस्येष्यमाणत्वात्तस्मान्न सर्वेषु धर्मश्रवणादिक्रियासमयेषु मतिज्ञानं नापि सर्वेषामपि तेषामुपरमे किन्त्वेकस्मिंस्तच्चरमसमये तदारभ्यते निष्पद्यते च अतः क्रियमाणमेव कृतम् । यदि कृतमपि क्रियते निश्चयवादिंस्तर्हि पुनः पुनरपि क्रियतां कृतत्वाविशेषादतः करणानवस्थेति चेन्नैवं क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात् । यदि हि तदुत्पादयित्री क्रिया प्रारब्धा सती उत्तरसमयेष्वपि प्राप्येत तदा स्यात्पुनरपि तत्कारणमेतच्च नास्ति यतोऽसौ तदुत्पादयित्री क्रिया न पूर्वं नाप्युत्तरत्रापि किं तु तस्मिन्नेव चरमसमये प्रारभ्यते निष्ठां च यातीति कुतः पुनरपि कार्यकारणमतो न तत्करणानवस्थेति

विशे० । (कारणशब्दे द्रव्यकारणप्रस्तावे कार्यकारणयोरभेदो लेशतो दर्शयिष्यते) कार्यस्य कारणानुरूपत्वमसार्वत्रिकम् । न च नियमतः कारणानुरूपं कार्यं वैसादृश्यस्यापि दर्शनात् । तथा हि शृङ्गाच्छरो जायते तस्मादेव सर्षपानुलिप्तात्तु तृणानीति । तथा गोलोमभ्यो दूर्वा ततो न नियमः। आ० म० प्र० । विशे० । सूत्र० (करणीये सुखसाध्यमपि कार्यं विनोपायेन न सिध्यतीति गच्छसारणाशब्दे)

कज्जपओयण-कार्य्यप्रयोजन-न० अवश्यकरणीयप्रयोजने, प्रश्न० अध० १ द्वा० १ श्र० ।

कज्जब्भास-कार्याभ्या (श) स-पुं० यदर्थं चेष्टते तत्कार्यं तस्याभ्याशः अभ्यशनमभ्याशः अशूङ् व्याप्ताविव्यस्य अभिपूर्वस्य घञन्तस्य प्रयोगः कार्याभ्याशः। कार्यस्यासन्नतायाम, कार्यस्य निकटीभवने, कर्म० "कज्जब्भासाणोगप्पवेसविसमीकयप्पवेसं " (वीरियशब्दे व्याख्या) अस्तु क्वेपेऽभ्यस्य तु दन्त्यान्त्यः स च पुनः पुनरनुशीलने, ।

कज्जमाण-क्रियमाण-त्रि० विधीयमाने, पंचा०१७ विव० "कमं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं" सूत्र०१ श्रु०८ अ०। विशे०। (कज्जमाणे कमेत्ति सिद्धान्तः कज्जकारणभावशब्दे दर्शितः)

कज्जया-कार्यता-स्त्री० तद्रूपेणाभिव्यक्तौ, न० ।

कज्जल-कज्जल-न० कुत्सितं जलमस्मात् कोः कदु। दीपशिखापतिते कृष्णद्रव्ये, जं० १ वक्ष० । रा० । मत्स्याम, ज्ञा० १ अ० ।

कज्जलंगी-कज्जलाङ्गी-स्त्री० कज्जलगृहे, औ० । ज्ञा० ।

कज्जलप्पभा-कज्जलप्रभा-स्त्री० जम्ब्वाः सुदर्शनायाः दक्षिणपूर्वस्यां पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्य उत्तरस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, जी० ३ प्रति० । जं० ।

कज्जलावेमाण-प्लाव्यमान-त्रि० उपर्युपरि प्लाव्यमाने "कज्जलावेमाणं पेहाए " आचा० २ श्रु० ३ अ० ।

कज्जवय-कार्य्यपद-पुं० जीवनहेतोर्मातापितृभ्यां ध्रियमाणे कज्जवयेतिनामबोध्ये बालके, अनु० ।

कज्जवसओ-कार्य्यवशतस्-अव्य० कार्याङ्गीकरणत इत्यर्थे, न स्वकार्यसिद्धये इति फलितार्थे, षो० १ विव० ।

कज्जसम-कार्य्यसम-न० स्वनामके जात्युत्तरेऽनुमानदोषे, सम्म० । कार्यसमं नाम जात्युत्तरमिति प्रतिपादितम् । यथोक्तं 'कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत्साध्यासिद्धिदर्शनम्'। तत्कार्यसममिति कार्यत्वसामान्यस्यानित्यत्वसाधकत्वेनोपन्यासेऽभ्युपगते धर्मिभेदेन विकल्पनबद्धुद्धिमत्कारणत्वे क्रियादेः कार्यत्वमात्रेण साध्येऽभीष्टे धर्मिभेदेन कार्यत्वादेर्विकल्पनात् आसादयतः सामान्येन कार्यत्वनित्यत्वयोर्विपर्यये बाधप्रमाणबलाद् व्याप्तिसिद्धौ कार्यत्वसामान्यशब्दादौ धर्मिण्युपलभ्यमानमनित्यत्वं साधयतीति कार्यत्वमात्रस्यैव तत्र हेतुत्वेनोपन्यासे धर्मविकल्पनं यत्तत्र क्रियते तत्सर्वानुमानोच्छेदकत्वेन कार्यसमं जात्युत्तरतामासादयति । सम्म० ॥

कज्जसेण-कार्य्यसेन-पुं० जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रेऽतीतायामुत्सर्पिण्यां जाते पञ्चमे कुलकरे, स० ।

कज्जहेउ-कार्य्यहेतु-पुं० प्रयोजननिमित्ते, चिकीर्षितकार्य्य प्रति आनुकूल्यकरणे, स्था० ४ ठा० । द्वितीयान्तः"कज्जहेउं" पञ्चम्यन्तो वा "कज्जहेओ" लोकोपचारविनयभेदे, तत्र कार्यहेतोर्ज्ञानादिनिमित्तं भक्तादिदानमिति गम्यम् ग० १ अधि० । भ० । अयमर्थः कार्यश्रुतप्रापणादिकं हेतुं कृत्वा श्रुतं प्रापितोऽहमनेनेति हेतोरित्यर्थो विशेषेण विनये तस्य वर्तितव्यं तदनुष्ठानं च कर्त्तव्यमिति स्था० ७ ठा० ।

कज्जिय-कार्यिक-त्रि० कार्यार्थिनि, व्य० ३ उ० ।

कज्जोवग-कार्य्योपग-त्रि० अष्टाशीतिमहाग्रहाणां पञ्चदशे महाग्रहे, 'दो कज्जोवगा' स्था०२ठा०। चं०प्र०। जं०। सू० प्र०। कल्प०।

कञ्चुअ-कञ्चुक-न० वर्गेऽन्त्यो वा ८। १ ।३० । इत्यनुस्वारस्य ञः । चोलके, प्रा० ।

कञ्ञका-कन्यका-स्त्री० कन्या-कन् मागध्यां न्यण्यज्ञञ्जां ञ्ञः। ८। ४ । २९२ । इति द्विरुक्तो ञ्ञः । कन्याशब्दार्थे , प्रा० ।

कट्टर-कट्टर-न० कट-वर्षादौ ष्वरच्-व्यञ्जने, दधिसरे, रत्नमा० दध्नस्तु सस्सरस्यात्र तक्रं कट्टरमुच्यते वैद्यकोक्ते तक्रभेदे, कटुकायाम, भावप्र०वाच०। खण्डे, 'चित्तकट्टरेइ वा' कट्टरं खंडं अनु०।

कट्टु-कृत्वा-अव्य० आर्षत्वात् क्त्वाप्रत्ययस्य टुः प्रा० । विधायेत्यर्थे, स्था० ८ ठा० । इति कट्टु इति कृत्वा दशा० १ अ० । उत्त० । आचा० । अनु० । विपा० । कल्प० । कट्टोरगपात्रभेदे, "ततो पासेहिं करोडगा कट्टोरगा मंकुया सिप्पाओ य नविज्जंति" नि० चू० १ उ०

कट्ठ-कष्ट-न० कस-क्त- । कृच्छ्रगहनयोः कषः इतीण् निषेधः । ह्रस्यानुष्ट्रेष्टासंदष्टे ८ । २ । ३४ । इति ष्टस्य ठः । प्रा० । द्वितीयतुर्य्ययोरुपरि पूर्वः ८ । २ । ९० । इति द्वितीयस्योपरि पूर्वः । प्रा० । दुःखे, ज्ञा० ९ अ० । क्लेशहेतुके, वि० ७ अ० । पीडायाम, व्यथायाम, पीडायुक्ते, गहने, पीडाकारके, कष्टसाध्ये बहूपायेन शाम्ये रिपुरोगादौ, । कष्टसाधने, पापे च । वाच० ।

काष्ठ-न० काशत्यनेन काश-कथन् नेट् शस्य षः । समिदादितृणकाष्ठे, उत्त० १२ अ० । स्था० । शमीवृक्षस्येन्धने, "कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं" उत्त० १२ अ० । दारुणि, पिं० । शालादिस्तम्भे, नि० चू० ५ उ० । "ससारमतिशुष्कं यत् , सुषिमध्ये समेष्यति । तत्काष्ठं काष्ठमित्याहुः, खदिरादिसमुद्भवम् । इत्युक्तलक्षणे दारुभेदे च वाच० । राजगृहवास्तव्ये स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, तत्कथा धर्मलाभप्रकरणादवसेया आ० म० द्वि० । आ०चू०।

कट्ठकम्म-काष्ठकर्म्मन्-न० क्रियत इति कर्म काष्ठे कर्म काष्ठकर्म-काष्ठनिष्कुट्टिते रूपके, यत्र स्थापनाचार्य्यः क्रियते । अनु०। ग० । नि० चू० । प्रतिस्तम्भद्वादशादौ, आचा०। १श्रु० १ अ०-५ उ० । रथादौ, आचा० २ श्रु०१२ अ० । कर्म करणम् काष्ठस्य कर्म । दारुमयपुत्रिकादिनिर्मापणे, ज्ञा० १३ अ० ।

कट्ठकम्मंत-काष्ठकर्मान्त्-न० काष्ठकर्मगृहे, यत्र काष्ठपरिकर्म क्रियते । आचा० २ श्रु० २ अ० ।

कट्ठकरण-काष्ठकरण-न० श्यामाकस्य गृहपतेः क्षेत्रे, " ततो सामी जं भियगामं गतो तस्स बहिया वि यात्र तस्स चेइयस्स अदूरसामंते जुवालिए नदीए तीरे उत्तरिल्ले कूले सामागस्स गाहावइस्स कट्ठकरणं नाम खेत्तं" आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

कट्ठकार-कष्टकार -पुं० कष्टं करोति कृ-अण्-उप० स० । संसारे, त्रिका० । पीडाकारके, त्रि० वाच० ।

काष्ठकार-पुं० काष्ठशिल्पोपजीविनि, अनु० । प्रज्ञा० ।

कट्ठकोलंब-काष्ठकोलम्ब-पुं० शाखिशाखानामवनतमग्रभाजनं

वा कोलम्ब उच्यते । काष्ठस्य कोलम्ब इव काष्ठकोलम्बः। परिदृश्यमानाधनतद्ध्यास्थिकत्वात् । काष्ठमयकोलम्बसदृशे उदरादौ, " कट्ठकोलंबे व से (धन्यानगारस्य) उदरं " अणु० ॥

कट्ठखाय–काष्ठखाद्–पुं० काष्ठं खादतीति काष्ठखादः । काष्ठखादके घुणे, स्था० ४ ठा० ।

कट्ठखायसमाणभिक्खाग–काष्ठखादसमानभिक्षाक–पुं० निर्विकृतिकाहारतया काष्ठखादकघुणसमाने भिक्षौ, स्था०२४ ठा०।

कट्ठघडण–काष्ठघटन–न० षष्टितमे कलाभेदे, कल्प० ।

कट्ठदल–काष्ठदल–न० तुवरीसूपे, "कट्ठदलं सिणेहवियलं जं " ल० प्र० ।

कट्ठपाउया–काष्ठपादुका–स्त्री० काष्ठनिर्मितपादुकायाम, " कट्ठया उपाति वा जरग्गवाहणत्ति वा । अणु० ।

कट्ठपीढय–काष्ठपीठक–न० काष्ठमयपीठके, निचू० १२ उ० ।

कट्ठपुत्तलिया–काष्ठपुत्तलिका–स्त्री० काष्ठकर्मणि, यत्र स्थापनावश्यकं स्थाप्यते । अनु० ॥

कट्ठपेज्जा–काष्ठपेया–स्त्री० मुद्गादियूषे, घृततलिततण्डुलपेयायां च । उपा० १ अ० ।

कट्ठभूय–काष्ठभूत–त्रि० अत्यन्तनिश्चेष्टतया काष्ठोपमे,उत्त०१२अ०।

कट्ठमुद्दा–काष्ठमुद्रा–स्त्री० काष्ठस्येवाकारे काष्ठमयमुखबन्धने, " कट्ठमुद्दाए मुहं बंधइ बंधइत्ता " यथा काष्ठं काष्ठमयः पुत्तलको न जायते एवं सोऽपि मौनावलम्बी जातः यद्वा मुखस्याच्छादकं काष्ठखण्डमुभयपार्श्वयोश्छिद्रप्रोथितदवरकान्वितं मुखबन्धनं काष्ठमुद्रा तया मुखं बध्नाति, नि० ॥

कट्ठमूल–काष्ठमूल–न० चणकचवलकादिद्विदले, बृ० १ उ० ।

कट्ठमूलरस–काष्ठमूलरस–न० द्विदलरसेन परिणामिते पानके, ध० ३ अधि०। काष्ठमूलं चणकचवलकादि द्विदलं तदीयरसेन यत्परिणामितं तत्काष्ठमूलरसं नाम पानकम् इत्युक्तेः बृ०१ उ०।

कट्ठसगडिया–काष्ठशकटिका–स्त्री० काष्ठभूतायां शकटिकायाम, भ० २ श० १ उ० ।

कट्ठसमस्सिय–काष्ठसमाश्रित–त्रि० काष्ठाद्याश्रिते, "संसे यथा कट्ठसमस्सिया य" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

कट्ठसिला–काष्ठशिला–स्त्री० काष्ठं चासौ शिलेवायतिविस्ताराभ्यां शिला सा चेति काष्ठशिला । स्था० ३ ठा० ।काष्ठफलकरूपे संस्तारकभेदे, पंचा० १८ विव० । आचा० ।

कट्ठसेज्जा–काष्ठशय्या– स्त्री० काष्ठं स्थूलमायतमेव तद्रूपा शय्या तत्र वा शय्या शयनम । पाडियामिकसाधुभ्योऽनुज्ञाते काष्ठशिलाशयने, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

कट्ठहार–काष्ठहार–पुं० त्रीन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० । उत्त० । प्रज्ञा० ।

कट्ठा–काष्ठा–स्त्री० दिशि, स्था० २ ठा० अष्टादशनिमेषात्मके काले, तं० । प्रकर्षे, सू० प्र० ६ पाहु० । सीमायाम, दारुहरिद्रायां च । वाच० ।

कट्ठाइ–काष्ठादि–त्रि० दारुपाषाणप्रभृतौ, पंचा० ७ विव० । आदिशब्दात्कण्टकशर्करादिग्रहः । पंचा० १८ विव० ।

कट्ठिय–काष्ठित–त्रि० काष्ठादिभिः संस्कृते कुड्यादौ, "कट्ठिए वा उक्कंबिए वा छन्ने वा लित्ते वा घट्ठे वा मट्ठे वा सम्मट्ठे वा संपधूमिते वा तहप्पगारे उवस्सए" आचा० २ श्रु० २ अ० ।

कट्ठोवम–काष्ठोपम–त्रि० विषमकाष्ठतुल्ये, प्रति० ।

कड–कट–पुं० कट–कर्तरि–अच् । हस्तिगण्डे, मदवर्षणा तथात्वम । गण्डमात्रे, स्वेदवर्षणात्तथात्वम् वाच० । "कडतडाइं" गण्डतटानि, ज्ञा० १ अ० । नलाख्ये तृणे, अमरः । आवरणकारके, त्रि०। अतिशये, उत्कटे, शरे, समये, आचारे, मेदि०। उशीरादितृणमात्रे, धरणिः । शवे, प्रेते, शवरथे, ओषधिभेदे, श्मशाने, हेमचं० । तप्तकाष्ठे, शब्दर० । क्रियाकारकमात्रे, त्रि० हेमचं० । द्यूतक्रीडासाधनद्रव्ये च । वाच० । कटादिभिरातानवितानभावेन निष्पाद्यमाने आशनविशेषे, कट इव कट इत्युपचारात्तत्त्वादिमये आसनभेदे च ।

चत्तारि कडा पण्णत्ता तंजहा सुंठकडे विदलकडे चम्मकडे कंबलकडे ॥

(सुंठकडेत्ति) तृणविशेषनिष्पन्नः (विदलकडेत्ति) वंशशकलकृतः (चम्मकडेत्ति) वर्द्धव्यूतमञ्चकादिः (कंबलकडेत्ति) कम्बलमेवेति । स्था० ४ ठा० । आ० म० प्र० । सान्तरवंशमये, बृ० २ उ० । वंशकटादौ, बृ० १ उ०। पर्वतैकदेशे, ज्ञा०१ अ० । बृ० । संस्तारके च । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कृत–त्रि० कृ. क. परिकर्मिते, कल्प० । अनुष्ठिते " कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं " सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। विहिते, उत्त० १ अ०। अन्त० । निर्वर्तिते, आव०४ अ०। उपार्जिते, उत्त०३ अ०। पूर्वपरिणामापेक्षया परिणामान्तरेण कृते, भ० १२ श० ४ उ० । निष्पादिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

इदानीं कृतपदनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद्गाथामाह ।

करणं च कारओ य, कडं च तिण्हं पि छक्कनिक्खेवो ।
दव्वे खित्ते काले, भावेण उ कारओ जीवो ॥४॥

(करणं चेत्यादि) इह कृतमित्यनेन कर्मोपात्तं न चाकर्तृकं कर्म भवतीत्यर्थात्कर्तुराक्षेपो धात्वर्थस्य च करणस्यामीषां त्रयाणामपि प्रत्येकं नामादिः षोढा निक्षेपः । सूत्र० १ श्रु० १ अ०१ उ० ।(अत्र करणनिक्षेपप्रदर्शनेन कृतनिक्षेपोऽपि सुबोधो भविष्यतीति बुद्ध्या कृतनिक्षेपो न प्रादर्शि क्रियमाणं कृतमिति भगवदुक्तेर्जमालिनाऽश्रद्धानं तदुत्तरं च कज्जकारणभावशब्दे दर्शितमथ च जमालिशब्देऽपि किञ्चिद्दर्शयिष्यते) क्रियानिष्पाद्ये, " से देसे णं देसे कडे देसे णं सव्वे कडे" भ० १ श० २ उ० । तैः विवक्षितपुरुषैः अन्यैर्वा श्रावकीकृते कुले, कल्प० । साधूनाधायोद्दिश्य कृते निष्पादिते आधाकर्मणि , सूत्र० १श्रु०१अ० । " कडेसु घासमेसेज्जा, विउ दत्ते स णं चरे" गृहस्थैः परिग्रहारम्भद्वारेणात्मार्थं ये निष्पादिता ओदनादयस्ते कृता उच्यन्ते तेषु कृतेषु परकृतेषु परनिष्ठितेषु इत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० १ अ०४ उ० । " उवक्खडं तु कडं होइ " उपस्कृतं तु अवादिबुद्धावादिकर्मविवक्षायां क्तः प्रत्ययः ततोऽयमर्थः । उपस्कर्तुमारब्धमिति भावः कृतं भवति इत्यादिराधाकर्मशब्दे कृतशब्दार्थो विस्तरत उक्तस्तत एवावगन्तव्यम पिं०। कृतयुगे चतुष्के, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।फले च न० साधिते, पक्के, पर्याप्ते च त्रि० चतुरङ्कयुक्ते, पाशकभेदे, दासभेदे च पुं०–भावे, क्त–क्रियायाम न० कृतपूर्वीकटम वाच० ।

कडंगर–कडङ्गर–न० कडं भक्षणीयं शस्यादि गिरति अभ्यन्तरे

निवेशयनिग्र-अत्र-नि०मुम वुसे, मुद्रादेः फलशून्यनामिकाकाष्ठे, अमरः । वाच० । स्था० ।

कडंब-कटम्ब-पुं०कट-धातूनामनेकार्थत्वाद् वादने, अम्बच् वादित्रे, वाच० । स च द्वादशतूर्यनिर्घोषाणां चतुर्थः । आ० म० प्र० । औ० ।

कडम्ब-शाकनाडिकायाम, कोणे, प्रान्तभागे च वाच० ।

कडक्ख-कटाक्ष-पुं० कटं गण्डमर्क्षति व्यश्नोति अच् अपाङ्गदृष्टौ, अमरः वाच० । "सकडक्खदिट्ठीओ" सकटाक्षाः सापाङ्ग दृश्यश्चावलोकितानि ज्ञा० ९ अ० । अर्द्धवीक्षणे च नं० ।

कडग-कटक-पुं० न० कलाचिकाभरणे, प्रज्ञा० २ पद । रा० । "पयलियवरकडगतुडियकेऊरमउडकुंडले" रा० । ज० । प्रकोष्ठकाभरणविशेषे, स० । कङ्कणे, औ० । कङ्कणविशेषे, । उपा० २ अ० । हस्ताभरणविशेषे, "वरकडगतुडियथंभियभूए" औ० । अद्रिनितम्बे "विसमगिरिकडगकोडंबसण्णिविट्ठा" ज्ञा० १८ अ० । "पव्वयकडगायमुच्चंते" प्रश्न अध० १द्वा०३ अ० । गण्डशैले, ज्ञा० ४ अ० । स्कन्धावारे, बृ० २ उ० । "कडगव्वेवि बिसे अप्पफलेसिया" पं० सू० ५ सू० । चक्रे, अमरः । हस्तिदन्तमण्डले सामुद्रलवणे, राजधान्यां च मेदि० । नगर्याम, शब्द र० । वाच० । कटस्यार्थे क-कटशब्दार्थे, "पंसुवकडगाणं" अणु० ।

कडगघर-कटकगृह-न० वंशदलनिर्मापितकटात्मके गृहे, व्य० । ४ उ० ।

कडगमई-कटकमयी-स्त्री० कटो वंशकटादिस्तन्निष्पन्ना कटकमयी-वंशकटकादिमये चिलिमिलिकाभेदे, नि० चू० १ उ० ।

कडगमद्दण-कटकमर्दन-न० सैन्येन किञ्चिज्जन वा आक्रम्य मर्दने, ततो हि प्राणवधो भवतीत्युपचारात् प्राणवधे च । प्रश्न० अध० १ द्वा० १ अ० ।

कडग्गिदड्ढय-कटाग्निदग्धक-त्रि० कटान्तर्वेष्टयित्वाऽग्निना दह्यमाने, दशा० ६ अ० ।

कडच्छेज्ज-कटच्छेद्य-न० कटवत्क्रमाच्छेद्यं वस्तु यत्र विज्ञाने तत्तथा । एकोनसप्ततितमे कलाभेदे, इदञ्च द्यूनपटोद्वेष्टनादौ भोजनक्रियादौ चोपयोगीति जं० २ वक्ष० । ज्ञा० । "कडच्छेज्जेण भोत्तव्वं कडगच्छेदो नाम जो पगा उ पासा उ समुद्दिसइ" पं० व० २ द्वा० ।

कडजुग-कृतयुग-न० अष्टाविंशत्यधिकसप्तदशलक्षपरिमिते कालभेदे, लोके कृतयुगादीनि एवमुच्यन्ते "द्वात्रिंशच्च सहस्राणि, कलौ लक्षचतुष्टयम । वर्षाणां द्वापरादौ स्या-देतद् द्वित्रिचतुर्गुणम्" स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

कडजुम्म-कृतयुग्म-पुं० न०कृतं सिद्धं पूर्णं ततः परस्य राशिसंज्ञान्तरस्याभावेन न त्र्योजःप्रभृतिवदपूर्णं यत् युग्मं समराशिविशेषः तत्कृतयुग्मम् । भ० १८ श० ४ उ० । युग्मराशिविशेषे, यो हि राशिश्चतुष्केणापह्रियमाणश्चतुःपर्यवसितो भवति स कृतयुग्म इति स्था० ४ ठा० ३ उ० । क० प्र० । कृतयुग्मामितप्रदेशासु दिक्षु स्त्री० आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० (सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्केणापह्रियमाणाश्चतुष्कावशेषा भवन्तीति कृत्वा तत्प्रदेशात्मिकाश्च दिश आगमसंज्ञया कडजुम्मात्ति शब्देन कृतयुग्मादि विशेषणेन नैरयिकादीनामुपपात उपपातशब्देनाभिधीयन्ते)

कडजुम्मकडजुम्म-कृतयुग्मकृतयुग्म-पुं० न० कृतयुग्मश्चासौ कृतयुग्मश्च महायुग्मराशिभेदे, यो राशिश्चतुष्कापहारेणापह्रियमाणश्चतुःपर्यवसितो भवत्यपहारसमया अपि चतुष्कापहारेण चतुःपर्यवसिता एवासौ राशिः कृतयुग्मकृतयुग्म इत्यभिधीयते । अपह्रियमाणद्रव्यापेक्षया तत्समयापेक्षया चेति द्विधा कृतयुग्मत्वात् भ० ३४ श० १ उ० ।

कडजुम्मकलिओय-कृतयुग्मकल्योज-पुं० क० स० महायुग्मराशिभेदे, यो राशिः प्रतिसमयं चतुष्केणापह्रियमाण एकपर्यवसानो भवति तत्समयाश्चतुःपर्यवसिता एवासावपह्रियमाणापेक्षया कलिः । अपहारसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मकल्योजः । यथा जघन्यतः सप्तदश तत्र हि चतुष्कापहारेणैकोऽवशिष्यते तत्समयाश्चत्वार एवेति भ० ३४ श० १ उ० ।

कडजुम्मतेओग-कृतयुग्मत्र्योज-पुं० क० स० महायुग्मराशिभेदे, यो राशिः प्रतिसमयं चतुष्कापहारेणापह्रियमाणस्त्रिपर्यवसानो भवति तत्समयाश्चतुःपर्यवसिता एवासौ अपह्रियमाणापेक्षया त्र्योजः । अपहारसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मत्र्योज इत्युच्यते । यथा जघन्यत एकोनविंशतिस्तत्र हि चतुष्कापहारेण त्रयोऽवशिष्यन्ते तत्समयाश्चत्वार एवेति भ० ३४ श० १ उ० ।

कडजुम्मदावरजुम्म-कृतयुग्मद्वापरयुग्म-पुं० क० स० । महायुग्मराशिभेदे, यो हि राशिः प्रतिसमयं चतुष्कापहारेणापह्रियमाणो द्विपर्यवसानो भवति तत्समयाश्चतुःपर्यवसिता एवेति । असौ अपह्रियमाणापेक्षया द्वापरयुग्मः । अपहारसमयापेक्षया तु कृतयुग्म एवेति कृतयुग्मद्वापरयुग्मः । यथा जघन्यतोऽष्टादश तत्र हि चतुष्कापहारेण द्वाववशिष्येते तत्समयाश्चत्वार एवेति । भ० ३४ श० १ उ० ।

कडजुम्मपएसोगाढ-कृतयुग्मप्रदेशावगाढ-त्रि० विंशतिप्रदेशावगाढे, विंशतेश्चतुष्कापहारे चतुःपर्यवसितत्वात् । "परिमंडले णं भंते ! संठाणे किं कडजुम्मपएसोगाढे" भ० २५ श० ३ उ० ।

कड [य] जोग-कृतयोग-पुं० कृतसाधुव्यापारे, पं० व० १ द्वा० । "तवे य कयजोगो" तपसि कृतयोगो नाम कर्कशतपोभिरनेकधा भावितात्मा व्य० १ उ० ।

कडजोगि (ण्)-कृतयोगिन्-त्रि० सूत्रोपदेशेन मोक्षाविरोधीकृतो न्यस्तो योगो मनोवाक्कायव्यापारात्मकः स कृतयोगः स येषामस्ति ते कृतयोगिनः । आगमसमन्तमोक्षोपायिकयोगयुक्तेषु, व्य० ३ उ० ॥ चतुर्थादितपसि कृतयोगे, " कडजोगी णाम चउत्थादितवे कतजोगो " नि० चू० १ उ० । गीतार्थ, कृतयोगी गीतार्थः स कर्तव योगीति च भण्यते । बृ० १ उ० । कृतक्रिये, "जोगो किरिया सा कया जेण सो कडजोगी भण्णति" नि० । चू० १ उ० । अतः कृतयोगी नाम यो गृहवासे कर्तनं कृतवान् बृ० १ उ० ।

कडण-कटन-न० कटादिभिः कुड्यकरणे, ग० १ अधि० ।

कडणा-कटना-स्त्री० तद्विकारूपे गृहावयवे, "अगारेज्झियाइ कुड्डज्झियाइ कडणाज्झियाइ" भ० ८ श० ६ उ० ।

कडतड-कटतट-न० कटकैकदेशे. ज्ञा० १ अ० । गण्डतटे, ज्ञा० १ अ० ।

कडपूयणा-कटपूतना-स्त्री० स्वनामख्यातायां व्यन्तर्याम्. य-या शालिसीसवहुशाग्रग्रामे शालवने प्रतिमास्थितस्य श्रीवीरजिनस्य विघ्नं कृतम । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

कडमूढ–कृतमूढ–पुं० करणं कृतं तेन मूढः । किङ्कर्तव्यताव्याकुले, आचा० १ श्रु० २ अ० ।

कडय–कटक–न० कलाचिकाभरणे, आ० म० प्र०। वलये, स्था० ३ ठा० ५ उ० । अनीके, पर्वततटे, पर्वतदेशे, ज्ञा० १ अ० ।

कडयंतरिय–कटकान्तरित–त्रि० कटान्तर्वर्तिप्रच्छन्नरचिते, " अन्नो कडयंतरिओ अन्नो पडयंतरे ठविओ " तं० ।

कडयणिवेस–कटकनिवेश–पुं० स्कन्धावारे. स्था० ६ ठा० ।

कडयपल्लल–कटकपल्वल–न० पर्वततटव्यवस्थितजलाशयविशेषे, ज्ञा० १ अ० ।

कडयमद्द–कटकमर्द–पुं० सैन्यसंमर्दे, तेन कटकमर्देन मारणार्थं चाज्ञप्ताः अव्यक्तवादिनिह्नवाः विशे० । स्था० ॥

कडवाइ (ण्)-कृतवादिन्–पुं० केनचित् ईश्वरेण प्रधानादिना वा कृतोऽयं लोक इत्येवमभ्युपगमग्राहिले वादिनि, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तेषां मतोपदर्शनायाह ।

इणमन्नं तु अन्नाणं, इहमेगेसि आहियं ।
देवउत्ते अयं लोए, बंभउत्ते त्ति आवरे ॥ ५ ॥
ईसरेण कडे लोए, पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते, सुहदुक्खसमन्निए ॥ ६ ॥

इदमिति वक्ष्यमाणं तुशब्दः पूर्वेभ्यो विशेषणार्थः। अज्ञानमिति मोहविजृम्भणमिहास्मिन् लोके एकेषां न सर्वेषामाख्यातमित्यभिप्रायः । किं पुनस्तदाख्यातमिति तदाह । देवेनोप्तो देवोप्तः कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः। देवैर्वा गुप्तो रक्षितो देवगुप्तो देवपुत्रो वेत्यादिकमज्ञानमिति । तथा ब्रह्मणा उप्तो ब्रह्मोप्तोऽयं लोक इत्यर्थः। परे एवं व्यवस्थिताः । तथा हि तेषामयमभ्युपगमः । ब्रह्मा जगत्पितामहः स चैक एव जगदादावासीत्तेन च प्रजापतयः सृष्टास्तैश्च क्रमेणैतत्सकलं जगदिति । तथेश्वरेण कृतोऽयं लोकः । एवमेके ईश्वरकारका अभिदधति प्रमाणयन्ति वा सर्वमिदं विमत्यधिकरणभावोपपन्नं तनुभुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते। बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति साध्यो धर्मः संस्थानविशेषवत्त्वादिति हेतुः । यथा घटादिरिति दृष्टान्तोऽयं यद्यत्संस्थानविशेषवत्तत्तद्बुद्धिमत्कारणपूर्वकं दृष्टम् । यथा देवकुलकूपादि संस्थानविशेषवच्च मकराकरनदीधराधरशरीरकरणादिकं विवादगोचरापन्नमिति । तस्माद्बुद्धिमत्कारणपूर्वकं यश्च समस्तस्यास्य जगतः कर्ता स सामान्यपुरुषो न भवतीत्यस्मावीश्वर इति । तथा सर्वमिदं तनुभुवनकरणादिकं धर्मित्वेनोपादीयते। बुद्धिमत्कारणपूर्वकमिति। साध्यो धर्मः कार्यत्वाद् घटादिवत् तथा स्थित्वा प्रवृत्तेर्वास्यादिवदिति। तथा परे प्रतिपन्ना यथा प्रधानादिकृतो लोकः । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः । सा च पुरुषार्थं प्रवर्तते। आदिग्रहणाच्च प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माच्च गणः षोडशकस्तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च महाभूतानीत्यादिकया प्रक्रियया सृष्टिर्भवतीति । यदि वा आदिग्रहणात्स्वभावादिकं गृह्यते । ततश्चायमर्थः । स्वभावेन कृतो लोकः कण्टकादितैक्ष्ण्यवत् । तथाऽन्ये नियतिकृतो लोको मयूराङ्गरुहादित्यादिभिः कारणैः कृतोऽयं लोको जीवाजीवसमायुक्तो जीवैरुपयोगलक्षणैस्तथा अजीवैर्धर्माधर्माकाशपुद्गलादिकैः समन्वितः समुत्पन्नगरादिक इति । पुनरपि लोकं विशेषयितुमाह । सुखमानन्दरूपं दुःखमसातोदयरूपमिति ताभ्यां समन्वितो युक्त इति ।

॥ किञ्च ॥

सयंभुणा कडे लोए, इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए ॥ ७ ॥

(संयभुणा इत्यादि) स्वयं भवतीति स्वयंभूर्विष्णुरन्यो वा स चैक एवादावभूत्तस्त्वैकाकी रमते द्वितीयमिष्टवांस्तच्चिन्तानन्तरमेव द्वितीया शक्तिः समुत्पन्ना तदनन्तरमेव जगत्सृष्टिरभूदित्येवं महर्षिणोक्तमभिहितम्। एवं वादिनो लोकस्य कर्तारमभ्युपगतवन्तोऽपि च तेन स्वयंभुवा लोकं संपाद्यातिभारभयाद्यमाख्यो मारयतीति मारोऽभ्यधायि । तेन मारेण संस्तुता कृता प्रसाधिता माया तया च मायया लोका म्रियन्ते न च परमार्थतो जीवस्योपयोगलक्षणस्य व्यापत्तिरस्त्यतो मायैषा । यथाऽयं मृतस्तथा चायं लोकोऽशाश्वतोऽनित्योऽविनाशीति गम्यते ॥ ७ ॥

(अणमकृत्वादिमतं स्वस्थाने उक्तम्)

अधुना एतेषां देवोप्तादिजगद्वादिनामुत्तरदानायाह ।

सएहिं परियाएहिं, लोयं बूया कडेतिया ।
तत्तं तेण वि जाणंति, ण विणासी कयाइवी ॥ ८ ॥

स्वकैः स्वकीयैः पर्यायैरभिप्रायैर्युक्तिविशेषैरयं लोकः कृत इत्येवमब्रुवन्नभिहितवन्तः । देवोप्तो ब्रह्मोप्त ईश्वरकृतः प्रधानादिनिष्पादितः स्वयंभुवा व्यधायि तन्निष्पादितमायया म्रियते । तथाऽण्डजश्चायं लोक इत्यपि स्वकीयाभिरुपपत्तिभिः प्रतिपादयन्ति । यथाऽस्मदुक्तमेव सत्यं नान्यदिति। ते चैवंवादिनो वादिनः सर्वेऽपि तत्त्वं परमार्थं यथाऽवस्थितलोकस्वभावं नाभिजानन्ति न सम्यक् विवेचयन्ति । यथाऽयं लोको द्रव्यार्थतया न विनाशीति निर्मूलतः कदाचन न चायमादित आरभ्य केनचित् क्रियते अपि त्वयं लोकोऽभूद्भवति भविष्यति । तथा हि यत्तावदुक्तं यथा देवोप्तोऽयं लोक इति तदसङ्गतं यतो देवोप्तत्वे लोकस्य न किञ्चित्तथाविधं प्रमाणमस्ति न चाप्रमाणकमुच्यमानं विद्वज्जनमनांसि प्रीणयति ॥ ईश्वरवादखण्डनं स्वस्थाने विस्तरतः कृतम् यदपि चोक्तं प्रधानादिकृतोऽयं लोक इति तदप्यसङ्गतं यतस्तत्प्रधानं किं मूर्त्तममूर्तं वा यद्यमूर्त्तं न ततो मकराकरादेर्मूर्तस्योद्भवो घटते । न ह्याकाशात्किञ्चिदुत्पद्यमानमालक्ष्यते मूर्तामूर्तयोः कारणविरोधादिति । अथ मूर्तं तत्कुतः समुत्पन्नं न तावत्स्वतो लोकस्यापि तथोत्पत्तिप्रसङ्गात् नाप्यन्यतोऽनवस्थापत्तेरिति । अन्यथाऽनुत्पन्नमेव प्रधानाद्यनादिभावेनास्ते तद्वल्लोकोऽपि किं नेष्यते । अपि च । सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रधानमित्युच्यते न चाविकृतात्प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिष्यते भवद्भिः । न च विकृतं प्रधानव्यपदेशमास्कन्दतीत्यतो न प्रधानान्महदादेरुत्पत्तिरिति । अपि चाचेतनायाः प्रकृतेः कथं पुरुषार्थं प्रति प्रवृत्तिर्येनात्मनो भोगोपपत्त्या सृष्टिः स्यादिति । प्रकृतेरयं स्वभाव इति चेदेवं तर्हि स्वभाव एव बलीयान् यस्तामपि प्रवर्तयति नियमयति तत एव च लोकोऽप्यस्तु किमदृष्टप्रधानादिकल्पनयेति । अथादिग्रहणात्स्वभावस्यापि कारणत्वं कैश्चिदिष्यत इति चेदस्तु । न हि स्वभावोऽभ्युपगम्यमानो नः क्षतिमातनोति । तथा हि स्वभावः स्वकीयोत्पत्तिः सा च पदार्थानामिष्यत एवेति । तथा यदुक्तं नियतिकृतोऽयं लोक इति तत्रापि नियमनं नियतिर्यथाभवनं नियतिरित्युच्यते सा चालोच्यमाना न स्व-

भावादतिरिच्यते । यच्चान्यथाऽपि स्वयम्भुवोत्पादितो लोक इति तदप्यसुन्दरमेव । यतः स्वयंभूरिति किमुक्तं भवति । किं यदाऽसौ भवति तदा स्वतन्त्रोऽन्यनिरपेक्ष एव भवति । अथादिभवनात्स्वयम्भूरिति व्यपदिश्यते । तद्यदि स्वतन्त्रभवनाभ्युपगमस्तद्वल्लोकस्यापि भवनं किं नाभ्युपेयते किं स्वयंभुवा । अथानादिस्ततस्तस्यानादित्वे नित्यत्वं नित्यस्य चैकरूपत्वात्कर्तृत्वाऽनुपपत्तिस्तथा वीतरागत्वात्तस्य संसारवैचित्र्यानुपपत्तिः । अथ सरागोऽसौ ततोऽस्मदाद्यव्यतिरेकात्सुतरां विश्वस्याकर्ता मूर्तामूर्तादिविकल्पाश्च प्राग्वद्योज्या इति । यदपि चात्राभिहितम् । तेन मारः समुत्पादितः स च लोकं व्यापादयति तदप्यकर्तृत्वस्याभिहितत्वात्प्रलापमात्रमिति ।

इदानीमेतेषां देवोप्तादिवादिनामज्ञानत्वं प्रसाध्य तत्फलं दिदर्शयिषुराह ।

अमणुन्नसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया ॥
समुप्पायमजाणंता, कहं नायंति संवरं ॥ १० ॥

मनोऽनुकूलं मनोज्ञं शोभनमनुष्ठानं न मनोज्ञममनोज्ञमसदनुष्ठानं तस्मादुत्पादः प्रादुर्भावो यस्य दुःखस्य तदमनोज्ञसमुत्पादम् । एवकारोऽवधारणे । स चैवं संबन्धनीयः । अमनोज्ञसमुत्पादमेव दुःखमित्येवं विजानीयादवगच्छेत्प्राज्ञः । एतदुक्तं भवति । स्वकृताऽसदनुष्ठानादेव दुःखस्योद्भवो भवति नान्यस्मादित्येवं व्यवस्थितेऽपि सत्यनन्तरोक्तवादिनोऽसदनुष्ठानोद्भवस्य दुःखस्य समुत्पादमजानानाः सन्तोऽन्यत ईश्वरादेर्दुःखस्योत्पादमिच्छन्ति । तच्चैवमिच्छन्तः कथं केन प्रकारेण दुःखस्य संवरं दुःखप्रतिघातहेतुं ज्ञास्यन्ति । निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवति । ते च निदानमेव न जानन्ति तत्त्वमजानानाः कथं दुःखोच्छेदाय यतिष्यन्ते यत्नवन्तोऽपि च नैव दुःखोच्छेदनमवाप्स्यन्त्यपि तु संसार एव जन्मजरामरणेऽष्टवियोगाद्यनेकदुःखव्राताघाताद्भूयो भूयोऽरहट्टघटीन्यायेनानन्तमपि कालं संस्थास्यन्ते ॥ १० ॥

सांप्रतं प्रकारान्तरेण कृतवादिमतमेवोपन्यस्यन्नाह ।

सुद्धे अपावए आया, इहमेगेसिमाहियं ।
पुणो किड्डापदेसेणं, सो तत्थ अवरज्झइ ॥ ११ ॥

इहास्मिन् कृतवादिप्रस्तावे त्रैराशिका गोशालकमतानुसारिणो येषामेकविंशतिसूत्राणि पूर्वगतत्रैराशिकसूत्रपरिपाट्या व्यवस्थितानि ते एवं वदन्ति । यथाऽयमात्मा शुद्धो मनुष्यभव एव शुद्धाचारो भूत्वा अपगताशेषमलकलङ्को मोक्षेऽपापको भवति । अपगताशेषकर्मा भवतीत्यर्थः । इदमेकेषां गोशालकमतानुसारिणामाख्यातम् । पुनरसावात्माऽशुद्धत्वाऽकर्मकत्वराशिद्वयावस्थो भूत्वा क्रीडया प्रद्वेषेण वा स तत्र मोक्षस्थ एवाऽपराध्यति रजसाऽऽश्लिष्यते । इदमुक्तं भवति । तस्य हि स्वशासनपूजामुपलभ्यान्यशासनपराभवं चोपलभ्य क्रीडोत्पद्यते प्रमोदः संजायते स्वशासनन्यक्कारदर्शनाच्च द्वेषस्ततोऽसौ क्रीडाद्वेषाभ्यामनुगतान्तरात्मा शनैर्निर्मलपटवदुपभुज्यमानो रजसा मलिनीक्रियते मलीमसश्च कर्मगौरवाद्भूयः संसारेऽवतरति । अस्यां चावस्थायां सकर्मकत्वात्तृतीयराश्यवस्थो भवति ॥

इह संवुडे मुणी जाए, पच्छा होइ अपावए ।
वियडंबु जहा भुज्जो, नीरयं सरयं तहा ॥ १२ ॥

(इहेत्यादि) इहास्मिन् मनुष्यभवे प्राप्तः सन् प्रव्रज्यामभ्युपेत्य संवृतात्मा यमनियमरतो जातः सन् पश्चादपापो भवति । अपगताशेषकर्मकलङ्को भवतीति भावः । ततः स्वशासनं प्रज्ञाप्य मुक्त्यवस्थो भवति । पुनरपि स्वशासनपूजादर्शनान्निकारोपलब्धेश्च रागद्वेषोदयात्कलुषितान्तरात्मा विकटाम्बुदकवच्चीरजस्कं सद्वातोद्धतरेणुनिवहसंपृक्तं सरजस्कं मलिनं भूयो यथा भवति । तथाऽयमप्यात्माऽनन्तकालेन संसारोद्वेगाच्छुद्धाचारावस्थो भूत्वा ततो मोक्षासौ सत्यामकर्मावस्थो भवति । पुनः शासनपूजानिकारदर्शनाद्रागद्वेषोदयात्सकर्मा भवतीत्येवं त्रैराशिकानां राशित्रयावस्थो भवत्यात्मेत्याख्यातं । उक्तं च "दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठः । मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यमिति" ॥१२॥

अधुनैतद्दूषयितुमाह ।

एताणुचीति मेधावी, बंभचेरेण ते वसे ।
पुणो पावाउया सव्वे, अक्खायारो सयं सयं ॥१३॥

एतान् पूर्वोक्तान् वादिनोऽनुचिन्त्य मेधावी प्रज्ञावान् मर्यादाव्यवस्थितो वा एतदवधारयेत् । यथा नैते राशित्रयवादिनो देवोप्तादिलोकवादिनश्च ब्रह्मचर्ये तदुपलक्षिते वा संयमानुष्ठाने वसेयुरवतिष्ठेरन्निति । तथा हि तेषामयमभ्युपगमो यथा स्वदर्शनपूजानिकारदर्शनात्कर्मबन्धो भवत्येवं चावश्यं तद्दर्शनस्य पूजायास्तिरस्कारेण चोभयेन वा भाव्यं तत्संभवाच्च कर्मोपचयस्तदुपचयाच्च शुद्ध्यभावः शुद्ध्यभावाच्च मोक्षाभावः । न च मुक्तानामशेषकर्मकलङ्कानां कृतकृत्यानामपगताशेषयथावस्थितवस्तुतत्त्वानां समस्तुतिनिन्दानामपगतात्माऽऽत्मीयपरिग्रहाणां रागद्वेषानुषङ्गस्तदभावाच्च कुतः पुनः कर्मबन्धस्तस्माच्च संसारावतरणमित्यर्थः । अतस्ते यद्यपि कथञ्चिद् द्रव्यब्रह्मचर्ये व्यवस्थितास्तथाऽपि सम्यक् ज्ञानाभावान्न सम्यगनुष्ठानभाज इति स्थितम् । अपि च सर्वेऽप्येते प्रावादुकाः स्वकं स्वकमात्मीयं दर्शनं स्वदर्शनानुरागादाख्यातारः शोभनत्वेन प्रख्यापयितार इति । न च तत्र विदितवेद्येनास्था विधेयेति ॥ १३ ॥

पुनरन्यथा कृतवादिमतमुपदर्शयितुमाह ।

सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव न अन्नहा ।
अहो इहेव वसवत्ती, सव्वकामसमप्पिए ॥१४॥

(सए सए इत्यादि) ते कृतवादिनः शैवैकदण्डिप्रभृतयः स्वकीये स्वकीये उपतिष्ठन्तेऽस्मिन्नित्युपस्थानं स्वीयमनुष्ठानं दीक्षा गुरुचरणशुश्रूषादिका तस्मिन्नेव सिद्धिमशेषसांसारिकप्रपञ्चरहितस्वभावमभिहितवन्तो नान्यथा नान्येन प्रकारेण सिद्धिरवाप्यत इति । तथा हि शैवा दीक्षात एव मोक्ष इत्येवं व्यवस्थिताः एकदण्डिकाः पञ्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मुक्तिरित्यभिहितवन्तस्तथान्येऽपि वैदान्तिका ध्यानाध्ययनसमाधिमार्गानुष्ठानात्सिद्धिमुक्तवन्त इत्येवमन्येऽपि यथा स्वदर्शनान्मोक्षमार्गं प्रतिपादयन्तीति । अशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणायाः सिद्धिप्राप्तेरधस्तात्प्रागपि यावदद्यापि सिद्धिप्राप्तिर्न भवतीति तावदिहैव जन्मन्यस्मदीयदर्शनोक्तानुष्ठानानुभावादष्टगुणैश्वर्यसद्भावो भवतीति दर्शयति । आत्मवशं वर्तितुं शीलमस्येति आत्मवशवर्ती वशेन्द्रिय इत्युक्तं भवति तथाऽसौ सांसारिकैः स्वभावैरभिभूयते । सर्वे कामा अभिलाषा अर्पिताः संपन्ना यस्य स सर्वकामसमर्पितो यान् यान् कामान् कामयते ते तेऽस्य सर्वे सिध्यन्तीति यावत् । तथा हि । सिद्धे-

रादष्टगुणैश्वर्यसिद्धिर्भवति । तद्यथा । अणिमा लघिमा गरिमा प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं प्रतिघातित्वं यत्र कामावसायित्वमिति ॥१४॥ तदेवमिहैवास्मदुक्तानुष्ठायिनोऽष्टगुणैश्वर्यलक्षणा सिद्धिर्भवत्यमुत्र चाऽशेषद्वन्द्वोपरमलक्षणा भवतीति दर्शयितुमाह ॥

सिद्धा य ते अरोगा य, इह मेगेसिमाहियं ।
सिद्धिमेव पुरो काउं, सासए गढिआ नरा ॥ १५ ॥

(सिद्धा य ते इत्यादि) ये ह्यस्मदुक्तमनुष्ठानं सम्यगनुतिष्ठन्ति तेऽस्मिन् जन्मन्यष्टगुणैश्वर्यरूपां सिद्धिमासाद्य पुनर्विशिष्टसमाधियोगेन शरीरत्यागं कृत्वा सिद्धाश्चाशेषद्वन्द्वरहिता अरोगा भवन्ति । अरोगग्रहणं चोपलक्षणम् अनेकशारीरमानसद्वन्द्वैर्न स्पृशन्ति शरीरमनसोरभावादित्येवमिहास्मिँल्लोके सिद्धिविचारे वा एकेषां शैवादीनामिदमाख्यातं भाषितम् । ते च शैवादयः सिद्धिमेव पुरस्कृत्य मुक्तिमेवाङ्गीकृत्य स्वकीये आशये स्वदर्शनाभ्युपगमे ग्रथिताः संबद्धा अध्युपपन्नास्तदनुकूला युक्तीः प्रतिपादयन्ति । नरा इव नराः प्राकृतपुरुषाः शास्त्रावबोधविकलाः स्वाभिप्रेतार्थसाधनाय युक्तीः प्रतिपादयन्त्येवं तेऽपि परिरुतमन्याः परमार्थमजानानाः स्वग्रहप्रसाधिकां युक्तिमुद्घोषयन्तीति । तथा चोक्तम् ।"आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा । पक्षपातरहितस्य युक्ति-र्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥ १५ ॥ सांप्रतमेतेषामनर्थप्रदर्शनपुरःसरं दूषणाभिधित्सयाह ॥

असंवुडा अणादीयं, भमिहिंति पुणो पुणो ॥
कप्पकालमुवज्जंति, ठाणा आसुरकिब्बिसिया त्तिबेमि ।१६।

(असंवुडा इत्यादि) ते हि पाखण्डिका मोक्षाभिसन्धिनः समुत्थिता अपि असंवृता इन्द्रियनोइन्द्रियैरसंयता इहाप्यस्माकं लाभ इन्द्रियानुरोधेन सर्वविषयोपभोगादमुत्र मुक्त्यवाप्तेः । तदेवं मुग्धजनं प्रतारयन्तोऽनादिसंसारकान्तारं भ्रमिष्यन्ति पर्यटिष्यन्ति स्वदुश्चरितोपात्तकर्मपाशाः पाशावशापिताः पौनःपुन्येन नारकादियातनास्थानेषूत्पद्यन्ते । तथा हि नेन्द्रियैरनियमितैरशेषद्वन्द्वप्रच्युतिलक्षणा सिद्धिरवाप्यते । याप्यणिमाद्यष्टगुणलक्षणैहिकी सिद्धिरभिधीयते सापि मुग्धजनप्रतारणाय दम्भकल्पैवेति । यापि च तेषां बालतपोऽनुष्ठानादिना स्वर्गावाप्तिः साप्येवं प्रायो भवतीति दर्शयति । कल्पकालं प्रभूतकालमुत्पद्यन्ते संभवन्ति । असुरा असुरस्थानोत्पन्ना नागकुमारादयस्तत्रापि न प्रधानाः किं तर्हि किल्बिषिका अधमाः प्रेष्यभूता अल्पर्धयोऽल्पभोगाः स्वल्पायुःसामर्थ्याद्युपेताश्च भवन्तीति सूत्र०१ श्रु०१ अ०४ उ० ।

कडसलागा–कटशलाका–स्त्री० कटमयशलाकायाम्, "कडेसु वड्डमाणस्स, तेण बूढा कटसलागा" आ०चू०१ अ० । आ० म० द्वि० । वंशशलाकायाम्, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

कडहू-कडहू-पुं० वृक्षविशेषे, "कडहूबागादीहिं" वृ० १ उ० ।

कडाइ-कृतादि-पुं० कृतयोगिनि, "पडिसेविच कडाई होइ समत्थो पसत्थेसु कडाई नामकृतयोगी तिक्खुत्तो कओ जोगो अलाभे पणगहाणी तो गेण्हति" नि० चू० १ उ० । परिकर्मितेषु, कल्प० ।

कडाह-कटाह-पुं० कटमाहन्ति कट-आ हन् म-पिठरविशेषे, पिं० । लोहमयभाजनविशेषे, लपा०३ अ० । जायमानशृङ्गाग्रमहिषशिशौ, मेदि० । नरकभेदे, हारा० । खर्परे, शब्द० । सूर्पे, स्तूपे, कच्छे च इति केचित् वाच० । षट्पांशुलिकात्मके देहावयवे, "छप्पंसुलिए कडाहे" पृष्ठिवंशे शेषपट्सन्धिभ्यः षट्पांशुलिका निर्गत्य पार्श्वद्वयमावृत्य हृदयस्योपरि यतो वक्षः पञ्जरादधस्ताच्छिथिलकुक्षेस्तूपरिष्टात्परस्परासम्मिलितास्तिष्ठन्त्ययञ्च-- कटाह इत्युच्यते प्रज्ञा० १ पद ।

कडि (डी)—कटि (टी)-स्त्री० कट-इन्-वा ङीप् । शरीरस्य मध्यभागे, कटिरिव कटिः वृक्षादेर्मध्यभागे च । "घणकडितडच्छायं" जं०१वक्ष० । रा० । "अभिलाणचामरदंभ परिमंभियकडीणं" औ० । श्रोणौ, तं० । क्लीबन्तः पिप्पल्याम्, स्त्री० मेदि० । वाच० ।

कडिअ—कटित--त्रि० कटः संजातोऽस्येति कटितः । कटान्तरेणोपर्य्यावृते, जं० १ वक्ष० । काष्ठादिभिः कुड्यादौ संस्कृते, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कडिअकड—कटितकट—पुं० क० स० कटान्तरेणोपर्य्यावृते कटे, "घणकडिअकडच्छायं" जं० १ वक्ष० ।

कडितड—कटितट—न० कटिस्तटमिव कटितटम् । मध्यभागे, रा० । जं० ।

कडितडजायण—कटितटयातन—न० श्रोणिभागपीडने, तं० ।

कडिबंधण—कटिबन्धन—न० कटिप्रदेशे वस्त्रादिना बन्धनरूपे बन्धभेदे, "सामाइअपुव्वमिच्छा-मि ठाओ काउस्सग्गमिच्चाइं । सुत्तं भणियपलंबिअ, भुअकुप्परधरिअपरिहणओ" ।१। इति बृहत्प्रतिक्रमणहेमगर्भगाथामाश्रित्य केचन मतिनः प्रश्नयन्ति । यत् श्रीमन्तः कटिदवरकबन्धनं कुर्वन्ति तत्कुत्र शास्त्रे प्रोक्तमस्तीति प्रश्ने आवश्यकवृत्तिधर्मरत्नप्रकरणवृत्त्यादौ श्रीआर्यरक्षितसूरिभिः स्वपितुः कटिदवरको बन्धित इति प्रोक्तमस्ति तेन तदाचरणया सांप्रतमपि बध्यत इति वृद्धवादः इयेनप्र० ३उ० २३६ प्र० ।

कडिपट्टय—कटिपट्टक--पुं० धौतिकवस्त्रे, "मा वंदह अंते वंदिहिंति ममं न मुयइ कडिपट्टयं" आ० म० द्वि० । "कडिपट्टए य छिहली" कटीपट्टकं स परिधाय छिहली शिखा तस्य कर्त्तव्या बृ० ४ उ० ।

कडिपत्त—कटिपत्र—न० कटी एव पत्रं प्रतलत्वेनावयवद्वयरूपतया च सर्गादिवृक्षदलम् । कटिपत्रम् । कृशकटीभागे, "धम्मस्स कडिपट्टस्स इमेयारूवे वन्ना" अणु० ३ वर्ग० ।

कडिबंधण--कटिबन्धन—न० चोलपट्टके, "से कप्पइ कडिबन्धणं धारित्तए" कटिबन्धनं चोलपट्टकम् कर्मम स च विस्तरेण चतुरङ्गुलाधिको दैर्घ्येण कटीप्रमाण इति आचा०१ श्रु०८ अ०७उ० ।

कडिभिन्न--कटिभिन्न--न० शरीरैकदेशभाविनि कुष्ठभेदे, वृ० ३ उ० ।

कडिल्ल--कटिल्ल--पुं० कट् वा इल्ल- । कारवेल्ले, ततः स्वार्थे कन् तत्रैव अमरः । वाच० । महागहने, व्य० २ उ० । उपकरणभेदे, नानाविधोपकरणं ताम्रकलशकटिल्लादिजातितः दश० ६ अ० । विशे० । उद्गमोत्पादनारूपे, ज्ञानादिरूपे, वृ० ४ उ० ।

कडिल्लदेस—कटिल्लदेश--पुं० महागहनप्रदेशे, व्य० २ उ० ।

कडिसुत्त--कटिसूत्र-न० कट्याभरणे, "कडिसुत्तसुकयसोहे" कटिसूत्रेण कट्याभरणेन सुष्ठु कृता शोभा यस्य स तथा । जं० ३ वक्ष० । तं० । ज्ञा० । औ० । कटिधार्य्ये कार्पासरचिते धातुमये वा सूत्रे, वाच० ॥

कडु—कटु--न० पुं० कटति सदाचारमावृणोति रसनामावृणोति वर्षति आवयति नासादितो जलम् कट-उन् । अकार्ये, अमरः । दूषणे, विश्व० । वाच० । गलामयादिप्रशमने मरिचनागराद्याश्रिते रसविशेषे, यदवादि "कटुर्गलामयं शोफं, हन्ति युक्त्योपसेवितः । दीपनः पाचको रुच्यो, बृंहणोऽतिकफाऽपहः ॥

कर्म० । जं० । भ० । तद्वति, अमरः । स्त्रियां वा ङीष् । परुषे मत्सरिणि, सुगन्धौ च । त्रि० । मेदि० । अप्रिये, त्रिका० । दुर्गन्धौ, शब्दमा० । वाच० ।

कडुअ--कृत्वा--अव्य० शेषं शौरसेनीवत् ३०१ इत्यधिकृत्य "कृगोडडुअः । इति शौरसैन्यां डडुअ आदेशः । विधायेत्यर्थे, प्रा० ।

कडुइया--कटुकी--स्त्री० कटु-स्वार्थे कन् गौरा० ङीष् । स्वार्थिकः कः । वल्लीविशेषे, "कंगूलया कडुइया" प्रज्ञा०१ पद ।

कडुएल्ल--कटुतैल--न०कटु-स्नेहे, तैले च "अनङ्कोठात्तैलस्य डेल्लः ८ । २ ।१५५ इति तैलस्य डेल्ल इत्यादेशः "कटुएल्लं" सार्षपतैले, "सुरहिजलेण कडुएल्लं" प्रा० ।

कडुग [य]--कटुक--पुं० कटु स्वार्थे कन् वैशद्यच्छेदनकृतिरसविशेषे, " एगे कडुए " स्था० १ ठा० । यो जिह्वाग्रं बाधते उद्वेगं जनयति शिरो गृह्णीते नासिकां च स्रावयति स कटुकः सुश्रु० । तद्वति, वाच० । मरिचादौ, जं० ३ वक्ष० । शुण्ठमरिचसदृशे कटुकरसपरिणते द्रव्ये, उत्त० ३६ अ० । प्रज्ञा० । आर्द्रकतीमनादौ, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । ज्ञा० । वृ० । तं० । कटुकरूव्य इवानिष्टे, " असुभकडुयफरुसचंडफलविवागो " प्रश्न०२ सं०द्वा०५ अ० । दारुणे, असुन्दरे, प्रश्न०१ अध०द्वा०१ अ०।अनिष्टार्थे, प्रश्न०२ सं० द्वा०२ अ० । चित्तोद्वेगकारिण्याम् भाषायाम्, आचा० २ श्रु०४ अ०१ उ० । तादृश्यां वेदनायां च । या हि पित्तप्रकोपपरिकलितस्य रोहिण्यादिकटुद्रव्यमिवोपभुज्यमानमतिशयेनाप्रीतिजनिकेति भावः । स्त्री० । रा० । पटोले, पुं० राजनि० । सुगन्धितृणे, शब्दर० । कुटजवृक्षे, अर्कवृक्षे राजसर्षपे च पुं० हारा० । शुण्ठीपिप्पलीमरिचरूपे, त्रिकटुके, न० मेदि० । वाच० । दण्डपरिच्छेदकारिणि, पुं० " दो सावज्जस्स गोठियस्स डंडपरिच्छेयकारी कडुगो भण्णइ " नि० चू० ५ उ० ।

कडुग (य)तुंबी--कटुकतुम्बी--स्त्री० कडुई तुँबी इति प्रसिद्धायां कटुरसपरिणतायां तुम्ब्याम्, प्रज्ञा० १७ पद० ।

कडुगदुक्ख--कटुकदुःख-न०दारुणदुःखे, प्रश्न०१अध०द्वा०१अ० ।

कडुग (य) फलदंसग--कटुकफलादर्शक--त्रि० असुन्दरफलादर्शके, प्रश्न० १ अध०द्वा०१ अ० ।

कडुग (य) फलविवाग--कटुकफलविपाक-- त्रि० विपाकः पाकोऽपि स्यादतो विशिष्यते फलरूपो विपाकः । कटुकः फलविपाको येषान्ते तथा विपाकावस्थायां कटुकेषु कामभोगेषु, भ० ६ श० ३३ उ० ।

कडुगोसहाइजोग--कटुकौषधादियोग--पुं० नागराद्यौषधसम्बन्धे, आदिशब्दात्क्षारशिरावेधादिग्रहः । पंचा० ६ विव० ।

कडुच्छुय--कटुच्छुक-- न० परिवेषणाद्यर्थे भाजनविशेषे, भ० ५ श० ७ उ० ।

कडुणाम--कटुनामन्--न० रसनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं मरिचादिवत् कटु भवति तत्कटुनाम कर्म० ।

कडेयराइगय--कृतेतरादिगत--त्रि० कृताकृतादिविषये, इदं मयाकृतमितरदकृतमादिशब्दादिदं मयोच्चरितमिदमनुच्चरितमेतत्कृत एतद्गत एतद्विषयः न हि मनोविभ्रमे कृतेतरादिसंस्कारो भवति । षो० १४ विव० ।

कडेवर-कलेवर-न० मनुष्यशरीरे, रा० । " ताहे पुव्वाणि णियगे कडेवरे पल्लोमियं ते सव्वे पमिया " आ० म० प्र० ।

कडेवरचिय-कलेवरचित-पुं० कलेवरतया चिते पुद्गले, भ० १-श० ए उ० ।

कडेवरसंघाड--कलेवरसंघाट--पुं० मनुष्यशरीरयुग्मे, रा० ।

कड्ढ--कृष्--धा० विलेखने, आकर्षणे च । भ्वा० पर० सक-अनिट् । कृषेः कड्ढसाअड्ढाञ्चाणञ्चायञ्छाइञ्छाः ८ । ४ । १८६ । इति कड्ढादेशः । "कड्ढइ करिसइ" प्रा० ॥

कड्ढिऊण--कृष्ट्वा--अव्य० आकृष्य पठित्वेत्यर्थे, । पं० व० ।

कड्ढिज्जमाण--कृष्यमाण--त्रि० आकृष्यमाणे, " कड्ढिज्जमाणणिरयतलं " आकृष्यमाणनरक एवं तत्र पातालम् प्रश्न० १ अध० द्वा० ३ अ० ।

कड्ढिय-कृष्ट-त्रि० आकर्षिते, "लक्कड्ढियं" प्रश्न० १ अध० द्वा० १ अ० । कर्षिते, उच्चारिते, " सुत्तम्मि कड्ढियम्मि " व्य० ५ उ० ।

कड्ढेत्तु-कर्षित्वा-कृष्ट्वा-अव्य० पठित्वेत्यर्थे, "कड्ढेत्तु नमोकारं" पठित्वा नमस्कारम् पं० व० ।

कड्ढोकड्ढ-कृष्टापकृष्ट-न० कर्षापकर्षणे, उत्त० १ए अ० ।

कढ-कथ्-धा० वाक्प्रबन्धे, कथवर्धोढ ए । ४ । १ए । इत्यन्त्यस्य ढः कढइ, कथयति प्रा० ।

क्वथ-धा० निष्पाके, भ्वा० पर० सक० सेट् क्वथेरड्डः ८।४। १ए। इति । अड्डादेशाभावे कढइ क्वथति क्वाथं पचतीत्यर्थः । प्रा० ।

कढिण-कठिन-त्रि० कठ-इनन् क्रूरे, निष्ठुरे, कठोरे, स्तब्धे च मेदि० । स्थाल्याम्, स्त्री० हारा० न० । गुडस्य शर्करायाम्, विश्वः । वाच० । कर्कशोदये कर्मणि, औ० । " कढिणकम्मपत्थरतरंगरिंगतं " कठिनानि कर्कशानि दुर्भेद्यानीत्यर्थः । कर्माणि च ज्ञानावरणादीनि क्रिया वा ये प्रस्तराः पाषाणास्तैः कृत्वा तरङ्गरङ्गच्चीचिभिश्चलन् प्रश्न०१ अध०द्वा०३ अ० । तस्य भावः त्व-कठिनत्वम् । कठिनभावे, न० तल् कठिनता तद्भावे, स्त्री० ष्यञ् काठिन्यं तद्भावे, न० काठिन्यञ्च द्रव्यस्य आरम्भसंयोगविशेषात् स्पर्शविशेषः शब्दादेस्तु दुर्बोधत्वम् । स्वनामख्याते महर्षौ, पुं० " कोसंबीपुरीए उप्पण्णो जियसत्तुनिवसचिवकासपुत्तो जसा कुच्छिसंभूओ कढिणो महरिसी " ती० । वंशकटादौ, न० आचा० २ श्रु० २ अ ३ उ० । शरस्तम्बे, वृ० १ उ० ।

कढिणग--कठिनक--न० जलाशयजे तृणविशेषे, पर्णे, प्रश्न० २ सं० द्वा० ६ अ० ।

कढिणहियय--कठिनहृदय--पुं० स्त्री० । धृतवलिष्ठे, व्य० ५ उ० ।

कण--कण--पुं० कण- निमीलने अच् । शाल्यादेः कणिकायाम् , आचा० २ श्रु० १ अ० ए उ० । तण्डुले , उत्त० १० अ० । म्लेच्छभेदे, साधारणशरीरबादरवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद० । ससमे महाग्रहे च पुं० "दो कणा" स्था०२ ठा० । चं०प्र० । कल्प० ।

कणइकेउ--कनकिकेतु--पुं० तेतलिपुराधीश्वरे , " जंबूदीवे दीवे भारहे वासे तेयलिपुरं नाम णयरं कणइ केऊणाम राया" दर्श० ।

कणइपुर--कनकिपुर-न० जनकमहाराजभ्रातुः कनकस्य निवासस्थाने, " जणयमहारायस्स भाउणो कणयस्स निवासट्ठाणं कणइ पुरं वट्टइ " ती० ।

कणइर--कणाविल--त्रि० । कणाकीर्णे, " कणइरअकुडिलजुगयजुत्तंगणासं " जी० ३ प्रति० ।

कणंगर--कनङ्गर--पुं० जलगते बोहिस्थनिश्चलीकरणपाषाणे, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

कणकणग–कणकणक–पुं० अष्टाशीतिमहाग्रहाणां नवमे महाग्रहे, "दो कणकणगा" स्था० २ ठा० । कल्प० । चं० प्र० ।

कणकणारव–कणकणारव–पुं० कणकणेति शब्दे, आ० म० प्र० ।

कणकुंडग–कणकुण्डक–न० पुं० कणास्तण्डुलास्तैर्या सम्मिश्रो वा कुण्डकः तत्तोदेनोत्पन्नः कुक्कुसः कणकुण्डकः उत्त० १अ० । कणिकाभिर्मिश्रे कुक्कुसे, तण्डुलमइये, तण्डुलभक्ष्यभृतभाजने, न० "कणकुंडगचइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरो" उत्त० १२ अ० ।

कणग–कणक–पुं० बिन्दौ, शलाकायाम्, औ० । बाणविशेषे, प्र० अ०१ अध० द्वा० १ अ० । "सत्तिकणगवामकरगहियं" प्रश्न० १ अध० द्वा० २ अ० । जं० । अष्टमे महाग्रहे, "दो कणगा" स्था० २ठा० । कल्प० । चं० प्र० । "कणगपयरलंबमाणमुत्तासमुज्जलं" कल्प० ।

कणग–कनक–न० कनी दीप्तौ । कृञादि वुन् । णो णः ८ । १ । २९ । स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेर्नस्य णो भवतीति नस्य णः । प्रा० । देवकाञ्चने, आ० म० द्वि० । पीतसुवर्णे, भ० ९ श० ३३ उ० । औ० । सुवर्णमात्रे, चं० प्र० १ पाहु० । नि० । औ० । ध० । सू० प्र० । कनकं घटिताघटितप्रकाराभ्यां द्विविधम् । कल्प० । धृतवरद्वीपाधिपतौ, पुं० सू० प्र० १९ पाहु० । द्वा० । निपतति । रेखारहिते ज्योतिःपिण्डके, औ० । पलाशवृक्षे, नागकेशरे, धत्तूरे, काञ्चनालवृक्षे, कालीयवृक्षे चम्पकवृक्षे च । पुं० मेदि० । कासमर्दवृक्षे च पुं० राजनि० । आक्रातरौ, शब्दमा० । पाश्चात्यम्लेच्छभेदे, कनकस्येदं परिमाणम् अण् कानकम् । तत्परिमाणे निष्कादौ, त्रि० वाच० । कनकरसच्छुरिते वस्त्रे, आचा० । २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कणगकंत–कनककान्त–न० कनकस्येव कान्तं कान्तिर्येषां तानि कनककान्तानि । स्वर्णप्रभेषु वस्त्रेषु, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० । समुद्रविशेषाधिपतौ च द्वी० ।

कणककुसल–कनककुशल–पुं० तपागच्छीयश्रीहीरविजयसूरिशिष्ये, अनेन सं० १६५२ वर्षे [बन्ननगरे] भक्तामरस्तोत्रस्य टीकारचिता - जै० इतिहा० द्विपञ्चाशदधिकषोडशशततमे ।

कणगकूड–कनककूट–न० महाविदेहवर्षस्थविद्युत्प्रभवक्षस्कारपर्वतस्य पञ्चकूटनाम्नश्चतुर्थकूटस्य दक्षिणपश्चिमायां षष्ठस्य सौवस्तिककूटस्योत्तरतः पञ्चमे कूटे, यत्र वारिषेणादिकुमारीदेवता जं० ४ वक्ष० । स्था० । कनकं कनकमयं कूटं महत् शिखरं यस्य तत्तथा स्वर्णमयशिखरयुते, जी० ३ प्रति० । रा० ।

कणगकेउ–कनककेतु–पुं० अहिच्छत्रायाः स्वनामख्याते नृपतौ, "अहिच्छत्ताए णयरीए कणगकेऊ नाम राया होत्था" ज्ञा० १४ अ० ।

कणगखइय–कणकखचित–त्रि० सुवर्णमण्डिते, औ० । कनकरसस्तवकाञ्चिते वस्त्रादौ च–आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० । "कणकसुत्तेण फुल्लेण जस्स पासिपातं कणगखचितं" नि० चू० ७ उ० ।

कणगखल–कनकखल–न० पुं० स्वनामख्याते तापसाश्रमे, यत्र चण्डकौशिकप्रबोधाय श्रीवीरजिनो गतः । कल्प० । "तोहे सामी उत्तरवाचालं वच्चइ तत्थ अंतरा कणगखलं नाम आसमपदं" आ० म० द्वि० । आ० चू० । "स्वाम्यपि श्वेतवीं गन्तुमूचे गोपैरसावृजुः । पन्थाः किन्त्वत्र कनकखलाख्यस्तापसाश्रमः । सदृग्विषाहिना रुद्धो–ऽप्रचारः पक्षिणामपि ग० २ अधि० ।

कणगगिरि–कनकगिरि– पुं० मेरौ, कनकप्रचुरे पर्वतान्तरे च । "कणगगिरिसिहरसंसियाहिं" कनकगिरेर्मेरोरन्यस्य वा यच्छिखरं तत्संस्थितायास्तथा ताभिः, " जहा य कणयगिरियचूलिया सिया चत्तालीसं जोअणुच्चा कणगगिरिम्मि रमणिज्जे दीसत्ति " ओ० १ चू० ॥

कणगघंटिया–कनकघण्टिका– स्त्री० स्वर्णमयलघुघण्टिकायाम्, औ० ।

कणगघडिय–कनकघटित– त्रि० स्वर्णनिर्मिते, " कणगअमियसुत्तगसुबद्धकच्छं " कनकघटितसूत्रकेण सुष्ठु बद्धाकक्षोरुबन्धनं यस्य स तथा तम् प्र० ७ श० ८ उ० ॥

कणगजाल–कनकजाल– न० कनकः पीतसुवर्णविशेषस्तन्मयं जालं दामसमूहः रा० । सर्वात्मना हेममये लम्बमाने दामसमूहे, रा० ॥

कणगज्झय–कनकध्वज– पुं० हस्तिनागपुरस्य स्वनामख्यातेऽधीश्वरे, येनाऽङ्गारमर्दकशिष्यजीवा दिवं गत्वा च्युता वसन्तपुरेश्वरपुत्राः स्वसुताः स्वयम्वरे आहूताः पंचा० ५ विव० । (विस्तरतः अंगारमद्दक शब्दे उक्तम्) तेतलिपुरनगराधिपतेः कनकरथस्य पद्मवतीनामभार्यया पुत्रत्वेन परिकल्पिते तेतलिसुतनामामात्यभार्यायाः पोट्टिलायाः कुक्षिसम्भूते पुत्रे, आ० चू० । १ अ० । आ० म० द्वि० । ज्ञा० । दर्श० । तेतलिसुतशब्दे कथा ॥

कणगणाभ–कनकनाभ–पुं० वज्रसेनस्य राज्ञो मङ्गलावतीनाम भार्यायामुत्पन्ने बाहापरनामके पुत्रे, आ० चू० १ अ० । आ० म० प्र० । (उसभ शब्दे लक्षिताऽऽदेववक्तव्यतायामुक्तम्)

कणगणिगल–कनकनिग (ड) ल–न० निगडाकारे सौवर्ण्यपादाभरणविशेषे, औ० ॥

कणगणिज्जुत–कनकनिर्युक्त–त्रि० कनकविच्छुरिते, जी० ३ प्रति० ।

कणगत्तरत्ताभ–कनकत्वग्रक्ताभ–त्रि० कनकत्वगिव रक्ता आभाः कान्तयो येषां तानि । उत्तप्तकनकवर्णेषु, "सोहम्मीसाणेसु देवा केरिसयावण्णेण पण्णत्ता तं जहा गोयमा ! कणगत्तरत्ताभा" जी० ४ प्रति० ।

कणगपट्ट–कनकपट्ट–पुं० कृतकनकरसपट्टे, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । "कणगेण जस्स पट्टा कता तं कणगपट्टं । अहवा कणगपट्टात्मिका" नि० चू० ७ अ० ।

कणगपयर–कनकप्रतर–न० सुवर्णपत्रे, कल्प० ।

कणगपुर–कनकपुर–न० स्वनामख्याते नगरे, "कणगपुरं णयरं सेयासे यउज्जाणे वीरजहो जक्खो पियचंदो राया " विपा० २ श्रु० ६ अ० ।

कणगपुलगणिघसपम्हगोर–कनकपुलकनिकषपद्मगौर–पुं० कनकस्य सुवर्णस्य पुलको लवस्तस्य यो निकषः कनकपट्टको रेखारूपस्तथा पद्मग्रहणेन पद्मकेशराण्युच्यन्ते अवयवे समुदायोपचारात् कनकपुलकनिकषवत् पद्मवच्च यो गौरः स कनकपुलकनिषकपद्मगौरः । अथवा कनकस्य यः पुलको द्रुवत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो वर्णतः सदृशः कनकपुलकनिकषः । तथा पद्मवत् पद्मकेशरवत् यो गौरः ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । रा० । जं० । वि० । वृद्धव्याख्या तु कनकस्य लोहादेर्यः पुलकः सारो वर्णातिशयस्तत्प्रधानो यो निकषो रेखा तस्य यत्पक्ष्मबहुलत्वं तद्वद्यो गौरः स कनकनिकषपक्ष्मगौरः । अतिशयितगौरवर्णविशिष्टपुरुषे, ज्ञा० १ अ० ।

कणगप्पभ–कनकप्रभ–पुं० घृतवरद्वीपदेवे, सू० प्र० १९ पाहु० ।

ह्री०। देवानन्दसूरिशिष्ये प्रद्युम्नसूरिगुरौ, अयं च विक्रमसंवत्सराद् द्वादशशताधिकनवतितमे वर्षे विद्यमान आसीत्। जै० इ०।

कणगफुल्लिय–कनकफुल्लित–न० कनकस्तवकिते वस्त्रे, "कणगेण अस्स फुल्लिताओ दिण्णाओ तं कणगफुल्लियं" नि० चू० ७ उ० ॥

कणगविताणग–कनकवितानक–पुं० दशमे महाग्रहे, "दो कणकविताणगा" स्था० २ ठा०।

कणगफुसिय–कनकस्पृष्ट–न० स्वर्णसंपृक्ते वस्त्रे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ०।

कणगफुसिया–कणकफुसिया–स्त्री० कणो लेशस्तन्मात्रकं पानीयं कणकं तस्य फुसिया फुसारम्। पानीयफुसारे, "कणगफुसियमित्तं पि निविडइ नो से कप्पइ" कल्प०।

कणगमय–कनकमय–त्रि० कनकस्य विकारो मयट्, स्वर्णविकारे, वाच०। सौवर्णे, स्था० ए ठा०।

कणगमंजरी–कनकमञ्जरी–स्त्री० स्वनामख्याताया चित्रकारसुतायाम्, या मृत्वा कनकमाला खेचरी जाता उत्त० ६ अ०।

कणगमाला–कनकमाला–स्त्री० वैताढ्यपर्वते, तोरणाभिधे पुरे दृढशक्तेः खेचरस्य पुत्र्याम्, उत्त० ६ अ०। तद्वृत्तं नग्ग(इ) शब्दे सिंहरथस्य राज्ञो महिषी स्वसंबन्धं कथयन्ती कनकमञ्जरीनाम्न्याश्चित्रकरसुतायाः कनकमालाजन्मचरिते भणिष्यति) मेघपुरनगरराजस्य मकरध्वजस्य देव्यां च। दर्श०। (तच्चरितं दीपपूजाशब्दान्ते)

कणगमूल–कनकमूल–न० विल्वमूले, उत्त० २ अ० ॥

कणगरह–कनकरथ–पुं० स्वनामख्याते तेतलिपुरनगरेश्वरे, आ० म० द्वि०। आ० चू०। ज्ञा०। (तेतलिसुत शब्दे कथा) विजयपुराधीश्वरे, स्था० १० ठा०। (यस्य वैद्यो धन्वन्तरिनाम जन्मान्तरे उदुम्बरदत्त आसीदित्युदुम्बरदत्त शब्दे उक्तम्) यं महापद्मस्तीर्थकरो मुण्डयित्वा प्रव्राजयिष्यति तस्मिन् राजनि च स्था० ७ ठा०।

कणगरुयग–कनकरुचक–त्रि० काञ्चनकान्तौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वा० ४ अ० ॥

कणगलया–कनकलता–स्त्री०। चमरस्यासुरेन्द्रस्य सोमलोकपालस्य द्वितीयाग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० ॥

कणगसंताणय–कनकसन्तानक–पुं० एकादशे महाग्रहे, "दो कणगसंताणया" चं० प्र० २० पाहु०। स्था०। कल्प०। सू० प्र०।

कणगसमाणणाम–कनकसमाननामन्–पुं० कनकेन सह एकदेशेन समानं नाम येषां ते कनकसमाननामानः। कण १ कणक २ कणकणक ३ कणवितानक ४ कणसन्तानका ५ ख्यमहाग्रहेषु, सू० प्र० २० पाहु०। जं०। चं० प्र०।

कणगसत्तरि–कनकसप्तति–स्त्री० लौकिकश्रुतभेदे, अनु०।

कणगसुंदरि–कनकसुन्दरी–स्त्री०। मथुरायां जातायां सिंहराजमहिष्याम् "इत्थं संखराउ कलावई अ पंचमजम्मे देवसीहकणयसुंदरीनामाणो समणो वासया रज्जसिरिं भुंजित्था" ती०।

कणगा–कण (न) का–स्त्री० चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति०। भीमस्य राक्षसेन्द्रस्य तृतीयाग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ०। स्था० ॥

कणगाव (लि) ली=कनकाव (लि) ली–स्त्री० कनकमयमणिकनिष्पन्ने भूषणविशेषे, प्रव० २७१ द्वा०। कल्पनया तदाकारे तपसि च। तत्स्वरूपं च कनकमयमणिकमयो भूषणविशेषकल्पनया तदाकारं यत्तपस्तत्कनकावलीत्युच्यते। तत्स्थापना चैवं चतुर्थं षष्ठमष्टमं चोत्तराधोऽधःस्थाप्य तेषामधोऽधोऽष्टमानि चत्वारि चत्वारि पङ्क्तिद्वयेनाऽवस्थापनीयानि ततो रेखाचतुष्केण नवकोष्ठकान्विधाय मध्यमे शून्यं विधाय शेषेष्वष्टसु तानि स्थापनीयानि। ततस्तस्याधोऽधश्चतुर्थादीनि चतुस्त्रिंशत्तमपर्यन्तानि ततः कनकावलिमध्यभागकल्पनया चतुस्त्रिंशदष्टमानि तानि चोत्तराधेन द्वे त्रीणि चत्वारि पञ्च षट् पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे चेत्येव स्थाप्यानि। अथवाऽष्टाभिः षड्भिश्च रेखाभिः पञ्चत्रिंशत्कोष्ठकान्विधाय मध्ये शून्यं कृत्वा शेषेषु तानि स्थापनीयानीति। तत उपर्युपरि चतुस्त्रिंशत्तमादीनि चतुर्थान्तानि ततः पूर्ववदष्टावष्टमानि। ततोऽष्टमं षष्ठं चतुर्थं चेति चतुर्थादीनि च क्रमेणैकोपवासादिरूपाणीति। अत्र चैकस्यां परिपाट्यां विकृतिभिः पारणकं द्वितीयस्यां निर्विकृतिकेन तृतीयायामलेपकृता चतुर्थ्यां वा चाम्लमिति। अत्र चैकैकस्यां परिपाट्यामेकसंवत्सरः मासाः पञ्च दिनानि च द्वादश परिपाटी चतुष्टये तु संवत्सराः पञ्च मासा नव दिनानि चाष्टादशेति। औ० ॥

इच्छामि णं अज्जो तुज्झेहिं अज्झणुण्णाया समाणी कणगावलिं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरत्ति। ते एवं जहा रयणावली तहा कणगावली वि नवरं तिसु ठाणेसु अट्ठमातिकरे जहा रयणावलीए छट्ठातीए एकाए परिवाडीए एगे संवच्छरे पंच मासा वारस य अहोरत्ता चउएहं पंच वरिसा नव मासा अट्ठारसदिवसा सेसं तहेव नव वासा परियातो यावणित्ता जाव सिद्धा ॥

रयणावली कमेणं, कीरइ कणगावली तवो नवरं।
कज्जा दुग्गतिगपए, दाडिमपुप्फेसु पयगे य।
परिवाडिचउक्के वरि-स पंचगं दिणदुगूणमासतिगं।
पढमपवुत्तो कज्जो, पारणयविही तवप्पणगे ॥ २ ॥

कनकमयमणिकनिष्पन्नो भूषणविशेषः कनकावली तदाकारस्थापनया यत्तपस्तत्कनकावलीत्युच्यते। एतच्च कनकावलीतपो रत्नावलीतपःक्रमेणैव क्रियते। नवरं केवलं दाडिमपुष्पयोः पदके च त्रिकपदे त्रिकाणां स्थापना उपवासद्वयसूचकाः द्विकाः कर्त्तव्याः। शेषं पुनः सर्वमपि तथैवेति। अस्मिंश्च तपसि काहलिकायास्तपोदिनानि द्वादशदाडिमपुष्पयोर्द्वात्रिंशत्सरिकायुगले द्वे शते द्विसप्तत्युत्तरे पदके षट्षष्टिः सर्वसंख्यया त्रीणि शतानि चतुरशीत्यधिकानि अष्टाशीतिश्च पारणकदिवसास्तत्प्रक्षेपाच्चत्वारि दिनशतानि द्वासप्तत्युत्तराणि सर्वाण्यप्येषु वर्षमेकं त्रयो मासाः द्वाविंशतिर्दिवसाः अत्रापि पूर्ववच्चतुर्भिर्गुणने वर्षाणि पञ्च मासौ द्वौ दिनानि चाष्टाविंशतिरिति। अन्तकृद्दशादिषु तु कनकावल्या पदके दाडिमद्वये च द्विकस्थाने त्रिका उक्ताः। रत्नावल्यां च द्विका इति। तथा प्रथमतपसि लघुसिंहनिष्क्रीमिते यः सर्वरस आहारादिकः पारणकविधिरुक्तः स एव तपःपञ्चकेऽपि लघुवृहत्सिंहनिष्क्रीमितमुक्तावलीरत्नावलीकनकावलीलक्षणे कर्तव्यः। एतच्च सर्वं यथायथं भवितमेवेति प्रव० २७१ द्वा०। ज्ञा०। आचा०। जी०। स्वनामख्याते द्वीपे समुद्रे च। तत्र द्वीपे कन-

१	२	३	४	५
३	४	५	१	२
५	१	२	३	४
२	३	४	५	१
४	५	१	२	३

कावलिभद्रकनकावलिमहाभद्रौ देवौ समुद्रे कनकावलिवरकनकावलिमहावरौ देवौ जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिपविभत्ति–कनकावलिप्रविभक्ति– न० नाट्यविधिभेदे, रा० ॥

कणगावलिभद्द-कनकावलिभद्र--पुं० कनकावलिद्वीपदेवे, जी० ३ प्रति० ।

कणगावलिमहाभद्द–कनकावलिमहाभद्र—पुं० कनकावलिसमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० ।

कणगावलिमहावर–कनकावलिमहावर—पुं० कनकावलिवरसमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिवर–कनकावलिवर—पुं० स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च तत्र द्वीपे कनकावलिवरभद्रकनकावलिवरमहाभद्रौ देवौ समुद्रे कनकावलिवरकनकावलिमहावरौ देवौ जी० ३ प्रति० ।

कणगावलिवरभद्द—कनकावलिवरभद्र–पुं० स्वनामख्याते, कनकावलिवरद्वीपाधिपतौ, जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिवरमहाभद्द–कनकावलिवरमहाभद्र–पुं० कनकावलिवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

कणगावलिवरोभास–कनकावलिवरावभास–पुं० स्वनामख्याते द्वीपे, समुद्रे च । तत्र द्वीपे कनकावलिवरावभासभद्रकनकावलिवरावभासमहाभद्रौ देवौ । समुद्रे कनकावलिवरावभासवरकनकावलिवरावभासमहावरौ देवौ जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिवरोभासभद्द-कनकावलिवरावभासभद्र–पुं० कनकावलिवरावभासद्वीपे देवे, जी० ३ प्रति० ।

कणगावलिवरोभासमहाभद्द–कनकावलिवरावभासमहाभद्र–पुं० कनकावलिवरावभासद्वीपदेवे, जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिवरोभासमहावर–कनकावलिवरावभासमहावर–पुं० कनकावलिवरावभाससमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० ॥

कणगावलिवरोभासवर–कनकावलिवरावभासवर– पुं० कनकावलिवरावभाससमुद्रदेवे, जी० ३ प्रति० ॥

कणगुत्तम-कनकोत्तम-पुं० पौरस्त्यचतुर्थशिखरिकूटाधीश्वरे, द्वी० ।

कणपूपलिया–कनपूपलिका– स्त्री० कणिकाभिः कृतायां पूपलिकायाम्, आचा० २ श्रु० १ अ० ॥

कणभक्ख–कणभक्ष– पुं० कणादर्षौ वैशेषिकसूत्रकारे, आव० ६ अ० । कणभुगप्यत्र, आचा० १ श्रु० १ अ० ॥

कणवियाणग-कणवितानक-पुं० दशमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० ।

कणवीर–करवीर– पुं० करं वीरयति चु० वीर–विक्रान्तौ अण् । करवीरे णः ८ । १ । ५३ । इति रस्य णः प्रा० । वृक्षभेदे, रा० । प्रज्ञा० ।

कणाद (य) –कणाद–पुं० कणमत्ति–कण–अद्–वैशेषिकसूत्रकारे काश्यपगोत्रे ऋषिभेदे, वाच० । सूत्र० । मिथ्यादृष्टिः कणादवत् कणादेनापि हि सकलमप्यात्मीयं शास्त्रं द्वाभ्यामपि द्रव्यास्तिकपर्यायास्तिकनयाभ्यां समर्थितं तथापि तन्मिथ्यास्वविषयप्रधानतया परस्परमनपेक्षयोः सामान्यविशेषयोरभ्युपगमात् । उक्तञ्च " जं सामन्नविसेसे, परोप्परं वत्थुतो य सो भिन्ने । मंनइ अच्चंतमंतो, मिच्छादिट्ठी कणादो व्व । दोहिँ विनएहिँ नीयं, सत्थमलुगेण तह वि मिच्छत्तं । जं सविसयप्पहाणं, तणेण अन्नोन्ननिरविक्खो ॥ " अथ यदि नाम सामान्यविशेषादिकं परस्परमेकान्तविभिन्नं (मिच्छंति) आ० म० प्र० । (आसां सम्मतिगाथानामर्थः वेसेसिअशब्दे तन्मतस्योद्भावनपुरःसरं दूषणेन स्पष्टीभविष्यति)

कणासि–कणासिन्– पुं० कणादमुनौ, नं० ।

कणि (ण्णि) आर–कर्णिकार–पुं० कर्णिकारे वा ८ । २ । ६२ । इति रलोपे द्वित्वविकल्पः । वृक्षविशेषे, प्रा० ॥

कणिक (य) –कणिक– पुं० कणो विद्यतेऽस्य अस्त्यर्थे ठन् । गोधूमचूर्णे, राजनि० । अतिसूक्ष्मांशे अग्निमन्थवृक्षे च स्त्री० मेदि० । स्वार्थे ठन् अल्पार्थे, कणेव स्वार्थे कन् कणिका । जीरके, मेदि० । अल्पांशे, तण्डुलभेदे, रायमुकुटः । वाच० । गोधूमचूर्णे च । कटुयघटितोऽपि तत्र पृषोदरादित्वात्साधुत्वम् । यथा किल मोदकः कणिकागुरुघृतकटुभाण्डादिद्रव्यघटः स्या० ४ ठा० ।

कणिकमच्छ–कणिकमत्स्य–पुं० मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

कणिट्ठ–कनिष्ठ–त्रि० अतिशयेन युवा अल्पो वा इष्ठन् । कनादेशः । अतितरुणे, अत्यल्पे, अनुजे, पुं० स्त्री० दुर्बलाङ्गुलौ, अल्पाङ्गुलौ, स्त्री० मेदि० । कनिष्ठस्य भार्य्यायां अल्पवयस्कायां स्त्रियां, स्त्री० तत्र पुंयोगलक्षणं ङीषं वयोवाचिलक्षणं च बाधित्वा अजादिपाठात् टाप् अत्यल्पपरिमिते, त्रि० वाच० । पर्यायेण लघौ, ग० २ अधि० । जघन्ये च त्रि० कर्म० ।

कणिट्ठअर–कनिष्ठतर–त्रि० आतिशयिककनिष्ठे, प्रा० ।

कणिट्ठग–कनिष्ठक–त्रि० कनिष्ठ–स्वार्थे कन् । कनिष्ठशब्दार्थे, वाच० । " जेट्ठकणिट्ठगा " ज्येष्ठकनिष्ठकाः वृद्धा लघवश्च उत्त० २२ अ० ।

कणिय–कणित–न० कण आर्तस्वरे, भावे क्तः १ पीडितानां शब्दे, कर्तरि क्तः तत्कर्त्तरि, त्रि० । वाच० । कण-भावे-क्तः । ध्वनौ, आव० ४ अ० ।

कणिया–कणिका–स्त्री० । शाल्यादेः कणे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । कणिता स्त्री० वीणाविशेषे जी० ३ प्रति० ।

कणीणिगा–कनीनिका–स्त्री० कन्-कनि वा ईनन् संज्ञायां कन् आप इत्वम् । अक्षितारायां, कनिष्ठाङ्गुलौ च मेदि० । कर्पूरे, "अंगारो कणीणिगा कज्जलं च णयणम्मि" क० ।

कणीयस्–कनीयस्–त्रि० अयमनयोरति युवा अल्पो वा ईयसुन् कनादेशः । द्वयोर्मध्ये अल्पतरे, युवतरे, वा वाच० । कनिष्ठे, लघौ, "जहा णं ममं सहोदरकणीयसे भाउए भविस्सइ" अन्त० । आ० म० द्वि० ।

कणुय–कणुक–न० पुं० त्वगाद्यवयवे "सुकणुयं" आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

कणेर–कर्णिकार–पुं० वेतः कर्णिकारे ८ । १ । ६८ । कर्णिकारे । इतः सस्वरव्यञ्जनेन सह एद् वा भवति " कणेरो कण्णिआरो " वृक्षभेदे, प्रा० । संस्कृते कणेर इति कर्णिकारवृक्षे वेश्यायां, हस्तिन्यां च स्त्री० उणादिकोषः । वाच० ।

कणेरु–करेणु–स्त्री० के मस्तके रेणुरस्याः करेणू वाराणस्योरणोर्व्यत्ययः ८ । २ । ११६ । इति रणोर्व्यत्ययः कणेरू स्त्रीलिङ्गनिर्देशात्पुंसि न भवति । एसा करेणू हस्तिन्याम्, प्रा० ।

कण्ठअ–कण्ठक–पुं० कठि अच्- प्राकृते ङञणनो व्यञ्जने- ८ । १ । २५ । इति णस्थानेऽनुस्वारः । तस्य वर्गेऽन्त्ये वा ८ ।

१ । ३० । इति उपरत्वात्तवर्ग्यः पञ्चमो णः । गले, एवमत्र अनुस्वारप्रकरणदर्शिताः काण्ठादिशब्दा उदाहार्याः प्रा० ।

कण्णमरिया–कन्दरिका–स्त्री० कन्दर- गौरा० ङीप् स्वार्थे कः । प्राकृते "कन्दरिकाभिन्दिपाले एडः ८ । २ । ३ । इति संयुक्तस्य एमः । कएणमरिआ गुहायाम्, ।

कण्ण–कर्ण–पुं० कर्ण्यते आकर्ण्यतेऽनेन कर्ण-करणे अच् कीर्य्यन्ते शब्दा वायुनाऽत्र कृ-नन् वा श्रोत्रशब्दज्ञानसाधने इन्द्रिये, वाच० । उत्त० । श्रवणे, उपा० २ अ० । "कण्णा जहमुप्पकत्तरे चेव विगयवीभच्छदंसणिज्जा" तदाधारे गोलके अस्य उपाङ्गेष्वन्तर्गतिः "उवंगा अंगुलिकण्णनासा य आव० १ अ० । "निम्मूलुल्लएकण्णोढणासिया" प्रश्न० १ द्वा० । सुवर्णालीवृक्षे, मेदि० त्रिकोणादिक्षेत्रे भुजकोटिसंयोजकरे एवाभेदे, वाच० । प्रथमकोटिभागे, चं० प्र० २ पाहु० । कुटिले-कर्णोऽस्ति यस्य प्राशस्त्येन अर्श० अच् लम्बकर्णे, अरित्रे च त्रि० वाच० । कृष्णवासुदेवसमये जाते अङ्गदेशराजधानीभूतचम्पेश्वरे, पुं० स च द्रौपदीस्वयम्बरे आहूतः " तच्चं डमं चंपां णयरिं तत्थ णं तुमं कण्णं अंगरायं" ज्ञा० १६ अ० । ती० ।

कण्णउज्ज–कान्यकुब्ज–पुं० देशभेदे, स च देशो गङ्गायमुनयोर्मध्ये अन्तर्वेद्यन्तर्गतः तद्देशप्रधाने नगरभेदे, "पुव्वं किर सिरिकन्नउज्जणयरे जक्खो नाम महिड्ढिसंपन्नो णेगमो हुत्था" ती० ।

कण्णकुहर–कर्णकुहर–पुं० श्रोत्रविले, प्रति० ।

कण्णगइ–कर्णगति–स्त्री० मेरुसंबन्धिन्यां दवरिकायाम्, । अथ केयं कर्णगतिरुच्यते । आमेरोरेकस्मिन् प्रदेशे उपरि च तस्य समश्रेणिव्यवस्थिते मेरोरेव प्रदेशे या दवरिका प्रदीप्यते सा कर्णगतिः । ज्यो० १० पाहु० ।

कण्णगा–कन्यका–स्त्री० अज्ञाता कन्या अज्ञातार्थे कन् क्षिपकादित्वात् नेत्वम् "दशमे कन्यका प्रोक्ता" । इति स्मृत्युक्तायां दशमवर्षायां स्त्रियाम्, तस्या दशमवर्षादर्वाक् रजोयुक्ततयाऽज्ञातत्वात्तथात्वम् कन्या स्वार्थे कन् । कन्याशब्दार्थे, वाच० "इयाणि णिदाए दोण्हं कण्णगाणं वितिया" आव० ४ अ० ।

कण्णजयसिंहदेव–कर्णजयसिंहदेव–पुं० गुर्जरधरित्रीशासके चौलुक्यवंशीये राजभेदे, स च विक्रमादित्यात्पश्चात् "अल्लाउद्दीनसुलतानम्लेच्छराजात् प्राग्यातः ती० ।

कण्णदेव–कर्णदेव–पुं० विक्रमसंवत्सरस्य त्रयोदशशताब्द्यास्परार्द्धे जाते आशावल्ल्याः पुत्रे सौराष्ट्रदेशजे राजभेदे, यो हि हम्मीरयुवराजेन सोमनाथार्थे नाशितः । ती० ।

कण्णधा (हा) र–कर्णधार–पुं० कर्णमरित्रं धारयति धृ-अण्-उपस-नाविके, निर्यामके, ज्ञा० ८ अ० । आव० । ज्ञा० " मइकण्णधाराणं " आ० म० द्वि० ।

कण्णपाउरण–कर्णप्रावरण–पुं० अन्तरद्वीपभेदे, तन्निवासिनि मनुष्ये च अन्तरद्वीपशब्दे वर्णक उक्तः प्रज्ञा० १ पद० प्रव० स्था० । नं० ।

कण्णपा (लि (ली) कर्णपालि (ली) स्त्री० त० ६ कर्णपालके कर्णांशभेदे, (कानेरमाता) तदवयवश्च मांसपेशीभेदः वाच० । कर्णोपरितनभागभूषणविशेषे, औ० ।

कण्णपीढ–कर्णपीठ–न० कर्णाभरणविशेषे, प्रज्ञा० २ पद० । जी० । "कुंमलमट्ठगंडयलकण्णपीढधारी " कर्णौ एव पीठे आसने कुण्डलाधारत्वात्कर्णपीठे, मृष्टे घृष्टे गण्डतले च कपोलतटे, कर्णपीठे च यकाभ्यां ते मृष्टगण्डतलकर्णपीठे ते च ते कुण्डले चेति विशेषणोत्तरपदः प्राकृतत्वात्कर्मधारयः अङ्गदे च केयूरे बाह्वाभरणविशेषावित्यर्थः । कुण्डलमृष्टगण्डतलकर्णपीठे च धारयति यः स तथा । अथवा अङ्गदे च कुण्डले च मृष्टगण्डतले कर्णपीठे च कर्णाभरणविशेषभूते धारयति यः स तथा । स्था० ६ ठा० औ० ।

कण्णपूर–कर्णपूर–पुं० कर्णं पूरयति कर्ण-पूर-अण्-कर्णाभरणविशेषे, ज्ञा० ८ अ० । नीलोत्पले, शिरीषवृक्षे, अशोकवृक्षे च एतेषां पुष्पैः स्त्रीकर्णस्य भूषा भवतीति तेषां तथात्वम् वाच० ।

कण्णपूरग–कर्णपूरक–पुं० कर्णं पूरयति- कर्ण-पूर-ण्वुल् । कदम्बवृक्षे, वाच० । स्वार्थे कन् पुष्पमये कर्णाभरणविशेषे, ज्ञा० ८ अ० ।

कण्णमणणिव्वुइकर–कर्णमनोनिर्वृतिकर–त्रि० ६ त० प्रतिश्रोतृकर्णमनसो सुखोत्पादके, जं० १ वक्ष० । जी० ।

कण्णमल्ल–कर्णमल्ल–कर्णगूथादौ, नि० चू० ३ उ० । श्लेष्मणि, तं० ।

कण्णवेयणा–कर्णवेदना–स्त्री० कर्णयोः पीडारूपे रोगभेदे, विपा० १ अ० । उपा० । जी० । ज्ञा० ।

कण्णवेहणग–कर्णवेधनक–न० कर्णवेधोत्सवे, "कण्णवेहणगं संवच्छरपलेहणगं चूलोवणयणं रा० । भ० ।

कण्णस्–कन्यस्–त्रि० कन् अव्ययादि-निपातात् कन्यः कन्यत्वेन काम्यत्वेन सीयते अवसीयते सो-ऽधमर्थे क-कनिष्ठो सारसुन्दरी "रामस्य कन्यसो भ्राता" रामा० । स्त्रियां, वयोवाचित्वात् ङीष् । अधमे, । त्रि० वाच० । "कण्णसन्ति कण्णसमज्झिमजेट्ठा" सूत्रत्वात्कनिष्ठलघुजघन्यामिति यावत् । उत्त० ७ अ० । (सूत्रत्वादित्युक्त्या उत्त० टीकाकृन्मते संस्कृतः कन्यस शब्दो नास्तीति भाति ।)

कण्णसक्कुली–कर्णशष्कुली–स्त्री० कर्णस्य शष्कुलीव । कर्णगोलके तन्मध्याकाशे च वाच० । कर्णायत्याम्, " उड्ढमुहकण्णसक्कुली " ऊर्ध्वमुखे कर्णशष्कुल्यौ कर्णायती ययोस्तौ तथा ज्ञा० ८ अ० ।

कण्णसर–कर्णशर–पुं० कर्णगामिनि शरे, द० ६ अ० ।

कण्णसुह–कर्णसुख–त्रि० कर्णसुखदायके, रा० । औ० ।

कण्णसोक्ख–कर्णसौख्य–त्रि० कर्णसौख्यहेतौ, द० ६ अ० ।

कण्णसोयवभिया–कर्णस्रोतःप्रतिज्ञा– स्त्री० श्रवणप्रतिज्ञायाम्, आकर्णनार्थम् इत्यर्थः । नि० चू० १६ उ० आचा० ।

कण्णसोहण–कर्णशोधन–न० कर्णयोर्मलनिःसारणसाधने उपकरणभेदे, " कण्णसोहणपुणकन्नाणमलेण संविपणं तु दुक्खेज्ज जस्स कन्ना ण सुणेज्ज व सो तु गिण्हेज्जा " पं० भा० । आचा० । "जे भिक्खू कण्णसोहणगस्स उत्तरकरणं सयमेव करेइ करंतं वासा इज्जइ" नि० चू० ४ उ० ।

कण्णा–कन्या–स्त्री० कन्-यत्-अघ्न्या० नि० कन्यायाः कनीनचेति निर्देशात् वयसि प्रथमे इति न ङीप् वाच० । अपरिणीतायां स्त्रियाम्, उपा० १ अ० । कुमार्य्याम्, पञ्चा० १ विव० । मेषादितः षष्ठे राशौ, घृतकुमार्य्याम्, मेदि० । स्थूलैलायाम्, वाराहीकन्दे, कर्कट्यां च राजनि० " म्रौ चेत्कन्या " इत्युक्तलक्षणे चतुरक्षरपादके छन्दोभेदे च । वाच० ।

कण्णागोभूमालिय–कन्यागोभूम्यलीक– न० कन्या कुमारी गौश्च बहुला भूमिश्च भूरिति द्वन्द्वस्तासु विषयेऽलीकमनृतं कन्यागोभूम्यलीकमलीकशब्दे ह्रस्वत्वश्रुतिः प्राकृतशैलीवशात् । स्थूलकमृषावादविरमणाख्यतृतीयाणुव्रतातिचारे, पञ्चा० १ विव० ।

कस्राचोल्लय–कन्याचोलक–न० जवनालके, नं० ।

कस्राम–कर्णाट–पुं० "रामनाथं समारभ्य, श्रीरङ्गान्तं किलेश्वरि! कर्णाटदेश इत्युक्तो, राज्यसाम्राज्यदायकः । शक्तिसङ्ग उक्ते देशभेदे, वाच० । कल्प० ।

कस्राणयणीय–कन्यानयनीय–न० चोलदेशप्रधाने नगरे, तत्र श्रीवीरप्रतिमा चिरपूजिताऽऽसीत् तद्वृत्तं चेत्थम् ।

पणमिय अमियगुणगणं, सुरगिरिवीरं जिणं महावीरं ।
कन्नाणयपुरट्ठिय, तप्पडिमाकप्प किमपि वोच्छं ॥ १ ॥

चोल्लदेसावयंसो कस्राणयनयरे विक्कमपुरवत्थव्वपहू जिणवइसूरीचुल्लपिओ साहू माणदेवकाराविया वारहसयतित्तीसे विक्कमवरिसे आसाढसुद्धदसमी गुरुदिवसे सिरिजिणवइसूरिहिं अम्ह वि य पुव्वायरिएहिं पइट्ठिया धम्माणसील्लसमुग्घायजाई रसोवलघडिया तेवीसपव्वपरिमाणा नहमुत्तिल्लगग्घे वि घंट व्व सद्दं कुणंति सिरिमहावीरपडिमा सुमिणाया से एआनकवालाभिहाणपुटविधाउ विसेसेणं सन्निहिया पाडिहेरा सावयजणाणं संघेणं चिरं पूइया जाव वारहसयअमयाले विक्कमाइच्चसंवच्छरे वाहुवीणकुलप्पईवे सिरिपुहविरायणरिंदे सुरत्ताणसहवदीने तं निहणंतीए रज्जप्पहाणेण परमसावएण सिट्ठिरामदेवेण सावयं संघस्स लेहो पिहिओ जहा तुरक्कसंजायं सिरीमहावीरपडिमा पच्छन्ना धारेयव्वा तओ सावएहिं दाहिमकुलमंमणं कयं वासमंमविना मंकिए कयं वासच्छलिए विउलवालुयाऊरे ठविया जाव तत्थट्ठिया जाव तेरस इकारसे विक्कमवरिसे संजाए अइदारुणे दुब्भिक्खे अणिव्वहंतो जाजओ नाम सुत्तहरो जीवियानिमित्तं सुभिक्खदेसं पइ सकुडुंबो चलिओ कन्नानयणीया उ पढमपयाणयं थोवं कायव्वंति कलिऊण कयं वासत्थलेववत्तं रयणिं सुत्तो अद्धरत्ते देवयाए तस्स सुमिणं दिन्नं जहा इत्थ तुमं जत्थ सुत्तोसि तस्स हिट्ठे भगवओ महावीरस्स पडिमापत्तिए सुहत्थिए चिट्ठइ तुमए वि देसंतरं न गंतव्वं भविस्सइ इत्थेव ते निव्वाहोत्ति। तेण समं पडिबुद्धेण तं ठाणं पुत्ताईहिं खणाविय जाव दिट्ठा सा पडिमा तओ हट्ठतुट्ठेण नयरं गंतूण सावयसंघस्स निवेइयं । सावएहि महूसवपुरस्सरं परमेसरो पाविसि उण ठाविओ चेइयहरे पूइज्जइ तिकालं। अणेगवाविओ चेइयहरे पूइज्जइ । तिकालं अणेगवारं तुरक्कउवद्दवामुक्को तस्स य सुत्तहारस्स सावएहि वित्तानिव्वाहो कारिओ पडिमाए परिगरो गवेसिओ तित्तोहिं न लद्धो कत्थ वि घलपरिसरे चिट्ठइ । तत्थ य पसत्थिसंवच्छराइं लिहिअसंभाविज्जइ अन्नया एहावणेणं स वुत्तो भयवओ सरीरे पसेऊपसरंतो दिट्ठो लूहिज्जमाणो वि जाव न विरमिज्जइ ताव नायं सद्देहिं जहा कोविओ वच्चो अवस्सयं इत्थ होही जाव पत्ताए जच्छुय रायपुत्ताणं धाडीसमागया णयरं सव्वओ विद्धत्थं एवं पायमप्पभावो सामी भावपूइओ जाव तेरसयपंचासीए संवच्छरो तम्मि वारिसे आगएणं वियवंसजाएणं घोरपरिणामेणं सावया साहुणो य वंदीए काउ विमंविया सिरिपासनाहविंवं सेलमयमग्गं सा पुण सिरीमहावीरपडिमा अखंडिया चेव सगरूमारोविया ढिल्लीपुरमाणे ऊण गलका वा दट्ठिय सुरत्ताणो किरिआगओ संतो जं आइसिस्सं करिस्सामोत्ति ठिया पसरसमासे तुरुक्कवट्टीए जो वसमागओ कालक्कमेण देवगिरिनयराओ जोगिणिपुरं सिरिमहम्मदसुरत्ताणो अन्नया विहिणा जाणवयं विहरित्ता संपत्ता ढिल्लीसाहापुरे खरयरगच्छालंकारसिरिजिणसिंहसूरिपइट्ठिया सिरिजिणप्पहसूरिणो कमेण महारायसभाए पंमियगुच्छाए पच्छुयाए को नाम विसट्ठियरो पंमियउत्तरायएण पुट्ठो जोइसियधाराधरेण तेसिं गुणत्थइपारद्धा तओ महाराएणं तं चेव पेसिय सवहुमाणाविया पोससुद्धवियाए संझाए सूरिणा जट्ठिओ तेण हि महारायाहिराओ अचासणे उववेसिओ कुसलाइवत्तं पुच्छिय आवसिओ अद्धीणचक्कवो आसिव्वाओ विरिं अद्धत्तीए जाव एगंते गोट्ठी कया तत्थेव रत्तिं वसित्ताए पुणो आहुया संतुट्ठेण महाणरिंदेण गोसहस्सदविणजायं पहाणपुज्जाणवत्थसयं कंवलसयं अगुरुचंदणकप्पूराइगंधदव्वाइं व दाउमाढत्ताणि तओ गुरूहिं साहूणं एयं न कप्पइत्ति संवोहिऊण महारायं पडिसिद्धे सव्वं वत्थं पुणो रायाहिरायस्स मा अप्पत्तियं होहित्ति। किंचि कंवलवत्था गुरुमाइहिं अंगीकयं रायाभिओगेणं तओ नाणादेसंतरागयं पंडिएहिं सह वायगुट्ठिं कारवित्ता मयंगयहत्थिजुयलं आणाविउं एगम्मि गुरुणो अन्नम्मि य सिरिजिणदेवायरिए आरोवित्ता वज्जंतासुं अट्ठसुस्सरतारणियगयणभेरीतुं पूरिज्जमाणेसु जमलसंखेसु धुमंतेसु मुयंगमद्दलकंसालटोल्लाइसद्देसु पढंतेसु जइपट्टेसु वा उवसमसमेया चउव्विहं संघसंजत्ता य सूरिणो पोसहसालं पट्ठविया सावएहिं पवेसमहूसवो विहिओ दिसाइ महादाणाइं पुणो पातसाहिणा समप्पियसयलसेयंवरदंसणउवद्दवरक्खणक्खमं पुरुसाणं पेसिया चउद्दिसिं गुरुहिं तस्स पाडिच्छंदिया जाया सासणुन्नई । अन्नया मग्गिहिं सूरिहिं सिरिसत्तुंजयगिरनारफलवद्धीपमुहतित्थाणं रक्खणत्थं फुरमाणं दिन्नं तक्खणं चेव सव्वज्जोमेणं पेसियंते तित्थेसु मोइया गुरुवयणाणंतरे अणेगे वंदिणो रायाहिरायेण रविसोमवारदिने गुरुणो वाचाराउल्लं वरिसंते जलहरे भेट्टिओ सुरत्ताणो कद्दमखरंटिया पाया गुरूणं लूहाविया माहाराएण मलिकक्कापूरयासाओ पवरसियवखंडेण तओ आसीवाए दिण्णे वक्खाणा कव्वे य वक्खाणीए अईव चमक्कारि–

यचित्तो जाओ महाराओ महाणरिंदो अवसरं नाऊण
मग्गसिरसुद्धस्सरूवकहणत्थं पुव्वं सा जगवओ महावी-
रस्स पमिमाहिमो य ताओ सुक्कमारगोट्ठीओ काऊण एगच्छ-
त्तसुहाहिववयणा आणविया जुगल्लका वादकोसाओ मओ
सूयगाए मल्लिकाणं खंधे काऊण सयलसज्जासमक्खं अ-
प्पणो अग्गे आणाविय दट्ठूणं च समप्पिया गुरूणं । तओ
महूसवपजावणपुव्वं सुक्खासणट्ठिया पवेसिया सयलसंघेणं
मलिकताजनसराईए चेइया घाइया गुरुहिं वासक्खेवो
कओ पूइज्जइ महापूयाइं तओ महारायस्स आएसेणं सि-
रिजिणदेवसूरिणो अप्पनरसेट्ठिणो मंमवे ठाविता पढिया
कमेण गुरुणो महरट्ठमंमले दिसा रायाहिराएण सावय-
संघसहियाणं गुरूणं च सहकारिरहतुरयगुल्लयिणी सुक्खा-
सणाइं सामग्गी अंतराल्लणगरे छुपज्जावणं ता पए संघेणं
समाहिज्जमाणा अपुव्वातित्थाइं नमंता सूरिणो कमेण पत्ता
देवभिरिनगरं संघेणं पवेसमहूसवो कओ संघपूया य जाव
जाय। पयट्ठाणपुरे य जीवंतसामि मुणिसुव्वयपमिमा संघ-
वइजगसीहसाहणसल्लदेवप्पमुहसंयमसएहिं जत्ता कया प-
च्छा ट्ठिल्लीए विजयकट्ठए जिणदेवसूरीहिं वि दिट्ठो महारा-
ओ दिसो सुरत्ताणसराइत्ति तीसे णामं ठवियं तत्थ चत्ता-
रि सयाइं सावयकुलाइं निवासत्थं आइत्थाणि तत्थ कारा-
विय पोसहसाला कलिकालचक्कवट्टिणा चेइओवट्ठाविओ
तत्थ सो चेव देसे सिरिमहावीरो तिकालं महरिहपूया पया-
रेहिं भगवंतं परतित्थिवासे सेयंवरभत्ता य सावया दट्ठूणं
महम्मदसाहिकयं सासणुन्नयं एवं पंचमकाल्लं कलिं ति ज-
णा ११ चित्तं पडिहयविंतं, वीरजिणेसस्स धुयकिले-
सस्स। आदंवसूरियमिणं-मणनयणाणं जयइ निच्चं॥ कन्ना-
णयपुरसंठिय-देवमहावीरपडिमकप्पो य। लिहिओ मुणी-
सरेणं, जिणसिंहमुणिंदसीसेणं ॥ २ ॥

श्रीकन्यानयमहावीरेति नामा कल्पः । परिशेषवृत्तं तु ।
अह विज्जातिलयमुणी, आएसा संघतिलयसूरीणं ।
परिसेसलवं जंपइ, कंनाणयवीरकप्पस्स ॥ १ ॥

तहाहि जहारिआ सिरिप्पहसूरिणो सिरिदत्ता वादन-
यरे साहुणो सालसह जाव अचलकारिअचेइआणं तुरक्के-
हिं कीरमाणं भंगं फुरनाणदंसणपुव्वं निवारित्ता सिरिजिण-
सासणपजावणातिसयं कुणंता पाकिच्छगाणं सिद्धंतवायणं-
दिता तवस्साणं अंगाणंगपविट्ठागमतवाइं कारिंता विणेयाणं
अवरगच्छीयमुणीणं पियमाणवागरणकव्वनाडयालंका-
राइं सत्थाइं जणंता उब्भडवायजरूवायाणं वादविदाणं
अणप्पंदप्पमवहरंता जाव से संवच्छरतिगमइक्कमंति । इओ
अ सिरिजागिणिपुरे सिरिमहम्मदसाहिसगाहिराउ कहिं

वि अवसरे पत्थुआए पडिअगुट्ठीए सत्थविआरसंसयमाव-
ओ सुमरेइ गुरूणं गुणे जणइ अ। जइ ते जट्टरया संपयं
महासुहालंकरणं हुंता तो मज्झमणोगयसमत्थसंसयस-
यसल्लुद्धरणे हेलाए खमंता नूणं विहप्पइ तब्बुद्धिपराजि-
ओ उ चेव जूमिमुज्झिअगुवयं गयणदेसपडीणो इत्थं
गुरूणं जूवइकिज्जमाणगुणविन्नाणवइअरे अवसरत्तू तक्कालं
देउलतावादाहागओ ता जलमलिको जूमिअल्लमिलिअभा-
लवट्टो विन्नवेइ । महाराय ! संति ते तत्थ महप्पाणो परं
तभयरनीरमसहमाणा किसिअंगा गाढं वट्टंति तओ संज-
रिअगुरुगुणपब्भारेण जूमिनाहपासो चेव सीदो आइहो
जो मल्लिक ! सिग्घं गंतूण डुवीरखाने लिहावेसु फुरमा-
णं फासेसु । तत्थ जहा तारिससामग्गीए चेव भट्टारया पु-
ण इच्छइंति । तओ तेण तहेव कए पेसिअं फुरमाणं क-
मेण पत्तं सिरिदउल्लतावादट्ठीवाणे भणिअं च सविणयं नयर-
नायगेण सिरिकुतूहलखातेण भट्टारयाणं सिरिपालसिंहफुर-
माणागमाणं चुल्लीपुरं पइत्थाणं वाइट्ठाणं तओ दिणदस-
गब्भंतरे सन्नविऊण जिट्ठसिअवारसीए रायजोगे संघस
त्थिअपरिसाए अणुगम्ममाणा पत्थिआ महया वित्थरेणं
गुरुणो करेण ठाणे ठाणे महूसवसयाइं पाउब्भावयंता वि
समदूसमादप्पं दलंता सयलंतरालजणवयजाणनयणकोऊह-
ल्लमुप्पायंता धम्मट्ठाणाइं उद्धरंता दूरओ उक्कंठा वि संतुल्ला
समागच्छंतआयरिअवग्गेहिं वंदिज्जमाणा पत्ता रायजू-
मिमंमणं सिरिअल्लावपुरदुग्गंतउत्ततारिसए जावणाए
गुरिसा साहिए हुमिलक्खुकयं विप्पमिवत्तं मुणिऊण ताणं
चेव गुरूणं सीसुत्तमेहिं रायसज्जामंमणेहिं गुरुगुणालंकि-
अदेहेहिं सिरिजिणदेवसूरीहिं विन्नत्तेण भुवइणा सम्मुहं
पविट्ठाविएण सबहुमाणं फुरमाणेण मलिकप्पवप्पिअसय-
लसत्थिअवत्थुणो विसेसओ जिणसासणं पजावयंता छट्ठं
मासं अच्छिअ पत्थिज्जा अल्लावपुरओ पुणो वि धरणीना-
हेण सिरिसिरोहमज्झानयरे संमुह पेसिअ मसिणसिणद्ध-
देवदूसव्वायवत्थदसगेण अलंकरिआ जाव हम्मीरवीररा-
यहाणीपरिसरे देसे सुसंपत्ता । इओ चिरोवचिअभत्ति-
राएण आभिमुहमागएहिं दंसणनिमित्तिओ विअमयकुडं
एहाएहिं बंधनमप्पाणं मन्नमाणेहिं आयरिअजइसंघसा-
वयविंदेहिं परिअरिआ भद्दविय सिअव्वीआए जाया राय-
सभामंडल्ला जुगप्पहाणुतक्खणं आणंदभरनिब्भरेहिं नयरे-
हिं णेहिं अब्भुत्थाणमिवायरंतेण सिरिमहम्मदसाहपातसा-
हेण पुच्छिया कोमलगिराए कुसलपउत्तिं चुंचिओ असे-
सिणेहं गुरूणं काराविधरणिराएण धरिओ अहिअए अ-
चंतादरपरेण गुरुहिं पि तक्कालकविअअहिनवासीवयण-
दाणेन चमक्कारिअं नरेसरमाणसं पसिआयमहामदसारं वि-

सालसालं पोसहसालं अइट्ठाय महीनाहेण गुरूणं सह गमणाय पहाणपुरिसाणं दुअरायाणो सिरीदीनारपमुहा महामल्लिका य पणमंति सयसाहस्सा विरुकंतिआ सावयलोया मिलिआ य वीरदंसणलालसा नयरलोआ संगया य कोऊहलेणं पगइजाणवयजणा तओ वि दिविंदेहिं जोगायलिहिं थुव्वंता भूवालप्पसाइअभूरिनेरीवेणुवीणामद्दलमुइंगगडुपरुहजमलसंखमुग्गलाइ विउलवाइआवाणं दिअंतरालं विणिम्माचिंताविप्पवग्गेहिं वेअज्झणीहिं थुणिजंता गंधव्वेहिं सुहवाहिअग्गइज्जमाणमंगला पत्ता तक्कालं सिरिसुरताणसराइपोसहसालंकया य बद्धा नयणमहूसवा संघपुरिसेहं चेइओ अजहवयसि अमइआ दिणे सयलसंघकारिअमहूसवसारं सिरिपज्जोसवणाकप्पो पत्ता य ठाणे ठाणे आगमणप्पभावणा लेहारंजिआ सयलदेससंघा मोइआ अणेगे रायवंदिवद्धा रायदिज्भसयसाहस्सावया इअरलोगा य करुणाए उम्मोइआ काराहिंतो दीना दाविआ य अपइट्ठाणं पइट्ठा कया य काराविआ य अणेगअणेगरायवंदीवद्धा रायदिज्झसयसहस्सामो जिणधम्मप्पभावणा एवं णिच्चं रायसज्जागमणपंडिअवाइअविंदविजयपुव्वं पभावणाए पयट्टमाणाए कमेणं वासारत्तचउमासीये वइक्कंताए अन्नया फग्गुणमासे दउलता वादाउ आगच्छंतीए मगदूमई जहानामधिज्जाए निजजणणीए संमुहं पट्ठिएण चउरंगसमूहसत्तट्ठेण सुरत्ताणेण अब्भुत्थाणपुरस्सरं चालिआ गुरुणो अप्पणा समं वरुथूणठाणे मिठिआ जणणी महाराएण दिन्नं सव्वेसिं महादाणं परिधाविआ सव्वे पहाणकवाइवत्थाइं कमेण पत्तो महूसवमइं रायहाणिसम्माणिआ गुरुणो कत्थ कप्पूराईहिं तओ चितसिअदुवालसीए रायजोगे महारायाणमापुच्छिअ पातसाहिदत्तसाव्वाणठायाए कया नंदी तत्थ दिक्खिया पंच सीसा मालारोवणसम्मंतारोवणाइं णिअधम्मकिच्चाइं कयाणि निव्विअं चित्तं थिरं देवनंदनेन वंजदत्तेन आसाढगुद्धदसमीए अपइट्ठियाणि अणिहियवकारियाणि तेरसविंवाणि महाविरथरेण तत्थ विंवकारावएहिं बहूअं वित्तं विसेओ साहुमहरायतएण अजयदेवेण त्ति । तहा अन्नया नरिंदेण दूरओ निच्चं समागमेण गुरूणं कट्ठंति वितिऊण पदिन्ना सयमेव निअपासायमासे सोहंतजवणराई अभिणवसराई आइट्ठा य वसिउं । तत्थ सावयसंघा भट्टारयसरा इति कयं सेसयं नरिंदेण णामं कारिओ । तत्थेव वीरविहारो पोसहसाला य पातसाहिणा तओ तेरससयनवासिअवरिसे आसाढकिएह सत्तमीए सुमहत्ते महीवइसमाइट्ठनीयनट्टवाइअसंपदा य पयमिज्जमाणअभागमहूसवसारं सयं नरिंदेण दाविज्जमाणमहादाणं गाइज्जमाणमंगलं पविट्ठा पोसहसालं भट्टारया संतोसिआ पीइदाणेण विउसा उद्धरिआ दाणेणं वीणा ण होइ लोआ चालिआ । पुणन्नया मग्गसिरमासे पुव्वदिसजयजत्तापत्थिएण अप्पणा सह नरिंदेण करिआ ठाणे ठाणे वंदामो अणाइणा जिणधम्मप्पभावेण उद्धरिअं सिरिमहुरातित्थं संतोसिआ दाणाईहिं दिअवराइणो निच्चं पासूणं संवावारे कट्ठंति मन्नमाणेण महीनाहेण खोजे जहा मलिकेण सद्धिं आगरा नगराओ परिपेसिआ रायहाणिं पइ सचपइन्ना गुरुणो महिऊण सिरिहत्थिणाउरजुत्ता फुरमाणं समागया तिअच्छाणे मुणिवइणो तओ मेलिऊण चउव्विहं संघं काऊण य पुत्तवाहिरूसहिस्स साहुवोहित्थस्स संघवइत्तितिलयं पट्ठिआ आसुहत्ते सायरिआइपरिवाएसिरिहत्थिणाउररज्जंतगुरुणो विहिट्ठाणे विहिट्ठाणे संघवइवोहित्थेणमहूसवा संपत्ता । तिक्खजूमिं कयं च वद्धावणयं ठाविआणि तित्थगुरूहिं अहिणवकारियपइट्ठिआणि सिरिसंतिकुंथुअरजिणविंवाणि अंविआ पडिमा य चेइअट्ठाणेसु कया य संघवच्छल्लाइमहूसवा संघवइणा संघेण य पूइआ वत्थजोअणतंवोलाईहिं वणीमगसत्था आगयमित्तेहिं जत्ताओ समागए महाराए पवट्टंति ऊसवा चेइवसहीसु संमाणेइ गुरुणो उत्तरोत्तरमाणवाणेण मिरिसव्वभोमो वज्जंति । पइदिसं सूरिसव्वभूमाणं पभावणा सरोजसपमहा विहरंति निरुवसग्गं सव्वदेसेसु सेअंवरा य दिअंवरा य रायाहिरायदिन्नफुरमाणहत्था खरतरगच्छालंकारगुरुप्पसायाओ सगासिन्नपरिनूए विदिसिचक्केक्कयाइं गुरुहिं फुरमाणगहणेण अकुतोजयाइं सिरिसत्तुंजयगिरिनारफलवद्धिप्पमुहतित्थाइं उज्जोइआइव्वाइकिचेहिं सिरिपालित्तयमहल्लवाइसिद्धसेनदिवायरहरिभद्दसूरिहेमचंदसूरिप्पमुहा पुव्वपुरिसा किं बहुणा सूरी चक्कवट्टीणं गुणेहिं आवज्जिअस्स नरिंदस्स पयडाए व पवट्टंति सयधम्मकज्जा भावइज्जंति पइपच्चूसं चेइअवसहीसु जमलसंखा किज्जंति धम्मएहिं वीरविहारे वज्जंतगहिरसुहलमयंगजुग्गलतालपिखणयसारमहापूआओ वासिंति सिरिमहावीरपुरओ भविअलोअउग्गाहिज्जमाणकप्पूरागरुपरिमलुग्गरो दिसिचक्कं संचरंति हिंदुअरज्जे इव दूसमसुसमाए इव अणज्जरज्जे वि दूसमाए जिणसासणप्पभावणाए रायणसिद्धाए मुणिणो किं च लुट्टंति गुरूणं पायपीढे किंकरा इव पंचदंसणिणो सपरिवारा पभिच्छंति पडिच्छगा इव गुरुवयणं सेवंति अ निरंतरं जाव सादसहिआ गुरूणं दंसणुसुगइहपरलोअकज्जत्थिणो परतित्थिणो निव्विअकत्थणाओ गच्छंति निच्चं रायसभाए गुरुणो मोआवंति विंतिवग्गं उप्पायंति जिणुत्ताणुसारजुत्तिजुत्तवयणेहिं निरंतरं रायमणे कोऊहलं महल्लवरियाणुवारिजणा पयट्टंति पए पए पभावणं गंगोदय-

सच्चप्रचित्ता धवलिं तिन्नि अ जसचंदिमाए दिअंतरालाई उज्जोवंति । वयणामएहिं जीवलोगं सदंमणिणो परदंसणिणो अ वहंति सिरिहिअं गुरूणं आणं समग्गवावारेसु वक्खाणित्ति अणन्नसाहारणभंगीए सपरिसद्धं तं जुगप्पहाणा एआरिसा पजावणा एगरिसा पयमं चेव परिभाविज्जमाणा निबं पि वट्टमाणा किंचियमित्ता अप्पमईहिं कहेउं सका केवलं जीवंतु वच्छरकोमीओ पजावयंतु सिरिजिणसासणं सुचिरं इमे सूरिवरा जिणप्पहसूरीहिं एं गुणलेसवुईए पजावणं गंति परिसो से परिकहिज्जा कन्नाणयवीरकप्पस्स ॥ इति कन्यानयनीयश्रीमहावीरकल्पः।

कणाडभट्टदिवागर–कर्णाटभट्टदिवाकर–पुं० दक्षिणापथप्रसिद्धे विद्वद्वरे, ती० (स च दक्षिणापथादागच्छन् श्रीवृद्धवादिसूरिभिर्जितो व्रतं ग्राहितश्चेति कुमुंदेसरशब्दे वक्ष्यते)

कणापिउत्त–कन्यापितृत्व–न० कन्याजनकत्वे, "जातेति चिन्ता महतीति शोकः, कस्मै प्रदेयेति महान् विकल्पः । दत्ता सुखं स्थास्यति वा न वेति, कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्" ध० र० ॥

कणालिय–कन्यालीक–न० कन्या अपरिणीता स्त्री तदर्थमलीकं कन्यालीकम्, उपा०१ अ०। कुमारीविषये असत्ये, प्रश्न० १ अध० द्वा० ३ अ० । यथा द्वेषादिभिरविषकन्यां विषकन्यां विषकन्यामविषकन्यां वा सुशीलां वा दुःशीलां दुःशीलां वा सुशीलामित्यादि वदतो भवति ध० ३ अधि० । आव० । तत्र स्थूलकमृषावादविरमणातिचारेषु, लोकेऽतिगर्हितत्वादुपात्तं तेन सर्वत्र मनुष्यजातिविषयमलीकमुपलक्षितम् उपा०१अ० ।

कणावली–कर्णावली–स्त्री० कर्णः कुटादयस्तेषामावली संहतिर्यासां तास्तथा । कुटादिकर्णसङ्घाते, अणु० ३ वर्ग० ।

कणिया–कर्णिका–स्त्री० कर्ण-ण्वुल् अत इत्वम् । कर्णाभरणभेदे, करिशुण्डाग्रवर्तिन्यङ्गुल्याकारे पदार्थे, क्रमुकादिवृत्तपरम्परायाम्, (छटा) करमध्याङ्गुलौ, मेदि० । लेखन्याम्, हारा० । अग्निमन्थवृक्षे, राजनि० । वाच० । बीजकोशे, भ० ११ श० ९ उ० । उन्नतसमचित्रबिन्दुकिन्याम्, प्रज्ञा० २ पद । मध्यमएकलिकायाम् नं० । शाल्यादिबीजस्य मुखमूले लोके या तुषमुखमित्युच्यते । स्था० ८ ठा० । कोणविभागे, स्था० ८ ठा० । जं० । "अट्ठ कणिये" कर्णिकाः कोणाः अनु० ।

कणियार–कर्णिकार–पुं० कर्णिभेदेन करोति कृ-अण्- उप- स० (गणियारी) वृक्षभेदे, आरग्वधवृक्षभेदे च । शोधनरूपमत्रभेदकत्वात् तयोस्तथात्वम् वाच० । आव० । प्रज्ञा० । स्था० । गोशालस्य मङ्खलिपुत्रस्य दिक्चरभेदे, भ० १४ श०१० उ० । कर्णिकारस्य पुष्प, न० ज्ञा० ९ अ० ।

कणीरह–कर्णीरथ–पुं० कर्णः सामीप्येनास्त्यस्य कर्णी स्कन्धः तेन इः शोभा यस्य न समासान्तः कप् । स चासौ रथो रथरूपं वाहनं कर्म्म० । स्कन्धवाह्ये याने, (पालकी) इत्यादौ, । शब्दचि० । अन्या व्युत्पत्तिर्दर्शिता यथा कर्णसाध्यक्रिया उपचारात् कर्णः । कर्णोऽस्यास्तीति इनि कर्णी असौ रथश्च शब्दमात्रेण रथो न वस्तुतो रथः । यद्वा सामीप्यात् कर्णशब्देन स्कन्धो लक्ष्यते सोऽस्यास्ति वाहनत्वेन इनि कर्णी चासौ रथश्च उन्न- यत्र अन्येषामपीति दीर्घ इति । "कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम्" । रघु० । वाच० । "विदिसिवज्जत्तचामरवालवीयणिया कण्णीरहप्पयाया वि होत्था" कर्णीरथः प्रवहणविशेषस्तेन प्रयातं गमनं यस्याः सा तथा । कर्णीरथो हि ऋद्धिमतां केषांचिदेव भवतीति सोऽपि तस्यास्त्व्यतिशयप्रतिपादनार्थोऽपि शब्दः ज्ञा० १ अ० ।

कएह–कृष्ण–पुं० कृष-नक् । सूक्ष्म श्न ष्ण स्न ह्ण क्ष्णः ण्हः ८।२।७५ । इति संयुक्तस्य णकाराक्रान्तो हकारः । प्रा० । वर्णभेदे, कृष्णो वर्ण इति सामान्यं तस्य च भ्रमराङ्गारकोकिलकज्जलादिषु प्रकर्षाप्रकर्षविशेषाद् भेदाः । कृष्णः कृष्णतरः कृष्णतम इत्यादि आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । कृष्णवर्णोञ्जनवत् ज्ञा० २ अ० । कालवर्णे, तं० । कृष्णवति, "किराह इतीकारवद्रूपं बाहुल्येन उपलभ्यते इति तत्रैव वर्णकं वक्ष्यामि जी० ३ प्रति० । अवसर्पिण्यां वसुदेवाद्देवक्यां जाते नवमवासुदेवे, स० । आव० । प्रव० । (अस्य आजन्मकथा वसुदेवहिण्ड्यां प्रतिपादिता तत एवाऽवधार्या पश्चाद्भवां तदनुप्रकरणेषु च किञ्चित्किञ्चिदुपलब्धं वृत्तं सन्दर्भवशादितस्ततः स्थापितम् । यथा कस्मिन् समये कस्य जिनस्यान्तरे जात इत्यन्तरशब्दे–अवरकाङ्कगमनमिति अच्छेर दोपदी शब्दयोः पितृनामायुर्गत्यादि वासुदेवशब्दे नेमिजिनेन सह बलपरीक्षणादि नेमि शब्दे–सांग्रामिक्यादि भेरीप्राप्तिकथा भेरी शब्दे) अग्गमहिष्यश्चाग्रमहिषीशब्दे नवरमिह ।

तेणं कालेणं तेणं समयेणं बारावती णाम णयरी होत्था दुवालसजोयणायामा नवजोयणवित्थिन्ना वेसमणमतिणिम्माया चामीकरपागारा णाणामणिपंचवण्णकविसीसगसंडिता सुरम्मा अलकापुरीसंकासा पमुदितपक्कीलिया पच्चक्खं देवलोयभया पासादीया ४ तीसे णं बारवतीए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थणं रेवए णामं पव्वते होत्था । वणओ तत्थ णं रेवए पव्वते णंदणवणे णामं उज्जाणे होत्था । वणओ सुरप्पिए णामं जक्खायणे होत्था । पोराणे सेणं एगेण वणसंडेण असोगवरपायवे तत्थ णं बारवतीए णयरीए कण्हे णामं वासुदेवे राया परिवसइ महया रायवणओ से णं तत्थ समुद्दविजयपामोक्खाणं दसएहदसाराणं बलदेवपामोक्खाणं पंचएह महावीराणं पज्जुण्णपामोक्खाणं अद्धुट्ठाणं कुमारकोडीणं संवमोक्खाणं सट्ठीए दुदंतसाहस्सीणं महासेणं पामोक्खाणं छप्पणाए बलवयसाहस्सीणं वीरसेणपामोक्खाणं एगवीसाए वीरसाहस्सीणं उग्गसेनपामोक्खाणं सोलसएहरायसाहस्सीणं रूप्पिणिपामोक्खाणं सोलसएहं देवीसाहस्सीणं अणंगसेणं पामोक्खाणं अणेगाणं गणितासाहस्सीणं अएणेसिं च बहूणं राईसर जाव सत्थवाहेण बारवतीए णयरीए अद्धभरहस्स य समंतस्स आहेवच्चं जाव विहरति ॥

(गयसुकुमार शब्देऽपि वृत्तम्) आर्यकृष्णाचार्ये, येन बोटिकमतप्रवर्तकः शिवभूतिर्दीक्षितः आ० क० । दिगम्बरमतोत्पत्तिमूलं सहस्रमल्लस्तस्य गुरुः किं नामेत्यत्र कृष्णाचार्य इति आवश्यकवृत्तौ तदधिकारे उक्तमस्ति दी० । " पुच्छं सिवभूई पि य, कोसिय दुज्जंत कएहे य " कल्प० । श्रेणिकभार्यायाः कृष्णायाः

आत्मजे, नि०(तस्य वक्तव्यता निरयावलिकायाश्चतुर्थेऽध्ययने सूचिता प्रथमाध्ययनोक्तकालवक्तव्यतावन्नेया) परब्रह्मणि, वेदव्यासे, अर्जुने, मध्यमपाण्डवे च । कृष्णवर्णत्वात् कोकिले, विश्वः । काके, मेदि० । करमर्दकवृक्षे, शब्दर० । नीले वर्णे, तद्वति त्रि० अमरः । कालागरुणि, राजनि० । अशुभकर्मणि, न० । स्रौपद्याम्, नीलीवृक्षे, पिप्पल्याम्, द्राक्षायाम्, स्त्री० मेदि० । नीलपुनर्नवायाम्, कृष्णजीरके, नीलाञ्जने, लौहे, मरिचे च पुं० जटाधरः । चन्द्रक्षयात्मके अर्कमासे, कृष्णसारमृगे, पुं० स्त्री० वाच० । " कण्हेणं वासुदेवे दस धणुइं उड्ढं उच्चत्तेणं दस वाससयाइं सव्वाउयं पालयित्ता तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवी नेरइयत्ताए उववन्ने " स्था० १० ठा० ।

कण्हकंद–कृष्णकन्द– पुं० क–स–साधारणशरीरवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० । कन्दविशेषे, उत्त० १ अ० । जी० । प्रज्ञा० । कृष्णः कन्दोऽस्य नीलोत्पले, न० त्रिका० । वाच० ।

कण्हकणियार–कृष्णकर्णिकार–पुं० कृष्णवर्णे कर्णिकारे, जी० ३ प्रति० ३ उ० ।

कण्हकुमार–कृष्णकुमार–पुं० श्रेणिकभार्य्यायाः कृष्णाया आत्मजे, नि० (तद्वक्तव्यता निरयावलिकायाश्चतुर्थेऽध्ययने सूचिता तत्रैव प्रथमाध्ययनोक्तकालकुमारवन्नेया)

कण्हगोमि (ण्) –कृष्णगोमिन्–पुं० कृष्णशृगाले, " कण्हगोमी जहा चित्ता, कंटकं वा विचित्तयं " । कृष्णगोमी कृष्णशृगालो यथा स कृष्णादिभी रेखाभिश्चित्रा विचित्रवर्णो भवति । व्य० ६ उ० ॥

कण्हणाम (न्)–कृष्णनामन्–न० वर्णनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं कृष्णं भवति राजपट्टादिवत्तत्कर्मापि कृष्णनाम, कर्म० ।

कण्हपक्खिय–कृष्णपाक्षिक–पुं० कृष्णपक्षोऽस्यास्तीति कृष्णपाक्षिकः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । क्रूरकर्मणि, श्रा० । अधिकतरसंसारभाजिनि, उक्तं च " जेसिं वढो पुग्गल–परियट्टो सेसओ य संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, अहिए पुण कण्हपक्खीओ" ॥ १ ॥ प्रज्ञा० ३ पद । पं० सं० । यो० विं० । स्था० (सुक्कयशब्दे दणमक उक्तः)

कण्हपरिव्वायग–कृष्णपरिव्राजक–पुं० परिव्राजकभेदे, नारायणभक्तिके च । औ० ।

कण्हबंधुजीव–कृष्णबन्धुजीव–पुं० कृष्णवर्णकुसुमे बन्धुजीववृक्षे, जी० २ प्रति० ३ उ० ।

कण्हभूम–कृष्णभूम–पुं० कृष्णा भूमिर्यत्र अच् समा० कालवर्णमृत्तिकायुक्ते देशे, हेम० । सकलसूत्रार्थग्रहणधारणसमर्थे कृष्णभूमप्रदेशतुल्ये विनेये, आ० म० प्र० (अस्य स्वरूपं सिस्सशब्दे " बुद्धे वि दोणमेहे, न कण्हभोमा व उवट्टए उदयं " इतिगाथया घनदृष्टान्ते स्पष्टीभविष्यति)

कण्हराइ–कृष्णराजि–स्त्री० कृष्णवर्णपुद्गलरेखायाम्, भ० ६ श० ५ उ० । कालकपुद्गलपङ्क्तौ, स्था० ८ ठा० ।

कृष्णराजयश्च कति केत्याह ।

कइ णं भंते ! कण्हराईओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ । कइ णं भंते ! एया अट्ठ कण्हराईओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! उप्पिं सणंकुमारमाहिंदाणं कप्पाणं हिट्ठिं बंभलोए कप्पेरिट्ठे विमाणे पत्थडे । एत्थ णं अक्खाडगसमचउरंससंठाणसंठियाओ अट्ठ राईओ पण्णत्ताओ तं जहा पुरच्छिमेणं दो पच्चच्छिमेणं दो दाहिणेणं दो उत्तरेणं दो पुरच्छिमब्भंतरा कण्हराई दाहिणं बाहिरं कण्हराई पुट्ठा दाहिणब्भंतरा कण्हराई पच्चच्छिमबाहिरं कण्हराई पुट्ठा पच्चच्छिमब्भंतरा कण्हराई उत्तरबाहिरं कण्हराई पुट्ठा उत्तरब्भंतरा कण्हराई पुरच्छिमबाहिरं कण्हराई पुट्ठा दो पुरच्छिमपच्चच्छिमाओ बाहिराओ कण्हराईओ छ लंसाओ दो उत्तरदाहिणबाहिराओ कण्हराईओ तंसाओ दो पुरच्छिमपच्चच्छिमाओ अब्भंतराओ कण्हराईओ चउरंसाओ दो उत्तरदाहिणाओ अब्भंतराओ कण्हराईओ चउरंसाओ " पुव्वावरा छ लंसा, तंसा पुण दाहिणुत्तरावज्झा । अवसेसा चउरंसा, सव्वा वि य कण्हराईओ" भ० ६ श० ५ उ० ।

(उप्पिमित्यादि) सुगमं नवरम् (उप्पिं) उपरि (हिट्ठिंति) अधस्तात् ब्रह्मलोकस्य रिष्टाख्यो यो विमानप्रस्तटस्तत्रेति भावः । आखाटकवत्समं तुल्यं सर्वासु दिक्षु चतुरस्रं चतुष्कोणं यत्संस्थानं संस्कारस्तेन संस्थिता आखाटकसमचतुरस्रसंस्थानसंस्थिताः कृष्णराजयः कालपुद्गलपङ्क्तयस्तद्युक्तक्षेत्रविशेषा अपि तथोच्यन्त इति । यथा च ता व्यवस्थितास्तथा दर्श्यन्ते (पुरच्छिमेणंति) पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशीत्यर्थः । द्वे कृष्णराजी एवमन्यास्वपि द्वे द्वे तत्र प्राक्तनीयका अभ्यन्तरा कृष्णराजी सा दाक्षिणात्यां बाह्यान्तां स्पृष्टा स्पृष्टवती एवं सर्वा अपि वाच्यास्तथा पौरस्त्यपाश्चात्ये द्वे बाह्ये कृष्णराजी षडस्रे षट्कोटिके उत्तरादाक्षिणात्ये द्वे बाह्ये कृष्णराज्यस्रे सर्वाश्चतस्रोऽपीत्यर्थोऽभ्यन्तराश्चतुरस्राः स्था० ८ ठा० ।

कण्हराईओ णं भंते ! केवइयं आयामेणं केवइयं विक्खंभेणं केवइयं परिक्खेवेणं पण्णत्ताओ ? गोयमा ! असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं आयामेणं संखेज्जाइं जोयणसहस्साइं विक्खंभेणं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं परिक्खेवेणं पण्णत्ताओ । कण्हराईओ णं भंते ! के महालियाओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! अयण्णं जंबूद्दीवे जाव अद्धमासं वीईवएज्जा अत्थे गइए कण्हराई वीईवएज्जा अत्थे गइए कण्हराई णो वीईवएज्जाए महालियाओ गोयमा ! कण्हराईओ पण्णत्ताओ । अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु गेहाइ वा गेहावणाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! कण्हराई गामाइ वा जाव सण्णिवेसाइ वा णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते! कण्हराईसु उराला बलाहया संसेइ ! हंता अत्थि । तं भंते! किं देवो ? गोयमा ! देवो पकरेइ नो १ असुरो नो नाओ अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु बादरे थणियसद्दे २ जहा उराला तहा अत्थि णं भंते ! कण्हराईसु बायरे आउकाए बायरे अगणिकाए बायरे वणप्फइकाए ! णो इणट्ठे समट्ठे णण्णत्थविग्गहगइसमावण्णएणं । अत्थि णं भंते ! चंदिमसूरिम ? णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं कण्हराईसु चंदाभाइ वा ?

णो इणट्ठे समट्ठे । कण्हराई णं भंते ! केरिसियाओ वन्नेणं पन्नत्ताओ ? गोयमा ! कालाओ जाव खिप्पामेव वीईवएज्जा । कण्हराई णं भंते ! कइ नामधेज्जा पन्नत्ता ? गोयमा ! अट्ठ नामधेज्जा पन्नत्ता तं जहा कण्हराईइ वा मेहराईइ वा मेघाइ वा माघवईइ वा वायफलिहाइ वा वायपलिक्खोभाइ वा देवफलिहाइ वा देवपलिक्खोभाइ वा ।

(नो असुरइत्ति) असुरनागकुमाराणां तत्र गमनासम्भवात् । (कण्हराइत्ति) पूर्ववत् (मेघराजीति वा) कालमेघरेखातुल्यत्वात् मेघेति वा) तमिस्रतया षष्ठनरकपृथ्वीतुल्यत्वात् (माघवइत्ति वा) तमिस्रयैव सप्तमनरकपृथिवीतुल्यत्वात् (वायफलिहाइ व त्ति) वातोऽत्र वात्या तद्वत् तमिस्रत्वात्परिघश्च दुर्लङ्घ्यत्वात् सा वातपरिघः (वायपरिक्खोभेइ व त्ति) वातो ऽपि वात्या तद्वत् तमिस्रत्वात्परिक्षोभहेतुत्वात्सा वातपरिक्षोभ इति (देवफलिहाइ व त्ति) देवानां परिघ इवार्गलेव दुर्लङ्घ्यत्वाद्देवपरिघ इति (देवपलिक्खोभेइ व त्ति) देवानां परिक्षोभहेतुत्वादिति ।

कण्हराईओ णं भंते ! किं पुढविपरिणामाओ आउजीवपोग्गलपरिणामाओ ? गोयमा ! पुढविपरिणामाओ वि नो आउपरिणामाओ जीवपरिणामाओ वि पोग्गलपरिणामाओ वि । कण्हराईसु णं भंते ! सव्वे पाणाभूया जीवा सत्ता उववन्नपुव्वा ? हंता ! गोयमा ! असइं अदुवा अणंतक्खुत्तो नो चेव णं बायरआउकाइयत्ताए बादरअगणिकाइयत्ताए वा बादरवणप्फइकाइयत्ताए वा एयासि णं अट्ठण्हं कण्हराईणं अट्ठसु उवासंतरेसु अट्ठ लोगंतियविमाणा पन्नत्ता तं जहा अच्ची अच्चिमाली वइरोयणे पभंकरे चंदाभे सूराभे सुक्काभे सुपइट्ठाभे मज्झे रिट्ठाभे भ० ६ श० ५ उ० ।

एतासामष्टानां कृष्णराजीनामष्टस्ववकाशान्तरेषु राजीद्वयमध्यलक्षणेष्वष्टौ लोकान्तिकविमानानि भवन्ति एतानि चैवं प्रज्ञप्यामुच्यन्ते अभ्यन्तरपूर्वाया अग्रेऽर्चिर्विमानं तत्र सारस्वता देवाः पूर्वयोः कृष्णराज्योर्मध्ये अर्चिर्माली विमाने आदित्या देवा अभ्यन्तरदक्षिणाया अग्रे वैरोचने विमाने बाह्यदक्षिणयोर्मध्ये शुभङ्करे वरुणा अभ्यन्तरपश्चिमाया अग्रे चन्द्राभे गर्दतोया अपरयोर्मध्ये सूराभे तुषिता अभ्यन्तरोत्तरा अग्रेऽङ्काभे अव्याबाधा उत्तरयोर्मध्ये सुप्रतिष्ठाभे आग्नेयाः बहुमध्यभागे रिष्टाभे विमाने रिष्टा देवा इति । स्था० ८ ठा० ।

एएसि णं अट्ठसु लोगंतियविमाणेसु अट्ठविहा लोगंतिया देवा पन्नत्ता तं जहा सारस्सयमाइच्चा वण्ही वरुणा य गद्दतोया य तुसिया अव्वाबाहा अग्गिच्चा चेव बोधव्वा । स्था० ८ ठा० ॥

ईशानस्याग्रमहिष्यां च । जी० ४ प्रति० । ती० (भवान्तरचरित्रमग्गमहिषीशब्दे उक्तम्)

कण्हरिसि–कृष्णर्षि–पुं० शङ्खावती नगरीजाते स्वनामख्याते तपस्विभेदे, " एसा संखावई नाम नयरी महातवसिस्स सुगहियनामधिज्जस्स कण्हरिसिणो जम्मभूमि त्ति " तीर्थ० ॥

कण्हवडिंसय–कृष्णावतंसक– न० ईशानसत्कस्वनामख्याते विमानभेदे, ज्ञा० १० अ० ॥

कण्हसप्प–कृष्णसर्प–पुं० नित्य०कर्म०स० कृष्णवर्णे सर्पजातिभेदे, जी० ३ प्रति० २ उ० । स्त्रियां जातित्वेऽपि संयोगोपधत्वात् टाप् । ओषधिभेदे, वाच० । राहौ च । यतः कृष्णसर्प इति तस्य गौणं नामधेयम् सू० प्र० २० पाहु० ।

कण्हसिरि–कृष्णश्री–स्त्री० रोहीतनगरे दत्तस्य सार्थवाहस्य भार्यायां, देवदत्ताया मातरि, विपा० १ श्रु० ५ अ० ॥

कण्हा–कृष्णा– स्त्री० द्रौपद्याम, प्रति० । ईशानस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य प्रथमाग्रमहिष्याम्, जी० । ती० । भ० (भवान्तरवक्तव्यता अग्गमहिसीशब्दे उक्ता) श्रेणिकभार्यायां कृष्णकुमारमातरि, नि० । विजयपुरनगरे वासवदत्तस्य राज्ञः पट्टराज्ञ्याम्, वि० २ श्रु० ४ अ० । आभीरविषये वहन्त्यां नद्याम्, " आभीरविषये वण्हाए बेण्णए य नदीए अंतरा तावसा परिवसंति " यत्र ब्रह्मद्वीपः । आ० म० द्वि० । आ० चू० । नि० चू० । आ० क० ।

कण्हुइ–कचित्–अव्य० कचिदर्थे, दशा० ७ अ० । कस्मादित्यर्थे, " बुद्धपुत्ताणिया गट्टी न निक्कसिज्जइ कन्हुइ " सत्त० १ अ० ।

कण्हुइरहस्सिय–काचिद्राहस्यिक– त्रि० कचित्कार्ये मण्मलप्रवेशादिके रहस्यं येषां ते कचिद्राहस्यिकाः । तथाविधेषु आरण्यकेषु पाखण्डिकेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । दशा० ॥

कत्तण–कर्तन– न० कृत् भावे ल्युट्–छेदने, आ० चू० ५ अ० । सूत्र० । विदारणे, उत्त्रोटने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । स० । कर्तरि ल्युट्–शिथिलीकरणे, करणे ल्युट्–कर्तनसाधने, त्रि० स्त्रियां ङीप् । कर्तनी, कृत्–कर्त्तरि–ल्युट्–भेदकर्त्तरि, त्रि० वाच० ।

कत्तयंती–कर्त्तयन्ती– स्त्री० कर्त्तर्या वस्त्रादिच्छिन्दन्त्याम्, "कर्त्तयन्त्या निष्ठीवनलिप्तौ हस्तौ " आव० ४ अ० ।

कत्तरिमुंभ–कर्त्तरिमुण्डक– पुं० कर्त्तर्या मुण्डने, मुण्डिते च त्रि० " अद्धमासिए कत्तरिमुंभे " यदि कर्त्तर्या कारयति तदा पक्षे पक्षे गुप्तं करणीयं तत्र प्रायश्चित्तं निशीथोक्तम् । कल्प० ।

कत्तरी–कर्त्तरी– स्त्री० कृत्–घञ् । कर्तं राति ददाति रा–क–गौरा० ङीष्–तस्याऽधूर्तादौ ८ । २ । ३० । इति त्तस्य धूर्तादित्वान्न टः । प्रा० । कृपाण्याम्, पत्रवस्त्रादिच्छेदनसाधने अस्त्रभेदे, (कतरनी) "क्रूरमध्यगतश्चन्द्रो,लग्नं वा क्रूरमध्यगम् । कर्तरीनामयोगोऽयम्" इति ज्योतिषोक्ते योगभेदे, कृत् अरिः कर्त्तरिरित्यप्यत्र स्त्री० स्वार्थे, कन् कर्तरिकाऽप्यत्र स्त्री० वाच० । आव० ।

कत्तवार–कर्त्तवार– त्रि० कचवरप्राये असारे, ध० २ अधि० ।

कत्तवीरिय–कार्त्तवीर्य–पुं० कृतवीर्यस्यापत्यम् अण्–कृतवीर्यनृपापत्ये, परशुरामस्य मातृष्वसुः पुत्रे, आ० क० । आ० म० द्वि० । आ०चू० । (स च यमदग्निमुनेर्गाः समाहरन् परशुरामेण मारितः इति कोह शब्दे उदाहरिष्यते) अस्यैव पुत्रो नाम्ना सुभूमोऽष्टमश्चक्रवर्ती जातः । स० । आ० चू० । आव० ।

कत्तव्व–कर्तव्य–त्रि० कृ–आवश्यके, तव्य० कर्तुं योग्ये, " मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत्कर्त्तव्यं मनुष्येण, यस्यान्ते सुखमेधते" ॥ आ० चू० १ अ० ॥

कत्ता–क(र्ता) तृ–त्रि० कृ-तृ॰कर्मणां कारके, कर्तृशब्दस्य ऋदन्तत्वादृकारस्य च प्राकृतेऽभावात् नामावस्थारूपं विभक्तिरहितं दर्शयितुमशक्यं सत्यामेव विभक्तौ प्राकृतलक्षणप्रवृत्तेश्च एवं

मात्रादिशब्देष्वपि ज्ञेयम् । अर्थप्रदर्शकशब्दस्य शैलीप्राप्तसम्पन्नत्वसंरक्षणायान्यथापि क्वचिद्दर्शितम आ० म० द्वि०। स्वतन्त्रः कर्त्ता यः स्वतन्त्रं स्वाधीनकरणं स कर्त्ता यथा घटस्य कर्त्ता कुम्भकारः । अष्ट० "कारिरित्यस्य रूपान्तरम्" कारिं भोइं च सयस्स कम्मस्स" कर्त्तारं निर्वर्तकं कर्मणः । आव० ४ अ० । दर्श०।

कत्ति–कृत्ति–स्त्री० कृत्यते–कृत्–कर्मणि–क्तिन् । चर्मणि, । नि० चू० १ उ० । औ० । बृ० ।

कत्तिम–कृत्रिम–न० कृ–क्त्रिः क्त्रेर्मप् च । विमन्नवणे, मेदि०। काचलवणे, तुरुष्कनामगन्धद्रव्ये च राजनि०। सिल्हके, पुं० मेदि० । क्रियया निष्पन्नमात्रे, त्रि० वाच०। "कत्तिमेहिं चेव अकत्तिमेहिं चेव" जं० ७. वक्ष० ।

कत्तिय–कार्तिक–पुं० कृत्तिका नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी–कृत्तिका–अण्–ङीप्–कार्त्तिकी साऽस्मिन् मासे अण्–पक्षे–ठक् । मासभेदे, यन्मासीयपौर्णमास्यां कृत्तिकानक्षत्रसंबन्धः सम्भवति वाच० । आ० म० प्र० । उत्त० । स्था० । स० । स्वनामख्याते श्रेष्ठिनि, तत्कथानकं चैवम् ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं विसाहा णाम णयरी होत्था वण्णओ सामी समोसढे जाव पज्जुवासइ तेणं कालेणं तेणं समएणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी पुरंदरे एवं जहा सोलसमसए बिइयउद्देसए तहेव दिव्वेण जाणविमाणेणं आगओ णवरं एत्थं आभिओगा वि अत्थि जाव बत्तीसइविहं नट्टविहं उवदंसेइ उवदंसेइत्ता जाव पडिगए भंतेत्ति । भगवं गोयमं समणं भगवं महावीरं जाव एवं वयासी जहा तइयसए ईसाणस्स तहेव कूडागारसाला दिट्ठंतो तहेव पुव्वभवपुच्छा जाव अभिसमण्णागया गोयमादि समणे भगवं महावीरं भगवं गोयमं एवं वयासी एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासे हत्थिणाउरे णामं णयरे होत्था वण्णओ, सहसंबवणे उज्जाणे वण्णओ तत्थ णं हत्थिणाउरे णयरे कत्तियणामं सेट्ठी परिवसइ अड्ढे जाव अपरिभूए णेगमपढमासणिए णेगमट्ठसहस्सं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु कुडुंबेसु य एवं जहा रायप्पसेणइज्जे चित्ते जाव चक्खुभूए णेगमट्ठसहस्सस्स सयस्स य कुडुंबस्स य आहेवच्चं जाव कारेमाणे पालेमाणे समणे वासए अभिगयजीवाजीवे जाव विहरइ ॥ भ० १८ श० २ उ० ॥

(निरुपयोगिनी टीकेति न गृहीता) अत्र वृत्तान्तरम् । तथाहि पृथिवीभूषणनगरे प्रजापालो नाम राजा कार्तिकनामा श्रेष्ठी तेन श्राद्धप्रतिमानां शतं कृतं ततः शतक्रतुरिति ख्यातिः । एकदा च गैरिकपरिव्राजको मासोपवासी तत्रागतः एकं कार्तिकं विना सर्वोऽपि लोकस्तद्भक्तो जातः तच्च ज्ञात्वा कार्तिकोपरि गैरिको रुष्टः । एकदा च राज्ञा निमन्त्रितोऽवदत् । यदि कार्तिकः परिवेषयति तदा तव गृहे पारणं करोमि राज्ञा तथेति प्रतिपद्य कार्तिकायोक्तम् । यत्त्वं मद्गृहे गैरिकं भोजय ततः कार्तिकेनोक्तं राजन् ! भवदाज्ञया भोजयिष्यामि ततः श्रेष्ठिना भोज्यमानो गैरिको धृष्टोऽसीति अङ्गुल्या नासिकां स्पृशंश्चेष्टां चकार । श्रेष्ठी दध्यौ यदि मया पूर्वं दीक्षा गृहीता ऽभविष्यत् तदाऽयं पराभविष्यदिति विचिन्त्याष्टाधिकसहस्रेण वणिक्पुत्रैः सह चारित्रं गृहीत्वा द्वादशाङ्गीमधीत्य द्वादशवर्षपर्यायैः सौधर्मेऽभूत् । गैरिकोऽपि निजधर्मतस्तद्वाहनं ऐरावतोऽभवत् । ततः कार्तिकोऽयमिति ज्ञात्वा पलायमानं धृत्वा शक्रः शीर्षेऽध्यारूढः शक्रभापनार्थं रूपद्वयं कृतवान् शक्रोऽपि तथा एव रूपचतुष्टयं चकार । ततश्चावधिना ज्ञातस्वरूपः शक्रस्तं तर्जितवान् तर्जितश्च स्वाभाविकं रूपं चक्रे इति कल्प आ० चू० । आव०। ती०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं मुणिसुव्वए अरहा आदिगरे जहा सोलसमसए तहेव समोसढे जाव परिसा पज्जुवासइ तए णं से कत्तिए सेट्ठी इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ एवं जहा एक्कारसमसए सुदंसणे तहेव णिग्गओ जाव पज्जुवासइ तहेणं मुणिसुव्वए अरहा कत्तियस्स सेट्ठिस्स धम्मकहा जाव परिसा पडिगया तएणं से कत्तिए सेट्ठी मुणिसुव्वयस्स जाव णिसम्म हट्ठतुट्ठ उट्ठाए उट्ठेइ उट्ठेइत्ता मुणिसुव्वय जाव एवं वयासी—एवमेयं भंते ! जाव से जहेयं तुज्झे वदह जं णवरं देवाणुप्पिया ! णेगमट्ठसहस्सं आपुच्छामि जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेमि तए णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतियं पव्वयामि अहासुहं जाव मा पडिबंधं करेह तए णं से कत्तिए सेट्ठी जाव पडिणिक्खमइ पडिणिक्खमइत्ता जेणेव हत्थिणापुरे णयरे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता णेगमट्ठसहस्सं सद्दावेइ सद्दावेइत्ता एवं वयासी एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियं धम्मं णिसंते सेवियधम्मं इच्छिए पडिच्छिए अभिरुइए तएणं अहं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गे जाव पव्वयामि तं तुब्भे देवाणुप्पिया ! किं करेह किं वसह किं भे हियइच्छिय किं भे सामत्थे तएणं णेगमट्ठसहस्सं तं कत्तियं सेट्ठिं एवं वयासी जइ णं देवाणुप्पिया ! संसारभयउव्विग्गा भीया जाव पव्वयाहिसि अम्हं देवाणुप्पिया ? किं अण्णे आलंबे वा आहारे वा पडिबंधे वा अम्हे वि णं देवाणुप्पिया संसारभयुव्विग्गा भीया जम्ममरणाणं देवाणुप्पिएहिं सद्धिं मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियं मुंडे भवित्ता आगाराओ जाव पव्वयामो । तए णं से कत्तिए सेट्ठी णेगमट्ठसहस्सं एवं वयासी । जइ णं देवाणुप्पिया ! संसारभयुव्विग्गा भीया जम्ममरणाणं मए सद्धिं मुणिसुव्वय जाव पव्वायह । तं गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु गेहेसु विपुलं असनं जाव उवक्खडावेह मित्तणाइ जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेह ठावेइत्ता तं मित्तणाइ जाव जेट्ठपुत्तं आपुच्छेह आपुच्छइत्ता पुरिससहस्स वाहिणीओ सीयाओ दुरूहह दुरूहइत्ता मित्त जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तेहि य समणुगम्ममाणमग्गा सव्विड्ढिए जाव रवेणं अकालपरिहीणं चेव ममं अंतियं पाउब्भवह तएणं ते णेगमट्ठसहस्सं पि कत्तियस्स सेट्ठिस्स एयमट्ठं वि–

णएणं पमिसुणेंति पडिसुणेतित्ता जेणेव साइं साइं गिहाइं तेणेव उवागच्छंति उवागच्छइत्ता विपुलं असणं जाव उवक्खमावेंति उवक्खमावेंतित्ता मित्तणाइ जाव तस्सेव मित्तणाइ जाव पुरओ जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेंति ठावेंतित्ता तंमित्तणाइ जाव जेट्ठपुत्ते य आपुच्छंति आपुच्छंतित्ता पुरिससहस्सवाहिणीओ सीयाओ दुरूहंति दुरूहंतित्ता मित्तणातिणियगपरिजणेणं जेट्ठपुत्तेहिं य समणुगम्ममाणमग्गा सव्विड्ढी जाव रवेण अकालपरिहीणं चेव कत्तियस्स सेट्ठियस्स अंतियं पाउब्भवंति तए णं से कत्तिए सेट्ठी विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं जहा गंगदत्तो जाव मित्तणाइ जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तं णेगमट्ठसहस्सेण य समणुगम्ममाणमग्गे सव्विड्ढीए जाव रवेणं हत्थिणापुरं णयरं मज्झं मज्झेणं जहा गंगदत्तो जाव आलित्तेणं भंते ! लोए पलित्तेणं भंते ! लोए आलित्तपलित्तेणं भंते ! लोए जाव आणुगामियत्ताए भविस्सइ । इच्छामि णं भंते ! णेगमट्ठसहस्सेणं सद्धिं सयमेव पव्वावियं मुण्डावियं जाव माइक्खयं । तए णं मुणिसुव्वए अरहा कत्तियं सेट्ठिं णेगमट्ठसहस्सेणं सद्धिं सयमेव पव्वावेइ जाव धम्ममातिक्खंति एवं देवाणुप्पिया गंतव्वं एवं चिट्ठियव्वं जाव संजमियव्वं । तए णं से कत्तिए सेट्ठी णेगमट्ठसहस्सेण सद्धिं मुणिसुव्वयस्स अरहओ इमं एयारूवं धम्मियं उवदेसं सम्मं संपडिवज्जइ । तमाणाए तहा गच्छइ जाव संजमइ । तए णं से कत्तिए सेट्ठी णेगमट्ठसहस्सेण सद्धिं अणगारे जाव इरियासमिए जाव गुत्तबंभयारी तए णं से कत्तिए अणगारे मुणिसुव्वयस्स अरहओ तहारूवाणं थेराणं अंतियं सामाइयमाइयाइं चउद्दसपुव्वाइं अहिज्जइ अहिज्जइत्ता बहूहिं चउत्थछट्ठमं जाव अप्पाणं भावेमाणे बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामण्णपरियागं पाउणइ पाउणइत्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झोसेइ झोसेइत्ता सट्ठिभत्ताइं अणसणाइं छेदेइ छेदेइत्ता आलोइयपडिक्कंते जाव किच्चा सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडेंसए विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि जाव सक्के देविंदत्ताए उववण्णे । तए णं सक्के देविंदे देवराया अहुणोववण्णे सेसं जहा गंगदत्तस्स जाव अंतं काहित्ति णवरं ठिई दोसागरोवमाइं पण्णत्ता सेवं भंते ! भंतेत्ति । भ० १८ श० २ उ० ॥

षष्ठतीर्थंकरस्य पूर्वभवे जीवे, स० । शरवणसंनिवेशे जाते तपस्विवरे, स चानशनं कृत्वा शरीरं व्युत्सृजतीति अनशनशब्दे उक्तम संथा० ॥ कृत्तिकासु जातः कार्तिकः कृत्तिकानक्षत्रोत्पन्ने पुत्रादौ, अनु० । कृत्तिकानामयं पोष्यत्वेन अण् अग्नौ । निषिक्तरुद्रतेजोजाते स्कन्दे देवे, कार्तिकेयोऽप्यत्र वाच० ।

कत्तिया–कर्त्तिका–स्त्री०कर्त्तर्य्याम् , गृहीतोपधिमित्युक्ते,स एवोपधिमग्रहीत् । कर्त्तिकां कङ्कलोहस्य,गोपितां चाददे तदा।आ०क०। स्था० ९ ठा० । कृत्तिका स्त्री० कृन्तति-उग्रत्वात्-कृत्-ति कन्-किच्च । अभिजिदादिषु दशमे नक्षत्रे वाच० । कृत्तिकानक्षत्रस्याग्निर्देवता "कत्तियाए अग्गिदेवयाए" ज्यो०६पाहु०।स्था०। जं०। "कत्तियाइ यासत्तनक्खत्ता पुव्वदरिया" पं० सं० । " कत्तिया णक्खत्ते छत्तारे" पं०सं० । स्था० "दो कत्तियाओ स्था०२ठा० । "कत्तियाणक्खत्ते सव्वबाहिराओ मंडलाउए दसमे मंडले चारं चरइ" स्था० १० ठा० । कार्त्तिकी-स्त्री० कृत्तिकायां भवः कार्त्तिकी । कार्तिकमासभाविन्यां पूर्णिमायाम्–चं० प्र० १० पाहु० । पूर्णिमाशब्दे वक्तव्यता । कृतिकानक्षत्रेणोपलक्षितो यः कार्तिको मासः सोऽप्युपचारात् कार्तिको तस्यां भवा कार्तिकी कृत्तिकानक्षत्रपरिसमाप्यमानकार्तिकमासभाविन्याममावास्यायाम् चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० । आव० ।

कत्तियासणिच्छरसंवच्छर–कृत्तिकाशनैश्चरसंवत्सर– पुं० शनैश्चरसंवत्सरभेदे, यस्मिन् संवत्सरे कृत्तिकानक्षत्रेण शनैश्चरो योगमुपादत्ते, जं० ७ वक्ष० ।

कत्तिवविय–कृत्रिम–त्रि०सद्भावरहिते, "कत्तिववियाहिं उवहिप्पहाणाहिं" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

कत्तो–कुतस–अव्य०तो दो तसो वा ८ । २ । १६० । इति तसः प्रत्ययस्य स्थाने तो प्रा० । किमः कस्त्रतसोश्च ८ । ३ । २७१ । इति किमः कः कत्तो कदो कस्मादित्यर्थे, कत्तो तं चक्कवट्टी त्ति प्रा० । आ० म० द्वि० ।

कत्थ–कथ्य–न० यत्र कथिकादि गीयते तस्मिन् गेयभेदे. जी० ३ प्रति० २ उ० । जं० । रा० । कथायां साधु कथ्यम ज्ञाताध्ययनवत् । काव्यभेदे, स्था० ४ ठा० । अनन्तवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्र० ५ उ० । प्रज्ञा० ।

कुत्र– अव्य० किम्–सप्तम्यास्त्रल् तस्य त्थ–किमः कस्त्रतसोश्च ८ । ३ । ७१ । इति किमः कः । कत्थ, प्रा० (क) कस्मिन्नित्यर्थे व्य० १ उ० " कहिं बोहिं चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झइ " औ० ।

कत्थइ–कचित्–अव्य० क्वचित् । गोणादयः ८ । २ । ७४ । इति निपातनात् कत्थइ, प्रा० । कुत्रचिदर्थे, " अणत्थकत्थइ " अनु० । पंचा० ।

कत्थंत–कत्थ्यमान–त्रि० कथ–कर्मणि यक् । गमादीनां द्वित्वम ८ । ४ । ४८ । इति थस्य द्वित्वं तत्सन्नियोगेन यलुक् । वाचा प्रवक्ष्यमाने, प्रा० ।

कत्थूरी–कस्तूरी–स्त्री०कसति गन्धोऽस्याः दूरतः कस्-ऊरयातुट् च मृगमदे मृगनाभिजाते गन्धद्रव्यभेदे, स्वार्थे कन् । कस्तूरिका तत्रैव वाच० । कल्प० । संथा० ।

कद्दम–कर्दम– पुं०कर्द-अम जम्बाले.स्था० ३ठा०।पङ्के,स्था०५ठा०। यत्र प्रविष्टः पादादिनाऽऽक्रष्टुं शक्यते कष्टेन वा शक्यते स्था० ४ ठा० । " अवरद्धनिसुद्धभिन्नफालियपगलियरुहिरकयभूमिकद्दमचिक्खिल्लपहे" प्रश्न० १ अध० ४ अ० । कारणे-अम-पापे, औणादिकः तस्य कुत्सितशब्दहेतुत्वात् तथात्वम । मांसे, न० शब्दचि० । तत्सेवने हि उदारशब्दो जायते इति तस्य तथात्वम वाच० । ततः ऋश्यादि-चतुरर्थ्यां कः कर्दमपङ्कसन्निकटदेशादौ, त्रि० कर्दमो जातोऽस्य तारका–इतच् कर्दमितः । जातकर्दमे, त्रि० अर्श० मत्वर्थे-अच् । कर्दमयुक्ते, त्रि० कर्दमिन् पुं० तद्युक्ते,

त्रि० मुकुन्दके, पुं० वैद्य० । तस्य कर्दमसमीपजातत्वात्तथात्वम् । पृषोद० कर्दमीत्यपि तत्रार्थे वाच० ।

कद्दमउवमा–कर्दमोपमा–स्त्री० कर्दमसादृश्ये, “ अहवा जं भुक्खुत्तो कद्दमउवमाइ पक्खिवइ कोट्ठे सव्वो सो आहारो अप्पा वा” बुभुक्षया आर्तोय कर्दमोपमया गृहादिकोष्ठे प्रक्षिपति कर्दमोपमत्वमपि कर्दमपिण्डमानां कुर्यात् कोष्ठे निरन्तरं स सर्वोऽप्याहारः बृ० ६ उ० ।

कद्दमग–कर्दमक–त्रि० कर्दमे कायति प्रकाशते कै क–शालिभेदे, वाच० । जम्बूद्वीपस्य बाह्याद् वेदिकान्ताद् आग्नेय्यां विदिशि द्वाचत्वारिंशद्योजनातिक्रमे विद्युत्प्रभविद्युज्जिह्वस्यानुवेलन्धरावासपर्वतस्याधिपतौ देवे, स्था० ४ ठा० । जी० । लवणसमुद्रे, आग्नेय्यां विद्युत्प्रभपर्वतस्तत्र कर्दमको नाम नागराजः भ० ६ उ० ३ श० ।

कद्दमलित्त–कर्दमलिप्त–त्रि०३ त० पङ्केन लिप्ते खरण्टिते, बृ०१उ०

कधं–कथम्–अव्य० थः शौरसेन्याम् ८ । ४ । ६६ । थस्य धः शौरसेन्याम् । केन प्रकारेणेत्यर्थे, प्रा० ।

कधितून–कथयित्वा–अव्य० पैशाच्यां क्त्वस्तून: ८ । ४ । ११। इति त्वा प्रत्ययस्य स्थाने तून इत्यादेशः उक्त्वेत्यर्थे, । प्रा० ।

कप्प–कल्प–पुं०कृप्-णिच् अच् समर्थे, यथा वर्षाप्रमाणश्चरणपरिपालने कल्पः समर्थः इत्यर्थः। बृ०१उ०। केवलकल्पं केवलःपरिपूर्णः स चासौ कल्पश्च स्वकार्यकरणे समर्थः इति केवलकल्पःकेवल एव वा कल्पः तं ज्ञा.१,२अ.। वर्णनायाम्, यथाऽध्ययनमिदमनेन कल्पितं वर्णितमित्यर्थः बृ.१,उ.। कल्पनायाम्,स्था.७ठा०। छेदने,यथा केशान् कर्त्तर्या कल्पयति छिनत्तीत्यर्थः बृ० । नि० चू० । आचा०। करणक्रियायाम्, यथा कल्पिता मयाऽस्या जीविका कृता इत्यर्थः । बृ०१उ० । आचारे, स्था०३ठा०। औपम्ये, यथा सौम्येन तेजसा च यथाक्रममिन्दुसूर्यकल्पाः साधवः बृ० १ उ०। केवलकल्पं केवलोपमम् इह कल्पशब्द औपम्ये गृह्यते इति श्रा.म०प्र०। “भगवते य कप्पा ” कल्पाः सदृशाः प्रश्न०२ सं०द्वा०२ अ०। अधिवासे, यथा सौधर्मकल्पवासी शक्रः सुरेश्वरः उक्तंच “सामर्थ्ये वर्णनायां च, छेदने करणे तथा । औपम्ये चाधिवासे, च कल्पशब्दं विदुर्बुधाः ” बृ० । पं० भा० । आ० म० द्वि० । स्था० । कल्पाध्ययननामके छेदग्रन्थविशेषे, जी० १ प्रति० । इह सर्वेष्वप्यर्थेषु गृह्यते सर्वत्रापि घटमानत्वात्तथा हि सामर्थ्ये तावदेतावदेतत्कल्पाध्ययनमधीत्यातीचारमलिनस्य साधोः समर्थः प्रायश्चित्तेन विशोधिमापादयितुं वर्ण्यतेऽपि यावन्तः प्रायश्चित्तप्रकारास्तान् वर्णयतीदमध्ययनम् । अथवा मूलगुणांश्च कल्पयति वर्णयतीति कल्पः । उक्तंच । “ कप्पम्मि कप्पिया खलु, मूलगुणा चेव उत्तरगुणा य । ववहारे वहरिया, पायच्छित्ता भवंते य” छेदनेऽपि तपःशोधिमतिक्रान्तस्य पञ्चकादिच्छेदनेन पर्यायं छिनत्ति करणेऽपि यद्दत्तं प्रायश्चित्तं तत्र तथा प्रयत्नं करोति कल्पाध्ययनवेत्ता यथा तत्पारं नयति । अथवा कल्पयति जनयत्याचार्यकमिति कल्पस्तथाहि करोत्याचार्यकं कल्पाध्ययनवेत्ता सम्यगिति औपम्येऽपि कल्पाध्ययनवेदनात् भवति पूर्वधराणां कल्पसदृश इति कल्पस्तथाहि कल्पाध्ययनेऽधीते भवति पूर्वधरसदृशः प्रायश्चित्तविधायाचार्यः । अधिवासेऽपि कल्पाध्ययनवेत्ता कल्पे मासकल्पे वर्षाकल्पे वा कारणमन्तरेण परिपूर्णं कारणवशात् ऊनमतिरिक्तं च । अथवा कल्पे स्थविरकल्पे जिनकल्पे वाधिवसतीति कल्पः बृ०१,उ० (कल्पव्यवहाराध्ययनयोर्भेदो ववहारशब्दे)

अस्य चैवमुपोद्घातः ।

प्रकटीकृतनिःश्रेयस–पदहेतुस्थविरकल्पजिनकल्पम्
नम्रा शेषनरामर–कल्पितफलकल्पतरुकल्पम् ॥ १ ॥
नत्वा श्रीवीरजिनं, गुरुपदकमलानि बोधविपुलानि ।
कल्पाध्ययनं विवृणोमि, लेशतो गुरुनियोगेन ॥ २ ॥
भाष्यं क चातिगम्भीरं, क चाहं जडशेखरः ।
तदत्र जानते पूज्या, ये मामेवं नियुञ्जते ॥ ३ ॥
अद्भुतगुणरत्ननिधौ, कल्पे साहायकं महातेजाः ।
दीप इव तमसि कुरुते, जयति यतीशः स चूर्णिकृत ॥ ४ ॥

इह शिष्याणां मङ्गलबुद्धिपरिग्रहाय शास्त्रस्यादौ मध्येऽवसाने चावश्यं मङ्गलमभिधातव्यम् । यत आदिमङ्गलपरिगृहीतानि शास्त्राणि पारगामीनि भवन्ति । मध्यमङ्गलपरिगृहीतानि शिष्यबुद्ध्यारोपितानि स्थिरपरिचितान्युपजायन्ते । पर्यन्तमङ्गलसमलङ्कृतानि शिष्यप्रशिष्यपरम्परागमनतः स्फीतीभवन्ति । उक्तंच ।

तं मंगलमादीए, मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स ।
पढमं सत्थत्था वि–ग्घ पारगमणाय निद्दिट्ठं ॥
तस्से व य थिज्जत्थं, मज्झिमयं अंतिमं पि तस्सेव ।
अव्वोच्छित्ति निमित्तं, सिस्सपसिस्सादिवंसस्स ॥

तत्रादिमङ्गलं पापप्रतिषेधत्वादिदं सूत्रम् ॥

“ नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे अभिन्ने पडिगाहित्तए ” इति मध्यमङ्गलम् । “कप्पति निग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा पुरच्छिमेणं जाव अंगमगाहातो इत्तए ” एवमादिपर्यवसानमङ्गलम् “छव्विहा कप्पठिती पण्णत्ता” इत्यादि । तच्च मङ्गलं चतुर्धा वक्ष्यमाणस्वरूपम् । तत्र यच्चो आगमतो भावमङ्गलं तद् द्विविधं सूत्रभणितं सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभणितं च भाष्यभणितमित्यर्थः । सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तेर्भाष्यस्य च संप्रत्येकग्रन्थत्वेन जातत्वात् । अथ कः सूत्रमकार्षीत् । को वा निर्युक्तिं को वा भाष्यमिति उच्यते । इह पूर्वेषु यन्नवमं प्रत्याख्याननामकं पूर्वं तस्य यत्तृतीयमाचाराख्यं वस्तु तस्मिन् विंशतितमे प्राभृते मूलगुणेषु उत्तरगुणेषु वा परार्धेषु दशविधमालोचनादिकं प्रायश्चित्तमुपवर्णितं कालक्रमेण च दुष्षमानुभावतो धृतिबलवीर्यबुद्ध्यायुःप्रभृतिषु परिहीयमाणेषु पूर्वाणि दुरवगाहानि जातानि ततो मा भूत्प्रायश्चित्तव्यवच्छेद इति साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि । उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्ती इमे । अपि च कल्पव्यवहारसूत्रे सनिर्युक्तिके अल्पग्रन्थतया महार्थत्वेन दुष्षमानुभावतो हीयमानमेधाऽयुरादिगुणानामिदानीन्तनजन्तूनामल्पशक्तीनां दुर्गत्वे दुरवधारे जाते ततः सुखग्रहणधारणाय भाष्यकारो भाष्यं कृतवान् । तच्च सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यानुगतमिति सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिर्भाष्यं चैको ग्रन्थो जातः । एष शास्त्रस्योपोद्घातोऽनेन चोपोद्घातेनाभिहितेन सूत्रादयोऽर्था व्यक्ता भवन्ति । यथा दीपेनापवरके तमसि उक्तं च “ वत्ती भवंति अत्था, दीवेणं अप्पगासउव्वरए । वत्ती भवंति अत्था, उवघाएणं तहा सत्थे ” उपोद्घाताभिधानमन्तरेण पुनः शास्त्रं स्वतोऽतिविशिष्टमपि न तथाविधमुपादेयतया विराजते । यथा नभसि मेघच्छन्नश्चन्द्रमाः । उक्तं च “मेघच्छन्नो यथा चन्द्रो, न राजति नभस्तले । उपोद्घातं विना शास्त्रं,न राजति तथाविधम्” तत्र सूत्रभणितम् । “ नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा आमे तालपलंबे ” इत्यादि सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तिभणितमिदम् ।

काऊण नमोक्कारं, तित्थयराणं तिलोगमहियाणं ।
कप्पव्ववहाराणं, वक्खाणविहिं पवक्खामि ॥

कृत्वा विधाय नमस्कारं प्रणामं केभ्य इत्याह । तीर्थकरेभ्यस्तीर्यते संसारसमुद्रोऽनेनेति तीर्थं द्वादशाङ्गं प्रवचनं तदाधारः संघो वा तत्करणशीलास्तीर्थकरास्तेभ्यो गाथायां षष्ठी चतुर्थ्यर्थे प्राकृतत्वादुक्तं च " छट्ठीविभत्तीए भन्नइ चउत्थी इति " किं विशिष्टेभ्य इत्याह । त्रिलोकमहितेभ्यः त्रयो लोकाः समाहृताः समवसरणे त्रयाणामपि सम्भवात् । तथा हि समागच्छन्ति भगवतां तीर्थकृतां समवसरणेष्वधोलोकवासिनो भवनपतयस्तिर्यग्लोकवासिनो वानमन्तरतिर्यक्पञ्चेन्द्रियज्योतिष्का ऊर्ध्वलोकवासिनः कल्पोपपन्नका देवास्त्रिलोकेन महिता पूजिताः त्रिभिर्वा लोकैर्महितास्त्रिलोकमहितास्तेभ्यः नमस्कारं कृत्वा किमित्याह । कल्पश्च व्यवहारश्च कल्पव्यवहारौ तयोर्व्याख्यानविधिमनुयोगविधिं प्रकर्षेण भृशं वा वक्ष्यामि । (कल्पव्यवहारयोर्भेदो ववहारशब्दे) (अनुयोगशब्देऽस्यानुयोग उक्तः) बृ० १ उ० ।

स च षड्विधः ।

नामं छव्विहकप्पो, दव्वे वासिपरसुमाईसु ।
खित्ते काले जहुव-क्कमम्मि भावे उ पंचविहो ॥

नामनिष्पन्ने निक्षेपे कल्प इति नाम । स च षोढा तथा नामकल्पः स्थापनाकल्पो द्रव्यकल्पः क्षेत्रकल्पः कालकल्पो भावकल्पश्च । तत्र नामस्थापने प्रतीते द्रव्यकल्पो येन वासीपरश्वादिना द्रव्येण कल्पते तद्द्रव्यकल्पम् । क्षेत्रकल्पो यथा क्षेत्रोपक्रमः । कालकल्पो यथा कालोपक्रमः भावकल्पः पञ्चविधः पञ्चप्रकारस्तमेवाह ।

छव्विह सत्तविहे वा, दसविह वीसइविहे य बायाला ।
जस्स उ नत्थि विभागो, सुव्वत्तजलंधकारो सो ॥

भावतः कल्पः षड्विधः सप्तविधो दशविधो विंशतिविधो द्वाचत्वारिंशद्विधश्च एते पञ्चापि प्रकाराः पञ्च कल्पे व्याख्यातास्तथा ज्ञातव्या यस्य त्वेष विभागः पञ्चप्रकारो भावकल्पपरिज्ञानं नास्ति (से) तस्य सुव्यक्तं जमान्धकारः ॥ (बृ० १ उ०)

सूत्रनिर्युक्तिभाष्यचूर्णिवृत्तिकृतां नामानि वृत्तिकारौ च द्वौ तत्र कियती वृत्तिः केन कृतेत्यपि चाह ।

नतमघवमौलिमणिमक्ष-मणिमुकुटमयूखधौतपदकमलम् ।
सर्वज्ञममृतवाचं, श्रीवीरं नौमि जिनराजम् ॥ १ ॥
चरमचतुर्दशपूर्वी-कृतपूर्वीकल्पनामकाध्ययनम् ।
सुविहितहितैकरसिको, जयति श्रीभद्रबाहुगुरुः ॥ २ ॥
कल्पेऽनल्पमनर्घ्यं, प्रतिपदमर्पयति योऽर्थनिकुरम्बम् ।
श्रीसङ्घदासगणये, चिन्तामणये नमस्तस्मै ॥ ३ ॥
शिवपदपुरपथकल्पं, कल्पं विषममपि दुष्षमारात्रौ ।
सुषमीकरोति यच्चू-र्णिदीपिका स जयति यतीन्द्रः ॥ ४ ॥
आगमदुर्गमपदसं-शयादितापो विलीयते विदुषाम् ।
यद्वचनचन्दनरसै-र्मलयगिरिः स जयति यथार्थः ॥ ५ ॥
श्रुतलोचनमुपनीय, ममापनीय भ्रमिमजन्मान्ध्यम् ।
यैरदर्शि शिवमार्गः, स्वगुरूनपि तानहं वन्दे ॥ ६ ॥
ऋजुपदपद्धतिरचनां, बालशिरःशेखरोऽप्यहं कुर्वे ।
यस्याः प्रसादवशतः, श्रुतदेवी साऽस्तु मे वरदा ॥ ७ ॥
श्रीमलयगिरिप्रभवो, यां कर्तुमुपाक्रमन्त मतिमन्तः ।
सा कल्पशास्त्रटीका, मयानुसंधीयतेऽल्पधिया ॥ ८ ॥

इह श्रीमदावश्यकादिसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्रसंसूत्रणसूत्रधारः परोपकारकरणैकदीक्षादीक्षितसुगृहीतनामधेयः । श्रीभद्रबाहुस्वामी सकर्णकर्णपुटपीयमानपीयूषायमाणललितपदकलितपेशलालापकं साधुसाध्वीगतकल्प्याकल्प्यपदार्थसार्थविधिप्रतिषेधरूपकं यथायोगमुत्सर्गापवादपदपदवीसूत्रकवचनरचनागर्भं परस्परमनुस्यूताभिसम्बन्धुरपूर्वापरसूत्रसंदर्भं प्रत्याख्यानाख्यनवमपूर्वान्तर्गताचारनामकतृतीयवस्तुरहस्यनिष्पन्दकल्पं कल्पनामधेयमध्ययनं निर्युक्तियुक्तं निर्यूढवान् अस्य च स्वल्पग्रन्थमहार्थतया प्रतिसमयमवसर्पिणीपरिणतिपरिहीयमाणमतिमेधाधारणादिगुणग्रामाणामैदंयुगीनसाधूनां दुरवबोधतया च सकलत्रिलोकीसुभगंकरणक्षमाश्रवणनामधेयोऽभिधेयैः श्रीसङ्घदासगणिपूज्यैः प्रतिपदप्रकटितसर्वज्ञाज्ञाविराधनासमुद्भूतप्रत्यपायजालं निपुणचरणपरिपालनोपायगोचरविचारवाचालं सर्वथा दूषणकरणेनाप्यदूष्यं भाष्यं विरचयांचक्रे इदमप्यतिगम्भीरतया मन्दमेधसां दुरवगममवगम्य यद्यप्यनुपकृतपरोपकृतिकृता चूर्णिकृता चूर्णिरसूत्रि तथापि सा निबिडजडिमजम्बालजालजटिलानां मादृशां जन्तूनां न तथाविधमवबोधनिबन्धनमुपजायते इति परिभाव्य शब्दानुशासनादिविश्वविद्यामयज्योतिःपुञ्जपरमाणुघटितमूर्तिभिः श्रीमलयगिरिमुनीन्द्रर्षिपादैर्विवरणकरणमुपचक्रमे तदपि कुतोऽपि हेतोरिदानीं परिपूर्णं नावलोक्यते इति परिभाव्य मन्दमतिमौलिमणिनाऽपि मया गुरुपदेशं निश्रीकृत्य श्रीमलयगिरिचितविवरणादूर्ध्वं विवरीतुमारभ्यते । (बृ० १ उ०) पीठिकासमाप्तौ काव्यम् ॥

चारित्रभूपालनिवासहेतु-प्रासादकल्पे किल कल्पशास्त्रे ।
सुवर्णबद्धा सुरसावगाढा, समर्थिता संप्रति पीठिकेयम् ॥
इति कल्पपीठिका परिसमाप्ता । समाप्ते प्रलम्बसूत्रे काव्यम् ।
दुर्गस्थानवहत्वभीरुकतया मन्दाऽपि दातुं पदा-
न्येतच्चूर्णिनिशीथचूर्णियुगलीयष्टिद्वयीदर्शनात् ।
प्रेर्य प्रेर्य पदे पदे निजगवीङ्गिप्रचारं मया,
कल्पे यत्प्रकृतं प्रलम्बविषयं तत्तोचरे चारिता ।
मासकल्पसमाप्तौ काव्यम् ॥
चूर्णिश्रीकृद्भाष्यप्रभृतिबहुतिथग्रन्थसार्थाभिरामा-
रामादर्थप्रतानैस्त्वरितमवचितैः सूक्तिसौरभ्यसारैः ।
चेतःपट्टे निधाय स्वगुरुगुरुविवैरस्तन्तुभिर्गुम्फितेयं,
श्रीकल्पे मासकल्पप्रकृतिविचरणस्रङ् मया भव्ययोग्या ।
समग्रस्य कल्पाध्ययनस्य प्रथमोद्देशकस्यान्त्यसूत्रस्य वा ज्ञाने दृष्टान्तः ।

अथ निर्युक्तिविस्तरः

जो एतं न विजाणइ, पढमुद्देसस्स अंतिमं सुत्तं ।
अहव ण सव्वज्झयणं, तस्य उ नाणं इमं होइ ॥

यश्चाचार्य ! एतत्प्रस्तुतं प्रथमोद्देशकस्यान्त्यं सूत्रं न जानाति । अथवा सर्वमपीदं कल्पाध्ययनं यो न जानाति तत्राचार्ये इदं वक्ष्यमाणज्ञानमुदाहरणं भवति । आह किमर्थं प्रथमोद्देशकस्यान्त्यसूत्रं न जानातीत्युक्तम् ? उच्यते ।

उज्जालितो पदीवो, चाउस्सालस्स मज्झभागम्मि ।
पमुहे वा तं सव्वं, चाउस्सालं पगासेति ॥

चतुःशालस्य गृहस्य मध्यभागे प्रमुखे वा प्रवेशनिर्गममुखे प्रदीपो ज्वालितः सन् तच्चतुःशालं सर्वमपि प्रकाशयति एवमपि सकलमध्ययनवर्तीनि प्रस्तुतसूत्रे यदिदं प्रथमोद्देशकस्यान्त्यसूत्रं न जानातीत्युक्तं तम्मध्यदीपकमवगन्तव्यम् । यद्वा यस्मा-

यत्र प्रथमोद्देशके समासतः सर्वाऽपि सामाचारी समर्थिता । ततश्चानुःशालप्रमुखो ज्वालितप्रदीप इवेदमन्यदीपकमवसातव्यम्। ततश्चेदमुक्तं भवति यः पठन्न कल्पाध्ययनं प्रथमोद्देशकं वा जानाति स गणपरिवर्त्ती भगवद्भिर्नानुज्ञातः । इदमेव प्रचिकटयिषुस्तत्राचार्ये ज्ञातमिदं भवतीति पदं व्याख्यानयति ।

जो गणहरो न जाणति, जाणंतो वा न देसती मग्गं।
सो सप्पसीसयमिव, विणस्सति विज्जपुत्तो वा ।

यः कश्चिद्गणधरो मार्गं यथोक्तसमाचारीरूपं न जानाति जानाति वा परं न शिष्याणां तं मार्गमुपदिशति स सर्पशीर्षकमिव वैद्यपुत्र इव वा विनश्यति । तत्थ इमं कप्पियं उदाहरणं । एगो सप्पो निच्चं पच्छागं अप्पाणं जहासुहं विहरइ ताहे से पुच्छो भणति । तुमं निच्चमेव पुरतो गच्छसि अन्यच्च ।

सीतुण्हवासेयमहंधकारे, णिच्चं पि गच्छामि जओमणासा।
गंतव्वए सीसग! कंचि कालं, अहं पि ता होज्ज पुरस्सराती

ओ शीर्षक ! नित्य मप्यहं भवत्पृष्ठलग्ना सती यतो यतो मां नयसि तत्र शीते वा उष्णे वा वर्षे वा निपतति तमोऽन्धकारे वा बहलतमःपटलविलुप्ते प्रदेशे गच्छामि किं करोमि परं सांप्रतं कंचित्कालं गन्तव्ये गमने अहमपि तावत्ते तव पुरस्सरा भवेयम्। शीर्षकं प्राह ।

ससक्करे कंटइले य मग्ग, वज्जेमि मोरे णउलादिए य ॥
बिले य जाणामि अहुट्ठदुट्ठे, मा ता विमूराहि अजाणि एवं॥

हे पुच्छिके ! सशर्करान् शर्करायुक्तान् कण्टकाकुलांश्च मार्गान् वर्जयामि । यत्र च मयूरान्नकुलादींश्चात्मोपद्रवकारिणः पश्यामि तत्र न गच्छामि। विलानि वाऽमूनि अदुष्टानि अमूनि च दुष्टानि इत्येवमहं सम्यक् जानामि । त्वं पुनरेतेषां मध्यादेकमपि न जानासि । अतस्त्वमेवमजानती मा तावत् । (विसूराहित्ति) खिदेर्जुरविसूरावित्यादेशे मा खेदमनुभवेत्यर्थः ॥ पुच्छिका प्राह ।

तं जाणगं होहि अजाणिगाहं, पुरस्सरा मेव भवाहि मज्झ।
एसो अहण्णं गलियासएणं, लग्गाउ अं सीसग! वच्च पच्छा।

शीर्षक ! त्वं ज्ञायको भव अहमज्ञायिकापि स्थास्यामि पुरस्सरा परं भवामि त्वं मे पश्चाद् व्रज । शीर्षकं प्राह ।

अकोविए होउ पुरस्सरा मे, अलं विरोहेण अपंडितेहिं ।
वंसस्स छेदं अमुणे इमस्स, दट्ठूण जो गच्छसि तो गतासि ॥

अकोविदे ! मूर्ख ! भव मे मम पुरस्सरा अलमपण्डितैः सह विरोधेन चलितेन परं हे अमुणे ! अज्ञे ! अस्य मदीयवंशस्य छेदमपि दृष्ट्वा यदि गच्छसि ततस्त्वमपि गतासि विनङ्क्ष्यसीत्यर्थः। अस्य कार्यस्य पर्यवसाने पश्चात्त्वमपि ज्ञास्यसीति भावः। अपि च।

कुलं विणासेइ सयं पयाता,
नदी व कूलं कुलटा उ नारी।
णिव्वंध एसो णहि सोभणो ते,
जहा सिगालस्स व गाइतव्वे ॥

स्वयमात्मच्छन्देन प्रयाता प्रवृत्ता कुलटा स्वैरिणी नारी कुलं च विनाशयति । कथमित्याह : नदीव कूलं नदी स्वैरं महत्तरं प्रवृत्ता सती कूलमुभयमपि पातयति तथैषापि कुलद्वयमित्यर्थः। न चायमीदृशो निर्बन्धः कदाग्रहः शोभनः परिणामसुन्दरो भविता । यथा शृगालस्य गातव्ये वन्नादितव्ये निर्बन्धो न शोभनः संजात इत्यत्र खसद्दुमाख्यानकम् ।

"एक्को सियालो रत्तिं घरं पविट्ठो भग्गमाणसेहिं चेतितो निच्छुभितमाढतो सो सुणगाईहिं पारद्धो नीलीरागरंजणपमितो कहं वि ततो उत्तिण्णो नीलवण्णो जातो । तं अन्नारिसंरजसरक्खा सियालाई पासिउ भणंति को तुमं पुरिसा से भणइ । अहं सव्वाहिं मिगजाईहिं खसद्दुमो नाम मिगराजा कतो । ततो अहं पत्थमागतो पासामि तत्थ को मं न नमति । ते जाणंति अपुव्वो एयस्स वण्णो अवस्सं एस देवेहिं अणुग्गहितो । तओ भणितं अम्हे तव किंकरा संदिसह किं करेमो । खसद्दुमो भणति । हत्थिवाहणं देयदिण्णो विलग्गो वियरति । अण्णया सियालेहिं उव्वुईयं ताहे खसद्दुमेणं तं सियालसद्दावमसहमाणेण उग्घइयं । ततो हत्थिणा सो सियालोत्ति नाउं सोंडाए घेत्तुं मारितो जहा सो सियालो अणुईए विणट्ठो एवं तुमं पि विणिस्सिहिसि त्ति किं च

तुच्छत्तिया जो मम किं करेसि, तुमं सयं सुट्ठु अजाणमाणी ।
सुतं तया किं न कयाइ मूढे, जं वाणरो कासि सुगेहियाए॥

एढ पुच्छिके यदि नाम पश्चं तुच्छत्तिकां नीता मम संमुखं चलितं ततः स्वकं स्वीयं वीर्यमजानती मम किं करिष्यसि न किमपीति भावः । परं मूढे ! त्वया किं न कदाचिदप्येतत् संविधानं संश्रुतम् । यद् वानरः सुगेहिकायाः शकुनिकायाः संमुखमावृतः सन् कृतवान्। अत्र कथानकम् "वासेण पडिवज्जंतं रुक्खग्गे वानरं धरितं सुघरा नाम सउणिया भणति लइयं तिउए संती छेत्तूणं मेत्तणाइ आणेऊणं तरुक्खसि हरंमि । वसहीकलाणिवत्ता तत्थ वसामि निरुव्विग्गाए हत्थ सामि रमामि य वासारत्ते पणविय वद्धामिअं दोलयामि वा तरुसंचिलासूमिअत्थतवमाणुसगस्स जारिसा हिदयए व विण्णाणं हत्था विण्णाणं च जीवितं च मोहफलं तुब्भ विसहसि धारपहारे न य इच्छसि गेहमप्पणो कालं वानर ! तुमे असुहिते अम्हे विरतिं न विंदामो तह दोच्चं रोसवितो तीए वानरो पावो रोसेण धमधमंतो उप्पिडिओ तं गतो सालं आकंपितम्मि तापादयम्मि फिरीफलिगला सुघरा अणम्मि डुमम्मि ठिती कडकडते सीतवातेणं इतरो वि य णेडं घेत्तूणं पादवस्स सिहराउत्तणयं एक्केक्कं अंचिऊण तो तुब्भती कुविलो भूमीगतम्मि तोणिडुयं । अह नरगती वानरा पावो सुघरे अवहितहिदए सुण तवे जहा अहिरिया सिणवासिसमभाहारियाण वसिसममंसोहिया वणिट्ठा वासुघरे अज्जसुविराजावट्ठसिलो गतीसु जहा सो वानरो सुघमाए पडिचोइओ समाणो तीरो चेव पमिणीई तुमं पि मए हितोवएसणाणुसंसिया वि मम चेवोपरि सूयति अत एवोक्तम् "उपदेशो न दातव्यो, यादृशे तादृशे जने । पश्य वानरमूर्खेण, सुगृही निर्गृही कृतः" किं चान्यत् ।

न चित्तकम्मस्स विसेसमंधो, संजाणते णावि मियंककंतिं ।
किं पीढसप्पी कह दूतकम्मं, अंधो कहिं कत्थ य देसियत्तं॥

यथा अन्धश्चित्रकर्मणो विशेषं रमणीयकं न जानीते नापि मृगाङ्कस्य चन्द्रमसः कान्तिम् एवमपि चक्षुरहिततया मार्गे गन्तुं न जानामीति भावः । तथा पीठेन सर्पितुं गन्तुं शीलमस्येति पीठसर्पी क्व दूतकर्म संदेशहारकत्वं क चान्धः क च देशकत्वं मार्गदर्शकत्वम् । यथा सर्वथैवाघटमानकमिदं तथा भवत्या अपि निष्प्रत्यूहं गमनमिति भावः । एवं शीर्षकेणोक्ते सति सा ब्रवीति ॥

बुद्धीबलं हीणबला वयंति, किं सत्तजुत्तस्स करेइ बुद्धी ।
किं ते वहाणे व सुता कतावी, वसुंधरेयं जह वीरभोज्जा ॥

बुद्धिलक्षणं यद्बलं तद्धीनबला निःसत्त्वा एव वदन्ति यतः स

स्वयुक्तस्य बुद्धिः किं करोति सत्त्वेनैव कार्यसिद्धेः किं वा त्वया कदाचिदियं कथा नैव श्रुता यथा वसुन्धरेयं वीरभोग्या तदुक्तम्। " नेयं कुलक्रमायाता, शासने लिखिता न वा । खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत, वीरभोग्या वसुन्धरा " अथ शीर्षकमाह ।

असंसयं तं अमुणाए मग्गं, गता विधाणे दुरतिक्कमम्मि ।
इमं तुमे बाहति वामसीले, अम्हे वि जं काहिसि एक्कघातं ॥

असंशयं निस्सन्देहं त्वमज्ञानां मूर्खाणां मार्गमात्मोपघातरूपं गता। क सतीत्याह । विधाने दुरतिक्रमे सति विधानं नाम यद्येन यदा प्राप्तव्यं तद् दुरतिक्रमं नान्यथा कर्तुं शक्यते। उक्तं च "बुद्धिरुत्पद्यते तादृक्, व्यवसायाश्च तादृशाः । सहायास्तादृशा ज्ञेया, यादृशी भवितव्यता " अत एव तदवश्यंभावितया नास्मन्मनो दुनोति परं वामशीले! प्रतिकूल एव गामिनि। मामिदमेव बाधते यदज्ञानादात्मव्यतिरिक्तानस्मादृशानेकघातं करिष्यसि आत्मना सह मारयसीति भावः ।

सा मंदबुद्धी अह सीसकस्स, सच्छंदमंदा वयणं अकाउं।
पुरस्सरा होतु मुहुत्तमेत्तं, अपेयचक्खू सगडेण खुण्णा ॥

सा पुच्छिका मन्दबुद्धिः सद्बुद्धिविकला। अथानन्तरं शीर्षकस्य वचनमकृत्वा स्वच्छन्दमतिप्रवृत्ता मन्दा गमनक्रियायामलसा बलामैटिकया पुरस्सरा भूत्वा गन्तुं प्रवृत्ताः। ततः किमभूदित्याह । अपेतचक्षुर्लोचनरहिता सा पुरो गच्छन्ती मुहूर्त्तमात्रेण शकटेन क्षुण्णा आक्रान्ता विपत्तिमुपगता एष दृष्टान्तः। अयमर्थोपनयः ।

जे मज्झदेसे खलु देसगामा, अतिप्पियं ते सुत्तयं तु तुब्भं ।
रुक्खक्खहिंडेहिँ सुताविया मो, अम्हं पि तो संपइ होउ छंदो ॥

ये अगीतार्थाः शिष्यास्ते आचार्यान् भणन्ति भदन्त ! ये खलु मध्यदेशे आर्यक्षेत्रे देशा मगधादयो ग्रामाश्च तत्प्रतिबद्धास्तेषु भगवतामतिप्रियमतीव विहर्तुं रोचते परं वयमेषु देशेषु रूक्षाक्षमात्रक्षामेन हिण्डनया चेतस्ततः परिभ्रमणरूपया सुष्ठ्वतिशयेन तापिता दग्धांशदेहाः संजाताः अतोऽस्माकमपि तावत्संप्रति छन्दो भवतु स्वच्छन्देन यत्र यत्र रोचते तत्र विहरिष्यामः इति। गुरवो ब्रुवते ।

देहोवही तेणगसावगेहिं, पदुट्ठमेच्छेहि य तत्थ तत्थ ।
जता परिब्भंस धुअंतदोस, तदा विजाणस्सह मे विसेसं ॥

भो भद्रा ! यूयं प्रत्यन्तदेशे विहरन्तो यदा देहस्तेनैः शरीरहरैरुपधिस्तेनैरुपकरणहरैः श्वापदैः सिंहव्याघ्रादिभिः प्रद्विष्टास्तैस्तैश्च तत्र तत्रोपहताः सन्तः संयमात्मविराधनादिना परिभ्रंशमाप्स्यथ ततो विज्ञास्यथ मे मदीयं विशेषं यथा दानशोभनं कृतमस्माभिः यदेवं गुरूणां वचनमनवगणय्य स्वच्छन्दसा विहारः कृत इति। यस्तु गणधरो न जानाति जानानो वा शिष्याणां मार्गं नोपदिशति स तेषामनुवृत्त्या सन्मार्गमतिक्रम्यानार्यदेशे विहरन् तैरेव शिष्यैः सह विनाशमाविशति यथा सर्पशीर्षकं पुच्छिकासहितं विनष्टमिति । अथ वैद्यपुत्रदृष्टान्तमाह ॥

वेज्जस्स एगस्स अहेसि पुत्तो, मतम्मि ताते अणधीयविज्जो ।
गंतुं विदेसं अह सो सिलोगं, घेत्तूणमेगं सगदेसमेति ॥

एकस्य वैद्यस्य पुत्र आसीत् । स च ताते पितरि मृते सति अनधीतविद्य इति कृत्वा राज्ञः सकाशाद् वृत्तिं न लभते। ततो वैद्यकशास्त्रपठनार्थं विदेशं गत्वा तत्र कस्यापि वैद्यस्य पार्श्वे एकं श्लोकं शृणोति स्म । " पूर्वाह्णे वमनं दद्या-दपराह्णे विरेचनम् । वातिकेष्वपि रोगेषु, पथ्यमाहुर्विशोषणम् ॥ " ततस्तेन चिन्तितं हुं ज्ञातं वैद्यरहस्यम् । अतः किमर्थमन्य सिद्यामीति । अथान्तरमसौ श्लोकं गृहीत्वा स्वकमात्मीयं देशमुपैति ।

अह आगतो सो उभयम्मि देसे, लद्धूण तं चेव पुराणवित्तिं ।
रण्णो नियोगेण सुते चिगिच्छं, कुव्वंतु तेणेव समं विणट्ठो ॥

अथानन्तरं स वैद्यपुत्रः स्वके देशे समागतः सन् राज्ञः समीपे तामेव चतुराणां वृत्तिं लब्ध्वा अन्यदा राज्ञो नियोगेन सुतस्य राज्ञः पुत्रस्य पूर्वोक्तश्लोकप्रमाणेन चिकित्सां कर्तुमारब्धवान् । ततोऽसौ राजपुत्रस्तदीयया अप्रयोगक्रियया विनष्टः राज्ञा चापरे वैद्याः पृष्टाः किमेतेन सम्यक्प्रयोगेण क्रिया कृता उताप्रयोगेणेति ततोऽसौ तेन राज्ञा शारीरेण दण्डेन दण्डितः पश्चाच्चरिते राजपुत्रेण समं विनष्ट इत्युक्त एष दृष्टान्तः । अथ गाथोपनयः । यथाऽसौ वैद्यपुत्र एकभविकं मरणमनुप्राप्तः एवं य आचार्य इदं कल्पाध्ययनं न जानाति एकदेशं वा जानन् गणं परिवर्तयति स गम्भीरसंसारसागरं परिभ्रमन्ननेकानि जनितव्यमर्तव्यानि प्राप्नोति । (बृ० १ उ०) प्रथमोद्देशकसमाप्तौ काव्यम्।

कल्पे माणिक्यकोशे जिनपतिनृपतेः सूरिभिस्तन्नियुक्तै-
स्तस्यैवान्यैकतानैर्नयपथनिपुणैश्चिन्त्यमानाधिकारे ।
पेटा उद्देशकाः स्युः षमिह गहनता मुद्रिता अर्थरत्नैः,
पूर्णा सूत्राद्यपेटाप्रकटनविषये कुञ्चिकैषाऽस्तु टीका ॥

द्वितीयोद्देशकसमाप्तौ काव्यम् ॥

द्वैतीयीकोद्देशकोऽयं मयापि, स्पष्टीचक्रे सद्गुरूणां प्रसादात् ॥
सूते नाम्भोबिन्दुनिस्यन्दमिन्दु-ग्रावश्चन्द्रज्योत्स्नया चुम्बितः किम्।

तृतीयोद्देशके समाप्ते काव्यम् ॥

चूर्णिवचोभिः फलकैः सुयोजितै-र्गुरुप्रतिष्ठानयुतैः ससूत्रकैः ।
तृतीयकोद्देशकवारिधिं सतां, तरी तरीतुं विधृतिः कृता मया ॥

चतुर्थोद्देशकस्यान्ते काव्यम् ।

श्रीचूर्णिकारवदनाब्जवचोमरन्द-
निष्पन्दपारणकपीवरपेशलश्रीः ।
उद्देशके मम मतिर्भ्रमरी तुरीये,
टीकामिषेण मुखरत्वमिदं वितेने ॥

पञ्चमोद्देशकस्यान्ते काव्यम् ॥

श्रीमच्चूर्णिवचांसि तन्तव इह ज्ञेयास्तथा सद्गुरो-
राम्नायेन प्रकस्तुरीबुधजनो यास्त्युद्भवा चातुरी ।
इत्येतैर्विततान साधकतमैः श्रीपञ्चमोद्देशके,
जाड्यापोहपटीयसीमहमिमामच्छिद्रटीकापटीम् ॥

संप्रति प्रस्तुतशास्त्रोक्तविधिवैपरीत्यकारिणमपायान् दर्शयन्नाह ।

पलंबादी जाव ठिता, उस्सग्गववातियं करेमाणो ।
अववाते उस्सग्गं, आसायणदीहसंसारी ॥

प्रलम्बसूत्रादारभ्य यावदिदं षड्विधकल्पस्थितिसूत्रं तावद्य उत्सर्गापवादविधिः सूत्रतोऽर्थतश्चोक्तस्तत्रोत्सर्गे प्राप्ते आपवादिकीं क्रियां कुर्वाणोऽर्हतामाशातनायां वर्तते अर्हत्प्रज्ञप्तस्य धर्मस्य शातनायां वर्तते आशातनायां वर्तमानो दीर्घसंसारी भवति यस्मात् प्रलम्बसूत्रादारभ्य षड्विधकल्पस्थितिसूत्रं यावदुत्सर्गे प्राप्ते उत्सर्गः कर्तव्यः अपवादे प्राप्ते अपवादविधिर्यतनया कर्तव्यः । एवं कुर्वतां गुणमाह ।

छव्विह कप्पस्स ठितिं, नाउं जो सद्दहे करणजुत्तो ।
पवयणविहीसुरक्खि-तो इह परभववित्थरप्फलदो ॥

षड्विधकल्पस्य सामायिकादिरूपस्य प्रस्तुतशास्त्रार्थसर्वस्व-

भूतस्य स्थितिं कल्पनीयविवर्जनरूपां ज्ञात्वा गुरूपदेशेन सम्यगवगमादीन् श्रद्दधीत प्रतीतिपथमारोपयेत् न केवलं श्रद्दधीत किं तु करणयुक्तोऽनुष्ठानसंपन्नो भवेत् तस्यात्मैवं सम्यग्ज्ञानश्रद्धानचारित्रसमन्वितः साक्षात्प्रवचनविधिर्भवति । यथा समुद्रो रत्ननिधिर्भवति एवमसावपि ज्ञानादिरत्नमयस्य प्रवचनस्य विधिरित्यर्थः । स च प्रवचनविधिः । सुष्ठु प्रयत्नेनात्मसंयमविराधनाभ्यो रक्षितः सन्निह परभवविस्तरफलदो भवति । इह भवे विस्तरेण चरणवैक्रियामर्थौषधिप्रभृतिविविधलब्धिरूपं फलं ददाति परभवेऽप्यनुत्तरविमानाद्युपपातस्सुकुले प्रत्यायाति प्रभृतिकं विस्तरेण फलं प्रयच्छति । अथेदं कल्पाध्ययनं कस्य न दातव्यं को वाऽपात्राय ददतो दोषो भवतीत्यत आह ।

भिन्नरहस्सेव णरे, णिस्साकरए व मुक्कजोगी व ।
छव्विहगतिगुविलम्मि, सो संसारे भमति दीहे ॥

इहापवादपदानि रहस्यमुच्यते भिन्नं प्रकाशितमयोग्यानां रहस्यं येन स भिन्नरहस्यः अगीतार्थानामपवादपदानि कथयतीत्यर्थः । तत्रैवंविधे नरे तथा निश्राकारो नाम यः किञ्चिदपवादं लब्ध्वा तदेव निश्रां कृत्वा भणति यथैतदेवं करणीयं तथाऽन्यदप्येवं कर्तव्यं तत्र । तथा मुक्ताः परित्यक्ता योगा ज्ञानदर्शनचारित्रतपोविषया व्यापारा येन स मुक्तयोगी ईदृशे अपात्रे न दातव्यं यस्तु ददाति स षड्विधगतिगुविले पृथिवीकायादित्रसकायान्तषट्कायपरिभ्रमणगहने दीर्घे अपारे संसारे भ्राम्यति । अथ कीदृशस्य दातव्यं को वा पात्रे ददतो गुणो भवतीत्यत आह ।

अरहस्सधारए पारए, असढकरणे तुलासमे समिते ।
कप्पाणुपालणादी-वणे य आरोहणच्छिन्नसंसारी ॥

नास्त्यपरं रहस्यान्तरं यस्मात्तदरहस्यमतीव रहस्यं छेदशास्त्रार्थतत्त्वमित्यर्थः । तथा धारयति अपात्रेभ्यो न प्रयच्छति यः स रहस्यधारकः । पारगः सर्वस्यापि प्रारब्धश्रुतस्य पारगामी न पल्लवग्राही । असठकरणो नाम मायाविमुक्तो भूत्वा यथोक्तं विहितानुष्ठानं करोति । तुलासमो नाम यथा तुला समस्थिता न मार्गतो न वा पुरतो नमति एवं यो रागद्वेषविमुक्तो मानापमानसुखदुःखादिषु समः स तुलासम उच्यते । समितः पञ्चभिः समितिभिः समायुक्तः एवंविधगुणोपेतस्येदमध्ययनं दातव्यम् । एवं ददता कल्पस्य भगवदुक्तस्य श्रुतदानविधेरनुपालना कृता भवति । अथवा कल्पे कल्पाध्ययने यद्भणितं तस्यानुपालनां यः करोति तस्य दातव्यम् । एवं कुर्वता दीपना अन्येषामपि मार्गस्य प्रकाशना कृता भवति । यथाऽन्यैरपि एवंगुणवते शिष्याय श्रुतप्रदानं कर्त्तव्यम् । अथवा (दीवणत्ति) यो योग्यविनेयानां दीपनामनालस्येन व्याख्यानं करोति तस्येदं दातव्यम् । यदि वा दीपना नाम उत्सर्गयोग्यानामुत्सर्गं दीपयति । अपवादयोग्यानामपवादं दीपयति । उभयोर्योग्यानामुभावपि दीपयति । प्रमादिनां वा दोषान् दीपयति अप्रमादिनां गुणान् दीपयति । य एतस्यां कल्पानुपालनायां दीपनायां च वर्तते तस्य ज्ञानदर्शनचारित्रमयी जघन्या मध्यमोत्कृष्टा वाऽऽराधना भवति । ततश्चाराधनया छिन्नशरीरी भवति । संसारसंततेर्व्यवच्छेदं करोति तस्यां च व्यवच्छिन्नायां यत्तदक्षयमव्याबाधमपुनरावृत्तिकं स्थानं तत्प्राप्नोतीत्युक्तोऽनुगमः । वृ० ६ उ० पत्र० ८०९ ।

नन्दीसंदर्भमूले सुदृढतरमहापीठिकास्कन्धबन्धे,
षड्भोद्देशाख्यशाखे दलकुसुमसमैः सूत्रनिर्युक्तिवाक्यैः ।
सान्द्रे भाष्यार्थसार्थामृतफलकलिते कल्पकल्पद्रुमेऽस्मिन्-
नाक्रष्टुं षष्ठशाखाफलनिवहमसावंकुशीवाऽस्तु टीका ॥ ६ ॥

समाप्ता चेयं सुखावबोधिनीनामकल्पाध्ययनटीका ।

सौवर्णा विविधार्थरत्नकलिता एते षडुद्देशकाः,
श्रीकल्पेऽर्थनिधौ मताः सुकलशा दौर्गत्यदुःखापहाः ।
दृष्ट्वा चूर्णिसुबीजकाक्षरततिं कुञ्च्याथ गुर्वाज्ञया,
नीता खातममी मया मतिमतामर्थाः स्फुटार्थीकृताः ॥१॥
श्रीकल्पसूत्रममृतं विबुधोपयोग-
योग्यं जरामरणदारुणदुःखहारि ।
येनोद्धृतं मतिमता मथितात् श्रुताब्धेः,
श्रीभद्रबाहुगुरवे प्रणतोऽस्मि तस्मै ॥ २ ॥
येनेदं कल्पसूत्रं कमलमुकुलवत्कोमलं मञ्जुलाभि-
र्गीर्भिर्दोषापहाभिः स्फुटविषयविभागस्य संदर्शिकाभिः ।
उत्फुल्लोद्देशपत्रं सुरसपरिमलोद्गारसारं वितेने,
तं निःसंबन्धबन्धुं श्रुतमुनिमधुपं भास्करं भाष्यकारम् ॥ ३ ॥
श्रीकल्पाध्ययनेऽस्मि-न्नतिगम्भीरार्थभाष्यपरिकलिते ।
विषमपदविवरणकृते, श्रीचूर्णिकृते नमः कृतिने ॥ ४ ॥
श्रुतदेवताप्रसादा-दिदमध्ययनं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मया तेन, प्राप्नुयां बोधिमहममलम् ॥ ५ ॥
गमनयगभीरनीर-श्चित्रोत्सर्गापवादवादोर्मिः ।
युक्तिशतरत्नरम्यो जिनागमो जलनिधिर्जयति ॥ ६ ॥
श्रीजैनशासननभस्तलतिग्मरश्मिः,
श्रीपद्मचन्द्रकुलपद्मविकाशकारी ।
स्वज्योतिरावृतदिगम्बरमम्बरोऽभूत्,
श्रीमान् धनेश्वरगुरुः प्रथितः पृथिव्याम् ॥ ७ ॥
श्रीमच्चैत्रपुरैकमण्डनमहावीरप्रतिष्ठाकृत-
स्तस्माच्चैत्रपुरप्रबोधतरणिः श्रीचैत्रगच्छोऽजनि ।
तत्र श्रीभुवनेन्दुसूरिसुगुरुर्भूभूषणं भासुर-
ज्योतिः सद्गुणरत्नरोहणगिरिः कालक्रमेणाऽभवत् ॥ ८ ॥
तत्पादाम्बुजमण्डनं समभवत्पक्षद्वयीशुद्धिमा-
क्षीरक्षीरसदृक्षदूषणगुणत्यागग्रहैकव्रतः ।
कालुष्यं च जडोद्भवं परिहरन् दूरेण सन्मानस-
स्थायी राजमरालवद्गणिवरः श्रीदेवभद्रः प्रभुः ॥ ११ ॥
शिष्याः शिष्यास्त्रयस्तत्पदसरसिरुहोत्सङ्गशृङ्गारभृङ्गा,
विध्वस्तानङ्गसङ्गाः सुविहितविहितोत्तुङ्गरङ्गा बभूवुः ।
तत्राद्यः सच्चरित्रानुमतिकृतमतिः श्रीजगच्चन्द्रसूरिः,
श्रीमद्देवेन्द्रसूरिः सरलतरलसच्चित्तवृत्तिर्द्वितीयः ॥ १२ ॥
तृतीयशिष्याः श्रुतवारिवार्द्धयः, परीषहाक्षोभ्यमनःसमाधयः ।
जयन्ति पूज्या विजयेन्दुसूरयः, परोपकारादिगुणौघसूरयः ॥१३॥
प्रौढं मन्मथपार्थिवं त्रिजगतीजैत्रं विजित्येषुणां,
येषां चैत्रपुरेण तत्र महसा प्रक्रान्तकान्तोत्सवे ।
स्थैर्यं मेरुरगाधतां च जलधिः सर्वंसहत्वं मही,
सोमः सौम्यमहर्पतिः किल महत्तेजोऽकृत प्राभृतम् ॥ १४ ॥
वापं वापं प्रवचनवचो बीजराजीं विनेय-
क्षेत्रे शुद्धे सुपरिमलिते शब्दशास्त्रादिसारैः ।
यैः क्षेत्रज्ञैः शुचिगुरुजनाम्नायवाक्सारिणीभिः,
सिक्त्वा तेने सुजनहृदयानन्दि संज्ञानसस्यम् ॥ १५ ॥
यैरप्रमत्तैः शुभमन्त्रजापै-र्वैतालमाधाय कलिं स्ववश्यम् ।
अतुल्यकल्याणमयोत्तमार्थः, सत्पूरुषः सत्वधनैरसाधि ॥१६॥

किं बहुना ॥

ज्योत्स्नामञ्जुलया यया धवलितं विश्वम्भरामण्डलं,

या निःशेषविशेषविज्ञजनताचेतश्चमत्कारिणी ।
तस्याः श्रीविजयेन्दुसूरिसुगुरोर्निष्कृत्रिमायागुण-
श्रेणेः स्याद्यदि वास्तवस्तवकृतौ विज्ञः स वाचां पतिः ॥ १७ ॥
तत्पादपङ्कजरजःपरिभूतशीर्षाः,
शिष्यास्त्रयो दधति संप्रति गच्छभारम् ।
श्रीवज्रसेन इति सद्गुरुरादिमोऽभूत्,
श्रीपद्मचन्द्रसुगुरुस्तु ततो द्वितीयः ॥ १८ ॥
तार्तीयीकस्तेषां, विनेयपरमाणुरनणुशास्त्रेऽस्मिन् ।
श्रीक्षेमकीर्तिसूरि-र्विनिर्ममे विवृतिकल्पमिति ॥ १९ ॥
श्रीविक्रमतः क्रामति, नयनाग्निगुणेन्दुपरिमिते (१३३२) वर्षे ।
ज्येष्ठश्वेतदशम्यां, समर्थितैषा च हस्तार्के ॥ २० ॥
प्रथमादर्शे लिखिता, नयप्रभप्रभृतियतिभिरेषा ।
गुरुग्रन्थे गुरुभक्ति-भरोद्वहनादानम्रितशिरोभिः ॥ २१ ॥
इह च सूत्रादर्शेषु, यतो भूयस्यो वाचना विलोक्यन्ते ।
विषमाश्च भाष्यगाथाः, प्रायः स्वल्पाश्च चूर्णिगिरः ॥ २२ ॥
ततः सूत्रे वा भाष्ये वा, यन्मतिमोहान्मयाऽन्यथा किमपि ।
लिखितं वा विवृतं वा, तन्मिथ्यादुष्कृतं भूयात् ॥२३॥ व्य० ६उ०।

व्यवहारे, अनुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । कल्पत इति कल्पः। न्याय्ये, विधौ, आचारे, चरणकरणव्यापारे, आव०४अ०। सततासेवनीये समाचारे, जी० १ प्रति० । कल्पो नीतिर्मर्यादा विधिः सामाचारीत्यर्थः । पं०व० । ज्ञा० । आ० म० द्वि० । स्था०। विशे० । जीतं स्थितिर्मर्यादा व्यवस्थेति हि पर्यायाः । नं० । पं० व० । पंचा० । पं० चू० । स च स्थितास्थितभेदाद् अनेकधा भिन्नः। पंचा० । अनन्तरप्रायश्चित्तमुक्तं तच्च स्थितादिकल्पयुताः साधवो ददति वहन्ति चेति स्थितादिकल्पस्वरूपं विभणिषुर्मङ्गलाद्यभिधानायाह ।

णमिऊण महावीरं, ठियादिकप्पं समासओ वोच्छं ।
पुरिमेयरमज्झिमजिण-विभागए तो वयणनीतीए ॥१॥

नत्वाऽभिवन्द्य महावीरं वर्द्धमानजिनं स्थितादिकल्पमवस्थितानवस्थितसमाचारं समासतः संक्षेपेण वक्ष्येऽभिधास्ये (पुरिमेत्ति) पूर्वः प्रथम इतरोऽन्तिमः मध्यमाः शेषा द्वाविंशतिस्ते च ते जिनाश्च तैर्यो विभागः स्थितादिविभजनं स तथा ततः पूर्वेतरमध्यमजिनविभागतः इह च मध्यमग्रहणस्योपलक्षणत्वाद्विदेहजिनसंग्रहो द्रष्टव्यो यतो वक्ष्यति "एवं खु विदेहजिणकप्पीति" वचननीत्या कल्पादिस्तत्र न्यायेनेति गाथार्थः । तत्र स्थितकल्पप्रतिपादनायाह ।

दसहा होइ उ कप्पो, एसो पुरिमेयराण ठियकप्पो ।
सययासेवणभावा-ठियकप्पो णिच्चमज्जाया ॥ २ ॥

दशधा दशभिः प्रकारैर्भवतः सामान्येन स चाचेलक्यादिर्वक्ष्यमाणः । तुशब्दः पुनरर्थः भिन्नक्रमश्च कल्पो व्यवस्था एष तु एष पुनः सामान्यकल्पः पूर्वेतराणामादिमान्तिमजिनसाधूनां स्थितकल्पोऽवस्थितकल्प उच्यते कुतः सततासेवनभावान्निरन्तराचरणसद्भावादिति । तत्त्वत एतन्निरूप्यार्थेनमेव पर्यायत आह । स्थितकल्पो नित्यमर्यादेति गाथार्थः ।

अथ किमयं नित्यमासेव्यत इत्याह ।

ततिओसहकप्पो वं, जम्हा एगंततो उ अविरुद्धो ।
सययं पि कज्जमाणो, आणाओ चेव एतेसिं ॥ ३ ॥

तृतीयौषधकल्पो वक्ष्यमाणौषधतुल्योऽयमेव स्थितकल्पो यस्माद्धेतोरेकान्ततस्तु सर्वथैवाविरुद्धो युक्तः शुभरूपत्वात् सततमपि सदाऽप्यास्तां कदाचित् क्रियमाणो विधीयमानः। अथ मध्यमानामपि तथा भविष्यतीत्याह।आज्ञात एवागमादेवैतेषां सर्वेषां जिनसाधूनाम आज्ञाबीजं च ऋजुजडत्वादिकं वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः । तृतीयौषधप्रतिपादनायाह ।

वाहिं अवणेइ भावे, कुणइ अभावे तयं तु पढमं ति ।
बितियमवणेति न कुणति, तइयं तु रसायणं होति ॥ ४ ॥

किल कस्यचिन्नरपतेः पुत्रोऽत्यन्तवल्लभो बभूव स च तस्य सततारोग्यसंपादनाय आयुर्वेदविशारदविविधवैद्यानाहूयोवाच । भो ! भिषग्वरा ! मम तनयस्य यथा रुजो न भवन्ति तथा यतध्वमेते च तद्वचस्तथैव प्रतिपन्नवन्तस्ततश्च ते यथोपदेशमौषधानि संस्कृत्य राजानमुपतस्थुः । राजा च तान् प्रत्येकमौषधगुणान् पप्रच्छ तेऽपि तान् क्रमेणाचख्युस्तत्र च व्याधिं रुजमपनयन्त्यपहरति प्रयुज्यमानं भावे व्याधेरिति गम्यते। तथा करोति विधत्ते अभावे पुनर्व्याधेरसद्भावे तत्कं व्याधिं तुः पुनरर्थो योजित एव प्रथममाद्यमिदमौषधमिति शब्दः समासौ। तथा हि द्वितीयमौषधमपनयति हरति व्याधिं सन्तमसन्तं तु न करोति न विधत्ते । तथा तृतीयं तु तृतीयं पुनरौषधं व्याधिं सन्तं हत्वा असन्तं चाकृत्वा रसायनं भवति । वयस्तम्भादिगुणाकरं स्यादिति गाथार्थः । एवं दृष्टान्तमभिधाय दार्ष्टान्तिकाभिधानायाह ।

एवं एसो कप्पो, दोसाभावे वि कज्जमाणो उ ।
सुंदरभावा तु खलु, चारित्तरसायणं णेओ ॥ ५ ॥

एवमिति तृतीयौषधवदेषोऽनन्तरोक्तः कल्पः स्थितकल्पो दोषाभावेऽप्यपराधासत्त्वेऽप्यास्तां दोषसद्भावे क्रियमाणो विधीयमानः सन् तुः पाद पूरणे सुन्दरभावात् खलु शोभनत्वादेव चारित्रस्य चरणशरीरस्य रसायनमिव पुष्टिकरणाच्चारित्ररसायनं ज्ञेयोऽवसेय इति गाथार्थः। दशधा यतः कल्प इत्युक्तमथैतद्दर्शनायेदमाह ।

आचेलक्कुद्देसिय, सिज्जायररायपिंडकिइकम्मे ।
वयजेट्ठपडिक्कमणे, मासं पज्जोसवणकप्पो ॥ ६ ॥

अविद्यमानं चेलं वस्त्रं यस्यासावचेलकस्तद्भाव आचेलक्यम् उद्देशेन साधुसंकल्पेन निर्वृत्तमौद्देशिकमाधाकर्म शय्याया वसत्या तरति संसारसागरमिति शय्यातरः स च राजा च नृपश्चक्रवर्त्यादिस्तयोः पिण्डः समुदानमिति शय्यातरराजपिण्डः कृतिकर्म वन्दनकमेतेषां च समाहारद्वन्द्वत्वात्सप्तम्येकवचनम् । ततश्चाचेलक्यादिषु यथास्वं विधिनिषेधाभ्यां स्थितास्थिताः साधवो भवन्तीत्यतोऽयमोघकल्पः । एतेष्वेव च प्रथमचरमजिनसाधवः स्थिता एवेति स्थितकल्पस्तेषां तथा व्रतानि महाव्रतानि ज्येष्ठो रत्नाधिकः प्रतिक्रमणमावश्यककरणं सप्तम्येकवचनं प्राग्वत् (मासमिति) प्राकृतत्वादनुस्वारः परि सर्वथा वसनमेकत्रिवासो निरुक्तविधेः पर्युषणमेतद्द्वयलक्षणः कल्प आचारः मासपर्युषणकल्पस्तत्र च स्थितास्थित इत्यादि इति गाथासमासार्थः । उक्तः स्थितकल्पः ।

अथास्थितकल्पाभिधानायाह ॥

सुअअट्ठिओ उ कप्पो, एतो मज्झिमजिणाण विसेओ ।
णो सययसेवणिज्जो, अणिच्चमेरासरूवो त्ति ॥ ७ ॥

षट्सु दर्शयिष्यमाणरूपेषु पदेषु अस्थितस्तु अनवस्थितः पुनः

कल्पसमाचारः (एतोत्ति) एतेभ्य एव दशभ्यः पदेभ्यो मध्यानाम मध्यमजिनानां तत्साधूनामित्यर्थः विज्ञेयो ज्ञातव्यः। कुतोऽस्थितोऽयमित्याह। नो नैव सततं सेवनीयः सदा विधेयो दशस्थानकापेक्षया एतदपि कुत इत्याह। अनित्यमर्यादास्वरूपोऽनियतव्यवस्थास्वभाव इति कृत्वा ते हि दशानां स्थानानां मध्यात् कानिचित् स्थानानि कदाचिदेव पालयन्तीति भाव इति गाथार्थः। षट्स्ववस्थितः कल्पः। पञ्चा० १७ विव०। (इति अट्ठियकप्प शब्दे उक्तम्) वृ०। जीत०। कल्प० (अचेलक्यादिकल्पा अचेलगादिशब्देषु द्रष्टव्याः) वृ०। पं०भा०।आ०म० द्वि०। परः प्राह। ननु सर्वेषां सर्वज्ञानां सदृश एव हितोपदेशस्ततः कथं पञ्चयामिकानां चतुर्यामिकानां च विसदृशकल्प्याकल्प्यविधिः। तत्रोच्यते कालानुभावेन विनेयानामपरापरं तथा तथा स्वभावपरिणामं विमलकेवलचक्षुषा विलोक्य तीर्थकृद्भिरित्थं कल्प्याकल्प्यविधिवैचित्र्यमकारि। तथा चाह। पूर्वसाधुकाः ऋजुजडाः पश्चिमसाधवो वक्रजडा मध्यमा ऋजुप्राज्ञाः एतेषां च त्रिविधानामपि साधूनां नटप्रेक्षादृष्टान्तमाह। तेन प्ररूपणा कर्तव्या द्विविधानामेव साधूनां संज्ञातककुलमागतानां गृहिण उद्गमादिदोषान् कुर्युस्तत्रापि त्रिधा निदर्शनं कर्तव्यम। तत्र नटप्रेक्षणकदृष्टान्तं तावदाह।

नडपेच्छं दट्ठूणं, अवस्सआलोयणा ण मे कप्पे।
कायादीसो पेच्छति, ण ते वि पुरिमाणतो सव्वे ॥

कश्चित्प्रथमतीर्थकरसाधुर्भिक्षां पर्यटन् नटस्य प्रेक्षां प्रेक्षणकं दृष्ट्वा कियन्तमपि कालमवलोक्य समागतः स च ऋजुत्वेनावश्यमाचार्याणामालोचयति। यथा नटो नृत्यन् मया विलोकितः आचार्यैरुक्तं सा नटावलोकना साधूनां कर्तुं न कल्पते। ततो यथा दिशन्ति भगवन्तस्तथैवेत्यभिधाय भूयोऽपि भिक्षामटन् कायाकादिकमसौ प्रेक्षते कायाको नाम वेषपरावर्तकारी नटविशेषः आदिशब्दान्नर्त्तकीप्रभृतिपरिग्रहः ततस्तथैवालोचिते गुरवो भणन्ति। ननु पूर्वं वारित आसीः। स प्राह। नट एव द्रष्टुं वारितो न कायाकः। एष तु मया कायाको दृष्टः। एवं यावन्मात्रं परिस्फुटेन वचसा वार्यते तावन्मात्रमेवैते वर्जयन्ति न पुनः सामर्थ्योक्तमपरस्य तादृशस्य प्रतिषेधं प्रतिपद्यन्ते यदा तु भण्यते न तवेति तेऽपि कायाकादयो न कल्पन्ते द्रष्टुं तदा सर्वानपि परिहरन्ति। अतः पूर्वेषां साधूनां सर्वेऽपि नटादयो न कल्पन्ते द्रष्टुमिति प्रथममेवोपदेष्टव्यम।

एमेव उग्गमादी, एक्केकनिवारिएतरे गिण्हे।
सव्वे वि ण कप्पंति, वारितो जाव जियं वज्जे॥

एवमेव नटप्रेक्षणोक्तेनैव प्रकारेण पूर्वतीर्थकरसाधुर्यद्येकैकमुद्गमादिदोषं निवार्यते ततोऽयमेवाधाकर्मादिकं दोषं निवारितस्तमेव वर्जयन्ति।इतरांस्तु पूतिकर्मक्रीतकृतादीन् गृह्णीत इत्यर्थः। यदा तु सर्वेऽप्युद्गमदोषा न कल्पन्ते इति वारितो भवति। तदा सर्वानपि यावज्जीवं वर्जयति। अथ संज्ञातकं गमनपदं व्याचष्टे॥

सन्नायगा वि उज्ज-त्तणाए कस्स कंत तुज्कमेयं ति।
मम उद्दिट्ठ ण कप्पइ, कीतं अण्णस्स वा एगो॥

प्रथमतीर्थकरतीर्थे यदा साधुः संज्ञातकं कुलं गच्छति तदा ते संज्ञातकाः किंचिदाधाकर्मादिकं कृत्वा साधुना कस्यार्थे युष्माभिरिदं कृतमिति पृष्टाः सन्त ऋजुत्वेन कथयन्ति। युष्मदर्थमेतदिति। ततः साधुर्भणति ममोद्दिष्टं भक्तं न कल्पते। एवमुक्तः स गृही क्रीतकृतमन्यद्वा दोषजातं कृत्वा दद्यात् उद्दिष्टमेवामुना प्रतिषिद्धं न क्रीतादिकमिति बुद्ध्या अथवा अन्यस्य साधोरर्थायाधाकर्म कुर्यात् ममोद्दिष्टं न कल्पते इति भणता तेनात्मन एवाधाकर्म प्रतिषिद्धं नान्येषामिति बुद्ध्या।

सव्वजईण णिसिद्धा, मा उण जणत्ति उग्गमाणेसिं।
इति कथिते पुरिमाणं, सव्वे सव्वेसिं ण करेंति॥

यदा तु तेषां गृहिणामग्रेऽभिधीयते सर्वेऽप्युद्गमा दोषाः सर्वेषां यतीनां निषिद्धा न कल्पन्ते मा भूदस्माकमिति तेषां दोषा इति कृत्वा तत एवं कथिते भणिते गृहिणः सर्वेषामपि साधूनां सर्वानप्युद्गमदोषान्न कुर्वन्ति। अथ पूर्वेषां तीर्थे ये श्राद्धा उद्गमदोषकारिणस्तेऽपि ऋजुजडा इति। अथ ऋजुजडपदव्याख्यानमाह।

उज्जुत्तणं से आलो-यणाए जडत्तणं से जं भुज्जो।
तज्जातीए न याणति, गिही वि अन्नस्स अन्नं वा॥

ऋजुत्वं (से) तस्य प्रथमतीर्थकरसाधोरेवं मन्तव्यं यदेकान्तेऽप्यकृतं कृत्वा गुरूणामवश्यमालोचयति। यत्पुनर्भूयस्तज्जातीयान् दोषान् वर्जयति तेन तस्य जडत्वं द्रष्टव्यम। गृहिणोऽपि यदेकस्य निवारितं तदन्यस्य निमित्तं कुर्वन्ति। अन्यं वा क्रीतकृतादिकं दोषं कुर्वन्ति। एतेषां जडत्वम। यत्तु पृष्टाः सन्तः परिस्फुटं सद्भावं कथयन्ति एतेषामृजुत्वम्। अथ मध्यमानामृजुप्रज्ञतां भावयति।

उज्जुत्तणं से आलो-यणाए पुणो उ सेसवज्जणया।
संणायगा वि दोसेण, करेंत असोण असेसिं॥

रहस्यपि यत्प्रतिसेवितं तदवश्यमालोचयिष्यामीत्यालोचनया मध्यमतीर्थकरसाधूनामृजुत्वं मन्तव्यं यत्पुनः शेषाणां तज्जातीयानामर्थानां स्वयमभ्यूह्य ते वर्जनां कुर्वन्ति ततः प्रज्ञा तेषां प्रतिपत्तव्या। ते हि नटकावलोकनं कर्तुं कल्पन्ते इत्युक्ताः प्राज्ञतया स्वचेतसि परिभावं भावयन्ति। यथैतन्नटावलोकनं रागद्वेषनिबन्धनमिति कृत्वा परिह्रियते तथा कायाकनर्तक्यादिदर्शनमपि रागद्वेषनिबन्धनतया परिहर्तव्यमेवेति विचिन्त्यतेऽप्येवं कुर्वन्ति संज्ञातका अपि तेषामिदमुद्दिष्टभक्तं मम न कल्पत इत्युक्त्वा चिन्तयन्ति। यथैतस्यायं दोषो कल्पनीयस्तथा अन्येऽपि तज्जातीयाः सर्वेऽप्यकल्पनीया यथा चैतस्य ते कल्पनीयास्तथा सर्वेषां मध्यमसाधूनां न कल्पन्ते एवं विचिन्त्यान्यानुद्गमदोषान्न कुर्वन्ति। अन्येषां च साधूनां हि तेन कुर्वन्ति।

अथ वक्रजडव्याख्यानमाह।

वंका उण साहंतिय, पुट्ठा उ भणंति उण्हकंटादी।
पाहुणग सड्ढऊसव,गिहिणो वि उ वाउलंते य॥

पश्चिमतीर्थकरसाधवो वक्रत्वेन किमप्यकृत्यं प्रतिसेव्यापि न कथयन्ति नालोचयन्ति। यतनथा च जानन्तोऽजानन्तो वा भूयस्तथैवापराधपदे प्रवर्तन्ते नटावलोकनं कुर्वाणाश्च दृष्टास्ततो गुरुभिः पृष्टाः किमियतीं वेलां स्थितास्ततो भणन्ति। उष्णेनातितापिता वृक्षादिच्छायायां विश्रामं गृहीतवन्तः कण्टको वा लग्न आसीत्। स च तत्र स्थितैरपनीतः। आदिशब्दादन्यदप्येवंविधमुत्तरं कुर्वन्ति इति। गृहिणोऽप्याधाकर्मादौ कृते पृष्टा भणन्ति प्राघूर्णका आगतास्तदर्थमिदमुपस्कृतमस्माकं वा ईदृशे शाल्योदनादौ भक्ते अद्य श्रद्धा समजनि। उत्सवो वा अद्यामुकोऽस्माकम। एवं गृहिणोऽपि वक्रजडत-

या साधून् व्याकुलयन्ति व्यामोहयन्ति सद्भावं नाख्यान्तीत्यर्थः । एतेन कारणेन चतुर्यामिकपञ्चयामिकानामाधाकर्मग्रहणे विशेषः कृत इति प्रक्रमः । बृ० ४ उ० ।

अथ कथमेते एतत्स्वभावा इत्याह ।

कालस्सहावा उच्चिय, एए एवंविहा उ पाएण ।
हुँति उ जओ जिणेहिं, एएसिं इमा कया मेरा ॥ ४४ ॥

कालस्वभावादेव कालसामर्थ्यादेव एते साधव एवंविधास्तु एवंप्रकाराः पुनः ऋजुजडत्वादिधर्मका इत्यर्थः । प्रायेण बाहुल्येन न तु सर्वे तद्विधा एव भवन्ति स्युः (जओत्ति) यस्मादेवमत एव जिनैराप्तैरेतेषामृजुजडादिसाधूनामियमुक्तस्थिता स्थितकल्परूपा कृता विहिता (कयाइमात्ति) पाठान्तरम् (मेरत्ति) मर्यादेति गाथार्थः । अथ ऋजुप्रज्ञानामस्तु चरणं ऋजुप्रज्ञत्वादेः ऋजुजडादीनां तु न युक्तमित्यत आह ॥

एवं विहाण वि इह, चरणं दिट्ठं तिलोगणाहेहिं ।
जोग्गाण थिरो जावो, जम्हा एएसि सुद्धो उ ॥ ४५ ॥
अत्थिरो उ होइ इयरो,
सहकारिवसेण ण उ ण तं हणइ ।
जलणा जायइ उण्हं,
वज्जं ण उ चयइ तत्तं पि ॥ ४६ ॥

एवं विधानामपि ऋजुजडत्वादियुक्तानामप्यास्तामृजुप्रज्ञानामिह प्रक्रमे चरणं चारित्रं दृष्टमवलोकितं त्रिलोकनाथैर्जिनैः किं सर्वेषामित्याह । योग्यानामुचितानां प्रव्रज्यायां कुत एतदेवमित्याह । स्थिरः स्थायी भावोऽध्यवसायो यस्मात्कारणादेतेषामृजुजडादीनां शुद्धस्तु प्रशस्त एवेति । अस्थिरस्तु अस्थायी पुनः कादाचित्क इत्यर्थः । भवति स्यादितरोऽशुद्धः । अथ कथमसौ स्यादित्याह । सहकारिवशेन तथाविधसामग्रीसामर्थ्येन न तु स्वत एव । तर्हि शुद्धभावस्वभावचरणोपहतिर्भविष्यतीत्याह । न पुनस्तच्चरणं हन्ति विनाशयति । अत्र दृष्टान्तमाह । ज्वालनाद्वह्नेर्जायते स्यादुष्णं तप्तं वज्रं कुलिशं न तु न पुनस्त्यजति मुञ्चति तत्त्वमपि स्वभावमपि वज्रत्वमपीत्यर्थः । अपिः समुच्चये इति गाथाद्वयार्थः ॥

इय चरणम्मि ठियाणं, होइ अणाभोगजावओ खलणा ।
ण उ तिव्वसंकिलेसा, अवेति चारित्तभावो वि ॥ ४७ ॥

इति दृष्टान्तोक्तन्यायेन चरणे चारित्रे स्थितानामाश्रितानां भवति स्यादनाभोगभावतः विस्मरणसद्भावात् स्खलनातिक्रमश्चारित्रस्य न तु नैव तीव्रसंक्लेशादुत्कटदुरध्यवसायादपैति नश्यति चारित्रभावोऽपि चरणपरिणामः पुनस्तीव्रसंक्लेशस्याभावादेवेति गाथार्थः । नन्वेवमृजुजडानां युक्तश्चरणानपगमो वक्रजडानां तु कथमसावित्याह

चरिमाण वि तह णेयं, संजलणकसायसंगयं चेव ।
माइट्ठाणं पायं, असइं पि हु कालदोसेण ॥ ४८ ॥

चरमाणामप्यन्तिमानामपि न केवलमाद्यानामेव तथेति यथाद्यानामनाभोगजन्यस्खलना चरणस्याबाधिका तथा तद्वज्ज्ञेयं ज्ञातव्यं चरणाबाधकं मातृस्थानमिति योगः । किं सर्वं नेत्याह । संज्वलनकषायसंगतमेव अल्पतरकषायोद्भवमेव न त्वनन्तानुबन्ध्यादिगतं किं तदित्याह (माइट्ठाणंति) मातरः स्त्रियोऽभिधीयन्ते तासां स्थानमाश्रयो मातृस्थानं माया स्त्रियो हि प्रायो मायाश्रिता भवन्ति । स्त्रीत्वमपि प्रायो मायानिबन्धनमथवा मातृशब्देन मायोच्यते । ततश्च तस्याः स्थानं विशेषो मातृस्थानं मायिनां वा स्थानमिति मायिस्थानं मायैव प्रायो बाहुल्येन केषांचित्तन्न संभवत्येवेति प्रायो ग्रहणम् । असकृदप्यनेकशोऽप्यास्तामेकदा खुर्वाक्यालंकारे कालदोषेण दुष्षमानुभावेनेति गाथार्थः ।

व्यतिरेकमाह ।

इहरा उण समणत्तं, असुद्धभावा उ हंदि विण्णेयं ।
लिंगम्मि वि भावेणं, सुत्तविरोहा जओ भणियं ॥ ४९ ॥

इतरथा त्वन्यथा पुनः कषायान्तरसङ्गतमातृस्थानसंभवे इत्यर्थः न श्रमणत्वं न साधुत्वं कुत इत्याह । अशुद्धभावात् अप्रशस्ताध्यवसायात् अनन्तानुबन्ध्यादिसंगतमातृस्थानरूपात् हंदीत्युपप्रदर्शने विज्ञेयं ज्ञातव्यं लिङ्गेऽपि द्रव्यलिङ्गे रजोहरणादौ सत्यास्तां तदभावे यदि द्रव्यलिङ्गमस्ति कथं न श्रमणत्वमित्यत आह । भावेन परिणामापेक्षया एतदेव कुत इत्याह । सूत्रविरोधात् आगमोक्तार्थविरुद्धत्वात् । सूत्रविरोध एव कुत इत्याह । यतो यस्माद्भणितमुक्तमागम इति गाथार्थः ।

यदुक्तं तदेवाह ।

सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ हुँति ।
मूलच्छेज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाणं ॥ ५० ॥

सर्वेऽपि च समस्ता अपि न तु केचिदेवातिचाराः सर्वविरत्यतिक्रमाः संज्वलनानां तु संज्वलनाख्यकषायाणामेवोदयतो विपाकेन भवन्ति स्युः । मूलेनाष्टमप्रायश्चित्तेन छिद्यतेऽपनीयते यदपराधजातं तन्मूलच्छेद्यं तत्पुनर्भवति स्यात् द्वादशानामनन्तानुबन्ध्यादीनां कषायाणां क्रोधादिभावानामुदयतः इत्यतः संज्वलनसंगतमेव मातृस्थानं चरणाभावकारकं न स्यात्तद्भावेऽपि च चरमसाधवश्चरणवन्तः स्युरिति गाथार्थः । दुष्षमायां केचिच्चारित्रमेव न मन्यन्ते अतिचारबाहुल्यात्तच्च नयतो व्यवहारभाष्ये साक्षेपः । समाधिरिहोक्तः । "केसिंचिय आएसो, दंसणनाणेहि वट्टए तित्थं । वोच्छिन्नं च चरित्तं, वयमाणे भारिया चउरो" चतुर्गुरुकः प्रायश्चित्तविशेषः वस्तुस्थानविशेषः तथा "न विणा तित्थनियंठेहिं, न तित्थाय नियंथया । छक्काय संजमो जाव, ताव अणुसज्जणा दोण्हं" अव्यवच्छेदो वक्रकुशीलयोर्माथिकच्छेदोपस्थापनीययोर्वेत्यर्थः । "जो भणइ नत्थि धम्मो, न य सामइयं न चेव य वयाइं । सो समणसंघवज्झो, कायव्वो समणसंघेण" तथा पूर्वसाध्वपेक्षया हीनतरक्रियापरिणामत्वेऽपि दुष्षमासाधूनां साधुत्वमेव । यदाह "सत्थपरिण्णच्छक्काय, अहिगमो पिंडउत्तरज्झाए । रुक्खवेव सहे गोवे, जो है सो वीयपुक्खरणी" अयमर्थः पूर्वं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनमुत्थापनाहेतुरासीदधुना षड्जीवाधिगमः । षड्जीवनिकायिका एवं पिण्डग्रहणहेतुराचारो दशकालिकं च । तथोत्तराध्ययनान्याचारस्योपरीदानीं तु दशकालिकस्येति पूर्वं वृक्षाः कल्पवृक्षा अधुना चूतादयोऽपि ते तथा शोधिः षाण्मासिकी प्रागधुना च पञ्चकल्याणकदशकल्याणकादिभिर्न च सा न भवतीति गाथार्थः ।

एवं चरमसाधूनां चरणं व्यवस्थाप्यातिप्रसङ्गवारणायाह ।

एवं च संकिलिट्ठा, माइट्ठाणम्मि णिच्च तल्लिच्छा ।
आजीवियजयगत्था, मूढा णो साहुणो णेया ॥ ५१ ॥

एवं चोक्तनीत्या संज्वलनव्यतिरिक्तकषायोदयेन श्रमणत्वमित्येवंलक्षणया संक्लिष्टाः संक्लिष्टचित्ताः कषायान्तरोदयात्

मातृस्थाने मायायां नित्यं तल्लिप्सा सदैव तत्पराः परजनपरायणत्वात्। आजीवनमाजीविका निर्वाहस्तद्भावनाथा यद्भयं भीतिस्तद्वाजीविकाभयं तेन ग्रस्ताः अभिभूता ये तथा गृहस्थैर्विज्ञातनिर्गुणत्वादशनादिविरहिता वा कथं निर्वक्ष्याम इत्यभिप्रायवन्त इत्यर्थः। मूढाः परलोकसाधनवैमुख्येनेह लोकप्रतिबद्धत्वाच्चो नैव साधवो ज्ञेया ज्ञातव्या इति गाथार्थः।

उक्तविपर्ययमाह।

संविग्गा गुरुविणया, णाणी दंतिंदिया जियकसाया ॥
भवविरहे उज्जुत्ता, जहारिहं साहुणो होंति ॥४०॥

संविग्नाः संसारभीरवः अत एव गुरुषु संसारोत्तरणोपायोपदेशकेषु विनताः प्रणताः गुरुविनताः। अत एव ज्ञानिनः सुप्रसन्नगुरुवितीर्णश्रुतज्ञानाः अत एव च दान्तेन्द्रिया जिताक्षा जितकषाया निगृहीतक्रोधादिभावाः भवविरहे संसारवियोगे विधेये उद्युक्ता उद्यता ज्ञानक्रियारूपत्वात्तदुद्यमस्य यथार्हं यथायोग्यं देशकालाद्यपेक्षया ऋजुजडवक्रजडऋजुप्रज्ञत्वानुरूपं वा। न तु वक्रजडत्वे सति ऋजुप्रज्ञत्वौचिता इतरे चेति स्वभावः साधवो यतयो भवन्ति स्युरिति गाथार्थः। स्थितास्थितकल्पप्रकरणं विवरणतः समाप्तमिति।

अथैतस्यैव निगमद्वारेणेदं पर्ययुक्ततामाह।

एवं कप्पविभागो, तइओसहणाएओ मुणेयव्वो।
भावत्थजुत्त एत्थ उ, सव्वत्थ वि कारणं एयं ॥ ४१ ॥

एवमुक्तनीत्या कल्पविभाग आचेलक्यादि स्थितास्थितकल्पतया विभजनं कुत इत्याह। तृतीयौषधज्ञानत उक्तौषधविशेषोदाहरणेन (मुणेयव्वोत्ति) ज्ञातव्यः। किंविध इत्याह। भावार्थयुक्त ऐदंपर्ययुक्तो न यादृच्छिकः अत्र तु इह पुनः कल्पविभागे सर्वत्रापि दशस्वपि पदेषु न तु क्वचिदेव कारणं विभागहेतुरेतद्वक्ष्यमाणमिति गाथार्थः॥

तदेवाह।

पुरिमाण दुव्विसोज्झो, चरिमाणं दुरणुपालओ कप्पो ॥
मज्झिमगाण जिणाणं, सुविसोज्झो सुहणुपालो य ॥४२॥

पूर्वेषामाद्यजिनसाधूनां दुर्विशोध्यो दुःखेन शुद्धिप्रकर्षप्रापणीयः ऋजुजडत्वेन तेषां बहुभिश्चोपदेशैः समस्तहेयार्थज्ञानसंभवेनातिचारपरिहारसंभवात् चरमाणामन्तिमजिनसाधूनां दुरनुपाल्यो दुःखानुपालनीयः स एव दुरनुपालकः तेषां वक्रजडत्वेन तेन व्याजेन हेयार्थसेवासंभवात् कल्प आचेलक्यादिसमाचारः। मध्यमकानां जिनानां च व्यक्तं सुविशोध्यः सुखविशोधनीयः तेषामृजुत्वेन यथोपदिष्टानुपालनात् सुखेनानुपाल्यत इति सुखानुपालस्तेषां प्राज्ञत्वेनोपदेशमात्रादप्यशेषहेयार्थान्यूहनेन तत्परिहारसमर्थत्वाच्चः समुच्चय इति गाथार्थः।

अथ दुर्विशोध्यत्वादिष्वेव हेतुमाह।

उज्जुजडा पुरिसा खलु, णमादिणाण उ होंति विण्णेया ॥
वक्कजडा उण चरिमा, उजुपन्ना मज्झिमा भणिया ॥४३॥

ऋजवोऽशठास्ते च ते जडाश्च विशिष्टानुवैकल्येनोक्तमात्रग्राहिण ऋजुजडाः पूर्वे आद्यतीर्थसाधवः खल्वर्थोक्यावधारणार्थः नटादिज्ञानात् नर्तकप्रभृत्युदाहरणात् पंचा १७ विव० (उदाहरणं व्याख्यातम्) वृ०॥ अयं च दशप्रकारोऽपि कल्पो दोषाभावेऽपि क्रियमाणस्तृतीयौषधवत् हितकारको भवति। तथाहि केनचिद् भूपतिना स्वपुत्रस्य अनागतचिकित्सार्थं त्रयो वैद्या आकारितास्तत्र प्रथमो वैद्य आह। मदीयमौषधं विद्यमानं व्याधि हन्ति रोगाभावे च न गुणं न दोषं च करोति। राजा प्राह। भस्मनि हुततुल्येनानेन औषधेन किम्। द्वितीयः प्राह। मदीयमौषधं रोगसद्भावे रोगं हन्ति रोगाभावे दोषं प्रकटयति। राज्ञोक्तं सुप्तसर्पोत्थापनतुल्येन अनेनापि औषधेन पर्याप्तम्। तृतीयः प्राह। मदीयमौषधं सद्भावे रोगं हन्ति तदभावे च शरीरे सौन्दर्यं वीर्यपुष्टिं करोति। राज्ञोक्तं इदमौषधं समीचीनं तद्वदयमपि कल्पे दोषसद्भावे दोषं निहन्ति। दोषाभावे च धर्मं पुष्णाति। कल्प०। पं० व०।

अथैतस्मिन् दशविधे कल्पे यः प्रमाद्यति तस्य दोषमभिधित्सुराह।

एवं ठियम्मि मेरं, अट्ठियकप्पे य जो पमादेति।
सो वट्टति पासत्थे, ठाणम्मि तगं विवज्जेज्ज ॥

एवमनन्तरोक्तनीत्या या स्थितकल्पे अस्थितकल्पे च मर्यादा सा सामाचारी भणिता तां मर्यादां यः प्रमादयति प्रमादेन परिहापयति स पार्श्वे पार्श्वस्थसत्के स्थाने वर्तते। ततस्तकं वर्जयेत् तेन सह दानग्रहणादिकं संभोगं न कुर्यादिति भावः। कुत इत्याह।

पासत्थसंकिलिट्ठं, ठाणं जिणेहि वुत्तं थेरेहि य।
तारिसं तु गवेसंतो, से विहारे न सुज्झति ॥

पार्श्वस्थं पार्श्वस्थसत्कं स्थानमपराधं पदं संक्लिष्टमशुद्धं जिनैस्तीर्थकरैः स्थविरैश्च गौतमादिभिः प्रोक्तं ततस्तादृशं स्थानं गवेषयन् स यथोक्तसामाचारीपरिहापयिता विहारे न शुध्यति। नासौ संविग्नविहारीति भावः।

पासत्थसंकिलिट्ठं, ठाणं जिणेहि वुत्तं थेरेहि य।
तारिसं तु विवज्जंतो, से विहारे विसुज्झति ॥

पार्श्वस्थं स्थानं संक्लिष्टं जिनैः स्थविरैश्च प्रोक्तं तत्तादृशं स्थानं विवर्जयन् स यथोक्तसामाचारी कर्त्ता विहारे विशुध्यति। शुद्धो भवति यतश्चैवमतः।

जो कप्पठितिं एयं, सद्दहमाणे करेति सट्ठाणे।
तारिसं तु गवेसज्जा, जतो गुणाणं ण परिहाणी ॥

य एनामनन्तरोक्तां कल्पस्थितिं श्रद्दधानः स्वस्थाने करोति स्वस्थानं नाम स्थितकल्पे अनुवर्तमाने स्थितकल्पसामाचारीमस्थितकल्पे पुनरस्थितकल्पसामाचारीं करोति तादृशं संविग्नविहारिणं साधुं गवेषयेत्। तेन सहैकत्र संभोगं कुर्यात् यतो यस्मात् गुणानां मूलगुणोत्तरगुणानां परिहाणिर्न भवति। इदमेव व्यक्तीकर्तुमाह।

ठियकप्पम्मि दसविधे, ठवणे कप्पे य दुविहमण्णयरे।
उत्तरगुणकप्पम्मि य, जारिसकप्पो ससंभोज्जे ॥

स्थितकल्पे आचेलक्यादौ दशविधे स्थापनाकल्पे विवक्ष्यमाणे द्विविधाऽन्यतरस्मिन् उत्तरगुणकल्पे यः सदृक्कल्पस्तुल्यसामाचारीकः स संभोग्यः संभोक्तुमुचितः। वृ० ६ उ० (पर्युषणाकल्पप्रतिपादके कल्पसूत्रनामके दशाश्रुतस्कन्धस्याष्टमेऽध्ययने) विशे०। कल्प०। कल्पन्ते समर्था भवन्ति संयमाध्वनि प्रवर्तमाना अनेनापि कल्पः। व्यवहाराध्ययने, व्य० १ उ०।

पञ्चकल्पेऽधिकारास्तत्र कप्पद्दारं।

कमेण हु इदाणि किं पुण, उक्कमकरणं बहुतव्वंति नाऊणं।

किं पुण कप्पज्झयणे, वणिज्जइ भवती सुणसु ॥
ता वज्जे अनिविदिता, उ अच्छा तहिय ते उ समासेणं।
कप्पे य कप्पिए चेव, कप्पणिज्जे ति आवरे ॥
फासुए एसणिज्जे य, संजमे चेति तावरे ।
वालए वागए चेव, चम्मपट्ट ति आवरे ॥
पम्हए किमिए चेव, धातुए मे सते त्ति य ।
उवसंपया चरित्तस्स, चरित्ते कइविहेइ य ॥
णियंठा कइ पणत्ता, कह समोतारणा ति य ।
ववहारे कस्स पभत्ते, कहं पमिसेवणा वि य ॥
देसभंगे कहं वुत्ते, सव्वभंगे ति यावरे ।
पच्छित्ते कं तिविहे, वुत्ते उट्ठाण ति यावरे ॥
पंचट्ठाणे चउट्ठाणे, तिट्ठाणेति ति यावरे। पं० भा० पत्र० ५
छव्विह कप्पासिणमो, णिक्खेवो छव्विहो मुणेयव्वो ।
णामं ठवणा दविए, खित्ते काले य भावे य। पं० भा०॥
एसो तु भावकप्पो, अहवा णाणादितो पुणो तिविहो ।
दंसणपक्खं भयति, णाणचरित्ता वदावत्ता। पं. भा. १० पत्र.
इयरो सत्तसंथणा, सुत्तस्सत्थो तु होति परमत्थो ।
संसारसब्भावो वा, नानातो मुणितपरमत्था ॥
दोहग्गहतत्तिपादी, पडिमाइहि गहणकत्तपाणस्स ।
दोहिं तु उवरिमाहिं, गिण्हंते वत्थपाताइं ॥
दव्वा दत्तिग्गहा पुच्छा, रयणावलिमादिगा य बोधव्वा ।
एते सुविदितभावा उ, वेंति जिणकप्पियविहारं। पं० भा०।
एत्तो उ थेरकप्पं, समासओ मे निसामेहि ।
तिविहम्मि संजमम्मि उ, बोधव्वो होति थेरकप्पो तु ॥
सामाइयछेदपरिहा-रिए य तिविहम्मि एयम्मि ।
तियअट्ठिए व कप्पे, सामाइयसंजमो मुणेयव्वो ॥
छेदपरिहारिया पुण, णियमाओ हवंति ठितकप्पे ।
एतेसु थेरकप्पो, जह जिणकप्पीण अग्गहो दोसु ॥
गहणं च निग्गहाणं, पंचहिं दोहि च ण तह इत्तं ।
बाले वुड्ढे सेहे, अगीतत्थे णाणदंसणप्पेही ॥
दुब्बलसंघयणम्मि य, गच्छे य इणहेसणा भणिता ।
जह संजवंतु सेसा, खेत्तादि विभासियव्वदारा तु ॥
उवरिं तु मासकप्पे, वित्थरितो विभासते तेसिं।
दारं इति एस थेरकप्पो पं० भा० पत्र० १९। पं० चू०॥

एष लिङ्गकल्पः। उपधिकल्पमाह ।

सत्तविह कप्प एसो, समासतो वण्णिओ सविभवेणं ।
एत्तो दसविहकप्पं, समासओ मे णिसामेहि ।
कप्पयकप्पाविकप्पे, संकप्पुवकप्प तह य अणुकप्पे ।
उवकप्पे य अकप्पे, दुकप्पे तहा सुकप्पे य। पं० भा०॥
वुत्तो दसविहकप्पो, अहुणा वीसतिविहं तु वोच्छामि ।
तस्स तु दाराइणमो, समहिता तीहि गाहाहिं ॥
कप्पेसु णामकप्पो, ठवणाकप्पो य दवियकप्पो य ।
खेत्ते काले कप्पो, दंसणकप्पो य सुत्तकप्पो य ॥
अज्जाईण न चरित्त-म्मि य कप्पो उवही तहेव संभोगे ।
आलोचणउवसंपद, तहेव उद्देसणुण्णाओ ।
अद्धाणम्मि व कप्पो, अणुवासो तह य होति ठितकप्पो ।
अट्ठितकप्पो य तहा, जिणथेरणुवालणाकप्पो । पं० भा०
दव्वे भावे तदुभय-करणे वेरमणमेव साहारे।
णिच्चे असंतरमयं, तेयट्ठित अट्ठिते चेव।
ठाणजिणथेरपज्जुसण-मेव सुत्ते चरित्तमज्झयणे ॥
उद्देसवायणपडि-च्छणा य परिवट्टणुपेहा य।
जो तमजाते चिण्ह-मचिण्ह संठाणमेव वयणे य।
ववायनिसीहे य, ववहारो खेत्तकाले य।
उवही संभोगलिंग-कप्पपडिसेवणा य अणुवासो ।
अणुपालणा अणुण्णा, ठवणा कप्पे य बोधव्वे । पं० भा०
(समासकल्पोऽसमासकल्पो विहारो विहारशब्दे) कृत्ये, " अकप्पं परियाणामि कप्पं उवसंपज्जामि " आव० ४ अ० । ध० । स्थविरकल्पादीनां व्यवस्थायाम्, पा० । आ० चू० । सं- था० । पं० व० । नं० । कल्प० (कल्पस्य षट् प्रस्ताराः प्रस्तार- शब्दे) कल्पाध्ययनोक्तसाधुसमाचारे, ।

(सूत्रम्) कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ता तं जहा कुक्कुइए संजमस्स पलिमंथू मोहरिए सच्चवयणस्स पलिमंथू चक्खुलोलए इरियावहियस्स पलिमंथू तिंतिणए एसणागोयरस्स पलिमंथू इच्छालोलए मुत्तिमग्गस्स पलिमंथू निज्झा नियाणकरणे मोक्खमग्गस्स पलिमंथू सव्वत्थ भगवता अनियाणया पसत्था

अथ निर्युक्तिविस्तरः

पलिमंथे णिक्खेवो, णामधिकरणम्मि कारगकम्मे य ।
दव्वपलिमंथो एमेव य, भावम्मि चउसु वि ठाणेसु ॥

जीवानुकरणे साधकतमेऽधिकरणे आधारे कारकः कर्त्ता तस्मिन् तथा कर्मणि च व्याप्ये द्रव्यतः परिमन्थो भवति । तथा हि करणे येन मन्थानादिना दध्यादिकं मथ्यते अधिकरणे यस्यां पृथिवीकायनिष्पन्नायां मन्थन्यां मथ्यते । कर्त्तरि यः पुरुषः स्त्री वा दधि विलोडयति । कर्म्मणि तन्मथ्यमानं यन्नवनीतादिकं भवति एष चतुर्विधो द्रव्यपरिमन्थः । एवमेव (भावेति) भावविषयः परिमन्थः चतुर्ष्वपि करणादिषु स्थानेषु भवति । तद्यथा करणे येन कौत्कुच्यादिव्यापारेण दधितुल्यः संयमो मथ्यते अधिकरणे यस्मिन्क्षिति मथ्यन्ते । कर्त्तरि साधुः कौत्कुच्यादिभावपरिणतस्तं संयमं मथ्नाति, कर्म्मणि यन्मथ्यमानं संयमादिकमसंयमादितया परिणमते एष चतुर्विधोऽपि परिमन्थो जीवादनन्यत्वाज्जीव एव मन्तव्यः । अथ करणे द्रव्यभावपरिमन्थं भाष्यकारोऽपि भावयति ।

दव्वम्मि मंथिते खलु, तेण मंथिज्जए जहा दहिए ।
दधितुल्लो खलु कप्पो, मंथिज्ज ति कोकुआदीहिं ॥

द्रव्यपरिमन्थो मन्थिको मन्थान इत्यर्थः । तेन मन्थानेन यथा दधितुल्यः खलु कल्पःसाधुसमाचारः कौत्कुचिकादिभिः प्रकारै-

मथ्यते विनाश्यत इत्यर्थः । तदेवं व्याख्यातं परिमन्थपदम् । बृ० ६ उ० । षट् कल्पस्य प्रतिमन्थवः प्रज्ञप्तास्तद्यथा कौत्कुचिकः संयमस्य प्रतिमन्थुः १ मौखरिकः सत्यवचनस्य प्रतिमन्थुः २ चक्षुर्लोल ईर्यापथिकस्य प्रतिमन्थुः ३ तिन्तिणिकः एषणागोचरस्य प्रतिमन्थुः ४ इच्छालोलो मोक्षमार्गस्य प्रतिमन्थुः ५ निदानं सिद्धिमार्गस्य प्रतिमन्थुः ६ " कुक्कुइय " प्रभृतिशब्दानां व्याख्याऽन्यत्रान्यत्र ।

सांप्रतमेतेष्वेव द्वितीयपदमाह ।

बिइयपदं गेलन्ने, अद्धाणे चेव तह य ओमम्मि ।
मोत्तूण चरिमपदं, णायव्वं जं जहिं कमति ॥

द्वितीयपदं ग्लानत्वे अध्वनि तथा अवमे च भवति तत्र चरमपदं निदानकरणरूपं मुक्त्वा ज्ञातव्यं तत्र द्वितीयपदं न भवतीत्यर्थः । शेषेषु तु कौत्कुचिकादिषु यद्यत्र क्रमते तत्तत्रावतारणीयमेतदेव भावयति ।

कमिवेयणमवतंसे, गुदपागरिसाभगंदलं वा वि ।
गुदकीलगसक्कारा, ण तरति बद्धासणो होउं ॥

कटिवेदना कस्यापि दुःसहा अवतंसो वा पुरुषव्याधिनामको रोगो भवेत् । एवं गुदयोः पाको अर्शांसि भगन्दरं गुदकीलको भवेत् । शर्करा कृच्छ्रमूत्रको रोगः स च कस्यापि भवेत्ततो न शक्नोति बद्धासनो भवितुं स्थातुं एवंविधे ग्लानत्वे अभीक्ष्णपरिस्पन्दनादिकं स्थामकौत्कुचिकत्वमपि कुर्यात् ।

उव्वत्तेति गिलाणं, ओसहकज्जे व पत्थरे छुभति ।
वेवति य खित्तचित्तो, बितियपदं होति दोसं तु ॥

ग्लानमुद्वर्तयति एकस्मात्पार्श्वतो द्वितीयस्मिन् पार्श्वे करोति औषधकार्ये वा औषधदानहेतोस्तमेव ग्लानमन्यत्र संक्रम्य न्यस्तत्रैव स्थापयति । यस्तु क्षिप्तचित्तः स परवशतया प्रस्तरान् पाषाणान् क्षिपति वेपते वा चशब्दात् सेंटितमुखवादित्रादिकं प्रकरोति एतत् द्वितीयपदं यथाक्रमं द्वयोरपि शरीरभाषाकौत्कुचिकयोर्भवति ।

मौखरिकत्वे अपवादमाह ।

तुरियगिलाणाहरणे, मुहरित्तं कुज्ज वा दुपक्खे वा ।
ओसहविज्जं मंतं, मेलिज्जा सिग्घगामि त्ति ॥

त्वरितं ग्लाननिमित्तमौषधादेराहरणे कर्तव्ये द्विपक्षे संयतपक्षे संयतीपक्षे च मौखरिकत्वं कुर्यात् । कथमित्याह । एष शीघ्रगामी अत औषधमानेतुं विद्यां मन्त्रं वा प्रयोक्तुं (मेलिज्जाति) प्रेर्यतां व्यापार्यतामित्यर्थः ।

अच्चाउरकज्जे वा, तुरियं व न यावि इरियमुवओगो ।
वेज्जस्स वा वि कहणं, भणति विसमूलओमाओ ॥

अत्यातुरस्य वा ग्लानस्य कार्ये त्वरितं गच्छेत् न चापि नैवेर्यायामुपयोगं दद्यात् । वैद्यस्य वा कथनं धर्मकथां कुर्वन् गच्छेत् येन स प्रवृत्तः सम्यक् ग्लानस्य चिकित्सां करोति । भये वा मन्त्रादिकं परिवर्त्तयन् गच्छति विषं वा केनापि साधुना भक्षितं तस्य मन्त्रेणापमार्जनं कुर्वन् विषवैद्यो वानवगृहीतानां परिवर्तयन् शूलं वा कस्यापि साधोरुद्भवति तदा प्रमार्जयन् गच्छति ।

तिंतिणिया व तदट्ठा, अलब्भमाणे वि दव्वतिंतिणिता ।
वेज्जे गिलाणगादि तु, अहारसंबंधी य अतिरित्तो ॥

तस्य ग्लानस्य उपलक्षणत्वात् आचार्यादेश्चार्थाय तिन्तिणितापि स्निग्धमधुरा आहारादिसंयोजनलक्षणा कर्त्तव्या । अलभ्यमाने वा ग्लानाप्रायोग्ये औषधादौ द्रव्यतिन्तिणिकता हा कष्टं न लभ्यते ग्लानयोग्यमित्येवंरूपा कार्या । इच्छालोभे पुनरिदं द्वितीयपदं वैद्यस्य दानार्थं ग्लानार्थं वाऽऽहार उपधिश्चातिरिक्तोऽपि ग्रहीतव्यः । आदिशब्दादाचार्यादिपरिग्रहः । गणचिन्तके वा गच्छोपग्रहे हेतोरतिरिक्तमुपधिं धारयेत् । एवं तावन्निदानं पदं वर्जयित्वा शेषेषु सर्वेष्वपि ग्लानत्वमङ्गीकृत्य द्वितीयपदमुक्तम् ।

संप्रति तदेवाध्वनि दर्शयति ।

अवेक्खंतो वक्जनया, कहेति वा सत्थियातिअसीणं ।
विज्जं आइसुतं वा, खेदभवा वा अणाजोगा ॥

अध्वनि स्तेनानां सिंहादीनां वा भयादप्रेक्षमाण इतश्चेतश्च विलोकमानोऽपि व्रजेत् यदि वा अध्वनि गच्छन् सार्थिकानामायतिकानां वा सार्थचिन्तकानां धर्मं कथयति येन ते आवृत्ताः सन्तो भक्तपानाद्युपग्रहं कुर्युः । अथवा विद्या काचिदभिनवगृहीता सा मा विस्मरिष्यतीति कृत्वा तां परिवर्त्तयन्ननुप्रेक्षमाणो वा गच्छेत् आदिश्रुतं पञ्चमङ्गलं तद्वा चौरादिभये परावर्त्तयन् व्रजेत् खेदो नाम श्रमस्तेनातुरीभूतो भयाद्वा संभ्रान्त ईर्यायामुपयुक्तो न भवेदिति (अणाभोगत्ति) विस्मृतिवशात् सहसा वा नेर्यायामुपयोगं कुर्यात् ।

संजोयणापलं वा, तिगाण कप्पादिगो य अतिरेगो ।
ओमादिए वि विहुरो,जाइज्जा जं जहे कमति ॥

अध्वनि गच्छन् दारादीनां संयोजनामपि कुर्यात् प्रलम्बादीनां विकरणकरणाय पिप्पलकादिकमतिरिक्तमप्युपधिं गृह्णीयाद्वा धारयेद्वा अथवा परलिङ्गेन तानि ग्रहीतव्यानि ततः परलिङ्गमपि धारयेत् । कल्पा और्णिकादयस्तदादिक आदिशब्दात्पात्रादिकश्च दुर्लभ उपधिरतिरिक्तोऽपि ग्रहीतव्यः । तदेवमध्वनि द्वितीयपदे भावितम् । एवमवमं दुर्भिक्षं तत्रादिशब्दादशिवादिकारणेषु वा विधुरे आत्यन्तिकायामापदि पञ्चविधं परिमन्थुमङ्गीकृत्य यद्यत्र द्वितीयपदं क्रमते तत्तत्र योजयेत् । एवं निदानपदं मुक्त्वा पञ्चस्वपि कौत्कुचिकादिषु परिमन्थुषु द्वितीयपदमुक्तम् बृ० ६ उ० (निदानव्याख्याऽन्यत्र) कल्पप्रतिसेवनायाम्, जीत० । पुष्टालम्बने, यतनादिविषये, पंचा० १५ विव० । अप्रमादे, "अप्पमायाकप्पो भवति उवओगपुव्वकरणो" क्रियालक्षणोऽप्रमादः नि० चू० १ उ० । तथाविधसमाचारप्रतिपादके (नि०) पञ्चादिविधिशास्त्रे वेदाङ्गे, कल्प० । अनु० । ज्ञा० आव० । आ० म० द्वि० । द्वादश्यां गौणानुज्ञायाम्, नं० । निशायाम्, व्य० ४ उ० । संख्यानभेदे, कल्पश्छेदः ककचेन काचस्य तद्विषयं संख्यानं कल्प एव परिपाट्या क्रकचव्यवहार इति प्रसिद्धमिति स्था० १० ठा० । प्रावरणरूपे प्रच्छादके, बृ० ३ उ० । जिनकल्पिकानां त्रयः कल्पाः ।

अथ गच्छवासिनां कल्पप्रमाणमाह ।

कप्पा आयपमाणा, अड्ढाइज्जाउ वित्थमा हत्था ।
एवं मज्झिमपमाणं, उक्कोसं होंति चत्तारि ॥

कल्पा आत्मप्रमाणाः सार्द्धहस्तद्वयप्रमाणायामा अर्द्धतृतीयाश्च हस्ता विस्तृताः पृथुला विधेयाः एतन्मध्यमं मानंप्रमाणं भवति उत्कर्षतो दैर्घ्येन चत्वारो हस्ताः । एतदादेशद्वयं मन्तव्यम् ।

अत्रैव कारणमाह ।

संकुचियतरूण आय-प्पमाणसुयाण न सीयसंफासो ।

दुहओ पेल्लणथेरे, थेणुब्जियपाणाइ रक्खा य ॥

यः श्रमणो बलवान् स संकुचितपादः स्वप्तुं शक्नोति तस्य तथा स्वयमेव शीतस्पर्शो न भवति। अतस्तस्यात्मप्रमाणः कल्पोऽनुज्ञातः यस्तु स्थविरो वयसा वृद्धः स क्षीणबलत्वान्न शक्नोति संकुचितपादः शयितुमतस्तस्यानुग्रहार्थं दैर्घ्येण आत्मप्रमाणादूर्द्ध्वं षमङ्गुलानि विस्तरतोऽध्यर्द्धहस्तात्मप्रमाणादन्यर्थिकानि षमङ्गुलानि विधीयन्ते एवं विधीयमाने गुणमुपदर्शयति (दुहओपेल्लणत्ति) शिरःपादान्तलक्षणद्वयोरपि पार्श्वयोस्तत्कल्पस्य प्रेरणमाक्रमणं तेन स्थविरस्य शीतं न भवति । अनुचितो भावितशैक्ष इत्यर्थः तस्यापि स्वप्नविधावनभिज्ञस्य कल्पप्रमाणमेव ज्ञातव्यम्। अपि च एवं प्राणिनां रक्षा कृता भवति न मत्कूणपल्यादयः कीटिकादयः प्राणिनः प्रविशन्तीति भावः । आदिशब्दाद्दीर्घजातीयादयोऽपि न प्रविशन्ति तेनात्मनापि रक्षा कृता भवति । बृ० ३ उ० । ध० ।

पञ्चवस्तुवृत्तौ तु तत्प्रयोजनं चेत्थम् ।

तणगहणानलसेवा, णिवारणा धुक्कधम्मधरणट्ठा ।

दिट्ठं कप्पग्गहणं, गिलाणमरणट्ठया चेव ॥

तृणग्रहणानलसेवावारणार्थं तथाविधसंहनिनां धर्मशुक्लध्यानार्थं कल्पग्रहणं जिनैः प्रज्ञप्तं ग्लानमृतप्रच्छादनार्थं चेति ध० ३ अधि० । पं० व० । नि० चू० । ओ० ।

अथ परप्रश्नमाशङ्क्योत्तरमाह ।

कं संजमोवयारं, करेइ वच्छाइ जइ मई सुणसु ।

सीयत्ताणं ताणं, जलणतणगयाण सत्ताणं ॥

तह निसि चाउक्कालं, सज्झायज्झाणसाहणमिसीणं ।

महिमहियावासोसो, रयाइ रक्खानिमित्तं च ॥

मयभंवरुज्झणत्थं, गिलाणपाणोवगारिचाजिमयं ।

मुहपोत्तियाइ चेवं, पल्लणिज्जं जहा जोग्गं ॥

संसत्तसत्तगोरस-पाणयपाणीयपाणरक्खत्थं ।

परिगलणपाणघायण, पच्छा कम्माइयाणं च ॥

परिहारत्थं पत्तं, गिलाणबालाइवग्गहत्थं च ।

दाणमयधम्मसाहण-समया चेवं परोप्परओ ॥ ३ ॥

कं नाम संयमोपकारं करोति वस्त्रादिकमिति यदि तव मतिः तर्हि कथ्यते । शृणु सौत्रिकौर्णिककल्पैस्तावच्छीतार्त्तानां साधूनां त्राणमार्त्तध्यानापहरणं क्रियते । तथा ज्वलनतृणादीन्धनगतानां सत्त्वानां त्राणं रक्षणं क्रियत इतीहापि द्रष्टव्यम् । इदमुक्तं भवति यदि कल्पा न भवेयुस्तदा शीतार्त्ताः साधवोऽग्नितृणादीन्धनज्वलनं कुर्युस्तत्करणे चावश्यंभावी तद्गतसत्त्वोपघातः । कल्पैस्तु प्रावृतैरेष न भवत्येव । अग्नितृणादिज्वलनमन्तरेणापि शान्तार्त्तिनिवृत्तिरिति । तथा " कालचउक्कं उक्को-सयण जहन्नेतियं तु बोधव्वमित्यादि" वचनात्समस्तरात्रिजागरणं कुर्वद्भिः साधुभिश्चत्वारः काला ग्रहीतव्याः तत्र हिमकणप्रवर्षिणि शीते पतति चतुष्कालं गृह्णतामृषीणां कल्पाः प्रावृताः सन्तो निर्विघ्नं स्वाध्यायध्यानं कुर्वन्ति शीतार्त्त्यपहरणादिति । तथा(महीत्ति) महावातोत्क्षिप्ता सचित्ता पृथिवी तस्याः पतन्त्या रक्षानिमित्तं प्रावृताः कल्पाः संजायन्ते महिकाधूमिका (वासत्ति) वर्षो वृष्टिः (ऊसत्ति) अवश्यायः प्रतीतः रजोऽपि सचित्तमीषद्ताम्रतमसः पतति प्रतीतमेव आदिशब्दात्प्रदीपतेजःप्रभृतीनां परिग्रहः। एतेषां च महावातादिपतितानां रक्षानिमित्तं कल्पाः संजायन्त इति । तथाभूतस्य संवरणं सेवरः आच्छादनं उज्झनं बहिर्नयनं तदर्थं च चेतो जलप्रच्छादनपट्टिकादि यच्चमभिमतं ग्लानप्राणोपकारि च तदभिमतं परमगुरूणामेवं मुखवस्त्रिकारजोहरणादिचोपकरणं समयानुसारतः संयमोपकारित्वेन योज्यं भणनीयम् ॥ विशे० (पत्र ५४८) ॥ इन्द्रसामानिकत्रयस्त्रिंशादिव्यवहाररूपे आचारे, प्रज्ञा० १ पद । प्रव० । तदुक्ते देवलोके, भ० ५ श० ४ उ । स्था० । सौधर्मादौ, स्था० २ ठा० । (ते च सौधर्मादय इत्थं वैमानिकदेवानां स्थानप्ररूपणे भाणशब्दे वक्ष्यन्ते,)ते द्वादश सौधर्मः १ ईशानः २ सनत्कुमारः ३ माहेन्द्रः ४ ब्रह्मलोकः ५ लान्तकः ६ महाशुक्रः ७ सहस्रारः ८ आनतः ९ प्राणतः १० आरणः ११ अच्युतः १२ । प्रज्ञा० १ पद (एतेषां मानादि सर्वभाणशब्दे) एतेषु, ।

दस कप्पा इंदाहिट्ठिया पण्णत्ता तं जहा सोहम्मे जाव सहस्सारे पाणए अच्चुए । एएसु णं दसकप्पेसु दस इंदा पण्णत्ता तं जहा सक्के ईसाणे जाव अच्चुए । एएसि णं दसण्हं इंदाणं दस परियाणिया विमाणा पन्नत्ता तं जहा पालए पुप्फए जाव विमलवरे सव्वओ भद्दे ।

(दसेत्यादि) सौधर्मादीनामिन्द्राधिष्ठितत्वमेतेष्विन्द्राणां निवासादानतारणयोस्तु तदनधिष्ठितत्वं तन्निवासाभावात् स्वामितया तु तावप्यधिष्ठितावेति मन्तव्यं यावत्करणात् "ईसाणे २ सणंकुमारे ३ माहिंदे ४ बंभलोए ५ लंतगे ६ सक्केति" ७ द्रष्टव्यमिति । यत एवैते इन्द्राधिष्ठिता अत एवैतेषु दशेन्द्रा भवन्तीति दर्शयितुमाह । (एएसु इत्यादि) शक्रः सौधर्मेन्द्रः शेषा देवलोकसमाननामानः शेषं सुगममिति। इन्द्राधिकारादेव तद्विमानान्याह। (एते इत्यादि) परियाणं देशान्तरगमनं तत्प्रयोजनं येषां तानि पारियाणिकानि गमनप्रयोजनानीत्यर्थः। यानं शिबिकादि तदाकाराणि विमानानि देवाश्रया यानविमानानि न तु शाश्वतानि नगराकाराणीत्यर्थः । पुस्तकान्तरे यानशब्दो न दृश्यते पालक इत्यादीनि शक्रादीनां क्रमेणावगन्तव्यानि यावत्करणात् "सोमणसे ३ सिरिवच्छे ४नंदियावत्ते ५कामकमे ६पीइगमे ७मणोरमे ८ इति " द्रष्टव्यमिति । आभियोगिकाश्चैते देवा विमानीभवन्तीति । (स्था०) एवंविधविमानयायिनश्चेन्द्राः प्रतिमादिकास्तपसो भवन्तीति ।

दोसु कप्पेसु कप्पत्थियाओ पण्णत्ताओ तं जहा सोहम्मे चेव ईसाणे चेव । दोसु कप्पेसु देवा तेऊलेस्सा पन्नत्ता तं जहा सोहम्मे चेव ईसाणे चेव । दोसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा पण्णत्ता तं जहा सोहम्मे चेव ईसाणे चेव । दोसु कप्पेसु देवा फासपरियारगा पण्णत्ता तं जहा सणंकुमारे चेव माहिंदे चेव । दोसु कप्पेसु देवा रूवपरियारगा पण्णत्ता तं जहा बंभलोए चेव लंतए चेव । दोसु कप्पेसु देवा सद्दपरियारगा पण्णत्ता तं जहा महासुक्के चेव सहस्सारे चेव ॥

कल्पयोर्देवलोकयोः स्त्रियः कल्पस्त्रियो देव्यः परतो न सन्ति शेषं कण्ठ्यमिति नवरं (तेऊलेसत्ति) तेजोरूपा लेश्याः येषान्ते तेजोलेश्यास्ते च सौधर्मेशानयोरेव न परतः तयोश्च तेजोलेश्या एव नेतरे आह च " किण्हा नीला काऊ, तेऊलेसा य भवणवंतरिया । जोइससोहम्मीसाणे, तेऊलेसा मुणेयव्वत्ति " ॥१ (कायपरियारगत्ति) परिचरन्ति सेवन्ते स्त्रियमिति परिचारकाः कायतः परिचारकाः कायपरिचारका एवमुत्तरत्रापि नवरं स्पर्शादिपरिचारकाः स्पर्शादेरेवोपशान्तवेदोपतापा भवन्तीत्यभिप्रायः । आनतादिषु चतुर्षु कल्पेषु मनःपरिचारका देवा भवन्तीति वक्तव्यम् । स्था० २ ठा० ।

अत्थि णं भंते ! सोहम्मीसाणे णं कप्पाणं अहेगेहाइ वा गेहावणाइ वा ? नो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! उरालावलाहया ? हंति अत्थि । देवोपकरेइ असुरो वि पकरेइ नो नाओ एवं थणियसद्दे वि । अत्थि णं भंते ! बादरे पुढविकाए बादरे अगणिकाए ? णो इणट्ठे समट्ठे णण्णत्थविग्गहगइसमावण्णएणं । अत्थि णं चंदिम जाव तारारूवा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! गामाइ व जाव सन्निवेसाइ वा ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । अत्थि णं भंते ! चंदाभाइ वा ? गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे एवं सणंकुमारमाहिंदेसु णवरं देवो एगो पकरेइ । एवं बंभलोए वि एवं बंभलोगस्स उवरि सव्वहिं देवो पकरेइ पुच्छियव्वो य बायरे आउकाए बायरे अगणिकाए बायरे वणस्सइकाए अन्नं तं चेव गाहा " तमुकायकप्पपणए, अगणीपुढवी य अगणिपुढवीसु । आऊतेऊवणस्सइ, कप्पुवरिम्मि कण्हराईसु " ॥ १ ॥

" देवोपकरेइ इत्यादि " इह च बादरपृथिवीतेजसोर्निषेधः सुगम एव स्वस्थानत्वात्तथाऽब्वायुवनस्पतीनामनिषेधोऽपि सुगम एव तयोरुदधिप्रतिष्ठितत्वेनाऽब्वनस्पतिसम्भवाद्वायोश्च सर्वत्र भावादिति (एवं सणंकुमारमाहिंदेसुत्ति) इहातिदेशतो बादराऽब्वनस्पतीनां सम्भवोऽनुमीयते स च तमस्कायसद्भावतोऽवसेय इति । एवं "बंभलोयस्स उवरिं सव्वहिं ति" अच्युतं यावदित्यर्थः। परतो देवस्यापि गमो नास्तीति तत्कृतबलाहकादेर्भावः । (पुच्छियव्वो य त्ति) बादरोऽप्कायोऽग्निकायो वनस्पतिश्च प्रष्टव्यः । अत्र " तं चेवत्ति " यच्चनाभिधेयश्च यतोऽनेन विशेषोक्तादन्यत्सर्वं पूर्वोक्तमेव वाच्यमिति सूचितम् । तथा ग्रैवेयकादीषत्प्राग्भारान्तेषु पूर्वोक्तं सर्वं गेहादिकमधिकृतवाचनायामनुक्तमपि निषेधतो ध्येयमिति । भ० ६ श० ८ उ० । भोजनान्तरं पात्रादिधावने, ग० १ अधि० । (पात्रप्ररूपणायां तं विकाशयिष्यामि) कल्पते समर्थो भवति स्वक्रियायै विरुद्धलक्षणया समर्थो भवति वा अत्र कृप् सामर्थ्ये विरुद्धलक्षणया असामर्थ्ये वा आधारे घञ् कल्पयति सृष्टिं विनाशं वा अत्र कृप् णिच् आधारे अच् । ब्रह्मणो रात्रिरूपे जगतां चेष्टाराहित्यसंपादके प्रलये, तस्य दिनरूपे जगतां चेष्टासंपादके च कालभेदे, वाच० । युक्ते, कल्पन्ते युज्यन्ते युक्तमेतत्तथा स्था० २ ठा० ।

कल्प्य–त्रि० कृप्-णिच्-यत्-कल्पनीये, प्रश्न० अध० १ द्वा० । एषणीये, स्था० ३ ठा० । ग्राह्ये, पंचा० १२ विव० । रचनीये, आरोप्ये, अनुष्ठेये, विधेये, वाच० । सारणीकूपादौ च " सारणीकूवादिओ विकप्पा भण्णत्ति " नि० चू० १ उ० ।

कप्पअ–कल्पक–त्रि० कल्पयति रचयति आरोपयति वा कृप् णिच्-एवुल्-रचके, आरोपके च कर्चूरे, नापिते, पुं० तस्य केशवेशरचकत्वात् तच्छेदकत्वात् तथात्वम् । कल्प-स्वार्थे कन् कल्प शब्दार्थे च वाच० । कपिलविप्रसुते, शकटालसुतपूर्वजे, तद्वृत्तं चेत्थम् ।

इतश्च कपिलो विप्रो, वसति स्म पुराद्बहिः ।
आगताः साधवः साय-मन्येद्युस्तद्गृहे स्थिताः ॥ २० ॥
जानन्त्येते न वा किंचि-दित्यप्राक्षीद् द्विजः स तान् ।
आचार्यैः कथितं तत्त्व, श्रावकोऽभूत्तदैव सः ॥ २१ ॥
अथान्यदा गृहे तस्य, स्थिताः केऽपि सुसाधवः ।
जातमात्रः सुतस्तस्य, रेवतीदोषदूषितः ॥ २२ ॥
पात्रकाणि सुसाधूनां, धृतः कल्पयतामथ ।
नष्टा साव्यन्तरी तस्य, कल्प इत्यभिधाऽभवत् ॥ २३ ॥
सर्वविद्यः स जज्ञेऽथ, पितरौ मृत्युमापतुः ।
नैच्छद्दानं च संतोषी, दत्ते विद्यास्तदर्थिनाम् ॥ २४ ॥
तत्रास्त्येको द्विजः कल्प-गमनागमनाध्वनि ।
कन्याजलोदरिण्यस्ति, तस्य तस्या वरोऽस्ति न ॥ २५ ॥
स दध्यौ कल्पकस्यैता-मुपायेन ददाम्यहम् ।
कृत्वा कूपं गृहद्वारे, तन्मध्ये तामथाक्षिपत् ॥ २६ ॥
दृष्ट्वा कल्पकमायान्त-मन्युच्चैस्तेन पूत्कृतम् ।
कपिला भोः पपातान्धो, य उद्धरति तस्य सा ॥ २७ ॥
तच्छ्रुत्वा कृपया कल्पो, धावित्वा तां समाकृषत् ।
सोऽथ तेन द्विजेनोक्तः, सत्यसन्धो भवेदिति ॥ २८ ॥
जनापवादभीतेन, प्रपन्ना कल्पकेन सा ।
पश्चादौषधयोगेन, कृता रतिरिवापरा ॥ २९ ॥
विद्वान् कल्पश्रुतो राज्ञा, सोऽथाहूयाभ्यर्थ्यत ।
मन्त्री भवेति सोऽवादीत्, लुब्धः पापं करोत्यदः ॥ ३० ॥
नाहं परिग्रहं कुर्वे, भोजनाच्छादने विना ।
दध्यौ राजा विना मन्त्रं, नासौ ग्रहमुपेक्ष्यति ॥ ३१ ॥
तद्रजकरजको राज्ञा, प्रोक्तश्चेदधुनाऽर्पयेत् ।
वस्त्राणि माऽर्पयिष्यास्त-त्प्रियया प्रेरितोऽन्यदा ॥ ३२ ॥
रजकायार्पयामास, वस्त्राणीन्द्रमहोपरि ।
तद्दिने मार्गितस्तानि, श्वोऽर्पयिष्यामि सोऽवदत् ॥ ३३ ॥
एवं वर्षद्वये याते, तृतीयेऽब्दे पुनः पुनः ।
मार्गितोऽप्यर्पयन्नैव, रुष्टः कल्पोऽवदत्ततः ॥ ३४ ॥
नाहं कल्पोऽस्मि चेत्तानि, रञ्जयाम्यसृजा न ते ।
अन्येद्युः क्षुरिकापाणि-र्गतोऽथ रजकप्रियाम् ॥ ३५ ॥
ऊचेऽशुकान्यर्पयास्य, साऽर्पयद्रजकोदरम् ।
पाटयित्वा तदसृजा-रञ्जयत्तानि कल्पकः ॥ ३६ ॥
तद्भार्योचे नृपादेशा-न्मादादोषोऽस्य कस्ततः ।
कल्पकोऽचिन्तयद्राज्ञो, यन्मयाऽऽज्ञा न मन्त्रिता ॥ ३७ ॥
तद्राज्ञः कैतवमिदं, मामृजिष्यं पुरा यदि ।
नाजविष्यत्सदेतन्मे, ततो गच्छाम्यहं स्वयम् ॥ ३८ ॥
मा यासं तद्धरैरात्त-स्तदयौ राजनृपान्तिके ।
राजोऽभ्युत्थाय तं स्माह, तन्मदुक्तं विचिन्तितम् ॥ ३९ ॥
सोऽवदत्कृतवदादेशं, कुर्वे मन्त्री कृतस्ततः ।

तं दृष्ट्वोपनृपं नष्टा, रजका रावकारिणः ॥ ४० ॥
राज्ये सर्वेश्वरः कल्प-जातो जाताऽथ संततिः ।
तेनाथ पुत्रवीवाहे, माङ्गलिक्याय चूभुजा ॥ ४१ ॥
वस्त्राभरणशस्त्रादि, प्रगुणीक्रियतेऽखिलम् ।
दानाद्युपात्ततद्दासी-मुखाद् ज्ञात्वा पुरातनः ॥ ४२ ॥
मन्त्र्याख्यद्भूभुजो देव, हत्वा त्वां कल्पकः सुतम् ।
राज्येऽभिषेक्तुकामोऽस्ति, सामग्री तादृगीक्ष्यते ॥ ४३ ॥
पुरुषाः प्रेषिता राज्ञा, सामग्रीं तेऽप्यचीकथन् ।
कल्पकः सकुटुम्बोऽथ, क्षेपितो भूभुजाऽवटे ॥ ४४ ॥
भजते कौद्रवीकूर-सेटिकामम्भसो घटम् ।
कल्पोऽवक् स्याद् किमियता, यः कुलोद्धरणक्षमः ॥ ४५ ॥
वैरनिर्यातने वाऽलं, भुङ्क्तां सोऽन्नमिदं सुधीः ।
तैरुक्तं नो न शक्तिस्त-त्तेऽभुक्त्वा दिवं ययुः ॥ ४६ ॥
कल्पकं संहृतं ज्ञात्वा, प्रतिपन्थिनृपास्ततः ।
आययुः पाटलीपुत्रं, प्रहीतुं आह्ववीतटे ॥ ४७ ॥
दध्यौ नन्दः स मन्त्री चे-त्स्याद् द्विपो नाययुस्ततः ।
राजोचे कोऽपि किं कूपे, भक्तं गृह्णाति तत्प्रदाः ॥ ४८ ॥
कल्पगृह्णाति राजोचे, तद्दासोऽपि महामतिः ।
ततो मञ्चिकया कृष्टः, कृशः पिङ्गश्च कल्पकः ॥ ४९ ॥
कृतस्नानादिसंस्कारः, प्राकारेऽदर्शि कल्पकः ।
भीतास्ते कल्पकात्सर्वे, मृगेन्द्रादिव फेरवः ॥ ५० ॥
कल्पो दूतेन तानूचे, मिलितैः सरितोऽन्तरे ।
निसृष्टार्थे विशिष्टैर्वः, करिष्ये सन्धिविग्रहम् ॥ ५१ ॥
नावमारुह्य तेऽथागु-र्गङ्गान्तः कल्पकोऽप्यगात् ।
करस्थेक्षुकलापस्य, छिन्नस्योपर्यधस्तथा ॥ ५२ ॥
तिष्ठेत्किमन्तस्तानूचे, कल्पको हस्तसंज्ञया ।
अध ऊर्ध्वं च छिन्नस्य, दधिकुण्डस्य किं भवेत् ॥ ५३ ॥
एवमादर्शयन्नुक्त्वा, तान् व्यामोह्य निवृत्तवान् ।
विशिष्टास्ते विलक्षास्तु, जग्मुः स्वस्वनृपान्तिके ॥ ५४ ॥
अज्ञातकल्पाभिप्राया, आख्यंस्ते प्रलपत्यसौ ।
तत्प्रपञ्चेन नष्टास्ते, नन्दः प्रोक्तोऽथ मन्त्रिणा ॥ ५५ ॥
हस्त्यश्वाद्याच्छिनत्तेषां, पृष्टिं कृत्वा प्रणश्यताम् ।
पुनर्मन्त्री कृतः कल्पः, कल्पद्वेषी विनाशितः ॥ ५६ ॥
सदा नृपनन्दसन्तत्या, मन्त्रिता कल्पसन्ततेः ।
आ० क० ११६ पत्र० । आव० । आ० चू० ।

कप्पकरण—कल्पकरण—न० भोजनोच्छिष्टपात्राणां धावने, बृ० ५ उ० (तद्वक्तव्यता लेवशब्दे)

कप्पकाल—कल्पकाल—पुं० प्रभूतकाले, " कप्पकालमुवज्जंति " सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

कप्पट्ठ—कल्पस्थ—पुं० समयपरिभाषया बालके, व्य० ७ उ० । डिम्भरूपे, न० व्य० ७ उ० । बृ० ।

कप्पट्ठिइ—कल्पस्थिति—स्त्री० कल्पशास्त्रोक्तसाधुसमाचारे, अवस्थाने, कल्पस्य मर्यादायाम्, बृ० ६ उ० ।

तिविहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता तं जहा सामाइयकप्पट्ठिई छेदोवट्ठावणियकप्पट्ठिई णिव्विसमाणकप्पट्ठिई । अहवा तिविहा कप्पट्ठिई पण्णत्ता तं जहा णिविट्ठकप्पट्ठिई जिणकप्पट्ठिई थेरकप्पट्ठिई स्था० ३ ठा० ।

सङ्ग्रहे च ।

(सूत्रम्) छव्विहा कप्पट्ठिती पण्णत्ता तं जहा सामाइयसंजमकप्पट्ठिती छेदोवट्ठावणियसंजमकप्पट्ठिती निव्विसमाणकप्पट्ठिती निव्विट्ठकाइयकप्पट्ठिती जिणकप्पट्ठिती थेरकट्ठिती त्ति बेमि ॥

षड्विधा षट्प्रकारा कल्पे कल्पशास्त्रोक्तसाधुसमाचारे स्थितिरवस्थानं कल्पस्थितिः । कल्पस्य वा स्थितिर्मर्यादा कल्पस्थितिः प्रज्ञप्ता तीर्थंकरगणधरैः प्ररूपिता तद्यथेत्युपन्यासार्थः सामायिकसंहतकल्पस्थितिसमो रागादिदोषरहितस्तस्या यो लाभो ज्ञानादीनां प्राप्तिरित्यर्थः । समय एव सामायिकं सर्वसावद्यविरतिरूपं तत्प्रधानाः संयताः साधवः तेषां स्थितिः सामायिकसंयतकल्पस्थितिः । १ तथा पूर्वपर्यायच्छेदेनोपस्थापनीयमारोपणीयं यत्तच्छेदोपस्थापनीयं व्यक्तितो महाव्रतारोपणमित्यर्थः । तत्प्रधाना ये संयताः तेषां कल्पस्थितिः छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थितिः २ निर्विशमानाः परिहारविशुद्धिकल्पं वहमानास्तेषां कल्पस्थितिर्निर्विशमानकल्पस्थितिः ३ निर्विष्टकायिका नाम यैः परिहारविशुद्धिकं तपो व्यूढं निर्विष्टमासेवितो विवक्षितचारित्रलक्षणः कायो यैस्ते निर्विष्टकायिका इति व्युत्पत्तेस्तेषां कल्पस्थितिः ४ जिना गच्छनिर्गताः साधुविशेषास्तेषां कल्पस्थितिः जिनकल्पस्थितिः । ५ । स्थविरा आचार्यादयो गच्छप्रतिबद्धास्तेषां कल्पस्थितिः स्थविरकल्पस्थितिः । इतिरध्ययनपरिसमाप्तौ ब्रवीमि । तीर्थंकरगणधरोपदेशेन सकलमपि प्रस्तुतशास्त्रोक्तकल्प्याकल्प्यविधिं भणामि न पुनः स्वमनीषिकयेति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

संप्रति विस्तरार्थं विभणिषुर्भाष्यकारः कल्पस्थितिपदे परस्याभिप्रायमाशङ्क्य परिहरन्नाह ।

आहारो इइ ठाणं, जो चिट्ठति साठिइत्ति ते बुद्धी ।
ववहारपरूवेत्तं, भिसेव तु णिच्छए ठाणं ॥

कल्पस्थितिरिति सूत्रे यत्पदं तत्र कल्प आधार इति कृत्वा स्थानं यस्तु तत्र कल्पे तिष्ठति स स्थितेरनन्यत्वात् स्थितिः । ततश्चैवं पृथग्भावाभिधेयत्वेन स्थितिस्थानयोः परस्परमन्यत्वमापन्नमिति ते तव बुद्धिः स्यात्सूत्रे व्यवहारं व्यवहारनयं प्रतीत्यैवं स्थितिस्थानयोरन्यत्वम् निश्चयतस्तु निश्चयाभिप्रायेण यैव स्थितिस्तदेव स्थानं तुशब्दाद्यदेव स्थानं सैव स्थितिः । कथं पुनरित्यत आह ।

ठाणस्स होति गमणं, पडिपक्खो तह गती ठिई पत्तुं ।
एतावता सकिरिए, भवेज्ज ठाणं च गमणं च ॥

सक्रियस्य जीवादिद्रव्यस्य एतावदेव क्रियाद्वयं भवति स्थानं वा गमनं वा । तत्र स्थानस्य गमनं प्रतिपक्षो भवति तत्परिणतस्य स्थानाभावात् । ततः किमित्याह ।

ठाणस्स होति गमणं, पडिपक्खो तह गती ठिई पत्तुं ।
ण य गमणं तु गतिमतो, होति पुणो एवमितरं पि ॥

स्थानस्य गमनं प्रतिपक्षो भवति न स्थितिः । स्थितिरपि गतिप्रतिपक्षो न स्थानमेवं स्थितिस्थानयोरेकत्वम् तथा न च नैव गमनं गतिमतो द्रव्यात्पृथक् व्यतिरिक्तं भवति । एवमितरदपि स्थानं स्थितमतो द्रव्याद्व्यतिरिक्तं मन्तव्यम् ।

इदमेव व्यतिरेकद्वारेण द्रढयति ।

जइ गमणं तु गतिमतो, होज्ज पुणो तेण सो ण गच्छेज्जा ।

जइ गमणातो अमाण, गच्छति वसुंधरा कसिणा ॥

यदि गमनं गतिमतः पुरुषादेः पृथग्भवेत् ततोऽसौ गतिमान्न गच्छेत् । दृष्टान्तमाह । यथा गमनादन्या पृथग्भूता कृत्स्ना संपूर्णा वसुन्धरा न गच्छति कृत्स्नाग्रहणं लेष्टुप्रभृतिकस्तदवयवो गच्छेदपीति ज्ञापनार्थमेवं स्थानेऽपि भावनीयं यत एवमतः स्थितमेतत्

ठाणट्ठियणाणत्तं, गतिगमणाणं च अत्थतो णत्थि ।

वंजणणाणत्तं पुण, जहेव वयणस्स वायो य ॥

स्थानस्थित्योर्गतिगमनयोश्चार्थतो नास्ति नानात्वमेकार्थत्वाद्व्यञ्जननानात्वं पुनरस्ति । यथैव वचनस्य वाचश्च परस्परमर्थतो नास्ति भेदः । शब्दतः पुनरस्तीति । अथवा नात्र स्थितिशब्दोऽवस्थानवाची किं तु मर्यादा वाचकस्तथा चाह ।

अहवा जो एस कप्पो, पलंबमादी बहुधा समक्खातो ।

छट्ठाणा तस्स ठिई, ठितित्ति मेरित्ति एगट्ठा ॥

अथवा यः एष प्रस्तुतशास्त्रे प्रलम्बादिकः बहुधा अनेकविधः कल्पः समाख्यातस्तस्य षट् स्थाना षट्प्रकारा स्थितिः । स्थितिरिति मर्यादेति चैकार्थौ शब्दौ । भूयोऽपि विनेयानुग्रहार्थं स्थितेरेवैकार्थिकान्याह ।

पतिट्ठा ठावणा ठाणं, ववत्था संठिति ठिती ।

अवट्ठाणं अवत्था य, एगट्ठा चिट्ठणाइ च ॥

प्रतिष्ठा स्थापना स्थानं व्यवस्था संस्थितिः स्थितिः अवस्थानं चाऽवस्था चैतान्येकार्थिकानि पदानि । तथा हि "चिट्ठण" मूर्ध्वस्थानमादिशब्दान्निषदनं त्वग्वर्तनं तानि त्रीण्यपि स्थितिविशेषरूपाणि मन्तव्यानि । सा च कल्पस्थितिः षोढा तद्यथा ॥

सामाइयएच्छेदो, णिव्विसमाणे तहेव निव्विट्ठो ।

जिणकप्पे थेरेसु य, छव्विहकप्पट्ठिती होत्ति ॥

सामायिकसंयतकल्पस्थितिश्छेदोपस्थापनीयसंयतकल्पस्थितिर्निर्विशमानकल्पस्थितिस्तथैव निर्विष्टकल्पस्थितिः जिनकल्पस्थितिः स्थविरकल्पस्थितिश्चेति षड्विधा कल्पस्थितिः । बृ० ६ उ० पत्र० ७१ । स्था० । पूर्वपश्चिमसाधूनां पञ्चमहाव्रतरूपायां मध्यमसाधूनां महाविदेहसाधूनां च चतुर्य्यामलक्षणायां कल्पावस्थितौ, बृ० ४ उ० । (कप्प शब्दे चैतद्भावितम्)

कप्पट्ठिय–कल्पस्थित–पुं०कल्पे दशविधे आचेलक्यादौ स्थिताः कल्पस्थिताः । पञ्चयामधर्मप्रतिपन्नेषु, बृ० ४ उ० । पूर्वपश्चिमसाधुषु, (यत्कल्पस्थितानामर्थाय कृतमकल्पस्थितानां चार्थाय कृतं तत्कल्पस्थितानां कल्पते इत्यकप्पट्ठिय शब्दे उक्तम्) आचार्यपदानुपालके, "आयरियाण पदानुपालगो कप्पट्ठितो भणति" नि० चू० १० उ० । स्थविरजातसमासकल्पादिव्यवस्थिते आलोचनादानयोग्ये, तदन्यस्य हि अतिचारविषया जुगुप्सैव न स्यात् ध० २ अधि० । पंचा० ।

कप्पट्ठिया–कल्पस्थिका–स्त्री० तरुणस्त्रियाम्, बृ० १ उ० । बालिकायां च व्य० ४ उ० ।

कप्पट्ठी–कल्पस्था–स्त्री० कुलवध्वाम्, व्य० ३ उ० (तद्दृष्टान्तो वेदोपशमे स चउद्देस शब्दे भावितः) बालिकायाम्, दुहितरि च । व्य० ६ उ० ।

कप्पड–कर्पट–पुं० न० कृ–कर्मणि–विच्–कर-पट-कर्म–लक्तके, जीर्णवस्त्रखण्डे, मलिनवस्त्रे, करस्थः पटः शक० । घर्मादिमार्जनार्थं हस्तन्यस्ते वस्त्रखण्डे, कषायरक्ते वस्त्रे च । वाच० । वस्त्रमात्रे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

कार्पट–पुं०कर्पट एव स्वार्थेऽण् कार्पटः स इवाकारोऽस्त्यस्य अच् वा जीर्णवस्त्रखण्डे, तादृशवस्त्रयुक्ते कार्य्यार्थिनि, त्रि० । वाच० । तदाकारयुक्ते जतुनि, हेमचं० । वाच० ।

कप्पडिय–कार्पटिक–त्रि० कर्पट–अस्त्यर्थे ठञ् । कर्पटवस्त्रयुक्ते भिक्षुकादौ, शब्दरत्न० । वाच० । आचा० । कर्पटैश्चरतीति कार्पटिकः । भिक्षाचरे, पुं० बृ० १ उ० । "भंडीवहि लगभरवह, उदरि कयप्पडियसमत्थो" नि०चू० १६ उ० । "बंभदत्तस्स एगो कप्पडिओ ओलग्गइ" आ० म० द्वि० । नि० चू०

कप्पण–कल्पन–न० कृप्–भावे ल्युट् छेदने, पाटने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । आचा० । कृप् सामर्थ्ये-णिच्-भावे-ल्युट् । रचनायाम, विधाने, आरोपे च । वाच० ।

कप्पणा–कल्पना–स्त्री० कृप्-णिच्-भावे युच् रचनायाम, विधाने, आरोहणाय गजसज्जीकरणे, हेमचं० । वाच० । सप्रभेदप्ररूपणायाम, नि०चू० १ उ० । विकल्पे, कृषिभेदे, "छेयापरिओवए, समइकप्पणा विकप्पेहिं" औ० । व्यतिरेकव्याप्तिज्ञानाधीनेऽनुमानभेदे, इति नैयायिकाः अर्थापत्तिरूपे प्रमाणान्तरे, इति मीमांसका वेदान्तिनश्चाहुः ॥

कप्पणामेत्त–कल्पनामात्र–न० इयं कल्पनैव केवला वितताथेप्रतिभासरूपा न पुनस्तत्र प्रतिभासमानोऽर्थोऽपीत्येवं रूपायां केवलायां कल्पनायाम्, ध० १ अधि० ।

कप्पणिज्ज–कल्पनीय–त्रि० उद्गमादिदोषवर्जिते, आव० ६ उ० ।

जं जं जोग्गत्तीणं, आहारादी तहेव सेहाए ।

एयं तु कप्पणिज्जं, अपरिग्गहणा अकप्पम्मि ॥

हारे य पलंबादी, सलोममजिणादि होत्ति उवहीए ।

सेज्जाए दगसाला, अकप्पसेहा य जे अन्ने ॥

केरिसय कप्पणिज्जं, फासुयगं फासुयं तु केरिसगं ।

जीवं जढं ज दव्वं, तं पि य जं एस णिज्जंतु पं० भा० ॥

कप्पणिज्जेति दुविहं जीवमजीवं कप्पणिज्जमकप्पणिज्जं तत्थ सजीवं कप्पणिज्जमकप्पियं च तत्थ सजीवमकप्पियं आहारसपुरिसु वीसं इत्थीसु दस नपुंसगेसु तव्विवरीयं कप्पियं तत्थ अजीवं आहारोवहिमाइ जाव दंतसोधणयं उग्गमुप्पायणा सणासुद्धे कप्पियं अपरिग्गहणं । न तद्विपरीतमकल्पिकम् पं०चू० ।

कप्पणी–कल्पनी–स्त्री० कल्पते छिद्यते यया सा कल्पनी । शस्त्रविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० । कर्त्तिकाविशेषे, प्रश्न० अध० १ अ० "खुरेहिं तिक्खधारेहिं, छुरियाहिं कप्पणीहि य । कप्पिओ फालिया छिन्नो, उक्कत्तो य अणेगसो" उत्त० १९ अ० ।

कप्पतरु–कल्पतरु–पुं० ललोप । अनादौ शेषादेशोर्द्वित्वम् ८ । २ । ८९ । इति पकारस्य द्वित्वम् प्रा० । देवतरुभेदे, स्मृतिनिबन्धनभेदे, शारीरकभाष्यटीका भामतीव्याख्यातरूपे ग्रन्थे च वाच० ।

कप्पत्थि–कल्पस्त्री–स्त्री० कल्पयोर्देवलोकयोः स्त्रियः । देवीषु, स्था० ३ ठा० । (कल्पस्त्रीणां वक्तव्यता कप्प शब्दे)

कप्पदुम–कल्पद्रुम–पुं० देवतरुभेदे, संकल्पविषयफलदातृत्वात्तस्य कल्पद्रुमत्वम् वाच० । मथुरायां तीर्थिजिने, "मथुरायां कल्पद्रुमः" ती० ।

कप्पप्पकप्पि–(ण्) कल्पप्रकल्पिन्–पुं० कल्पग्रहणेन दशाश्रुतस्कन्धकल्पव्यवहारा गृहीताः प्रकल्पग्रहणेन निशीथकल्पः कल्पश्च प्रकल्पश्च कल्पप्रकल्पम् तदेषामस्तीति कल्पप्रकल्पिनः। दशाकल्पव्यवहारादिसूत्रार्थधरेषु, "कप्पप्पकप्पी उ सुए आलोया वेति ते इति खुत्ता " व्य० प्र० १ उ० ।

कप्पपायव–कल्पपादप–पुं० कल्पद्रुमे, षो० १५ विव० ।

कप्पपाल–कल्पपाल–पुं० कल्पं सुराविधानकल्पं संकल्पं मद्याभिलाषं वा तत्पायिनां पालयति । पाल्-अ ण् । शौण्डिके सुराजीव, हेमचं० । वाच० । ज० ।

कप्पपाहुम–कल्पप्राभृत–न० कस्यचित्पूर्वस्यान्तर्गते ग्रन्थविशेषे, कल्पप्राभृततः पूर्वकृतः श्रीभद्रबाहुना श्रीवज्रेण ततः पादलिप्ताचार्यैस्ततः परम । इतोऽभ्युद्धृत्य सङ्क्षेपात् प्रणातः कामितप्रदः। श्रीशत्रुंजयकल्पोऽयं, श्रीजिनप्रभसूरिभिः "। ती० १ कल्प०।

कप्पप्पईव–कल्पप्रदीप–पुं० खरतरगच्छालङ्कारश्रीजिनप्रभसूरिविरचिते तीर्थकल्पे, । ती० ४६ कल्प० ।

कप्पर–कर्पर–पुं० कृप्-अरन्–ह्रस्वाभावः । कपाले, वृ० ४ उ० । "तम्मि णगरे कप्परेण भिक्खं हिंडइ" आ०म०द्वि० । कर्परकैर्घृतं संवृणोति विशे० । आव० । नि० चू० । शीर्षकोस्थनि, अमरः। शस्त्रभेदे, कटाहे च मेदि० उदुम्बरे वृक्षे, शब्दे च । वाच०।

कप्परुक्ख–कल्पवृक्ष–पुं० मद्यादिव्यतिरिक्तसामान्यकल्पितफलदायित्वेन कल्पना कल्पस्तत्प्रधानो वृक्षः । मत्ताङ्गादिसप्तविधकल्पवृक्षाणां सप्तमकल्पवृक्षजातौ, स्था० ७ ठा० । कल्पवृक्षमात्रे, ते च दश । "मत्तंगया य १ भिंगा २ तुडियंगा ३ दीव ४ जोइ ५ चित्तंगा ।६। चित्तरसा ७ मणियंगा ८ गेहागारा ९ अनियणा य १०" प्रव० १७१ द्वा० (एतेषां व्याख्या मत्ताङ्गादिशब्देषु ओसप्पिणीशब्दे संपूर्णवर्णके उक्ता) चैत्यवृक्षे च स्था० ३ ठा० ।

कप्पवंस–कल्पवंश–पुं० कपिलसुतकल्पस्य नन्दामात्यस्यान्वये, "सहाभून्नन्दसन्तत्या, मन्त्रिता कल्पसन्ततेः । अथाऽभून्नवमे नन्दे, मन्त्रिराट् कल्पवंशजः " । आ० क० ।

कप्पवडिंसय–कल्पावतंसक–पुं० सौधर्मेशानकल्पप्रधाने विमाने, तत्रोपपन्ने देवे च नि०। (तद्वक्तव्यता कप्पावडंसियाशब्दे) " सोहम्मीसाणकप्पेसु जाणि कप्पप्पहाणाणि विमाणाणि ताणि कप्पवडिंसयाणि " पा० ।

कप्पवडिंसया–कल्पावतंसिका–स्त्री० कल्पावतंसकदेवप्रतिबद्धग्रन्थपद्धतौ, नि० । नं० । " पा० । सोहम्मीसाणकप्पेसु जाणि कप्पप्पहाणाणि विमाणाणि ताणि कप्पवडिंसयाणि । ते सुया देवीओ जातेण तवोविसेसेण उववन्नाओ इत्थि च पत्ताओ एवं जासु सवित्थरं वन्निज्जइ तओ कल्पावतंसिकाः प्रोच्यन्त इति । कल्पावतंसिका नाम कल्पावतंसकदेवप्रतिबद्धग्रन्थपद्धतिः सा च निरयावलिका श्रुतस्कन्धगतद्वितीयो वर्गः अनुत्तरोपपातिकदशाङ्गस्य उपाङ्गम्, जं० । रा० ।

जति णं भंते ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं उवंगाणं पढमस्स वग्गस्स निरयावलियाणं अयमट्ठे पन्नत्ते दोच्चस्स णं भंते ! वग्गस्स कप्पवडेंसयाणं समणेणं जाव काते अज्झयणा पन्नत्ता ? एवं खलु जंबू समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं कप्पवडेंसयाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता तं जहा पउमे १ महापउमे २ भद्दे ३ सुभद्दे ४ पउमभद्दे ५ पउमसेणे ६ पउमगुम्मे ७ नलिणिगुम्मे ८ आनंदे ९ नंदणे १० नि०।

कप्पव (व्व) वहार–कल्पव्यवहार–पुं० कल्पश्च व्यवहारश्च कल्पव्यवहारौ । कल्पव्यवहाराध्ययनयोः, ।

कप्पव्ववहाराणं, वक्खाणविहिं पवक्खामि–वृ० १ उ० ।
आयारदसाकप्पो, ववहारो नवमपुव्वणीसंदो ।
चारित्तरक्खणट्ठा, सुयकडस्सुवरि व चित्ताइं ॥
अंगदसा अएहाविहु, उवासगादीए तेण तु विसेसो ।
आयारदसाउ इमो, जेणेत्थं वण्णियायारो ॥
दसकप्पव्ववहारा, एगसुतक्खंधकेइ इच्छंति ।
केई च दस एक्कं, कप्पव्ववहारवीसं तु ॥
रयणागरधाणीयं, णवमं पुव्वं तु तस्स नीसंदो ।
परिगालपरिस्सावो, एते दस कप्पववहारा ॥
किं कारणनिज्जूढा, चरित्तसारिस्स रक्खणट्ठाए ।
खलियस्स तेहिं सोही, कीरति तो होति निरुवहतं ॥
सूयकडूवरि ठविता, जम्हा तू पंच वासपरियायो ।
सूयकडमहिज्जति तु, तो जोग्गो होति सो तेसिं ॥
अणुकंपा वोच्छेदो, कुसुमा भेरी तिगिच्छपारिच्छा ।
कप्पे परिसा य तहा, दिट्ठंता आदिसुत्तम्मि ॥
उस्सप्पिणी सवणाणं, हाणि णाऊण आउगबलाणं ।
होहिंति वग्गथकरा, पुव्वगतम्मि पहीणम्मि ॥
खेत्तस्स य कालस्स य, परिहाणिं गहणधारणाणं च ।
बलविरिए संघयणे, सद्धा उच्छाहतो चेव ।
किं खेत्तं कालो वा, संकुयती जेण तेण परिहाणी ॥
भण्णइ न संकुयंती, परिहाणी तेसि तु गुणेहिं ।
नाणियव्वं दूसमाए, गामा होहित्ति तमसाणं ॥
सामाइय खेत्तगुण–हाणी काले वि ऊ होति ।
मा हाणी समए णं, ता परिहायंते उवग्गहमादीया ॥
दव्वादी पज्जाया, अहोरत्तं तत्तियं चेव ।
दूसम अणुभावेणं, साहू जोग्गा कुदुल्लभा खेत्ता ।
काले वि य दुब्भिक्खा, अभिक्खणं होत्ति ममरायं ॥
दूसम अणुभावेण य, परिहाणी होति ओसहबलाणं ।
तेणं मणुआणं पि तु, आउग्गमेहादिपरिहाणी ।
(दारं) संघयणं पि य हियइ, ततो यहाणी धितिबलस्स भवो
विरियं सारीरबलं, तं पि य परिहाणिसत्तं च ।
हायंति य सद्धाओ, गहणे परियट्टणे य मणुयाणं ।
उच्छाहो उज्जोगो, अणालमत्तं च एगट्ठा ।
इय णाउं परिहाणी, अणुग्गहट्ठाए एस साहूणं ।
णिज्जूढणुकंपाए, दिट्ठं तेहिं इमेहिं तु ।

पगरणे चेडणुकंपा, दहवि दवेहि होयगारीणं ।
जह ऊ मे वीयभत्तं, रएहादिएहं जहसवयस्स ।
एवं अप्पत्त च्चिय, पुव्वगतं केइ मा हु मारिहिंति ।
नो उ इरिऊण ततो, हेट्ठाओ तारियं तेहिं (दारं) ।
मा य हु वोच्छिज्जिहिती, चरणणुओगो त्ति तेण णिज्जूढं ।
वोच्छिएहे बहुयम्मी, चरणाभावो भविज्जाहि ॥
कहं पुण तेण गेहं तु, दिएहाइं तत्थिमो तु दिट्ठंतो ।
जह कोइ दुयारो होसु, सुरभिकुसुमो ऊ कप्पदुमो ॥
पुरिसा केइ असत्ता, तं आरोहणकुसुमगहणट्ठा ।
तेसिं अणुकंपणट्ठा, कोइ समत्थो समारुज्झ ॥
घेत्तुं कुसुमासुहगह–ण हेतुगं गंथिउं दद्ले तेसिं ।
तह चोद्दसपुव्वतरुं, आरूढो भद्दबाहू तु ।
अणुकंपट्ठा गुथितुं, सूयगरुडस्सुप्परि व वेवीरा ।
(दारं) तं पुण तो वएसेण, वेव गहितं ण सेच्छाए ॥
अणिहह गहिए दोसो, असाहगा होंति नाणमाईणं ।
केसवभेरी णीतं, वक्खातं पुव्वसामइए ॥
अहवा तिगिच्छओ तु, जाण हियं वा वि ओसहं देज्जा ।
तेहिं तु ण वा कज्ज, सिद्धी विवरीयए भवति ॥
पं० भा० ॥

आयारदसा जम्हा तेण भगवता आयारपकप्पा दसाकप्पाव्यवहाराय नवमपुव्वनीसंदहृता निज्जूढा तेनासौ पूजार्हः। आयारपकप्पइति विधिः । यस्मात्तत्र दसाविधो आचारः ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारश्च प्रकल्प्यते व्याप्यते प्रज्ञाप्यत इत्यर्थः इत्यतः आचारप्रकल्पः दशाकल्पव्यवहाराणां पूर्वोक्तं निरुक्तं चारित्र इति । चारित्तरक्खणट्ठा गाहा पञ्चप्रकारं चारित्रं सामायिकाद्यम् । अथाख्यातपर्यवसानं तस्य रक्षणार्थं भूतिरज्वाः परिपालनार्थमित्यर्थः सूत्रकृताङ्गस्योपरि व्यवस्थापितः । किमर्थं सूत्रकृताङ्गस्योपरि व्यवस्थापितः आदौ च न व्यवस्थापितमुच्यते। सूत्रोपदेशाद्दिति यस्माद्व्यवहारसूत्रे तृतीयोद्देशकेऽप्युक्तम् । त्रिवर्षपर्यायस्य कल्प्यते आचारप्रकल्प इति । तथा व्यवहारस्यैव दशमोद्देशके सूत्रमस्ति त्रिवर्षपर्यायस्य कल्प्यते सूत्रकृताङ्गमुद्देष्टुमेतदर्थं सूत्रकृताङ्गस्योपरि कृत इति । किं कारणं तेण भगवता नवमाओ पुव्वाओ णाणिओ उच्यते। उस्सप्पिणिसमणाण गाहा जम्हा उस्सप्पिणीदोसेण परिहायंति साहूणं आउयं बलं बुद्धीओ य एतन्निमित्तं उवग्गहकरा भविस्संति पुव्वगए परिहीणे । किं च खेत्तस्स य कालस्स य गाहा । खेत्ते ताव उस्सप्पिणिं चेव पडुच्च परिहाणी गहणधारणाणं च तहा बलवीरियं बलं शारीरं वीरियं वीर्यं व्यवसायो वा तहा संघयणसद्धा मेधाउयं च खेत्तदोसेण य। परिहायंति गाहा । अणुकंपा वोच्छेए भत्तं च । सिद्धसेन क्षमाश्रमणगुरुभिः पालाइणणुकंपा संखमिकरणम्मि गाहा वोच्छेयम्मि पडुच्चाओ मेथपीयभत्तं रन्ना दिएहं जणवयस्स । कुसुमो इति तवनियमनाणरुक्खं गाहा भेरीचंदणकंथा ते इच्छिंति पालगिहाणे गाहा तेण भगवता अणुकंपएण मा वोच्छिज्जिस्संतीति कातं ठुरोहमिव पादवं आरुह्य अप्पणा मालिताणि कुसुमाणि अन्नेसिं च दत्ताणि तवो दुवालसविहो णियमा इंदियनोइंदियनियमत्ति ग्रहो निरोध इत्यर्थः । इन्द्रियनियमो नोइंदियविसयपयारनिरोहो वा सो इंदियपत्तेसु वा अत्थेसु रागद्दोसनिग्गहो जाव फासिंदियं नो इंदियं अकुसलमणनिरोहो वा कुसलमणओ दरणं वा मणसो वा एगत्तीभावकरणं कोहस्स उदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं जाव लोभस्स तपसा नियमेन ज्ञानेन च संप्रयुक्तो वृक्षः । किं च सम्यग्दर्शनचारित्रतपोनियमः संयमस्तं समवृक्षादेव तत्पुरुषः समासः । ज्ञानदर्शनतपश्चारित्रात्मक एव वृक्षः केवलममितज्ञानी केवृत अमितश्रिभावे धातुष्वेव भूवादिपरिपठितस्य केवृतमति अलच्प्रत्यये केवलमिति भवति । केवलं कृत्स्नं प्रतिपूर्णं समग्रं साधारणमनन्तविषयं असंख्येयप्रदेशमतीतानागतवर्तमानभावावभासकमिति पर्यायाः। समाने केवलं ज्ञानं भावप्रमाणभूतं जीवादयः पदार्थाः प्रमेयममितज्ञानी इत्यर्थः । ततस्तेन भगवता भद्रबाहुना पूर्वरत्नाकरश्रुतसमुद्रात्प्रयत्नेनाहृतः उद्धृतमित्यर्थः न तु स्वेच्छया तेनासौ श्रुतकर्त्ता ऋषीत्यपदिश्यते ऋषीत्ययं स्थनार्जवायेति ऋषिः यस्मादसौ भगवता नार्जवे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मके निर्वाणमार्गे व्यवस्थितः ईर्यादिभिश्च समितिभिर्युक्तः इत्युक्तः ऋषिः "से पुण अप्पणो इच्छाए सुत्तं अत्थं वा करेइ तस्स सुत्ते चउ लहू अत्थे चउ गुरु आणाइय विराहणादिहंतो चंदणभेरी य वासुदेवस्स असिवप्पसमणे सा कृता कंथा पच्छा अहया न प्पसमेइ एवं सच्छंदविगप्पिए सुत्तं मोक्खस्स असावकं भवति । वितिया पसत्था उप्पत्ती वंने यथा दोएह वि भेरीणं कप्पव्ववहारा पुण पुरिसं परिक्खिऊण दिज्जंति जहा आइसुए पुरिसा परिसा । परियासेलघणकुमग गाहा एवं सुसिस्स दिज्जंति" तत्र शैलघनच्छिद्रकुटढचालनीमशकमार्जारादयः अनर्हाः हंसमेसजलूकादयो योग्याः । तस्मिन्कल्पे किं वर्ण्यते वर्णनीयं वर्ण्यं गमनीयं दर्शनीयमित्यर्थः । उच्यते कप्पे य कप्पिए चेव गाहा कल्पो नाम नीतिर्मर्यादा व्यवस्था आचरणमित्यनर्थान्तरम् पं० चू० ॥

कप्पविमाणोववत्तिया–कल्पविमानोपपत्तिका–स्त्री० कल्पेषु देवलोकेषु न तु ज्योतिश्चारे विमानानि देवावासविशेषाः । अथवा कल्पाश्च सौधर्मादयो विमानानि च तदुपरिवर्तिग्रैवेयकादीनि कल्पविमानि तेषु उपपत्तिरुपपातो जन्म यस्याः सकाशात् सा कल्पविमानोपपातिका। केवल्याराधनाभेदे, ज्ञानाद्याराधनायाम, एषा च श्रुतकेवल्यादीनां भवतीति स्था० ३ ठा० (व्याख्या आराहणा शब्देऽवसेया)

कप्पसुत्त–कल्पसूत्र–न० दशाश्रुतस्कन्धान्तर्गतेऽष्टमेऽध्ययने, परम्परया क्षेत्रे, चतुर्मासीस्थितसाधवः श्रेयोनिमित्तमानन्दपुरे सभासमक्षं वाचनादनुसङ्घसमक्षं पञ्चभिर्दिवसैः नवभिः क्षणैः श्रीकल्पसूत्रं वाचयन्ति कल्प० । अत्र हीरविजयसूरिं प्रति पण्डितविष्णुऋषिगणिकृतप्रश्नो यथा नवक्षणैः कल्पसूत्रं वाच्यते कैश्चिदधिकैरपि वाच्यते तदक्षराणि क सन्तीति प्रश्ने उत्तरं नवक्षणैः श्रीकल्पसूत्रं वाच्यते परंपरातः अन्तर्वाच्यं मध्ये नवक्षणविधानाक्षरसद्भावाच्च अधिकव्याख्यानैस्तद्वाचनं तु तथाविधसुविहितगच्छपरंपरानुसारि अक्षरानुसारि च नावसीयते इति । तथा यदा चतुर्दश्यां कल्पो वाच्यते अमावास्यादिवृद्धौ वा अमावास्यायां प्रतिपदि वा कल्पो वाच्यते तदा षष्ठतपः क विधेयमिति प्रश्ने उत्तरमाह । यदा चतुर्दश्यां कल्पो वाच्यते इत्याद्यत्र षष्ठतपोविधाने दिननैयत्यं नास्तीति यथारुचि तद्विधीयतामिति कोऽत्राग्रहः ही० । तदेवं समुपस्थिते पर्युषणापर्वणि मङ्गलनिमित्तं

पञ्चभिरेव दिनैः कल्पसूत्रं वाचनीयं तच्च यथा देवेषु इन्द्रः तारासु चन्द्रः, न्यायप्रवीणेषु रामः, सुरूपेषु कामः, रूपवतीषु रम्भा, वादित्रेषु भम्भा, गजेषु ऐरावणः, साहसिकेषु रावणः, बुद्धिमत्सु अभयः, तीर्थेषु शत्रुंजयः, गुणेषु विनयः, धानुष्केषु धनंजयः मन्त्रेषु नमस्कारस्तरुषु सहकारस्तथा सर्वशास्त्रे शिरोमणिभावं बिभर्ति। यतः "नार्हतः परमो देवो, न मुक्तेः परसंपदम्। न श्रीशत्रुंजयात्तीर्थं, श्रीकल्पान्न परं श्रुतम्"। १। तथायं कल्पः साक्षात्कल्पद्रुम एव। तस्य च अनानुपूर्व्या उक्तत्वात्। श्रीवीरचरित्रं बीजम्,। श्रीपार्श्वचरित्रमङ्कुरः, श्रीनेमिचरित्रं स्कन्धः, श्रीऋषभचरित्रं शाखासमूहः, स्थविरावली पुष्पाणि, सामाचारी ज्ञानं, सौरभ्यं फलं मोक्षप्राप्तिः। किं च वाचनासाहाय्यदानात्सर्वाक्षरश्रुतेरपि। विधिनाऽऽराधितः कल्पः, शिवदोऽन्तर्भवाष्टकम्" ।१। एगग्गचित्ता जिणसासणम्मि,, पभावणा पूअपरायणा जे। तिसत्तवारं निसुणंति कप्पं, भवण्णवं गोअम ! ते तरंति "। २। एवं च कल्पमहिमानमाकर्ण्य तपःपूजाप्रभावनादिधर्मकार्येषु कष्टधनव्ययसाध्येषु आलस्यं न विधेयं सकलसामग्रीसहितस्यैव तस्य वाञ्छितफलप्रापकत्वात्। यथा बीजमपि वृष्टिवायुप्रभृतिसामग्रीसद्भावे एव फलनिष्पत्तौ समर्थं नान्यथा एवमयं श्रीकल्पोऽपि देवगुरुपूजाप्रभावनासाधर्मिकभक्तिप्रमुखसामग्रीसद्भावे एव यथोक्तफलहेतुः। अन्यथा" इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स॥ संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा"। इति श्रुत्वा किंचित्प्रयाससाध्ये कल्पश्रवणेऽपि नालस्यं भवेत् कल्प०। कल्पसूत्रं केन वृत्तम्। अथ पुरुषविश्वासे वचनविश्वास इति श्रीकल्पसूत्रस्य प्रमाणता वक्तव्या। स च चतुर्दशपूर्वविद्युगप्रधानश्रीभद्रबाहुस्वामी दशाश्रुतस्कन्धस्य अष्टमाध्ययनतया प्रत्याख्यानप्रवादाभिधानात् नवमपूर्वात् उद्धृत्य कल्पसूत्रं रचितवान्। (कल्प०) तस्मादेतन्महापुरुषप्रणीतत्वान्न सामान्यं गम्भीरार्थं च। यतः "सव्वनईणं जा हुज्ज, वालुआ सव्वोदहीणजं उदयं। तत्तो अणंतगुणिओ, अत्थोइ कप्पस्स सुत्तस्स" ।१। "मुखे जिह्वासहस्रं स्यात्, हृदये केवलं यदि। तथापि कल्पमाहात्म्यं, वक्तुं शक्यं न मानवैः" ।२। अथ तस्य श्रीकल्पस्य वाचने श्रवणे च अधिकारिणो मुख्यवृत्त्या साधुसाध्व्यस्तत्रापि कालतो रात्रौ विहितकालग्रहणादिविधीनां साधूनां वाचनं श्रवणं च साध्वीनां निशीथचूर्ण्याद्युक्तविधिना दिवाऽपि तथा श्रीवीरनिर्वाणादशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षातिक्रमे मतान्तरेण च त्रिनवतियुतनवशत (९९३) वर्षातिक्रमे ध्रुवसेननृपस्य पुत्रमरणार्त्तस्य समाधिमाधातुमानन्दपुरे— सभासमक्षं समहोत्सवं श्रीकल्पसूत्रं वाचयितुमारब्धम्। ततः प्रभृति चतुर्विधोऽपि सङ्घः श्रवणोऽधिकारिवाचने तु विहितयोगानुष्ठानः साधुरेव। अथ अस्मिन् वार्षिकपर्वणि कल्पश्रवणवत्। इमान्यपि पञ्च कार्याणि अवश्यं कार्याणि तद्यथा चैत्यपरिपाटी। १ समस्तसाधुवन्दनं २ सांवत्सरिकप्रतिक्रमणं ३ मिथः साधर्मिकक्षमापणम् ४ अष्टमं तपश्च ५ एषामपि कल्पश्रवणवद्वाञ्छितदायकत्वमवश्यं कर्त्तव्यत्वं जिनानुज्ञातत्वं च ज्ञेयम्। तत्र अष्टमं तपः उपवासत्रयात्मकं महाफलकारणं रत्नत्रयप्रदायकं शल्यत्रयोन्मूलनं जन्मत्रयपावनं कायवाङ्मानसदोषशोषकं विश्वत्रयाऽव्ययपदप्रापकं निःश्रेयसपदाऽभिलाषुकैरवश्यं कर्त्तव्यं नागकेतुवत्। तथा हि चन्द्रकान्ता नगरी तत्र विजयसेनो नाम राजा श्रीकान्ताख्यश्च व्यवहारी। तस्य श्रीसखीभार्यां तया च बहुप्रार्थित एकः पुत्रः प्रसूतः। स च बालक आसन्ने पर्युषणापर्वणि कुटुम्बकृताष्टमवार्तामाकर्ण्य जातस्मृतिः स्तन्यपोऽपि अष्टमं कृतवान् ततस्तं स्तनपानमकुर्वाणं पर्युषितमालतीकुसुममिव म्लानमालोक्य मातापितरौ अनेकान् उपायांश्चक्रतुः। क्रमाच्च मूर्च्छां प्राप्तं बालं मृतं ज्ञात्वा स्वजना भूमौ निक्षिपन्ति स्म। ततश्च विजयसेनो राजा तं पुत्रं तद्दुःखेन तत्पितरं च मृतं विज्ञाय तद्धनग्रहणाय सुभटान्प्रेषयामास। इतश्च अष्टमतपःप्रभावात्प्रकम्पितासनो धरणेन्द्रः सकलं तत्स्वरूपं विज्ञाय भूमिस्थं बालकममृतच्छटया आश्वास्य विप्ररूपं कृत्वा धनं गृह्णतस्तान्निवारयामास। तत् श्रुत्वा राजाऽपि तत्रागत्योवाच। भो भूदेव ! परम्परागतमिदमस्माकमपुत्रधनग्रहणं कथं निवारयसि। धरणोऽवादीत्। राजन् ! जीवत्यस्य पुत्रः॥ कथं कुत्रास्तीति राजादिभिरुक्ते भूमिस्थं जीवन्तं बालकं साक्षात्कृत्य निधानमिव दर्शयामास। ततः सर्वैरपि सविनयैः स्वामिन् ! कस्त्वं कोऽयमिति पृष्टे सोऽवदत्। अहं धरणेन्द्रो नागराजः कृताष्टमतपसोऽस्य महात्मनः साहाय्यार्थमागतोऽस्मि। राजादिभिरुक्तं स्वामिन् ! जातमात्रेण अनेन अष्टमतपः कथं कृतम्। धरणेन्द्र उवाच राजन् ! अयं हि पूर्वभवे कश्चिद्वणिक्पुत्रो बाल्येऽपि मृतमातृक आसीत्। स च अपरमात्रा अत्यन्तपीड्यमानो मित्राय स्वं दुःखं कथयामास सोऽपि त्वया पूर्वजन्मनि तपो न कृतं तेनैवं पराभवं लभसे। इत्युपदिष्टवान्। ततोऽसौ यथाशक्ति तपोनिरत आगामिन्यां पर्युषणामवश्यमष्टमं करिष्यामीति मनसि निश्चित्य तृणकुटीरे सुष्वाप। तदा च लब्धावसरया विमात्रा आसन्नप्रदीपनकादग्निकणस्तत्र निक्षिप्तस्तेन च कुटीरके ज्वलिते सोऽपि मृतः। अष्टमध्यानाच्च अयं श्रीकान्तमहेभ्यनन्दनो जातस्ततोऽनेन पूर्वभवचिन्तितमष्टमतपः। सांप्रतं कृतं तदसौ महापुरुषो लघुकर्म्मा अस्मिन् भवे मुक्तिगामी। यत्पालनीयो भवतामपि महते उपकाराय भविष्यतीति उक्त्वा नागराजः स्वहारं तत्कण्ठे निक्षिप्य स्वस्थानं जगाम। ततः स्वजनैः श्रीकान्तस्य मृतकार्यं विधाय तस्य नागकेतुरिति नाम दत्तम्। क्रमाच्च स बाल्यादपि जितेन्द्रियः परमश्रावको बभूव। एकदा च विजयसेनराजेन कश्चित् अचौरोऽपि चौरकलङ्केन हतो व्यन्तरो जातः स समग्रनगरविघाताय शिलां रचितवान्। राजानं पादप्रहारेण रुधिरं वमन्तं सिंहासनाद्भूमौ पातयामास। तदा च नागकेतुः कथमिमं सङ्घप्रासादविध्वंसं जीवन् पश्यामीति बुद्ध्या प्रासादशिखरेआरुह्य शिलां पाणिना दध्रे ततः स व्यन्तरोऽपि तत्तपःशक्तिमसहमानः शिलां संहृत्य नागकेतुं नतवान् तद्वचनेन नृपालमपि निरुपद्रवं कृतवान्। अन्यदा च स नागकेतुर्जिनेन्द्रपूजां कुर्वन् पुष्पमध्यस्थितसर्पेण दष्टोऽपि तथैवाव्यग्रो भावनारूढः केवलज्ञानमासादितवान्। ततः आसन्नदेवतार्पितमुनिवेषश्चिरं विहरति स्म। एवं नागकेतुकथां श्रुत्वा अन्यैरपि अष्टमतपसि यतनीयम्। इति श्रीनागकेतुकथा। अथ श्रीकल्पसूत्रे त्रीणि वाच्यानि यथा

पुरिमचरिमाण कप्पो, मंगलं वद्धमाणतित्थम्मि।
इह परिकहिया जिण-गणहराइथेरावलीचरित्तं ॥ २ ॥

(पुरिमचरिमाणंति) ये श्रीऋषभवीरजिनयोः (कप्पत्ति)। अयं कल्पः आचारः यद्वृष्टिर्भवतु मा वा परमवश्यं पर्युषणा कर्त्तव्या। उपलक्षणत्वात् कल्पसूत्रं वाचनीयं च (मंगलमित्ति) एकः अयमाचारः अपरं च मङ्गलं मङ्गलकारणं भवति। वर्द्धमानतीर्थे कस्मादेवमित्याह। यस्मादिह परिकथितानि (जिणत्ति)

जिनानां चरितानि १ (गणहराइथेरावलिति) गणधरादिस्थविरावली २ (चरित्तत्ति) सामाचारी ३ कल्प० ।

समणस्स भगवओ महावीरस्स जाव सव्वदुक्खप्पहीणस्स नव वाससयाइं वइक्कंताइं दसमस्स य वाससयस्स अयं असीइमे संवच्छरे काले गच्छइ वायणंतरे पुण अयं तेणउए संवच्छरे काले गच्छइ इति दीसइ ।

"समणस्सणं इत्यादितो दीसइ" इति पर्यन्तं यत्र भगवतो निर्वृतस्य नववर्षशतानि व्यतिक्रान्तानि दशमस्य वर्षस्य शतस्यायं अशीतितमः संवत्सरः कालो गच्छति । यद्यपि एतस्य सूत्रस्य व्यक्तो भावार्थो न ज्ञायते। तथापि यथा पूर्वटीकाकारैर्व्याख्यातं तथा व्याख्यायते। तथा हि अत्र केचिद्वदन्ति । यत्कल्पसूत्रस्य पुस्तकलिखनकालज्ञापनाय इदं सूत्रं श्रीदेवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणैः लिखितम्।तथा चायमर्थः। यथा श्रीवीरनिर्वाणादशीत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे पुस्तकारूढः सिद्धान्तो जातः । तदा कल्पोऽपि पुस्तकारूढो जातः। इति तथोक्तं "वलहीपुरम्मि नयरे' देवड्ढिपमुहसयलसंघेहिं। पुत्थे आगमलिहिओ, नवसयअसीइमो वीराओ " ॥ १ ॥ अन्ये वदन्ति । "नवशताशीतितमे, वर्षे वीरनाङ्गजार्थमानन्दे । सङ्घसमक्षं समहं, प्रारब्धं वाचितुं विज्ञैः" ॥ १ ॥ इत्याद्यन्तर्वाच्यवचनात् श्रीवीरनिर्वाणादशीत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे कल्पस्य सभासमक्षं वाचना जाता तां ज्ञापयितुमिदं सूत्रं न्यस्तमिति । तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्तीति (वायणंतरे पुणेत्यादि) वाचनान्तरे पुनरयं त्रिनवतितमः संवत्सरः कालो गच्छतीति दृश्यते । अत्र केचिद्वदन्ति । वाचनान्तरे कोऽर्थः प्रत्यन्तरे " तेणउए " इति दृश्यते। यत्कल्पस्य पुस्तके लिखनं पर्षदि वाचनं वा अशीत्यधिकनववर्षशतातिक्रमे इति कचित्पुस्तके लिखितं तत्पुस्तकान्तरे त्रिनवत्यधिकनवशतवर्षातिक्रमे इति दृश्यते इति भावः । अन्ये पुनर्वदन्ति । अयमशीतितमे संवत्सरे इति कोऽर्थः पुस्तके कल्पलिखनस्य हेतुभूतः अयं श्रीवीरात् दशमशतस्य अशीतितमसंवत्सरलक्षणः कालो गच्छति । "वायणंतरे इति" कोऽर्थः । एकस्याः पुस्तकलिखनरूपाया वाचनाया अन्यत्पर्षदि वाचनरूपं यद्वाचनान्तरं तस्य पुनर्हेतुभूतो दशमस्य शतस्यायं त्रिनवतितमः संवत्सरः । तथा चायमर्थः । नवशताशीतितमवर्षे कल्पसूत्रस्य पुस्तके लिखनं नवशतत्रिनवतितमवर्षे च कल्पस्य पर्षद्वाचनेति । तथोक्तम् । श्रीमुनिसुन्दरसूरिभिः स्वकृतस्तोत्ररत्नकोशे " वीरात्त्रिनन्दाङ्क-९९३ शरद्यचीकर-त्त्वच्चैत्यपूते ध्रुवसेनभूपतिः। यस्मिन्महैः संसदि कल्पवाचनामाद्यां तदानन्दपुरं न कः स्तुते"। १ । पुस्तकलिखनकालस्तु। यथोक्तः प्रतीत एव " वलहीपुरम्मि नयरे " इत्यादिवचनात् । तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्तीति षष्ठः क्षणः कल्प० ६ क्ष० । अथ श्रीहीरविजयं प्रति विष्णुऋषिगणिकृतप्रश्नो यथा राजगृहे नगरे गुणशिलाख्ये चैत्ये श्रीमहावीरेण श्रीकल्पसूत्रं प्रकाशितमिति कल्पाध्ययने उक्तमस्ति । कल्पसूत्रवृत्त्यादौ तु श्रीभद्रबाहुस्वामिभिः प्रणीतमिति कथं संगच्छते इति तत्रोत्तरमाह । अत्र श्रीमहावीरेण कल्पसूत्रमर्थतः प्रकाशितं सगणधरैः सूत्रतो निबद्धं तदनु श्रीभद्रबाहुस्वामिभिर्नवमपूर्वाद्दशाश्रुतस्कन्धमुद्धरद्भिस्तदष्टमाध्ययनरूपत्वेन श्रीकल्पसूत्रमपि उद्धृतमिति न किंचिदनुपपन्नमिति (ही०) इदं च योगं विनाऽपि वाच्यते हीरविजयसूरिं प्रति प्रतिभगमाल्लिगणिकृतप्रश्नः । कथंचित्कारणे योगोद्वहनं विना कल्पसूत्रवाचनस्यानुज्ञानं च? इत्यत्र कारणे तद्वाचनं कैश्चित्क्रियमाणमस्ति अक्षराणि तु नोपलभ्यन्ते ही०। शेषकाले साधवः श्राद्धश्राद्धीजनेषु शृण्वत्सु श्रीकल्पसूत्रं पठन्ति पाठयन्ति किं वा एकान्ते एवेति प्रश्ने । साधवः स्वेच्छया कल्पसूत्रं पठन्तः पाठयन्तश्च सन्ति।अत्रान्तरे कश्चित् श्राद्धादिर्वन्दनार्थं समागतस्तदा शनैः पठनपाठनाक्षराणि न ज्ञातानि सन्ति परं श्राद्धादिकमुद्दिश्य पठनं च पर्युषणापर्व्व विना न शुद्ध्यतीति । श्येन०४उल्ला०६१ प्र० ।

कप्पसुबोहिया—कल्पसुबोधिका—स्त्री० पर्युषणाकल्पस्य श्रीविनयगणिविरचितटीकायाम् तदारम्भे,। सकलपण्डितपर्षत्परं—परापुरुहूतपण्डितश्री ५ श्रीसौभाग्यविजय (ग) गुरुभ्यो नमः

" प्रणम्य परमश्रेय—स्करं श्रीजगदीश्वरम् ।
कल्पे सुबोधिकां कुर्व्वे, वृत्तिं बालोपकारिणीम् ॥ १ ॥
यद्यपि बहुयष्टीकाः, कल्पे सन्त्येव निपुणगणगम्याः ।
तदपि ममायं यत्नः, फलेग्रहिः स्वल्पमतिबोधात् ॥ २ ॥
यद्यपि भानुद्युतयः, सर्वेषां वस्तुबोधिका बहुधः ।
तदपि महीभृद्गानां, प्रदीपिकैवोपकुरुते झाक् ॥ ३ ॥
नास्यामर्थविशेषा, न युक्तयो नापि पद्यपाण्डित्यम् ।
केवलमर्थव्याख्या, वितन्यते बालबोधाय ॥ ४ ॥
हास्यो नास्यां सद्भिः, कुर्वन्नेतामतीक्ष्णबुद्धिरपि ।
यदुपदिशन्ति त एव हि, शुभे यथाशक्ति यतनीयम् ॥ ५ ॥
कल्प० १ क्ष० ।

अथ प्रशस्तिः ॥

आसीद्वीरजिनेन्द्रचन्द्रपदवी कल्पद्रुमः कामदः,
सौरभ्योपहृतप्रबुद्धमधुपः श्रीहीरसूरीश्वरः ।
शाखोत्कर्षमनोरमः स्फुरदुरुच्छायः फलप्रापक- ,
श्चञ्चन्मूलगुणः, सदातिसुमनाः श्रीमन्मरुत्पूजितः ॥ १ ॥
यो जीवाभयदानडिण्डिममिषात् स्वीयं यशोभिण्डिमं,
षण्मासान्प्रतिवर्षमुग्रमखिले भूमण्डलेऽवीवदत् ।
भेजे धार्मिकतामधर्मरसिको म्लेच्छाग्रिमोऽकब्बरः,
श्रुत्वा यद्वदनाद्नाविलमतिर्धर्मोपदेशं शुभम् ॥ २ ॥
तत्पट्टोन्नतपूर्वपर्वतशिरःस्फूर्तिक्रियां हर्मणि,
सूरिः श्रीविजयादिसेनसुगुरुर्भव्येष्टचिन्तामणिः ॥
शुभ्रैर्यस्य गुणैर्गुणैरिव घनैरावेष्टितः शोभते,
भूगोलः किल यस्य कीर्तिसुदृशः क्रीडाकृते कन्दुकः ॥३॥
येनाकब्बरपर्षदि प्रतिभट्टान्निर्जित्य वाग्वैभवैः,
शौर्याश्चर्यकृतावृतापरिवृता लक्ष्म्या जयश्रीकनी ।
चित्रं मित्र ! किमत्र मित्रमहसस्तेनास्य वृद्धा सती,
कीर्तिः प्रत्यपमानशङ्कितमना याता दिगन्तानितः ॥ ४ ॥
विजयतिलकसूरिर्भूरिसूरिप्रशस्यः,
समजनि मुनिनेता तस्य पट्टेच्छचेताः,
हरहासितहिमानी हंसहारोज्ज्वलश्री-
स्त्रिजगति वरिवर्तिस्फूर्त्तियुग्यस्य कीर्तिः ॥ ५ ॥
तत्पट्टे जयति क्षितीश्वरततिस्तुत्याङ्घ्रिपङ्केरुहः,
सूरिर्दूरितदुःखवृन्दविजयानन्दः क्षमाभृद्विभुः ।
यो गौरैर्गुरुभिर्गुणैर्गणिवरं श्रीगौतमं स्पर्द्धते,
लब्धीनामुदधिर्दधीयितयशाः शास्त्राब्धिपारङ्गतः ॥ ६ ॥
यच्चारित्रमखिन्नकिन्नरगणैर्जेगीयमानं जग-
ज्जाग्रज्जन्मजराविपत्तिहरणं श्रुत्वा जयन्तीपितुः ।
वाञ्छापूर्तिमियर्त्तियुग्ममथ तल्लेभे सहस्रं स्पृहा,
वैयग्र्यं गुणरागिणोऽभिमगुणग्रामाभिरामात्मनः ॥७॥

किञ्च । श्रीहीरसूरिसुगुरोः प्रवरौ विनेयौ,
जातौ शुभौ सुरगुरोरिव पुष्पदन्तौ ।
श्रीसोमसोमविजयाभिधवाचकेन्द्रः,
सत्कीर्त्तिकीर्तिविजयाभिधवाचकश्च ॥ ८ ॥
सौभाग्यं यस्य भाग्यं कलयितुममलं कः क्षमः सक्षमस्य,
नो चित्रं यच्चरित्रं जगति जनमनः कस्य चित्रीयते स्म ।
चक्राणां मूर्खमुख्यानपि विबुधमणीन् हस्तसिद्धियंदीया,
चिन्तारत्नेन भेदं शिथिलयति सदा यस्य पादप्रसादः ॥९॥
आबाल्यादपि यः प्रसिद्धमहिमा वैरङ्गिकग्रामणीः,
पृष्टः शाब्दिकपङ्क्तिषु प्रतिभटैर्जय्यो न यस्तार्किकैः ॥
सिद्धान्तोदधिमन्दरः कलिकलाकौशल्यकीर्त्युद्भटः ।
शश्वत्सर्वपरोपकाररसिकः, संवेगवारांनिधिः ॥ १० ॥
विचाररत्नाकरनामधेयः, प्रश्नोत्तराद्युतशास्त्रवेधाः ।
अनेकशास्त्रार्णवशोधकश्च, यः सर्वदैवाभयदप्रमत्तः ॥ ११ ॥
तस्य स्फुरदुरुकीर्ति-र्वाचकवरकीर्तिविजयपूज्यस्य ।
विनयविजयो विनेयः, सुबोधिकां व्यरचयत्कल्पे ॥१२॥
(चतुर्भिः कलापकम्) समशोधयंस्तथैनां,
पण्डितसंविग्नसहृदयावतंसाः ।
श्रीविमलहर्षवाचक-वंशे मुक्तामणिसमानाः ॥१३॥
धिषणानिर्जितधिषणाः, सर्वत्र प्रभूतकीर्तिकर्पूराः ।
श्रीभावविजयवाचक-कोटीरः शास्त्रवसुनिकषाः ॥ १४ ॥
(युग्मम्) रसशशिरसानिधिवर्षे, ज्येष्ठे मासे समुज्ज्वले पक्षे ।
गुरुपुष्ये यत्नोऽयं, सफलो जज्ञे द्वितीयायाम् । १५ ।
श्रीरामविजयपणिकृत-शिष्यश्रीविजयविबुधमुख्यानाम् ।
अभ्यर्थनाऽपि हेतु-र्विज्ञेयाऽस्याः कृतौ विवृत्तेः ॥ १६ ॥
यावत्काश्री मृगाक्षी धरणिधरजरश्रीफलैः पूर्णगर्ने,
बिभ्रत्यूकौघदर्जे निषधगिरिमहाकुङ्कुमामत्र चित्रम् ।
जम्बूद्वीपाभिधानं हिमगिरिरजतं मङ्गलस्थालमेत-
द्धत्ते तावत्सुबोधा विबुधपरिचिता नन्दतात्कल्पवृत्तिः ॥ कल्प०

कप्पसुय-कल्पश्रुत-न० कल्पनं कल्पः स्थविरादिकल्पः तत्प्रतिपादकं श्रुतं कल्पश्रुतम् । उत्कालिकश्रुतभेदे, तत्पुनर्द्विभेदं तद्यथा "चुल्लकप्पसुयं महाकप्पसुयं" । एकमल्पग्रन्थमल्पार्थं च द्वितीयं महाग्रन्थं महार्थं च नं० ।

कप्पाकप्प-क (ल्प्या) कल्पा (ल्प्य) ल्प-न० कल्पो विधिराचार इत्यर्थः। अकल्पश्चाविधिः। अथवा कल्पो जिनकल्पस्थविरकल्पादिरकल्पस्तु चरकादिदीक्षा। अथवा कल्प्यं ग्राह्यमकल्प्यमितरत् । ततः समाहारद्वन्द्वात्कल्पाकल्पं कल्प्याकल्प्यं कल्पनीयाऽकल्पनीयधर्मे, 'जंभवे भत्तपाणं तु, कप्पाकप्पम्मि संकियं' कल्प्याकल्प्ययोः कल्पनीयाकल्पनीयधर्मविषय इत्यर्थः दश० ५ अ०। कल्पाकल्पप्रतिपादकमध्ययनं कल्पाकल्पम् । उत्कालिकश्रुतविशेषे, नं०। पूगफलानां खण्डानि चूर्णानि वा यतीनां कसेल्लकादिवद्विहर्तुं कल्पते न वेति प्रश्नः। अत्रोत्तरम् पूगफलखण्डानि चूर्णानि च केवलानि विहर्तुं न कल्पन्ते इति गच्छप्रवृत्तिः २ श्येन० २ उल्ला० २ प्र० ।

कप्पाकप्पविहिण्णु-कल्पाकल्पविधिज्ञ-त्रि०कल्पो नीतिर्मर्यादा विधिः सामाचारीत्यर्थः कल्पस्याकल्पस्य च विधिज्ञः। कल्पनीयाऽकल्पनीयज्ञायके "जे थेरा भगवंतो कप्पाकप्पविहिण्णू"पं०चू०।

कप्पाग-कल्पाक-पुं० सूत्रतोऽर्थतश्च प्राप्ते भिक्षौ, व्य० ४ उ० । विधिज्ञे, "कप्पाथ छेया परिपरद्दयासिरयाओ" कल्पाकेन शिरोजबन्धनकल्पज्ञेन औ० ।

कप्पातीत-कल्पातीत-पुं० कल्पमतीताः अतिक्रान्ताः कल्पातीताः । अधस्तनाधस्तनग्रैवेयकादिनिवासिषु, अहमिन्द्रेषु वैमानिकदेवेषु, प्रज्ञा० १ पद । ग० । जिनकल्पस्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र, ग० २५ श० ६ उ० ।

कप्पावंत-कल्पयत्-त्रि० छेदयति "वच्छारोमाइं कप्पावेज्ज वा संठावेज्ज वा कप्पावंतं" वा । नि० चू० १७ उ० ।

कप्पास-कार्पास-पुं० नं० । कृप्-छेदने आस् । कार्पासिकवस्त्रहेतुसूत्रयोनौ वृक्षभेदे, अमरः। वाच० । कर्पासफलावयववत् कल्पनीये रोमादौ, "उसुकप्पासम्मि उसुसिप्पला बाभणगमुराभणंति तस्स रोमा कप्पणिज्जा कप्पासो अहवा उण्णाए व कप्पासो पोरुवणी तस्स फलं तस्स पम्हा कप्पणिज्जा कप्पासो भण्णति " नि० चू० ३ उ०।

कर्पास-त्रि० कर्पास्या अवयवः बिल्वा० अण् कर्पासीविकारे सूत्रादौ, वाच० ॥

कप्पासत्थि-कार्पासास्थि-पुं० त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी०१ प्रति०।

कप्पासिय-कार्पासिक-त्रि० कर्पासेन निर्वृत्तः ठक् कर्पाससूत्रनिष्पन्ने पटादौ, वाच० । कर्पाससूत्रे च न० । अनु० ।

कप्पासी-कार्पासी-स्त्री० कर्पास-गौरा० ङीष्-कर्पासकवृक्षे, वाच० । गुच्छावृन्ताकोशल्लकीकर्पास्यादयः इति तस्या गुच्छभेदत्वम् । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

कप्पिय-कल्पित-त्रि० कृप् णिच्-क्त-व्यवस्थिते, सूत्र०१ श्रु० २ अ० । आचा० । बुद्ध्या व्यवस्थापिते, विपा०१ श्रु० १ अ० । यथास्थानं विन्यस्ते, जं० ३ वक्ष० । कल्प० । " कप्पियहारद्धहारतिसरयं" कल्पितो विन्यस्तो हारोऽष्टादशसरिकोऽर्द्धहारो नवसरिकस्त्रिसरिकं प्रतीतमेव यस्य स तथा तं०। ज्ञा० । रचिते, औ० । स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पनिर्मिते, दश० १ अ० । सर्जिते, "देवमइविकप्पियं" देवमत्या स्वर्गिचातुर्येण विविधमनेकप्रकारेण कल्पितं सर्जितम् जं० ३ वक्ष० । आरोहणार्थं सज्जित गजे, वाच०। छिन्ने, "अंतो पीलणफुरंतकप्पिया" प्रश्न० अध०१ अ०॥

कल्पिक-पुं० योग्ये, व्य० ८ उ० ॥

दुविहो य कप्पिओ खलु, दव्वे भावे य णायव्वो ।
आगम णो आगमओ, दव्वम्मि य कप्पिओ भवे दुविहो।
आगमतो अणुवउत्तो, णो आगमतो इमो होइ ।
जाणगसरीरभविए, तव्वतिरित्ते य होति नायव्वो ॥
जाणगमयगसरीरं, भविओ पुण सिक्खिही जो तु ।
वतिरित्तो एगविधा, तं अभिमुहो य बोधव्वो ।
भावो वि होत्ति दुविहो, आगमे णो आगमे चेव ॥
आगमओ उवउत्तो, णो आगमो य पिंडमाईणं ।
गहणम्मि कप्पिओ खलु, पव्वावेतुं च सेहाणं ॥
जं जं जोग्गजतीणं, आहारादी तहेव सेहाए ॥ पं०भा० ।
" कप्पिओ जाणगसरीरभवियसरीरवैइरित्तो दुवालसविहो वत्तेयव्वो " पं० चू० ॥

संप्रति कल्पिकद्वारमाह ।

सुत्ते अत्थे तदुभय-उव्वट्टविचारलेवपिंडे य ।

सिज्जा वत्थे पाए, ओग्गहणविहारकप्पे य ॥

कल्पिको द्वादशविधस्तद्यथा सूत्रे १ अर्थे २ तदुभयस्मिन् सूत्रार्थोभयलक्षणे ३ उपस्थापनायां ४ विचारे ५ पात्रलेपे ६ पिण्डेषु ७ तथा शय्यायां ८ वस्त्रे ९ पात्रे १० अवग्रहणे ११ विहारकल्पे च १२ एष प्रतिद्वारगाथासमासार्थः (सूत्रकल्पिकादीनां व्याख्याऽन्यत्र सुत्तकप्पियाइ शब्दे) नवरमिह । जहा "सुत्ते अत्थे तदुभय-उवट्ठवियारलेवपिंमे य । सेज्जा वत्थे पाए-ओग्गहणविहारकप्पे य । एव ओहनिप्फन्ने निक्खेवे पुव्वं भणिया इह तु । उद्दीरणमेत्तं तत्त सुत्तकप्पिओ आवासगमाइ जाव सूयकडो जहा ववहारस्स दसमुद्देसे अरुणोववाय गरुलोववाय जाव सुत्ताणुगामी परियागं नाऊणं परिणामं च तहा तहा दिज्जइ सुत्तं अत्थं वि आवासगमाइ जाव सूयकडो दसमाइपरिणामगाण दिज्जइ अत्थो उभयकप्पिओ सुत्तत्थ तदुभजोग्गो उवट्ठावरणकप्पो अप्पत्ते अंकवेत्ता गाहा जइ आवासइमाइ जाव छज्जीवणीया तत्सुत्ते । अपभिए उवट्ठावेइ चउगुरू दोहिं वि गुरू तवेण कालेण तवगुरू अंतो अट्ठमदसमदुवालसमकालगुरू गिण्हकाले अह सुत्ते पढिए अत्थे कहिए उवट्ठावेइ चउगुरू कालगुरुं कालअहु सीतकाले वासासु वा अह पढिएसुत्ते य अपरित्थिओ तामनसद्दहइ पुढविमाईणि चउगुरू तवलहु तवचउगुरू तवलहुगं च भन्नइ अणुग्घाइयं पमुह गुरुयं अणुग्घाइयं नाम छट्ठे चउत्थे आयंबिले च कए पारणए पुरिमड्ढनिव्वीइग एगासणाइ करेइ तेण गुरुयं भवइ । अह पढियसुयअभिगयअपरिच्छिऊण उवट्ठावेइ किं परिहरइ न परिहरइ छद्दओल्लादिचउगुरू दोहिं पि लहुतवकालेण अणुग्घाइयं पुण एवं बारसविहं विकप्पिए जहा वेढियाए भणियं "।

अथ कल्पिकद्वारमुपसंहरन्नाह ।

एणं दुवालसविहं, जिणोवइट्ठं जहोवएसेणं ।
जो जाणिऊण कप्पं, सद्दहणायरयणयं कुणइ ॥
सो भवियसुलभबोही, परित्तसंसारिओ पयणुकम्मो ।
अचिरेण उ कालेणं, गच्छइ सिद्धिं धुयकिलेसो ॥

एनमनन्तरोदितं द्वादशविधं सूत्रार्थादिभिर्द्वादशप्रकारं कल्पं साधुः समाचारं जिनोपदिष्टं सर्वज्ञैरुक्तमित्यनेन स्वमनीषिकाव्युदासमाह । यथोपदेशत उपदेशवैपरीत्येन ज्ञात्वा अवबुध्य । श्रद्धानं य एष कल्पः प्ररूपितः स निःशङ्कमेवमेव नान्यथा जिनोपदिष्टत्वादिति । लक्षणमाचरणं च यथाऽवसरं द्वादशविधस्यापि कल्पस्यानुपालनं यः करोति स सिद्धिं गच्छतीति संटङ्कः । कथंभूत इत्याह । भव्यसिद्धिगमनयोग्यो न खलु अभव्यस्यैवंविधकल्पविषयाणि सम्यग्ज्ञानश्रद्धानाचरणानि समुपजायन्ते । भव्योऽपि कदाचिद्दुर्लभबोधिकः स्यादित्याह । सुलभा सुप्रापा बोधिरर्हद्धर्मप्राप्तिर्यस्यासौ सुलभबोधिकः । असावपि दीर्घसंसारीत्याह । परीतः परिमितः संसारो यस्यासौ परीतसांसारिकः । अयमपि गुरुकर्मा भवेदित्याह । प्रकर्षेण तनु प्रकृतिस्थितिप्रदेशानुभावैरल्पीयः कर्म यस्यासौ प्रतनुकर्मा । एवं विधोऽसावचिरेणैव कालेन जघन्यतस्तेनैव भवग्रहणेनोत्कर्षतः सप्ताष्टभवग्रहणैः सिद्धिं मोक्षं गच्छति । धुतक्लेशः सन् क्लिश्यन्ते बाध्यन्ते शारीरमानसैर्दुःखैः संसारिणः सत्वा एभिरिति क्लेशाः कर्माणि । धुता अपनीताः क्लेशा येनासौ धुतक्लेशः क्षीणाष्टकर्मेति भावः । तदेवं व्याख्यातं कल्पिकद्वारम् बृ० । (१११ पत्र) १ उ० ।

कप्पियउदाहरण-काल्पितोदाहरण-न० काल्पनिकोदाहरणे, यथा अयोग्यशिष्यविषये मुद्गशैलघनदृष्टान्त उक्तः स च काल्पनिको मुद्गशैलघनयोः वक्ष्यमाणप्रकारोऽहङ्कारादिर्न संभवति तयोरचेतनत्वात् केवलं शिष्यमतिवितरणाय तौ कल्पयित्वा दृष्टान्तेनोपात्तौ । नं० ।

कप्पिया-कल्पिकी (का)-स्त्री० सकारणे ज्ञानदर्शनादीन्यधिकृत्य संयमादियोगेष्वसंस्तरत्सु प्रतिसेवने, नि० चू० १ उ० । (अस्या मूलगुणोत्तरगुणविषयत्वं पमिसेवणाशब्दे स्पष्टीभविष्यति) ।

कल्पिका- व० व० । सौधर्मादिकल्पगतवक्तव्यतागोचरासु ग्रन्थपद्धतिषु, पा० । ताश्च निरयावलिकाश्रुतस्कन्धगतः प्रथमो वर्गः । अन्तकृद्दशाङ्गस्योपाङ्गम् जं० १ वक्ष० । निरयावलिकेति चास्या नामान्तरम् ।

पढमस्स णं भंते ! वग्गस्स उवंगाणं निरयावलियाणं समणेणं भगवया जाव संपत्तेण कइ अज्झयणा पन्नत्ता ? एवं खलु जंबूसमणेणं उवंगाणं पढमस्स वग्गस्स निरयावलियाणं दस अज्झयणा पन्नत्ता तं जहा काले १ सुकाले २ महाकाले ३ कण्हे ४ सुकण्हे ५ तहा महाकण्हे ६ वीरकण्हे ७ बोधव्वे रामकण्हे ८ तहेव य पिउसेणकण्हे ९ नवमे दसमे महासेणकण्हेउ १० ॥

प्रथमवर्गो दशाध्ययनात्मकः प्रज्ञप्तः अध्ययनदशकमेवाह । काले सुकाले इत्यादीनां मातृनामभिस्तदपत्यानां पुत्राणां नामानि यथा काल्या अयमिति कालः कुमारः एवं सुकाल्याः कृष्णायाः महाकृष्णाया वीरकृष्णायाः रामकृष्णायाः महासेनकृष्णाया अयमित्येवं पुत्रनाम वाच्यं इह काल्या अपत्यमित्याद्यर्थः प्रत्ययेनोत्पाद्य काल्यादिशब्देष्वपत्यार्थे यत् प्राप्याकालस्तु कालादिनाम्ना सिद्धैरेव वाच्यः । कालः १ तदनु सुकालः २ महाकालः ३ कृष्णः ४ सुकृष्णः ५ महाकृष्णः ६ वीरकृष्णः ७ रामकृष्णः ८ पितृसेनकृष्णः ९ महासेनकृष्णः १० दशम इत्येवं दशाध्ययना निरयावलिकानामके प्रथमवर्गे, इति नि० ।

कप्पियाकप्पिय-क (ल्पा) ल्प्याक (ल्प) ल्प्य-न० कल्पाकल्पप्रतिपादके उत्कालिकश्रुतविशेषे, पा० । नं० ।

कप्पुत्त-कल्पोक्त-न० कल्पाख्यस्य छेदग्रन्थस्य संवादकवचने, " कप्पुत्तमेवमाई अविपमिमासु विनिद्दोयाणं " जी० १ प्रति० ।

कप्पुर-कप्पुर-पुं० स्वनामख्याते म्लेच्छराजे, येन त्रयोदशशतेषु अष्टचत्वारिंशदधिकेषु विक्रमवर्षेषु गतेषु हिन्दुदेशे उपद्रवः कृतः ती० १७ क० ।

कप्पूर-कर्पूर-पुं० न० कृप् ऊर-लत्वाभावः । घनसारे, ध० २ अधि० । गन्धद्रव्यविशेषे, ज्ञा० १७ अ० । आचा० ।

कप्पूरपूया-कर्पूरपूजा-स्त्री० कर्पूरेणार्तिक्यकरणे, "धूपोत्क्षेपणतः पक्षो-पवासस्य लभेत्फलम । कर्पूरपूजया चात्र, मासक्षपणजं फलम " ती० १ क० । (चेइय शब्दे पूया शब्दे चोदाहरणादि वक्ष्यामि) ।

कप्पेऊण-कल्पयित्वा-अव्य० विशोध्येत्यर्थे, " कप्पेऊणं पाएप्पक्किकस्स " पं० व० ।

कप्पेमाण–कल्पयत्–त्रि० कुर्वाणे, औ० । ज्ञा० । सूत्र० । " अह क्कमेण नेव वित्तिं कप्पेमाणे" वृत्तिं जीविकां कल्पयमानः कुर्वाणस्तच्छील इत्यर्थः विपा० १ श्रु० ३ अ० । दशा० ।

कप्पोचिय–कल्पोचित–पुं० संहननश्रुतादिसंपदुपेतत्वेन प्रतिमाकल्पप्रतियोग्ये, पंचा० १७ विव० ॥

कप्पोवग–कल्पोपग–पुं० कल्प आचारःस चेहेन्द्रसामानिकत्रयस्त्रिंशादिव्यवहाररूपस्तमुपगताः । सौधर्मेशानादिदेवलोकनिवासिषु वैमानिकदेवेषु, कल्पोत्पन्नान् दर्शयति ।

से किं तं वेमाणिया वेमाणिया दुविहा पण्णत्ता तं जहा कप्पोवगगा कप्पाईया य से किं तं कप्पोवगगा कप्पोवगगा बारसविहा पण्णत्ता तं जहा सोहम्मा ईसाणा सणंकुमारा माहिंदा बंभलोया लंतया महासुक्का सहस्सारा आणया पाणया आरणा अच्चुया ते समासओ दुविहा पण्णत्ता तं जहा पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य से तं कप्पोवगगा ॥

(सोहम्मा ईसाणा इत्यादि) सौधर्मदेवलोकनिवासिनः सौधर्माः ईशानदेवलोकवासिनः ईशानाः एवं सर्वेऽपि भावनीयम् । तत्र तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेशो यथा पञ्चालदेशनिवासिनः पञ्चाला इति प्रज्ञा० १ पद (७७ पत्र०) ॥

कप्पोववण्णग–कल्पोपपन्नक–पुं० कल्पेषु सौधर्मादिषु उपपन्नाः कल्पोपपन्नाः चं० प्र० १६ पाहु० । सौधर्मादिदेवलोकोत्पन्नेषु वैमानिकदेवेषु, जं० ७ वक्ष० । स्था० ।

कप्फल–कट्फल–पुं० कटति आवृणोत्यन्यरसं कट् क्विप्-कट् फलमस्य कगटमतद्पशषस ः क ः पामूर्ध्वे लुक् ८ । २ । ७७ इति टलुक् प्रा० । कटुरसतया अन्यरसावरकफलके कायफल इति ख्याते श्रीपर्णीवृक्षे, अमरः ।

कफ–कफ–पुं० केन जलेन फलति फल–म । शरीरस्थे धातुभेदे, वाच० । "कफो गुरुर्हिमः स्निग्धः प्रक्लेदी स्थिरपिच्छिलः" । तस्य कार्यश्च " श्वेतत्वशीतत्वगुरुत्वकण्डु–स्नेहोपदेहस्तिमितत्वलेपाः । उत्सेधसंपातचिरक्रियश्च, कफस्य कर्माणि वदन्ति तज्ज्ञाः " । १ । स्था० ४ ठा० ॥

कबंध–कबन्ध–पुं " मनुष्याणां सहस्रेषु, हतेषु हतमूर्द्धसु । तदावेशात्कबन्धस्या–देकोऽमूर्ध्वा क्रियान्वित " इत्युक्तलक्षणे शिरोरहिते क्रियासहिते देहे, अस्त्री० अमरः । तद्देहस्य शिरःशून्यत्वेऽपि धायोः सम्यगुनिस्सरणाभावेन वायुना संबन्धसत्वात् क्रियासंभव इति बोध्यम् प्रश्न० अध० ३ अ० । मेघे, जले, राक्षसभेदे, वाच० ।

कभल्ल–कभल्ल–न० कपाले, घटादिकर्परे, अणु० अन्त० । "कभल्लसंठाणसंठिए " उपा० २ अ० ॥

कम–क्रम–पुं० क्रम भावकरणादौ यथायथं घञ् मान्तत्वादवृद्धिः । पादविक्षेपे पादे, हेमचं० । वाच० । पं० अर्हत्क्रमाम्भोजद्वयमर्हतां श्रीतीर्थकराणां क्रमाश्चरणाः । द्व्या० ५ अध्या० । पौर्वापर्ये, द्वा० २६ द्वा० । परिपाट्याम् अनुक्रमे, नि० चू० १ उ० । आ० म० प्र० । बृ० । उत्त० । आव० । विशे० । " पुव्वाणुपुव्वि न कमो " इह क्रमस्तावत् द्विविधः पूर्वानुपूर्वी वा पश्चानुपूर्वी च । अनानुपूर्वी किल क्रमे एव न भवति असमञ्जसत्वात्, विशे० मर्यादायाम्, स्था० ४ ठा० । नियमे च बृ० १ उ० ।

क्रम–पुं० ज्ञात् ८ । २ । ६ । इति किलिस्तयत् इत्यं कांचिकत्वान्न प्रा० । "योऽनायासः श्रमो देह–प्रवृद्धः श्वाससंगतः । क्रमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः" इत्युक्तलक्षणे श्रमभेदे वाच० ।

कमंडलु–कमण्डलु–पुं० न० मण्डनं मण्डः कस्य जलस्य मण्डं लाति–ला–कु–अर्द्धर्चादि० । करङ्के, अमरः । वाच० । कुण्डिकायाम्, प्रश्न० अध० ४ अ० । नि० । तापसपानीयपात्रे, जं० २ वक्ष० । प्लक्षवृक्षे, वाच० ।

कमकरण–क्रमकरण–न० शरीरनिष्पत्त्युत्तरकालं बाल्ययुवस्थविरादिक्रमेणोत्तरोत्तरेऽवस्थाविशेषे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

कमजोग–क्रमयोग–पुं० परिपाटीव्यापारे, "क्रमेण कमजोगेणं, भत्तपाणं गवेसए" दश० ५ अ० । योगक्रमे,– पुं० अस्मिन् योगे एतावत्याचाम्लानि इयन्ति निर्विकृतिकानि इत्थं वा उद्देशादयः क्रियन्ते तथा विकृतयः काः कुलयोगे कल्पन्ते न वेत्येवं क्रमे, बृ० १ उ० ।

कमढ–कमठ–पुं० कम– अठन् । ठो ढः ८ । १ । १९९ । इति ठस्य ढः प्रा० । कूर्मे, स्त्रियां जातित्वात् ङीप् । वंशे, पुं० शब्दर० । शल्लकीवृक्षे, पुं० धरणिः । वाच० । पार्श्वप्रभुनिर्जिते तपस्विनि, तद्वृत्तं चेत्थम्– अन्येद्युर्गवाक्षस्थः स्वामी एकस्यां दिशि गतः पुष्पादिपूजोपकरणसहितान्नागरांश्च नागरीर्निरीक्ष्य एते क्व गच्छन्तीति कंचित्पप्रच्छ । स आह प्रभो ! कुशचित् अस्ति देशवास्तव्यो दरिद्रो मृतमातापितृको ब्राह्मणपुत्रः कृपया लोकैर्जीवितः कमठनामासीत् । स च एकदा रत्नाभरणान्वीक्ष्य अहो ! एतत् प्राग्जन्मतपसः फलमिति विचिन्त्य पञ्चाग्न्यादिमहाकष्टानुष्ठायी तपस्वी जातः सोऽयं पुर्या बहिरागतोऽस्ति तं पूजितुं लोका गच्छन्तीति निशम्य प्रभुरपि सपरिवारस्तं द्रष्टुं ययौ । तत्र काष्ठान्तर्दह्यमानं महासर्पं ज्ञानेन विज्ञाय करुणारससमुद्रो भगवानाह । अहो मूढ ! तपस्विन् ! किं दयां विना वृथा कष्टं करोषि । यतः " कृपानदीमहातीरे, सर्वे धर्मास्तृणाङ्कुराः । तस्यां शोषमुपेतायां, कियन्नन्दन्ति ते चिरम्" । इत्याकर्ण्य क्रुद्धः कमठोऽवोचत् । राजपुत्रा हि गजाश्वादिक्रीडां कर्तुं जानन्ति धर्मं तु वयं तपोधना एव जानीमस्ततः स्वामिनाऽग्निकुण्डात् ज्वलत्काष्ठमाकृष्य कुठारेण द्विधा कृत्वा च तापस्याकुलः सर्पो निष्काशितः । स च भगवन्नियुक्तपुरुषमुखान्नमस्कारान् प्रत्याख्यानं च निशम्य तत्क्षणं विपद्य धरणेन्द्रो जातः । अहो ज्ञानी इति जनैः स्तूयमानः स्वामी स्वगृहं ययौ । कमठोऽपि तपस्तप्त्वा मेघकुमारेषु मेघमाली जातः १५४ कल्प० । ती० । जले, न० "जह्णो तु होत्ति कमढं खरंटो उ जो मलो तं कमढं भणति" नि० चू० ३ उ० । साधुजनप्रसिद्धे पात्रभेदे, "भुञ्जामो कमढगादिसु" कमढगं णाम करोटगागारं अहणेण कज्जति कमढगं नाम शुष्कलेपेन सबाह्याभ्यन्तरलिप्तकांस्यकट्टोरकाकारं साधुभाण्डम्' नि० चू० १ उ० ।

कमढग–कमठक–न० चोलपट्टकस्थाने आर्यिकाणां धार्ये चतुर्दशे औघिकोपधौ, " चउद्दसे कमढए होति " वृ० ३ उ० । " कमढगं अट्टगमयं कंसभायणसंठाणसंठियं चोलपट्टगठाणे चोद्दसमं भवति " नि० चू० २ उ० । तच्चापकमयमेकैकं संयतीनां निजोदरप्रमाणेन विज्ञेयम् वृ० ३ उ० ।

कमढगमाणं उदर–प्पमाणओ संजईण विण्णेअं ।
सइ गहणं पुण तस्स, बहुसगदोसा इमा तेसिं ॥२३॥

कमठगमानं स्वरूपसंबन्धि उदरप्रमाणतो विजोदरप्रमाणेन संयतीनां विज्ञेयं सदा ग्रहणं पुनस्तस्य कमठकस्य लहुसकदोषादित्यल्पत्वापराधादासां संयतीनां लम्पनग्रहणी अप्रीत्या कुशलपरिणामभावादिति गाथार्थः। पं० व०।

कमढीभूय-कमठीभूत- त्रि० स्थले कमठ इव मन्दगतौ, व्य० १ उ०।

कम (न) ण-क्रमण-न० क्रमु पादविक्षेपे भावे ल्युट् गतौ, प्रतिक्रमणं प्रति निवृत्तिक्रमे, प्रवर्तने, आ०चू० ४ अ०। प्रव०। आचा०। (पडिक्कमण शब्दे तथा व्याख्या)

कमणिज्ज-क्रमणीय-त्रि० क्रमणार्हे, औ०।

कमणिया-क्रमणिका-स्त्री० उपानहि, बृ० ३ उ०। (क्रमणिकयोरपि उवानह शब्दे धारणमुक्तम्)

कमणिल्ल-क्रमणीमत्-त्रि० सोपानत्के, " गविज्ज भूमिगतोऽहं कमणिल्लो " भूमिगतान् गर्वं करोति अहो अहं सोपानत्को व्रजामि बृ० ३ उ०।

कमभिन्न-क्रमभिन्न-न० त्रयोदशे सूत्रदोषे, यत्र क्रमो नाराध्यते यथा स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणामर्थाः स्पर्शरसगन्धरूपशब्दा इति वक्तव्ये स्पर्शरूपशब्दगन्धरसा इति ब्रूयात् इत्यादि विशे०। आ०म० द्वि०। अनु०। यथा वा " धरणीधरणीन्द्रपद्मसागरान्-गम्भीरनयनमुखबलस्थैर्यगुणैर्जयति " बृ० १ उ०।

कममरण-क्रममरण-न० पूर्वस्पृष्टाकाशप्रदेशादिभ्योऽव्यवधानतः प्राणपरित्यागे, कर्म०।

कमल-कमल-पुं० कम-वृषादि कलच् कमलशब्दः संस्कृतवदेव प्राकृते प्रा०। लोलः पैशाच्याम् ८।४।७ इति लस्थाने लकारविधानात् पैशाच्यामप्यादेशान्तरं न० प्रा०। हरिणविशेषे, "फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मीलियं" फुल्लं विकसितं तच्च तदुत्पलं च फुल्लोत्पलं कमलो हरिणविशेषः फुल्लोत्पलं च कमलश्च फुल्लोत्पलकमलौ तयोः कोमलमकठोरं दलानां नयनयोश्चोन्मीलितमुन्मीलनं यत्र प्रभाते तत्तथा " अनु०। कल्प०। ज्ञा०। विपा०। औ०। दशा०। सूर्यबोध्ये, ज्ञा०१ अ०। पद्मे,न० कल्प०। कमलं पद्ममरविन्दं पङ्कजं सरोजमिति पर्यायाः विशे०। चतुरशीतिकमलाङ्गशतसहस्रे, न० ज्यो० २ पाहु०। कालस्य पिशाचेन्द्रस्याग्रमहिष्याः कमलाया अनन्तरपूर्वभवे पितरि, पुं० ज्ञा० २ श्रु०। धूर्ताख्यानकल्पितपोतनपुरेश्वरवज्रसिंहस्य राज्ञः कमलाभार्य्योत्पन्ने पुत्रे, दर्श०। क्लोम्नि- भेषजे, सलिले, ताम्रे, हेम०। सारसपक्षिणि, स्त्रियां ङीष्। पाटलवर्णे, तद्वति, त्रि० वाच०। कमलायाः कालाग्रमहिष्याः सिंहासने, न० ज्ञा० २ श्रु०।

कमलंग-कमलाङ्ग- न० चतुरशीतिमहापद्मशतसहस्रे, ज्यो० २ पाहु०।

कमलकलाव-कमलकलाप-पुं० कमलसमूहे, कल्प०।

कमलकलावपरिरायमाण-कमलकलापपरिराजमान-त्रि०-कमलसमूहेन सर्वतः शोभमाने, कल्प०।

कमलतिलया-कमलतिलका--स्त्री० रथसेनस्य रत्नावलीकुक्षिसम्भवायां पुत्र्याम्, दर्श० (तस्याः स्वयंवरादि समणवल्लह शब्दे)

कमलप्पभ-कमलप्रभ-पुं० स्वनामख्याते आचार्ये, कमलप्रभाचार्येण तीर्थकृन्नामकर्मबद्धं सत्केन दोषेण विफलीकृतमिति प्रश्ने। अकस्मात् स्त्रीसंघट्टे जाते लिङ्गिभिः प्रश्ने कृते चतुर्थव्रतस्य प्रशस्तत्वनिरूपण क्षणप्रमादेन तद्विफलीकृतमिति प्रसिद्धिः इयेन० ३ उल्ला० १६४ प्र०।

कमलप्पभा-कमलप्रभा-स्त्री० कालस्य पिशाचेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० ३ उ० (तस्या भवान्तर अग्गमहिसी शब्दे उक्तम्)।

कमलवंसिनय-कमलावतंसक-न० कालाग्रमहिष्याः कमलादेव्याः कमलायां राजधान्याम् स्वनामख्याते भवने, ज्ञा० २ श्रु०।

कमलसिरी-कमलश्री-स्त्री० कालाग्रमहिष्याः कमलाया मातरि ज्ञा० २ श्रु०।

कमलसेट्ठि-कमलश्रेष्ठिन्-पुं० कमलनामके श्रेष्ठिनि, तं० (यस्य सुता पद्मिनी-पउमिणी शब्दे कथा) तस्यान्यस्य वा ऋजुव्यवहारे यथार्थभणने कथा ध० र०।

कमला-कमला-स्त्री० कालस्य पिशाचेन्द्रस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा०। भ०। (भवान्तरमग्गमहिसी शब्दे उक्तम्) धूर्ताख्यानकल्पितपोतनपुरराजवज्रसिंहस्य भार्य्यायाम, दर्श०। लक्ष्म्याम्, को०। वरनार्य्याम्, जम्बीरभेदे, छन्दोभेदे च तल्लक्षणम् वृत्तरत्नावल्यां क्षिप्तोक्तम् यथा "द्विगुणनगणसहितः, सगण इह हि विहितः। फणिपतिभणितिविमला, क्षितिष ! भवति कमला। वसुभिः प्रमिता सगणाविहिता, पुनरेकमितो निहितो गुरुरन्ते। यदि सत्कवयो विलसन्मतयोऽभिधया कमलेति तदा कथयन्ते" वाच०।

कमलागर-कमलाकर-पुं० कमलानामाकर उत्पत्तिस्थानम्। पद्मह्रदादौ, कल्प०। जलाशयविशेषे, अनु०। पद्मानां समूहे च वाच०।

कमलागरसं (मं) मबोहय-कमलाकरख (ष) एमबोधक- पुं० कमलाकरा ह्रदादयस्तेषु यानि खण्डानि नलिनीखण्डानि कमलवनानि तेषां बोधको यः स कमलाकरखण्डबोधकः कमलवनविकाशके सूर्ये, " कमलागरसंडबोहए उट्ठियम्मि सूरे " भ० २ श० १ उ०। कल्प०। दशा०। ज्ञा०।

कमलापीड (मेल्ल)-कमलापीड(मेल)-पुं० भरतचक्रवर्तिसेनापतिसत्के अश्वरत्ने, जं० ३ वक्ष०। (तस्य वर्णको भरह शब्दे आपातकिरातविजयाधिकारे वक्ष्यते)।

कमलामेला-कमलामेला-स्त्री० बलदेवपुत्रनिषधात्मजसागरचन्द्रभार्य्यायाम, विशे०। आ० म० प्र०। आ० क०। आव० (तस्या उल्लाहः अनुलोम शब्दे उदाहृतः)।

कमलासण-कमलासन-पुं० कमलमासनं यस्य। चतुरानने ब्रह्मणि, वाच०। " पुव्विं किर नारयरिसिणा कमलासणो पुट्ठो ती० २० क०॥

कमलुज्जल-कमलोज्ज्वल-त्रि० कमलपरिमाणिमते, " सरं वा कमलुज्जलं" व्य० ४ उ०।

कमवोच्छिज्जमाणबंधोदया-क्रमव्यवच्छिद्य [illegible]ोदया-स्त्री० क्रमेण पूर्वं बन्धः पश्चादुदय इत्येवं रूपेण व्यव० [illegible]मानौ बन्धोदयौ यासां ताः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः। कर्मप्रकृतिभेदे, पं० सं०। (ताश्च षट्शीतयः कम्म शब्दे वक्ष्यन्ते)।

कमसो-क्रमशस्-अव्य० कारकार्थवृत्तेः क्रमात् वीप्सायां शस् क्रमं क्रमं क्रमेण क्रमेणेत्यादिकेऽर्थे, वाच०। पं० सं०।

कमेलगागम-क्रमेलकागम-पुं० उष्ट्रागमने, अजां निष्काशयतः

क्रमेलकागमन्यायः । यथा कश्चित् क्रेत्रादुष्ट्रं निष्काशयति तत्र कथञ्चिच्छगल्यां निष्काशितायामपि उष्ट्र आपतितः अस्य विषयो यथा जिनार्चनमश्रद्दधानस्य महानिशीथप्रामाण्यस्याऽभ्युपगमस्वीकारे तत्त्वसिद्धान्तभङ्गप्रसङ्गस्तत्र जिनप्रतिमार्चनस्य तत्रानुज्ञानात् प्रति० ॥

कम्प—कम्प—पुं०कपि चलने घञ् मकारस्यानुस्वारः तस्य । वर्गेऽन्त्यो वा ८ । १ । ३० इति मः । प्रा० । गात्रादिचलने, वेपथौ, वाच० ।

कम्ह(म्हा)र-कश्मीर-पुं० कलश० ईरन्-मुट् च आत्कश्मीरे ८ । १ । १०० । इति आत्वम् । कश्मीरे म्भो वा ८ । २ । ६० इति कश्मीरशब्दे संयुक्तस्य म्भो वा भवति कम्भारो कम्हारो । देशभेदे, प्रा० । ततो भवार्थे कच्छा० अण् काश्मीरः तद्देशभवे, त्रि० काश्मीरोऽभिजनोऽस्य तक्षशिला० अञ् पित्रादिक्रमेण तद्देशवासिनि, त्रि० स्त्रियामजन्त्र ङीप् तस्य राजन्यपि तथा बहुषु तु तस्य लुक् कश्मीराः स्त्रियां भर्गादित्वान्न लुक् वाच० ॥

कम्म—क्षु—धा० क्षुरेण केशकल्पने, क्षुरे कम्मः ८ । ४ । ७२ । क्षुर्विषयस्य कृतो कम्म इत्यादेशो वा भवति 'कम्मइ' क्षुरं करोति इत्यर्थः प्रा० ॥

कर्मन्—न० क्रियते निर्वर्त्यते यत्तत्कर्म घटप्रभृतिलक्षणे कार्ये, विशे० । भावे मनिन् क्रियायाम्, स्था० ४ ठा० । उत्त० । आचा० । विशे० । योगो व्यापारः कर्म क्रियेत्यनर्थान्तरम् विशे० । सूत्र० । भ्रमणादिक्रियायाम्, स्था०१ठा० । उत्त० । प्रव० । उपा० । दश० । आचा० । प्रश्न० । संयमानुष्ठानरूपायां क्रियायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । अनुष्ठाने, आचा०१श्रु० ५ अ० १ उ० । सूत्र० । सावद्यानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

(१) कर्मणस्त्रैविध्यं तेषां स्वरूपनिरूपणञ्च ।
(२) कर्मशिल्पयोर्भेदः ।
(३) नैयायिकवैयाकरणयोः कर्मपदार्थनिरूपणम् ।
(४) नामादितः कर्मनिक्षेपमुक्त्वा तत्प्रसङ्गप्राप्तं शब्दादित आधाकर्मस्वरूपनिरूपणम् ।
(५) कर्मस्वरूपनिरूपणम् ।
(६) पुण्यपापात्मकस्य कर्मणः सिद्धिः ।
(७) अकर्मवादिनो नास्तिकस्य मतनिराकरणम् ।
(८) कर्मणो मूर्त्तत्वं तत्राक्षेपपरिहारौ च ।
(९) जगद्वैचित्र्येण पुनरपि कर्मसिद्धिनिरूपणम् ।
(१०) जीवकर्मणोः संबन्धः ।
(११) कर्मणोरनादित्वम् ।
(१२) जगद्वैचित्र्ये कर्मण एव हेतुत्वं नेश्वरादीनाम् ।
(१३) स्वभाववादिनिराकरणम् ।
(१४) कर्मणः पुण्यपापद्वयात्मकत्वविचारः ।
(१५) पुण्यपापयोः पृथग्लक्षणम् ।
(१६) कर्मणश्चतुर्विधत्वम् ।
(१७) कर्मणि बद्धस्पृष्टवादिगोष्ठामाहिलनिह्नवमतनिरूपणम् ।
(१८) कर्मविषये शास्त्रान्तरीयमतं निरूप्य पुनरपि पूर्वोक्तचतुर्विधत्वमेव प्रतिपादितम् ।
(१९) मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृत्यादिना द्वैविध्यं निरूप्य नामादितः अष्टविधत्वम् ।
(२०) कर्मणः ध्रुवाऽध्रुवबन्धिप्रकृतिनिरूपणम् ।
(२१) ध्रुवाध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकास्तयोः सत्तानिरूपणं च ।
(२२) कर्मणः सर्वघातिदेशघातिप्रकृतिद्वारनिरूपणम् ।
(२३) क्षेत्रविपाकादिप्रकृतिप्रतिपादनम् ।
(२४) प्रकृतीनां पञ्चोदयहेतवः ।
(२५) ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयादीः प्रकृतीर्विस्तरतो विवच्य स्थित्यादिप्ररूपणम् ।
(२६) सम्यक्त्ववेदनीयमिथ्यात्ववेदनीयस्त्र्यादिवेदनीयादीनां आयुषश्च पृच्छां निरूप्य नामादिपृच्छाकलापप्रतिपादनम् ।
(२७) तीर्थकराहारकद्विकयोः मतान्तरेण स्थितिनिरूपणम् ।
(२८) ज्ञानावरणीयादिकर्मणां जघन्यस्थितिबन्धः कस्मिन् स्वामिनि लभ्यते इत्यादिचिन्तनम् ।
(२९) अविरतसम्यक्त्वादीनां स्थितिबन्धनिरूपणम् ।
(३०) ज्ञानावरणीयस्य कर्मणः अविभागपरिच्छेदनिरूपणम् ।
(३१) मूलप्रकृतीनां बन्धं प्रतीत्य चत्वारि प्रकृतिस्थानानि भवन्तीति निरूपणम् ।
(३२) कर्मणो बन्धे कर्मप्रकृतिबन्धविचारः ।
(३३) किं कर्म वेदयते काः कर्मप्रकृतीर्बध्नातीति उदयेन सह संबन्धस्य चिन्तनम् ।
(३४) उत्तरप्रकृतिषु संवेधादिचिन्तनम् ।
(३५) क्रियावादिनः कर्मचिन्तातः प्रनष्टा इति प्रदर्श्य तन्मतदूषणञ्च निरूपितम् ।
(३६) सोपक्रमनिरुपक्रमकर्मद्वैविध्ये उदाहरणम् ।
(३७) कर्मक्षयविचारं प्रतिपाद्य सम्यग्ज्ञानकर्मक्षयानिवेधनम् ।

(१) कर्मणस्त्रैविध्यं तत्स्वरूपनिरूपणञ्च ।

विषयात्मा ऽनुबन्धैस्तु, त्रिधा शुद्धं यथोत्तरम् ।
प्रधानं कर्म तत्राद्यं, मुक्त्यर्थपतनाद्यपि ॥ २१ ॥

विषयेण गोचरेणात्मना स्वरूपणानुबन्धेन तत्तत्त्वानुवृत्तिलक्षणेन शुद्धं त्रिधा त्रिविधं कर्मानुष्ठानं यथोत्तरं प्रधानं यद्यत उत्तरं तत्तदपेक्षया प्रधानमित्यर्थः । तत्राद्यं विषयशुद्धं कर्म मुक्त्यर्थं मोक्षो ममातो भूयादितीच्छया जनितं पतनाद्यपि भृगुपाताद्यपि आदिना शस्त्रपाटनगृध्रपृष्ठार्पणादिश्च पातोपायः परिगृह्यते । किं पुनः शेषं स्वाहिंसकमित्यपि शब्दार्थः ।

स्वरूपतोऽपि सावद्य—मादेयाशयलेशतः ।
शुभमेतत् द्वितीयं तु, लोकदृष्ट्या यमादिकम् ॥ २२ ॥

स्वरूपत आत्मना सावद्यमपि पापबहुलमपि आदेयाशयस्योपादेयमुक्तिभावस्य लेशतः सूक्ष्ममात्रलक्षणाच्छुभं शोभनमेतत् । यदाह तदेतद्ध्युपादेयलेशभावाच्छुभं मतं द्वितीयं तु स्वरूपशुद्धं तु लोकदृष्ट्या स्थूलव्यवहारिणो लोकस्य मतेन यमादिकं यमनियमादिरूपं यथा जीवादितत्त्वमजानानां पूरणादीनां प्रथमगुणस्थानवर्तिनाम् ।

तृतीयं शान्तवृत्त्याद—स्तत्त्वसंवेदनानुगम् ।
दोषहानिस्तमोमृत्ना, नाद्या जन्मोचितं परे ॥ २३ ॥

शान्तवृत्त्या कषायादिविकारनिरोधरूपया तत्त्वसंवेदनानुगं जीवादितत्त्वसम्यक्परिज्ञानानुगतमदोऽयमाद्येव तृतीयमनुबन्धशुद्धं कर्म आद्याविषयशुद्धानुष्ठानात्तमोमृत्नाऽऽत्मघातादिनिबन्धनाज्ञानबाहुल्येन दोषहानिर्मोक्षलाभबाधकपरिहाणिर्न भवति । यत आह "आद्यान्न दोषविगम-स्तमोबाहुल्ययोगत" इति परे पुनराचार्याः प्रजल्पते । उचितं दोषविगमानुकूलजात्यादिकुलादिगु—

णयुक्तं जन्म ततो भवति । एकान्तनिरवद्ये मोक्षे स्वरूपतोऽतीचसावद्यस्य कर्मणस्तस्याहेतुत्वेऽपि मुक्तीच्छायाः कथंचित्सारूप्येण तद्धेतुत्वात् तद्द्वारतया प्रकृतोपयोगादिति आमीषामाशयः तदाह "तद्योग्यजन्मसंधान-मत एके प्रचक्षते । मुक्तावि-च्छापि यत् श्लाघ्या, तमःक्षयकरी मता" । तस्याः समन्तभद्रत्वा-दृगिदर्शनमित्यद " इति ।

मुक्तीच्छापि सतां श्लाघ्या, न मुक्तिसदृशं त्वदः ।
द्वितीयात्साऽनुवृत्तिश्च, सा स्याद्‌दुरचूर्णवत् ॥२४॥

उक्ताशयमेवाह "मुक्तीच्छापीति" द्वितीयात्तद्धेतुरूपानुष्ठानात् सा तु वृत्तिश्चोत्तरत्राप्यनुवृत्तिमती च सा दोषहानिः स्याद्‌दुरचूर्णवन्मण्डूकचूर्णवत् । निरनुवृत्तिदोषविगमे हि गुरुलाघवचिन्तादृढप्रवृत्त्यादिकं हेतुस्तदभावाच्चात्र सानुबन्ध एव दोषविगम इति भावः । तदुक्तम् "द्वितीयाद्दोषविगमो, नत्वेकान्तानुबन्धवान् । गुरुलाघवचिन्तादि, न यत्तत्र नियोगतः" ।

कुराजचरकप्रायं त-न्निर्विवेकमदः स्मृतम् ।
तृतीयात्साऽनुबन्धा सा, गुरुलाघवचिन्तया ॥२५॥

तत्तस्मात्सानुवृत्तिदोषविगमाददो द्वितीयमनुष्ठानं निर्विवेकं विवेकरहितं कुराजचरप्रायं कुत्सितराजाधिष्ठितनगरप्राकार-तुल्यं तत्र लुण्टाकोपद्रवस्यैवात्राज्ञानदोषोपघातस्य दुर्निवारत्वादिति भावः । तृतीयादनुबन्धशुद्धानुष्ठानात्सा दोषहानिः सानुबन्धा उत्तरोत्तरदोषापगमावहाऽत एव दोषाननुवृत्तिमती । तदुक्तं " तृतीयाद्दोषविगमः, सानुबन्धो नियोगतः । " गुरुलाघवचिन्तयेत्युपलक्षणमेषा दृढप्रवृत्त्यादेः ।

गृहाद्यभूमिकाकल्प-मतस्तद् कैश्चिदुच्यते ।
तद्धेतुफलसद्भावेन, मतमस्माकमप्यदः ॥२६॥

अतः सानुबन्धदोषहानिकरत्वात्सत्तृतीयमनुष्ठानं कैश्चित्तीर्थान्तरीयैर्गृहस्याद्यभूमिका दृढपीठबन्धरूपा तत्कल्पं तत्तुल्यमुच्यतेफलसद्भावेनोदारफलदायित्वेन सद्भावत एतदुक्तमस्माकमपि मतम् । यथा हि गृहाद्यभूमिकाप्रारम्भदार्ढ्ये नोपरितनगृहं प्रत्नफलं संपद्यते किं तु तदनुबन्धप्रधानमेवं सत्संवेदनानुगतमनुष्ठानमुत्तरोत्तरदोषविगमावहमेव भवति न तु कदाचनाप्यन्यथारूपमिति द्वा० १३ द्वा० । "कर्माशुक्लकृष्णं, योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्" शुभफलदं कर्मयागादिशुक्लं,अशुभफलदं ब्रह्महत्यादि,कृष्णशुभयं संकीर्णं, शुक्लकृष्णं तत्र शुक्लं दानतपःस्वाध्यायादिमतां पुरुषाणां,कृष्णं नारकिणां, शुक्लकृष्णं, मनुष्याणां,योगिनां तु विलक्षणमिति । द्वा० १६ द्वा० । जीवनवृत्तौ, उपा० १ अ० । जीविकार्थे आरम्भे, पंचा० १ विव० । "कम्माणि तणहारगाईणि" आ० चू० १ अ० । महारम्भादिसंपाद्ये, स्था० ३ ठा० । अनाचार्यके कृष्यादौ, स्था० ५ ठा० । पिं १ कल्प० । आ०चू० । (२) अनाचार्यकं कर्म साचार्यकं शिल्पमथवा कादाचित्कं शिल्पं कादाचित्कं वा कर्म शिल्पं तु नित्यव्यापारः भ० १२ श० ५ उ० । सर्वकालिकं कर्म तं० । तत्र कर्म्म सिद्धादिव्याचिख्यासया कर्मादिस्वरूपं प्रथमतः प्रतिपादयति ।

कम्मं जमणायरिओ-वदेसजं सिप्पमन्नहाभिहियं ।
किसिवाणिज्जाईयं, घयलोहाराइभेयं वा ॥

इह यत् अनाचार्योपदेशजं सातिशयमनन्यसाधारणं कर्म तत्कर्मेह परिगृह्यते । यत् पुनः कर्म सातिशयमाचार्योपदेशजं ग्रन्थनिबद्धं वा तत् शिल्पम् । तत्र कृषिवाणिज्यादि आदिशब्दात् भारवाहनादिपरिग्रहः । कर्म घटकारलोहकारादिभेदं भावप्रधानोऽयं निर्देशो घटकारत्वलोहकारत्वादिभेदं कर्म्म पुनः च शब्दः पुनः शब्दार्थः शिल्पमिति । आ० चू० । अनाचार्यकं कर्म साचार्यकं शिल्पम् यदि वा कादाचित्कं कर्मनित्यमव्ययमानं शिल्पमिति कर्मशिल्पयोर्भेदः प्रथमं भगवता ऋषभस्वामिना सर्वाणि कृष्यादीनि कर्माणि देशितानि आ० म० द्वि० ।

(३) न्यायमतसिद्धे पदार्थभेदे, तच्च पञ्चविधम् ।

" एतो कम्मं तयं च पंचविहं उक्खेवणमवक्खेवणपसारणा-कुंचणागमणं" कर्म पञ्चविधं तद्यथा उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति । आ०म०द्वि० । आ०चू० । सू०प्र० । विशे० । क्रियते कर्त्रा निर्वर्त्यते इति कर्म । क्रियायाम्, यथा कुम्भं प्रति कर्तृव्यापारः । विशे० । कर्तुरीप्सिततमं कर्म इति परिभाषिते कारकभेदे, विशे० । यथा कुम्भकारः कर्तुरीप्सिततमत्वा क्रियमाणः कुम्भः कर्म० । अष्ट० ११ अष्ट० । " कर्मनिर्वर्त्यो घट एव क्रियमाणक्रियया व्याख्यमान इति " आ० चू० १ अ० । हस्तकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ए अ० ।

(४) नामादितः कर्मनिक्षेपादि ।

नामं ठवणाकम्मं, दव्वकम्मं च भावकम्मं च ।
दव्वम्मि तिणदासिता, अधिकारो भावकम्मेणं ॥

नामकर्म स्थापनाकर्म द्रव्यकर्म भावकर्म चेति चतुर्द्धा कर्मणो निक्षेपः । अत्र नामस्थापने क्षुण्णे द्रव्यकर्मज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं तु तृणं वा दारिकानां बन्धनं वा उपलक्षणमिदं तेन कुम्भकाररथकारादिगतमपि द्रव्यकर्म मन्तव्यम् । यद्वा व्यतिरिक्तं द्रव्यकर्म द्विधा कर्मद्रव्यं नोकर्मद्रव्यं वा कर्मद्रव्यं ज्ञानावरणादि कर्मपर्यायमापन्नाः कर्मवर्गणापुद्गलाः यद्वा यज्ज्ञानावरणादिकं कर्मबद्धं न तावदुदयमागच्छति तत्कर्मद्रव्यं नोकर्मद्रव्यमाकुञ्चनप्रसारणोत्क्षेपणावक्षेपणगमनभेदात्पञ्चधा । भावतो द्विधा । आगमतो नोआगमतश्च आगमतः कर्मपदार्थज्ञाने उपयुक्तं नोआगमतोऽष्टविधो ज्ञानावरणादिकर्मणामुदयः सू० ४ उ० । ६२४ पत्र० । नि०चू० । आचाराङ्गनिर्युक्तौ तु ॥

नामट्ठवणाकम्मं, दव्वकम्मं पओगकम्मं च ।
समुयाणइरियावहियं, आहाकम्मं तवोकम्मं ॥ ए२ ॥
किइकम्मभावकम्मे, दसविहकम्मे समासओ होइ ।
अट्ठविहेण उ कम्मेण, इत्थं होइ अहिगारो ॥ ए३ ॥

नामकर्म कर्मातिशून्यमभिधानमात्रं स्थापनाकर्म पुस्तकपत्रादौ कर्मवर्गणानां सद्भावासद्भावरूपा स्थापना । द्रव्यकर्मव्यतिरिक्तं द्विधा द्रव्यकर्म नोद्रव्यकर्म च । तत्र तत्र द्रव्यकर्म-कर्मवर्गणान्तःपातिनः पुद्गलाः बन्धयोग्या बध्यमाना बद्धाश्चानुभोदीरणा इति । नोद्रव्यकर्म कृषिबलादिकर्म्म । अथ कर्मवर्गणान्तःपातिनः पुद्गला द्रव्यकर्मेत्यवाचिकाः पुनस्ता वर्गणा इति संकीर्तन्ते (आचा०) (प्रयोगकर्मसमुदानकर्मणोर्वर्गणा स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या) तत्र प्रयोगकर्मणैकरूपतया गृहीतानां कर्मवर्गणानां सम्यग् मूलोत्तरप्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धभेदेनामर्यादया देशसर्वोपघातिरूपया तथा स्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थया च स्वीकरणं समुदायः तदेव कर्म समुदानकर्म तत्र मूलप्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणीयादिरुत्तरप्रकृतिबन्धस्तूच्यते उत्तरप्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणीयं पञ्चधा मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलावरणभेदात् आचा० १ श्रु० २अ० १उ० । (ईर्यापथिककर्म इरियावहिय

शब्दे) अधुना आधाकर्म यदाधाय निमित्तत्वेनाश्रित्य पूर्वोक्तमष्टप्रकारमपि कर्म बध्यते तथाऽऽधाकर्मेति । तच्च शब्दस्पर्शरसरूपगन्धादिकमिति तथा हि । शब्दादिकामगुणविषयाभिष्वङ्गवान् सुखलिप्सुर्मोहोपहतचेताः परमार्थासुखमप्येवापि सुखाध्यारोपं विदधाति तदुक्तम् । "दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपदपङ्क्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् " एतदुक्तं भवति । कर्मनिमित्तभूता मनोज्ञेतरशब्दादय एवाधाकर्मेत्युच्यन्ते इति । तपःकर्म तस्यैवाष्टप्रकारस्य कर्मणो बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थस्यापि निर्जराहेतुभूतं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वादशप्रकारं तपःकर्मोच्यते । कृतिकर्म तस्यैव कर्मणोऽपनयकारकमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायविषये अवनामादिरूपमिति भावः कर्म पुनरबाधामुल्लङ्घ्य स्वोदयेनोदीरणाकरणेन चोदीर्णाः पुद्गलाः प्रदेशविपाकेभ्यो भवक्षेत्रपुद्गलजीवेष्वनुभावं ददतो भावकर्मशब्देनोच्यन्ते इति । तदेवं नामादिनिक्षेपेण द्रव्याधाकर्मोक्तमिह तु समुदानकर्मोपात्तेनाष्टविधकर्मणाधिकार इति ॥ गाथासकलेन दर्शयति । " अट्ठविहेण उ कम्मेण, एत्थ होई अहिगारेत्ति " गाथार्द्धं कण्ठ्यमिति गाथाद्वयपरमार्थः । कर्मनिक्षेप उक्तः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

(५) अथ कर्मशब्दं व्युत्पादयन्नाह ।

कीरइ जिएण हेउहिं, जेण तो भंत ! भएणइ कम्मंवि ॥

क्रियते विधीयते अञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरपुद्गलनिचिते लोके क्षीरनीरन्यायेन वह्न्ययःपिण्डवद्वा कर्मवर्गणा द्रव्यमात्मसंबद्धं येन कारणेन ततस्तस्मात्कारणात्कर्म भण्यते । इति संबन्धः । केन क्रियते इत्याह । जीवेन जन्तुना तत्र जीवति इन्द्रियपञ्चकमनोवाक्कायबलत्रयोच्छ्वासनिःश्वासायुर्लक्षणान् दश प्राणान् यथायोगं धारयतीति जीवः । क इत्थंभूत इति चेत उच्यते । यो मिथ्यात्वादिकलुषितरूपतया सातादिवेदनीयादिकर्मणामभिनिर्वर्त्तकस्तत्फलस्य च विशिष्टसातादेरुपभोक्ता नरकादिभवेषु च यथा कर्मविपाकोदयं संसर्त्ता सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसंपन्नरत्नत्रयाभ्यासप्रकर्षवशाच्च निःशेषकर्मांशापगमतः परिनिर्वाता स जीवः सत्त्वः प्राणी आत्मेत्यादिपर्यायाः । उक्तं च "यः कर्त्ता कर्मभेदानां,भोक्ता कर्मफलस्य च । संसर्त्ता परिनिर्वाता, स ह्यात्मा नान्यलक्षण" इति । कैः कृत्वा जीवेन क्रियते इत्याह । हेतुभिर्मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणैश्चतुर्भिः सामान्यरूपैः । " पडिणीयत्तणनिन्हव-पओस उवघाय अंतराएणं । अच्चासायणयाए, आवरणदुगं जीओ जणइ " इत्यादिभिर्विशेषप्रकारैरिहैव वक्ष्यमाणैः । तदयमत्र तात्पर्यार्थः । क्रियते जीवेन हेतुभिर्येन कारणेन ततः कर्म भएयत इति ॥ कर्म० । उत्त० । पुण्यपापात्मके कर्मणि, सू० ।

[६] अथ कर्मसिद्धिं दर्शयति ।

कथमेतत्सिद्धिरिति चेत् इहात्मत्वेनाविशिष्टानामात्मनां यदिदं देवासुरमनुजतिर्यगादिरूपं क्ष्मापतिरङ्कमनीषिमन्दमहर्द्धिदरिद्रादिरूपं वा वैचित्र्यं तन्न निर्हेतुकमेष्टव्यं मा प्राप्तत्सदा भावाभावदोषप्रसङ्गः । " नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् " सहेतुकत्वाभ्युपगमे च यदेवास्य हेतुस्तदेवास्माकं कर्मेति मतमिति तत्सिद्धिः । यदवोचाम श्रीदिनकृत्यटीकायां जीवस्थापनाधिकारेऽमुमेवार्थम् " क्ष्मामृद्रङ्कयोर्मनीषिजडयोः सद्रूपनीरूपयोः, श्रीमद्दुर्गतयोर्बलाबलवतोर्नीरोगरोगार्तयोः । सौभाग्यासुभगत्वसंगमजुषोस्तुल्येऽपि नृत्वेतरम् । यत्तत्कर्म निबन्धनं तदपि नो जीवं विना युक्तिमत् । "अन्यत्राप्युक्तम् । " आत्मत्वेनाविशिष्टस्य, वैचित्र्यं तस्य यद्वशात् । नरादिरूपं तच्चित्र-मदृष्टं कर्मसंज्ञितम् " पौराणिका अपि कर्मसिद्धिं प्रतिपद्यन्ते तथा च ते आहुः "यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः,फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते । तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्त्तते " यत्तत्पुराकृतं कर्म, न स्मरन्तीह मानवाः । तदिदं पाण्डवश्रेष्ठ ! दैवमित्यभिधीयते । मुदितान्यपि मित्राणि, सुक्रुद्धाश्चैव शत्रवः । न हीमे तत्करिष्यन्ति, यन्न पूर्वकृतं त्वया । बौद्धा अप्याहुः " इत एकनवते कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः । तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः । तदपि च कर्मपुद्गलस्वरूपं प्रतिपत्तव्यं नामूर्त्तममूर्त्तत्वे हि कर्मणः सकाशादात्मनामनुग्रहोपघातासंभवात् आकाशादिवत् यदाह (कर्म०) " तुल्यप्रतापोद्यमसाहसानां, केचिल्लभन्ते निजकार्यसिद्धिम् । परे न तां मित्र ! निगद्यतां मे, कर्मास्ति हित्वा यदि कोऽपि हेतुः ॥१॥ विचित्रदेहाकृतिवर्णगन्ध-प्रभावजातिप्रभवस्वभावाः । केन क्रियन्ते भवनेऽत्रिवर्गा-श्चिरन्तनं कर्म निरस्य चित्राः ॥ २ ॥ विबध्य मासान्नव गर्भमध्ये, बहुप्रकारैः कललादिभावैः । उद्वर्त्य निष्काशयते सवित्र्याः, को गर्भतः कर्म विहाय पूर्वम् " यो० वि० ।

[७] अकर्मवादिमतनिराकरणम् ।

पौद्गलिकादृष्टवानिति नास्तिकादिमतमत्यसितुम् । तथा हि नास्तिकस्तावन्नादृष्टमिष्टवान् स प्रष्टव्यः किमाश्रयः परलोकिनोऽभावादप्रत्यक्षत्वाद्विचाराक्षमत्वात्साधकाभावाद्वा दृष्टाभावो भवेत् । न तावत्प्रथमः पक्षः परलोकिनः प्राक्प्रसाधितत्वात् । नाप्यप्रत्यक्षत्वाद्यतस्तत्तवाप्रत्यक्षं सर्व प्रमातॄणां वा प्रथमपक्षे त्वत्पितामहादेरप्यभावो भवेच्चिरातीतत्वेन तस्य तवाप्रत्यक्षत्वात् तदभावे भवतोऽप्यभावो भवेदित्यहो नवीना वादवैदग्धी । द्वितीयकल्पोऽप्यल्पीयान् सर्वप्रमातृप्रत्यक्षमदृष्टमिष्टं क निष्णातं प्रतीति वादिना प्रत्येतुमशक्तेः प्रतिवादिना तु तद्वाकलनकुशलः केवली कक्षीकृत एव विचाराक्षमत्वमप्यक्षमं कर्कशतर्कैस्तर्क्यमाणस्य तस्य घटनात् । ननु कथं घटते तथा हि तदनिमित्तं सनिमित्तं वा भवेत् । न तावदनिमित्तं सदा सत्वासत्वयोः प्रसङ्गात् । " नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् " यदि पुनः सनिमित्तं तदापि निमित्तमदृष्टान्तरमेव रागद्वेषादिकषायकालुष्यं हिंसादिक्रिया वा प्रथमे पक्षेऽनवस्था व्यवस्था । द्वितीये तु न कदापि कस्यापि कर्माभावो भवेत् । तद्धेतो रागद्वेषकषायकालुष्यस्य सर्वसंसारिणां भावात् । तृतीयपक्षोऽप्यसूपपादः पापपुण्यहेतुत्वसम्मतयो र्हिंसार्हत्पूजादिक्रिययोर्व्यभिचारदर्शनात् । कृपणपशुपरंपराप्राणप्रहारकारिणां कपटघटनापटीयसां पितृमातृमित्रपुत्रादिद्रोहिणामपि केषांचिच्चपलचारुचामरश्वेतातपत्रपार्थिवश्रीदर्शनात् । जिनपतिपदपङ्कजपूजापरायणानां निखिलप्राणिपरंपरापारकरुणाकूपाराणामपि केषांचिदनेकोपद्रवदारिद्र्यमुद्राक्रान्तत्वावलोकनादिति । अत्र ब्रूमः पक्षत्रयमप्येतत्कक्षीक्रियत एव प्राच्यादृष्टान्तरवशयोगो हि प्राणी रागद्वेषादिना प्राणव्यपरोपणादिकुर्वाणः कर्मणा बध्यते । न च प्रथमपक्षेऽनवस्थादौस्थ्यमूलक्षयकरत्वाभावात् । बीजाङ्कुरादिसन्तानवत् सन्तानस्यानादित्वेनेष्टत्वात् । द्वितीयेऽपि यदि कस्यापि कर्माभावो न भवेन्मा भूत् सिद्धं तावददृष्टं मुक्तिवादे तदभावोऽपि प्रसाधयिष्यते । तृतीये तु या हिंसावतोऽपि समृद्धिरर्हत्पूजावतोऽपि दारिद्र्यातिः सा क्रमेण प्रागुपात्तस्य पापानुबन्धिनः पुण्यस्य पुण्यानुबन्धिनः पापस्य च फलम् ।

तत्क्रियोपात्तं तु कर्म जन्मान्तरे फलिष्यतीति नात्र नियतकार्यकारणभावव्यभिचारः । साधकाभावादपि नादृष्टाभावः । प्राक् प्रसाधितप्रामाण्ययोरागमानुमानयोस्तत्साधकयोर्भावात् । तथा च शुभः पुण्यस्य अशुभः पापस्येत्यागमः । अनुमानं तु साधनानां कार्यविशेषः । सहेतुकः कार्यत्वात् कुम्भवत् " इष्टश्च साध्वीसुतयोः–र्यमयोस्तुल्यजन्मनोः । विशेषो वीर्यविज्ञानवैराग्यारोग्यसंपदाम् " न चायं विशेषो विशिष्टमदृष्टकारणमन्तरेण यदूचुर्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणमिश्राः " जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेतुं । कज्जत्तणओ गोयम ! घडोव्व हेऊ य से कम्मं " अथ यथैकप्रदेशसंजातानामपि बदरीकण्टकानां कौटिल्यार्जवादिविशेषो यथा चैकसरसीसंभूतानामपि पङ्कजानां नीलधवलपाटलपीतशतपत्रसहस्रपत्रादिभेदस्तथा शरीरिणामपि स्वभावादेवायं विशेषो भविष्यति तदप्रशस्यं कण्टकपङ्कजादीनामपि प्राणित्वेन परेषां प्रसिद्धेस्तद्दृष्टान्तावष्टम्भस्य तुच्छत्वादाहारकृतारोहदोहदादिना वनस्पतीनामपि प्राणित्वेन तैः प्रसाधनात् । अथ गगनपरिसरे मकरकरितुरगतरङ्गकुरङ्गभृङ्गाराङ्गाराद्याकारानेकप्रकारान् विभ्रत्यभ्राणि न च तान्यपि चेतनानि यः समन्तानि तद्वत्तनुभाजोऽपि राजरङ्कादयः सन्त्विति चेत्तदसत् तेषामपि जगददृष्टवशादेव देवपदवीपरिसरे विचरतां विचित्राकारस्वीकारात् कश्चायं स्वभावो यद्वशाज्जगद्वैचित्र्यमुच्यते । किं निर्हेतुकत्वं स्वात्महेतुकत्वं वस्तुधर्मो वस्तुविशेषो वा आद्यपक्षे सदा सत्त्वस्यासत्त्वस्य वा प्रसङ्गः द्वितीये आत्माश्रयत्वं दोषः । अविद्यमानो हि भावात्मा कथं हेतुः स्यात् विद्यमानोऽपि विद्यमानत्वादेव कथं स्वोत्पाद्यः स्यात् । वस्तुधर्मोऽपि दृश्यः कश्चिददृश्यो वा दृश्यस्तावदनुपलम्भबाधितः । अदृश्यस्तु कथं सत्त्वेन वक्तुं शक्यः अनुमानात् तु तन्निर्णये अदृष्टानुमानमेव श्रेयः वस्तुविशेषश्चेत् स्वभावो भूतातिरिक्तो भूतस्वरूपो वा प्रथमे मूर्त्तोऽमूर्त्तो वा मूर्त्तोऽपि दृश्योऽदृश्यो वा दृश्यस्तावत् दृश्यानुपलम्भबाधितः अदृश्यस्त्वदृष्टमेव स्वभावभाषया बभाषे । अमूर्त्तः पुनः परः परलोकिनः को नामास्तु न चादृष्टविघटितस्य तस्य परलोकस्वीकार इत्यतोऽप्यदृष्टं स्पष्टं निष्टङ्क्यते । भूतस्वरूपस्तु स्वभावो नरेन्द्रदरिद्रतादिवैसदृश्यभाजोर्यमलजातयोरुत्पादकस्तुल्य एव विलोक्यते इति कौतस्कुतस्तयोर्विशेषः स्यात् तद्दर्शनात्तत्राहष्टभूतविशेषानुमानेन नामान्तरतिरोहितमदृष्टमेवानुमितिसिद्धमिष्टं मितोऽपि बालशरीरं शरीरान्तरपूर्वकमिन्द्रियादिमत्वात्तरुणशरीरवत् । न च प्राचीनभवातीततनुपूर्वकमेवेदं तस्य तद्भवावसान एव पटुपवनप्रेरितातितीव्रचिताज्वलनज्वालाकलापप्लुष्टतया भस्मसाद्भावादपान्तरालगतावभावेन तत्पूर्वकत्वानुपपत्तेः न चाशरीरिणो नियतगर्भदेशस्थानप्राप्तिपूर्वकः शरीरग्रहो युज्यते नियामककारणाभावात् स्वभावस्य तु नियामकत्वं प्रागेव व्यपास्तं ततो यच्छरीरपूर्वकं बालशरीरं तत्कर्ममयमिति पौद्गलिकं चेदमदृष्टमेष्टव्यमात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वान्निगडादिवत् क्रोधादिना व्यभिचार इति चेन्न तस्यात्मपरिणामरूपस्य पारतन्त्र्यस्वभावत्वात्तन्निमित्तभूतस्य तु कर्मणां पौद्गलिकत्वात् एवं सीधुस्वादनोद्भवचित्तवैकल्यमपि पारतन्त्र्यमेव तद्धेतुस्तु सीधुपौद्गलिकमेवेति नैतेनापि व्यभिचारः ततो यद्योगैरात्मविशेषगुणलक्षणं, कापिलैः प्रकृतिविकाररूपं, सौगतैर्वासनास्वभावं, ब्रह्मवादिभिरविद्यास्वरूपं, चादृष्टमवादि । तदपास्तं विशेषतः पुनरमीषां निषेधो विस्तराय स्यादिति न कृतः रत्ना० ७ परि० । एतत्सर्वं विस्तरेण भगवता श्रीवीरेणाग्निभूतिं द्वितीयं गणधरं प्रति साधितम् तस्मिन् भगवानाह ॥

किं मन्ने अत्थि कम्मं, उ याहु नत्थि त्ति संसओ तुज्झं ।
वेयपयाण य अत्थं, न याणसी तेसिमो अत्थो ॥

हे अग्निभूते ! गौतम ! त्वमेतन्मन्यसे चिन्तयसि यदुत क्रियते मिथ्यात्वादिहेतुसमन्वितेन जीवेनेति कर्म ज्ञानावरणादिकं तत्किमस्ति वेति न त्वयमनुचितस्तव संशयः अयं हि भवति विरुद्धवेदपदनिबन्धनो वर्तते तेषां च वेदपदानां त्वमर्थं न जानासि तेन संशयं करोषि तेषां च वेदपदानामयं वक्ष्यमाणलक्षणोऽर्थ इति अत्र भाष्यम् ।

कम्मे तुह संदेहो, मन्नसि तं नाणगोयराईयं ।
तुह तमणुमाणसाहण–मणुभूइमयं फलं जस्स ॥

हे आयुष्मन्नग्निभूते ! ज्ञानावरणादिपरमाणुसंघातरूपे कर्मणि तव संदेहो यतः प्रत्यक्षानुमानादिसमस्तप्रमाणात्मकज्ञानगोचरातीतमेतत्त्वं मन्यसे तथाहि न तावत्प्रत्यक्षं कर्म अतीन्द्रियत्वात् खरविषाणवदित्यादिप्रमाणविषयातीतत्वं प्राग्वज्जीवस्येव कर्मणोऽपि समानप्रायत्वात् भावनीयमिति तदेतत्सौम्य ! मा मंस्थास्त्वं यतो मम तावत्प्रत्यक्षमेव कर्म तवाप्यनुमानं साधनं यस्य तदनुमानसाधनं वर्त्तते तत्कर्म न पुनः सर्वप्रमाणगोचरातीतं यस्य किमित्याह । (अणुभूइमयं फलं जस्सति) सुखदुःखानामनुभूतिरनुभवनं तन्मयं तदात्मकं फलं यस्य शुभाशुभकर्मण इति अनेन वेदमनुमानं सूचितमस्ति । सुखदुःखानुभवस्य हेतुः कार्यत्वादङ्कुरस्येवेति । अथ यदि भवतः प्रत्यक्षं कर्म तर्हि ममापि तत्प्रत्यक्षं कस्मान्न भवतीति चेत्तदयुक्तं न हि यदेकस्य कस्यचित्प्रत्यक्षं तेनापरस्यापि प्रत्यक्षेण भवितव्यं न हि सिंहसरभहंसादयः सर्वस्यापि लोकस्य प्रत्यक्षा न च ते न सन्ति बालादीनामपि तत्सर्वस्य प्रसिद्धत्वात्तस्मादस्ति कर्म सर्वज्ञत्वेन मया प्रत्यक्षीकृतत्वाद्भवत्संशयविज्ञानवदिति न च वक्तव्यं त्वयि सर्वज्ञत्वमस्मान् प्रत्यसिद्धम् । "कह सव्वण्णुत्तिमइ, जेणाहं सव्वसंसयच्छेदी । पुच्छसु व जं न जाणसी" त्यादिना प्रागेव प्रतिविहितत्वात्कार्यप्रत्यक्षतया भवतोऽपि च प्रत्यक्षमेव कर्म । तथा घटादिकार्यप्रत्यक्षतया परमाणव इति यदुक्तम् । " तुह तमणुमाणसाहण " मिति तदेवानुमानमाह ।

अत्थि सुहदुक्खहेऊ, कज्जाओ बीयमंकुरस्सेव ।
सो दिट्ठो चेव मई, वभिचारओ न तं जुत्तं ॥

जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेउं ।
कज्जत्तणओ गोयम ! घडोव्व हेऊ य सो कम्मं ॥

प्रतिप्राणिप्रसिद्धयोः सुखदुःखयोर्हेतुरस्ति कार्यत्वादङ्कुरस्येव बीजमिति । यश्चेह सुखदुःखयोर्हेतुस्तत्कर्मैवेत्यस्ति तदिति स्यान्मतिः स्रक्चन्दनाङ्गनादयः सुखस्य हेतवो दुःखस्य त्वहिविषकण्टकादय इति दृष्ट एव सुखदुःखयोर्हेतुरस्ति किमदृष्टस्य कर्मणस्तद्धेतुत्वकल्पनेन । न हि दृष्टपरिहारेणादृष्टकल्पना सङ्गतिमावहत्यतिप्रसङ्गात्तदयुक्तं व्यतिचारात्तथा हि (जो तुल्लेत्यादि) इह यस्तुल्यसाधनयोरिष्टशब्दादिविषयसुखसाधनसमेतयोरनिष्टार्थसाधनसंप्रयुक्तयोश्च द्वयोर्बहूनां वा फले सुखदुःखानुभवनलक्षणविशेषस्तारतम्यरूपो दृश्यते । नासौ अदृष्टमपि हेतुमन्तरेणोपपद्यते कार्यत्वाद्घटवद् यश्च तत्र विशेषाधायको दृष्टहेतुस्तद्गौतम ! कर्मेति प्रतिपद्यस्वेति ।

अनुमानान्तरमपि कर्मसाधनायाह ।

बालसरीरं देहं-तरपुव्वं इंदियाइमत्ता उ ।
जह बालदेहपुव्वो, जुवदेहो पुव्वमिह कम्मं ॥

शरीरान्तरपूर्वकमाद्यं बालशरीरमिन्द्रियादिमत्वात् युवशरीरवदिति आदिशब्दात्सुखदुःखित्वप्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनादिमत्वादयोऽपि हेतवो ग्राह्याः । न च जन्मान्तरातीतशरीरपूर्वकमेवेति शक्यते वक्तुं तस्याप्यनन्तरातीतावसत्वेन तत्पूर्वकत्वानुपपत्तेः। नचाशरीरिणो नियतगर्भदेशस्थानप्राप्तिपूर्वकः शरीरग्राहो युज्यते नियामककारणाभावात् । नापि स्वभावो नियामकस्तस्य तिरस्करिष्यमाणत्वात् यच्चेह बालशरीरस्य पूर्वं शरीरान्तरं तत्कर्मेति मन्तव्यं कार्म्मणं शरीरमित्यर्थः " जोएण-कम्मएणं, आहारेई अणंतरं जीवे " इत्यादि वचनादिति । अनुमानान्तरमपि तत्सिद्धये प्राह ॥

किरियाफलभावा उ, दाणाईणं फलं किसीएव्व ।
तं चिय दाणाइफलं, मणप्पसायाइ जइ बुद्धी ॥
किरियासामण्णा उ, जं फलमस्सावि तं मयं कम्मं ।
तस्स परिणामरूवं, सुहदुक्खफलं जओ भुज्जो ॥

(दाणाईणं फलत्ति) इह दानादिक्रियाणां फलमस्ति (किरियाफलभावा उत्ति) सचेतनारब्धक्रियाणां फलभावात्फलसद्भावदर्शनादित्यर्थः । यथा कृषिक्रियायाः । इह या चेतनारब्धक्रिया तस्याः फलं दृष्टं यथा कृष्यादिक्रियायाः चेतनारब्धाश्च दानादिक्रियास्तस्मात्फलवत्यः यच्च तासां फलं तत्कर्म्म । या तु निष्फला क्रिया सा सचेतनारब्धाऽपि न भवति यथा परमाण्वादिक्रियाः सचेतनारब्धाश्च दानादिक्रियास्तस्मात्फलवत्यः । स्यादेतदनैकान्तिकोऽयं हेतुश्चेतनारब्धानामपि कासांचित्कृष्यादिक्रियाणां निष्फलत्वदर्शनात्तदयुक्तं फलत्वाभिप्रायेणैव तदारम्भात् । यच्च कचिन्निष्फलत्वमपि दृश्यते तत्सम्यग्ज्ञानाद्यभावेन सामग्रीवैकल्याद्दृष्टव्य मनःशुद्ध्यादिसामग्रीविकलतया दानादिक्रिया अपि निष्फला इष्यन्त एवेत्यदोषः । यदि चात्र परस्यैवंभूता बुद्धिः स्यात्कथंभूता इत्याह (तं चियेत्यादि) तदेव दानादिक्रियाणां फलं यदस्मादृशामपि प्रत्यक्षं मनःप्रसादादि इदमुक्तं भवति कृष्यादिक्रियाः दृष्टधान्याद्यवाप्तिफला दृष्टाः अतो दानादिक्रियाणामपि दृष्टमेव मनःप्रासादादिकं फलं भविष्यति । किमदृष्टकर्मलक्षणसाधनेन तत इष्टविरुद्धसाधनाद्विरुद्धोऽयं हेतुः तर्हि अत्र वयं ब्रूमः "किरियासामण्णाउ इत्यादि" अस्यापि मनःप्रसादस्य यत्फलं तन्मम कर्म्म सम्मतम् । ननु मनःप्रसादस्यापि कथं फलमभिधीयत इत्याह (किरियासामण्णाउ त्ति) इदमुक्तं भवति मनःप्रसादोऽपि क्रियासाम्यान्मनःप्रसादस्यापि फलेन भवितव्यमेव यच्च तस्य फलं तत्कर्मैवेति न कश्चिद्व्यभिचारः । यतः कर्म्म स कस्मात्किमित्याह । सुखदुःखफलं (जओत्ति) सुखदुःखरूपं फलं सुखदुःखफलं यतो यतो यस्मात् यस्मात्कर्म्मणः सकाशाज्जायते । कथं भूयः पुनरपि कथंभूतं यत्सुखदुःखफलमित्याह । तस्यैव कर्म्मणस्तज्जनकत्वेन यत्परिणमनं परिणामस्तद्रूपमिति । एतदुक्तं भवति यतः कर्म्मणः सकाशात्प्रतिरूपं तत्परिणतिरूपं सुखदुःखफलं प्राणिनां समुपजायते तत्कर्म मनःप्रसादक्रियाया अपि फलमभिमतम् । आह नन्वनन्तरगाथायां दानादिक्रियाफलं कर्म्मेति वदता दानादिक्रियैव कर्म्मणः कारणमुक्तम् । अत्र तु मनःप्रसादक्रिया तत्कारणमुच्यत इति कथं न पूर्वापरविरोध इति । सत्यं किं तु मनःप्रसादादिक्रियेवानन्तर्येण कर्म्मणः कारणं केवलं तस्या अपि मनःप्रसादादिक्रियाया दानादिक्रियैव कारणमतः कारणकारणे कारणोपचाराददोष इति ।

अथ पुनरपि प्रेर्यमाशङ्क्य परिहारमाह ।

होज्ज मणो वित्तीए, दाणाइ किए व जइ फलं बुद्धी ।
तं न निमित्तत्ता उ, पिंडोव्व घडस्स विण्णेओ ॥

अत्र परस्य यद्येवंभूता बुद्धिः स्यात्कथंभूता इत्याह । ननु मनोवृत्तिर्मनःप्रसत्यादिक्रियाया दृष्टरूपा दानादिक्रियैव फलं नत्वऽदृष्टं कर्म्मेति भावः । अयमभिप्रायः दानादिक्रियातो मनःप्रसादादयो जायन्ते तेभ्यश्च प्रवर्द्धमानो दृश्यादिपरिणामः पुनरपि दानादिक्रियां करोति एवं पुनः पुनरपि दानक्रियाप्रवृत्तेः सैव मनःप्रसादादेः फलमस्तु तत्तु कर्म्मेति भावः । दृष्टफलमात्रेणैव चरितार्थत्वात्किमदृष्टफलकल्पनेनेति हृदयम् । तदेतन्न कुतो निमित्तत्वान्मनःप्रसादादिक्रियां प्रति दानादिक्रियाया निमित्तकारणत्वादित्यर्थः । यथा मृत्पिण्डो घटस्य निमित्तं तत्तस्यैव फलं वक्तुमुचितं दूरविरुद्धत्वादिति पुनरपि दृष्टान्तीकृतकृष्यादिक्रियावष्टम्भेनैव सर्वासामपि क्रियाणां दृष्टफलमात्ररूपतामेव साधयन्नाह प्रेरकः ।

एवं पि दिट्ठफलया, किरिया न कम्मफला पसत्ता ता ।
सा तं मेत्तफले च्चिय, जह मंसफलो पसुविणासो ॥

नन्वेवमपि युष्मदुपन्यस्तकृष्यादिक्रियानिदर्शनेनापीति सर्वा दानादिकाऽपि क्रिया दृष्टफलैव प्रसक्ता न कर्म्मफला इदमुक्तं भवति । यथा कृष्यादिक्रिया दृष्टमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवति तथा दानादिक्रिया अपि श्लाघादिकं किंचिदृष्टमात्रेणैवावसितप्रयोजना भवति तथाफलमस्तु किमदृष्टफलकल्पनेन । किं बहुना सा क्रिया सर्वाऽपि तन्मात्रफलैव दृष्टमात्रफलैव युज्यते नादृष्टफला यथा दृष्टमांसमात्रफला पशुविनाशक्रिया न हि पशुविनाशनक्रियामदृष्टाधर्म्मफलार्थं कोऽप्यारभते । किंतु मांसभक्षणार्थमतस्तन्मात्रफलैव सा तावतैवावसितप्रयोजनत्वादेवं दानादिक्रियाया अपि दृष्टमात्रमेव श्लाघादिकं किंचित्फलं नान्यदिति ।

अस्यैवार्थसमर्थनार्थं कारणान्तरमाह ।

पायं च जीवलोगो, वट्टइ दिट्ठफलासु वि किरियासु ।
अदिट्ठफला संपुण्णा, वट्टनासंखभागे पि ॥

लोकोऽपि च प्रायेण दृष्टमात्रफलास्वेव कृषिवाणिज्यादिक्रियासु प्रवर्त्तते अदृष्टफलासु पुनर्दानादिक्रियासु तदसंख्येयभागोऽपि न वर्त्तते कतिपयमात्र एव लोकस्तासु प्रवर्त्तते न बहुरित्यर्थः । ततश्च हिंसादीनामशुभक्रियाणामदृष्टफलाभावाच्छुभक्रियाणामपि दानादीनामदृष्टफलाभावो भविष्यति इति पराभिप्रायः । इति भगवानाह ।

सोम्म ! जओ च्चिय जीवा, ण य दिट्ठफलासु पवट्टंति ।
अदिट्ठफलासु य तम्हा, दिट्ठफलाओ त्ति पडिवज्जा ॥

हे सौम्य ! यत एव जीवा न दृष्टफलास्वशुभक्रियासु प्रवर्त्तन्ते अदृष्टफलासु पुनर्दानादिकासु शुभक्रियासु स्वल्पा एव प्रवर्त्तन्ते तेनैव तस्मादेव कारणात्ता अपि कृषिहिंसादिका दृष्टफलाः क्रियाः अदृष्टफला अपि प्रतिपद्यस्वाभ्युपगच्छ । इदमुक्तं भवति । यद्यपि कृषिहिंसादिक्रियाकर्त्तारो दृष्टफलमात्रार्थमेव ताः समारभन्ते नाधर्म्मार्थं तथापि ते अधर्म्मलक्षणं पापरूपमदृष्टफलमश्नुवत एव अनन्तसंसारिजीवान्यथानुपपत्तेस्ते हि कृषिहिंसादिक्रियानिमित्तमनभिलषितमप्यदृष्टं पापलक्षणं फलं बद्धा अनन्तसं-

सारं परिभ्रमन्तोऽनन्ता इह तिष्ठन्ति दानादिक्रियानुष्ठातारस्तु स्वल्पाः अदृष्टं धर्मरूपं फलमासाद्य क्रमेण मुच्यन्त इति। ननु दानादिक्रियानुष्ठातृभिर्यददृष्टं धर्मलक्षणं फलमाशंसितं तत्तेषां भवतु यैस्तु कृषिहिंसादिक्रियाकर्तृभिरदृष्टमधर्मरूपं फलं नाशंसितं तत्तेषां कथं भवतीति चेत्तदयुक्तं न ह्यविकलं कारणं स्वकार्यं जनयत् कस्याप्याशंसामपेक्षते किंत्वविकलकारणतया स्वकार्यं जनयत्येव। यत्तुरज्ञातमपि हि कोद्रवादिबीजं कचिद्भूप्रदेशे पतितं जलादिसामग्रीसद्भावेऽविकलकारणतां प्राप्तं च आशंसाभावेऽपि स्वकार्यं जनयत्येव। अविकलकारणभूताश्च कृषिहिंसादयोऽधर्मजननेऽतस्तत्कर्तृगताशंसा तत्र कोपयुज्यते नच दानादिक्रियायामपि विवेकिनः फलाशंसां प्रकुर्वते तथाप्यविकलकारणतया विशिष्टतरमेव ता धर्मफलं जनयन्ति तस्माच्छुभाया अशुभायाश्च सर्वस्या अपि क्रियाया अदृष्टं शुभाशुभं फलमस्त्येवेति प्रतिपत्तव्यम् । अनन्तसंसारिजीवसत्तान्यथानुपपत्तेरिति स्थितम् ।

एतदेव प्रतिपादयितुमाह ।

इयरहा अदिट्ठरहि-या सव्वे मुच्चेज्ज अयत्तेण ।
अदिट्ठारंभो चेव, किलेसबहुलो भवेज्जाहि ॥

इतरथा यदि कृषिहिंसाद्यशुभक्रियाणामदृष्टं फलं नाभ्युपगम्यते तदा तत्कर्त्तारो दृष्टफलाभावान्मरणानन्तरमेव सर्वेऽप्ययत्नेन मुच्येरन् संसारकारणाभावान्मुक्तिं गच्छेयुस्ततश्च प्रायः शून्य एव संसारः स्यादित्यर्थः । यश्चादृष्टारम्भोऽदृष्टफलानां दानादिक्रियाणां समारम्भः स एव क्लेशबहुलः संसारं प्रति भ्रमणकारणतया दुरन्तः स्यात् । तथाहि ते दानादिक्रियानुष्ठातारस्तदनुष्ठानेनादृष्टफलानुबन्धि विदध्युस्ततो जन्मान्तरे तद्विपाकमनुभवन्तस्ते प्रेरिताः पुनरपि दानादिक्रियास्वेव प्रवर्तेरंस्ततो भूयस्तत्फलसंचयात्तद्विपाकानुभूतिः पुनरपि दानादिक्रियारम्भ इत्येवमनन्तसन्ततिमयः संसारस्तेषां भवेत्तत्रैतत्स्यादित्थमप्यस्तु कात्र किलास्माकं बाधा अत्रोच्यते । इयमत्र गरीयसी भवतां बाधा यत्कृषिहिंसाद्यशुभक्रियानुष्ठातृणामदृष्टसंचयाभावे सर्वेषां मुक्तिगमने एकोऽपि तत्क्रियानुष्ठाता संसारे कापि नोपलभ्येत अशुभतत्फलविपाकानुभविता चैकोऽपि कचिदपि न दृश्येत दानादिशुभक्रियानुष्ठातारः शुभतत्फलविपाकानुभवितार एव च केवलाः सर्वत्रोपलभ्येरन् । न चैवं दृश्यते तस्मात्किमित्याह ।

जमणिट्ठभोगभाजो, बहुतरगा जं च नेह मइपुव्वं ।
अदिट्ठाणिट्ठफलं, कोइ वि किरियं समारभइ ॥
तेण पाभिवज्जकिरिया, अदिट्ठगंतियफला सव्वा ।
दिट्ठाणेगंतफला, सा वि अदिट्ठाणुभावे य ॥

यस्मादनिष्टभोगभाजो बहुतरा भूयांसः अशुभकर्मविपाकजनिताः दुःखभाज एव प्राणिनः प्रचुरा इहोपलभ्यन्ते शुभकर्मविपाकानिबन्धनसुखानुभवितारस्तु स्वल्पा एवेति भावः । तेन तस्मात्कारणात्सौम्य ! प्रतिपद्यस्व शुभा अशुभा वा सर्वा अपि क्रिया अदृष्टं शुभाशुभं कर्मरूपमैकान्तिकं फलं यस्याः साऽदृष्टैकान्तिकफलेत्युत्तरगाथायां संबन्धः । इदमुक्तं येन दुःखिनोऽत्र बहवः प्राणिनो दृश्यन्ते सुखिनस्तु स्वल्पास्तेन ज्ञायते कृषिवाणिज्यहिंसादिक्रियानिबन्धना शुभकर्मरूपा दृष्टफलविपाको दुःखिनामितरेषां तु दानादिक्रियाहेतुकशुभकर्मरूपादृष्टफलविपाक इति व्यत्ययः कस्मान्न भवतीति चेदुच्यते । अशुभक्रियारम्भिणामेव बहुत्वाच्छुभक्रियानुष्ठातृणामेव च स्वल्पत्वादिति तत्राह । नन्वशुभक्रियारम्भकाणामपि यद्यदृष्टफलं भवति तत्किमिति दानादिक्रियारम्भक इव तदारम्भकोऽपि कश्चित्तदाशंसां कुर्वाणो न दृश्यत इत्याह (जं च नेहेत्यादि) यस्मान्नेहादृष्टमनिष्टमशुभं फलं यस्याः सा अदृष्टानिष्टफला तामित्थंभूतां क्रियां मतिपूर्वामाशंसाबुद्धिपूर्विकां कोऽपि समारभत इत्यतो न कोऽपि तदाशंसां कुर्वाणो दृश्यते तस्मात्सर्वाऽपि क्रिया दृष्टैकान्तिकफलेति प्रतिपद्यस्वेति पुनरपि कथंभूता इत्याह । (दिट्ठाणेगंतफलत्ति) दृष्टं धान्यद्रविणलाभादिकमनैकान्तिकमनवश्यंभावि फलं यस्याः कृषिवाणिज्यादिक्रियायाः सा दृष्टानैकान्तिकफला सर्वाऽपि क्रिया । इदमुक्तं भवति । सर्वस्या अपि क्रियाया अदृष्टफलं तावदेकान्तेनैव भवति यत्तु दृष्टफलं तदनैकान्तिकमेव कस्याश्चित्तद्भवति कस्याश्चिन्नेत्यर्थः । एतच्च दृष्टफलस्यानैकान्तिकत्वमदृष्टानुभावेनैवेति प्रतिपत्तव्यम् । नहि समानसाधनारब्धतुल्यक्रियाणां द्वयोर्बहूनां वा एकस्य दृष्टफलविघातोऽन्यस्य तु नेत्येतददृष्टहेतुमन्तरेणोपपद्यत इति भावः । एतच्चेहैव प्रागुक्तमेवेति । अथवा किमिह प्रयासेन प्रागेव साधितमेव कर्म कया युक्त्येत्याह "अहवा फला उ कम्मं, कज्जत्तणओ पसाहियं पुव्वं । परमाणवो घडस्स व, किरियाण फलं तयं भिन्नं" अथवा "जो तुल्लसाहणाणं, फले विसेसो न सो विणा हेउं । कज्जत्तणओ गोयम,! घडो व्व हेऊ य सो कम्म" मित्यस्यां गाथायां प्रागस्माभिः कर्म प्रसाधितमेव कुत इत्याह । फलात्तुल्यसाधनानां यः फले विशेषस्तस्मादित्यर्थः । ततोऽपि फलविशेषात्कर्म (किरियाणतयं फलं भिन्नंत्ति) तदेव च कर्म सर्वासामपि क्रियाणामदृष्टं फलमित्येवमिहापि साध्यते । कथंभूतं ताभ्यः क्रियाभ्यो भिन्नं कर्मणः कार्यत्वात् क्रियाणां च कारणत्वात्कार्यकारणयोश्च परस्परं भेदादिति भावः विशे० आ० म० द्वि० ।

(८) कर्मणो मूर्तत्वं तत्र तावदाक्षेपपरिहारौ प्राह ।

आह नणु मुत्तमेवं, मुत्तं चिय कज्जमुत्तिमत्ताओ ।
इह जह मुत्तत्तणओ, घडस्स परमाणवो मुत्ता ॥

आह प्रेरको ननु यदि कार्याणां शरीरादीनां दर्शनात्तत्कारणभूतं कर्म साध्यते तर्हि कार्याणां मूर्त्तत्वात्कर्मापि मूर्त्तं प्राप्नोति । आचार्य उत्तरमाह " मुत्तं चिएत्यादि "यदस्माभिः यत्नेन साधयितव्यं तद्भवतापि परसिद्धान्तानभिज्ञबालबुद्धितयानिष्टाऽऽपादनाभिप्रायेण साधितमेव । तथा हि वयमपि ब्रूमो मूर्त्तमेव कर्म तत्कार्यस्य शरीरादेर्मूर्त्तत्वादिह यद्यत्कार्यं मूर्त्तं तस्य तस्य कारणमपि मूर्त्तं यथा घटस्य परमाणवः । यदमूर्त्तं कार्यं न तस्य कारणं मूर्त्तं यथा ज्ञानस्यात्मेति समवायिकारणं चेहाधिक्रियते न निमित्तकारणभूता रूपालोकादय इति आह । ननु सुखदुःखादयोऽपि कर्मणः कार्यमतस्तेषाममूर्त्तत्वात् कर्मणो मूर्त्तत्वमपि प्राप्नोति न हि मूर्त्तादमूर्त्तप्रसवो युज्यते न वा एकस्य मूर्त्तत्वममूर्त्तत्वं युक्तं विरुद्धत्वादत्रोच्यते । नन्वत एवात्र सामवायिककारणं समधिक्रियते न निमित्तकारणं सुखादीनां चात्मधर्मत्वादात्मैव समवायिकारणं कर्म पुनस्तेषामन्नपानादिविषादिवन्न निमित्तकारणमेवेत्यदोष इति ।

कर्मणो मूर्त्तत्वसाधनाय हेत्वन्तराण्याह ।

तह सुहसंवित्तीओ, संबंधे वेयणुब्भवाओ य ।
वज्झबलाहाणाओ, परिणामाओ य विसेयं ॥

आहाराइ वानलाहिव, घमो व्व नेहाइकयबलाहाणो ।
खीरमिवोदाहरणा, इं कम्मरूवित्तगमणाइं ॥

इह प्रथमगाथोपन्यस्तहेतुचतुष्टयस्य द्वितीयगाथायां यथासंख्यं चत्वारो दृष्टान्ता द्रष्टव्यास्तत्र मूर्त्तं कर्म तत्संबन्धे सुखादिसंवित्तेरिह यत्संबन्धे सुखादि संवेद्यते तन्मूर्त्तं दृष्टं यथा अशनाद्याहारः । यच्चामूर्त्तं न तत्संबन्धिसुखादि संविदस्ति यथाकाशादिसंबन्धि तस्मात्तत्संबन्धिसुखादिसंवेदनान्मूर्त्तं कर्मेति ॥ १ ॥ यथा यत्संबन्धे वेदनोद्भवो भवति तन्मूर्त्तं दृष्टं यथाऽनलोऽग्निर्भवति च कर्मसंबन्धे वेदनोद्भवस्तस्मात्तन्मूर्त्तमिति ॥ २ ॥ तथा मूर्त्तं कर्म आत्मनो ज्ञानादीनां च तद्धर्माणां व्यतिरिक्तत्वे सति बाह्येन स्रक्चन्दनाङ्गनादिना बलस्योपचयस्याधीयमानत्वाद्यथा स्नेहाद्याहितबलो घट इह यस्य नात्मविज्ञानादेः सतो बाह्येन वस्तुना बलमाधीयते तन्मूर्त्तं दृष्टं यथा स्नेहादिना आधीयमानबलो घटः । आधीयते च बाह्यैर्मिथ्यात्वादिहेतुभूतैर्वस्तुभिः कर्मण उपचयलक्षणं बलं तस्मात्तन्मूर्त्तमिति ।३। तथा मूर्त्तं कर्म आत्मादिव्यतिरिक्तत्वे मतिपरिणामित्वात्क्षीरमिवेति ।४। एवमादीनि हेतूदाहरणानि कर्मणो रूपित्वगमनादीनि । अत्र परिणामित्वासिद्धिमाशङ्क्योत्तरमाह ।

अह मयमसिद्धो अयं, परिणामओ त्ति सो वि कज्जाओ ।
सिद्धो परिणामो से, दहिपरिणामादिव पयस्स ॥

अथ परिणामित्वादित्यसिद्धोऽयं हेतुरिति मतं भवतः । एतदप्ययुक्तं यतः सोऽपि परिणामः सिद्धः (कज्जाओत्ति) कर्मकार्यस्य शरीरादेः परिणामित्वदर्शनादित्यर्थः । इह यस्य कार्यं परिणाम्युपलभ्यते तस्यात्मनोऽपि परिणामित्वं निश्चीयते यथा दध्नस्तक्रादिभावेन परिणामात्पयसोऽपि परिणामित्वं विज्ञायत एवेति । [६] जगद्वैचित्र्यात् कर्मसिद्धिः तत्र यत्पूर्वं सुखदुःखादिवैचित्र्यदर्शनात्तद्धेतुभूतं कर्म साधितं तत्र पुनरप्यग्निभूतिराह ।

अब्भाइविगाराणं, जह वेचित्तं विणा वि कम्मेण ।
तह जइ संसारीणं, हवेज्ज को नाम तो दोसो ॥

आह ननु यथाऽभ्रादिविकाराणामन्तरेणापि कर्म वैचित्र्यं दृश्यते तथा तेनैव प्रकारेण संसारिजीवस्कन्धानामपि सुखदुःखादिभावेन वैचित्र्यं यदि कर्म विनापि स्यात्ततः को नामदोषो भवेन्न कोऽपीत्यर्थः ।

भगवानाह ।

कम्मम्मि व को भेओ, जह बज्झक्खंधचित्तया सिद्धा ।
तह कम्म पोग्गलाण वि, विचित्तया जीवसहियाणं ॥

यद्यभ्रविकाराणां गन्धर्वनगरेन्द्रधनुरादीनां गृहदेवाकुलप्राकारतरुकृष्णनीलरक्तादिभावेन वैचित्र्यमिष्यते सौम्य ! वा शब्दस्यापि शब्दार्थत्वात्तर्हि कर्मण्यपि को भेदः को विशेषो येन तत्र वैचित्र्यं नाभ्युपगम्यते । न च हन्त ! यथा सकललोकप्रत्यक्षाणाममीषां गन्धर्वपुरशक्रदण्डादीनां बाह्यस्कन्धानां विचित्रता भवतोऽपि सिद्धा तथा तेनैव प्रकारेणान्तराणामपि कर्मस्कन्धानां पुद्गलमयत्वे समानेऽपि जीवसहितत्वस्य विशेषवतो वैचित्र्यकारणस्य सद्भावेऽपि सुखदुःखादिजनकरूपतया विचित्रता किमिति नेष्यते यदि ह्यभ्रादयो वा बाह्यपुद्गला नानारूपतया परिणमन्ति तर्हि जीवैः परिगृहीता सुतरां तथा परिणमस्यन्तीति भावः ।

एतदेव भावयति ।

बज्झाणचित्तया जइ, पडिवन्ना कम्मणो विसेसेण ।
जीवाणुगयस्स मया, भत्तीण वि चित्तनत्थाणं ॥

यदि हि जीवापरिगृहीतानामपि बाह्यानामभ्रादिपुद्गलानां नानाकारपरिणतिरूपा चित्रता त्वया प्रतिपन्ना तर्हि जीवानुगतानां कर्मपुद्गलानां विशेषत एवास्माकं भवतश्च सा सम्मता भविष्यति । भक्तयो विच्छित्तयस्तासामिव चित्रन्यस्तानामभिप्रायश्चित्रकरादिशिल्पिजीवपरिगृहीतानां लेप्यकाष्ठकर्मानुगतपुद्गलानां या परिणामचित्रता विश्रसा परिणतेन्द्रधनुरादिपुद्गलपरिणामचित्रता सकाशाद्विशिष्टैवेति प्रत्यक्षत एव दृश्यते । अतो जीवपरिगृहीतत्वेन कर्मपुद्गलानामपि सुखदुःखादिवैचित्र्यजननरूपा विशिष्टतरा परिणामचित्रता कथं न स्यादिति ।

अत्र परः प्राह ।

तो जइ तणुमेत्तं चिय, हवेज्ज का कम्मकप्पणा नाम ।
कम्मं पि नणु तणुच्चिय, सण्हयरब्भंतरा नवरं ॥

एवं मन्यते परो यद्यभ्रादिविकाराणामिव कर्मपुद्गलानां विचित्रपरिणतिरभ्युपगम्यते । ततो बाह्यं सकलजनप्रत्यक्षं तनुमात्रमेवेदं सुरूपकुरूपसुखदुःखादिभावत एवाभ्रादिविकारवद्विचित्ररूपतया परिणमतीत्येतदेवास्तु का नाम पुनस्तद्वैचित्र्यहेतुभूतस्यान्तरङ्गगुणकल्पस्य कर्मणः परिकल्पना स्वभावादेव सर्वस्यापि पुद्गलपरिणामवैचित्र्यस्य सिद्धत्वादिति भगवानाह (कम्मं पीत्यादि) अयमभिप्रायः यद्यभ्रादिविकाराणामिव तनोर्वैचित्र्यमभ्युपगम्यते तर्हि ननु कर्मापि तनुरेव कार्मणशरीरमेवेत्यर्थः । केवलं श्लक्ष्णतरा अतीन्द्रियत्वादभ्यन्तरा च जीवेन सहातिसंश्लिष्टत्वात्ततश्च यथाऽभ्रादिविकारबाह्यस्थूलतो नो वैचित्र्यमभ्युपगम्यते तथा कर्मतनोरपि तत्किन्नाभ्युपगम्यते इति भावः । अप्रेर्यमाशङ्क्य परिहारमाह ।

को तए विणा दोसो, थूलाए सव्वहा विप्पमुक्कस्स ।
देहग्गहणाभावो, तओ य संसारवोच्छित्ती ॥

प्रेरकः प्राह ननु बाह्यायाः स्थूलत्वाद्वैचित्र्यं प्रत्यक्षदृष्टत्वादेवाभ्रादिविकारवदभ्युपगच्छामः अन्तरङ्गायास्तु कर्मरूपायाः सूक्ष्मतनोर्वैचित्र्यं कथमिच्छामस्तस्याः सर्वथाऽप्रत्यक्षत्वात् । अथ तदनभ्युपगमे दोषः कोऽप्यापतति ततोऽर्थापत्तेरेव तद्विचित्रताऽभ्युपगन्तव्या तर्हि निवेद्यतां कस्तया विना दोषोऽनुषज्यते । आचार्यः प्राह । मरणकाले स्थूलया दृश्यमानतन्वा सर्वथा विप्रमुक्तस्य जन्तोरभवान्तरगतस्थूलतनुग्रहणनिबन्धनभूतां सूक्ष्मकर्मतनुमन्तरेणाग्रेतनदेहग्रहणाभावलक्षणो दोषः समापद्यते न हि निष्कारणमेव शरीरान्तरग्रहणं प्रयुज्यते ततश्च देहान्तरग्रहणानुपपत्तेर्मरणानन्तरं सर्वस्याप्यशरीरत्वादयत्नेनैव संसारव्यवच्छित्तिः स्यात्ततोऽपि च किं स्यादित्याह

सव्वे वि मोक्खवत्ती, निक्कारणओ व्व सव्वसंसारो ।
भवमुक्काणं च पुणो, संसरणमओ अणासासो ॥

ततः संसारव्यवच्छेदानन्तरं सर्वस्यापि जीवराशेर्मोक्षाप्तिर्भवेत् । अथाशरीराणामपि संसारपर्यटनं तर्हि निष्कारण एव सर्वस्यापि संसारः स्याद्भवमुक्तानां च सिद्धानामित्थं पुनरकस्मान्निष्कारण एव संसारपातः स्यात्तथैव च तनुसंसरणं ततश्च मोक्षेऽप्यनाश्वास इति ॥

जीवकर्मणोः सम्बन्धस्तत्र पुनः प्रकारान्तरेण प्रेर्यमाह ।

मुत्तस्सामुत्तमया, जीवेण कहं हवेज्ज संबन्धो ।
सोम ! घमस्स व नभसा, जह वा दव्वस्स किरियाए ॥

ननु मूर्त्तं कर्मेति प्राग् भवद्भिः समर्थितं तस्य च मूर्त्तस्य च कर्मणोऽमूर्त्तेन जीवेन सह कथं संयोगलक्षणः समवायसंबन्धः स्यादतः कर्मसिद्धावप्येतदपरमेव रन्ध्रं पश्यामः । अत्रोत्तरमाह सौम्य ! यथा मूर्त्तस्य घटस्यामूर्त्तेन नभसा संयोगलक्षणः संबन्धस्तथा अत्रापि जीवकर्मणोः । यथा वा द्रव्यस्याङ्गुल्यादेः क्रियया आकुञ्चनादिकया सह समवायलक्षणः संबन्धस्तथात्रापि जीवकर्मणोरयमिति ।

(१०) प्रकारान्तरेण जीवकर्मणोः संबन्धसिद्धिमाह ।

अहवा पच्चक्खं चिय, जीवोवनिबंधणं जह सरीरं ।
चिट्ठइ कप्पयमेवं, भवंतरे जीवसंजुत्तं ॥

अथवा यथेदं बाह्यं शरीरं जीवोपनिबन्धनं जीवेन सह संबन्धः प्रत्यक्षोपलभ्यमानमेव तिष्ठति सर्वत्र चेष्टते । एवं भवान्तरं गच्छता जीवेन सह संयुक्तं कार्मणशरीरं प्रतिपद्यस्व । अथ ब्रूषे धर्माधर्मनिमित्तं जीवसंबद्धं बाह्यशरीरं प्रवर्त्तते तर्हि पृच्छामो भवन्तं तावपि धर्माधर्मौ मूर्त्तौ वा भवेताममूर्त्तौ वा । यदि मूर्त्तौ तर्हि तयोरप्यमूर्त्तेनात्मना सह कथं संबन्धः । अथ तयोस्तेन सहासौ कथमपि भवति तर्हि कर्मणोऽपि तेन सार्धमयं कस्मान्न स्याद् । अथामूर्त्तौ धर्माधर्मौ तर्हि बाह्यमूर्त्तस्थूलशरीरेण तयोः संबन्धः कथं स्यान्मूर्त्तयोर्भवदभिप्रायेण संबन्धायोगात् न वा संबद्धयोस्तयोर्बाह्यशरीरचेष्टानिमित्तत्वमुत्पद्यतेऽतिप्रसङ्गाद् । अथामूर्त्तयोरपि तयोर्बाह्यशरीरेण मूर्त्तेन सहेष्यते संबन्धस्तर्हि जीवकर्मणोस्तत्सद्भावे कः प्रद्वेष इति ।

अथ परावक्षेपपरिहारौ प्राह ।

मुत्तेणामुत्तिमओ, उवघायाणुग्गहा कहं होज्जा ।
जह विण्णाणाईणं, मइरायाणो सहाईहिं ॥

ननु मूर्त्तिमता कर्मणाऽमूर्त्तिमतो जीवस्य कथमाह्लादपरितापाद्यनुग्रहोपघातौ स्यातां नह्यमूर्त्तस्य नभसो मूर्त्तैर्भवयज्वलनज्वालादिभिस्तौ युज्येते इति भावः । अत्रोत्तरमाह "जह विण्णाणाईणमित्यादि" यथा अमूर्त्तानामपि विज्ञानविविदिषा धृतिस्मृत्यादिजीवधर्माणां मूर्त्तैरपि मदिरापाने हृत्पूरविषपिपीलिकाभिर्भक्षितैरुपघातः क्रियते पयःशर्कराघृतपूर्णभेषजादिभिस्त्वनुग्रह इत्येवमिहापीति । एतच्च जीवस्यामूर्त्तत्वमभ्युपगम्योक्तम् । यदि वा अमूर्त्तोऽपि सर्वथाऽसौ न भवतीति दर्शयन्नाह ।

अहवा नेगंतोयं, संसारी सव्वहा अमुत्तोत्ति ।
जमणाइकम्मसंतइ-परिणामावन्नरूवो सो ॥

अथवा नायमेकान्तो यदुत संसारी जीवः सर्वथाऽमूर्त्त इति । कुतो यद्यस्मादनादिकर्मसन्ततिपरिणामापन्नं वह्न्ययःपिण्डन्यायेनान्यादिकर्मसन्तानपरिणतिस्वरूपतां प्राप्तं रूपं यस्य स तथा । ततश्च मूर्त्तकर्मणः कथंचिदनन्यत्वान्मूर्त्तोऽपि कथंचिज्जीव इति मूर्त्तेन कर्मणा भवत एव तस्यानुग्रहोपघातौ नभसस्तु मूर्त्तत्वादचेतनत्वाच्च तौ न भवत एवेति ।

कर्मणोऽनादित्वं तत्र कथं पुनः कर्मणोऽनादिसन्तान इत्याह ।

संताणोऽणाई उ, परोप्परं हेउहेउभावाओ ।
देहस्स य कम्मस्स य, गोयम ! बीयंकुराणं च ॥

अनादिः कर्मणः सन्तानः इति प्रतिज्ञा देहकर्मणोः परस्परं हेतुसद्भावादिति हेतुः बीजाङ्कुरयोरिवेति दृष्टान्तः । यथा बीजेनाङ्कुरो जन्यते अङ्कुरादपि क्रमेण बीजमुपजायते एवं देहेन कर्म जन्यते कर्मणा तु देह इत्येवं पुनः पुनरपि परस्परमनादिकालीनहेतुहेतुमद्भावादित्यर्थः । इह ययोरन्योन्यं हेतुहेतुमद्भावस्तयोरनादिसन्तानो यथा बीजाङ्कुरपितृपुत्रादीनां तथा च देहकर्मणोः ।

११ततोऽनादिकर्मसन्तान इति वेदोक्तद्वारेणापि कर्मसाधयन्नाह ।

कम्मे वा सइ गोयम ! जमग्गिहोत्ताइसग्गकामस्स ।
वेयविहियं विहीणइ, दाणाइफलं च लोयम्मि ॥

कर्मणि वा सति गौतम ! अग्निहोत्रादिना स्वर्गकामस्य वेदविहितं यत्किमपि स्वर्गादिफलं तद्विहन्यते स्वर्गादेः शुभकर्महेतुत्वात्तस्य च भवतोऽनभ्युपगमाल्लोके च यद्दानादिक्रियाणां फलं स्वर्गादिकं प्रसिद्धं तदपि विहन्येत अयुक्तं वेदे "किरियाफलभावा उ दाणाइं ण फलं किंसी पव्वेस्या" दिना प्रतिविहितत्वादिति । विशे० (३० ६ पत्र०) आ० म० ।

अत्र प्रसङ्गात्

वत्थस्स णं भंते ! पोग्गलोवचए किं सादीए सपज्जवसिए सादीए अपज्जवसिए अणादिए सज्जवसिए अणादीए अपज्जवसिए ? गोयमा ! वत्थस्स णं पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए । जहा णं भंते ! वत्थस्स पोग्गलोवचए सादीए सपज्जवसिए नो सादीए अपज्जवसिए नो अणादीए सपज्जवसिए नो अणादीए अपज्जवसिए तहा णं जीवा णं कम्मोवचए पुच्छा गोयमा ! अत्थेगइयाणं जीवाणं कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए सपज्जवसिए अत्थेगइए अणादीए अपज्जवसिए नो चेव णं जीवाणं कम्मोवचए सादीए अपज्जवसिए से केणट्ठेणं ? गोयमा ! इरियावहियबंधयस्स कम्मोवचए सादीए सपज्जवसिए भवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए सपज्जवसिए अभवसिद्धियस्स कम्मोवचए अणादीए अपज्जवसिए से तेणट्ठेणं ॥

सादिद्वारे "इरियावहियबंधस्सेत्यादि" ईर्यापथो गमनमार्गस्तत्र भवमैर्यापथिकं केवलयोगप्रत्ययं कर्मेत्यर्थः । तद्बन्धकस्योपशान्तमोहस्य क्षीणमोहस्य सयोगिकेवलिनश्चेत्यर्थः । ऐर्यापथिककर्मणो हि अबद्धपूर्वस्य बन्धनात्सादित्वम् अयोगावस्थायां श्रेणिप्रतिपाते वा अबन्धनात्सपर्यवसितत्वम् भ० ६ श० ३ उ० ।

(१२) नेश्वरादयो जगद्वैचित्र्ये हेतवः कर्मानभ्युपगमे च यदीश्वरादयो जगद्वैचित्र्यकर्त्तार इष्यन्ते तदप्ययुक्तमिति दर्शयन्नाह ॥

कम्ममणिच्छंतो वा, सुद्धं चिय जीवमीसराइं वा ।
मण्णसि देहाईणं, जं कत्तारं न सो जुत्तो ॥

कर्म वाऽनिच्छन्नग्निभूते ! गौतम ! यं कर्मरहितत्वाच्छुद्धमेव जीवमात्मानमीश्वराव्यक्तकालनियतियदृच्छादिकं वा देहादीनां कर्तारं मन्यसे तत्राप्युच्यते । नासौ शुद्धजीवेश्वरादिकर्त्ता युज्यत इति कुत इत्याह ॥

उवगरणाभावा उ, निच्चेट्ठामुत्तयाइ उ वा वि ।
ईसरदेहारंभे, वि तुल्लया वा णवत्था वा ॥

नायमीश्वरजीवादिरकर्मा शरीरादिकार्याण्यारभते उपकरणाभावाद्दण्डाद्युपकरणरहितकुलालवत् न च कर्म्म विना शरीराद्यारम्भिजीवादीनामन्यदुपकरणं घटते। गर्भाद्यवस्थास्वन्योपकरणासम्भवाच्छुक्रशोणितादिग्रहणस्याप्यकर्मणाऽनुपपत्तेः। अथ वाऽन्यथाप्रयोगः क्रियते "निश्चेष्टेत्यादि" नाकर्मा शरीराद्यारभते निश्चेष्टत्वादाकाशवत्तथाऽमूर्त्तत्वादादिशब्दादशरीरत्वान्निष्क्रियत्वात्सर्वगतत्वाद् वाऽऽकाशवदेव। तथा एकत्वादेकपरमाणुवदित्यादि। अत्रोच्यते शरीरवानीश्वरः सर्वाण्यपि देहादिकार्याण्यारभते नन्वीश्वरदेहारम्भेऽपि तर्हि तुल्यता पर्यनुयोगस्य। तथाह्यकर्म्मा नारभते निजशरीरमीश्वरो निरुपकरणत्वाद्दण्डादिरहितकुशालवदिति । अथान्यः कोऽपीश्वरस्तच्छरीरारम्भाय प्रवर्तते। ततः सोऽपि शरीरवानशरीरो वा। यद्यशरीरस्तर्हि नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि सैव वक्तव्यता। अथ शरीरवांस्तर्हि तच्छरीरारम्भेऽपि तुल्यता सोऽप्यकर्म्मा निजशरीरं नारभते निरुपकरणत्वादित्यादि। अथ तच्छरीरमन्यः शरीरवांस्तर्हि तच्छरीरारम्भेऽपि तुल्यता नारभतेऽतस्तस्याप्यन्यस्याप्यन्य इत्येवमनवस्था अनिष्टं च सर्वमेतत्तस्मान्नेश्वरो देहादीनां कर्त्ता। किं तु कर्म्म सद्वितीयो जीव एव निष्प्रयोजनश्चेश्वरो देहादीन्कुर्वन्नुन्मत्तकल्प एव स्यात्। सप्रयोजनकर्तृत्वे पुनरनीश्वरप्रसङ्गः। नत्वानादिशुद्धस्य देहादिकारणेच्छा युज्यते तस्या रागविकल्परूपत्वादित्याद्यत्र बहु वक्तव्यं गहनताप्रसङ्गात्तु नोच्यत इत्यनेनैव विधानेन विष्णुब्रह्मादयोऽपि प्रत्युक्ता द्रष्टव्या इति ॥

[१३] स्वभाववदूषणं विवक्षुः शङ्कान्तरं प्रतिविधातुमाह ।

अह व सहावं मन्नसि, विन्नाणघणो इच्चेय वुत्ताहउ ।
तह बहुदोसं गोयम, ! ता णं वप्पमाणपयमत्थो ॥

अथ "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य" इत्यादि वेदवचनश्रवणात्स्वभावं देहादीनां कर्त्तारं मन्यसे। यतः केचिदाहुः "सर्वहेतुर्निराशंसं, भवानां जन्म वर्ण्यते। स्वभाववादिभिस्ते हि, नाहुः स्वमपि कारणम्" जीवकण्टकादीनां, वैचित्र्यं कः करोति हि। मयूरचन्द्रिकादिर्वा, चित्रः केन विनिर्मितः। कादाचित्कं यदत्रास्ति, निःशेषं तदहेतुकम्। यथा कण्टकतैक्ष्ण्यादि, तथा चैते सुखादयः" तदेतद्यथा त्वं मन्यसे गौतम ! तथाऽभ्युपगम्यमानं बहुदोषमेव तथा हि यो देहादीनां कर्त्ता स्वभावोऽभ्युपगम्यते स किं वस्तुविशेषो वा अकारणता वा वस्तुधर्म्मो वेति त्रयी गतिस्तत्र न तावद्वस्तुविशेषस्तद्ग्राहकप्रमाणाभावादप्रमाणकस्याप्यभ्युपगमे कर्म्मापि नाभ्युपगम्यते तस्यापि त्वदभिप्रायेणाप्रमाणकत्वात् किं च वस्तुविशेषः स स्वभावो मूर्त्तो वा स्यादमूर्त्तो वा यदि मूर्त्तस्तर्हि स्वभाव इति नामान्तरेण कर्मैवोक्तं स्यादथामूर्त्तस्तर्हि नासौ कस्यापि कर्त्ता अमूर्त्तत्वान्निरुपकरणत्वाच्च व्योमवदिति। न च मूर्त्तस्य शरीरादिकार्यस्यामूर्त्तं कारणमनुरूपमाकाशवदिति। अथाकारणतास्वभाव इष्यते तत्राप्यभिदध्महे। नन्वेवं सत्यकारणं शरीराद्युत्पद्यत इत्ययमर्थः स्यात्तथा च सति कारणाभावस्य समानत्वाद्युगपदेवाशेषदेहोत्पादप्रसङ्गः। अपि चेत्थमहेतुकमाकस्मिकं शरीराद्युत्पद्यत इत्यभ्युपगतं भवेदेतच्चायुक्तमेव यतो यदहेतुकमाकस्मिकं न तदादिमत्प्रतिनियताकारं यथा' भ्रादिविकारः आदिमत्प्रतिनियताकारं च शरीरादि तस्मान्नाकस्मिकं किन्तु कर्म्महेतुकमेव प्रतिनियताकारत्वादेव चोपकरणसहितकर्तृनिर्वर्त्यमेव शरीरादिकं घटादिवदिति गम्यत एव। न च गर्भाद्यवस्थासु कर्मणोऽन्यदुपकरणं घटत इत्युक्तमेव। अथ वस्तुनो धर्म्मः स्वभावोऽभ्युपगम्यते। तथाऽप्यसौ यद्यात्मधर्म्मो विज्ञानादिवत्तर्हि न शरीराकारणमसावमूर्त्तत्वादाकाशवदित्यभिहितमेव । अथ मूर्त्तवस्तुधर्म्मोऽसौ तर्हि सिद्धसाधनाकर्म्मणोऽपि पुद्गलास्तिकायपर्यायविशेषत्वेनास्माभिरभ्युपगतत्वादिति। अपि च "पुरुष एवेदग्वं सर्वमित्यादि" वेदवाक्यश्रवणाद्भवतः कर्मास्तित्वसंशयः। एषां हि वेदपदानामयमर्थस्तव चेतसि विपरिवर्त्तते पुरुष आत्मा एवकारोऽवधारणे स च पुरुषातिरिक्तस्य कर्म्मप्रकृतीश्वरादेः सत्ताव्यवच्छेदार्थः। इदं सर्वं प्रत्यक्षं वर्त्तमानं चेतनाचेतनस्वरूपं ग्वमिति वाक्यालङ्कारे यद्भूतमतीतं यच्च भाव्यं भविष्यन्मुक्तिसंसारावपि स एवेत्यर्थः। "उतामृतत्वस्येशान इति" उत शब्दोऽप्यर्थे अपिशब्दश्च समुच्चये अमृतत्वस्य चामरणस्वभावस्य मोक्षस्येशानः प्रभुरित्यर्थः। "यदन्नेनातिरोहति" चशब्दस्य लुप्तस्य दर्शनाच्चान्नेनाहारेणारोहत्यतिशयेन वृद्धिमुपैति। यदेजति चलति पश्वादि यन्नेजति न चलति पर्वतादि यद्दूरे मेर्वादि यदु अन्तिके उशब्दोऽवधारणे यदन्तिके समीपे तदपि पुरुष एवेत्यर्थः। यदन्तर्मध्येऽस्य चेतनाचेतनस्य सर्वस्य यदेव सर्वस्याप्यस्य बाह्यतः तत्सर्वं पुरुष एवेत्यतस्तद्व्यतिरिक्तस्य कर्म्मणः किल सत्ता दुःश्रद्धेया इति ते मतिः। तथा विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य इत्यादीन्यपि वेदानि कर्माभावप्रतिपादकानि मन्यसे त्वम्। अत्राप्येवकारस्य कर्म्मादिसत्ताव्यवच्छेदपरत्वात्तदेवमेतेषां "पुरुष एवेदमित्यादीनां" विज्ञानघनादीनां च वेदपदानां नायमर्थो यो भवतश्चेतसि वर्त्तते तेषां पदानामयं भावार्थः पुरुष एवेदं सर्वमित्यादिभिस्तावत्पुरुषस्तुतिपराणि जात्यादिमदत्यागहेतोरद्वैतभावप्रतिपादकानि च वर्त्तन्ते। न तु कर्मसत्ताव्यवच्छेदकानि वेदवाक्यानि हि कानिचिद्विधिवादपराणि कान्यप्यर्थवादप्रधानान्यपराणि तु अनुवादपराणि "तत्राग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम" इत्यादीनि विधिवादपराणि। विशे० (अर्थवादवर्णनमन्यत्र) "तस्मात्पुरुष एवेदं सर्वमित्यादीनि" वेदपदानि स्तुत्यर्थवादप्रधानानि द्रष्टव्यानि। विज्ञानघन एवैतेभ्य इत्यत्राप्ययमर्थः विज्ञानघनाख्यः पुरुष एवायं भूतेभ्योऽर्थान्तरं वर्त्तते स च कर्त्ता कार्यं च शरीरादिकमिति प्राक् साधितमेव। ततश्च कर्तृकार्याभ्यामर्थान्तरकरणमनुमीयते। तथाहि यत्र कर्तृकार्यभावस्तत्रावश्यंभावि करणं यथाऽयस्कारादयः पिण्डसद्भावे सदंशः यच्चात्मनः शरीरादिकार्याभिनिवृत्तौ करणभावमापद्यते तत्कर्मेति प्रतिपद्यस्व। अपि च साक्षादेव कर्मसत्ताप्रतिपादकानि श्रूयन्त एव वेदवाक्यानि तद्यथा। "पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन कर्मणेत्यादि" तस्मादागमादपि सिद्धं प्रतिपद्यस्व कर्मेति॥ विशे०। कल्प०।स्था०।अष्ट०।

(१४] तस्य पुण्यपापद्वयात्मकत्वविचारः ॥

मन्नसि पुण्णं पावं, साहारणमहव दो विभिन्नाई ।
होज्ज न ता कम्मं चिय, सभावओ भवपवंचो यं ॥

इह केषांचित्तीर्थिकानामयं प्रवादः पुण्यमेवैकमस्ति न पापम्। अन्ये त्वाहुः पापमेवैकमस्ति न पुण्यम्। अपरे तु वदन्ति। उभयमप्यन्योन्यानुविद्धस्वरूपमेव कर्मणि कल्पं सन्मिश्रसुखदुःखाख्यफलहेतुः साधारणं पुण्यपापाख्यमेकं वस्त्विति। अन्ये तु प्रतिपादयन्ति स्वतन्त्रमुभयं विविक्तसुखदुःखकारणं (होज्जत्ति) भवेदिति। अन्ये पुनराहुर्मूलतः कर्मैव नास्ति स्वभाव

सिद्धः सर्वोऽप्ययं जगत्प्रपञ्चः । अतस्त्वमप्येतानेव विकल्पानभ्यसे । एतेषां च विकल्पानां परस्परविरुद्धत्वात्संशयदोलामारूढोऽसि त्वमिति । ननु येषां पुण्यमेवैकमस्ति न पापं तन्मते कथं कस्यापि दुःखोपपत्तिरित्याह ।

पुरणुकरिसे सुजया, तरतमयोगावगरिसओ हाणी ।
तस्सेव खए मोक्खो, पत्थाहारोवमाणाओ ॥

पुनातीति पुण्यं तस्योत्कर्षे लेशतो लेशतश्च वृद्धौ शुभता भवति सुखस्यापि क्रमशो वृद्धिर्भवति । तावद्यावदुत्कृष्टं स्वर्गसुखमित्यर्थः । तस्यैव पुण्यस्य तरतमयोगादपकर्षतो हानिः सुखस्य दुःखं भवति । इदमुक्तं भवति । यथा यथा पुण्यमपचीयते तथा तथा जीवानां क्रमेण दुःखमुत्पद्यते यावत्सर्वप्रकर्षप्राप्तं नारकदुःखं तस्यैव च पुण्यस्य सर्वथा क्षयो मोक्ष इति एतच्च सर्वं पथ्याहारोपमानाद्भावनीयम् । तथाहि यथा पथ्याहारस्य क्रमेण वृद्धौ सुखवृद्धिर्यथा च पथ्याहारस्य क्रमेण परिहारे सरोगता भवत्येवं पुण्योपचये दुःखोत्पत्तिः सर्वथा पथ्याहारस्य परिहारे च मरणवत्पुण्यक्षये मोक्ष इति । केवलपापाभ्युपगमे सुखसंभवः कथमित्याह ।

पावकरिसेह मया, तरतमजोगावगरिसओ सुभया ।
तस्से व खये मोक्खो, अपत्थभुज्जोवमाणाओ ॥

इहापथ्याहारोपमानाद्वैपरीत्येन भावना कार्या । तथा हि यथा क्रमेणापथ्यवृद्धौ रोगवृद्धिस्तथा पांशयत्यात्मानं मलिनयतीति पापं तस्य वृद्धौ दुःखवृद्धिरूपाऽधमता मन्तव्या क्रमेण दुःखं वर्द्धते यावदुत्कृष्टं नारकदुःखम् । यथा वा पथ्यत्यागात्क्रमेण रोगवृद्धिस्तथा क्रमेण पापस्यापकर्षात्सुखस्य वृद्धिर्यावदुत्कृष्टं सुरसौख्यम् । यथा च पथ्याहारस्यासर्वथा परित्यागात्परमारोग्यमुपजायते एवं सर्वपापक्षये मोक्ष इति ।

[१५] अथ साधारणं पुण्यपापाख्यमेकमेव संकीर्णं वस्त्विति तृतीयविकल्पं भावयन्नाह ।

साहारणवमादिव, अह साहारणमहेगमत्ताए ।
उक्करिसावगरिसो, तस्सेव य पुण्णपावक्खा ॥

" अह साहारणमिति " अथ साधारणं संकीर्णपुण्यपापाख्यवस्तु इत्यर्थः । कथंभूतं पुनरिदमवगन्तव्यमित्याह (साहारणवमादिवत्ति) यथा साधारणं तुल्यं हरितालगुलिकादीनामन्यतरस्मीलितं वर्णकद्वयम् आदिशब्दात् यथा मेचकमणिनरसिंहादि वा तथेदमपि पुण्यपापाख्यसंकीर्णमेकं वस्त्वित्यर्थः । ननु यद्येकं वस्त्वित्थं तर्हि पुण्यं पापं चेति परस्परविरोधे वस्तुविषयमाख्याद्वयं कथं लभते इत्याह " अहेगमत्ताए इत्यादि " अथ तस्यैवैकस्य संकीर्णपुण्यपापाख्यवस्तुन एकया पुण्यमात्रया एकेन पुण्यांशेनेत्यर्थः । उत्कर्षतो वृद्धौ सत्यां पुण्याख्या प्रवर्त्तते एकया तु पापमात्रया एकेन पापांशेनेत्यर्थः । उत्कर्षतो वृद्धौ सत्यां पापाख्या प्रवर्त्तते अपकर्षेऽपि पुण्यांशस्य पापाख्या प्रवर्तते पापांशस्य त्वपकर्षे पुण्या प्रवर्तत इति चतुर्थं पञ्चमं च विकल्पद्वयमङ्गीकृत्याह ।

एवं चिय दो भिन्ना-ई होज्जा वा सभावओ चेव ।
भवसंभूई जमइ, न सभावओ होज्ज जो भिन्नओ ॥
होज्ज सहावो वत्थुं, निक्कारणया व वत्थुधम्मो वा ।
जइ वत्थुं नत्थि तओ, अणुवलद्धी उ खपुप्फं व ॥

एवमेव केषांचिन्मतेन द्वे अपि भिन्ने स्वतन्त्रे स्यातां पुण्यपापे तत्कार्यभूतयोः सुखदुःखयोर्यौगपद्येनानुभवाभावादतोऽनेनैव भिन्नकार्यदर्शनेन तत्कारणभूतयोः पुण्यपापयोर्भिन्नताऽनुमीयते इति (होज्जवेत्यादि) अथवा स्वभावत एव विनापि पुण्यपापाभ्यां भवसंभूतिर्भववैचित्र्यस्य संभवः कैश्चिदिष्यते तदेवं दर्शिताः पञ्चापि पुण्यपापविषया विकल्पाः । एतैश्च भ्रमितमनोभिः संशयो न कर्त्तव्यः एकस्यैव चतुर्थविकल्पस्यादेयत्वाच्छेषाणां चानादेयत्वादत एव प्रत्यासन्नित्यायमङ्गीकृत्य पञ्चमविकल्पं तावत् दूषयितुमाह (भण्णइत्यादि) भण्यतेऽत्रोत्तरं न स्वभावतो भवेदिति यतो विकल्पास्तत्र यदि वस्तुरूपोऽयमिति प्रथमो विकल्पस्तर्हि तत्कोऽसौ स्वभावो नास्ति अनुपलम्भात्खपुष्पवदिति । अत्राप्यनुपलभ्यमानोऽप्यस्त्यसावित्याशङ्क्याह ।

अच्चंतमणुवलद्धो, वि अह तउ अत्थि नत्थि किं कम्मं ।
हेउ व तदत्थि तेओ, नणु कम्मस्स वासए एव ॥
कम्मस्स वा भिदाणं, होज्ज सभावोत्ति होउ को दोसो ।
एइनियमगाराउ, न य सो कत्ता घडस्सेव ॥
मुत्तो अमुत्तो व तओ, जइ मुत्तो तो भिहाणओ भिन्नो ।
कम्मत्ति सहाओत्ति य, जइ वा मुत्तो न कत्ता तो ॥
देहाणं तोमपि व-ज्जुत्ता कज्जाइं उ य मुत्तिमया ।
अह सो निक्कारणया, तो खरसिंगाहओ होंतु ॥
अह वत्थुणो सधम्मो, परिणामो तो सकम्मजीवाणं ।
पुन्नेयराभिहाणो, कारणकज्जाणुमेओ सो ॥
किरियाणं कारणाओ, देहाईणं च कज्जभावाओ ॥
कम्मं महतिहियंति, पडिवज्जत्तमवि भूयव्वं ।
तं चिय देहाईणं, किरियाणं पि या सुभासुभत्ताओ ॥
पमिवज्जपुण्णपावं, सभावओ भिन्नजाईयं ॥

एताश्च गाथाः प्रायोऽग्निभूतिगणधरवादे व्याख्याता एव सुगमाश्च नवरं (कारणकज्जाणुमेओ सोत्ति) स च जीवकर्म्मणोः पुण्यपापाभिधानः परिणामः कारणेन कार्येण चानुमीयते कारणानुमानात्कार्यानुमानाच्च गम्यत इत्याह । एतदेवानुमानद्वयमाह "किरियाणं कारणाओ इत्यादि" दानादिक्रियाणां हिंसादिक्रियाणां च कारणत्वात्कारणरूपत्वादस्ति तत्फलभूतस्तत्कार्यरूपपुण्यपापात्मकं जीवकर्म्मपरिणामः यथा कृष्यादिक्रियाणां शालियवगोधूमादिकम् उक्तं च "समासु तुल्यं विसमासु तुल्यं, सतीष्वसत्स्वप्यसतीषु सत्सु । फलं क्रियास्वित्यथ यन्निमित्तं, तदेहिनां सोऽस्ति नु कोऽपि धर्म्मः " एतत्कारणानुमानम् (देहाईणमित्यादि) देहादीनां कारणमस्ति कार्यरूपत्वात्तेषां यथा घटस्य मृद्दण्डचक्रचीवरादिसामग्रीकलितकुलालः । ननु वक्तव्यं दृष्ट एव मातापित्रादिकस्तेषां हेतुः दृष्टहेतु साम्येऽपि सुरूपेतरादिभावेन देहादीनां वैचित्र्यदर्शनात्तस्य चादृष्टकर्माख्यहेतुमन्तरेणाभावत एव पुण्यपापभेदेन कर्म्मणो द्वैविध्यं शुभदेहादीनां पुण्यकार्यत्वादितरेषां तु पापफलत्वादुक्तं च " इह दृष्टहेतुसंनवि, कार्यविशेषात्कुलालयत्नमिव । हेत्वन्तरमनुमेयं, तत्कर्म शुभाशुभं कर्त्तुः " एतत्कार्यानुमानं तथा मदभिहितमिति च कृत्वाऽग्निभूतिवत्त्वमपि कर्म प्रतिपद्यस्व । सर्वज्ञवचनप्रमाण्यादित्यर्थः । तदपि पुण्यपापविज्ञानेन ।

इतरदपि पुण्यपापयोः साधनाय प्रमाणमाह।

सुखदुक्खकारणमणु-रूवं कज्जस्स भावओ वस्सं ।
परमाणवो घडस्स व, कारणमिह पुण्णपावाइं ॥

अस्त्यवश्यं सुखदुःखयोरनुरूपं कारणं कार्यत्वात्तयोर्यच्चेह कार्यं तस्यानुरूपं कारणं भवत्येव यथा घटस्य परमाणवस्तच्च तयोरिहानुरूपं कारणं सुखस्य पुण्यं दुःखस्य पापमिति ।

प्रेरकः प्राह ।

सुहदुक्खकारणं जइ, कम्मं कज्जस्स तदणुरूवं च ।
पत्तमरूवं तं पि हु, अह रूवं नाणुरूवं तु ॥

ननु यदि सुखदुःखयोः पुण्यपापात्मकं कर्म कारणं तच्च यदि कार्यस्य सुखदुःखरूपस्यानुरूपं सदृशमिष्यते तर्हि सुखदुःखयोरात्मपरिणामत्वेनारूपत्वात्तदपि पुण्यपापात्मकं कर्म तदनुरूपतयाऽरूपं प्राप्नोति । अथ रूपवत्तर्हि नानुरूपं तन्मूर्त्तत्वेन विलक्षणत्वादिति ।

अत्रोत्तरमाह ।

न हि सव्वहा णुरूवं, भिन्नं वा कारणं अह मयं ते ।
किं कज्जकारणत्तण-महवा वत्थुत्तणं तस्स ॥

न हि सर्वथा कार्यानुरूपं कारणमिष्यते येन सुखदुःखवत्कर्मणोऽप्यरूपत्वं प्रेर्येत । नाप्येकान्तेन सर्वधर्मैः कारणं कार्याद्भिन्नमेष्टव्यम (अह मयंतित्ति) अथ ते तवैतन्मतमेकान्तेन सर्वैरपि धर्मैः कारणं कार्यानुरूपमेव भिन्नं वा नन्वनुरूपमेवेति तर्हि सर्वथाऽनुरूपत्वे एकस्य कारणत्वे अपरस्यापि कारणत्वादेकस्य च कार्यत्वेऽन्यस्यापि कार्यत्वात्किं तयोः कार्यकारणत्वं न किंचित् द्वयोरपि वस्तुत्वे सर्वथा भेदहानिप्रसङ्गादिति तस्मान्नैकान्तेनानुरूपता अननुरूपता वा कार्यकारणयोः किं तर्हि ।

सव्वं तुल्लातुल्लं, जइ तो कज्जाणुरूवया केयं ।
जं सोम्म ! सपज्जाओ, कज्जं परपज्जओ सेसो ॥

न केवलं कार्यकारेण एव तुल्यातुल्यरूपे किं तु सकलमपि त्रिभुवनान्तर्गतं वस्तु परस्परं तुल्यातुल्यरूपमेव न पुनः किंचित्कस्यापि एकान्तेन तुल्यमतुल्यं वा । लब्धावकाशः परः प्राह (जइत्यादि) यद्येवं ततः केयं कार्यानुरूपता कारणस्य विशेषतोऽभिधीयते येनोच्यते "सुहदुक्खाणं कारणमणुरूवमित्यादि" यदि हि किंचिदनेकान्तेनानुरूपं स्यात्तर्हीत्थं वक्तुं युज्येत यदा त्वेकान्ततो न किंचिदनुरूपं नाप्यननुरूपं किंतु सर्वं सर्वेण तुल्यातुल्यरूपमेव तदा किमनेन विशेषेण । अत्रोच्यते (जमित्यादि) सौम्य ! तुल्यातुल्यत्वे सर्वगते अपि यद्यस्मात्कारणस्य कार्यं स्वपर्यायस्तस्मात्कारणं कार्यस्येहानुरूपमुच्यते शेषस्त्वकार्यरूपः सर्वोऽपि पदार्थः कारणस्य परपर्याय इति तं प्रति विवक्षितं कारणमसमानरूपमभिधीयते । आह ननु कथं प्रस्तुते सुखदुःखे कारणस्य स्वपर्याय उच्यते । जीवपुण्यसंयोगः सुखस्य कारणं तस्य च सुखं पर्याय एव दुःखस्यापि जीवपापसंयोगः कारणमतस्तस्यापि दुःखं पर्याय एव । यथा च सुखं शुभं कल्याणं शिवमित्यादीन् व्यपदेशान् लभते तथा तत्कारणभूतं पुण्यस्कन्धद्रव्यमपि यथाच दुःखमशुभमकल्याणमशिवमित्यादिसंज्ञां प्राप्नोति तथा तत्कारणभूतं पापद्रव्यमपीति । विशेषतोऽत्र पुण्यपापे सुखदुःखयोरनुरूपकारणत्वेनोक्ते इति ।

अथ परः प्रेर्यं चिकीर्षुस्तदवकाशहेतोः पृच्छति ।

किं जह मुत्तममुत्त-स्स कारणं तह सुहाइणं कम्मं ।
दिट्ठं सुहाइकारण-मन्नाइ जहेह तह कम्मं ॥

किं यथा मूर्त्तं नीलादिकममूर्त्तस्य स्वप्रतिभासिज्ञानस्य कारणं हेतुस्तथा सुखदुःखयोः पुण्यपापात्मकं कर्मापि मूर्त्तमेव सत्कारणं यथा प्रत्यक्ष एव दृष्टमन्नादिकमादिशब्दात्स्रक्चन्दनाङ्गनाहिविषकण्टकादिकमिह सुखदुःखयोः मूर्त्तं सत्कारणं तद्वत्कर्मापि तयोरिति भावार्थः । ततः किमिति चेदुच्यते ।

होउ तयं चिय किं क-म्मणा न जं तुल्लसाहणाणं पि ।
फलभेदओ सो वस्सं, सकारणं कारणं कम्मं ॥

ननु तदेव दृष्टमन्नादिकं वस्तु तस्य सुखादेः कारणमस्तु किमदृष्टेन तेन कर्मणा परिकल्पितेन अतिप्रसङ्गात्तदेतन्न यद्यस्मात्तुल्यान्यन्नादीनि साधनानि येषां ते तुल्यसाधनाः पुरुषास्तेषामपि फले सुखदुःखलक्षणे कार्यभेदः फलभेदो महान् दृश्यते । तुल्येऽप्यन्नादिके भुक्ते कस्याप्याह्लादोऽन्यस्य तु रोगाद्युत्पत्तिर्दृश्यत इत्यर्थः। यश्चेत्थं तुल्यान्नादिसाधनानामपि फलभेदः सोऽवश्यमेव सकारणो निष्कारणत्वे नित्यं सत्त्वासत्त्वप्रसङ्गाद्यच्च तत्कारणं तददृष्टं कर्म इति न तत्कल्पनानर्थक्यमिति ।

मूर्त्तं च तत्कर्म कुत इत्याह ।

यत्तो च्चिय तं मुत्तं, मुत्तबलाहाणओ कुंभो ।
देहाइ कज्जमुत्ता-इओव भणिए पुणो भणइ ॥

यत एव तुल्यसाधनानां कर्मनिबन्धनफलभेदोऽत एवोच्यते मूर्त्तं कर्म्म मूर्त्तस्य देहादेर्बलाधानकारित्वात्कुम्भवद्यथा निमित्तमात्रभावित्वेन घटो देहादीनां बलमाधत्ते एवं कर्माप्यन्नं मूर्त्तमित्यर्थः। अथवा मूर्त्तं कर्म्म मूर्त्तेन स्रक्चन्दनादिना तस्योपचयलक्षणस्य बलस्याधीयमानत्वात्कुम्भवद्यथा मूर्त्तत्वेन तैलादिना बलस्याधीयमानत्वात्कुम्भो मूर्त्तः एवं स्रक्चन्दनादिना उपचीयमानत्वात्कर्मापि मूर्त्तमिति भावः। यदि वा मूर्त्तं कर्म्म देहादेस्तत्कार्यस्य मूर्त्तत्वात्परमाणुवद्यथा घटादेस्तत्कार्यस्य दर्शनात्परमाणवो मूर्त्ताः एवं देहादेस्तत्कार्यस्य मूर्त्तस्य दर्शनात् कर्मापि मूर्त्तमित्यर्थः । एवं भणितेन पुनर्भणति परः किमित्याह ।

तो किं देहाईणं, मुत्तत्तणओ तयं हवइ मुत्तं ।
अह सुहदुक्खाईणं, कारणभावादरूवं ति ॥

ततः किं देहादीनां कर्मकार्याणां मूर्त्तानां दर्शनात्तत्कर्म मूर्त्तं भवत्वाहोश्वित्सुखदुःखक्रोधमानादीनां जीवपरिणामभूतानां तत्कार्याणाममूर्त्तानां दर्शनात्तत्कारणभावेनामूर्तमस्तु कर्मेत्येवं मूर्त्तत्वामूर्तत्वाभ्यामुभयथापि तत्कार्यदर्शनात्किं मूर्तं वा कर्म्म भवत्विति निवेद्यतामिति । एवं प्रेरकेणोक्ते सत्याह ।

न सुहाईणं हेउ, कम्मं चि य किं तु ताण जीवो वि ।
होइ समवायकारण-मियरं कम्मं ति को दोसो ॥

सुखादीनां कर्मैव केवलं कारणं न भवति किं तु जीवोऽपि तेषां समवायिकारणं भवति कर्म पुनरेतदसमवायिकारणं भवतीति को दोषः । इदमुक्तं भवति सुखादेरमूर्त्तत्वेन समवायिकारणस्य जीवस्यामूर्त्तत्वमस्त्येव असमवायिकारणस्य तु कर्मणः सुखाद्यमूर्त्तत्वेन मूर्त्तत्वं न भवतीत्यपीति न दोष इति । तदेवमुक्तमर्थमुपसंहरन्केवलपुण्यलक्षणं प्रथमविकल्पं दूषयितुमाह ।

इय रूविसे सुहदुक्ख-कारणत्ते य कम्मणो सिद्धो ।
पुण्णावगरिसमेत्तेण, दुक्खबहुलत्तणमजुत्तं ॥

इत्येवं पक्षविकल्पोपन्यस्तस्वभाववादनिरासेन पुण्यपापात्मकस्य कर्मणः सुखदुःखकारणत्वे रूपित्वे च सिद्धे पुण्यापकर्षमात्रेण यत् दुःखबहुलत्वं प्रथमविकल्पोपन्यासे प्रोक्तं तदयुक्तमिति कुतोऽयुक्तमित्याह ।

कम्मप्पगरिसजणियं, तदवस्सं पगरिसाणुभूईओ ।
सोक्खप्पगरिसभूई, जह पुरणप्पगरिसप्पभवा ॥

तत् दुःखबहुलत्वं पुण्यापकर्षजनितं न भवति किंतु स्वानुरूपकर्म्मप्रकर्षजनितं प्रकर्षानुभूतित्वादप्रकर्षानुभवरूपत्वादिति हेतुः यथा सौख्यप्रकर्षानुभूतिःस्वानुरूपकर्म्मप्रभवा इति दृष्टान्तः।

अपपत्त्यन्तरमाह ।

तह बज्झमाहणप्पग-रिसंगभावादिहरणगा न तयं ।
विवरीयबज्झसाहण-बलप्पगरिसं अवेक्खेज्ज ॥

तथेत्युपपत्त्यन्तरार्थः इह देहिनां दुःखबहुत्वं केवलपुण्यापकर्षमात्रजनितं न भवति कुत इत्यत्र हेतुमाह । बाह्यानि यान्यनिष्टाहारादीनि साधनानि तेषां यस्तदनुरूपः प्रकर्षस्तस्याङ्गभावात्कारणभावादिति । विपर्यये बाधकमाह । इहेत्यादि तद्दुःखमन्यथा यदि पुण्यापकर्षमात्रजन्यं भवेत्तदा पुण्यसंपाद्येऽष्टाहारापचयमात्रादेव भवेन्न तु पापोदयसंपाद्यानिष्टाहारादिरूपविपरीतबाह्ये साधनानां यद्बलं सामर्थ्यं यस्य स्वानुरूपो यः प्रकर्षस्तमपेक्षेत । इदमत्र हृदयं यदि पुण्यापकर्षमात्रजन्यं दुःखं भवेत्तदा पुण्योदयप्राप्येष्टाहारादिसाधनापकर्षमात्रादेव भवेन्न चैतदस्ति इष्टविपरीतानिष्टाहारादिसाधनसामर्थ्यादेव तद्भावादिति । अपि च ॥

देहो नोपचयकओ, पुरणुक्करिसे व मुत्तिमत्ताओ ।
होज्ज सुभहीणतरओ, कहमसुभयरो महल्लो व ॥

यो दुःखितहस्त्यादिदेहः केवलपुण्यापचयमात्रकृतो न भवति मूर्त्तिमत्त्वाद्यथा पुण्यापकर्षस्तज्जन्योऽनुत्तरसुरचक्रवर्त्यादिदेहः यश्च पुण्यापचयमात्रजन्यः स मूर्त्तिमानपि न भवति यथा न कोऽपि यदि च पुण्यापचयमात्रेण देहो जन्येत तदा हीनतरः शुभ एव च स्यात्कथं महानशुभतरश्च भवेन्महतो महापुण्योपचयजन्यत्वादशुभस्य वा शुभकर्मनिर्वर्तित्वात्पुण्येन पुनरणीयसापि शुभदेहो जन्येत। ननु दुःखितः अणीयसापि हि सुवर्णलवेन अणीयानपि सौवर्ण एव घटो भवति न तु मार्त्तिकस्ताम्रादिर्वेति। अथ केवलपापपक्षं संकीर्णं पुण्यपापपक्षं च दूषयितुमाह ।

एवं चिय विवरीयं, जोएज्जा सव्वपावपक्खे वि ।
न य साहारणरूवं, कम्मं तक्कारणाभावा ॥

सर्वं पापमेवास्ति न तु पुण्यं पापापचयमात्रजन्यत्वात्सुखस्येत्येतस्मिन्नपि पक्षे एवमेव केवलपुण्यवादोक्तदूषणाद्विपरीतगत्या सर्वं योजयेत्तद्यथा पापापकर्षमात्रजनितं सुखं न भवति पापस्याल्पीयसोऽपि दुःखजनकत्वाच्च क्षणीयानपि विषलवः स्वास्थ्यहेतुर्भवति तस्मात्पुण्यजनितमेवाल्पमपि सुखमित्यादि स्वबुद्ध्याऽभ्यूह्य वाच्यमिति पृथक् सुखदुःखयोः कारणभूते स्वतन्त्रे पुण्यपापे इष्टव्ये। अत एव साधारणेऽपि संकीर्णे पुण्यपापे नेष्टव्ये कुत इत्याह । नयेत्यादि न च साधारणरूपं संकीर्णस्वभावं पुण्यपापात्मकमेकं कर्म्मास्ति तस्यैवंभूतस्य कर्म्मणः कारणाभावादत्र प्रयोगो नास्ति संकीर्णोभयरूपं कर्म्म असंभाव्यमानैवंविधकारणत्वाद्वन्ध्यापुत्रवदिति हेतोरसिद्धतां परिहरन्नाह ।

कम्मं जोगनिमित्तं, सुभो सुभो वा भवेगसमयम्मि ।
होज्ज न उ उभयरूवो, कम्मं पि तओ तयणुरूवं ॥

मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव इति पर्यन्ते योगाभिधानात्सर्वत्र कर्म्मबन्धहेतुत्वस्य योगाविनाभावात् योगानामेव बन्धहेतुत्वमिति कर्म्मयोगनिमित्तमुच्यते । स च मनोवाक्कायात्मको योग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवेन्न तूभयरूपोऽतः कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य कर्म्मापि तदनुरूपं शुभं पुण्यरूपं बध्यते । ननु संकीर्णस्वभावमुभयरूपमेकमिहैव बध्यत इति प्रेरकः प्राह ॥

नणु मणवइकायजोगो, सुभासुभा एगसमयम्मि दीसंत ।
दव्वम्मि मीसभावो, भवेज्ज न उ भावकरणम्मि ॥

ननु मनोवाक्काययोगाः शुभाशुभाश्च मिश्रा इत्यर्थः। एकस्मिन् समये दृश्यन्त तत्कथमुच्यते । शुभोऽशुभो वा (एगसमयम्मित्ति) तथा हि किञ्चिदविधिना दानादिवितरणं चिन्तयतः शुभोऽशुभो मनोयोगस्तथा किमप्यविधिनैव दानादिधर्म्ममुपदिशतः शुभाशुभो वाग्योगस्तथा किमप्यविधिनैव जिनपूजावन्दनादिकायचेष्टां कुर्वतः शुभाशुभकाययोग इति तदेतत् अयुक्तं कुत इत्याह " दव्वम्मीत्यादि " इदमुक्तं भवति इह द्विविधो योगो द्रव्यतो भावतश्च तत्र मनोवाक्काययोगप्रवर्तकानि द्रव्याणि मनोवाक्कायपरिस्पन्दात्मको योगश्च द्रव्ययोगः यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसायः स भावयोगस्तत्र शुभाशुभरूपाणां यथोक्तचिन्तादेशनाकायचेष्टानां प्रवर्त्तको द्विविधेऽपि द्रव्ययोगे व्यवहारनयविवक्षादर्शनमात्रेण भवेदपि शुभाशुभत्वोपलक्षणो मिश्रभावः न तु मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे भावकरणे भावात्मके योगेऽयमभिप्रायः। द्रव्ययोगो व्यवहारनयदर्शनेन शुभाशुभरूपोऽपीष्यते निश्चयनयेन तु भूयोऽपि शुभोऽशुभो वा केवलः समस्ति यथोक्तचिन्तादेशनादिप्रवर्त्तकद्रव्ययोगानामपि शुभाशुभमिश्ररूपाणां तन्मतेनाभावात्मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे भावकरणभावयोगे शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति निश्चयनयदर्शनस्यैवागमेऽभिविवक्षितत्वान्न हि शुभान्यशुभानि वाध्यवसायस्थानानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसायस्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे क्वचिदपीष्यते येनाध्यवसायरूपे भावयोगे शुभाशुभत्वं स्यादिति भावस्तस्माद्भावयोग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवति न तु मिश्रस्ततः कर्म्मापि तत्प्रत्ययं पृथक् पुण्यरूपं पापरूपं वा बध्यते न तु मिश्ररूपमिति स्थितं एतदेव समर्थयन्नाह ॥

झाणं सुभमसुभं वा, न उ मीसं जं च झाणविरमे वि ।
लेसा सुभासुभा वा, सुभमसुभं वा तओ कम्मं ॥

ध्यानं यस्मादागमे एकदा धर्म्मशुक्लध्यानात्मकं शुभमार्तरौद्रात्मकमशुभं वा निर्दिष्टं न तु शुभाशुभरूपं यस्माच्च ध्यानोपरमेऽपि लेश्या तेजसीप्रभृतिका शुभा कापोतीप्रमुखा वा शुभा एकदा प्रोक्ता न तु शुभाशुभरूपा ध्यानलेश्यात्मका स्वभावयोगास्ततस्तेऽप्येकदा शुभा अशुभा वा भवन्ति न तु मिश्रास्ततो भावयोगनिमित्तं कर्म्माप्येकदा पुण्यात्मकं शुभं बध्यते पापात्मकमशुभं वा बध्यते न तु मिश्रमपि। अपि च ।

पुव्वग्गहियं च कम्मं, परिणामवसेण मीसइयं नेज्जा ।
इयरेयरभावं वा, सम्मामिच्छाइ न उ गहणे ॥

इत्यथवा एतदद्यापि सम्भाव्यते यत्पूर्वं गृहीतं पूर्वं बद्धं मि-

थ्यात्वलक्षणं कर्म परिणामवशात्पुञ्जत्रयं कुर्वन्मिश्रतां सम्यक्त्वमिथ्यात्वपुञ्जरूपतां नयेत्प्रापयेदिति। इतरेतरभावं वा नयेत्सम्यक्त्वमिथ्यात्वञ्चेति । इदमुक्तं भवति पूर्वबद्धात् मिथ्यात्वपुद्गलाद्विशुद्धपरिणामं संशोधयित्वा सम्यक्त्वरूपतां नयेदविशुद्धपरिणामं तु समुत्कर्षं नीत्वा सम्यक्त्वपुद्गलान् मिथ्यात्वपुञ्जे संक्रमय्य मिथ्यात्वरूपतां नयेदिति पूर्वगृहीतस्य सत्तावर्तिनः कर्मण इदं कुर्यात् । ग्रहणकाले पुनर्न मिश्रः पुण्यपापरूपतया संकीर्णस्वभावं कर्म बध्नाति । नापि इतररूपतां नयतीति विशे०। (पुण्यपापप्रकृतयः अत्रैव कम्मशब्दे वक्ष्यन्ते) तदेवं पुण्यपापे पृथग्व्यवस्थाप्येदानीं तयोरेव पृथग्लक्षणमाह ।

सोहणवणाइगुणं, सुभाणुभावं च जं तयं पुण्णं ।
विवरीयमसुभपावं, न बायरं नाइसुहुमं च ॥

शोभनाः शुभा वर्णादयो गन्धरसस्पर्शलक्षणा गुणा यस्य तच्छोभनवर्णादिगुणं तथा यच्छुभानुभावं शुभविपाकमित्यर्थः। तत्पुण्यमभिधीयते । यत्पुनरतः पुण्याद्विपरीतलक्षणमशुभं वर्णादिगुणमशुभविपाकं चेत्यर्थः। तत्पापमुच्यते। एतच्चोभयमपि कथंभूतमित्याह । न मेर्वादिभावेन परिणतस्कन्धवदतिबादरं सूक्ष्मेण कर्मवर्गणा द्रव्येण निष्पन्नत्वान्नापि परमाण्वादिवदतिसूक्ष्मवदिति । आह ननु तत्पुण्यपापरूपं कर्मद्वयं गृह्णानो जीवः कीदृशं गृह्णाति कथं च गृह्णातीत्याह ।

गिण्हइ तं जोग्गं चिय, रेणुं पुरिसो जहा कयब्भंगो ।
एगक्खेत्तोगाढं, जीवो सव्वप्पएसेहिं ॥

तस्य पुण्यपापात्मकस्य कर्मणो योग्यमेव कर्मवर्गणागतं द्रव्यं जीवो गृह्णाति। न तु परमाण्वादिकमौदारिकादिवर्गणागतं वा योग्यमित्यर्थः। तदप्येकक्षेत्रावगाढमेव गृह्णाति न तु स्वावगाढप्रदेशेभ्यो भिन्नप्रदेशावगाढमित्यर्थः । तच्च यथा तैलादिकृताभ्यङ्गः पुरुषो रेणुं गृह्णाति। तथा रागद्वेषक्लिन्नस्वरूपो जीवोऽपि गृह्णाति न तु निर्हेतुकमिति भावः। इदं च सर्वैरपि स्वप्रदेशैर्जीवो गृह्णाति न तु कैश्चिदित्यर्थः । उक्तं च ।

एगपएसोगाढं, सव्वपएसेहिं कम्मणो जोग्गं ।
बंधइ जहुत्तहेउं, साइयमणाइयं वा वि ॥

उपशमश्रेण्या प्रतिपतितो मोहनीयादिकं कर्मादि बध्नाति । शेषस्त्वनवाप्तोपशमश्रेणिर्जीवो नाद्यमेव बध्नातीत्यर्थः इति। अथ प्रेरकः प्राह ।

अविसिट्ठपोग्गलघणो, लोए थूलतणुकम्मपविभागो ।
जुज्जेज्ज गहणकाले, सुभासुभविवेयणं कत्तो ॥

नन्वविशिष्टैः प्रत्याकाशप्रदेशमनन्तानन्तशुभाशुभादिभेदनाव्यवस्थितैः पुद्गलैर्घनो निरन्तरं व्याप्तो यो लोकस्ततश्च ग्रहणकाले गृह्णतो जीवस्य स्थूलसूक्ष्मकर्मप्रविभागो युज्येत।ततो"न बायरं नाइसुहुमं चे" ति विशेषणमुपपन्नमेतद्विशेषणविशिष्टाद्द्रव्यस्य स्वभावत एव जीवैरग्रहणाद्यत्तु शुभाशुभविवेचनं तत्समयमात्ररूपे कर्मग्रहणकाले तत्क्षण एव गृह्णतो जीवस्य कुतः संभाव्यते न कुतश्चिदिति परस्याभिप्रायः। ततश्च "सोहणवण्णाइगुणमि" त्यादिविशेषणं न युज्यत इति प्रेरकाकूतमिति । आचार्यः प्राह ।

अविसिट्ठं चिय तं सो, परिणामासयसभावओ खिप्पं ।
कुरुते सुभमसुभं वा, गहणे जीवो जहाहारं ॥

स जीवस्तत्कर्मग्रहणे ग्रहणकाले शुभाशुभादिविशेषणाविशिष्टमपि गृह्णन् क्षिप्रं तत्क्षणमेव शुभमशुभं वा कुरुते शुभाशुभविभागेन स्थापयतीत्यर्थः। कुत इत्याह (परिणामासयसभावओत्ति) इहाश्रयो द्विविधः कर्मत्वशुभाशुभत्वस्य तस्य द्विविधस्याप्याश्रयस्वभावः परिणामश्चाश्रयस्वभावश्च परिणामाश्रयस्वभावौ ताभ्यामेतत्कुरुते । इदमुक्तं भवति जीवस्य शुभोऽशुभो वा परिणामोऽध्यवसायस्तद्वशाद् ग्रहणसमय एव कर्मणां शुभत्वमशुभत्वं वा जनयति तथा जीवस्यापि कर्माश्रयभूतस्य स कोऽपि स्वभावोऽस्ति येन शुभाशुभत्वेन परिणमयत्येव कर्म गृह्णाति तथा कर्मणोऽपि शुभाशुभभावाद्याश्रयस्य स स्वभावः स कश्चिद्योग्यता विशेषोऽस्ति येन शुभाशुभपरिणामान्वितजीवेन गृह्यमाणमेवैतद्रूपतया परिणमति उपलक्षणं चैतत्प्रकृतिस्थित्यनुभागवैचित्र्यं प्रदेशानामल्पबहुभागवैचित्र्यं च जीवः कर्मणो ग्रहणसमय एव सर्वं करोतीत्युक्तञ्च "गहणसमयम्मि जीवो,उप्पाए य गुणे सव्वपच्चयउ। सव्वजियाणंतगुणे,कम्मपएसेसु सव्वेसु। आउयभागो थोवो,नामे गोए समो तओ अहिगो। आवरणमंतराय-सरिसो अहिगोयमोहविसओ। वरिवेयणीयभागो, अहिगो उ कारणं किं तु। सुहदुक्खकारणत्ता,ठिईविसेसेण सेसासुत्ति " एतत्सर्वं कर्मणो ग्रहणसमये आहारदृष्टान्तेन जीवः करोतीति । आहारदृष्टान्तमेव भावयति ।

परिणामासयवसओ, धेणुस्य जह पओ विसमहिस्स ।
तुल्लो वि तदाहारो, तह पुण्णापुण्णपरिणामो ॥

(तदाहारोत्ति) तयोरहिधेन्वोराहारस्तदाहारः स तुल्योऽपि दुग्धादिको गृहीतः परिणामाश्रयवशाद्यथा धेन्वाः पयो दुग्धं भवति। अहेस्तु स एव विषं विषरूपतया परिणमति। तथा तेनैव प्रकारेण पुण्यापुण्यपरिणामः इदमुक्तं भवति अस्ति स कश्चित्तस्याहारस्य परिणामो येन तुल्योऽपि सन्नाश्रयवैचित्र्याद्विचित्रतया परिणमति आश्रयस्याप्यहिधेनुलक्षणस्यापि तत्तन्निजसामर्थ्यं येन तुल्योऽपि गृहीत आहारस्तद्रूपतया परिणमति । तथा पुण्यपापयोरुपनययोजना कृतैवेति । अथवा अयमेवाहारदृष्टान्तो भाव्यते तद्यथा ।

जह वेगसरीरम्मि वि–सारासारपरिणामयामेइ ।
अविसिट्ठो आहारो, तह कम्मसुभासुभविभागो ॥

धेनुविषधरयोः भिन्नशरीरे आहारस्य परिणामवैचित्र्यं दर्शितम्। वा इत्यथवा यथा एकस्मिन्नपि पुरुषादिशरीरे विशिष्टोऽप्येकरूप आहारो गृहीतस्तत्क्षण एव सारासारपरिणामतामेति । रसासृग्मांसादि रसपरिणामं मूत्रपुरीषरूपखलपरिणामं च युगपद्गच्छतीत्यर्थः। तथा कर्मणोऽप्यविशिष्टस्य गृहीतस्य परिणामवशात् शुभाशुभविभागो द्रष्टव्य इति। तदेवं पुण्यपापयोर्लक्षणादिभेदं प्रसाध्य तद्भेदभूतप्रकृतिभेदेनापि तयोर्भेदमुपदर्शयन्नाह ।

सायं सम्मं हासं, पुरिसरइसुभाउनामगोत्ताइं ।
पुन्नं सेसं पावं, नेयं सविवागमविवागं ॥

सातवेदनीयं शोधितमिथ्यात्वपुद्गलरूपं सम्यक्त्वं हास्यं पुरुषवेदो रतिः शुभायुर्नामगोत्राणि चेत्येतत्सर्वं पुण्यमभिधीयते। तत्र नारकायुर्वर्ज्जं शेषमायुस्त्रयं शुभं देवद्विकयशःकीर्तितीर्थंकरनामाद्याः सप्तत्रिंशत्प्रकृतयो नामकर्माणि शुभाः।गोत्रे पुनरुच्चैर्गोत्रे शुभमेतोः षट्चत्वारिंशत्प्रकृतयः किल शुभत्वात्पुण्याः । अन्ये तु मोहनीयभेदात्सर्वानपि जीवस्य विपर्यासहेतुत्वात्पापमेव मन्यन्ते ततः सम्यक्त्वादस्य पुरुषवेदरतिवर्ज्जा द्विचत्वारिंशदेव प्रकृतयः पुण्यास्तद्यथा ॥

सो यं उच्चारो यं, नरतिरिदेवाउयाइ तह नामे ।
देवदुगं मणुयदुगं, पणिंदजाईयतणुपणगं ॥
अंगोवंगाणतिगं, पढमसंघयणमेव सिचयणं ।
सुभवणणाई सुचउक्कं, अगुरुलहु तह य परघायं ॥
ऊसासं आयावं, उज्जोयविहागई विप्पएसत्था ।
तसबायरपज्जत्तं, पत्तेयथिरं सुभं सुभगं ॥
सुस्सर आएज्ज जसं, निमेण तित्थयरमेव एआउ ।
बायालं एगई उ, पुणंति जिणेहिं जणिया उ ॥

शेषास्तु या द्व्यशीतिप्रकृतयस्ताःसर्वमशुभत्वात्पापं विज्ञेयं सम्यक्त्वं कथमशुभं कथं तत्पापमिति चेदुच्यते रुचिरूपमेव हि सम्यक्त्वं शुभं तत्त्वेन विचार्यते किं तु शोधितमिथ्यात्वपुद्गलरूपं तच्चा शङ्काद्यनर्थहेतुत्वादशुभमेव अशुभत्वाच्च पापं सम्यग्रुचेश्चातिशयेन नानाचारकत्वादुपचारमात्रमेवेदं सम्यक्त्वमुच्यते परमार्थतस्तु मिथ्यात्वमेवैतदित्यलं प्रसङ्गेन । इदं च पुण्यपापलक्षणमुभयमपि सविपाकमविपाकं च मन्तव्यं यथा बद्धं तथैव विपाकतः किंचिद्वेद्यते किंचिदनुमन्दरसं नीरसं वा कृत्वा प्रदेशोदयेनाविपाकं वेद्यत इत्यर्थः । तदेवं पुण्यं पापं च भेदेन व्यवस्थाप्य निरस्तः संकीर्णपुण्यपापपक्षः । इतश्चायमुक्तः सर्वस्यापि सन्मिश्रसुखदुःखाख्यकार्यप्रसंगान्न चैतदस्ति देवादीनां केवलं सुखाधिक्यदर्शनान्नारकादीनां केवलदुःखप्राचुर्यनिर्णयान्न च सर्वथा सन्मिश्रैकरूपस्य हेतोरल्पबहुत्वभेदेऽपि कार्यस्य प्रमाणतोऽल्पबहुत्वं विहाय स्वरूपतो भेदो युज्यते । न हि मेचककारणप्रभवं कार्यमन्यतमवर्णोत्कटं घटते तस्मात्सुखातिशयस्यान्यन्निमित्तमन्यच्च दुःखातिशयस्येति । न च सर्वथैव रूपस्य संकीर्णपुण्यपापलक्षणस्य हेतोः सुखातिशयनिबन्धनं पुण्यांशवृद्धिर्दुःखातिशयस्य कारणपापांशहान्या सुखातिशयप्रभवाय कल्पयितुं न्याय्या पुण्यांशपापांशयोर्भेदप्रसंगात्तथा हि यत् वृद्धावपि न वर्द्धते तत्ततो भिन्नं यथा देवदत्तवृद्धावप्यवर्द्धमानो यज्ञदत्तो न वर्द्धते पुण्यांशवृद्धौ पापांशस्तस्मात्ततो भिन्नोऽसाविति तस्मान्न सर्वथैकरूपता पुण्यपापांशयोर्घटते कर्मसामान्यरूपतया यद्यसौ तयोरिष्यते तदा सिद्धसाध्यता सातयशःकीर्त्यादेः पुण्यस्य, असातायशःकीर्त्यादेस्तु पापस्य, अस्माभिरपि कर्मत्वेनैकताया अभ्युपगमात्तस्मात्पुण्यपापतया विविक्ते एव पुण्यपापे स्त इति । ततः सुखदुःखवैचित्र्यनिबन्धनयोः पुण्यपापयोर्यथोक्तनीत्या साधितत्वान्न कर्त्तव्यः तत्संशयः किं च असत्वे पुण्यपापयोर्यदोक्तनीत्या साधितस्याग्निहोत्रादेः लोकप्रसिद्धस्य च दानादेर्वैफल्यं स्यादिति दर्शयन्नाह ।

असइ वहि पुन्नपावे, जमग्गिहोत्ताइ सग्गकास्स ।
तदसंबद्धं सव्वं, दाणाइफलं च लोयंम्मि ॥

पुण्यपापयोरसत्वे यदेतद्वहिरग्निहोत्राद्यनुष्ठानं स्वर्गकामस्य यच्च दानहिंसादिफलं पुण्यपापात्मकं लोके प्रसिद्धं तत्सर्वमसंबद्धं स्यात्स्वर्गस्यापि पुण्यफलत्वात्पुण्यपापयोश्च भवदभिप्रायेणासत्त्वात्तस्मादभ्युपगन्तव्ये एव पुण्यपापे तदेवं वेदपदवचनप्रामाण्ययुक्तितश्च छिन्नस्तस्य संशय इति । ततः किं कृतवानसावित्याह ।

छिन्नम्मि संसयम्मि, जिणेण जरमरणविप्पमुक्केण ।
सो समणो पव्वईओ, तिहिं उसहसंमियसएहिं ॥

गतार्था इति चतुश्चत्वारिंशद्गाथार्थः विशे० ।

(१६) कर्मणश्चतुर्विधत्वम् ।

पुण्यपापयोः पृथक्त्वख्यापकं सूत्रे ।

एगे पुन्ने एगे पावे (स्था० १ ठा०) चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा सुभे णामं एगे सुभेसुभेणाममेगे असुभे असुभेणाममेगे ४ । चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा सुभेणाममेगे सुभविवागे सुभेणाममेगे असुभविवागे असुभेणाममेगे सुभविवागे असुभेणाममेगे असुभविवागे ४ ।

कियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादि तत् शुभपुण्यप्रकृतिरूपं पुनः शुभं शुभानुबन्धित्वाद्भरतादीनामिव शुभं तथैवाशुभमशुभानुबन्धित्वात् ब्रह्मदत्तादीनामिव अशुभं पापप्रकृतिरूपं शुभं शुभानुबन्धित्वात् दुःखितानामकामनिर्जरावतां गवादीनामिव अशुभं तथैव पुनरशुभमशुभानुबन्धित्वान्मत्स्यबन्धादीनामिवेति । तथा शुभं सातासातादित्वेनैव बद्धं तथैवोदेति यत्तत्शुभविपाकं यत्पुनर्बद्धं शुभत्वेन संक्रमकरणवशात्तदेति च शुभत्वेन तत् द्वितीयं भवति च कर्मणि कर्मान्तरानुप्रवेशसंक्रमाभिधानकरणवशादुक्तं च "मूलप्रकृत्यभिमानः संक्रमयति गुण उत्तराः प्रकृतीः । न त्वात्मा मूर्त्तत्वा-ध्यवसानप्रयोगेणेति" ॥१॥ तथा मतान्तरं "मोत्तूणमाउयं खलु, दंसणमोहं चरित्तमोहं च । सेसाणं पयडीणं, उत्तरविहि संकमो भणिओति " ॥ २ ॥ यद्बद्धमशुभतयोदेति च शुभतया तत् तृतीयं चतुर्थं प्रतीतमिति तृतीयं कर्मसूत्रमत्रत्यद्वितीयोद्देशकबन्धसूत्रवत् ज्ञेयमिति चतुर्विधकर्मस्वरूपम् ॥ स्था० ४ ठा० ४ उ० ॥

(१७) अथ कर्मणोऽबद्धस्पृष्टत्वादिगोष्ठामाहिलनिह्नवमतम् ॥

किं कंचुउव्व कम्मं, पइप्पएसमह जीवपज्जंते ।
पइदेसं सव्वगयं, तदंतरालाणवत्थाओ ॥
अह जीववहिंतो ना-णुवत्तएत्तं भवंतराम्मि ।
तदणुगमाभावा उ-बउभंगमलोव मुच्चत्तं ॥
एवं सव्वविमोक्खो, निक्कारणो वि सव्वसंसारो ।
भवमुक्काणं च पुणो, संसरणमउआणासासो ॥

ननु " पुट्ठो जहा अबद्धो कंचुइणमित्यादि " गाथायां कञ्चुकमिव स्पृष्टमेव जीवे कर्म न तु बद्धमिति यदुच्यते । भवता तद्विचार्यते किं कञ्चुकवत्स्पृष्टं कर्म जीवस्य प्रतिदेशं वृत्तं सदुच्यते । आहोस्विज्जीवपर्यन्ते त्वक्पर्यन्त एव वृत्तं स्पृष्टमिष्यत इति द्वयी गतिः तत्र यदि प्रतिप्रदेशं वृत्तत्वात्स्पृष्टमिष्टं तर्हि जीवे सर्वगतं कर्म प्राप्नोति । नभोवत् कुतः सर्वगतमित्याह । तदन्तरालेत्यादि तस्य जीवस्यान्तरालं मध्यं तदन्तराले तस्यानवस्थातस्तस्य कर्मणोव्याप्तस्यानवस्थानादनुद्धरणादित्यर्थः । न हि प्रति प्रदेशं वृत्तो कर्मणि जीवस्य कोऽपि मध्यप्रदेश उद्धति येन कर्मणस्तत्रासर्वगतत्वं स्यात्तस्मादाकाशेनैव कर्मणा जीवस्य प्रतिप्रदेशं व्याप्तत्वात्तस्य जीवे सर्वगतत्वं सिद्धमेव एवं च सति साध्यविकलत्वात्कञ्चुकदृष्टान्तोऽसंबद्ध एव प्राप्नोति साध्यस्य यथोक्तस्पर्शनस्य कञ्चुके भावादिति द्वितीयं विकल्पमधिकृत्याह " अहेत्यादि " अथ जीवस्य बहिस्त्वक्पर्यन्ते वृत्तत्वात्कञ्चुकवत्स्पृष्टं कर्मेष्यते तर्हि भवाद्भवान्तरं संक्रामतोऽन्तराले तन्नानुवर्त्तते तदनुवृत्तिर्न प्राप्नोति त्वक्पर्यन्तवृ-

त्वेन तदनुगमाभावाद्बाह्याङ्गमलवदिति सुव्यक्तमेव बालानामपि प्रतीतत्वादिति भवत्वननुवृत्तिः कर्म्मणो भवान्तराले को दोष इत्याह (एवमित्यादि) एवं कर्म्मणोऽननुवृत्तौ सत्यां सर्वेषामपि जीवानां विमोक्षः संसाराभावः प्राप्नोतीति संसारकारणस्य कर्म्मणोऽभावादथ निष्कारणोऽपि संसार इष्यते तर्हि ये व्रततपोब्रह्मचर्यादिकष्टानुष्ठानानि कुर्वते तेषामपि सर्वेषां संसार एव स्यात् निष्कारणत्वाविशेषान्निष्कारणं च जायमानं भवमुक्तानामपि ;सिद्धानामपि पुनरपि संसरणं संसारः स्यादिति मुक्तावप्यनाश्वास इति । किंच त्वक्पर्यन्तवर्त्तिनि कर्म्मणीष्यमाणे अपरोऽपि दोषः क इत्याह ।

देहंतो जा वियणा, कम्माभावम्मि किंनिमित्ता सा।
निक्कारणा वि जइ तो, सिद्धो वि न वेयणारहितो ।
जइ बज्झनिमित्ता सा, तदभावे सा न होज्ज तो अंतो।
दिट्ठा य सा सुबहुसो, बाहिं निव्वेयणस्सा वि ।
जइ वा वि भिन्नदेसं, पि वेयणं कुणइ कम्म एवं तो ॥
कहमन्नसरीरगयं, न वेयणं कुणइ अन्नस्स ॥

यदि कञ्चुकवद्बहिरेव वर्त्तते कर्म्म तदा देहस्यान्तर्मध्ये या शूलगुल्मादिवेदना सा किंनिमित्तेति वक्तव्यं साध्यं तत्कारणभूतस्य कर्म्मणोऽभावादथ निष्कारणाऽपि देहान्तर्वेदनाऽभ्युपगम्यते ततस्तर्हि सिद्धोऽपि न वेदनारहितः स्यान्निष्कारणत्वाविशेषादिति । अथ बाह्यवेदनानिमित्ता साऽन्तर्वेदनाऽभ्युपगम्यते बहिर्वेदना हि लगुडघातादिजन्या प्रादुर्भवतीति मध्येऽपि वेदना जनयत्येवेति यदि तवाभिप्रायस्तर्हि तदभावे लगुडघातादिजन्यवेदनाविरहे साऽन्तर्वेदना न भवेन्न जायेत अस्त्वेवमिति चेत्तदयुक्तं यतो दृष्टासौ सुबहुशः शूलादिप्रभवाऽन्तर्वेदना कस्येत्याह । "बाहिमित्यादि" बहिर्निर्वेदनस्यापि बहिर्लगुडादिघातजन्यवेदनारहितस्यापीत्यर्थः । यदि ह्ययं नियमः स्याद्यदुत बहिर्लगुडघातादिवेदनासद्भाव एवान्तर्वेदना प्रादुरस्तीति तदा स्यादपि त्वदभिप्रेतं न चैवं यतोऽनुभूयते दृश्यते च बहिर्वेदनाभावेऽपि यथोक्तान्तर्वेदना तत्कारणभूतेन मध्ये कर्मणाऽपि भाव्यमिति सिद्धोऽस्मत्पक्ष इति । अथैवं मन्यसे बहिस्त्वक्पर्यन्तवर्त्त्यपि कर्म्म मध्येऽपि शूलादिवेदनां जनयति न पुनर्मध्ये कर्म्मास्ति तदयुक्तं यतो यदि बहिर्वर्त्तिविभिन्नदेशस्थितमपि कर्मान्यस्मिन्मध्यलक्षणे देशान्तरे वेदनां करोतीत्यभ्युपगम्यते एवं तर्हि कथं केन हेतुना अन्यशरीरगतं कर्म्म अन्यस्य यज्ञदत्तादेर्वेदनां न करोति । ननु करोतु नामैवमपि देशान्तरत्वाविशेषादिति भावः । अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहर्त्तुमाह ।

अह मे संचरइ मई, न बहिं तो कंचुगो व्व निच्चत्थं ।
कंचुगवं पि वेयणा, सव्वम्मि विहीसई देहो ॥

अथ भवतो मतिः एकस्य देवदत्तशरीरस्य बहिरन्तश्च सञ्चरति तत्कर्म्म ततस्तत्र बहिरन्तश्च वेदनां जनयति न शरीरान्तरे स्वाधारशरीरे बहिरन्तश्च संचरणादन्यशरीरे त्वसंचरणादिति। अत्रोच्यते (न बहिमित्यादि) ततस्तर्हि सर्पस्य कञ्चुकवज्जीवस्य बहिरेव कर्म्म नित्यं तिष्ठतीति नित्यस्थमिति यद्भवतो मतं तन्न प्राप्नोति किं तु कदाचिद्बहिः कदाचित्त्वन्तः कर्म्मणः सञ्चरणाभ्युपगमात्कञ्चुकवन्नित्यं बहिरेव तिष्ठतीति नियमस्याघटनात्सुव्यक्त एव तदिति भावः । किंच कर्म्मणः सञ्चरणे बहिरन्तश्च क्रमेणैव वेदना स्यान्न चैतदस्ति लगुडाद्यभिघाते बहिरन्तश्च युगपदेव वेदनादर्शनात्तस्मान्न कर्म्मणः संचरणमुपपद्यत इति । कर्म्मणः सञ्चरणे दूषणान्तरमप्याह ॥

न भवंतरमन्नेइ य, सरीरसंचारओ गइनिलो व्व ।
चलियं निज्जरियं चिय, भणियमकम्मं च जं समए ॥

किञ्च यदि संचरिष्णु कर्म्माभ्युपगम्यते तर्हि मृतस्य तद्भवान्तरमन्वेति भवान्तरे तस्यानुगमनं न प्राप्नोतीत्यर्थः। शरीरे सञ्चरणादिति हेतुः अनिलवदिति दृष्टान्तः।इह यच्छरीरे बहिरन्तश्च संचरति न तद्भवान्तरमन्वेति यथोच्छ्वासनिश्वासानिलः तथा च कर्म्म तस्मान्न भवान्तरमन्वेतीति । आह नन्वागमेऽपि "चलमाणे-चलिए त्ति" वचनात्कर्म्मणश्चलनमुक्तम् ॥ विशे० ॥ (कार्यकारणभावः कज्जकारणभावशब्दे दर्शितः) चलनं च संचरणमेवोच्यते तत्किमिति तदिह निषिध्यते तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानादित्याह । "चलियमित्यादि" नेरइय जाव वेमाणिए जीवाओ चलियं कम्मं निज्जरइ "इत्यादिवचनात्तथा" निज्जिज्जमाणं निज्जिण्णमिति" वचनाच्च यद्यस्मात्समये आगमे चलितं कर्म्म निर्जीर्णमुक्तं तदकर्मैव भणितं तच्च मध्ये गतमपि न वेदनां जनयितुमलमकर्मणो नभः परमाण्वादेरिव तत्सामर्थ्याभावात्तस्मादित्थमनेकदोषदुष्टत्वादयुक्तं कर्म्मणः संचरणमित्यतो मध्ये व्यवस्थितं कर्म्मास्तीति स्थितम् ।

मध्ये कर्म्मावस्थानसाधनार्थमेव प्रमाणयन्नाह ।

अंते वि अत्थि कम्मं, वियणासब्भावाउ तयइ व्व ।
मिच्छत्ताईपच्चय-सब्भावाउ य सव्वत्थ ॥

अन्तर्मध्येऽप्यस्ति कर्म्मेति प्रतिज्ञा वेदनासद्भावादिति हेतुः त्वचीवेति दृष्टान्तः।इह यत्र वेदनासद्भावस्तत्रास्ति कर्म्म यथा त्वक्पर्यन्ते,अस्ति चान्तर्वेदना ततः कर्म्मणाऽपि तत्र भवितव्यमेवेति । किंच मिथ्यात्वादिभिः प्रत्ययैः कर्म्म बध्यते ते च जीवस्य यथा बहिःप्रदेशेषु तथा मध्यप्रदेशेष्वपि यथा मध्यप्रदेशेषु तथा बहिःप्रदेशेष्वपि सर्वत्र सन्ति तेषामध्यवसायविशेषरूपत्वादध्यवसायस्य च समस्तजीवगतत्वादिति । तस्मान्मिथ्यात्वादीनां कर्म्मबन्धकारणानां जीवे सर्वत्र सद्भावात्तत्कार्यभूतं कर्म्मापि सर्वत्रैव तत्रास्ति न पुनर्बहिरेव तस्मात्क्षीरनीरादिन्यायाज्जीवेन सहाविभागेनैव स्थितं कर्म्मेति प्रतिपद्यतां मिथ्याभिमान इति आह । ननु यदि जीवकर्म्मणोरविभागस्तर्हि तद्वियोगाभावान्मोक्षाभाव इत्युक्तमेव दूषणमित्याशङ्क्याह ।

अविभागट्ठियस्स वि से, विमोयणं कंचणोवलाणं च ।
नाणं किरियाहि कीरइ, मिच्छत्ताईहि वायाणं ॥

(से) तस्य कर्मणो जीवेन सहाविभागेन स्थितस्यापि काञ्चनोपलयोरिव विमोचनं वियोगो ज्ञानक्रियाभ्यां क्रियते । तथा तस्यैव कर्मणो मिथ्यात्वादिभिरादानं ग्रहणं जीवेन सह संयोगो विधीयत इत्यर्थः । इदमत्र हृदयम् । इह जीवस्याविभागेनावस्थानं द्विधा विद्यते आकाशेन सह कर्मणा च । तत्राकाशेन सह यदविभागावस्थानं तन्न वियुज्यत एव सर्वदैवमवस्थानात् । यत्तु कर्मणः सहाविभागावस्थानं तदप्यभव्यानां न वियुज्यते भव्यानां तु कर्मसंयोगस्तथाविधज्ञानतपःसामग्रीसद्भावे वियुज्यते वह्निधोषध्यादिसामग्रीसत्त्वे काञ्चनोपलसंयोगवदिति । तथाविधज्ञानादिसामग्र्यभावे तु भव्यानामपि कर्मयोगः कदापि

न निवर्तते " नो चेव णं भवसिद्धिए विरहिए लोए भविस्सइत्ति" वचनात्तर्हि भव्याः कथं ते व्यपदिश्यन्ते इति चेदुच्यते। योग्यतामात्रेण न च योग्यः सर्वोऽपि विवक्षितपर्यायेण युज्यते प्रतिमादिपर्याययोग्यानामपि तथाविधदारुपाषाणादीनां तथाविधसामग्र्यभावे केषांचित्तद्योगादित्यलं विस्तरेण। प्रागेव गणधरवादे अस्यार्थस्य विस्तरेणोक्तत्वात्। कर्म जीवाच्च वियुज्यते अन्योन्याविभागेनावस्थितत्वादित्यनैकान्तिकमुपायतो दृश्यमानवियोगैः क्षीरनीरकाञ्चनोपलादिभिर्व्यभिचारात्। ननु प्रस्तुतो जीवकर्मविभागः केनोपायेन विघटित इति चेन्नन्वभिहितमेव ज्ञानक्रियोपायतः इति मिथ्यात्वादिभिर्हि जीवकर्मसंयोगः क्रियते मिथ्यात्वादिविपक्षभूताश्च सम्यग्ज्ञानादयोऽतस्तैस्तद्वियोगैर्युक्तियुक्त एव अन्नभोजनादिविपक्षभूतैर्लङ्घनादिभिस्तज्जनिताजीर्णसंयोगवदिति। अथादेशात्रिपु देवादिशुद्ध्याऽभिगमनवन्दनाभिर्हिंसादिभिश्च क्रियाभिर्जीवस्य कर्मणा संयोग इष्यते न तु दयादानशीलपालनसमितिगुप्त्यादिक्रियाभिस्तद्वियोग इत्याशङ्क्याह ॥

कह वा दाणे किरिया-साफल्लं नेह तव्विघायम्मि ।
किं पुरिसगारसज्झं, तस्से वा मज्झमेगंतो ॥
असुभो तिव्वाईओ, जह परिणामो तदज्जणे भिमओ ।
तह तव्विहो च्चिय सुभो, किं नेट्ठो तव्विओगे वि ॥

वाशब्दो युक्तेरभ्युच्चये। कथं वा हन्त ! कर्मणः आदाने ग्रहणे क्रियाणां साफल्यमिह त्वयेष्यते न तु दयादानादिक्रियाणां तद्विघाते साफल्यमिति प्रेर्यते किमत्र राजाज्ञा प्रभवति न तु युक्तिः। किं चेदमपि प्रष्टव्योऽसि किं पापस्थानव्यापृतपुरुषकारसाध्यं " एगंतो " इहापि संबध्यते एकं कर्मणः आदानमिष्यते एकं तु यत्तस्य निर्जरणं तत्तस्यैव संयमादिस्थानविहितपुरुषकारस्यासाध्यमिष्यते इत्येतदपि व्यक्तमेवेश्वरचेष्टितं भवतः। स्वेच्छाप्रवृत्तेरुपसंहरन्नाह। (तोत्ति) तस्माद्यथा येन प्रकारेण तीव्रमन्दमध्यमभेदभिन्नोऽशुभपरिणामस्तदर्जने तस्य कर्मणोऽर्जनमुपादानं ग्रहणं तत्र हेतुर्भवतोऽभिमतस्तथा तेनैव प्रकारेण तद्विध एव तीव्रादिभेदभिन्नशुभपरिणामोऽशुभविपक्षत्वात् कर्मार्जनविपक्षभूते तद्वियोगेऽपि हेतुः किं नेष्टो ननु युक्तियुक्तत्वादेष्टव्य एवेति भावः। तस्माज्जीवेन सहाविभागस्थितस्यापि कर्मणः सिद्धो वियोग इति। विशे०। आ० म० द्वि०।

कर्मविषये शास्त्रान्तरीयमतम् ।

अविद्याक्लेशकर्मादि, यतश्च भवकारणम् ।
ततः प्रधानमेवैतत्, संज्ञाभेदमुपागतम् ॥

" अविद्येति " अविद्या वेदान्तिनां, क्लेशः सांख्यानां, कर्म जैनानाम, आदिशब्दाद्वासना सौगतानां, पाशः शैवानाम्, यतो यस्माच्चकारो वक्तव्यान्तरसूचनार्थः। भवकारणं संसारहेतुस्ततस्तस्मादविद्यादीनां भवकारणत्वाद्धेतोः प्रधानमेवैतदस्मदभ्युपगतं भवकारणं सत्संज्ञाभेदं नाम नानात्वमुपागतम्। द्वा० १६ द्वा०। षो० वि०। " कम्मंति त्ति वा कलुसंति वा वज्जंति वा वेरं ति वा पंको त्ति वा मलो त्ति एगट्ठिया इति" व्य०१ उ०।

अथ कतिभेदं कर्मेत्याशङ्क्याह।

पयइठिइरसपएसा, तं चउहा मो एगस्स दिट्ठंतो ।

तत्कर्म पूर्वव्यावर्णितशब्दार्थं चतुर्धा चतुःप्रकारं चतुर्भेदं भवतीति शेषः। कथमित्याह (पयइठिइरसपएसत्ति) इह गम्ययपः कर्माधारे इति पञ्चमी यथा प्रासादात्प्रेक्षते इति। ततश्च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशानाश्रित्य प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धरसबन्धप्रदेशबन्धतयेत्यर्थः। तत्र स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धानां यः समुदायः स प्रकृतिबन्धः। अध्यवसायविशेषगृहीतस्य कर्मदलिकस्य यत् स्थितिकालनियमनं स स्थितिबन्धः। कर्मपुद्गलानामेव शुभोऽशुभो वा घात्यघाती वा यो रसः सोऽनुभागबन्धो रसबन्ध इत्यर्थः। कर्मपुद्गलानामेव यद्ग्रहणं स्थितिरसनिरपेक्षदलिकसंख्याप्राधान्येनैव करोति प्रदेशबन्धः। उक्तं च। " ठिइबंधदलस्स ठिई,पएसबंधे पएसगहणं जं। ताण रसो अणुभागो, तस्समुदओ पगइबंधो" अन्यत्राप्युक्तम्। "प्रकृतिः समुदायः स्यात्स्थितिकालावधारणम्। अनुभागो रसः प्रोक्तः, प्रदेशो दलसंचयः" इदं च प्रकृतिस्थितिरसप्रदेशानां स्वरूपं मोदकस्य कणिक्कादिमयलड्डुकस्य दृष्टान्ताद् दृष्टान्तेन भावनीयम्। दृष्टान्तादित्यत्र तृतीयार्थे पञ्चमी। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे व्यत्ययोऽप्यासामिति। यथा वातविनाशिद्रव्यनिष्पन्नो मोदकः प्रकृत्या वातमुपशमयति। पित्तोपशमकद्रव्यनिर्वृत्तः पित्तं कफापहारिद्रव्यसमुद्भूतं कफमित्येवंस्वभावा प्रकृतिः स्थितिस्तु तस्यैव कस्यचिद्दिनमेकम्, अपरस्य तु दिनद्वयम्,एवं यावत्कस्यचिन्मासादिकमपि कालं भवति ततः परं विनाशादिति। रसः पुनः स्निग्धमधुरादिरूपस्तस्यैव कस्यचिदेकगुणोऽपरस्य द्विगुणोऽन्यस्य त्रिगुण इत्यादिकः। प्रदेशाश्च कणिक्कादिरूपास्तस्यैव कस्यचिदेकप्रसृतिप्रमाणाः अन्यस्य तु प्रसृतिद्वयप्रमाणाः यावदपरस्य सेटकादिप्रमाणाः एवं कर्मणोऽपि कस्यचन ज्ञानादिच्छादनस्वभावा प्रकृतिः अपरस्य दर्शनावरणरूपा अन्यस्य आह्लादादिप्रदानलक्षणा कस्यचित्सम्यग्दर्शनादिविघातजननस्वभावेत्यादि। स्थितिश्च तस्यैव कस्यचित्त्रिंशत्सागरोपमकोटाकोटीरूपा अपरस्य तु सप्ततिसागरोपमकोटाकोटिलक्षणेत्यादि। रसस्त्वनुभागशब्दवाच्यस्यैवैकस्थानद्विस्थानत्रिस्थानादिरूपः प्रदेशा अल्पबहुतरबहुतमादिरूपा इति। कर्म०।

दुविहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा पदेसकम्मे चेव अणुभावकम्मे चेव। (स्था० २ ठा०) चउव्विहे कम्मे पण्णत्ते तं जहा पगडीकम्मे ठिइकम्मे अणुभावकम्मे पदेसकम्मे। स्था० ४ ठा०।

(१९) मूलप्रकृत्युत्तरप्रकृत्यादिना द्वैविध्यं निरूप्य नामादितोऽष्टविधत्वमाह।

मूलपगइट्ठ उत्तर-पगइ अट्ठपंचसयभेयं ति।

मूलप्रकृतयः सामान्यरूपा अष्टावष्टसंख्या यत्र तन्मूलप्रकृत्यष्टम उत्तरप्रकृतीनां मूलप्रकृतिविशेषरूपाणामष्टपञ्चाशच्छतं भेदा यस्य तदुत्तरप्रकृत्यष्टपञ्चाशच्छतभेदमिति। कर्म०। आचा०। सूत्र०। उत्त०। नं०। भ०। पा० प्रज्ञा०। आ०। अन्त०। पं० सं०।

अथ कर्मप्रकृतय उच्यन्ते

अट्ठकम्माइ वोच्छामि, आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवत्तई । १ ।

हे जम्बूस्वामिन्! अहं यथाक्रममानुपूर्व्या अनुक्रमेण तानि अष्ट

कर्माणि वक्ष्यामि । क्रियन्ते मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगैर्हेतुभिः जीवेन इति कर्माणि अष्टसंख्यानि। यद्यप्यानुपूर्वी त्रिविधा वर्तते तथापि यथाक्रमं पूर्वानुपूर्व्या प्राकृतत्वात् तृतीयास्थाने प्रथमा । तानि कानि कर्माणि यैरष्टभिः कर्मभिर्बद्धो नियन्त्रितोऽयं जीवः संसारे चतुर्गतिभ्रमणे परिवर्तते विविधान् पर्यायान् ।

नाणावरणं चेव, दंसणावरणं तहा ।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य ॥
नामकम्मं च गोयं च, अंतरायं तहेव य ।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठे व उ समासओ ॥

युग्मम् । एवममुना प्रकारेण एतानि अष्टौ कर्माणि समासतः संक्षेपतो ज्ञेयानि इति शेषः । एतानि कानि तत्र प्रथमं ज्ञानावरणं कर्म चैव पादपूरणे । तथा द्वितीयं दर्शनावरणं दर्शनं सम्यक्त्वमावृणोतीति दर्शनावरणं प्रतीहारवत् सम्यक्त्वरूपं न दर्शयति । २ । तथा वेदनीयं वेद्यते सातासाते अनेनेति वेदनीयं मधुलिप्तखड्गधारातुल्यं तृतीयं कर्म । तथा पुनर्मोहं मुह्यते मूढो भवति जीवोऽनेनेति मोहो मद्यवत् चतुर्थं मोहनीयं मोहाय योग्यं मोहनीयं कर्म ज्ञेयम् । तथैव च आयाति स्वकीयावसरे इत्यायुः गतिर्निस्सरितुमिच्छन् अपि जीवो निर्गन्तुं न शक्नोति यस्मिन् सति निगडबद्ध इव तिष्ठतीत्यायुषः स्वभावः पञ्चममायुष्कर्म । ४ । तथा नामयति चतसृषु गतिषु भवीनान् पर्यायान् प्रापयति जीवं प्रति इति नाम चित्रकारवत् नामकर्म षष्ठं ज्ञेयम् । गोऽयन्ते आहूयते लघुना दीर्घेण वा शब्देन जीवोऽनेनेति गोत्रं कुम्भकारवत् घटकलशशरावकुण्डकादिभाण्डकृद्भवति इदं गोत्रकर्म सप्तमम् । तथाऽन्तर्मध्ये दातृग्राहकयोर्विचाले आयातीत्यन्तरायो यथा राजा कस्मैचिद्दातुमुपदिशति तत्र भाण्डागारिकोऽन्तराले विघ्नकृद्भवति तादृगन्तरायं कर्म अष्टमं भवति । अत्र चाष्टानां कर्मणामादौ ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च प्रतिपादितम् । तत्र आत्मनः स्वभावस्तु ज्ञानदर्शनरूप एवास्ति अतस्तदावरणमादावुक्तम् । याभ्यां कर्मभ्यां जीवस्य स्वभाव आव्रियते अतस्तयोर्मुख्यत्वं ज्ञानदर्शनयोश्च समानत्वेऽपि अन्तरङ्गत्वेन विशेषतो ज्ञानोपयोगे एव सर्वलब्धीनां प्राप्तिः स्यात् तस्मात् ज्ञानस्य प्राधान्यादादौ तदावरणमुक्तं तदनु सामान्यज्ञानोपयोगत्वाद्दर्शनावरणमुक्तम् । एवं शेषकर्मणामपि विशेषस्तु स्वयमेव ज्ञेयः ।३। (उत्त० ३३ अ०) । नन्वित्थं ज्ञानावरणाद्युपन्यासे किञ्चिदस्ति प्रयोजनमुत यथाकथञ्चिदेव प्रवृत्त इति ? अस्तीति ब्रूमः किं तदिति चेदुच्यते । इह ज्ञानं दर्शनं च जीवस्य स्वतत्त्वभूतं तदभावे जीवत्वस्यैवायोगात् चेतनालक्षणो हि जीवस्ततः स कथं ज्ञानदर्शनाभावे भवेत् ज्ञानदर्शनयोरपि च मध्ये प्रधानं ज्ञानं तद्वशादेव सकलशास्त्रादिविचारसन्ततिप्रवृत्तेः । अपि च सर्वा अपि लब्धयो जीवस्य साकारोपयुक्तस्य जायन्ते न दर्शनोपयोगोपयुक्तस्य । "सव्वाओ लद्धीओ, सागारोवओगोवउत्तस्स नो अणागारोवओगोवउत्तस्सेति" वचनप्रामाण्यात् । अन्यच्च यस्मिन् समये सकलकर्मविनिर्मुक्तो जीवः संजायते तस्मिन् समये ज्ञानोपयोगोपयुक्त एव न दर्शनोपयोगोपयुक्तो दर्शनोपयोगस्य द्वितीयसमयेऽभावात् । ततो ज्ञानं प्रधानं तदावरणकं ज्ञानावरणं कर्म ततस्तत् प्रथममुक्तं तदनन्तरं च दर्शनावरणं ज्ञानोपयोगात् च्युतस्य दर्शनोपयोगेऽवस्थानात् । एते च ज्ञानदर्शनावरणे स्वविपाकमुपदर्शयन्ती यथायोगमवश्यं सुखदुःखरूपवेदनीयकर्मविपाकोदयनिमित्ते भवतः । तथा हि ज्ञानावरणमुपचयोत्कर्षप्राप्तं विपाकतोऽनुभवन् सूक्ष्मसूक्ष्मतरवस्तुविचारासमर्थमात्मानं जानानः खिद्यते भूरिलोकः ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमपाटवोपेतश्च सूक्ष्मसूक्ष्मतराणि वस्तूनि निजप्रज्ञया विन्दानो बहुजनातिशायिनमात्मानं पश्यन् सुखं वेदयते । तथाऽतिनिविडदर्शनावरणविपाकोदये जात्यन्धादिरनुभवति दुःखसंदोहं वचनगोचरातिक्रान्तदर्शनावरणक्षयोपशमपरिपुष्टतापरिकरितश्च स्पष्टचक्षुराद्युपेतो यथावद्वस्तु निकुरम्बं सम्यगवलोकमानो वेदयते अमन्दमानन्दसंदोहम् । तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं दर्शनावरणानन्तरं वेदनीयग्रहणं वेदनीयं च सुखदुःखे जनयतीत्यभीष्टानभीष्टविषयसंबन्धे चावश्यं संसारिणां रागद्वेषौ तौ च मोहनीयहेतुकौ तत एतदर्थप्रतिपत्तये वेदनीयानन्तरं मोहनीयग्रहणं मोहनीयमूढाश्च जन्तवो बह्वारम्भाः परिग्रहप्रभृति कर्मादानासक्ता नरकाद्यायुष्कमारचयन्ति । ततो मोहनीयानन्तरमायुर्ग्रहणं नरकाद्यायुष्कोदये चावश्यं नरकगत्यादीनि नामाद्युदयमायान्ति । तत आयुरनन्तरं नामग्रहणं नामकर्मोदये च नियमादुच्चनीचान्यतरगोत्रकर्मविपाकोदयेन भवितव्यमतो नामग्रहणानन्तरं गोत्रग्रहणं गोत्रोदये चोच्चैः कुलोत्पन्नस्य प्रायो दानलाभान्तरायादिक्षयोपशमो भवति राजप्रभृतीनां प्राचुर्येण दानलाभादिदर्शनात् नीचैः कुलोत्पन्नस्य तु दानलाभान्तरायाद्युदयो नीचजातीनां तथा दर्शनात् । तत एतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं गोत्रानन्तरमन्तरायग्रहणमिति । कर्म० ॥

नैरयिकाणां कर्मप्रकृतयः ।

नेरइयाणं भंते ! कति कम्मपगडीओ ? पण्णत्ताओ ।
गोयमा ! एवं चेव । एवं जाव वेमाणियाणं प्रज्ञा०
२३ पद० ॥

इत्थं कर्मणां मूलप्रकृतीरुक्त्वोत्तरप्रकृतीराह ।

नाणावरणं पंचविहं, सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं च तइयं, मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥

ज्ञानावरणं कर्म पञ्चविधं कथितं श्रुतज्ञानावरणम् । तथा आभिनिबोधिकं मतिज्ञानं तदावरणं द्वितीयम् । तृतीयमवधिज्ञानावरणम् । तथा मनोज्ञानं मनःपर्यायज्ञानावरणं चतुर्थम् । तथा पञ्चमं केवलज्ञानावरणम् ।

अथ दर्शनावरणस्य द्वितीयकर्मणो भेदानाह ।

निद्दा तहेव पयला, निद्दानिद्दा य पयलपयला य ।
तत्तो य थीणगिद्धी, उ पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥

निद्रा सुखजागरणरूपा । तथैव प्रचला द्वितीया स्थितस्योपविष्टस्य समायाति । तृतीया निद्रानिद्रा दुःखप्रतिबोधा । चतुर्थी प्रचलाप्रचला । चलमानस्य या आयाति सा प्रचलाप्रचला । ततः पञ्चमी स्त्यानगृद्धिनाम्नी ज्ञेया स्त्याना पुष्टा गृद्धिर्लोभो यस्यां सा स्त्यानगृद्धिः । अथवा स्त्याना संहता उपचिता ऋद्धिर्यस्यां सा स्त्यानर्द्धिः यस्या उदये हि वासुदेवार्द्धबलः प्रबलरागद्वेषवांश्च जन्तुर्जायते । अत एव दिनचिन्तितार्थसाधिनी इयं पञ्चमी भवति । ५ ।

चक्खुमचक्खुओहिस्स, दरिसणे केवले आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं, नायव्वं दरिसणावरणं ॥६॥

एवं तु अमुना प्रकारेण नवविकल्पं नवविधं दर्शनावरणं कर्म ज्ञातव्यम् दर्शनं सम्यक्त्वमावृणोतीति दर्शनावरणम् । पञ्च

निद्राः पूर्वगाथायामुक्ताः । चत्वारोऽमी भेदास्ते के उच्यन्ते (चक्खुमचक्खुओहिस्स दरिसणे इति) तत्र चक्खुमचक्खुओहिस्सेत्येकं पदं चक्षुश्च अचक्षुश्च अवधिश्च चक्षुरचक्षुरवधिस्तस्य चक्षुरचक्षुरवधेरावरणं चक्षुरचक्षुरवधेरित्यत्र प्राकृतत्वात् द्वन्द्वे एकत्वं पुंस्त्वं च दर्शने रूपसामान्यग्रहणे यदावरणं च पुनः केवले केवलज्ञाने यदावरणम् एवं नवविधम् । चक्षुषा दृश्यते ज्ञायते इति चक्षुर्दर्शनं तदावृणोति आच्छादयतीति चक्षुर्दर्शनावरणम् ।१। तथा चक्षुषोऽन्यदचक्षुः श्रोत्रघ्राणरसनास्पर्शरूपमिन्द्रियचतुष्कं तेन अचक्षुषा दृश्यते इति अचक्षुर्दर्शनं तदावृणोतीति अचक्षुर्दर्शनावरणं रूपवर्जव्यं सामान्यप्रकारेण मर्यादासहितं दृश्यते इति । अवधिदर्शनं तदावृणोतीति अवधिदर्शनावरणम् । एवं त्रयो भेदाश्चतुर्थं पुनः केवले केवलदर्शनेऽप्यावरणं ज्ञेयं केवलं सर्वद्रव्यपर्यायाणां सामान्येन स्वरूपं दृश्यते इति केवलदर्शनं तत्र यदावरणं केवलदर्शनावरणम् । एवं निद्रापञ्चानां निद्राचतुर्णामावरणानां च एकत्रीकरणात् नवविधं दर्शनावरणं ज्ञातव्यमित्यर्थः । ६ ।

वेयणीयं पि दुविहं, सायमसायं च आहियं ।
सायस्स य बहुभेया, एमेवासायस्स वि ॥ ७ ॥

वेदनीयं कर्म अपि द्विविधं वेदितुं योग्यं वेदनीयं कर्म द्विभेदमाख्यातं कथितमेकं सातं च पुनरसातम् । तत्र सात्यते शारीरं मानसं च सुखमनेनेति सातं सातावेदनीयं ततोऽन्यदसातमसातावेदनीयमित्यर्थः । तु पुनः सातस्यापि सातावेदनीयस्यापि बहवोऽनुकम्पादयो भेदा भवन्ति । एवमसातस्यापि असातावेदनीयस्यापि बहवः आर्तिशोकसन्तापादयो भेदा भवन्ति इति शेषः ॥ ७ ॥

मोहणिज्जं पि दुविहं, दंसणे चरणे तहा ।
दंसणे तिविहं वुत्तं, चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥
सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं, सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिन्नि पयडीओ, मोहणिज्जस्स दंसणे ॥ ९ ॥
चरित्तमोहणं कम्मं, दुविहं तु वियाहियं ।
कसायमोहणिज्जं च, नो कसाय तहेव य ॥ १० ॥
सोलसविहभेएणं, कम्मं तु य कसायजं ।
सत्तविहनवविहं, वा कम्मं नो कसायजं ॥ १० ॥

तिसृणां गाथानामर्थः । मोहयति जीवं घूर्णयति मद्यवत् परवशं करोतीति मोहस्तद्वहं मोहनीयं कर्म अपि द्विविधं भवति दर्शने तथा चरणे दर्शने दर्शनविषये मोहनीयं तथा चरणे चरणविषये मोहनीयम् । तत्र दर्शनं तत्त्वरुचिरूपं चरणं विरतिरूपम् । तत्रापि दर्शने यन्मोहनीयं तत्त्रिविधं तीर्थकरैरुक्तं चरणे चारित्रे यन्मोहनीयं तद् द्विविधं भवेत् ॥ ८ ॥ दृश्यन्ते ज्ञायन्ते जीवादयः पदार्थाः अनेनेति दर्शनम् । तत्र मोहयति मूढीकरोतीति दर्शनमोहनीयं त्रिविधं सम्यक्त्वम् १ मिथ्यात्वं २ सम्यग्मिथ्यात्वं ३ मिश्रमित्यर्थः । एव पादपूरणे सम्यक्त्वमोहनीयं मिथ्यात्वमोहनीयं मिश्रमोहनीयम् । तत्र सम्यक्त्वं हि मिथ्यात्वस्यैव पुद्गलाः अशुद्धपुद्गलाः अत्यन्तविशुद्धा भवन्ति तदा सम्यक्त्वं कथ्यते । तत्सम्यक्त्वमेव दर्शनं कथ्यते दर्शनसम्यक्त्वयोर्नामान्तरमत्र गृह्यते । यदा सम्यक्त्वं मिथ्यात्वप्रकृतित्वं भजति सम्यक्त्वस्य अतीचारा लगन्ति तदा मिथ्यात्वं भवति । यदा दर्शनप्रकृतिषु मोहो भवति अथवा औपशमिकादिकं मोहयति तदपि सम्यक्त्वमोहनीयमुच्यते । अथ मिथ्यात्वमोहनीयस्वरूपमुच्यते । सम्यक्त्वाभावे मिथ्यात्वम् अशुद्धदलिकस्वरूपं यत् तत्त्वे अतत्त्वरुचिरतत्त्वे तत्त्वरुचिरुत्पद्यते तन्मिथ्यात्वं तत्र मुह्यते इति मिथ्यात्वमोहनीयम् । यत्तु सम्यग्मिथ्यात्वमोहनीयं तत्तु शुद्धाशुद्धदलिकरूपं यस्माज्जिनधर्मोपरि रागोऽपि न भवति द्वेषोऽपि न भवति अन्तर्मुहूर्तस्थितिरूपं यथा नारिकेरद्वीपवासिपुरुषोऽन्योपरि राग्यपि न भवति द्वेष्यपि न भवति तादृक् स्वभावं मिश्रमोहनीयं तृतीयमुच्यते । एतास्तिस्रः प्रकृतयो दर्शने सम्यक्त्वे । अथ दर्शनस्य सम्यक्त्वस्य च मोहनीयकर्मणो ज्ञेया इति शेषः । सम्यक्त्वस्य अज्ञानं सम्यक्त्वमोहनीयं मिथ्यात्वस्य अज्ञानं मिथ्यात्वमोहनीयं मिश्रस्य मोहो मिश्रमोहनीयमिह हि सम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्ररूपाः जीवस्य धर्मा उच्यन्ते ।६। दर्शनमोहनीयं त्रिविधमुक्त्वा । अथ चारित्रमोहनीयभेदानाह (चरित्तेत्ति) गाथापूर्वमेवोक्ता । अथान्वयः तीर्थकरैश्चारित्रमोहनं कर्म द्विविधं व्याख्यातं चारित्रे चारित्रग्रहणे मोहयति मूढं करोति इति चारित्रमोहनम् । तत्र हि चारित्रमोहनं यत्र चारित्रफलं जानन् अपि तन्नाद्रियते तद् द्वैविध्यमाह । कषायमोहनीयं प्रथमं कषायाः क्रोधादयश्चत्वारस्तैर्मोहयतीति कषायमोहनीयम् । १ । तथा नोकषायैर्नवभिर्हास्यादिषट्कवेदत्रिकरूपैर्मोहयतीति नोकषायमोहनीयम् ।१०। तत्र यत्प्रथमं कषायजं मोहनीयं कर्म तत्षोडशविधं भवति । कषाया हि क्रोधमानमायालोभाः प्रत्येकमनन्तानुबन्धाः प्रत्याख्यानाप्रत्याख्यानसंज्वलनरूपैश्चतुर्भिर्भेदैः षोडशभेदाः भवन्ति । अथ नोकषायजं मोहनीयं कर्म सप्तविधं नवविधं वा भवति हास्य १ रत्य २ रति ३ भय ४ शोक ५ जुगुप्सा ६ वेदत्रयाणां च सामान्यावगणनया एकत्वमेव गम्यते हास्यादिषट्कं वेदश्च एवं सप्तविधम् । यदा हि त्रयो वेदाः पुंस्त्रीनपुंसकरूपाः गण्यन्ते तदा नवविधं नोकषायजं मोहनीयं भवतीत्यर्थः । ११ ।

अथायुष्कर्मप्रकृतीराह ।

नेरइयतिरिक्खा उ, मणुस्सा उ तहेव य ।
देवा उ चउत्थं तु, आउकम्मं चउव्विहं ॥ १२ ॥

आयुष्कर्म चतुर्विधं भवति यथा नैरयिकतिर्यगायुः निरये भवा नैरयिकाः नैरयिकाश्च तिर्यञ्चश्च नैरयिकतिर्यञ्चस्तेषामायुर्नैरयिकतिर्यगायुः आयुश्शब्दस्य प्रत्येकं संबन्धः । तथैव तृतीयं मनुष्यायुश्च पुनश्चतुर्थं देवायुः । एवं चतुर्विधमायुर्भवति ।१२।

अथ नामकर्मप्रकृतीराह ।

नामकम्मं तु दुविहं, सुहं असुहं च आहियं ।
सुहस्स बहुभेया, एमेव असुहस्स वि ॥

नामकर्म द्विविधं व्याख्यातं शुभं च पुनरशुभं शुभनामकर्म अशुभनामकर्म एवं द्विविधम् । तत्र शुभस्य शुभनामकर्मणो बहुभेदाः सन्ति । एवमेवाशुभस्य अशुभनामकर्मणोऽपि बहुभेदा भवन्ति । तत्र शुभस्य उत्तरोत्तरभेदतोऽनन्तभेदत्वेऽपि मध्यमापेक्षया सप्तत्रिंशद्भेदा भवन्ति ते चामी मनुष्यगति १ देवगति २ पञ्चेन्द्रियजात्यौ ३ दारिक ४ वैक्रिय ५ आहारिक ६ तैजस ७ कार्मण ८ समचतुरस्रसंस्थान ९ वज्रऋषभनाराचसंहननौ १०।११ दारिकाङ्गोपाङ्ग १२ हारकाङ्गोपाङ्ग १३ प्रशस्तवर्ण १४ प्रशस्तगन्ध-

१५ प्रशस्तरस १६ प्रशस्तस्पर्श १७ मनुष्यानुपूर्वी १८ देवानुपू १९ अगुरुलघु २० पराघात २१ उच्छ्वास २२ आतप २३ उद्योत २४ प्रशस्तविहायोगति २५ त्रस २६ बादर २७ पर्याप्त २८ प्रत्येक २९ स्थिर ३० शुभ ३१ सुभग ३२ सुस्वर ३३ आदेय ३४ यशःकीर्ति ३५ निर्माण ३६ तीर्थकरनामकर्म ३७ एताः सर्वा अपि शुभानुभावात् शुभनामकर्मणः प्रकृतयो ज्ञेयाः । तथा अशुभनामकर्मणो मध्यमभेदविवक्षया चतुस्त्रिंशद्भेदा भवन्ति । तद्यथा । नरकगति १ तिर्यग्गत्ये २ एकेन्द्रिय ३ द्वीन्द्रिय ४ त्रीन्द्रिय ५ चतुरिन्द्रियजाति ६ ऋषभनाराच ७ नाराच ८ अर्द्धनाराच ९ कीलिका १० सेवार्तकसंहननानि ११ न्यग्रोधमण्डलसंस्थान १२ सादि १३ वामन १४ कुब्ज १५ हुण्डका १६ अप्रशस्तवर्णा १७ अप्रशस्तगन्धा १८ अप्रशस्तरसा १९ अप्रशस्तस्पर्श २० नरकानुपूर्वी २१ तिर्यगानुपू २२ उपघाता २३ अप्रशस्तविहायोगति २४ स्थावर २५ सूक्ष्म २६ साधारणा २७ अपर्याप्ता २८ अस्थिरा २९ अशुभ ३० दुर्भग ३१ दुःस्वरा ३२ अनादेया ३३ अयशःकीर्तिरूपाः ३४ एताश्च अशुभनरकत्वादिनिबन्धनत्वेन अशुभाः । अत्र च बन्धसंघाते शरीरेभ्यो वर्णाद्यवान्तरभेदाः वर्णादिभ्यः पृथग् न विवक्ष्यन्ते एताः प्रकृतयस्तु मध्यमविवक्षया प्रोक्ताः उत्कृष्टविवक्षया तु १०३ प्रोक्ताः सन्ति १३। उत्त० ३३ अ० । (नामकर्मोत्तरप्रकृतीनामपि भेदा गइनामादिशब्देषु)

अथ गोत्रकर्मप्रकृतीर्व्यनक्ति

गोयं कम्मं दुविहं, उच्चनीयं च आहियं ।
उच्चं अट्ठविहं होइ, एवं नीयं पि आहियं । १४ ।

गोत्रं कर्म द्विविधं उच्चं च पुनर्नीचं च । तत्र उच्चमुच्चैर्गोत्रमिक्ष्वाकुजात्यादि उच्चैर्व्युपदेशहेतुजातिकुलरूपबलश्रुततपोलाभाद्यविधबन्धहेतुत्वादष्टविधमुच्चैर्गोत्रं भवति (एवमिति) अष्टविधमेव जातिकुलादिमदाष्टनिबन्धहेतुत्वान्नीचमपि नीचैर्गोत्रमपि नीचैर्व्युपदेशहेतुराख्यातम् । १४ ।

अथान्तरायप्रकृतीराह

दाणे लाभे भोगे य उ-वभोगे वीरिए तहा ।
पंचविहमंतरायं, समासेण वियाहियं ॥ १५ ॥

अन्तरायं समासेन संक्षेपेण पञ्चविधं व्याख्यातं तत्पञ्चविधमाह । दाने लाभे भोगे उपभोगे तथा वीर्ये एतेषु पञ्चसु अन्तरायत्वात् पञ्चविधमन्तरायम् । तत्र दीयते इति दानं तस्मिन् दाने, लभ्यते इति लाभस्तस्मिन् लाभे, सकृद्भुज्यते पुष्पाहारादिपदार्थ इति भोगस्तस्मिन् भोगे, उपेति पुनः पुनर्भुज्यते भुवनाङ्गनांशुकादीनि इति उपभोगस्तस्मिन् उपभोगे । तथा विशेषेण ईर्यते चेष्टतेऽनेनेति वीर्यं तस्मिन् वीर्ये सर्वत्रान्तरायमिति संबध्यते । विषयभेदात्पञ्चविधमन्तरायम् । यत्र यस्मिन् सति चतुरे ग्रहीतरि देये वस्तुनि तस्य फलं जानन्नपि दाने न प्रवर्तते तद्दानान्तरायम् १ यस्मिन् विशिष्टेऽपि दातरि सति याचनानिपुणोऽपि याचको न लभते तल्लाभान्तरायम् २ पुनर्विभवादौ सत्यपि भोक्तुं न शक्नोति तद्भोगान्तरायम् ३ येनोपभोगभोग्ये वस्तुनि सत्युपभोक्तुं न शक्यते तदुपभोगान्तरायम् ४ यद्बलवान् नीरोगस्तरुणोऽपि तृणमपि भङ्क्तुं न शक्नोति तस्य पुरुषस्य वीर्यान्तरायं कर्म ज्ञेयम् उत्त० ३३ अ० । प्रज्ञा० । भ० । पं० सं० (इहावश्यकत्वादुत्तरप्रकृतयः नाममात्रसंकीर्तने दर्शिता यथास्थानं तु विस्तरेण व्याख्याताः)

अयमत्र संग्रहः ।

दंसणावरणनामाणं दोण्हं कम्माणं एकावन्नं उत्तरकम्मपगमीओ पण्णत्ताओ ।

दर्शनावरणस्य नव नाम्नो द्विचत्वारिंशदित्येकपञ्चाशत् ।

नाणावरणिज्जस्स नामस्स अंतरायस्स एतेसिणं तिण्हं कम्मपगमीणं बावन्नं उत्तरपगमीओ पण्णत्ताओ । दंसणावरणिज्जनामाउयाणं तिण्हं कम्मपगडीणं पणपन्नं उत्तरपगडीओ पण्णत्ताओ ।

(दंसणेत्यादि) दर्शनावरणीयस्य नव प्रकृतयो नाम्नो द्विचत्वारिंशदायुषश्चतस्र इत्येवं पञ्चपञ्चाशदिति । स० ।

नाणावरणिज्जस्स वेयणिय आउयनामअंतराइयस्स एएसिणं पंचण्हं कम्मपगमीणं अट्ठावन्नं उत्तरपगमीओ पण्णत्ताओ ।

(नाणेत्यादि) तत्र ज्ञानावरणस्य पञ्च वेदनीयस्य द्वे आयुषश्चतस्रो नाम्नो द्विचत्वारिंशदन्तरायस्य पञ्चेति सर्वा अष्टपञ्चाशदुत्तरप्रकृतयः ॥

मोहणिज्जवज्जाणं सत्तण्हं कम्मपगडीणं एगूणसत्तरिं उत्तरपगमीओ पण्णत्ताओ ।

मोहनीयवर्जानां कर्मणामेकोनसप्ततिरुत्तरप्रकृतयो भवन्तीति कथं ज्ञानावरणस्य पञ्च दर्शनावरणस्य नव वेदनीयस्य द्वे आयुषश्चतस्रो नाम्नो द्विचत्वारिंशद्गोत्रस्य द्वे अन्तरायस्य पञ्चेति ॥

छण्हं कम्मपगडीणं आइमउवरिल्लवज्जाणं सत्तासीइं उत्तरपगमीओ पण्णत्ताओ ।

सप्ताशीतिरुत्तरप्रकृतयः प्रज्ञप्ताः कथं दर्शनावरणादीनां षण्णां क्रमेण नव द्वे अष्टाविंशतिः चतस्रो द्विचत्वारिंशद् द्वे चेत्येतास्तासां मीलने सूत्रोक्तसंख्या स्यादिति ॥

आउयगोत्तवज्जाणं छण्हं कम्मपगमीणं एकाणउइउत्तरपगमीओ पण्णत्ताओ ।

आयुर्गोत्रवर्जानां षण्णामिति ज्ञानावरणवेदनीयमोहनीयनामान्तरायाणां क्रमेण पञ्च नव द्वयष्टाविंशति द्विचत्वारिंशत् पञ्च भेदानामिति । स० ६७ स० ।

अट्ठण्हं कम्मपगमीणं सत्तणउइ उत्तरपगमीओ पण्णत्ताओ ॥

(एतत्सूत्रव्याख्या नास्ति) तदेवमुक्ताः सर्वकर्मणामुत्तरप्रकृतयः (२०) संप्रति तासामेव ध्रुवाध्रुवबन्धित्वादिविभागप्रतिपादनार्थमाह ।

नमिय जिणं धुवबंधो-दयसत्ताघायपुन्नपरियत्ता ।
सेयर चउहविवागा, वुच्छं बंधविहसामीय ॥ १ ॥

जिनं नत्वा ध्रुवबन्धित्यादि वक्ष्ये इति संबन्धः । तत्र नत्वा नमस्कृत्य कमित्याह जिनं रागद्वेषमोहादिदुर्वारवैरिवारजेतारं तीर्थकरमित्यर्थः । अनेन परमाराध्यं परमार्हन्त्यमहिमालंकृतं तीर्थकरमित्यर्थः । अनेन परमाभीष्टदेवतानमस्कारेण ऐकान्तिकमात्यन्तिकं भावमङ्गलमाह । अनेन च शास्त्रपरिसमाप्तेर्निर्व्यूहता भवतीति क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह । ध्रुवबन्धोदयादि वक्ष्ये (कर्म०) बन्धश्च उदयश्च सत्ता च बन्धोदयसत्तान्ति । ततो ध्रुवशब्दस्य प्र-

स्यैकं संबन्धात् । ध्रुवाणि बन्धोदयसन्ति यासां ताः ध्रुवबन्धोदयसत्यः (घाइइति) सर्वघातिन्यो देशघातिन्यश्चेत्यर्थः (पुन्नत्ति) पुण्यप्रकृतयः (परियत्ताति) परिवृताः परावर्तमानाः । (सेयरत्ति) सेतराः सप्रतिपक्षविपक्षयुक्ता इत्यक्षरार्थः । भावार्थोऽयं ध्रुवबन्धिन्यः १ अध्रुवबन्धिन्यः २ ध्रुवोदयाः ३ अध्रुवोदयाः ४ ध्रुवसत्ताकाः ५ अध्रुवसत्ताकाः ६ सर्वदेशघातिन्यः ७ अघातिन्यः ८ पुण्यप्रकृतयः ९ पापप्रकृतयः १० परावर्तमानाः ११ अपरावर्तमानाश्चेति १२ । द्वादश द्वाराणि वक्ष्ये (कर्म०) (अत्रत्यवीजः इह कम्मशब्दे अनुपयुक्तत्वात्पत्रैव व्याख्यायते) (चउव्विहविवागत्ति) चतुर्धा क्षेत्रभवपुद्गलविपाकाः प्रकृतीर्वक्ष्ये । तथा । (बंधविहत्ति) विधानानि विधा भेदाः बन्धस्य विधा बन्धविधाः प्रकृतिबन्धस्थितिबन्धरसबन्धप्रदेशबन्धलक्षणांस्तान् वक्ष्ये । एष च प्रकृत्यादिस्वभावश्चतुर्विधोपकर्मणा उपादानकाल एव बध्यत इति बन्धश्चतुर्विधः सिद्धो भवति । तथा समरुकमणिन्यायेन बन्धशब्द इहापि योज्यते ततो बन्धः स्वामित्वेन वक्ष्ये । कः कस्याः प्रकृतेः स्थितेर्वा कः कस्यामस्य तीव्रमन्दादिरूपस्य कश्च कस्य प्रदेशाग्रस्य जघन्यत्वादिलक्षणस्य बन्धक इत्यादि स्वामित्वेन वक्ष्ये । चशब्दादुपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्यादिकं वक्ष्ये । कर्म० । पं० सं० । अथ यथोद्देशं निर्देश इति न्यायात्प्रथमतो ध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीर्व्याचिख्यासुराह ।

वन्नचउतेयकम्मा-गुरुलहुनिमिणोवघायभयकुच्छा ।
मिच्छत्तकसायावर-णा विग्घधुवबंधि सगवत्ता ॥ २ ॥

प्राकृतत्वाल्लिङ्गवचनव्यत्ययेन ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः (सगवत्तत्ति) सप्तचत्वारिंशत्संख्या भवन्ति । तथा हि वर्णेनोपलक्षितं चतुष्कं वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणं ततो वर्णचतुष्कं च तैजसं च कार्मणं चागुरुलघु चेत्यादि द्वन्द्वे वर्णचतुष्कतैजसकार्मणागुरुलघुनिर्माणोपघातभयकुत्साः । कुत्सा जुगुप्सा तथा मिथ्यात्वं कषायाश्च आवरणानि च मिथ्यात्वकषायावरणानि । तत्र वर्णचतुष्कतैजसकार्मणागुरुलघुनिर्माणोपघातानि इत्येता नव नामप्रकृतयः । भयं कुत्सा मिथ्यात्वं कषायाः षोडश इत्येताः एकोनविंशतिमोहनीयप्रकृतयः । आवरणानि ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकस्वरूपाणि चतुर्दश । विघ्नमन्तरायं दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायभेदात्पञ्चविधमित्येवं सप्तचत्वारिंशदप्येता ध्रुवबन्धिन्यो निजहेतुसद्भावेऽवश्यबन्धसद्भावादिति । उक्ता ध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः ।

सांप्रतमध्रुवबन्धिनीः प्रकृतीरभिधित्सुराह ।

तणुवंगागिइसंघयण-जाइगइखगइपुव्विजिणुस्सासं ।
उज्जोयायवपरघात-तसवीसा गोयवेयणियं ॥ ३ ॥
हासाइजुयलदुगवे-य आउतेवुत्तरि अधुवबंधा ।
भंगा अणाइसाई-अणंतसंतुत्तरा चउरो ॥ ४ ॥

तनवः शरीराणि औदारिकवैक्रियाहारकलक्षणानि ततस्तैजसकार्मणयोर्ध्रुवबन्धित्वेनाभिहितत्वात् उपाङ्गानि औदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गाहारकाङ्गोपाङ्गरूपाणि त्रीण्याकृतयः संस्थानानि समचतुरस्रन्यग्रोधपरिमण्डलसादिकुब्जवामनहुण्डाख्याः षट् । संहननानि अस्थिनिचयात्मकानि वज्रर्षभनाराचऋषभनाराचनाराचार्द्धनाराचकीलिकासेवार्तलक्षणानि षट् । यावत् एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियरूपाः पञ्च गतयो देवमनुष्यतिर्यङ्नारकलक्षणाश्चतस्रः । खगतिर्विहायोगतिः प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् द्विधा (पुव्वित्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादानुपूर्व्यो देवानुपूर्वीमनुजानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीनरकानुपूर्वीरूपाश्चतस्रः । जिननाम तीर्थकरनाम श्वासनाम उच्छ्वासनामेत्यर्थः उद्योतनाम आतपनाम पराघातनाम (तसवीसत्ति) त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिस्त्रसदशकं स्थावरदशकमित्यर्थः । गोत्रम् उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रभेदेन द्विधा । वेदनीयं सातवेदनीयमसातवेदनीयमिति द्विधा । हास्यादियुगलद्विकं हास्यरत्यरतिशोकाभिधम् वेदाः स्त्रीपुन्नपुंसकरूपास्त्रयः । आयूंषि देवायुर्मनुजायुस्तिर्यगायुर्नरकायुरिति चत्वारि इत्येतास्त्रिसप्ततिप्रकृतयोऽध्रुवबन्धिन्यो भवन्तीति शेषः । एतासां निजहेतुसद्भावेऽप्यवश्यबन्धाभावादध्रुवबन्धित्वम् । तथा हि आतपं पुनरेकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिसहचरितमेव पराघातोच्छ्वासनाम्नोः पर्याप्तनाम्नैव सह बन्धो नापर्याप्तनाम्नाऽतोऽध्रुवत्वं नान्यदा उद्योतं तु तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धेनैव सह बध्यते आहारकद्विकजिननाम्नी अपि यथाक्रमं संयमसम्यक्त्वप्रत्ययेनैव बध्येते नान्यथेत्यध्रुवबन्धित्वम् । शेषशरीरोपाङ्गत्रिकादीनां पट्षष्टिप्रकृतीनां सविपक्षत्वान्निजहेतुसद्भावेऽपि नावश्यं बन्ध इत्यध्रुवबन्धित्वं सुप्रतीतमेव । उक्ता अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयः । कर्म० । पं० सं० ।

(२१) सांप्रतं ध्रुवबन्धिन्यध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकान् ग्रन्थलाघवार्थं च वक्ष्यमाणध्रुवोदयप्रकृतीनां च भङ्गकान्बन्धमाश्रित्य च चिन्तयन्नाह (भंगा अणाइसाई इत्यादि) भङ्गा भङ्गकाश्चत्वारो भवन्ति कथमित्याह । अनादिसादयोऽनन्तसान्तोत्तराः । इदमुक्तं भवति । अनादिसादशब्दौ आदौ येषां ते अनादिसादयः प्राकृतत्वादादिशब्दस्य लोपः अनन्तसान्तशब्दाः उत्तरे उत्तरपदे येषां तेऽनन्तसान्तोत्तरास्ते लुग्वेति सूत्रेण पदशब्दस्य लोपः । यद्वि वा भङ्गा अनादिसादयोऽनन्तसान्तोत्तराः सन्तश्चत्वारो भवन्ति । तद्यथा अनाद्यनन्तः १ अनादिसान्तः २ साद्यनन्तः ३ सादिसान्तश्चेति ४ उक्ता भङ्गाः ।

अथ यत्रोदये बन्धे वा ये भङ्गका घटन्ते तानाह ।

पढमबिया धुवउदइसु, धुवबंधिसु तइयवज्जभंगतिगं ।
मिच्छम्मि तिन्नि भंगा, दुहावि अधुवा तुरिय भंगा ॥ ५ ॥

प्रथमद्वितीयावनाद्यनन्तौ । अनादिसान्तलक्षणौ ध्रुवोदयासु प्रकृतिषु भङ्गकौ भवतः । तथा हि न विद्यते आदिर्यस्य अनादिकालात् सन्तानभावेन सततं प्रवृत्तेः सोऽनादिरनादिश्चासावनन्तश्च कदाचिदप्यनुदयाभावादनाद्यनन्तः । अयं च भङ्गको निर्माणस्थिरास्थिरागुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णचतुष्कज्ञानपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनचतुष्कलक्षणानां षड्विंशतिप्रकृतीनां ध्रुवोदयानामभव्यानाश्रित्य वेदितव्यः । यतो भव्यानां ध्रुवोदयप्रकृत्यनुदयो न कदाचिद्भविष्यतीति । तथा अनादिश्चासौ सान्तश्चानादिसान्तः । तत्र ज्ञानपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनचतुष्करूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात्सन्तानभावेनानादिः सन् यदा क्षीणमोहचरमसमये उदयो व्यवच्छिद्यते तदा अयमनादिसान्तभङ्गकः । निर्माणस्थिरास्थिरगुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णचतुष्कलक्षणानां द्वादशानामपि नामध्रुवोदयप्रकृतीनां

सततोदयेनानादिरुदयो भूत्वा सयोगिकेवलिचरमसमये यदोदयव्यवच्छेदमनुभवति तदा नादिसान्तभङ्गक इति। ध्रुवबन्धिनीषु पूर्वोक्तस्वरूपासु सप्तचत्वारिंशत्संख्यासु तृतीयवर्जभङ्गत्रिकं भवति । तथा हि यो बन्धोऽनादिकालादारभ्य सन्तानभावेन सततं प्रवृत्तो न कदाचन व्यवच्छेदमाप्तो न चोत्तरकालं कदाचिद् व्यवच्छेदमाप्स्यते सोऽनाद्यनन्तोऽभव्यानामेव भवति । यस्त्वनादिकालात्सततं प्रवृत्तोऽपि पुनर्बन्धव्यवच्छेदं प्राप्स्यति असावनादिसान्तोऽयं भव्यानाम् । साद्यनन्तलक्षणस्तु तृतीयभङ्गकः शून्य एव न हि यो बन्धः सादिर्भवति स कदाचिदनन्तः संभवतीति तृतीयभङ्गकवर्जनम्। यः पुनः पूर्वं व्यवच्छिन्नः पुनर्बन्धनेन सादित्वमासाद्य कालान्तरे भूयोऽपि व्यवच्छेदं प्राप्स्यति सोऽयं सादिसान्त इत्येवंस्वरूपं साद्यनन्तलक्षणतृतीयशून्यभङ्गवर्जितभङ्गकत्रयं ध्रुवबन्धिनीषु भवति । सूत्रेऽपि पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । प्राकृते लिङ्गं व्यभिचार्यपि भवति यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे लिङ्गं व्यभिचार्यपीति । तत्र प्रथमभङ्गकस्तासां सर्वासामभव्याश्रितः सुप्रतीत एव ध्रुवबन्धिनीः प्रति तद्बन्धस्यानाद्यनन्तत्वादिति । द्वितीयभङ्गकस्तु ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कान्तरायपञ्चकलक्षणानां चतुर्दशप्रकृतीनामनादिकालात्संतानभावेनानादिस्तत्सूक्ष्मसंपरायचरमसमये यदा बन्धो व्यवच्छिद्यते तदा भवति । आसामेव चतुर्दशप्रकृतीनामुपशान्तमोहे यदा अबन्धकत्वमासाद्यायुःक्षयेणाद्धाक्षयेण वा प्रतिपतितः सन् पुनर्बन्धेन सादिबन्धं विधाय भूयोऽपि सूक्ष्मसंपरायचरमसमये बन्धव्यवच्छेदं विधत्ते तदा सादिसान्तलक्षणश्चतुर्थः । चतुर्दशानां च प्रकृतीनां तृतीयभङ्गको न लभ्यते इति संज्वलनकषायचतुष्कस्य तु सदैवाप्रानादिबन्धभावो यदा तत्प्रथमतया अनिवृत्तिबादरादिबन्धव्यवच्छेदं विधत्ते तदाऽनादिसान्तस्वभावस्तस्य द्वितीयो भङ्गः। यदा ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धेन संज्वलनबन्धं सादि कृत्वा पुनरपि कालान्तरेऽनिवृत्तिबादरादिभावं प्राप्तः सन् तान् भन्त्स्यति तदा सादिसान्तस्वरूपः संज्वलनचतुष्कस्य चतुर्थ इति । निद्राप्रचलातैजसकार्मणवर्णचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणभयजुगुप्सास्वरूपाणां त्रयोदशप्रकृतीनामनादिकालादनादिबन्धं विधाय यदा अपूर्वकरणारूढायां यथास्थानं बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयो भङ्गकः । यदा तु ततः प्रतिपतितः पुनर्बन्धविधानेन सादित्वमासाद्य भूयोऽपि कालान्तरेऽपूर्वकरणमारूढस्य बन्धाभावस्तदा चतुर्थ इति । चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणानां बन्धो देशविरतगुणस्थानकं यावदनादिस्ततः प्रमत्तादौ बन्धोपरमात्सान्त इति द्वितीयो भङ्गः। ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि बन्धनेन सादित्वमासाद्य यदा पुनः प्रमत्तादावबन्धको भवति तदा चतुर्थो भङ्गकः। अप्रत्याख्यानावरणानां त्वविरतसम्यग्दृष्टिं यावदनादिबन्धं कृत्वा यदा देशविरतादौ अबन्धको भवति तदा द्वितीयः। ततः प्रतिपतितो भूयोऽपि तानेव बध्नाति पुनस्तेषां यदा देशविरतेष्वबन्धको भवति तदा चतुर्थ इति । मिथ्यात्वस्त्यानर्द्धित्रिकानन्तानुबन्धिनां तु मिथ्यादृष्टिरनादिबन्धको यदा सम्यक्त्वावाप्तौ बन्धोपरमं करोति तदा द्वितीयः । पुनर्मिथ्यात्वगमनेन तान् बध्वा यदा भूयोऽपि सम्यक्त्वलाभे सति भूयोऽपि बन्धं न विरुध्यते तदा चतुर्थः। इत्येवं ध्रुवबन्धिनीनां भङ्गकत्रयं निरूपितमिति । तथा मिथ्यात्वस्य ध्रुवोदयस्य भङ्गाः । अनाद्यनन्ता १ नादिसान्त २ सादिसान्त ३ स्वभावास्त्रयो भवन्ति । तत्रानाद्यनन्तोऽभव्यानां यतस्तेषां न कदाचिन्मिथ्यात्वोदयविच्छेदः समपादि संपत्स्यति चेति । अनादिसान्तस्त्वनादिमिथ्यादृष्टेस्तत्प्रथमतया सम्यक्त्वलाभे मिथ्यात्वस्याभावात् सादिसान्तः पुनः प्रतिपतितसम्यक्त्वस्य सादिके मिथ्यात्वोदये संपन्ने पुनरपि सम्यक्त्वलाभान्मिथ्यात्वोदयाभावे संभवतीति (दुहा वि अधुवा तुरिअभंगत्ति) द्विधापि द्विभेदा अपि बन्धमाश्रित्योदयमाश्रित्याध्रुवा अध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवोदयाश्चेत्यर्थः। तुरीयश्चतुर्थो भङ्गः सादिसान्तलक्षणो यासां ताः तुरीयभङ्गा भवन्ति। तत्राध्रुवबन्धिनीनां पूर्वोक्तत्रिसप्ततिसंख्याप्रभृतीनामध्रुवबन्धित्वादेव सादिसान्तलक्षणः एक एव भङ्गो भवति । तथाऽध्रुवोदयानामुदयः सदादिना उदयविच्छेदे सति तत्प्रथमतयोदयभवनस्वभावेन वर्तत इति सादिः । सादिश्चासौ सान्तश्च पुनरुदयव्यवच्छेदात्सपर्यवसानश्च सादिसान्तस्ततश्चाध्रुवोदयानामयमेवैको भङ्गो भवति नान्यो ध्रुवत्वादेवेति भावः । उक्ताः सभावार्था ध्रुवबन्धिन्योऽध्रुवबन्धिन्यश्च प्रकृतयः प्रसङ्गतो ध्रुवाध्रुवोदयानां प्रकृतीनां भङ्गकाश्च ।

संप्रति ध्रुवोदयप्रकृतिद्वारनिरूपणायाह ।

निमिणथिराथिरअगुरुल–हु सुहअसुहतेअकम्म चउवन्ना ।
नाणंतरायदंसण–मिच्छं धुवउदयसगवीसा । ६ ।

(निमिणत्ति) प्राकृतत्वान्निर्माणं स्थिरास्थिरम् (अगुरुत्ति) अगुरुलघु शुभाशुभं तैजसं कार्मणं चतुर्वर्णगन्धरसस्पर्शलक्षणमित्येता द्वादश नाम्नो ध्रुवोदया ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनचतुष्कं मिथ्यात्वमिति सप्तविंशतिप्रकृतयो ध्रुवोदया नित्योदयाः। सर्वासामपि स्वोदयव्यवच्छेदकालं यावदव्यवच्छिन्नोदयत्वादिति अभिहिता ध्रुवोदयाः प्रकृतयः ।

इदानीमध्रुवोदयाः प्रकृतीराह ।

थिरसुभियर विण अधुव–बंधी मिच्छा विण मोहधुवबंधा ।
निदोवघायमीसं, सम्मं अ पणनवइ अधुवुदया । ७ ।

इतरशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् स्थिरेतरशुभेतरप्रकृतिचतुष्कं विना स्थिरमस्थिरं शुभमशुभं विना शेषा एकोनसप्ततिसंख्या अध्रुवबन्धिन्यः प्रकृतयस्तथा हि तैजसकार्मणवर्जं शरीरत्रिकमङ्गोपाङ्गत्रयं संस्थानषट्कं संहननषट्कं जातिपञ्चकं गतिचतुष्कं विहायोगतिद्विकमानुपूर्वीचतुष्कं जिननाम उच्छ्वासनाम उद्योतमातपं पराघातं त्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिरूपमुच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं सातासातवेदनीयं हास्यरती अरतिशोकौ स्त्रीपुंनपुंसकरूपं वेदत्रयमायुश्चतुष्कमिति । तथा मिथ्यात्वं विना मोहध्रुवबन्धिन्योऽष्टादश तद्यथा षोडश कषायाः भयं जुगुप्सा निद्रापञ्चकमुपघातनाम मिश्रं सम्यक्त्वमिति पञ्चनवतिरध्रुवोदया व्यवच्छिन्नस्याप्युदयस्य पुनरुदयसद्भावादिति । यद्येवं मिथ्यात्वस्याप्यध्रुवोदयतैव युज्यते सम्यक्त्वप्राप्तौ व्यवच्छिन्नस्यापि तदुदयस्य मिथ्यात्वगमने पुनः सद्भावादित्यत्रोच्यते आसां च प्रकृतीनां येषु गुणस्थानकेषु गुणप्रत्ययतोऽप्युदयव्यवच्छेदो न विद्यते अथवा द्रव्यक्षेत्रकालाद्यपेक्षया तेष्वेव गुणस्थानकेषु कदाचिदसौ भवति कदाचिन्नेति ता एवाध्रुवोदया यथाभिप्राया मिथ्यादृ-

शेषस्य क्षीणमोहं यावदुदयो व्यवच्छिन्नो वर्तते । अथ च न सततमसौ भवतीति मिथ्यात्वस्य तु नेदं लक्षणं यतस्तस्य यद्य प्रथमगुणस्थानके नाद्याप्युदयव्यवच्छेदस्तत्र सततोदय एव न कादाचित्क इति ध्रुवोदयतैव तस्येति । उक्तमध्रुवोदयप्रकृतिद्वारम् । कर्म० ।

संप्रति ध्रुवसत्ताकाध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयं निरूपयन्नाह ॥

तसवन्नवीससग-तेयकम्मधुवबंधिसेसवेयतिगं ।
आगिइतिगवेयणियं, दुजुयलसगउरलसासचऊ ॥८॥
खगइतिरियदुगनीयं, धुवसत्तासम्ममीसमणुयदुगं ।
विउव्विक्कारजिणाउ, हारसगुच्चा अधुवसत्ता ॥ ९ ॥

इह विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं योगात्त्रसविंशतिश्च तत्र त्रसेनोपलक्षिता विंशतिस्त्रसविंशतिस्तथा हि त्रसबादरपर्याप्तकप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिनामेति त्रसदशकम् । स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसाधारणास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिनामेति स्थावरदशकमुभयमीलने त्रसविंशतिरियमुच्यते । वर्णविंशतिरियं कृष्णनीललोहितहरितसितवर्णभेदात्पञ्च वर्णाः । सुरभ्यसुरभिगन्धभेदेन द्वौ गन्धौ तिक्तकटुकषायाम्लमधुरभेदात्पञ्च रसाः । गुरुलघुमृदुखरशीतोष्णस्निग्धरूक्षस्पर्शभेदादष्टौ स्पर्शाः । सर्वमीलनेन वर्णविंशतिरित्युच्यते वर्णेनोपलक्षिता विंशतिरिति कृत्वा (सगतेयकम्मत्ति) तैजसकार्मणसप्तकं (कर्म०) (धुवबंधिसेसत्ति) वर्णचतुष्कतैजसकार्मणस्योक्तत्वाच्छेषा एकचत्वारिंशत् ध्रुवबन्धिन्यः । तथा हि अगुरुलघुनिर्माणोपघातभयजुगुप्सा । मिथ्यात्वकषायषोडशकज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरण-नवकान्तरायपञ्चकमिति । वेदत्रिकं स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणम् । [आगिइतिगत्ति] "तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइइत्यादि" संज्ञा गाथोक्तमाकृतित्रिकं गृह्यते । तत आकृतयः संस्थानानि षट् संहननानि षट् जातयः पञ्चेत्येवमाकृतित्रिकशब्देन सप्तदश भेदा गृह्यन्ते वेदनीयं सातासातभेदात् द्विधा । द्वयोर्युगलयोः समाहारो द्वियुगलं हास्यरत्यरतिशोकरूपं [सगउरलत्ति] औदारिकसप्तकम्, औदारिकशरीरौ १ दारिकोङ्गोपाङ्गौ २ दारिकसंघातनौ ३ दारिकबन्धनौ ४ दारिकतैजसबन्धनौ ५ दारिककार्मणबन्धनौ ६ दारिकतैजसकार्मणबन्धनरूपम् ७ (सासचउत्ति] उच्छ्वासचतुष्कमुच्छ्वासोद्योतातपपराघाताख्यम् [खगइतिरिदुगत्ति] द्विकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् खगतिद्विकं प्रशस्तविहायोगत्यप्रशस्तविहायोगतिलक्षणं तिर्यग्गतिद्विकं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपं [नीयत्ति] नीचैर्गोत्रमित्येतास्त्रिंशदुत्तरशतसंख्याः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताका अभिधीयन्ते । ध्रुवसत्ताकत्वं चासां सम्यक्त्वलाभादर्वाक् सर्वजीवेषु सदैव सद्भावात् । अथानन्तानुबन्धिनां कषायाणामुज्ज्वलनसंभवाद्ध्रुवसत्ताकतैव युज्यते अतः कथं ध्रुवसत्ताकप्रकृतीनां त्रिंशदधिकशतसंख्या संगच्छते नैवं वाच्यो यतोऽवाप्तसम्यक्त्वाद्युत्तरगुणानामेव जीवानामेतद् द्विसंयोगो न सर्वजीवानामध्रुवसत्ताकता या न वातोत्तरगुणजीवापेक्षयैव चिन्त्यते अतोऽनन्तानुबन्धिनां ध्रुवसत्ताकतैव । यदि वोत्तरगुणप्राप्त्यपेक्षया अध्रुवसत्ताकता कक्षीक्रियते तदा सर्वासामपि प्रकृतीनां स्यान्नानन्तानुबन्धिनामेव यतः सर्वा अपि प्रकृतयो यथास्थानमुत्तरगुणेषु सत्सु सत्ताव्यवच्छेदमनुभवन्त्येवेति । तथा (सम्मत्ति) सम्यक्त्वमिश्रं मनुजद्विकं मनुजगतिमनुजानुपूर्वीरूपम् । (विउव्विक्कारत्ति) वैक्रियैकादशकं देवगति १ देवानुपूर्वी २ नरकगति ३ नरकानुपूर्वी ४ वैक्रियशरीर ५ वैक्रियाङ्गोपाङ्ग ६ वैक्रियसंघातन ७ वैक्रियवैक्रियबन्धन ८ वैक्रियतैजसबन्धन ९ वैक्रियकार्मणबन्धन १० वैक्रियतैजसकार्मणबन्धनं ११ जिननामायुश्चतुष्कम (हारसगत्ति) प्राकृतत्वादाकारलोपः आहारकसप्तकम् । आहारकशरीरा १ हारकाङ्गोपाङ्गा २ हारकसंघाता ३ हारकबन्धना ४ हारकतैजसबन्धना ५ हारककार्मणबन्धना ६ हारकतैजसकार्मणबन्धनाख्यम् ७ उच्चैर्गोत्रमित्येता अष्टाविंशतिसंख्याः प्रकृतयो ध्रुवसत्ताका उच्यन्ते । अयमिह भावार्थः सम्यक्त्वं मिश्रं वा अभव्यानां प्रभूतभव्यानां च सत्तायां नास्ति केषांचिदस्तीति । तथा मनुष्यद्विकं वैक्रियैकादशकमित्येतास्त्रयोदश प्रकृतयस्तेजोवायुकायिकजीवमध्यगतस्योद्वर्तनाप्रयोगेण सत्तायां न लभ्यन्ते तत इतरस्य तु भवति । तथा वैक्रियैकादशकमसंप्राप्तत्रसत्वस्य संबन्धाभावाद्विहितैतद्बन्धस्य स्थावरभावं गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते तदन्यस्य संभवत्यपि । तथा सम्यक्त्वहेतौ सत्यपि जिननाम कस्यचिद्भवति कस्यचिन्नेति । तथा देवनारकायुषी स्थावराणां तिर्यगायुष्कं त्वहमिन्द्राणां देवानां मनुजायुष्कत्वं पुनस्तेजोवायुसप्तमपृथिवीनारकाणां सर्वथैव तद्बन्धाभावात्सत्तायां न लभ्यते अन्येषां तु संभवत्यपि । तथा संयमे सत्यपि आहारकसप्तकं कस्यचिद्बन्धसद्भावे सत्तायां स्यात्तदभावे कस्यचिन्नेति । तथोच्चैर्गोत्रमसंप्राप्तत्रसत्वस्य संबन्धाभावाद्विहितैतद्बन्धस्य स्थावरभावं गतस्य स्थितिक्षयेण वा सत्तायां न लभ्यते तेजोवायुकायिकजीवमध्यगतस्योद्वर्तनप्रयोगेण वा सत्तायां न लभ्यते इतरस्य तु भवतीत्यासामध्रुवसत्ताकता । उक्तं ध्रुवसत्ताकाध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारद्वयम् । कर्म० ।

संप्रति गुणस्थानकेषु कासांचित्प्रकृतीनां ध्रुवाध्रुवसत्तां गाथात्रयेण निरूपयन्नाह ।

पढमतिगुणेसु मिच्छं, नियमा अजयाइअट्ठगे भज्जं ।
सासाणे खलु सम्मं, संतं मिच्छाइ दसगे वा । १ ।

प्रथमा आद्यास्त्रयस्त्रिसंख्या गुणा गुणस्थानकानि प्रथमत्रिगुणास्तेषु प्रथमत्रिगुणेषु मिथ्यात्वं मिथ्यात्वलक्षणा प्रकृतिर्नियमान्निश्चयेन सद्विद्यमानं सत्तायां प्राप्यत इत्यर्थः । अयताद्यष्टके अविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहलक्षणेषु अष्टगुणस्थानेषु भाज्यं विकल्पनीयं कदाचित् मिथ्यात्वं सत्तायामस्ति कदाचिन्नास्ति । तथा हि अविरतसम्यग्दृष्ट्यादिना क्षपिते नास्ति उपशमिते त्वस्ति सास्वादने खलु नियमेन (सम्मंति) सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनमोहनीयलक्षणा प्रकृतिः सद्विद्यमानं सर्वदैव लभ्यत इत्यर्थः । यत औपशमिकसम्यक्त्वाद्धायां जघन्यतः समयावशेषायामुत्कृष्टतः षडावलिकावशिष्टायां सास्वादनो लभ्यते । तत्र च नियमादष्टाविंशतिसत्कर्मैवासाविति भावः । मिथ्यात्वादिदशके मिथ्यादृष्ट्यादिषु सास्वादनवर्जितोपशान्तमोहपर्यवसानगुणस्थानकेषु दशसंख्येषु वा विकल्पेन भजनया सम्यक्त्वं सत्तायां स्याल्लभ्यते स्यान्न वेति । तथा हि मिथ्यादृष्टौ जीवनादिषड्विंशतिसत्कर्मण्युद्वलितसम्यक्त्वपुञ्जे वा मिश्रेऽप्युद्वलितसम्यग्दर्शने अविरतादौ चोपशान्तमोहान्ते क्षीणसप्तके सम्यग्दर्शनमोहनीयं सत्तायां न प्राप्यते अन्यत्र सर्वत्र लभ्यत इति ।

सासणमीसेसु धुवं, मीसं मिच्छाइनवसु भयणाए ।
आइदुगे अणनियमा, भइया मीसाइनवगम्मि । ११ ।

सास्वादनं च मिश्रं च सास्वादनमिश्रं तयोः सास्वादनमिश्रयोः । बहुत्वं च प्राकृतवशात् यदाहुः प्रभुश्रीहेमचन्द्रसूरिपादाः द्विवचनस्य बहुवचनं यथा "हत्था पाया" इत्यादौ । सास्वादनगुणस्थाने सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने चेत्यर्थः । ध्रुवमवश्यंभावेन मिश्रं सम्यग्मिथ्यादर्शनमोहनीयं सदिति पूर्वोक्तगाथातो ममरुकमणिन्यायादिहापि संबध्यते । इदमत्र हृदयम् । सास्वादनो नियमादष्टविंशतिसत्कर्मैव भवति मिश्रस्त्वष्टाविंशतिसत्कर्मा विसंयोजितसम्यक्त्वः सप्तविंशतिसत्कर्मा उद्वलितानन्तानुबन्धिचतुष्कश्चतुर्विंशतिसत्कर्मा वा तत एतेषु सत्तास्थानकेषु मिश्रं सत्ताऽवश्यं लभ्यते षड्विंशतिसत्कर्मा तु मिश्रो न संभवत्येव मिश्रपुञ्जस्य सत्तोदयाभ्यां व्यतिरेकेण मिश्रगुणस्थानकाप्राप्तेरिति मिथ्यात्वादि नवसु सास्वादनसम्यग्मिथ्यात्वरहितेषु मिथ्यादृष्ट्याद्युपशान्तमोहपर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वित्यर्थः । भजनया विकल्पेन मिश्रं स्यात्सत्तायामस्ति स्यान्नेति । किमुक्तं भवति यो मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिसत्कर्मा ये वाऽविरतिसम्यग्दृष्ट्यादय उपशान्तमोहान्ताः क्षायिकसम्यग्दृष्टयस्तेषु मिश्रं सत्तायां नावाप्यते अन्यत्र प्राप्यत इति । तथा आद्यद्विके प्रथमगुणस्थानकयुगले मिथ्यादृष्टिसास्वादनगुणस्थानकद्वय इत्यर्थः (अणत्ति) अनन्तानुबन्धिनः प्रथमकषायाः क्रोधमानमायालोभाख्या नियता अवश्यंभावेन सत्तायामवाप्यन्ते । यतो मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्दृष्टी नियमेनानन्तानुबन्धिनो बध्नाति इति भावः । तथा भाज्या भक्तव्या विकल्पनीया मिश्रादिनवके सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृत्युपशान्तमोहपर्यवसाननवगुणस्थानकेष्वनन्तानुबन्धिनः सत्तामाश्रित्य भक्तव्या इत्यर्थः । इयमत्र भावना । विसंयोजितानन्तानुबन्धिनश्चतुर्विंशतिसत्कर्मणः सम्यग्मिथ्यादृष्टेः क्षीणसप्तकस्यैकविंशतिसत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिरहितचतुर्विंशतिसत्कर्मणो वाऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादेरनन्तानुबन्धिनः सत्तायां न सन्ति तदितरस्य तु सन्तीति । एतच्च शेषकर्मग्रन्थाभिप्रायेणोक्तम् । कर्मप्रकृत्यभिप्रायेण पुनः श्रीशिवशर्मसूरिपादा एवमाहुः ।

वीयतइएसु मीसं, नियमाणनवगम्मि भइयव्वं ।
संजोयणा उ नियमा, दुसु पंचसु हुंति भइयव्वा ॥

पूर्वार्द्धं सुगमं चोत्तरार्द्धस्येयमक्षरगमनिका । संयोजयन्त्यात्मनोऽनन्तकालमिति " रम्यादिभ्यः कर्तरी " त्यनटि प्रत्यये संयोजना । अनन्तानुबन्धिकषायाः । तुः पुनरर्थे नियमा न द्वयोर्मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोः सत्तामाश्रित्य भवन्ति यत एतावस्यामनन्तानुबन्धिनौ बध्नीत इति पञ्चसु पुनर्गुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्टिप्रभृतिष्वप्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु सत्तां प्रतीत्य भक्तव्याः । यदि उद्वलितास्ततो न सन्ति इतरथा तु सन्तीत्यर्थः । तदुपरितनेषु पुनरपूर्वकरणादिषु सर्वथैव तत्सत्ता नास्ति यतस्तदभिप्रायेण विसंयोजितानन्तानुबन्धिकषाय एवोपशमश्रेणिमपि प्रतिपद्यत इति ।

आहारसत्तगं वा, सव्वगुणे वितिगुणे विणा तित्थं ।
नोभयसंते मिच्छे, अंतमुहुत्तं भवे तित्थे । १२ ।

आहारकसप्तकमाहारकशरीरा १ हारकाङ्गोपाङ्गा २ हारकसंघातना ३ हारकबन्धना ४ हारकतैजसबन्धना ५ हारककार्मणबन्धना ६ हारकतैजसकार्मणबन्धनलक्षणं ७ वा विकल्पेन भजनया सर्वगुणेषु सर्वगुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिप्रभृत्ययोगिकेवलिपर्यवसानेषु । सूत्रे चैकवचनं प्राकृतत्वात्ततश्च सर्वगुणस्थानकेषु विकल्पनया सत्तां प्रतीत्याहारकसप्तकं प्राप्यते । इदमत्र हृदयम् । योऽप्रमत्तसंयतादिः संयमप्रत्ययादाहारकसप्तकबन्धं समारोहति, यश्च कश्चिदविशुद्धाध्यवसायवशादुपरितनगुणस्थानकेभ्योऽधस्तनगुणस्थानकेषु प्रतिपतति स आहारकसप्तकं न बध्नात्येव तद्बन्धं विनैवोपरितनगुणस्थानकेष्वध्यारोहति तदधस्तनेषु सत्तायां नावाप्यते इति तथा (विति गुणेविणा तित्थंति) काकिकनक्रकन्यायेन सर्वगुणेषु चेत्यत्रापि संबन्धनीयं सर्वगुणस्थानकेषु द्वितीयतृतीयगुणस्थानके विना सास्वादनमिश्रगुणस्थानकरहितेषु द्वादशस्वित्यर्थः । वा विभाषया भजनया तीर्थकरनाम सत्तायां प्राप्यत इति । कश्चिच्च बद्धतीर्थकरनामकर्माऽप्यविशुद्धिवशात् मिथ्यात्वमपि गच्छति तदा स्वास्वादनमिश्ररहितेषु द्वादशगुणस्थानकेषु तीर्थकरनामकर्म सत्तायामवाप्यते तीर्थकरनामसत्ताको हि मिश्रसास्वादनभावं न प्रतिपद्यते स्वभावादेवेति तद्वचनात् । यदुक्तं बृहत्कर्मस्तवभाष्ये " तित्थयरेण विहीणं, सीयालसयं तु संतए होइ । सासणयम्मि उ गुणे, संगमीसे य पयडीणं "। यः पुनर्विशुद्धसम्यक्त्वेऽपि सति तन्न बध्नाति तस्य सर्वगुणस्थानकेषु सत्वात् न लभते यतोऽनयोः संयमसम्यक्त्वलक्षणस्वप्रत्ययसद्भावेऽपि बन्धाभावान्नावश्यं सत्तासंभवः । यदुक्तं कर्मप्रकृतिसंग्रहण्याम् (आहारगतित्थयरा भज्जन्ति) आहारकसप्तकतीर्थकरनाम्नी सत्ता प्रतिभाज्येति भावः । एवमाहारकसप्तके तीर्थकरनामनि च प्रत्येकं सत्तारूपेणावतिष्ठमाने मिथ्यादृष्टिरपि जन्तुर्भवतीति । निश्चितमुभयसत्तायामसौ भवति न वेति विनेयाशङ्कायामाह (नोभयं संते मिच्छेत्ति) नो नैवोभयस्याहारकसप्तकतीर्थकरनामलक्षणद्विकस्य सत्वे सद्भावे सति (मिच्छेत्ति) मिथ्यादृष्टिर्भवेत् कोऽर्थः उभयसत्तायां मिथ्यात्वं न गच्छतीति भावः । तर्हि केवलतीर्थकरनामसत्तायां कियन्तं कालं मिथ्यादृष्टिर्भवतीत्याह । (अंतमुहुत्तं भवे तित्थेत्ति) अन्तर्मुहूर्तमन्तर्मुहूर्तमात्रकालं भवेज्जायेत (मिच्छेत्ति) इत्यस्यात्रापि संबन्धान्मिथ्यादृष्टिर्भवतीति क सतीत्याह (तित्थेत्ति) तीर्थकरनामकर्मणि सत्तायां वर्तमाने इति गम्यते । इदमुक्तं भवति यो नरके बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामकर्मा संस्तत्रोत्पित्सुरवश्यं सम्यक्त्वं परित्यजति उत्पत्तिसमनन्तरमन्तर्मुहूर्तादूर्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते तस्यायमुक्तप्रमाणः कालो लभ्यते इति उक्तं सप्रतिपक्षं ध्रुवसत्ताकप्रकृतिद्वारम् । ६.म० ।

(२२)अधुना सप्रतिपक्षं सर्वदेशघातिप्रकृतिद्वारं प्रतिपादयन्नाह ।

केवलजुयलावरणा, पण निद्दा बारसाइमकसाया ।
मिच्छत्ति सव्वघाई, चउनाणतिदंसणावरणा ॥१३॥
संजलणनोकसाया,विग्घं इय देसघाइ य अघाई ।
पत्तेय तणुट्ठाऊ, तसवीसा गोयदुगवन्ना ॥ १४ ॥

केवलजुगलं केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपं तस्यावरणे आच्छादके कर्मणी केवलजुगलावरणे केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं चेत्यर्थः । पञ्च निद्राः । निद्रा १ निद्रानिद्रा २ प्रचला ३ प्रचलाप्रचला ४ स्त्यानर्द्धिरूपाः ५ द्वादशेति संख्या आदिमकषायाः संज्वलनापेक्षया प्रथमकषायाः क्रोधमानमायालोभनामैकैकशोऽनन्तानुबन्ध्य १ प्रत्याख्यानावरण २ प्रत्याख्यानावरणलक्षणनामत्रयेण द्वा-

देशघातित्वं मिथ्यात्वमित्यनेन प्रदर्शितप्रकारेण सर्वमपि स्वाधार्यं गुणं घातयन्तीत्येवंशीलाः सर्वघातिन्यो विंशतिसंख्या भवन्तीत्यक्षरार्थो भावार्थः पुनरयम् इह केवलज्ञानावरणस्य स्वावार्य-केवलज्ञानलक्षणो गुणः स च यद्यपि सर्वात्मनाऽऽव्रियते तथापि सर्वजीवानां केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवावतिष्ठते तदावरणे तस्य सामर्थ्याभावात् यदाहुः श्रीदेवर्द्धिवाचकवराः । "सव्वजीवाणं पि य णं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइत्ति" कथं तर्हि सर्वघातित्वमिति चेदभिधीयते । यथा अतिबहुलजलदपटलेन ज्ञातितरामुन्नतेन बहुतरायाः आवृतत्वात्सर्वाऽपि सूर्याचन्द्रमसोः प्रभा तेनावृतेति वचनरचना प्रवर्तते । अथचाद्यापि काचित्प्रभा प्रसरति । "सुट्ठु वि मेहसमुदए, होइ पहा चंदसूराण मिति" वचनादनुभवसिद्धत्वाच्च तथाऽत्रापि प्रबलकेवलज्ञानावरणावृतस्यापि केवलज्ञानस्यानन्तभागोऽनावृत एवास्ते । यदि पुनस्तदप्यावृणुयात्तदा जीवोऽजीवत्वमेव प्राप्नुयात् । यदुक्तम् नन्द्यध्ययने " जइ पुण सो वि आवरिज्ज तो णं जीवो अजीवत्तणं पाविज्ज " सोऽपि चावशिष्टोऽनन्तभागो जलधरानावृतदिनकरप्रसर इव कटकुड्यादिभिर्मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणैराव्रियते तदा काचिन्निगोदावस्थायामपि ज्ञानमात्राऽवतिष्ठते । अन्यथाऽजीवत्वप्रसङ्गान्मतिज्ञानादिविषयभूतांश्चार्थान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणोदयो न भवति किं तर्हि मतिज्ञानावरणाद्युदय एवेति । केवलदर्शनावरणस्य समस्तवस्तुस्तोमसामान्यावबोधः आवार्यस्तं सर्वं हन्तीति सर्वघात्यभिधीयते तदनन्तभागं त्विदमपि सामर्थ्याभावान्नावृणोति सोऽपि चानावृतोऽनन्तभागश्चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणैराव्रियते शेषो जलधरदृष्टान्तादवार्यस्तथैव यच्चक्षुर्दर्शनादिविषयानर्थान् पश्यति स केवलदर्शनावरणोदयो न भवति किं तर्हि चक्षुर्दर्शनावरणाद्युदय एवेति । यद्येवं तर्हि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणक्षये सत्यपि मतिज्ञानादिचक्षुर्दर्शनादिविषयाणामर्थानामवबोधो न प्राप्नोति छिन्नज्ञानविषयत्वादिति चेत् तदयुक्तम् । लभ्यते केवलालोकलाभे शेषावबोधलाभान्तर्भावात् ग्रामलाभे क्षेत्रलाभो ग्रामअन्तर्भाववदिति । निद्रापञ्चकमपि सर्ववस्त्ववबोधमावृणोतीति सर्वघाति । यत्पुनः स्वापावस्थायामपि किञ्चित् किञ्चिद्वेत्ति तत्र धाराधरनिदर्शनं वाच्यम् । तथाऽनन्तानुबन्धिनोऽप्रत्याख्यानावरणाः प्रत्याख्यानावरणाश्च प्रत्येकं चत्वारो यथाक्रमं सम्यक्त्वं देशविरतिचारित्रं सर्वविरतिचारित्रं सर्वमेव घ्नन्तीति सर्वघातिनो द्वादशापि कषायाः । यः पुनस्तेषां प्रबलोदयेऽप्ययोग्याहारादिविरमणमुपलभ्यते तत्र वारिवाहदृष्टान्तो वाच्यः । तथा मिथ्यात्वं तु जिनप्रणीततत्त्वश्रद्धानस्वरूपं सम्यक्त्वं सर्वमपि हन्तीति सर्वघाति । यत्तु तस्य प्रबलोदयेऽपि मनुष्यपश्वादिवस्तुश्रद्धानं तदपि जलधरोदाहरणादवसेयमिति भाविताः सर्वघातिन्यः । संप्रति देशघातिन्यो भाव्यन्ते [चउनाणतिदंसणावरणत्ति] आवरणशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धान्मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यायज्ञानावरणलक्षणं दर्शनावरणत्रिकं चक्षुर्दर्शनावरणाऽचक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणरूपमिति । संज्वलनाश्चत्वारः क्रोधमानमायालोभाः । नोकषाया हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्वरूपा नवपञ्चविधमन्तरायं दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायलक्षणमित्यमुना दर्शितप्रकारेण देशघातिन्यः पञ्चविंशतिसंख्याः भवन्तीत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयं मतिज्ञानावरणादिचतुष्कं केवलज्ञानावरणावृतं ज्ञानदेशं हन्तीति देशघातीदमुच्यते । मत्यादिज्ञानचतुष्टयविषयभूतानर्थान् यन्नावबुध्यते स हि मत्यावरणाद्युदय एव तद्विषयभूतांस्त्वनन्तगुणान् यन्न जानीते स केवलज्ञानावरणस्यैवोदय इति । चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणान्यपि केवलदर्शनावरणानावृतकेवलदर्शनैकदेशमावृण्वन्तीति देशघातीनि । तथा हि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनविषयभूतानेवार्थान् एव तदुदयान्न पश्यति तद्विषयभूतांस्त्वनन्तगुणान् केवलदर्शनावरणोदयादेव न समीक्षते । तथा संज्वलना नव नोकषायाश्च लब्धस्य चारित्रस्य देशमेव घ्नन्तीति देशघातिनस्तेषां मूलोत्तरगुणानामतीचारजनकत्वात् । यदवादि श्रीमदाराध्यपादैः । " सव्वे वि य अइयारा, संजलणाणं तु उदयओ हुंति । मूलविज्जं पुण होइ, बारसण्हं कसायाण " मिति दानान्तरायादीनि पञ्चान्तरायाण्यपि देशघातीन्येव तथा हि दानलाभभोगोपभोगानां तावद् ग्रहणधारणयोग्यान्येव द्रव्याणि विषयस्तानि च समस्तपुद्गलास्तिकायस्यानन्तभागरूपे देश एव वर्तन्ते । अतो यदुदयात्तानि पुद्गलास्तिकायदेशवर्तीनि द्रव्याणि यद्दातुं लब्धुं भोक्तुमुपभोक्तुं च न शक्नोति तानि दानलाभभोगोपभोगान्तरायाणि तावद्देशघातीन्येव । यत्तु सर्वलोकवर्तीनि द्रव्याणि न ददाति न लभते न भुङ्क्ते नाप्युपभुङ्क्ते न तद्दानान्तरायाद्युदयात् । किं तु तेषामेव ग्रहणधारणाविषयत्वेनाशक्यानुष्ठानत्वादिति मन्तव्यम् । वीर्यान्तरायमपि देशघात्येव सर्वं वीर्यं न घातयतीति कृत्वा तथा हि सूक्ष्मनिगोदस्य वीर्यान्तरायकर्मणोऽभ्युदये वर्तमानस्याप्याहारपरिणमनकर्मदलिकग्रहणगत्यन्तरगमनादिविषय एतावान् वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमो विद्यते तत्क्षयोपशमविशेषतश्च निगोदजीवमादौ कृत्वा यावत्क्षीणमोहस्तावद्वीर्यमल्पं बहु बहुतरं बहुतमं च तारतम्याद्भवतीति । केवलिनश्च तत्कर्मक्षयसंभूतं सर्वं वीर्यं भवतीति देशघातीदम् । यदि पुनः सर्वघाति स्यात्तदा यथैव मिथ्यात्वस्य कषायद्वादशकस्य च उदये तदा वीर्यं सम्यक्त्वगुणं देशसर्वसंयमगुणं च जघन्यमपि न लभ्यते तथैव तदुदयेऽपि तदा वीर्यं जघन्यमपि वीर्यगुणं न लभेत न चैवमस्ति तस्मादिदमपि देशघातीति स्थितमित्युक्ताः सर्वदेशघातिन्यः । संप्रति तत्प्रतिपक्षभूता अघातिनीर्व्याचिख्यासुराह (अघाईइत्यादि) अघातिन्य एताः पञ्चसप्ततिसंख्याः प्रकृतयोऽभिधीयन्ते तद्यथा (पत्तेयत्ति) प्रत्येकं प्रकृतयः पराघातोच्छ्वासातपोद्योतागुरुलघुतीर्थकरनिर्माणोपघातरूपा अष्टौ (तणुट्ठति) तन्वा शब्देनोपलक्षितमष्टकं " तणुवंगागिइसंघयणजाइगइखगइपुव्वित्ति " लक्षणं तन्वष्टकं तत्र तनव औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणलक्षणाः पञ्च । उपाङ्गानि त्रीणि । आकृतयः संस्थानानि षट् । संहननानि षट् । जातयः पञ्च । गतयश्चतस्रः । खगती द्वे । पूर्व्यानुपूर्व्यश्चतस्रः । एवं तन्वष्टके प्रकृतयः पञ्चत्रिंशत् । आयूंषि चत्वारि । त्रसविंशतिस्त्रसदशकस्थावरदशकमीलनात् (गोयदुगत्ति) गोत्रशब्देनोपलक्षितं द्विकं (गोयवेयणीयमिति) गाथांशेन प्रतिपादितं गोत्रमुच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रमिति । सातासातभेदाद्वेदनीयं द्विधा । तदेवं गोत्रद्विकशब्देन प्रकृतिचतुष्टयमभिधीयते (वन्नत्ति) वर्णगन्धरसस्पर्शाख्याश्चतस्रः प्रकृतयो गृह्यन्ते इत्येताः प्रकृतयोऽघातिन्यो न कंचन ज्ञानादिगुणं घातयन्तीति कृत्वा केवलं सर्वदेशघातिनीभिः सह वेद्यमाना एता अघातिन्योऽपि सर्वघातिरसविपाकं दर्शयन्ति । देशघातिनीभिः सह पुनर्वेद्यमाना देशघातिरसं यथा स्वयम-

चौरश्चौरैः सह वर्त्तमानश्चौर इवावभासते । यद्भाणि "जाण न विसओ घाइ-त्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो । जायइ घाइसगासेण, चोरया वेह चोराणमिति" उक्तं सप्रतिपक्षसर्वदेशघातिद्वारम् । कर्म० । पं० सं० ।

संप्रति पुण्यपापप्रकृतीर्विवरीपुराह ।

सुरनरतिगुच्चसायं, तसदसतणुवंगवइरचउरंसं ।
परघासत्त तिरिआउं, वन्नचउपणिंदियसुभखगई ॥१५॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् सुरत्रिकं सुरगतिसुरानुपूर्वीसुरायुर्लक्षणं नरत्रिकं नरगतिनरानुपूर्वीनरायुर्लक्षणं (उच्चत्ति) उच्चैर्गोत्रं सातं त्रसदशकं त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिलक्षणं तनवः औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणरूपाः पञ्च उपाङ्गानि औदारिकाङ्गोपाङ्गवैक्रियाङ्गोपाङ्गाहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणानि त्रीणि (वइरत्ति) वज्रऋषभनाराचसंहननं चतुरस्रं समचतुरस्रं (परघासत्तत्ति) पराघातसप्तकं पराघातोच्छ्वासाऽऽतपोद्योतागुरुलघुतीर्थकरनामनिर्माणरूपम् । तिर्यगायुः वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शाख्यं पञ्चेन्द्रियजातिः शुभगतिः प्रशस्तविहायोगतिरिति ।

बायालपुन्नपगई, अपढमसंठाणखगइसंघयणा ।
तिरिदुग असायनीआ-वघायइगविगलनरयतिगं ॥१६॥
थावरदसवन्न चउ-कसाय पणयालसहियबासीई ।
पावपयमित्ति दोसु वि, वन्नाइगहा सुहा असुहा ॥१७॥

सुरत्रिकप्रभृतयः शुभखगतिपर्यन्ता एता द्विचत्वारिंशत्संख्याः पुण्याः शुभाः प्रकृतयः पुण्यप्रकृतयः उच्यन्ते । उक्ताः पुण्यप्रकृतयः कर्म० । (पापप्रकृतिविचारः पावपगइ शब्दे) परावर्तमानप्रकृतयस्तद्वर्णने च समर्थितं परावर्तमानापरावर्तमानप्रकृतिद्वारद्वयम् । तदेवं समर्थितं "धुवबन्धोदयसंघाताय "पुन्नपरियत्तासेयर इति" मूलद्वारगाथोपन्यस्तं द्वारश्चादशकं संप्रति यदुक्तम् । "चउहविवागा पुच्छमिति" तद्विभणिषुः ।

(२३) प्रथमं क्षेत्रविपाकाः प्रकृतीराह ।

(खित्तविवागाणुपुव्वीउत्ति) क्षेत्रमाकाशं तत्रैव विपाक उदयो यासां ताः क्षेत्रविपाकाः आनुपूर्व्यश्च ता नारकतिर्यङ्नरामरानुपूर्वीलक्षणा यतस्तासां चतसृणामपि विग्रहगतावेवोदयो भवतीति । उक्तं च । बृहत्कर्मविपाके । "नरयाउयस्स उदए, नरए वक्केण गच्छमाणस्स । नरयाणुपुव्वियाए,तहिं उदओ अन्नहिं नत्थित्ति, एवं तिरिमणुदेवे, तेसु विवक्केण गच्छमाणस्स । तेसिमणुपुव्वियाणं, तहिं उदओ अन्नहिं नत्थि" ॥२॥ ननु विग्रहगत्यभावेऽप्यानुपूर्वीणामुदयः संक्रमणकरणेन विद्यते । अथ कथं क्षेत्रविपाकिन्यस्ता न गतिवज्जीवविपाकिन्य इत्यत्रोच्यते । विद्यमानेऽपि संक्रमे यथा तासां क्षेत्रप्राधान्येन स्वकीयो विपाकोदयो न तथान्यासामतः क्षेत्रविपाकिन्य एवेति उक्ताः क्षेत्रविपाकाः प्रकृतयः । कर्म० । पं० सं० ।

सांप्रतं जीवविपाका भवविपाकाः प्रकृतीराह ।

घणघाइदुगोयजिणणाम,तसियरतिगसुभगदुभगचउसासं ।
जाइतिगजियविवागा, आऊ चउरो भवविवागा ॥२०॥

घनघातिन्यः प्रकृतयः सप्तचत्वारिंशत् तद्यथा ज्ञानावरणं पञ्चधा, दर्शनावरणं नवधा, मोहनीयमष्टाविंशतिधा, अन्तरायं पञ्चधेति । (दुगोयत्ति) 'दुगोयवेणिय" मिति वचनात् गोत्रद्विकं गोत्रवेदनीयरूपं तत्र गोत्रमुच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रभेदाद् द्वेधा । वेदनीयं सातासातभेदेन द्विभेदमिति दुगोयशब्देन प्रकृतिचतुष्टयं गृह्यते (जिननामतसियरतिगत्ति) त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् त्रसत्रिकं त्रसबादरपर्याप्तकरूपम् । इतरत्रिकं स्थावरत्रिकं स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकलक्षणम् (सुभगदुभगचउत्ति) चतुःशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् सुभगचतुष्कं सुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिरूपं दुर्भगचतुष्कं दुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्तिलक्षणम् (सासंति) उच्छ्वासं (जाइतिगत्ति) जातिशब्देनोपलक्षितं त्रिकं जाइगइखगइ इति" गाथावयवोक्तं जातित्रिकं तत्र जातय एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाख्याः पञ्च । गतयः सुरनरतिर्यङ्नरकरूपाः चतस्रः । खगतिः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभेदेन द्विधा । इत्येवं जातित्रिकशब्देन एकादश प्रकृतयो गृह्यन्ते । इत्येता अष्टसप्ततिप्रकृतयः । जीव एव विपाकः स्वशक्तिदर्शनलक्षणो विद्यते यासां ताः जीवविपाका ज्ञातव्याः तथाहि पञ्चविधज्ञानावरणोदयो जीव एवाज्ञानी स्यान्न पुनः शरीरपुद्गलादिषु तत्कृतः कश्चिदुपघातोऽनुग्रहो वाऽस्तीति । एवं नवविधदर्शनावरणोदयः जीव एवादर्शनी भवति सातासातोदया जीव एव सुखी दुःखी वा संपद्यते अष्टाविंशतिविधमोहनीयोदया जीव एवादर्शनी अचारित्री वा जायते । पञ्चविधान्तरायोदयाज्जीव एव न दानादि कर्तुं पारयति । उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रगतिचतुष्कजातिपञ्चकविहायोगतिद्विकजिनत्रसबादरपर्याप्तकस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तकसुभगचतुष्कदुर्भगचतुष्कोच्छ्वासनामोदयाज्जीव एव तं तं भावमनुभवति न शरीरपुद्गला इति । इत्येताः सर्वा अपि जीवविपाकिन्यः पुद्गलविपाकिन्य इति।या अपि क्षेत्रविपाका उक्ता याश्च भवविपाकाः पुद्गलविपाकाश्च वक्ष्यन्ते ता अपि परमार्थतो जीवस्यैव पारम्पर्येणानुग्रहमुपघातं च कुर्वन्ति केवलं मुख्यतया क्षेत्रभवपुद्गलेषु तद्विपाकस्य विवक्षितत्वात्तद्विपाका उच्यन्ते इति । आयूंषि चत्वारि नारकायुष्कादीनि पुंस्त्वं च प्राकृतवशात् प्राकृते हि लिङ्गमतन्त्रमेव यदवादि प्रवादिसर्पदर्पसौपर्णेयैः श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः स्वप्राकृतलक्षणे लिङ्गमतन्त्रमिति भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवो नारकादिपर्यायः स च पूर्वायुर्विच्छेदे विग्रहगतेरप्यारभ्य वेदितव्यो यदाह भगवान् श्रीसुधर्मस्वामी भगवत्याम् "नेरइए नेरइएसु उववज्जइत्ति" तस्मिन् भवे नारकतिर्यङ्नरामररूप एव विपाक उदयो विद्यते येषां तानि भवविपाकानि तथा हि यथासंभवं पूर्वभवबद्धान्यागामिनि भवे विपच्यन्त इति भावः । ननु यथायुषां देवादिभवेऽवश्यं विपाको भवत्येवं गतीनामप्यतस्ता अपि भवविपाकिन्यः प्राप्नुवन्ति । अत्रोच्यते आयुर्यद्यस्य भवस्य योग्यं निबद्धं तत्तस्मिन्नेव भवे वेद्यते इत्यायुषो भवविपाकित्वं गतयस्तु विभिन्नभवयोग्या निबद्धा अप्येकस्मिन्नपि भवे सर्वाः संक्रमेण संवेद्यन्ते तथा हि मोक्षगामिनोऽशेषा गतयो मनुष्यभवे क्षयं यान्ति, अतो भवं प्रति गतीनां नैयत्याभावान्न भवविपाकिन्यः किं तु जीवविपाकिन्यः एवेत्युक्ता जीवविपाका भवविपाकाश्च प्रकृतयः ।

इदानीं पुद्गलविपाकिनीः प्रकृतीः प्रचिकटयिषुराह ।

नामधुवोदयचउतणु-वघायसाहारणियजोयतिगं ।
पुग्गलविवागिबंधो, पयइठिइरसपएसत्ति ॥२१॥

नाम्नो नामकर्मणो वर्णचतुष्कमिति (चउत्तत्ति) तथा ध्रुवोदया नित्योदयानाम ध्रुवोदया द्वादश प्रकृतयस्तद्यथा निर्माणस्थिरास्थिरागुरुलघुशुभाशुभतैजसकार्मणवर्णचतुष्कमिति [च-

उवगुत्ति] तनुशब्देनोपलक्षितं चतुष्कं " तणुवंगागिइसंघयण " इति गाथावयवेन प्रतिपादितं तनुचतुष्कं तत्र तैजसकार्मणयोर्ध्रुवोदयमध्ये पठितत्वादिह तनवः औदारिकवैक्रियाहारकलक्षणास्तिस्रः परिगृह्यन्ते उपाङ्गानि त्रीणि, आकृतयः संस्थानानि षट्, संहननानि षट्, तदेवं तनुचतुष्कशब्देन एता अष्टादश प्रकृतयो गृह्यन्ते । उपघातं साधारणमितरच्च तत्प्रतिपक्षभूतं प्रत्येकं [जोयतिगं ति] 'उज्जोयायवपरघाइत्ति' वचनादुद्योतातपपराघातलक्षणमित्येताः षट्त्रिंशत्प्रकृतयः [पुग्गलविवागि] पुद्गलेषु शरीरतया परिणतेषु परमाणुषु विपाक उदयो यासां ताः पुद्गलविपाकिन्यः शरीरपुद्गलेष्वेवात्मीयां शक्तिं दर्शयन्तीत्यर्थः । तथा हि निर्माणस्थिरास्थिराद्युदयाच्छरीरतया परिणतानां पुद्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिनियमनं दन्तास्थ्यादीनां स्थिरत्वं जिह्वादीनामस्थिरत्वं शिरःप्रभृतीनां शुभत्वं पादानामशुभत्वमित्यादि तनूदयाच्छरीरतया पुद्गला एव परिणमन्ते अङ्गोपाङ्गोदयाच्च शिरोग्रीवाद्यवयवविभागो जायते आकृतिनामोदयात्तेष्वेवाकारविशेषाः संपद्यन्ते संहननोदयात्तेषामेव वज्रऋषभनाराचादितया विशिष्टा परिणतिर्भवति । उपघातसाधारणप्रत्येकोद्योतातपादीनामपि सर्वेषां शरीरपुद्गलेष्वेव स्वविपाकस्य दर्शनात्सुप्रतीतमेवासां पुद्गलविपाकित्वमिति । उक्ताश्चतुर्विधविपाकाः प्रकृतयः । कर्म० । पं० सं० । इह पुद्गलविपाकिनीनामौदयिकभावत्वमुक्तं ततस्तत्प्रसङ्गेन शेषप्रकृतीनामपि यथासंभवं भावानभिधित्सुराह ।

मोहस्सेव उवसमो, खाओवसमो चउण्ह घाईणं ।
खयपरिणामियउदया, अट्ठण्ह वि होंति कम्माणं ॥

अष्टानां कर्मणां मध्ये मोहस्यैव मोहनीयस्यैवोपशमो विपाकप्रदेशरूपतया द्विविधस्याप्युदयस्य विष्कम्भणं नान्येषामुपशमश्चेह सर्वोपशमो विवक्षितो न देशोपशमस्तस्य सर्वेषामपि कर्मणां संभवात् । तथा उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेणानुदयावलिकाप्रविष्टस्योपशमेन विपाकोदयविष्कम्भलक्षणेन निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः । स च चतुर्णामेव घातिकर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायरूपाणां भवति न शेषकर्मणां चतुर्णामपि च केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरहितानां तयोर्विपाकोदयविष्कम्भाभावतः क्षयोपशमासंभवात् । क्षयपारिणामिकौदयिकभावा अष्टानामपि कर्मणां भवन्ति । तत्र क्षय आत्यन्तिकोच्छेदः स च मोहनीयस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्य चरमसमये शेषाणां तु त्रयाणां घातिकर्मणां क्षीणकषायगुणस्थानस्य अघातिकर्मणामयोगिकेवलिनः । तथा परिणमनं परिणामः परिणाम एव पारिणामिकः जीवप्रदेशैः सह संबद्धतया मिश्रीभावनमिति भावः । यद्वा तत्तद्रूव्यक्षेत्रकालाध्यवसायापेक्षया तथा तथा संक्रमादिरूपतया यत्परिणमनं स पारिणामिको भावः । उदयस्तु प्रतीत एव सर्वेषामपि संसारिजीवानामपि अष्टानामपि कर्मणामुदयदर्शनात् । एष चात्र तात्पर्यार्थः मोहनीयस्य क्षायिकक्षायोपशमिकौपशमिकौदयिकपारिणामिकलक्षणाः पञ्चापि भावाः संभवन्ति । ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणामौपशमिकवर्जाः शेषाश्चत्वारः नामगोत्रवेदनीयायुषां क्षायिकौदयिकपारिणामिकलक्षणास्त्रय इति ।

संप्रति यस्मिन् भावे ये गुणाः प्रादुष्षन्ति तत्र तानुपदर्शयन्नाह ।

सम्मत्ताइउवसमे, खाओवसमे गुणा चरित्ताई ।
खइए केवलमाई, तव्ववएसो उ ओदइए ॥

उपशमे मोहनीयस्यौपशमिके भावे जाते सति सम्यक्त्वादि सम्यक्त्वमौपशमिकमादिशब्दाच्चारित्रं च सर्वविरतिरूपमौपशमिकं भवति चतुर्णां घातिकर्मणां क्षायोपशमिके भावे वर्तमाने गुणाश्चारित्रादयो ज्ञानदर्शनलाभादयः प्रादुष्षन्ति । तत्र चारित्रं देशविरतिरूपं सर्वविरतिरूपं वा सर्वविरतिरूपमिति सामायिकं छेदोपस्थापनं परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसंपरायं वा यथाख्यातं तस्योपशमे क्षये वा संभवात् । ज्ञानं मतिश्रुतावधिमनःपर्यायलक्षणं न केवलज्ञानं तस्य क्षायिकत्वात् । दर्शनं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपं तत्रेदं चिन्त्यते न केवलदर्शनमपि तस्य क्षायिकत्वात् । सम्यक्त्वं क्षायोपशमिकं सुप्रतीतम् दानलाभादयो दानलाभभोगोपभोगवीर्याणि । आह ज्ञानदर्शने परित्यज्य किमिति चारित्रादयो गुणा इति अभिहितम् ? उच्यते चारित्रसद्भावे ज्ञानदर्शनयोरवश्यंभाव इति ज्ञापनार्थं तथा क्षायिके भावे ज्ञाने सति केवलादयः केवलज्ञानकेवलदर्शनचारित्रज्ञानलब्ध्यादयः । तत्र ज्ञानावरणक्षये केवलज्ञानं दर्शनावरणक्षये केवलदर्शनं मोहनीयक्षये चारित्रमन्तरायक्षये दानादिलब्धयः सकलकर्मक्षयपरिनिर्वृतत्वमिति औदयिके पुनर्भावे विजृम्भमाणे तेन तेनौदयिकेन भावेनैव व्यपदेशो भवति यथा प्रबलज्ञानावरणोदये अज्ञानी प्रबलदर्शनावरणोदये अन्धो बधिर एकाक्षचेतनाविकल इत्यादि वेदनीयोदये सुखी दुःखी वा । क्रोधाद्युदये क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादि । नामोदये नारकतिर्यङ्मनुष्यदेव एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियस्त्रीन्द्रियश्चतुरिन्द्रियः पञ्चेन्द्रियस्त्रसो बादरः पर्याप्त इत्यादि । उच्चैर्गोत्रोदये क्षत्रियपुत्रोऽयं श्रेष्ठिपुत्रोऽयमित्येवमुच्चैःकारं प्रशंसागर्भो व्यपदेशो नीचैर्गोत्रोदये वेश्यासुतोऽयं श्वपाकोऽयमित्यादिरूपतया निन्दागर्भो व्यपदेशः । अन्तरायोदये अदाता अलाभी अभोगीत्यादि ।

संप्रति पारिणामिकभावगतविशेषप्रतिपादनार्थमाह ।

नाणंतरायदंसण–वेयणियाणं तु भंगया दोन्नि ।
साइअपज्जवसाणो, वि होइ सेसाण परिणामो ॥

ज्ञानावरणान्तरायदर्शनावरणवेदनीयानामपवादापेक्षया सामान्यतः पारिणामिके भावे चिन्त्यमाने द्वौ भङ्गौ लभ्येते । तद्यथा अनाद्यपर्यवसानोऽनादिपर्यवसानश्च । तत्र भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानस्तथा हि जीवकर्मणोरनादिः संबन्ध इत्यादेर्भावादनादिर्मुक्तिगमनसमये च व्यवच्छेदात्सपर्यवसानः । अभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसानः तत्रानादित्वभावना प्राग्वत् । अपर्यवसानत्वं कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात् शेषकर्मणां मोहनीयायुर्नामगोत्राणां परिणामः सादिपर्यवसानोऽपि भवति । आस्तामनाद्यपर्यवसानोऽनादिपर्यवसानरूप इत्यपिशब्दार्थः । इह गाथापूर्वार्द्धे तुशब्दो भिन्नक्रमत्वादुत्तरार्द्धे सेसाणेत्यत्र योज्यते स च विशेषार्थसंसूचकत्वादमुं विशेषं सूचयति । मोहनीयायुर्नामगोत्राणां काश्चिदेवोत्तरप्रकृतीरधिकृत्यायं सादिपर्यवसानलक्षणस्तृतीयो भङ्गः प्राप्यते । काश्चित्पुनरधिकृत्य पूर्वोक्तावेव द्वौ भङ्गौ तथा ह्यौपशमिकसम्यक्त्वावाप्तौ सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः संभवः । पञ्चेन्द्रियत्वप्राप्तौ वैक्रियषट्कस्य सम्यक्त्वप्राप्तौ तीर्थङ्करनाम्नः संयमावाप्तावाहारकद्विकस्येति सादिपर्यवसानता अनन्तानुबन्धिमनुष्यद्विकोच्चैर्गोत्रादीनामुद्वलितानामपि भूयोऽपि बन्धसंभवादायुःप्रकृतीनां च पर्यायेण भवनात् स्फुटैव सादिपर्यवसानता । अप्रत्याख्यानक्रोधाद्यौदारिकशरीरादिनीचैर्गोत्रलक्षणाः पुनरुत्तरप्रकृतीरधिकृत्य भव्यानामनादिसपर्यवसानः अभव्यानामनाद्यपर्यवसान इति द्वावेव भङ्गौ । यदपि

मूलप्रकृतिविषया प्रत्येकं चिन्ता तदाप्येतावेव द्वौ भङ्गाविति । आह क्षायोपशमिको भावः कर्मणामुदये सति भवत्यनुदये वा ? न तावदुदये विरोधात् । तथाहि क्षायोपशमिको भाव उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये सत्यनुदितस्य चोपशमे विपाकोदय विष्कम्भलक्षणे प्रादुर्भवति नान्यथा ततो यद्युदयः कथं क्षयोपशमः क्षायोपशमश्चेत्कथमुदय इति । अथानुदय इति पक्षस्तथा सति किं तेन क्षायोपशमिकेन भावेन उदयाभावादेव विवक्षितफलसिद्धेः । तथा हि मतिज्ञानादीनि ज्ञानावरणाद्युदयाभावादेव सेत्स्यन्ति किं क्षायोपशमिकभावपरिकल्पनेन । उच्यते उदये क्षायोपशमिको भावो न च तत्र विरोधो यत आह । " उदये च्चि य अविरुद्धो खाओवसमो अणेगभेउत्ति " अइ भवइ तिएह एसो, पदेसउदयम्मि मोहस्स " इह ज्ञानावरणीयादीनि कर्माण्यासर्वक्षयात् ध्रुवोदयानि ततस्तेषामुदय एव क्षयोपशमो घटते नानुदये उदयाभावे तेषामेवासंभवात् तत उदय एव विरुद्धः क्षायोपशमिको भावः । यदपि विरोधोद्भावनं कृतं यद्युदयः कथं क्षयोपशमः इत्यादि तदप्ययुक्तं देशघातिस्पर्द्धकानामुदये ऽपि कतिपयदेशघातिस्पर्धकापेक्षया यथोक्तक्षयोपशमाविरोधात् स च क्षयोपशमो नैकभेदस्तत्र द्रव्यक्षेत्रकालादिसामग्रीतो वैचित्र्यसंभवादनेकप्रकारः । उदय एव वा विरुद्ध एव क्षायोपशमिको भावो यदि भवति तर्हि न सर्वप्रकृतीनां किं तु त्रयाणामेव कर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां मोहनीयस्य तर्हि का वार्तेति चेदत आह । मोहस्य मोहनीयस्य प्रदेशोदये क्षायोपशमिको भावो विरुद्धो न विपाकोदये यतोऽनन्तानुबन्ध्यादिप्रकृतयः सर्वघातिन्यः सर्वघातिनीनां च रसस्पर्द्धकानि सर्वाण्यपि सर्वघातीन्येव न देशघातीनि सर्वघातीनि च रसस्पर्द्धकानि स्वघात्यं गुणं सर्वात्मना घ्नन्ति न देशतस्तेषां विपाकोदयेन क्षयोपशमसंभवः किं तु प्रदेशोदये । ननु प्रदेशोदयेऽपि कथं क्षायोपशमिकभावसंभवः ? सर्वघातिरसस्पर्द्धकप्रदेशानां सर्वस्वघात्यगुणघातनस्वभावत्वात्तदयुक्तम् वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् ते हि सर्वघातिरसस्पर्द्धकप्रदेशास्तथाविधाध्यवसायविशेषतो मनाग्मन्दानुभावीकृत्य विरलविरलतया वेद्यमानदेशघातिरसस्पर्द्धकेष्वन्तः प्रवेशिता न यथावस्थितमात्ममाहात्म्यं प्रकटयितुं समर्थास्ततो न ते क्षयोपशमहन्तार इति न विरुध्यते प्रदेशोदये क्षायोपशमिको भावः " अणेगभेदोत्ति " इत्यत्रेतिशब्दस्याधिकस्याधिकार्थसंसूचनात् मिथ्यात्वानन्तानुबन्ध्यादिद्वादशकषायवर्जितानां शेषमोहनीयप्रकृतीनां प्रदेशोदये विपाकोदये वा क्षयोपशमोऽविरुद्ध इति द्रष्टव्यम् । तासां देशघातित्वात् तत्राप्ययं विशेषस्ताः शेषा मोहनीयप्रकृतयो ध्रुवोदयास्ततो विपाकोदयाभावे क्षायोपशमिके भावे विजृम्भमाणप्रदेशोदयसंभवेऽपि न ता मनागपि देशविघातिन्यो भवन्ति विपाकोदये तु प्रवर्तमाने क्षायोपशमिकभावे मनाग्मालिन्यमात्रकारित्वाद्देशघातिन्यो भवन्ति ॥ २६ ॥

इह प्रकृतीनामौदयिको भावो द्विधा भवति तद्यथा शुद्धः क्षायोपशमिकानुविद्धश्च । तत एतद्व्यक्तीकरणाय प्रथमतः स्पर्द्धकप्ररूपणामाह ।

चउतिट्ठाणरसाइं, सव्वघाईणि होंति फड्डाइं ।
दुट्ठाणि याणि मीसाणि, देसघाईणि सेसाणि ॥२७॥

रसस्पर्द्धकानि कर्मप्रकृतिसंग्रहाधिकारे बन्धनकरणेऽनुभागबन्धावसरे स्वरूपतोऽभिधास्यन्ते तानि चतुर्धा तद्यथा एकस्थानकानि द्विस्थानकानि त्रिस्थानकानि चतुःस्थानकानि च । अथ किमिदं रसस्यैकस्थानकत्वद्विस्थानकत्वादि उच्यते । इह शुभप्रकृतीनां रसः क्षीरखण्डादिरसोपमोऽशुभप्रकृतीनां तु निम्बघोषातक्यादिरसोपमः वक्ष्यति च " घोसायइनिंबुवमो, असुभाण सुभाण खीरखंडुवमो" । क्षीरादिरसश्च स्वाभाविक एकस्थानक उच्यते द्वयोस्तु कर्षयोरावर्तने कृते सति योऽवशिष्यते एकः कर्षः स द्विकस्थानकः त्रयाणां कर्षाणामावर्तने कृते सति एकः कर्षोऽवशिष्टः त्रिस्थानकश्चतुर्णां कर्षाणामावर्तने कृते सत्युद्धरितो य एकः कर्षः स चतुःस्थानकः । एकस्थानकोऽपि च रसो जललवबिन्दुचुलुकप्रसृत्यञ्जलिकरककुम्भद्रोणादिप्रक्षेपान्मन्दमन्दतरादिभेदत्वं प्रतिपद्यते । एवं द्विस्थानकादयोऽपि । तथा कर्मणामपि चतुःस्थानकादयो रसा भावनीयाः प्रत्येकमनन्तरभेदभिन्नाश्च कर्मणां चैकस्थानकरसात् द्विस्थानकादयो रसा यथोत्तरमनन्तगुणाः । वक्ष्यति च । "अनंतगुणिया कमे नियरे" तत्र सर्वघातिनीनां देशघातिनीनां वा प्रकृतीनां यानि चतुःस्थानकरसानि त्रिस्थानकद्विस्थानकरसानि वा स्पर्द्धकानि तानि सर्वघातिनीनां सर्वघातीन्येव देशघातिनीनां तु मिश्राणि कानिचित् सर्वघातीनि कानिचिद्देशघातीनि । शेषाणि त्वेकस्थानकरसानि स्पर्द्धकानि सर्वाण्यपि देशघातीन्येव तानि च देशघातिनीनां संभवन्ति न सर्वघातिनीनां कृता स्पर्द्धकप्ररूपणा ॥२७॥

संप्रति यथौदयिको भावः शुद्धो भवति यथा च क्षयोपशमानुविद्धस्तथोपदर्शयति ।

निहएसु सव्वघाई, रसेसु फड्डेसु देसघाईणं ।
जीवस्स गुणा जायं–ति ओहिमणचक्खुमाई य ॥२८॥

अवधिज्ञानावरणप्रभृतीनां देशघातिनां कर्मणां संबन्धिषु सर्वघातिरसस्पर्द्धकेषु तथाविधविशुद्धाध्यवसायविशेषबलेन निहतेषु देशघातिरूपतया परिणमितेषु देशघातिरसस्पर्द्धकेष्वपि चातिस्निग्धेष्वल्परसकृतेषु तेषां मध्ये कतिपयरसस्पर्द्धकगतस्योदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये शेषस्य चोपशमे विपाकोदयविष्कम्भरूपे सति जीवस्यावधिमनःपर्यायज्ञानचक्षुर्दर्शनादयो गुणाः क्षायोपशमिका जायन्ते प्रादुर्भवन्ति । किमुक्तं भवति । यदा अवधिज्ञानावरणीयादीनां देशघातिनां कर्मणां सर्वघातीनि रसस्पर्द्धकानि विपाकोदयमागतानि वर्तन्ते तदा तद्विषय औदयिक एक एव भावः केवलो भवति । यदा तु देशघातिरसस्पर्द्धकानामुदयस्तदा तदुदयादौदयिको भावः कतिपयानां च देशघातिरसस्पर्द्धकानां संबन्धिन उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये शेषस्य चानुदितस्योपशमे क्षायोपशमिक इति क्षयोपशमानुविद्ध औदयिकभावः । मतिश्रुतावरणचक्षुर्दर्शनावरणप्रकृतीनां तु सदैव देशघातिनामेव रसस्पर्द्धकानामुदयो न सर्वघातिनां तेन सर्वदापि तासामौदयिकक्षायोपशमिकौ भावौ सम्मिश्रौ प्राप्येते न केवल औदयिकः । इह प्राक् प्रकृतीनां रसश्चतुरादिस्थानक उक्तस्तत्प्रसङ्गेन संप्रति यासां प्रकृतीनां यावन्ति बन्धमधिकृत्य रसस्पर्द्धकानि भवन्ति तासां तावन्ति निर्दिदिक्षुराह ।

आवरणमसव्वग्घं, पुंसंजलणंतरायपगडीओ ।
चउठाणपरिणयाओ, दुतिचउठाणरसा उ सेसा उ ॥

आवरणं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च । तत्कथंभूतमित्याह असर्वघ्नं सर्वं ज्ञानं दर्शनं वा हन्तीति सर्वघ्नं सर्वघातिनां च प्र-

क्रमात् केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं च । न विद्यते सर्वघ्नं यत्र तत् असर्वघ्नं केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरहितमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति केवलज्ञानावरणं च जातिविशेषाणि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायज्ञानावरणलक्षणानि चत्वारि ज्ञानावरणानि केवलदर्शनावरणवर्जानि, शेषाणि चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनावरणरूपाणि त्रीणि दर्शनावरणानि । तथा (पुंसंजलणंतरायत्ति) पुरुषवेदः चत्वारः संज्वलनक्रोधादयः पञ्चविधमन्तरायं दानान्तरायादि सर्वसंख्यया सप्तदश प्रकृतयश्चतुःस्थानपरिणता एकद्वित्रिचतुःस्थानकरसपरिणताः प्राप्यन्ते । बन्धमधिकृत्यासामेकस्थानको द्विस्थानकः त्रिस्थानकः चतुःस्थानको वा रसः प्राप्यते इति भावः । तत्र यावन्नाद्यापि श्रेणिं प्रतिपद्यन्ते जन्तवस्तावदासां सप्तदशानामपि प्रकृतीनां यथाध्यवसायसंभवं द्विस्थानकं चतुस्स्थानकं वा रसं बध्नन्ति । श्रेणिं तु प्रतिपन्ना अनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु सत्सु ततः प्रभृत्येतासां प्रकृतीनां शुभत्वादत्यन्तं विशुद्धाध्यवसाययोगतः एकस्थानकं रसं बध्नन्ति तत एवं बन्धमधिकृत्य चतुःस्थानपरिणता प्राप्यन्ते शेषास्तु सप्तदशव्यतिरिक्ताः शुभा अशुभा वा (दुतिचउट्ठाणा उत्ति) बन्धमधिकृत्य द्विस्थानकरसास्त्रिस्थानकरसाश्चतुःस्थानकरसाश्च न तु कदाचनाप्येकस्थानकरसाः । कथमेतदवसेयमिति चेत् इह द्विधा प्रकृतयः । तद्यथा शुभा अशुभाश्च तत्र शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसबन्धसंभवोऽनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतो नार्वाक् तथाभूताध्यवसायस्थानासंभवात् परतोऽप्युत्कटाः सप्तदश प्रकृतीर्व्यतिरिच्य शेषा अशुभप्रकृतयो बन्धमेव नायान्ति तद्बन्धहेतुव्यवच्छेदात् । येऽपि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणे बन्धमायातस्तयोरपि सर्वघातित्वात् द्विस्थानक एव रसो बन्धमागच्छति नैकस्थानकः सर्वघातिनीनां जघन्यपदेऽपि द्विस्थानकरसबन्धसंभवात् । यास्तु शुभाः प्रकृतयस्तासामत्यन्तविशुद्धौ वर्तमानश्चतुःस्थानकमेव रसं बध्नाति न त्रिस्थानकं द्विस्थानकं वा मन्दमन्दतरविशुद्धौ तु वर्तमानस्त्रिस्थानकं वा बध्नाति द्विस्थानकं वा । यदाऽत्यन्तविशुद्धसंक्लेशाद्धायां वर्तते तदा तस्य शुभप्रकृतयो बन्धमेव नायान्ति कुतस्तद्गतरसस्थानचिन्ता । या अपि च नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽतिसंक्लिष्टस्यापि वैक्रियतैजसादिकाः प्रकृतयो बन्धमायान्ति तासामपि तथास्वाभाव्यात् द्विस्थानकस्यैव रसस्य बन्धो नैकस्थानकस्य यत्तच्चाग्रे स्वयमेव वक्ष्यति परमिह प्रस्तावादुक्तम् तत इह शेषप्रकृतीनामेकस्थानकरसबन्धासंभवात् समिचीनमुक्तम् । द्वित्रिचतुःस्थानपरिणताः शेषाः प्रकृतयः इति । तदेवमुक्तानि विभागशः प्रकृतीनां रसस्थानानि ॥ २८ ॥

संप्रति यानि रसस्थानानि येभ्यः कषायेभ्यः उपजायन्ते तानि तथोपदर्शयति ।

उपलभूमीवालुय-जलरेहासरिससंपराएसु ।
चउठाणाई असुहाण, सेसयाणं तु वच्चासो ॥ २९ ॥

अशुभानामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानादिकः चतुःस्थानकः त्रिस्थानको द्विस्थानक एकस्थानकश्च रसो बन्धमायाति यथाक्रममुपलभूमिवालुकाजलरेखासदृशेषु संपरायेषु कषायेषु । इयमत्र भावना । उपलः पाषाणस्तद्रेखासदृशैरनन्तानुबन्धसंज्ञैः संपरायैः सर्वासामशुभप्रकृतीनां चतुःस्थानकरसबन्धः क्रियते दिनकरातपशोषिततडागभूरेखासदृशैः प्रत्याख्यानसंज्ञैस्त्रिस्थानकरसबन्धः सिकताकणसंहतिगतरेखासदृशैः प्रत्याख्यानावरणसंज्ञैर्द्विस्थानकरसबन्धो जलगतरेखासदृशैः संज्वलनसंज्ञैरेकस्थानकरसबन्धः संभवति । चतुर्थपादे तुशब्दस्याधिकार्थसूचनात् पूर्वोक्तानामेव सप्तदशसंख्यानामवसेयो न सर्वाशुभप्रकृतीनाम् (सेसयाणं तु वच्चासो इति) शेषाणां शुभप्रकृतीनां व्यत्यासो विपर्यासो बोद्धव्यः स चैवमुपलरेखासदृशैः संपरायैर्द्विस्थानकरसबन्धो दिनकरातपभूरेखासदृशैस्त्रिस्थानकरसबन्धः सिकतागतरेखासदृशैश्चतुःस्थानकरसबन्धः ॥ २९ ॥

संप्रति रसस्वरूपमेव शुभाशुभप्रकृतीनामुपमाद्वारेण प्ररूपयति ।

घोसाडइनिंबुवमो, असुहाण सुभाण खीरखंडुवमो ।
एगट्ठाणो उ रसो, अणंतगुणिया कमेणियरे ॥ ३० ॥

अशुभानामशुभप्रकृतीनामेकस्थानको रसो घोषातकीनिम्बोपमो घोषातकीनिम्बरसोऽतीवविपाककटुक इति भावः । शुभानां शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसतुल्यः प्राथमिको द्विस्थानकरसः शुभप्रकृतीनां द्विस्थानकरसबन्धो न भवति एतच्च प्रागेव भावितमतो यद्यप्येकस्थानको रस इत्युभयत्रापि साम्येनोक्तं तथापि शुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसतुल्यः प्राथमिको द्विस्थानक एकस्थानकशब्देनोक्तो वेदितव्यः स क्षीरखण्डोपमः क्षीरखण्डरसोपमः परममनःप्रह्लादहेतुरिति । यावत् तस्माच्च एकस्थानकात् रसादितरे द्विस्थानकादयो रसाः क्रमेण अनन्तगुणिता अवगन्तव्याः । तद्यथा एकस्थानकाद् द्विस्थानकोऽनन्तगुणस्तस्मादपि त्रिस्थानकोऽनन्तगुणः ततोऽपि चतुःस्थानकोऽनन्तगुणः । इयमत्र भावना इहैकस्थानकोऽपि रसो मन्दतरादिभेदादनन्तभेदत्वं प्रतिपद्यते एवं प्रत्येकं द्विस्थानकादयोऽपि । एतच्च प्रागपि सप्रपञ्चमुदितं तत्राशुभप्रकृतीनां यः सर्वजघन्य एकस्थानको रसः स निम्बघोषातकीरसोपमः । यश्च शुभप्रकृतीनां सर्वजघन्यो द्विस्थानकरसः स क्षीरखण्डादिरसोपमः शेषाणि त्वशुभप्रकृतीनामेकस्थानकरसोपेतानि शुभप्रकृतीनां तु द्विस्थानकरसोपेतानि स्पर्धकानि यथोत्तरमनन्तगुणान्यवसेयानि ततोऽप्यशुभप्रकृतीनां द्विस्थानकत्रिस्थानकचतुःस्थानकानि शुभप्रकृतीनां त्रिस्थानकचतुःस्थानकानि रसस्पर्धकानि क्रमेणानन्तगुणानि भावनीयानि तदेवमुक्तं सकलमपि प्रसक्तानुप्रसक्तम् ।३०।

संप्रति द्वारगाथाचशब्दसूचितं यत् प्रकृतीनां ध्रुवाध्रुवसत्ताकत्वं तदभिधित्सुराह ।

उच्चं तित्थं सम्मं, मीसं वेउव्विछक्कमाऊणि ।
मणुदुगआहारदुगं, अट्ठारस अधुवसत्ता उ ॥ ३१ ॥

उच्चैर्गोत्रं तीर्थकरनाम सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं वैक्रियषट्कं नरकायुःप्रभृतीनि चत्वार्यायूंषि मनुष्यद्विकं मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीलक्षणमाहारद्विकमाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गरूपमित्येता अष्टादश प्रकृतयोऽध्रुवसत्ताका अध्रुवाः कदाचिद्भवन्ति कदाचिन्न भवन्ति इत्येवमनियता सत्ता यासां ता अध्रुवसत्ताकाः । तथा हि उच्चैर्गोत्रं वैक्रियषट्कमित्येताः सप्त प्रकृतयोऽप्राप्तत्रसत्वावस्थायां न भवन्ति त्रसत्वे तु प्राप्ते भवन्ति । यद्वा त्रसत्वावस्थायां लब्धा अपि स्थावरभावं गतेनावस्थाविशेषं प्राप्योद्वल्यन्ते ततोऽध्रुवसत्ताकाः । तथा सम्यक्त्वं सम्यग्मिथ्यात्वं च यावन्नाद्यापि तथा भव्यत्वं परिपाकमायाति तावन्न भवति तथा भव्यत्वपरिपाकसंभवे च भवति प्राप्तं वा सन्मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽप्युद्वल्यते अभव्यानां च तत्सर्वथा न

भवति ततस्तदप्यध्रुवसत्ताकं तीर्थकरनामसम्यक्त्वे तथाविधविशुद्धिविशेषसमन्विते भवति । आहारकद्विकमपि तथारूपे संयमे सति बन्धमायाति न तदभावे । अपि च बद्धमपि तदा विरतिप्रत्ययतो भूयोऽप्युद्वर्तते मनुष्यद्विकमपि तेजोभवं वायुभवं वा गतेनोद्वलते ततस्तीर्थङ्करनामादीन्यप्यध्रुवसत्ताकानि । देवभवे नारकायुर्नारकभवे देवायुरानतादिदेवानां तिर्यगायुस्तेजोवायुभवे सप्तमपृथिवीनारकभवे वा मनुष्यायुर्न सत्तायामिति चत्वार्यप्यायूंषि अध्रुवसत्ताकानि शेषास्तु त्रिंशदुत्तरशतसंख्याकाः प्रकृतयो ऽध्रुवसत्ताकाः । आह अनन्तानुबन्धिनामपि कषायाणामुद्वलनासंभवादध्रुवसत्ताकतैव युज्यते कथमुक्ता ध्रुवसत्ताकता ? तदप्ययुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् । इह यानि कर्माणि प्रतिनियतामेवावस्थामधिकृत्य बन्धमायान्ति न सर्वकालं यानि च विशिष्टगुणावाप्तिमन्तरेण तथाविधभवप्रत्ययादिकारणवशतः उद्वलनयोग्यानि भवन्ति तान्यध्रुवसत्ताकान्यभिप्रेतानि विशिष्टगुणप्रतिपत्तितः सत्ताक्षयात् विशिष्टगुणप्रतिपत्त्या सर्वेषामपि कर्मणां सत्ताच्छेदसंभवात् । अनन्तानुबन्धिनश्चानवाप्तसम्यक्त्वादिगुणानां सर्वजीवानामव्यविशेषेण सकलकालं विद्यन्ते उद्वलना च तेषां विशिष्टसम्यक्त्वादिगुणप्रतिपत्तिनिबन्धना न सा सामान्यभवादिप्रत्यया ततो न ते अध्रुवसत्ताकाः । इहोच्चैर्गोत्रादीनि कर्माणि विशिष्टावस्थाप्रतिबद्धानि बन्धसंभवात्तथाविधविशिष्टगुणप्रतिपत्तिमन्तरेण चोद्वलनयोगादध्रुवसत्ताकानि भवन्ति नान्यथा ॥ ३१ ॥

तत एतत्प्रसङ्गतः श्रेण्यारोहाभावे या उद्वलनयोग्याः प्रकृतयस्तासां परिमाणमाह ।

पढमकसायसमेया, एयाओ आउतित्थवज्जाओ ।
सत्तरसुव्वलणाओ, तिगेसु गइआणुपुव्वीओ ॥ ३२ ॥

एता एवानन्तरोक्ता अष्टादश प्रकृतयः आयुश्चतुष्टयतीर्थकरनामवर्जाः प्रथमकषायसमेता अनन्तानुबन्धिचतुष्टयसहिताः सप्तदश उद्वलनयोग्या वेदितव्याः । यास्तु शेषाः षट्त्रिंशत्प्रकृतय उद्वलनयोग्यास्ताः श्रेण्यारोहे एव नान्यत्र ततो नेह प्रतिपादिताः किं त्वग्रे प्रदेशसंक्रमाधिकारे वक्ष्यन्ते । तथा यत्र कुत्रापि देवत्रिकं मनुष्यत्रिकमित्येवं त्रिकमुपादीयते तत्र तद्गतिस्तदानुपूर्वी तदायुरिति त्रिकमवगन्तव्यम् । तदेवमुक्ताः सप्रतिपक्षाः ध्रुवसत्ताकाः प्रकृतयः ।

संप्रति द्वारगाथोपन्यस्तानां ध्रुवबन्ध्यादिपदानामर्थं स्पष्टयितुकाम आह ।

नियहेउसंभवे वि हु, भयणिज्जो जाण होइ पयडीणं ।
बंधो ता अधुवाओ, धुवा अभयणिज्जबंधा उ ॥ ३३ ॥

यासां प्रकृतीनां निजबन्धहेतुसंभवेऽपि बन्धो भजनीयो विकल्पनीयो भवति यथा कदाचिद्भवति कदाचिन्न ताः अध्रुवाः अध्रुवबन्धिन्यस्ताश्चेमास्तद्यथा नरकद्विकमाहारकद्विकं गतिचतुष्टयं जातिपञ्चकं विहायोगतिद्विकमानुपूर्वीचतुष्टयं संस्थानषट्कं संहननषट्कं त्रसादिविंशतिरुच्छ्वासनाम तीर्थकरनामातपनाम उद्योतनाम पराघातनाम सातासातवेदनीये आयुश्चतुष्टयं द्विविधं गोत्रं हास्यरतिशोका वेदत्रयमिति एता हि त्रिसप्ततिसंख्याकाः प्रकृतयो निजबन्धहेतुसंभवेऽपि नावश्यं बन्धमायान्ति तथा हि पराघातोच्छ्वासनाम्नोरविरत्यादिनिजबन्धहेतुसंभवेऽपि यदा पर्याप्तकनाम बध्यते तदा बन्धमायातो नाम पर्याप्तकनाम । बन्धकाले आतपनामाप्येकेन्द्रियप्रायोग्यप्रकृतिबन्धे बन्धमागच्छति न शेषकालम् । तीर्थकरस्याहारकद्विकस्य च यथाक्रमं सम्यक्त्वे संयमे च सामान्यतो निजबन्धहेतौ विद्यमानेऽपि कदाचिदेव बन्धः शेषाणामपि नरकद्विकादीनां सप्तषष्टिप्रकृतीनां स्वबन्धहेतुसद्भावेऽप्यवश्यं बन्धाभावः सुप्रतीत एव तदेताः सर्वा अप्यध्रुवबन्धिन्यः याः पुनर्निजबन्धहेतुसद्भावे सत्यवश्यंभावी बन्धाभावो अवश्यभाविबन्धास्ता ध्रुवबन्धिन्यो मतिज्ञानावरणीयादयस्ताश्च प्रागेव प्रतिपादिताः ॥ ३३ ॥

(२४) संप्रति ध्रुवोदयानां प्रकृतीनामर्थमाचिख्यासुः प्रथमत उदयहेतुमुपदर्शयति ।

दव्वं खेत्तं कालो, भवो य भावो य हेयवो पंच ।
हेउसमासेणुदओ, जायइ सव्वाण पगईणं ॥ ३४ ॥

इह सर्वासां प्रकृतीनां सामान्यतः पञ्च उदयहेतवस्तद्यथा द्रव्यं क्षेत्रं कालो भवश्च भावश्च । तत्र द्रव्यं कर्मपुद्गलरूपं यदि वा बाह्यं किमपि तथाविधमुदयप्रादुर्भावनिमित्तं यथा श्रूयमाणं दुर्भाषितभाषापुद्गलद्रव्यं क्रोधोदयस्य क्षेत्रमाकाशं कालः समयादिरूपो भवो मनुष्यादिभवः भावो जीवस्य परिणामविशेषः । एते च नैकैकश उदयहेतवः किं तु समुदितास्तथा चाह हेतुसमासेन समुदायेन उक्तस्वरूपाणां द्रव्यादीनां हेतुना समासेन समुदायेन जायते सर्वासां प्रकृतीनामुदयः केवलं क्वापि द्रव्यादिसामग्री कस्याश्चित्प्रकृतेरुदयहेतुरिति न हेतुत्वव्यभिचारः । उक्ता उदयहेतवः ॥ ३४ ॥

संप्रति ध्रुवत्वमुदयमधिकृत्य चिन्तयन्नाह ।

अव्वोच्छिन्नो उदओ, जाणं पगईण ता धुवोदइया ।
वोच्छिन्नो वि हु संभवइ, जाण अधुवोदयो ताओ ॥ ३५ ॥

यासां प्रकृतीनां स्वोदयकालव्यवच्छेदादर्वाक् अव्यवच्छिन्नोऽनुसन्तत उदयस्ता ध्रुवोदया मतिज्ञानावरणादयः । यासां पुनः प्रकृतीनां व्यवच्छिन्नोऽपि विनाशमुपगतोऽपि हु निश्चितं तथाविधद्रव्यादिसामग्रीविशेषरूपं हेतुं संप्राप्य भूयोऽप्युदय उपजायते ता अध्रुवोदयाः सातवेदनीयादयः ॥ ३५ ॥

सांप्रतं सर्वघात्यसर्वघातिशुभाशुभलक्षणमाह ।

असुभसुभत्तणघाइ–त्ताणाइ रसभेयओ मुणिज्जाहि ।
सविसयघायणभेए–ण वा वि घाइत्तणं नेयं ॥ ३६ ॥

अशुभत्वं शुभत्वं च घाति सर्वदेशभेदभिन्नं प्रकृतीनां रसभेदतो मन्तव्याः । तथा हि या विपाकदारुणकटुरसाः प्रकृतयस्ता अशुभाः यास्तु जीवप्रमोदहेतुरसोपेतास्ताः शुभाः । तथा याः सर्वथा सर्वघातिरसस्पर्धकान्विताः ताः सर्वघातिन्यो यास्तु देशघातिरसस्पर्द्धकान्वितास्ता देशघातिन्यः । प्रकारान्तरेण सर्वघातित्वं च प्रतिपादयति स्वविषयो ज्ञानादिलक्षणो गुणस्तस्य यत्पातनं तस्य यो भेदो देशकार्त्स्न्यविषयस्तेन वाशब्दः पक्षान्तरद्योतने अपिः समुच्चये घातित्वं सर्वघातित्वं देशघातित्वं च ज्ञेयं सर्वस्वविषयघातिन्यः सर्वघातिन्यः स्वविषयैकदेशघातिन्यो देशघातिन्यः एतच्च प्रागेव भावितमिति न भूयो भाव्यते ॥ ३६ ॥ इह रसभेदतः प्रकृतीनां सर्वघातित्वं देशघातित्वं च ज्ञेयमतो रसमेव सर्वदेशघातित्वेन प्ररूपयति ।

जो घाएइ सविसयं, सयलं सो होइ सव्वघाइ रसो ।
निच्छिद्दो निद्धो तणु, फलिहब्भहारअइविमलो ॥ ३७ ॥

यः स्वविषयं ज्ञानादिकं सकलमपि घातयति स्वकार्यसाधनं प्रत्यसमर्थं करोति स रसः सर्वघाती भवति स च ताम्रभाजन-

वत् निविड्रो घृतमिवातिशयेन स्निग्धः ऽश्लक्ष्णस्तनुकस्तनुप्रदेशोपचितः स्फटिकाभ्रहारवच्चातीव निर्मलः । इह रसः केवलो न भवति ततो रसस्पर्द्धकसंघातपरूपो द्रष्टव्यः ॥ ३७ ॥

देशघातिरसस्वरूपमाह ।

देसविघाइत्तणओ, इयरो कमकंबलंसुसंकासो ।
विविहबहुछिद्दभरिओ, अप्पसिणेहो अविमलो य ॥३८॥

इतरो देशघाती देशघातित्वात्स्वविषयैकदेशघातित्वाद्भवति एवं विविधबहुछिद्रभृतस्तद्यथा कश्चिद्वंशदलनिर्मापितकट इवातिस्थूरछिद्रशतसंकुलः कश्चित्कम्बल इव मध्यमविवरशतसंकुलः कोऽपि पुनस्तथाविधमसृणवासोवदतीवसूक्ष्मविवरसंवृतः (कडकंबलंसुसंकास) इति कटो वंशदलनिर्मापितः, कम्बल ऊर्णामयः अंशुकं वस्त्रं तत्संकाशस्तथा स्वरूपतोऽल्पस्नेहः स्तोकस्नेहो विभागसमुदायरूपोऽविमलश्च नैर्मल्यरहितश्चेति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

अघातिरसस्वरूपमाह ।

जाणं न विसओ घाइ-त्तणम्मि ताणं पि सव्वघाइरसो ।
जायइ घाइसगासेण-चोरया चेव चोराणं ॥ ३९ ॥

यासां प्रकृतीनां घातित्वे घातित्वमधिकृत्य न कोऽपि विषयः न किमपि याः प्रकृतयो ज्ञानादिकं गुणं घातयन्तीत्यर्थः । तासामपि घातिसकाशेन सर्वघातिप्रकृतिसंपर्कतो जायते सर्वघाती रसः । अत्रैव निदर्शनमाह । यथा स्वयमचौराणां सतां चौरसंपर्कतश्चौरता ॥३९॥ संप्रति यदुक्तम् प्राग् देशघातिकं तत्संज्वलननोकषायाणां विभावयन्नाह ।

घाइखओवसमेणं, सम्मचरित्ताइ जाइ जीवस्स ।
ताणं हणंति देसं, संजलणा नोकसाया य ॥ ४० ॥

मिथ्यानन्तानुबन्ध्यादीनां क्षयोपशमेन ये जाते जीवस्य सम्यक्त्वचारित्रे तयोर्देशमेकदेशविपाकोदयं प्राप्ताः सन्तः संज्वलनाः क्रोधादयो नोकषाया हास्यादयो घ्नन्ति मालिन्यभावमुत्पादयन्तीति भावः । ततः संज्वलना नोकषायाश्च देशघातिनः । एवं ज्ञानदर्शनदानादि सव्येकदेशघातित्वान्मतिज्ञानावरणीयादयोऽपि प्रकृतयो देशविघातिन्यो भावनीयाः ॥ ४० ॥

संप्रति परावर्तमानप्रकृतीनां लक्षणमाह ।

विनिवारिय जा गच्छइ, बंधं उदयं च अन्नपगईए ।
सा हु परियत्तमाणी, अणिवारेंती अपरियत्ता ॥ ४१ ॥

या प्रकृतिरन्यस्याः प्रकृतेर्बन्धमुदयं वा निवार्य स्वयं बन्धमुदयं वा गच्छति सा हु निश्चितं परावर्तमानाश्च सर्वसंख्यया एकनवतिस्तद्यथा निद्रापञ्चकं सातासातवेदनीयौ षोडश कषायाः वेदत्रयं हास्यरत्यारतिशोका आयुश्चतुष्टयं गतिचतुष्टयं जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं वैक्रियद्विकमाहारद्विकं षट् संहननानि षट् स्थानानि चतस्र आनुपूर्व्यो विहायोगतिद्विकमातपनाम उद्योतनाम त्रसादिविंशतिः उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं च । कथमेताः परावर्तमाना इति चेदुच्यते इह यद्यपि षोडश कषायाः पञ्च निद्राश्च ध्रुवबन्धित्वात् युगपदपि बन्धमायान्ति न परस्परसजातीयप्रकृतिबन्धनिरोधपुरस्सरं तथापि यदोदयमयन्ते तदा सजातीयप्रकृत्युदयं विनिवार्यैव नान्यथा तत एता एकविंशतिरपि प्रकृतयः उदयमधिकृत्य परावर्तमानाः स्थिरशुभास्थिराशुभप्रकृतयो युगपदप्युदयमश्नुवते परं स्थिरशुभे अस्थिराशुभबन्धमस्थिराशुभे स्थिरशुभबन्धं निरुध्य तमपेक्ष्यैताः परावर्तमानाः शेषास्तु गत्यादयो बन्धमुदयं वा सजातीयप्रकृतिबन्धोदयनिरोधतः प्रपद्यन्ते ततस्ता उभयथापि परावर्तमानाः ॥ ४१ ॥

संप्रति विपाकतश्चतुर्धेति तदुक्तं तद्व्याख्यानयन्नाह ।

दुविहा विवागओ पुण, हेउविवागा उ रसविवागा उ ।
एकेका वि य चउहा, जओ चसद्दो विगप्पेणं ॥४२॥

विपाकतो विपाकमाश्रित्य प्रकृतयो द्विविधा द्विप्रकारा भवन्ति । तद्यथा हेतुविपाका रसविपाकाश्च । तत्र हेतुतो हेतुमधिकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासां ता—हेतुविपाकाः । रसतो रसमुररीकृत्य विपाको निर्दिश्यमानो यासां ता रसविपाकाः । रसविपाका अपि पुनश्चतुर्द्धा चतुःप्रकारास्तत्र पुद्गलक्षेत्रभवजीवहेतुभेदाच्चतुर्विधा हेतुविपाकास्तद्यथा पुद्गलविपाकाः क्षेत्रविपाका भवविपाका जीवविपाकाश्च । ताश्च प्रागेवोक्ताः । तथा चतुस्त्रिद्व्येकस्थानकरसभेदाच्चतुर्विधा रसविपाकास्तद्यथा चतुःस्थानकरसास्त्रिस्थानकरसा द्विस्थानकरसा एकस्थानकरसाश्च । एकस्थानकादिभेदभिन्नश्च रसः प्रागेवोक्तः । ननु विपाकतो द्विधा प्रकृतयो भवन्तीति द्वारगाथायां नोपात्तं तत्कथमिदानीं विध्रियते तदयुक्तमनुपात्तत्वात् सिद्धेः तथा चाह यतश्चशब्दोऽपि विकल्पेन यथाऽतो यस्माद् द्वारगाथायां प्रकृतयश्चेत्यत्र चशब्दो विकल्पेन विकल्पलक्षणेनार्थेन बोद्धव्यस्ततोऽयमर्थो विपाकतश्चतुर्द्धा भवत्यन्यथा वा । तत्रान्यथात्वं हेतुरसभेदात् द्वैविध्यरूपं द्रष्टव्यमिति । ४२ ।

संप्रति हेतुविपाकत्वमेव भावयन्नाह ।

जा जं समेच्च हेउं, विवागउदयं उवेंति पगईओ ।
ता तव्विवागसन्ना, सेसाभिहाणाइं सुगमाइं ॥४३॥

याः प्रकृतयः संस्थाननामादिका यं पुद्गलादिलक्षणं हेतुं कारणं समेत्य संप्राप्य विपाकोदयमुपयान्ति तास्तद्विपाकसंज्ञा यथा संस्थाननामादिकाः प्रकृतयः औदारिकादीन् पुद्गलान् संप्राप्य विपाकोदयमाश्रयन्ते ततस्ताः पुद्गलविपाकाः आनुपूर्व्यश्च तथापि क्षेत्रं प्राप्य विपाकोदयं गच्छन्तीति क्षेत्रविपाका इत्यपि शेषाभिधानानि तु ध्रुवसत्कर्माध्रुवकर्मोद्वलनादीनि सुगमानि ततो न विशेषतो विभाव्यन्ते एवमुक्ते सति पुद्गलविपाकत्वमधिकृत्य यत्परस्य वक्तव्यं तदनूद्य प्ररूपयति ।

अरइरईणं उदओ, किं न भवे पोग्गलाणि संपप्प ।
अप्पुट्ठेहि वि किं नो, एवं कोहाइयाणं पि ॥४४॥

ननु यदि याः प्रकृतयः पुद्गलान् संप्राप्य विपाकोदयमाश्रयन्ति ताः पुद्गलविपाकास्तर्हि रत्यरत्योरप्युदयः किं न पुद्गलान् संप्राप्य भवति तयोरपि पुद्गलानेव संप्राप्योदयो भवति इति भावः । तथा हि कण्टकादिसंस्पर्शादरतेर्विपाकोदयः पुष्पादिसंस्पर्शात्तु रतेः । ततस्ते अपि पुद्गलविपाकिन्यौ युक्ते न जीवविपाकिन्याविति एवं परेण काका प्रश्ने कृते सत्याचार्योऽपि काका प्रत्युत्तरमाह (अप्पुट्ठे हि वि किं नो) अत्र सप्तम्यर्थे तृतीया अस्पृष्टेष्वपि पुद्गलेष्वपि किं तयो रत्यरत्योर्विपाकोदयो न भवति भवत्येवेति भावस्तथा हि कण्टकादिस्पर्शव्यतिरेकेऽपि प्रियाप्रियदर्शनस्मरणादिना दृश्यते रत्यरत्योर्विपाकोदयस्ततो न पुद्गलविपाकिन्यौ किं तु जीवविपाकिन्यौ एवं परोपन्यस्तपूर्वपक्षन्युदासेन क्रोधादीनामपि जीवविपाकित्वं भावनीयम् । संप्रति भवविपाकित्वमधिकृत्य परो ब्रूते नन्वायुषां यथा स्वस्वभव एव विपाकोदयो भवति नान्यत्र तथा गतीनामपि

न खलु गतयोऽपि स्वस्वभवव्यतिरेकेणान्यत्र विपाकोदयमभिश्रयन्तीति सुप्रतीतमेतत् जिनप्रवचनतत्ववेदिनां ततो गतयोऽप्यायुर्वद्भवविपाकाः किं नाभिधीयन्ते ॥ ४४ ॥

एवं परेणोक्ते सति सूरिः परोक्तमनूद्य प्रतिषेधयति ।

आउव्व भवविवागा, गई न आउस्स परजवे जम्हा ।
तो सव्वहा वि उदओ, गईण पुण संकमेण त्थि ॥४५॥

आयुर्वद्गतयो भवविपाका न भवन्ति यस्मादायुषः परभवे सर्वथाऽपि संक्रमेणाप्युदयो न भवति ततः सर्वथा स्वभवव्यभिचाराभावादायूंषि भवविपाकानि व्यपदिश्यन्ते । गतीनां पुनः परभवेऽपि संक्रमेणोदयोऽस्ति ततः स्वभवव्यभिचाराच ता भवविपाकिन्यः ।

संप्रति क्षेत्रविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपाकर्तुमाह ।

आणुपुव्वीण उदओ, किं संकमेण नत्थि संते वि ।
जह खेत्तहेउओ ताण, न तहा अन्नाण सविवागो ॥४६॥

ननु यदि गतीनां स्वस्वभवव्यतिरेकेणाप्यन्यत्र भवान्तरे संक्रमेणोदयोऽस्तीति कृत्वा स्वभवव्यभिचारात्ता भवविपाकिन्यः उच्यन्ते किं तु जीवविपाकिन्यस्तर्ह्यानुपूर्वीणां स्वयोग्यक्षेत्रव्यतिरेकेणान्यत्र किमुदयः संक्रमेण नास्ति न विद्यते येन ता नियमतः क्षेत्रविपाकिन्यो व्यवह्रियन्ते अन्यत्राप्यस्ति संक्रमेणोदयस्ततः स्वक्षेत्रव्यभिचाराच्च ताः क्षेत्रविपाकिन्यो वक्तुमुचिताः किं तु जीवविपाकिन्य एवेति परस्याभिप्रायः । अत्रोत्तरमाह (संतेवित्यादि) सत्यपि स्वयोग्यक्षेत्रव्यतिरेकेणान्यत्र संक्रमोदये यथा तासां क्षेत्रहेतुकः स्वविपाकः स्वविपाकोदयप्रादुर्भावस्तथा नान्यासां प्रकृतीनामित्यसाधारणक्षेत्रलक्षणहेतुख्यापनार्थं क्षेत्रविपाकिन्य उच्यन्ते ।

जीवविपाकित्वमधिकृत्य परप्रश्नमपनुदन्नाह ।

संपप्प जीयकाले, उदयं काउं न जंति पगईओ ।
एवमिणमोहहेउं, आसिज्ज विसेसया नत्थि ॥ ४७ ॥

ननु कास्ताः प्रकृतयो या जीवं कालं चाश्रित्य नोदयमधिगच्छन्ति सर्वा अपि जीवकालावधिकृत्य गच्छन्तीति भावः जीवकालयोरुत्तरेणोदयासंभवात् ततः सर्वा अपि जीवविपाका एवेति प्रष्टुरभिप्रायः । अत्राचार्य आह (एवमिणमित्यादि) ओघतः सामान्येन हेतुं हेतुत्वमात्रमाश्रित्य एवमेतत् यथा त्वयोक्तं तथैव विशेषितं त्वसाधारणं तु हेतुमाश्रित्य एतन्न भवति जीवः कालो वा सर्वासामपि प्रकृतीनामुदयं प्रति साधारणस्ततस्तदपेक्षया चेत् प्रकृतीनां चिन्ता क्रियते तर्हि सर्वा अपि जीवविपाका एव कालविपाका एव वा नास्त्यत्र संदेहः । परं कासांचित् प्रकृतीनां क्षेत्रादिकमप्यसाधारणमुदयं प्रति हेतुरस्ति ततस्तदपेक्षया क्षेत्रविपाकत्वादिव्यपदेश इत्यदोषः ।

संप्रति रसमधिकृत्य परं पूर्वपक्षयति ।

केवलदुगस्स सुहुमो, हासाइसु कहं न कुणइ अपुव्वो ।
सुजमाईणं मिच्छो, किलिट्ठओ एगठाणिरसं ॥ ४८ ॥

ननु यथा श्रेण्यारोहे अनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु परतोऽतिविशुद्धिसंभवान्मतिज्ञानावरणीयादीनामशुभप्रकृतीनामेकस्थानकं रसं बध्नाति तथा क्षपकश्रेण्यारोहे सूक्ष्मसंपरायश्चरमद्विचरमादिषु समयेषु वर्तमानोऽतीवाविशुद्धत्वात्केवलद्विकस्य केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरूपस्य किं नैकस्थानकं रसं निर्वर्तयति केवलद्विकं ह्यशुभमतिविशुद्धकश्च बन्धेषु क्षपकश्रेण्यारूढः सूक्ष्मसंपरायस्ततो मतिज्ञानावरणीयादेरिव संभवति केवलद्विकस्याप्येकस्थानकरसबन्धः स किं नोक्त इति प्रष्टुरभिप्रायः । तथा हास्यादिषु षष्ठीसप्तम्योरर्थे प्रत्यभेदात् हास्यादीनां हास्यरतिभयजुगुप्सानामशुभत्वात् अपूर्वोऽपूर्वकरणो हास्यादिबन्धकानां मध्ये तस्यातिविशुद्धिप्रकर्षप्राप्तत्वात् शुभादीनां च शुभप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिरतिसंक्लिष्टः संक्लेशप्रकर्षसंभवेऽशुभप्रकृतीनामेकस्थानकोऽपि रसबन्धः संभाव्यते इति कथमेकस्थानकं रसं न बध्नाति येन पूर्वोक्ता एव सप्तदश प्रकृतयश्चतुस्त्रिद्व्येकस्थानकरसा उच्यन्ते न शेषाः प्रकृतयः ॥ ४८ ॥

अत्र सूरिराह ।

जलरेहसमकसाए, वि एगठाणी न केवलदुगस्स ।
जं अणुयं पि हु भणियं, आवरणं सव्वघाई से ॥४९॥

जलरेखासमेऽपि जलरेखातुल्येऽपि कषाये संज्वलनलक्षणे उदयमागते न केवलद्विकस्य केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणरूपस्यैकस्थानिको रसो भवति कुत इत्याह यत् यस्मात् (से) तस्य केवलद्विकस्य तनुकमपि सर्वजघन्यमपि आवरणं रसलक्षणं हु निश्चितं सर्वघाति भणितं तीर्थकरगणधरैः सर्वजघन्योऽपि रसस्तस्य सर्वघाती भणित इति भावार्थः । सर्वघाती च रसो जघन्यपदेऽपि द्विस्थानक एव भवति नैकस्थानकस्ततो न केवलस्यैकस्थानकरसबन्धसंभवः ॥ ४९॥

संप्रति हास्यादिप्रकृतीरधिकृत्योत्तरमाह ।

सेसासुजाण वि न जं, खवगियराणं न तारिसा सुद्धी ।
न सुजाणं पि हु जम्हा, ताणं बंधो विसुज्झंतो ॥५०॥

शेषाशुभानामपि प्रागुक्तमतिज्ञानावरणीयादिसप्तदशप्रकृतिव्यतिरिक्तानामशुभप्रकृतीनां नैकस्थानकरससंभवो यद् यस्मात् कारणात् क्षपकेतरेषां क्षपकस्यासर्वकरणस्येतरयोरप्रमत्तप्रमत्तसंयतयोर्न तादृशी शुद्धिर्यत एकस्थानकरसबन्धो यदा त्वेकस्थानकरसबन्धयोग्या परमप्रकर्षप्राप्ता विशुद्धिरनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतो जायते तदा बन्धने च ता आयान्तीति नासामेकस्थानको रसः । तथा शुभानामपि मिथ्यादृष्टिसंक्लिष्टो हु निश्चितं नैकस्थानकं रसं बध्नाति यस्मात्तासां शुभप्रकृतीनामतिसंक्लिष्टे मिथ्यादृष्टौ बन्धो न भवति किं तु मनाक् विशुध्यमाने संक्लेशोत्कर्षे च शुभानामधिकृतानामेकस्थानकरसबन्धसंभवो न तदभावे ततस्तासामपि जघन्यपदेऽपि द्विस्थानक एव रसो नैकस्थानकः । यस्त्वतिसंक्लिष्टेऽपि मिथ्यादृष्टौ नरकगतिप्रायोग्या वैक्रियतैजसादिकाः शुभाः प्रकृतयो बन्धमायान्ति तासामपि तथा स्वाभाव्यात् जघन्यतोऽपि द्विस्थानक एव रसो बन्धमधिगच्छति नैकस्थानकः ॥ ५० ॥

अत्र परः प्रश्नयति ।

उक्कोसठिई अज्झव-साणेहि एगठाणिओ होति ।
सुभाणं तं न जं ठिइ, असंखगुणिया उ अणुभागा ॥५१॥

ननु सर्वासामपि शुभानामशुभानां वा प्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्य भवति नान्यथा । उक्तं च । "सव्वट्ठिईणमुक्कोसगो उक्कोससंकिलेसेणं" ततो यैरेवाध्यवसायैः शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टा स्थितिर्भवति तैरेवाध्यवसायैरेकस्थानकोऽपि रसो भविष्यति ततः कथमुच्यते न शुभानामपि प्रकृतीनामेक-

स्थानकरसबन्धः । अत्रोत्तरमाह "तंनेत्यादि" यदेतदुक्तं तन्न यस्मात् स्थितिरसंख्येयगुणा एवानुभागाः तुरेवकारार्थः । कोऽत्र भाव इति चेदुच्यते । इह प्रथमस्थितेरारभ्य समयसमयवृद्ध्या सर्वसंकलनेन परिभाव्यमानाः असंख्येयाः स्थितिविशेषा एकैकस्यां च स्थितावसंख्येया ये रसस्पर्द्धका रसस्पर्द्धकसंघातविशेषाः तत उत्कृष्टस्थितौ बध्यमानायां प्रतिस्थितिविशेषमसंख्येया ये रसस्पर्द्धकसंघातविशेषास्ते तावन्तो द्विस्थानकरसस्यैव घटन्ते नैकस्थानकस्येति न शुभप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धोऽप्येकस्थानकरसबन्धः ॥ ५१ ॥

संप्रति सत्कर्माधिकृत्य परप्रश्नमपाकर्तुमाह ।

दुविहमिह संतकम्मं, धुवाधुवं सूइयं च सद्देणं ।
धुवसंतं चिय पढमा, जओ न नियमा वि संजोगा ॥५२॥

द्वारगाथोपन्यस्तेन चशब्देनेदं सत्कर्म द्विविधं द्विप्रकारं सूचितम् तद्यथा ध्रुवमध्रुवं च । तत्र यत्सर्वसंसारिणामनवाप्तोत्तरगुणानां सातत्येन भवति तत् ध्रुवसत्कर्म । एतच्च प्रागेवोक्तम् । ध्रुवसत्कर्मप्रकृतयश्च चतुरुत्तरशतसंख्याकास्ताश्चेमास्तद्यथा ज्ञानावरणनवकं सातासातवेदनीये मिथ्यात्वं षोडश कषाया नव नोकषायास्तिर्यग्द्विकं जातिपञ्चकमौदारिकद्विकं तैजसकार्मणे संस्थानषट्कं संहननषट्कं वर्णादिचतुष्कं विहायोगतिद्विकं पराघातोच्छ्वासातपोद्योतागुरुलघुनिर्माणोपघातनामानि त्रसादिविंशतिर्नीचैर्गोत्रमन्तरायपञ्चकमिति । यत्पुनरवाप्तगुणानामपि कदाचिद्भवति कदाचिन्न तदध्रुवसत्कर्म एवं च सति यत्परेणोच्यते नन्वनन्तानुबन्धिनामप्युद्वलना संभवतीति कथं तेषामध्रुवसत्कर्मता नाभिधीयत इति तदपास्तमवगन्तव्यम् । तथा चाह "ध्रुवसंतमित्यादि" यतो यस्मात्कारणात् न प्रथमानामनन्तानुबन्धिनां कषायाणां नियमात् गुणप्राप्तिमन्तरेणावश्यंभावितया विसंयोगो विसंयोजना भवति किं तु उत्तरगुणप्राप्तिवशात् नवोत्तरगुणप्राप्तिवशतः सत्त्वोपरमः प्रकृतीनामध्रुवसत्कर्मव्यपदेशहेतुरन्यथा सर्वासामपि कर्मप्रकृतीनां तत्तदुत्तरगुणयोगतः सत्त्वोपरमोऽस्तीति सर्वा अप्यध्रुवसत्कर्मव्यपदेशयोग्या भवेयुर्नचैतदस्ति तस्माद् प्रथमा अनन्तानुबन्धिनः कषाया ध्रुवसन्त एव सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वतीर्थकराहारकद्विकानि तदुत्तरगुणप्राप्तावेव सत्तां लभन्ते अतस्तानि सुप्रतीतान्येवाध्रुवसत्ताकानि ॥ ५२ ॥

इदं वक्ष्यमाणप्रकृतिस्वरूपप्रतिपादकमन्यकर्तृकं द्वारगाथाद्वयमस्ति तच्च मन्दमतीनां सुखावबोधहेतुरतस्तदपि लिख्यते ।

अणुदयउदओभयबं–धिणी उ उभयबंधउदयवोच्छेया ।
संतरउभयनिरंतर–बंधा (उ) दयसंकमुक्कोसा ॥५३॥
अणुदयसंकमजेट्ठा, उदए णुदए य बंध उक्कोसा ।
उदयाणुदयवईओ, तितिचउदुहउ सव्वाओ ॥५४॥

इह प्रकृतयस्त्रिधा तद्यथा स्वानुदयबन्धिन्यः स्वोदयबन्धिन्यः उभयबन्धिन्यश्च । तत्र स्वस्यानुदये एव बन्धो विद्यते यासां ताः स्वानुदयबन्धिन्यः । स्वस्योदय एव बन्धो विद्यते यासां ताः स्वोदयबन्धिन्यः । तथा उभयस्मिन् उदयेऽनुदये वा बन्धोऽस्ति यासां ता उभयबन्धिन्यः । पुनरप्यन्यथा त्रिधा प्रकृतयस्तद्यथा समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाश्च । तत्र समकमेककालं व्यवच्छिद्यमानो बन्धोदयो यासां ताः समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः । ताश्च "उभ" इत्यनेन पदेन गृहीताः । तथा क्रमेण पूर्वं बन्धः पश्चादुदय इत्येवंरूपेण व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ताः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः । ताश्च "बंध" इत्यनेनांशेन परिगृहीताः । तथा उत्क्रमेण पूर्वमुदयः पश्चाद्बन्धः इत्येवंलक्षणेन व्यवच्छिद्यमानौ बन्धोदयौ यासां ता उत्क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः । एताश्च "उदय" इत्यनेनावयवेन संगृहीताः । पुनरप्यन्यथा त्रिधा प्रकृतयस्तद्यथा "संतरउभयनिरंतरबंधाउत्ति" सान्तरबन्धाः उभयबन्धा इति सान्तरनिरन्तरबन्धाः निरन्तरबन्धाश्च । एतासां च लक्षणं स्वयमेवाचार्योऽग्रे वक्ष्यतीति नाभिधीयते पुनरप्यन्यथा चतुर्धा प्रकृतयस्तथा चाह । "उदयसंकमुक्कोसा इत्यादि" उदयसंक्रमोत्कृष्टा "अणुदयसंकमजेट्ठा इति" अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा । "उदए णुदए य बंधउक्कोसा इति" उदयबन्धोत्कृष्टा अनुदयबन्धोत्कृष्टाश्च । तथा पुनरन्यथा द्विधा प्रकृतयस्तद्यथा उदयवत्योऽनुदयवत्यश्च "तिति इत्यादि" एताः सर्वा अपि प्रकृतयो यथाक्रमं त्रित्रिचतुर्धा भवन्ति ताश्च तथैव पूर्वमुद्दिष्टाः । संप्रत्येताः सर्वा अपि क्रमेण वक्तव्यास्तत्र प्रथमतः स्वानुदयोदयोभयबन्धिनीः प्रकृतीर्निदिदिक्षुराह ।

देवनिरयाउवेउव्वि–यछक्कमाहारजुयलतित्थाणं ।
बंधो अणुदयकाले, धुवोदयाणं तु उदयम्मि ॥ ५५ ॥

देवायुर्नरकायुर्देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं वैक्रियषट्कमाहारकद्विकमाहारकशरीरमाहारकाङ्गोपाङ्गरूपं तीर्थङ्करनामेतासामेकादशप्रकृतीनां बन्धः स्वस्वानुदयकाल एव तथा हि देवगतित्रिकस्य देवगतौ वर्तमानस्योदयो नरकत्रिकस्य नरकगतौ वैक्रियद्विकस्योभयत्र । न च देवा नारका वा एताः प्रकृतीर्बध्नन्ति तथा भवस्वाभाव्यात् । तीर्थकरनामापि च केवलज्ञानप्राप्तावुदयमागच्छति न च तदानीं तस्य बन्धः अपूर्वकरणगुणस्थानक एव तस्य बन्धव्यवच्छेदात् । आहारककरणव्यापृतश्च लब्ध्युपजीवनेन प्रमादभावतस्तदुत्तरकालवर्त्ती तु तथाविधविशुद्ध्यभावतो मन्दसंयमावस्थानवर्तित्वादाहारकद्विकबन्धमारभते तत एताः सर्वा अपि स्वानुदयबन्धिन्यः ध्रुवोदयानां पुनर्ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकमिथ्यात्वनिर्माणतैजसकार्मणास्थिरास्थिरवर्णादिचतुष्कागुरुलघुशुभाशुभलक्षणानां सप्तविंशतिप्रकृतीनामुदय एव सति बन्ध उपजायते ध्रुवोदयतया तासां सर्वदोदयभावात् अतो ध्रुवोदयाः स्वोदयबन्धिन्यः शेषास्तु निद्रापञ्चकजातिपञ्चकसंस्थानषट्कसंहननषट्ककषायषोडशकनवनोकषायपराघातोपघातातपोद्योतोच्छ्वाससातासातवेदनीयोच्चनीचैर्गोत्रमनुष्यत्रिकतिर्यक्त्रिकौदारिकद्विकप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणसुस्वरशुभगादेययशःकीर्तिदुःस्वरदुर्भगानादेयायशःकीर्तिरूपा द्व्यशीतिसंख्याः स्वोदयानुदयबन्धिन्यः । तथा ह्येताः प्रकृतयस्तिरश्चां मनुष्याणां वा यथायोगमनुदये उदये वा बन्धमायान्ति ततः स्वोदयानुदयबन्धिन्य उच्यन्ते ॥ ५५ ॥

संप्रति समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयादिप्रकृतीरभिधित्सुराह ।

गयचरिमलोभधुवबं–धिमोहहासरइअरइमणुयपुव्वीणं ।
सुहुमतिगआयवाणं, सपुरिसवेयाण बंधुदया ॥ ५६ ॥

वोच्छिज्जंति समं चिय, कमसो सेसाण उक्कमेणं तु ।
अट्ठण्हमजससुरतिग-वेउव्वाहारजुयलाणं ॥ ५७ ॥

गतोऽपनीतश्चरमो लोभः संज्वलनरूपो यस्य सः गतचरमलोभः स चासौ ध्रुवबन्धिप्रकृत्यात्मको मोहश्च गतचरमलोभध्रुवबन्धिमोहः मोहनीयसत्काः संज्वलनलोभहीनाः पञ्चदशकषायमिथ्यात्वभयजुगुप्सारूपाः अष्टादश ध्रुवबन्धिन्य इत्यर्थः तासां तथा हास्यरत्यरतिमनुजानुपूर्वीणां तथा सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपसूक्ष्मत्रिकातपनाम्नोः सपुरुषवेदयोः पुरुषवेदसहितयोः सर्वसंख्यया षड्विंशतिप्रकृतीनां सममेव समकालमेव बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते तथा हि सूक्ष्मत्रिकातपमिथ्यात्वानां मिथ्यादृष्टावनन्तानुबन्धिनां सासादने मनुष्यानुपूर्व्या द्वितीयकषायाणामविरते प्रत्याख्यानावरणकषायाणां देशविरते हास्यरतिभयजुगुप्सानामपूर्वकरणे संज्वलनत्रिकपुंवेदयोरनिवृत्तिबादरसंपराये बन्धोदयौ समकमेव व्यवच्छेदमाप्नुतः तत एताः समकव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः शेषाणां तूक्तवक्ष्यमाणव्यतिरिक्तानां षडशीतिप्रकृतीनां क्रमेण बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते तद्यथा पूर्वं बन्धस्य व्यवच्छेदः पश्चादुदयस्य तथा हि ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयानां सूक्ष्मसंपरायचरमसमये बन्धव्यवच्छेदः उदयव्यवच्छेदः क्षीणकषायचरमसमये निद्राप्रचलयोः बन्धव्यवच्छेदोऽपूर्वकरणप्रथमभागे उदयव्यवच्छेदः क्षीणकषायद्विचरमसमये तथा असातवेदनीयस्य प्रमत्ते सातवेदनीयस्य सयोगिचरमसमये तथा असातवेदनीयचरमसमये बन्धव्यवच्छेद उदयव्यवच्छेदः पुनरुभयोरपि सयोगिकेवलिचरमसमये अयोगिकेवलिचरमसमये वा। तथा चरमसंस्थानस्य मिथ्यादृष्टौ मध्यमसंस्थानचतुष्टयाप्रशस्तविहायोगतिदुःस्वरनाम्नां सासादने औदारिकद्विकप्रथमसंहननयोरविरतसम्यग्दृष्टौ अस्थिराशुभयोः प्रमत्ते तैजसकार्मणसमचतुरस्रसंस्थानवर्णादिचतुष्कादिगुरुलघुचतुष्टयप्रत्येकस्थिरशुभसुस्वरनिर्माणनामपूर्वकरणषष्ठे भागे बन्धव्यवच्छेदः। पुनरासां सर्वासामपि प्रकृतीनामष्टाविंशतिसंख्यानां सयोगिकेवलिचरमसमये तथा मनुष्यत्रिकस्य बन्धव्यवच्छेदोऽविरतसम्यग्दृष्टौ पञ्चेन्द्रियजातित्रसबादरपर्याप्तसुभगादेयतीर्थङ्करनाम्नामपूर्वकरणषष्ठभागे यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोः सूक्ष्मसंपरायचरमसमये उदयव्यवच्छेदः। पुनरासां द्वादशानामपि प्रकृतीनामयोगिकेवलिचरमसमये।तथा स्थावरैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातीनां नरकत्रिकस्यान्तिमसंहननस्य नपुंसकवेदस्य मिथ्यादृष्टौ बन्धव्यवच्छेद उदयव्यवच्छेदः पुनर्यथाक्रमं सासादने अविरतसम्यग्दृष्टावप्रमत्तसंयते अनिवृत्तिबादरसंपराये तथा तिर्यगानुपूर्वीदुर्भगानादेयानां तिर्यग्गतितिर्यगायुरुद्योतनीचैर्गोत्राणां स्त्यानर्द्धित्रिकस्य चतुर्थपञ्चमसंहननयोर्द्वितीयतृतीयसंस्थानयोश्च बन्धव्यवच्छेदः सासादनस्य सम्यग्दृष्टौ उदयव्यवच्छेदः पुनर्यथासंख्यमविरते देशविरते प्रमत्तसंयतेऽप्रमत्तसंयते उपशान्तमोहे तथा अरतिशोकयोर्बन्धव्यवच्छेदः प्रमत्तसंयते उदयव्यवच्छेदोऽपूर्वकरणे संज्वलनलोभस्य बन्धे व्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसंपरायचरमसमये उदयव्यवच्छेदः सूक्ष्मसंपरायान्तिमसमये तत एताः षडशीतिरपि प्रकृतयः क्रमव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः ।तथा अष्टानामयशःकीर्तिसुरत्रिकवैक्रियद्विकाहारकद्विकरूपाणामुत्क्रमेण प्रागुदयस्य व्यवच्छेदः पश्चाद्बन्धस्यैवंरूपेण व्यवच्छिद्येते बन्धोदयौ।तथा हि अयशःकीर्तिं प्रमत्ते देवायुषोऽप्रमत्ते देवद्विकवैक्रियद्विकयोरपूर्वकरणे बन्धव्यवच्छेद उदयव्यवच्छेदस्तु पञ्चानामप्यविरतसम्यग्दृष्टौ आहारकद्विकस्य पुनरपूर्वकरणे बन्धव्यवच्छेद उदयव्यवच्छेदोऽप्रमत्तसंयते तत एता अष्टावपि उत्क्रमबन्धव्यवच्छिद्यमानबन्धोदयाः ।

सांप्रतं सान्तरादिप्रकृतीः प्ररूपयति ।

धुवबंधिणी उ तित्थगर-नाम आउयचउक्कवावन्ना ।
एया निरंतराओ, सगवीसुभसंतरा सेसा ॥ ५८ ॥

ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणनवकषायषोडशकमिथ्यात्वभयजुगुप्साऽगुरुलघुनिर्माणतैजसकार्मणोपघातवर्णादिचतुष्टयरूपाः सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवबन्धिन्यः तीर्थङ्करनाम आयुश्चतुष्टयमिति द्विपञ्चाशत्संख्याः प्रकृतयो निरन्तरा वक्ष्यमाणशब्दार्था वेदितव्याः । तथा वक्ष्यमाणाः सप्तविंशतिप्रकृतय (उभ) इति उभयाः सान्तरनिरन्तरा इत्यर्थः शेषास्तु एकचत्वारिंशत्प्रकृतयः सान्तराः ।

अधुना पूर्वोद्दिष्टाः सप्तविंशतिप्रकृतीरुपदर्शयति ।

चउरंसउसभपरघाय-उसासपुंमगलसायसुभखगई ।
वेउव्विउरलसुरनर-तिरिगोयसुसरतसतिचउ ॥ ५९ ॥

समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं पराघातनाम उच्छ्वासनाम पुरुषवेदः पञ्चेन्द्रियजातिः सातवेदनीयं शुभविहायोगतिः वैक्रियद्विकमौदारिकद्विकं सुरद्विकं मनुष्यद्विकं तिर्यग्द्विकं गोत्रद्विकं (सुसरातिचउत्ति) यथाक्रममत्र संख्यासंख्येययोजना सुस्वरत्रिकं सुस्वरं सुभगादेयरूपं त्रसचतुष्कं त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकलक्षणमित्येताः सप्तविंशतिप्रकृतयः सान्तरनिरन्तराः ।

सांप्रतं सान्तरादिव्यपदेशनिबन्धनमाह ।

समयाउ अंतमुहुत्त-उक्कोसो जाण संतरा ताओ ।
बंधे ठियम्मि उभया-निरंतरा तम्मि उ जहन्ने ॥ ६० ॥

यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रबन्ध उत्कर्षतः समयादारभ्य यावदन्तर्मुहूर्तं न परतस्ताः सान्तराभिधानाः बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तमध्येऽपि सह अन्तरेण अवधानेन व्यवच्छेदलक्षणेन वर्तन्ते यास्ताः सान्तरा इति व्युत्पत्तिबलात्ताश्चेमास्तद्यथा । असातवेदनीयस्त्रीवेदनपुंसकवेदहास्यरत्यरतिशोकनरकद्विकाहारकद्विकाद्यरहितसंस्थानपञ्चकाद्यरहितसंहननपञ्चकजातिचतुष्टयातपोद्योताप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभयशःकीर्तयः स्थावरादिदशकं च । एता हि जघन्यतः समयमात्रं बध्यन्ते उत्कर्षतः अन्तर्मुहूर्तं परतस्तु निजबन्धहेतुसद्भावेऽपि तथास्वाभाव्यतस्तथाध्यवसायपरावर्तनेन नियमतः प्रतिपक्षप्रकृतीर्बध्नाति ततः सान्तरा अभिधीयन्ते । तथा यासां प्रकृतीनां जघन्यतः समयमात्रं बन्धमुत्कर्षतः समयादारभ्य नैरन्तर्येणान्तर्मुहूर्तस्योपर्यपि असंख्येयं कालं यावत् ता उभयाः सान्तरनिरन्तरा इत्यर्थः । बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तमध्ये सान्तराश्च निरन्तराश्चेति कृत्वा ताश्च प्रागुक्ताः समचतुरस्रादयः सप्तविंशति प्रकृतयः ता हि जघन्यतः समयमात्रं बध्यन्ते ततः सान्तरा उत्कर्षतोऽनुत्तरसुरादिभिरसंख्येयमपि कालं ततोऽन्तर्मुहूर्तमध्ये व्यवच्छेदाभावान्निरन्तराः । (तम्मि उ जहन्ने इत्ति) जघन्ये इति जघन्येनापि याः प्रकृतयोऽन्तर्मुहूर्तं यावत् नैरन्तर्येण बध्यन्ते ता निरन्तराः । निर्गतं बन्धमधिकृत्यान्तर्मुहूर्तमध्ये अन्तरं व्यवधानं

व्यवच्छेदो यकाभ्यः ता निरन्तरा इति व्युत्पत्तेः ताश्च प्रागुक्ता ध्रुवबन्धिन्यादयः ता हि जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्तं यावदवश्यं नैरन्तर्येण बध्यन्ते इति । तदेवमुक्ता निरन्तरादिप्रकृतयः ॥ ६० ॥

संप्रत्युदयबन्धोत्कृष्टादिप्रकृतीर्विवक्षुः ;
प्रथमतोऽभिधानकारणमाह ।

उदए व अणुदए वा, बंधाओ अन्नसंकमाओ वा ।
ठिइसंत जाण भवे, उक्कोसं ता तदक्खाओ ॥ ६१ ॥

यासां प्रकृतीनामुदये वा अनुदये वा बन्धादन्यप्रकृतिदलिकसंक्रमतो वा स्थितिसत्कर्मोत्कृष्टं जवति तास्तदाख्यास्तदनुरूपसंज्ञका वेदितव्यास्तद्यथा । यासां प्रकृतीनां विपाकोदये सति बन्धादुत्कृष्टं स्थितिसत्कर्मावाप्यते ता उदयबन्धोत्कृष्टसंज्ञाः यासां तु विपाकोदयाभावे बन्धादुत्कृष्टस्थितिसत्कर्मावाप्तिस्ता अनुदयबन्धोत्कृष्टा यासां पुनर्विपाकोदये प्रवर्तमाने सति संक्रमत उत्कृष्टं सत् स्थितिकर्म लज्यते न बन्धतस्ता उदयसत्कर्मोत्कृष्टाभिधानाः । यासां पुनरनुदये संक्रमतः उत्कृष्टस्थितिलाभस्ता अनुदयसंक्रमोत्कृष्टाख्याः ॥ ६१ ॥

तत्रानुपूर्व्यस्तीति ख्यापनाय प्रथमत उदय-
संक्रमोत्कृष्टाख्याः प्रकृतीः कथयति ।

मणुगइसायं सम्मं, थिरहासाइछ वेयसुभखगई ।
रिसहचउरंसगाई, पणुच्च उदसंकमुक्कोसा ॥ ६२ ॥

मनुष्यगतिः सातवेदनीयं सम्यक्त्वं स्थिरादिषट्कं स्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिलक्षणं हास्यादिषट्कं हास्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणं वेदत्रिकं पुम्नपुंसकस्त्रीवेदरूपं शुभविहायोगतिवज्रर्षभनाराचादीनि संहननानि समचतुरस्रादीनि पञ्च संस्थानानि उच्चैर्गोत्रमित्येतास्त्रिंशत्प्रकृतय उदयसंक्रमोत्कृष्टाः आसां हि प्रकृतीनामुदयप्राप्तानां या विपक्षभूता नरकगत्यसातवेदनीयमिथ्यात्वादयः प्रकृतयस्तासामुत्कृष्टां स्थितिं बध्वा भूय आसामेवोदयप्राप्तानां बध्यमानासु चैतासु अनन्तरबद्धनरकगत्यादिविपक्षे प्रकृतिदलिकं संक्रमयति शुभप्रकृतीनां स्थितिः स्वबन्धेन स्तोकैव भवति अशुभानामुत्कृष्टा ततः संक्रमतः आसामुत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते इत्येता उदयसंक्रमोत्कृष्टाभिधानाः ॥ ६२ ॥

सांप्रतमनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः प्रतिपादयति ।

मणुयाणुपुव्विमीसग, आहारगदेवजुगलविगलाणि ।
सुहुमाइ तिगं ति अ-णुदयसंकमणउक्कोसा ॥ ६३ ॥

मनुष्यानुपूर्वी सम्यग्मिथ्यात्वमाहारकयुगलमाहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणं देवयुगलं देवगतिदेवानुपूर्वीरूपं विकलत्रिकं विकलेन्द्रियजातित्रिकम् द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिरूपं सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणलक्षणं तीर्थङ्करनाम एतास्त्रयोदश प्रकृतयः अनुदयसंक्रमोत्कृष्टा यत एवासामुत्कृष्टा स्थितिः स्वबन्धतो नावाप्यते किं तु संक्रमतः संक्रमतोऽप्युत्कृष्टा स्थितिस्तदावाप्यते यदा एतद्विपक्षप्रकृतीरुत्कृष्टस्थितीर्बध्वा तदनन्तरमेतासु बध्यमानासु तद्दलिकं संक्रमयति एतद्विपक्षप्रकृतीनां च उत्कृष्टस्थितिबन्धकः प्रायो मिथ्यादृष्ट्यादिर्मनुष्यो न च तदानीमासामुदयोऽस्तीत्यनुदयसंक्रमोत्कृष्टाः ॥ ६३ ॥

संप्रत्यनुदयबन्धोत्कृष्टोदयबन्धोत्कृष्टप्रकृतीराह ।

नारयतिरिउरलदुगं, छेवट्ठेगिंदियाथवरायावं ।
निद्दा अणुदयजेट्ठा, उदउक्कोसा पराणाउ ॥ ६४ ॥

नरकतिर्यग्द्विकौदारिकद्विकसेवार्तसंहननैकेन्द्रियजातिस्थावरनामातपनामानि पञ्च निद्रा इत्येता पञ्चदश प्रकृतयोऽनुदयबन्धोत्कृष्टाः शेषाः पुनरनायुष आयुश्चतुष्टयरहिताः पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रियद्विकद्विकसंस्थानपराघातोच्छ्वासोद्योतविहायोगतयोऽगुरुलघुतैजसकार्मणनिर्माणोपघातवर्णादिचतुष्कान्यस्थिरादिषट्कं त्रसादिचतुष्कमसातवेदनीयं नीचैर्गोत्रं षोडश कषाया मिथ्यात्वं ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकं दर्शनावरणचतुष्टयमित्येताः षष्टिः प्रकृतय उदयबन्धोत्कृष्टाः एतासामुदयप्राप्तानां स्वबन्धनतः उत्कृष्टा स्थितिरवाप्यते एता उदयबन्धोत्कृष्टाभिधानाः आयुषां तु न परस्परसंक्रमो नापि बध्यमानायुर्दलिकं पूर्वबद्धस्यायुष उपचयाय जवति तत एकेनापि प्रकारेण तिर्यग्मनुष्यायुषोरुत्कृष्टा स्थितिर्नावाप्यते इति ते अनुदयबन्धोत्कृष्टादिसंज्ञाचतुष्टयातीते । देवनारकायुषी तु यद्यपि परमार्थतोऽनुदयबन्धोत्कृष्टे तथापि प्रयोजनाभावतः पूर्वसूरिभिः संज्ञाचतुष्टयातीते विवक्षिते इति तयोरपि प्रतिषेधः ।

संप्रत्युदयवत्यनुदयवत्योः प्रकृत्योर्लक्षणमाह ।

चरिमसमयम्मि दलियं, जासिं अन्नत्थ संकमे ताओ ।
अणुदयवइयरा उ, उदयवई होंति पगईओ ॥ ६५ ॥

यासां प्रकृतीनां दलिकं चरमसमयेऽन्त्यसमये अन्यत्रान्यासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयेत् संक्रमय्य चान्यप्रकृतिव्यपदेशेनानुभवेत् न स्वोदयेन ता अनुदयवत्योऽनुदयवतीसंज्ञाः इतरास्तु प्रकृतयः उदयवत्यो जवन्ति यासां दलिकं चरमसमये स्वविपाकेन वेद्यते ।

संप्रति ता एवोदयवतीरभिधातुकाम आह ।

नाणंतरायआउग-दंसणचउ वेयणीयमपुमित्थी ।
चरिमुदयउच्चवेयग-उदयवई चरिमलोभो य ॥ ६६ ॥

ज्ञानावरणपञ्चकमन्तरायपञ्चकमायुश्चतुष्टयं दर्शनचतुष्टयं सातासातवेदनीये स्त्रीनपुंसकवेदौ चरमोदया नामनवकरूपास्ताश्चेमा मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम शुभनाम सुस्वरनाम आदेयनाम तीर्थङ्करनाम तथा उच्चैर्गोत्रं वेदकसम्यक्त्वं चरमलोभः संज्वलनलोभः इत्येताश्चतुस्त्रिंशत् प्रकृतयः उदयवत्यस्तथा हि ज्ञानावरणपञ्चकान्तरायपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयरूपाणां चतुर्दशप्रकृतीनां क्षीणकषायान्त्यसमये चरमोदयानां च नामनवकलक्षणानां सातासातवेदनीययोरुच्चैर्गोत्रस्य च सर्वसंख्यया द्वादशप्रकृतीनामयोगिकेवलिचरमसमये संज्वलनलोभस्य सूक्ष्मसंपरायान्त्यसमये वेदकसम्यक्त्वस्य स्वक्षपणपर्यवसानसमये स्त्रीनपुंसकवेदयोः क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयेषु भागेष्वतिक्रान्तेषु तदुदयान्तरसमये आयुषां च स्वस्वभवचरमसमये स्ववेदनमस्ति तत एता उदयवत्योऽभिधीयन्ते । यद्यपि सातासातवेदनीययोः स्त्रीनपुंसकवेदयोश्चानुदयवतीत्वमपि संजवति तथाऽपि प्रधानमेव गुणमवलम्ब्य सत्पुरुषा व्यपदेशं प्रयच्छन्तीति उदयवत्यः पूर्वपुरुषैरुपदिष्टाः शेषास्तु चतुर्दशोत्तरशतसंख्या अनुदयवत्यः तासां दलिकस्य चरमसमये अन्यत्र संक्रमणतः स्वविपाकवेदनाभावात् तथाहि चरमोदयसंज्ञा नामनवकनरकतिर्यग्द्विकैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरसूक्ष्मसाधारणातपोद्योतवर्जाः शेषा नाम्न एकसप्ततिप्रकृतयो नीचैर्गोत्रं चेत्येता द्विसप्ततिप्रकृतीः सजातीयासु परप्रकृतीषूदयमागतासु चरमसमये स्तिबुकसंक्रमेण प्रक्षिप्य परप्रकृतिव्यपदेशेनानुजवत्ययोगिकेवली एवं निद्राप्रचले क्षीणकषायः तथा मिथ्यात्वं सम्यङ्-

मिथ्यात्वं तदपि सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य सप्तकक्षयकालेऽनुभवति अनन्तानुबन्धिनां क्षपणसमये तद्दलिकं बध्यमानासु चारित्रमोहनीयप्रकृतिषु गुणसंक्रमेण संक्रम्य उदयावलिकागतमुदयवतीषु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति स्थावरसूक्ष्मसाधारणातपोद्योतैकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिनरकद्विकतिर्यग्द्विकरूपा नामत्रयोदश प्रकृतीर्बध्यमानायां यशःकीर्तिगुणसंक्रमेण संक्रमय्य तासामुदयावलिकागतं दलिकं नाम्न उदयमागतासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण प्रक्षिप्य तद्व्यपदेशेनानुभवति स्त्यानर्द्धित्रिकमपि दर्शनावरणचतुष्ये प्रथमतो गुणसंक्रमेण संक्रमयति तत उदयावलिकागतं स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति एवमष्टौ कषायान् हास्यादिषट्कं पुरुषवेदं संज्वलनक्रोधादित्रिकमुत्तरोत्तरस्व प्रकृतिषु मध्ये प्रक्षिपति तत एताः सर्वा अपि चतुर्दशोत्तरशतसंख्याः प्रकृतयोऽनुदयवत्यः। इति श्रीमलयगिरिविरचितायां पञ्चसंग्रहटीकायां बन्धव्याभिधानं तृतीयं द्वारं समाप्तम्। (बन्धशब्देऽनुभागप्ररूपणे आसां वर्गः प्ररूपयिष्यते) कर्मणां संवेधः।

(२५) अथ ज्ञानावरणं शेषैः सह चिन्त्यते।

जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स दंसणावरणिज्जं जस्स दंसणावरणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ? गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स दंसणावरणिज्जं नियमं अत्थि। जस्स दंसणावरणिज्जं तस्स वि नाणावरणिज्जं नियमं अत्थि। १। जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं जस्स वेयणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ? गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं नियमं अत्थि। जस्स पुण वेयणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि २। जस्स पुण भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्जं जस्स मोहणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं ? गोयमा ! जस्स नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण मोहणिज्जं तस्स नाणावरणिज्जं नियमं अत्थि ३। जस्स णं भंते ! नाणावरणिज्जं तस्स आउयं एवं जहा वेयणिज्जेण समं भणियं तहा आउएण वि समं भाणियव्वं एवं नामेण वि एवं गोएण वि समं अंतराइएणं जहा दंसणावरणिज्जेण समं तहेव नियमं परोप्परं भाणियव्वाणि।

अकेवलिनं केवलिनं च प्रतीत्याकेवलिनो हि वेदनीयं ज्ञानावरणीयं चास्ति केवलिनस्तु वेदनीयमस्ति न तु ज्ञानावरणीयमिति। (जस्स नाणावरणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति) अक्षपकं क्षपकं च प्रतीत्य अक्षपकस्य ज्ञानावरणीयं मोहनीयं चास्ति क्षपकस्य तु मोहक्षये यावत्केवलज्ञानं नोत्पद्यते तावज्ज्ञानावरणीयमस्ति न तु मोहनीयमिति। एवं च यथा ज्ञानावरणीयं वेदनीयेन सममधीतं तथा आयुषा नाम्ना गोत्रेण च सहाध्येयमुक्तप्रकारेण भजनायाः सर्वेष्वेतेषु भावात्। अन्तरायेण च समं ज्ञानावरणीयं तथा वाच्यं यथा दर्शनावरणीयं निर्भजनमित्यर्थः एतदेवाह। "एवं जहा वेयणिज्जेण सममित्यादि" (नियमा परोप्परं भाणियव्वाणि त्ति) कोऽर्थः "जस्स नाणावरणिज्जं तस्स नियमा अंतराइयं जस्स अंतराइयं तस्स नियमा नाणावरणिज्ज" मित्येवमनयोः परस्परं नियमो वाच्य इत्यर्थः।

अथ दर्शनावरणं शेषैः षड्भिः सह चिन्तयन्नाह।

जस्स णं भंते ! दंसणावरणिज्जं तस्स वेयणिज्जं जस्स वेयणिज्जं तस्स दंसणावरणिज्जं ? जहा नाणावरणिज्जं उवरिमेहिं सत्तहिं कम्मेहिं समं भणियं तहा दंसणावरणिज्जं पि उवरिमेहिं छहिं कम्मेहिं समं भाणियव्वं जाव अंतराइएणं। जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं जस्स मोहणिज्जं तस्स वेयणिज्जं ? गोयमा ! जस्स वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण मोहणिज्जं तस्स वेयणिज्जं नियमं अत्थि। जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स आउयं एवं एयाणि परोप्परं नियमं जहा आउएण समं एवं नामेण वि गोएण वि समं भाणियव्वं। जस्स णं भंते ! वेयणिज्जं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स वेयणिज्जं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि। जस्स पुण अंतराइयं तस्स वेयणिज्जं नियमं अत्थि।

(जस्सेत्यादि) अयञ्च गमो ज्ञानावरणीयगमसम एवेति "जस्स णं भंते वेयणिज्ज" मित्यादिना तु वेदनीयं शेषैः पञ्चभिः सह चिन्त्यते तत्र च "जस्स वेयणिज्जं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति" अक्षीणमोहं क्षीणमोहं च प्रतीत्य अक्षीणमोहस्य हि वेदनीयं मोहनीयं चास्ति क्षीणमोहस्य तु वेदनीयमस्ति न तु मोहनीयमिति (एवमेयाणि परोप्परं नियमंति) कोऽर्थः यस्य वेदनीयं तस्य नियमादायुर्यस्यायुस्तस्य नियमाद्वेदनीयमित्येवमेते वाच्ये इत्यर्थः। एवं नामगोत्राभ्यामपि वाच्यम्। एतदेवाह " जहा आउएणेत्यादि " अन्तरायेण तु भजनया यतो वेदनीयमन्तरायं चाकेवलिनामस्ति केवलिनां तु वेदनीयमस्ति न त्वन्तरायमेतदेव दर्शयतोक्तम "जस्स वेयणिज्जं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति।

अथ मोहनीयमन्यैश्चतुर्भिः सह चिन्त्यते।

जस्स णं भंते ! मोहणिज्जं तस्स आउयं जस्स आउयं तस्स मोहणिज्जं ? गोयमा ! जस्स मोहणिज्जं तस्स आउयं नियमं अत्थि। जस्स पुण आउयं तस्स मोहणिज्जं सिय अत्थि सिय नत्थि एवं नामं गोयं अंतराइयं च भाणियव्वं। जस्स पुण भंते ! आउयं तस्स नाम पुच्छा गोयमा ! दो वि परोप्परं नियमं एवं गोत्तेण वि समं भाणियव्वं जस्स णं भंते ! आउयं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स आउयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि। जस्स पुण अंतराइयं तस्स आउयं नियमं अत्थि। जस्स णं भंते ! नामं तस्स गोयं जस्स गोयं तस्स नामं ? गोयमा ! जस्स नामं तस्स नियमा गोयं जस्स गोयं तस्स नियमा नामं। जस्स णं भंते ! नामं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स नामं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण अंतराइयं तस्स नामं नियमं अत्थि। जस्स

णं भंते ! गोयं तस्स अंतराइयं पुच्छा गोयमा ! जस्स गोयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि जस्स पुण अंतराइयं तस्स गोयं नियमं अत्थि ॥ ७ ॥

यस्य मोहनीयं तस्यायुर्नियमादकेवलिन इव यस्य पुनरायुस्तस्य मोहनीयं भजनया यतोऽक्षीणमोहस्यायुर्मोहनीयं चास्ति क्षीणमोहस्य त्वायुरेवेति (एवं नामं गोयं अंतराइयं च भाणियव्वंति) अयमर्थो यस्य मोहनीयं तस्य नाम गोत्रमन्तरायं च नियमादस्ति यस्य पुनर्नामादित्रयं तस्य मोहनीयं स्यादस्त्यक्षीणमोहस्येव स्यान्नास्ति क्षीणमोहस्येवेति । अथायुरन्यैस्त्रिभिः सह चिन्त्यते (जस्स णं भंते ! आउयमित्यादि दो वि परोप्परं नियमत्ति) कोऽर्थः । " जस्स आउयं तस्स नियमा नामं जस्स नाम तस्स नियमा आउयं " इत्यर्थः । एवं गोत्रेणापि (जस्स आउयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि सिय नत्थि त्ति) यस्यायुस्तस्यान्तरायं स्यादस्त्यकेवलिवत् स्यान्नास्ति केवलिवदिति "जस्स णं भंते ! नाम " इत्यादिना नाम अन्येन द्वयेन सह चिन्त्यते । तत्र यस्य नाम तस्य नियमाद्गोत्रं यस्य गोत्रं तस्य नियमान्नाम । तथा यस्य नाम तस्यान्तरायं स्यादस्त्यकेवलिवत्स्यान्नास्ति केवलिवदिति । एवं गोत्रान्तराययोरपि भजना भावनीयेति भ० ८ श० १० उ० । इत्युक्तं प्रकृतिकर्म ।

अथ स्थितिकर्म तत्र कर्मणा स्थितिनिषेकौ ।

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स केवतियं कालं ठिई पएणत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोमीओ तिन्नि य वाससहस्साइं अबाहा अबाहूणि ता कम्मठिई कम्मणिसेगो ।

ज्ञानावरणीयस्य मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलावरणभेदतः पञ्चप्रकारस्य कर्मणो भदन्त ! कियन्तं कालं यावत् स्थितिः प्रज्ञप्ता एवमुक्ते भगवानाह । गौतम ! जघन्येनान्तर्मुहूर्तं तच्च सर्वलघु सूक्ष्मसंपरायस्य क्षपकस्य स्वगुणस्थानकचरमसमये वर्तमानस्य वेदितव्यम् । उत्कर्षतस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः सा च मिथ्यादृष्टेरुत्कृष्टे संक्लेशे वर्तमानस्यावसातव्या तदेवं नियता प्रागुक्तस्य प्रश्नस्योत्तरसिद्धिः । इदमपृष्टव्याकरणं त्रीणि वर्षसहस्राणि अबाधा अबाधोना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेक इति । किमर्थमिति चेदुच्यते स्थितिद्वैविध्यप्रदर्शनार्थं तथा हि द्विविधा स्थितिः कर्मरूपतावस्थानलक्षणा अनुयोग्या च । तत्र कर्मरूपतावस्थानलक्षणां स्थितिमधिकृत्येदमुक्तम् त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्य इति । अनुभवयोग्या च वर्षसहस्रत्रयोना यत आह च त्रीणि वर्षसहस्राण्याबाधा इदमुक्तं भवति ज्ञानावरणीयं कर्मोत्कृष्टस्थितिकं बन्धं सत् बन्धसमयादारभ्य त्रीणि वर्षसहस्राणि यावन्न किंचिदपि स्वादयते जीवस्य बाधामुत्पादयति तावत्कालमध्ये दलिकनिषेकस्याभावात् । तत ऊर्ध्वं हि दलिकनिषेकः । तथा चाह अबाधोना अबाधाकालपरिहीना अनुभवयोग्या कर्मस्थितिः किमुक्तं भवति कर्मनिषेकः । स चैवं प्रथमस्थितौ प्रभूतो द्वितीयस्थितौ विशेषहीन एवं विशेषहीनो विशेषहीनश्च तावद्वक्तव्यो यावत् स्थितिचरमसमयः । एतावता च यदुक्तमग्रायणीयाख्ये द्वितीये पूर्वकर्मप्रकृते प्राभृते बन्धविधाने स्थितिबन्धाधिकारे चत्वार्यनुयोगद्वाराणि तद्यथा स्थितिबन्ध-स्थानप्ररूपणा अबाधाकण्डकप्ररूपणा उत्कृष्टनिषेकप्ररूपणा अल्पबहुत्वप्ररूपणा चेति तत्रोत्कृष्टाबाधाकण्डकप्ररूपणा उत्कृष्टनिषेकप्ररूपणा च दर्शिता भवति । आबाधाकालपरिज्ञापनीयश्चायं यस्य यावत्यः सागरोपमकोटीकोट्यस्तस्य तावन्ति वर्षशतान्याबाधा । यस्य पुनः सागरोपमकोटीकोट्यो मध्ये स्थितिस्तस्यायुर्वर्जस्यान्तर्मुहूर्तमायुषस्तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमबाधा उत्कर्षतः पूर्वकोटीत्रिभागः । तत एवमबाधाकालं परिभाव्याबाधाविषयाणि स्वयं भावनीयानि ।

तत्र निद्रापञ्चकविषयं सूत्रमाह ।

निद्दापंचयस्स णं भंते ! कम्मस्स केवइयं कालं ठिई पएणत्ता ? गोयमा ! जहएणेणं सागरोवमस्स तिन्नि सत्त भागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोमाकोमीओ तिन्नि वाससहस्साइं अबाहा अबाहूणि ता कम्मट्ठिई कम्मनिसेगो ।

अत्र जघन्यतः त्रयः सागरोपमस्य सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोनाः । काऽत्र भावनेति चेदुच्यते पञ्चानां ज्ञानावरणप्रकृतीनां चतसृणां दर्शनावरणप्रकृतीनां चक्षुर्दर्शनादीनां संज्वलनलोभस्य पञ्चानामन्तरायप्रकृतीनां च जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्तं सातवेदनीयस्य सकषायिकस्य द्वादश मुहूर्ताः । इतरस्य तु द्वौ प्रथमसमये बन्धो द्वितीयसमये वेदनं तृतीयसमये त्वकर्मी भवनमिति यशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रयोरष्टौ मुहूर्ताः । पुरुषस्याष्टौ संवत्सराणि संज्वलनक्रोधस्य द्वौ मासौ संज्वलनमानस्यैको मासः संज्वलनमायाया अर्द्धमासः शेषाणां तु प्रकृतीनां या या स्वकीया स्थितिस्तस्या उत्कृष्टायाः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणाया मिथ्यात्वस्थित्या भागे हृते यल्लभ्यते तत्पल्योपमासंख्येयभागहीनं जघन्यस्थितिपरिमाणम् । तत्र निद्रापञ्चकस्योत्कृष्टा स्थितिस्त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यस्तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे ह्रियमाणे शून्यं शून्येन पातयेदिति वचनात् लब्धाश्चात्र ये सागरोपमस्य सप्त भागाः ते पल्योपमसंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते ततो भवति यथोक्तं जघन्यस्थितिपरिमाणमिति ॥

दर्शनचतुष्कस्य ।

दंसणचउक्कस्स णं भंते ! पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोमीकोमीओ तिन्नि य वाससहस्सं अबाहा ॥

वेदनीयस्य ।

सातवेदणिज्जस्स इरियावहियबंधगं पडुच्च अजहन्नमणुक्कोसेणं दो समया संपराइयबंधगं पडुच्च जहन्नेणं बारस मुहुत्ता उक्कोसेणं पन्नरस सागरोवमकोमाकोमी पन्नरस य वाससहस्साइं अबाहा । असातावेदणिज्जस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स तिन्नि सत्त भागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणता उक्कोसेण तीसं सागरोवमकोमाकोमी तिन्नि वाससहस्साइं अबाहा । सम्मत्तवेदणिज्जस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिसागरोवमाइं सातिरेगाइं ।

(सायावेयणिज्जस्स इति) " इरियावहियबंधगं पडुच्च अजहन्नमणुक्कोसेणं दो समया संपराइयबंधगं पडुच्च जहन्नेणं बारस मुहुत्ता" इति प्रागेव भावितम् । असातवेदनीयस्य जघन्यास्त्रयः सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोना निद्रापञ्चकवद् भावनीया

स्तस्याप्युत्कर्षतः स्थितिः त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात्
(२६) सम्यक्त्ववेदनीयस्य ।

सम्मत्तवेदणिज्जस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठिसागरोवमाइं सातिरेगाइं ॥

सम्यक्त्ववेदनीयस्य जघन्यतः स्थितिपरिमाणमन्तर्मुहूर्तमुत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि तद्वेदनमधिकृत्य वेदितव्यं न बन्धनमाश्रित्य सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्बन्धाभावात् मिथ्यात्वपुद्गला एव हि जीवेन सम्यक्त्वानुगुणविशोधिबलतस्त्रिधा क्रियन्ते तद्यथा सर्वविशुद्धा अर्द्धविशुद्धा अविशुद्धाश्च तत्र ये सर्वविशुद्धास्ते सम्यक्त्ववेदनीयव्यपदेशं लभन्ते येऽर्द्धविशुद्धास्ते सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयव्यपदेशमविशुद्धा मिथ्यात्ववेदनीयव्यपदेशमतो न तयोर्बन्धप्रसंभवः । यदा तु तेषां सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वपुद्गलानां स्वरूपतः स्थितिश्चिन्त्यते तदाऽन्तर्मुहूर्तोना सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा वेदितव्या । सा च तावता यथा भवति तथा कर्मप्रकृतिटीकायाः संक्रमणकरणे भणितमिति ततोऽवधार्यम् ।

मिथ्यात्वस्य ।

मिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहन्नेणं सागरोवमं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागेण ऊणगं उक्कोसेणं सत्तरिकोडाकोडीओ सत्तवाससहस्साइं अबाहा ऊणिता उ सम्मामिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ॥

मिथ्यात्ववेदनीयस्य जघन्या स्थितिरेकं सागरोपमं पल्योपमासंख्येयभागोनमुत्कर्षतः तस्योत्कृष्टस्थितेः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्य जघन्यत उत्कर्षतो वा अन्तर्मुहूर्तं वेदनापेक्षया पुद्गलानां स्वस्थानमुत्कर्षतः प्रागेवोक्तम् ।

कषायस्य ।

कसायबारसगस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स चत्तारि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागूणाता उक्कोसेणं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ चत्तालीसं वाससयाइं अबाहा जाव निसेगो ॥

कषायद्वादशकस्यानन्तानुबन्धिचतुष्टयाप्रत्याख्यानचतुष्टयप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरूपस्य प्रत्येकं जघन्या स्थितिश्चत्वारः सागरोपमसप्तभागाः । पल्योमासंख्येयभागोना उत्कर्षतस्तेषां स्थितेः चत्वारिंशत्सागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् ।

कोहसंजलणे पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दो मासा उक्कोसेणं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ चत्तालीसं वाससयाइं जाव निसेगो । माणसंजलणे पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं मासं उक्कोसेणं जहा कोहस्स । मायासंजलणाए पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अद्धमासं उक्कोसेणं जहा कोहस्स। लोभसंजलणेणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं जहा कोहस्स ॥

संज्वलनानां च जघन्या स्थितिर्मासद्वयादिप्रमाणा क्षपकस्य स्वबन्धचरमसमयेऽवसातव्या ।

इत्थीवेदस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढसत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणत्तं उक्कोसेणं पन्नरस सागरोवमकोडाकोडीओ पन्नरसवाससयाइं अबाहा। पुरिसवेदस्स णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ संवच्छराइं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा जाव निसेगो । नपुंसगवेदस्स णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दोन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणं उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसं य वाससयाइं अबाहा ॥

स्त्रीवेदस्य जघन्या स्थितिर्द्व्यर्द्धसागरोपमस्य सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोनाः कथमिति चेदुच्यते त्रैराशिककरणवशात् तथा हि यदि दशानां सागरोपमकोटीकोटीनामेकः सागरोपमः सप्त भागाः लभ्यन्ते ततः पञ्चदशभिः सागरोपमकोटीकोटीभिः किं लभ्यते राशित्रयस्थापना । १० । १ ।१५। अत्रान्त्येन राशिना पञ्चदशलक्षणेन मध्यो राशिरेकलक्षणो गुण्यते जाताः पञ्चदशैव एकस्य गुणने तदेव भवतीति वचनात् तेषामाद्येन राशिना दशकलक्षणेन भागहरणं लब्धाः सार्द्धाः सप्त भागाः इति ।

हासरतीणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स एक्कं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइ भागेणं ऊणं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा अरतिभयसोगदुगुंछाणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स दोन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीससागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा ॥

(हासरइभयसोयदुगंछाणं जहन्नुक्कोसठिई भाणियव्वा इति) हास्यरतिभयशोकजुगुप्सानां जघन्योत्कृष्टा च स्थितिर्वक्तव्या सा च सुप्रसिद्धत्वान्नोक्ता कथं वक्तव्येति चेदुच्यते । " हासरईणं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं एगो सागरोवमस्स सत्तभागो पलिओवमस्स असंखेज्जभागेण ऊणो उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा जाव निसेगो इति" ज्ञेयमिति ।

आयुषः ।

नेरइयाउयस्स णं पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं तित्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडितिभागमब्भहियाइं । तिरियाउयस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीतिभागमब्भहियाइं एवं मणुस्साउयस्स वि देवाउयस्स जहा नेरइयाउयस्स ठितित्ति ।

तिर्यगायुषि मनुष्यायुषि च त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीत्रिभागाभ्यधिकानि यदुक्तं तत्पूर्वकोट्यायुषस्तिर्यग्मनुष्यानुबन्धिकानधिकृत्य वेदितव्यम् । अन्यत्रैतावत्याः स्थितेः पूर्वकोटित्रिभागरूपाया अबाधायाश्चालभ्यमानत्वात् प्रज्ञा० २३ पद । प्रव० ।

नामकर्मणः पृच्छा ।

निरयगतिनामएणं भंते ! कम्मस्स पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमसहस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स

असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडा-कोडीओ वीसयवाससयाइं अवाहा तिरियगतिनामाए जहा नपुंसगवेदस्स। मणुयगतिनामाए पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागऊणगं उक्कोसेणं पन्नरससागरोवमकोडाकोडीओ पन्नरसवाससयाइं अवाहा देवगतिनामाए पुच्छा गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमसहस्सएणं सत्तभागपलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगं उक्कोसेणं जहा पुरिसवेदस्स ।

"तिरियगइनामाए जहा नपुंसकवेयस्स" इति जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशति सागरोपमकोटीकोट्य इत्यर्थः। मनुष्यगतिनाम्नो। "जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढसत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागेण ऊणगं ति" अत्र भावना स्त्रीवेदवद्भावनीया "दिवड्ढसत्तभागमि" त्यादौ तु नपुंसकनिर्देशः प्राकृतत्वात् नरकगतिनाम्नो जघन्यतः सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ किमुक्तं भवति सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ सहस्रगुणितौ चेति तदुत्कृष्टस्थितेर्विंशतिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् तद्बन्धस्य च सर्वजघन्यस्यासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य भावात् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियकर्मबन्धस्य च जघन्यस्य च अयमर्थो वैक्रियकचिन्तायां देवगतिनाम्नो जघन्यतः सागरोपमसहस्रैकः सप्तभागः एकसागरोपमस्य सप्तभागसहस्रगुणित इति भावः । तस्य हि उत्कृष्टा स्थितिर्दशसागरोपमकोटीकोट्यः ततः प्रागुक्तकारणवशादेव सागरोपमस्य सप्तभागो लब्धः बन्धोऽपि चास्य जघन्यतोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्येति सहस्रगुणितः। देवगतिनामसूत्रे "उक्कोसेणं जहा पुरिसस्स वेयस्स इति" "दससागरोपमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अवाहा अवाहूणिया कम्मठिई कम्मनिसेगो इति" वक्तव्यमिति भावः ।

जातिनाम्नः।

एगिंदियजातिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अवाहा । बेइंदियजातिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अवाहा । तेइंदियजातिनामाएणं जहन्नेणं एवं चेव उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अवाहा । चउरिंदियजातिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसतिभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अवाहा। पंचिंदियजातिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अवाहा। ओरालियसरीरा वि एवं चेव ॥

द्वीन्द्रियजातिनामसूत्रे "जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणवीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता इति" द्वीन्द्रियादिनाम्नो ह्युत्कृष्टा स्थितिरष्टादशसागरोपमकोटाकोट्यः "अट्ठारससुहुमविगलतिगे" इति वचनात् । ततोऽष्टादशानां सागरोपमकोटाकोटीनां मिथ्यात्वस्योत्कृष्टया स्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणाया भागो ह्रियते भागश्च न पूर्यते ततः शून्यं शून्येन पात्यते जाता उपरि अष्टादशाधस्तात् सप्ततिस्तयोरर्द्धेनापवर्तनाल्लब्धा नवपञ्चत्रिंशद्भागास्ते पल्योपमासंख्येयभागोनाः क्रियन्ते आगतं सूत्रोक्तं परिमाणमिति। एवं त्रिचतुरिन्द्रियनामसूत्रे अपि भावनीये ।

वेउव्वियसरीरनामाएणं भंते ! पुच्छा ? जहन्नेणं सागरोवमसहस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयसयाइं अवाहा । आहारगसरीरनामाए जहन्नेणं अंतो सागरोवमकोडाकोडीए उक्कोसेणं अंतोसागरोवमकोडाकोडीए तेआकम्मगसरीरनामाए । जहन्नेणं दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अवाहा । सरीरबंधणनामाए वि पंचण्ह वि एवं चेव सरीरसंघातनामाए वि पंचण्ह वि जहा सरीरनामाए कम्मस्स ठितित्ति ॥

वैक्रियनामसूत्रे "जहन्नेणं सागरोवमसहस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता इति" इह वैक्रियशरीरनाम्न उत्कृष्टा विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः स्थितिस्ततः प्रागुक्तकरणवशेन जघन्यस्थितिचिन्तायां तस्या द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ लभ्येते परं वैक्रियषट्कमेकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाश्च न बध्नन्ति किन्त्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियास्ततो जघन्यतोऽपि बन्धं कुर्वाणा एकेन्द्रियबन्धापेक्षया सहस्रगुणं कुर्वन्ति "पणवीसा पन्नासा सयं सहस्सं च गुणकारो" इतिवचनात् । ततो यौ द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ प्रागुक्तकरणवशाल्लब्धौ तौ सहस्रेण गुण्यन्ते ततः सूत्रोक्तं परिमाणं भवति सागरोपमस्य द्वौ सहस्रौ सप्तभागानां सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागाविति ह्येकोऽर्थः । आहारकशरीरनाम्नो जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटाकोटी उत्कर्षतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटाकोटी नवरं जघन्यादुत्कृष्टं संख्येयगुणं द्रष्टव्यम् । अन्ये त्वाहारकचतुष्कस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमिच्छन्ति तद्ग्रन्थः "पुंवेय अट्ठवासा, अट्ठ मुहुत्ता जसुच्च गोयाणं । साए बारस आहार—वग्घायवरनाण किंचूणं" । १ । (अत्र किंचूणमिति) अन्तर्मुहूर्तमित्यर्थः । तदत्र तत्वं केवलिनो विदन्ति । यथा च शरीरपञ्चकस्य जघन्यत उत्कर्षतश्च स्थितिपरिमाणमुक्तं तेनैव क्रमेण शरीरबन्धनपञ्चकस्य शरीरसंघातपञ्चकस्य वक्तव्यं तथाचाह । "सरीरबंधननामाए वि पंचण्ह वि इति" ।

वइरोसभनारायसंघयणनामाए जहा रतिनामाए। उसभनारायसंघयणनामाए जहन्नेणं सागरोवमस्स छप्पणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं बारससागरोवमकोडाकोडीओ बारस वाससयाइं

अबाहा । नारायसंघयणनामाए जहन्नेणं सागरोवमस्स सत्तपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं चोद्दससागरोवमकोडाकोडीओ चोद्दसवाससयाइं अबाहा । अद्धनारायसंघयणनामस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स अट्ठपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं सोलससागरोवमकोडाकोडीओ सोलसवाससयाइं अबाहा । कीलियासंघयणेणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अबाहा । छेवट्ठसंघयणनामस्स जहन्नेणं सागरोवमस्स दोण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा । एवं जहा संघयणनामाए (छ) भणिया एवं छ संठाणा वि भाणियव्वा ।

(वइरोसभनारायसंघयणनामाए जहा रइनामाए इति) वज्रर्षभनाराचसंहनननाम्नो यथा प्राक् रतिनाम्नो मोहनीयस्योक्तं तथा वक्तव्यम् । "वइरोसहनारायसंघयणनामाए भंते! कम्मस्स केवइयं कालं ठिई पन्नत्ता गोतम ! जहन्नेणं एकं सत्तभागपलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ इति" ऋषभनाराचसूत्रम् "सागरोवमस्स छप्पणतीसभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणता इति" ऋषभनाराचसंहननस्य ह्युत्कृष्टा स्थितिर्द्वादशसागरोपमकोटीकोट्यः तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागो ह्रियते तत्र भागहारासंभवात् शून्यं शून्येन पातयित्वा छेद्यछेदकराश्योरर्द्धेनापवर्तनाल्लब्धाः सागरोपमस्य षट् पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते एवं नाराचसंहनननाम्नो जघन्यस्थितिचिन्तायां सप्त पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना उत्कृष्टा स्थितिश्चतुर्दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । अर्द्धनाराचसंहनननाम्नोऽष्टौ पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागोना उत्कृष्टा स्थितिः षोडशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । कीलिकासंहनननाम्नो नव पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कृष्टस्थितेरष्टादशसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणत्वात् परिभावनीयाः । सेवार्तसंहननसूत्रं तु सुगमम् । यथा संहननषट्कस्य स्थितिपरिमाणमुक्तं तेनैव क्रमेण संस्थानषट्कस्यापि वक्तव्यं तथा चाह । " एवं जहा संघयणनामा छ भणिया एवं संठाणा छ भाणियव्वा." उक्तश्चायमर्थोऽन्यत्रापि " संघयणे संठाणे, पढमे दस उवरिमेसु दुगवुड्ढी इति "

वर्णनामपृच्छा ।

सुक्किवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागं ऊणगं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा । हालिद्दवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स पंच अट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अद्धतेरससागरोवमकोडाकोडीओ अद्धतेरसवाससयाइं अबाहा । लोहियवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स छ अट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं पन्नरससागरोवमकोडाकोडीओ पन्नरसवाससयाइं अबाहा । नीलवन्ननामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स सत्त अट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अद्धट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अद्धट्ठारसवाससयाइं अबाहा । कालवन्ननामाए जहा छेवट्ठसंघयणस्स ॥

हारिद्रवर्णनामसूत्रे "जहन्नेणं सागरोवमस्स पंच अट्ठावीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा" इति हारिद्रवर्णनाम्नो हि सार्द्धा द्वादश सागरोपमकोटीकोट्यः तथा चोक्तमन्यत्रापि । "सुक्किलसुरभिमहुराण दस उ तहा सुभगउण्हफासाणं । अड्डाइज्जपवुड्ढा अंबिलहालिद्दपुव्वाणं " तासां मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणो भागो ह्रियते तत्र शून्येन पातना तेनोपरितनो राशिः सांशः इति सामस्त्येन चतुर्भागकरणार्थं चतुर्भिर्गुण्यते जाता पञ्चाशत् अधस्तनोऽपि सप्ततिलक्षणश्छेदराशिः चतुर्भिर्गुण्यते जाते द्वे शते अशीत्यधिके ततो भूयोऽपि शून्येन पातनाल्लब्धाः पञ्च अष्टाविंशतिभागाः ते पल्योपमासंख्येयभागहीनाः क्रियन्ते । आगतं सूत्रोक्तं परिमाणम् । अनेनैव गणितक्रमेण लोहितवर्णनाम्नो जघन्यस्थितिः षट् अष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतस्तस्य स्थितेः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । नीलवर्णनाम्नः सप्ताष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतस्तस्य स्थितेः सार्द्धसप्तदशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् परिभावनीयाः " कालवन्ननामाए जहा छेवट्ठसंघयणस्सत्ति " सेवार्तसंहननस्येव जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्त भागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिः सागरोपमकोटीकोट्यः कृष्णवर्णनाम्नोऽपि वक्तव्या इति भावः ।

सुब्भिगंधनामाए जहा सुक्किलवन्ननामस्स दुब्भिगंधनामाए जहा छेवट्ठसंघयणस्स ॥

सुरभिगन्धनाम्नः शुक्लवर्णनाम्नः इव "सुक्किलसुरभिमहुराण दसउ" इति वचनात् दुरभिगन्धनाम्नो यथा सेवार्तसंहननस्य तच्चानन्तरमेवोक्तमिति न पुनरुच्यते ।

रसाणं महुरादीणं जहा वन्नाणं भणियं तहेव परिवाडीए भाणियव्वं फासा जे अपसत्था तेसिं जहा छेवट्ठस्स, जे पसत्था तेसिं जहा सुक्किलवन्ननामस्स, अगुरुलहुनामाए जहा छेवट्ठस्स एवं उवघातनामाए वि एवं चेव ॥

रसानां मधुरादीनां परिपाट्या क्रमेण तथा वक्तव्यं यथा वर्णानामुक्तं तच्चैवं मधुररसनाम्नो जघन्यस्थितिरेकः सागरोपमस्य सप्तभागः पल्योपमासंख्येयभागहीन उत्कर्षतो दशसागरोपमकोटीकोट्यो दशवर्षशतान्याबाधा अबाधाकालहीना कर्मदलिकनिषेकः अम्लरसनाम्नो जघन्यतः पञ्च सागरोपमस्याष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतोऽर्द्धत्रयोदशसागरोपमकोटीकोट्यः तं च दशवर्षशतान्याबाधा कटुकरस-

नाम्नो जघन्यतः सागरोपमस्य सप्ताष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतः सार्द्धाः सप्तदशसागरोपमकोटीकोट्यः सार्द्धसप्तदशशतान्याबाधा। तिक्तरसनाम्नो जघन्यतः सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिवर्षशतान्याबाधा अबाधाकालहीना कर्मदलिकनिषेकः इति । स्पर्शा द्विविधास्तद्यथा प्रशस्ता अप्रशस्ताश्च । प्रशस्ता मृदुलघुस्निग्धोष्णरूपा अप्रशस्ताः कर्कशगुरुरूक्षशीतरूपाः । प्रशस्तानां जघन्यतः स्थितिरेकः सागरोपमस्य सप्तभागः पल्योपमासंख्येयभागहीन उत्कर्षतो दशसागरोपमकोटाकोट्यो दशवर्षशतान्याबाधा अबाधाकालहीना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेकः । अप्रशस्तानां जघन्यतो द्वौ सागरोपस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यो विंशतिवर्षशतान्याबाधाकालोना कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेकः । तथाचाह "फासा जे अप्पसत्था तेसिं जहा सेवट्टस्स जे पसत्था तेसिं जहा सुक्किल्लवन्ननामस्सेति"॥

निरयाणुपुव्वीनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दो सत्तभागा, पलिओवमस्स असंखेज्जभागऊणया उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा । तिरियाणुपुव्वीए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दो सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीसयवाससयाइं अबाहा । मणुयाणुपुव्वीए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणगं उक्कोसेणं पन्नरससागरोवमकोडाकोडीओ पन्नरस य वाससयाइं अबाहा । देवाणुपुव्वीए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमसहस्सएगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणगं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा ॥

नरकानुपूर्वीनाम्नो जघन्यतः सागरोपमसहस्रस्य द्वौ सप्तभागौ द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ सहस्रगुणिताविति भावः । भावना नरकगतिवद्भावयितव्या मनुष्यानुपूर्वीनामसूत्रे " जहन्नेण सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणगंति " । तदुत्कृष्टस्थितिः पञ्चदशसागरोपमकोटीकोटिप्रमाणत्वात् । उक्तञ्चान्यत्रापि " तीसं कोडाकोडी असायआवरण अंतरायाणं । मिच्छेसयरी इत्थी मणदुगसयाणुपन्नरस " देवानुपूर्वीनाम्नोऽपि जघन्यत एकसागरोपमस्य सप्तभागा सहस्रगुणिताः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतो हि तत्स्थितिर्दशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । तथाचोक्तम् "पुंहासरई उच्चे, सुभखगइथिराइछक्कदेवदुगे । दस सेसाणं वीसा, एवइयाबाहावाससया " बन्धश्चास्य जघन्यतोऽसंज्ञिपञ्चेन्द्रियेषु इति ॥

उस्सासनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहा तिरियाणुपुव्वीए आयवनामाए वि एवं चेव उज्जोयनामाए वि । पसत्थविहायोगतिनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दस य वाससयाइं अबाहा । अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स दोन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणता उक्कोसेणं वीसं सागरोवमकोडाकोडीओ वीस य वाससयाइं अबाहा । तसनामाए थावरनामाए य एवं चेव । सुहुमनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणता उक्कोसेणं अट्ठारससागरोवमकोडाकोडीओ अट्ठारसवाससयाइं अबाहा । बादरनामाए जहा अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स । एवं पज्जत्तनामाए वि । अपज्जत्तनामाए जहा सुहुमनामस्स पत्तेगसरीरनामाए वि दो सत्तभागा साहारणसरीरनामाए जहा सुहुमस्स । थिरनामाए एगं सत्तभागं अथिरनामाए दो सुभनामाए एगो असुभनामाए दो सुभगनामाए एगो दुब्भगनामाए दो सुस्सरनामाए एगो दुस्सरनामाए दो आदेज्जनामाए एगो अनादेज्जनामाए दो जसोकित्तीनामाए जहन्नेणं अट्ठ मुहुत्ता उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा । अजसोअकित्तिनामाए जहा अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स एवं निम्माणनामाए वि । तित्थगरनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नं अंतोसागरोवमकोडाकोडीए उक्कोसेणं वि अंतोसागरोवमकोडाकोडीए एवं जत्थ एगो सत्तभागो तत्थ उक्कोसेणं दस सागरोवमकोडाकोडीओ दस वाससयाइं अबाहा । जत्थ दो सत्तभागा तत्थ वीसं उक्कोसेणं सागरोवमकोडाकोडीओ वीस य वाससयाइं अबाहा ॥

तथा सूक्ष्मा नाम सूत्रे जघन्यतो नवसागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना द्वीन्द्रियजातिनाम्न इव भावनीयाः । सूक्ष्मनाम्नो ह्युत्कर्षतः स्थितेरष्टादशसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणत्वात् । " अट्ठारस सुहुमविगलतिग " इति वचनात् एवमपर्याप्तसाधारणनाम्नोरपि भावनीयम् । बादरपर्याप्तप्रत्येकनाम्नां तु जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यस्तथा " बायरनामाए जहा अप्पसत्थविहायोगइनामाए एवं पज्जत्तनामाए वि इत्यादि" स्थिरशुभसुस्वरादेयरूपाणां पञ्चानां नाम्नां जघन्यतः स्थितिरेकः सागरोपमस्य सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागोना । यशःकीर्त्तिनाम्नस्तु जघन्यतोऽष्टौ मुहूर्त्ताः " अट्ठमुहुत्ता जसुच्चगोय " मिति वचनात् उत्कृष्टाः पुनः षण्णामपि दशसागरोपमकोटीकोट्यः "थिराइछक्कदेवदुगे" इति वचनात् । अस्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्तिनाम्नां तु जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतो विंशतिसागरोपमकोटीकोट्यः एवं निर्माणनाम्नोऽपि वक्तव्यं तीर्थकरनाम्नो जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटी उत्कर्षतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटी । ननु यदि जघन्यतोऽपि तीर्थकरनाम्नोऽन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणा स्थितिस्तर्हि तावत्याः स्थितेस्तिर्यग्भवभ्रमणमन्तरेण पूरयितुमशक्यत्वात् कियन्तं कालं तीर्थकरनामसत्कर्माऽपि तिर्यग् भवेत् । स चागमे निषिद्धस्तथा चोक्तम् । " तिरिएसु नत्थि

तित्थयर--नामसंतंनि देसियसमए। कहयतिरिश्रो न होही, अथ सागरोवमकोमीकोमीए" इति ततः कथमेतदिति चेदुच्यते इह यन्निकाचिते तीर्थकरनामकर्म न तिर्यग्गतौ सत्तायां निषिद्धं यत्पुनरुद्वर्त्तनापवर्त्तनासाध्यं तद्भवदपि तिर्यग्गतौ न विरोधमास्कन्दति तथाचोक्तम् "जमिह निकाइयतित्थ-तिरियभवे न निसेहियं संतं। इयरम्मि नत्थि दोसा, उव्वट्टणावट्टणा सेसे" ॥१॥ इति।

उच्चागोयस्स पुच्छा, ? गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ मुहुत्ता उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोमीओ दसवाससयाई अबाहा। नीयागोयस्स पुच्छा ? गोयमा ! जहा अप्पसत्थविहायोगतिनामस्स। अंतराइएणं पुच्छा ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोमाकोमीओ तिन्नि य वाससहस्साई अबाहा अबाहूणिया ॥

गोत्रान्तरायसूत्राणि सुप्रतीतानि नवरम् " अन्तराइयस्स णं पुच्छा इति "। पञ्चप्रकारस्यापीति वाक्यशेषः। निर्वचनमपि पञ्चप्रकारस्यापि द्रष्टव्यं तदेवमुक्तं जघन्यत उत्कृष्टतश्च सामान्यतः सर्वासां प्रकृतीनां स्थितिपरिमाणम् ।

साम्प्रतमेकेन्द्रियानधिकृत्य तासां तदभित्सुराह ।

एगिंदियाणं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधइ ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स तिन्नि सत्तभागे पलिश्रोवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पमिपुन्ने बंधंति। एवं निद्दापंचगस्स वि दंसणचउक्कस्स वि

" एगिंदियाणं भंते ! जीवाणं नाणावरणिज्जस्स किं बंधंति " इत्यादि॥ अत्रेयं भावना यस्य कर्मणो या या उत्कृष्टा स्थितिः प्राग्निहिता तस्यास्तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीप्रमाणया भागे हृते यल्लभ्यते तत्पल्योपमासंख्येयभागहीना जघन्या स्थितिः। सैव पल्योपमासंख्येयभागरहिता उत्कृष्टेति तदेतत् परिभाव्य सकलमप्येकेन्द्रियगतं सूत्रं स्वयं परिभावनीयम्। तथापि विनेयजनानुग्रहाय किंचिल्लिख्यते। ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकासातवेदनीयान्तरायपञ्चकानां जघन्यत एकेन्द्रियाणां स्थितिबन्धस्त्रयः सागरोपमस्य सप्त भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना उत्कृष्टतस्त एव परिपूर्णास्त्रयः सागरोपमस्य सप्त भागाः ॥

एगिंदियाणं भंते ! जीवा सायावेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमस्स दिवड्ढं सत्तभागं पलिश्रोवमस्स असंखेज्जइभागं ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति। असायावेदणिज्जस्स जहा नाणावरणिज्जस्स एगिंदियाणं भंते ! जीवा सम्मत्तवेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! णत्थि किंचि बंधंति। एगिंदियाणं भंते ! जीवा मिच्छत्तवेयणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमं पलिश्रोवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्नं बंधंति। एगिंदियाणं भंते ! जीवा सम्मामिच्छत्तवेयणिज्जस्स किं बंधंति ? गोयमा ! नत्थि किंचि बंधंति ॥

सातावेदनीयस्त्रीवेदमनुष्यानुपूर्व्यो जघन्यतः सार्द्धसागरोपमस्य सप्तभागः पल्योपमासंख्येयभागहीन उत्कर्षतः स एव सार्द्धसप्तभागः परिपूर्णः मिथ्यात्वस्य जघन्यत एकं सागरोपमं पल्योपमासंख्येयभागहीनमुत्कर्षतस्तदेव परिपूर्णः। सम्यक्त्ववेदनीयस्य सम्यग्मिथ्यात्ववेदनीयस्य च नहि किञ्चिदपि बध्नन्ति न किंचिदपि वेद्यमानतयाऽऽत्मप्रदेशैः सह बन्धयन्तीति भावः। एकेन्द्रियाणां सम्यक्त्ववेदनस्य सम्यग्मिथ्यात्ववेदनस्य चासम्भवात् यस्तु साक्षाद् बन्धः सम्यग्मिथ्यात्वयोर्न घटत एवेति प्रागेवाभिहितम् ।

एगिंदियाणं कसायबारसगस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमस्स चत्तारि सत्तभागे पलिश्रोवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं तं चेव पमिपुन्नं बंधंति एवं कोहसंजलणाए वि जाव लोहसंजलणाए वि। इत्थीवेदस्स जहा सातावेदणिज्जस्स एगिंदिया पुरिसवेदस्स जहन्नं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिश्रोवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पमिपुन्नं बंधंति। एगिंदिया नपुंसगवेदस्स जहन्नं सागरोवमस्स दो सत्तभागे पलिश्रोवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पमिपुन्नं बंधंति। हासरती जहा पुरिसवेदस्स अरतिभयसोगदुगुंछा जहा नपुंसगवेदस्स ॥

कषायषोडशकस्य जघन्यतश्चत्वारः सागरोपमस्य सप्तभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णाः। पुरुषवेदहास्यरतिप्रशस्तविहायोगतिस्थिरादिषट्कप्रथमसंस्थानप्रथमसंहननशुक्लवर्णसुरभिगन्धमधुररसोच्चैर्गोत्राणां जघन्यत एकः सागरोपमस्य सप्तभागः पल्योपमसंख्येयभागहीनः उत्कर्षतः स एव परिपूर्णः द्वितीयसंस्थानसंहननयोर्जघन्यतः षट्पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णाः भयः संस्थानसंहननयोर्जघन्यतः सप्तसागरोपमस्य पञ्चत्रिंशद्भागाः पल्योपमासंख्येयभागहीनाः उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णाः। हारिद्रवर्णाम्लरसयोर्जघन्यतः पञ्च सागरोपमस्याष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णाः। नीलवर्णकटुकरसयोः सप्तसागरोपमस्याष्टाविंशतिभागाः पल्योपमासंख्येयभागोनाः उत्कर्षतस्त एव परिपूर्णाः। नपुंसकवेदनकजुगुप्साशोकरतितिर्यगौदारिकद्विकचरमसंस्थानचरमसंहननकृष्णवर्णतिक्तरसागुरुलघुपराघातोच्छ्वासोपघातत्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरनादेयायशःकीर्तिस्थाः परातपोद्योताः शुभविहायोगतिनिर्माणैकेन्द्रियजातिपञ्चेन्द्रियजातितैजसकार्मणानां जघन्यतो द्वौ सागरोपमस्य सप्तभागौ पल्योपमासंख्येयभागहीनौ उत्कर्षतस्तावेव परिपूर्णाविति। नैरयिकद्विकदेवद्विकवैक्रियचतुष्टयाहारकचतुष्टयतीर्थकरनाम्नां त्वकेन्द्रियाणां न बन्धः ॥

नेरइयाउय देवाउय निरयगतिनाम वेउव्वियसरीरनाम आहारिकसरीरनाम नेरइयाणुपुव्वीनाम देवाणुपुव्वीनाम तित्थगरनाम एतानि पदानि बंधंति। तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोमी सत्तहिं वाससहस्सेहिं वाससहस्सतिभागेण अभहियं बंधंति एवं मणुस्साउयस्स वि। तिरियगइनामाए जहा नपुंसयवेयस्स

मणुयगतिनामाए जहा सातावेदणिज्जस्स । एगिंदियजातिनामाए पंचिंदियजातिनामाए जहा नपुंसगवेदस्स । बेइंदिय तेइंदियजातिनामाए जहन्नं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागो पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पमिपुन्ने बंधंति । चउरिंदियनामाए वि जहन्नं सागरोवमस्स नवपणतीसइभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंति एवं जत्थ जहन्नगं दो सत्तभागा तिन्नि वा चत्तारि वा सत्त भागा अट्ठावीसइभागा भवंति तत्थ णं जहन्नेणं ते चेव पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा भाणियव्वा उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ना बंधंति । जत्थ जहन्नेणं एगो वा दिवड्ढो वा सत्तभागो तत्थ जहण्णेणं तं चेव पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं ऊणयं भाणियव्वं उक्कोसेणं तं चेव पमिपुन्नं बंधति । जसोकित्तिउच्चागोयाणं जहन्नं सागरोवमस्स एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं ऊणयं उक्कोसेणं ते चेव पमिपुन्नं बंधंति । अंतराइयस्स णं भंते ! पुच्छा ? गोयमा ! जहा नाणावरणिज्जं जाव उक्कोसेणं ते चेव पमिपुन्नं बंधंति ॥

आयुश्चिन्तायामपि एकेन्द्रिया देवायुर्नैरयिकायुर्वा न बध्नन्ति तथा भवस्वाभाव्यात् किंतु तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा तदपि च बध्नन्तो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं बध्नन्ति उत्कर्षतः पूर्वकोटिप्रमाणं नाधिकं केवलमुत्कृष्टं चिन्त्यते इत्येकेन्द्रिया द्वाविंशतिवर्षसहस्रप्रमाणायुषः स्वायुषश्च त्रिभागावशेषपरभवायुर्बध्नन्तः परिगृह्यन्ते इति सप्तवर्षसहस्राणि वर्षसहस्रत्रिभागोत्तराण्यधिकानि लभ्यन्ते ततस्तिर्यगायुर्मनुष्यायुश्चिन्तायां सूत्रोक्तं परिमाणमिति ।

सम्प्रति द्वीन्द्रियानधिकृत्य तमभिधित्सुराह ।

बेइंदियाणं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमपणवीसाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेण ऊणाता उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्ने बंधंति । एवं निद्दापंचगस्स वि एवं जहा एगिंदियाणं भणियं तहा बेइंदियाण वि भाणियव्वं नवरं सागरोवमपणवीसाए सह भाणियव्वा । पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणा सेसं तं चेव । जत्थ एगिंदिया न बंधंति तत्थ एते वि न बंधंति बेइंदियाणं भंते ! जीवा मिच्छत्तवेदणिज्जस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमपणवीसं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुन्नं बंधंति । तिरिक्खजोणियाउयस्स जहन्नं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिं चउहिं वासेहिं अहियं बंधंति । एवं मणुस्साउयस्स वि सेसं जहा एगिंदियाणं जाव अंतराइयस्स ॥

अत्रेय परिभाषा यस्य यस्य कर्मणो या या स्थितिरुत्कृष्टा प्रागभिहिता तस्या मिथ्यात्वस्थित्या सप्ततिसागरोपमकोटीकोटीमाणया भागे हृते यल्लभ्यते तत्पञ्चविंशत्या गुण्यते गुणितं च सत् यावद्भवति तावत्पल्योपमासंख्येयभागहीनं द्वीन्द्रियाणां बन्धकानां जघन्यस्थितिपरिमाणं तदेव परिपूर्णमुत्कृष्टस्थितिपरिमाणं तद्यथा ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकासातवेदनीयान्तरायपञ्चकानां त्रयः सागरोपमस्य सप्तभागाः पञ्चविंशत्या गुणिता वस्तुवृत्त्या पञ्चविंशतेः सागरोपमाणां त्रयः सप्तभागाः पल्योपमासंख्येयभागहीना जघन्यस्थितिबन्धपरिमाणं त एव परिपूर्णा उत्कृष्टमित्यादि ।

तेइंदियाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमपन्नासाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणया उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने बंधंति एवं जस्स जइ भागा ते तस्स सागरोवमपन्नासाए सह भाणियव्वा । तेइंदियाणं भंते ! मिच्छत्तवेदणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहण्णं सागरोवमपन्नासं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं उक्कोसेणं तं चेव पमिपुन्नं बंधंति । तिरिक्खजोणियाउयस्स जहण्णं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोडिसोलसेहिं राइंदियतिभागेण य अहियं बंधंति । एवं मणुस्साउयस्स वि सेसं जहा बेइंदियाणं जाव अंतराइयस्स ॥

त्रीन्द्रियबन्धचिन्तायां तदेव भागलब्धं पञ्चविंशत्या— गुण्यते ।

चउरिंदियाणं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स किं बंधंति गोयमा ! जहण्णं सागरोवमसयस्स तिण्णि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पमिपुन्ने बंधंति । एवं जस्स जइ भागो ते तस्स सागरोवमस्स तेण सह भाणियव्वो । तिरिक्खजोणियाउयस्स कम्मस्स जहण्णं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं पुव्वकोमिं दोहिं मासेहिं अहियं । एवं मणुस्साउयस्स वि सेसं जहा बेइंदियाणं नवरं मिच्छत्तवेदणिज्जस्स णं जहन्नं सागरोवमसयं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणयं उक्कोसेणं ते चेव पमिपुन्ने बंधंति सेसं जहा बेइंदियाणं जाव अंतराइयस्स । असन्नीणं भंते ! जीवा पंचिंदिया नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहन्नं सागरोवमसहस्सं तिन्नि य सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणए उक्कोसेणं ते चेव पडिपुन्ने एवं सो चेव गमो जहा बेइंदियाणं नवरं सागरोवमसहस्सेण समं भाणियव्वो जस्स जइ भाग त्ति । मिच्छत्तवेयणिज्जस्स जहन्नं सागरोवमसहस्सं पमिपुन्नं । नेरइयाउयस्स जहण्णं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोमितिभागमब्भहियं बंधंति । एवं तिरिक्खजोणियाउयस्स वि नवरं जहण्णं अंतोमुहुत्तं एवं मणुस्साउयस्स वि । देवाउयस्स जहा नेरइयाउयस्स । असन्नीणं भंते ! जीवा पंचिं-

दिया निरयगतिनामाए कम्मस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहएणं सागरोवमसहस्सं दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे उक्कोसेणं ते चेव पडिपुषे । एवं तिरियगतिए वि मणुयगतिए वि एवं चेव नवरं जहएणेणं सागरोवमसहस्सदिवड्ढं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागे ऊणगं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुण्णं बंधंति । एवं देवगतिनामाए वि नवरं जहएणं सागरोवमसहस्सं एगं सत्तभागं पलिओवमस्स असंखेज्जभागं उक्कोसेणं तं चेव पडिपुएणं । वेउव्विय सरीरनामाए पुच्छा ? गोयमा ! जहएणेणं सागरोवमसहस्सं दो सत्तभागे पलिओवमस्स असंखेज्जभागे ऊणगं उक्कोसेणं दो पडिपुणे सम्मत्तसम्मामिच्छत्त-आहारसरीरनामाए तित्थयरनामाए य न किंचि बंधंति अवसेसं जहा बेइंदियाणं नवरं जस्स जत्तिया भागा तस्स ते सागरोवमसहस्सेण सह भाणियव्वा सव्वेसिं आणुपुव्वीए जाव अंतराइयस्स ॥

चतुरिन्द्रियबन्धचिन्तायां सहस्रेण आह च कर्मप्रकृतिसंग्रहणिकारैः " पणवीसा पन्नासा, सयं सहस्सं च गुणकारो । कमसो विगल असन्नीणमिति " । तदेतदनुसारेण सूत्रं स्वयं निगमनीयं सुगमत्वात् नवरं "सागरोवमपणवीसाए तिन्नि सत्तभागा पलिओवमस्स असंखेज्जइभागेणं ऊणगा इति " अत्रेयं गणितभावना पञ्चविंशतिसागरोपमाणां सप्तभिर्भागे ह्रियमाणे यल्लभ्यते तत् त्रिगुणीकृत्य पल्योपमासंख्येयभागहीनः क्रियते । एवं सर्वत्रापि यथायोगं गणितभावना कर्त्तव्या ॥

सन्नीणं भंते ! जीवा पंचिंदिया नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं ? बंधंति । गोयमा ! जहएणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्नि य वाससहस्साइं अबाहा । सन्नीणं भंते ! पंचिंदिया निद्दापंचगस्स किं बंधंति ? गोयमा ! जहएणं अंतो सागरोवमकोडाकोडीए उक्कोसेणं तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ तिन्नि य वाससहस्साइं अबाहा । दंसणचउक्कस्स जहा नाणावरणिज्जस्स सातावेदणिज्जस्स जहा ओहियाई भणिया तहेव भाणियव्वा । इरियावहियबंधयं पडुच्च संपराइयबंधयं च । असातवेदणिज्जस्स जहा निद्दापंचगस्स सम्मत्तवेदणिज्जस्स सम्मामिच्छत्तवेदणिज्जस्स य जा ओहिया ठिई भणिया तं बंधंति । मिच्छत्तवेदणिज्जस्स जहन्नं अंतोसागरोवमकोडाकोडीए उक्कोसेणं सत्तरिं सागरोवमकोडाकोडीओ सत्त य वाससहस्साइं अबाहा । कसायबारसगस्स जहएणं एवं चेव उक्कोसं चत्तालीसं सागरोवमकोडाकोडीओ चत्तालीस य वाससयाइं अबाहा । कोहमाणमायालोभसंजलणाए य दो मासा मासो अद्धमासो अंतोमुहुत्तो एयं जहन्नगं उक्कोसगं पुण जहा कसायबारसगस्स चउएह वि आउयाणं जा ओहिया ठिई भणिया तं बंधंति । आहारगसरीरस्स तित्थगरनामाए य जहन्नेणं अंतोसागरोवमकोडाकोडी ओ उक्कोसेण वि अंतोसागरोवमकोडाकोडीए बंधंति पुरिसवेदस्स जहएणं अट्ठसंवच्छराइं उक्कोसेणं दससागरोवमकोडाकोडीओ दसवाससयाइं अबाहा । जसोकित्तिनामाए उच्चागोयस्स एवं चेव नवरं जहन्नेणं अट्ठमुहुत्ता, अंतराइयस्स जहा नाणावरणिज्जस्स सेसएसु सव्वेसु ठाणेसु संघयणेसु संठाणेसु वन्नेसु गंधेसु य जहन्नं अंतोसागरोवमकोडाकोडीओ उक्कोसं जा जस्स ओहिया ठिई भणिया तं बंधंति नवरं इमं नाणत्तं अबाहा अबाहा ऊणिता न वुच्चंति एवं आणुपुव्वीए सव्वेसिं जाव अंतराइयस्स ताव भाणियव्वं ॥

संक्लिपञ्चेन्द्रियबन्धकसूत्रं ज्ञानावरणीयादिकर्मणां जघन्यतः स्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तादिपरिमाणं क्षपकस्य स्वस्वबन्धचरमसमये प्रतिपत्तव्यः निद्रापञ्चकासातवेदनीयमिथ्यात्वकषायद्वादशकादीनां तु क्षपणादर्वाग् बन्ध इति तेषां जघन्यतोऽप्यन्तःसागरोपमकोटीकोटीप्रमाण उत्कृष्टो मिथ्यादृष्टेः सर्वसंक्लिष्टस्य नवरं तिर्यग्मनुष्यदेवायुषां स्वस्वबन्धकेऽतिशुद्धस्येति प्रज्ञा० २३ पद । कर्म० (कर्मणो रागद्वेषतारतम्याद् बन्धवैचित्र्यं विसचित्त शब्दे)

(२७) अधुना तीर्थकराहारकद्विकयोः प्राग्निरूपितामपि जघन्यां स्थितिं पुनर्मतान्तरेणाह ।

" केस्सुरासमं " इत्यादि केचनाचार्याः सुरायुषा देवायुष्केण दशवर्षसहस्रप्रमाणेन समं तुल्यं सुरायुस्समं देवायुस्तुल्यस्थितिकं जघन्यतो बध्यते किं तदित्याह (जिणंति) तीर्थकरनामकर्म ब्रुवते तथा च तैरभ्यधायि " सुरनारयाणं दसवाससहस्सलहुसतित्थाणं " (लहुत्ति) जघन्या स्थितिः सतीर्थयोस्तीर्थकरनामयुक्तयोरित्यर्थः तथा (आहारंति) आहारकाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यतो बध्यते किञ्चिदूनं मुहूर्त्तस्थितिकं जघन्येन बध्यते इति ब्रुवते तथा च तैरुक्तम् "आहारकतित्थयरनाम किं चूणंति " किंचिदून मुहूर्त्तं जघन्या स्थितिरिति तिर्यग्मनुष्यायुषोर्जघन्या स्थितिः ।

(२८) इह संक्लिपञ्चेन्द्रियसूत्रे ज्ञानावरणीयादिकर्मणां जघन्यः स्थितिबन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तादिपरिमाण उक्तः स कस्मिन् स्वामिनि लभ्यते इति जिज्ञासुः पृच्छति ।

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जहन्ने ठितिबंधए के ? गोयमा ! अन्नयरे सुहुमसंपराए उवसामए वा खवगए वा एसणं गोयमा ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए तव्वइरित्ते जहन्ने एवं एतेणं अभिलावेणं मोहाउयवज्जाणं सेसकम्माणं भाणियव्वं मोहणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए के ? गोयमा ! अन्नयरे बायरसंपराए उवसामए वा खवए वा एसणं गोयमा ! मोहणिज्जस्स कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए तव्वइरित्ते अजहन्ने ॥

"नाणावरणिज्जस्स" इत्यादि सुगमं नवरमन्यतरसूक्ष्मसम्पराय इति यदुक्तमस्य व्याख्यानं क्षपक उपशमको वा सूक्ष्मसम्पराय इह ज्ञानावरणस्य बन्धः क्षपकस्य उपशामकस्य च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणस्ततोऽन्तर्मुहूर्त्तत्वाविशेषात् उपशामको वा सूक्ष्मको वा इत्युक्तमन्यत्रापि क्षपकापेक्षया उपशामकस्य

बन्धो द्विगुणो वेदितव्यो यत आह कर्मप्रकृतिसंग्रहणकारः " खवगुणसामगपरिवय-माणो दुगुणो तहिं तहिं बंधो " । इति ततो वेदनीयस्य साम्परायिकबन्धचिन्तायां जघन्यस्थितिबन्धक्षपकस्य द्वादश मुहूर्त्ता उपशमकस्य चतुर्विंशतिर्नामगोत्रयोर्जघन्यतः क्षपकस्याष्टौ मुहूर्त्ता उपशमकस्य षोडश परमुपशमकस्यापि जघन्यो बन्धः शेषबन्धकापेक्षया सर्वजघन्य इति तत्सूत्रेष्वपि " अन्नयरे सुहुमसंपराए उवसमे वा खवगे वा " इति वक्तव्यं तथा च वक्ष्यति " एएणं अभिलावेणं मोहाउयवज्जाणं सेसकम्माणं भाणियव्वंति " उपसंहारसूत्रे " तव्वइरित्ते अजहन्ने" इति तद्व्यतिरिक्तः क्षपकोपशमकसूक्ष्मसंपरायव्यतिरिक्तो जघन्यो जघन्यस्थितिबन्धकः ।

आउयस्स णं भंते ! कम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए के ? गोयमा ! जे णं जीवे असंखेप्पाद्धापविट्ठे सव्वनिरुद्धे से आउए सेसे सव्वमहंतीए आउयबंधद्धाए तीसे णं आउबंधद्धाए चरिमकालसमयंसि सव्वजहन्नियं अपज्जत्तापज्जत्तियं निव्वत्तेइ एसणं ? गोयमा ! आउयकम्मस्स जहन्नट्ठितिबंधए तव्वइरित्ते अजहन्ने । उक्कोसट्ठितियाउएणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं किं नेरइओ बंधति तिरिक्खजोणिओ बंधति तिरिक्खजोणिणी बंधति मणुस्सो बंधति मणुस्सी बंधति देवो बंधति देवी बंधति ? गोयमा ! नेरइओ वि बंधति जाव देवी वि बंधति । केरिसए णं भंते ! णेरइए उक्कोसकालट्ठिइयं नाणावरणिज्जस्स कम्मं बंधति गोयमा ! सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्ते सागारे जागरे सुत्तोवउत्ते मिच्छादिट्ठी कण्हलेसे उक्कोससंकिलिट्ठपरिणामे ईसमज्झमपरिणामे वा एरिसएणं ? गोयमा ! णेरइए उक्कोसकालट्ठितियं नाणावरणिज्जं कम्मं बंधति । केरिसएणं भंते ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठितिथाणं नाणावरणिज्जं कम्मं बंधति ? गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिगपलिभागी वा सन्नीपंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए सेसं तं चेव जहा णेरइयस्स । एवं तिरिक्खजोणिणी वि मणूसे वि मणूसी वि । देवो देवी जहा णेरइए एवं आउयवज्जाणं सत्तण्हं कम्माणं उक्कोसकालट्ठिइयाणं भंते ! आउयकम्मं किं णेरइओ बंधति ? गोयमा ! नो णेरइओ बंधति तिरिक्खजोणिओ बंधति । मणुस्सो वि बंधति मणुस्सी वि बंधति नो देवो बंधति नो देवी बंधति । केरिसएणं भंते ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठिइयं आउयं कम्मं बंधति गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिगपलिभागी वा सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए सागारे जागरे सुत्तोवउत्ते मिच्छदिट्ठी कण्हलेस्से उक्कोससंकिलिट्ठपरिणामे एरिसएणं गोयमा ! तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठितियं आउयं कम्मं बंधति । केरिसएणं भंते ! मणूसे उक्कोसकालट्ठितियं आउयकम्मं बंधति ? गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिगपलिभागी वा जाव सुत्तोवउत्तो सम्मद्दिट्ठी वा मिच्छदिट्ठी वा कण्हलेसे वा सुक्कलेसे वा नाणी वा अन्नाणी वा उक्कोसेणं संकिलिट्ठपरिणामे वा असंकिलिट्ठपरिणामे वा एरिसएणं गोयमा ! मणूसे उक्कोसकालट्ठिइयं आउयं कम्मं बंधति । केरिसियाणं भंते ! मणुस्सीओ उक्कोसकालट्ठितियं आउयं कम्मं बंधति ? गोयमा ! कम्मभूमिए वा कम्मभूमिपलिभागी वा जाव सुत्तोवउत्ता सम्माद्दिट्ठी सुक्कलेसा तप्पाओग्गविसुज्झमाणपरिणामा एरिसियाणं गोयमा ! मणुस्सी आउयं कम्मं बंधति । अंतराइयं जहा नाणावरणिज्जं । इति पन्नवणाए भगवईए कम्मेति पदं तेवीसइयं सम्मत्तं ॥

आयुर्बन्धकसूत्रे " जे जीवे असंखिप्पद्धा पविट्ठे " इत्यादि इह द्विविधा जीवाः सोपक्रमायुषो निरुपक्रमायुषश्च तत्र देवा नैरयिका असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यङ्मनुष्याः संख्येयवर्षायुषोऽप्युत्तमपुरुषाश्चक्रवर्त्यादयश्चरमशरीरिणश्च निरुपक्रमायुष एव शेषास्तु सोपक्रमा अपि निरुपक्रमा अपि उक्तं च " देवा नेरइया वा, असंखवासाउया य तिरिमणुया । उत्तमपुरिसा य तहा, चरमसरीरा य निरुवक्कमा ॥ सेसा संसारत्था, भइया सोवक्कमा च इयरे वा । सोवक्कमनिरुवक्कम-भेओ भणिओ समासेणं" ॥ १ ॥ तत्र देवा नैरयिका असंख्येयवर्षायुषस्तिर्यङ्मनुष्याश्च षण्मासावशेषायुषः परभविकायुर्बन्धका ये पुनस्तिर्यग्मनुष्याः संख्येयवर्षायुषोऽपि निरुपक्रमायुषस्ते नियमात् त्रिभागावशेषायुषः परभवायुर्बध्नन्ति ये तु सोपक्रमायुषस्तस्य त्रिभागावशेषत्रिभागावशेषायुषो यावदसंक्षेप्याद्धाप्रविष्टा इति । तत आह " जेणं जीवे " इत्यादि यो णमिति वाक्यालंकारे जीवोऽसंक्षेप्याद्धाप्रविष्टः त्रिभागादिना प्रकारेण या संक्षेप्तुं न शक्यते साऽसंक्षेप्या सा चासौ अद्धा च असंक्षेप्याद्धा तां प्रविष्टः असंक्षेप्याद्धाप्रविष्टः ततश्च आह (से) तस्यासंक्षेप्याद्धाप्रविष्टस्य जीवस्यायुः सर्वनिरुद्धमुपक्रमहेतुभिरतिसंक्षिप्तीकृत आयुर्बन्धनिर्वर्त्तनमात्र एव कालस्तस्यास्ति न परतो जीवनकाल इति भावः । एवं तदेव स्पष्टतरमाह " सेससव्वमहंतीए आउयबंधद्धाए" इह सर्वमहती आयुर्बन्धाद्धा अष्टकर्षप्रमाणा तस्याः शेष एककर्षप्रमाणस्तावन्मात्रं सर्वनिरुद्धं तस्यायुर्वर्त्तते इति भावः ततोऽसंक्षेप्याद्धाप्रविष्टः स इत्थंभूतस्तस्या आयुर्बन्धाद्धायाश्चरमकालसमये चरमकालावसरे एककर्षप्रमाणा इह चरमसमयकालग्रहणेन परमनिरुद्धः समयः परिगृह्यते, किंतु यथोक्तरूपः कालः तेन हीनेन कालेनायुर्बन्धस्यासंभवात् यत उक्तं प्राक् व्युत्क्रान्तपदे " जीवाणं भंते ! तिइनामनिहिताउयं कइहिं आगरिसेहिं पकरेइ ? गोयमा ! जहन्नेणं उक्कोसेणं अट्ठहिं आगरिसेहिं" इति एकेन वा कर्षेणायुर्निर्वर्त्तयति सर्वजघन्यं यत आह (सव्वजहन्नियामिति) सर्वजघन्यां सर्वाल्पां स्थितिमिति गम्यते निर्वर्त्तयति बध्नातीति भावः किं विशिष्टामित्याह पर्याप्तापर्याप्तिकां शरीरेन्द्रियपर्याप्तिनिर्वर्त्तनोच्छ्वासपर्याप्तस्य निर्वर्त्तनसमर्थां कथमेतदवसेयं तत्सर्वजघन्यामपि स्थितिनिर्वर्त्तनसमर्था न ततो हीनतरामिति चेत् उच्यते । युक्तिवशात्तथाहि इह सर्व एव देहिनः परभवायुर्बध्वा म्रियन्ते नान्यथा परभवायुषश्च बन्ध औदारिकवैक्रियाहारके वा योगे वर्त्तमानस्य न कार्मणे औदारिकादिमिश्रे वा तथाचाह मूलटीकाकारः " उरालियाईणं तिण्हं सरीराणं कायजोगे वट-

माणो आउयबंधयो न कम्मए उरालियाउमिस्सो वा" इति औदारिककाययोगश्च विशिष्टो भवति शरीरेन्द्रियपर्याप्त्या पर्याप्तस्य न केवलं शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य तत एतत्सिद्धं शरीरपर्याप्त्या इन्द्रियपर्याप्त्या च पर्याप्तस्य मरणं नान्यथेति सर्वजघन्यामपि स्थितिं निर्वर्तयति शरीरेन्द्रियपर्याप्तिनिर्वर्त्तनसमर्थो न ततोऽपि हीनतरामिति। (एसणं गोयमे) त्याद्युपसंहारवाक्यं तदेवमुक्तो जघन्यस्थितिबन्धकः। सम्प्रत्युत्कृष्टस्थितिबन्धकं पृच्छति "उक्कोसेणं कालठिइए णं भंते! नाणावरणिज्जं कम्मं किं नेरइयाओ बंधईत्यादि" सुगमं नैरयिकसूत्रे (सागारि- इति) साकारोपयुक्तः (जागरे इति) जाग्रत् नारकाणामपि कियानपि निद्रानुभवोऽस्ति तत उक्तं जाग्रदिति (सुत्तोवउत्ते इति) श्रुतोपयुक्तः साभिप्रायज्ञानोपयुक्तः इति भावः तिर्यग्योनिकसूत्रे (कम्मभूमिगपलिभागी च) कर्मभूमिगाः कर्मभूमिजातास्तेषां प्रतिभागः सादृश्यं तदस्यास्तीति कर्मभूमिगप्रतिभागी कर्मभूमिगसदृश इत्यर्थः कोऽसाविति चेदुच्यते। या कर्मभूमिजा तिर्यक्स्त्री गर्भिणी सती केनाप्यपहृत्याकर्मभूमौ मुक्ता तस्यां जातः कर्मभूमिगसदृशः अन्ये तु व्याचक्षते कर्मभूमिग एव यदा केनाप्यकर्मभूमौ नीतो भवति तदा स कर्मभूमिगप्रतिभागी व्यपदिश्यते इति उत्कृष्टस्थितिकायुर्बन्धचिन्तायां नैरयिकतिर्यग्योनिकस्त्रीदेवदेवीनां प्रतिषेधस्तासामुत्कृष्टस्थितिषु नारकादिषूत्पत्त्यभावात् मनुष्यसूत्रे (सम्मद्दिट्ठी मिच्छद्दिट्ठी वा इति) इह द्वे उत्कृष्टे आयुषी तद्यथा सप्तमनरकपृथिव्यायुर्बध्नाति तदा मिथ्यादृष्टिः यदा पुनरनुत्तरसुरायुस्तदा सम्यग्दृष्टिः (कण्हलेसेवा) नारकायुर्बन्धकः (सुक्कलेसा वा इति) अनुत्तरसुरायुर्बन्धकः सम्यग्दृष्टिरप्रमत्तयतिः उत्कृष्टपरिणामो नारकायुर्बन्धकस्तत्प्रायोग्यविशुध्यमानपरिणामोऽनुत्तरसुरायुर्बन्धकः मानुषी तु सप्तमनरकपृथिवीयोग्यमायुर्न बध्नाति अनुत्तरसुरायुस्तु बध्नातीति तत्सूत्रं सर्वं प्रशस्तं नेयम्। इहातिविशुद्धः आयुर्बन्धमेव न करोतीति तत्प्रायोग्यग्रहणं शेषं कण्ठ्यम्। प्रज्ञा० २३ पद। कर्म०।

(२९) अथोत्तरप्रकृतीनाश्रित्योत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामित्वमाह।

अविरयसम्मो तित्थं, आहारदुगामराउअपमत्तो।
मिच्छादिट्ठी बंधइ, जिट्ठठिइं सेसपयडीणं ॥ ४२ ॥

अविरतसम्यक्त्वोऽविरतसम्यग्दृष्टिः "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति" न्यायान्मनुष्यः पूर्वं नरकबद्धायुष्को नरकं जिगमिषुरवश्यं मिथ्यात्वं यत्र समये प्रतिपद्यते ततोऽनन्तरेऽर्वाक्स्थितिबन्धे (तित्थंति) तीर्थकरनाम उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति "तित्थयरम्मि मणूसो, अविरयसम्मो समज्जेइ" इति वचनात्। इयमत्र भावना तीर्थकरनाम्नो ह्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणावसाना बन्धका न भवन्ति किन्तूत्कृष्टा स्थितिरुत्कृष्टसंक्लेशेन बध्यते स च तीर्थकरनामबन्धकेष्वविरतस्यैव यथोक्तविशेषणविशिष्टस्य लभ्यत इति शेषव्युदासेन अस्यैवोपादानमिति भावः। तत्र तिर्यञ्चस्तीर्थकरनाम्नः पूर्वप्रतिपन्नाः प्रतिपद्यमानकाश्च भवप्रत्ययेनैव भवन्तीति मनुष्यग्रहणम्। बद्धतीर्थकरनामकर्मा च पूर्वमबद्धनरकायुर्नरकं न व्रजतीति पूर्वं नरकबद्धायुष्कस्य ग्रहणम् क्षायिकसम्यग्दृष्टिश्च श्रेणिकादिवत्सम्यक्त्वेऽपि कश्चिन्नरकं प्रयाति किं तु तस्य विशुद्धत्वेनोत्कृष्टस्थित्यबन्धकत्वात्तस्या एव नेह प्रकृतत्वान्नासौ गृह्यतेऽतस्तीर्थकरनामकर्मोत्कृष्टस्थितिबन्धकत्वान्मिथ्याभिमुखस्यैव ग्रहणमिति। तथा आहारद्विकमाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणम्। (अप्पमत्तत्ति) अप्रमत्तसंयतोऽप्रमत्तभावान्निवर्त्तमान इति विशेषो द्रष्टव्यः उत्कृष्टस्थितिकं बध्नाति अशुभा हीयं स्थितिरित्युत्कृष्टसंक्लेशेनैवोत्कृष्टा बध्यते तद्बन्धकश्च अप्रमत्तयतिरप्रमत्तभावान्निवर्त्तमान एवोत्कृष्टक्लेशयुक्तो लभ्यते इतीत्थं विशिष्यते। तथा अमरायुर्देवायुष्कं प्रमत्तसंयतः पूर्वकोट्यायुरप्रमत्तभावाभिमुखो वेद्यमानपूर्वकोटिलक्षणायुषो भागद्वये गते सति तृतीयभागस्याद्यसमये उत्कृष्टस्थितिकं पूर्वकोटित्रिभागाधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणं बध्नाति पूर्वकोटित्रिभागस्य द्वितीयादिसमयेषु बध्नतो नोत्कृष्टं लभ्यते अबाधायाः परिहीनत्वेन मध्यमत्वप्राप्तेरित्याद्यसमयग्रहणम् अप्रमत्तभावाभिमुखताविशेषणं तर्हि किमर्थमिति चेदुच्यते शुभेयं स्थितिर्विशुद्धा बध्यते सा चास्य अप्रमत्तभावाभिमुखस्यैव लभ्यत इति तर्ह्यप्रमत्त एव कस्मादेतद्बन्धकत्वेन नोच्यते इति चेदुच्यते अप्रमत्तस्यायुर्बन्धारम्भनिषेधात् "देवाउयं पमत्तो" इति वचनात्। प्रमत्तेनैवारब्धमायुर्बन्धमप्रमत्तः कदाचित्समर्थयते "देवाउयं च इक्कं नायव्वं अप्पमत्तम्मि" इति वचनात्। शेषाणां षोडशोत्तरशतसंख्यप्रकृतीनां ज्येष्ठस्थितिमुत्कृष्टस्थितिं मिथ्यादृष्टिः सर्वपर्याप्तिपर्याप्तः सर्वसंक्लिष्टो बध्नाति यतः स्थितिरशुभासंक्लेशप्रत्ययावसंक्लिष्टश्च बन्धकेषु मध्ये मिथ्यादृष्टिरेव भवतीति भावः। अत्र च प्रायोवृत्त्या सर्वसंक्लिष्टत्वमुच्यते यावता तिर्यङ्मनुष्यायुषी उत्कृष्टे तत्प्रायोग्यो विशुद्धो बध्नातीति द्रष्टव्यं तयोः शुभस्थितिकत्वेन विशुद्धिजन्यत्वात् उक्तं च "सव्वठिईणं उक्को-सओ उ उक्कोससंकिलेसेण। विवरीए य जहन्नो, आउगतिगवज्जसेसाणं" ति ननु यदि विशुद्धित इदमायुष्कद्वयं बध्यते तर्हि मिथ्यादृष्टेः सकाशात्सास्वादनो विशुद्धतरः प्राप्यते स कस्मादेतद्बन्धकत्वेन नोक्तो नन्वत्र वक्तव्यं तिर्यङ्मनुष्यायुषी सास्वादनो न बध्नाति तद्बन्धस्य सप्ततिकादिष्ववश्यानुज्ञानात्तथा चोक्तमायुःसंवेधभङ्गकावसरे सप्ततिकाटीकायां तिर्यगायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयस्तिर्यङ्मनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एषोऽपि विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सास्वादनस्य वा तत्कथमुक्तं "मिच्छद्दिट्ठी बंधइ जिट्ठठिइं सेसपयडीणमिति"। अत्र प्रतिविधीयते सत्यामपि हि सामान्यतो मनुष्यतिर्यगायुर्बन्धानुज्ञायामसंख्येयवर्षायुष्कयोग्यमुत्कृष्टं प्रस्तुतायुर्द्वयं सास्वादनो न निर्वर्तयति सास्वादनस्य गुणप्रतिपाताभिमुखत्वेन गुणाभिमुखविशुद्धमिथ्यादृष्टेः सकाशाद्विशुद्ध्याधिकस्यानवगम्यमानत्वात् शास्त्रान्तरेऽपि च मिथ्यादृष्टेः सकाशादविरतादय एव यथोत्तरमनन्तगुणविशुद्धाः पठ्यन्ते न सास्वादनः। नवै तन्निजमनीषिकाशिल्पिकल्पितं यदाहुः श्रीशिवशर्मसूरिपूज्याः "सव्वुक्कोसठिईणं, मिच्छद्दिट्ठी उ बंधओ भणिओ। आहारगतित्थयरं, देवाउं वा वि मुत्तूणं" इह पूर्वं संक्लिष्टो मिथ्यादृष्टिः षोडशोत्तरप्रकृतिशतस्योत्कृष्टस्थितिबन्धकः सामान्येनैवोक्तः स च नारकादिभेदेन चिन्त्यमानश्चतुर्धा भवति ततो नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाश्च मिथ्यादृष्टयः पृथक्केषां कर्मणां स्थितीरुत्कृष्टा बध्नन्तीति भेदतश्चिन्तयन्नाह।

विगल सुहुमाउगतिगं, तिरिमणुयासुरविउव्विनिरयदुगं।
एगिंदि थावरायव-आईसाणसुरुक्कोसं ॥ ४३ ॥

त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् विकलत्रिकं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रिय-

चतुरिन्द्रियजातिलक्षणं सूक्ष्मत्रिकं सूक्ष्मापर्याप्तसाधारणरूपम आयुस्त्रिकं देवायुर्वर्ज नारकतिर्यग्मनुष्यायुर्लक्षणम । द्विकशब्दस्यापि प्रत्येकं संबन्धात् सुरद्विकं सुरगतिसुरानुपूर्वीस्वरूपं वैक्रियद्विकं वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणं नरकद्विकं नरकगतिनरकानुपूर्वीलक्षणमित्येतासां पञ्चदशप्रकृतीनामुत्कृष्टां स्थितिं नरकतिर्यङ्मनुष्या एव मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति न देवनारका एतासां मध्ये तिर्यङ्मनुष्यायुर्द्वयं मुक्त्वा शेषास्त्रयोदश प्रकृतीर्भवप्रत्ययेनैव न बध्नन्ति तिर्यङ्मनुष्यायुषोरपि देवगुर्वादिप्रायोग्य उत्कृष्टस्त्रिपल्योपमलक्षणः स्थितिबन्धः प्रकृतस्तत्र च देवनारका भवप्रत्ययादेव नोत्पद्यन्ते इत्येतद्बन्धोऽप्यमीषां न संभवति तस्मादेते तिर्यङ्मनुष्यायुषी उत्कृष्टस्थितिके पूर्वकोट्यायुषस्तिर्यङ्मनुष्या मिथ्यादृष्टयस्तत्प्रायोग्या विशुद्धाः स्वायुस्त्रिभागाद्यसमये वर्तमाना बध्नन्ति सम्यग्दृष्टेरतिविशुद्धमिथ्यादृष्टेश्च देवायुर्बन्धः स्यादिति मिथ्यादृष्टित्वतत्प्रायोग्यविशुद्धत्वरूपविशेषणद्वयं नारकायुषः पुनरेत एव तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा वाच्याः अत्यन्तशुद्धस्यात्यन्तसंक्लिष्टस्य चायुर्बन्धस्य सर्वथा निषेधादिति नरकद्विकवैक्रियद्विकयोस्त्वेक एव सर्वसंक्लिष्टाः पूर्वोत्कृष्टस्थितेर्बन्धका वाच्याः । विकलजातित्रिकसूक्ष्मत्रिकयोस्तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः अतिसंक्लिष्टा हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमुल्लङ्घ्य नरकप्रायोग्यमेव निवर्तयेयुर्विशुद्धास्तु विशुद्धितारतम्यात्पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यं वा मनुष्यप्रायोग्यं वा देवप्रायोग्यं वा बन्धयेयुरिति तत्प्रायोग्यसंक्लेशग्रहणम । देवद्विकस्यापि तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टा द्रष्टव्याः । अतिसंक्लिष्टानामधोवर्तिमनुष्यादिप्रायोग्यबन्धप्रसङ्गाद्विशुद्धौ पुनरुत्कृष्टबन्धाभावादिति भाविताः पञ्चदशादिप्रकृतयः । तथा एकेन्द्रियजातिस्थावरनामातपनामलक्षणस्य प्रकृतित्रिकस्य आ ईशानात् ईशानदेवलोकमभिव्याप्य सुरा देवाः । कोऽर्थः भवनपतयो व्यन्तरा ज्योतिष्काः सौधर्मेशानदेवाः (उक्कोसंति) उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति तथाहि ईशानादुपरितनदेवा नारकाश्च एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यन्त इत्येकेन्द्रियप्रायोग्याण्येतानि न बध्नन्त्येवेति तन्निषेधः । तिर्यग्मनुष्यास्त्वेतावति संक्लेशे वर्तमाना एतद्बन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमेव बध्नन्तीति तेषामपि निषेधः । ईशानान्तास्तु देवाः सर्वसंक्लिष्टा अप्येकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नन्त्यतस्त एव स्थावरैकेन्द्रियातपलक्षणप्रकृतित्रयस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं बध्नन्तीति ।

तिरिउरलदुगुज्जोयं, छिवट्ठसुरानिरयसेसचउगइया ।
आहारजिणमपुव्वो, नियट्टिसंजलणपुरिसलहु ॥ ४४ ॥

द्विकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् तिर्यग्द्विकं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीरूपमौदारिकद्विकमौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणमुद्योतनाम सेवार्तसंहनननाम इत्येतासां षण्णां प्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिं सुरनारका बध्नन्तिसर्वत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् न मनुष्यतिर्यञ्चः ते हि तद्बन्धार्हसंक्लेशे वर्तमाना एतासां षट्प्रकृतीनामुत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटिलक्षणामेव मध्यमां स्थितिमुपरचयन्ति अथाप्यधिकसंक्लेशे वर्तमाना गृह्यन्ते तर्हि प्रस्तुतप्रकृतिबन्धमतिक्रम्य नरकप्रायोग्यमुपरचयेयुः । देवनारकास्तु सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा अपि तिर्यग्गतिप्रायोग्यमेव बध्नन्ति न नरकगतिप्रायोग्यं तत्र तेषामुत्पत्त्यभावात्तस्माद्देवनारका एव संक्लिष्टाः । प्रस्तुतप्रकृतिषट्कस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टां स्थितिं रचयन्ति अत्र सामान्योक्तावपि सेवार्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टस्थितिबन्धका देवा ईशानादुपरितनसनत्कुमारादय एव द्रष्टव्याः । ईशानान्ता देवास्ते हि तत्प्रायोग्यसंक्लेशे वर्तमानाः प्रकृतप्रकृतिद्वयस्योत्कृष्टतोऽप्यष्टादशकोटीकोटीलक्षणां मध्यमामेव स्थितिं रचयन्ति । अथ सर्वोत्कृष्टसंक्लेशा गृह्यन्ते तदैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव निर्वर्तयेयुर्न चैकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धे एते प्रकृती बध्येते तेषां संहननोपाङ्गाभावात् । "सुरनेरइया एगिंदिया जे सव्वे असंघयणा" इति वचनात् । सनत्कुमारादिदेवाः पुनः सर्वसंक्लिष्टा अपि पञ्चेन्द्रियतिर्यक्प्रायोग्यमेव बध्नन्ति नैकेन्द्रियप्रायोग्यं तेषामेकेन्द्रियेषूत्पत्त्यभावात्तस्मात्प्रस्तुतप्रकृतिद्विकस्य विंशतिसागरोपमकोटीकोटीलक्षणामुत्कृष्टस्थितिं सर्वसंक्लिष्टाः सनत्कुमारादय एव बध्नन्ति नाधस्तना देवा इति । तदेवं जिननाम आहारकद्विकदेवायुर्विकलत्रिकसूक्ष्मत्रिकायुष्कत्रिकदेवद्विका वैक्रियद्विकनरकद्विकैकेन्द्रियजातिस्थावरनामातपनामतिर्यग्द्विकौदारिकद्विकोद्योतनामसेवार्तसंहननलक्षणानामष्टाविंशतिप्रकृतीनामुत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिन उक्ताः । शेषप्रकृतीनां तु का वार्तेत्याशङ्क्याह (सेसचउगइयत्ति) भणिताष्टाविंशतिप्रकृतिभ्यः शेषाणां द्विनवतिसंख्यप्रकृतीनां मिथ्यादृष्टयश्चतुर्गतिका अप्युत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्ति तत्रैतासु मध्ये वर्णचतुष्कतैजसकार्मणागुरुलघुनिर्माणोपघातभयजुगुप्सामिथ्यात्वकषायषोडशकज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवकान्तरायपञ्चकलक्षणानां सप्तचत्वारिंशतो ध्रुवबन्धिप्रकृतीनां पूर्वं व्यावर्णितस्वरूपाणां तथा अध्रुवबन्धिनीनामपि मध्ये असातारतिशोकनपुंसकवेदपञ्चेन्द्रियजातिहुण्डसंस्थानपराघातोच्छ्वासाशुभविहायोगतित्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकमस्थिराशुभदुःस्वरदुर्भगानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्रलक्षणानां च विंशतेः प्रकृतीनां सर्वोत्कृष्टसंक्लेशेनोत्कृष्टां स्थितिं चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयो बध्नन्ति शेषाणां त्वध्रुवबन्धिनीनां सातहास्यरतिस्त्रीपुंवेदमनुष्यद्विकसेवार्तवर्जसंहननपञ्चकहुण्डवर्जसंस्थानपञ्चकप्रशस्तविहायोगतिस्थिरशुभशुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां तद्बन्धके तु तत्प्रायोग्यसंक्लिष्टाश्चतुर्गतिका अपि मिथ्यादृष्टयः उत्कृष्टां स्थितिं बध्नन्तीति उक्ता उत्कृष्टस्थितिबन्धस्वामिनः । अथ जघन्यस्थितिबन्धस्वामिन आह " आहारजिणमपुव्वो " इत्यादि आहारकद्विकं जिननाम (लहुत्ति) लघुस्थितिकं जघन्यस्थितिकं करोतीति शेषः । क इत्याह (अपुव्वित्ति) पदैकदेशे पदसमुदायोपचारादपूर्वोऽपूर्वकरणक्षपकस्तद्बन्धस्य चरमस्थितिबन्धे वर्तमानः स्थितिमाभिन्येत्यर्थः तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात् । तिर्यङ्मनुष्यदेवायुर्वर्जकर्मणां च जघन्यस्थितेर्विशुद्धिप्रत्ययत्वात् । तथा (अनियट्टिसंजलणपुरिसलहुत्ति) संज्वलनानां क्रोधमानमायालोभलक्षणानां चतुर्णां पुरुषस्य पुरुषवेदस्य च (लहुत्ति) लघुस्थितिं जघन्यस्थितिबन्धम् (अनियट्टित्ति) अनिवृत्तिबादरक्षपकस्तद्बन्धस्य यथा स्वचरमस्थितिबन्धे वर्तमानः करोति तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वादिति ।

सायजसुच्चावरणा, विग्घं सुहुमो विउव्वि छ असन्नी ।
सन्नी वि आउबायर, पज्जेगिंदी उ सेसाणं ॥ ४५ ॥

सातं सातवेदनीयं (जसुत्ति) यशःकीर्तिनाम (उच्चंति) उच्चैर्गोत्रम (आवरणंति) ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्के विघ्नमन्तरायपञ्चकं (सुहुमत्ति) सूक्ष्मसंपरायक्षपकश्चर-

स्थितिबन्धे वर्तमानो लघुस्थितिकं करोति तद्बन्धकेष्वस्यैवातिविशुद्धत्वात् (विउव्वि असंनिति) वैक्रियषट्कं नरकद्विकं वैक्रियदेवद्विकलक्षणम् असंज्ञी तिर्यक्पञ्चेन्द्रियः सर्वपर्याप्तिभिः पर्याप्तो लघुस्थितिकं करोति विमुक्तं भवति वैक्रियषट्कं हि नामप्रकृतयः नाम्नश्च द्वौ सप्तभागौ पल्योपमसंख्येयभागोनौ एकेन्द्रियाणां जघन्या स्थितिः प्रतिपादिता सा च सहस्रगुणिता सागरोपमसप्तभागसहस्रद्वयप्रमाणा वैक्रियषट्कस्य जघन्या स्थितिर्भवति । वैक्रियषट्कस्य जघन्यस्थितिबन्धका असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव नैकेन्द्रियादयस्ते चासंज्ञिपञ्चेन्द्रिया जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनामपि यदुक्तम् ।

" वेउव्वियछक्के सहस–ताडियं जं असंनिणो तेसिं ।
पलिया संखंसूणं, ठिई अवाहूणिय निसेगो " ॥

अस्याक्षरगमनिका " वग्गुक्कोसेठिईण, मिच्छत्तुकोसियाइ " इत्यनेन करणेन यल्लब्धं तत्सहस्रताडितं सहस्रगुणितं ततः पल्योपमासंख्येयांशेन भागेन न्यूनं सद्वैक्रियषट्के देवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वी वैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गलक्षणे जघन्यस्थितेः परिमाणमवसेयम् । कुत इत्याह यद्यस्मात्कारणात् तेषां वैक्रियषट्कलक्षणानां कर्मणामसंज्ञिपञ्चेन्द्रिया एव जघन्यस्थितिबन्धकास्ते च जघन्यां स्थितिमेतावतीमेव बध्नन्ति न न्यूनान्तर्मुहूर्तमबाधा अबाधा हीना च कर्मस्थितिः कर्मदलिकनिषेके इति । किञ्च एताः षट्प्रकृतयो यथासंभवं नरकदेवलोकप्रायोग्या बध्यन्ते तत्र च देवनारकासंज्ञिमनुष्यैकेन्द्रियविकलेन्द्रियनरकेषु देवलोकेषु नोत्पद्यन्त एवेति तेषामेतद्बन्धासंभवः । तिर्यग्मनुष्यास्तु संज्ञिनः स्वभावादेव प्रकृतप्रकृतिषट्कस्य स्थितिं मध्यमामुत्कृष्टां वा कुर्वन्तीति तेऽपीहोपेक्षिताः (संनीविआउ) संज्ञी अपि शब्दादसंज्ञी गृह्यते ततः संज्ञी असंज्ञी वा आयुश्चतुःप्रकारमपि जघन्यस्थितिकं करोति तत्र देवनारकायुषोः पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्या मनुष्यतिर्यगायुषोः पुनरेकेन्द्रियादयो जघन्यस्थितिकर्त्तारो द्रष्टव्याः । उक्ताः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतीनां जघन्यस्थितिबन्धस्वामिनः । शेषाणामाह (बायरपज्जेगिंदिओ सेसाणंत्ति) शेषाणां भणितोद्धरितानां निद्रापञ्चकासातवेदनीयानन्तानुबन्धिचतुष्काप्रत्याख्यानावरणचतुष्कप्रत्याख्यानावरणचतुष्कनपुंसकवेदस्त्रीवेदहास्यादिषट्कमिथ्यात्वमनुष्यगतितिर्यग्गतिजातिपञ्चकौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गतैजसकार्मणसंहननषट्कसंस्थानषट्कवर्णचतुष्कमनुजानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिपराघातोच्छ्वासातपोद्योतागुरुलघुनिर्माणोपघातत्रसनवकस्थावरदशकनीचैर्गोत्रलक्षणानां पञ्चाशीतेः प्रकृतीनां बादरः पर्याप्तस्तद्बन्धकेषु सर्वविशुद्ध एकेन्द्रियः पल्योपमासंख्येयभागहीनसागरोपमद्विसप्तभागादिकां जघन्यां स्थितिं करोति । अन्ये ह्येकेन्द्रियास्तथाविधविशुद्धभावाद्ध्रस्वतरां स्थितिमुपकल्पयन्ति विकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियेषु शुद्धिरधिकाऽपि लभ्यते केवलं तेऽपि स्वभावादेव प्रकृतीनां महतीं स्थितिमुपरचयन्तीति शेषपरिहारेण यथोक्तैकेन्द्रियस्यैव ग्रहणमिति प्रतिपादितं जघन्यस्थितिबन्धमाश्रित्यस्वामित्वम् (कर्म०) ।
(बन्धशब्दे स्थितिबन्धप्रस्तावे गुणस्थानकेस्वरूप चिन्ता)
(अनुभागकर्म तच्चाऽनुभागशब्देदर्शितम्) प्रज्ञा० ।

अथप्रदेशकर्म तत्र यादृशं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो
गृह्णाति तदाह ।

अंतिमचउफासदुगंधं–पंचवन्नरसकम्मखंधदलं ।
सव्वजियणंतगुणरस–मणुजुत्तमणंतयपएसं ॥ ७८ ॥

जीवः कर्मस्कन्धदलं गृह्णातीत्युत्तरगाथायां संबन्धः । तत्र (अंतिमत्ति) अन्ते भवा अन्तिमाः पश्चाद्यन्ताग्रादिम इतीमप्रत्ययः अन्त्याः पर्यन्तवर्तिनः अन्तिमत्वं च "फासागुरुलहुमिउखरसीउण्हसिणिद्धरुक्खट्ठ" इति कर्मविपाकस्तत्र प्रतिपादितक्रममाश्रित्य ज्ञेयं चत्वारश्चतुः संख्याः स्पर्शाः शीतोष्णस्निग्धरूक्षलक्षणा यस्य कर्मस्कन्धदलस्य कर्मस्कन्धद्रव्यस्येत्यर्थः तदन्तिमचतुःस्पर्शम् अयमत्राशयः अमीषां चतुर्णां स्पर्शानां मध्यात्कोऽपि परमाणुः केनाप्यविरुद्धेन संयुक्तस्तत्र विद्यते तथा हि स्निग्धोष्णस्पर्शद्वितीययोगतः कश्चित्परमाणुस्तत्र भवति कश्चन रूक्षशीतस्पर्शद्वययुक्तः परमाणुः कश्चिच्च स्निग्धशीतस्पर्शद्वयोपेतः कश्चित्तु रूक्षोष्णस्पर्शद्वयसमन्वित इत्यतः स्कन्धद्रव्यमभव्यानन्तगुणपरमाणुनिवृत्तं सिद्धानन्तभागवर्तिपरमाणुकलितमविरुद्धस्पर्शद्वयोपेतपरमाणुसहिततया चतुःस्पर्शसंयुक्तं संगच्छतु एवं गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शवन्तश्च ये परमाणवस्ते कर्मस्कन्धद्रव्येन भवन्तीत्येतच्च प्रक्रान्तिकर्मप्रकृत्याद्यभिप्रायेणोक्तं बृहच्छतकटीकायां तु मृदुलघुलक्षणस्पर्शद्वयं तावदवस्थितं भवत्यपरौ च स्निग्धोष्णौ स्निग्धशीतौ वा रूक्षोष्णौ रूक्षशीतौ वा द्वावविरुद्धौ भवत इति चतुःस्पर्शोक्तिरुक्ता । तथा द्वौ सुरभिदुरभिलक्षणौ गन्धौ यस्य तद् द्विगन्धं पञ्चशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात्पञ्चेति पञ्चसंख्या वर्णाः कृष्णनीललोहितहारिद्रशुक्ललक्षणा यस्य तत्पञ्चवर्णम् पञ्च रसास्तिक्तकटुककषायाम्लमधुरस्वरूपा यस्य तत्पञ्चरसम् । कार्मणवर्गणाप्रधानाः स्कन्धाः कर्मस्कन्धास्त एव यथा स्वकालं दलनादिशारादलवत् दलञ्चिफलाविशरणे इति वचनाद्दलं दलिकं कर्मस्कन्धदलं ततोऽन्तिमचतुःस्पर्शं च तत् द्विगन्धं च अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धम् अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धं च तत्पञ्चवर्णं च अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णम् अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णं च पञ्चरसं च अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसम् अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसं च तत् कर्मस्कन्धदलं च अन्तिमचतुःस्पर्शद्विगन्धपञ्चवर्णपञ्चरसकर्मस्कन्धदलम् इह कर्मस्कन्धग्रहणेन एतत्सूचयति ये कर्मस्कन्धास्त एव चतुःस्पर्शवन्तो जीवेन गृह्यन्ते औदारिकवैक्रियाहारकशरीरयोग्यास्तु स्कन्धा अष्टस्पर्शा एव गृह्यन्ते इति तैजसाद्याश्च ये ग्रहणप्रायोग्यास्तेऽपि सर्वे चतुःस्पर्शवन्त एव जीवेन गृह्यन्ते इति मन्तव्यम् । वर्णगन्धरसाः पुनरौदारिकादीनां सर्वेषामपि स्कन्धानां यथोक्तप्रमाणा एव भवन्ति । उक्तं च " पंचरसपंचवण्णेहिं, परिणाया अट्ठफासदो गंधा। जीवाहारग जोगा, चउफासविसेसिया उवरिं " आहारकस्कन्धेभ्य उपरितनास्तैजसाद्याः स्कन्धा ग्रहणप्रायोग्याः सर्वे चतुःस्पर्शा भवन्तीत्यर्थः । तथा सर्वजीवेभ्योऽनन्तो गुणो येषां ते सर्वजीवानन्तगुणाः । रस्यते विपाकानुभवेनास्वाद्यत इति रसोऽनुभागस्तस्याणवोऽशाः रसाणवः सर्वजीवानन्तगुणाश्च ते रसाणवश्च सर्वजीवानन्तगुणाः रसाणवस्तैर्युक्तं समन्वितं इदमत्र हृदयम् इह सर्वजघन्यरसस्यापि पुद्गलस्य रसः केवलिप्रज्ञया छिद्यमानः सर्वजीवानन्तगुणान् भागान् प्रयच्छति ते च भागा अतिसूक्ष्मतया परभागाभावान्निरंशा अंशा रसाणव इत्युच्यन्ते रसाणवो भावभागा रसपरिच्छेदाभावपरमाणव इति पर्यायाः । ते च रसाणवः प्रतिस्कन्धं सर्वकर्मपरमाणुषु सर्वजी-

वानन्तगुणा विद्यन्ते तैश्चैवं विधै रसाणुभिर्युक्तं परिगतं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णातीति एतदुक्तं भवति निम्बेक्षुरसाद्यविश्रयणैस्तण्डुलेषु प्रत्येकं यथारसाविशेषं तत्तद्रूपं पक्ताजनयति तथा अनुभागबन्धाध्यवसायैः सर्वस्कन्धेष्वभव्यानन्तगुणकर्मप्रदेशनिष्पन्नेषु प्रतिपरमाणुसर्वजीवेभ्योऽनन्तगुणान् रसविभागपलिच्छेदान् जीवो जनयतीति । तथा (अणन्तपएसन्ति) अनन्ता अभव्यानन्तगुणाः सिद्धेभ्योऽनंतगुणहीनाः प्रदेशाः पुद्गला यत्र तदनन्तप्रदेशम् । इदमुक्तं भवति । अभव्येभ्योऽनन्तगुणैः सिद्धेभ्योऽनन्तगुणहीनैः परमाणुभिर्निष्पन्नमेकैकं कर्मस्कन्धं गृह्णाति तानपि स्कन्धान् प्रतिसमयमभव्येभ्योऽनन्तगुणान् सिद्धानामनन्तभागवर्तिन एव गृह्णातीति ॥

एगपएसोगाढं, नियसव्वपएसओ गहेइ जिओ ।
थोवो आउतदंसो, नामेगो एममो अहिओ ॥ ७९ ॥

एकस्मिन् प्रदेशेऽवगाढमेकप्रदेशावगाढमेकप्रदेशावगाढं येष्वाकाशप्रदेशेषु जीवोऽवगाढस्तेष्वेव यत्कर्मपुद्गलद्रव्यं तद्रागादि स्नेहगुणयोगादात्मनि लगति यदाह वाचकमुख्यः " स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य, रेणुनाश्लिष्यते यथा । रागद्वेषानुरक्तस्य, कर्मबन्धस्तथाध्रुवम् " नत्वनन्तरपरंपरप्रदेशावगाढं भिन्नदेशस्थस्य कर्मपुद्गलद्रव्यस्य ग्राह्यत्वपरिणामाभावात् यथाहि देहिनः स्वप्रदेशस्थितान् योग्यपुद्गलानात्मभावेन परिणमयति इत्येवं जीवोऽपि स्वक्षेत्रस्थमेव द्रव्यमादत्ते नत्वनन्तरपरम्परप्रदेशस्थम् एतच्च द्रव्यं गृह्यमाणं जीवेन नैकेन प्रदेशेन न द्व्यादिभिर्वा प्रदेशैः किन्तु सर्वैरप्यात्मीयप्रदेशैरित्येतदेवाह निजा आत्मीयाः सर्वे समस्ताः प्रदेशा निजसर्वप्रदेशास्तैर्निजसर्वप्रदेशतः आद्यादेराकृतिगणत्वात्तस्प्रत्ययः निजसर्वप्रदेशैः कर्मस्कन्धदलिकं गृह्णातीत्यर्थः । जीवप्रदेशानां सर्वेषामपि शृङ्खलावयवानामिव परस्परं संबन्धविशेषभावात् । तथाहि एकस्य जीवस्य समस्तलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणाः प्रदेशा वर्तन्ते मिथ्यादिबन्धकारणोदये च सति एकस्मिन् जीवप्रदेशे स्वक्षेत्रावगाढग्रहणप्रायोग्यद्रव्यग्रहणाय व्याप्रियमाणे सर्वथात्मप्रदेशा अनन्तरपरम्परतया तद्द्रव्यग्रहणाय व्याप्रियन्ते यथा हस्ताग्रेण कस्मिंश्चिद्ग्राह्ये कटादिके गृह्यमाणे मणिबन्धकूर्परांशादयोऽपि तद्ग्रहणाय अनन्तरपरम्परतया व्याप्रियन्ते इति । कर्म० ५ क० ॥

नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स केवइया अविभागपलिच्छेदा पएणत्ता ? गोयमा ! अणंता अविभागपलिच्छेदा पएणत्ता ॥

(अविभागपलिच्छेदेति) परिच्छिद्यन्त इति परिच्छेदा अंशास्ते च सविभागा अपि भवन्त्यतो विशेष्यन्ते अविभागाश्च ते परिच्छेदाश्चेत्यविभागपरिच्छेदा निरंशा अंशा इत्यर्थस्ते च ज्ञानावरणीयस्य कर्मणोऽनन्ताः कथं ज्ञानावरणीयं यावतो ज्ञानस्याविभागभेदानावृणोति तावन्त एव तस्याविभागपरिच्छेदा दलिकापेक्षया वाऽनन्ततत्परमाणुरूपाः ॥

नेरइयाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइया अविभागपलिच्छेदा पएणत्ता ? गोयमा ! अणंता अविभागपलिच्छेदा पएणत्ता एवं सव्वजीवाणं जाव वेमाणियाणं पुच्छा ? गोयमा ! अणंता अविभागपलिच्छेदा पएणत्ता एवं सव्वजीवाणं एवं जहा नाणावरणिज्जस्स अविभागपलिच्छेदा भणिया तहा अट्ठएह वि कम्मपगडीणं भाणियव्वा जाव वेमाणियाणं अंतराइयस्स ।

" अविभागपलिच्छेदेहिंत्ति " तत्परमाणुभिः ।

एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स एगमेगे जीवप्पएसे नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं अविभागपलिच्छेदेहिं आवेढियपरिवेढिए ? गोयमा ! सिय आवेढियपरिवेढिए सियनो आवेढियपरिवेढिए । जइआवेढियपरिवेढिए नियमा अणंतेहिं एगमेगस्स णं भंते ! नेरइयस्स एगमेगे जीवप्पएसे नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं अविभागपलिच्छेदेहिं आवेढियपरिवेढिए ? गोयमा ! नियमं अणंतेहिं जहा नेरइयस्स एवं जाव वेमाणियस्स नवरं मणूसस्स जहा जीवस्स एगमेगस्स णं भंते ! जीवस्स एगमेगे जीवप्पएसे दरिसणावरणिज्जस्स कम्मस्स केवइएहिं एवं जहेव नाणावरणिज्जस्स तहेव दंडगो भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स एवं जाव अंतराइयस्स भाणियव्वं । नवरं वेयणिज्जस्स आउयस्स नामस्स गोयस्स ! एएसिं चउण्ह वि कम्माणं मणुस्सस्स जहा नेरइयस्स तहा भाणियव्वं सेसं तं चेव ।

तत्परमाणुभिः (आवेढियपरिवेढियत्ति) आवेष्टितपरिवेष्टितोऽत्यन्तं वेष्टित इत्यर्थः आवेष्ट्य परिवेष्टित इति वा (सिय नो आवेढियपरिवेढिएत्ति) केवलिनं प्रतीत्य तस्य क्षीणज्ञानावरणत्वेन तत्प्रदेशस्य ज्ञानावरणीयाविभागपरिच्छेदैरावेष्टनपरिवेष्टनाभावादिति (मणूसस्स जहा जीवस्सत्ति) " सिय आवेढियेत्यादि" वाच्यमित्यर्थो मनुष्यापेक्षया आवेष्टितपरिवेष्टितत्वस्य तदितरस्य च सम्भवात् । एवं दर्शनावरणीयमोहनीयान्तरायेष्वपि वाच्यं वेदनीयायुष्कनामगोत्रेषु पुनर्जीवपद एव भजना वाच्या सिद्धापेक्षया मनुष्यपदे तु नासौ तत्र वेदनीयादीनां भावादित्येतदेवाह नवरं " वेयणिज्जस्सेत्यादि " भ० ८ श० १० उ० । उत्त० (बन्धाइ शब्देषु प्रदेशबन्धाद्यधिकारेऽन्यत्)

प्रथमतः करणाष्टकमभिधित्सुराह ।

बंधण १ संकमणु २ व्व-ट्टणा य ३ अववट्टणा ४ उदीरणया ५ उवसामणा ६ निहत्ती ७ निकायणा ८ चतिकरणाइं २

इह करणशब्देन सह पर्यन्ते सामानाधिकरण्याभिधानात् प्रत्येकं करणशब्दोऽभिसंबन्धनीयः तद्यथा बन्धनकरणं संक्रमकरणमित्यादि । क० प्र० । प्रदेशाग्रमुक्त्वा कर्मणां क्षेत्रं वदन्ति

सव्वजीवाणं कम्मं तु, संगहेछद्दिसागयं ।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बद्धगं ॥ १८ ॥

कर्म ज्ञानावरणीयादिकं सर्वजीवानां एकेन्द्रियादीनां संग्रहे संग्रहक्रियायां योग्यं तु षड्दिशागतं स्यात् षण्णां दिशां समाहारः षड्दिशं तत्र गतं षड्दिक्स्थितमित्यर्थः । तत्र स्वतश्च

पूर्वाद्या दिशः ऊर्द्धाधो दिग्द्वयं चेदमेवं दिग्षट्कमत्र षड्दिग्गतं कर्म द्वीन्द्रियादिजीवान् एव अधिकृत्य संग्रहक्रियायां योग्यं स्यादिति नियमः एकेन्द्रियाणां तु आगमेत्यादि दिक्कस्थं कर्म ग्रहणक्रियायां योग्यमपि उक्तमस्ति । अपरत्रागमे च तदाह " एगिंदिया णं भंते ! तेयाणं कम्मपुग्गलाणं गमणं करेमाणे किं तिदिसिं करेइ गोयमा ! सिय तिदिसिं सिय चउद्दिसिं सिय पंचदिसिं करेइ वेइंदियाणं भंते ! पुच्छा गोयमा ! बेंदिया जाव पंचेंदिया नियमा छद्दिसिं करेइ " कथं संग्रहक्रियायां योग्यं केन सह कियद्वा स्यादित्याह सर्वैरप्यात्मप्रदेशैः सर्वज्ञानावरणादि सर्वेण प्रकृतिस्थित्यादिना प्रकारेण बद्धकमन्योऽन्यं सम्बन्धतया क्षीरोदकवत् आत्मप्रदेशैः श्लिष्टं तदेव बद्धकं कर्म संग्रहे योग्यं भवति नत्वन्यत् । आत्मा हि सर्वप्रकृतिप्रायोग्यपुद्गलान् सामान्येन आदाय तान् पुद्गलान् अध्यवसायविशेषात् पृथग् ज्ञानावरणादिरूपत्वेन परिणमयति । यत्र हि आकाशे जीवोऽवगाढस्तत्र ये आकाशप्रदेशा आत्मन्याश्रितास्तेषु ये कर्मपुद्गलादिरागादिस्नेहयोगत आत्मनि लगन्ति ते एव कर्मपुद्गला जीवानां संग्रहयोग्या न तु क्षेत्रान्तरावगाढाः कर्मपुद्गला जीवानां संग्रहणार्हा भिन्नदेशस्थानां ग्रहणयोग्याभावात् " सव्वेसु पएसेसु " इति प्राकृतत्वात् तृतीया बहुवचनस्थाने सप्तमीबहुवचनं भिन्नप्रदेशस्थाः कर्मपुद्गलाः कथं ग्रहणयोग्या भवन्ति अत्र दृष्टान्तो यथाऽग्निः स्वप्रदेशस्थान् प्रायोग्यपुद्गलान् आत्मसात् करोति एवं जीवोऽपि स्वप्रदेशस्थान् कर्मपुद्गलान् आत्मसात् करोति किञ्चिद्विदिक्स्थितमपि कर्म आत्मा गृह्णाति परमल्पत्वान्न विवक्षितम् उत्त० ३३ अ०। कर्मणामुदय उदय शब्दे (एवं उदीरणा शब्दे उदीरणा बन्धो बन्ध शब्दे) एवं बन्धनादिकरणाष्टकं यावद् व्यक्तिकरणम् ।

अथ बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेधः ॥

सिद्धपएहिं महत्थं, बंधोदयसंतपयडिठाणाणि ।
वुच्छं सुणु संखेवं, नीसंदं दिट्ठिवादस्स ॥ १ ॥

प्रकृतीनां स्थानानि द्व्यादिप्रकृतिसमुदाया इत्यर्थः स्थानशब्दोऽत्र समुदायवाची बन्धोदयसत्तासु प्रकृतिस्थानानि-बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि तेषां संक्षेपं वक्ष्ये तं च वक्ष्यमाणंशृणु शृणुवति क्रियापदं च श्रोतृणां कथंचिदनाभोगवशतः प्रमादसंभवेऽप्याचार्येण नोद्वेजितव्यं किन्तु सुमधुरवचोभिः शिक्षानिबन्धनैः श्रोतृणां मनांसि प्रसाद्य यथार्हमागमार्थो निवेदनीय इति ख्यापनार्थं तदुक्तम् "अणुवत्तणाएसेहा पायं पावंति जोगयं परमं । रयणं पियगुणकरिसं, उव्वेइ सोहम्मगुणा गणेणं। एत्थ य पमायखलिया, पुव्वभासेण कस्ससव न होंति । जो ते वणेइ सम्मं, गुरुत्तणं तस्स सफलंति । को नामसारहीणं, स होज्ज जो भद्द वाइणो दमणे । दुट्ठे वि य जो पासे, दमेइ तं सारहिं विंति " संक्षेपस्यैव विशेषणार्थमाह । महार्थो महान् प्रभूतोऽर्थोऽभिधेयो यस्य स महार्थः ननु संक्षेपाविस्तरार्थसंग्रहस्ततः स महार्थ एव भवतीति किमर्थमिति विशेषणं तदयुक्तं संक्षेपस्य अन्यथाऽपि संभवात् तथाह्याख्यानालापकसंग्रहणयः संक्षेपरूपा दृश्यन्ते न च महार्थस्त तात्पर्यार्थस्याल्पीयस्त्वात् । ततस्तत्कल्पनममुं संक्षेपं नाशासी द्विनेयजन इत्यमहार्थत्वाच्छङ्कापनोदार्थं महार्थइति विशेषणम् पुनरप्यमुं विशेषयति निःस्यन्ददृष्टिवादस्य दृष्टिवादमहार्णवस्य बिन्दुभूतं निःस्यन्दकल्पं दृष्टिवादो हि परिकर्म्म तत्र प्रथमानुयोगपूर्वगतचूलिकारूपपञ्चप्रस्थानः तत्र पूर्वेषु मध्ये द्वितीये अग्रायणीयाभिधाने चतुर्दशवस्तुसमन्विते पूर्वे यत्पञ्चमं वस्तु विंशतिप्राभृतपरिमाणं तस्य चतुर्थं यत् कर्म्मप्रकृतिनामकं चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमयं प्राभृतं तस्मादिमे अयोबन्धादयः सूत्रकृता लेशतो वक्ष्यन्ते ततोऽन्यं बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपो दृष्टिवादस्य निस्यन्दरूपः अनेन च प्रकरणस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या दृष्टिवादो हि भगवता परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानेनवीरवर्द्धमानस्वामिना साक्षादर्थतोऽभिहितः सूत्रतस्तु सुधर्मस्वामिना तन्निष्यन्दरूपं चेदं प्रकरणमतः सर्वविन्मूलमिति । ननु बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानां संक्षेपोऽभिधातव्यः किं प्रत्येकमाहोस्वित् संवेधरूप उच्यते संवेधरूपस्तथा चामुमेव संवेधरूपं संक्षेपं विवक्षुः शिष्यान् प्रश्नं कारयति ॥

कइबंधतो वेअइ, कइकइ वा संतपयडि ठाणाणि ।
मूलुत्तरपगईसुं, भंगविगप्पा उ बोद्धव्वो ॥ २ ॥

कतिशब्दः परिमाण पृच्छायां कति कर्म्मप्रकृतीर्बध्नन् कति कर्म्मप्रकृतीर्वेदयते कति वा तथा बध्नतो वेदयमानस्य प्रकृतिसत्कर्म्मस्थानानि प्रकृतिसत्तास्थानानि एवं शिष्यैः प्रश्ने कृते सत्याचार्योऽस्मिन् विषये भंगजालमानकप्रकारं वचोमात्रेण यथावत्प्रतिपादयितुमशक्यं जानानः सामान्येनैव प्रत्युत्तरमाह मूले प्रकृतिषु ज्ञानावरणादिरूपासु उत्तरप्रकृतिषु च मतिज्ञानावरणादिश्रुतज्ञानावरणादिरूपासु उभयीषु च वक्ष्यमाणस्वरूपासु प्रत्येकं बन्धोदयसत्तासंवेधमधिकृत्य चिन्त्यमानासु वचोभङ्गः संभवति ते चास्मिन् प्रकरणे यथावत् वैविक्त्येन प्रतिपाद्यमानाः सम्यग्बोद्धव्याः । तत्र मूलप्रकृतयोऽष्टौ तद्यथा ज्ञानावरणं दर्शनावरणं वेदनीयं मोहनीयम् । आयुः नाम गोत्रमन्तरायं च (कर्म०) ।

तत्र मूलप्रकृतीनामुक्तस्वरूपाणां बन्धप्रतीत्य चत्वारि प्रकृतिस्थानानि । तद्यथा अष्टौ सप्त षट् एकश्च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ एतासां च बन्धो जघन्यतोत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः आयुषि हि बध्यमाने अष्टानां प्रकृतीनां बन्धः प्राप्यते आयुषश्च बन्धोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव कालं भवति न ततोऽप्यधिकम् । तथा त एवाष्टावायुर्वर्जाः सप्त एतासां च बन्धो जघन्येनान्तर्मुहूर्तं यावत् उत्कर्षेण च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमानि षण्मासोनानि अन्तर्मुहूर्त्तोनपूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि । तथा ता एवाष्टावायुर्मोहनीयवर्ज्जाः षट् । एतासां च बन्धो जघन्येनैकं समयं तथाहि एतासामुक्तरूपाणां षण्णां प्रकृतिरूपाणां षण्णां प्रकृतीनां बन्धः सूक्ष्मसंपराये सर्वोपशमश्रेण्यां कश्चिदेकं समयं भूत्वा द्वितीयसमये भवक्षयेण दिवं गतः सर्वाविरतो भवति अविरतत्वे चावश्यं सप्त प्रकृतीनां बन्ध इति षण्णां बन्धो जघन्येनैकं समयं यावत् उत्कर्षेण त्वन्तर्मुहूर्त्तं सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् तथा सप्तानां प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदे एकस्या वेदनीयरूपायाः प्रकृतेर्बन्धः स च जघन्येनैकं समयमेकसमयभावोपशमश्रेण्यामुपशान्तं मोहगुणस्थाने प्रागुक्तप्रकारेण भावनीयः उत्कर्षेण पुनर्देशोनां पूर्वकोटिं यावत् । सर्वोत्कर्षतः कस्या वेदितव्य इति चेत् उच्यते यो गर्भवासे माससप्तकमुषित्वाऽनन्तरं शीघ्रमेव योनिनिष्क्रमणजन्मना जातो वर्षाष्टकाच्चोपरि संयमं प्रतिपन्नः प्रतिपत्त्यनन्तरं च क्षपकश्रेणिमारुह्योत्पादितकेवलज्ञानदर्शनस्तस्य सयोगिके-

बलिनो वेदितव्यः तदेवं बन्धमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा । कर्म० । पं० सं० ।

बन्धेन बन्धस्य सम्बेधः । संप्रति कस्यां प्रकृतौ बध्यमानायां कतिप्रकृतिस्थानानि बन्धमाश्रित्य प्राप्यन्ते इति निरूप्यते तत्रायुषि बध्यमाने अष्टावपि प्रकृतयो नियमेन बध्यन्ते मोहनीयेऽतु बध्यमाने अष्टौ सप्त वा तत्राष्टौ सर्वाः प्रकृतयस्ता एवायुर्वर्जाः सप्त ज्ञानावरणदर्शनावरणनामगोत्रान्तरायेषु बध्यमानेषु अष्टौ सप्त षट् । तत्राष्टौ सप्त च प्रागिव मोहनीयायुर्वर्जाः षट् ताश्च सूक्ष्मसंपराये प्राप्यन्ते वेदनीये तु बध्यमाने अष्टौ सप्त षट् एका च तत्राष्टौ सप्त षट् च प्रागिव एका तु सैव वेदनीयरूपा प्रकृतिः सा चोपशान्तमोहगुणस्थानकादौ प्राप्यते । उक्तं च 'आउम्मि अट्ठमो हेउ, सत्त एकं च छाइए । वज्झंतयम्मि वज्झंति, सेसएसु छसत्तट्ठ " कर्म० । पं० सं० ।

सम्प्रति किं कर्म बध्नन् कानि कर्माणि बध्नातीति बन्धसंबंधं विचिन्तयिषुः प्रथमतो ज्ञानावरणीयेन सह सम्बन्धं चिन्तयति ।

जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा ॥

"जीवेणं भंते" इत्यादि सुगमं नवरं सप्तविधबन्धक आयुर्बन्धाभावकाले अष्टविधबन्धकमायुरपि बध्नन् षड्विधबन्धको मोहायुर्बन्धाभावे स च सूक्ष्मसंपरायः उक्तंच-" सत्तविह बंधगा होंति, पाणिणो आयुवज्जमाणं तु । तह सुहुमसंपराया, छव्विहबंधा विणिद्दिट्ठा ॥ मोहाउ य वज्जाणं, पयडीणं ते उ बंधगा भणिया " इति । एकविधबन्धकस्तु न लभ्यते एकविधबन्धका हि उपशान्तकषायादयस्तथाचोक्तम् "उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविहं बंधो । ते पुण दुसमयठियस्स, बंधगा न उणं संपरायस्स " ॥ १ ॥ न चोपशान्तकषायादयो ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नन्ति तद्बन्धस्य सूक्ष्मसम्परायचरमसमय एव व्यवच्छेदात् किंतु केवलं सातवेदनीयमिति ।

एतदेव नैरयिकादिदण्डकक्रमेण चिन्तयति ।

णेरइयाणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा एवं जाव वेमाणिए नवरं मणूसे जहा जीवे ।

"नेरइयाणं भंते !" इत्यादि इह मनुष्यवर्जेषु शेषेषु पदेषु सर्वेष्वपि द्वावेव भङ्गकौ द्रष्टव्यौ सप्तविधबन्धको वा अष्टविधबन्धको वा इति नतु तृतीयः । षड्विधबन्धक इति तेषु सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानासंभवात् । मनुष्यपदेषु त्रयोऽपि वक्तव्याः तत्र सूक्ष्मसंपराये त्वसंभवात् तथाचाह " एवं जाव वेमाणिए । नवरं मणुसे जहा जीवे" इति उक्त एकत्वेन दण्डकः ।

सम्प्रति बहुत्वेनाह ।

जीवा णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विह बंधगे य अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधगा य । णेरइयाणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य तिन्नि भंगा । एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं पुच्छा ? गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि । एवं जाव वणस्सइकाइया वि । विगलिंदियाणं पंचिंदियतिरिक्खजोणियाण य तियभंगो सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ॥

"जीवाणं भंते !" इत्यादि इह जीवाः सप्तविधबन्धकाः अष्टविधबन्धकाश्च सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते षड्विधबन्धकस्तु कदाचित्सर्वथा न भवति षण्मासान् यावदुत्कर्षतस्तदन्तरस्य प्रतिपादनात् यदापि लभ्यते तदापि जघन्यपदे एको वा द्वौ वा उत्कर्षतोऽष्टाधिकं शतम । तत्र यदैकोऽपि न लभ्यते तदा प्रथमो भङ्गः यदा त्वेको लभ्यते तदा द्वितीयो बहूनां लाभे तु तृतीय इति । नैरयिकाः षड्विधबन्धका न भवन्ति अष्टविधबन्धका अपि कदाचित्कास्तत्र यदैकोऽप्यष्टविधबन्धको न लभ्यते तदा सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधबन्धका इति भङ्गः ; यदा त्वेकोऽष्टविधबन्धकस्तदा द्वितीयो यदा तु बहवस्तदा तृतीय इति एतदेव भङ्गत्रिकं दशस्वपि भवनपतिषु भावनीयम् पृथिव्यादिषु पञ्चसु सप्तविधबन्धका अपि अष्टविधबन्धका अपीत्येक एव भङ्गोऽष्टविधबन्धकानामपि सदैव तेषु बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियसूत्रेषु भङ्गत्रिकं नैरयिकवत् ।

मणूसाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स पुच्छा ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा ? अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य २ अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३ अहवा सत्तविहबंधगा छव्विहबंधए य ४ । अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ५ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधए य ६ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगा य ७ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य ८ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ९ । एवं एते नव भंगा सेसा वाणमंतराइया जाव वेमाणिया जहा णेरइया सत्तविहादिबंधया भणिया तहा भाणियव्वा । एवं जहा नाणावरणं बंधमाणा जाहिं भणिया दंसणा वरणं पि बंधमाणा ताहिं जीवादिया एगत्तपोहत्तेहिं भाणियव्वा ॥

मनुष्यसूत्रे नवभङ्गकमष्टविधबन्धकस्य च कदाचित् सर्वथाऽप्यभावात् तत्राष्टविधषड्विधबन्धकाभावे सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधबन्धका इति प्रथमो भंगः सप्तविधबन्धकानां सदैव बहुत्वेन प्राप्यमाणत्वात् एकाष्टविधबन्धकाभावे द्वितीयसप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबंधकश्च बह्वष्टविधबन्धकभावे तृतीयसप्तविधबन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्च । एवमेवाष्टविधबन्धकाभावे षड्विधबन्धकपदेनाप्येकत्वबहुत्वाभ्यां द्वौ भङ्गाविति द्विकसंयोगे चत्वारो भङ्गाः त्रिकसंयोगेऽप्यष्टविधबन्धकषड्विधबन्धकपदयोः प्रत्येकमेकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ भङ्गाविति चत्वार इति । सर्वसंख्यया नव व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका नैरयिकवत् ।

यथा च ज्ञानावरणीयं चिन्तितं तथा दर्शनावरणीयमपि चिन्तयितव्यम् ।

वेयणिज्जं बंधमाणे जीवे कइ कम्म ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा एवं मणूसे वि सेसा नारगादीया सत्तविह अट्ठविहबंधगा जाव वेमाणिए। जीवाणं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं बंधइ पुच्छा, सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबन्धगा य एगविहबन्धगा य छव्विहबन्धगा य अहवा सत्तविहबंधगा य अठविहबंधगा य एगविहबंधगा य । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य । छव्विहबंधए य । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अवसेसा नारगादिया जाव वेमाणिया जाहिं नाणावरणं बंधमाणा बंधंति ताहिं जाणियव्वा नवरं मणूसाणं भंते ! वेदणिज्जं कम्मं बंधमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सक्षविधबंधगा य एगविहबंधगा य १ अहवा सत्तविहबंधगा य एगविह बंधगा य अट्ठविहबंधए य २। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य ४। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ५। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य ६। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगाए य छव्विहबंधगा य ७। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगे य ८। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्वि हबंधगा य ९। एए नव भंगा। मोहणिज्जं बंधमाणे जीवे कइ कम्मपयडीओ बंधइ ? गोयमा ! जीवेगिंदियवज्जो तियभंगो जीवेगिंदिया सत्तविहबंधगा वि अट्ठविहबंधगा वि जीवे णं भंते ! आउयं कम्मं बंधमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! नियमा अट्ठ एवं नेरइए जाव वेमाणिए। एवं पुहत्तेण वि। नामगोयंतराइं बंधमाणे जीवे कइ कम्मपयडीओ बंधइ ? गोयमा ! जाहिं नाणावरणिज्जं बंधमाणे बंधइ ताहिं जाणियव्वो एवं नेरइए जाव वेमाणिए। एवं पुहत्तेण वि जाणियव्वं ॥

वेदनीयचिन्तायाम् "एकविधबंधए वा इति" उपशान्तमोहादि शेषं प्राग्वत् । मनुष्यपदविषयाचिन्तायामपि त एव प्रागुक्ता नव भङ्गाः सप्तविधबन्धकानां च सदैव बहुत्वेनावस्थिततया भङ्गान्तरासम्भवान्मोहचिन्तायां जीवपदे पृथिव्यादिषु पदेषु च प्रत्येकमेक एव भङ्गः । सप्तविधबन्धका अपि अष्टविधबन्धका अपि उभयेषामपि सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । षड्विधबन्धकस्तु मोहनीयबन्धको न भवति मोहनीयबन्धो ह्यनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानकं यावत् षड्विधबन्धकास्तु सूक्ष्मसंपराय इति आयुर्बन्धकस्तु नियमादष्टविधबन्धक इति तच्चिन्तयति तच्चिन्तायामेकवचनबहुवचने च सर्वत्राभङ्गकं नामगोत्रान्तरायसूत्राणि ज्ञानावरणीयसूत्रवत् प्रज्ञा० २५ पद ।

बन्धवेदौ सम्प्रति किं कर्म वेदयेते काः कर्मप्रकृतीर्बध्नीतइत्युभयेन सह सम्बन्धस्य सम्बन्धं चिन्तयिषुरिदमाह ॥

जीवे णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा ॥

"जीवे णं भंते" इत्यादि सुगमं नवरं ज्ञानावरणीयं कर्म वेदयमान एकविधबन्धक उपशान्तमोहः क्षीणमोहो वा न तु सयोगिकेवली तस्य ज्ञानावरणीयोदयाभावात् ।

जीवाणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदमाणा कइ कम्मपगडीओ बंधंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य । १ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य । २ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य । ३ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगे य । ४ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य । ५ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगे य एगविहबंधगे य । ६ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य एगविहबंधगा य । ७ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य एगविहबंधगेय । ८ । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य एवं एते नव भंगा अवसेसाणं एगिंदियमणुस्सवज्जाणं तियभंगो जाव वेमाणियाणं एगिंदियाणं सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ॥

बहुवचनचिन्तायां षड्विधबन्धकाः सूक्ष्मसम्परायाः एकविधबन्धका उपशान्तमोहक्षीणमोहाः कादाचित्का एकत्वादिना च भाज्या इत्युभयेषामप्यभावे सप्तविधबन्धका अपि अष्टविधबन्धका अपित्वेको भङ्गो द्वयानामपि सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् ततः षड्विधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ भङ्गौ एवमेव द्वौ भङ्गावेकविधबन्धकप्रक्षेपेऽपि उभयोरपि युगपत् प्रक्षेपे पूर्ववच्चत्वार इति संख्यया नव नैरयिकादिषु तु पदेष्वेकेन्द्रियमनुष्यवर्जेषु बहुवचनचिन्तायां भङ्गत्रिकमष्टविधबन्धकानां कादाचित्कतया एकत्वादिना भाज्यतया च लभ्यमानत्वात् । एकेन्द्रियेषु त्वभङ्गकं सप्तविधबन्धकाष्टविधबन्धका अपीति उभयेषामपि सदा बहुत्वेन प्राप्यमाणत्वात् ।

मणुस्साणं पुच्छा ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अहवा सत्तविहबंधगा य छव्विहबंधए य एवं छव्विहबंधएण वि समं दो भंगा एगविहबंधएण वि समं दो भंगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य चउभंगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबन्धएय एगविहबन्धएय चउभंगा अहवा सत्त विहबन्धगाय छव्विहबंधए य एगविहबंधए य चउभंगा

अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य एगविहबंधए- य भंगा अट्ठ । एवं एते सत्तावीसं भंगा एवं जहा नाणावरणिज्जं तहा दरिसणावरणिज्जं अंतराइयं पि जीवे णं भंते वेयणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ? गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा अबंधए वा एवं मणूसे वि अवसेसा नारयादिया सत्तविहबंधगा अट्ठविहबंधगा एवं जाववेमाणिया

मनुष्येषु तु सप्तविंशतिभङ्गा अष्टविधबन्धकषड्विधबन्धकैकविधबन्धकानां कादाचित्कतया एकत्वादिना भाज्यतया च लभ्यमानत्वात् तत्रामीषामभावे सप्तविधबन्धका इत्येको भङ्गः ततोऽष्टविधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ षड्विधबन्धकप्रक्षेपे इति सप्त ततोऽष्टविधबन्धकषड्विधबन्धकपदप्रक्षेपे चत्वारोऽष्टविधबन्धकैकपदप्रक्षेपे चत्वारः एकोनविंशतिः ततोऽष्टविधबन्धकषड्विधबन्धकैकविधबन्धकपदानां युगपत्प्रक्षेपेऽष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः ।

जीवा णं भंते ! वेदणिज्जकम्मं वेदेमाणा कइ कम्मपयडीओ बंधंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधएण वि समं दो भंगा नेयव्वा । अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य अबंधए य चउभंगा एवं एते नव भंगा एगिंदियाणं अभंगयं नारगादीणं तियभंगा जाव वेमाणियाणं नवरं मणुस्साणं पुच्छा, सव्वे वि ताव होज्जा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य अट्ठविहबंधए य अबंधए य । एवं एते सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा जहा किरियासु पाणाइवायविरयस्स । एवं जहा वेदणिज्जं तहा आउयं नामं गोयं च भाणियव्वं मोहणिज्जं वेदमाणे जहा बंधे नाणावरणिज्जं तहा भाणियव्वं ।

वेदनीयसूत्रे एकविधबन्धकसंयोगिकेवल्यपि तस्यापि वेदनीयोदयबन्धसम्भवात् अबन्धकोऽयोगिकेवली तस्ययोगाभावतो वेदनीयं वेदयमानस्यापि तद्बन्धासम्भवात् वेदनीयसूत्रे एकवचनबहुवचनचिन्तायां जीवपदे नव भङ्गाः तत्र सप्तविधबन्धकाष्टविधबन्धकैकविधबन्धकानां सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । बहुवचनात्मके इतरपदद्वयाभावे एकस्ततः षड्विधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ एवमेव द्वावेकविधबन्धकपदप्रक्षेपे चत्वार उभयपदप्रक्षेपे इति मनुष्यपदे सप्तविंशतिः तत्र हि सप्तविधबन्धका एकेन बहुत्वेन सदाऽवस्थिता इतरेषु त्रयोऽप्यष्टविधबन्धका अबंधकाश्च कादाचित्का एकत्वादिना च भाज्या इततस्तेषामभावे सप्तविधबन्धका अप्येकविधबन्धका अपीत्येको भङ्गः ततोऽष्टविधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ षड्विधबन्धकपदप्रक्षेपे द्वावेकविधबन्धकप्रक्षेपे इति षट् । तथा त्रयाणां पदानां त्रयो द्विकसंयोगा एकैकस्मिन् द्विकसंयोगे एकवचनबहुवचनाभ्यां चत्वार इति द्विकसंयोगे द्वादश त्रिकसंयोगेऽष्टाविंशतिः सर्वसंख्यया सप्तविंशतिः एवमायुर्नामगोत्रसूत्राण्यपि भावनीयानि । मोहवेदनीयं कर्म वेदयमानो जीवः सप्तविधबन्धकोऽष्टविधबन्धकः षड्विधबन्धको वा सूक्ष्मसम्परायावस्थायामपि मोहनीयवेदनसम्भवात् एवं मनुष्यपदेऽपि वक्तव्यं नारकादिषु तु पदेषु सप्तविधबन्धकोऽष्टविधबन्धको वेत्येवं वक्तव्यं सूक्ष्मसम्परायस्याभावतः षड्विधबन्धकत्वासम्भवात् । बहुवचनचिन्तायां जीवपदे भङ्गत्रिकं तत्र सूक्ष्मसम्परायाः कादाचित्का इतरे च द्वये सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते इति षड्विधबन्धकपदाभावे सप्तविधबन्धका अष्टविधबन्धका अपीत्येको भङ्गस्ततः षड्विधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वावेतौ भङ्गाविति नैरयिकादिषु स्तनितकुमारपर्यवसानेषु सप्तविधबन्धकाः सदा बहुत्वेनावस्थिताः । अष्टविधबन्धकास्तु कादाचित्का एकत्वादिना च भाज्या इति अष्टविधबन्धका इत्येको भङ्गः । ततोऽष्टविधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वाविति पृथिव्यादिषु पञ्चस्वभङ्गकं सप्तविधबन्धका अपीति उभयेषामपि तेषु सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकेषु च नैरयिकवत् भङ्गत्रिकं मनुष्येषु नव भङ्गाः । तत्र सप्तविधबन्धका इत्येको भङ्गः ततोऽष्टविधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ द्वौ षड्विधबन्धकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां चत्वारः उभयपदप्रक्षेपे इति तथाचाह । " मोहणिज्जं वेएमाणे जहा बंधे नाणावरणिज्जं तहा भाणियव्वमिति " इतिश्रीमलयगिरिविरचितायां षड्विंशतितमं वेदबन्धाख्यं पदं० समाप्तम् प्रज्ञा० २६ पद० ।

सम्प्रति किं कर्म वेदयमानः कति कर्मप्रकृतीर्वेदयते इत्युदयस्योदयेन सह संबंधं चिन्तयति ।

जीवेणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कति कम्मपगडीओ वेदेइ ? गोयमा ! सत्तविहवेयए वा अट्ठविहवेयए वा एवं मणुस्सेण वि अवसेसा एगत्तेण वि पुहत्तेण वि नियमा अट्ठ कम्मपगडीओ वेदेइ जाव वेमाणिया ।

तत्र सप्तविधवेदक उपशान्तमोहक्षीणमोहौ वा तयोर्मोहनीयोदयासंभवात् शेषास्तु सूक्ष्मसम्परायादिरष्टविधवेदक एवं मनुष्यपदेऽपि वाच्यं, नैरयिकादयस्तु नियमादष्टविधवेदकाः ।

जीवाणं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कइ कम्मपयडीओ वेदेंति ? गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज अट्ठविहवेदगा अहवा अट्ठविहवेदगा य सत्तविहवेदए य अहवा अट्ठविहवेदगा य सत्तविहवेदगा य । एवं मणुस्सा वि । दरिसणावरणिज्जं अंतराइयं च एवं चेव भाणियव्वं । वेदणिज्जआउयनामगोयाइं वेदेमाणे कइ कम्मपगडीओ वेदेइ ? गोयमा ! जहा बंधगा वेदगस्स वेयणिज्जं तहा भाणियव्वाणि जीवेणं भंते ! मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणा कइ कम्मपगडीओ वेदेइ ? गोयमा ! नियमा अट्ठकम्मपगडीओ वेदेइ । एवं णेरइए जाव वेमाणिए । एवं पुहत्तेण वि ।

बहुवचनचिन्तायां जीवपदे मनुष्यपदे च भंगत्रिकं तत्र सर्वेऽपि तावद्भवेयुः अष्टविधवेदका इत्येको भङ्गः ततः सप्तविधब-

न्धकस्यैकस्य भावे द्वितीयो बहूनां भावे तृतीयः शेषेषु तु नैरयिकादिषु पदेषु अष्टभङ्गमष्टविधवेदका इति। सप्तविधवेदकत्वस्य तत्रासम्भवात् एवं दर्शनावरणीयान्तरायसूत्रेऽपि वक्तव्ये वेदनीयसूत्रे जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकमष्टविधवेदको वा सप्तविधवेदको वा चतुर्विधवेदको वेति वक्तव्यं शेषेषु तु नैरयिकादिषु अष्टविधवेदक इत्येतेषामुपशान्तमोहत्वाद्यवस्थासम्भवात् तत्रैव वेदनीयसूत्रे बहुवचनचिन्तायां जीवपदे मनुष्यपदे च प्रत्येकं भङ्गत्रिकं तत्राष्टविधवेदकाश्चेत्येको भङ्गः एष सर्वथा सप्तविधवेदकानामभावे ततः सप्तविधवेदकपदप्रक्षेपे एकवचनबहुवचनाभ्यां द्वौ भङ्गाविति शेषेषु तु नैरयिकादिषु स्थानेष्वभङ्गकमष्टविधवेदका इति। एवमायुर्नामगोत्रसूत्राण्यपि भावनीयानि मोहनीयं कर्म वेदयमानो नियमादष्टविधवेदक इति जीवादिषु पञ्चविंशतौ पदेष्वेकवचनचिन्तायां बहुवचनचिन्तायां च सर्वत्राप्यभङ्गकम्। अष्टौ कर्मप्रकृतीर्वेदयते वेदयन्ते वा प्रज्ञा० २७ पद० । भ० ।

सम्प्रति उदयमाश्रित्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते उदयम्प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि तद्यथा अष्टौ सप्त चतस्रः। तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ तासां च उदयोऽभव्यानाधिकृत्य अनाद्यपर्यवसितो भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानः उपशान्तमोहगुणस्थानकात् प्रतिपतितानधिकृत्य पुनः सादिसपर्यवसानः स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः उपशमश्रेणीतः प्रतिपतितस्य पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तेम् कस्यापि उपशमश्रेणिप्रतिपत्तेः उत्कर्षेण तु देशोनापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः तथा ता एवाष्टौ मोहनीयवर्जाः सप्त तासामुदयो जघन्येनैकं समयं तथा हि सप्तानामुक्तरूपाणां प्रकृतीनामुदय उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा प्राप्यते तत्र कश्चिदुपशान्तमोहगुणस्थानके एकं समयं स्थित्वा द्वितीये समये भवक्षयेण दिवं गच्छन्नविरतो भवति अविरतत्वे चावश्यमष्टानां प्रकृतीनामुदय स्ततः सप्तानामुदयो जघन्येनैकं समयं यावत्प्राप्यते उत्कर्षेण तु अन्तर्मुहूर्तं उपशान्तमोहगुणस्थानकस्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य वा सप्तोदयहेतोरान्तर्मौहूर्त्तिकत्वा त्तथा घातिकर्मवर्जाश्चतस्रः प्रकृतयः तासामुदयो जघन्येनान्तर्मुहूर्तिक उत्कर्षेण देशोनपूर्वकोटिप्रमाणः तदेवं कृता उदयमधिकृत्य स्थानप्ररूपणा । संप्रति कस्याः प्रकृतेरुदये कति प्रकृतिस्थानान्युदयमाश्रित्य प्राप्यन्ते इति निरूप्यते । तत्र मोहनीयस्योदये अष्टानामुदयः मोहनीयवर्जानां त्रयाणां घातिकर्म्मणामुदये अष्टानां वा तत्राष्टानां सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत् सप्तानामुपशान्तमोहक्षीणमोहे वा वेदनीयायुर्नामगोत्राणामुदये अष्टानां सप्तानां चतसृणां वा उदयः। तत्राष्टानां सूक्ष्मसम्परायं यावत् सप्तानामुपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा चतसृणामेतासामेव वेदनीयादीनां सयोगिकेवलिन्ययोगिकेवलिनि च । सम्प्रति सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा क्रियते सत्ताम्प्रति त्रीणि प्रकृतिस्थानानि तद्यथा अष्टौ सप्त चतस्रः । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टौ एतासां चाष्टानां सत्ता अभव्यानधिकृत्य अनादिपर्यवसाना भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसाना तथा मोहनीये क्षीणे सप्तानां सत्ता । सा च जघन्योत्कर्षेणान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा सा हि क्षीणमोहे क्षीणमोहगुणस्थानके चान्तर्मुहूर्तप्रमाणमिति घातिकर्मचतुष्टयक्षये च चतसृणां सत्ता सा च जघन्येनान्तर्मुहूर्तप्रमाणोत्कर्षेण पुनर्देशोनपूर्वकोटिमाना कृता सत्तामधिकृत्य प्रकृतिस्थानप्ररूपणा। संप्रति कस्यां प्रकृतौ सत्यां कति प्रकृतिस्थानानि सत्तामधिकृत्य प्राप्यन्ते इति निरूप्यते मोहनीयसप्ताष्टानामपि सत्ता ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाणां सत्ताया मष्टानां सप्तानां वा तत्राष्टानामुपशान्तमोहगुणस्थानकं यावन्मोहनीये क्षीणे सप्तानां सा च क्षीणमोहगुणस्थानके वेदनीयायुर्नामगोत्राणां सत्तायामष्टानां सप्तानां चतसृणां वा सत्ता तत्राष्टानां सप्तानां च भावना प्रागिव चतसृणां सत्ता वेदनीयादीनामेव सा च सयोगिकेवलिगुणस्थानके च द्रष्टव्या । कर्म० ।

सम्प्रति बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानां परस्परं
बन्धप्ररूपणार्थमाह ॥

अट्ठविह सत्त छ बं-धगेसु अट्ठे व उदयसंतंसा ।
एगविहे तिविकप्पा, एगविगप्पा अ अबंधम्मि । ३ ।

अष्टविधबन्धकसप्तविधबन्धकषड्विधबन्धकेषु प्रत्येकमुदये सत्तायां चाऽष्टौ कर्म्माणि प्राप्यन्ते कथमिति चेदुच्यते इह अष्टविधबन्धका अप्रमत्तान्ताः सप्तविधबन्धका अनिवृत्तिबादरसंपरायपर्यवसानाः षड्विधबन्धकाश्च सूक्ष्मसंपरायाः । एते च सर्वेऽपि सरागाः सरागत्वं च मोहनीयोदयाद्भवजायते उदये च सत्यवश्यं सत्ता ततो मोहनीयोदयसत्तासंभवात् सप्तविधाष्टविधषड्विधबन्धकेष्ववश्यमुदये सत्तायां वा अष्टौ प्राप्यन्ते एतेन च त्रयो भङ्गा दर्शिताः । तद्यथा अष्टविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकाले एष च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तानामवसेयो न शेषाणामायुर्बन्धासंभवात्तथा सप्तविधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्टविधा सत्ता एषविकल्प आयुर्बन्धभावे एव च मिथ्यादृष्ट्यादीनामनिवृत्तिबादरसंपरायाणामवसेयः । तथा षड्विधो बन्धोऽष्टविध उदयोऽष्ट विधा सत्ता एष विकल्पः सूक्ष्मसंपराया (एगविहे तिविगप्पोत्ति) एकविधे एकप्रकारबन्धे एकस्मिन् केवलिवेदनीये बध्यमान इत्यर्थः । विकल्प इति समाहारद्विगुत्वेऽप्यार्षत्वात्पुंस्त्वनिर्देशः त्रयो विकल्पा भवन्तीत्यर्थः । तद्यथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते तत्र मोहनीयस्योदयो न विद्यते सत्ता पुनरस्ति तथा एकविधो बन्धः सप्तविधा सत्ता एष विकल्पः क्षीणमोहे गुणस्थानके प्राप्यते तत्र मोहनीयस्य निःशेषतोऽपगमात् तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष पुनर्विकल्पः सयोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते तत्र मोहनीयस्य निः शेषतोऽपगमात् । तथा एकविधो बन्धश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष पुनर्विकल्पः सयोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते तत्र घातिकर्मणामशेषतोऽपगमात् चतसृणां चाघातिप्रकृतीनामुदये सत्तायां प्राप्यमाणत्वात् (एगविगप्पो अबंधम्मित्ति) अत्र बन्धाभावे एक एव विकल्पस्तथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष चायोगिकेवलिगुणस्थानके प्राप्यते । तत्र हि योगाभावात् बन्धो न भवति उदयसत्ते चाघातिकर्मणां भवतः तदेवं मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेधे सप्तविकल्पा उक्ताः कर्म० पं०सं ।

जीवस्थानेषु विवृण्वन्नाह ।

सत्तट्ठबंध अट्ठुदयसंततेरससु जीवठाणेसु ।
एगम्मि पंचभंगा होंति केवलिणो ॥ ४ ॥

इह जीवस्थानानि चतुर्दश तद्यथा अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः पर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियः अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियः पर्याप्तबादरैकेन्द्रियः अपर्याप्तद्वीन्द्रियः पर्याप्तद्वीन्द्रियः अपर्याप्तत्रीन्द्रियः पर्याप्तत्रीन्द्रियः अपर्याप्तचतुरिन्द्रियः पर्याप्तचतुरिन्द्रियः अपर्याप्तासंज्ञिप-

न्द्रियः पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियः अपर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियः इति एतानि च सप्तषडशीतिकवृत्तौ व्याख्यातानीति नेह भूयो व्याख्यायन्ते । तत्र त्रयोदशसु आद्येषु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः । तद्यथा सप्तविधो बन्धोऽष्टविध उदयः अष्टविकल्पः आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदैव लभ्यते अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकाले एष चान्तर्मौहूर्तिकः आयुर्बन्धकालस्य जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्त्त प्रमाणत्वात् [एगम्मि पंचभंगत्ति] एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे पञ्चभंगा भवन्ति तत्रादिमौ द्वौ भंगौ प्रागिव भावनीयौ त्रयस्तु शेषा इमे षड्विधबन्धः अष्टविधा सत्ता अष्टविध उदय एष विकल्पः सूक्ष्मसंपरायस्य उपशमश्रेण्यां वर्त्तमानस्य वेदितव्यः तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्यते । तथा एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता एष च क्षीणमोहस्थानके तथा द्वौ द्वौ भंगौ भवतः केवलिनः तद्यथा एकविधो बन्धः चतुर्विध उदयः चतुर्विधा सत्ता । एष च विकल्पः सयोगिकेवलिनो बन्धाभावे चतुर्विध उदयः चतुर्विधा सत्ता एष विकल्पो योगिकेवलिनः । इह केवलिग्रहणं संज्ञिव्यवच्छेदार्थं द्वौ भंगौ भवतः केवलिनो नतु संज्ञिन इत्यर्थः अत एव केवलग्रहणादिदमवसीयते केवलिमनोविज्ञानरहितत्वात् संज्ञी न भवतीति ॥

सम्प्रति तानेव सप्तविकल्पान् गुणस्थानेषु चिन्तयन्नाह ।

अट्ठसु एगविगप्पो, छस्सु वि गुणसन्निएसु दुविगप्पा ।
पत्तेयं पत्तेयं, बंधोदय संतकम्माणं ॥ ६ ॥

इह गुणस्थानकानि चतुर्दश तानि च षडशीतिकवृत्तौ सविस्तरमभिहितानीति नेह भूयोऽभिधीयन्ते । तत्र अष्टगुणस्थानकेषु सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यपूर्वकरणनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु प्रत्येकं बन्धोदय सत्कर्मणामेकविकल्पो भवति तद्यथा सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यपूर्वकरणानिवृत्तिबादरेषु सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता । अथैतेषु अष्टविधोऽपि बन्धः कस्मान्न भवति ? उच्यते स्वभावत एव एतेषामायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानशून्यत्वात् सूक्ष्मसंपराये षड्विधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता सूक्ष्मसंपरायो हि बादरकषायाभावादायुर्मोहनीयं च न बध्नाति ततश्च षड्विध एव बन्धो भवति । उपशान्तकषायस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः अष्टविधा सत्ता । यत उपशान्तमोहकषायोदयाभावात् न ज्ञानावरणानि बध्नाति किंतु वेदनीयमेव केवलं ततस्तत्रैकविध एव बन्धो भवति मोहनीयस्य चोपशान्तत्वेनोदयाभावादुदयः सप्तविधः क्षीणमोहस्य एकविधो बन्धः सप्तविध उदयः सप्तविधा सत्ता । अत्र मोहनीय क्षीणत्वात् उदये सत्तायां च न प्राप्यते ततः सप्तविधा सत्ता सयोगिकेवलिनि एकविधो बन्धः चतुर्विध उदयः चतुर्विधा सत्ता केवली हि चतसृणामपि घातिप्रकृतीनां क्षयेण भवति ततस्तस्य चतुर्विध एवोदयश्चतुर्विधैव च सत्ता । अयोगिकेवलिनो बन्धो न भवति योगाभावात् ततश्चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता । तथा षट्सु गुणसंज्ञितेषु गुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनाविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतिप्रमत्ताप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं बन्धोदयसत्कर्मणां द्वौ द्वौ विकल्पौ भवतः तद्यथा अष्टविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकाले एतेषां ह्यायुर्बन्धयोग्याध्यवसायस्थानसंभवात् बन्धः उपपद्यते । तथा सप्तविधो बन्धः अष्टविध उदयः अष्टविधा सत्ता एष विकल्प आयुर्बन्धकालं मुक्त्वा शेषकालं सर्वदा लभ्यते तदेव मूलप्रकृतीरधिकृत्य बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानां परस्परं संवेध उक्त स्वामित्वं च उत्तरप्रकृतिषु सम्वेधः। कर्म० पं० सं० ॥

सम्प्रति ज्ञानावरणीयस्य तत्तुल्यत्वादन्तरायस्य चोत्तरप्रकृतीरधिकृत्य बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह ॥

बंधोदयसंतं सा, नाणावरणंतराइए पंच ।
बंधो चरमे वि उदय संतंसा होंति पंचेव ॥ ७ ॥

ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकबन्धोदयसत्तारूपाः अंशाः पञ्च पञ्चप्रकृत्यात्मकाः । इदमुक्तं भवति । ज्ञानावरणे बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य सदैव पञ्चप्रकृतयो मतिज्ञानावरणश्रुतज्ञानावरणावधिज्ञानावरणमनःपर्यवज्ञानावरणरूपाः प्राप्यन्ते नत्वेकद्वित्र्यादिकाध्रुवं बन्धादित्वात् । अन्तरायेऽपि बन्धमुदयं सत्तां चाधिकृत्य प्रत्येकं सदैव दानान्तरायलाभान्तरायभोगान्तरायवीर्यान्तरायरूपाः पञ्च प्रकृतयः प्राप्यन्ते नत्वेकद्वित्र्यादिका ध्रुवबन्धादित्वादेव । तथा च मतिज्ञानावरणान्तराये च बन्धादिषु प्रत्येकमेव पञ्च प्रकृत्यात्मकं प्रकृतिस्थानमिति । संप्रतिसंवेध उच्यते ज्ञानावरणस्य बन्धकाले पञ्च विधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । एवमन्तरायस्यापि एष एव विकल्पो द्वयोरपि सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावदवगन्तव्यः । बन्धाभावे पुनर्ज्ञानावरणे अन्तराये च प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता तथा चाह बन्धश्चरमेऽपि बन्धाभावेऽपि ज्ञानावरणान्तराययोस्तथेति समुच्चये उदयसत्ते भवतः पञ्चैव पञ्चप्रकृत्यात्मिके एव न त्वेकद्वित्र्यादिके ध्रुवोदयसत्ताकत्वात् । एष एव विकल्पो द्वयोरप्युपशान्त मोहे क्षीणमोहे च प्राप्यते ॥

सम्प्रति दर्शनावरणस्योत्तरप्रकृतीरधिकृत्य ।
बन्धादिस्थानप्ररूपणार्थमाह ।

बंधस्स य संतस्स य, पगइट्ठाणाइ तिन्नि तुल्लाइं ।
उदयट्ठाणाइ दुवे, चउपणगं दंसणावरणे ॥ ८ ॥

दर्शनावरणाख्ये द्वितीयकर्माणि बन्धस्य सत्तायाश्च परस्परं तुल्यानि तुल्यस्वरूपाणि त्रीणि प्रकृतिस्थानानि भवन्ति तद्यथा नव षट् चतस्रः तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायो नव ता एव नव स्त्यानर्द्धित्रिकहीनाः षट् एताश्च षट् निद्रा प्रचलाहीनाश्चतस्रः । तत्र नव प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्टौ सासादने वा । तच्चाभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसानं कदाचिदपि व्यवच्छेदाभावात् । भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसानं कालान्तरव्यवच्छेदसंभवात् । सम्यक्त्वात्प्रतिपत्य मिथ्यात्वं गतानां सादिसपर्यवसानं तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तकालं यावदुत्कर्षतो देशोनोपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तं षट्प्रकृत्यात्मकं बन्धस्थानं सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्यापूर्वकरणस्य प्रथमं भागं यावत् तच्च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालमुत्कर्षतो द्वे षट्षष्टीसागरोपमानां सम्यक्त्वस्यापान्तराले सम्यग्मिथ्यात्वान्तरितस्यैतावन्तं कालमवस्थानसंभवात् तत ऊर्द्ध्वं तु कश्चित् क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते कश्चिन्मिथ्यात्वम् कश्चित्पुनर्मिथ्यात्वे च प्रतिपन्ने सति अवश्यं नवविधो बन्धः चतुःप्रकृत्यात्मकं तु बन्धस्थानमपूर्वकरणाद्वितीयभागादारभ्य सूक्ष्मसंपरायं यावत् जघन्येनैकं समयमुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तम् एकं समयं यावत् कथं प्राप्यते । इति चेत् उच्यते

उपशमश्रेण्यामपूर्वकरणस्य द्वितीयभागप्रथमसमये चतुर्विधबन्धमारभ्यानन्तरसमये कश्चित्कालं करोति कालं कृत्वा दिवं गतः सन् अविरतो भवति अविरतत्वे च षड्विधो बन्ध इत्येकसामायिकी चतुर्विधस्थानस्य स्थितिः । तथा नवप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं दर्शनावरणस्य कालमधिकृत्य द्विधा अनाद्यपर्यवसितमनादिसपर्यवसितं च । तत्रानाद्यपर्यवसितमभव्यानां कदाचिदप्यव्यवच्छेदात् अनादिसपर्यवसितं तु न भवति । नवप्रकृत्यात्मकसत्तास्थानव्यवच्छेदो हि क्षपकश्रेण्यां भवति नच क्षपकश्रेणितः प्रतिपातो भवतीति एतच्च सत्तास्थानमुपशमश्रेणिमधिकृत्योपशान्तमोहगुणस्थानकं यावदवाप्यते क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकस्य प्रथमं भागं तथा षट्प्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानं जघन्येनोत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्तप्रमाणं तच्चानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकस्य द्वितीयभागादारभ्य क्षीणमोहगुणस्थानकस्य द्विचरमसमयं यावदवसेयं चतुःप्रकृत्यात्मकं त्वेकसामायिकं क्षीणकषायचरमसमयभावित्वादिति । उदयस्थाने पुनर्द्वे भवतः तद्यथा चतस्रः पञ्च च तत्र चतस्रश्चक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणावधिदर्शनावरणकेवलदर्शनावरणरूपाः । एतासां च समुदायो ध्रुवोदय इति एकप्रकृतिस्थानम् । एतासु च चतसृषु मध्ये निद्रादीनां पञ्चानां प्रकृतीनां मध्यादन्यतमस्यां प्रकृतौ प्रक्षिप्तायां पञ्च नहि निद्रादयो द्वित्र्यादिका युगपदुदयमायान्ति किंत्वेकस्मिन् काले एकैवाऽन्यतमा काचित्, निद्रादयश्च ध्रुवोदया न भवन्ति कालादिसापेक्षत्वात् अत इदं पञ्चप्रकृत्यात्मकमुदयस्थानं कदाचिल्लभ्यते तदेवमुक्तानि दर्शनावरणस्य बन्धोदयसत्तामधिकृत्य स्थानानि । संप्रति संवेधमभिधित्सुराह ।

बीयावरणे नवबं-धगेसु चउपंचउदयनवसंता ।
छच्चउबंधे चेवं, चउबंधुदए छलंसा य ॥ ६ ॥
उवरयबंधे चउपण, नवंसचउरुदयछच्च चउसंता ।
वेयणियाउयगोए, विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥ १० ॥

द्वितीयावरणं दर्शनावरणं तस्मिन् द्वितीयावरणे नवबन्धकेषु सकलदर्शनावरणोत्तरप्रकृतिबन्धकेषु मिथ्यादृष्टिसासादनेषु (चउपंचउदयत्ति) उदयश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा तत्र चतुर्विधश्चक्षुर्दर्शनावरणाचक्षुर्दर्शनावरणकेवलदर्शनावरणरूपः स एव निद्रापञ्चकसत्तान्यतमप्रकृतिप्रक्षेपात्पञ्चविधः । सत्तामधिकृत्य-पुनः प्रतिस्थानं नव नव प्रकृत्यात्मकं तदेवं नवविधबन्धकेषु द्वौ विकल्पौ दर्शितौ तद्यथा नवविधो बंधश्चतुर्विधा सत्ता एष विकल्पो-निद्रोदयाभावे निद्रोदये च नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता (छच्चउबंधे चेवं ति) षड्बन्धे चतुर्बन्धे च एवं पूर्वोक्तप्रकारेण उदयसत्तास्थानानि वेदितव्यानि इदमुक्तं भवति ये षड्विधबन्धकाः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्ताः कियत्कालमपूर्वकरणाश्च तेषां चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ तद्यथा षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता अथवा षड्विधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता । एतौ च द्वौ विकल्पौ क्षपकं मुक्त्वाऽन्यत्र सर्वत्रापि प्राप्येते क्षपके त्वेक एव विकल्पस्तद्यथा षड्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता क्षपकस्य हि अत्यन्तविशुद्धत्वेन निद्राप्रचलयोर्नोदयः संभवात तदुक्तं सत्कर्मग्रन्थे "निद्दादुगस्स उदओ, खीणगखवगे य परिवज्ज" तथा चतुर्विधबन्धकेषु कियत्कालमपूर्वकरणेषु अनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायेषु चोपशमश्रेणिं प्रतीत्य चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता क्षपकश्रेणिमधिकृत्य पुनरुदयश्चतुर्विध एव कारणमत्र प्रागेवोक्तम् । केचित्पुनः क्षपकक्षीणमोहेष्वपि निद्राप्रचलयोरुदयमिच्छन्ति तत्कर्मप्रकृत्यादिग्रन्थैः सह विरुध्यते इत्युपेक्षते यावच्च क्षपकश्रेण्यामपि स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते तावत्सत्ता नवविधैव सा नवर्द्धित्रिके तु क्षीणे षड्विधा तथाचाह (चउबंधुदए छलंसा यत्ति) इह अंश इति सत्कर्माऽभिधीयते यदाह चूर्णिकृत् । अंश इति "संत कम्मं भन्नइ" चतुर्विधे बंधे चतुर्विध उदयः अनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकाद्धायाः संख्येयेभ्यो भागेभ्यः परतः स्त्यानर्द्धित्रिके क्षीणे षड्विधा सत्ता एष विकल्पस्तावत्प्राप्यते यावत्सूक्ष्मसंपराद्धायाश्चरमसमयः परतस्तु न प्राप्यते बन्धाभावात् तदेवं चतुर्विधबन्धकस्य त्रयो विकल्पास्तद्यथा चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयो नवविधा सत्ता एष उपशमश्रेण्यां वा यावत् स्त्यानर्द्धित्रिकं न क्षीयते चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयः नवविधा सत्ता । एष उपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां तु पञ्चविधोदयस्याभावात् तथा चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता एष विकल्पः क्षपकश्रेण्यां स्त्यानर्धित्रिकक्षयानन्तरमवसेयः "उवरयबंधे" इत्यादि उपरते व्यवच्छिन्ने बन्धे चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता एतौ च द्वौ विकल्पावुपशान्तमोहगुणस्थानके प्राप्येते उपशमश्रेण्यां हि निद्राप्रचलयोरुदयः संभवति स्त्यानर्द्धित्रिकं च न क्षयमुपगच्छति ततश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो भवति नवविधा च सत्ता प्राप्यते तथा चतुर्विध उदयः षड्विधा सत्ता एष विकल्पः क्षीणकषायस्य द्विचरमसमयं यावदवाप्यते । तथा चतुर्विध उदयश्चतुर्विधा सत्ता एष विकल्पः क्षीणकषायस्य चरमसमये निद्राप्रचलयोर्द्विचरमसमये एव क्षपितत्वात् । तदेवं दर्शनावरणे सर्वसंख्यया एकादश विकल्पाः । यदि पुनः क्षपकक्षीणकषायेष्वपि निद्राप्रचलयोरुदय इष्यते तर्हि चतुर्विधो बन्धः पञ्चविध उदयः षड्विधा सत्ता बन्धाभावे पञ्चविध उदयः षड्विधा सत्ता इत्येतौ द्वौ विकल्पौ अधिकौ प्राप्येते इति त्रयोदश ज्ञातव्याः वेदनीयस्य संबन्धस्तत्र वेदनीयायुर्गोत्रेषु संवेधविकल्पोपदर्शनार्थमाह (वेयणियाउयगोएविभज्जत्ति) वेदनीये आयुषि गोत्रे च यथागमं बन्धादिस्थानानि संवेधमाश्रित्य विभजेत् विकल्पयेत् तत्र वेदनीयस्य चान्येनैकं बन्धस्थानं तद्यथा सातमसातं वाऽनयोः परस्परविरुद्धत्वात् सत्तास्थाने द्वे तद्यथा द्वे एकं च । तत्र यावदेकमन्यतरत् न क्षीयते तावत् अपि सती अन्यतमस्मिंश्च क्षीणे एकमिति । सम्प्रति संवेध उच्यते असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती । अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती । एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते न परतः परतोऽसातस्य बन्धाभावात् तथा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत्संभवतः ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्यायं विकल्पः सातस्योदयः सातस्य सत्ता एतौ च द्वावपि विकल्पावेकसामायिकौ सर्वसंख्यया च वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः । तथा आयुषि सामान्येनैकं बन्धस्थानं चतुर्णामन्यत-

मत् परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्विआयुषां बन्धाभावात् उदयस्थानमप्येकं तदपि चतुर्णामन्यतमत् युगपद् द्वित्रायुषामुदयाभावात् द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्वे एकं च । तत्रैकं चतुर्णामन्यतमत् याव दन्यतरभवायुर्न बध्यते परभवायुषि च बद्धे यावदन्यत्र परभवेनोत्पद्यते तावद् द्वे सती । संप्रति संवेध उच्यते तत्रायुषस्तिस्रोऽवस्थास्तद्यथा परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वावस्था परभवायुर्बन्धकालावस्था परभवायुर्बन्धोत्तरकालावस्था च । तत्र नैरयिकस्य परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वं नरकायुष उदयो नरकायुषः सत्ता एष विकल्प आद्येषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु शेषगुणस्थानकस्य नरकेष्वसंभवात् परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धो नारकायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा द्वयोरेवाद्ययोर्गुणस्थानकयोस्तिर्यगायुषो बन्धसंभवात् । अथवा मनुष्यायुषो बन्धो नारकायुष उदयो नारकमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्वा बन्धोत्तरकालं नारकायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्प आद्येषु चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेषु तिर्यगायुर्बन्धानन्तरं कस्यापि सम्यक्त्वे सम्यग्मिथ्यात्वे वा गमनसंभवात् । अथवा नारकायुष उदयो मनुष्यनारकायुषी सती इह नारका देवायुर्नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति तत्रोत्पत्त्यभावात् । यदुक्तम् "देवा नारका वा देवेसु नारकेसु वि न उववज्जंति" ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसंख्यया पञ्चैव विकल्पा भवन्ति एवं देवानामपि पञ्चविकल्पा भावनीया नवरं नरकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यं तद्यथा देवायुष उदयः देवायुषः सत्ता इत्यादि । तथा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यगायुषः सत्ता एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु शेषगुणस्थानकस्य तिर्यक्ष्वसंभवात् । एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात् पूर्वं बन्धकाले तु नारकायुषां बन्धस्तिर्यगायुष उदयः नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरन्यत्र नारकायुषो बन्धाभावात् । अथवा तिर्यगायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा नान्यस्य सम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य तिरश्चोऽविरतस्य च देवायुष एव बन्धसंभवात् । अथवा देवायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः देवतिर्यगायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्याविरतसम्यग्दृष्टेर्देशविरतस्य वा न सम्यग्मिथ्यादृष्टेः तस्यायुर्बन्धासंभवात् एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले । बन्धे तु व्यवच्छिन्ने तिर्यगायुष उदयो नारकतिर्यगायुषी सती एष विकल्प आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानेषु नरकायुर्बन्धानन्तरं सम्यक्त्वादावपि गमनसंभवात् अथवा तिर्यगायुष उदयो तिर्यक्तिर्यगायुषी सती अथवा तिर्यगायुष उदयो देवतिर्यगायुषी सती एतेऽपि त्रयो विकल्पा आद्येषु पञ्चसु गुणस्थानकेषु सर्वसंख्यया तिरश्चां नव विकल्पाः चतसृष्वपि गतिषु तिरश्चामुत्पादसंभवात् तथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता एष विकल्पोऽयोगिकेवलिनं यावत् । तथा नारकायुषो बन्धे मनुष्यायुष उदयः नारकमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा । मनुष्यायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेः सासादनस्य वा देवायुषो बन्धो मनुष्यायुष उदयो देवमनुष्यायुषी सती एष विकल्पो प्रमत्तगुणस्थानकं यावत् एते चत्वारो विकल्पाः परभवायुर्बन्धकाले बन्धे तु व्यवच्छिन्ने मनुष्यायुष उदयो नरकमनुष्यायुषी सती एष विकल्पोऽप्रमत्तगुणस्थानकं यावत् मनुष्यायुष उदयो मनुष्यमनुष्यायुषी सती एष विकल्पः प्राग्वत् मनुष्यायुष उदयो देवमनुष्यायुषी सती एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकं यावत् देवायुषि बद्धेऽप्युपशमश्रेण्यारोहसंभवात् सर्वसंख्यया मनुष्याणां नव भङ्गाः तदेवमायुषि सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिभङ्गाः । तथा गोत्रे सामान्येनैकं बन्धस्थानं तद्यथा उच्चैर्गोत्रं नीचैर्गोत्रं वा परस्परविरुद्धत्वेन युगपद्बन्धाभावात् उदयस्थानमप्येकं तदपि द्वयोरन्यतरत् परस्परविरुद्धत्वेन युगपद् द्वयोरुदयाभावात् द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्वे एकं च । तत्र उच्चैर्गोत्रनीचैर्गोत्रे समुदिते द्वे तेजस्कायिकावस्थायामुच्चैर्गोत्रे उद्वलिते एकम् । अथवा नीचैर्गोत्रे अयोगिकेवलिद्विचरमसमये क्षीणे एकम् सम्प्रति संवेध उच्यते नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रस्य सत् एष विकल्पस्तेजस्कायिकवायुकायिकेषु लभ्यते तद्भवादुद्वृत्तेषु वा शेषजीवेष्वेकद्वित्रिचतुस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु कियत्कालं नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिषु सासादनेषु वा न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादिषु तेषां नीचैर्गोत्रबन्धाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रे सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतिगुणस्थानकं यावत् प्राप्यते न परतः परतो नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्ध उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टेरारभ्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत् न परतः परतो बन्धाभावात् बन्धाभावे उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्यायोगिकेवलिद्विचरमसमयं यावदवसेयः । उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चैर्गोत्रं सत् एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये तदेवमेते गोत्रस्य सर्वसंख्यया सप्त भङ्गाः (परं मोहं वोच्छं) अतः परं मोहं वक्ष्ये मोहनीयस्य बन्धादिस्थानानि वक्ष्ये इत्यर्थः "गोअम्मि सत्त भंगा, अट्ठ य भंगा हवंति वेअणिए । पण नव नव पण भंगा, आउचउक्के वि कमसो उ ॥११॥" इयं गाथा मूलपुस्तकेषूपलभ्यमानापि टीकापुस्तके नास्तीति नास्माभिः स्थूलाक्षरैः प्रकाशिता, नापि व्याख्याता । तत्र प्रथमं बन्धस्थानप्ररूपणार्थमाह ॥

बावीसएक्कवीसा, सत्तरसा तेरसेव नव पंच ।
चउतिगदुगं च एक्कं, बंधट्ठाणाणि मोहस्स ॥ १२ ॥

मोहस्य दश बन्धस्थानानि तद्यथा द्वाविंशतिः एकविंशतिः सप्तदश त्रयोदश नव पंच चतस्रः तिस्रः द्वे एका च तत्र सम्यग्मिथ्यात्वे बन्धे न भवतो नच त्रयाणां वेदानां युगपद्बन्धः किंत्वेककालमेकस्यैव हास्यरतियुगलारतिशोकयुगले अपि न युगपद्बन्धमायातः किंत्वेकमेव युगलं ततो मोहनीयस्योत्कर्षतः प्रभूतप्रकृतिबन्धो द्वाविंशतिः सा च मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके प्राप्यते ततः सासादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानके मिथ्यात्वस्य बन्धाभावात् । एकविंशतिः यद्यप्यत्र नपुंसकवेदस्यापि बन्धो न भवति तथापि तत्स्थाने स्त्रीवेदः पुरुषवेदो वा प्रक्षिप्यते इत्येकविंशतिरेव बन्धः । ततो मिश्राविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकयोरनन्तानुबन्धिनामपि बन्धाभावात् सप्तदश । ततोऽपि देशविरतिगुणस्थानकेऽप्रत्याख्यानकषायाणां बन्धाभावात् यो देशविरतस्ततोऽपि प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणेषु प्रत्याख्यानावरणानां बन्धाभावात् तत्र यद्यप्य-

रतिशोकरूपं युगलं प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छिन्नं तथापि तत्स्थाने हास्यरतियुगलं प्रक्षिप्यते इत्यप्रमत्तापूर्वकरणयोर्नवकबन्धो न विरुध्यते ततो हास्यरतिभयजुगुप्साऽपूर्वकारणचरमसमये बन्धकानाश्रित्य व्यवच्छिद्यते इति अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके प्रथमभागे पञ्चानां बन्धः द्वितीयभागे पुरुषवेदस्य बन्धाभावात् चतसृणां बन्धः तृतीयभागे संज्वलनक्रोधस्य बन्धाभावात् तिसृणां चतुर्थभागे संज्वलनमानस्य बन्धाभावात् द्वयोः पञ्चमभागे संज्वलनमायाया अपि बन्धाभावात् एकस्याः संज्वलनलोभप्रकृतेर्बन्धः ततः परं बादरसंपरायोदयाभावात् तस्या अपि न बन्धः तदेवमुक्तानि मोहनीयस्य बन्धस्थानानि ।

संप्रत्युदयस्थानान्यभिधित्सुराह ।

एकं व दो व चउए, एत्तो एकाहिया दसुक्कोसा ।
ओहेण मोहणिज्जे, उदयट्ठाणाणि नव हुंति ॥ १३ ॥

ओघेन सामान्येन मोहनीये उदयस्थानानि नव भवन्ति तद्यथा एकं द्वे चत्वारि अतश्चतुष्कादूर्ध्वं त्वेकाधिका उदयविकल्पास्तावदवगन्तव्या यावदुत्कर्षतो दशदशक (१ । २ । ४ । ५ । ६ । ७ । ८ । ९ । १०) मुदयस्थानं भवतीत्यर्थः । कर्म्म० ॥ एतानि चानिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकादारभ्य पश्चानुपूर्व्या किंचिद्भाव्यन्ते तत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमस्योदये एकमुदयस्थानं तदेव वेदत्रयान्यतमवेदोदयप्रक्षेपे द्विकं तत्रापि हास्यरतिरूपयुगलप्रक्षेपे चतुष्कं तत्रैव भयप्रक्षेपात्पञ्चकं जुगुप्साप्रक्षेपात्षट्कं तत्रैव चतुर्णां प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे सप्तकं तत्रैव वा प्रत्याख्यानावरणकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे अष्टकं तत्रैव चतुर्णामनन्तानुबन्धिकषायाणामन्यतमस्य प्रक्षेपे नवकं तत्र मिथ्यात्वप्रक्षेपे दशकम् । एतच्च सामान्येनोक्तं विशेषतस्त्वग्रे सूत्रकृदेव सप्रपञ्चं कथयिष्यतीति तत्रैव भावयिष्यते । तदेवमुक्तान्युदयस्थानानि । कर्म्म० । पं० सं० ॥

संप्रति बन्धस्थाने संवेधस्थाने च प्रतिपिपादयिषुराह ।

अडगसत्तगछच्चउ–तिगदुगएगाहिया भवे वीसा ।
तेरसवारिकारस, इत्तो पंचाइ एकूणा ॥ १४ ॥
संतस्स पगइठाणा–इं ताणि मोहस्स हुंति पन्नरस ।
बंधोदयसंते पुण, भंगविगप्पा बहू जाण ॥ १५ ॥

विंशतिरष्टकसप्तकषट्कचतुस्त्रिद्व्येकाधिका । तथा त्रयोदशद्वादशैकादशकात् सत्तास्थानात् एकोनानि एकैकोनानि पञ्चादीनि सत्तायाः प्रकृतिस्थानानि मोहनीयस्यावगन्तव्यानि तानि च सर्वसंख्यया पञ्चदश भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यम् । मोहनीये पञ्चदश सत्ताप्रकृतिस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्चतुर्विंशतिः त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिः त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायोऽष्टाविंशतिः । तत्र सम्यक्त्वे उद्वलिते सप्तविंशतिस्ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे उद्वलिते षड्विंशतिः अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः सत्कर्मणोऽनन्तानुबन्धिचतुष्टयक्षये चतुर्विंशतिः ततोऽपि मिथ्यात्वे क्षपिते त्रयोविंशतिः ततोऽपि सम्यग्मिथ्यात्वे क्षपिते द्वाविंशतिः ततः सम्यक्त्वे क्षपिते एकविंशतिः ततोऽष्टस्वप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्ञकेषु कषायेषु क्षीणेषु त्रयोदश ततो नपुंसकवेदे क्षपिते द्वादश ततः स्त्रीवेदे क्षपिते एकादश ततः षट्सु नोकषायेषुक्षीणेषु पञ्च ततोऽपि पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः ततश्च संज्वलनक्रोधे क्षपिते तिस्रस्ततोऽपि संज्वलनमाने क्षपिते द्वे ततोऽपि संज्वलनमायायां क्षपितायामेका प्रकृतिरवतिष्ठते । तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि । एतेषु पुनर्बन्धोदयसत्तास्थानेषु प्रत्येकं संवेधेन बहवो भङ्गा भवन्ति तांश्च भङ्गान् यथावत्प्रतिपाद्यमानान् सम्यग्जानीहि ॥

तत्र प्रथमतो बन्धस्थानेषु भङ्गनिरूपणार्थमाह ॥

छव्वावीसे चउए–गवीसे सत्तरस तेरसे दो दो ।
नव बंधगे उ दोन्नि उ, एक्केक्कमओ परं भंगा ॥ १६ ॥

द्वाविंशतौ द्वाविंशतिबन्धे षड्विकल्पा भवन्ति । तत्र द्वाविंशतिरियं मिथ्यात्वं षोडश कषायास्त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरत् युगलं भयं जुगुप्सा च । अत्र भङ्गाः षट् । तथाहि हास्यरतियुगले अरतिशोकयुगले च प्रत्येकं द्वाविंशतिः प्राप्यते इति तौ च द्वौ भङ्गौ त्रिष्वपि वेदेषु प्रत्येकं विकल्पेन प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट् ते च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वेन विना एकविंशतिर्नवरमत्र द्वयोरन्यतरो वेद इति वक्तव्यम् । ये च एकविंशतिबन्धकाः सासादनसम्यग्दृष्टयस्ते च स्त्रीवेदं वा बध्नन्ति पुरुषवेदं वा, न नपुंसकवेदं नपुंसकवेदबन्धस्य मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात् सासादनानां च मिथ्यात्वोदयाभावात् । अत्र च भङ्गाश्चत्वारः तथा चाह (चउरीगवीसे) एकविंशतौ एकविंशतिबन्धे चत्वारो भङ्गाः तत्र हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ तौ च प्रत्येकं स्त्रीवेदे पुरुषवेदे च प्राप्येते इति द्वौ द्वाभ्यां गुणितौ जाताश्चत्वारः सैव चैकविंशतिरनन्तानुबन्धिचतुष्टयबन्धाभावे सप्तदश नवरमत्र वेदेषु मध्ये पुरुषवेद एवैको वक्तव्यो न स्त्रीवेदं बध्नन्ति तद्बन्धस्याऽनन्तानुबन्ध्युदयनिमित्तत्वात् सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनां चानन्तानुबन्ध्युदयाभावात् । अत्र च हास्यरतियुगलाभ्यां प्रागिव द्वौ भङ्गौ त एव सप्तदश प्रकृतयोऽप्रत्याख्यानकषायचतुष्टयरहितास्त्रयोदश अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ तथा चाह (सत्तरसतेरसे दो दो) सप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धके द्वौ भङ्गौ तौ च प्रमत्ते द्वावपि रूपव्यौ । अप्रमत्तापूर्वकरणयोस्त्वेक एव भङ्गस्तत्रारतिशोकरूपस्य युगलस्य बन्धासंभवात् तथा त एव नव हास्यरतियुगलभयजुगुप्साबन्धव्यवच्छेदे पञ्च अत्रैक एव भङ्गः एवं चतुस्त्रिद्व्येकबन्धेष्वपि प्रत्येकमेकैकं एवं भङ्गो वाच्यः । तथा चाह (एक्केक्कमओ परं भंगा) अतो नवकबन्धात्परं पञ्चादिषु भङ्गाः प्रत्येकमेकैकः एकैकसंख्या वेदितव्या मकारस्त्वलाक्षणिकः अमीषां च द्वाविंशत्यादिबन्धस्थानानां कालप्रमाणमिदं द्वाविंशतिबन्धस्य कालो ऽभव्यानधिकृत्यानाद्यपर्यवसितः भव्यानधिकृत्यानादिसपर्यवसितः सम्यक्त्वपरिभ्रष्टानधिकृत्य जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा उत्कर्षतो देशोनोपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तः एकविंशतिबन्धस्य कालो जघन्येन समयमात्र उत्कर्षतः षडावलिकाः सप्तदश । बन्धस्य कालो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्त उत्कर्षेण किंचित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि । तथाहि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अनुत्तरसुरस्य प्राप्यन्ते अनुत्तरसुरभवाच्च च्युत्वा यावदद्यापि देशविरतिं सर्वविरतिं च न प्रतिपद्यते तावत्सप्तदश बन्ध एवेति किंचित्समधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि त्रयोदश बन्धस्य नव बन्धस्य च कालः प्रत्येकं जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्तु देशोना पूर्वकोटी यतस्त्रयोदश बन्धा देशविरतौ नवकबन्धस्तु सर्वविरतिश्चोत्कर्षतोऽपि देशोनपूर्वकोटीप्रमाणा पञ्चादिषु पुनर्बन्धस्थानेषु कालः प्रत्येकं जघन्येनैकं समयमुत्कर्षेण चान्तर्मुहूर्त्तम् । एकसम-

यता कथमिति चेत् उच्यते उपशमश्रेण्यां पञ्चविधं बन्धमारभ्य द्वितीये समये कालं कृत्वा देवलोकं याति देवलोके च गतः सन्नविरतो भवति अविरतत्वे च सप्तदश बन्ध इत्येकसमयता एवं चतुर्विधबन्धादिष्वपि भावनीयम् । तदेवं कृता कालनिरूपणा ।

संप्रत्येतेषामेव बन्धस्थानानां मध्ये कस्मिन् कियन्ति प्रागुक्तान्युदयस्थानानि भवन्तीत्येतन्निरूप्यते ।

दस बावीसे नवइग-वीसे सत्ताइ उदयकम्मंसा ।
छाईनव सत्तरसे, तेरं पंचाइ अट्ठ व ॥१७॥
चत्तारि आइनवबं-धगेसु उक्कोसमत्त उदयंसा ।
पंचविहबंधगे पुण, उदओ दोण्हं मुणेयव्वो ॥ १८ ॥

द्वाविंशतिबन्धे सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वमप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिका यत एकस्मिन् क्रोधे वेद्यमाने सर्वेऽपि क्रोधा वेद्यन्ते समजातीयत्वात् । एवं मायालोभानामुदयः परस्परं विरोधादित्यन्यतमे त्रयो गृह्यन्ते । तथा त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरत् युगलमेतासां सप्तप्रकृतीनां द्वाविंशतिबन्धके मिथ्यादृष्ट्युदये ध्रुवः । अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिः तद्यथा हास्यरतियुगले अरतिशोकयुगले च प्रत्येकमेकैको भङ्गः प्राप्यते इति द्वौ भङ्गौ तौ प्रत्येकं त्रिष्वपि वेदेषु प्राप्येते इति द्वौ त्रिभिर्गुणितौ जाताः षट् ते च प्रत्येकं त्रिष्वपि क्रोधादिषु चतुर्षु प्राप्यन्ते इति षट् चतुर्भिर्गुणिता जाताश्चतुर्विंशतिः तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा अनन्तानुबन्धिनि वा प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः । अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयोऽत्र द्रष्टव्याः । ननु मिथ्यादृष्टेरवश्यमनन्तानुबन्धिनामुदयः संभवति तत्कथमिह मिथ्यादृष्टिः सप्तोदये अष्टोदये वा कस्मिंश्चिदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्रोक्तः । उच्यते इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित् प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिताः एतावतैव च स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षयाय उद्युक्तवान् तथाविधसामग्र्यभावात् ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति ततो बन्धावलिका यावन्नाद्याप्यतिक्रामति तावत्तेषामुदयो न भवति बन्धावलिकायां त्वतिक्रान्तायां भवेदिति । ननु कथं बन्धावलिकातिक्रमेऽप्युदयः संभवति यतोऽबाधाकालक्षये सत्युदयः अबाधाकालश्चानन्तानुबन्धिनां जघन्येनान्तर्मुहूर्तमुत्कर्षेण तु चत्वारि वर्षसहस्राणीति नैष दोषः यतो बन्धसमयादारभ्य तेषां तावत्सत्ता भवति सत्तायां च सत्यां बन्धे प्रवर्त्तमाने पतद्ग्रहता पतद्ग्रहतायां च शेषसमानजातीयप्रकृतिदलिकं संक्रान्तिः संक्रामद्दलिकं पतद्ग्रहप्रकृतिरूपतया परिणमते ततः संक्रमावलिकायामतीतायामुदयस्ततो बन्धावलिकायामतीतायामुदयोऽभिधीयमानो न विरुध्यते । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सयोरथवा भयानन्तानुबन्धिनोः यद्वा जुगुप्सानन्तानुबन्धिनोः प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयो द्रष्टव्याः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सानन्तानुबन्धिषु प्रक्षिप्तेषु दशानां च उदयः अत्रैकैव भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया द्वाविंशतिबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतयः (नवएक्कवीसाति) एकविंशतौ एकविंशतिबन्धसप्तादीनि नव पर्यन्तानि त्रीणि उदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव तत्र सप्त अनन्तानुबन्धिप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे च चत्वारः क्रोधादिकास्त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमेतासां सप्तप्रकृतीनामुदय एकविंशतिबन्धे ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा क्षिप्तायामष्टानामुदयः । अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानां भयजुगुप्सायां युगपत् प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः । अत्र चैका भङ्गानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया एकविंशतिबन्धे चतस्रश्चतुर्विंशतयः अयं च एकविंशतिबन्धः सासादने प्राप्यते । सासादनश्च द्विधा श्रेणिगतोऽश्रेणिगतश्च । तत्राश्रेणिगतं सासादनमाश्रित्यामूनि सप्तादीनि उदयस्थानान्यवगन्तव्यानि । यस्तु श्रेणिगतस्तत्रादेशद्वयी केचिदाहुः अनन्तानुबन्धिसत्कर्मसहितोऽप्युपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तेषां मतेनानन्तानुबन्धिनामप्युपशमता भवति एतच्च सूत्रेऽपि संवादि तदुक्तं सूत्रे " अणदंसनपुंसनपुंसत्थी " इत्यादि श्रेणितश्च प्रतिपतन् कश्चित्सासादनभावं चोपगते यथोक्तानि त्रीण्युदयस्थानानि भवन्ति । अपरे पुनराहुः अनन्तानुबन्धिनः क्षपयित्वैवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते न तत्कर्म तेषां मतेन श्रेणीतः प्रतिपतन् सासादनो न भवति तस्यानन्तानुबन्ध्युदयासंभवात् । अनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च सासादन इष्यते "अणंताणुबंधुदयरहितस्स, सासणभावो न संभवति " इति वचनात् । यथोच्यते यदा मिथ्यात्वं प्रत्यभिमुखो न चाद्यापि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तदानीमनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽपि सासादनस्तेषां मते न भविष्यतीति किमत्रायुक्तं तदयुक्तमेवं सति तस्य षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवेयुः न च भवन्ति सूत्रे प्रतिषेधात् । तैरप्यनभ्युपगमाच्च । तस्मादनन्तानुबन्ध्युदयरहितः सासादनो न भवतीत्यवश्यं प्रत्येयम् । (छाईनवसत्तरसे) सप्तदशके बन्धस्थाने षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव सप्तदश बन्धकादिद्वये सम्यग्मिथ्यादृष्टयोऽविरतसम्यग्दृष्टयश्च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव । तत्रानन्तानुबन्धिवर्ज्यास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलं सम्यग्मिथ्यात्वं चेति सप्तानां प्रकृतीनामुदयः सम्यग्मिथ्यादृष्टिषु ध्रुवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानां चतुर्विंशतिः अस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टानामुदयः । अत्र च द्वे चतुर्विंशती भङ्गानाम् । भयजुगुप्सयोस्तु युगपत्प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतस्रश्चतुर्विंशतयः अविरतसम्यग्दृष्टीनां सप्तदश बन्धकानां चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव तत्रोपशमकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां च अविरतसम्यग्दृष्टीनामनन्तानुबन्धिवर्ज्यास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमिति षण्णामुदयो ध्रुवः अत्र प्रागिव भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः अस्मिन्नेव षट्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयः । अत्र भयादिषु प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु युगपत्प्रक्षिप्तेषु नवानामुदयः । अत्र चैका भङ्गानां चतुर्विंशतिः अविरतसम्यग्दृष्टीनां सर्वाश्चतुर्विंशतयोऽष्टौ सर्वसंख्यया सप्तदशबन्धे द्वादश चतुर्विंशतयः (तेरेपंचाइअट्ठेवात्ति) त्रयोदशके बन्धस्थाने पञ्चादीन्यष्टपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ । तत्र प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रो-

धादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदो द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमित्येतासां पञ्चानां प्रकृतीनामुदयस्त्रयोदशबन्धके भवः । अत्र प्रागुक्तक्रमेण भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वानामन्यतमस्मिन् क्षिप्ते षण्णामुदयः अत्र भयादित्रयो विकल्पाः एकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गकानां चतुर्विंशतिरिति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भयजुगुप्सयोरथवा भयवेदकसम्यक्त्वयोर्यद्वा जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदयः । अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानां भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु पुनर्युगपत् प्रक्षिप्तेषु अष्टानामुदयः अत्र चैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया त्रयोदशबन्धे अष्टौ चतुर्विंशतयः "चत्तारीत्यादि" । नवबन्धकेषु प्रमत्तादिचतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि उदयरूपविभागस्थानानि उदयस्थानानीत्यर्थः । तद्यथा चतस्रः पञ्च षट् सप्त तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिकः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टिषु औपशमिकसम्यग्दृष्टिषु वा प्रमत्तादिषु भवः अत्र चैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः । अस्मिन्नेव चतुष्के भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः । अत्र भङ्गकानां तिस्रश्चतुर्विंशतयस्तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सयोरथवा भयवेदकसम्यक्त्वयोः प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयो भङ्गकानां भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु तु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः । अत्र भङ्गकानामेका चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया नवकबन्धेऽष्टौ चतुर्विंशतयः (पंचविहेत्यादि) पञ्चविधबन्धकेषु पुनरुदयो द्वयोः प्रकृतिद्वयात्मकमुदयस्थानमिति भावः । तत्र चतुर्णां संज्वलनानामेकतमः क्रोधादिः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः । अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिश्च संज्वलनैर्द्वादश भङ्गाः ॥

एतो चतुबंधाई, एकेक्कुदया हवंति सव्वे वि ।
बंधो वरिमे वि तहा, उदयाभावे वि वा होज्ज ॥१९॥

इतः पञ्चकबन्धादनन्तरं चतुर्बन्धादयः सर्वेऽपि प्रत्येकमेकैकोदयाः एकैकप्रभृत्युदया भवन्ति ज्ञातव्याः । तथाहि चतुर्विधो बन्धो भवति पुरुषवेदबन्धव्यवच्छेदे सति पुरुषवेदस्य च युगपद् बन्धोदयौ व्यवच्छिद्येते । ततश्चतुर्विधबन्धकाले एकोदय एव भवति स च चतुर्णां संज्वलनानामन्यतमः अत्र चत्वारो भङ्गाः यतः कोऽपि संज्वलनक्रोधेनोदयप्राप्तेन श्रेणिं प्रतिपद्यते कोऽपि संज्वलनमानेन कोऽपि संज्वलनमायया कोऽपि संज्वलनलोभेनेति चत्वारो भङ्गाः । इह केचिच्चतुर्विधबन्धसंक्रमणकाले त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयमिच्छन्ति ततस्तन्मतेन चतुर्विधबन्धकस्यापि प्रथमकाले द्वादश द्विकोदयभङ्गा लभ्यन्ते तदुक्तं पञ्चसंग्रहमूलटीकायाम् " चतुर्विधबन्धकस्याप्याद्यविभागे त्रयाणां वेदानामन्यतमस्य वेदस्योदयं केचिदिच्छन्ति अतश्चतुर्विधबन्धकस्यापि द्वादश द्विकोदयान्‌ जानीहि "इति तथा च सति तेषां मतेन सर्वसंख्यया द्विकोदयश्चतुर्विंशतिर्भङ्गा अवसेयाः । संज्वलनक्रोधबन्धव्यवच्छेदे सति त्रिविधो बन्धः तत्राप्येकविध एवोदयः अत्र त्रयो भङ्गाः नवरमत्र संज्वलनक्रोधवर्जानां त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यम् । यतः संज्वलनक्रोधोदये सत्यवश्यं संज्वलनक्रोधस्य बन्धेन भवितव्यम् " जे वेयइ " इति वचनात् तथा च सति चतुर्विध एव बन्धः प्रसक्तस्ततः संज्वलनक्रोधस्य बन्धे व्यवच्छिद्यमाने उदयोऽपि व्यवच्छिद्यते इति त्रिविधे बन्धे एकविध उदयस्त्रयाणामन्यतम इति वक्तव्यं संज्वलनमानबन्धव्यवच्छेदे सति द्विविधो बन्धः । तत्राप्येकविध एवोदयः केवलं " समाया लोभाया " इति वक्तव्यं युक्तिः प्रागिवात्राप्यनुसरणीया । अत्र च द्वौ भङ्गौ संज्वलनमायाबन्धव्यवच्छेदे एकस्य संज्वलनलोभस्य बन्धस्तस्यैव च उदयः अत्रैको भङ्गः । इह यद्यपि चतुरादिषु बन्धस्थानेषु संज्वलनानामुदयमधिकृत्य न कश्चित् विशेषस्तथापि बन्धस्थानापेक्षया भेदोऽस्तीति भङ्गाः पृथगग्रे गणयिष्यन्ते तथा बन्धोपरमेऽपि बन्धाभावेऽपि मोहनीयस्य सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानके एकविध उदयो भवति स च संज्वलनलोभस्यावसेयः तत्रतसूक्ष्मकिट्टिवेदनात् ततः परमुदयाभावेऽपि उदयेऽपगतेऽपि उपशान्तकषायमधिकृत्य मोहनीयं सद्भवति एतच्च प्रसङ्गागतमिति कृत्वोक्तम् अन्यथा बन्धस्थानोदयस्थानेषु परस्परं संवेधेन चिन्त्यमानेषु नेदं सत्कर्मताभिधानमुपयोगीति ।

संप्रति दशादिषु एकपर्यवसानेषु यावन्तो भङ्गा
भवन्ति तावन्तो निर्दिदिक्षुराह ।

एक्कगछक्केकारस–दससत्तचउक्कएक्कगा चेव ।
एए चउवीसगया, वारदुगेक्कम्मि एकार ॥ २० ॥

इह दशादीन्युदयस्थानान्यधिकृत्य यथासंख्यं संख्यापदयोजना कर्तव्या सा चैवं दशोदये एका चतुर्विंशतिर्नवोदये षट् तद्यथा द्वाविंशतिबन्धे तिस्रः एकविंशतिबन्धे मिश्राविरतिसम्यग्दृष्टिबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः । एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकं द्वे द्वे त्रयोदशबन्धे चैका । तथा सप्तोदये दश तत्र द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे मिश्रसप्तदशबन्धे च प्रत्येकमेकैका अविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे त्रयोदशबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः नवकबन्धे त्वेका । तथा षडुदये सप्त तत्र चाविरतसम्यग्दृष्टिसप्तदशबन्धे एका त्रयोदशबन्धे नवकबन्धे च प्रत्येकं तिस्रः । तथा पञ्चकोदये चतस्रः तत्र त्रयोदशबन्धे एका नवबन्धे तिस्रः चतुष्कोदये एका चतुर्विंशतिः (एए चउवीसगयत्ति) एते अनन्तरोक्ता एकादिकाः संख्याविशेषाः चतुर्विंशतिगताः चतुर्विंशत्यभिधायकाः एता अनन्तरोक्ताश्चतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः । एताश्च सर्वसंख्यया चत्वारिंशत् तथा (वारदुगेति) द्विकोदये चतुर्विंशतिरेका भङ्गकानाम् एतच्च मतान्तरेणोक्तमन्यथा स्वमते द्वादशैव भङ्गा वेदितव्याः (इक्कम्मि इक्कारत्ति) एकोदये एकादश भङ्गास्ते चैवं चतुर्विधे चत्वारः त्रिविधबन्धे त्रयो द्विविधबन्धे द्वौ एकविधबन्धे एकः बन्धाभावे चैक इति ।

सम्प्रत्येतेषामेव भङ्गानां विशिष्टतरसंख्यानिरूपणार्थमाह ।

नवपंचाणउइसए, उदयविगप्पेहि मोहिया जीवा ।
अउणुत्तरि एगुत्तरि, पयविंदसएहि विन्नेया ॥२१॥

इह दशादिषु द्विकपर्यवसानेषु उदयस्थानेषूदयस्थानभङ्गकानामेकचत्वारिंशच्चतुर्विंशतयो लभ्यास्तत एकचत्वारिंशच्चतुर्विंशत्या गुण्यते गुणितायां च सत्यां जातानि नवाशीत्यधिकानि नवशतानि तत्रैकोदये भङ्गाः एकादशसु प्रक्षिप्तेषु नवशतानि पञ्चनवत्यधिकानि भवन्ति । एतावद्भिरुदयस्थानविकल्पैर्यथायोगं सर्वे संसारिणो जीवा मोहमापादिता विज्ञेयाः । संप्रति पदसंख्यानिरूपणार्थमाह (अउणुत्तरिएत्ति) इह पदानीति नाम मिथ्यात्वमप्रत्याख्यानक्रोधप्रत्याख्यानावरणक्रोध इत्येवमादीनि । ततो वृन्दानां दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि आर्षत्वात् राजदन्तादिषु मध्ये पाताभ्युपगमाद्वा वृन्दस-

न्दस्य परनिपातः तेषां शतैरेकसप्तत्याधिकैकोनसप्ततिसंख्यैर्मोहिताः संसारिणो जीवा विज्ञेयाः । एतावत्संख्याभिः कर्मप्रकृतिभिर्यथायोगं मोहिताः संसारिणो जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अत्र कथमेकसप्तत्यधिकैकोनसप्ततिसंख्यानि पदानां शतानि भवन्तीत्युच्यते इह दशोदये दश पदानि दश प्रकृतय उदयमागता इत्यर्थः । एवं नवोदयादिष्वपि नवादीनि पदानि भावनीयानि। ततो दशोदयो एको दशभिर्गुण्यते नवोदयाश्च षट् नवभिरष्टोदयाश्चैकादश अष्टभिः सप्तोदया एकादश सप्तभिः षट् उदयाः सप्त षड्भिः पञ्चकोदयाश्चत्वारः पञ्चभिः चतुरुदय एकश्चतुर्भिः द्विकोदय एको द्वाभ्यां गुणयित्वा चैते सर्वेऽप्येकत्र मील्यन्ते ततो जाते द्वे शते नवत्यधिके एतेषु च प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां प्राप्यते इति भूयश्चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते गुणितेषु च सत्सु एकोदयभङ्गपदान्येकादश प्रक्षिप्यन्ते ततो यथोक्तसंख्यान्येव पदानां शतानि भवन्ति । इयं च उदयस्थानसंख्या च ये मतान्तरेण चतुर्विधबन्धसंक्रमणकाले द्विकोदये द्वादश भङ्गा उक्तास्तानधिकृत्य वेदितव्या यदा पुनरेते नाधिक्रियन्ते तदा इयमुदयस्थानपदसंख्या ।

नवतेसीयसएहिं, उदयविगप्पेहि मोहिया जीवा ।
अउणुत्तरि सीयाला, पयविंदसएहिं विन्नेया ॥ २२ ॥

उदयविकल्पैरुयशीत्यधिकनवशतसंख्यैस्तथा दशोदयादिरूपवृन्दास्तद्गतानां पदानां शतैः सप्तचत्वारिंशदधिकैकोनसप्ततिसंख्यैर्यथायोगं सर्वेऽपि संसारिणो जीवा मोहिता मोहमापादिता विज्ञेयाः । तत्रोदयस्थानेषु पूर्वोक्तप्रकारेण परिसंख्यायमानेषु ये मतान्तरेणोक्ताश्चतुर्विधबन्धस्थाने द्विकोदये द्वादश भङ्गास्तेऽपसार्यन्ते ततो नव शतानि अशीत्यधिकानि उदयविकल्पानां भवन्ति पदेषु च परिसंख्यायमानेषु मतान्तरोक्तद्वादशभङ्गगतानि चतुर्विंशतिपदान्यपनीयन्ते ततो यथोक्ता पदानां संख्या भवति । इह दशादय उदयास्तद्भङ्गाश्च जघन्यत एकसामायिका उत्कर्षत आन्तर्मौहूर्तिकाः। तथाहि चतुरादिषु दशोदयपर्यन्तेष्ववश्यमन्यतमो वेदोऽन्यतरद् युगलं वेद्यते वेदयुगलयोश्च मध्येऽन्यतरदवश्यं मुहूर्त्तादारभ्य परावर्त्तते । तदुक्तं पञ्चसंग्रहमूलटीकायां वेदेन युगलेन वा अवश्यं मुहूर्त्ताद् रभ्य परावर्त्तितव्यमिति । तत उत्कर्षतश्चतुष्कोदयादयः सर्वेऽप्यान्तर्मौहूर्तिका द्विकोदयैकोदयाश्च आन्तर्मौहूर्त्तिकाः सुप्रतीता एव । तथा यदा विवक्षिते उदये भङ्गे वा एकं समयं वर्तित्वा द्वितीये समये गुणस्थानान्तरं गच्छति तदा अवश्यं बन्धस्थानभेदात् स्वरूपतो वा भिन्नमुदयान्तरं भङ्गान्तरं वा यातीति सर्वेऽप्युदया भङ्गाश्च जघन्यत एकसामायिकास्तदेवं बन्धस्थानानामुदयस्थानैः सह परस्परं संवेध उक्तः । सत्तास्थानस्य बन्धस्थानेन सह संवेधः ।

सम्प्रति सत्तास्थानैः सह तमभिधित्सुराह ॥

तिन्नेव य बावीसे, इगवीसे अट्ठवीस सत्तरसे ।
छच्चेव तेरनवबं-धगेसु पंचेव ठाणाइं ॥ २३ ॥
पंचविह चउविहेसु, छक्कसेसेसु जाण पंचेव ।
पत्तेयं पत्तेयं, चत्तारि उ बंधवोच्छेए ॥ २४ ॥

द्वाविंशतौ द्वाविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । तथाहि द्वाविंशतिबन्धो मिथ्यादृष्टेश्चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा सप्ताष्टौ नव दश । तत्र सप्तोदय अष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं यतः सप्तोदयोऽनन्तानुबन्ध्युदयाभावे भवति अनन्तानुबन्ध्युदयेन पूर्वं सम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिनः उद्वलिता ततः कालान्तरेण परिणामवशतो मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽपि मिथ्यात्वप्रत्ययेन ते अनन्तानुबन्धिनो बद्धुमारभ्यन्ते स एव मिथ्यादृष्टिर्बन्धावलिकाकालं यावदनन्तानुबन्ध्युदयरहितः प्राप्यते नान्यः स चाष्टाविंशतिसत्कर्मैवेत्यष्टाविंशतिरेवैकं सप्तोदये सत्तास्थानमष्टोदये त्रीण्यपि सत्तास्थानानि । यतोऽष्टोदयो द्विधा अनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽनन्तानुबन्ध्युदयसहितश्च। तत्र योऽनन्तानुबन्ध्युदयरहितोऽष्टोदयस्तत्र प्रागुक्तयुक्त्याऽष्टाविंशतिरेव सत्तास्थानम् । अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि तत्र यावन्नाद्यापि सम्यक्त्वमुद्वलयति तावदष्टाविंशतिसत्कर्म उद्वलिते सप्तविंशतिः मिश्रमोहनीये षड्विंशतिः अनादिमिथ्यादृष्टेर्वा षड्विंशतिः । एवं नवोदयेऽप्यनन्तानुबन्ध्युदयरहितेऽष्टाविंशतिरेव अनन्तानुबन्ध्युदयसहिते तु त्रीण्यपि सत्तास्थानानि दशोदयस्त्वनन्तानुबन्ध्युदयसहित एव भवति ततस्तत्रापि त्रीणि सत्तास्थानानि भावनीयानि (इगवीसं अट्ठवीसत्ति) एकविंशतौ एकविंशतिबन्धे अष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानम । एकविंशतिबन्धो हि सासादनसम्यग्दृष्टेर्भवति सासादनत्वं च जीवस्यौपशमिकसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानस्योपजायते सम्यक्त्वगुणेन च मिथ्यात्वं त्रिधा कृतं तद्यथा सम्यक्त्वं मिश्रं मिथ्यात्वं च। ततो दर्शनत्रिकस्यापि सत्कर्मतया प्राप्यमाणत्वात् एकविंशतिबन्धे त्रिष्वप्युदयस्थानेष्वष्टाविंशतिरेकं सत्तास्थानं भवति । (सत्तरेस छच्चेव) सप्तदशबन्धे षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । सप्तदशबन्धो हि द्वयानां भवति तद्यथा सम्यग्मिथ्यादृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां च । तत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव अविरतसम्यग्दृष्टीनां चत्वारि तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव । तत्र षडुदयोऽविरतानामौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वा प्राप्यते । तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां द्वे सत्तास्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च। तत्राष्टाविंशतिः प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले उपशमश्रेण्यां तु प्रतिपद्यते उपशान्तानुबन्धिनामष्टाविंशतिरुद्वलितानन्तानुबन्धिनां चतुर्विंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां त्वेकविंशतिरेव । क्षायिकसम्यक्त्वं हि सप्तकक्षये भवति सप्तकक्षये च जन्तुरेकविंशतिसत्कर्मेति सर्वसंख्यया षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिः सप्तोदये मिश्रदृष्टीनां त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिः तत्र योऽष्टाविंशतिः सत्कर्मा सन् सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्याष्टाविंशतिः येन पुनर्मिथ्यादृष्टिना सता प्रथमं सम्यक्त्वमुद्वलितं सम्य ग्मिथ्यात्वं च नाद्याप्युद्वलितुमारभ्यते अत्रान्तरे परिणामवशतः मिथ्यात्वाद्विनिवृत्य सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य सप्तविंशतिः। यः पुनः सम्यग्दृष्टिः सन्ननन्तानुबन्धिनो विसंयोज्य पश्चात्परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्वं प्रतिपद्यते तस्य चतुर्विंशतिः। सा चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते । यतश्चतुर्गतिका अपि सम्यग्दृष्टयोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयन्ति तदुक्तं कर्मप्रकृत्याम " चउगइया पज्जत्ता, तिन्नि विसंजोयणा विसंजोयंति । करणेहिं तिहिं सहियाणंतरकरणं उवसमो व " इति अत्र (तिन्निविति) अविरता देशविरताः सर्वविरता वा यथायोगमिति अनन्तानुबन्धि विसंयोजनानन्तरं च केचित्परिणामवशतः सम्यग्मिथ्यात्वमपि प्रतिपद्यन्ते ततश्चतसृष्वपि गतिषु सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां चतुर्विंशतिः

संभवति अविरतसम्यग्दृष्टीनां तु सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिः द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च। तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा चतुर्विंशतिरप्युभयेषां नवरमनन्तानुबन्धिविसंयोजनानन्तरं त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव तथाहि कश्चिन्मनुष्यो वर्षाष्टकस्योपरि वर्त्तमानो वेदकसम्यग्दृष्टिः क्षपणायाभ्युद्यतस्तस्यानन्तानुबन्धिषु मिथ्यात्वे च क्षपिते सति त्रयोविंशतिः मिश्रे क्षपिते द्वाविंशतिः। स च द्वाविंशतिसत्कर्मा सम्यक्त्वं क्षपयन् तच्चरमग्रासे वर्त्तमानः कश्चित्पूर्वबद्धायुष्कः कालमपि करोति कालं च कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते। तदुक्तम्। " पट्ठवगो उ मणुस्सो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु " ततो द्वाविंशतिश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते। एकविंशतिस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टीनामेव यतः सप्तकक्षये क्षायिकसम्यग्दृष्टयः सप्तके क्षीणे च सत्तायामेकविंशतिरेवमष्टोदयेऽपि मिश्रदृष्टीनामविरतसम्यग्दृष्टीनां चोक्तरूपाण्यन्यूनातिरिक्तानि सत्तास्थानानि भावनीयानि एवं नवोदयेऽपि। नवरं नवोदयोऽविरतानां वेदकसम्यग्दृष्टीनामेव संभवतीति कृत्वा तत्र चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि। तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च। एतानि च प्रागिवावगन्तव्यानि (तेरसनवबंधगेसु पंचेव ठाणाणि त्ति) त्रयोदशबन्धकेषु नवबन्धेषु च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च। तत्र त्रयोदशबन्धका देशविरतास्ते च द्विधा तिर्यञ्चो मनुष्याश्च। तत्र ये तिर्यञ्चस्तेषां चतसृष्वप्युदयस्थानेषु द्वे एव सत्तास्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च। तत्राष्टाविंशतिरौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा। तत्रौपशमिकसम्यग्दृष्टीनां प्रथमसम्यक्त्वोत्पादकाले तथाहि तदानीमन्तःकरणाद्धायां वर्त्तमानः कश्चित् देशविरतिमपि प्रतिपद्यते कश्चिन्मनुष्यः पुनः सर्वविरतिमपि। तदुक्तं शतकबृहच्चूर्णौ " उवसमसम्मद्दिट्ठी अंतरकरणे ठिओ कोइ देसविरइं वेई पमत्तापमत्तभावं पि गच्छइ सासायणो पुण न किमपि लहइत्ति " वेदकसम्यग्दृष्टीनां त्वष्टाविंशतिः सुप्रतीता चतुर्विंशतिः पुनरनन्तानुबन्धिषु विसंयोजितेषु वेदकसम्यग्दृष्टीनां वेदितव्या। शेषाणि तु सर्वाण्यपि त्रयोविंशत्यादीनि सत्तास्थानानि तिरश्चां न संभवन्ति तानि हि क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयतः प्राप्यन्ते न च तिर्यञ्चः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पादयन्ति किंतु मनुष्या एव। अथ मनुष्याः क्षायिकसम्यक्त्वमुत्पाद्य यदा तिर्यक्षूत्पद्यन्ते तदा तिरश्चोऽप्येकविंशतिः प्राप्यते एव तत्कथमुच्यते शेषाणि त्रयोविंशत्यादीनि सर्वाण्यपि न संभवन्तीति तदयुक्तं यतः क्षायिकसम्यग्दृष्टिस्तिर्यक्षु न संख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते किं त्वसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये समुत्पद्यते। न च तत्र देशविरतिः तदभावाच्च न तत्र त्रयोदशबन्धकत्वम् अथ त्रयोदशबन्धे सत्तास्थानानि चिन्त्यमानानि वर्त्तन्ते तत्र एकविंशतिरपि त्रयोदशबन्धे तिर्यक्षु न प्राप्यते तदुक्तं चूर्णौ "एगवीसा तिरिक्खेसु संजया संजएसु न संभवइ कहं भण्णइ संखेज्जवासाउएसु तिरिक्खेसु खाइगसम्मद्दिट्ठी उववज्जइ असंखेज्जवासाउएसु उववज्जेज्जा तस्स देसविरइ नत्थित्ति" ये च मनुष्या देशविरतास्तेषां पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिरष्टाविंशतिश्च। षट्कोदये सप्तोदये च प्रत्येकं पञ्चापि सत्तास्थानानि। अष्टकोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि तानि चाविरतसम्यग्दृष्ट्युक्तभावनानुसारेण भावनीयानि। एवं बन्धकानामपि प्रमत्ताप्रमत्तानां प्रत्येकं चतुष्कोदये त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च। पञ्चकोदये षट्कोदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि सप्तोदये त्वेकविंशतिवर्जानि शेषाणि चत्वारि सत्तास्थानानि वाच्यानि। (पंचविहचउविहेसु छच्छक्क त्ति) पञ्चविधे चतुर्विधे च बन्धे प्रत्येकं षट् सत्तास्थानानि। तत्र पञ्चविधे बन्धे अमूनि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश च। तत्राष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिश्चौपशमिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यामेकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्याम् पुनरष्टौ कषाया यावन्न क्षीयन्ते तावदेकविंशतिरष्टसु कषायेषु क्षीणेषु पुनस्त्रयोदश। ततो नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश पश्चादीनि तु सत्तास्थानानि पञ्चविधबन्धे न प्राप्यन्ते यतः पञ्चविधबन्धः पुरुषवेदे बध्यमाने भवति यावच्च पुरुषवेदस्य बन्धस्तावत्षट् नोकषायाः सन्त एवेति। चतुर्विधबन्धे पुनरमूनि षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेकादश पञ्च चतस्रः। तत्राष्टाविंशतिचतुर्विंशत्येकविंशतयः उपशमश्रेण्यामेकादशादयः क्षपकश्रेण्यां प्राप्यन्ते। इह कश्चिन्नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणीं प्रतिपन्नः स च स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ युगपत् क्षपयति। स्त्रीवेदनपुंसकवेदक्षयसमकालमेव पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते तदनन्तरं च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदस्ततस्तदनन्तरं पुरुषवेदहास्यादिषट्कं युगपत् क्षपयति यावच्च न क्षीयते तावदुभयत्रापि चतुर्विधबन्धवेदोदयरहितस्यैकोदये वर्त्तमानस्य एकादशकं सत्तास्थानमवाप्यते। पुरुषवेदहास्यादिषट्कयोस्तु युगपत् क्षीयमाणयोश्चतस्रः प्रकृतयः सन्ति। एवं च न स्त्रीवेदेन नपुंसकवेदेन वा क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य पञ्चप्रकृत्यात्मकं सत्तास्थानमवाप्यते। यः पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तस्य षट् नोकषायाः क्षयसमकालं पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदो भवति ततस्तस्य चतुर्विधबन्धकाले एकादशरूपं सत्तास्थानं न प्राप्यते किंतु पञ्चप्रकृत्यात्मकं पञ्चसमयाद्धाया ऊनावलिकाद्विकं यावत् सत्यो वेदितव्याः ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रस्ता अप्यन्तर्मुहूर्तकालं यावत् सत्योऽवगन्तव्याः (सेसेसु जाण पंचेव पत्तेयं पत्तेयंति) शेषेषु त्रिविधद्विविधैकविधेषु बन्धेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि। तत्र त्रिविधे बन्धे अमूनि अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः चतस्रः तिस्रः। तत्रादिमानि त्रीण्युपशमश्रेणीमधिकृत्य वेदितव्यानि शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्यां ते चैवं संज्वलनक्रोधस्य प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्धोदयोदीरणा युगपद्व्यवच्छेदमायान्ति व्यवच्छिन्नासु च तासु बन्धस्त्रिविधो जातः। संज्वलनक्रोधस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च दलिकं मुक्त्वा अन्यत्सर्वं क्षीणं तदपि च समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपयास्यति यावच्च न याति तावच्चतस्रः प्रकृतयस्त्रिविधबन्धे सत्यः क्षीणे तु तस्मिन् तिस्रः ताश्चान्तर्मुहूर्त्तकालं यावदवगन्तव्याः द्विविधबन्धे पुनरमूनि पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः तिस्रः द्वे च। तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिव शेषे तु क्षपकश्रेण्यां ते चैवं संज्वलनमानस्य बन्धोदयोदीरणा युगपद् व्यवच्छिद्यन्ते तासु व्यवच्छिन्नासु बन्धो द्विविधो भवति संज्वलनमानस्य च तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामा-

त्रं समयद्वयोनावलिकाद्वयबद्धं चावलिकं सद् अन्यत् सर्वं क्षीणं तदपि समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमापत्स्यति यावच्च नाद्यापि क्षीयते तावत्तिस्रः सत्यः क्षीणे तु तस्मिन् द्वे ते अप्यन्तर्मुहूर्त्तकालं यावत्सत्यौ । एकविधबन्धे पुनः पञ्च सत्तास्थानान्यमूनि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः द्वे एका च । तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्यां शेषे तु द्वे क्षपकश्रेण्यां ते चैवं संज्वलनमायायाः प्रथमस्थितावावलिकाशेषायां बन्धोदयोदीरणा युगपद् व्यवच्छेदमुपयान्ति व्यवच्छिन्नासु तासु बन्ध एकविधो भवति संज्वलनमायायास्तदानीं प्रथमस्थितिगतमावलिकामात्रं समयद्वयोनावलिकाद्विकबद्धं च सदस्ति अन्यत्समस्तं क्षीणं तदपि च तत्समयद्वयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन क्षयमुपगमिष्यति यावच्च न क्षयमुपयाति तावद् द्वे सती क्षीणे च तस्मिन्नेका प्रकृतिः संज्वलनलोभरूपा सती (चत्तारि उ बंधवोच्छेए) बन्धाभावे सूक्ष्मसंपरायगुणस्थाने चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेका च । तत्राद्यानि त्रीणि प्रागिवोपशमश्रेण्याम् एका तु संज्वलनलोभप्रकृतिः क्षपकश्रेण्यां तदेवं कृता संवेधचिन्ता ।

संप्रत्युपसंहारमाह ।

दसनवपन्नरसाइं, बंधोदयसंतपयडिठाणाइं ।
भणियाइं मोहणिज्जे, एत्तो नामं परं वोच्छं ॥ २५ ॥

बन्धोदयसत्प्रकृतिस्थानानि यथासंख्यं दश नव पञ्चदश संख्यानि प्रत्येकं संवेधद्वारेण च भणितानि इतः परमत ऊर्ध्वं नाम वक्ष्ये नाम्नो बन्धस्थानानि वक्ष्ये । तत्र प्रथमतो बन्धस्थानप्ररूपणार्थमाह ।

तेवीसपन्नवीसा, छव्वीसा अट्ठवीस गुणतीसा ।
तीसेगतीसमेक्कं, बंधट्ठाणाणि नामस्स ॥ २६ ॥

नाम्नोऽष्ट बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च । अमूनि तिर्यग्मनुष्यादिगतिप्रायोग्यतया अनेकप्रकाराणि ततस्तथैवोपदर्श्यन्ते । तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बध्नतः सामान्येन पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरियं तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णगन्धरसस्पर्शाः अगुरुलघु उपघातनाम स्थावरनाम सूक्ष्मबादरयोरेकतरमपर्याप्तकनाम प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमस्थिरनाम अशुभनाम दुर्भगनाम अनादेयनाम अयशःकीर्तिनाम निर्माणनाम एतासां त्रयोविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्चापर्याप्तप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम् । अत्र भङ्गाश्चत्वारः तथाहि बादरनाम्नि बध्यमाने एका त्रयोविंशतिः प्रत्येकनाम्ना सहावाप्यते द्वितीया साधारणनाम्ना एवं सूक्ष्मनाम्न्यपि बध्यमाने द्वे त्रयोविंशती सर्वसंख्यया चतस्रः । एषैव त्रयोविंशतिः पराघातोच्छ्वाससहिता पञ्चविंशतिः प्रत्येकनाम्ना सह प्राप्यते द्वितीया साधारणनाम्ना नवरमेवमभिलपनीयम् तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः औदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघु उपघातनाम पराघातनाम उच्छ्वासनाम स्थावरनाम बादरसूक्ष्मयोरेकतरं पर्याप्तकं प्रत्येकसाधारणयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं यशःकीर्त्योरेकतरमयशःकीर्त्योरेकतरं दुर्भगनामानादेयनिर्माणमिति । एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदायः एकं बन्धस्थानं तच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम् । अत्र भङ्गा विंशतिः । तत्र बादरपर्याप्तप्रत्येकेषु बध्यमानेषु स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभिरष्टौ भङ्गाः तथाहि बादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभेषु बध्यमानेषु यशःकीर्त्या सह एकः द्वितीयोऽयशःकीर्त्या । एतौ च द्वौ भङ्गौ शुभपदेन लब्धौ एवमशुभपदेनापि द्वौ भङ्गौ लभ्येते ततो जाताश्चत्वारः स्थिरपदेन लब्धाः । एवमस्थिरपदेनापि चत्वारो लभ्यन्ते ततो जाता अष्टौ । एवं पर्याप्तबादरेषु साधारणेषु बध्यमानेषु स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिपदैश्चत्वारः यतः साधारणेन सह यशःकीर्तिबन्धो न भवति " नो सुहुमतिगेण जसं " इति वचनात्तत्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते तदेवं सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिबन्धे विंशतिर्भङ्गाः एषैव पञ्चविंशतिरातपोद्योतान्यतरसहिता षड्विंशतिर्नवरमेवमभिलपनीया तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्व्येकेन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघु पराघातमुच्छ्वासनाम आतपोद्योतयोरेकतरं बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति एतासां षड्विंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् एतच्च पर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्यमातपोद्योतान्यतरसहितं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवगन्तव्यम् । अत्र भङ्गाः षोडश ते चातपोद्योतस्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्तिपदैरवसेयाः आतपोद्योताभ्यां च सह सूक्ष्मसाधारणबन्धो न भवति ततस्तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते एकेन्द्रियाणां सर्वसंख्यया भङ्गाश्चत्वारिंशत् तदुक्तम् " चत्तारि वीस सोलस, भंगा एगिंदियाण चत्ताला " द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो बन्धस्थानानि त्रीणि तद्यथा पञ्चविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्मणानि हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गवर्णादिचतुष्टयमगुरुलघूपघातनाम त्रसनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरमशुभदुर्भगमनादेयमयशःकीर्त्तिनिर्माणमिति एतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् तच्चापर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेयम् । अपर्याप्तकेन सह परावर्त्तमानप्रकृतयोऽशुभा एव बन्धमायान्तीति कृत्वा अत्रैक एव भङ्गः । एषैव पञ्चविंशतिः पराघातोच्छ्वासाप्रशस्तविहायोगतिपर्याप्तकदुःस्वरसहिता अपर्याप्तकरहिता एकोनत्रिंशद्भवति नवरमेवमेव वक्तव्यं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीद्वीन्द्रियजातिरौदारिकशरीरमौदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तसंहननं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघु पराघातमुपघातमुच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकं प्रत्येकं स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं दुःस्वरं दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानं तच्च पर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादृष्टेः प्रत्येतव्यम् । अत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गाः सैव एकोनत्रिंशत् उद्योतसहिता त्रिंशत् अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः सर्वसंख्यया सप्तदश एवं त्रीन्द्रियप्रायोग्यं चतुरिन्द्रियप्रायोग्यं च बध्नतो मिथ्यादृष्टेस्त्रीणि त्रीणि बन्धस्थानानि वाच्यानि नवरं त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिरभिलपनीया चतुर्जातिसङ्गाश्च प्रत्येकं सप्तदश सर्वसंख्यया एकपञ्चाशत् । उक्तं च " एगट्ठ अट्ठविगलि-दियाण इगवन्न तिण्हं पि " तिर्यग्गतिपञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र पञ्चविंशतिर्द्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नत इव वेदितव्या नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने पञ्चेन्द्रियजातिर्वक्तव्या तत्र च एको भङ्गः एकोनत्रिंशत् पुनरियं तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रि-

यजातिरौदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहननानामेकतमत्संहननं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू उपघातं पराघातमुच्छ्वासनाम प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्योरेकतरं त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं सुभगदुर्भगयोरेकतरं दुःस्वरसुस्वरयोरेकतरम् आदेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । एतासामेकोनत्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्च मिथ्यादृष्टेः पर्याप्ततिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वेदितव्यम् यदि पुनः सासादनो बन्धको भवति तर्हि तस्य पञ्चानां संस्थानानामन्यतमत्संस्थानं पञ्चानां संहननानामन्यतमत्संहननमिति वक्तव्यम्। अस्यां चैकोनत्रिंशति सामान्येन षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरास्थिराभ्यां शुभाशुभाभ्यां सुभगदुर्भगाभ्यां सुस्वरदुःस्वराभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां भङ्गा अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसंख्याका वेदितव्याः एषैव एकोनत्रिंशत् उद्योतसहिता त्रिंशद्भवति अत्रापि मिथ्यादृष्टिसासादनानधिकृत्य तथैव विशेषोऽवगन्तव्यः सामान्येन च भङ्गाः अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसंख्याकाः। उक्तंच "गुणतीसे तीसे वा, भंगा अट्ठाहिया छयालसया । पंचिंदियतिरियोगे-पणवीसे बंधभंगेक्को " सर्वसंख्यया द्वानवतिशतानि सप्तदशाधिकानि। तथा मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतस्त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र पञ्चविंशतिर्यथा प्रागपर्याप्तकद्वीन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतोऽभिहिता तथैवावगन्तव्या नवरमत्र मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वी इति वक्तव्यम् । एकोनत्रिंशत् त्रिधा एका मिथ्यादृष्टीन् बन्धकानाश्रित्य वेदितव्या द्वितीया सासादनान् तृतीया सम्यग्मिथ्यादृष्टीन् अविरतसम्यग्दृष्टीन् वा । तत्राद्ये द्वे प्रागिव भावनीये । तृतीया पुनरियं मनुष्यगतिर्मनुष्यानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिरौदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वज्रर्षभनाराचसंहननं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघूपघातपराघातमुच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरास्थिरयोरेकतरं शुभाशुभयोरेकतरं शुभगं सुस्वरमादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति। अस्यां चैकोनत्रिंशति प्रकारायामपि सामान्येन षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरास्थिराभ्यां सुभगदुर्भगाभ्यां सुस्वरदुःस्वराभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यामष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसंख्या भङ्गा वेदितव्याः। सैव तृतीया एकोनत्रिंशदुक्ता सैव तीर्थकरसहिता त्रिंशत्। अत्र च स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गाः सर्वसंख्यया मनुष्यगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गाः षट्चत्वारिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि। उक्तञ्च "पणुवीसयम्मि एक्को, छयालसया उ अट्ठोत्तरं । गुत्तीसेक्कउ सव्वे, छयालसया उ सत्तरस " तथा देवगतिप्रायोग्यं बध्नतश्चत्वारि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तथा अष्टाविंशतिरियं देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू पराघातमुपघातमुच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरास्थिरयोः शुभाशुभयोरेकतरं सुभगं सुस्वरमादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरं निर्माणमिति । एतासां समुदायः एकं बन्धस्थानम् । एतच्च मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतानां सर्वविरतानां देवगतिप्रायोग्यं बध्नतामवसेयम् । अत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गाः एषैवाष्टाविंशतिस्तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशद्भवति अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः नवरमेनां देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादयो बध्नन्ति । त्रिंशत् पुनरियं देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियाङ्गोपाङ्गमाहारकमाहारकाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे समचतुरस्रसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू पराघातमुपघातमुच्छ्वासनाम प्रशस्तविहायोगतिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनामापर्याप्तकनाम प्रत्येकं स्थिरं शुभनाम शुभगनाम सुस्वरनाम अनादेयनाम यशःकीर्त्तिनाम निर्म्माणनामेति । एतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां समुदाय एकं बन्धस्थानम् । एतच्च देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा वेदितव्यम् । अत्र सर्वाण्यपि शुभान्येव कर्माणि बन्धमायान्तीति कृत्वा एक एव भङ्गः । एषैव त्रिंशत्तीर्थकरसहिता एकत्रिंशद्भवति । अत्राप्येक एव च भङ्गः सर्वसंख्यया देवगतिप्रायोग्यबन्धस्थानेषु भङ्गाः अष्टादश । तदुक्तम् " अट्ठ एकेक्कमभंगा अट्ठारस देवजायेसु " तथा नरकगतिप्रायोग्यं बध्नत एकं बन्धस्थानमष्टाविंशतिः । सा चेयं नरकगतिर्नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रिया जातिः वैक्रियाङ्गोपाङ्गं तैजसकार्मणे हुण्डसंस्थानं वर्णादिचतुष्टयमगुरुलघू उपघातं पराघातमुच्छ्वासनाम अप्रशस्तविहायोगतिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम प्रत्येकनाम अस्थिरमशुभं दुर्भगं दुःस्वरमनादेयमयशःकीर्त्तिर्निर्माणमिति। एतासामष्टाविंशतिप्रकृतीनामेकं बन्धस्थानमेतच्च मिथ्यादृष्टेरवसेयम् । अत्र त्रीण्यप्यशुभान्येव कर्माणीत्येक एव भङ्गः एकं तु बन्धस्थानं यशःकीर्त्तिलक्षणं तच्च देवगतिप्रायोग्यबन्धे व्यवच्छिन्ने अपूर्वकरणादीनां त्रयाणामवगन्तव्यम् ।

संप्रति कस्मिन् बन्धस्थाने कति भङ्गाः सर्वसंख्यया प्राप्यन्ते इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह।

चउपण वीसा सोलस, नव बाणउइयसयाइं अडयाला ।
एयालुत्तरछाया-लसया एक्किक्कबंधविही ॥२७॥

विंशत्यादिषु बन्धस्थानेषु यथासंख्यं चतुरादिसंख्या बन्धविधयो बन्धप्रकारा बन्धभङ्गा वेदितव्याः। तत्र ये विंशतिबन्धस्थानेषु भङ्गाश्चत्वारस्ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः अन्यत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशतिबन्धस्थाने पञ्चविंशतिर्भङ्गाः अत्रैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं बध्नतो विंशतिः । अपर्याप्तकद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यं बध्नतामेकैक इति सर्वसंख्यया विंशतिः। षड्विंशतिबन्धस्थानेषु यथासंख्यं चतुरादिसंख्या बन्धविधयो बन्धप्रकारा बन्धभङ्गा वेदितव्याः। तत्र त्रयोविंशतिबन्धस्थाने भङ्गाश्चत्वारः ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः । ते भङ्गाः षोडश ते चैकेन्द्रियप्रायोग्यमेव बध्नतोऽवसेयाः अन्यत्र षड्विंशतिबन्धस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् अष्टाविंशतिबन्धस्थाने भङ्गा नव। तत्र देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतोऽष्टौ नरकगतिप्रायोग्यां तु बध्नत एक इति एकोनत्रिंशद्बन्धस्थाने भङ्गाः अष्टचत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि। तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि द्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यां देवगतिप्रायोग्यां च तीर्थकरसहितां बध्नतां प्रत्येकमप्यष्टाविति त्रिंशतिबन्धस्थाने भङ्गा एकचत्वारिं-

शच्छतानि । तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतोऽष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि द्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यामाहारकसहितां त्रिंशतं बध्नत एक इति । तथा एकत्रिंशद्बन्धस्थाने एकः एकविधे चैकं सर्वसंख्यया सर्वबन्धस्थानेषु भङ्गास्त्रयोदश सहस्राणि नव शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानीति। तदेवमुक्तानि सप्रभेदं बन्धस्थानानि ।

संप्रत्युदयस्थानप्रतिपादनार्थमाह ।

वीसिगवीसा चउवी–सगा य एगाहिया य इगतीस ।
उदयट्ठाणाणि भवे, नव अट्ठ य हुंति नामस्स ॥ २८ ॥

उदयस्थानानि द्वादश तद्यथा विंशतिरेकविंशतिश्चतुर्विंशत्यादय एकाधिका एकैकाधिकाः तावद्वक्तव्या यावदेकत्रिंशत् तद्यथा चतुर्विंशतिः पञ्चविंशति षड्विंशतिःसप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् तथा नव अष्टौ च एतानि चैकेन्द्रियाद्यपेक्षया नानाप्रकाराणीति तान्याश्रित्य सप्रपञ्चमुपदर्श्यते। तत्र एकेन्द्रियाणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः। तत्र तैजसकार्मणे अगुरुलघू स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णगन्धरसस्पर्शा निर्माणमित्येता द्वादश प्रकृतय उदयमाश्रित्य ध्रुवाः । एतास्तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी स्थावरनामैकेन्द्रियजातिर्बादरसूक्ष्मयोरेकतरमपर्याप्तपर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरन्यतरन्नवप्रकृतिसहिता एकविंशतिः । अत्र भङ्गाः पञ्च बादरसूक्ष्माभ्यां प्रत्येकं पर्याप्तापर्याप्ताभ्यामयशःकीर्त्या सह चत्वारः बादरपर्याप्तयशःकीर्त्तिभिः सह एक इति सूक्ष्मापर्याप्ताभ्यां सह यशःकीर्त्तेरुदयो न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते एष चैकविंशतिरेकेन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य वेदितव्या ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति चतस्रः प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति अत्र च भङ्गा दश तद्यथा बादरपर्याप्तस्य प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैश्चत्वारः अपर्याप्तबादरस्य प्रत्येकसाधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ सूक्ष्मस्य पर्याप्तापर्याप्तप्रत्येकसाधारणैर्यशःकीर्त्या सह चत्वार इति दश । बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वत औदारिकस्थाने वैक्रियं वक्तव्यं ततश्च तस्यापि चतुर्विंशतिरुदये प्राप्यते केवलमिह बादरपर्याप्त्यैका यशःकीर्त्तिपदैरेक एव भङ्गः । तैजस्कायिकवायुकायिकयोः साधारणयशःकीर्त्त्युदयो न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते। सर्वसंख्यया चतुर्विंशतेरुदये एकादश भङ्गास्ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिः । अत्र भङ्गाः षट् तद्यथा बादरस्य प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैश्चत्वारः सूक्ष्मस्य प्रत्येकसाधारणाभ्यामयशःकीर्त्या सह द्वौ। तथा बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिर्भवति अत्र च प्राग्वदेक एव भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्चविंशतौ सप्त भङ्गाः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशतिः अत्रापि भङ्गाः प्रागिव षट्। अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते आतपोद्योतयोरन्यतरस्मिन्नुदिते षड्विंशतिर्भवति अत्रापि भङ्गाः षट् । तद्यथा बादरस्योद्योतेन सहितस्य प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैश्चत्वारः आतपसहितस्य च प्रत्येकस्य यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैर्द्वौ बादरवायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते प्रागुक्ता पञ्चविंशतिः षड्विंशतिर्भवति तत्रापि प्राग्वदेक एव भङ्गः तैजस्कायिकवायुकायिकयोरातपोद्योतयशःकीर्त्तीनामुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते सर्वसंख्यया षड्विंशतौ त्रयोदश भङ्गाः। तथा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां षड्विंशतौ आतपोद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सति सप्तविंशतिर्भवति अत्र भङ्गाः षट् । ये प्रागातपोद्योतान्यतरसहितायां षड्विंशतौ प्रतिपादिताः। सर्वसंख्यया चैकेन्द्रियाणां भङ्गा द्विचत्वारिंशत् उक्तं च "एगिंदिय उदएसु, पंच य एकार सत्त तेरस य । छक्कं कमसो भंगो, बायाला होंति सव्वे वि" द्वीन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट् तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तापर्याप्तयोरेकतरं दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरमित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसंख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः। एषा चापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य द्वीन्द्रियस्यावाप्यते अत्र भङ्गास्त्रयः तद्यथा अपर्याप्तकनामोदये वर्त्तमानस्य अयशःकीर्त्या सह एकः । पर्याप्तनामोदये वर्त्तमानस्य यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां द्वाविति ततस्तस्यैव च शरीरस्य औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तसंहननमुपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते जाता षड्विंशतिः । अत्रापि भङ्गास्त्रयस्ते च प्रागिव द्रष्टव्याः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अप्रशस्तविहायोगतिपराघातयोः प्रक्षिप्तयोरष्टाविंशतिः । अत्र यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ अपर्याप्तकप्रशस्तविहायोगत्योरोदयाभावात् ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् अत्रापि प्रागिव द्वौ भङ्गौ सर्वेऽप्येकोनत्रिंशत् चत्वारो भङ्गाः ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वरदुःस्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशत् भवति । अत्र सुस्वरदुःस्वरयशःकीर्त्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद्भवति अत्र यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिविकल्पाभ्यां द्वौ भङ्गौ सर्वे त्रिंशति षट् भङ्गाः एकोनत्रिंशति सुस्वरदुःस्वरयोरेकतरस्मिन् उद्योते च क्षिप्ते एकत्रिंशत् सुस्वरदुःस्वरयशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः एवं सर्वसंख्यया द्वाविंशतिर्भङ्गाः । एवं त्रीन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियाणां च प्रत्येकं षट् उदयस्थानानि भावनीयानि नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियाणां त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियाणां चतुरिन्द्रियजातिरभिधातव्या प्रत्येकं भङ्गा द्वाविंशतिरिति सर्वसंख्यया विकलेन्द्रियाणां भङ्गाः षष्टिः। तदुक्तम् " तिगतिगदुगचउछच्च, विगलाण छसट्ठि होइ तिण्हं पि " प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदयस्थानानि षट् तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तापर्याप्तकयोरेकतरं सुभगदुर्भगयोरेकतरमादेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरमित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसंख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः एषा चापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वेदितव्या । अत्र भङ्गा नव । पर्याप्तकनामोदये वर्त्तमानस्य सुभगदुर्भ

गाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः। अपर्याप्तकनामोदये वर्त्तमानस्य दुर्भगानादेयायशःकीर्त्तिरेकः। अपरे पुनराहुः सुभगादेययुगलदुर्भगानादेययुगलाभ्यां यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां च चत्वारो भङ्गाः अपर्याप्तकसातोदये त्वेक इति सर्वसंख्यया पञ्च। एवमुत्तरत्रापि मतान्तरेण भङ्गत्रयमयं स्वधिया परिभावनीयम्। ततः शरीरस्थस्य आनुपूर्वीमपनीय औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं षण्णां संस्थानानामेकतमत्संस्थानं षण्णां संहननानामेकतमत्संहननमुपघातं प्रत्येकमिति षट्कं प्रक्षिप्यते ततो जाता षड्विंशतिः। अत्र भङ्गानां द्वे शते एकोननवत्यधिके तत्र पर्याप्तस्य षड्भिः संहननैः सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके अपर्याप्तकहुण्डसंस्थानसेवार्त्तदुर्भगानादेयायशःकीर्त्तिपदैरेक इति। अस्यामेव षड्विंशतौ शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्योरन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः। तत्र ये प्राक् पर्याप्तानां द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके उक्ते ते अत्र विहायोगतिद्विकेन गुणिते अवगन्तव्ये। तथाच सत्यत्र भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भवन्ति ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्रापि भङ्गाः प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि। अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद्भवति अत्रापि भङ्गाः पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि सर्वसंख्यया भङ्गानामेकोनत्रिंशत् द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरदुःस्वरयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद्भवति। अत्र ये प्रागुच्छ्वासेन पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि उक्तानि तान्येव स्वरद्विकेन गुण्यन्ते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि। अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद्भवति अत्रापि भङ्गानां प्रागिव पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि सर्वसंख्यया त्रिंशति भङ्गानां सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि। ततः स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योतनाम्नि प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद्भवति। अत्र ये प्राक् स्वरसहितायां त्रिंशति भङ्गा द्विपञ्चाशदधिकैकादशसंख्या उक्तास्ते पञ्चाशदत्रापि द्रष्टव्याः। सर्वसंख्यया प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुदयभङ्गा एकोनपञ्चाशच्छतानि षडधिकानि। इदानीं वैक्रियतिरश्चामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रमुपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रागुक्तायां तिर्यक्पञ्चेन्द्रिययोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः पञ्चविंशतिर्भवति। अत्र सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्तिभ्यां चाष्टौ भङ्गाः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासनाम्नि प्रक्षिप्ते अष्टाविंशतिर्भवति। अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति तत्राप्यष्टौ भङ्गाः। सर्वसंख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गाः षोडश। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां सप्तविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत्। अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति षोडश। ततः सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशत् अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। सर्वसंख्यया वैक्रियं कुर्वतां षट्पञ्चाशत् भङ्गाः। सर्वेषां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सर्वसंख्यया एकोनपञ्चाशच्छतानि द्विषष्ट्यधिकानि भङ्गानामवसेयानि। सामान्येन मनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। एतानि सर्वाण्यपि यथा प्राक् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुक्तानि तथैवात्रापि वक्तव्यानि नवरं तिर्यग्गतितिर्यगानुपूर्वीस्थाने मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ वेदितव्ये। एकोनत्रिंशच्च उद्योतरहिता वक्तव्या वैक्रियाहारकसंयतान् मुक्त्वा शेषमनुष्याणामुद्योतोदयाभावात् ततः एकोनत्रिंशति भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि। त्रिंशत्येकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकान्यवगन्तव्यानि। सर्वसंख्यया प्राकृतमनुष्याणां षड्विंशतिशतानि द्विकाधिकानि भङ्गानां भवन्ति। वैक्रियमनुष्याणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिर्वैक्रियाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रमुपघातं त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगदुर्भगयोरेकतरम् आदेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्त्योरेकतरं त्रयोदश प्रकृतयो द्वादशसंख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह पञ्चविंशतिः। अत्र सुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गाः देशविरतानां संयतानां च वैक्रियं कुर्वतां सर्वप्रशस्त एक एव भङ्गो वेदितव्यः ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः। अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिः। अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य अथवा संयतानामुत्तरवैक्रियं कुर्वतां शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानामुच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिः। अत्रैक एव भङ्गः। संयतानां दुर्भगानादेयायशःकीर्त्त्युदयाभावात्। सर्वसंख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गा नव। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामष्टाविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद्भवति। अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः। अथवा संयतानां स्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद्भवति। अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति भङ्गा नव। सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति संयतनाम्नि प्रक्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्रापि प्रागिवैक एव भङ्गः सर्वसंख्यया वैक्रियमनुष्याणां भङ्गाः पञ्चत्रिंशत्। आहारकसंयतानामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। तत्र आहारकमहारकाङ्गोपाङ्गं समचतुरस्रसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः। प्रागुक्तायां मनुष्यगतिप्रायोग्यायामेकविंशतौ प्रक्षिप्यन्ते मनुष्यानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशतिः। केवलमिह एतानि सर्वाण्यपि प्रशस्तान्येव भवन्ति। आहारकसंयतानां दुर्भगानादेयायशःकीर्त्त्युदयाभावात्। अत एक एवात्र भङ्गः। ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः अत्राप्येक एव भङ्गः। ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिर्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः। अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते अष्टाविंशतिर्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः। ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितामष्टाविंशतौ सुस्वरे क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः। अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोन-

त्रिंशत् अत्राप्येक एव भङ्गः सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति द्वौ भङ्गौ ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः सर्वसंख्यया आहारकशरीरिणां सप्त भङ्गाः । केवलिनामुदयस्थानानि दश तद्यथा विंशतिरेकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ च । तत्र मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकं सुभगमादेयं यशःकीर्त्तिरित्येता अष्टौ ध्रुवोदयाभिर्द्वादशसंख्याभिः सह विंशतिः अत्रैको भङ्गः एषा च तीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्त्तमानस्य वेदितव्या सैव विंशतिस्तीर्थकरनामसहिता एकविंशतिः । अत्राप्येको भङ्गः एषाऽपि तीर्थकरकेवलिनः समुद्घातगतस्य कार्मणकाययोगे वर्त्तमानस्य वेदितव्या । तथा तस्यामेव विंशतावौदारिकशरीरिणां संस्थानानामेकतमत्संस्थानमौदारिकाङ्गोपाङ्गं वज्रर्षभनाराचसंहननमुपघातं प्रत्येकमिति षट् प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते ततः षड्विंशतिः एषा च तीर्थकरकेवलिनः औदारिकमिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्य वेदितव्या । अत्र षड्भिः संस्थानैः षट् भङ्गा भवन्ति परं ते सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि संभवन्तीति न पृथक् गण्यन्ते एषैव षड्विंशतिस्तीर्थकरसहिता सप्तविंशतिर्भवति एषा तीर्थकरकेवलिन औदारिकमिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्यावसेया अत्र संस्थानं समचतुरस्रमेव वक्तव्यं तत एक एवात्र भङ्गः । सैव षड्विंशतिः पराघातोच्छ्वासप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्यन्यतरविहायोगति सुस्वरदुःस्वरान्यतरस्वरसहिता त्रिंशद्भवति एषा च तीर्थकरस्य सयोगिकेवलिन औदारिककाययोगे वर्त्तमानस्यावगन्तव्या । अत्र संस्थानषट्कप्रशस्तविहायोगतिसुस्वरदुःस्वरसहितैश्चतुर्विंशतिर्भङ्गास्ते च सामान्यमनुष्योदयस्थानेष्वपि प्राप्यन्ते इति न पृथक् भण्यन्ते एषैव त्रिंशत्तीर्थकरनामसहिता एकत्रिंशद्भवति सा च सयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्यौदारिककाययोगे वर्त्तमानस्यावसेया । एषैव एकत्रिंशत् वाग्योगे निरुद्धे त्रिंशद्भवति उच्छ्वासेऽपि च निरुद्धे एकोनत्रिंशत् । अतीर्थकरकेवलिनः प्रागुक्ता त्रिंशत् वाग्योगे निरुद्धे सत्येकोनत्रिंशद्भवति अत्रापि षड्भिः संस्थानैः षष् भङ्गाः प्राप्यन्ते विहायोगतिद्विकेन बद्धा द्वादश ते च प्रागिव न पृथग् गणयितव्याः । तत उच्छ्वासे निरुद्धे सति अष्टाविंशतिः अत्रापि संस्थानगताः षट् भङ्गा न पृथग्गणयितव्याः सामान्ये मनुष्योदयस्थानग्रहणेन गृहीतत्वात् । तथा मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगमादेयं यशःकीर्त्तिस्तीर्थकरनामेति नवोदयाः । एष च तीर्थकृतोऽयोगिकेवलिनश्चरमसमये वर्त्तमानस्य प्राप्यते स एव तीर्थकरनामरहितोऽष्टोदयः । इह केवल्युदयस्थानमध्ये विंशतिरेकविंशतिः सप्तविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशन्नवाष्टरूपेष्वष्टसूदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैको भङ्गः प्राप्यते इत्यष्टौ भङ्गाः । तत्र त्रिंशत्यष्टकयोर्भङ्गावतीर्थकृतः शेषेषु षट्सूदयस्थानेषु तीर्थकृतः षष् भङ्गाः सर्वसंख्यया मनुष्याणामुदयस्थानेषु षड्विंशतिशतानि द्विपञ्चाशदधिकानि । देवानामुदयस्थानानि षट् तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तत्र देवगतिर्देवानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तं सुभगदुर्भगयोरेकतरमादेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्त्योरेकतरमिति नव प्रकृतयो द्वादशसंख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः । अत्र सुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गाः दुर्भगानादेयायशःकीर्त्तीनामुदयः पिशाचादीनामवगन्तव्यः । ततः शरीरस्थस्य वैक्रियाङ्गोपाङ्गमुपघातं प्रत्येकं समचतुरस्रसंस्थानमिति पञ्च प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते देवानुपूर्वी चापनीयते ततो जाता पञ्चविंशतिः अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिः अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः देवानामप्रशस्तविहायोगतेरुदयाभावात् तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिः अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदितेऽष्टाविंशतिः अत्रापि प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । सर्वसंख्यया अष्टाविंशतौ भङ्गाः षोडश । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशद्भवति अत्राप्यष्टौ भङ्गाः दुःस्वरोदयो देवानां न भवतीति कृत्वा तदाश्रिता विकल्पा न भवन्ति । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरे अनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशद्भवति उत्तरवैक्रियं हि कुर्वतो देवस्योद्योतोदयो लभ्यते अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति षोडश भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य सुस्वरसहितायामेकोनत्रिंशति उद्योते क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः सर्वसंख्यया देवानां चतुःषष्टिर्भङ्गाः । नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । तत्र नरकगतिर्नरकानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगनाम अनादेयमयशःकीर्त्तिरित्येता नव प्रकृतयो द्वादशसंख्याभिर्ध्रुवोदयाभिः सह एकविंशतिः । अत्र सर्वाण्यपि पदानि अप्रशस्तान्येवेति कृत्वा एक एव भङ्गः । ततः वैक्रियं वैक्रियाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानमुपघातं प्रत्येकमिति पञ्च प्रकृतयः प्रक्षिप्यन्ते नरकानुपूर्वी चापनीयते ततः पञ्चविंशतिर्भवति अत्राप्येक एव भङ्गः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते अशुभविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायां सप्तविंशतिरत्राप्येक एव भङ्गः । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासे क्षिप्ते अष्टाविंशतिस्तत्राप्येक एव भङ्गः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य दुःस्वरे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्राप्येक एव भङ्गः सर्वसंख्यया नैरयिकाणां पञ्च भङ्गाः । सकलोदयस्थानभङ्गाः पुनः सप्तसप्ततिशतानि एकनवत्यधिकानि ॥

सम्प्रति कस्मिन्नुदयस्थाने कति भङ्गाः प्राप्यन्ते इति चिन्तायां तन्निरूपणार्थमाह ।

एकबयालेक्कारस, तेत्तीसा छस्सयाणि तेत्तीसा ।
बारस सत्तरससया-णहिगाणि विपंचसीईहिं ॥२९॥
अउणत्तीसेक्कारस, सयाणहिगसतर पंचसट्ठीहिं ।
एक्केक्कगं च वीसा, दट्ठुदयं तेसु उदयविही ॥ ३० ॥

विंशत्यादिष्वष्टपर्यन्तेषु द्वादशसूदयस्थानेषु यथासंख्यमेकादिसंख्या उदयविधयः उदयप्रकारा उदयभङ्गा इत्यर्थः । तत्र विंशतावेको भङ्गः स चातीर्थकरकेवलिनोऽवसेयः । एकविंशतौ द्विचत्वारिंशत् तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य नव मनुष्यानप्यधिकृत्य नव तीर्थकरमाधिकृत्यैकः सुरानाधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैक इति द्विचत्वारिंशत् । चतुर्विंशतावेकादश ते चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य प्राप्यन्ते अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्थानस्याप्राप्यमाणत्वात् । पञ्चविंशतौ त्रयस्त्रिंशत् तत्रैकेन्द्रियानधिकृत्य सप्त वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य अष्टौ वैक्रियमनुष्यानधिकृत्याष्टौ आहारकसंयतानाश्रित्यैकः देवानधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् । षड्विंशतौ षट् शतानि तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य त्रयो-

दश विकलेन्द्रियानधिकृत्य नव प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके प्राकृतमनुष्यानधिकृत्य द्वे शते एकोननवत्यधिके इति षट् शतानि । सप्तविंशतौ त्रयस्त्रिंशत् तत्रैकेन्द्रियानाश्रित्य षट् वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ वैक्रियमनुष्यानधिकृत्याष्टौ आहारकसंयतानधिकृत्यैकः केवलिनमधिकृत्यैकः देवानधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैक इति त्रयस्त्रिंशत् । अष्टाविंशतौ द्व्यधिकानि द्वादश शतानि तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य षट् प्राकृततिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षोमश मनुष्यानधिकृत्य पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ देवानधिकृत्य षोमश नारकानधिकृत्यैक इति । एकोनत्रिंशति पञ्चाशीत्यधिकानि सप्तदश शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्य नव आहारकसंयतानधिकृत्य द्वौ तीर्थकरमधिकृत्यैकः देवानधिकृत्य षोमश नारकानधिकृत्यैक इति त्रिंशति एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्याष्टादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्तदशश तान्यष्टाविंशत्यधिकानि वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ मनुष्याननधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि वैक्रियमनुष्यानधिकृत्यैकः आहारकसंयतानधिकृत्यैकः केवलिनमधिकृत्यैकः देवानधिकृत्याष्टौ । एकत्रिंशत्येकादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि तत्र विकलेन्द्रियानधिकृत्य द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि तीर्थकरमधिकृत्यैकः एको नवोदये एकोऽष्टोदये सर्वोदयस्थानेषु सर्वसंख्यया सप्तसप्ततिशतान्येकनवत्यधिकानि इति तदेवमुक्तानि सप्रभेदमुदयस्थानानि द्वितीयगाथाया अर्थः कस्मिंश्चिदंशे गाथाटीकायामन्यथा प्रतिभातीति तच्छायेयं व्याख्यायते एकोनत्रिंशच्छतके सप्ततिं चैकादशशतके पञ्चषष्ट्यधिकां कुर्यात् तदा त्रिंशदुदये एकोनत्रिंशच्छतानि सप्तदशाधिकानि भवन्ति । तानीत्थम् विकलेन्द्रियाणामष्टादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टाविंशत्यधिकानि सप्तदश शतानि मनुष्याणां द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि वैक्रियतिरश्चामष्टौ वैक्रियमनुष्याणामेकमाहारकाणामेकं केवलिन एकं देवानामष्टौ एवं पूर्वोक्ता संख्या । तथैकत्रिंशदुदयं विकलेन्द्रियाणां द्वादश पञ्चेन्द्रिय तिरश्चां द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि केवलिन एकमित्थं पञ्चषष्ट्यधिकान्येकादश शतानि एकैको भङ्गोऽष्टनवोदये केवलिनो भवति अतो नवोदयेऽष्टोदये चैको भङ्गः । विंशत्युदयस्थानादारभ्याष्टोदयपर्यन्तं द्वादशोदयस्थानानि । एवं सर्वसंख्यया एकनवत्यधिकानि सप्तशतयुतानि सप्तसहस्राणि भवन्ति ।

सम्प्रति सत्तास्थानप्ररूपणार्थमाह ।

तिदुनउईगुणनउइ, अमसीउलसीअसीइगुणसीइ ।

अट्ठ य छप्पन्नत्तरि, नव अट्ठ य नामसंताणि ॥३१॥

नाम्नो नामकर्मणो द्वादश सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षमशीतिः अशीतिरेकोनाशीतिरष्टसप्ततिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टाविति । तत्र सर्वप्रकृतिसमुदायस्त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्ट सैव तीर्थकररहिता द्विनवतिस्त्रिनवतिरेवाहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गाहारकसंघाताहारकबन्धनरूपचतुष्टयेन रहिता एकोननवतिः । सैव तीर्थकररहिता अष्टाशीतिः ततो नरकगतिनरकानुपूर्व्योरथवा देवगतिदेवानुपूर्व्योरुद्वलितयोः षमशीतिः अथवा अशीतिः । तत्कर्म्मणो नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो नरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियशरीरवैक्रियाङ्गोपाङ्गवैक्रियसंघातवैक्रियबन्धनबन्धे षमशीतिः अथवा अशीतिः तत्कर्मणो देवगतिप्रायोग्यं बध्नतो देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियचतुष्टयबन्धे षमशीतिस्ततो नरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियचतुष्टयोद्वलने अथवा देवगतिदेवानुपूर्वीवैक्रियचतुष्टयोद्वलने कृते अशीतिः । ततो मनुजगतिमनुजानुपूर्व्योरुद्वलितयोरष्टसप्ततिः । एतान्यक्षपकाणां सत्तास्थानानि । क्षपकाणां पुनरमूनि त्रिनवतेर्नरकगतिर्नरकानुपूर्वी तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्व्येकेन्द्रियजातिर्द्वीन्द्रियजातिस्त्रीन्द्रियजातिश्चतुरिन्द्रियजातिः स्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणरूपे त्रयोदशके क्षीणे अशीतिर्भवति । द्विनवतेः क्षीणे एकोनाशीतिः एकोननवतेः क्षीणे षट्सप्ततिः अष्टाशीतेः क्षीणे पञ्चसप्ततिर्मनुष्यगतिः पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनामबादरपर्याप्तसुभगादेयशःकीर्त्तितीर्थकराणीति नवकं सत्तास्थानं तच्चायोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य प्राप्यते तदेव तीर्थकरकेवलिनश्चरमसमये तीर्थकरनामरहितमष्टकमिति । तदेवमुक्तानि सत्तास्थानानि ॥

सम्प्रति संवेधप्रतिपादनार्थमुपक्रमते ।

अट्ठयबारसबारस, बंधोदयसंतपयडिठाणाणि ।

ओहेणाएसेण य, जत्थ जहासंभवं विभजे ॥ ३२ ॥

नाम्नो बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानि यथाक्रममष्टौ द्वादश द्वादशसंख्याकानि तानि ओघेन सामान्येन आदेशेन च विशेषेण च यथासंभवं यानि यत्र यथा संभवन्ति तानि तत्र तथा विभजेत् विकल्पयेत् । उत्तरग्रन्थानुसारेण अत्र अमुकं बन्धस्थानं बध्नत एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानीति सामान्यं मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानेषु गत्यादिषु च मार्गणास्थानेषु प्रत्येकं एतावन्ति उदयस्थानानि एतावन्ति च सत्तास्थानानि एवं तेषां परस्परं संवेधः इत्यादेशः । अत्र प्रथमतः सामान्येन संवेधचिन्तां कुर्वन्नाह ॥

नवपंचोदयसंता, तेवीसे पणवीसछव्वीसे ।

अट्ठ चउरट्ठवीसे, नवसत्तिगुणतीसतीसम्मि ॥ ३३ ॥

एगेगमेगतीसे, एगे एगुदयअट्ठसंतम्मि ।

उवरयबंधो दस दस, वेयगसंतम्मि ठाणाणि ॥ ३४ ॥

त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नव नव उदयस्थानानि । पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तत्र त्रयोविंशतिबन्धोऽपर्याप्तकैकेन्द्रियप्रायोग्ये एव तद्बन्धकाश्च एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्याश्च । एतेषां च त्रयोविंशतिबन्धकानां यथायोगं सामान्येन नवोदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तथा त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयोऽपान्तरालगतौ वर्त्तमानानामेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणामवसेयः । तेषामपर्याप्तैकेन्द्रियाणां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनां षड्विंशत्युदयाः । पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां च मिथ्यादृष्टीनां सप्तविंशत्युदयाः पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनामेकत्रिंशदुदया विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मिथ्यादृष्टीनामुक्तशेषाः त्रयोविंशतिबन्धका न भवन्ति । तेषां च त्रयोविंशति—

बन्धकानां सामान्येन पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्त्तमानानां सर्वेषामपि पञ्चापि सत्तास्थानानि केवलं मनुष्याणामष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि यतोऽष्टसप्ततिर्मनुष्यानुपूर्व्यां उद्वलितायां प्राप्यते न च मनुष्याणां तदुद्वलनसंभवः । चतुर्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि केवलं वायुकायिकस्य वैक्रियं कुर्वतश्चतुर्विंशत्युदये वर्त्तमानस्याशीत्यष्टसप्ततिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि यतस्तस्य वैक्रियषट्कं मनुष्यद्विकं च नियमादस्ति यतो वैक्रियं हि साक्षादनुभवन् वर्त्तते इति न तदुद्वलयति तदभावाच्च न देवद्विकनरकद्विके अपि समकालं वैक्रियषट्कस्योद्वलनसंभवात्तथा स्वाभाव्यात् वैक्रियषट्के चोद्वलिते सति पश्चात् मनुष्यद्विकमुद्वलयति न पूर्वं तथा चोक्तं चूर्णौ " वेउव्वियछक्कं उव्वलेइ पच्छा मणुयदुगं उव्वलेइ" इत्यशीत्यष्टसप्ततिवर्जसत्तास्थानसंभवः । पञ्चविंशत्युदयेऽपि पञ्च सत्तास्थानानि तथाऽष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिकतैजस्कायिकान् अधिकृत्य प्राप्यते नान्यान् यतस्तैजस्कायिकवायुकायिकवर्जोऽन्यः सर्वोऽपि पर्याप्तको नियमान्मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नाति तथा चाह चूर्णिकृत् " तेउवाउवज्जो पज्जत्तगो मणुयगइं नियमा बंधइ " ततोऽन्यत्राष्टसप्ततिर्न प्राप्यते । षड्विंशत्युदयेऽपि पञ्चापि सत्तास्थानानि नवरमष्टसप्ततिरवैक्रियवायुकायिकतैजस्कायिकानां द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाणां वा तेजोवायुभवादनन्तरगतानां पर्याप्तापर्याप्तानां ते हि यावन्मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ न बध्नन्ति तावत्तेषामष्टसप्ततिः प्राप्यते नान्येषाम् । सप्तविंशत्युदये अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि । सप्तविंशत्युदयो हि तेजोवायुवर्जपर्याप्तबादरैकेन्द्रियवैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां तेषां चावश्यं मनुष्यद्विकसंभवादष्टसप्ततिर्न प्राप्यते । अथ कथं तेजोवायूनां सप्तविंशत्युदया न भवन्ति येन तद्वर्जनं क्रियते उच्यते सप्तविंशत्युदय एकेन्द्रियाणामातपोद्योतान्यतरप्रक्षेपे सति प्राप्यते । न च तेजोवायुष्वातपोद्योतोदयः संभवति ततस्तद्वर्जनम् । अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदेकत्रिंशत् त्रिंशदुदयेषु नियमादष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि अष्टाविंशत्युदयो हि पर्याप्तविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामेकत्रिंशदुदयश्च पर्याप्तविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिरश्चां ते चावश्यं मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्वीसत्कर्माण इति । तदेवं त्रयोविंशतिं यथायोगं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशत्संख्यानि भवन्ति पञ्चविंशतिषड्विंशतिबन्धकानामप्येवमेव केवलं पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यपञ्चविंशति (षड्विंशति) बन्धकानां देवानामेकविंशतिपञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्रूपेषु षट्सूदयस्थानेषु द्विनवतिरष्टाशीतिश्चेति द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । अपर्याप्तविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यां तु पञ्चविंशतिं देवा न बध्नन्ति अपर्याप्तेषु विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु च मध्ये देवानामुत्पादाभावात् । सामान्येन त्रयोविंशतिबन्धे पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रत्येकं नवाप्युदयस्थानान्यधिकृत्य चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टावुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत् । इह द्विधा अष्टाविंशतिर्देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगतिप्रायोग्यायां बन्धेऽष्टाप्युदयस्थानानि नानाजीवापेक्षया प्राप्यन्ते नरकगतिप्रायोग्यायास्तु बन्धे द्वे तद्यथा त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणामपान्तरालगतौ वर्त्तमानानामवसेयः । पञ्चविंशत्युदयः आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा । षड्विंशत्युदयः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां शरीरस्थानां सप्तविंशत्युदयः आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां तु सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयावपि यथाक्रमं शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तानां प्राणापानपर्याप्त्या चापर्याप्तानां तिर्यग्मनुष्याणां क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा । तथा आहारकसंयतानां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां च सम्यग्दृष्टीनां वा मिथ्यादृष्टीनां वाऽवसेयौ । त्रिंशदुदयस्तिर्यग्मनुष्याणां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च । तथा आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां च एकत्रिंशदुदयः पञ्चेन्द्रियतिरश्चां सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा नरकगतिप्रायोग्यां त्वष्टाविंशतिं बध्नतां त्रिंशदुदयः । पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनामेकत्रिंशदुदयः । पञ्चेन्द्रियतिरश्चां मिथ्यादृशामष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः एकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्रैकविंशत्युदये वर्त्तमाना देवगतिप्रायोग्याऽष्टाविंशतिर्बन्धकानां द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशत्युदयेऽप्यष्टाविंशतिबन्धकानामाहारकसंयतवैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां सामान्येन ते एव द्वे सत्तास्थाने । तत्र आहारकसंयतो नियमादाहारकसत्कर्मा ततस्तस्य द्विनवतिः सत्तास्थानं शेषाश्च तिर्यञ्चो मनुष्या वाऽऽहारकसत्कर्माणः तद्रहिताश्च भवन्ति ततस्तेषां द्वे अपि सत्तास्थाने । षड्विंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे सत्तास्थाने सामान्येन वेदितव्ये । त्रिंशदुदये देवगतिनरकगतिप्रायोग्याष्टाविंशतिबन्धकानां सामान्येन चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्र द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च प्रागिव भावनीया । एकोननवतिः पुनरेवं कश्चिन्मनुष्यस्तीर्थकरनामसत्कर्मा वेदकसम्यग्दृष्टिः पूर्वबद्धनरकायुष्को नरकाभिमुखः सम्यक्त्वात् प्रतिपत्य मिथ्यात्वं गतः तस्य तदा तीर्थकरनामबन्धाभावान्नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतः एकोननवतिः सत्तायां प्राप्यते । षडशीतिस्त्वेवं इह तीर्थकराहारकचतुष्कदेवगतिदेवानुपूर्वीनरकगतिनरकानुपूर्वीवैक्रियचतुष्टयरहिता त्रिनवतिरशीतिर्भवति तत्सत्कर्मा पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यो वा जातस्सन् सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो यदि विशुद्धः ततो देवगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तद्बन्धे च देवद्विकं वैक्रियचतुष्टयं सत्तायां प्राप्यते इति तस्य षडशीतिः । अथ सर्वसंक्लिष्टस्ततो नरकगतिप्रायोग्याऽष्टाविंशतिस्तद्बन्धे नरकद्विकं वैक्रियचतुष्टयं चावश्यं बध्यमानत्वात् सत्तायां प्राप्यते इत्येवमपि तस्य षडशीतिः । एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्चैकोननवतिरिह न प्राप्यते एकत्रिंशदुदयो हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु प्राप्यते न च तिर्यक्षु तीर्थकरनाम सम्भवति तीर्थकरनामसत्कर्मणां तिर्यक्षु चोत्पादाभावात् । षडशीतिसत्तास्थानभावना च प्रागिव वेदितव्या । तदेवमष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानान्यधिकृत्यैकोनत्रिंशत् संस्थानि सत्तास्थानानि भवन्ति (नवसत्तिगुणतीसतीसम्मि) एकोनत्रिंशति त्रिंशति च बध्यमानायां प्रत्येकं नव नव उदयस्थानानि सप्त च सत्तास्थानानि । तत्रोदयस्थानान्यमूनि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशत्युदयः

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां पर्याप्तापर्याप्तैकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुष्याणां देवनैरयिकाणां च । चतुर्विंशत्युदयः पर्याप्तापर्याप्तैकेन्द्रियाणां पञ्चविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां देवनैरयिकाणां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणां मिथ्यादृष्टीनां, षड्विंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां पर्याप्तापर्याप्तविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां, सप्तविंशत्युदयः पर्याप्तैकेन्द्रियाणां देवनैरयिकाणां वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणामष्टाविंशत्युदयः एकोनत्रिंशदुदयश्च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याणां वैक्रियतिर्यग्मनुष्यदेवनैरयिकाणां चात्रिंशदुदयः विकलेन्द्रियमनुष्याणां देवानामुद्योतवेदकानामेकत्रिंशदुदयः पर्याप्तविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामुद्योतवेदकानाम् । तथा देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतो मनुष्याविरतसम्यग्दृष्टेरुदयस्थानानि पञ्च । तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । आहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां च इमानि पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । असंयतानां संयतासंयतानां च वैक्रियं कुर्वतां मनुष्याणां त्रिंशद्वर्जानि चत्वार्युदयस्थानानि । त्रिंशत्कस्मान्न भवति इति चेत् उच्यते संयतान्मुक्त्वा अन्येषां मनुष्याणां वैक्रियमपि कुर्वतामुद्योतोदयाभावात् । सामान्येनैकोनत्रिंशद्बन्धे सप्त सत्तास्थानान्यमूनि तद्यथा त्रिनवतिः द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । तत्र विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां पर्याप्तापर्याप्तैकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये च वर्तमानानां पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । एवं चतुर्विंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशत्युदयेष्वपि वक्तव्यम् । सप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशदुदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि भावनीयानि । यथा त्रयोविंशतिबन्धकानां प्रागुक्ता । तथा अत्रापि वक्तव्या मनुजगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां तिर्यग्गतिमनुष्यगतिप्रायोग्यं पुनर्बध्नतां मनुष्याणां च स्वोदयस्थानेषु यथायोगं वर्तमानानामष्टसप्ततिवर्जानि तान्येव चत्वारि सत्तास्थानानि वेदितव्यानि । देवनैरयिकाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतां स्वस्वोदयेषु वर्तमानानां द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । केवलं नैरयिकस्य मिथ्यादृष्टेस्तीर्थकरसत्कर्मणो मनुष्यगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः स्वोदयेषु पञ्चसु यथायोगं वर्तमानस्यैकोननवतिरेवैका वक्तव्या यतस्तीर्थकरनामसहितस्याहारकचतुष्टयरहितस्यैव मिथ्यात्वगमनासंभवः " उभसंति उ न मिच्छो " इति वचनात् ततस्त्रिनवतेराहारकचतुष्केऽपनीते सत्येकोननवतिरेव तस्य सत्तायां भवति देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरनामसहितां बध्नतः पुनरविरतस्य सम्यग्दृष्टेर्मनुष्यस्यैकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एवं पञ्चविंशतिषड्विंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदुदयेष्वपि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने वक्तव्ये । आहारकसंयतानां पुनः स्वस्वोदये वर्तमानानामेकमेव त्रिनवतिरूपं सत्तास्थानमवगन्तव्यं तदेवं सामान्येनैकविंशत्युदये सप्त सत्तास्थानानि चतुर्विंशत्युदये पञ्च, पञ्चविंशत्युदये सप्त, षड्विंशत्युदये सप्त, सप्तविंशत्युदये षट्, अष्टाविंशत्युदये षट्, एकोनत्रिंशदुदये षट्, त्रिंशदुदये षट्, एकत्रिंशदुदये चत्वारि, सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत् सत्तास्थानानि। तथा तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतामेकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुजदेवनैरयिकाणामुदयस्थानानि भावितानि तथा त्रिंशतमप्युद्योतसहितां तिर्यग्गतिप्रायोग्यां बध्नतामेकेन्द्रियादीनामुदयसत्तास्थानानि भावनीयानि । मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरनामसहितां त्रिंशतं बध्नतां देवनैरयिकाणामुदयसत्तास्थानान्युच्यन्ते तत्र देवस्य यथोक्तां त्रिंशतं बध्नत एकविंशत्युदये वर्तमानस्य द्वे सत्तास्थाने त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । एकविंशत्युदये वर्तमानस्य नैरयिकस्यैकं सत्तास्थानमेकोननवतिस्त्रिनवतिरूपं तस्य सत्तास्थानं न भवति तीर्थकराहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् । उक्तं च चूर्णौ " जस्स तित्थगराहारगाणि जुगवं संति सो नेरइएसु न उववज्जइ " इति एवं पञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेष्वपि भावनीयं नवरं नैरयिकस्य त्रिंशदुदयो न विद्यते त्रिंशदुदयो हि उद्योते सति प्राप्यते न च नैरयिकस्योद्योतोदयो भवति तदेवं सामान्येन त्रिंशद्बन्धकानामेकविंशत्युदये सप्त चतुर्विंशत्युदये पञ्च पञ्चविंशत्युदये सप्त षड्विंशत्युदये पञ्च सप्तविंशत्युदये षट् अष्टाविंशत्युदये षट् एकोनत्रिंशदुदये षट् त्रिंशदुदये षट् एकत्रिंशदुदये चत्वारि सर्वसंख्यया द्विपञ्चाशत् (एगेगमेगतीसे) एकत्रिंशति बध्यमानायामेकमुदयस्थानं त्रिंशत् यतः एकत्रिंशत् देवगतिप्रायोग्यां तीर्थकराहारकद्विकसहितां बध्नतोऽप्रमत्तसंयतस्यापूर्वकरणस्य वा प्राप्यते न च ते वैक्रियमाहारकं वा कुर्वन्ति ततः पञ्चविंशत्यादय उदया न प्राप्यन्ते इति एकं सत्तास्थानम् त्रिनवतिः तीर्थकराहारकचतुष्टये एव सत्तासंभवात् (एगे एगुदय अट्ठसंतम्मि) एकस्मिन् यशःकीर्तिरूपे कर्मणि बध्यमाने एकमुदयस्थानं त्रिंशत् एको हि यशःकीर्तिं बध्नाति अपूर्वकरणादयस्ते चातिविशुद्धत्वाद्वैक्रियमाहारकं वा नारभन्ते ततः पञ्चविंशत्यादीन्युदयस्थानानीहापि न प्राप्यन्ते अष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्र यानि चत्वारि सत्तास्थानानि उपशमश्रेण्यामथवा क्षपकश्रेण्यां यावदनिवृत्तिबादरगुणस्थाने गत्वा त्रयोदश नामानि न क्षीयन्ते त्रयोदशसु च नामसु क्षीणेषु नानाजीवापेक्षयोपरितनानि चत्वारि लभ्यन्ते तानि च तावल्लभ्यन्ते यावत् सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानम् । (उवरयबंधे दस दस वेयगसंतम्मि ठाणाणि) उपरते बन्धे बन्धाभाव इत्यर्थः (वेयगत्ति) वेदनं वेदः वेद एव वेदकः वेदोदये इत्यर्थः सत्तायां च प्रत्येकं दश दश सत्तास्थानानि तथाऽमूनि दश उदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ च । तत्र विंशत्येकविंशती यथासंख्यमतीर्थकरतीर्थकरयोः सयोगिकेवलिनोः कार्मणकाययोगे वर्तमानयोः । षड्विंशतिसप्तविंशती तयोरेवौदारिकमिश्रकाययोगे वर्तमानयोरेव तीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य त्रिंशत्तस्यैव स्वरे निरुद्धे एकोनत्रिंशत्तस्यैवोच्छ्वासेऽपि निरुद्धेऽष्टाविंशतिस्तीर्थकरस्य स्वभावस्थस्य एकत्रिंशत् तस्यैव स्वरे निरुद्धे सति त्रिंशत् उच्छ्वासेऽपि निरुद्धे एकोनत्रिंशत् एवं च द्विधा त्रिंशदेकोनत्रिंशतौ प्राप्येते । अयोगिनस्तीर्थकरस्य चरमसमये वर्तमानस्य नवोदयाः अतीर्थकरस्यायोगिनश्चरमसमये अष्टोदयाः दश सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिरशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने एकोनाशीतिः पञ्च-

सप्ततिश्च एवं षड्विंशत्यष्टाविंशत्युदयेऽपि द्रष्टव्या । एकोनविंशत्युदये इमे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिश्च एवं सप्तविंशत्युदयेऽपि । एकोनत्रिंशति चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिरेकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च यत एकोनत्रिंशत्तीर्थकरस्यातीर्थकरस्य च भवति । तत्राद्ये द्वे तीर्थकरमधिकृत्य वेदितव्ये अन्तिमे द्वे अतीर्थकरमधिकृत्य । त्रिंशदुदयेऽष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशान्तकषायस्य क्षपकस्य च त्रयोदशकं न क्षीयते अन्यानि चत्वारि क्षीणत्रयोदशकस्य केवलिनो वा आहारकसत्कर्मणस्तीर्थकरस्याशीतिस्तस्यैवातीर्थकरस्यैकोनाशीतिः आहारकचतुष्टयरहितस्य तीर्थकरस्य क्षीणकषायस्य सयोगिकेवलिनो वा षट्सप्ततिः तस्यैवातीर्थकरस्य पञ्चसप्ततिः । एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिस्तीर्थकरकेवलिनो वेदितव्ये अतीर्थकरकेवलिन एकत्रिंशदुदयस्यैवाभावात् । नवोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिर्नव च तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयं तावदयोगिकेवलिनस्तीर्थकरस्य वेदितव्ये चरमसमये तु नव । अष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिरष्टौ च । तत्राद्ये द्वे अयोगिकेवलिनोऽतीर्थकरस्य द्विचरमसमयं यावत् वेदितव्ये चरमसमये त्वष्टाविति । एवं बन्धकस्य दशाप्युदयस्थानानि भवन्ति तदेवमुक्ता उत्तरप्रकृतीनां बन्धोदयसत्तास्थानभेदाः संवेधश्च ॥ संवेधस्वामित्वं गुणस्थानानि चाधिकृत्य स्वामी निदर्श्यते ।

तत्रोक्तक्रमेणैवैषां जीवस्थानानि ।

तिविगप्पपगइठाणे-हिं जीवगुणसन्निएसु ठाणेसु ।
भंगा पउंजियव्वा, जत्थ जहा संभवो भवइ ॥ ३५ ॥

त्रयो विकल्पा बन्धोदयसत्तारूपास्तेषां संबन्धीनि स्थानानि त्रिप्रकृतिस्थानानि त्रिविकल्पप्रकृतिस्थानानि तैर्जीवसंज्ञितेषु गुणसंज्ञितेषु च स्थानेषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु चेत्यर्थः । भङ्गाः पूर्वोक्तानुसारेण वक्ष्यमाणानुसारेण च प्रयोक्तव्याः । कथमित्याह (जत्थ जहा संभवो भवइ) यत्र येषु जीवस्थानेषु गुणस्थानेषु च यथा संभवो भवति यथा घटना भवति तत्र तथा प्रयोक्तव्याः यो यत्र यथा भङ्गो घटते स तत्र तथा कर्त्तव्य इत्यर्थः ।

तत्र प्रथमजीवस्थानान्यधिकृत्य प्रतिपादयति ।

तेरससु जीवसंखे-वएसु नाणंतरायतिविगप्पो ।
एकम्मि तिदुविगप्पो, करणं पइ एत्थ अविगप्पो ॥ ३६ ॥

संक्षिप्यन्ते संगृह्यन्ते जीवा एभिरिति संक्षेपा अपर्याप्तैकेन्द्रियत्वादयोऽवान्तरजातिभेदाः । जीवानां संक्षेपाः जीवसंक्षेपाः जीवस्थानानीत्यर्थः । पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु ज्ञानावरणान्तराययोर्बन्धोदयरूपास्त्रयो विकल्पास्तद्यथा पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता ज्ञानावरणान्तराययोर्ध्रुवबन्धोदयसत्ताकत्वात् (तिविगप्पो इति) द्विगुसमाहारत्वेऽप्यार्षत्वात्पुंस्त्वनिर्देशः (एगम्मि तिदुविगप्पो) एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणे जीवस्थाने त्रयो विकल्पा भवन्ति द्वौ वा विकल्पौ । तत्र त्रयो विकल्पा इमे पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता । एते च सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावत् प्राप्यन्ते ततः परं बन्धच्छेदे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च द्वौ विकल्पौ तद्यथा पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता अत्रान्यो भङ्गो न संभवति उदयसत्तयोर्युगपत् व्यवच्छेदात् (करणं पइ एत्थ अविगप्पोत्ति) इह केवलिनो मनोविज्ञानमधिकृत्य संज्ञिनो न भवन्ति द्रव्यमनःसंबन्धात् पुनस्तेऽपि संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते उक्तं च चूर्णौ "मणकरणे केवलिणो वि अत्थि तेण संनिणो वुच्चंति मणोविन्नाणं पडुच्च तेन सन्निणो हवंति त्ति" तत करणं द्रव्यमनो रूपं प्रतीत्य यः संज्ञी सयोगिकेवली वा भवस्थस्तस्मिन् । अत्र ज्ञानावरणेऽन्तराये च अविकल्पानामभावः । आमूलं तदुच्छेदे सति केवलित्वभावात् ।

सम्प्रति दर्शनावरणं जीवस्थानेषु चिन्तयति

तेरे नव चउपणगं, नव संतेगम्मि भंगमिक्कारा ।
वेअणिअआउगोए, विभज्ज मोहं परं वुच्छं ॥ ३७ ॥

पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु नवविधो बन्धश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्तेत्येतौ द्वौ विकल्पौ (एगम्मि भंगमिक्कारत्ति) एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपे एकादश भङ्गास्ते च तथा प्राक् सामान्येन संवेधचिन्तायामुक्तास्तथैवात्राप्यन्यूनातिरिक्ता वक्तव्याः (वेअणिअआउगोए विभज्जत्ति) वेदनीये आयुषि गोत्रे च यानि बन्धादिप्रकृतिस्थानानि तानि यथाक्रमं जीवस्थानेषु विभजेत् विकल्पयेत् । तत्रेयं वेदनीयगोत्रयोर्विकल्पनिरूपणार्थमन्तर्भाष्यगाथा

पज्जत्तगसन्नियरे, अट्ठ चउक्कं च वेयणियभंगा ।
सत्त य तिगं च गोए, पत्तेयं जीवठाणेसु ॥ ३८ ॥

पर्याप्ते संज्ञिनि वेदनीयस्याष्टौ भङ्गास्तद्यथा असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, अथवा असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकात् प्रभृति गुणस्थानकं यावत् न परतः परतोऽसातस्य बन्धाभावात् । तथा सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती । एतौ च द्वौ विकल्पौ मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिगुणस्थानकं यावत् प्राप्येते ततः परतो बन्धाभावे असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्योदयः सातासाते सती एतौ द्वौ विकल्पौ अयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत् प्राप्येते चरमसमये तु असातस्योदयः असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्य सातस्योदयः सातस्य सत्तेति सर्वसंख्यया अष्टौ भङ्गाः । इह सयोगिकेवली अयोगिकेवली च द्रव्यमनोभिः संबन्धात्संज्ञी व्यवह्रियते ततः संज्ञिनि पर्याप्ते वेदनीयस्याष्टौ भङ्गाः उच्यमाना न विरुद्ध्यन्ते इतरेषु पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं प्रत्येकं चत्वारो भङ्गा भवन्ति तद्यथा असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती सातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती "सत्त य तिगं च गोए" इति गोत्रे गोत्रस्य संज्ञिनि पर्याप्ते सप्त भङ्गाः तद्यथा नीचैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् एष विकल्पस्तेजोवायुभवादुद्धृत्य तिर्यक्पञ्चेन्द्रियसंज्ञित्वेनोत्पन्ने कियत्कालं प्राप्यते उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एतौ च विकल्पौ पर्याप्ते संज्ञिनि मिथ्यादृष्टौ सासादने वा प्राप्येते न सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादौ तस्य नीचैर्गोत्रबन्धाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष विकल्पो मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकादारभ्य देशविरतगुणस्थानकं वा यावत् प्राप्यते न परतः परतो

नीचैर्गोत्रस्योदयाभावात् । तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष च विकल्पः सूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकं यावदवसेयः परतो बन्धाभावात् । उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती । एष विकल्प उपशान्तमोहगुणस्थानकादारभ्य सयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावदवाप्यते । उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चैर्गोत्रं सत् एष विकल्पोऽयोगिकेवलिचरमसमये इतरेषु पुनः पर्याप्तसंज्ञिव्यतिरिक्तेषु त्रयोदशसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गास्तद्यथा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् । अयं च विकल्पस्तेजोवायुषु उच्चैर्गोत्रोद्वलनानन्तरं सर्वकालं तेजोवायुभवादुद्धृत्य समुत्पन्नेषु वा पृथिव्यादिद्वीन्द्रियादिषु कियत्कालं प्राप्यते नान्येषु । तथा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती शेषा विकल्पा न संभवन्ति तिर्यक्षूच्चैर्गोत्रस्योदयाभावात् ।

संप्रत्यायुषो भङ्गा निरूप्यन्ते तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा

पज्जत्ता पज्जत्तग-समणा पज्जत्त अमणसेसेसु ।
अट्ठावीसं दसगं, नवगं पणगं च आउस्स ॥ ३९ ॥

समनाः संज्ञी तत्र पर्याप्ते संज्ञिन्यायुषो भङ्गाः अष्टाविंशतिः । अपर्याप्ते संज्ञिनि भङ्गानां दशकं पर्याप्ते अमनसि असंज्ञिनि पञ्चेन्द्रिये भङ्गानां नवकं शेषेष्वेकादशसु जीवस्थानेषु पुनर्भङ्गानां प्रत्येकं पञ्चकमिति । तत्र संज्ञिनि पर्याप्ते इमे अष्टाविंशतिर्भङ्गाः । नैरयिकस्य नरकायुष उदयो नरकायुः सत् अयं परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वं परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरकतिर्यगायुषी सती । अथवा मनुष्यायुषो बन्धः नरकायुष उदयः नरकमनुष्यायुषी सती । अथवा नरकायुष उदयः नरकमनुष्यायुषी सती । इह नारका देवायुर्नारकायुश्च भवप्रत्ययादेव न बध्नन्ति तत्रोत्पत्त्यभावात् । ततो नारकाणां परभवायुर्बन्धकाले बन्धोत्तरकाले च देवायुर्नारकायुर्भ्यां विकल्पाभावात् सर्वसंख्यया पञ्च विकल्पाः । एवं देवानामपि पञ्च विकल्पा भावनीया नवरं नारकायुःस्थाने देवायुरिति वक्तव्यम् तद्यथा देवायुष उदयः देवायुषः सत्ता इत्यादि । तथा तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषः सत्ता अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वं परभवायुर्बन्धकाले तु नरकायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः नरकतिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्तिर्यगायुषी सती । अथवा मनुष्यायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः मनुष्यतिर्यगायुषी सती । अथवा देवायुषो बन्धः तिर्यगायुष उदयः देवतिर्यगायुषी सती परभवायुर्बन्धोत्तरकालं तिर्यगायुष उदयो नरकतिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुष उदयस्तिर्यक्तिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्यतिर्यगायुषी सती अथवा तिर्यगायुष उदयः देवतिर्यगायुषी सती । सर्वसंख्यया संज्ञिपर्याप्ततिरश्चां नव विकल्पाः । एवं मनुष्याणामपि नव भङ्गा भावनीयाः केवलं तिर्यगायुःस्थाने मनुष्यायुरित्यभिधातव्यम् । तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता इत्यादि । तदेवं सर्वसंख्यया संज्ञिनि पर्याप्ते अष्टाविंशतिर्भङ्गा अपर्याप्ते संज्ञिनि आयुषो दश भङ्गास्ते च इमे तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषः सत्ता अयं विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वं परभवायुर्बन्धकाले तिर्यगायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयः तिर्यक्तिर्यगायुषः सत्ता । अथवा मनुष्यायुषो बन्धस्तिर्यगायुष उदयो मनुष्यतिर्यगायुषी सती परभवायुर्बन्धोत्तरकालं तिर्यगायुष उदयः तिर्यगायुषी सती । अथवा तिर्यगायुष उदयो मनुष्यतिर्यगायुषी सती । एवं तिरश्चोऽपर्याप्तसंज्ञिनः पञ्च भङ्गाः एवं मनुष्यस्यापि पञ्च वक्तव्याः । सर्वसंख्यया दश शेषा न भवन्ति । अपर्याप्तो हि संज्ञी तिर्यङ्मनुष्यो वा न देवनारकौ नचापि स देवायुर्नरकायुर्वा बध्नाति ततो दशैव यथोक्ता भङ्गाः । तथा ये प्राक् संज्ञितिरश्चां नव भङ्गा उक्तास्त एवासंज्ञिपर्याप्तेऽपि नव भङ्गा वक्तव्याः ततोऽसंज्ञी पर्याप्तस्तिर्यगेव भवति न मनुष्यादिः ततोऽत्र तदाश्रिता भङ्गा न प्राप्यन्ते । तथा ये पर्याप्तसंज्ञितिरश्चां पञ्च भङ्गाः प्रागुक्तास्त एव भङ्गाः शेषेष्वप्येकादशसु जीवस्थानेषु वक्तव्याः सर्वेषामपि तिर्यक्त्वात् देवादिषूत्पादाभावाच्च ।

(मोहं परं वोच्छं ति) अतः परं मोहनीयं जीवस्थानेषु वक्ष्ये ।

अट्ठसु पंचसु एगे, एगदुगं दस य मोहबंधगए ।
तिग चउ नव उदयगए, तिगतिगपन्नरस संतम्मि ॥४०॥

अष्टसु पञ्चसु एकस्मिंश्च यथाक्रममेकं द्वे दश च मोहनीयप्रकृतिबन्धगतानि स्थानानि भवन्ति तत्राष्टसु पर्याप्तापर्याप्तसूक्ष्मापर्याप्तबादरद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपेषु एकं बन्धस्थानं द्वाविंशतिरूपम् । द्वाविंशतिश्चेयं मिथ्यात्वं षोडश कषायाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरत् युगलं भयं जुगुप्सा चेति । अत्र त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां षट् भङ्गाः भवन्ति पर्याप्तबादरद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु इमे द्वे द्वे बन्धस्थाने तद्यथा द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्र द्वाविंशतिः प्रागिव सप्तभेदा वक्तव्या सैव च द्वाविंशतिर्मिथ्यात्वहीना एकविंशतिः सा च केषांचित् करणापर्याप्तावस्थायां सासादनभावे सति लभ्यते न सर्वेषां शेषकाले वा । अत्र चत्वारो भङ्गाः यत इह नपुंसकवेदो न बन्धमायाति मिथ्यात्वोदयाभावात् नपुंसकवेदस्य च मिथ्यात्वोदयनिबन्धनत्वात् ततो द्वाभ्यां वेदाभ्यां युगलाभ्यां चत्वार एव भङ्गाः एकस्मिंश्च पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने द्वाविंशत्यादीनि दश बन्धस्थानानि तानि च प्राग्वत्सप्तभेदानि वक्तव्यानि "तिग चउनवउदयविही" इति यथोक्तरूपेष्वष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि उदयस्थानानि तद्यथा अष्टौ नव दश च । अत्र सप्तकमुदयस्थानमनन्तानुबन्ध्युदयरहितं तन्न प्राप्यते तेषामवश्यमनन्तानुबन्ध्युदयसहितत्वात् वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेद एव, न स्त्रीवेदपुरुषवेदौ । ततोऽष्टोदये मिथ्यात्वं क्रोधादीनामन्यतमाश्चत्वारः क्रोधादिका नपुंसकवेदोऽन्यतरत् युगलमित्येवंरूपेश्चतुर्भिः क्रोधादिभिर्द्वाभ्यां च युगलाभ्यां भङ्गा अष्टौ एवं भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायां नवोदयः । अत्रैकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गाः अष्टौ अष्टौ प्राप्यन्ते इति सर्वसंख्यया नवोदये भङ्गाः षोडश । जुगुप्सयोस्तु युगपत् प्रक्षिप्तयोर्दशोदयः अत्र भङ्गा अष्टौ । सर्वसंख्यया अष्टसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशद्भङ्गाः । तथा उक्तरूपेषु पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र सासादनकाले एकविंशतिबन्धे सप्ताष्टनवरूपाणि त्रीणि उदयस्थानानि वेदश्च तेषामुदयप्राप्तो नपुंसकवेदस्ततोऽन्यतमे चत्वारः क्रोधादिका नपुंसकवेदोऽन्यतरयुगलमिति । सप्तोदय एकविंशतिबन्धे ध्रुवः अत्र प्रागिवाष्टौ भङ्गाः । ततो भये जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टोदयः अत्राष्टावेव भङ्गाः सर्वसंख्यया सासादनभावे भङ्गाः द्वात्रिंशत् सासादनभावाभावे द्वाविंशतिबन्धे पुनः त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा अष्टौ नव दश च । एतानि प्रागिव भावनीयानि चूर्णिकारस्त्वसंज्ञिन्यपि लब्धपर्याप्तिके त्रीन् वेदान् यथायोगमुदयप्राप्तानि-

न्ति ततस्तन्मतेन तस्य द्वाविंशतिबन्धे एकविंशतिबन्धे च प्रत्येकमेकैकस्मिन् सप्तादा उदयस्थाने त्रिभिर्वेदैश्चतुर्विंशतिर्भङ्गाः। अवसेयाः । एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिरूपे जीवस्थाने नवोदयस्थानानि तानि च प्रागिव सप्तभेदानि वक्तव्यानि (तिगतिगपन्नरस संतमिमत्ति) अष्टसु पूर्वोक्तरूपेषु जीवस्थानेषु त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । पञ्चस्वपि चोक्तरूपेषु जीवस्थानेषु तान्येव त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि एकस्मिन् पर्याप्तसंज्ञिनि पञ्चेन्द्रियरूपे जीवस्थाने पुनः पञ्चदश सत्तास्थानानि तानि च प्रागिव सप्तभेदानि वक्तव्यानि। संप्रति संवेध उच्यते। तत्राष्टसु जीवस्थानेषु द्वाविंशतिर्बन्धस्थानं त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा अष्टौ नव दश च । एकैकस्मिन् उदयस्थाने त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च । सर्वसंख्यया नव सत्तास्थानानि एवमुक्तरूपेषु । जीवस्थानेषु द्वे द्वे बन्धस्थाने तद्यथा द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च । तत्र द्वाविंशतिबन्धे प्रागुक्तान्येव त्रीण्युदयस्थानानि एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने तान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि एकविंशतिबन्धे अमूनि त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव । एकैकस्मिंश्च उदयस्थाने एकैकं सत्तास्थानमष्टाविंशतिः । एकविंशतिबन्धो हि सासादनभावमुपागतेषु प्राप्यते सासादनाश्चावश्यमष्टाविंशतिसत्कर्माणस्तेषां दर्शनत्रिकस्य नियमतो भावात् । ततस्तेषु सत्तास्थानमष्टाविंशतिः एकविंशतिबन्धे त्रीणि सत्तास्थानानि द्वाविंशतिबन्धे च नव इति । सर्वसंख्यया पञ्चसु जीवस्थानेषु प्रत्येकं द्वादश द्वादश सत्तास्थानानि भवन्ति एकस्मिन् संज्ञिपर्याप्ते पुनर्जीवस्थाने संवेधः प्रागुक्त एव सप्रपञ्चो द्रष्टव्यः । कर्म० ६ क० ।

संप्रति नामकर्मजीवस्थानेषु चिन्तयन्नाह ॥

पणदुगपणगं पणचउ-पणगं पणगा हवंति तिन्नेव ।
पणछप्पणगं छच्छ-प्पणगं अट्ठट्ठदसगं ति ॥ ४१ ॥
सत्तेव अपज्जत्ता, सामी सुहुमा य बायरा चेव ।
विगलिंदिया उ तिन्नि उ,तह य असन्नी य सन्नी य ।४२।

अनयोर्गाथयोः पदानां यथाक्रमं संबन्धस्तद्यथा " पणदुगपणगंति सामी सत्तेव अपज्जत्ता " बन्धोदयसत्ताप्रकृतिस्थानानां यथाक्रमं पञ्चकं द्विकं पञ्चकं च प्रतिस्वामिनः सप्तैवापर्याप्ताः । इयमत्र भावना सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि द्वे द्वे उदयस्थाने पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तत्र बन्धस्थानान्यमूनि त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् अपर्याप्ता हि सप्तापि तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्यमेव बध्नन्ति न देवनरकप्रायोग्यं ततो यथोक्तान्येवेह बन्धस्थानानि प्राप्यन्ते न न्यूनाधिकानि च । तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्याणि प्रागिव सप्रपञ्चं वक्तव्यानि उदयस्थाने पुनरपर्याप्तसूक्ष्मबादरैकेन्द्रिययोरिमे एकविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च । तत्रापर्याप्तबादरस्यैकविंशतिरियं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी तैजसकार्मणागुरुलघुवर्णादिचतुष्टयमेकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम बादरनाम अपर्याप्तकनाम स्थिरास्थिरे शुभाशुभे दुर्भगमनादेयमयशःकीर्त्तिर्निर्माणमिति— एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते अत्र च एक एव भङ्गः उभयोरपि तस्यामेकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातनाम प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयेऽपि प्रक्षिप्ते तिर्यगानुपूर्व्यां चापनीतायां चतुर्विंशतिः। अत्र प्रत्येकसाधारणाभ्यां सूक्ष्मापर्याप्तस्य च प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ तदेवं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वयोरपि प्रत्येकं त्रयस्त्रयो भङ्गाः। विकलेन्द्रियासंज्ञिसंज्ञ्यपर्याप्तानां प्रत्येकमिमे द्वे द्वे उदयस्थाने तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिश्च । तत्रैकविंशतिरपर्याप्तद्वीन्द्रियाणामियं तैजसं कार्म्मणमगुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्म्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिः त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयम यशःकीर्तिरिति एषा चैकविंशतिरपान्तरालगतौ वर्त्तमानस्यावसेया । अत्र सर्वाण्यपि पदान्यप्रशस्तान्येवेति कृत्वा एक एव भङ्गः ततः शरीरस्थस्यौदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्तसंहननमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षड्विंशतिर्भवति। अत्राप्येक एव भङ्गः। एवं त्रीन्द्रियादीनामप्यवगन्तव्यं नवरं द्वीन्द्रियजातिस्थाने त्रीन्द्रियजातिरित्युच्चारणीयं तदेवमपर्याप्तद्वीन्द्रियादीनां प्रत्येकं द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य द्वौ द्वौ भङ्गौ वेदितव्यौ केवलमपर्याप्तसंज्ञिनश्चत्वारः यतो द्वौ भङ्गावपर्याप्तसंज्ञिनस्तिरश्चः प्राप्येते द्वौ चापर्याप्तसंज्ञिनो मनुष्यस्येति प्रत्येकं सप्तानामपर्याप्तानां पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । एतेषां च स्वरूपं प्रागिव द्रष्टव्यम् " पणचदुपणगंति सुहुमा " इति संबध्यते सूक्ष्मस्य पर्याप्तस्य पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतानि च तिर्यङ्मनुष्यप्रायोग्याण्येव द्रष्टव्यानि तत्रैव सूक्ष्मपर्याप्तस्योत्पादसंभवात् । एतेषां च स्वरूपं प्रागिव सप्रपञ्चं द्रष्टव्यम् । उदयस्थानानि चत्वारि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः । तत्रैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणमगुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयंनिर्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम सूक्ष्मनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयमयशःकीर्त्तिरिति । एषा चैकविंशतिः सूक्ष्मपर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य वेदितव्या । अत्रैको भङ्गः प्रतिपक्षपदविकल्पस्यैकस्याप्यभावात् । अस्यामेवैकविंशतौ औदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातं प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयं प्रक्षिप्यते पञ्चविंशतिः तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति । सा च शरीरस्थस्य प्राप्यते तत्र प्रत्येकसाधारणाभ्यां द्वौ भङ्गौ ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते क्षिप्ते पञ्चविंशतिः अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशतिरत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ सर्वसंख्यया सूक्ष्मपर्याप्तस्य चत्वार्युदयस्थानान्यधिकृत्य भङ्गाः सप्त पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । केवलं पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकं यः साधारणपदेन सह भङ्गस्तत्राष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि वक्तव्यानि। शरीरपर्याप्त्या हि पर्याप्तस्तेजोवायुवर्जः सर्वोऽपि मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ नियमात् बध्नाति पञ्चविंशतिषड्विंशत्युदयौ च शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य भवतः ततः साधारणस्य सूक्ष्मपर्याप्तस्य पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये चाष्टसप्ततिर्न प्राप्यते प्रत्येकपदे पुनस्तेजोवायुकायिकावप्यन्तर्भवत इति तदपेक्षया तत्राष्टसप्ततिर्लभ्यते । तदेवं साधारणपदानुगौ पञ्चविंशतिसत्कौ द्वौ भङ्गौ चतुःसत्तास्थानकौ शेषास्तु पञ्च भङ्गाः पञ्च सत्तास्थानकाः " पणगा हुंति तिन्नेव" अत्र बादरा इति संबध्यते पर्याप्तबादरैकेन्द्रियस्य पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतानि तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्याणि तानि च प्रागिव

द्रष्टव्यानि । उदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः । तत्रैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणं गुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी एकेन्द्रियजातिः स्थावरनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयमयशःकीर्तिरिति । एषा चैकविंशतिः पर्याप्तबादरस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया । अत्र यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां द्वौ भङ्गौ ततः शरीरस्थस्यौदारिकशरीरं हुण्डसंस्थानमुपघातनाम प्रत्येकसाधारणयोरेकतरमिति प्रकृतिचतुष्टयं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततश्चतुर्विंशतिर्भवति । अत्र प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारो भङ्गाः । वैक्रियं कुर्वतः पुनर्बादरवायुकायिकस्यैकः यतस्तस्य साधारणयशःकीर्ती उदयं नागच्छतः । अन्यच्च वायुकायिकचतुर्विंशतावौदारिकशरीरस्थाने वैक्रियशरीरमिति वक्तव्यं शेषं तथैव सर्वसंख्यया चतुर्विंशतौ पञ्च भङ्गाः । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रक्षिप्ते पञ्चविंशतिरत्रापि तथैव पञ्च भङ्गास्ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते षड्विंशतिः । अत्रापि तथैव पञ्च भङ्गाः । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासेऽनुदिते आतपोद्योतान्यतरस्मिन्नुदिते षड्विंशतिः । अत्रातपेन प्रत्येकयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ साधारणस्यातपोदयाभावात् तदाश्रितौ विकल्पौ न भवतः । उद्योतेन प्रत्येकसाधारणयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारः सर्वसंख्यया षड्विंशतावेकादश भङ्गाः ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायां षड्विंशतौ आतपोद्योतयोरन्यतरस्मिन् प्रक्षिप्ते सप्तविंशतिः । अत्र प्रागिवातपेन द्वौ उद्योतेन सह चत्वार इति सर्वसंख्यया सप्तविंशतौ षड् भङ्गाः सर्वे बादरपर्याप्तस्य भङ्गा एकोनत्रिंशत् सत्तास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । इह पञ्चविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च प्रत्येकायशःकीर्तिभ्यामेकैको द्वौ भङ्गौ यौ च द्वौ भङ्गावेकविंशतौ ये च वैक्रियबादरवायुकायिकवर्जाश्चतुर्विंशतौ भङ्गाश्चत्वारस्ते सर्वेऽपि संख्ययाऽष्टौ पञ्चस्थानकाः शेषास्त्वेकविंशतिसंख्यकाश्चतुःस्थानकाः । "पणछप्पणगंति" अत्र "विगलिंदिया उ तिन्नि उ" इति संबध्यते विकलेन्द्रियाणां त्रयाणां पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतान्यपि तिर्यग्मनुष्यप्रायोग्याणि तानि च प्रागिव द्रष्टव्यानि षड् उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् तत्र पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणमगुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी द्वीन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम दुर्भगमनादेयं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरमिति । एषा चैकविंशतिः पर्याप्तद्वीन्द्रियस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्यावसेया अत्र द्वौ भङ्गौ यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां ततः शरीरस्थस्य औदारिकाङ्गोपाङ्गं हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तसंहननमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षड्विंशतिर्भवति । अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्तविहायोगतौ प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ । प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ अत्रापि तस्यामेवाष्टाविंशतौ उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते एकोनत्रिंशत् अत्रापि तावेव द्वौ भङ्गौ सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशत् चत्वारो भङ्गाः । ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वरदुःस्वरयोरेकतरस्मिन् क्षिप्ते त्रिंशद्भवति अत्र भङ्गाः सुस्वरदुःस्वरयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैश्चत्वारः । अथवा उच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशत् अत्रोद्योतयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैर्द्वौ भङ्गौ सर्वसंख्यया त्रिंशति षड् भङ्गाः । स्वरसहितायामेव त्रिंशत् । अत्र सुस्वरदुःस्वरयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैर्भङ्गाश्चत्वारः सर्वसंख्यया पर्याप्तद्वीन्द्रियस्य भङ्गा विंशतिः सत्तास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । अत्र यावेकविंशत्युदये द्वौ भङ्गौ यौ च षड्विंशत्युदये एते चत्वारः पञ्च सत्तास्थानकाः यतोऽष्टसप्ततिस्तेजोवायुभवादुद्वृत्य पर्याप्तद्वीन्द्रियत्वेनोत्पन्नानधिकृत्य कियत्कालं प्राप्यते शेषास्तु षोडश भङ्गाश्चतुःसत्तास्थानकास्तेष्वष्टसप्ततेरप्राप्यमाणत्वात् । तेजोवायुवर्जा हि शरीरपर्याप्त्या नियमतो मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्यौ बध्नन्ति ततः सप्तविंशत्युदयेष्वष्टसप्ततिर्न प्राप्यते एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां वक्तव्यम् (छच्छप्पणगं ति) अत्र "असन्नी य" इति संबध्यते असंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य पर्याप्तस्य षड् बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रिया हि पर्याप्ता नरकगतिदेवगतिप्रायोग्यमपि बध्नन्ति ततस्तेषामष्टाविंशतिरपि बन्धस्थानं लभ्यते षडुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशतिरियं तैजसं कार्मणं गुरुलघु स्थिरास्थिरे शुभाशुभे वर्णादिचतुष्टयनिर्माणं तिर्यग्गतिस्तिर्यगानुपूर्वी पञ्चेन्द्रियजातिस्त्रसनाम बादरनाम पर्याप्तकनाम सुभगदुर्भगयोरेकतरमादेयानादेययोरेकतरं यशःकीर्त्ययशःकीर्त्योरेकतरमिति एषा चैकविंशतिरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यापर्याप्तस्यापान्तरालगतौ वर्तमानस्य प्राप्यते अत्र सुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्तिभिरष्टौ भङ्गाः ततः शरीरस्थस्य औदारिकमौदारिकाङ्गोपाङ्गं षण्णां संस्थानानामेकतमत् संस्थानं षण्णां संहननानामेकतमत् संहननमुपघातं प्रत्येकमिति प्रकृतिषट्कं प्रक्षिप्यते तिर्यगानुपूर्वी चापनीयते ततः षड्विंशतिः । अत्र षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुभगदुर्भगाभ्यामादेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां च द्वे शते भङ्गानामष्टाशीत्यधिके । ततः शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य पराघाते प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगत्योरन्यतरविहायोगतौ च प्रक्षिप्तायामष्टाविंशतिः अत्र पाश्चात्या एव भङ्गा विहायोगतिद्विकेन गुण्यन्ते ततो भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भवन्ति । ततः प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वासे क्षिप्ते एकोनत्रिंशत् । अत्रापि भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । अथवा शरीरपर्याप्त्या पर्याप्तस्य उच्छ्वासेऽनुदिते उद्योते तूदिते एकोनत्रिंशत् । अत्रापि पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि भङ्गानां सर्वसंख्यया एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ततो भाषापर्याप्त्या पर्याप्तस्योच्छ्वाससहितायामेकोनत्रिंशति सुस्वरदुःस्वरयोरेकतरस्मिन् प्रक्षिप्ते त्रिंशद्भवन्ति । अत्र पाश्चात्यान्युच्छ्वासलब्धानि भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि सुस्वरद्विकेन गुण्यन्ते ततः एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि भवन्ति । अथवा प्राणापानपर्याप्त्या पर्याप्तस्य स्वरेऽनुदिते उद्योतनाम्नि तूदिते त्रिंशद्भवन्ति अत्र भङ्गानां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि सर्वसंख्यया त्रिंशति भङ्गाः सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि ततः स्वरसहितायां त्रिंशति उद्योते प्रक्षिप्ते एकत्रिंशद्भवति अत्र भङ्गानामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि सर्वसंख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्यैकोनपञ्चाशच्छतानि चतुरधिकान्यसं-

ज्ञिपञ्चेन्द्रियाश्च वैक्रियलब्धिहीनत्वात् वैक्रियं नारभन्ते ततस्तदाश्रिता उदयविकल्पा न प्राप्यन्ते । सत्तास्थानानि पञ्च तद्यथा द्विनवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च तत्रैकविंशत्युदयसत्का अष्टौ भङ्गाः षड्विंशत्युदयसत्काश्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसंख्याः पञ्च सत्तास्थानकाः शेषाः सर्वेऽपि चतुःस्थानकाः । युक्तिरत्र प्रागुक्ता द्रष्टव्या (अट्ठछद्सगं ति) संज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्याप्तस्य सर्वाणि बन्धस्थानानि तानि चाष्टौ विंशतिचतुर्विंशतिनवाष्टरहितानि सर्वाण्यप्युदयस्थानानि तान्यप्यष्टौ विंशतिनवाष्टोदया हि केवलिनो भवन्ति चतुर्विंशत्युदयश्चैकेन्द्रियाणामत एते वर्ज्यन्ते । अत्र केवली संज्ञित्वेन न विवक्षित इति कृत्वा तदुदयनिषेधो नवाष्टरहितानि सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि तानि च दश अत्राप्येकविंशत्युदयभङ्गा अष्टौ षड्विंशत्युदयभङ्गाश्चाष्टाशीत्यधिकशतद्वयसंख्याः पञ्च सत्तास्थानकाः शेषाश्चतुःसत्तास्थानकाः । सम्प्रति संवेधश्चिन्त्यते । सूक्ष्मैकेन्द्रियाणामपर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिः अशीतिः अष्टसप्ततिश्च । एवं चतुर्विंशत्युदयेऽपि सर्वसंख्यया दश एवं पञ्चविंशति षड्विंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि द्वे द्वे उदयस्थाने अधिकृत्य प्रत्येकं दश दश सत्तास्थानानि अवगन्तव्यानि सर्वसंख्यया पञ्चाशत् । एवमन्येषामपि षण्णामपर्याप्तानां भावनीयं नवरमात्मीये आत्मीये उदयस्थाने प्रागुक्तस्वरूपे वक्तव्ये सूक्ष्मपर्याप्तविंशतिबन्धकानामेकविंशत्यादिषु चतुर्ष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया विंशतिः एवं पञ्चविंशतिः षड्विंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यं ततः सूक्ष्मपर्याप्तानां सर्वसंख्यया सत्तास्थानानां शतं बादरैकेन्द्रियपर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशतिचतुर्विंशतिषड्विंशत्युदयेषु पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि सप्तविंशत्युदये चत्वारि सर्वसंख्यया चतुर्विंशतिः एवं पञ्चविंशतिः षड्विंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकानामपि प्रत्येकं चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया पर्याप्तबादरैकेन्द्रियाणां विंशतिशतं सत्तास्थानानाम् । द्वीन्द्रियपर्याप्तकानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदेकत्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सर्वसंख्यया षड्विंशतिः । एवं पञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानां प्रत्येकं षड्विंशतिः षड्विंशतिः सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया त्रिंशच्छतम् । एवं त्रयाणां चतुरिन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां वक्तव्यम् । असंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामपि पर्याप्तानां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये च प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशदुदयेषु तु चत्वारि चत्वारीति सर्वसंख्यया षड्विंशतिः । पञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । अष्टाविंशतिबन्धकानां पुनस्तेषां द्वे एवोदयस्थाने तद्यथा त्रिंशदेकत्रिंशच्च तत्र प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । अष्टाविंशतिर्हि देवगतिप्रायोग्या ततस्तस्यां बध्यमानायामवश्यं वैक्रियचतुष्टयादि बध्यते इत्यशीत्यष्टसप्तती न प्राप्येते सर्वसंख्यया पर्याप्तासंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां षट्त्रिंशदधिकं सत्तास्थानानां शतं पर्याप्तसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानां प्रागिव षड्विंशतिः सत्तास्थानानि वाच्यानि । एवं पञ्चविंशतिबन्धकानामपि नवरं देवानां पञ्चविंशतिबन्धकानां पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च एते एव द्वे पञ्चविंशतिषड्विंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेष्वपि प्रत्येकं वक्तव्ये त्रिंशदुदये चत्वारि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । एतेषां च भावना प्रागेवाष्टाविंशतिबन्धे संवेधचिन्तायां विस्तारेण कृतेति न भूयः क्रियते विशेषाभावात् ग्रन्थगौरवभयाच्च । एकत्रिंशदुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिबन्धकानामेकोनविंशतिः सत्तास्थानानि एकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि तानि च त्रिंशत् नवरमत्र विशेषो भण्यते अविरतसम्यग्दृष्टेर्देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः एकविंशतिषड्विंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने भवतः । तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च वैक्रियसंयतासंयतानधिकृत्य ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने । अथवाऽऽहारकसंयतानधिकृत्य पञ्चविंशत्युदये च त्रिनवतिः नैरयिकं तीर्थकरसत्कर्माणं मिथ्यादृष्टिमधिकृत्यैकोननवतिः । सर्वाणि चतुर्दश सर्वसंख्ययैकोनत्रिंशद्बन्धकानां सत्तास्थानानि चतुश्चत्वारिंशत् त्रिंशद्बन्धकानामपि सत्तास्थानानि पञ्चविंशतिबन्धकानामिव भावनीयानि तानि च त्रिंशत्, केवलं देवानां मनुजगतिप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां त्रिंशतं बध्नतामेकविंशतिपञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च एतानि च द्वादश ततः सर्वसंख्यया त्रिंशद्बन्धकानां द्विचत्वारिंशत्सत्तास्थानानि एकत्रिंशद्बन्धकानामष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामथवा क्षपकश्रेण्यां यावन्नाद्यापि त्रयोदश नामानि क्षीयन्ते तेषु तु क्षीणेषु उपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि लभ्यन्ते बन्धाभावे संज्ञिपर्याप्तानामष्टौ सत्तास्थानानि तानि च अनन्तरोक्तान्येव द्रष्टव्यानि केवलमाद्यानि चत्वारि क्षीणमोहगुणस्थाने तदेवं सर्वसंख्यया संज्ञिपर्याप्तानां द्वे सत्तास्थानानामष्टाधिके । यदि पुनर्द्रव्यमनोऽभिः सम्बन्धादत्र केवलिनोऽपि संज्ञिनो विवक्ष्यन्ते तदानीं केवलिसत्कानि षड्विंशतिसत्तास्थानान्यपि भवन्ति तद्यथा केवलिनां दश उदयस्थानानि तद्यथा विंशतिः एकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टौ च । तत्र विंशत्युदये द्वे सत्तास्थाने तद्यथा एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एते एव षड्विंशत्युदयाष्टाविंशत्युदययोरपि प्रत्येकं द्रष्टव्ये एकविंशत्युदयेऽपि इमे द्वे सत्तास्थाने अशीतिः षट्सप्ततिश्च ते एव सप्तविंशत्युदयेऽपि एकोनत्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि । तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिः एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिश्च । एकोनत्रिंशदुदयो हि तीर्थकरे अतीर्थकरे च प्राप्यते तत्र तीर्थकरमधिकृत्य द्वे द्वे सत्तास्थाने अतीर्थकरमधिकृत्य पुनरन्तिमे त्रिंशदुदये चत्वारि पूर्वोक्तानि एव एकत्रिंशदुदये द्वे अशीतिः षट्सप्ततिश्च । नवोदये त्रीणि तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिः नव च । तत्राद्ये द्वे तीर्थकरस्यायोगिकेवलिनो द्विचरमसमयं यावत् चरमसमये त्ववशिष्टमिति सर्वसमुदायेन संज्ञिनां चतुस्त्रिंशदधिके द्वे शते सत्तास्थानानां तदेवं जीवस्थानान्यधिकृत्य स्वामित्वमुक्तम् ।

संप्रति गुणस्थानान्यधिकृत्याह ।

नाणंतरायतिविहम–वि दससु दो होंति दोसु ठाणेसु ।
मिच्छासाणे बीए, नव चउपण नव य संतंसा ॥ ४६ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतिषु सूक्ष्मसंपरायपर्यन्तेषु दशसु गुणस्थानेषु ज्ञानावरणमन्तरायं च त्रिविधमपि बन्धोदयसत्तापेक्षया त्रिप्रकारमपि भवति मिथ्यादृष्ट्यादिषु दशसु गुणस्थानकेषु ज्ञानावरणस्यान्तरायस्य च पञ्चविधो बन्धः पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता इत्यर्थः । द्वयोः पुनर्गुणस्थानकयोरुपशान्तमोहक्षीणमोहरूपयोर्द्वे उदयसत्ते स्तः न बन्धः बन्धस्य सूक्ष्मसंपराये व्यवच्छिन्नत्वात् । एतदुक्तं भवति बन्धाभावे उपशान्तमोहे क्षीणमोहे वा ज्ञानावरणीयान्तराययोः प्रत्येकं पञ्चविध उदयः पञ्चविधा सत्ता भवतीति परत उदयसत्तयोरप्यभावः (मिच्छासाणे बीएत्ति) द्वितीये द्वितीयस्य दर्शनावरणस्य मिथ्यादृष्टौ सासादने च नवविधो बन्धः चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता इति द्वौ विकल्पौ द्वयोर्गुणस्थानकयोस्त्यानर्द्धित्रिकस्य नियमतो बन्धात् (नव य संतंस त्ति) नव च सत्तांशाः सत्ताभेदाः सत्प्रकृतय इत्यर्थः । एतेन च द्वौ विकल्पौ दर्शितौ तद्यथा नवविधो बन्धः चतुर्विध उदयः नवविधा सत्ता अथवा नवविधो बन्धः पञ्चविध उदयो नवविधा सत्ता ।

मिस्साइ नियट्टीओ, छच्चउ पण नव य संतकम्मंसा ।
चउबंधतिगे चउ पण, नवंसदुसु जुयलछस्संता ॥४४॥

मिश्रादिषु मिश्रप्रभृतिषु गुणस्थानकेषु अप्रमत्तगुणस्थानकपर्यन्तेषु निवृत्तौ च अपूर्वकरणे च अपूर्वकरणाद्धायाः प्रथमसंख्येयतमभागे चेत्यर्थः परतो निद्राद्विकबन्धव्यवच्छेदेन षड्विधबन्धासंभवात् तत एतेषु षड्विधो बन्धः चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयः नवविधा सत्ता इति द्वौ विकल्पौ (चउबंधतिगे चउपणनवंसत्ति) इहापूर्वकरणाद्धायाः प्रथमे संख्येयतमे भागे गते सति निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदो भवति ततः अत ऊर्द्धमपूर्वकरणेऽपि चतुर्विध एव बन्धः । ततस्त्रिके अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायरूपे चतुर्विधो बन्धश्चतुर्विध उदयः पञ्चविधो वा उदयः (नवंसइति) नवविधा सत्तेति प्रत्येकं द्वौ द्वौ विकल्पौ (अंस इति) सत्ताऽभिधीयते । एतच्चोक्तमुपशमश्रेणिमधिकृत्य क्षपकश्रेण्यां गुणस्थानकत्रयेऽपि पञ्चविधस्योदयस्य सूक्ष्मसंपराये च नवविधायाः सत्तायाः अप्राप्यमाणत्वात् (दुसुजुयलछस्संतित्ति) इह क्षपकश्रेण्यामनिवृत्तिबादरसंपरायाद्धायाः संख्येयतमेषु भागेषु एकस्मिन् भागे संख्येयतमे अवतिष्ठमाने स्त्यानर्द्धित्रिकस्य सत्ताव्यवच्छेदो भवति ततस्तदनन्तरमनिवृत्तिबादरेऽपि षड्विधा एव सत्ता भवति तत आह (दुसुत्ति) द्वयोरनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपराययोः युगलमिति बन्धोदयावुच्येते चतुर्गिति चानुवर्त्यते ततश्चतुर्विधो बन्धः चतुर्विध उदयः (छस्संतत्ति) षड्विधा सत्ता । अत्र पञ्चविध उदयो न प्राप्यते क्षपकाणामत्यन्तविशुद्धतया निद्राद्विकस्योदयाभावात् उक्तं च कर्मप्रकृतिचूर्णावुदीरणाकरणे "इंदियपज्जत्तीए अणंतरे समये सव्वो वि निद्दापयलमुदीरणे भवइ नवरं खीणकसायखवगे मुत्तूणं तेसु उदओ नत्थि त्ति काउं"

उवसंते चउ पण नव, खीणे चउरुदय छच्च चउ संता ।
वेयणिअआउगोए, विभज्ज मोहं परं वोच्छं ॥ ४५ ॥

उपशान्तमोहे बन्धो न भवति तस्य सूक्ष्मसंपराये एव व्यवच्छिन्नत्वात् ततः केवलश्चतुर्विधः पञ्चविधो वा उदयो नवविधा सत्ता उपशमकोपशान्तमोहा ह्यत्यन्तविशुद्धा न भवन्ति ततस्तेषु निद्राद्विकस्याप्युदयः संभवति । क्षीणे क्षीणमोहे चतुर्विधा सत्ता (वेयणिअआउगोए विभज्ज त्ति) वेदनीयायुर्गोत्राणां बन्धोदयसत्तास्थानानि यथागमं गुणस्थानकेषु विभजेत् विकल्पयेत् । तत्र वेदनीयगोत्रयोर्भङ्गनिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा ।

चउछस्सु दोण्णि सत्तसु, एगे चउ गुणिसु वेयणियभंगा ।
गोए पण चउ दो तिसु, एगट्ठसु दोण्णि एकम्मि ॥ ४६ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रमत्तसंयतपर्यन्तेषु षट्सु गुणस्थानेषु प्रत्येकं च वेदनीयस्य प्रथमाश्चत्वारो भङ्गास्ते चेमे असातस्य बन्धः असातस्योदयः सातासाते सती, असातस्य बन्धः सातस्योदयः सातासाते सती, सातस्य बन्धः असातस्य उदयः सातासाते सती, सातस्य बन्धः सातस्य उदयः सातासाते सती तथा अप्रमत्तसंयतादिषु सयोगिकेवलिपर्यन्तेषु सप्तसु गुणस्थानकेषु द्वौ भङ्गौ तौ चानन्तरोक्तावेव तृतीयचतुर्थौ ज्ञातव्यौ एते हि सातमेव बध्नन्ति नासातम् तथा एकस्मिन् अयोगिकेवलिनि चत्वारो भङ्गाः ते चेमे असातस्योदयः सातासाते सती अथवा सातस्योदयः सातासाते सती, एतौ द्वौ विकल्पावयोगिकेवलिनि द्विचरमसमयं यावत्प्राप्येते चरमसमये तु असातस्योदय असातस्य सत्ता यस्य द्विचरमसमये सातं क्षीणं, यस्य त्वसातं द्विचरमसमये क्षीणं तस्यायं विकल्पः सातस्योदयः सातस्य सत्ता (गोए इत्यादि) गोत्रे गोत्रस्य पञ्च भङ्गाः मिथ्यादृष्टौ ते चेमे नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः नीचैर्गोत्रं सत् एष विकल्पस्तेजस्कायिकवायुकायिकेषु लभ्यते तद्भवादुद्वृत्तेषु चाशेषजीवेषु कियत्कालं नीचैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती अथवा नीचैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती अथवा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः नीचैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती उच्चैर्गोत्रस्य बन्धः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती । सासादनस्य प्रथमवर्जाः प्रथमो हि भङ्गस्तेजोवायुकायिकेषु लभ्यते तद्भवादुद्वृत्तेषु वा कियत्कालं न च तेजोवायुषु सासादनभावो लभ्यते नापि तद्भवादुद्वृत्तेषु तत्कालम् । अतोऽत्र प्रथमभङ्गप्रतिषेधः । तथा त्रिषु मिश्राविरतदेशविरतेषु चतुर्थपञ्चमरूपौ द्वौ भङ्गौ भवतः न शेषाः मिश्रादयो हि नीचैर्गोत्रं न बध्नन्ति अन्ये त्वाहुर्वते देशविरतस्य पञ्चम एवैको भङ्गः "सामण्णेणं च य जाईए उच्चागोयस्स उदयो होइ" इति वचनात् (एगट्ठसुत्ति) प्रमत्तसंयतप्रभृतिषु अष्टसु गुणस्थानेषु प्रत्येकमेकैको भङ्गः तत्र प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायेषु केवलः पञ्चमो भङ्गः तेषामुच्चैर्गोत्रस्य च बन्धोदयसंभवात् । उपशान्तमोहे क्षीणमोहे सयोगिकेवलिनि च बन्धाभावात् प्रत्येकमयं विकल्पः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती (दोण्णि एकम्मित्ति) एकस्मिन् अयोगिकेवलिनि द्वौ भङ्गौ उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चनीचैर्गोत्रे सती एष विकल्पश्चरमे द्विचरमसमये त्वेष विकल्पः उच्चैर्गोत्रस्योदयः उच्चैर्गोत्रं सत् । नीचैर्गोत्रं हि द्विचरमसमये एव क्षीणमिति चरमसमये न तत्प्राप्यते । संप्रत्यायुर्भङ्गा निरूप्यन्ते तन्निरूपणार्थं चेयमन्तर्भाष्यगाथा ।

अट्ठच्छाहिगवीसा, सोलसवीसं च बारसछदोसु ।
दो चउसु तीसु एकं, मिच्छाइसु आउगे भंगा ॥ ४७ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेष्वयोगिकेवलिगुणस्थानकपर्यन्तेषु क्रमेणैते अष्टाधिकविंशत्यादयः आयुषि भङ्गाः । तत्र मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकेष्वष्टाधिका विंशतिरायुषो भङ्गाः मिथ्यादृष्टयो हि चतुर्गतिका अपि संभवन्ति तत्र नैरयिकानधिकृत्य पञ्च तिरश्चोऽधिकृत्य नव मनुष्यानप्यधिकृत्य नव देवानधिकृत्य पञ्च एते च प्रागेव सप्रपञ्चं भाविता इति न ते भूयो भाव्यन्ते । सासादनस्य षडधिका विंशतिः यतस्तिर्यञ्चो मनुष्या वा सासादनभावे वर्तमाना नारकायुर्न बध्नन्ति ततः प्रत्येकं तिरश्चां

मनुष्याणां च परभवायुर्बन्धकाले एकैको भङ्गो न प्राप्यत इति षड्विंशतिः । सम्यग्मिथ्यादृष्टेः षोडश सम्यग्मिथ्यादृष्टयो हि आयुर्बन्धमारभन्ते ततः आयुर्बन्धकाले नारकाणां यौ द्वौ भङ्गौ ये च तिरश्चां चत्वारो ये च मनुष्याणामपि चत्वारः यौ च देवानां द्वौ तानेतान् द्वादश वर्जयित्वा शेषाः षोडश भवन्ति अविरतसम्यग्दृष्टेर्विंशतिर्भङ्गाः कथमिति चेदुच्यते तिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले ये नरकतिर्यग्मनुष्यगतिविषयास्त्रयस्त्रयो भङ्गाः यश्च देवनैरयिकाणां प्रत्येकमायुर्बन्धकाले तिर्यग्गतिविषय एकैको भङ्गः तानविरतसम्यग्दृष्टयो न बध्नन्ति ततः शेषा विंशतिरेव भवन्ति । देशविरतेर्द्वादश भङ्गा यतो देशविरतिस्तिर्यग्मनुष्याणामेव भवति ते च तिर्यग्मनुष्या देशविरता आयुर्बध्नन्तो देवायुरेव बध्नन्ति न शेषमायुस्ततस्तिरश्चां मनुष्याणां च प्रत्येकं परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वमेकैको भङ्गः परभवायुर्बन्धकालेऽपि चैकैक आयुर्बन्धोत्तरकाले च चत्वारश्चत्वारः । यतः केचित्तिर्यञ्चो मनुष्याश्चतुर्णामेकमन्यतमदायुर्बध्वा देशविरतिं प्रतिपद्यन्ते ततस्तदपेक्षया यथोक्ताश्चत्वारो भङ्गाः प्राप्यन्ते सर्वसंख्यया द्वादश (दो सु त्ति) द्वयोः प्रमत्ताप्रमत्तयोः प्रत्येकं षट् भङ्गाः प्रमत्ताप्रमत्तसंयता हि मनुष्या एव भवन्ति ततः आयुर्बन्धकालात् पूर्वमेकः आयुर्बन्धकालेऽप्येकः । प्रमत्ताप्रमत्ता हि देवायुरेवैकं बध्नन्ति न शेषमायुर्बन्धोत्तरकाले च प्रागुक्ता देशविरत्युक्तानुसारेण चत्वार इति (दो चउसु त्ति) चतुर्षु अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहरूपेषु गुणस्थानकेषूपशमश्रेणिमधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ भङ्गौ तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता एष विकल्पः परभवायुर्बन्धकालात्पूर्वमथवा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यदेवायुषी सती एष विकल्पः परभवायुर्बन्धोत्तरकालम् । एते ह्यायुर्न बध्नन्ति अतिविशुद्धत्वात् पूर्वबद्धायुषि उपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते देवायुष्येव नान्यायुषि तदुक्तं कर्मप्रकृतौ " तिसु आउगेसु बद्धेसु जेण सेढिं न आरुहइ " तत उपशमश्रेणिमधिकृत्य एतेषु द्वौ द्वावेव भङ्गौ पूर्वबद्धायुष्कास्तु न क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते तत उपशमश्रेणिमधिकृत्येत्युक्तं क्षपकश्रेण्यां त्वेतेषामेकैको भङ्गस्तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्तेति (तिसु इक्कंति) त्रिषु क्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिरूपेषु प्रत्येकमेकैको भङ्गस्तद्यथा मनुष्यायुष उदयो मनुष्यायुषः सत्ता शेषा न संभवन्ति तदेवमायुषो गुणस्थानकेषु भङ्गा निरूपिताः ।

संप्रति मोहनीयं प्रत्याह (मोहं परं वुच्छं)
अतः परं मोहनीयं वक्ष्ये ।

गुणठाणगेसु अट्ठसु, एकेकं मोहबंधठाणं तु ।
पंचानियट्टिठाणा, बंधोवरमो परं तत्तो ४८ ॥

मोहनीयसत्कबन्धस्थानेषु मध्ये एकैकं बन्धस्थानं मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु भवति तद्यथा मिथ्यादृष्टेर्द्वाविंशतिः सासादनस्यैकविंशतिः सम्यग्मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्च प्रत्येकं सप्तदश देशविरतस्य त्रयोदश प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानां प्रत्येकं नव नव । एतानि च द्वाविंशत्यादीनि नवपर्यन्तानि नव बन्धस्थानानि प्रागेव सप्रपञ्चं भावितानीति न भूयो भाव्यन्ते विशेषाभावात् केवलमप्रमत्तापूर्वकरणयोर्भङ्ग एकैक एव वक्तव्यः अरतिशोकयोर्बन्धस्य प्रमत्तगुणस्थानके एव व्यवच्छेदात् । प्राक् प्रमत्तापेक्षया नवकबन्धस्थाने द्वौ भङ्गौ दर्शितौ (पंचानियट्टिठाणे) अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके पञ्चबन्धस्थानानि तद्यथा पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च प्रकृतिरिति । ततोऽनिवृत्तिस्थानात् परं सूक्ष्मसंपरायादौ बन्धोपरमो बन्धाभावः ।

संप्रत्युदयस्थानप्ररूपणार्थमाह ।

सत्ताइ दस उ मिच्छे, सासायणमीसए नवुक्कोसो ।
छाई नवउ अ विरई, देसे पंचाइ अट्ठेव ॥ ४९ ॥
विरए खओवसमिए, चउराई सत्त छच्च पुव्वम्मि ।
अनियट्टिबायरे पुण, एको व दुवे व उदयंसा ॥ ५० ॥
एगं सुहुमसरागो, वेए इअ वेयगा भवे सेसा ।
भंगाणं च पमाणं, पुव्वुद्दिट्ठेण नायव्वं ५१ ॥

मिथ्यादृष्टेः सप्तादीनि दशपर्यन्तानि चत्वार्युदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र मिथ्यात्वमप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे त्रयः क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः हास्यरतियुगलारतिशोकयुगलयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः । अत्र चतुर्भिः कषायैस्त्रिभिर्वेदैर्द्वाभ्यां युगलाभ्यां भङ्गाश्चतुर्विंशतिस्तस्मिन्नेव सप्तके भये वा जुगुप्सायां वाऽनन्तानुबन्धिनि च प्रक्षिप्ते अष्टानामुदयः अत्र भयादौ प्रत्येकमेकैका चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सयोरथवा भयानन्तानुबन्धिनोर्यद्वा जुगुप्सानन्तानुबन्धिनोः प्रक्षिप्तयोर्नवानामुदयः अत्राप्येकैकस्मिन् विकल्पे भङ्गानां चतुर्विंशतिः प्राप्यते इति तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव सप्तके भयजुगुप्सानन्तानुबन्धिषु युगपत्प्रक्षिप्तेषु दशानामुदयः अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः । सासादने मिश्रे च सप्तादीनि नवोत्कर्षाणि नवपर्यन्तानि त्रीणि त्रीणि उदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव अत्र सासादने अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमे चत्वारः क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्हि युगलयोरन्यतरद् युगलमित्येतासां सप्तप्रकृतीनामुदयो ध्रुवः अत्र प्रागिवैका भङ्गानां चतुर्विंशतिः । ततो भये वा जुगुप्सायां वा प्रक्षिप्तायामष्टोदयः । तत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानां भयजुगुप्सयोस्तु प्रक्षिप्तयोर्नवोदयः अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया सासादने चतस्रश्चतुर्विंशतयः मिश्रे अनन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादयः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद् युगलं मिश्रमिति सप्तानां प्रकृतीनामुदयो ध्रुवः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया मिश्रेऽपि चतस्रश्चतुर्विंशतयः (छाई नव उ अविरयत्ति) अविरतसम्यग्दृष्टौ षडादीनि नवपर्यन्तानि चत्वारि उदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव । तत्रानन्तानुबन्धिवर्जास्त्रयोऽन्यतमे क्रोधादिकाः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमिति षण्णां प्रकृतीनामुदयोऽविरतस्यौपशमिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यग्दृष्टेर्वा ध्रुवः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते सप्तानामुदयोऽत्र तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव षट्के भयजुगुप्सयोर्भयवेदकसम्यक्त्वयोर्जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोर्वा युगपत् प्रक्षिप्तयोरष्टानामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव षट्के भयजुगुप्सयोर्वेदकसम्यक्त्वे च युगपत्प्रक्षिप्ते नवानामुदयः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया अविरतसम्यग्दृष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः । (देसे पंचाइ अट्ठेव) देशे देशविरते पञ्चादीनि अष्टपर्यन्तानि च-

त्वारि उदयस्थानानि तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ तत्र प्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधादीनामन्यतमौ द्वौ क्रोधादिकौ त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमिति पञ्चानां प्रकृतीनामुदयो देशविरतस्य क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा भवति । अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिस्ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते षण्णामुदयः अत्र तिस्रः चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भयजुगुप्सयोर्यद्वा जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोरथवा भयवेदकसम्यक्त्वयोर्युगपत्प्रक्षिप्तयोः सप्तानामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव पञ्चके भयजुगुप्सयोर्वेदकसम्यक्त्वे च युगपत् प्रक्षिप्तेऽष्टानामुदयः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया देशविरतेऽष्टौ चतुर्विंशतयः । तथा विरते क्षायोपशमिके प्रमत्ते चेत्यर्थः विरतो हि श्रेणेरघस्ताद्वर्त्तमानः क्षायोपशमिको विरत इति व्यवह्रियते ततश्च प्रमत्ते अप्रमत्ते च प्रत्येकं चतुरादीनि सप्तपर्यन्तानि चत्वारि उदयस्थानानि भवन्ति तद्यथा चतस्रः पञ्च षट् सप्त । तत्र क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेर्वा प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकं संज्वलनक्रोधादीनामन्यतमः एकः क्रोधादिः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरत् युगलमिति चतसृणां प्रकृतीनामुदयः । अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां ततो भये वा जुगुप्सायां वा वेदकसम्यक्त्वे वा प्रक्षिप्ते पञ्चानामुदयः अत्र तिस्रः चतुर्विंशतयो भङ्गकानाम् । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सयोर्जुगुप्सावेदकसम्यक्त्वयोरथवा भयवेदकसम्यक्त्वयोर्युगपत्प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः अत्रापि तिस्रश्चतुर्विंशतयः । तथा तस्मिन्नेव चतुष्के भयजुगुप्सावेदकसम्यक्त्वेषु युगपत् प्रक्षिप्तेषु सप्तानामुदयः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां सर्वसंख्यया प्रमत्तस्याप्रमत्तस्य च प्रत्येकमष्टावष्टौ चतुर्विंशतयः (छच्च पुव्वम्मि) अपूर्वकरणे चतुरादीनि षट्पर्यन्तानि त्रीणि उदयस्थानानि तद्यथा चतस्रः पञ्च षट् तत्र संज्वलनक्रोधादीनामन्यतम एकः क्रोधादिः त्रयाणांवेदानामन्यतमो वेदः द्वयोर्युगलयोरन्यतरद्युगलमित्येतासां चतसृणां प्रकृतीनामुदयोऽपूर्वकरणे ध्रुवः अत्रैका चतुर्विंशतिर्भङ्गकानां ततो भये वा जुगुप्सायां पञ्चानामुदयः अत्र द्वे चतुर्विंशती भङ्गकानाम् । भयजुगुप्सयोर्युगपत् प्रक्षिप्तयोः षण्णामुदयः अत्रैका भङ्गकानां चतुर्विंशतिः सर्वसंख्यया अपूर्वकरणे चतस्रश्चतुर्विंशतयः अनिवृत्तिबादरे पुनरेको द्वौ वा उदयांशौ उदयभेदौ उदयस्थाने इत्यर्थः अत्र चतुर्णां संज्वलनानामन्यतम एकः क्रोधादिः त्रयाणां वेदानामन्यतमो वेदः इति द्विकोदयः । अत्र त्रिभिर्वेदैश्चतुर्भिः संज्वलनैर्द्वादश भेदाः । ततो वेदोदयव्यवच्छेदे एकोदयः स च चतुर्विधबन्धे त्रिविधबन्धे द्विविधबन्धे एकविधबन्धे च प्राप्यते । तत्र यद्यपि प्राक् चतुर्विधबन्धे चत्वारः त्रिविधबन्धे त्रयः द्विविधबन्धे द्वौ एकविधबन्धे एकः इति दश भङ्गाः प्रतिपादितास्तथाप्यत्र सामान्येन चतुर्विधादिकबन्धापेक्षया चत्वार एव भङ्गा विवक्ष्यन्ते (एगं सुहुमसरागे वेय इति) सूक्ष्मसंपराये बन्धाभावे एकं किट्टीकृतसंज्वलनलोभं वेदयते अत्रैक एव भङ्गः एवमेकोदयभङ्गाः सर्वसंख्यया पञ्च । तथा शेषा उपरितना उपशान्तमोहादयः सर्वेऽप्यवेदकाः " भंगाणं च पमाण " मित्यादि तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु उदयस्थानभङ्गानां प्रमाणं पूर्वोद्दिष्टेन पूर्वोक्तेन प्राक् सामान्योक्तमोहनीयोदयस्थानचिन्ताधिकारोक्तेन प्रकारेण ज्ञातव्यम् ।

संप्रति मिथ्यादृष्ट्यादीन्यधिकृत्य दशादिष्वेकपर्यवसानेषु भङ्गसंख्यानिरूपणार्थमाह ।

एक्कगछक्किक्कारस-क्कारस एक्कारसे व नव तिन्नि ।

एए चउवीसगया, बारदुगं पंच एक्कम्मि ॥५२॥

इह दशादीनि चतुरन्तानि उदयस्थानान्यधिकृत्य यथासंख्यमेकादिसंख्यापदयोजना कर्त्तव्या सा चैवं दशोदये एका चतुर्विंशतिः नवोदये षट् । तत्र मिथ्यादृष्टौ तिस्रः सासादने मिश्रे अविरते च प्रत्येकमेकैका । अष्टोदये एकादश । तत्र मिथ्यादृष्टौ अविरते च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः । सासादने मिश्रे च प्रत्येकं द्वे द्वे । देशविरतौ चैका । सप्तोदये चैकादश । तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने मिश्रे प्रमत्ते अप्रमत्ते च प्रत्येकमेकैका । अविरतौ देशविरते च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः । षडुदये । एकादश । तत्राविरतसम्यग्दृष्टौ अपूर्वकरणे च प्रत्येकमेकैका देशविरते प्रमत्ते प्रत्येकं तिस्रः अप्रमत्ते च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः पञ्चकोदये नव । तत्र देशविरते एका प्रमत्ते अप्रमत्ते च प्रत्येकं तिस्रः तिस्रः अपूर्वकरणे द्वे चतुरुदये तिस्रः । प्रमत्ते अप्रमत्ते अपूर्वकरणे च प्रत्येकमेका । एते च अनन्तरोक्ता एकादिकाः संख्याविशेषाश्चतुर्विंशतिगताश्चतुर्विंशतिसंख्याभिधायिका एता अनन्तरोक्तचतुर्विंशतयो ज्ञातव्या इत्यर्थः । एताश्च सर्वसंख्यया द्विपञ्चाशत् द्विके द्विकोदये भङ्गा द्वादश एकोदये पञ्च । एते च प्रागेव भाविताः ।

संप्रत्येतेषामेव भङ्गानां विशिष्टतरसंख्यानिरूपणार्थमाह ।

बारस पणसट्ठिसया, उदयविगप्पेहिं मोहिया जीवा ।

चुलसीई सत्तुत्तरि, पयविंदसएहिं विन्नेया ॥५३॥

इह दशादिषु चतुःपर्यवसानेषु उदयस्थानेषु भङ्गकानां द्विपञ्चाशच्चतुर्विंशतयो लब्धास्ततो द्विपञ्चाशत् चतुर्विंशत्या गुण्यते गुणितायां च सत्यां द्विकोदयभङ्गा द्वादश एकोदयभङ्गाः पञ्च प्रक्षिप्यन्ते ततो द्वादश शतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि भवन्ति एतैरुदयविकल्पैर्यथायोगं सर्वसंसारिणो जीवा मोहिता मोहमापादिता विज्ञेयाः । संप्रति पदसंख्यानिरूपणार्थमाह (चुलसीईसत्तुत्तरित्ति) इह पदानि नाम मिथ्यात्वं प्रत्याख्यानक्रोधः अप्रत्याख्यानावरणक्रोधः इत्येवमादीनि ततो वृन्दानां दशाद्युदयस्थानरूपाणां पदानि पदवृन्दानि आर्षत्वात् राजदन्तादिषु मध्ये पाठाभ्युपगमाद्वा वृन्दशब्दस्य परनिपातः । तेषां सप्तसप्तत्यधिकचतुरशीतिशतसंख्यमोहिताः संसारिणो जीवा विज्ञेयाः । एतावत्संख्याभिः कर्मप्रकृतिभिः यथायोगं मोहिता जीवा ज्ञातव्या इत्यर्थः । अथ कथं सप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि पदानां भवन्ति उच्यते इह दशोदये दश पदानि दश प्रकृतयः उदयं समागता इत्यर्थः । एवं नवोदयादिष्वपि नवादीनि भावनीयानि ततो दशोदयो दशभिर्गुण्यते जाता दश नवोदयः षड्भिर्गुणितो जाताश्चतुःपञ्चाशत् अष्टोदय एकादशभिर्जाता अष्टाशीतिः सप्तोदय एकादशभिर्जाता सप्तसप्ततिः षडुदय एकादशभिर्जाता षट्षष्टिः पञ्चकोदय नवभिर्जाताः पञ्चचत्वारिंशत् चतुरुदयस्त्रिभिर्गुणितो जाता द्वादश एते सर्वेऽप्येकत्र मील्यन्ते जातानि द्विपञ्चाशदधिकानि त्रीणि शतानि । एतानि चतुर्विंशतिगुणितानि अष्टचत्वारिंशदधिकचतुःशतयुतान्यष्टसहस्राणि प्राप्यन्ते इति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते ततो द्विकोदयपदानि द्वादशगुणितानि चतुर्विंशतिः एकोदयपदानि पञ्च प्रक्षिप्यन्ते ततस्तेषु प्र-

त्रिंशत्सु त्रिंशदधिकानि यथोक्तसंख्यान्येव पदानां शतानि ।

संप्रति मिथ्यादृष्ट्यादिषु प्रत्येकमुदयभङ्गनिरूपणार्थं भाष्य-
कृदन्तर्गाथामाह ।

अट्ठगचउचउचउर-टुगा य चउरो य होंति चउवीसा ।
मिच्छाइ अपुव्वंता, बारस पणगं च अनियट्टी ॥ ५४ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादयोऽपूर्वकरणान्ता अष्टादिचतुर्विंशतयो भवन्ति किमुक्तं भवति मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु चतुर्विंशतयो यथासंख्यमष्टादिसंख्या भवन्ति । तत्र मिथ्यादृष्टावष्टौ सासादने चतस्रः मिश्रे च चतस्रः (चउरट्टगत्ति) अविरतादिषु अप्रमत्तपर्यवसानेषु चतुर्षु गुणस्थानकेषु प्रत्येकमष्टौ अपूर्वकरणे चतस्रः एताश्च प्रागेव भाविताः । अनिवृत्तौ अनिवृत्तिबादरे द्विकोदये द्वादश भङ्गा एकोदये पञ्च चशब्दोऽनिवृत्तिबादरे एकोदये चत्वारः एकः सूक्ष्मसंपराये इति विशेषं द्योतयति

संप्रत्येतेषामेवोदयभङ्गानामुदयपदानां च योगोपयोगादि-
भिर्गणनार्थमुपदेशमाह ।

जोगोवओगलेसा, इएहिं गुणिया हवंति कायव्वा ।
जे जत्थ गुणट्ठाणे, हवंति ते तत्थ गुणकारा ५५ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु ये योगोपयोगादयस्तैरुदयभङ्गा गुणिताः कर्त्तव्या इत्यर्थः । कतिसंख्यैर्गुणयितव्या इत्यत आह ये योगादयो यस्मिन् गुणस्थानके यावन्तो भवन्ति तावन्तस्तस्मिन् गुणस्थानके गुणकारास्तैस्तावद्भिस्तस्मिन् गुणस्थानके उदयभङ्गा गुणयितव्या इत्यर्थः । तत्र प्रथमतो योगैर्गुणनभावना क्रियते इह मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसंपरायपर्यवसानेषु सर्वसंख्ययोदयभङ्गाः पञ्चषष्ट्यधिकानि द्वादश शतानि तत्र वाग्योगचतुष्टयमनोयोगचतुष्टयौदारिककाययोगाः सर्वेष्वपि मिथ्यादृष्ट्यादिषु गुणस्थानकेषु संभवन्तीति ते नवभिर्गुण्यन्ते ततो जातानि एकादश सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि । तथा मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे अत्रापि चतुर्विंशतयः प्राप्यन्ते वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रः चतस्रः एताश्च या अनन्तानुबन्ध्युदयसहितास्ता एव द्रष्टव्याः । यास्त्वनन्तानुबन्ध्युदयरहितास्ता अत्र न प्राप्यन्ते किं कारणमिति चेदुच्यते । इह येन पूर्वं वेदकसम्यग्दृष्टिना सता अनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिता विसंयोज्य च परिणामपरावृत्त्या सम्यक्त्वात्प्रच्युत्य मिथ्यात्वं गतेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बन्धमारभन्ते तस्यैव मिथ्यादृष्टेर्बन्धावलिकामात्रं यावदनन्तानुबन्ध्युदयो न प्राप्यते न शेषस्य अनन्तानुबन्धिनश्च विसंयोज्य भूयोऽपि मिथ्यात्वं प्रतिपद्यन्ते जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तावशेषायुष्का एव अनन्तानुबन्ध्युदयरहितस्य मिथ्यादृष्टेः कालकरणप्रतिषेधात् । तथोक्तं " कुणइ उदसो कालमिति" ततस्तस्मिन्नेव भवे वर्त्तमानो मिथ्यात्वप्रत्ययेन भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति बन्धावलिकाभिश्च प्रवेदयते ततोऽपान्तरालगतौ वर्त्तमानस्य भवान्तरे वा प्रथममुत्पन्नस्य मिथ्यादृष्टेः सतोऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता उदयविकल्पाः न प्राप्यन्ते । अथ च कार्मणकाययोगेऽपान्तरालगतौ औदारिकमिश्रकाययोगे वैक्रियमिश्रकाययोगे च भवान्तरे उत्पद्यमानस्य ततः कार्मणकाययोगादौ प्रत्येकं चतस्रः चतस्रश्चतुर्विंशतयो ऽनन्तानुबन्ध्युदयरहिता न प्राप्यन्ते वैक्रियमिश्रकाययोगो भवान्तरे प्रथमत एवोत्पद्यमानस्य भवतीति यदुक्तं तद्बाहुल्यमाश्रित्योक्तमन्यथा तिर्यग्मनुष्याणामपि मिथ्यानामपि मिथ्यादृशां वैक्रियकारिणां वैक्रियमिश्रमवाप्यते एव पर चूर्णिकृता तदत्र विवक्षितमित्यस्माभिरपि न विवक्षितम् । एवमुत्तरत्रापि चूर्णिकारमार्गानुसरणं परिभावनीयम् । तथा सासादनस्य कार्मणकाययोगे वैक्रियकाययोगे औदारिकमिश्रकाययोगे च प्रत्येकं चतस्रश्चतस्रश्चतुर्विंशतयः सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे चतस्रः अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगे अष्टौ देशविरतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ । प्रमत्तसंयतप्रमत्तसंयतस्यापि वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकमष्टावष्टौ, अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रियकाययोगे अष्टौ सर्वसंख्यया चतुरशीतिश्चतुर्विंशतयः । चतुरशीतिश्चतुर्विंशत्या गुणिता जातानि षोडशाधिकानि विंशतिशतानि तानि च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते । तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे वर्त्तमानस्य ये चत्वारोऽप्युदयस्थानविकल्पास्तद्यथा सप्तोदय एकविधः अष्टोदयो द्विविधो नवोदयः एकविधः अत्र नपुंसकवेदो न लभ्यते । वैक्रियकाययोगिषु नपुंसकवेदेषु मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् ये च अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकमष्टावष्टौ उदयस्थानविकल्पाः एषु स्त्रीवेदो न लभ्यते वैक्रिययोगिषु स्त्रीवेदेषु मध्ये अविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात् एतच्च प्रायोवृत्तिमाश्रित्योक्तमन्यथा कदाचित् स्त्रीवेदेष्वपि मध्ये तदुत्पादो भवेदिति । उक्तं च चूर्णौ " कयाइ होज्ज इत्थिवेअगेसु वि वेउव्वे मीसगस्स त्ति " प्रमत्तसंयतस्य "आहारककाययोगे आहारकमिश्रकाययोगे च प्रमत्तसंयतस्याहारककाययोगे ये प्रत्येकमष्टावष्टावुदयस्थानविकल्पास्तेऽपि स्त्रीवेदरहिता वेदितव्याः आहारकं हि चतुर्दशपूर्विणां भवति "आहारं चोद्दस पुव्विणो उ" इति वचनात् न च स्त्रीणां चतुर्दशपूर्वस्याधिगमः संभवति सूत्रे प्रतिषेधात् तदुक्तम् ।

तुच्छा गारवबहुला, चलिंदिया दुब्बला य धिइए य ।
इअ अइसेसज्झयणा, भूअवाओ अ नो त्थीणं ॥

भूतवादो नाम दृष्टिवाद एते सर्वेऽप्युदयस्थानविकल्पाः सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशत् । एतेषु चोक्तप्रकारेण द्वौ द्वावेव वेदौ लभ्यौ ततः प्रत्येकं षोडश षोडश भङ्गाः ततश्चतुश्चत्वारिंशत् षोडशभिर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि चतुरधिकानि तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते तथा अविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे ये अष्टावुदयस्थानविकल्पास्ते पुंवेदसहिता एव प्राप्यन्ते न स्त्रीवेदनपुंसकवेदसहितास्तिर्यग्मनुष्येषु स्त्रीवेदेषु मध्ये अविरतसम्यग्दृष्टेरुत्पादाभावात् एतच्च प्राचुर्यमाश्रित्योक्तं तेन मल्लिस्वाम्यादिभिर्न व्यभिचारः । एतेषु चैकेन पुरुषवेदेन प्रत्येकमष्टावष्टौ एव भङ्गा लभ्यन्ते ततोऽष्टभिर्गुण्यन्ते जाता चतुःषष्टिः सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते तत आगतानि चतुर्दशसहस्राणि शतं चैकोनसप्तत्यधिकम् । (१४१६९) एतावन्तो मिथ्यादृष्ट्यादिषु सूक्ष्मसंपरायपर्यवसानेषु गुणस्थानकेषु उदयभङ्गा योगगुणितास्ते प्राप्यन्ते तदुक्तम् " चउदस य सहस्साइं, सयं च गुणहत्तरं उदयमाणं " संप्रति पदवृन्दानि योगगुणितानि भाव्यन्ते तत्र चयोदयपदप्ररूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा ॥

अट्ठी बत्तीसं, बत्तीसं सट्ठिमेव बावन्ना ।
चोयालदोसु वीसा, मिच्छामाईसु सामन्नं ॥ ५६ ॥

मिथ्यादृष्ट्यादिष्वपूर्वकरणपर्यवसानेषु यथासंख्यमष्टषष्ट्यादिसंख्यानि उदयपदानि भवन्ति तथाहि मिथ्यादृष्टौ चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश । तत्र दशोदय एको दशभिर्गुण्यते जाता दश नवोदयास्त्रयो नवभिः जाता सप्तविंशतिः

अष्टोदयास्त्रयोऽष्टभिः जाता चतुर्विंशतिः सप्तोदयश्चैकः सप्तभिः जाताः सप्त सर्वसङ्ख्यया अष्टषष्टिः एवं द्वात्रिंशदादीनामन्येषामपि उदयपदानां भावना कर्त्तव्या। सर्वसंख्यया त्रीणि शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातान्यष्टचत्वारिंशदधिकानि चतुरशीतिशतानि द्विकोदया द्वादश द्वाभ्यां गुण्यन्ते जाता चतुर्विंशतिः एकोदयपदानि पञ्च सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशत् सा च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते ततो जातानि सप्तसप्तत्यधिकानि चतुरशीतिशतानि। एतानि वाग्योगचतुष्टयमनोयोगचतुष्टयौदारिककाययोगसहितानि प्राप्यन्ते इति नवभिर्गुण्यन्ते ततो जातानि षट्सप्ततिसहस्राणि द्वे शते त्रिनवत्यधिके। ततो वैक्रियकाययोगे मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिसंख्यानि उदयपदानि एतानि च प्राग्वत् भावनीयानि। वैक्रियमिश्रे औदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च प्रत्येकं षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशत् उदयपदानि। वैक्रियमिश्रादौ हि उदयपदान्यनन्तानुबन्ध्युदयसहितान्येव प्राप्यन्ते न शेषाणि कारणं प्रागेवोक्तं ततः षट्त्रिंशद्भवन्ति। तथा ह्येकोऽष्टोदयो द्वौ नवोदयौ एको दशोदयोऽनन्तानुबन्धिसहितः प्राप्यते ततो ऽष्टोदय एकोऽष्टभिर्जाता अष्टनवोदयौ द्वौ नवभिः जाता अष्टादश दशोदय एको दशभिर्गुण्यते जाता दश एवं सर्वसंख्यया षट्त्रिंशत्। एवमन्यत्रापि भावना स्वधिया कर्त्तव्या। सासादनस्य वैक्रियकाययोगौदारिकमिश्रे कार्मणकाययोगे च द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशत् सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्वैक्रियकाययोगे द्वात्रिंशत् अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियकाययोगे षष्टिः देशविरतस्य वैक्रियमिश्रवैक्रियकाययोगे च प्रत्येकं द्विपञ्चाशत् प्रमत्तसंयतस्य वैक्रिये वैक्रियमिश्रे च प्रत्येकं चतुश्चत्वारिंशत्। अप्रमत्तसंयतस्य वैक्रियकाययोगे चतुश्चत्वारिंशत् सर्वसंख्यया षट् शतानि। एतानि चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि चतुर्दश सहस्राणि चत्वारिंशच्छतानि एतानि च पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते। तथा सासादनस्य वैक्रियमिश्रे द्वात्रिंशदुदयपदानि एषु नपुंसकवेदो न लभ्यते युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता। अविरतसम्यग्दृष्टेर्वैक्रियमिश्रे कार्मणकाययोगे प्रत्येकं षष्टिः अत्र स्त्रीवेदो न लभ्यते कारणं प्रागेवोक्तम्। प्रमत्तसंयतस्याहारककाययोगे चतुश्चत्वारिंशत् अत्रापि स्त्रीवेदो न लभ्यते युक्तिरत्र प्रागेवोक्ता सर्वसंख्यया द्वे शते चतुरशीत्यधिके एतानि चोक्तप्रकारेण द्विवेदसहितान्येव प्राप्यन्ते इति द्विवेदसंभवः। षोडशभिर्गुण्यन्ते जातानि चतुश्चत्वारिंशदधिकानि पञ्चचत्वारिंशच्छतानि तानि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते अविरतसम्यग्दृष्टेरौदारिकमिश्रकाययोगे षष्टिरुदयपदानि एतानि पुरुषवेद एव प्राप्यन्ते न स्त्रीवेदनपुंसकवेदयोः कारणमत्र प्रागेवोक्तं तत एतानि अष्टभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि अशीत्यधिकानि एतान्यपि पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते ततो जातः पूर्वराशिः पञ्चनवतिसहस्राणि सप्त शतानि सप्तदशाधिकानि। एतावन्ति योगगुणितानि (सत्तरसा सत्त सया पणनउइसहस्सपयसंखा) संप्रत्युपयोगगुणिता उदयभङ्गा भाव्यन्ते। तत्र मिथ्यादृष्टौ सासादने च प्रत्येकं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरचक्षुर्दर्शनरूपाः पञ्च पञ्च उपयोगाः सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतानां मतिश्रुतावधिज्ञानचक्षुरचक्षुरवधिदर्शनरूपाः प्रत्येकं षट् षट् प्रमत्तादीनां सूक्ष्मसंपरायान्तानां त एव षट् मनःपर्यवज्ञानसहिताः सप्त सप्त मिथ्यादृष्ट्यादिषु चतुर्विंशतिगता उदयविकल्पाः " अट्ठगचउचउचउरट्ठगा य" इत्यादिना ये प्रागुक्तास्ते यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते तद्यथा मिथ्यादृष्टेरष्टौ सासादने च चत्वारः मिलिता द्वादश। एते पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यन्ते जाता षष्टिः। तत्र मिश्रस्य चत्वार उदयस्थानविकल्पा अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ देशविरतस्याप्यष्टौ सर्वसंख्यया विंशतिः। सा च षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते जातं विंशतिशतम्। तथा प्रमत्तस्याष्टौ उदयस्थानविकल्पाः अप्रमत्तस्याप्यष्टौ अपूर्वकरणस्य चत्वारः सर्वे मिलिता विंशतिः सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जातं चत्वारिंशच्छतं सर्वसंख्यया त्रीणि शतानि विंशत्यधिकानि ये त्वाचार्या मिश्रेऽपि मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानचक्षुरचक्षुर्दर्शनरूपान् पञ्चैवोपयोगानिच्छन्ति तेषां मतेन त्रीणि शतानि षोडशोत्तराणि एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते ततो जातानि अशीत्यधिकानि षट्सप्ततिशतानि। मतान्तरेण पञ्चसप्ततिशतानि चतुरशीत्यधिकानि। ततो द्विकोदयभङ्गा द्वादश एकोदयभङ्गाः पञ्च सर्वे मिलिताः सप्तदश ते सप्तभिर्गुण्यन्ते जातमेकोनविंशाधिकं शतं तत् पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते ततः पूर्वराशिर्जातो नवनवत्यधिकानि सप्तसप्ततिशतानि। मतान्तरेण सप्त त्र्युत्तराणि। उक्तं च " उदयाणुवओगेसु सगसयरिसया तिउत्तरा होंति " एतावन्त उपयोगगुणिता उदयभङ्गाः। संप्रति पदवृन्दानि उपयोगगुणितानि भाव्यन्ते तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि "अट्ठट्ठी बत्तीसमित्यादीनि" यानि प्रागुक्तानि तानि यथायोगमुपयोगैर्गुण्यन्ते तत्र मिथ्यादृष्टेरष्टषष्टिरुदयस्थानपदानि सासादनस्य द्वात्रिंशत् मिलितानि शतं तत्पञ्चभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि पञ्च शतानि सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्द्वात्रिंशत् अविरतसम्यग्दृष्टेः षष्टिः देशविरतस्य द्विपञ्चाशत् सर्वसंख्यया चतुश्चत्वारिंशदधिकं शतम् एतच्च षड्भिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि चतुःषष्ट्यधिकानि अष्टौ शतानि तथा प्रमत्तस्य चतुश्चत्वारिंशत् अप्रमत्तस्यापि चतुश्चत्वारिंशत् अपूर्वकरणस्य विंशतिः सर्वसंख्यया जातमष्टाधिकं शतमेतत्सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जातानि सप्त शतानि षट्पञ्चाशदधिकानि सर्वसंख्यया विंशत्यधिकान्येकविंशतिशतानि। अन्ये तु मिथ्यादृष्टाविव मिश्रेऽपि पञ्चोपयोगानिच्छन्ति तन्मतेन सर्वसंख्यया अष्टाशीत्यधिकानि विंशतिशतानि ततश्चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि पञ्चाशत्सहस्राणि अष्टौ शतानि अशीत्यधिकानि। मतान्तरेण पञ्चाशत्सहस्राणि शताधिकानि द्वादशोत्तरशतानि। ततो द्विकोदयपदानि चतुर्विंशतिरेकोदयपदानि पञ्च सर्वे मिलिता एकोनत्रिंशत् सा सप्तभिरुपयोगैर्गुण्यते जाते द्वे शते त्र्युत्तरे ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्येते ततो जातः पूर्वराशिः एकपञ्चाशत्सहस्राणि त्र्यशीत्यधिकानि मतान्तरेण पुनः पञ्चाशत्सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चदशोत्तराणि। उक्तं च " पन्नास सहस्सा तिन्नि सया चेव पन्नारा " एतावन्त्युपयोगगुणितानि पदवृन्दानि। संप्रति लेश्यागुणिता उदयभङ्गाः भाव्यन्ते। तत्र मिथ्यादृष्ट्यादिष्वविरतसम्यग्दृष्टिपर्यन्तेषु प्रत्येकं षट् लेश्याः देशविरतिप्रमत्तेषु तेजःपद्मशुक्लरूपास्तिस्रः कृष्णलेश्यायास्तु देशविरत्यादिप्रतिपत्तेरभावात्। अपूर्वकरणादौ एका शुक्ललेश्या मिथ्यादृष्ट्यादिषु अपूर्वकरणपर्यन्तेषु च ये चतुर्विंशतिगता उदयस्थानविकल्पा अष्टचतुरादिसंख्यास्ते यथायोग लेश्याभिर्गुण्यन्ते तद्यथा मिथ्यादृष्टेरष्टावुदयस्थानविकल्पाः सासादनस्य चत्वारः सम्यग्मिथ्यादृष्टेश्चत्वारः अविरतसम्यग्दृष्टेरष्टौ मिलिता जाता चतुर्विंशतिः सा च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते जातं चतुश्चत्वारिंशत् शतम्। तथा देशविरतस्याष्टौ प्रमत्तस्याप्यष्टौ अप्रमत्तस्यापि चाष्टौ सर्वसंख्यया चतुर्विंशतिः सा त्रिभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जाता द्विसप्ततिः। अपूर्वकरणे चतस्रः अत्रैकैव लेश्या एकेन च गुणितं तदेव भवतीति चत्वारः।

एवं सर्वे मिलिता द्वे शते विंशत्यधिके एते चतुर्विंशतिगता इति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि अशीत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि। ततो द्विकोदया द्वादश एकोदयाः पञ्च मिलिताः सप्तदश ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते ततो जातानि सप्तनवत्यधिकानि द्विपञ्चाशच्छतानि एतावन्ति लेश्यागुणिता उदयभङ्गाः। संप्रति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि भाव्यन्ते। तत्रोदयस्थानपदानि चतुर्विंशतिगतानि मिथ्यादृष्टौ अष्टषष्टिः सासादने द्वात्रिंशत् सम्यग्मिथ्यादृष्टावपि द्वात्रिंशत् अविरतसम्यग्दृष्टौ षष्टिः सर्वसंख्यया द्विनवत्यधिकं शतम् एतच्च षड्भिर्लेश्याभिर्गुण्यते ततो जातानि द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि। तथा देशविरतौ द्विपञ्चाशत् प्रमत्ते चतुश्चत्वारिंशत् अप्रमत्तेऽपि चतुश्चत्वारिंशत् सर्वे मिलिताः चत्वारिंशदधिकं शतम् एतच्च तिसृभिर्लेश्याभिर्गुण्यते जातानि विंशत्यधिकानि चत्वारि शतानि। अपूर्वकरणे विंशतिः सा एकया लेश्यया गुणिता सैव विंशतिर्भवति ततः सर्वसंख्यया जातानि द्विनवत्यधिकानि पञ्चदश शतानि एतानि चतुर्विंशतिगतानीति चतुर्विंशत्या गुण्यन्ते जातानि अष्टात्रिंशत्सहस्राणि द्वे शते अष्टाधिके। ततो द्विकोदयैकोदयपदान्येकोनत्रिंशत् प्रक्षिप्यन्ते ततो जातानि अष्टात्रिंशत्सहस्राणि द्वे शते सप्तत्रिंशदधिके एतावन्ति लेश्यागुणितानि पदवृन्दानि उक्तं च "तिगहीणा तेवन्ना, सयाउ उदयाण होंति लेसाणं। अडतीस सहस्साइं, पयाण सय दो य सगतीसा" तदेवमुक्तानि सप्रपञ्चमुदयस्थानानि।

साम्प्रतं सत्तास्थानान्यभिधीयन्ते।

तिन्नेगे एगेगं, तिगमीसे पंचचउसु तिगपुव्वे।
एकार बायरम्मि उ, सुहुमे चउ तिन्नि उवसंते ॥५७॥

एकस्मिन् मिथ्यादृष्टौ त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिः। अत्र भावना प्रागेवोक्ता। तथा एकस्मिन् सासादने एकं सत्तास्थानं तद्यथा अष्टाविंशतिः मिश्रे त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः चतुर्विंशतिः। तथा चतुर्ष्वविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तरूपेषु प्रत्येकं पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिः। निवृत्तेऽपूर्वकरणे च त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च। तत्राद्ये द्वे उपशमश्रेण्यामेकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा (एकार बायरम्मि त्ति) बादरेऽनिवृत्तिबादरे एकादश सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश पञ्च चतस्रः तिस्रः द्वे एका च। तत्राद्ये द्वे औपशमिकसम्यग्दृष्टेरेकविंशतिः क्षायिकसम्यग्दृष्टेरुपशमश्रेण्याम् अथवा क्षपकश्रेण्यामपि यावत्कषायाष्टकं न क्षीयते कषायाष्टके तु क्षीणे त्रयोदश नपुंसकवेदे क्षीणे द्वादश ततः स्त्रीवेदे क्षीणे एकादश ततः षट्सु नोकषायेषु क्षीणेषु पञ्च ततः पुरुषवेदे क्षीणे चतस्रः संज्वलनक्रोधे क्षीणे तिस्रः संज्वलनमाने क्षीणे द्वे ततः संज्वलनमायायां क्षीणायामेकेति (सुहुमे चउत्ति) सूक्ष्मसंपराये चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेका च। तत्राद्यानि त्रीणि उपशमश्रेण्यामेका प्रकृतिः क्षपकश्रेण्यामुपशान्ते उपशान्तमोहे त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः प्राग्वद्भावना। संप्रति संवेध उच्यते। तत्र मिथ्यादृष्टौ द्वाविंशतिर्बन्धस्थानं चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव दश। तत्र सप्तोदये अष्टाविंशतिरूपमेकं सत्तास्थानम्। अष्टादिषु तूदयस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिः षड्विंशतिश्च। सर्वसंख्यया दश। सासादने एकविंशतिर्बन्धस्थानं त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव। एतेषु प्रत्येकमेकं सत्तास्थानं तद्यथा अष्टाविंशतिः सर्वसंख्यया त्रीणि सत्तास्थानानि। सम्यग्मिथ्यादृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा सप्त अष्टौ नव एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः सप्तविंशतिश्चतुर्विंशतिश्च। सर्वसंख्यया नव। अविरतसम्यग्दृष्टौ बन्धस्थानं सप्तदश चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा षट् सप्त अष्टौ नव तत्र षडुदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिः एकविंशतिश्च। सप्तोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिः एतान्येव पञ्च अष्टोदये, नवोदये चत्वारि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिः। सर्वसंख्यया सप्तदश देशविरते त्रयोदशबन्धस्थानं चत्वारि उदयस्थानानि तद्यथा पञ्च षट् सप्त अष्टौ तत्र पञ्चकोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः षमुदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च। तान्येव पञ्च सप्तोदये। अष्टोदये त्वेकविंशतिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च प्रमत्ते नव बन्धस्थानानि चत्वार्युदयस्थानानि तद्यथा चत्वारि पञ्च षट् सप्त। तत्राद्ये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्च। पञ्चकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिरेकविंशतिश्च एवं षमुदयेऽपि सप्तोदये एकविंशतिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वाविंशतिश्च सर्वसंख्यया सप्तदश। एवमप्रमत्तेऽपि बन्धोदये सत्तास्थानसंवेधोऽन्यूनातिरिक्तो वक्तव्यः। अपूर्वकरणे बन्धस्थानानि नव, त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा चत्वारि पञ्च षट् एतेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः सर्वसंख्यया नव। अनिवृत्तिबादरे पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्च चत्वारि त्रीणि द्वे एकं च। तत्र पञ्चके बन्धस्थाने द्विकोदये षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रयोदश द्वादश एकादश। चतुष्के बन्धस्थाने एकोदये षट् सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिः एकादश पञ्च चत्वारि त्रिके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिश्चत्वारि त्रीणि। द्विके बन्धस्थाने एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिस्त्रीणि द्वे एकस्मिन् बन्धे एकोदये पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिस्त्रयोविंशतिर्द्वे एकं च। सर्वसंख्यया सप्तविंशतिः सत्तास्थानानि बन्धाभावे सूक्ष्मसंपराये एकोदये चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशतिरेकं च। उपशान्तमोहे बन्धोदयौ नस्तः। सत्तास्थानानि पुनस्त्रीणि तद्यथा अष्टाविंशतिश्चतुर्विंशतिरेकविंशति सर्वत्रापि च यथास्थानं भावना यथा प्रागधस्तात्संवेधचिन्तायां कृता तथा अत्रापि कर्तव्या तदेवं चिन्तितं गुणस्थानकेषु मोहनीयं

संप्रति नाम विचिन्तयिषुराह।

छन्नवछक्कं तिगसत्त, दुगं दुगं तिगदुगं ति अट्ठ चउ।
दुग छच्चउ दुग पण चउ, दुग चउ चउ पणग एग चउ ५८

एगेगमट्ठइगेग-मट्ठ छ उमत्थकेवलिजिणाणं ।
एगं चउ एगं चउ, अट्ठ चउ दु छक्कमुदयंसा ॥ ५९ ॥

मिथ्यादृष्टौ नाम्नः षट् बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रापर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतस्त्रयोविंशतिस्तस्यां च बध्यमानायां बादरसूक्ष्मप्रत्येकसाधारणैर्भङ्गाश्चत्वारः। पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यं च बध्नतः पञ्चविंशतिः । तत्र पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यायां पञ्चविंशतौ बध्यमानायां भङ्गा विंशतिः। अपर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यायां तु बध्यमानायां प्रत्येकमेकैको भङ्ग इति सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिः पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतः षड्विंशतिः तस्यां च बध्यमानायां भङ्गाः षोडश देवगतिप्रायोग्यां नरकगतिप्रायोग्यां वा बध्नतोऽष्टाविंशतिः । तत्र देवगतिप्रायोग्यायामष्टाविंशतौ अष्टौ भङ्गाः नरकगतिप्रायोग्यायां त्वेक इति । सर्वसंख्यया नव । पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत् तत्र पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यायामेकोनत्रिंशति बध्यमानायां प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां त्वष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि मनुष्यगतिप्रायोग्यायामपि अष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशति बन्धे चत्वारिंशदधिकानि द्विनवतिशतानि अत्र तीर्थकरसहितदेवगतिप्रायोग्यायामष्टौ भङ्गा न प्राप्यन्ते सम्यक्त्वाभावे तीर्थकरनामकर्मणो बन्धाभावात्। पर्याप्तद्वित्रिचतुरिन्द्रियप्रायोग्यायां त्रिंशति प्रत्येकमष्टौ भङ्गाः। तथा तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यायां त्वष्टाधिकानि षट्चत्वारिंशच्छतानि सर्वसंख्यया त्रिंशति द्वात्रिंशदुत्तराणि षट्चत्वारिंशच्छतानि या च मनुष्यगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता त्रिंशत् या च देवगतिप्रायोग्या आहारकद्विकसहिता ते उभे अपि मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायातः। तीर्थकरनाम्नः सम्यक्त्वप्रत्ययत्वादाहारकनाम्नस्तु संयमप्रत्ययत्वात्। उक्तं च " सम्मत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारमिति ।"

त्रयोविंशत्यादिषु च बन्धस्थानेषु यथासंख्यं
भङ्गसंख्यानिरूपणार्थमाह ॥

चउ पण वीसा सोलस, नव चत्ताला सया य बाणउइ।
बत्तीसुत्तरछाया-लसया मिच्छस्स बंधविही ॥ ६० ॥

सुगमा तथा मिथ्यादृष्टेरेव उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एतानि सर्वाण्यपि नानाजीवापेक्षया यथा प्राक् सप्रपञ्चमुक्तानि तथाऽत्रापि वक्तव्यानि केवलमाहारकसंयतानां वैक्रियसंयतानां केवलिनां च संबन्धीनि न वक्तव्यानि तेषां मिथ्यादृष्टित्वासंभवात् सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टौ उदयस्थानभङ्गाः सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि। तथाहि एकविंशत्युदये एकचत्वारिंशत् तत्रैकेन्द्रियाणां पञ्च द्वीन्द्रियाणां नव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां नव मनुष्याणां नव देवानामष्टौ नारकाणामेकः। तथा चतुर्विंशत्युदये एकादश ते च एकेन्द्रियाणामेव अत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदये द्वात्रिंशत् तत्रैकेन्द्रियाणां सप्त वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानामष्टौ नारकाणामेकः। षड्विंशत्युदये षट्शतानि तत्रैकेन्द्रियाणां त्रयोदश विकलेन्द्रियाणां नव तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्वे शते एकोननवत्यधिके मनुष्याणामपि द्वे शते एकोननवत्यधिके। सप्तविंशत्युदये एकत्रिंशत् । तत्रैकेन्द्रियाणां षट् वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानामष्टौ नारकाणामेकः । अष्टाविंशत्युदये एकादश शतानि नवनवत्यधिकानि तत्र विकलेन्द्रियाणां षट् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां षोडश मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि । वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानां षोडश नारकाणामेकः। एकोनत्रिंशदुदये सप्तदश शतान्येकाशीत्यधिकानि । तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां षोडश मनुष्याणां पञ्च शतानि षट्सप्तत्यधिकानि वैक्रियमनुष्याणामष्टौ देवानां षोडश नारकाणामेकः । त्रिंशदुदये एकोनत्रिंशच्छतानि चतुर्दशाधिकानि । तत्र विकलेन्द्रियाणामष्टादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां सप्तदश शतानि अष्टाविंशत्यधिकानि । वैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ मनुष्याणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि देवानामष्टौ । एकत्रिंशदुदये एकादश शतानि चतुःषष्ट्यधिकानि। तत्र विकलेन्द्रियाणां द्वादश तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामेकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि। सर्वसंख्यया सप्त सहस्राणि सप्त शतानि त्रिसप्तत्यधिकानि । मिथ्यादृष्टेः षट् सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिः। तत्र द्विनवतिः चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनामवसेया । यदा पुनर्नरकेषु बद्धायुष्को वेदकसम्यग्दृष्टिः सन् तीर्थकरनामसहितं परिणामपरावर्त्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकेषु समुत्पद्यते तदा तस्यैकोननवतिरन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावल्लभ्यते उत्पत्तेरूर्ध्वमन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं तु सोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते । अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि मिथ्यादृष्टीनाम्। षडशीतिरशीतिश्चैकेन्द्रियेषु यथायोगं देवगतिप्रायोग्ये नरकगतिप्रायोग्ये चोद्वलिते सति लभ्यते अशीतिश्चैकेन्द्रियेषु त्रिनवतेस्तीर्थकरनामाहारकचतुष्के वैक्रियषट्के नरकद्विके चोद्वलिते सति लभ्यते ततः एकेन्द्रियभवादुद्धृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मनुष्येषु वा मध्ये समुत्पन्नानां सर्वपर्याप्तिभावादूर्ध्वमप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावल्लभ्यते परतोऽवश्यं वैक्रियशरीरादिबन्धसंभवात् । अष्टसप्ततिस्तेजोवायूनां मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्योरुद्वलितयोः प्राप्यते तेजोवायुभवादुद्धृत्य विकलेन्द्रियेषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु वा मध्ये समुत्पन्नानामन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावत् परतोऽवश्यमिति मनुष्यगतिमनुष्यानुपूर्व्योर्बन्धसंभवात् । तदेवं सामान्येन मिथ्यादृष्टेर्बन्धोदयसत्तास्थानान्युक्तानि । संप्रति संवेध उच्यते । तत्र मिथ्यादृष्टेस्त्रयोविंशतिं बध्नतः प्रागुक्तानि नवाप्युदयस्थानानि सप्रभेदानि संभवन्ति केवलमेकविंशतिपञ्चविंशतिसप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्रूपेषु षट्सु उदयस्थानेषु देवनैरयिकानधिकृत्य ये भङ्गाः प्राप्यन्ते ते न संभवन्ति । त्रयोविंशतिर्हि अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्या न च देवा अपर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नन्ति तेषां तत्रोत्पादाभावात्। नापि नैरयिकास्तेषां सामान्यतोऽप्येकेन्द्रियप्रायोग्यबन्धासंभवात् । ततोऽत्र देवनैरयिकसत्कोदयस्थानभङ्गा न प्राप्यन्ते सत्तास्थानानि च पञ्च तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च। तत्रैकविंशतिचतुर्विंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशत्युदयेषु पञ्चापि सत्तास्थानानि नवरं पञ्चविंशत्युदये तेजोवायुकायिकमधिकृत्याष्टसप्ततिः प्राप्यते। षड्विंशत्युदये तेजोवायुकायिकास्तेजोवायुभवादुद्धृत्य विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु मध्ये समुत्पन्नान् विधाकृत्य सप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशद्रूपेषु

पञ्चसु अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि। सर्वसंख्यया सर्वाण्यप्युदयस्थानान्यधिकृत्य त्रयोविंशतिबन्धकस्य चत्वारिंशत्सत्तास्थानानि । एवं पञ्चविंशतिषड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यं केवलमिह देवोऽप्यात्मीयेषु सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु वर्तमानः पर्याप्तैकेन्द्रियप्रायोग्यां पञ्चविंशतिं षड्विंशतिं च बध्नातीत्यवसेयं नवरं पञ्चविंशतिबन्धे बादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरास्थिरशुभाशुभदुर्भगानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्त्तिपदैरष्टौ भङ्गा अवसेया न शेषाः सूक्ष्मसाधारणापर्याप्तेषु मध्ये देवस्योत्पादाभावात् । सत्तास्थानभावना पञ्चविंशतिबन्धे षड्विंशतिबन्धे च प्रागिव कर्तव्या सर्वसंख्यया चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । अष्टाविंशतिबन्धकस्य मिथ्यादृष्टेर्द्वे उदयस्थाने तद्यथा त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य एकत्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानेव अष्टाविंशतिबन्धकस्य चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः षडशीतिः । तत्र त्रिंशदुदये चत्वार्यपि तत्राप्येकोननवतिः यो नामवेदकसम्यग्दृष्टिर्बद्धतीर्थकरनामपरावर्तनेन मिथ्यात्वं गतो नरकाभिमुखो नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नाति तमधिकृत्य वेदितव्या शेषाणि पुनस्त्रीणि सत्तास्थानान्यविशेषेण तिर्यग्मनुष्याणामेकत्रिंशदुदये एकोननवतिवर्जानि त्रीणि सत्तास्थानानि । एकोननवतिर्हि तीर्थकरनामसहिता न च तीर्थकरनाम तिर्यक्षु संभवति सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिबन्धे सप्त सत्तास्थानानि देवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषामेकोनत्रिंशतं विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां च बध्नतो मिथ्यादृष्टेः सामान्येन नवापि प्राकृतानि उदयस्थानानि । षट् सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिः । तत्रैकविंशत्युदये सर्वाण्यपीमानि प्राप्यन्ते तत्राप्येकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनामानं मिथ्यात्वं गतं नैरयिकमधिकृत्यावसेया। द्विनवतिः अष्टाशीतिश्च देवनैरयिकमनुजविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुजैकेन्द्रियानधिकृत्य वेदितव्या। अष्टसप्ततिरेकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य, चतुर्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि तानि चैकेन्द्रियानेवाधिकृत्य वेदितव्यानि अन्यत्र चतुर्विंशत्युदयस्याभावात् । पञ्चविंशत्युदयेऽपि षट् सत्तास्थानानि तानि यथैकविंशत्युदये भावितानि तथैव भावनीयानि। षड्विंशत्युदये एकोननवतिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि तानि प्रागिव भावनीयानि एकोननवतिस्तु न लभ्यते यतो मिथ्यादृष्टेः सत एकोननवतिर्नरकेषूत्पद्यमानस्य नैरयिकस्य प्राप्यते न शेषस्य । न च नैरयिकस्य षड्विंशत्युदयः संभवति। सप्तविंशत्युदये अष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि पञ्च सत्तास्थानानि। तत्रैकोननवतिः प्रागुक्तस्वरूपं नैरयिकमधिकृत्य द्विनवतिरष्टाशीतिश्च देवनैरयिकमनुजविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य षडशीतिरशीतिश्च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य अष्टसप्ततिश्च न संभवति ततः सप्तविंशत्युदये तेजोवायुवर्जानामेकेन्द्रियाणामातपोद्योतान्यतरसहितानां नारकादीनां वा भवति । न च तेषामष्टसप्ततिस्तेषामवश्यं मनुष्यद्विकबन्धसंभवात् । एतान्येव पञ्च सत्तास्थानान्यष्टाविंशत्युदयेऽपि तत्रैकोननवतिर्द्विनवतिरष्टाशीतिरशीतिः प्रागिव भावनीयाः षडशीतिरशीतिश्च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य वेदितव्या । एवमेकोनत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव पञ्च सत्तास्थानानि भावनीयानि । त्रिंशदुदये चत्वारि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरेतानि विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि एकोननवतिस्तु न प्राप्यते यतः सा मिथ्यादृष्टेः सतो बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नैरयिकस्य प्राप्यते। न च नैरयिकस्य त्रिंशदुदयोऽस्ति। एकत्रिंशदुदयेऽप्येतान्येव चत्वारि तानि च विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य द्रष्टव्यानि । सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टेरेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चचत्वारिंशत् सत्तास्थानानि । या तु देवगतिप्रायोग्या एकोनत्रिंशत् सा मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति कारणं प्रागेवोक्तम् । मनुष्यदेवगतिप्रायोग्यवर्जां शेषां त्रिंशतं विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां बध्नतः सामान्येन प्रागुक्तानि नवोदयस्थानानि एकोननवतिवर्जानि पञ्च सत्तास्थानानि। एकोननवतिस्तु न संभवति सत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धाऽसंभवात् तानि च पञ्च सत्तास्थानानि एकविंशतिचतुर्विंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशत्युदयेषु प्रागिव भावनीयानि । सप्तविंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशद्रूपेषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि प्रत्येकं शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि भावनीयानि अष्टसप्ततिप्रतिषेधकारणं प्रागुक्तमनुसर्त्तव्यम् । सर्वसंख्यया मिथ्यादृष्टेस्त्रिंशतं बध्नतः चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि मनुजगतिदेवगतिप्रायोग्या त्रिंशत् मिथ्यादृष्टेर्न बन्धमायाति मनुजगतिप्रायोग्या हि त्रिंशत् तीर्थकरनामसहिता, देवगतिप्रायोग्या त्वाहारकद्विकतीर्थकरनामसहिता ततः सा कथं मिथ्यादृष्टेर्बन्धमायाति । तदेवमुक्तो मिथ्यादृष्टेर्बन्धोदयसत्तास्थानसंवेधः। संप्रति सासादनस्य बन्धोदयसत्तास्थानान्युच्यन्ते (तिगसत्तगत्ति) त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्राष्टाविंशतिर्द्वेधा देवगतिप्रायोग्या नरकगतिप्रायोग्या च । तत्र नरकगतिप्रायोग्या सासादनस्य न बन्धमायाति देवगतिप्रायोग्यायाश्च बन्धकास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्याश्च। तस्यां चाष्टाविंशतौ बध्यमानायामष्टौ भङ्गाः । तथा सासादना एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रिया मनुष्या देवा नैरयिकाश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां मनुष्यगतिप्रायोग्यां वा एकोनत्रिंशतं बध्नन्ति न शेषाम् । अत्र च भङ्गाः चतुःषष्टिशतानि । तथाहि सासादना यदि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामष्टाविंशतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नान्ति तथापि न ते हुण्डसंस्थानं सेवार्त्तं च संहननं बध्नन्ति मिथ्यात्वोदयाभावात् ततश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चभिः संस्थानैः पञ्चभिः संहननैः प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां स्थिरास्थिराभ्यां शुभाशुभाभ्यां सुभगदुर्भगाभ्यां सुस्वरदुःस्वराभ्याम् आदेयानादेयाभ्यां यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां च भङ्गा द्वात्रिंशच्छतानि । एवं मनुष्यगतिप्रायोग्यामपि बध्नतो द्वात्रिंशच्छतानि। ततः सर्वसंख्यया चतुःषष्टिशतानि। ततः सासादना एकेन्द्रिया विकलेन्द्रियाः तिर्यक्पञ्चेन्द्रिया देवा नैरयिका वा यदि त्रिंशतं बध्नन्ति तर्हि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यामेवोद्योतसहितां न शेषाम्, तां बध्नतां च प्रागिव भङ्गानां द्वात्रिंशच्छतानि । सर्वबन्धस्थानभङ्गसंख्या अष्टाधिकानि षण्णवतिशतानि ।

उक्तभङ्गसंख्यानिरूपणार्थमियमन्तर्भाष्यगाथा ।

अठ सया चउसट्ठी. बत्तीस सया इ सासणे भेआ ।
अट्ठावीसाईसु, सव्वाणट्ठाहिअछण्णउई ॥ ६१ ॥

सासादनस्योदयस्थानानि सप्त तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत् ।

तत्र एकविंशत्युदय एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानधिकृत्य वेदितव्यः नरकेषु सासादनो नोत्पद्यते इति कृत्वा तद्विषय एकविंशत्युदयो न गृह्यते तत्रैकेन्द्रियाणामेकविंशत्युदये बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव संभवतः न शेषाः सूक्ष्मेष्वपर्याप्तकेषु च मध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् । अत एव विकलेन्द्रियाणां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां मनुष्याणां च प्रत्येकमपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्गः स इह न संभवति किंतु शेषा एव । ते च विकलेन्द्रियाणां द्वौ द्वाविति षट् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामष्टौ मनुष्याणामष्टौ देवानामप्यष्टौ सर्वसंख्यया एकविंशत्युदये द्वात्रिंशद्भङ्गाश्चतुर्विंशत्युदये एकेन्द्रियेषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य अत्रापि बादरपर्याप्तकेन सह यशःकीर्त्ययशःकीर्तिभ्यां यौ द्वौ भङ्गौ तावेव संभवतः न शेषाः सूक्ष्मेषु साधारणेषु तेजोवायुषु च मध्ये सासादनस्योत्पादासंभवात् । पञ्चविंशत्युदयो देवेषु मध्ये उत्पन्नस्यावश्यं प्राप्यते न शेषस्य । तत्र चाष्टौ भङ्गाः ते च स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैरवसेयाः । (भाष्यटीकायां सुभगदुर्भगादेयानादेययशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैः अष्ट भङ्गाः प्रतिपादिताः) षड्विंशत्युदयो विकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्येषु मध्ये उत्पन्नमात्रस्य अत्राप्यपर्याप्तकेन सह य एकैको भङ्गः स न संभवति अपर्याप्तकमध्ये सासादनस्योत्पादाभावात् शेषास्तु संभवन्ति ते च विकलेन्द्रियाणां प्रत्येकं द्वौ द्वाविति षट् । तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां द्वे शते अष्टाशीत्यधिके, मनुष्याणामपि द्वे शते अष्टाशीत्यधिके सर्वसंख्यया षड्विंशत्युदये पञ्च शतानि द्व्यशीत्यधिकानि सप्तविंशत्यष्टाविंशत्युदयौ न संभवतस्तौ हि उत्पत्त्यनन्तरमन्तर्मुहूर्ते सति भवतः सासादनभावस्योत्पत्त्यनन्तरमुत्कर्षतः किञ्चिदूनषडावलिकामात्रं कालं तत एतौ सासादनस्य प्राप्येते । एकोनत्रिंशदुदयो देवनैरयिकाणां स्वस्थानगतानां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानां प्राप्यते । तत्र देवस्यैकोनत्रिंशदुदये भङ्गाः अष्टौ नैरयिकस्यैक इति सर्वसंख्यया नव । त्रिंशदुदयस्तिर्यग्मनुष्याणां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानां देवानां वा उत्तरवैक्रिये वर्तमानानां सासादनानाम् । तत्र तिरश्चां मनुष्याणां च त्रिंशदुदये प्रत्येकं द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि । देवस्याष्टौ सर्वसंख्यया त्रयोविंशतिशतानि द्वादशाधिकानि । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तानां प्रथमसम्यक्त्वात् प्रच्यवमानानाम् । अत्र भङ्गाः एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि ॥

इगचत्तिगारबत्ती-स छ सयइगतीसिगारनवनउइ ।

सत्तरिगंसि गुत्तिस, चउदइगारचउसट्ठि मिच्छुदया ॥६२॥

(इयं गाथा लिखितपुस्तकेष्वनुपलभ्यमानापि मुद्रितपुस्तकेषूपलभ्यते इति व्याख्येयापि सोपयोगापि अस्मत्पुस्तके नास्तीति न व्याख्यायते त्रुटितेति न संभावयामः किन्तु ग्रन्थकारैरेव न गृहीतेति निश्चिनुमः । तत्त्वं केवलिनो विदन्ति)

उक्तरूपाया एव भङ्गसंख्याया निरूपणार्थमाह । तत्रान्तर्भाष्यगाथा

बत्तीस दोन्नि अठ य, बासीइसया य पंच नव उदया ।

बारहिया तेवीसं, बावन्निक्कारस सया य ॥ ६३ ॥

सुगमा सर्वभङ्गसंख्यया सप्तनवत्यधिकानि चत्वारिंशच्छतानि सासादनस्य द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । तत्र द्विनवतिर्य आहारकचतुष्टयं बद्ध्वा उपशमश्रेणितः प्रतिपतन् सासादनभावमुपगच्छति तस्य लभ्यते न शेषस्य अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामपि सासादनानाम् । संप्रति संवेध उच्यते तत्राष्टाविंशतिं बध्नतः सासादनस्य द्वे उदयस्थाने तद्यथा त्रिंशदेकत्रिंशत् । अष्टाविंशतिर्हि सासादनस्य बन्धयोग्या भवति देवगतिविषया च । न च करणापर्याप्तसासादनो देवगतियोग्यां बध्नाति ततः शेषा उदया न संभवन्ति । अत्र मनुष्यानधिकृत्य त्रिंशदुदये द्वे अपि सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् सासादनानधिकृत्याष्टाशीतिरेव यतो द्विनवतिरुपशमश्रेणीतः प्रतिपततो लभ्यते नच तिरश्चामुपशमश्रेणिसंभवः । एकत्रिंशदुदयेऽप्यष्टाशीतिरेव यत एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणां न च तिरश्चां द्विनवतिः संभवति प्रागुक्तयुक्तेः । एकोनत्रिंशतं तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यप्रायोग्यां बध्नतः सासादनस्य सप्ताप्युदयस्थानानि । तत्र एकेन्द्रियविकलेन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवनैरयिकाणां सासादनानां स्वीयस्वीयोदयस्थानेषु वर्तमानानामेव सत्तास्थानानामष्टाशीतिः नवरं मनुष्यस्य त्रिंशदुदये वर्तमानस्योपशमश्रेणीतः प्रतिपततः सासादनस्य द्विनवतिः । एवं त्रिंशद्बन्धकस्यापि वक्तव्यं सर्वाण्युदयस्थानान्यधिकृत्य सामान्येन सर्वसंख्यया सासादनस्याष्टादशसत्तास्थानानि । संप्रति सम्यग्मिथ्यादृष्टेर्बन्धोदयसत्तास्थानान्यभिधीयन्ते (दुगतिगत्ति) तत्र द्वे बन्धस्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । ततः तिर्यग्मनुष्याणां सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यमेव बन्धमायाति ततस्तेषामष्टाविंशतिः तत्र भङ्गाः अष्टौ । एकोनत्रिंशतं मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतां देवनैरयिकाणामत्राप्यष्टौ भङ्गाः ते च उभयत्रापि स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्त्ययशःकीर्तिपदैरवसेयाः । शेषास्तु परावर्तमानप्रकृतयः शुभा एव सम्यग्मिथ्यादृष्टीनां बन्धमायान्ति ततः शेषा भङ्गाः न प्राप्यन्ते । सर्वसंख्यया षोडश भङ्गाः त्रीण्युदयस्थानानि तद्यथा एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशति देवानधिकृत्याष्टौ भङ्गा नैरयिकानधिकृत्यैकः सर्वसंख्यया नव । त्रिंशति तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य पर्याप्त्यपर्याप्तिभ्यां द्विपञ्चाशदधिकानि एकादश शतानि मनुष्यानधिकृत्य एकादश शतानि द्विपञ्चाशदधिकानि । सर्वसंख्यया त्रयोविंशतिशतानि चतुरधिकानि । एकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य तत्र भङ्गाः द्विपञ्चाशदधिकान्येकादश शतानि सर्वोदयस्थानभङ्गसंख्या चतुस्त्रिंशच्छतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि । संप्रति संवेध उच्यते सम्यग्मिथ्यादृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वे उदयस्थाने तद्यथा त्रिंशत् एकत्रिंशत् । एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानमेकोनत्रिंशत् अत्रापि द्वे सत्तास्थाने तदेवमेकैकस्मिन् उदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने इति सर्वसंख्यया षट् । संप्रत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्बन्धोदयस्थानान्यभिधीयन्ते (तिगछचउत्ति) त्रीणि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्र तिर्यग्मनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनां देवगतिप्रायोग्यं च बध्नतामष्टाविंशतिः तत्राप्यष्टौ भङ्गाः अविरतसम्यग्दृष्टयो हि तिर्यग्मनुष्या न शेषगतिप्रायोग्यं बध्नन्ति तेन नरकगतिप्रायोग्या अष्टाविंशतिर्न लभ्यते मनुष्याणां देवगतिप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां बध्नतामेकोनत्रिंशत् । अत्राप्यष्टौ भङ्गाः । देवनैरयिकाणां मनुष्यगतिप्रायोग्यं बध्नतामेकोनत्रिंशत् अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः तेषामेव मनुष्यगतिप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां बध्नतां त्रिंशत् अत्रापि त एवाष्टौ भङ्गाः (सर्वसंख्यया द्वात्रिंशत्) एवमष्टावुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्रैकविंशत्युदयो

नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानधिकृत्य वेदितव्याः। क्षायिकसम्यग्दृष्टेः पूर्वबद्धायुष्कस्य एतेषु सर्वेष्वपि तस्य संभवात्। अविरतसम्यग्दृष्टिश्चापर्याप्तेषु नोत्पद्यते ततोऽपर्याप्तकोदयवर्जाः शेषा भङ्गाः सर्वेष्वपि वेदितव्याः। ते च पञ्चविंशतिः तत्र तिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्याष्टौ मनुष्यानधिकृत्याष्टौ देवानप्यधिकृत्याष्टौ नैरयिकानधिकृत्यैकः । पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ देवान् नैरयिकान् वैक्रियतिर्यग्मनुष्यांश्चाधिकृत्यावसेयौ । तत्र नैरयिकक्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टिर्वा देवस्त्रिविधसम्यग्दृष्टिरपि। उक्तं च चूर्णौ "पणवीस सत्तवीसोदया य देवनेरइए वेउव्वियम्मि तिरियमणुए पडुच्च नेरइगो खाइगवेयगसम्मादिट्ठी देवा तिविहसम्मादिट्ठी वि तिभंगा" षड्विंशत्युदयस्तिर्यग्मनुष्याणां क्षायिकवेदकसम्यग्दृष्टीनाम् औपशमिकसम्यग्दृष्टिश्च तिर्यग्मनुष्येषु मध्ये नोत्पद्यते इति त्रिविधसम्यग्दृष्टीनामिति नोक्तं वेदकसम्यग्दृष्टीनां च तिरश्चां द्वाविंशतिसत्कर्मणां वेदितव्यः। अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशदुदयौ नैरयिकतिर्यग्मनुष्यदेवानां त्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवानामेकत्रिंशदुदयस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणाम्। अत्र भङ्गाः आत्मीया आत्मीयाः सर्वेऽपि वक्तव्याः । चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । तत्र योऽप्रमत्तसंयतोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकराहारकसहितामेकत्रिंशतं बध्वा पश्चादविरतसम्यग्दृष्टिर्देवो जातस्तमधिकृत्य त्रिनवतिः यस्त्वाहारकं कृत्वा परिणामपरावर्त्तनेन मिथ्यात्वमुपगम्य चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पन्नस्तस्य तत्र तत्र गतौ भूयोऽपि सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्य द्विनवतिर्देवमनुष्येषु मध्ये मिथ्यात्वमप्रतिपन्नस्यापि द्विनवतिः प्राप्यते एकोननवतिः देवनैरयिकमनुष्याणामविरतसम्यग्दृष्टीनाम् । ते हि त्रयोऽपि तीर्थकरनामसत्कर्माणोऽप्युत्पद्यन्ते इति तिर्यग्ग्रहणं न गृहीतः अष्टाशीतिश्चतुर्गतिकानामविरतसम्यग्दृष्टीनाम्। संप्रति संवेध उच्यते । तत्राविरतसम्यग्दृष्टेरष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावप्युदयस्थानानि तानि तिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य तत्रापि पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ। वैक्रियतिर्यङ्मनुष्यानधिकृत्य एकैकस्मिन् उदयस्थाने द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोनत्रिंशत् द्विधा देवगतिप्रायोग्या मनुष्यगतिप्रायोग्या च । तत्र देवगतिप्रायोग्या तीर्थकरनामसहिता तां च मनुष्या एव बध्नन्ति न तिर्यञ्चः एतेषां च उदयस्थानानि सप्त तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत्। मनुष्याणामेकत्रिंशन्न भवति एकैकस्मिन्नुदयस्थाने द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं बध्नतां देवनैरयिकाणां तत्र नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशद्देवानां पञ्च तावदेतान्येव न त्रिंशत् सा च उद्योतवेदकानामवगन्तव्या एकैकस्मिन् द्वे उदयस्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतमविरतसम्यग्दृष्टयो देवा नैरयिकाश्च बध्नन्ति तत्र देवानामुदयस्थानानि षट् तान्येवं एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिः अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तेषु उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने त्रिनवतिरेकोननवतिश्च नैरयिकाणामुदयस्थानानि पञ्च तेषु प्रत्येकं सत्तास्थानमेकोननवतिः तीर्थकराहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात्। तदेवं सामान्येन एकविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषु उदयस्थानेषु सत्तास्थानानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि तद्यथा त्रिनवतिः द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च। एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने द्विनवतिरष्टाशीतिश्च। सर्वसंख्यया चतुःपञ्चाशत्। संप्रति देशविरतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते (दुगछक्कचउक्कंति) देशविरतस्य द्वे बन्धस्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् तत्राष्टाविंशतिर्मनुष्यतिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य वा देशविरतस्य देवगतिप्रायोग्या। तत्राष्टौ भङ्गाः सैव तीर्थकरसहिता एकोनत्रिंशत् सा च मनुष्यस्यैव । न तिरश्चां तीर्थकरसत्कर्मबन्धाभावात् अत्राप्यष्टौ भङ्गाः षट् उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् तत्राद्यानि चत्वारि चत्वारि वैक्रियतिर्यग्मनुष्याणामत्र एकैको भङ्गः सर्वपदानां प्रशस्तत्वात् त्रिंशत्स्वभावस्थानामपि तिर्यग्मनुष्याणामत्र भङ्गानां चतुश्चत्वारिंशच्छतम् । तच्च षड्भिः संस्थानैः षड्भिः संहननैः सुस्वरदुःस्वराभ्यां प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभ्यां च जायते दुर्भगानादेयायशःकीर्त्तीनामुदयो गुणप्रत्ययादेव न भवतीति तदाश्रिता विकल्पा न प्राप्यन्ते तिर्यग्मनुष्याणां प्रत्येकमेकैको भङ्गः (सर्वसंख्यया नवाशीत्यधिकं शतद्वयम्) एकत्रिंशत् तिरश्चां अत्रापि त एव भङ्गाः (सर्वसंख्यया त्रिचत्वारिंशदधिकं चतुःशतम्) अत्र चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च तत्र योऽप्रमत्तोऽपूर्वकरणो वा तीर्थकराहारकं बध्वा परिणामह्रासेन देशविरतो जातस्तस्य त्रिनवतिः । शेषाणां भावना अविरतसम्यग्दृष्टेरिव कर्त्तव्या । संप्रति संवेध उच्यते तत्र मनुष्यस्य देशविरतस्याष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतेषु च प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एवं तिरश्चोऽपि नवरं तस्य एकत्रिंशदुदयोऽपि वक्तव्यः । तत्रापि चैते एव द्वे सत्तास्थाने एकोनत्रिंशद्बन्धो मनुष्यस्यैव देशविरतस्य तस्योदयस्थानान्यनन्तरोक्तान्येव पञ्च तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । तदेवं देशविरतस्य पञ्चविंशत्यादिषु त्रिंशत्पर्यन्तेषु चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि एकत्रिंशदुदये द्वे सत्तास्थाने सर्वसंख्यया द्वाविंशतिः ॥ संप्रति प्रमत्तसंयतस्य बन्धादिस्थानान्युच्यन्ते (दुगपणचउक्क) प्रमत्तसंयतस्य द्वे बन्धस्थाने तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । एते देशविरतस्येव भावनीये । पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् (भाषाटीकायां तत्राद्यानि चत्वारि आहारकसंयतस्य वैक्रियसंयतस्य वेदितव्यानि इत्थमुपलभ्यते अवशिष्टः कस्येत्यनुक्तमतो निस्सारमिमं मन्यामहे) एतानि सर्वाण्यप्याहारकसंयतस्य वैक्रियसंयतस्य वा वेदितव्यानि । त्रिंशत् स्वभावस्थसंयतस्यापि तत्र वैक्रियसंयतानामाहारकसंयतानां च पृथक् पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदये प्रत्येकमेकैको (द्वौ द्वौ इति भाषापुस्तके) भङ्गः अष्टाविंशतौ एकोनत्रिंशति द्वौ द्वौ त्रिंशति चैकैकः सर्वसंख्यया चतुर्दश । त्रिंशदुदयः स्वभावस्थस्यापि प्राप्यते ततश्चतुश्चत्वारिंशच्छतम् तच्च देशविरतस्यैव भावनीयं सर्वसंख्यया अष्टपञ्चाशदधिकं शतम् चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । संप्रति संवेध उच्यते अष्टाविंशतिबन्धकस्य पञ्चस्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । तत्राहारकसंयतस्य द्विनवतिरेव आहारकसत्कर्मा ह्याहारकशरीरमुत्पादयतीति ततस्तस्य द्विनवतिरेव वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे अपि तीर्थकरनामसत्कर्मणश्चाष्टाविंशतिं बध्नतस्त्रिनवतिरेकोननवतिः तथाहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेव तस्यैको-

नत्रिंशद्बन्धकस्य नियमतस्तीर्थकराहारकसद्भावात् । वैक्रियसंयतस्य पुनर्द्वे अपि तथैवं प्रमत्तसंयतस्य सर्वेष्वप्युदयस्थानेषु प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि प्राप्यन्ते एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च।सर्वसंख्यया विंशतिः।इदानीमप्रमत्तसंयतस्य बन्धादीन्युच्यन्ते (चउदुगचउत्ति) अप्रमत्तसंयतस्य चत्वारि बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशत् तत्राद्ये द्वे प्रमत्तसंयतस्यैव भावनीये सैवाष्टाविंशतिराहारकद्विकसहिता त्रिंशत् आहारकद्विकतीर्थकरसहिता त्वेकत्रिंशत् एतेषु चतुर्ष्वपि बन्धस्थानेषु भङ्ग एकैक एव वेदितव्यः अस्थिराशुभायशःकीर्तीनामप्रमत्तसंयतबन्धाभावात् द्वे उदयस्थाने तद्यथा एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् तत्रैकोनत्रिंशत् यो नाम पूर्वं प्रमत्तसंयतः सन् आहारकवैक्रियं वा निर्वर्त्य पश्चादप्रमत्तभावं गच्छति तस्य प्राप्यते । अत्र द्वौ भङ्गौ एको वैक्रियस्यापर आहारकस्य । एवं त्रिंशदुदयेऽपि द्वौ भङ्गौ स्वभावस्थस्याप्रमत्तसंयतस्य त्रिंशदुदयो भवति । तत्र भङ्गाः षट् चत्वारिंशच्छतं सर्वसंख्यया अष्टचत्वारिंशच्छतम् ।सत्तास्थानानि चत्वारि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिश्च । अष्टाविंशतिबन्धकस्य द्वयोरप्युदयस्थानमष्टाशीतिरेकोनत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानम् एकोननवतिः । त्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानं द्विनवतिः एकत्रिंशद्बन्धकस्यापि द्वयोरप्युदयस्थानयोरेकैकं सत्तास्थानं त्रिनवतिः । यस्य हि तीर्थकरमाहारकं वा सत्स नियमात्तद्बध्नाति तेन एकैकस्मिन् बन्धे एकैकमेव सत्तास्थानम् । सर्वे अष्टौ । संप्रत्यपूर्वकरणस्य बन्धादीन्युच्यन्ते (पणगेगत्ति) अपूर्वकरणस्य पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा अष्टाविंशतिः एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च । तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंयतस्येव द्रष्टव्यानि एका तु यशःकीर्तिः सा च देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सति वेदितव्या । तत्र प्रत्येकमेकैको भङ्गः सर्वसंख्यया पञ्च तत्र प्रत्येकबन्धस्थाने एकत्रिंशदुदयस्थानको वेदितव्यः तत्राद्यसंहननस्य षड्भिःसंस्थानविकल्पैः षड् भङ्गास्तद्यथा षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एका च तत्राद्यानि चत्वारि अप्रमत्तसंस्थानसुस्वरप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतिभिर्भङ्गाश्चतुर्विंशतिः (भाष्यटीकायाम् त एव षड्भङ्गाः शुभाशुभखगतिभ्यां द्वादश तथा सुस्वरदुःस्वराभ्यां चतुर्विंशतिः प्रोक्ता) अन्ये त्वाचार्या ब्रुवते आद्यसंहननयुक्ता न त्वन्यतमसंहननयुक्ता अप्युपशमश्रेणिं प्रतिपद्यन्ते तन्मतेन भङ्गा द्विसप्ततिः । एवमनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहेष्वपि द्रष्टव्यम् । चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिस्त्रिनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धकानां त्रिंशदुदये सत्तास्थानानि यथाक्रममष्टाशीतिरेकोननवतिर्द्विनवतिस्त्रिनवतिश्च । एकविधबन्धकस्य त्रिंशदुदये चत्वार्यपि सत्तास्थानानि कथमिति चेदुच्यते । इह अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशद्बन्धकाः प्रत्येकं देवगतिप्रायोग्यबन्धव्यवच्छेदे सत्येकविधबन्धका भवन्ति । अष्टाविंशत्यादिबन्धकानां च यथाक्रममष्टाशीत्यादीनि सत्तास्थानानि तत एकविधबन्धे चत्वार्यपि सत्तास्थानानि प्राप्यन्ते । संप्रत्यनिवृत्तिबादरबन्धस्थानान्युच्यन्ते (एगेगमट्ठत्ति) अनिवृत्तिबादरस्य एकं बन्धस्थानं यशःकीर्त्तेरेकमुदयस्थानं त्रिंशति अष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिरशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यां क्षपकश्रेण्यां वा यावन्नाम त्रयोदशकं न क्षीयते त्रयोदशसु च नामसु यथाक्रमं क्षीणेषु त्रिनवत्यादेरुपरितनानि चत्वारि सत्तास्थानानि भवन्ति बन्धोदयस्थाने भेदाभावात् । अतोऽत्र संवेधः न संभवतीति नाभिधीयते । सूक्ष्मसंपरायस्य बन्धादीन्युच्यन्ते (एगेगमट्ठत्ति) सूक्ष्मसंपरायस्य एकं बन्धस्थानं यशःकीर्तिः एकमुदयस्थानं त्रिंशत् अष्टौ सत्तास्थानानि तानि चानिवृत्तिबादरस्येव वेदितव्यानि तत्राद्यानि चत्वार्युपशमश्रेण्यामेव उपरितनानि तु क्षपकश्रेण्याम् (छउमत्थकेवलिजिणाणमित्यादि) छद्मस्थजिना उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च केवलिजिनाः सयोगिकेवलिजिना अयोगिकेवलिनश्च तेषां यथाक्रममुदयसत्तास्थानानि " एगं चऊ " इत्यादीनि । तत्रोपशान्तमोहस्य एकमुदयस्थानं त्रिंशत् चत्वारि सत्तास्थानानि । तद्यथा त्रिनवतिः द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । क्षीणकषायस्य एकमुदयस्थानं त्रिंशत् । अत्र भङ्गाश्चतुर्विंशतिरेव वज्रर्षभनाराचसंहननयुक्तस्यैव क्षपकश्रेण्यारम्भसंभवात् तत्रापि तीर्थकरसत्कर्मणः क्षीणमोहस्य सर्वसंस्थानादिप्रशस्तमित्येक एव भङ्गः । चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । एकोनाशीतिपञ्चसप्तती अतीर्थकरसत्कर्मणो वेदितव्ये । अशीतिषट्सप्तती तु तीर्थकरसत्कर्मणः । सयोगिकेवलिनोऽष्टावुदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । एतानि सामान्यतो नाम्न उदयस्थानचिन्तायां सप्रपञ्चं निरूपितानीति न भूयो विव्रियते । अत्र चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिः । संवेध उच्यते स च चतुर्दशसु जीवस्थानेषु पर्याप्तसंज्ञिद्वारे यथा कृतस्तथात्रापि भावयितव्यः । अयोगिकेवलिनो द्वे उदयस्थाने तद्यथा नव अष्टौ च । तत्राष्टोदये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा एकोनाशीतिः पञ्चसप्ततिः अष्टौ च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयस्तावत्प्राप्येते चरमसमये त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा अशीतिः षट्सप्ततिर्नव च । तत्राद्ये द्वे यावद् द्विचरमसमयः चरमसमये नव । तदेवं गुणस्थानकेषु बन्धोदयसत्तास्थानान्युक्तानि ।

सांप्रतं गत्यादिषु मार्गणास्थानकेषु विचिन्तितेषु प्रथमतो गतिषु तावच्चिन्तयन्नाह ।

दो छक्कट्ठचउक्कं, पण नव इक्कारछक्कगं उदया ।
नेरइयाइसु संता, ति पंच एक्कारस चउक्कं ॥६४॥

नैरयिकतिर्यग्मनुष्यदेवानां यथाक्रमं द्वे षट् अष्टौ चत्वारि बन्धस्थानानि । तत्र नैरयिकाणामिमे द्वे तद्यथा एकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । तत्रैकोनत्रिंशत् मनुष्यगतितिर्यग्गतिप्रायोग्या वेदितव्या । त्रिंशत् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता मनुष्यगतिप्रायोग्या तु तीर्थकरसहिता भङ्गाश्च प्रागुक्ताः सर्वेऽपि द्रष्टव्याः । तिरश्चां षट् बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एतानि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि केवलमेकोनत्रिंशत् त्रिंशच्च या तीर्थकराहारकसहिता सा न वक्तव्या तिरश्चां तीर्थकराहारकबन्धासंभवात् । मनुष्याणामष्टौ बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशत् एका च । एतान्यपि प्रागिव सप्रभेदानि वक्तव्यानि मनुष्याणां चतुर्गतिकप्रायोग्यबन्धसंभवात् । देवस्य चत्वारि बन्धस्थानानि तद्यथा पञ्च-

विंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । अत्र पञ्चविंशतिः षड्विंशतिश्च पर्याप्तबादरप्रत्येकसहितमेकेन्द्रियप्रायोग्यं बध्नतो वेदितव्या । अत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्ति २ भिरष्टौ भङ्गाः षड्विंशतिरातपोद्योतान्यतरसहिता भवति ततोऽत्र भङ्गाः षोडश एकोनत्रिंशत् मनुष्यगतिप्रायोग्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या च सप्रभेदाऽवसेया । त्रिंशत्पुनस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्या उद्योतसहिता अष्टाधिकषट्चत्वारिंशच्छतसंख्यभेदोपेता प्रागिव वक्तव्या । या तु मनुष्यगतिप्रायोग्यतीर्थकरनामसहिता तत्र स्थिरास्थिरशुभाशुभयशःकीर्ति २ भिरष्टौ भङ्गाः । संप्रति उदयस्थानान्यभिधीयन्ते (पण नव एक्कारसगं उदयत्ति) नैरयिकाणां पञ्च (उदयाः) उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् । एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि । तिरश्चां नव उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत् । एतानि च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसवैक्रियावैक्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियानधिकृत्य सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि मनुष्याणामेकादशोदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकविंशतिःपञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशदेकत्रिंशत् नव अष्टौ । एतानि च सामान्यस्थमनुष्यवैक्रियमनुष्याहारकसंयतः तीर्थकराहारकसयोगिकेवलिनोऽधिकृत्य प्राग्वद्भावनीयानि । देवानां षट् उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् । एतान्यपि प्रागिव सप्रपञ्चमुक्तानि न भूय उच्यन्ते । संप्रति सत्तास्थानान्यभिधीयते (ति पंच एक्कारस चउक्कंति) नैरयिकाणां सत्तास्थानानि त्रीणि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । एकोननवतिर्बद्धतीर्थकरनाम्नो मिथ्यात्वं गतस्य नैरयिकेषूत्पद्यमानस्यावसेया त्रिनवतिस्तु न संभवति तीर्थकराहारकसत्कर्मणो नरकेषूत्पादाभावात् । तिरश्चां पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । तीर्थकरसंबन्धीनि क्षपकसंबन्धीनि च सत्तास्थानानि संभवन्ति तीर्थकरनाम्नः क्षपकश्रेण्याश्च तिर्यक्षु असंभवात् । मनुष्याणामेकादश सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरेकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिर्नव अष्टौ च । अष्टसप्ततिश्च न संभवति मनुष्याणामवश्यं मनुष्यद्विकसंभवात् । देवानां चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः शेषाणि तु न संभवन्ति शेषा हि कानिचिदेकेन्द्रियसंबन्धीनि कानिचित् क्षपकसंबन्धीनि ततः कथं तानि देवानां भवितुमर्हन्ति । संप्रति संवेध उच्यते । नैरयिकस्य तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्च उदयस्थानानि तानि चानन्तरमेवोक्तानि तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः । तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यबन्धासंभवात् एकोननवतिर्न लभ्यते मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्वेकोनत्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः । तीर्थकरसत्कर्मा हि नरकेषूत्पन्नो यावन्मिथ्यादृष्टिस्तावदेकोनत्रिंशतं बध्नाति सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्त्रिंशतं तीर्थकरनामकर्मणोऽपि बन्धात् । तिर्यग्गतिप्रायोग्यामुद्योतसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एकोननवत्यभावभावना प्रागिव भावनीया । मनुष्यप्रायोग्यां तीर्थकरसहितां त्रिंशतं बध्नतः पञ्चस्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकमेकैकं सत्तास्थानमेकोननवतिः सर्वबन्धस्थानोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानि चत्वारिंशत् । संप्रति तिरश्चां संवेध उच्यते । त्रयोविंशतिबन्धकस्य तिरश्च एकविंशत्यादीनि चतुरुदयस्थानानि तानि चानन्तरमेवोक्तानि । तत्राद्येषु चतुर्ष्वेकविंशतिचतुर्विंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशतिरूपेषु प्रत्येकं पञ्च सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिः । इहाष्टसप्ततिस्तेजोवायून् तद्भवादुद्वृत्तान्वाधिकृत्य वेदितव्या शेषेषु तु सप्तविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टाविंशत्यादिषु पञ्चसूदयस्थानेषु अष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि सत्तास्थानानि सप्तविंशत्याद्युदयेषु हि नियमतो मनुष्यगतिद्विकसंभवादष्टसप्ततिर्न लभ्यते । एवं पञ्चविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यं नवरमेकोनत्रिंशतं मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतः सर्वेष्वप्युदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्जानि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि अष्टाविंशतिबन्धकस्य अष्टावुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । तत्र एकविंशतिषड्विंशत्यष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्रूपाः पञ्च उदयाः क्षायिकसम्यग्दृष्टीनां वेदकसम्यग्दृष्टीनां वा द्वाविंशतिसत्कर्मणां पूर्वबद्धायुषामवगन्तव्याः । एकैकस्मिंश्च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ वैक्रियतिरश्चां वेदितव्यौ तत्रापि ते एव द्वे द्वे सत्तास्थाने त्रिंशदेकत्रिंशदुदयौ सर्वपर्याप्तिपर्याप्तानां सम्यग्दृष्टीनां वाऽवसेयौ । एकैकस्मिंश्च त्रीणि त्रीणि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । षडशीतिर्मिथ्यादृशामवगन्तव्या सम्यग्दृष्टीनां च न संभवति तेषामवश्यं देवद्विकादिबन्धसंभवात् तदेवं सर्वबन्धस्थानसर्वोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानां द्वे शते अष्टादशाधिके । तथाहि त्रयोविंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकेषु प्रत्येकं चत्वारिंशच्चत्वारिंशदष्टाविंशतिबन्धे चाष्टादश । संप्रति मनुष्याणां संवेध उच्यते तत्र मनुष्यस्य त्रयोविंशतिबन्धकस्य उदयाः सप्त तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् शेषाः केवल्युदया इति न संभवन्ति त्रयोविंशतिबन्धकस्य पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ च वैक्रियकारिणो वेदितव्यौ एकैकस्मिंश्चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिश्च पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च शेषाणि तु सत्तास्थानानि तीर्थकरक्षपकश्रेणिकेवलिशेषगतिप्रायोग्याणीति न संभवन्ति सर्वसंख्यया चतुर्विंशतिः एवं पञ्चविंशतिषड्विंशतिबन्धकानामपि वक्तव्यं मनुजगतिप्रायोग्यां चैकोनत्रिंशतं त्रिंशतं च बध्नतामप्येवमेव । अष्टाविंशतिबन्धकानां सप्तोदयास्तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशत् एकत्रिंशत् तत्र एकविंशतिषड्विंशत्युदयौ अविरतसम्यग्दृष्टेः करणापर्याप्तस्य पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदयौ वैक्रियाहारकसंयतस्य चाष्टाविंशत्येकोनत्रिंशतौ अविरतसम्यग्दृष्टीनां वैक्रियकारिणामाहारकसंयतानां च त्रिंशत् सम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां वा एकैकस्मिन् द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । आहारकस्य द्विनवतिरेव त्रिंशदुदये चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च । तत्रैकोननवतिः नरकगतिप्रायोग्यामष्टाविंशतिं बध्नतो मिथ्यादृष्टेरवसेया सर्वसंख्यया अष्टाविंशतिबन्धे षोडश सत्तास्थानानि देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं तीर्थकरसहितां

बध्नतः सप्त उदयस्थानानि तानि चाष्टाविंशतिबन्धकानामिव द्रष्टव्यानि नवरं त्रिंशदुदयः सम्यग्दृष्टीनामेव वक्तव्यः यत एकोनत्रिंशद्बन्धस्तीर्थकरनाम च बन्धमायाति सम्यग्दृष्टीनामिति सर्वेष्वपि च उदयस्थानेषु द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । आहारकसंयतस्य त्रिनवतिरेवं सर्वसंख्यया चतुर्दश । आहारकद्विकसहितत्रिंशत्याहारकबन्धहेतोर्विशिष्टसंयमस्याभावात् द्वयोरप्युदयस्थानयोः प्रत्येकमेकं सत्तास्थानं द्विनवतिः। एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकमुदयस्थानं त्रिंशत् एकं सत्तास्थानं त्रिनवतिः। एकविधबन्धकस्य एकमुदयस्थानं त्रिंशत्, अष्टौ सत्तास्थानानि तद्यथा त्रिनवतिः द्विनवतिरेकोननवतिः अष्टाशीतिः अशीतिः एकोनाशीतिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिश्च । सर्वबन्धोदयस्थानापेक्षया सत्तास्थानानां शतमेकोनषष्ट्यधिकं तद्यथा त्रयोविंशतिपञ्चविंशतिषड्विंशतिषु चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः सत्ता अष्टाविंशतिबन्धे षोडश मनुजगतितिर्यग्गतिप्रायोग्यैकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धे चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः । देवगतिप्रायोग्यतीर्थकरसहितैकोनत्रिंशद्बन्धे चतुर्दश एकत्रिंशद्बन्धे एकमेव प्रकृतिबन्धे अष्टाविति, बन्धाभावे उदयस्थानसत्तास्थानयोः परस्परसंवेधः सामान्यतः संवेधचिन्तायामिव वेदितव्यः । संप्रति देवानां पञ्चत्रिंशतिबन्धकानां षट्स्वपि उदयस्थानेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । एवं षड्विंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यम् । उद्योतसहितां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियप्रायोग्यां त्रिंशतमपि बध्नतामेवमेव, तीर्थकरसहितां पुनस्त्रिंशतमर्थान्मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नतां षट्स्वपि उदयस्थानेषु द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा त्रिनवतिरेकोननवतिश्च । सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि षष्टिः तदेवं गतिमाश्रित्योक्तम् ।

संप्रतीन्द्रियमाश्रित्याभिधीयते ।

इगविगलिंदियसगले, पण पंच य अट्ठ बंधठाणाणि ।
पणछक्केकारुदया, पण पण बारस य संताणि ॥ ६५ ॥

एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं बन्धस्थानानि पञ्च पञ्च अष्टौ । तत्रैकेन्द्रियाणां पञ्च बन्धस्थानानि तद्यथा त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरेकोनत्रिंशत्त्रिंशत् । तत्र देवगतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि सर्वगतिप्रायोग्यानि बन्धस्थानानि सप्रभेदानि वक्तव्यानि । विकलेन्द्रियाणां त्रयाणामपीत्येवं पञ्च पञ्च बन्धस्थानानि । पञ्चेन्द्रियाणां (त्रयोविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशदेकं चेति) सर्वाण्यपि बन्धस्थानानि सर्वगतिप्रायोग्यानि सप्रभेदानि द्रष्टव्यानि । संप्रत्युदयस्थानान्युच्यन्ते (पणछक्केकारुदयत्ति) एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च षडेकादश उदयस्थानानि । तत्रैकेन्द्रियाणाममूनि पञ्च उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिः एतानि सप्रभेदानि प्रागिव वक्तव्यानि । विकलेन्द्रियाणां षट् उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत् । एतान्यपि यथाऽधस्तादुक्तानि तथैव वक्तव्यानि । पञ्चेन्द्रियाणाममून्येकादशोदयस्थानानि तद्यथा विंशतिरेकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् नवाष्टौ । एकेन्द्रियविकलेन्द्रियसत्कोदयस्थानानि वर्जयित्वा शेषाणि सर्वाण्यपि पञ्चेन्द्रियाणां सप्रभेदानि वक्तव्यानि । संप्रति सत्तास्थानान्युच्यन्ते (पण पण बारस य संताणित्ति) एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां यथाक्रमं पञ्च पञ्च द्वादश सत्तास्थानानि । तत्रैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणां पञ्च इमानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरष्टसप्ततिश्च । पञ्चेन्द्रियाणां (त्रिनवतिर्द्विनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिरेकोनाशीतिरष्टसप्ततिः षट्सप्ततिः पञ्चसप्ततिर्नवाष्टौ चेति) सर्वाण्यपि सत्तास्थानानि तदेवं सामान्यतो बन्धोदयसत्तास्थानान्युक्तानि । संप्रति संवेध उच्यते एकेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामाद्येषु चतुर्षूदयस्थानेषु पूर्वोक्तानि पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि । सप्तविंशत्युदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि एवं पञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यं सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि विंशं शतम् । विकलेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानामेकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्च सत्तास्थानानि शेषेषु चतुर्षूदयस्थानेष्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि एवं पञ्चविंशतिषड्विंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशद्बन्धकानामपि वक्तव्यं सर्वसंख्यया सत्तास्थानानि त्रिंशं शतम् । पञ्चेन्द्रियाणां त्रयोविंशतिबन्धकानां षडुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः षड्विंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् । एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियान् मनुष्यांश्चाधिकृत्य भावनीयानि । अत्रैकविंशत्युदयेषु च पञ्च पञ्चानन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि शेषेषु तूदयेष्वष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया षड्विंशतिः सत्तास्थानानि । पञ्चविंशतिबन्धकस्याष्टौ उदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशदेकत्रिंशत् । इहैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च पञ्च पञ्चानन्तरोक्तानि सत्तास्थानानि पञ्चविंशत्युदये सप्तविंशत्युदये च द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च शेषेष्वष्टाविंशत्यादिषु चतुर्षूदयस्थानेषु प्रत्येकमष्टसप्ततिवर्जानि शेषाणि चत्वारि चत्वारि सत्तास्थानानि सर्वसंख्यया त्रिंशत् सत्तास्थानानि । एवं षड्विंशतिबन्धकानामपि अष्टाविंशतिबन्धकानामष्टावुदयस्थानानि तद्यथा एकविंशतिः पञ्चविंशतिः षड्विंशतिः सप्तविंशतिरष्टाविंशतिरेकोनत्रिंशत् त्रिंशत् एकत्रिंशत् एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यानधिकृत्य वेदितव्यानि । एकविंशत्यादिष्वेकोनत्रिंशत्पर्यन्तेषु प्रत्येकं द्वे द्वे सत्तास्थाने तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिश्च । त्रिंशदुदये चत्वारि द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिश्च । एकोननवतिस्तीर्थकरनामसत्कर्मणो मिथ्यादृष्टेर्नरकगतिप्रायोग्यं बध्नतो मनुष्यस्यावसेया शेषाणि पुनः सामान्येन तिरश्चो मनुष्यान्वाऽधिकृत्य वेदितव्यानि । एकत्रिंशदुदये त्रीणि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिश्च एतानि तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामवसेयानि अन्यत्र पञ्चेन्द्रियस्य सत एकत्रिंशदुदयाभावात् षडशीतिश्च मिथ्यादृष्टीनां तिर्यक्पञ्चेन्द्रियाणामवसेया न सम्यग्दृष्टीनां सम्यग्दृष्टीनामवश्यं देवद्विकबन्धसंभवेनाष्टाशीतिसंभवात् अत्र सर्वसंख्यया सत्तास्थानान्येकोनविंशतिः एकोनत्रिंशद्बन्धकस्य तान्येवाष्टावुदयस्थानानि तत्रैकविंशत्युदये षड्विंशत्युदये च सप्त सप्त सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिरष्टाशीतिः षडशीतिरशीतिः षट्सप्ततिस्त्रिनवतिरेकोननवतिः। तत्र तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेकोनत्रिंशतं बध्नतः आद्यानि पञ्च, मनुष्यगतिप्रायोग्यां बध्नत आद्यानि चत्वारि देवगतिप्रायोग्यां बध्नतोऽन्तिमे द्वे अष्टाविंशत्येकोनत्रिंशत्त्रिंशदुदयेषु तान्येवाष्टसप्ततिवर्जानि षट् सत्तास्थानानि । एकत्रिंशदुदये आद्या-

नि चत्वारि। पञ्चविंशतिसप्तविंशत्युदययोः पुनरिमानि चत्वारि सत्तास्थानानि तद्यथा द्विनवतिस्त्रिनवतिरेकोननवतिरष्टाशीतिश्च । सर्वाङ्कस्थानानि । सर्वसंख्यया पुनरेकोनत्रिंश-

२१	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१
७	४	७	४	६	६	६	४

द्वन्धे चतुश्चत्वारिंशत् सत्तास्थानानि त्रिंशद्बन्धकस्यापि तान्येवाष्टावुदयस्थानानि तान्येव प्रत्येकं सत्तास्थानानि केवलमिहैकविंशत्युदये आद्यानि द्विनवत्यष्टाशीतिषडशीत्यशीत्यष्टसप्ततिरूपाणि पञ्च सत्तास्थानानि तिर्यग्गतिप्रायोग्यामेव त्रिंशतं बध्नतो वेदितव्यानि न मनुष्यगतिप्रायोग्यां तस्यास्तीर्थकरनामसहितत्वात्। देवगतिप्रायोग्या तु त्रिंशदाहारकद्विकसहिता सा एकविंशत्युदये न संभवति त्रिनवत्येकोननवती मनुष्यगतिप्रायोग्यां त्रिंशतं बध्नतो देवस्य वेदितव्ये षड्विंशत्युदये च तान्येव पञ्च सत्तास्थानानि। षड्विंशत्युदयो हि तिरश्चां मनुष्याणां वा पर्याप्तावस्थायां न च तदानीं देवगतिप्रायोग्याया मनुष्यगतिप्रायोग्यायास्त्रिंशतो बन्धोऽस्तीति त्रिनवत्येकोननवतं। न प्राप्येते शेषं तथैव सर्वाङ्कस्थापना

२१	२५	२६	२७	२८	२९	३०	३१
७	४	(७)५	४	६	६	६	४

सर्वसंख्यया त्रिंशद्बन्धे द्विचत्वारिंशत्सत्तास्थानानि एकत्रिंशद्बन्धकस्य एकविधबन्धकस्य च उदयसत्तास्थानसंवेधस्तद्यथा प्राग्मनुष्यस्योक्तस्तथैव वक्तव्यः । तदेवमिन्द्रियाण्यधिकृत्य संवेध उक्तः ।

इयकम्मपगइठाणाइं, सुठु बंधुदयसंतकम्माणं ।
गइयाइएहिँ अट्ठसु, चउप्पगारेण नेयाणि ॥ ६६ ॥

इत्युक्तेन प्रकारेण बन्धोदयसत्तानां संबन्धीनि कर्मप्रकृतिस्थानानि सुष्ठु अत्यन्तमुपयोगं कृत्वा गत्यादिभिः (प्रकारैर्वाच्यानि)

गइइंदिए य काए, जोए वेए कसायनाणे य ।
संजमदंसणलेसा, भवसम्मे सन्निआहारे ॥ ६७ ॥

इत्येवंरूपैश्चतुर्दशभिर्मार्गणास्थानैरष्टसु अनुयोगद्वारेषु ।

संतपयपरूवणया, दव्वपमाणं च खेत्तफुसणा य ।
कालंतरं च भावे, अप्पाबहुयं च दाराइं ॥ ६८ ॥

इत्येवंरूपेषु ज्ञातव्यानि तत्र सत्पदप्ररूपणया संवेधो गुणस्थानकेषु सामान्येनोक्तो विशेषतस्तु गतीन्द्रियाणि चाश्रित्य एतदनुसारेण काययोगादिभिर्मार्गणास्थानेषु वक्तव्यःप्रमाणादीन्यष्टानुयोगद्वाराणि कर्मप्रकृतिप्राभृतादीन् ग्रन्थान् सम्यक् परिज्ञाय वक्तव्यानि ते च कर्मप्रकृतिप्राभृतादयो ग्रन्था न संप्रति वर्तन्ते इति लेशतोऽपि दर्शयितुं न शक्यन्ते। यस्त्वेदं गुणीनेऽपि श्रुते सम्यग्गतस्तमभियोगमास्थाय पूर्वापरौ परिभाव्य दर्शयितुं शक्नोति तेनाऽवश्यं दर्शयितव्यानि प्रज्ञोन्मेषो हि सतामद्यापि तीव्रतीव्रतरक्षयोपशमभावेनासीमो विजायमानो लक्ष्यमाणो लक्ष्यते। अपिचान्यदपि यत्किंचिदपि क्षुण्णमापतितं तत्तेनापनीय तस्मिन् स्थानेऽन्यत् समीचीनमुपदेष्टव्यं सन्तो हि परोपकारकरणैकरसिका भवन्तीति कथं पुनरष्टस्वनुयोगद्वारेषु बन्धोदयसत्तास्थानानि ज्ञातव्यानीत्याह चतुःप्रकारेण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपेण प्रकृतिगतानि बन्धोदयसत्तास्थानानि प्राय उक्तानि एतदनुसारेण स्थित्यनुभागप्रदेशगतादीन्यपि भावनीयानि। इह बन्धोदयसत्तास्थानसंवेधे चिन्त्यमाने उदयग्रहणेनोदीरणाऽपि गृहीता द्रष्टव्या। उदये सत्युदीरणाया अपि भावात् (एतद्विशेषतो वर्णनं सप्ततिकानामकषष्ठकर्मग्रन्थप्रकरणतोऽवसेयः) कर्म०६क०। इह बन्धोदयसत्कर्मणां संवेधश्चिन्तितः सोऽपि सामान्येन ततो बन्धोदयसत्कर्मसु विशेषजिज्ञासायामतिदेशमाह ।

दुरहिगमनिपुणपरम–त्थरुइरबहुभंगदिट्ठिवायाओ ।
अत्था अणुसरियव्वा, बंधोदयसंतकम्माणं ॥६९॥

दुःखेन महता कष्टेन प्रमाणनयनिक्षेपादिभिरधिगमो निपुणः सूक्ष्मबुद्धिगम्यः परमार्थो यथावस्थितार्थो रुचिरः सूक्ष्मतरार्थः। तत्र पटुप्रज्ञानां मनःप्रह्लादकरो बहुभङ्गो बहुविकल्पो दृष्टिवादस्तस्माद्बन्धोदयसत्कर्मणां विषयेऽर्था विशेषरूपा अनुसर्तव्या ज्ञातव्याः । इह तु संक्षिप्तरुचिसत्वानुग्रहप्रवृत्ततया ग्रन्थगौरवभयान्नोच्यन्ते कर्म० ६क०। पं०सं० । "दुविहं समेच्च मेहावी, किरियमक्खायमणेलिसं " (द्वे विधे प्रकारावस्येति किं तत्कर्म तच्चेर्याप्रत्ययं सांपरायिकं च आचा० । १ श्रु० ९ अ० । (विशेषतो व्याख्या उवहाणसुय शब्दे) "संपराइयणियच्छंति" द्विविधं कर्म ईर्यापथं सांपरायिकं च सूत्र० १ श्रु० ।
चतुर्विधं कर्मचयं न गच्छति भिक्षुसमये इति तदभिधित्सुराह।

अहावरं पुरक्खायं, किरियावाइदरिसणं ।
कम्मचिंतापणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं ॥

अथेत्यानन्तर्ये अज्ञानवादिमतानन्तरमिदमन्यत् पुरा पूर्वमाख्यातं कथितं किं पुनस्तदित्याह । क्रियावादिदर्शनम् । क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानं मोक्षाङ्गमित्येवंवदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनस्तेषां दर्शनमागमः क्रियावादिदर्शनम् । किंभूतास्ते क्रियावादिन इत्याह । कर्मणि ज्ञानावरणादिके चिन्ता पर्यालोचनं कर्मचिन्ता तस्याः प्रणष्टा अपगताः कर्मचिन्ताप्रणष्टाः। यतस्ते अविज्ञानाद्युपचितं चतुर्विधं कर्मबन्धं नेच्छन्त्यतः कर्मचिन्ताप्रणष्टास्तेषां चेदं दर्शनं दुःखस्कन्धस्यासातोदयपरंपराया विवर्धनं भवति । क्वचित्संसारवर्धनमिति पाठः। ते ह्येवं प्रतिपद्यमानाः संसारस्य वृद्धिमेव कुर्वन्ति नोच्छेदमिति ।

(२५) यथा ते कर्मचिन्तातो नष्टास्तथा दर्शयितुमाह।

जाणं काएण णाउट्टी, अबुहो जं च हिंसति ।
पुट्ठो संवेदइ परं, अवियत्तं खु सावज्जं ॥२५॥

यो हि जानन्नवगच्छन् प्राणिनो हिनस्ति कायेन चानाकुट्टी कुट्ट च्छेदने । आकुट्टनमाकुट्टः स विद्यते यस्यासावाकुट्टी नाकुट्टयनाकुट्टी । इदमुक्तं भवति । यो हि कायादेर्निमित्तात् केवलं मनोव्यापारेण प्राणिनो व्यापादयति न च कायेन प्राण्यवयवानां छेदनभेदनादिके व्यापारे वर्तते न तस्याऽवद्यम्। तस्य कर्मोपचयो न भवतीत्यर्थः । तथाऽबधोऽजानानः कायव्यापारमात्रेण यं च हिनस्ति प्राणिनं तत्रापि मनोव्यापाराभावान्न कर्मोपचय इति अनेन च श्लोकार्धेन यदुक्तं निर्युक्तिकृता यथा "चतुर्विधं कर्म नोपचीयते भिक्षुसमय इति" तत्र परिज्ञोपचितमविज्ञोपचिताख्यं भेदद्वयं साक्षादुपात्तं शेषं त्वीर्यापथस्वप्नान्तिकभेदद्वयं चशब्देनोपात्तम् । तत्रेरणमीर्या गमनं तत्संबद्धः पन्था ईर्यापथस्तत्प्रत्ययं कर्मेर्यापथम् । एतदुक्तं भवति । पथि गच्छतो यथाकथञ्चिदनभिसंधेर्यत्प्राणिव्यापादनं भवति कर्मणश्चयो न भवति । तथा स्वप्नान्तिकमिति । स्वप्न एव लोकोक्त्या स्वप्नान्तः स विद्यते यस्य तत्स्वप्नान्तिकं तदपि न कर्म बन्धाय यथा स्वप्ने भुजि क्रियायां तृप्त्यभावस्तथा कर्मणोऽपीति कथं तर्हि तेषां कर्मोपचयो भवतीत्युच्यते। यद्यसौ हन्यमानःप्राणी

भवति हन्तुश्च यदि प्राणीत्येवंज्ञानमुत्पद्यते तथैनं हन्मीत्येवं च यदि बुद्धिः प्रादुःस्यादेतेषु च सत्सु यदि कायचेष्टा प्रवर्त्तते तस्यामपि यद्यसौ प्राणी व्यापाद्यते ततो हिंसा । ततश्च कर्मोपचयो भवतीत्येषामन्यतराभावेऽपि न हिंसा न च कर्मचयः । अत्र च पञ्चानां पदानां द्वात्रिंशद्भङ्गा भवन्ति । तत्र प्रथमभङ्गे हिंसकोऽपरेष्वेकत्रिंशत्स्वहिंसकः। तथा चोक्तं । "प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्तं च तद्गता चेष्टा । प्राणैश्च विप्रयोगः, पञ्चभिरापद्यते हिंसा" किमेकान्तेनैव परिज्ञोपचितादिना कर्मोपचयो न भवत्येव काचिदव्यक्तिमात्रेति दर्शयितुं श्लोकपश्चार्द्धमाह । (पुट्ठोत्ति) तेन केवलमनोव्यापाररूपपरिज्ञोपचितेन केवलकायक्रियोच्छेदेन वाऽविज्ञोपचितेनेर्यापथेन स्वप्नान्तिकेन च चतुर्विधेनापि कर्मणा स्पृष्ट ईषत्सुप्तः संस्तत्कर्माऽसौ स्पर्शमात्रेणैव परमनुभवति न तस्याधिको विपाकोऽस्ति कुड्यापतितसिकतामुष्टिवत्स्पर्शानन्तरमेव परिशटतीत्यर्थः । अत एव तस्य चयाभावोऽभिधीयते न पुनरत्यन्ताभाव इति । एवं च कृत्वा तदव्यक्तमपरिस्फुटं क्षुरधारणे अव्यक्तमेव स्पष्टविपाकानुभावाभावात् । तदेवमव्यक्तं सहावद्येन गर्हेण वर्तते तत्परिज्ञोपचितादिकर्मेति ॥ २५ ॥

ननु च यद्यनन्तरोक्तं चतुर्विधं कर्म नोपचयं याति कथं तर्हि कर्मोपचयो भवतीत्येतदाशङ्क्याह ।

संति मे तउ आयाण, जेहिं कीरइ पावगं ।
अभिकम्मा य पेसा य, मणसा अणुजाणिया २६ ॥

(सन्ति मे इत्यादि) सन्ति विद्यन्ते अमूनि त्रीणि आदीयते स्वीक्रियते अमीभिः कर्मेत्यादानानि । एतदेव दर्शयति । यैरादानैः क्रियते विधीयते निष्पाद्यते पापकं कल्मषं तानि चामूनि तद्यथा अभिक्रम्येत्याभिमुख्येन वध्यं प्राणिनं क्रान्त्वा तद्घाताभिमुखं चित्तं विधाय यत्र स्वत एव प्राणिनं व्यापादयति तदेकं कर्मादानम् । तथाऽपरं च प्राणिघाताय प्रेष्यं समादिश्य यत्प्राणिव्यापादनं तद् द्वितीयं कर्मादानमिति । तथाऽपरं व्यापादयन्तं मनसाऽनुजानीत इत्येतत्तृतीयं कर्मादानम् । परिज्ञोपचितादस्यायं भेदः तत्र केवलं मनसा चिन्तनमिह त्वपरेण व्यापाद्यमाने प्राणिन्यनुमोदनमिति ॥२६॥ तदेवं यत्र स्वयंकृतकारितानुमतयः प्राणिघाते क्रियमाणे विद्यन्ते क्लिष्टाध्यवसायस्य प्राणातिपातश्च तत्रैव कर्मोपचयो नान्यत्रेति दर्शयितुमाह ।

एते उ तउ आयाणा, जेहिं कीरइ पावगं ।
एवं भावविसोहीए, निव्वाणमभिगच्छइ ॥२७॥

(एएउ इत्यादि) तुरवधारणे एतान्येव पूर्वोक्तानि त्रीणि व्यस्तानि समस्तानि वा आदानानि यैर्दुष्टाध्यवसायव्यपेक्षैः पापकं कर्मोपचीयत इति । एवं च स्थिते यत्र कृतकारितानुमतयः प्राणिव्यपरोपणं प्रति न विद्यन्ते तथाभावशुद्ध्या अरक्तद्विष्टबुद्ध्या प्रवर्त्तमानस्य सत्यपि प्राणातिपाते केवलेन मनसा कायेन वा मनोभिसन्धिरहितेनोभयेन वा विशुद्धबुद्धेर्न कर्मोपचयस्तदभावाच्च निर्वाणं सर्वद्वन्द्वोपरतिभावमभिगच्छत्यभिमुखेन प्राप्नोतीति । भावशुद्ध्या प्रवर्त्तमानस्य कर्मबन्धो न भवतीत्यत्रार्थे दृष्टान्तमाह ।

पुत्तं पिया समारब्भ, आहारेज्ज असंजए ।
भुंजमाणो य मेहावी, कम्मणा नो विलिप्पइ ॥ २८ ॥

पुत्रमपत्यं पिता जनकः समारभ्य व्यापाद्याहारार्थं कस्यांचित्तथाविधायामापदि तदुद्धरणार्थमरक्तद्विष्टोऽसंयतो गृहस्थस्तत्पिशितं भुञ्जानोऽपि चशब्दस्यापिशब्दार्थत्वादिति । तथा मेधाव्यपि संयतोऽपीत्यर्थः तदेवं गृहस्थो भिक्षुर्वा शुद्धाशयः पिशिताश्यपि कर्मणा पापेन नोपलिप्यते नाश्लिष्यत इति यथा चात्र पितुः पुत्रं व्यापादयतस्तत्रारक्तद्विष्टमनसः कर्मबन्धो न भवति तथाऽन्यस्याप्यरक्तद्विष्टान्तःकरणस्य प्राणिवधे सत्यपि न कर्मबन्धो भवतीति ।

सांप्रतमेतद्दूषणायाह ।

मणसा ये पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ ।
अणवज्जमतहं तेसिं, ण ते संवुडचारिणो ॥२९॥

ये हि कुतश्चिन्निमित्तान्मनसाऽन्तःकरणेन प्रदुष्यन्ति प्रद्वेषमुपयान्ति तेषां वधपरिणतानां शुद्धं चित्तं न विद्यते तदेवं यत्तैरभिहितं यथा केवलमनःप्रद्वेषे ऽप्यनवद्यं कर्मोपचयाभाव इति ततस्तेषामतथ्यमसदर्थाभिधायित्वं यतो न ते संवृत्तचारिणो मनसोऽशुद्धत्वात् । तथाहि कर्मोपचये कर्त्तव्ये मन एव प्रधानं कारणं यतस्तैरपि मनोरहितकेवलकायव्यापारे कर्मोपचयाभावोऽभिहितः ततश्च यद्यस्मिन् सति भवत्यसति तु न भवति तत्तस्य प्रधानं कारणमिति । ननु तस्यापि कायचेष्टारहितस्याऽकारणत्वमुक्तम् सत्यमुक्तम । अयुक्तं तूक्तं यतो भवतैवैवं भावशुद्ध्या निर्वाणमभिगच्छतीति भणता मनस एवैकस्य प्राधान्यमभ्यधायि तथाऽन्यदप्यभिहितम् "चित्तमेव हि संसारे रागादिक्लेशवासितम् । तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते" तथान्यैरप्यभिहितम "मतिविभवमनस्ते यत्समत्वेऽपि पुंसां, परिणमसि शुभांशैः कल्मषांशैस्त्वमेव । निरयनगरवर्त्मप्रस्थिताः कष्टमेव, ह्युपचितशुभशक्त्या सूर्यसंभेदिनोऽन्ये" १ तदेवं भवदभ्युपगमेनैव क्लिष्टमनोव्यापारः कर्मबन्धायेत्युक्तं भवति । नचेर्यापथेऽपि यद्यनुपयुक्तो घातितवान् ततोऽनुपयुक्ततैव क्लिष्टचित्ततेति कर्मबन्धो भवत्येव । अथोपयुक्तो याति ततोऽप्रमत्तत्वादबन्धक एव तथा चोक्तम् "उच्चालियं पि पाए, इरियासमियस्स संकमट्ठाए । वावज्जेज्ज कुलिंगी, मरेज्ज तं जोगमासज्ज ॥१॥ ण य तस्स तन्निमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समये । अणवज्जो उपयोगे, ण सव्वभावेण सो जम्हा" ॥२॥ स्वप्नान्तिकेऽप्यशुद्धचित्तसद्भावादीषद्बन्धो भवत्येव स च भवतोऽप्यभ्युपगत एवाव्यक्तं तत्सावद्यमित्यनेनेति तदेवं मनसोऽपि क्लिष्टस्यैकस्यैव व्यापारबन्धसद्भावात् यदुक्तं भवता प्राणी प्राणिज्ञानमित्यादि तत्सर्वं प्लवत इति । यदप्युक्तं पुत्रं पिता समारभ्येत्यादि तदप्यनालोचिताभिधानं यतो मारयामीत्येवं यावन्न चित्तपरिणामोऽभूत्तावन्न कश्चिद्व्यापादयति एवंभूतचित्तपरिणतेश्च कथमसंक्लिष्टता चित्तसंक्लेशे चावश्यंभावी कर्मबन्ध इत्युभयोरपि संवादोऽत्रेति । यदपि च तैः कचिदुच्यते यथा परव्यापादितपिशितभक्षणे परहस्ताकृष्टाङ्गारदाहाभाववन्न दोष इति तत्र पिशितभक्षणेऽनुमतिरप्रतिहता ऽस्माच्च कर्मबन्ध इति । तथा चान्यैरप्यभिहितम् । "अनुमन्ता विशसिता, संहर्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्ता चोपभोक्ता च, घातकश्चाष्टघातकाः" यच्च कृतकारितानुमतिरूपमादानत्रयं तैरभिहितं तज्जैनेन्द्रमतलवास्वादनमेव तैरकारीति । तदेवं कर्मचतुष्टयं नोपचयं यातीत्येवं तदभिदधानाः कर्मचिन्तातो नष्टा इति सुप्रतिष्ठमिदमिति ॥ २९ ॥

अधुनैतेषां क्रियावादिनामनर्थपरंपरां दर्शयितुमाह ॥

इच्चेयाहि य दिट्ठीहिं, सातागारवणिस्सिया ।
सरणं ति मन्नमाणा, सेवंती पावगं जणा ॥ ३० ॥

इत्येताभिः पूर्वोक्ताभिश्चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीति दृष्टिभिरभ्युपगमैस्ते वादिनः सातागौरवनिश्रिताः सुखशीलतायामासक्ता यत्किञ्चनकारिणो यथालब्धभोजिनश्च संसारोद्धरणसमर्थं शरणमिदमस्मदीयं दर्शनमित्येवं मन्यमाना विपरीतानुष्ठानतया सेवन्ते कुर्वन्ति पापमवद्यमेवं व्रतिनोऽपि सन्तो जना इव जनाः प्राकृतपुरुषसदृशा इत्यर्थः ॥ ३० ॥

अस्यवार्थस्योपदर्शकं दृष्टान्तमाह ।

जहा अस्साविणिं णावं, जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं, अंतरा य विसीयई ॥ ३१ ॥

(जहा अस्साविणिमित्यादि) आ समन्तात्स्रवति तच्छीला आस्राविणी सच्छिद्रेत्यर्थः । तां तथाभूतां नावं यथा जात्यन्धः समारुह्य पारं तटमागन्तुं प्राप्तुमिच्छत्यसौ तस्याश्च स्राविणीत्वेनोदकप्लुतत्वादन्तराले जलमध्य एव विषीदति वारिणि निमज्जति । तत्रैव च पञ्चत्वमुपयातीति ॥ ३१ ॥

सांप्रतं तद्दार्ष्टान्तिकयोजनार्थमाह ।

एवं तु समणा एगे, मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टं ति त्ति बेमि ३२ ॥

यथाऽन्धः सच्छिद्रां नावं समारूढः पारगमनाय नालं तथा श्रमणा एके शाक्यादयो मिथ्या विपरीता दृष्टिर्येषां ते मिथ्यादृष्टयः । तथा पिशिताशनानुमतेरनार्याः स्वदर्शनानुरागेण संसारपारकाङ्क्षिणो मोक्षाभिलाषुका अपि सन्तस्ते चतुर्विधकर्मचयानभ्युपगमेनानिपुणत्वाच्छासनस्य संसारमेव चतुर्गतिसंसरणरूपमनुपर्यटन्ति । भूयो भूयस्तत्रैव जन्मजरामरणादौ गत्यादिक्लेशमनुभवन्तोऽनन्तमपि कालमासते न विवक्षितमोक्षसुखमाप्नुवन्तीति ब्रवीमीति पूर्ववदिति ॥३२॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

(३६) सोपक्रमनिरुपक्रमादिना कर्मद्वैविध्यमाह ।

कर्मभेदाः सोपक्रमनिरुपक्रमादयस्तत्र यत्फलजननाय सहोपक्रमेण कार्यकारणाभिमुख्येन वर्त्तते यथोष्णप्रदेशे प्रसारितमार्द्रं वस्त्रं शीघ्रमेव शुष्यति निरुपक्रमं च विपरीतं यथा तदेवार्द्रं वासः पिण्डीकृतमनुष्णे देशे चिरेण शोषमेतीति स्था० २ ठा० ॥

अस्योदाहरणम् ॥ ननु तीर्थकरा यत्र विहरन्ति तत्र देशे पञ्चविंशतियोजनानि आदेशान्तरेण द्वादशानां मध्ये तीर्थकरातिशयान्न वैरादयोऽनर्था भवन्ति यदाह " पच्चुप्पन्ना रोगा, पसमंति इइवेरमारीओ । अइवुट्ठि अणावुट्ठी न होइ दुब्भिक्खडमरं वेति " तत्कथं श्रीमन्महावीरे भगवति पुरिमताले नगरे व्यवस्थित एवाभग्नसेनस्य पूर्ववर्णितो व्यतिकरः संपन्न इत्यत्रोच्यते सर्वमिदमर्थानर्थजातं प्राणिनां स्वकृतकर्मणः सकाशादुपजायते । कर्म च द्विधा सोपक्रमं निरुपक्रमं च तत्र यानि वैरादीनि सोपक्रमसंपाद्यानि तान्येव जिनातिशयादुपशाम्यन्ति सदौषधात्साध्यव्याधिवत् । यानि तु निरुपक्रमकर्मसंपाद्यानि तान्यवश्यं विपाकतो वेद्यानि नोपक्रमकारणविषयाणि असाध्यव्याधिवत् । अत एव सर्वातिशयसंपत्समन्वितानां जिनानामप्यनुपशान्तवैरभावा गोसालकादय उपसर्गान् विहितवन्त इति । विपा० ३ अ० ।

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं पंचमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते छट्ठस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णयरे होत्था । तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था । तत्थ णं रायगिहस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसेलिए णामं चेइए होत्था । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे जाव जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसेलाए चेइए तेणेव समोसढे अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ परिसा णिग्गया सेणिओ विणिग्गओ धम्मो कहिओ परिसा णिग्गया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे अदूरसामंते जाव सुक्कज्झाणोवगए विहरति । तए णं से इंदभूई जायसड्ढे एवं वयासी । कह णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं वा लहुयत्तं वा हव्वमागच्छंति गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे एगमहं सुक्कं तुंबं निच्छिद्दं निरुवहयं दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ वेढेइत्ता मट्टियालेवेणं लिंपति उण्हे दलयति दलयइत्ता सुक्कं समाणं दोच्चं पि दब्भकुसेहि य वेढेइ वेढेइत्ता मट्टियालेवेणं लिंपइ लिंपइत्ता उण्हे सुक्कं समाणं तच्चंपि दब्भेहि य कुसेहि य वेढेति मट्टिया लेवेणं लिंपइ । एवं खलु एएणं उवाएणं अंतरा वेढेमाणे अंतरा लिंपेमाणे अंतरा सुक्कावेमाणे जाव अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं आलिंपति अत्थाहंसिअ तारंगंसिय अपारमपोरिसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा से णूणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्टियालेवेणं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयभारियत्ताए उप्पिं सलिलमतिवइत्ता अहे धरणितले पइट्ठाणे भवति । एवामेव गोयमा ! जीवावि पाणाइवाएणं जाव मिच्छादंसणसल्लेणं आणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ समज्जिणित्ता तासिं गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयभारियत्ताए कालमासे कालं किच्चा धरणितलमतिवइत्ता अहेणरगतलपइट्ठाणो भवति एवं खलु गोयमा ! जीवो गुरुयत्तं हव्वमागच्छति । अहणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं पढमिल्लगंसि मट्टियालेवंसि तिन्तंसि कुहियंसि परिसडियंसि ईसिं धरणितलाओ उप्पइत्ताणं चिट्ठति । तयाणंतरं च णं दोच्चं पि मट्टियालेवे जाव उप्पइत्ताणं चिट्ठइ । एवं खलु एएणं उवाएणं तेसु अट्ठसु मट्टियालेवेसु तित्तेसु जाव विमुक्कबंधणे अहेधरणियलमवइत्ता उप्पिं सलिलतलपइट्ठाणे भवइ । एवामेव गोयमा ! जीवा पाणातिवायवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं आणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपगडीओ खवेत्ता गगणतलमुप्पइत्ता उप्पिं लोयग्गपइट्ठाणा भवंति एवं खलु गोयमा ! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति एवं खलु जंबू समणेणं भगवया महावीरेणं जाव संपत्तेणं छट्ठस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि ॥

सव्वे सुगमं नवरं निरुपहतं वातादिभिर्दर्भैरप्रभृतैः कुशैर्मूलभूतैर्जात्या दर्भैः कुशभेद इत्यन्ये (अत्थाहंसिसि) अस्ताघे अगाधे इत्यर्थः पुरुषः परिमाणमस्येति पौरुषिकं तन्निषेधादपौरुषिकं मृल्लेपानां संबन्धाद् गुरुकतया गुरुकतैव कुतः भारिकतया मृल्लेपजनितभारवत्त्वेनेति भावः । गुरुकभारिकतयेति तु धर्म्मद्वयमप्यधोमज्जनकारणताप्रतिपादनायोक्तम् (उप्पि) उपरि 'अइवइत्ता' अतिपत्यातिक्रम्य (तित्तंसिति) स्तिमिते आर्द्रतां गते ततः कुथिते कोथमुपगते ततः परिसटिते पतित इति । इह गाथे "जह मिउले वालित्तं, गुरुयं तुंबं अहो वयइ एवं । आसवकयकम्मगुरू, जीवा वच्चंति अहरगइं ॥१॥ तं चेव तव्विमुक्कं, जलोवरिं ठाइ जाइ लहुभावं । जह तह कम्मविमुक्का, लोयग्गपयट्ठिया होंति" ज्ञा० ६ अ० ।

आह गुरुलघुकमगुरुलघुकं वा द्रव्यं भवति नचैकान्तगुरुकं नचैकान्तलघुकमित्यागमेऽभिधीयते ततः कर्मणां गुरुतया जीवा अधो गच्छन्ति लघुतया तूर्द्धमिति कथं न विरुध्यते उच्यते इह हि यदागमे गुरुलघुकमगुरुलघुकं वा द्रव्यमुक्तं तन्निश्चयतः "निच्छयओ सव्वगुरुं सव्वलहुं वा न विज्जए दव्वं" ... "विईया पयउ सव्वत्थ पमिसिद्धा" गुरुकं लघुकं मिश्रं गुरुकलघुकमिश्रं गुरुलघुकमित्यर्थः । एवं व्यवहारतश्चतुर्द्धा द्रव्यम् । तत्र पुनरेतेषां मध्ये ये प्रथमद्वितीयपदे ते सर्वत्रापि निश्चयनयमताश्रितेषु सूत्रेषु प्रतिषिद्धा । तथाहि स निश्चयनयो ब्रवीति नास्त्येकान्तेन गुरुस्वभावं किमपि वस्तु पराभिप्रायेण गुरुत्वेनाभ्युपगतस्यापि लोष्ट्वादेः परप्रयोगादूर्द्ध्वादिगमनदर्शनात् । एवमेकान्तेन लघुस्वभावमपि नास्ति इति लब्धेऽपि वाष्पादेः करताडनादिना अधोगमनादिदर्शनात् । तस्मादियं वस्तुनः परिभाषा यत्किमप्यत्र जगति बादरं वस्तु न सर्वं गुरु लघु शेषं तु सर्वमप्यगुरुलघुकमिति । इदमेव व्यक्तीकुर्वन्नाह ।

ओरालिय तेयगं सरीरं, गुरुलहुदव्वाणि कायजोगा य ।
मणभासा अगुरुलहु, अरूविदव्वा य सव्वे वि ॥

औदारिकशरीरादारभ्य तैजसशरीरं यावत् यानि द्रव्याणि यश्च तेषामेव संबन्धात्काययोगः शरीरव्यापार एतत्सर्वं गुरुलघुकमिति निर्द्दिष्टम् । यानि तु मनोभाषाप्रायोग्याण्युपलक्षणत्वादानप्राणकर्मणा प्रायोग्याणि तदपान्तरालवर्तीनि च द्रव्याणि यानि च सर्वाण्यपि धर्माधर्माकाशजीवास्तिकायलक्षणान्यरूपिद्रव्याणि तदेतत्सर्वमगुरुलघुकम् ।

अहवा बायरबोंदी, कलेवरा गुरुलहू भवे सव्वे ।
सुहुमाणंतपदेसा, अगुरुलहू जाव परमाणू ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतने बादरा बोन्दि शरीरं येषान्ते बादरबोन्दयो बादरनामकर्मोदयवर्तिनो जीवा इत्यर्थः तेषां सम्बन्धीनि यानि कलेवराणि यानि वा पराण्यपि बादरपरिणतानि तत्राम्भोधरादीनि शक्रचापगन्धर्वपुरप्रभृतीनि वा वस्तूनि तानि सर्वाण्यपि गुरुलघून्युच्यन्ते यानि तु सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तिनां जन्तूनां शरीराणि यानि च सूक्ष्मपरिणामपरिणतानि अनन्तप्रादेशिकादीनि परमाणुपुद्गलं यावत् द्रव्याणि तानि सर्वाण्यगुरुलघूनि ।

अथ व्यवहारनयमतमाह ।

ववहारनयं पप्प उ, गुरुया लहुया य मीसगा चेव ।
लहुगपदीवमारुय, एवं जीवाण कम्माइं ॥

व्यवहारनयं प्राप्याङ्गीकृत्य त्रिविधानि द्रव्याणि भवन्ति तद्यथा गुरुकाणि लघुकानि मिश्रकाणि च गुरुलघूनीत्यर्थः । तत्र यानि तिर्यगूर्द्ध्वं वा प्रक्षिप्तान्यपि स्वभावादेवाधो निपतन्ति तानि गुरुकाणि यथा लेष्टुप्रभृतीनि । यानि तूर्द्ध्वगतिस्वभावानि तानि लघुकानि यथा प्रदीपकादीनि । यानि तु नाधोगतिस्वभावानि न वा ऊर्द्ध्वगतिस्वभावानि किं तर्हि तिर्यग्गतिधर्मकाणि तानि गुरुलघूनि यथा मारुतो वायुस्तत्प्रभृतीनि एवं जीवानां कर्माण्यपि त्रिविधा भवन्ति गुरूणि लघूनि गुरुलघूनि वा । तत्र यैरमी जीवा अधोगतिं नीयन्ते तानि गुरुकाणि यैस्तु त एवोर्द्ध्वगतिं प्राप्यन्ते तानि लघुकानि यैः पुनस्तिर्यग्योनिकेषु वा मनुष्येषु वा गतिं कार्यन्ते तानि गुरुलघुकानीति तदेवं व्यवहारनयाभिप्रायेण समर्थितः कर्मणां गुरुत्वलघुत्वगुरुलघुत्वपरिणामः । अथ परः प्राह । ननु जीवास्तावत् स्ववशा एव ज्ञानावरणादिकं कर्मोपचिन्वन्ति ततो गतिरपि तेषां स्ववशतया किं न प्रवर्त्तते यदेवं कर्मोदयबलादूर्द्ध्वमधस्तिर्यग्वा नीयन्ते । उच्यते ।

कम्मं चिणंति सवसा, तस्सुदयम्मि उ परवसा होंति ।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलइ स परवसो तत्तो ॥

जीवाः स्ववशाः स्वतन्त्रा एव मिथ्यात्वाविरत्यादिभिः कर्म चिन्वन्ति बध्नन्तीत्यर्थः परं तस्य कर्मण उदये ते जीवाः परवशा भवन्ति । अथ कश्चित्पुरुषो वृक्षमारोहन् स्ववशः स्वाभिप्रायानुकूल्येनारोहति स च कुतश्चिद् दुष्प्रमादात्ततो विगलन् परवशः स्वकाममन्तरेणैव विगलति । आह यद्येवं ततः किं संसारिणो जीवाः सर्वथैव कर्मपरवशा एव । उच्यते नायमेकान्तो यत आह ।

कम्मवसा खलु जीवा, वसाइं कहिं वि कम्माइं ।
कत्थइ धणिओ बलवं, धारणओ कत्थई बलवं ॥

कर्मवशाः खलु प्रायेण अमी संसारिणो जीवाः परं कुत्रचित्प्रबलधृतिबलादिसद्भावे कर्माण्यपि जीववशानि । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति यथा कुत्रचिज्जनपदादौ धनिको व्यवहारको बलवान् कुत्रचित्पुनः प्रत्यन्तग्रामादौ धारणिकः ऋणधारकोऽपि बलवान् । इयमत्र भावना । यदि जनपदमध्यवर्त्ती अविद्यमानविभवो वा धारणिकस्तदा धनिको बलीयान् । अथ धारणिकः प्रत्यन्तग्रामे वा पल्ल्यां वा गत्वा स्थितः नवा तस्य तथाविधं किमपि द्रव्यमस्ति ततो धारणिको बलवान् भवति । एष दृष्टान्तः । अथार्थोपनयमाह ।

धणियसरिसं तु कम्मं, धारणिगसमा उ कम्मिणा होंति ।
संतासंतधणा जह, धारणिगधिइबलं तणु ॥

एवंविधधनिकसदृशं कर्म धारणिकसमानाः कर्मिणः सकर्मका जीवा भवन्ति सुखदुःखोपभोगादि ऋणधारकत्वात्तेषामिति भावः । यथा च सन्तो विद्यमानविभवा असन्तोऽविद्यमानविभवा धारणिका भवन्ति तत्र च विद्यमानविभवे धारणिके धनिकस्य यदि कार्यं भवति तदा राजकुलबलेन तं धारणिकं भृत्वा स्वकलत्रं द्रव्यं बलादपि गृह्णाति स च धारणिकस्तस्मिन् द्रव्ये दत्ते सति अनृणीभवति । अथ सोऽविद्यमानविभवस्ततो धनिकेन स्ववशीक्रियते स्ववशीकृतश्च तत्पारवश्येण वर्तमानो दुःसहं दासत्वादि महादुःखोपनिपातमनुभवति । एवमत्रापि धृतिबलं (तणुत्ति] शारीरं च बलं यस्याभिमानवतां कल्याणवसंयम । इदमुक्तं भवति यस्य जीवस्य वज्रकुड्यसमानं

विशिष्टं मनःप्रणिधानबलं वज्रऋषभनाराचसंहननलक्षणं च शारीरं बलं भवति स धनिकसदृशं कर्म क्षपयित्वा सुखेनैवानृणीभवति। यस्य तु धृतिबलं शारीरबलं वा न भवति स तेन कर्मणा वशीक्रियते वशीकृतश्च तत्परतन्त्रतया वर्त्तमानो विविधशारीरमानसदुःखोपनिपातमनुभवति । आह धृतिसंहननवलोपेतो यत्कर्म क्षपयति तत्किमुदीर्णानुदीर्णं वा क्षपयतीत्युच्यते ।

महणासहणो कालं, जह धणिओ एवमेव कम्मं तु ।
उदियानुदियखवणा, होज्ज भिया आउवज्जेसु ॥

धनिको द्विधा सहिष्णुरसहिष्णुश्च । यः सहिष्णुः स विवक्षितं कालं प्रतीक्षते इतरस्तु न प्रतीक्षते एवमेव कर्मापि किंचित्स्वकालमूर्त्ता किंचित्पुनरतामन्तरेणापि स्वविपाकं दर्शयतीत्येवमुदीर्णस्यानुदीर्णस्य वा कर्मणः क्षपणा धृतिसंहननबलोपेतस्य भवेत् (सियत्ति) स्यात्कदाचित्कस्याप्येवं भवति न सर्वस्य । यस्तु संहननबलविहीनः स क्रममनुदीर्णं कर्म देशतः क्षपयेत् न सर्वतः (आउवज्जेसु त्ति) आयुःकर्मवर्ज्जानां शेषकर्मणामनुदीर्णानामपि क्षपणं भवति आयुषः पुनरुदीर्णस्यैव क्षपणमिति भावः । तदेवं धनिकधारणिकदृष्टान्तेन जीवकर्मणोरुभयोरपि तुल्यमेव यथायोगं बलीयस्त्वं द्रष्टव्यम् । उक्तं च "इन्नाशो ब्रह्मदत्त भरतनृपजयः सर्वनाशश्च कृष्णे, नीचैर्गोत्रावतारश्चरमजिनपतेर्मल्लिनाथेऽबलत्वम् । निर्वाणं नारदेऽपि प्रशमपरिणतः स्याच्चिलातीसुतेऽपि, इत्थं कर्मात्मवीर्ये स्फुटमिह जयति स्पर्धया तुल्यरूपं" उक्तं सप्रपञ्चं भावाधिकरणम् । वृ० १ उ० ।

सह कलेवर रे वद चिन्तय, स्ववशता हि पुनस्तव दुर्लभा ।
बहुतरं च सहिष्यसि कर्म हे, परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते
आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कम्माणि णूणं घणचिक्कणाइं, गरुआइं वइरसाराई ।
णाणड्ढियं पि पुरिसं, पंथाओ उप्पहं निंति आचा० ६ अ० ३ उ० ॥

उप्तो यः स्वत एव मोहसलिलो जन्मालवालोऽशुभो ।
रागद्वेषकषायसन्ततिमहानिर्विघ्नवीजस्त्वया ।
रोगैरङ्कुरितो विपत्कुसुमितः कर्म्मद्रुमः सांप्रतं, ।
सोढा नो यदि सम्यगेष फलितो दुःखैरधोगामिभिः ।
पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्तथाऽयं, ।
न खलु भवति नाशः कर्म्मणां संचितानाम् ।
इति सह गणयित्वा यद्यदा याति सम्यक् ,
सदिति वद विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्त्यः । आचा० १ श्रु.२ अ.।
शुभाशुभानि कर्माणि, स्वयं कुर्वन्ति देहिनः ।
स्वयमेवोपभुञ्जन्ते, दुःखानि च सुखानि च. उत्त० १ अ० ।
यदिह क्रियते कर्म, तत्परत्रोपभुज्यते ।
मूलसिक्तेषु वृक्षेषु, फलं शाखासु जायते सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।
दग्धे वीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मवीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः स्या० ॥

क्लेशाः पापानि कर्माणि, बहुभेदानि नो मते ।
योगादेव क्षयस्तेषां, न भोगादनवस्थितेः ॥ ३१ ॥
ततो निरुपमं स्थान-मनन्तमुपतिष्ठते ।
भवप्रपञ्चरहितं, परमानन्दमेदुरम् ॥ ३२ ॥

क्लेशा इति नोऽस्माकं मते पापान्यशुभविपाकानि बहुभेदानि विचित्राणि कर्माणि ज्ञानावरणीयानि क्लेशा उच्यन्तेऽतः कर्मक्षय एव क्लेशहानिरिति भावः। ननु "नाभुक्तं क्षीयते कर्म, कल्पकोटिशतैरपि । अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभं " मिति वचनाद्भोगादेव कर्मणां क्षये तस्याप्यपुरुषार्थत्वमनिवारितमेवेत्यत आह योगादेव ज्ञानक्रियासमुच्चयलक्षणात् क्षयस्तेषां नानाभवार्जितानां प्रचितानां न भोगादनवस्थितेर्भोगजनितकर्मान्तरस्यापि भोगनाश्यत्वादनवस्थानात् । ननु त्वरितासिध्वङ्कभोगस्य न कर्मान्तरजनकत्वं प्रचितानामपि च तेषां क्षयो योगजादृष्टाधीनं कायव्यूहबलादुपपत्स्यत इति चेन्न प्रायश्चित्तादिनापि कर्मनाशोपपत्तेः कर्मणां भोगैकनाश्यत्वस्यापि व्यवस्थितौ योगेनापि तन्नाशसंभवे कायव्यूहादिकल्पने प्रमाणाभावात् । कर्मणां ज्ञानयोगनाश्यतया "ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुनेति" भगवदागमेनापि सिद्धत्वात् । नरादिशरीरसत्त्वे शूकरादिशरीरानुपपत्तेः कायव्यूहानुपपत्तेर्मनोन्तरप्रवेशादिकल्पने गौरवाच्च । ये त्वाहुः पातञ्जलाः "अग्नेः स्फुलिङ्गानामिव कायव्यूहदशायामेकस्मादेव चित्तात्प्रयोजकात् नानाचित्तानां परिणामोऽस्मितामात्रादिति " तदुक्तं " निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषामिति " तेषामप्यनन्तकालप्रचितानां कर्मणां नानाशरीरोपभोगनाश्यत्वकल्पनमोह एव तावद्दृष्टानां युगपद्वृत्तिलाभानुपपत्तेरिति निरुपक्रमकर्मण एव भोगैकनाश्यत्वमाश्रयणीयमिति सर्वमवदातम् ३१ (तत इति) सुगमम् ३२। द्वा० २६ द्वा०।

(३७) कर्मक्षयविचारः ।

तस्य सम्यग्ज्ञानस्य सत्यार्थत्वेन बलीयस्त्वाद्विवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूलत्वाद्रागादयो न भवन्ति कारणाभावे कार्यस्यानुत्पादाद्रागाद्यभावे च तत्कार्या प्रवृत्तिर्व्यावर्त्तते तदभावे च धर्म्माधर्म्मयोरनुत्पत्तिरारब्धकार्ययोश्चोपभोगात्प्रक्षय इति संचितयोश्च तयोः प्रक्षयस्तत्त्वज्ञानादेव तदुक्तं " यथैन्धनसमिद्धोऽग्नि-र्भस्मसात्कुरुते क्षणात् । ज्ञानाग्निस्सर्वकर्माणि, भस्मसात्कुरुते तथा" अथोपभोगादपि प्रक्षये "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपी" त्यागमोऽस्ति तथा च विरुद्धार्थत्वादुभयोरेकार्थे कथं प्रामाण्यमुपभोगाच्च प्रक्षयेऽनुमानोपन्यासमपि कुर्वन्ति । पूर्वकर्म्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते कर्म्मत्वादद्यत्कर्मं तत्तदुपभोगादेव क्षीयते यथाऽऽरब्धशरीरं कर्म्म तथा चैतत्कर्म तस्मादुपभोगादेव क्षीयत इति । न चोपभोगात्प्रक्षये कर्म्मान्तरस्यावश्यंभावात्संसारानुच्छेदः समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगतकर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीरद्वारावाप्ताशेषभोगस्य कर्म्मान्तरोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञानजनितानुसन्धानविकलस्य कर्म्मानुपपत्तिस्तदुपभोगं विना कर्म्मणां प्रक्षयानुपपत्तेर्ज्ञानतोऽपि तदर्थितया प्रवृत्तेर्वैद्योपदेशादातुरस्यैवौषध्याद्याचरणे ज्ञानमप्येवमशेषशरीरोत्पत्तिद्वारेणोपभोगात्कर्म्मणां विनाशव्यापारादग्निरिवोपचर्यत इति व्याख्येयम् । ननु साक्षान्नैवतद्बाध्यं तत्त्वज्ञानिनां कर्म्मविनाशस्तत्त्वज्ञानादितरेषां तूपभोगादिति ज्ञानेन कर्म्मविनाशे प्रसिद्धोदाहरणाभावात् नच मिथ्याज्ञानजनितसंस्कारस्य सहकारिणोऽभावाद्विद्यमानान्यपि कर्म्माणि न जन्मान्तरशरीराण्यारभन्त इत्यभ्युपगमः श्रेयोऽनुत्पादितकार्यस्य कर्म्मलक्षणस्य कार्यवस्तुनः प्रक्षयान्नित्यत्वप्रसक्तेः । अथानागतयोर्धर्माधर्मयोरुत्पत्तिप्रतिषेधे तत्त्वज्ञानिनो नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं कथं प्रत्यवायपरिहारार्थं तदुक्तं "नित्यनैमित्तिकैरेव, कुर्वाणो दुरितक्षयम् । ज्ञानं च विमलीकुर्व-न्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥ अभ्यासात्पक्वविज्ञानः, कैवल्यं लभते नरः" ॥ केवलं काम्ये निषिद्धे च प्रवृत्तिप्रतिषेधस्तदुक्तं " नित्यनैमित्तिके कुर्या-त्प्रत्यवायजिहासया । मोक्षार्थी न

प्रवर्तेत, तत्र काम्यनिषिद्धयोरिति " सम्म १५५ पत्र. ॥
अस्य खण्डनम् ।

यत्तु क्रमारब्धकार्ययोर्धर्माधर्मयोरुपभोगात्प्रक्षयः संचितयोश्च तत्त्वज्ञानादित्यादि तदपि न सङ्गतमुपभोगात्कर्मणः प्रक्षये तदुपभोगसमयेऽपरकर्मनिमित्तस्याभिलाषपूर्वकमनोवाक्कायव्यापारस्वरूपस्य संभवादविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणः सद्भावात्कथमात्यन्तिकः कर्मक्षयः सम्यग्ज्ञानस्य तु मिथ्याज्ञाननिवृत्त्यादिक्रमेण पापक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितस्यागामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यवत्संचितकर्मक्षयेऽपि सामर्थ्यं संभाव्यत एव यथोष्णस्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ समर्थस्य पूर्वप्रवृत्तशीतस्पर्शादिध्वंसेऽपि सामर्थ्यमुपलब्धं किन्तु परिणामिजीवाजीवादिवस्तुविषयमेव सम्यग्ज्ञानं न पुनरेकान्तनित्यात्मादिविषयं तस्य विपरीतार्थग्राहकत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेर्यथा चैकान्तवादिपरिकल्पित आत्माद्यर्थो न संभवति तथा स्थानं निवेदयिष्यते । मिथ्याज्ञानस्य च मुक्तिहेतुत्वं परेणापि नेष्यत एवातो यदुक्तं 'यथैधांसीत्यादि' तत्सर्वं संवररूपचारित्रोपबृंहितसम्यग्ज्ञानाग्नेरशेषकर्मक्षयसामर्थ्यमभ्युपगम्यते तत्सिद्धमेव साधितम् । यश्चोपभोगादशेषकर्मक्षयेऽनुमानमुपन्यस्तं तत्र यदेवागामिकर्मप्रतिबन्धे सामर्थ्यं सम्यग्ज्ञानादि तदेव संचितक्षयेऽपि परिकल्पयितुं युक्तमिति प्रतिपादितं सर्वज्ञसाधनप्रमाणावेवोपभोगात्तु प्रक्षये स्वाकम्पात्रस्य कर्मणः प्रचुरतरकर्मसंयोगसंभवयोपपत्तेर्न तदशेषक्षयो युक्तिसंगतः । कर्मत्वादिति च हेतुः सन्तानत्ववदसिद्धाधनेकदोषदुष्टत्वान्न प्रकृतसाधकः । असिद्धत्वादिदोषोद्भावनं च सन्तानत्वहेतुदूषणानुसारेणातिसंख्यानेन निवर्त्तयितुमशक्यत्वात्मानसो विकल्पः । तथा ह्यनुमानबलात्त्क्षणिकत्वं विकल्पयतोऽपि नानेकत्वप्रत्ययो विवर्त्तते शाक्यान्ते तु प्रतिसंख्यानेन विचारयितुं कल्पना न पुनः प्रत्यक्षबुद्धयस्तस्याधाऽर्थं विकल्पयतोऽपि गोदर्शनाच्च गोप्रत्ययो विकल्पस्तथा स्वयमेव वाच्यं न पुनरुच्यते ग्रन्थगौरवभयात् । यच्च समाधिबलादुत्पन्नतत्वज्ञानस्येत्यादि तदप्ययुक्तमभिलापरूपरागाद्यभावे ह्युपभोगासंभवात् संभवेऽपि चावश्यंभावि ऋद्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोऽपि प्रचुरतरधर्माधर्मसंभवोऽतिभोगिन इव नृपत्यादेर्वैद्योपदेशप्रवर्त्तमानातुरदृष्टान्तोऽप्यसंगतः तस्यापि नीरुग्भावाभिलाषेण प्रवर्त्तमानस्यौषध्याद्याचरणे वीतरागत्वासिद्धेः । नच मुमुक्षोरपि मुक्तिसुखाभिलाषेण प्रवर्त्तमानस्य सरागत्वं सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकरागविगमस्य सर्वज्ञत्वान्यथानुपपत्त्या प्राक्प्रसाधितत्वाद्भवोपग्राहिकर्मनिमित्तस्य तु बाह्यबुद्धिशरीरारम्भप्रवृत्तिरूपस्य सातजनकस्य शैलेश्यवस्थायां मुमुक्षोरभावात् । प्रवृत्तिकारणत्वेनाभ्युपगम्यमानस्य मोक्षसुखाभिलाषस्याप्यसिद्धेर्न मुमुक्षो रागित्वम् । प्रसिद्धश्च भवतां प्रवृत्त्यभावो न्याविधर्माधर्मप्रतिबन्धकः यत्र न्याविधर्माधर्माभ्यां विरुद्धो हेतुः स एव संचिततत्क्षयेऽपि युक्त इति प्रतिपादितमत एव सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मक एव हेतुर्भाविभूतकर्मसंबन्धप्रतिघातकत्वान्मुक्तिप्राप्त्यबन्ध्यकारणं नान्य इति तेन यदुक्तं तत्वज्ञानादिभिन्नं तदुक्तमेव । यन्नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं केवलज्ञानोत्पत्तेः प्राक्काम्यनिषिद्धानुष्ठानपरिहारेण ज्ञानावरणादिदुरितक्षयनिमित्तत्वेन केवलज्ञानप्राप्तिहेतुत्वेन प्रतिपादितं तदिष्टमेवास्माकं केवलज्ञानोत्पत्तेस्तरकालं तु शैलेश्यवस्थायामशेषकर्मनिर्जरणरूपायां सर्वक्रियाप्रतिषेध एवाभ्युपगम्यत इति न तन्निमित्तो धर्माधर्मफलप्रादुर्भावः । प्रवृत्तिनिमित्तेरास्यन्तिकयास्तत्क्षयहेतुत्वसिद्धेः सम्म० । तथा मूर्तैः कर्मभिरमूर्तस्य जीवस्य वह्न्ययःपिण्डन्यायेन कथं सम्बन्ध इति प्रश्ने अरूपिभिः सह रूपिणां संयोगसंबन्धस्संभवत्येव यथाऽऽकाशेन सह परमाणूनां पक्षिणां वा वह्न्ययःपिण्डन्यायेन तु संबन्धविशेषो व्यवस्थाप्यते न तु रूपिद्यनियतः संबन्ध इति न किंचिदनुपपन्नम् । ४०९ श्लोक ३ उल्ला०

कम्मओ-कर्मतस्-अव्य० कर्मणः सकाशादित्यर्थे, भ० १२ श० ५ श० ।

कम्मंत-कर्मान्त-पुं० कर्महेतौ, "महल्पगारा सावज्जा अबोहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति" सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कम्मंतसाला-कर्मान्तशाला-स्त्री० न० "जुहादिया जत्थ कम्म विज्जंति सा कम्मंतसाला" कृषादि यत्र परिकर्म्यते सा कर्मान्तशाला इत्युक्तलक्षणायां शालायाम्, कर्मान्तगृहमप्यत्र नि० चू० ८ उ० । प्रश्न० ।

कम्मंस-कर्मांश-पुं० कर्मभेदेषु, भ० १५ श० १ उ० । व्यापारांशेषु, औ० ।

पढमसमयजिणस्स णं चत्तारि कम्मंसा खीणा भवंति तंजहा णाणावरणिज्जं दरिसणावरणिज्जं मोहणिज्जं अंतराइयं । उप्पन्नणाणदंसणधरेणं अरहा जिणे केवली चत्तारि कम्मंसे वेदेंति तंजहा वेयणिज्जा आउयं णाम गोयं ॥

प्रथमः समयो यस्य स तथा स चासौ जिनश्च सयोगिकेवलिप्रथमसमयजिनस्तस्य कर्मणः सामान्यस्यांशा ज्ञानावरणीयादयो भेदा इति । उत्पन्ने आवरणक्षयाज्जाते ज्ञानदर्शने विशेषसामान्यबोधस्वरूपे धारयतीति उत्पन्नज्ञानदर्शनधरोऽनेनानादिसिद्धकेवलज्ञानवतः सदाशिवस्यासद्भावं दर्शयति न विद्यते रह एकान्तो गोप्यमस्य सकलसन्निहितव्यवहितस्थूलसूक्ष्मपदार्थसार्थसाक्षात्कारित्वादित्यरहा देवादिपूजार्हत्वेनार्हन्वा । रागादिजेतृत्वाज्जिनः । केवलानि परिपूर्णानि ज्ञानादीनि यस्य सन्ति स केवलीति । सिद्धत्वस्य कर्मक्षपणस्य च एकसमये सम्भवात् स्था० ४ ठा० । (के देवाः कियता कालेनाऽनन्तान् कर्मांशान् क्षपयन्तीति खवणा शब्दे)

कम्मकड-कर्मकृत-त्रि० ३ त-कर्मनिर्वर्तिते, ७ ब० कर्मकरणाधिकरणे, "इत्थीए पुरिसस्स य कम्मकडाए जोणीए मेहुणवत्तिए नामं संजोए समुप्पज्जइ" - नामकर्मनिर्वर्तितायां योनौ, अथवा कर्म मदनोद्दीपको व्यापारस्तत्कृतं यस्यां सा कर्मकृता भ० २ श० ५ उ० ।

कम्मकर-कर्मकर-त्रि० कर्म करोतीति कृ-ट-वेतनेन कर्मकारके, स्त्रियां ङीप्-वाच० । आचा० । औ० । आ० म० द्वि० । भृतके, वृ० १ उ० । लोकहितादिकर्मकरे, दशा० ७ अ० । कर्माश्रित्य करे, आ० म० द्वि० । (करशब्दे तन्निक्षेपे विवृतिः) ताच्छील्ये-दासे कर्मकरणशीले, स्त्रीयां ङीप् शहिंसायाम्-कृ-मन्-कर्म हिंसां करोतीति । हेत्वादौ, यमे, पुं० मेदि० । सर्वप्राणिहिंसायां तस्याधिकृततया च तस्य तथात्वम् मूर्वालतायाम्, स्त्री० मेदि० ।

कम्मकरण-कर्मकरण-न० कर्मविषयं करणं बन्धनम् । संक्रमादिनिमित्तभूते जीववीर्ये, भ० ६ श० १ उ० ।

कम्म (कत्ता) कारि-कर्मकर्तृ-पुं० कर्मैव कर्त्ता (कत्ताशब्दे विवृत्तिः) व्याकरणोक्ते कर्मणः कर्तृत्वविवक्षया प्राप्तकर्तृत्वभावे कर्मणि, क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति। सुकरैः स्वैर्गुणैः कर्ता कर्मकर्त्तेति तद्विदुः" यथा देवदत्त ओदनं पचतीति कर्त्तुर्देवदत्तस्याविवक्षया पच्यते ओदनः स्वयमेव अत्र कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः । इत्यतिदेशात् यगात्मनेपदादयः वाच० । " कइ दिसिं पोग्गला चिज्जंति" पुद्गलाश्चीयन्ते कर्मकर्त्तरि प्रयोगः स्वयं चयनमागच्छन्तीत्यर्थः प्रज्ञा० २१ पद. ।

कम्मकिव्विस-कर्मकिल्विष-त्रि० कर्मणा तत्तत्कृत्यनुरूपचेष्टितेन किल्विषाः अधमाः कर्मकिल्विषाः । कर्मभिर्मलिनेषु, किल्विषकर्मन् । किल्विषाणि क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते किल्विषकर्माणः । प्राकृतत्वात् पूर्वपरनिपातः । अशुभकर्मसु, उत्त० ३ अ० । एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्मकिव्विसा । न निविज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु व खत्तिया " उत्त० ३ अ० । (चउरंगशब्दे व्याख्या)

कम्मक्खंध--कर्मस्कन्ध- पुं० कार्मणवर्गणाप्रधानेषु स्कन्धेषु, कर्म० ५ क० ॥

कम्मक्खंधदल-कर्मस्कन्धदल-न० कार्मणवर्गणाप्रधानाः स्कन्धाः कर्मस्कन्धास्त एव यथा स्वकालं दलनाद्विशारुभवनात् दलं अफला विशरणी इति वचनात दलं दलिकं कर्मस्कन्धदलम । कर्मदलिके, कर्म० ५ क० (यादृशं कर्मस्कन्धदलिकं जीवो गृह्णाति तदेतत्कम्मशब्दे उक्तम) ॥

कम्मक्खय-कर्मक्षय-पुं० ज्ञानावरणीयाद्यष्टवियोगे, पा० । आचा० ।

कम्मक्खयकरणी-कर्मक्षयकरणी-स्त्री० कर्मक्षयः क्रियतेऽनयेति कर्मक्षयकरणी करणेऽनट् । कर्मक्षयसाधिकायाम, व्य० १ उ० ।

कम्मक्खयसिद्ध-कर्मक्षयसिद्ध-पुं० " सो कम्मक्खयसिद्धो, जो सव्वखीणकम्मंसो" स कर्मक्षयसिद्धो यः सर्वक्षीणकर्मांशः । सर्वे निरवशेषाः क्षीणाः कर्मांशाः कर्मभेदा यस्य स तथा इत्युक्तलक्षणे क्षीणकर्माष्टके भावसिद्धे, आ० म० द्वि० । आ० क० । आ० चू० । (सिद्धशब्दे तस्य विवृतिर्भविष्यति)

कम्मगइ-कर्मगति-स्त्री० क्रियते इति कर्म ज्ञानावरणादि पारिभाषिकं क्रिया वा । कर्म च तद्गतिश्चासौ कर्मगतिः । गमनं गच्छति वाऽनयेति गतिः । ज्ञानावरणादिरूपे गतिहेतौ, गमनक्रियायां च " विहगगई चलणगई, कम्मगईओ समासओ दुविहा । तदुदयवेययजीवा, विहगमा पप्प विहगगई "द० १ अ० । [विहंगमशब्दे व्याख्या]

कम्मगुरुया-कर्मगुरुता-स्त्री० कर्मणां गुरुता । कर्ममहत्तायाम्, भ० ९ श० ३२ उ० ।

कम्मगुरुसंभारियता-कर्मगुरुसम्भारिकता-स्त्री० गुरोः सम्भारिकस्य च भावो गुरुसम्भारिकता गुरुता सम्भारिकता चेत्यर्थः । कर्मणां गुरुसम्भारिकता कर्मगुरुसम्भारिकता । कर्मणामतिप्रकर्षावस्थायाम् , भ० ९ श० ३३ उ० ।

कम्मगंथ-कर्मग्रन्थ-पुं० कर्मप्रतिपादके कर्मविपाकादिग्रन्थषट्के, तत्र प्रथमः कर्मविपाकः श्रीमद्देवेन्द्रसूरिविरचितस्तत्कृतयैव टीकया समलङ्कृतः । ग्रन्थमानं द्व्यशीत्युत्तराष्टशताधिकमेकसहस्रम (१८८२) द्वितीयः कर्मस्तवस्तेनैव देवेन्द्रसूरिणा विरचितष्टीकितश्च तन्मानं च (८३०) अष्टशताधिकं त्रिंशत् । तृतीयः कर्मस्तवो बन्धस्वामित्वं देवेन्द्रसूरिलिखितं तद्ग्रन्थमानमेकोनपञ्चाधिकं (४५९) चतुःशतम् । चतुर्थः षडशीतिशास्त्रं देवेन्द्रसूरिणा कृतं व्याख्यातं च तन्मानमष्टाविंशतिशतम [२८००] पञ्चमः शतकः शिवशर्मसूरिणा कृतः पूर्वमग्रायणीयपूर्वादुद्धृत्य ततो देवेन्द्रसूरिणा विरचितटीकितश्च ग्रन्थमानं चत्वारिंशदुत्तरत्रिशताधिकं चतुःसहस्रम् (४३४०) षष्ठः सप्ततिकाद्व्यः चन्द्रमहत्तरकृतो मलयगिरिविरचितटीकासमन्वितस्तन्मानं नवाशीत्युत्तरषट्शताधिकं त्रिसहस्रम [३६८९] सर्वग्रन्थमानम चतुर्दशसहस्रम । कर्म. । अत्र श्रीहीरविजयसूरिं प्रति पण्डितश्रीजगमालिगणिकृतप्रश्नः षष्ठकर्मग्रन्थकर्त्ता चन्द्रमहत्तरा साध्वीति सत्यं नवेति ? उत्तरम् षष्ठकर्मग्रन्थकर्त्री चन्द्रमहत्तरा साध्वीति प्रवादो मिथ्येति प्रतिभाति यतस्तट्टीकायामाचार्येणोक्तमस्ति । तथैव तदवचूर्णौ चन्द्रमहत्तरकृतप्रकरणं व्याख्यायते इत्युक्तम । ही० ।

कम्मघण-कर्मघन-पुं० कर्मैव जीवस्वभावावरणाद् घनःकर्मघनः आव० ४ अ० । ज्ञानावरणादिकर्ममेघे, द० ६ अ० । उक्तंच "स्थितः शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवदिति " आव० ४ अ० । कर्मबहुले, त्रि० नि० चू० ६ उ० ।

कम्मचिंता-कर्मचिन्ता-स्त्री० ज्ञानावरणादिके कर्मणि पर्य्यालोचने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

कम्मचिंतापणट्ठ-कर्मचिन्ताप्रनष्ट-स्त्री० कर्मणि ज्ञानावरणादिके चिन्ता पर्य्यालोचनं तस्याः प्रनष्टा अपगताः कर्मचिन्ताप्रनष्टाः । कर्माभिज्ञताशून्येषु , " कम्मचिंतापणट्ठाणं, संसारस्स पवड्ढणं " सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

कम्मजणण-कर्मजनन-न० कर्मबन्धकरणे, नि० चू० २ उ० ।

कम्मजोग-कर्मयोग-पुं० क्रियाऽऽचरणायोगद्वये, तत्र विंशतिकानुसारेण लक्षणादिकं निरूप्यते तत्र स्थानरूपं कायोत्सर्गादि । जैनागमोक्तक्रियाकरणे, करचरणासनमुद्रारूपमुक्तं च विंशतिकायाम "ठाणावत्तच्छालंबणरहिओ तन्तिम पंचहा एसो । दुगमित्थकम्मजोगो, तहा तियं णाणजोगो उ" अष्ट० । कर्म० । कर्मसु योगः कौशलम् फलसाधनस्यापि कर्मणोऽफलसाधनत्वापादनरूपे कौशलभेदे, पुं० कमनीयताहेतौ, आ० १४ अ० ।

कम्मजोणि-कर्मयोनि-स्त्री० साङ्ख्यमतप्रसिद्धेपदार्थे, धृतिश्रद्धासुखविविदिषाविज्ञप्तिभेदात् पञ्च कर्मयोनयः स्या० ।

कम्मट्ठग-कर्माष्टक-न० ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाह्वये कर्मणामष्टसंख्याके गणे, क० प्र० ।

कम्मट्ठाण-कर्मस्थान-न० अयस्कारवर्द्धकिकुल्यादिके कर्मकारस्थाने, आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० ।

कम्मट्ठिइ-कर्मस्थिति-स्त्री० कर्मावस्थानकाले, भ० ६ श० ३ उ० । (यथा दर्शितं कम्म शब्दे) कर्मत्वोपादानमात्ररूपायामवस्थानरूपायां वा अवस्थितौ, सम० । कर्म्मणः कर्मपुद्गलेभ्यः सकाशात् स्थितिर्येषां ते कर्मस्थितयः । कर्महेतुकस्थितिकेषु नैरयिकादिवैमानिकान्तेषु, भ० १४ श० ६ उ० ।

कम्मणिदाण-कर्मनिदान-पुं० कर्म निदानं नारकत्वनिमित्तं कर्मबन्धनिमित्तं वा येषां ते कर्मनिदानाः । तथाविधेषु नार-

कादिवैमानिकपर्यन्तेषु, भ० १४ श० ६ उ० ।

कम्मणिव्वत्ति–कर्मनिर्वृत्ति–स्त्री० कर्मणो ज्ञानावरणादितया निष्पत्तौ,

कइविहा णं भंते ! कम्मणिव्वत्ती पएणत्ता ? गोयमा ! अट्ठविहा कम्मणिव्वत्ती पएणत्ता तंजहा णाणावरणिज्ज- कम्मणिव्वत्ती जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती । णेरइयाणं भंते ! कइविहा कम्मणिव्वत्ती पएणत्ता० तंजहा णाणावर- णिज्जकम्मणिव्वत्ती जाव अंतराइयकम्मणिव्वत्ती य एवं जाव वेमाणियाणं भ० १७ श० ८ उ० ।

कम्मणिसेग–कर्मनिषेक–पुं० कर्मदलिकस्यानुभवनार्थं रचना- विशेषे, भ० ६ श० ३ उ० । (यथा कम्म शब्दे दर्शितम्)

कम्मण–कार्मण–न० कर्मणो विकारः कार्मणं विकारेऽणप्रत्ययः यद्वा कर्मैव कार्मणं प्रज्ञादिभ्योऽणप्रत्ययः। कर्मजशरीरे, कर्म०। (कम्मज शब्दे विवृतिः)

कम्मत्त–कर्मार्त्त–त्रि० इतः पूर्वाचरितैः कर्मभिर्दुःखिते, कर्मभिः कृष्यादिभिरार्त्तोः । कृष्यादिकर्मकर्तुमसमर्थे, " कम्मत्ता दु- ब्भगा चेव, इच्चार्र सुसढो जणा " एतैः पूर्वाचरितैः कर्मभि- रार्त्ताः पूर्वस्वकृतकर्मणः फलमनुभवन्ति । यद्वा कर्मभिः कृ- ष्यादिभिरार्त्तास्तत्कर्तुमसमर्था उद्विग्नाः सन्तो यतयः संवृत्ता इति सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

कम्मत्थय–कर्मस्तव–पुं० देवेन्द्रसूरिविरचिते स्वनामख्याते क- र्मग्रन्थे, तदधिकाराः " बन्धोदयोदीरणसत्पदस्थं, निःशेषक- र्माखिलं निहत्य । यः सिद्धिसाम्राज्यमलंचकार, श्रिये स वः श्रीजिनवीरनाथः १ " " नत्वा गुरुपदकमलं, गुरूपदेशाद्यथा- श्रुतं किंचित् । कर्मस्तवस्य विवृतिं, विदधे स्वपरोपकाराय २ तत्रादावेव मङ्गलार्थमभीष्टदेवतास्तुतिमाह ।

तह थुणिमो वीरजिणं, जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
बंधुदयोदीरणया, सत्तापत्ताणि खवियाणि ॥१॥

तथा तेन प्रकारेण स्तुमोऽसाधारणसद्भूतसकलकर्मनिर्मू- लनपणलक्षणगुणोत्कीर्तनेन स्तवनगोचरीकुर्मः कं वीरजि- नम् (कर्म०) यथा येन प्रकारेण " अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण सत्तवीससयं । तित्थयराहारदुग–वज्जं मिच्छम्मि सत्तरसयं " मित्यादि वक्ष्यमाणेषु गुणस्थानेषु परमपदप्रासा- दशिखरारोहणसोपानकल्पेषु व्याख्यास्यमानस्वरूपेषु मिथ्या- दृष्ट्यादिषु सकलानि समस्तानि मतिज्ञानावरणप्रभृत्युत्तर- प्रकृतिकदम्बकसहितानि कर्माणि ज्ञानावरणीयादिमूलप्रकृति- रूपाण्यष्टौ कर्माणि च स्वोपज्ञकर्मविपाके विस्तरेण व्याख्याता- नि कथंभूतानि 'बन्धुदओदीरणया सत्तापत्ताणि' कर्म०। (वि- शेषत उपयोगाभावान्न सर्वतो व्याख्यायते) पर्यन्ते। इति श्रीदे- वेन्द्रसूरिविरचितायां स्वोपज्ञकर्मस्तवटीकायां सत्ताधिकारः समाप्तस्तत्समाप्तौ च समर्थिता लघुकर्मस्तवटीका ॥

सत्ताधिकारमेनं, विवृण्वता यन्मयार्जितं सुकृतम् ।
निःशेषकर्मसत्ता–रहितस्तेनास्तु लोकोऽयम् ॥ १ ॥
विष्णोरिव यस्य विभोः, पदत्रयी व्यानशे जगन्निखिलम् ।
कर्ममलपटलमुक्तः, स श्रीवीरो जिनो जयतु ॥ २ ॥
कुन्दोज्ज्वलकीर्तिभरैः, सुरभीकृतसकलविश्वपाभोगः ।
शतमखशतविनतपदः, श्रीगौतमगणधरः पातु ॥ ३ ॥
तदनु सुधर्मा स्वामी, जम्बूप्रभवादयो मुनिवरिष्ठाः ।
श्रुतजलनिधिपारीणा, भूयांसः श्रेयसे सन्तु ॥ ४ ॥
क्रमात्प्राप्ततपाचार्य––त्यभिख्याभिक्षुनायकाः ।
समभूवन् कुले चान्द्रे, श्रीजगच्चन्द्रसूरयः ॥ ५ ॥
जगज्जनितबोधानां, तेषां शुद्धचरित्रिणाम् ।
विनेयाः समजायन्त, श्रीमद्देवेन्द्रसूरयः ॥ ६ ॥
स्वान्ययोरुपकाराय, श्रीमद्देवेन्द्रसूरिणा ।
कर्मस्तवस्य टीकेयं, सुखबोधा विनिर्ममे ॥ ७ ॥
विबुधवरधर्मकीर्ति––श्रीविद्यानन्दिसूरिमुख्यबुधैः ।
स्वपरसमयैककुशलै––स्तदैव संशोधिता चेयम् ॥ ८ ॥
यदवितमल्पमतिना––सिद्धान्तविरुद्धमिह किमपि शास्त्रे ।
विद्वद्भिस्तत्त्वज्ञैः, प्रसादमाधाय तच्छोध्यम् ॥ ९ ॥
कर्मस्तवसूत्रमिदं, विवृण्वता यन्मयाऽर्जितं सुकृतम् ।
सर्वेऽपि कर्मबन्धा–स्तेन त्रुट्यन्तु जगतोऽपि १० कम्म० १ क० ।

कम्मदव्व–कर्मद्रव्य–न० कर्मवर्गणाद्रव्ये, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ॥

कम्मदोस–कर्मदोष––पुं० कर्मैव दोषः कर्मणि दोषः कर्महेतुर्दो- षो वा । दुष्टे पापजनके हिंसादौ कर्मणि, कर्मजन्ये पापादौ, सकलकर्महेतौ मिथ्याज्ञानजन्यवासनारूपे दोषे, नैया० वाच० । गुणप्रतिबन्धककर्मविपाके च । पंचा० १४ विव० ।

कम्मदुम–कर्मद्रुम–पुं० द्रुमत्वेनोत्प्रेक्षिते कर्मणि, " असौ यः स्वन एव मोहसलिले जन्मालवालेऽशुभो , रागद्वेषकषायसन्तति- महान् निर्विघ्नबीजस्त्वया । रोगैरङ्कुरितो विपत्कुसुमितः कर्म- द्रुमः सांप्रतं, सोढानो यदि सम्यगेष फलितो दुःखैरधोगामि- भिः ॥ १ ॥ आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ० ।

कम्मधारय–कर्मधारय–पुं० तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधा- रयः इति लक्षिते समासभेदे,

से किं तं कम्मधारए ? कम्मधारए धवलो वसहो धवल- वसहो किएहो मियो किएहमियो सेतो पडो सेतपडो रत्तो पडो रत्तपडो सेत्तं कम्मधारए ॥

धवलश्चासौ वृषभश्च धवलवृषभ इत्यादि अनु० ॥ तथा समा- साधिकारे कर्मधारयसमासप्रयोजनं न प्रतिजानीते यतस्तस्य तत्पुरुषसमासात्पृथग्ग्रहणाभाव इति प्रश्ने जरती चासौ गौश्च जरद्गवी इत्यत्र कर्मधारयसमासत्वात् पुंवत्कर्मधारये इत्यनेन पुंवद्भावस्तत्पुरुषत्वाच्च गोस्तत्पुरुषादित्यट् समासान्तः स्त्रियाश्च ङी प्रत्ययः इत्येकत्र समासद्वयप्रयोजनसद्भावस्तथा विशेषणं विशेष्येणैकार्थ्यं कर्मधारयश्चेति पृथग्ग्रहणसद्भावाच्च न का- प्याशङ्केति १३८ प्रश्न० २ उल्ला० ।

कम्मपइट्ठिय–कर्मप्रतिष्ठित–त्रि० कर्माश्रिते, " जीवा कम्मपइ- ट्ठिया" कर्मवशवर्तित्वात् स्था० ७ ठा० ।

कम्मपग (य) मि–कर्मप्रकृति–स्त्री० कर्मणो मूलभेदे,

कइ णं भंते ! कम्मपगमीओ पएणत्ताओ ? गोयमा ! अट्ठ क- म्मपगमीओ पएणत्ताओ तंजहा णाणावरणिज्जं जाव अं- तराइयं जाव वेमाणियाणं ॥ भ० १६ श० ३ उ० ।

(कम्मशब्देऽत्र वक्तव्यं सर्वमाविष्कृतम् । नवरम्)

जीवा णमट्ठकम्मपयमीओ चिणंसु वा चिणंति वा चि- णिस्संति वा तंजहा णाणावरणिज्जं दरिसणावरणिज्जं वे-

यणिज्जं मोहणिज्जं आउयं नामं गोयं अंतराइयं ॥

"जीवा णमित्यादि" प्राग्वत् व्याख्येयं नवरं चयनं व्याख्यानान्तरेणाकलनमुपचयनं परिपोषणं बन्धनं निर्मापणमुदीरणं करणेनाकृष्य दलिकस्योदये दानं वेदनमनुभव उदय इत्यर्थः । निर्जरा प्रदेशेभ्य शाटनमिति ॥ स्था० ८ ठा० । कर्मभेदप्रतिबद्धवक्तव्यताके त्रयस्त्रिंशे उत्तराध्ययने, उत्त० ४ अ० । बन्धनादिकरणाष्टकप्रतिपादके स्वनामख्याते ग्रन्थे, तत्रादौ ।

प्रणम्य कर्मद्रुमचक्रनेमिं, नमत्सुराधीशमरिष्टनेमिम ।
कर्मप्रकृत्याः कियतां पदानां, सुखावबोधाय करोमि टीकाम् ॥१॥
अयं गुणश्चूर्णिकृतः समग्रो, यदस्मदादिर्वदतीह किंचित् ।
उपाधिसंपर्कवशाद्विशेषो, लोकेऽपि दृष्टः स्फटिकोपलस्य ॥२॥

इह शिष्टाः क्वचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्त्तमानाः सन्त इष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरमेव प्रवर्त्तन्ते न चायमाचार्यो न शिष्ट इति शिष्टसमयपरिपालनाय तथा श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति उक्तञ्च । " श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां क्वापि यान्ति विनायकाः " इति । इदं च प्रकरणं सम्यग्ज्ञानहेतुत्वात् श्रेयोभूतमतो मा भूदत्र विघ्न इति विघ्नविनायकोपशान्तये चेष्टदेवतानमस्कारं तथा न प्रेक्षापूर्वकारिणः कश्चिदपि प्रयोजनादिविरहे प्रवर्त्तन्ते इति प्रेक्षावतां प्रवृत्त्यर्थं प्रयोजनादिकं च प्रतिपिपादयिषुरादाविदमाह क० प्र० ।
संप्रति प्रकरणपरिज्ञाननिबन्धनां विशिष्टफलसंप्राप्तिमाह ।

करणोदयसंतविऊ, तन्निज्जरकरणसंजमुज्जोगा ।
कम्मट्ठगुदयनिट्ठा–जणियमणिट्ठं सुहमुवेंति ॥ ४७३ ॥

करणानामुक्तस्वरूपाणामुदयसत्तयोश्च सम्यक्परिज्ञानयुक्तास्तन्निर्जराकरणं (संजमुज्जोयत्ति] तासां करणोदयसत्तानां या निर्जरा तस्याः करणं निर्वर्त्तनं तदर्थं संयमं प्रति उद्योग उद्यमो येषां ते तन्निर्जराकरणसंयमोद्योगाः ते इत्थंभूताः(सन्तमित्याह) कर्माष्टकोदयसत्तानिष्ठजनितं कर्माष्टकस्य अष्टानां कर्मणामुदयनिष्ठया उदयग्रहणं बन्धस्याप्युपलक्षणं ततोऽयमर्थः बन्धोदयसत्ताक्षयेण जनितमुत्पादितं यत् (मणिट्ठंति) मनस इष्टमथवा (अणिट्ठंति) न विद्यते निष्ठा पर्यवसानं यस्य तत् अनिष्ठम् । अनिष्ठमपर्यवसानं सुखमुभयत्रापि मोक्षसुखं तत् (उपयंति) प्राप्नुवन्ति तस्मादवश्यमिह प्रकारेण प्रेक्षावद्भिर्निरन्तरमभ्यासः करणीयः कृत्वा च यथाशक्तिसंयमाध्वनि प्रवर्त्तितव्यं प्रवृत्तेन च सता संक्लिष्टाध्यवसायरूपकुपथपरिहारे यत्न आस्थेय इति । संप्रत्याचार्य आत्मन औद्धत्यं परिहरन् अन्येषां बहुश्रुतानां प्रकरणार्थपरिभावनाविषये प्रार्थनां कुर्वन् प्रेक्षावतां प्रकरणविषये उपादेयबुद्धिपरिग्रहार्थं प्रकरणस्य परंपरया सर्वविन्मूलतां ख्यापयति ।

इय कम्मपगडीओ, जहासुहं नीयमप्पमइणावि ।
सोहियऽणाभोगकयं, कहंतु वरदिट्ठिवायन्नू ॥४७४॥

अल्पमतिनाऽपि अल्पबुद्धिनाऽपि सता इत एवमुक्तेन प्रकारेण गुरुचरणकमलपर्युपासनां कुर्वता गुरुपादमूले यथा मया श्रुतं तथा कर्मप्रकृतेः कर्मप्रकृतिनामकात्प्राभृतात् दृष्टिवादे हि चतुर्दशपूर्वाणि तत्र च द्वितीयमाग्रायणीयाभिधानमनेकवस्तुसमन्वितं पूर्वे पञ्चमं वस्तुविंशतिप्राभृतिपरिमाणं तत्र कर्मप्रकृत्याख्यं चतुर्थं प्राभृतं चतुर्विंशत्यनुयोगद्वारमयं तस्मात् इदं प्रकरणं नीतम् आकृष्टमित्यर्थः अस्मिंश्च प्रकरणे यत् किमपि स्खलितं तदनाभोगकृतमनाभोगजनितम् । छद्मस्थस्य हि कृतप्रयत्नस्याप्यावरणसामर्थ्यात् नो अनाभोगादिः संभवति तत आभोगः संभवति आभोगजनितं यत् किमपि स्खलितं तत् शोधयित्वा कथयन्तु ये वरा उत्कलितशुद्धातिशयसंपन्ना दृष्टिवादज्ञा द्वादशकाङ्गविदस्ते ममोपरि महतीमनुग्रहबुद्धिमाधाय तत्रान्यत् पदमगमानुसारि प्रक्षिप्य कथयन्तु यथेदमत्र पदं समीचीनं नेदमिति । न पुनरुपेक्षारूपोऽप्रसादस्तैः कर्त्तव्यः इयमत्र भावना । अत्र " कम्मपयडीउ " इत्यादिना ग्रन्थेन प्रकरणस्य सर्वविन्मूलता ख्यापिता द्रष्टव्या । दृष्टिवादो हि भगवता साक्षादर्थतोऽभिहितः सूत्रेण वस्तुतस्तु सुधर्मस्वामिना दृष्टिवादान्तर्गतं च कर्मप्रकृतिप्राभृतं तस्मादिदं प्रकरणमुद्धृतमिति परंपरया सर्वविन्मूलम् । इह शास्त्रस्यादौ मध्ये अवसाने च मङ्गलमवश्यमभिधातव्यम् आदिमङ्गलाभिधाने हि शास्त्रमविघ्नेन परिसमाप्तिमियर्त्ति मध्यममङ्गलाभिधानतश्च प्रशिष्यादिपरंपरागमनेन स्थैर्यमाधत्ते । पर्यन्तमङ्गलाभिधानप्रभावतः पुनः शिष्यप्रशिष्यादिभिरवधार्यमाणं तेषां चेतसि सुप्रतिष्ठितं भवति । तत्रादिमङ्गलम् "सिद्धं सिद्धत्थसुयं" मित्याद्युक्तम् । मध्यमङ्गलं तु " अकरणअणुन्नाइ अणुयोगधरे पणिवयामीति " ॥

संप्रति पुनरवसानमङ्गलमाह ।

जस्सवरसासणावयव–फरिसपविकसियविमलमइकरणा ।
विमलेंति कम्ममइले, सो मे सरणं महावीरो ॥

यस्य भगवतो महावीरस्य वरमनुत्तरं यत् शासनं तदवयवसंस्पर्शात् प्रकर्षेण विकसिता उद्बोधं गता विमला अपगतमिथ्याज्ञानस्वरूपमला मतिकिरणा मतिरेव किरणास्ते कर्ममलिनः कर्मतो मलीमसान् अमुमतो विमलयन्ति विमलीकुर्वन्ति स भगवान् महावीरो वर्द्धमानस्वामी मे मम संसारभयभीतस्य शरणं परित्राणहेतुर्नान्य इति ।

कर्मप्रपञ्चं जगतो ऽनुबन्ध–क्लेशावहं मुक्तकृपापरीतः ।
क्षयाय तस्योपदिदेश रत्न–त्रयं स जीयाज्जिनवर्द्धमानः ॥
निरस्तकुमतध्वान्तं, सत्पदार्थप्रकाशकम् ।
नित्योदयं नमस्कुर्मो, जैनसिद्धान्तभास्करम् ॥
पूर्वान्तर्गतकर्म–प्रकृतिप्राभृतसमुद्धृता येन ।
प्रकृतिरियमवधिमनः–श्रुतकेवलगम्यभावाय ॥
ततः क चैषा विषमार्थयुक्ता,
क चाल्पशास्त्रार्थकृतश्रमोऽहम् ।
तथापि सम्यग्गुरुसंप्रदायात्,
किंचित् स्फुटार्था विवृता मयैषा ॥ ४ ॥
कर्मप्रकृतिनिधानं, बह्वर्थं येन मादृशां योग्यम् ।
चक्रे परोपकृतये, श्रीचूर्णिकृते नमस्तस्मै ॥ ५ ॥
एनामतिगम्भीरां, कर्मप्रकृतिं विवृण्वता कुशलम् ।
यदवापि मलयगिरिणा, सिद्धिं तेनाश्नुतां लोकः ॥ ६ ॥
अर्हन्तो मङ्गलं मे स्युः, सिद्धाश्च मम मङ्गलम् ।
मङ्गलं साधवः सम्य–ग्जैनो धर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥ ७ ॥

इतिश्रीमलयगिरिविरचिता कर्मप्रकृतिटीका समाप्ता क० प्र० ।
आग्रायणीयाभिधानद्वितीयपूर्वस्य पञ्चमवस्तुसत्कचतुर्थे प्राभृते, क० प्र० ।

कम्मपयडिसंगह–कर्मप्रकृतिसंग्रह–पुं० कर्मप्रकृतिलक्षणस्य ग्रन्थस्य बन्धविधिलक्षणस्यार्थाधिकारस्य संग्रहो यत्र स तथा पञ्चसंग्रहग्रन्थस्य पञ्चमाधिकारे, पं० सं० । संप्रति कर्मप्रकृतिसंग्रहोऽभिधातव्यः कर्मप्रकृतिश्च शास्त्रान्तरे महर्षि च ततो

न मादृशैरल्पमेधोभिः स्वमतिप्रभावतः संग्रहीतुं शक्यते किन्तु कर्मप्रकृतिप्राभृताभिधशास्त्रार्थपारगामिविशिष्टश्रुतधरोपदेशपारंपर्यतस्ततोऽवश्यमिह ते नमस्करणीया इति। पं० सं०। ते भ्यो नमस्कारं प्राक्तनग्रन्थेन सह वक्ष्यमाणग्रन्थस्य संबन्धं च प्रतिपिपादयिषुरिदमाह।

नमिऊण सुयहराणं, वोच्छं करणाणि बंधणाईणि।
संकमकरणं बहुसो, अइदिसियं उदयसंतं जं॥

नत्वा श्रुतधरेभ्यः सकलश्रुतमहार्णवपारगामिभ्यः अत्र शयनादिनिर्बहुलमिति सूत्रेण संप्रदानसंज्ञायां चतुर्थी यथा पत्ये शेते प्रणम्य शास्त्रेषु गतायेत्यादौ चतुर्थी प्रसङ्गे च "छट्ठविभत्तीए भन्नइ चउत्थि त्ति" प्राकृतलक्षणात् षष्ठी श्रुतधरेभ्यो नत्वा किमित्याह करणानि वीर्यविशेषरूपाणि बन्धनादीनि बन्धनसंक्रमणोद्वर्तनापवर्तनोदीरणोपशमनानिधत्तनिकाचनारूपाणि पं०सं६६ पत्र.।

कम्मपट्ठवणासय–कर्मप्रस्थापनाशत–न० कर्मप्रस्थापनाद्यर्थप्रतिपादनपरे भगवत्या एकोनत्रिंशत्तमे शते, भ० १९ श०। (अत्रत्या वक्तव्यता बंध शब्दे)

कम्मपरिण्णा–कर्मपरिज्ञा–स्त्री० कर्मणोऽनेकप्रकारतापरिज्ञाने, 'दुक्खस्स कुसला परिण्णमुदाहरंति' इति"कम्म परिण्णाय सव्वसो" कर्म बन्धोदयसत्कर्मताविधानतः परिज्ञाय सर्वशः सर्वैः प्रकारैः कुशलाः प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति। यदि वा मूलोत्तरप्रकृतिप्रकारैः सर्वैः परिज्ञायेति मूलप्रकारा अष्टौ उत्तरप्रकृतिप्रकारा अष्टपञ्चाशदुत्तरं शतम्। अथवा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशप्रकारैर्यदिवोदयप्रकारैर्बन्धसत्कर्मताकरणैश्च कर्म परिज्ञायेति आचा० १ श्रु० ३ अ ४ उ०। "कम्मभूमियाओ पण्णरसविधाओ पण्णत्ताओ तंजहा पंच भरहेसु पंच एरवएसु पंच महाविदेहेसु" जी० ३ प्रति०।

कम्मपरिसाडणा–कर्मपरिशाटना–स्त्री० ६ त० ज्ञानावरणादीनां कर्मणां जीवप्रदेशेभ्यः पृथक्करणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ०।

कम्मपादव–कर्मपादप–पुं० पादपत्वेनोत्प्रेक्षिते वृक्षे, यथा सर्वपादपानां भूमौ प्रतिष्ठितानि मूलानि एवं कर्मपादपानां संसारे कषायरूपाणि मूलानि प्रतिष्ठितानि। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

कम्मपुरिस–कर्मपुरुष–पुं० कर्मानुष्ठानं तत्प्रधानः पुरुषः कर्मपुरुषः। कर्मकारादिके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। कर्माणि-महारम्भसंपाद्यानि नरकायुष्कादीनि तदर्जनपरः पुरुषः कर्मपुरुषः। उत्तमपुरुषभेदे, "कम्मपुरिसा वासुदेवा" कर्मपुरुषशब्दाभिधेयाः वासुदेवादयः स्था० ३ ठा०।

कम्मपवाय–कर्मप्रवाद–न० कर्म ज्ञानावरणीयादिकमष्टप्रकारं तत्प्रकर्षेण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशादिभिर्भेदैः सप्रपञ्चं वर्ततीति कर्मप्रवादम् नं०। ज्ञानावरणादिकमष्टविधं कर्म प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशादिभिर्भेदैरन्यैश्चोत्तरोत्तरभेदैर्यत्र वर्ण्यते तत्कर्मप्रवादम्॥ अष्टमे पूर्वे, तत्पदपरिमाणमेका कोटी अशीतिश्च सहस्राणि स० २०० पत्र.। नं०। द०। स्था०। "कम्मप्पवायपुव्वस्स णं तीसं वत्थू पण्णत्ता" स०। विशे०।

कम्मप्पवयणिज्ज–कर्मप्रवचनीय–पुं० कर्म क्रियां प्रोक्तवान् इति कर्मप्रवचनीयः। कर्त्तरि भूते बानीयर्। कर्मप्रवचनीया इत्यधिकृत्य पाणिन्युक्ते अन्वादिषु शब्देषु, ते हि संप्रति क्रियां न कथयन्ति नापि द्योतयन्ति किन्तु क्रियानिरूपितसम्बन्धविशेषं द्योतयन्तीति तेषां तथात्वम्। यथोक्तं हरिणा "क्रियाया द्योतको नायं, सम्बन्धस्य न वाचकः। नापि क्रियापदाक्षेपी, सम्बन्धस्य तु भेदकः" इति "अधिपरी अनर्थकावित्यादेस्तद्द्योतकत्वाभावेऽपि योग्यतया तथात्वम्" वाच०।

कम्मप्पसंग–कर्मप्रसङ्ग–पुं० कर्मण्यभ्यासे, आ०म० द्वि०।

कम्मप्पसंगसत्त–कर्मप्रसङ्गसक्त–त्रि० कर्म कृष्याद्यनेकप्रकारं तस्य प्रसङ्गोऽनुष्ठानं तत्र प्रसक्तस्तन्निष्ठः। कृष्यादिकर्मनिरते, आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

कम्मबंध–कर्मबन्ध–पुं० क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादिलक्षणं तस्य बन्धः। कर्मणो विशिष्टरचनयाऽऽत्मनि स्थापने, कर्मणा वाऽऽत्मनो बन्धः आत्मनः स्वस्वरूपतिरस्करणलक्षणे कर्मणा बन्धे, आव० ३ अ०। आ० चू०। ज्ञानावरणीयाद्युपश्लेषे, जीवानु०। (अविज्ञानाद्युपचितस्य चतुर्विधकर्मणो बन्धचिन्ता कम्मशब्दे कृता प्रकृतिबन्धादिप्ररूपणा बंधशब्दे) नवरमिह विवेकहर्षगणिकृतप्रश्नस्य हीरविजयसूरिकृतमुत्तरम् यथा कस्यचिज्ज्ञानतोऽभिनिविष्टस्य संसारवृद्धिहेतुः कर्मबन्धो भूयानुतानभिनिविष्टस्य तन्मार्गानुयायिनो वाऽज्ञानत इति प्रश्ने उत्तरमाह अत्र व्यवहारेण जानतः कर्मबन्धो भूयानित्यवसीयते। तथा कश्चिदजानन् हिंसादिना कर्म चिनोति कश्चित्तु जानन् इत्यनयोः कस्य कर्मबन्धदार्ढ्यमिति प्रश्ने उत्तरमाह अत्र उभयोरपि क्रोधादिपरिणामस्य दृढत्वे कर्मबन्धस्य दार्ढ्यं मन्दत्वे तु मन्दत्वं भवति। ही०।

कम्मब्भुदय–कर्माभ्युदय–पुं० ज्ञानावरणादीनां कर्मणामभ्युदये, " कर्माभ्युदयो भावोपसर्ग इति " सूत्र० १ श्रु३अ०१उ०।

कम्मजारियता–कर्मभारिकता–स्त्री० भारोऽस्ति येषां तानि भारिकाणि तद्भावो भारिकता कर्मणो भारिकता कर्मभारिकता। कर्मणो भारे, भ० ६ श० ३३ उ०।

कम्मभूमग–कर्मभूमक–पुं० कर्म कृषिवाणिज्यादि मोक्षानुष्ठानं वा कर्मप्रधाना भूमिर्येषां ते कर्मभूमा आर्षत्वात्समासान्तोऽप्रत्ययः। कर्मभूमा एव कर्मभूमकाः। कर्मभूमिजेषु मनुष्येषु, प्रज्ञा० १ पद.। जी०। आ० म० द्वि०।

सम्प्रति कर्मभूमिकप्रकृतिप्रतिपादनार्थमाह।

से किं तं कम्मभूमगा? कम्मभूमगा पण्णरसविहा पण्णत्ता तंजहा पंचहिं भरहेहिं पंचहिं एरवएहिं पंचहिं महाविदेहेहिं। ते समासओ दुविहा पण्णत्ता तंजहा आयरिया य मिलक्खू य॥

(सेकिंतमित्यादि) अथ के ते कर्म्मभूमिकाः सूरिराह। कर्मभूमिकाः पञ्चदशविधाः प्रज्ञप्तास्तच्च पञ्चदशविधकत्वं क्षेत्रभेदात् तथाचाह। " पंचहिं भरहेहिं" इत्यादि पञ्चभिर्भरतैः पञ्चभिरैरावतैः पञ्चभिर्महाविदेहैर्भिद्यमानाः पञ्चदशविधा भवन्ति। ते च पञ्चदशविधाः समासतो द्विधा प्रज्ञप्तास्तद्यथा आर्या म्लेच्छाश्च। तत्रारात् हेयधर्मेभ्यो याताः प्राप्ता उपादेयधर्मैरित्यार्याः पृषोदरादय इति रूपनिष्पत्तिः। म्लेच्छा अव्यक्तभाषासमाचाराः म्लेच्छ अव्यक्तायां वाचि इति वचनात् भाषाग्रहणं चोपलक्षणं तेन शिष्टासम्मतसकलव्यवहारा म्लेच्छा इति प्रतिपत्तव्यम्। प्रज्ञा० १ पद.।

कम्मभूमि–कर्मभूमि– स्त्री० कृषिवाणिज्यतपःसंयमानुष्ठानादिकर्मप्रधाना भूमयः कर्मभूमयः । भरतपञ्चकैरवतपञ्चकमहाविदेहपञ्चकलक्षणासु भूमिषु, नं० । भ० । प्रज्ञा० । पञ्चदशकर्मभूमयो यत्र तीर्थकरादय उत्पद्यन्ते प्रव० १ द्वा० । स्था० ।

तीः पञ्चदशैवम् ॥

जंबूदीवे दीवे तओ कम्मभूमिओ पण्णत्ताओ तंजहा भरहे एरवए महाविदेहे एवं धायइसंडे दीवे पुरच्छिमद्धे जाव पुक्खरवरदीवड्ढपच्छिमद्धे ।

एकं भरतक्षेत्रं जम्बूद्वीपे द्वे धातकीखण्डे द्वे च पुष्करवरद्वीपार्द्धे एवं भरतानि पञ्च एवं महाविदेहा ऐरवतानि च प्रत्येकं पञ्च पञ्चेति प्रव० ६३ द्वा० ॥

कइविहे णं भंते ! कम्मभूमीओ पण्णत्ताओ ? गोयमा ! पण्णरसकम्मभूमीओ पण्णत्ताओ तंजहा पंच भरहाइं पंच एरवयाइं पंच महाविदेहाइं भ० २० श० ८ उ० ।

कम्मभूमिग–कर्मभूमिग– पुं० कर्मभूमिजाते, प्रज्ञा० २३ पद. ।

कम्मभूमिगपलिभागि (ण्)–कर्मभूमिप्रतिभागिन्– पुं० कर्मभूमिगाः कर्मभूमिजातास्तेषां प्रतिभागः सादृश्यं तद्स्यास्तीति कर्मभूमिगप्रतिभागी । कर्मभूमिगसदृशे, कोऽसाविति चेदुच्यते या कर्मभूमिजा तिर्यक्स्त्री गर्भिणी सती केनाप्यपहृत्याकर्मभूमौ मुक्ता तस्यां जातः कर्मभूमिगसदृशः । अन्ये तु व्याचक्षते कर्मभूमिग एव यदा केनाप्यकर्मभूमौ नीतो भवति तदा स कर्मभूमिगप्रतिभागी व्यपदिश्यते इति प्रज्ञा० २३ पद. ॥

कम्मभूमिय–कर्मभूमिज– पुं० स्त्री० कृष्यादिकर्मप्रधाना भूमिः कर्मभूमिः । भरतादिका पञ्चदशधा तत्र जाताः कर्मभूमिजाः । कर्मभूमिजातेषु मनुष्येषु, तेषां स्त्रीषु, स्त्री० स्था० ३ ठा० । जी० ।

कम्ममल–कर्ममल– पुं० त्याज्यत्वेन मलोपमिते कर्मणि, " उदयं अइकम्ममलं हरेज्जा " सूत्र० ७ अ० १ उ० । विशे० ॥

कम्ममल्ल–कर्ममल्ल– पुं० कर्मण्येव मल्लः सुभटः कर्ममल्लः । अष्टाचत्वारिंशदुत्तरप्रकृतिरूपे कर्मणि, " हंतूण कम्ममल्लं सिद्धिपडागा तु मे लद्धा " संथा० ।

कम्ममास–कर्ममास– पुं० श्रावणमासे, तत्र हि त्रिंशद्धात्रिन्दिवानि तथाहि कर्मसंवत्सरस्त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि तेषां द्वादशभिर्हृते भवति यथोक्तं कर्ममासपरिमाणम् । ज्यो० १ पाहु० ।

कम्ममासय–कर्ममाषक– पुं० प्रतिमानभेदे, तत्स्वरूपं चेत्थम् । पंच गुञ्जा एकः कर्ममाषकः अथवा चतस्रः काकण्य एकः कर्ममाषकः । यद्वा त्रयो निष्पावका एकः कर्ममाषकः । अत्र भेदो नास्ति गुञ्जापञ्चककाकणीचतुष्कनिष्पावत्रिकाणामेकमानत्वात् प्रतिमानशब्दे सूत्रेण सटीकेन दर्शयिष्यमाणत्वात् । अनु० । स्था० । आव० ॥

कम्मय–कर्मक– न० कर्म–स्वार्थे क–कार्मणशरीरनामकर्मोदयनिर्वर्त्ये अशेषकर्मणां प्ररोहभूमौ आधारभूते संसार्यात्मना गत्यन्तरसंक्रमणे साधकतमे कार्म्मणवर्गणास्वरूपे शरीरभेदे, स्था० २ ठा० २ उ० ॥

कर्मज–न० कर्मणो जातं कर्मजम् । कार्मणशरीरे, जी० १ प्रति० । किमुक्तं भवति कर्मपरमाणव एवात्मप्रदेशैः सह ये क्षीरनीरवदन्योऽन्यानुगताः सन्तः शरीररूपतया परिणमन्ते ते कर्मजं शरीरमिति । अत एवैतदन्यत्र कार्मणमित्युक्तम् । कर्मणो विकारः कार्मणमिति तथा चोक्तम् ।

कम्मविगारो कम्मण–मट्ठविचित्तकम्मनिप्फन्नं ।
सव्वेसि सरीराणं, कारणभूतं मुणेयव्वं ॥ १ ॥

अत्र (सव्वेसिमिति) सर्वेषामौदारिकादीनां शरीराणां कारणभूतं बीजभूतं कार्मणशरीरं न खल्वामूलसमुच्छिन्ने भवप्रपञ्चप्ररोहबीजभूते कर्मणि वपुषि शेषशरीरप्रादुर्भावः । इदं च कार्मणं शरीरं जन्तोर्गत्यन्तरसंक्रान्तौ साधकतमं करणं तथाहि । कर्मणैव वपुषा तैजससहितेन परिकरितो जन्तुर्मरणदेशमपहायोत्पत्तिदेशमभिसर्पति । ननु यदि तैजससहितकार्मणवपुःपरिकरितो गत्यन्तरं संक्रामति तर्हि स गच्छन् आगच्छन् वा कस्मान्न दृष्टिपथमवतरति ? उच्यते कर्मपुद्गलानां चातिसूक्ष्मतया चक्षुरादीन्द्रियागोचरत्वात् तथा च परतीर्थिकैः प्रज्ञाकरगुप्तैरप्युक्तम् " अन्तरा भवदेहोऽपि, सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यते । निष्क्रामन् प्रविशन्वाऽपि, नाभावोऽनीक्षणादपीति " प्रज्ञा० २१ पद. । जी० ॥ कर्म० । अनु० । आव० ।

कार्मक–न० कर्मपरमाणुकेषु भवं कार्मकम् । कार्मणशरीरे, कर्म० ३ क० ।

कम्मगसरीरेणं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा एगिंदियसरीरे जाव पंचिंदियसरीरे एवं जहेव तेयगसरीरस्स भेदो संठाणओगाहणा भणिया तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव अणुत्तरोववाइयत्ति प्रज्ञा० २१ पद. ।

कम्मयओ–कर्मकतस्– अव्य० इह कप्रत्ययः स्वार्थिकः कर्मार्थित्येत्यर्थे, पंचा० १ विव० ।

कम्मय (ण) कायजोग–कार्मक(ण) काययोग– पुं० कार्मणमेव कायस्तेन योगः कार्मणकाययोगः । काययोगभेदे, कर्म० १ क० ।

कम्मयग–कर्मजक– न० कर्मणो जातं कर्मजं कर्मात्मकमित्यर्थः । तदेव कर्मजकं जातौ वा स्वार्थे क इति प्राकृतलक्षणात् कप्रत्ययः । कार्मणशरीरे, पं० सं० ।

कम्मय–(ण) णाम–कार्मक (ण) नामन्– न० कार्मक(ण) निबन्धनं नाम कार्मक (ण) नाम । शरीरनामभेदे, यदुदयात् कार्मणप्रायोग्यान् पुद्गलानादाय कार्मणशरीररूपतया परिणमयति परिणमय्य च जीवप्रदेशैः सहान्योन्यानुगमरूपतया संबन्धयतीति । कर्म० १ क० ।

कम्मय(ण)वग्गणा–कार्मक(ण)वर्गणा– स्त्री. कर्मणा नामकर्मोत्तरप्रकृत्या निर्वृत्तं कार्मणम् । ज्ञानाद्यष्टविधकर्मस्वप्रायोग्यपुद्गलानां गृहीतानां तत्तद्रूपेण परिणामजनकमित्यर्थः तत्र वर्गणा । ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मपरिणामहेतुके दलिके, कर्म० २ क० । [वग्गणाशब्दे स्वरूपं वक्ष्यते]

कम्मया–कर्मजा– स्त्री० अनाचार्यकं कर्म साचार्यकं शिल्पम् । अथवा कादाचित्कं शिल्पं सार्वकालिकं कर्म । कर्मणो जाता कर्मजा । कृषिवाणिज्यादिकर्माभ्यासप्रभवे बुद्धिभेदे, नं० ३१ पत्र. । ज्ञा० । अथ कर्मजाया बुद्धेर्लक्षणमाह ।

उवओगदिट्ठसारा, कम्मपसंगपरिघोलणविसाला ।
साहुक्कारफलवई, कम्मसमुत्था हवइ बुद्धी ॥ ए ॥

(उवओगेत्यादि) उपयोजनमुपयोगो विवक्षितकर्म्मणि मनसोऽभिनिवेशः सारस्तस्यैव विवक्षितकर्म्मणः परमार्थः उपयोगेन दृष्टः सारो यया सा उपयोगदृष्टसारा । अभिनिवेशोपलब्धकर्म्मपरमार्था इत्यर्थः । तथा कर्म्मणि प्रसङ्गोऽभ्यासः परिघोलनं विचारः ताभ्यां विशाला विस्तारमुपगता कर्म्मप्रसङ्गपरिघोलनविशाला । तथा साधु कृतं सुष्ठु कृतमिति विद्वद्भ्यः प्रशंसा साधुकारस्तेन युक्तं फलं साधुकारफलं तद्वति साधुकारपुरःसरं चेतनादिलाभरूपं तस्याः फलमित्यर्थः । सा तथाकर्म्मसमुत्था भवति बुद्धिः ।

अस्या विनेयजनानुग्रहाय उदाहरणैः स्वरूपं दर्शयति ॥

हेरन्निए करिसए, कोलिय मोवे य मुत्तिघयपवए ।
तुन्नायवड्डइ पूइ-ए य घडचित्तकारे य ॥ १० ॥

" हेरन्निि" इत्यादौ षष्ठ्यर्थे सप्तमी ततोऽयमर्थो (हिरन्निित्ति) हैरण्यकस्य कर्म्मजा बुद्धिः । एवं सर्वत्रापि योजना कार्या । हैरण्यको हि स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तोऽन्धकारेऽपि हस्तस्पर्शविशेषेण रूपकं यथावस्थितं परीक्षते (करिसगेत्ति) अत्रोदाहरणम् । कोऽपि तस्करो रात्रौ वणिजो गृहे पद्माकारं खातं खातवान् । ततः प्रातरलक्षितः तस्मिन्नेव गृहे समागत्य जनेभ्यः प्रशंसामाकर्णयति तत्रैकः कर्षकोऽब्रवीत् किं नाम शिक्षितस्य दुष्करत्वं यदेन सदैवाभ्यस्तं कर्म्म स तत्प्रकर्षं प्राप्तं करोति नात्र विस्मयः । ततः स तस्कर एतद्वाक्यममर्षवैश्वानरसंधुक्षणसममाकर्ण्य जज्वाल कोपेन । ततः पृष्टवान् कमपि पुरुषं कोऽयं कस्य वासक इति ज्ञात्वा तमन्यदा छुरिकामाकृष्य गतः । क्षेत्रे तस्य पार्श्वे रे मारयामि त्वां सम्प्रति । तेनोक्तं किमिति सोऽवादीत् तत्त्वया तदानीं मम खातं न प्रशंसितमिति कृत्वा, सोऽब्रवीत्सत्यमेतत् यो यस्मिन् कर्म्मणि सदैवाभ्यासपरः स तद्विषयं प्रकर्षवान् भवति । तत्राहमेव दृष्टान्तः । तथा ह्यमून् मुद्गान् हस्तगतान् यदि भणसि तर्हि सर्वानप्यधोमुखान् पातयामि यद्वा ऊर्ध्वमुखान् अथवा पार्श्वस्थितान् इति । ततः सोऽधिकतरं विस्मितचेताः प्राह । पातय सर्वानप्यधोमुखान् इति विस्तारितो भूमौ पटः पातिताः सर्वेऽप्यधोमुखाः मुद्गाः । जातो महान्विस्मयः चोरस्य प्रशंसितं भूयो भूयस्तस्य कौशलमहो विज्ञानमिति वदति चौरः । यदि नाधोमुखाः पातिताः अभविष्यन् ततो नियमात् त्वामहममारयिष्यामिति कर्षकस्य चोरस्य च कर्मजा बुद्धिः । (कोलियत्ति) कौलिकस्तन्तुवायः स मुष्टया तन्तूनादाय जानाति एतावद्भिः कण्डकैः पटो भविष्यति (डोएत्ति) दर्वी वर्द्धकिर्जानाति एतावदत्र मास्यतीति (मुत्तित्ति) मणिकारो मौक्तिकमाकाशे प्रक्षिप्य सूकरवालं तथा धारयति यथा पततो मौक्तिकस्य रन्ध्रे स प्रविशतीति (घयत्ति) घृतविक्रयी स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तो यदि रोचते तर्हि शकटेऽपि स्थितोऽधस्तात् कुण्डिकानालेऽपि घृतं प्रक्षिपति (पवयत्ति) प्लवकः स चाकाशस्थितानि करचरणानि करोति (तुण्णगत्ति) सीवनकर्मैककर्त्ता स च स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तस्तथा सीवति यथा प्रायो न केनापि लक्ष्यते (वड्डइत्ति) वर्द्धकिः स च स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तोऽमित्वाऽपि देवकुलरथादीनां प्रमाणं जानाति (पूइयत्ति) आपूपिकः स चामित्वाऽप्यपूपानां दलस्य मानं जानाति (घडत्ति) घटकारः स्वविज्ञानप्रकर्षप्राप्तः प्रथमतः प्रमाणयुक्तं मृदं गृह्णाति (चित्तकारत्ति) चित्रकरः स च रूपकतूलिकाममित्वाऽपि रूपकप्रमाणं जानाति तावन्मात्रं था वर्णकुञ्चिकया गृह्णाति यावन्मात्रे प्रयोजनमिति । उक्ता कर्मजा बुद्धिः । नं० ३६ पत्र. । आ० क० । आ० म० द्वि० ।

कम्मरय-कर्मरजस्-न० कर्म ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारं तदेव जीवस्य गुण्डनेन मालिन्यापादनाद्रजो भण्यते नं० । आत्मरञ्जनाद्रजउपमिते कर्माणि, दश० ४ अ० ।

कम्मरिउ-कर्मरिपु-पुं० रिपुत्वोपमिते कर्मणि, " कम्मरिउजएण सामाइयं लब्भति" आ० चू० १ अ० ।

कम्मलाघव-कर्मलाघव-न० भावतो लाघवे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

कम्मलेस्सा-कर्मलेश्या-कर्मणः सकाशाद्या लेश्या जीवपरिणतिः सा कर्मलेश्या । भ० १४ श० १ उ० । कर्मणो योग्या लेश्या कृष्णादिका कर्मलेश्या (श्लिष श्लेषणे) इति वचनात् कृष्णादिलेश्यायाम्, भ० १४ श० ६ उ० । भावलेश्यायाम, भ० १४ श० १ उ० ।

कम्मव-उप-भुज्-धा० आत्म० रुधादि-उपभोगे, " वोपेन कम्मवः ८।४।११ उपेन युक्तस्य भुजेः कम्मव इत्यादेशो वा भवति । कम्मवइ उपहुंजइ उपभुङ्क्ते । उपभोगं करोति प्रा० ।

कम्मवणविहावसु-कर्मवनविभावसु-पुं० कर्मवनस्य ज्ञानावरणादिसमुदायरूपस्य विभावसुरिवाग्निरिव तद्दाहकत्वेन । कर्मक्षपणहेतौ केवलिप्रज्ञप्ते धर्म्मे, सू० प्र० १ पाहु० ।

कम्मवाइ (ण्)-कर्मवादिन्-पुं० कर्म ज्ञानावरणीयादि तद् वदितुं शीलमस्य । कर्मणो जगद्वैचित्र्यवादिनि, यतो हि प्राणिनो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः पूर्वं गत्यादियोग्यानि कर्म्माण्याददते पश्चात्तासु तासु विरूपरूपासु योनिषु उत्पद्यन्ते कर्म च प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशात्मकमवसेयमिति । अनेन च कालयदृच्छानियतीश्वरात्मवादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

अस्य मतम् । जन्मान्तरोपात्तमिष्टानिष्टफलदं कर्म सर्वजगद्वैचित्र्यकारणमिति कर्मवादिनस्तथा चाहुः " यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः, फलं निधानस्थमिवावतिष्ठते । तथा तथा तत्प्रतिपादनोद्यता, प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते " तथा च " स्वकर्मणा युक्त एव, सर्वो ह्युत्पद्यते नरः । स तथा कृष्यते तेन, यथाऽयं स्वयमिच्छति " तथाहि समानमीहमानानां समानदेशकालकुलाकारादिमतामर्थप्राप्त्यप्राप्तिना निमित्तेऽप्यनिमित्तस्य देशादिना प्रतिनियमायोगात् । न च परिदृश्यमानकारणप्रभवस्तस्य समानतयोपलम्भात्तच्चैकरूपत्वकार्यभेदस्तस्याहेतुकत्वप्रशक्तेरहेतुकत्वे च तस्य कार्यस्यापि तद्रूपतापत्तेः । भेदाच्चेद्व्यतिरिक्तस्य तस्यासत्त्वात् ततो यन्निमित्त एते तद्दृष्टकारणव्यतिरिक्तमदृष्टकारणं कर्मेति । असद्वेतत् कुलालादेर्घटादिकारणत्वेनाध्यक्षतः प्रतीयमानस्य परिहारेण परादृष्टकारणप्रकल्पनया तत्परिहारेण परादृष्टकारणकल्पनया अनवस्थाप्रसङ्गतः क्वचिदपि कारणप्रतिनियमानुपपत्तेः । नच स्वतन्त्रं कर्मवैचित्र्यं कारणमुपपद्यते तस्य कर्त्रधीनत्वात् । नत्वेकस्वभावात् ततो जगद्वैचित्र्यमुपपत्तिमत्कारणवैचित्र्यमन्तरेण कार्यवैचित्र्यायोगात् । वैचित्र्ये वा तदेककार्यताप्रच्युतेरनेकस्वभावत्वे च कर्मणो नाममात्रनिबन्धनैव विप्रतिपत्तिः । पुरुषकालस्वभावादेरपि जगद्वैचित्र्यकारणत्वेनार्थतोऽभ्युपग-

मात् नच तेन चेतनवताऽनधिष्ठितमचेतनत्वाद्वास्यादिवत् वर्तते अथ तदधिष्ठायकः पुरुषो ऽभ्युपगम्यते न तर्हि कर्मैकान्तवादः पुरुषस्य तदधिष्ठायकत्वेन जगद्वैचित्र्यकारणत्वोपपत्तेः नच केवलं किंचिद्वस्तु नित्यानित्यं चाकार्यकृत् संप्रत्ययत्यसकृत्प्रतिपादितं तन्न कर्मैकान्तवादोऽपि युक्तिसंगतः सम्म० नवी० १८४ पत्र. । सूत्र० ॥

कम्मवावार-कर्मव्यापार-पुं० अज्ञानादिजनकज्ञानावरणादिलक्षणसामर्थ्ये, पञ्चा० ३ विव० ।

कम्मवाहिकिरिया-कर्मव्याधिक्रिया-स्त्री० कर्मरोगचिकित्सायाम्, " इय कम्मवाहिकिरियं वज्जं भावओ पवण्णस्स " पंचा० १६ विव० ।

कम्मविउस्सग्ग-कर्मव्युत्सर्ग-पुं० ज्ञानावरणादिकर्मबन्धहेतूनां ज्ञानप्रत्यनीकत्वादीनां त्यागे, भ० २५ श० ७ उ० ।

तद्भेदा यथा ।

से किं तं कम्मविउस्सग्गे ? कम्मविउस्सग्गे अट्ठविहे पण्णत्ते तंजहा णाणावरणिज्जकम्मविउस्सग्गे दरिसणावरणिज्जकम्मविउस्सग्गे वेअणीअकम्मविउस्सग्गे मोहणीयकम्मविउस्सग्गे आउअकम्मविउस्सग्गे नामकम्मविउस्सग्गे गोअकम्मविउस्सग्गे अंतरायकम्मविउस्सग्गे सेत्तं कम्मविउस्सग्गे ।

कम्मविगइ-कर्मविगति-स्त्री० अनुभावनां कर्मणां स्थितिमाश्रित्य विगमे, भ० ५ श० ३२ उ० ।

कम्मविवाग-कर्मविपाक-पुं० ६ त० पुण्यपापात्मकस्य कर्मणः फले, स० । स्था० । " सव्वो पुव्वकयाणं, कम्माणं पावए फलविवागं । अवराहेसु गुणेसु य, णिमित्तमित्तं परो होइ " सूत्र० १ श्रु० १२ अ० (किरियावाइशब्दे व्याख्यास्यामि)

पुनरपि तत्फलस्वरूपख्यापनाय प्राणिनां संसारनिर्वेदवैराग्योत्पत्त्यर्थमभिधित्सुकाम आह ।

तं सुणेह जहा तहा संति पाणा अंधा तमसि वियाहिया तामेव सयं असयं अतिअच्च उच्चावए फासे पडिसंवेदेंति बुद्धेहिं एअं पवेदितं । संति पाणा वासगा रसगा उदए उदयचरा आगासगामिणो पाणापाणे किलेसंति पासलोए महब्भयं बहुदुक्खा हु जंतवो सत्ता कामेहिं माणवा अबलेणवहं गच्छंति सरीरेणं भंगुरेणं अट्टे से बहुदुक्खे इति बाले पकुव्वंति एते रोगे बहु णच्चा आउरा परितावएणालं पास अलं तवे तेहिं एयं पासमुणी महब्भयं णातिवातेज्ज कंचण आयाणजो सुमूसमो ।

(तमित्यादि) तं कर्मविपाकं यथावस्थितं तथैवमावेदयतः शृणुत यूयं तद्यथा नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणाश्चतस्रो गतयस्तत्र नरकगतौ चत्वारो योनिलक्षाः पञ्चविंशतिकुलकोटिलक्षास्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टा स्थितिर्वेदनाश्च परमाधार्मिकपरस्परोदीरितस्वाभाविकदुःखानां नारकाणां या भवन्ति ता वाचामगोचराः । यद्यपि लेशतश्चिकथयिषोरजिघेयविषयं न वागवतरति तथापि कर्मविपाकावेदनेन प्राणिनां वैराग्यं यथा स्यादित्येवमर्थः श्लोकैरेव किंचिदभिधीयते ।

"श्रवणलवनं नेत्रोद्धारः करक्रमपाटनम् ।
हृदयदहनं नासाच्छेदप्रतिक्षणदारुणम् ॥
कटिविदहनं तीक्ष्णपाताऽत्रिशूलविभेदनम् ।
दहनवदनैः कङ्कैर्घोरैः समन्तविभक्षणम् ॥
तीक्ष्णैरसिभिर्दीप्तैः, कुन्तैर्विषमैः परस्वधैश्चक्रैः ।
परशुत्रिशूलमुद्गर-तोमरवासीमुषुण्ढीभिः ॥
संभिन्नतालुशिरसा-च्छिन्नभुजाच्छिन्नकर्णनासौष्ठाः ।
भिन्नहृदयोदरान्त्रा, भिन्नाक्षिपुटाः सुदुःखार्त्ताः ॥
निपतन्त उत्पतन्तो, विचेष्टमाना महीतले दीनाः ।
नेक्षन्ते त्रातारं, नैरयिकाः कर्मपटलान्धाः ॥
छिद्यन्ते कृपणाः कृतान्तपरशोस्तीक्ष्णेन धारासिना,
क्रन्दन्तो विषवीचिभिः परिवृताः संभक्षणव्यापृतिः ।
पाट्यन्ते क्रकचेन दारुवदसिप्रच्छिन्नबाहुद्वयाः,
कुम्भीषु त्रपुपानदग्धतनवो मूषासु चान्तर्गताः ।
भुज्यन्ते ज्वलदम्बरीषु हुतभुग्ज्वालाभिरारावितो,
दीप्ताङ्गारनिभेषु वज्रभवनेष्वङ्गारकेषूत्थिताः ।
दह्यन्ते विकृतोर्ध्वबाहुवदनाः क्रन्दन्त आर्तस्वनाः,
पश्यन्तः कृपणा दिशो विशरणास्त्राणाय को नो भवेदिति"

तथा तिर्यग्गतौ पृथिवीकायजन्तूनां सप्त योनिलक्षा द्वादश कुलकोटीलक्षाः स्वकायपरकायशस्त्राणि शीतोष्णादिका वेदनाः । तथाऽप्कायस्यापि सप्त योनिलक्षाः सप्त च कुलकोटिलक्षा वेदना अपि नानारूपा एव । तथा तेजस्कायस्य सप्त योनिलक्षास्त्रयः कुलकोटीलक्षाः पूर्ववद्वेदनादिकम् । वायोरपि सप्त योनिलक्षाः सप्त च कुलकोटिलक्षा वेदना अपि शीतोष्णादिजनिता नानारूपा एव प्रत्येकवनस्पतेर्दश योनिलक्षाः साधारणवनस्पतेश्चतुर्दश उभयरूपस्याप्यष्टाविंशतिः कुलकोटीलक्षास्तत्र च गतोऽसुमाननन्तमपि कालं छेदनभेदनमोटनादिजनिता नानारूपा वेदना अनुभवन्नास्ते । विकलेन्द्रियाणामपि द्वे द्वे योनिलक्षे कुलकोटयस्तु द्वीन्द्रियाणां सप्त, त्रीन्द्रियाणामष्टौ, चतुरिन्द्रियाणां नव दुःखं तु क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिजनितमनेकधाऽध्यक्षमेव । तेषामिति पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि चत्वारो योनिलक्षाः कुलकोटिलक्षास्तु जलचराणामर्द्धत्रयोदश, पक्षिणां द्वादश, चतुष्पदानां दश, उरःपरिसर्पाणां दश, भुजपरिसर्पाणां नव, वेदनाश्च नानारूपा यास्तिरश्चां संभवन्ति ताः प्रत्यक्षा एवेति । उक्तं च "क्षुत्तृड्हिमात्युष्णभयार्दितानां, पराभियोगव्यसनातुराणाम् । अहो तिरश्चामतिदुःखितानां, सुखानुषङ्गं किल वार्त्तमेत " दित्यादि मनुष्यगतावपि चतुर्दश योनिलक्षा द्वादश कुलकोटीलक्षा वेदनास्त्वेवंभूता इति ।

दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणां,
बालत्वे चापि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् ।
तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,
संसारे रे मनुष्या ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किंचित् ॥१॥
बाल्यात्प्रभृति च रोगै-र्दष्टोऽभिभवश्च यावदिह मृत्युः ।
शोकवियोगायोगै-र्दुर्गतदोषैश्च नैकविधैः ॥

क्षुत्तृड्हिमोष्णानिलशीतदाह-प्रियादियोगैः प्रियविप्रयोगैः ।
दौर्गत्यदौर्भाग्यजरानिजात्यदास्य-वैरूप्यरोगादिभिरस्वतन्त्रः ॥२॥

इत्यादि देवगतावपि चत्वारो योनिलक्षाः षड्विंशतिः कुलकोटिलक्षास्तेषामपीर्ष्याविषादमत्सरच्यवनभयशल्यविनुन्नमानसानां दुःखानुषक्त एव सुखाभासाभिमानस्तु केवलमित्युक्तं च "देवेषु च्यवनवियोगदुःखितेषु, कोपेर्ष्यामदमदनातिपाति-

तेषु । आर्या नस्तदिह विचार्य संगिरन्तु, यत्सौख्यं किमपि निवेदनीयमस्ती " त्यादि तदेवं चतुर्गतिपतिताः संसारिणो नानारूपं कर्मविपाकमनुभवन्तीत्येतदेव सूत्रेण दर्शयितुमाह । (संतिपाणा इत्यादि) सन्ति विद्यन्ते प्राणाः प्राणिनो वा चक्षुरिन्द्रियविकला जात्यन्धा अपि सदसद्विवेकविकलास्तमस्यन्धकारे नरकगत्यादौ भावान्धकारेऽपि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायादिके कर्मविपाकापादिते व्यवस्थिताः । किञ्च व्याख्यातामेव इत्यादि तामेवावस्थां कुष्ठाद्यापादितामेकेन्द्रियापर्याप्तकादिकां वा सकृदनुभूय कर्मोदये तामेवासकृदनेकशोऽतिगत्योच्चावचांस्तीव्रमन्दान् स्पर्शान् दुःखविशेषान् प्रतिसंवेदयन्त्यनुभवन्त्येतच्च तीर्थकृद्भिरावेदितमित्याह " बुद्धेहिं इत्यादि " बुद्धैस्तीर्थकृद्भिरेतदनन्तरोक्तं प्रकर्षेणादौ वाऽऽवेदितमेतच्च वक्ष्यमाणं प्रवेदितमित्याह "संतीत्यादि" सन्ति विद्यन्ते प्राणाः प्राणिनो वासका वासृ शब्दकुत्सायां वासन्तीति वासकाः । भाषालब्धिसंपन्ना द्वीन्द्रियादयस्तथा रसमनुगच्छन्तीति रसगाः कटुतिक्तकषायादिरसवेदिनः संज्ञिन इत्यर्थः इत्येवं भूतः कर्मविपाकः संसारिणा संप्रेक्ष्य इति संबन्धस्तथा " उदये इत्यादि " उदके उदकरूपा एकेन्द्रिया जन्तवः पर्याप्तकापर्याप्तक—भेदेन व्यवस्थिताः । तथोदके चरन्तीत्युदकचराः पुतर—कच्छेदनकलोड्डणकत्रसमत्स्यकच्छपादयः । तथा स्थलजा अपि केचन जलाश्रिता महोरगादयः पक्षिणश्च केचन तद्गतवृत्तयो द्रष्टव्याः । अपरे त्वाकाशगामिनः पक्षिण इत्येवं सर्व्वेऽपि प्राणाः प्राणिनो परान् प्राणिन आहाराद्यर्थं मत्सरादिना वा क्लेशयन्त्युपतापयन्ति । यद्येवं ततः किमित्यत आह " पास इत्यादि " पश्यावधारय लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके कर्म्मविपाकात्सकाशान्महद्भयं नानागतिदुःखक्लेशविपाकात्मकमिति किमिति कर्म्मविपाकात्मकं महद्भयमित्याह "बहु-इत्यादि" बहूनि दुःखानि कर्म्मविपाकापादितानि येषां जन्तूनां ते तथा हुर्यस्मादेवं तस्मात्तत्राप्रमादवता भाव्यं किमित्येवं भूयो भूय उपदिश्यत इत्यत आह । "सत्ता इत्यादि" यस्मादनादिभवाभ्यासेनागणितोत्तरपरिणामाः सक्ता गृद्धाः कामेष्विच्छामदनरूपेषु मानवाः पुरुषा इत्यतो न पुनरुक्तदोषानुषङ्गः । कामासक्ताश्च यदवाप्नुवन्ति तदाह " अबलेण इत्यादि " बलरहितेन निस्सारेण तुषमुष्टिकल्पेनौदारिकेण शरीरेण प्रभङ्गुरेण स्वत एव भङ्गशीलेन तत्सुखाधानतया कर्म्मोपचित्याऽनेकशो बधं गच्छन्ति । कः पुनरसौ विपाककटुकेषु कामेषु यो रतिं विदध्यादित्याह " अट्टे इत्यादि " मोहोदयादार्तोऽगणितकार्याकार्यविवेकतोऽसुमान् । बहु दुःखं प्राप्तव्यमनेनेति बहुदुःख इत्येनं कामानुषङ्गं प्राणिनां क्लेशं याति बालो रागद्वेषाकलितः प्रकर्षेण करोति प्रकरोति तज्जनितकर्म्मविपाकाच्चानेकशो बधं गच्छति । यदि वा रोगेषु सत्सु इत्येतद्वक्ष्यमाणं बालोऽज्ञः प्रकरोति तदाह "एए इत्यादि" एतान् गण्डकुष्ठराजयक्ष्मादीन् रोगान् बहूनुत्पन्नानिति ज्ञात्वा तद्रोगवेदनाया आतुराः सन्तश्चिकित्सार्थं प्राणिनः परितापयेयुर्लावकादिपिसितासिनः किल क्षयव्याध्युपशमः स्यादित्यादिवाक्याकर्णनाज्जीविताशया गरीयस्यपि प्राण्युपमर्दे प्रवर्त्तेरन्नैतदवधारयेयुर्यथा स्वकृतावन्ध्यकर्म्मविपाकोदयादेतत्तदुपशमाच्चोपशमः प्राण्युपमर्दचिकित्सया च किल्बिषानुषङ्ग एवेत्येतदेवाह " णालं इत्यादि " पश्यैतद्विमलविवेकावलोकनेन यथा नालं न समर्थाश्चिकित्साविधयः कर्मोदयोपशमं विधातुम् । यद्येवं ततः किं कर्त्तव्यमिति दर्शयति । अलं पर्याप्तं तव सदसद्विवेकिन एभिः पापोपादानभूतैश्चिकित्साविधिभिरिति । किञ्च " एवं इत्यादि " एतत्प्राण्युपमर्दादिकं पश्यावधारय हेमुने ! जगत्त्रयस्वभाववेदिन् ! महद्भयहेतुत्वान्महद्भयम् यद्येवम् । ततः किं कुर्यादिति दर्शयति नातिपातयेन्न हन्यात्कंचन प्राणिनं यत एकस्मिन्नपि प्राणिनि हन्यमानेऽष्टप्रकारमपि कर्म्म बध्यते तच्चानुत्तरसंसारगमनायेत्यतो महाभयमिति । यदि वा " एए रोगे बहु णच्चे " त्यादिको ग्रन्थः कामानधिकृत्य ज्ञेयः । एतान् रोगरूपान् कामान् बहून् ज्ञात्वा आसेवनाप्रकृयेत्यातुराः कामेच्छान्धा अपरान् प्राणिनः परितापयेयुरित्यादिना प्रक्रमेणेति आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । अष्ट० । ज्ञानावरणादिकर्मणां तत्तदावरणदुःखदायकत्वलक्षणे विपाके, दर्श० " एयइंचिइण्णग-सा—णुभावभिन्नं सुहासुहविभत्तं । जोगाणुभावजणिअं, कम्मविवागं विचिंतिज्जा " आव०४ अ० (झाण शब्दे व्याख्या) कर्मणां ज्ञानावरणादीनां विपाकोऽनुभवः कर्मविपाकः । कर्मविपाकप्रतिपादके प्रथमे कर्मग्रन्थे, "दिनेशवद्ध्यानवरप्रतापैरनन्तकालप्रचितं समन्तात् । योऽशोषयत्कर्मविपाकपङ्कं देवो मुदे वोऽस्तु स वर्द्धमानः ॥१॥ ज्ञानादिगुणगुरूणां, धर्मगुरूणां प्रणम्य पदकमलम् । कर्मविपाके विवृतिं, स्मृतिबीजविवृद्धये विदधे ॥२॥ तत्रादावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह ।

सिरिवीरजिणं वंदिअ, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएणहेउहिं, जेणं तो भन्नए कम्मं ॥ १ ॥

श्रिया सकलत्रिभुवनजनमनश्चमत्कारकारि मनोहारि परमार्हन्त्यमहामहिमविस्तारि " अशोकवृक्षः १ सुरपुष्पवृष्टि, २ दिव्यो ध्वनि ३ श्चामर ४ मासनं च ५। भामण्डलं ६ दुन्दुभि ७ रातपत्रं ८ सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणामिति" स्पष्टाष्टप्रातिहार्यशोभया चतुस्त्रिंशदतिशयविभूत्या वा समन्वितो वीरः श्रीवीरः स चासौ रागद्वेषमोहप्रभृतिवैरिवारपराजयाज्जिनश्च श्रीवीरजिनस्तं श्रीवीरजिनं श्रीवर्द्धमानस्वामिनं वन्दित्वा विशुद्धमानसप्रणिधानसमन्वितेन वाग्योगेन स्तुत्वा काययोगेन च प्रणम्य वुञ् स्तुत्यभिवादनयोरिति वचनात् एतेन मङ्गलार्थमभीष्टदेवतायाः स्तुतिरुक्ता क्त्वाप्रत्ययस्य चोत्तरक्रियासापेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह कर्मविपाकं वक्ष्ये । तत्र कर्मणां ज्ञानावरणादीनां विपाकोऽनुभवः कर्मविपाकस्तं कर्मविपाकं वक्ष्येऽभिधास्ये । अनेनाभिधेयमाह । कथमित्याह समासतः संक्षेपेण विस्तरेण दुष्षमानुभावापचीयमानमेधायुर्बलादिगुणानामैदंयुगीनजनानां विस्तराभिधाने सति उपकारासंभवात्तदुपकारार्थं च एष शास्त्रारम्भप्रयासः । एतेन संक्षिप्तरुचिसत्त्वानाश्रित्य प्रयोजनमाचष्टे । संबन्धस्त्वर्थापत्तिगम्यः स चोपायोपेयलक्षणः साध्यसाधनलक्षणो गुरुपर्वक्रमलक्षणो वा स्वयमभ्यूह्य इति कर्म० १ क० ।

कम्मविवागदसा—कर्मविपाकदशा—स्त्री० बहुव० कर्मणोऽशुभस्य विपाकः फलं कर्मविपाकस्तत्प्रतिपादिका दशा अध्ययनात्मकत्वाद्दशाः कर्मविपाकदशाः । विपाकश्रुताख्यस्यैकादशाङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धे, द्वितीयश्रुतस्कन्धोऽप्यस्य दशाध्ययनात्मकः कर्मविपाकप्रतिपादकश्च । नचासाविहाभिमतः स्थानाङ्गेऽस्याविवृतत्वात् । इति । पा० । इयं विवृतिः ।

कम्मविवागदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता तंजहा ।

मियापुत्ते य गुत्तासे, अंडे सगडे इयावरे ॥
माहणे नंदिसेणे य, सूरिए य उदुंबरे ॥१॥
सहसुद्दाहे आमलए, कुमारे लेच्छईतिय ॥

(मिगेत्यादि) श्लोकः सार्द्धः मृगा मृगग्रामाभिधाननगरराजस्य विजयनाम्नो भार्या तस्याः पुत्रो मृगापुत्रस्तत्र किल नगरे महावीरो गौतमेन समवसरणागतं जात्यन्धं नरमवलोक्य पृष्टो भदन्तान्योऽपीहास्ति जात्यन्धो भगवांस्तं मृगापुत्रं जात्यन्धमनाकृतिमुपदिदेश । गौतमस्तु कुतूहलेन तद्दर्शनार्थं तद्गृहं जगाम मृगादेवी च वन्दित्वा गमनकारणं पप्रच्छ । गौतमस्तु त्वत्पुत्रदर्शनार्थमित्युवाच । ततः सा भूमिगृहस्थं तदुद्घाटनतस्तं गौतमस्य दर्शितवती । गौतमस्तु तमतिघृणास्पदं दृष्ट्वाऽऽगत्य च भगवन्तं पप्रच्छ । कोऽयं जन्मान्तरेऽभवत् भगवानुवाच अयं हि विजयवर्द्धमानकाभिधाने खेटे मकाईत्यभिधानो लञ्चोपचारादिभिर्लोकोपतापकारी राष्ट्रकूटो बभूव । ततः षोडशरोगातङ्काभिभूतो मृतो नरकं गतस्ततः पापकर्मविपाकेन मृगापुत्रो लोष्टाकारोऽव्यक्तेन्द्रियो दुर्गन्धो जातः । ततो मृत्वा नरकं गत इत्यादि तद्वक्तव्यता प्रतिपादकप्रथममध्ययनं मृगापुत्रमुक्तमिति । (गोत्तासेत्ति) गास्त्रासितवानिति गोत्रासोऽयं हि हस्तिनागपुरे भीमाभिधानकूटग्राहस्योत्पलाभिधानाया भार्यायाः पुत्रोऽभूत् । प्रसवकाले चानेन महापापसत्त्वेनाराट्यात् गावस्त्रासिता यौवने चायं गोमांसान्यनेकधा भक्षितवान् । ततो नारको जातस्ततो वाणिजग्रामनगरे विजयसार्थवाहभद्राभार्ययोरुज्झितकाभिधानः पुत्रो जातः । स च कामध्वजगणिकार्थं राज्ञा तिलशो मांसच्छेदनेन तत्स्वादनेन च चतुष्पथे विरुध्य व्यापादितो नरकं जगामेति गोत्रासवक्तव्यताप्रतिबद्धं द्वितीयमध्ययनं गोत्रासमुच्यते । इदमेव चोज्झितिकनाम्ना विपाकश्रुते उज्झितकमुच्यते इति ॥ २ ॥ (अंडेत्ति) पुरिमतालनगरवास्तव्यस्य कुक्कुटाद्यनेकविधाण्डभाण्डव्यवहारिणो वाणिजकस्य निन्नकाभिधानस्य पापविपाकप्रतिपादकमण्डमिति । स च निन्नको नरकङ्गतस्ततश्च्युतोऽभग्नसेननामा पल्लीपतिर्जातः । स च पुरिमतालनगरवास्तव्येन निरन्तरं देशलूषणातिकोपितेन विश्वास्यानीय प्रत्येकं नगरचत्वरेषु तदग्रतः पितृव्यपितृव्याप्रभृतिकं स्वजनवर्गं विनाश्य तिलशो मांसच्छेदनरुधिरमांसभोजनादिना कदर्थयित्वा निपातित इति विपाकश्रुते वा अभग्नसेन इतीदमध्ययनमुच्यते ३ (सगडियावरेत्ति) शकटमिति चापरमध्ययनं तत्र शाखाञ्जन्यां नगर्यां सुभद्राख्यसार्थवाहभद्राभिधानतद्भार्ययोः पुत्रः शकटः । स च सुषेणाभिधानामात्येन सुदर्शनाभिधानगणिकाव्यतिकरे सगणिको मांसच्छेदादिनाऽत्यन्तं कदर्थयित्वा विनाशितः । स च जन्मान्तरे छगलपुरे नगरे छन्निकाभिधानच्छागलिको मांसप्रिय आसीदित्येतदर्थप्रतिबद्धं चतुर्थमिति ॥ ४ ॥ (माहणेत्ति) कौशाम्ब्यां बृहस्पतिदत्तनामा ब्राह्मणः स चान्तःपुरव्यतिकरे उदायनेन राज्ञा तथैव कदर्थयित्वा मारितो जन्मान्तरे चासावासीन्महेश्वरदत्तनामा पुरोहितः । स च जितशत्रो राज्ञः शत्रुजयार्थं ब्राह्मणादिभिर्होमं चकार तत्र प्रतिदिनमेकैकं चातुर्वर्ण्यदारकमष्टम्यादिषु द्वौ द्वौ चतुर्मास्यां चतुरश्चतुरः षण्मास्यामष्टावष्टौ संवत्सरे षोडश षोडश परचक्रागमेऽष्टशतमष्टशतं परचक्रं च जीयते तदेवं मृत्वाऽसौ नरकं जगामेत्येवं ब्राह्मणवक्तव्यताप्रतिबद्धं पञ्चममिति ५ (नंदिसेणयात्ति) मथुरायां श्रीदामराजसुतो नन्दिषेणो युवराजो विपाकश्रुते च नन्दिवर्द्धनः श्रूयते स च राजद्रोहव्यतिकरे राज्ञा नगरचत्वरे तप्तस्य लोहस्य द्रवेण स्नानं तद्विधसिंहासनोपवेशनं क्षारतैलभृतकलशैः राज्याभिषेकश्च कारयित्वा कष्टमारेण परासुतान्नीतो नरकमगमत् । स च जन्मान्तरे सिंहपुरनगरराजस्य सिंहरथाभिधानस्य दुर्योधननामा गुप्तिपालो बभूव । अनेकविधयातनाभिर्जनं कदर्थयित्वा मृतो नरकं गतवानित्येवमर्थं षष्ठमिति ॥६॥ (सोरियात्ति) सौरिकदत्तो नाम्ना मत्स्यबन्धपुत्रः स च मत्स्यमांसप्रियो गलविलग्नमत्स्यकण्टको महाकष्टमनुभूय मृत्वा नरकं गतः । स च जन्मान्तरे नन्दिपुरनगरराजस्य मित्राभिधानस्य श्रीको नाम महानसिकोऽभूत् जीवघातरतिर्मांसप्रियश्च मृत्वा चासौ नरकं गतवानिति सप्तमम् ॥७॥ इदं चाध्ययनं विपाकश्रुतेऽष्टममधीतम् । (उंदुबरेत्ति) पाटलीखण्डे नगरे सागरदत्तसार्थवाहसुत उदुम्बरदत्तो नाम्नाऽभूत् । स च षोडशभी रोगैरेकदाऽभिभूतो महाकष्टमनुभूय मृतः । स च जन्मान्तरे विजयपुरराजस्य कनकरथनाम्नो धन्वन्तरिनामा वैद्य आसीत् । मांसप्रियो मांसोपदेष्टा चेति कृत्वा नरकं गतवानित्यष्टमम् ॥ ८ ॥ (सहसुद्दाहेत्ति) सहसाऽकस्मादुद्दाहः प्रकृष्टो दाहः सहसोद्दाहः सहस्राणां वा लोकस्योद्दाहः सहस्रोद्दाहः (आमलयत्ति) रथ्यते च श्रुतिरित्यामरकः सामस्त्येन मारिरेवमर्थप्रतिबद्धं नवमम् । तत्र किल सुप्रतिष्ठे नगरे सिंहसेनो राजा श्यामाभिधानदेव्यामनुरक्तस्तद्वचनादेवैकोनानि पञ्चशतानि देवीनां तां मिमारयिषूणि ज्ञात्वा कुपितः सन् तन्मातॄणामेकोनपञ्चशतान्युपनिमन्त्र्य महत्यगारे आवासं दत्त्वा भक्तादिभिः सम्पूज्य विश्रब्धानि सदेवीकानि सपरिवाराणि सर्वतो द्वारबन्धनपूर्वकमग्निप्रदानेन दग्धवांस्ततोऽसौ राजा मृत्वा षष्ठीं च गत्वा रोहीतके नगरे दत्तसार्थवाहस्य दुहिता देवदत्ताभिधानाऽभवत् । सा च पुष्यनन्दिना राज्ञा परिणीता स च मातुर्भक्तिपरतया तत्कृत्यानि कुर्वन्नासाभ्यासतया च भोगविघ्नकारिणीति तन्मातुर्ज्वलल्लोहदण्डस्यापानप्रक्षेपात्सद्यः सा दारुणवधो व्यधायि राज्ञा चासौ विविधविडम्बनाभिर्विडम्ब्य विनाशितेति विपाकश्रुते देवदत्ताभिधानं नवममिति ॥ ९ ॥ तथा (कुमारेत्ति) कुमाराः राज्यार्हा अथवा कुमाराः प्रथमवयस्थास्तान् (लेच्छईयाति) लिप्सुश्च वणिजश्चाश्रित्य दशममध्ययनमिति शब्दश्च परिसमाप्तौ भिन्नक्रमश्चेति । अयमत्र भावार्थो इहैव इन्द्रपुरे नगरे पृथिवीश्रीनामगणिकाऽभूत्सा च बहून् राजकुमारवणिक्पुत्रादीन् मन्त्रचूर्णादिभिर्वशीकृत्योदारान् भोगान् भुक्तवती षष्ठीं च गत्वा वर्द्धमाननगरे धनदेवसार्थवाहदुहिता अञ्जूरित्यभिधाना जातेति सा च विजयराजपरिणीता याऽतिशूलेन कृच्छ्रं जीवित्वा नरकं गतेति । अत एव विपाकश्रुते अञ्जू इति दशममध्ययनमुच्यत इति स्था० १० ठा० ।

कम्मविवेग-कर्मविवेक-पुं० कर्मनिर्जरायाम्, आव० ६ अ० ।

कम्मविस-कर्मविष-न० कर्मैव विषमात्मनो विकारहेतुत्वात् कर्मविषम् । विषत्वोपमिते कर्मणि, पंचा० ४ विव० ।

कम्मविसुद्ध-कर्मविशुद्ध-पुं० क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणादिलक्षणं तेन विशुद्धो वियुक्तः कर्मविशुद्धः कर्मकलङ्करहिते, " कम्मविसुद्धाण सव्वसिद्धाणं " दश० १ अ० ।

कम्मविसुद्धि-कर्मविशुद्धि-स्त्री० प्रदेशापेक्षयाऽशुभानां कर्मणां विगतौ, भ० ९ श० ३२ उ० ।

कम्मविसोहि–कर्मविशोधि–स्त्री० रसमाश्रित्य कर्मणां विगमे, प्र० ९ श० ३१ उ० ।

कम्मविहूणण–कर्मविधूनन–न० कर्मणां विधूनने, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० । प्र० [धुताध्ययनस्य द्वितीयोद्देशके उक्तम्]

कम्मवीय–कर्मबीज–न० बीजत्वोत्प्रेक्षिते कर्मणि, "अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातनं कर्मबीजमविनाशि । तृष्णाजलाभिषिक्तं, मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः" "दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः " आ० म० द्वि० । सूत्र० ।

कम्मवेयय–कर्मवेदक–पुं० कर्मणां वेदप्ररूपके प्रज्ञापनायाः पञ्चविंशतितमे पदे, प्रज्ञा० २५ पद. ।

कम्मस–कल्मष–न० कर्म शुभाशुभं स्यति सो-क-षत्वं रस्य लः । " सर्वत्र लवरामचन्द्रे " ८। २। ७९ इति लुक्-द्वित्वम् प्रा० । पापे, को० । मलिने, त्रि० जटाधरः । " जन्ममृत्यू यदि स्यातां, वारौ भौमशनैश्चरौ । स मासः कल्मषो नाम, मनोदुःखप्रदायकः" दीपकोक्ते मासभेदे, वाच० ।

कम्मसंगरकेलि–कर्मसंगरकेलि–पुं० कर्मक्षयकरसंग्रामे, "कृतमोहास्त्रवैफल्य-ज्ञानचर्म बिभर्ति यः । क भीस्तस्य क वा भङ्गः कर्मसङ्गरकेलिषु " अष्ट० ३३ पत्र. ।

कम्मसंवच्छर–कर्मसंवत्सर–पुं० कर्म लौकिको व्यवहारस्तत्प्रधानः संवत्सरः कर्मसंवत्सरः । ऋतुसंवत्सरे, यस्मिन्त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि परिपूर्णान्यहोरात्राणां भवन्ति । लोको हि प्रायः सर्वोऽप्यनेनैव संवत्सरेण व्यवहरति तथा चैतद्गतं मासमधिकृत्यान्यत्रोक्तम् "कम्मो निरंसयाए, मासो ववहारकारगो लोए । सेसा उ संसयाए, ववहारे दुक्करा घित्तुं " सू० प्र० १० पाहु० । जं० ।

कम्मसमज्जणसय–कर्मसमर्जनशत–न० कर्मसमर्जनलक्षणार्थप्रतिपादके भगवत्याः अष्टाविंशे शतके, भ० २८ श० । (अत्रत्या वक्तव्यता बंध शब्दे)

कम्मसमारंभ–कर्मसमारम्भ–पुं० ६ त० ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारस्य कर्मणः उपादानहेतौ उपार्जनोपाये, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । पशुघातमांसभक्षणसुरापानतिलोञ्छनादिके सावद्यानुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

कम्मसह–कर्मसह–त्रि० कर्मविपाकसहिष्णौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कम्मसाला–कर्मशाला–स्त्री० कुम्भकारघट्टशाम, यत्र कुम्भकारो घटादिभाजनानि करोतीति वृ० २ उ० ।

कम्मसिद्ध–कर्मसिद्ध–पुं० ३ त० कर्मशब्दोक्ते "कम्मं जमणायरिउं" इत्युक्तलक्षणे कर्मणि निष्ठां गते, आ० म० द्वि० ।

सम्प्रति कर्मसिद्धं सोदाहरणमभिधित्सुराह ।

जो सव्वकम्मकुसलो, जो वा जत्थ सुपरिनिट्ठिओ होइ ।
सज्झगिरिसिद्धगो विव, स कम्मसिद्धो त्ति विन्नेओ ॥

यः कश्चित् सर्वकर्मकुशलो यो वा यत्र कर्मणि सुपरिनिष्ठितो भवत्येव कस्मिन्नपि कर्मणि सह्यगिरिसिद्धक इव स कर्मसिद्ध इति विज्ञेयः । कर्मसिद्धो ज्ञातव्य इत्यर्थः । एष गाथाक्षरार्थः । भावार्थः कथानकादवसेयः तच्चेदं " कोंकणे एगम्मि दुग्गेसज्झस्स नमं ओरुहंति विलयंति यत्ताणं वि विसमे गुरुभारवाहि त्ति काऊण रणा समाणत्तं एएसिं मए वि पंथो दायव्वो न उण एएहिं कस्स वि । इतो य एगो सिंधवतो पुराणो सो पडिभज्जंतो चिंतेइ तेहिं जामि जहिं कम्मेण एस जीवो जज्जइ सुहं न विंदए सो तेसिं मिलितो । सो गंतुकामो रयणिपज्जवसाणे भणइ कुड्डुरुकपभिवोहियल्लओ । सिद्धओ भणइ सिद्धियं देहि मम जह सिद्धयं सिद्धया गया । सज्ञ यं " अत्र कुड्डुरुकः कुर्कुटः सह्यकं सह्यपर्वतं" सो य तेसिं महत्तुरत्तो सव्वकं भारं वहइ। अन्नया साहू तेण मग्गेण आगच्छंति तेण तेसिं साहूणं मग्गो छिन्नो । वेरुद्धा राउले गया रायाणं वन्नवेंति । अम्हं राया वि मग्गं देइ भारेण दुक्खाविज्जंताणं एस पुण समणस्स रित्तस्स मग्गं देइ । रण्णा भणियं अरे दुट्ठ ! ते कहं मम आणा लुंपिया । तेण भणियं देव ! तुमे गुरुभारवाहि त्ति काऊण मे य माणत्तं रणा आमंति पभिसुणंतेण भणियं जइ एवं ता सो गुरुतरवाहा कहं जं सो अवासमंतो अट्ठारससीलंगसहस्सनिब्भरं भारं वहति जाम एवं वोढुं न पारिओ एत्थंतरा धम्मकहा तेण कहिया ते महारायाय बुज्झंति नाम त्तारा ते च्चिय बुज्झंति वासमंतेहिं सीअभरो वोढव्वो जावज्जीवं अवीसामो राया पभिबुद्धो सो य संवेगतो पुणरवि पव्वज्जाए अब्भुट्ठितो एसो कम्मसिद्धो" ॥ आ० म० द्वि० । आ० चू० ॥

कम्महय–कर्महत–त्रि० कर्मभग्ने, व्य० ६ उ० ॥

कम्माजीव–कर्माजीव–पुं० कर्म कृष्याद्यनाचार्यकं वा सूत्रादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिग्राहके आजीवनामकैषणादोषदुष्टे, स्था० ७ ठा.

कम्माणुबंधच्छेयग–कर्मानुबन्धच्छेदक–त्रि० कर्मसत्ताव्यवच्छेदके, पंचा० १५ विव० ।

कम्मादान–कर्मादान–न० कर्माणि ज्ञानावरणादीनि आदीयन्ते यैस्तानि कर्मादानानि । अथवा कर्माणि च तान्यादानानि च कर्महेतव इति विग्रहः भ० ८ श० ५ उ० । कर्मोपादानहेतुषु, उत्त० ११ अ० । भ० । "जे इमे समणोवासगा भवंति तेसिं णो कप्पंति इमाई पण्णरस कम्मादाणाइं सयं करेत्तए वा० इंगालकम्मे " इत्यादि । भ० ८ श० ५ उ० । कर्मादानानीत्यत्र सावद्यजीवनोपायात्मावेऽपि तेषामुत्कटज्ञानावरणीयादिकर्महेतुत्वादादानानि कर्मादानानि ज्ञातव्यानि । आव० ६ अ० । (उपभोगः परिभोगवय शब्दे विवृतः) कर्मणां ज्ञानावरणादीनामादानम् । बन्धस्थानहेतौ, अन्त० ७ वर्ग० । तथा भगवत्यां श्राद्धानां पञ्चदशकर्मादाननिषेधे प्रोक्ते तत्सेवनं कल्पते नवेति प्रश्नेऽत्रोत्तरं श्राद्धानां पञ्चदशकर्मादाननिषेध आधुनिको ज्ञेयो ऽपवादपदे तु परिहाराशक्तौ शकटालादीनामिव तानि कल्पन्तेऽपीति १०४ प्रश्न १ उल्ला० ।

कम्मायंक–कर्मातङ्क–पुं० क्लिष्टकर्मणि, पं० सू० ।

कम्मायण–कर्मायतन–न० कर्मणां ज्ञानावरणादीनामायतनम् । बन्धस्थानहेतौ, अन्त० ७ वर्ग० ॥

कम्मा (रिय) यरिय–कर्मार्य–पुं० दौष्यिकसौत्रिकादौ कर्मणार्ये, प्रज्ञा० १ पद. (आयरिय शब्दे दर्शितोऽस्य भेदः)

कम्मार–कर्मकार–पुं० जगणपुञ्जादयनेतरि, जं० ३ वक्ष० । लौहादिकर्मकरे, जी० ३ प्रति० २ उ० ।

कर्म्मार–पुं० कर्म ऋच्छति ऋ-अण्-वंशभेदे, कर्मरङ्गवृक्षे च राजनि० । कर्मप्रसारि, त्रि० स्वार्थे कन् तत्रैव वाच० । अयस्कारे

" कम्मार इयादायालोए संकासल्लोहाणं " विशे० । लोहकारे, नि० चू० १ उ० । (सिद्धिः कम्मासरीरकायप्पओगशब्दे)

कम्मारगाम–कर्मारग्राम–पुं० ज्ञातखण्डोद्यानसमीपे स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र भगवान् वीरः ज्ञातखण्डात् प्रस्थितः आ०चू० १ अ० । आ० म० द्वि ।

कम्मारदारय–कर्मारदारक–पुं० लोहकारदारके, जी० ३ प्रति० ।

कम्मारभिक्खुय–कर्मकारभिक्षुक–पुं० देवद्रोणीवाहकभिक्षुविशेषे, वृ० ३ उ० ।

कम्मासरीरकायप्पओग–कार्मणशरीरकायप्रयोग–पुं० कायप्रयोगभेदे, कार्मणशरीरकायप्रयोगे विग्रहे, समुद्घातगतस्य च केवलिनस्तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु भवति उक्तं च " कार्मणशरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च " भ० ८ श० १ उ० । (अत्र मूलपुस्तके कम्मासरीरकायप्पओगेत्युक्तमितीहापि तथैवोक्तं वस्तुतस्तु कम्म (ण) यसरीरेति यकारप्रकरणे पर्वोपयुज्यते यद्वा आर्षत्वाद्यकारलोपः दीर्घे कम्मासरीरेति । अथवा कगचजेत्यादिना यकारलोपे उभयोरकारयोर्दीर्घे कम्मासरीरेति)

कम्मि (ण्) कर्मिन्–त्रि० कर्मास्त्यस्यार्थे व्रीह्यादित्वादिन् व्यापारयुक्ते, स्त्रियां ङीप् वाच० । सावद्यानुष्ठानवति, कर्मवति पापिनि, सूत्र० १ श्रु० ए अ० सपापे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

कम्मिंदिय–कर्मेन्द्रिय–न० कर्मणां वचनादीनां निमित्तमिन्द्रियम् । वचनादिकर्मकरेषु वागादिषु, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः । वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्" वाच०[एषामिन्द्रियत्वनिराकरणमिंदिय शब्दे वक्ष्यते]

कम्मिया–कर्मिता–स्त्री० कर्म वियते यस्याऽसौ कर्मी तद्भावस्तत्ता । कर्मवत्त्वे, भ० १ श० १ उ० ।

कार्मिका–अन्ये त्वाहुः कर्मणां विकारः कार्मिका । अक्षीणे कर्मशेषे, " कम्मियाए संगियाए देवा देवलोगेसु उववज्जंति " अक्षीणेन कर्मशेषेण देवत्वावाप्तिरित्यर्थः । भ० १ श० १ उ० ।

कम्मुम्मीसग–कर्मोन्मिश्रक–न० कार्मणेन शरीरेणोन्मिश्रके व्यासे । अवश्यसंयुक्ते, ।

चत्तारि सरीरगकम्मुम्मीसगा पन्नत्ता तंजहा ओरालिए वेउव्विए आहारए तेयए ॥

(कम्ममीसगत्ति) कार्मणेन शरीरेणोन्मिश्रकाणि न केवलानि यथौदारिकादीनि त्रीणि वैक्रियादिभिरमिश्रकाण्यपि भवन्ति नैवं कार्मणेनेति शरीराणि कार्मणेनोन्मिश्राणीत्युक्तम् । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

कम्मुरलदुग–कर्मौदारिकद्विक– न० कार्मणे औदारिकद्विके, औदारिकलक्षणे च । पं० सं० ।

कम्मोदय–कर्मोदय–पुं कर्मणामुदयः । कर्मणामुदितत्वे, भ० ए श० ३२ उ० ।

कम्मोदयपच्चयज्झाण–कर्मोदयप्रत्ययध्यान–न० कर्मणामुदयः प्रत्ययो हेतुर्यस्य ध्यानस्य तत्कर्मोदयप्रत्ययध्यानम् । कर्मोदयप्रत्ययेन वा ध्यानं कर्मोदयप्रत्ययध्यानम् । प्रथमं शुभपरिणामवतोऽपि पश्चात्कुतश्चित्कर्मोदयतोऽशुभपरिणामत्वे, यथा पर्यन्तकाले इभ्यस्य आतु० ६ प० ।

कम्मोपा (वा) हिविणिम्मुक–कर्मोपाधिविनिर्मुक्त–त्रि० कर्मसामीप्यादिकानामन्यद्रव्याणां कुतश्चित् सङ्गतानामुपाधिः सादृश्यं तेन विनिर्मुक्तो रहितः कर्मोपाधिविनिर्मुक्तः । सिद्धे, द्र० २१ पत्र. । (पर्यायार्थिकनयस्य पञ्चमभेदस्वरूपे विवृतिः)

कम्मोवग–कर्मोपग–पुं० कर्म ज्ञानावरणादि पुद्गलरूपमुपगच्छति बन्धनद्वारेणोपयातीति कर्मोपगः भ० १४ श० ६ उ० । आयुःकर्मबद्धे, कर्मढौकिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० । " तत्थेगइया कम्मोवगा कम्मणियाणेणं तत्थवुक्कमा रुक्खजोणिएसु रुक्खत्ताए विउट्टंति " (सूत्र०) तथाविधेन वनस्पतिकायसम्भवेन कर्मणा प्रेर्यमाणास्तेष्वेव वनस्पतिषु उप सामीप्येन तस्यामेव च पृथिव्यां गच्छन्तीति कर्मोपगा भवन्ते (सूत्र०) ते हि कर्मवशगा वनस्पतिकायादागत्य तेष्वेव पुनरपि वनस्पतिषु उत्पद्यन्ते न चान्यत्रोत्ता अन्यत्र भविष्यन्तीति । उक्तं च " कुसुमपुरोप्ते बीजे, मथुरायां नाङ्कुरः समुद्भवति । यत्रैव तस्य बीजं, तत्रैवोत्पद्यते प्रसवः " सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

कम्मोवसंति–कर्मोपशान्ति–स्त्री० अशेषद्वन्द्वात्मकसंसारतद्बीजभूतानां कर्मणामुपशमे, आचा० १ श्रु० २ अ० ।

कम्मोवहि–कर्मोपधि–पुं० उपधीयते पोष्यते जीवोऽनेनेत्युपधिः कर्म एवोपधिः कर्मोपधिः । उपधिभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या उवहिशब्दे)

कम्हलय–करमलज–त्रि० पापोत्पन्ने, अष्ट० १ अ० ।

कम्हा–कस्मात्–किम–ङस्–ङसेर्म्हा ८ । ३ । ६६ । इति ङसेर्म्हा इत्यादेशः । कुत इत्यर्थे, प्रा० ।

कम्हार–कश्मीर–पुं० "आत् कश्मीरे" ८।१।१००। कश्मीरशब्दे इकारस्य आत् भवति प्रा० । " कश्मीरेम्भो वा ८।२।६०।इति संयुक्तस्य म्भो वा । कम्भारो कम्हारो प्रा० । नवमे ऋषभदेवपुत्रे, तदधिष्ठितदेशभेदे च. कल्प० ।

कय–कच–पुं० कच–अच्०केशे, तं० । बृहस्पतिपुत्रे, शुष्कवणे, मेघे, शब्दमा० । हस्तिन्याम्, स्त्री०मेदनी० भावे घ० बन्धे, शोभायां च । वाच० ।

कृत–त्रि० कृ–कर्मणि–क्तः ऋतोऽत् ८ । १ । १२६ । इति ऋतोऽत्वम् प्रा० । विहिते, "कयकोउयमंगलपच्छित्ता" विपा० १ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । आचा० । निर्वर्तिते, अभ्यस्ते, आव० ४ अ० । निष्पादिते, संथा० । " अज्झगयसुकयवयरवेइया " रा० । आतु० । "कयाहाराओ" कृतोऽभ्यवहृत आहारो यकाभिस्तास्तथा । औ० । अर्जिते, आतु० । उत्पन्ने, आ० म० द्वि० । अर्थे, प्रयोजने "अत्थकए" अर्थकृते अर्थार्थम् दश० ए अ० । सूत्र० अनुष्ठिते, स० । आचरिते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

क्रय–पुं० क्री भावे० अच्–क्रयणं क्रयः । लाभार्थमल्पमूल्येन बहुल्पवस्तुग्रहणे, आतु० । (कीयकयशब्दे क्रयेण वस्त्रपात्राद्युपभोगो निषेत्स्यते)

कयंजलि–कृताञ्जलि–पुं० कृतोऽञ्जलिरिव पत्रसङ्कोचो येन । लज्जालुवृक्षे, सम्पुटीकृतहस्ते, त्रि० धरणि. वाच० । " कयंजली सयंबुद्धं सरणमुपगतो " आ० म० प्र० । "कयंजलिउमा" कृताञ्जलिपुटाः आ० म० प्र० ।

कयंगला–कृतङ्गला–स्त्री० श्रावस्तीनगरीसमीपवर्तिन्यां, नगर्याम्, "तीसे णं कयंगलाए नयरीए अदूरसामंते सावत्थी णामं नयरी होत्था" भ० २ श० १ उ० । आ० म० द्वि० ।

कयंत–कृतान्त–पुं० कृतः अन्तो विपर्ययनाशो निश्चयो विषयप–

रिच्छेदो वा येन । सिद्धान्ते, वाच० । "नियमाद्दिव्यज्ञानमुत्पद्यते इति जवतां कृतान्तः" अने० । कृतं निष्पादितं यद्यपि कार्य्यमन्तं नयतीति व्युत्पत्त्या कृतघ्ने, यमे, तत्तुल्यप्रदेशे, " कयंतस्स सोढुअइ तिक्खरोसो अहिगं वा" बृ० १ उ० । पापे, प्राग्जवजन्ये दैवे अमरः । शनौ, लक्षितलक्षणया त्रित्वसंख्यायां च वाच० ।

कयंब--कदम्ब--पुं० समूहे, कल्प० । वृक्षविशेषे, रा० । प्रज्ञा० । "घणपत्तलच्छाया बहुलफुल्लइ जाम्बुकयंबु" प्रा० । शत्रुञ्जये पर्वते च. ती० १ कल्प० ।

कयकज्ज--कृतकार्य्य--त्रि० विहितसमस्तवसतिप्रमार्जनादिव्यापारे, नि० चू० २० उ० ।

कयकरण--कृतकरण--त्रि. अज्यस्तक्रिये, पं० व० ४ द्वा० । प्रकरणानुरोधात् धनुर्वेदकृताज्यासे सहस्रयोधिनि, बृ० १ उ० । बहुशो विहितचौरानुष्ठाने, "कयकरणअद्धलक्खा०" प्रश्न. आश्र. ३ द्वा० षष्ठाष्टमादिभिर्विविधतपोविधानैः परिकर्मितशरीरे,

कयकरणा इयरे वा, सावेक्खो खलु तहेव निरवेक्खो ।
निरवेक्खो जिणमादी, सावेक्खो आयरियमादी ॥

कृतकरणा नाम षष्ठाष्टमादिभिर्विविधतपोविधानैः परिकर्मितशरीरा इतरे अकृतकरणाः षष्ठाष्टमादिभिस्तपोविशेषैरपरिकर्मितशरीराः । तत्र ये कृतकरणास्ते द्विविधास्तद्यथा सापेक्षाः खलु तथैव निरपेक्षाः । सह अपेक्षा गच्छस्येति गम्यते येषां ते सापेक्षा गच्छवासिनः । निर्गताः अपेक्षा येज्यस्ते निरपेक्षास्ते त्रिविधा जिनादयः तद्यथा जिनकल्पिकाः शुद्धपरिहारिका यथालन्दकल्पिकाश्च एते नियमात्कृतकरणा अकृतकारणानामन्यतमस्यापि कल्पस्य प्रतिपत्त्ययोगात् । सापेक्षा अपि त्रिविधा आचार्यादयस्तद्यथा आचार्या उपाध्याया जिक्षवश्च । एते प्रत्येकं द्विधास्तद्यथा भवन्ति तद्यथा आचार्याः कृतकरणा अकृतकरणाश्च । उपाध्याया अपि कृतकरणा अकृतकरणाश्च भिक्षवोऽपि कृतकरणा अकृतकरणाश्च । तत्र कृतकरणानां चिन्त्यमानत्वादस्यां गाथायामेते कृतकरणा ग्राह्याः ।

अथ किंस्वरूपाः कृतकरणा इति कृतकरणस्वरूपमाह ।

छट्ठट्ठमाइएहिं, कयकरणा ते उभेँ य परियाए ।
अहिगयकयकरणत्तं, जो गायतगारिहा केई ॥

कृतकरणा नाम ये षष्ठाष्टमादिभिस्तपोविशेषैरुजयपर्याया श्रामण्यपर्याया दीक्षापर्याया चेत्यर्थः । परिकर्मितशरीरास्ते ज्ञातव्यास्तल्लक्षणा इतरे सामर्थ्यादकृतकरणाः । अत्रैव मतान्तरमाह "अहिगयत्त्यादि" केचिदाचार्या ये अधिगतास्ते नियमात् कृतकरणा इत्यधिगतानां कृतकरणत्वमिच्छन्ति कस्मादिति चेदत आह । " जोगायतगारिहा इति " निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनमिति वृद्धवैयाकरणप्रवादात् हेतावत्र प्रथमा ततोऽयमर्थः यतस्तैर्महाकल्पश्रुतादीनामायतका योगा उद्घृढास्तत आयतकयोगार्हा अतस्तिनि नियमतोऽधिगताः कृतकरणा इति तदेवं कृता पुरुषभेदमार्गणा व्य० १ उ० । अन्यं प्रायश्चित्तं परिच्छित्त शब्दे) नि० चू० । "गीयत्था कयकरणा, पोढा परिणामिया य गंभीरा" कृतकरणा अनेकवारमालोचनायां सहायभवनात् व्य० ४ उ० ।

कयकरणिज्ज--कृतकरणीय--त्रि० कार्य्याणि कृतवति, कृतकरणा नाम गीतार्थतया परिणामकतया चान्यदाऽपि अन्यैः सहानकसहस्राणि कार्य्याणि कृतवन्तः । यद्यपि च कदाचित् द्वितीयः सहायो न कृतवान् तथापि योग्यतया स कृतकरणीय इव द्रष्टव्यः । व्य० ४ उ० ।

कयकिच्च--कृतकृत्य--त्रि० निष्ठितार्थे, षो० ९ विव० ।

कयकिरिय--कृतक्रिय--त्रि० कृता शोभना गृहकरणादिक्रिया येन स कृतक्रियः । सुकृतगृहकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । आचा० । कृता स्वज्यस्ता क्रिया संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः । संयते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

कयकोउयमंगलपायच्छित्त--कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्त--त्रि० कृतं कौतुकं मषीपुण्ड्रादि मङ्गलं दध्यक्षतचन्दनादि एते च प्रायश्चित्तं दुःस्वप्नादिप्रतिघातत्वेनावश्यकार्य्यत्वाद्येन स तथा । कौतुकमङ्गलरूपप्रातः कृत्यं कृतवति, उपा० ७ अ० । " कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुरूपा भ० २ श० ५ उ० । कल्प० । तं० । विपा० ।

कयग--कतक--पुं० कस्य जलस्य तको हासो यस्मात्, वृक्षभेदे, राजनि० । तस्य फलम्-अण् । तस्य लुक् तत्फले, नपुं० "जलप्रसादि कतकस्तत्फलं कतकं स्मृतम्" भावप्र० वाच० । कतकोवृक्षस्तत्फलं कतकम् आव० ३ अ० ।

कृतक--त्रि० कृतं करणं भावे क्तः । तत आगतः कन् । कृतमेव स्वार्थे कः कृन्तति स्वरूपं कृत कन् वा कृत्रिमे, करणाज्जाते, विमलवणे, न० अमरः । वाच० । एतावत्कालं त्वद्दास इत्यज्युपगमिते दासभेदे, पुं० "तं पडिविक्किणइ तत्तो कयगा जणंति" आ० म० प्र० । भयगभत्तं वा बलभत्तं वा कयगभत्तं वा नि० चू० ए उ० । सुवर्णे, ज्ञा० १ अ० ।

कयग्गह--कचग्रह--पुं० मैथुनप्रथमसंरम्भे, रभसवशान्मुखचुम्बनाद्यर्थं युवत्याः पञ्चाङ्गुलिभिः केशेषु ग्रहणे, आ० म० प्र० । जीवा० । " कयग्गहगहियकरयलपब्भट्ठविमुक्केणं" इह मैथुनसमारम्भे युवतेः केशेषु ग्रहणं स कचग्रहस्तेन गृहीतम् । तथा करतलात् विमुक्तं सत् प्रभ्रष्टं करतलप्रभ्रष्टविमुक्तम् प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः रा० ३६ प० । कचानां ग्रहो यत्र । केशाकर्षणेन धर्षणे, वाच० ।

कयग्घ--कृतघ्न--त्रि० कृतं हन्ति हन्-टक् । कृतोपकारस्यापकारके, वाच० । कृतं वस्त्राभरणपात्रादि प्रदत्तं घ्नन्ति सर्वथा नाशयन्तीत्येवंशीलाः कृतघ्नाः । स्त्रीषु, तं० ।

कयज्ज--कदर्य्य--पुं० यो जृत्यात्मपीडाज्यामर्थं सञ्चिनोति न तु कचिद् व्ययति तस्मिन्, ध० १ अधि० ।

कयण्णु (न्नू)--कृतज्ञ--त्रि० स्वल्पमपि उपकारमैहिकं पारत्रिकं च परकृतं जानाति न निह्नुते इति कृतज्ञः प्रव० २४ द्वा० । परोपकाराविस्मारके एकोनविंशश्रावकगुणविशिष्टे श्रावके, ध० र० । दर्श० । कृतघ्नो हि सर्वत्राप्यमन्दां निंदां समासादयतीति अकृतघ्नस्य गुणवत्त्वम् । प्रव० २४ द्वा० ॥

सांप्रतमेकोनविंशस्य कृतज्ञतागुणस्यावसरस्तत्र परेण कृतमुपकारमविस्मृत्या जानातीति कृतज्ञः । प्रतीत एष ततस्तं फलद्वारेण व्याचष्टे ।

बहु मन्नइ धम्मगुरुं,
परमुवयारि त्ति तत्तबुद्धीए ।
तत्तो गुणो ण बुद्धी,
गुणारिहो तेणिह कयन्नू ॥ २९ ॥

बहु मन्यते सगौरवं पश्यति धर्मगुरुं धर्मदातारमाचार्यादिकं परमोपकारी ममायमुक्तोऽहमनेनाकारणवत्सलेनातिघोरसंसारकूपकुहरे निपतन्नित्येवंप्रकारतया तत्त्वबुद्ध्या परमार्थसारमत्वा स हि भावयत्येवं परमागमवाक्यम् । "तिराहं दुप्पडियारं समणाउसो तंजहा अम्मापिऊणं १ भट्टिस्स २ धम्मायरियस्स य ३ तत्थ सयंपाओ वि य णं केइ पुरिसे अम्मापियरं सयपागसहस्सपागेहिं तिल्लेहिं अब्भंगित्ता सुरहिणा गंधोदृएणं उव्वट्टित्ता तेहिं उदगेहिं मज्जावित्ता सव्वालंकारविभूसियं करित्ता मणुन्नं थालीपागसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोयणं भोयावित्ता जाव जीवं पिट्ठिवडिंसियाए परिवहिज्जा तेणा वि तस्स अम्मापिउस्स दुप्पडियारं हवइ । अह णं से तं अम्मापियरं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवित्ता ठावित्ता भवइ । तेणामेव अम्मापिउस्स सुपडियारं भवइ १ समणाउसो! केइ महच्चे दरिद्दं समुक्कसिज्जा तए णं से दरिद्दे समुक्किट्ठे समाणे पच्छा पुरं च णं विपुलभइसमन्नागए यावि विहरिज्जा तए णं से महच्चए अन्नया कयाइ दरिद्दी हूए समाणे तस्स दरिद्दस्स अंतियं हव्वमागच्छिज्जा । तए णं से दरिद्दे तस्स भट्टिस्स सव्वस्समवि दलइज्जा तेण वि तस्स दुप्पडियारं हवइ । अह णं से तं भट्टिं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवित्ता ठावइत्ता भवति । तए णं से तस्स भट्टिस्स सुपडियारं भवइ ।२। केइ तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियं एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सुच्चा निसम्म कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने । तए णं से देवे तं धम्मायरियं दुब्भिक्खाओ वा देसाओ सुभिक्खं देसं साहरिज्जा कंताराओ वा निक्कंतारं दीहकालिएण वा रोगायंकेण अभिभूयं विमोइज्जा । तेण वि तस्स धम्मायरियस्स दुप्पडियारं हवइ । अह णं से तं धम्मायरियं केवलिपन्नत्ते धम्मे आघवइत्ता पन्नवइत्ता परूवित्ता ठवित्ता भवइ । तए णं तस्स धम्मायरियस्स सुप्पडियारं हवइ त्ति । वाचकमुख्येनाप्युक्तम् " दुष्प्रतिकारौ माता-पितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन् । तत्र गुरुरिहामुत्र च, सुदुष्करतरः प्रतीकारः " इति । ततस्तस्मात्कृतज्ञताभावजनितगुरुबहुमानात् गुणानां क्षान्त्यादीनां ज्ञानादीनां वा वृद्धिर्भवतीति गम्यते । गुणार्हो गुणप्रतिपत्तियोग्यत्वेन कारणेनेह धर्माधिकारविचारे कृतज्ञ उक्तश्चार्थो धवलराजतनूजविमलकुमारवत् । तच्चरितं पुनरिदम् ।

पुरमत्थि वद्धमाणं, सुवद्धमाणं सिरीहि पउराहिं ।
बहुविहमहल्लकल्लाण, कारणं वद्धमाणं व ॥१॥
रमसवसनमिरनिवनियह, जसलसेविज्जमाणकमकमलो ।
रज्जनरधरणधवलो, धवलो नामेण तत्थ निवो । २ ।
सयर्य सुहासिणी सुम-णसंगया किं तु अइसयकुलीणा ।
देवी इव देवीकमल-सुंदरी नाम तस्सत्थि । ३ ।
नीसेसकलाकुसलो, सरुव्वसरलो विमुक्ककलिमलो ।
ताणं तणओ विमलो,कयन्नुया हंसवरकमलो । ४ ।
किर सामदेवसिट्ठिस्स, नंदणो बहुलियाइ कुलभवणं ।
जाओ य वामदेवु त्ति, तस्स मित्तं महामइणो । ५ ।
कइया वि कीलणकए, अन्नन्नं कीलियव्व नेहेण ।
कीलानंदणनामे, उज्जाणे दो वि ते पत्ता । ६ ।
तत्थ नरमिहुणपयपं-तिमुत्तमं वालुयागयं दट्ठुं ।
लक्खणलक्खणनिउणमई, मित्तं पइ जंपए विमलो । ७ ।
जाण इमा पयपंती, चक्कंकुसकमलकलसकयसोहा ।
दीसइ खेयरसामीहिं, तेहिं वरमित्तनवियत्तं । ८ ।
तयणु घणकोउगेणं, पुरओ गंतुं लयागिहस्संते ।
आसीणं तं मिहुणं, नियंति ते परमसुंदेरं । ९ ।
इत्तो य दुवे पुरिसा, कवियकरवालभीसणकरग्गा ।
हण हण हणत्ति भणिए, दयागिहस्सुवरि संपत्ता । १० ।
एगेण ताण वुत्तं, रे रे निल्लज्ज होसु तं पुरिसो ।
सुमरेसु इट्ठदेवं, कुणसु सुदिट्ठं व जियलोयं । ११ ।
तं सुणिय पुरिसगुरुको-वपसरमिस्समिसंतअहरदलो ।
वल्लिगियमज्झिमनरो, विणिग्गओ खग्गवग्गकरो । १२ ।
तो मुक्कहयहुअंमि, खमक्कसंभंतखेयरीविंदं ।
जायं तेसिं गयणं, गणम्मि अइदारुणं जुज्झं । १३ ।
जो पुण वीओ पुरिसो, लयागिहं सो पविट्ठुमहिलसइ ।
तत्तो मिहुणनरित्थी, जयकंपंता विणिक्खंता । १४ ।
दट्ठुं च जणइ विमलं, पुरिसुत्तम ! रक्ख रक्ख मं जीयं ।
सो आह हो सुनहे, वीसत्था नत्थि तुज्झ भयं । १५ ।
इत्तो तग्गहणत्थं, पत्तो सो खेयरो गयणमग्गे ।
विमलगुणानुहवणट्ठे-वयाइ अह थंभिओ सहसा । १६ ।
सो वि य जुज्झंतनरो, विजिओ मिहुणनरेण य पहाणो ।
तप्पुट्ठीए लग्गो, जियकासी मिहुणगो सो वि । १७ ।
भंगियनरेण दिट्ठो, संजाया तयणु तस्स गमणिच्छा ।
तं नाउं देवीए, झमित्ति उत्तंभिओ सो उ । १८ ।
लग्गो य तेसि पिट्ठे, त्तिविह्नि पत्ता अदंसणपहम्मि ।
अह वाला रुयइ हहा, मं मुत्तुं नाह ! कत्थ गओ । १९ ।
इत्थंतरम्मि जयअच्छि, परिगओ आगओ मिहुणपुरिसो ।
जाया य हट्ठतुट्ठा, सा वाला अमयसित्त व्व ॥ २० ॥
सो नमिय भणइ विमलं, तं चिय बंधू तुमेय मह मित्तं ।
जं एसा मज्झ पिया, हीरंती रक्खिया धीर ! ॥ २१ ॥
विमलो वि भणेइ अहं, कयन्नु सिररयणसंभमेण इहं ।
किं तु इमं वुत्तंतं, कहेसु एसो वि इय भणइ ॥ २२ ॥
अत्थिह वेयड्ढगिरिं-दसंठिए रयणसंचए नयरे ।
राया मणिरहनामो, कणयसिहा भारिया तस्स ॥ २३ ॥
ताणं च अत्थि पुत्तो, विणयपरो रयणसेहरो नाम ।
धूया उ दुन्नि पवरा, रयणसिहा मणिसिहा य तहा ॥२४॥
रयणसिहा ससिणेहं, परिणीया मेहनायखयरेणं ।
तेसिं च अहं पुत्तो, नामेणं रयणचूडु त्ति ॥ २५ ॥
अमियप्पहखयरेणं, परिणीया मणिसिहा उ तेसिं पि ।
संजाया दुन्नि सुया, अचलो चवलो य पवलवला । २६ ।
तह रयणसेहरस्स वि, रइकंता नामियाइ दइयाए ।
जाया एसा किर चूय-मंजरी वल्लहा धूया । २७ ।
सव्वेहि वि बालत्ते, सह पंसुक्कीलिएहिं अम्हेहिं ।
गहिया उ नियकुलक्कम-समागयाओ य विज्जाओ । २८ ।
चंदणविहाणनियमित्त-सिद्धपुत्तस्स संगमवसेण ।
जाओ मह माउलओ, अच्चंतं जइणधम्मरओ । २९ ।
तेणं महालएणं, जणणी जणओ य मज्झ अहयं च ।
कहिऊणं जिणधम्मं, गिहिधम्मधुरंधरा विहिया । ३० ।
निद्दिट्ठो हं अह चं-दणेण पासित्तु लक्खणं किं पि ।
विज्जा चक्की होही, एसो खलु दारगो अइरा । ३१ ।
तो विमलो मित्तेणं, वुत्तो संवयइ तुज्झ तं वयणं ।
सो भणइ न मे वयणं, किं तु इमं आगमुद्दिट्ठं ।३२।

पुण भणइ रयणचूडो, तुट्ठेणं भाउलेण मम दिन्ना ।
तो चूयमंजरी परि-णिया मए सा इमा भद्द!।३३।
तत्तो य अचलचवला, कुविया न य मं चयंति परिहविउं ।
भुवणग्गिहमग्गण-पच्चमया भिममंति दिणे । ३४ ।
छलघायजाणणत्थं, फुडवयणो नियचरो पउत्तो मे ।
सो अन्नदिणे सहसा, आगंतु मम इय कहित्था । ३५ ।
जइ देव दोस सिद्धा, काली विज्जा तहत्थि इय मंतो ।
जुज्झिज्झिहि इ सदेगो, बीओ पुण तुह पियं हरिही । ३६ ।
को बंधवेहिं सरिसं, जुज्झिस्सइ चिंतिऊण एवमहं ।
आवितेसि निग्गहखमो, इत्थ निद्दोणुम्हिहयगेहे ।३७ ।
ते दो वि मए जिणिया, न य हणिया भायरु त्ति काऊण ।
इत्तो य परं तुम्ह वि, पायं सव्वं पि पच्चक्खं ।३८।
नाधारं तेण इमं, मह जीयं धारियं तए अहवा ।
सयला वि धरा धरिया, जस्सुवयारे मई एवं ।३९ ।
उक्तं च 'दो पुरिसे धरिउ धरा,अहवा दोहिं पि धारिया धरणी ।
उवयारे जस्स मई,उवयरिउं जो न संफुसइ ।४० ।
तो दिज्जउ आएसो, तुज्झ पियं किं करेउ एस जणो ।
अह दंतकंतिधवलिय-धरवलओ जंपए विमलो ।४१ ।
भो रयणचूड चूडा-मणी तुमासि कत्थु लोयम्मि ।
सव्वं पि तए विहियं, पयडं तेणं नियरहस्सं ।४२ ।

यतः । वचःसहस्रेण सतां न सुन्दरं,
हिरण्यकोट्यापि न वा निरीक्षितम् ।
अवाप्यते सज्जनलोकचेतसा,
न कोटिशैकैरपि भावमीक्षितम् । ४३ ।

तो सप्पणयं भणियं, खयरेणं कुमर ! मज्झ पासिऊण ।
गिण्हसु इमं सुरयणं, चिंतामणिरयणसारिच्छं ४४ ।
जंपइ धवलंगरुहो, दिन्नं तु मए य गहियमिणं ।
अत्थउ तुहेव पासे, मुच्चउ अइसंभमं भद्द ! । ४५ ।
अह अइनिरीहभावं, नाऊण तस्स विमलजायस्स ।
तच्चेलअंचले तं, रयणं बंधइ रयणचूडं ।४६ ।
पुट्ठो य वामदेवो, अंबापिउनामभाइयं सव्वं ।
कुमरस्स संतियं कह-इ सहरिसो खेयरवरस्स । ४७ ।
तं सुणिय विमलचरियं, अच्छरियकरविंचिंतए खयरो ।
पणिउवगरामि अहयं, जिणबिंबं दंसिय इमस्स। ४८ ।
तो भणियं खयरेणं,कुमारवर ! अत्थि काणणे इत्थ ।
मम मायामइकारिय-माइजिणिंदस्स चेइहरं ॥ ४९ ॥
तं मम काउ पसायं, कुमरवरो दट्ठ अरिहए इण्हिं ।
एवंति भणिय सव्वे, जिणभवणाभिमुहमह चलिया ॥ ५० ॥
थंभसयसंनिविट्ठं, बहुविहदुमसंगयं च उज्जाणं ।
नहु (ह) सुरसरिअहरादि व, मणोहरं पच्छागारिं ॥ ५१ ॥
अइउच्चएहिं कंचण-धयदंडेहिं च दंतुरं व सया ।
उवरिं विरायमाणं, चामीयरविमलकलसेणं ॥५२॥
कत्थइ पल्लवियं पिव, रोमं च एवं च अच्चियं व कहिं ।
संवम्मियं व कत्थ वि, कत्थ वि लित्तं च किरणेहिं ॥ ५३ ॥
नाणट्ठाणे वियरिय-हरिचंदणवासगेहिं कयसोहं ।
सुसिलिट्ठसंधिभावा, इक्कसिलाइव्वनिम्मवियं ॥ ५४ ॥
बहुसालभंजियाहिं, विसिट्ठचिट्ठाहिं सोहमाणाहिं ।
धरअच्छराहि सययं, अहिट्ठियं मेरुसिहरं व ॥ ५५ ॥
एवंविहजिणभवणं, पत्ता दिट्ठा य रिसहनाहस्स ।
पडिमा अपमिमरूवा, नमिया हिट्ठेहिं तेहि तओ ॥५६॥

तं अइसयरमणीयं, बिंबं लरुफुरियदुरियगिरिसंवं ।
अणमिसनयणजुएहिं, पिच्छेउं धवलनिवतणओ ॥५७॥
परिसरूवं बिंबं, पुव्वं पि मए कहिं चि दिट्ठं ति ।
चिंतंतो मुच्छाए, पडिओ धरणीयले सहसा ॥ ५८ ॥
अह पवणपयासेणं, पच्चागयचेयणो पुणो कुमरो ।
अइआयरेण पुट्ठो, खयरेणं किं तुए यंति ॥५९॥
सो रयणचूडचरणे, नवहरणे पणमिउं धवलपुत्तो ।
हरिसभरनिब्भरंगो, एवं थुणिउं समाढत्तो ॥६०॥
तुं माया तुं च पिया, तुं भाया तुं सुहं तुमं देवो ।
तुं परमप्पा जीअं, पि मज्झ तुं चेव खयरवर ! ॥६१॥
जेण इमं सुरनरसु-क्खकारणं दुरियतिमिररविबिंबं ।
बिंबं जुगाइदेवस्स, दंसियं मह तए सामि ॥६२॥
एयं दंसंतेणं, तुमए मह दंसिओ सुगइमग्गो ।
छिन्नं च दुक्खजालं, विणिम्मियं परमसोजन्नं ॥६३॥
खयरो वि भणेइ अहं, परमत्थं इत्थ किं पि न हु जाणे ।
विमलो वि आह सामिय, संजायं जाइसरणं मे ॥६४॥
पुव्वभवेसु वि बहुसो, जिणबिंबे वंदिए मए नाह ।
संमत्तनाणदंसण-चरणं परिपालियं सुद्धं ॥६५॥
मित्तीपमोयकरुणा-मज्झत्थगुणेहिं भाविओ अप्पा ।
इच्चाइ मए सरियं, जाईसरणेण सव्वं पि ॥६६॥
तं मज्झ कयं तुमए, जं परमगुरू कुणंति भो भद्द ! ।
इय जंपंतो कुमरो, पमिओ खयरिंदचलणेसु ॥६७॥
अलमित्थ संभमेणं, तिट्ठतु उट्ठाविउं च निवतणयं ।
साहंमियं ति वंदितु, सहरिसयं जंपए खयरो ॥६८॥
भो भो नरिंदनंदण ! संपन्नं मह समीहियं सव्वं ।
जं एवं तुह भत्ती, जिणनाहे निच्चला जाया ॥६९॥
ठाणे य एस हरिसो, पयडुक्करिसो कुमार ! तुह जम्हा ।
मुत्तं दुहाविमुत्तिं, नन्नत्थ रमंति सप्पुरिसा ॥७०॥

उक्तं च " अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते,
कामे सक्तिं दधति विभवाभोगतुङ्गार्जने वा ।
विद्वच्चित्तं भवति हि महामोक्षसौख्यैकतानं,
नाल्पस्कन्धे विटपिनि कषत्यंशभित्ति गजेन्द्रः ॥ ७१ ॥
किंच नियभावसरिसं, फलमिह भिच्छंति पाणिणो पायं ।
सुणओ कवलेण हरी, न वसइ करिकुंभदलणेण ॥७२॥
उत्तालकरो नच्चइ, वीहिदलं पप्प मूसओ अहियं ।
भुंजइ करी अवन्ना-इ भोयणं नियइदिन्नं पि ॥ ७३ ॥
पुव्विं तुमं सुरयणे, पत्ते मज्झत्थ भावमल्लीणो ।
न हु लक्खिओ मए तुह, हरिसवियारो मणागं पि ॥ ७४ ॥
अहुणा तं पुण जाओ, हरिसभरुब्भिज्जमाणरोमंचो ।
जिणपवयणस्स लाहे, पुरिसुत्तम ! साहु साहु असि ॥७५॥
परमित्थ जगेनेयं, गुरुत्तमारोवणीययं कुमर ! ।
जं बुद्धो सि सयं चिय, निमित्तमित्तं जणो एसो ॥ ७६ ॥
लोयंतियदेवेहिं, सहसंबुद्धा जिणेसरा जइ वि ।
बोहिज्जंति तहा वि, तेसिं न हु हुंति ते गुरुणो ॥ ७७ ॥
तह चेव इमो वि जणो, जाणिज्जउ तो भणेइ निवतणओ ।
संबुद्धाण जिणाणं, हेऊ वि न हुंति ते देवा ॥ ७८ ॥
तं पुण मज्झं सिरिरिस-हनाहपडिमाइदंसणवसेणं ।
सद्धम्मलंभणेणं, फुडं गुरू होसि जं भणियं ॥ ७९ ॥
जो जेण सुद्धधम्ममि, नाविओ संजएण गिहिणा वा ।
सो चेव तस्स जायइ, धम्मगुरू धम्मदाणाओ ॥ ८० ॥

उचियं च सुपुरिसाणं, काउं विणयाइयं सुहगुरुम्मि।
साहम्मियमित्तस्स वि, भणियं किर वंदणाईयं ॥ ८१ ॥
खयरो जंपइ नेयं, वुत्तुं अरिहेइ नरवरंगरुहो।
जं गुणपगरिसरूवो, तं चिय सव्वेसि होसि गुरू ॥ ८२ ॥
भणइ कुमारो गुणगण-घमियाण कयं तु याणसु नराणं।
एयं चिय इह लिंगे, जं गुरुणो पूयणं निच्चं ॥ ८३ ॥
स महप्पा सो धन्नो, स कयन्नू सो कुलुब्भवो धीरो।
सो भुवणवंदणिज्जो, सो तवसी पंडिओ सो उ ॥ ८४ ॥
दासत्तं पेसत्तं-सेवगभावं च किंकरत्तं च।
अणवरयं कुव्वंतो, जो सुगुरूणं न लज्जेइ ॥ ८५ ॥
निच्छियमणवयणतणू, सुकयत्था गुणगुरुण सुगुरूण।
जे निरुवचियणसंघुणण-विणयकरणुज्जुया सययं ॥ ८६ ॥
समत्तदायगाणं, दुप्पडियारं भवेसु बहुएसु।
सव्वगुणमेलियाहि वि, उवयारसहस्सकोडीहिं ॥ ८७ ॥
भो सुपुरिस ! बुद्धो हं, तुज्झ पसाएण गिण्हिहं दिक्खं।
किं तु मह तायपमुहा, बहवे इह बंधवा संति ॥ ८८ ॥
जइ तेसिं पडिबोहो, जायइ तो हं भवामि कयकिच्चो।
ता उवइस सुगुरुं मे, अह हिट्ठो भणइ खयरिंदो ॥ ८९ ॥
अत्थि बुहनामसूरी, जलभरभरियंबुवाहसमघोसो।
जइ एइ कह वि सो इह, तो पडिबोहिज्ज तुह बंधू ॥ ९० ॥
कुमरेण तओ भणियं, सो दिट्ठो कत्थ ते महाभाग !।
सो आह इहुज्जाणे, जिणभवणासन्नभागे ॥ ९१ ॥
जं अट्ठ अट्ठमीए, सपरियणेणागएण मे इत्थ।
पविसंतेणं जिणमं-दिरम्मि दिट्ठं सुमुणिविंदं ॥ ९२ ॥
तस्स य मज्झे एगो, साहू मसिअसियलाकसिणदेहो।
पिंगलसिरचिहुरभरो, सेलु व्व जलंतदवजलणो ॥ ९३ ॥
आखु व्व लहुयकन्नो, वुट्ठबिरालु व्व पिंगनयणजुओ।
पवग व्व चिविडनासो, मिय व्व अइदीहकंठुट्ठो ॥ ९४ ॥
लंबोयरो य थूलो-यरो य उव्वेगजणगरूवधरो।
धम्मं वागरमाणो, दिट्ठो महुमहुरसद्देणं ॥ ९५ ॥
तं असरिसगुणजुत्तं, दट्ठुं मे चिंतियं इमं हियए।
जह एयस्स भगवओ, गुणाणुरूवं न रूवं ति । ९६ ।
तो पविसिय जिणभवणं, जिणपडिमं ण्हाविय पूइऊणं च।
खणमित्तेणं साहु-ण वंदणत्थं विणिक्खंतो । ९७ ।
ता सो चेव वरमुणी, उवविट्ठो विमलकणयकमलम्मि।
रइमुक्क व्व अणंगो, ससहर इव रोहिणीरहिओ । ९८ ।
भासुरसुवन्नवन्नो, तणुप्पहा पडलहणियतमपसरो।
अलिउलकज्जलकेसो, सुसिलिट्ठपलंबसवणजुगो । ९९ ।
नीलुप्पलदलनयणो, अइउन्नयसरलनासियावंसो।
कंबुविरुयविक्खंतो, नवपल्लवअरुणअहरुट्ठो । १०० ।
केसरिकिसोरउयरो, विसालवच्छयलजणियकणयसिरी।
सुरकिंनरपरियरिओ, दिट्ठो दिट्ठीइ सुहहेऊ ॥ १०१ ॥
तो चिंतियमिमए कह, एस खणेणं अणेरिसो जाओ।
अहवा चंदणगुरुणा, कहिया से विविहलद्धीओ ॥ १०२ ॥

तथाहि ।

आमोसहि १ विप्पोसहि २ खेलोसहि ३ जल्लओसही चेव ४
सव्वोसहि ५ संभिन्ने, ६ ओहि ७ रिउ ८ विउलमइलद्धी ९ ।१०३।
चारण १० आसीविस ११ के-
वली य १२ मणनाणिणो य १३ पुव्वधरा १४ ।
अरहंत १५ चक्कवट्टी, १६ बलदेवा १७ वासुदेवा य १८ ।१०४।
खीरमहुसप्पिआसव, १९ कोट्ठयबुद्धी २० पयाणुसारी य २१।
तह बीयबुद्धि २२ तेयग, २३ आहारग २४ सीयलेसा य २५ ।१०५।
वेउव्वी देहलद्धी, २६ अक्खीणमहाणसी २७ पुलाया य २८
परिणामतववसेणं, एमाई हुंति लद्धीओ ॥ १०६ ॥
संफरिसणमामोसो, मुत्तपुरिसाण विप्पुसो वावि।
अन्ने विडत्ति विट्ठं, भासंति पइति पासवणं ॥ १०७ ॥
एए अन्नेवि बहू, जेसिं सव्वे वि सुरहिणो वयवा।
रोगोवसमसमत्था, ते हुंति तओसहिप्पत्ता ॥ १०८ ॥
जो सुणइ सव्वओ सुण-इ सव्वविसए य सव्वसोएहिं।
सुणइ बहु एव सद्दे, भिन्ने संभिन्नसोओ सो ॥ १०९ ॥
रिउसामन्नं समन्न-गाहिणी रिउमई मणोनाणं।
पायं विसेसयविमुहं, घडमित्तं चिंतियं मुणइ ॥ ११० ॥
विउलं वत्थुविसेसण-नाणं तग्गाहिणी मई विउला,
चिंतयमणुसरइ घडं, पसंगओ पज्जवसएहिं ॥ १११ ॥
अइसयचरणसमत्था, जंघाविज्जाहिं चारणमुणीओ।
जंघाहिं जाइ पढमो, निस्संकाउं रविकरे वि ॥ ११२ ॥
एगुप्पाएण गओ, रुयगवरम्मि तो पडिनियतो।
बीएण नंदिसरमेइ, इइं तइयएण पुणो उट्ठं ॥ ११३ ॥
पढमेण पंडगवणं, बीउप्पाएण नंदणं एइ।
तइउप्पाएण तओ, इह जंघाचारणो एइ ॥ ११४ ॥
पढमेण माणसुत्तर, नगंसु नंदीसरं तु बीएणं।
एइ तओ तइएणं, कयचेइयवंदणो इहयं ॥ ११५ ॥
पढमेण नंदणवणे, बीउप्पाएण पंडगवणम्मि।
एइ इहं तइएणं, जो विज्जाचारणो होइ ॥ ११६ ॥
आसीदाढा तग्गय-महाविसा सीविसा भवे दुविहा।
ते कम्मजाइभेएण, अणेगहा चउविहविगप्पा ॥ ११७ ॥
खीरमहुसप्पिसाओ, वमाणवयणा तया सवा हुंति।
कुट्ठयधन्नसुनिग्गल-सुत्तत्था कुट्ठबुद्धी य ॥ ११८ ॥
जो सुत्तपएण बहुं, सुयमणुधावइ पयाणुसारी सो।
जो अत्थपएणत्थं, अणुसरइ स बीयबुद्धी उ ॥ ११९ ॥
समओ जहन्नमंतर-मुक्कोसेणं तु जाव छम्मासा।
आहारसरीराणं, उक्कोसेणं नव सहस्सा ॥ १२० ॥
चत्तारि य वारा उ, चउदसपुव्वी करेइ आहारं।
संसारम्मि वसंतो, एगभवे दुन्निवाराओ ॥ १२१ ॥
तित्थयररिद्धिसंद-सणत्थ (१) मत्थोवगहणहेउं वा (२)
संसयवुच्छेयत्थं,(३) गमणं (४) जिणपायमूलम्मि ॥१२२॥
रसमणी १ मवगयवेयं,
२ परिहार ३ पुला य ४ मप्पमत्तं च ५ ।
चउद्दसपुव्वि ६ आहा-रगं च ७ न कयाइ संहरइ ॥१२३॥
वेउव्वियलद्धीए, अणु व्व सुहमा खणेण जायंति।
कंचणगिरि व्व गुरुणो, लहुदेहा अक्कतूलं व ॥१२४॥
एगओ पडकोडीओ, पकुणंति घडा उ घडसहस्साइं।
चिंतयमित्तं रूवं, कुणंति भणिएण किं बहुणा ॥ १२५ ॥
अंतमुहुत्तं नरए, हुंति चत्तारि तिरियमणुएसु।
देवेसु अद्धमासो, उक्कोसविउव्वणा कालो ॥ १२६ ॥
अक्खीणमहाणसिया, भिक्खं जेणाणियं पुणो तेण।
परिभुत्तं चिय खिज्जइ, बहुएहिं वि न उण अन्नेहिं ॥ १२७ ॥
भवसिद्धियपुरिसाणं, एया उ हवंति भणियलद्धीओ।
भवसिद्धियमहिलाण वि, जत्ति य जायंति तं वुच्छं ॥ १२८ ॥
अरिहंत १ चक्कि २ केसव, बल ४ संभिन्ना य ५ चारण ६ पुव्वा ।७।

गणहरदपुलायएआहा-रगं च१०न हु भवियमहिलाणं ॥१२७॥
अभवियपुरिसाणं पुण, दसपुव्विल्लाउ केवलित्तं च ।
उज्जुमइविउलमई, तेरस एया य न हु हुंति ॥ १३० ॥
अभवियमहिलाणं पि हु, एया न हु हुंति भणियलद्धीओ ।
महुखीरासवलद्धी, वि नेव सेसा उ अविरुद्धा ॥ १३१ ॥
ता नूणं वेउव्विय-लद्धिपभावेण निम्मियं पहुणा ।
पुव्विं विरूवरूवं, इमस्स साहाविथं तु इमं ॥१३२ ॥
तो विम्हिएण गुरुणो, मुणिणो य मए निवंदिया सव्वे ।
दिन्नो य तेहिं कयसिव-सुहलाभो धम्मलाभो मे ॥ १३३ ॥
गुणिणा य सुहारसवारि-ससुंदरा देसणा खणं तेसिं ।
पुट्ठो य मुणी एगो, किं नामा एस मुणिनाहो ॥१३४॥
भणियं च तेण मुणिणा, अम्ह गुरू एस भुवणविक्खाओ ।
बुहनामा लद्धिनिही, विहरइ अणिययविहारेण ॥१३५ ॥
तं सुणिय अहं हिट्ठो, नमिउं गुरुणो गओ सठाणम्मि ।
परउवयारिक्कगुरू, गुरू वि अन्नत्थ विहरित्था ॥ १३६ ॥
तेण भणेमि अहं तो, बुहसूरी जइ य एइ इह कह वि ।
तो तुज्झ बंधवग्गं, सुहेण धम्मं पि बोहिज्ज ॥ १३७ ॥
जं मह परिवारस्स य, धम्मे विन्नत्थ मे वि तइया वि ।
थिहियं विरूवविरूवं, तेणं परिहियकयमणेणं ॥ १३८ ॥
विमलो भणेइ सुपुरिस, ! अब्भत्थिय इत्थ सो समणसीहो ।
तुम इविय आणेओ, एयं ति पवज्जए खयरो ॥१३९॥
तो अंसुपुन्नवयणो, कुमरं आपुच्छिउं रयणचूडो ।
संपत्तो सट्ठाणं, सुमरंतो विमलगुणनिवहं ॥१४० ॥
कुमरो वि जिणं थुणिउं, निग्गंतूणं जिणिंदभवणाओ ।
पभणेइ मित्त ! एयं, रयणं इत्थोवगोवेहि ॥ १४१ ॥
गुरुए कहिं वि कज्जे, उवजुज्जिहिइ इमं महारयणं ।
गेहे नीयं एमेव, जाइ ही पुण अणायरओ ॥ १४२ ॥
जं आणवेइ कुमरासि, भणियं तत्थेव गुविलदेसम्मि ।
सो गोवइ तं रयणं, अह पत्ता दो वि सगिहेसु ॥ १४३ ॥
लद्धलीवसओ पविसिय, बुद्धी चिंतेइ सामदेवसुओ ।
वंचित्तु विमलकुमरं, हरेमि गंतुं तयं रयणं ॥ १४४ ॥
अगणियकुमरुवयारे, अणियतइया वि चेव सो पावो ।
जत्थ निहित्थं चिट्ठइ, रयणं पत्तो तमुद्देसं ॥ १४५ ॥
तत्तो उक्खणिउं तं, तत्थ बलं वत्थ वेढउं खविउं ।
अन्नत्थ निहियरयणं, गिहपत्तो चिंतइ निसाए ॥ १४६ ॥
न हु साहु मए विहियं, जं रयणं नाणियं तयं गेहे ।
गिरिहहिइ को वि अन्नो, केण वि दिट्ठं धुवं होही ॥१४७॥
इच्चाइ वागजालं, परिचिंततस्स तस्स पावस्स ।
वारिगयस्स गयस्स व, न मणागवि आगया निद्दा ॥१४८॥
उट्ठित्तु सो पभाए, तुरियं तुरियं गओ तहिं ठाणे ।
जागिरिहिस्सइ रयणं, ता कुमरो तग्गिहे पत्तो ॥१४९॥
उज्जाणगयं सुणिउं, च वामदेवं लहुं कुमारो वि ।
पत्तो तहिं नि दिट्ठो, आगच्छंतो य इयरेण ॥१५०॥
तो आइसंभतेणं, तेणं विस्सरियरयणठाणेणं ।
भीएण सुन्नहियएण, गिरिहउं उवलक्खडंतं ॥१५१॥
खिवियं कडिवट्टीए, पुट्ठो विमलेण कीस संभंतो ।
दीससि वयंसु तुह विरह-भावओ सो वि पच्चाह ॥१५२॥
तं संखिउ कुमारो, पत्तो जिणमंदिरे समं तेणं ।
मज्झम्मि गओ विमलो, ठिओ य वालो बहिं तहिं देसे १५३
नाओ कुमरेण अह-ति संकिरो भीयमाणसो भणियं ।
नट्ठो नट्ठविवेगो, तओ पएसा उ सिट्ठसुओ ॥ १५४ ॥
दवदवपएहिं तिहिं धा-सरेहिं अडवीसजोयणे गंतुं ।
जा छोडइ मणिगंठिं, ता पिच्छइ उवलसकलं सो ॥१५५॥
हा हा हओ हओ म्हि, त्ति मुच्छिओ निवडिओ धरणिपिट्ठे ।
पच्चागयचेयओ, विविहपलावे करेसी य ॥१५६॥
तत्थुज्जु वि गंतूणं, गहेमि तं रयणमियविंचितेउं ।
चलिओ सदेसभिमुहं, मुहुं मुहुं मणसि झूरंतो ॥ १५७ ॥
इत्तो य नमियदेवं, जिणभवणाओ विणिग्गहो कुमरो ।
मित्तमपासित्तु तओ, गवेसए काणणाईसु ॥ १५८ ॥
सव्वत्थ वि अनियंतो, चउद्दिसिं पेसए निए पुरिसे ।
सो पत्तो एगेहिं, उवणीओ कुमरपासम्मि ॥१५९॥
अद्धासणे निवेसिय, पुट्ठो कुमरेण कहसु मे मित्त ।
जं अणुभूयं तुमए, सुहदुक्खं तो वि इय आह ॥ १६० ।
तइया जिणनमणत्थं, चेइगिहं तो गओ नमुं कुमरो ।
जिणभवणदारदेसे, अह यं पुण जाव चिट्ठामि ॥१६१॥
ताव सहस त्ति पत्ता, एगा खयरी य कड्डियकिवाणा ।
सरीरसाए तीए, गयणे उप्पाडिओ य अहं ॥१६२॥
नीओ य दूरदेसे, इत्तो अन्ना वि आगया खयरी ।
सा मह रूवविमूढा, उद्दालेउं समाढत्ता ॥१६३॥
ताणं जुज्झंतीणं, पडिओ हं महीयले तओ नट्ठो ।
पत्तो य तुह नरेहिं, निवनंदण तं च मिलिओ सि ॥ १६४ ॥
तेण निदंसियससिणे-हवयणरयणाइरंजिओ कुमरो ।
पभणइ सुइरं जायं, जं दिट्ठीए तुमं दिट्ठो ॥१६५॥
इत्थंतरम्मि वामो, अक्कंतो इव महामहिधरेणं ।
दलिओ विव वज्जेणं, पडिओ वेयणसमुग्धाए ॥१६६॥तथाहि-
उप्पन्ना सिरवियणा, णलंति अंगाइ पचलियदसणा ।
संजायमुयरसूलं, भग्गंतारायणं सहसा ॥१६७॥
तो आदन्नो विमलो, गुरुओ हा हा रओ समुच्छलिओ ।
पत्तो धवलनरिंदो, किं किं ति जणो बहू मिलिओ ॥१६८॥
आहूयावरविज्जा, तेहिं पउत्ता उ विविहकिरियाओ ।
न य जाओ को वि गुणो, सरियं विमलेण अह रयणं ॥१६९॥
तं सव्वरोगहरणं, ति तत्थ गंतूण पिच्छए जाव ।
तमदट्ठुं च विसन्नो, मित्तसमीवं पुणो पत्तो ॥ १७० ॥
अह एगा वुड्ढित्थी, वियंभिया मोडियं नियं अंगं ।
उव्विल्लियं भुयजुयं, केसा विद्दुमुक्कलीहूया ॥१७१॥
मुक्का सिक्काररवा, अइविगरालं पयासियं रूवं ।
भीओ जणो य पुच्छइ, हे भयवइ ! कहसु का वि तुमं ॥१७२॥
सा आह अहं वणदे-वय म्हि एसो मए कओ एवं ।
जं इमिणा पावेणं, सरलो वि पवंचिओ विमलो ॥१७३॥
इयरइयमालजालं, तं रयणं विणिहियं अमुगदेसे ।
ता चूरिस्सं सज्जण-जणवामं वामदेवं ति ॥१७४॥
तो विमलेणं देविं, अब्भत्थिय मोइओ निययमित्तो ।
सो धिद्धिक्कारहओ, जाओ बहुओ तणाओ वि ॥ १७५ ॥
तह वि हु विमलकुमारो, गंभीरिमविजियअंतिमसमुद्दो ।
पुव्वं पि व तं पिच्छइ, न हु दंसइ कत्थइ वियारं ॥१७६॥
अन्नदिणम्मि समित्तो, कुमरो पत्तो जिणिंदभवणम्मि ।
पूइत्तु रिसहनाहं, एवं थुणिउं समाढत्तो ॥१७७॥
सिरिरिसहनाह ! तुह पय-नहकंतीओ जयंतु तिजयस्स
जंती उवज्जपिंजर, भावं भावारिजीयस्स ॥ १७८ ॥

तुह कमकमलं विमलं, दट्ठुं दूराउ देवपइदिवसं ।
धन्ना कलिमलमुक्का, रायमरालु व्व धावंति ॥१७९॥
असरिसभवदुहदंदो-लिपीलियाणं जियाण जइ नाह ! ।
तं चिय इक्को सरणं, सीयत्ताणं च दिणनाहो ॥१८०॥
तिहुयणपहुअमयं पिव, सम्मं तुह पवयणे परिणयम्मि ।
अजरामरभावं खलु, लहंति लहु लहुयकम्माणो ॥१८१॥
देव वरनाणदंसण, दुहावि तुह दंसणेण देहीणं ।
नीरेण चीवराण व, खणेण खयमेइ मालिन्नं ॥ १८२ ॥
तुह समरणेण सामिय, किलिट्ठकम्मो वि सिज्झए जीवो ।
किं न हु जायइ कणगं, लोहं पि रसस्स फरिसेणं ॥१८३॥
पहु ! तुह गुणथुणणेणं, विसुद्धचित्ताण भवियसत्ताणं ।
घणनीरेण व जंबू-फलाइं विगलं ति पावाइं ॥ १८४ ॥
दंसणपवणे नयणे, भालं भालं हवेइ तुह नमणे ।
ता पच्चक्खीभावं, लहु मइत्ति जई स वियरेसु ॥ १८५ ॥
इय संथुओ सि देविंद-विंदवंदियजुगाइजिणचंद ! ।
मह देसु निप्पकंपं, भवे भवे नियपए भत्तिं ॥ १८६ ॥
एवं जा धवलनरिंद-नंदणो थुणियपढमजिणचंदं ।
चंदु व्व विमललेसो- पंचंगं कुणइ पणिवायं ॥१८७॥
ता तव्वेलं पत्तो, बहुखयरपरिगओ रयणचूडो ।
तं सुणिय विमलविहियं, थयं पहिट्ठो भणइ एवं ॥ १८८ ॥
भो साहु साहु सुपुरिस, ! निच्छिन्नो ते भवोयही एस ।
जस्सेरिसी जिणिंदे, भत्ती विप्फुरइ अकलंका ॥ १८९ ॥
तत्तो नमिउं देवं, परुप्परं वंदणाइयं काउं ।
मणिपीढियइच्चाहिं, हिट्ठा ते दोन्नि उवविट्ठा ॥ १९० ॥
अह पुच्छियतणुकुसलं, खयरिंदो भणइ भो महाभाग ! ।
जं मह कालविलंबो, जाओ हेउं सुणसु तत्थ ॥ १९१ ॥
तइया तुम्ह सयासा, पत्तो सपुरम्मि पणमिया पियरो ।
अभिनंदिओ य तेहिं, हरिसंसुयपुन्ननयणेहिं ॥ १९२ ॥
अक्कंते तम्मि दिणे, मह सयणगयस्स सरियजिणगुरुणो ।
निद्दागया निसाए य, दच्चओ भावओ न उण ॥१९३॥
भो भुवणेसरभत्तय, ! उट्ठसु एवं सुणंतओ वयणं ।
पुरओ नियमि पुरओ, रोहिणिपमुहा उ विज्जाओ ॥ १९४ ॥
तुह धीरधम्मथिरभाव-रंजिया पुन्नपेरिया अम्हे ।
सिद्धाउ त्ति भणित्ता, मह अंगे अणुपविट्ठा उ ॥ १९५॥
तो सयलखेयरेहिं, विहिओ मे खयर चक्किअभिसेओ ।
बोलीणा के वि दिणा, नवरज्जं संठवंतस्स ॥ १९६ ! ॥
सुमरिय तुह आएसं, परिनामिओ जरिमंडलेसु अहं ।
दिट्ठो एगत्थ मए, बुड्ढसुरी सूरिसीसजुओ ॥ १९७ ॥
कहिओ तुह वुत्तंतो, सयलो वि हु तस्स समणसीहस्स ।
तुम्हाणगुणगइट्ठा, अहरा इह सो पहू एहि ॥ १९८ ॥
इय कारणाउ अह यं, कालविलंबेण कुमर ! इह पत्तो ।
इय जा कहेइ खयरो, ता पत्तो तत्थ सो भयवं ॥ १९९ ॥
उज्जाणपालएहिं, तुरियं बद्धाविओ धवलराओ ।
विमलखयराइसहिओ, पत्तो गुरुचरणनमणत्थं ॥ २०० ॥
तिपयाहिणीकरेउ, सपरियणो पणमिऊण गुरुपाए ।
भत्तिनरपुलइअंगो, उवविट्ठो उचियदेसम्मि ॥ २०१ ॥
अथ राजा गुरो रूपं, भुवनानन्ददायकम् ।
साक्षान्निरीक्ष्य निर्व्याजं, व्याजहार सविस्मयः ॥ २०२ ॥
भगवन्नीदृशे रूपे, राज्यभारोचितेऽपि हि ।
कुतो वैराग्यता पूज्यै-र्जैगृहे दुष्करं व्रतम् ॥ २०३ ॥

अवबुध्य ततस्तेषां, प्रतिबोधं विशेषतः ।
वाचस्पतिमतिर्वाच-मुवाचेति यतिप्रभुः ॥ २०४ ॥
राजन् ! राजकराकार-जैनमन्दिरसुन्दरम् ।
प्रभूतवृत्तवृत्तान्तं, पुरमस्ति धरातलम् ॥ २०५ ॥
राजा शुभविपाकाख्य-स्तत्र शत्रुवनानलः ।
सदा नभोगा देवीव, सद्देवीनिजसाधुता ॥ २०६ ॥
क्रमात्तयोः समुद्भूतः, सद्भूतगुणमन्दिरम् ।
केतकीपत्रपावित्र-चरित्रस्तनयो बुधः ॥ २०७ ॥
शुभाभिप्रायनृपस्य, पुत्रिकां धिषणाभिधाम् ।
गृहे स्वयंवरायाता-मुपायंस्त स यौवने ॥ २०८ ॥
तथाऽशुभविपाकोऽस्ति, भ्राता तस्यैव नृपतेः ।
भार्या परिणतिस्तस्य, तथा मन्दाह्वयः सुतः ॥ २०९ ॥
अन्योऽन्यदृढसौहार्दौ, बुधमन्दौ महामुदा ।
एकदा निजकक्षेत्रे, परिक्रीडितुमीयतुः ॥ २१० ॥
तस्यान्ते ददृशे ताभ्यां, विशालो भालपर्वतः ।
रोलम्बनीलकेशालि-वनराजिविराजितः ॥ २११ ॥
अधस्ताद्भालशैलस्य, वरापवरकद्वया ।
ददृशेऽन्तःस्फुरत्कान्ता, नासिकानामिका गुहा ॥ २१२ ॥
तद्गुहाश्रयिणा घ्राणा-भिधेन शिशुना समम् ।
शिष्या भुजंगतानाम्न्या, मन्दो मैत्रीं मुदाऽकरोत् ॥ २१३ ॥
दध्यौ बुधस्तु शुद्धात्मा, सतामन्यस्त्रिया सह ।
आलापोऽपि न युक्तः स्या-न्मित्रनायास्तु का कथा ॥ २१४ ॥
तस्मै भुजंगता ह्येषा, हेया घ्राणस्त्वसौ ध्रुवम् ।
स्वक्षेत्रादिगुहामध्य-वास्तव्योऽर्हति पालनम् ॥ २१५ ॥
एवं ध्यात्वा बुधः कृत्वा, घ्राणेन सह मैत्रिकाम् ।
ताभ्यामपि मन्दस्तु, स्वस्वसद्म समीयतुः ॥ २१६ ॥
अथो भुजंगता दोषात्, सुगन्धाघ्राणलम्पटः ।
अमन्दमन्दधीर्मन्दो, प्राप दुःखं पदे पदे ॥ २१७ ॥
इतश्च यौवनारूढो, विचारो बुधदारकः ।
कथंचिन्निरगाद्गेहा-द्देशदर्शनकाम्यया ॥ २१८ ॥
बहिरङ्गान्तरङ्गेषु, भूरिदेशेषु भूरिशः ।
सभूरिकौतुको भ्रान्त्वा, तदागान्निजमन्दिरे ॥ २१९ ॥
अथ तस्मिन् समायाते, मुदितौ धिषणाबुधौ ।
संतुष्टं राजकं सर्वं, भृशमानन्दितं पुरम् ॥ २२० ॥
वृत्ते महाविमर्देन, ततश्चागमनोत्सवे ।
साह्लादि मैत्रिका तेन, घ्राणेन बुधमन्दयोः ॥ २२१ ॥
ततः पितरमेकान्ते, विचारः प्रोचिवानिति ।
तात घ्राणेन ते मैत्री, न भव्या शृणु कारणम् ॥ २२२ ॥
तदहं तातमम्बां चा-नापृच्छ्य निरगां गृहात् ।
देशान् दिदृक्षुरभ्राम्यं, तात ! देशेषु भूरिषु ॥ २२३ ॥
अन्यदा भवचक्राख्ये, संप्राप्तोऽहं महापुरे ।
तत्र राज्यपथेऽपश्य-मेकां प्रवरसुन्दरीम् ॥२२४॥
तां दृष्ट्वा तात जातोऽहं, प्रमोदपुलकाङ्कितः ।
चित्तमार्द्रीभवेद् दृष्टे, ह्यविज्ञातेऽपि सज्जने ॥ २२५ ॥
सोऽपि मां वीक्ष्य संजज्ञे, क्षिप्ते च सुखसागरे ।
सिक्ते वाऽमृतसेकेन, प्राप्तराज्येव हर्षभाक् ॥ २२६ ॥
ततः कृतप्रणामोऽहं, प्रोक्तो दत्ताशिषा तया ।
कस्त्वं वत्स ! मयाऽप्युक्तं, धिषणाबुधनूरहम् ॥ २२७ ॥
अपृष्ट्वाऽपितरौ मात-र्देशकालिकया गतः ।
अथो सा मां परिष्वज्य, प्रोचे हर्षाश्रुपूर्णदृक् ॥ २२८ ॥

धन्याऽस्मि कृतकृत्याऽस्मि, यद् दृष्टस्त्वं मयाऽनघ ! ।
त्वं न जानासि मां वत्स ! शिशुर्मुक्तोऽसि यत्तदा ॥ २२९ ॥
अहं हि बुधराजस्य, सर्वकार्येषु संमता ।
धिषणाया वयस्याऽस्मि, नाम्ना मार्गानुसारिता ॥ २३० ॥
अतो मे भागिनेयस्त्वं, सुन्दरं कृतवानसि ।
यद्देशदर्शनाकाङ्क्षी, नगरेऽत्र समागमः ॥ २३१ ॥
येनेदं नगरं दृष्टं, भूरिवृत्तान्तसंयुतम् ।
तेन वत्सेक्षितं सर्व्वं, भुवनं सचराचरम् ॥ २३२ ॥
मयोक्तमम्ब ! यद्येवं, तन्मे संदर्शयाधुना ।
पुरमेतत्तथैवाम्बा, मम सर्वमदीदृशत् ॥ २३३ ॥
अथैकत्र मया दृष्टं, पुरं तत्र महागिरिः ।
तच्छिखरेऽतीव रम्यं, निविष्टमपरं पुरम् ॥ २३४ ॥
मयोक्तमम्ब ! किं नाम, पुरमेतदथान्तरम् ।
किंनामायं गिरिः किंच, शिखरे दृश्यते पुरम् ॥ २३५ ॥
अम्बा जगाद वत्सेदं, पुरं सात्त्विकमानसम् ।
विवेकोऽयं गिरिः शृङ्ग-मप्रमत्तत्वमित्यदः ॥ २३६ ॥
इदं तु भुवनख्यातं, वत्स ! जैनं महापुरम् ।
तव विज्ञातसारस्य, कथं प्रच्छन्नतां गतम् ॥ २३७ ॥
यावत्सा कथयत्येवं, तात ! मह्यं स्फुटाक्षरम् ।
तावज्जातोऽपरस्तत्र, वृत्तान्तः श्रूयतां स तु ॥ २३८ ॥
गाढं प्रहारनिर्भिन्नो, नीयमानः सुविह्वलः ।
पुरुषैर्वेष्टितो व्योम्नि, मयैको राजदारकः ॥ २३९ ॥
मयोक्तं दारकः कोऽयं, किं वा गाढप्रहारितः ।
कुत्र वा नीयते लग्नः, के चामी परिवारकाः ॥ २४० ॥
अम्बिका स्माह हे वत्स, ! विद्यतेऽत्र महागिरौ ।
राजा चारित्रधर्म्माख्यो, यतिधर्म्मो च तत्सुतः ॥ २४१ ॥
तस्यायं संयमो नाम, पुरुषः प्रौढपौरुषः ।
एकाकी च क्वचिद् दृष्टो, महामोहादिशत्रुभिः ॥ २४२ ॥
बहुत्वादथ शत्रूणां, प्रहारैर्जर्जरीकृतः ।
अथ निस्सारितो वत्स, ! रणभूमेः पदातिभिः ॥ २४३ ॥
प्रक्षिप्य डोलिकायां च, नीयतेऽसौ स्वमन्दिरे ।
अस्य चात्र पुरे जैने, सर्व्वे तिष्ठन्ति बान्धवाः ॥ २४४ ॥
ततोऽहं कौतुकाक्षिप्त-स्तात ! मात्रा समं क्षणात् ।
तेषामनुसमारूढो, विवेकगिरिमस्तके ॥ २४५ ॥
अथ तत्र पुरे जैने, राजमण्डलमध्यगः ।
दृष्टश्चित्तसमाधाने, मण्डपे स महानृपः ॥२४६॥
सत्यशौचतपस्त्याग-ब्रह्माकिंचनतादयः ।
अन्येऽपि मण्डलाधीशा, अम्बया दर्शिता मम ॥ २४७ ॥
इतश्च तैर्नरैस्तूर्णं, समानीतः स संयमः ।
दर्शितोऽस्य नरेन्द्रस्य, वृत्तान्तश्च निवेदितः ॥ २४८ ॥
तद्धेतुकस्ततस्तात, ! मोहचारित्रभूभुजोः ।
तदा महाहवो जज्ञे, विश्वस्यापि भयंकरः ॥ २४९ ॥
रणाच्चारित्रभूपालः, सबलो बलशालिना ।
जिग्ये मोहनरेन्द्रेण, नंष्ट्वा स्वस्थानमाश्रयत् ॥ २५० ॥
ततः परिणतं राज्यं, महामोहमहीपतेः ।
चारित्रधर्मराजस्तु, निरुद्धो व्यन्तरे स्थितः ॥२५१॥
मार्गानुसारिताऽवादीद्, दृष्टं वत्स ! कुतूहलम् ।
स्पष्टं दृष्टं मयाऽप्युक्त-मम्बिकायाः प्रसादतः ॥ २५२ ॥
केवलं कलहस्यास्य, मूलमम्ब ! परिस्फुटम् ।
अहं विज्ञातुमिच्छामि, प्रोचेऽम्बा शृणु पुत्रक ! ॥ २५३ ॥

रागकेशरिराजस्य, मन्त्री प्रोत्साहसाहसः ।
त्रैलोक्यमपि विषया-भिलाष इति विश्रुतः ॥ २५४ ॥
अनेन मन्त्रिणा पूर्वं, विश्वसाधनहेतवे ।
मानुषाणि प्रयुक्तानि, पञ्चात्मीयानि सर्वतः ॥ २५५ ॥
स्पर्शनं रसना घ्राणं, दृक् श्रोत्रमिति नामतः ।
जगत्त्रयप्रवीणानि, विश्वाद्वैतबलानि च ॥ २५६ ॥
क्वापि तान्यभिभूतानि, संतोषेण पुरा किल ।
चारित्रधर्मराजस्य, मन्त्रपालेन लीलया ॥२५७॥
तन्निमित्तः समस्तोऽयं, जातोऽमीषां परस्परम् ।
कलहो वत्स ! साटोप-मन्तरङ्गमहीभुजाम् ॥ २५८ ॥
मयाऽवाच्यथ पूर्णं मे, देशदर्शनकौतुकम् ।
साम्प्रतं तातपादानां, समीपे गन्तुमुत्सुकः ॥२५९॥
मात्रोक्तं गम्यतां वत्स, ! निरूप्य जनचेष्टितम् ।
अहमप्यागमिष्यामि, तत्रैव तव संनिधौ ॥ २६० ॥
ततोऽहमागमं क्षिप्रं, निश्चित्येदं प्रयोजनम् ।
ततस्तातामुना मैत्री, घ्राणेन न तवोचिता ॥२६१ ॥
यावन्निवेदयत्येवं, विचारो निजबीजिने ।
मार्गानुसारिता ताव-दागाद्धवलभूपतेः ॥ २६२ ॥
समर्थितं तया सर्व्वं, विचारकथितं वचः ।
त्यजामि घ्राणमित्येवं, बुधस्यापि, हृदि स्थितम् ॥ २६३ ॥
इतो भुजङ्गतायुक्तो, घ्राणलालनलालसः ।
मन्दः सुगन्धिगन्धानां, सदान्वेषणतत्परः ॥ २६४ ॥
तत्रैव नगरे भ्राम्यन्, लीलावत्या निजस्वसुः ।
देवराजस्य भार्याया, ययौ गेहे कदाचन ॥ २६५ ॥
सपत्नीपुत्रघातार्थं, तस्मिन्नेव क्षणे तया ।
आत्तो मोम्बकराकन्धः, संयोगो मरणात्मकः ॥ २६६ ॥
तां गन्धपुटिकां द्वारे, मुक्त्वा लीलावतीगृहे ।
प्रविवेश स च प्राप्तो, मन्दं सा तेन वीक्षिता ॥ २६७ ॥
ततो भुजंगता दोषा--च्छोटयित्वा पुटीमसौ ।
तान् गन्धान् सहसाऽजिघ्र-त्प्राणैश्च मुमुचे क्षणात् ॥२६८॥
तं मन्दं घ्राणदोषेण, विपन्नं वीक्ष्य शुद्धधीः ।
विरक्तः प्राव्रजत्कर्म--घोषाचार्यन्तिके बुधः ॥ २६९ ॥
स क्रमेण समस्ताङ्गो--पाङ्गपूर्वविशारदः ।
अनेकलब्धिवार्यब्धि--संप्राप्तसुरवैभवः ॥ २७० ॥
विहरन्नत्र संप्राप्तः, स एषोऽहं नरेश्वर ! ।
व्रतहेतुः पुनर्जज्ञे, तन्मे मन्दस्य चेष्टितम् ॥ २७१ ॥
तच्छ्रुत्वा विस्मयस्मेर--लोचनो धवलो नृपः ।
विमलाद्या जनाः सर्वे, कृताञ्जलय ऊचिरे ॥ २७२ ॥
अहो भगवतो रूप--महो मधुरिमा गिराम् ।
अहो परोपकारित्व--महो बोधनचातुरी ॥ २७३ ॥
अहो सदा स्वयं बोध-बन्धुरैकधुरीणता ।
यद्वा भगवतोऽमुष्य, चरित्रं सर्व्वमप्यहो ॥ २७४ ॥
अह सविसेसं राया, संवेगगओ पयं पए कुमरं ।
तुं वच्छ ! गिण्ह रज्जं, वयं तु दिक्खं गहिस्सामो ॥२७५॥
भणइ कुमारो किं ताय, तुह अहं इह अणिट्ठओ तणओ ।
रज्जपयाणमिसेणं, जेण मिमं खिवसि भवअवडे ॥ २७६ ॥
तं सुणिय मणे तुट्ठो, धवलो विमलस्स महरयं बंधु ।
कमलं कयलिदलच्छं, नियरज्जभरम्मि संठवइ ॥ २७७ ॥
विमलकुमारेण समं, अंतेउरपवरमंतिमाइजुओ ।
गिसिबुहसूरिसयासे, गिण्हइ दिक्खं धवलराओ ॥२७८॥

इत्थंतरम्मि नट्ठो, मुट्ठी बंधित्तु वामदेवो सो ।
मा हु कुमारो दिक्खं, बलाविमं गाहइस्सत्ति ॥ २७९ ॥
कुमरमुणिणा वि किमिणं, ति पुच्छिउं जंपए समणसीहो ।
विमलअनिम्मलचरिए-णिमिणा किं पुच्छिए भंते ॥२८०॥
नियकज्जविग्घजणगे, इमस्स चरिए वहीरणं कुणसु ।
इयरो वि आह एवं, जं पुज्जा आणवंति त्ति ॥ २८१ ॥
अह कयकिच्चं अप्पं, मन्नंतो रयणचूडखयरिंदो ।
नमिउं गुरुपयकमलं, संपत्तो नियनयरम्मि ॥ २८२ ॥
चिंतइ कुमारसाहू, कयन्नुसिरसेहरो कया वि भणे ।
परउवयारपरत्तं, अहो अहो रयणचूडस्स ॥२८३॥
पढमजिणनाहदंसण-पवरवरत्ताइऊण पढमं पि ।
भवभीमकूवकुहरे, निवडंतो रक्खिओ तइया ॥ २८४ ॥
सिरिवुहमुणिंददंसण-दंसणपायणेण पुण अहुणा ।
अह यं तह एस जणो, सिद्धिपुरीसंमुहो विहिओ ॥२८५॥
इय चिंतंतो निच्चं, कमेण निट्ठवियअट्ठकम्ममलो ।
विमलो तह धवलनिओ-अइविमलपयं समणुपत्तो ॥२८६॥
तइया स वामदेवो, दिक्खागाहणभया तओ नट्ठो ।
कंचणपुरम्मि पत्तो, ठिओ गिहे सरलसिट्ठिस्स ॥ २८७ ॥
सिट्ठी सो य अपुत्तो, तं सव्वत्थ वि गणेइ पुत्तं च ।
अंतद्धणं पि दंसइ, अइसरलो तस्स कुमिलस्स ॥ २८८ ॥
कइयावि सो निसाए, अंतद्धणमुक्खिणित्तु अन्नत्थ ।
हट्टाउ नवइ छन्नं, वद्देरिओ दंडपासीहिं ॥ २८९ ॥
ता तग्गओ दिणयरे, मुट्ठो मुट्ठु ति तेण पुकरियं ।
मिलिओ पजूयलोओ, सरलो जाओ विसन्नमणो ॥ २९० ॥
मा कुणसु सिट्ठि ! खेयं, लद्धो चोरु त्ति भणिय पासीहिं ।
बंधित्तु वामदेवो, नीओ नरनाहपासम्मि ॥ २९१ ॥
कुविएण तेण वज्झो, आणत्तो सरलसिट्ठिणा तत्तो ।
दाऊण पहूयधणं, कहकहमवि मोइओ एसो ॥ २९२ ॥
तो निंदिज्जइ लोए, कयग्घचूमामणी इमो पावो ।
जेण नियजणयतुल्लो, वीससिओ वंचिओ सरलो ॥ २९३ ॥
अन्नदिणे निवगिहं, भिन्नं केणावि सिद्धविज्जेण ।
न य लक्खिओ य एसो, तो कुविओ नरवई वाढं ॥ २९४ ॥
एयं तु वामदेवस्स, कम्ममियं जंपिउं तयं पावं ।
ओबंधावइ सो वि हु, मरिउं पत्तो तमतमाए ॥ २९५ ॥
तत्तो अणंतकालं, भमियभवे कहवि लहियनरजम्मं ।
होउं कयन्नुपवरो, सिवं गओ वामदेवो वि" ॥ २९६ ॥
" इत्येवं च कृतज्ञतागुणसुधां संतापनिर्वापिकां ।
दुष्प्रापामजरामरास्पदकरीं प्रार्थ्यां बुधानामपि ।
पायं पायमपायमुक्ततनवः स्फारीभवत्संमदा,
भो भव्या भवताऽनिशं विमलवद्भिःकेवतृष्णोज्झिताः ॥२९७॥
उक्तः कृतज्ञ इत्येकोनविंशतितमो गुणः ध०र० ॥
गुरुविहितोपकारज्ञे, स्वार्थे कः कृतज्ञकस्तत्रैव पंचा०२१विव०

कयण्णुया-कृतज्ञता-स्त्री० कृतस्य ज्ञता ज्ञानं परोपकृतस्य अनिह्नवे, (ध०) कतज्ञतासु दाक्षिण्यं, सदाचारः प्रकीर्तितः " ध०। एवं हि तस्य महान् कुशललाभो भवति अत एव कृतोपकारं शिरसि भारमिव मन्यमानाः कदाऽपि न विस्मरन्ति साधवस्तदुक्तम् । प्रथमवयसि पीतं तोयमल्पं स्मरन्तः, शिरसि निहितभारा नारिकेरा नराणाम् । उदकममृतकल्पं दद्युराजीवितान्तं, नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति " इति । ध० १ अधि० । परोपकारपरिज्ञाने, द्वा० । कृतज्ञता चित्ते आज्ञायोगस्तत्सत्यकरणता चेति गुरुविनयः । यो हि गुरुकृतमुपकारमात्मविषयं विवेकसंपन्नतया जानाति यथाऽस्मास्वनुग्रहप्रवृत्तैः स्वकीयक्लेशानिरपेक्षतया रात्रिंदिवं महान् प्रयासः शास्त्राध्ययनपरिज्ञानविषयः प्रभूतं कालं यावत् कृत इति सकृतज्ञ उच्यते । अथवाऽल्पमप्युपकारं भूयांसं मन्यते । अथवा कृताकृतयोर्लोकप्रसिद्धयोर्विभागेन कृतस्य प्रतिपादवाद् विशेषं विषयं स्वरूपं परिच्छिन्नत्ति न पुनर्जरूतया कृतमपि साक्षात् प्रणालिकया वा न वा न वेति ततस्तद्भावः कृतज्ञता तेषु गुरुषु कृतज्ञतासहितं चित्तं कृतज्ञताचित्तम् षो० १३ विव०। "एवं गुरुबहुमाणो, कयण्णुया सगलगच्छगुणवुड्ढी" गुरुममुखता कृतज्ञता चाराधिता भवति प्रधानश्चायं पुरुषस्य गुणो लोकेऽपि गीयते । तथाहि " स कलाकलापकुशलः, स पण्डितः सकलशास्त्रवेदी सः । निःशेषगुणगरिष्ठः । कृतज्ञता यं समाश्रयते " लोकोत्तरेऽपि एकविंशतिगुणमध्ये पठित एवेति । ध० र० ।

कयत्थ-कृतार्थ-त्रि० कृतोऽर्थः प्रयोजनं येन । कृतस्वप्रयोजने, प्र० १ श० ८ उ० । ज्ञा० । आ० म० प्र० । कृतकृत्ये, आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तकस्थविरगणावच्छेदकलक्षणपदपञ्चकयोग्यत-या शिष्याणां निष्पादनेन निष्ठितार्थे, "कृतार्थानां निरपेक्ष-यतिधर्मोऽतिसुन्दरः " ध० ४ अधि० ।

कृतास्त्र-त्रि० कृतं शिक्षितमस्त्रं येन । शिक्षितास्त्रे, वाच० ।

कदर्थ-पुं० कुत्सितोऽर्थः " कोः कद् ततः तत्करोतीति णिच्० । कदर्थयति कुत्सितमर्थं करोतीत्यर्थः । ततः क्तः कदर्थितः कुत्सितार्थीकृते, वाच० । " गोसालो वि कयत्थियपुव्विमाए दिवसतो पुच्छइ " आ० म० द्वि० । ल्युट् कदर्थनम् कुत्सितार्थे, करणे-युच्-कदर्थना तत्रैव स्त्री० । वाच० । घट्टना कदर्थना आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

कयदाण-कृतदान-कृतं दानमनेन तत्प्रयोजनमिति प्रत्युपकारार्थं यद्दानं तत्कृतदानमित्युच्यते । दानभेदे, उक्तं च " शतशः कृतोपकारो, दानं च सहस्रशो ममानेन । अहमपि ददामि किञ्चित्, प्रत्युपकाराय तद्दानमिति" १ स्था० १० ठा० ।

कयदिट्ठधम्म-कृतदृष्टधर्म-त्रि० कृत आचरितो दृष्टो व्यवसितोऽवगतश्च धर्मो येन स तथा । ज्ञातश्रुतधर्मे, " भिक्खुमुयच्चे कयदिट्ठधम्मे, गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा " सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

कयधि-कृतधि-त्रि० कृतोपरिकर्मिता तत्वोपदेशापेशलैस्तच्छास्त्राभ्यासप्रकर्षेण संस्कृता धीर्बुद्धिर्येषां ते कृतधियः । विपश्चिद्पेषु पुरुषेषु, "त्वमेवातत्रासत्त्वयि कृतसपर्याः कृतधियः" स्या० ।

कयपंजलि-कृतप्राञ्जलि-त्रि० प्रबद्धार्थं कृतप्राञ्जलिर्वाति, कयपंजलिअभिमुहो, तं जाणसु भासणासुद्धं " आव० ६ अ० ।

कयपडिकइ-कृतप्रतिकृति-स्त्री० विनयात्प्रसादिताः सूरयः श्रुतं दास्यन्तीत्यभिप्रायेणाशनदानादियत्नरूपे लोकोपचारविनयभेदे, पंचा० १६ विव० । स्था० । " कयपडिकई तहय " कृते भक्तादिनोपचारे प्रसन्नाः गुरवः प्रतिकृतिं प्रत्युपकारं सूत्रादिदानेन मे करिष्यन्ति नो नामैकेव निर्जरेति भक्तादिदाने यत्नः कार्यः। श्रुतप्रापणादिकं निमित्तं कृत्वा श्रुतं प्रापितोऽहमनेनेति हेतोरित्यर्थः विशेषेण विनये वर्तितव्यम् ध० ३ अधि० । " कज्जे पडिकिती चेव " कृते कार्ये यः क्रियते विनयः स प्रतिकृतिरूपत्वात् प्रतिकृतिरूपे च विनये, व्य० १ उ० । (आले-

यपरिहारौ विणयशब्दे वक्ष्यते) उपकृते सति प्रत्युपकारे च "कयपडिकइ यसंते गुणो दीवेज्ज " कृतप्रतिकृतये इति एके- नैकस्योपकृतं गुणा वोत्कीर्तिताः स तस्यासतोऽपि गुणान् प्र- त्युपकारार्थमुत्कीर्तयतीत्यर्थः स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कयपडिकइया–कृतप्रतिकृतिता–स्त्री० कृते भक्तादिनोपचारे प्रसन्ना गुरवः प्रतिकृतिं प्रत्युपकारं सूत्रादिदानतः करिष्यन्तीति भक्तादिदानं प्रति यतितव्यमित्येवं रूपे लोकोपचारविनये, स्था० ७ ठा०।

कयपडिकयग–कृतप्रतिकृतक–त्रि० कृते उपकृते प्रतिकृतं प्रत्यु- पकारः तद्यस्यास्तीति स कृतप्रतिकृतिकः । कृतप्रत्युपकर्त्तरि, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कयपडिकिरिया–कृतप्रतिक्रिया–स्त्री० अध्यापितोऽहमनेनेति बुद्ध्या भक्तादिदाने, ग० १ अधि० ।

कयपवयणप्पणाम–कृतप्रवचनप्रणाम–त्रि० कृतो विहितः प्रव- चनशब्दे दर्शयिष्यमाणार्थस्य प्रवचनस्य प्रणामो येन स कृत- प्रवचनप्रणामः । नमस्कृतप्रवचने, " कयपवयणप्पणामो वो- च्छं चरणगुणसंगहं सयलं" विशे०।"कयपवयणप्पणामो वुच्छं पच्छित्तदाणसंखेवं" जीत०। (इत्युभयत्र कयपवयणेत्युक्त्या उ- भयोरपि विशेषावश्यकजीतयोरप्येककर्तृक एव जिनभद्रगणि- क्षमाश्रमणः स्वशैलीं सूचितवान्) ।

कयपुण्ण–कृतपुण्य–त्रि० जन्मान्तरोपात्तसुकृते, ज्ञा० १ अ० । उ- पार्जितशुभकर्मणि, पंचा० ६ विव० । नि० । पायसदानेन देव- लोकं गत्वा च्युते राजगृहे नगरे धनवहस्य श्रेष्ठिनः पुत्रे, (साम- इयशब्दे दानेन तल्लाभेऽस्य वक्तव्यता वक्ष्यते)

कयपुव्व–कृतपूर्व–त्रि० पूर्वकृते, सूत्र० १ श्रु० १५ अ०।

कयबलिकम्म–कृतबलिकर्मन्–त्रि० कृतं निष्पादितं स्नानानन्तरं बलिकर्म स्वगृहे देवतानां पूजा येन स कृतबलिकर्मा । तं० २० प० । भ० । देवतानां विहितबलिविधाने, विशे०।

कयभूमिकम्मंत–कृतभूमिकर्मान्त–न० कृतं भूमिकर्म छगणलेप- नादिकर्मान्तेषु प्रान्तप्रदेशेषु येषां तानि कृतभूमिकर्मान्तानि । छगणलेपादिना संस्कृतप्रान्तेषु, " वत्थाणि पासिसाभिमभुंज- तगा य कयभूमिकम्मंता " बृ० २ उ० ।

कयमंगला–कृतमङ्गला–स्त्री० स्वनामख्यातपुर्याम्, " कयमंगला- पुरीए, धणसिद्धिसुया उ बालविहवासी । जयसुंदरीति तीसे, भत्तिजुया भायरा पंच " संथा० ।

कयमाल–कृतमाल–पुं० कृता माला(ऽ)स्य आरग्वधे, कर्णिकारे च । अमरः । वाच० । यक्षे, जं । मालां कृतवति, त्रि० वाच० ।

कयमालय–कृतमालक–पुं०भरते वर्षे, दीर्घवैताढ्यसत्कतमिस्र- गुहाधीश्वरे देवे, स्था० २ ठा० ३ उ० । येन चक्रवर्तिनस्तत्र ग- च्छन्तः सत्क्रियन्ते इतरे राजानो नाश्यन्ते यथा भरतचक्रिणो जययात्रायाम् आ० चू० । " तए णं से चक्करयणे पच्चत्थिम- दिसिं तिमिसगुहाभिमुहे पयाया वि होत्था जाव तीए गुहा ते अदूरसामंते खंधावारकरणं तहेव अट्ठमभत्तंसि परिणम- माणंसि कयमालए देवे चलियासणे तहेव जाव पीतिदाणं इत्थीरयणस्स तिलगचोद्दसं भंडालंकारं कडगाणि य जाव आभ- रणाणि य" आ०चू०१ अ०। कोणिको राजा कृत्रिमाणि रत्नानि कृत्वा भरतक्षेत्रसाधन प्रवृत्तः कृतमालकदेवेन गुहाद्वारे व्या- पादितः स्था० ४ ठा० ३ उ० । आव० । देवे च " मंदरस्स पुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ दीहवेयड्ढा अट्ठ त- मिस्सगुहाओ अट्ठ कयमालगा देवा" स्था०८ ठा० आ०म०प्र०।

कयमोहत्थवेफल्ल–कृतमोहास्त्रवैफल्य–त्रि० कृतं मोहस्य अ- स्त्रस्य वैफल्यं निष्फलत्वं येन । मोहरूपास्त्रस्य विदारणेन निष्फलतापादके, " कृतमोहास्त्रवैफल्यं, ज्ञानवर्म्म बिभर्त्ति यः । क्व भीस्तस्य क्व वा भङ्गः, कर्मसङ्गरकेलिषु" अष्ट०१४अ०।

कयर–कतर–त्रि० किम्–डतर–द्वयोर्मध्ये जात्यादिभिर्निर्धार- णार्थे प्रश्नविषये, वाच० । किम्भूते, " कयरे मग्गे अक्खाए माहणेणं मइमया " सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । " कयरे जे ते सोपरिया मच्छबंधा " प्रश्न० आश्र० १ द्वा० ।

कदर–पुं० कं जलं दणाति द–अच्–श्वेतखदिरे, तस्य सेच- नात् मुखस्थितस्य श्लेष्मणा संहतरूपजलस्य दारणात् वाच०

कयरिवुफला–कचरिपुफला–स्त्री० कचस्य रिपुः फलमस्य श- मीवृक्षे , राजनि वाच० ।

कयल–कदल–पुं० वृषा० कलच्० रम्भावृक्षे, मेदि०। वाच० । कदलीफले, न०। बृ० १ उ०। डिम्बिकायाम्, शाल्मलिवृक्षे च स्त्री० मेदि० । अजादेराकृतिगणत्वात् टाप् वाच० ।

कयलक्खण–कृतलक्षण–त्रि० कृतानि सार्थकानि लक्षणानि देहचिह्नानि येन स कृतलक्षणः । भ० ६ श० ३३ उ० । कृतफ- लवच्छरीरलक्षणे, ज्ञा० १ अ० । भ० । नि० ।

कयलिघरग–कदलीगृहक–न० कदलीमयगृहे, जी० ३ प्रति० २ उ० । ज्ञा० ।

कयलिसमागम–कदलीसमागम–पुं० स्वनामख्याते ग्रामभेदे यत्र मङ्खलिसुतस्य गोशालस्य दधिसम्मिश्रं कूरं भोजनमभूत् आ०म०द्वि० । आ० चू० ।

कयली–कदली–स्त्री० काय जलाय दल्यते तस्यगात्रौ जलबा- हुल्यात् गौरा०ङीष् रम्भावृक्षे, अमरः वाच० । वस्त्राणि केतकीकदल्यादीनि आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० । ज्ञा० । वैजयन्त्याम्, कदल्याकारवस्त्ररूपत्वात्तथात्वम् । हस्तिपता- कायाम्, हारा० । मृगभेदे च वाच० ।

कयलीखंभ–कदलीस्तम्भ–पुं० कदलीवृक्षे, " कयलीखंभा- तिरेगसंठियणिव्वणसुकुमालमउयकोमलअइविमलसमसंह- त सुजायवट्टपीवरनिरंतरोरू " कदलीस्तम्भाभ्यामतिरेके- णातिशायितया संस्थितं संस्थानं ययोस्तौ कदलीस्तम्भातिरे- कसंस्थितौ निर्व्रणौ विस्फोटिकादिकृतक्षतरहितौ सुकुमारक- र्कशौ मृदू अकठिनौ कोमलौ दृष्टिसुभगौ अतिविमलौ स- र्वथा स्वाभाविकागन्तुकमललेशेनाप्यकलङ्कितौ समसंहतौ स- मप्रमाणौ सन्तौ संहतौ समसंहतौ सुजातौ जन्मदोषरहितौ वृत्तौ वर्तुलौ निरन्तरावुपचितावयवतया अपान्तरालवर्जितौ ऊरू यासां तास्तथोक्ताः जी० ३ प्रति० ।

कयवम्म–कृतवर्मन्–पुं० त्रयोदशतीर्थकरस्य पितरि, स०।आव०।

कयवयकम्म–कृतव्रतकर्मन्–पुं० कृतमनुष्ठितं व्रतादीनां कर्म त- त्राणुव्रतं ज्ञानवाञ्छाप्रतिलक्षणं येन प्रतिपन्नदर्शनेन स कृतव्र- तकर्मा । प्रतिपन्नाणुव्रतादौ, द्वितीयश्रावकप्रतिमां प्रतिपन्ने, ।

तद्भेदा यथा–

तत्थायन्नणिजाणण, २ गिण्हण ३ पंडिसेवणेसु ४ उ-

ज्जुत्ता। कयवयकम्मो चउहा, भावत्थो तस्सिमो होइ ।३४।
तत्र तेषु षट्सु लिङ्गेषु मध्ये कृतव्रतकर्मा चतुर्द्धा चतुर्भेदो भवतीति संबन्धः। तानेव भेदानाह। आकर्णनं श्रवणम् १ ज्ञानमवबोधः २ ग्रहणं प्रतिपत्तिः ३ प्रतिसेवनं सम्यक् पालनम् ४ ततो द्वन्द्वस्तेषु व्रतानामिति प्रक्रमाद्गम्यते उद्युक्त उद्यमवान् भावार्थः पदं तस्य चतुर्विधस्याप्ययमासन्नं भणिष्यमाणो भवतीति १३ ध०र० ४६प०।,ध०। (आकर्णनादिशब्देषु तद्व्याख्या)

कयवर–कचवर–पुं० अवकरे, ज्ञा० ७ अ०। श्लक्ष्णतृणधूल्यादिपुञ्जरूपे (रा०।आचा०) गुह्यमले, आव०१अ०। "बहुकुसिरदव्वसंकरो कयवरो भणति" नि० चू० ७ उ०।

कयवरणिस्सिय–कचवरनिश्रित–पुं० यत्र तृणधूलिसमुदायस्तन्निश्रितः कृमिकीटपतङ्गादौ जीवभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

कयवरोज्झिया–कचवरोज्झिका–स्त्री० अवकरशोधिकायाम्, ज्ञा० ७ अ०। गृहदास्याम्, वाच०।

कयविक्कय–क्रयविक्रय–पुं० मूल्येन वस्तुनो ग्रहणग्राहणयोः,ग०।

> जत्थ य मुणिणो कयवि–कयाइँ कुव्वंति संजमब्भट्ठा।
> तं गच्छं गुणसायर ! विसं व दूरं परिहरिज्जा ॥

यत्र गणे मुनयो द्रव्यसाधवः क्रयं मूल्येन वस्त्रपात्रौषधशिष्यादिग्रहणं विक्रयं च मूल्येनान्येषां वस्त्रपात्रादिकार्याणां कुर्वन्ति चशब्दादन्यैः कारयन्ति अनुमोदयन्ति वा किंभूता मुनयः संयमभ्रष्टाः दूरीकृतचारित्रगुणाः गुणसागरेति गौतमामन्त्रणं तं गच्छं विषमिव हालाहलमिव दूरतः परिहरेत् सन्मुनिः। अत्र विषस्योपमा देशसाम्ये यतो विषादेकमरणं भवति संयमभ्रष्टगच्छात्त्वनन्तानि जन्ममरणानि भवन्तीति गाथाछन्दः ग० २ अधि०।

कयविक्कय (यंका) ज्झाण–क्रयविक्रयध्यान–न० क्रयणं क्रयो लाभार्थमल्पमूल्येन बहुमूल्यवस्तुग्रहणं विक्रयणं विक्रयः बहुमूल्येनाल्पमूल्यवस्तुग्रहणम्। क्रयश्च विक्रयश्च क्रयविक्रयौ तयोर्ध्यानम् लोहमूल्येन स्वर्णकुशग्राहिलोभनन्दस्येव ध्यानभेदे, आतु०।

कयविक्कयसण्णिहिउवरय–क्रयविक्रयसन्निध्युपरत–त्रि० क्रयविक्रयसन्निधिभ्यः उपरतो विरतः द्रव्यभावभेदभिन्नक्रयविक्रयपर्युषितस्थापनेभ्यो निवृत्ते, दश० १ अ०।

कयविहंग–कृतविभङ्ग–त्रि० कृता विहिता वृकादिरेव (विहंगमि) विभागा यस्य। खण्डशः कृते, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा०।

कयविहव–कृतविभव–त्रि० कृतसफलसंपदि, ज्ञा० १ अ०।

कयवीरिय–कृतवीर्य–पुं० कार्त्तवीर्यार्जुनपितरि,यो हि स्वभार्याव्यतिकरे यमदग्निना विनाशितः सूत्र० १ श्रु० ८ अ०। वीर्यान्विते, त्रि० वाच०।

कयवीरियायार–कृतवीर्याचार–त्रि० विहितस्वशक्तिव्यापारे, पंचा० ४ विव०।

कयवेयदिग–कृतवितर्दिक–न० रचितवेदिके, ज्ञा०१ अ०।औ०।

कयव्वय–कृतव्रत–पुं० स्त्री० उपस्थापिते, " गवेसऊमाथकयव्वया जे सव्वे " व्य० ४ उ०।

कयसपरिय–कृतसपर्य्य–त्रि० कृता कर्तुमारब्धा सपर्य्या सेवाविधिर्यैस्ते कृतसपर्य्याः। सेवितुं प्रवृत्तेषु, स्था०।

कया–कदा–अव्य० कस्मिन् काले, "कया णं अहं अप्पं वा बहुं, वा" स्था० ३ ठा० ४ उ०।

कयाइ–कदाचित्–अव्य० कदाचनार्थे, सूत्र०१ श्रु०१ अ०३ उ०। " नहेसि कयाइ त्ति " कदाचिदिति वितर्कार्थः। अहमेवं मन्ये यदुत नष्टस्त्वमसीति भ० १५ श० १ उ०। कदाचनादयोऽप्यत्र वाच०।

कयाकय–कृताकृत–त्रि० कृतश्चासावकृतश्च कृताकृतः मयूरव्यंसकादय इति समासः। नैगमनयमतेन कृते शेषाणामकृते, आ० म० द्वि०। किञ्चित्कृते किञ्चिदकृते च। कृतं कार्य्यं च अकृतं कारणं च समा० ९०। कार्य्यकारणयोः, क्तेन नञ्विशिष्टेनाऽनञ्" पा०। कृते अकृते च। भावे-क्त-करणाकरणयोः, न० द्वि०वाच०

कयागम–कृतागम–त्रि० कृतपरिज्ञाने, व्य० १ उ०। कृत आगमो येन आगमकर्त्तरि, वाच०।

कयाभरण–कचाभरण–न० केशाभरणे, औ०।

कर–कृ–धा० तना० उभ०सक० अनिट्। ऋवर्णस्यारः ८।४।२३ इत्यन्तस्य अरादेशः करइ-करोति, प्रा०।

कर–पुं० वर्षोपले, रश्मौ, कीर्य्यते विक्षिप्यते कृ-करणे-अप् पाणौ, हस्तिशुण्डे च। तयोर्जलादिक्षेपसाधनत्वात्तथात्वम् कर्मणि अप्-किरणे, मेदि०। वाच०। जं०। "तुसारगंधारपीवरकरः" ज्ञा० १६ अ०। औ०। गवादीनां प्रतिवर्षे राजदेये द्रव्ये ज्ञा० १ अ०। कल्प०। राजदेयभागे, प्रव० २ द्वा०। पिं०। हेत्वादौ-कर्मोपपदे-कृ-कर्त्तरि, अट् तत्कर्मकारके, त्रि० यथा श्रेयस्करः इत्यादि वाच०।

अस्य निक्षेपः।

> नामकरो ठवणकरो, दव्वकरो खेत्तकालभावकरो।
> एसो खलु निक्खेवो, करणस्स उ छव्विहो होइ ॥

नामकरः स्थापनाकरः "खेत्तकालभावकरो" इति करशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते क्षेत्रकरः कालकरो भावकरः। एष खलु करणं करस्तस्य निक्षेपः षड्विधो भवति। तत्र नामस्थापने सुज्ञात्वादनादृत्य द्रव्यकरमभिधित्सुराह।

> गोमहिसुट्टपसूणं, छगलीणं पि य करा मुणेयव्वा।
> तत्तो य तणपलाले, भुसकट्ठिंगारकरमेव ॥
> सीउंबरजंघाए, बलिवद्धकरे घमे य चम्मे य।
> चोल्लगकारयजणिए, अट्ठारसमाकरुप्पत्ती ॥

गोमहिषोष्ट्रपशूनां छगलीनामपि च करा ज्ञातव्याः। तत्र गोकरयाचनं यथा एतावतीषु गोषु विक्रीतास्वेका गौर्दातव्येति। यदि वा गोविक्रयस्वरूपं रूपकयाचनं गोकरः।१। एवं महिषकरः। २ उष्ट्रकरः ३ पशुकरः ४ छगली उरभ्रा तत्करः छगलीकरः ५ ततस्तृणविषयः करस्तृणकरः ६ पलालकरः ७ तथा बुसकरः ८ काष्ठकरः ९ अङ्गारकरः १० सीता लाङ्गलपद्धतिः तामाश्रित्य करो भागो धान्ययाचनं सीताकरः ११ उम्बरो देहली तद्विषयः करो रूपकयाचनम् उम्बरकर १२ एवं जङ्घाकरः १३ बलीवर्दकरः १४ घटकरः १५ कर्मकरः १६ चुल्लगो भोजनं तदेव करः चुल्लगकरः स चायं ग्रामेषु पञ्च कुलादीनधिकृत्य प्रसिद्ध एव १७ अष्टादश करस्योत्पत्तिः स्वकल्पनाशिल्पनिर्मिता पूर्वोक्तसप्तदशकरव्यतिरिक्तः स्वेच्छया कल्पितोऽष्टादशः करः स चौत्तिक इति प्रसिद्धः। उक्तो द्रव्यकरः।

संप्रति क्षेत्रकरादीनभिधित्सुराह ।

खेत्तम्मि जम्मि खेत्तो, काले जो जम्मि होइ कालम्मि ।
दुविहो य होइ भावे, पसत्थो तह अप्पसत्थो य ॥

यो यस्मिन् क्षेत्रे शुल्कादिरूपो विचित्रः करः स क्षेत्रे क्षेत्रविषयः करः । तथा यो यस्मिन् काले भवति त्रुटिकादानादिरूपः करः स काले कालकरः । द्विविधश्च जवति भावे भावकरः । द्वैविध्यमेव दर्शयति प्रशस्तस्तथा अप्रशस्तश्च । तत्र प्रशस्तपर्यन्ते प्रशस्तसद्भाव इति आदावप्रशस्तमेवाभिधित्सुराह ।

कलहकरो डमरकरो, असमाहिकरो अनिव्वुइकरो य ।
एसो उ अप्पसत्थो, एवमाई मुणेयव्वो ॥

आह उक्तप्रयोजनसद्भावात्पूर्वोद्देशेऽप्ययमेवादावप्रशस्तः कस्मान्नोपन्यस्तः उच्यते इह समुत्क्षुभ्यः प्रशस्त एव जाव आसेवनायोग्यो नेतर इति स्थापनार्थमादौ प्रशस्त उक्त इत्यदोषः। तत्र कलहो वाचिकं भण्डनं तत्करणशीलः प्रशस्तक्रोधाद्यौदयिकभाववशतः कलहकरः । कायवाङ्मनोभिर्विचित्रं तामनं डमरं तत्करणशीलो डमरकरः । तथा समाधानं समाधिः स्वास्थ्यं न समाधिरसमाधिरस्वास्थ्यनिबन्धना सा सा कायादिचेष्टा तत्करणशीलोऽसमाधिकरः। निर्वृतिः सुखमनिर्वृतिः पीडा तत्करणशीलोऽसमाधिकरः एष तुशब्दस्यावधारणार्थत्वादेष एव जात्यपेक्षया न तु व्यक्त्यपेक्षया एवमादिर्व्यक्त्यपेक्षयाऽन्यः प्रशस्तो भावकरो ज्ञातव्यः। सम्प्रति प्रशस्तं भावकरमभिधित्सुराह ।

अत्थकरो य हियकरो, गुणकरो कित्तिकरो जसकरो य ।
अभयकरनिव्वुइकरो, कुलकरतित्थंकरंतकरो ॥

इह अर्थो नाम विद्यापूर्वधनार्जनं शुभमर्थ इति स च प्रशस्तविचित्रकर्मक्षयोपशमाविर्भावनस्तत्करणशीलोऽर्थकरः । एवं हितादिष्वपि भावनीयं नवरं हितं परिणामपथ्यं यत्किञ्चित्कुशलानुबन्धि, कीर्त्तिर्दानपुण्यफला, गुणा ज्ञानादयः, यशः पराक्रमकृतं पराक्रमसमुत्थः साधुवाद इति जावः । अभयादयः प्रकटार्थाः । नवरमन्तकर इत्यत्रान्तः कर्म्मणां तत्फलभूतस्य वा संसारस्य परिगृह्यते । उक्तो भावकरः आ० म० द्वि० । आ० चू० । वाच० ।

करंज-करञ्ज-पुं० कं शिरः जलं वा रञ्जयति अण्० नक्तमाले, प्रज्ञा० १ पद० । " करञ्जो नक्तमालश्च, करजश्चिरबिल्वकः । घृतपूर्णकरञ्जोऽन्यः, प्रकीर्य्यः पूतिकोऽपि च ॥ स चोक्तः पूतिकरजः, सोमवल्कश्च स स्मृतः। करञ्जः कटुकस्तीक्ष्णो, वीर्य्योष्णो योनिदोषहृत् ॥ कुष्ठोदावर्त्तगुल्मार्शो-व्रणक्रिमिकफापहः " । उदकीर्य्यपर्याये तु स्त्रीत्वमपि गौरा० ङीष् तत्तैलगुणाश्च " करञ्जतैलं सुस्निग्धं, वातहृत स्थिरदीप्तिकृत् । नेत्रामयवातरोग-कुष्ठकण्डूविशूचिकाः। नाशयेत् तीक्ष्णमुष्णं च, लेपनाच्चर्मदोषहृत्। राजनि वाच० । आचा० । स्वार्थे कन् करञ्जकोऽप्यत्र पुं० वाच० ॥

करंड-करण्ड-पुं० वंशे, पिटकण्मथाणं अणु० ।

करंडग-करण्डक-पुं० करण्ड-स्वार्थे कन् । वंशके, तं० । वस्त्राभरणादिस्थाने, समुद्गे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । नि० चू० । (स्वपाकवेश्यागृहपतिराजकरण्डकव्याख्या आयरियशब्दे कृता) ।

करंब-करम्ब-पुं० दधियुक्तकूरनिष्पन्ने दधिविषये विकुलिगते, प्रव० ४ द्वा० । ध० ॥

करकंडु-करकण्डु-पुं० स्वनामख्याते प्रत्येकबुद्धे, "करकण्डूकलिङ्गेसु" श्रीवासुपूज्यजिनपतिकल्याणकपञ्चकास्तेष्वयं प्रथमस्तच्चरित्रमेवम् विनष्टपापायां चम्पायां नगर्यां दधिवाहननामा नृपोऽभूत् तस्य चेटकमहाराजपुत्री पद्मावती प्रिया जाता साऽन्यदा गर्भिणी बभूव गर्भानुभावेन च तस्या ईदृशं दोहदमुत्पन्नं अहं पुंवेषधरा भर्त्रा धृतातपत्रा गजाग्रभागारूढा आरामे संचरामि लज्जया इदं दोहदं भूपतेः पुरो वक्तुमशक्ता सा कृशाङ्गी बभूव । राज्ञाऽन्यदा तस्याः कृशाङ्गकारणं पृष्टम् । अतिनिर्बन्धेन सा स्वदोहदं कथयामास राजा अत्यन्तं तुष्टस्तां पट्टहस्तिस्कन्धे समारोप्य स्वयं तच्छिरसि छत्रं धृतवान् तादृश एव राजा गजारूढो राज्ञी पश्चाद्भागे स्थितो वने ययौ । तस्मिन्समये तत्र जलदारम्भो बभूव तत्र सल्लकीप्रमुखविविधवृक्षपुष्पगन्धैर्जलसिक्तमृद्गन्धैश्च विह्वलीभूतः स करी मदोन्मत्तः स्ववासभूमिं स्मरन् अटवीं प्रति अधावत् । अश्ववारैः पदातिभिश्चासौ न स्पृष्टः तेन गजेन गर्भान्वितया कदलीकोमलशरीरया राज्ञ्या सार्धं स राजा महाटव्यां नीतः । समविषमोन्नतदूरासन्नानेकभावान् पश्यन् भूपतिर्वटमेकमायातं दृष्ट्वा भार्यां प्रतीदमवदत् हे भद्रे ! पुरःस्थस्यास्य वटस्य शाखामेकामवलम्बेथास्त्वमहमप्येकां शाखामाश्रयिष्यामि गजस्तु एवमेव यातु एवमुक्त्वा राजा वटशाखायां लग्नः राज्ञी तु भयव्यग्रा वटावलम्बं कर्तुमक्षमा हस्तिनाऽग्रतो नीता । राजा तु वटादुत्तीर्य शनैः शनैर्मिलितसैन्यः पत्नीविरहदुःखितश्चम्पायां प्रविष्टः । राज्ञी दुष्टेन तेन हस्तिना महतीमटवीं नीता तृषाकुलः स हस्ती चतुर्दिक्षु पानीयं पश्यन् एकं सरो दृष्ट्वा तत्पाल्यामवतीर्य यावदधः पतति तावत्सा राज्ञी वृक्षावलम्बेन तत्स्कन्धादुत्ततार गजस्तु ग्रीष्मतापितः सरोऽन्तर्विवेश । राज्ञी कान्तारं दृष्ट्वा दृशभ्रान्ता सती मनसि एवं चिन्तयामास । क्व च तन्नगरं क्व च सा श्रीः क्व तन्मन्दिरं क्व सा सुखशय्या दुष्कर्मणां विपाकात् सर्वं मे गतम् । अथवाऽत्र वने विविधश्वापदेभ्योऽप्रमादवशगाया मम मृत्युर्भविष्यति तदा मम दुर्गतिर्भवेति मत्वाऽप्रमत्ता सती आराधनां व्यधात् । सुकृतानि अनुमोद्य सर्वजीवेषु क्षमां कृत्वा चानशनं साकारं प्रपेदे नमस्कारं ध्यायन्ती तत उत्थाय सा एकया दिशा गच्छन्ती पुरस्तादेकं तापसं ददर्श । तापसेनेयमेवं पृष्टा वत्से ! त्वं कस्य पुत्री कस्य प्रिया आकृत्यैव त्वं मया भूरिभाग्या ज्ञाता इयं का तवावस्था कथय वयम् अभयाः शमिनः स्मः । सा राज्ञी तापसं निर्विकारं निर्मलकरं ज्ञात्वा स्ववृत्तान्तं सकलं जगौ । एतस्याः राज्ञ्याः पितुश्चेटकराजस्य मित्रेण तेन तापसेन उक्तं वत्से ! त्वया नातः परं चिन्ता कार्या अयम्भवः सर्वविपदामास्पदं सर्ववस्तूनामनित्यता चिन्तनीया एवं प्रतिबोध्य सा राज्ञी तेन तापसेन स्वाश्रमं नीता । तस्याः प्राणाशा फलैः कारिता । अथ स्वदेशसीम्नि तां नीत्वा स तापस एवं जगाद हे पुत्रि ! अतः परं हलकृष्टा सावद्या धरा वर्तते मा मुनिभिर्नोल्लङ्घ्या ततोऽहं पश्चाद्वलामि अयं मार्गो दन्तपुरस्य वर्तते तत्र दन्तवक्रनामा राजा वर्तते इतः सुसार्थेन त्वं पुरे गच्छ । एवं निगद्य स तापसः स्वाश्रमं जगाम राज्ञी तु पुरान्तः साध्व्युपाश्रये जगाम साध्व्या पृष्टे तया सकलोऽपि वृत्तान्तः कथितः। साध्वी तस्या एवमुपदेशं ददौ अस्मिन् वने दुःखागारे संसारे सुखाभास एव सर्वेषां सर्वोऽपि भवनिस्तारो भवद्भिस्त्याज्य एव साध्वी वचसा वैराग्यं गता सा तदैव दीक्षां जग्राह स्वव्रतविघ्नभिया सती सन्तमपि गर्भं न जगौ । कालान्तरे तस्या उदरवृद्धौ साध्व्या पृष्टं किमेतत्तयेति तयोक्तं मम पूर्वावस्थासम्भवो गर्भो वर्त-

ते मया तु प्रतविघ्नभयान्नोक्तः । ततो महत्तरा साध्वी तां साध्वीमुड्डाहभयेन एकान्ते संस्थापयामास । काले सा पुत्रं प्रसूय रत्नकम्बलेन संधीतं पितृनाममुद्राङ्कितञ्च कृत्वा श्मशाने द्रागमुमोच श्मशानपतिर्जनंगमस्तं बालकं तथाविधमालोक्य गृहीत्वा च अनपत्यायाः स्वपत्न्याः समर्पयत् । सा श्रमणी गुप्तचर्यया तं व्यतिकरं ज्ञात्वा महत्तराया अग्रे एवमाचख्यौ मृत एव बालो जातस्ततो मया त्यक्तस्ततः स बालो लोकोत्तरकान्तिर्जनंगमधाम्नि दत्तापकर्णिकनामा ववृधे । सा साध्वी सततं बहिर्व्रजन्ती पुत्रस्नेहेन मातङ्ग्या सह कोमलालापैः सङ्गतिं चक्रे स बालकः प्रतिवेश्मिकबालकैस्सह क्रीडन् महातेजसा भृशं राजते आगर्भवहुशाकाद्यशनदोषेण तस्य बालकस्य कण्डूलतादोषोऽजयत् स्वयं राजचेष्टां कुर्वाणः स बालः परबालैः सामन्तीकृतैर्देहकण्डूमपाकारयति । ततो लोकैः करकण्डूरिति नाम दत्तम् । सा साध्वी तन्नन्दनविलोकनार्थं मातङ्गपाटके निरन्तरं याति भिक्षालब्धं मोदकादि तस्मै ददाति श्रमणत्वेऽप्यपत्यजा प्रीतिस्तस्या दुस्तरेति बालकोऽपि तस्यां दृष्टायां बहु विनयं करोति प्रीतिञ्च दधाति । स बालकः षड्वर्षः पितुरादेशात् श्मशानं रक्षति । अन्यदा तस्मिन् श्मशाने रक्षति सति कोऽपि साधुर्लघुसाधुं प्रति तच्छ्मशानस्थं सुलक्षणं वंशं दर्शितवान् । उक्तवांश्च मूलतश्चतुरङ्गुलमिमं वंशमादाय यः स्वसमीपे स्थापयति सोऽवश्यं राज्यं प्राप्नोति । इदं साधुवचस्तेन बालकेन तत्रस्थेनैकेन द्विजेन च श्रुतं द्विजस्तु तं वंशमाचतुरङ्गमूलं छित्वा यावद् गृह्णाति तावत्करकण्डुना तत्करात् स वंशो गृहीतः स्वकरे गृहीत्वा कलहं कुर्वतो द्विजस्य करकण्डुना उक्तम् । मत्पितृश्मशानवनोत्थं वंशं नाहमन्यस्मै दास्ये स ब्राह्मणः करकण्डुबालश्चेति द्वावपि विवदन्तौ नगराधिकारिपुरो गतौ नगराधिकारिभिर्भणितमहो बाल ! तवायं वंशः किं करिष्यति स प्राह ममायं राज्यं दास्यति तदाधिकारिणः स्मित्वा एवमूचुर्यदा तव राज्यं भवति तदा त्वयाऽस्य ब्राह्मणस्य एको ग्रामो देयः शिशुस्तद्वचोऽङ्गीकृत्य स्वगृहमगात् । स विप्रोऽप्यपरविप्रैः संभूय तं बालं हन्तुमुपाक्रमत तं द्विजोपक्रमं ज्ञात्वा करकण्डुपिता जनङ्गमः स्वकलत्रपुत्रयुक्तस्तं देशं विहाय अनेशत् । सकुटुम्बः स जनङ्गमः क्षितितलं भ्रामन् काञ्चनपुरं जगाम । तत्र अपुत्रे नृपे मृते सचिवैरधिवासितस्तुरगः करकण्डुं दृष्ट्वा हेषारवं कृतवान् तं सलक्षणं दृष्ट्वा नगरलोका जयजयारावञ्चक्रुः । अवादितान्यपि वाद्यानि स्वयं निनेदुः स्वयं छत्रं शिरसि स्थितम् । ततोऽमात्यैरपि नवीनानि वस्त्राणि परिधाप्य स करकण्डुस्तमश्वमारोह्य यावन्नगरलोकैः परमप्रमोदेन पुरान्तः प्रवेश्यते तावद्विप्रास्तं म्लेच्छोऽयमिति कृत्वा न मेनिरे तदा क्रुद्धः स शिशुस्तं वंशदण्डं रत्नमिव करे जग्राह । अधिष्ठातृदेवैर्व्योम्नि इति घुष्टम् य इमं राजानमवगणयिष्यति तस्य मूर्ध्नि असौ दण्डः पतिष्यति इत्युक्त्वा सुरास्तच्छिरसि पुष्पवृष्टिं चक्रुः । भीताः सन्तो विप्रास्तस्य स्तुतिं कृत्वा वारंवारमाशीर्वादमुच्चरन्ति करकण्डुस्तेमुवाच अहो ब्राह्मण ! एते भवद्भिश्चाण्डाला गर्हितास्ततः सर्वेऽप्यमी वाटधानवास्तव्याश्चाण्डालाः संस्कारैर्ब्राह्मणाः कार्याः संस्कारादेव ब्राह्मणो जायते न तु जात्या कश्चिद् ब्राह्मणो भवतीति भवदागमवचनात् । अथ ते ब्राह्मणाः प्रकामं भीतास्तेनो वाटधानवा[illegible] [illegible] ब्राह्मणीकृताः ।

[illegible]मवेन काञ्चनपुरे प्रवेशितः [illegible] कर[illegible]ण्डरमात्यैर्नृपपट्टेऽभिषिक्तः क्रमान्महाप्रतापोऽभूत् अन्यदा स वंशप्रतिवादी विप्रस्तं भूपं निशम्य ग्रामाभिलाषकः सन् करकण्डुनृपपर्षदि प्राप्तः करकण्डुनोपलक्ष्य तस्य विप्रस्योक्तं तव यदिष्टं तत्कथय ब्राह्मणेनोक्तं मद्गृहं चम्पायां वर्त्तते तेन तद्विषयग्राममेकमहमीहे । अथ करकण्डुनृपतिश्चम्पापुरनाथस्य दधिवाहनभूपतेः अस्मै द्विजाय त्वद्विषयग्राममेकं देहीति आज्ञां प्राहिणोत्, आज्ञाहारिणं करकण्डुनृपस्य दूतं विस्मितचित्तः क्रुद्धश्च चम्पापतिर्दधिवाहनः प्राह । अरे स म्लेच्छबालो मृगतुल्यः करकण्डुः सिंहतुल्येन मया सह विरुध्यते परवस्त्वभिलाषभवस्य पातकस्य तव स्वामिनः शुद्धिं मत्खड्गतीर्थस्नानं दास्यति एवमुक्त्वा दधिवाहनेन तिरस्कृतः स दूतस्तत्र गत्वा करकण्डुनृपाय यथार्थमवदत् । करकण्डुनृपोऽपि प्रकामं क्रुद्धः स्वसैन्यपरिवृतश्चम्पापुरसमीपे समायातः । दधिवाहनोऽपि पुरीं दुर्गं सज्जीकृत्य स्वयं बहिर्निस्ससार उभयोः सैन्ये सज्जीभूते यावद्योद्धुं लग्ने तावत्साध्वी तत्रागत्य करकण्डुनृपतिं प्रति एवमूचे अहो करकण्डुनृप ! त्वया अनुचितं पित्रा सह युद्धं किमारब्धं करकण्डुनृपः प्राह हेमहासति ! कथमेष दधिवाहनोऽस्माकं पिता साध्वी स्वस्वरूपमखिलमूचे । आर्य्यां मातरं दधिवाहनञ्च पितरं मत्वा करकण्डुनृपो जहर्ष तथापि करकण्डुनृपोऽभिमानात् स्वपितरं दधिवाहनं नन्तुं नोत्सहते तदा साध्व्यपि दधिवाहनसमीपे गता दधिवाहनभृत्यैरुपलक्षिता दधिवाहनभूपाय राज्ञी साध्वीरूपा समागतेति वर्द्धापनिका दत्ता । अथ दधिवाहननृपोऽपि तां साध्वीं ननाम गर्भवृत्तान्तं प्रपच्छ साध्वी ऊचे सोऽयं ते तनयः येन सह त्वया युद्धमारब्धम् । अथ दधिवाहननृपः प्रीतात्मा पादचारी करकण्डुनृपं प्रति गत्वा वत्स ! उत्तिष्ठेत्युक्त्वा तमुत्थाप्य आश्लिष्य च शिरसि अजिघ्रत् दुर्वाम्बुजलसहितैस्तीर्थजलैः पुत्रोऽयं राज्यद्वयेऽपि दधिवाहनेनाभिषिक्तः दधिवाहनः कर्मविनाशाय स्वयं दीक्षां गृहीतवान् । करकण्डुनृपो राज्यद्वयं पालयामास चम्पायामेव स्ववासमकरोत् । तस्य गोकुलानि इष्टानि आसन् संस्थानाकृतिवर्णविशिष्टानि गोकुलानि कोटिसंख्यानि तेन मेलितानि स तानि निरन्तरं पश्यन् प्रकामं प्रमोदं लभते । अन्येद्युः स्फटिकसमान एको गोवत्सस्तेन गोकुलमध्ये दृष्टः अयं कण्ठपर्यन्तदुग्धपानैः प्रत्यहं पोषणीय इति गोपालान् स आदिष्टवान् अन्यदा स मासैः पुष्टतनुर्बलशाली घनघर्घरशब्देन अन्यवृषभान् त्रासयन् भूपतिना दृष्टः तथापि भूपतेस्तस्मिन् वृषे प्रीतिरेव बभूव । साम्राज्यकार्यकरणव्यग्रो भूपतिः कतिचिद्वर्षाणि यावद्गोकुले नायातः अन्यदा तद्दर्शनोत्कण्ठः स नृपतिस्तत्र समायातः स वृषः क इति गोपालान् नृपतिः प्रपच्छ गोपालैर्जराजीर्णपतितदशनो हीनबलो वत्सैर्घट्टितदेहः कृशाङ्गः स दर्शितः तं तथाविधं दृष्ट्वा भवदशां विषमां विचारयन् करकण्डू राजा एवं चिन्तयति यथाऽसौ वृषभः पूर्वावस्थां मनोहरां परित्यज्य इमां वृद्धावस्थां प्राप्तः तथा सर्वोऽपि संसारी संसारे नवां नवामवस्थामाप्नोति मोक्षे चैव एकावस्था मोक्षस्तु जिनधर्मादेव प्राप्यते अतो जिनधर्ममेव सम्यगाराधयामीति परं वैराग्यं प्राप्तः । करकण्डू राजा स्वयमेव प्राग्भवसंस्कारोदयात् प्रतिबुद्धः । सद्यः शासनदेव्यर्पितलिङ्गस्तृणवद्राज्यं परित्यज्य प्रव्रज्यां प्राप उक्तं च " श्वेतं सुजातं सुविभक्तशृङ्गं, गोष्ठाङ्गणे वीक्ष्य वृषं ज-

रात्तेम् । अर्द्धिं च वृद्धिञ्च समीक्ष्य बोधात, कलिङ्गराजर्षिरवाप धर्मम्" १ इति करकण्डूचरितम् उत्त० ९ अ० । नि० आव०। नी० आ० चू० । आ० क०। (करकण्डू इति दीर्घान्तोऽप्ययम्)

करकचिय–क्रकचित–त्रि० करपत्रविदारिते काष्ठादौ, अनु० ।

करकडि–करकटि–स्त्री० कटिनायाम्, "अंगओ करकडीओ" कठिने निर्मीसे इत्यर्थः उपा० २ अ० । हस्तयोर्वेकं कटीदेशो, "वज्झकरकमीजुयणियत्थे" करयोर्हस्तयोर्वेकं कटीदेशस्ययुगं युग्मम् । विपा० १ अ० ।

करकय–क्रकच–न० करपत्रे, प्रश्न० आश्र० १ द्वा०। जी०। सूत्र० ।

करकरसुंठ–करकरसुण्ठ–पुं० तृणविशेषे, " एरंडे कुरुविंदे करकरसुंठे तह विजंगू य " प्रज्ञा० १ पद ।

करकरिग–करकरिक– पुं० पञ्चाशीतितमे महाग्रहे , " दो करकरिगा " स्था० २ ठा० ३ उ० । कर: करिकश्चेति द्वौ ग्रहौ तत्र करश्च्यशीतितमः करिकश्चतुरशीतितम इति "अंगारए वियालए इति" पाठे अङ्कानुसारात् ज्ञायते परं (स्था०२ठा० ३ उ०) सूत्रानुसारात्करकरिक इति पञ्चाशीतितमस्य विशिष्टा संज्ञा स्पष्टं प्रतीयते चन्द्र० २० पाहु० । कल्प० ।

करकुडिया–करकुटिका–स्त्री० निन्द्यचीवरिकायाम्, "वज्झकरकुडियजुयं णियत्थं " वध्यस्य यत्करकुटिकायुगं निन्द्यचीवरिकाद्वयं तन्निवसितो यः स तथा विपा० २ अ० ।

करग–करक–पुं० न० किरति विक्षिपति करोति वा जलमत्र कृ-कृ० वा–कृआदिसंज्ञायां वुन् । कमण्डलौ, वाच० । वार्घटिकायाम्, अनु० ३ वर्ग० । जलाधारे, मदिराभाजने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । घनोपले, जी० १ प्रति० उ० १ । कठिनोदके, दश० ४ अ० । आचा० । घनीभूतासूप्सु, ध० २ अधि० । पक्षिभेदे, पुं० स्त्री० । करञ्जभेदे, रत्नमा० स्वार्थे कन् दाडिमे, हस्ते च. पलाशवृक्षे, हारा० । कोविदारवृक्षे, वकुलवृक्षे, करीरे, नारिकेलास्थनि च राजनि० । वाच० ।

करगगीवा–करकग्रीवा–स्त्री. वार्घटिकाग्रीवायाम्, अनु०३वर्ग०।

करग्गहमह–करग्रहमह –पुं० पाणिग्रहणमहोत्सवे, अष्ट.२७अष्ट.

करच्छिय–कराक्षिप्त–त्रि० कराकृष्टे, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

करञ्ज–जञ्ज–धा० भञ्जेर्वेमयमुसुमूरसूरसूमविरपविरञ्जकरञ्जनीरञ्जाः ८।४।१०६ इति भञ्जेः करञ्जादेशः'करञ्जइ'ञनक्ति प्रा०।

करड–करट–पुं० किरति मदम्–कृ–अटन् गजगण्डे, काके, पुं० स्त्री० अमरः स्त्रियां ङीप् कुसुम्भवृक्षे, पुं० निन्द्यजीविनि, त्रि० स्त्रियां करटा दुर्दुरूढे, दुरूढव्यसनके वादिनि, वाद्यभेदे च पुं० मेदि०। स्वार्थे कन् काके,पुं०स्त्री० शब्दर०। स्त्रियां ङीप् स्तेयशास्त्रप्रवर्तके, वाच० । रक्तपादपद्मके, आ० चू० १ अ० । नि०चू०।

करडी–करटी–स्त्री० वाद्यभेदे, " अट्ठसयं करडीणं अट्ठसयं करडीवायगाणं" जं० २ वक्ष० ।

करडुयभत्त–करटुकभक्त–न० मृतकभोजने मांसादौ, पिं० ।

करण–करण–न० कृ जातादौ ल्युट् । क्रियायाम्,

करणपदस्य शब्दार्थं भेदांश्चाह ।

करणं किरिया जाओ, संभवओ चेह छव्विहं तं च ।
नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य भावे य ॥

करणं क्रियते भावो वा भावमात्रमिदं वाक्यम् (संभवओ चेइ इति) अथवा संभवतो यथासंभवमिदं शब्दार्थो वक्तव्यस्तु यथा क्रियते तदिति करणं क्रियते वाऽस्मिन्निति वा करणमित्यादि तच्च करणं नामादिभेदात्षड्विधमिति ।

अथ नामस्थापनाकरणमाह ।

नामं नामस्स व नाम–ओ वा करति नामकरणंति ।
ठवणाकरणं नासो, करणागारो व जो जस्स ॥

(नामं ति) नामैव करणमिति सामानाधिकरण्यं द्रष्टव्यम् । अथवा नाम्नः करणं नामकरणं नामतो वा करणं नामकरणं "करणंति" इत्ययं करणशब्दः प्रत्येकं योजनीयः स च योजित एव [नामकरणंति] द्वारपरामर्शः (ठवण त्ति) स्थापनाकरणमुच्यत इत्यर्थः । किं तदित्याह । करणस्य करणशब्दस्य न्यासः करणन्यासः । अथवा यो यस्य करणस्य दात्रादेराकारः काष्ठादौ विन्यस्तः स स्थापनाकरणमिति । अथ द्रव्यकरणमभिधित्सुर्द्रव्यकरणशब्दस्य व्युत्पादनार्थमाह ।

तं तेण तस्स तम्मि व, संभवओ व किरिया मया करणं ।
दव्वस्स व दव्वेण व, दव्वम्मि य दव्वकरणंति ॥

क्रियते तदिति करणमिति करणशब्दः कर्मसाधनः क्रियतेऽनेनेति करणसाधनः, तस्य द्रव्यस्य कृतिः करणमिति भावसाधनः, क्रियते तस्मिन्नित्यधिकरणसाधनः। तत्र कर्मकरणाधिकरणपक्षेषु द्रव्यं च तत्करणं च द्रव्यकरणमिति कर्मधारय एव समासः इत्येतत्स्वयमेव द्रष्टव्यम् (संभवओ व किरिया मया करणमिति) अथवा संभवतो यथासंभवमपरं षष्ठीतत्पुरुषादिकं समासमपेक्ष्य क्रियैव मतं करणं सर्वकारकाभिव्याप्तत्वाद्धात्वर्थस्येति तमेव षष्ठीतत्पुरुषादिकं समासं दर्शयति । द्रव्यस्य करणं द्रव्यकरणं द्रव्येण वा करणं द्रव्यकरणं द्रव्ये करणं द्रव्यकरणमिति अस्य च द्रव्यकरणस्यागमतो नोआगमतश्चेत्यादिविचारः सुकर एव तावद्यावद् ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यकरणं व्याख्यायते तच्च द्रव्यकरणं द्विधा संज्ञाकरणं नोसंज्ञाकरणं च । तत्र संज्ञाकरणमाह ।

दव्वकरणं तु सण्णा-करणं पेलुघरणाइयं बहुहा ।
सण्णा नामं ति मई, तं नो नामं जमभिहाणं ॥
जं वा तदत्थविगले, कीरइ दव्वं तु दविणपरिणामं ।
पेलुकरणाइनदितं, तदत्थमुक्कं न वा सद्दो ॥
जइ न तदत्थविहीणं, तो किं दव्वकरणं पसत्तेण ।
दव्वं कीरइ सण्णा, करणाति य करणरूढी उ ॥

द्रव्यकरणं तु यत्तावत्संज्ञाकरणं तत्पेलुकरणादिकं बहुधा बहुभेदं तत्र लाटदेशे रूतसंबन्धिनी या पूणिकेति प्रसिद्धा सैव महाराष्ट्रकविषये पेलुरित्युच्यते तस्याः करणं निर्वर्तकं वंशादिमयी शलाका पेलुकरणम् । आदिशब्दात् "कुडकरणं पाडलकादि " तथा वार्त्ताकरणं बालानामधीयानानां वर्त्तनकं तथा कानाडकरणमुभकरणविशेषरूपं काण्डकरणं परिगृह्यते । एवमन्यदपि लोके प्रसिद्धं संज्ञाविशिष्टं करणं संज्ञाकरणं वेदितव्यम् । ननु संज्ञा नामैवोच्यते ततश्च संज्ञाकरणनामकरणयोर्विशेषो न प्राप्नोतीति परस्य मतिर्भवेत्तदेतन्नो नैव युक्तं यस्मात्करणभिधानव्यापारमात्रमभिधानमात्रमेव नाम न तु द्रव्यम् । अथवा तदर्थविकले वस्तुनि संकेतमात्रतः करणमिति नाम क्रियते तन्नामकरणमुच्यते यद् द्रव्यं गमनं तन्नवाचीनमकस्तस्वभावमभिधायते हि यस्मात् तत्पेलुकरणादिद्रव्यं तदर्थशून्यं करण

शब्दार्थविकलं पूणिकादिकरणपरिणामान्वितत्वान्नापि शब्दः करणाभिधानमात्ररूपः इति नामकरणसंज्ञाकरणयोर्भेद इति । आह ननु यदि तदर्थविहीनं करणशब्दार्थरहितं संज्ञाकरणं न भवति ततस्तर्हि किं कस्माद्द्रव्यकरणमेतत्किमिति द्रव्यविचारे इदं पठ्यते ननु भावकरणमेवेत्यभिप्रायः उच्यते यतस्तेन पेलुकरणाभिधानसंज्ञाकरणेन द्रव्यं पूणिकादिकं क्रियते निर्वर्त्यते अतो द्रव्यस्य करणं द्रव्यकरणमिति व्युत्पत्त्यर्थमाश्रित्य द्रव्यकरणमिदमुच्यते । संज्ञाकरणं त्विदं करणरूढितो भण्यते करणसंज्ञातो लोकेऽस्य रूढत्वादित्यर्थः ।

अथ नोसंज्ञाकरणमाह ।

नोसन्नाकरणं पुण, दव्वस्सारूढकरणसन्नं पि ।
तक्किरिया भावाओ, पओगओ वीससाओ य ॥
साइयमणाइयं वा, अजीवदव्वाण वीससा करणं ।
धम्माधम्मनहाणं, अणाइसंघायणाकरणं ॥

नोसंज्ञाकरणं द्रव्यस्य प्रयोगतो विस्रसातश्च भवति कथंभूतमित्याह । अरूढकरणसंज्ञमप्यरूढा अप्रसिद्धा करणमिति संज्ञा यस्य तदरूढकरणसंज्ञमपि अत एव करणसंज्ञायास्तत्राभावान्नोसंज्ञाकरणमुच्यते अरूढकरणसंज्ञं करणमिदमित्यर्थः । यदि करणसंज्ञा तत्र नास्ति तर्हि करणमपि कथमुच्यते इत्याह (तक्किरिया भावाओत्ति) सा चासौ करणलक्षणा क्रिया च तत्क्रिया तस्याः सद्भावादिति । इदमुक्तं भवति । यद्यपि शरीरावेन्द्रधनुरादौ करणसंज्ञा नास्ति तथापि प्रयोगविस्रसाजनितकरणक्रिया विद्यते अतस्तदपेक्षयमेतेषां करणत्वं न विरुध्यत इति । तथा अजीवद्रव्याणां विस्रसाकरणं साद्यनादि च भवति तत्र धर्माधर्मास्तिकायनभसां संघातनाकरणं प्रदेशानां परस्परं संहत्यवस्थानकरणरूपमनादिरूपं विज्ञेयमिति ।

अत्र परः प्राह ।

णणु करणमणाइयं च, विरुद्धमिव भन्नए न दोसो त्ति ।
अन्नोन्नसमाहाणं, जमिह करणं तं निव्वत्ती ॥

ननु कृतिर्निर्वृत्तिर्वस्तुनः करणमुच्यते तच्च साद्येव भवति घटकटशकटादिकरणवत् ततश्च करणमनादि चेत्युच्यमानं विरुद्धमेव माता मे वन्ध्येत्यादिवचनवदिति । भण्यते अत्रोत्तरं नायं दोषो यस्माद्धर्मास्तिकायादेः प्रदेशानामन्योन्यं परस्परं यत्सम्यगाधानं समाधानमनादिकालात्संहत्यावस्थानं धातूनामनेकार्थत्वात्तदेव करणमभिप्रेतं न पुनरपूर्वादिवृत्तिः धर्मास्तिकायादिप्रदेशराशेश्च तस्यानादित्वं न किंचिद्विरुध्यते अनादिकालीनत्वादस्येति ।

अथवा धर्माधर्मनभसां सादिकमपि
करणं भवतीति दर्शयन्नाह ।

अहव परपच्चयाउ, संजोगादि करणं नभाईणं ।
साइयमुनयाराउ, पज्जाया देसओ वा वि ॥

अथवा उपचारान्नभःप्रभृतीनां करणं सादिकं विज्ञेयम् उपचारोऽपि कुत इत्याह । परप्रत्ययाद्घटादिवस्तून्याश्रित्येत्यर्थः । कथंभूतं करणं संयोगादि आदिशब्दाद्विभागादिपरिग्रहः । इदमुक्तं भवति । आकाशादीनां घटादिसंयोगादयः सादयः सपर्यवसानाश्च ततो यत्तेषां घटादिभिः सह संयोगादिकरणं तत्सादिकं भवत्येव । अथवा पर्यायरूपतया सर्वं वस्तु जैनानां सादि सपर्यवसितमेव भवति अतः पर्याया देशतः पर्यायानाश्रित्य नभःप्रभृतीनामपि करणं सादिकं बोद्धव्यमिति । तदेवमरूपिणामजीवद्रव्याणां साद्यनादि च विस्रसाकरणमुक्तम् ।

अथ रूप्यजीवद्रव्याण्याश्रित्याह ।

चक्खुसमचक्खुसं, पि य साई य रूविवीससाकरणं ।
अब्भाणुप्पभिईणं, बहुहा संघायभेयकायं ॥

इहाभ्रेन्द्रधनुःपरमाणुप्रभृतीनां रूप्यजीवद्रव्याणां विस्रसाकरणं चक्षुर्भ्यां दृश्यते इति चाक्षुषमभ्रादीनां चक्षुर्गोचरातीतमचाक्षुषं परमाणुकादीनां एतद्द्विविधमपि संघातभेदकृतं बहुधा बहुभेदं सादिकं भवति । अभ्रादीनां तु केचित्पुद्गलाः संहन्यन्ते केचिद्भिद्यन्ते ततस्तेषां नानारूपा भवन्ति एवं द्व्यणुकादिस्कन्धेष्वपि वाच्यं परिणामास्तु स्कन्धाद्भेदकृतमेव करणं भेदादणुरिति वचनादिति करणं चेह कृतिः स्वभावत एव निर्वृतिर्गृह्यते न पुनः क्रियत इति करणमिति । विशे० ।

संप्रति चाक्षुषभेदमेव विशेषेण प्रतिपादयति ।

संघायभेयतदुभय-करणं इंदा उ होइ पच्चक्खं ।
दुअअणुमाईणं पुण, छउमत्थाईण पच्चक्खं ॥

संघातः संहननं भेदो विघटनं तच्छब्देन संघातभेदौ परामृश्येते । तयोः तत् उभयं च तदुभयं संघातभेदतदुभयैः करणं क्रियते इति करणं कर्मसाधनः करणशब्दः संघातभेदतदुभयकरणम् । इन्द्रायुधादिस्थूलमनन्तपुद्गलात्मकं प्रत्यक्षं चाक्षुषमित्यर्थः । तथाहि । अभ्रादीनां क्वचित्केचित्पुद्गलाः संहन्यन्त एव क्वचित्केचित् भिद्यन्त एव क्वचित्केचित्संहन्यन्ते भिद्यन्ते केचित्संघातभेदतदुभयकरणम् । द्व्यणुकादीनामादिशब्दात्तथाविधानन्ताणुकान्तानां पुनः करणमिति वर्त्तते छद्मस्थादीनामादिशब्दः स्वगतानेकभेदप्रतिपादनार्थः । अप्रत्यक्षमचाक्षुषमित्यर्थः । उक्तं विस्रसाकरणम् । आ० म० द्वि० ।

अथ प्रयोगकरणमाह ।

होइ उ एगो जीव-व्वावारो तेण जं विणिम्माणं ।
सज्जीवमजीवं वा, पओगकरणं तयं बहुहा ॥
सज्जीवं मूलुत्तर-करणं मूलकरणजमाईयं ।
पंचण्हं देहाणं, उत्तरमाई तियस्सेव ॥

प्रयोजनं प्रयोगो भवति क इत्याह । जीवव्यापारस्तेन यद्विनिर्माणं निर्मापणं तत्प्रयोगकरणं भण्यते तच्च सजीवमजीवं च बहुधा भवति । सन् विद्यमानो जीवो यत्र तत्सज्जीवं प्रयोगकरणं पञ्चानामौदारिकादिशरीराणां द्रष्टव्यम् इदं च मूलकरणोत्तरकरणभेदाद् द्विविधम् । अत एवाह (सज्जीवं मूलुत्तरकरणंति) सज्जीवं प्रयोगकरणं द्विभेदं तद्यथा मूलकरणमुत्तरकरणं च तत्र (मूलकरणजमाईयं ति) पञ्चानामपि शरीराणां यदाद्यं पुद्गलसंघातकरणं तन्मूलकरणं वेदितव्यम् (उत्तरमाइतियस्सेवत्ति) उत्तरकरणत्वादित्रिकस्यैव आद्यानामेवौदारिकवैक्रियाहारकशरीराणां भवति ननु तैजसकार्मणयोरित्यर्थः । तन्वस्याद्यशरीरत्रयस्य शिरउरःप्रभृतीन्यङ्गानि करचरणाङ्गुल्यादीनि चोपाङ्गानि भवन्ति तत्रापि कियदिह मूलकरणं कियच्चोत्तरकरणमिति विभागेन कथ्यतामित्यत्राह

मूलकरणं सिरोउरु, पिट्ठीबाहोदरोरुनिम्माणं ।
उत्तरमवसेसाणं, करणं केसाइकम्मं च ॥

इहौदारिकादिशरीरत्रये योऽसौ शिर उरःपृष्ठिबाहुद्वयोदरोरुद्वयल

क्षणानामष्टानामङ्गानां निर्माणं निष्पादनं तन्मूलकरणम् अवशेषाणां तु कर्णचरणाङ्गुल्यादीनामुपाङ्गानां यन्निर्माणं तदुत्तरकरणं तथौदारिकवैक्रियशरीरयोः केशनखदशनादिसंस्काररूपं यत्केशादिकर्म्म तदपि तयोरुत्तरकरणमिति ।

अपरमप्यौदारिकवैक्रियशरीरयोरुत्तरकरणं दर्शयन्नाह ।

संठवणमणेगविहं, दोएहं पढमस्स भेसएहिं पि ।

वन्नाइणं करणं, परिकम्मं तइय नत्थिव्व ॥

विनष्टकर्णाद्यवयवसंघातादिरूपमौदारिके केशाद्युपरचनरूपं तु संस्थापनं वैक्रिये इत्येवं द्वयोराद्यशरीरयोः संस्थापनं संस्करणमनेकविधं भवति । प्रथमस्य पुनरौदारिकशरीरस्यान्योऽपि विशेषः क इत्याह भेषजैरपि लक्षपाकतैलादिभिर्यद्वर्णादीनां विशेषापादनं तत्तस्योत्तरकरणम् । तृतीये त्वाहारकशरीरे केशनखदन्तादिपरिकर्म्म नास्त्येव स्वरूपेणैव विशिष्टत्वात्प्रयोजनाभावाच्चेति । विशे० । उत्त० । आ०म०द्वि० । सूत्र० ।

अथवा प्रकारान्तरेणापि त्रिविधं जीवप्रयोगकरणं
विज्ञेयं कथमित्याह ।

संघायणपडिसाडण-मुभयं करणमहव सरीराणं ।

आदाणं मुयणसमयं, तदंतरालं च कालो सिं ॥

अथवौदारिकशरीराणां संघातनं परिशाटनं संघातपरिशाटोभयलक्षणमुभयं चेत्येवं त्रिविधं करणं विज्ञेयम् । तत्र पूर्वभविकमौदारिकादिशरीरं परित्यज्य अग्रेतनभवे पुनरपि तद्ग्रहतो यत्पुद्गलानां संघातनं ग्रहणं स संघातः । यस्तु मरेवौदारिकादिशरीरं परित्यज्यतश्चरमसमये सर्वथा तत्पुद्गलानां परित्यागः सदूल रुजाविशरणगत्यवसादनेष्विति धातोः पुद्गलानां परिशाटनमवसादनं परिशाटः सङ्घातनपरिशाटसमययोश्चापान्तरालसमयेषु सर्वेष्वपि संघातपरिशाटोभयं द्रष्टव्यं सर्वत्र पूर्वगृहीतपुद्गलानां मोचनादन्येषां च ग्रहणादिति । तत्राद्यशरीरत्रयस्य संघातपरिशाटोभयलक्षणं त्रिविधमपि करणं भवति । तैजसकार्म्मणयोस्तु संघातो न भवत्येव परित्यक्तयोस्तयोः पुनर्ग्रहणादिति । अथ संघातादीनां कालप्रमाणमभिधित्सुराह (सिंति) एतेषां संघातपरिशाटोभयानां कालोऽभिधीयते कियानित्याह (आदाणंमुयणसमयंति) आदानमौदारिकादिशरीरपुद्गलानां प्रथमं ग्रहणं संघातनं संघात इत्यर्थः । अयमेकमेव समयं भवति ततः परं संघातपरिशाटोभयप्रवृत्तेः मोचनं पुद्गलानां परिशाटनं परिशाटः सोऽप्येकमेव समयं भवति । तदन्तरालं संघातपरिशाटोभयलक्षणमिह गृह्यते तस्य कालो वक्ष्यत इति शेषः । चशब्दात्संघातादीनामन्तरालकालश्च वक्ष्यत इति हृदयमिति ।

तत्रौदारिकशरीरस्य संघातपरिशाटोभयकालमाह ।

खुड्डागभवग्गहणं, तिसमयहीणं जहन्नमुभयस्स ।

पल्लतियं समऊणं, उक्कोसोराक्षकालो यं ॥

अत्र संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यकाले प्रतिपाद्ये
विग्रहेणोत्पादनीये ते एवाह ।

दो विग्गहम्मि समया, समओ संघायणाय ते हूणं ।

खुड्डागभवग्गहणं, सव्वजहन्नट्ठिई कालो ॥

इह यत्पञ्चाशदधिकावलिकाशतद्वयमायुषो जघन्यस्थितिरूपं क्षुल्लकभवग्रहणमुच्यते । तथा च वृद्धोक्तम् "दो य सया छप्पन्ना, आवलियाणं तु खुड्डभवमाणं । जियरागदोसमोहेहिं, जिणवरेहिं विणिद्दिट्ठं" । इदं च क्षुल्लकभवग्रहणं द्वाभ्यां विग्रहसमयाभ्यामेकेन च संघातसमयेन न्यूनं संघातपरिशाटः लक्षणस्योभयस्य जघन्यस्थितिमानं जघन्यतोऽपि संघातपरिशाटोभयमेतावन्तं कालं भवतीत्यर्थः । अत्राह कश्चिद् ननु " विदिसाउ दिसिं पढमे य, वीए पविसेइ लोगमज्झंमि । तइए उप्पिं धावइ, नाभिवाहिं जायइ चउत्थे " इतिवचनाद्यदा अधस्त्रसनाड्या बहिर्दशाद्यूर्ध्वलोके त्रसनाड्या बहिरेव निगोदादिजीवश्चतुर्भिः समयैरुत्पद्यते तदा विग्रहगतावपान्तरालगतौ आद्यास्त्रयः समयाश्चतुर्थस्तु संघातसमय इत्येवं चतुर्भिरपि समयैर्न्यूनं क्षुल्लकभवग्रहणं संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यकालः प्राप्यते तत्किमितीह त्रिभिरेव समयैर्न्यूनं क्षुल्लकभवग्रहणं जघन्यतस्तत्काल उक्तः । सत्यं किन्त्वस्यां चतुःसमयायां विग्रहगतौ य आद्यः समयः स इह परभवप्रथमसमये न विवक्षितः किंतु पूर्वभवचरमसमय एव पूर्वभवशरीरस्य तत्र मुच्यमानत्वान्मुच्यमानं चामुक्तमिति व्यवहारनयमताश्रयणादिति । अथवा त्रसजीवसंबन्धिन्येवेहापान्तरालगतिर्विवक्षितास्त्रसजीवाश्चोत्कृष्टतोऽपि तृतीयसमये उत्पत्तिस्थानं प्राप्नुवन्तीत्यदोष इति तावद्वयमवगच्छामः तत्त्वं तु बहुश्रुता विदन्तीति । इह चैतानि क्षुल्लकभवग्रहणानि एकस्मिन्नुच्छ्वासनिःश्वासे सातिरेकाणि सप्तदश मन्तव्यानि यत उक्तम् " खुड्डागभवग्गहणा सत्तरस हवंति आणुपाणम्मी " इत्यादि ।

अथ पल्लतियमित्याद्युत्कृष्टसंघातपरिशाटोभयकालभावनामाह ।

उक्कोसो समऊणो, जो सो संघायणासमयहीणो ।

किह न दुसमयविहीणो, परिसाडसमए वणीयम्मि ॥

इह यो देवकुर्वादिषूत्पन्न औदारिकशरीरस्य प्रथमसमये संघातं कृत्वा त्रीणि च पल्योपमानि उत्कृष्टमायुः परिपाल्य म्रियते तस्य संघातसमयन्यूनानि त्रीणि पल्योपमानि उत्कृष्टसंघातपरिशाटोभयकालः प्राप्यते । अत्राह ननु कथमेकेनैव समयेन न्यूनोऽयमभिधीयते यावता यथा शरीरग्रहणप्रथमसमये सर्वतस्तथा तन्मोक्षसमये सर्वपरिशाटोऽपि भवति ततस्तस्मिन्नपि परिशाटसमये अपनीते समयद्वयहीन एव प्राप्नोतीति ।

अत्र प्रतिविधित्सुराह ।

भन्नइ भवचरिमम्मि वि, समये संघायसाडणे चेव ।

परभवपढमे साडण-मओतइणो न कालोत्ति ॥

भण्यते अत्रोत्तरं भवस्य चरमेऽपि समये संघातपरिशाटोभयमेव प्रवर्त्तते यत्तु शरीरपुद्गलानां केवलं परिशाटनमेव तत्परभवस्य प्रथमसमये एव मन्तव्यम् (परभवपढमे साडणमिति) निश्चयनयमताश्रयणादतस्तेन परिशाटसमये न न्यूनं संघातपरिशाटोभयकालो न भवतीति ।

अत्र व्यवहारनयवादी प्रेरयति ।

जइ परपढमे साडो, निव्विग्गहओ य तम्मि संघाओ ।

तणुसव्वसाडसंघाय-णा उ समए विरुद्धाउ ॥

ननु निश्चयनयवादिन्! यदि परभवप्रथमसमये शाटोऽभ्युपगम्यते निर्विग्रहतश्च ऋजुश्रेण्यौ चोत्पद्यमानस्य तस्मिन्नेव समये संघात इष्यते तदा त्वहो सर्वशाटसंघातौ युगपदेकस्मिन्नेव समये विरुद्धौ तव प्राप्नुतः सर्वशाटस्य पूर्वभवशरीरसंबन्धित्वात्सर्वे संघातस्य भवान्तरगतशरीरविषयत्वात्कृतद्वयशरीरयोर्युगपत् सत्वस्य दूरविरुद्धत्वादिति ।

निश्चयनयवादी प्रतिविधानमाह ।

जम्हा विगच्छविगयं-णं विगयमुप्पज्जमाणमुप्पन्ने ।
तो परजवाइसमए, मोक्खादाणाण न विरोहो ॥

यस्मात्पूर्वभवशरीरं परभवाद्यसमये विगच्छद्विगतमुत्पद्यमानं त्वग्रेतनजवशरीरमुत्पन्नं क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदात्ततस्तत्र मोक्षादानयोरिष्यमाणयोर्न कश्चिद्विरोधो मुच्यमानस्य मुक्तत्वेनैकस्यैवाग्रेतनजवशरीरस्य सद्भावादिति । अपि च मरणसमयः परभवाद्यसमयत्वेनाभ्युपगन्तव्य एवान्यथा दोषसंभवादित्याह।

चुइसमये नेह भवो, इह देहविमोक्खओ जहा तीए ।
जइ न परजवो वि तहिं, तो सो को होउ संसारी ॥

च्युतिसमये इह भवपरजवशरीरायुः पुलपूर्वपरिशाटसमये नावदिह जवो न भवति इह भवदेहस्यायुषश्च मुच्यमानत्वान्मुच्यमानस्य च सर्वथा विमोक्षात् क्रियाकालनिष्ठाकालयोरजेदादिति (जहा तीयत्ति) यथा अतीतजन्मनीह भवो नास्त्यत्रत्यदेहाभावात्तथा च्युतिसमयेऽप्यसौ न जवत्येव इह भवदेहाभावस्याविशेषादित्यर्थः। एवं च सति यदि तस्मिंश्च्युतिसमये परभवोऽपि जवता नाभ्युपगम्यते तदाऽसौ संसारी जीवः को जवतु । इह भवत्वस्य तावद्युक्तित एव निषेधात्परभवत्वस्य तु त्वयाप्यनभ्युपगम्यमानत्वात्संसारित्वेन च मुक्तव्यपदेशाभावान्निर्व्यपदेश एवासौ स्यादिति ।

व्यवहारनयवादी प्राह ।

नणु जह विग्गहकाले, देहाभावे वि परजवग्गहणं ।
देहाभावम्मि वि हो-ज्जेव भवो वि को दोसो ॥

ननु यथा विग्रहकाले विग्रहेण परभवगमनकाले पारभविकदेहाजावेऽपि जीवस्य परभवग्रहणं नारकादिपारभविकव्यपदेशः तथा च्युतिसमयेऽपीह भवशरीराभावेऽपीह जवो यदि जवेदिह जवव्यपदेशोऽपि यदि स्यात्तर्हि को दोषो न कश्चिन्न्यायस्य समानत्वादिति ।

निश्चयवादी प्रतिविधानमाह ।

जं चिय विग्गहकालो, देहाभावे वि नो परभवो सो ।
चुइसमए उ न देहो, न विग्गहो जइ स को हेऊ ॥

हन्त यत एवापान्तरालगतौ जीवस्य विग्रहकालो न तु पूर्वजवकालः तत एव देहाभावेऽप्यसौ परभवसंबन्धित्वेन व्यपदेश्यः परभवायुष उदीर्णत्वात्पूर्वभवायुषस्तु प्रागेव निर्जीर्णत्वाच्चिरायुषश्च जीवस्य संसारे असंजवादिति । च्युतिसमये तु न पूर्वजवे देहः तस्य त्यक्तत्वान्नापि विग्रहो वक्राभावाद्यद्येवं तर्हि स च्युतिसमय इहत्यापारत्रिकजवसमयानां मध्यात्को जवत्विति कथ्यताम् । ननु प्रोक्तं मया यथा विग्रहकाले परजवदेहाजावेऽपि परभवस्तथा च्युतिसमये इहत्य देहभावेऽपि इह जवोऽस्तु को दोषोऽसत्यमुक्तमिदं त्वया नतु युक्तं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्याद्यथाहि च्युतिसमये इहत्यदेहाभावस्तथा इहत्यायुषोऽप्यभावस्तस्यापि निर्जीर्यमाणस्य तत्र निर्जीर्णत्वात्ततः कथमसौ च्युतिसमय इह भवो जवतु इहत्यायुष्कोदयाजावाद्विग्रहकाले तु युक्तं परभवायुष्कोदयसद्भावादिति तस्मात्परजवश्च्युतिसमयः परभवायुष्कोदयाद्विग्रहकालवदन्यथा तस्य निर्व्यपदेशप्रसङ्गादतः "परभवपढमे साडणमिति" स्थितम्। तदेव औदारिकसंघातपरिशाटोभयानां काल उक्तः ।

अथ तेषामेवान्तरकालमभिधित्सुः संघातस्य तावज्जघन्यमन्तरकालमाह ।

संघायंतरकालो, जहन्नओ खुड्डयं ति समऊणं ।
दोविग्गहम्मि समया, तइयसंघायणा समओ ॥
ते हू णं खुड्डजवं, धरिउं परजवमविग्गहेणेव ।
गंतूण पढमसमये, संघायस्स उ स विन्नेओ ॥

एकदा औदारिकशरीरस्य संघातं कृत्वा पुनस्तत्संघातं कुर्वतस्त्रिभिः समयैर्न्यूनं क्षुल्लकजवग्रहणं जघन्योऽन्तरकालः प्राप्यते स च यदा कश्चिद्द्वीन्द्रियादिजीवो मृतः समयद्वयं विग्रहे कृत्वा क्षुल्लकभवग्रहणायुष्को पृथिव्यादिषूत्पन्नस्तृतीयसमये औदारिकस्य संघातं कृत्वा यथोक्तैस्त्रिभिः समयैर्न्यूनक्षुल्लकभवग्रहणं संघातपरिशाटोभयं विधाय मृतो निर्विग्रहेणैव ऋजुश्रेण्या अग्रेतनभवे पृथिव्यादिषूत्पन्न औदारिकशरीरस्य संघातं करोति तदा तस्य जन्तोरौदारिकशरीरसंघातस्य च त्रिसमयन्यूनक्षुल्लकजवग्रहणलक्षणो जघन्योऽन्तरकालो विज्ञेयः । इह च जघन्यान्तरकालस्य प्रतिपादयितुं प्रस्तुतत्वात्प्रथमं विग्रहेणाग्रेतनभवे तु निर्विग्रहेणोत्पादितोऽन्यथा मध्यमान्तरकालप्रसङ्गादिति ।

अथौदारिकस्यैवोत्कृष्टसंघातान्तरकालमाह ।

उक्कोसं तेत्तीसं, समयाहियपुव्वकोमिसहियाइं ।
सो सागरोवमाइं, अविग्गहेणेव संघायं ॥
काऊण पुव्वकोमिं, धरिउं सुरजेट्ठमाउयं तत्तो ।
जोत्तूण इहं तइए, समए संघायय तस्स ॥

सागरोपमाणीत्यस्य व्यवहितः संबन्धः ततश्च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि समयाधिकपूर्वकोट्यधिकान्यौदारिकसंघातान्तरमुत्कृष्टं भवतीति गम्यते । कदा पुनरयं संघातान्तरकालो लभ्यत इत्याह । स उक्तलक्षणः काल इह तृतीयसमये संघातयतः औदारिकशरीरस्य संघातं कुर्वतो लभ्यत इति द्वितीयगाथायां संटङ्कः । किं कृत्वा इत्याह कुतश्चित्पूर्वजवादविग्रहेणेह तावन्मनुष्यभवे समागत्य प्रथमसमये संघातं कृत्वा पूर्वकोटिं विधृत्य पूर्वकोटिप्रमाणमिहायुष्कं परिपाल्य ततश्च ज्येष्ठमायुष्कं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमलक्षणमनुत्तरसुरेष्वनुभूय ततश्च्युत्वा समयद्वयं विग्रहे विधायेति अत्र च विग्रहसत्कसमयद्वयमध्यादेकं प्राक्तनपूर्वकोट्यां प्रक्षिप्यते एवं च सति त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि समयाधिकपूर्वकोट्यधिकानि उत्कृष्टमौदारिकशरीरसंघातान्तरं सिद्धं भवति । अस्य चोपलक्षणत्वात्पूर्वकोट्यायुषो मत्स्यस्याप्रतिष्ठाननरके समुत्पद्येत्थं पुनर्मत्स्येषूत्पन्नस्येदमन्तरं मन्तव्यमिति ।

अथौदारिकस्यैव संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरकालमाह ।

उभयंतरं जहन्नं, समओ निव्विग्गहेण संघाए ।
परमं स तिसमयाइं तेत्तीसं उयहिनामाइं ॥

संघातपरिशाटोभयस्यैकः समयो जघन्यमन्तरं भवति क निर्विग्रहेण संघाते सति । इदमुक्तं जवति । इह औदारिकशरीरी आयुःपर्यन्तं यावत्संघातपरिशाटोभयं कृत्वा अग्रेतनभवे अविग्रहेणोत्पद्यौदारिकस्यैव संघातं कृत्वा पुनरपि तदुभयमारजते तस्य स एवैकः संघातसमयो जघन्यमुभयान्तरं भवति परमं

त्कृष्टमेतदन्तरं स हि त्रिभिः समयैर्वर्तते त्रिसमयानि त्रयस्त्रिंशदुदधिनामानि सागराभिधानानि सागरोपमाणि भवन्तीत्यर्थः ।

कदा पुनरेतानि प्राप्यन्त इत्याह ।

अणुभविउं देवाइसु, तेत्तीसमिहागयस्स तइयम्मि ।
समये संघायसाडण, दुविहं सामतरं वोच्छं ॥

देवादिष्वादिशब्दादप्रतिष्ठाने वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुभूयेहागतस्य तृतीयसमये संघातयतो लभ्यन्ते । अयमत्र भावार्थः । इह कश्चिन्मनुष्यादिः स्वभवचरमसमये संघातपरिशाटोभयं कृत्वा अनुत्तरसुरेष्वप्रतिष्ठाने वा यदा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुभूय पुनरपीह समयद्वयविग्रहेणागत्य तृतीयसमये औदारिकस्य संघातं कृत्वा तत उभयमारभते तदा द्वौ विग्रहसमयावेकश्च संघातसमयो देवादिभवसंबन्धीनि च त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्टोभयान्तरे प्राप्यन्त इति । तदेवमौदारिकविषयस्य संघातस्योभयस्य जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरमुक्तम् । अथ परिशाटस्य तदभिधित्सुराह (दुविहमित्यादि) द्विविधं जघन्यमुत्कृष्टं च शाटस्यान्तरं वक्ष्यत इति यथाप्रतिज्ञातमेवाह ।

खुड्डागभवग्गहणं, जहन्नमुक्कोसयं च तेत्तीसं ।
तं सागरोवमाइं, संपुन्ना पुव्वकोडी य ॥

इहौदारिके शाटस्य चान्तरे जघन्यतः क्षुल्लकभवग्रहणं भवति उत्कृष्टं तु तत्र शाटान्तरं पूर्वकोट्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि भवन्ति । अत्राह नन्वेतन्नावगच्छामो जघन्यपक्षे समयोनक्षुल्लकभवग्रहणमाप्तेरुत्कृष्टपक्षेऽपि समयोनपूर्वकोट्यधिकत्रयस्त्रिंशत्सागरोपमावाप्तेरिति तथाहि यः क्षुल्लकभवग्रहणायुष्केषु वनस्पत्यादिषूत्पद्यते स "पर भवपढमे साडणमिति" वचनात्तस्य क्षुल्लकभवग्रहणस्यादिसमये प्राक्तनौदारिकशरीरस्य सर्वशाटं करोति ततः क्षुल्लकभवग्रहणं पर्यन्ते मृतः समयोनं क्षुल्लकभवग्रहणं प्राप्नोति । उत्कृष्टपक्षेऽपि संयतमनुष्यः कश्चिन्मृतो देवभवाद्यसमये औदारिकस्य सर्वशाटं कृत्वा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यनुत्तरसुरेष्वायुरतिवाह्यैव पूर्वकोट्यायुष्केषु मनुष्येषूत्पद्य मृतो यदा पुनरपि भवाद्यसमये औदारिकस्य सर्वशाटं करोति पूर्वकोटिमध्याद्यसमयो देवभवायुष्के क्षिप्यते तदा औदारिकस्य शाटस्य चान्तरे उत्कृष्टतः समयोनपूर्वकोट्यधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि लभ्यन्ते तत्कथमिदं नेतव्यमिति सत्यमुक्तं किंत्विह क्षुल्लकभवग्रहणाद्यसमये परिशाटो नेष्यते किंतु पूर्वभवचरमसमये विगच्छदविगतमिति व्यवहारनयमताश्रयणादेव भवाद्यसमयपरिशाटो न क्रियते किंतु संयतचरमसमये । अत्रापि व्यवहारनयमताश्रयणात्तत एवं जघन्यपदे उत्कृष्टपदे चादौ व्यवहारनयमताश्रयणे पर्यन्ते तु निश्चयनयमताङ्गीकारे सर्वमपि भाष्यकारोक्तमविरोधेन गच्छतीति वृद्धा व्याचक्षते तत्त्वं तु गम्भीरभाषितानां परमगुरव एव विदन्ति । तदेवमौदारिकसंघातपरिशाटोभयानां कालोऽन्तरं चोक्तम् ।

अथ वैक्रियशरीरस्य जघन्यसंघातकालमाह ।

वेउव्वियसंघाओ, समओ सो पुण विउव्वणाईए ।
ओरालियाणमहवा, देवाईणाइगहणम्मि ॥

वैक्रियशरीरस्य संघातो जघन्यतः एकसमयः स च (ओरालियाणंति) औदारिकशरीरिणामुत्तरवैक्रियलब्धिमतां तिर्यग्मनुष्याणां विकुर्वणमुत्तरवैक्रियकरणं तस्यादिर्विकुर्वणादिस्तस्मिन्वैक्रियं तिरश्चो मनुष्यस्य वा उत्तरवैक्रियं कुर्वत एकस्मिन्प्रथमसमये संघातो भवतीत्यर्थः । अथवा देवादीनां देवनारकाणां वैक्रियशरीरग्रहणस्यादावेकस्मिन् समये संघातो भवतीति ।

अथोत्कृष्टं वैक्रियसंघातकालमाह ।

उक्कोसो समयदुगं, जो समयविउव्वियमओ विइए ।
समए सुरेसु वच्चइ, निव्विग्गहओ तयं तस्स ॥

उत्कृष्टसंघातकालः समयद्वयं भवति (तयं तस्सत्ति) तच्च समयद्वयं तस्य भवति य औदारिकशरीरी समयमेकमुत्तरवैक्रियं कृत्वा मृतो द्वितीयसमये निर्विग्रहेण ऋजुगत्या सुरेषु व्रजति तत्र च प्रथमसमये वैक्रियस्य संघातं करोति तस्यैको वैक्रियसंघातसमयोऽत्रत्यो द्वितीयस्तु देवसंबन्धीति ।

अथ वैक्रियस्यैव जघन्यमुत्कृष्टं च संघातपरिशाटोभयकालमाह ।

उभयजहन्नं समओ, सो पुण दुसमयविउव्वियमयस्स ।
परमिथराई संघा—यसमयहीणाइँ तेत्तीसं ॥

वैक्रियसंघातपरिशाटोभयस्य शाटस्य च जघन्यतः समयो भवति स च समयः समयद्वयं वैक्रियं कृत्वा मृतस्य द्रष्टव्यः । इदमुक्तं भवति केनचिदौदारिकशरीरिणा उत्तरवैक्रियमारब्धं स च तत्र प्रथमसमये संघातं द्वितीयसमये तु संघातपरिशाटोभयं कृत्वा यदा म्रियते तदा तस्य संघातपरिशाटोभयस्य समयलक्षणो जघन्यः कालः प्राप्यत इति परमुत्कृष्टमुभयस्य स्थितिमानं तरीतुं लङ्घयितुमशक्यान्यतराणि सागरोपमाणि एकेन संघातसमयेन हीनानि त्रयस्त्रिंशदनुत्तरसुरेष्वप्रतिष्ठाननरके वा बोद्धव्यानीति । तदेवं वैक्रियसंघातस्य चोभयस्य च काल उक्तः परिशाटस्य त्वेकसमयलक्षणकालः स्वयमेव द्रष्टव्यः ।

अथ वैक्रियसंघातस्य जघन्यमन्तरकालमाह ।

संघायंतरसमओ, समयविउव्वियमयस्स तइयम्मि ।
सो दिवि संघायणओ, तइए व मयस्स तइयम्मि ॥

वैक्रियसंघातस्य देववैक्रियसंघातस्य च जघन्यमन्तरं समयो भवति । स च औदारिकशरीरिणः समयमेकमुत्तरवैक्रियं कृत्वा मृतस्य द्वितीये समये विग्रहं विधाय तृतीयसमये दिवि देवलोके संघातयतो वैक्रियशरीरसंघातं कुर्वतो विज्ञेयः । अत्र हि प्राक्तनोत्तरवैक्रियसंघातस्य देववैक्रियसंघातस्य च विग्रहसमयोऽन्तरं भवति । अथवा तस्यौदारिकशरीरिणः समयद्वयं तूत्तरवैक्रियं कृत्वा तृतीयसमये मृतस्य निर्विग्रहेण च दिवि समुत्पन्नस्य तस्मिन्नेव तृतीयसमये देववैक्रियसंघातं कुर्वतः एकः संघातपरिशाटोभयसमयः संघातान्तरं भवतीति ।

अथ वैक्रियसंघातपरिशाटोभयस्य शाटस्य च जघन्यमन्तरकालमाह ।

उभयस्स चिर विउव्विय—मयस्स देवेसु विग्गहगयस्स ।
सामस्संतमुहुत्तं, तिण्ह वि तसकालमुक्कोसं ॥

उभयस्य वैक्रियस्य संबन्धिनः संघातपरिशाटलक्षणस्य समय एको जघन्यमन्तरं भवतीत्यध्याहारः । कस्य जन्तोरिदमवाप्यत इत्याह चिरमन्तर्मुहूर्त्तमानं कालं विकुर्व्य वैक्रियवपुषि स्थित्वा मृतस्य देवेष्वविग्रहगतस्य जन्तोः संघातसमयोऽन्तरं प्राप्यते । अयमत्र भावार्थो य औदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिमाननुपकलितवैक्रियशरीरः परिपूर्णं तिर्यङ्मनुष्यवैक्रियस्थितिकालं यावत्संघातपरिशाटौ विधाय म्रियते अविग्रहेण च सुरालये समुत्पद्य प्रथमसमये वैक्रियसंघातं करोति द्वितीयादिसमयेषु

तु संघातपरिशाटौ तत्संबन्धिन उभयस्य चान्तरे स एवोक्तः संघातसमयो भवतीति । ननु यद्येवं तर्हि 'चिर विउव्वियमयस्से' त्यत्र चिरग्रहणमपार्थकमिह हि मनुष्यादिषु यश्चिरं स्तोकं वा कालं वैक्रियसंघातपरिशाटौ कृत्वा अविग्रहेण दिवि समुत्पद्यते तेनैव प्रयोजनं किं चिरशब्दविशेषणेन सत्यम् । किंतु प्रथमसमयेऽपि मरणनिषेधार्थमित्थमुक्तम् यदि वा अनन्तरं वैक्रियसंघातानन्तरं भावयता सप्रयोजनत्वाद् द्वितीयादिसमयेष्वाकस्मिकसमाप्तवैक्रियस्यापि मरणमुक्तम् अत्र त्वसमाप्तवैक्रियस्यापि मरणोपदर्शनेन किंचित्प्रयोजनमिति ख्यापनार्थं चिरग्रहणेन परिपूर्णान्तर्मुहूर्त्तिकमनुष्यादिवैक्रियस्थितिकालानुज्ञामपि कृतवानाचार्य इत्यदोषः (सारुस्संतमुहुत्तं ति) एकदा वैक्रियसर्वशाटं कृत्वा पुनरपि तत्सर्वशाटं कुर्वतोऽन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यमन्तरं भवति । कथमिति चेदुच्यते कश्चिदौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिमान् कश्चित्प्रयोजनवैक्रियं शरीरं कृत्वा सर्वपर्यन्ते तस्य सर्वपरिशाटं विधाय पुनरौदारिकशरीरमाश्रयति तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा पुनरप्युत्पन्नप्रयोजने वैक्रियं करोत्यन्तर्मुहूर्त्तं च तत्र स्थित्वा पुनरप्यौदारिकमागच्छद्वैक्रियस्य सर्वशाटं करोत्येवं च सति वैक्रियशरीरगतमन्तर्मुहूर्त्तद्वयं भवति । अनेन चान्तर्मुहूर्त्तद्वयेनापि बृहत्तरमेकमवान्तर्मुहूर्त्तं विवक्षितमतो युज्यते जघन्यं वैक्रियशाटान्तरमन्तर्मुहूर्त्तमिति तदेवं वैक्रियसंघातोभयशाटान्तरं जघन्योत्तरकाल उक्तः अथ त्रयाणामप्येतेषामुत्कृष्टमन्तरकालमाह । " तिएहवित्यादि " इह यदा कश्चिज्जीवो वैक्रियशरीरस्य संघातादित्रयं कृत्वा वनस्पतिषूत्पद्यते तत्र चानन्तकालमतिवाह्य तत उद्वृत्तः पुनरपि कश्चिद्वैक्रियशरीरमासाद्य तत्संघातादित्रयं करोति तदा तत्संबन्धेन संघातपरिशाटोभयत्वलक्षणस्य त्रयस्यापि स एवानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूपो वनस्पतिकालो अन्तरे भवतीति ।

अथाहारकशरीरसंघातपरिशाटतदुभयानां
कालोऽन्तरं च वक्तव्यं तत्राह ।

आहारोभयकालो, दुविहो अंतरत्तियं जहन्नं ति ।
अंतोमुहुत्तमुक्को–समद्धपरियट्टमूणं च ॥

आहारकशरीरसंघातः परिशाटश्च प्रत्येकं सामायिको भवति स च सुगमत्वाद्गाथायां न लिखितः स्वयमेव तु द्रष्टव्य इति । संघातपरिशाटोभयकालस्तु द्विविधः उत्कृष्टतो जघन्यतश्च । संघातपरिशाटोभयानां यदन्तरत्रिकमन्तरकालत्रयं जघन्यं तदेतत्सर्वमन्तर्मुहूर्त्तकालमानमवगन्तव्यं केवलं तदेवान्तर्मुहूर्त्तं लघुवृहच्च तारतम्येनावसेयमिति । आहारकशरीरं स ह्यन्तर्मुहूर्त्तकालस्थितिकमेव भवत्यतस्तत्संबन्धिनः संघातपरिशाटोभयस्य जघन्यत उत्कृष्टतश्चान्तर्मुहूर्त्तकालभावित्वाच्च सिद्धमेवेति एकदा कृतं चाहारकशरीरं प्रयोजनसिद्धौ परित्यज्य चतुर्दशपूर्वधरो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तात्पुनरप्युत्पन्नप्रयोजनस्तत्करोत्यतस्तत्कृतसंघातपरिशाटोभयानां भवति जघन्यमन्तर्मुहूर्त्तमिति । उत्कृष्टन्त्वन्तरं त्रयाणामपि संघातपरिशाटोभयानां किंचिन्न्यूनार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तरूपं भवति । इदं च यश्चतुर्दशपूर्वधर आहारकशरीरं कृत्वा प्रमादात्प्रतिपत्तौ वनस्पत्यादिषु यथोक्तकालं स्थित्वा पुनरपि चतुर्दशपूर्वधरत्वमवाप्याहारकशरीरं करोति तस्य द्रष्टव्यमिति ।

अथ तैजसकार्मणविषयं संघातादिविचारं चिकीर्षुराह ।

तेयाकम्माणं पुण, संताणाणाइओ न संघाओ ।
भव्वाण होज्ज सामो, सेलेसी चरिमसयम्मि ॥
उभयं अणाइनिहणं, संतं भव्वाण होज्ज केसिंचि ।
अंतरमणाइ भावा, अच्चंतविओगओ णेसिं ॥

तैजसकार्मणयोः पुनः संघातस्तावन्न भवत्येव तयोरनादिकालात्संतानेन प्रवृत्तत्वात्संघातस्य तु गृह्यमाणशरीरप्रथमसमयविषयत्वादिति प्रागप्युक्तं सर्वपरिशाटोऽपि तैजसकार्मणयोरभव्यानां न भवत्येव तस्य त्यज्यमानशरीरविषयत्वात्तेषां च तत्त्यागासंभवाद्भव्यानां तु केषांचिच्छैलेशीचरमसमये भवेच्छाटः स च सामयिको द्रष्टव्यः उभयं तु संघातपरिशाटरूपम् आदिश्च निधनं चादिनिधने न विद्येते आदिनिधने यस्य तदनादिनिधनमेवाभव्यानां भवति तत्त्यागाभावाद्भव्यानां तु केषांचित्सिद्धिगमनसमये सान्तमुभयं भवेत्तदानीं सर्वथा तत्त्यागादन्तरं तु (सिंति) एतयोर्न भवत्येव अभव्यानामनादिनिधनत्वात्तयोः भव्यानां तु अनिधनत्वेऽप्यत्यन्तवियोगेन त्यागात्पुनस्तद्ग्रहणाभावात्यक्तस्य पुनर्ग्रहणाच्चान्तरकालसंभवादिति । संघातपरिशाटवक्तव्यता समाप्ता तदेवमुक्तं सज्जीवप्रयोगकरणम् ।

अथाजीवप्रयोगकरणमभिधित्सुराह ।

अज्जीवाणं करणं, नेयं पडसंखसगमथूणाणं ।
संघायणपरिसाडण, उभयं तदनोभयं चेव ॥

अजीवानां करणं ज्ञेयं किं तदित्याह । संघातनं तन्तूनां पटे परिशाटनमेव केवलं श्लक्ष्णीकरणं शङ्खस्य उभयं संघातपरिशाटलक्षणं तत्क्षणकीलिकादियोगाच्छकटस्य (नो भयंति) संघातपरिशाटोभयनिषेधः । स्थूणायाः केवलोर्ध्वकरणादिभावेन तदभावादिति । एवमन्यदपि यज्जीवप्रयोगादजीवानां क्रियते तत्सर्वमजीवकरणमिति दर्शयन्नाह ।

जं जं निज्जीवाणं, कीरइ जीवप्पओग ओतं तं ।
वन्नाइ रूवकम्माइ, वा वि तदज्जीवकरणं ति ॥

एवं यद्यदजीवानां वस्त्रकाष्ठपाषाणादीनां जीवप्रयोगाज्जीवव्यापारेण कुसुम्भमञ्जिष्ठादिनिर्वर्णादि क्रियते पुत्तलिकादिकं रूपकर्मादि वा विधीयते तत्सर्वमजीवकरणमिति । तदेवमुक्तं द्रव्यकरणम् । विशे० । उत्त० । सूत्र० ।

अथ क्षेत्रकरणमभिधित्सुराह ।

इह दव्वं चेव निवा–समेत्तपज्जायमाव्वओ खेत्तं ।
जम्हा नन्नं न तस्स, पकरणं निव्वत्तिओ भिहियं ॥
होज्जं व पज्जायाउ, य ज्जाओ जेण दव्वओ णओ ।
उवयारमेत्तओ वा, जह लोए सालिकरणाई ॥
खेत्ते व जत्थ करणं, तिक्खित्तकरणं तहं जहासिद्धं ।
खेत्तं पुन्नाणिणं पुन्न–करणसंबंधमेत्तेणं ॥

इह द्रव्यमेव सम्भवः क्षेत्रं भण्यते कुत इत्याह । "निवासेत्यादि " मात्रशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगो निवासपर्यायभावमात्रत इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति । क्षि निवासगत्योः इति क्षियन्ति निवसन्ति जीवा अजीवाश्चात्रेत्यौणादिके त्रप्रत्यये क्षेत्रमित्यस्मादन्वर्थाद्द्रव्यमपि नभः क्षेत्रमुच्यते तस्य च नभसो निर्वृत्तितो निष्पादकेन करणं नाभिहितमकृत्रिमत्वादस्येति । यदि तस्य करणं नास्ति तर्हि करणभेदेषु पाठः किमर्थमित्याशङ्क्याह । (होज्ज वेत्यादि) भवेद्वा क्षेत्रस्याऽपि करणं (पज्जायाउत्ति) घटपटादिसंयोगवियोगादिपर्यायानाश्रित्येत्यर्थः । पर्याया हि

सर्वेषामपि वस्तूनामनित्या इत्यतस्तेषां करणमपि संभवति । यदि नामपर्यायाणां करणं संभवति तर्हि द्रव्यस्य किमायातमित्याह पर्यायो येन द्रव्यादनन्योऽभिन्नस्तेन पर्यायस्य करणे द्रव्यस्यापि करणं भवत्येवेति उपचारतो वा क्षेत्रस्य करणं भण्यते (जह लोए सालिकरणा इति) यथा लोके वक्तारो भवन्ति शालिक्षेत्रमिक्षुक्षेत्रं वा मया कृतमित्यादि । अथवा क्षेत्रस्य करणमिति षष्ठीतत्पुरुषो न क्रियते किंतु क्षेत्रे करणं क्षेत्रकरणं सप्तमीतत्पुरुष इति दर्शयन्नाह (खेत्ते वेत्यादि) अथवा यत्र क्षेत्रे करणं पुण्यादेस्तत्क्षेत्रकरणं यथा लोकोऽपि सिद्धमेतत्पुण्यमिदमुज्जयन्तशत्रुंजयादिक्षेत्रं पुण्यकरणसंबन्धमात्रेण तत्र हि ये दानानशनादिकं कुर्वन्ति तेषां महत्पुण्यं भवतीत्यतः पुण्यस्य तत्र करणात्पुण्यक्षेत्रं तदिति, विशे० । आ० म० द्वि० उत्त० ।

पुनः क्षेत्रकरणम् ।

ए विणा आगासेणं, कीरइ जं किंचि खेत्तमागासं ।
वंजणपरियावन्नं, उच्छुकरणमादियं बहुहा ॥ उत्त०नि० ।

आह नित्यत्वात् क्षेत्रकरणं न संगच्छते तत्कथं क्षेत्रकरणसंभव उच्यते न विनाकाशेन क्रियते न निर्वर्त्यते यदिति यस्मात्किंचिदित्यल्पमपि द्व्यणुकं स्कन्धाद्यतस्तत्प्राधान्याद्द्रव्यकरणमपि क्षेत्रकरणमुच्यते इत्युपस्कारः ननु यथाकाशेन विना न किंचित्क्रियते तदाकाशकरणेनैवास्तु कथं क्षेत्रकरणतोच्यते क्षेत्रमिति क्षेत्रशब्दवाच्यमाकाशं तथा च पर्यायशब्दत्वादनयोरित्थमभिधानमदुष्टमेवेति भावः तथ व्यञ्जनशब्दस्तस्य पर्यायोऽन्यथान्यथा च भवनं व्यञ्जनपर्यायः तमापन्नं प्राप्तं व्यञ्जनपर्यायापन्नम् (उच्छुकरणमाइयत्ति) प्रक्रमात्मकारस्य चागमिकत्वादिक्षु क्षेत्रकरणादिकं बहुधा बहुप्रकारमेकत्वेऽपि क्षेत्रस्य इक्षुक्षेत्रादिकरणरूपेणाभिलापस्य बहुप्रकारत्वात्तथा च संप्रदायः "वंजणपरियावत्तं नाम जं खेत्तंति अभिलप्पति तं जहा उच्छुखेत्तकरणं सालिखेत्तकरणं तिलखेत्तकरणं" तिलक्षेत्रकरणमेवमादि अथवा यस्मिन् क्षेत्रकरणं क्रियते वर्ण्यते वा तत् क्षेत्रकरणमिति गाथार्थः । उत्त० ४ अ० ।

साम्प्रतं कालकरणाभिधित्सयाऽऽह ।

कालो जो जावइओ, जं कीरइ जम्मि जम्मि कालम्मि ।
ओहेण णामतो पुण, करणा एक्कारस हवंति ॥

(कालो जो इत्यादि) कालस्याभिमुख्यं करणं न संभवतीत्यौपचारिकं दर्शयति कालो यो यावानिति । यः कश्चिद् घटिकादिको नलिकादिना व्यवच्छिद्य व्यवस्थाप्यते तद्यथा षट्पदकपलमाना घटिका द्विघटिको मुहूर्त्तस्त्रिंशन्मुहूर्त्तमहोरात्रमित्यादि तत्कालकरणमिति । यद्वा यत् यस्मिन् काले क्रियते यत्र वा काले करणं व्याख्यायते तत् कालकरणमेतदोघतः[सूत्र०१ श्रु.१अ.१उ.] एतद्गाथाव्याख्यां प्रकारान्तरेणाह (कालोगाहा) कालो यः समयादिर्यावत्परिमाणः यत्करणनिष्पत्त्यपेक्षाकारणत्वेन व्याप्रियते । किमुक्तं भवति यस्य भोजनादेर्यावता घटिकाद्वयादिकालेन निष्पत्तिस्तस्य स एव कालकरकणं तत्रैव तस्य साधकतमत्वेन विवक्षितत्वात् । यदि वा यत्करणं क्रियते निष्पाद्यते यस्मिन् यस्मिन् काले तस्य स एव कालः करणम् । कालकरणमत्राधिकरणसाधकत्वेन विवक्षितत्वात् करणशब्दस्य ओघेनेति नामादिविशेषानपेक्षमेतत्कालकरणं तथाच वृद्धाः "कालकरणं जं जं जावतिएण कालेण कीरति जम्मि वा" 'कालमिति' इहापि कालस्याकृत्रिमत्वेन करणसंभवादित्थमुपन्यासः नामतः पुनर्भवत्येकादश करणानि कालविशेषरूपाणि चतुर्यामप्रमाणानि । करणत्वं तेषां तत्र क्रियासाधकतमत्वादिति गाथार्थः उत्त०४अ० ।

अथ कालकरणं वाच्यं तत्र कालस्याप्यकृत्रिमत्वात्करणं नास्ति द्रव्यपर्यायत्वविवक्षया तस्य तद्भवेद्वा इति दर्शयति ।

जं वत्तणाइरूवो, कालो दव्वस्स जेव पज्जाओ ।
तो तेण तस्स तम्मि व, न विरुद्धं सव्वहा करणं ॥

यस्मात्प्रागुक्तस्वरूपो वर्त्तमानादिरूपः कालो द्रव्यस्यैव पर्यायः पर्यायश्च द्रव्यादभिन्नस्ततो यथा द्रव्यस्य तथा तस्यापि करणं न विरुद्धम् । कथमित्याह । तेन कालेन तस्य वा तस्मिन्वेत्यादिभिः सर्वथा सर्वैरपि प्रकारैरिति ।

अथवा ज्योतिष्कमार्गप्रसिद्धमेवेह कालकरणं गृह्यत इति दर्शयति ।

अहवेह कालकरणं, ववाइ जोइसियगइविसेसेणं ।
सत्तविहं तत्थ चर–चउव्विहं थिरमहक्खायं ॥

अथवा ववबालवादिरूपं चन्द्रादित्यादिज्योतिषिकदेवगतिविशेषेण यद्भवति तदिह कालकरणं गृह्यते । तत्र च ववादिरूपे कालकरणं सप्तविधं चरम् अन्यान्यतिथिषु भावाच्चतुर्विधं तु स्थिरमाख्यातं नियतास्वेव तिथिषु भावादिति ।

तत्र यत्सप्तविधं चरं तदाह ।

ववं च बालवं चेव, कोलवं थीविलोयणं ।
गरादि वणियं चेव, विट्ठी हवइ सत्तमा ॥

अस्य सप्तविधस्यापि चरस्य करणस्यानयनोपायमाह ।

पक्खतिहउ दुगुणिया, दुरूवरहिया य सुक्कपक्खम्मि ।
सत्तहिए देवसियं, तं चिय रूवाहियं रत्ति ॥

कृष्णस्य शुक्लस्य वा प्रस्तुतपक्षस्य यास्तिथयोऽतिक्रान्तास्ता द्विगुणीक्रियन्ते ततश्चागतराशेः सप्तभिर्भागो न्हियते एवं च कृते यत्करणमागच्छति तत्प्रस्तुततिथौ कृष्णपक्षे दैवसिकं विज्ञेयम् । रूपाधिकं तु तदेव रात्रौ यथा कृष्णदशम्यां द्विगुणितायां विंशतिर्भवति ततः सप्तभिर्भागे हृते षट् शेषा भवन्ति । तथा चेदं षष्ठं वणिजाभिधानं दैवसिकं करणं लब्धं रूपे तत्र प्रक्षिप्ते रात्रिगतं विष्टयभिधानं सप्तमं करणं लभ्यते एवमन्यत्रापि कृष्णपक्षे द्रष्टव्यम् । शुक्लपक्षे विशेषमाह । (दुरूवरहिया य सुक्कपक्खम्मिति) शुक्लपक्षे द्विगुणिततिथिराशेर्द्वौ पात्येते ततो दैवसिकं करणमागच्छति सप्तभिश्च भागो न पूर्यते ततस्तद्दैवसिकं षष्ठं करणं लब्धं रूपे तु प्रक्षिप्ते सप्तमं विष्टयभिधानं रात्रिगतं करणं लभ्यते एवमन्यान्यपि शुक्लपक्षे भावनीयानि । इह च लोकप्रसिद्धकरणनयनोपायोऽन्योऽपि विद्यते । तद्यथा " तिहिदुगुणी य किहिं कणीसत्तहिं हरणं सेसं करणमिति " युक्तः केवलमिह मासतिथयो द्विगुणयितव्या यदागच्छती तद्रात्रिगतकरणं रूपे तु पातिते दिवसगतं द्रष्टव्यमिति ।

अत्र चतुर्विधस्थिरकरणमाह ।

सउणिचउप्पयनागं, किंथुग्घं करणं थिरचउहा ।
बहुलचउद्दसरत्तिं, सउणिं सेसं तियं कमसो ॥

कृष्णचतुर्दशीरात्रौ सदावस्थितं शकुनिनामकं करणं भवति अमावस्यायां दिवसे चतुष्पदं रात्रौ नागं प्रतिपदि दिवा किंस्तुघ्नं शेषरजनीदिनयोर्यथोक्तोपायतश्चरकरणमवसेयमिति । विशे० ॥

करणानां भेदानाह ।

कति णं भंते ! करणा पम्मत्ता ? गोयमा ! एक्कारस करणा पम्मत्ता तंजहा बवं बालवं कोलवं थीविलोअणं गराइ वणिज्ज विट्ठी सउणी चउप्पयं नागं किंथुग्गं एतेसि णं भंते ! एक्कारसण्हं करणाणं कति करणा चरा कति करणा थिरा पण्णत्ता ? गोअमा ! सत्त करणा चरा चत्तारि करणा थिरा पण्णत्ता तंजहा बवं बालवं कोलवं थीविलोअणं गरादिं वणिज्जं विट्ठी एतेसि णं सत्त करणा चरा । चत्तारि करणा थिरा पण्णत्ता तंजहा सउणि चउप्पयं णागं किंथुग्गं एते णं चत्तारि करणा थिरा पण्णत्ता । एतेसि णं भंते ! चरा थिरा कया भवंति ? गोअमा ! सुक्कपक्खस्स पडिवाए राओ बवे करणे भवइ बितिआए दिवा बालवे करणे भवइ राओ कोलवे करणे भवइ ततिआए दिवा थीविलोअणं करणं भवइ राओ गराइं करणं भवइ चउत्थीए दिवा वणिजं राओ विट्ठी पंचमीए दिवा बवं राओ बालवं छट्ठीए दिवा कोलवं राओ थीविलोअणं सत्तमीए दिवा गरातिं राओ वणिजं अट्ठमीए दिवा विट्ठी राओ बवं णवमीए दिवा बालवं राओ कोलवं दसमीए दिवा थीविलोअणं राओ गराइं एक्कारसीए दिवा वणिजं राओ विट्ठी बारसीए दिवा बवं राओ बालवं तेरसीए दिवा कोलवं राओ थीविलोअणं चउद्दसीए दिवा गरातिं करणं राओ वणिज्जं पुण्णिमाए दिवा विट्ठीकरणं राओ बवं करणं भवइ । बहुलपक्खस्स पडिवाए दिवा बालवं राओ कोलवं बितिआए दिवा थीविलोअणं राओ गरादिं ततिआए दिवा वणिजं राओ विट्ठी चउत्थीए दिवा बवं राओ बालवं पंचमीए दिवा कोलवं राओ थीविलोअणं छट्ठीए दिवा गराइं राओ वणिज्जं सत्तमीए दिवा विट्ठी राओ बवं अट्ठमीए दिवा बालवं राओ कोलवं णवमीए दिवा थीविलोअणं राओ गराइं दसमीए दिवा वणिज्जं राओ विट्ठी एक्कारसीए दिवा बवं राओ बालवं बारसीए दिवा कोलवं राओ थीविलोअणं तेरसीए दिवा गराइं राओ वणिज्जं चउद्दसीए दिवा विट्ठी राओ सउणि अमावसाए दिवा चउप्पयं राओ णागं सुक्कपक्खस्स पडिवाए दिवा किंथुग्घं करणं भवइ ।

कति ? भदन्त ! करणानि प्रज्ञप्तानि गौतम ! एकादश करणानि प्रज्ञप्तानि तद्यथा बवं बालवं कौलवं स्त्रीविलोचनं अन्यत्रास्य स्थाने तैतिलमिति गरादि अन्यत्र गरं वणिजं विष्टिः शकुनिः चतुष्पदं नागं किंस्तुघ्नमिति । एतेषां चरस्थिरत्वादिव्यक्तिप्रश्नमाह (एतेसि णं इत्यादि) एतेषां भदन्त ! एकादशानां करणानां मध्ये कति करणानि चराणि कति करणानि स्थिराणि प्रज्ञप्तानि । चकारोऽत्र गम्यः भगवानाह गौतम ! सप्त करणानि चराणि अनियततिथि भावित्वात् । चत्वारि स्थिराणि नियत तिथि भावित्वात् तद्यथा बवादीनि सूत्रोक्तानि ज्ञेयानि एतानि सप्त करणानि चराणि इत्येतन्निगमनवाक्यम् । चत्वारि करणानि स्थिराणि प्रज्ञप्तानि तद्यथा शकुन्यादीनि सूत्रोक्तानि एतानि चत्वारि करणानि स्थिराणि प्रज्ञप्तानि इति तु निगमनवाक्यम् । प्रारम्भकनिगमनवाक्यद्वयभेदेन नात्र पुनरुक्तिः । एतेषां स्थाननियमं प्रष्टुमाह (एतेसिणमित्यादि) सर्वं चैतन्निगदसिद्धं नवरं दिनरात्रिविभागेन यत् पृथक् २ कथनं तत् करणानां तिथ्यर्द्धप्रमाणत्वात् कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ शकुनिः अमावस्यायां दिवा चतुष्पदं रात्रौ नागं शुक्लपक्षप्रतिपदि दिवा किंस्तुघ्नं चेति चत्वारि स्थिराणि । अास्वेव तिथिषु भवन्तीत्यर्थः । जं० ७ वक्ष० । चं० प्र० । सूत्र० । आ० म० द्वि० ।

एषु कर्त्तव्यमाह ।

बव १ बालवं च २ तह कोलवं ३ च थीलोयणं ४ गराइं ५ च ।
वणियं ६ विट्ठी य तहा, ७ सुद्धपडिवए निसाई य ॥ ४२ ॥
सउणि चउप्पयनागं, किंथुग्गं च करणा धुवा हुंति ॥
किण्हचउद्दसरत्तिं, सउणी पडिवज्जए करणं ॥ ४३ ॥
का न णु तिहिं विउणं, जण्हे गो साहए न पुण काले ॥
सत्तहिं हरिज्जभागं, जं सेसं तं भवे करणं ॥ ४४ ॥
बवे य बालवे चेव, कोलवे वणिए तहा ॥
नागे चउप्पए या वि, सेहनिक्कमणं करे ॥ ४५ ॥
चउवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्नं गणिवायए ।
सउणम्मि य विट्ठीए, अणसणं तत्थ कारए ॥ ४६ ॥
(दारम् ४) गुरुसुक्का सोमदिवसे, सेहनिक्खवणं करे ।
चउवट्ठावणं कुज्जा, अणुन्नं गणिवायए ॥ ४७ ॥
रविभोमकोणदिवसे, चरणकरणाणि कारए ।
तवो कम्माणि कारिज्जा, पाओवगमणाणि य ॥ ४८ ॥
(दारम् ५) रुद्दो उ मुहुत्ताणं, आईच्छिन्नवइ अंगुलच्छाओ ।
सेओ हवइ सट्ठी, बारसमित्तो हवइ ज्जुत्तो ॥ ४९ ॥
छच्चेव य आरभडो, सावित्तो पंच अंगुलो होइ ।
चत्तारि य वइरिज्जो, दुच्चेव य सावसू होइ ॥ ५० ॥
परिमंडलो मुहुत्तो, अमीवि मज्झंति तेट्ठिए दोइं ।
दो होइ रोहणो पुण, बलो य चउरंगुलो होइ ॥ ५१ ॥
विजओ पंचंगुलिओ, छच्चेव य नेरिओ हवइ जुत्तो ।
वरुणो य हवइ बारस, अज्जमदे बो हवइ सट्ठी ॥ ५२ ॥
छन्नउइ अंगुलाइं, पुण होइं भगोत्तर अत्थमणावलए ॥
एए दिवसमुहुत्ता, रत्तिमुहुत्ते अओ वुच्छं ॥ ५३ ॥
हवइ विवरीयधणो, पमोयणो अज्जमित्तहासीणो ।
रक्खसपासाइज्जो, सोमो बंभो बहस्सइया ॥ ५४ ॥
विण्हू तहा पुणो रि, त्तो रत्तिमुहुत्ता वियाहिया ।
दिवसमुहुत्तगईए, छायामाणं मुणेयव्वं ॥ ५५ ॥
मित्ते नंदे तह सुट्ठिए य, अभिइ चंदे तहेव य ।
वरुणग्गो वेसईसाणे, आणंदे विजएइ य ॥ ५६ ॥
एए मुहुत्तजोएसु सेहनिक्खमणं करे ॥

चउवट्ठावणाइ च, अणुन्ना गणिवायए ॥ ५७ ॥
बंभे व लय वाउम्मि, उसभे वरुणे तहा ।
अणसणं पायवगमणं, उत्तमट्ठं च कारए ॥ ५८ ॥
(दारम् ६) पुन्नामधिज्ज सउणेसु, सेहनिक्खमणं करे ।
थीनामेसु सउणेसु, समाहिं कारए विऊ ॥ ५९ ॥
नपुंसएसु सवणेसु, सव्वकम्माणि वज्जए ।
वोमेसेसु निमित्तेसु, सव्वारंभाणि वज्जए ॥ ६० ॥
तिरियं वाहरंतेसु, अद्धाणगमणं करे ।
पुप्फिए फलिए वच्छे, सज्झायं करणं करे ॥ ६१ ॥
दुमखंधे वाहिरंतेसु, सेहुवट्ठावणं करे ।
गयणवाहरंतेसु, उत्तमट्ठं तु कारए ॥ ६२ ॥
विलमूले वाहरंतेसु, ठाणा तु परिगिन्हए ।
उप्पयम्मि वयंतेसु, सउणेसु भरणं भवे ॥ ६३ ॥
पक्कमंतेसु सउणेसु, हरिं तुट्ठिं च वागरे ।
(दारम् ७) चलरासिविलग्गेसुं, सेहनिक्खमणं करे ॥६४॥
थिररासिविलग्गेसुं, चउवट्ठावणं करे ।
सुये खंधाअणुनाओ, उद्दिसे य समुद्दिसे ॥ ६५ ॥
विसरीरविलग्गेसु, सज्झायं करणं करे ।
रविहोराविलग्गेसुं, सेहनिक्खमणं करे ॥ ६६ ॥
चंदहोराविलग्गेसु, सेहीणं संगहं करे ।
समुद्दे कोणलग्गेसु, वरणं करणं तु कारए ॥ ६७ ॥
कूणदिकाणलग्गेसुं, उत्तमट्ठं तु कारए ।
एवं लग्गाणि जाणिज्जे, दिकाणे सुगसंसओ ॥ ६८ ॥
सोमग्गहविलग्गेसु, सेहनिक्खमणं करे ।
कूरग्गहविलग्गेसु. उत्तमट्ठं तु सारए ॥ ६९ ॥
राहुकेउविलग्गेसु, सव्वकम्माणि वज्जए ।
विलग्गेसु पसत्थेसु, सुपसत्थाणि आरभे ॥ ७० ॥
अप्पसत्थेसु, लोगेसु, सव्वकम्माणि वज्जए ।
विलग्गणिज्जाजाणिज्जा, गहणं जिणसासिए ॥ ७१ ॥
न निमित्ता विवज्जंति, न मिच्छा रिसिभासियं ।
(दारम् ८) दुद्दिट्ठेणं निमित्तेणं,
आदेसो उ विणस्सइ ॥ ७२ ॥
सुदिट्ठेणं निमित्तेणं आदेसो न विणस्सइ ।
जा य अप्पाइया भासा, जं च जंपंति बालया ॥ ७३ ॥
जं वि त्थीओ य भासंति, नत्थि तस्स वइक्कमो ।
तज्जाएण य तज्जायं, तन्निभेण य तन्निभं ॥ ७४ ॥
तारूवेण य तारूवं, सरिसं सरिसेण निद्दिसे ।
इत्थीपुरिसनिमित्तेसुं, सेहनिक्खमणं करे ॥ ७५ ॥
नपुंसकनिमित्तेसु, सव्वकज्जाणि वज्जए ।
वामिस्सेसु निमित्तेसु, सव्वारंभे विवज्जए ॥ ७६ ॥
निमित्ते किंचि मे नत्थि, निमित्ते भाविसुज्झए ।
जेण सिद्धा वियाणंति, निमित्तुप्पायलक्खणं ॥ ७७ ॥
निमित्तेसु पसत्थेसु, बलेसु चलिएसु य ।
सेहनिक्खमणं कुज्जा, चउवट्ठावणाणि य ॥ ७८ ॥
गणसंगहणं कुज्जा, गणहरे इत्थथावए ।
सुयक्खंधाणुन्नाओ, अणुन्ना गणिवायए ॥ ७९ ॥
निमित्तेसु पसत्थेसु, सिढिलेसु बलेसु य ।
सव्वकज्जाणि वज्जिज्जा, अप्पसाहरणं करे ॥ ८० ॥
एअत्थेसु निमित्तेसु, सुपसत्थाणि साहए ।
अप्पसत्थनिमित्तेसु, सव्वकज्जाणि वज्जए ॥ ८१ ॥
दिविसाओ निहिवलिओ,
तिहिओ वलिं तु वुच्चइ रिक्खं ।
नक्खत्ता करणमाहंसु, करणा गहदिणी बली ॥ ८२ ॥
गहादिणाउ मुहुत्तो, मुहुत्ता सउणो बली ।
सउणाओ बलविलग्गो, तओ निमित्तं पहाणं तु ॥ ८३ ॥
विलग्गाओ निमित्ताओ, निमित्तं बलमुत्तमं ।
नेतं संविज्जए लाए, निमित्ता जं बले भवे ॥ ८४ ॥
एसा बलाबलविही, समासओ कित्तिओ सुविहिएहि ।
अणुओगेण नाणगव्भो, नायव्वो अप्पमत्तेहिं ॥ ८५ ॥
गणिविज्जा पयन्नं सम्मत्तं द०प० ४ पय० ॥

अथवा भावकरणमाह ।

भावस्स व भावेण व, भावे करणंति भावकरणंति ।
तं जीवाजीवाणं, पज्जवविसेसओ बहुहा ॥

भावस्य पर्यायस्य करणं भावकरणं भावेन वा करणं तच्च जीवानां पर्यायविशेषतः पर्यायविशेषानाश्रित्य बहुधा बहुभेदं भवति तत्राल्पवक्तव्यत्वादजीवभावकरणं तावदाह ।

अपरप्पओगजं जं, अजीवरूवाइँ पज्जयावत्थं ।
तमजीवभावकरणं, तप्पज्जायप्पणावेक्खं ॥

परप्रयोगाज्जातं परप्रयोगजं न परप्रयोगजं स्वभाविकमित्यर्थः यदप्रयोगजं तदजीवभावकरणम् इति संबन्धः कथंभूतमित्याह । अजीवरूपादिपर्याया रूपं वाऽवस्थास्वरूपं यस्याजीवभावकरणस्य तदजीवरूपादिपर्यायावस्थं परप्रयोगमन्तरेणैव यदभ्राद्यजीवानां स्वाभाविकं रूपरसगन्धस्पर्शसंस्थानादिपर्यायकरणं तदजीवभावकरणमित्यर्थः, विशे० ।

तत्थ जमजीवकरणं, तं पंचविहं तु णायव्वं ।
वण्णरसगंधफासे, संठाणे चेव होइ णायव्वं ॥
पंचविहं पंचविहं, दुविहट्ठविहं च पंचविहं । उत्त० नि० ।

तत्र तयोर्मध्ये यदजीवकरणं तत्पञ्चविधं पञ्चप्रकारमेव ज्ञातव्यमवसेयमिति गाथार्थः । एतदेव स्पष्टयितुमाह (वण्णगाहा) वर्णरसगन्धस्पर्शसंस्थानं चैषोभयत्र विषयसप्तमी ततो वर्णादिविषयं भवति ज्ञातव्यमजीवकरणमिति प्रक्रमस्तत्र वर्णः कृष्णादिः रसः पञ्चविधस्तिक्तादि गन्धो द्विभेदः सुरभिरितरश्च स्पर्शोऽष्टविधः कर्कशादिः संस्थानं पञ्चविधं परिमण्डलादि एतद्भेदात्करणमप्येतद्विषयमेतावद्भेदमेवात एवाह "पञ्चविधमित्यादि" ननु द्रव्यकरणात्कोऽस्य विशेष उच्यते इह

पर्यायापेक्षया तथा भवनमभिप्रेतं द्रव्यकरणे तु द्रव्यस्यैव तथा तथोत्पादो द्रव्यास्तिकमतापेक्षयेति विशेषः ।

उक्तं च "अपरप्पओगजं जं, अजीवरूवादि पज्जया वत्थं ।
तमजीवभावकरणं, तप्पज्जाअप्पणावेक्खं ॥
को दव्वविस्ससाकरणाउ, विसेसो इमस्स णणु भणियं ।
इह पज्जवविक्खाए, दव्वट्ठियनयमयं तं च" इति गाथार्थः ॥

ननु तर्हि द्रव्यविस्रसाकरणादस्य को भेद इत्याशङ्क्याह । (तप्पज्जायप्पणावेक्खंति) तेषामजीवानां पर्याया रूपादयस्तत्पर्यायास्तेषामर्पणं प्राधान्येन विवक्षणं तत्पर्यायार्पणं तस्यापेक्षा यत्र तत्पर्यायार्पणापेक्षम । इदमुक्तं भवति । पूर्वं द्रव्यप्राधान्यविवक्षया द्रव्यविस्रसाकरणमिह तु रूपादिपर्यायप्राधान्यमपेक्ष्यैतदेव भावकरणमभिहितमिति इदं च 'तप्पज्जायप्पणावेक्खं' मित्यनेन दत्तमप्युत्तरमनवगच्छतः परस्य मतमाशङ्क्याह ।

को दव्ववीससाकरणाउ, विसेसो इमस्स नणु भणियं ।
इह पज्जायावेक्खा, दव्वट्ठियनयमयं तं च ॥ गतार्थो ।

अथाजीवकरणमाह ।

इह जीवभावकरणं, सुयकरणं सुयाभिहाणं च ।
सुयकरणं दुवियप्पं, लोइयलोउत्तरं चेव ॥
बद्धाबद्धं च पुणो, सत्थासत्थोवए सभेया उ ।
एक्केक्कं सद्दनिसी–हकरणभेयं मुणेयव्वं ॥

जीवस्य भावो जीवभावस्तस्य करणं जीवभावकरणं तच्च द्विविधं श्रुतज्ञानभावकरणं नोश्रुताभिधानं च नोश्रुतज्ञानभावकरणं चेत्यर्थः । आह ननु यथा श्रुतज्ञानं जीवस्य भावस्तथा शेषज्ञानान्यपि विद्यन्ते ततो मत्यादिज्ञानभावकरणमपि कस्मान्नोक्तम् । सत्यं किंतु यथा परायत्तत्वाद् गुरूपदेशादिना श्रुतज्ञानं क्रियते नैवं शेषज्ञानानि तेषां स्वावरणक्षयोपशमतश्चान्यांस्यत एव जायमानत्वादेवं सम्यक्त्वादयोऽपि जीवभावानैकान्तेन परायत्तास्तेषां नारकादिष्वन्यथाभावादिति । श्रुतज्ञानकरणमपि द्विविधं लौकिकं, लोकोत्तरं च । पुनरप्येकैकं द्विधा बद्धमबद्धं च । तत्र गद्यपद्यरूपतया रचितं बद्धम । इदं च शास्त्रोपदेशरूपं भवति यत्पुनरशास्त्रोपदेशरूपं कण्ठादेव स्तूयते तदबद्धम् । इदं च बद्धं च एकैकं द्विधा भवति शब्दकरणं निशीथकरणं चेति ।

अथ शब्दकरणस्य निशीथकरणस्य च व्याख्यानमाह ।

उत्तीउ सद्दकरणं, पगासपाढं च सरविसेसो वा ।
गूढत्तं तु निसीहं, रहस्ससुत्तत्थमहवा जं ॥

(उत्तीउ सद्दकरणंति) उक्तिविशेषः शब्दकरणमथवा प्रकाशपाठं शब्दकरणं यदि वा उदात्तादिस्वरविशेषः शब्दकरणमुच्यत इति । गूढो गुप्तोऽनवगम्यमानोऽर्थोऽस्य तद्गूढार्थं पुनर्निशीथकरणमुच्यते । अथवा यद्रहस्यसूत्रार्थं तन्निशीथकरणमुच्यते यथा निशीथाध्ययनं रहस्यमप्रकाश्यं सूत्रमर्थश्च यस्य तद्रहस्यसूत्रार्थमिति समासः ।

किं पुनस्तल्लौकिकं लोकोत्तरं वा बद्धश्रुतमित्याह ।

लोए अणिबद्धाइं, अनिद्दियपञ्चाइयाइँ करणाइं ।
पंचादेससयाइं, मरुदेवाईणि उत्तरिए ॥

लोके अनिबद्धान्युपदेशमात्ररूपाणि न पुनः शास्त्रनिबद्धानि मल्लानां करणविशेषरूपाण्यनिद्दिकादिप्रत्यङ्किकादीनि विज्ञेयानि । लोकोत्तरे त्वनिबद्धानि पञ्चशतान्यादेशानां बोद्धव्यानि (मरुदेवाईणित्ति) मरुदेव्यादेश आदौ येषां तानि मरुदेव्यादीनि पञ्चादेशशतानि यथा अत्यन्तस्थावरा अनादिवनस्पतिकायादुद्धृत्य मरुदेवी प्रथमजिनमाता सिद्धेति । यदुक्तं "उत्तीउसद्दकरणमित्यादि" तत्र प्रेर्यं परिहारं चाह ।

भावकरणाहिगारे, किमिहं सद्दाइदव्वकरणेणं ।
भण्णइ तत्थ वि भावो, विवक्खिओ तव्विसिट्ठो उ ॥

नन्विह भावकरणाधिकारे किमप्रस्तुनेन शब्दादिद्रव्यकरणोपन्यासेन आदिशब्दगतानेकभेदसंग्राहकः भण्यते अत्रोत्तरं तत्रापि शब्दद्रव्यकरणे भाव एव भावश्रुतमेव विवक्षितं कथंभूतो भावस्तद्विशिष्टः शब्दविशिष्टः । अयमभिप्रायः प्रकाशपाठादिके शब्दकरणेऽपि न केवलं शब्द एव विवक्षितः किं तु यत्तस्य कारणरूपं कार्यरूपं च भावश्रुतं तदेव शब्दविशिष्टमिह विवक्षितमित्यदोष इति । उक्तं श्रुतकरणम ।

अथ नोश्रुतकरणमाह ।

नोसुयकरणं दुविहं, गुणकरणं जुंजणाभिहाणं च ।
गुणकरणं तवसंजम–करणं मूलुत्तरगुणं वा ॥

नो शब्दस्य सर्वनिषेधवचनाच्छ्रुतव्यतिरिक्तं यत्तपःसंयमादिरूपस्य जीवभावस्य करणं तन्नोश्रुतभावकरणम तच्च द्विविधं गुणकरणं तथा (जुंजणाभिहाणं ति) युज्यन्त इति योगा मनःप्रभृतयस्तेषां यत्करणं यद्योजनाभिधानं करणमिति तत्र गुणकरणं तपःसंयमयोः करणम । अथवा मूलगुणकरणमुत्तरगुणकरणं च गुणकरणमुच्यत इति ।

अथ योगकरणव्याख्यानमाह ।

मणवयणकायकिरिया, पन्नरसविहा उ जुंजणाकरणं ।
सामाइयकरणमिणं, किं नामाईण होज्जाहिं ॥

सत्यादिभेदतश्चतुर्विधं मनः चतुर्विधं वचनमौदारिकमिश्रादिभेदात्सप्तविधः कायः इत्येवमेतत्क्रियाऽपि पञ्चदशविधा योजनाकरणत्वेनावगन्तव्या तदेवमवसितं भावकरणम । तदवसाने चोक्तं नामादिभेदतः षड्विधमपि करणमिति, विशे० । आ० म० द्वि० । उत्त० । आव० ।

प्रकारान्तरेण भावकरणप्रतिपादनायाह ।

भावे पओगवीसस, पओगसामूलउत्तरे चेव ।
उत्तरकमसु य जोवण–वण्णादी भोअणाईसु ॥१४॥

(भावे पओगेत्यादि) भावकरणमपि द्विधा प्रयोगविस्रसाभेदात् । तत्र जीवाश्रितं प्रायोगिकं मूलकरणं पञ्चानां शरीराणां पर्याप्तिस्तानि हि पर्याप्तिनामकर्मोदयादौदयिके भावे वर्त्तमानो जीवः स्ववीर्यजनितेन प्रयोगेण निष्पादयति । उत्तरकरणं तु गाथापश्चार्द्धेनाह । उत्तरकरणं क्रमश्रुतयौवनवर्णादिचतूरूपम तत्र क्रमकरणं शरीरनिष्पत्त्युत्तरकालं बालयुवस्थविरादिक्रमेणोत्तरोत्तरोऽवस्थाविशेषः । श्रुतकरणं तु व्याकरणादिपरिज्ञानरूपोऽवस्थाविशेषोऽपरकलानां परिज्ञानरूपश्चेति । यौवनकरणं कालकृतो वयोऽवस्थाविशेषो रसायनाद्यापादितो वेति । तथा वर्णगन्धरसस्पर्शकरणं विशिष्टेषु भोजनादिषु सत्सु यद्विशिष्टवर्णाद्यापादनमित्येतच्च पुद्गलविपाकित्वाद्वर्णादीनामजीवाश्रितमपि द्रष्टव्यमिति ॥ १४ ॥

इदानीं विस्रसाकरणमभिधित्सयाऽऽह ।

वण्णादिया य वण्णा–दिएसु जे केइ वीससा मेला ।
ते हुंति थिरा अथिरा, छायातवदुद्धमादीसु ॥१५॥

(वरणा इत्यादि) वर्णादिका इति रूपरसगन्धस्पर्शास्ते यदा परेषामपरेषां वा स्वरूपादीनां मिलन्ति ते वर्णादिमेलका विस्रसाकरणम् । ते च मेलकाः स्थिरा असंख्येयकालावस्थायिनोऽस्थिराश्च क्षणावस्थायिनः। संध्यारागाभ्रेन्द्रधनुरादयो भवन्ति । तथा छायात्वेनातपत्वेन च पुद्गलानां विस्रसापरिणामत एव परिणामो भावकरणम् । स्तनप्रच्यवनानन्तरं दुग्धादेश्च प्रतिक्षणं कठिनाम्लादिभावेन गमनमिति ॥ १५ ॥

सांप्रतं श्रुतज्ञानमधिकृत्य मूलकरणाऽभिधित्सयाऽऽह ।

मूलकरणं पुण सुते, तिविहे जोगे सुजासुभज्झाणे ।
ससमयसुएण पगयं, अज्झवसाणेण य सुहेणं ॥१५॥

(मूलेत्यादि) श्रुते पुनः श्रुतग्रन्थे मूलकरणमिदं त्रिविधे योगे मनोवाक्कायलक्षणे व्यापारे शुभाशुभे च ध्याने वर्त्तमानैर्ग्रन्थरचना क्रियते । तत्र लोकोत्तरैः शुभाशुभध्यानावस्थितैर्ग्रन्थरचना विधीयते लोके त्वशुभध्यानाश्रितैर्ग्रन्थग्रन्थनं क्रियत इति लौकिकग्रन्थस्य कर्मबन्धहेतुत्वात् कर्तुरशुभध्यायित्वमवसेयम् इह तु सूत्रकारस्य तावत्स्वसमयेन शुभाध्यवसायेन च प्रकृतं यस्माद्गणधरैः शुभध्यानावस्थितैरिदमङ्गीकृतमिति ॥१६॥ तेषां च ग्रन्थरचनां प्रति शुभध्यायिनां कर्मद्वारेण योऽवस्थाविशेषस्तद्दर्शयितुकामो निर्युक्तिकृदाह ।

ठिइअणुभावे बंधण–निकायणनिहत्तदीहहस्सेसु ।
संकमउदीरणाए, उदये वेदे उवसमे य ॥१७॥

" ठिइ इत्यादि " तत्र कर्मस्थितिं प्रति अजघन्योत्कृष्टस्थितिभिर्गणधरैः सूत्रमिदं कृतमिति । तथाऽनुभावो विपाकस्तदपेक्षया मन्दानुभावैस्तथा बन्धमङ्गीकृत्य ज्ञानावरणीयादिप्रकृतीर्मन्दानुभावा बध्नद्भिस्तथाऽनिकाचयद्भिरेवं निधत्तावस्थामकुर्वद्भिस्तथा दीर्घस्थितिकाः प्रकृतीर्लघीयसीर्जनयद्भिस्तथोत्तरप्रकृतीर्बध्यमानासु संक्रामयद्भिस्तथोदयवतां कर्मणामुदीरणां विदधानैरप्रमत्तगुणस्थैस्तु सातासातायूंष्यनुदीरयद्भिस्तथा मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजात्यौदारिकशरीरतदङ्गोपाङ्गादिकर्मणामुदये वर्त्तमानैस्तथा वेदमङ्गीकृत्य पुंवेदे सति तथा (उवसमेत्ति) सूचनात्सूत्रमिति क्षायोपशमिकाभावे वर्त्तमानैर्गणधारिभिरिदं सूत्रकृताङ्गमन्थितमिति ॥१७॥

साम्प्रतं स्वमनीषिकापरिहारद्वारेण करणप्रकारमभिधातुकाम आह ।

सोऊण जिणवरमतं, गणहारी काउ तक्खओवसमं ।
अज्झवसाणेण कयं, सुत्तमिणं तेण सूयगमं ॥१८॥

"सोऊणेत्यादि" श्रुत्वा निशम्य जिनवराणां तीर्थकराणां मतमभिप्रायं मातृकादिपदं गणधरैर्गौतमादिभिः कृत्वा तत्र ग्रन्थरचने क्षयोपशमं तत्प्रतिबद्धं कर्म क्षयोपशमाद्दत्तावधानैरिति भावः । शुभाध्यवसाये च सता कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति ॥१८॥

इदानीं कस्मिन् योगे वर्त्तमानैस्तीर्थकृद्भिर्भाषितं कुत्र वा गणधरैर्लब्धमित्येतदाह ।

वइजोगेण पभासिय–मणेगजोगंधराण साहूणं ।
तो वयजोगेण कयं, जीवस्स सभावियगुणेण ॥१६॥

"वइजोगेणेत्यादि" तत्र तीर्थकृद्भिः क्षायिकज्ञानवर्तिभिर्वाग्योगेनार्थः प्रकर्षेण भाषितः प्रभावितो गणधराणां ते च न प्राकृतपुरुषकल्पाः किं त्वनेकयोगधराः । तत्र योगः क्षीराश्र- सादिलब्धिकलापसंबन्धस्तं धारयन्तीत्यनेकयोगधरास्तेषां प्रभाषितमिति सूत्रकृताङ्गाऽपेक्षया नपुंसकता । साधवश्चात्र गणधरा एव गृह्यन्ते तदुद्देशेनैव भगवतामर्थप्रभाषणादिति । ततोऽर्थं निशम्य गणधरैरपि वाग्योगेनैव कृतं तच्च जीवस्य स्वाभाविकेन गुणेनेति । स्वस्मिन् भावे भवः स्वाभाविकः प्राकृत इत्यर्थः प्राकृतभाषयेत्युक्तं भवति न पुनः संस्कृतया लट्लिड्शप्प्रकृतिप्रत्ययादिविकारविकल्पनानिष्पन्नयेति ॥ १६ ॥

पुनरन्यथा सूत्रकृद् निरुक्तमाह ।

अक्खरगुणमतिसंघा–यणाए कम्मपरिसाडणाए य ।
तदुभयजोगेण कयं, सुत्तमिणं तेण सुत्तगडं ॥ २० ॥

(अक्खरेत्यादि) अक्षराणि अकारादीनि तेषां गुणोऽनन्तगमपर्यायत्वमुच्चारणं वाऽन्यथाऽर्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वात् मतेर्मतिज्ञानस्य संघटना अक्षरगुणेन मतिसंघटना भावश्रुतस्य द्रव्यश्रुतेन प्रकाशनमित्यर्थः । अक्षरगुणस्य वा मत्या बुध्या संघटना रचनेति यावत् तयाऽक्षरगुणमतिसंघटनया । तथा कर्मणां ज्ञानावरणादीनां परिशाटना जीवप्रदेशेभ्यः पृथक्करणरूपा तया च हेतुभूतया सूत्रकृताङ्गं कृतमिति संबन्धः । तथाहि यथा यथा गणधराः सूत्रकरणायोद्यमं कुर्वन्ति तथा तथा कर्मपरिशाटना भवति यथा यथा च कर्मपरिशाटना तथा तथा ग्रन्थरचनायोद्यमः संपद्यत इति एतदेव गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति (तदुभयोगेनेति) अक्षरगुणमतिसंघटनायोगेन कर्मपरिशाटनायोगेन च यद्विवा वाग्योगेन मनोयोगेन च कृतमिदं सूत्रं तेन सूत्रकृतमिति, सूत्र० १ श्रु० १ अ०। इह " करणेऽभयअंते " इत्यादिगाथायाः समनन्तरं "नामं ठवणादविए" इत्यादिका बहुयो गाथा निर्युक्तौ दृश्यन्ते ताश्च भाष्यकारेण प्रक्षेपरूपतयादिना केनापि कारणेन प्रायो न लिखिताः केवलं तदर्थ एव भाष्यगाथाभिर्लिखितस्तदत्र कारणं स्वधियाऽभ्यूह्यमिति । तदेवं व्याख्यातं " करणे भएअ अंते " इत्यादिगाथायाः करणलक्षणम । करणं चेह सामायिकस्यैव प्रस्तुतं करोमि भदन्त ! सामायिकमिति संबन्धात्ततस्तदेवं सामायिककरणमव्युत्पन्नविनेयवर्गव्युत्पादनार्थं सप्तभिरनुयोगद्वारैः। कृता विशे० ६७८ पत्र. । (कृतादिभिः पुनर्निरूपणं सामाइकशब्दे कारयिष्यते) इदाणि करणं कति विहं ति (दारं) आयरियस्स चउव्विहं तंजधा उद्देसणाकरणं वायणाकरणं समुद्देसणाकरणं अणुण्णाकरणं सिसे विहु उदिसिज्जमाणकरणं वइज्जमाणकरणं अणुण्णविज्जमाणकरणं दारम् ॥

वएरुकः ।

कइविहा णं ? भंते ! करणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे करणे पण्णत्ते तंजहा दव्वकरणे खेत्तकरणे कालकरणे भावकरणे णेरइयाणं भंते ! कइविहे करणे पण्णत्ते गोयमा पंचविहे करणे पण्णत्ते तंजहा दव्वकरणे जाव भावकरणे एवं जाव वेमाणिया । कइविहाणं ? भंते ! सरीरकरणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे सरीरकरणे पण्णत्ते तंजहा ओरालियसरीरकरणे जाव कम्मा सरीरकरणे एवं जाव वेमाणिया जस्स जइ सरीराणि कइविहेणं भंते ! इंदियकरणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा सोइंदियकरणे जाव फासिंदियकरणे एवं जाव वेमाणिया जस्स जइ इंदियाइं एवं

एएणं कमेणं भासाकरणे चउव्विहे, मणकरणे चउव्विहे, कसायकरणे चउव्विहे, समुग्घायकरणे सत्तविहे, सण्णाकरणे चउव्विहे, लेस्साकरणे छव्विहे, दिट्ठिकरणे तिविहे, वेदकरणे तिविहे पण्णत्ते तंजहा इत्थिवेदकरणे पुरिसवेदकरणे णपुंसगवेदकरणे एए सव्वे णेरइयादिदंडगा जाव वेमाणिया जस्स जं अत्थि तं तस्स सव्वं भाणियव्वं । कइविहे णं ? भंते ! पाणाइवायकरणे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा एगिंदियपाणाइवायकरणे जाव पंचिंदियपाणाइवायकरणे एवं णिरवसेसं जाव वेमाणिया कइविहे णं भंते ! पोग्गले करणे पण्णत्ते गोयमा ! पंचविहे पोग्गले करणे पण्णत्ते तंजहा वन्नकरणे गंधकरणे रसकरणे फासकरणे संठाणकरणे वण्णकरणे णं भंते ! कइविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा कालवण्णकरणे जाव सुक्किल्लवण्णकरणे एवं भेदो गंधकरणे दुविहे रसकरणे पंचविहे फासकरणे अट्ठविहे संठाणकरणेणं भंते ! कइविहे पन्नत्ते ? गोयमा ! पंचविहे पण्णत्ते तंजहा परिमंडलसंठाणकरणे जाव आयतसंठाणकरणे सेवं भंते भंतेत्ति । जाव विहरइ । दव्वे खेत्ते काल, भवे य भावे य सरीरकरणे य । इंदियकरणे भासा, मणे कसाए समुग्घाए ॥ १ ॥ सण्णालेस्सादिट्ठी, वेएणपाणाइवायकरणे य । पोग्गलकरणे वण्णे, गंधरसफास संठाणे ।२। एगूणवीसइमस्स णवमो उद्देसो सम्मत्तो । (भ०)

" कइविहेणमित्यादि " तत्र क्रियतेऽनेनेति करणं क्रियायाः साधकतमं कृतिर्वा करणं क्रियामात्रं न अन्यस्मिन् व्याख्याने करणस्य निर्वृत्तेश्च न भेदः स्यान्निर्वृत्तेरपि क्रियारूपत्वान्नैवं करणमारम्भक्रियानिर्वृत्तिस्तु कार्यस्य निष्पत्तिरिति (दव्वकरणेत्ति) द्रव्यरूपं करणं दात्रादि द्रव्यस्य वा कटादेर्द्रव्येण वा शलाकादिना, द्रव्ये वा पात्रादौ, करणं द्रव्यकरणम् (खेत्तकरणंति) क्षेत्रमेव करणं क्षेत्रस्य वा शालिक्षेत्रादेः करणं क्षेत्रेण वा क्षेत्रे वा करणं स्वाध्यायादेः क्षेत्रकरणम् (कालकरणेत्ति) काल एव करणं कालस्य वाऽवसरादेः करणं कालेन काले वा करणं कालकरणम् (भवकरणंति) भवो नारकादिः स एव करणं तस्य वा तेन वा तस्मिन्वा करणम् एवं भावकरणमपि शेषं तु उद्देशकसमाप्तिं यावत्सुगममिति एकोनविंशतितमशते नवमः, भ० १६ श० ए उ० । निष्पादने, आसेवने, आव० ४ अ० । संयमव्यापारे, ज्ञा० १ अ० । समाचरणे, ध० र० । व्यापारे, आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ० । अनुष्ठाने, स्था० ३ ठा० ४ उ० । प्रश्न० । विधाने, औ० । स्था० । सूत्र० । " करणतिगं " करणत्रिकं करणकारणानुमोदनारूपम् व्य० १० उ० । तिविहं करणं कृतं कारितमनुमोदितं च, नि० चू० १ए उ० । उपाये, "एत्तो आवट्टीओ, वोच्छं जहकमेण सूरस्स । चंदस्स य लहुकरणं, जह दिट्ठं पुव्वसूरीहिं" लघुकरणं लघूपायम् , ज्यो० १२ पाहु० । जीववीर्यविशेषे, कर्मणामष्टौ करणानि "बंधण १ संकमणु-२ व्वट्टणा य ३ अववट्टणा ४ उदीरणया ५ । उवसामणा ६ निहत्ती, ७ निकायणा ८ चेति करणाइं" क० प्र० १ क०)

(बन्धनादिकरणानां व्याख्या बंधणादिशब्देषु)

संप्रत्यष्टानामपि करणानां येऽध्यवसायास्तेषां परिमाणनिरूपणार्थमाह ।

थोवा कसायउदया, ठिइबंधोदीरणा य संकमणा ।
उवसामणाइसु अज्झव-साया कमसो असंखगुणा ।३०७।

स्थितिबन्धे उपलक्षणमेतत् अनुभागबन्धे वा ये प्रायोदीर्णास्ते सर्वे स्तोकाः प्रकृतिप्रदेशबन्धोपयोगाद्भवतः इति ताविह न गृह्येते अनुभागबन्धश्चोपलक्षणव्याख्यानात् गृहीतस्ततश्च स्थितिबन्धे कषायोदयाः स्तोका इति । किमुक्तं भवति बन्धनकरणाध्यवसायाः सर्वस्तोकास्तेभ्य उदीरणाध्यवसाया असंख्येयगुणास्ततोऽपि संक्रमाध्यवसाया असंख्येयगुणाः संक्रमग्रहणेन चोद्वर्त्तनापवर्त्तने गृहीते द्रष्टव्ये । संक्रमभेदत्वात्तयोः तत उपशान्तोपशमनाध्यवसाया असंख्येयगुणास्ततोऽपि निधत्ताध्यवसाया असंख्येयगुणास्ततोऽपि निकाचनाध्यवसाया असंख्येयगुणाः इति श्रीमलयगिरिविरचितायां कर्मप्रकृतिटीकायां करणाष्टकं समाप्तम् तदेवमुक्तानि करणानि, क० प्र० १०८ पत्र० । पं० सं० । मल्लशास्त्रप्रसिद्धे अङ्गभङ्गविशेषे, औ० । क्रियते येन तत्करणम् । मननादिक्रियासु प्रवर्त्तमानस्यात्मन उपकरणभूते तथा तथा परिणामवत्पुद्गलसंघाते, स्था० ।

तिविहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे वयकरणे कायकरणे एवं णेरइयाणं विगलिंदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं ॥

मनस एव करणं मनःकरणमेवमितरे अपि एवमित्याद्यतिदेशसूत्रं पूर्ववदेव भावनीयमिति । अथवा योगप्रयोगकरणशब्दानां मनःप्रभृतिकमभिधेयतया योगकरणसूत्रेष्वभिहितमिति नार्थभेदोऽन्वेषणीयस्त्रयाणामप्येषामेकार्थतया, आगमे बहुशः प्रवृत्तिदर्शनात् । तथाहि योगः पञ्चदशविधः शतकादिषु, व्याख्यातः प्रज्ञापनायां त्वेवमेवायं प्रयोगशब्देनोक्तस्तथाहि " कतिविहे णं भंते ! पओगे पण्णत्ते गोयमा ! पण्णरसविहेत्यादि " तथा आवश्यके अयमेव करणतयोक्तस्तथाहि " जुंजकरणं तिविहं, मणवइकाए य मणसि सच्चाइ । सट्ठाणे तेसि भेओ, चउचउहा स तहा चेव त्ति " स्था० ३ ठा० ।

कइविहे णं भंते ! करणे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे वयकरणे कायकरणे कम्मकरणे । नेरइया णं भंते ! कइविहे करणे पण्णत्ते गोयमा ! चउव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे जाव कम्मकरणे । एवं पंचिंदिआणं सव्वेसिं चउव्विहे करणे पण्णत्ते एगिंदियाणं दुविहे कायकरणे य कम्मकरणे य । विगलिंदिआणं वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे । नेरइआ णं भंते ! किं करणओ असायं वेयणं वेदंति अकरणओ असायं वेयणं वेदंति ? गोयमा ! नेरइया णं करणओ असायं वेयणं वेदंति णो अकरणओ असायं वेयणं वेदंति ? से केणट्ठेणं ? गोयमा ! नेरइयाणं चउव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे वय (इ) करणे कायकरणे कम्मकरणे । इच्चेतेणं चउव्विहेणं असुभेणं करणेणं नेरइया करणओ असायं वेयणं वेदंति णो अकरणओ । से तेणट्ठेणं । असुरकुमाराणं किं करणओ अकरणओ ? गोयमा ! करणओ णो अकर-

णओ से केणट्ठेणं ? गोयमा ! असुरकुमाराणं चउव्विहे करणे पण्णत्ते तंजहा मणकरणे वइकरणे कायकरणे कम्मकरणे इच्चेतेणं सुभेणं करणेणं असुरकुमारा करणओ सायं वेयणं वेदंति नो अकरणओ एवं जाव थणियकुमारा । पुढविकाइयाणं एवामेव पुच्छा णवरं एव्वेएणं सुभासुभेणं करणेणं पुढविकाइया करणओ वेमायाए वेयणं वेदंति नो अकरणओ उरालियसरीरा सव्वे सुभासुभेणं वेमायाए देवा सुभेणं सायवेयणं वेदंति, भ० ६ श० १ उ०।

प्रकारान्तरेण करणत्रैविध्यमाह ।

तिविहे करणे पण्णत्ते तंजहा आरंभकरणे संरंभकरणे समारंभकरणे णिरंतरं जाव वेमाणियाणं ।

(तिविहे इत्यादि) आरम्भणमारम्भः पृथिव्याद्युपमर्दनं तस्य कृतिः करणं स एव वा करणमित्यारम्भकरणमेवमितरे अपि चाच्ये नवरमयं विशेषः संरम्भकरणं पृथिव्यादिविषयमेव मनःसंक्लेशकरणं समारम्भकरणं तेषामेव संतापकरणमिति । आह च " संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो । आरंभो उद्दवओ, सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं " ति ॥१॥ इदमारम्भादिकरणत्रयं नारकादीनां वैमानिकान्तानां भवतीत्यतिदिशन्नाह (निरंतरमित्यादि) सुगमं केवलं संरम्भकरणमसंज्ञिनां पूर्वभवसंस्कारानुवृत्तिमात्रतया भावनीयमिति, स्था० ३ ठा० १ उ०।

पुनरपि प्रकारान्तरेण करणत्रैविध्यमाह ।

तिविहे करणे पण्णत्ते तंजहा धम्मिए करणे अधम्मिए करणे धम्मियाधम्मिए करणे ॥

कृतिः करणमनुष्ठानम्, तच्च धार्मिकादिस्वामिभेदेन त्रिविधं तत्र धार्मिकस्य संयतस्येदं धार्मिकमेवमितरत् नवरमधार्मिकोऽसंयतस्तृतीयो देशसंयतः अथवा धर्मे भावधर्मे वा प्रयोजनमस्येति धार्मिकः विपर्ययस्तु इतरत् । एवं तृतीयमपि, स्था० ३ ठा० ४ उ०। क्रियते येन तत्करणम् । क्रियां प्रति साधकतमे, करोतीति करणः 'कृत्यल्युटो बहुलमिति' (पाणि०) वचनात् कर्त्तरि ल्युट् कर्त्तरि, तत्र "तइया करणम्मि कया" करणे तृतीया कृता विहिता यथा नीतं शस्यं तेन शकटेन । कृतं कुण्डं मयेति, स्था० ८ ठा० । अनु० । करणे, येन कर्त्ता कार्यं निर्वर्त्तयति, आ० चू० १ अ० । " कज्जपसाहगतमं करणम्मि उ पिंडदंडमाई " कार्यप्रसाधकतमं कारणं करणमुपादाननिमित्तभेदाद् द्विभेदं तत्र घटे मृत्पिण्डमुपादानं दण्डादिनिमित्तम् । अष्ट० ११ अष्ट० । औ० । "इयाणिं करणे पगत्ते जहा दात्रेण लुनाति पिप्पलकेण वा दसाकप्पणं करेति पुहत्ते दात्रैर्लुनंति परसूहिं वा रुक्खे कप्पेंति" नि० चू० १ उ०। विशे०। स्था०। चक्षुरादिष्विन्द्रियेषु, जं०२ वक्ष०। " करणं द्विविधं ज्ञेयं, बाह्यमाभ्यन्तरं बुधैः । यथा लुनाति दात्रेण, मेरुं गच्छति चेतसा " स्था० १ ठा० । करणं द्विधा अन्तः करणं बहिः करणं च । अन्तः करणं मनो, बहिः करणं पञ्चेन्द्रियाणि, षो० १५ विव०। स्था०। आ० म० प्र०। प्रश्न०। नं० । आचा० । " तदट्ठोवउत्ते तदप्पियकरणे " करणानि तत्साधकतमानि आवश्यकदेहरजोहरणमुखवस्त्रिकादीनि, अनु० । आचा०। क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणम्, विशे०। सम्यक्त्वाद्यनुगुणे विशुद्धरूपे जीवपरिणामविशेषे, आ० म० प्र० ।

करणं अहापवत्तं, अपुव्वमनियट्टिमेव भव्वाणं ।
इयरेसिं पढम चिय, भण्णइ करणं ति परिणामो ॥

इह भव्यानां त्रीणि करणानि भवन्ति तद्यथा यथाप्रवृत्तकरणम् अपूर्वकरणम् अनिवृत्तिकरणं चेति । तत्र येन अनादिसंसिद्धप्रकारेण प्रवृत्तं यथाप्रवृत्तं क्रियते कर्मक्षपणमनेनेति करणं सर्वत्र जीवपरिणाम एवोच्यते यथाप्रवृत्तं च तत्करणं च यथाप्रवृत्तकरणमेवमुत्तरत्रापि करणशब्देन कर्मधारयः । अनादिकालात्कर्मक्षपणप्रवृत्तोऽध्यवसायविशेषो यथाप्रवृत्तकरणमित्यर्थः । अप्राप्तपूर्वमपूर्वं स्थितिघातरसघाताद्यपूर्वार्थनिवर्त्तकं वा अपूर्वनिवर्त्तनशीलं 'निवर्त्ति' आसम्यग्दर्शनलाभान्न निवर्त्तत इत्यर्थः । एतानि त्रीण्यपि यथोत्तरं विशुद्धविशुद्धतरविशुद्धतमाध्यवसायरूपाणि भव्यानां करणानि भवन्ति इतरेषां त्वभव्यानां प्रथममेव यथाप्रवृत्तकरणं भवति नेतरे द्वे इति एतेषां करणानां मध्ये कस्यामवस्थायां किं भवतीत्याह ।

जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छिओ अपुव्वं तु ।
अनिअट्टिकरणं पुण, सम्मत्तपुरक्खडे जीवे ॥

अनादिकालादारभ्य यावद्ग्रन्थिस्थानं तावत्प्रथमं यथाप्रवृत्तकरणं भवति कर्मक्षपणनिबन्धनस्याऽध्यवसायमात्रस्य सर्वदैव भावात् अष्टानां कर्मप्रकृतीनामुदयप्राप्तानां सर्वदैव क्षपणादिति ग्रन्थितु समतिक्रामतो भिदानस्यापूर्वकरणं भवति प्राक्तनाद्विशुद्धतराध्यवसायरूपेण तेनैव ग्रन्थेर्भेदादिति । अनिवृत्तिकरणं पुनः सम्यक्त्वं पुरस्कृतमभिमुखं यस्यासौ सम्यक्त्वपुरस्कृतोऽभिमुखसम्यक्त्व इत्यर्थः तत्रैवंभूते जीवे भवति तत एवातिशुद्धतमाध्यवसायरूपादनन्तरं सम्यक्त्वलाभादिति गाथाद्वयार्थः, विशे० । आ० म० प्र० । कर्म० । पं० सं० । आचा० । अष्ट०। यो०वि० (यथा प्रवृत्त्यपूर्वकरणानिवृत्तिकरणानां क्रमः उवसमसेणिशब्दे उक्तः) (गंठिभेदशब्दे ग्रन्थिभेदप्रस्तावे एषां चर्चाऽभिधास्यते) नागरक्षादिप्रारम्भयन्त्रे, दश० ६ अ० । क्रियत इति करणम् उत्तरगुणे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । पिण्डविशुद्ध्यादौ, आव० ३ अ० ।

पिंडविसोही ४ समिई, ५
भावण १२ पडिमाय १२ इंदियनिरो हो ५ ।
पडिलेहण २५ गुत्तीओ ३,
अभिग्गहा ४ चेव करणं तु ॥

वस्त्र १ पात्र २ वस ३ त्याहारशुद्धिलक्षणा चतुर्धा पिण्डविशुद्धिः 'इरियासमिई १ भासासमिई २ एसणासमिई ३ आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई ४ उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणपारिट्ठावणियासमिई ५' इति समितिः । अनित्यताभावना १ अशरणभावना २ भवभावना ३ एकत्वभावना ४ अन्यत्वभावना ५ अशौचभावना ६ आश्रवभावना ७ संवरभावना ८ निर्जराभावना ९ धर्मस्वाख्याततासावना १० लोकभावना ११ बोधिभावना १२ इति भावना । बारस भिक्खुपडिमाओ पण्णत्ताओ तंजहा मासियभिक्खुपडिमा १ दोमासिया २ तिमासिया ३ चउमासिया ४ पंचमासिया ५ छमासिया पडिमा ६ सत्तमासिया पडिमा ७ सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा ८ दोच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा ९ तच्चा सत्तराइंदिया भिक्खुपडिमा १० अहोराइया भिक्खुपडिमा ११ एगराइया भिक्खुपडिमा १२ इति प्रतिमा । मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्द १ रूप २ गन्ध ३ रस ४ स्पर्शेषु ५ । श्रोत्र १ चक्षु २ घ्राण ३ जिह्वा ४ त्वगिन्द्रिय ५ विषयीभूतेषु रागद्वेषवर्जनात्पञ्चेन्द्रियनिरोधः ।

दिट्ठिपडिलेहएगा, छउड्डपक्खोडतिगतिगंतरिया ।
अक्खोडपमज्जणया, नवनवमुहपुत्तिपणवीसा ॥

प्रथमं दृष्टिप्रतिलेखना १ ततः पार्श्वद्वयेऽपि त्रयस्त्रय ऊर्ध्वप्रस्फोटाः कार्याः एवमलगयद्विरास्फोटा लगयद्भिः प्रथमार्जनाश्च परस्परं त्रिकात्रिकान्तरिताः प्रत्येकं नव नव कार्याः एवमष्टादश इति मुखवस्त्रिकाप्रतिलेखनाः पञ्चविंशतिः स्युः " पायाहिणेण तिअतिअ, वामेयर बाहुसीसमुहहियए। अंसुगाहो पिट्ठे, चउछप्पयदेहपणवीसा" इति प्रतिलेखनाः पञ्चविंशतिः मनोवाक्कायगुप्तिरूपास्तिस्रो गुप्तयः द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदाच्चत्वारोऽभिग्रहाः इति कारणमिति गाथार्थः। ग०१ अधि० । औ० । नं० । आ० चू० । आ० म० द्वि० । प्रव० । ज्ञा० । सम्म० । ज० । उपधौ, करणमुच्यते उपधिर्भण्यते, नि० चू० १ उ० । तपोनियमवन्दनाद्यनुष्ठाने, ध० २ अधि० । आध्ये ल्युट् क्षेत्ररूपे देहे, अमरः करणाश्रयत्वात्तस्य तथात्वम् । " उपमानमभूद् विलासिनां, करणं यत्तवकान्तिमत्तया" कुमा० भावे-ल्युट् - क्रियायाम्, वैश्येन शूद्रायामुत्पन्ने वर्णशङ्करजातिभेदे, वाच० ।

करणओ (तो)-करणतस्-अव्य० प्रयोगत इत्यर्थे " अत्थतो य करणतो य सेहविहित्ति" स्था० ३ ठा० ।

करणकया-करणकृता-स्त्री० करणं क्रिया तया कृता यथा प्रवृत्त्यपूर्वानिवृत्तिकरणसाध्यक्रियाविशेषकृतायामुपशमनायाम्, क०-प्र० ७४ पत्र० ।

करणगुण-करणगुण-पुं० कलाकौशले, आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०।

करणचरणप्पहाण-करणचरणप्रधान-त्रि० चारित्रप्रधाने, नि०।

करणजड-करणजड-पुं० करणं क्रिया तस्यां जडः करणजडः समितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणादिक्रियां पुनः पुनरुपदिश्यमानामप्यतीव जडतया गृहीतुमशक्ते, ध० ३ अधि० । आव० ।

करणट्ठग-करणाऽष्टक-न० करणानां वीर्यविशेषरूपाणामष्टके करणाष्टकम् । बन्धनादौ, "कम्मट्ठगस्स करणट्ठगुदयसंताणि वोच्छामि " क० प्र० ।

करणणिप्फण्ण-करणनिष्पन्न-त्रि० निमित्तनिष्पन्ने, "विप्पणा णिप्पण्णेत्ति वा करणणिप्पणत्ति वा णिमित्तणिप्पण्णत्ति वा एगट्ठ " आ० चू० १ अ० ।

करणतिय-करणत्रिक-न० मनोवाक्कायलक्षणे करणत्रये, दश० १० अ० ।

करणपज्जत्त-करणपर्याप्त-पुं० शरीरेन्द्रियादीनि निर्वर्त्तितवति पर्याप्तभेदे, कर्म० १ क० ।

करणया-करणता-स्त्री० संयमस्याऽनुष्ठाने, उत्त०१श्रु० ३३ अ० ।

करणवीरिय-करणवीर्य-न० क्रियावीर्ये, यथा घटकरणक्रियावीर्ये पटकरणक्रियावीर्यम् " एवं जत्थ जत्थ कट्ठाणकम्मबलसत्ती भवति तत्थ तत्थ करणवीरियं मनोवाक्कायकरणवीरियं " नि० चू० १ उ० ।

करणसच्च-करणसत्य-न० प्रतिलेखनादिक्रियाविषये निरालस्ये करणसत्यस्य फलं प्रश्नपूर्वकमाह ।

करणसच्चे णं भंते ! किं जणयइ करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ, करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहा कारी या वि भवइ ।

हे भदन्त ! करणसत्येन जीवः किं जनयति करणे प्रतिलेखनादिक्रियायां सत्यं यथोक्तविधिना आराधनं करणं सत्यं तेन करणसत्येन जीवः किं फलमुपार्जयति तदा गुरुराह हे शिष्य ! करणसत्येन करणशक्तिं क्रियासामर्थ्यं जनयति पुनः करणसत्ये वर्त्तमानो जीवो यथा वादी तथा कारी भवति क्रियासत्यः पुमान् यादृशं सूत्रार्थं पठति तादृशं क्रियाकलापं । वदति तथैव करोति इति भावः । (उत्त०) करणे सत्यं करणसत्यं यत्प्रतिलेखनादिक्रियां यथोक्तां सम्यगुपयुक्तः कुरुते तेन करणशक्तिं तन्माहात्म्यात्पुरानध्यवसितक्रियासामर्थ्यरूपां जनयति । तथा करणसत्ये वर्त्तमानो जीवो यथावादी तथा कारी चापि भवति । स हि सूत्रमधीयानो यथा एव क्रियाकलापं वदनशीलः करणशीलोऽपि तथैवेति । उत्त० २९ अ० । आव० ।

करणाणुओग-करणानुयोग-पुं० क्रियन्ते इति करणानि । तेषामनुयोगः करणानुयोगः । द्रव्यानुयोगभेदे, तथाहि " जीवद्रव्यस्य कर्तुर्विचित्रक्रियासु साधकतमानि कालस्वभावनियतिपूर्वकृतानि नैकाकी जीवः किञ्चन कर्तुमलमिति मृद्र्व्यं च कुलालश्चक्रचीवरदण्डादिककरणकलापमन्तरेण न घटलक्षणं कार्यं प्रति घटत इति तस्य तानि करणानीति द्रव्यस्य करणानुयोग इति, स्था० १० ठा० ।

करणाणुपालग-करणानुपालक-पुं० अनु पश्चात्पालकः पिण्डविशुद्ध्यादेः करणस्य पूर्वर्षिपरंपराक्रमेण पालके, सू० ३ उ०।

करणापज्जत्त-करणापर्याप्त-पुं० करणैरपर्याप्तेषु, ये पुनः करणानि शरीरेन्द्रियादीनि न तावन्निर्वर्तयन्ति अवश्यं पुरस्तान्निर्वर्त्तयिष्यन्ति ते करणापर्याप्ताः" कर्म० १ क० । पं०सं०।

करणालस-करणालस-त्रि० करणालसे, धर्मे प्रत्यनुद्यमे, " एवं केइ जंपंति इड्ढीरससायगारवपरा बहवे करणालसा परूवेंति धम्मवीमंसएणं मोसं " प्रश्न० आश्र० २ द्वा० ।

करणि-करणि-पुं० सादृश्ये, अनु० ।

करणिज्ज-करणीय-त्रि० कृ-अनीयर् " वोत्तरीयानीयतीयकृद्येज्जः ८।१।२४८ इति यकारस्य द्विरुक्तो जः वा करणिज्जं करणीअं करणीयम् प्रा० । कर्त्तव्ये, प्रयोजने, ज्ञा० ३ अ० । आचा० । अनुष्ठेये, दश० १० अ० । कर्त्तुं योग्ये, न० । अवश्यंकर्त्तव्ये, जीत० । व्य० । सामान्येन कर्त्तव्ये, आव० ४ अ० ।

करणिज्जकिरिया-करणीयक्रिया-स्त्री० यद्येन प्रकारेण करणीयं तत्तेनैव क्रियते नान्यथा इत्येवंरूपे क्रियाभेदे, तथा हि घटो मृत्पिण्डादिकया एव क्रियते न पाषाणसिकतादिकयेति सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

करणोदयसंता-करणोदयसत्ता-स्त्री० करणेषूदये, सत्तायां च " करणोदयसत्ताणं सामित्तो घेहि सेसगं नेयं " क० प्र० ।

करणोवाय-करणोपाय-पुं० क्रियते विविधावस्था जीवस्यानेन । क्रियते वा तदिति करणम् । कर्मबन्धकक्रियाविशेषो वा करणं करणमिव करणं स्थानान्तरप्राप्तिहेतुतासाधर्म्यात्करणमेव तदेवोपायः कर्मरूपे हेतौ, मिथ्यात्वादिके कर्मबन्धहेतौ च । " अज्झवसाणणिव्वत्तिएणं करणोवाएणं एवं खलु ते जीवा परभवियाउयं पकरेंति " भ०२५ श०८ उ० ।

करत (य) ल-करतल-न० हस्तस्य तले करस्तलमिव हस्ते, वाच० । प्रश्न० । भ० । उपचाराद् हस्तवाद्ये करो हस्तस्तस्य

तलं करतलम् । " हस्तशंखं पूरेतित्ति वुत्तं भवति अघातरं वा करतलेन वाद्यं करोति " नि०चू० १ उ० ।

करत (य) लपग्गहिय–करतलप्रगृहीत–त्रि० करतलाभ्यां प्रकर्षेण गृहीते, ठ्य० १ उ० । " करयलपरिग्गहियं दसणहं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं वद्धाविह " रा० ६७ पत्र. ।

करत (य) लपब्भट्ठविप्पमुक्क–करतलप्रभ्रष्टविप्रमुक्त–त्रि० करतलात् विप्रमुक्तं सत् प्रभ्रष्टं करतलविप्रमुक्तम् । प्राकृतत्वात्पदव्यत्ययः । ततो विशेषणसमासः । हस्ततलाद्विप्रमुक्ते सति प्रभ्रष्टे, रा० ३६ पत्र. । जी० ।

करत (य) लमाइय–करतलमेय–त्रि० मुष्टिग्राह्ये, कल्प० ।

करत (य) लपरिमिय–करतलपरिमित– त्रि० मुष्टिग्राह्ये, औ० । रा० । ज्ञा० । " करयलपरिमियपसत्थतिवलियवलियमज्झा" करतलपरिमितो मुष्टिग्राह्यः प्रशस्तः प्रशस्तलक्षणोपेतस्त्रिवलिको वलिकत्रयोपेतो रेखात्रयोपेतो वलवान् मध्यो मध्यभागो यस्याः सा " करतलपरिमितप्रशस्तत्रिवलिकवलिकमध्या, रा० १५ पत्र. ।

करपत्त–करपत्र–न० करात् पतति, पत्–ष्ट्रन् । क्रकचे, दारुभेदके अस्त्रभेदे, विपा०६ अ०। ज्ञा०। स्था०। करावेव पत्रं वाहनं यत्र जलक्रीडायाम्, जटाधरः।तत्र हि हस्ताभ्यां जलमुत्तोल्य परस्परं क्रीड्यते, वाच० ।

करपत्तदारण–करपत्रदारण–न० नरके करपत्रेण नारकदेहदारणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

करप्पहार–करप्रहार–पुं० करेणाभिघाते, कल्प० ।

करंवग–करम्बक–पु० तथा दध्ना पर्युषितौदनमेकीकृत्य करम्बको विहितः स तृतीयदिने यतीनां कल्पते नवेति प्रश्ने । उत्तरम दध्ना तक्रेण वा द्वितीयदिनौदनो द्वितीयदिने तृतीयदिने वा करम्बको विहितः स तृतीयदिने साधूनां विहर्तुं कल्पते इति परंपरास्तीति ६८ (सेन०३ उ०) तथा केवलदुग्धराद्धैरेयी पर्युषिता साधूनां गृहीतुं न कल्पते करम्बकस्तु नवनीतकादिसंस्काराहर्त्वात्कल्पत इति १२२ सेन० ४ उ० ।

करभ (ह)–करभ–पुं० कृ-अभच् करे भाति मणिबन्धात् कनिष्ठापर्य्यन्ते करस्य बाह्यदेशे, अमरः।करिशावके, उष्ट्रशिशौ, गन्धद्रव्यभेदे, उष्ट्रमात्रे, पुं० स्त्री० मेदि०। वाच०। प्रश्न० ।

करभिउत्त–करभ्यागुप्त–त्रि० करभ्यां प्रक्षिप्य रक्षिते, बृ०२उ०।

करभी–करभी–स्त्री० करभ ङीष् उष्ट्राम्, पिं० । घटसंस्थानसंस्थिते धान्याधारे, बृ० २ उ० ।

करभीखीर–करभीक्षीर–न० उष्ट्रीदुग्धे,"आहारओ पंचगवज्जणेणं, मोक्षः इति केचिच्चत्र।लसणं पलाएडुं करभीक्षीरं गोमांसं मद्यं चेत्येतत् पञ्चकवर्जनेन मोक्षं वदन्ति, सूत्र०१श्रु०७ अ० (एतन्निराकरणं 'कुसील' शब्दे)

करय–करक–पुं० घनोपले, प्रज्ञा०१ पद । सूत्र० । वार्धटिकाधारके, उपा० ७ अ० । अनु० ।

कररुह–कररुह–न० पुं० करे रोहति रुह–क–प्राकृते, गुणाद्याः क्लीबे वा ८ । ७ । ३४ । इति वा क्लीवत्वम् । कररुहं कररुहो प्रा० । नखे, अमरः । कृपाणे च, वाच० ।

करलाघव–करलाघव–न० चतुस्त्रिंशत्तमकलायाम्, कल्प० ।

करली–कदली–स्त्री० कदल्यामद्रुमे । ८ । १ । २२ । कदलीशब्दे अद्रुमवाचिनि दस्य रो भवति द्रुमविशेषभिन्ने कदलीशब्दार्थे, करली. अद्रुम इति किम् कअली. केली, प्रा० ।

करवंदण–करवन्दन–न० अनिर्जरार्थं करं मन्यमानेन वन्दनरूपे वन्दनकस्य षड्विंशे दोषे, " करमिव मन्नइ दिंतो वंदणयं आरहंति अंकइत्ति" आव०३ अ० । वन्दनकं ददत् करमिव राजदेयभागमिव मन्यते अर्हतः कर इति, बृ०३ उ०। कर इव राजदेयभाग इवार्हत्प्रणीतो वन्दनकरोऽवश्यं दातव्य इति धिया वन्दनम्, ध० २अधि० । आ० चू० ।

करवीर–करवीर–पुं०करं वीरयति चुरा० वीरविक्रान्तौ, अण् कृपाणे, खङ्गे, स्वनामख्याते वृक्षभेदे च, मेदि०। श्मशाने, हेम० आचा.

करसी–श्मशान–न० गोणादयः । ८ । २ । ७४ । इति श्मशानशब्दस्थाने निपातः । पितृवने, प्रा० ।

करसेवण–करणासेवन–न०द्वि०व०द्वन्द्वसमासः प्राकृतशैल्या करणासेवनस्थाने, "करसेवणम" करणे, आसेवने च । संप्रासकामभेदे, तत्र करणं सुरतारम्भयन्त्रं चतुरशीतिभेदं वात्स्यायनप्रसिद्धम् । आसेवनं मैथुनक्रिया, प्रव० १७० द्वा०। अथवा करणं नागरकादिप्रारम्भयन्त्रम् आसेवनं तु मैथुनम् । दश० १ चूलि० ।

करहेडग–करहेटक–पुं० तीर्थभेदे, " करहेटके उपसर्गहरः पार्श्वनाथः " ती० ४५ कल्प० ।

करादल्लणरिंद–करादल्लनरेन्द्र–पुं० स्वनामख्याते चौलुक्यराजे, " जत्थ महोवा पूय्यां समुद्दवसीया करादल्लणरिंदकुलसंभूया रायाणो लद्धुनत्ता अज्जवि नियदव्वयस्स पुरुमहग्घमुल्लं पल्लाणीअं अलंकिअं विभूसियं महातुरंगमं ढोअंति " ती०२७ कल्प० ।

कराल–कराल–पुं० कराय विक्षेपायाऽऽलाति पर्य्याप्नोति करं लाति ला–क–वा–सर्जरसयुक्ते तैले, कृष्णकुठेरके, तुङ्गे, दन्तुरे, उन्नतदन्ते, भयानके, त्रि० मेदि० । आ० म० द्वि० । शारिवौषधौ, स्त्री० राजनि० । गौरा०ङीष् । दन्तरोगभेदे, पुं० कस्तूरीमृगे, पुं० स्त्री० स्वार्थे–कन् करालकः उक्तार्थे, तुलस्याम्, पुं० वाच० । करालनामके वैदेहराजे, " दाण्डक्यो नाम भोजः कामात् । ब्राह्मणकन्यामभिमन्यमानः सबन्धुराष्ट्रो विननाश करालजनकश्च वैदेहः, ध० १ अधि० ।

कराव–कारि–धा०कृ-णिच् क्रियायां प्रवर्त्तने, " णेरदेदावावे ८। ३ । ४९. इति णेः स्थाने, अत-एत-आव-आवे-एते चत्वार आदेशाः । कारेइ । करावइ । करावेइ, प्रा० । अस्य भावकर्मणि । क्ते च लुगावी क्तभावकर्मसु ८ । ३ ।५२ । णेः स्थाने लुगावी इत्यादेशौ भवतः क्ते भावकर्मविहिते च प्रत्यये परतः । कारिअं कराविअं । भावकर्मणोः कारीअइ करावीअइ । कारिज्जइ कराविज्जइ । अदेल्लुक्यादेरत आः ८ । ३ । ५३ । इति णेरदेल्लोपेषु कृतेषु आदेरकारस्य आ भवति । एति कारेइ लुकि कारिअं कारीअइ कारिज्जइ, प्रा० ।

करावण–कारापन–न० क्रियायां प्रवर्त्तने, प्रश्न० संव० ३ द्वा० ।

करि (ण्)–करिन्–पुं० स्त्री० करः शुण्डः प्राशस्त्येनास्त्यस्य इनि । हस्तिनि, वाच० प्रश्न० ।

करिअ–कृत्वा–अव्य० कृ०–क्त्वा कृगमोमडु अ० ८ । ४ । ७१ इति कृधातोः परस्य क्त्वाप्रत्ययस्य मित् अडुअ इत्यादेशो वा कमुअ पक्षे करिअ करदूण, प्रा० ।

करिएव्वउं–कर्त्तव्य–त्रि० कृ–तव्य०–अपभ्रंशे, "तव्यस्य इएव्वउं

एम्वउं एवाः ८ । ४ । ३८ । इति तव्यप्रत्ययस्य इएव्वउं एम्वउं एवा इत्येते त्रय आदेशा भवन्ति । करणीये, " भ-हकरिएम्वउं किं पि ण विमरिएव्वउं परादिज्जइ " प्रा० ।

कारिंसु–कुर्वत्–त्रि० कृतवति, स्था० ८ ठा० ।

कारिंगुसय–कृतवक्तृत–न० कारिंसु इत्यनेन शब्देनोपलक्षितं शतं प्राकृतभाषया " कारिंसुगसयंति " भगवत्याः सप्तविंशे शतके, भ० २७ श० । (तत्रत्या वक्तव्यता बन्धशब्दे)

करित्ता–कृत्वा–अव्य० विधायेत्यर्थे, " दुक्कराई करित्ताणं दुस्सहाई सहेउ य " दश० ३ अ० ।

करिदूण–कृत्वा–अव्य० विधायेत्यर्थे, प्रा० ।

करिय–करिक–पुं० केवलानुसारेण चतुरशीतितमे महाग्रहे, चं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । कल्प० ।

करिल्ल–करील–न० प्रत्यग्रकन्दले, अणु० ३ वर्ग० । किमिदं संभृतवंशकरिलमामिदं चेति, विशे० ।

करिस–कृष्–धा० विलेखने, आकर्षणे च, भ्वा० पर० अनिट् 'तुवादीनामरिः' ८।४।२४ इति ऋस्थाने अरिः करिसई कर्षति " कृषेः। कड्ढसाअड्ढाञ्चाणञ्छापञ्छाइञ्छा " ८।४।८६ कृषेरेते षडादेशा वा भवन्ति । कड्ढइ साअड्ढइ अञ्चइ अणञ्छइ अपञ्छइ आइञ्छइ । पक्षे करिसई प्रा० ।

करिस–कर्ष–पुं० पलचतुर्भागे, " अर्द्धतृतीयानि धराणि एकः सुवर्णः सचैकः सुवर्णः कर्ष इत्युच्यते, ज्यो० २ पाहु० । षोडश माषः कर्षः अशीतिगुञ्जप्रमाण इत्यर्थः " दशार्द्धगुञ्जं प्रवदन्ति माषं, माषाह्वयैः षोडशभिश्च कर्षम । लीला० तन्मिते सुवर्णे च विभीतकवृक्षे, पुं० शब्दर० । कृष् भावे घञ् । आकर्षणे, तुदा० कर्ष-भावे-घञ्-विलेखने, वाच० । स्था० ।

करिसग–कर्षक–त्रि० कृष् विलेखने एवुल् कृष वले, उत्त० ३ अ० । " हेरक्षिए करिसए (कर्षकोऽभीक्ष्णयोगेन फलनिष्पत्तिं जानाति इति कम्मयाशब्दे उदाहृतम) आ० म० द्वि० ।

करिसण–कर्षण–न० तुदा०-कृष-भावे ल्युट् लाङ्गलादिना भूमेर्लेखने, हेम० । वाच० । कृषौ, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । भ्वा. कृष भावे ल्युट् आकर्षणे, क्षीरिणीवृक्षे, राजनि० । गौरा० ङीष् वाच० ।

करिसद्ध–कर्षार्द्ध–न० एकस्य कर्षस्य पलचतुर्भागरूपस्यार्द्धे अर्द्धकर्षरूपपरिमाणसूचिकायाम तुलारेखायाम, ज्यो० १ पाहु० ।

करिसावण–कर्षापण–पुं० कर्षेणापगयते क्रीयते रूप्यके, षोडशपणपरिमाणकर्षस्य षोडशमाशकमितत्वेन षोडशभिः पणैस्तस्य क्रयणात तत्संख्यासाम्यात् तथात्वं ततः प्रज्ञादि० स्वार्थे अण् । कार्षापणोऽप्यत्र अर्द्धर्चादि० तेन पुं० न० वाच० । "जहा पणो करिसावणो तहा बहवे करिसावणा " अनु० । तं० ।

करिसिय–कृशित–त्रि० । तनुके, दुर्बले, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ।

करिसुत्तरा–कर्षोत्तरा–स्त्री० कर्षादेककर्षवृद्धिसूचिकायां रेखायाम् , कर्षोत्तराकर्षादेककर्षवृद्धिसूचिकाश्चतस्रो रेखा भवन्ति तद्यथा द्वितीयकर्षरूपपरिमाणसूचिका तृतीया द्विकर्षसूचिका चतुर्थी त्रिकर्षसूचिका पञ्चमी चतुःकर्षसूचिका पञ्चसूचिकेत्यर्थः, ज्यो० २ पाहु० ।

करीर–करीर–पुं० कृ ईरन्– घटे, मेदि० । वंशाङ्कुरे, अमरः । अङ्कुरमात्र, भावप्र० । गूढपत्रे, मरुभूमिजे, उष्ट्रप्रिये वृक्षभेदे, भावप्र० । चीरिकायाम, झिल्ल्याम, हस्तिदन्तमूले, स्त्री० जणादि० वाच० । करमद्दअट्टरूसग करीरए रावणमहत्थे, प्रश्ना. १ पद्। तत्सन्निकृष्टदेशादौ, त्रि० स्त्रियां ङीष् वाच० ।

करीरपाणग–करीरपानक–न० करीरसंमर्देन कृते पानकभेदे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

करीसंग–करीषाङ्ग–न० अग्न्युद्दीपनकारणे, उत्त० १२ अ० ।

करेंत–कुर्वत–त्रि० कृ– शतृ– चर्मकारे, भृत्ये, विश्व० । कर्तरि त्रि० स्त्रियां ङीप् वाच० । प्रश्न० ।

करेणु–करेणु–पुं० कृ–एणु. के मस्तके रेणुरस्य वा गजे. अमरः । कर्णिकारवृक्षे, विश्वः । वाच० । हस्तिन्याम, स्त्री० वृ० १ उ० । उत्त० स्वार्थे कन् करेणुकाऽप्यत्र स्त्री० रायमुकुटस्तु करेणुशब्दं दीर्घान्तं पठित्वा हस्तिनि, पुं० स्त्री त्याह । वाच० ।

करेणुदत्त–करेणुदत्त–पुं० ब्रह्मदत्तचक्रिणः पितृवयस्ये ब्रह्मदत्तचक्रिणा लब्धे कन्यारत्ने, स्त्री. उत्त० १३ अ० ।

करेणुसेणा–करेणुसेना–स्त्री० ब्रह्मदत्तचक्रिणा लब्धे कन्यारत्ने, उत्त० १३ अ० ।

करेत्तए–कर्तुम्–अव्य० विधातुमित्यर्थे, भ० ८ श० २ उ० ।

करेमाण–कुर्वत्–कुर्वाण–त्रि० विदधाने, "पक्खुलिय महासमुद्दरवभूयं पिव करेमाणे" औ० ।

करोडग–करोटक–पुं० कटोरके पात्रभेदे, " ततो पासेहिं करोडगा कटोरगा मंकुया सिप्पाओ पडुविज्जंति" नि० चू० १ उ० । योगशास्त्रप्रवर्त्तके गणिनि, गोपेन्द्रादीनां गोपेन्द्रवाचककरोटकगणिप्रभृतीनाम् , पं० व० ।

करोडिय–करोटिक–पुं० कापालिके; ज्ञा० ६ अ० । औ० । दीर्घककारादिरप्यत्र, ज्ञा० १ अ० ।

करोडिया–करोटिका–स्त्री० अतीवविशालमुखायां कुण्डिकायाम, अनु० । स्थगिकायाम, ज्ञा० १ अ० । मृण्मयभाजनविशेषे च, औ० ।

करोडियाधारि (ण्)–करोटिकाधारिन्–पुं० स्थगिकाधारिणि, भ० ११ श० १ उ० ।

करोडी–करोटी–स्त्री० कपाले, ज्ञा० ८ अ० ।

कल–कल–धा० संख्याने, सक० शब्दे, अक० भ्वा–आत्म० सेट् । वाच० । कलसंख्याने धातवोऽर्थान्तरेऽपि इति संज्ञानेऽपि 'कलइ' जानाति संख्यानं करोतीति वा, प्रा० । विशे० प्र० । कलगतौ संख्यायां च अद० चुरा० सक० सेट्–कलयति (ते) वाच० ।

कल–पुं० रसोर्लशौ ८ । ४ । ८७ इति मागध्यां रस्थाने लः हस्ते, प्रा० ।

कल–पुं० कल शब्दे, घञ्-नि० अवृद्धिः । अत्यन्तश्रवणहृदयहरे अव्यक्तध्वनौ. मधुरे, ज्ञा० १ अ० । व्याकुलशब्दसमूहे, चं० प्र० १९ पाहु० " कलरिभियमहुरतंतीतलतालवंसकुहचंसाभिरामं" ज्ञा० १७ अ० । कलाये, त्रिपुटाख्ये वृत्तचणके वा, जं० २ वक्ष० धान्यविशेषे, भ० १५ श० १ उ० । प्रज्ञा० । कम-मदे अच् मस्य लः शुक्रे, चरमधातौ, न० मेदि० कोलिवृक्षे, पुं० शालवृक्षे, पुं० राजनि० । अजीर्णे, मेदि० । कलाऽस्त्यस्य अच्–कलान्वितेऽवयवे च, वाच० ।

कलअ–कालक–पुं० काल-स्वार्थे कः "वाऽव्ययोत्खातादावदातः ८ । १ । ६७ इत्यादेरातोऽत् वा कलओ, कालओ कालशब्दार्थे, प्रा० ।

कलंक–कलङ्क–पुं० कलयति-क्विप्-कलं चाऽसावङ्कश्च कं ब्रह्माणमपि लङ्घयति गच्छति लाकि गतौ अण् वा चिह्ने, अपवादे, ताम्रादिधातूनां मलभेदे, ताम्रादियोगात् अम्लादिविकारे च। मेदि० वाच०। "मलकलंकपंका" आव० ४ अ०। स्वनामख्याते विद्वद्भेदे, तथा चाह कलंकः "भेदाभेदात्मके ज्ञेये, भेदाभेदाभिसन्धयः" आ०म० द्वि०। ततोऽस्त्यर्थे इति कलंकिन् तद्युक्ते स्त्रियां ङीप् ततः तारका०जातार्थे इतच् कलंकितः। जातकलंके, त्रि० वाच०

कलंकण–कलंकन–न० कलंकस्य करणे, अभ्याख्याने, असद्दोषस्यारोपणे, प्रव० ८ द्वा०।

कलंकणिम्मुक–कलंकनिर्मुक्त–त्रि० कलंकरहिते, ध० २ अधि०।

कलंकल–कलङ्कल–त्रि० अशुभवस्तुनि, संथा०।

कलंकलीभाव–कलङ्कलीभाव–पुं० संसारगर्भादिपर्यटने, आचा० १ श्रु०। असमञ्जसत्वे, औ०।

कलंत–क्लान्त–त्रि० क्लमे, "अप्पकलंताणं बहुसुभेणं दिवसो वइक्कंतो" आव० ३ अ०।

कलंद–कलन्द–न० कुण्डके, औ०। उपा०। वर्णशङ्करजातौ, जात्यार्यविशेषे, स्था० ६ ठा०।

कलंब–कदम्ब–पुं० कन्दकरणे अम्बच् वृक्षविशेषे, औ०। प्र०। "कलंबोउपिसायाणं" स०। तस्य भेदाः "नीपोमहाकदम्बः स्यात्, धाराकदम्ब इत्यपि। द्वितीयोऽल्पप्रसारश्च, धृत्तपुष्पः कदम्बकः। हारिद्रस्तुरजोबलः। "धूलीकदम्बको धाराकदम्बः षट्पदप्रियः। वृत्तपुष्पः केशराख्यः, प्रावृषेण्यः कदम्बकः। नीपो महाकदम्बोऽपि, तथा बहुफलो मतः। इति भरतः वाच०।

कलंबचीर–कलम्बचीर–न० शस्त्रविशेषे, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

कलंबवालुया–कदम्बवालुका–स्त्री० कदम्बपुष्पाकारा वालुका कदम्बवालुका, नरकनद्याम्, प्रश्न० आश्र० १ द्वा०। सूत्र०। "महादवग्गिसंकासे, मरुम्मि वइरवालुए। कलंबवालुयाए य, दड्ढपुव्वो अणंतसो, उत्त० १९ अ०।

कलंबचीरिया–कदम्बचीरिका–स्त्री० तृणविशेषे, स च दर्भादप्यतीव तुदकः। अतः "कलंबचीरियापत्तेह वा कुंतग्गे वा तोमरग्गेत्ति वा" दुःस्पर्शत्वेनोपमानम्। जी० ३ प्रति० १ उ०। स्था०। कदम्बचीरिकेति विशुद्धं प्रतिभाति, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

कलंबुआ–कलम्बुका–स्त्री० नालिकायाम्, पुष्पप्रधानवृक्षभेदे, सू० प्र० ४ पाहु०। जलरुहभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०। कदम्बपुष्पाकारमांसगोलके, विशे०। स्वनामख्याते सन्निवेशे च। यत्र भगवतो महावीरस्य कालहस्तिना उपसर्गः कृतो मेघेन च तद्यात्रा पूजा कृता, आ०म० द्वि०। आ० चू०।

कलंबुआपुप्फ–कलम्बुकापुष्प–न० नालिकापुष्पे, तच्च दाडिमपुष्पमिति सम्भाव्यते। सू० प्र० ४ पाहु०।

कलक–कलक–पुं० स्त्री० कल-चुरा०-ण्वुल्। शकुलमत्स्ये, हेम०। स्त्रियां जातित्वात् ङीप् वाच०। स्कन्दकाचार्यशिष्याणां वादे पराजिते द्विजातौ, येन तेषामेकोनपञ्चशतानि कुमानि अनशनं प्रापितानि, संथा०।

कलकल–कलकल–पुं० कलप्रकारः गुणवचनत्वात् प्रकारे द्वित्वम् कोलाहले, वाच०। व्यक्तवचने, रा०। विपा०। औ०। भ०। उपलभ्यमानवचनविभागे ध्वनौ, भ० ९ श० ३३ उ०। जी० ३ प्रति० १ द्वा०। औ०। व्याकुलशब्दसमूहे, सू० प्र० १९ पाहु०। जं०। "कलकलं णं वयणं छुभंति" कलकलशब्दयोगात् कलकलम्, प्रश्न० आश्र० १ द्वा०। कलस्य शालवृक्षस्य कला यत्र शालनिर्यासे, मेदि०। वाच०।

कलकलंत–कलकलायमान–त्रि० कलबोलं कुर्वाणे, कलकलं कुर्वति, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा०। "कलकलंतबोलबहलं" कलकलायमानो यो बोलो ध्वनिः स बहलो यत्र स तथा, औ०। "कलकलंतखारपरिसित्तगाढरुज्झंतगत्ता" कलकलायमानक्षारेण यत्परिसिक्तं परिषेकः तेन (गाढमत्यर्थं) मज्झंतत्ति। दह्यमानगात्रं येषान्ते तथा, प्रश्न० आश्र० १ द्वा०।

कलकलंतवेयरणी–कलकलायमानवैतरणी–स्त्री० कलकलायमानं यत् त्रपुकादि तद्भृता वैतरण्यभिधाना या नदी सा कलकलायमानवैतरणी। नरकनद्याम्, प्रश्न० आश्र० १ द्वा०।

कलकलभरिय–कलकलभृत–त्रि० चूर्णादिमिश्रजलभृते, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

कलकलरव–कलकलरव–पुं० कलकललक्षणे रवे, "मयराहइसंतरुसंतकलकलरवे" प्रश्न० आश्र० ३ द्वा०।

कलण–कलन–न० कलयत्यनेन कलगतौ गत्यर्थस्य ज्ञानार्थत्वात् ज्ञाने, करणे ल्युट् चिह्ने, वातपित्तादिदोषे च। तैः स्वरूपानुमानात् तथात्वम्। ग्रहणे, ग्रासे, ज्ञाने च, वाच०। संशब्दने, संख्याने च, विशे०। "कं जलं लाति वर्णसिसाधनत्वेन तथा सञ्चमति नम्-वा-रु। वेतसवृक्षे, पुं० राजनि०। तस्य जलसमीपजातत्वात् तत्स्रोतसा नमनाच्च तथात्वम्, वाच०।

कलत्त–कलत्र–न० गडसेचने अत्रन् आदेश कः इस्य लः कलं त्रायते त्रैकः कम-शासने वा अत्र नमस्य लो वा भार्यायाम्, वाच०। दारेषु, आव०४ अ० "मित्तकलत्ताई सेवई" प्रश्न० आश्र० २ द्वा०। आव०। नितम्बे, अमरः। नृपाणां दुर्गस्थाने, हेमचं०, वाच० ॥

कलभा–कलभा–स्त्री० बालावस्थायाम्, शा० १ अ०।

कलभाणण–कलभानन–त्रि० स्वरमनोज्ञानने, स्त्रियां कलभाणणीः व्य० ७ उ०।

कलम–कलम–पुं० कलते अराणि कल-कमच लेखन्यां, अटाधरः। वाच०। "कलमावणगोत्तिति" "कलमा महामलगप्पमाणं नेयव्वंति" नि० चू० १ उ०। शालिभेदे, स च कलमः कलिविख्यातो जायते स वृहद्गने कश्मीरदेशे प्रयोक्तो महातण्डुलगर्भकः इति जावप्र०। उत्पन्नप्रतिरोपितधान्यभेदे च० "आपादपद्मप्रणताः, कलमा इव ते रघुम्" कलयति परस्वं कल-अमच् चौरे, पुं०, आचा०। आम० द्वि०।

कलमल–कलमल–पुं० अपवित्रमले "रागेण न जाणंति वराया कलमलस्स णिद्धमणं" तं०। जठरद्रव्यसमूहे, 'कलमलजंबालाए' कलमलो जठरद्रव्यसमूहः स एव जम्बालः, स्था० ३ ठा० ३ उ०। कर्दमो यस्यां सा तथा शरीरसत्काऽशुभद्रव्यविशेषे, "कलमलाहिंवासदुक्खबहुजणसाहरणा" कलमलस्य शरीरसत्काशुभद्रव्यविशेषस्याऽधिवासेनावस्थानेन दुःखा दुरूपा ये ते तथा। बहुजनानां साधारणाभाग्यत्वेन ये ते तथा। ततः कर्मधारयः, भ० ९ श० ३३ उ०।

कलमसालि–कलमशाली–पुं० पूर्वदेशप्रसिद्धे (उपा० १ अ०) शालिविशेषे, जं० २ वक्ष०।

कलमसालिणिव्वत्तिय-कलमशालीनिर्वर्तित-त्रि० कलमशालिमये, जी० ३ प्रति० ३ उ० ।

कलमोयण-कलमोदन-कलमशालिकूरे, व्य० १० उ० ।

कलल-कलल-पुं० न० कल-वृषा-कलल् गर्भवेष्टनचर्मणि, अमरः "एकरात्रेण पच्यमाने गर्भाशयप्रसूते रेतोविकारे, वाच०। उत्पत्तिक्रमे,एवं "सत्ताहं कललं होइ,सत्ताहं होइ बुब्बुयं"सप्ताहोरात्राणि यावत् शुक्रशोणितसमुदायमात्रं कललं भवति, तं०।

कलस-कलश-पुं० कलं मधुरोऽव्यक्तं ध्वनिं शपति शु-गतौ वा-मः । घटे, वाच० । भृङ्गारे, रा० । महाघटे, जं० २ वक्ष० । अस्याष्टमङ्गलेष्वन्तर्गणना । रा० । औ० । जं० । विवाहादौ, उत्सवे यो मण्ड्यते तस्यैव माङ्गलिकत्वात् ग्रहणम्, स्था०।

कलसंग (सिंग) लिया-कलसङ्गलिका-स्त्री० ' कलत्ति ' कलाया धान्यविशेषः तेषां " संगलियत्ति " फलिका अनु० ३ वर्ग० । कलायाभिधान्यफलिकायाम, भ० ७ श० १ उ० ।

कलसय-कलशक-पुं०आकारविशेषवति. बृहद्घटे, उपा०७अ०।

कलसि-कलशि-स्त्री० पृश्निपर्ण्याम्, अमरः । घटे, हेमचं० । अस्य कृदिकारान्तत्वात् वा ङीप् "कलशीत्यप्युभयत्र" वाच० ।

कलसिया-कलशिका-स्त्री० लघुतरे कलशे, अनु० । आतोद्यविधाने, आ०चू० १ अ० । रा० ।

कलसीपुर-कलशीपुर-न० पुरभेदे, येन घोषवतीसेना, वसन्त। कलसीपुरे। धारिता वामहस्तेन, क्षत्रियः सैष वेम(ग) वान्। ॥२३॥ प्रव० ९ द्वा० ।

कलह-कलह-पुं० न० कलं कामं हन्ति अत्र । हन्-या-आधारे, मः, वाच० । द्वन्द्वाधिकरणे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । वचनराटौ, भ० ३ श० ६ उ० । आतु० । परस्परं राटौ, पिं० । प्रश्न० । जी० । प्रव० । औ० । प्रज्ञा० । दशा० । स्था० । वाचिकभण्डने, आ०म०द्वि०। प्रश्न०। कलौ, प्रव० ३८ द्वा०। वाग्युद्धे, प्रति०।जी०। द० । उत्त० । बुग्गहोत्ति वा कलहोत्ति वा भंडणत्ति वा विवादोत्ति वा एगट्ठं " नि० चू० १६ उ० । (अहिगरणशब्दे वक्तव्यतोक्ता) महता शब्देनान्योऽन्यमसमञ्जसभाषणे, एतच्च क्रोधकार्य्यमिति (भ० १२ श० ५ उ०) क्रोधे, उत्त० ८ अ० । तद्रूपे मोहनीयकर्मणि, स० सङ्ग्रामे च, आचा०१ श्रु० ५ अ० ४उ०।

कलहंझाण-कलहध्यान-न० कलहो वाचिकराटिः तस्य ध्यानं कलहध्यानम् । रुक्मिणीसत्यभामयोर्व्यतिकरे, कलहप्रियदुर्योधननृपस्येव कमलामेलाद्व्यितिकरे नारदस्येव वा दुर्ध्याने, आतु० ।

कलहंस-कलहंस-पुं. स्त्रि०कला मधुरशब्दा ये हंसाः कलहंसाः। राजहंसेषु, कल्प० । जी० । प्रज्ञा० ।नृपश्रेष्ठे,मेदि० । कलप्रधानो हंसः वाक्हंसभेदे, स्त्रियां जातित्वात् ङीप् वाच० ।

कलहकर-कलहकर-पुं०कलहो वाचिकं भण्डनं तत्करणशीलः अप्रशस्तक्रोधाद्यौदयिकभाववशतः कलहकरणशीले, आ०म० द्वि० । कलहहेतुभूतकर्तव्यकारिणि , प्रश्न० संव० ३ द्वा० । स० । " कलहकरी असमाहिकरे " आक्रोशादिना येन कलहो भवति तत्करोति सचैवं गुणयुक्तो हि असमाधिस्थानमष्टादशं प्रयाति, दशा० १ अ० । आ० चू० । आव० ।

कलहकारग-कलहकारक-त्रि० राटिजनके णिसायसरमंता- ओ हवंति कलहकारगा, अनु० ।

कलहप्पिय-कलहप्रिय-त्रि० राटिवल्लभे, " खेवयसरसंपन्ना भवंति कलहप्पिया" स्था० ७ ठा० । सारिकापक्षिण्याम, स्त्री० राजनि०, वाच० ।

कलहमित्त-कलहमित्र-न० कलहानन्तरं जाते मित्रे, व्य० ४ उ.

कलहाभिणंदि (ण)-कलहाभिनन्दिन्-त्रि० महर्षिनारदस्थानिनि कलहप्रिये, नं० ।

कलहासंगकर-कलहासङ्गकर-कलहः संग्रामस्तत्रासङ्गः सम्बन्धः कलहासंगस्तत्करः युद्धसंसर्गकृति, कलहः क्रोध आसङ्गो रागइत्यतः रागद्वेषकारिणि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

कला-कला-स्त्री० कल अच्. टाप् विज्ञाने, ताश्च कलनीयभेदाद् द्विसप्ततिर्भवन्ति ।

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स बावत्तरिपुरवरसाहस्सीओ पण्णत्ताओ बावत्तरिकलाओ पण्णत्ताओ तंजहा । लेहं १ गणियं २ रूवं ३ नट्टं ४ गायं ५ वाइयं ६ सगरयं ७ पुक्खरगयं ८समतालं ९ जूयं १० जणवायं ११ पोरकव्वं १२ अट्ठावयं १३ दगमट्टियं १४ अन्नविहीं १५ पाणविही १६ वत्थविही १७ सयणविही १८ अज्जं १९ पहेलियं २० मागाहियं २१ गाहं २२ सिलोगं २३ गंधजुत्ति २४ मधुसित्थं २५ आभरणविही २६ तरूणीपडिकम्मं २७ इत्थीलक्खणं २८ पुरिसलक्खणं २९ हयलक्खणं ३० गयलक्खणं ३१ गोणलक्खणं ३२ कुक्कडलक्खणं ३३ मिंढयलक्खणं ३४ चक्कलक्खणं ३५ छत्तलक्खणं ३६ दंडलक्खणं ३७ असिलक्खणं ३८ मणिलक्खणं ३९ कागणिलक्खणं ४० चम्मलक्खणं चंदलक्खणं सूरचरियं राहुचरियं गहचरियं सोभागकरं दोभागकरं विज्जागयं मंतगयं रहस्सगयं ४१ सभासंचारं ४२ वूहं ४३ खंधावारमाणं ४४ नगरमाणं ४५ वत्थुमाणं ४६ खंधनिवेसं ४७ वत्थुनिवेसं ४८ नगरनिवेसं ४९ ईसत्थं छरूप्पवायं ५० आससिक्खं ५१ हत्थिसिक्खं ५२ धणुव्वेयं ५३ हिरण्णपागं ५४ सुवन्नपागं ५५ मणिपागं ५६ धातुपागं ५७ बहुजुद्धं ५८ लयाजुद्धं ५९ मुट्ठिजुद्धं ६० जुद्धं ६१ निजुद्धं ६२ जुद्धाइजुद्धं ६३ सुत्तखेडं ६४ वट्टखेडं ६५ नालियखेडं ६६ चम्मखेडं ६७ पत्तच्छेज्जं ६८ कडगच्छेज्जं ६९ सजीवं ७० निज्जीवं ७१ सउणरुयं ७२ । स० १३० पत्र ।

अत्र 'लेह'मित्यादीनि द्वासप्तति पदानि राजप्रश्नीयानुसारेण द्वितीयान्तानि प्रतिभासन्ते इत्यत्रापि व्याख्यायां तथैव दर्शयिष्यन्ते समवायाङ्गानुसारेण च विभक्तिव्यत्ययेन प्रथमान्ततया स्वयं योजनीयानीति । तत्र लेखनं लेखोऽक्षरविन्यासस्तद्विषया कला विज्ञानं लेख एवोच्यते तं भगवानुपदिशतीति प्रकृते योजनीयम । एवं सर्वत्र योजना कार्या । स च लेखो द्विधा लिपिविषयभेदात् । तत्र लिपिरष्टादशस्थानोक्ता अथवा लाटादिदेशभेदतस्तथाविधविचित्रोपाधिभेदतो वाऽनेकविधेति । तथापि पत्रवल्कलकाष्ठदन्तलोहताम्ररजतादयोऽ-

क्षराणामाधारास्तथा लेखनोत्किरणस्यूतव्यूतच्छिन्नभिन्नदग्धसंक्रान्तितोऽक्षराणि भवन्तीति । विषयापेक्षयाऽप्यनेकधा स्वामिभृत्यपितृपुत्रगुरुशिष्यभार्यापतिशत्रुमित्रादीनां लेखविषयाणामप्यनेकत्वात्तथाविधप्रयोजनभेदाच्च अक्षरदोषाश्च । " अतिकार्श्यमतिस्थौल्यं, वैषम्यं पङ्क्तिवक्रता । अतुल्यानां च सादृश्य-मविभागः पदेषु च " इति १ तथा गणितं संख्यानं संकलिताद्यनेकभेदम्पाटीप्रसिद्धम् २ रूपं लेप्यशिलासुवर्णमणिवस्त्रचित्रादिषु रूपनिर्माणम् ३ नाट्यं साभिनयनिरभिनयभेदभिन्नं ताण्डवम् ४ गीतं गन्धर्वकलागानविज्ञानमित्यर्थः ५ वादितं वाद्यं ततविततादिभेदभिन्नम् ६ स्वरगतं गीतमूलभूतानां षड्जऋषभादिस्वराणां ज्ञानम् ७ पुष्करगतं पुष्करं मृदङ्गमुरजादिभेदभिन्नं तद्विषयकं विज्ञानम् वाद्यान्तर्गतत्वेऽप्यस्य यत् पृथक्कथनं तत्परमसंगीताङ्गत्वख्यापनार्थम् ८ समतालं गीतादिमानकालस्तालः स समोऽन्यूनाधिकमात्रिकत्वेन यस्माद् ज्ञायते तत्समतालविज्ञानम् " क्वचित्तालमानमिति " पाठः ९ द्यूतं सामान्यतः प्रतीतम् १० जनवादं द्यूतविशेषम् ११ पाशकं प्रतीतम् १२ अष्टापदं सारिफलकद्यूतं तद्विषयककला १३ पुरःकाव्यमिति पुरतः पुरतः काव्यं शीघ्रकवित्वमित्यर्थः १४ (दगमट्टिअमित्ति) दकसंयुक्तमृत्तिका विवेकद्रव्यप्रयोगपूर्विका तद्विवेचनकलाऽप्युपचाराद्दकमृत्तिका ताम् १५ अन्नविधिं सूपकारकलाम् १६ पानविधिं दकमृत्तिकाकलया प्रसादितस्य सहजनिर्मलस्य तत्संस्कारकरणम्, अथवा जलपानविधिं जलपानविषये गुणदोषविज्ञानमित्यर्थः यथा " अमृतं भोजनस्यार्द्धे, भोजनान्ते जलं विषम् " इत्यादि १७ वस्त्रविधिं वस्त्रस्य परिधानीयादिरूपस्य नवकोणदैविकादिभागयथास्थाननिवेशादिविज्ञानं वा अनादिवस्तु अनन्तविज्ञानान्तर्गतमिति नेह गृह्यते १८ विलेपनविधिं यक्षकर्दमादिपरिज्ञानम् १९ शयनविधिं शयनं शय्या पल्यङ्कादिस्तद्विधिः स चैवं "कर्माङ्गुलं यवाष्टक-मुदरासक्तं तुषैः परित्यक्तम् । अङ्गुलशतं नृपाणां, महती शय्या जयाय कृता ॥१॥ नवतिः सैव षमूना, द्वादशहीना त्रिषट्कहीना च । नृपपुत्रमन्त्रिबलपति-पुरोधसां स्युर्यथासंख्यम् ॥२॥ अर्धमतोऽष्टांशोनं, विष्कम्भो विश्वकर्मणा प्रोक्तः । आयामत्र्यंशसमः, पादोच्छ्रायः सकुक्षिशिराः" ३ इत्यादिकं विज्ञानम् । अथवा शयनं स्वप्नः तद्विषयको विधिस्तं यथा पूर्वस्यां शिरः कुर्यादित्यादिकं विधिम्, २० आर्या सप्तचतुष्कलगणादिव्यवस्थानिबद्धां मात्राच्छन्दोरूपाम् २१ प्रहेलिकां गूढाशयपद्यम् २२ मागधिकां रसविशेषम् । तल्लक्षणं चेदम् "दिसाधसुदुब्भिट्टगणा, समेसु पोटो तओ दुसु वि जत्थ । लहु उंकगणो लहु ज-कगणा तं मुणह मागहिअं" ति २३ गाथां संस्कृतेतरभाषानिबद्धामार्यामेव २४ गीतिकां पूर्वार्द्धसदृशाऽपरार्द्धलक्षणामार्यामेव २५ श्लोकमनुष्टुब्विशेषम् २६ हिरण्ययुक्तिं हिरण्यस्य रूप्यस्य युक्तिं यथोचितस्थाने योजनम् २७ एवं सुवर्णयुक्तिम् २८ चूर्णयुक्तिं कोष्ठादिसुरभिद्रव्येषु चूर्णीकृतेषु तत्तदुचितद्रव्यमेलनम् २९ आभरणविधिं व्यक्तम् ३० तरुणीपरिकर्म युवतीनामङ्गशतक्रियां वर्णादिवृद्धिरूपाम् ३१ स्त्रीपुंसलक्षणे सामुद्रिकप्रसिद्धे ३२ । ३३ हयलक्षणं दीर्घग्रीवाक्षिकूट इत्यादिकमश्वलक्षणविज्ञानम् ३४ गजलक्षणं " पञ्चोन्नतिः सप्त मृगस्य दैर्घ्य-मष्टौ च हस्ताः परिणाहमानम् । एकद्विवृद्धावथ मन्द्रभद्रौ, संकीर्णनागो नियतप्रमाणः" १ इत्यादि ज्ञानम् ३५ । (गोणलक्खणंति) गोलक्षणं " सास्नाविकलातिरूक्षा मूषिकनयनाश्च न शुभदा गावः" इत्यादिकम् ३६ कुक्कुटलक्षणं "कुक्कुटस्त्वृजुतनूरुहाङ्गुलिस्ताम्रवक्त्रनखचूलिकः सितः" इत्यादिकम् ३७ छत्रलक्षणं यथा चक्रिणां छत्ररत्नस्य ३८ दण्डलक्षणम् "यथाऽऽतपत्राङ्कुशवेत्रचापवितानकुन्तध्वजचामराणाम् । व्यापात १ तन्त्री २ मधु ३ कृष्ण ४ वर्ण-क्रमोत्क्रमेणैव हिताय दण्डः ॥१॥ मन्त्रि १ भू २ धन ३ कुल ४ क्षयावहा, रोग ५ मृत्यु ६ जननाश्च पर्वभिः । द्व्यादिभिर्द्विकविवर्द्धितैः क्रमाद्, द्वादशान्तविरतैः समैः फलम् ॥२॥ यात्राप्रसिद्धि १ र्द्विषतां विनाशो, २ लाभः ३ प्रभूतो वसुधागमश्च ॥३॥ वृद्धिः पशूना ५ मभिवाञ्छितार्थ ६-स्त्र्यादिष्वयुग्मेषु तदीश्वराणाम् " ४ इत्यादि ३९ असिलक्षणम् " अङ्गुलशतार्द्धमुत्तम, ऊनः स्यात्पञ्चविंशतिः खड्गः । अङ्गुलमानाज्ज्ञेयो, व्रणोऽशुभो विषमपर्वस्थः " १ अत्र व्याख्या अङ्गुलशतार्द्धमुत्तमः खड्गः पञ्चविंशत्यङ्गुलमानजनितः । अनयोः प्रमाणयोर्मध्यस्थितः प्रथमतृतीयपञ्चमसप्तमादिष्वङ्गुलेषु स्थितः स अशुभः अर्थादेव सप्ताङ्गुलेषु द्वितीयचतुर्थषष्ठाष्टमादिषु यः स्थितः स शुभः मिश्रेषु समविषमाङ्गुलेषु मध्यम इत्यादि ४० मणिलक्षणं रत्नपरीक्षा ग्रन्थोक्तकाकपदमक्षिकापद्मकेशरादित्यशर्करतास्वस्ववर्णोचितफलदायित्वादिमणिगुणदोषविज्ञानम् ४१ काकणी चक्रिणो रत्नविशेषस्तस्य लक्षणं विषहरणमानोन्मानादियोगप्रवर्त्तकत्वादि ४२ वास्तुनो गृहभूमेर्विद्या वास्तुशास्त्रप्रसिद्धं गुणदोषविज्ञानम् ४३ स्कन्धावारस्य मानम् । "एकेभैकरथाश्च्यश्वाः, पत्तिः पञ्चपदातिका । सेना सेनामुखं गुल्मो, वाहिनी पृतना चमूः १ अनीकिनी च पत्तेः स्या-दिभाद्यैस्त्रिगुणैः क्रमात् । दशानीकिन्योऽक्षौहिणीत्यादि" ४४ नगरमानं द्वादशयोजनायामनवयोजनव्यासादिपरिज्ञानम् । उपलक्षणाच्च कलशादिनिरीक्षणपूर्वकसूत्रन्यासयथास्थानवर्णादिव्यवस्थापरिज्ञानम् ४५ चारो ज्योतिश्चारस्तद्विज्ञानम् ४६ प्रतिचारः प्रतिकूलश्चारो ग्रहाणां वक्रगमनादिस्तत्परिज्ञानम् । अथवा प्रतिचरणं प्रतिचारो रोगिणः प्रतीकारकरणं तज्ज्ञानम् ४७ व्यूहं युयुत्सूनां सैन्यरचनां यथा चक्रव्यूहे चक्राकृतौ तुम्बारकपरिध्यादिषु राजन्यस्थापनेति ४८ प्रतिव्यूहं तत्प्रतिद्वन्द्विनां तद्भङ्गोपायप्रवृत्तानां व्यूहम् ४९ सामान्यतो व्यूहान्तर्गतत्वेऽपि प्राधान्यान्त्रीनिह व्यूहविशेषानाह चक्रव्यूहं चक्राकृतिसैन्यरचनामित्यर्थः ५० गरुडव्यूहं गरुडाकृतिसैन्यरचनामित्यर्थः ५१ एवं शकटव्यूहम् ५२ युद्धं कुक्कुटानामिव मुण्डामुण्डि शृङ्गिणामिव शृङ्गाशृङ्गि युयुत्सयाऽनयोर्वल्गनम् ५३ नियुद्धं मल्लयुद्धम् ५४ युद्धातियुद्धं खड्गादिप्रक्षेपपूर्वकं महायुद्धं यत्र यं प्रति द्वन्द्विहतानां पुरुषाणां पातः स्यात् ५५ दृष्टियुद्धं योधप्रतियोधयोश्चक्षुषोर्निर्निमेषावस्थानम् ५६ मुष्टियुद्धं योधयोः परस्परं मुष्ट्या हननम् । ५७ बाहुयुद्धं योधप्रतियोधयोरन्योऽन्यं सारिबाह्वोरिव बिभत्सया वल्गनम् ५८ लतायुद्धं यथा लता वृक्षमारोहन्ती आमूलमाशिरस्तमवेष्टि तथा यत्र योधः प्रतियोधशरीरं गाढं निपीड्य भूमौ पातयति तल्लतायुद्धम् ५९ (ईसत्थंति) प्राकृतशैल्या इषुशास्त्रं नागबाणादिदिव्यास्त्रादिसूचकं शास्त्रम् ६० (छरुप्पवायंति) त्सरुः खड्गमुष्टिस्तदवयवयोगात् त्सरुशब्देनात्र खड्ग उच्यते अवयवे समुदायोपचारस्तस्य प्रवादो यत्र शास्त्रे तत् त्सरुप्रवादं खड्गशिक्षाशास्त्रमित्यर्थः । प्रश्नव्याकरणे तु " त्सरुप्पगम् " इति पाठः ६१ धनुर्वेदं धनुःशास्त्रम् ६२ हिरण्यपाकसुवर्णपाकौ रजतसिद्धिकनकसिद्धी च ६३, ६४ (सु-

त्तखेमंति) सूत्रखेलं सूत्रक्रीडाम् अत्र खेलशब्दस्य 'खेम' इत्यादेशः ६५ एवं वट्टखेलमपि ६६ एतत् कलाद्वयं लोकतः प्रत्येतव्यम् (नालिआखेल्लंति) नालिकाखेलं द्यूतविशेषं मा भूदिष्टदायाद्विपरीतपाशकनिपतनमिति नालिकायां यत्र पाशकः पात्यते द्यूतग्रहणे सत्यपि अतिनिवेशे निबन्धनत्वेन नालिकाखेलनप्राधान्यज्ञापनार्थं भेदेन ग्रहः ६७ पत्तच्छेद्यम् अष्टोत्तरशतपत्राणां मध्ये विवक्षितसंख्याकपत्रच्छेदने हस्तलाघवम् ६८ कटच्छेद्यं कटवत् क्रमाच्छेद्यं वस्तु यत्र विज्ञाने तत्तथा इदं च न्यूनपटोद्वेष्टनादौ भोजनक्रियादौ चोपयोगि ६९ (सज्जीवंति) सजीवकरणं मृतधात्वादीनां सहजस्वरूपापादनम् ७० (निज्जीवंति) निर्जीवकरणं हेमादिधातुमारणं रसेन्द्रस्य मूर्छाप्रापणं वा ७१ शकुनरुतम् अत्र शकुनपदं रुतपदं चोपलक्षणं तेन वसन्तराजाद्युक्तसर्वशकुनसंग्रहः गतिचेष्टादिगवलोकनादिपरिग्रहश्च ७२ इति द्वासप्ततिः पुरुषकलाः, ॥ चतुःषष्टिः स्त्रीकलाः (ताश्च इत्थीशब्दे स्त्रीपुरुषकलानां परस्परं सांकर्येऽपि न पुनरुक्ततेत्यपि तत्रैव) ताश्च प्रथमं श्रीऋषभस्वामी महाराजवासे वसन् "लेहाइआओ गणिअप्पहाणाओ सउणरुअपज्जवसाणाओ बावत्तरिकलाओ उपदिदेश" जं० २ वक्ष० ।

(इदं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यनुसारेण व्याख्यातम् । परन्तु जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तेर्निम्नलिखितकलानामर्थेषु समवायाङ्गस्य निम्नलिखितकलानामर्थास्तात्पर्यविचारतो यथासंभवं लभ्यन्ते । तथाहि । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तेः(१५)पञ्चदश्यां कलायां समवायाङ्गस्य(२५)पञ्चविंशकलाया मधुरादिषम्सप्रयोगरूपोऽर्थोऽन्तर्भवति । एवमङ्कक्रमेण । १६-२४ गन्धद्रव्यविरचनम् । २७-२६ आभूषणानां विरचनघटनपरिधानानि । ३४-५१ अश्वशिक्षा । ३५-५२ गजशिक्षा । ३७-३४ मेषलक्षणज्ञानम् । ४१-४१ चन्द्रग्रहणादिज्ञानं चर्मगुणदोषज्ञानं च । ४२-३५ चक्ररत्नलक्षणम् । ४३-४८ वस्तुस्थापनविधानम् । ४४-४७ कटकनिवासविधानम् । ४५-१२,४६ नगररक्षा, नगरनिवेशविधिश्च । ४६-४१ सूर्यराहुग्रहाणामुदयास्तादिफलज्ञानम् । ४७-४१,४२ सौभाग्यदौर्भाग्यविद्यामन्त्ररहस्यविज्ञानं, सत्रप्रवेशविधानं च । ६४-४६,४७ मणिरत्नादिपाकः, ताम्रादिधातुपाकश्च । ६७-६७ चर्मविधिविशेषविज्ञानम् । ११-११ जनवादः (लोकैः सहालापसंलापविधिः) । अयमेवोभयोर्भेदः, अन्यत्सर्वं समानम् । नन्वेवं परस्परग्रन्थभेदात्सूत्राप्रामाण्यमिति चेन्न । अन्यासामन्यास्वन्तर्भावमिच्छद्भिर्ग्रन्थकारैर्नताः पृथक्तयोपात्ताः । यथा 'व्यूह' इति सामान्यकलायामेव, प्रतिव्यूहशकटव्यूहादीनामन्तर्भावमिच्छद्भिः समवायाङ्गकारैः पृथक्तया नो पात्ताः । विशेषतयाऽऽवश्यकतां दर्शयद्भिर्जम्बूप्रज्ञप्तिकारैः पृथक्तया निर्दिष्टाः । द्वासप्ततिसंख्यायामुभयोरपि साम्यमिति न विरोधसंभावना । वस्तुगत्या भगवद्भिः किंरूपतया का उपदिष्टेति तु केवलिन एव विदन्ति न तु चर्मचक्षुष्का इति) कल्प० । आ० म० द्वि० । प्रव० । ति० । ज्ञा० । विपा० । प्रश्न० । औ० । कलाग्रन्थाश्च नोआगमतो लौकिकभावश्रुतेऽन्तर्भवन्तीति मिथ्यादृक्प्रणीतत्वात्तेषां लौकिकभावश्रुतत्वम् तथाहि 'जमिदं रामायणं' इत्युपक्रम्य 'अहवा बावत्तरिकला चत्तारि वेया संगोवंगा' इति तत्र कलनानि वस्तुपरिज्ञानानि कलास्ताश्च द्विसप्ततिः समवायाङ्गादिग्रन्थप्रसिद्धाः । अनु० । " चउसट्ठिकलापंडिया चउसट्ठिगणियगुणोववेया " चतुःषष्टिकला गीतनृत्यादिकाः स्त्रीजनोचिता वात्स्यायनप्रसिद्धाः " ज्ञा० ३ अ० । "कलानां ग्रहणादेव, सौभाग्यमुपजायते । देशकालौ त्वपेक्ष्यासां, प्रयोगः सम्भवेन्न वा " ॥१॥ दश० ३ अ० । मात्रायाम्, चं० प्र०१ पाहु० । अंशे, स्था० १० ठा० । पलद्वयात्मके काले, धात्वाशयान्तरस्थे देहस्थे धातुक्लेदभेदे, एकमात्रात्मकलघुवर्णे, "स्युर्विषमेऽष्टौ समे कलाः" ऋणप्रयोगे, मूलधनादधिके आयत्वेनाधमर्णेन उत्तमर्णाय दीयमाने वृद्धिरूपे, मेदि० । रजसि, नौकायाम्, कपटे च, विश्वः । वाच० । " कलाकुसलसव्वकाललालियसुहोचिया " कलाकुशलसर्वकाललालितसुखोचिताः कलाकुशलाश्च ताः सर्वकालं लालिताश्चेति कलाकुशलसर्वकाललालितास्ताश्च ताः सुखोचिताश्चेति विग्रहः । कलाकौशल्यसार्वकालिकलालनशालिनीषु सुखोपभोगयोग्यासु राजपुत्र्यादिषु, भ० ९. श० ३३ उ० ।

कलातीत-कलातीत-त्रि० त्यक्तकदाग्रहे विपश्चिद्भेदे, यो० विं० ।

कला (य) द-कलाद-पुं० कलामंशमादत्ते आ-दा० क-स्वर्णकारे, अमरः । अलङ्कारघटनार्थं गृहीतधनस्यांशहरणात्तस्य तथात्वम्, वाच० । प्रश्न० । ज्ञा० । कलादनाम्ना प्रसिद्धे मूषिकारदारके, यस्य भद्रायां स्वभार्यायामुत्पन्ना पोट्टिला नाम्नी दारिका तेतलिपुत्रेण परिणीतेति, ज्ञा० १४ अ० । आ० म० प्र० । आ० चू० । (तेतलिपुत्तशब्दे कथा)

कलाय-कलाय-पुं० कलामयते अय-अण्-वृत्तचणके, प्रव० १५६ द्वा० । नि० चू० । ग० । अणु० । "कलाया वट्टचणगा" स्था० ५ ठा० ४ उ० । दशा० । " कलायरूवे " उपा० १ अ० ।

कलायरिअ-कलाचार्य- पुं० लिप्यादिकलाशिक्षणोपाध्याये, यो० विं० ।

कलाव-कलाप-पुं० कलां मात्रामाप्नोति आप्-अण्-"पो वः" ८ । १ । २३१ । इति पस्य वः । प्रा० । समूहे, ज्ञा० १ अ० । जं० । आ० म० प्र० । "आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियदामकलावा" प्रज्ञा० २ पद । "सूवाकलावसंगणसंठिए" प्रज्ञा० २१ पद । स० । औ० । शिखरमे, 'उक्खित्तचंदगाइयकलावे' ज्ञा०१ अ० । ग्रीवाभरणविशेषे, उपा० ७ अ० । ज्ञा० । औ० । शरपूर्णे चर्ममये भस्त्रारूपे तूणे, शरे, धनुषि, विदग्धे, वाच० ।

कलावई-कलावती-स्त्री० शङ्खराजभार्यायाम्, या पञ्चमे भवे कनकसुन्दरीनाम्नी मथुरायां राज्ञ्यभूत्, ती० ६ कल्प ।

कलावग-कलापक-पुं० कलाप स्वार्थे--कन् कलापार्थे, हस्तिस्कन्धबन्धे, हेमचं० । एकवाक्यतापन्ने श्लोकचतुष्के, न० "कलापकं चतुर्भिश्च" कलापिनो मयूरा यस्मिन् काले सोऽपि कालः कलापी उपचारात् तस्मिन् काले देये ऋणे, न० सिद्धा०कौ० । वाच० । ग्रीवाभरणे, न० । प्रश्न० संव० ५ द्वा० ।

कलावि (ण्)-कलापिन्-पुं० कलापो बर्होऽस्यास्ति इति मयूरे, कलापशब्दार्थवति, त्रि० वाच० । सूत्र० ।

कलासवण्ण-कलासवर्ण-न० कलानामंशानां सवर्णनं सवर्णे सदृशीकरणं यस्मिन् संख्याने तत् कलासवर्णम् । संख्यानभेदे, स्था० १० ठा० । सूत्र० ।

कलि-कलि-पुं० कल-शब्दादौ इन् चतुर्थयुगे, वाच० । कलौ लक्षचतुष्कं वर्षाणाम्, स्था० ४ ठा०२ उ० (परसमयाभिप्रायमेतदुक्तम्) जघन्ये कालविशेषे, अनु० । एकके, सूत्र० १ श्रु० २ अ०२ उ० । प्रथमे भङ्गे, "कलीणामपढमभंगे" नि०चू० १५ उ०

कलहे, प्रश्न० ३ द्वा०, शूरे, युद्धे च, हेम० । वाच० । स्वनामख्याते कलीनाम युवपुरुषे, येन धर्मस्य 'गामवोदस्स' भार्य्या परीक्षिता, दर्श० (मूढशब्दे उदाहरणम्) चम्पानगर्य्याः समीपे पर्व्वतभेदे, " चंपानयरीए नाइदूरे कायंबरीनाम अमवी होत्था तत्थ कली नाम पव्वओ " ती० ५४ कल्प ।

कलिओय—कल्योज (स्)—पुं० कलिना एकेन आदित एव कृतयुग्माद्वेपरिवर्तिना ओजो विषमराशिविशेषः कल्योजः इति । युग्मराशिविशेषे, (भ०) । " जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे अवहीरमाणे एगपज्जवसिए सेत्तं कलिओए " भ० १८ श० ४ उ० । स्था० ।

कलिओगकडजुम्म—कल्योजकृतयुग्म—पुं० महायुग्मराशिभेदे, " जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए जेणं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्तं कलिओगकडजुम्मे" कल्योजकृतयुग्मे चतुरादयः। भ० ३५ श० १ उ० ।

कलिओगकलिओग—कल्योजकल्योज—पुं० महायुग्मराशिभेदे, " जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए जेणं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्तं कलिओगकलिओगे" कल्योजकल्योजे तु पञ्चादयः, भ० ३५ श० १ उ० ।

कलिओगतेओग—कल्योजत्र्योज-पुं० महायुग्मराशिभेदे, "जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए जेणं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्तं कलिओगतेओगे" (भ०) कल्योजत्र्योजराशौ सप्तादयः भ०३५ श० १ उ० ।

कलिओगदावरजुम्म—कल्योजद्वापरयुग्म—पुं० महायुग्मराशिभेदे, " जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए जेणं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलिओगा सेत्तं कलिओगदावरजुम्मे" कल्योजद्वापरे षमादयः भ० ३५ श०१ उ० ।

कलिंग—कलिङ्ग—पुं० स्त्री० के मूर्ध्नि लिङ्गमस्य धूम्याटे पक्षिणि, अमरः । तस्य मस्तके पीतचिह्नवत्त्वात्तथात्वम् स्त्रियां जातित्वेऽपि संयोगोपधत्वात् टाप् । कलिं गच्छति वा खच् मित मुम् च । पूतिकरञ्जे, हेमचं० । कुटजे, तस्य फलम् अण् तस्य लुप् । इन्द्रयवे, न० । शिरीषवृक्षे, प्लक्षवृक्षे च, मेदि० । वाच० । देशभेदे, यत्र काञ्चनपुरं नगरम् । प्रज्ञा० १ पद । कल्प० । प्रव० । दर्श० । सूत्र० । आचा० ।

कलिंगराय—कलिङ्गराज—पुं० कलिङ्गजनपदानां राजनि , आव० ४ अ० ।

कलिंज—कलिञ्ज—पुं० कं-वातं लञ्जति रोधनेन 'लजि भर्जने' अच्-कटे, हेमचं० । तस्य गृहाद्यावरणेन वातरोधनात्तथात्वम् वाच० । " कलिंजो णाम वंसमया कमवल्लोसहती वि भष्णति" नि०चू० १७ उ० ।

कलिंब—कलिम्ब—पुं० वंशकर्पर्य्याम्, बृ० ४ उ० । नि० चू० । "कलिंबो वंसकप्परी" ग०२ अधि० । शुष्ककाष्ठे, भ०८श०३उ० ।

कलिंकरंड—कलिकरण्ड—पुं० कलीनां कलहानां करण्डक इव भाजनविशेष इव कलिकरण्डः । एकोनविंशे गौणपरिग्रहे, प्रश्न० आश्र० ५ द्वा० ।

कलिकलह—कलिकलह—पुं० राटीकलहे, " कलिकलहवेहकरणं " कलिकलहश्च राटीकलहो न तु रतिकलहः । प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० ।

कलिं (लि) कलुस—कलिकलुष—न० कलहहेतुकलुषे, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

कलिकुंम—कलिकुण्ड—न० कलिपर्वतस्याऽधोभूमिस्थे सरोवरे, तत्कल्पश्चायम् । अंगजणवए करकंडुनिवपालिज्जमाणाए चंपानयरीए नाइदूरे कायंबरी नाम अडवी होत्था । तत्थ काली नाम पव्वओ तस्स अहो भूमीए कुंडं नाम सरवरं । तत्थ जूहाहिवई महिहरो नाम हत्थी होत्था । अन्नया छउमत्थविहारेणं विहरंतो पासुसामी कलिकुंमसमीवदेसे काउस्सग्गेण ठिओ सो य जूहनाहो पहुं पिक्खंतो जाइसरो जाओ चिंतेइ । 'अहहा हं विदेहेसु, हेमधरो नाम माहणो । अहेसि जुवाणा वि-डा य मा ओवहसंति, १ तओ वेरग्गेण नमिरसाहस्स साहिणो साहाए तब्बं ठिओ मरिउं कामो अहं दिट्ठो सुण्णउण्सद्धेण पुट्ठो अ कारणं मए जहट्ठिए वुत्ते तेणाहं सुगुरुपासे नीओ गाहिओ सम्मत्तं । अंते कयाणसणेण नियाणं मए कयं जहा भवंतरे उच्चो हं हुज्ज त्ति । मरिऊण हत्थी जाओ हं । इह भवणे तओ इमं भगवंतं पज्जुवासामित्ति चिंतिअ तत्तो चेव सरवराओ घित्तुं सरसकमलं तेहिं जिणं पूएइ परियालिअपुव्वगहिअसम्मत्तो अणसणं काउं महिड्ढिओ वंतरो जाओ । पयमक्खभुअं चारेहिंतो सोच्चा करकंमू राया तया तत्थागओ । न दिट्ठो सामी । राया अईव अप्पाणं निंदेइ धन्नो सो हत्थी जेण भयवं पूइओ । अहं तु अधन्नो त्ति । एवं सोअंतस्स पुरओ धरणिंदप्पभावेण नवहत्थप्पमाणा पमिमा पाउब्भूया तओ तुट्ठो राया जय जय त्ति भणंतो तीए णमइ पूअइ अ चेइअं तत्थ कारेइ तत्थ निमिअं पुप्फाणि संथुइअं पिक्खणयं च कारितेण रम्मा कलिकुंमतित्थं पयासिअं । तत्थ सो हत्थी वंतरो सानिज्झं करेइ पव्वए य पूरेइ नचजंताए मुहजंताणि कलिकुंममेते य कम्मकरे पयासेइ । जहा गामवासी जणो गामुत्ति भणइ तहा कलिकुंमनिवासिजिणो वि कलिकुंडो । एसा कलिकुंडस्स उप्पत्ती । ती० १५ कल्प । कलिकुण्मे नागह्रदे (ह्रदे) च श्रीपार्श्वनाथः ती० ४५ कल्प ।

कलिगिरि—कलिगिरि—पुं० चम्पानगर्य्याः समीपे कलिपर्वते, यस्योपत्यकावर्ति कुण्डं नाम सरः, ती० ३५ कल्प ।

कलिजुग—कलियुग—न० कर्म० स० राहुशिरोवत्तपुरुषो वा कलिरूपे युगे कालविशेषे, वाच० ।

कलियुगोत्पत्तिर्लोके एवम् ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पाणयकप्पट्ठिए पुप्फुत्तरविमाणे वीससागरोवमाइं आउं परिपालित्ता तओ चुओ समाणो तिन्नाणोवगओ इमीसे उस्सप्पिणीए तिसु अरएसु वइक्कंतेसु अद्धनवमासाहिअपंचहत्तरीवासावसेसे चउत्थए अरए आसाढसुद्धछट्ठीए उत्तरफग्गुणीरिक्खे माहणकुंडग्गामे नयरे उसभदत्तमाहणभारियाए देवाणंदाए कुच्छिंसि सीहगयवसहाऽऽइचउद्दसमहासुमिणसंसूइओ अवइन्नो । तत्थ वासीइदिणाणंतरे सक्काइट्ठेण हरिणेगमेसिणा आसोयबहुलतेरसीए तम्मि चेव रिक्खे खत्तिअकुंमग्गामे णयरे सिद्धत्थरन्नो देवीए तिसलाए गब्भविणिमयं काउं गब्भंमि साहरिओ । माउण सिणेहेणं नाउं सत्तममासे अम्मापियरेहिं जीवंतेहिं नाहं समणो होहिंति गहीअभिग्गहो नवण्हं मासाणं अद्धट्ठमाणराइंदियाणं अंते चित्तसियतेरसीअद्धरत्ते तम्मि चेव रिक्खे जाओ । अम्मापिऊहिं कयवद्धमाणनामो मेरुकंपसुरभयणा इंद-

वायरणपणयणाइं पयमश्रवद्याओ पुत्तनोगा अम्मापिईहिं देवत्तणपहिं तीसं वासाइं आगारवासे वसित्ता संवच्छरिअं दाणं दाउं चंदप्पहाए सिवियाए एगागी एगदेवदूसेण मग्गसिरकसिणदसमीए तम्मि चेव वरिसे छट्ठेणं अवरएहे नायसंडवणे निक्खमंतो । बीयदिणे बाहुलविप्पेणं पायसेणं पाराविओ पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं ततो बारसवासाइं तेरसपक्खे अ नरसुरतिरियकओवसग्गे सहित्ता उग्गं च तवं चरित्ता जंभियगामे उज्जुवालिआतीरे गोदोहिआसणेणं छट्ठभत्तेणं तम्मि चेव नक्खत्ते वइसाहसुद्धदसमीए पहरतिगे केवलनाणं पत्तो । इक्कारसीए अ मज्झिमपावाए महसेणवणे तित्थं पवट्टिअं । इंदभूइप्पमुहा गणहरा दिक्खिआ सपरिवारा वयविहिणाओ भयवओ बायालीसं वासा चउम्मासीओ जायाओ तंजहा एगा अट्ठिअगामे, तिन्नि चंपासु, दुवालस वेसालीवाणियग्गामेसु, चउद्दस नालंदारायगिहेसु, छ मिहिलाए दो भद्दियाए, एगा आलंभियाए एगा पणिअभूमीए, एगा सावत्थीए, चरमा पुण मज्झिमपावाए, हत्थिपालरन्नो अ रज्जसभाए सुक्कसालाए आसि । तत्थ आउसेसं जाणंतो सामी सोलसपहराइं देसणं करेइ तत्थ वंदिउमागओ पुण्णपालो राया अट्ठण्हं सुदिट्ठाणं सुमिणाणं फलं पुच्छेइ भयवं वागरेइ ते अ इमे । पढमो ताव चलपासाएसु गया चिट्ठंति तेसु पमंतेसु वि ते न णिंति केवि तहा निग्गच्छंति जहा तप्पडणाओ विणस्संति एयस्स सुमिणस्स फलं एवं दूसमगिहिवासा चलपासायत्थाणीआ संपयाणं सिणेहाणं निवासाणं च अविरत्ताओ हं भो दुस्समाए कुप्पजीविइवाइवयणाओ गया धम्मत्थीसावया इयरपरमसमयगिहत्थेहिंतो पव्वत्तणेण ते अ गिहवासाए पडिहंति वेसनंगाईहिं तहवि निग्गंतुं न इच्छिस्संति वयगहणेणं जे विणीहिंति ते वि अविहिनिग्गमेणं तओ ते विणिहिस्संति गिहिं संकिलेसमज्झे आगया भग्गपरिणामा भविस्संति विरला य सुसाहुणो होऊण आगमाणुसारेणं गिहिसंकिलेसाइ मज्झे आगए वि अवगणिऊण कुलीणत्तणेण निव्वाहिस्संति त्ति पढमसुमिणत्थो । बीओ पुण इमो बहवो वानरा तेसिं मज्झे जूहाहिवइणो ते अ मज्जाणं अप्पाणं विलिपंति अन्नो वि अतओ लोगो हसइ ते भणंति न एअमसुइं गोसीसचंदणं खु एयं विरला पुण वानरा न लिप्पंति । अंते अलित्तेहिं खिंसिज्जंति त्ति । एयस्स फलं पुण इमं वानरत्थाणीआ गच्छिल्लगा अप्पमत्तत्तेणं चलपरिणामत्तेणं च जूहाहिवई गच्छाहिवई आयरिआइणो असुइविलेवणं तु तेसिं अहाकम्माइ सावज्जसेवणं अन्नविलेवणं च अन्नेसिं वि तक्करेण लोगहसणं च तेसिं असुच्चियपविसीए य वयणहीला । ते भणिस्संति न एयं गरहियं किं तु धम्मंगमयं विरला तदणुरोहेणावि न सावज्जे पयट्टिहिंति । ते य तेहिं खिसिज्जिहिंति जह एअवग्गीआ अकिंचिकरा य त्ति । बीयसुमिणत्थो ॥ २ ॥ तइओ पुण इमो सज्झायखीरतरूणं हिट्ठे बहवे सीहपोअया पसंतरूवा चिट्ठंति ते य लोएहिं पसंसिज्जंति अहिगमंति य बंबूलाणं च हिट्ठे सुणगत्ति । फलं तु एयस्सेमं खीरतरुत्थाणीयाणि साहूणं विहरणपाउग्गाणं खित्ताणि सावया वा सड्ढेणं भत्तिबहुमाणवंता धम्मोवग्गहदाणपरा सुसीहरक्खावणपरा य ते य रुंधिहिंति बहुगा सीहपोअगा गीयायासिपासत्थोसन्नाई किट्टुत्तणओ अन्ने सीहासणाओ अ ते अप्पाणं जणरंजणत्थं पसंतं दरिसिहिंति । तहाविहकोउहल्लिअलोगेहिं पसंसिज्जिहिंति अहिगमिस्संति अतव्वयकरणाओ य ते अत्थयकयाई केई धम्मसड्ढा वेहारुगपविहारगवो दूइज्जंति तेअ तेसिं तब्भाविआणं च सुणगाइ पडिहासिस्संति अभिक्खणं सुद्धधम्मकहणेणं भंसिस्संति त्ति जेसु कुलेसु दूइज्जंति ते पडिहासिस्संति अवसाए दूसमवासेण धम्मगच्छा सीहपोअगा इव भविस्संति त्ति ॥ ३ ॥ चउत्थो पुण एवं केवि कागा वावीए तडे तिसाए अभिभूया मायासरं दट्ठुं तत्थ गंतुं पविट्ठा केण वि निसिद्धा न एवं जलंति ते असद्दहंता तत्थ गया विणट्ठायंति । फलं तु इमं वावीथाणीआसु साहुणई अइगंभीरा सुभाविअत्था उस्सग्गाववायकुसला अगहिलगहिलो राया इइनाएण कालोचिअधम्मनिरया अणिस्सिउवस्सिया तत्थ कागसमा अइवंकजडा अणेगकलंकोवहया धम्मट्ठी ते अजयधम्मसद्धाए अभिभूया मायासरप्पाया पुण पुव्वुत्तविवरीया धम्मधारिणो अईवकट्ठाणुट्ठाणनिरया वि य परिणताओ अणुचायपयट्टत्ताओ अकम्मबंधहेउणो ते दट्ठुं मूढधम्मिया तत्थ गच्छिहिंति त्ति । केण वि गीयत्थेण ते भणिहिंति जहा न एस धम्मसग्गो किं तु तयाभासोयं तहवि ते असद्दहंता के य जाहिंति विणिस्सिहिंति अ संसारे पयडणेणं बाहिंति ते अ मूढसाहगा भविस्संति त्ति ॥ ४ ॥ पंचमो इमो अणेगसावयगणाउले विसमे वणे मज्झे सीहो मओ चिट्ठइ न य तं को वि सिगालाई विणासेइ कालेणं तत्थ मयसीहकलेवरे कीडगा उप्पन्ना तेहिंति भक्खियं दट्ठुं ते सियालाई उवद्दवंति त्ति । फलं तु एयस्स सीहो पवयणं परवाइमयदुद्धरिसत्ताओ वणं पविरलसुपरिकलगधम्मिअजणा भारहवासं सावयगणा परतित्थिआइ पवयणपच्चणीया तेहिं एवं मन्नंति एवं पवयणमम्हाणं पूआसक्कारदाणाइवुच्छेयगरंतो जहा तहा फिट्टओ त्ति विसमं अमज्झत्थजणसंकुलं तं च पवयणं मयं अइसयवग्गमेणं निप्पभावं भयिस्सइ तहा वि पच्चणीया भएण न तं उवद्दविहंति किर इत्थ परप्परं संगई अत्थि सुट्ठियत्तं वत्ति कालदोसेणं तत्थ कीमगप्पाया पवयणनिंदया समयंतरीयाई उप्पज्जिहिंति ते य परोप्परं वि तमेवुत्ति धुवं निरइसेसं मेयं पि त्ति निब्भयत्तेणं उवद्दविस्संति पवयणं ति ॥ ५ ॥ छट्ठो पुण इमो पउमागरा सरागाई अपउमा गद्दभगजूहा वा पउमा पुण रुक्करुट्ठियाए ते वि विरला न तहा रमणिज्जत्ति फलं तु पउमागरत्थाणीयाणि धम्मखित्ताइं सुकुलाइं वा तेसिं धम्मो पयाट्ठिस्सइ ते वि अट्ठाणुप्पत्तिदोसाणुओ लोएण खिंसिज्जमाणा ईसाइदोसदुट्ठे तेण न स कज्जं साहिस्संति त्ति ॥ ६ ॥ सत्तमो इमो को वि करसगो दुव्वियड्ढो घुट्टघुणक्खयाइं परोहअजुग्गाइं बीयाइं सम्मं बीयाइं मन्नंतो किणित्ता य खित्तेसु ऊसराइसु पयएइ तम्मज्झे समागयं विरलं सुरूं बीयं अवणेइ सुखित्तं च परिहरइ त्ति एयस्स फलं इमं करिसगत्थाणीया दाणधम्मरुई ते य दुव्वियड्ढा जाणगं मत्ता अप्पा उभाणि वि संघजत्ताइदाणाणि पाउग्गाणि मन्नंता ताणवि अपत्तेसु दाहिंति इत्थ चउभंगो एगो सुद्धो अप्पाउग्गमज्झे किंचि सुरूं देयं भवइ तं अवणेहिंति सुपत्तं वा समागयं परिहरिस्संति एरसाणि दाणाणि दायगा गाहगा य भविस्संति । अन्नहा वा वक्खाणं अनीया असाहुणो ते वि साहुबुद्धीए दुव्वियड्ढा गिणिहस्संति अट्ठाणेसु अविहीएसु अ वाविस्संति जहा दुव्वियड्ढो कोइ करिसओ अबीसओ अबीयाणि बीयाणि मन्नंतो तहा ठवेइ तत्थ वा ठावेइ जहा जत्थ य कीममावण्णा खज्जंति वोप्पडाइणा वा विणस्संति अन्नहा वा परोहस्स अणिजाणि भवंति एवं अयाणगधम्मसड्ढि आपत्ता वि णिअवि-

सीए अबहुमाणअभत्तिमाईहिं तहा कारिस्संति जहा पुन्नपसवं अक्कमाइं होहिंति ॥ ७ ॥ अट्ठमो आएसो पासायसिहरे खीरोदभरिआ सव्वाइअलंकियंगा वा कलसा चिट्ठंति अन्ने य भूमीए बोयरा ओगालसयकलिया कालेण ते सुहकलसा नियट्ठाणाओ चलिआ बोयरूघडाणं उवरिं पडिया वि भग्गत्ति फलं तु कलसत्थाणीया सुसाहुणो पुव्वं उग्गहविहारेण विहरंता पुज्जा होऊण कालाइदोसओ नियसंयमत्था उट्ठलिआ उसन्नीभूया सीयलविहारिणो पायं भविस्संति इयरे पुण पासत्थाई भूमिट्ठिया चेव भूमिरयओगालप्पाय असंयमट्ठाणसयकलिआ बोयरूघडप्पाया निसन्नपरिणामा चेव होहिंति ते य सुसाहुणो दलंता अन्नविहाराभिलासाभावाओ बोयरूघडकप्पाणं पासत्थाईणं उवरिं पडिअं करिस्संति ते य सावित्तअक्कमणेणं पीडिया संता निरुंधसत्तेण सुद्धरयं तेसिं संकिलेसं सा य होहिंति तो परुप्परविवायं कुणंतो वा वि संजमाओ भसिस्संति "इक्के तवगारविआ, अन्ने सिढिला सधम्मकिरियासु । मच्छरवासणदुन्निवि, होहिंति अणुट्ठधम्माणो ॥ १॥" केइ पुण अगहिल्लेगहिल्लरायअक्खाणगविहीए कालाइदोसे वि अप्पाणं निव्वाहइस्संति तं च अक्खाणयमेवं पन्नवंति पुव्वायरिया पुव्विं किर पुहवीपुरीए पुणो नाम राया तस्स मंती सुबुद्धी नाम अन्नया लोगदेवो नाम नेमित्तिओ आगओ सो य बुद्धिमंतिणा आगमेसि कालं पुट्ठो तेण भणिअं मासाणंतरे इत्थ जलहरो वरिसिस्सइ तस्स जलं जो पाहिइ सो सव्वो वि गहग्घत्थो भविस्सइ कित्तिए वि काले गए सुवुट्ठी भविस्सइ तज्जलपाणेण पुणो जणा सुत्थि भविस्संति तओ मंतिणा तं राइणो विन्नत्तं रन्ना वि पडहघोसेण वारिसं गहत्थो जणो आइट्ठो जणेण वि तस्संगहो कओ मासेण वुट्ठो मेहो तं च संगहियं नीरं कालेण निट्ठिअं लोएहिं नवोदगं चेव पाउमाढत्तं तओ गहिलीभूआ सव्वलोआ सामंताई गायंति नच्चंति सुत्थाए वि चिट्ठंतो केवलं राया अमच्चो अ संगहिअं जलं न निट्ठियंति तं चेव सुत्था चिट्ठंति तओ सामंताईहिं विसरिसचिट्ठे रायअमच्चे निरिक्खिऊण परुप्परं मंतिअं जहा गहिल्लो राया मंतीया एए अम्हाहिंतो वि विसरिसायारा तओ एए अवसारिऊण अवरे अप्पतुल्लायारे रायाणं ववाविस्सामो मंतीऊण तेसिं मंतं नाऊण राइणो विन्नवेइ रन्ना वुत्तं कहमेए हुंतो अप्पारक्खियव्वो विदं हि नरिंदतुल्लं हवइ मंतिणा भणियं महाराय! अगहिलेहिं पि अम्हेहिं गहिल्ली होऊण ठायव्वं न अन्नहा मुक्खो तओ कित्तिमगहिल्ली होउं ते राया मच्चा तेसिं मज्झे निअसंपयं रक्खंता चिट्ठंति तओ ते सामंताई तुट्ठा अहो राया मच्चा वि अम्हसरिसा संजायत्ति उवाएण तेण तेहिं अप्पा रक्खिओ तओ कालंतरेण सुहवुट्ठी जाया नवोदगे पाए सव्वे लोगा पगइमावन्ना मुच्छा संवुत्ता एवं दूसमकाले गीयत्था कुलिंगीहिं सरिसा होऊण वट्टंता अप्पणो समयं भाविणं पडिवालिंतो अप्पाणं निव्वाहइस्संति एवं भावि दूसमविलसिअसूअगाणं अट्ठण्हं सुमिणाणं फलं सामिमुहाओ सोऊण पुन्नपालनरिंदो पव्वइओ सिवं गओ एयं च दूसमासमविलसिअं लोइया वि कलिकालव्ववएसेणं पन्नविंति जहा पुव्विं किर दावरजुगउप्पन्नेणं रन्ना जहुट्ठिल्लेणं रायवाडिआगएणं कत्थ वि पएसे वच्छियाए हिट्ठो एगा गावी थणपाणं कुणंती दिट्ठा तं च अच्छेरयं दट्ठूण राइणा दियवरा पुट्ठा किमेयंति तेहिं भणिअं देव ! आगामिणो कलिजुगस्स सूयगमेयं इमस्स अन्नुभस्स फलमिणं कलियुगे अम्मापिअरो कण्णयं कस्स वि रिद्धिसंपन्नस्स दाउं तं उवजीविस्संति ततो दविणगहणाइणा तओ अग्गउ जुत्तं पच्छिएण सलिलवीसामियवालुयाए रज्जु उ वलंता के वि दिट्ठा खणमित्तेण ताओ रज्जुओ वायायवसंजोएण सुक्खलिआ तओ महावइणा पुच्छिएहिं भणिअं दिएहिं महाराय! एयस्स फलं जं दविणं किच्छवत्तीए लोया विढविस्संति तं कलिजुगंमि चोरगिरायदंरुदाईएहिं विणस्सिहइ पुणरवि अग्गओ वलिएणं धम्मपुत्तेणं दिट्ठं अह बोमपलुट्ठिअं जलं कूवे पडंतं तत्थ वि वुत्तं माहणेहिं देव जं दव्वं पयाओ असिमसिकिसिवाणिज्जाईहिं उवज्जिहिंति तं सव्वे रायउले गच्छिहिंति अन्नजुगेसु किर रायाणो नियदव्वं दाऊण लोअं सुट्ठिअं करिंसु पुणो पुरओ वच्चंतेण निवइ एगरायचंपयं तरूं च एगंमि पएसे दिट्ठा तत्थ समीपायवस्स वेइयावंधजंमणगंधमल्लाइपूआ गीयनट्टमहिमा य जणेण कीरमाणी पलोइआ इअरस्स तरुणो उत्तायारस्स वि महमहिमकुसुमसमिद्धस्स वि वत्तं पि को वि न पुच्छिइत्ति तस्स फलं वक्खाणियं विप्पेहिं जहा गुणवंताणं महप्पाणं सज्जाणाणं न पूआ भविस्सइ न य रिद्धिं पाविहिंति निग्गुणाणं पाविट्ठाणं खलाणं पूआ सक्कारो रिद्धी य कलिजुगे भविस्सइ भुज्जो पुरोपाविट्ठिएणं राइणा दिट्ठा एगा सिला सुहुमच्छिद्दवरुवालग्गआलंबणेणं अंतरिक्खट्ठिआ तत्थ वि पुट्ठेहिं सिट्ठं सुत्तकंठेहिं जहा महाभाग! कलिकाले सिलातुल्लं पावं विउलं भविस्सइ वालग्गसरिसो धम्मो पयट्टिही परं तित्थियस्स वि धम्मस्स माहप्पेणं कंचिकालं निच्छरिस्सइति लोओ तम्मि वि तुट्टे सव्वं वुज्झिस्सइ दूसमसुसमाए पुव्वसूरीहिं पलोइया विक्खाए कलिजुगामाहप्पमित्थं साहियं

" कूअवाहाजीवण-तरुफलविहगा वि वत्थधावणया ।
लोहे त्रिवज्जकलिमल-सप्पगरुडइपूअपूआय ॥ १ ॥
हत्थंगुलिदुगघट्टण-गयगद्दभसगरूवालसिलधरणं ।
एमाई आहरणा, लोअंमि वि कालदोसेण ॥ २ ॥
लयघरकलहकुलेयर-मेराअणुसुरुधम्मपुढविविरिई ।
वालुगवक्कारंभो, एमाइआइ सद्देण ॥ ३ ॥
कलिअयारे किलिनि-जएसु चउसुं पि पंडवेसु तह ।
भोइवहाइकहाए, जामिगजोगंमि कहिणाओ ॥ ४ ॥
तत्तो जुहट्ठिलेणं, जियम्मि ठिइदाइए तम्मि ।
एमाईं अट्ठुत्तर-सएण सिद्धानियट्ठिइ त्ति " ॥ ५ ॥

एयासिं गाहाणं अत्थो कूवेण आवाहो उवजीविस्सइ । राया कूवत्थाणीओ सव्वेसिं वंजलत्तिअवइसमुद्दाणं भरणीयत्तणेण आवाहतुल्लाणं कलिजुगदोसाओ अत्थगाहणं करिस्से १ तहा तरूणं फलनिमित्तो वहो होओ भविस्सइ फलं तुम्हा पुत्तो तरुतुल्लस्स पिउणो वहपारयं उद्देसं गंधपवत्तलेहणा जणाइस्सइ २ वच्छियातुल्लाए कन्नाए विक्कमाइणा गोतुल्ला जणणी धावणतुल्ला उवजीवणं करिस्सइ ३ लोहमई कडाही तिस्सावि वक्का सो सुगंधितिलघयपागठविआए कलमलस्स पिसियाइणो पागो हविस्सइ । स जाइवग्गपरिहारेण अनालवक्केसु परजणेसु आदाणं भविस्सइ तिभावो ४ सप्पसरिसेसु निद्दाएसु धम्मवज्झेसु दाणाइसक्कारो गरुडप्पायेसु पुज्जेसु धम्मचारिसु अपूया य भविस्सइ ५ हत्थस्स अंगुलिदुगेण घट्टणं ववणं भविस्सइ हत्थतुल्लस्स पिउणो अंगुलिदुगतुल्लेहिं वहुपुत्तेहिं लयगघरकरणाइओ घट्टणं नाम लोओ भविस्सइ ६ गयवोढव्वं सगमं गद्दभवोढव्वं भविस्सइ गयत्थाणीएसु उच्चकुलेसु गद्दत्था य सगरूवाहणोचिएसु कलहो नायलो वा भवि-

स्सइ इय नीयकुलेसु गइजत्थाणीएसु मेरा नीई भविस्सइ ७ बालबका सिला धरिस्सइ अणुम्मि सुहुमयरे बालप्पाएसु धम्मे सत्थाणुसारिणिसिलातुल्लाए पुढवीए निम्मिवासिलोऽस्स ठिई निव्वहणं भविस्सइ ८ जहा वालुयाए चक्को तया गहिट्टुं न तीरइ एवं आरंभाओ वि वाणिज्जकिसिसेवाई आउविसिट्टं पयासाणरूवं फलं न पाविस्सइ ए सेसगाहा दुग्गधोकहाणयगम्मो तं चेमं किअ पंचपंडवा दुज्जोहणदूसासणाओ भाहुसए कप्पगंगेयदोणायरिएसु अ संगामसीसे निहएसु चिरं रज्जं परिवालिअ कलियुगपविसकाले महापहं पट्टिआ कत्थ वि वणुद्देसे पत्ता तओ रत्तीए जुहिट्ठिलेण भीमाइणो पइपहरपाहरिअत्ते निरूविआ ततो सुत्तेसु धम्मपुत्ताइसु पुरिसरूवं काउं कली भीमसुट्ठिवट्ठिओ अहिखित्तो य तेण भीमो । रेनाउअ ! गुरुपिआमहाइणो संपइ धम्मत्थं पडिओ तुमं ता केरिसो तुह धम्मो तओ भीमो कुद्धो तेण सह जुज्झिउमारद्धो जहा जहा भीमो जुज्झइ तहा तहा कली वड्ढइ तओ निज्जिओ कलिणा भीमो । एवं बीयजामे अज्जुणो तइअचउत्थजामेसु नकुलसहदेवा तेण अहिखित्ता रुट्ठा निज्झिया य तओ सावसेसाए निसाए उट्ठिएसु जुहिट्ठिले जुज्झिओ तुट्ठो कली ते उरवंतीए नेव निज्जिओ कली सो संकोअनेउं सरावसज्झे ठविओ पभाए य भीमाईणं दंसिओ । एस सो जेण तुब्भे निज्झिया एमाईणं दिट्ठंताणं अट्ठुत्तरसएण महाजारहे वासे सिरिणा कहिट्ठिई दंसियत्ति । अलं पसंगेण । ती० २१ कल्प०।

कलित्त-कलि (त्र) त्र-न० कृतिविशेषे, ज्ञा०१ अ०। औ०।

कलिदप्पदह-कलिदर्पह्रद-न० हस्तिनापुरस्थे ह्रदभेदे, ती० ४ए कल्प०।

कलिय-कलित-त्रि० कल-कर्मणि-क्त-युक्ते, स०। स्था०। ज्ञा० प्रश्न०। "सुंदरथणजघणवयणकरचरणणयणलायसविलासकलिया" विपा० १ श्रु० २ अ०। रा०। जं०। औ०। उपेते, बहुरयजपेयकलिअं" प्रश्न० आश्र० २ द्वा०। आचा०। विदिते, प्राप्ते, च मेदि०। भेदिते, संख्याते, शब्दर०। गृहीते, उक्ते, विचारिते, बद्धे, च भावे क्तः ज्ञानभावादौ, न० वाच०।

कलुण-करुण-त्रि० करोति मन आनुकूल्याय कृ उनन् " हरिद्रादौ लः ८।१।२५४ इति रस्य लः प्रा०। करुणोत्पादके,। विपा०१ श्रु० ७ अ०। प्रश्न०। दयास्पदे, प्रश्न०। आश्र० ३ द्वा०। विपा०। दीने, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। "कुत्सितं रौत्यनेनेति निरुक्तिवशात्करुणः। करुणास्पदत्वात्करुणः। प्रियविप्रयोगादिदुःखहेतुसमुत्थे शोकप्रकर्षस्वरूपे रसविशेषे, अनु०।

अथ हेतुतो लक्षणतश्च करुणरसस्वरूपमाह।

पिअविप्पओगबंध-वहवाहिविणिवायसंभमुप्पएणो ।
सोइअविलविअपम्हाय, रुन्नलिंगो रसो करुणो ॥१६॥

प्रियविप्रयोगबन्धवधव्याधिविनिपातसंभ्रमेभ्यः समुत्पन्नः करुणो रस इति योगस्तत्र विनिपातः सुतादिमरणं संभ्रमः परचक्रादिभयं शेषं प्रतीतम्। किं लक्षण इत्याह। शोचितविलपितप्रम्लानरुदितानि लिङ्गानि लक्षणानि यस्य स तथा। तत्र शोचितं मानसो विकारः शेषं विदितमिति।

उदाहरणं यथा।

पज्झाय किलामि अयं, वाहागयपप्फुअच्छिअं बहुसो ।
तस्स विओगे पुत्तया, दुब्बलयं ते मुहं जायं ॥१७॥

अत्र प्रियविप्रयोगप्रभवितां बालां प्रति वृद्धा काचिदाह तस्य कस्यचित्प्रियतमस्य वियोगे पुत्रिके दुर्बलकं ते मुखं जातं कथं भूतम्। (पज्झायकिलामिअयंति) प्रध्यातं प्रियजनविषयमतिचिन्तितं तेन क्लान्तम् (वाहागयपप्फुअच्छियंति) वाष्पस्यागतमागमनं तेनोपप्लुते व्याप्ते अक्षिणी यत्र तत्तथा बहुशोऽनीक्षणमिति ॥१७॥ अनु० ३४० पत्र०। कामभेदे, मनुष्याणां करुणा मनोज्ञत्वस्या तथाविधत्वात् तुच्छत्वेन क्षणदृष्टनष्टत्वेन शुक्रशोणितादिप्रभवदेहाश्रितत्वेन च शोचनात्मकत्वात् करुणो हि रसः शोकस्वभावः करुणः शोकप्रकृतिरिति वचनादिति, स्था० ४ ठा० ४ उ०। वृक्षभेदे, पुं० वाच०।

कलुणवडिया-करुणप्रतिज्ञा-स्त्री० करुणार्थं गृह्णामीत्येवं प्रतिज्ञाने, "कलुणवडियाए जाएज्जा धम्मियाए जायणाए जाएज्जा" आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ०।

कलुणविणीय-करुणविनीत-त्रि० करुणालापविनयपूर्वके, "मणबंधणेहिं णेगेहिं कलुणविणीयमुवगसित्ताणं" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

कलुणा-करुणा-स्त्री० कृपायाम्, षो० ४ विव०। दीनादिष्वनुकम्पायाम्, ध० १ अधि०।

करुणा दुःखहानेच्छा, मोहाद्दुःखितदर्शनात् ।
संवेगाच्च स्वभावाच्च, प्रीतिमत्स्वपरेषु च ॥

(करुणेति) दुःखहानस्य दुःखपरिहारस्येच्छा सा च मोहादज्ञानादेका यथा ग्लानयाचिता पथ्यवस्तुप्रदानाभिलाषलक्षणाऽन्या च दुःखितस्य दीनादेर्दर्शनात् तस्य लोकप्रसिद्धाहारवस्त्रशयनासनादिप्रदानेन संवेगान्मोक्षाभिलाषाच्च सुखितेष्वपि सत्त्वेषु प्रीतिमत्सु सांसारिकदुःखपरित्राणेच्छा छद्मस्थानामपरा पुनरपरेषु च प्रीतिमत्सु संबन्धविकलेषु सर्वेष्वेव स्वभावाच्च प्रवर्त्तमाना केवलिनामिव भगवतां महामुनीनां सर्वानुग्रहपरायणानामित्येषं चतुर्विधा। तदुक्तं "मोहासुखसंवेगान्यहितयुता चैव करुणेति" द्वा०। षो० ४ विव०।

कलुस-कलुष-पुं० स्त्री० कल-उष च सुषहिंसायां कस्य जलस्य सुषो घातक इति वा। महिषे, राजनि०। स्त्रियां जातित्वात्। ङीष् अनच्छे, आविले, त्रि० अमरः। गर्हिते, त्रि०। शब्दर्च०। असमर्थे, वाच०। प्रीतिवर्जिते, स्था० ४ ठा० ४ उ०। द्वेषलोभादिलक्षणे पापे, नपुं० स०। प्रश्न०। सूत्र० "कम्मंति वा खहंति वा वोणाति कलुसंति वा वज्जंति वा वेरंति वा पंकोत्ति वा मलोत्ति वा एते एगट्ठिता" नि० चू०१२ उ०। आ० चू०। कासाये, पुं० "कलुसस्स य णिक्खेवो चउव्विहो कोहादि पक्कारो" नि० चू०१ उ०।

कलुसकम्म (ण)-कलुषकर्मन्-न० मित्रद्रोहादिव्यापाररूपे मलीमसे कर्मणि, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा०।

कलुससमावन्न-कलुषसमापन्न-त्रि. मतिमालिन्यमुपगते, ज्ञा०३ अ०। एवमिदं सर्वं जिनशासनोक्तमन्यथा वेति कलुषसमापन्ने, स्था० ४ ठा० ३ उ०। "स संकिते जाव कलुससमावण्णे णो संचाए त्ति" कलुषं समापन्नः प्राक्तननिश्चयविपर्य्ययलक्षणं गोशालकमतानुसारिणां मतेन मिथ्यात्वं प्राप्त इत्यर्थः। अथवा कलुषभावं जितोऽहमनेनेति खेदरूपमापन्न इति, उपा०६ अ०।

कलुसहियय-कलुषहृदय-त्रि० दुष्टचित्ते, ज्ञा० १६ अ०।

कलुसाउ (वि) लचेय-कलुषाकु (वि) लचेतस्-त्रि० क-

लुषेण द्वेषलोभादिलक्षणपापेनाविलमाकुलं वा चेतो यस्य स तथा कलुषितमनस्के, स० ।

कलेवर–कलेवर–न० कले शुक्रे वरं श्रेष्ठम् । तद्रूपत्वेऽपि शुचि सप्तम्या अलुक् । शरीरे, स्था०५ ठा०१ उ०। शरीरं वपुः कायो देहः । कलेवरमित्यादयस्तु शरीरपर्य्यायाः विशे०। मृतशरीरे, प्रश्न० आश्र०३ द्वा०। आव०। मनुष्यशरीरे, जं०१ वक्ष०।

कलेवरसंघाड–कलेवरसंघाट–पुं० मनुष्यशरीरयुग्मे, संघाटशब्दोयुग्मवाची यथा साधुसंघाट इति, जी० ३ प्रति० २ उ० ।

कलेमुय–कलेमुक–न० तृणविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कल्ल–कल्प–न० कलयति चेष्टामत्र यक् कल्पते कलगतौ कर्मणि यत् यद्वा कलासु साधुः प्रत्यूषे, अमरः। वाच० । आ०म०प्र० औ० । तं० । प्राडुःप्राकाश्ये, रा० । प्रभाते, अनु० । कल्पमिति श्वः, ज्ञा० १ अ० । " ते एवं कल्लं पुण मारुल्लिणं पमिच्छिहसि मा वा वहिसि " आ०म०द्वि० । विशे० । औ० । कल्प० । नीरोगत्वे, ज्ञा० १ अ० । " कल्लं किलारोग्गं " कल्यं किलारोग्यमुच्यते । "तं तच्चं णिव्वाणं कारणकज्जोवयाराओ" यच्चारोग्यं तथ्यं निरुपचरितनिर्वाणमवगन्तव्यमथवा कार्य्ये कारणोपचारात् तत्साधनदर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं निर्वाणमवसेयमिति विशे० । संथा० । स्था० । आव० । निरामये, सज्जे, समर्थे, उ-शुक्ते च, त्रि० अमरः। वाक्श्रुतिवर्जिते उपायवचने, कल्याणवचने, च त्रि०, मेदि० । सुरायाम्, मेदि० । शुभात्मिकायां वाण्याम्, स्त्री० अमरः। हरीतक्याम्, स्त्री० शब्दर०। मधुनि, न० हेम. वाच०।

कल्लसरीर–कल्पशरीर–न० नीरोगदेहे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । पटुशरीरे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

कल्लाकल्ल–कल्पाकल्प–न० कल्पे च आकल्पे च । कल्पाकल्पम् अनुदिनमित्यर्थे, " कल्लाकल्लिं कोद्दालियाओ य " विपा० ३ अ० । प्रतिप्रजातम्, उपा० ७ अ० । अंत० । ज्ञा० ।

कल्लाण–कल्याण–त्रि० कल्पोऽत्यन्तनीरुक्तया मोक्षस्तमानयति प्रापयतीति कल्याणः मुक्तिहेतौ, उत्त० ३ अ० । एकान्तसुकान्तसुखावहे, जी० ३ प्रति० २ उ० । श्रेयसि, भ० २ श० १ उ० । निःश्रेयसे, स्था० ६ ठा० । पुण्ये कर्मणि, स०। आचा० । शुभे, शुभदायके, उत्त० २ अ० । शोभने, उत्त० ३ अ० । स्वश्रेयसे, पंचा० १२ विव० । सूत्र० । सुखं शुभं कल्याणं शिवमित्यादीन् व्यपदेशांल्लभते, विशे० । सुकृते, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । तत्त्वमृत्या तथाविधविशिष्टफलदायिनि अनर्थोपशमकारिणि, जी० ३ प्रति० २ उ० । रा०। फलप्राप्तिविशेषे, ज्ञा० १ अ०। यथेष्टार्थफलसंप्राप्तौ, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । मङ्गले, स्था० ४ ठा० ३ उ० । माङ्गल्ये, संथा० । उपद्रवाभावे, कल्प०। पेहिकाऽभ्युदये, पंचा० १८ विव० । दशा०। समृद्धिहेतुत्वादौ, स्था० । " कल्लाणाहिं वग्गूहिं " कल्याणप्राप्तिसूचिकाभिः,भ० ९ श० ३३ उ०। जं० । शुभार्थप्राप्तिसूचिकाभिः औ० । कल्याणानि समृद्धयस्तत्कारिणीभिः कल्प० । ज्ञा० ।

स भदंतो कल्लाण–सुहो य कल्लं किल्लारोग्गं ।
तं तच्चं निव्वाणं, कारणकज्जोवयार ओवा वि ॥
तस्साहणमणसद्दो, सद्दत्थो अहव गच्चत्थो ।
कल्लमणइत्ति गच्छइ, गमयइ वुज्झइ व वोहइइ त्ति ।
भणइ भणावेइ जम्हं–तो कल्लाणो सयायरिओ ॥

कल्यं किलारोग्यमुच्यत इतियच्चारोग्यं तथ्यं निरुपचरितं निर्वाणमेवमवगन्तव्यमथवा कारणे कार्योपचारात्तत्साधनं दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणं निर्वाणकारणमवसेयम । अणशब्दस्तु अणधातोरुभयार्थत्वाच्छब्दार्थो गत्यर्थो वा द्रष्टव्य इति । ततश्च कल्यं यथोक्तमारोग्यमणति गच्छत्यन्तनूर्तेन समर्थेन वा परान् गमयति बुध्यते स्वयं बोधयति वा परान् शब्दार्थत्वेऽपि कलयति स्वयं भणति परैश्च भाणयति यस्मात्तस्मात्कल्याणः स चेहाचार्यो गुरुर्धोरुध्य इति । अथवा कलधातुः शब्दार्थः संख्यानार्थो वा कलशब्दसंख्यानयोरिति धातुपाठात्तस्य कल्यमिति निपात्यते । ततश्च कल्यं शब्दं शास्त्रं संख्यानं वा गणितं यस्मादणिति शब्दयति प्रतिपादयति बुध्यते बोधयति वा तेन तस्मात्कल्याणो गुरुरित्येतदेवाह ।

अहवा कलसद्दत्थो, संखाणत्थो य तस्स कल्लंति ।
सद्दं संखाणं वा, जमणइ तेणं व कल्लाणो ॥

गतार्था, विशे० ६८१ पत्र०। स्था० । ध० आव० । सुखस्तर्हि किमिति सुहशब्दे नीरोगताकारणे, ज्ञा० १ अ० । इहलोकहिते, उत्त० १ अ०। कल्याणहेतौ, चं० १८ पाहु०। उत्त० । कल्याणहेतुत्वादभ्युदयहेतौ, औ० । प्रधाने, आ० चू० ५ अ० । माषपर्याम वाच० । गवि च, प्रज्ञा० १ पद० ।

कल्लाणकमय–कल्याणकृतक–न० नगरभेदे, पुव्विं किर कल्लाण कडए नयरे परमड्डी नाम राया रज्जं करेइ । ती० २५ पत्र० । (नासिकपुरशब्दे कथा)

कल्लाणकम्म–कल्याणकर्मन्–न० शुभकर्मणि, सन्ति जीवानां कल्याणि कर्माणि इति कालोदायि प्रश्नः । ('अण्णउत्थिय' शब्दे चुण्णः) भ० ७ श० १० उ० ।

कल्लाणकारि [ण्]–कल्याणकारिन्–त्रि० कल्याणकरणे मङ्गलकरणे, ज्ञा० १६ अ० ।

कल्लाणग–कल्याणक–पुं० "कल्लाणगपवरगंधमल्लाणुलेवणधर" कल्याणकानि मङ्गल्यानि प्रचुराणि मूल्यादिना वस्त्राणि परिहितानि निवसितानि येन ताम्येव वा परिहितो निवसितो यः स तथा कल्याणकं च प्रवरं च । पाठान्तरेण प्रवरगन्धं च माल्यं मालायां साधु पुष्पमित्यर्थः । अनुलेपनं च श्रीखण्डमार्दिविलेपनं यो धारयति स तथा स्था० ८ ठा० । उपा० । कल्याणकमङ्गल्ये , स्था० ८ ठा० । श्रेयसि, पंचा० विव० ।

जिनानां पञ्चकल्याणकानि कल्याणान्येव स्वरूपतः फलतश्चाह ।

पंच महाकल्लाणा, सव्वेसिं जिणाण होंति णियमेण ।
भुवणच्छेरय भूया, कल्लाणफला य जीवाणं ॥ ३० ॥
गब्भे जम्मे य तहा, णिक्खमणे चेव णाणणेव्वाणे ।
भुवणगुरूण जिणाणं, कल्लाणा होंति णायव्वा ॥ ३१ ॥

पञ्चैव महाकल्याणानि परमश्रेयांसि सर्वेषां सकलकालनिखिलनरलोकभाविनां जिनानामर्हतां भवन्ति नियमेनावश्यंभावेन तथावस्तुस्वभावत्वात् भुवनाश्चर्यभूतानि निखिलभुवनाद्भुतभूतानि त्रिभुवनजनानन्दहेतुत्वात्तथा कल्याणफलानि च निःश्रेयससाधनानि चः समुच्चये जीवानां प्राणिनामिति गर्भे गर्भाधाने जन्मन्युत्पत्तौ चः शब्दः समुच्चये तथेति वाक्योपक्षेपे निष्क्रमणे अगारवासान्निर्गमे चैवेति समुच्चयावधारणार्थावुप–

रत्र संभवत्येते ज्ञाननिर्वाणे समाहारद्वन्द्वत्वात्केवलज्ञाननिर्वृत्योरेव च केषां गर्भादिष्वित्याह भुवनगुरूणां जगज्ज्येष्ठानां जिनानामर्हतां किमित्याह । कल्याणानि स्वःश्रेयसानि भवन्ति वर्त्तन्ते ज्ञातव्यानि श्रेयानीति गाथाद्वयार्थः । ततश्च ।

तेसु य दिणेसु धन्ना, देविंदाई करिंति भत्तिणया ।
जिणजत्तादिविहाणा, कल्लाणं अप्पणो चेव ॥३२॥

तेषु च पुनर्दिनेषु दिवसेषु येषु गर्भादयो बभूवुर्धन्या धर्मधनं लब्धारः पुण्यभाजः इत्यर्थः । देवेन्द्रादयः सुरेन्द्रप्रभृतयः कुर्वन्ति विदधति भक्तिनता बहुमाननम्राः किमित्याह । जिनयात्रायर्हदुत्सवपूजास्नात्रप्रभृतिस्तयः कुत इत्याह । विधानाद्विधिना अथवा जिनयात्रादिविधानानि किं भूतं जिनयात्रादीत्याह । कल्याणं स्वः श्रेयसं करयेत्याह । आत्मनः स्वस्य चैवशब्दस्य समुच्चयार्थत्वेन परेषां चेति गाथार्थः यत एवम् ।

इय ते दिणा पसत्था, ता सेसेहिँ पि तेसु कायव्वं ।
जिणजत्तादिसहरिसं, ते य इमे वद्धमाणस्स ॥३३॥

इत्यतो हेतोः पूर्वोक्ता जीवानां कल्याणफलत्वादिलक्षणाः । ते इति येषु जिनगर्भाधानादयो भवन्ति दिना दिवसाः दिनशब्दः पुंल्लिङ्गेऽप्यस्ति प्रशस्ताः श्रेयांसस्ततः किमित्याह । ता इति यस्मादेवं तस्मात् शेषैरपि देवेन्द्रादिव्यतिरिक्तैर्मनुष्यैरपि न केवलमिन्द्रादिभिरेवेत्यपिशब्दार्थः । तेषु गर्भादिकल्याणदिनेषु कर्त्तव्यं विधेयं जिनयात्रादि वीतरागोत्सवपूजाप्रभृतिकं वस्तु सहर्षं सप्रमोदं यथा भवति कानि च तानि दिनानीत्यस्यां जिज्ञासायां सर्वजिनसंबन्धिनां तेषां च वक्तुमशक्यत्वाद्वर्त्तमानतीर्थाधिपतित्वेन प्रत्यासन्नत्वादेकस्यैव महावीरस्य तानि विवक्षुराह (ते य त्ति) तानि पुनर्गर्भादिदिनानि इमानि वक्ष्यमाणानि वर्द्धमानस्य महावीरजिनस्य भवन्तीति गाथार्थः।

तान्येवाह ।

आसाढसुद्धछट्ठी, चेत्ते तह सुद्धतेरसी चेव ।
मग्गसिरकिण्हदसमी, वइसाहे सुद्धदसमी य ॥३४॥
कत्तियकिण्हे चरिमा, गब्भाइदिणा जहक्कमं एते ।
हत्थुत्तरजोएणं, चउरो तह साइणा चरमो ॥३५॥

आषाढशुद्धषष्ठी आषाढमासे शुक्लपक्षस्य षष्ठीतिथिरित्येवं दिनमेवं चैत्रमासे तथेति समुच्चये। शुद्धत्रयोदश्येवेति द्वितीयं चैवेत्यवधारणे। तथा मार्गशीर्षकृष्णदशमीति तृतीयम्। वैशाखशुद्धदशमीति चतुर्थं चशब्दः समुच्चयार्थः । कार्त्तिककृष्णे चरमा पञ्चदशीति पञ्चमम् एतानि किमित्याह । गर्भादिदिनानि गर्भजन्मनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसा यथाक्रमं क्रमेणैवैतान्यनन्तरोक्तान्येषां च मध्ये हस्तोत्तरयोगेन हस्त उत्तरो यासां हस्तोपलक्षिता वा उत्तरा हस्तोत्तरा उत्तरफाल्गुन्यस्तासां योगः संबन्धश्चन्द्रस्येति हस्तोत्तरायोगस्तेन करणभूतेन चत्वार्याद्यानि दिनानि भवन्ति तथेति समुच्चये स्वातिना स्वातिनक्षत्रेण युक्तः (चरमोत्ति) चरमकल्याणकदिनमिति प्रकृतत्वादिति गाथाद्वयार्थः ।

अथ किमिति महावीरस्यैवैतानि दर्शितानीत्याह ।

अहिगयतित्थविहाया, भगवंति णिदंसिया इमे तस्स ।
सेसाण वि एवं चि य, णियणियतित्थेसु विसेया ॥३६॥

अधिकृततीर्थविधाता वर्त्तमानप्रवचनकर्त्ता भगवान्महावीर इति हेतोर्निदर्शितान्युक्तानि इमानि कल्याणकदिनानि तस्य वर्द्धमानजिनस्य अथ शेषाणां तान्यतिदिशन्नाह शेषाणामपि न वर्द्धमानस्यैव ऋषभादीनामपि वर्तमानावसर्पिण्यां भरतक्षेत्रापेक्षया एवमेवेह तीर्थे वर्द्धमानस्येव निजनिजतीर्थेषु स्वकीयप्रवचनावसरेषु विज्ञेयानि ज्ञातव्यानि मुख्यवृत्त्या विधेयतयेति । इह च यान्येव गर्भादिदिनानि जम्बूद्वीपभारतानामृषभादिजिनानां तान्येव सर्वभरतानां सर्वैरावतानां च यान्येव च एतेषामस्यामवसर्पिण्यां तान्येव व्यत्ययेनोत्सर्पिण्यामपीति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ पंचा० ७ विव० (कल्याणकेषु यात्राविधानं 'अणुजाण' शब्दे उक्तम्)

अथ षट्कल्याणकवादी प्राह ।

ननु " पंचहत्थुत्तरे साइणा परिनिव्वुए " इति वचनान्महावीरस्य षट् कल्याणकत्वं संपन्नमेव नैवम् एवमुच्यमाने " उसभेणं अरहा कोसलिए पंच उत्तरासाढे अभीइ छट्ठे होत्था" जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिवचनात् श्रीऋषभस्यापि षट् कल्याणकानि वक्तव्यानि स्युः न च तानि त्वयापि तथोच्यन्ते तस्माद्यथा पञ्चउत्तरासाढे इत्यत्र नक्षत्रसाम्यात् राज्याभिषेको मध्ये गणितः परं कल्याणकानि तु "अभीइछट्ठे" इत्यनेन सह पञ्चैव तथाऽत्रापि "पंचहत्थुत्तरे" इत्यत्र नक्षत्रसाम्यात् गर्भापहारो मध्ये गणितः परं कल्याणकानि तु "साइणा परिनिव्वुए" इत्यनेन सह पञ्चैव तथा श्रीआचाराङ्गटीकाप्रभृतिषु " पंचहत्थुत्तरे " पञ्च वस्तून्येव व्याख्यातानि न तु कल्याणकानि किं च । श्रीहरिभद्रसूरिकृतयात्रापञ्चाशकस्य अभयदेवसूरिकृतायां टीकायामपि आषाढशुक्लषष्ठ्यां गर्भसंक्रमः १ चैत्रशुक्लत्रयोदश्यां जन्म २ मार्गसितदशम्यां व्रतम् ३ वैशाखशुद्धदशम्यां केवलं ४ कार्त्तिक्यामावस्यायां मोक्षः ५ एवं श्रीवीरस्य पञ्च कल्याणकानि उक्तानि । अथ यदि षष्ठं स्यात्तदा तस्यापि दिनमुक्तं स्यात् अन्यच्च नीचैर्गोत्रविपाकरूपस्य अतिनिन्द्यस्य आश्चर्यरूपस्य गर्भापहारस्यापि कल्याणकत्वकथनमनुचितम् । अथ " पंचहत्थुत्तरे " इत्यत्र गर्भापहरणं कथमुक्तमिति चेत् सत्यम् अत्र हि भगवान् देवानन्दाकुक्षौ अवतीर्णः प्रसूतवती च त्रिशलेति असंगतिः स्यात्तन्निवारणाय " पंचहत्थुत्तरेति " वचनमित्यलं प्रसंगेन । कल्याणकानि पञ्चैव कल्प० सु० । पञ्चकल्याणकशोध्या अतीचाराः (पंचकल्लाणगशब्दे) काम्पिल्यपुरस्य नगरस्य राज्ञो ब्रह्मदत्तस्य आहारे, नि०चू०१ उ० । महाविदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेवान्यद्वेति प्रश्ने उत्तरमाह । महाविदेहेषु कल्याणकतिथ्यादिकमिदमेवेति न सम्भाव्यते यतः अत्रत्यतीर्थकृतां च्यवनादिकल्याणकं तदा तत्र दिवससद्भावात् तत्प्रतिपादकान्यक्षराण्यपि नोपलभ्यन्ते, । ही० ३ प्रश्न- ।

कल्लाणगघय-कल्याणकघृत-न० सुश्रुतोक्ते औषधिभेदयुक्ते घृतभेदे, नि०चू० १ उ० । (तन्निर्माणविधिः सुश्रुते एतच्छब्दे एव वाचस्पतौ च)

कल्लाणगजत्ता-कल्याणकयात्रा-स्त्री० कल्याणकदिवसेषु कल्याणकजिनोत्सवे, पंचा० ६ विव० ।

कल्लाणगतव-कल्याणकतपस्-न० तपोविशेषे, प्रव.द्वा.। तथाधिकमासे कल्याणकानि पूर्वे पाश्चात्ये वा मासि क्रियन्ते केचन परपाक्षिका वदन्ति प्रथमश्रावणकृष्णपक्षे द्वितीयश्रावणशुक्लपक्षे कल्याणकतपो विधीयते तत्सङ्गतमितथं वेति प्रश्ने । उत्तरम् । दैवकमासापेक्षया वृद्धिप्राप्तं विमुच्य कल्याणकतपः करणं युक्तिमदिति, सेन० १५१ प्र०३ उल्ला० । तथा चैत्रमासवृद्धौ कल्याण-

कादि तपः प्रथमे द्वितीये वा मासि कार्यत इति प्रश्ने। उत्तरम प्रथमचैत्रासितद्वितीयचैत्रसितपक्षाभ्यां चैत्रमाससंबद्धं कल्याणकादि तपः श्रीतातपादैरपि कार्यमाण दृष्टमस्ति तेन तथैव कार्यमन्यथा भाद्रपदवृद्धौ मासक्षपणादितपांसि कुत्र क्रियन्तामिति ११८ सेन० ३ उल्ला० । (तद्वक्तव्यता पंचकल्लाणगशब्दे वक्ष्यते)

कल्लाणगवत्थपरिहिय–कल्याणकवस्त्रपरिहित–त्रि० कल्याणकं कल्याणकारि प्रवरवस्त्रं परिहितं यैस्ते कल्याणकवस्त्रपरिहिताः । सुखादिदर्शनाश्चिष्ठान्तस्याऽत्र पाक्षिकः परनिपातः परिहितप्रवरकल्याणकृद्वस्त्रेषु, जी० ३ प्रति० ४ उ० ।

कल्लाणणयर–कल्याणनगर–न०कल्याणदेशे नगरभेदे, "इओअ कल्लाणदेसे कल्लाणनयरे संकरो नाम राया जिणभत्तो हुत्था " ती० ४१ कल्प० ।

कल्लाणदियह–कल्याणदिवस–न० पञ्चमहाकल्याणीप्रतिबद्धदिने, " अणुकवं कायव्वा जिणाण कल्लाण दियहेसु " पंचा० ९ विव० ।

कल्लाणपरंपरा–कल्याणपरम्परा–स्त्री० माङ्गल्यपदार्थसन्ततौ, संथा० । ध० ।

कल्लाणपावय–कल्याणपापक–न० इष्टाऽनिष्टफले शुभाऽशुभेकर्मणि, उपा० ४ अ० ।

कल्लाणपुक्खलविसालसुहावह–कल्याणपुष्कलविशालसुखावह–त्रि०कल्याणं पुष्कलं संपूर्णं न च तदल्पं किन्तु विशालं विस्तीर्णमेवंभूतं सुखमावहति प्रापयतीति कल्याणपुष्कलविशालसुखावहः । अपवर्गसुखप्रापके, " कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स, को देवदाणवणरिंदगणच्चियस्स । धम्मस्स सारमुवलब्भकरे पमायं " ध० ४ अधि० ।

कल्लाणफल–कल्याणफल–त्रि० निःश्रेयससाधने, पंचा० ९ विव०।

कल्लाणफलविवाग–कल्याणफलविपाक–न० कल्याणस्य पुण्यस्य कर्मणः फलं कार्य्यं विपाच्यते व्यक्तीक्रियते यैस्तानि कल्याणफलविपाकानि । पुण्यफलविपाकेषु अप्रश्नव्याकरणेषु अध्ययनेषु श्रीवीरो भगवान् "पणपन्नं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं वागरित्ता सिद्धे" स० ११६ पत्र. ।

कल्लाणभायण–कल्याणभाजन—न० रोहिकाद्यभ्युदयपात्रे, पंचा० ११ विव० ।

कल्लाणविजय–कल्याणविजय–पुं० हीरविजयसूरिशिष्ये, प्रमोदं येषां सद्गुणगणभृतां बिभ्रति यशः, शुभ्रां पायं पायं किमिह निरपायं न विबुधाः । अमीषां (हीरविजयसूरिणां) षट्तर्किदधिमथनमन्थानमतयः, सुशिष्योपाध्यायाः बभुरिह हि कल्याणविजयाः । ह्वा० ३१ ह्वा० । न० ।

कल्लाणसागर–कल्याणसागर–पुं० अञ्चलगच्छीये धर्ममूर्त्याचार्यस्य शिष्ये अमरसागरस्य गुरौ, अयं च विक्रम संवत् षट्सप्तत्यधिकषोडशशततमे वर्षे विद्यमान आसीत् जामनगरवास्तव्यं लालनगोत्रं वर्धमानशाहनामानं गृहपतिं प्रतिबोध्य तत्र जिनालयमकारयत् प्रातिष्ठिपच्च स्वयमिति तत्र शिलासु लिखितमस्ति, जै० इ० ।

कल्लाणि (ण्)–कल्याणिन्–त्रि० कल्याण-अस्त्यर्थे इनिः । कल्याणवति, स्त्रियां ङीप् सा च बलानामोषधौ, राजनि० । वाच० । पंचा० ।

कल्लाल–कल्पपाल–पुं० मद्यवणिजि, "कल्लालघरेसु अंबिलं" कल्पपालगृहेषु किल अम्लशब्दसमुच्चारिते सुरा विनश्यति अनु० ।

कल्लालत्त–कल्पपालत्व–न० रसवाणिज्ये, " रसवाणिज्जं कल्लालत्तणं तत्थ सुरापाणे बहू दोसा मारणकोसवहादी तम्हा न कप्पइ " आव० ६ अ० ।

कल्लुग (य)–कल्लुक–पुं० द्वीन्द्रियभेदे, जी०१ प्रति०। "कल्लुकाः पाषाणेषु धेभियजातिविशेषा भवन्ति " बृ० ४ उ० ।

कल्लुरिया–कल्लुरिका–स्त्री० खाद्यकापणे, आ० म० द्वि० ।

कल्लोमय–कल्वोटक–पुं० गोरहके, (दम्ये वृषभे) आचा० २ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

कल्लोल–कल्लोल–पुं० कल्ल–वा–ओलच्–कम् अलं लोलं चपलं यस्माद् वा महोर्मौ, औ० । स्था० । को० । हर्षे च । वैरिणि, त्रि० मेदि० वाच० ।

कल्हार–कह्लार–न० के जले ह्लाते ह्लाद अच् पृषो दस्य रः ह्लोल्हः ८। २। ७६। हस्थाने लकाराक्रान्तो लः प्रा० । सौगन्धिके, आ. म० प्र० । प्रज्ञा० ।

कवलु–कमल–न० "मोऽनुनासिके वो वा ८ । ४ । ३९७ इत्यपभ्रंशे मकार अनुनासिको वः । अन्त्याकारस्योत्वमिति ढुंमिः । कवलू कमलम् पक्षे, प्रा० ।

कवाचिया–कवाचिका–स्त्री० कलाचिकायाम, भ०११ श० ११उ.

कवट्टिअ–कदर्थित–त्रि० कदर्थि–क्त प्राकृते "कदर्थिते वः ८ । १ २४ । कदर्थिते दस्य वो भवतीति । दस्य वः । वृत्तप्रवृत्तमृत्तिकापत्तनकदर्थिते टः ८ । २ । २९ एषु संयुक्तस्य टो भवति इति टः कुत्सितार्थीकृते, प्रा० ।

कवम–कपट–स्त्री० कप- अटन्–कं ब्रह्माणमपि पटति आच्छादयति पट्-अच्-वा-अर्द्धर्चादि अमरः। वाच०। वेषादन्यथात्वेन क्रियमाणे छद्मनि, ज्ञा० ९ अ०। वञ्चनाय वेषान्तरादिकरणे, प्रश्न० आश्र०२ द्वा. । ज्ञा. । कपटमिति, कैतवमिति शठतापि चेति एकार्थाः प्रव०२ द्वा० । देशभाषानेपथ्यादिविपर्य्ययकरणं कपटं यथाऽऽषाढभूतिना नटेन वा परापरवेषपरावृत्त्याचार्य्योपाध्यायसंघाटकात्मार्थं चत्वारो मोदका अवाप्ताः, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । दशा० ।

कवड्ड–कपर्द–पुं० पर्वपूरणे, क्विप् "सम्मर्दवितर्दिविच्छर्दच्छर्दिकपर्दमर्दितेर्दस्य ८।२।३६। एषु र्दस्य ड्डः । हरजटायाम, प्रा० । स्वार्थे कः वराटके, आव० ५ अ० ।

कवड्डिजक्ख–कपर्दि (क) यक्ष–पुं० स्वनामख्याते यक्षभेदे,

" सिरिसित्तुंजयसिहरे, परिट्ठिअं पणमिऊण रिसहजिणं ।
तस्सेव यस्स पुच्छं, कवड्डिजक्खस्स कप्पमहं " ॥१॥

अत्थि वालकजणवए पालित्ताणयं नाम नयरं तत्थ कवड्डिनामधिज्जो गामो महत्तरो। सो अ मज्जमंसमहुजीवघायअलीयवयणपरधणहरणपररमणीरमणाइ पावट्ठाणपवसत्तो(?) अणहीनामियाए अणुरूविट्ठियाए भज्जाए सह विलए उवभुंजंतो गामाइकालं । अन्नया तस्स मंचयट्ठियस्स साहुजुअलं घरे पत्तं तेणा वि दिट्ठिय पणामं काउं विन्नत्तं जोडिअ करणे भयवं! किमित्थागमनकारणं तुम्हाणं । अम्ह घरे ठुद्ददिअघयतकाइ पउरमत्थि जेण कज्जं तं आइसह साहुहिं भणिअं न अम्हे भिक्खट्ठमागया किं तु अम्ह गुरुणो सपरिवारा चिट्ठंति मयह-

रेण विएसं दिठ्ठो मए उवस्सओ आगच्छंत सूरिणो चिट्ठंतु आहासुहं केवलं अम्हाणं पावनिरयाणं धम्मोवएसो न दायव्वो त्ति । साहूहिं भणिअं एवं होउ त्ति । तओ आगया गुरुणो विआ वासा चाउम्मासिं कुणंति संतयं सज्झायं सोसंति छट्ठमाईहिं नियतणुं कामणअइक्कंते वासारत्ते परेणए मुक्कलाविंत्ति भयहरं गुरुणो सो तेसिं सव्वपइणत्तणओ परितुट्ठो नियनयरसीमसंधि जाव बोलाविउं पट्ठविओ पत्ताए सीमसंधीए सूरिहिं जंपियं भोमयहरत्तए अम्हाणं उवस्सयदाणाइणा बहूवयारो कओ अओ संपइ किंचि धम्मोवएसं देमो जेणा पच्चुवयारो कओ हवइ । मयहरेण भणियं नियमो न ताव मह निव्वहइ किंच मंतक्खरं ववइसह । तओ सूरिहिं अणुकंपया पंचपरमिट्ठिनवकारमहामंतो सिक्खाविओ । अलअसणथंजणाइ पत्तावो अ तस्स उववण्णिओ । पुणो गुरूहिं भणिअं पइदिअहं सेत्तुंजयदिसाए होऊण तुमए पणामो कायव्वो मयहरेण तहत्ति पमिवज्जिऊण गुरुणो पणमिऊण नियघरे आगयं सूरिणो अन्नत्थ विहरिया । अह कमेण तं पंचपरामिट्ठिमंतं जविंतो नियमं च निव्वाहिंतो कालं अइवाहेइ अन्नया नियधरणीए कलहं काऊण गेहाओ नीसारिओ आरुहिओ लग्गो सित्तुंजगिरिसिहरं जाव मज्जभरियं भायणं करे धरित्ता वरुक्खच्छायाए मज्जपाणं करिउं कामो उवविट्ठो ताव गिज्झमुहरट्ठियअहिगरलविंदू मज्जपत्ते पमिओ दिट्ठो । तं दट्ठूण विरत्तमणो मज्जं निअमेइ भवविरत्तो अ अणसणं काऊण तक्खणं आइजिणंदचलणकमलं नवकारं च संभरंतो सुहज्झाणेण मरणसंपत्तो तित्थमाहप्पेणं नवकारप्पभावेणं च कवड्डिजक्खो उप्पन्नो ओहिनाणेण पुव्वजम्मं संभरिआ आइजिणिंदं आराहेइ सा य तस्स गेहिणी तव्वइयरं सुणित्ता तत्थ आगंतूण अप्पाणं निंदंती अणसणं करित्ता जिणंदं सुमरंती कालधम्ममुवगया जाया तस्सेव करिवरत्तेण ण वाहणं कवड्डिजक्खस्स चउसु वि अ दंमेसु कमेण पासं कुमुदविणवासणिआ वीयपूराइ चिंठंति पुणो सो ओहिणा आभोएऊण पुव्वभवगुरूणं पायमूले पत्तो वंदित्ता जोमियकरयलो विन्नवेइ भयवं तुम्ह पसाएण एरिसा मए रिद्धी लद्धा संपयं मह किं वि किच्चमाइसह गुरूणं जंपियं इत्थ तित्थे निच्चं तुमए वासयव्वं तिकालं जुगाइनाहो अंचिअव्वो जत्तागयभवियजणाणं मणवंछिअफलं पूरेयव्वं सयलसंघस्स विग्घा अवहरिअव्वा । तओ गुरूणं पाए वंदिअ तहत्ति पमिवज्जिय गओ जक्खाहिवो विमलगिरिसिहरं करेइ जहा गुरूवइट्ठ "अम्ब अंबादेवीए, कवड्डिजक्खस्स जक्खरायस्स । लिहिअकप्पजुगजिणप्पह-सूरीहिं वुठवयणाओ ॥ १ ॥ कपर्दियक्षकल्पः, ती० ३० कल्प. ।

कवण-किम्-पुं० "किमः काइं कवणौ वा ।८।४।६३। अपभ्रंशे किमः स्थाने कवणादेशः कुत्सिते, जिज्ञासिते, वितर्कविषये, वाच० । " जइ न सुआवइदूइं, घरुकाइं अहो मुइ तुज्झ । वयणज्जुखंमइ तउ, सहिए सो पिउ होइ न मज्झु " प्रा० ।

कवय-कवच-पुं० गर्दभाण्मे वृक्षे, पटहवाद्ये च मेदि० सन्नाहे, गात्रत्राणे, योद्धृभिर्युद्धकाले शस्त्राघातरक्षणार्थमङ्गे धार्ये लोहादिनिर्मिते चर्मणि, पुं० न० अमरः । वाच० । सन्नाहविशेषे, औ० । तनुत्राणविशेषे, प्रश्न० आश्र० ३ द्वा० । जी० । ज्ञा० । आ० म० प्र० । "कंटके संणद्धवद्धवम्मियकवयस्सि" ज्ञा० १ अ० । सूत्र० । स्त्रियां ङीप् तन्त्रोक्ते मन्त्रसाधनाङ्गे, वाक्यसंघभेदे, च वाच० ।

कवल-कवल-पुं० केन जलेन वलते वल वलने अच् । ग्रासे, कुक्कुटाण्डकप्रमाणो बद्धोऽशनपिण्डः कवलोऽभिधीयते प्रव० ४ द्वा० । आव० । उत्त० । विशे० । औ० । द्विसाहस्रिकेण तण्डुलेन कवलो भवति तं० (कवलप्रमाणमाहारशब्दे उक्तम्) आ० म० द्वि० । मत्स्यभेदे, शब्दचि० । वाच० ।

कवल्लि-कवल्लि-स्त्री० गुडादिपाकभाजने, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

कवाम-कपाट-पुं० न० कं वातं पाटयाति तद्गतिं रुणद्धि पटणिच्-अण् । प्रतोलीद्वारसत्के, प्रज्ञा० २ पद । द्वारस्थगने, दश० ५ अ० । औ० । जी० । प्रश्न० । रा० । स्था० । द्वारयन्त्रे, दश० ५ अ० । " घक्कगवमुसंधिउरोहसयग्घिजमलकवामघणदुप्पाघरणा " रा० । ज्ञा० । स० । जं० ।

कवामग-कपाटक-न० कपाटमिव कपाटकम् क उपमार्थः । कपाटसंस्थानेनावस्थिते आत्मप्रदेशचये, यथोभयोः प्राक् प्रत्यग्दिशोस्तिर्यग् विस्तीर्णमवागुदग्दिशोर्ह्रस्वमूर्द्धाधोदिशोरुच्छ्रितं कपाटमिति शब्द्यते तथा समुद्घातकरणवशान्निर्गतानामात्मप्रदेशानां पूर्वापरदक्षिणोत्तरासु दिक्षु कपाटसंस्थानेनावस्थानात् कपाटकत्वसिद्धिः आ० चू० १ अ० । (तत्करणं समुग्घायशब्दे)

कवामभयअ-कपाटभृतक-पुं० क्षितिखानके, ओड्डादिर्यस्य स्वङ्कर्माप्यते द्विहस्ता त्रिहस्ता वा त्वया भूमिः खनितव्यैतावत्ते धनं दास्यामीत्येवं नियम्येति " कवालउडुमाइहत्थमियं कम्मपत्ति य धणेण पच्छिरकालुव्व ते कायव्वं कम्म जं विंति " स्था० ४ ठा० १ उ० ।

कवाल-कपाल-न० पुं० कं-जलं शिरो वा पालयति पाल-अण् घटकर्परादौ, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० । सूत्र० । भाण्डखण्डे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । समूहे, च मेदि० । शिरोस्थि, यतीनां भिक्षापात्रे, अण्डादीनामवयवे च । भर्जनपात्रभेदे च, वाच० ।

कवि-कपि-पुं० वानरे, अमरः । अष्ट० । सिल्हके, गन्धद्रव्यभेदे, तस्य कपिजातत्वात् वाराहे, धात्रिकायाम्, रक्तचन्दने तद्वर्णे, पिङ्गले, च पुं० तद्वर्णवति, त्रि० वाच० ।

कवि-पुं० काव्यकारिणि, स्था० ७ ठा० । कविरपि च प्रवचनस्य उद्भावकः, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । खलीने, स्त्री० मेदि० । वा ङीप् स्तोतरि, त्रि० वाच० ।

कविंजल-कपिञ्जल-पुं० स्त्री० कपिरिव जवते ईषत् पिङ्गलो वा कमनीयं शब्दं पिञ्जयतीति निरुक्तेः पृषो० पक्षिभेदे, चातके, राजवल्ल० । जलयाचनाय तस्य शब्दकरणात् तथात्वम् तित्तिरौ, त्रिका० । वाच० । जी० । प्रज्ञा० । आचा० । प्रश्न० । सूत्र० ।

कविंजलकरण-कपिञ्जलकरण-न० कपिञ्जलानुद्दिश्य यत्र किञ्चित् क्रियते तथा यत्र स्थाप्यन्ते तत्र तस्मिन् स्थाने, " कवोयकरणाणि वा कविंजलकरणाणि वा अण्णयरंसि तहप्पगारंसि णो उच्चारं पासवणं वोसिरेज्जा " आचा० २ श्रु० ।

कविकच्छु-कपिकच्छू-स्त्री० कपीनामपि कच्छू-यस्मात् ५ ब० कण्डूतिजनके वल्लीविशेषे, जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

कविट्ठ-कपित्थ-पुं० कपिस्तिष्ठत्यत्र तत्फलप्रियत्वात् स्था-क पृषो० वाच० । (कवीठ) बहुबीजकवृक्षभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । जी० । जं० । प्रज्ञा० । उत्त० । अस्य फले, न० "अद्धकविट्ठगसंठाणसंठिया " प्रज्ञा० २ पद । कपेरिव लम्बते

कपित्थम्, अनु० । कायोत्सर्गदोषभेदे , " छप्पइ आणभएणं कुणइ अपट्टं कविट्टं व " आव० ५ अ० । षट्पदिकानां भयेन कपित्थवद् वृत्ताकारत्वेन संवर्त्य जङ्घादिमध्ये पदं कृत्वा तिष्ठ-त्युत्सर्गे इति कपित्थदोषः, प्रव० ५ द्वा० ।

कविल-कपिल-पुं० सांख्यशास्त्रप्रवर्त्तके मुनौ, वाच० कापिला-नां देवतारि, औ० । सूत्र० । कपिलानां शास्त्रं द्विविधं सेश्वरं नि-रीश्वरं च तत्र सेश्वरं सांख्यं भगवदवतारः कपिलः प्रणीत-वान् निरीश्वरं सांख्यं तु अन्यवतारः कपिल इति सांख्यशास्त्रा-नुयायिनः, वाच० । समयविदस्तु अपगतरोगस्य च मरीचेः कपिलो नाम राजपुत्रो धर्म्मशुश्रूषया तदन्तिकमागत इति क-थिते साधुधर्म्मे स आह । यद्ययं मार्गः किमिति भवतैतदङ्गी-कृतम् । मरीचिराह " पापोहं लोईदिपत्यादि " विभाषा पूर्व-वत् कपिलोऽपि कर्म्मोदयात्साधुधर्म्माभिमुखः खल्वाह तथा पि किं भवद्दर्शनेनास्त्येव धर्म्म इति मरीचिरपि प्रचुरकर्मा ख-ल्वयं न तीर्थकरोक्तं प्रतिपद्यते वरं मे सहायः संवृत्त इति सं-चिन्त्याह । कपिलाः (एत्थं पि त्ति) अपिशब्दस्यैवकारार्थ-त्वान्निरुपचरितः खल्वत्रैव साधुमार्गे (इहइं पित्ति) स्वल्प-स्त्वत्रापि विद्यत इति गाथार्थः । स होवमाकर्ण्य तत्सकाश एव प्रव्रजितः ॥ ५ ॥ (आ० म०) कपिलोऽपि ग्रन्थार्थपरिज्ञा-नशून्य एव तद्दर्शितक्रियारतो विजहार आसुरनामा च शिष्यो-ऽनेन प्रव्राजित इति तस्य स्वसमाचारमात्रं दिदेश एवमन्यानपि शिष्यान्संगृह्य शिष्यप्रवचनानुरागतत्परो मृत्वा ब्रह्मलोक एवो-त्पन्नः स हयुत्पत्तिसमनन्तरमेवावधिं प्रयुक्तवान् किं मया हुतं चेष्टं वा दानं येनैषा दिव्या देवर्द्धिः प्राप्तेति स पूर्वभवं विज्ञाय चिन्तयामास मम शिष्यो न किंचिद्वेत्ति तत्तस्योपदिशामि तत्वमिति तस्मै आकाशस्थपञ्चवर्णमण्डलकस्थत्वं जगाद " कविलो अंतरहिओ कहए " कपिलः अन्तर्हितः कथितवान् किमव्यक्ताद् व्यक्तं प्रभवति ततः षष्ठितन्त्रं जातं तथाचाहुस्त-न्मतानुसारिणः प्रकृतेर्म्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडश-कः । तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानीत्यादि " अलं विस्तरेण प्रकृतं प्रस्तुम इति गाथार्थः, आ० म० प्र०। आ०चू० । (संखशब्दे सर्वमतमुपपादयिष्यामि)जीर्णे भोजनमात्रेयः, कपि लः प्राणिनां दया । बृहस्पतिरविश्वासः, पञ्चालः स्त्रीषु मार्दवम् । आ०म०द्वि०। काश्यपब्राह्मणस्य यशानाम्न्यां ब्राह्मण्यां जाते पुत्रे,

कपिलनिक्षेपमाह ।

निक्खेवो कविलम्मि, चउविह दुविहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम नो आगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥

निक्षेपो न्यासः कपिले कपिलविषयश्चतुःप्रकारो नामस्थापना-द्रव्यभावभेदात्तत्राद्ये प्रतीते द्विविधो द्विभेदो भवति द्रव्य इति द्रव्यविषये । द्वैविध्यमेवाह आगमतो नोआगमतस्तत्रागमतो ज्ञातानुपयुक्तो नो आगमतश्च स द्विविधस्त्रिभेद इति गाथार्थः॥

त्रैविध्यमेवाह ।

जाणगसरीरजविए, तव्वइरित्ते य सो पुणो तिविहो ।
एगजवियबद्धाउय, अभिमुहो नाम गोए य ॥

कपिलशब्दार्थज्ञशरीरं पश्चात् कृतपर्यायं ज्ञशरीरमित्युच्यते तदेव द्रव्यकपिलाः (भवियत्ति) भव्यशरीरं पुरस्कृतकपिल-शब्दार्थज्ञानात्मकपर्यायं द्रव्यकपिलस्तद्व्यतिरिक्तश्च सः । तद्व्यतिरिक्तः द्रव्यकपिलः पुनस्त्रिविधस्त्रिभेदस्त्रैविध्यमेवाह । एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्चेति गाथार्थः ।

भावकपिलमाह ।

कविलाउनामगोयं, वेयंतो भावतो भवे कविलो ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयणं काविलिज्जंति ॥

कपिलायुर्नामगोत्रं वेदयन् अनुभवन् भावतो भावमाश्रित्य भवेत्कपिलस्ततस्तस्मात् समुत्थितमिदं प्रस्तुतमध्ययनम् (काविलिज्जंति) कापिलीयमित्युच्यते इति गाथार्थः ।

कथं पुनरिदं कपिलात्समुत्थितमित्याह ।

कोसंबि कासवजसा, कविलो सावत्थि इंददत्ते य ।
इब्भे य सालिभद्दे, धणसिट्ठियसेणई राया ॥८८॥
कविलो निज्जिय परिवे-सिया य आहारमित्तसंतुट्ठो ।
वावारिओ य दुहिमा-सएहिं सो निग्गतो रत्तिं ॥८९॥
दक्खिन्नं पच्छेसिं, बद्धो य हतो य अपि उ रन्नो ।
राया से देइ वरं, किं देमी केण ते अट्ठो ॥९०॥

अशोको भणति ।

जहा लाहो तहा लोहो, आहालोहो पवड्डइ ।
दो मासकणय कज्जं, कोमीए वि न ठियं ॥९१॥
कोडी विदेमि अज्जो-त्ति भणइ राया पहट्ठमुहवन्नो ।
सो वि चइऊण कोडिं, जाउं समणो समियपावो ॥९२॥
छम्मासे छउमत्थो, अट्ठारस जोयणाइ रायगिहे ।
बलभद्दप्पमुहाणं, इक्कडदासाण पंच सया ॥९३॥

आसामक्षरार्थः सुगम एव नवरं (निज्जियपरिवेसियायत्ति) नैत्तिकपरिवैषिकतया प्रतिदिननियुक्तभक्तदाच्या वा (वारिउ-त्ति) व्यापारितो नियुक्तः (दुहिं मासेहिं ति) द्वाभ्यां माषका-भ्यां तादर्थ्ये चतुर्थी (दक्खिणंति) प्राकृतत्वात् दक्षिणां (पहट्ठ-मुहवण्णत्ति) प्रहृष्टः प्रहर्षवान् मुखवर्णो मुखच्छाया यस्य स तथा मुखस्य प्रहृष्टत्वादुपचारात्तद्वर्णोऽपि प्रहृष्टः उक्तः । यद्वा प्रहृ-ष्टमुखस्येव मुखवर्णो यस्य स तथा । मयूरव्यंसकादित्वात्स-मासो मानसत्वाच्च हर्षादीनां मुखस्यापि हृष्टत्वं रूढित इति भावनीयम् । इक्कडदासजातीनाम् अतिशेषे अतिशये (होही अट्ठो इमो त्ति) भविष्यत्यर्थः । प्रयोजनमयं पूर्वसंगतिकचौर-शतपञ्चकप्रतिबोधलक्षण इति ज्ञात्वा च (अन्भाणगमणचिंत-त्ति) अध्वा मार्गस्तद्गमने चित्तमभिप्रायोऽध्वगमनचित्तं तत्क रोतीव करोति तत्वतो हि केवलित्वेनामनस्कत्वाच्च तस्याभि-प्रायकरणसंभवः (धम्मट्ठयत्ति) आर्षत्वात्कर्म्मार्थतत्त्वावबोध-तस्तेषां धर्मः स्यादित्येवमर्थं (गीयत्ति) वस्य गम्यमानत्वात् गीतं च स्वरगमानुगतमीतिकानिबद्धमिदमेवाध्ययनं करोती-ति योगो वर्त्तमाननिर्देशस्तु सूत्रस्य त्रिकालगोचरतामाह । य-द्विवा गीतमिति स्वराद्यनुगमनेन शब्दितमिदमध्ययनमिति गम्यते भावार्थः कथानकादवसेयस्तच्च संप्रदायः २३ उत्त० ८ अ० । यथा कौशाम्ब्यां नगर्यां जितशत्रू राजा राज्यं करो-ति तत्र काश्यपो ब्राह्मणः चतुर्दशविद्यास्थानपारगः पौरा-णां राज्ञश्चातीव सम्मतः तस्य राज्ञा महती वृत्तिर्दत्ता काश्यप-ब्राह्मणस्य यशा नाम्नी भार्या वर्त्तते तयोः कपिलनामा पुत्रोऽ-स्ति तस्मिन् कपिले बाले एव सति काश्यपो ब्राह्मणः कालं गतः तदधिकारो राज्ञाऽन्यस्मै ब्राह्मणाय दत्तः । सोऽश्वारूढछत्रेण ध्रियमाणेन नगरान्तर्व्रजति । एकदा तं तथा व्रजन्तं दृष्ट्वा यशा भृशं रुरोद कपिलेन पृष्टं मातः! किं रोदषीति सा प्राह वत्स

तव पिता ईदृश्या ऋद्ध्या पुरान्तर्भ्रमन्नभूत् मृते च तव पितरि त्वयि चाविदुषि सति अयं तव पैत्र्यं पदं प्राप्तस्ततो रोदिमि कपिल ऊचे अहं भणामि यथा आह पुत्र ! अत्र तव न कोऽप्येतद्विद्या पाठयिष्यति इतस्त्वं श्रावस्त्यां व्रज तत्र त्वत्पितृमित्र इन्द्रदत्तो ब्राह्मणस्त्वां पाठयिष्यति । कपिलः श्रावस्त्यां तत्समीपं गतः तेन पृष्टं कस्त्वं कुत आयातः । कपिलेन सर्वे स्वस्वरूपमूचे तेन मित्रपुत्रत्वात् सविशेषं पाठ्यते परं स्वगृहे भोजनं तस्य कारयितुं न शक्यते ततोऽनेन शालिभद्रनामा तत्रत्यो व्यवहारी प्रार्थितः यथाऽस्य त्वया निरन्तरं भोज्यं देयं त्वत्प्रसादान्निश्चिन्तोऽसौ पठति तेनापि प्रतिपन्नम् । कपिलः शालिभद्रगेहे प्रत्यहं भुङ्क्ते इन्द्रदत्तगुरुसमीपेऽध्येति । शालिभद्रगृहे चैका दासी वर्तते दैवयोगात्तस्यामसौ रक्तोऽभूत् । अन्यदा सा गर्भिणी जाता कपिलं प्रत्याह । अहं तव पत्नी जाता ममोदरे त्वद्गर्भो जातः अतस्त्वया मे भरणपोषणादि कार्यम् । कपिलस्तद्वचनश्रवणाद् भृशं खिन्नः परमामधृतिं प्राप न च तस्यां रात्रौ निद्रां प्राप । पुनस्तया भणितं स्वामिन् ! खेदं मा कुर्याः मदुक्तमेकमुपायं शृणु । अत्र धननामा श्रेष्ठी वर्तते तस्य यः प्रथमं प्रभाते गत्वा वर्द्धापयति तस्य सुवर्णं माषद्वयं ददाति तत्स्त्वमद्य प्रभाते गत्वा प्रथमं वर्द्धापय यथा सुवर्णमाषद्वयं प्राप्नुयाः । कपिलस्तस्या वचः श्रुत्वा मध्यरात्रावुत्थितस्तस्य धाम्नि अपरः कश्चिन्मा प्रथमं यायादिति मत्वौत्सुक्येन गच्छन् कपिलः पुरा रक्षकैर्गृहीतः चौरधिया बद्धः प्रभाते पुरस्वामिनः पुरो नीतः । पुरः स्वामिना पृष्टं कस्त्वं किमर्थमर्द्धरात्रौ निर्गतस्तेन सकलं स्वरूपं प्रकटीकृतम् । सत्यवादित्वात्तस्य तुष्टो राजा प्राह । यत्त्वं मार्गयसि तदहं ददामि । स प्राह । विमृश्य मार्गयिष्यामि राजा प्राह । या हि अशोकवनिकायां विचारय स्वेष्टम् । कपिलस्तत्र गत इति चिन्तयितुमारब्धवान् चेदहं सुवर्णमाषद्वयं मार्गयामि तदा तस्या दास्याः शाटिका मात्रं जायते न तु आभरणानि । ततः सहस्रं मार्गयामि । तदापि तस्य आभरणानि न जायन्त ततोऽहं लक्षं मार्गयामि तदापि मम जात्यतुरङ्गमोत्तमगजेन्द्रप्रवररथादिसामग्री न जायते ततः कोटिं मार्गयामीति चिन्तयन्नेव स्वयं संवेगमागतः । सुवर्णमाषद्वयार्थं निर्गतस्यापि मम कोट्यापि तुष्टिर्न जातेति धिगिमां तृष्णामिति विचार्य स्वमस्तके लोचं कृतवान् । शासनदेवतया तस्य रजोहरणादिलिङ्गमर्पितं कपिलो द्रव्यभावाभ्यां यतिर्भूत्वा राज्ञः पुरः समागतः राज्ञा भणितं त्वया विचारितम् । आह स " जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ । दोमासकणयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं " मिति । विचार्याहं त्यक्ततृष्णः संयमी जातः । राज्ञोक्तं कोटिमपि तवाहं ददामि तेनोक्तं सर्वोऽपि परिग्रहो मया व्युत्सृष्टो न मे कोट्यापि कार्यमित्युक्त्वा स श्रमणस्ततो विहृतः षण्मासान् यावत् छद्मस्थ एवासीत् पश्चात्केवली जातः । इतश्च राजगृहनगरान्तरालमार्गे बलभद्रप्रमुखाश्चौराः सन्ति एतेषां प्रतिबोधो मत्तो भविष्यतीति ज्ञात्वा स कपिलः केवली गतः तैर्दृष्टः प्रोक्तश्च । भोः श्रमण ! नृत्यं कुरु केवली प्राह । वादकः कोऽपि नास्ति ततस्ते पञ्चशतचौरास्तालानि कुट्टयन्ति कपिलकेवली गायति । उत्त० ८ अ० । तद्गीतवृत्तमाह ।

अधुवे असासयंमि, संसारम्मि दुक्खपउराए ।
किं नाम होज्ज तं कम्मयं, जेणाहं दुग्गइं न गच्छेज्जा ॥

सो हि भगवान् । कपिलनामा स्वयं बुद्धश्चौरसंघातसंबोधनायेमं ध्रुवकं संगीतवान् । ध्रुवकलक्षणं चेदम् " जं गिज्जइ पुव्वं चिय, पुणो पुणो सव्वकम्मबंधेसु । धुवयंति तमिह तिविहं, कप्पाय चउप्पयं छप्पयं ति " तत्र ध्रुवो य एकास्पदप्रतिबद्धो न तथा ध्रुवस्तस्मिन् संसार इति संबन्धः । भ्रमन्ति ह्यस्मिन्ननेकेषूच्चावचस्थानेषु जन्तव इति तेषां कञ्चिदनुपूर्वत्वाभावादुक्तं च वाचकैः " रंगभूमिर्न सा काचित्, शुद्धा जगति विद्यते । विचित्रैः कर्मनेपथ्यैः, यत्र सत्वैर्न नाटित " मिति । सास्वतं नित्यमविद्यमानं सास्वतमस्मिन्नित्यशाश्वतस्तस्मिन् । संसार एवासास्वतं हि सकलमिह राज्यादि तथा आह हारिलवाचकः " चलं राज्यैश्वर्यं धनकनकसारं परिजनो, नृपत्वं चाञ्चल्यं चलममरसौख्यं च विपुलम् । चलं रूपारोग्यं चलमिद् वरं जीवितमिदं, जनो दृष्टो यो वै जनयति सुखं सोऽपि हि चलः । " यद्वा ध्रुवो नित्यो न तथा ध्रुवस्तस्मिन्नेवं च कियत्कालावस्थायित्वमप्याशङ्क्येत । अत आह शश्वद्भवनाच्छाश्वतो न तथा शाश्वतस्तस्मिन् शश्वद्भवने हि ह्यादिक्षणावस्थितिरपि संभवेत्तन्निषेधे तु तस्या अपि निषेधात्पर्यायार्थतया तडित्संपातवत्क्षणमात्रावस्थायिनीत्युक्तं भवति एकार्थं वा पदद्वयमुपदेशत्वादतिशयख्यापकत्वाच्च न पौनरुक्त्यम् । क पुनरीदृशि संसरन्त्येतस्मिन् स्वकर्मवशावर्तिनो जन्तव इति संसारस्तस्मिन् (दुःखपउराए त्ति) प्रचुराण्येव प्रचुरकाणि प्रभूतानि दुःखानि शारीरमानसानि यस्मिन् स तथा । तस्मिन् प्राकृतत्वाच्च सूत्रे एवं निर्देशो यद्वा दुःखानां प्रचुर आयो लाभो यस्मिन् स तथा तस्मिन् । किमिति प्रश्ने नामेति संभावनायां वाक्यालंकारे वा भवेत् स्यात्तत्क्रियत इति कर्म तदेव कर्मकमनुष्ठानं यत् । कीदृगित्याह येन कर्मणा हेतौ तृतीया अहमित्यात्मानं निर्दिशति दुर्गतिं नरकादिकां न गच्छेयं न यायाम् पठन्ति च (जेणाहं दोग्गती उ मोच्चेज्ज त्ति) सुगममत्र भगवतः छिन्नसंशयत्वे मुक्तिगामितया दुर्गत्यसत्वेऽपि च प्रतिबोध्य पूर्वसंगतिकापेक्षमित्थमभिधानम् । नागार्जुनीयास्तु प्रथमपदमेवं पठन्ति (अधुवंमि मोहगहणाए)तत्र मुह्यतेऽनेन जानन्नपि जन्तुरिति मोहो दर्शनमोहनीयादि तेन गहनो गुपिलो मोहगहनः स एव मोहगहनकस्तस्मिन्निति सूत्रार्थः । एवं च भगवतोद्गीते तेऽप्येनमेव ध्रुवकं प्रत्युद्गायन्ति तालं च कुट्टयन्ति तैश्च प्रत्युद्गीते भगवानाह ।

विजहित्तु पुव्वसंजोगं, न सिणेहं कहिंवि कुव्विज्जा ।
असिणेहसिणेहकरेहिं, दोसपदोसेहिं मुच्चए भिक्खू ॥२॥

विहाय विशेषेण तदननुस्मरणाद्यात्मकेन हित्वा कमित्याह पुरा परिचिता मातृपित्रादयः पूर्वशब्देनोच्यन्ते ततस्तैरुपलक्षणत्वादन्यैश्च स्वजनधनादिभिः संयोगः संबन्धः पूर्वसंयोगस्तं ततः किमित्याह न स्नेहमभिष्वङ्गं कचिद्बाह्ये वस्तुनि अभ्यन्तरे वा (कुव्विज्ज त्ति) कुर्वीत तथा च को गुण इत्याह । (असिणेह त्ति) प्राकृतत्वाद्विसर्जनीयलोपे स्नेहे विद्यमानप्रतिबन्धः (सिणेहकरेहिं ति) सुब्व्यत्ययादपेगम्यमानत्वाच्च स्नेहकरणशीलेष्वपि पुत्रकलत्रादिष्वास्तामन्येष्वपीत्यपिशब्दार्थो दोषपदैरपराधस्थानैर्मुच्यते-त्यपद्यते किमुक्तं भवति निरतिचारचारित्रो भवत्यमुक्तस्नेहो हि कलत्राद्यभिष्वङ्गाद्दोषपदमतिचाररूपमाप्नुयात् भिक्षुरिति साधुः पाठान्तरश्च दोषप्रदोषैस्तत्र दोषैरिहैव मनस्तापादिभिः प्रदोषैश्च परत्र नरकागत्यादिभिरिति सूत्रार्थः ।

पुनर्यदसौ कृतवांस्तदाह ।

तो नाणदंसणसमग्गे, हियनिस्सेसा य सव्वजीवाणं ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए, भासई मुणिवरो विगयमोहो ॥

ततोऽनन्तरं भाषते मुनिवर इति संबन्धः । स च कीदृग् ज्ञायतेऽनेन विशेषात्मना वस्त्विति ज्ञानं दृश्यते सामान्यरूपेण वस्त्विति दर्शनं ताभ्यां प्रस्तावात् केवलाभ्यां समग्रः समन्वितो यदि वा प्राकृतत्वात्समग्रे परिपूर्णे ज्ञानदर्शने यस्यासौ सम्यग्ज्ञानदर्शनः किमर्थमसौ भाषत इत्याह (हियनिस्सेसा इति) सूत्रत्वाद्धितः पथ्यो भावारोग्यहेतुत्वान्निःश्रेयसो मोक्षो हितश्चासौ निःश्रेयसश्च हितनिश्रेयसस्तस्मै । यद्वा प्राकृतत्वादेव निःशेषं समस्तं हितं सम्यग्ज्ञानादि तस्यैव तत्त्वतो हितत्वात् । ततो निःशेषं च तद्धितं च निःशेषहितं तस्मै । कथं नाम निःशेषहितावाप्तिः स्यादिति चशब्दो भिन्नक्रमस्तेषामित्यत्र योज्यते केषां सर्वजीवानामशेषप्राणिनां तेषां च पञ्चशतसंख्यचौराणां विमोक्षणमष्टविधकर्मणः पृथक्करणं तदेवार्थः प्रयोजनं विमोक्षणार्थः तस्मै तन्निमित्तं भाषत इति वर्त्तमाननिर्देशः प्राग्वद् यद्वा भवति सतामतीतः प्राप्तो यो नाम वर्त्तमानत्वमिति वचनात्तस्यापि तदा वर्त्तमानतैवेति तत्कालत्वस्य विवक्षितत्वान्न दोषः मुनिवरो मुनिप्रधानः । विगतो विनष्टो मोहो यस्य यस्माद्वा स तादृक् इह च विगतमोहवचनेन चारित्रमुक्तं ननु " हियनिस्सेसाय सव्वजीवाणं ती" त्युक्तः "तेसिं विमुक्खणट्ठा इति "अतिरिच्यते न तानेवोद्दिश्यास्य भगवतः प्रवृत्तिरिति प्रधानत्वात्पुनस्तद्विमोक्षणार्थताभिधानम । दृश्यते हि ब्राह्मणः आयाता विशिष्टोऽप्यायात इति सामान्योक्तावपि पुनः प्रधानस्याभिधानमिति सूत्रार्थः ।

यदसौ भाषते तदाह ।

सव्वं गंथं कलहं च, विप्पजहे तहाविहं भिक्खु ।
सव्वेसु कामजाएसु, पासमाणो न लिप्पई ताई ॥ ४ ॥

सर्वमशेषं ग्रन्थं बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र बाह्यं धनाद्याभ्यन्तरं मिथ्यात्वादि कलहहेतुत्वात् कलहः क्रोधस्तं चशब्दात् मानादीनाभ्यन्तरं ग्रन्थरूपत्वेऽपि चैषां पृथगुपादानः बहुदोषख्यापनार्थम (विप्पजहेत्ति) विप्रजह्यात्परित्यजेत्तथाविधमिति कर्मबन्धहेतुं नतु धर्मोपकरणमपीत्यभिप्रायः । पाठान्तरञ्च तथाविधो भिक्षुर्यतिः तस्यैवंविधधर्मार्हत्वादेवमभिधानमन्योक्त्या वाऽत एवैवमुच्यते ततश्च किं स्यादित्याह । सर्वेष्वशेषेषु कामजातेषु मनोज्ञशब्दादीनां प्रकारेषु समूहेषु वा (पासमाणोत्ति) पश्यन् प्रेक्षमाणो विपाकं कटुकात्मकं तद्विषयं दोषमिति गम्यते न लिप्यते कर्मणा नोपदिह्यते कामदोषज्ञस्य तेषु प्रायः प्रवृत्तेरभावादिति भावः तायते त्रायते वा रक्षति दुर्गतिरात्मानमेकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी त्रायी वेति सूत्रार्थः । इत्थं ग्रन्थत्यागिनो गुणमभिधाय व्यतिरेके दोषमाह ।

भोगामिसदोसविसन्ने हि-अणिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मंदिए मूढे, बज्झइ मच्छिया जाव खेलंमि ॥

भुज्यन्त इति भोगा मनोज्ञाः शब्दादयस्ते च ते आमिषं चात्यन्तगृद्धिहेतुतया भोगामिषं तदेव दूषयत्यात्मानं दुःखलक्षणविकारकरणेन भोगामिषदोषस्तस्मिन् । विशेषेण सन्नो निमग्नो भोगामिषदोषविषण्णः । यद्वा भोगामिषाद्दोषा भोगामिषदोषास्ते च तदासक्तस्य विचित्रक्लेशा अपत्योत्पत्तौ च तत्पालनोपायपरतया व्याकुलत्वादयस्तैर्विषण्णो विषादं गतो भोगामिषदोषविषण्णः आह च " जयाय कुकुमंबस्सं, कुततीहिं विहम्मइ । हत्थीव बंधणे बद्धो, पसत्था परितप्पति । पुत्तदारपरिकिन्नो, मोहसंताण संतओ । पंकासन्नो जहा नागो, पसत्थापरितप्पई" (हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे) हित एकान्तपथ्यो निःश्रेयसो मोक्षोऽनयोः कर्म्मधारये हितनिःश्रेयसौ । यद्वा हितो यथाभिलषितविषयावाप्त्याऽभ्युदयो निश्रेयसः स एव तयोर्द्वन्द्वस्ततश्च तत्र तयोर्वा बुद्धिस्तत्प्राप्त्युपायविषया मतिस्तस्यां विपर्यस्तो विपर्ययवान् स वा विपर्यस्ता हितनिःश्रेयसबुद्धिर्यस्य सः विपर्यस्तहितनिःश्रेयसबुद्धिर्वा विपर्यस्तशब्दस्य तु परनिपातः प्राग्वत् । यद्वा विपर्यस्ता हिते निःशेषा बुद्धिर्यस्य स तथा बालश्चाज्ञः (मंदियात्ति) सूत्रत्वान्मन्दो धर्म्मकार्यकरणं प्रत्यनुद्यतो मूढो मोहाकुलितमानसः स एवंविधः किमित्याह । बध्यते श्लिष्यतेऽर्थात् ज्ञानावरणादिकर्म्मणा मक्षिकेव (खेले) श्लेष्मणि रजसेति गम्यते । इदमुक्तं भवति यथाऽसौ तत्स्निग्धतागन्धादिभिराकृष्यमाणा तत्र मज्जति मग्ना च रेणवादिना बध्यत एवं जन्तुरपि भोगामिषे मग्नः कर्म्मणेति सूत्रार्थः । ननु यद्येवममी भोगाः कर्मबन्धकारणं किं नैतान् सर्वेऽपि जन्तवस्त्यजन्तीत्याह ।

दुप्परिचया इमे कामा, णो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह संति सुव्वया साहू, जे तरंति अतरं वणिया वा ॥ ६ ॥

दुःखेन कृच्छ्रेण परित्यज्यन्ते परिह्रियन्ते इति दुष्परित्यजा इमे प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाः कामभोगा नो नैव (सुजहत्ति) सूत्रत्वात्सुखेनानायासेन हीयन्ते इति सुहानाः सुत्यजा विषसंपृक्तस्निग्धमधुरान्नवत् । कैरधीरपुरुषैरबुद्धिमद्भिरसत्त्वैर्वा नरैः पुरुषग्रहणं तु ये तावदल्पवेदोदयतया सुखेनैव त्यक्तारः संभवन्ति तैरप्यमी न सुखेन त्यजन्त इत्यास्तामतिदारुणस्त्रीपण्डकवेदोदयाकुलितैः स्त्रीनपुंसकैरिति । यच्चेह दुष्परित्यजा इत्युक्त्वा पुनर्न सुहाना इत्युक्तं तदत्यन्तदुस्त्यजताख्यापकं प्रपञ्चितज्ञविनयानुग्रहार्थं चेत्यपुनरुक्तमेव । अधीरग्रहणेन तु धीरैः सुत्याज्या एवेत्युच्यते अत एवाह अथेत्युपन्यासे सन्ति विद्यन्ते शोभनानि सम्यग्ज्ञानाधिष्ठितत्वेन व्रतानि हिंसाविरमणादीनि येषां ते सुव्रताः । शान्त्या चोपलक्षिताः सुव्रता शान्तिसुव्रता । इह च सन्तीति शेषः । साधयन्ति पौरुषेयीभिः क्रियाभिर्मुक्तिमिति साधवो ये किमित्याह ये तरन्ति परंपरावाप्त्यातिक्रामन्ति कमतरं तरीतुमशक्यं विषयगणं भवं वा क इव वणिज इव चशब्दस्यैवार्थत्वात् । यथाहि वणिजोऽतरं नीरधिया न पात्रादिनोपायेन तरन्त्येवमेतेऽपि धीरा व्रतादिनोपायेनोक्तरूपमतरमधीरैरेवोक्तनीतितोऽस्य दुस्तरत्वात् । पठन्ति च (जे तरंति वणिया व समुद्दं ति) स्पष्टम उक्तंच केनचित् " विषयगणः कापुरुषं, करोति वशवर्त्तिनं न सत्पुरुषम । बध्नाति मसकमेव हि, लूतातन्तुर्नमातङ्ग " मिति सूत्रार्थः । किं सर्वेऽपि साधवोऽतरं तरन्त्युत नेत्याह ।

समणा मु एगे वयमाण, पाणवहमिया अयाणंता ।
मंदा निरयं गच्छंति, बाला पावियाहिं दीट्ठीहिं ॥ ७ ॥

श्राम्यन्ति मुक्त्यर्थं खिद्यन्त इति श्रमणाः साधवो 'मु' इत्यमात्मनिर्देशार्थत्वाद्वयमित्येके केचन तीर्थान्तरीया वदमानाः स्वाभिप्रायमुद्दीपयन्तो "भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्र-

णेषु वदः"। १।१।४७। इत्यनेन (पाणिनिवचनेन) आत्मनेपदम्। प्राणा उक्तरूपास्तेषां वधो घातस्तमजानन्त इति संबन्धो मृगा इव मृगाः प्राग्वदज्ञा अजानन्त इति ज्ञपरिज्ञया के प्राणिनः। के वा तेषां प्राणाः कथं वा वध इत्यनवबुध्यमानाः प्रत्याख्यानपरिज्ञया च तद्वधमप्रत्याचक्षाणोऽनेन च प्रथमव्रतमपि न विदन्त्यास्तां शेषाणीत्युक्तं भवत्यत एव मन्दा इव मन्दा मिथ्यात्वमहारोगग्रस्ततया निरयं पाठान्तरतो नरकं वा प्रतीतं गच्छन्ति यान्ति बाला हेयोपादेयविवेकविकलत्वात् (पावियाहिंति) प्रापयन्ति नरकमिति प्रापिकास्ताभिर्यद्वा पापा एव पापिकास्ताभिः परस्परविरोधादिदोषात् स्वरूपेणैव कुत्सिताभिः मा हिंस्यात्सर्वा भूतानीत्याद्यभिधाय "श्वेतं छागमालभेत वायव्यां दिशि भूतिकाम " इत्यादिपरस्परविरुद्धार्थाभिधायिनीभिः पापहेतुभिर्वा पापिकाभिर्दृष्टिभिर्दर्शनाभिप्रायरूपाभिः "ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभेत इन्द्राय क्षत्रं मरुद्भ्यो वैश्यं तपसे शूद्रम्" यथा "यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत्। आकाशमिव पङ्केन, न स पापेन लिप्यते " इत्यादिकाभिर्दयादमबहिष्कृताभिस्तद्बहिष्कृतानां हि विविधवल्कलवेषादिधारिणामपि न केनचित्पापात्परित्राणम् । तथा च वाचकः " चर्मवल्कलचीराणि, कूर्चमुण्डजटाशिखाः । न व्यपोहन्ति पापानि, सोधकौ तु दयादमा " विति सूत्रार्थः ।

अत एवाह । सूत्रकृत् ।

नहु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाइं ।
एवायरिएहिं अक्खायं, जेहिं सो साधुधम्मो पण्णत्तो ॥

(नहु) नैव प्राणवधं प्राणघातं मृषाभाषाद्युपलक्षणं चैतत् (अणुजाणेत्ति) अपिशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वादनुजानन्नप्यास्तां कुर्वन् कारयन् वा मुच्येत त्यजेत । संभावने लिङ् ततो मुक्तिसंभावनापि नास्तीत्युक्तं भवति कदाचित् कस्मिंश्चिदपि काले कैर्मुच्यते इत्याह । (सव्वदुक्खाणंति) दुःखयन्तीति दुःखानि कर्माणि सर्वाणि च तानि दुःखानि च सर्वदुःखानि तैः सुब्व्यत्ययाच्च तृतीयार्थे षष्ठी । यद्वा सर्वदुःखैर्नरकादिगतिप्राप्तिभिः शारीरमानसैः क्लेशैस्ततः प्राणातिपातनिवृत्ता एव चान्तरं तरन्ति न त्वितर इत्युक्तं भवति । किमेतत् त्वयैवोच्यते इत्याह (एवायरिएहिंति) एवमुक्तप्रकारेणार्यैः सकलहेयधर्मेभ्यो दूरं यातैस्तीर्थकरादिभिराचार्यैर्व्याख्यातं कथितम् । ये कीदृशा इत्याह । यैरार्यै राचार्यैर्वायं साधुधर्मो हिंसानिवृत्त्यादिः प्रज्ञप्तः प्ररूपितोऽयमित्यनेन चात्मनि वर्त्तमानं तेषां मज्ञाप्य चौराणां प्रत्यक्षं साधुधर्मं निर्दिशतीति सूत्रार्थः ।

यद्येवं ततः किं कृत्यमित्याह ।

पाणे य णाइवाएज्जा, सेसमीएत्ति वुच्चई ।
ताई तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ ॥

(पाणे य णाइवाएज्जत्ति) च शब्दो व्यवहितसंबन्धस्ततश्च प्राणानिन्द्रियपञ्चकादीन्नातिपातयेत् स्वयमिति गम्यते । च शब्दात्करणानुमत्योरपि निषेधो मृषावादादिनिवृत्त्युपलक्षणं चैतत् । किमिति प्राणान्नातिपातयेदित्याह । यः प्राणान्नातिपातयिता स समितः समितिमानित्युच्यतेऽभिधीयते कीदृशः सन्नित्याह त्रायी त्ववश्यं प्राणित्राता समितत्वेऽपि को गुण उच्यते । तत इति तस्मात्समितत्वात् (से) इत्यघं पापकर्माशुभं कर्म ज्ञानवरणादि निर्याति निर्गच्छति । पठन्ति च "निण्णा"इति अत्र च देशीपदत्वादधो गच्छन्ति किमिवोदकमिव कुतः स्थलादत्युन्नतप्रदेशादनेन च पूर्वबद्धस्य कर्मणो नाव लको न लिप्यते आयातीति च वक्ष्यमानस्येति न पौनरुक्त्यं पापकग्रहणं चास्यावश्यतया नावश्यापकं पुण्यस्य हि संहननादिदोषात् मुक्त्यनवाप्तेर्देवाद्युत्पत्तौ संभवोऽपि स्यादेवान्यथाहि पुण्यस्यापि स्वर्णनिगडप्रायतया विनिर्गम एव विमुक्तिरिति सूत्रार्थः । यदुक्तं "प्राणान्नातिपातयेति" तदेव स्पष्टयितुमाह ।

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च ।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव ॥१०॥

जगल्लोकस्तस्मिन्निश्रितान्याश्रितानि जगन्निःश्रितानि तेषु भूतेषु जन्तुषु (तसनामेसुत्ति) त्रसनामकर्मोदयवत्सु द्वीन्द्रियादिषु स्थावरेषु तन्नामकर्मोदयवर्त्तिषु पृथिव्यादिषु चः समुच्चये (नो) नैव (तेसिंति) तेषु रक्षणीयत्वेन प्रतीतेः प्रारभेत कुर्यादण्ड्यन्ते दण्डः स चेहातिपातात्मकस्तं (मणसा वयसा कायसा चेवत्ति) आर्षत्वान्मनसा वचसा कायेन चशब्दः शेषभङ्गोपलक्षकस्ततश्च यथा मनसा वचसा कायेन च दण्डं नारभयेत नवा रभमाणानप्यन्यानुमन्येत एवोऽवधारणे भिन्नक्रमश्चात एव नो इत्यस्यानन्तरं योजितः । पठ्यते च " जगनिस्सियाण भूयाण तसाणं थावराण य । नो तेसिमारभे दंडंति " गतार्थमेव । अपरे तु " जगनिस्सीएहित्यादि " तृतीयान्ततयैवाधीयते । तत्र च जगन्निश्रितैर्भूतैस्त्रसैः स्थावरैश्च हन्यमानोऽपीति शेषो नैव तेष्वारभेत दण्डमुज्जयनीश्रावकपुत्रवदत्र च संप्रदायः । " उज्जेणीए सावगसुओ चोरेहिं हरिउं मालवगे सूयगारस्स हत्थे विक्कीओ सावगो मारयसु ण मारयामीति हत्थी पादत्तासणं सीसारक्खकरणं चेति" स एवं प्राणत्यागेपि सत्त्वानुपरोधी एवमन्यैरपि यतितव्यमिति सूत्रार्थः । उक्ता मूलगुणाः ।

संप्रत्युत्तरगुणा वाच्यास्तेष्वप्येषणा समितिप्रधानेति तामाह ।

सुद्धेसणा उ णच्चाणं, तत्थ ठाविज्ज भिक्खु अप्पाणं ।
जायाए घासमेसिज्जा, रसगिद्धो ण सिक्खाए ॥११॥

शुद्धाः शुद्धिमत्यो दोषरहिता इत्यर्थः । ताश्च ता एषणाश्चोद्गमैषणाद्याः शुद्धैषणा यद्वैषणाः सप्त संसृष्टाद्यास्तद्यथा "संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तह अप्पलेवडा चेव । उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया" एतासु च शुद्धैषणाः पञ्च जिनकल्पिकापेक्षमेतदुक्तं भवति तदधिकारे " पंचसु गहो दोसु अभिग्गहो त्ति " एतांश्च ज्ञात्वाऽवबुध्य किमित्याह । ज्ञानस्य फलं विरतिरिति । तत्रैषणासु स्थापयेन्निवेशयेद् भिक्षत इत्येवं धर्मा तत्साधुकारी चेति भिक्षुः सन्नात्मानं स्वं किमुक्तं भवत्यनेषणापरिहारेण एषणा शुद्धमेव गृह्णीयात्तदपि किमर्थमित्याह । (जायाएत्ति) यात्रायै संयमनिर्वहणनिमित्तं (ग्रासंति) ग्रासमेषयेत्कवेषयेदुक्तंहि "जहसगडक्खोवंगो, कीरइ भरवहणकारणा णवरं । तह गुणभरवहणत्थं आहारो बंभयारीणं" ति। एषणाशुद्धमप्यादाय कथं भोक्तव्यमिति ग्रासैषणामाह रसेषु स्निग्धमधुरादिषु गृद्धो गृद्धिमान् रसगृद्धो न स्यान्न भवेत्। (भिक्खाएत्ति) भिक्षादौ भिक्षाको वा अनेन रागपरिहार उक्तो द्वेषपरिहारोपलक्षणं चैव ततश्च रागद्वेषरहितो भुञ्जीतेत्युक्तं भवति यदुक्तं "रागद्दोसविमुक्को, भुंजिज्जा निज्जरापेही ति" सूत्रगर्भार्थः।

अगृद्धश्च रसेषु यत्कुर्यात्तदाह ।

पंताणि चेव सेविज्जा, सीयं पिंडं पुराणकुम्मासं ।
अदुवुक्कसंपुलागं वा, जवणट्ठा ए सेवए मंथुं ॥१२॥

प्रान्तानि नीरसान्यन्नपानानीति गम्यते चशब्दादन्तानि वा एवावधारणे स च भिन्नक्रमः " सेविज्जा " इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । ततश्च प्रान्तान्यन्त्यान्यन्नानि च सेवेतैव न तु साराणीति परिस्थापयेत्कल्पनिर्गतापेक्षया प्रान्तानि चैव सेवेत तस्य तथाविधानामेव ग्रहणानुज्ञानात् । कानि पुनस्तानीत्याह (सीयपिंडं ति) शीतः शीतलः पिण्ड आहारः शीतश्चासौ पिण्डश्च शीतपिण्डस्तम् । शीतोऽपि शाल्यादिपिण्डः सरस एव स्यादत आह पुराणाः प्रभूतवर्षधृताः कुल्माषा एते हि पुराणा अत्यन्तपूतयो नीरसाश्च भवन्तीत्येव तद्ग्रहणमुपलक्षणं चैतत्पुराणमुद्गादीनाम् । (अदुं)इत्यथवा(वक्कसं)मुद्गमाषादि(नष्किका) निष्पन्नमतिनिष्पीडितरसं वा पुलकमसारं वल्लचनकादि वा समुच्चये (जेवणट्ठत्ति) यापनार्थं शरीरनिर्वाहार्थं वासमुच्चयेत्तत्तरत्र योक्ष्यते (सेवएत्ति) सेवेतोपभुञ्जीत । यापनार्थमित्यनेन एतत्सूचितं यदि शरीरयापना भवति तदैव निषेवेत । यदि त्वतिवातोद्रेकादिना तद्यापनैव न स्यात्ततो न निषेवेत अपि गच्छगतापेक्षमेतत्तन्निर्गतश्चैतान्येव यापनार्थमपि निषेवेत "मंथुं" वा बदरादिचूर्णमतिरूक्षतया चास्य प्रान्तत्वं सेवेतेति संबन्धः । पठ्यते च " जं वरणद्वाए निसेवए मंथुत्ति" तथैव नवरं मंथुमित्यत्र चशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्योऽसारवस्तूपलक्षणं चोभयत्र मंथुग्रहणं पुनः क्रियाभिधानं च न सकृदेवाप्राप्त्यमूनि सेवेत किंत्वनेकधापीति ख्यापनार्थमिति सूत्रार्थः । यदुक्तं शुद्धैषणा स्वात्मानं स्थापयेति तद्विपर्यये बाधकमाह

जे लक्खणं च सुविणं, अंगविज्जा य जे पउंजंति ।
न हु ते समणा वुच्चंति, एवं आयरिएहिं अक्खायं ।१३।

ये इति प्राग्वल्लक्षणं च शुभाशुभसूचकं पुरुषलक्षणादिरूढितस्तत्प्रतिपादकं शास्त्रमपि लक्षणं तद्यथा " अस्थिष्वर्थाः सुखं मांसे, त्वचि भोगाः स्त्रियोऽक्षिषु । गतौ यानं स्वरे चाज्ञा, सर्वं सत्त्वे प्रतिष्ठितं " स्वप्नं चेत्यत्रापि रूढितः स्वप्नस्य शुभाशुभफलसूचकं शास्त्रमेव तद्यथा " अलं कृतानां द्रव्याणां, वाजिवारणयोस्तथा । वृषभस्य च शुक्लस्य दर्शने प्राप्नुयाद्यशः" तथा "मूत्रं वा कुरुते स्वप्ने, पुरीषं वा विलोडितम् । प्रतिबुद्धस्तदाकश्चिल्लभते सोऽर्थनाशनम् " (अंगविज्जं च त्ति) अङ्गविद्यां च शिरःप्रभृत्यङ्गस्फुरणतः शुभाशुभसूचिकां शिरःस्फुरणे " किररज्ज " मित्यादिकां प्रणवमायाबीजादिवर्णविन्यासात्मिकां वा यद्वा अंगान्यङ्गविद्याव्यावर्णितानि भौमान्तरिक्षादीनि "विद्या हिलिहिलिमातङ्गिनी स्वाहा" इत्यादयो विद्या नवादप्रसिद्धास्ततश्चाङ्गानि च विद्यास्वाङ्गविद्याः प्राग्वद्वचनव्यत्ययश्चः सर्वत्र वाशब्दार्थो ये प्रयुञ्जते व्यापारयन्ति पुनर्ये इत्युपादानं लक्षणादिभिः पृथक् संबन्धसूचनार्थं ततश्च प्रत्येकमपि लक्षणादीनि प्रयुञ्जते न तु समस्तान्येव ते किमित्याह " न हु " नैव त एवं विधाः श्रमणाः साधव उच्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते इह च पुष्ठालम्बनं विनैतद्व्यापारेण एवमुच्यते अन्यथा करवीरलताभ्रामकतपस्विनोऽप्येवंविधत्वापत्तेरेवमाचार्यैराचार्यैर्व्याख्यातं कथितमनेन यथावस्थितवस्तुवादितयाऽऽत्मनि परापवाददोषं व्यपोहत इति सूत्रार्थः । ते चैवंविधा यदवाप्नुवन्ति तदाह ।

इह जीवियं अणियमित्ता, पब्भट्ठा समाहिजोएहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जंति आसुरे काए ।१४।

इहास्मिन् जन्मनि जीवितमसंयमजीवितमनियम्य द्वादशविधतपोविधानादि अनियम्य प्रभृष्टाश्च्युताः केभ्यः समाधिजोगेभ्यः समाधिश्चित्तस्वास्थ्यं तत्प्रधाना योगाः शुभमनोवाक्कायव्यापाराः समाधियोगाः । यद्वा समाधिश्च शुभचित्तैकाग्रता योगाश्च प्रथगेव प्रत्युपेक्षणादयो व्यापाराः समाधियोगास्तेभ्यो नियन्त्रितात्मनां हि पदे पदे तद्भ्रंससंभव इति तेऽनन्तरमुक्ताः कामभोगेष्वभिहितस्वरूपेषु रसोऽत्यन्ताशक्तिरूपस्तेन गृद्धास्तेष्वेवाभिकाङ्क्षावन्तः कामभोगरसगृद्धाः । यद्वा रसाः पृथगेव शृङ्गारादयो मधुरादयो वा भोगान्तर्गतत्वेऽपि चैषां पृथगुपादानमतिगृद्धिविषयताख्यापनार्थमुपपद्यन्ते जायन्ते आसुरेऽसुरसंबन्धिनिकाये असुरनिकाय इत्यर्थः । इदमुक्तं भवत्येवं विधा कश्चित् कादाचित्कमनुष्ठानमनुतिष्ठन्तोऽप्यसुरेष्वेवोत्पद्यन्त इति सूत्रार्थः ।

ततोऽपि च्युतास्ते किमाप्नुवन्तीत्याह ।

तत्तो वियउवट्टित्ता, संसारं बहुं अणुपरियट्टंति ।
बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होइ सुदुल्लहा तेसिं ॥१५॥

ततोऽपि चासुरनिकायाद्बुत्त्य तत्परित्यागेनान्यत्र गत्वा संसारं चतुर्गतिरूपं " बहुशब्दस्य बहुतापे घृतं श्रेय " इत्यादिषु विपुलवाचिनो दर्शनाद्बहुं विपुलं विस्तीर्णमिति यावद्बहुं प्रकारं वा चतुरशीतियोनिलक्षतया " अणुपरियत्ति त्ति " " अणुपरियत्ति " सातत्येन पर्यटन्तीत्यर्थः पठन्ति च "अणुचरंतित्ति" स्पष्टम् । किं च बहूनि च तानि अनन्ततया कर्माणि च क्रियमाणतया ज्ञानावरणादीनि बहुकर्माणि तानि लेप इव लेपो बहुकर्मणां वा लेप उपचयो बहुकर्मलेपस्तेन लिप्तास्तेषां बोधिं प्रेत्य जिनधर्मावाप्तिर्भवति जायते सुदुर्लभाऽतिशयदुरापा तेषामिति ये लक्षणादि प्रयुञ्जते पठन्ति च (बोही अत्थसुदुल्लहा तेसिं ति) बोधिर्यत्र संसारे सुदुर्लभा तेषां तमनुपरियन्तीति योजनीयम् । यतश्चैवमुत्तरगुणविराधनायां दोषस्ततस्तदाराधनायामेव यतितव्यतिति भाव इति सूत्रार्थः । आह किममी द्रव्यश्रमणा जानन्तोऽपि एवं लक्षणादि प्रयुञ्जते ! उच्यते लोभतोऽत एव तदाकुलितस्यात्मनो दुष्पूरतामाह ।

कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुन्नं दलिज्ज एक्कस्स ।
तेणावि से न तुसिज्जा, इति दुप्पूरए इमे आया ॥

कृत्स्नमपि पूर्णमपि यः सुरेन्द्रादिरिमं प्रत्यक्षं लोकं जगत्परिपूर्णं धनधान्यहिरण्यादिभृतं (दलेत्ति) दद्यात् किं बहुत्स्य इत्याह । (एकस्सत्ति) एकस्मै कस्मैचित्कथंचिदाराधितवते तेनापि धनधान्यादिभृतसमस्तलोकदायकेन हेतौ तृतीया (से) इति स न संतुष्येत् दुष्येत् किमुक्तं भवति ममैतावद्ददताऽनेन परिपूर्णता कृतेति न तुष्टिमाप्नुयात् । उक्तंहि " न वह्निस्तृणकाष्ठेषु, नदीभिर्वा महोदधिः । नचैवात्मार्थसारेण, शक्यस्तर्पयितुं क्वचित् ॥ यदि स्याद्रूलपूर्णोऽपि, जम्बूद्वीपः कथंचन । अपर्याप्तः प्रहर्षाय, लोभार्त्तस्य जिनैः स्मृतः " इतिरेवमर्थे एवममुनोक्तन्यायेन दुःखेन कृच्छ्रेण पूरयितुं शक्यो दुष्पूरो दुःपूरक (इमेति)अयं प्रत्यक्ष आत्मा जीव एतदिच्छायाः परिपूरितुमशक्यत्वादिति सूत्रार्थः । किमिति न संतुष्यतीति स्वसंविदितं हेतुमाह ।

जहा लाहो तहा लोभो, लाहा लोभो पवड्ढई ।
दो मासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥१७॥

यथा येन प्रकारेण लाभो गार्द्धमिकाद्धेति यावत् प्रवर्ततीति शेषः किमेवमित्याह । लाभाल्लोभः प्रवर्द्धते प्रकर्षेण वृद्धिं म-

जते इह च लाभाल्लोभः प्रवर्द्धत इति वचनाद्यथा तथेत्यत्र वीप्सा गम्यते ततश्च यथा यथा लाभस्तथा तथा लोभो भवतीत्युक्तं भवति । लाभाल्लोभः प्रवर्द्धत इत्यपि कुत इत्याह । द्वाभ्यां द्विसंख्याकाभ्यां माषाभ्यां पञ्चरक्तिकामानाभ्यां क्रियते निष्पाद्यत इति द्विमाषकृतमार्षत्वाद्वर्तमानकाले क्तः कार्यं प्रयोजनं तच्चेह दास्यां पुष्पताम्बूलमूल्यरूपं कोट्यापि सुवर्णशतलक्षात्मिकया न निष्ठितं न निष्पन्नं तदुत्तरोत्तरविशेषवाञ्छात इति भाव इति सूत्रार्थः ।

संप्रति यदुक्तं द्विमाषकृतं कार्यं कोट्यापि न निष्ठितमिति तत्र तदनिष्ठितिः स्त्रीमूलेति तत्परिहार्यतोपदर्शनायाह ।

नो रक्खसीसु गिज्झिज्जा, गंमवच्छासु ऽणेगचित्तासु ।
जाश्रो पुरिसं पलोभित्ता, खेलंति जहा व दासेहिं ।१८।

नो नैव राक्षस्य इव राक्षस्यः स्त्रियस्तासु यथाहि राक्षस्यो रक्तसर्वस्वमपकर्षन्ति जीवितं च प्राणिनामपहरन्त्येवमेता अपि तत्त्वतो हि ज्ञानादीन्येव जीवितं स्वार्थश्च तानि च ताभिरपाक्रियन्त एव तथा च हारिलः " वातोद्धूतो दहति हुतभुग्देहमेकं नराणां, मत्तो नागः कुपितभुजगश्चैकदेहं तथैव । ज्ञानं शीलं विनयविनवौदार्यविज्ञानदेहान्, सर्वानर्थान् दहति वनिताऽमुष्मिकानैहिकांश्च ॥(गिज्झेज्जत्ति) गृद्धेदभिकाङ्क्षावान् भवेत् । कीदृशीषु (गंडवच्छासुत्ति) गण्डमिह चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिरार्द्रतासंभवाच्च तदुपमत्वात्गण्डे कुचावुक्तौ ते वक्षसि यासां तास्तथाभूतास्तासु वैराग्योत्पादनार्थं चेत्थमुक्तम । तथा अनेकान्यनेकसंख्यानि चञ्चलतया चित्तानि मनांसि यासां तास्तासु अनेकचित्तासु आह च " अन्यस्याङ्के ललति विशदं, चान्यमालिङ्ग्य शेते, अन्यं वाचा वपयति हसत्यन्यमऽन्यं च रौति । अन्यं द्वेष्टि स्पृशति कशति प्रोर्णुते चान्यमिष्टं, नार्यो नृत्यत्तडित इव धिक् चञ्चला बालिकाश्च " तथा (जाओत्ति) याः पुरुषं मनुष्यं कुलीनमपीति गम्यते प्रलोभ्य त्वमेव शरणं त्वमेव च प्रीतिकृदित्यादिकाभिर्वाग्भिर्विप्रतार्य क्रीमन्ति (जहा वत्ति) वाशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्यथैव दासैः रे ह्यागच्छ मा वा त्वं मायासीरित्यादि विपक्षितप्रभृतिभिः क्रीमाभिर्विलसन्तीति सूत्रार्थः ।

पुनस्तासामेवातिहेयतां दर्शयन्नाह ।

नारीसु नो पगिज्झिज्जा, इत्थीविप्पयहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं नच्चा, तत्थ ठविज्ज भिक्खुमप्पाणं ॥

नारीषु नो नैव प्रगृद्धेत्प्रशब्द आदिकर्मणि ततो गृद्धिमारभेतापि न किं पुनः कुर्यादिति भावः (इत्थीविप्पयहित्ति) स्त्रियो विविधैः प्रकारैः प्रकर्षेण च जहाति त्यजतीति स्त्रीविप्रजहः "उणादयो बहुलम" ३ । ३ । १ । इति बहुलवचनाच्चः । यद्वा- (इत्थियत्ति) स्त्रियो (विप्पजहेत्ति) विप्रजह्यात्पूर्वत्र नारीग्रहणान्मनुष्यस्त्रिय एवोक्ता इह च देवतिर्यक्संबन्धिन्योऽपि त्याज्यतयोच्यन्ते इति न पौनरुक्त्यमुपदेशत्वाद्वा । अनगारः प्राग्वत् किं पुनः कुर्यादित्याह धर्ममेव ब्रह्मचर्यादिरूपं चस्यावधारणार्थत्वात्पेसलमिह परत्र चैकान्तहितत्वेनातिमनोज्ञं ज्ञात्वा अवबुध्य तत्रेति धर्मे स्थापयेन्निवेशयेन्निकुर्यतिरात्मानं विषयाभिलाषनिषेधे इति सूत्रार्थः । अध्ययनार्थोपसंहारमाह ।

इति एस धम्मे अक्खाए,
कविलेण च विसुद्धपन्नेण ।
तरिहिंति जे उ काहिंति,
तेहिं आराहिया दुवे लोग त्तिबेमि ॥२०॥

इतीत्यनेन प्रकारेण एषोऽनन्तरमुक्तरूपो धर्मो यतिधर्म आख्यातेति सकलतत्स्वरूपाभिव्याप्त्याख्यातः कथितः ख्यातकेनेत्याह । कपिलेनेत्यात्मानमेव निर्दिशति पूर्वसंगतिकत्वादमी मद्वचनतः प्रतिपद्यन्तामिति चः पूरणे विशुद्धप्रज्ञेन निर्मलावबोधेनातोऽर्थसिद्धिमाह (तरिहिंति) तरिष्यन्ति भवार्णवमिति शेषः । ये इत्यविशेषाभिधानं तुः पूरणे ततोऽविशेषत एव तरिष्यन्ति ये करिष्यन्त्यनुष्ठास्यन्ति प्रक्रमादमुं धर्ममन्यच्च तैराराधितौ सफलीकृतौ द्वौ द्विसंख्यौ लोकाविह लोकपरलोकावित्यर्थः । इह महाजनपूज्यतया परत्र च निःश्रेयसाभ्युदयप्राप्त्येति सूत्रार्थ इति परिसमाप्तौ ब्रवीमिति । नयाश्च प्राग्वदिति । उत्त० ८ अ० । भरतखण्डजकृष्णवासुदेवसमकालीने धातकीखण्डान्तर्गतपूर्वार्द्धभारतवर्षस्थचम्पानगर्यां भवे वासुदेवे, ज्ञा० १६ अ० । स्था० (येन विजितापरकङ्काधीशपद्मनाभस्य कृष्णवासुदेवस्य शङ्खशब्दः श्रुतः आवितश्चेति द्रौपदी (दुवइ) शब्देवद्यते) सुस्थिताचार्यस्य क्षुद्रके शिष्ये, येन शय्यातरभ्रूणिका (कन्या) निमित्तं शिश्रे च्छिन्ने तृतीयवेद उत्पन्नः बृ० ४ उ० । (पडिसेवणाशब्दे कथा) नन्दामात्यस्य कल्पकस्य पितरि, आ० क० । आव० । आ० चू० । (कप्पअशब्दे उक्तम) पक्षिविशेषे, ज्ञा० १७ अ० । औ० । प्रश्न० । वर्णविशेषे, उपा० २ अ० । अनु० । तद्वर्णवति, पिङ्गले, त्रि० । उपा० २ अ० । कपिलपुष्पायां शिंशपायाम, स्त्री०, राजनि० । रेणुकानामगन्धद्रव्ये कपिलवर्णायां स्त्रियां तुटावेव वर्णवाचित्वेऽपि अनुदात्तत्वाभावात् । कुकुरजातिस्त्रियां तु जातित्वात् ङीष् वाच० ।

कविलकविल–कपिलकपिल–त्रि० अतिकडारे, उपा० २ अ० ।

कविलदंसण–कपिलदर्शन–न० शाङ्ख्यशास्त्रे, " अमर्त्तश्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः । अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिलदर्शने " गा० (एतन्निराकरणं संखशब्दे)

कविलपतियकेस–कपिलपलितकेश–पुं० कपिलाः पलिताश्च शुक्लाः केशा येषां ते तथा । अतिवृद्धेषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

कविलय–कपिलक–पुं० राहुदेवस्य कृष्णपुद्गलभेदे, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० ।

कविला–कपिला–स्त्री० स्वनामख्यातायां ब्राह्मण्याम, " जदि कालसोयरिपसूणं मोयहिं जदि य कविलं माहणिं जिक्खं दावेहि " आ० चू० ४ अ० ।

कवि (वे) ल्लुय–कविल्लक–न० मण्डकपचनिकायाम, संथा० । " भत्ते कविल्ले विदुपचिते " बृ० ५ उ० । "पच्छा गोवालाणं जं जेण कवेल्लं असायं" आ० म० द्वि० । आव० । जं० । स्था० ।

कवि (वे) ल्लुयावाय–कवेल्लुकापाक–पुं० कवेल्लुकानि प्रतीतानि तेषामापाकः । भाण्डपचनस्थाने, स्था० ८ ठा० । जी० ।

कविसीस–कपिशीर्ष–न० कपीनां प्रियं शीर्षमग्रम्, शाक० । प्राकाराग्रे, त्रिका० । कपीनां प्राकाराग्रवासित्वं लोकसिद्धम स्वार्थे कः तत्रैव, वाच० । " कविसीसयवट्टरइयसंठियविरायमाणा " कपिशीर्षकैः वृत्तरचितैर्वर्तुलीकृतैः संस्थितैर्विशिष्टसंस्थानवद्भिर्विराजमाना शोभमाना या सा तथा । ज्ञा० १ अ० । रा० ।

कविहसिय–कपिहसित–न० नभसि विकृतिरूपस्य वानरमुखसदृशस्य अट्टाट्टहासे, व्य० ७ उ० । औ० । आ० चू० । नि० चू० । आव० । आकस्मात्नभसि ज्वलन्तीमशब्दे, जी० ।

कवोय–कपोत–पुं० स्त्री० पारावते, पिं० । विपा० । उपा० । स च त्रिधा गृहकपोतवनकपोतचित्रकपोतभेदात्, वाच० ।

कवोयकरण–कपोतकरण–न० कपिञ्जलानुद्दिश्य यत्र किञ्चित् क्रियते तथा यत्र स्थाप्यते तस्मिन् स्थाने, आचा० २ श्रु० ।

कवोयपरिणाम–कपोतपरिणाम–त्रि० कपोतस्येव पक्षिविशेषस्येव परिणाम आहारपरिपाको येषां ते कपोतपरिणामाः । आहारपरिपाकसकोदराग्निषु, कपोतस्य हि जठराग्निः पाषाणलवानपि जरयतीति (जन) श्रुतिः, तं० । प्रश्न० । जी० ।

कवोयसरीर–कपोतशरीर–न० कपोतकदेहे, कूष्माण्डफले, च "तेतीए गाहावतीए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठो दुवे कवोया" सिंहानगारं प्रति वीरजिनः इत्यादेः श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते । अन्ये त्वाहुः कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वत् द्वे फले वर्णसाधर्म्यात् ते कपोते कूष्माण्डे ह्रस्वे कपोतके ते च ते शरीरे च वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे । अथवा कपोतकशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतकशरीरे कूष्माण्डफले एव ते उपस्कृते संस्कृते, भ० १५ श० १ उ० ।

कवोल–कपोल–पुं० सौ कप्–ओलच्. गण्डे, गल्ले, उपा० २ अ० । "पीणमंसलकवोलदेसभागा" पीनौ पुष्टौ यतो मांसलौ उपचितौ कपोललक्षणौ देशभागौ मुखावयवौ येषां ते, जं० २ वक्ख० । औ० ।

कव्व–काव्य–न० कवेरभिप्रायः काव्यम् । रस्ये, अनु० । कवेः भृगुपुत्रस्यापत्यं यञ्–शुक्रे, अमरः । कवेरिदं यञ् कविसंबन्धिनि, कव्–वर्णने, स्तुतौ, च । कर्मणि–ण्यत् । वर्णनीये, स्तुत्ये, च त्रि० । स्त्रियां टाप् शार्ङ्गरवादौ तु काव्यशब्दस्य यञन्तस्यैव ग्रहणात् ततः स्त्रियां ङीन् । कवेः कर्म ष्यञ्–कविकृदुगद्यपद्यात्मके ग्रन्थे, वाच० ।

चउव्विहे कव्वे पण्णत्ते तंजहा गज्जे पज्जे कत्थे गेये ।

कथ्यं चैतच्चतुर्विधं काव्यं ग्रन्थः गद्यमच्छन्दोनिबद्धं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनवत् पद्यं छन्दोनिबद्धं विमुक्ताध्ययनवत् । कथायां साधु कथ्यं ज्ञाताध्ययनवत् । गेयं गानयोग्यम् । इह गद्यपद्यान्तर्भावेऽपीतरयोः कथा गानधर्मविशिष्टतया विशेषो विवक्षित इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । "णट्टविही णामयविही, कव्वस्स चउव्विहस्स उप्पत्ती । संखेवमहाणिहिम्मि, तुडियंगाणं च सव्वेसिं" स्था० ९ ठा० ।

कव्वइत्त–काव्यवत्–त्रि० काव्य–मतुप्–" आल्विल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणामतोः । ८ । २ । १५९ । इति मतुपः स्थाने इत्तादेशः काव्यविशिष्टे, प्रा० ।

कव्वड–कर्वट–न० कर्व–अट–क्षुल्लकप्राकारवेष्टिते, अभितः पर्ववृते, जं० २ वक्ख० । महाक्षुद्रसन्निवेशे, दश० १ चूलि० । कर्बटजनावासे कुनगरे, उत्त० ३० अ० । स्था० । रा० । प्रश्न० । कल्प० । औ० । ज्ञा० । आचा० । अनु० । जं० । तद्वासिनि जने, च त्रि० । कब्बडी, उत्त० ३० अ० ।

कव्वरस–काव्यरस–पुं० कवेरभिप्रायः काव्यं रस्यन्ते अन्तरात्मनाऽनुभूयन्ते इति रसास्तत्सहकारिकारणसन्निधानोद्भूताश्चेतोविकारविशेषाः इत्यर्थः । उक्तं च " बाह्यार्थालम्बनो यस्तु विकारो मानसो भवेत् । स भावः कथ्यते सद्भिस्तस्योत्कर्षो रसः स्मृतः " ॥ काव्येषूपनिबद्धा रसा काव्यरसाः । वीरशृङ्गारादिषु रसेषु, ।

से किं तं णवनामे णवनामे णव कव्वरसा पण्णत्ता तंजहा "वीरो सिंगारो अ–ब्भुअ रोद्दो अ होइ बोद्धव्वो । वेलणओ बीभच्छो, हासो कलुणो पसंतो अ ॥ (अनु०)

(वीरादिशब्देषु व्याख्या)

साम्प्रतं नवानामपि रसानां संक्षेपतः स्वरूपं कथयन्नुपसंहरन्नाह

एए नवकव्वरसा, बत्तीसा दोसविहिसमुप्पन्ना ।
गाहाहिं मुणेअव्वा, हवंति सुद्धा व मीसा वा ॥ २० ॥

सेत्तं नवनामे ।

एते नव काव्यरसा अनन्तरोक्तगाथाभिर्यथोक्तप्रकारेणैव मुणितव्या ज्ञातव्याः । कथंभूताः "अलियमुवघायजणयं, निरत्थयमुवत्थयंचलं छलं " मित्यादयोऽत्रैव वक्ष्यमाणाः । यद्वा त्रिंशत्सूत्रदोषास्तेषां विधिर्विरचनं तस्मात्समुत्पन्नाः । इदमुक्तं भवत्यलीकतालक्षणो यस्तावत् सूत्रदोष उक्तस्तेन कश्चिद्रसो निष्पद्यते यथा " तेषां कटतटभ्रष्टैर्गजानां मदबिन्दुभिः । प्राववृतेत नदी घोरा, हस्त्यश्वरथवाहिनी " ॥ १ ॥ इत्येवं प्रकारं सूत्रमलीकतादोषदुष्टं रसश्चायमद्भुतः ततोऽनेनालीकतालक्षणेन सूत्रदोषेणाद्भुतो रसो निष्पन्नस्तथा कश्चिद्रस उपघातलक्षणेन सूत्रदोषेणाभिनिवर्त्तते यथा स 'एव प्राणिति प्राणी, प्रीतेन कुपितेन च । विवैर्विपक्षरक्षैश्च, प्रीणिता येन मार्गणाः' इत्यादिप्रकारं सूत्रं परोपघातलक्षणादोषदुष्टं वीररसश्चायम । ततोऽनेनोपघातलक्षणेन सूत्रदोषेण वीररसोऽत्र निर्वृत्त इत्येवमन्यत्रापि यथासंभवं सूत्रदोषविधानाद्रसनिष्पत्तिर्वक्तव्या प्रायो वृत्तिं चाश्रित्यैवमुक्तं तपोदानविषयस्य वीररसस्य प्रशान्तादिरसानां च क्वचिद् वृत्तादिसूत्रदोषानन्तरेणापि निष्पत्तेरिति । पुनः किंविशिष्टा अमी भवन्तीत्याह (हवंति सुद्धा वा मीसा वत्ति) शुद्धा वा मिश्रा वा भवन्ति क्वचित्काव्ये शुद्ध एक एव रसो निष्पद्यते क्वचित्तु द्व्यादिरससंयोग इति भाव इति गाथार्थः । अनु० ३४१ पत्र

कव्वलिंग–काव्यलिङ्ग–न० हेतोर्वाक्यपदार्थतेति लक्षिते अर्थाऽलङ्कारभेदे, प्रति० १७ पत्र० ।

कव्वसत्ति–काव्यशक्ति–स्त्री० एकोनविंशतितमायां स्त्रीकलायाम्, कल्प० ।

कव्वुर–कर्वुर–पुं० चित्रे, ज्ञा० ८ अ० । आचा० । शबले, त्रि० । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

कव्वुरय–कर्वुरक–पुं० षोमशे सप्तदशे वा महाग्रहे, " दो कव्वुरया " स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । जं० । कल्प० ।

कस–कश–पुं० त्रासजनकायाम, (उत्त० १ अ०) चर्मयष्टिकायाम, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० । उत्त० ।

कष–पुं० न० कष–अच् । कष शिषेति दण्डकधातुर्हिंसार्थः । कषन्ति कष्यन्ते च परस्परमस्मिन् प्राणिनः इति कषः । कर्म० १ क० । आ० म० प्र० । प्रव० । आचा० । कष्यतेऽस्मिन् प्राणी पुनः पुनरावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकष्यमाणकनकवदिति कषः । कषति हिनस्ति "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" ।३।३।११८ इति प्रायग्रहणात् घः । अन्यथा हलन्तत्वाद्धञ्चेति घञ् स्यात्

दर्श० १८० पत्र. संसारे, उत्त० ४ अ०। आचा० । कषति देहिनं कष इति कषम, स्था० ४ ठा० १ उ० । कष्यन्ते बाध्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति कषम कर्माणि भावे च घः, विशे०। स्वर्णवर्णरूपज्ञानार्थे पाषाणभेदे, अस्त्रादेस्तीक्ष्णीकरणसाधने, शाणाख्येऽर्थे च अमरः। वाच०।

कसट्ट–कष्ट–न० कष क्त–नेट् " यस्तष्टा रियसिमसदाः कचित् " ८ । ४ । २३ । इति ष्टस्थाने सटादेशः पीमायाम् , प्रा० ।

कसपट्टिय–कषपट्टक–पुं० कषे, न० ५ श० २ उ० ।

कसण–कसन–पुं० कसति हिनस्ति कस् ल्युट् कासरोगे, लूतामेदे, वाच० ।

कृष्ण–पुं० "कृष्णे वर्णे वा ८ । २।११० कृष्णवर्णवाचिनि संयुक्तस्यअन्त्यात्पूर्वावदितौ वा भवतः कसणो कसिणो कण्हो वर्ण इति किम विष्णौ कण्हो, प्रा०।

कसणफणि (ण्) कृष्णफणिन्–पुं० " फो महौ " ८ । १ । ३६ । इत्यस्य प्रायिकत्वान्न फस्य भः कृष्णसर्पे, प्रा० ।

कसपट्टय–कषपट्टक–पुं० निकषे, अनु० ।

कसप्पहार–कशप्रहार–पुं० वर्द्धमाने, ज्ञा० २ अ० ।

कसर–कसर–पुं० (कएटूकृत) खसरे, "कच्छकसराभिभूया" जं० २ वक्ष० । भ० ।

कससुद्धि–कषशुद्धि–स्त्री० विधिप्रतिषेधयोर्बाहुल्येनोपवर्णने धर्मशुद्धिभेदे, विधिप्रतिषेधौ कष इति विधिरविरुद्धकर्त्तव्यार्थोपदेशकं वाक्यं यथा 'स्वर्गकेवलार्थिना तपो ध्यानादि कर्त्तव्यं' समितिगुप्तिशुद्धा क्रिया इत्यादि प्रतिषेधः पुनः 'न हिंस्यात्सर्वभूतानि नानृतं वदेत्' इत्यादि ततो विधिश्च प्रतिषेधश्च विधिप्रतिषेधौ किमित्याह कपः सुवर्णपरीक्षायामिव कषपट्टके रेखा इदमुक्तं भवति । यत्र धर्म्मे उक्तलक्षणो विधिः प्रतिषेधश्च पदे पदे सुपुष्कल उपलभ्यते स धर्म्मः कषशुद्धः । न पुनरन्यधर्मस्थिता सत्वा असुरा इव विष्णुना उच्छेदनीयास्तेषां हि वधे दोषो न विद्यते इत्यादिकवाक्यगर्भ इति । ध० १ अधि० ।

अथास्य लक्षणमाह ।

सुहमो असेसविसओ, सावज्जे जत्थ अत्थि पमिसेहो ।
रागाइविअमणसहं, झाणाइअ एस कससुद्धो ॥६८॥

सूक्ष्मो निपुणोऽशेषविषयः व्याप्त्येत्यर्थः सावद्ये सपापे यत्रास्ति प्रतिषेधः श्रुतधर्म्मे । तथा रागादिविकुट्टने सह समर्थं ध्यानादि च एव शुद्धः श्रुतधर्म्म इति गाथार्थः ।

इत्थं लक्षणमभिधायोदाहरणमाह ।

जह मणवयकाएहिं, परस्स पीमा दढं न कायव्वा ।
झाएअव्वं च सया, रागाइविपक्खजालं तु ॥६९॥

यथा मनोवाक्कायैः करणभूतैः परस्य पीमा दढं न कर्त्तव्या क्षान्त्यादिभेदेन तथा ध्यातव्यं च सदा विधिना रागादिविपक्षजालं तु यथोचितमिति गाथार्थः ।

व्यतिरेकतः कषशुद्धिमाह ।

थूलो ण सव्वविसओ, सावज्जे जत्थ होइ पमिसेहो ।
रागाइविअडणसहं, न य झाणाई वि तदसुद्धो ॥७०॥

स्थूलोऽनिपुणः न सर्वविषयः अव्यापकः सावद्ये वस्तुनि यत्र भवति प्रतिषेध आगमे रागादिविकुट्टनसमर्थं न च ध्यानाद्यपि यत्र स तदशुद्धः कषाशुद्धः इति गाथार्थः ।

अत्रैवोदाहरणमाह ।

जह पंचहिंवहुएहिं व, एगा हिंसा मुसंविसंवाए ।
इच्छाओज्झाणम्मिअ, झाएअव्वं अगाराइ ॥७१॥

यथा पञ्चभिः कारणैः प्राणयादिभिः बहुभिर्वैकेन्द्रियादिभिरेका हिंसा यथोक्तं " प्राणी प्राणिज्ञानं, घातकचित्तं च तद्गताचेष्टा । प्राणैश्च विप्रयोगः, पञ्चभिरापद्यते हिंसा " तथाऽनस्थिमतां शकटभरेणैको घात इति तथा मृषा विसंवादे वास्तव इत्याह । " असन्तोऽपि स्वका दोषाः, पापशुद्ध्यर्थमीरिताः । न मृषायै विसंवाद–विरहात्तस्य कस्यचित् " इत्यादौ विचारे तथा ध्याने च ध्यातव्यमकारादि यथोक्तं " अकोकारोऽत्र विज्ञेयो, ह्यकारोऽविष्णुरुच्यते । महेश्वरो मकारस्तु, त्रयमेकत्र तत्वतः " इति गाथार्थः । पं० व० ४ द्वा० ।

कसा–कषा–स्त्री० अश्वादितामनसाधिकायां चर्मयष्टिकायाम्, विपा० ६ अ० । आ०क० । ज्ञा० ।

कसाइ (ण्)–कषायिन्–पुं० कषाया विद्यन्ते यस्याऽसौ कषायी, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । क्रोधमानमायालोभिनि, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० । प्रज्ञा० ।

कसाइय–कषायित–त्रि० कषायोदयं प्राप्ते, व्य० ६ उ० । आ० म० द्वि० ।

कसाइयमेत्त–कषायितमात्र– त्रि० उदीर्णमात्रक्रोधादिकषाये, " जं अज्जियं चरित्तं, देसूणाए वि पुव्वकोमीए । तं पि कसाइयमेत्तो, नासेइ नरो मुहुत्तेणं " बृ० १ उ० ।

कसाओवगय-कषायोपगत-न०क्रोधाद्युदयवशगमने,ध.३ अधि.

कसाय–कषाय–पुं० न० कषति कण्ठम् आय–अर्द्धर्चादि । शषोः स ८ । १ । २६० इति षस्य सः, प्रा० । रक्तदोषाद्यपहर्त्तरि विभीतकामलककपित्थाद्याश्रिते रसविशेषे, यदभाणि " रक्तदोषं कफं पित्तं, कषायो हन्ति सेवितः । रूक्षः शीतो गुरुर्ग्राही, रोचकश्च स्वरूपतः ॥ १ ॥ कल्प० । जं० । प्रश्न० । अनु० । ' एगे कसाए ' अन्तरुचिस्तम्भनकृत्कषायः स्था० १ ठा० । तद्वति बल्ल्यादौ, दश० ५ अ० । तं० । मुक्तादौ, ज्ञा० १७ अ० । कृषन्ति विलिखन्ति कर्मक्षेत्रं सुखदुःखफलयोग्यं कुर्वन्ति कलुषयन्ति वा जीवमिति निरुक्तविधिना कषायाः । औणादिक आयप्रत्ययो निपातनाच्च ऋकारस्य अकारः । यदि वा कलुषयन्ति शुद्धस्वभावं सन्तं कर्म मलिनं कुर्वन्ति जीवमिति कषायाः पूर्ववत् आयप्रत्ययो निपातनाच्च कलुषशब्दस्य णिजन्तस्य कषायादेशः उक्तं च " सुहदुक्खबहुसहियं, कम्मखेत्तं कसंति जं जम्हा । कलुसंति जं च जीवं, तेण कसाइत्ति वुच्चंति " प्रज्ञा० १३ पद ।

कम्मं कसं भवो वा, कसमाओसिं जओ कसाया तो ।
कसमाययंति व जओ, गमयन्ति कसं कसायत्ति ॥
आउव्व उवायाणं, तेण कसाया जओ कसस्साया ।
जीवपरिणामरूवा, जेण उ नामाइ नियमो यं ॥

कषशिबेत्यादि हिंसार्थो दण्मकधातुः कष्यन्ते बाध्यन्ते प्राणिनोऽनेनेति कषं कर्म्म भवो वा तदायो लाभ एषां यतस्ततः कषायाः क्रोधादयः । अथवा यथोक्तं कषमायधातोर्णयन्तस्यापयन्ति गमयन्ति प्रापयन्ति यतस्ततः कषाया इति । अथवा आय उपादानहेतुः पूर्वोक्तस्य कषस्याय उपादानं हेतवो यस्मात्ततः कषायाः विशे० । उत्त० । कष्यतेऽस्मिन्प्राणी पुनःपुन-

रावृत्तिभावमनुभवति कषोपलकष्यमाणकनकवदिति । कषः संसारः तस्मिन्नासमन्तादयन्ते गच्छन्त्येभिरसुमन्त इति कषायाः यद्वा कषाया इव कषाया यथाहि तुवरिकादिकषायकलुषिते वाससि, मञ्जिष्ठादिरागः श्लिष्यति चिरं चावतिष्ठते तथैतत्कलुषिते आत्मनि कर्म संबध्यते चिरं स्थितिकं च जायते तदायत्तत्वात्तत्स्थितेः । उक्तंहि शिवशर्म्मणा " जोगापयडिपएसं, ठितिअणुभागं कसायओ कुणईत्यादि " ॥ ३१ ॥ उत्त० ४ अ० कर्म० । आचा० । दर्श० । पं० चू० । ध० । पं० सं० । उत्त० । पा० । मोहनीयकर्मपुद्गलोदयसम्पाद्यजीवपरिणामेषु क्रोधमानमायालोभेषु, स्था० १ ठा० । विशे० ।

तेषां कषायाणां सामान्येन येन यस्मान्नामादिकोऽष्टविधत्वनियमोऽयमन्यत्र प्रसिद्धस्तेनासौ उच्यत इति शेषः क इत्याह ।

नामं ठवणा दविए, उप्पत्ती पच्चए य आएसे ।
रसभावे कसाए वि य, परूवणा तेसि मा होइ ॥

अत्र नामस्थापने सुगमे द्रव्यकषायविचारोऽपि सुकरो नवरं ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यकषायमाह ।

दुविहो दव्वकसाओ, कम्मदव्वे य नो य कम्मम्मि ।
कम्मदव्वकसाओ, चउव्विहो पोग्गलाणुइया ॥

ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्विविधो द्रव्यकषायः कर्म्मद्रव्यकषायो नोकर्म्मद्रव्यकषायश्च । तत्र कर्म्मद्रव्यकषायो " जोग्गा बद्धा बज्झंतगाये" त्यादिना प्रागुक्ताः । अनुदिताश्चतुर्विधपुद्गला ज्ञातव्याः । नोकर्म्मद्रव्यकषायमुत्पत्तिकषायं चाह ।

सज्जकसायाईओ, नोकम्मदव्वउ कसाओ य ।
खेत्ताइसमुप्पत्ती, जत्तोपज्जवो कसायाण ॥

नोकर्म्मद्रव्यतोऽयं कषायः क इत्याह । सर्जकषायादिकः सर्जा बिभीतकहरीतक्यादयो वनस्पतिविशेषा नोकर्म्मद्रव्यकषाया इत्यर्थः । क्षेत्रादिकं वस्तु (समुप्पत्तित्ति) उत्पत्तिकषायः किं सर्वं नेत्याह यतः क्षेत्रादेः कषायाणां प्रभवः । इदमुक्तं भवति । यतः क्षेत्रादिशब्दाद्द्रव्यादेर्वा सकाशात्कषायोत्पत्तिर्भवति तत्क्षेत्रद्रव्यादिकं वस्तु कषायोत्पत्तिहेतुत्वादुत्पत्तिकषाय उच्यते । भवति च द्रव्यादेः सकाशात्कषायोत्पत्तिः उक्तं च "किं पत्तो कट्टयरं, जं मूढो खाणुगम्मि अप्फडिओ । खाणुस्स तस्स रूसइ, न अप्पणो दुप्पओगस्स" त्ति ।

प्रत्ययकषायमाह ।

होइ कसायाणं बंध–कारणं जं सपच्चयकसाउ ।
सद्दाइउत्ति केई, न समुप्पत्तीए भिन्नो सो ॥

कषायाणां यदन्तरङ्गमविरत्यास्रवादिकं बन्धकरणं सोऽन्तरङ्गकषायकारणरूपः प्रत्ययकषायो भवति । अन्ये तु केचिद्बहिरङ्ग एव शब्दरूपादिविषयग्रामः प्रत्ययकषायः इति व्याचक्षते तच्चायुक्तं यत उत्पत्तिकषायान्नासौ भिद्यते द्रव्यादेरिव तस्मादपि बहिरङ्गात्कषायोत्पत्तेरिति ।

आदेशकषायमाह ।

आएसओ कसाओ, कइयवकयभिउडिभंगुरायारो ।
केई चित्ताइगउ–ट्ठवणाणत्थं तसेसो य ॥

योऽन्तरङ्गकषायमन्तरेणापि कुपितोऽयमित्यादिरूपेणादिश्यते स आदेशकषायः । सचेह कैतवकृतभृकुटिभङ्गुराकारो नटादिद्रष्टव्यः । केचित्तु तद्रूपधरश्चित्रादिगतो जीव आदेशकषाय इति व्याचक्षते तच्चायुक्तं स्थापनानर्थान्तरत्वात्तस्येति ।

रसभावकषायावाह ।

रसओ रसो कसाओ, कसायकम्मोदओ य भावम्मि ।
सो कोहाइ चउद्धा, नामाइचउव्विहेक्केको ॥

हरीतक्यादीनां यो रसः स रसतः कषायो रसकषायः । भावकषायस्तु मोहनीयकर्म्मोदयस्तज्जनितश्च कषायपरिणामः । स च क्रोधादिभेदाच्चतुर्द्धा । क्रोधादिरपि प्रत्येकं नामादिभेदाच्चतुर्विध इति ।

अथ नामादिकषायाणां को नयः कमिच्छतीत्याह ।

भावसद्दाइनया, अट्ठविहमसुद्धनेगमाईया ।
नाएसुप्पत्तीओ, सेसा जं पच्चयविगप्पा ॥

भावकषायमेव शुद्धत्वाच्छब्दतया इच्छन्ति नामादिकषायान् शेषास्तु ऋजुसूत्रवर्ज्जा नैगमादिनयाः शुद्धा अशुद्धाश्च । तत्राविशुद्धास्तथा अष्टविधमपि नामादिकषायमिच्छन्ति ये तु विशुद्धास्तथा ऋजुसूत्रनयाश्चैतेऽसर्वेऽप्यादेशोत्पत्तिकषायौ नेच्छन्ति कुत इत्याह । (जं पच्चयविगप्पत्ति) यद्यस्मादेतौ द्वावपि प्रत्ययकषायविकल्पौ प्रत्ययकषायान्न भिद्यते तथा ह्युत्पत्तिकषायः कषायोत्पत्तौ प्रत्यय इत्युक्तमेव । तथा आदेशकषायोऽपि कैतवकृतोऽन्यकषायोत्पत्तौ प्रत्ययो भवत्येवेति न तस्मात्सौ भिन्नाविति ।

अथ नामादिके द्रव्यक्रोधे ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यक्रोधमाह ।

दुविहो दव्वकोहो, कम्मदव्वे य नोय कम्मम्मि ।
कम्मदव्वे कोहे, तज्जोग्गा पोग्गलाणुइया ॥
नो कम्मदव्वकोहो, नो उ चम्मारनीलिकोहाई ।
जं कोहवेयणिज्जं, समुइण्णं भावकोहो सो ॥

ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तो क्रोधो द्विधा कर्म्मद्रव्यक्रोधो नोकर्म्मद्रव्यक्रोधश्च । तत्र योग्यादयोऽनुदिताश्चतुर्विधाः पुद्गलाः कर्म्मद्रव्यक्रोधः । नोकर्म्मद्रव्यक्रोधस्तु (कोहित्ति) प्राकृतशब्दमाश्रित्य चर्म्मकारः चर्म्मकोथो नीलक्रोधादिश्च ज्ञेयः । भावक्रोधमाह । यत्क्रोधवेदनीयं कर्म विपाकतः समुदीर्णमुदयमागतं तज्जनितश्च क्रोधपरिणामः स भावक्रोध इति । एवं मानादयोऽपि नामादिभेदाद्यथायोगं चतुर्विधा वाच्याः । अथवा पृथगनन्तानुबन्ध्यादिभेदात्सर्वेऽपि क्रोधादयश्चतुर्विधाः ज्ञेयाः इति दर्शयन्नाह ।

माणादओ वि एवं, नामाई चउव्विहा जोग्गं ।
नेयापिहप्पिया वा, सव्वे णंताणुबंधाई ॥

गतार्था । तत्रानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनरूपाणां क्रोधादीनां पश्चानुपूर्व्या प्रत्येकं स्वरूपमाह ।

जलरेणुभूमिपव्वय–राईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसिलयाकट्ठट्ठिय, सेलत्थंभोवमो माणो ॥
मायावलेहगोमु–त्तिमिंढसिंगघणवंसमूलसमा ।
लोहो हरिद्दखंजण, कद्दमकिमिरागसा माणो ॥
पक्खचाउमासवच्छर, जावज्जीवाणुगामिणो कमसो ।
देवनरतिरियनारय–गइसाहणदेयवो नेया ॥

एताः स्थानान्तरेष्वतिप्रतीतार्थत्वान्नेह व्याख्यायन्त इति । विशे० । आ०म०द्वि० । आ० चू० । उत्त० । आव० । श्रा० ।

चत्तारि कसाया पण्णत्ता तंजहा कोहकसाए माणकसाए मायाकसाए लोभकसाए एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं।

यथा सामान्यतश्चत्वारः कषायास्तथा विशेषतो नारकाणामसुराणां यावच्चतुर्विंशतितमे पदे वैमानिकानामिति । स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० । आचा० । प्रज्ञा० ।

आवर्त्तदृष्टान्तेनैते भेदाः ।

चत्तारि आवत्ता पण्णत्ता तंजहा खरावत्ते उन्नयावत्ते गूढावत्ते आमिसावत्ते । एवामेव चत्तारि कसाया पण्णत्ता तंजहा खरावत्तसमाणे कोहे उन्नयावत्तसमाणे माणे गूढावत्तसमाणा माया आमिसावत्तसमाणे लोभे । खरावत्तसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ । उन्नयावत्तसमाणं तं चेव गूढावत्तसमाणं मानमेवं चेव आमिसावत्तसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ ।

सुगमं चैतन्नवरं खरो निष्ठुरोऽतिवेगितया पातकश्छेदको वा आवर्त्तमावर्त्तः स च समुद्रादेश्चक्रविशेषाणां चेति खरावर्त्त उन्नत उच्छ्रितः सचासावावर्त्तश्चेति उन्नतावर्त्तः स च पर्वतशिखरारोहणमार्गस्य वातोत्कलिकाया वा । गूढश्चासावावर्त्तश्चेति गूढावर्त्तः स च गेन्दुकदवरकस्य दारुग्रन्थ्यादेर्वा । आमिषं मांसादि तदर्थमावर्त्तः शकुनिकादीनामामिषावर्त्त इति । एतत्समानता च क्रोधादीनां क्रमेण परोपकारकरणदारुणत्वात् पत्रतृणादिवस्तुन इव मनस उन्नतत्वारोपणात् अत्यन्तदुर्लक्ष्यस्वरूपत्वात् अनर्थशतसंपातसंकुलेऽप्यवपतनकारणत्वाच्चेति । इयं चौपमा प्रकर्षवतां कोपादीनामिति तत्फलमाह (खरावत्तेत्यादि) अशुभपरिणामस्याशुभकर्मबन्धनिमित्ततया दुर्गतिनिमित्तत्वादुच्यते (णेरइएसु उववज्जइत्ति) स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कषायस्वरूपं दर्शयितुकामः क्रोधस्योत्तरत्रोपदर्शयिष्यमाणत्वान्मायादिकषायत्रयप्रकरणमाह ।

चत्तारि केअणा पण्णत्ता तंजहा वंसीमूलकेअणए मेढविसाणकेअणए गोमुत्तिकेअणए अविलेहणियाकेअणए एवामेव चउव्विहा माया पण्णत्ता तंजहा वंसीमूलकेअणसमाणा जाव अवलेहणियाकेअणसमाणा । वंसीमूलकेअणसमाणं मायं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ मेढविसाणकेअणसमाणं मायामणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ तिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ । गोमुत्तिअं जाव कालं करेइ मणुस्सेसु उववज्जइ अवलेहणिया जाव देवेसु उववज्जइ ।

प्रगटं किन्तु केतनं सामान्येन वक्रं वस्तु पुष्पकरण्डस्य वा सम्बन्धि मुष्टिग्रहणस्थानं वंशादिदलकं तच्च वक्रं भवति केवलमिह सामान्येन वक्रं वस्तु केतनं गृह्यते तत्र वंशीमूलं च तत्केतनं च वंशीमूलकेतनमेवं सर्वत्र नवरं मेढविषाणं मेषशृङ्गं गोमूत्रिका प्रतीता (अवलेहणियत्ति) अवलिख्यमानस्य वंशशलाकादेर्या प्रतन्वी त्वक् साऽवलेखनिकेति । वंशीमूलकेतनकादिसमता तु मायायास्तद्वतामनार्जवभेदात्तथाहि यथा वंशीमूलमतिगुपिलवक्रमेवं कस्यचिन्मायाऽपीत्येवमल्पाल्पतराल्पतमानार्जवत्वेनान्यापि भावनीयेति । इयञ्चानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनरूपा क्रमेण ज्ञेया, प्रत्येकमित्यन्ये । तेनैवानन्तानुबन्धिन्या उदयेऽपि देवत्वादि न विरुध्यते एवं मानादयोऽपि । वाचनान्तरे तु पूर्वं क्रोधमानसूत्राणि ततो मायासूत्राणि । तत्र क्रोधसूत्राणि " चत्तारि राईओ पण्णत्ताओ तंजहा पव्वयराई पुढविराई रेणुराई जलराई एवामेव चउव्विहे कोहे " इत्यादि । मायासूत्राणि " चाधीतानि फलसूत्रे अनुपविष्टस्तदुदयवर्त्तीति स्था० ४ ठा० १ उ० ।

चत्तारि थंभा पण्णत्ता तंजहा सेलथंभे अट्ठिथंभे दारुथंभे तिणिसलयाथंभे । एवामेव चउव्विहे माणे पण्णत्ते तंजहा सेलथंभसमाणे जाव तिणिसलयाथंभसमाणे । सेलथंभसमाणं माणं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ णेरइएसु उववज्जइ एवं जाव तिणिसलयाथंभसमाणं माणं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जइ ।

शिलाविकारः शैलः स चासौ स्तम्भश्च स्थाणुः शैलस्तम्भ एवमन्येऽपि नवरमस्थि दारु च प्रतीतं तिनिशो वृक्षविशेषस्तस्य लता कम्बा तिनिशलता सा चात्यन्तमृद्वीति मानस्यापि शैलस्तम्भादिसमानता तद्वतां नमनाभावविशेषाद्ज्ञेयेति । मानो ऽप्यनन्तानुबन्ध्यादिरूपः क्रमेण दृश्यः । तत्फलसूत्रं व्यक्तम् ।

चत्तारि वत्था पण्णत्ता तंजहा किमिरागरत्ते कद्दमरागरत्ते खंजणरागरत्ते हलिद्दरागरत्ते । एवामेव चउव्विहे लोभे पण्णत्ते तंजहा किमिरागरत्तवत्थसमाणे कद्दमरागरत्तवत्थसमाणे खंजणरागरत्तवत्थसमाणे हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणे । किमिरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ नेरइएसु उववज्जइ । तहेव जाव हलिद्दरागरत्तवत्थसमाणं लोभमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ देवेसु उववज्जइ ।

कृमिरागे वृद्धसंप्रदायोऽयं मनुष्यादीनां रुधिरं गृहीत्वा केनापि योगेन युक्तं भाजने स्थाप्यते ततस्तत्र कृमय उत्पद्यन्ते ते च वाताभिलाषिणश्छिद्रनिर्गता आसन्ना भ्रमन्तो नीहारलालां मुञ्चन्ति ततः कृमिसूत्रं भण्यते तच्च स्वपरिणामरागरञ्जितमेव भवति । अन्ये भणन्ति ये रुधिरकृमय उत्पद्यन्ते तान् तत्रैव मृदित्वा कचवरमुत्तार्य तद्रसे किञ्चित् योगं प्रक्षिप्य पट्टसूत्रं रञ्जयन्ति स च रसः कृमिरागो भण्यते । अनुसारीति तत्र कृमीणां रागो रञ्जकरसः कृमिरागस्तेन रक्तं कृमिरागरक्तमेवं सर्वत्र नवरं कर्दमो गोवाटादीनां खञ्जनं दीपादीनां हरिद्रा प्रतीतैवेति । कृमिरागादिरक्तवस्तुसमानता च लोभस्यानन्तानुबन्ध्यादि तद्भेदवतां जीवानां क्रमेण दृढहीनहीनतरहीनतमानुबन्धित्वात् । तथाहि कृमिरागरक्तं वस्त्रं दग्धमपि न रागानुबन्धं मुञ्चति तद्भस्मनोऽपि रक्तत्वादेवं यो मृतोऽपि लोभानुबन्धं न मुञ्चति तस्याभिधीयते लोभः कृमिरागरक्तवस्त्रसमानोऽनन्तानुबन्धी चेति । एवं सर्वत्र भावना कार्येति । फलसूत्रं स्पष्टम् स्था० ४ ठा० २ उ० । (इह कषायप्ररूपणागाथाः अनुपदमेवोक्ताः)

चतुःप्रतिष्ठिताः क्रोधादयः ।

कति पतिट्ठिए णं भंते ! कोहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउपइट्ठिए कोहे पण्णत्ते तंजहा आयपतिट्ठिए परपइट्ठिए त-

दुभयपइट्ठिए अप्पइट्ठिए । एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं दंडओ, एवं माणेणं दंडओ, मायाए दंडओ लोभेणं दंडओ ।

कतिषु कियत्प्रकारेषु स्थानेषु प्रतिष्ठितो भदन्त ! क्रोधः भगवानाह । चतुःप्रतिष्ठितस्तद्यथा आत्मप्रतिष्ठित इत्यादि । आत्मन्येव प्रतिष्ठितः आत्मप्रतिष्ठितः । किमुक्तं भवति स्वयमाचरितस्य ऐहिकं प्रत्यपायमवबुध्य यदा कश्चिदात्मन एवोपरि कुध्यति तदा आत्मप्रतिष्ठितः क्रोधः प्रतिष्ठितः इति । यदा पर उदीरयति आक्रोशादीनां कोपं तदा किल तद्विषयः क्रोधः उपजायते इति स परप्रतिष्ठित इति । नैगमनयदर्शनमेतत् । नैगमनयो हि तद्विषयमात्रेणापि तत्प्रतिष्ठितं मन्यते यथा जीवः सम्यग्दर्शनमजीवसम्यग्दर्शनमित्यादयोऽष्टौ भङ्गाः सम्यग्दर्शनस्याधिकरणचिन्तायामावश्यके तदुभयप्रतिष्ठित आत्मपररूपोभयप्रतिष्ठितः यदा कश्चित्तथाविधापराधवशादात्मपरविषयक्रोधमाधत्ते इति । अप्रतिष्ठितो नाम यदेषः स्वयं दुश्चरणमाक्रोशादिकं च कारणं विना निरालम्बन एव केवलक्रोधवेदनीयादुपजायते स हि नात्मप्रतिष्ठितः स्वयं दुश्चरणाभावतश्चात्मविषयत्वाभावात् । नापि परप्रतिष्ठितः परस्यापि निरपराधतया अपराधसम्भावनाया अभावतः क्रोधालम्बनत्वायोगात् । दृश्यते च कस्यापि कदाचिदेवमेव केवलं क्रोधवेदनीयोदयादुपजायमानः क्रोधस्तथा च स पश्चात् ब्रूते अहो मे निष्कारणकोपो नैषधिकरूपं भाषते न च किञ्चिद्विनाशयतीति । अत एवोक्तं पूर्वमहर्षिभिः सापेक्षाणि निरपेक्षाणि च कर्माणि फलविपाकेषु सोपक्रमं निरुपक्रमं च दृष्टं यथायुष्कामिति । एवं मानमायालोभा अपि आत्मपरोभयप्रतिष्ठिताश्च भावनीयाः । तदेवमधिकरणभेदेन भेद उक्तः ।

संप्रति कारणभेदतो भेदमाह ।

कहि णं भंते ! ठाणेहिं कोहुप्पत्ती भवति ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती हवइ । तंजहा खित्तं पडुच्च वत्थुं पडुच्च सरीरं पडुच्च उवहिं पडुच्च । एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं एवं माणेण वि मायाए वि लोभेण वि । एवं एते वि चत्तारि दंडगा । कतिविहेणं भंते ! कोहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे कोहे पण्णत्ते, तंजहा अणंताणुबंधी कोहे अपच्चक्खाणावरणे कोहे पच्चक्खाणावरणे कोहे संजलणे कोहे एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं एवं माणेणं मायाए लोभेणं एए वि चत्तारि दंडया ।

निमुच्येभिरिति स्थानानि करणानि कतिभिः कियत्संख्याकैः स्थानैः कारणैः क्रोधोत्पत्तिर्भवति ? भगवानाह–चतुर्भिः स्थानैः तान्येव स्थानान्याह । (खेत्तं पडुच्च इत्यादि) तत्र नैरयिकाणां नैरयिकक्षेत्रं प्रतीत्य तिरश्चां तिर्यक्क्षेत्रं मनुष्याणां मनुष्यक्षेत्रम् देवानां देवक्षेत्रम (वत्थुं पडुच्चेत्ति) वस्तु सचेतनमचेतनं वा शरीरं प्रतीत्य दुःसंस्थितं विरूपं वा उपधिं प्रतीत्येति यद्यस्योपकरणं तस्य तच्चौरादिना अपह्रियमाणमन्यथा वा प्रतीत्य एवं नैरयिकादिदण्डकसूत्रमपि, प्रज्ञा० १४ पद । अनन्तं भवमनुबध्नाति अविच्छिन्नं करोतीत्येवं शीलोऽनन्तानुबन्धी अनन्तो वाऽनुबन्धो यस्येत्यनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शनसहभाविक्षमादिस्वरूपोपशमादिचरणलवविबन्धी चारित्रमोहनीयत्वात्तस्य न चोपशमादिभिरेव चारित्री अल्पत्वात् यथा अमनस्को न संज्ञी किंतु महता मूलगुणादिरूपेण चारित्रेण चारित्री मनःसंज्ञया संज्ञिवदत एव त्रिविधं दर्शनमोहनीयं पञ्चविंशतिविधं चारित्रमोहनीयमिति । ननु "पढमिल्लुयाण उदये नियमे" इत्यादि विरुध्यते चारित्रावारकस्य सम्यक्त्वावारकत्वानुपपत्तेरत एव सप्तविधं दर्शनमोहनीयमेकविंशतिविधं चारित्रमोहनीयमिति मतं संगतमाभातीत्यत्रोच्यते । पढमिल्लुयाणेत्यादि यदुक्तं तदनन्तानुबन्धिनां न सम्यक्त्वावारकतया किंतु सम्यक्त्वसहभाव्युपशमाद्यावारकतया अन्यथाऽनन्तानुबन्धिभिरेव सम्यक्त्वस्यावृतत्वात् किमपरेण मिथ्यात्वेन प्रयोजनमावृतस्याप्यावरणेऽनवस्थाप्रसङ्गात्तस्माद्यथा "केवलियणाणलंभो, जन्नत्थखए कसायाणं ति " इह कषायाणां केवलज्ञानस्यानावारकत्वेऽपि कषायक्षयः केवलज्ञानकारणतयोक्तस्तस्मिन्नेव तस्य भावादेवमनन्तानुबन्धिक्षयोपशम एव सम्यक्त्वलाभ उच्यते तस्मिन् सति तस्य भावाद्यतोऽनन्तानुबन्धिषूदितेषु मिथ्यात्वक्षयोपशममुपयाति तदभावाच्च न सम्यक्त्वमिति । यच्च सप्तविधं सम्यग्दर्शनमोहनीयमिति मतान्तरं तत्सम्यक्त्वसहचरितत्वेनोपशमादिगुणानां सम्यक्त्वोपचारादिति मन्यामहे इत्यादि । न विद्यते प्रत्याख्यानमणुव्रतादिरूपं यस्मिन् सोऽप्रत्याख्यानो देशविरत्यावारकः । प्रत्याख्यानमामर्यादया सर्वविरतिरूपमेवेत्यर्थः । वृणोतीति प्रत्याख्यानावरणः । संज्वलयति दीपयति सर्वसावद्यविरतिमपीन्द्रियार्थसम्पाते वा संज्वलति दीप्यत इति संज्वलनः । यथा ख्यातचारित्रावारकः एवं मानमायालोभेष्वप्यनन्तानुबन्ध्यादिभेदचतुष्टयमध्येतव्यमिति । एषां निरुक्तिः पूज्यैरियमुक्ता " अनन्तान्यनुबध्नन्ति, यतो जन्मनि भूतये । अतोऽनन्तानुबन्धाख्या, क्रोधाद्येषु प्रदर्शिता ॥ १ ॥ नाल्पमप्युत्सहेद्येषां प्रत्याख्यानमिहोदयात् । अप्रत्याख्यानसंज्ञातो, द्वितीयेषु निवेशिता ॥ २ ॥ सर्वसावद्यविरतिः, प्रत्याख्यानमुदाहृतम । तदावरणसंज्ञात-स्तृतीयेषु विवेशिता ॥ ३ ॥ शब्दादीन् विषयान् प्राप्य, संज्वलन्ति यतो मुहुः । अतः संज्वलनाह्वानं, चतुर्थानामिहोच्यते" ॥ ४ ॥ स्था० ४ ठा० १ उ० ।

संप्रत्येषामेव विशेषतः किंचित्स्वरूपं प्रतिपिपादयिषुराह ।

जा जीव वरिसचउमास, पक्खगानरयतिरियनरअमरा ।
सम्माणुसव्वविरई, अहखायचरित्तघायकरा ॥ १८ ॥

"यावत्तावज्जीवितावर्त्तमानावटप्रावारकदेवकुलैवमेवेवः " ८ । १ । २७१ इति प्राकृतसूत्रेण वकारलोपे च जावज्जीवं च वर्षं च चतुर्मासं च पक्षश्च यावज्जीववर्षचतुर्मासपक्षास्तान् गच्छन्तीति यावज्जीववर्षचतुर्मासपक्षगाः "नाम्नो गमेः खमौ विहायसस्तु विह" इति ड प्रत्ययः । इदमुक्तं भवति । यावज्जीवानुगानन्तानुबन्धिनः वर्षगा अप्रत्याख्यानावरणाश्चतुर्मासगाः प्रत्याख्यानावरणपक्षगाः संज्वलनः । इदं च " परुसवयणेण दिणतव अहिक्खिवंतो य हणइ मासतव " मित्यादिवद्व्यवहारनयमाश्रित्योच्यते अन्यथा हि बाहुबलिप्रभृतीनां पक्षादिपरतोऽपि संज्वलनाद्यवस्थितिः श्रूयते अन्येषां च संयतादीनां मासवर्षादिकाले प्रत्याख्यानावरणानामप्रत्याख्यानावरणानामनन्तानुबन्धिनां चान्तर्मुहूर्त्तादिकं कालमुदयः श्रूयते इति । तथा नरकगतिकारणत्वानन्तानुबन्धिनः कषाया अपि नरका भवन्ति च कारणे कार्योपचाराद्यथा आ-

युर्घृतं नद्वलोदकं पादरोग इति । एवं तिर्यग्गतिकारणत्वात्तिर्यञ्चोऽप्रत्याख्यानावरणाः नरगतिकारणत्वान्नराः प्रत्याख्यानावरणाः । अमरगतिकारणत्वादमराः संज्वलनाः । एतदुक्तं भवति । अनन्तानुबन्ध्युदये मृतो नरकगतावेवगच्छति अप्रत्याख्यानावरणोदये मृतस्तिर्यक्षु प्रत्याख्यानावरणोदये मृतो मनुष्येषु संज्वलनोदये पुनर्मृतोऽमरेष्वेव गच्छति । उक्तश्चायमर्थः पश्चानुपूर्व्या अत्रापि " पक्खचउमासवत्सर-जावज्जीवाणुगामिणो भणिया । देवनरतिरियनारय, गइसाहणहेयवो नेया " इदमपि व्यवहारनयमधिकृत्योच्यते अन्यथा हि अनन्तानुबन्ध्युदयवतामपि मिथ्यादृशां केषांचिदुपरितनग्रैवेयकेषूत्पत्तिः श्रूयते अप्रत्याख्यानावरणोदयवतामविरतसम्यग्दृशां तिर्यग्मनुष्याणां चासुरेषूत्पत्तिः प्रत्याख्यानावरणोदयवतां च देशविरतानां देवगतिः अप्रत्याख्यानावरणोदयवतां च सम्यग्दृष्टिदेवानां मनुष्यगतिः । तथा (समंति) सम्यक्त्वं च (अणुसव्वविरइत्ति) विरतिशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् अणुविरतिश्च देशविरतिः सर्वविरतिश्च । यथाख्यातचारित्रं च "सम्माणु"सर्वविरतिर्यथाख्यातचारित्राणि तेषां घातो विनाशः "सम्माणु" सर्वविरति यथाख्यातचारित्रघातस्तं कुर्वन्तीत्येवंशीलाः संमाणुसर्वविरतियथाख्यातचारित्रघातकराः । एतदुक्तं भवति । अनन्तानुबन्धिनः कषायाः सम्यक्त्वघातकरा यदाहुः श्रीभद्रबाहुस्वामिपादाः " पढमिल्लुयाण उदए, नियमा संजोयणा कसायाणं । संमद्दंसणलंभं, भवसिद्धीया वि न लहंति " अप्रत्याख्यानावरणा देशविरतिघातकराः न सम्यक्त्वस्येत्यर्थाल्लब्धम् । यदाहुः पूज्यपादाः " बीयकसायाणुदए, अप्पच्चक्खाणनामधिज्जाणं । सम्मद्दंसणलंभं, विरियाविरियं न थ लहंति " प्रत्याख्यानावरणास्तु सर्वविरतेर्घातकाः सामर्थ्यान्न देशविरतेः उक्तंच " तइयकसायाणुदए, पच्चक्खाणावरणनामधिज्जाणं । देसिक्कदेसविरयं, चरित्तलंभं न उ लहंति " संज्वलनाः पुनर्यथाख्यातचारित्रस्य घातका न सामान्यतः सर्वविरतेः उक्तं च श्रीमदाराध्यपादैः "मूलगुणाणं लंभं, न लहइ मूलगुण घाइणं उदए । संजलणाणं उदए, न लहइ चरणं अहक्खायमि " त्ति ।

अथ जलरेखादिदृष्टान्तेन किंचित्सविशेषक्रोधादिकषायाणां स्वरूपं व्याचिख्यासुराह ।

जलरेणुपुढविपव्वय-राई सरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठऽट्ठिअ, सेलत्थंभोवमो माणो ॥ १९ ॥

इह राजिशब्दः सदृशशब्दश्च प्रत्येकं संबध्यते ततो जलराजिसदृशस्तावत्संज्वलनः क्रोधः यथा यष्ट्यादिभिर्जलमध्ये राजीरेखा क्रियमाणा शीघ्रमेव निवर्तते तथा यः कथमप्युदयप्राप्तोऽपि सत्वरमेव व्यावर्त्तते स संज्वलनः क्रोधोऽभिधीयते । रेणुराजिसदृशः प्रत्याख्यानावरणक्रोधः अयं हि संज्वलनक्रोधापेक्षया तीव्रत्वाद्रेणुमध्यविहितरेखावाच्चिरेण निवर्तत इति भावः । पृथिवीराजीसदृशस्त्वप्रत्याख्यानावरणः यथास्फुटितपृथिवीसंबन्धिनी राजी कचवरादिभिः पूरिता कष्टेनापनीयते एवमेषोऽपि प्रत्याख्यानावरणापेक्षया कष्टेन विनिवर्तत इति भावः । विदलितपर्वतराजिसदृशः पुनरनन्तानुबंधी क्रोधः कथमपि निवर्त्तयितुमशक्य इत्यर्थः । उक्तश्चतुर्विधः क्रोधः । इदानीं मानोऽभिधीयते तत्र तिनिसलतोपमः संज्वलनो मानः यथा तिनिसो वनस्पति विशेषस्तत्संबन्धिनी लता सुखेनैव नमत्येवं यस्य मानस्योदये जीवः स्वाग्रहं मुक्त्वा सुखेनैव नमति स संज्वलनमानः । यथा स्तब्धं किमपि काष्ठमग्निस्वेदादिबहूपायैः कष्टेन नमत्येवं यस्य मानस्योदये जीवोऽपि कष्टेन नमति स काष्ठोपमः प्रत्याख्यानावरणो मानः यथाऽस्थि हड्डं बहुतरैरुपायैरतितरां महता कष्टेन नमत्येवं यस्य मानस्योदये जीवोऽप्यतितरां महता कष्टेन नमति सोऽस्थ्युपमोऽप्रत्याख्यानावरणो मानः । शिलायां घटितः शैलः शैलश्चासौ स्तम्भश्च शैलस्तम्भस्तदुपमस्त्वनन्तानुबन्धी मानः कथमप्यनमनीय इत्यर्थः । उक्तश्चतुर्विधो मानः ।

अथ मायालोभौ व्याख्यानयन्नाह ।

मायावलेहिगोमुत्ति, मिंढसिंगघणवंसमूलसमा ।
लोहो हलद्दखंजण-कद्दमकिमिराग सारित्थो (सामाणो) २०

मायाऽवलेखिकासमा संज्वलनी धनुरादीनामुल्लिख्यमानानां याऽवलेखिका वक्रत्वरूपा पतति यथासौ कोमलत्वात् सुखेनैव प्राञ्जलीक्रियते एवं यस्या उदये समुत्पन्नापि हृदयकुटिलता सुखेनैव निवर्तते सा संज्वलनी माया गौर्बलीवर्दस्तस्य मार्गे गच्छतो वक्रतया पतिता मूत्रधारा गोमूत्रिकाऽभिधीयते यथाऽसौ शुष्का पवनादिभिः कमपि कष्टेनापनीयते एवं यज्जनिता कुटिलता कष्टेनापगच्छति सा गोमूत्रिकासमा प्रत्याख्यानावरणी माया ।१। एवं मेषशृङ्गसमायामप्यप्रत्याख्यानावरणमायायां भावना कार्या नवरमेषा कष्टतरनिवर्त्तनीया । घनवंशीमूलसमा त्वनन्तानुबन्धिनी माया यथा निबिडवंशीमूलस्य कुटिलता केवलवह्निनापि न दह्यते एवं यज्जनिता मनःकुटिलता कथमपि न निवर्त्तते सानन्तानुबन्धिनी मायेत्यर्थः । तथा लोभो हरिद्रारागसमानः संज्वलनः यथा वाससि हरिद्रारागः सूर्यातपस्पर्शादिमात्रादेव निवर्तते तथाऽयमपीत्यर्थः । कष्टनिवर्तनीयो वस्त्रविलग्नप्रदीपादिखञ्जनसमानः प्रत्याख्यानावरणलोभः । कष्टतरापनेयो वस्त्रविलग्ननिबिडकर्दमसमानोऽप्रत्याख्यानावरणलोभः । कृमिरागरक्तपट्टसूत्ररागसमानः कथमप्यपनेतुमशक्योऽनन्तानुबन्धी लोभ इति । कर्म० १ क० । आचा० आतु० । पं० सं० । स्था० । विशे० ।

सम्प्रति एतेषामेव क्रोधादीनां निवृत्तिभेदतोऽवस्थाभेदतश्च भेदमाह ।

कतिविहे णं भंते ! कोहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे कोहे पण्णत्ते तंजहा आभोगणिव्वत्तिए अणाभोगनिव्वत्तिए उवसंते अनुवसंते । एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । एवं माणेण वि मायाए वि लोभे ण वि चत्तारि दंमगा ।

यदा परस्यापराधं सम्यगवबुध्य कोपकारणं च व्यवहारतः पुष्टमवलम्ब्य नान्यथास्य शिक्षोपजायते इत्याभोग्यकोपं च विधत्ते तदा स कोप आभोगनिर्वर्त्तितः । यदा त्वेनमेवं तथाविधमुहूर्त्तवशाद्गुणदोषविचारणाशून्यः परवशीभूय कोपं कुरुते तदा स कोपो नाभोगनिर्वर्त्तितः उपशान्तोऽनुदयावस्थः अनुपशान्त उदयावस्थः । एवमेतद्विषयं दण्डकसूत्रमपि भावनीयम् एवं मानमायालोभाः प्रत्येकं चतुःप्रकाराः सामान्यतो दण्डकक्रमेण च वेदितव्याः ।

सम्प्रति फलभेदेन कालत्रयवर्त्तिनां भेदमभिधातुकाम आह ।

जीवाणं भंते ! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु ? गोयमा ! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ चिणिंसु तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेरइयाणं जाव

वेमाणियाणं। जीवेणं भंते! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपयडीओ चिणंति? गोयमा! चउहिं ठाणेहिं तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेरइया जाव वेमाणिया जीवेणं भंते! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगमीओ चिणिस्संति? गोयमा! चउहिं ठाणेहिं अट्ठकम्मपगमीओ चिणिस्संति तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं। एवं नेरइय: जाव वेमाणिया। जीवाणं भंते! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगमीओ उवचिणिंसु? गोयमा! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगडीओ उवचिणिंसु तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेरइया जाव वेमाणिया। जीवाणं पुच्छा? गोयमा! चउहिं ठाणेहिं उवचिणंति कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेरइया जाव वेमाणिया एवं उवचिणिस्संति। जीवाणं भंते! कतिहिं ठाणेहिं अट्ठकम्मपगमीओ बंधिंसु? गोयमा! चउहिं ठाणेहिं अट्ठ कम्मपगमीओ बंधिंसु तंजहा कोहेणं जाव लोभेणं एवं नेरइया जाव वेमाणिया बंधिंसु बंधंति बंधिस्संति उदीरेंसु उदीरंति उदीरिस्संति वेदिंसु वेदंति वेदिस्संति निज्जरेंसु निज्जरंति निज्जरिस्संति। एवं एते जीवादीया वेमाणिया पज्जवसाणा अट्ठारस दंडगा जाव वेमाणिया निज्जरेंसु निज्जरंति निज्जरिस्संति " आतपतिट्ठिति खेत्तं, पडुच्च अणंताणुबंधिआजोगे। चिणउवचिणबंधउदी-रण वेद तह णिज्जरा चेव "।

जीवा भदन्त! कतिभिः स्थानैरष्टौ कर्मप्रकृतीश्चितवन्तः चयनं नाम कषायपरिणतस्य कर्मपुद्गलोपादानमात्रं भगवानाह। गौतम! चतुर्भिः स्थानैस्तद्यथा क्रोधेन मानेन मायया लोभेन। एवं नैरयिकादिदण्डकोऽपि वक्तव्य एव दण्डकोऽतीतकालविषयः एवं वर्त्तमानकालभविष्यत्कालविषयावपि वाच्यौ, एवमुदयबन्धोदीरणवेदननिर्जराविषया अपि प्रत्येकं त्रयस्त्रयो दण्डका वाच्या इति सर्वसंख्ययाऽष्टादश दण्डकास्तत्रोपचयो नाम स्वस्वाबाधाकालस्योपरि ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलानां वेदनार्थं निषेकः। स चैवं प्रथमस्थितौ सर्वमभूतं द्वितीयस्यां स्थितौ विशेषहीनं, ततोऽपि तृतीयस्यां विशेषहीनम् एवं विशेषहीनं विशेषहीनं तावद्वाच्यं यावत्तत्कालबध्यमानायाः स्थितेश्चरमा स्थितिरेतच्च सविस्तरं कर्मप्रकृतिटीकायां पञ्चसंग्रहटीकायां चाभिहितमिति ततोऽवधार्यम्। बन्धनं नाम ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलानां यथोक्तप्रकारेण स्वस्वाबाधाकालोत्तरकाले निषकानां यद्भूयकषायपरिणतिविशेषान्निकाचनमुदीरणामुदीरणाकरणवशतः कर्मपुद्गलानामनुदयप्राप्तानामुदयावलिकानां प्रवेशनं तदपि हि किञ्चित्तथाविधकषायपरिणतिवशाद्भवतीति "चउहिं ठाणेहिं उदीरहिंसु उदीरंति उदीरिस्संती" त्युक्तम्। अन्यथा कषायव्यतिरेकेणापि क्षीणमोहोदये ज्ञानावरणादीनामुदीरिका वर्त्तन्ते इति वेदना स्वस्वाबाधाकालक्षयादुदयप्राप्तस्य उदीरणाकरणेन वा उदयमुपनीतस्य कर्मण उपभोगः निर्जराः कर्मपुद्गलानामनुभूयानुभूय कर्मत्वापादानमात्मप्रदेशैः संश्लिष्टानां ज्ञानावरणीयादिकर्मपुद्गलानामनुभूयानुभूय शातनमिति भावः। उक्तञ्च "पुव्वकयकम्मसामण निज्जरा इति " इयञ्च देशनिर्जरा रूपव्या कषायजनितत्वान्न सर्वनिर्जरा। सा हि निष्कषायस्य सर्वनिरुद्धयोगस्य मोक्षप्रासादमधिरोहतो भवति न शेषस्यात एव चतुर्विंशतिदण्डकसूत्रमप्यविरुद्धं देशनिर्जरायाः सर्वकालं सर्वेषामपि भावात्। सम्प्रति यत्पदमधिकृत्य प्राक् सूत्राण्युक्तानि तानि विनेयजनानुग्रहाय सङ्ग्रहणिगाथया निर्दिशति। "आयपइट्ठिय" इत्यादि प्रथमं सामान्यसूत्रे सुप्रतीतमिति न संगृहीतं द्वितीयमात्मप्रतिष्ठितपदोपलक्षितं सूत्रं ततोऽनन्तानुबन्धिपदोपलक्षितं तदनन्तरमाभोगपदोपलक्षितं ततश्चयोपचयबन्धोदीरणवेदनानिर्जराविषयाणि क्रमेण सूत्राणि। अत्र "चिणेति" उपचयसूत्रोपलक्षणम्। प्रज्ञा० १४ पद। स्था०। जी०। "मूलं संसारस्स य, होंति कसाया अणंतपत्तस्स। विणओ ठाणपउत्तो, दुक्खविमुक्खस्स मोक्खस्स" दश०४ अ०। "कसायवुड्ढि करेज्जा गच्छवज्झो" प्रायः महा० ७ अ०। "कोहं माणं मायं, लोहं च महज्झयाणि चत्तारि। जो रुंभइ सुद्धप्पा, एसो नोइंदिअपणिही॥ जस्स त्रि य दुप्पणिहिआ, होंति कसाया तवं चरंतस्स। सो बालतवस्सो विव, गयण्हाण परिस्समं कुणइ॥ सामन्नमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति। मन्नामि उच्छफुल्लं, व णिप्फलं तस्स सामण्णं॥ दश०८ अ०। (पणिहिशब्दे व्याख्यास्यन्ते) " अकसायं तु चरित्तं, कसायसहितो न संजओ होइ " (इति अहिगरणशब्दे उपपादितम्)।

कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसाई, इच्छंतो हियमप्पणो॥ ३७॥

क्रोधं मानं च मायां च लोभं च पापवर्द्धनं सर्वं एते पापहेतव इति पापवर्द्धनव्यपदेशः। यतश्चैवमतो वमेच्चतुरो दोषानेतानेव क्रोधादीन् हितमिच्छन्नात्मनः एतद्वमने हि सर्वं सदिति सूत्रार्थः।

अवमने त्विह लोके एवापायमाह।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो॥३८॥

क्रोधः प्रीतिं प्रणाशयति क्रोधान्धवचनतस्तदुच्छेददर्शनात् मानो विनयनाशनः अवलेपेन मूर्खतया तदकरणोपलब्धेर्माया मित्राणि नाशयति कौटिल्यवतस्तत्त्यागदर्शनात्। लोभः सर्वविनाशनः तत्वतस्त्रयाणामपि तद्भावभावित्वादिति सूत्रार्थः। यत एवमतः।

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेणं, लोभं संतोसओ जिणे॥३९॥

उपशमेन क्षान्तिरूपेण हन्यात् क्रोधमुदयनिरोधोदयप्राप्तफलीकरणेन एवं मानं मार्दवेनानुच्छ्रितत्तया जयेत् उदयनिरोधादिनैव मायां च ऋजुभावेनाशठतया उदयनिरोधादिनैव एवं लोभं सन्तोषेण निःस्पृहत्वेन जयेत्तदुदयनिरोधोदयप्राप्तफलीकरणेनेति सूत्रार्थः।

क्रोधादीनामेव परलोकापायमाह।

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभे य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचिंति मूलाइँ पुणब्भवस्स॥४०॥

क्रोधश्च मानश्चानिगृहीतौ उच्छृङ्खलौ माया च लोभश्च वि-

वर्द्धमानौ वृद्धिं गच्छन्तौ चत्वारि एते क्रोधादयः कृत्स्नाः संपूर्णाः कृष्णा वा क्लिष्टा वा कषायाः (सिंचिंति) अशुभभावजलेन मूलानि तथाविधकर्मरूपाणि पुनर्भवस्य पुनर्जन्मतरोरिति सूत्रार्थः । दश० ८ अ० । (पञ्चमहाव्रतधारणमपि कषायिणो निष्फलं स्यादतस्तत्साफल्यापादनार्थं कषायनिरोधो विधेय इति धम्मशब्दे सुदृढमुपपादयिष्यते)

अथ गाथात्रयेण कषायानाश्रित्य गणस्वरूपमेवाह ।

जत्थ मुणीण कसाया, जगडिज्जंता वि परकसाएहिं ।
ण इच्छति समुट्ठेउं, सुनिविट्ठो पंगुलो चेव ॥९७॥

यत्र गच्छे मुनीनां कषायाः परकषायैः (जगडिज्जंताविति) पीडादिकरणेनोदीर्यमाणा अपि समुत्थातुं नेच्छन्ति स्कन्दकाचार्यशिष्याः १ अर्जुनमालाकार २ दमदन्तादीनामिव ३ स्ववीर्यं दर्शयितुं नोत्सहन्ते । अत्र कषायाणां स्वातन्त्र्यविवक्षितया कर्तृत्वं यथा उत्पद्यते घटः इत्यत्र कुम्भकारेणोत्पद्यमानस्यापि घटस्य स्वातन्त्र्यविवक्षितयैव कर्तृत्वमिति । अत्र दृष्टान्तमाह (चेवत्ति) यथा सुनिविष्टः सुखोपविष्टः पङ्गुलः पादविकलः समुत्थातुं नेच्छति नोत्सहते हे गौतम ! स गच्छः स्यादिति शेषः इति ॥ ९७ ॥ (स्कन्दकाचार्यशिष्यादीनां सम्बन्धः स्वस्वशब्दे)

धम्मंतरायभीए, संसारगब्भवसहीणं ।
न उदीरंति कसाए मुणी मुणीणं तयं गच्छं ॥७८॥

यत्र गच्छे धर्मस्यान्तरायः कषायोदीरणाजन्यो विघ्नः तस्माद्भीताः तथा संसारगर्भवसतिभ्यः संसारमध्यवसनेभ्यो भीताः अत्र 'क्वचिद्द्वितीयादे' इति प्राकृतसूत्रेण पञ्चम्यर्थे षष्ठी एवंविधा मुनयो मुनीनां कषायान् क्रोध १ मान २ माया ३ लोभरूपान् नोदीरणाया इहपरलोकयोर्महापापफलप्रदत्वात् हे गौतम ! सगच्छति अत्र क्रोधफले क्षपकोदाहरणम् । ग० २ अधि० । (तच्च चण्डकोसियशब्दे) (कषाया एव दुष्परंपराया मूलबीजमिति जिनकप्पियशब्दे) कषायाणां दुरंतत्वम् । तथाच एतदेव दुरन्तं कषायसामर्थ्यमुत्कीर्तयन्नाह ।

उवसामं उवणीया, गुणमहया जिणचरित्तसरिसं पि ।
पडिवायंति कसाया, किं पुण सेसे सरागत्थे ॥

उपशमनमुपशमस्तमपिशब्दात् तथोपशममपि उपनीताः केनोपशममुपनीता इत्याह गुणैर्महान् गुणमहान् तेन महता उपशमकेन प्रतिपातयन्ति कषायाः संसारके तमेवोपशमकं कथंभूतमित्याह जिनचारित्रसदृशमपि जिनस्य केवलिनश्चारित्रेण कृत्वा सदृशस्तुल्यो जिनचारित्रतुल्यो द्वयोरपिकषायोदयरहितचारित्रयुक्तत्वात् । तमेवं भूतमपि प्रतिपातयन्ति अथोपशान्ताः सन्तः कषायाः कथं स्वस्वरूपमुपदर्शयन्तीत्युच्यते इह यथा भस्मच्छन्नोऽग्निः स्वरूपेणाद्यापि सत्वात्पवनादिसहकारिकारणान्तरमासाद्य पुनः स्वं स्वरूपमुपदर्शयति । यथा वा अञ्जनद्रुमो घनदवध्मामितोऽप्यन्तःसारस्याद्यापि सचेतनत्वादुदकसेकादिकारणसामग्रीमवाप्य पुनरप्यङ्कुरपुष्पपत्रप्रवालादिरूपं निजस्वरूपमुपदर्शयति एवमुपशान्ता अपि कषायाः स्वरूपेणाद्यापि सन्त इति । तथाविधं किंचिन्निमित्तमासाद्य स्वं स्वरूपं प्रकटयन्ति ततोऽन्तर्मुहूर्तान्नियमेन प्रतिपतति । उक्तं च " दवदूमियंजणदुमो, छारच्छन्नो मणि व्व पच्चयतो । दावेइ जह सरूवं, तह सकसातोदयो जु (छु) ज्जो " प्रतिपतितश्च संसारं पर्यटति तथाहि स तावत भवे एव निर्वाणं न लभते उत्कर्षतस्तु देशोनमर्द्धपुद्गलपरावर्त्तमपि संसारमनुभ्राम्यति । उक्तं च "तम्मि भवे निव्वाणं, न लभइ उक्कोसतो व संसारं । पोग्गलपरियट्टद्धं, देसूणं कोइ हिंमिज्जा" यत एवं तीर्थकरोपदेशोऽत औपदेशिकं गाथाद्वयमाह ।

जइ उवसंतकसातो, लहइ अणंतं पुणो वि पमिवायं ।
न हु ने वीससियव्वं, थोवे वि कसायसेसम्मि ॥
अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च ।
न हु ने वीससियव्वं, थोवं पि हु तं बहुं होइ ॥

यद्युपशान्तकषायोऽप्यनन्तं भूयोऽपि प्रतिपातं लभते ततः स्तोकेऽपि कषायशेषे न हु नैव (भे) भवद्भिर्विश्वसितव्यम् । अमुमेवार्थं सदृष्टान्तं भावयति (अणथोवमित्यादि) ऋणस्य स्तोकं ऋणस्तोकं व्रणस्तोकमग्निस्तोकं कषायस्तोकं च दृष्ट्वा न हु नैव (भे) भवद्भिर्विश्वसितव्यं यतः स्तोकमपि ततः ऋणादिबहु प्रभूतं भवति तथा चानेकदोषसंभवः । तथाहि ऋणं प्रवर्द्धमानं गच्छता कालेनातिप्रभूतं स तदासत्वमुपनयति यथा वणिग्दुहितुः साधुनगिन्याः व्रणश्च विसर्पन् अतिप्रभूतो भूत्वा स्तोककालेन मरणम् । वह्निर्वातादिसामग्रीवशादतिप्रसरमधिरोहन् सर्वस्यापि ग्रामनगरादेर्दाहं कषायाः पुनः प्रवर्द्धमाना भवमनन्तमिति । उक्तं च " दासत्तं देइ अणं, अचिरा मरणं वणो विसप्पंतो । सव्वस्स दाहमग्गी, देंति कसाया भवमणंतं " आ० म० प्र० ।

कसायअसंकिलेस-कसायासंक्लेश-पुं० असंक्लेशभेदे, स्था० १० ठा. ।

कसायकुसील-कषायकुशील-पुं० कषायैः संज्वलनक्रोधाद्युदयलक्षणैः कुशीलः कषायकुशीलः । कुशीलभेदे, (कुशीलशब्देऽस्य पञ्चविधत्वम्) प्रव० ९३ द्वा० । भ० ।

कसायजय-कषायजय-पुं० कषायाः क्रोधमानमायालोभलक्षणाश्चत्वारस्तेषां जयोऽभिभवः । क्रोधादीनामुदितानां विफलीकरणे नानुदितानां चानुत्पादनेन अभिभवे संयमभेदे, कषायजयोपायस्तु तत्तद्दोषप्रतिपक्षसेवादिना स्यात्तथाहि क्रोधः क्षमया १ मानो मार्दवेन २ मायार्जवेन ३ लोभः संतोषेण ४ रागो वैराग्येण ५ द्वेषो मैत्र्या ६ मोहो विवेकेन ७ कामः स्त्रीशरीराशौचभावनया ८ मत्सरः परसंपदुत्कर्षेऽपि चित्तानाबाधया ९ विषयाः संयमेन १० अशुभमनोवाक्काययोगा गुप्तित्रयेण ११ प्रमादोऽप्रमादेन १२ अविरतिर्विरत्या १३ च सुखेन जीयन्ते । ध० २ अधि० ।

कसायणमिय-कषायनटित-त्रि० क्रोधाद्यभिभूते, " केई कसायनडिया, तं पि हु हीलंति मूढमई " जीवा० १८ पत्र. ।

कसायणाम-कषायनामन्-न० रसनामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं विभीतकादिवत् कषायं भवति तत्कषायनाम । कर्म० १ क० ।

कसायणिव्वति-कषायनिर्वृत्ति-स्त्री० जीवनिर्वृतिभेदे,

कइविहाणं भंते ! कसायणिव्वत्ती पण्णत्ता ? गोयमा ! चउव्विहा कसायणिव्वत्ती पण्णत्ता तंजहा कोहकसायणिव्वत्ती जाव लोभकसायणिव्वत्ती एवं जाव वेमाणियाणं भ० १९ श० ८ उ० ।

कसायपच्चक्खाण–कषायप्रत्याख्यान– न० क्रोधादिप्रत्याख्याने, तान् (क्रोधादीन्) न करोमीति प्रतिज्ञाने, भ० १७ श० ३ उ०। उत्त०।

कसायपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? कसायपच्चक्खाणेणं वीयरायभावं जणयइ वीयरायभावं पमिवन्ने य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥३६॥

हेस्वामिन् ! कषायप्रत्याख्यानेन जीवः किं जनयति । गुरुराह हेशिष्य ! कषायप्रत्याख्यानेन क्रोधमानमायालोभत्यागेन जीवो वीतरागभावं जनयति । प्रतिपन्नवीतरागभावो जीवः समसुखदुःखो भवति । उत्त० २६ अ० ।

कसायपमिक्कमण–कषायप्रतिक्रमण–न० कषायाणां प्रागिनरूपितशब्दार्थानां क्रोधादीनां प्रतिक्रमणे, आव० ४ अ० । (पडिक्कमणशब्दे उदाहरणं वक्ष्यामि)

कसायपरिणाम–कषायपरिणाम–पुं० कषन्ति हिंसन्ति परस्परं प्राणिनोऽस्मिन्निति कषः संसारस्तमयन्ते अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् गमयन्ति प्रापयन्ति ये ते कषायाः "कर्मण्यऽण्" ।३।२।१। इत्यण् प्रत्ययः । कषाया एव परिणामः कषायपरिणामः । जीवपरिणामभेदे, प्रज्ञा० १२ पद ।

कसायमोहणिज्ज–कषायमोहनीय–न०मोहनीयकर्मभेदे, कर्म० १ क० (मोहनीयशब्दे व्याख्या) ।

कसायवयण–कषायवचन–न० क्रोधप्रधानकटुकवचने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

कसायवारसग–कषायद्वादशक–न० अनन्तानुबन्धिचतुष्टयाप्रत्याख्यानचतुष्टयप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयरूपे कषायाणां द्वादशसंख्याश्रिते गणे, प्रज्ञा० १३ पद । (कषायाणां स्थितिं ठिइशब्दे वक्ष्यामि)

कसायविजयजुय–कषायविजययुत–त्रि० क्रोधादिकषायपरिभवनशीले, कर्म० १ क० ।

कसायविजयतव–कषायविजयतपस्–न० कषायाणां क्रोधमानमायालोभलक्षणानां चतुर्णां विजयोऽशेषेणाभिभवनं यस्मादिति कृत्वा तपोभेदे, कषायविजयतपः प्राह ।

एक्कासणगं तह, निव्विगइयमायंबिलं अभत्तट्ठे ।

इइ होइ लयचउक्कं, कसायविजए तवच्चरणे य ॥

एकासनकं निर्विकृतिकमाचामाम्लम् । अभक्तार्थश्चोपवास इत्येका लता प्रतिकषायं चैकैका लता क्रियते एतत्कषायविजयं तपश्चरणं कषायाणां क्रोधमानमायालोभलक्षणानां चतुर्णां विशेषेण जयोऽभिभवनं यस्मादिति कृत्वा अस्मिश्च तपसि चतस्रो लताः षोडश दिवसानि प्रव०, २७१ द्वा० ।

कसायसंकिलेस–कषायसंक्लेश–पुं० कषाया एव कषायैर्वा संक्लेशः कषायसंक्लेशः । संक्लेशभेदे, स्था० २ ठा० १ उ० ।

कसायसंलीणया–कषायसंलीनता–स्त्री० कषायाणामनुदीर्णानामुदयनिरोधेन उदीर्णानां च निष्फलीकरणेन कषायविषयायां संलीनतायाम्, " सद्देसु भद्दयपावएसु सो य विसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं " प्रव० ७ द्वा० ।

कसायसमुग्घाय–कषायसमुद्घात–पुं० कषायैः क्रोधादिभिर्हेतुभूतैः समुद्घातः कषायसमुद्घातः । कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्माश्रये समुद्घातविशेषे, प्रज्ञा० ३६ पद । तथाहि तीव्रकषायोदयाकुलो जीवः स्वप्रदेशान् बहिर्विक्षिपति तैः प्रदेशैर्वदनोदरादिरन्ध्राणि कर्णस्कन्धाद्यन्तरालानि वा पूर्यायामतो विस्तरतश्च देहमात्रक्षेत्रमभिव्याप्य वर्तते तथाभूतश्च प्रभूतान् कषायकर्मपुद्गलान् परिशातयति, प्रव० २२६ द्वा० । स० । प्रज्ञा० । आचा० । स्था० (समुग्घायशब्दे एतमाश्रित्य दण्डकं वक्ष्यामि)

कसायाईय–कषायातीत–पुं० अकषायिणि, विशे० ।

कसायाता–स्त्री० कषायात्मन्–त्रि० क्रोधादिकषायविशिष्ट आत्मा कषायात्मा अक्षीणानुपशान्तकषायाणामात्मभेदे, भ० १२ श० १० उ० ।

कसाहि–कशाहि–पुं० मुकुलिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

कसिण–कृत्स्न–त्रि० कृत-क्स्न " ईश्रीह्रीकृत्स्नक्रियादिष्ट्यास्वित् ८।२।१०४। इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात् पूर्व इकारः प्रा० । सम्पूर्णे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । सूत्र० । उत्त० । " कसिणो णाम संपुण्णो " आ० चू० २ अ० । नि० चू० । सर्वशब्दार्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (वत्थशब्दे कृत्स्नवस्त्रानिक्षेपः) परिपूर्णे, आ० म० द्वि० । निरवशेषे, व्य० १ उ० । "कसिणे अणंते केवलणाणे" कृत्स्नं सकलपदार्थविषयत्वात्, स्था० १ ठा० १ उ० । जले, कुक्षौ, पुं० वाच० ।

कृष्ण–त्रि० क्लिष्टे, दश० ८ अ० । मयूरग्रीवसन्निभे, कृष्णवर्णे, नि० चू० २ उ० । परमकालिमोपेते, " आणामियचावरुइरतणुकसिणसिरूजुया " जी० ३ प्रति० ४ उ० । औ० । श्यामवर्णे, कल्प० । असिते, प्रश्न० आश्र० ४ द्वा० । (कृष्णवस्तुगुणान् नेमिशब्दे कथयिष्यामि) क० । नि० चू० । दीर्घदशानां पञ्चमेऽध्ययने च, स्था० १० ठा० ।

कसिणगुणोववेय–कृत्स्नगुणोपपेत–त्रि० अशेषगुणान्विते, पञ्चा० १४ विव० ।

कसिणब्भपुडागम–कृत्स्ना (ष्णा) भ्रपुटागम–पुं० कृत्स्नस्य कृष्णस्य वाऽभ्रपुटस्याऽपगमे, "विराइकम्मघणम्मि अवगए कसिणब्भपुडावगमे व चंदे " विराजते शोभते कर्मघने ज्ञानावरणीयादिकर्मभेदेऽपगते सति निदर्शनमाह । कृत्स्नाभ्रपुटापगम इव चन्द्रमा इति यथा कृत्स्ने कृष्णे वाऽभ्रपुटेऽपगते सति चन्द्रो विराजते शरदि तद्वदसावपेतकर्मघनः समासादितकेवलालोको विराजते इति, दश० ७ अ० ।

कसिणसंजम–कृत्स्नसंयम–पुं० सर्वथा प्राणवधविरतौ, पंचा० ६ विव० ।

कसिणा–कृत्स्ना–स्त्री० आरोपणाभेदे, कृत्स्ना पुनर्यत्र झोषो न क्रियते । झोषस्त्वयमिह तीर्थे षण्मासान्तमेव तपस्ततः षण्णां मासानामुपरि यान् मासानापन्नोऽपराधी तेषां क्षपणमनारोपणं ग्रस्थे चतुःसेटकातिरिक्तधान्यस्यैव झाटनमित्यर्थः । झोषाभावेन सा परिपूर्णेति कृत्स्ना इत्युच्यत इति भावः, स्था० ५ ठा० १ उ० । नि० चू० । (आरोपणाशब्दे विवृतिः) ।

कसेरु–क (शे) सेरु–पुं० कस उ ए रुगागमः । कशेरौ, शूकरस्य प्रिये जलकन्दभेदे, च । कशेरुभेदे आचा० । प्रज्ञा० । राजनि० । वाच० ।

कह (हं) कथम्–अव्य० किम्प्रकारे, थमु कादेशश्च "मांसादेर्वा" ८ । १ । २९ इत्यनुस्वारस्य लुग्वा प्राकृते कह कहं वा ।

प्रा० । शौरसेन्यां तु " थो धः " ८ । ४ । ६६ शौरसेन्याम् थस्य धो वा कहं कथं, प्रा० । केन प्रकारेणेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । " कहं मुत्ता भत्तारेण सव्वं कहेति " नि० चू० १ उ० । "कहं चरे कहं चिट्ठे, कहं मासे कहं सए। कह भुंजंतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधइ" । कथं केन प्रकारेण, दश० ३ अ० ।

कहंकहा–कथंकथा–स्त्री० कथं कथमपि कथा रागकथादिका विकथायाम्, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

कहंवि–कथमपि–अव्य० कथं च अपि च द्वन्द्वस० पदद्वयमित्येके केनचित्प्रकारेणेत्यर्थे, अतिकष्टेनेत्यर्थे च आ० ।

कहकह–कहकह–पुं० अनुकरणम् प्रमोदकलकले, " देवकहकहत्ति " देवकृतप्रमोदकलकलः । स्था० ३ ठा० १ उ० । आचा० । प्रज्ञा० । प्रश्न० । प्रमोदभरवशतः स्वेच्छावचनैर्बोलकोलाहले, आ० म० प्र० ।

कहकह (ग) भूय–कहकह (क) भूत–त्रि० कहकहेत्यनुकरणं कहकहेति भूतं प्राप्तं कहकहभूतम् । निरन्तरं तच्चद्विशेषदर्शनतः सम्मिलितप्रमोदभरपरवशसकलदिक्चक्रवालवर्तिप्रेक्षकजनकृतप्रशंसावचनबोलकोलाहलव्याकुलीभूते, रा० । हर्षाट्टहासादिनाऽव्यक्तवर्णकोलाहलमये, कर्म० २ क० ।

कहग–कथक–त्रि० सरसकथाकथनेन श्रोतृरसोत्पत्तिकारके, जं० २ वक्ष० । सरसकथावक्तरि, कल्प० ३ क्ष० । औ० । नि० चू० । प्रश्न० । रा० । अनशनिनः पुरतो धर्मकथके, प्रव० ७२ द्वा० ।

कहण–कथन–न० प्रज्ञापने, ध० १ अधि० " परूवणात्ति वा कहणत्ति वा वक्खाणमभ्योत्ति वा एगट्ठा " आ०चू० १ उ० ।

कहणविहि–कथनविधि–पुं० कथनप्रकारे, ।

आणागिज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेअव्वो ।

दिट्ठंतिअदिट्ठंता, कहणविहि विराहणा इहरा ॥ ७१ ॥

आज्ञा आगमस्तद्ग्राह्यस्तद्विनिश्चयोऽर्थः अनागतातिक्रान्तप्रत्याख्यानादि आज्ञयैवागमेनैवासौ कथयितव्यो न दृष्टान्तेन तथा दार्ष्टान्तिकः दृष्टान्तपरिच्छेद्यः प्राणातिपाताद्यनिवृत्तानामेतेऽदोषा भवन्त्येवमादिर्दृष्टान्तात् दृष्टान्तेन कथयितव्यः । कथनेऽयं विधिरेष कथनप्रकारः प्रत्याख्याने वा । यद्वा सामान्येनैवाज्ञाग्राह्योऽर्थः सौधर्मादिराज्ञयैवासौ कथयितव्यो न दृष्टान्तेन तत्र तस्य वस्तुतोऽसंभावात् । तथा दार्ष्टान्तिक उत्पादादिमानात्मा वस्तुत्वाद् घटवदित्येवमादिदृष्टान्तात्कथयितव्य एष कथनविधिः । विराधना इतरथा विपर्यायेऽन्यथाकथनविधेरप्रतिपत्तिहेतुत्वात् अधिकतरसंमोहादिति गाथार्थः ॥ ७१ ॥ इति कथनविधिः । आव० ६ अ० ।

कहणिज्ज–कथनीय–न० उत्तराध्ययनज्ञाताधर्मकथादौ कथ्ये, पूर्वर्षिचरितकथानकप्रायत्वात्तस्य, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

कहप्पगार–कथम्प्रकार–त्रि० किम्प्रकारे, भ० ५ श० ६ उ० ।

कहवि–कथमपि–अव्य० कृच्छ्रादित्यर्थे, प्रश्न० आश्र० १ द्वा० ।

कहा–कथा–स्त्री० कथ णि-अ० । 'स्फटिकनिकषचिकुरेषु हः' इत्यतः ह इत्यनुवर्त्य 'खघथधभां' ८ । १ । ८७ इति थस्य हः, प्रा० तन्नामोच्चारणतद्गुणोत्कीर्तनतच्चरितवर्णनादिकायां वचनपद्धत्याम्, ध० २ अधि० । स्था० । अनु० । प्रश्न० । ग० । वसुदेवचरितचेटककथादौ, वृ० १ उ० वाक्यप्रबन्धे, शास्त्रे, स० "तिविहा कहा पन्नत्ता तंजहा अत्थकहा धम्मकहा कामकहा " स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

सांप्रतं कथामाह ।

अत्थकहा कामकहा, धम्मकहा चेव मीसिया य कहा ।

एता एक्केक्का वि य, णेगविहा होइ नायव्वा ॥ १७४ ॥

(अत्थकहेति) विद्यादिभिरर्थस्तत्प्रधाना कथा अर्थकथा । एवं कामकथा धर्मकथा चैव मिश्रा च कथा अत आसां कथानामेकैकापि च कथा अनेकविधा भवति ज्ञातव्येपन्यस्तगाथार्थः १६४ । द० नि० ३ अ० (अत्थकथादिशब्देषु अर्थकथादिव्याख्याः) (अन्तर्गृहे धर्मकथा न कर्तव्येति अंतरगिहशब्दे)

अत्रैव प्रक्रमे कथामाह ।

तवसंजमगुणधारी, जं चरणरया कहिंति सब्भावं ।

सव्वजगजीवहियं; सा उ कहा देसिया समए ॥ २१६ ॥

तपःसंयमगुणान् धारयन्तीति तच्छीलाश्चेति तपःसंयमगुणधारिणः यं कंचन चरणरताश्चरणप्रतिबद्धा न त्वन्यत्र निदानादिना कथयन्ति सद्भावं परमार्थं किंविशिष्टमित्याह । सर्वजगजीवहितं न तु व्यवहारतः कतिपयसत्वहितमिति । तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् सैव कथा निश्चयतः देशिता समये निर्जराख्यफलसाधनात् कर्तॄणां श्रोतॄणामपि चेतःकुशलपरिणामनिबन्धना कथैव नो चेद्धाज्येति गाथार्थः ।

इहैव विकथामाह ।

जो संजओ पमत्तो, रागद्दोसवसगओ परिकहेइ ।

सा उ विकहा पवयणे, पन्नत्ता धीरपुरिसेहिं ॥ २१७ ॥

यः संयतः प्रमत्तः कषायादिना प्रमादेन रागद्वेषवशगतः सन्न तु मध्यस्थः परिकथयति किंचित् सा तु विकथा प्रवचने सा पुनर्विकथा सिद्धान्ते प्रज्ञप्ता धीरपुरुषैस्तीर्थकरादिभिः । तथा विधपरिणामनिबन्धनत्वात्कर्तृश्रोत्रोरिति । श्रोतृपरिणामभेदे तु तं प्रति कथान्तरमेवैवं सर्वत्र भावना कार्येति गाथार्थः ।

सांप्रतं श्रमणेन यथाविधा न कथनीया तथाविधामाह ।

सिंगाररसुत्तुइया, मोहकुवियफुंफुगाहसहसिं ति ।

जं सुणमाणस्स कहं, समणेण न सा कहेयव्वा ॥ २१८ ॥

शृङ्गाररसेन मन्मथदीपकेन उत्तेजित्ता अधिकं दीपिता केत्याह मोह एव चारीत्रमोहनीयकर्मोदयसमुत्थात्मपरिणामरूपः कुपितः फुंफुकाघट्टितकुकुला (हसहसितित्ति) जाज्वल्यमाना जायत इति वाक्यशेषः यां शृण्वतः कथां मोहोदयो जायत इत्यर्थः । श्रमणेन साधुना न सा कथयितव्या आकुलभावनिबन्धनत्वादिति गाथार्थः ।

यत्प्रकारा कथनीया तत्प्रकारामाह ।

समणेण कहेयव्वा, तव नियमकहा विरागसंजुत्ता ।

जं सोऊण मणूसो, वच्चइ संवेगणिव्वेयं ॥ २१९ ॥

श्रमणेन कथयितव्या किंविशिष्टेत्याह तपोनियमकथा अनशनादिपञ्चाश्रवविरमणादिरूपा सापि विरागसंयुक्ता न निदानादिना रागादिसंगता अत एवाह यां कथां श्रुत्वा मनुष्यः श्रोता व्रजति गच्छति (संवेयणीवेदंति) संवेगं निर्वेदं चेति गाथार्थः ।

कथाकथनविधिमाह ।

अत्थमहंती विकहा, अपरिकिलेसबहुला कहेयव्वा ।

इंदि महया चमगर–त्तणेण अत्थं कहा हणइ ॥ २२० ॥

महार्थाऽपि कथा अपरिक्लेशबहुला कथयितव्या नातिविस्तरकथनेन परिक्लेशः कार्य इत्यर्थः किमित्येवमित्याह इन्दीत्यु-

पदर्शने महता चमत्कारत्वेन अतिप्रपञ्चकथनेनेत्यर्थः किमित्याह । अर्थं कथा हन्ति भावार्थं नाशयतीति गाथार्थः ।

विधिशेषमाह ।

खेत्तं कालं पुरिसं, सामत्थं चप्पणो वियाणेत्ता ।
समणेण उ अणवज्जा, पगयम्मि कहा कहेयव्वा ॥२३१॥

क्षेत्रं भरतादि भावितं कालं क्रियमाणादिलक्षणं पुरुषं पारिणामिकादिरूपं सामर्थ्यं चात्मनो ज्ञात्वा प्रकृते वस्तुनीति योगः श्रमणेन त्ववद्या पापानुबन्धरहिता कथा कथयितव्या नान्यथेति गाथार्थः । उक्ता कथा । दश० नि० ३ अ० । "णिसम्म भासीय विणीय गिर्द्धि, हिंसन्नियं वा ण कहं करेज्जा" गृद्धिं गार्ध्यं विषयेषु शब्दादिषु विनीयापनीय निशम्यावगम्य पूर्वोत्तरेण पर्य्यालोच्य भाषको भवेत् तदेव द्रढयति हिंसया प्राण्युपमर्दरूपया अन्वितां युक्तां कथां न कुर्य्यात् । न तत्प्रब्रूयात् यत्परात्मनोरुभयोर्वा बाधकं वच इति भावः तद्यथा " अश्नीत पिबत स्वादत मोदत हत छिन्दत प्रहरत पचते " त्यादि कथां पापोपादानभूतां न कुर्य्यादिति (सूत्र०) नैयायिकसम्मते वादाद्यात्मके पदार्थभेदे, " तिस्रः कथा वादो जल्पो वितण्डा चेति " " तत्र प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः प्रतिपक्षपरिग्रहो वादः । स च तत्वज्ञानार्थं शिष्याचार्य्ययोर्भवति । स एव विजिगीषुणा सार्धं छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः । स एव प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डेति । (एतत्खण्डनं यथा) तत्रासां तिसृणामपि कथानां भेद एव नोपपद्यते यतस्तत्वचिन्तायां तत्वनिर्णयार्थं वादो विधेयो न छलजल्पादिना तत्वावगमः कर्तुं पार्यते । छलादिकं हि परवञ्चनार्थमुपन्यस्यते । न च तेन तत्वावगतिरिति । सत्यपि भेदे नैषां पदार्थता यतो यदेव परमार्थतो वस्तुवृत्त्या वस्त्वस्ति तदेव परमार्थतयाऽभ्युपगन्तुं युक्तं वादास्तु पुरुषेच्छावशेन भवन्तोऽनियता वर्त्तन्ते न तेषां परमार्थतेति । किंच पुरुषेच्छानुविधायिनो वादाः कुक्कुटलावकादिष्वपि पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण भवन्त्यतस्तेषामपि तत्वप्राप्तिः स्यान्न चैतदिष्यत इति । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । समवायाङ्गे तु पञ्च प्रतिपादिता तत्र चतुर्थी प्रकीर्णकथा सा चोत्सर्गकथास्तिकनयकथा वा । तथा निश्चयनयकथा पञ्चमी सा चापवादकथा पर्यायास्तिकनयकथा वेति । स० १२ स० । " वादो जप्पवितंडा, पइराणगकहा य णिच्छयकहा य । संजोगविहिविभत्ता, कधपडिबंधा विछट्ठाणा ॥२३१॥ वादं जप्पवितंडं, सव्वे हि वि कुणंति समणिवज्जेहिं । समणीण विपडिकुट्ठा, हौंति सपरे वि तिणिह कहा ॥२३२॥ उस्सग्गपइराणकहा, अववातो होति णिच्छय कधा तु । अहवा ववहारणया, पइराणसुद्धा य णिच्छइगा ।२३३। (संभोगशब्दे सव्याख्याका इमा वक्ष्यन्ते) नि०चू०५ उ० । स० ।

कहापबंधण–कथाप्रबन्धन–न० कथा वादादिका पञ्चधा तस्याः प्रबन्धनं प्रबन्धेन करणं कथाप्रबन्धनम् वादादिकथाप्रबन्धकरणे, तत्र सम्भोगाऽसम्भोगौ भवतः । स० १२ स० । नि० चू० (कथाशब्दे उक्तम्)

कहाकहण–कथाकथन–न० पञ्चपञ्चाशत्तमे स्त्रीकलाभेदे,कल्प

कहावण–का (क) र्षापण–न० कर्षस्येदं स्वार्थे वा अण् । तेन आपण्यते आ–पण–कर्मणि घः "कार्षापणे" ८।२।७१ कार्षापणे संयुक्तस्य हो भवति । काहावणो कथंकहावणो ? ह्रस्वः संयोग इति पूर्वमेव ह्रस्वत्वे पश्चादादेशे कर्षापणशब्दस्य वा भविष्यति । प्रा० । "रहोः" । ८ । २ । ६३ इति ह्रस्य व द्वित्वम् प्रा० अशीतिरत्तिके ताम्रिके, कर्षे, वाच० ।

कहासेसा–कथाशेषा–स्त्री० उज्जयिनीप्रत्यासन्नग्रामवास्तव्यभरतनटदुहितरि, आ० क० । (बुद्धिसिद्धशब्दे कथा)

कहाहिगरण–कथाधिकरण–न० कथा वाक्यप्रबन्धः शास्त्रमित्यर्थस्तद्रूपाण्यधिकरणानि कथाधिकरणानि । कौटिल्यशास्त्रादिषु प्राण्युपमर्दनप्रवर्त्तकत्वेन तेषामात्मदुर्गतावधिकारित्वकरणात् । कथया क्षेत्राणि कृषतः गानभसूयतेत्यादि कयाऽधिकरणानि तथाविधप्रवृत्तिरूपाणि । असत्प्रवृत्तिषु, कथा च अधिकरणानि च द्वन्द्वः । राजकथादिकायां कथायाम, यन्त्रादिषु कलहेषु वा अधिकरणेषु, स० । " जे कहाहिगरणाइं संपउंजे पुणो पुणो " स० ।

कहिं–क्व–अव्य० प्राकृते किम–ङि " नवाऽनिदमेतदो हिम " ८ । ३ । ६० इति किमः स्थाने हिमादेशः प्रा० । किमः कादेशः । कस्मिन्नित्यर्थे, जी० ३ प्रति० । " कहिं णं जंबुद्दीवे दीवे " कस्मिन् देशे, इत्यर्थः भ० १ श० १ उ० । " से कहिं खाइणं भंते ! सिद्धा परिवसंति " क्व देशे, औ० । " कहिं पडिहया सिद्धा, कहिं सिद्धा पइट्ठिया । कहिं बोंदि चइत्ताणं, कत्थ गंतूण सिज्झइ " औ० । " कहिं अणुपविट्ठे " कानुप्रविष्टः कानुलीन इति भावः रा० । काले तु " ङेर्डाहे डालाइआ काले " ८।३।६५। इति ङेः स्थानेडाहे डाला इआ इत्यादेशत्रये काहे काला कइआ । पक्षे कहिं कस्सिं कम्मि कत्थ । कस्मिन् काले, इत्यर्थः प्रा० ।

कहिय–कथित–त्रि० कथ–गौणकर्मणि क्त–तदसमभिव्याहारे मुख्ये कर्मणि क्त–उक्ते, वाच० । आख्याते, पंचा० १७ विव० । आव० । प्रतिपादिते, सूत्र०१ श्रु० ३ अ० २ उ० । उपदिष्टे, सू० प्र० १ पाहु० । कर्णतोऽर्थतश्चोक्ते, ऊच्या किञ्चिद्रूपेण प्रतिपादिते गौणे कर्मणि क्तः यस्यावबोधाय कश्चिदर्थः प्रतिपाद्यते तस्मिन्नर्थे, त्रि० । भावे क्त–कथने, न० वाच० ।

कहेत्ता–कथयितृ–त्रि० कथ णिच् । शीलार्थे तृन् कथनशीले, "इत्थिकहं भत्तकहं रायकहं कहेत्ता भवइ" स्था०४ ठा०२ उ० ।

काअव्व–कर्त्तव्य–त्रि० कृ–तव्य–'आ कृगोभूतभविष्यतोश्च' ८ । ४ । २१३ इति तव्ये परे कृधातोराकारान्तादेशः करणीये, प्रा० ।

काइँ–किम्–त्रि० "अपभ्रंशे किमः काइँ कवणौ" ८।४।३६७। इति काइँ आदेशः । "जइ न सुआवइ दूइघरु, काइँ अहो मुहतुज्झु । वयणजु खंडइ तउ सहि‍ए, सो पिउ होइ न मज्झु " प्रा० ।

काइय–कायिक–त्रि० कायेन शरीरेण निवृत्तः कायिकः । कायकृते, आव० ४ अ० । विशे० । हस्तपादादिके संघट्टे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । शारीरिके हस्तादिकृप्राणादिप्राणातत्वे, स्था० ५ ठा० । कायः प्रयोजनं प्रयोजकोऽस्यातिचारस्यैति कायिकः । कायाज्जातेऽतिचारे, "जो मे अइआरो कओ काइओ वाइओ माणसिओ" आ०चू०४ अ० । काये भवं कायिकं रोगादौ, उत्त०३२ अ० ।

काइयजोग–कायिकयोग–पुं० कायेन निर्वृत्तः कायिकः योजनं योगो व्यापारः कर्म क्रियेत्यनर्थान्तरम् । कायिक्यां क्रियायाम, विशे० । " गिण्हइय काइएणं, निसिरइ तह वाइएण जोगेणं । एगंतरं च गिण्हसि निसिरइ एगंतरं चेव " विशे० । (भाषाशब्दे विवृतिः)

काइया–कायिकी–स्त्री० चीयत इति कायः शरीरं काये भवा कायेन निर्वृत्ता वा कायिकी । भ० ३ श० १ उ० । प्रज्ञा० । क्रियाभेदे, कायचेष्टायाम, स० । स्था० । ध० । हस्तादिव्यापारणे, प्रति० । कायव्यापारे,

काइया किरिया दुविहा, पन्नत्ता तंजहा अणुवरयकायकिरिया चेव दुप्पउत्तकायकिरिया चेव ॥

कायिकी द्विधा (अणुवरयकायकिरिया चेवत्ति) अनुपरतस्याविरतस्य सावद्यात् मिथ्यादृष्टेःसम्यग्दृष्टेर्वा कायक्रियोत्क्षेपादिलक्षणा कर्मबन्धनिबन्धनमनुपरतकायक्रिया तथा (दुप्पउत्तकायकिरिया चेवत्ति) दुष्प्रयुक्तस्य दुष्प्रयोगवतो दुष्प्रणिहितस्येन्द्रियाण्याश्रित्येष्टानिष्टविषयप्राप्तौ मनाक् संवेदनिर्वेदगमनेन तथाऽनिन्द्रियमाश्रित्याऽशुभमनःसंकल्पद्वारेणापवर्गमार्गे प्रति दुर्व्यवस्थितस्य प्रमत्तसंयतस्येत्यर्थः । कायक्रिया दुष्प्रयुक्तकायक्रियेति । ४ । स्था०२ ठा०१ उ०। प्रज्ञा०। आ० म० द्वि०। आ० चू० । सा पुनस्त्रिधा अविरतकायिकी दुष्प्रणिहितकायिकी उपरतकायिकी । तत्र मिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेश्चाद्या अविरतस्य कायिकी उत्क्षेपादिलक्षणा क्रिया कर्मबन्धनिबन्धना अविरतकायिकी एवमन्यत्रापि षष्ठीसमासो योज्यः । द्वितीया प्रमत्तसंयतस्य सा पुनर्द्विधा । इन्द्रियदुष्प्रणिहितकायिकी नोइन्द्रियदुष्प्रणिहितकायिकी च । तत्राद्येन्द्रियैः श्रोत्रादिभिर्दुष्प्रणिहितस्य इष्टानिष्टविषयप्राप्तौ मनाक् अग्रे निर्वेदद्वारेणापवर्गमार्गे प्रति दुर्व्यवस्थितस्य कायिकी । एवं नोइन्द्रियेण मनसा दुष्प्रणिहितस्याशुभसंकल्पद्वारेण दुर्व्यवस्थितस्य कायिकी । तृतीया अप्रमत्तसंयतस्य उपरतस्य प्रायः सावद्ययोगेभ्यो निवृत्तस्य कायिकी । गता कायिकी (आव०४ अ०) ध० मोचे मूत्रपुरीषयोः " आहारमोयमसिणाई मोपत्ति काइयं वोसिरिउं दवं ण गेण्हंति" नि० चू० १ उ० । बलीवर्दादिकायपरिश्रमसाध्यायाम, मूलधनाविरोधेन प्रत्यहमविरोधेन प्रत्यहमधमर्णदेयपणपादादिरूपायां वा वृद्धौ, च । वाच० ।

काउ–काकु–स्त्री० कक–उण्–" भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः, काकुरित्यभिधीयते " इत्युक्तलक्षणे शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेर्विकारे, विरुद्धार्थकल्पके, नञादौ शब्दे, च उदा० " गुरुपरतन्त्रतया वत, दूरतरदेशमुद्यतो गन्तुम् । अलिकुलकोकिलललितैर्नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ " नेष्यति अपि तर्हि एष्यत्येवेति काका व्यज्यते इत्युक्तम् वाच० । आचा० ।

काउँ–कर्तुम्–अव्य० कृ तुमुन् "आः कृगो भूतभविष्यतोश्च" ८।४ २१३ । इति कृ-धातोरन्त्यस्य आ । विधातुमित्यर्थे, प्रा० । कृत्वा विधायेत्यर्थे, तं० ॥

काउंबर–काकोदु (दु) म्बर–पुं० काकमीषज्जलमत्र काकस्य प्रियः उदु (दु) म्बरो वा । उदुम्बरभेदे, शब्दरत्ना० । स्वार्थे कन् अत इत्वम्, स्वार्थिकप्रत्ययस्य प्रकृतिलिङ्गव्यतिक्रमः । काकोदुम्बरिकाप्यत्र स्त्री० अमरः । वाच० । प्रज्ञा० । जी० ।

काउसग्ग–कायोत्सर्ग–पुं० कायः शरीरं तस्योत्सर्गः षष्ठीसमासः (कायोत्सर्गशब्दस्य सूचिरूपेण पञ्चदशाधिकाराः यथा)

(१) कायोत्सर्गशब्दार्थाः

(२) प्रायश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सां संपाद्य वैचित्र्येण दशधा प्रायश्चित्तभेषजं समभिहितम् ।

(३) द्रव्यभावयोर्भेदेन व्रणद्वैविध्यमनेकभेदभिन्नेनोक्तम् ।

(४) कायोत्सर्गमधिकृत्यैकादश मूलद्वाराणि निर्युक्तुक्तानि ।

(५) तृतीयविधानमार्गणामूलद्वारावयवस्य सद्व्याख्योक्ता ।

(६) चतुर्थं कालपरिमाणमूलद्वारमुक्तम् ।

(७) पञ्चमं भेदपरिणाममूलद्वारं नवभेदेनान्वितं बहुविस्तरवृत्त्या सम्यग्निरूपितं दैवसिकरात्रिकावश्यकसूत्रालापकानि सद्व्याख्योक्तानि, व्युत्सर्गातिचाराः, मुनेः क्रिया, प्रतिलेखनाविधिश्चोक्तः ।

(८) नियतानियतकायोत्सर्गावुक्तौ ।

(९) केषु केषु कार्येषु कियदुच्छ्वासमानव्युत्सर्गमत्र द्वारगाथा सद्व्याख्यया समभिहिता ।

(१०) षष्ठासठनाममूलद्वारमत्र दार्ष्टान्तिकयोजनां मायावतो दोषांश्च प्रतिपाद्य वयोबलमधिकृत्य चतुर्भङ्गयुक्ता ।

(११) सप्तमं सठनामकं मूलद्वारमत्र युक्तहेतुभिः कारकाणां कूटमनुष्ठानमुक्तम् ।

(१२) अष्टमं विधेर्मूलद्वारमत्र कथं कयारीत्या कायोत्सर्गे स्थातव्यमिति विधिः ।

(१३) नवमद्वारम् कायोत्सर्गस्य ' घोडगलयखंभाई ' इत्याद्येकोनविंशतिदोषव्याख्यागर्भितम् ।

(१४) दशमं कस्येति मूलद्वारमत्रोक्तदोषरहितस्यायं व्युत्सर्गः यथोक्तफलको भवतीत्युक्त्वा त्रिधोपसर्गसहिष्णोरेवायं भवतीति प्रदर्शितम् ।

(१५) एकादशं फलस्यात्रैहिकामुत्रिकलोकापेक्षया द्विधा फलं सुदर्शनादिनिदर्शनपूर्वकं, कर्मक्षयफलमतिचारे प्रायश्चितं च समभिहितम् ।

(१) कायोत्सर्गशब्दार्थाः ।

देहस्य कृताकारस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकक्रियान्तराध्यासमधिकृत्य परित्यागे, ल० । प्रति० । अतिचारशुध्यर्थे कायस्य व्युत्सर्जने, कायममत्ववर्जने, उत्त० २६ अ० । धर्मकायातिचारव्रणशोधके, आवश्यकश्रुतस्कन्धस्य अध्ययनविशेषे च, पा० ।

(२) प्रायश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सां संपाद्य वैचित्र्येण दशधा प्रायश्चित्तभेषजं समभिहितम् ।

तत्र कायोत्सर्गवक्तव्यता कायोत्सर्गाध्ययनात्संगृह्यते । तत्रेदं कायोत्सर्गमध्ययनमारभ्यते अस्य चायमभिसंबन्धः अनन्तराध्ययने वन्दनाद्यकरणादिना स्खलितस्य निन्दा प्रतिपादिता । इह तु स्खलितविशेषतोऽपराधव्रणविशेषसंभवादेतावता शुद्धस्य सतः प्रायश्चित्तभेषजेनापराधव्रणचिकित्सा प्रतिपाद्यते यथा प्रतिक्रमणाध्ययने मिथ्यात्वादिप्रतिक्रमणद्वारेण कर्म्मनिदानप्रतिषेधः प्रतिपादितः । यथा चोक्तम् । " मिच्छत्तपडिक्कमणं, तहेव असंयमे पडिक्कमणं । कसायाण पडिक्कमणं, जो याणमप्पसत्थाण" मित्यादि । इह तु कायोत्सर्गकरणात् प्रागुपात्तकर्म्मक्षयः प्रतिपाद्यते वक्ष्यते च " जह करगओ णिकिंतइ, दारुइतो पुणो विवच्चंतो । इअ किंतंति सुविहिआ, काउस्सग्गेण कम्माइं । काउस्सग्गे जह सुट्ठिय स्स भज्जंति अंगुवंगाइं । इअ भिंदंति सुविहिया, अट्ठविहं कम्म संघाय " मित्यादि । अथवा सामायिके चारित्रमुपवर्णितं चतुर्विंशतिस्तवे त्वर्हद्गुणस्तुतिः सा च ज्ञानदर्शनरूपा एवमिदं द्वितयमुक्तम् । अस्य च वितथासेवनमैहिकामुष्मिकापायपरिजिहीर्षुणा गुरोर्निवेदनीयं तच्च वन्दनपूर्वमित्यतस्तन्निरूपितं निवेद्य भूयः शुभोऽवस्थानेषु प्रतिक्रमण-

मासेवनीयमित्यनन्तराध्ययने तन्निरूपित इह तु तथाप्यशुद्धस्यापराधव्रणचिकित्साप्रायश्चित्तभेषजं प्रतिपाद्यते ।

तत्र प्रायश्चित्तभैषजमेव तावद्विचित्रं प्रतिपादयन्नाह ।

आलोअण१पडिक्कमणे,२मीस३विवेगे४तहा विउस्सग्गे५।
तव६ छेअ७ मूल८ अणव–ट्ठयाय९ पारंचिए चेव ॥१॥

(आलोयणत्ति) आलोचनाप्रयोजनतो हस्तशताद्बहिर्गमनादौ गुरोर्विकटना १ (पडिक्कमणेत्ति) प्रतिक्रमणं प्रतिक्रमणे सहसा समित्यादौ मिथ्यादुष्कृतकरणमित्यर्थः २ (मीसत्ति) मिश्रशब्दादिषु रागादिकरणे विकटना मिथ्यादुष्कृतावित्यर्थः ३ (विवेगेत्ति) विवेकः अनेषणीयस्य भक्तादेः कथंचिद्गृहीतस्य परित्याग इत्यर्थः ४ तथा (विउस्सगेत्ति) तथा व्युत्सर्गः कुस्वप्नादौ कायोत्सर्ग इति भावना ५ (तवेत्ति) कर्म्मतापनात्तपः पृथिव्यादिसंघट्टनादौ निर्विकृतिकादि ६ (छेयत्ति) तपसा दुर्दमस्य श्रमणपर्यायच्छेदनमिति हृदयम् ७ (मूलेत्ति) प्राणातिपातादौ पुनर्व्रतारोपणमित्यर्थः ८ (अणवट्ठायेत्ति) हस्ततालादिप्रमाददोषदुष्टतरपरिणामत्वात्तेषु नावस्थाप्यते इत्यनवस्थाप्यस्तद्भावोऽनवस्थाप्यता च ९ (पारंचिए चेवत्ति) पुरुषविशेषस्य स्वलिङ्गराजपत्न्याद्यासेवनायां पारंचिकं भवति पारं प्रायश्चित्तान्तमञ्चति गच्छति इति पारंचिकं न तत ऊर्ध्वं प्रायश्चित्तमस्तीति गाथार्थः ॥ १ ॥ एवं प्रायश्चित्तभेषजमुक्तम् ।

(३) सांप्रतं व्रणः प्रतिपाद्यते स च द्विभेदः द्रव्यव्रणो भावव्रणश्च । द्रव्यव्रणः शरीरक्षतलक्षणः। असावपि द्विविध एव तथा चाह ।

दुविहो कायम्मि वणो, तदुब्भवागंतुगो अ नायव्वो ।
आगंतुगस्स कीरइ, सल्लुद्धरणं न इअरस्स ॥ २ ॥

द्विविधो द्विप्रकारः (कायम्मि वणोत्ति) चीयत इति कायः शरीरमित्यर्थः तस्मिन् व्रणः क्षतलक्षणः । द्वैविध्यं दर्शयति । तस्मिन्नुद्भवोऽस्येति गण्डादिरागन्तुकश्च ज्ञातव्यः । आगन्तुकः कण्टकादिप्रभवः तत्रागन्तुकश्च क्रियते शल्योद्धरणं नेतरस्य तदुद्भवो वास्येति गाथार्थः ।२।

यद्यस्य यथोद्ध्रियते उत्तरपरिकर्म्म च क्रियते द्रव्यव्रणे एव तदभिधित्सुराह ।

तणुओ तिक्खतुंमो, असोणिओ केवलं तयालग्गो ।
उद्धरिओ अवणिज्जइ, सल्लो न मलिज्जइ वणओ ॥३॥
लग्गुद्धिअम्मि बीए, मइलिज्ज परं अदूरगे सल्ले ।
उद्धरणमलणपूरण–दूरयरगए तईअम्मि ॥ ४ ॥

(तणुओ) तनुरेव तनुकः कृश इत्यर्थः । न तीक्ष्णतुण्डमतीक्ष्णमुखमिति भावः । न यस्मिन् शोणितं विद्यत इत्यशोणितं केवलं नवरं त्वक्स्थं बाह्यत्वाविलग्नमुद्धृत्य (अवणिज्जइ सल्लोत्ति) परित्यज्यते शल्यं प्राकृतशैल्याऽत्र पुल्लिङ्गनिर्देशः (ण मलिज्जइ वणो) न च मृज्यते व्रणः अल्पत्वाच्छल्यस्येति गाथार्थः ॥ ३ ॥ प्रथमशल्यजेऽयं विधिः । द्वितीयादिशल्यजे पुनरयं (लग्गुद्धितम्मिगाहा) लग्नमुद्धृतं तस्मिन् द्वितीये वास्मिन् अदूरगते शल्ये इति योगः मनाग् दृढलग्न इति भावना । अत्र (मलिज्जति परंति) मृज्यते यदि परं व्रण इति उद्धरणं शल्यस्य मर्दनं व्रणस्य पूरणं कर्णमलादिना तस्यैवैतानि क्रियन्ते दूरतरगते तृतीये शल्ये इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

मा वेअणा उ तो उ–द्धरिउ गालंति सोणिअं चउत्थे ।
रुज्झइ लहुंति चिट्ठा, वारिज्जइ पंचमे वणिणो ॥ ५ ॥

मा वेदना भविष्यतीति तत उद्धृत्य शल्यं गालयति शोणितं चतुर्थे शल्ये इति तथा रुध्यतां शीघ्रमिति चेष्टा परिस्पन्दनादिलक्षणा वार्यते निषिध्यते पञ्चमे शल्ये उद्धृते व्रणोऽस्यास्तीति व्रणी तस्य व्रणिनः रौद्रतरत्वाच्छल्यस्येति गाथार्थः ।५।

रोहेइ वणं छट्ठे, हिअमिअभोई अभुंजमाणो वा ।
तित्तिअमित्तं छिज्जइ, सत्तमए पूइमंसाई ॥ ६ ॥

रोहयति व्रणं षष्ठे शल्ये उद्धृते सति हितमितभोजी हितं पथ्यं मितं स्तोकं अभुञ्जानो वा तथा यावच्छल्येन दूषितं (तत्तियमित्तंति) तावन्मात्रं छिद्यते सप्तमे शल्ये उद्धृते किं पूतिमांसादीति गाथार्थः ॥६॥

तह वि य अट्ठायमाणे, गोणसभक्खिअाइरप्फिए वा पि ।
कीरइ तदंगछेओ, स अट्ठिओ सेसरक्खट्ठा ॥ ७ ॥

तथापि च (अट्ठायमाणेत्ति) अतिष्ठति सति विसर्पतीत्यर्थः । गोनसभक्षितादौ रस्फिके वापि क्रियते तदङ्गच्छेदः सहास्था शेषरक्षार्थमिति गाथार्थः । एवं तावद्द्रव्यव्रणचिकित्सा च प्रतिपादिता ॥७॥

अधुना भावव्रणः प्रतिपाद्यते ।

मुलुत्तरगुणरूवस्स, ताइणो परमचरणपुरिसस्स ।
अवराहसल्लपभवो, भाववणो होइ नायव्वो ॥ ८ ॥

इयमन्यकर्तृका सोपयोगा चेति व्याख्यायते मूलगुणाः प्राणातिपातादिविरमणलक्षणा उत्तरगुणाः पिण्डविशुद्ध्यादयः एत एव रूपं यस्य स मूलगुणोत्तरगुणरूपः तस्य तायिनः परमस्यास्य चरणपुरुषस्येति समासान्तस्यापराधा गोचरादिगोचराः त एव शल्यानि तेभ्यः प्रभवः संभवो यस्य स तथाविधभावव्रणो भवतीति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥८॥

साम्प्रतमस्यानेकभेदभिन्नस्य व्रणस्य विचित्रप्रायश्चित्तभेषजेन चिकित्सा प्रतिपाद्यते ।

भिक्खायरिआइ सुज्झइ, अइआरो कोई विअमणाए उ ।
बिइओ अ असमिओ मित्ति,कीस सहसा अगुत्तो वा ॥९॥

भिक्षाचर्यादिः शुद्ध्यत्यतिचारः कश्चिद्विकटनयैवालोचनयैवेत्यर्थः । आदिशब्दाद्विहारभूम्यादिगमनजो गृह्यते अत्राऽतिचार एव व्रण एवं सर्वत्र योज्यम । (बितिओत्ति) द्वितीयो व्रणोऽप्रत्युपेक्षितखेलविवेकादौ हा असमितोऽस्मीति किमिति सहसा अगुप्तो वा मिथ्यादुष्कृतमिति चिकित्सेत्ययं गाथार्थः ॥ ९ ॥

सद्दाइएसु रागं, दोसं व मणे गओ तइअवणो ।
नाउं अणेसणिज्जं, भत्ताइविगिंचण चउत्थे ॥ १० ॥

शब्दादिष्विष्टानिष्टेषु रागं द्वेषं च मनसा गतः अत्र (तइयवणोत्ति) तृतीयो व्रणः मिश्रभेषजचिकित्सा आलोचनाप्रतिक्रमणशोध्य इत्यर्थः ज्ञात्वा अनेषणीयभक्त्यादि विकिंचना चतुर्थ इति गाथार्थः ॥

उस्सग्गेण वि सुज्झइ, अइआरो कोइ कोइ उ तवेणं ।
तेणं वि असुज्झमाणं, छेअविसेसो विसोहिं ति ॥११॥

कायोत्सर्गेणापि शुद्ध्यति अतिचारः कश्चित्कुस्वप्नादि कश्चित्तु तपसा पृथिव्यादिसंघट्टनादिजन्यो निर्विकृतिकादिना षण्मासं

तेनाप्यशुध्यमानं तथाभूतं गुरुतरं भेदविशेषा विशोधयन्तीति गाथार्थः ॥ ११ ॥ एवं सप्तप्रकारभावव्रणचिकित्साऽपि प्रदर्शिता मूलादीनि तु विषयनिरूपणद्वारेण स्वस्थानादवसेयानि नेह वितन्यन्ते इत्युक्तमानुषङ्गिकम् । प्रकृतं प्रस्तुमः । एवमनेनानेकरूपेण संबन्धेनायातस्य कायोत्सर्गाध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वक्तव्यानि तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे कायोत्सर्गाध्ययनमिति कायोत्सर्गाध्ययनं च ।

(४) कायोत्सर्गमधिकृत्य द्वारगाथामाह निर्युक्तिकारः ।

निक्खेवे १ गट्ठ २ विहाण, मग्गण ३ काल ४ भेअपरिमा-
णे ५ । असढ ६ सढे ७ विहि ८ दोसा, ९ कस्स त्ति १०
फलं च ११ दाराइ ॥ १२ ॥

(णिक्खेवेत्ति) कायोत्सर्गस्य नामादिलक्षणो निक्षेपः कार्यः १ (एगट्ठित्ति) एकार्थकानि वक्तव्यानि (विहाणमग्गत्ति) विधानं भेदोऽभिधीयते भेदमार्गणा कार्या ३ (कालभेदपरिणामेत्ति) कालभेदपरिमाणमभिभवकायोत्सर्गादिना वक्तव्यम् ४ भेदपरिमाणमुत्थितादिकायोत्सर्गभेदानां च यावन्तस्ते इति ५ (असढत्ति) असठकायोत्सर्गकर्त्ता वक्तव्य ६ स्तथा सठश्च वक्तव्यः ७ (विहित्ति) कायोत्सर्गकरणविधिर्वाच्यः ८ (दोसत्ति) कायोत्सर्गदोषाश्च वक्तव्याः ९ (कस्सत्ति) कस्य कायोत्सर्ग इति वक्तव्यम् १० (फलं चत्ति) ऐहिकामुष्मिकभेदफलं च वक्तव्यम् ११ (दाराइत्ति) एतावन्ति द्वाराणीति गाथासमासार्थः ॥ १२ ॥

काए उस्सग्गम्मि अ, निक्खेवे हुंति दुन्नि उ विगप्पा ।
एएसिं दुण्हंपी, पत्तेअपरूवणं वुच्छं ॥ १३ ॥

व्यासार्थं तु प्रतिद्वारं भाष्यकृदेवाभिधास्यति (काएत्ति १३) तत्र काये कायस्य उत्सर्गः कायोत्सर्गविषयश्च एवं निक्षेपनिक्षेपविषयौ भवतः द्वावेव विकल्पौ द्वावेव भेदौ अनयोर्द्वयोरुत्सर्गविकल्पयोः प्रातिकीं प्ररूपणां वक्ष्य इति गाथार्थः ॥ १३ ॥ (कायशब्दनिक्षेपः कायशब्दे वक्ष्यते । उस्सग्गशब्दे उत्सर्गनिक्षेप उक्तः)

अधुना इह एकार्थकान्युच्यन्ते तत्रेयं गाथा ।

उस्सग्ग १ विउस्सरण २ उज्झणा य,
३ अवकिरण ४ छड्डण ५ विवेगो ६ ।
वज्जण ७ चयणु ८ म्मुअणा, ९
परिसाडण १० साडणा चेव ॥४०॥

उत्सर्गः व्युत्सर्जना उज्झना च अवकिरणं छर्दनं विवेकः वर्जनं त्यजनम् उन्मोचना परिशातना शातना चैवेति गाथार्थः । मूलद्वारगाथायामुक्तान्युत्सर्गैकार्थकानि ततश्च कायोत्सर्ग इति स्थितं कायस्य उत्सर्गः कायोत्सर्ग इति ।

(५) इदानीं मूलद्वारगाथागतविधानमार्गणाद्वारावयवार्थव्याचिख्यासयाह ।

उस्सग्गे निक्खेवो, चउक्कओ छक्कओ अ कायव्वो ।
निक्खेवं काऊणं, परूवणा तस्स कायव्वा ॥४१॥

सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिभवे अ णायव्वो ।
भिक्खायरिआइ पढमो, उवसग्गाभिजुंजणे बीओ ॥४२॥

कायोत्सर्गो द्विविधः (चेट्ठाए अभिभवेयणायव्वो) चेष्टायामभिभवे च ज्ञातव्यः । तत्र (भिक्खायरियाइ पढमो) भिक्षाचर्यादौ विषये प्रथमश्चेष्टा कायोत्सर्गस्तथाहि चेष्टाविषय एवासौ भवतीति (उवसग्गाभिजुंजणे बितिओ) उपसर्गा दिव्यादयस्तैरभियोजनमुपसर्गाभियोजनं तस्मिन्नुपसर्गाभियोजने द्वितीयोऽभिभवकायोत्सर्ग इत्यर्थः । दिव्याद्यभिभूत एव महामुनिस्तदैवायं करोतीति हृदयम् । अथवा उपसर्गेणाभियोजनं सोढव्यमथोपसर्गास्तद्भयं न कार्यमित्येवंभूतं तस्मिन् द्वितीय इति गाथार्थः ॥४२॥

इत्थं प्रतिपादिते सत्याह चोदकः कायोत्सर्गे हि साधूनां नोपसर्गाभियोजनं कार्यम् ॥

इहरह वि ता न जुज्जइ, अभिओगो किं पुणाइ उस्सग्गे ।
नणु गव्वेण परपुरं, अभिगिज्जइ एवमेअं पि ॥४३॥

इतरथाऽपि सामान्यकार्येऽपि तावत्कचिदवस्थानादौ न युज्यतेऽभियोगः । कस्यचित्कर्तुं (किं पुणाइ उस्सग्गेत्ति) किं पुनः कायोत्सर्गकर्म्मक्रियाय क्रियमाणे स हि सुतरां गर्वरहितेन कार्यः । अभियोगश्च गर्वो वर्त्तते नन्वित्यसूयया गर्वेणाभियोगेन परपुरं शत्रुनगरमभिगृह्यते यथा तद्गर्वकरणमसाधु एवमेतदपि कायोत्सर्गेऽभियोजनमशोभनमेवेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

इत्थं चोदकेनोक्ते सत्याहाचार्यः ।

मोहपयमीभयं अभि-भवितुं जो कुणइ काउसग्गं तु ।
भयकारणे उ तिविहे, नाभिभवो नेह पडिसेहो ॥४४॥

मोहप्रकृतितो भयं मोहप्रकृतिभयम् । अथवा मोहप्रकृतिश्चासौ भयंमिति समासः मोहनीयकर्म्मभेद इत्यर्थः । तथा हास्यरत्यरतिभयशोकजुगुप्साषट्कं मोहनीयभेदतया प्रतीतं तत् अभिभवितुमभिभूय कश्चित्करोति कायोत्सर्गम् । तुशब्दो विशेषणार्थः नान्यत् किंचन बाह्यमभिभूयेति भयकारणे तु त्रिविधे बाह्ये (भयकारणेति) दिव्यमनुष्यतिर्यग्भेदभिन्ने सति तस्य नाभिभवः नाभियोगः । अथ इत्थंभूतोऽप्यभियोगः इत्यत्रोच्यते (णेहपमिसेहो) इत्थंभूतस्याभियोगस्य नैव प्रतिषेध इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥ किंतु ।

आगारेऊण परं, रणिव्व जइ सो करिज्ज उस्सग्गं ।
जुज्जए अभिभवो तो, तदभावे अभिभवो कस्स ॥४५॥

(आगारेऊणत्ति) आकार्य रे क यास्यसि इदानीमेवं परमन्यं कंचन (रणिव्व) संग्राम इव यदि स कुर्यात्कायोत्सर्गं युज्यते अभिभवस्ततः तदभावे पराभावे अभिभवः कस्यचिदिति गाथार्थः ॥४५॥ तत्रैतस्मादृयमपि कर्मांशो वर्त्तते कर्म्मणोऽपि चाभिभवः चोदकोक्तः खल्वेकान्तेन नैव कार्य एत्येतच्चायुक्तम् यतः ।

अट्ठविहं पि अ कम्मं, अरिभूअं तेण तज्जयट्ठाए ।
अब्भुट्ठिआ उ तवसं-जमं च कुव्वंति निग्गंथा ॥४६॥

अष्टविधमप्यष्टप्रकारमपि चशब्दो विशेषणार्थस्तस्य व्यवहितः संबन्धः (अट्ठविहं पि अ कम्मं अरिभूतं च) ततश्चायमर्थः यस्माद्ज्ञानावरणीयादि अरिभूतं शत्रुभूतं वर्त्तते भवति बन्धनत्वात् चशब्दादचेतनं चेतनकारणं न तज्जयार्थं कर्म्मजयनिमित्तम (अब्भुट्ठियाउत्ति) आभिमुख्येनोत्थिता एव एकान्तेन गर्वविकला अपि तपो द्वादशप्रकारं संयमं च सप्तदशप्रकारं कुर्वन्ति निर्ग्रन्थाः साधव इत्यतः कर्म्मजयार्थमेव स्यादिति भावनापि कायोत्सर्गे कार्यैवेति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

तथा चाह ।

तस्स कसाया चत्तारि, नायगा कम्मसत्तुसिन्नस्स ।
काउस्सग्गमभंगं, करेंति तो तज्जयट्ठाए ॥ ४७ ॥

तस्य प्रकृतशत्रुसैन्यस्य कषायाः प्राग्निरूपितस्वरूपाश्चत्वारः क्रोधादयो नायकाः प्रधानाः [काउस्सग्गमजंगं करेंति तो तज्जयद्वापत्ति] कायोत्सर्गमपीमिमं कुर्वन्ति साधवस्ततस्तज्जयनिमित्तं तपःसंयमवदिति गाथार्थः ॥४७॥ गतमूलगाथायां-विधानमार्गणाद्वारम् ।

(६) अधुना कालपरिमाणद्वारावसरस्तत्रेयं गाथा ।

संवच्छरमुक्कोसं, अंतमुहुत्तं च अभिभवस्सग्गे ।
चेट्ठा उस्सग्गस्सउ, कालपमाणं उवरि वुच्छं ॥ ४८ ॥

" संवच्छर " इत्यादि संवत्सरमुत्कृष्टकालपरिमाणं तथा च बाहुबलिना संवत्सरकायोत्सर्गः कृत इति (अंतोमुहुत्तं च) अभिभवकायोत्सर्गे अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकालपरिमाणमभिभवकायोत्सर्गे इति चेष्टा कायोत्सर्गस्य तु कालपरिमाणमनेकभेदभिन्नम् (उवरि वोच्छंति] उपरिष्टाद्वक्ष्याम इति गाथार्थः ॥४८॥ उक्तं तावदोघतः कायोत्सर्गपरिमाणद्वारम् ।

(७) अधुना भेदपरिमाणमधिकृत्याह ।

उसिउस्सिओ अ १ तह उ–स्सिओ अ २ उस्सिअ-निसन्नओ चेव ३ । निसन्नउसिओ ४ निसन्नो, ५ निसन्नगनिसन्नओ चेव ६ ॥ ४९ ॥ निवन्नुसिओ ७ निवन्नो, ८ निवन्नगनिवन्नगो अ नायव्वो ९ । एएसिं तु पयाणं, पत्तेअपरूवणं वोच्छं ॥ ५० ॥

उत्सृतोत्सृतः १ उत्सृतश्च २ उत्सृतनिषण्णः ३ निषण्णोत्सृतः ४ निषण्णः ५ निषण्णनिषण्ण ६ श्चैवेति गाथासमासार्थः ॥ ४९ ॥ [णिवन्नुसिउगाहा] निषण्णोत्सृतः ७ निपन्नः ८ निपन्ननिपन्न ९ श्च ज्ञातव्यः । एतेषां तु पदानां प्रत्येकं प्ररूपणं वक्ष्ये इति गाथासमासार्थः ॥ ५० ॥

अवयवार्थमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः तत्र ।

उस्सिअनिस्सन्नगनिव–न्नगे अ इक्किक्कगम्मि पदे ।
दव्वेण य भावेण य, चउक्कभयणा उ कायव्वा ॥५१॥

उत्सृतनिषण्णनिपन्नेषु एकैकस्मिन्नेव पदे [दव्वेण य भावेण य] द्रव्यभावाभ्यां चतुष्कभजना कार्या । "चउक्कभयणा उ कायव्वा" द्रव्यतः उत्सृतः कर्ध्वस्थानस्थः भावतः धर्मशुक्लध्यायी १ अन्यस्तु द्रव्यत उत्सृतः ऊर्ध्वस्थानस्थो न भावत उत्सृतः ध्यानचतुष्टयरहितः कृष्णादिलेश्यां गतपरिणाम इत्यर्थः २ अन्यस्तु न द्रव्यत उत्सृत ऊर्ध्वस्थानस्थो भावत उत्सृतः धर्मशुक्लध्यायी ३ अन्यस्तु न द्रव्यतो नापि भावतः । इत्ययं प्रतीतार्थे एवमन्यपदचतुर्भङ्गकावपि वक्तव्याविति गाथार्थः ॥ ५१ ॥ इत्थं सामान्येन भेदपरिमाणे निदर्शिते सत्याह चोदकः । ननु कायोत्सर्गकरणे कः पुनर्गुण इत्यत्राहाचार्यः ।

देहमइजड्डसुद्धी, सुहदुक्खतितिक्खया अणुप्पेहा ।
झायइ अ सुहं झाणं, एगग्गो काउस्सग्गम्मि ॥५२॥

(देहमइजड्डसुद्धित्ति) देहजड्यशुद्धिः श्लेष्मादिप्रहाणतो मतिजाड्यशुद्धिस्तथावस्थितस्योपयोगविशेषतः (सुहदुक्खतितिक्खयत्ति) सुखदुःखतितिक्षा सुखदुःखातिसहनमित्यर्थः [अणुप्पेहा) अनित्यत्वाद्यनुत्प्रेक्षा च तथा ऽवस्थितस्य भवति । तथा [झायइ य सुहं झाणंति] ध्यायति च शुभध्यानं धर्मशुक्ललक्षणम् एकाग्र एकचित्तः शेषव्यापाराभावात्कायोत्सर्गे इति इहानुत्प्रेक्षा ध्यानादौ ध्यानोपरमे च भवतीति कृत्वा भेदेनोपन्यस्तेति गाथार्थः ॥ ५२ ॥ इह ध्यायति च शुभध्यानमित्युक्तं तत्र किमिदं ध्यानमित्यत आह ।

अंतोमुहुत्तकालं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं ।
तं पुण अट्टं रुद्दं, धम्मं सुक्कं च नायव्वं ॥ ५३ ॥

द्विघटिको मुहूर्त्तः भिन्नो मुहूर्त्त इत्युच्यतेऽन्तर्मुहूर्त्तकालं चित्तस्यैकाग्रता भवति ध्यानमिति कृत्वा तत्पुनरार्त्तं रौद्रं धर्मं शुक्लं च ज्ञातव्यमिति । तथा च स्वरूपं यथा प्रतिक्रमणाध्ययने प्रतिपादितं तथैव द्रष्टव्यमिति गाथार्थः ॥ ५३ ॥

तत्थ उ दो आइल्ला, झाणा संसारवड्डणा भणिया ।
दुन्नि य विमुक्कहेऊ, ते हहिगारो न इयरेहिं ॥५४॥

निगदसिद्धा । सांप्रतं यदा भूतो यत्र यथा स्थितो यच्च ध्यायति तदेतदभिधित्सुराह ।

संवरिआसवदारो, अव्वाबाहे अकंटए देसे ।
काऊण थिरं ठाणं, ठिओ निसन्नो निवन्नो वा ॥५५॥
चेअणमचेअणं वा, वत्थुं अवलंबिउं घणं मणसा ।
झायइ सुअमत्थं वा, दविअं तप्पज्जए वा वि ॥५६॥

(संवरिआसवदारोत्ति) संवृतानि स्थगितानि आश्रवद्वाराणि प्राणातिपातादीनि येन स तथाविधः ध्यायति (अव्वाबाधे अकंटए देसत्ति) अव्याबाधे गन्धर्वादिलक्षणभावाव्याबाधाविकले अकण्टके पाषाणादिद्रव्यकण्टकविकले देशे भूभागे कथं व्यवस्थितो ध्यायति (काऊण थिरं ठाणं ठितो णिसण्णो निवण्णो वा) कृत्वा स्थिरं निष्प्रकम्पनं स्थानमवस्थितविशेषलक्षणं स्थितो निषण्णो निवण्णो वेति प्रकटार्थः । चेतनं पुरुषादि अचेतनं प्रतिमादि वस्तु अवलम्ब्य विषयीकृत्य घनं दृढमनसा अन्तःकरणेन ध्यायति "सुयं वा अत्थं वा" ध्यायति संबध्यते सूत्रं गणधरादिनिबद्धम् अर्थं वा तद्गोचरम् किंभूतमर्थमित्यत आह [दवियं तप्पज्जवेयावि] द्रव्यं तत्पर्यायान् वा इह च यदा सूत्रं ध्यायति तदा तदेव सूत्रगतधर्ममालोचयति न त्वर्थं यदार्थं न तदा सूत्रमिति गाथाद्वयार्थः ॥५६॥

अधुनाप्रकटप्रकृत एव कुचोद्यपरिहारायाह ।

तत्थ उ भणिज्ज कोई, झाणं जो माणसो परीणामो ।
तं न भवइ जिणदिट्ठं, झाणं तिविहे वि जोगम्मि ॥५७॥

तत्र भणेत् ब्रूयात् कश्चित् किं ब्रूयादित्याह । (झाणं जो माणसो परिणामोत्ति) ध्यानं यो मानसः परिणामः ध्यै चिन्तायामित्यस्य चिन्तार्थत्वादित्थमाशङ्क्योत्तरमाह । तन्न भवति [जिणदिट्ठं झाणं तिविहे वि जोगम्मि) तदेतन्न भवति तत्परेणाभ्यधायि कुतः यस्माज्जिनैर्दृष्टं ध्यानं त्रिविधेऽपि योगे मनोवाक्कायलक्षण इति गाथार्थः ॥५७॥ किंतु कस्यचित्कदाचित्प्राधान्यमाश्रित्य भेदेन व्यपदेशः प्रवर्तते तथा चामुमेव न्यायं प्रदर्शयन्नाह ।

वायाई धाऊणं, जो जाहे होइ उक्कडो धाऊ ।
कुविउत्ति सो पवुच्चइ, न य इअरे तत्थ दो नत्थि ॥५८॥

वातादिधातूनामादिशब्दात्पित्तश्लेष्मणां यो यदा भवत्युत्कटः प्रचुरो धातुः कुपित इति स प्रोच्यते उत्कटत्वेन प्राधान्यात् (न य इयरे तत्थ दो नत्थित्ति) न चेतरौ तत्र द्वौ नास्त इति गाथार्थः ॥५८॥

एमेव य जोगाणं, तिण्हवि जो जाहि उक्कमो जोगो ।

तस्स तहिं निद्देसो, इअरे तत्थिक दो व न वा ॥५६॥

एवमेव च योगानां मनोवाक्कायानां त्रयाणामपि यो यदा उत्कटः योगस्तस्य योगस्य तदा तस्मिन्काले निर्देशः (इतरेतत्थिक दो व न वा) इतरस्तत्रैको भवति द्वौ वा भवतः न वा भवत्येव। इयमत्र भावना केवलिनः वाचि उत्कटायां कायोऽप्यस्ति अस्मदादीनां तु मनः कायो न चेति केवलिनः एव शैलेश्यवस्थायां काययोगनिरोधकाले स एव केवल इत्यनेन च शुभयोगोत्कटत्वं तथा निरोधश्च द्वयमपि ध्यानमित्यादि वेदितव्यमिति गाथार्थः ॥ ५९ ॥ इत्थं य उत्कटो योगस्तस्यैवेतराऽसद्भावेऽपि प्राधान्यात् सामान्येन तमभिधायाधुना विशेषेण त्रिप्रकारमप्युपदर्शयन्नाह।

काए वि अ अज्झप्पं, वायाइमणस्स चेव जह होइ ।
कायवयमणो जुत्तं, तिविहं अज्झप्पमाहंसु ॥६०॥

कायेऽपि च अध्यात्मनि वर्त्तत इत्यध्यात्मं ध्यानमित्यर्थः । एकाग्रतया एजनादिनिरोधात् (वायाएवि) तथा वाचि अध्यात्मं तथा एकाग्रतयैवायतभाषानिरोधात् [मणस्स चेव जह होइत्ति] मनसश्चैव यथा भवत्यध्यात्मम् । एवं कायेऽपि वाचि चेत्यर्थः । एवं भेदेनाभिधायाधुनैकदैवोपदर्शयन्नाह " कायवाङ्मनोयुक्तं त्रिविधमध्यात्ममाख्यातवन्तस्तीर्थकरा गणधराश्च वदयन्ते च " भंगियं सुयं गुणं ते वट्टइ तिविहे जोग " मिति गाथार्थः ॥६०॥

पराभ्युपगतध्यानसाम्यप्रदर्शनेनानभ्युपगतयोरपि ध्यानतां प्रदर्शयन्नाह ।

जइ एगग्गं चित्तं, धारयओ वा निरुंभओ वा वि ।
झाणं होइ ननु तहो, इअरेसु वि दोसु एमेव ॥६१॥

हे आयुष्मन्यद्येकाग्रं चित्तं कचिद्वस्तुनि धारयतो वा स्थिरतया देहव्यापिविषवद्धृङ्क इति निरुन्धतो वा चित्तनिरुधानस्य वा तदपि योगनिरोध इव केवलिनः किमित्याह ध्यानं भवति मानसं यथा तथा इतरयोरपि द्वयोर्वाक्काययोरेवमेव एकाग्रधारणादिनैव प्रकारेण तल्लक्षणयोगध्यानं भवतीति गाथार्थः ॥६१॥ इत्थं त्रिविधे ध्याने सति यस्य यदोत्कटत्वं तस्य तदेतरसद्भावेऽपि प्राधान्याद्व्यपदेश इति लोकोत्तरानुगतश्चायं न्यायो वर्त्तते तथाचाह ।

देसिअदंसिअमग्गे, वच्चंतो नरवई लहइ सद्दं ।
रायत्ति एस वच्चइ, सेसे अणुगामिणो तस्स ॥६२॥

देशयतीति देशकः अग्रयायी। देशकेन दर्शितो मार्गः पन्था यस्य स तथोच्यते व्रजन् गच्छन् नरपती राजा लभते शब्दं प्राप्नोति । शब्दं किं भूतमित्याह (रायत्ति एव वच्चइ त्ति) राजा एष व्रजतीति न चासौ केवलः प्रभूतलोकानुगतत्वाश्च तदन्यव्यपदेशस्तेषामप्राधान्यात् तथा चाह [सेसा अणुगामिणो तस्सत्ति] शेषा अमात्यादयः अनुगामिनोऽनुयातारस्तस्य राज्ञः इत्यतः प्राधान्याद्राजेति व्यपदेश इति गाथार्थः॥६२॥

अयं लोकानुगतो न्यायः अयं पुनर्लोकोत्तरानुगतः ।

पढमिल्लुगस्स उदए, कोहस्सिअरे वि तिन्नि तत्थ त्थि ।
न य ते न संति तहिअ, नयपाहन्नं तहेअं पि ॥६३॥

प्रथम एव प्रथमेल्लुकः । प्रथमत्वं चास्य सम्यग्दर्शनाख्यप्रथमगुणघातित्वात्तस्य प्रथमेल्लुकस्य उदये कस्य क्रोधस्य अनन्तानुबन्धिन इत्यर्थः । [इयरे वि तिन्नि तत्थ त्थि] शेषा अपि त्रयः अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनोदयवन्तस्तत्र जीवद्रव्ये सति न चातीताद्यपेक्षया तत्सद्भावः प्रतिपाद्यते । यत आह [न य ते न संति तहिअं] न च ते अप्रत्याख्यानावरणादयो न सन्ति तदा किंतु सन्त्येव नच प्राधान्यं तेषामतो न व्यपदेशः। आद्यस्यैव व्यपदेशः [तहेयं पि] तथैतदप्यधिकृतं वेदितव्यमिति गाथार्थः ॥६३॥

अधुना स्वरूपतः कायिकं मानसं च ध्यानमावेदयन्नाह ।

मा मे एअउ काओ त्ति, अचलओ काइअं हवइ झाणं ।
एमेव य माणसिअं, निरुद्धमणसो हवइ झाणं ॥६४॥

मा मे मम [एअउ काउत्ति] एजतु कम्पतां कायो देह इति एवमचलत एकाग्रतया स्थितस्येति भावना । किं कायेन निर्वृत्तं कायिकं भवति ध्यानम् एवमेव मानसं निरुद्धं मनसो भवति ध्यानमिति गाथार्थः ॥६४॥

इत्थं प्रतिपादिते सत्याह चोदकः ।

जइ कायमणनिरोहे, झाणं वायाइजुज्जइ न एवं ।
तम्हा वई उ जाणं, न होइ को वा वि सेसुत्थ ॥६५॥

ननु यथा कायमनसो निरोधे ध्यानं प्रतिपादितं भवता [वायाए जुज्जइ न एवंति] वाचि युज्यते [ण एवंति] नैवं कदाचिदप्रवृत्त्यैव निरोधाभावात् । तथाहि न कायमनसी यथा सदावृत्ते तथा वागिति । [तम्हावति तु झाणं नहोई] तस्माद्वाग्ध्यानं न भवत्येव तुशब्दस्यैवकारार्थत्वाद्व्यवहितप्रयोगाच्च को वा विशेषोऽत्र येनेत्थमपि व्यवस्थिते सति वाक्प्राधान्यं भवतीति गाथार्थः ।

इत्यं चोदकेनोक्ते सत्याह गुरुः ।

मा मे चलउ त्ति तणू, जह तं झाणं णिरेइणो होइ ।
अजया भासविवज्जिस्स, वाइअं झाणमेवं तु ॥६६॥

मा मे चलतु कम्पतामितिशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगः । तं दर्शयिष्यामः तनुः शरीरमेवं चलनक्रियानिरोधेन यथा तद्ध्यानं [णिरियणो होत्ति] निरेजनस्य निष्कम्पस्य भवति [अजयाभासविविज्जिरस्स वाइयं झाणमेवं तु] अयतो भाषाविवर्जिनो दुष्टवाक्यरहितस्येत्यर्थः । वाचिकध्यानमेव यथा कायिकं तुशब्दोऽवधारणार्थ इति गाथार्थः ।

साम्प्रतं स्वरूपत एव वाचिकध्यानमुपदर्शयन्नाह ।

एवंविहा गिरा मे, वत्तव्वा एरिसा न वत्तव्वा ।
इअ वेआलिअवक्कस्स, भासओ वाइअं झाणं ॥६७॥

एवंविधेति निरवद्या गीर्वागुच्यते मेति मया वक्तव्या । [एरिसित्ति] ईदृशी सावद्या न वक्तव्या [इयवेयाज़ियवक्कस्स भासंतो वाचिअं झाणं] एवमेकाग्रतया विचारितवाक्यस्य सतो भाषमाणस्य वाचिकं ध्यानमिति गाथार्थः ॥६७॥

एवं तावद्व्यवहारभेदेन त्रिविधमपि ध्यानमावेदितमधुनैकदैव एकत्रैव त्रिविधमपि दर्श्यते ।

मणसा वावारंतो, कायं वायं च तप्परीणामो ।
भंगिअसुअं गुणंतो, वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि ॥६८॥

मनसाऽन्तःकरणेनोपयुक्तः सन्व्यापारयन्कायं देहं च वाचं च भारतीं च [तप्परिणामोत्ति] तत्परिणामो विवक्षितश्रुतपरिणामः । अथवा तत्परिणामो योगत्रयपरिणामः । स तथाविधः शस्तो योगत्रयपरिणामो यस्यासौ तत्परिणाम इति । तद्भङ्गि-

कश्चुतद्दृष्टिवादान्तर्गतमन्यद्वा तथाविधः [गुणंतोत्ति] गुणयन् वर्त्तते त्रिविधेऽपि ध्याने मनोवाक्कायव्यापारलक्षण इति गाथार्थः ॥६८॥ अवसातमानुषङ्गिकं साम्प्रतं भेदपरिणामं प्रतिपादयन्ना उत्थितोत्थितादिभेदो यो नवधा कायोत्सर्ग उपन्यस्तः स यथायोगं व्याख्यायत इति । तत्र

धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइ जो ठिओ संतो ।
एसो काउस्सग्गो, उसिउसिओ होइ नायव्वो ॥६ए॥

धर्मं शुक्लं च प्राक्प्रतिपादितस्वरूपमेते द्वे ध्यायते ध्याने यः कश्चित्स्थितः सन् एष कायोत्सर्ग उत्थितो नवति ज्ञातव्यो यस्मादिह शरीरमुत्थितभावोऽपि धर्मं शुक्लं ध्यात्वा उत्थित एवेति गाथार्थः ॥६६॥ गतः खल्वेको भेदः ।

अधुना द्वितीयः प्रतिपाद्यते ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि अ अट्टरुद्दाइं ।
एसो काउस्सग्गो, दव्वुसिओ होइ नायव्वो ॥७०॥

धर्मं शुक्लं च द्वे नापि ध्यायति नापि आर्त्तरौद्रे एष कायोत्सर्गो द्रव्योत्थितो भवतीति ज्ञातव्य इति गाथार्थः ।

कस्यां पुनरवस्थायां न शुभं ध्यानं ध्यायति नाप्यशुभमित्यत्रोच्यते ।

पयलायं तसु सुत्तो, नेव सुहं झाइ झाणमसुहं वा ।
अव्वावारिअचित्तो, जागरमाणो वि एमेव ॥७१॥

प्रचलायमान ईषत्स्वपन्नित्यर्थः [सुत्तेति] सुष्ठु सुप्तः स खलु नैव शुभं ध्यायति ध्यानं धर्मं शुक्ललक्षणं अशुभं वा आर्त्तरौद्रलक्षणं न व्यापारितं क्वचिद्वस्तुनि चित्तं येन स अव्यापारितचित्तः यश्चिरं जाग्रदपि एवमेव शुभं ध्यायति नाप्यशुभमिति गाथार्थः ॥७१॥ किं च

अचिरोववन्नगाणं, मुच्छिअ अव्वत्तमत्तसुत्ताणं ।
ओहारिअमव्वत्तं, च होइ पाएण चित्तंति ॥७२॥

न चिरोपपन्नका अचिरोपपन्नकास्तेषामचिरोपपन्नानामचिरजातानामित्यर्थः । मूर्च्छिताव्यक्तमत्तसुप्तात्मनां मूर्च्छितानामभिघातादिना अव्यक्तानामव्यक्तचेतसां मत्तानां मदिरादिना सुप्तानां निद्रया इहाव्यक्तानामिति यदुक्तं तत्राव्यक्तचेतसः अव्यक्तास्तत्पुनरव्यक्तं कीदृशमित्याह [ओहारियमव्वत्तं च होइ पाएण चित्तं तु] स्थगितं विषादिना तिरस्कृतस्वभावमव्यक्तं च अव्यक्तमेव चशब्दोऽवधारणे नवति प्रायश्चित्तमिति प्रायोग्रहणादन्यथाऽपि संजवतीति गाथार्थः।स्यादेतत् एवंभूतस्यापि चेतसो ध्यानताऽस्तु को विरोध इत्यत्रोच्यते । तदेवं यस्मात् ॥

गाढालंवणलग्गं, चित्तं वुत्तं निरेअणं झाणं ।
सेसं न होइ झाणं, मउअमवत्तं भमं तं च ॥ ७३ ॥

गाढालम्बने लग्नं गाढालम्बनलग्नम् । गाढालम्बनमेकालम्बने स्थिरतया व्यवस्थितमित्यर्थः । चित्तमन्तःकरणमुक्तं भणितं निरेजनं निष्प्रकम्पं ध्यानं यतश्चैवमतः शेषमस्मादन्यत्तन्न नवति ध्यानं किंभूतम् [मउयमवत्तं भमं तं च] मृदुभावनायामकठोरमव्यक्तं पूर्वोक्तं भ्रमत्वानवस्थितं चेति गाथार्थः । आह, यदि चित्तं ध्यानं न नवति वस्तुतः अव्यक्तत्वात्कथमस्य पश्चादपि व्यक्तता इत्यत्राह।

उम्हासेसो वि सिही, होउं इन्धिघणो पुणो जलइ ।
इअ अव्वत्तं चित्तं, होउं वत्तं पुणो होइ ॥ ७४ ॥

ऊष्मावशेषोऽपि मनागपि उष्ण इत्यर्थः शिखी अग्निः भूत्वा लब्धेन्धनः प्राप्तकाष्ठादिः सन्पुनर्ज्वलति [इअत्ति] एवमव्यक्तं चित्तं मदिरादिना भूत्वा व्यक्तं पुनर्भवत्यग्निवदिति गाथार्थः । इत्थं प्रासंगिकं किंचिदप्युक्तम् अधुना प्रक्रान्तवस्तुशुद्धिः क्रियते। किं च प्रक्रान्तं कायिकादित्रिविधध्यानं यत उक्तं "भंगियसुयं गुणेतो, वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि "इत्यादि एवं च व्यवस्थिते "अंतो मुहुत्तकालं, चित्तमेगग्गया भवति झाणं" यदुक्तमस्माद्विनेयस्य विरोधाशङ्काव्यामोहः स्यादतस्तदपनोदायाशङ्कामाह

पुण पुव्वं च जदुत्तं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं ।
आवन्नमणेगग्गं, चित्तं चिअ तं न तं झाणं ॥ ७५ ॥

पुनस्त्रिविधे ध्याने सति पूर्वं च यदुक्तं चित्तस्यैकाग्रता भवति ध्यानम् । "अंतोमुहुत्तकालं चित्तस्सेगग्गया नवति झाणं" इति वचनात् चशब्दादनेन ऊर्द्धमुक्तम् " भंगियसुयं गुणेतो, वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि " तदेतत्परस्परविरुद्धं कथं यतस्त्रिविधे ध्याने सति आपन्नमनेकविषयं ध्यानमिति तथाहि मनसा किंचिद्ध्यायति वाचाऽभिधत्ते कायेन क्रियां करोतीत्यनेकाग्रता । अत्राचार्य इदमनादृत्य सामान्येनानेकाग्रचित्तं हृदि कृत्वा काकाह "चित्तं चिय तं न तं झाणं" यदनेकाग्रं तच्चित्तमेव न तद्ध्यानमिति गाथार्थः । आह-उक्तन्यायादनेकाग्रं त्रिविधं ध्यानं तस्मात्तर्हि ध्यानत्वानुपपत्तिर्नाभिप्रायपरिज्ञानात् तथाहि ।

मणसहिएण उ काएण, कुणइ वायाइ भासई जं च ।
एअं वि भावकरणं, मणरहिअं दव्वकरणं तु ॥ ७६ ॥

मनःसहितेनैव कायेन करोति यदिति संबध्यते उपयुक्तो यत्करोतीत्यर्थः । वाचा नाषते यच्च मनःसहितया एतदेव नावकरणं वर्त्तते । नावकरणं च ध्यानं मनोरहितं तु द्रव्यकरणं नवति । ततश्चैतदुक्तं नवतीहानेकाग्रतैव नास्ति सर्वेषामेव मनःप्रभृतीनामेकविषयत्वात् । तथाहि स यदेव मनसा ध्यायति तदेवाभिधत्ते तत्रैव च कायक्रियेति गाथार्थः ।

इत्थं प्रतिपादिते सत्यपरस्त्वाह ।

जइ ते चित्तं झाणं, एवं झाणमवि चित्तमावन्नं ।
तेन किर चित्तझाणं, अह नेवं झाणमन्नं ते ॥ ७७ ॥

यदि ते तव चित्तं ध्यानम् "अंतो मुहुत्तकालं, चित्तस्सेगग्गया हवइ झाणं" इति वचनात् । एवं ध्यानमपि चित्तमापन्नं ततश्च कायिकवाचिकध्यानासंभव इत्यभिप्रायस्तेन किल चित्तमेव ध्यानं नान्यदिति हृदयम् । अथ नैवमिष्यते माभूत्कायिकवाचिके ध्याने न नविष्यत इति इत्थं तर्हि ध्यानमन्यत्ते तव चित्तादिति गम्यते यस्मान्नावश्यं ध्यानं चित्तमिति गाथार्थः।

अत्राचार्य आह अभ्युपगमाददोषम् तथाहि ।

नियमा चित्तं झाणं, चित्तं झाणं न या विभइअव्वं ।
जह खइरो होइ दुमो, दुमो अ खइरो अ खइरो वा ।७८।

" निअमा झाणं चित्तं चित्तं झाणं " इति पाठान्तरं व्याख्यान्तरे नियमान्नियमेन उक्तलक्षणं चित्तं ध्यानमेव [झाणं विभइयव्वं] ध्यानं तु चित्तं न चाप्येवं विभक्तव्यं विकल्पनीयम् । अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह " जह खइरो होइ दुमो, दुमो अ खइरो अ खइरो वा] यथा खदिरो भवति द्रुम एव द्रुमस्तु खदिरः अखदिरो वा धवादि चेत्ययं गाथार्थः । अन्ये पुनरिदं गाथाद्वयमतिक्रान्ते गाथां चैवाक्षेपद्वारेणान्यथा व्याचक्षते यदुक्तं "चित्तं चिय तं न तं झाणंति" इत्येतदसत्कथम् " यदि ते

चित्तं झाणं, एवं झाणमवि चित्तभावन्नं । सामान्येन " तेन किर चित्तझाणं, अह नेवं झाणमन्नं ते " चित्तात् अत ऊर्ध्वं पाठान्तरेणोत्तरगाथा " नियमा झाणं चित्तं, चित्तं झाणं न या त्रिभइयव्वं " । यतो व्यक्तादि चित्तं न ध्यानमिति । 'जह खइरो' इत्यादि निदर्शनं पूर्ववत् अलं प्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः । प्रकृतश्च द्वितीय उत्थिताभिधानकायोत्सर्गभेद इति स व्याख्यातः नवरं तत्र ध्यानचतुष्टयध्यायी लेश्यापरिगतो वेदितव्य इति ।

इदानीं तृतीयः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते ।

अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो ठिओ संतो ।
एसो काउस्सग्गो, दव्वुसिओ भावओ निसन्नो ॥ ७९ ॥

निगदसिद्धैव ।

अधुना चतुर्थकायोत्सर्गभेदः प्रदर्श्यते तत्रेयं गाथा ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निसन्नो अ ।
एसो काउस्सग्गो, निसन्नुसिओ होइ नायव्वो ॥८०॥

निगदसिद्धैव । नवरं कारणिक एव ग्लानस्थविरादिनिषण्णकारी वेदितव्यः वक्ष्यते अत्रान्तरत इत्यादि । अधुना पञ्चमकायोत्सर्गभेदः प्रदर्श्यते ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि अ अट्टरुद्दाइं ।
एसो काउसग्गो, निसन्नओ होइ नायव्वो ॥ ८१ ॥

अधुना षष्ठः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते ।

अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निसन्नो उ ।
एसो काउस्सग्गो, निसन्नगनिसन्नगो नाम ॥ ८२ ॥

अधुना सप्तमः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निवन्नो उ ।
एसो काउस्सग्गो, निवन्नुसिओ होइ नायव्वो ॥ ८३ ॥

निगदसिद्धा । नवरं कारणिक एव ग्लानस्थविरादिर्यो निषण्णोऽपि कर्तुमसमर्थः स निषण्णकारी गृह्यते ।

साम्प्रतमष्टमकायोत्सर्गभेदो निदर्श्यते ।

धम्मं सुक्कं च दुवे, न वि झायइ न वि य अट्टरुद्दाइं ।
एसो काउसग्गो, निवन्नओ होइ नायव्वो ॥ ८४ ॥

निगदसिद्धा । इहापि च प्रकरणात् निषण्णः सन्धर्मादीनामध्यापयतीत्यवगन्तव्यम् ।

अधुना नवमः कायोत्सर्गभेदः प्रतिपाद्यते ।

अट्टं रुद्दं च दुवे, झायइ झाणाइ जो निवन्नो उ ।
एसो काउस्सग्गो, निवन्नगो होइ नायव्वो ॥ ८५ ॥
अतरंतो निस्सन्नो, करिज्ज तह वि अ सहू निवन्नो उ ।
संबाहुवस्स ए वा, कारणिअ समत्थ वि निसन्नो ॥८६॥

निगदसिद्धा [अतरंतोगाहा] निगदसिद्धैव नवरम् [कारणिसमत्थो वि निसन्नोत्ति] यो हि गुरुवैयावृत्यादिना व्यापृतः कारणिकः समर्थोऽपि निषण्णः करोतीति । इत्थं तावत्कायोत्सर्ग उक्तः । अत्रान्तरे अध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः स चान्यत्रान्यकृणनिरूपितत्वान्नेहाधिकृतः । गतो नाम निष्पन्नो निक्षेपः । साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः । स च तावत् सति भवति सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादि प्रपञ्चो वक्तव्यः यावत् तच्चेदं सूत्रम् ।

नमो अरिहंताणं करेमि भंते ! सामाइयं० इच्छामि ठामिकाउस्सग्गं जो मे देवसिओ० ॥

" करेमि भंते ! सामाइयं " इत्यादि यावत् " अप्पाणं वोसिरामि" । अस्य संहितादिलक्षणा व्याख्या यथा सामायिकाध्ययने तथाऽवगन्तव्या पुनरभिधाने च प्रयोजनं वक्ष्यामः । इदमपरं सूत्रम् "इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जो मे देवसिओ अइयारो कओ" इत्यादि यावत "तस्स मिच्छामि दुक्कडं" अस्य व्याख्या तल्लक्षणं चेदं संहिता चेत्यादि तत्र इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं यो मे दैवसिकोऽतिचारः कृत इत्यादि । संहितापदानि तु इच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गं यो मया दैवसिकः अतिचारः कृत इत्यादीनि । पदार्थस्तु "इषु इच्छायाम्" इत्यस्योत्तमपुरुषैकवचनस्य "इषुगमियमां छः ७।३।७७" इति छत्वे इच्छामीति भवति इच्छाम्यभिलषामि स्थातुमिति 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' इत्यस्य तुमुन्प्रत्ययान्तस्य स्थातुमिति भवति । कायोत्सर्गमिति 'चिञ् चयने' अस्य घञन्तस्य 'निवासचितिशरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ३।३।४१' इति चीयत इति कायः देह इत्यर्थः 'सृजविसर्गे' उत्पूर्वस्य घञि उत्सर्गो भवति । शेषपदार्थो यथा प्रतिक्रमण इति पदविग्रहस्तु यानि समासभाञ्जि पदानि तेषामेव भवति नान्येषामिति नात्र इच्छामि स्थातुं कायस्योत्सर्गः कायोत्सर्गः इति तं शेषपदविग्रहो यथा प्रतिक्रमण एव चालना प्रत्यवस्थानं च यथासंभवमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ।

तथेदमन्यत्सूत्रम् ।

तस्सुत्तरीकरणेणं पायच्छित्तकरणेणं विसोहीकरणेणं विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउसग्गं अन्नत्थुससिएणं नीससिएणं खासिएणं छीएणं जंभाइएणं उड्डुएणं वायनिसग्गेणं भमलीए पित्तमुच्छाए सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमुक्कारेणं न पारेमि ताव कायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि ॥

अस्य व्याख्या । तस्योत्तरीकरणेन तस्येति तस्यानन्तरप्रस्तुतस्य श्रमणयोगसंघातस्य कथंचित्प्रमादात् खण्डनादिनाधःकृतस्य उत्तरीकरणेन हेतुभूतेन "ठामि काउस्सग्गं" नियोगः तत्रोत्तरद्वारेण पुनः संस्करणद्वारेणोत्तरीकरणमुच्यते अनुत्तरमुत्तरं क्रियत इति उत्तरीकरणं कृतिः करणमिति । तत्र प्रायश्चित्तकरणद्वारेण भवतीत्यत आह [पायच्छित्तकरणेणं] प्रायश्चित्तशब्दार्थं वक्ष्यामस्तस्य करणं प्रायश्चित्तकरणं तेन अथवासादीनि प्रतिक्रमणवासनानि विशुद्धौ कर्त्तव्यायां मूलकरणमिदं पुनरुत्तरकरणमतस्तेनोत्तरकरणेन प्रायश्चित्तकरणेनेति क्रिया पूर्ववत्प्रायश्चित्तकरणं च विशुद्धिद्वारेण भवत्यत आह । [विसोहीकरणेणं] विशोधनं विशुद्धिरपराधमलिनस्यात्मन इत्यर्थः तस्याः करणं तेन हेतुभूतेनेति । विशुद्धिकरणं च विशल्यः करणद्वारेण भवत्यत आह [विसल्लीकरणेणं] विगतानि शल्यानि मायादीनि यस्यासौ विशल्यस्तस्य करणं तेन हेतुभूतेन [पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं] पापानां संसारनिबन्धनानां कर्मणां ज्ञानावरणादीनां निर्घात-

नार्थं निर्घातननिमित्तं व्यापत्तिनिमित्तमित्यर्थः किं तिष्ठामि कायोत्सर्गं कायस्योत्सर्गः कायोत्सर्गः कायपरित्याग इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति अनेकार्थत्वाद्धातूनां तिष्ठामीति करोमि कायोत्सर्गव्यापारवतः कायस्य परित्याग इति भावना । किं सर्वथा नेत्याह [अन्नत्थुससिएणंति] अन्यत्रोच्छ्वसितेन उच्छ्वसितं मुक्त्वा योऽन्यो व्यापारस्तेन व्यापारवत इत्यर्थः ॥

एवं सर्वत्र भावनीयम् । तत्रोर्द्धप्रबलं श्वसितमुच्छ्वसितं तेन [णीससिएणंति] अधः श्वसितं तेन निःश्वसितेन (खासिएणंति) कासितमिति प्रतीतम् [छीएणंति] क्षुतेन एतदपि प्रतीतमेव [जंभाइएणंति] जृम्भितेन विवृतवदनस्य प्रबलपवननिर्गमो जृम्भितमुच्यते [उड्डुएणंति] उध्मातं प्रतीतं [वायनिसग्गेणं] अपानेन वातनिर्गमो वातनिसर्गो भण्यते तेन [भमलीएत्ति] भ्रमल्या इयमाकस्मिकी शरीरभ्रमिलक्षणा प्रतीतैव [पित्तमुच्छाएत्ति] पित्तमूर्च्छया पित्तप्राबल्यात्मना मूर्च्छा भवति [सुहुमेहिं अंगसंचालेहिं] सूक्ष्मैरङ्गसंचारलक्षणैर्गात्रविचलनप्रकारै रोमोद्गमादिभिः [सुहुमेहिं खेलसंचालेहिं] सूक्ष्मैः खेलसंचारैः यस्मात्संयोगिवीर्यः स द्रव्यतया तेन खेलं भवति [सुहुमेहिं दिट्ठिसंचालेहिं] सूक्ष्मैर्दृष्टिसंचारनिर्निमेषादिभिः [एवमाइएहिं आगारेहिं अभग्गो अविराहिओ हुज्ज मे काउस्सग्गो] एवमादिभिरित्यादिशब्दं वक्ष्यामः । आक्रियन्त इत्याकाराः आगृह्यन्ते इति भावना सर्वथा कायोत्सर्गापवादे प्रकारा इत्यर्थः तैराकारैर्विद्यमानैरपि न भग्नोऽभग्नः सर्वथाऽविनाशितः । न विराधितोऽविराधितोऽविराधितो देशभग्नोऽभिधीयते मे मया कायोत्सर्गः क्रियते यावदित्याह [जाव अरिहंताणं भगवंताणं नमोकारेणं न पारेमि] यावदर्हतां भगवतां नमस्कारेण न पारयामि यावदिति कालावधारणमशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हतीत्यर्हन्तस्तेषामर्हतां भग ऐश्वर्यादिलक्षणः स विद्यते येषां ते भगवन्तस्तेषां भगवतां संबन्धिनो नमस्कारेण [नमो अरिहंताणंति] अनेन पारयामि पारं गच्छामि तावत्किमित्याह [तावकायं ठाणेणं मोणेणं झाणेणं अप्पाणं वोसिरामि] तावच्छब्देन कालनिदर्शमाह । कायो देहः स्थानेनोर्द्धस्थानेन तथा मौनेन वाग्निरोधलक्षणेन तथा ध्यानेन शुभेन [अप्पाणंति] प्राकृतशैल्या आत्मीयमन्येन पठन्त्येवैनमालापकं व्युत्सृजामि परित्यजामि इयमत्र भावना कार्यस्थाने मौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण क्रियाऽन्तराध्यासद्वारेण व्युत्सृजामि नमस्कारपाठं यावत्प्रलम्बभुजो निरुद्धवाक्प्रसरः प्रशस्तध्यानानुगस्तिष्ठामि तथा च कायोत्सर्गपरिसमाप्तौ नमस्कारमपठतस्तद्भङ्ग एव द्रष्टव्य इत्येष तावत्समासार्थः। अवयवार्थं तु भाष्यकारो वक्ष्यति । आव० ५ अ०। कायोत्सर्गे का गतिरिति जघन्यतोऽपि तावदष्टोच्छ्वासमानमिह च प्रमादमदिरामदापहृतचेतसा यथावस्थितं भगवद्वचनमनालोच्य तथाविधजनासेवनमेव प्रमाणयतः पूर्वापरविरुद्धमित्थमभिदधति उत्सूत्रमेतत् साध्वादिलोकेनाऽनाचरितत्वात् एतच्चायुक्तम् । अधिकृतकायोत्सर्गसूत्रस्यैवार्थान्तराभावात् उक्तार्थतायां चोक्तविरोधात् । अथ भवत्वयमर्थः कायोत्सर्गकरणे न पुनरयं स इति किमर्थमुच्चारणमिति वाच्यं वन्दनार्थमिति चेन्नानर्थत्वात् । अत एवोच्चारणेनातिप्रसङ्गः। कायोत्सर्गयुक्तमेव वन्दनमिति चेत्कर्त्तव्यस्तर्हि स इति भुजप्रलम्बमात्रः क्रियत एवेति चेन्न तस्य नियतप्रमाणत्वात् चेष्टाभिभवभेदेन द्विप्रकारत्वादुक्तं च " सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिभवे य णायव्वो । भिक्खायरियाइपढमो, उवसग्गभीओ जणो बीओ " अयमपि च्युतदोरेवान्यतरः स्यात् अन्यथा कायोत्सर्गस्य चाणीयसोऽप्युक्तमानत्वात् । उक्तं च " उद्देस सत्तवीसं, अणुस्सवणियाय अट्ठे व । ये वस्सासा पट्ठवण, पडिक्कमणाइ अन्नायं " न गृहीत इति चेतनादिशब्दावरुद्धत्वादुपन्यस्तगाथासूत्रस्योपलक्षणत्वादन्यत्रापि चागमे एवंविधसूत्रोपगत एवानुक्तार्थसिद्धेः। उक्तं च "गोसमुहणंतगाई, आलोइयदेसिए य अइयारे । सव्वे समाणइत्ता, हियए दोसे ठ वेयाहि " अत्र मुखवस्त्रिकामात्रोक्ते आदिशब्दे पापकरणादिपरिग्रहोऽवसीयते सुप्रसिद्धत्वात्प्रतिदिवसोपयोगाच्च । अथेदं नोक्तमिति अनियतत्वात् । समानजातीयोपादानादिह तद्ग्रहणमस्त्येव समानजातीयं च मुखवस्त्रिकायाः शेषोपकरणमिति चेत् तत्रापि तन्मानकायोत्सर्गलक्षणसमानजातीयत्वमस्त्येवेति मुच्यतामभिनिवेशः । न चेदं साध्वादिलोकेनानाचरितमेव कश्चित्तदाचरणोपलब्धौ आगमविदाचरणश्रवणाच्च न चैवंभूतमनाचरितमपि प्रमाणं तल्लक्षणायोगादुक्तं च " असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ केणई असावज्जं । ण णिवारियमन्नेहिं, जं बहुमयमेयमायरियं " न चैतदसावद्यं सूत्रार्थस्य प्रतिपादितत्वात् । तस्य चाधिकतरगुणान्तरभावात्तथाकरणविरोधात् । न चान्यैरनिवारितं तदासेवनपरैरागमविद्भिर्निवारितत्वादत एव न बहुमतमपीति भावनीयम् अलं प्रसङ्गेन । यथोदितं तथैवेह कायोत्सर्ग इति इहोच्छ्वाससमानार्थम् । न पुनर्हेयनियमः। यथा परिणामेनैतत् स्थापने च गणास्तत्त्वानि यानि स्थानवर्णार्थालंबनानि वा आत्मीयदोषप्रतिपक्षो वा एतद्विद्याजन्मबीजं तत्पारमेश्वरमत इत्थमेवोपयोगसिद्धे शुद्धभावोपात्तं कर्मावन्ध्यं सुवर्णघटाद्युदाहरणात् । एतद्यतो विद्याजन्मकारणानुरूपत्वेन युक्त्यागमसिद्धम् एतल्लक्षणानुपाति च । यद्योगृहक्रमियेद्-मानुष्यं प्राप्य सुन्दरं । तत्प्राप्तावपि तस्येच्छा, न पुनः संप्रवर्त्तते ॥१॥ विद्याजन्मासितस्तद्-द्विषयेषु महात्मनः। तत्त्वज्ञानसमेतस्य, न मनोऽपि प्रवर्त्तते ॥ २ ॥ विषग्रस्तस्य मंत्रेभ्यो, निर्विषाङ्गोद्भवो यथा । विद्याजन्मन्यलमोह-विषत्यागस्तथैव हि ॥ ३ ॥ शैवे मार्गे स एवाऽसौ, याति नित्यमखेदितः। ननु मोहविषग्रस्त, इतरस्मिन्निवेतरत् ॥४॥ क्रियाज्ञानात्मके योगे, सातत्येन प्रवर्त्तनम् । वीतस्पृहस्य सर्वत्र, यानमाहुः शिवाध्वनि ॥५॥ इतिवचनात् अवसितमानुषंगिकम् । प्रकृतं प्रस्तुमः स हि कायोत्सर्गान्ते यद्येक एव ततो नमो अरहंताणंति नमस्कारेणोत्सार्य स्तुतिम्पठत्यन्यथा प्रतिज्ञाभङ्गः। जाव अरहंताणं इत्यादिनास्यैव प्रतिज्ञातत्वात् नमस्कारत्वेनास्यैव रूढत्वादन्यथैतदर्थाभिधानेऽपि दोषसंभवात् तदन्यमन्त्रादौ तथा दर्शनादिति। अथ बहवस्तत एक एव स्तुतिं पठत्यन्ये तु कायोत्सर्गेणैव तिष्ठन्ति यावत् स्तुतिपरिसमाप्तिः अत्र चैवं वृद्धा वदन्ति, यत्र किलायतने देववन्दनञ्चिकीर्षितं तत्र यस्य भगवतः सन्निहितं स्थापनारूपं तत्पुरस्कृत्य प्रथमं कायोत्सर्गस्तुतिश्च तथा शोभनभावजनकत्वमतस्यैवोपकारित्वात्ततः सर्वेऽपि नमस्कारोच्चारणेन पारयन्तीति व्याख्यातो वन्दनाकायोत्सर्गः ॥ ल० ॥

तत्रेच्छामि स्थातुं कायोत्सर्गमित्याद्यसूत्रावयवमधिकृत्याह परः कायोत्सर्गस्थानं च कार्यप्रयोजनरहितत्वात्तथाविधपर्यटनवदित्यत्रोच्यते प्रयोजनरहितत्वमसिद्धम् ॥ यतः-

काउस्सग्गम्मि ठिओ, निरेअकाओ निरुद्धवयपसरो ।
जाणइ सुहमेगमणो, मुणि देवसिआइअइआरं ॥ ८७ ॥

परिजाणिऊण य जओ, सम्मं गुरुजणपगासणेणं तु ।
सोहअइ अप्पगंसो, जम्हा य जिणेहिं सो जणिओ ।८८।

(काउस्सग्गं गाहा) इह च संबन्धगाथाद्वयमन्यकर्तृकं तथापि सोपयोगमिति कृत्वा व्याख्यायते कायोत्सर्गे उक्तस्वरूपे स्थितः सन्निरुद्धकायो निष्प्रकम्पदेह इति भावना निरुद्धवाक्प्रसरो मौनव्यवस्थितः सन् जानीते सुखमेकमना एकाग्रचित्तः सन्कोऽसौ मुनिः साधुः किं दैवसिकाद्यतिचारम् । आदिशब्दाद्रा क्रियाग्रह इति गाथार्थः ॥ ८७ ॥ ततः किमित्याह (परिजाणिऊणत्ति) परिज्ञाय अतिचारं यस्मात्कारणात् सम्यगशठभावेन गुरुजनप्रकाशनेनेति हृदयम् तुशब्दादिष्टप्रायश्चित्तकारणेन च शोधयत्यात्मानमसौ अतिचारमलिनं क्षालयतीत्यर्थः । तच्चातिचारपरिज्ञानमविकलकायोत्सर्गव्यवस्थितस्य भवत्यतः कायोत्सर्गस्थानं कार्यमिति । किं च यस्माज्जिनैर्भगवद्भिरयं कायोत्सर्गो भणितः उक्तः तस्मात् कायोत्सर्गस्थानं कार्यमिति गाथार्थः ॥ ८८ ॥

यतश्चैवमतः ।

काउस्सग्गं मोक्खप-हदेसिओ जाणिऊण तो धीरा ।
दिवसाइआरजाण-ट्ठमिइ ठायंति उस्सग्गं ॥ ८९ ॥

मोक्षस्य पन्थास्तीर्थकरैरेव भण्यते तत्प्रदर्शकत्वात्करणे कार्योपचारात्तेन मोक्षपथेन देशित उपदिष्टः मोक्षपथदेशितस्तं (जाणिऊणंति) दिवसाद्यतिचारपरिज्ञानोपायतः विज्ञाय ततो धीराः साधवः दिवसातिचारज्ञानार्थमित्युपलक्षणं रात्र्यतिचारज्ञानार्थमपि (ठायंति उस्सग्गं) तिष्ठन्ति कायोत्सर्गं कुर्वन्ति कायोत्सर्गमित्यर्थः । यतश्च कायोत्सर्गस्थानं कार्यमेव सप्रयोजनत्वात्तथाविधवैयावृत्यवदिति गाथार्थः ।

साम्प्रतं यदुक्तं दिवसातिचारज्ञानार्थमिति तत्रौघतो विषयद्वारेण तमतिचारमुपदर्शयन्नाह ।

सयणासणन्नपाणे, चेइअजइसिज्जकाइउच्चारे ।
समिईभावणगुत्ती, वितहायरणे अईआरो ॥ ९० ॥

शयनीयवितथाचरणे सत्यतिचारः । एतदुक्तं भवति संस्तारकादेरविधिना ग्रहणादौ अतिचार इति [आसणत्ति) आसनवितथाचरणे सत्यतिचारः पीठकादेरविधिना ग्रहणादावतिचार इति भावना [अन्नपाणेत्ति] अन्नपानवितथाचरणे सत्यतिचारः अन्नपानस्याविधिनाऽग्रहणादावतिचार इत्यर्थः [चेतियत्ति] चैत्यवितथाचरणे सत्यतिचारः । चैत्यविषये च वितथाचरणमविधिना वन्दने अकरणे चेत्यादि [जइत्ति] यतिवितथाचरणे सत्यतिचारः यतिविषयं च वितथाचरणं यथार्हं विनयाद्यकरणमिति (सेज्जत्ति) शय्यावितथाचरणे सत्यतिचारः शय्या वसतिरुच्यते तद्विषयं वितथाचरणमविधिना प्रमार्जनादौ रुयादिसंसक्तायां वा वसतौ । इत्यादि कायिकावितथाचरणे सत्यतिचारः वितथाचरणं वाऽस्थण्डिले कायिकान्युत्सृजतः । स्थण्डिले वाऽप्रत्युपेक्षिते वेत्याह (उच्चारेत्ति) उच्चारः वितथाचरणे सत्यतिचारः उच्चारः पुरीषो भण्यते वितथाचरणं चैतद्विषयं यथा कायिकं (समितित्ति) समितिर्वितथाचरणे सत्यतिचारः समितयः ईर्याः समितिप्रमुखाः पञ्च यथा प्रतिक्रमणे वितथाचरणं वा सम्यग्विधिनासेवनमनासेवनं चेत्यादि (भावणेत्ति) भावना वितथाचरणे सत्यतिचारः भावनाश्चानित्यत्वादिगोचरा द्वादश तथा चोक्तं भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकतान्यत्वे अशुचित्वं संसारः कर्माश्रवः संवरविधिश्च निर्जरायां लोकविस्तारो धर्मः स्वाख्याततत्त्वचिन्ता च बोधेः सुदुर्लभत्वं च भावना द्वादश विशुद्धाः अथ वा पञ्चविंशतिर्भावना यथा प्रतिक्रमणे वितथाचरणं वाऽऽसामविधिनासेवनमित्यादि (गुत्तित्ति) गुप्तिर्वितथाचरणे सत्यतिचारः ताश्चेमा नोगुप्तिप्रमुखास्तिस्रो गुप्तयः यथा प्रतिक्रमणे वितथाचरणमपि गुप्तिविषयं यथा समितिष्विति गाथार्थः ॥ ९० ॥

इत्थं सामान्येन विषयद्वारेणातिचारमभिधायाधुना कायोत्सर्गगतस्य मुनेः क्रियामभिधित्सुराह ।

गोसमुहणंतगाई, आलोए देसिए अईआरे ।
सव्वे समाणइत्ता, हिअए दोसे ठविज्जाहि ॥९१॥

गोसः प्रत्यूषो भण्यते (मुहणंतगाईत्ति) मुखवस्त्रिका आदिशब्दाच्छेषोपकरणादिग्रहस्ततश्चैतदुक्तं भवति गोसादारभ्य मुखवस्त्रिकादौ विषये (आलोए देसिए अईआरेत्ति) अवलोकयेन्निरीक्षेत दैवसिकानतिचारानविधिना प्रत्युपेक्षितादीनिति ततः (सव्वे) सर्वानतिचारान्मुखवस्त्रिकाप्रत्युपेक्षणादारभ्य यावत्कायोत्सर्गमवस्थानान्तरम (समाणइत्ता) समाप्य बुद्ध्यवलोकनेन समाप्तिं नीत्वा एतावानेव नातः परमतिचारोऽस्तीति हृदये चेतसि दोषान्प्रतिषेधकरणादिलक्षणानालोच्य स्थापयेदिति गाथार्थः ॥

काउं हिअए दोसे, जहक्कमं जाव ताव पारेइ ।
ताव सुहुमाणुपाणू, धम्मं सुक्कं च झाइज्जा ॥९२॥

[काउं हिअयेत्ति] कृत्वा हृदये दोषान्यथाक्रममिति प्रतिषेधनानुलोम्येन आलोचनानुलोम्येन च प्रतिषेधनानुलोम्यं नाम ये यथा सेविता इति आलोचनानुलोम्यं तु पूर्वं यद्यत् आलोचितं तत्तत्पश्चाद्गुरुरिति (जाव ताव पारेइत्ति) यावत्तावत्पारयति गुरुर्नमस्कारेण (ताव सुहुमाणुत्ति) तावदितिकालावधारणार्थं सूक्ष्मप्राणापानः सूक्ष्मोच्छ्वासनिःश्वास इत्यर्थः (धम्मं सुक्कं च झाइज्जा) धर्मः ध्यानप्रतिक्रमणाध्ययनोक्तस्वरूपः शुक्लं च ध्यायेदिति गाथार्थः ॥ ९२ ॥

देसिअराइअपक्खे, चाउम्मासे तहेव वरिसे अ ।
इक्किक्के तिन्नि गमा, नायव्वा पंचसेएसु ॥ ९३ ॥

दैवसिके प्रतिक्रमणे दिवसेन निर्वृत्तं दैवसिकं (राइयत्ति) रात्रिके (पक्खियत्ति) पाक्षिके चातुर्मासिके (तहेव वरिसेअत्ति) तथैव वार्षिके च वर्षेण निर्वृत्तं वार्षिकं सांवत्सरिकमिति भावना एकैकस्मिन्प्रतिक्रमणे दैवसिकादौ त्रयो गमाः ज्ञातव्याः पञ्चस्वेतेषु दैवसिकादिषु कथं त्रयो गमाः सामायिकं कृत्वा कायोत्सर्गकरणं सामायिकमेवंकृत्वा प्रतिक्रमणं सामायिकमेव कृत्वा पुनः कायोत्सर्गकरणमिह यस्माद्दिवसादितीर्थं दिवसं प्रधानं च तस्माद्दैवसिकमादाविति गाथार्थः ९३ ॥ अत्राह चोदकः-

आइमकाउस्सग्गो, पडिक्कमं ताउ काकाउ ।
सामइअंतो किं करे-ह बीअं तइअं च पुणो विउस्सग्गो ॥

व्या०-(आइमकाउस्सग्गेत्ति) प्रथमकायोत्सर्गं कृत्वा सामायिकमिति योगः ॥

पडिक्कमं ताव बीयं, काउं सामाइयं तिओगोतो ।
किं करेह तइयं सा-मइयं पुणो वि उस्सग्गो य ॥९५ ॥

चालना चेयमत्रोच्यते-

समभावम्मि ठिअप्पा, उस्सग्गं करिअ तो पडिक्कमई ।
एमेव य समभावे, ठिअस्स तइअं तु उस्सग्गे ॥१९५॥

इह समभावव्यवस्थितस्य भावप्रतिक्रमणं भवति,नान्यथा,ततश्च समभावे रागद्वेषमध्यवर्त्तिनि स्थित आत्मा यस्यासौ स्थितऽऽत्मा,(उस्सग्गं करिय तो पडिक्कमइ) दिवसाचारपरिज्ञानाय कायोत्सर्गं कृत्वा गुरोरतिचारजातं निवेद्य तत्प्रदत्तप्रायश्चित्तसमभावपूर्वकमेव ततः प्रतिक्रामतीति। एवमेव च (समभावे ठिअस्स तइयं तु उस्सग्गे) एवमेव समभावे स्थितस्य सतश्चारित्रशुद्धिरपि भवतीति कृत्वा तृतीयं सामायिकं कायोत्सर्गं प्रतिक्रान्तोत्तरकालभाविनि क्रियत इति गाथार्थः ॥ १९५ ॥

प्रत्यवस्थानमिदमथवा-

सज्झायझाणतवओ-सहेसु उवएसथुइपयाणेसु ।
संतगुणकित्तणेसु अ, न हुंति पुणरुत्तदोसा उ ॥१९६॥
मिच्छामिउमद्दवत्त, छत्तिअदोसाण छायणे होइ ।
मित्तिअमेराइ ठिओ, दुत्तिदुगंछा मि अप्पाणं ॥१९७॥
कत्ति कडं मे पावं, मत्तिअ मेवेमि तं च उवसमेणं ।
एसो मिच्छाओक्कम-पयक्खरत्थो समासेणं ॥१९८॥

सज्झायगाहा निगदसिद्धा (१९६)इदानीं "जो मे देवसिओ अइआरो कओ" इत्यादिसूत्रमध्ये व्याख्यातत्वादनादृत्य "तस्स मिच्छामि दुक्कडं ति" सूत्रावयवं व्याचिख्यासुराह-मिच्छामिउ गाहा (१९७) कत्तिकडं मे गाहा इतिगाथायुगलकं यथा सामायिकाध्ययने व्याख्यातं तथैव द्रष्टव्यमिति ॥१९८॥

साम्प्रतं तस्योत्तरकरणमिति सूत्रावयवं विवृण्वन्नाह-

खंडिअविराहिआणं, मूलगुणाणं सउत्तरगुणाणं ।
उत्तरकरणं कीरइ, जह सगडरहंगगेहाणं ॥१९९॥

खण्डितविराधितानां-खण्डिताः सर्वथा भग्नाः, विराधिता देशतो भग्नाः, मूलगुणानां प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपाणां, सह उत्तरगुणैः पिण्डविशुद्ध्यादिभिर्वर्त्तन्त इति सोत्तरगुणाः, तेषामुत्तरकरणं क्रियते, आलोचनादिना पुनः संस्करणमित्यर्थः । दृष्टान्तमाह-यथा शकटरथाङ्गगेहानां बहिश्चक्रगृहाणामित्यर्थः। तथा च शकटादीनां खण्डितविराधितानामक्षवेलिकादिनोत्तरकरणं क्रियत इति गाथार्थः ॥ १९९ ॥

अधुना प्रायश्चित्तकरणेनेति सूत्रावयवं व्याचिख्यासुराह-

पावं छिंदइ जम्हा, पायच्छित्तं ति भन्नई तेणं ।
पाएण वा वि चित्तं, विसोहई तेण पच्छित्तं ॥ २०० ॥

पापं कर्मोच्यते, तत्पापं छिनत्ति यस्मात्कारणात् प्राकृतशैल्या "पायच्छित्तं ति" भण्यते तेन कारणेन। संस्कृते तु पापं छिनत्तीति पापच्छिदुच्यते।प्रायशो वा चित्तं जीवं शोधयति कर्ममलिनं विमलीकरोति तेन कारणेन प्रायश्चित्तमित्युच्यते । प्रायो बाहुल्येन चित्तं स्वेन रूपेण अस्मिन्सति भवतीति प्रायश्चित्तम्। प्रायोग्रहणं संवरादेरपि तथाविधचित्तसद्भावादिति गाथार्थः ॥

अधुना "विसोहीकरणेन"इत्यादिसूत्रावयवं व्याचिख्यासयाऽऽह-

दव्वे भावे अ दुहा, सोही सल्लं च इक्कमिक्कं तु।
सव्वं पावं कम्मं, भामिज्जइ जेण संसारे ॥ २०१ ॥

१०४

द्रव्यतो भावतश्च द्विविधा शुद्धिः,शल्यं च (इक्कमिक्कं तु) एकैकम।शुद्धिरपि।द्रव्यभावभेदेन द्विधा शल्यमपीत्यर्थः। तत्र द्रव्यशुद्धिर्जलादिना वस्त्रादेः,भावशुद्धिः प्रायश्चित्तादिना आत्मनः। एवं द्रव्यशल्यं कण्टकशिलीमुखफलादि;भावशल्यं तु मायादिशल्यम्। सर्वं ज्ञानावरणीयादि कर्म पापं वर्त्तते। किमिति ?-भ्राम्यते येन कारणेन तेन कर्मणा जीवः संसारे तिर्यङ्नरनारकामरभवानुभवलक्षणे; तथा च दग्धरज्जुकल्पेन भवोपग्राहिणा अल्पेनापि सता केवलिनोऽपि न मुक्तिमासादयन्तीति दारुणं संसारभ्रमणनिमित्तं कर्मेति गाथार्थः ॥ २०१ ॥

साम्प्रतमन्यत्रोच्छ्वसितेनेत्यवयवं विवृणोति-

उस्सासं न निरुंभइ, आभिग्गहिओ वि किमुअ चेट्ठाओ ।
सज्जमरणं निरोहे, सुहुमुस्सासं तु जयणाए ॥ २०२ ॥

ऊर्ध्वः प्रबलो वा श्वासः उच्छ्वासः, तं (न निरुंभइ त्ति) न निरुणद्धि, (आभिग्गहिओ वि) अभिगृह्यत इत्यभिग्रहः, अभिग्रहेण निर्वृत्तः आभिग्रहिकः कायोत्सर्गः, तदव्यतिरेकात् ततोऽप्याभिग्रहिको भण्यते । असावप्यभिनवकायोत्सर्गकार्यपीत्यर्थः । (किमुअ चेट्ठाओ त्ति) किंपुनश्चेष्टाकायोत्सर्गकारी । स तु सुतरां न निरुणद्धीत्यर्थः । किमित्यत आह-(सज्जमरणं निरोहे त्ति) सद्यो मरणं निरोधे उच्छ्वासस्य, ततश्च (सुहुमुस्सासं तु जयणाए त्ति) सूक्ष्मोच्छ्वासमेव यतनया मुञ्चति, नोल्वणं, मा भूत्सत्त्वघात इति गाथार्थः ॥ २०२ ॥

अधुना खासितेनेत्यादिसूत्रावयवार्थं प्रचिकटयिषयेदमाह-

कासखुअजंभिए मा, हु सत्थमनिलोऽनिलस्स तिव्वुण्हो ।
असमाही अ निरोहे, मा मसगाई अ तो हत्थे ॥२०३॥

इह कायोत्सर्गे काशक्षुतजृम्भितानि नाऽयतनया क्रियन्ते । किमिति-(मा हु सत्थमनिलोऽनिलस्स तिव्वुण्हो त्ति) मा शस्त्रं भविष्यति काशितादिसमुद्भवोऽनिलो वायुरनिलस्य बाह्यस्य वायोः । किंभूतः-तीव्रोष्णः,बाह्यानिलापेक्षया अत्युष्ण इत्यर्थः। न च न क्रियन्ते, निरुध्यन्त एव (असमाही य निरोहे त्ति) असमाधिश्च, चशब्दान्मरणमपि संभाव्यते, काशितादिनिरोधे सति। तथा-मा मशकादयश्च काशितादिसमुद्भवपवनश्लेष्मादिनिहता मरिष्यन्ति, जृम्भिते वा वदनप्रवेशं करिष्यन्ति; ततो हस्तः अग्रतो दीयते इति, यतनेयमिति गाथार्थः ॥ २०३ ॥

आह-निश्वसितेनेति सूत्रावयवो न व्याख्यात इति किमत्र कारणम् ? । उच्यते-उच्छ्वसितेन तुल्ययोगक्षेमत्वादिति।

इदानीमुद्गारितेनेत्यादिसूत्रावयवं व्याचिख्यासुराह-

वायनिसग्गुग्गारे, जयणा सद्दस्स नेव य निरोहे ।
उग्गारे वा हत्थे, भमलीमुच्छासु अ निवेसे ॥ २०४ ॥

वातनिसर्ग उक्तस्वरूपः, उद्गारोऽपि। तत्रायं विधिः यतना शब्दस्य क्रियते न निसृष्टं मुच्यत इति । (णेव य णिरोहे त्ति) नैव च निरोधः क्रियते, असमाधिभावादेव। उद्गारे वा हस्तोऽन्तरं दीयत इति । (भमलीमुच्छासु अ निवेसे त्ति) भ्रमीमूर्च्छयोश्च निवेशो मा सहसा पतितस्यात्मविराधना भविष्यतीति गाथार्थः ॥ २०४ ॥

साम्प्रतं सूक्ष्मैरङ्गसंचारैरित्यादिसूत्रावयवव्याचि-
ख्यासयाऽऽह-

वीरिअसजोगयाए, संचारा सुहुमबायरे देहे ।
बाहिं रोमंचाई, अंतो खेलानिलाईआ ॥ २०५ ॥

वीर्यसयोगतया कारणेन संचाराः सूक्ष्मबादरदेहे अवश्यं भाविनः, वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयोपशमजं खल्वात्मपरिणामो भण्यते। योगास्तु मनोवाक्कायाः, तत्र वीर्यसयोगतयैव अतिचाराः सूक्ष्मबादरा भवन्ति, न केवलं वीर्यादिति। देह एव च सति भवन्ति नादेहस्य, तत्र (बाहिं रोमंचाई) बहिः रोमाञ्चादयः, आदिशब्दादुत्कम्पग्रहः । (अंतो खेलानिलाईआ) अन्तर्मध्ये सूक्ष्माः श्लेष्माऽनिलादयो विचरन्तीति गाथार्थः ॥ २०५ ॥

अधुना सूक्ष्मैर्दृष्टिसंचारैरिति सूत्रावयवं व्याख्यानयति-

आलोअचलं चक्खुं, मणुव्व तं दुक्करं थिरं काउं ।
रूवेहिँ तयं खिप्पइ, सभावओ वा सयं चलइ ॥२०६॥

आलोकनमवलोकः, ततस्तस्मिन्नवलोके चलं चञ्चलं, दर्शनलालसमित्यर्थः। किं चक्षुर्नयनं, यतश्चैवमतो मनोवत् अन्तःकरणमिव, तच्चक्षुर्दुष्करं स्थिरं कर्तुं, न शक्यते इत्यर्थः। यतो रूपैस्तदाक्षिप्यते, स्वभावतो वा स्वभावेन वा नैसर्गिकेन, स्वयं चलत्यात्मनैव चलतीति गाथाऽर्थः ॥ २०६ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

न कुणइ निमेसजत्तं, तत्थुवओगेण माण झाइज्जा ।
एगनिसिं तु पवन्नो, झाइ सहू अणिमिसच्छो वि ॥२०७॥

न करोति निमेषयत्नं कायोत्सर्गकारी । किमिति (तत्थुवओगेण माण झाएज्जा) तत्र निमेषयत्ने य उपयोगस्तेन सता मानध्यानं ध्यायेत अभिप्रेतमिति (एगनिसिं तु पवन्नो झाइ सहू अणिमिसच्छो वि) एकरात्रिकीं तु प्रतिमां प्रतिपन्नो महासत्त्वः ध्यायति समर्थः, अनिमिषाक्षोऽपि अनिमिषे अक्षिणी यस्य सः अनिमिषाक्षः, निश्चलनयन इति गाथाऽर्थः ॥२०७॥

अधुना एवमादिभिराकारैरित्यादि सूत्रावयवं
व्याचिख्यासुराह-

अगणी १ उच्छिंदेज्ज व, २ बोहिअखोभाइ ३ दीहडक्के वा ४।
आगारेहि अभग्गो, उस्सग्गो एवमाईहिं ॥ २०८ ॥

यदा ज्योतिः स्पृशति तदा प्रावरणाय कल्पग्रहणं कुर्वतोऽपि न कायोत्सर्गभङ्गः । आह-नमस्कारमेवाभिधाय किमिति तद्ग्रहणं न करोति येन तद्भङ्गो न भवति। उच्यते-नात्र नमस्कारेण पारणमेवाविशिष्टं कायोत्सर्गमानं क्रियते, किंतु यो यत्परिमाणो यत्र कायोत्सर्ग उक्तस्तत ऊर्ध्वमिति समाप्तेऽपि तस्मिन्नमस्कारमपठतो भङ्ग इत्यर्थः। अपरिसमाप्तेऽपि च पठतो भङ्ग एव । स चात्र न भवतीत्येवं सर्वत्र भावनीयम् । (उच्छिंदेज्ज व त्ति) मार्जारी मूषिकादिर्वा पुरतो यायात्तथाप्यग्रतः सरतो न कायोत्सर्गभङ्गः। (बोहियखोभाइ त्ति) बोधिकाः स्तेनकास्तेभ्यः क्षोभः संभ्रमः, आदिशब्दाद्राजादिक्षोभः परिगृह्यते । तत्रास्थानेऽप्युच्चारयतो वा न कायोत्सर्गभङ्गः । (दीहडक्के व त्ति) सर्पदष्टे वाऽऽत्मनि परे वा साधौ सहसाऽऽकारक एवोच्चारयतः तथैव। आक्रियन्त इत्याकाराः, तैराकारैः, अभग्नः स्यात्कायोत्सर्गः, एवमादिभिरिति गाथार्थः ॥ २०८ ॥

अधुनौघतः कायोत्सर्गविधिं प्रतिपादयन्नाह-

ते पुण सम्मूरिउ चिअ, पासवणुच्चारकालभूमीओ ।
पेहित्ता अत्थमिए, तं तुस्सग्गं सए ठाणे ॥ २०९ ॥

ते पुनः कायोत्सर्गकर्त्तारः साधवः ससूर्य एव दिवसे प्रस्रवणोच्चारणकालभूमीः प्रत्युपेक्ष्य, द्वादश प्रस्रवणभूमयः आलयपरिभोगा अन्तः षट्, षट् बहिः। एवमुच्चारभूमयोऽपि द्वादश। प्रमाणं चाऽऽसां तिर्यग् जघन्येन हस्तमात्रम्, अधश्चत्वार्यङ्गुलान्यचेतनम्, उत्कृष्टतस्तु स्थण्डिलं द्वादशयोजनमानम्। नचतेनाधिकारः। तिस्रस्तु कालभूमयः कालमण्डलाख्याः, यावच्चैनमन्यं च श्रमणयोगं कुर्वन्ति कालवेलायां तावत्प्रायशोऽस्तमुपयात्येव सविता; ततश्च (अत्थमिए तं तुस्सग्गं सए ठाणे त्ति) उक्तम् । अन्यथा यस्य यदैव व्यापारपरिसमाप्तिर्भवति स तदैव सामायिकं कृत्वा तिष्ठतीति गाथार्थः ॥२०९॥

अयं च विधिः केनचित्कारणान्तरे गुरोर्व्याघाते सति-

जइ पुण निव्वाघाओ, आवस्सं तो करंति सव्वे वि ।
सड्ढाइकहणवाघा-ययाइ पच्छा गुरू ठंति ॥ २१० ॥

यदि पुनर्निर्व्याघात एव सर्वेषामावश्यकं प्रतिक्रमणं, ततः कुर्वन्ति सर्वेऽपि सहैव गुरुणा (सड्ढाइकहणवाघाययाइ पच्छा गुरू ठंति) इति निगदसिद्धमिति गाथार्थः ॥२१०॥

यदा च पश्चाद् गुरवस्तिष्ठन्ति तदा-

सेसा उ जहासत्तिं, आपुच्छित्ता ण ठंति सट्ठाणे ।
सुत्तत्थसरणहेऊ, आयरिए ठिअम्मि देवसिअं ॥२११॥

शेषास्तु साधवः, यथाशक्ति शक्त्यनुरूपं, यो हि यावन्तं कालं स्थातुं समर्थः " आपुच्छित्ता तु गुरुं ठंति सट्ठाणे सामायिकं काऊण। किंनिमित्तम् ? (सुत्तत्थसरणहेउं) सूत्रार्थस्मरणहेतुम्। (आयरिए ठियम्मि देवसिय त्ति) 'आयरिए पुरओ ठिए तस्स सामाइयावसाणे देवसियं अइयारं चिंतंति'। अन्ने भणंति-"जाहे आयरिओ सामाइयं कड्ढइ, ताहे ते वि तदट्ठिया चेव सामाइयसुत्तमणुपेहंति, गुरुणा सह पच्छा देवसियं ति" गाथार्थः ॥२११॥

शेषास्तु यथाशक्तीत्युक्तम्, यस्य कायोत्सर्गेण स्थातुं शक्तिरेव नास्ति स किं कुर्यादिति तद्गतं विधिमभिधित्सुराह-

जो हुज्ज उ असमत्थो, बालो वुड्ढो गिलाण परितंतो ।
सो विगहाइविरहिओ, झाइज्जा जा गुरू ठंति ॥२१२॥

यः कश्चित्साधुर्भवेदसमर्थः कायोत्सर्गेण स्थातुम् । स किंभूत इत्याह-बालो वृद्धः ग्लानः परितान्तोऽतिपरिश्रान्तो गुरुवैयावृत्त्यकरणादिना। असावपि विकथादिरहितः सन् ध्यायेत्सूत्रार्थम । (जा गुरू ठंति) यावत् गुरवस्तिष्ठन्ति कायोत्सर्गमिति गाथार्थः ॥२१२॥

आचार्ये स्थिते दैवसिकमित्युक्तं तद्गतं विधिमभिधित्सुराह-

जा देवसियं दुगुणं, चिंतेइ गुरू अहिंडिओ चेट्ठं ।
बहुवावारा इअरे, एगगुणं ता वि चिंतंति ॥ २१३ ॥

निगदसिद्धा । नवरं चेष्टा व्यापाररूपाऽवगन्तव्या ॥२१३॥

पव्वइआए व चेट्ठं, नाऊण गुरुं बहुं बहुविहीअं ।
कालेण तदुचिएणं, पारेइ य थोवचेट्ठो वि ॥२१४॥
नमोकार चउवीसग-किइकम्मालोअणं पडिक्कमणं ।

किइकम्मदुरालोइअ-दुप्पडिकंते अ उस्सग्गे ॥ ७१ ॥

(नमोक्कारे त्ति) "काउस्सग्गसंमत्तीए नमोक्कारेण पारेति,नमो अरिहंताणं ति। (चउवीसग त्ति) पुणो जेहिं इमं तित्थं देसियं तेसिं तित्थगराणं उसभाईणं चउवीसत्थएण उक्कित्तणं करेंति; 'लोगस्सुज्जोयगरे' त्ति भणियं होइ। (किइकम्मं ति) ततो वंदिउकामा गुरुं संडासयं पडिलेहित्ता उवविसंति । ततो मुहणंतगं पडिलेहिय स सीसोवरि यं कायं पमज्जंति,पमज्जित्ता परेण विणएणं तिकरणपरिसुद्धं किइकम्मं करेंति, वंदणगमित्यर्थः । उक्तं च-"आलोयणवागरण-स्स पुच्छणे पूयणाइसज्झाए। अवराहे य गुरूणं,विणओ मूलं च वंदणगं"॥ इत्यादि। (आलोयणं ति) एवं च वंदित्ता उत्थायोजयकरगहियरओहरणअद्धावणयकाया पुव्वं परिचिंतिए दोसे जहाराइणियाए संजयभासाए जहा गुरू सुणेइ, तहा पवड्ढमाणसंवेगा मायामयविप्पमुक्का अप्पणो विसुद्धिनिमित्तमालोएंति "। उक्तं च-

" विणएण विणयमूलं, गंतूणायरियपायमूलम्मि ।
जाणाविज्ज सुविहिओ, जह अप्पाणं तह परं पि ॥ १ ॥
कयपावो वि मणूसो, आलोइयनिंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरिअभरु व्व भारवहो" ॥ २ ॥

तथा—

उप्पन्नाऽणुप्पन्नो, मायाअणुमग्गओ निहंतव्वा ।
आलोयणनिंदणगरि-हणाहिं ण पुणो त्ति या बितियं ॥ ३ ॥
तस्स य पायच्छित्तं, जम्मग्गविऊ गुरू उवइसंति ।
तं तह अणुचरियव्वं, अणवत्थपसंगभीएणं" ॥ ४ ॥

(पडिक्कमणं ति) "आलोइऊण दोसे, गुरुणा पडिवन्नपायच्छित्ता तो। सामाइयपुव्वगं, समभावे ठाइऊण य पडिक्कमं ति" ॥५॥ सम्ममुवउत्ता परंपएण पडिक्कमणं कड्ढंति अणवत्थपसंगभीया। अणवत्थाए पुण उदाहरणं-तिलहारगकप्पहगो त्ति। (किंतिकम्मं ति) " तओ पडिक्कमित्ता खामणानिमित्तं पडिक्कमणनिवेयणत्थं वंदंति। तओ आयरियमादी पडिक्कमणत्थमेव दंसेमाणा खामेंति "।

उक्तं च-

" आयरियउवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे वा ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥ १ ॥
सव्वस्स समणसंघ-स्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥ २ ॥
सव्वस्स जीवरासि-स्स भावओ धम्मनिहियनियचित्तो ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि" ॥३॥ इत्यादि।

'दुरालोइए दुप्पडिकंते य काउस्सग्गो' त्ति एवं खामेत्ता आयरियमाई,तओ 'दुरालोइअं वा होज्जा दुप्पडिकंतं वा होज्जा अणाभोगादिणा कारणेणं । ततो पुणो वि कयसामाइया चरित्तविसोहणत्थमेव काउस्सग्गं करेंति त्ति " गाथार्थः ॥ आव० ४ अ०।

एवंविहपरिणामा, भावेणं तत्थ नवरमायरियं ।
खामंति सव्वसाहू, जइ जिट्ठो अन्नहा जेट्ठं ॥ ७२ ॥

एवंविधपरिणामाः सन्तो भावेन परमार्थेन, तत्र नवरमाचार्यं प्रथमं क्षमयन्ति सर्वे साधवः, यदि ज्येष्ठोऽसौ पर्यायेण,अन्यथा ज्येष्ठेऽसति ज्येष्ठमसाधपि क्षमयति, विप्रागोत्पन्ने शिष्यकादिश्रद्धाभङ्गनिवारणार्थं कदाचिदाचार्यमेवेति गाथार्थः ।

आयरिय-उवज्झाए, काऊणं सेसगाण कायव्वं ।
उप्पडिवाडीकरणे, दोसा सम्मं तहाऽकरणे ॥ ७३ ॥

आचार्योपाध्याययोः कृत्वा, क्षमणमिति गम्यते। शेषाणां साधूनां यथारत्नाधिकतया कर्त्तव्यम। उत्परिपाटीकरणे, विपर्ययकरणे इत्यर्थः। दोषा आज्ञादयः। सम्यक् तथा अकरणे, विकलकरणे च दोषा इति गाथार्थः।

जा दुचरिमो त्ति ता हो-ई खमणं तीरिए पडिक्कमणे ।
आइज्जं पुण तिण्हं, गुरुस्स दोण्हं च देवसिए ॥ ७४ ॥

यावत् द्विचरम इति, द्वितीयश्च स चरमश्च क्षमणापेक्षया तावद्भवति क्षमणं; तीरिते प्रतिक्रमणे, पठिते प्रतिक्रमणे इत्यर्थः। आचरितं पुनस्त्रयाणां गुरोर्द्वयोश्च शेषयोर्दैवसिक इति गाथार्थः॥

आचरितकल्पप्रवृत्तिमाह—

धिइसंघयणाईणं, मह हाणिं च जाणिउं थेरा ।
सेहअगीअत्थाणं, ठवणा आइण्णकप्पस्स ॥ ७५ ॥

धृतिसंहननादीनां हानिं च ज्ञात्वा स्थविरा गीतार्थाः, शिष्यकागीतार्थयोर्विपरिणामनिवृत्त्यर्थं स्थापनां कुर्वन्तीति। स्थापना आचरितस्य कल्पस्येति गाथार्थः ॥

अथवा—

असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ केणइ असावज्जं ।
न निवारिअमन्नेहिं, अ बहुमणुमयमेअमाइण्णं ॥ ७६ ॥

अशठेन समाचरितं यत्किञ्चिद् कुत्रापि द्रव्यादौ केनचित्प्रमाणस्थेन असावद्यं न निवारितमन्यैश्च गीतार्थैस्तथाकृत्वादेवेत्थं बहुनुमतमेतदाचरितमिति गाथार्थः।

अमुमेवार्थं विशेषेणाह-

विअडणपच्चक्खाणे, सुए अ रयणाहिआ वि उ करिंति ।
मज्झिल्लो ण करेंती, सो चेव य तेसि पकरेई ॥ ७७ ॥

विकटनप्रत्याख्यानयोरित्यत्र विकटनमालोचनम, प्रत्याख्यानं प्रतीतम। श्रुते चोद्दिश्यमानादौ रत्नाधिका अपि तु ज्येष्ठार्या अपि कुर्वन्ति; वन्दनमिति प्रक्रमाद् गम्यते। मध्यम इति, क्षमण इत्यर्थः। न कुर्वन्ति, अपि तु स एवाचार्यस्तेषां रत्नाधिकानां करोति वन्दनमिति गाथार्थः॥

खामितु तओ एवं, करेंति सव्वे वि नवरमणवज्जं ।
सेसम्मि दुरालोइअ-दुप्पडिकंतस्स उस्सग्गं ॥ ७८ ॥

क्षमयित्वा ततस्तदनन्तरम,एवमुक्तेन प्रकारेण, कुर्वन्ति सर्वेऽपि साधवः,नवरमनवद्यं,सम्यगित्यर्थः। शेषायां दुरालोचितदुष्प्रतिक्रान्तयोः,एतन्निमित्तमिति भावः। कायोत्सर्गमिति गाथार्थः॥

अत्रापि कायोत्सर्गकरणे प्रयोजनमाह-

जीवो पमायबहुलो, तब्भावणभाविओ अ संसारे ।
तत्थ वि संभाविज्जइ, सुहमो सो तेण उस्सग्गो ॥ ७९ ॥

जीवः प्रमादबहुलः,तद्भावनाभावित एव प्रमादभावनाभावित-

स्तु, संसारे तत्रश्चैवम् । यतोऽभ्यासपाटवात्तत्राप्यालोचनादौ संजाव्यते सूक्ष्मोऽसौ प्रमादः ततश्च दोष इति, तेन कारणेन तज्जयाय कायोत्सर्ग इति गाथार्थः ॥

चोएइ हंदि एवं, उस्सग्गम्मि वि स होइ अणवत्था ।
भण्णइ तज्जयकरणे, का अणवत्था जिए तम्मि ॥८०॥

चोदयति शिक्षकः-हन्दि यद्येवं कायोत्सर्गेऽपि सः सूक्ष्मः प्रमादो भवति ततश्च तत्रापि दोषः । तद्यथा-अपरकरणं तत्राप्येष एव सुस्तान्त इत्यनवस्था । एतदाशङ्क्याह-भण्यते,प्रतिवचनम्-तज्जयकरणे अधिकृतसूक्ष्मप्रमादजयकरणे प्रस्तुते, काऽनवस्था ?, जिते तस्मिन् सूक्ष्मप्रमादे इति गाथार्थः ॥

तत्थ वि अ जो तओ वि हु, जीअइ तेणेव य सयाकरणं ।
सव्वो वि साहुजोगो, तं खलु तप्पच्चणीओ त्ति ॥८१॥

तत्रापि च इतरकायोत्सर्गे,यः पूर्वोक्तयुक्त्या पतितः सूक्ष्मः प्रमादतः,तकोऽप्यसावपि, जीयते निरस्क्रियते, यदितरेण तदुत्तरकालनाविना कायोत्सर्गेण,तत्रापि यः,असावपीतरेण स्यादेतत्,एवं सदा कायोत्सर्गकरणापत्तिरित्याशङ्क्याह-स च सदाकरणं, कायोत्सर्गस्येति गम्यते । कुत इत्याह-सर्वोऽपि साधुयोगस्तत्रोक्तः श्रमणव्यापारः यस्मात् । खलुशब्दो विशेषणार्थः, भावप्रधान इत्यर्थः। तत्प्रत्यनीक इति-सूक्ष्मप्रमादप्रत्यनीकः। अत एव जगवदुक्तानुपूर्व्या विहितानुष्ठानवन्तो विनिर्जित्य प्रमादं वीतरागा भवन्ति । इत्थं जेयतया एव तस्य भगवद्भिर्ज्ञाततत्त्वा इति बहुवक्तव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति गाथार्थः ॥

सूत्रगाहा-

एस चरित्तुस्सग्गो, दंसणसुद्धीएँ तइओ होइ ।
सुअनाणस्स चउत्थो, सिद्धाणं थुई य किइकम्मं ॥८२॥

एष चारित्रकायोत्सर्गस्तदा दर्शनशुद्धिनिमित्तं तृतीयो भवति । प्रारम्भकायोत्सर्गापेक्षया तस्य तृतीयत्वम् । श्रुतज्ञानस्य चतुर्थः । एवमेव सिद्धानां स्तुतिश्च, तदनु कृतिकर्म- वन्दनमिति सूत्रगाथासमासार्थः ॥

अवयवार्थमाह-

सामाइअपुव्वगं, करिंति तं चरित्तसोहणनिमित्तं ।
पियधम्मऽवज्जभीरू, पणासुस्सासगपमाणं ॥८३॥

सामायिकपूर्वकं प्रतिक्रमणोत्तरकालजाविनं कायोत्सर्गं कुर्वन्ति चारित्रशोधननिमित्तम् । किंविशिष्टाः सन्त इत्याह-प्रियधर्माऽवद्यभीरवः पञ्चाशदुच्छ्वासप्रमाणमिति गाथार्थः ॥

ऊसारिऊण विहिणा, सुद्धचरित्ता थयं पकड्ढित्ता ।
कड्ढंति तओ चेइअ-वंदणदंमं तउस्सग्गं ॥ ८४ ॥

उत्सार्य विधिना-'णमो अरहंताणमिति' अभिधानलक्षणेन,शुद्धचारित्राः सन्तः, स्तवं 'लोकस्योद्योतकररूपं,' प्रकृष्य, पठित्वेत्यर्थः । कर्षन्ति, पठन्तीत्यर्थः । ततस्तदनन्तरं चैत्यवन्दनं दण्डकं कर्षन्ति, ततः कायोत्सर्गं कुर्वन्तीति गाथार्थः ॥

किमर्थमित्याह-

दंसणसुद्धिनिमित्तं, करिंति पणवीसगप्पमाणेणं ।
ऊसारिऊण विहिणा, कड्ढंति सुअत्थयं ताहे ॥८५॥

दर्शनशुद्धिनिमित्तं कुर्वन्ति पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाणेन उत्सार्य विधिना पूर्वोक्तेन, कर्षन्ति श्रुतस्तवं ततः 'पुष्करवरेत्यादि' लक्षणमिति गाथार्थः ॥

सुअनाणस्सुस्सग्गं, करिंति पणवीसगं पमाणेणं ।
सुत्तइयारविसोहण-निमित्तमह पारिउं विहिणा ॥८६॥

श्रुतज्ञानस्य कायोत्सर्गं कुर्वन्ति पञ्चविंशत्युच्छ्वासमेव प्रमाणेन सूत्रातिचारशोधननिमित्तम्, अथानन्तरं पारयित्वा विधिना पूर्वोक्तेनेति गाथार्थः ॥

चरणं सारो दंसण-नाणा अंगं तु तस्स निच्छयओ ।
सारम्मि अ जइअव्वं, सुद्धी पच्छाऽणुपुव्वीए ॥८७॥

किमित्याह-

सुद्धसयलाइआरा, सिद्धाण थयं पढंति तो पच्छा ।
पुव्वभणिएण विहिणा, किइकम्मं दिंति गुरुणा ओ ॥८८॥

शुद्धसकलातिचाराः सिद्धानां सबन्धिनं स्तवं पठन्ति 'सिद्धाणमित्यादि' लक्षणम्, ततः पश्चात् पूर्वभणितेन विधिना, कृतिकर्म वन्दनं ददति गुरोरप्याचार्यायेवेति गाथार्थः ॥८८॥ पं० व० ३ द्वार ॥

एस चरित्तुस्सग्गो, दंसणसुद्धीएँ तइअगो होइ ।
सुअनाणस्स चउत्थो, सिद्धाए थुई अ किइकम्मं ॥२२५॥

(एस चरित्तुस्सग्गो त्ति) चरित्तातियारविसुद्धिनिमित्तो त्ति जणियं होइ । अयं च पंचासुस्सासपरिमाणो, ततो णमोक्कारेण पारेत्ता विसुद्धचरित्ता विसुद्धचरित्तं देमि सया णं दंसणविसुद्धिनिमित्तं एस नामुक्कित्तणं करेंति चारित्तविसोहियं । इयाणि दंसणविसोहिज्जइ त्ति कट्टु तं पुण नामकित्तणमेवं करेंति- 'लोगस्सुज्जोयगरेत्यादि,' अयं चतुर्विंशतिस्तवश्चतुर्विंशतिस्तवे न्यक्षेण व्याख्यात इति नेह पुनर्व्याख्यायते ॥२२५॥

चतुर्विंशतिस्तवं चाभिधाय दर्शनविशुद्धिनिमित्तमेव कायोत्सर्गं चिकीर्षन्तः पुनरिदं सूत्रं पठन्ति-

सूत्रम्

सव्वलोए अरिहंतचेइआणं वंदणवत्तियाए पूयणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए बोहिलाभवत्तियाए निरुवसग्गवत्तियाए सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउसग्गं ॥

अस्य व्याख्या-सर्वलोकेऽर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गमिति । तत्र लोक्यते दृश्यते केवलज्ञानभास्वतेति लोकः, चतुर्दशरज्ज्वात्मकः परिगृह्यते इति । उक्तं च-"धर्मादीनां वृत्ति-र्द्रव्याणां भवति यत्र तत् क्षेत्रम् । तैर्द्रव्यैः सह लोक-स्तद्विपरीतं ह्यलोकाख्यम्" ॥१॥ यः सर्वः खल्वधस्तिर्यगूर्ध्वभेदभिन्नः,सर्वश्चासौ लोकश्च सर्वलोकस्तस्मिन्सर्वलोके, त्रैलोक्य इत्यर्थः । तथाहि-अधोलोके चमरादिभवनेषु, तिर्यग्लोके द्वीपाचलज्योतिष्कविमानादिषु, सन्त्येवार्हच्चैत्यानि । ऊर्ध्वलोके सौधर्मविमानादिषु सन्त्येवार्हच्चैत्यानि । तत्र अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तस्तीर्थकराः, तेषां चैत्यानि प्रतिमालक्षणान्यर्हच्चैत्यानि । इयमत्र भावना-चित्तमन्तःकरणं, तस्य भावे कर्मणि वा, "वर्णदृढादि"-॥७।१।५९॥ लक्षणेति ष्यणि कृते चैत्यं भवति । तत्रार्हतां प्रतिमाः प्रशस्तसमाधिचित्तोत्पादकत्वादर्हच्चैत्यानि भण्यन्ते । तेषां किं करोमीत्युत्तमपुरुषैकवचननिर्देशेनात्माभ्युपगमं दर्शयति । किमित्याह-कायः शरीरं तस्योत्सर्गं कृत्वा, कायस्य स्थानं मौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेण क्रियान्तराध्यासमधिकृत्य

परित्याग इत्यर्थः; तं कायोत्सर्गमाह। कायस्योत्सर्ग इति षष्ठ्या समासः कृतः। अर्हच्चैत्यानामिति प्रागुक्तम्। तत्किमर्हच्चैत्यानां कायोत्सर्गं करोति?, नेत्युच्यते-षष्ठ्यानिर्दिष्टं तत्पदं पदद्वयमतिक्रम्य मराडूकप्लुतया वन्दनप्रत्ययमित्यादिभिरभिसंबध्यते। ततश्चार्हच्चैत्यानां वन्दनप्रत्ययं करोमि कायोत्सर्गमिति द्रष्टव्यम्। तत्र वन्दनमभिवादनम्, प्रशस्तकायवाङ्मनःप्रवृत्तिरित्यर्थः। तत्प्रत्ययं तन्निमित्तं, तत्फलं मे कथं नु नाम कायोत्सर्गादेव स्यादित्यतोऽर्थमिति। एवं सर्वत्र भावना कार्या। तथा-(पूयणवत्तियाए त्ति) पूजनप्रत्ययं पूजननिमित्तं,तत्र पूजनं गन्धमाल्यादिभिरभ्यर्चनम्। तथा-(सक्कारवत्तियाए त्ति) सत्कारप्रत्ययं सत्कारनिमित्तं, तत्र प्रवरवस्त्राभरणादिभिरभ्यर्चनं सत्कारः। आह-यदि पूजनसत्कारप्रत्ययं कायोत्सर्गः क्रियते, ततस्तावेव कस्मान्न क्रियेते?। उच्यते-द्रव्यस्तवत्वादप्रधानत्वात्। यदुक्तम्—

" दव्वत्थओ य भाव-त्थओ बहुगुणो त्ति बुद्धि सिया ।
अणिउण जणवयणमिणं, छज्जीवहियं जिणा बिंति ॥१॥
छज्जीवकायसंजम-दव्वत्थए सो विरुज्झती कसिणो ।
तो कसिणसंजमे वि ऊ, पुष्फाईयं न इच्छंति ॥२॥
अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
संसारपयणुकरणो, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥३॥ "

अतः श्रावकाः पूजनसत्कारावपि कुर्वन्त्येव। साधवस्तु प्रशस्तावयवसायनिमित्तमेवेत्थमभिदधति। तथा-(सम्माणवत्तियाए त्ति) सम्मानप्रत्ययं संमाननिमित्तम्, तत्र स्तुत्यादिभिर्गुणोन्नतिकरणं संमानः, तथा मानसप्रीतिविशेष इत्यन्ये। अथ वन्दनपूजनसत्कारसंमाना एव किं निमित्तमित्यत आह-(बोहिलाभवत्तियाए) बोधिलाभनिमित्तं प्रेत्य जिनप्रणीतधर्मप्राप्तिर्बोधिलाभो भण्यते। अथ बोधिलाभ एव किं निमित्तमित्यत आह-(निरुवसग्गवत्तियाए) निरुपसर्गप्रत्ययं निरुपसर्गनिमित्तम्, निरुपसर्गो मोक्षः। अयं च कायोत्सर्गः क्रियमाणोऽपि श्रद्धादिविकलस्य नाभिलषितार्थप्रसाधनायालमित्यत आह-(सद्धाए मेहाए धिइए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि काउस्सग्गं ति) श्रद्धया हेतुभूतया तिष्ठामि कायोत्सर्गे, न बलाभियोगादिना। श्रद्धा निजाऽभिलाषः। एवं-मेधया पटुत्वेन, न जडतया। अन्ये तु व्याचक्षते-मेधयेति मर्यादावर्त्तित्वेन, नासमञ्जसतयेति। एवं-धृत्या मनःप्रणिधानलक्षणया, न पुना रागद्वेषाकुलतया। धारणया अर्हद्गुणाविस्मरणरूपया, न तु तच्छून्यतया। अनुप्रेक्षया अर्हद्गुणानामेव मुहुर्मुहुरविच्युतिरूपेणानुचिन्तनरूपया,न तु तद्विकलतया। वर्द्धमानयेति प्रत्येकमभिसंबध्यते। श्रद्धया वर्द्धमानया। एवं मेधयेत्यादि। एवं तिष्ठामि कायोत्सर्गम्। आह-उक्तमेव-'करोमि कायोत्सर्ग,' सांप्रतं 'तिष्ठामीति' किमर्थमिति?। उच्यते-'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' इति कृत्वा करोमि करिष्यामीति क्रियाभिमुख्यमुक्तम्। इदानीं त्वासन्नतरत्वात् क्रियाविशिष्टत्वात् क्रियाकालनिष्ठाकालयोः कथञ्चिद्भेदात्तिष्ठाम्येव। आह-किं सर्वथा?; नेत्याह-अन्नत्थुससिएणमित्यादि पूर्ववत् यावद्वोसिरामि त्ति। "एवं च सुत्तं पढित्ता पणवीसुस्सासपरिमाणं काउस्सग्गं करेंति दंसणसुद्धीए तइयं उद्धाइ त्ति" तृतीयत्वं चास्यातिचारालोचनविषयप्रथमकायोत्सर्गापेक्षयेति। ततो-"नमोक्कारेण पारित्ता सुयनाणपरिवुड्ढिनिमित्तं अइयारविसोहणत्थं च सुयधम्मस्स भगवतो पराए भत्तीए तप्पढमवगनमोक्कारपुव्वगं थुइं पढंति"॥ आव० ५ अ०॥ "काउस्सग्गस्स ठाणविही। जधा ओहनिज्जुत्तीए" आ०चू० ५ अ०॥

इदानीमेनामेव द्वारगाथां विशेषेण व्याख्यानयन्नाह-

उड्ढनिसीयतुयट्टण, ठाणं तिविहं तु होइ नायव्वं ।
उड्ढं उच्चाराई, गुरुमूले पडिक्कमागम्म ॥ ४१५ ॥

तत्र स्थानं त्रिविधं ज्ञातव्यम-ऊर्द्धस्थानं, निषीदनस्थानं, त्वग्वर्त्तनस्थानं च। तत्राद्यमूर्द्धस्थानं व्याख्यानयन्नाह-(उड्ढं) उच्चारार्थे ऊर्द्धं स्थानं कायोत्सर्गः। स उच्चारादीन् कृत्वा, आदिग्रहणात्प्रस्रवणं कृत्वा, ततश्च गुरुमूलं आगत्य प्रतिक्रामतः, काम, ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामतो भवति॥

पक्खे ऊसासाई, पुरओ अविणीयमग्गओ वाऊ ।
णिक्खमपवेसवज्जण, भावासन्नो गिलाणाए ॥ ४१६ ॥

कायोत्सर्गं कुर्वता आचार्यपक्षके पक्षप्रदेशे न स्थातव्यम, यतः गुरुरुच्छ्वासेनाभिहन्यते। नापि पुरतः स्थातव्यम्, यतः पुरतः अविनीतत्वमुपजायते गुरुमाश्रित्य तिष्ठतः। नापि मार्गतः गुरोः पृष्ठतो, यतो गुरोर्वायुनिरोधेन ग्लानता भवति। वायुर्योऽपानेन निर्गच्छति। कथं पुनः स्थातव्यम?, यत्र निष्क्रमप्रवेशस्थानं,तत् वर्जयित्वा कायोत्सर्गं करोति (भावासन्नो त्ति) यः उच्चारादिना पीडितः स च निर्गमे रुद्धे संज्ञानिरोधं करोति, ततश्च ग्लानता भवति। अथ निर्गच्छति ततः कायोत्सर्गभङ्गः॥

भारे वेयण खमगुण्ह-मुच्छपरिताव छेदणे कलहो ।
अव्वाबाहे ठाणे, सागारपमज्जणे जयणा ॥ ४१७ ॥

तथा च मार्गे कायोत्सर्गकरणे एते दोषाः-भिक्षामटित्वा कश्चिदायातः साधुः, स च द्वारे सति यदि प्रतिपालयति ततो वेदना भवति। तथा-क्षपकः कश्चिद्भक्तं गृहीत्वाऽऽयातः, तथाऽन्यः उष्णसंतप्त आयातः। अनयोर्द्वयोरपि प्रतिबाध्यतो यथासंख्यं मूर्च्छापरितापौ भवतः। क्षपकस्य मूर्च्छा, उष्णतप्तस्य परितापः। मध्येन कायोत्सर्गं छित्वा प्रविशन्ति ततः परस्परं कलहो भवति। तस्मात् अव्याबाधे स्थाने कायोत्सर्गः कर्त्तव्यः, एतद्दोषभयात्। (सागारपमज्जणे जयणे त्ति) यदा तु पुनः सागारिको भवति कायोत्सर्गं कुर्वतस्तदा अप्रमार्जनमेव करोति, यतनया वा प्रमार्जयति-रजोहरणेन बाह्यनिषद्यया प्रमृज्य कायोत्सर्गस्थानं, ततस्तां निषद्यां सागारिकपुरतः एकान्ते मुञ्चति, गते च तस्मिन् गृह्णाति। उक्तमूर्द्धस्थानम्॥ ओघ०।

"निव्वाघाते ठायंता चेव पुव्वं सामायिकं कड्ढित्ता सुत्तं अणुप्पेहंति, जाव आयरिएण 'वोसिरामि' त्ति भणितं,ताहे इमे वि अतियारसुहमे भिया पडिलेहणादियं चिंतेंति। अण्णे भणंति-जाहे आयरिया सामाइयं पगड्ढिता ताहे ते तहट्ठिता चेव अणुप्पेहंति पढमं सुत्तं चिंतेंति। अत्राह-एत्थ किंनिमित्तं काउस्सग्गो कीरति, जेण णेरइयस्स थिरवज्जता होति; सुहं च एक्कगो चिंतेहिति?। उक्तं च-

" काउस्सग्गम्मि ठिओ, निरइकायो निरुद्धवयपसरो ।
जाणइ सुहमेगमणो, मुणिदेवसियाइ अइयारं ॥८७॥
परिजाणिऊण य जओ, सम्मं गुरुजणं पयासणेसं तु ।
सो होइ अप्पमं सो, जम्हा य जिणेहिँ सो भणितो " ॥८८॥

सो काउस्सग्गो।

काउस्सग्ग मोक्खपह-देसियं जाणिऊण तो धीरा ।
दिवसाइयारजाणण-ट्ठयाइ ठायंति उस्सग्गं ।८९। आव०नि०।

काउस्सग्गं मोक्खपहं इति देसितं जिणेहिं, जेण णि-

रपञ्जता होइ त्ति । अहवा मोक्खपहो जैनशासनं, तम्मि देसिसं विधेयत्तेन, मोक्खपहगेहिं वा जिणेहिं दर्शितं मोक्खजिगमिषूणां कर्तव्यतया । अहवा—मोक्खपहो णाणादीणि, तस्स देसियं, देसयतीति देसियं; तं देशयतीत्यर्थः । एवं जाणितूण, ततो धीरा, धी बुद्धिस्तया राजन्त इति धीराः । देवसियातियारस्स य परिजाणणट्ठं काउस्सग्गं ठाति त्ति । एवं काउस्सग्गे ठितेण मुहणंतिमादि काउं जाव एत्थ काउस्सग्गे ठितो ताव अणुप्पेहेतव्व, सव्वं देवसियं चिंतेत्ता जावइया देवसियाऽतियारा ते सव्वे समणेइत्ता ते दोसे आलोयणाणुलोमे पडिसेवणाणुलोमे य ठवेज्जा । तेसु संमत्तेसु धम्मसुक्काणि झाएज्जा जाव आयरिएहि उस्सारियंति । आयरिया पुण अप्पणोच्चयं देवसियं चेट्ठं दोवारे चिंतेति, ताव इमेहिं एक्कंसि चिंतिते होति । किं कारणं?, तस्स भ हिंडिहिंडितस्स अप्पा अतियारा, मिस्सादीणं हिंडिताणं च बहुतरा, दिवस्सगाहणं किं निमित्तं?, दिवसादीयं तित्थं पसत्थो भवति । एवं एताओ तिण्णि गाधाओ दिवसे, एवं पक्खिए वि दिवसो, चाउम्मासिए वि दिवसो, संवच्छरिए वि दिवसो, तेण दिवसा तिण्णि । तिण्णि, एव ताए दोसो, पच्चूसे रातिया अतियारा पक्खियचाउम्मासियसंवच्छरिया णत्थि । एतेण कारणेण दिवसगहणं, पुव्वण्हे वा केवलं दुगुणाऽणुप्पेहा पच्चइयाणं वा पयोगतं णातूण अपरिमितेण कालेण उस्सारेतव्वं, तं च णमो अरिहंताणं ति भणित्ता पारेति । पच्छा थुतिं भणति । सा य थुती—जेहिं इमं तित्थं इमाए उस्सप्पिणीए पदेसियं णाणदंसणचरित्तस्स य उवदेसो तेसिं महतीए भत्तीए बहुमाणेत्ता संथवो कायव्वो । एतेण कारणेणं काउस्सग्गाणंतरं चउवीसत्थओ । सा य उववसेहिं पढित्ता गुणवतो पडिवत्तिनिमित्तं सबहुमाणं संवेगसारं अवराधालोयणा कातव्वा । विणयमूलो धम्मो त्ति काउं वंदितुकामो गुरुं सडासयं पडिलेहित्ता उवेठो मुहणंतयं पडिलेहेति । से सीसं कायं पज्जित्ता परेण विणएण तिकरणविसुद्धं कितिकम्मं कातव्वं ।

तत्थ सुत्तगाहा–

आलोयणवागरण–स्स पुच्छणे पूयणाए सज्झाए ।
अवराहे य गुरूणं, विणओ मूलं च वंदणयं ॥ २१६ ॥

एवं विणयं पउंजित्ता अब्भुट्ठाय जहारातिणियाए दोहिं हत्थेहिं रयहरणं गहाय अक्खलियं आलोएति जधा गुरू सुणेति हण तओ संजतभासाए पुव्वरइए दोसे वागरेति गुरुस्स ।

तत्थ सुत्तगाधाओ–

विणएण विणयमूलं, गंतूणं साधुपादमूलम्मि ।
जाणावेज्ज सुविहिओ, जह अप्पाणं तह परं पि ॥२१७॥
कयपावो वि मणूसो, आलोइय णिंदिओ गुरुसगासे ।
होइ अइरेगलहुओ, ओहरियभरो व्व भारवहो ॥२१८॥
उप्पण्णानुप्पण्णा, माया अणुमग्गतो णिहंतव्वा ।
आलोयणणिंदणगर-हणेहिं ण पुणो त्तिया वितियं ॥२१९॥

जदि नत्थि अतियारो ताहे संदिसह त्ति, भणितो पडिक्कमति नाणियव्वं । अह अतियारो पायच्छित्तं पुरिमड्ढादीहं ति, तं च तहेव अणुचरितव्वं, मा अणुवत्थादीया दोसा भविस्संति ।

एत्थ सुत्तगाधा–

तस्स य पायच्छित्तं, जम्मग्गविदू गुरू उवदिसंति ।
तं तह अणुचरितव्वं, अणवत्थपसंगभीतेणं ॥२२०॥

अणवत्थाए उदाहरणं—तिलहारेण चेडेणं कद्दमलित्तएणं तेणएणं पसंगावणिवारणट्ठाए आता उवालभितव्वो, जधा ण पुणो अतियरति । एतेण कारणेणं वंदणाणंतरं आलोयणा आलोइए, पुणरवि सामाइयं ववगयरागदोसमोहं होतूण पंचिंदियसंवुडो सचित्तो समणो जाव तब्भावणाभावितो सुत्ते सुत्ते उवउत्तो अणेसरेज्जा । एतेण अभिसंबंधेण आलोयणाणंतरं सामाइयं, ततो णाणदंसणचरित्ताणं विसुद्धिणिमित्तं पडिसिद्धाणं वागरणातिचारस्स किच्चाणं अकरणातियारस्स जहोवदेसस्स असद्दहणा अतियारस्स वितहा, परूवणातियारस्स य विसोहिनिमित्तं उवेठ पडिक्कमणं पडिपदेणं अणुसज्झितव्वं, उवउत्तेण वि तं निंदामि, अणागतं पच्चक्खामि त्ति, कालविभागेण य सव्वेसु ठाणेसु जहा अप्पगो ठाति तहा कातव्वं ।

तत्थ सुत्तगाधा–

एते चेव अणुभिगतो, भावविवरीततो अभिणिविट्ठो ।
मिच्छादंसणमिणमो, बहुआगारं विधाणाहि ॥
एव णाऊणं, अविवरीतं पदं पदेण णेतव्वं ।
पुणरवि त्ति उवट्ठिते, तो वेज्जति गयं पुव्वं ॥

दिट्ठंतेण विणयमूलो धम्मो त्ति पुव्वत्तविहिणा वंदणखमावणापुव्वं णिवदेणं च पडिक्कंतामि त्ति आयरियाणं वंदणं काऊणं सेसगा वि खमावेतव्वा ।

तत्थ सुत्तगाधा—

आयरियउवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुलगणे वा ।
जे मे केइ कसाया, सव्वे तिविहेण खामेमि ॥२२२॥
सव्वस्स समणसंघ–स्स भगवओ अंजलिं करिय सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स य तुमं पि ॥२२३॥

एएणाभिसंधेण वंदणाणंतरं खमासमणा, ततो सेसगा वि जीवा खमावेइतव्वा । एवं विगतरागदोसमोह इति पुणरवि सामाइकपुव्वगं चरित्तविसोधणहेतुं काउस्सग्गो वेज्जति । गयदिट्ठंते चेव जे केइ चारित्तविराधणाकता पडिक्कमणालोयणालाहेण सुद्धा, तेसिं विसोहिणिमित्तं काउस्सग्गो त्ति वा, जोगनिग्गहो त्ति वा, एतेण कारणेणं चरित्तातियारविसोधिनिमित्तं सामाइयं कड्ढिऊण काउस्सग्गं दंडगं च जाव तस्स उत्तरीकरणेणं जाव वोसिरामि त्ति । एवं णिरवज्जेणं णिरेजेणं तस्स भत्तीए काउस्सग्गो कायव्वो । केवचिरं कालं पमाणेणं । 'उस्सासाणं' सिलोगे चत्तारि पादा, पादे पादे ऊसासो । तत्थ गाथा-
" पादसमा उस्सासा, कालपमाणेण होंति णातव्वा ।
एतं कालपमाणं, उस्सग्गो होइ णातव्वो " ॥

तत्थेमा परिमाणगाधातो साए सतं गोसद्धं सायं वेयालिय संज्ञा । तत्थ अत्थेतुपडिक्कमणे पढिते पच्छा तिसु वि काउस्सग्गेसु उस्सासस्सतं भवति । तेसिं पढमो चारित्तकाउस्सग्गो तत्थ पण्णास उस्सासणं उस्सारेत्ता विसुद्धचरित्तदेसयाणं महामुणीणं महाजसाणं महाणाणीणं जेहिं निव्वाणमग्गोवदेसो कतो तेसिं तित्थगराणं अविहत-

मग्गो देसगाणं दंसणसुद्धिणिमित्तं णामुक्कित्तणा कीरति । किंनिमित्तं ?, चरित्तं विसोधितं । इदाणिं दंसणविसोधी कातव्व त्ति । एतेणाभिसंबंधेण चउवीसत्थओ सो पुव्वभणितो, तस्स विसोहणनिमित्तं काउस्सग्गं करेंतो पराए भत्तीए भणति- " सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं वंदणवत्तियाए " इत्यादि । अस्य व्याख्या-न केवलं चउवीसाए, जे वि सव्वे एए सिद्धादी अरिहंता, चेइयाणि य, तेसिं चेव प्रतिकृतिलक्षणानि । चिती संज्ञाने, संज्ञानमुत्पद्यते काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा जथा अरहंतपडिमाए सा इति । अन्ने भणंति-अरहंता तित्थगरा, तेसिं चेइयाणि अरिहंतचेइयाणि; अर्हत्प्रतिमा इत्यर्थः । तासिं वंदनादिप्रत्ययं ठामि काउस्सग्गमिति योगः । तत्र वन्द्यत्वात्तेषां वन्दनार्थं कायोत्सर्गं करेमि । श्रद्धाभिर्वर्द्धमानैः सद्गुणसमुत्कीर्तनपूर्वकं कायोत्सर्गेणैव पूजनं करोमीत्यर्थः । जधा कोइ गंधचुण्णवासमल्लादीहिं समभ्यर्चनं करोतीति एवं सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए वि भावेतव्वं । णवरं सक्कारो जधा वत्थाभरणादीहिं सक्कारेणं सम्माणो सम्माणणं । केइ भणंति-वंदणादयो पगट्ठिया आदरार्थं उच्चारिज्जंति त्ति । अथ वंदणादीणि किमत्थमित्याह-" बोधिलाभवत्तियाए " बोधे लाभो सम्मदंसणादीहिं अभिप्पयोगो सधर्मावाप्तिरित्याह-प्रेत्य सधर्मावाप्तिर्बोधि लाभ इत्येतदर्थं बोधिलाभः । किमर्थमित्याह-" निरुवसग्गवत्तियाए " निरुवसग्गो मोक्खो, तदर्थं 'एत्थ य सिद्धाए मेहाए धितीए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ठामि करेमि काउस्सग्गमिति " । तच्छ्रद्धाऽत्यतिशयसाभिलाषता इत्यन्ये । संमत्ते तीव्राभिनिवेश इत्यन्ये । तीए वड्ढमाणीए । एवं मेहाए । मेहा पडुत्त नउ न धंधसहतो । तद्गुणपरिज्ञानमित्यन्ये । अन्ये पुनः मेधाए त्ति आसातणाविरहितो तत्थेव मग्गो ट्ठितो इति । वित्तीमणो सुप्पणिहाणेण दुरागादीहिं आकुलो, धारणा य वोपदेसाविस्मरणं । अन्ये तु धारणाए ति अर्हद्गुणाविस्मरणरूपया, न तु तच्छून्यतया इति । अनुप्रेक्षा तद्गुणानामनुचिंतनं, वड्ढमाणी वर्द्धमाना । केइ पुण अणुप्पेहाए वड्ढमाणीए ण पढंति । अन्ने पुण भणंति-सद्धानिमित्तं श्रद्धार्थं श्रद्धानिमित्तं च ठामि काउस्सग्गं । एवं मेहादिसु वि भावितव्वं । ठामि काउस्सग्गं इत्यादि पूर्ववत् । पणुवीसं उस्सासकाउस्सग्गा णमोक्कारेणं पारेति; ततो णाणातियारविसुद्धिनिमित्तं सुत्तणाणेणं मोक्खसाहणाणि साहिज्जंति त्ति काउं तस्स भगवतो पराए भत्तीए । एतप्पढमगणमोक्कारपुव्वगं थुतिकित्तणं करेति । (आ० चू० ५ अ०)

तद्यथा-

पुक्खरवरदीवड्ढे, धातइसंडे अ जंबुदीवे अ ।
भरहेरवयविदेहे, धम्माइगरे नमंसामि ॥ १ ॥
तमतिमिरपडलविद्धं-सणस्स सुरगणनरिंदमहिअस्स ।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिअमोहजालस्स ॥ २ ॥
जाईजरामरणसोगपणासणस्स,
कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स ।
को देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स,
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं ॥ ३ ॥

अस्य व्याख्या-पुष्कराणि पद्मानि तैर्वरः प्रधानः पुष्करवरः, पुष्करवरश्चासौ द्वीपश्चेति समासः तस्यार्द्धं मानुषोत्तराचलार्वाग्भागवर्त्ति, तस्मिन् । तथा-धातकीखण्डानि यस्मिन् स धातकीखण्डो द्वीपः, तस्मिंश्च । तथा जम्ब्वोपलक्षितस्तत्प्रधानो वा द्वीपो जम्बूद्वीपः, तस्मिंश्च । एतेष्वर्द्धतृतीयेषु द्वीपेषु महाक्षेत्रप्राधान्याङ्गीकरणतः पश्चानुपूर्व्योपन्यासः । तेषु यानि भरतैरवतविदेहानि । प्राकृतशैल्या त्वेकवचननिर्देशः । द्वन्द्वैकवद्भावात् भरतैरवतविदेहमित्यपि भवति । तत्र धर्मादिकराननमस्यामि । " दुर्गतिप्रसृतान् जीवान्, यस्माद्धारयते ततः । धत्ते चैतान् शुभे स्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः " ॥१॥ स च द्विभेदः-श्रुतधर्मश्चारित्रधर्मश्च । श्रुतधर्मेणेहाधिकारः तस्य भरतादिष्वादौ करणशीलास्तीर्थकरा एव अतस्तेषां स्तुतिरुक्ता । साम्प्रतं श्रुतधर्मस्योच्यते-(तमतिमिरपडलविद्धंसणस्स सुरगण इत्यादि) तमः अज्ञानं तदेव तिमिरं, तमस्तिमिरम् अथवा-तमो बद्धस्पृष्टनिधत्तं ज्ञानावरणीयं निकाचितं तिमिरं, तस्य पटलं वृन्दं तमस्तिमिरपटलं, तद्विध्वंसयति नाशयतीति तमस्तिमिरपटलविध्वंसनस्तस्य, तथा ह्यज्ञाननिरासेनैवास्य प्रवृत्तिः । तथा-सुरगणनरेन्द्रमहितस्य, तथा ह्यागमहिमानं कुर्वन्त्येव सुरादयः । तथा-सीमां मर्यादां धारयतीति सीमाधरः, सीम्नि वा धारयतीति । तस्येति द्वितीयार्थे कर्मणि षष्ठी । तं वन्दे । तस्य वा यन्माहात्म्यं तद्वन्दे । अथवा-तस्य वन्द इति वन्दनं करोमि । तथा ह्यागमवन्त एव मर्यादां धारयन्ति । किंभूतस्य ?, प्रकर्षेण स्फोटितं मोहजालं मिथ्यात्वादि येन स तथोच्यते तस्य । तथा ह्यस्मिन्सति विवेकिनो मोहजालं विलयमुपयात्येव । इत्थं श्रुतधर्ममभिवन्द्याधुना तस्यैव गुणोपदर्शनद्वारेण प्रमादगोचरतां प्रतिपादयन्नाह-(जाइजरामरणेत्यादि) जातिरुत्पत्तिः, जरा वयोहानिः, मरणं प्राणत्यागः, शोकः मनसो दुःखविशेषः । जातिश्च जरा च मरणं च शोकश्चेति द्वन्द्वः । जातिजरामरणशोकान्प्रणाशयत्यपनयति जातिजरामरणशोकप्रणाशनः तस्य । तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानाद् जात्यादयः प्रणश्यन्त्येव । अनेन चास्यानर्थप्रतिघातित्वमाह । कल्यमारोग्यमणतीति कल्याणं, कल्यं शब्दयतीत्यर्थः । पुष्कलं संपूर्णम् । न च तदल्पं, किं तु विशालं विस्तीर्णम्, सुखं प्रतीतम् । कल्याणं पुष्कलं विशालं सुखमावहति प्रापयति कल्याणपुष्कलविशालसुखावहः, तस्य । तथा च श्रुतधर्मोक्तानुष्ठानादुक्तलक्षणमपवर्गसुखमाप्यत एव । अनेन चास्य विशिष्टार्थप्रसाधकत्वमाह-कः प्राणी देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्य श्रुतधर्मस्य सारं सामर्थ्यमुपलभ्य दृष्ट्वा विज्ञाय कुर्यात् प्रमादम् । सचेतनेन चारित्रधर्मप्रमादः कर्त्तुं न युक्त इति हृदयम् आह-सुरगणनरेन्द्रमहितस्येत्युक्तं, पुनर्देवदानवनरेन्द्रगणार्चितस्येति किमर्थमिति ?, अत्रोच्यते-तन्निगमत्वाददोषः । तस्यैवंगुणस्य श्रुतधर्मस्य सारमुपलभ्य कः सकर्णः प्रमादी भवेच्चारित्रधर्म इति ।

यतश्चैवमतः-

सिद्धे भो ! पयतो 'णमो जिणमए' नंदी सयासंजमे,
देवंनागसुवन्नकिन्नरगणस्सब्भूअभावच्चिए ॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं,
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ ॥ ४ ॥
सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं ॥

सिद्धे प्रतिष्ठिते प्रत्याख्याते भो इत्येतदतिशयिनामामन्त्रणं, पश्यन्तु भवन्तः, प्रयतोऽहं यथाशक्त्यैतावन्तं कालं प्रकर्षेण यतः । इत्थं परसाक्षिकं प्रयतो भूत्वा पुनर्नमस्करोति-'नमो जिनमते' अर्थाद्भिभक्तिपरिणामः-नमो जिनमताय । यतश्चैवंभूतोऽहं

प्रयतो नन्दिः सदा सर्वकालं, क?, संयमे चारित्रे, मम भवत्विस्यध्याहार्यम् । किंभूते संयमे ?, देवनागसुवर्णकिन्नरगणैः सद्भूतभावेनार्चिते । तथा च संयमवन्तः अर्च्यन्त एव देवादिभिः । किंभूते जिनमते ?, लोक्यतेऽनेनेति लोकः ज्ञानमेव, स यत्र प्रतिष्ठितः तथा जगदिदं ज्ञेयतया । केचिन्मनुष्यलोकमेव जगन्मन्यन्ते अयत आह-त्रैलोक्यमनुष्यासुरम्, आधाराधेयरूपमित्यर्थः । अयमित्थंभूतः श्रुतधर्मो वर्द्धतां वृद्धिमुपयातु, शाश्वतः द्रव्यार्थादेशादित्यर्थः । तथा चोक्तम्-द्रव्यार्थादेशादित्येषा द्वादशाङ्गी न कदाचिन्नासीदित्यादि । अन्ये पठन्ति-धर्मो वर्द्धतां शाश्वतमिति, अस्मिन्पक्षे क्रियाविशेषणमेतत् शाश्वतं वर्द्धताम् । अप्रच्युत्येति सर्वकालमिति भावना । विजयतः कर्मपरप्रवादिविजयेनेति हृदयम् । तथा-धर्मोत्तरं चारित्रधर्मोत्तरं वर्द्धतु । पुनर्वृध्याऽभिधानं मोक्षार्थिना प्रत्यहं ज्ञानवृद्धिः कार्येति प्रदर्शनार्थम् । तथाच तीर्थकरनामकर्महेतुत्वप्रतिपादयतोक्तम्- " अपुव्वनाणगहणेत्ति सुयस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए" इत्यादि प्राग्वत् यावद्वोसिरामि । एयं सुत्तं पढित्ता पणवीसुस्सासमेव काउस्सग्गं करेंति । आह च -"सुयनाणस्स चउत्थो त्ति" ततो नमोक्कारेण पारित्ता विसुद्धचरणदंसणसुयातियारमंगलनिमित्तं चरणदंसणसुयदेसगाण सिद्धाणं थुति कड्ढंति भणियं च सिद्धाणं थुइए त्ति " ॥

सा चेयं स्तुतिः-

सिद्धाणं बुद्धाणं, पारगयाणं परंपरगयाणं ।
लोगग्गमुवगयाणं, णमो सया सव्वसिद्धाणं ॥ १ ॥
जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति ।
तं देवदेवमहियं, सिरसा वंदे महावीरं ॥ २ ॥
एक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं वा ॥ ३ ॥

(सिद्धाणं बुद्धाणमित्यादि) अस्य व्याख्या-सितं ध्यानमेतेषामिति सिद्धाः; निर्दग्धकर्मेन्धना इत्यर्थः । तेभ्यः सिद्धेभ्यः । ते च सामान्यतो विद्यासिद्धा अपि भवन्त्यत आह-बुद्धेभ्यः; सूत्रावगताशेषाविपरीततत्त्वात् बुद्धा उच्यन्ते । तत्र कैश्चित्स्वतन्त्रतयैव तेऽपि स्वतीर्थोज्झनायेहागच्छन्तीत्यभ्युपगम्यते । अत आह-पारगतेभ्यः, पारं पर्यन्तं संसारस्य, प्रयोजनव्रातस्य वा गताः पारगताः, तेभ्यः । तेऽपि चानादिसिद्धैकजगत्पतीच्छावशात्कैश्चित्तथाभ्युपगम्यन्ते । इत्यत आह-परम्परगतेभ्यः, परम्परया एकेनाभिव्यक्तार्थादागमात्प्रवृत्तोऽन्योऽन्येनाभिव्यक्तार्थादन्योऽन्येनाप्यत इत्येवंभूतया गताः परंपरगतास्तेभ्य आह-प्रथमं नाभिव्यक्तार्थादागमात्प्रवृत्त इत्युच्यते, अनादित्वात्सिद्धानां प्रथमत्वानुपपत्तिरिति । अथवा कथंचित्कर्मक्षयोपशमाद् दर्शनं दर्शनाज्ज्ञानं ज्ञानाच्चारित्रमित्येवंभूतया परम्परया गताः, तेभ्यः । तेऽपि च कैश्चित्सर्वलोकापन्ना एवोच्यन्ते । इत्यत आह-लोकाग्रमुपगतेभ्यः लोकाग्रमीषत्प्राग्भाराख्यं समुपगताः, तेभ्यः । आह--कथं पुनरिह सकलकर्मविप्रमुक्तानां लोकाग्रं यावद्गतिर्भवति ?, भावे वा सर्वदैव कस्मान्न भवतीति?, अत्रोच्यते-पूर्वप्रयोगवशाद्दण्डादिचक्रभ्रमणवत् समयमेकमविरुद्धेति । नमः सदा सर्वकालं सर्वसिद्धेभ्यस्तीर्थकरसिद्धादिभेदभिन्नेभ्यः । अथवा सर्वं सिद्धं साध्यं येषां ते सर्वसिद्धास्तेभ्यः ॥ १ ॥ इत्थं सामान्येन सर्वसिद्धनमस्कारं कृत्वा पुनरासन्नोपकारित्वाद्वर्द्धमानतीर्थाधिपतेः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनः स्तुतिं कुर्वन्ति-"जो देवाण वि देवो जं देवा पंजली" इत्यादि । यो भगवान् वर्द्धमानः देवानामपि भवनवास्यादीनां देवः, पूज्यत्वात् । तथा चाह-यं देवाः प्राञ्जलयो नमस्यन्ति विनयरचितकरपुटाः सन्तः प्रणमन्ति । (तं देवदेवमहियं) देवदेवाः शक्रादयः तैर्महितं पूजितं; शिरसोत्तमाङ्गेनेत्यादरप्रदर्शनार्थमाह । वन्दे तं; कम् ?, महावीरम् । ईर गतिप्रेरणयोरित्यस्य विपूर्वस्य विशेषेण ईरयति कर्म गमयति याति वा शिवमिति वा वीरः महांश्चासौ वीरश्च महावीरस्तम् ॥ २ ॥ इत्थं स्तुतिं कृत्वा पुनः फलप्रदर्शनमिदं पठन्ति-(एक्को वि नमोक्कारो जिणवरवसहस्सेत्यादि) एकोऽपि नमस्कारो जिनवरवृषभस्य वर्द्धमानस्य संसारसागरात् तारयति नरं वा । नारिं वा इयमत्र भावना-सति सम्यग्दर्शने परया भावनया क्रियमाण एकोऽपि नमस्कारस्तथाऽध्यवसायहेतुर्भवति यथाभूतात्श्रेणिमवाप्य निस्तरति भवोदधिमित्यतः कारणे कार्योपचारादेवमुच्यते; अन्यथा चारित्रादिवैफल्यं स्यात् । आव० ५ अ० । अनेन तत्कालापेक्षयैतावद्गुणसंपत्समन्वितेवोक्तमधर्मसाधिकेति विद्वांसः । केवलसाधकश्चायम्-सति च केवले नियमान्मोक्ष इत्युक्तमानुषङ्गिकं, तस्मान्नमस्कारः कार्य इत्याह-किमेष स्तुत्यर्थवादो यथा-एकया पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति, उत विधिवाद एव यथाऽग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इति । किं वा अतः?, यथाऽऽद्यः पक्षः-ततो यथोक्तफलशून्यत्वात् फलान्तरभावे च तदन्यस्तुत्यविशेषादलमिहैव यत्नेन, च यत्नस्तुतिरप्यफलैवेति प्रतीतमेव । अथ चरमो विकल्पः-ततः सम्यक्त्वाणुव्रतमहाव्रतादिचारित्रपालनवैयर्थ्यम्, तत एव मुक्तिसिद्धेः । न च फलासाधकमिष्यते; सम्यक्त्वादिमोक्षफलत्वेनेष्टत्वात् " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति वचनादिति ?, अत्रोच्यते-विधिवाद एवायम् । न च सम्यक्त्वादिवैयर्थ्यम्, तत्त्वतस्तद्भाव एवास्य भावात्; दीनारादिभ्यो भूमिन्याय एषः; तदवन्ध्यहेतुत्वेन तथा तद्भावोपपत्तेः । अवन्ध्यहेतुश्चाधिकृतफलसिद्धौ भावनमस्कार इति । अर्थवादपक्षेऽपि न सर्वा स्तुतिः समानफलेत्यतो विशिष्टफलहेतुत्वेनात्रैव यत्नः कार्यः; तुल्ययत्नादेव विषयभेदेन फलभेदोपपत्तेर्बब्बूलकल्पपादपाऽऽदेः प्रतीतमेतत् । भगवन्नमस्कारश्च परमात्मविषयतयोपमाऽतीतो वर्तते । यथोक्तम्-

" कल्पद्रुमः परो मन्त्रः, पुण्यं चिन्तामणिश्च यः ।
गीयते स नमस्कारस्तथैवाहुरपण्डिताः ॥ १ ॥
कल्पद्रुमो महाभागः, कल्पनागो वरं फलम् ।
ददाति न च मन्त्रोऽपि, सर्वदुःखविषापहः ॥ २ ॥
न पुण्यमपवर्गाय, न च चिन्तामणिर्यतः ।
तत्कथ्यते नमस्कार, एभिस्तुल्योऽभिधीयते" ॥ ३ ॥ इत्यादि । ध० ।

दुन्नि अ हुंति चरित्ते, दंसणनाणे अ होइ इक्किक्को ।
सुअरि वत्तदेयाए, थुइअंते पंचमंगलयं ॥ २७ ॥

एतास्तिस्रस्तुतयो नियमेनोच्यन्ते । केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति । "कितिकम्मं ति पुणो सडासयं पडिलेहिय उवविसंति, मुहपोत्तियं पडिलेहंति, स सीसोवरिकायं पमज्जित्ता आयरियस्स वंदणं करेंति त्ति" गाथार्थः ॥

आह-किं निमित्तमिदं वन्दनमिति ?, उच्यते-

सुकयं आणत्तिं पि व, लोए काऊण सुकयकिइकम्मा ।
वड्ढंति अ थुइईओ, गुरुथुइ गहणे कए तिन्नि ॥ २८ ॥

'सुकयं आणत्ति पि व लोए काऊण' त्ति जहा रण्णो मणूसा आणत्ति

गाए पेसिया पणामं काऊण गच्छंति। तं च सुकयं काऊण पुणो पणामपुव्वगं णिवेइंति। एवं साहुणो वि गुरुसमाहिट्ठा वंदणपुव्वगं चारित्तादिविसोहिं काऊण पुणो सुकयकितिकम्मा संतो गुरुणो निवेदेंति-भगवं! कयं तं पेसणं आयविसोहिकारणं ति वंदणं काऊण पुणो उक्कुडुया आयरियाभिमुहा विणयरइयंजलिउडा चिट्ठंति, जाव गुरू थुइग्गहणं करेंति। ततो पच्छा सम्मत्तीए पढमथुईए थुतिं कड्ढंति; ताओ थुताओ वड्ढंतिओ तिन्नि कड्ढंति त्ति। आह च-'वड्ढंतिय थुतीओ, गुरुथुइगहणे कयंमि त्ति' गायार्थः।२८। ततो पाउसियं कत्तव्वं करेंति। एवं ताव देवसियं गयं।

इयाणिं राइयं; तत्थिमा विही-पढमं चिय सामाइयं कड्डिऊण चारित्तविसुद्धिनिमित्तं पणवीसुस्सासमितं काउस्सग्गं करेंति, ततो नमोक्कारेण पारेत्ता दंसणविसुद्धिनिमित्तं चउवीसत्थयं पढंति, पणवीसुस्सासपरिमाणमेव काउस्सग्गं करेंति। एत्थ वि नमोक्कारेण पारेत्ता सुयनाणविसुद्धिनिमित्तं सुअनाणत्थयं कड्ढंति, काउस्सग्गं च तस्सुद्धिनिमित्तं करेंति। तत्थ य पादोसियं थुइमाइयं अधिकयकाउस्सग्गपज्जंतमइयारं चिंतेंति। आह-किं निमित्तं पढमकाउस्सग्ग एव न चिंतिति। उच्यते-

निद्दामत्तो न सरइ, अइआरं माइघट्टणं तुन्ने।
किइअकरणदोसा वा, गोसाई तिन्नि उस्सग्गा ॥२२९॥

निद्दामत्तो निद्दाभिभूओ, न सरइ न संभराति, सुट्ठु अइयारं मायघट्टणं तुन्ने अंधयारे वंदणं उयाणं किति अकरणदोसा वा अंधयारे अदंसणाओ मंदसद्धा वा ण वंदेंति। एएण कारणेण गोसे पच्चूसे आदीए, तिन्नि काउस्सग्गा भवंति, न पुण पाउसिए जहा एको त्ति। "तत्थ पढमो चरित्ते, दंसणसुद्धीए वि-इअओ होइ। सुअनाणस्स उ तइओ, नवरं चिंतेइ तत्थ इमं"॥

तइए निस्सइआरं, चिंतइ चरमम्मि किं तयं काही?।
छम्मासा एगदिणा-इ हाणि जा पोरिसि नमो वा ॥२३०॥

तइए निस्सइयारं चिंतेइ त्ति व्याख्यात एवायमवयवः। ततो चिंतिऊण अइयारं नमोक्कारेण पारेत्ता सिद्धाणं थुइं काऊण पुव्वभणिएण विहिणा वंदित्ता आलोयंति, ततो सामाइयपुव्वयं पडिक्कमंति, ततो वंदणपुव्वयं खामिंति, ततो सामाइयपुव्वयं काउस्सग्गं करेंति। तत्थ चिंतयंति-कम्मि य निओगे निउत्ता वयं गुरूहिं तो तारिसं तवं पवज्जामो जारिसेण तस्स हाणी न भवइ। ततो चिंतेइ-छम्मासं खमणं करेमो, न सक्केमो एगदिवसेण ऊणयं तहा वि न सक्कामो, एवं जाव पंच मासा, ततो चत्तारि, ततो तिन्नि, तओ दोन्नि, ततो अद्धमासं जाव चउत्थयं आयंबिलं एगट्ठाणयं पुरिमड्ढं णिव्विगतियं नमोक्कारसहियं व त्ति। उक्तं च-(चरिमे किं तयं काहि त्ति) चरिमे काउस्सग्गे (छम्मासादेगूणं हाणी जाव पोरिसि नमो वा) एवं जं समत्थो काउं तमसढभावो हियए करेंति, पच्छा वंदित्ता गुरुसक्खियं पवज्जंति, सव्वे य नमोक्कारइत्ता समगं उट्ठेंति, वोसिरावंति त्ति सोयंति य। एवं पोरिसमादीसु विभासा। ततो तिन्नि थुतीओ जहापुव्वं, नवरमप्पसद्दगं देंति, जहा घरकोइलादी सत्ता न उट्ठेंति; ततो देवे वंदंति, ततो बहुवेलं संदिसावेंति; ततो रयहरणं पडिलेहंति, पुणो ओहियं संदिसावेंति, पडिलेहंति य; तओ वसहिं पमज्जेत्तिय कालं निवेदेंति। अन्ने भणंति-थुइसमणंतरं कालं निवेदेंति।

एवं च पडिक्कमणकालं तुलेंति, जहा पडिक्कमंताणं थुइअवसाणे चेव पडिलेहणवेला भवइ। गयं राइयं। आव० ४ अ०।

इरिय पडिक्कमेत्ता णं पडिक्कमणकालं जाव सज्झायं करिज्जा, दुवालसं पमुत्ते दुस्सुमिणं वा कुसुमिणं वा उग्गाहएज्जा सएण ऊसासाण काउस्सग्गं रयणीए ठीएज्ज वा, खासेज्ज वा, फलहगपीढगदंमगेण वा खुडुक्कगसद्दरिया खमणंदिया वा राओ वा हासखेड्डुं कंदप्पणाहवायं करेज्जा उवट्ठावणं। महा० ७ अ०।

इदाणिं पक्खियं। तत्थिमा विही-जाहे देवसियं पडिक्कंता भवंति निविट्ठगपडिक्कमणेणं ताहे गुरू निवेसंति, तओ साहू वंदित्ता भणंति-इच्छामि खमासमणो! पक्खियं खामणगं ति।

एत्थ पढमं खामणासुत्तं; तं पुण इमं-

इच्छामि खमासमणो! उवट्ठिओ मि अब्भिंतरपक्खियं खामेउं पण्णरसण्हं दिवसाणं पन्नरसण्हं राईणं जं किंचि अपत्तियं परपत्तियं भत्ते पाणे विणए वेयावच्चे आलावे संलावे उच्चासणे समासणे अंतरभासाए उवरिभासाए जं किंचि मज्झ विणयपरिहीणं सुहुमं वा बायरं वा तुब्भे जाणह अहं न याणामि तस्स मिच्छा मि दुक्कडं।

इदं च निगदसिद्धमेव, नवरं अन्तरभासा-आचार्यस्य भाषमाणस्यान्तरे भाष्यते। उवरिभासा-उत्तरकालं तदेव किलाधिकं भाष्यते।

तत्राचार्यो यदभिधत्ते तत्प्रतिपादयन्नाह-

अहमवि खामेमी १ तु-ब्भेहि समं २ अहं च वंदामि ३।
आयरिअसंतिअं४ नि-त्थारगओ५ गुरुणो अवयणाइं॥२३१॥

(अहमवि खामेमि त्ति) अहमवि खामेमि, तुब्भे त्ति भणियं होइ। एवं जहन्नेण तिन्नि, उक्कोसेणं सव्वे खामिज्जंति। पच्छा गुरू उट्ठेऊण जहाराइणियाए उद्धट्ठिओ चेव खामेइ; इयरे वि जहारायणियाए सव्वे वि अवणयउत्तिमंगा भणंति देवसियं पडिक्कंतं पक्खियं खामेमो पण्णरसण्हं दिवसाणमित्यादि। एवं सेसगा वि जहाराइणियाए खामेंति। पच्छा वंदित्ता भणंति-देवसियं पडिक्कंतं पक्खियं पडिक्कमावेह। ततो गुरुसंदिट्ठो वा पक्खियं पडिक्कमणं कड्ढइ। सेसगा जहासत्ति काउस्सग्गाइसंठिया धम्मज्झाणोवगया सुणेंति। कड्ढिए मूलुत्तरगुणेहिं जं खंडियं तस्स पायच्छित्तनिमित्तं तिन्नि ऊसासयाणि काउस्सग्गं करेंति। 'बारस उज्जोयकरे' त्ति भणियं होइ। पारिए 'उज्जोयकरे' थुइं कड्ढंति। पच्छा उवविट्ठा मुहणंतगं पडिलेहित्ता वंदंति। ताहे परिकम्मं विणयाइयारं खामेंति। पच्छा जहारायणियं पूसमाणं वा अतिक्कंते मंगलिज्जे कज्जे बहु मन्नंति; सत्तुत्तरक्कमेण अखंडियाणियव्वस्स सोभणो कालो गओ। अन्नो वि एवं चेव उवट्ठिओ।

एवं पक्खियं विणओवयारं खामेंति चिंतिय खामणसुत्तेण; तच्चेदं-

सूत्रम्—

इच्छामि खमासमणो! पियं च मे जं भे हट्ठाणं तुट्ठाणं अप्पायंकाणं अभग्गजोगाणं सुसीलाणं सुव्वयाणं सायरिअउवज्झायाणं नाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं तवसा

अप्पाणं चारित्तसाणाणं बहुसुभेण जे दिवसो पोसहो पक्खो वइक्कंतो अन्नो अ जे कल्लाणेणं पज्जुवट्ठिओ सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥ २ ॥

निगदसिद्धम् । आयरिओ भणइ साहूहिं समं ति, साधूहिं समं जमेयं भणियं ति, तओ चेइयवंदावणं साहुवंदावणं च निवेदिउकामा भणंति-

सूत्रम्-

इच्छामि खमासमणो ! पुव्विं चेइयाइं वंदित्ता नमंसइत्ता तुब्भण्हं पायमूले विहरमाणेणं जे केइ बहुदेवसिया साहुणो दिट्ठा समणा वा वेसमणा वा गामाणुगामं दूइज्जमाणा वा राइणिया संपुच्छंति ओमराइणिया वंदंति अज्जा वंदंति अज्जियाओ वंदंति सावया वंदंति सावियाओ वंदंति अहयं पि निस्सल्लो निक्कसाओ त्ति कट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥ ३ ॥

निगदसिद्धम् ; नवरं समणा वुड्ढवासी, वेसमणा वा णवविकप्पविहारी । वुड्ढवासी जंघाबलपरिक्खीणा नवविभागे खेत्तं काऊण विहरंति, णवकप्पविहारी पुण उउबद्धे अट्ठमासकप्पेण विहरंति । एए अट्ठ विगप्पा वासावासम्मि एगम्मि चेव ठाणे करेंति । एस नवविकप्पो । अत्राचार्यो भणति-मत्थएण वंदामि अहं पि तेसिं । अन्ने भणंति-अहमवि वंदावेमि त्ति । ततो अप्पगं गुरूणं निवेदेंति चउत्थखामणासुत्तेण; तच्चेदम्—

सूत्रम्-

अहमवि वंदावेमि चेइयाइं इच्छामि खमासमणो ! उवट्ठिओमि तुब्भण्हं संतियं अहाकप्पं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा अक्खरं वा पायं वा गाहं वा सिलोगं वा अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा वागरणं वा तुब्भेहिं य चियत्तेण दिन्नं मए अविणएण पडिच्छियं तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ॥ ४ ॥

अहमवि वंदावेमि चेइयाइं निगदसिद्धम्, नवरं आयरिओ भणइ-आयरियसंतियं ति अहंकारपरिवज्जणत्थं किं ममात्र ति । ततो जं वेणइया, तमणुसट्ठिं बहु मन्नंति पंचमखामणासुत्तेण; तच्चेदम्-

सूत्रम्-

इच्छामि अहमवि पुव्वाइं खमासमणो ! कयाइं च मे किइकम्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहाविओ संगहिओ उवग्गहिओ सारिओ वारिओ चोइओ पडिचोइओ चियत्ता मे पडिचोयणा उवट्ठिओ हं तुब्भण्हं तव तेयसिरीए इमाओ चाउरंतसंसारकंताराओ साहट्टु नित्थरिस्सामि त्ति कट्टु सिरसा मणसा मत्थएण वंदामि ॥ ५ ॥

इच्छामि खमासमणो कयाइं च मे किइकम्माइं आयारमंतरे विणयमंतरे सेहिओ सेहाविओ संगहीओ उवग्गहीओ नाणादिहिं सारिओ हिए पवत्तिओ वारिओ अहियाओ नियत्तिओ चोइओ खलणाए पडिचोइओ पुणो पुणो अब्भुट्ठिओ त्ति । एत्थ आयरिओ भणइ—नित्थारग त्ति । नित्थारगाहाहि त्ति गुरू भणंति एयाइं वयणाइं ति वक्कसेसमयं गाथार्थः ॥ २३१ ॥

एवं सेसाण वि साहूणं खामणं वंदणं करेंति । अहवा अइवियालो वाघाओ वा ताहे सत्तण्हं पंचण्हं तिण्हं वा पच्छा देवसियं पडिक्कमंति । केई भणंति सामन्नेणं । अन्ने भणंति खामणाइयं । अन्ने चरित्तुस्सग्गादियं । से जा देवयाए य उस्सग्गं करेंति पडिक्कंताणं गुरूसु वंदितेसु वड्ढमाणीओ तिन्नि थुईओ आयरिया भणंति । इमे वि अंजलिमउलियग्गहत्थाओ समत्ताए नमोक्कारं करेंति । पच्छा सेसगा वि भणंति । तद्दिवसं ते सुत्तपोरिसी ण अत्थपोरिसी । थुईओ भणंति, जस्स जत्तियाओ एंति । एसा पक्खियपडिक्कमणविही मूलटीकाणुसारेण भणिया । अन्ने पुण आयरणाणुसारेण भणंति । देवसिए पडिक्कंते खामिए य ततो पढमं गुरू चेव उट्ठित्ता पक्खियं खामेइ जहाराइणियाए, तओ उवविसइ । एवं सेसगा वि जहाराइणियाए खामेत्ता उवविसंति । पच्छा वंदित्ता भणंति-देवसियं पडिक्कंतं पक्खियं पडिक्कमावेह इत्यादि पूर्ववत् । गयं पक्खियं । एवं चाउम्मासियं पि, नवरं काउस्सग्गो पंचुस्सासस्सयाणि । एवं संवच्छरियं पि, नवरं काउस्सग्गो अट्ठसहस्सुस्साणं ति । चाउम्मासियसंवच्छरिएसु सव्वे वि मूलगुणुत्तरगुणाणं आलोयणं दाऊण पडिक्कमंति, खेत्तदेवयाए य उस्सग्गं करेंति । केइ पुण चाउम्मासिगे सेज्जादेवयाए वि काउस्सग्गं करेंति, पभाए य आवस्सए कए पंच कल्लाणगं गेण्हंति, पुव्वगहिए य अभिग्गहे निवेदंति, जइ सम्मं नाणुपालिओ तो उस्सग्गं करेंति । पुणो वि अन्ने गेण्हंति निरभिग्गहेणं ण वट्टइ अत्थिओ संवच्छरिए य आवस्सए कए पाउसिए पज्जोसवणाकप्पो कड्डिज्जइ, सो पुण पुव्विं चेव अणागइं च पंचरत्तेण कड्डिज्जइ । एसा सामायारि त्ति ।

एतामेव लेशत उपसंहरन्नाह भाष्यकारः-

चाउम्मासिअवरिसे, आलोअण निअमसा उ दायव्वा ।
गहणं अभिग्गहाण य, पुव्वग्गहिए निवेएउं ॥२३२॥
चाउम्मासिअवरिसे, उस्सग्गो खित्तदेवयाए उ ।
पक्खियसिज्जसुराए, करिंति चउमासिए वेगे ॥२३३॥

गाथाद्वयं गतार्थम् ।

(८) अधुना नियतकायोत्सर्गं प्रतिपादयन्नाह-

देसिअराइअपक्खिअ-चाउम्मासिअ तहेव वरिसे अ ।
एएसु हुंति निअया, उस्सग्गा अनिअया सेसा ॥२३४॥

निगदसिद्धा, नवरं शेषा गमनादिविषया इति ॥२३४॥

सांप्रतं नियतकायोत्सर्गाणामोघत उच्छ्वासमानं प्रतिपादयन्नाह-

साय सयं गोसद्धं, तिन्नेव सया हवंति पक्खम्मि ।
पंच य चाउम्मासे, अट्ठसहस्सं च वारिसिए ॥२३५॥
चत्तारि दो दुवालस, वीसं चत्तारि हुंति उज्जोआ ।
देसिअराइअपक्खिअ-चाउम्मासे अ वरिसे अ ॥२३६॥
पणवीसमद्ध तेरस, सिलोग पन्नत्तरिं च बोधव्वा ।
सयमेगं पणुवीसं, बेबावन्ना य वारिसिए ॥२३७॥

(सायं ति) सायं प्रदोषः, तत्र शतमुच्छ्वासानां भवति चतुर्भिरुद्योतकरैरिति भावित एवायमर्थः प्राक् । (गोसद्धं ति) प्रत्यूषे

पञ्चाशतः, तत्रोद्योतकरद्वयं भवति। शेषं प्रकटार्थमिति गाथार्थः ॥ ३५ ॥ चत्तारि दो दुवालसगाहा भावितार्थो ॥ ३६ ॥ अधुना श्लोकमानमुपदर्शयन्नाह—पणवीसमद्धतेरसगाहा निगदसिद्धैव, नवरं चतुर्भिरुच्छ्वासैः श्लोकः परिगृह्यत इति ॥३७॥ उक्ता नियतकायोत्सर्गवक्तव्यता । आव० ५ अ० ।

(९) इदानीमनियतकायोत्सर्गवक्तव्यतामाह—
तत्रेयं द्वारगाथा-

गमणागमणवियारे, सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ ।
नावा नइसंतारे, पायच्छित्तं वि उस्सग्गो ॥

गमनमुपाश्रयाद्, गुरुमूलाद् वा बहिर्गमनं, भूयः स्वोपाश्रये गुरुपादमूले वा बहिःप्रदेशात्प्रत्यावर्तनमागमनम्। गमनं च आगमनं च गमनागमनम्; समाहारद्वन्द्वः। गमनपूर्वकमागमनं गमनागमनम् । गमनागमनं च गमनागमनं च गमनागमने. "स्यादावसंख्येयः" ३।१।११९॥ इत्येकशेषः। तयोस्तत्र यदा भक्ताद्यर्थमन्यस्मिन्ग्रामे गतः सन् विश्रमणनिमित्तमासितुकामः; अथवा यो वेत्ताऽद्यापि वेला भवति तावत्प्रतीक्षितुकामो, यदि वा प्रथमालिकां कर्तुकामो यदा शून्यगृहादिषु प्रविशति तदैवमादिषु प्रयोजनेषु गमनमात्रेऽपि ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरं कायोत्सर्गप्रायश्चित्तम्, तदनन्तरं कार्यसमाप्तौ भूयः स्वोपाश्रयप्रवेशे आगमनमात्रे कायोत्सर्गः । शेषेषु प्रयोजनेष्वपान्तराले विश्रमणासंभवे गमनागमनयोरिति। (वियारे इति) विचारो नाम उच्चारादिपरिष्ठापनम्, तत्रापि प्रायश्चित्तं कायोत्सर्गः । (सुत्ते वा इति) सूत्रेऽप्यत्र विषयेषु उद्देशसमुद्देशानुज्ञाप्रस्थापनप्रतिक्रमश्रुतस्कन्धाङ्गपरिवर्तनादिष्वविधिसमाचरणपरिहाराय प्रायश्चित्तं कायोत्सर्गः । वा समुच्चये। (सुमिणदंसणे राओ इति) उत्सर्गतो दिवा स्वप्तुमेव न कल्पते ततो रात्रिग्रहणम्। रात्रौ स्वप्नदर्शने प्राणातिपातादिसावद्यबहुले, कदाचिदनवद्यस्वप्नदर्शने वा अनिष्टसूचके, उपलक्षणमेतत्-दुःशकुने दुर्निमित्तेषु वा तत्प्रतिघातकरणाय कायोत्सर्गकरणं प्रायश्चित्तम्। (नावा नइसंतारे इति) नौश्चतुर्द्धा। तद्यथा-समुद्रनौः, उद्यानी, अवयानी, तिर्यग्गामिनी च । तत्र समुद्रनौः प्रवहणं, येन समुद्रो लङ्घ्यते। शेषास्तिस्रो नद्याम्। तत्रापि या नद्याः प्रतिश्रोतोगामिनी सा उद्यानी । अनुश्रोतोगामिनी अवयानी । या पुनर्नदीं तिर्यक् छिनत्ति सा तिर्यग्गामिनी । तत्र यतनयोपयुक्तस्य यथायोगं चतुर्विधयाऽपि नावा तथाविधप्रयोजनोत्पत्तिवशतो गमने सूत्रोक्तविधिना कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तम् । नदीसंतारश्चतुर्विधः। तत्र पादाभ्यां त्रिधा। तद्यथा-संघट्टः, लेपः, तदुपरि च । तत्र जङ्घार्द्धप्रमाणे उदकसंस्पर्शे संघट्टः। नाभिप्रमाणे उदकसंस्पर्शे लेपः। तत उदकस्य उपरि संस्पर्शे तदुपरि । चतुर्थो नदीसंतारो बाहूडुपदादिभिः । एतेष्वपि सर्वत्र यतनयोपयुक्तस्य प्रायश्चित्तं कायोत्सर्गः। व्युत्सर्गः कायोत्सर्ग इत्यनर्थान्तरम् । एष गाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेतामेव गाथां विवरीषुर्येषु स्थानेषु गमनमागमनं वा प्रतिक्रमणीयं संभवति, यो वा विचारविषयो यत्प्रमाणं च तत्र कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तम्, तदेतदुपदर्शयन्नाह-

भत्ते पाणे सयणा-सणे य अरहंतसमणसेज्जासु ।
उच्चारे पासवणे, पणवीसं होंति ऊसासा ॥ १ ॥

भक्ते पाने शयने आसने च (अरिहंतसमणसेज्जासु) इतिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । अर्हच्छय्यायामर्हद्भवने, श्रमणशय्यायां श्रमणोपाश्रये, गमनमागमनं च प्रतिक्रमणीयं संभवति। उच्चारप्रश्रवणयोस्तु हस्तशताद् बहिर्गत्वा परिष्ठापने गमनागमनेऽन्तर्भावः। हस्तशताभ्यन्तरे एव तद्व्युत्सर्गे तन्मात्रपरिष्ठापने वा विचारविषयेषु च सर्वेष्वपि स्थानेषु कायोत्सर्गप्रायश्चित्तस्य प्रमाणं भवति पञ्चविंशतिरुच्छ्वासाः ।

तत्र भक्ते पाने वा कथं गमनमात्रं प्रतिक्रमणीयं संभवती-
ति प्रतिपादनार्थमाह-

त्रीसमण असढकाले, पढिमालिय वास संखडीए वा ।
इरियावहियट्ठाए, गमणं तु पडिक्कमंतस्स ॥

यदा भक्तार्थं पानार्थं वा भिक्षाचर्यया ग्रामान्तरं गत्वा मार्गगमनसमुत्थपरिश्रमजयाय विश्राम्यति असति काले, अथवा असति भिक्षाकाले, यावत भिक्षावेला भवति तावत् प्रतीक्षितुकामः। (पढमालिय त्ति) यदि वा क्षुधापीडितः सन् प्रथमालिकां कर्तुकामो यत्र शून्यगृहादिषु प्रविशति (वास त्ति) अथवा तस्मिन्नन्यस्मिन् वा ग्रामे भिक्षामटतो दूराद् वर्षं पतितुमारब्धं, ततश्च किमपि स्थानं प्रविश्य तत्रासितुकामः। (संखडीए वा इति) संखड्यां वा अप्रमाणायां ध्रुवं भूयान् लाभ इति ज्ञात्वा कश्चिदन्यत्र प्रतीक्षितुमिच्छुर्भवति । तदा तस्यैर्यापथिक्यर्थमैर्यापथिकपापविशुद्ध्यर्थं गमनं प्रतिक्रामतो गमनविषयं प्रतिक्रमणं कुर्वतः कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तम्। स च कायोत्सर्गः पञ्चविंशतिरुच्छ्वासप्रमाणः । उच्छ्वासाश्च पादसमा इति पञ्चविंशतेः चतुर्भिर्भागे हृते षट् श्लोकाः एकपादाधिका लभ्यन्ते । ततश्चतुर्विंशतिस्तवः " चंदे सुनिम्मलयरा " इति पादपर्यन्तः कायोत्सर्गे चिन्तनीय इति भावः ।

एमेव सेसएसु वि, होइ निसेज्जाएँ अंतरे गमणं ।
आगमणं जं तत्तो, निरंतरं गयागयं होइ ॥

एवमेव भक्तपानयोरिव शेषेष्वपि स्थानेषु शयनासनादिषु यावन्नाद्यापि वेला भवति तावत्प्रतीक्षणं तदेतदन्तरं, तस्मिन् अन्तरे निषद्यायामुपवेशने केवलं गमनं प्रतिक्रमणीयं भवति । तथाहि-शयनं नाम संस्तारकादि, आसनं पीठकादि, तदाच-नार्थं कश्चनापि गतः , तत्र ग्लानचरितत्वादिभिः कारणैः शरीरदुर्बलतया जातपरिश्रमो विश्रमितुकामः, संस्तारकादिप्रभुर्वा न विद्यते, कश्चिदन्यत्र गतत्वात्, ततस्तं प्रतीक्षितुकाम ईर्यापथिकपापविशोधये गमनं प्रति (आगमणं जं तत्तो इति) एव भक्तपानार्थं विश्रम्य कार्यसमाप्तौ ततः स्थानाद्यदा भूयः स्वोपाश्रये प्रत्यावर्तते तदा केवलमागमनं प्रतिक्रमणीयं भवति । यदि पुनरेतेष्वेव प्रयोजनेषु नोक्तप्रकारेणापान्तराले विश्रमणं भवति तदा निरन्तरे उक्तलक्षणस्यान्तरस्याभावे, गतागतं गमनागमनं समुदितं प्रतिक्रमणीयं जायते। एवमर्हच्छ्रमणशय्यास्वपि गमनागमनं च प्रतिक्रमितव्यं भावनीयम् । तद्यथा-पाक्षिकादिषु जिनभवनादौ चैत्यवन्दनको गत्वा यदा ज्ञानादिदर्शननिमित्तमैर्यापथिकीं प्रतिक्रम्य विश्राम्यति, तदा केवलं गमनमेव प्रतिक्रमणीयम् । ततः स्वोपाश्रये प्रत्यायातावागमनं विश्रमणासंभवे गमनागमनमिति । तथा-पाक्षिकादौ ये अन्यवसतिषु साधवस्तेऽवश्यं वन्दनीया इति विधिः, ततस्तत्र कोऽपि वन्दनको गतो यदा विश्राम्यति तदा गमनम्; ततः स्वोपाश्रयप्रत्यागमने आगमनम्, विश्रमणाभावे गमनागमनं प्रतिक्रमणीयमिति । उच्चारे प्रश्रवणे च हस्तशताद्बहिर्व्युत्सृष्टेऽपान्तराले प्रायो विश्रमणासंभवात् गमनागमनं समुदितं प्रतिक्रमणीयं भवति । यदाऽपि

हस्तशतस्याभ्यन्तरे उच्चारं प्रश्रवणं तन्मात्रकं वा परिष्ठापयति तदाऽपि विचार इति वचनात् ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरः पञ्चविंशत्युच्छ्वासप्रमाणः कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तम् ।

संप्रति 'सुत्त' इति पदं व्याचिख्यासुराह-

उद्देससमुद्देसे, सत्तावीसं तह अणुण्णाए ।
अट्ठेव य ऊसासा, पट्ठवणपडिक्कमणमादी ॥

उद्देशो वाचनासूत्रप्रदानमित्यर्थः । समुद्देशो व्याख्या, अर्थप्रदानमिति भावः । अनुज्ञा सूत्रार्थयोरन्यप्रदानं प्रत्यनुगमनम्; एतेषु; तथेतिशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेन श्रुतस्कन्धपरिवर्त्तने अङ्गपरिवर्त्तने च कृते तदुत्तरकालमविधिसमाचरणपरिहाराय प्रायश्चित्तं कायोत्सर्गः सप्तविंशत्युच्छ्वासप्रमाणः पर्यन्तैकपादहीनः समस्तश्चतुर्विंशतिस्तवस्तत्र चिन्तनीय इति भावः । (अट्ठेव य इत्यादि) प्रस्थापनं स्वाध्यायस्य, प्रतिक्रमणं कालस्य, तयोः करणे कायोत्सर्गः प्रायश्चित्तमष्टावेवोच्छ्वासाः, अष्टोच्छ्वासप्रमाणः । आदिशब्दात् मात्रकमपि परिष्ठाप्य ऐर्यापथिकीप्रतिक्रमणोत्तरकालं कायोत्सर्गोऽष्टोच्छ्वासप्रमाणः करणीय इति द्रष्टव्यम् । एतच्चास्यैव व्यवहारस्य चूर्णौ दृष्ट्वा लिखितमिति ।

अत्रैवाऽऽक्षेपमभिधित्सुराह-

पुव्वं पट्ठवणा खलु, उद्देसाई य पच्छतो हुंति ।
पट्ठवणुद्देसादिसु, अणाणुपुव्वी कया किं तु ॥

ननु पूर्वं प्रस्थापना खलु स्वाध्यायस्य क्रियते, पश्चादुद्देशादयो भवन्ति; ततः प्रस्थापनोद्देशादिषु प्रस्थापनाऽनन्तरमुद्देशादिषु व्यवस्थितेषु, किं तु इत्याक्षेपे । किमर्थं ननु अनानुपूर्वी अनन्तरगाथायां कृता, किमिति पश्चात्तुगाथायां पूर्वमुद्देशादय उक्तास्तदनन्तरं प्रस्थापनमिति भावः ? । नैष दोषः; मतान्तरेणैवंरूपाया अप्यानुपूर्व्याः संभवात् ।

तथा चाह-

अज्झयणाणं तितयं, पुव्वुत्तं पट्ठविज्जई जेहिं ।
तेसिं उद्देसादी, पुव्वमतो पच्छ पट्ठवणा ॥

यैराचार्यैरध्ययनानाम्, उपलक्षणमेतत् । उद्देशकप्राभृतादीनां च त्रितयं उद्देशसमुद्देशानुज्ञालक्षणं, पूर्वोक्तं पूर्वप्रवर्तितं, प्रस्थाप्यते उद्देशादिषु कृतेषु पश्चात्तेषां प्रस्थापना यैराचार्यैरुपवर्ण्यते, तेषां मतेनायमेव क्रम इति वाक्यशेषः । अतः प्राग्गाथायां पूर्वमुद्देशादय उक्ताः पश्चात्प्रस्थापनेति ।

संप्रति 'सुत्ते वा' इति वाशब्दसमुच्चितं दर्शयति-

सव्वेसु खलियादीसु, झाएज्जा पंच मंगलं ।
दो सिलोगे वि चिंतेज्जा, एगज्जो वा वि तक्खणं ॥

इह यदि बहिर्गमने प्रयोजनानन्तरप्रारम्भे वा वस्त्रादेः स्खलनं जायते । आदिशब्दात् शेषापशकुनदुर्निमित्तपरिग्रहः । तेषु सर्वेषु स्खलितादिषु समुपजातेषु तत्प्रतिघातार्थं त्रिविधमपि, मुख्यतस्तु कायिकम् ।

तथाचाह-

कायचिट्ठं निरुंभित्ता, मण वायं च सव्वसो ।
वट्टई काइए झाणे, सुहुमुस्सासवं मुणी ॥

कायचेष्टां कायव्यापारं, तथा वाचं च सर्वशः सर्वात्मना निरुध्य कायोत्सर्गः क्रियते । ततः कायोत्सर्गस्थो मुनिः सूक्ष्मोच्छ्वासवान् । उपलक्षणमेतत्-सूक्ष्मदृष्टिसंचारादयश्च, न खलु कायोत्सर्गे सूक्ष्मोच्छ्वासादयो निरुध्यन्ते, तन्निरोधस्य कर्तुमशक्यत्वात् । वर्तते कायिके ध्याने एतच्चैवमुच्यते, तस्य स्पष्टमुपलभ्यमानत्वात् । यावता पुनर्वाचिकमानसे अपि ध्याने दृष्टव्ये ।

तथाचाह-

न विरुज्झंति उस्सग्गे, झाणा वाइयमाणसा ।
तीरिए पुण वुस्सग्गे, तिण्हमन्नयरे सिया ॥

न विरुध्येते उत्सर्गे कायोत्सर्गे ध्याने वाचिकमानसे वाङ्मनोयोगयोरपि, विषयान्तरतो निरुध्यमानत्वात् । सूत्रे च द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात् । उक्तं च-"बहुवयणेण दुवयणमिति" । तीरं संजातमस्येति तीरितः परिपूर्णे सति सम्यग्विधिना पारितः, तस्मिन् तीरिते कायोत्सर्गे, पुनस्त्रयाणां ध्यानानामन्यतरत् अन्यतमत्स्यात् न पुनस्त्रितयमपि । भङ्गिकश्रुतगुणनव्यतिरेकेण प्रायोऽन्यत्र व्यापान्तरे ध्यानत्रितयाऽसंभवात् । अथवा कायोत्सर्गे किमन्येऽपि गुणाः संभवन्ति, किं वा नेति ? । उच्यते-संभवन्तीति ब्रूमः ।

तथाचाह-

मणसो एगग्गत्तं; जणयइ देहस्स हणइ जड्डत्तं ।
काउस्सग्गगुणा खलु, सुहदुहमज्झत्थया चेव ॥

कायोत्सर्गस्य गुणाः कायोत्सर्गगुणाः । कायोत्सर्गगुणाः खल्वमी । तद्यथा-कायोत्सर्गः सम्यग्विधिना विधीयमानो नाम मनसश्चित्तस्य एकाग्रत्वमेकालम्बनतां जनयति । तच्चैकाग्रत्वं परमं ध्यानम्; "जं थिरमज्झवसाणं तं झाणमिति" वचनात् । देहस्य शरीरस्य, जडत्वं जाड्यं, हन्ति विनाशयति, प्रयत्नविशेषतः परमलाघवसंभवात् । तथा-कायोत्सर्गस्थितानां वासीचन्दनकल्पत्वात् सुखदुःखमध्यस्थता सुखदुःखे च परैरुदीर्यमाणे रागद्वेषाकरणम्, अन्यथा सम्यक्कायोत्सर्गस्यैवासंभवात् । उक्तं व्युत्सर्गार्हं प्रायश्चित्तम् । व्य० १ उ० । ध० ।

जुज्जइ अकालपढिआ-इएसु दुट्ठ अ पडिच्छिआईसु ।
समणुन्नसमुद्देसे, काउस्सग्गस्स करणं तु ॥ २४२ ॥

युज्यते संगच्छते घटते अकालपठितादिषु कारणेषु सत्सु, अकाले पठितम्, आदिशब्दात्कालेन पठितमित्यादि । दुष्टु च प्रतीच्छितादिषु दुष्टविधिना प्रतीच्छितम्, आदिशब्दात्कृतहीलनादिपरिग्रहः । (समणुन्नसमुद्देसि त्ति) समनुज्ञासमुद्देशयोः, समनुज्ञायां समुद्देशे च कायोत्सर्गस्य करणं युज्यत एवेति योगः, अतिचारसंभवादिति गाथार्थः ॥ २४२ ॥

जं पुण उद्दिसमाणे, अणइक्कंता वि कुणह उस्सग्गं ।
एस अकओ वि दोसो, परिघिप्पइ किं मुहा भंते! ॥२४३॥

यत्पुनरुद्दिश्यमानाः श्रुतमनतिक्रान्ता अपि निर्विषयत्वादपराधमप्राप्ता अपि (कुणह उस्सग्गं ति) कुरुत कायोत्सर्गम्; एषः अकृतोऽपि दोषः कायोत्सर्गशोध्यः परिगृह्यते, किं मुधा भदन्त ! तत्परिगृह्यते, न कर्तव्यः तदुद्देशे कायोत्सर्ग इति गाथाभिप्रायः ।

अत्राहाचार्यः-

पावुग्घाई कीरइ, उस्सग्गो मंगलं ति उद्देसे ।
अणुवहियमंगलाणं, मा हुज्ज कहंचि णे विग्घं ॥२४४॥

पावुग्घादिगाहा निगदसिद्धा ॥ २४४ ॥

'सुमिणदंसणे राओ त्ति' द्वारं व्याख्यानयन्नाह-

पाणवहमुसावाए, अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव ।
सयमेगं तु अणूणं, उस्सासाणं भविज्जाहि ॥२४५॥

सुमिणम्मि वि पाणवहमुसावाए अदत्ते मेहुणपरिग्गहे चेव आसेविए समाणे (सयमेगं तु अणूणं, उस्सासाणं भवेज्जाहि) मेहुणे दिट्ठिविपरियासियाए सयं इत्थीविपरियासियाए अट्ठसयं ति गाथाऽर्थः ॥ २४५ ॥

उक्तं च–

दिट्ठीविप्परियासे, सयमेहुणे विपरियासे ।
अट्ठसयं ववहारे, अणभिस्संगस्स साहुस्स ॥२४६॥

'नावा नइसंतरे त्ति' द्वारत्रयं व्याचिख्यासुराह–

नावाए उत्तरिउं, वहमाई तह नइं च एमेव ।
संतारेण चलेण य, गंतुं पणवीस उस्सासा ॥२४७॥

गाथेयमन्यकर्तृका सोपयोगा च निगदसिद्धा ।

इदानीमुच्छ्वासमानप्रतिपादनायाऽऽह–

पायसमा उस्सासा, कालपमाणेण हुंति नायव्वा ।
एअं कालपमाणं, उस्सग्गो होइ नायव्वं ॥२४८॥

निगदसिद्धा, नवरं पादः श्लोकपादः व्याख्याता गमनागमनेत्यादि २३८ द्वारगाथा ॥

(१०) अधुना द्वारगाथागतमशठद्वारं व्याख्यायते । इह विज्ञानवता शाठ्यरहितेनाऽऽत्महितमिति कृत्वा स्वबलापेक्षया कायोत्सर्गः कार्यः; अन्यथाकरणेऽनेकदोषप्रसङ्गः ।

तथाचाह भाष्यकारः—

जो खलु तीसइवरिसो, सत्तरिवरिसेण पारणाइसमो ।
विसमेव कूडवाही, निव्विन्नाणे हु से जड्डे ॥२४९॥

यः कश्चित्साधुः,खलुशब्दो विशेषणार्थः। त्रिंशद्वर्षः सन्, खलुशब्दाद्बलवानातङ्करहितश्च; सप्ततिवर्षेणान्येन वृद्धेन साधुना पारणकया समः,कायोत्सर्गप्रारम्भपरिसमाप्त्या तुल्य इत्यर्थः। विषम इव उट्टङ्कादाविव कूटवाही विषमवाही बलीवर्दवत्,निर्विज्ञान एवासौ जमः, स्वहितपरिज्ञानशून्यत्वात् । तथा चात्महितमेव सम्यक्कायोत्सर्गकरणम्,स्वकर्मक्षयफलत्वादिति गाथार्थः॥४६॥

अधुना दृष्टान्तमेव विवृण्वन्नाह–

समभोमे वि अइभारो, उज्जाणे किमुअ कूडवाहिस्स ।
अइभारेणं भज्जइ, तुत्तयघाएहि अ मरालो ॥२५०॥

समभूमावपि अतिभारो विषमवाहित्वात् 'उज्जाणे किमुत कूडवाहिस्स' ऊर्द्ध्वं यानमस्ति इत्युद्यानमुट्टङ्कं, तस्मिन्नुद्याने, किमुत सुतरामित्यर्थः ?। कस्य?, कूटवाहिनो बलीवर्दस्य, तस्य च दोषद्वयम् । कथमित्याह–(अइभारेणं भज्जइ तुत्तयघाएहि य मरालो त्ति) अतिभारेण भज्यते, यतो विषमवाहिन एवातिभारो भवति, तुत्तकघातैश्च विषमवाह्येव पीड्यते । तुत्तगो प्राजिणगो मरालो गलिरिति गाथाऽर्थः ॥ २५० ॥

साम्प्रतं दार्ष्टान्तिकयोजनां कुर्वन्नाह–

एमेव बलसमग्गो, ण कुणइ मायाइ सम्ममुस्सग्गं ।
मायावत्तियं कम्मं, पावइ उस्सग्गकेसं च ॥ २५१ ॥

इयमन्यकर्तृका सोपयोगा चेति व्याख्यायते । एवमेव मरालबलीवर्दवत् बलसमग्रः सन् न करोति मायया कारणेन सम्यक् सामर्थ्यानुरूपं कायोत्सर्गं स मूढः मायाप्रत्ययं कर्म प्राप्नोति नियमत एव, तथा कायोत्सर्गक्लेशं च निष्फलं प्राप्नोति । तथा निर्मायस्यैवापेक्षारहितस्य स्वशक्त्यनुरूपं च कुर्वत एव सर्वमनुष्ठानं फलवद्भवतीति गाथाऽर्थः ॥२५१॥

अधुना मायावतो दोषानुपदर्शयन्नाह–

मायाए उस्सग्गं, सेसं च तवं अकुव्वओ सहुणो ।
को अन्नो अणुहविही, सकम्मसेसं अणिज्जरिअं ॥२५२॥

मायया कायोत्सर्गं, शेषं च तपः अनशनादि अकुर्वतः सहिष्णोः समर्थस्य (को अन्नो त्ति) कोऽस्याऽन्योऽनुभविष्यति, किम् ?, स्वकर्मशेषमनिर्जरितम् । शेषता चास्य सम्यक्त्वप्राप्त्योत्कृष्टकर्मापेक्षयेति । उक्तं च–" सत्तण्हं पगडीणं, अब्भिंतरओ अ कोडिकोडीओ । काऊणं अयराणं, जइ लहइ चउण्हमन्नयरं" ॥ अन्ये पठन्ति–"एयमेव य उस्सग्गं ति" । नचायमतिशोभनपाठ इति गाथाऽर्थः ॥ २५२ ॥

यतश्चैवमतः–

निक्कूडं सविसेसं, वयाणुरूवं बलाणुरूवं च ।
खाणु व्व उद्धदेहो, काउस्सग्गं तु ठाइज्जा ॥ २५३ ॥

निष्कूटमिति अशठम्, सविशेषमिति समबलादन्यस्मात्सकाशात् नचाहमहमिकया,किंतु वयोऽनुरूपं,बलानुरूपं च, स्थाणुरिवोर्द्ध्वदेहो निष्प्रकम्पः समशत्रुमित्रः कायोत्सर्गं तु तिष्ठेत । तुशब्दादन्यच्च निकादनादेवंभूत एवानुतिष्ठेदिति गाथार्थः॥२५३॥

इदानीं वयोबलं चाधिकृत्य कायोत्सर्गकरणविधिमभिधत्ते–

तरुणो बलवं तरुणो, अ दुब्बलो थेरओ बलसमिद्धो ।
थेरो अबलो चउसु वि, भंगेसु जहाबलं ठाइ ॥२५४॥

तरुणो बलवान् १, तरुणश्च दुर्बलः २, स्थविरो बलसमृद्धः ३, स्थविरोऽबलः ४, चतुर्ष्वपि भङ्गकेषु यथाबलं तिष्ठति,बलानुरूपमित्यर्थः, न त्वभिमानतः । कथमनेनापि वृद्धेन न तुल्यबलवताऽपि स्थातव्यम्, उत्तरत्रासमाधानग्लानादावधिकरणबलसंभवादिति गाथार्थः ॥ २५४ ॥ गतं सप्रसङ्गमशठद्वारम् ।

(११) सांप्रतं शठद्वारावसरस्तत्रेयं गाथा–

पयलायइ पडिपुच्छइ, कंटग वीआर पासवण धम्मे ।
निअडी गेलन्नं वा, करेइ कूडं हवइ एअं ॥ २५५ ॥

कायोत्सर्गकरणवेलायां मायया प्रचलायति निद्रां गच्छति, प्रतिपृच्छति सूत्रमर्थं वा, कण्टकमपनयति । (वियार त्ति) पुरीषोत्सर्गाय गच्छति (पासवण त्ति) कायिकीं व्युत्सृजति । (धम्मे त्ति) धर्मं कथयति, निकृत्या मायया ग्लानत्वं वा करोति,कूटं भवत्येतदनुष्ठानमिति गाथार्थः ॥२५५॥ गतं शठद्वारम् ।

(१२) अधुना विधिद्वारमाख्यायते, तत्रेय गाथा–

पुव्वं ठंति उ गुरुणो, गुरुणा उस्सारिअम्मि पारंति ।
ठायंति अ सविसेसं, तरुणा अन्नुन्नविरिआओ ॥२५६॥

' गुरुणो ' इत्यादि प्रकटार्थम् ।

चउरंगुल मुहपत्ती, उज्जुए मव्वहत्थ रयहरणं ।
वोसट्ठचत्तदेहो, काउस्सग्गं करिज्जाहि ॥ २५७ ॥

(चउरंगुल त्ति) चत्वारि अङ्गुलानि पादयोरन्तरं करोतव्यं । (मु-

हत्थोत्ति उज्जुए त्ति) दाहिणहत्थेण मुहपोत्तिया घेत्तव्वा, रूव्वहत्थे रयहरणं कायव्वं । एएण विहिणा (वोसट्ठ चत्तदेहो त्ति) ता पूर्ववत् काउस्सग्गं करेज्जाहि त्ति गाथार्थः ॥२५७॥ गतं विधिद्वारम् ॥ आव० ५ अ० । आ० चू० ।

(१३) अधुना दोषद्वारावसरस्तत्रेदं गाथाद्वयम्–

घोडग लया य खंभे, कुड्डे माले अ सबरि वहु निअले ।
लंबुत्तर थण उद्धी, संजइ खलिणे अ वायस कविट्ठे ।२५९।
सीसुकंपिअ मूई, अंगुलिभमुहा उ वारुणी पेहा ।
एए काउस्सग्गे, हवंति दोसा इगुणवीसं ॥२६०॥
(नाभीकरयलकुप्पर–ओस्सारिअपारिअम्मि थुई)

तत्रैते कायोत्सर्गे भवन्ति दोषा एकोनविंशतिरिति संटङ्कः। कायस्य शरीरस्य स्थानमौनध्यानक्रियाव्यतिरेकेणान्यत्रोच्छ्वसितादिभ्यः क्रियान्तराध्यासमाश्रित्य य उत्सर्गस्त्यागो "नमो अरिहंताणमिति" वचनात्, पूर्यं स कायोत्सर्गः। स च द्वेधा-चेष्टायामभिभवे च। चेष्टायां गमनागमनादावैर्यापथिकयादिप्रतिक्रमणभावी। अभिभवे च सुरादिविधीयमानोपसर्गजयार्थम्। यदुक्तम्–"सो उस्सग्गो दुविहो, चेट्ठाए अभिभवे य नायव्वो। भिक्खायरियाइ पढमो, उवसग्गऽभिजुंजणे बीओ" त्ति। स च दोषरहितो विधीयमानो निर्जराहेतुर्भवति। दोषाश्चैते-घोटकलतास्तम्भकुड्यमालशबरीवधूनिगडलम्बोत्तरस्तनोर्द्धिकासंयताखलीनवायसकपित्थशीर्षोत्कम्पितमूकाङ्गुलिभ्रूकुटीवारुणीप्रेक्षा इत्येकोनविंशतिः।

इदानीं नामतोऽभिहितानेतान् स्वयमेव विवृणोति–

आसो व्व विसमपायं, आउंटावित्तु ठाइ उस्सग्गे ।
कंपइ काउस्सग्गे, लय व्व खरपवणसंगेणं ॥ २६१ ॥
खंभे वा कुड्डे वा, अवटुंभिय कुणइ काउसग्गं तु ।
माले य उत्तमंगं, अवटुंभिय ठाइ उस्सग्गं ॥ २६२ ॥
सवरी वसणविरहिया, करेहि सागारियं जह ठवेइ ।
ठइऊण गुज्झदेसं, करेहि इय कुणइ उस्सग्गं ॥ २६३ ॥
अवणामिउत्तमंगं, काउस्सग्गे जहा कुलवहु व्व ।
नियमियओ विव चरणे, वित्थारिय अहव मेलविउं ।२६४।
काऊण चोलपट्टं, अविहीए नाहिमंमलस्सुवरिं ।
हेट्ठाइ जाणुमित्तं, चिट्ठइ लंबुत्तरुस्सग्गं ॥ २६५ ॥
पच्छाइ जणयथणे, चोलगपट्टेण ठाइ उस्सग्गं ।
दंसाइरक्खणट्ठा, अहवाऽणाभोगदोसेहिं ॥ २६६ ॥
मेलित्तु पण्हियाओ, चलणे वित्थारिऊण बाहिरओ ।
काउस्सग्गो एसो, बाहिरउद्धी मुणेयव्वो ॥ २६७ ॥
अंगुट्ठे मेलविओ, वित्थारिय पण्हिया उ बाहिं तु ।
काउस्सग्गं एसो, भणिओ अब्भिंतरुद्धि त्ति ॥ २६८ ॥
कप्पं वा पट्टं वा, पाउरियं संजइ व्व उस्सग्गं ।
ठायइ खलिणं व जहा, रयहरणं अग्गओ काउं ॥२६९॥
भामेइ तहा दिट्ठिं, चलचित्तो वायसो व्व उस्सग्गे ।
छप्पइयाण भएणं, कुणइ य पट्टं कविट्ठं च ॥ २७० ॥
सीसं पकंपमाणो, जक्खाइट्ठो व्व कुणइ उस्सग्गं ।
मूउ व्व हूहुअंतो, तहेव छिज्जतमाईसुं ॥ २७१ ॥
अंगुलिभमुहाओ वि य, चालंतो कुणइ तह य उस्सग्गं ।
आलावगगणणट्ठा, संठवणत्थं च जोगाणं ॥ २७२ ॥
काउस्सग्गम्मि ठिओ, सुरा जहा बुमबुमेइ अव्वत्तं ।
अणुपेहंतो तह वा–नरो व्व चालेइ हुट्ठउडे ॥ २७३ ॥

आकुञ्चितस्यैकपादस्य घोटकस्येव स्थानं घोटकदोषः। कम्पते कायोत्सर्गे लतेव खरपवनसङ्गेनेति लतादोषः। स्तम्भे वा कुड्ये वा अवष्टभ्य स्थानं स्तम्भकुड्यदोषः। तथा माले उपरितनभागे उत्तमाङ्गमवष्टभ्य करोत्युत्सर्गमिति मालदोषः। शबरी पुलिन्दिका वसनविरहिता कराभ्यां सागारिकं गुह्यं यथा स्थगयति, एवं स्थगयित्वा गुह्यदेशं कराभ्यां करोत्युत्सर्गमिति शबरीदोषः। अवनामितोत्तमाङ्गः कुलवधूरिव तिष्ठन् करोत्युत्सर्गमिति वधूदोषः। निगडनियन्त्रित इव चरणौ विस्तार्याथवा मीलयित्वा करोत्युत्सर्गमिति निगडदोषः। कृत्वा चोलपट्टमविधिना नाभिमण्डलस्योपरि अधस्ताच्च जानुमात्रं तिष्ठति कायोत्सर्गे इति लम्बोत्तरदोषः। अवच्छाद्य स्थगयित्वा स्तनौ चोलपट्टेन दंशादीनां रक्षणार्थम्, अथवा अनाभोगदोषेण, अज्ञानदोषेण वा करोत्युत्सर्गमिति स्तनदोषः। ऊर्द्धिकादोषो द्विधा–बाह्योर्द्धिकादोषोऽभ्यन्तरोर्द्धिकादोषश्च। तत्र च द्वावपि पदौ क्रमेण मीलयित्वा पार्ष्णी चरणाग्रभागे विस्तार्य बाह्यतो बहिर्मुखं तिष्ठत्युत्सर्गे एष बहिःशकटोर्द्धिकादोषो ज्ञातव्यः। तथा—अङ्गुष्ठौ मीलयित्वा विस्तार्य पार्ष्णी तु बाह्यतस्तिष्ठत्युत्सर्गे एष भणितोऽभ्यन्तरशकटोर्द्धिकादोषः। कल्पं वा पटीपट्टं वा चोलपट्टं संयतीव स्कन्धदेशयोरुपरि प्रावृत्य तिष्ठत्युत्सर्गे इति संयतीदोषः। खलीनमिव कविकमिव रजोहरणमग्रतः कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति खलीनदोषः। चाऽत्र समुच्चये। अन्ये खलीनार्तवाजिवदूर्ध्वाधःशिरःकम्पनं खलीनदोषमाहुः। तथा-दृष्टिं भ्रमयति चलचित्तो वायस इवेतस्ततो नयनगोलकभ्रमणं दिङ्निरीक्षणं वा कुरुते उत्सर्गं इति वायसदोषः। षट्पदिकाभयेन कपित्थवद्वृत्ताकारत्वेन संवर्त्य जङ्घादिमध्ये पट्टं कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति कपित्थदोषः। एवमेव मुष्टिं बद्ध्वा स्थानमित्यन्ये। भूताविष्टस्येव शीर्षं कम्पयतः कायोत्सर्गकरणं शीर्षोत्कम्पितदोषः। तथा-छिद्यमानेषु केनचित् गृहस्थादिना कायोत्सर्गव्यवस्थितप्रत्यासन्नप्रदेशवर्तिषु हरितादिषु तन्निवारणार्थं मूक इव हुं हुमित्यव्यक्तं शब्दं कुर्वंस्तिष्ठत्युत्सर्गे इति मूकदोषः। तथाऽऽलापकगणनार्थमङ्गुलीश्चालयन्, तथा योगो नाम स्थापनार्थं व्यापारान्तरनिरूपणार्थं भ्रुवौ चालयन् भ्रूसंज्ञां कुर्वन्, चकारादेवमेव वा भ्रून्रृत्यं कुर्वन्नुत्सर्गे तिष्ठतीति अङ्गुलिभ्रूदोषः। तथा–कायोत्सर्गस्थितो निष्पद्यमानसुरेव बुरबुडाशब्दमव्यक्तरावं करोतीति वारुणीदोषः। वारुणीमत्तस्येव घूर्णमानस्य स्थानं वारुणीदोष इत्यन्ये। अनुप्रेक्षमाणो नमस्कारादिकं चिन्तयन्नुत्सर्गतो वानर इव चलयन्त्योष्ठपुटाविति प्रेक्षादोष इत्येकोनविंशतिः। अन्ये त्वेकविंशतिं मन्यन्ते। तत्र स्तम्भकुड्यदोषेण स्तम्भदोषः, कुड्यदोषश्चेति द्वौ विवक्षितौ। तथाऽङ्गुलिभ्रूदोषेणापि अङ्गुलिदोषो, भ्रूदोषश्चेत्येवमेकविंशतिः। एके चान्यानपि कायोत्सर्गदोषानाहुः–

यथा—

" निष्ठीवनं वपुःस्पर्शः, प्रपञ्चबहुला स्थितिः ।
सूत्रोदितविधेर्न्यूनं, वयोऽपेक्षाविवर्जनम् ॥ १ ॥
कालापेक्षाव्यतिक्रान्ति-र्व्याक्षेपासक्तचित्तता ।
लोभाकुलितचित्तत्वं, पापकार्योद्यमः परः ॥ २ ॥
कृत्याकृत्यविमूढत्वं, पट्टकाद्युपरि स्थितिरिति " ।

इदानीमेतानुपसंहरन्नाह–

एए काउस्सग्गं, कुणमाणेण विबुहेण दोसा उ ।
सम्मं परिहरियव्वा, जिणपडिसिद्ध त्ति काऊण ॥२७४॥

एते पूर्वभणिता दोषाः कायोत्सर्गं कुर्वता विबुधेन सम्यक् परिहर्तव्याः, जिनैस्तीर्थकरैः प्रतिषिद्धा निवारिता इति कृत्वा । जिनाज्ञाकरणं हि सर्वत्र श्रेयस्करमिति । प्रव० ५ द्वार । द्वा० । भ० । आव० । आ० चू० ।

(१४) साम्प्रतं कस्येति द्वारं व्याख्यायते । यत्रोक्तदोषरहितोऽपि यस्याऽयं कायोत्सर्गो यथोक्तफलो भवति तमुपदर्शयन्नाह–

वासीचंदणकप्पो, जो मरणे जीविए अ समसन्नो ।
देहे अप्पडिबद्धो, काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥ २७५ ॥

वासीचन्दनकल्पः उपकार्यनुपकारिणोरपि मध्यस्थः । उक्तं च–"जो चंदणेण बाहू, आलिंपइ वासिणा उ तच्छेइ । संथुणइ जो य निंदति, महरिसिणो तत्थ समभावो " ॥ अनेन परं प्रति माध्यस्थ्यमुक्तं भवति । तथा–यो मरणे प्राणत्यागलक्षणे, जीविते च प्राणसंधारणलक्षणे, चशब्दादिहलोकादौ च समसंज्ञः, तुल्यबुद्धिरित्यर्थः । अनेन चात्मानं प्रति माध्यस्थ्यमुक्तं भवति । तथा–देहे च शरीरे चाप्रतिबद्धश्चशब्दादुपकरणादौ च कायोत्सर्गो यथोक्तफलो भवति तस्येति गाथार्थः ॥ २७५ ॥

तिविहाऽणुवसग्गाणं, दिव्वाणं माणुसाण तिरिआणं ।
सम्ममहिआसणाए, काउस्सग्गो हवइ सुद्धो ॥२७६॥

त्रिविधानां त्रिप्रकाराणामुपसर्गाणां दिव्यानां व्यन्तरादिकृतानां, मनुष्याणां म्लेच्छादिकृतानां, तैरश्चादीनां सिंहादिकृतानां सम्यग्मध्यस्थभावेन अतिसहनायां सत्यां कायोत्सर्गो भवति शुद्धः, अविपरीत इत्यर्थः । ततश्चोपसर्गसहिष्णोः कायोत्सर्गो भवतीति गाथार्थः ।२७६।

(१५) सांप्रतं फलद्वारमभिधीयते । तच्च फलमिहलोकपरलोकापेक्षया द्विधा भवति । तथा चाह ग्रन्थकारः–

इहलोगम्मि सुभद्दा, राया उदिओ अ सिट्ठिभज्जा य ।
सो दासखग्गथंभण, सिद्धीसग्गो अ परलोए ॥२७७॥

इहलोके यत्कायोत्सर्गफलं तत्र सुभद्रोदाहरणम् । कथम् ?–"वसंतपुरं नगरं, तत्थ जियसत्तू राया, जिणदत्तो सेट्ठी, संजयसड्ढओ, तस्स सुभद्दा दारिगा धूआ अतीव रूविस्सिणी ओरालियसरीरा साविगा य । स तं असाहंमियाण न देइ । तच्चन्नियसड्ढेण चंपाओ वाणिज्जएण दिट्ठा । तीए रूवलोभेण कवडसड्ढओ जाओ । धम्मं सुणेइ, जिणसाहुं य पूजेइ । अन्नया भावो समुप्पन्नो आयरियाण आलोयइ, तेहिं वि अणुसासिओ, जिणदत्तेण वि से भावं नाऊण धूआ दिन्ना, वीवाहो कओ, चिरकालस्स वि सो तं महाय चंपं गओ, णणंदसासुगमाइयाओ तच्चन्नियसड्ढिगाओ तं खिंसंति । तओ जुअगं घरं कयं, सतोऽणेगसमणसमणीओ य पाओग्गनिमित्तमागच्छंति । ततो तच्चन्नियसड्ढियाओ भणंति–एसा संजतेण दढं रत्त त्ति । भत्तारो से न पत्तियइ । अन्नया कोइ वलरूवादिगणजुओ तरुणभिक्खू पाओग्गनिमित्तं गओ । तस्स य वायरूयं अच्छिम्मि कणुगं पविट्ठं । सुभद्दाए तं जीहाए लिहिऊण अवणीयं, तस्स निडाले तिलओ संकंतो । तेण वि दव्वक्खित्तचित्तेण ण जाणिओ । सो नीसरइ ताव तच्चन्नियसड्ढगाहिं अत्थकागयस्स भत्तारस्स दंसिओ–पेच्छ इमं वीसत्थरमियसंकंतं सभज्जाए संतगं तिलगं ति । तेण वि चिंतियं–किमिदमेवं पि होहेज्जा ?; अहवा बलवंतो विसया, अणेगभवब्भत्थगा य किं न होइ त्ति मंदनेहो जाओ । सुभद्दाए वि कहंचि विदिओ एस वुत्तंतो । चिंतियं च ताए–पावयणिओ एस उड्डाहो कहं फेडिओ त्ति पवयणदेवयमभिसंधारिऊण रयणीए काउस्सग्गं ठिया । अह संनिहिया काइ देवया तीए सीलसमायारं नाऊण आगया । भणियं च तीए–किं ते पियं करेमि त्ति ? तीए भणियं–उड्डाहं फेडिहि । देवयाए भणियं–फेडेमि, पच्चूसे इमाए नयरीए दाराणि थंभेमि । ततो आउलगेसु नगरेसु आगासत्था भणिस्सामि । जाए परपुरिसो मणेण वि ण चिंतिओ सा इत्थिगा चालणीये पाणियं छोढुं गंतूण तिन्नि वारे छंटेइ, तओ उग्घाडाणि भविस्संति । ततो तुमं वि भासिए सेसनागरिगाहिं पच्छा जाएज्जासि, ततो उग्घाडिहिसि, ततो फिट्टिहि उड्डाहो, पसंसं च पाविहिसि । तहेव कयं, पसंसं च पत्ता" ॥ एय इहलोइयं काउस्सग्गफलं ॥ अन्ने भणंति–"वाणारसीए सुभद्दाए काउस्सग्गो कओ, पढुगच्छुप्पत्ती भाणियव्वा । राया उदिओदिए त्ति । उदिओदियस्स रन्नो भज्जा लोभागयतिवरोहियस्स उवसग्गपसमणं जायं सेट्ठिभज्जाए त्ति । चंपाए सुदंसणो सेट्ठिपुत्तो । सो सावगो अट्ठमिचउद्दसीसु चउवारे उवासगपडिमं पडिवज्जइ । सो महादेवीए पत्थिज्जमाणो न इच्छइ, अन्नया वोसट्ठकाउदेवपडिम त्ति वत्थवेढिओ चेडीहिं अंतेउरं अतिणीओ, देवीए निबंधो कओ । नेच्छइ पकुच्छाए । कोलाहलो कओ; रन्ना वज्झो आणेतो, निज्जमाणो भज्जाए से मित्तवतीए साविगाए सुयं, सच्चाणं अवकस्साराधणाए काउस्सग्गं ठिया । सुदंसणस्स वि य अट्ठखंडाणि कीरं तु त्ति खंधे असी वाहिउं सव्वाण अक्खेण पुप्फदामं कओ । मुक्को रन्ना पूइओ य । ताहे मित्तवतीए पारियं । तहा (सो दास त्ति) सो दासो राया जहा नमोक्कारे (खग्गथंभणे त्ति) कोइ विराहियसामन्ने खग्गो समुप्पन्नो अट्टाए मारेइ । साहू पडाविया तेण दिट्ठा आगओ, इयरे वि काउस्सग्गेण छिन्ना न भवइ, पच्छा तं दट्ठूण उवसंतो" । एतदैहिकं फलं । (सिद्धी सग्गो य परलोए) सिद्धिर्मोक्षः; स्वर्गो देवलोकः । चशब्दाच्चक्रवर्तित्वादि परलोके फलमिति गाथार्थः । आह–सिद्धिः सकलकर्मक्षयादवाप्यते; "कृत्स्नकर्मक्षयान्मोक्षः" इति वचनात् । सा कथं कायोत्सर्गफलमिति । उच्यते–कर्मक्षयस्यैव कायोत्सर्गफलत्वात् परम्पराकारणस्यैवं विवक्षितत्वात् कायोत्सर्गफलत्वं कर्मक्षयस्य । कथम् ?, यत आह भाष्यकारः–

जह कर गओ निकिंतइ, दारुं इंतो पुणो वि वच्चंतो ।
इअ किंतंति सुविहिआ, काउस्सग्गेण कम्माइं ॥२७८॥

यथा (करगओ त्ति) करपत्रं निकृन्तति छिनत्ति विदारयति, किम् ?, दारु काष्ठं, किं कुर्वन् ?, आगच्छन्, पुनश्च व्रजन्नित्यर्थः । एवमेव

कृन्तन्ति सुविहिताः साधवः कायोत्सर्गेण हेतुभूतेन कर्माणि ज्ञानावरणादीनि । तथाऽन्यत्राप्युक्तम्-

" संवरेण भवे गुत्तो, गुत्तीए संजमुत्तमो ।
संजमाओ तवो होइ, तवाओ होइ निज्जरा ॥
निज्जराए सुहं कम्मं, खविज्जइ कमसो सदा ।
आवस्सगजुत्तस्स, काउस्सग्गे विसेसओ" ॥ इत्यादिगाथार्थः ।

आह-किमिदमित्थमिति ?, अत आह-

काउस्सग्गे जह सु-ट्ठिअस्स भज्जंति अंगुवंगाइं ।
इअ भिंदंति मुणिवरा, अट्ठविहं कम्मसंघायं ॥ २७९ ॥

कायोत्सर्गे सुस्थितस्य सतः भज्यन्ते अङ्गोपाङ्गानि । (इअ त्ति) एवं चित्तनिरोधेन भिन्दन्ति विदारयन्ति मुनिवराः साधवः अष्टविधमष्टप्रकारं कर्मसंघातं ज्ञानावरणादिलक्षणमिति गाथार्थः ॥७६॥

आह-यदि कायोत्सर्गे सुस्थितस्य भज्यन्ते अङ्गोपाङ्गानि ततश्च दुःखपकारित्वादेवालमेतेनेत्यत्रोच्यते-सौम्य ! नैवम्-

अन्नं इमं सरीरं, अन्नो जीवु त्ति एव कयबुद्धी ।
दुक्खपरिकिलेसकरं, छिंद ममत्तं सरीराओ ॥ २८० ॥

अन्यदिदं शरीरं निजकर्मोपात्तमालयमात्रमशाश्वतम, अन्यो जीवोऽस्याधिष्ठाता शाश्वतः स्वकृतकर्मफलोपभोक्ताऽयम्, इत्येवंकृतबुद्धिः सन् दुःखपरिक्लेशकरं छिन्धि ममत्वं शरीरात् । किंच-यद्यनेनाप्यसारेण कश्चिदर्थः संपद्यते पारलौकिकः, ततः सुतरां यत्नः कार्य इति गाथार्थः ॥ २८० ॥

किंचैवं च भावनीयम्-

जावइआ किर दुक्खा, संसारे जे मए समणुभूआ ।
तत्तो दुव्विसहतरा, नरएसु अणोवमा दुक्खा ॥२८१॥
तम्हा उ निम्ममेणं, मुणिणो उवलद्धसुत्तसारेणं ।
काउस्सग्गो उग्गो, कम्मखयट्ठाय कायव्वो ॥ २८२ ॥

यावन्त्यकृतजिनप्रणीतधर्मेण, किलशब्दः परोक्षाऽऽगमवादसंसूचकः। दुःखानि शारीरमानसानि । संसारे तिर्यक्नरनारकामरभवानुभवलक्षणे, यानि मया अनुभूतानि, ततस्तेभ्यो दुर्विषहतराणि अमतोऽप्यकृतपुण्यानां नरकेषु सीमन्तकादिष्वनुपमानि उपमारहितानि दुःखानि, दुर्विषहत्वं चैतेषां शेषगतिसमुत्थदुःखापेक्षयेति गाथार्थः ॥२८१॥ तस्मान्निर्ममेन ममत्वरहितेन मुनिना साधुना, किंभूतेन ?, उपलब्धसूत्रसारेण विज्ञातसूत्रपरमार्थेन, किम् ?, कायोत्सर्गे उक्तस्वरूपे, उग्रः शुभाध्यवसायः प्रबलकर्मक्षयार्थं न तु स्वर्गादिनिमित्तं कर्तव्य इति गाथार्थः ॥ २८२ ॥ इत्युक्तः कायोत्सर्गः । आव० ५ अ० ।

अधुना कायोत्सर्गफलं प्रश्नपूर्वकमाह—

काउस्सग्गे णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। काउस्सग्गे णं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ । विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरु व्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥ १२ ॥

हे भदन्त ! कायोत्सर्गे अतीचारविशुद्ध्यर्थं कायस्य व्युत्सर्जनेन जीवः किं जनयति ?। गुरुराह-हे शिष्य ! कायोत्सर्गेण अतीतं चिरकालसम्भूतं, प्रत्युत्पन्नम् आसन्नकाले वर्तमानं प्रायश्चित्तम्, उपचारात् प्रायश्चित्तार्हम् अतीचारं विशोधयत्यपनयति। विशुद्धप्रायश्चित्तश्च जीवो निर्वृतं स्वस्थीकृतं हृदयं यस्य स निर्वृतहृदयः । प्रशस्तसद्भावनया उपगतः सुखं सुखेन विहरति सुखानां परम्परया विचरति। क इव ?, अपहृतभारो भारवाह इव । यथाउत्सारितभारभरो भारवाहकः सुखं सुखेन विहरति, तथा कायोत्सर्गेण प्रायश्चित्तविशुद्धिं विधाय स्वस्थीकृतहृदयो जीवः सुखेन विचरतीति भावः । उत्त० २६ अ० ।

कायोत्सर्गातिचारे प्रायश्चित्तम्-

फिडियसयमुस्सारिय-भग्गे चेगाइवंदणुस्सग्गे ।
निव्वीइयपुरिमेगा-सणाइ सव्वेसु चाचामं ॥ ५२ ॥

स्फिटिते स्वयमुत्सारिते भग्ने च एकादिवन्दिनोत्सर्गे निवृकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनानि सर्वेषु चाचामाम्लमिति । अयं भावार्थः-निद्राऽऽदिप्रमादवशतो गुरुभिः सह प्रतिक्रमणे स्फिटितेन मिलित एकस्मिन्कायोत्सर्गे निवृकृतिकं द्वयोः पुरिमार्द्धं, त्रयाणामेकाशनम् । तथा-गुरुभिरपारितेऽपि कायोत्सर्गे स्वयमात्मना प्रथममेव पारिते भग्ने वा कायोत्सर्गे अचिन्तयित्वाऽपि सर्वं चिन्तनीयमन्तराल एव पारिते एकद्वित्रिसंख्ये कायोत्सर्गे यथासंख्यं निवृकृतिकपुरिमार्द्धैकाशनानि सर्वेष्वपि च कायोत्सर्गेषु स्फिटितत्वे भग्नत्वे च आचामाम्लम् । एवं वन्दनकेऽपि स्फिटितत्वं, पश्चात्पतितत्वे गुरोर्वन्दनकं ददानस्य स्वयमग्रतः प्रदत्तः, प्रदत्ते कृतापकृतत्वेन भग्ने वा यथासङ्ख्यमेकस्मिन् द्वयेषु त्रिषु सर्वेषु आचामाम्लम् ॥५२॥

यस्तु कायोत्सर्गादीनि न कारयेत्, तस्य किमित्याह-

अकएसु य पुरिमासण-माचामं सव्वसो चउत्थं तु ।
पुव्वमपेहिय थंडिल-निसि वोसिरिणे दिया सुवणे ॥५३॥

अकृतेषु पुनः कायोत्सर्गेषु वन्दनकेषु च एकादिषु एकाद्वित्रिषु पुरिमैकाशनाचामाम्लानि (सव्वसो चउत्थं तु) सर्वस्मिंस्तु प्रतिक्रमणे अकृते चतुर्थं तु। तथा पूर्वं संध्यायामप्रेक्षितस्थण्डिले निशि संज्ञोत्सर्गे कृते चतुर्थम् । तथा दिवसे निद्राकृते चतुर्थम् । जीत०। (कायोत्सर्गस्तु श्रावकस्यास्तीति ' आवस्सय ' शब्दे द्वितीयभागे ४५७ पृष्ठे प्रतिपादितम; व्याख्यानादौ कायोत्सर्गकरणं 'वक्खाणविहि' शब्दादौ वक्ष्यते)

काउस्सग्गपडिमा-कायोत्सर्गप्रतिमा-स्त्री० । पञ्चम्यामुपासकप्रतिमायाम्, उपा० १ अ० । (स्वरूपं चास्याः 'उवासगपडिमा' शब्दे द्वितीय भागे ११०४ पृष्ठे समुक्तम्)

काऊण (णं)-कृत्वा-अव्य० । " क्त्वस्तुमत्तूणतुआणाः " ॥ ८ । २ । १४६ ॥ इति क्त्वाप्रत्ययस्य तूणादेशः । 'कट्टु' इति तु आर्षे । प्रा०२ पाद । "क्त्वास्यादेर्णस्वोर्वा" ॥८ । १ । २७॥ इत्यनुस्वारान्तादेशो वा । प्रा० १ पाद । "आः कृगो भूतभविष्यतोश्च" ॥ ८ । ४ । २१४ ॥ इति कृगोऽन्त्यस्य क्त्वाप्रत्यये आकारान्तादेशः विधायेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद । पञ्चा० ।

काऊलेस्स-कापोतलेश्य-त्रि० । कापोतलेश्या विद्यतेऽस्य, कापोतलेश्यापरिणामवति जीवे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

काऊलेस्सा-कापोतलेश्या-स्त्री० । कपोतस्य पक्षिविशेषस्य वर्णेन तुल्यानि यानि द्रव्याणि, धूम्राणि इत्यर्थः। तत्साहाय्याद् जाता कापोतलेश्या । स्था० १ ठा० १ उ० । वर्णतोऽतसीकुसुमपारावतशिरोधराकाकिनीकन्दलादिधूम्ररूपतुल्यवर्णैः, रसतस्तरुणाम्रवल्लकपित्थादिसमधिकरसैः, गन्धतः कथितस-

रीसृपादिसमधिकगन्धैः, स्पर्शतः कठोरपलाशतरुपत्रादिसमधिकस्पर्शैः सकलप्रकृतिनिष्यन्दभूतैः कपोताभद्रव्यैर्निष्पन्ने लेश्याभेदे, पा० ।

काओदर–काकोदर–पुं० । स्त्री० । कुत्सितं कुटिलमकति, अक वक्रगतौ, अच्, कोः कादेशः। काकमुदरं यस्य । वाच०। दर्वीकरसर्पविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । तस्य उरसा कुटिलगामित्वात् तथात्वम । स्त्रियां तु जातित्वाद् ङीष् । वाच० ।

काओली–काकोली–स्त्री० । काकोलशब्दाद् गौरादित्वाद् ङीष् । लताभेदे, वाच० । अनन्तजीवे कन्दभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

काओवग–कायोपग–पुं० । कायात्कायेषु चोपगच्छन्तीति कायोपगाः । संसारिषु, "तेणातिसंजोगमविप्पहाय, कायोवगाऽणंतकरा भवंति "। सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

काक [ग]–काक–पुं० । वायसे, अनु० ३ वर्ग । आ० । स्था०। प्रज्ञा० । घूकारौ, तं० । पञ्चत्रिंशत्तमे महाग्रहे, " दो काका " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

काकं [गं] दिय–काकन्दिक–पुं० । काकन्दी नगरी, तद्भवः ज्ञा० ७ अ० । काकन्द्यां नगर्यां जाते, सुहस्तिनः शिष्ये च। " सुट्ठियसुपडिबुद्धाणं कोडियकाकंदगाणं वग्घावच्चसगुत्ताणं " कौटिककाकन्दिकाविति तु नामनी, अनेन सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ इति नामनी,कोटिशः सूरिमन्त्रजपात् काकन्द्यां नगर्यां जातत्वाच्च कौटिककाकन्दिकाविति विशेषणम । कल्प० ८ क्ष० । " तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिककाकन्दिकावजायेताम । सुस्थितसुप्रतिबुद्धौ, कोटिकगच्छस्ततः समभूत॥१॥" ग० ४ अधि०।

काकं [गं] दिया–काकन्दिका–स्त्री० । स्थविरादभद्रयशात् भारद्वाजसगोत्रात् निर्गतस्य उडुपाटिकगणस्य तृतीयशाखायाम, कल्प० ८ क्ष० ।

काकंदी–काकन्दी–स्त्री० । नगरीभेदे, ज्ञा० ९ अ० । या पुष्पदन्तस्य तीर्थकरस्य जन्मभूमिः। स्था०४ठा०१उ० । यत्र च भद्रासार्थवाहीसुतो धन्यको नाम महावीरसमीपे धर्ममनुश्रित्य महाविभूत्या प्रव्रजितः । स्था० १० ठा० । अन्त० । अनु० ।

काक[ग] जंघ–काकजङ्घ–पुं० । स्वनाम्ना ख्यातिमागते पाटलिपुत्रेश्वरे, येन उज्जयिनीपतिः अवरुद्धो भयात् शूलेन मृतः, तत्सत्कर्मकर्मठेन तैललेपादापादितकाकश्यामजङ्घताऽऽसीत्। आ० क० । (' सिप्पसिद्ध ' शब्दे कथा वक्ष्यते)

काक (ग) जंघा–काकजङ्घा–स्त्री० । काकस्य जङ्घेवाऽवयवो यस्याः ।

" काकजङ्घा नदीकान्ता, काकतिक्ता सुलोमशा ।
पारावतपदी दासी, काकाङ्गाऽपि प्रकीर्तिता ॥
काकजङ्घा हिमा तिक्ता, कषाया कफपित्तजित् ।
निहन्ति ज्वरपित्तास्र-ज्वरकण्डूविषक्रमीन् " ॥

इत्युक्तगुणे (वाच०) वनस्पतिभेदे,अनु०। " काकजंघा ति वा" (धन्याऽनगारस्य जङ्घा) सा हि परिदृश्यमानस्नायुका स्थूलसन्धिस्थाना च भवतीति तया जङ्घयोरुपमानम, अथवा काको वायसः । अनु० ३ वर्ग ।

काक [ग] णि–काकणि–स्त्री० । क्षत्रियभाषया राज्ये, विशे० । " चंदगुत्तपपुत्तो य, बिंदुसारस्स नत्तुओ । असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायति कागणिं " ॥ ८६२ ॥ बृ० १ उ० । रूपकद्रव्यस्य अशीतितमे भागे, उत्त० ७ अ० । स० ।

काक [ग] णिमंसग–काकणिमांसक–न० । देहोत्कृत्तहस्वमांसखण्डे, विपा० १ श्रु० २ अ० । दशा० । देहोद्धृतश्लक्ष्णमांसखण्डे, औ० ।

काक [ग] णिरयण–काकणिरत्न–न० । काकणी सुवर्णमयी अधिकरणीसंस्थानेति तद्रूपं रत्नम् । स० १४ सम० । चक्रवर्तिरत्नभेदे, " चउरंगुलप्पमाणा सुवण्णवरकागणी नेया " स्था० ७ ठा० । काकणिरत्नमष्टसौवर्णिकं समचतुरस्रसंस्थानसंस्थितं विषापहारसमर्थं, यत्र चन्द्रप्रभा सूर्यप्रभा वह्निदीप्तिर्वा न तमःस्तोमपहर्तुमलं समर्था, तत्र तमिस्रगुहायामपि निबिडतिमिरतिरस्करणदक्षं, यस्य दिव्यप्रभावकलिततया द्वादशयोजनानि यावत् तमिस्रविसरविनाशका गभस्तयो विवर्धन्ते, यच्च सर्वकालं चक्रवर्ती निजस्कन्धावारे रात्रौ करोति, तद्धि प्रकाशं दिवसालोकभूतं रजन्यामादधाति, यस्य च प्रभावेन चक्रवर्ती द्वितीयमर्द्धभरतमभिजेतुं सकलसैन्यसमेतस्तमिस्रगुहां प्रविशति। तथाहि–तत्र प्रविष्टः सन् पूर्वभित्तितटे पश्चिमभित्तितटे च प्रत्येकं योजनान्तरितानि पञ्चधनुःशताऽऽयामविष्कम्भान्युभयपार्श्वयोर्योजनोद्द्योतकराणि चक्रनेमिसंस्थानानि चन्द्रमण्डलप्रतिनिभानि वृत्तहिरण्यरेखारूपाणि गोमूत्रिकान्यायेनैकस्यां भित्तौ पञ्चविंशतिरपरस्यां चतुर्विंशतिरित्येकोनपञ्चाशतं मण्डलान्यालिखन् व्रजति, तानि च मण्डलानि यावच्चक्रवर्ती चक्रवर्तिपदं परिपालयति तावदवतिष्ठते, गुहाऽपि तथैवोद्घाटिता तिष्ठति, उपरते तु चक्रिणि सर्वमुपरमति । प्रव० २१२ द्वार । अनु० । आ० चू० । उत्त० । जं० । आदित्ययशसस्तु काकणीरत्नं नासीत् सुवर्णमयानि यज्ञोपवीतानि कृतवान्; महायशःप्रभृतयस्तु केचन रूप्यमयानि केचन विचित्रपट्टसूत्रमयानीत्येवं यज्ञोपवीतप्रसिद्धिः । आ० म० प्र० ।

एगमेगस्स णं रण्णो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठ सोवण्णिए कागिणिरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अधिकरणिसंठिए पण्णत्ते ।

एकैकस्य राज्ञश्चतुरन्तचक्रवर्त्तिन इत्यत्रान्यान्यकालोत्पन्नानामपि तुल्यकाकिणीरत्नप्रतिपादनार्थमेकैकग्रहणं, निरुपचरितराजशब्दविषयज्ञापनार्थं राजग्रहणं, षट्खण्डभरतादिभोक्तृत्वप्रतिपादनार्थं चतुरन्तचक्रवर्त्तिग्रहणमिति ; अष्टसौवर्णिकं काकिणीरत्नं; सुवर्णमानं तु चत्वारि मधुरतृणफलान्येकः श्वेतसर्षपः, षोडश श्वेतसर्षपा एकं धान्यमाषफलं, द्वे धान्यमाषफले एका गुञ्जा, पञ्च गुञ्जा एकः कर्ममाषकः, षोडश कर्ममाषकाः एकः सुवर्णः। एतानि च मधुरतृणफलादीनि भरतकालभावीनि गृह्यन्ते, यतः सर्वचक्रवर्तिनां तुल्यमेव काकिणीरत्नमिति षट्तलं द्वादशास्रि अष्टकर्णिकम्–अधिकरणीसंस्थितं प्रज्ञप्तमिति। तत्र तलानि मध्यखण्डानि, अस्रयः कोटयः, कर्णिकाः कोणविभागाः, अधिकरणी स्वर्णकारोपकरणं प्रतीतमेवेति। इदं च चतुरङ्गुलप्रमाणम । स्था० ८ ठा० ।

काक [ग] णिलक्खण–काकणिलक्षण–न० । कलाभेदे, काकणिरत्नपरीक्षायाम, ज्ञा० १ अ० । स० । औ० ।

काक[ग]तालिज्ज–काकतालीय–न० । काकागमनसमये ताल-

पतनमतर्कितहेतुकं तदिव अवितर्कितसम्भवे यादृच्छिककागतौ, वाच०। यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकं, न काकस्य बुद्धिरस्ति मयि तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्रायः-काकोपरि पतिष्यामि। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

काक(ग)तुंम-काकतुएम-पुं०। ६ त०। काकास्ये, काकतुएमस्येव वर्णोऽस्त्यस्य अच्। कालागुरुणि, वाच०। अष्ट०।

काक[ग]धट्ठ-काकधृष्ट-त्रि०। काकवद्धृष्टे, "तत्थ एगो भणति कागधट्टो भणति," आ० चू० ४ अ०। आव०।

काक[ग]पाल-काकपाल-पुं०। महाकुष्ठभेदे, प्रश्न० ५ संव० द्वार।

काक[ग]पिंमी-काकपिएडी-स्त्री०। अग्रपिएमे, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ०।

काक[ग]ल-काकल-न०। ईषत् कलो यस्मात्, कोः कादेशः। ग्रीवास्थे उन्नतप्रदेशे, षष्टिकधान्यभेदे च। वाच०। अणु०।

काक[ग]लि[ली]-काकलि[ली]-स्त्री०। कल इन् ईषत् कलिः, कोः कादेशः, कृदिकारान्तत्वाद् वा ङीप्। सूक्ष्ममधुरास्फुटध्वनौ, वाच०। सूक्ष्मकएठ्यगीतध्वनौ, स्था० १० ठा०। काकलं गलस्थोन्नतप्रदेशाकारः अस्त्यस्य अच्, गौरा० ङीप्। काकलाकारे स्तेयसाधने पदार्थे, काकं काकवर्णमर्धफलं लाति-गौरा० ङीष्। गुञ्जायाम्, वाच०। अभिनन्दनस्य देव्याम्, श्रीअभिनन्दनस्य काकलीनाम्नी देवी श्यामकान्तिः पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया नागाङ्कुशाङ्कितवामपाणिद्वया च। प्रव० २७ द्वार।

काकवत्र-काकवर्ण-पुं०। काकजङ्घनृपे, यो हि तैलेन जङ्घयोर्बद्धत्वात् काकश्यामजङ्घः। आ० म० द्वि०। आ० चू०। ('सिप्पसिद्ध' शब्दे कथा वक्ष्यते)

काक[ग]स्सर-काकस्वर-पुं०। श्लक्ष्णानाऽऽश्रये स्वरे, जं० ३ वक्ष०।

कागिणि-काकिणी-स्त्री०। काकिणी चतुर्भागो माषकस्य इत्युक्ते माषकचतुर्थभागे, पणचतुर्थभागे च। "वराटकानां दशकद्वयं यत्सा काकिणी ताश्च पणः चतस्रः"। वाच०। रूपकदूव्यस्य अशीतितमे भागे, उत्त० ७ अ०। सुवर्णमयेऽधिकरणीसंस्थाने, स० १४ सम०। अष्टसौवर्णिके चक्रवर्तिरत्ने, "अट्ठसोवण्णिकं कागणिरयणं" आ० चू० २ अ०। ('अंगुल' शब्दे प्रथमभागे ४५ पृष्ठे प्रसङ्गाद् व्याख्यातैषा)

काकिनी-स्त्री०। पणपादे, मानपादे, वराटके च। वाच०।

कागी-काकी-स्त्री०। काकस्त्रियाम, काक्यपि हि किलैकं वारं प्रसूते इति प्रसिद्धिः। व्य० ३ उ०। परिव्राजकविद्याविशेषे च। आ० क०। कल्प०। आ० म०। काकवर्णत्वात् वायसोलतायाम, काकोल्यां च। वाच०।

काच-कच-त्रि०। "स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे"। ८। ४। ३२९। इत्याकारः। आमे, प्रा० ४ पाद।

काठ-गाद-न०। गाहू-क। "चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययो-र्याद्यद्वितीयौ," ॥ ८। ४। ३२५॥ इति वर्णविपर्ययः पैशाच्याम, अतिशयदृढे, प्रा० ४ पाद।

काण-काण-पुं०। स्त्री०। कण निमीलने, संज्ञायां कर्तरि घञ्। काके, वाच०। निष्टिकाक्षे, दश० ७ अ०। एकाक्षे, प्रव० ११० द्वार। व्य०। नि० चू०। चक्षुर्विकले, बृ० १ उ०। "काणो निमग्नविषमोत्कटदृष्टिरेकः, शक्तो विरागजनने जनतातुराणाम। यो नैव कस्यचिदुपैति मनःप्रियत्व-मालेख्यकर्मलिखितोऽपि किमु स्वरूपः?" ॥ आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ०।

काणक [ग]-काणक-त्रि०। चोरिते, "काणकमाहिसे वा" यथा चोरितमहिषः। प्रव० ११० द्वार। व्य०। व्याधिविशेषात्सच्छिद्रे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०।

कानक-त्रि०। कनकस्येदमण्। कनकसम्बन्धिनि, कनकं फलमिव उग्रफलमस्त्यस्य अण्। जयपालबीजे, वाच०।

काणक्खि-काणाक्षि-न०। अप्रशस्ते चक्षुर्भेदे, महा० ४ अ०।

काणच्छिया-काणाक्षिका-स्त्री०। काणस्येवाक्षिकारिकायाम, "तत्थ हसइ गायति य अट्टहासे मुंचति काणच्छियां तो य जहा विडो तहा करेइ" आ० म० द्वि०। बृ०।

काणण-कानन-न०। कन् दीप्तौ णिच् ल्युट्, ल्युर्वा। स्त्रीपक्षस्य पुरुषपक्षस्य चैकतरभागेषु भोग्ये वनविशेषे, यत्परतः पर्वतोऽटवी वा भवति तस्मिन्, ज्ञा० १ अ०। सामान्यवृक्षजातियुक्ते नगराभ्यर्णवर्तिनि, शीर्णवृक्षकलिते वा, अनु०। प्रश्न०। ज्ञा०। भ०। औ०। सामान्यवृक्षवृन्दे, जी० ३ प्रति०। बृहद्वृक्षाणामाम्रराजादनादिरूपाणां वने, 'काणणुज्जाणसोहिए' उत्त० १६ अ०। कस्य ब्रह्मण आननम्। ब्रह्मणो मुखे, वाच०।

काणणदीव-काननदीप-पुं०। जलपत्तनभेदे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ०।

काणिक्का-काणिका-स्त्री०। पाषाणमयः पक्वेष्टका वा बलिका महत्यश्च काणिका उच्यन्ते। इत्युक्तेऽर्थे, बृ० ३ उ०।

काणिट्टघर-काणिष्टगृह-न०। लोहमयेष्टकागृहे, व्य० ४ उ०।

काणिय-काएय-न०। अक्षिरोगे, स च द्विधा-गर्भगतस्योत्पद्यते जातस्य च। तत्र गर्भस्थस्य दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति, तदेवैकाक्षिगतं काणं विधत्ते, तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्तानुगतं पिङ्गाक्षं, श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं, वातानुगतं विकृताक्षं, जातस्य च वातादिजनितोऽभिस्यन्दो भवति। तस्माच्च सर्वरोगाः प्रादुष्यन्तीति। उक्तं च-"वातात् पित्तात्कफाद्रक्तादभिस्यन्दश्चतुर्विधः। प्रायेण जायते घोरः, सर्वनेत्रामयाकरः"॥ आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

कादं [यं] ब-कादम्ब-पुं०। स्त्री०। हंसभेदे, स्त्रियां जातित्वेऽपि संयोगोपधत्वान्न ङीष्, किन्तु टाप्। तस्य च नीलवर्णत्वम्। इक्षौ, पुं०। वाणे, कदम्बस्येदम् अण्। कदम्बसम्बन्धिनि, त्रि०। कदम्ब एव स्वार्थेऽण्। कदम्बवृक्षे, पुं० वाच०। प्रश्न०। गन्धर्वभेदे च। प्रज्ञा० १ पद।

कादं[यं]बग-कादम्बक-पुं०। कलहंसे, कल्प० ३ क्ष०।

कादं [यं] बरी-कादम्बरी-स्त्री०। कुत्सितं मालिनमम्बरं

यस्य, कोः कद्वादेशः, कदम्बरो नीलाम्बरो बलभद्रस्तस्य प्रिया अण् । हलिप्रियायां मदिरायाम्, वाच० । कादम्बकदम्बकोटरमुत्पत्तिस्थानत्वेन आति ला-क० । लस्य रः मत्वर्थे, र वेति बोध्यम् । कादम्बं रसं राति रा० क० गौरा० ङीष् । कोकिलायाम, सरस्वत्याम, शारिकायां च । बाणभट्टरचिते कथाभेदे, सा च बाणभट्टेन सामि कृता, तत्पुत्रेण समाप्तिं नीता। वाच०। चम्पाया नगर्या नातिदूरेऽटवीभेदे, " चंपानयरीए नाइदूरे कायंबरी नाम अडवी हुत्था। तत्थ काली नाम पव्वओ " ती० १५ कल्प । अस्यां करकण्डुनामधेयो भूमण्डलाखण्डलः । ती० ३५ कल्प ।

कापुरिस-कापुरुष-पुं० । कुत्सितपुरुषः, कोः का, क्षुद्रसत्वे कुत्सितनरे, पं० व०१द्वार। ज्ञा०। प्रश्न०। भ०। "तं तह दुल्लहलंभं,विज्जुलयाचंचलं य माणुसत्तं। लद्धूण जो पमायइ,सो कापुरिसो न सप्पुरिसो"॥ आ० म० द्वि०। "स्त्रीसन्निधौ परमकापुरुषा भवन्ति " सूत्र० १ श्रु०४ अ०२ उ०। कापुरुषस्येदम् अण् । कुत्सितपुरुषसम्बन्धिनि, त्रि०। "हत्वा कापुरुषं कर्म, शूरोऽहमिति मन्यसे " स्त्रियां ङीप् । भावे, कर्मणि च ष्यञ् । कापुरुष्यम् । न० । वाच० ।

काफर-पारसीकशब्दः । इसलामाख्ययवनमताऽनुपगन्तृमतेन धर्मभ्रष्टे, " हिन्दुतुरुक्ककाफराणं " ती० १८ कल्प ।

काम-काम-पुं० । काम्यन्तेऽभिलष्यन्त एव न तु विशिष्टशरीरसंस्पर्शद्वारेणोपयुज्यन्ते ये ते कामाः । मनोज्ञेषु शब्देषु संस्थानेषु वर्णेषु च । भ० ।

रूवी भंते ! कामा, अरूवी कामा ? । गोयमा ! रूवी कामा समणाउसो ! नो अरूवी कामा ।

रूपिणः कामा नो अरूपिणः, पुद्गलधर्मत्वेन तेषां मूर्तत्वादिति ।

सचित्ता भंते ! कामा,अचित्ता कामा ?। गोयमा ! सचित्ता वि कामा अचित्ता वि कामा ।

सचित्ता अपि कामाः समनस्कप्राणिरूपापेक्षया, अचित्ता अपि कामा भवन्ति, शब्दद्रव्यापेक्षया असंज्ञिजीवशरीररूपापेक्षया चेति ।

जीवा भंते!कामा,अजीवा कामा?। गोयमा!जीवा वि कामा अजीवा वि कामा। जीवाणं भंते! कामा अजीवाणं कामा ?। गोयमा!जीवाणं कामा नो अजीवाणं कामा। कइविहे णं कामा पण्णत्ता?। गोयमा! दुविहा पण्णत्ता। तं जहा-सद्दा य रूवा य।

(जीवेत्यादि) जीवा अपि कामा भवन्ति,जीवशरीररूपापेक्षया। अजीवा अपि कामा भवन्ति, शब्दापेक्षया, चित्रपुत्रिकारूपापेक्षया चेति (जीवाणमित्यादि) जीवानामेव कामा भवन्ति, कामहेतुत्वात् । अजीवानां न कामा भवन्ति, तेषां कामासम्भवादिति। भ० ७ श० ७ उ० । शब्दरूपगन्धरूपे विषये, आतु० । औ० । दश० । उपा० । स्था० । कामौ शब्दरूपे सुखकारणत्वात् सुखम् । औ० । भ० । आ० चू० । सूत्र० । आचा० । आव० ।

चउव्विहा कामा पण्णत्ता । तं जहा-सिंगारा कलुणा बीभच्छा रोद्दा । सिंगारा कामा देवाणं, करुणा कामा मणुयाणं, बीभच्छा कामा तिरिक्खजोणियाणं, रोद्दा कामा णेरइयाणं ॥

कामाः शब्दादयः शृङ्गारा देवानामैकान्तिकात्यन्तिकमनोज्ञत्वेन प्रकृष्टरतिरसास्पदत्वादिति।रूपो हि शृङ्गारो,यदाह व्यवहारः-पुन्नार्योरन्योऽन्यरक्तयो रतिप्रकृतिः शृङ्गार इति । मनुष्याणां करुणा मनोज्ञत्वस्यातथाविधत्वात्, तुच्छत्वेन क्षणदृष्टनष्टत्वेन शुक्रशोणितादिप्रभवदेहाश्रितत्वेन च शोचनात्मकत्वात् । करुणो हि रसः शोकस्वभावः, करुणः शोकप्रकृतिरिति वचनादिति। तिरश्चां बीभत्सा जुगुप्सास्पदत्वात्। बीभत्सरसो हि जुगुप्सात्मकः। यदाह-भवति जुगुप्साप्रकृतिर्बीभत्स इति । नैरयिकाणां रौद्रा दारुणाः, अत्यन्तमनिष्टत्वेन क्रोधोत्पादकत्वात् । रौद्ररसो हि क्रोधरूपः । यत आह-रौद्रः क्रोधप्रकृतिरिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । ध० । उत्त० । कम जाव घञ् । कन्दर्पाभिलाषे, तं० । सूत्र० । अभिलाषे, उत्त० ५ अ० । इच्छायाम्, उत्त० १४ अ० । सूत्र०। आचा० । प्रज्ञा० । भोगतीव्राभिलाषे, आव० ६ अ०। मदाभिलाषमात्रे, स्था० ५ ठा० १ उ० । इच्छाऽनङ्गरूपे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। यत आभिमानिकरसानुविद्धा सर्वेन्द्रियप्रीतिः स कामः। ध० १ अधि० । स्वेच्छायां, मैथुनसेवायां च । प्रश्न० २ पद । स्त्रीगात्रपरिष्वङ्गादौ, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । अविचार्यायाऽऽत्मनः परस्य वा पापहेतौ, ध० १ अधि० ।

कामनिक्षेपः-

नामं ठवणा कामा, दव्वंकामा य भावकामा य ।
एसो खलु कामाणं, निक्खेवो चउविहो होइ ॥१६७॥

नामस्थापना कामा इत्यत्र कामशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। द्रव्यकामाश्च भावकामाश्च चशब्दौ स्वगतानेकभेदसमुच्चयार्थौ। एष खलु कामानां निक्षेपश्चतुर्विधो भवतीति गाथार्थः ॥१६७॥

तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यकामान्प्रतिपादयन्नाह-

सद्दरसरूवगंध-प्फासा उदयंकरा य जे दव्वा ।
दुविहा य भावकामा, इच्छाकामा मयणकामा ॥१६८॥

शब्दरसरूपगन्धस्पर्शा मोहोदयाभिभूतैः सत्वैः काम्यन्त इति कामाः, मोहोदयकारीणि च यानि द्रव्याणि संघाटकविकटमांसादीनि, तान्यपि मदनकामाख्यभावकामहेतुत्वाद्द्रव्यकामा इति । भावकामानाह-द्विविधाश्च द्विप्रकाराश्च भावकामाः-इच्छाकामाः मदनकामाश्च । तत्र एषणमिच्छा सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्कामा इच्छाकामाः । तथा-मदयतीति मदनश्चित्रो मोहोदयः, स एव कामप्रवृत्तिहेतुत्वात्कामाः,मदनकामा इति गाथार्थः ॥१६८॥

इच्छाकामान् प्रतिपादयति-

इच्छा पसत्थमपस-त्थिगा य मयणम्मि वेयउवओगो ।
तेणऽहिगारो तस्स उ, वयंति धीरा निरुत्तमिणं ॥१६९॥

इच्छा प्रशस्ताऽप्रशस्ता च । अनुस्वारोऽलाक्षणिकः मुखसुखोच्चारणार्थः। तत्र प्रशस्ता धर्मेच्छा मोक्षेच्छा, अप्रशस्ता युद्धेच्छा राज्येच्छा । उक्ता इच्छाकामाः । मदनकामानाह-मदन इत्युपलक्षणार्थत्वान्मदनकामे निरूप्ये। कोऽसावित्यत आह-वेदोपयोगः, वेद्यत इति वेदः स्त्रीवेदादिस्तदुपयोगस्तद्विपाकानुभवनम्, तद्व्यापार इत्यन्ये। यथा-स्त्री वेदोदयेन पुरुषं प्रार्थयते इत्या-

दि। तेनाधिकार इति। मदनकामेन शेषा उच्चारितमदशा इति प्रकपिताः, तस्य तु मदनकामस्य,वदन्ति धीरास्तीर्थंकरगणधराः, निरुक्तमिदं, वक्ष्यमाणलक्षणमिति गाथार्थः ।।१६७।।

विसयसुहेसु पसत्थं, अबुहजणं कामरागपमिबद्धं ।
उक्कामयंति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा ।।१७०।।

विषीदन्त्याबध्यन्ते एतेषु प्राणिन इति विषयाः शब्दादयः, तेभ्यः सुखानि तेषु प्रसक्त आसक्तस्तं, जीवमिति योगः । स एव विशिष्यते-अबुधः अविपश्चिद् जनः परिजनो यस्य स अबुधजनस्तम,अकल्याणमित्रपरिजनमित्यर्थः। अनेन बाह्यं विषयसुखप्रशक्तिहेतुमाह। कामरागप्रतिबद्धमिति। कामाः मदनकामास्तेभ्यो रागाः विषयाभिष्वङ्गाः तैः प्रतिबद्धो व्याप्तस्तम्। अनेन तु आन्तरं विषयसुखप्रशक्तिहेतुमाह। ततश्चाऽबुधजनत्वात्कामरागप्रतिबद्धत्वाच्च विषयसुखेषु प्रशक्तमिति भावः। किं निरुक्तवैचित्र्यादाह-तत्प्रत्यनीकत्वादुत्कामयन्त्यपनयन्ति, जीवमनन्तरविशेषितम,कुतो?,धर्मात्। यस्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् येन कारणेन तेन सामान्येनैव कामरागाः,कामा इति गाथार्थः। अन्ये पठन्ति, 'उत्कामयन्ति यस्मादिति ' अत्र चाबुधजन एव विशेष्यः, शेषं पूर्ववत्।

अन्नं पि य से नामं, कामा रोग त्ति पंमिया विंति ।
कामे पत्थेमाणो, रोगे पत्थेइ खलु जंतू ।।१७१।।

अन्यदपि चैषां कामानां नाम। किंभूतमित्याह-कामा रोगा इति एवं पण्डिता ब्रुवते। किमित्येतदेवमत आह-कामान् प्रार्थयमानोऽभिलषन् रोगान् प्रार्थयते, खलु जन्तुः,तद्रूपत्वादेव कारणे कार्योपचारादिति गाथार्थः। दश० २ अ०।

(२४) भेदाः-

कामो चउवीसविहो, संपत्तो खलु तहा असंपत्तो ।
संपत्तो चउदसहा, दसहा पुण होइ संपत्तो ।। ७६ ।।

कामश्चतुर्विंशतिविधश्चतुर्विंशतिभेदो भवति, तत्र प्रथमं तावत्सामान्येन द्विधा-संप्राप्तः कामिनामन्योऽन्यसंगमसमुत्थः, तथाऽसंप्राप्तश्च विप्रलम्भस्वरूपः। तत्र संप्राप्तश्चतुर्दशधा चतुर्दशप्रकारः, दशधा पुनः दशप्रकारो भवत्यसंप्राप्त इति।

तत्राल्पतरवक्तव्यत्वादसंप्राप्तं तावदाह-

तत्थ असंपत्तत्था, चिंता तह सद्ध संभरणमेव ।
विक्कवय लज्जनासो, पमाय उम्माय तब्भावे ।। ७७ ।।
मरणं च होइ दसमे; संपत्तं पि य समासओ वोच्छं ।
दिट्ठीए संपाओ, दिट्ठीसेवा य संभासो ।। ७८ ।।

तत्र द्वयोः संप्राप्तासंप्राप्तयोर्मध्येऽसंप्राप्तोऽयम्। (अत्थ त्ति) अर्थनमर्थाः, दृष्टेऽपि रूपवयाद्दौ श्रुत्वा तदभिलाषमात्रं,तथा-चिन्ता अहो! रूपादयस्तस्या गुणा इत्यनुरागेण चिन्तनं, तथा-श्रद्धा तत्संगमाभिलाषः, तथा-संस्मरणं संकल्पितरूपस्यालेख्यादिदर्शनेनाऽऽत्मनो विनोदनं, तथा-विक्लवता तद्विरहदुःखातिरेकेण हासादिष्वपि निरपेक्षता, तथा-लज्जानाशः गुर्वादिसमक्षमपि तद्गुणोत्कीर्तनं, तथा-प्रमादस्तदर्थमेव सर्वारम्भेषु प्रवर्तनं, तथोन्मादो नष्टचित्ततया आलजालजल्पनं,तथा-तद्भावः स्तम्भादीनामपि तद्बुद्ध्याऽऽलिङ्गनादिचेष्टा; मरणं च भवति दशमः, असंप्राप्तकामभेदः। इदं च सर्वथा प्राणपरित्यागलक्षणं न ज्ञातव्यं,शृङ्गाररसभङ्गप्रसङ्गात्,किन्तु मरणमिव मरणं निश्चेष्टावस्था मूर्च्छाप्राया काचिदित्यर्थः। इत्थमेव चाभिनवगुप्तेन भरतवृत्तिकृताऽपि व्याख्यातत्वादिति। अथ संप्राप्तं काममाह-(संपत्तं पि य समासओ वोच्छं। दिट्ठीए संपाओ १ दिट्ठीसेवा य२ संभासो३) संप्राप्तमपि कामं समासतः संक्षेपेण वक्ष्ये। तदेवाह-दृष्टिसंपातः स्त्रीणां कुचाद्यवलोकनं १, तथा-दृष्टिसेवा हावभावसारतद्दृष्टेर्दृष्टिमेलनम् २,तथा-संभाषणमुचितकाले स्मरकथाभिजल्पः ३।

हसिय ललिअोवगूहिय, दंत नह निवाय चुंवणं चेव।
आलिंगणमादाणं, करसेवाऽणंगकीमा य ।। ७९ ।।

हसितं च वक्रोक्तिगर्भहसनं, ललितं पासकादिक्रीमा, उपगूढं गाढतरपरिष्वङ्गः,दन्तनिपातो दशनच्छेदनविधिः,नखनिपातः कररुहैर्विपाटनप्रकारः, चुम्बनं वक्त्रसंयोगः, आलिङ्गनमीषत्स्पर्शनम, आदानं कुचादिग्रहणम , (करसेवणं ति) प्राकृतशैल्या करणासेवने, तत्र करणं सुरतारम्भयन्त्रं चतुरशीतिभेदं वात्स्यायनप्रसिद्धम, आसेवनं मैथुनक्रिया, अनङ्गक्रीमा चाऽऽस्यादावथक्रियेति। प्रव० १६६ द्वार। उत्त०। "कहन्नु कुज्जा सामन्नं, जो कामे न निवारए। पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसंगओ " दश० २ अ०। ('सामन्न' शब्दे व्याख्या) "काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात्किल जायसे। न त्वां संकल्पयिष्यामि,ततो मे न भविष्यसि"।१। आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। "सव्वगहाणं पभवो, महागहो सव्वदोसपायट्ठी। कामग्गहो दुरप्पा,जेणऽभिभूयं जगं सव्वं"। महा० ७ अ०। (यथा स्थूलभद्रेण कामो विजितस्तथा 'थूलभद्द'शब्दे वक्ष्यते) कामो हि दुरतिक्रमः। कामा द्विविधाः-इच्छाकामा मदनकामाश्च। तत्रेच्छाकामा मोहनीयभेदहास्यरत्युद्भवाः, मदनकामा अपि मोहनीयभेदे वेदोदयात्प्रादुःषन्ति। ततश्च द्विरूपाणामपि कामानां मोहनीयं कारणं, तत्सद्भावे न कामोच्छेदः। आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। मकरध्वजे, स्था० १ उ०। रौक्मिणेये, पुं०। बलदेवे, तस्य कामपालत्वात्तथात्वम्, महाराजचूते, कर्मपूर्वकात् कमयतेः कर्तरि अण्, तत्तत्पदार्थकामनायुक्ते, वाच०। दीर्घकालं जीवितुकामाः दीर्घकालमायुष्काभिलाषिणः। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। रेतसि, न० वाच०।

कामं-कामम्-अव्य०। अनुमते, बृ०१ उ०। नि० चू०। अवमतार्थे, नि० चू० १० उ०। अवधृतार्थे, नि० चू० ५ उ०। काममित्यवधृतार्थे, अवधृतमेतत्। सूत्र० २ श्रु० १ अ० "कामं खलु अप्पसहो" नि० चू० ११ उ०। चोदकाभिप्रायसमर्थताऽभिप्रायेण कामशब्दप्रयोगः,अहवा आचार्येण चोदकाभिप्रायोऽवधृत इत्यतः कामशब्दप्रयोगः। नि०चू० १५ उ०। 'कामं चोदकाऽभिप्रायस्य अनुमयत्थे,' नि० चू० १६ उ०। आव०। आ० चू०। काममित्येतदभ्युपगमे,यथा-इष्टमेवैतदस्माकम्। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

कामंग-कामाङ्ग-पुं०। कामं कामोद्दीपनमङ्गं मुकुलमस्य। आम्रवृक्षे जटाधरः। वाच०। स्नानादिषु कामोद्दीपनेषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ०।

कामंदकि-कामन्दकि-न०। नीतिशास्त्रप्रणेतरि, वाच०। स्था०।

कामकंत-कामकान्त-न०। स्वनामख्याते कामादिविमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामकम–कामकम–न० । षष्ठदेवलोकेन्द्रस्य पारियानिकविमाने, स्था० १० ठा० ।

कामकहा-कामकथा-स्त्री० । कामप्रधानायां कथायाम्, दश० ।

साम्प्रतं कामकथामाह—

रूवं वओ य वेसो, दक्खत्तं सिक्खियं च विसएसु ।
दिट्ठं सुयमणुभूयं, च संथवो चेव कामकहा ॥ १७८ ॥

रूपं सुन्दरं, वयश्चोदग्रं, वेष उज्ज्वलः, दाक्षिण्यं मार्दवं, शिक्षितं विषयेषु शिक्षा च कलासु, दृष्टमद्भुतदर्शनमाश्रित्य, श्रुतं चानुभूतं च संस्तवश्च परिचयश्चेति कामकथा । रूपे च वसुदेवादय उदाहरणम् । वयसि सर्व एव प्रायः कमनीया भवति, लावण्यात् । उक्तं च-"यौवनमुद्गमकाले, विदधाति विरूपकेऽपि लावण्यम् । दर्शयति पाकसमये, निम्बफलं चाऽपि माधुर्यम्" इति । वेष उज्ज्वलः कामाङ्गम्; 'यं कश्चन उज्ज्वलवेषं पुरुषं दृष्ट्वा स्त्री कामयते' इति वचनात् । एवं दाक्षिण्यमपि, 'पञ्चालस्त्रीषु मार्दवमिति' वचनात् । शिक्षा च कलासु कामाङ्गम्, वैदग्ध्यात् । उक्तं च-"कलानां ग्रहणादेव, सौभाग्यमुपजायते । देशकालौ त्वपेक्ष्याऽऽसां, प्रयोगः संभवेन्न वा" ॥ अन्ये त्वत्राचलमूलदेवौ देवदत्तां प्रतीत्येक्षुयाचनायां प्राकृताऽसंस्कृत-स्तोकसंस्कृतप्रदानद्वारेणोदाहरणमभिदधति । दृष्टमधिकृत्य कामकथा । यथा-नारदेन रुक्मिणीरूपं दृष्ट्वा वासुदेवे कृता । श्रुतं त्वधिकृत्य यथा-पद्मनाभेन राज्ञा नारदाद्द्रौपदीरूपमाकर्ण्य पूर्वसंस्तुतदेवेभ्यः कथिता । अनुभूतं चाधिकृत्य कामकथा यथा-तरङ्गवत्या निजानुभवकथने । संस्तवश्च कामकथापरिचयः कारणानीति कामसूत्रपाठात् । अन्ये त्वभिदधति-"सइदंसणाउ पेम्मं, पेमाउ रती रती य विस्संभो । विस्संभाओ पणओ, पंचविहं वड्ढए पेम्मं ॥" इति गाथार्थः ॥ १६८ ॥ उक्ता कामकथा । दश० ३ अ० ।

कामकाम–कामकाम–त्रि० । कामेन स्वेच्छया कामो मैथुनसेवा येषां ते कामकामाः । अनियतकामेषु, प्रज्ञा० २ पद । जी० । कामे शब्दरूपयोः कामो वाञ्छामात्रं यस्यासौ कामकामः । शब्दरूपाभिलाषुके, तं० । कामं काम्यं कामयते, कम णिङ् अण् । उप-स० । विषयप्रार्थके, स्त्रियां ङीप् । वाच० ।

कामकामि–कामकामिन्–त्रि० । कामान् कामयितुमभिलषितुं शीलमस्येति विषयप्रार्थनाशीले, आचा० ।

कामकामी खलु अयं पुरिसे से सोयति जूरति तिप्पति पिड्डति परितप्पति ।

कामान् कामयितुमभिलषितुं शीलमस्येति कामकामी । खलुर्वाक्यालङ्कारे । अयमित्यध्यक्षः, पुरुषो जन्तुर्यस्त्वेवंविधोऽविरतचेताः कामकामी स नानाविधान् दुःखविशेषाननुभवतीति दर्शयति-(से सोयमित्यादि) स इति कामकामी ईप्सितस्यार्थस्याप्राप्तौ तद्वियोगे च स्मृत्यनुबन्धः शोकस्तमनुभवति । अथवा शोचत इति काममहाज्वरगृहीतः सन् प्रलपतीति । उक्तम्-"गते प्रेमाबन्धे प्रणयबहुमाने च गलिते, निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः । तमुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि ! गतांस्तांश्च दिवसान्, न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम् ?" ॥ इत्यादि शोचते । तथा (जूरइ त्ति) हृदयेन खिद्यते । तद्यथा-"प्रथमतरमथेदं चिन्तनीयं न चासीद्, बहुजनदयितेन प्रेम कृत्वा जनेन । हत हृदय निराश क्लीब ! संतप्यसे किं, न हि अपगततोये सेतुबन्धाः क्रियन्ते" ॥ इत्येवमादि । तथा (तिप्पइ त्ति) 'तिपृ तेपृ' क्षरणार्थौ । तेपते क्षरति संचलति मर्यादातो भ्रस्यते, निर्मर्यादीभवतीति यावत् । तथा-शारिरमानसैर्दुःखैः पीड्यते । तथा-परितः समन्ताद् बहिरन्तश्च तप्यते परितप्यते, पश्चात्तापं च करोति । यथा-पुत्रकलत्रादौ कोपात् कश्चित्क्षते समयाऽननुवर्तिते इति कोपात् परितप्यते । सर्वाणि चैतानि शोचनादीनि विषयविपाकघूर्णान्तःकरणानां दुःखावस्थासंसूचकानि । अथवा-शोचत इति यौवनधनमदमोहाभिभूतमानसो विरुद्धानि निषेव्य पुनर्वयःपरिणामेन मृत्युकालोपस्थानेन वा मोहापगमे सति किं मया मन्दभाग्येन पूर्वमशेषशिष्टाऽऽचीर्णः सुगतिगमनैकहेतुर्दुर्गतिद्वारपरिघो धर्मो नाचीर्ण इत्येवं शोचते इति । उक्तं च-"सवित्रीं भावानां परिणतिमनालोच्य नियतां, पुरा हा ! यत्किंचिद्विहितमशुभं यौवनमदात् । पुनः प्रत्यासन्ने महति परलोकैकगमने, तदेवैकं पुंसां व्यथयति जराजीर्णवपुषाम्" ॥ १ ॥ तथा जूरतीत्यादीन्यपि स्वबुद्ध्या योजनीयानीति । उक्तं च-"सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यजातं, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन । अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः" ॥ १ ॥ इत्यादि । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

कामकुसल–कामकुशल–पुं० । व्यवहारकुशलभेदे, स च यत्नेनाऽनुवर्त्तते प्रियां बाह्यानुवर्तितया कलहाभावादिति निर्वृतिर्भवति, तत उभयलोकसिद्धिरिति । यदा च चैत्याभिगमनं करोति तदा तां मुखशुद्धिं कारयति, तद्गृहे स्नानं न विधत्ते, करोति चेत्तदा यथा तद्वशगो न भवति, तद्वशगतत्वेनोभयलोकहानिः स्यादिति । दर्श० ।

कामकूम–कामकूट–पुं० । काम एव कूटं शृङ्गं प्रधानमस्य । वेश्याप्रिये, वेश्याया विभ्रमे च । वाच० । विमानभेदे, जी० ३ प्रति ।

कामक्खंध–न०-कामस्कन्ध–पुं० । काम्यत्वात् कामाः मनोज्ञशब्दादयः, तद्धेतवः स्कन्धास्तत्तत्पुद्गलसमूहाः कामस्कन्धाः । उत्त० ४ अ० । शब्दादिद्रव्यस्कन्धेषु, उत्त० ।

खेत्तं वत्थु हिरण्णं च, पसवो दास पोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जई ॥ १७ ॥
मित्तं व नायवं होइ, उच्चा गोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥ १८ ॥

क्षि निवासगत्योः; क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षेत्रं, ग्रामाऽऽरामादिसेतुकेतूभयात्मकं वा; तथा वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु; खातोच्छ्रितोभयात्मकम्, हिरण्यं सुवर्णम्, उपलक्षणत्वात् रूप्यादि च, पशवोऽश्वादयः, दास्यते दीयते एभ्य इति दासाः पोष्यवर्गरूपाः, ते च, (पोरुस त्ति) सूत्रत्वात्पौरुषेयं च पदातिसमूहः, दासपौरुषेयं. चत्वारः चतुःसंख्याः, अत्र हि क्षेत्रं वास्त्विति चैको, हिरण्यमिति द्वितीयः, पशव इति तृतीयो, दासपौरुषेयमिति चतुर्थः । एते किमित्याह-काम्यत्वात्कामा मनोज्ञशब्दादयः, तद्धेतवः स्कन्धास्तत्पुद्गलसमूहाः कामस्कन्धाः, यत्र भवन्तीति गम्यते । प्राकृतत्वाच्च न निर्देशः । तत्र तेषु कुलेषु (से इति) स उपपद्यते जायते, अनेन चैकभङ्गमुक्तम् । शेषाणि तु नवाङ्गान्याह । मित्राणि सह पांसुक्रीडितादीनि सन्त्यस्येति मित्रवान्, ज्ञातयः स्वज-

गाः सन्त्यस्येति शातिमान् भवति, उच्चैर्गोत्रम्यादि कृत्येऽपि पूज्यतया गोत्रं कुलमस्येत्युच्चैर्गोत्रः। चः समुच्चये। वर्णः श्यामादिः स्निग्धत्वादिगुणैः प्रशस्योऽस्येति वर्णवान्। अल्पातङ्कः आन्तकविरहितः,नीरोग इत्यर्थः। महती प्रज्ञाऽस्येति महाप्रज्ञः,पण्डितोऽभिजातो विनीतः, स हि सर्वजनाभिगमनीयो भवति, दुर्विनीतस्तु शेषगुणान्वितोऽपि न तथेति। अत एव च (जसो त्ति) यशस्वी, तथा च सति (बले त्ति) बली कार्यकरणं प्रति सामर्थ्यवान्, उभयसूत्रत्वान्मत्वर्थीयलोपः। एकैकोऽपि हि मित्रवत्त्वादिगुणस्तत्कार्याभिनिर्वर्तनक्षमः, किं पुनरमी समुदिताः शरीरसामर्थ्यवान् नेह बलीति। उत्त० ४ अ०।

कामगम-कामगम-त्रि०। कामं स्वेच्छया गमो येषां ते कामगमाः। स्वेच्छाचारिषु, जी० ३ प्रति०। प्रज्ञा०। पञ्चदेवलोकेन्द्रस्य यानविमाने, जं० ५ वक्ष०। औ०।

कामगिद्ध-कामगृद्ध-त्रि०।७त०। कामेषु इच्छामदनरूपेषु अभ्युपपन्ने, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

कामगुण-कामगुण-पुं०। काम्यन्ते अभिलष्यन्ते इति कामाः, ते च ते गुणाश्च पुद्गलधर्माः शब्दादयः। स० ५ सम०। पञ्चेन्द्रियसुखदेषु सद्वस्त्रस्त्रस्यमिष्टान्नपुष्पचन्दननाटकगीततालवेणुवीणाकलितकाकलीगीतादिपदार्थेषु, उत्त० १४ अ०। आव०। आचा०। " पंच कामगुणा पण्णत्ता। तं जहा-सद्दा रूवा रसा गंधा फासा "। स० ५ सम०। आचा०। ध०। स्था०।

पंचेव य कामगुणे, (पंचेव य अण्हवे महादोसे) ।
परिवज्जंतो गुत्तो, रक्खामि महव्वए पंच ॥३९॥

(पंचेव य त्ति) पञ्चैव मनोज्ञशब्दरूपरसगन्धस्पर्शभेदात्पञ्चसंख्या एव। चशब्दोऽर्थान्तराभिधानसमुच्चयार्थः। के इत्याह-काम्यन्ते रागातुरैः प्राणिभिरभिकाङ्क्ष्यन्त इति कामाः, अभिलषणीयपदार्थाः, त एवात्मसंयमनैकहेतुत्वाद् गुणाः सूत्रतन्तवः, आत्मगुणोपघातकारणत्वाद्वा गुणाः कामगुणाः। अथवा-कामस्य मदनस्याभिलाषमात्रस्य वा संपादका गुणाः धर्मार्थपुरुषाणां कामगुणाः, ते चाऽनर्थहेतवः। यदुक्तम्-

" कलरिभितमधुरगान्धर्व-तूर्ययोषिद्विभूषणरवाद्यैः।
श्रोत्राऽवबद्धहृदयो, हरिण इव विनाशमुपयाति ॥ १ ॥
गतिविभ्रमेङ्गिताकार-हास्यलीलाकटाक्षविक्षिप्तः।
रूपावेशितचक्षुः, शलभ इव विपद्यते विवशः ॥ २ ॥
स्नानाङ्गरागवर्तिक-वर्णकधूपाधिवासपटवासैः।
गन्धभ्रमितमनस्को, मधुकर इव नाशमुपयाति ॥ ३ ॥
मिष्टान्नपानमांसौ-दनादिमधुररसविषयगृद्धात्मा।
गलयन्त्रपाशबद्धो, मीन इव विनाशमुपयाति ॥ ४ ॥
शयनासनसंबाधन-सुरतस्नानानुलेपनाऽऽसक्तः।
स्पर्शव्याकुलितमति-र्गजेन्द्र इव बध्यते मूढः " ॥ ५ ॥

इत्यतः स्नानादिकामगुणान् परिवर्जयन्निति योगः। पा०। आव०। मकरकेतुकार्ये,प्रश्न० ४ आश्र०द्वार। कामस्य कामकृतो वा गुणः। अनुरागे, विषये, आभोगे च। वाच०।

कामग्गह-कामग्रह-पुं०। सुरतासेवनोद्रेकाद् विभ्रमे, पं०व०१द्वार।

कामजल-कामजल-न०। स्नानपीठे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ०। " सिणाणपीढं तु कामजलं " नि० चू० १३ उ०।

कामज्झय-कामध्वज-पुं०। विमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामज्झया-कामध्वजा-स्त्री०। स्वनामख्यातायां गणिकायाम्, विपा० १ श्रु० २ अ०। (वाणिजग्रामवास्तव्यायां यस्यामुज्झितकदारक आसक्तः; तथोक्तम् ' उज्झियय ' शब्दे द्वितीयभागे ७४६ पृष्ठे)

कामट्ठि [ण्]-कामार्थिन्-त्रि०। शब्दरूपार्थिनि, ज्ञा० १ अ०।

कामड्ढिय-कामर्द्धिक-न०। वैश्यपाटिकगणस्य तृतीये कुले, कल्प० ८ क्षण।

कामतिव्वराग-कामतीव्रराग-पुं०। कामः-शब्दरूपे,तत्र तीव्राभिलाषः। स्वदारसन्तोषस्य तृतीयेऽतिचारे, ध० २ अधि०।

कामतिव्वाभिलास-कामतीव्राभिलाष-पुं०। कामाः शब्दादयस्तेषु तीव्राभिलाषः। कामभोगेऽध्यवसायत्वलक्षणे स्वदारसन्तोषस्य तृतीयेऽतिचारे, श्रा०। यतो वाजीकरणादिनाऽनवरतसुरतसुखार्थमदनमुद्दीपयति। पञ्चा० १ विव०।

कामदुह-कामदुघ-त्रि०। कामं दोग्धि, दुह-क-घादेशः। अभीष्टसम्पादके, सुरभौ, गवि, स्त्री०। वाच०। " अप्पा कामदुघा धेणू, अप्पा मे णंदणं वणं "। आत्मैव कामदुघा धेनुर्वर्तते,कामं दोग्धि पूरयतीति कामदुघा। जीवः शुभक्रियां करोति, सा शुभक्रिया, सुखदेत्यर्थः। उत्त० २० अ०।

कामदेव-कामदेव-पुं०। काम एव देवः। कन्दर्पे, वाच०। काचित् वृहत्कुमारिका वाञ्छितवरलाभाय कामदेवपूजार्थमारामे पुष्पाणि चोरयन्ती आरामपतिना गृहीता। स्था० ४ ठा० ३ उ०। नि० चू०। स्वनामख्याते चम्पानगरीवास्तव्ये उपासकभेदे, स्था० १० ठा०। ती०। संथा०।

जइ णं भंते! समणेणं० जाव संपत्तेणं सत्तमस्स अंगस्स उवासगदसाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते। दोच्चस्स णं भंते! अज्झयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते?। एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था। पुण्णभद्दे चेइए जियसत्तू राया, कामदेवे गाहावई, भद्दा भारिया, छ हिरण्णकोडीओ णिहाणपत्ताओ, छ वुड्ढि छ पवित्थर छ व्वया दस गोसाहस्सीएणं वएणं समोसरणं जहा आणंदो तहा निग्गओ तहेव सावयधम्मं पडिवज्जइ, सा चेव वत्तव्वया जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे य ठवेत्ता मित्तनाइअं पुच्छित्ता जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जहा आणंदे० जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मपण्णत्तिं उवसं० विहरइ,तए णं तस्स कामदेवस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे माई मिच्छद्दिट्ठी अंतियं पाउब्भूए, तए णं से देवे एगं महं पिसायरूवं विउव्वइ।

अथ द्वितीये किमपि लिख्यते-(पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि त्ति) पूर्वरात्रश्चासावपररात्रश्चेति पूर्वरात्रावपररात्रः, स एव कालः समयः कालविशेषः ॥

तस्स णं देवस्स पिसायरूवस्स इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते–सीसं से गोकिलंजसंठाणसंठियं सालिभसेल्लसरिसा से केसा कविलतेएणं दीप्पमाणा महल्लउट्टियाकभल्लसंठाणसंठियं णिडालं मुंगु सपुच्छं व तस्स भूमगाओ फुग्गफुग्गाओ विगयबीभच्छदंसणाओ सीसिघडिविणिग्गयाइं अच्छीणि विगयबीभच्छदंसणाइं कण्णा जह सुप्पकत्तरे चेव विगयबीभच्छदंसणिज्जा उरब्भपुडसंनिभा से नासा, झुसिरा जमलचुल्लीसंठाणसंठिया दो वि तस्स नासापुडया, घोडगपुच्छं व तस्स मंसूइं कविलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं उट्ठा उट्टस्स चेव लंबा फालसरिसा से दंता जिब्भा जह सुप्पकत्तरं चेव विगयबीभच्छदंसणिज्जा हलकुद्दालसंठिया से हणुया गल्लकडिल्लं च तस्स खड्डं फुट्टं कविलं फरिसं महल्लं मुइंगाकारोवमे से खंधे पुरवरकवाडोवमे से वच्छे कोट्ठिया संठाणसंठिया दो वि तस्स बाहा, निसापाहाणसंठाणसंठिया तस्स दो वि हत्था, निसालोढसंठाणसंठियाओ हत्थेसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडगसंठिया से णहा, ण्हावियए पसेवओव्व उरंसि लंबंति दो वि तस्स थणया पोट्टं अयकोट्ठओव्व वट्टं पाणा कलंदसरिसा से णाभी सिक्कगसंठाणसंठिते से पोत्ते, किण्णपुडसंठाणसंठिया दो वि तस्स वसणा, जमलकोट्ठियासंठाणसंठिया तस्स दो वि ऊरू, अज्जुणगुच्छं व तस्स जाणूइं कुडिलकुडिलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं जंघाओ कक्खडीओ लोमेहिं उवचियाओ, अधरीसंठाणसंठिया दो वि तस्स पाया, अहरीलोढसंठाणसंठियाओ पाएसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडसंठिया से णहा, लडहमडहजाणुए विगयभग्गभुग्गभमुए अवदालियवयणविवरनिल्लालियअग्गजीहे सरडकयमालियाए उंदरमालापरिणद्धसुकयचिन्धे णउलकयकण्णपूरे सप्पकयवेगच्छे अप्फोडंते अभिगज्जंते भीममुक्कट्टहासे णाणाविहपंचवण्णेहिं लोमेहिं उवचिये एगं महं नीलुप्पलगवलगुलियअयसिकुसुमप्पगासं असिं खुरधारं गहाय जेणेव पोसहसाला जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसीयमाणे कामदेवस्स एवं वयासी–

तत्र (इमे एयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते त्ति) वर्णकव्यासो वर्णकविस्तरः [सीसं ति] शिरः [से] तस्य [गोकिलंज त्ति] गवां चरणार्थं यद्वंशदलमयमहद्भाजनं तद्गोकिलञ्जं 'डल्ले त्ति' यदुच्यते, तस्याधोमुखीकृतस्य यत् संस्थानं तेन संस्थितं, तदाकारमित्यर्थः । पुस्तकान्तरे विशेषणान्तरमुपलभ्यते–[विगयकप्पयनिभं ति] विकृतो योऽलञ्जरादीनां कल्प एव कल्पकच्छेदः, षण्ढं 'कप्परमि त्ति' तात्पर्यम, तन्निभं तत्सदृशमिति। क्वचित्तु 'वियडकोप्परनिभं' ति दृश्यते, तच्चोपदेशगम्यम्। [सालिभसेल्लसरिसं] व्रीहिकणिशशूकसमाः [से] तस्य केशा बालाः । एतदेव व्यनक्ति–[कविलतेएणं दिप्पमाणा] पिङ्गलदीप्त्या रोचमानाः [उट्टियाकभल्लसंठाणसंठियं] उष्ट्रिका–मृण्मयो महाभाजनविशेषः,तस्याः [कभल्लं] कपालं तत्संस्थानं तद्वत्संस्थितम् [निडालं ति] ललाटम् । पाठान्तरे–[महल्लउट्टियाकभल्लसरिसोवमे] महोष्ट्रिकाकपालसदृशमित्येव समुल्लेखेनोपमा उपमानवाक्यं यत्र तत्तथा । [मुंगुं सपुच्छं व] भुजपरिसर्पविशेषो मुंगुं,सा च 'खाडहिल्ल त्ति' संभाव्यते,तत्पुच्छवत्, तस्येति पिशाचरूपस्य [भूमगाओ त्ति] भ्रुवौ, प्रस्तुतोपमार्थमेव व्यनक्ति–[फुग्गफुग्गाओ त्ति] परस्परासंबद्धरोमिके,विकीर्णरोमिके इत्यर्थः। पुस्तकान्तरे तु–[जडिलजडिलाउ त्ति]प्रतीतं, (विगयबीभच्छदंसणाओ त्ति) विकृतं बीभत्सं च दर्शनं रूपं ययोस्ते तथा । (सीसघडिविणिग्गयाइं) शीर्षमेव घटी। तदाकारत्वात् शीर्षघटिः,तस्या विनिर्गते इव विनिर्गते शिरो घटीमतिक्रम्य व्यवस्थितत्वात्, अक्षिणी लोचने, विकृतबीभत्सदर्शने प्रतीतम्, कर्णौ श्रवणौ यथा सूर्पकर्तरमेव सूर्पखण्डमेव नान्यथाकारौ,तदाकारावित्यर्थः । विकृतेत्यादि तथैव, (उरब्भपुडसन्निभा) उरभ्रः ऊरणस्तस्य पुटं नासापुटं तत्संनिभा तत्सदृशी नासा नासिका। पाठान्तरे–(हुरब्भपुडसंठाणसंठिया) तत्र हुरभो वाद्यविशेषस्तस्याः पुटं पुष्करं तत्संस्थाने संस्थिता. अतिचिपिटत्वेन समत्वादिति [झुसिर त्ति] महारन्ध्रा [जमलचुल्लीसंठाणसंठिया] यमलयोः समस्थितद्वयरूपयोः चुल्ल्योर्यत् संस्थानं तत्संस्थिते द्वे अपि तस्य नासापुटे नासिकाविवरे। वाचनान्तरे–[महल्लकुव्वसंठिया दो वि ते कवोला]तत्र क्षीणमांसत्वात् उन्नतास्थित्वाच्च कुत्संति निम्नं क्षाममित्यर्थः। तत्संस्थितौ द्वावपि [से] तस्य कपोलौ गण्डौ, तथा [घोडग त्ति] घोटकपुच्छवदश्वबालधिवत्तस्य पिशाचरूपस्य श्मश्रूणि कूर्चकेशाः,तथा कपिलकपिलानि अतिकडाराणि विकृतानीत्यादि। तथैव पाठान्तरेण–[घोडयपुच्छं व तस्स कविलफरुसाओ उड्ढलोमाओ दाढियाओ] तत्र परुषे कर्कशस्पर्शे ऊर्द्धरोमिके,न तिर्यगवनते इत्यर्थः। दंष्ट्रिके वस्तौष्ठरोमाणि, ओष्ठौ दशनच्छदौ उष्ट्रस्येव लम्बौ प्रलम्बमानौ। पाठान्तरेण–[उट्ठा से घोडगस्स जहा दो वि लंबमाणा]तथा फाला लोहमयकुशास्तत्सदृशाः, दीर्घत्वात् । [से] तस्य, दन्ता दशनाः जिह्वा, यथा सूर्पकर्तरमेव नान्यथाकारो विकृतेत्यादि तदेव। पाठान्तरे–"हिंगुलुयधाउकंदरविलं व तस्स वयणं" इति दृश्यते । तत्र हिङ्गुलुको वर्णद्रव्यं,तद्रूपो धातुर्यत्र तत्तथाविधं यत्कन्दरविलं गुहालक्षणं रन्ध्रं तदिव तस्य वदनम्। [हलकुद्दाल त्ति] हलस्योपरितनो भागः तत्संस्थिते तदाकारे अतिवक्रे दीर्घे [से] तस्य [हणुय त्ति] दंष्ट्राविशेषे [गल्लकडिल्लं च तस्स त्ति] गल्ल एव कपोल एव,कडिल्लं मण्डकादिपचनभाजनं गल्लकडिल्लम्। चः समुच्चये। तस्य पिशाचरूपस्य [खड्डं ति] गर्तरन्ध्राकारं निम्नमध्यभागमित्यर्थः । [फुट्टं ति] विदीर्णमनेनैव साधर्म्येण कडिल्लमित्युपमानं कृतं, 'कविलं ति' वर्णतः 'फरुसं ति' स्पर्शतः 'महल्लं ति' महत्, तथा मृदङ्गाकारेण मर्दलाकृत्योपमा यस्य स मृदङ्गाकारोपमः [से] तस्य, स्कन्धोऽसदेशः [पुरवरे त्ति] पुरवरकपाटोपमं [से] तस्य,वक्ष उरःस्थलं, विस्तीर्णत्वादिति। तथा कोष्ठिका लोहादिधातुधमनार्थं मृत्तिकामयी कुशूलिका, तस्या यत् संस्थानं तेन संस्थितौ तस्य द्वावपि बाहू भुजौ, स्थूलावित्यर्थः । तथा (निसापाहाणे त्ति) मुद्गादिदलनशिला, तत्संस्थितौ पृथुलत्वस्थूलत्वाभ्यां द्वावपि अग्रहस्तौ भुजयोर-

प्रभृतौ, करावित्यर्थः। तथा (निसाझोढो त्ति) शिलापुत्रकः तत्संस्थानसंस्थिता हस्तयोरङ्गुल्यः, स्थूलत्वदीर्घत्वाभ्याम । तथा [सिप्पिपुडं त्ति] शुक्तिसंपुटस्यैकं दलं, तत्संस्थिताः [तस्स नक्ख त्ति] नखा हस्ताङ्गुलिसम्बन्धिनः। वाचनान्तरे तु इदमपरमधीयते-[अडयालगसंठिओ उरो तस्स रोमविलो त्ति] अत्र 'अमयाल त्ति' अट्टालकः प्राकारावयवः संभाव्यते, तत्साधर्म्यं चोरसः क्षामत्वादिनेति। तथा [ण्हावियपसेवउ त्ति] नापितनत्प्रसेवक इव नखशोधकक्षुरादिभाजनमिव उरसि वक्षसि [लंबंति त्ति] प्रलम्बमानौ तिष्ठतः द्वावपि तस्य स्तनकौ वक्षोजौ, तथा [पोट्टं] जठरम अयःकोष्ठकवल्लोहकुशूलवत वृत्तं वर्तुलं, तथा पानं धान्यरससंस्कृतं जलं,येन कुविन्दाश्चीवराणि पाययन्ति, तस्य कलन्दं कुण्डं पानकलन्दं तत्सदृशी गम्भीरतया [से] तस्य नाभिर्जठरस्य मध्यावयवः। वाचनान्तरेऽधीतम-[भग्गकमोविगयवं कपिट्ठीअ सरिसा दो वि तस्स फिसआ] तत्र भग्नकटिर्विकृतवक्रपृष्णिः फिसको पुतौ। तथा-सिक्कक दध्यादिभाजनाधारकं दवरकमयमाकाशेऽवलम्बनं लोके प्रसिद्धं, तत्संस्थानसंस्थितं, [से] तस्य नेत्रं मिथिदाकाकर्षणरज्जुः, तद्वद्दीर्घतया तन्नेत्रं शेफ उच्यते। तथा [किण्णपुडसंठाणसंठिए त्ति] सुरागोणकरूपतएमुत्राकिण्वकृतगोणीपुटद्वयसंस्थानसंस्थिताविति संभाव्यते, द्वावपि तस्य वृषणौ पोत्रकौ। तथा [जमलकोट्ठिय त्ति] समतया व्यवस्थापितकुशूलिकाद्वयसंस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्य ऊरू जङ्घे। तथा [अज्जुणगुच्छं व त्ति] अर्जुनस्तृणविशेषः, तस्य गुच्छं स्तबकस्तद्वत्तस्य जानुनी अनन्तरोक्तोपमानसाधर्म्यं व्यनक्ति। कुटिले अतिवक्रे विकृतबीभत्सदर्शने तथा, जङ्घे जान्वोरधोवर्तिन्यौ [करकडीओ त्ति] कठिने, निर्मांसे इत्यर्थः। तथा रोमभिरुपचिते। तथा-अधरी पेषणशिला,तत्संस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्य पादौ। तथा-अधरीलोष्टः शिलापुत्रकस्तत्संस्थानसंस्थिताः पादयोरङ्गुल्यः, शुक्तिपुटसंस्थिताः [से] तस्य पादाङ्गुलिनखाः। आकेशाग्रान्नखाग्रं यावद्वर्णितं पिशाचरूपम्। अधुना सामान्येन तद्वर्णनायाह-[लडहमडहजाणुए त्ति] इह प्रस्तावे लडहशब्देन गन्त्र्याः पश्चाद्भागवर्ति तदुत्तराङ्गरक्षणार्थं यत्काष्ठं तदुच्यते, तच्च गन्त्र्याः श्लथबन्धनं भवति। एवं च श्लथबन्धनत्वाल्लडह इव लडहे मडहे च स्थूलत्वाल्पदीर्घत्वाज्ज्यां जानुनी यस्य तत्तथा। विकृते विकारवत्यौ भुग्ने विसंस्थुलतया भुग्ने वक्रे भ्रुवौ यस्य पिशाचरूपस्य तत्तथा। इहान्यदपि विशेषणचतुष्टयं वाचनान्तरे तु अधीयते—[मसिमूसगमहिसकालए] मषीमूषिकामहिषवत्कालकं [भरियमेहवन्ने] जलभृतमेघवर्णं, कालमेवेत्यर्थः [लंबोट्ठे निग्गयदंते] प्रतीतं, तत्तथा अवदारितं विवृतीकृतं वदनलक्षणं विवरं येन तत्तथा। तथा-निर्लालिता निष्कासिता अग्रजिह्वा जिह्वाया अग्रभागो येन तत्तथा। ततः कर्मधारयः। तथा शरटैः कृकलासैः कृतमालिकमुण्डे यकालि वा येन तत्तथा। उन्दुरमालया मूषकस्रजा परिणद्धं परिगतं सुकृतं सुष्ठु रचितं चिह्नं स्वकीयलाञ्छनं येन तत्तथा। तथा नकुलाभ्यां बभ्रुभ्यां कृते कर्णपूरे आभरणविशेषौ येन तत्तथा। सर्पाभ्यां कृतं वैकक्ष्यमुत्तरासङ्गो येन तथा। पाठान्तरे-[मूसगकयभुंभुलए विच्छुयकच्छे सप्पकयजण्णोवइए] तत्र 'भुंभुलए त्ति' शेखरः [विच्छुय त्ति] वृश्चिकाः यज्ञोपवीतं ब्राह्मणकण्ठसूत्रम । तथा [अभिन्नमुहनयणनखवरवग्घचित्तकित्तिनियंसणे] अभिन्नाः अविशीर्णा मुखनयननखा यस्यां सा तथा,सा च सैरवव्याघ्रस्य चित्रा कर्बुरा,कृत्तिश्चर्मेति कर्मधारयः। सा निवसनं परिधानं यस्य तत्तथा। [सरसरुहिरमंसावलित्तगत्ते] सरसाभ्यां रुधिरमांसाभ्यामवलिप्तं गात्रं यस्य तत्तथा। आस्फोटयन् करास्फोटं कुर्वन्नभिगर्जन् घनध्वनिं मुञ्चन् भीमो मुक्तः कृतोऽट्टट्टहासो हासविशेषो येन तत्तथा। नानाविधपञ्चवर्णै रोमभिरुपचितमेकं महन्नीलोत्पलगवलगुलिकाऽतसीकुसुमप्रकाशमसिं क्षुरधारं गृहीत्वा यत्र पौषधशालायां यत्र कामदेवश्रमणोपासकस्तत्रोपागच्छति स्मेति। इह गवलं महिषशृङ्गं,गुलिका नीली, अतसी धान्यविशेषः, असि खड्गं, क्षुरस्येव धारा यस्यातिच्छेदकत्वादसौ क्षुरधारः। [आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसीयमाणे त्ति] एकार्थाः शब्दाः कोपातिशयप्रदर्शनार्थाः।

हंभो ! कामदेवा समणोवासया अप्पत्थियपत्थिया दुरंतपंतलक्खणा हीणपुण्णचाउद्दसिया ! सिरिहिरिधितिकित्ति ४ जाव परिवज्जिया धम्मकामया पुण्णसग्गमोक्खधम्मकंखिया ४ धम्मपिवासिया ४ णो खलु कप्पइ तव देवा० सीलाइं वयाइं वेरमणाइं पच्चक्खाणाइं पोसहोववासाइं चालित्तए वा खोभेत्तए वा खंडित्तए वा भंजित्तए वा उज्झित्तए वा परिचइत्तए वा तं जइ णं तुमं अज्ज सीलव्वयाइं० जाव पोसहोववासाइं ण छंडेसि ण भंजेसि तो अहं अज्ज इमेणं णीलुप्पलेण० जाव असिणा खंडाखंडं करेमि जहा णं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ।

(अप्पत्थियपत्थिया) अप्रार्थितप्रार्थिकः, दुरन्तानि दुष्पर्यवसानानि, प्रान्तान्यसुन्दराणि लक्षणानि यस्य स तथा। (हीणपुण्णचाउद्दसि त्ति) हीना असंपूर्णा पुण्या चतुर्दशी तिथिर्जन्मकाले यस्य स हीनपुण्यचतुर्दशीकः, तदामन्त्रणम। श्रीह्रीधृतिकीर्तिवर्जितेति व्यक्तम्। तथा धर्मं च श्रुतचारित्रलक्षणं कामयतेऽभिलषति यः स धर्मकामः, तस्यामन्त्रणं हे धर्मकाम !, या एवं सर्वपदानि नवरं पुण्यशुभप्रकृतिरूपं कर्म स्वर्गः, तत्फलं मोक्षो धर्मफलं काङ्क्षा। अभिलाषातिरेकाः,पिपासा काङ्क्षातिरेकाः, एवमेतैः पदैरुत्तरोत्तराभिलाषप्रकर्ष एवोक्तः। (णो खलु इत्यादि) न खलु नैव कल्पन्ते शीलादीनि चलयितुमिति, मोग्यितुं देशतो भङ्क्तुं सर्वतः केवलं यदि त्वं तान्यद्य न चलयसि ततोऽहं त्वां खण्डाखण्डं करोमीति वाक्यार्थः। तत्र शीलान्यणुव्रतानि, व्रतानि दिग्व्रतादीनि विरमणानि,रागादिविरतयः प्रत्याख्यानानि, नमस्कारसहितादीनि पौषधोपवासानाहारादिभेदेन चतुर्विधान्। (चालित्तए) भङ्गकान्तरकरणतः क्षोभयितुमेतत्पालनविषयक्षोभं कर्तुं, खण्डयितुं देशतो भङ्क्तुं, सर्वतः उज्झितुं सर्वस्य देशविरतेस्त्यागतः परित्यक्तुं,सम्यक् तस्यापि त्यागादिति। (अट्टदुहट्टवसट्टे ति) आर्त्तस्य ध्यानविशेषस्य यो (दुहट्ट त्ति) दुर्घटो दुस्थगो दुर्निरोधो वशः पारतन्त्र्यं, तेन ऋतः पीडित आर्त्तदुर्घटवशार्त्तः। अथवा-आर्त्तेन दुःखार्त्त आर्तदुःखार्तः,तथा-वशेन च विषयपारतन्त्र्येण ऋतः परिगतो वशार्त्तः। ततः कर्मधारय इति॥

तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं पिसायरूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए अतत्थे अणुव्विग्गे अक्खुभिए अचलिए असंभंते तुसिणीए चिट्ठइ, धम्म–

ज्झाणोवगए विहरइ, तएणं से दिव्वे पिसायरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं अतत्थं जाव धम्मज्झाणोवगयं विहरमाणं पासइ, पासइत्ता दोच्चं पि तच्चं पि कामदेवं एवं वयासी–हं भो कामदेवा समणोवासया अपत्थियपत्थिया ! जइ णं तुमं अज्ज जाव ववरोविज्जसि तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं दोच्चं पि तच्चं पि० एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव धम्मज्झाणोवगए विहरइ, तए णं से देवे पिसायरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता आसुरत्ते ४ तिवलियं भिउडिं णिडाले साहट्टु कामदेवं समणोवासयं नीलुप्पल० जाव असिणा खंडाखंडिं करेइ। तए णं से कामदेवे समणोवासए तं उज्जलं० जाव दुरहियासं वेयणं सम्मं सहइ जाव अहियासेइ। तए णं से दिव्वे पिसायरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता जाव नो संचाएइ कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विपरिणामित्तए वा ताहे संते परितंते सणियं २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कइत्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता दिव्वं पिसायरूवं विप्पजहइ, दिव्वं एगं महं हत्थिरूवं विउव्वइ, सत्तंगपइट्ठियं सम्मं संठियं सुजायं पुरओ उदग्गं पिट्ठतो वराहं अयाकुच्छिं पलंबकुच्छिं पलंबलंबोदराधरकरं अब्भुग्गयमउलमल्लियाविमलधवलदंतं कंचणकोसीपविट्ठदंतं आणामियचावललियसंवेल्लियअग्गसोंडं कुम्मपडिपुन्नचलणं वीसइनखं अल्लीणपमाणजुत्तपुच्छं मत्तमेहमिव गुलुगुलेंतं मणपवणजइणवेगं दिव्वं हत्थिरूवं विउव्वइ, जेणेव पोसहसाला जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कामदेवं एवं वयासी–हं भो कामदेवा ! तहेव भणइ० जाव ण भंजेसि तो ते अज्ज अहं सोंडाए गेण्हामि, गेण्हामित्ता पोसहसालाओ णीणेमि, णीणेमित्ता उड्ढं वेहासं उव्विहामि, उव्विहामित्ता तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं पडिच्छामि अहे धरणितलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेमि जया णं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि ॥

अभीते इत्यादीन्येकार्थान्यतिभयप्रकर्षप्रदर्शनार्थानि। [तिवलियं ति] त्रिवलिकां भ्रुकुटीं दृष्टिरचनाविशेषं ललाटे संहृत्य विधायेति चालयितुमन्यथाकर्तुम्। चलनं च द्विधा–संशयद्वारेण, विपर्ययद्वारेण च। तत्र क्षोभयितुमिति संशयतो,विपरिणामयितुमिति च,विपर्ययतः भ्रान्तादयः समानार्थाः। [सत्तंगपइट्ठियं ति] सप्ताङ्गानि–चत्वारः पादाः, करः, पुच्छं, शिश्नं चेति एतानि प्रतिष्ठितानि भूमौ लग्नानि यस्य तत्तथा। समं मांसोपचयात् संस्थितं गजलक्षणोपेतं सकलाङ्गोपाङ्गत्वात् सुजातमिव सुजातं पूर्वदिनजातं पुरतोऽग्रत उदग्रमुच्चम्, समुच्छ्रितशिर इत्यर्थः। पृष्ठतः पृष्ठदेशे वराहः शूकरः स इव वराहः, प्राकृतत्वान्नपुंसकलिङ्गता। अजाया इव कुक्षी यस्य तदजाकुक्षि, प्रलम्बकुक्षी प्रलम्बत्वेन,प्रलम्बो दीर्घो लम्बोदरस्येव गणपतेरिवाधरोष्ठः करश्च हस्तो यस्य तत्प्रलम्बोदराधरकरम्। अभ्युद्गतमुकुला आयातकुसुमला या मल्लिका विचकिलः तस्या यो मुकुलस्तद्वत् विमलौ धवलौ दन्तौ यस्य। अथ वा प्राकृतत्वान्मल्लिकामुकुलवदभ्युद्गतावुन्नतौ विमलधवलदन्तौ यस्य तदभ्युद्गतमुकुलमल्लिकाविमलधवलदन्तं, काञ्चनकोशीप्रविष्टदन्तं,कोशीति प्रतिमा,आनामितमीषन्नामितं यच्चापं धनुस्तद्वत् ललिता च विलासवती संवेल्लिता च वेल्लन्ती संकोचिता वा अग्रशुण्डा शुण्डाग्रं यस्य तत्तथा। कूर्मवत् कूर्माकाराः प्रतिपूर्णाश्चरणा यस्य तत्तथा। विंशतिनखमालीनप्रमाणयुक्तपुच्छमिति कण्ठ्यम्।

तं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं हत्थिरूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ। तए णं से दिव्वे हत्थिरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता दोच्चं पि तच्चं पि कामदेवं एवं वयासी–हं भो कामदेवा ! णो विहरइ। तं सि दिव्वे हत्थिरूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं विहरमाणं पासइ, पासइत्ता आसुरत्ते ४ कामदेवं समणोवासयं सोंडाए गिण्हेइ, गिण्हेइत्ता उड्ढं विहासं उव्विहइ,उव्विहइत्ता तिक्खेहिं दंतमुसलेहिं पडिच्छइ, पडिच्छइत्ता अहे धरणितलंसि तिक्खुत्तो पाएसु लोलेइ। तए णं से कामदेवे तं उज्जलं जाव अहियासेइ तए णं से दिव्वे हत्थिरूवे कामदेवं जाव नो संचाएइ जाव सणियं २ पच्चोसक्कइ, पच्चोसक्कइत्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता दिव्वं हत्थिरूवं विप्पजहइ,विप्पजहइत्ता एगं महं दिव्वं सप्परूवं विउव्वइ, उग्गविसं दिट्ठीविसं महाकायं मसीमूसाकालगं नयणविसरोसपुण्णं अंजणपुंजनिगरप्पगासं रत्तच्छं लोहियलोयणं जमलजुयलचंचलजीहं धरणियलवेणिभूयं उक्कडफुडकुडिलजडिलकक्कसवियडफुडाडोवकरणदच्छं लोहागरधम्ममाणधमधमेंतघोसं अणागलियतिव्वपचंडरोसं सप्परूवं विउव्वित्ता जेणेव पोसहसाला जेणेव कामदेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी–हं भो कामदेवा ! जाव ण भंजेसि तओ अज्जेव अहं सरसरस्स कायं दुरुहामि, दुरुहामित्ता पच्छिमेणं भाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेमि, वेढेमित्ता तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरसि चेव निकुट्टेमि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्टअकाले चेव जीवियाओ ववरोविज्जसि। तए णं से कामदेवे समणोवासए तेणं दिव्वेणं सप्परूवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए जाव विहरइ। सो वि दोच्चं पि तच्चं पि भणइ, कामदेवो जाव विहरइ। तए णं से दिव्वे सप्परूवे कामदेवं समणोवासयं अभीयं जाव

पासइ, पासइत्ता आसुरत्ते कामदेवस्स सरस्स कायं दुरूहइ, दुरूहइत्ता पच्छिमभाएणं तिक्खुत्तो गीवं वेढेइ, वेढेइत्ता तिक्खाहिं विसपरिगयाहिं दाढाहिं उरसि चेव निकुट्टेइ । तए णं कामदेवे तं उज्जलो जाव अहियासेइ । तए णं से दिव्वे सप्परूवे कामदेवं अभीयं पासइ, पासइत्ता जाहे नो संचाएति कामदेवं समणोवासयं निग्गंथाओ पवयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विप्परिणामित्तए वा ताहे संते ३ सणियं २ पच्चोसक्कइत्ता पोसहसालाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता दिव्वं सप्परूवं विप्पजहइ, विप्पजहइत्ता एगं महं दिव्वं देवरूवं विउव्वइ । हारविराइयवत्थं० जाव दसदिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं पासइ, दिव्वं देवरूवं विउव्वइ, विउव्वइत्ता कामदेवस्स पोसहसालं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता अंतरिक्खपडिवन्ने सखिंखिणियाइं पंचवन्नाइं वत्थाइं परिहिए कामदेवं समणोवासयं एवं वयासी-हं भो कामदेवा समणोवासया ! धन्नोसि णं तुमं देवा० संपुन्ने कयत्थे कयलक्खणे सुलद्धेणं तव दे० माणुस्सजम्मजीवियफले जस्स णं दे० तव निग्गंथाओ पावयणाओ मेरु व्व पडिवत्ती लद्धा पत्ता अभिसमन्नागया ॥

' उग्गविसं ' इत्यादीनि सर्परूपविशेषणानि क्वचिद्यावच्छब्दोपात्तानि क्वचित्साक्षादुक्तानि दृश्यन्ते । तत्रोग्रविषं दुरधिसह्यं विषं, चण्डविषमल्पकालेनैव दष्टशरीरव्यापकविषत्वाद्, घोरविषं मारकत्वाद्, महाकायं महाशरीरं, मषीमूषाकालकं, नयनविषेण दृष्टिविषेण रोषेण च पूर्णं नयनविषरोषपूर्णम । अञ्जनपुञ्जानां कज्जलोत्कराणां यो निकरः समूहस्तद्वत्प्रकाशो यस्य तदञ्जनपुञ्जनिकरप्रकाशं, रक्ताक्षं लोहितलोचनं, यमलयोः समस्थयोर्युगलं द्वयं चञ्चलन्त्योरत्यर्थं चपलयोर्जिह्वयोर्यस्य तद् यमलयुगलचञ्चलजिह्वं, धरणीतलस्य वेणीव केशबन्धविशेष इव कृष्णत्वदीर्घत्वाभ्यामिति धरणीतलवेणिभूतम, उत्कटमनभिभवनीयत्वात्, स्फुटो व्यक्तो भासुरतया दृश्यत्वात् कुटिलो वक्रत्वात् जटिलः केशसटायोगात् कर्कशो निष्ठुरो नम्रताया अभावाद् विकटो विस्तीर्णो यः स्फुटाटोपः फणाडम्बरं तत्करणे दक्षः उत्कटस्फुटकुटिलजटिलकर्कशविकटस्फुटाटोपकरणदक्षम । तथा-[लोहागरधम्ममाणधमधमंतघोसं] लोहारकस्येव ध्मायमानस्य भस्त्रावातेनोद्दीप्यमानस्य धमधमायमानस्य धमधमेत्येवं शब्दायमानस्य घोषः शब्दो यस्य तत्तथा । इह च विशेषणस्य पूर्वनिपातः प्राकृतत्वादिति । [अणागलियतिव्वपचंडरोसं] अनाकलितोऽपरिमितोऽनर्गलितो वा निरोद्धुमशक्यस्तीव्रः प्रचण्डोऽतिप्रकृष्टो रोषो यस्य तत्तथा । [सरसरस्स त्ति] लौकिकानुकरणभाषा । [पच्छिमेणं भाएणं ति] पुच्छेनेत्यर्थः । [निकुट्टेमि त्ति] निकुट्टयामि प्रहणिम । [उज्जलं ति] उज्ज्वलां विपक्षलेशेनाप्यकलङ्किताम् विपुलां शरीरव्यापकत्वात् कर्कशां कर्कशद्रव्यमिवानिष्टां प्रगाढां प्रकर्षवतीं चण्डां रौद्रां [दुक्खं] दुःखरूपां, न सुखामित्यर्थः । किमुक्तं भवति?-[दुरहियासं ति] दुरधिसह्यामिति । "हारविराइयवत्थमित्यादौ" यावत्करणादिदं दृश्यम-"कडगतुडियथंभियभुयं अंगदकुंडलमट्ठगंडतलकन्नपीढधारिविचित्तहत्थाभरणं विचित्तमालामउलिकल्लाणगपवरवत्थपरिहियं कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरं भासुरबोंदीकपलंबवणमालाधरं दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पहाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए त्ति" कण्ठ्यम, नवरं कटकानि कङ्कणविशेषास्तुटितानि बाहुरक्षकास्ताभिरतिबहुत्वात् स्तम्भितौ स्तब्धीकृतौ भुजौ यस्य तत्तथा । अङ्गदे च केयूरे, कुण्डले च प्रतीतौ, घृष्टगण्डतले घृष्टगण्डोपकर्णपीठाभिधाने कर्णाभरणे च, धारयति यत्र तत्तथा । तत्र विचित्रमालाप्रधानो मौलिर्मुकुटं मस्तकं वा यस्य तत्तथा । कल्याणकमनुपहतं प्रवरं वस्त्रं परिहितं येन तत्तथा । कल्याणकानि प्रवराणि माल्यानि कुसुमानि अनुलेपनानि च धारयति यस्तत्तथा । ' भास्वरबोंदीकं ' दीप्तशरीरं, प्रलम्बा या वनमाला आभरणविशेषस्तां धारयति यस्तत्तथा । दिव्येन वर्णेन युक्तमिति गम्यते । एवं सर्वत्र, नवरम् ऋद्ध्या विमानवस्त्रभूषणादिकया, युक्त्या इष्टपरिवारादियोगेन, प्रभया प्रभावेन, छायया प्रतिबिम्बेनार्चिषा दीप्तिज्वालया, तेजसा कान्त्या, लेश्यया आत्मपरिणामेनोद्योतयत् प्रकाशयत् शोभयन्निति प्रासादीयं चित्ताह्लादकं दर्शनीयं यत्पश्यच्चक्षुर्न श्राम्यति, अभिरूपं मनोज्ञं, प्रतिरूपं द्रष्टारं २ प्रति रूपं यस्य विकुर्व्य वैक्रियं कृत्वा अन्तरिक्षं प्रतिपन्नः आकाशे स्थितः सकिङ्किणीकानि क्षुद्रघण्टिकोपेतानि ॥

एवं खलु देवा० सक्के देविंदे देवराया सयक्कऊ सहस्सक्खे जाव सक्कंसि सीहासणंसि चउरासीतिए सामाणियसाहस्सीणं देवा जाव अन्नेसिं च बहूणं देवाण य देवीण य मज्झगए एवमाइक्खइ ४ ; एवं खलु देवा० जंबूद्दीवे २ भारहे वासे चंपाए णयरीए कामदेवे समणोवासए पोसहसालाए पोसहिए बंभचारी जाव दब्भसंथारोवगए समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं धम्मपण्णत्तिं उवसं० विहरइ । नो खलु से सक्का केणइ देवेण वा दाणवेण वा गंधव्वेण वा जाव निग्गंथाओ पावयणाओ चालित्तए वा खोभित्तए वा विप्परिणामित्तए वा तए णं अहं सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो एयमट्ठं असद्दहमाणे ३ इहं हव्वमागओ तं अहो देवा० इड्ढी ६ लद्धा ३ तं दिट्ठा णं देवा इड्ढी जाव अभिसमन्नागया तं खामेमि णं देवाणु० खमंतु मं रुहंति णं दे० णाइभुज्जो करणयाए त्ति कट्टु पायवडिए पंजलिउडे एयमट्ठं भुज्जो २ खामेइ, खामेइत्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए, तए णं से कामदेवे समणोवासए णिरुवसग्गमिति कट्टु पडिमं पारइ ॥

' सक्के देविंदे इत्यादौ ' यावत्करणादिदं दृश्यम—" वज्जपाणी पुरन्दरे सयक्कऊ सहस्सक्खे मघवं पागसासणे दाहिणड्ढलोगाहिवई बत्तीसविमाणसयसहस्साहिवई एरावणवाहणे सुरिंदे अयरंबरवत्थधरे आलइयमालमउडे नवहेमचा-

रुचिरचञ्चलकुंडलविलिहिज्जमाणगंडे भासुरबोंदीपलंबवणमालधरं सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सभाए सोहंमाए त्ति" । शक्रादिशब्दानां च व्युत्पत्त्यर्थभेदेन भिन्नार्थता द्रष्टव्या । तथाहि-शक्तियोगाच्छक्रः, देवानां परमेश्वरत्वाद् देवेन्द्रः, देवानां मध्ये राजमानत्वाच्छोभमानत्वाद्देवराजः, वज्रपाणिः कुलिशकरः, पुरोऽसुरादिनगरविशेषस्तस्य दारणात् पुरन्दरः, तथा शतक्रतुशब्देनेह प्रतिमा विवक्षिताः, ततः कार्तिकश्रेष्ठित्वे शतं क्रतूनामभिग्रहविशेषाणां यस्यासौ शतक्रतुरिति चूर्णिकारव्याख्या । तथा-पञ्चानां मन्त्रिशतानां सहस्रमक्ष्णां भवतीति तद्योगादसौ सहस्राक्षः, तथा-मघशब्देनेह मेघा विवक्षितास्ते यस्य वशवर्तिनः सन्ति स मघवान्, तथा-पाको नाम बलवांस्तस्य रिपुस्तच्छासनात्पाकशासनः, लोकस्यार्द्धमर्द्धलोको दक्षिणो योऽर्द्धलोकस्तस्य योऽधिपतिः स तथा । 'एरावणो' ऐरावणो हस्ती स वाहनं यस्य स तथा, सुष्ठु राजन्ते एते सुरास्तेषामिन्द्रः प्रभुः सुरेन्द्रः, सुरीणां देवीनां वा इन्द्रः सुरेन्द्रः, पूर्वत्र देवेन्द्रत्वेन प्रतिपादित्वात् । अन्यथा वा पुनरुक्तपरिहारः कार्यः । अरजांसि निर्मलानि अम्बरमाकाशं तद्वदच्छत्वेन यानि तान्यम्बराणि तानि वस्त्राणि धारयति यः स तथा, आलिङ्गितमालमारोपितस्रग् मुकुटो यस्य स तथा, नवे इव नवहेम्नः सुवर्णस्य सम्बन्धिनी चारुणी शोभने चित्रे चित्रवती चञ्चले ये कुण्डले ताभ्यां विलिख्यमानौ गण्डौ यस्य स तथा । शेषं प्रागिवेति । (सामाणियसाहस्सीणं) इह यावत्करणादिदं दृश्यम्— "तायत्तीसाए तायत्तीसगाणं चतुण्हं लोगपालाणं अट्ठण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणियाणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं चउण्हं चउरासीणं आयरक्खदेवसाहस्सीणं" । तत्र त्रयस्त्रिंशाः पूज्याः महत्तरकल्पा लोकपालाः पूर्वादिदिगधिपतयः सोमयमवरुणवैश्रमणाख्याः, अग्रमहिष्यः प्रधानभार्याः, तत्परिवारः प्रत्येकं पञ्च सहस्राणि, सर्वमीलने चत्वारिंशत्सहस्राणि, तिस्रः परिषदोऽभ्यन्तरा मध्यमा बाह्या च सप्तानीकानि पदातिगजाश्वरथवृषभभेदात् पञ्च सांग्रामिकाणि गन्धर्वानीकं नाट्यानीकं चेति सप्तानीकाधिपतयश्च सप्तैव प्रधानपतिः प्रधानो गजः, एवमन्येऽपि आत्मरक्षार्थमङ्गरक्षकास्तेषां चतस्रः सहस्राणां चतुरशीत्य आख्याति सामान्यतो भाषते विशेषतः एतदेव प्रज्ञापयति प्ररूपयतीति पदद्वयेन क्रमेणोच्यत इति । देवेण वेत्यादौ यावत्करणादेवं दृष्टव्यम्— "जक्खेण वा रक्खसेण वा किन्नरेण वा किंपुरिसेण वा महोरगेण वा गन्धव्वेण वा" इति ' इड्ढीए' इत्यादि यावत्करणादिदं दृश्यम्-"जुई जसो बलं वीरियं पुरिसक्कारपरक्कमे त्ति नायं भुज्जो करणया तेनैव, ' आयं ति ' निपातो वाक्यालङ्कारे, अवधारणे वा । भूयः करणतायां पुनराचरणे, न प्रवर्त्तयिष्यते इति गम्यते ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए समणे जाव विहरइ, तए णं से कामदेवे समणोवासए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं खलु समणे जाव विहरइ । तं सेयं खलु ममं समणं भगवं महावीरं वंदित्ता णमंसित्ता तओ पडिणियत्तस्स पोसहं पारित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता सुद्धप्पा वेसाइं वत्थाइं अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे मणुस्स वग्गुरापरिक्खित्ते सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमइत्ता चंपं नगरिं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए जहा संखे जाव पज्जुवासइ, तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स तीसे य जाव धम्मकहा सम्मत्ता कामदेवेइ समणे भगवं महावीरे कामदेवं एवं वयासी-से णूणं कामदेवा ! तुमं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भूए तए णं से देवे एगं महं पिसायरूवं विउव्वइ, विउव्वइत्ता आसुरत्ते ४ एगं महं नीलुप्पलअसिं गहाय तुमं एवं वयासी-हं भो कामदेवा ! जाव जीवाओ ववरोविज्जामि तं तुमं तेणं देवेणं एवंवुत्ते समाणे अभीए जाव विहरसि, एवं वण्णगरहिया तिन्नि वि उवसग्गा तहेव पडिउच्चारेयव्वा जाव देवो पडिगया से णूणं कामदेवा अट्ठे समट्ठे हंता ! अत्थि ।

[जहा संखे त्ति] यथा शङ्खः श्रावको भगवत्यामभिहितस्तथाऽयमपि वक्तव्यः, अयमभिप्रायः-अन्ये पञ्चविधमभिगमं सचित्तद्रव्यव्युत्सर्गादिकं समवसरणप्रवेशे विदधति, शङ्खः पुनः पौषधिकत्वेन सचेतनादिद्रव्याणामभावात्तन्न कृतवानयमपि पौषधिक इति शङ्खेनोपमितः । यावत्करणादिदं द्रष्टव्यम्-"जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदइ णमंसइ, णमंसइत्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणे अभिमुहे पंजलिउडे पज्जुवासइ त्ति, तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य महइ महालीयाए परिसाए" । इत आरभ्य औपपातिकाधीतं सूत्रं तावद्वक्तव्यं यावत् धर्मकथा समाप्ता परिषत् प्रतिगता । तच्चैवं सकलशेषमुपदर्श्यते-"तए णं समणे भगवं महावीरे कामदेवस्स समणोवासयस्स तीसे य महइ महालीयाए" तस्याश्च(महान्ती) महत्या इत्यर्थ इति । (परिसाए जइए परिसाए) तत्र पश्यन्तीति ऋषयोऽवध्यादिज्ञानवन्तः, मुनयो वाचंयमाः, यतयो धर्मक्रियासु प्रयतमानाः, "अणेगसयाते अणेगसयवंदपरिवारातो" अनेकशतप्रमाणानि यानि वृन्दानि परिवारो यस्यास्तथा, तस्या धर्मं परिकथयतीति सम्बन्धः । किंभूतो भगवन् ?, [ओहबले] ओघबले, यावत्करणादव्यवच्छिन्नबलः अतिबलोऽतिक्रान्ताशेषपुरुषामरतिर्यग्बलः, महाबलोऽप्रमितबलः । एतदेव प्रपञ्च्यते-"अपरिमियबलवीरियं" अपरिमितानि यानि बलादीनि तैर्युक्तो यः स तथा । बलं शारीरं, प्राणः वीर्यं जीवप्रभवः । "तेयमाहप्पकांतिजुत्ते" तेजो दीप्तिर्माहात्म्यं महानुभावता, कान्तिः काम्यता, " सारयनवथणियमहुरनिग्घोसदुंदुभिसरे " शरत्कालप्रभवाभिनवमेघशब्दवत् मधुरो निर्घोषो यस्य दुन्दुभेरिव स्वरो यस्य स तथा । (उरोवित्थडाए) गलविवरस्य वर्तुलत्वात् । (सिरे संकिन्नाए) मूर्द्धनि संकीर्णतायामस्य मूर्द्धास्खलितत्वात्, सरस्वत्येति सम्बन्धः । "कंठपीवट्टीयाए अगरज्झाते" व्यक्तवर्णघोसेत्यर्थः । (अम्ममणाए) अनवरवञ्चमानयेत्यर्थः । "सव्वक्खरसन्निवायाए" सर्वाक्षरसंयोगवत्या पुनरुक्त्या ते परिपूर्णमधुरया (सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए भणिया जोयणनीहारिणा सरेणं) योजनातिक्रामिणा शब्देन " अद्धमागहीए भासाए भासइ अरहा धम्मं परिकहेइ " अर्द्धमागधी-

भाषा यस्याम्, "रसोर्लशौ"॥८।४।२८८॥ मागध्यामित्यादिकं मागधीभाषालक्षणं परिपूर्णं नास्ति जायते सामान्येन प्रणामिति। किंविधो भगवान्?, अर्हन् पूजितो पूजोचितः अरहस्यो वा सर्वज्ञत्वात्, कं?, धर्मं श्रद्धेयज्ञेयानुष्ठेयवस्तुश्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपं, तथा-परिकथयति अशेषविशेषकथनेनेति। तथा "तेसिं सव्वेसिं आयरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ" न केवलं ऋषिपर्षदादीनां ये वन्दनाद्यर्थमागतास्तेषां च सर्वेषामार्याणामार्यदेशोत्पन्नानामनार्याणां म्लेच्छानामग्लान्या अखेदेनेति। "सा वि य णं अद्धमागही भासा, तेसिं आयरियमणारियाणं अप्पणो भासाए परिणामेणं परिणमइ" स्वभाषापरिणामेनेत्यर्थः। धर्मकथामेव दर्शयति-"अत्थि लोए अत्थि अलोए एवं जीवा अजीवा बंधे मोक्खे पुण्णे पावे आसवे संवरे निज्जरे" एतेषामस्तित्वदर्शनेन शून्यज्ञाननिरात्माद्वैतैकान्तक्षणिकनित्यवादिनास्तिकादिकुदर्शननिराकरणात्परिणामवस्तुप्रतिपादनेन सकलैहिकामुष्मिकक्रियाणामनवद्यत्वमावेदितम्। तथा "अत्थि अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा नेरइया तिरिक्खजोणिया तिरिक्खजोणिणीओ माया पिया रिसओ देवा देवलोया सिद्धी सिद्धा परिनिव्वाणे परिनिव्वुया" सिद्धा कृतकृत्यता, परिनिर्वाणं सकलकर्मकृतविकारविरहादतिस्वास्थ्यम्, एवं सिद्धपरिनिर्वृतानामपि विशेषोऽवसेयः। तथा-"अत्थि पाणाइवाए मुसावाए अदिन्नादाणे मेहुणे परिग्गहे अत्थि कोहे माणे मायालोभे पिज्जे दोसे कलहे अब्भक्खाणे अरई रई पेसुन्ने परपरिवाए मायामोसे मिच्छादंसणसल्ले अत्थिपाणाइवाइवेरमणे कोहविवेगे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे किं बहुणा सव्वं अत्थि भावं अत्थि त्ति वयइ सव्वं नत्थि भावं नत्थि त्ति वयइ सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति" सुचरिता क्रिया दानादिकाः सुचीर्णफलाः, पुण्यफला भवन्तीत्यर्थः। "दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफलाजनन्ति फुसइ पुण्ण पावे" बध्नात्यात्मा शुभकर्मणी, न पुनः साङ्ख्यमते नैव न बध्यते "पच्चायंति" जीवः प्रत्यायन्ते, उत्पद्यन्ते इत्यर्थः "सफले कल्लाणे पावए" इष्टानिष्टफलं, शुभाशुभं कर्मेत्यर्थः। "धम्ममाइक्खइ" अनन्तरोक्तं ज्ञेयश्रद्धेयज्ञानरूपमाचष्टे इत्यर्थः। तथा-"इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे" इदमेव प्रत्यक्षं नैर्ग्रन्थं प्रवचनं जिनशासनं सत्यं सद्भूतं, कषायादिशुद्धत्वात् सुवर्णवत्। "अणुत्तरे" अविद्यमानं प्रधानतरं "केवलिए" अद्वितीयं संशुद्धं निर्दोषं "पडिपुण्णे" सद्गुणभृतं "नेयाउए" नैयायिकं न्यायनिष्ठं "सल्लगत्तणे" मायादिशल्यकर्त्तनं "सिद्धिमग्गे" हितप्राप्तिपथः "मुत्तिमग्गे" अहितविच्युतरूपो यः "निव्वाणमग्गे" सिद्धिक्षेत्रावाप्तिपथः "परिनिव्वाणमग्गे" कर्माभावप्रभवसुखोपायः, "सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे" सकलदुःखक्षयोपायः, इदमेव प्रवचनं फलतः प्ररूपयति—"इत्थं ठिया जीवा सिज्झंति" निष्ठितार्थतया "बुज्झंति" केवलतया 'मुच्चंति' कर्मभिः "परिनिव्वायंते" स्वस्थीभवन्ति। किमुक्तं भवतीति?, "सव्वदुक्खाणमंतं करेइ एगच्चा पुण एगजयंतारो" एकार्च्चा अद्वितीयपूज्याः संयमानुष्ठानं वा एका असदृशी अर्चा शरीरं येषां ते एकार्चाः ते पुनरेकैकेन वा येन सिद्ध्यन्ति ते भक्तारः निर्ग्रन्थप्रवचनसेवका भदन्ता वा भट्टारका भयत्रातारो वा, "पुव्वकम्मावसेसेणं अन्नतरेसु देवलोगेसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महड्ढिएसु महज्जुइएसु महाजसेसु महाबलेसु महाणुभावेसु महासुक्खेसु दूरंगएसु चिरट्ठिएसु तेणं तत्थ देवा भवंति महड्ढिया जाव चिरट्ठिइया हारविराइयवत्थकडगतुडियथंभियभुया अंगदकुंडलमट्ठगंडतलकन्नपीठधारी विचित्तहत्थाभरणा विचित्तमाला मउलिमउडवि" श्रीणि विचित्राणि वा 'मउलि त्ति' मुकुटविशेषः "कल्लाणपवरवत्थपरिहिया कल्लाणगपवरवत्थाणुलेवणधरा भासरबोंदीपलंबवणमालधरा दिव्वेणं वन्नेणं दिव्वेणं गंधेणं दिव्वेणं संघयणेणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्ढीए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चीए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाए उज्जोएमाणा पभासेमाणा गइकल्लाणा ठिइकल्लाणा आगमेसि भद्दा पासाईया दरसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा तमाइक्खत्ति" यदिह धर्मफलं तदाख्याति, तथा "एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा नेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति" एवमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणेति "णेरइयत्ताए कम्मं पकरेत्ता नेरइएसु उववज्जंति। तं जहा-महारंभयाए महापरिग्गहाए पंचेंदियवहेणं कुणिमाहारेणं कुणमंति मांसं एवं च एएणं अभिलावेणं तिरिक्खजोणिए सुमाइल्लयाए अलियवयणेणं उक्कंचणयाए वंचणयाए" तत्र माया वञ्चनबुद्धिः, उत्कञ्चनं मुग्धवञ्चनं प्रवृत्तस्य समीपवर्तिविदग्धरक्षणार्थं क्षणमव्यापारतया अवस्थानं वञ्चनं विप्रतारणं "मणुसेसु पगइभद्दयाए पगइविणीययाए साणुक्कोसयाए अमच्छरियाए" प्रकृतिभद्रकता स्वभावत एवापरोपतापता अनुक्रोशी। "देवेसु सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं अकामनिज्जराए बालतवोकम्माणं तमाइक्खइ" यदेवमुक्तरूपं नारकत्वादिनिबन्धनं तदाख्यातीत्यर्थः।

तथा—

"जहा नरया गम्मंती, जे नरया जाव वेयणा नरए।
सारीरमाणसाइं, दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए॥ १॥
माणुस्सं च अणिच्चं, वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवा य देवलोए, देवेहिं देवसोक्खाइं"॥ २॥

देवांश्च देवलोकाद्, देवेषु देवसौख्यान्याख्यातीति।

"नरगतितिरिक्खजोणिं, माणुसभावं च देवलोगं च॥
सिद्धिं च सिद्धिवसहिं, छज्जीवणियं परिकहइ॥३॥
जह जीवा बज्झंती, मुच्चंति जह य संकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं, करेइ केई अपडिबद्धा॥ ४॥
अट्टा अट्टियचित्ता, जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति।
जह वेरग्गमुवगया, कम्मसमुग्गं विहाडेंति"॥ ५॥

आर्त्ताः शरीरतो दुःखिता आर्त्तेना चिताः शोकादिपीडिताः आर्त्ताद्ध्यानविशेषादार्तितचित्ता इति। "जह रागेण कडाणं, कम्माणं पावओ फलविवागो। जह य परिहीणकम्मा, सिद्धा सिद्धालयमुवेंति"॥६॥ अथानुष्ठेयानुष्ठानलक्षणं धर्ममाह-"तमेव धम्मं दुविहमाइक्खियं" येन धर्मेण सिद्धाः सिद्धालयमुपयान्ति स एवं धर्मो द्विविध आख्यात इत्यर्थः। "तं जहा अगारधम्मं अणगारधम्मो इह खलु सव्वाओ" सर्वान् धनधान्यादिप्रकारानाश्रित्य 'सव्वत्ताए' सर्वात्मना सर्वैरात्मपरिणामैरित्यर्थः। "आगाराओ अणगारियं पव्वइयस्सेति सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं मेहुणाओ वेरमणं परिग्गहराईभोयणाओ वेरमणं, एवं अयमाउसो अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणा आणाए आराहए भवइ, आगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ। तं जहा-पंचाणुव्वयाइं तिन्नि गुणव्वयाइं चत्तारि सिक्खावयाइं पंच

अणुव्वयाइं ति । तं जहा-थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, एवं मुसावायाओ वेरमणं, अदिन्नादाणाओ वेरमणं सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे । तिन्नि गुणव्वयाइं । तं जहा-अणट्ठदंडवेरमणं दिसिव्वयं उवभोगपरिभोगे परिमाणं । चत्तारि सिक्खावयाइं । तं जहा-सामाइयं देसावगासियं पोसहोववासो अतिहिसंविभागो अपच्छिममारणंतियसंलेहणा झूसणा आराहणा अयमाउसो अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एयस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए समणोवासिया वा विहरमाणाए आणाए आराहए भवइ,तए णं से महई महालिया मणूसपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियया उट्ठाए उट्ठेइ,उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ,करेइत्ता वंदइ णमंसइ,अत्थेगइया मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइया अत्थेगइया पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवन्ना अवसेसा परिसा समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—सुयक्खाए णं भंते ! निग्गंथे पावयणे एवं सुपण्णत्ते " भेदतः ' सुभासिए ' वचनव्यक्तितः ' सुविणीए ' सुष्ठु शिष्येषु विनियोजनात्, ' सुभाविते ' तत्त्वभणनात् । " अणुत्तरे भंते ! निग्गंथे पावयणे एवं सुपहो धम्मं तं आइक्खमाणे उवसमं आइक्खह "। क्रोधादिनिग्रहमित्यर्थः । "उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह" बाह्यग्रन्थित्यागमित्यर्थः । "विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह" मनोनिवृत्तिमित्यर्थः । "वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह" धर्ममुपशमादिस्वरूपं अथ इति हृदयम् । "नत्थि णं अन्ने केइ समणे वा माहणे वा जे एरिसं धम्मस्स माइक्खित्तए"प्रभुरिति शेषः । "किमंग ! पुण एत्तो उत्तरतरं एवं वंदित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगयात्ति अट्ठे समट्ठे त्ति" अस्त्येष इत्यर्थः । अथवा मयोदितवस्तुसमर्थः संगतः । हन्त ! इति कोमलामन्त्रणवचनम् ।

अज्जो समणे भगवं महावीरे बहवे समणे णिग्गंथे य णिग्गंथीओ य आमंतेत्ता एवं वयासी—जइ ताव अज्जो समणोवासगा गिहिणो गिहमज्झा वसंता दिव्वमाणुसतिरिक्खजोणिए उवसग्गे सम्मं सहइ जाव अहियासेइ सक्का पुणाइं अज्जो ! समणेहिं निग्गंथीहिं दुवालसंगं गणिपिडगं अहिज्जमाणेहिं दिव्वमाणुसतिरिक्खजोणिएहिं सम्मं सहित्तए जाव अहियासंतए तए णं से बहवे समणा णिग्गंथा य णिग्गंथीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तए णं से कामदेवे समणोवासए हट्ठतुट्ठ० समणं भगवं महावीरं पसिणाइं पुच्छइ, अट्ठमादियइ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता जामेव दिसिं पाउब्भूया तामेव दिसिं पडिगया, तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया चंपाओ पडिनिक्खमइ बहिया जणवय० जाव विहरइ । तए णं से कामदेवे समणोवासए पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ता णं जाव विहरइ, तए णं से कामदेवे समणोवासए बहुहिं० जाव भावेत्ता वीसं वासाइं समणोवासगपरियागं पाउणित्ता एक्कारस उवासगपडिमं सम्मं काएण फासेत्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता आलोइय समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरच्छिमेणं अरुणाभे विमाणे देवत्ताए उववन्ने । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता, कामदेवस्स वि देवस्स चत्तारि पलिओवमाइं ठिई पण्णत्ता; से णं भंते ! कामदेवे तओ चेव देवलोगाओ आउक्खएणं अणंतरं चयइ, चइत्ता कहिं गमिहिंति कहिं उववज्जिहिंति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति ॥

[अज्जो त्ति] आर्या इति, एवमामन्त्र्यैवमवादीदिति । [सेहंति त्ति] यावत्करणादिदं दृश्यम्-"खमंति तितिक्खंति" एकार्थाश्चैते विशेषव्याख्यानमप्येषामस्ति, तदन्यतोऽवसेयमिति । 'निक्खेवओ त्ति' निगमनवाक्यं वाच्यम् । तच्चेदम्-"एवं खलु जंबू ! समणेणं जाव संपत्तेणं दोच्चस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि त्ति " । उपा० २ अ० । आ०क० । संथा० । स्था० । आ० म० । प्राग्वाटवंशावतंसस्य साधुहालोकस्यात्मजे, यदर्थं श्रीमदभिनन्दनस्य चैत्यं कारितम् । ती० ३२ कल्प । ऋषभदेवस्य पञ्चदशे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण । ('अहिणंदण' शब्दे प्रथमभागे ७०६ पृष्ठे कथा निरूपिता)

कामदेवभवण-कामदेवभवन-न० । काममन्दिरे, "पवित्तिसहिसमेया कामदेवभवणे,समाढत्तआणुरायनमतरियस्स एयस्स" दर्श० ।

कामपरिग्गहग्गही-कामपरिग्रहाग्रहिन्-त्रि० । विषयलोलुपे, कामपरिग्रहो गृहस्थभावमेव प्रशंसति । वक्ति च-"गृहाश्रमपरो धर्मो, न भूतो न भविष्यति । पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाखण्डमाश्रिताः" ॥१॥ गृहाश्रमाऽऽधाराश्च सर्वेऽपि पाखण्डिन इत्येवं महामोहमोहिता इच्छामदनकामेषु प्रवर्तन्ते । आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कामपाल-कामपाल-पुं० । कामान् पालयति । पाल रक्षणे-अण् । बलभद्रे, वाच० । द्वीपविशेषाधिपतौ, द्वी० ।

कामप्पभ-कामप्रभ-न० । स्वनामख्याते विमानभेदे, जी० ३प्रति० ।

कामफास-कामस्पर्श-पुं० । सप्तचत्वारिंशे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । कल्प० ।

कामभोग-कामभोग-पुं० । द्वं० स० । कामभोगशब्दार्थयोः, तत्र कामाः कमनीया भोगाः शब्दादयोऽथवा कामौ शब्दरूपे भोगाः गन्धरसस्पर्शाः कामभोगाः । स्था० ४ ठा० १ उ० । यदि वा कामा इच्छारूपाः,मदनकामास्तु भोगाः । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । कामानां शब्दादीनां यो भोगः । स्था० ४ ठा० १ उ० । शब्दादिभोगे,मदनसेवायां च । ग० १ अधि० । अथवा काम्यन्त इति कामाः, मनोज्ञा इत्यर्थः, ते च ते । भुज्यन्त इति भोगाः, शब्दादय इति भोगाः । स्था० २ ठा० ४ उ० । इच्छा मदनकामाः शब्दादयो विषयास्ते यत्र भुज्यन्त इति भोगाः । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । मनोज्ञेषु,स्था० ४ ठा० ३ उ० । मदनकामप्रधानेषु शब्दादिषु विषयेषु, दश० १ चू० । आ० म० ।

भेदाः—

कइविहा णं भंते ! कामभोगा पएणत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा कामभोगा पएणत्ता । तं जहा-सद्दा गंधा रूवा रसा फासा । जीवा णं भंते ! किं कामी भोगी ?। गोयमा ! जीवा कामी वि भोगी वि। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा णं कामी वि भोगी वि ?। गोयमा ! सोइंदियचक्खिंदियाइं पमुच्च कामी, घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं पमुच्च भोगी, से तेणट्ठेणं गोयमा० ! जाव भोगी वि । नेरइया णं भंते ! किं कामी भोगी ?। एवं चेव । एवं थणियकुमारा । पुढवीकाइयाणं पुच्छा । गोयमा ! पुढविकाइया नो कामी भोगी । से केणट्ठेणं जाव भोगी ?। फासिंदियं पमुच्च से तेणट्ठेणं जाव भोगी । एवं जाव वणस्सइकाइया, बेइंदिया एवं चेव, णवरं जिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च तेइंदिया वि एवं चेव, नवरं घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं पडुच्च चउरिंदियाणं पुच्छा । गोयमा ! चउरिंदिया कामी वि भोगी वि। से केणट्ठेणं जाव भोगी वि ?। गोयमा ! चक्खिंदियं पमुच्च कामी घाणिंदियजिब्भिंदियफासिंदियाइं पमुच्च भोगी, से तेणट्ठेणं जाव भोगी वि । अवसेसा जहा जीवा जाव वेमाणिया। एएसि णं भंते ! जीवाणं कामभोगीणं नो कामीणं नो भोगीणं भोगीण य कयरे कयरे० जाव विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवा जीवा कामभोगी, नो कामी, नो भोगी अणंतगुणा, भोगी अणंतगुणा ॥

(सव्वत्थोवा कामभोग त्ति) ते हि चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्च स्युः, ते च स्तोका एव। (नो कामी नो भोगि त्ति) सिद्धास्ते च तेभ्योऽनन्तगुणा एव। (भोगि त्ति) एकद्वित्रीन्द्रियास्ते च तेभ्योऽनन्तगुणाः, वनस्पतीनामनन्तगुणत्वादिति । भ० ७ श० ७ उ० ।

ज्योतिष्काणां कामभोगानभिधित्सुस्तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह—

ता चंदिमसूरिया णं जोतिसिंदा जोतिसरायाणो केरिसा कामभोगे पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ?। ता से जहाणामं ते केइ पुरिसे पढमे जुव्वणुट्ठाए समत्थे पढमे जोव्वणबलसमत्थाए भारियाए सद्धिं अचिरवत्तवीवाहे अत्थत्थी अत्थगवेसणताए सोलसवासं विप्पवासिते से णं ततो लद्धट्ठे कति कज्जेणं ति अणहसमग्गे पुणरवि णियगं घरं हव्वमागते एहाते कयवलिकम्मे कयकोउयमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पा वेसाइं मंगल्लाइं पवरवत्थाइं परिहिते अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे मणुण्णं थालीपाकसुद्धं अट्ठारसवंजणाउलं भोयणं भुत्ते समाणे तंसि तारसगंसि वासघरंसि अंतो सचित्तकम्मे वाहिरित्तो दूमितघट्ठमट्ठे विचित्तउल्लोअचिल्लियतले बहुसमसुविभत्तभूमिभाए मणिरयणपणासितंधकारे कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे सुगंधवरगंधिए गंधवट्टिभूते तंसि तारिसगंसि सयणिज्जंसि दुहतो उण्णते मज्झेणं गंभीरे सालिंगणवट्टिए पण्णत्तगंडविब्बोयणे सुरम्मे गंगापुलिणवालुयाउद्दालसालिसएसु विहरइ, एयतावे उयचियखोमियदुगूलपट्टपडिच्छायणे रत्तंसुयसंवुमे सुरम्मे आइणगरूयबूरणवणीततूलफासे सुगंधवरकुसुमचुण्णसयणोवयारकलिते ताए तारिसाए भारियाए सद्धिं सिंगारागारचारुवेसाए संगतगयहसितभणितचिट्ठितसंलावविलासणिउणजुत्तोवयारकुसलाए अणुरत्ताए अविरत्ताए मणोणुकूलाए एगंतरतियसत्ते अण्णत्थ कत्थइ मणं अकुव्वमाणे इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे माणुसए कामभोगाए पच्चणुभवमाणे विहरिज्जा। ता से णं पुरिसे वि उ समणे कालसमयंसि केरिसये स ता सोक्खं पच्चणुभवमाणे विहरति ?। उरालं समणाउसो ! ता तस्स णं पुरिसस्स कामभोगेहिंतो एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव वाणमंतराणं देवाणं कामभोगा वाणमंतराणं देवाणं कामभोगेहिंतो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव असुरिंदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं कामभोगा असुरिंदवज्जियाणं देवाणं कामभोगेहिंतो एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतरा चेव असुरकुमाराणं इंदभूयाणं देवाणं कामभोगा असुरकुमाराणं देवाणं कामभोगेहिंतो एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव गहणक्खत्ततारारूवाणं कामभोगा गहणक्खत्ततारारूवाणं कामभोगेहिंतो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव चंदिमसूरियाणं देवाणं कामभोगा ता एरिसिएणं चंदिमसूरिया जोइसिंदा जोइसरायाणो कामभोगे पच्चणुभवमाणा विहरंति ॥

(ता चंदिमेत्यादि) ता इति पूर्ववत्, चन्द्रसूर्याः, णमिति वाक्यालङ्कारे, ज्योतिषेन्द्रा ज्योतिषराजाः, कीदृशान् कामभोगान् प्रत्यनुभवन्तो विहरन्त्यवतिष्ठन्ते ? । भगवानाह—(ता से जहेत्यादि) 'ता इति' पूर्ववत्। 'से' इत्यनिर्दिष्टस्वरूपो नाम, यथा कोऽपि पुरुषः प्रथमयौवनोद्गमे यद्बलं शारीरप्राणस्तेन समर्थः प्रथमयौवनोत्थानबलसमर्थया भार्यया सह अचिरवृत्तविवाहः सन्, अथ अर्थार्थी अर्थगवेषणया अर्थगवेषणनिमित्तं षोडशवर्षाणि यावत् विप्रोषितो देशान्तरे प्रवासं कृतवान्, ततः षोडशवर्षानन्तरं स पुरुषो लब्धार्थः प्रभूतप्रापितार्थः, (अणहसमग्ग त्ति) अनघमक्षतं न पुनरपान्तराले केनापि चौरादिनाऽविलुप्तं, समग्रं द्रव्यं भाण्डोपकरणादि यस्य स तथा; स च पुनरपि निजकं गृहं शीघ्रमागतः, ततः स्नातः, कृतबलिकर्मा कृतकौतुकमङ्गलप्रायश्चित्तः शुद्धात्मा, वेश्यानि वेषोचितानि प्रवराणि वस्त्राणि परिहितो निवसितः [अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे इति] अल्पैः स्तोकैर्महार्घैर्महामूल्यैराभरणैरलंकृतशरीरो मनोज्ञं कलमौदनादि, स्थाली पिठरी तस्यां पाको यस्य तत्तथा, अन्यत्र हि पक्वं न सुपक्वं भवति, तत इदं विशेषणं, शुद्धं भक्तदोषवर्जितं स्थालीपाकं च तत् शुद्धं च स्थालीपाकशुद्धम्। [अट्ठारसवंजणाउलमिति] अष्टादशभिर्लोकप्रतीतैर्व्यञ्जनैः शालनकतक्रादिभिराकुलम-अष्टादशव्यञ्जनाकुलम्। अथवा-अष्टादशभेदं च तत् व्यञ्जनाकुलं च अष्टादशव्यञ्जनाकुलं, शाकपार्थिवादिदर्शनाद्भेदशब्दलोपः। (सू० प्र०) एवंभूतं भोजनं भुक्तः सन् तस्मिन् तादृशे वासगृहे, किं विशि-

हे?,इत्याह-अन्तः सचित्रकर्मणि,[दुमियघट्ठमट्ठ त्ति]बहिः दुमिए सुधापङ्कधवलिते घृष्टे पाषाणादिना उपरि घर्षिते ततो मृष्टे मसृणीकृते, तथा विचित्रेण विविधचित्रयुक्तेनोल्लोचेन चन्दोदयेन [चिल्लियं ति] दीप्यमानं गृहमध्यभागे उपरितनतलं यस्य तत्तथा,तस्मिन्। तथा-बहुसमः प्रभूतसमः सुविभक्तः सुविच्छित्तिको भूमिभागो यत्र तस्मिन्। तथा-मणिरत्नप्रणाशितान्धकारे,तथा-कालागुरुप्रवरकुन्दरुक्कतुरुक्कधूपस्य यो गन्धो मघमघायमानं उद्भूत इतस्ततो विप्रसृतस्तेनाभिरामं रमणीयं तस्मिन्। तत्र कुन्दुरुक्कं चीडा तुरुक्कं सिल्हकं। तथा-शोभनो गन्धः सुगन्धस्तेन कृत्वा वरगन्धिकं,वरो गन्धो वरगन्धः सोऽस्यास्तीति वरगन्धिकम्।'अतोऽनेकस्वरात्' ।७।२।६। इतीकप्रत्ययः। तस्मिन्, अत एव गन्धवर्तिभूते तस्मिन् तादृशे शयनीये उभयत उभयोः पार्श्वयोरुन्नते मध्येन च मध्यभागेन गम्भीरे, [सालिंगणवट्टीए त्ति] सहालिङ्गनवर्त्या शरीरप्रमाणेनोपधानेन वर्तते यत्तत्तथा। [उभओ बिब्बोयणे इति] उभयोः प्रदेशयोः शिरोऽन्तपादान्तलक्षणयोः, 'बिब्बोयणे' उपधानके यत्र तत्तथा। तत्र क्वचित् "पण्णत्तगंभबिब्बोयण त्ति" पाठः। तत्रैवं व्युत्पत्तिः-प्रकृत्या विशिष्टपरिकर्मविषयया बुद्ध्या प्राप्ते प्राप्ते,अतीव सुष्ठु परिकर्मिते इति भावः। गण्डोपधानके यत्र तत्तथा। तत्र [उपचियखोमिअदुगूलपट्टपडिच्छायणे]उपचितं सुपरिकर्मितं क्षौमिकं दुकूलं कार्पासिकमतसीमयं वा वस्त्रं तस्य युगलरूपो यः पट्टशाटकः प्रतिच्छादनमाच्छादनं यस्य तत्तथा तत्र। [रत्तंसुयसंवुडे] रक्तांशुकेन मशकगृहाभिधानेन वस्त्रविशेषेण संवृते समन्तत आवृते [आइणगरुयबूरनवणीयतूलफासे] आजिनकं चर्ममयो वस्त्रविशेषः, स च स्वभावादतिकोमलो भवति। रुतं च कार्पासोद्भूतं, बूरो वनस्पतिविशेषः, नवनीतं च म्रक्षणं तूलश्चार्कतूल इति द्वन्द्वः। अत एतेषामिव स्पर्शो यस्य तत्तथा तस्मिन्। (सुगंधवरकुसुमचुण्णसयणोवयारकलिए)सुगन्धीनि यानि वरकुसुमानि,ये च सुगन्धाश्चूर्णाः पटवासादयो,ये च एतद्व्यतिरिक्तास्तथाविधाः शयनोपचारास्तैः कलिततथा तादृशया वक्तुमशक्यस्वरूपतया पुण्यवतां योग्यया, (सिंगारागारचारुवेसाए त्ति) शृङ्गारस्य पोषकः आकारः सन्निवेशो यस्य स शृङ्गाराकार इत्थंभूतश्चारुः शोभनो वेषो यस्याः सा तथाभूता तया, [संगतगयहसियभणियचिट्ठियसंलावविलासनिउणजुत्तोवयारकुसलाए] संगतं गमनं सविलासं,चङ्क्रमणमित्यर्थः। हसितं सप्रमोदं कपोलसूचितं हसनं,भणितं मन्मथोद्दीपिका विचित्रा भणितिः,चेष्टितं सकाममङ्गप्रत्यङ्गावयवप्रदर्शनपुरस्सरं प्रियस्य पुरतोऽवस्थानं, संलापः प्रियेण सह सप्रमोदं सकामं परस्परं संकथा। एतेषु विलासेन शुभलीलया निपुणः, सूक्ष्मबुद्धिगम्योऽत्यन्तकामविषयपरमनैपुण्योपेत इत्यर्थः। युक्तो देशकालोपपन्न उपचारकुशलया अनुरक्तया कदाचिदप्यविरक्तया मनोऽनुकूलया भार्यया सार्द्धमेकान्तेन रतिप्रसक्तो रमणप्रसक्तोऽन्यत्र कुत्रापि मनोऽकुर्वन्; अन्यत्र मनःकरणे हि न यथावस्थितमिष्टभार्यागतं कामसुखमनुभवति। इष्टान् शब्दस्पर्शरसरूपगन्धरूपान् पञ्चविधान् मानुषान् मनुष्यभवसंबन्धिनः कामभोगान् प्रत्यनुभवन्;प्रतिशब्दः आभिमुख्ये। संवेदयमानो विहरेदवतिष्ठेत। [ता से णमित्यादि]तावच्छब्दः क्रमार्थः, आस्तां तावदन्यदप्येतत् वक्ष्यमिदं तावत्कथ्यतां, स पुरुषस्तस्मिन् कालसमये कालेन तथाविधेनोपलक्षितः समयोऽवसरः कालसमयस्तस्मिन् कीदृशं स्यात् रूपमाह्लादरूपं सौख्यं प्रत्यनुभवन् विहरति। एवमुक्ते गौतम आह-[उराले समणाउसो !]हे भगवन्! हे श्रमण! हे आयुष्मन्! उदारमत्यद्भुतं सातं सौख्यं प्रत्यनुभवन् विहरति। भगवानाह-"तस्स णमित्यादि"। [पत्तो] एतेभ्यस्तस्य पुरुषस्य संबन्धिभ्यः कामभोगेभ्यः [अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव त्ति] अनन्तगुणतया विशिष्टतरा एव व्यन्तरदेवानां कामभोगाः,व्यन्तरदेवकामभोगेभ्योऽप्यसुरेन्द्रवर्जानां देवानां कामभोगा अनन्तगुणविशिष्टतराः,तेभ्योऽनन्तगुणविशिष्टतरा इन्द्रभूतानामसुरकुमाराणां देवानां कामभोगाः, तेभ्योऽप्यनन्तगुणविशिष्टतरा ग्रहनक्षत्रतारारूपाणां देवानां कामभोगाः, तेभ्योऽप्यनन्तगुणविशिष्टतराः कामभोगाः चन्द्रसूर्याणामेतादृशां चन्द्रसूर्या ज्योतिषेन्द्राः ज्योतिषराजाः कामभोगान् प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति। सू०प्र०२० पाहु०।भ०।च०प्र०।

"तणकट्ठेण व अग्गी, लवणजलो वा नईसहस्सेहिं ।
न इमो जीवो सक्को, तिप्पेउं कामभोगेहिं ॥" द० प० ।
"कुसुमं भोइसरज्जं, लोगं अणंतभोगेण वि भरेज्जा ।
एते य कामभोगे, कालमणंतं इहं स उवभोगे ।
अपुव्वं वि य मन्नइ, जीवो तह वि य विसयसोक्खं ।
जह कच्छू लोकं तुय-माणो. दुहं मुणेइ सोक्खं ॥
मोहाउरा मणुस्सा, तह कामं दुहं सुहं बेंति ।
जाणंति अणुहवंति य, अणुजम्मजरामरणसंभवे दुक्खे ।
न य विसएसु विरज्जंति, गोयम! दुग्गइगमणपत्थिए जीवे" ॥
महा०६ अ० ॥

"न कामभोगा समयं उवेंति, न यावि भोगा विगयं उवेंति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य,सो तेसु मोहा विगयं उवेइ" ।
अष्ट०४ अष्ट० । (भोगभोगाः 'भोगभोग' शब्दे सर्वेषामिन्द्राणां वक्ष्यन्ते)

कामभोगतासिय–कामभोगतृषित–त्रि०। अप्राप्तकामभोगेच्छे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

कामभोगतिव्वाभिलास–कामभोगतीव्राभिलाष–पुं०। कामौ शब्दरूपे, भोगा गन्धरसस्पर्शाः,तेषु तीव्राभिलाषोऽत्यन्तं तदध्यवसायित्वं कामभोगतीव्राभिलाषः। स्वदारसंतोषस्य चतुर्थेऽतिचारे, तत्त्वं च-स्वदारसन्तोषी हि विशिष्टविरतिमान्, तेन च तावत्येव मैथुनसेवा कर्तुमुचिता यावत्या वेदजनितबाधोपशाम्यति; यस्तु वाजीकरणादिभिः कामशास्त्रविहितप्रयोगैश्च तामभिकामुत्पाद्य सततं सुरतसुखमिच्छति स मैथुनविरतिव्रतं परमार्थतो मलिनयति। को हि नाम सकर्णकः पामामुत्पाद्याऽग्निसेवाजनितसुखं वाञ्छेदित्यतिचारत्वं कामभोगतीव्राभिलाषस्येति। उपा० १ अ०। आव०। आ० चू०।

कामभोगमार–कामभोगमार–पुं०। कामभोगैः सह मारा मदनो मरणं वा कामभोगमारः। विंशतितमे गौणाब्रह्मणि, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

कामभोगासंसाप्प(प)ओग-कामभोगाशंसाप्रयोग-पुं०। कामौ शब्दरूपे, भोगा गन्धरसस्पर्शाः। अत्राशंसाप्रयोगः यथा-ममास्य तपसः प्रभावात् प्रेत्य सौभाग्यादि भूयादिति। ध०२ अधि०। यदि मे मानुष्यकामभोगादिव्यापाराः संपद्यन्ते तदा साध्विति विकल्परूपे, उपा० १ अ०। जन्मान्तरे चक्रवर्ती स्यां वासुदेवो महामाण्डलिकः सुभगो रूपवानित्यादि प्रकृष्टे वा, अपश्चिममारणान्तिकसंलेखनाजोषणाराधनायाः पञ्चमेऽतिचारे, ध० २ अधि०। उपा०। आ०।

काममतिवट्ट–काममतिवर्त्त–पुं०। कामेष्विच्छामदनरूपेषु मतेर्बुद्धेर्मनसो वा वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्त्तः। कामाभिलाषुके, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

काममल्ल–काममल्ल–पुं०। दुर्जयत्वेन मल्लत्वोपमिते कामे, "धन्यास्ते वन्दनीयास्ते, त्रैलोक्यं तैः पवित्रितम्। यैरेष भुवनक्लेशी, काममल्लो निपातितः" ॥१॥ पञ्चा० १ विव०।

काममहावण–काममहावन–न०। वाराणसीसमीपस्थे चैत्ये, "तत्थ णं जे से चउत्थे पउट्टपरिहारे से णं वाणारसीए णयरीए बहिया काममहावणंसि चेइयंसि मंमियस्स सरीरं विप्पजहामि"। भ० १५ श० १ उ०।

कामयुग–कामयुग–पुं०। लोमपक्षिभेदे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

कामरय–कामरजस्–न०। कामः शब्दो रूपं, स एव रजः कामरजः। कामलक्षणे रजसि, औ०।

कामरत–न०। कामानुरागे, भ० १ श० ५ उ०।

कामरागपडिबद्ध–कामरागप्रतिबद्ध–त्रि०। कामा मदनकामाः, तेभ्यो रागा विषयाभिष्वङ्गाः, तैः प्रतिबद्धो व्याप्तः। मनसा विषयसुखेषु प्रसक्ते, "विसयसुहेसु पसत्तं, अबुहजणं कामरागपडिबद्धं। ओकामयंति जीवं, धम्माओ तेण ते कामा" ॥ ध० २ अधि०।

कामरागमोह–कामरागमोह–पुं०। मन्मथरागमूढे, तं०।

कामरागविवड्ढण–कामरागविवर्धन–त्रि०। मैथुनाभिलाषवर्द्धके, "इत्थीणं तं न विज्झाए, कामरागविवड्ढणं ॥ ५८ ॥" दश० ८ अ०।

कामरूव–कामरूप–पुं०। प्राग्ज्योतिषाख्ये देशभेदे,स चेदानींतनराजभाषया आसामप्रान्ते स्वनाम्ना प्रसिद्धः। वाच०। कामं स्वेच्छया रूपं यस्य। स्वेच्छाविकुर्वितनानारूपेऽर्थे, प्रज्ञा० २ पद।

कामरूवदेहधारि(ण्)–कामरूपदेहधारिन्–त्रि०। कामं स्वेच्छया रूपं येषां ते कामरूपास्ते च ते देहाश्च कामरूपदेहास्तान् धरन्तीत्येवंशीलाः कामरूपदेहधारिणः। स्वेच्छाविकुर्वितनानारूपदेहधारिषु, प्रज्ञा० २ पद। जी०।

कामरूवि(ण्)–कामरूपिन्–त्रि०। कामं स्वेच्छापूर्व रूपं येषां ते कामरूपिणः। उत्त० ५ अ०। स्वच्छन्दचारिषु, आ० म० द्वि०। यादृशं रूपं मनसि वाञ्छन्ति तादृशं कुर्वन्तीत्यर्थः। उत्त० ५ अ०। कामोऽभिलाषस्तेन रूपाणि कामरूपाणि, तद्वन्तः। विविधवैक्रियशक्त्यन्वितेषु, उत्त०५ अ०। विद्याधरे, पुं० स्त्री०। वाच०।

कामलालस–कामलालस–त्रि०। सरक्ते, "एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा। विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए" ॥ ५४ ॥ संथा०।

कामलेस्स–कामलेश्य–न०। स्वनामख्याते विमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामवण्ण–कामवर्ण–न०। स्वनामख्याते विमानभेदे, जी०३प्रति०।

कामवियार–कामविकार–पुं०। इन्द्रियार्थविकोपने, स्था०६ ठा०।

कामविणय–कामविनय–पुं०। कामहेतुके विनयभेदे, दश०६अ०।

कामविणिच्छय–कामविनिश्चय–पुं०। विनिश्चयभेदे, स्था० ३ ठा० ३ उ०।

कामसत्थ–कामशास्त्र–न०। कामस्य स्वर्गादेः प्रतिपादकं शास्त्रम्। स्वर्गादेः प्राप्त्युपायप्रतिपादके शास्त्रे,कामस्य तत्त्वेच्छितस्य प्रतिपादके शास्त्रे रतिशास्त्रे, वाच०। वात्स्यायनादिकृते, ध० २ अधि०। सूत्र०।

कामसमणुण्ण–कामसमनोज्ञ–त्रि०। कामा इच्छामदनरूपाः, सम्यग्मनोज्ञा यस्य स तथा। अथवा सह मनोज्ञैर्वर्तत इति समनोज्ञः। गमकत्वात्सापेक्षस्यापि समासः। कामैः समनोज्ञः कामसमनोज्ञः, यदि वा कामान् सम्यगनु पश्चात् सहानुबन्धाञ्जानाति सेवत इति कामसमनोज्ञः। अनङ्गरङ्गसंलग्नमनस्के, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

कामसिंगार–कामशृङ्गार–न०। स्वनामख्याते विमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामसिट्ठ–कामशिष्ट–न०। विमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामसोक्ख–कामसौख्य–न०। मनोभवाऽऽनन्दे,"अत्थोपायणकामसोक्खे य लोयसारे हुंति।" "राज्ये सारं वसुधा,वसुंधरायां पुरं पुरे सौधम्। सौधे तल्पं तल्पे, वराङ्गनाऽनङ्गसर्वस्वम् ॥" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

कामावट्ट–कामावर्त–न०। विमानभेदे, जी० ३ प्रति०।

कामावसाइत्ता–कामावशायिता–स्त्री०। कामेन इच्छया अवशाययति पदार्थान् स्वचित्ते। सत्यसंकल्पत्वे योगिनामैश्वर्यभेदे, वाच०। सूत्र०।

कामाविकरण–कामाविष्करण–न०। पञ्चाशत्तमे स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण।

कामासंस[सा]प्प[प]ओग–कामाशंसाप्रयोग–पुं०। शब्दादाद्यभिलाषमात्रे, स्था० ४ ठा० ४ उ०।

कामासत्ति–कामाशक्ति–स्त्री०। शब्दरूपयोः प्राप्तिसंज्ञायमायाम्, भ० १३ श० ६ उ०।

कामासा–कामाशा–स्त्री०। गौणमोहनीयकर्मभेदे, स०५२ सम०।

कामि[ण्]–कामिन्–त्रि०। कम–णिङ्, णिनि०। कामनायुक्ते, अतिशयस्मरवेगयुक्ते, वाच०। "कामी सघरं गवत्तो, मूलपइस्संसि होइ दट्ठव्वाः" नि० चू० १५ उ०। काम इच्छा अस्त्यर्थे इनिः। अभिलाषिणि, सूत्र०१ श्रु०१० अ०।

कामिअ–कामिक–पुं०। स्त्री०। कामोऽस्त्यस्य ठन्। कारण्डपक्षिणि, स्त्रियां जातित्वात् ङीष्, कामेन निर्वृत्तम्, ठञ्। कामेन निर्वृत्तकाम्ये, स्त्रियां ङीप्। कामिकं काम्यमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः अण्। काम्याधिकारेण कृते ग्रन्थे, वाच०। लौकिकेषु स्वनामख्याते सरोवरभेदे, तत्र पतन् तिर्यग्मनुष्यो देवो जायते। विशे०। ('लोभ' शब्दे कथा वक्ष्यते) "संमपुरटि्ठमसुत्ती–कामियतित्थं जिणेसरो पासो। तस्सेस मए कप्पे, लिहिओ मीयाणुसारेण" ॥१॥ ती० २८ कल्प।

कामिड्ढि–कामर्द्धि–पुं०। आर्यसुहस्तिनो वशिष्ठगोत्रस्य चतुर्थे शिष्ये, कल्प० ८ क्षण।

कामिणी-कामिनी-स्त्री० । कामिशब्दे दर्शितस्त्रीत्वविशिष्टार्थे, " जं चेअ मउलणं लोअणाणमनुबद्धं तं चिअ कामिणीणं।"प्रा० २ पाद ।

कामुत्तरवडिंसग-कामोत्तरावतंसक-न० । विमानभेदे, जी० ३ प्रति० ।

काय—काच—न० । काच्यतेऽनेन । क बन्धने, करणे घञ्, न कुत्वम् । (मोम) सिक्थे, तस्य बन्धहेतुत्वात्तथात्वम् । वाच० । पाषाणविकारे, औ० । काचः क्षारमृत्तिकाऽस्त्यस्याऽऽकरत्वेन अच् । क्षारमृत्तिकोद्भवे लवणभेदे, शिक्ये, मणिभेदे च । वाच० ।

काय-पुं० । चिञ् चयने इति धातोश्चयनं कायः, चीयतेऽनेनेति वा कायः । विशे० । चीयते यथायोग्यमौदारिकादिवर्गणारूपं चयं नीयत इति कायः। "चिति देहावासोपसमाधाने कश्चादेः" ॥५।३।७६॥ इति घञ् प्रत्ययश्चकारस्य ककारः। कर्म०४ कर्म० । पं० सं० । आ० म० । औ० । शरीरे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । " एगट्ठिओ कायो सरीरं देहो " आ० चू० ५ अ० । सूत्र०। उत्त०। "दो काया पण्णत्ता। तं जहा-तसकाए चेव, थावरकाए चेव।" स्था० । ज्ञा० । उत्त० । सूत्र० । आव० । आचा० । नि० चू० । भ० । जी० । द० । कर्म० । (व्याख्याऽस्य स्वस्वशब्दे)

कायनिक्षेपः-

कायस्स उ निक्खेवो, वारसओ छक्कओ अ उस्सग्गे ।
एएसिं दुन्हं पी, पत्तेअपरूवणं वोच्छं ॥ १४ ॥

(कायस्स उ त्ति) कायस्य तु निक्षेपः (वारसओ त्ति) द्वादशप्रकारकः,(छक्कओ य उस्सग्गे त्ति) षडुत्सर्गविषयः, षट्प्रकार इत्यर्थः । पश्चार्द्धं निगदसिद्धम् ।

तत्र कायनिक्षेपप्रतिपादनायाऽऽह-

नामं ठवण सरीरे, गई निकायऽत्थिकाय दविए अ ।
माउअ संगह पज्जव, भारे तह भावकाए अ ॥ १५ ॥

नामकायः १ स्थापनाकायः २ शरीरकायः ३ गतिकायः ४ निकायकायः ५ अस्तिकायः ६ द्रव्यकायश्च ७, मातृकायः ८ संग्रहकायः ६ पर्यायकायः १० भारकायः ११ तथा भावकाय-१२ श्चेति गाथासमासार्थः ॥ १५ ॥

तत्र नामकायप्रतिपादनायाऽऽह-

काओ कस्सइ नामं, कीरइ देहो वि वुच्चई काओ ।
कायमणिओ वि वुच्चइ, बद्धमवि निकायमाहंसु ॥ १६ ॥

कायः कस्यचित्पदार्थस्य सचेतनस्याचेतनस्य वा नाम क्रियते स नामकायः, नामाश्रित्य कायो नामकायः। तथा-देहोऽपि शरीरसमुच्छ्रयोऽपि उच्यते कायः। तथा-काचमणिरपि कायो भण्यते प्राकृते तु 'काय' इति । तथा-बद्धमपि किञ्चिल्लेखादि[निकायमाहंसु त्ति] निकाचितमाख्यातवन्तः; प्राकृतशैल्या ' निकाय त्ति ' गाथार्थः ॥ १६ ॥

अधुना स्थापनाकायप्रतिपादनायाऽऽह-

अक्खे वराडए वा, कट्ठे पुत्थे व चित्तकम्मे वा ।
सब्भावमसब्भावं, ठवणाकायं विआणाहि ॥ १७ ॥

'अक्खे' चन्दनके, वराटके वा कपर्दके, काष्ठे कुट्टिमे, पूस्ते वा वस्त्रकृते, चित्रकर्मणि वा प्रतीते । किमित्याह-सतो भावः सद्भावस्तथ्य इत्यर्थः। तमाश्रित्य, तथा-असतो भावोऽसद्भावः, अतथ्यभाव इत्यर्थः। तमाश्रित्य, किम्?, स्थापनाकायं विजानीहीति गाथार्थः ॥ १७ ॥

सामान्येन सद्भावासद्भावस्थापनोदाहरणमाह-

लिप्पगहत्थी हत्थि, त्ति एस सब्भाविआ भवे ठवणा ।
होइ असब्भावे पुण, हत्थि त्ति निरागई अक्खे ॥१८॥

यदिह लेप्यकहस्ती हस्तीति स्थापनायां निवेश्यते [एस सब्भाविया भवे ठवण त्ति]एषा एव सद्भावस्थापना भवतीति । असद्भावे पुनर्हस्तीति निराकृतिर्हस्त्याकृतिशून्या । एवं चतुरङ्गादाविति । तदेवं स्थापनाकायोऽपि भावनीय इति गाथार्थः ॥१८॥

शरीरकायप्रतिपादनायाऽऽह-

ओरालिअ वेउव्विअ, आहारग तेअ कम्मए चेव ।
एसो पंचविहो खलु, सरीरकाओ मुणेयव्वो ॥ १९ ॥

उदारैः पुद्गलैः निर्वृत्तमौदारिकम्, विविधा क्रिया विक्रिया, विक्रियायां भवं वैक्रियं प्रयोजनादि, आह्रियत इति आहारकं, तेजोमयं तैजसं, कर्मणा निर्वृत्तं कार्मणम् । औदारिकं वैक्रियमाहारकं तैजसं कार्मणं चैव, एष पञ्चविधः खलु, शीर्यन्त इति शरीराण्येव पुद्गलसंघातरूपत्वात् कायः शरीरकायो विज्ञातव्य इति गाथार्थः ॥ १९ ॥

गतिकायप्रतिपादनायाऽऽह-

चउसु वि गईसु देहो, नेरइआईण जो स गइकाओ ।
एसो सरीरकाओ, विसेसणा होइ गइकाओ ॥ २० ॥

इयमप्यन्यकर्तृकी गाथा सोपयोगेति च व्याख्यायते-चतसृष्वपि गतिषु नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणासु, देहाभिन्नत्वे शरीरसमुच्छ्रयो नारकादीनां यः स गतौ काय इति कृत्वा गतिकायो भण्यते । अत्रान्तरे आह चोदकः-(एसो सरीरकाओ त्ति) नन्वेष शरीरकाय उक्तः । तथाहि-औदारिकादिव्यतिरिक्ता नारकतिर्यगादिदेहा इति । आचार्य आह-(विसेसणा होइ गतिकाओ त्ति)विशेषणाद् विशेषणसामर्थ्याद् भवति कायः गतिकायः। विशेषणं चात्र गतौ कायो गतिकायः। यथा द्विविधाः संसारिणः-त्रसाः, स्थावराश्च । पुनस्त एव स्त्रीपुरुषनपुंसकविशेषैर्भिद्यन्ते इति । एवमत्रापीति गाथार्थः ॥ २० ॥

अथवा सर्वसत्त्वानामपान्तरालगतौ यः कायः स गतिकायो भण्यते । तथाचाऽऽह -

जेणुवगहिओ वच्चइ, भवंतरं अचिरेण कालेण ।
एसो खलु गइकाओ, सतेयगं कम्मगसरीरं ॥ २१ ॥

येनोपगृहीत उपस्कृतो व्रजति गच्छति । किम्?, भवादन्यो भवो भवान्तरम् । तत एतदुक्तं भवति-मनुष्यादिर्मनुष्यभवाच्च्युतः येनाश्रयेणापान्तराले देवादिभवं गच्छति स गतिकायो भण्यते। तत् कालमानतो दर्शयति-[अचिरेण कालेणं ति] स च यावता कालेन समयादिना व्रजति तावन्तमेव कालमसौ गतिकायो भ-

वयते। एष खलु गतिकायः। स्वरूपेणैव दर्शयन्नाह-[सतेयगं कम्मगसरीरं] कार्मणस्य प्राधान्यात् सह तैजसेन वर्तत इति सतैजसं कार्मणशरीरं गतिकायः,तदाश्रयेणान्तरालगतौ जीवगतेरिति जावनीयमिति गाथार्थः ॥ २१ ॥

निकायकायः प्रतिपाद्यते-

निअयमहिगो व काओ, जीवनिकाओ निकायकाओ अ ।

[नियमहिगो व काओ जीवनिकाओ त्ति] नियतो नित्यः कायो निकायः,नित्यता चास्य त्रिष्वपि कालेषु जावात्।अधिको वा कायो निकायः, यथाऽधिको दाहो निदाह इति।आधिक्यं चास्य धर्माधर्मास्तिकायापेक्षया स्वभेदापेक्षया वा। तथा हि-एकादयो यावदसंख्येयाः पृथिवीकायिकाः, तावत्काय एव स्वजातीयान्यप्रक्षेपापेक्षया निकाय इति। एवमन्येष्वपि विभाषेति। एवं जीवनिकायः सामान्येन निकायकायो जण्यते। अथवा जीवनिकायः पृथिव्यादिभेदभिन्नः षड्विधोऽपि निकायो जण्यते ; तत्समुदाय एव च निकायकाय इति।

अधुनाऽस्तिकायः प्रतिपाद्यते, तत्रेदं गाथाशकलम्-

अत्थि त्ति बहुपएसा, तेणं पंचऽत्थिकाया उ ॥ २२ ॥

(अत्थि त्तीत्यादि) अस्तीत्ययं त्रिकालवचनो निपातः। अभूवन् जवन्ति भविष्यन्ति चेति भावना। बहुप्रदेशाश्च, यतस्तेन पञ्चैवास्तिकायाः।तुशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न न्यूना नाऽप्यधिका इति।अनेन च धर्माधर्माकाशानामेकद्रव्यत्वादेकास्तिकायत्वानुपपत्तिः। अद्धासमयस्य चैकत्वादस्तिकायत्वापत्तिरित्येतत्परिहृतमवगन्तव्यम्। तेषामी पञ्च। तद्यथा-धर्मास्तिकायः, अधर्मास्तिकायः, आकाशास्तिकायः,जीवास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायश्चेति। अस्तिकायश्च काय इति हृदयमयं गाथार्थः ॥ २२ ॥

साम्प्रतं द्रव्यकायावसरस्तत्प्रतिपादनायाऽऽह-

जं तु पुरक्खमभावं, दविअं पच्छाकमं व जावाओ ।
तं होइ दव्वदविअं, जह जविओ दव्वदेवाइ ॥ २३ ॥

यद्द्रव्यमिति योगः। तुशब्दो विशेषणार्थः। किं विशिनष्टि?,जीवपुद्गलद्रव्यं, न धर्मास्तिकायादि। ततश्चैतदुक्तं भवति-यद्द्रव्यं यद् वस्तु, पुरस्कृतभावमिति, पुरो यतः कृतो भावो येनेति समासः। जाविनो जावस्य योग्यमभिमुखमित्यर्थः।(पच्छाकमं व भावाओ त्ति) वाशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः। ततश्चैवं प्रयोगः-पश्चात्कृतजावम्। वाशब्दो विकल्पवचनः। पश्चात्कृतः प्राप्योज्झितो जावः पर्यायविशेषलक्षणो येन स तथोच्यते। एतदुक्तं जवति-यस्मिन् जावे वर्तते द्रव्यं ततो यः पूर्वमासीद्भावस्तस्मादपेतं पश्चात्कृतजावमुच्यते। (तं होइ दव्वदवियं) तदित्थंभूतं द्विप्रकारमपि जाविनो, भूतस्य च जावस्य योग्यं (दव्वं ति) वस्तु वस्तुवतो लोको द्रव्यशब्दः। किंभवति?, द्रव्यम्। भवतिशब्दस्य व्यवहितः प्रयोगः। इत्थं द्रव्यलक्षणमभिधायाधुनोदाहरणमाह-(जह भविओ दव्वदेवाई) यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः। जव्यो योग्यः। द्रव्यदेवादिरिति। इयमत्र भावना-यो हि पुरुषादिर्मृत्वा देवत्वं प्राप्स्यति बद्धायुष्कः, अभिमुखनामगोत्रो वा स योग्यत्वाद्द्रव्यदेवोऽभिधीयते। एवमनुभूतदेवभावोऽपि। आदिशब्दाद्द्रव्यनारकादिपरिग्रहः, परमाणुग्रहश्च। तथा ह्यसावपि द्व्यणुकादिकाययोग्यो भवत्येव, ततश्चेत्थंभूतं द्रव्यं द्रव्यकायो भण्यत इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

आह-किमिति तुशब्दविशेषणाज्जीवपुद्गलद्रव्यमङ्गीकृत्य धर्मास्तिकायादीनामिह व्यवच्छेदः कृत इति ?। उच्यते-तेषां च यथोक्तप्रकारद्रव्यलक्षणायोगात् सर्वदैवास्तिकायत्वलक्षणजावोपेतत्वात्।

आह च भाष्यकारः—

जइ अत्थिकायजावो, इय एसो हुज्ज अत्थिकायाणं ।
पच्छाकमो व तो ते, हवेज्ज दव्वत्थिकाय त्ति ॥ २४ ॥

यद्यस्तिकायभावः अस्तिकायत्वलक्षणः (इय एसो हुज्ज अत्थिकायाणं)'इय त्ति' एवं यथा जीवपुद्गलद्रव्ये विशिष्टः पर्याय इति, एष्य आगामी भवेत्। केषाम् ?, अस्तिकायानां, धर्मास्तिकायादीनामिति व्याख्यानाद् विशेषप्रतिपत्तिः।तथा-पश्चात्कृतो वा यदि जवेत्। (तो ते हवेज्ज दव्वत्थिकाय त्ति) ततस्ते जवेरन् द्रव्यास्तिकाया इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

तीअमणागयजावं, जमत्थिकायाण नत्थि अत्थित्तं ।
तेणिह केवल तेसुं, नत्थी दव्वत्थिकायत्तं ॥ २५ ॥

अतीतमतिक्रान्तम्,अनागतजावं भावि, यद्यस्मात्कारणात्,अस्तिकायानां धर्मादीनां, नास्ति न विद्यते अस्तित्वं विद्यमानत्वं, कायत्वापेक्षया सदैव कायत्वयोगादिति हृदयम्।(तेणिह त्ति) तेन (इह त्ति) किल केवलं शुद्धं, तेषु धर्मास्तिकायादिषु, नास्ति न विद्यते(दव्वत्थिकायत्तं)द्रव्यास्तिकायत्वं, सदैव तद्भावयोगादिति गाथार्थः ॥ २५ ॥

आह-यद्येवम्, द्रव्यदेवाद्युदाहरणोक्तमपि द्रव्यं न प्राप्नोति, सदैव तद्भावयोगात्। तथाहि-स एव तस्य भावो योऽस्मिन् वर्तते इति। अत्र गुरुराह-

कामं जविअसुराइसु, भावो सो चेव जत्थ वट्टंति ।
एसो न ताव जायइ, तेणिह ते दव्वदेव त्ति ॥ २६ ॥

काममित्यनुमतम्, यथा (भवियसुराइसु) भव्याश्च ते सुरादयश्चेति विग्रहः। आदिशब्दाद् द्रव्यनारकादिग्रहः। तेषु, तद्विषये विचारे, भावः स एव यत्र वर्तते, तदानीं मनुष्यादिभावे इति, किं तु एष्यो जावी, न तावज्जायते, तदा (तेणिह ते दव्वदेव त्ति) न ते किल द्रव्यदेवा इति। योग्यत्वात्,योग्यस्य च द्रव्यत्वात्। न चैतद्धर्मास्तिकायादीनामस्ति,एष्यकालेऽपि तद्भावयुक्तत्वादेवेति गाथार्थः ॥ २६ ॥

यथोक्तद्रव्यलक्षणमवगम्य तद्भावेऽतिप्रसङ्गं च मनस्याधायाऽऽह चोदकः-

दुहओऽणंतररहिआ, जइ एवं तो भवा अणंतगुणा ।
एगस्स एगकाले, जवा न जुज्जंती अणेगा ॥ २७ ॥

(दुहओ त्ति) वर्तमानभवे स्थितस्य उभयत एष्यकाले, अतीतकाले च (अणंतररहित त्ति) अनन्तरौ एष्यातीतौ, अनन्तरौ च तौ रहितौ च; वर्तमानजवजावेनेति प्रकरणाद्गम्यते। अनन्तररहितौ तावपि (जइ त्ति) यदि तस्योच्यते, (एवं तो जवा अणंतगुण त्ति) एवं च सति ततो भवा अनन्तगुणाः,तद्भवद्वयव्यतिरिक्ता वर्तमानभवभावेन रहिता एष्यातिक्रान्ताश्च तेषूच्येरन्। ततश्च तदपेक्षयाऽपि द्रव्यत्वकल्पना स्यात्। अथोच्यते-भवत्वेवमेवं का नो हानिरिति ?। उच्यते-एकस्य पुरुषादेः, एककाले पुरुषादिकाले, जवा (न जुज्जंति) न युज्यन्ते न घटन्ते, अनेके बहव इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

इत्थं चोदकेनोक्ते गुरुराह—

दुहओऽणंतरजविअं, जह चिट्ठइ आउअं तु जं बद्धं ।
हुज्जिरेसु वि जइ तं, दव्वजवा हुज्ज तो ते वि ॥ २८ ॥

वर्तमानभवे वर्तमानस्य भवनयत एष्ये अतीते च, अनन्तरभाविकं, पुरस्कृतपश्चात्कृतभवसंबन्धीत्युक्तं भवति । यथा तिष्ठति आयुष्कमेव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वाद् न शेषं कर्म विवक्षितं यद् बद्धम । अयं भावार्थः-पुरस्कृतभवसंबन्धित्रिभागविशेषायुष्कः सामान्येन तस्मिन्नेव भवे वर्तमानो बध्नाति,पश्चात्कृतसंबन्धिनः पुनस्तस्मिन्नेव वेदयति । अतिप्रसंगनिवृत्त्यर्थमाह-(छुट्टिरेसु वि अइ सं दव्वभवा हुज्ज सो ते वि) भवेत् इतरेष्वपि प्रभूतेषु अतीतेषु यद् बद्धम, अनागतेषु च यद्बध्यते । यदि तस्मिन्नेव भवे वर्तमानस्य, द्रव्यभवा भवेरन्, ततस्तेऽपि,तदायुष्ककर्मसंबन्धादिति हृदयम । न चैतदस्ति; तस्मादसम्बोदकवचनमिति गाथार्थः ॥ २८ ॥

अस्यैवार्थस्य प्रसाधकं लोकप्रतीतं निदर्शनमभिधातुकाम आह—

संझासु होइ सूरो, अदिस्समाणो वि पप्प समईअं ।
जह ओभासइ खित्तं, तहेव एअं पि नायव्वं ॥२९॥

संध्या च संध्या च संध्ये, तयोः संध्ययोर्द्वयोः प्रत्यूषप्रदोषप्रतिबद्धयोः, सूर्य आदित्यः, अदृश्यमानोऽप्यनुपलभ्यमानोऽपि, प्रापणीयं प्राप्यं, समतिक्रान्तं समतीतं, यथाऽवभासते प्रकाशयति क्षेत्रम । तद्यथा-प्रत्यूषसंध्यायां पूर्वविदेहं भरतं च, प्रदोषसंध्यायां तु भरतमपरविदेहं च,तथैव,यथा सूर्यः,इदमपि प्रक्रान्तं, ज्ञातव्यं विज्ञेयम । एतदुक्तं भवति-वर्तमानभवे स्थितः पुरस्कृतभवं. पश्चात्कृतभवं च आयुष्ककर्मसद्द्रव्यतया स्पृशति, प्रकाशेनाऽऽदित्यवदिति गाथार्थः ॥ २१ ॥

अधुना मातृकायः प्रतिपाद्यते, मातृकेति मातृकापदानि "उप्पन्ने इ वा" इत्यादीनि, तत्समूहो मातृकायः, अन्योऽपि तथाविधः पदसमूहो बह्वर्थ इति ।

तथाचाह भाष्यकारः-

माउअपयं ति णेयं, नवरं अन्नो वि जो पयसमूहो ।
सो पयकाओ भन्नइ, जे एगपए बहू अत्था ॥३०॥

मातृकापदमिति (णेयं ति) चिह्नं, नवरमन्योऽपि यः पदसमूहः पदसङ्घातः स पदकायो भण्यते; मातृकापदकाय इति भावना । नाविशिष्टः पदसमूहः, किं तु (जे एगपए बहू अत्था) यस्मिन्नेकस्मिन् पदे बहवोऽर्थाः, तेषां पदानां यस्समूह इति । पाठान्तरं वा-(जम्मेगपए बहू अत्थ त्ति) गाथार्थः ॥३०॥

संग्रहकायप्रतिपादयन्नाह-

संगहकाओऽणेगा, वि जत्थ एगवयणेण घिप्पंति ।
जह सालिगामसेणा, जाओ वसई निविट्ठ त्ति ॥ ३१ ॥

संग्रहणं संग्रहः, स एव कायः संग्रहकायः। स किंविशिष्ट इत्याह-(णेगा वि जत्थ एगवयणेण घेप्पंति त्ति) प्रभूता अपि यत्रैकवचनेन गृह्यन्ते। यथा-शालिग्रामसेना जातो वसति निविष्टेति यथासंख्यम। प्रभूतेष्वपि स्तम्बेषु सत्सु जातः शालिरिति व्यपदेशः। प्रभूतेष्वपि पुरुषवनितादिषु वसति ग्रामः,प्रभूतेष्वपि हस्त्यादिषु निविष्टा सेनेति । अयं शाल्यादिरर्थः संग्रहकायो भण्यते इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

साम्प्रतं पर्यायकायं दर्शयति-

पज्जवकाओ पुण हुं-ति पज्जवा जत्थ पिंमिआ बहवे ।
परमाणुम्मि वि कम्मि वि, जह वन्नाई अणंतगुणा ॥३२॥

पर्यायकायः पुनः, भवन्ति पर्याया वस्तुधर्मा यत्र परमाण्वादौ पिण्डिताः बहवः, तथा च परमाणावपि कस्मिंश्चित्, संव्यवहारिक इति पाठोऽवबुध्यते। सांव्यवहारिके,यथा वर्णादयो वर्णगन्धरसस्पर्शाः अनन्तगुणाः,अन्यापेक्षया। तथाचोक्तम्-"कारणमेव तदन्त्यं,सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः। एकरसगन्धवर्णो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च"॥१॥ स चैकस्तिक्तादिरसः तदन्यापेक्षया तिक्ततरतिक्ततमादिभेदानन्त्यं प्रतिपद्यते। एवं वर्णादिष्वपि विभाषेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

अधुना भारकायः-

एगो काओ दुहा जाओ, एगो चिट्ठइ एगु मारिओ ।
जीवंत मएण मारिओ तं, लव माणव ! केण हेउणा? ३३॥

एकः कायः क्षीरकायो द्विधा जातः, घटद्वये न्यासात्। तत्र एकस्तिष्ठति,एको मारितः, जीवन् मृतेन मारितः। तदेतत् (लव माणव त्ति) ब्रूहि हे मानव ! केन कारणेन? कथानकं यथा प्रतिक्रमणाध्ययने परिहरणायामिति गाथार्थः । भारकायश्चात्र क्षीरभृतकुम्भद्वयोपेता कापोती भण्यते;भारश्चासौ कायश्चेति भारकाय अन्ये भणन्ति; अन्ये तु भारकायः कापोत्येवोच्यते इति ।

भावकायप्रतिपादनायाऽऽह—

दुगतिगचउरो पंच, भावा बहुआ व जत्थ विज्जंति ।
सो होइ भावकाओ, जीवमजीवे विभासाओ ॥ ३४ ॥

द्वौ त्रयश्चत्वारः पञ्च वा भावा औदयिकादयः प्रभूता अन्येऽपि यत्र सचेतनाचेतने वस्तुनि विद्यन्ते स भवति भावकायः, भावानां कायो भावकाय इति। [जीवमजीवे विभासाओ] जीवाजीवयोर्विभाषा स्वल्पागमानुसारेण कार्येति गाथार्थः ॥३४॥

अधुनैकार्थिकान्युच्यन्ते—

काए १ सरीर २ देहे ३,
बुंदी ४ चय ५ उवचए अ ६ संघाए ७।
उस्सय ८ समुस्सए वा ९,
कलेवरे १० भत्थ ११ तणु १२ पाणू १३ ॥ ३५ ॥

कायः शरीरं देहो बोन्दिः चय उपचयश्च सङ्घात उच्छ्रयः समुच्छ्रयः कलेवरं भस्त्रा तनुः पाणुरिति गाथार्थः ॥३५॥ आव० ५ अ० । दश० । आ० चू० । आ० म० । दर्श० । विशे० । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायभेदात् षोढा कायः । प्रव० २२४ द्वार । कर्म० । विशे० । चतुर्धा कायः-पृथिव्यप्तेजोवायवश्च । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।दर्श० । पाञ्चभौतिके शरीरे, द्वा० २६ द्वा० । "वसाऽसृग्मांसमेदोऽस्थि-मज्जशुक्रान्त्रवर्चसाम। अशुचीनां पदं कायः, शुचित्वं तस्य तत्कुतः ?" ॥१॥ अष्ट० १६ अ० । (कायाम्मलानिःसारणनिषेधो 'अणायार' शब्दे प्रथमभागे ३१४ पृष्ठे निरूपितः) औदारिकादित्रयं घातिचतुष्टये, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

आया भंते ! काए अण्णे काए ? । गोयमा ! आया वि काए, अण्णे वि काए । रूवी भंते ! काए अरूवी काए ?। गोयमा ! रूवी वि काए अरूवी वि काए । एवं एक्के पुच्छा। गोयमा ! सचित्ते वि काए,अचित्ते वि काए, जीवे वि काए अजीवे वि काए, जीवाण वि काए अजीवाण वि काए। पुव्विं भंते ! काए पुच्छा। गोयमा ! पुव्वि पि काए

काइज्जमाणे वि काए, कायसमयवीइक्कंते वि काए । पुब्विं भंते ! काए भिज्जइ पुच्छा। गोयमा ! पुब्विं पि काए भिज्जइ, काइज्जमाणे वि काए भिज्जइ, कायसमयवीइक्कंते वि काए भिज्जइ। कइविहे णं भंते! काए पएात्ते ?। गोयमा! सत्तविहे काए पएात्ते। तं जहा-ओरालिए, ओरालियमीसए, वेउव्विए, वेउव्वियमीसए, आहारए, आहारयमीसए, कम्मए ।

[आया भंते! काये इत्यादि] आत्मा कायः,कायेन कृतस्यानुभवनात्, न ह्यन्येन कृतमन्योऽनुभवति,अकृतागमप्रसङ्गात् । अथान्य आत्मनः कायः, कायैकदेशच्छेदेऽपि संवेदनस्य संपूर्णत्वेनाभ्युपगमादिति प्रश्नः। उत्तरं तु आत्माऽपि कायः, कथञ्चित्तदव्यतिरेकात्, क्षीरनीरवत्, अग्न्ययः पिण्डवत्, काञ्चनोपलवद् वा, अत एव कायस्पर्शे सत्यात्मनः संवेदनं भवति। अत एव च कायेन कृतमात्मना भवान्तरे वेद्यते, अत्यन्तभेदे चाऽकृतागमप्रसङ्ग इति । [अन्ने वि काय त्ति] अत्यन्ताभेदे हि शरीरांशच्छेदे जीवांशच्छेदप्रसङ्गः; तथा च संवेदनताऽसंपूर्णता स्यात् । तथा शरीरस्य दाहे आत्मनोऽपि दाहप्रसङ्गेन परलोकाभावप्रसङ्ग इत्यतः कथञ्चिदात्मनोऽन्योऽपि काय इति । अन्यैस्तु कार्मणकायमाश्रित्य आत्मा काय इति व्याख्यातम्, कार्मणकायस्य संसार्यात्मनश्च परस्पराव्यभिचरितत्वेनैकस्वरूपत्वात् । [अन्ने वि काए त्ति] औदारिकादिकायापेक्षया जीवादन्यः कायः, तद्विमोचनेन तद्भेदसिद्धेरिति । [रूवी पि काए त्ति] रूप्यपि कायः, औदारिकादिकायस्थूलरूपापेक्षया । अरूप्यपि कायः, कार्मणकायस्यातिसूक्ष्मरूपित्वेनारूपित्वविवक्षणात् । [एवं एक्केक्के पुच्छ त्ति] पूर्वोक्तप्रकारेण एकैकसूत्रे पृच्छा विधेया। तद्यथा-"सचित्ते भंते ! काये" इत्यादि। अत्रोत्तरम्-(सचित्ते वि काए) जीवदवस्थायां चैतन्यसमन्वितत्वात् । (अचित्ते वि काए) मृतावस्थायां चैतन्यस्याभावात् । [जीवे वि काए त्ति] जीवोऽपि विवक्षितोच्छ्वासादिप्राणयुक्तोऽपि भवति कायः औदारिकादिशरीरमपेक्ष्य । [अजीवे वि काए त्ति] अजीवोऽप्युच्छ्वासादिरहितो भवति कायः कार्मणशरीरमपेक्ष्य। [जीवाण वि काए त्ति] जीवानां सम्बन्धी कायः शरीरं भवति । [अजीवाण वि काए त्ति] अजीवानामपि स्थापनाऽर्हदादीनां कायः शरीरं भवति, शरीराकार इत्यर्थः । [पुब्विं पि काए त्ति] जीवसम्बन्धकालात्पूर्वमपि कायो भवति; यथा भविष्यज्जीवसम्बन्धं मृतदर्दुरशरीरम् । [काइज्जमाणे वि काए त्ति] जीवेन चीयमानोऽपि कायो भवति, यथा जीवच्छरीरी [कायसमयविइक्कंते वि काए त्ति] कायसमयो जीवेन कायस्य कायताकरणलक्षणः, तं व्यतिक्रान्तो यः स तथा। सोऽपि काय एव, मृतकडेवरवत्। [पुब्विं पि काये भिज्जइ त्ति] जीवेन कायतया ग्रहणसमयात्पूर्वमपि कायो मधुघटादिन्यायेन द्रव्यकायो भिद्यते, प्रतिक्षणं पुद्गलचयापचयभावात् । [काइज्जमाणे वि काए भिज्जइ त्ति] जीवेन कायी क्रियमाणो पि कायो भिद्यते, सिकताकणकलापमुष्टिग्रहणवत् पुद्गलानामनुक्षणं परिशाटभावात् । [कायसमयविइक्कंते वि काए भिज्जइ त्ति] कायसमयव्यतिक्रान्तस्य च कायता भूतभावतया घृतकुम्भादिन्यायेन, भेदश्च पुद्गलानां तत्स्वभावत्वेनेति। चूर्णिकारेण-पुनः कायसूत्राणि कायशब्दस्य केवलं शरीरार्थत्यागेन चयमात्रवाचकत्वमङ्गीकृत्य व्याख्यातानि। यदाह-"कायसद्दो सव्वभावसामन्नसरीरवायी" कायशब्दः सर्वभावानां सामान्यं यच्छरीरं चयमात्रं तद्वाचक इत्यर्थः । एवञ्च [आया वि काए सेसदव्वाणि वि काए त्ति]। इदमुक्तं भवति-आत्माऽपि कायः,प्रदेशसञ्चय इत्यर्थः। तदन्योऽप्यर्थः कायः, प्रदेशसञ्चयरूपत्वादिति । रूपी कायः पुद्गलस्कन्धापेक्षया, अरूपी कायो जीवधर्मास्तिकायाद्यपेक्षया, सचित्तः कायो जीवच्छरीरापेक्षया, अचित्तः कायोऽचेतनसञ्चयापेक्षया, जीवः काय उच्छ्वासादियुक्तावयवसञ्चयरूपः,अजीवः कायस्तद्विलक्षणजीवानां कायः जीवराशिः,अजीवानां कायः परमाण्वादिराशिरिति । एवं शेषाण्यपि। अथ कायस्यैव भेदानाह-[कतिविहे णमित्यादि] अयं च सप्तविधोऽपि प्राग्विस्तरेण व्याख्यातः। इह तु स्थानाङ्गस्यार्थे लेशतो व्याख्यायते-तत्र च [ओरालिए त्ति] औदारिकशरीरमेव पुद्गलस्कन्धरूपत्वादुपचीयमानत्वात्काय औदारिककायोऽयं च पर्याप्तकस्यैवेति । [ओरालियमीसए त्ति] औदारिकश्चासौ मिश्रश्च कार्मणेनेत्यौदारिकमिश्रोऽयं चापर्याप्तकस्य। [वेउव्विए त्ति] वैक्रियः पर्याप्तकस्य देवादेः [वेउव्वियमीसए त्ति] वैक्रियश्चासौ मिश्रश्च कार्मणेनेति वैक्रियमिश्रः, अयं चाप्रतिपूर्णवैक्रियशरीरस्य देवादेः। [आहारए त्ति] आहारक आहारकशरीरनिर्वृत्तौ । [आहारगमीसए त्ति] आहारकपरित्यागेन औदारिकग्रहणायोद्यतस्याहारकमिश्रो भवति,मिश्रता पुनरौदारिकेणेति ।(कम्मए त्ति) विग्रहगतौ केवलिसमुद्घाते वा कार्मणः स्यादिति। भ०१३श०७उ०। जीवनिकाये, स्था० ३ ठा० १ उ० । उत्त०। सूत्र० । कायशब्दः सर्वभावानां सामान्यं यच्छरीरं चयमात्रं तद्वाचक इत्यर्थः । भ० १३ श० ७ उ० । राशौ, स्था० ३ ठा० २ उ० । संघाते, अनु० । विशे० । पञ्चत्रिंशत्तमे महाग्रहे, "दो काया" स्था० २ ठा० ३ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० । अनार्यदेशविशेषे, प्रव० २७४ द्वार । सूत्र० । तन्निवासिनि जने, प्रज्ञा० १ पद । कः प्रजापतिः, कं सुखं वा ततः देवतार्थे, तस्येदं वा अण्, कस्येत् इदन्तादेशो वृद्धिः । प्रजापतिदेवताके हविरादौ, कनिष्ठाऽङ्गुलिमूलस्थानरूपे प्रजापतितीर्थे, न० । कायसंबन्धिकार्योपयोगित्वाद् मनुष्यतीर्थे, न० । प्रजापतिदेवताके विवाहभेदे, पुं०। चीयतेऽदः चि कर्मणि घञ्, चेः कत्वम् । मूलधने, पुं० । मूलधनस्य वृद्ध्या उपचीयमानत्वात् तथात्वम् । करणे घञ् । वस्तुस्वभावेन पदार्थानां चीयमानत्वात् तथात्वम्, भावे घञ् । संघे, पुं०। वाच०। कायाः पृथिव्यादयः। स्था०२ ठा० ४ उ०।

कायउज्जुयया-कायर्जुकता-स्त्री० । ऋजुकस्यामायिनो भावः कर्म वा ऋजुकता, कायस्य ऋजुकता कायर्जुकता । स्था०४ ठा० १ उ० । परावञ्चनपरकायचेष्टायाम्, भ० ८ श० ८ उ० ।

कायक-कायक-न० । कश्चिद्देशे इन्द्रनीलवर्णः कार्पासो भवति, तेन निष्पन्ने वस्त्रे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कायकिलेस-कायक्लेश-पुं० । कायस्य शरीरस्य क्लेशः खेदः पीडा कायक्लेशः । स्था० ७ ठा० । शरीरक्लेशने, स्था० ६ ठा० । तापशीतादीनां सहने, उत्त० ३० अ० । आव० । बाह्यतपोभेदे, पा० । नं० । स च वीरासनादिभेदाच्चित्रः । दश० १ अ० ।

गानतो लौकिकः कायक्लेशः-

सत्त स्सरा तओ गामा, मुच्छणा एगविंसती ।

ताणा एगूणपन्नासा, संमत्तं सरमंडलं ॥ १४ ॥

सत्तविहे कायकिलेसे पण्णत्ते । तं जहा-ठाणाइए उक्कुडुआसणिए पडिमट्ठाई वीरासणिए णेसज्जिए दंडायइए लगंडसाई ॥ २ ॥

स्थानायतिकः स्थानातिगः स्थानातिदो वा कायोत्सर्गकारी । इह च धर्मधर्मिणोरभेदादेवमुपन्यासः, अन्यथा कायक्लेशस्य प्रक्रान्तत्वात् स एव वाच्यः स्याद्, न तद्वान्, इह तु तद्वान्निर्दिष्ट इति । एवं सर्वत्र-उत्कुटुकासनिकः प्रतीतः, तथा प्रतिमास्थायीति भिक्षुप्रतिमाकारी, वीरासनिको यः सिंहासने निविष्ट इवास्ते, नैषधिकः समपदयुतादिनिषद्योपवेशी, दण्डायतिकः प्रसारितदेहः, लगण्डसायी भूम्यलग्नपृष्ठः । स्था० ७ ठा० । प्र० । ग० ।

आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा ।

वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥ १२ ॥

आतापयन्ति ऊर्द्धस्थानादिना आतापनं कुर्वन्ति ग्रीष्मेषूष्णकालेषु, तथा हेमन्तेषु, तथा शीतकालेष्वप्रावृता इति प्रावरणरहितास्तिष्ठन्ति । तथा वर्षासु वर्षाकालेषु संलीना इत्येकाश्रयस्था भवन्ति संयताः साधवः, सुसमाहिताः ज्ञानादिषु यत्नपराः । ग्रीष्मादिषु बहुवचनं प्रतिवर्षकरणज्ञापनार्थमिति सूत्रार्थः । दश० ३ अ० ।

कायगुत्त–कायगुप्त–त्रि० । कायगुप्त्या गुप्तः कायगुप्तः । उत्त० १२ अ० । असत्कायक्रियाविकले जितेन्द्रिये, "कायगुत्तो जिइंदिओ ।" उत्त० १२ अ० ।

कायगुत्तया–कायगुप्तता–स्त्री० । कायस्याऽशुभव्यापाराद् गोपने, उत्त० २९ अ० ।

अथ कायगुप्तेः फलं प्रश्नपूर्वकमाह–

कायगुत्तयाए णं भंते ! जीवे किं जयणइ ? । कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ, संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ५५

हे भदन्त ! कायगुप्ततया जीवः किं जनयति ? । गुरुराह-हे शिष्य ! कायगुप्ततया जीवः सम्वरं जनयति, सम्वरेण गुप्तकायः पुनः पापाश्रवनिरोधं करोति । दश० २९ अ० ।

कायगुत्ति–कायगुप्ति–स्त्री० । गमनागमनप्रचलनादानस्यन्दनादिक्रियाणां गोपने गुप्तिभेदे, उत्त० ।

इदानीं कायगुप्तिमभिधातुमाह–

ठाणे निसीयणे वा वि, तहेव य तुयट्टणे ।

उल्लंघण पल्लंघणे, इंदियाणं च जुंजणे ॥

संरंभसमारंभे, आरंभे य तहेव य ।

कायं पवत्तमाणं तु, नियंटेज्ज जई जयं ॥

स्थाने ऊर्द्धस्थाने (निसीयणे त्ति) निषीदने उपवेशने । चः तयोरेव विचित्रभेदसमुच्चयार्थः एवेति पूरणे । तथैव च त्वग्वर्तने शयने, उल्लङ्घने तथाविधनिमित्तत ऊर्द्धभूमिकाद्युत्क्रमेण, गर्त्ताद्यतिक्रमेण च; प्रलङ्घने सामान्येन गमने उभयत्र सूत्रत्वात् सुपो लुक् । इन्द्रियाणां च स्पर्शनादीनां (जुंजण त्ति) योजनं शब्दादिविषये व्यापारणं, तस्मिन् सर्वत्र च वर्त्तमान इति शेषः । ततः स्थानादिषु वर्त्तमानः संरम्भोऽभिघातो दृष्टिमुष्ट्यादिसंस्थानमेव संकल्पसूचकमुपचारात्संकल्पवाच्यं, तत्समारम्भः परितापकरो मुष्ट्याद्यभिघातः, ततः संरम्भश्च समारम्भश्च संरम्भसमारम्भं, तस्मिन् । आरम्भे प्राणिवधात्मनि कायं प्रवर्त्तमानं निवर्तयेत् । शेषं प्राग्वदिति

सूत्रार्थः । उत्त० २४ अ० । अथ कायगुप्तिरपि द्विधा-चेष्टानिवृत्तिलक्षणा, यथागमं चेष्टानियमलक्षणा च । तत्र परीषहोपसर्गादिसंभवेऽपि यत्कायोत्सर्गकरणादिना कायस्य निश्चलताकरणं, सर्वयोगनिरोधावस्थायां वा सर्वथा यत्कायचेष्टानिरोधनं सा प्रथमा । गुरुमापृच्छ्य शरीरसंस्तारकभूम्यादिप्रतिलेखनाप्रमार्जनादिसमयोक्तक्रियाकलापपुरस्सरं शयनासनादि साधुना विधेयं, ततः शयनासननिक्षेपादानादिषु स्वच्छन्दचेष्टापरिहारेण नियता या कायचेष्टा सा द्वितीयेति । उक्तं च–

" उपसर्गप्रसंगेऽपि, कायोत्सर्गजुषो मुनेः ।

स्थिरीभावः शरीरस्य, कायगुप्तिर्निगद्यते ॥ १ ॥

शयनासननिक्षेपा-दानसंक्रमणेषु च ।

स्थानेषु चेष्टानियमः, कायगुप्तिस्तु साऽपरा " ॥ २ ॥ ध० ३ अधि० ।

दृष्टान्तः—

" प्रवृत्तः साधुरध्वानं, सार्थे वा वासिते क्वचित् ।

पदमात्रं कथमपि, शुद्धं स्थण्डिलमासदत् ॥ १ ॥

स्थितस्तत्रैकपादेन, सर्वामपि विभावरीम् । " आ० क० ।

कायछक्क–कायषट्क–न० । कायानां पृथिव्यादीनां षट्कं कायषट्कम् । षट्सु कायेषु सम्यगनुपालनविषयतयाऽनगारगुणभेदे, आव० ४ अ० । (तत्र यतना प्रथमभागे २४६ पृष्ठे ' अट्ठारसठाण ' शब्दे उक्ता)

कायजोग–काययोग–पुं० । औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषे, दर्श० । नं० । स्था० । प्रज्ञा० । औ० । विशे० ।

" निरयालीनप्रलीनाङ्गः, कूर्मवद् मुनिपुङ्गवः । तिष्ठेत् प्रयोजनाभावे, काययोगोऽयमीरितः " ॥ १ ॥ जीत० । भेदाः–काययोगः सप्तधा—वैक्रियकाययोगः, आहारककाययोगः, औदारिककाययोगः , मिश्रशब्दस्य पूर्वदर्शितशरीरत्रिकेण सह संबन्धात् वैक्रियमिश्रकाययोगः , आहारकमिश्रकाययोगः, औदारिकमिश्रकाययोगः , कार्मणकाययोगः । अयं भावः—विविधा विशिष्टा वा क्रिया विक्रिया, तस्यां भवं वैक्रियम् । तथाहि—तदेकं भूत्वाऽनेकं भवति, अनेकं भूत्वा एकम् । अणु भूत्वा महद्भवति, महद् भूत्वा अणु । तथा खचरं भूत्वा भूमिचरं भवति, भूचरं भूत्वा खचरम् । अदृश्यं भूत्वा दृश्यं भवति, दृश्यं भूत्वा अदृश्यमित्यादि । बह्वा-विशिष्टं कुर्वन्ति तदिह वैकुर्विकम्, पृषोदरादित्वाद भीष्टरूपसिद्धिः । तच्च द्विधा-औपपातिकं, लब्धिप्रत्ययं च । तत्रौपपातिकम्-उपपातजन्मनिमित्तं, तच्च देवनारकाणाम् । लब्धिप्रत्ययं तिर्यङ्मनुष्याणाम् । उक्तं च श्रीमदनुयोगद्वारलघुवृत्तौ–" विविहा विसिट्ठगा वा, किरिया तीए जं भवं तमिह । नियमा विउव्वियं पुण, नारगदेवाण पयईए " ॥ १ ॥ तदेव काययोगः, तन्मयो वा योगो वैक्रिययोगो, वैकुर्विककाययोगो वा, वैक्रियं मिश्रं यत्र कार्मणेनौदारिकेण वा स वैक्रियमिश्रः । तत्र कार्मणेन मिश्रं देवनारकाणामपर्याप्तावस्थायां प्रथमसमयादनन्तरं बादरपर्याप्तकाये पञ्चेन्द्रियतिर्यङ्मनुष्याणां च वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियारम्भकाले वैक्रियपरित्यागकाले वा औदारिकेण मिश्रं, ततो वैक्रियमिश्रश्चासौ कायश्च वैक्रियमिश्रकायः, तेन योगो वैक्रियमिश्रकाययोगः । चतुर्दशपूर्वविदा तथाविधकार्योत्पत्तौ विशिष्टलब्धिवशादाह्रियते निर्वर्त्यत इत्याहारकम् । अथवा-आह्रियन्ते गृह्यन्ते तीर्थकरादिसमीपे सूक्ष्मा जीवादयः पदार्था अनेनेत्याहारकम्, " कृद्बहुलम् " ॥ ५ । १ । २ ॥ इति कर्मणि, करणे वा णकः । यदऽवादि–

" कज्जम्मि समुप्पन्ने, सुयकेवलिणा विसिट्ठलद्धीए ।
जं इत्थ आहरिज्जइ, भणंति आहारगं तं तु ॥ १ ॥
पाणिदयरिद्धिसंदरि-सणत्थमत्थोवग्गहणहेउं वा ।
संसयवुच्छेयत्थं, गमणं जिणपायमूलम्मि "॥ २॥

तदेव कायः, तेन योग आहारककाययोगः। आहारकं मिश्रं यत्र, औदारिकेणेति गम्यते। स आहारकमिश्रः सिद्धप्रयोजनस्य चतुर्दशपूर्वविद आहारकं परित्यज्यत औदारिकमुपाददानस्याहारकं प्रारभमाणस्य वा प्राप्यते । स एव कायः तेन योग· आहारकमिश्रकाययोगः । कर्म० ४ कर्म० ।

कायजोगि(ण्)-काययोगिन्-पुं० । जीवभेदे, काययोगिन एकेन्द्रियाः, अन्येषां मनोयोगवाग्योगयोरपि सत्त्वात् । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कायट्ठिइ-कायस्थिति-पुं० । काये निकाये पृथिव्यादिसामान्यरूपेण स्थितिः । स्थितिभेदे, "दोएहं कायठिई पन्नत्ता। तं जहा- मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव " । कायस्थितिरसंख्योत्सर्पिण्यादिका। स्था० २ ठा० २ उ० । काय इह पर्यायो गृह्यते, काय इव काय इत्युपमानात् । स च द्विधा-सामान्यरूपो विशेषरूपश्च । तत्र सामान्यरूपो निर्विशेषणो जीवत्वलक्षणः, विशेषरूपो नैरयिकत्वादिलक्षणः; तस्य स्थितिरवस्थानं कायस्थितिः । सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा पर्यायेणादिष्टस्य जीवस्याव्यवच्छेदेनेन भवने, प्रज्ञा० ।

(१) कायस्थित्यधिकारगाथा ।
(२) दण्डकत्वेन जीवानां कायस्थितिः ।
(३) जीवानां नैरयिकत्वादिपर्यायैरवस्थानचिन्तनम् ।
(४) तिर्यक्तिर्यक्स्त्रीणां मनुष्यमनुष्यस्त्रीणां च कायस्थितिः।
(५) देवदेवीनां कायस्थितिविस्तारः ।
(६) पर्याप्तापर्याप्तत्वविशेषेण नैरयिकादीनां कायस्थितिः ।
(७) इन्द्रियद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(८) कायद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(९) योगद्वारमवलम्ब्य कायस्थितिविचारः ।
(१०) वेदद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(११) कषायद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१२) लेश्याद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१३) सम्यग्दृष्टिद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१४) ज्ञानद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१५) दर्शनद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१६) संयमद्वारमुपयोगद्वारं चाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१७) आहारद्वारमाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१८) भाषकाभाषकद्वारं परित्तापरित्तद्वारं चाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः ।
(१९) संज्ञिद्वारं भवसिद्धिकद्वारं चाश्रित्य जीवानां कायस्थितिः।
(२०) उदकगर्भादीनां कायस्थितिनिरूपणम् ।

(१) कायस्थित्यधिकारगाथामाह-

जीवगइंदियकाए, जोए वेदे कसाय लेस्सा य ।
सम्मत्तनाणदंसण, संजय उवओग आहारे ॥ १ ॥
भासगपरित्तपज्ज-त्तसुहुमसन्नी भवत्थिचरिमे य ।
एएसिं तु पदाणं, कायठिती होइ णायव्वा ॥ २ ॥

प्रथमं जीवपदम् । किमुक्तं भवति ?, प्रथमं जीवपदमधिकृत्य कायस्थितिर्वक्तव्या इति १, ततो गतिपदम् २, तदनन्तरमिन्द्रियपदम् ३, ततः कायपदम् ४, ततो योगपदम् ५, तदनन्तरं वेदपदम् ६, ततः कषायपदम् ७, ततो लेश्यापदम् ८, तदनन्तरं सम्यक्त्वपदम् ९, तदनन्तरं ज्ञानपदम् १०, तदनन्तरं दर्शनपदम् ११, ततः संयतपदम् १२, ततः उपयोगपदम् १३, तदनन्तरमाहारपदम् १४, ततो भाषकपदम् १५, ततः परीतपदम् १६, ततः पर्याप्तपदम् १७, ततः सूक्ष्मपदम् १८, ततः संज्ञिपदम् १९, ततो भवसिद्धिपदम् २०, तदनन्तरमस्तिकायपदम् २१, ततश्चरमपदम् २२। एतेषां द्वाविंशतिसंख्यानां पदानां कायस्थितिर्भवति ज्ञातव्या; यथा च भवति ज्ञातव्या तथा यथोद्देशं निर्दिश्यते।

(२) जीवादिदण्डकः-

जीवे णं भंते! जीव त्ति कालओ केव चिरं होइ? । गोयमा! सव्वद्धं।

'जीवेणं भंते ' इत्यादि । इह जीवनपर्यायविशिष्टो जीव उच्यते, तत्प्रश्नयति-जीवो, णमिति वाक्यालंकारे। भदन्त ! जीव इति । जीवपर्यायविशिष्टतयेत्यर्थः । कालतः कालमधिकृत्य, कियच्चिरं कियन्तं कालं यावद्भवति । भगवानाह-गौतम ! सर्वाद्धां, सर्वकालं यावत्। कथमिति चेत्?, उच्यते-इह जीवनमुच्यते प्राणधारणम्। प्राणाश्च द्विविधाः-द्रव्यप्राणा भावप्राणाश्च। द्रव्यप्राणा इन्द्रियपञ्चकबलत्रिकोच्छ्वासनिश्वासायुष्कर्मानुभवलक्षणाः,भावप्राणा ज्ञानादयः।तत्र संसारिणामायुष्कर्मानुभवलक्षणं प्राणधारणं सदैवावस्थितम्, न हि सा काचिदवस्था संसारिणामस्ति यस्यामायुष्कर्मानुभवनं न विद्यत इति । मुक्तानां तु ज्ञानादिरूपप्राणधारणमवस्थितम्, मुक्तानामपि हि ज्ञानादिरूपाः प्राणाः सन्ति, यैर्मुक्तोऽपि जीवतीति व्यपदिश्यते। ते च ज्ञानादयो मुक्तानां शाश्वतिकाः, अतः संसार्यवस्थायां च सर्वत्र जीवनमस्तीति सर्वकालभावी जीवनपर्यायः ।

(३) सम्प्रति तस्यैव जीवस्य नैरयिकत्वादिपर्यायैरादिष्टस्य तैरेव पर्यायैरव्यवच्छेदेनावस्थानं चिन्तयन्नाह-

णेरइए णं भंते ! णेरइए त्ति कालओ केव चिरं होइ? । गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ॥

'नेरइएणं भंते' इत्यादि सुगमं, नवरं नैरयिकास्ततो भव्यस्वाभाव्यात् च्युत्वाऽनन्तरं न भूयो भूयो नैरयिकत्वेनोत्पद्यन्ते, ततो यदेव तेषां भवस्थितेः परिमाणं तदेव कायस्थितेरपीत्युपपद्यते जघन्यत उत्कर्षतश्च यथोक्तपरिमाणकायस्थितिः ।

(४) तिरश्चाम्—

तिरिक्खजोणिए णं भंते ! तिरिक्खजोणिए त्ति कालओ केव चिरं होइ? । गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ ओसप्पिणीउस्सप्पिणीओ कालओ खित्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे ॥

(तिरिक्खजोणिए णं भंते इत्यादि) तत्र यदा देवो मनुष्यो नैरयिको वा तिर्यक्षूत्पद्यते तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः स्वगतौ गत्यन्तरे वा संक्रामति, तदा लभ्यते जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा कायस्थितिः, उत्कर्षतोऽनन्तं कालं यावत्। तस्य चानन्तस्य कालस्य प्ररूपणा द्विविधा । तद्यथा-कालतः, क्षेत्रतश्च । तत्र कालतोऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः, उत्सर्पिण्य-

वसर्पिणीपरिमाणं च नन्द्यध्ययनटीकातोऽवसेयम्, तत्र सविस्तरमभिहितत्वात् । क्षेत्रतोऽनन्ता लोकाः । किमुक्तं भवति?, अनन्तेषु लोकाऽऽकाशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे क्रियमाणे यावन्त्योऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावतीर्यावत् तिर्यक् तिर्यक्त्वेनावतिष्ठते,एतदेव कालपरिमाणपुद्गलपरावर्त्तसङ्ख्यातो निरूप्यते । पुद्गलपरावर्तस्वरूपं च पञ्चसंग्रहटीकायां विस्तरतोऽभिहितमिति ततोऽवधार्यमिह तु नाभिधीयते, ग्रन्थगौरवभयात् । असंख्याता अपि पुद्गलपरावर्त्ताः कियन्त इति विशेषसंख्यानिरूपणार्थमाह-[तेणमित्यादि] ते पुद्गलपरावर्त्ता आवलिकाया असंख्येयतमभागः । किमुक्तं भवति?, आवलिकाया असंख्येयतमे भागे यावन्तः समयास्तावत्प्रमाणा असंख्येयपुद्गलपरावर्त्ता इति । एतच्चैवं कायस्थितिपरिमाणं वनस्पत्यपेक्षया द्रष्टव्यं, न शेषतिर्यगपेक्षया; वनस्पतिव्यतिरेकेण शेषतिरश्चामेतावत्कालप्रमाणकायस्थितेरसम्भवात् ।

तिर्यक्स्त्रियां कायस्थितिमाह—

तिरिक्खजोणिणी णं भंते ! तिरिक्खजोणिणीति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं, एवं मणुस्से वि, मणुस्सी वि एवं चेव ।

[तिरिक्खजोणिणीणं भंते ! इत्यादि] इह उत्तरत्र च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तभावना प्रागुक्ता अन्तर्मुहूर्त्तभावनानुसारेण स्वयं भावनीया । उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वाभ्यधिकानि । कथमिति चेत्?,उच्यते-इह तिर्यग्मनुष्याणां संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणामुत्कर्षतोऽप्यष्टौ भवाः कायस्थितिः,"नरतिरियाणं सत्तट्ठ भवा" इति वचनात् । तत्रोत्कर्षस्य चिन्त्यमानत्वादष्टावपि भवा यथासंभवमुत्कृष्टस्थितिकाः परिगृह्यन्ते । असंख्येयवर्षायुष्कस्तु मृत्वा नियमतो देवलोकेषूत्पद्यते न तिर्यक्षु । ततः सप्त भवाः पूर्वकोट्यायुषो वेदितव्याः । अष्टमस्तु पर्यन्तवर्ती देवकुर्वादिष्विति त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वाभ्यधिकानि भवन्ति च [मनुस्से वि मनुस्सी वि इति] एवं तिर्यक्स्त्रीगतेन प्रकारेण मानुष्योऽपि च वक्तव्याः । किमुक्तं भवति ?- मनुष्यसूत्रे मानुषीसूत्रे च जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमानि पूर्वकोटीपृथक्त्वाभ्यधिकानि वक्तव्यानीति । सूत्रपाठस्त्वेवम्-"मणुस्से णं भंते ! मणुस्स त्ति कालओ केव चिरं होइ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीपुहुत्तमब्भहियाइं; मणुस्सीणं भंते ! मणुस्सि त्ति कालओ" इत्यादि ।

[५] देवदेवीनाम्-

देवे णं भंते ! देव त्ति कालओ केव चिरं होइ?। गोयमा ! जहेव णेरइए । देवी णं भंते ! देवि त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं उक्कोसेणं पणपण्णपलिओवमाइं । सिद्धे णं भंते ! सिद्ध त्ति केव चिरं होइ?। गोयमा ! सादिअपज्जवसिए ॥

[जहेव नेरइए इति] यथैव नैरयिकः प्रागुक्तस्तथैव देवोऽपि वक्तव्यः, देवस्यापि जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि, उत्कर्षतः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि वक्तव्यानीति भावः । देवा अपि हि स्वभवाच्च्युत्वा न भूयोऽनन्तरं देवत्वेनोत्पद्यन्ते, "नो देवे देवेसु उववज्जइ" इति वचनात् ततो यदेव देवानामपि भवस्थितेः परिमाणं तदेव कायस्थितेरपि । देवीसूत्रे-उत्कर्षतः पञ्चपञ्चाशत् पल्योपमानीति, देवीनां भवस्थितेरुत्कर्षतोऽप्येतावत्प्रमाणत्वात् । एतच्च ईशानदेव्यपेक्षया द्रष्टव्यम्, अन्यत्र देवीनामेतावत्या स्थितेरभावात् । सिद्धसूत्रे-साद्यपर्यवसित इति । सिद्धत्वस्य क्षयासम्भवात् । सिद्धत्वाद्धि च्यावयितुमीशा रागादयो,न च ते भगवतः सिद्धस्य संभवन्ति, तन्निमित्तकर्मपरमाणवभावात्, तदभावश्च तेषां निर्मूलकाषं कषितत्वात् ।

[६] सम्प्रत्येतावतो नैरयिकादीन् पर्याप्तापर्याप्तेन विशेषणद्वारेण चिन्तयन्नाह-

णेरइए णं भंते ! णेरइयअपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं, एवं जाव देवी अपज्जत्तिया ॥

[नेरइए णं भंते !]नैरयिको भदन्त ! अपर्याप्त इति । अपर्याप्तत्वपर्यायविशिष्टो विच्छेदेन कालतः कियन्तं कालं यावद्भवति?। भगवानाह-गौतमेत्यादि । इहापर्याप्तावस्था जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा,तत ऊर्द्ध्वं नैरयिकाणामवश्यं पर्याप्तावस्थाभावात् । तत उक्तम्-(जहन्नेण वि अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं, एवं जाव देवी अपज्जत्तिया इति) एवं नैरयिकोक्तेन प्रकारेण पर्याप्तास्तिर्यगादयस्तावद्वक्तव्या यावद् देवी अपर्याप्तकाः, अपर्याप्तकदेवीसूत्रं यावदित्यर्थः । तत्र तिर्यञ्चो मनुष्याश्च यद्यप्यपर्याप्तका एव भूत्वा भूयो भूयोऽपर्याप्ततनोत्पद्यन्ते, तथापि तेषामपर्याप्तावस्था नैरन्तर्येणोत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणैव लभ्यते । यद्वक्ष्यति-"अपज्जत्तए णं भंते ! अपज्जए त्ति कालओ केव चिरं होइ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तमिति" । देवदेवीसूत्रे-अन्तर्मुहूर्त्तभावना नैरयिकवत् ।

नैरयिकाणां पर्याप्तत्वेन-

णेरइए णं भंते ! णेरइयपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ।

नैरयिकपर्याप्त इति । पर्याप्तो नैरयिक इत्येवमविच्छेदेन कालतः कियच्चिरं भवति ?। भगवानाह-गौतम ! जघन्यतो दश वर्षसहस्राणि अन्तर्मुहूर्तोनानि, अन्तर्मुहूर्त्तस्यापर्याप्तावस्थायां गतत्वात् । अत एवोत्कर्षतोऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्तोनानि ।

तिरश्चाम्-

तिरिक्खजोणियपज्जत्तए णं तिरिक्खजोणियपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ?। गोयमा ! जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं । एवं तिरिक्खजोणिणीपज्जत्तिया वि । मणुस्से मणुस्सी वि एवं चेव । देवपज्जत्तए जहा णेरइयपज्जत्तए । देवीपज्जत्तियाणं भंते ! देवीपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ?। गोयमा ! जहण्णेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तूणाइं, उक्कोसेणं पणपण्णं पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तूणाइं ॥

तिर्यक्सूत्रे-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तभावना प्राग्वत् । उत्कर्षतस्त्रीणि पल्योपमान्यन्तर्मुहूर्त्तोनानि । एतच्चोत्कृष्टायुषो देवकुर्वादि-

भाविनास्तिरश्चोऽधिकृत्य वेदनीयम्, अन्येषामेतावत्कालप्रमाणापर्याप्तावस्थायामविच्छेदेनाप्राप्यमाणत्वात्; अत्राप्यन्तर्मुहूर्त्तस्यापर्याप्तावस्थाया प्रस्तुतत्वात् । एवं तिर्यक्स्त्रीमनुष्यमानुषीसूत्रेष्वपि भावनीयम् । तथा देवदेवीसूत्रयोस्तु जघन्यत उत्कर्षतश्च कायस्थितिपरिमाणं प्रागुक्तमेवापर्याप्तावस्थाभाविनाऽन्तर्मुहूर्त्तेन हीनं परिभावनीयम् । गतं गतिद्वारम् ।

(७) इदानीमिन्द्रियद्वारमभिधित्सुराह–

सइंदिए णं भंते ! सइंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! सइंदिए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-अणाइए अपज्जवसिए, अणाइए सपज्जवसिए ॥

[सइंदिए णं भंते ! इत्यादि] सह इन्द्रियं यस्य येन वा स सेन्द्रियः । इन्द्रियं च द्विधा-लब्धीन्द्रियं द्रव्येन्द्रियं च । तत्रेह लब्धीन्द्रियमवसेयं, तद्विग्रहगतावप्यस्ति । इन्द्रियपर्याप्तस्यापि च ततो निर्वचनसूत्रमुपपद्यते; अन्यथा तदघटमानमेव स्यात् । निर्वचनसूत्रमेवाह-[गोयमेत्यादि] इह यः संसारी स नियतमात्मेन्द्रियः, संसारश्चानादिरित्यनादिः सेन्द्रियः । तत्रापि यः कश्चित्कदाचिदपि न सेत्स्यतिऽनाद्यपर्यवसितः, सेन्द्रियत्वे पर्यायस्य कदाचिदप्यव्यवच्छेदात् । यस्तु सेत्स्यति सोऽनादिसपर्यवसितः, मुक्त्यवस्थायां सेन्द्रियत्वपर्यायस्याभावात् ।

एकेन्द्रियादीनाम्–

एगिंदिए णं भंते ! एगिंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं वणस्सइकालो ॥

एकेन्द्रियसूत्रे यदुक्तं "उक्कोसेणं अणंतं कालमिति," तमेवानन्तं कालं सविशेषं निरूपयति-(वणस्सइकालओ इति) यावान् वनस्पतिकालः अग्रे वक्ष्यति, तावन्तं कालं यावदित्यर्थः; वनस्पतिकायस्यैकेन्द्रियपदे तस्यापि परिग्रहात् । स च वनस्पतिकाल एवंप्रमाणः-"अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा असंखेज्जा पोग्गलपरियट्टा तेणं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागे " इति ॥

द्वीन्द्रियादीनाम्–

बेइंदिए णं भंते ! बेइंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जं कालं । एवं तेइंदियचउरिंदिए वि । पंचिंदिए णं भंते ! पंचिंदिए त्ति कालओ केव चिरं होइ?। गोयमा ! जहन्नेणं अन्तोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं सातिरेगं । अणिंदिए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए । सइंदियअपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं वि उक्कोसेण वि अन्तोमुहुत्तं । एवं जाव पंचिंदियअपज्जत्तए वि ॥

द्वीन्द्रियसूत्रे-(संखेज्जं कालं ति) संख्येयानि वर्षसहस्राणीत्यर्थः; "बिगलेंदियाण य वाससहस्सं संखेज्जा" इति वचनात् । एवं त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रिययोरपि सूत्रे वक्तव्ये । तत्रापि जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतः संख्येयकालमिति वक्तव्यमिति भावः । संख्येयश्च कालः संख्येयानि वर्षसहस्राणि प्रत्येतव्यानि । पञ्चेन्द्रियसूत्रे-उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमसहस्रं, तच्च नैरयिकतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यदेवभवभ्रमणेन द्रष्टव्यमधिकं तु न भवति, एतावत एव कालस्य केवलवेदस्योपलब्धत्वात् । अनिन्द्रियो द्रव्यभावेन्द्रियविकलः,स च सिद्ध एव । सिद्धश्च साद्यपर्यवसितः । तत उक्तम्-' साइ अपज्जवसिए'इति । 'सइंदियअपज्जत्तए णमित्यादि' । इहापर्याप्ता लब्ध्यपेक्षया, करणापेक्षया च द्रष्टव्याः; उभयथाऽपि तत्पर्याप्तस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् । एवं तावद्वाच्यं यावत्पञ्चेन्द्रियापर्याप्तकः पञ्चेन्द्रियापर्याप्तकसूत्रम्; तच्च सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयम् । अनिन्द्रियोऽत्र न वक्तव्यः, तस्य पर्याप्तापर्याप्तविशेषणरहितत्वात् ।

सइंदियपज्जत्तए णं भंते ! सइंदियपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं । एगिंदियपज्जत्तए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं । बेइंदियपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं । बेइन्दियपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वासाइं । तेइंदियपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं । चउरिंदियपज्जत्तए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जा मासा । पंचिंदियपज्जत्तए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं ॥

(सइंदियपज्जत्तए णं भंते ! इत्यादि) इह पर्याप्तो लब्ध्यपेक्षया वेदितव्यः । स हि विग्रहगतावपि सम्मतिकरणैरपर्याप्तस्यापि,तत उत्कर्षतः सातिरेकसागरोपमशतपृथक्त्वमिति यन्निर्वचनं तदुपपद्यते । अन्यथा करणपर्याप्तस्योत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तानां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणतया लभ्यमानत्वात् यथोक्तं निर्वचनेनोपपद्यते । एवमुत्तरसूत्रेऽपि पर्याप्तत्वं लब्ध्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । एकेन्द्रियपर्याप्तसूत्रे-संख्येयानि वर्षसहस्राणीति । एकेन्द्रियस्य हि पृथिवीकायस्योत्कर्षतो द्वाविंशतिवर्षसहस्राणि भवस्थितिः । अप्कायस्य सप्त वर्षसहस्राणि, वातकायस्य त्रीणि वर्षसहस्राणि, ततो निरन्तरं कतिपयपर्याप्तभवसङ्कलनया सङ्ख्येयानि वर्षसहस्राणि घटन्ते इति । द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तसूत्रे-सङ्ख्येयानि वर्षाणि, द्वीन्द्रिया ह्युत्कर्षतो भवस्थितिपरिमाणं द्वादशसंवत्सराणि । न च सर्वेष्वपि भवेषूत्कृष्टस्थितिसम्भवः,ततः कतिपयनिरन्तरपर्याप्तभवसङ्कलनयाऽपि संख्येयानि वर्षाण्येव लभ्यन्ते, न तु वर्षशतानि, वर्षसहस्राणि वा । त्रीन्द्रियपर्याप्तसूत्रे-संख्येयानि रात्रिंदिवानि: तेषां च भवस्थितिरुत्कर्षतोऽप्येकोनपञ्चाशद्दिनमानतया कतिपयनिरन्तरपर्याप्तभवसङ्कलनायामपि संख्येयानां रात्रिंदिवानामेव लभ्यमानत्वात् । चतुरिन्द्रियसूत्रे-सङ्ख्येया मासाः,तेषां भवस्थितेरुत्कर्षतः षण्मासप्रमाणतया कतिपयनिरन्तरपर्याप्तकालसङ्कलनायामपि संख्येयानां मासानां प्राप्यमाणत्वात् । पञ्चेन्द्रियसूत्रं सुगमम् ।

(८) इदानीं कायद्वारमभिधित्सुराह–

सकाइए णं भंते ! सकाइए त्ति कालओ केव चिरं होइ?।

गोयमा ! सकाइए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–अणादिए अपज्जवसिए, अणादिए सपज्जवसिए । पुढविकाइए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखिज्जं कालं, असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खित्तओ असंखेज्जा लोगा । एवं आउतेउवाउकाइया वि । वणस्सइकाइया णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अणंता लोगा, असंखिज्जा पोग्गलपरियट्टा, ते णं पोग्गलपरियट्टा आवलियाए असंखेज्जइभागो । तसकाइए णं भंते ! तसकाइए त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं । अकाइए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! अकाइए सादिए अपज्जवसिए ॥

(सकाइए णं भंते ! इत्यादि) सह कायो यस्य येन वा सकायः, सकाय एव सकायिकम । आर्षत्वात् स्वार्थे इकप्रत्ययः । कायः शरीरं, तच्चौदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मणभेदात्पञ्चधा । तत्रेह कार्मणं तैजसं वा द्रष्टव्यं, तस्यैवासंसारभावात् । अन्यथा विग्रहगतौ वर्त्तमानस्य शरीरपर्याप्तस्य च शेषशरीरासंभवादकायिकत्वं स्यात । तथा च सति निर्वचनसूत्रमाह–(सकाइए दुविहे पन्नत्ते इत्यादि) तत्र यः संसारपारगामी न भविष्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, कदाचिदपि तस्य कायस्य व्यवच्छेदाऽसंभवात । यस्तु मोक्षमधिगन्ता सोऽनादिसपर्यवसितः, तस्य मुक्त्यवस्थासम्भवे सर्वात्मना शरीरपरित्यागात् । पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिसूत्राणि सुगमानि, अन्यत्रापि तदर्थस्य प्रतीतत्वात् । तथा चोक्तम्—" असंखोसप्पिणिउस्सप्पिणीओ एगिंदियाणं चउण्हं ता चेवओ अणंतवणस्सईए बोधव्वा" । ननु यदि वनस्पतिकालप्रमाणमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्त्ताः, ततो यद्गीयते सिद्धान्ते मरुदेवाजीवो यावद् जीवभावं वनस्पतिरासादिति तत्कथं स्यात,कथं वा वनस्पतीनामनादित्वम?,प्रतिनियतकालप्रमाणतया वनस्पतिभावस्यानादित्वविरोधात् । तथाहि–असंख्येयाः पुद्गलपरावर्तास्तेषामवस्थानमानं तत एतावति कालेऽतिक्रान्ते नियमात्सर्वेऽपि कायपरावर्त्तं कुर्वन्ति, यथा स्वस्थितिकालान्ते सुरादयः ।

उक्तञ्च–

"जइ पुग्गलपरियट्टा, संखाईया वणस्सईकालो ।
अणंतवणस्सईण–मणाइयत्तमत एव हेतूओ ॥ १ ॥
जमसंखेज्जा पुग्गल–परियट्टा तत्थऽवत्थाणं ।
कालेणेवइएणं, तम्हा कुव्वंति कायपलट्टं ॥ २ ॥
सव्वे वि वणस्सइणो, ठिइकालं ते जहा सुराई य " ।

किं चैवं यद्वनस्पतीनां निर्लेपनमागमे प्रतिषिद्धं, तदपीदानीं प्रसक्तम । कथमिति चेत् ?, उच्यते–इह प्रतिसमयं संख्येया वनस्पतिभ्यो जीवा उद्वर्तन्ते, वनस्पतीनां च कायस्थितिपरिमाणमसंख्येयाः पुद्गलपरावर्ताः, ततो यावन्तोऽसंख्येयेषु पुद्गलपरावर्तेषु समयास्तैरभ्यस्ता एकसमयोद्वृत्ता जीवा यावन्तो भवन्ति, तावत्परिमाणमागतं, न वनस्पतीनाम । ततः प्रतिनियतपरिमाणसिद्धं निर्लेपनं प्रतिनियतपरिमाणत्वादेव गच्छत्कालेन सिद्धिरपि सर्वेषां भव्यानां प्रसक्ता, तत्प्रसक्तौ च मोक्षपथव्यवच्छेदोऽपि प्रसक्तः । सर्वभव्यसिद्धिगमनानन्तरमन्यस्य सिद्धिगमनायोगात ।

आह च–

"कायट्ठिइकालेणं, तेसिमसंखेज्ज जाव भाएणं ।
निल्लेवणमावन्नं, सिद्धी वि य सव्वभव्वाणं ॥ १ ॥
पइसमयं संखेज्जा, जेणुव्वट्टंति ता तदव्वत्था ।
कायट्ठिइए समया, वणस्सईणं होइ परिमाणं " ॥२॥

न चैतदस्ति, वनस्पतीनामनादित्वनिर्लेपनप्रतिषेधस्य सर्वभव्यासिद्धेर्मोक्षपथव्यवच्छेदस्य तत्र तत्र प्रदेशे सिद्धान्ताभिधानात । उच्यते–इह द्विविधा जीवाः–सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्च । तत्र ये निगोदावस्थात उद्वृत्य पृथिवीकायिकादिभेदेषु वर्तन्ते ते लोकेषु दृष्टिपथमागताः सन्तः पृथिवीकायिकादिव्यवहारमनुपतन्तीति सांव्यवहारिका उच्यन्ते । ते च यद्यपि भूयोऽपि निगोदावस्थामुपयान्ति, तथाऽपि ते सांव्यवहारिका एव, सांव्यवहारे पतितत्वात् । ये पुनरनादिकालादारभ्य निगोदावस्थामुपगता एवावतिष्ठन्ते ते व्यवहारपथातीतत्वादसांव्यवहारिकाः । कथमेतदवसीयते द्विविधा जीवाः–सांव्यवहारिका असांव्यवहारिकाश्चेति ?। उच्यते–युक्तिवशात् । इह प्रत्युत्पन्नवनस्पतीनामपि निर्लेपनमागमे प्रासिद्धम् , किं पुनः सकलवनस्पतीनाम, तथा भव्यानामपि । यच्च यद् ये सांव्यवहारिकराशिनिपतिता अत्यन्तवनस्पतयो न स्युः, ततः कथमुपपद्यते?, तस्मादवसीयते अस्त्यसांव्यवहारिकराशिरपि यद्गतानामनादिता । किञ्च–इयमपि गाथा गुरूपदेशादागता–" समए अत्थि अणंता, जीवा जेहिं न पत्तो तसाइपरिणामो । ते वि अणंताणंता, निगोयवासं अणुवसंति" ॥ १ ॥ तत इतोऽप्यसांव्यवहारिकराशिः सिद्धः । उक्तञ्च–"पच्चुप्पन्नवणस्सईण निल्लेवणं न भव्वाणं जुत्तं होइ , तं जइ अणंतवणस्सई नत्थि, एवं अणादिवणस्सईण अत्थित्तमत्थओ सिद्धं । भण्णइ इयमवि गाहा गुरूवएसागया–" समए अत्थि अणंता, जीवा " इत्यादि । तत्रेदं सूत्रं सांव्यवहारिकानधिकृत्यावसेयम् । न चासांव्यवहारिकाद्विशेषविषयत्वात् सूत्रस्य, नचैतत्स्वमनीषिकाविजृम्भितम्; यत आहुर्जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादाः–" तह कायठिइ कालादओ विसेसे पडुच्च किर जीवो । नाणाइवणस्सइणो, जे संववहारबाहिरिया " ॥ १ ॥ अत्रापिशब्दात्सर्वैरपि जीवैः श्रुतमनन्तशः स्पृष्टमित्यादि । यदस्यामेव प्रज्ञापनायां वक्ष्यते, प्रागुक्तश्च परिग्रहः, ततो न कश्चिद्दोषः । त्रसकायसूत्रं सुप्रतीतम् ।

एतानेव सकायिकादीन् पर्याप्तापर्याप्तविशेषणविशिष्टान् चिन्तयन्नाह–

सकाइयअपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं , एवं जाव तसकाइयअपज्जत्तए । सकाइयपज्जत्तए पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहत्तसातिरेगं । पुढविकाइयपज्जत्तए पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं । एवं आऊ वि । तेउकाइयपज्जत्तए पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं । वाउकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ?।गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं । वणस्सइकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ?।गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वाससहस्साइं । तसकाइयपज्जत्त-

ए णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं ।

"सकाइए" इत्यादि सुगमं, नवरं तेजस्कायसूत्रे उत्कर्षतः संख्येयानि रात्रिन्दिवानीति । तेजस्कायस्य हि भवस्थितिरुत्कर्षतोऽपि त्रीणि रात्रिन्दिवानि ततो निरन्तरं कतिपयपर्याप्तभवकलनायामपि संख्येयानि रात्रिन्दिवान्येव लभ्यन्ते, न तु वर्षाणि, वर्षसहस्राणि वा ।

संप्रति कायद्वारान्तःप्रवेशसंभवात् सूक्ष्मकायिकादीन् निरूपयितुकाम आह–

सुहुमे णं भंते ! सुहुम त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा । सुहुमपुढविकाइए सुहुमआउकाइए सुहुमतेउकाइए सुहुमवाउकाइए सुहुमवणस्सकाइए सुहुमनिगोदे जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखिज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखेज्जा लोगा । सुहुमे णं भंते ! अपज्जत्तए त्ति पुच्छा?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । पुढविकाइयआउकाइयतेउकाइयवाउकाइयवणस्सइकाइयाण य एवं चेव । पज्जत्तियाणं जहा ओहियाणं ॥

[सुहुमेणं भंते ! इत्यादि] सूक्ष्मः सूक्ष्मकायिको भदन्त ! इति । सूक्ष्मत्वपर्यायविशिष्टः सन्नव्यवच्छेदेन कालतः कियच्चिरं भवति ?। भगवानाह–गौतम ! [जहन्नेणमित्यादि] एतदपि सूत्रं सांव्यवहारिकजीवविषयमवसातव्यम् । अन्यथा उत्कर्षतोऽसंख्येयकालमिति यन्निर्वचनमुक्तं तन्नोपपद्यते, सूक्ष्मनिगोदजीवानामसांव्यवहारिकराशिनिपतितानामनादितायाः प्रागुपपादितत्वात् । [खेत्तओ असंखेज्जा लोगा इति] असंख्येयेषु लोकाकाशेषु प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे यावन्त्य उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो भवन्ति तावत्प्रमाणा असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्य इत्यर्थः । सूक्ष्मवनस्पतिकायसूत्रमपि प्रागुक्तयुक्तिवशात् सांव्यवहारिकजीवविषयं व्याख्येयम्, तथा सूक्ष्माः सामान्यतः पृथिवीकायिकादिविशिष्टाश्च पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च निरन्तरं भवन्तो जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तकालं यावच्च परमिति; ततस्तद्विषयसूत्रकदम्बके सर्वत्राऽपि जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तमुक्तम् ।

बादरसामान्यसूत्रे यदुक्तमसंख्येयं कालं तस्य विशेषनिरूपणार्थमाह–

बादरे णं भंते ! बादरे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । बादरपुढविकाइए णं भंते ! पुच्छा?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरिसागरोवमकोडाकोडीओ । एवं बादरआउकाइए वि जाव बादरवाउकाइए वि । बादरवणस्सइकाइए णं भंते ! बादर त्ति पुच्छा?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरिकोडाकोडीओ । निगोदे णं भंते ! निगोदे त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अड्ढाइज्जा पोग्गलपरियट्टा । बादरनिगोदे णं भंते ! बादर त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सत्तरिकोडाकोडीओ । बादरतसकाइए णं भंते ! बादरतसकाइए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दो सागरोवमसहस्साइं संखेज्जवासमब्भहियाइं, एतेसिं चेव अपज्जत्तगा सव्वे वि जहन्नेणं वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । बादरपज्जत्तए णं भंते ! बादरपज्जत्तए त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं। बादरपुढविकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं वासमहस्साइं । एवं आउकाइए वि । तेउकाइयपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखेज्जाइं राइंदियाइं । वाउकाइए वणस्सइकाइए पत्तेयसरीरबादरवणस्सइकाइए पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं संखिज्जाइं वाससहस्साइं । निगोदपज्जत्तए बादरनिगोदपज्जत्तए पुच्छा ?। गोयमा ! दोण्ह वि जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । बादरतसकाइयपज्जत्तए णं भंते ! बादरतसकाइयपज्जत्तए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहुत्तं सातिरेगं ॥

असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः; इदं कालतः परिमाणमुक्तम् । क्षेत्रत आह-[अंगुलस्स असंखेज्जइभागमिति] अङ्गुलस्यासंख्येयो भागः । किमुक्तं भवति ?, अङ्गुलस्यासंख्येयतमे भागे यावन्त आकाशप्रदेशास्तेषां प्रतिसमयमेकैकप्रदेशापहारे असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यो लगन्ते । उच्यते-क्षेत्रस्य सूक्ष्मत्वात् । उक्तञ्च–"सुहुमो य होइ कालो, तत्तो य सुहुमयरं हवइ खित्तं" इत्यादि । एतच्च बादरवनस्पतिकायापेक्षयाऽवसातव्यम्, तस्य बादरस्यैतावत्कायस्थितेरसम्भवात् । शेषसूत्राणि द्वारसमाप्तिं यावत्सुगमानि । गतं कायद्वारम् ।

(९) इदानीं योगद्वारमभिधित्सुराह–

सजोगी णं भंते ! सजोगि त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! सजोगी दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–अणाइए वा अपज्जवसिए, अणाइए वा सपज्जवसिए । मणजोगी णं भंते ! मणजोगि त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । एवं वयजोगी वि ।

कायजोगी णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं वणस्सइकालो । अजोगी णं भंते ! अजोगि त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए।

योगा मनोवाक्कायव्यापाराः, योगा एषां सन्तीति योगिनो मनोवाक्कायाः, सह योगिनो यस्य येन वा सयोगी। अत्र निर्वचनम्-(सजोगी दुविहे पन्नत्ते इत्यादि) अनाद्यपर्यवसितो-यो न जातुचिदपि मोक्षगतः सर्वकालमवश्यमन्यतमेन योगेन सयोगी; ततोऽनाद्यपर्यवसितो-यस्तु यास्यति मोक्षं सोऽनादिसपर्यवसितः; मुक्तिपर्यायप्रादुर्भावे योगस्य सर्वथाऽपगमात् । मनोयोगिसूत्रे-जघन्यत एकं समयमिति यदा कश्चिदौदारिककाययोगेन प्रथमसमयमनोयोग्यान् पुद्गलानादाय द्वितीयसमये मनस्त्वेन परिणमय्य मुञ्चति तृतीयसमये चोपरमते म्रियते वा, तदा एकं समयं मनोयोगी लभ्यते उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं निरन्तरं मनोयोग्यपुद्गलानां ग्रहणविसर्गौ कुर्वन् तत ऊर्ध्वं सोऽवश्यं जीवस्वाभाव्यादुपरमते, उपरम्य च भूयोऽपि ग्रहणविसर्गौ करोति, परं कालसूक्ष्मात् कदाचिन्न स्वसंवेदनपथमायाति । उत्कर्षतोऽपि मनोयोग्यन्तर्मुहूर्त्तमेव ॥ (एवं वययोगी वि इति) एवं मनोयोगीव वाग्योग्यपि वक्तव्यः । तद्यथा-" वइजोगी णं भंते ! वइजोगि त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तमिति "। तत्र यः प्रथमसमय काययोगेन भाषायोग्यानि द्रव्याणि गृह्णाति, द्वितीयसमये तानि भाषात्वेन परिणमय्य मुञ्चति, तृतीयसमये चोपरमते म्रियते वा, स एकं समयं वाग्योगी लभ्यते। आह च मूलटीकाकारः-" पढमसमये काययोगेण गहियाण भासादव्वाणं, बिइयसमये वइयोगेण निसग्गं काऊण उवरमंतस्स वा एगसमओ लब्भइ" इति। अन्तर्मुहूर्त्तं निरन्तरं ग्रहणविसर्गौ कुर्वन् तदनन्तरं चोपरमते, तथाजीवस्वाभाव्यात् । काययोगी जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति । इह द्वीन्द्रियादीनां वाग्योग्यपि लभ्यते । संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां मनोयोगोऽपि, ततो यदा वाग्योगो भवति मनोयोगो वा तदा न काययोगप्राधान्यमिति, सादिसपर्यवसितत्वभावात् । जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं काययोगी लभ्यते, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः, स च प्रागेवोक्तः। वनस्पतिकायिकेषु हि काययोग एव केवलो न वाग्योगो, मनोयोगो वा । ततः शेषयोगासम्भवात्तेषां कायस्थितिः । सततं काययोग इति मानम्। अयोगी च सिद्धः, स च साद्यपर्यवसित इत्ययोगी साद्यपर्यवसित उक्तः। गतं योगद्वारम् ।

(१०) इदानीं वेदद्वारं प्रतिपिपादयिषुराह-

सवेदए णं भंते ! सवेदए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! सवेदए तिविहे पण्णत्ते। तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे ते सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढपोग्गलपरियट्टं देसूणं । इत्थिवेदे णं भंते! इत्थिवेदे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं दसुत्तरं पलिओवमसतं पुव्वकोडीपुहत्तमब्भहियं । एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं अट्ठारसपलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियाइं । एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं चोद्दसपलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियाइं। एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमसतं पुव्वकोडिमब्भहियं । एगेणं आदेसेणं जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं पलिओवमपुहत्तं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियं ॥

(सवेदए णं भंते! इत्यादि) सह वेदो यस्य येन वा स सवेदकः। "शेषाद्वा" ।७।३।१७५। इति कप्रत्ययः। स च त्रिविधः। तद्यथा-अनाद्यपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र य उपशमश्रेणिं, क्षपकश्रेणिं वा न जातुचिदपि प्राप्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, कदाचिदपि तस्य वेदोदयव्यवच्छेदासम्भवात् । यस्तु प्राप्स्यत्युपशमश्रेणिं क्षपकश्रेणिं वा सोऽनादिसपर्यवसितः; उपशमश्रेणिप्रतिपत्तौ क्षपकश्रेणिप्रतिपत्तौ वा वेदोदयव्यवच्छेदस्य भावितत्वात् । यस्तूपशमश्रेणिं प्रतिपद्यते तत्र चावेदको भूत्वा भूय उपशमश्रेणीतः प्रतिपतन् सवेदको भवति, स सादिसपर्यवसितः , स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्। कथमिति चेत्?, उच्यते-इह यदा कोऽपि उपशमश्रेणिमुपपद्य त्रिविधमपि वेदमुपशमय्यावेदको भूत्वा पुनरपि श्रेणीतः प्रतिपतन् सवेदकत्वं प्राप्य झटित्युपशमश्रेणिं कर्मग्रन्थिकाभिप्रायेण क्षपकश्रेणिं वा प्रतिपद्य च वेदत्रयमुपशमयति, क्षपयति वा अन्तर्मुहूर्त्तेन, तदा जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तमवेदकः, उत्कर्षतोऽपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तदेशोनम्, अपगतमर्द्धं यस्य स अपार्द्धः, देशोनं किञ्चिदूनम्। उपशमश्रेणीतो हि प्रतिपतित एतावन्तं कालं संसारं पर्यटन्ति, ततो यथोक्तमुत्कर्षतः सादिसपर्यवसितस्य सवेदकस्य कालमानमुपपद्यते । स्त्रीवेदविषये च पञ्चादेशाः, तान् क्रमेण निरूपयति-(एगेण आदेसेणमित्यादि) तत्र सर्वत्रापि जघन्यतः समयमात्रं भावनीयम्-काचित् युवतिरुपशमश्रेणिवेदत्रयोपशमेनावेदकत्वमनुभूय ततः श्रेणिं प्रतिपतन्ती स्त्रीवेदोदयमेकसमयमनुभूय द्वितीयसमये कालं कृत्वा देवेषूत्पद्यते; तत्र च तस्याः पुंस्त्वमेव न स्त्रीत्वम् । तत एवं जघन्यतः समयमात्रं स्त्रीवेदः। उत्कर्षचिन्तायामियं प्रथमाऽऽदेशभावना-कश्चिज्जन्तुर्नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चषान् भवान् अनुभूय ईशाने कल्पे पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टस्थितिष्वपरिगृहीतासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्नः, ततः स्वायुःक्षये च्युत्वा भूयोऽपि नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये स्त्रीत्वेनोत्पन्नः , ततो भूयोऽपि द्वितीयवारमीशाने देवलोके पञ्चपञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीषु मध्ये देवीत्वेनोत्पन्नः, ततः परमवश्यं वेदान्तरमेव गच्छति। एवं दशोत्तरं पल्योपमशतं पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं प्राप्यते । अत्र पर आह-ननु यदि देवकुरूत्तरकुर्वादिषु पल्योपमत्रयस्थितिकासु स्त्रीषु मध्ये समुपपद्यते, ततोऽधिकाऽपि स्त्रीवेदस्य स्थितिरवाप्यते, ततः किमित्येवोपदिष्टा?। तदयुक्तम्। अभिप्रायापरिज्ञानात्। तथाहि-इह तावद्देवीभ्यश्च्युत्वा असंख्येयवर्षायुष्कासु स्त्रीमध्ये नोत्पद्यते, देवयोनिश्च्युतानामसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये उत्पादप्रतिषेधात् । नाप्यसंख्येयवर्षायुष्का सती योषित् उत्कृष्टासु देवीषु जायते । यत उक्तं मूलटीकाकृता-" जाता असंखेज्जा वासाउया उक्कोसट्ठिई न पावेइ " इति।

ततो यथोक्तप्रमाणैवोत्कृष्टा स्थितिः स्त्रीवेदस्याऽवाप्यते। द्वितीयादेशवादिनः पुनरेवमाहुः-नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये पञ्चषान् भवान् अनुभूय पूर्वप्रकारेणेशाने देवलोकेषु वारद्वयमुत्कृष्टस्थितिकासु देवीषु मध्ये उत्पद्यमाना नियमतः परिगृहीतास्वेवोत्पद्यते नापरिगृहीतासु। ततस्तन्मतेनोत्कृष्टमवस्थानं स्त्रीवेदस्याष्टादशपल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वं च। तृतीयादेशवादिनां तु-सौधर्मदेवलोके परिगृहीतासु सप्तपल्योपमसप्रमाणोत्कृष्टासु वारद्वयं समुत्पद्यते, ततस्तन्मतेन चतुर्दशपल्योपमानि पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकानि स्त्रीवेदस्य स्थितिः। चतुर्थादेशवादीनां तु मतेन-सौधर्मदेवलोके पञ्चाशत्पल्योपमप्रमाणोत्कृष्टायुष्कास्वपरिगृहीतदेवीष्वपि पूर्वप्रकारेण वारद्वयं देवीत्वेनोत्पद्यते, ततस्तन्मतेन पल्योपमशतपूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकमवाप्यते । पञ्चमादेशवादिनः पुनरिदमाहुः-नानाभवभ्रमणद्वारेण यदि स्त्रीवेदस्योत्कृष्टमवस्थानं चिन्त्यते,तर्हि पल्योपमपृथक्त्वमेव पूर्वकोटिपृथक्त्वाभ्यधिकं प्राप्यते, न ततोऽधिकम्। कथमेतदिति चेत्?, उच्यते-नारीषु तिरश्चीषु वा पूर्वकोट्यायुष्कासु मध्ये सप्तभवाननुभूयाष्टमभवे देवकुर्वादिषु त्रिपल्योपमस्थितिषु स्त्रीषु मध्ये स्त्रीत्वेन समुत्पद्यते ; ततो मृत्वा सौधर्मदेवलोके जघन्यस्थितिकासु देवीषु मध्ये देवीत्वेनोपजायते, तदनन्तरं चावश्यं वेदान्तरमधिगच्छतीति। अमीषां च पञ्चानामादेशानामन्यतमादेशसमीचीनतानिर्णयोऽतिशयज्ञानिभिः सर्वोत्कृष्टश्रुतलब्धिसम्पन्नैर्वा कर्तुं शक्यते। ते च भगवदार्यश्यामप्रतिपत्तौ नासीरन्, केवलं तत्कालापेक्षया ये पूर्वतमाः सूरयस्तत्कालभाविग्रन्थपौर्वापर्यपर्यालोचनया यथास्वमति स्त्रीवेदस्य स्थितिं प्ररूपितवन्तः,तेषां सर्वेषामपि प्रावचनिकसूरीणां मतानि भगवानार्यश्याम उपदिष्टवान्। तेऽपि च प्रावचनिकसूरयः स्वमतेन सूत्रं पठन्ते; गौतमप्रश्नं भगवन्निर्वचनरूपतया पठन्ति; ततस्तद्वस्थान्येव सूत्राणि लिखितानि-गोयमा! इत्याद्युक्तम्। अन्यथा भगवति गौतमाय निर्दिष्टरि न संशयकथनमुपपद्यते, भगवतः सकलसंशयातीतत्वात्।

पुरिसवेदे णं भंते ! पुरिसवेदे त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहत्तं सातिरेगं ॥

पुरुषवेदसूत्रे-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति। यथा कश्चिदन्यवेदेभ्यो जीविकय उद्धृत्य पुरुषवेदेषूत्पद्य तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं सर्वायुर्जीवित्वा गत्यन्तरे अन्यवेदेषु मध्ये समुत्पद्यते, तदा पुरुषवेदस्य जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानं लभ्यते। उत्कृष्टमानं करठ्यम्।

नपुंसगवेदए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं वणस्सइकालो ।

नपुंसकवेदसूत्रे-जघन्यत एकः समयः स्त्रीवेदस्यैव भावनीयः, उत्कर्षतो वनस्पतिकालः; स च प्रागेवोक्तः। एतच्च सांव्यवहारिकजीवानधिकृत्य चिन्ता क्रियते। तदा द्विविधा नपुंसकवेदाद्धा काश्चिदधिकृत्यानाद्यपर्यवसानाः; ये न जातुचिदपि सांव्यवहारिकराशौ निपतिष्यन्ति। कांश्चिदधिकृत्य पुनरनादिसपर्यवसानाः; येऽसांव्यवहारिकराशेरुद्धृत्य सांव्यवहारिकराशावागमिष्यन्ति। अथ किमसांव्यवहारिकराशेरपि विनिर्गत्य सांव्यवहारिकराशावागच्छन्ति येनैवं प्ररूपणा क्रियते?। उच्यते-आगच्छति। कथमेतदवसेयमिति चेत् ?, उच्यते-पूर्वाचार्योपदेशात्। तथा चाह दुःषमान्धकारनिमग्नजिनप्रवचनप्रदीपो भगवान्-" सिज्झंति जत्तिया किर, इह संववहारजीवरासीओ। इंति अणाइवणस्सइ-रासीओ तत्तिया तम्मि "॥ १ ॥

अवेदकपृच्छामाह-

अवेदे णं भंते ! अवेदे त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! अवेदे दुविहे पएणत्ते । तं जहा-साइए अपज्जवसिए वा, साइए सपज्जवसिए वा । तत्थ णं जे ते साइए सपज्जवसिए से जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।

अवेदको द्विधा-साद्यपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र यः क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यावेदको भवति स साद्यपर्यवसितः क्षपकश्रेणिः,स च जघन्येनैकं समयम्। कथमेकसमयतेति चेत् ?, उच्यते-यदा एकसमयवेदको भूत्वा द्वितीयसमये पञ्चत्वमुपगच्छति, तदा तस्मिन्नेव पञ्चत्वसमये देवेषूत्पन्नः पुरुषवेदोदयेन सवेदको भवति; तत एवं जघन्यत एकं समयमवेदक उत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, परतोऽवश्यं श्रेणीतः प्रतिपतने वेदोदयसद्भावात् । गतं वेदद्वारम्। प्रज्ञा० १८ पद। ज्यो० ।

(११) इदानीं कषायद्वारं, तत्रेदमादिसूत्रम्-

सकसाई णं भंते ! सकसाइ त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! सकसाई तिविहे पएणत्ते । तं जहा-अणादिए अपज्जवसिए, अणादिए सपज्जवसिए, सादिए सपज्जवसिए जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । कोहकसाई णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं । एवं जाव माणमायाकसाई णं । लोभकसाई णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एकं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं। अकसाई णं भंते! अकसाइ त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा! अकसाई दुविहे पएणत्ते । तं जहा-सादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे ते सादिए सपज्जवसिए, से जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ॥

सह कषायो येषां येर्वा ते सकषाया जीवपरिणामविशेषाः, ते विद्यन्ते यस्य स सकषायी। इदं सकलमपि सूत्रं सवेदसूत्रवद्विशेषेण भावनीयम्, समानभावनोक्तत्वात्। [कोहकसाई णं भंते इत्यादि] जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्तमिति, क्रोधकषायोपयोगस्य जघन्यत उत्कर्षतो वाऽन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् तथाजीवस्वाभाव्यात्। इदं च सूत्रचतुष्टयमपि विशिष्टोपयोगापेक्षमिति। लोभकषायी जघन्येनैकं समयमिति, यदा कश्चिदुपशमश्रेणिपर्यवसाने उपशान्तवीतरागो भूत्वा श्रेणीतः प्रतिपतन् लोभानुवेदनप्रथमसमये सवेदन एव कालं कृत्वा देवलोकेषूत्पद्यते, तत्र चोत्पन्नः सन् क्रोधकषायी मायाकषायी भवति, तदेकसमये लोभकषायी लभ्यते । अथैवं क्रोधादिष्वप्येकसमयता कस्मान्न लभ्यते ?। उच्यते-तथास्वाभाव्यात् । तथाहि-श्रेणीतः प्रतिपतन् मध्यानुवेदनप्रथमसमये वा यदि कालं करोति, कालं च कृत्वा देवलोकेषूत्पद्यते, तथापि तथास्वाभाव्यात् येन कषायोदयेन कालं कृतवान् तमेव कषायोदयं तत्रापि गतः सन्नन्तर्मुहूर्त्तमेव वर्त्तयति, एतच्चावसीयते अधिकृतसूत्रप्रामाण्यात्, ततो नैकसमयता क्रोधादिष्विति। अकषायसूत्रमवेदसूत्रमिव भावनीयम् । गतं कषायद्वारम्।

(१२) अधुना लेश्याद्वारमाह—

सलेस्से णं भंते ! सलेस्से त्ति पुच्छा ? । गोयमा ! सलेसे दुविहे पन्नत्ते । तं जहा—अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए । कण्हलेस्से णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । नीललेसे णं भंते ! नीललेसे त्ति पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं पलिओवमासंखेज्जइभागमब्भहियाइं । काउलेसे णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं पलिओवमासंखिज्जइभागमब्भहियाइं । तेउलेस्से णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं पलिओवमासंखिज्जइभागमब्भहियाइं । पम्हलेसे णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । सुक्कलेस्से णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं । अलेसे णं पुच्छा ? । गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए ॥

(सलेस्से णं भंते ! इत्यादि) सह लेश्या यस्य येन वा स सलेश्यः । स द्विविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-अनादिरपर्यवसितः-यो न जातुचिदपि संसारव्यवच्छेदकर्त्ता । अनादिसपर्यवसितः-यः संसारपारगामी । (कण्हलेस्से णं भंते ! इत्यादि) इह तिरश्चां मनुष्याणां च लेश्याद्रव्याण्यन्तर्मौहूर्त्तिकानि, ततः परमवश्यं लेश्यान्तरपरिणामं भजते । देवनैरयिकाणां तु पूर्वभवचरमान्तर्मुहूर्त्तादारभ्य परभवाद्यमन्तर्मुहूर्त्तं यावदवस्थितानि, ततः सर्वत्र जघन्यतममन्तर्मुहूर्त्तं तिर्यङ्मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यम्; उत्कृष्टं देवनैरयिकापेक्षया विचित्रमिति भाव्यते । तत्र विचित्रमिति यदुक्तं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानीति, ततः सप्तमनरकपृथिव्यपेक्षया द्रष्टव्यम् । तत्रत्या हि नैरयिकाः कृष्णलेश्याकाः, तेषां च स्थितिरुत्कृष्टा त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि; यत्तु पूर्वोत्तरभवगतो यथाक्रमं चरमाद्यौ अन्तर्मुहूर्त्तौ, ते द्वे अप्येकमन्तर्मुहूर्त्तस्यासंख्यातभेदभिन्नत्वात् । तथाचान्यत्राप्युक्तम्-"मुहुत्तद्धं जहन्ना, तित्तीसं सागरा मुहुत्तहिया । उक्कोसा होइ ठिई, नायव्वा कण्हलेस्साए" ॥१॥ (अन्तोमुहुत्तहिया इति) चूर्णिकृता व्याख्यातमन्तर्मुहूर्त्ताधिकेति । नीललेश्यासूत्रे—यानि दश सागरोपमाणि पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिकान्युक्तानि तानि पञ्चमपृथिव्यपेक्षया वेदितव्यानि । तत्र हि प्रथमप्रस्तटे नीललेश्या, "पंचमियाए मीसा" इति वचनात् । तस्मिंश्च प्रथमप्रस्तटे स्थितिरुत्कर्षत एतावती । ये तु पूर्वोत्तरभवगते अन्तर्मुहूर्त्ते, ते पल्योपमासंख्येयभागे एवान्तर्गते इति न पृथग् विवक्षिते । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । कापोतलेश्यासूत्रे-त्रीणि सागरोपमाणि पल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिकानि तृतीयनरकपृथिव्यपेक्षयाऽवसातव्यानि; तृतीयपृथिव्यामपि प्रथमप्रस्तटे कापोतलेश्याया भावात्, "तइयाए मीसिया" इति वचनात् । तत्र चोत्कृष्टस्थितेरेतावत्याः संभवात् । तेजोलेश्यासूत्रे-द्वे सागरोपमपल्योपमासंख्येयभागाभ्यधिके ईशानदेवलोके देवापेक्षया वेदितव्ये; हि तेजोलेश्याका उत्कर्षत एतावत्स्थितिकाश्च । पद्मलेश्यासूत्रे-दशसागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि ब्रह्मलोकापेक्षया भावनीयानि । तत्र देवानां हि स्थितिरुत्कृष्टा दश सागरोपमाणि, लेश्या च पद्मलेश्या । ये च पूर्वोत्तरभवगते अन्तर्मुहूर्त्ते ते किलैकमन्तर्मुहूर्त्तमिति अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानीत्युक्तम् । शुक्ललेश्यासूत्रे-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकानि अनुत्तरसुरापेक्षया, तेषामुत्कर्षतः स्थितेस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमप्रमाणत्वात् । अन्तर्मुहूर्त्ताभ्यधिकत्वभावना च प्राग्वत् । अलेश्योऽयोगिकेवली सिद्धश्च, ततो न तस्यामप्यवस्थायामलेश्यत्वव्याघात इति साद्यपर्यवसितः । गतं लेश्याद्वारम् ॥

(१३) इदानीं सम्यग्दृष्टिद्वारम्-

सम्मद्दिट्ठी णं भंते ! सम्मद्दिट्ठि त्ति पुच्छा ? । गोयमा ! सम्मद्दिट्ठी दुविहे पन्नत्ते । तं जहा—सादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए, से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं । मिच्छादिट्ठी णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! मिच्छादिट्ठी तिविहे पण्णत्ते । तं जहा—अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । सम्मामिच्छादिट्ठी णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहण्णेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ॥

(सम्मद्दिट्ठी णं भंते ! इत्यादि) सम्यगविपर्यस्ता दृष्टिर्जिनप्रणीतवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य स सम्यग्दृष्टिः । स चान्तरकरणकालभाविना औपशमिकसम्यक्त्वेन सास्वादनसम्यक्त्वेन विशुद्धदर्शनमोहपुञ्जोदयसंभविक्षायोपशमिकसम्यक्त्वेन सकलदर्शनमोहनीयक्षयसमुत्थक्षायिकसम्यक्त्वेन वा द्रष्टव्यः । निर्वचनम्-सम्यग्दृष्टिर्द्विविधः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-साद्यपर्यवसितः-एष क्षायिके सम्यक्त्वे उत्पादिते सति वेदितव्यः, तस्य प्रतिपाताभावात् । सादिसपर्यवसितः-एष क्षायोपशमिकादिसम्यक्त्वापेक्षया । तत्र योऽसौ सादिसपर्यवसितः सम्यग्दृष्टिर्जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, परतो मिथ्यात्वगमनात्; उत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि । तत्र यदि वारद्वयं विजयादिषु चतुर्षु अप्रतिपतितसम्यक्त्व उत्कृष्टस्थितिको देव उत्पद्यते वेलात्रयं वाऽच्युतलोके, ततो देवभवैरेव षट्षष्टिसागरोपमाणि परिपूर्णानि भवन्ति । ये तु मनुष्यभवाः सम्यक्त्वसहितास्तेऽधिका इति तैः सातिरेकाणीति । उक्तं च-" दो वारे विजयाइसु, गयस्स तिन्निऽच्चुए अहव ताइं । अइरेगं नरभवियमिति । " (मिच्छादिट्ठी णं भंते ! इत्यादि) मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिर्जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षितहृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिः, ननु मिथ्यादृष्टिरपि कश्चिद्भक्ष्यं भक्ष्यतया जानाति पेयं पेयतया मनुष्यं मनुष्यतया पशुं पशुतया, ततः स कथं मिथ्यादृष्टिरुच्यते ?; भगवति सर्वज्ञत्वस्य प्रत्ययाभावात् । इह हि भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि प्रवचनार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद्गतमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते, तस्य भगवति सर्वज्ञप्रत्ययनाशात् ।

क्तकञ्च -" सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरो मिथ्यादृष्टिः । सूत्रं हि नः प्रमाणं जिनाभिहितं किं पुनः शेषं भगवदर्हदभिहितम् । तथा च जीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकलो मिथ्यादृष्टिः । ननु सकलप्रवचनमर्थाभिरोचनात्तत्कतिपयार्थानां चारोचनादेव न्यायतः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरेव भवितुमर्हति, कथं मिथ्यादृष्टिरेव भवितुमर्हति?, उच्यते-सदसद्वस्तुतत्त्वापरिज्ञानात् । इह यदा सकलवस्तु जिनप्रणीततया सम्यक् श्रद्धत्ते तदानीमसौ सम्यग्दृष्टिः; यदा त्वेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा मतिदौर्बल्यादिना एकान्तेन सम्यक्परिज्ञानमिथ्यापरिज्ञानाभावतो न सम्यक् श्रद्धानं, नाप्येकान्ततो विप्रतिपत्तिः, तदा सम्यग्मिथ्यादृष्टिः । उक्तञ्च शतकबृहच्चूर्णौ-"जहा नालिकेरीदीववासिस्स खुहाइयस्स विदेसमागयस्स पुरिसस्स य ओयणाइए अणेगविहे होइ एतस्स आहारस्स उवरिं न रुई न निंदा जेण तेण सो ओयणाइओ आहारो न कयाइ दिट्ठो नावि सुओ, एवं सम्मामिच्छद्दिट्ठिस्स वि जीवाइपयत्थाए उवरिं न य रुई नावि निंद त्ति " । यदा पुनरेकस्मिन्नपि वस्तुनि पर्याये वा एकान्ततो विप्रतिपद्यते तदा मिथ्यादृष्टिरेवेत्यदोषः । स च त्रिविधः । तद्यथा-अनाद्यपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र यः कदाचनापि सम्यक्त्वं नावाप्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, यस्तु सम्यक्त्वमासाद्य भूयोऽपि मिथ्यात्वं याति स सादिसपर्यवसितः । स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, तदनन्तरं कस्यापि भूयः सम्यक्त्वावाप्तिः । उत्कर्षतोऽनन्तं कालम् । तमेवानन्तं कालं द्विधा प्ररूपयति-कालतः क्षेत्रतश्च । तत्र कालतोऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिणीर्यावत्, क्षेत्रतोऽपार्द्धं पुद्गलपरावर्तं देशोनम् । अत्र क्षेत्रत इति निर्देशात् क्षेत्रपुद्गलपरावर्तः परिग्राह्यो न तु द्रव्यपुद्गलपरावर्तादयः । एवं पूर्वोत्तरत्रापि च भावनीयम् । (सम्मामिच्छादिट्ठी णमित्यादि) सम्यग्मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः । स च जघन्यतो वोत्कर्षतो वा अन्तर्मुहूर्त्तं, परतोऽवश्यं तत्परिणामविध्वंसात्, तथाजीवस्वाभाव्यात् । गतं सम्यक्त्वद्वारम् ।

(१४) इदानीं ज्ञानद्वारम्—

नाणी णं भंते! नाणि त्ति कालओ केव चिरं होइ?। गोयमा! नाणी दुविहे पण्णत्ते । तं जहा-सादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं सातिरेगाइं । आभिणिबोहियनाणी णं पुच्छा ?। गोयमा ! एवं चेव । एवं सुयनाणी वि । ओहिनाणी वि एवं चेव, नवरं जहन्नेणं एक्कं समयं । मणपज्जवनाणी णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं ॥

(नाणी णं भंते! इत्यादि) ज्ञानमस्यास्तीति, "अतोऽनेकस्वरात्" ।७।२।६। इति इन् प्रत्ययः । स द्विधा-साद्यपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र केवलज्ञानापेक्षया साद्यपर्यवसितः, प्रतिपाताभावात्, शेषज्ञानानां प्रतिनियतकालभावात् स जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, परतो मिथ्यात्वगमनेन ज्ञानपरिणामापगमात् । उत्कर्षतः षट्षष्टिसागरोपमाणि सातिरेकाणि यावत्तानि सम्यग्दृष्टेरिव भावनीयानि, सम्यग्दृष्टेरेव ज्ञानित्वात् । आभिनिबोधिकज्ञानिसूत्रे-(एवं चेव त्ति) यथा सामान्यतो ज्ञानी सादिसपर्यवसितो जघन्यत उत्कर्षतश्चोक्तः तथाऽऽभिनिबोधिकोऽपि वक्तव्यः । स चैवं-"जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं छावट्ठीसागरोवमाइं" । एवं श्रुतज्ञान्यपि । अवधिज्ञान्यप्येवम्, नवरं जघन्यत एकं समयं वक्तव्यम् । कथमेकसमयताऽवधिज्ञानस्येति चेत्?, उच्यते-इह तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो देवो वा विभङ्गज्ञानी सन् सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते, तस्य च सम्यक्त्वप्रतिपत्तिसमये एव सम्यक्त्वप्रभावतो विभङ्गज्ञानमवधिज्ञानं जातं, तच्च यदा देवस्य च्यवनेन मरणेनान्यस्यान्यथा वाऽनन्तरसमये प्रतिपतितं तदा भवत्यवधिज्ञानस्यैकसमयता, उत्कर्षतः सातिरेकाणि षट्षष्टिसागरोपमाणि, यावत्तानि वा प्रतिपतितावधिज्ञानस्य वारद्वयं विजयादिषु गमनेन वारत्रयमच्युतदेवलोकगमने तथा वेदितव्यानि । मनःपर्यवज्ञानिन एकसमयता संयतस्याप्रमत्ताद्धायां वर्त्तमानस्य मनःपर्यवज्ञानमुत्पाद्यानन्तरसमये कालं कुर्वता भावनीया; उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी; तत ऊर्द्ध्वं संयमाभावतो मनःपर्यवज्ञानस्याऽप्यभावात् ।

केवलनाणी णं पुच्छा ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए । अन्नाणी णं पुच्छा ? । गोयमा ! अन्नाणी, मतिअन्नाणी सुयअन्नाणी तिविहे पन्नत्ते । तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं अणंतं कालं अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । विभंगनाणी णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देसूणाए पुव्वकोडीए अब्भहियाइं ।

अज्ञानी त्रिविधः । तद्यथा-अनाद्यपर्यवसितः, अनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र यस्य न कदाचनापि ज्ञानलाभो भावी सोऽनाद्यपर्यवसितः । यस्तु ज्ञानमासादयिष्यति सोऽनादिसपर्यवसितः । यः पुनर्ज्ञानमासाद्य भूयो मिथ्यात्वगमनेनाज्ञानित्वमधिगच्छति स सादिसपर्यवसितः । स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, परतः सम्यक्त्वस्यासादनेनाज्ञानित्वपरिणामापगमसम्भवात्, उत्कर्षतोऽनन्तं कालमित्यादि प्राग्वत् ; तत ऊर्द्ध्वमवश्यं सम्यक्त्वावाप्तेरज्ञानित्वापगमात् । एवं मत्यज्ञानी श्रुताज्ञानी च त्रिविधो भावनीयः । विभङ्गज्ञानी जघन्यत एकं समयम् । कथमिति चेत्?, उच्यते-कश्चित् तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो देवो वा सम्यग्दृष्टित्वादवधिज्ञानी सन् मिथ्यात्वं गतः, तस्मिंश्च मिथ्यात्वप्रतिपत्तिसमये मिथ्यात्वप्रभावतोऽवधिज्ञानं विभङ्गज्ञानभूतमाद्यत्रयमज्ञानमपि भवति, मिथ्यात्वसंयुक्तमिति वचनात् ; ततोऽनन्तरसमये देवस्य मरणेनान्यथा वा तद्विभङ्गमज्ञानं परिपतति, तत एवमेकसमयता विभङ्गज्ञानस्य उत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनपूर्वकोट्यभ्यधिकानि । तथाहि-यदि कश्चिन्मिथ्यादृष्टिस्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा पूर्वकोट्यायुः कतिपयवर्षातिक्रमे विभङ्गज्ञानी जायते, जातश्च सन्नप्रतिपतितविभङ्गज्ञान एवाविग्रहगत्या सप्तमनरकपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिको नैरयिको जायते, तदा भवति यथोक्तमुत्कृष्टमा-

नम्, तत ऊर्ध्वं तु सम्यक्त्वप्रतिपत्त्याऽवधिज्ञानभावतः सर्वथाऽपगमाद्वा तद्विभङ्गज्ञानमुपगच्छति । गतं ज्ञानद्वारम् ।

(१५) इदानीं दर्शनद्वारम्; तत्रेदमादिसूत्रम्–

चक्खुदंसणी णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं सागरोवमसहस्सं सातिरेगं । अचक्खुदंसणी णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! अचक्खुदंसणी दुविहे पणत्ते। तं जहा–अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए । ओहिदंसणी णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं इक्कं समयं, उक्कोसेणं दो छावट्ठीसागरोवमाणं सातिरेगाणं । केवलदंसणी णं पुच्छा ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए ।

इह यदा त्रीन्द्रियादिश्चतुरिन्द्रियादिषूत्पद्य तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि त्रीन्द्रियादिषु मध्ये उत्पद्यते, तदा चक्षुर्दर्शनी अन्तर्मुहूर्त्तं लभ्यते. उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमसहस्रं, तच्च चतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियनैरयिकादिभवभ्रमणेनावसातव्यम् । अचक्षुर्दर्शनी अनाद्यपर्यवसितः–यो कदाचिदपि न सिद्धिभावमधिगमिष्यति, यस्त्वधिगन्ता सोऽनादिसपर्यवसितः । तथा–तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा तथाविधाध्यवसायावधिनाऽवधिदर्शनमुत्पाद्यानन्तरसमये यदि कालं करोति तदाऽवधिदर्शनं प्रतिपतति, तदाऽवधिदर्शनिन एकसमयता, उत्कर्षतोऽवधिदर्शनी द्विषट्षष्टिसागरोपमाणीति सातिरेकः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह कश्चिद्विभङ्गज्ञानी तिर्यक्पञ्चेन्द्रियो मनुष्यो वा अप्रतिपतितविभङ्गज्ञान एवाविग्रहगत्याऽधःसप्तमनरकपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिर्नैरयिको जातः, तत्र चोद्वर्त्तनाप्रत्यासत्तिकाले सम्यक्त्वमुत्पाद्य ततः परिभ्रष्टः, ततोऽप्रतिपतितेन विभङ्गज्ञानेन पूर्वकोट्यायुष्केषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु समुत्पन्नः, तत्र च परिपूर्णं स्वायुः प्रतिपाल्य पुनरप्रतिपतितविभङ्ग एवाधःसप्तमपृथिव्यां त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिको नैरयिको जातः ; तत्रापि चोद्वृत्य प्रत्यासत्तौ सम्यक्त्वमासाद्य परित्यजति, ततो भूयोऽप्यप्रतिपतितविभङ्ग एव पूर्वकोट्यायुष्केषु तिर्यक्पञ्चेन्द्रियेषु जातः, तदेवमेकषट्षष्टिसागरोपमाणामभूत्, सर्वत्र च तिर्यक्षूत्पद्यमानो विग्रहेणोत्पद्यते, विग्रहे विभङ्गस्य तिर्यक्षु मनुष्येषु च निषेधात्। वक्ष्यति-"विभंगनाणी पंचेंदियतिरिक्खजोणिया मणुस्सा आहारगा" इति। आह-किं सम्यक्त्वमेषोऽपान्तराले प्रतिपद्यते?। उच्यते-इह विभङ्गस्य उत्कर्षतोऽपि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि देशोनपूर्वकोट्यधिकानि । तथाचोक्तं प्राक्–" विभंगनाणी जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं देसूणाइं पुव्वकोडीओ अब्भहियाइं" इति। तत एतावन्तं कालमविच्छेदेन विभङ्गस्याप्रमाणत्वात् अपान्तराले सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते। ततोऽप्रतिपतितविभङ्ग एव मनुष्यत्वमवाप्य संयमं पालयित्वा द्वौ वारौ विजयादिषूत्पद्यमानस्य द्वितीया षट्षष्टिः सागरोपमाणां सम्यग्दृष्टेर्भवति । एवं द्वे षट्षष्टिसागरोपमाणामवधिदर्शनस्य । अथ विभङ्गावस्थायाममवधिदर्शनं कर्मप्रकृत्यादिषु प्रतिषिद्धं, ततः कथमिह विभङ्गे तल्लभ्यते ?। नैष दोषः । सूत्रे विभङ्गेऽप्यवधिदर्शनस्य प्रतिपादितत्वात् । तथा ह्ययं सूत्राभिप्रायः-विशेषविषयं विभङ्गज्ञानं, सामान्यविषयमवधिदर्शनम्। यथाहि सम्यग्दृष्टेर्विशेषविषयमवधिज्ञानं सामान्यविषयमवधिदर्शनमुच्यते, केवलं विभङ्गज्ञानिनोऽप्यवधिदर्शनमनाकारमात्रत्वेनाविशिष्टत्वादवधिज्ञानिनोऽवधिदर्शनं तुल्यमिति, तदप्यवधिदर्शनमुच्यते, न विभङ्गदर्शनमिति। आह मूलटीकाकारोऽप्येतत्प्रज्ञापनायाम्-"दंसणं च विभंगो हीणजाता तुल्लमेव अतो चेव छावट्ठीओ साइरेगाओ" इति । ततोऽस्माभिरपि विभङ्गेऽवधिदर्शनं भावितम् । कार्मग्रन्थिकाः पुनराहुः–यद्यपि साकारेतरविशेषभावेन विभङ्गज्ञानमवधिदर्शनं च पृथगस्ति, तथाऽपि न सम्यग् निश्चयो, विभङ्गज्ञानेन मिथ्यारूपत्वात्; नाप्यवधिदर्शनेन, तस्यानाकारमात्रत्वात्, अतः किं तेन पृथग् विवक्षितेनापीति ?, तदभिप्रायेण न विभङ्गावस्थायामवधिदर्शनेन । न चैतत्स्वमनीषिकाकल्पितम्, पूर्वसूरिभिरप्येवं मतविभागस्य व्यवस्थापितत्वात् । उक्तं च विशेषवत्यां जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपूज्यपादैः–

" सुत्ते विभंगस्स वि, परूवियं ओहिदंसणं बहुसो ।
कीस पुणो पडिसिद्धं, कम्मपगडीए पगरणम्मि ?॥ १ ॥
विभंगे वि दरिसणं, सामन्नविसेसविसयओ सुत्ते ।
तं च विसिट्ठमणागा–रमेत्ततो चिहि विभंगाणं ॥२॥
कम्मपगडिमयं पुण, सागारेयरविसेसभावे वि ।
न विभंगनाणदंसण–विसेसणभणिच्छियत्तणओ"॥३॥ इति ।

अन्ये तु व्याचक्षते किं सप्तमनरकपृथिवीनिवासिनो नारककल्पनया सामान्येनैव नारकतिर्यङ्नरामरभवेषु पर्यटन्तः खल्ववधिविभङ्गा एतावन्तं कालं भ्रमन्ति, तत ऊर्ध्वमपवर्ग इति । केवलदर्शनसूत्रं केवलज्ञानिनः सूत्रवद्भावनीयम् । गतं दर्शनद्वारम् ।

(१६) इदानीं संयमद्वारम्–

संजए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं ?। असंजए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! असंजए तिविहे पणत्ते । तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए, अणादिए वा सपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए। तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं, अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं। संजयासंजए णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोडिं । णो संजए णो असंजए णो संजयासंजए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए॥

जघन्यत एकसमयता संयतस्य, चारित्रपरिणाम समय एव कस्यापि कालकरणात्। असंयतस्तु त्रिधा-अनाद्यपर्यवसितोऽनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र यः संयमं कदाचनापि न प्राप्स्यति सोऽनाद्यपर्यवसितः, यस्तु प्राप्स्यति सोऽनादिपर्यवसितः, यस्तु संयमं प्राप्य ततः परिभ्रष्टः स सादिसपर्यवसितः। स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं, ततः परं कस्यापि पुनरपि संयमप्रतिपत्तिभावात् । उत्कर्षतोऽनन्तकालमित्यादि प्राग्वत् । तत ऊर्ध्वमवश्यं संयमप्राप्तिः। संयतासंयतदेशविरतः, स च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं, देशविरतिप्रतिपत्त्युपयोगस्य जघन्यतोऽप्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वात्। देशविरतिस्तर्हि द्विविधत्रिविधादिभङ्गबहुला, ततस्तत्प्रतिपत्तौ जघन्येनाप्यन्तर्मुहूर्त्तं लगति, सर्वविरतिस्तु सर्वसावद्यमहं न करोमीत्येवंरूपा, ततस्तत्प्रतिपत्त्युपयोग एकसामायिकोऽपि भवतीति प्राक् संयतस्य एकसमयतोक्ता । यस्तु न संयतो, नाप्यसंयतो, नो संयतासंयतः, स सिद्ध इति साद्यपर्य-

घसित इति । गतं संयमद्वारम् । प्रज्ञा० १८ पद । (निर्ग्रन्थानां कायस्थितिः ' णियंठ ' शब्दे वक्ष्यते)

इदानीमुपयोगद्वारम् ; तत्रेदमादिसूत्रम्–

सागारोवउत्ते णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं; अणागारोवउत्ते वि एवं चेव ॥

(सागारोवउत्ते णं भंते ! इत्यादि) इह संसारिणामुपयोगः साकारोऽनाकारो वा जघन्यतोऽप्यान्तर्मुहूर्त्तिक उत्कर्षतोऽपि । ततः सूत्रद्वयेऽपि जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तमुक्तम् । यस्तु केवलिनामुक्त एकसामायिक उपयोगः स इह न विवक्षित इति । गतमुपयोगद्वारम् ।

(१७) इदानीमाहारद्वारम्; तत्रेदमादिसूत्रम्–

आहारए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! आहारए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–छउमत्थआहारए य, केवलिआहारए य । छउमत्थाहारए णं भंते ! छउमत्थाहारए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं खुड्डागभवग्गहणं दुसमऊणं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जभागं । केवलिआहारए णं भंते ! केवलिआहारए त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणं पुव्वकोर्डि । अणाहारए णं भंते ! अणाहारए त्ति पुच्छा ?। गोयमा ! अणाहारए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–छउमत्थअणाहारए य, केवलिअणाहारए य ॥

"आहारए णं भंते" इत्यादि सुगमं, नवरं "जहन्नेणं खुड्डागभवग्गहणं दुसमऊणमिति"। इह यद्यपि चतुःसामायिकी च विग्रहगतिर्भवति । आह च–" उज्जुया य एगवंका, दुहतो वंका गती विणिद्दिट्ठा । जुज्जइ तिचउवंका, वि नाम चउपंचसमयाओ " ॥ १ ॥ इति । तथापि बाहुल्येन द्विसामायिकी त्रिसामायिकी वा प्रवर्तते, न चतुःसामायिकी पञ्चसामायिकी वा प्रवर्तते, ततो न ते विवक्षिते । तत्रोत्कर्षतस्त्रिसामायिक्यां विग्रहगतौ द्वावाद्यौ समयावनाहारक इत्याहारकत्वचिन्तायां क्षुल्लकभवग्रहणं ताभ्यां न्यूनमुक्तम्, ऋजुगतिरेकवक्रगतिश्च न विवक्षिता, सर्वजघन्यस्य परिचिन्त्यमानत्वात् । उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालमित्यादि सुगमं, नवरम् एतावतः कालादूर्ध्वमवश्यं विग्रहगतिर्भवति, तत्र चानाहारकत्वमित्यनन्तं कालमिति नोक्तम् ।

छउमत्थअणाहारए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं दो समया । केवलिअणाहारए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! केवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सिद्धकेवलिअणाहारए य, भवत्थकेवलिअणाहारए य । सिद्धकेवलिअणाहारए णं पुच्छा ?। गोयमा ! सादिए अपज्जवसिए । भवत्थकेवलिअणाहारए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! भवत्थकेवलिअणाहारए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य, अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए य । सजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! अजहन्नमणुक्कोसेणं तिन्नि समया । अजोगिभवत्थकेवलिअणाहारए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

केवलिसूत्रं सुगमम् । छद्मस्थाऽनाहारकसूत्रे–"उक्कोसेणं दोसमया इति"। त्रिसामायिकीं विग्रहगतिमधिकृत्य चतुःसामायिकी पञ्चसामायिकी च विग्रहगतिर्न विवक्षितेत्यभिहितमनन्तरम् । सजोगिभवस्थकेवल्यनाहारकसूत्रे–त्रयः समया अष्टसामायिकस्य केवलिसमुद्घातस्य तृतीयचतुर्थपञ्चमरूपाः ।

उक्तं च–

"दण्डं प्रथमसमयके, कपाटमथचोत्तरे तथा समये ।
मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥ १ ॥
संहरति पञ्चमे त्व–न्तराणि मन्थानमथ तथा षष्ठे ।
सप्तमके तु कपाटं, संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥२॥
औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्टः ।
मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीये तु ॥ ३ ॥
कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।
समयत्रयेऽपि तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात्" ॥४॥ इति । गतमाहारद्वारम् ।

(१८) अधुना भाषकाभाषकद्वारमाह–

भासए णं पुच्छा ?। गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं । अभासए णं पुच्छा ?। गोयमा ! अभासए दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा सपज्जवसिए । तत्थ णं जे से सादिए सपज्जवसिए से–जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो ।

(भासए णं भंते ! इत्यादि) इह जघन्यत एकसमयता, उत्कर्षत आन्तर्मुहूर्त्तिकता च वाग्योगिन इवावसातव्या । अभाषकस्त्रिविधः । तद्यथा–अनाद्यपर्यवसितः, अनादिसपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च । तत्र यो न जातुचिदपि भाषकत्वं लप्स्यते सोऽनाद्यपर्यवसितः , यस्त्ववाप्स्यति सोऽनादिसपर्यवसितः, यस्तु भाषको भूत्वा भूयोऽप्यभाषको भवति स सादिपर्यवसितः , स च जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तं भाषित्वा किञ्चित्कालमवस्थाय पुनर्भाषकत्वोपलब्धेः । अथवा द्वीन्द्रियादिभाषक एकेन्द्रियादिष्वभाषकेषूत्पद्य तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा पुनरपि यदा द्वीन्द्रियादिष्वेवोत्पद्यते तदा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमभाषक उत्कर्षतो वनस्पतिकालम्; स च प्रागेवोक्त इति नोपदर्श्यते । गतं भाषकाभाषकद्वारम् ।

इदानीं परीतद्वारम्–

परित्ते पुच्छा ? । गोयमा ! परित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–कायपरित्ते य, संसारपरित्ते य । कायपरित्ते णं पुच्छा ? । गोयमा ! पुढविकालो असंखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ । संसारपरित्ते णं पुच्छा ? । गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं जाव अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं । अपरित्ते णं पुच्छा ?। गोयमा ! अपरित्ते दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–काय–

अपरित्ते य,संसारअपरित्ते य।कायअपरित्ते णं पुच्छा ?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो। संसारअपरित्ते पुच्छा ?। गोयमा! संसारअपरित्ते दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए,अणाइए वा सपज्जवसिए। नोपरित्ते नोअपरित्ते णं पुच्छा ?। गोयमा! सादिए अपज्जवसिए। पज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सागरोवमसतपुहुत्तं सातिरेगं। अपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा! जहन्नेण वि उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। नोपज्जत्तए नोअपज्जत्तए णं पुच्छा ?। गोयमा! सादिए अपज्जवसिए। सुहुमे णं भंते! पुच्छा ?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुढविकालो। बादरे णं पुच्छा ?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं जाव, खेत्तओ अंगुलस्स असंखेज्जइभागं। नोसुहुमे नोबादरे णं भंते! पुच्छा ?। गोयमा! सादिए अपज्जवसिए।

परीतो द्विधा-कायपरीतः, संसारपरीतश्च। तत्र यः प्रत्येकशरीरी स कायपरीतः; यस्तु सम्यक्त्वादिना कृतपरिमितसंसारः स संसारपरीतः। कायपरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, स च यदा कश्चिन्निगोदादुद्धृत्य प्रत्येकशरीरिषु समुत्पद्य च तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि विग्रहेषूत्पद्यते, उत्कर्षतोऽसंख्येयं कालम्, स चाऽसङ्ख्येयकालः पृथिवीकालो, यावान् पृथिवीकायिककालस्थितिकालस्तावान् वेदितव्य इत्यर्थः। तमेव कालतो निरूपयति-असंख्येया उत्सर्पिण्यवसर्पिण्यः। संसारपरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, तत ऊर्द्ध्वमन्तकृत्केवलित्वयोगेन मुक्तिभावात्। उत्कर्षतोऽनन्तं कालम्। तमेव निरूपयति-"अणंताओ" इत्यादि प्राग्वत्, तत ऊर्द्ध्वमवश्यं मुक्तिगमनात्। कायापरीतोऽनन्तकायिकः, संसारापरीतः सम्यक्त्वादिना अकृतपरिमितसंसारः। कायापरीतो जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, स च यदा कश्चित्प्रत्येकशरीरिभ्य उद्धृत्य निगोदेषु समुत्पद्यते, ततश्चान्तर्मुहूर्तं स्थित्वा भूयोऽपि प्रत्येकशरीरिषूत्पद्यते तदाऽवसातव्यः, उत्कर्षतो वनस्पतिकालो वाच्यः। स च प्रागेवोपदर्शितः, तत ऊर्द्ध्वं नियमात्तत उद्वृत्तेः। संसारापरीतो द्विधा-अनाद्यपर्यवसितः-यो न कदाचनापि संसारव्यवच्छेदं करिष्यति; यस्तु करिष्यति सोऽनादिपर्यवसितः। नोपरीतो नोऽपरीतश्च सिद्धः साद्यपर्यवसित एव। पर्याप्तद्वारे-पर्याप्तो जघन्येनान्तर्मुहूर्त्तम्, तत ऊर्द्ध्वमपर्याप्तत्वप्रसक्तेः। उत्कर्षतः सातिरेकं सागरोपमशतपृथक्त्वम्, एतावन्तं कालं पर्याप्तलब्ध्यावस्थानसंभवात्। अपर्याप्तो जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तम्, तत ऊर्द्ध्वमवश्यमपर्याप्तत्वलब्ध्युत्पत्तेः। नोपर्याप्तो नोऽपर्याप्तश्च सिद्धः, स च साद्यपर्यवसितः, सिद्धत्वस्याप्रच्युतेः। सूक्ष्मद्वारे सूक्ष्मसूत्रे-उत्कर्षतः पृथिवीकाल इति यावान् पृथिवीकायस्थितिकालस्तावान् वक्तव्यः। बादरसूत्रं सुगमम्। अनयोश्च भावना प्रागेव कृता। नोसूक्ष्मो नोबादरश्च सिद्धः, ततः साद्यपर्यवसितः।

(१६) संज्ञिद्वारम्-

सन्नी णं भंते! पुच्छा ?। गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वणस्सइकालो। नोसन्नी नोअसन्नी णं भंते! पुच्छा ?। गोयमा! सादिए अपज्जवसिए॥

संज्ञिसूत्रे-जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमिति। यदा कश्चिज्जन्तुरसंज्ञिभ्य उद्धृत्य संज्ञिषु समुत्पद्यते, तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं जीवित्वा भूयोऽपि असंज्ञिषूत्पद्यते तदा लभ्यते। उत्कृष्टं सुगमम्। असंज्ञी जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, स चैकः कश्चित्संज्ञिभ्य उद्धृत्य संज्ञिषूत्पद्यते, तत्र चान्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयोऽपि संज्ञिषु मध्ये समागच्छति, उत्कर्षतो वनस्पतिकालो, वनस्पतिकालस्याप्यसञ्ज्ञित्वेन ग्रहणात्। नोसंज्ञी नोअसंज्ञी च सिद्धः, स च साद्यपर्यवसितः।

भवसिद्धिकद्वारम्-

भवसिद्धिए णं भंते! पुच्छा ?। गोयमा! अणादिए सपज्जवसिए। अभवसिद्धिए णं पुच्छा ?। गोयमा! अणादिए अपज्जवसिए। नोभवसिद्धिए नोअभवसिद्धिए पुच्छा ?। गोयमा! सादिए अपज्जवसिए॥

(भवसिद्धिए णमित्यादि) भवसिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिकः, भव्य इत्यर्थः। स चानादिसपर्यवसितः,अन्यथा भव्यत्वायोगात्। अभवसिद्धिकोऽभव्यः,स चानाद्यपर्यवसितः,अन्यथाऽभव्यत्वायोगात्। नोभव्यो नोऽभव्यश्च सिद्धः, ततः साद्यपर्यवसितः। अस्तिकायाः पञ्चापि सर्वकालभाविनः।

धम्मत्थिकाए णं पुच्छा ?। गोयमा! सव्वद्धं एवं जाव अद्धासमए। चरिमे णं पुच्छा?। गोयमा! अणादिए सपज्जवसिए। अचरिमे णं पुच्छा ?। गोयमा! अचरिमे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-अणादिए वा अपज्जवसिए, सादिए वा अपज्जवसिए॥

अद्धासमयोऽपि प्रवाहापेक्षया,तत उक्तम्-"एवं जाव अद्धासमए." चरमो भवो भविष्यति यस्य स हि भव्यो चरमः, तद्विपरीतोऽचरमः, स चाभव्यः, तस्य चरमभवाभावात्। सिद्धश्च, तस्यापि चरमत्वायोगात्। तत्र चरमोऽचरमोऽनादिसपर्यवसितः, अन्यथा चरमत्वायोगात्। अचरमो द्विविधः, अनाद्यपर्यवसितः, सादिसपर्यवसितश्च। तत्रानाद्यपर्यवसितोऽभव्यः; साद्यपर्यवसितः सिद्ध इति। प्रज्ञा० १८ पद। पं० सं०। द्वा०।

(२०) उदकगर्भादीनाम्-

उदगगब्भे णं भंते! उदगगब्भे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा! जहन्नेणं एक्कं समयं,उक्कोसं छम्मासा। तिरिक्खजोणियगब्भे णं भंते! तिरिक्खजोणियगब्भे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा! जहन्नमंतोमुहुत्तं,उक्कोसं अट्ठ संवच्छराइं। मणुस्सीगब्भे णं भंते! मणुस्सीगब्भे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा! जहन्नं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसं बारस संवच्छराइं। कायभवत्थे णं भंते! कायभवत्थे त्ति कालओ केव चिरं होइ ?। गोयमा! जहन्नमंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं चउवीसं संवच्छराइं। मणुस्सपंचिंदियतिरिक्खजोणियबीए णं भंते! जोणियब्भूए केवइयं कालं संचिट्ठइ ?। गोयमा! जहन्नेणमंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं बारस मुहुत्ता।

परिचारणायां किल गर्भः स्यादिति गर्भप्रकरणम्, तत्र (उदगगब्भे णं), क्वचित् 'दगगब्भे णं ति' दृश्यते। तत्र उदकगर्भः कालान्तरेण जलप्रवर्षणहेतुः पुद्गलपरिणामः, तस्य चावस्थानं जघन्यत एकः समयः, एकसमयानन्तरमेव प्रवर्षणात्। उत्कर्षतस्तु षण्मासान्, षण्मासानामुपरि वर्षणात्। अयं च मार्गशीर्षपौषादिषु वैशाखान्तेषु सन्ध्यारागमेघोत्पादादिलिङ्गो भवति। यदाह-"पौषे समार्गशीर्षे, सन्ध्यारागोऽम्बुदाः सपरिवेषाः। नात्यर्थं मार्गशिरे, शीतं पौषेऽतिहिमपातः" ॥ १ ॥ इत्यादि। (कायभवत्थे णं भंते! इत्यादि) काये जनन्युदरमध्यव्यवस्थितनिजदेह एव यो भवो जन्म स कायभवः, तत्र तिष्ठति यः स कायभवस्थः, स च कायभवस्थ इति, एतेन पर्यायेणेत्यर्थः। (चउवीसं संवच्छराइं ति)। स्त्रीकाये द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनर्मृत्वा तस्मिन्नेवात्मशरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिकतया इति, एवं चतुर्विंशतिवर्षाणि भवन्ति। केचिदाहुः-द्वादश वर्षाणि स्थित्वा पुनस्तत्रैवान्यबीजेन तच्छरीरे उत्पद्यते द्वादशवर्षस्थितिरिति। भ० २ श० ५ उ०। (पुद्गलानां कायस्थितिः 'पुग्गल' शब्दे वक्ष्यते)

कायट्ठिइकाल-कायस्थितिकाल-पुं०। कायानां पृथिवीकायादीनामन्यतमस्मिन् मृत्वा मृत्वा तत्रैव भूयो भूयः स्थितिः, तस्याः कालः कायस्थितिकालः। कालभेदे, प० सू० ४ सूत्र।

कायणिरोह-कायनिरोध-पुं०। ऊर्द्धस्थानादिलक्षणे कायस्य निरोधे, पं० व० २ द्वार। मनोवाक्कायानामकुशलानामकरणे कुशलानामपि निरोधे, आव० ४ अ०।

कायतिगिच्छा-कायचिकित्सा-स्त्री०। ज्वरादिरोगग्रस्तशरीरस्य चिकित्सा रोगप्रतिक्रिया यत्राभिधीयते तत्कायचिकित्सैव। आयुर्वेदाङ्गे, तत्र हि मध्याङ्गसमाश्रितानां ज्वरातिसारादीनां शमनार्थं चिकित्साऽभिधीयते। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

कायतिज्ज-कायतीर्य-त्रि०। कायतरणीये शरीरतरणयोग्ये, दश० ७ अ०।

कायंदी-देशी-परिहासे, दे० ना० २ वर्ग।

कायदंम-कायदण्ड-पुं०। काय एव दण्डः कायदण्डः, कायेन वा दुष्प्रयुक्तेनात्मनो दण्डः। दण्डभेदे, स० १ सम०। "कायदंमो- कायेण असुभपरिणतो पमत्तो वा जं करेति सो कायदंडो, दिट्ठंतो- चंडरुद्दो आयरिओ उज्जेणिबाहिरगामातो अणुयाणपेक्खओ आगतो, सो य अतीव रोसणो, तत्थ य समोसरणे गणियाघरविहेडितो जातिकुलादिसंपण्णो इब्भदारओ सेहो उवट्ठितो। तत्थऽणेहिं असद्दहंतेहिं चंडरुद्दस्स पासं पेलिओ-कलिणा कलिणपसओ त्ति से तस्स उवट्ठितो। तेण से ताहे चेव लोयं काओ पव्वाइतो। पच्चूसे गामं वच्चंताणं चंडरुद्दो पत्थरे आवडितो, रुट्ठो सेहं संमपण मत्थए अभिहणति; कहं ते पत्थरो न दिट्ठो त्ति ?। सेहो सम्मं सहति, कालेणं केवलणाणं चंडरुद्दस्स चित्तं पासित्तं वेरग्गेणं केवलणाणं अंतो एतेहिं दंमोहिं जो मे जाव दुक्करं"। आचू० ४ अ०।

कायदुक्कडा-कायदुष्कृता-स्त्री०। आसन्नगमनस्थानादिनिमित्तायामाशातनायाम्, ध० २ अधि०। आव०।

कायदुप्पणिहाण-कायदुष्प्रणिधान-न०। कृतसामायिकस्याप्रत्युपेक्षितादिभूतलादौ करचरणादीनां देहावयवानामनिभृतस्थापने, उक्तञ्च-"अनिरिक्खियऽप्पमज्जिय-थंडिल्ले ठाणमाइ सेवंतो। हिंसाभावे वि न सो, कडसामइओ पमायाओ" ॥ १ ॥ आव० ६ अ०। अयं च सामायिकस्यातिचारस्तृतीयः। ध० २ अधि०। प्रव०। उपा०।

कायधुओ-देशी०—कामिञ्जुलाख्यपक्षिणि, दे० ना० २ वर्ग।

कायपमज्जण-कायप्रमार्जन-न०। शरीरशोधने, "जे भिक्खू विभूसावमियाए अप्पणो कायं आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ" ॥ १०७ ॥ नि० चू० १५ उ०।

कायपरिचा (या) रग-कायपरिचारक-पुं०। परिचरन्ति सेवन्ते स्त्रियमिति परिचारकाः, कायतः परिचारकाः कायपरिचारकाः "दोसु कप्पेसु देवा कायपरियारगा पण्णत्ता। तं जहा-सोहम्मे चेव ईसाणे चेव"। स्था० २ ठा० ४ उ०। कायेन शरीरेण मनुष्यस्त्रीपुंसानामिव परिचारो मैथुनोपसेवनं येषां ते कायपरिचारकाः। परिचारकदेवभेदे, ते हि परस्परोच्छ्वासवचनमनःसंकल्पमात्रेणैव कायपरिचारादनन्तगुणं सुखमाप्नुवन्ति, तृप्ताश्च तावन्मात्रेणैवोपजायन्ते। प्रज्ञा० ३४ पद।

कायपाइ (ण्)-कायपातिन्-त्रि०। कायमात्रेणैव सावद्यक्रियाप्रवर्त्तिनि, "कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वाः परोदितम्। न चित्तपातिनस्तावदे-तदत्रापि युक्तिमत्" ॥२७१॥ यो० बि०।

कायपाय-काचपात्र-न०। काचमये पात्रे, आचा० २ श्रु० ६ अ० १ उ०।

कायपिउच्छा-देशी-कोकिलायाम, दे० ना० २ वर्ग।

कायपुण्ण-कायपुण्य-न०। कायेन पर्युपासनाद् यत्पुण्यं तत्पुण्यम्। पुण्यभेदे, स्था० ६ ठा०।

कायप्पओगपरिणत-कायप्रयोगपरिणत-त्रि०। औदारिकादिकाययोगेन गृहीते औदारिकादिवर्गणाद्रव्ये औदारिकादिकायतया परिणते, भ० ८ श० १ उ०।

कायवंझ-कायवन्ध्य-पुं०। षट्त्रिंशत्तमे महाग्रहे, "दो कायवंझा" स्था० २ ठा० ३ उ०।

कायवह-कायवध-पुं०। वनस्पत्यादिवधे, "कूपोदाहरणादिह कायवधोऽपि गुणवान्"। षो० ६ विव०। जीवनिकायहिंसायाम्, पञ्चा० ४ विव०।

कायभवत्थ-कायभवस्थ-पुं०। काये जनन्युदरमध्यव्यवस्थितनिजदेह एव यो भवो जन्म स कायभवः, तत्र तिष्ठति यः स कायभवस्थः। मातुरुदरवर्तिनि जीवे, भ० २ श० ५ उ०।

कायभाव-काचभाव-पुं०। काचधर्मे, आव० ३ अ०।

कायमंत-कायवत्-त्रि०। कायो महाकायः प्रांशुत्वं, तद् विद्यते येषां ते कायवन्तः। सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

कायमणिया-काचमणिका-स्त्री०। काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः, कुत्सिताः काचमणयः काचमणिकाः। अविमलकाचमणिषु, आव०।

सुचिरं पि अत्थमाणो, वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो ।
न उवेइ कायभावं, पाहन्नगुणेण निअएण ॥१॥

कुत्सितकाचमणयः काचमणिकाः, तैरुत्प्राबल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः, नोपैति न याति काचभावं काचधर्मं, प्राधान्यविमलगुणेन निजेनात्मीयेन; एवं सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिः

सार्द्धं स वसन्नपि शीलगुणेनात्मीयेन न पार्श्वस्थादिभावमुपैत्ययं गाथार्थः । आव० ३ अ० ।

कायर-कातर-त्रि० । ईषत्तरति स्वकार्यसमाप्तिं गच्छति । तृ-अच् । कोः कादेशः। अधीरे, व्यसनाकुले च । वाच० । परीषहोपसर्गोपनिपाते सति । आचा० १श्रु०६ अ०४ उ०। हीनसत्त्वे, उत्त० २० अ० । चित्तावष्टम्भवर्जिते, ज्ञा० १ अ० । म० । प्रश्न० । भीते, विवशे, चञ्चले च । के जले आतरति प्लवते न तु विशेषतो मज्जति । उडुपे, मत्स्यभेदे च । स्त्रियां जातित्वाद् ङीष् । ऋषिभेदे, ततः गोत्रे नडा० फक् कातरायणः। तद्गोत्रापत्ये,पुं०। स्त्री० । भावे ष्यञ् । कातर्यंव्याकुलतायाम, न०।"कातर्यं केवला नीतिः, शौर्यं श्वापदचेष्टितम् । " तल्-कातरता । स्त्री० । त्वे-कातरत्वम । न० । तदर्थे, वाच० ।

कायरिय-कातारिक-पुं० । आजीविकोपासकभेदे, भ० ८ श० ५ उ० ।

कायरिया-कातरिका-स्त्री० । मायायाम, "विरया वीरा समुट्ठिया, कोहकायरियाइ पीसणा " । सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कायरो (लो)-देशी-प्रिये, दे० ना० २ वर्ग ।

कायवण- कायव्रण-पुं० शरीरशोथे,"दुविधो कायम्मि वणो, तदुब्भवागंतुओ वि णायव्वो।"कायवणो दुविधो-तत्थेव काए ब्भवो जस्स सो य तब्भवो, आगंतुएण सत्थादिणा कओ जो सो आगंतुगो इमो, तस्य लेपो न कर्त्तव्यः । नि० चू० ३ उ० ।

जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गाहेत्ता दिया गोमयं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥३९॥ जे भिक्खू दिया गोमयं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४०॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४१॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४२॥

चउक्कभंगसुत्तं उच्चारेयव्वं। कायः शरीरं, व्रणः क्षतं, तेण गोमयेण आलिंपइ सकृत, विलिंपइ अनेकशः, अपरिवासिते मासलहुं, परिवासिते चउभंगे चउलहुं, तवकालविसिट्ठा आणादिया दोसा ।

दियरातो गोमएणं, चउक्कभयणा तु जा वणे वुत्ता ।
एत्तो एगतरेणं, मक्खेत्ताऽऽणादिणो दोसा ॥ २१६ ॥

चउक्कभयणा चउभंगो तत्तियउद्देसए जा वणे वुत्तो इहं पि सच्चेव।

तिव्वुप्पतितं दुक्खं, अभिभूतो वेयणाएँ तिव्वाए ।
अद्दीणो अव्वहितो, तं दुक्खहि यासते सम्मं ॥ २१७ ॥
अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीयट्ठाए समाहिहेउं वा ।
एतेहि कारणेहिं, जयणा आलिंपणं कुज्जा ॥ २१८ ॥

पूर्ववत् ।

गोमयगहणे इमा विही-

अभिणवबोसट्ठाऽसति, इतरे उवयोग काल गहणं तु ।
माहिस असती गव्वं, अणातवत्थं च विसघाती ॥२१९॥

वोसिरियमेत्तं घेत्तव्वं, तं बहुणं, तस्साऽसति इयरं चिरकालवोसिरियं,तं पि उवओगं करेतुं गहणं, दिणसंसत्तं पि माहिसं घेत्तव्वं, माहिसाऽसति गव्वं, तं पि अणातवत्थं, छायायामित्यर्थः । तं असुसिरं विसघाती भवति,आयवत्थं पुण सुसिरयरं, स ण गुणकारी ।

जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४३ ॥ जे भिक्खू दिया आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥ जे भिक्खू रत्तिं आलेवणजायं पडिग्गाहित्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

आलेवणजातं आलेवणप्पगारा ।

दियरातो लेवेणं, चउक्कभयणा उ जा वणे वुत्ता ।
एत्तो एगतरेणं, मक्खेत्ताऽऽणादिणो दोसा ॥ २२० ॥
सो पुण लेवो चउहा, समणो पायी विरेग संरोही ।
वरुछल्लि तुवरमादी, अणहारेणं इहं पगतं ॥२२१ ॥

वेदणं जो उवसमेति, पाइणगं करेति, विरेयणो पुव्वं रुधिरं दोसे वा णिग्घाए अतिसारादी रोहवेति, जावइओ वरुछल्लिमादी तुवरा वेयणोवसमकारगा इह अणाहारियं परिसावितस्स चउलहुं ।

तिव्वुप्पतितं दुक्खं, अभिभूतो वेयणाएँ तिव्वाए ।
अद्दीणो अव्वहितो, तं दुक्खहि यासए सम्मं ॥२२२॥
अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीयट्ठाए समाहिहेतुं वा ।
एएहि कारणेहिं, कप्पति जयणाएँ मक्खेतुं ॥ २२३ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० १२ उ० ।

कायवर-काचवर-पुं० । प्रधानकाचे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

कायवायाम-कायव्यायाम-पुं० । कायते इति कायः शरीरं, तस्य व्यायामो व्यापारः कायव्यायामः । औदारिकादिशरीरयुक्तस्यात्मनो वीर्यपरिणतिविशेषे, " एगे कायवायामे " कायव्यायाम औदारिकादिभेदेन सप्तप्रकारोऽपि जीवानन्तत्वेनानन्तभेदोऽपि वा एक एव कायव्यायामः सामान्यादिति ।

एगे कायवायामे देवासुरमणुयाणं तंसि तंसि समयंसि ।

कायव्यायामः काययोगः, स चैषामेकदा एक एव, सत्तानां काययोगानामेकदा एकतरस्यैव भावात् । ननु यदाऽऽहारकप्रयोक्ता भवति तदौदारिकस्यावस्थितस्य भू—

यमाणत्वात् कथमेकदा न काययोगद्वयमिति ? । अत्रोच्यते-सतोऽप्यौदारिकस्य व्यायामाभावादाहारकस्यैव च तत्र व्याप्रियमाणत्वादप्यौदारिकमपि व्याप्रियते तर्हि मिश्रयोगता भविष्यति, केवलिसमुद्घाते सप्तमषष्ठद्वितीयसमयेष्वौदारिकमिश्रवत्, तथा चाहारकप्रयोक्ता न लभ्येत, एवं च सप्तविधकाययोगप्रतिपादनमनर्थकं स्यादित्येक एव कायव्यायाम इति, एवं कृतवैक्रियशरीरस्य चक्रवर्त्यादेरप्यौदारिकं निर्व्यापारमेव। व्यापारवत्त्वाच्चेत्, उभयस्य व्यापारवत्त्वे केवलिसमुद्घातवन्मिश्रयोगतेत्येवमप्येकयोगत्वमव्याहतमेवेति । तथा काययोगस्याप्यौदारिकतया वैक्रियतया च क्रमेण व्याप्रियमाणत्वे आशुवृत्तितया मनोयोगवद् यदि यौगपद्यभ्रान्तिः स्यात्तदा को दोष इति?। एवं च काययौगिकत्वे सत्यौदारिकादिकाययोगाहृतमनोद्रव्यवाग्द्रव्यसाचिव्यजातजीवव्यापाररूपत्वान्मनोयोगवाग्योगयोरेककाययोगपूर्वकतयाऽपि प्रागुक्तमेकत्वमवसेयमिति। अथ चेद्मेव वचनमात्रं प्रमाणम्, आज्ञाग्राह्यत्वादस्य। यतः-"आणागेज्झो अत्थो, आणाए चेव सो कहेयव्वो । दिट्ठंता दिट्ठंतिय, कहणविहिविराहणा इयरा "॥१॥ इति । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकः, अर्थ इत्यर्थः । ननु सामान्याश्रयैकत्वेनैव सूत्रगमकं भविष्यतीति किमनेन विशेषव्याख्यानेनेति?। उच्यते-नैवम्, सामान्यैकत्वेऽस्य पूर्वसूत्रैरेवाभिहितत्वादस्य पुनरुक्तत्वप्रसङ्गाद्देवादिग्रहणसमयग्रहणयोश्च वैयर्थ्यप्रसंगाच्चेति। इह च देवादिग्रहणं विशिष्टवैक्रियलब्धिसंपन्नत्वेषामनेकशरीरत्वे सत्येकदा मनोयोगादीनामनेकत्वं शरीरवद्भविष्यतीति प्रतिपत्तिनिरासार्थं न तु तिर्यग्नारकाणां व्यवच्छेदार्थम्। ननु तिर्यग्नारका अपि वैक्रियलब्धिमन्तः, तेषामपि विक्रियायां शरीरानेकत्वेन मनःप्रभृतीनामनेकत्वप्रतिपत्तिः संभाव्यत एवेति तद्ग्रहणमपि न्याय्यमिति?। सत्यम्। किन्तु देवादीनां विशिष्टतरलब्धितया शरीराणामत्यन्तानेकतेति तद्ग्रहणम्, तथा प्रधानग्रहणे इतरग्रहणं भवतीति न्यायाददोषः। नारकादिभ्यश्च देवादीनां प्रधानत्वं प्रतीतमेवेति । एतेषां च मनःप्रभृतीनां यथा प्राधान्यकृतः क्रमः; प्रधानत्वं च बहुस्वाल्पतरकर्मक्षयोपशमप्रभवलाभकृतमिति । स्था० १ ठा० १ उ० ।

कायविणय–कायविनय–पुं० । कायस्य विनयार्हे कुशलप्रवृत्तौ, स्था० ७ ठा० ।

कायवीरिय–कायवीर्य–न०। औरस्ये बले, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । ('वीरिय' शब्देऽस्य विवृतिः)

कायव्व–कर्तव्य–त्रि० । विधेये, पञ्चा० ६ विव० । प्रव० । सू० । नि० चू० । आचा० ।

कायसंकिलेस–कायसंक्लेश–पुं० । कायः शरीरं,तस्य संक्लेशः शास्त्राविरोधेन बाधनम्। अत्र तु तनोरचेतनत्वेऽपि शरीरशरीरिणोः कथञ्चिदभेदात् कायक्लेशोऽपि संभवत्येव। विशिष्टासनकरणेनाप्रतिकर्मशरीरत्वकेशोल्लुञ्चनादिना च देहस्यौचित्येन विबाधने बाह्यतपसि, ध० १ अधि० । अयं च स्वकृतक्लेशानुभवरूपः, परीषहास्तु स्वपरकृतक्लेशरूपाः, इति कायक्लेशस्य परीषहेभ्यो भेदः । ध० ३ अधि० ।

कायसंपया-कायसंपत्-स्त्री०।"रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पद्" इति पतञ्जल्युक्ते उत्तमरूपादौ, द्वा० २६ द्वा० ।

कायसमय–कायसमय–पुं०। जीवेन कायस्य कायताकरणे, भ० १३ श० ७ उ० ।

कायसमयविइक्कंत–कायसमयव्यतिक्रान्त–त्रि० । जीवेन कायस्य कायताकरणलक्षणं समयं व्यतिक्रान्ते, " कायसमयविइक्कंते वि काए " कायसमयव्यतिक्रान्तोऽपि काय एव, मृतकलेवरवत्। भ० १३ श० ७ उ० ।

कायसमाहारणया–कायसमाधारणता–स्त्री० । संयमयोगेषु देहस्य सम्यग्व्यवस्थापनायाम्, उत्त० ।

तत्फलम्–

कायसमाहारणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ?। कायसमाहारणयाए णं जीवे चरित्तपज्जवे विसोहेइ, चरित्तपज्जवे विसोहित्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ, अहक्खायचरित्तं विसोहित्ता चत्तारि केवलकम्मंसे खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ५८ ॥

हे भगवन् ! कायसमाधारणया जीवः किं जनयति? । कायस्य समाधारणा संयमयोगेषु देहस्य सम्यग्व्यवस्थापना कायसमाधारणा,तया,जीवः किं फलमुत्पादयति? । तदा गुरुराह–हे शिष्य ! कायसमाधारणया चारित्रपर्यवान् चारित्रभेदान् क्षायोपशमिकान् विशोधयति, चारित्रपर्यवान् विशोध्य यथाख्यातचारित्रं विशोधयति, यथाख्यातचारित्रं निर्मलं कुरुते । ननु यथाख्यातचारित्रमविद्यमानं कथं निर्मलं भवति ?। अत्रोत्तरम् । यथाख्यातचारित्रं सर्वथा अविद्यमानं नास्ति, अविद्यमानस्य निर्मलत्वासम्भवात्, तस्माद् यथाख्यातचारित्रं पूर्वमस्ति, परं चारित्रमोहनीयेन मलिनमस्ति, तदेव यथाख्यातचारित्रं चारित्रमोहोदयनिर्जरेण निर्मलीकुरुते, यथाख्यातचारित्रं विशोध्य च केवलसत्कर्मांशान् चत्वारि विद्यमानकर्माणि घनघातीयानि वेदनीयायुर्नामगोत्रलक्षणानि क्षपयति, ततः सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वापयति, सर्वदुःखानामन्तं करोति। उत्त० २९ अ० ।

कायसमिइ–कायसमिति–स्त्री०। कायस्य स्थानादिसमितौ,स्था० ८ ठा० ।

कायसुहया–कायसुखता–स्त्री०। काये सुखं यस्यासौ कायसुखस्तद्भावः कायसुखता। सुखिते काये, प्रज्ञा० ३३ पद ।

कायाग–कायाक–पुं०। वेषपरावर्त्तकारिणि नटविशेषे,वृ० ४ उ०।

कायाणुवाय–कायानुपात–पुं० । पृथिव्यादीनां यत्कायं शरीरं तस्यानुपातो विनाशः। पृथिव्यादीनां द्वीन्द्रियादीनां च कायानामुपघाते, नि० चू० २३ उ० ।

कारं–देशी-कटुकाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कार–कार–पुं० । कृ कृतौ घञ्। क्रियायां, यत्ने च। वाच०। करणे, आतु० । प्रव० । करणे घञ् । बले, कस्य सुखस्यारः प्राप्तिर्यत्र। रतौ , कृ हिंसायाम् भावे घञ् । वधे , धातूनामनेकार्थत्वात् निश्चये, कर्मणि घञ् । पूजोपहारे बलौ, कं सुखमृच्छत्यनेन, ऋ करणे घञ्। पत्यौ, कं सुखं निर्वृतिमृच्छति अच्, कर्त्तरि अण् । यतित्वे चतुर्थाश्रमे, कं जलं निष्पन्दमृच्छति अण् । हिमाचले, कर्मण्युपपदे कृ अण्, स्वर्णकारः कुम्भकार इत्यादौ तत्तत्कर्मकारके, त्रि० । स्त्रियां टाप् । वाच० । " संघमज्झे कारे " कारशब्दोऽत्र रूपमात्रे सङ्घमध्ये

व्यवहर्त्तव्यः । व्य० ३ उ० । " वर्णात्कारः " इति वर्णवाचकात्कारप्रत्ययः । " सायंकारे त्ति " सायमिति निपातः सत्यार्थः, तस्माद् वर्णात्कार इत्यनेन छान्दसत्वात्कारप्रत्ययः, करणं वा कारः, ततः सायंकार इति । स्था० १० ठा० ।

कारंकओ–देशी–परुषे, दे० ना० २ वर्ग ।

कारंडव–कारण्डव–पुं० । स्त्री० । रम डः । रुस्य नेत्वम्, रएडः । ईषत् रएडः कारण्डः, तं वाति, करण्डस्येदं कारण्डं तदाकारं वाति वा । हंसभेदे, वाच० । ज्ञा० । औ० । जी० ।

कारग–कारक–त्रि० । कृ–एवुल् । अनुष्ठातरि, उत्त० १ अ० ।

अस्य निक्षेपः षोढा–

दव्वे खित्ते काले, भावेण उ कारओ जीवो ॥४॥ सूत्र०नि०।

नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढा निक्षेपः, तत्र नामस्थापने प्रसिद्धत्वादनादृत्य द्रव्यादिकं दर्शयति–(दव्वे इति) द्रव्यविषये कारकश्चिन्त्यः । स च द्रव्यस्य द्रव्येण द्रव्यभूतो वा कारको द्रव्यकारकः । तथा–क्षेत्रे भरतादौ यः कारको यस्मिन् वा क्षेत्रे कारको व्याख्यायते स क्षेत्रकारकः । एवं कालेऽपि योज्यम् । भावेन तु भावद्वारेण चिन्त्यमानोऽत्र कारको यस्मात्सूत्रस्य गणधरः कारकः । एतच्च सूत्रकृदेवोत्तरत्र वक्ष्यति ' ठिइअणुभावेत्यादौ' ॥ ४ ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । करोति कर्तृत्वादिव्यपदेशान्, कृ एवुल्, कर्तृत्वादिसंज्ञाप्रयोजके कर्मणि, क्रियायां, 'कारके' पाणिनिसूत्रम्, कर्तृत्वादिव्यपदेशकारिण्यां क्रियायामित्यर्थः । करोति क्रियां निष्पादयति, कृ एवुल् । क्रियानिष्पादकेषु कर्तृकर्मादिषु कारकसंज्ञान्वितेषु, तेषां च क्रियायामेवान्वयः । कारकत्वं नाम–क्रियाजनकशक्तिमत्त्वम्, करोति क्रियां निर्वर्तयतीति महाभाष्ये व्युत्पादनात्, साधकं क्रियानिष्पादकं भवतीति वार्तिकोक्तेश्च । द्रव्यस्य तथात्वाभावेऽपि शक्त्याऽऽविष्टस्यैव तस्य तथात्वम् । ततश्चान्वयव्यतिरेकसत्त्वाच्छक्तिरेव कारकमिति मतान्तरम् । तदुक्तं हरिणा–" स्वाश्रये समवेतानां, तद्वदेवाश्रयान्तरे । क्रियाणामभिनिष्पत्तौ, सामर्थ्यं साधनं विदुरिति " । शक्तिशक्तिमतोरभेदाद् द्रव्यं कारकमिति व्यवहार इति । वाच० । तानि च कर्तृकर्मकरणसंप्रदानापादानाधिकरणरूपाणि षट् । "आत्मन्येवात्मनः कुर्यात्, यः षट्कारकसङ्गतिम् । क्वाविवेकज्वरस्यास्य, वैषम्यं जडमज्जनात्?" ॥१॥ विशे० । अष्ट० । [एषां परस्परं स्याद्वादमुद्रया संवेधः 'सामाइय' शब्दे वक्ष्यते] "गर्जति शरदि न वर्षति, वर्षासु च निःस्वनो मेघः । नीचो वदति न कुरुते, न वदति साधुः करोत्येव" ॥१॥ कल्प० ५ क्षण । "कारणं ति वा कारगं ति वा साहारणं ति वा एगट्ठा" । आ० चू० १ अ० । तुमर्थे एवुल् कर्तुमित्यर्थे, तद्योगे कर्मणि न षष्ठी, अतो घटं कारको व्रजतीत्येवं प्रयोगः । करकाया इदं तत्र भवं वा अण् । करकासम्बन्धिनि तन्निष्यन्दिजले, न० । अप्सु, स्त्री० । ङीप् । वाच० । कारयति सदनुष्ठानमिति कारकम् । विशे० । सूत्राज्ञाशुद्धायां क्रियायाम्, तस्या एव परगतसम्यक्त्वोत्पादकत्वेन सम्यक्त्वरूपत्वात् । तदवच्छिन्ने वा सम्यक्त्वभेदे, ध० २ अधि० । यस्मिन् सम्यक्त्वे सति सदनुष्ठानं श्रद्धत्ते सम्यक् करोति च । विशे० । एतच्च साधूनां विशुद्धचारित्रिणामेव । ध० २ अधि० । श्रा० । दर्श० ।

कारगसुत्त–कारकसूत्र–न० । विस्तरेणाधिकृतार्थप्रसिद्धिकारके सूत्रभेदे, बृ० १ उ० । ('सुत्त' शब्देऽस्य विवृतिः)

कारण–कारण–न० । कारयति क्रियानिर्वर्तनाय प्रवर्तमाय प्रवर्तयति कृ–णिच्–ल्युट् । क्रियानिष्पादके, वाच० । हेतौ, हेतुर्निमित्तं कारणमित्यनर्थान्तरम् । विशे० । आ० म० । "अत्थो त्ति वा हेउ त्ति वा कारण त्ति वा एगट्ठा " । नि० चू० २० उ० । आ० चू० । संथा० ।

निक्षेपः–

निक्खेवो कारणम्मी, चउव्विहो दुविहु होइ दव्वम्मि ।
तद्दव्वमन्नदव्वे, अहवा वि निमित्तनेमित्ती ॥२०६८॥

समवाइ असमवाई, छव्विह कत्ता य करण कम्मं च ।
तत्तो य संपयाणा–पयाण तह संनिहाणे य ॥२०६९॥

इह करोति कार्यमिति कारणम्, तस्य नामस्थापनाद्रव्यभावभेदाच्चतुर्विधो निक्षेपो न्यासः । तत्र नामस्थापने सुज्ञाने । द्रव्यकारणं तु ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तमाह–(दुविहु इत्यादि) व्यतिरिक्तद्रव्यकारणविषयो निक्षेपो द्विविधः । कथम्?, (तद्दव्वमन्नदव्वे त्ति) तद्द्रव्यकारणम्, अन्यद्रव्यकारणं चेत्यर्थः । तस्यैव जन्यस्य पटादेः सजातीयत्वेन संबन्धि द्रव्यं तन्त्वादि तद्द्रव्यम्, तच्च तत्कारणं च तद्द्रव्यकारणम्, तथा–यत्तद्विपरीतं तदन्यद्रव्यकारणं जन्यपटादिविजातीयं वेमादीत्यर्थः । तद्द्रव्यकारणत्वे कार्यकारणयोरेकत्वमिति प्रेर्यस्य परिहारं वक्ष्यति भाष्यकारः । अथ वा–अन्यथाव्यतिरिक्तकारणस्यैव द्वैविध्यम्–निमित्तकारणं, नैमित्तिककारणं चेति । तत्र कार्यात्मन आसन्नभावेन जनकं निमित्तम्, यथा पटस्यैव तन्तवः, तद्व्यतिरेकेण पटस्यानुत्पत्तेः । तच्च तत्कारणं च निमित्तकारणम्, यथा च तन्तुभिर्विना पटो न भवति तथा तद्गताऽऽतानवितानादिचेष्टाव्यतिरेकेणापि न भवत्येव । तस्याश्च तच्चेष्टाया वेमादि कारणम्, अतो निमित्तस्येदं नैमित्तिकमिति ॥२०६८॥ अथवा–अन्यथाव्यतिरिक्तकारणस्य द्वैविध्यमित्याह–(समवायीत्यादि) 'सम्' एकीभावे, अवशब्दोऽपृथक्त्वे, अय गतौ, इण् गतौ वा । ततश्चैकीभावेनापृथग्गमनं समवायः संश्लेषः, स विद्यते येषां ते समवायिनस्तन्तवः, यस्मात्तेषु पटः समवैतीति, समवायिनश्च ते कारणं च समवायिकारणम् । तन्तुसंयोगास्तु कारणरूपद्रव्यान्तरधर्मत्वेन पटाख्यकार्यद्रव्यान्तरस्य दूरवर्तित्वादसमवायिनः, त एव कारणमसमवायिकारणम् । आह–ननु तद्द्रव्यादिप्रकारत्रयेऽपि यथोक्तन्यायेनार्थस्याभेद एव, इति किं भेदेनोपन्यासः?। सत्यम्, किं तु तन्त्रान्तराभ्युपगतसंज्ञान्तरप्रदर्शनपरत्वाददोषः । अथवा–व्यतिरिक्तं द्रव्यकारणम् (छव्विह त्ति) अनुस्वारस्य लुप्तस्य दर्शनात् षड्विधं षट्प्रकारम् । कथम्?, कर्ता कुलाललक्षणस्तावत्कार्यस्य घटादेः कारणम्, तस्य तत्र स्वातन्त्र्येण व्यापारात् । तथा करणं च मृत्पिण्डदण्डसूत्रादिकं घटस्य करणं, साधकतमत्वात् । तथा क्रियते निर्वर्त्यते यत्तत्कर्म घटलक्षणं तदपि कारणम् । आह–ननु कथमात्मैवात्मनः कारणम्, अलब्धात्मलाभस्य तस्य कारणत्वानुपपत्तेः?। सत्यम्, कुलालादिकारणव्यापृतिक्रियाविषयत्वादुपचारतस्तस्य कारणत्वम् । उक्तं च–"निर्वर्त्यं वा विकार्यं वा, प्राप्यं वा यत् क्रियाफलम् । तद् दृष्टादृष्टसंस्कारं, कर्म कर्तुर्यदीप्सितम्" ॥ १ ॥ तदेवं क्रियाफलत्वेन कार्यस्यापि कारणत्वम्, अन्यथा कुलालादिक्रियावैयर्थ्यप्रसंगादिति । मुख्यवृत्त्या वाऽसौ कार्यगुणेन कारणत्वम् । तथा सम्यक् सत्कृत्य वा प्रयत्नेन दानं यस्मै तत्संप्रदानम्–घटग्राहकदेवदत्तादि । तदपि घटस्य कारणम्, तदुद्देशेनैव घटस्य निष्पत्तेः,

तदभावे तन्निष्पत्त्ययोगादिति । [अवयाण त्ति] 'दो अवखण्डने' दानं खण्डनम्, अपसृत्य आमर्यादया दानं खण्डनं नियोजनं मृत्पिण्डादेर्यस्मात् तद् मृत्पिण्डापायेऽपि ध्रुवत्वाद्भूमिलक्षणमपादानम् । तदपि कार्यस्य घटस्य कारणम्, तदन्तरेणाऽपि तस्यानुत्पत्तेः । तथा-सन्निधीयते स्थाप्यते कार्यं यत्र तत्संनिधानमाधारः, अधिकरणमित्यर्थः । तदपि कार्यस्य घटस्य कारणम्; आधारतया तस्यापि तत्रोपयोगात् । तच्च घटस्य चक्रम्, तस्यापि भूमिः, तस्याप्याकाशमिति निर्युक्तिगाथाद्वयार्थः ॥ २०९९ ॥

अथैतद्व्याचिख्यासुर्भाष्यकारः प्राह-

तद्दव्वकारणं तं-तवो पडस्सेह जेण तम्मयया ।
विवरीयमन्नकारण-मिट्ठं वेमादओ तस्स ॥ २१०० ॥

यदात्मकं कार्यं दृश्यते तदिह तद्द्रव्यकारणम्-तस्य कार्यद्रव्यस्य सजातीयत्वेन संबन्धि कारणं तद्द्रव्यकारणमित्यर्थः । यथा पटस्य तन्तवः; येन तन्मयता तन्त्वात्मकता पटस्य । तद्विपरीतं तु यत्तदात्मकं कार्यं न भवति तदन्यद् द्रव्यकारणमिष्टम्, यथा तस्यैव पटस्य वेमादय इति ॥ २१०० ॥

अत्र परः प्रेरयन्नाह-

जइ तं तस्सेव मयं, हेऊ नणु कज्जकारणेगत्तं ।
न य तं जुत्तं ताइं, जओऽभिहाणाइभिन्नाइं ॥ २१०१ ॥

ननु यदि तत् तस्यैव पटस्य संबन्धि तन्तुद्रव्यं तस्यैव च पटस्य हेतुः कारणं मतं संमतम्, तन्ननु कार्यकारणयोरेकत्वं प्राप्नोति । ततश्च न तन्तुपटयोः कार्यकारणभावः, एकत्वात्पटस्वरूपवदिति परस्याभिप्रायः । न च तत्कार्यकारणयोरेकत्वं युक्तम्, यतस्ते कार्यकारणे अभिधानादिना भिन्ने वर्तेते; आदिशब्दात्संख्यालक्षणकार्यपरिग्रहः । तथाहि-पटः, तन्तव इत्यभिधानभेदः । एकः पटः, बहवस्तन्तव इति संख्याभेदः । लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणं स्वरूपम्; तच्चान्यादृशं पटस्य, अन्यादृशं च तन्तूनामिति लक्षणभेदः । शीतत्राणादिकार्यः पटः, बन्धनादिकार्यश्च तन्तव इति कार्यभेदः । ततश्च भिन्ने पटतन्तुलक्षणे कार्यकारणे, अभिधानादिभेदाद्, घटपटादिवदिति । तथा-च सति भवदभिप्रायेण यत्तयोरेकत्वमापतति, तदयुक्तमेवेति ॥ २१०१ ॥

अत्रोत्तरमाह-

तुल्लोयमुवालंभो, भेए वि न तंतवो घडस्सेव ।
कारणमेगंते वि य, जओभिहाणादओ भिन्ना ॥ २१०२ ॥

यस्तन्तुपटयोरभेदपक्षे कार्यकारणभावाभावप्रसङ्गलक्षण उपालम्भस्तव चेतसि वर्तते, स भेदेऽपि भेदपक्षेऽपि तुल्यः समान एव वर्तते । तथाहि-न तन्तवः पटस्य कारणं, भिन्नत्वाद्, घटस्येवेति । किं च-एत एकत्वेऽपि वस्तूनामभिधानादयो भिन्ना दृश्यन्त एव; ततोऽनैकान्तिको हेतुरिति शेषः । तथाहि-घटस्य रूपादीनां चैकत्वं लोके प्रतीतम्, अथवाऽभिधानादयो भिन्ना एव । तद्यथा-घटः, रूपादय इत्यभिधानभेदः । एको घटः, बहवो रूपादय इति संख्याभेदः । पृथुबुध्नोदराद्याकारलक्षणो घटः, रक्तत्वादिलक्षणा रूपादय इति लक्षणभेदः । जलाहरणादिक्रियाकारको घटः, रक्ताधानादिहेतवश्च रूपादय इति कार्यभेदः । ततोऽभिधानादिभेदाद्भेद इत्यनैकान्तिको हेतुः, यत एतदपि शक्यते वक्तुम्-अभिन्ने पटतन्त्वादिलक्षणे, कार्यकारणे अभिधानादिभेदाद्, घटरूपादिवदिति ॥ २१०२ ॥

आह-यद्येकत्ववद्भेदेऽपि कार्यकारणयोस्तुल्य उपालम्भः, तर्हि कथं नाम लोकप्रसिद्धस्तन्तुपटादीनां कार्यकारणभावः सिद्ध्यति?, इति भवन्त एव कथयन्त्वित्याह-

जं कज्जकारणाइं, पज्जाया वत्थुणो जओ ते य ।
अन्नेऽणन्नेण मया, तो कारणकज्जभयणेयं ॥ २१०३ ॥

यद्यस्माद् घटमृत्पिण्डादिलक्षणे कार्यकारणे वस्तुनः पृथिव्यादेः पर्यायौ वर्तेते, तौ च घटमृत्पिण्डलक्षणौ पृथ्वीपर्यायौ परस्परं यतो यस्मादन्यावनन्यौ च मतौ । तत्र संख्यासंज्ञालक्षणादिभेदादन्यत्वं, मृदादिरूपतया सत्त्वप्रमेयत्वादिभिश्चानन्यत्वम् । तस्मात्कार्यकारणयोरियमन्यानन्यत्वलक्षणा भजना द्रष्टव्या । ततश्च कथञ्चित्तयोः परस्परं भेदे, कथञ्चित्त्वभेदे कार्यकारणभाव इति-भावार्थः ॥ २१०३ ॥

एतदेवाह-

नत्थि पुढवीविसिट्ठो, घडो त्ति जं तेण जुज्जइ अणन्नो ।
जं पुण घडो त्ति पुव्वं, न आसि पुढवी तओ अन्नो ॥ २१०४ ॥

पृथिव्या मृत्तिकाया विशिष्टो व्यतिरिक्तो तन्मयो घटो नास्ति न दृश्यते यद्यस्मात्, तेन तस्माद्युज्यते अनन्यो मृत्तिकातोऽभिन्नः । यत् पुनर्घट इति व्यक्तेन रूपेण पूर्वं घटनिष्पत्तेः प्राग् नासीन्नाभूत्किं तु पृथिवी मृत्तिकैवासीत्, अन्यथा सर्वथैकत्वे पृथिवीकालेऽपि घटो दृश्येतेति भावः । ततस्तस्मात् ज्ञायते पृथिवीतोऽन्यो घट इति । एवं यथा मृद्घटयोरन्यानन्यत्वमेव, एवं सर्वत्र कार्यकारणयोस्तद्भावनीयमिति ॥ २१०४ ॥

" अहवा वि निमित्तनेमित्ती " इत्येतद्व्याचिख्यासुराह-

जह तंतवो निमित्तं, पडस्स वेमादओ तहा तेसिं ।
जं चेट्ठाइ निमित्तं, तो ते पडयस्स नेमित्तं ॥ २१०५ ॥

यथा तन्तवः पटस्य निमित्तं कारणं, तथा तेनैव प्रकारेण यस्मात्तेषां तन्तूनामातानवितानादि चेष्टाया निमित्तं वेमादयस्ततस्ते निमित्तस्येदं नैमित्तिकं कारणं पटस्य भवतीति ॥ २१०५ ॥

समवायी असमवायीत्येतद्विवरणायाऽऽह-

समवाइकारणं तं-तओ पडे जेण ते समवयंति ।
न समेइ जओ कज्जे, वेमाइ तओ असमवाई ॥ २१०६ ॥

समवायिकारणं तन्तवः पटस्य, येन ते समवयन्ति पटे, येन पटस्तेषु समवेतः समुत्पद्यत इतीह तात्पर्यम् । इह तन्तुषु पट इत्येव वैशेषिकैरभ्युपगमात् । वेमादि पुनः पटाख्ये कार्ये न समवैति न संश्लिष्यते, ततोऽसमवायि कारणं तदिति ॥ २१०६ ॥

वैशेषिकसिद्धान्तेऽपि मतभेदमुपदर्शयन्नाह—

वेमादओ निमित्तं, संजोगा असमवाइ केसिं चि ।
ते जेण तंतुधम्मा, पडो य दव्वंतरं जेण ॥ २१०७ ॥
दव्वंतरधम्मस्स य, न जओ दव्वंतरम्मि समवाओ ।
समवायम्मि य पावइ, कारणकज्जे गया जम्हा ॥ २१०८ ॥

इह केषां चिद्वैशेषिकविशेषाणां मतेन वेमादयः, आदिशब्दात्सजातीयाऽतज्जातीयतुरीदिकाशलाकादयश्च पटस्य निमित्तं निमित्तकारणम्, न त्वसमवायिकारणम्, तन्तुसंयोगमात्रनिमित्तत्वेन तन्तुलक्षणकारणद्रव्यानाश्रितत्वात्तेषामित्यभिप्रायः । के पुनस्तर्ह्यसमवायिकारणमित्याह-संयोगास्तन्तुगुणास्तन्तुधर्मा इत्य-

र्थः, तन्तुलक्षणकारणाश्रितत्वात्। तथा चाह-ते तन्तुसंयोगा येन कारणेन तन्तुधर्माः, अतो निमित्तकारणं न भवति, तद्विलक्षणरूपत्वात्। भवन्तु तर्हि समवायिकारणम्, तन्तुवत्तेषामपि पटे समवेतत्वात्। नैवम्। यतस्तन्तुद्रव्यात् द्रव्यान्तरं पटः; तस्माच्च द्रव्यान्तरं तन्तवः, द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते, गुणाश्च गुणान्तरमिति सिद्धान्तादिति। ततः किम् ?, इत्याह-द्रव्यान्तरधर्मस्य च यतो न द्रव्यान्तरे समवायः, शीतादीनामिव हुतभुजि, यस्मात्तन्तुधर्माणां तत्संयोगानां पटे द्रव्यान्तरे समवाये इष्यमाणे पटतन्तुलक्षणयोः कार्यकारणयोरेकता प्राप्नोति; इतरेतरगुणसमवायात्। ततश्च यथा पटधर्माः शुक्लादयः पटे समवेतत्वात्तद्व्यतिरिक्ताः सन्तो न पटस्य कारणम्, एवं तन्तुसंयोगा अपि न तत्कारणं स्युः, एकत्वे कार्यकारणभावायोगादिति । तदेवं वैशेषिकाः कार्यकारणयोरेकत्वं कथमपि नेच्छन्ति ॥ २१०७ ॥ २१०८ ॥

आचार्यस्तु जैनत्वात्स्याद्वादितया कारणात्कार्यं भिन्नमभिन्नं च पश्यन्नाह-

जह तंतूणं धम्मा, संयोगा तह पमो वि सगुणा व्व ।
समवायाइत्तणओ, दव्वस्स गुणादओ चेवं ॥२१०९॥
अभिहाणबुद्धिलक्खण-भिन्ना वि जहा सदत्थओऽणन्ने ।
दिक्कालाइविसेसा, तह दव्वाओ गुणाईआ ॥२११०॥
उवयारमेत्तभिन्ना, ते चेव जहा तहा गुणाईआ ।
तह कज्जं कारणओ, भिन्नमभिन्नं च को दोसो ? ॥२१११॥

ननु यथा तन्तूनां धर्मा वर्तन्ते, के?, तत्संयोगादयः, तथा पटोऽपि तन्तूनां धर्म एव। यथा तेषामेव तन्तूनां स्वगुणाः शुक्लादयः तद्धर्माः। कुतः ?, समवायादित्वात्। इह यो यत्र समवेतः स तस्य धर्म एव, यथा तन्तूनां स्वगुणाः शुक्लादयस्तद्धर्माः, समवेतश्च तन्तुषु पटः। तस्मात्तद्धर्मः पटः। यथा च तन्तूनां धर्मः पटः, एवं द्रव्यस्य गुणादयोऽपि, गुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया अपि धर्मा इत्यर्थः । यदि नाम तन्तूनां धर्मः पटः, द्रव्यस्य वा गुणादयो धर्माः, तथापि प्रस्तुते कारणात्कार्यस्य भेदाभेदे किमायातम् ?, इत्याह-(अभिहाणेत्यादि) यथा दिक्कालात्मादयो विशेषा अभिधानबुद्धिलक्षणादिभिर्भिन्ना अपि, सच्चासावर्थश्च सदर्थः, सत्ता-सामान्यमित्यर्थः। तस्मात्सत्त्वज्ञेयत्वप्रमेयत्वादिभिरनन्ये अभिन्नाः। तथा तेनैव प्रकारेण द्रव्याद् गुणकर्मसामान्यसमवायादयोऽनन्ये अभेदवन्तः । इदमुक्तं भवति-दिक्कालादीनामन्यदभिधानम्, अन्यच्च सामान्यस्य, अन्यादृशी दिगादिषु बुद्धिः, अन्यादृशी च सत्ता-सामान्ये; अन्यत् दिगादीनां लक्षणं स्वरूपम्; अन्यादृशं च सत्तासामान्यस्य, इत्येवमभिधानादिवैलक्षण्याद्यथा भिन्ना अपि दिक्कालादयः सत्तासामान्यात्सत्त्वज्ञेयत्वादिभिरभिन्नाः, तथा द्रव्यादपि तन्त्वादिशुक्लगुणादयोऽभिधानादिभिर्भिन्ना अपि सत्त्वज्ञेयत्वादिभिरभिन्ना इति। यद्यभिन्नास्तर्हि भेदः कथमित्याह-(उवयारेत्यादि) ते चैव दिगादयो यथोपचारमात्रतः सत्तासामान्याद्भिन्नास्तथा गुणादयोऽपि द्रव्याद् भिन्नाः। इदमुक्तं भवति-यथा सत्तासामान्यादभिन्नेष्वपि दिगादिष्वभिधानादिभेदाद्भेद उपचर्यते, एवं द्रव्याद् गुणादीनामपि। तथाहि-प्रभातसमये मन्दमन्दप्रकाशे अविरलपत्रनिचिततरुशाखानिलीनबलाकायाः पत्रविवरेण केनापि किञ्चिच्छुक्लमुपलभ्यत इत्येवं शुक्लत्वं निश्चीयते, न तु बलाका। एतच्च गुणगुणिनोः कथञ्चिद्भेदमन्तरेण नोपपद्यते, एकान्ताभेदे गुणग्रहणे गुणिनोऽवश्यं ग्रहणप्रसङ्गात्। तस्माद् द्रव्याद्गुणादीनां कथञ्चिद्भेदः, कथञ्चिदभेद इति। तथा तेनैवोक्तप्रकारेण कारणात्कार्यमभिधानादिभेदाद् भिन्नं, सत्त्वज्ञेयत्वादिभिस्त्वभिन्नं यदि स्यात्तर्हि को दोषः ?, येन वैशेषिकादयो भेद एव कार्यकारणभावमिच्छन्तीति ? । ॥ २१११ ॥

अथ षड्विधं व्यतिरिक्तकारणं व्याचिख्यासुराह-

कारणमहवा छद्धा, तत्थ सतंतो त्ति कारणं कत्ता ।
कज्जस्स साहगतमं, करणम्मि उ पिंड-दंडाइ ॥२११२॥
कम्मं किरिया कारण-मिह निद्दिट्ठो जओ न साहेइ ।
अहवा कम्मं कुंभो, स कारणं बुद्धिहेउ त्ति ॥२११३॥
भव्वो त्ति व जोगो त्ति व, सक्को त्ति व सो सरूवलाभस्स ।
कारणसन्निज्झम्मि वि, जन्नाग सत्थमारंभो ॥२११४॥
वज्झनिमित्तावेक्खं, कज्जं वि य कज्जमाणकालम्मि ।
होइ सकारणमिहरा, विवज्जया भावया होज्जा ॥२११५॥
देओ स जस्स तं सं-पयाणमिह तं पि कारणं तस्स ।
होइ तदत्थित्ताओ, न कीरए तं विणा जं सो ॥२११६॥
भूपिंडावायाओ, पिंडो वा सकरादवायाओ ।
चक्कमहावाओ वा-ऽऽपादाणं कारणं तं पि ॥२११७॥
वसुहाऽऽगासं चक्कं, सरूवमिच्चाइ सन्निहाणं जं ।
कुंभस्स तं पि कारण-मभावओ तस्स जदसिद्धी ॥२११८॥

सत्रापि प्रायो व्याख्यातार्थाः, नवरं क्रियते कर्त्रा निर्वर्त्यते इति व्युत्पत्तेः कर्म भण्यते। काऽसौ क्रिया कुम्भं प्रति ?, कर्तृव्यापाररूपा। सा च कुम्भलक्षणकार्यस्य कारणमिति प्रतीतमेव। आह-ननु कुलाल एव कुम्भं कुर्वन्नुपलभ्यते, क्रिया तु न काचिद् कुम्भकरणे व्याप्रियमाणा दृश्यत इत्याह-इह निश्चेष्टः कुलालोऽपि यस्मान्न घटं साधयति निष्पादयति, या च तस्य चेष्टा सा क्रिया; इति कथं न तस्याः कुम्भकारणत्वमिति ?। अथ वा-कर्तुरीप्सिततमत्वात्क्रियमाणः कुम्भ एव कर्म, तर्हि कार्यमेवेदम् , अतः कथमस्य कारणत्वम्?। न हि सुतीक्ष्णमपि सूच्यग्रमात्मानमेव विध्यति। ततः कार्यं निर्वर्त्यस्यात्मन एव कारणमित्यनुपपन्नमेव, इत्याह-(सकारणं बुद्धिहेउ त्ति) स कुम्भः कारणं हेतुः कुम्भस्य । कुतः?, प्रस्तावात् कुम्भबुद्धिहेतुत्वात्। इदमुक्तं भवति-सर्वोऽपि बुद्धौ संकल्प्य कुम्भादिकार्यं करोतीति व्यवहारः, ततो बुद्ध्याऽध्यवसितस्य कुम्भस्य चिकीर्षितो मृण्मयकुम्भस्तद्बुद्ध्यालम्बनतया कारणं भवत्येव। न च वक्तव्यम्-अनुत्पन्नत्वादसन्नसौ तद्बुद्धेरपि कथमालम्बनं स्यादिति?, द्रव्यरूपतया तस्य सर्वदा सत्त्वादिति। ननु य एवेह मृण्मयकार्यरूपो घटस्तस्यैव कारणत्वं चिन्त्यत इति प्रस्तुतम्, बुद्ध्याध्यवसितस्तु तस्मादन्य एव, इति तत्कारणत्वाभिधानमप्रस्तुतमेव। सत्यम्?, भाविनि भूतवदुपचारन्यायेन तयोरेकत्वाऽध्यवसानाद्दोषः। स्थासकोशादिकारणकालेऽपि हि किं करोषीति पृष्टः कुम्भकारः, कुम्भं करोमीत्येतदेव वदति, बुद्ध्यध्यवसितेन निष्पत्स्यमानस्यैकत्वाध्यवसायादिति। अथ वा-भव्यो योग्यः स्वरूपलाभस्येति शक्य उत्पादयितुम्, अतः सुकरत्वात्कार्यमप्यात्मनः कारणमिष्यते। अवश्यं च कर्मणः कारणत्वमेष्टव्यम्, यद् यस्मात्समस्तकारणसामग्रीसन्निधानेऽपि नैवमेवाकाशार्थं प्रारम्भः, किं तु विवक्षितकार्यार्थम्, अतस्तद्विनाभावित्वात्तत्क्रियायाः कार्यमप्यात्मनः

कारणमिति। एतदेव भावयति- बाह्यानि कुलालचक्रचीवरादीनि यानि निमित्तानि तदपेक्षं क्रियमाणकालेऽन्तरङ्गबुद्ध्याऽऽलोचितं कार्यं भवति स्वस्यात्मनः कारणं स्वकारणम्, अन्यथा यदि बुद्ध्या पूर्वमपर्यालोचितमेव कुर्यात्तदाऽप्रेक्षापूर्वं शून्यमनस्कारम्भविपर्ययो भवेत्, घटकारणसन्निधानेऽप्यन्यत्किमपि शरावादिकार्यं भवेत्, अभावो वा भवेत्, न किञ्चित्कार्यं भवेदित्यर्थः। तस्माद् बुद्ध्यवसितं कार्यमप्यात्मनः कारणमेष्टव्यम्। किं बहुना ?, यथा यथा युक्तितो घटते तथा तथा सुधिया कर्मणः कारणत्वं वाच्यम्, अन्यथा कर्मणोऽकारकत्वे करोतीति कारकमिति षण्णां कारकत्वानुपपत्तिरेव स्यादिति । (भूपिंडेत्यादि) भूरुपादानम्, पिण्डाऽपायेऽपि ध्रुवत्वात् । अथ वा- विवक्षया पिण्डोऽपादानम्, तद्गतशर्करादीनामपायेऽपि विवेकेऽपि ध्रुवत्वात् । अथ वा-घटाऽपायाच्चक्रमापाको वाऽपादानमिति । (वसुहेत्यादि) घटस्य सर्वं सन्निधानमाधारः, तस्यापि वसुधा, तस्या अप्याकाशम्, अस्य पुनः स्वप्रतिष्ठत्वात्स्वरूपमाधार इत्येवमादि यत्किमप्यानन्तर्येण परम्परया वा संनिधानमाधारो घटस्य विवक्ष्यते तत्सर्वमपि तस्य कारणम्, तदभावे तस्य घटस्य यद्यस्मादसिद्धिरित्येकोनविंशतिगाथार्थः । तदेवमुक्तं द्रव्यकारणम् ।

अथ भावकारणमाह-

भावम्मि होइ दुविहं, अपसत्थ पसत्थयं च अपसत्थं ।
संसारस्सेगविहं, दुविहं तिविहं च नायव्वं ॥२११९॥

भवतीति भाव औदयिकादिः, स चासौ कारणं च संसारापवर्गयोरिति भावकारणम् । ततश्च भावे भावकारणे विचार्ये द्विविधं कारणं भवति-अप्रशस्तं प्रशस्तं च, शोभनमशोभनं चेत्यर्थः । तत्राप्रशस्तं संसारस्य संबन्ध्येकविधमेकप्रकारम्, द्विविधं, त्रिविधं च । चशब्दोऽनुक्तचतुर्विधादिसंसारकारणसमुच्चयार्थ इति ॥ २११६ ॥

अथ किं तदेकविधादिसंसारस्य कारणमित्याह-

अस्संजमो य एको, अन्नाणं अविरई य दुविहं च ।
मिच्छत्तं अन्नाणं, अविरई चेव तिविहं तु ॥ २१२० ॥

असंयमोऽविरतिलक्षणः, स प्रधानतया विवक्षितः सन्नेकविध एव संसारकारणम्, अज्ञानादीनां तदुपष्टम्भकत्वेनाप्रधानत्वविवक्षणात् । तथा-अज्ञानमविरतिश्च प्रधानतया विवक्षितं द्विविधं संसारस्य कारणम् । तत्राज्ञानं मिथ्यात्वतिमिरोपप्लुतदृष्टेर्जीवस्य विपर्यस्तो बोधः; अविरतिस्तु सावद्ययोगादनिवृत्तिः। तथा-मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिश्चेति त्रिविधं संसारकारणम् । तत्र तत्त्वार्थाश्रद्धानरूपं मिथ्यात्वं प्रतीतमेवेति । एवं कषायादियोगादन्येऽपि चतुर्विधादिसंसारकारणभेदा वक्तव्या इति । उक्तमप्रशस्तं भावकारणम् ॥

अथ प्रशस्तं भावकारणमाह-

होइ पसत्थं मोक्ख-स्स कारणमेगविह दुविह तिविहं च ।
तं चेव य विवरीयं, अहिगार पसत्थएणेत्थं ॥ २१२१ ॥

इह यन्मोक्षस्य कारणं हेतुस्तत्प्रशस्तभावकारणमुच्यते । किं पुनस्तदित्याह-[तं चेव य विवरीयं ति] यदप्रशस्तमसंयमादिभावकारणमुक्तं तदेव विपरीतं सदेकविधं द्विविधं त्रिविधं च प्रशस्तं भावकारणं भवति । तत्रासंयमाद् विपरीतः संयम एकविधं प्रशस्तभावकारणं भवति, अज्ञानाविरतिविपरीतं तु ज्ञानसंयमौ द्विविधम्, मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिविपरीतं सम्यग्दर्शनज्ञानसंयमरूपं तु त्रिविधमिति । विशे० । स्था० । सूत्र० । नं० । आचू० । आ० म० । प्रश्न० । प्रयोजने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० । जी० । करोतीति कारणम् । परोक्षार्थनिर्णयनिमित्ते उपपत्तिमात्रे दुष्टहेतौ, यथा निरुपमसुखः सिद्धः, ज्ञानानाबाधप्रकर्षात् । नात्र किल सकललोकप्रतीतः साध्यसाधनधर्मानुगतो दृष्टान्तोऽस्तीत्युपपत्तिमात्रता, दृष्टान्तसद्भावेऽस्यैव हेतुव्यपदेशः स्यात् । स्था० १० ठा० । आ० म० । औ० । स०। " पसिणाइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सए " कारणमुपपत्तिमात्रं तद्विषयत्वात्कारणानि, एत एव तदन्ये वाऽतस्तानि । भ० २ श० १ उ० । आलम्बने, तत्पुनः परिशुद्धं ज्ञानादिकम् । आ० म० प्र० । कारणम्-ज्ञानादित्रयस्य ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्यार्थस्य यत्प्रतिसेवनं तत्कारणम् ।

आह-किं तत्कारणम् ?, उच्यते—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलणे ।
उत्तिमट्ठे य नाणे, तह दंसण चरित्ते य ॥

विवक्षितदेशे आगाढमशिवमौदर्यं राजद्विष्टं भयं वा प्रत्यनीकादिसमुत्थम् । आगाढशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । तथा तत्र वसतां ग्लानत्वं भूयो भूय उत्पद्यते, यद्वा-देशान्तरे ग्लानत्वं कस्यापि समुत्पन्नं, तस्य प्रतिजागरणं कर्तव्यम् । उत्तमार्थं वा कोऽपि प्रतिपन्नस्तस्य निर्यापनं कार्यम् । तथा विवक्षिते देशे ज्ञानं वा दर्शनं चारित्रं वा नोत्सार्यते । बृ० १ उ० । अपवादे यथा-" अंतरा वि अ से कप्पइ " इत्यादि । कल्प० ६ क्षण । दृष्टार्थानां हेतुयुक्तिपशुपोषणवाणिज्यादिषु, भ० १८ श० २ उ० । सिषाधयिषितप्रयोजनोपाये विषयभूते, विपा० १ श्रु० १ अ० । वेदनादिकारणाभावे भुञ्जानस्य आहारस्य कारणदोषे, जीत० । ध० । ग० । देहे, इन्द्रिये च । कृ वध स्वार्थे णिच्-भावे ल्युट् । वधे, करण एव कारणः । कायवधे, पुं० । करणमेव स्वार्थे अण् । साधने कर्मणि, वाच० ।

कारणअविणासओ-कारणाविनाशतस्-अव्य० । कारणानामेवानाशादित्यर्थे, "कारणअविणासओ य जीवस्स णिच्चत्तं विन्नेयं।" दश० ४ अ० ।

कारणअविभाग-कारणाविभाग-पुं० । घटादेस्तन्त्वादेरिव कारणविभागाभावे, दश० ४ अ० ।

कारणजाय-कारणजात-न० । कारणविशेषे, "एए गुणं स पउत्ता, कारणजाएण तेउचभो वि ।" व्य० ४ उ० ।

कारणणिच्चवास-कारणनित्यवास-पुं० । हीनअक्खमत्वलक्षणे कारणे नित्यवासे, दर्श० ।

कारणत्त-कारणत्व-न० । बौद्धानां मते कारणस्य प्रागभावित्वमात्रे, कारणस्य कार्यजनकशक्तौ च । सम्म० १ काण्ड ।

कारणदीवणा-कारणदीपना-स्त्री० । अन्यार्थितकार्याकरणे हेतुप्रकाशनायाम्, पञ्चा० १२ विव० ।

कारणदोस-कारणदोष-पुं० । साध्यं प्रति हेतुव्यभिचारे, यथा-अपौरुषेयो वेदः, वेदकारणस्याश्रूयमाणत्वादिति; अश्रूयमाणत्वं हि कारणान्तरादपि संभवति । स्था० १० ठा० । आहारं वेदनादिकार-

णमन्तरेण भुञ्जानस्य कारणदोषे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ०। (विवृतं चैतदनुपदमेव ' कारण ' शब्दे)

कारणदोसविसेस–कारणदोषविशेष–पुं० । दोषसामान्यापेक्षया कारणदोषरूपे विशेषे, स्था० १० ठा० ।

कारणपडिसेवि(ण्)–कारणप्रतिसेविन्–त्रि० । कारणे प्रतिसेवते तच्छीलः । अशिवादिलक्षणे विशुद्धेनालम्बनेन बहुशो विचार्याशुद्धादिपरिशुद्धिलाभाकाङ्क्षिणिम्हणान्तेनाकृत्यं यतनया प्रतिसेवत इत्येवंशीले, "भवंके अकुडिले यावि, कारणपडिसेवि तह य आहच्च " । व्य० १ उ० ।

कारणवंदण–कारणवन्दन–न० । पञ्चदशे वन्दनकदोषे, बृ०।

नाणाइतिगं मुत्तुं, कारणमिह लोगसाहगं होइ ।
पूयागारवहेउं, णाणग्गहणे वि एमेव ॥

ज्ञानदर्शनचारित्रत्रयं मुक्त्वा यत्किमप्यन्यदिह लोकसाधकं वस्त्रादिकं वन्दनकदानाद् साधुरभिलषति तत्कारणं भवतीति प्रतिपत्तव्यम्। ननु ज्ञानादिग्रहणार्थं यदा वन्दते तदा किमेकान्तेनैव कारणं न भवतीत्याशङ्क्याह-यदि पूजार्थं गौरवार्थं वा वन्दनकं दत्त्वा विनयपूर्वकं ज्ञातं श्रुतं गृह्णाति येन लोके पूज्यो अन्येभ्यश्च श्रुतधरेभ्योऽधिकतरो भवतीति तदा तदप्येवमेव कारणं वन्दनकं भवतीति ।

तत्र किमभिप्रायवत इहलोकसाधकं कारणं भवतीत्याह—

आयरतरेण हंदी, वंदामि णं तेण पच्छ पणयिस्सं ।
वंदणगमोल्लभावो, ण करिस्सइ मे पणयजंगं ॥

हंदीतीहलोकसाधककारणोपप्रदर्शने, अतिशयादरेण वन्दे प्रणमामि,णमित्येनमाचार्यं, तेन नववन्दनकप्रदानेन हेतुभूतेन, पश्चादमुं किञ्चिद्वस्त्राणि प्रणयिष्ये याचिष्ये, न चासौ मम प्रणयभङ्गं प्रार्थनाभङ्गं करिष्यति । कथंभूतः सन्नित्याह–वन्दनकमेव मूल्यं तत्र भावोऽभिप्रायो यस्य सूरेः स तथाभूतः, वन्दनकमूल्यवशीकृत इत्यर्थः । इत्यभिप्रायवतः कारणवन्दनकं भवतीति । बृ० ३ उ० । आव० । आ० चू० । प्रव० ।

कारणविष्णाणबोह–कारणविज्ञानबोध–पुं० ।कारणरूपे विज्ञानस्य विरूपतायाम, कारणविज्ञानबोधोऽन्वयव्यतिरेकेण । अने० ४ अधि० ।

कारणविसेस–कारणविशेष–पुं०।कारणविषये भेदरूपे विशेषभेदे, यथा परिणामि कारणं मृत्पिण्डोऽपेक्षाकारणं दिग्देशकालाकाशपुरुषचक्रादि, अथवोपादानकारणं मृदादि, निमित्तकारणं कुलालादि, सहकारिकारणं चक्रचीवरादीत्यनेकधा कारणम्। स्था० १० ठा० ।

कारणिय–कारणिक–त्रि० । कारणेषु भवं, कारणैर्निर्वृत्तं वा कारणिकम्। कारणान्यधिकृत्य प्रवृत्ते,व्य० २ उ० । कारणवशप्रवृत्ते, व्य० ६ उ० । कारणैश्चरति ठक् । कारणेन विचारके परीक्षके, कारणस्येदम् काश्या ठञ् ञिठ् वा । करण— सम्बन्धिनि, स्त्रियां ञित्वात् ङीप्, ञिठ इदुच्चारणार्थः। स्त्रियां टाप् इति भेदः । वाच० ।

कारणोवएस–कारणोपदेश–पुं० । हेतुकोपदेशे, " हेउगोवएसो त्ति वा कारणोवएसो त्ति वा पगरणोवएसो त्ति वा पगड्ढ " आ० चू० १ अ० ।

कार(रा)वण–कारापण–न०।विधापने, पञ्चा० ६ विव०।कारापणं वा यत्स्वयं करणेऽकुशलानन्यानपीच्छाकारेण कारापयतीति।व्य० ३ उ०। कारापणं पुनर्मनसा चिन्तयति-करोत्वेष सावद्यम्,असावपि चिन्तितज्ञोऽभिप्रायज्ञस्तत्र प्रवर्त्तते। आ०।

मागहा इंगिएणं तु, पेहिएण य कोसला ।
अद्धुत्तेण उ पंचाला, णाणुत्तं दक्खिणावहा ॥
एवं तु अणुत्ते वी, मणसा कारापणं तु बोधव्वं ।
मणसाऽणुण्णा साहू, सूयवणं तुच्चँ तुप्पति वा ।

मागधाः मगधदेशोद्भवाः प्रतिपन्नमप्रतिपन्नं वा इङ्गितेनाकारविशेषेण जानन्ति । कोशलाः प्रेक्षितेन अवलोकनेन । पञ्चाला अर्द्धोक्तेन।नानुक्तं दक्षिणापथाः, किं तु साक्षाद्वचसा व्यक्तीकृतं ते जानते,प्रायो जडप्रकृतत्वात् । तत एवं सति वचसाऽनुक्तेऽपि विवरणाभावात् मनसा कारापणं बोद्धव्यम् । व्य० १० उ० । "एवं भणति-तुमं अप्पणो य अमुस्स वा हत्थकम्मं करेहि त्ति। आत्मव्यतिरिक्तस्य परस्य एवं इच्छस्स वा अणिच्छस्स वा बलाभिओगा हत्थकम्मं कारावयतो कारावणा भण्णति" । नि० चू० १ उ० ।

कार(रा)वाहिय-कारवाहि(वि)क(त)-त्रि०।करं राजदेयद्रव्यं वहन्तीत्येवं शीलाः करवाहिनः, त एव कारवाहिकाः, कारवाहिता वा । भ० ६ श० ३३ उ० । नृपभागवाहिषु, औ० । कारेण कारागारेण वाधितः । कारागारपीमिते, ज्ञा० १ अ० ।

कार(रा)विय–कारित–त्रि० । अन्यैर्विधापिते, पा० ।

कारा–देशी–लेखायाम, दे० ना० २ वर्ग । कृ भिदादित्वात् अङ् । बन्धनागारे, दूत्याम् , वीणाऽधः स्थकाष्ठमयभाण्डे, सुवर्णकारिकायां च । वाच० ।

कारि–कर्तृ–त्रि० । कर्मणो निर्वर्तके, आव० ४ अ०।

कारिगा–कारिका–स्त्री० । कृ-भावे ण्वुल् ।क्रियायाम, कारो रोगवधः साध्यतयाऽस्त्यस्य ठन् । कृ हिंसायाम ण्वुल् वा । रोगनाशिकायां कण्टकार्याम. नटयोषिति, विवरणश्लोके, अल्पाक्षरेण बह्वर्थज्ञापकश्लोकभेदे, शिल्पिरचनायाम, वृद्धिभेदे, वाच० । आ० म० ।

कारिम–देशी–कृत्रिमे, दे० ना० २ वर्ग ।

कारिय–कारित–स्त्री०।कृ णिच् कर्मणि क्तः।करणाय प्रेरिते, अधमर्णेन स्वकार्यसिद्धये नियतवृद्धेरङ्गीकृताधिकवृद्धौ,स्त्री०।वाच० । अन्यैर्विहिते, आतु० ।

कार्य–न० । प्रयोजने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । प्रश्न० ।

कारीसंग–कारीषाङ्ग–न० । अग्न्युद्दीपनकारणे, उत्त० १२ अ० ।

कारुइज्ज–कारुकीय–त्रि० । वरुटछिम्पकादिषु कारुकेषु भवे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

कारुणिय–कारुणिक–त्रि० । करुणा शीलमस्य ठक् । दयालौ, दयाशीले,वाच० । द्रव्यलिङ्गवर्जिते साधौ, स्था० ४ ठा०२उ०।

कारुस्स–कारुण्य–न० । करुणः करुणायुक्तः, करुणाविषयो वा, तस्य भावः, करुणैव वा कारुण्यम् । ष्यञ् । करुणायां परदुःखप्रहारेच्छायाम, करुणाविषयत्वे च । वाच० । "दीनेष्वार्तेषु भीतेषु, याचमानेषु जीवितम्। उपकारपरा बुद्धिः, कारुण्यमभिधीयते" ॥१॥ अष्ट० १६ अष्ट० ।

कारेइत्ता–कारयित्वा–अव्य० । कृ–णिच् त्वा । "णेरदेदावावे" ।८।३।१४६। इति णेरावादेशः । विधायेत्यर्थे, प्रा० ३ पाद ।

कारेमाण–कारयत्–त्रि० । अन्यैर्नियुक्तैः पुरुषैः (जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । जं० । कल्प०) अनुनायकैः सेवकानां नियोगिकैर्विधापयति, स० । स्त्रियां कारेमाणी । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

कारेयव्व–कारयितव्य–त्रि० । विधापयितव्ये, पञ्चा० ६ विव० ।

कारोडिय–कारोटिक–पुं० । कापालिके, ज्ञा० १ अ० ।

कालं–देशी–तामिस्रे, दे० ना० २ वर्ग ।

काल–काल–पुं० । कलण् संख्याने । कलनं कालः, कल्यते वा परिच्छिद्यते वस्त्वनेनेति कालः, कलानां वा समयादिरूपाणां समूहः कालः । कर्म० ३ कर्म० । आ० म० । आव० । विशे० । नेण वा करणभूतेन दिव्यादिचउक्कयं कलिज्जतीति कालो ज्ञायन इत्यर्थः । नि० चू० १ उ० ।

(१) कालनिरुक्तयः ।
(२) कालस्य द्रव्यान्तरसिद्धौ विचारः ।
(३) मतान्तरखण्डनम् ।
(४) कालसिद्धिः ।
(५) काललक्षणम् ।
(६) कालभेदाः ।
(७) कालविषये दिगम्बरमतनिरूपणम् ।
(८) ततो दिगम्बरमतदूषणम् ।
(९) कालनिक्षेपः ।
(१०) मुहूर्तादिप्रमाणम् ।
(११) समयादीनां संख्येयासंख्येयत्वविचारः ।
(१२) समयादिज्ञानं मनुष्यक्षेत्र एव ।
(१३) काले ज्ञानाचारः ।
(१४) कोणिकभार्यायाः कालनामकात्मजवक्तव्यता ।

(१) तत्र कालशब्दव्युत्पादनार्थमाह–

कलणं पज्जायाणं, कलिज्जए तेण वा जओ वत्थु ॥
कलयंति तयं तम्मि व, समयाइकलासमूहो वा ॥२०२८॥

कल शब्दसंख्यानयोः। नवपुराणादीनां समयादीनां वा पर्यायाणां कलनं संशब्दनं, संख्यानं वा भावप्रत्यये कालः । अथवा–मासिकोऽयं सांवत्सरिकोऽयं शारदोऽयमित्यादिरूपेण कल्यते परिच्छिद्यते यतो यस्माद्वस्त्वनेनेति कालः। अथवा–कलयन्ति ज्ञानिनः समयादिरूपेण परिच्छिन्दन्ति तमिति कालः। यदि वा–मासिकोऽयं सांवत्सरिकोऽयमित्यादिरूपतया कलयन्ति परिच्छिन्दन्ति वस्तु तस्मिन्सतीति कालः। समयादिकलानां वा समूहः कालः। आह–ननु सामूहिके प्रत्यये नपुंसकत्वं प्राप्नोति, यथा–कापोतं मायूरमित्यादि । सत्यम्, किं तु शिष्टप्रयोगाद् रूढितश्चादोषः । तथा चाह–' लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वादिति ' । तदेवं कालस्यान्तरङ्गता–निरुक्ती भणिते ।

इदानीमुत्तरगाथासंबन्धनार्थमाह–

सो वत्तणाइरूवो, कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ ।
किंचिम्मेत्तविसेसे–ण दव्वकालाइववएसो ॥ २०२९॥

स वर्तनादिरूपः कालो द्रव्यस्यैव पर्यायः । ततः, पर्यायरूपतया तत्त्वत एकरूपस्यापि तस्य किञ्चिन्मात्रविशेषविवक्षया द्रव्यकालः,अद्धाकालः यथाऽऽयुष्ककाल इत्यादिव्यपदेशः प्रवर्तत इति भाष्यगाथार्थः । विशे० । न्यायमतेन परापरव्यतिकरयौगपद्यायौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गे द्रव्यभेदे, सम्म० ।

(२) स च द्रव्यान्तरम्–

तथाहि– परः पिताऽपरः पुत्रो,युगपदयुगपद्वा,तथा चिरं क्षिप्रं वा कृतं करिष्यते यत्परापरादिज्ञानं तदादित्यक्रिया द्रव्यव्यतिरिक्त पदार्थनिबन्धनं तत्, प्रत्ययविलक्षणत्वात्, घटादिप्रत्ययवत् । योऽस्य हेतुः स पारिशेष्यात् कालः, यतो न तावत्पराऽपरादिप्रत्ययो दिग्देशकृतोऽयम् । स्थविरे अपरदिग्भागावस्थितेऽपि परोऽयमिति प्रत्ययोत्पत्तेः। तथा यूनि परदिग्भागावस्थितेऽपि अपरोऽयमिति ज्ञानप्रादुर्भावात् । न च वलीपलितादिकृतोऽयं प्रत्ययः, तत्कृतप्रत्ययवैलक्षण्येनोत्पत्तेः । नापि क्रियानिर्वर्तितस्तत्प्रतिभाति । तज्ज्ञानवैलक्षण्येन संवेदनात् । तथा च सूत्रम्–"अपरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि" इत्याकाशवदेवास्यापि विभुत्वनित्यत्वैकत्वादयो धर्मा अवगन्तव्याः । सम्म०२ काण्ड ।

(३) अथ खण्डनम्–

दिक्कालसाधनप्रयोगेष्वप्येते दोषाः–

सामान्येन साधने सिद्धसाध्यता, विशेषसाधने हेतोरन्वयाद्यसिद्धिरनुमानबाधितत्वं च प्रतिज्ञाया इति समानाः। तथाहि–पूर्वापरोत्पन्नपदार्थविषयपूर्वापरशब्दसंकेतवशादुद्भूतसंस्कारनिबन्धनत्वात् कृतप्रत्ययस्य कारणमात्रे साध्ये कथं न सिद्धसाध्यता ?, विशेषे च कथं नान्वयासिद्धिः ?, अनुमतिबाधा च प्रतिज्ञायाः पूर्ववद् भावनीया। अत एव नेतरेतराश्रयदोषोऽपि पूर्वपक्षोद्यतोऽपि विशिष्टपदार्थसंकेतप्रभवत्वे अस्य प्रत्ययस्य । किं च–निरंशैकदिक्कालाख्यपदार्थनिमित्तत्वं परादिप्रत्ययस्य प्रसादयितुमभ्युपगतम्। तच्चायुक्तम् । स्वकोऽप्यनुकारिप्रत्ययजनकस्य तद्विषयत्वात् । निरंशस्य पौर्वापर्यादिविभागाभावतस्तथाप्रत्ययोत्पादकत्वासंभवात् । तथाभूतप्रत्ययाद्विपरीतार्थसिद्धेरिष्टविपर्ययसाधनाद्विरुद्धश्चैवं हेतुः स्यात । अथ बाह्याऽऽध्यात्मिकभावपौर्वापर्यनिबन्धनस्य दिक्कालयोः पौर्वापर्यव्यपदेशस्य भावान्न हेतोर्विरुद्धता । नन्वेवं दिक्कालपरिकल्पना व्यर्था, तत्साध्याभिमतस्य कार्यस्य बाह्याध्यात्मिकैः संबन्धिभिरेव निर्वर्तितत्वात् । तथाहि–दिक् पूर्वापरादिव्यवस्थाहेतुरिष्यते, कालश्च पूर्वापरक्षणलवनिमेषकलामुहूर्तप्रहरदिवसाहोरात्रपक्षमासर्त्वयनसंवत्सरादिप्रत्ययप्रभवनिमित्तोऽभ्युपगतः । अयं च स्वरूपभेदः स्वात्मनि तयोः समस्तोऽप्यसंवीतसंबन्धिषु पुनर्भावेषु विद्यमानस्तत्र प्रत्ययहेतुरिति व्यर्था तत्प्रकल्पना । अथ तत्संबन्धिष्वप्ययं भेदो अपरक्रियादिभेदनिमित्तस्तर्हि तत्राप्येवमित्यनवस्थाप्रसक्तिः । अथ पदार्थेषु पूर्वापरभेदः कालनिमित्तः । ननु कालोऽप्यसौ न स्वत इति, परकालनिमित्तो यद्यभ्युपगम्यते तदाऽनवस्था । अथ पदार्थभेदनिमित्तः,तदेतरेतराश्रयप्रसक्तः । अथ तत्र स्वत एवायं भेदः, पदार्थेष्वपि स्वत एवायं किं नाभ्युपगम्यते ?। ततश्च पुनरपि

दिक्कालप्रकल्पनं व्यर्थम्। सम्म० २ काण्ड। जैनसमयेन विशिष्टप-रापरप्रत्ययादिलिङ्गानुमेये द्रव्यभेदे, सम्म० २ काण्ड।

(४) कालसिद्धिः-

अथ काल एव कथमवसीयत इति चेत् ?, उच्यते-बकुलचम्पकाशोकादिपुष्पप्रदानस्य नियमेन दर्शनात्, नियामकश्च काल इति। स्था० १ ठा० १ उ०। कालो नाऽस्ति, अनुपलम्भात्; यश्च वनस्पतिकुसुमादिकालक्षणमाचक्षते, तत्तेषामेव स्वरूपमिति मन्तव्यम्। असत्यम्। तेषामपि स्वरूपस्य वस्तुनोऽनतिरेकात्। कुसुमादिकरणमकारणं तरूणां स्यात्। प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

(५) काललक्षणम्-

कालस्तु परमार्थतो द्रव्यं नास्तीतिशङ्कमानं निराकुरुते-

वर्तनालक्षणः कालः, पर्यवद्रव्यमिष्यते ।
द्रव्यभेदात्तदानन्त्यं, सूत्रे ख्यातं सविस्तरम् ॥१०॥

[वर्तनेति] सर्वेषां द्रव्याणां वर्तनालक्षणो नवीनजीर्णकरणलक्षणः कालः पर्यायद्रव्यमिष्यते । तत्कालपर्यायेषु अनादिकालीनद्रव्योपचारमनुसृत्य कालद्रव्यमुच्यते। अत एव पर्यायेण द्रव्यभेदात् तस्य कालद्रव्यस्यानन्त्यम्। अनन्तकालद्रव्यभावनं सूत्रे उत्तराध्ययने सविस्तरं ख्यातम्। तथा च तत्सूत्रम्-" धम्मो अधम्मो आगासं, दव्वमिक्किक्कमाहियं । अणंताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजंतवो "॥१॥ एतदुपजीव्यान्यत्राप्युक्तम्-"धर्माधर्माकाशा-द्येकैकमतः परं त्रिकमनन्तम् " इति। ततो जीवद्रव्यमप्यनन्तं, तस्य च वर्तमानपर्यायस्यार्थे कालद्रव्यमथानन्तमित्युक्तमागमे। विस्तरस्तु ततोऽवधारणीयः। द्रव्या० १० अध्या०।

कथं पुनर्द्रव्यस्य कालोऽन्तरङ्गः, न तु क्षेत्रमित्यादि-

जं वत्तणाइरूवो, वत्तुरणत्थंतरं मओ कालो ।
आहारमत्तमेव उ, खेत्तं तेणंतरंगं सो ॥२०२९॥

वर्तना आदिर्येषां परिणामादीनां ते वर्तनादयः, त एव रूपं यस्यासौ वर्तनादिरूपः तीर्थकरादीनां संमतः कालः। उक्तं च-"वर्त्तना परिणामः क्रिया परापरत्वे च कालस्योपग्रहः" इति। तत्र विवक्षितेन नवपुराणादिना तेन तेन रूपेण यत्पदार्थानां वर्त्तनं शश्वद्भवनं सा वर्त्तना। परिणामोऽनादीनां सादिः, चन्द्रविमानादीनामनादिः। क्रिया देशान्तरप्राप्तिलक्षणा। देवदत्ताद् यज्ञदत्तः परः पूर्वमुत्पन्नः, यज्ञदत्तात्पुनर्देवदत्तोऽपरोऽर्वागुत्पन्न इत्यादिरूपं परापरत्वम्, इत्येतानि कालस्योपग्रह उपकारः। एतानि यस्मादपि कालकृतत्वात्तल्लिङ्गानीति भावः । स च वर्त्तनादिरूपः कालो यद्यस्माद्वर्त्तितुर्द्रव्यादनर्थान्तरमभिन्नस्वरूप एव वर्त्तते, क्षेत्रं तु द्रव्यस्याधारमात्रमेव, न त्वर्थान्तरम्। तेन द्रव्यस्यान्तरङ्गः कालः, बहिरङ्गं तु क्षेत्रम्, अतो द्रव्यनिर्गमादनन्तरं कालनिर्गमोऽभिधीयत इति। विशे०।

तेषामेव द्रव्यकालादिभेदानां प्रतिपादनार्थं निर्युक्तिकारः प्राह-

दव्वे अद्ध अहाउ य, उवक्कमे देसकालकाले य ।
तह य पमाणे वन्ने, भावे पगयं तु भावेणं ॥२०३०॥

इह नामस्थापने सुखावसेयत्वान्नोक्ते, शेषास्तु नवकालभेदाः प्रोच्यन्ते-तत्र द्रव्य इति वर्त्तनादिरूपो द्रव्यकालो वाच्यः। (अद्ध त्ति) चन्द्रसूर्यादिक्रियाऽभिव्यङ्ग्यो ऽर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रान्तर्वर्त्यद्धाकालः समयादिलक्षणो वाच्यः। तथा यथायुष्ककालो देवाद्यायुष्ककालो देवाऽऽद्यायुष्कलक्षणो वक्तव्यः। तथा-उपक्रमकालोऽभिप्रेतार्थसामीप्यानयनलक्षणः समाचारी, यथाऽऽयुष्कभेदभिन्नोऽभिधानीयः। तथा-देशः प्रस्तावोऽवसरो विभागः पर्याय इत्यनर्थान्तरम्; स देशरूपः कालो देशकालो वक्तव्यः, अभीष्टवस्त्ववाप्त्यवसरकाल इत्यर्थः। तथा-कालकालोऽभिधानीयः, तत्रैकः कालशब्दोऽनन्तरनिरूपितशब्दार्थः, द्वितीयस्तु समयपरिभाषया कालो मरणमुच्यते। ततश्च कालस्य मरणक्रियारूपस्य कलनं कालः, काल इत्यर्थः । तथा-प्रमाणकालोऽद्धाकालस्यैव विशेषभूतो दिवसादिलक्षणो वक्तव्यः। तथा वर्णश्चासौ कालश्च वर्णकालो भणनीयः। तथा (भावे त्ति) औदयिकादेर्भावस्य सादिसपर्यवसानादिभेदभिन्नः कालो भावकालः प्ररूपणीयः । (पगयं तु भावेण त्ति) प्रकृतं प्रस्तुतं पुनरत्र भावेन भावकालेनेहाधिकारः । शेषास्तु द्रव्यकालादयः कालभेदमात्रतः प्ररूपिताः। इति निर्युक्तिगाथाद्वारसंक्षेपार्थः ॥ २०३० ॥

अथ प्रतिद्वारं विस्तरार्थमभिधित्सुराह-

चेयणमचेयणयस्स य, दव्वस्स ठिई उ जा चउ विगप्पा ।
सा होइ दव्वकालो, अहवा दवियं तयं चेव ॥२०३१॥

चेतनमिति विभक्तिव्यत्ययात्षष्ठी द्रष्टव्या । चशब्दस्तु समुच्चये। ततश्च चेतनस्य सुरनारकादेः, अचेतनस्य च पुद्गलस्कन्धादेः, द्रव्यस्य च याऽवस्थानरूपा स्थितिः सादिसपर्यवसानादिभेदाच्चतुर्विकल्पा चतुर्भेदा सा स्थितिर्भवति। किमित्याह-द्रव्यस्य कालो द्रव्यकालः, तत्पर्यायत्वात्। अथवा-तदेव सचेतनाचेतनरूपं द्रव्यं कालो द्रव्यकालः प्रोच्यते , पर्यायपर्यायिणोरभेदोपचारादिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २०३१ ॥

अथैतां भाष्यकारो व्याचिख्यासुराह-

दव्वस्स वत्तणा जा, स दव्वकालो तदेव वा दव्वं ।
न हि वत्तणाइभिन्नं, जम्हा दव्वं जओऽभिहियं ॥२०३२॥
सुत्ते जीवाजीवा, समयाऽऽवलियादओ पवुच्चंति ।
दव्वं पुण सामन्नं, भण्णइ दव्वट्ठयामेत्तं ॥२०३३॥

द्रव्यस्य या सादिसपर्यवसानादिलक्षणा तेन रूपेण वृत्तिर्वर्त्तना स द्रव्यस्य कालो द्रव्यकालः समुत्कीर्त्यते । अथवा-तदेव चेतनाचेतनं द्रव्यं कालो द्रव्यकाल इष्यते। कुत इत्याह-न खलु यस्माद्वर्त्तनापरिणामादिभ्यो भिन्नं पृथग्भूतं द्रव्यमस्ति, यतोऽभिहितं सूत्रे आगमे। किमभिहितमित्याह-[जीवाजीवेत्यादि] समयावलिकादयः केऽभिधीयन्ते ?, इत्याह-जीवाजीवाः जीवाजीवद्रव्याण्येव समयावलिकादयो भण्यन्ते, न पुनस्तद्व्यतिरिक्तास्त इति भावः। तदेवं जीवाऽजीवेभ्योऽव्यतिरिक्तः समयावलिकादिरूपः कालः। ते च जीवाऽजीवा द्रव्यार्थतामात्ररूपं सामान्यतो द्रव्यमुच्यते। ततो द्रव्यमेव कालो द्रव्यकाल इति सिद्धम्। इह चागमोऽक्तोऽर्थ एव लिखितः, सूत्रं पुनरित्थमवगन्तव्यम्-" किमियं भंते ! काले त्ति पवुच्चइ ? । गोयमा! जीवा चेव, अजीवा चेव त्ति "।

कथं पुनश्चेतनस्याचेतनस्य च द्रव्यस्य चतुर्विधा स्थितिरित्याह-

सुरसिद्धभव्वऽभव्वा, साइसपज्जवसियादओ जीवा ।
खंधाणागयतीया, नभादओ चेयणारहिया ॥२०३४॥

सुरग्रहणस्योपलक्षणत्वात्सुरनारकतिर्यङ्मनुष्याः, सुरत्वादिप-

र्यायमधिकृत्य सादिसपर्यवसितयः । सिद्धाः प्रत्येकं सिद्धत्वमधिकृत्य साद्यपर्यवसानाः । भव्यजीवाः, भव्यत्वमाश्रित्य, केचनाप्यनादिसपर्यवसानाः; "सिद्धे नो भव्ये नो अभव्वे" इति वचनात् सिद्धत्वप्राप्तौ भव्यत्वनिवृत्तेः । अभव्यजीवाः, अभव्यत्वमङ्गीकृत्य, अनाद्यपर्यवसिताः । इत्येवं चेतनद्रव्यस्य सादिसपर्यवसितादिका चतुर्विधा स्थितिः । अचेतनद्रव्यमुररीकृत्याह-(खंधेत्यादि) द्व्यणुकादिस्कन्धाः सादिसपर्यवसिताः, एकेन द्व्यणुकत्वादिना परिणामेनोत्कृष्टतोऽपि पुद्गलद्रव्यस्यासंख्येयकालमेव स्थितेः। अनागताद्धा भविष्यत्कालरूपा साद्यपर्यवसिता । अतिक्रान्तकालरूपा अतीताद्धा अनादिसपर्यवसिता । आकाशधर्माधर्मास्तिकायादयस्त्वनाद्यपर्यवसिताः। इत्येवं चेतनारहितस्यापि द्रव्यस्य चतुर्विधा स्थितिः । तदेवमभिहितो द्रव्यकालः ॥ २०३४ ॥ (अद्धाकालस्वरूपोपदर्शनं 'अद्धाकाल' शब्दे प्रथमभागे ५६३ पृष्ठे कृतम्)

अथाऽऽयुष्ककालं विभणिषुर्भाष्यकारस्तत्स्वरूपमाह-

आउयमेत्तविसिट्ठो, स एव जीवाण वत्तणाइमओ ।
भण्णइ अहाउकालो, वत्तइ जो जच्चिरं जेण ॥२०३७॥

स एवोक्तरूपोऽद्धाकालो वर्तनादिमयो जीवानां नारकतिर्यङ्नरामराणां यथायुष्ककालो भण्यते । किं सर्वोऽपि?न,इत्याह-आयुष्कमात्रविशिष्टः, नारकाद्यायुष्कमात्रविशेषित इत्यर्थः । अत एवायं यथायुष्ककालो भण्यते । यदेन तिर्यग्मनुष्यादिना जीवेन यथा येन रौद्रार्तधर्मध्यानादिना प्रकारेणोपार्जितमायुर्यथायुष्कर्म, तस्याऽनुभवनकालो यथायुष्ककालः । कियन्तमवधिं यावदसौ भवतीत्याह-यो जीवो येनात्मबद्धेनायुषा [जच्चिरं ति] यावन्तमन्तर्मुहूर्तादिकं त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमपर्यन्तं कालं वर्तते,स तस्य जीवस्य तावन्तमवधिं यावद्यथायुष्ककालो भवतीति तात्पर्यार्थः । इत्येवं विवक्षामात्रकृतोऽद्धाकालयथायुष्ककालयोर्भेदः । अतोऽद्धाकालस्यैव विशेषभूतत्वात्तदनन्तरं यथायुष्ककालमाहेति भाव इति गाथार्थः ॥ २०३७ ॥

इति विहितसंबन्धमेव यथायुष्ककालं निर्युक्तिकारः प्राह-

नेरइयतिरियमणुआ-देवाण अहाउयं तु जं जेण ।
निव्वत्तियमन्नभवे, पालंति अहाउकालो उ ॥२०३८॥

नारकतिर्यग्मनुष्यदेवानां मध्यादन्येन जीवेन यथा येन रौद्रध्यानादिना प्रकारेणान्यभवे पूर्वजन्मन्यभिनिर्वर्तितमायुरेतद् यथायुरिहोच्यते । तच्च यदा त एव नारकादयो विपाकतः पालयन्त्यनुभवन्ति,तदाऽसौ तेषां यथायुष्ककालोऽभिधीयते । तुशब्दो द्रव्यकालादिभ्योऽस्य विशेषणार्थ इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥२०३८॥ (उपक्रमकालः 'उवक्कमकाल' शब्दे द्वितीयभागे ८७३ पृष्ठे द्रष्टव्यः) तत्र समाचारः शिष्टजनसमाचरितः क्रियाकलापः, तस्य भाव इति " गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च " (पाणि०) ५ । १ । १२४ । इति ष्यञ्प्रत्यये सामाचार्यम् । ततः सामग्र्यादावित्र स्त्रीत्वविवक्षायामीप्रत्यये यलोपे च सामाचारी इति भवति; तस्या उपक्रमणमुपरितनश्रुतादिहानयनं सामाचार्युपक्रमः ; स चासावुपचारात्कालश्च सामाचार्युपक्रमकालः । यथा बद्धस्यायुष्कस्योपक्रमणं दीर्घकालभोग्यस्य लघुतरकालेनैव क्षपणं यथायुष्कोपक्रमः, स चासावुपचारात्कालश्च यथायुष्कोपक्रमकालः । यः सामाचार्युपक्रमणद्वारेणोपक्रम्यते कालः स सामाचार्युपक्रमकालः । यस्त्वायुष्कोपक्रमणद्वारेणोपक्रम्यते स यथायुष्कोपक्रमकाल इतीह तात्पर्यम् । तत्र सामाचारी त्रिविधा । कथं?, (ओहे दसहा पयविभागे त्ति) ओघः सामान्यं तेन सामाचारी ओघसामाचारी, सामान्येन संक्षेपतः साधुसमाचाराभिधानरूपा । सा चौघनिर्युक्तेर्वेदितव्या । दशधा सामाचारी पुनरिच्छाकारमिथ्यादुष्कृतादिदशविधसाधुसमाचाररूपा । विशे० । "अज्झवसाणनिमित्ते, आहारे वेयणा पराघाए । फासे आणापाणू, सत्तविहं भिज्जए आउं " ॥२०४१॥ (सप्तधा आयुर्भिद्यते इति 'आउ' शब्दे द्वितीयभागे १० पृष्ठे सविस्तरं व्याख्यातम्)

अथ प्रमाणकालाभिधित्सया तत्स्वरूपं विवरीषुर्भाष्यकारः प्राह-

अद्धाकालविसेसो, पत्थयमाणं व माणुसे खित्ते ।
सो संववहारत्थं, पमाणकालो अहोरत्तं ॥२०६८॥

स प्रमाणकाल इति समयविद्भिः प्ररूप्यते । यः कथंभूतः?, इत्याह-अद्धाकालस्यैव विशेषस्वरूपः । अयं च सूर्यादिगतिक्रियाभिव्यङ्ग्यत्वाद् मनुष्यक्षेत्र एव भवति,न परतः,सूर्यादिगतिक्रियाभावात् । किंविशिष्टः पुनरसावित्याह-अहोरात्रमहोरात्रसंज्ञितः । किमर्थं पुनरसौ प्ररूप्यते?,इत्याह-संव्यवहारार्थं जीवाजीवादिस्थित्यादिमानव्यवहारार्थम् । किंवत्?, प्रस्थकमानवत् । यथा सामान्यमानस्य विशेषभूतं मनुष्यक्षेत्रे धान्यादिमितततसंव्यवहारार्थम् "दो असईओ पसईओ,दो पसईओ सेइया, चत्तारि सेइयाओ कुडवो, चत्तारि कुडवा पत्थो " इत्यादिना सूत्रे प्ररूपितं प्रस्थकमानम् । तथाऽयमप्यहोरात्ररूपः प्रमाणकाल इति गाथार्थः ॥ २०६८ ॥ विशे० । (वर्णकालभावकालादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

अथ कण्ठतोऽपि सूत्रे जीवाजीवाभ्यामतीतः कालः कथितोऽऽतस्तमेव तथैव सूत्रयन्नाह-

जिवाजीवमयः कालः, समये न पृथक् कृतः ॥
इत्येके संगिरन्तेऽत्र, धारयन्तः शुभां मतिम् ॥११॥

समये सिद्धान्ते जीवाजीवमयः जीवाजीवरूपः कालः कथितः, पृथक् भिन्नस्ताभ्यां न कृतः, ततो भिन्नः कथं कथ्यते इति पूर्वोक्तमेके आचार्याः सङ्गिरन्ते भाषन्ते अत्र । किं कुर्वन्तः?, शुभां विशुद्धां मतिं बुद्धिं धारयन्तः । शुद्धबुद्धिमतां सुधीराणां यथोक्तश्रीजिनप्रणीततत्त्ववेत्तृणां प्राणिनां सम्यक्त्वावाप्तिः सुलभा भवतीति ध्येयम् । तथा च गौतमेन भद्रकपरिणामशालिना भगवान् पृष्टः, तदाहेति भगवन् ! किमयं कालो जीवस्तथाऽजीवश्चेति प्रश्ने भगवानाह-गौतम ! जीवोऽपि कालः, अजीवोऽपि कालः, तदुभयं काल एव, जीवाजीवयोः कालेनोपजीव्योपजीवकभावसंबन्धः संतिष्ठत इति ।

पुनस्तदेवाह-

आहुरन्ये भचक्रस्य, विश्वे चारेण या स्थितिः ।
कालोऽपेक्षाकारणं च, द्रव्यमित्यपि पञ्चमे ॥१२॥

अन्ये आचार्या एवं कथितवन्तः-भचक्रस्य ज्योतिश्चक्रस्य चारेण या विश्वे स्थितिरवस्थाविशेषः स काल इत्यभिधीयते । तथा च वर्तुलाकारं ज्योतिश्चक्रं,तस्य चारेण परत्वापरत्वनवपुराणादिभावस्थितिहेतुः, तस्यापेक्षाकारणम् । मनुष्यलोके हि अर्थस्य सूर्यक्रियोपनायकद्रव्यचारक्षेत्रप्रमाणमेवोपकल्पनं म-

रते, तत एतादृशं कालद्रव्यं कथ्यते । तत एव श्रीभगवत्यङ्गे- "कइ णं भंते ! दव्वा पन्नत्ता । गोयमा ! छ दव्वा पण्णत्ता । तं जहा-धम्मत्थिकाए० जाव अद्धासमए । " एतद्वचनमस्ति । तस्य निरुपचरितव्याख्यानं घटते । तथा च वर्त्तनापर्यायस्य साधारणापेक्षा न कथ्यते तदा तु गतिस्थित्यवगाहनासाधारणापेक्षाकारणत्वेन धर्माधर्मास्तिकायौ सिद्धौ जातौ तत्रापि अनाश्वास आयाति । अथ च अर्थयुक्त्या ग्राह्यमस्ति तस्मात्केवलमाज्ञयैव ग्राह्योऽस्ति परं तु कथं सन्तोषधृती भवेताम्? ।१२।

एतन्मतद्वयं धर्म-संग्रहिण्यां च भाष्यके ।
अनपेक्षितद्रव्यार्थि-कयते तस्य योजना ॥१३॥

एतन्मतद्वयं धर्मसंग्रहिण्यां श्रीहरिभद्रसूरिणा व्याख्यातम् । तथा च तद्गाथा-" जं वत्तणाइरूवो, कालो दव्वस्स चेव पज्जाओ । सो चेव तवो धम्मो, कालस्स व जस्स जो ण लोए त्ति" ॥ १ ॥ एवमेतन्मतद्वयमत्र श्रीहरिभद्रसूरिसम्मतधर्मसंग्रहिणीसूत्रोक्तं ज्ञेयम । तथाच एतन्मतद्वये भाष्यके श्रीतत्त्वार्थभाष्येऽपि वाचकैस्तथैव प्रणीतमस्ति । तथाच तद्ग्रन्थः-"कालश्चेत्येके " इति वचनाद् द्वितीयमतं श्रीतत्त्वार्थव्याख्याने समर्थितम । पुनस्तस्य कालस्य अनपेक्षितद्रव्यार्थिकनयमते योजना युक्तिश्च भवति । तथाहि-स्थूललोकव्यवहारासिद्धोऽयं कालोऽपेक्षारहितश्च ज्ञेयः । अन्यथा वर्त्तनापेक्षाकारणत्वेन यत्कालद्रव्यं साधितं तत्पूर्वापरादिव्यवहारविलक्षणपरत्वापरत्वादिनियामकत्वेन दिग्द्रव्यमपि सिद्धं स्यादिति । अथ च- "आकाशमवगाहाय, तदनन्या दिगन्यथा । तावप्येवमनुच्छेदात्ताभ्यां वान्यदुदाहृतम्" ॥१॥ इति सिद्धसेनदिवाकरकृतनिश्चयद्वात्रिंशिकार्थं विमृश्य आकाशादेव दिक्कार्यं प्रसिद्ध्यतीति । इत्थमङ्गीकुर्वतां कालद्रव्यं कार्थमपि कथञ्चिदत एवोपपत्तिः स्यात । तस्मात् 'कालश्चेत्येके' इति सूत्रमनपेक्षितद्रव्यार्थिकनयेनैव इति सूक्ष्मदृष्ट्या विभावनीयम ॥ १३ ॥

(७)अथ कालद्रव्याधिकारं दिगम्बरप्रक्रियया उपन्यसन्नाह-

मन्दगत्याऽप्यणुर्यावत्, प्रदेशे नभसः स्थितौ ।
याति तत्समयस्यैव, स्थानं कालाणुरुच्यते ॥ १४ ॥

मन्दगत्या मन्दगमनेनाणुः परमाणुः नभसः आकाशस्य प्रदेशे स्थितौ स्थाने यावदिति यावता कालेन गच्छति तत्समयस्य तत्कालपरिमितस्य कालस्य स्थानं कालाणुरिति व्यवहारो जात इति । एकस्य नभसः स्थाने मन्दगतिरणुर्यावता कालेन संचरति तत्पर्यायेण समय उच्यते, तदनुरूपश्च यः स कालः पर्यायसमयस्य भाजनं कालाणुरिति । स च एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे एकैक एवं कुर्वतां समस्तलोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः कालाणवो जायन्त इति । इत्थं कश्चिदपरो वदन् जैनाभासो दिगम्बर एवास्ति । उक्तं च द्रव्यसंग्रहे-" रयणाणं रासी इव, ते कालाणु असंखदव्वाणि । " इति दिगम्बरमतमनुसृत्य योगशास्त्राभ्यासेन अपरोऽपि कश्चिदेतद्वचनमुदाजहार ॥ १४ ॥

तदेव दृष्टान्तयन्नाह-

योगशास्त्रान्तरश्लोके, मतमेतदपि श्रुतम् ।
लोकप्रदेशेऽप्यणवो, भिन्ना भिन्नास्तदग्रता ॥१५॥

योगशास्त्रान्तरश्लोके एतदपि मतं श्रुतं,दिगम्बरमतेऽपि अन्तरश्लोकव्याख्यानमपीष्टमस्ति । यतो लोकप्रदेशेऽपि भिन्ना भिन्ना अणवस्तन्मुख्यत्वमापादयन्ति । लोकप्रदेशे भिन्ना भिन्नाः कालाणवस्त एव मुख्यकाल इति व्यवहारः ।

तथाच तत्पाठः-

"लोकाकाशप्रदेशस्थाः, भिन्नाः कालाणवस्तु ये ।
भावानां परिवर्त्ताय, मुख्यः कालः स उच्यते" ॥१॥ इति ।

अस्य भावार्थः-लोकाकाशे यावन्तः प्रदेशास्तेषु तिष्ठन्तीति लोकाकाशप्रदेशस्थाः, भिन्नाः पृथक् पृथक् एकनभोदेशे एकः,इत्थं सर्वत्र सर्वे ये कालाणवः सन्ति त एव तावन्तः कालाणव इति । तु पुनर्भावानां पदार्थानां परिवर्त्ताय नूतनं कृत्वा जीर्णं करोति, जीर्णं कृत्वा नूतनं करोति एवं भावानां परिवर्त्ताय वर्त्तते स एव मुख्यः सर्वत्र प्रधानपदार्थः काल उच्यते इत्यर्थः ॥ १५ ॥

पुनस्तदेव चर्चयन्नाह-

प्रचयोर्ध्वत्वमेतस्य, द्वयोः पर्याययोर्भवेत् ।
तिर्यक्प्रचयता नास्य, प्रदेशत्वं विना क्वचित् ॥१६॥

एतस्य कालाणुद्रव्यस्य प्रचयोर्द्धत्वमूर्द्धताप्रचयः द्वयोः पर्याययोः पूर्वापरयोर्भवेत् । यतो यथा मृद्द्रव्यस्य स्थासकोशकुशूलादिपूर्वापरपर्यायाः सन्ति तथा एतस्य कालस्य समयावलीमुहूर्तादयः पूर्वापरपर्याया वर्त्तन्ते, परं तु स्कन्धस्य प्रदेशसमुदायः कालस्य नास्ति तस्माद् धर्मास्तिकायादीनामिव तिर्यक्प्रचयता न संभवति, एतावता तिर्यक्प्रचयत्वं नास्ति । तेनैव कालद्रव्यमस्तिकाय इति नोच्यते । परमाणुपुद्गलस्येव पुनस्तिर्यक्प्रचयता नास्ति । तस्मात् उपचारेणापि कालद्रव्यस्य अस्तिकायता न कथनीया इति ॥ १६ ॥

(८) अथैतद्दिगम्बरमतं वादेन दूषयन्नाह-

एवमणुगतेर्ज्ञात्वा, हेतुं धर्माणवस्तदा ।
साधारणत्वमेकस्य, समयस्कन्धताऽपि च ॥ १७ ॥

एवमनया रीत्या यदि अणुगतेः परमाणुगमनस्य हेतुमिति हेतुत्वं ज्ञात्वा गृहीत्वा धर्माणवो धर्मद्रव्याणवो भवन्ति तदेकस्य कस्यचित्पदार्थस्य साधारणत्वं गृहीत्वा समयस्कन्धता स्यादिति । अथ योजना एवम्-यदि मन्दाणुगतिकार्यहेतुपर्यायसमयभाजनं द्रव्यसमयाणुः कल्पते तदा मन्दाणुगतिहेतुतारूपगुणभाजनं धर्मास्तिकायोऽपि सिद्ध्यति । एवमधर्मास्तिकायस्याप्यणुप्रसक्तता स्यात् । अथ च सर्वसाधारणगतिहेतुतादिकं गृहीत्वा धर्मास्तिकायाद्येकस्कन्धरूपं द्रव्यं कल्पते तदा देशप्रदेशादिकल्पनाऽपि तस्य व्यवहारानुरोधेन पश्चात्कर्तव्या स्यात् । यदि च सर्वजीवाजीवद्रव्यसाधारणवर्तनाहेतुतागुणं गृहीत्वा कालद्रव्यमपि लोकप्रमाणं कल्पयितुं युज्यते धर्मास्तिकायादीनामधिकारेण साधारणगतिहेतुताऽद्युपस्थितिरेवास्ति । अस्याः कल्पनायास्तु अभिनिवेशं विना द्वितीयं किमपि कारणं नास्ति ॥ १७ ॥

अथ पुनस्तदेवाह-

अप्रदेशत्वमासूत्र्य, यदि कालाणवस्तदा ।
पर्यायवचनोद्युक्तं, सर्वमेवौपचारिकम् ॥ १८ ॥

अप्रदेशत्वं प्रदेशरहितत्वं यदि आसूत्र्य प्रकल्पितस्य कालस्य अणवः कथ्यन्ते तदा पर्यायवचनेन योजितं क्रियते सर्वमप्युपचारेण इदमिति । तथाच यदा एवं कथयत-सूत्रे कालोऽप्रदेशी कथितः तस्यानुसारेण कालाणवः कथ्यन्ते, तदा तु सर्वम-

पि जीवाजीवपर्यायरूपमेव काल इति कथितमस्ति तत्र विरोधो नास्ति, द्रव्यकालोऽपि कथं कथ्यते । ततस्तदनुसारेण कालस्याऽपि द्रव्यत्ववचनम् । तथा लोकाकाशप्रदेशप्रमाणानुवचनादीनि सर्वाण्युपचारेण योज्यानि । मुख्यवृत्त्या स पर्यायरूपः काल एव सूत्रसंमतोऽस्ति । अत एव 'कालश्चेत्येके' अत्रैकवचनेन सर्वसंमतत्वाभावः सूचयामासेति । तेनाप्यत्र अप्रदेशत्वं प्रदेशाऽभावं सूत्रेणानुसृत्य तस्य कालस्य अणुः कथ्यते, तदा सर्वमप्येतत् उपचारेण पर्यायवचनादिकेभ्यो युज्यमानं चारिमाणमश्नुतीति । अथ च-"परमाणुमयो भागोऽवयवस्तदितरस्तु प्रदेशः" इति वचनाद् व्योमाद्यपरिमाणजतया सप्रदेशं स्यान्न तु सावयवमित्याचक्षीथाः, तथाऽपि-

"दोषोल्लासवशप्रसृत्वरतमस्काण्डेऽपि देदीपया-
भासे नोऽवयवप्रदेशविषयो भेदस्त्वया दीपकः ।
अस्माभिः परमाणुतां प्रकटतामानेष्यमाणं पुरो,
दुर्वारव्यभिचारदीर्घरसनं निध्याय विध्वंसितः" ॥ १ ॥

ननु पूर्वं तावदम्बरादेर्विभागाः परमाणुमया यत्र सन्ति न खलु कज्जलचूर्णपूर्णसमुद्गकवन्निरन्तरपुद्गलपूरिते लोके स कश्चिन्नभसो विभागोऽस्ति यो निर्भरं न बिभरांबभूवेऽणुभिः तत्कथं न हेतुरेष व्यभिचरिष्णुरिति दिक् ॥ १८ ॥

अथोपचारप्रकारमेव दर्शयन्नाह-

पर्यायेण च द्रव्यस्य, ह्युपचारो यथोदितः ।

अप्रदेशत्वयोगेन, तथाऽणूनां विगोचरः ॥१९॥

षडेव द्रव्याणीति संख्यापूरणार्थं यथा पर्यायेण पर्यायरूपेण द्रव्यस्य कालद्रव्यस्य एतावता पर्यायरूपकालद्रव्यविषये हि निश्चितं द्रव्यस्योपचारो यथा उदितः द्रव्यत्वोपचारकल्पना विहिता भगवत्यादिसूत्रविशेषे कृता तथैव सूत्रे कालद्रव्यस्यापि अप्रदेशत्वयोगेन कालाणूनां विगोचरो विषयता ज्ञेयः । एतावता सूत्रे कालस्यात्र प्रदेशता सूचिता तथैव कालाणुताऽपि सूचिताऽस्ति तद्योजनया लोकाऽऽकाशप्रदेशस्थपुद्गलाणूनां विषये एव योगशास्त्रान्तरश्लोकेषु कालाणूनामुपचारो विहितः । मुख्यकाल इत्यस्य चानादिकालीनाप्रदेशत्वव्यवहारनियामकोपचारविषय इत्यर्थः । अत एव मनुष्यक्षेत्रमात्रवृत्तिकालद्रव्यं ये वर्णयन्ति तेषामपि मनुष्यक्षेत्रावच्छिन्नाकाशादौ कालद्रव्योपचार एव शरणमिति दिग्मात्रमेतत् ॥१९॥ द्रव्या० १० अध्या० । विशे० । दश० । उत्त० । आव० । आ० चू० ।

(६) अथ कालनिक्षेपमाह-

प्रायश्चित्तं च कालापेक्षया दीयत इति कालनिरूपणासूत्रम्-

चउव्विहे काले पन्नत्ते । तं जहा-पमाणकाले, अहाउणिव्वत्तिकाले, मरणकाले, अद्धाकाले ।

प्रमीयते परिच्छिद्यते येन वर्षशतपल्योपमादि तत्प्रमाणं, तदेव कालः प्रमाणकालः । स च अद्धा कालविशेष एव दिवसादिलक्षणो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्तीति । उक्तं च-"दुविहो पमाणकालो, दिवसपमाणं च होइ राई य । चउपोरिसिओ दिवसो, राई चउपोरिसी चेव" ॥ १ ॥ यथा यत्प्रकारं नारकादिभेदेनायुःकर्मविशेषो यथाऽऽयुस्तस्य रौद्रादिध्यानादिना निर्वृतिर्बन्धनं तस्याः सकाशात् यः कालो नारकादित्वेन स्थितिर्जीवानां स यथाऽऽयुर्निर्वृत्तिकालः । अथवा यथायुषो निर्वृत्तिस्तथा यः कालो नारकादिभवेऽवस्थानं स तथेति । अयमप्यद्धाकाल एवायुष्कर्मानुभवविशिष्टः सर्वसंसारजीवानां वर्तनादिरूप इति । उक्तं च-"आउयमित्तविसिट्ठो, स एव जीवाण वत्तणादिमओ । भण्णइ अहाउकालो, वत्तइ जो जं चिरं तेण" ॥ १ ॥ मरणस्य मृत्योः कालः समयः मरणकालोऽयमप्यद्धासमयविशेष एव । मरणविशिष्टो मरणमेव वा कालो, मरणपर्यायत्वात् । उक्तं च-"कालो त्ति मयं मरणं,जहेव मरणं गओ त्ति कालगओ । तम्हा स कालकाला,जस्स मओ मरणकालो त्ति" ॥१॥ तथा अद्धैव कालोऽद्धाकालः । कालशब्दो हि वर्णप्रमाणकलादिष्वपि वर्तते,ततोऽद्धाशब्देन विशिष्यत इति । अयञ्च सूर्यक्रियाविशिष्टो मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्त्ती समयादिरूपोऽवसेयः ।

उक्तं च—

"सूरकिरियाविसिट्ठो, गोदोहाइकिरियासु निरवेक्खो ।
अद्धाकालो भण्णइ, समयक्खेत्तम्मि समयाइ ॥ १ ॥
समयावलियमुहुत्ता, दिवसमहोरत्त पक्खमासा य ।
संवच्छरजुगपलिया-सागरओसप्पिपरियट्टा" ॥ २ ॥

द्रव्यपर्यायभूतस्य कालस्य चतुःस्थानकमुक्तम् ॥ स्था०४ठा० १ उ० ।

सम्प्रति 'यथोद्देशं निर्देशः' इति न्यायात् प्रथमतः कालप्रमाणरूपं विवक्षुरिदमाह-

लोगाणुभावजणियं, जोइसचक्कं भणंति अरिहंता ।

सव्वे कालविसेसा, जस्स गइविसेसनिप्फन्ना ॥

यस्य ज्योतिश्चक्रस्य चन्द्रसूर्यनक्षत्रादिरूपस्य संबन्धिना गतिविशेषेण निष्पन्नाः सर्वे कालविशेषाश्चन्द्रमाससूर्यमासनक्षत्रमासादिकाः तज्ज्योतिश्चक्रं लोकानुभावजनितमनादिकालसन्ततिपतिततया शाश्वतं वेदितव्यं, नेश्वरादिकृतमिति भणन्ति प्रतिपादयन्ति भगवन्तोऽर्हन्तः । तीर्थकृतां च वचनमवश्यं प्रमाणयितव्यम्,क्षीणसकलदोषतया तद्वचनस्य वितथार्थत्वाभावात् । उक्तं च-"रागाद्वा द्वेषाद्वा,मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम् । यस्य तु नैते दोषा-स्तस्यानृतकारणं किं स्यात् ?" । अपि च युक्त्यापि विचार्यमाणो नेश्वरादिर्घटां प्राञ्चति, ततस्तदभावादपि ज्योतिश्चक्रं लोकानुभावजनितमवसेयम् । यथा च युक्त्या विचार्यमाणो नेश्वरादिर्घटते तथा तत्त्वार्थटीकादौ विजृम्भितमिति तत एवावधार्यम् । तदेवं लोकानुभावजनिताद् ज्योतिश्चक्रात् कालविशेषो निष्पन्न इति सामान्यतः कालस्य संभवं प्रतिपाद्य संप्रति संक्षेपतः कालस्य भेदानाचष्टे । ज्यो०१पाहु० । भ० ।

संखेवेण उ कालो, अणागयातीत वट्टमाणो य ।

कालः संक्षेपतः त्रिधा । तद्यथा-अनागतोऽतीतो वर्तमानश्च । ज्यो० १ पाहु० ।

तिविहे काले पण्णत्ते । तं जहा-तीते पडुप्पन्ने अणागए ।

अतिशयेन इतो गतोऽतीतः, पिधानवदकारलोपेऽतीतो वर्तमानत्वमतिक्रान्त इत्यर्थः । साम्प्रतं उत्पन्नः प्रत्युत्पन्नो, वर्तमान इत्यर्थः । न आगतोऽनागतो वर्त्तमानत्वमप्राप्तो, भविष्यन्नित्यर्थः । उक्तं च-"भवति स नामाऽतीतः, प्राप्तो यो वर्त्तमानत्वम् । एष्यँश्च नाम स भवति, यः प्राप्स्यति वर्त्तमानत्वम्" ॥ १ ॥ इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

तदेवमित्थं संक्षेपतः कालस्य त्रैविध्यं प्रतिपाद्य प्रकारान्तरेण संक्षेपत एव कालस्य त्रैविध्यमाह-

संखेज्जमसंखेज्जा, अणंतकालो उ णिद्दिट्ठो ।

त्रिविधः कालो भगवद्भिस्तीर्थङ्करगणधरैर्निर्दिष्टः। तद्यथा-संख्येयोऽसंख्येयोऽनन्तश्च । तत्र समयादिः शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तः संख्येयः, असंख्येयः पल्योपमादिकः । अनन्तः-अनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिण्यादिकः । ज्यो० १ पाहु० ।

तत्र प्रथमतः संख्येयं कालं विवक्षुरिदमाह-

समए आवलिआ आण पाणु थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते पक्खे मासे उऊ अयणे संवच्छरे जुगे वाससए वाससहस्से पुव्वंगे पुव्वे तुडिअंगे तुडिए अडडंगे अडडे अववंगे अववे हुहुअंगे हुहुए उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे णलिणंगे णलिणे अत्थिनिउरंगे अत्थिनिउरे अउअंगे अउए नउअंगे नउए पउअंगे पउए चूलिअंगे चूलिआ सीसपहेलिअंगे सीसपहेलिआ पलिओवमे सागरोवमे अवसप्पिणी उस्सप्पिणी पोग्गलपरिअट्टे अतीतद्धा अणागतद्धा सव्वद्धा । अनु० ।

(अस्य व्याख्या 'आणुपुव्वी' शब्दे द्वितीये भागे १५१ पृष्ठे द्रष्टव्या)

कालो परमनिरुद्धो, अविभज्जो तं तु जाण समयं तु ।
समया य असंखेज्जा, हवइ हु उस्सासनिस्सासो ।

कालः परमनिरुद्धः परमनिकृष्टः । एतदेव व्याचष्टे-अविभेद्यो विभक्तुमशक्यः। किमुक्तं भवति ?-यस्य भूयोऽपि विभागः कर्त्तुं न शक्यते स कालः परमनिरुद्धः, इत्थंभूतं परमनिरुद्धं कालविशेषं समयं जानीहि । स च समयो दुरधिगमः, तं हि भगवन्तः केवलिनोऽपि साक्षात् केवलज्ञानेन विदन्ति, न तु शक्नुवन्ति प्राहिकया परेभ्यो निर्देष्टुं शक्नुवन्ति । निर्देशो हि प्रथमतः कायप्रमाणेन भाषाद्रव्याण्यादाय पश्चाद्वाक्पर्याप्तिकरणप्रयोगतो विधीयते, ततो यावत्समय इत्येतावन्त्यक्षराण्युच्चार्यन्ते तावदसंख्येयाः समयाः समतिक्रामन्तीति न साक्षाद्विनिर्लुठितरूपतया निर्देष्टुं शक्यन्ते । इत्थंभूताः समया असंख्येया एक उच्छ्वासनिःश्वासो भवति । किमुक्तं भवति ?-अनन्तरोक्तस्वरूपाः समया जघन्ययुक्ताः संख्यातकप्रमाणा एका आवलिका, संख्येया आवलिका एक उच्छ्वासः, तावत्प्रमाण एव एको निःश्वासः। तयोश्चायं भेदः-ऊर्द्ध्वगमनस्वभाव उच्छ्वासः, अधोगमनस्वभावो निःश्वासः ।

उस्सासो निस्सासो, दोहिँ वि पाणु त्ति भण्णए एक्का ।
पाणा य सत्त थोवा, थोवा वि य सत्त लवमाहू ।
अट्ठ य तीसं तु लवा, अद्धलवो चेव नालिया होइ ॥

पुरुषस्य शारीरिकबलोपेतस्यानुपहतकरणग्रामस्य निरुजस्य प्रशस्ते यौवने वर्त्तमानस्यानाकुलचेतसो य एक उच्छ्वासः संख्येयावलिकाप्रमाणः, यश्चैको निश्वासः संख्यातावलिकाप्रमाण एव, तौ द्वावपि समुदितावेकः प्राणो भण्यते । प्राणो नाम कालविशेषः । एतदुक्तं भवति-यथोक्तपुरुषगतोच्छ्वासनिःश्वासप्रमितः कालविशेषः प्राण इति । यच्च पुरुषस्य शारीरिकबलोपेतादिविशेषकलापोपादानं तदन्यथाभूतपुरुषसंबन्धिनावुच्छ्वासनिःश्वासौ न प्राणरूपकालविशेषप्रमितिहेतू भवत इति प्रतिपत्त्यर्थम् । ते च प्राणाः सप्त सप्तसंख्या एकः स्तोकः, स्तोकानपि च सप्तसंख्यानेकं लवमाहुः पूर्वसूरयः । ते पि च लवा अष्टात्रिंशत्संख्या अर्द्धलवः । अर्द्धं लवस्य अर्द्धलवम्, समेंऽशे । अर्द्धं नपुंसकम् ।३।२।२। इति समासः । चैवशब्दः समुच्चये । एका नालिका भवति । सार्द्धा अष्टात्रिंशल्लवाः समुदिता एका नालिका भवतीत्यर्थः । ज्यो० १ पाहु० । (नालिकादि (घटिकादि) प्रमाणं स्वस्थाने द्रष्टव्यम्)

(१०) संप्रति मुहूर्त्तादिप्रमाणमाह-

वे नालिया मुहुत्तो, सट्ठिं पुण नालिया अहोरत्तो ।
पन्नरस अहोरत्ता, पक्खो तीसं दिणा मासो ॥

द्वे नालिके द्वे घटिके समुदिते एको मुहूर्त्तः, स च धरिमप्रमाणचिन्तायां द्वे पलशते, मेयप्रमाणचिन्तायां चत्वार आढकाः। षष्टिः पुनर्नालिका घटिकाः समुदिता एको अहोरात्रस्त्रिंशन्मुहूर्ता एकोऽहोरात्रमित्यर्थः । तत्र च मेयप्रमाणचिन्तायां विंशत्युत्तरमाढकशतम्, धरिमप्रमाणचिन्तायां षट्पलसहस्राणि, तानि यदि भारीकृत्य चिन्त्यन्ते तदा त्रयो भारा भवन्ति । पञ्चदश अहोरात्रा एकः पक्षः, स च मेयप्रमाणचिन्तायामष्टादश आढकशतानि, धरिमप्रमाणचिन्तायां पञ्च चत्वारिंशद् भाराः, तथा त्रिंशद् भाराः। तथा त्रिंशद्दिनान्यहोरात्र एको मासः । स च धरिमप्रमाणचिन्तायां नवतिर्भाराः, मेयप्रमाणचिन्तायां षट्त्रिंशदाढकशतानि ।

संवच्छरो उ वारस, मासा पक्खा य ते चउव्वीसं ।
तिन्नेव सया सट्ठा, हवंति राइंदियाणं तु ॥

ते अनन्तरोक्तप्रमाणा मासा द्वादशसंख्या एकः संवत्सरो भवति । ते च द्वादश मासाः पक्षतया चिन्त्यमानाः चतुर्विंशतिः पक्षा भवन्ति । रात्रिन्दिवतया चिन्त्यमानास्त्रीणि शतानि षष्टीनि, षट्षष्ट्यधिकानि भवन्ति रात्रिंदिवानामहोरात्राणाम् । एष च संवत्सरो यदा मेयरूपतया चिन्त्यते तदा शतद्वयाधिकानि त्रिचत्वारिंशत्सहस्राण्याढकानां भवन्ति (४३२००) तोल्यरूपतया तु चिन्त्यमानो भाराणामेकं सहस्रमशीत्याधिकम् (१०८०) । एष च संवत्सरो लोके कर्मसंवत्सर इति, ऋतुसंवत्सर इति च प्रसिद्धिं गतः। तथाहि-लौकिकास्त्रिंशतमहोरात्रान् मासं परिगणयन्ति, इत्थंभूतमासद्वयात्मकं च वसन्तादिकमृतुं, तथाभूतानां षण्णां वसन्तादीनामृतूनां समुदायं संवत्सरम् । यानि च लोके कर्माणि प्रवर्तन्ते तानि सर्वाण्यमुं संवत्सरमधिकृत्य, एष कर्मसंवत्सरः, सावनसंवत्सर ऋतुसंवत्सर इति ख्यातः ।

तथा चाह-

इय एस कमो भणिओ, नियमा संवस्सरस्स कम्मस्स ।
कम्मो त्ति सावणो त्ति य, उउ त्ति य तस्स नामाणि ॥

एष पूर्वोक्तः क्रमो भणितो ज्ञातव्यो नियमात् कर्मणः कर्मनाम्नः संवत्सरस्य, तस्य चैवंरूपस्य संवत्सरस्यामूनि नामानि । तद्यथा-कर्मेति कर्म लौकिको व्यवहारः, तत्प्रधानतः संवत्सरोऽप्युपचारात् कर्म । (सावणो त्ति) सवनं कर्मसु प्रेरणं, षुञ् प्रेरणे इति वचनात् । तत्र भव एष संवत्सर इति सावनः। ऋतुर्लोकप्रसिद्धो वसन्तादिः, तत्प्रधान एष संवत्सर इत्युपचारात् ऋतुः। ज्यो० २ पाहु०। ['संवच्छर' शब्देऽस्य विशेषः] संप्रत्युत्तरः कालविशेषश्चिन्त्यते-तत्रानन्तरोदितस्वरूपैश्चतुर्भिर्युगैर्विंशतिर्वर्षाणि, पञ्च विंशतानि वर्षशतं, दश शतवर्षाणि वर्षसहस्रं, शतं सहस्रवर्षाणां वर्षलक्षं, चतुरशीतिवर्षलक्षाण्येकं पूर्वाङ्गं, चतुरशीतिः पूर्वाङ्गलक्षाणि पूर्वम् ।

तथा चैतदेवाह–

वाससहस्साइं चुल–सीइगुणाइं य होज्ज पुव्वंगं ।
पुव्वंगसहस्साइं, चुलसीइगुणा हवइ पुव्वं ॥

सुगमा ।

संप्रति यथोक्तमेव पूर्वपरिमाणं मुग्धजनविबोधनार्थं वर्षकोटिभिः प्ररूपयति–

पुव्वस्स उ परिमाणं, सत्तरि खलु होंति सयसहस्साइं ।
छप्पन्नं साहस्सा, बोधव्वा वासकोडीणं ॥

पूर्वस्य परिमाणं खलु निश्चितं भवति वर्षकोटीनां सप्ततिः शतसहस्राणि, तदुपरि षट् पञ्चाशत्सहस्राणि बोद्धव्यानि ॥

पुव्वाण सयसहस्सं, चुलसीइगुणं लयंगमिह भवति ।
तेसिं पि सयसहस्सं, चुलसीइगुणं लया होइ ॥
तत्तो महालया वी, चुलसीइं चेव सयसहस्साणि ।
नलिणंगं नाम भवे, एत्तो वोच्छं समासेणं ॥

पूर्वाणां शतसहस्रं लक्षं चतुरशीतिगुणमिह प्रवचने एकं लताङ्गं भवति । किमुक्तं भवति ?–चतुरशीतेः पूर्वलक्षाण्येकं लताङ्गमिति । तेषामपि लताङ्गानां शतं प्रवचने सहस्रं च चतुरशीतिगुणमेका लता भवति । चतुरशीतिलताशतसहस्राण्येका महालता । ततो महालतारूपात् संख्यास्थानादूर्द्ध्वं यानि संख्यास्थानानि भवन्ति (एत्तो वोच्छं समासेणं ति) इतो नलिनानि,अत ऊर्ध्वं संख्यास्थानान्येव क्रमेण केवलानि निर्वक्ष्यामि, न प्राक्तनसंख्यास्थानानीव प्रत्येकं गुणकारनिर्देशेन । यस्तु वक्ष्यमाणसंकलनागुणकारः स पर्यन्ते कथयिष्यते इति ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

नलिण महानलिणंगं, हवइ महानलिणमेव नायव्वं ।
पउमंगं तह पउमं, तत्तो महापउमअंगं च ॥ १ ॥
हवइ महापउमं वि य, तत्तो कमलंगमेव नायव्वं ।
कमलं महकमलंगं, तत्तो परतो महाकमलं ॥ २ ॥
कुमुयंगं तह कुमुयं, तत्तो य महाकुमुयअंगं च ।
परतो य महाकुमुयं, तुडियंगं हवइ तुडियं तु ॥
तत्तो महतुडियंगं, महातुडियमेव नायव्वं ।
अममंगं पि य परतो, अडडमेव हवइ महाअडडंगं ॥
एवं चेव य तत्तो, नायव्वं महाअडममेवं ।
ऊहंगं पि य ऊहं, भवइ महल्लं च ऊहंगं ॥
तत्तो य महाऊहं, हवइ तु सीसप्पहेलियाअंगं ।
तत्तो परओ सीसग–पहेलिया होइ नायव्वा ॥

इह सर्वत्राऽपि चतुरशीतिशतसहस्रप्रमाणो गुणकारः " एत्थ सयसहस्साइं " इत्यादिवक्ष्यमाणवचनात् चतुरशीतिनलिनाङ्गशतसहस्राण्येकं नलिनं, चतुरशीतिनलिनशतसहस्राणि एकं महानलिनाङ्गं, चतुरशीतिमहानलिनाङ्गशतसहस्राण्येकं महानलिनम, चतुरशीतिमहानलिनशतसहस्राणि एकं पद्माङ्गम, चतुरशीतिसहस्राण्येकं पद्मं । ततश्चतुरशीतिपद्मशतसहस्राण्येकं महापद्माङ्गम । "हवइ" इत्यादि द्वितीयगाथा–चतुरशीतिमहापद्माङ्गशतसहस्राण्येकं महापद्मं, महापद्मशतसहस्राण्येकं कमलाङ्गम् । चतुरशीतिकमलाङ्गशतसहस्राण्येकं कमलम । चतुरशीतिकमलशतसहस्राण्येकं महाकमलाङ्गम, ततः परतश्चतुरशीतिमहाकमलाङ्गशतसहस्राण्येकं महाकमलम । "कुमुयंगमित्यादि" तृतीयगाथा–ततश्चतुरशीतिमहाकमलशतसहस्राणि एकं कुमुदाङ्गम् । चतुरशीतिकुमुदाङ्गशतसहस्राण्येकं कुमुदम् । तथा ततः कुमुदरूपात्संख्यास्थानादूर्ध्वं चतुरशीतिकुमुदशतसहस्राण्येकं महाकुमुदाङ्गम, ततः परतश्चतुरशीतिमहाकुमुदाङ्गशतसहस्राण्येकं महाकुमुदम । चतुरशीतिमहाकुमुदशतसहस्राण्येकं त्रुटिताङ्गं बोधव्यम् । "तुडियेत्यादि" चतुर्थगाथा–चतुरशीतित्रुटिताङ्गशतसहस्राणि एकं त्रुटितम, चतुरशीतित्रुटितशतसहस्राणि एकं महात्रुटितम् । ततः परतश्चतुरशीतिमहात्रुटितशतसहस्राण्येकमटटाङ्गम, चतुरशीत्यटटाङ्गशतसहस्राणि एकमटटम, ततः परतश्चतुरशीतिअटटशतसहस्राणि एकं महाटटाङ्गम,चतुरशीतिमहाटटाङ्गशतसहस्राण्येकं महाटटम, परतश्च महाटटशतसहस्राण्येकमूहाङ्गम,चतुरशीत्यूहाङ्गशतसहस्राण्येकमूहम, चतुरशीत्यूहशतसहस्राण्येकं महोहम, चतुरशीतिमहोहशतसहस्राण्येकं शीर्षप्रहेलिकाङ्गम, चतुरशीतिप्रहेलिकाङ्गशतसहस्राण्येका शीर्षप्रहेलिका ज्ञातव्या।

संप्रत्येषु संख्यास्थानेषु गुणकारनिर्देशमाह—

एत्थ सयसहस्साइं, चुलसीइं चेव होइ गुणकारो ।
एक्केक्कम्मि उ ठाणे, अह संखा होइ कालम्मि ॥

अत्र एषु नलिनादिषु सर्वसंख्यास्थानेषु शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तेषु मध्ये एकैकस्मिन्संख्यास्थाने पूर्वसंख्यास्थानमधिकृत्य गुणकारो भवति चतुरशीतिशतसहस्राणि । किमुक्तं भवति ?–पूर्वं पूर्वं संख्यास्थानं चतुरशीतिशतसहस्रमुत्तरमुत्तरं संख्यास्थानं भवति; एतच्च प्रागेव भावितमिति । इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुःषमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत्, ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः सङ्घमेलापकोऽभवत् । तद्यथा–एको वलभ्यामेको मथुरायाम् । तत्र च सूत्रार्थसंघटनेन परस्परं वाचनाभेदो जातः। विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेद इति न काचिदनुपपत्तिः । तत्रानुयोगद्वारादिकमिदानीं वर्तमानमाथुरवाचनानुगतम् । ज्योतिष्करण्डकसूत्रकर्ता चाचार्यो वालभ्यः, ततो यदिदं संख्यास्थानप्रतिपादनं तद् वालभ्यवाचनानुगतमिति नास्यानुयोगद्वारप्रतिपादितसंख्यास्थानैः सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति । संप्रत्युपसंहारमाह–(अह त्ति) एषा अनन्तरोदिता संख्या भवति काले कालविषया ।

एसो पन्नवणिज्जो, कालो संखेज्जओ मुणेयव्वो ।
वोच्छामि असंखेज्जं, कालं उवमाविसेसेणं ॥

एषोऽनन्तरोदितस्वरूपः कालः प्रज्ञापनीय इति । अत्र शङ्कावनीयप्रत्ययभूतोऽयमर्थः–प्रतिनियतप्रमाणतया प्रतिपादयितुमशक्यः संख्येयो ज्ञातव्यः । अत ऊर्द्ध्वमसंख्येयं संख्यातीतकालं वक्ष्यामि । ननु यः संख्यातीतः स कथं प्रतिपादनीय इत्यत आह–उपमाविशेषेण उपमाभेदेन, पल्योपमया इत्यर्थः । ज्यो० २ पाहु० ।

अथ पल्योपमसागरोपमयोरतिप्रचुरकालत्वेन क्षयमसम्भावयन् प्रश्नयन्नाह–

अत्थि णं भंते ! एए किं पलिओवमसागरोवमा णं खएइ

वा, अवचए इ वा ?। हंता अत्थि । भ० ११ श० ११ उ०।

(पल्योपमसागरोपमाणां स्वस्वस्थाने व्याख्या)

कालभेदानाह-

दुविहे काले पसत्ते । तं जहा-ओसप्पिणीकाले चेव, उस्सप्पिणीकाले चेव ।

(दुविहे काले इत्यादि) तत्र कल्यते संख्यायतेऽसावनेन वा, कलनं कलासमूहो वेति कालः, वर्तनापरत्वाऽपरत्वादिलक्षणः स चावसर्पिण्युत्सर्पिणीरूपतया द्विविधो द्विस्थानकानुरोधादुक्तः । अन्यथा अवस्थितलक्षणो महाविदेहभोगभूमिसंभवी तृतीयोऽप्यस्तीति । स्था० २ ठा० । इह कालस्त्रिविधः । तद्यथा-उत्सर्पिणीकालः, अवसर्पिणीकालः, उभयाभावतोऽवस्थितश्च । तत्र भरतैरवतेषु प्रत्येकं विंशतिसागरोपमकोटाकोटिमानस्य कालचक्रस्य द्वौ मूलभेदौ-उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी च । एकैकः षड्विभागः-तत्रावसर्पिण्यां सुषमसुषमाख्यः प्रवाहतश्चतुःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणः प्रथमकालविभागः, द्वितीयः सुषमाख्यः त्रिसागरोपमकोटाकोटीमानः, तृतीयः सुषमदुःषमाख्यः सागरोपमद्वयकोटाकोटीमानः, चतुर्थो दुःषमसुषमाख्यो द्वाचत्वारिंशद्वर्षसहस्रन्यूनसागरोपमकोटाकोटीमानः, पञ्चमो दुःषमाख्य एकविंशतिवर्षसहस्रमानः । षष्ठो दुःषमदुःषमाख्यः, सोऽप्येकविंशतिवर्षसहस्रमानः । अयमेव चोत्क्रमेणोत्सर्पिण्यामपि यथोक्तसंख्यः कालक्रमो वेदितव्यः । अवस्थितश्चतुर्विधः । तद्यथा-सुषमसुषमासुखप्रतिभागः, सुषमासुखप्रतिभागः, सुषमदुःषमासुखप्रतिभागः, दुःषमसुषमासुखप्रतिभागश्च । तत्र प्रथमो देवकुरूत्तरकुरुषु, द्वितीयो हरिवर्षरम्यकयोः, तृतीयो हैमवतहैरण्यवतयोः, चतुर्थो महाविदेषु । आ० म० द्वि० । ज्यो० । आ० चू० ।

कालविशेषान् त्रिधा विभजन्नाह-

तिविहे समए पसत्ते । तं जहा-तीते पडुप्पन्ने अणागए । एवं आवलिया आणा पाणू थोवे लवे मुहुत्ते अहोरत्ते० जाव वाससयसहस्से पुव्वंगे पुव्वे जाव ओसप्पिणी । तिविहे पोग्गलपरियट्टे पसत्ते । तं जहा-तीते, पडुप्पन्ने, अणागए ।

(तिविहे समए इत्यादि) कालसूत्राणि समयादयो द्विस्थानकाद्युद्देशकवद् व्याख्येयाः, नवरम्-(पोग्गलपरियट्टे त्ति) पुद्गलानां रूपिद्रव्याणामाहारकवर्जितानामौदारिकादिप्रकारेण गृहीत एकजीवापेक्षया परिवर्त्तनं सामस्त्येन स्पर्शः पुद्गलपरिवर्त्तः । स च यावता कालेन भवति स कालोऽपि पुद्गलपरिवर्त्तः । स चानन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणीरूप इति । स चेत्थं भगवत्यामुक्तः-"कतिविहे णं भंते ! पोग्गलपरियट्टे पन्नत्ते ?। सत्तविहे पन्नत्ते । तं जहा-ओरालियपोग्गलपरियट्टे वेउव्वियपोग्गलपरियट्टे, एवं तेया कम्मा मणवइआणपाणुपोग्गलपरियट्टे" । तथा-"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ओरालियपोग्गलपरियट्टे २, गोयमा ! जण्णं जीवेणं ओरालियसरीरे वट्टमाणेणं ओरालियसरीरपाओग्गाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए गहियाइं जाव निसट्ठाइं भवंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, ओरालियपुग्गलपरियट्टे"२। एवं शेषा अपि वाच्याः । तथा-"ओरालियपोग्गलपरियट्टे णं भंते ! केवइकालस्स निव्वत्तिज्जइ । गोयमा ! अणंताहिं उस्सप्पिणीओसप्पिणीहिं ति" । एवं शेषा अपीति ।

अन्यत्र त्वेवमुच्यते—

"ओराले वेउव्वे, तेय-कम्म-भासाऽणु-पाण-मणगेहिं ।
फासे वि सव्वपोग्गल-मुक्का अह वायरपरट्टो ॥
दव्वे सुहुमपरट्टो, जाहे एगेण अह सरीरेणं ।
लोगम्मि सव्वपोग्गल-परिमाणे ऊणतो मुक्क त्ति" ॥

द्रव्यपुद्गलपरिवर्त्तनसदृशा येऽन्ये क्षेत्रकालभावपरिवर्त्तास्तेऽन्यतोऽवसेया इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे कतिविहे काले पसत्ते ?। गोयमा ! दुविहे काले पसत्ते । तं जहा--ओसप्पिणीकाले अ, उस्सप्पिणीकाले अ ॥

जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतवर्षे भगवन् ! कतिविधः कालः प्रज्ञप्तः ?। भगवानाह-गौतम ! द्विविधः कालः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-अवसर्पति हीयमानाऽऽरकतयाऽवसर्पयति वा क्रमेणायुःशरीरादिभावान् हापयतीत्यवसर्पिणी, सा चासौ कालश्च, प्रज्ञापकापेक्षया चास्या आदावुपन्यासः । तेष्वेव भरतस्यैव उत्सर्पति वर्द्धतेऽरकापेक्षया वर्द्धयति वा क्रमेणायुरादीन् भावानित्युत्सर्पिणी, सा चासौ कालश्च । चकारद्वयं द्वयोरपि समानारकतासमानपरिमाणतादिज्ञापनार्थम् । जं० २ वक्ष० ।

(११) समयादीनां संख्येयाऽसंख्येयत्वविचारः-

आवलिया णं भंते ! किं संखेज्जा समया, असंखेज्जा समया, अणंता समया ?। गोयमा ! णो संखेज्जा समया, असंखेज्जा समया, णो अणंता समया । आणापाणू णं भंते ! किं संखेज्जा ?। एवं चेव । थोवे णं भंते ! किं ?। एवं चेव । एवं लवे वि मुहुत्ते वि । एवं अहोरत्ते । एवं पक्खे मासे उऊ अयणे संवच्छरे जुगे वाससए वाससहस्से वाससयसहस्से पुव्वंगे पुव्वे तुडियंगे तुडिए अडडंगे अडडे अववंगे अववे हूहुअंगे हूहुए उप्पलंगे उप्पले पउमंगे पउमे णलिणंगे णलिणे अच्छिणिपूरंगे अच्छिणिपूरे अउयंगे अउए णउयंगे णउए पउयंगे पउए चूलियंगे चूलिया सीसपहेलियंगे पलिओवमे सागरोवमे ओसप्पिणी, एवं उस्सप्पिणी वि । पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! किं संखेज्जा समया, असंखेज्जा समया पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जा समया, णो असंखेज्जा समया, अणंता समया । एवं तीयद्धा अणागयद्धा सव्वद्धा । आवलियाओ णं भंते ! किं संखेज्जा समया पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जा समया सिय, असंखेज्जा समया सिय, अणंता समया । आणापाणू णं भंते ! किं संखेज्जा समया पुच्छा ?। गोयमा ! एवं चेव । थोवा णं भंते ! पुच्छा ?। एवं चेव० । एवं जाव उस्सप्पिणी ति । पोग्गलपरियट्टा णं किं संखेज्जा समया० पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जा, णो असंखेज्जा समया, अणंता समया । आणापाणू णं

भंते ! किं संखेज्जा आवलिया पुच्छा ? । गोयमा ! संखेज्जाओ आवलियाओ, णो असंखेज्जाओ आवलियाओ, णो अणंताओ आवलियाओ। एवं थोवा वि । एवं जाव सीसप्पहेलिय त्ति । पलिओवमे णं भंते ! किं संखेज्जा पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, असंखेज्जाओ आवलियाओ, णो अणंताओ आवलियाओ । एवं सागरोवमे वि । एवं ओसप्पिणी वि उस्सप्पिणी वि । पोग्गलपरियट्टे पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, णो असंखेज्जाओ आवलियाओ, अणंताओ आवलियाओ । एवं जाव सव्वद्धा। आणापाणू णं भंते ! किं संखेज्जाओ आवलियाओ पुच्छा ? । गोयमा ! सिय संखेज्जाओ आवलियाओ, सिय असंखेज्जाओ, सिय अणंताओ । एवं जाव सीसप्पहेलियाओ ।

विशेषाधिकारात्कालविशेषसूत्रम् । (आवलिया णमित्यादि) । बहुत्वाधिकारे-(आवलियाओ णमित्यादि) । (नो संखेज्जा समय त्ति) एकस्यामपि तस्यामसंख्याताः समयाः, बहुषु पुनरसङ्ख्याता अनन्ता वा स्युर्न तु सङ्ख्येया इति ।

पलिओवमा णं पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, सिय असंखेज्जाओ आवलियाओ, सिय अणंताओ आवलियाओ । एवं जाव उस्सप्पिणीओ त्ति । पोग्गलपरियट्टाओ पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जाओ आवलियाओ, णो असंखेज्जाओ आवलियाओ, अणंताओ आवलियाओ । थोवे णं भंते ! किं संखेज्जाओ आणापाणूओ असंखेज्जाओ ?। जहा आवलियाए वत्तव्वया एवं आणापाणूओ वि णिरवसेसा । एवं एएणं गमएणं जाव सीसप्पहेलिया जाणियव्वा । सागरोवमे णं भंते ! किं संखेज्जा पलिओवमा पुच्छा ? । गोयमा ! संखेज्जा पलिओवमा, णो असंखेज्जा पलिओवमा, णो अणंता पलिओवमा । एवं ओसप्पिणीओ वि । पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जा पलिओवमा, णो असंखेज्जा पलिओवमा, अणंता पलिओवमा, एवं जाव सव्वद्धा । सागरोवमा णं भंते ! किं संखेज्जा पलिओवमा पुच्छा ?। गोयमा ! सिय संखेज्जा पलिओवमा, सिय असंखेज्जा पलिओवमा, सिय अणंता पलिओवमा । एवं जाव ओसप्पिणीओ वि उस्सप्पिणीओ वि । पोग्गलपरियट्टा णं पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जा पलिओवमा, णो असंखेज्जा पलिओवमा, अणंता पलिओवमा । उस्सप्पिणीओ णं भंते ! किं संखेज्जा सागरोवमा ?। जहा पलिओवमस्स वत्तव्वया तहा सागरोवमस्स वि । पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! किं संखेज्जाओ ओसप्पिणिओ पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ ओसप्पिणीओ, णो असंखेज्जाओ, अणंताओ ओसप्पिणीओ । पोग्गलपरियट्टा णं भंते ! किं संखेज्जाओ उस्सप्पिणीओ पुच्छा ? । गोयमा ! णो संखेज्जाओ, णो असंखेज्जाओ, अणंताओ। पोग्गलपरियट्टा णं भंते! किं संखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ, णो असंखेज्जाओ, अणंताओ ओसप्पिणिउस्सप्पिणीओ । एवं जाव सव्वद्धा। पोग्गलपरियट्टा णं भंते! किं संखेज्जाओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ, णो असंखेज्जाओ,अणंताओ उस्सप्पिणिओसप्पिणीओ । तीतद्धा णं भंते ! किं संखेज्जा पोग्गलपरियट्टा ?। गोयमा ! णो संखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, णो असंखेज्जा, अणंता पोग्गलपरियट्टा । एवं अणागया वि । एवं सव्वद्धा वि । अणागयद्धा णं भंते ! किं संखेज्जाओ अतीतद्धाओ,असंखेज्जाओ, अणंताओ ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ तीयद्धाओ,णो असंखेज्जाओ तीयद्धाओ,णो अणंताओ तीयद्धाओ। अणागयद्धा णं तीतद्धाओ समयाहिया, तीतद्धा णं अणागयद्धाओ समयूणा । सव्वद्धा णं भंते ! किं संखेज्जाओ तीतद्धाओ पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ तीतद्धाओ, णो असंखेज्जाओ तीतद्धाओ, णो अणंताओ तीतद्धाओ। सव्वद्धा णं तीतद्धाओ सातिरेगदुगुणो । तीतद्धा णं सव्वद्धाओ थोवूणए अद्धे । सव्वद्धा णं भंते ! किं संखेज्जाओ अणागयद्धाओ पुच्छा ?। गोयमा ! णो संखेज्जाओ अणागयद्धाओ, णो असंखेज्जाओ, णो अणंताओ अणागयद्धाओ । सव्वद्धा णं अणागयद्धाओ थोवूणगदुगुणो,अणागयद्धा णं सव्वद्धाओ सातिरेगे अद्धे ॥

(अणागयद्धाणं तीयद्धाओ समयाहिय त्ति) अनागतकालोऽतीतकालात्समयाधिकः। कथम् ?, यतोऽतीतानागतौ कालावनादित्वानन्तत्वाभ्यां समानौ,तयोश्च मध्ये भगवतः प्रश्नसमयो वर्तते। स चाविनष्टत्वेनातीते न प्रविशत्यविनष्टत्वसाधर्म्यादनागते क्षिप्तस्ततः समयातिरिक्ताऽनागताद्धा भवति। अत एवानागतकालादतीतकालः समयोनो भवतीति । एतदेवाह-"तीतद्धाणमित्यादि" (सव्वद्धाणं तीतद्धाओ साइरेगदुगुण त्ति) सर्वाद्धाऽतीतानागताद्धाद्वयम्। सा चातीताद्धातः सकाशात्सातिरेकद्विगुणा भवति, सातिरेकत्वं च वर्त्तमानसमयेन । अत एवातीताद्धा सर्वाद्धायाः स्तोकोनमर्द्धमूनत्वं च वर्त्तमानसमयेनैव। एतदेवाह-(तीतद्धाणं सव्वद्धाए थोवूणाए अद्धे त्ति) इह कश्चिदाह-अतीताद्धातोऽनागताद्धाऽनन्तगुणा यतो यदि ते वर्त्तमानसमये समे स्यातां ततस्तदतिक्रमेऽनागताद्धासमयेनोना स्यात् । ततो द्व्यादिभिरेवं च समत्वं नास्ति। ततोऽनन्तगुणाऽऽसावतीताद्धायाः सकाशात्, अत एवानन्तेनापि कालेन गतेन नासौ क्षीयत इति । अत्रोच्यते-इह समत्वमुभयोरप्याद्यन्ताभावमात्रेण वि-

चक्तिमिति चादावेव निवेदितमिति पर्यवा उद्देशकादावुक्ताः, ते च भेदा अपि भवन्तीति । भ० २५ श० ५ उ० ।

(१२) समयादिप्रज्ञानं मनुष्यक्षेत्र एव-

अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं तत्थगयाणं एवं पण्णायए तं समयाइ वा आवलियाइ वा जाव ओसप्पिणीइ वा उस्सप्पिणीइ वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं जाव समयाइ वा आवलियाइ वा ओसप्पिणीइ वा उस्सप्पिणीइ वा ?। गोयमा ! इहं तेसिं माणं इहं तेसिं पमाणं इहं तेसिं एवं पण्णायए तं समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा से तेणं जाव नो एवं पण्णायए समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा एवं जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणिया। अत्थि णं भंते ! मणुस्साणं इहगयाणं एवं पण्णायइ तं समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा ?। हंता ! अत्थि । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! इहं तेसिं माणं इह चेव तेसिं पमाणं इह तेसिं एवं पण्णायइ । तं जहा-समयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा से तेणट्ठेणं वाणमंतरजोइसवेमाणियाणं जहा नेरइयाणं ।

कालद्रव्यचिन्तासूत्रम् । (तत्थ गयाणं ति) नरके स्थितैः षष्ठ्यास्तृतीयार्थत्वात् । (एवं पन्नायइ त्ति) एवं प्रज्ञायते इदं विज्ञायते (समयाइ व त्ति) समया इति वा (इह तेसिं ति) इह मनुष्यक्षेत्रे तेषां समयादीनां मानं परिमाणम्, आदित्यगतिसमभिव्यङ्ग्यत्वात्तस्य आदित्यगतेश्च मनुष्यक्षेत्र एव भावात्परकाष्ठा स्वभावादिति । (इहं तेसिं पमाणं ति) इह मनुष्यक्षेत्रे तेषां समयादीनां प्रमाणं प्रकृष्टं मानं, सूक्ष्ममानमित्यर्थः । तत्र मुहूर्तस्तावन्मानं, तदपेक्षया लवः सूक्ष्मत्वात्प्रमाणम् । तदपेक्षया स्तोकः प्रमाणं, लवस्तु मानमित्येवं नेयं यावत्समय इति । ततश्च (इहं तेसिमित्यादि) इह मर्त्यलोके मनुजैस्तेषां समयादीनां सम्बन्धि, एवं वक्ष्यमाणस्वरूपं समयं त्वाद्येवं ज्ञायते । तद्यथा-(समयाइ वेत्यादि) इह च समयक्षेत्राद्बहिर्वर्तिनां सर्वेषामपि समयाद्यज्ञानमवसेयम्, तत्र समयादिकालस्याभावेन तद्व्यवहाराभावात् । तथा पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चो, भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्काश्च यद्यपि केचिन्मनुष्यक्षेत्रेऽपि सन्ति, तथापि तेऽल्पाः प्रायस्तद्व्यवहारिणश्चेतरे तु बहव इति तदपेक्षया ते न जानन्तीत्युच्यत इति । भ० ५ श० ९ उ० । (मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणोत्तराज्यां कालविभागः 'उदयसंठिइ' शब्दे द्वितीयभागे ७०५ पृष्ठे उक्तः) "कालो वाघाइम, इयरो य नायव्वो "। इह कालो द्विविधो भवति । तद्यथा-व्याघातिम इतरश्च । व्याघातेन निर्वृत्तो व्याघातिमः; भावादिमप्रत्ययः । इतरो निर्व्याघातः । व्य० ७ उ० । " कालग्गहणं " कालस्य प्रस्तावात्प्रादोषिकस्य ग्रहणम् । अयं च कालो व्याघातिकोऽप्युच्यते । (तस्य ग्रहणप्रकारप्रदर्शनं 'सज्झाय' शब्दे करिष्यामि)

निव्वेयरो य कालो, एगंतसिणिद्ध मज्झिम जहन्नो ।
लुक्खे वि होइ तिविहो, जहन्न मज्झमो य उक्कोसो ॥४३॥

इह कालः सामान्यतो द्विविधः । तद्यथा-स्निग्धो रूक्षश्च । तत्र सजलः सशीतश्च स्निग्धः । उष्णो रूक्षः । स्निग्धोऽपि त्रिधा । तद्यथा-एकान्तस्निग्धः मध्यमो जघन्यश्च । तत्र एकान्तस्निग्धोऽतिस्निग्धः । रूक्षोऽपि त्रिधा। तद्यथा-जघन्यो मध्यम उत्कृष्टः । उत्कृष्टो नाम अतिशयेन रूक्षः । पिं० । औ० । " कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः " ॥ १ ॥ आव० ४ अ० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नयरी होत्था ।

तस्मिन् काले तस्मिन् समये यस्मिन्नसौ नगरी बभूवेति । अधिकरणे चेयं सप्तमी । अथ कालसमययोः कः प्रतिविशेषः ?। उच्यते-काल इति सामान्यकालः अवसर्पिण्याश्चतुर्थविभागलक्षणः । समयस्तु तद्विशेषः । अथवा तेन कालेन अवसर्पिणीचतुर्थारकत्वलक्षणेन हेतुभूतेन, समयेन तद्विशेषभूतेन हेतुना, चम्पा नाम नगरी (होत्थ त्ति) अभवदासीदित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । विपा० । रा० । नि० । तेन कालेनेति दुःषमसुषमादिलक्षणे, आचा० । ते इति प्राकृतशैलीवशात् तस्मिन्निति द्रष्टव्यम् । अस्यायमर्थः-यस्मिन् काले भगवान् वर्द्धमानस्वामी स्वयं विहरति तस्मिन्निति । णमिति वाक्यालङ्कारे । दृष्टश्चान्यत्रापि णंशब्दो वाक्यालङ्कारार्थः । यथा- " इमा णं पुढवी " इत्यादाविति । काले अधिकृतावसर्पिणीचतुर्थविभागरूपे, रा० ।

(१३) काले ज्ञानाचारः-

काले विणए बहुमा-णे उवहाणे तहा अनिण्हवणे ।
वंजणअत्थ तदुभए, अट्ठविहो नाणमायारो ॥

तत्र यो यस्याऽङ्गप्रविष्टादेः श्रुतस्य काल उक्तः, तस्य तस्मिन्नेव स्वाध्यायः कार्यः, नान्यदा, प्रत्यवायसम्भवात् । (तीर्थंकरवचनविरोधात्। ध०१ अधि०) दृश्यते च लोकेऽपि कृष्यादेः कालकरणे फलं, विपर्यये तु विपर्यय इति । यत उक्तम्-" कालम्मि कीरमाणो, किइकम्मं बहुफलं जहा भणियं । इय सव्वा वि य किरिया, नियनियकालम्मि कायव्वा" ॥१॥ इति । प्रव० ६ द्वार । दश० । "कालो विव निरणुकंपाओ" । स्त्रियः (कालो त्ति) दुर्भिक्षकालः, एकान्तदुःषमाकालो वा । यद्वा-लोकोक्तौ दुष्टसर्पः, तद्वद् निरनुकम्पाः दयावर्जिताः । तं० । तथाविधाऽवसरे, भ० ११ श० ११ उ० । पञ्चा० । अभावे, कालशब्दोऽभाववाची । बृ० ४ उ० । मरणे, भ० ११ श० ११ उ० । मृत्यौ, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । काल इव कालः । मारणान्तिकसमुद्घाते, भ० १४ श० ७ उ० । क्रूरप्रकृतित्वात् कृतान्तसदृशे कृष्णे, जं० २ वक्ष० । घनमेघसदृशे सान्द्रजलदसमाने कालके, भ० ३ श० १ उ० । कृष्णवर्णे, प्रज्ञा० २ पद । प्रश्न० । सू० प्र० । सप्तमनरकपृथिव्यास्तृतीये नरके, पुं० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आ० क० । स० । षोडशानां पिशाचानां मध्ये पञ्चमे पिशाचे, प्रज्ञा०१ पद । दाक्षिणात्यानां पिशाचानामिन्द्रे, प्रज्ञा० २ पद । जं० । भ० । स्था० । काल्या अयमपत्यं वा कालः । कोणिकभार्यायाः काल्या आत्मजे, नि० ।

(१४) तद्वक्तव्यता-

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे चंपा नामं नयरी होत्था । रिद्धत्थिमियसमिद्धे

चेइए तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो पुत्ते चेल्लणाए देवीए अत्तए कूणिए नाम राया होत्था । महता तस्स णं कूणियस्स रन्नो पउमावई नामं देवी होत्था । सुखमाल० जाव विहरइ, तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कूणियस्स रन्नो चुल्लमाउया काली नामं देवी होत्था । सुखमाल० जाव सुरूवा, तीसे णं कालीए देवीए पुत्ते काले नामं कुमारे होत्था । सुखमाल० जाव सुरूवे तते णं से काले कुमारे अन्नदा कदाइ तिहिं दंतीसहस्सेहिं तिहिं रहस्स सहस्सेहिं तिहिं आससहस्सेहिं तिहिं मणुयकोडीहिं गरुलवूहे एक्कारसमेणं खंडेणं कूणिएणं रन्ना सद्धिं रहमुसलं संगामं उवागए । तते णं से कालीदेवीए अन्नदा कदाइ कुडुंबजागरियं जागरमाणीए अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु ममं पुत्ते कालकुमारे तिहिं दंतीसहस्सेहिं० जाव ओयाए से मन्ने किं जतिस्सति, नो जतिस्सति, जीविस्सइ, नो जीविस्सति, पराजणिस्सइ, णो पराजणिस्सइ । काले णं कुमारं अहं जीवमाणं पासिज्जाओ हयमणो जाव झियाति । तेणं कालेणं तेणं समयेणं समणे भगवं महावीरे समोसरिते परिसा निग्गया । तते णं तीसे कालीए देवीए इमीसे कहाए लद्धट्ठाए समाणीए अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं इहमागते जाव विहरति । तं महाफलं खलु तहारूवाणं जाव विउलस्स अट्ठस्स गहणताए तं गच्छामि णं समणं जाव पज्जुवासामि । इमं च णं एयारूवं वागरणं पुच्छिस्सामि तिकट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वदासि खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! धम्मियं जाणपवरं जुत्तामेव उवट्ठावेह, उवट्ठावित्ता जाव पच्चुप्पिणंति । तेणं से काली देवी एहाया कयबलिकम्मा०जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा बहूहिं खुज्जाहिं० जाव महत्तरगवंदपरिक्खित्ता अंतेउरातो निग्गच्छति, निग्गच्छत्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव धम्मिए जाणपवरे तेणेव उवागच्छइ, धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहति, दुरूहित्ता नियगपरियालं संपरिवुडा चंपानयरिं मज्झं मज्झे णं निग्गच्छति । जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ, धम्मियं जाणप्पवरं दुरूहिंति दुरुहित्ता नियगपरियालसंपरिवुडा चंपानयरी० उत्तादीए धम्मियं जाणप्पवरं ठवेति, धम्मियाओ जाणप्पवराओ पच्चोरुहति । बहूहिं जाव खुज्जाहिं वंदपरिक्खि० जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदति, वंदित्ता ठिया चेव सपरिवारा सुस्सूसमाणी नमंसमाणा अभिमुहा विणएणं पंजलिपुडा पज्जुवासति । तते णं समणे भगवं जाव कालीए देवीए तीसे य महइ महालियाए धम्मकहा जाणियव्वा, जाव समणोवासए वा समणोवासिया वा विहरमाणा आणाए आराहए भवंति । तते णं सा काली देवी समणस्स भगवओ अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म जाव हयहियया समणं भगवं तिक्खुत्तो जाव एवं वयासी–एवं खलु भंते ! मम पुत्ते काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव रहमुसलसंगामे आयाति से णं भंते ! किं जइस्सति जाव कालेणं कुमारं अहं जीवमाणं पासिज्जा कालीति समणे भगवं कालिं देविं एवं वयासी–एवं खलु कालि ! तव पुत्ते काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव कूणिएणं रन्ना सद्धिं रहमुसलं संगामं संगामेमाणे हयमहितए वरवीरघातिविवाडितचिंधद्धयपडागे निरालोयातो दिसातो करेमाणे चेडगस्स रन्नो सपक्खं सपडिदिसिं रहेणं पडिरहं हव्वमागते ।

"एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणमित्यादि" [इहेव त्ति] इहैव देशतः प्रत्यक्षासन्नेन पुनरसंख्येयत्वाज्जम्बूद्वीपानामन्यत्रेति भावः । भारते वर्षे क्षेत्रे चंपा नगरी अभूत् । रिद्धेत्यनेन "रिद्धत्थिमियसमिद्ध" इत्यादि दृश्यम । व्याख्या तु प्राग्वत् । तत्रोत्तरपूर्वदिग्भागे पूर्णभद्रनामकं चैत्यं व्यन्तरायतनम । [कोणिय नाम राय त्ति] कूणिकनामा श्रेणिकनामा राजपुत्रो राजा [होत्थ त्ति] अभवत् तद्वर्णकः (महयाहिमवंतमलयमंदरमहिंदसारे इत्यादि माणे विहरइ) इत्येतदन्तः । तत्र महाहिमवानिव महान् शेषराजापेक्षया । तथा मलयः पर्वतविशेषो, मन्दरो मेरुर्महेन्द्रः शक्रादिदेवो यस्य स तथा । तथा प्रशान्तानि डिम्बानि विघ्नामम्बराणि च राजकुमारादिकृता विभ्रमा यस्मिन् तत्तथा । प्रसाधयन् पालयन् विहरत्यास्ते स । कूणिकदेव्याः पद्मावतीनाम्न्या वर्णको यथा–(सुखमाल जाव विहरति) यावत्करणादेवं दृश्यम–"सुकुमालपाणिपाया अहीणपंचेंदियसरीरा" अहीनान्यूनानि लक्षणतः स्वरूपतो वा पञ्चापीन्द्रियाणि यस्मिंस्तत्तथाविधं शरीरं यस्याः सा तथा । (लक्खणवंजणगुणोववेया) लक्षणानि स्वस्तिकचक्रादीनि व्यञ्जनानि मषीतिलकादीनि तेषां यो गुणः प्रशस्तता, तेन उपपेता युक्ता या सा तथा । उप अप एते शब्दत्रयस्थाने शकन्ध्वादिदर्शनादुपपेति स्यात् । "माणुम्माणप्पमाणपडिपुन्नसुजायसव्वंगसुंदरंगं" तत्र मानं जलद्रोणप्रमाणता, कथम ?, जलस्यातिभृते कुण्डे पुरुषे निवेशिते यज्जलं निःसरति, तद्यदि द्रोणमानं भवति तदा स पुरुषो मानप्राप्त उच्यते । तथा उन्मानमर्द्धभारप्रमाणता, कथम् ?-तुलारोपितः पुरुषो यद्यर्द्धभारं तुलति तदा स उन्मानप्रमाणमुच्यते । प्रमाणं तु स्वाङ्गुलेनाष्टोत्तरशतोच्छ्रायिता । ततश्च मानोन्मानप्रमाणप्रतिपूर्णान्यन्यूनानीति । सुजातानि सर्वाणि अङ्गानि शिरःप्रभृतीनि यस्मिन् तत्तथाविधं सुन्दरमङ्गं यस्याः सा तथा । "ससिसोमाकारकंत पियदंसणा" शशिवत्सौम्याकारं कान्तं च कमनीयमत एव प्रियं द्रष्टृणां दर्शनं रूपं यस्याः सा तथा । अत एव सुरूपा स्वरूपतः सा पद्मावती देवी "कूणिएण सद्धिं ओरालाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरई" भोगभोगान् अतिशयवद्भोगान् [तत्थ णमित्यादि] "सुकुमालपाणिपाया" इत्यादि पूर्ववद्वाच्यम । अन्यच्च "कोमुईरयणियरविमलपडिपुन्नसोमवयणा" कौमुदीरजनिकरवत् कार्तिकी-

चन्द्र इव विमलं प्रतिपूर्णं सौम्यं वदनं यस्याः सा तथा। "कुंडलुल्लिहियगंडलेहा" कुण्डलाभ्यामुल्लिखिता घृष्टा गण्डलेखा कपोलविरचितमृगमदादिरेखा यस्याः सा तथा। "सिंगारागारचारुवेसा" शृङ्गारस्य रसविशेषस्यागारमिवागारम्, तथा चारु वेषो नेपथ्यं यस्याः सा तथा। ततः कर्मधारयः। काली नाम देवी श्रेणिकस्य भार्या, सा कूणिकस्य राज्ञश्चुल्लजननी लघुमाताऽभवत्। सा च काली देवी "सेणियस्स रन्नो इट्ठा वल्लभा" कान्ता काम्यत्वात्, प्रिया सदाप्रेमविषयत्वात्। 'मणुन्ना' सुन्दरत्वात्, नामधेया, प्रशस्तनामधेयवतीत्यर्थः। नामं वा धार्यवद् हृदि धरणीयं यस्याः सा तथा। "वेसासिया" विश्वसनीयत्वात्। "सम्मया" तत्कृतकार्यस्य संमतत्वात्। बहुता बहुशो बहुभ्यो वाऽन्येभ्यः सकाशात् बहुमानपात्रं च 'अणुमया' विप्रियकरणस्यापि पश्चात्मना अनुमता "भंडकरंडकसमाणा" आभरणकरण्डकसमाना उपादेयत्वात् सुसंरक्षितत्वाच्च "तेलकेला इव सुसंगोविया" तिलकेलाः सौराष्ट्रप्रसिद्धो मृन्मयस्तैलस्य भाजनविशेषः। स च भङ्गभयाल्लोठनभयाच्च सुष्ठु संगोप्यते, एवं सापि तथोच्यते। "चेलापेडाइसुसंपरिगहिया" वस्त्रमञ्जूषेवेत्यर्थः। "सा काली देवी सेणिएणं सद्धिं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणी विहरइ"। कालनामा च तत्पुत्रः। "सुकुमालपाणिपाए" इत्यादि प्रागुक्तवर्णकोपेतो वाच्यः, यावत् "पासाइए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे" इति पर्यन्तः। "सेणियस्स रन्नो दुवे रयणा अट्ठारसवंको हारो सेयणगहत्थीए, तत्थ किर सेणियस्स रन्नो जावइयं रज्जस्स मुल्लं, तावइयं देवदिन्नहारस्स सेयणगस्स य गंधहत्थिस्स, तत्थ हारस्स उप्पत्ती पत्थावे कहिज्जिस्सइ, कूणियस्स य एत्थो व उप्पत्ती वित्थरेण भणिस्सइ"। तत्कार्येण कालादीनां मरणसंभवादारभ्य संग्रामतो नरकयोग्यकर्मोपचयविधानात्, नवरं कूणिकस्तदा कालादिदशकुमारान्वितश्चम्पायां राज्यं चकार। सर्वेऽपि च ते दोगुंदुकदेव इव कामभोगपरायणास्त्रयस्त्रिंशाख्या देवाः "फुट्टमाणेहिं मुइंगमत्थएहिं वरतरुणिसंपउत्तेहिं बत्तीसबद्धनाडएहिं नाडएहिं उवगिज्जमाणा भोगभोगाइं भुंजमाणा विहरंति, हल्लवेहल्लनामाणो कूणियस्स चिल्लणादेवीअंगजाया दो भायरा अत्थि। अहुणा हारस्स उप्पत्ती भन्नइ-इत्थ सक्को सेणियस्स भगवंतं पइ निच्चलभत्तिस्स य पसंसं करेइ। तओ से दूयस्स जाव देवो तब्भत्तिरंजिओ सेणियस्स तुट्ठो संतो अट्ठारसवंकं हारं देइ। दोन्नि य वट्टगोलगे देइ। सेणिएणं सो हारो चेल्लणाए दिन्नो पिओ त्ति काउं, वट्टदुगं सुनंदाए अभयसंतिजणणीए ताए रुट्ठाए किं अहं चेडरूवं ति काउं अत्थोडियभग्गा, तत्थ एगम्मि कुंडलं एगम्मि वत्थजुयलं उट्ठाए गहियाणि। अन्नया अभओ सामी पुच्छए-को अपच्छिमो रायरिसि त्ति?। सामी उद्दायणो वागरिओ। अओ परं बद्धमउडा न पव्वयंति। ताहे अभएणं रज्जं दिज्जमाणं न इच्छियंति। पच्छा सेणिओ चिंतेइ-कोणियस्स दिज्जिहि त्ति। हल्लस्स हत्थी दिन्नो सेयणगो, वेहल्लस्स देवदिन्नो हारो, अभएणं वि पव्वयंतेन सुनंदाए खोमजुयलं कुंडलजुयलं च हल्लवेहल्लाणं दिन्नाणि, महया विहवेण उभओ नियजणणीसमेओ पव्वइओ। सेणियस्स चेल्लणा देवी अंगसमुब्भूया तिन्नि पुत्ता-कूणिओ हल्लवेहल्ला य। कूणियस्स उप्पत्ती इत्थेव भणिस्सइ। कालीमहाकालीपमुहदेवीणं अन्नेसिं तणया सेणियस्स बहवे पुत्ता कालप्पमुहा संति। अभयम्मि गहियवए अन्नया कोणिओ कालाईहिं दसहिं कुमारेहिं समं मंतेइ-सेणियस्सत्थं विग्घकारयं बंधित्ता एक्कारसभाए रज्जं करेमो त्ति। तेहिं पडिसुयं। सेणिओ बद्धो। पुव्वन्हे अवरन्हे य कससयं दवावेइ। सेणियस्स कूणिओ पुव्वभववेरियसणेण चेल्लणाए कयाइं भोयणं न देइ, भत्तं वारियं, पाणियं न देइ। ताहे चेल्लणा कहं वि कुम्मासे वालेहिं बंधित्ता सयारं च सुरपवेसेइ, सा किर धोव्वए सयवारे सुरा पाणियं सव्वं होइ। तीए पहावेण से वेयणं न वेएइ। अन्नया तस्स पउमावईदेवीए पुत्तो एवं पिओ अत्थि। माया एसो भणिओ-दुरात्मन्! तव अंगुली किमि एवं संतापियमुहे काऊण अच्छियाउ इयरहा तो मरोवंतो चेव चिट्ठसु ताहे चित्तमणागुव संजायते, तुमए पिया एव वसणपाविओ तस्स आधई जाया। भुंजंतओ चेव उट्ठाय परसुहत्थो गओ। अन्ने भणंति-लोहदंडं गहाय नियलाणि भंजामि त्ति पहाविओ रक्खवालगो तह ण भणइ, एस पावो ण वा ओदईउं परसुं वा गहाय एइ त्ति। सेणियेण चिंतियं-न नज्जइ केण कुमारेण मारेइ, तओ तालपुडगं वि संखइयं जाव एइ ताव मओ, सुट्ठुयरं अधिई जाया। ताहे मयकिच्चं काऊण घरमागओ रज्जधुरामुक्कतत्तीओ तं चेव चिंततो अत्थइ। एवं कालेणं वि सोगोवगओ पुणरवि सयणआसणाईए पेईसंतिए दट्ठूण अधिई होइ। तओ रायगिहाओ निग्गंतुं चंपं रायहाणिं करेइ। एवं चंपाए कूणिओ राया रज्जं करेइ, नियगजाए सुहसयणसंयोगओ"। इह निरयावलीयसुयक्खंधे कूणिकवक्तव्यता आदावुत्क्षिप्ता, तत्साहाय्यकरणप्रवृत्तानां कालादीनां कुमाराणां दशानामपि संग्रामे रथमुशलाख्ये प्रभूतजनक्षयकरणेन नरकयोग्यं कर्मोपार्जितम्। तत्संपादनान्नरकगामितया "निरियाउ त्ति" प्रथमाध्ययनस्य कालादीनां कुमारवक्तव्यता प्रतिबद्धस्य एतं नाम। अथ रथमुशलाख्यं संग्रामस्योत्पत्तौ किं निबन्धनम्?, अत्रोच्यते-एवं किलायं संग्रामः संजातः। चम्पायां कूणिको राजा राज्यं चकार, तस्य चा अनुजौ हल्लवेहल्लाभिधानौ भ्रातरौ पितृदत्तसेचनकाभिधाने गन्धहस्तिनि समारूढौ दिव्यकुण्डलदिव्यहारादिविभूषितौ विलसन्तौ दृष्ट्वा पद्मावत्यभिधाना कूणिकराजस्य भार्या कदाचिद्दन्तिनोपहाराय तं कूणिकराजं प्रति उक्तवती कर्णे विषोपमम्-अयमेव कुमारो राजा तत्त्वतो, न त्वं, यस्येदृशा विलासाः। प्रज्ञाप्यमानाऽपि सा न कथञ्चिदस्यार्थस्योपरमति। ततः प्रेरितकूणिकराजेन तौ याचितौ, तौ च तद्भयाद्वैशाल्यां नगर्यां स्वकीयमातामहस्य चेटकाभिधानस्य राज्ञोऽन्तिकं सहस्तिकौ सान्तःपुरपरिवारौ गतवन्तौ। कूणिकेन च दूतप्रेषणेन याचितौ, न च तेन प्रेषितौ, कूणिकस्य तयोश्च तुल्यमातृकत्वात्। ततः कूणिकेन भणितम्-यदि न प्रेषयसि तदा युद्धसज्जो भव। तेनापि भणितम्-एष सज्जोऽस्मि। ततः कूणिकेन सह कालाद्यो दश भिन्नमातृका भ्रातरो राजनिश्चेटकेन सह संग्रामायाताः। तत्रैकैकस्य त्रीणि त्रीणि हस्तिनां सहस्राणि। एवं रथानामश्वानां च मनुष्याणां च प्रत्येकं तिस्रस्तिस्रः कोटयः, कूणिकस्याप्येवमेव। तत्र एकादशभागीकृतराजस्य कूणिकस्य कालादिभिः सह निजेन एकादशांशेन संग्रामे काल उपगतः। एतमर्थं वक्तुमाह-"तए णं से काले" इत्यादिना। एवं च व्यतिकरं ज्ञात्वा चेटकेनाप्यष्टादश गणराजानो मीलिताः, तेषां चेटकस्य च प्रत्येकमेवमेव हस्त्यादिबलपरिमाणम्। ततो युद्धं संप्रलग्नं चेटकस्य, राज्ञस्तु प्रतिपन्नव्रतत्वेन दिनमध्ये एकमेव शरं मुञ्चति, अमोघबाणश्च सः। तत्र च कूणिकसैन्ये गरुडव्यूहः, चेटकसैन्ये सागरव्यूहो विरचि-

तत्र । कूणिकस्य कालो दण्डनायको निजबलान्वितो युध्यमानस्तावद्गतो यावच्चेटकः । ततस्तेनैकशरनिपातेनासौ निपातितः । भग्नं च कूणिकबलम्, गतं बह्वपि बलं निजमावासस्थानम् । द्वितीयेऽह्नि सुकालो नाम दण्डनायको निजबलान्वितो युध्यमानस्तावद्गतो यावच्चेटकः। एवं सोऽप्येकशरेण निपातितः २। एवं तृतीयेऽह्नि महाकालः,सोऽप्येवम् ३। चतुर्थेऽह्नि कृष्णकुमारस्तथैव ४,पञ्चमे सुकृष्णः ५,षष्ठे महाकृष्णः ६, सप्तमे वीरकृष्णः ७, अष्टमे रामकृष्णः ८, नवमे पितृसेनकृष्णः ९, दशमे पितृसेनमहाकृष्णः १० चेटकेन एकैकशरेण निपातिताः। एवं दशसु दिवसेषु चेटकेन विनाशिता दशापि कालादयः। एकादशेऽपि दिवसे चेटकजयार्थं देवताऽऽराधनाय कूणिकोऽष्टमभक्तं प्रजग्राह। ततः शक्रचमरावागतौ। ततः शक्रो बभाषे-चेटकः श्रावक इत्यहं न तं प्रहरामि, नवरं भवन्तं संरक्षामि। ततोऽसौ तद्रक्षार्थं वज्रप्रतिरूपकमभेद्यं कवचं कृतवान्। चमरस्तु द्वौ संग्रामौ विकुर्वितवान्-महाशिलाकण्टकं, रथमुशलं चेति। तत्र महाशिलेव कण्टको जीवितभेदकत्वात् महाशिलाकण्टकः। ततश्च यत्र तृणशूकादिनाऽप्यभिहतस्याश्वहस्त्यादेर्महाशिलाकण्टकेनेवास्याहतस्य वेदना जायते स संग्रामो महाशिलाकण्टक एवोच्यते। (रथमुसले त्ति)यत्र रथो मुशलेन युक्तः परिधावन् महाजनक्षयं कृतवान् अतो रथमुशलः। उपाए त्ति) उपयातः संप्राप्तः । (किं जइस्सति) जयश्रियं प्राप्स्यति। पराजेष्यति अभिभविष्यति,परं सैन्यं पराभिभविष्यति। तेन कालनामानं पुत्रं जीवन्तं द्रक्ष्याम्यहं न वेत्येवमुपहतो मनःसंकल्पो युक्तायुक्तविवेचनं यस्याः सा उपहतमनःसंकल्पा। यावत्करणात्-"करयलपल्हत्थियमुहं अट्टज्झाणोवगयाओ भंथियवयणनयणकमलाओ " भंथियं अधोमुखीकृतं वदनं च नयनं कमलेव यथा सा तथा। "दीणविवन्नवयणा" दीनस्येव विवर्णं वदनं यस्याः सा तथा [झियायति] आर्तध्यानं ध्यायति " मणोमाणसिएण दुक्खेण अभिभूया "मनसि जातं मानसिकम्, मनस्येव यद्वर्तते तन् मानसिकं, दुःखवचनेनाप्रकाशितत्वात् तन्मनोमानसिकं, तेन [अब्भहि] बत्तेनाभिभूता। " तेणं कालेणमित्यादि "[अयमेयारूवे त्ति] अथमेतद्रूपो वक्ष्यमाणरूपः। [अब्भत्थए त्ति] आध्यात्मिक आत्मविषयः चिन्तितस्मरणरूपं प्रार्थितं लब्धमाशंसितं मनोगतं मनस्येव वर्तते यद् न बहिः प्रकाशितं संकल्पविकल्पसमुत्पन्नं प्रादुर्भूतम्। तदेवाह- एवमित्यादि)। यावत्करणात्-"पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागए इह संपन्ने इह समोसढे इहेव चंपाए नयरीए पुन्नभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उग्गिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तं महफलं खलु भो देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं नामगोयस्स वि सवणयाए किमंग ! पुण अभिगमणवंदणणमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणाए एगस्स वि आयरियस्स धम्मियस्स सुवयणस्स सवणयाए किमंग ! पुण विउलस्स अट्ठगहणयाए इच्छामि णं अहं समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि। एवं मे पेच्चभवे हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ,इमं च णं एयारूवं वागरणं पुच्छिस्सामि त्ति कट्टु एवं संपेहेसि।" संप्रेक्षते पर्यालोचयति सुगमं, नवरम् (इहागए त्ति) चम्पां (इह संपन्ने त्ति) पूर्णभद्रे चैत्ये इह (समोसढे त्ति) साधूचितावग्रहे। एतदेवाह-"इहेव चंपाए इत्यादि" (अहापडिरूवं त्ति) यथाप्रतिरूपमुचितमित्यर्थः। (तमिति)

तस्मात्(महाफलं ति)महत्फलमाभ्यां भवतीति गम्यम्। (तहारूवाणं ति) तत्प्रकारस्वभावानां, महाफलजननस्वभावानामित्यर्थः। (नामगोयस्स त्ति) नाम्नो यादृच्छिकस्याभिधानस्य गोत्रस्य गुणनिष्पन्नस्य (सवणयाए त्ति)श्रवणेन (किमंग! पुण इति) किं पुनरिति पूर्वोक्तार्थविशेषद्योतनार्थम्। अङ्गेत्यामन्त्रणे। यद्वा-परिपूर्ण एवायं शब्दो विशेषणार्थः । अभिगमनं वन्दनं स्तुतिः नमनं प्रणमनं प्रतिप्रच्छनं शरीरादिवार्ताप्रश्नः, पर्युपासनं सेवा, तद्भावस्तत्ता, तया एकस्याप्यर्थस्यार्थप्रणेतृकत्वाद् धार्मिकस्य धर्मप्रतिबद्धत्वाद् वन्दामि वन्दे स्तौमि नमस्यामि, सत्कारयामि आदरं करोमि। वस्त्राद्यर्चनं वा संमानयामि उचितप्रतिपत्त्येति, कल्याणं कल्याणहेतुं मङ्गलं दुरितोपशमनहेतुं दैवं चैत्यं पर्युपासयामि सेवे । एतत् नोऽस्माकं प्रेत्य भवे जन्मान्तरे हिताय पथ्यान्नवत् सुखाय शर्मणे क्षेमाय संगतित्वाय निःश्रेयसाय मोक्षाय अनुगामिकत्वाय भवपरम्परासु सानुबन्धसुखाय भविष्यतीति कृत्वा इति हेतोः संप्रेक्ष्यते पर्यालोचयति। संप्रेक्ष्य च एवमवादीत्-क्षिप्रमेव भो देवाणुप्पिया! धर्माय नियुक्तं धार्मिकं यानप्रवरम् (चाउग्घंटं आसरहं ति) चतस्रो घण्टाः पृष्ठतोऽग्रतः पार्श्वतश्चालम्बमाना यस्य स चतुर्घण्टः, अश्वयुक्तो रथोऽश्वरथं युक्तमेवाऽश्वादिभिरुपस्थापयन्ति प्रगुणीकृत्य मम समर्पयत (एहायन्ति)कृतमज्जना,स्नानानन्तरम् (कयबलिकम्म त्ति)स्वगृहे देवतानां कृतबलिकर्मा, (कयकोउयमंगलपायच्छित्त त्ति) कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानीव दुःस्वप्नादिव्यपोहायावश्यं कर्मकर्तव्यत्वात् प्रायश्चित्तानि यया सा तथा । तत्र कौतुकानि मषीतिलकादीनि, मङ्गलानि सिद्धार्थदध्यक्षतदूर्वाङ्कुरादीनि। "सुद्धप्पावेसाइं वत्थाइं परिहिया अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरा" सुगमम्। (उवट्ठाणसाला) उपवेशनमण्डपः। (दुरूहइ) आरोहति (बहूहिं खुज्जाहिं) तत्र कुब्जिकाभिर्वक्रजङ्घाभिः, चिलातीभिरनार्यदेशोत्पन्नाभिः, वामनाभिः ह्रस्वशरीराभिः, वडभाभिः मडहकोष्ठाभिः, बब्बरीभिः बब्बरदेशे संभवाभिः,बहुसिकाभिः योनिकाभिः,पल्हविकाभिः,ईसिनिकाभिः,थारुकिनिकाभिः लासिकाभिः लकुसिकाभिः द्रविडीभिः सिंहलीभिः आरबीभिः पक्कणीभिः बाहुलीभिः मुरुण्डीभिः सबरीभिः पारसीभिः नानादेशीभिः,बहुविधानार्यदेशोत्पन्नाभिरित्यर्थः। विदेशः, तदीयदेशापेक्षया चम्पा नगरी विदेशः। तस्याः परिमण्डिकाभिः,"इंगियं चिंतियं पत्थियं वियाणियाहिं"तत्र इङ्गितेन नयनादिचेष्टाविशेषेण, चिन्तितं च परेण दूतिस्थापितप्रार्थितं चाभिलषितं च विजानन्ति यास्तास्तथाभिः, स्वस्वदेशे यन्नेपथ्यं परिधानादिरचना तद्गृहीतो वेषो याभिस्तास्तथा, ताभिः। निपुणानां मध्ये कुशला यास्तास्तथा, ताभिः, अत एव विनीताभिर्युक्तेति गम्यते। तथा चेटिकाचक्रवालेन, अर्थात् स्वदेशसंभवेन वृन्देन परिक्षिप्ता या सा तथा। यत्रैव श्रमणो भगवान् तत्रैवोपागता संप्राप्ता, तदनु महावीरं त्रिःकृत्वा वन्दते स्तुत्या नमस्यति प्रणामतः स्थिता ऊर्ध्वस्थानेन कृताञ्जलिपुटा अभिमुखा सती पर्युपास्ते, धर्मकथाश्रवणानन्तरं त्रिःकृत्वा वन्दयित्वा एवमवादीत्-"एवं खलु भंते!" इत्यादि सुगमम्। अत्र कालीदेव्याः पुत्रः कालनामा कुमारो हस्तितुरगरथपदातिरूपनिजसैन्यपरिवृतः कूणिकराजनियुक्तो चेटकराजेन सह रथमुसलं संग्रामयन् सुजटैश्चेटकसत्कैर्यदस्य कृतं तदाह-(हयमहियपवरवीरघाइयविवडियचिंधद्धयपडागे) सैन्यस्य हतत्वात् महतो मानस्य मन्थनात् प्रवरवीराः सुभटाः, घातिता

विनाशिता यस्य स तथा । निपातिताध्विहृध्वजा गरुडादिचि-ह्नयुक्ताः केतवः पताकाश्च यस्य स तथा । ततः पदचतुष्टयस्य कर्मधारयः । अतएव [निरालोयाओ दिसाओ कारेमाणे त्ति] निर्गतलोका दिशः कुर्वन्, चेटकराजस्य (सपक्खं सपडिदि-सिं ति) सपक्षं समानपार्श्वंसमावितरपार्श्वतया, सप्रतिदिक्-तयाऽत्यर्थमभिमुखतयेत्यर्थः । अभिमुखागमनो हि परस्परसाम-र्थ्योविव दक्षिणेवामपार्श्वेति । तत एवं विदिशावपीति ।

तते णं से चेमए राया कालं कुमारं एज्जमाणं पासति, कालं एज्जमाणं पासित्ता आसुरुत्ते जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु, धणुं परामुसति, तओ उसुं परामुसइ, परामुसइत्ता विसाहं ठाणं ठाति, ठातित्ता आययकणायंतं उसुं करेति, करेत्ता कालं कुमारं एगा-हच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोवेति । तं कालगतेणं काली काले कुमारे नो चेव णं तुमं कालकुमारं जीवमाणं पासिहति । तते णं सा काली देवी समणस्स भ-गवओ अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म महया पुत्तसोए-णं अप्फुणा समाणी परसुनियत्ताविव चंपगलता घस-त्ति धरणीतलंसि सव्वंगेहिं सन्निवडिया । तते णं सा काली देवी मुहुत्तंतरेणं आसत्था समाणी उट्ठाए उट्ठेत्ति, उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ० एवं वयासी-एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! असं-दिद्धमेयं भंते ! सच्चे णं एसमट्ठे से जहे तं तुब्भे वदह त्ति कट्टु समणं भगवं वंदइ नमंसइ, वंदइत्ता नमंसइत्ता तमेव धम्मि-यं जाणप्पवरं दुरुहति जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगता भंते ! त्ति भगवं गोयमे वंदति नमंसति, वंदइत्ता नमंसइत्ता एवं वयासी-काले णं भंते ! कुमारे तिहिं दंति-सहस्सेहिं जाव रहमुसलं संगामं संगामेमाणे चेडएणं र-न्ना एगाहच्चं कूडाहच्चं जीवियाओ ववरोविते समाणे कालमासे कालं किच्चा कहिं गइहिं गते कहिं उववन्ने ?, गोयमेति समणे भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा ! काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव जीवियाओ ववरोविते समाणे कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेमाभे नरगे दससागरोवमट्ठिइएसु नेरइएसु नेरइयत्ताए उववन्ने । काले णं भंते ! कुमारे केरिसएहिं आरंभसमारंभेहिं केरिसएहिं भोगेहिं सं-भोइएहिं केरिसएहिं संभोइएहिं भोगसंभोगेहिं केरिसेणं वा असुभकडकम्मपब्भारेणं कालमासे कालं किच्चा चउ-त्थीए पुढवीए० जाव नेरइयत्ताए उववन्ने । एवं खलु गोय-मा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था रिद्धत्थिमियसमिद्धा । तत्थ णं रायगिहे नयरे सेणिए नामं राया होत्था । महता तस्स णं सेणियस्स रन्नो नंदा नामं देवी होत्था । सुकुमाला० जाव विहरति । तस्स णं सेणियस्स रन्नो नंदाए देवीए अत्तए अत्तए नामं कुमारे होत्था,सुकुमाल० जाव सुरूवे सामे दंडे जहा-चित्ते जाव रज्जधुरा चिंतए यावि होत्था ।

इत्येवं स कालश्चेटकराजस्य रथेन प्रतिरथं (हव्वं) शीघ्रमा-सन्नं संमुखीनमागच्छन्तं दृष्ट्वा चेटकराजस्तं पश्यति, दृष्ट्वा च (आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसीमाणे त्ति) तथा आशु शीघ्रं रुष्टः क्रोधेन विमोहितो यः स आशुरुष्टः । आसुरे वा आसुरसत्कक्रोपेन दारुणत्वात् उक्तं भणितं यस्य स आ-सुरुक्तः रुष्टो रोषवान् (कुविए त्ति) मनसा कोपवान्, चा-ण्डिक्यितो दारुणीभूतः, ततः (मिसिमिसीमाणे त्ति) को-धज्वालया ज्वलन् (तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टु त्ति) त्रिवलिकां भृकुटिं लोचनविकारविशेषं ललाटे संहृत्य विधाय धनुः परामृशति विशाखं स्थानं तिष्ठति [आययकण्णायतं त्ति] बाणमाकृष्य [एगाहच्चं ति] एकयैवाहत्या हननप्रहारो यत्र स जीवितव्यपरोपणे तदेकाहत्यम्, तद्यथा प्रभवस्येवम् । कथमित्याह-" कूडाहच्चं " कूटस्येव पाषाणमयमहामारण-यन्त्रस्येव आहननं यत्र तत् कूटाहत्यम् । भगवतीकेयं व्याख्या । नि० ॥ (कूणिकजन्मकथा 'कूणिय' शब्दे वक्ष्यते)

तत्थ णं चम्पाए नयरीए सेणियस्स रन्नो पुत्तो चेल्लणा-ए देवीए अत्तए कूणियस्स रन्नो सहोयरे कणीयसे भा-या वेहल्ले नामं कुमारे होत्था, सुकुमाल० जाव सुरूवे । तते णं तस्स वेहल्लस्स कुमारस्स सेणिएणं रन्ना जीवन्तएणं चेव सेयणए गंधहत्थी अट्ठारसवंके हारे पुव्वं दिन्ने । तए णं से वेहल्लकुमारे सेयणएणं गंधहत्थिणा अंतेउरपरियाल-संपरिवुडे चंपं नगरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छित्ता अभि-क्खणं गंगं महानइं मज्जणयं ओयरति । तए णं से से-यणए गंधहत्थी देवीओ सोंडाए गिन्हति, गिन्हित्ता अप्पे-गइयाओ खंधे ठवेति, एवं अप्पे कुंभे ठवेति, अप्पे सीसे ठवेति, अप्पे दंतमुसले ठवेति,अप्पेगइयाओ सोंडाए गहाय उड्ढं वेहासं उव्विहइ । अप्पे सोंडगयाओ अंदोलावेति, अप्पेगइया दंतंतरेसु नीणेति । अप्पे सा करेणं ण्हाणे-ति । अप्पेगइयाओ अणेगेहिं कीलावणेहिं कीलावेति । तते णं चंपाए नयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरमहापहपहे-सु बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ जाव परूवेति-एवं खलु देवाणुप्पिया ! वेहल्ले कुमारे सेयणएणं गंधहत्थिणा अंतेउरं तं चेव जाव णेगेहिं कीलावणएहिं कीलावेति । त-ए णं वेहल्ले कुमारे रज्जसिरिफलं पच्चणुभवमाणे विहरति, नो कूणिए राया, तते णं तीसे पउमावइए देवीए इमीसे कहाए लद्धट्ठाए समाणीते अयमेयारूवे० जाव समुप्पज्जि-त्था, एवं खलु वेहल्ले कुमारे सेयणएणं गंधहत्थिणा० जाव अणेगेहिं कीलावणएहिं कीलावेति । तए णं से

वेहल्ले कुमारे रज्जसिरिफलं पच्चणुब्भवमाणे विहरति, नो कूणिए राया, तं किण्णं अम्हं रज्जेण वा जाव जणवएणं वा जइ णं अम्हं सेयणगे गंधहत्थी नत्थि तं सेयं खलु ममं कूणियं रायं एयमट्ठं विन्नवए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्ता जेणेव कूणियराया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करयल० जाव एवं वयासी-एवं खलु सामी ! वेहल्ले कुमारे सेयणगंधहत्थिणा० जाव अणेगेहिं कीलावणेहिं कीलावेति, तं केणं सामी ! अम्महं रज्जेणं वा जाणज्ज जणवएणं वा, जति णं अम्हं सेयणए गंधहत्थी नत्थि, तए णं से कूणिए राया पउमावईदेवीए एयमट्ठं नो आढाति, नो परिजाणति, तुसिणीए संचिट्ठति । तते णं सा पउमावई देवी अभिक्खणं कूणियं रायं एयमट्ठं विन्नवेइ । तते णं से कूणियराया पउमावईदेवीए अभिक्खणं अभिक्खणं एयमट्ठं विन्नविज्जमाणे अन्नदा कयाइ वेहल्लं कुमारं सद्दावेति, सद्दावेत्ता सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं जायति । तते णं से वेहल्ले कुमारे कूणियं रायं एवं वयासी-एवं खलु सामी ! सेणिएणं रन्ना जीवंतेणं चेव सेयणे गंधहत्थी अट्ठारसवंके य हारे दिन्ने, तं जइ णं सामी ! तुब्भे ममं रज्जस्स य अद्धं दलह तो णं अहं तुब्भे सेयणयं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं दलयामि । तते णं से कूणिए राया वेहल्लस्स कुमारस्स एयमट्ठं नो आढाति, नो परिजाणइ, अभिक्खणं अभिक्खणं सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं जायति । तते णं तस्स वेहल्लस्स कुमारस्स एयमट्ठं नो आढाति, नो परियाणति, अभिक्खणं अभिक्खणं सेयण० तते णं० वेहल्ले कुमारे कूणिएणं रन्ना अभिक्खणं अभिक्खणं सेयण० हारं एवं अभिक्खविउकामेणं गिण्हिउकामेणं उद्दालेउकामेणं ममं कूणिए राया सेयणिगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं तं जाव ताव ममं कूणिएणं रन्ना सेयणगं अभिक्खणं अभिक्खणं हारं गहाय अंतेउरपरिवुमस्स सभंडमत्तोवकरणमाताए चंपातो नयरीतो पडिनिक्खमित्ता वेसालीए नयरीए अज्जगं चेडयं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए एवं संपेहेति, संपेहेत्ता कूणियस्स रन्नो अंतराणि जाव पडिजागरमाणे पडिजागरमाणे विहरति । तते णं से वेहल्ले कुमारे अन्नदा कदाई कूणियस्स रन्नो अंतरं जाणति सेयणिगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं गहाय अंतेउरपरियालपरिवुमे सभंडमत्तोवकरणमायाए चंपाओ नयरीतो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमत्ता जेणेव वेसाला नयरी तेणेव उवागच्छति, वेसालीए नयरीए अज्जगं चेडयं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तते णं से कूणिए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एवं खलु वेहल्ले कुमारे ममं असंविदितेणं सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं गहाय अंतेउरपरियालसंपरिवुडे जाव अज्जयं चेडयं रायं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तं सेयं खलु ममं सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं हारं दूतं पेसित्तए एवं संपेहेति, दूतं सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुम्हं देवाणुप्पिया ! वेसालिं नगरिं, तत्थ णं तुमं ममं अज्जगं चेडगं रायं करतलबद्धावेत्ता एवं वयासी-एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेति-एस ण वेहल्ले कुमारे कूणियस्स रन्नो असंविदितेणं सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं गहाय इहं हव्वमागए, तेणं तुब्भे सामी ! कूणियं रायं अणुगिण्हमाणा सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं हारस्स कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणह, वेहल्लं कुमारं पेसह । तते णं से दूए कूणिए करतल० जाव पडिसुणित्ता जेणेव स ते गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता तहेव चित्तो० जाव वद्धावित्ता एवं वयासी-एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेइ । एस णं वेहल्ले कुमारे तहेव भाणियव्वं जाव वेहल्लं कुमारं संपेसह । तए णं से चेडए राया तं दूयं एवं वयासी जह चेव णं देवाणुप्पिया ! कूणिए राया सेणियस्स रन्नो पुत्ते चिल्लणाए देवीए अत्तए ममं न तुए तहेव णं वेहल्ले वि कुमारे सेणियस्स रन्नो पुत्ते चिल्लणाए देवीए अत्तए ममं न तुए सेणियेणं रन्ना जीवं तते णं चेव वेहल्लकुमारस्स सेणगे गंधहत्थी अट्ठारसवंके हारे पुव्वदिन्ने तं जइ णं कूणिए राया वेहल्लस्स रज्जस्स य जणवयस्स अद्धं दलयाति । तो णं अहं सेयणगं अट्ठारसवंकं हारं कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणामि, वेहल्लं च कुमारं पेसेमि, तं दूयं सम्माणेति, पडिविसज्जेति । तते णं से दूते चेडएणं रन्ना पडिविसज्जिए समाणे जेणेव चाउग्घंटे आसरहे तेणेव उवागच्छइ, चाउग्घंटं आसरहं दुरुहंति वेसालिनगरिमज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निगच्छइत्ता सुभेहिं वसहीहिं पायरासीहिं जाव वद्धावित्ता एवं वयासी-गच्छ णं तुम्हं देवाणुप्पिया ! चंपं नगरिं चेडए राया आणवेति । जह चेव णं कूणिए राया सेणियस्स रन्नो पुत्ते चेल्लणाए देवीए अत्तए मम न तुए तं चेव भाणियव्वं, जाव वेहल्लं च कुमारं पेसेमि, तं न देति, णं सामी ! चेडए राया सेयणगं अट्ठारसवंकं हारं वेहल्लं नो पेसेति । तते णं से कूणिए राया दुच्चं पि दूयं सद्दावेत्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! वेसालिं नगरिं, तत्थ णं तुमं मम अज्जगं चेडं जाव एवं वयासी-एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेइ जाणि काणि रयणाणि समुप्पज्जंति सव्वाणि ताणि रायकुलगामीणि । सेणियस्स रन्नो रज्जसिरिकारेमाणस्स पालेमाणस्स दुवे रयणा समुप्पन्ना । तं जहा-सेयणए गंधहत्थी, अट्ठारसवंके हारे । तन्नं तुब्भे

सामी ! रायकुलपरंपरागयं ठिईयं आलोएमाणे सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणह, वेहल्लं कुमारं पेसेह। तते णं से दूते कूणियस्स रन्नो तहेव० जाव वद्धावित्ता एवं वयासी—एवं खलु सामी ! कूणिए राया विन्नवेइ—जाणिति जाव वेहल्लं कुमारं पेसेह। तते णं से चेडए राया तं दूयं एवं वयासी—जह चेव णं देवाणुप्पिया ! कूणिए राया सेणियस्स रन्नो पुत्ते चिल्लणाए देवीए अत्तए जहा पढमं० जाव वेहल्लं च कुमारं पेसेह त्ति दूतं सक्कारेति सम्माणेति पमिविसज्जेति। तते णं से दूए जाव कोणियस्स रन्नो वद्धावित्ता एवं वयासी—चेमए राया आणवेति जह चेव णं देवाणुप्पिया ! कोणिए राया सेणियस्स रन्नो चेल्लणाए देवीए अत्तए० जाव वेहल्लं कुमारं पेसेमि तं न देति णं सामी ! चेडए राया सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं च हारं वेहल्लं कुमारं नो पेसेति। तते णं से कूणिए राया तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए जाव मिसिमिसेमाणे तच्चं दूतं सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी—गच्छह णं तुमं देवाणुप्पिया ! वेसालीए नयरीए चेमगस्स रन्नो वामेणं पादेणं पायपीढं अक्कमाहि, अक्कमित्ता कुंतग्गेणं लेहं पणावेहि, पणावेहित्ता आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तिवली भिउमी निमाले साहट्टु चेमगं रायं एवं वयासी—हं भो चेमगराया ! अपत्थियपत्थिया दुरंत० जाव परिवज्जिया एस णं कूणिए राया आणवेइ—पच्चप्पिणाहि णं कूणियस्स रन्नो सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं हल्लवेहल्लं कुमारं पेसेहि, अहवा जुद्धं सज्जेह चिट्ठाहि, एस णं कूणिए राया सबलसन्नाहणे जुद्धसज्जे इह हव्वमागच्छति। तते णं से दूते करतल० तहेव जाव जेणेव चेमए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता करतल० जाव वद्धावेत्ता एवं वयासी—एस णं सामी ! ममं विणयपडिवत्ती इयाणिं कूणियस्स रन्नो आणुत्ती चेडगस्स रन्नो वामेणं पाएणं पादपीढं अक्कमति, अक्कमित्ता आसुरुत्ते कुंतग्गेणं लेहं पणावे, तं चेव सबलखंधावारेणं इह हव्वमागच्छति। तते णं से चेमए राया तस्स दूयस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते० जाव साहट्टु एवं वयासी—ता अप्पमेणं कूणियस्स रन्नो सेयणगं अट्ठारसवंकं हारं वेहल्लं च कुमारं नो पेसेमि, एस णं जुद्धसज्जे चिट्ठामि, तं दूयं असक्कारितं असंमाणितं अवद्दारेणं निच्छुहावेइ। तते णं से कूणिए तस्स दूतस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते कालादीए दसकुमारे सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! वेहल्ले कुमारे ममं असंविदितेणं सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं अंतेउरं सभंमं च गहाय चंपातो निक्खमति, वेसालिं अज्जगं० जाव उवसंपज्जित्ता णं विहरति। तते णं मए सेयणगस्स गंधहत्थिस्स अट्ठारसवंकं अट्ठाए दूया पेसिया, ते य चेमए रन्ना इमेणं कारणेणं पडिसेहिता अदुत्तरं च णं ममं तच्चे दूते असक्कारिते असंमाणिते अवद्दारेणं निच्छुहावेति, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं चेडगस्स रन्नो जुज्झं गिन्हित्तए, कालाइया दस कुमारा कूणियस्स रन्नो एयमट्ठं विणएणं पमिसुणेति। तते णं से कूणिए राया कालादीए दस कुमारे एवं वयासी- गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु रज्जेसु पत्तेयं पत्तेयं एहाया जाव पायच्छित्ता हत्थिखंधवरगया पत्तेयं पत्तेयं तिहिं दंतिसहस्सेहिं एवं तिहिं रहसहस्सेहिं तिहिं आससहस्सेहिं तिहिं मणुस्सकोमीहिं सद्धिं संपरिवुडा सव्विड्ढीए जाव रवेणं सएहिं सएहिंतो नगरेहिंतो पमिनिक्खमंति, पमिनिक्खमंतित्ता ममं अंतियं पाउब्भवह। तते णं ते कालाइया दस कुमारा कोणियस्स रन्नो एयमट्ठं सोच्चा सएसु सएसु रज्जेसु पत्तेयं एहाया जाव तिहिं मणुस्सकोमीहिं सद्धिं संपरिवुडा सव्विड्ढीए जाव रवेणं सएहिं सएहिंतो नगरेहिंतो पमिनिक्खमंति जेणेव अंगजणवए जेणेव चंपा नगरी जेणेव कूणिए राया तेणेव उवगता करतल० जाव वद्धावेंति। तते णं से कूणिए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पमिकप्पह, से णं हयगयचाउरंगिणिसेणं सन्नावेह, ममं एयमाणत्तियं पच्चप्पिणह० जाव परिप्पणंति। तते णं से कूणिए राया जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, जाव पमिनिग्गच्छित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जाव नरवई दुरूढे, तते णं कूणिए राया तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव रवेणं चंपं नगरिं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, निग्गच्छित्ता जेणेव कालादीया दस कुमारा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता कालाइएहिं दसकुमारेहिं सद्धिं एगंततो मेलायंति। तते णं से कूणिए राया तेत्तीसाए दंतिसहस्सेहिं तेत्तीसाए आससहस्सेहिं तेत्तीसाए मणुस्सकोडीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए० जाव रवेणं सुजेहिं वसहीहिं पातरासेहिं नातिविगिट्ठेहिं अंतरावासेहिं वसमाणे वसमाणे अंगजणवयस्स मज्झं मज्झेणं जेणेव विदेहे जणवए जेणेव वेसाली नगरी तेणेव पहारेत्थगमणा ते तते णं से चेडए राया इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे नवमल्लिई नवलेच्छई कासीकोसलका अट्ठारस वि गणरायाणो सद्दावेति, सद्दावेत्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! वेहल्ले कुमारे कूणियस्स रन्नो असंविदितेणं सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं गहाय इहं हव्वमागते, तते णं कूणिएणं सेयणगस्स अट्ठारसवंकस्स अट्ठाए तओ दूया पेसिया, ते य गए इमेणं कारणेणं पमिसेहिया, तते णं से कूणिए मम एयमट्ठं अपमिसुणमाणे चाउरंगिणीए सेणाए सद्धिं संपरिवुडे जुज्झसज्जे इह हव्वमागच्छति,

१२२

तं किन्नं देवाणुप्पिया ! सेयणगं गंधहत्थिं अट्ठारसवंकं कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणामो वेहल्लं कुमारं पेसेमो उदाहु जुज्झित्था, तते णं नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो चेडगं रायं एवं वयासी–न एयं सामी ! जुत्तं वा पत्तं वा रायसरिसं वा जं तं सेयणगं अट्ठारसवंकं कूणियस्स रन्नो पच्चप्पिणिज्जति, वेहल्ले य कुमारे सरणागते पेसिज्जति, तं जइ णं कूणिए राया चाउरंगिणीसेणाए सद्धिं संपरिवुडे जुज्झसज्जे इहं हव्वमागच्छति तते णं अम्हे कूणएणं रन्ना सद्धिं जुज्झामो, तते णं से चेडए राया ते नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो एवं वयासी–जइ णं देवाणुप्पिया! तुब्भे कूणिएणं रन्ना सद्धिं जुज्झह तं गच्छह णं देवाणुप्पिया ! सएसु सएसु रज्जेसु ण्हाया जहा कालादीया जाव जएणं विजएणं वद्धावेति । तते णं से चेडए राया कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेइत्ता एवं वयासी–आभिसेक्कं जहा कूणिए जाव दुरूढे । तते णं से चेडए राया तिहिं दंतिसहस्सेहिं जहा कूणिए जाव वेसालिं नगरिं मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, जेणेव ते नवमल्लई नवलेच्छई कासीकोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो तेणेव उवागच्छति । तते णं से चेडए राया सत्तावन्नाए दंतिसहस्सेहिं सत्तावन्नाए आससहस्सेहिं सत्तावन्नाए मणुस्सकोडीहिं सद्धिं संपरिवुडे सव्विड्ढीए जाव रवेणं सुभेहिं वसहीहिं पातरासेहिं नातिविगिट्ठेहिं अंतरेहिं वसमाणे वसमाणे विदेहिं जणवयं मज्झं मज्झेणं जेणेव देसपंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता खंधावारनिवेसणं करेति, करेतित्ता कूणियं रायं पडिवालेमाणे जुज्झसज्जे चिट्ठति । तते णं से कूणिए राया सव्विड्ढीए जाव रवेणं जेणेव देसप्पंते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चेडगस्स रन्नो जोयणंतरियं खंधावारनिवेसं करेति, करेतित्ता तते णं से दोन्नि वि रायाणो रणभूमिं सज्जावेंति, रणभूमिं सज्जयंति, तते णं से कूणिए राया तेत्तीसाए दंतिसहस्सेहिं० जाव मणुस्सकोडीहिं गरुलं वूहं रएति, रइत्ता गरुलवूहेणं रहमुसलं संगामं उवायाते, तते णं से चेडए राया सत्तावण्णाए दंतिसहस्सेहिं० जाव सत्तावण्णाए मणुस्सकोडीहिं सगडवूहं रएति, सगडवूहेणं रहमुसलं संगामं उवायाते । तते णं से दोन्नि वि राईणं अणीया सन्नद्ध जाव गहियाउहपहरणं मगतेहिं फलतेहिं निकट्ठाहिं असीहिं असागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणूहिं समुक्खित्तेहिं सरेहिं समुल्लालितेहिं तदाहिं ओसारियाहिं ऊरूघंटाहिं छिप्पंतरेणं वज्जमाणेणं महया उक्किट्ठसीहनादं बोलकलकलरवेणं समुद्दरवभूयं पिव करेमाणा सव्विड्ढीए जाव रवेणं हयगया हयगतेहिं गयगया गयगतेहिं पायत्तिया पायत्तिएहिं अन्नमन्नेहिं सद्धिं संपलग्गया वि होत्था । तते णं ते दोण्ह वि रायाणं अणीया णियसामीसासणाणुरत्ता महता जणक्खयं जणप्पमद्दं जणसंवट्टकप्पं नच्चंतकबंधवारभीमं रुहिरकद्दमं करेमाणा अन्नमन्नेणं सद्धिं जुज्झंति । तते णं से काले कुमारे तिहिं दंतिसहस्सेहिं जाव मणूसकोडीहिं गरुलवूहेणं एक्कारसमेणं खंधेणं कूणिएणं रन्ना सद्धिं रहमुसलं संगामं संगामेमाणे हयमहितं जहा भगवता कालीए देवीए परिकहियं० जाव जीवियातो ववरोवेति । तं एवं खलु गोयमा ! काले कुमारे एरिसएहिं आरंभेहिं जाव परिमएणं असुभकडकम्मपब्भारेणं कालमासे कालं किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेमाभे नरए जाव नेरइयत्ताए उववन्ने । काले णं भंते ! कुमारे चउत्थीए पुढवीए अंतरं उव्वट्टित्ता कहिं गच्छिहिति कहिं उववज्जिहिति ? । गोयमा ! महाविदेहे वासे जाइं कुलाइं भवंति अड्ढाइं जहा दढप्पइन्ने जाव सिज्झिहिति बुज्झिहिति जाव अंतं काहिति तं एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया जाव संपत्तेणं निरयावलियाणं पढमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते त्ति ॥

(मणोमाणसिएणं ति) मनसि जातं मानसिकम् । मनस्येव यद्वर्त्तते वचनेनाप्रकाशितत्वात् तन्मनोमानसिकम् । तेनाबहिर्वृत्तिना अभिभूता । " अंतेउरपरियालसंपरिवुडे चम्पानयरिं मज्झंमज्झेणं " इत्यादिवाक्यानि करणीयम् । (अक्खिविउकामेणं ति) स्वीकर्तुं कामेन । एतदेव स्पष्टयति–"गिण्हिउकामेणं" इत्यादिना । " तं जाव न उद्दालेइ ताव मम कूणियराया ओ " इत्यादि सुगमम् । (अज्जं ति) मातामहं (संपेहे त्ति) पर्यालोचयति । अन्तराणि छिद्राणि प्रतिजाग्रन् परिभावयन् विचरत्यास्ते । अन्तरं प्रविरलमनुष्यादिकम् । (असंविदिएणं ति) असम्प्रति (हव्वं ति) शीघ्रम् । (जहा चित्तो त्ति) राजप्रश्नीये द्वितीयोपाङ्गे यथा श्वेताम्ब्यां नगर्यां चित्रनामा दूतः प्रदेशिराज्ञा प्रेषितः श्रावस्त्यां नगर्यां जितशत्रुसमीपे स्वगृहाभिमेत्य गतस्तथाऽयमपि कोणिकराजा यथा एवं विहल्लकुमारोऽपि । (चाउग्घंटं ति) चतस्रो घण्टाश्चतसृष्वपि दिक्षु अवलम्बिता यस्य स चतुर्घण्टो रथः (सुभेहिं वसहेहिं पायरासेहिं ति) प्रातराशा आदित्योदयादाद्यप्रहरद्वयसमयवर्ती भोजनकालः, निवासश्च निवसनभूमिभागः, तौ द्वावपि सुखहेतुकौ न पीडाकारिणौ, ताभ्यां संप्राप्तौ नगर्यां इष्टश्रेष्ठकराजः । "जएणं विजएणं वद्धावेत्ता" एवं दूतो यदवादीत्तद्दर्शयति–" एवं खलु सामीत्यादिना" (आलोचेमाणे त्ति) एवं परागतं प्रति आलोचयन्तः (जहापढमं ति) " रज्जस्स य जणवयस्स य अद्धं कोणिओ राजा जइ वेहल्लस्स देइ तोऽहं सेयणगं अट्ठारसवंकं च हारं कोणियस्स पच्चप्पिणामि, वेहल्लं च कुमारं पेसेमि, न अन्नहा" तदनु द्वितीयदूतस्तस्य समीपे एतमर्थं श्रुत्वा कोणिकराजः "आसुरुत्ते" इत्येतावद्रूपरोषसंपन्नो यदसौ तृतीयदूतप्रेषणेन कारयति भाणयति च तदाह–"एवं वयासीत्यादिना" । हस्तिहारसमर्पणकुमारप्रेषणस्वरूपं यदि न करोषि तदा युद्धसज्जो भवेति दूतः प्राह । "इमेणं कारणेणं ति" तुल्ययात्रिक-

संबन्धेन दूतद्वयं कोणिकराजप्रेषितं निषेधितम् । तृतीयदूतस्त्वसत्कारितोऽपद्वारेण निष्कासितः । ततो यावां संग्रामयात्रां ग्रहीतुमुद्यता वयमिति कूणिकराजः कालादीन् प्रति भणितवान् । तेऽपि च दशापि तद्वचो विनयेन प्रतिशृण्वन्ति गृह्णन्ति । [एवं वयासि त्ति] एवमवादीत् तान् प्रति–गच्छत यूयं स्वराज्येषु निजनिजसामग्र्या सन्नह्य समागन्तव्यं मम समीपे, तदनु कूणिकोऽभिषेकार्हं हस्तिरत्नं निजमनुष्यैरुपस्थापयति प्रगुणीकारयति । " प्रतिकल्पयतेति पाठे " सन्नाहवन्तं कुरुत इत्याज्ञां प्रयच्छति । [तओ दूय त्ति] त्रयो दूताः कोणिकेन प्रेषिताः । [मग्गएहिं त्ति] हस्तपाशितैः फलकादिभिः [तोणेहिं ति] इषुभिः [सजीवेहिं ति] सप्रत्यञ्चैर्धनुर्भिर्नृत्यद्भिः कबन्धैः शरैश्च हस्तच्युतैर्भीमं रौद्रं श्रेणिकनप्तॄणां पौत्राणां कालमहाकालाद्यङ्गजानां क्रमेण व्रतं पर्यायाभिधायिकम् । "दोण्हं च पंच" इत्यादिगाथा । अस्यार्थः–दशसु मध्ये द्वयोः कालसुकालसत्कयोः पुत्रयोर्व्रतपर्यायः पञ्चवर्षाणि त्रयाणां चत्वारि त्रयाणां त्रीणि द्वयोर्द्वे द्वे वर्षे व्रतपर्यायः । तत्राद्यस्य यः पुत्रः पद्मनामा स कामान् परित्यज्य भगवतो महावीरस्य समीपे गृहीतव्रत एकादशाङ्गधारीभूत्वाऽत्युग्रं बहु चतुर्थषष्ठाष्टमादिकं तपःकर्म कृत्वा अतीव शरीरेण कृशीभूतः चिन्तां कृतवान्–यावदस्ति मे बलवीर्यादिशक्तिस्तावद्भगवन्तमनुज्ञाप्य भगवदनुज्ञया मम पादपोपगमनं कर्तुं श्रेय इति तथैवासौ समनुतिष्ठति । ततोऽसौ पञ्चवर्षव्रतपालनपरः मासिकया संलेखनया कालगतः सौधर्मे देवत्वेनोत्पन्नो द्विसागरोपमस्थितिकः, ततश्च्युत्वा महाविदेहे उत्पद्य सेत्स्यति । इति कल्पावतंसकोत्पन्नस्य प्रथममध्ययनं समाप्तम् । नि० १ वर्ग । जम्बूद्वीपे आमलकल्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, ज्ञा०२ श्रु० १ अ० । यस्य पुत्री काली देवी चमरस्याग्रमहिषी जाता (इति 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्तम्) महानिधिभेदे,

" काले कालन्नाणं, भव्वपुराणं च तिसु वि वंसेसु ।
सिप्पसयं कम्माणि य, तिन्नि पजाए हितकराणि ॥१॥"

अष्टमषष्ठो निधिः (काले कालन्नाणमित्यादि) कालनामनि निधौ कालज्ञानं सकलज्योतिःशास्त्रानुबन्धि ज्ञानम्, तथा जगति त्रयो वंशाः,वंशः,प्रवाहः, आवलिका इत्येकार्थाः । तद्यथा–तीर्थकरवंशश्चक्रवर्तिवंशो बलदेववासुदेववंशश्च । तेषु त्रिष्वपि वंशेषु यद्भाव्यं यच्च पुराणमतीतम् । उपलक्षणमेतत्–वर्तमानं शुभाशुभं तत् सर्वमत्रास्ति इतो महानिधितो ज्ञायत इत्यर्थः । शिल्पशतं विज्ञानशतम्, घटलोहचित्रवस्त्रनापितशिल्पानां पञ्चानामपि प्रत्येकं विंशतिभेदत्वात् कर्माणि च कृषिवाणिज्यादीनि जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नानि त्रीण्येतानि प्रजाया हितकराणि निर्वाहाभ्युदयहेतुत्वात्, एतत् सर्वमेवाभिधीयते । जं० ३ वक्ष० । स्था० । अङ्कानुसारेण षट्पञ्चाशत्तमे महाग्रहे, सू० प्र० २० पाहु० । कण्डवादिषु नारकाणां पाचके यातनाकारके वर्णितश्च काले सप्तमे परमाधार्मिके, भ० ३ श० ६ उ० । आ० चू० । प्रश्न० ।

अपि च–

मीरासु सुंठएसु य, कंडूसु य पयणएसु य पयंति ।
कुंभीसु य वल्लीसु य, पयंति काला उ णेरइए ॥ ७६ ॥

(मीरासु इत्यादि) तथा कालाख्या नरकपालाः सुरा मीरासु दीर्घचुल्लीषु, तथा शुण्ठकेषु, तथा कण्डुकेषु प्रचण्डकेषु तीव्रतापेषु नारकान् पचन्ति, तथा कुम्भीषूष्ट्रिकाकृतिषु, तथा वल्लीष्वायसकवल्लिषु नारकान् व्यवस्थाप्य जीवान्मत्स्यानिव पचन्ति । सूत्र०१ श्रु० ५ अ० १ उ० । कालावतंसकभवने स्वनामख्याते सिंहासने, ज्ञा० २ श्रु० १ अ० । यत्र चमराग्रमहिषी काली देवी उपपन्ना । लोहे, न० । धातुषु, तस्य कृष्णत्वात् तथात्वम् । कक्कोले, न० । कालीयके गन्धद्रव्यभेदे, न० । तयोर्गन्धद्रव्येषु कृष्णत्वात्तथात्वम् । कोकिले, पुं० स्त्री० । तस्य पक्षिषु कृष्णत्वात्तथात्वम् । ङीष् । रागे, रक्तचित्रके, कासमर्दे (कालकसन्दा) वृक्षे च । पुं० । शनिग्रहे, कृष्णत्वात्तस्य तथात्वम् । वारविशेषे, दिग्भेदेन ज्योतिषोक्ते यात्रादौ निषिद्धे योगभेदे, "कौबेरीतो वैपरीत्येन कालो, वारेऽर्काद्ये संमुखे तस्य पाशः । रात्रावेतौ वैपरीत्येन गम्यौ, यात्रायुद्धे संमुखौ वर्जनीयौ" ॥१॥ कालाये शिम्बीभेदे, वाच० । अष्टपञ्चाशत्तमे महाग्रहे, "दो काला" स्था० २ ठा० ।

कालओ–कालतस्–अव्य० । कालं प्रतीत्यर्थे, पा० । धूर्ते, दे० ना० २ वर्ग ।

कालंजर–कालञ्जर–पुं० । कालं जरयति जॄ-णिच् अच् वा । मुम् । पर्वतभेदे, "एणं पुण वीयरणी कालंजरवत्तिणीए गंगाए महानदीए विंझस्स य अंतरा " आ० म० द्वि० । देशभेदे, ध० र० । स च कालञ्जरगिरिरूपजनपदावधिभूतः, ततो भवादौ रोपधत्वात् प्राग्वर्तित्वाच्च वुञ् । कालञ्जरके तद्भवे, त्रि० । कालं मृत्युं जरयति, जॄ वा खच् । कालस्य मृत्योर्जरके, त्रि० । वाच० ।

कालकंखि (ण्)–कालकाङ्क्षिन्–त्रि० । अवसरज्ञे, उत्त० ६ अ० । " समिते सहिते सदाजते कालकंखी परिव्वए "

काल इति मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धात्मकबन्धोदयसत्कर्मतया व्यवस्थापितम्, तथा बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थां गतं कर्म, तच्च न ह्रसीयसा कालेन क्षयमुपयातीत्यतः कालकाङ्क्षीत्युक्तम् । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

कालकप्प–कालकल्प–पुं० । मासकल्पादौ, पं० भा० ।

एत्तो उ कालकप्पं, वोच्छामि जहक्कमेणं तु ।
मासं पज्जोसवणा, वुड्ढावास–परियाय–कप्पो य ॥
उस्सग्गपडिक्कमणे, कितिकम्मे चेव पडिलेहा ।
सज्झायझाणभिक्खे, भत्तवियारे तहेव सज्झाए ।
णिक्खमणे य पवेसे, ………………… पं० भा० ।

मासकल्पादीनाम्–

…………………, अहुणा वोच्छामि कालकप्पं तु ।
जावाउतंतुभीणं, अणुपालेत्ता व सामण्णं ॥
गीतसहाओ विहरे, संविग्गेहिं च जतणजुत्तो उ ।
असती वि मग्गमाणे, खेत्ते काले इमं माणं ।
पंच व छ सत्तसत्ते, अतिरेगं वा वि जोयणाणं तु ।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गे जो अपरितंतो ॥
एक्कं व दो व तिण्णि व, उक्कोसं बारसेव वासाइं ।
गीतत्थपादमूलं, परिमग्गेज्जा अपरितंतो ॥
संविग्गो गीयत्थो, जंगचउक्के तु पढमउवसंपा ।
असती ततिय वितीए, चउत्थगम्मो उ उवसंपे ॥
उक्कमओ खलु लहुगो, चउरो लहुगा चउत्थजंगम्मि ।

जस्सद्दा उवसंपद, तं नत्थि चउत्थभंगम्मि ।
एतेसिं तु अलंभे, एगो थामावहारमकरेंतो ॥
विहरेज्ज गुणसमिद्धो, अणिदाणो आगमसहाओ ।
कालम्मि संकिलिट्ठे, छकायदयावरो वि संविग्गो ॥
जयजोगीण अलंभे, पणगेएहतरेण संवासो ।
पणगेएहतरयसत्थे-मादिभंगे चउत्थए जयणा ।
जत्थ वसंती ते तु, ठाति तहिं वीसुवसहीए ॥
तेसिं निवेदिऊणं, अह तत्थ ण होज्ज अन्नवसहीओ ।
ण वहेज्ज वा उदंतं, वसेज्ज तो एकवसहीए ॥
अपरीजोगोगासे, तत्थ ठितो पुणो वि य जएज्जा ।
आहारमादिएहिं, इमेण विहिणा जहाकमसो ॥
आहारे उवहम्मि य, गेलणणागाढकारणे वा वि ।
थामावहारविजढो, असतीजुत्तो सतो गहणं ॥
आहारउवहिमादी, उप्पादे अप्पणा विसुद्धं तु ।
असती सततलाजस्स उ, जो तेसिं साहुपक्खीओ ॥
सो तु कुलाइं पुच्छि-ज्जती मुदा एत्ति वा वि सो तेसिं ।
तह वि अलंभंतो तू, जतती पणहाणि जो लहुगा ॥
संविग्गपक्खिसहिओ, ताहे उप्पादएज्ज सुद्धं तु ।
असती पणहाणी वा, जतितु अप्पे पमिग्गहगं ॥
तह वसती तब्भादण-भाणीयं गिणहती तहिं चेव ।
णियगे वि पमिग्गहगे-एहति पासत्थणाओ य ॥
उवहिं पुराणगहितं, अपरीभुत्तं तु गेणहती तेसिं ।
असती तपतरं पी, जदि य गिलाणो भवे तत्थ ॥
तत्थ वि जएज्ज एवं, असती सव्वं पि से करेज्जितरे ।
अहवा ते वि गिलाणा, हवेज्ज ताहे करे सो वि ॥
एतत्थं इच्छिज्जति, गच्छो अणोणजं तु साहज्जं ।
कीरति ण पमाओ खलु, तम्हा गेलणेहें कायव्वो ॥
दीहो व ममहओ वा, कम्मो चइउ हवेज्ज आतंको ।
मरुहो अदिग्घरोगो, तव्विवरीओ भवे इतरो ॥
कालपउके वी खलु, कायव्वं होति अप्पमत्तेणं ।
उमुवच्छे वासासु अ, दियराओ चउकमेतं तु ॥
जिणवयणजासियम्मी, णिज्जरगेलणहकारणे विउला ।
आतंकपउरताए, कतपमिकइया जहसत्तं ॥
जह भमरमहुयरगणा, णिवयंती कुसुमियम्मि वणसंमे ।
इय होति णिवइयव्वं, गेलणहे कइवयजढेणं ॥
सयमेव दिट्ठिवादी, करेति पुच्छंति जाणगो वेज्जं ।
वेज्जाण अट्ठगं पुण, णायव्वमिणं समासेणं ॥
संविग्गअसंविग्गो, दिवसत्थे लिंगि सावए सण्णी ।
असन्नीसन्नि इतरे, परतित्थियकुसलए इत्थं ॥
जदि दिणमलब्भमाणे, तत्थ ठवेयव्वगं भवे किंचि
तत्थ तु भणेज्ज को वी, सुक्खं तु ठवे दवे दोसो ।
संसत्तं पि मुक्खं तु अ-णिद्धं वसु सोहुगंमु सारत्थं ।
अतगं होती इतरे, दोसा वा बहु इमे णिच्छे ॥
दव्वे पमणीए य, पमज्जणपाणतकणाहरणा ।
एते दोसा जम्हा, तम्हा तु दवं ण ठावेज्जा ॥
जणहति जेणं कज्जं, तं ठावेज्जा तहिं तु जयणाए ।
आतंकविवच्चासे, चउगो लहुगा य गुरुगा य ।
जं सेवियं तु किंची, गेलणणे तं तु जातु पउणो वि ।
आसेवने तु साधू, रसगिद्धो सेलओ चेव ॥
तंबोलपत्तणा ते-ण माहु सेसा वि तू विणस्सेज्जा ।
णिज्जूहंती तं तू, मा अणहो वी तहा कुज्जा ॥
कालकप्पाहिगारे, तुमत्थुणा होति सो वि तस्सरिसो ।
कालविकप्पणहो वी, असिवादीओ मुणेयव्वो ॥
असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे पवाददुट्ठे वा ।
आगाढे अणणलिंगं, कालक्खेवोवगमणं च ॥
असिवे जदि जतियं ता, लिंगविवेगेण तक्खणं गच्छे ।
सव्वत्थ वा वि असिवे, कालक्खेवो विवेगेणं ॥
ओमे चेवं कुज्जा, पवादिदुट्ठेण वुट्टिलोयाणं ।
तत्थ वि य अन्नलिंगे, गिहिलिंगे वा वि जासेज्जा ॥
एवं चिय आगाढं, अहवा देहस्स जा तु बाधा ।
णिव्वसयाणत्तीए व, भत्तस्स णिसेहणे चेव ॥
एतेसामणणतरं, अणगाढं लंपणो णिसेवेज्जा ।
तट्ठाणतावराहे, संवड्ढियमोवराहाणं ॥
संवड्ढितावराहे, तवो व छेदो तहेव मूलं च ।
आयारे कप्पे जं, पमाणणिम्माणचारिमम्मि ॥
एसो तु कालकप्पो, ... । पं० भा० ।

इयाणिं कालकप्पो । कलणं कालः, कालसमूहो नीयते अनेनार्थ इति नयः । केवइयं पुण कालं साहुणा संजमं अणुपालेयव्वं ? । उच्यते-जाव आउसेसं ताव अणुपालेयव्वं । सो पुण कत्थ अणुपालेयव्वो ? । उच्यते-गीयत्थसंविग्गसगासे, अह पुण बाघाएण गीयत्थसंजया न होज्जा ताहे भणियव्वा । तत्थ गाहा-(पंचछसत्तसया) गाहा सिद्धा, एवं संविग्गे वि दो दो गाहाओ, जत्थ गओ तत्थ चउभंगो, तेसिं अगीयत्थसंविग्गाणं अलंभे एगो वि रागदोसविप्पमुक्को थामावहारं न करेंतो विहरेज्जा, परीसहेसु अपरितंतो अणगूहियबलवीरिओ आगमसहाओ । आगमो नाम सुत्तोऽत्थाणि । एएसु एएसु अयंतो गीयत्थसंविग्गो पुव्वभणिओ चउभंगो, तस्स सगासे अत्थइ, तस्सासइ बिइयतइयाणं कत्थ अत्थियव्वं ? । गीयत्थसंविग्गपायमूले, तस्सा सइ बिइए गीयत्थअसंविग्गे पच्छा संविग्गअगीयत्थे पच्छा चउत्थे पडिसेहो, आयतियं भंगाण असइ य एगो वि थामावहारविजढो विहरिओ गाहाकालम्मि संकिलिट्ठे । संकिलिट्ठकालो नाम जम्मि काले गीयत्थसंविग्गा नत्थि, सो संकिलिट्ठकालो, तत्थ छक्कायदयावरो जुत्तजोगी भावसंविग्गो, असाओ पासत्थादयो जत्थ गामे तत्थ अत्थइ, अण्णाए वसहीए सककवाडदडुड्डे विलवज्जियाए ठवणायरियं काऊण मोहनिज्जुत्ति-

वहीए पएसिं निवेयणं काऊण। अह अन्ना वसही न होज्जा,तत्थ
वा गिलाणस्स उदंतं न वहति,ताहे तेसिं चेव वसहीए अपरिभुंजमा-
णे अवासे थाइ तत्थ ट्ठिओ आहारोवहिम्मि य जइ आहारो सयाए
एसणाए हिंममाणो व लभेज्जा ताहे पणयपरिहाणीए जयइ जाव
चउलहुं पत्तो, जइ तह वि न लभेज्जा ते य पासत्थाइ
निमंतेज्जा ताहे भणइ-उग्गमं देह, कुलाणि वा मम साहह
भणइ, अह तह वि एगस्स न देंति ताहे जो धम्मसड्ढियतरो तं
पुव्वं चेव गाहेइ, संविग्गभावणं ताहे भणइ-एएण समं हिंडा-
मि। तेण वि समं हिंडंतो सयाए एसणाए लब्भए तं प-
भणइ-अहं अप्पणा चेव जाणिस्सामि जं मम गेण्हियव्वं मा
तुमं मज्झाए गेण्हावेहिसि। अह तेण वि समं भायणे देज्जा ताहे
धम्मसड्ढियं भणइ-तुमं मम हिंडाहि,अहवा तुमं एसणेज्जं देहि,
असइ उक्कोसियं पि गेण्हइ, वसही य अप्पणा जयइ जाव
चउलहुं पत्तो जाहे न लभइ तहा वि ताहे ते भणइ-मम द-
व्वावेह । अह तहा वि न लज्जइ ते य भणेज्जा-इमं सीयं
गाढं तुमं च परित्तोवही इमं पि गेण्हाहि, ताहे तेसिं तणयं
जं अहिणवगहियं उग्गमुप्पायणे सुद्धं अपरिभुत्तं तं गेण्हइ,
तस्स असइ मंदपरिभुत्तं गेण्हइ, तं चेव असइ परि-
भुत्तं पि, पच्छा पुराणगहियं उग्गमाइसुद्धं अपरिभुत्तं,
असइ परिभुत्तमवि तस्स सइ एसणाए असुद्धं अ-
भिणवगहियं अपरिभुत्तं मंदपरिभुत्तं पि पच्छाओ उप्पाय-
णाए असुद्धं अभिणवगहियाइ पच्छा उग्गमेण वि सुद्धं अ-
भिणवपुराणपरिभुत्तं च एव जाव हंसाइं पि रागद्दोसवि-
मुक्को, गाहा-(दीहो व मरुहओ वा) अह तत्थ अत्थमाणो
होज्जा, तत्थ जइ समत्थो अप्पणा चेव जयइ असइ लंभे
भाहे ते आणेते, एवं सो थामावहारविजढो असइ गि-
ण्हइ, सो पुण आयंको दीहो मरुहओ वा होज्जा दोसु वि
कायव्वं । अहवा तेसिं गेलण्णं होज्जा ताहे सो तेसिं क-
रेज्जा, एयनिमित्तं गच्छवासो इच्छिज्जइ, परोप्परसाहि-
ज्जगा य कालचउक्कतिओ व वासासु राइंदिवसओ वा
जिणवयणनिद्दिट्ठा गेलण्णे करेमाणस्स विपुला निज्जरा,
तम्हा कायव्वं निज्जराकामेण । दव्वप्पमाणे त्ति वेज्जो
पुच्छियव्वो । केइ भणंति—गिलाणो नेयव्वो वेज्जसगा-
सं, एवं भणंतस्स चउगुरु, सो गिलाणो निज्जमाणो
परितावणाइ गाढमगाढं अह सवणा वा मइलकुले वे-
लाइ वेज्जो वा गिहेण समाणोऽसमाणो वि अब्भंगिओ
एगसाडओ छारउक्कुरुडे वि ठिओ वा कसाइओ वा
भणेज्जा-किं मम घरं सुसाणकुडी, अहवा तत्थ वे-
ज्जगिहे अन्ने आउरा पासंमगिहत्था य सेज्जासु नवणी-
यतूलिमिउलासु उक्खेवणयतालियंटमाइसु सीयघरे धारा-
रसे सकप्पूरचंदणेण हेमंते वा कालागुरुमाइ आहारे य नाण-
प्पगारे पासित्ता संतविभवो रायमत्तो वा पव्वइओ, पमिगम-
णाइ असंतविभवो निदाणं करेज्जा,जम्हा एए दोसा तम्हा न ने-
यव्वो गिलाणो वेज्जघरं । सा पुण वेज्जपुच्छा विहिअविही य
एगे इमो दो जमट्ठया चत्तारि नीहारी तम्हा तिण्णि व पंच व सत्त
व ते पुण गच्छंता आकट्ठविकट्ठी करेंति,कासयरपडरणं निसे-
ज्जमइलाणि वा गेण्हंति एक्केक्कम्मि चउगुरु । जम्हा सुक्किल-
या पसत्थचोलपट्टपडरणकप्पं तत्थ गया वेज्जो कसाइओ
अब्भंगिओ वा पुच्छंति चउगुरु, पसत्थासणगओ य संतो
पुप्फपडलहत्थगओ आउरसत्थाणि वा वाएमाणो पुच्छिज्जइ

आयाणनिदाणं च सेसा सहिज्जइ सो पुच्छओ उवदेसं देज्जा,
दव्वाइयव्वओ कलमसालितंदुलचाउरक्केण गोखीरेण अट्ठार-
सवंजणाओलेवा भोयणं अवइसेज्जा. खेत्तओ सीयकाले गब्भ-
घरे उण्हकाले सीयघरे उक्खेवयतालियंटमाइ सकप्पूरचंदणा-
इ वा कालओ पुव्वण्हाइ जाव अहरत्ते वा तावओ जत्थ
गीयवाइयनाणत्थकुलकाररहकारसुवण्णकारकंसकारहयसालं वा
रंगसालाओ य जत्थ अणिट्ठा रहा नत्थि जहा रन्नो अपांम-
कूलेसु सव्वकज्जेसु वि भावियव्वं। एवं भणिए जइ भणइ कओ-
अम्हे एयाण चउगुरू गिलाणो परिचत्तो,एवमुवदिट्ठे भाणिय-
व्वं-सावग ! तुब्भे रायमाइणं दरिद्दाण य तिगिच्छं करेह,
विज्जवाणुरूवं जाणह, तुब्भे अओ परदत्तोवजीवी सव्वमवओ
मग्गियव्वं, जया कलमसालीचाउरक्कं वा न लभेज्जा तया किं
कायव्वं, तया इतरं इतरं वा गोखीरं, एवं जाव कोद्दवकूरो
उण्हुणाइसु वा ठिओ। खेत्तओ य किट्टयमाइ जाव रुक्खमूले वि
चिलिमिणी काऊण कालओ जाहे लब्भइ। भावओ जाणासु
अम्हे वट्टावइउं। तदुक्तं भवति-“निद्देसमणुरूवं, निकायणा पच्छ
इच्छा य। आयंकपउरयाए,पुण कयपमिकइया जहाभिया॥” तं पुण
कहं गंतव्वं गिलाणस्स (जइ भमरमहुकरगणा)गाहासिद्धा। अह
वेज्जो भणेज्जा-जामि पासामि गिलाणं, सो वेज्जो संविग्गो गीय-
त्थो कुसलो तेण पढमं पच्छा असंविग्गो त्ति गीयत्थो कुसलो
एवं सावए गीयत्थसंवेगपुराणकुसले पच्छा गीयत्थअसं-
विग्गपुराणे कुसले गहियाणुव्वए गीयत्थे संविग्गभा-
विए कुसले अगहियाणुव्वए गीयत्थे संविग्गभाविए
कुसले अगहियाणुव्वए वि कुसले असंभाविकुसले पच्छा
राया सन्नी गीयत्थकुसलो स एव सम्मद्दिट्ठीकुसले, एव तरत-
मजोगेण सव्वत्थकुसलेण ते इच्छा सेसं जहाकप्पे गिलाण
सुत्ते कयाइ संनिही कायव्विया होज्जा, सा पि होव्वरए जहा
गीयत्था ण याणंति असइ कडयंतरिए वा चिलिमिणिअंतरिए
वा उस्सग्गेण ताव पमिदिवसं मयिज्जइ नेहाइपणगपरिहाणीए
जाव चउगुरुं पत्ता असइ वसहीए थारगस्स सन्निज्जीए सावग-
स्स अम्मापिउसमाणस्स गिहे कालाइभायणे तस्स सथलाआ
एस परिकम्म अहाकडे वि असइए जहा छिप्पमा-
णादयो दोसा न भवंभि पडिदिवसं पमिलेहिज्जइ इच्छा-
कारेण गुंमिज्जइ जहा कीमियाइणं विराहणा न भवइ, त-
त्थ कोइ भणेज्जा-मिद्धे दव्वे य एए य दोसा तत्थ छिप्पमाणे य
निक्खिप्पमाणे य पाणाइविराहणा आणिज्जंते य अरुवीओ
पढमियमाइयसचित्तपुढविमाइविराहणा, एवं भणंतस्स चउ-
गुरू आयंकविवच्चासे । आयंकविवच्चासो नाम आगाढे अ-
हिंडइ अणागाढं करेइ चउलहुगा जं च वय उवजीवइ
जो पुण पउणो वि समाणो तं चेव आहारे पडिबंधं करेइ, से-
लओ विव तस्स तं चोइयत्तादिट्ठंतेण सेसदोसरक्खणट्ठाए
मा अण्णो वि पडिसेविहिंति ताहे निच्छुभणा से । गाहा-(अ-
सिवे ओमोयरिए) अह कालकप्पाहिगारे वट्टमाणे असिवा-
ईणि कारणाणि होज्जा, असिवे य जइ सपक्खघाई होज्जा
संजयपंताए तम्मि आगाढे ताहिं लिंगविवेगं काऊण सिव च-
चइ। अह सव्वत्थ वि असिवं होज्जा ताहे कालक्खेवं करेंति
लिंगविवेगं काऊण अत्थंति जाव सिवं जायं। एवं ओमे वि
रायदुट्ठे वि वच्चावायदुट्ठे वि पुढिलाइ अन्नलिंगे पुण ग-
हिये इमा जयणा। जइ भिक्खुओ ताहे पिंडवाइयत्तणं करेइ,
अह न लभेज्जा सामत्थं च समुद्देसं जाव पवारओ न एइ

ताव अन्नत्थ वच्चइ । अन्नत्थ य गओ ताहे कप्पियारीओ भणति–तुब्भे चेव जाणह जं कायव्वं जं च पमाणं गिएहथव्वेत्ति, पंतीए य पोग्गलपत्तफलाइ परिहरइ । वेज्जाहारो विसित्थूभयंतीए जिणे मणसी करेऊण मइराइनियत्तणं च भावेइ, अह सरक्खो ताहे उद्दरूवत्तणं करेइ,भणइ य–मम वेज्जोवएसेण उसिणोदगं पायव्वं । गाहा–(एतेसामप्पतरं) एएसिं कारणाणं विणा अगागाढे निरालंबणो जो पडिसेवइ तप्पणारोवणा (संवड्डिया नराहे) गाहा । एस कालकप्पो सम्मत्तो । पं०चू० ।

कालकरण–कालकरण–न० । कालभेदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (तत्संभवस्तृतीयभागे ३६५ पृष्ठे 'करण' शब्दे उक्तः) ।

कालकाल–कालकाल–पुं० । एकः कालशब्दः प्राङ्निरूपित एव, द्वितीयस्तु सामायिकः । कालो मरणमुच्यते । मरणक्रियाकलने, दश० १ अ० । आ० म० द्वि० । संप्रति कालकालः प्रतिपाद्यः–कालो मरणं तस्य कालः कालकालः । तथाचाह–" कालो त्ति मयं मरणं, जहेह मरणं गतो त्ति कालगते । तम्हा स कालकालो, जो जस्स मओ मरणकालो " ॥१॥

अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह—

कालेण कओ कालो, अम्हं सज्झायदेसकालम्मि ।
तो तेण हतो कालो, अकाले कालं करेमाणे ॥

कालेन शुना कृतः कालः कृतं मरणमस्माकं स्वाध्यायदेशकाले स्वाध्यायकरणप्रस्तावे ततस्तेन शुना हतो भग्नः कालः स्वाध्यायकरणकालः । अकाले प्रस्तावे मरणं कुर्वतेति । तदनेन कालशब्दस्य मरणवाचित्वमुपदर्शितम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

कालकूमकवलुग्गार–कालकूटकवलोद्गार–पुं० । वद्गीर्थ्यमाणकालकूटकवले, "लभ्यास्यादिति कालकूटकवलोद्गारा गिरः पाप्मनाम्" । प्रति० ।

कालकेय–कालकेय–पुं० । काल्या अपत्ये, आ० चू० १ अ० ।

कालगज्ज–कालकार्य्य–पुं० । श्यामाचार्ये, विशे० । आ० म० । प्रति० ।

कालकाचार्य–पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, विशे० । तद्वृत्तं चैवमाख्यान्ति–धारावासनाम्नि नगरे वैरसिंहनाम्नो राज्ञः सुरसुन्दर्यां नाम देव्याः कुक्षेः कालको नाम कुमारो जज्ञे । एकदा अयं वाह्योऽश्वस्कन्धारूढ उद्यानं गतस्तत्र देशनां ददतो गुणाकरमुनेरन्तिके उपविष्टः । तेन च मुनिना योग्यं श्रोतारं ज्ञात्वा अगारधर्ममनगारधर्मं च सम्यग्व्याख्याय प्रतिबोधितः संविग्नः सन् मातापित्रोराज्ञां गृहीत्वा तत्पादमूले प्राव्रजत । तत्सहैव तद्भगिनी सरस्वती नाम्नी अपि प्रव्राजिता । ततः सर्वशास्त्रेष्वचिरेण कालेन पारगतममुं ज्ञात्वा स्वपदे स्थापयित्वा श्रीगुणाकरसूरिः स्वरगमत् । अन्यदा कालकाचार्य उज्जयिनीं नगरीं गतस्तत्र सह विहारेण समागतां मार्गे गच्छन्तीं सरस्वतीं नामैतस्य भगिनीं तत्रत्यो गर्दभिल्लो नाम राजा बलादहरत् । ततस्तं बहुभिरुपायैः प्रतिबोध्यापि तां मोचयितुमशक्नुवन् कालकाचार्यस्तन्निग्रहे कृतप्रतिज्ञः सिन्धुनद्याः परतीरे शकान् सहायीकृत्य गर्दभिल्लं निगृह्य सरस्वतीं मुमोच, मूलच्छेदेन शोधयित्वा पुनः श्रामण्येऽस्थापयत् । (इत्येतदस्माभिः प्रथमभागे ५८२ पृष्ठे 'अधिगरण' शब्दे 'गद्दभिल्ल' शब्दे च नि० चूर्णिपाठेन दर्शितम्) अथैकदा भृगुकच्छनगरराजो बलमित्रः कालकाचार्यस्य भागिनेय एतस्य दर्शनोत्कण्ठितः स्वमन्त्रिणः प्रेष्य आहूय विहारक्रमेण तत्र समागतमेनं महतोत्सवेन नगरे प्रावेशयत् । तत्र शकुनिकातीर्थे मुनिसुव्रतस्वामिनं नत्वा स आचार्यस्तन्महिमानं राज्ञेऽश्रावयत् । राजा चाऽऽचार्ये भक्तिभरनिर्भरो जातः । ततस्तदसहिष्णुना पुरोहितेनानुकूलोपसर्गैरुपसृष्टः प्रतिष्ठानपुरे शातवाहननृपतेः प्रार्थनया विहृतवान् । तत्र च प्राप्तपर्युषणापर्वणि राजा प्रार्थयामास–भगवन् ! भाद्रपदशुक्लपञ्चम्या मिन्द्रध्वजमहोत्सवो भवतीति षष्ठ्यां साम्वत्सरिकं कर्तव्यमिति । तदाऽऽकर्ण्याचार्येणोक्तम्–नैवं भवितुमर्हति । तदा राज्ञोक्तम्–चतुर्थ्यां तर्हि कर्तव्यम् । गुरुणोक्तम्–कथञ्चिदेवं भवितुमर्हतीति । ततः प्रभृति चतुर्थ्यामेवैतत्पर्व भवति स्मेति । तुरिमिणीयां नगर्यामस्यैव जामिजः दत्तो नाम राजा बहुयज्ञकृद् यज्ञानां नरकः फलमित्यनेन स्पष्टमुक्तः क्रुद्ध एतद्वचनेन ततः सप्तमेऽहनि रौद्रध्यानेन मृत्वा नरकं गतः । सागरचन्द्रस्य स्वशिष्यस्य गर्वापमोक्षोऽन्यत्र दर्शितः । अयं च कालकाचार्यः वीरमोक्षात् ३३६ वर्षे वि० सं० प्राक् १३० वर्षे आसीत् । प्रभावकचरित्रानुसारेण अस्मादेवाचार्यात् चतुर्थ्यां पर्युषणापर्व प्रचलितमित्युक्तम् । अन्ये पुनरन्यमेव कालकाचार्यं पर्युषणापर्वणश्चतुर्थ्यां प्रथमकारकं वदति, स च वीरमोक्षात् ९९० वर्षे जातः । तृतीयोऽप्येकः कालकाचार्यो वीरमोक्षात् ९५३ वर्षेऽभवत् । प्रज्ञापनासूत्रं च प्रथमेनैव रचितमिति प्रतीयते । जै० इ० ।

कालगय–कालगत–त्रि० । दिवंगते, कल्प० ८ क्षण । (कालगतस्य साधोः पारिष्ठापनिकी 'परिट्ठावणिया' शब्दे वक्ष्यते । आचार्ये मृतेऽन्यस्योपसंत् 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे ९०६ पृष्ठे उक्ता । आचारकल्पधरे व्युच्छिन्ने अन्यत्रोपसंपदित्यपि 'उवसंपया' शब्दे द्वितीयभागे ९८४ पृष्ठे उक्ता । कालगतासु संयतीसु प्रवर्तिनीषु साध्वीनामन्यत्र गमनं 'विहार' शब्दे वक्ष्यते)

कालग्ग–कालाग्र–न० । कलनं कालः तस्याग्रम् । सर्वाद्धायाम्, " कहं समयो आवलिया लवो मुहुत्तो पहरो दिवसो अहोरत्तं पक्खे मासो उउ अयण संवच्छरो जुगपलिओवमं सागरोवमं ओसप्पिणी उस्सप्पिणी पुग्गलपरियट्टो तीतऽमणागतद्धा सव्वद्धा एवं सव्वेसिं अग्गं भवति बृहत्वात् कालग्गं" । नि० चू० १ उ० ।

कालगहिय–कालगृहीत–त्रि० । कालेन मृत्युना गृहीतः कालगृहीतः । पौनःपुन्येन मरणभाजि, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

कालचउक्क–कालचतुष्क–न० । चतुर्षु कालेषु, नि० चू० ११ उ० ।

कालचक्क–कालचक्र–न० । विंशतिसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणे उत्सर्पिणीलक्षणे काले, नं० । ('काल' शब्दे तृतीयभागे ४७५ पृष्ठे उत्सर्पिण्यादिमानमुक्तम्) । "जाहे एवमवि न सक्कइ ताहे कालचक्कं विउव्वइ" आ० म० द्वि० ।

कालचणग–कालचणक–पुं० । पलिमन्थे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

कालचूला–कालचूला–स्त्री० । अधिमासादौ अधिके काले, नि० चू० १ उ० । ('चूला' शब्देऽस्य निवृतिः)

कालच्चयावदिट्ठ–कालात्ययापदिष्ट–पुं० । कालात्ययेनापदिष्टः । २ त० । हेतुदोषे, तल्लक्षणं गौतमसूत्रे दर्शितम् । यथा–"कालात्ययापदिष्टः कालातीतः" । कालात्ययेन प्रयुक्तो यस्यार्थस्यैकदेशोऽपदिश्यमानः स कालात्ययापदिष्टः कालातीत इत्युच्यते । निदर्शनम्–नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वात् रूपवत् । प्रागूर्ध्वं च व्यक्तेरवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते, तथा

च शब्दोऽप्यवस्थितो भेरीदण्डसंयोगेन व्यज्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा । तस्मात् संयोगव्यङ्ग्यत्वात् नित्यः शब्द इत्ययमहेतुः, कालात्ययापदेशात्, व्यञ्जकस्य संयोगस्य कालं न व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति, सति प्रदीपघटसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति न निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते, निवृत्ते दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते, विभागकाले सेयं शब्दव्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिर्मिता भवति, कस्मात् कारणाद्? भावाद्धि कार्याभाव इति । एवमुदाहरणसाधनस्याभावादसाधनमयं हेतुर्हेत्वाभास इति । वाच० । कालात्ययापदिष्टोऽपि । तथा ह्यस्य रूपं कालात्ययापदिष्टः कालातीत इति हेतोः प्रयोगकालः प्रत्यक्षागमानुपहतपक्षपरिग्रहसमयस्तमतीत्य प्रयुज्यमानः प्रत्यक्षागमबाधिते विषये वर्त्तमानः कालात्ययापदिष्टो भवतीति । अयं च किञ्चित्करदूषणेनैव दूषितोऽवसेयः । रत्ना० ६ परि० ।

कालात्ययापदिष्टोऽपि हेत्वाभासोऽपरैरभ्युपगतः । यथा-पक्वान्येतान्याम्रफलान्येकशाखाप्रभवत्वादुपयुक्तफलवत् । अस्य हि रूपत्रययोगिनोऽपि प्रत्यक्षबाधितकर्मानन्तरप्रयोगात् अपदिष्टतागमकत्वे निबन्धनं हेतोः कालाद् दुष्टकर्मानन्तरं प्रयोगः प्रत्यक्षादिविरुद्धस्य दुष्टकर्मानन्तरं प्रयोगाद्धेतुकालव्यतिक्रमेण प्रयोगः । तस्माच्च कालात्ययापदिष्टशब्दाभिधेयता, हेत्वाभासता च । सम्म० २ काण्ड ।

कालच्छेय—कालच्छेद—पुं० । कालविभागे, ध० ३ अधि० ।

कालणरय—कालनरक—पुं० । नरकभेदे, यत्र यावती स्थितिरिति । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कालणाण—कालज्ञान—न० । कालस्य शुभाशुभरूपस्य ज्ञाने, "काले कालणाणं" स्था० १० ठा० । "कालणाणसमासो, पुव्वायरियहिं णिण्णिओ एसो । दिणकरपक्खत्तीओ, सीसजणविबोहणट्ठाए" ॥१॥ ज्यो० २१ पाहु० । वाच० ।

कालणाणि (ण्)—कालज्ञानिन्—त्रि० । कालज्ञे, "कालं कालणाणी जाणइ वेज्जयं वेज्जो" । अनु० ।

कालणिवेसि (ण्)—कालनिवेशिन्—पुं० । अनस्तमिते रात्रिप्रथमायां पौरुष्यां निवेशं कृत्वा तिष्ठति, बृ० १ उ० । "कालणिवेसी जे अणत्थमिए आइच्चेऽवक्कमति" । नि० चू० १६ उ० ।

कालण्णु—कालज्ञ—त्रि० । कालं योग्यकालं ज्योतिषोक्तकालावयवं वा जानाति । ज्ञा-क । कालज्ञानयुक्ते ज्योतिषिके, वाच० । उचितानुचिताऽवसरज्ञे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० । कालज्ञान् वैद्यान्तिके प्रविशतो यः कालः प्रस्तावस्तद्वेदिनः । बृ० १ उ० ।

कालण्णुया—कालज्ञता—स्त्री० । कालं प्रस्तावमुपलक्षणत्वाद् देशं च जानातीति कालज्ञस्तद्भावः कालज्ञता । देशकालपरिज्ञाने, तस्मिन् हि सति गुर्वादिच्छन्दसा गुर्वादिभ्य आहारादिप्रदानं करोति ततो विनयहेतुत्वात्तदपि देशकालपरिज्ञानं विनय इति औपचारिकः षष्ठोऽयं विनयः । व्य० १ उ० ।

कालतिग—कालत्रिक—न० । अतीतानागतवर्त्तमानकालरूपे कालत्रये, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

कालदव्व—कालद्रव्य—न० । काल एव तत्र तद्रूपद्रवणात् द्रव्यं कालद्रव्यम् । द्रव्यभेदे, कर्म० । कालद्रव्यस्य निष्प्रदेशता, ततः काल एव तत्तद्रूपद्रवणाद्द्रव्यं कालद्रव्य, तत्र च कालस्य वस्तुतः समयरूपस्य निर्विभागत्वान्न देशप्रदेशसंभवः । अत एव नास्ति कालत्वाभावो वेदितव्यः । नन्वतीतानागतवर्तमानभेदेन कालस्यापि त्रैविध्यमस्तीति किमिति नोक्तम्? । सत्यम् । अतीतानागतयोर्विनष्टाऽनुत्पन्नत्वेनाऽविद्यमानत्वाद्वार्तमानिक एव समयरूपः सद्रूपः, यद्येवं तर्हि पूर्वसमयनिरोधेनैवोत्तरसमयसद्भाव असंख्यातानां समुदयसमित्याद्यसंभवादावलिकादयः शास्त्रान्तरप्रतिपादिताः कालविशेषाः कथं संगच्छन्ते? । सत्यम् । तत्त्वतो न संगच्छन्त एव, केवलं व्यवहारार्थमेव कल्पिता इति । कर्म० ४ कर्म० ।

कालदेव—कालदेव पुं० । द्वीपसमुद्रविशेषाधिपतौ, द्वी० ।

कालदोस—कालदोष—पुं० । दुःषमाऽनुभावे, पञ्चा० १७ विव० । अवसर्पिणीलक्षणस्य हीनहीनतरादिस्वभावस्य समयस्याऽपराधे, हारि० १८ अष्ट० । सूत्रदोषविशेषे च । यत्र हि अतीतादिकालव्यत्ययो यथा रामो वनं प्राविशदिति वक्तव्ये रामो वनं प्रविशतीत्याह । अनु० । आ० म० । विशे० । बृ० ।

कालद्धाणाइक्कंत—कालाध्वातिक्रान्त—त्रि० । प्रहरत्रयादूर्ध्वं ध्रियमाणे कालातिक्रान्ते, अर्द्धयोजनातिरेकादानीते च । तत्र साधूनामपरिभोगम् । आह-साधूनामुपयुक्तत्वात्कथं कालातिक्रान्तत्वसम्भवः । सत्यम् । सम्भवत्येव ग्लानादिहेतोः त्यक्तुं वा स्थण्डिलं न स्यात् सागारिका वा स्युश्चौरादिभयं वा तथा स्यादिति तत्र विवेकार्हं प्रायश्चित्तम् । जीत० ।

कालधम्म—कालधर्म—पुं० । कालो मरणं स एव धर्मो जीवपर्यायः कालधर्मः । ज्ञा० १ अ० । कालो मरणं तल्लक्षणो धर्मः पर्यायः कालधर्मः । विशे० । मरणे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । "तेणं कालेणं मव्याओ मणुस्सा कालधम्मुणा संजुत्ता भवंति" स्था० ४ ठा० ३ उ० । "कालधम्मुणा संजुत्त त्ति" मृतमित्यर्थः । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

कालपच्चक्खाण—कालप्रत्याख्यान—न० । नमस्कारपौरुषीप्रत्याख्यानादौ, "कालपच्चक्खाणं णमोक्कारपोरिसीपुरिमड्ढ पच्छिमड्ढादि अद्धमासावसाणेण दो दिवसा तिण्णि दिवसा मासो वा जाव छम्मासो त्ति" । आ० चू० ६ अ० ।

कालपडिलेहणा—कालप्रतिलेखना—(प्रत्युपेक्षणा) स्त्री० । कालस्य व्याघातिकप्रभृतिकालचतुष्टयप्रतिलेखना प्ररूपणा कालग्रहणरूपा कालप्रतिलेखना । कालग्रहणे, उत्त० ।

तत्फलम्-

कालपडिलेहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ? । कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥ २५ ॥

हे भदन्त ! कालप्रतिलेखनया कालस्य प्रादोषिकप्राभातिकादिकस्य प्रतिलेखना प्रत्युपेक्षणा सिद्धान्तोक्तविधिना सत्यप्ररूपणा ग्रहणप्रतिजागरणसावधानत्वं कालप्रतिलेखना, तया जीवः किं जनयति? । गुरुराह-हे शिष्य ! कालप्रतिलेखनया जीवो ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति । उत्त० २९ अ० ।

कालपरियाय—कालपर्याय—पुं० । मृत्योरवसरे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

कालपरियायमरण—कालपर्यायमरण—न० । संलेखनाकालपर्यायेण भक्तपरिज्ञादिमरणे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ४ उ० ।

कालपुरिस-कालपुरुष-पुं० । कालः कालचक्रं पुरुष इव । मेषादिद्वादशराशिस्वरूपे कालव्यवहारकारके पुरुषाकारे गगनस्थे वायुचक्रभेदे, वाच० । 'पुरिस' शब्दे वक्ष्यमाणस्वरूपे पुरुषभेदे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

कालपोग्गलपरियट्ट-कालपुद्गलपरावर्त्त-पुं० । कालतः पुद्गलपरावर्त्ते, कालतस्तु यदोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयेषु सर्वेष्वपि क्रमेणोत्क्रमेण वा अनन्तानन्तैर्भवैरेको जन्तुर्मृतो भवति तदा बादरकालपुद्गलपरावर्तो भवति, केवलं येषु समयेष्वेकदा मृतोऽन्यदपि यदि तेष्वेव समयेषु म्रियते तदा ते न गण्यन्ते, यदा पुनरेकद्वित्र्यादिसमयकममुल्लङ्घ्यापि अपूर्वेषु समयेषु म्रियते तदा ते व्यवहिता अपि समया गण्यन्त इति । कर्म० ५ कर्म० ।

कालपरिहीण-कालपरिहीन-न० । परिहानिः परिहीनं कालस्य परिहानम् । कालविलम्बे, रा० ।

कालप्पभ-कालप्रभ-पुं० । धरणादेरुत्पातपर्वते, स्था० १० ठा० । [स च येषां यावत्प्रमाणस्तथोक्तो द्वितीयभागे ८३३ पृष्ठे "उप्पाय" शब्दे]

कालप्पमाण-कालप्रमाण-पुं० । चतुःप्रमाणभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

कालवह-कालवध-पुं० । कालव्याघाते, "कविहसिअविज्जुगंमि अ, गज्जिअ उक्काय कालवहो" । आव० ५ अ० ।

कालवाल-कालपाल-पुं० । व्यन्तरेन्द्राणां लोकपाले, स्था० १० ठा० ।

कालभूमि-कालभूमि-स्त्री० । कालमण्डल्याम्, "ते पुण ससुरिउ चिय पासयणुकारकालभूमीओ" आव० ४ अ० ।

कालभोगि (ण्)-कालभोगिन्-त्रि० । मध्याह्ने सूर्येणापि म्रियमाणे उद्याने, बृ० १ उ० ।

कालमाण-कालमान-न० । कालो मन्यतेऽसौ । मन्-कर्मणि घञ् सुप्-स० । कालपरिमाणे, वाच० । कालपरिमाणपेक्षायाम्, पञ्चा० १० विव० । (देवानामाहारोच्छ्वासयोः कालमान 'माण' शब्दे वक्ष्यते)

कालमास-कालमास-पुं० । कालो मरणं तस्य मासः प्रक्रमादवसरः कालमासः । मरणमासे, भ० ७ श० १० उ० । "कालमासे कालं किच्चा" भ० ७ श० ६ उ० ।

कालमासिणी-कालमासिनी-स्त्री० । कालमासवर्त्यां गर्भाधानान्नवमासवर्त्याम्, "सिया य समणट्ठाए गुव्विणी कालमासिणी" । दश० ५ अ० १ उ० ।

कालमिगपट्ट-कालमृगपट्ट-पुं० । कालमृगचर्मणि, जं० २ वक्ष० । जी० ।

कालय-कालक-पुं० । भ्रमरे, विशे० । श्यामे, "तेण तेल्लेण उ-उभंतो कालओ जातो कालवण्णो नामेण विक्खातो" आ० म० द्वि० ।

कालसंघ-कालसङ्घ-पुं० । कालस्य साधूचितभिक्षासमयस्य सङ्घो लङ्घनमतिक्रम इति यावत् । अतिथिसंविभागव्रतस्यातिचारे, कालं न्यूनमधिकं वा ज्ञात्वा साधवो न ग्रहीष्यन्ति, ज्ञास्यन्ति च यथाऽयं ददातीत्येवं विकल्पतो दानार्थमभ्युत्थानमतीचार इति चतुर्थः । ध० २ अधि० ।

काललोहसिंचण-काललोहसेचन-न० । काललोहेनाऽभिषेचनरूपे शारीरदण्डे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

कालवट्ट-देशी-धनुषि, दे० ना० २ वर्ग ।

कालवडिंसग-कालावतंसक-न० । चमरचञ्चाराजधान्यां स्वनामख्याते विमाने, यत्र चमराग्रमहिषी काली देवी उपपन्ना । ज्ञा० १ अ० ।

कालवाइ (ण्)-कालवादिन्-पुं० । कालकृतमेव सर्वं जगन्मन्यमाने, नं० । कालवादिनश्च नाम ते मन्तव्या ये कालकृतमेव सर्वं जगन्मन्यन्ते । तथा च ते आहुः-न कालमन्तरेण चम्पकाशोकसहकारादिवनस्पतिकुसुमोद्गमफलबन्धादयो हिमकणानुषक्तशीतप्रपातनक्षत्रगर्भाधानवर्षादयो वा ऋतुविभागसंपादिता बालकुमारयौवनवलिपलितागमादयो वाऽवस्थाविशेषाः घटन्ते प्रतिनियतकालविभाग एव तेषामुपलभ्यमानत्वात् । अन्यथा सर्वमव्यवस्थया भवेत् । न चैतत् दृष्टमिष्टं वा । अपि च-मुद्गपक्तिरपि न कालमन्तरेण लोके भवन्ति दृश्यते, किं तु कालक्रमेण, अन्यथा स्थालीन्धनादिसामग्रीसंपर्कसंभवे प्रथमसमयेऽपि तस्या भावप्रसंगो न च भवति, तस्माद्यत्कृतकं तत्सर्वं कालकृतमिति । तथा चोक्तम्-

"न कालव्यतिरेकेण, गर्भबालशुभादिकम् ।
यत्किञ्चिज्जायते लोके, तदसौ कारणं किल ।
किंच कालादृते नैव, मुद्गपक्तिरपीक्षते ।
स्थाल्यादिसंनिधानेऽपि, ततः कालादसौ मता ॥ २ ॥
कालाभावे च गर्भादि, सर्वं स्यादव्यवस्थया ।
परेष्टहेतुसद्भावमात्रादेव तदुद्भवात् ॥ ३ ॥
कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः" ॥ ४ ॥

अत्र परेष्टहेतुसद्भावमात्रादिति पराभिमतवनितापुरुषसंयोगादिमात्ररूपहेतुसद्भावमात्रादेव, तदुद्भवादिति गर्भाद्युद्भवप्रसंगात् । तथा कालः पचति परिपाकं नयति परिणतिं नयति भूतानि पृथिव्यादीनि, तथा कालः संहरते प्रजाः पूर्वपर्यायात्प्रच्याव्य पर्यायान्तरेण प्रजाः लोकान् स्थापयति; तथा कालः सुप्तेषु जनेषु जागर्ति काल एव तं तं सुप्तं जनमापदो रक्षतीति भावः । तस्माद्धि स्फुटं दुरतिक्रमोऽपाकर्त्तुमशक्यः काल इति । नं० । खण्डनम्-तत्र ये कालवादिनः सर्वं कालकृतं मन्यन्ते तान् प्रति ब्रूमः-कालो नाम किमेकस्वभावो नित्यो व्यापी, किं वा समयादिरूपतया परिणमतीति ? । तत्र यद्याद्यः पक्षः तदयुक्तम् । तथाभूतकालग्राहकप्रमाणाभावात् खलु तथाभूतं कालं प्रत्यक्षेणोपलभामहे । नाप्यनुमानेन, तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । अथ कथं तदविनाभाविलिङ्गाभावो यावता दृश्यते भरतरामादिषु पूर्वापरव्यवहारः, स च न वस्तुस्वरूपमात्रनिमित्तो, वर्त्तमाने च काले वस्तुस्वरूपस्य विद्यमानतया तथा व्यवहारप्रवृत्तिप्रसक्तेः, ततो यन्निमित्तोऽयं भरतरामादिषु पूर्वापरव्यवहारः स काल इति । तथाहि-पूर्वकालयोगी पूर्वो भरतचक्रवर्त्ती, अपरकालयोगी चापरो रामादिरिति । ननु यदि भरतरामादिपूर्वापरकालयोगतः पूर्वापरव्यवहारस्तर्हि कालस्यैव कथं स्वयं पूर्वापरव्यवहारः ? । तदन्यकालयोगादिति चेत्, न ।

तत्राऽपि स एव प्रसङ्ग इत्यनवस्था। अथ मा भूदेष दोष इति, तस्य स्वयमेव पूर्वत्वमपरत्वं चेष्यते, नान्यकालयोगादिति। तथा चोक्तम्-" पूर्वकालादियोगी यः, पूर्वादिव्यपदेशभाक्। पूर्वापरत्वं तस्यापि, स्वरूपादेव नान्यतः" ॥१॥ तदप्याकण्ठपीताऽऽसवप्रलापदेशीयम्। यत एकान्तेनैको व्यापी नित्यः कालोऽभ्युपगम्यते ततः कथं तस्य पूर्वादित्वसंभवः? । अथ सहचारिसंपर्कवशादेकस्यापि तथात्वकल्पना। तथाहि-सहचारिणो भरतादयः पूर्वा अपरे च रामादयोऽपराः, ततस्तत्संपर्कवशात्कालस्यापि पूर्वापरव्यपदेशो भवति। सहचारिणो व्यपदेशो यथा-मञ्चाः क्रोशन्ति इति। तदेतदपि बालिशजल्पितम्। इतरेतराश्रयदोषप्रसंगात्। तथाहि-सहचारिणां भरतादीनां पूर्वादित्वं कालगतपूर्वादित्वयोगात्, कालस्य च पूर्वादित्वं सहचारिभरतादिगतपूर्वादित्वयोगतः, तत एकाऽसिद्धावन्यतरस्याप्यसिद्धिः। उक्तं च-

" एकत्वव्यापितायां हि, पूर्वादित्वं कथं भवेत्?।
सहचारित्वशात्स-दन्योऽन्याश्रयतागमः ॥ १ ॥
सहचारिणां हि पूर्वत्वं, पूर्वकालसमागमात्।
कालस्य पूर्वादित्वं च, साहचर्यवियोगतः " ॥ २ ॥

प्रागसिद्धावेकस्य कथमन्यस्य सिद्धिरिति तत्राद्यः पक्षः श्रेयान्। अथ द्वितीयः पक्षः, सोऽप्ययुक्तः, यतः समयादिरूपे परिणामिनि काले विशिष्टेऽपि फलवैचित्र्यमुपलभ्यते। तथाहि-समकालमारभ्यमाणायामपि मुद्गपङ्क्तिरविकला कस्यचिद् दृश्यते, अपरस्य तु स्थाल्यादिसंगतापि विकला। तथा समयकालमेकस्मिन्नेव राजनि सेव्यमाने सेवकस्यैकस्य फलमचिराद्भवति, अपरस्य तु कालान्तरेऽपि; तथा समानेऽपि समकालमपि क्रियमाणे कृष्यादिकर्मण्येकस्य परिपूर्णा धान्यसंपदुपजायते, अपरस्य तु खण्डस्फुटिता वा न किञ्चिदपि। ततो यदि काल एव केवलः कारणं भवेत्तर्हि सर्वेषामपि सममेव मुद्गपक्त्यादिकं फलं भवेत्, न च भवति, तस्मान्न कालमात्रकृतं विश्ववैचित्र्यम्, किं तु कालादिसामग्रीसापेक्षं तत्तत्कर्मनिबन्धनमिति स्थितम्। नं०। [अनेकान्तेन स्याद्वादिनामपि कालस्य कारणत्वं सम्मतमेव] कालोऽपि कर्त्ता, यतो बकुलचम्पकाशोकपुन्नागसहकारादीनां विशिष्ट एव काले पुष्पफलाद्युद्भवो न सर्वदेति। यच्चोक्तम्-कालस्यैकरूपत्वाज्जगद्वैचित्र्यं न घटत इति, तदस्मान् प्रति न दूषणम्, यतोऽस्माभिर्न काल एवैकः कर्तृत्वेनाभ्युपगम्यते, अपि तु कर्मापि, ततो जगद्वैचित्र्यमित्यदोषः। एकान्तवादसमाश्रयणे तु दोषः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

कालादेकान्तवादोऽपि मिथ्यात्वमेवेत्याह-

कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसकारणेगंता।
मिच्छत्तत्तो चेव उ, समासओ होंति सम्मत्तं ॥१५०॥

कालस्वभावनियतिपूर्वकृतपुरुषकारणरूपा एकान्ताः सर्वेऽप्येकका मिथ्यात्वम्, त एव समुदिताः परस्पराजहद्वृत्तयः सम्यक्त्वरूपतां प्रतिपद्यन्त इति तात्पर्यार्थः। तत्र काल एवैकान्तेन जगतः कारणमिति कालवादिनः प्राहुः। तथाहि-सर्वस्य शीतोष्णवर्षावनस्पतिपुरुषादेर्जगतः प्रभवस्थितिविशेषेषु ग्रहोपरागद्युतियुक्तोदयास्तमयगतिगमनागमनादौ वा कालः कारणं, तमन्तरेण संबंस्यास्योत्पत्तिकारणत्वाभिमतभावसद्भावेऽप्यभावात्, तत्सद्भावे च भावान्न युक्तम् "कालः पचति भूतानि" इत्यादि। असदेतत्। तत्कालसद्भावेऽपि वृष्ट्यादेः कदाचिददर्शनात्। नच तदजननमपि तद्विशेषकृतमेव, नित्यैकरूपतया तस्य विशेषाभावात्। विशेषे वा तज्जननाजननस्वभावतया तस्य नित्यत्वव्यतिक्रमात् स्वभावभेदाद् भेदसिद्धेः। नच ग्रहमण्डलादिकृतो वर्षादिविशेषः, तस्याप्यहेतुकतयाऽभावात्। नच काल एव तस्य हेतुः, इतरेतराश्रयदोषप्रसक्तेः। सति कालभेदे वर्षादिभेदहेतोर्ग्रहमण्डलादेर्भेदः, तद्भेदाच्च कालभेद इति परिस्फुटमितरेतराश्रयत्वम्। अन्यतः कारणाद्वर्षादिभेदेन काल एव एकः कारणं भवेत् इत्यभ्युपगमविरोधः। कालस्य कुतश्चिद्भेदाभ्युपगमे अनित्यत्वमित्युक्तम्। तत्र च प्रभवस्थितिविनाशेषु यद्यपरः कालः कारणं, तदा तत्रापि स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्थानान्न वर्षादिकार्योत्पत्तिः स्यात्। नचैकस्य कारणत्वं युक्तम्, क्रमयौगपद्याभ्यां तद्विरोधात्। तन्न काल एवैकः कारणं जगतः। सम्म० ३ काण्ड। आचा०।

कालवासि (ण्)-कालवर्षिन्-पुं०। अवसरवर्षिणि मेघे, अवसरे दानव्याख्यानादिपरोपकारार्थप्रवर्तके पुरुषजाते च। स्था० ४ ठा० ४ उ०।

कालविमोक्ख-कालविमोक्ष-पुं०। चैत्यमहिमादिकेषु कालेषु, समायातादिघोषणापादितो यावन्तं कालमुच्यते यस्मिन् वा काले व्याख्यायते तस्मिन् विमोक्षभेदे, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ०।

कालविभाग-कालविभाग-पुं०। अनाद्यपर्यवसितादिकालभेदेषु, "इत्तो कालविभागं तु, तेसिं वोच्छं चउव्विहं"। उत्त० ३६ अ०।

कालविरुद्ध-कालविरुद्ध-त्रि०। कालप्रतिकूले, कालविरुद्धं त्वेवम्-शीततौ हिमालयपरिसरे, ग्रीष्मर्तौ मरौ, वर्षासु अपरदक्षिणसमुद्रपर्यन्तभूभागेषु मयहारण्ये यामिनीमुखवेलायां वा प्रस्थानम्, तथा फाल्गुनमासाद्यनन्तरं तिलपीलनम्, तद्व्यवसायादि, वर्षासु वा पत्रशाकग्रहणादि ज्ञेयम्। ध० २ अधि०।

कालविवच्चास-कालविपर्यास-पुं०। ऋतुबद्धे अधिकवासे, वर्षासु विहारे च। "उउबद्धकाले अतिरेगो वासो एवं संभवति दुब्बलसंघट्टता वा वासासु विहरंति, एवं कालविवच्चासं करेंति" नि० चू० १ उ०।

कालवेला-कालवेला-स्त्री०। कालस्य शनेर्वेला कालभेदः। रव्यादिवारेषु दिवानिशोरर्द्धयामभेदे, वाच०। कालवेलायां प्रकरणानि निर्युक्तयो वा साधुभिर्गण्यन्ते, न वा?, तथा कालवेलायां श्राद्धैरपि संग्रहणीप्रमुखं गण्यते, न वेति प्रश्ने, कालवेलायां सर्वेषामप्याचारप्रदीपादौ निर्युक्तिभाष्यादिप्रभृति सर्वं पठनपाठनादि प्रतिषिद्धमस्ति। २६ प्र० सेन० २ उ०।

कालवेसिय-कालवैश्यक-पुं०। कालाख्यायाः वेश्यायाः पुत्रः कालवैश्यकः। मथुरानृपतेः कालवेश्यायां संजाते पुत्रे, उत्त० २ अ०। ('रोगपरीसह' शब्दे तत्कथा वक्ष्यते)

कालसंजोग-कालसंयोग-पुं०। वर्तमानादिकाललक्षणानुभूतौ, मरणयोगे च। स्था० ३ ठा० २ उ०।

कालसंदीव-कालसन्दीप-पुं०। रुद्रमहेश्वरमारितत्रिपुरासुरे, आ० क०। आ० चू०। सूत्र०। (" सिक्खा " शब्दे दर्शयिष्यमाणकथया स्पष्टीभविष्यति)

१२४

कालसमय–कालसमय–पुं०। कालश्चासौ समयश्च कालसमयः। कालरूपे समये, "पुरक्खडे कालसमयंसि वासाणं पढमे समए पमिवज्जइ।" पूर्वस्मिन् काले [समयंसि त्ति] समयः संकेतादिरपि भवति। सू० प्र० ८ पाहु०।

कालसमा–कालसमा–स्त्री०। अवसर्पिण्या उत्सर्पिण्या वा अरके कालविभागे, प्रथमः कालविभागः सुषमसुषमा, द्वितीयः सुषमा, तृतीयः सुषमदुःषमा, चतुर्थो दुःषमसुषमा, पञ्चमो दुःषमा, षष्ठो दुःषमदुःषमा इत्यर्थः। उक्तानि कालसमानामानि। ज्यो० २ पाहु०।

कालसमाहि–कालसमाधि–पुं०। समाधिभेदे, यस्य यं कालमवाप्य समाधिरुत्पद्यते। तद्यथा-शरदि गवां नक्तमुलूकानामह्नि वलिभुजां यस्य वा यावन्तं कालं समाधिर्भवति यस्मिन् वा समाधिर्व्याख्यायते स कालप्राधान्यात् कालसमाधिरिति। सू० श्रु० १ श्रु० १० अ०।

कालसमोसरण–कालसमवसरण–न०। समवसरणमेलापकभेदे, कालसमवसरणं तु परमार्थतो नास्ति, विवक्षया तु यत्र द्विपदादयः समवसरन्ति व्याख्यायते च समवसरणं यत्र तत्कालप्राधान्यादिदमुच्यते। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

कालसहाव–कालस्वभाव–पुं०। कालसामर्थ्ये, पञ्चा० १७ विव०।

कालसिला–कालशिला–स्त्री०। मरणार्थपादपोपगमनशिलायाम्, संथा०।

कालसोअरिय–कालसौकरिक–पुं०। कालनामके सूनावृत्तिके, स चाऽविनीतो मृत्वा सप्तमपृथिवीं गतः, तत्पुत्रः सुलसः सुश्रावकोऽभूदिति। आ० क०। नि० चू०। स्था०। सूत्र०। ('सुलस' शब्देऽस्य कथा वक्ष्यते)

कालहत्थि (ण्)–कालहस्तिन्–पुं०। कलम्बुकासन्निवेशस्थे प्रात्यन्तिके मेघस्य भ्रातरि, आ० म० द्वि०। आ० चू०। ('वीर' शब्देऽस्य कथा वक्ष्यते)

काला–काला (ली)–स्त्री०। कालो वर्णोऽस्त्यस्या अर्श-अच्। काली वर्णश्चेदिति वार्त्तिकोक्तेः कालशब्दस्यैव वर्णवाचित्वे ङीष्। इह तु अर्श आद्यजन्तत्वात् न ङीप्। नीलिन्यां कृष्णत्रिवृतायां कृष्णजीरके च। कल विक्षेपे, णिच् पचाद्यच्। मञ्जिष्ठायाम्, कुलिकवृक्षे, अश्वगन्धावृक्षे, पाटलावृक्षे च। वाच०। प्राकृते तु "अजातेः पुंसः"। ८। ३। ३२। इति अजातिवाचिनो जातिभिन्नवाचकात् कालशब्दात् वा ङीप्। काला काली। जातिवाचकात्तु ङीबेव, काली। प्रा० ३ पाद।

कालाइक्कंत–कालातिक्रान्त–न०। कालं दिवसस्य प्रहरत्रयलक्षणमतिक्रान्तं कालातिक्रान्तम्। "जेणं णिग्गंथे वा जाव साइमं पढमाए पोरिसीए पडिग्गहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवायणावित्ता आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा! कालाइक्कंते पाणभोयणे" इत्युक्तस्वरूपे कालातिक्रमदोषदुष्टे पानभोजने, भ० ७ श० १ उ०। तृष्णाबुभुक्षाकालाऽप्राप्ते वा पानभोजने, "कालाइक्कंतेहि य पमाणाइक्कंतेहि य पाणभोअणेहिं अप्पया कयाइ सरीरिगसंविउत्तरोगातंके पाउब्भूए" भ० ए श० ३३ उ०।

कालाइक्कंतकिरिया–कालातिक्रान्तक्रिया–स्त्री०। वसतेः कालातिक्रमदोषे, आचा०।

से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा जे भयंतारो उडुबद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवातिणावेत्ता तं दुगुणा दुगुणेण अपरिहरित्ता तत्थेव भुज्जो संवसंति अयमाउसो! इतरा उवट्ठाणकिरिया या वि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संते गतिया सड्ढा भवंति। तं जहा–गाहावईउ वा जाव कम्मकरीउ वा तेसिं च णं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति तं सद्दहमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेतिताइं भवंति। तं जहा–आएसणाणि वा आयतणाणि वा देवकुलाणि वा सभाओ वा पवाणि वा पणियगिहाणि वा पणियसालाओ वा जाणगिहाणि वा जाणसालाओ वा सुधाकम्मं ताणि वा डब्भकम्मं ताणि वा वद्धकम्मं पुव्वकम्मं इंगालकम्मं ताणि वा कट्ठकम्मं ताणि वा सुसाणकम्मं संतसुण्णागारगिरिकंदरा संति सेलोवट्ठाणकम्मं भवणगिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा तेहिं उवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो! अभिकंतकिरिया वि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमए समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति। तं जहा–आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा तेहिं अणोवयमाणेहिं उवयंति अयमाउसो! अणभिकंतकिरिया या वि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति। तं जहा–गाहावई वा जाव कम्मकरी वा तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति, जे इमे भवंति समणा भगवंतो सीलमंता जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ णो खलु एसिं भयंताराणं कप्पति आहाकम्मिए उवस्सए वत्थए सेज्जाणिमाणि अम्हं अप्पणो अट्ठाए चेइयाइं भवंति। तं जहा–आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा सव्वाणि ताणि समणाणं णिसिरामो अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सयट्ठाए चेतिस्सामो तं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्मं जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, इयरा इतरेहिं पाहुडेहिं वट्टंत्ति अयमाउसो! वज्जकिरिया वि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति तेसिं च णं आयारगोयरे जाव तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहण० जाव वणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति। तं जहा–आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा उवागच्छंति, इतरा इतरे-

हिं पाहुमेहिं अयमाउसो ! महावज्जकिरिया यावि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संते गइया जाव तं रोयमाणेहिं बहवे समणजाए समुद्दिस्स तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइ भवंति । तं जहा–आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, इयरा इयरेहिं पाहुमेहिं अयमाउसो ! सावज्जकिरिया यावि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति । तं जहा-गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा तेसिं च णं आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति, तं सद्दहमाणेहिं ३ एकं समणजायं समुद्दिस्स तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइ भवंति । तं जहा–आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा महया पुढविकायसमारंभेणं एवं आउतेउवाउवणस्सइ महया तसकायसमारंभेणं महया संरंभेणं महया समारंभेणं महता आरंभेणं महया विरूवरूवेहिं पावकम्मकिचेहिं तं जहा–छायणओ लेवणओ संथारदुवारपिहाणओ सीतोदए वा परिट्ठविय पुव्वे भवति, अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवति, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा उवागच्छंति इतरा इतरेहिं पाहुमेहिं दुपक्खंते कम्मं सेवंति अयमाउसो ! महासावज्जकिरिया यावि भवति, इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं अप्पणो सयट्ठाए तत्थ तत्थ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमारंभेणं जाव अगणिकाए वा उज्जालियपुव्वे भवति, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति, इतरा इतरोहिं पाहुमोहिं एगपक्खंते कम्मं सेवंति अयमाउसो ! अप्पसावज्जकिरिया यावि भवति एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ।

साम्प्रतं कालातिक्रान्तवसतिदोषमाह-(से) इत्यादि । तेष्वारामागारेषु ये भगवन्त ऋतुबद्धमिति शीतोष्णकालयोर्मासकल्पमुपनीयातिवाह्य वर्षासु वा चतुरो मासाननिवाह्य तत्रैव पुनः कारणमन्तरेणासते, अयमायुष्मन् ! कालातिक्रमदोषः संभवति । तथा च स्त्र्यादिप्रतिबन्धः स्नेहादुद्गमादिदोषसंभवो वेत्यत स्तथा स्थानं न कल्पते इति । इदानीमुपस्थानदोषमभिधित्सुराह–(से) इत्यादि । ये भगवन्तः साधव आगन्तारादिषु ऋतुबद्धं वर्षा वाऽतिवाह्यान्यत्र मासमेकं स्थित्वा द्विगुणत्रिगुणादिना मासकल्पेनापरिहृत्य द्वित्रैर्मासैर्व्यवधानमकृत्वा पुनस्तत्रैव वसन्ति । अयमेवंभूतः प्रतिश्रय उपस्थानक्रियादोषदुष्टो भवतीत्यतस्तत्रावस्थातुं न कल्पत इति । इदानीमभिक्रान्तवसतिप्रतिपादनायाह–इह प्रज्ञापकाद्यपेक्षया प्राच्यादिषु दिक्षु श्रावकाः प्रकृतिभद्रका वा गृहपत्यादयो भवेयुः तेषां च साध्वाचारगोचरः(णो सुणिसन्ती इति)न सुष्ठु निशान्तः श्रुतोऽवगतो भवेत साधूनामेवंभूतः प्रतिश्रयः कल्पते, नैवंभूत इत्येवं न ज्ञातं भवतीत्यर्थः । प्रतिश्रयदानफलं च स्वर्गादिकं तैः कुतश्चिद्वगतं तच्छ्रद्दधानैः प्रतीयमाने रोचयद्भिरेकार्था एते, किञ्चिद्भेदाद्वा भेदः । तदेवंभूतैरगारिभिर्गृहस्थैर्बहून् श्रमणादीनुद्दिश्य तत्र तत्राऽऽरामादौ यानशालादीनि स्वार्थं कुर्वद्भिः श्रवणाद्यवकाशार्थम् (चेइयांति) महान्ति कृतानि भवन्ति चागाराणि, स्वनामग्राहं दर्शयति । तद्यथा–आवेशनानि लोहकारादिशाला, आयतनानि देवकुलपार्श्वापवरकदेवकुलानि प्रतीतानि, सभाश्चातुर्वैद्यादिशालाः, प्रपा उदकदानस्थानानि, पण्यगृहाणि पण्यापणाः, शाला घंघशाला, यानगृहाणि यत्र यानानि तिष्ठन्ति, यानशाला यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते (सुधाकम्मं ति) तानि यत्र सुधा परिकर्म्म क्रियते । एवं दर्भवल्कवनाङ्गारकाष्ठकर्मगृहाणि द्रष्टव्यानि । श्मशानगृहं प्रतीतम्, शान्तिकर्मगृहं यत्र शान्तिकर्म्म क्रियते, गिरिगृहं पर्वतोपरिगृहं, कन्दरं गिरिगुहा संस्कृता, शैलोपस्थानं पाषाणमण्डपः, तदेवंभूतानि गृहाणि तैश्चरकब्राह्मणादिभिरभिक्रान्तानि पूर्वं पश्चाद् भगवन्तः साधवोऽवपतन्त्यवतरन्ति । अयमायुष्मन् ! विनेयामन्त्रणम् । अभिक्रान्तक्रिया वसतिर्भवत्यल्पदोषा चेयम् । इहेत्यादि सुगमं, नवरं चरकादिभिरनवसेवितपूर्वानभिक्रान्तक्रियावसतिर्भवतीयं चाऽनभिक्रान्तत्वादेवाकल्पनीयेति । साम्प्रतं वर्ज्याभिधानां वसतिमाह–इह खल्वित्यादि प्रायः सुगमम् । समुदायार्थोन्यात्मार्थं गृहाणि निर्वर्तितानि साधुभ्यो दत्त्वा आत्मार्थं त्वन्यानि कुर्वन्ति, ते च साधवस्तेष्वितरेतरेषूच्चावचेषु (पाहुडेहिं ति) प्रदत्तेषु गृहेषु यदि वर्त्तन्ते ततो वर्ज्यक्रियाभिधाना वसतिः सा च न कल्पते इति । इदानीं महावर्ज्याभिधानां वसतिमधिकृत्याह–इहेत्यादि प्रायः सुगममेव, नवरं श्रमणाद्यर्थं निष्पादितायां यावन्ति वसतौ स्थानादि कुर्वतो महावर्ज्याभिधाना वसतिर्भवत्यकल्प्या चेयं विशुद्धकोटिश्चेति । इदानीं सावद्याभिधानामधिकृत्याह–इहेत्यादि प्रायः सुगमं, नवरं पञ्चविधश्रमणाद्यर्थमेवैषा कल्पिता, ते चामी श्रमणाः–"णिग्गंथसक्कतावसगेरुअआजीवपञ्चहा समणा इति" अस्यां च स्थानादि कुर्वतः सावद्यक्रियाऽभिधाना वसतिर्भवति, अकल्पनीया चेयं विशुद्धकोटिश्चेति । महासावद्याभिधानामधिकृत्याह–(इहेत्यादि) इह कश्चिद् गृहपत्यादिरेकं साधर्मिकमुद्दिश्य पृथिवीकायादिसंरम्भसमारम्भैरन्यतरेण वा महता तथा विरूपरूपैर्नानारूपैः पापकर्मकृत्यैरनुष्ठानैस्तद्यथा छादनतो लेपनतस्तथा संस्तारकार्थं द्वारढक्कनार्थं चेत्यादीनि प्रयोजनान्युद्दिश्य शीतोदकं त्यक्तपूर्वं भवेत, अग्निर्वा प्रज्वालितपूर्वो भवेत्, तदस्यां वसतौ स्थानादि कुर्वन्तस्ते द्विपक्षं कर्मासेवन्ते । तद्यथा-प्रव्रज्यां आधाकर्मिकवसत्यासेवनाद् गृहस्थत्वं च रागद्वेषं च ईर्यापथं सांपरायिकं चेत्यादिदोषान् महासावद्यक्रियाभिधाना वसतिर्भवतीति । इदानीमल्पक्रियाभिधानामाधिकृत्याह–इहेत्यादि सुगमं, नवरम् अल्पशब्दोऽभाववाचीति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभाव इति । "कालाइक्कंतुवट्ठाणा अभिकंता चेव अणभिक्कन्ता य वज्जा य महावज्जा सावज्जमहप्पाकिरिया य" । एताश्च नव वसतयो यथाक्रमं नवभिरनन्तरसूत्रैः प्रतिपादिताः, आसु च अभिक्रान्ता अल्पक्रिये योग्ये, शेषास्त्वयोग्या इति । आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० । पं० व० ।

कालाइक्कंता–कालातिक्रान्ता–स्त्री० । कालमतिक्रान्ता कालातिक्रान्ता । कालातिक्रान्तक्रियाख्ये वसतिदोषभेदे, "उउमासं समईआ, कालाईआ उ सा भवे सिज्जा" । (ऋताविति) ऋतुबद्धे मासं समतीता या निवासेन, उपलक्षणाद्वर्षाकाले वा चतुरकालातीतासु कालातीतैव, सा भवेच्छय्या, शय्येति वसतिः । अन्ये तु पाग-

न्तर इत्थं व्याचक्षते-ऋतुवर्षयोः समतीता निजं कालमृतुबद्धे मासं वर्षाकाले चतुर इति शेषं मूलवत् । पं० व० ३ द्वार ।

काळाइक्कम-कालातिक्रम-पुं० । कालस्य साधूचितभिक्षासमयस्याऽतिक्रमोऽदित्सयाऽनागतभोजनपश्चाद्भोजनद्वारेणोल्लङ्घनं कालातिक्रमः । अतिथिसंविभागस्य चतुर्थशिक्षाव्रतस्याऽतिचारे, पञ्चा० १ विव० । । कालस्यातिक्रमः कालातिक्रम इत्युचितो यो भिक्षाकालः साधूनां, तमतिक्रम्यानागतं वा भुक्तेऽतिक्रान्ते वा तदा च किञ्चित्सेन लब्धेनापि कालातिक्रान्तत्वात्तस्य । उक्तं च-"काले दिन्नस्स पहेणयस्स अग्घो न तीरई किं तु । तस्सेव अ कालपणा-मियस्स गेण्हंतया नत्थि" ॥आव० ६ अ० ।

कालाइचार-कालातिचार-पुं० । दीर्घस्थितिके,"आउस्स कालाइचरं व घाए, लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ।" सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

कालाएस-कालादेश-पुं० । कालप्रकारे कालत इत्यर्थे, भ० २४ श० १ उ० ।

कालाकाल-कालाकाल-पुं० । संचरणस्य उचिताऽनुचितरूपयोः समयाऽसमययोः, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कालाग (गु) रु-कालाग (गु) रु-न० । कृष्णागुरुणि, ज्ञा० १ अ० । "कालागुरुकंदुरुक्कधूवमघमघायमाणगंधुद्धुयाभिरामे"। प्रज्ञा० २ पद । औ० । रा० ।

कालाणुओग-कालानुयोग-पुं० । तृतीयेऽनुयोगे, स च सूर्यप्रज्ञप्तिः, उपलक्षणमेतत्-चन्द्रप्रज्ञप्त्यादिरपि । आ० म० द्वि० ।

कालाणुट्ठाइ (ण्)-कालानुष्ठायिन्-त्रि० । यद्यस्मिन् काले कर्त्तव्यं तस्मिन्नेवानुष्ठातुं शीलमस्येति कालानुष्ठायी । कालानतिपातकर्तव्योद्यते, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

कालादेस-कालादेश-पुं० । एकादिसमयस्थितिकत्वे, भ० ५ श० ८ उ० । कालविशेषितत्वलक्षणप्रकारे, भ० १४ श० ४ उ० ।

कालायस-कालायस्-न० । लोहविशेषे, भ० १ श० ५ उ० । औ० । जं० । "कालायससुकयणेमिजंतकम्मं" कालायसेन लोहविशेषेण सुष्ठु अतिशयेन कृतनेमेर्बाह्यपरिधेर्यन्त्रस्य चारकोपरि फलकचक्रवालस्य कर्म यस्मिन् स कालायससुकृतनेमियन्त्रकर्मा । जं० ३ प्रति० । लोहमात्रे, जं० ३ प्रति० ।

कालायार-कालाचार-पुं० । ज्ञानाचारभेदे, नि० चू० ।

> जं जम्मि होइ काले, आयरियव्वं स कालमायारो ।
> वइरित्तो तु अकालो, लहुगा तु अकालकारिस्स ॥६॥

[जमिति] अणिहिट्ठं सुयं घेप्पइ [जम्मि] काले आधारभूते [होति] भवतीत्यर्थः । [आयरियव्वं] णाम पढियव्वं सोयव्वं वा, जहा सुत्तपोरिसीए सुत्तं कायव्वं, अत्थपोरिसीए अत्थो, अहवा कालियं कालए वणउग्घाडपोरिसीए, उक्कालियं सव्वासु पोरिसीसु कालवेलं मोत्तुं [स] इति निद्देसे । अओ स एव कालो कालायारो भवति । वइरित्तो णाम जहाऽभिहियकालाओ अण्णो अकालो भवति, जहा सुत्तं वितियाए, अत्थं पढमाए पोरिसीए वा सज्झाए वा असज्झाए वा, तुसद्दो कारणावेक्खी, कारणं पप्प विवज्जासो वि कज्जति, अतो तम्मि अकाले दप्पेण पढंतस्स सुणेंतस्स वा पच्छित्तं भवति । तं च इमं लहुयाओ अकालकारिस्स सुत्ते अत्थे य । तुसद्दो केवि मतविसेसावेक्खी, तं च उवरिं भणीहि त्ति ।

इयाणिं चोदगो भणति-

> को आउरस्स कालो, मइ णवर धोवणे व्व को कालो ।
> जदि मोक्खहेउनाणं, को कालो तस्स कालो वा ॥ १० ॥

[को] क आतुरो रोगी, कलनं कालः, कलासमूहः कालः, तेण वा कारणभूतेन दिव्वादिवउक्कयं कलिज्जतीति कालः, ज्ञायत इत्यर्थः । कोकारसद्दाभिहाणेण य ण कोइ कालो कालोऽभिधारिज्जइ । यथाऽन्यत्राप्यभिहितम्-को राजा न रक्षति मल्लो जस्स विज्जति, तं मइलं अंबरं वत्थं तस्स य मइलंबरस्स धोवणे प्रति कालाकालो न विद्यते, भणिया दिट्ठंता । इयाणिं दिट्ठंतितो अत्थो भण्णति-एवं [जइ] जइ त्ति अब्भुवगमो सव्वकम्मावगमो मोक्खो भण्णति, तस्स य हेउं कारणं निमित्तमिति पज्जाया । ज्ञायते अनेनेति ज्ञानं, यद्येवमभ्युपगम्यते ज्ञानं कारणं न भवति मोक्षस्यातो कालो तस्स अकालो वा कालः । [तस्सेति] तस्स णाणस्स अ कालो वा, मा भवतु इति वक्कसेसं ।

आयरिओ भणति-सुणेहि चोदग ! समयपसिद्धेहिं लोगपसिद्धेहि य कारणेहिं पच्चाइ-

> आहारविहारादिसु, मोक्खहिगारेसु काल अकालो ।
> जह दिट्ठो तह सुत्ते, विज्जाणं साहणे चेव ॥ ११ ॥

आहारिज्जतीति आहारो, सो य मोक्खकारणं भवति, जहा तस्स कालो अकालो य दिट्ठो, भणियं च अकाले चरसि भिक्खुसिलोगो, विहरणं विहारो, सो य उडुबद्धेन वासासु अहवा दिवा न रातो, अहवा दिवसातो वि ततियाए न सेसासु, सो य विहारो मोक्खकारणं भवति । [मोक्खहिगारेसु त्ति] मोक्खकारणेसु, अहवा मोक्खत्थं आहाराइसु अहिगारो कीरति, जहा जेण पगारेण दिट्ठो उदाहडो कालो अकालो य तहा तेणप्पगारेण [सुत्ते त्ति] सुयणाणे तम्मि वि कालाकालो भवतीति वक्कसेसं । किं च-विज्जाणं साहणे चेव कालाकालो दिट्ठो, जहा काइ विज्जा कण्हचाउद्दसिअट्ठमीसु साहिज्जति, अकाले पुण साहिज्जमाणी उवघायं जणयति, तहा णाणं पि काले अहिज्जमाणं णिज्जरादेउ भवति, अकाले पुण उवघातकरं कम्मबंधाय भवति, तम्हा काले पढियव्वं, अकाले पढंतं पडिणीया देवता छलेज्ज ।

जहा-

> तक्कं कुमेणाहरणं, दोहियधमणेहि होति णायव्वं ।
> अतिसिरिमिच्छंतीए, विणासितो अप्पहारं तु ॥ १२ ॥

तक्कं उदसी, कुडो घमो आहरणं दिट्ठंतो, तक्कभारिएण कुमेण आहरणं दिज्जति, जहा महुराए णयरीए एगो साहू पाउसियं कालं घेत्तुं अइक्कंताए पोरिसीए कालियसुयमणुवओगेण पढति, तं सम्मदिट्ठी देवया पासति, ताए चिंतियं-मा एयं साहुं पंता देवता छलेहि, तओ णं पडिवोहेमि, ताए य आहीरीरूवं काउं तक्ककुडं घेत्तुं तस्स पुरओ 'तक्कं विक्कायइ' त्ति घोसंती गताऽऽगताणि करेति, तेण साहुणा विरस्स सज्झायवाघारं करेति त्ति भणिया-को इमो तक्कवक्कयकालो ? । तयाऽऽभणियं-तुज्झं पुणाइ को इमो कालियस्स सज्झायकालो अ । भणियं च-"सूईपदप्पमाणाणि, परिच्छिद्दाणि पाससि । अप्पणो बिल्लमेत्ता-

णि परसंतो वि ण पाससि"॥१॥ साहू उवउत्तो, णायं मिच्छा मि दुक्कडं ति आउट्टो। देवया जणति-मा अकाले पढमाणो पंतदेवयाए छलिज्जिहिसि। अहवा इदमुदाहरणम्-दोहि य धमएहिं धमे धमे णातिधमे अतिधंतं न सोभति, जं अज्जियं धम्मं ते तेण तहाविधं अतिधम्मं तेण एगो सामाइओ, छेत्तेसु अंतो सूअराइसावज्जनासणत्थं सिंगं धमति। अण्णया तेणो वासे चोरा गावीओ हरंति, तेण समावत्तीए धंतं चोरा कुद्दो आगओ त्ति गावीओ छड्डेउ गया, तेण पभाए दट्ठुं नीया इओ घरं चिंतेइ य-धंतप्पभावेण मे पत्ताओ, अभिक्खं धमामि अण्णा वि पाविस्सं, एवं छेत्तं गावीओ य रक्खंतो अत्थति, अण्णया तेण चेव अंतेण ते चोरा गावीओ हरंति, तेण य सिंगयं धंतं चोरेहिं आणक्खेऊण हओ, गावीओ य णीयाओ। तम्हा काले चेव धम्मियव्वं। इदाणि बितिओ धमओ भण्णति-एगो राया दंडयत्ताए चलिओ, पढ़ेण य संखधमेण समावत्तीए तम्मि काले संखो पूरितो, तुट्ठो राया थक्के पूरितो त्ति वाहिरितो संखपूरओ, सयसहस्सं से दिण्णं, सो तेणं चेव हेवाएणं धम्मंतो अत्थति। अण्णया राया विरेयणपीमितो वच्चगिहमेतीति, तेण य संखो दिण्णो, परबलकोइं च वट्टति, राया संतत्तो, वेगधारणं च से जायं, गिलाणो संवुत्तो, तओ उट्ठिएण रण्णा सव्वस्सहरणो कओ। जम्हा एते दोसा अकालकारीणं तम्हा काले चेव पढियव्वं, ण अकाले। अहवा इमो दिट्ठंतो-"अतिसिरिमिच्छंतीए" वत्तव्वं। आयरिओ भणइ-हे चोदग! अकाले तुमं पढंतो अतिसिरिमिच्छसि, अतिसिरिमिच्छंतो य विणासं पाविहिसि। कहं सिरीए मतिमंतुस्से अतिसिरिणाइ एत्थए "अतिसिरिमिच्छंतीए, थेरीए विणासिओ"। अण्णा एगा थाणहारिगथेरीए वाणमंतरमाराहियं, अच्चणं करेंतीए अण्णया छगणाणि पल्लत्थयंतीए रयणाणि जायाणि, इस्सरीभूया चाउस्सालं घरं कारियं अणेगधणरयणसयणासणभरियं, सहाभियथेरी य तं पेक्खति, पुच्छति य-कुओ एयं दविणं त्ति। तीए य जहाभूयं कहियं। ताए वि उवलेवणधूवमादीहिं आराहितो वाणमंतरो, भणति य-बूहि वरं। तया लवितं-जं तीए तं मम दुगुणं भवउ, तं व तीए सव्वं दुगुणं जायं। ततो तुट्ठा अत्थति। ताए य पुरिमत्थेरीए तं सव्वं सुयं, ताए य अमरिसपुण्णाए चितियं मम चाउस्सालं फिट्टउ, तणकुडिया भवउ, बितियाए दो ती कुडिआओ जायाओ' पुणो तीए चिंतियं-मम एक्कं अत्थि फुल्लयं भवउ इयरीए दो वि फुल्लाइं, एवं हत्थे पाए वसंमिओ विणासमुवगता। एसो असंतोसदोसो। तम्हा अतिरित्ते काले सज्झाओ ण कायव्वो, मा एवं विराहणा भविस्सति त्ति। भणिओ कालायारो। नि० चू० १ उ०।

कालावइ-कालापत्-स्त्री०। दुष्कालादौ, जीत०।

कालावग-कालापक-न०। कालापकस्य कलापिना प्रोक्तस्य शाखाभेदस्य धर्मे आम्नायो वा। (चरणाद् धर्माम्नाययोः) "चरणेभ्यो धर्मवत्"। ४। २। ४६। इति (पाणि०) वुञ्। कलापिप्रोक्तशाखाभेदस्य धर्मे, आम्नाये च। वाच०। व्याकरणभेदे, कल्प० १ क्षण।

कालासवेसियपुत्त-कालाश्यवैशिकपुत्र-पुं०। स्वनामख्याते पार्श्वापत्यीये, भ०।

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे कालासवेसियपुत्ते णामं अणगारे जेणेव थेरा भगवंतो तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता थेरं भगवं एवं वयासी-थेरा सामाइयं ण याणंति, थेरा सामाइयस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा पच्चक्खाणं न याणंति, थेरा पच्चक्खाणस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संजमं ण याणंति, थेरा संजमस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा संवरं ण याणंति, थेरा संवरस्स अट्ठं न याणंति, थेरा विवेगं ण याणंति, थेरा विवेगस्स अट्ठं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गं ण याणंति, थेरा विउस्सग्गस्स अट्ठं न याणंति। तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी-जाणामो णं अज्जो! सामाइयं, जाणामो णं अज्जो! सामाइयस्स अट्ठं, जाव जाणामो णं अज्जो! विउस्सग्गस्स अट्ठं। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वयासी-जइ णं अज्जो! तुब्भे जाणह सामाइयं, जाणह सामाइयस्स अट्ठं०, जाव जाणह विउस्सग्गस्स अट्ठं। के भे अज्जो! सामाइए, के भे सामाइयस्स अट्ठे० जाव के भे विउस्सग्गस्स अट्ठे?। तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी-आया णे अज्जो! सामाइए, आया णे अज्जो! सामाइयस्स अट्ठे, जाव विउस्सग्गस्स अट्ठे। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंते एवं वयासी-जइ भे अज्जो! आया सामाइए आया सामाइयस्स अट्ठे,० जाव आया विउस्सग्गस्स अट्ठे, अवहट्टु कोहमाणमायालोभे किमट्ठं अज्जो! गरहह?। कालासा! संजमट्ठयाए। से भंते! किं गरहासंजमे अगरहासंजमे?। कालासा! गरहासंजमे, नो अगरहासंजमे। गरहा वि य णं सव्वं दोसं पविणेइ सव्वं बालियं परिण्णाए एवं खु णे आयासंजमे उवहिए भवइ, एवं खु णे आयासंजमे उवचिए भवइ, एवं खु णे आयासंजमे उवट्ठिए भवइ, एत्थ णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे संबुद्धे थेरे भगवंते वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसइत्ता एवं वयासी-एएसि णं भंते! पयाणं पुव्विं अण्णाणयाए असवणयाए अबोहियाए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं अस्सुयाणं अमुयाणं अविण्णायाणं अव्वोकडाणं अव्वोच्छिण्णाणं अणिज्जूढाणं अणुवधारियाणं एयमट्ठं णो सद्दहिए णो पत्तिइए णो रोइए, इयाणिं भंते! एएसि णं पयाणं जाणणयाए सवणयाए बोहियाए अभिगमेणं दिट्ठाणं सुयाणं सुयाणं विण्णायाणं वोगडाणं वोच्छिण्णाणं णिज्जूढाणं उवधारियाणं एयमट्ठं सद्दहामि पत्तियामि रोएमि एवमेयं से जहेयं तुब्भे वयह। तए णं ते थेरा भगवंतो कालासवेसियपुत्तं अणगारं एवं वयासी-सद्दहाहि अज्जो! पत्तिआहि अज्जो! रोएहि अज्जो! से जहेयं अम्हे वयामो। तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे थेरे भगवंतो वंदइ नमंसइ, वंदित्ता

णमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भे अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं से कालासवेसिए पुत्ते अणगारे थेरे भगवंते वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसइत्ता चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तए णं से कालासवेसियपुत्ते अणगारे बहूणि वासाणि सामण्णपरियागं पाउणइ, पाउणइत्ता जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे मुंडभावे अन्हाणयं अदंतधुवणयं अच्छत्तयं अणोवाहणयं भूमिसेज्जा फलहसेज्जा कट्ठसेज्जा केसलोओ बंभचेरवासो परघरप्पवेसो लद्धावलद्धी उच्चावया गामकंटया बावीसं परीसहोवसग्गा अहियासिज्जइ तमट्ठं आराहेइ, आराहेइत्ता चरमेहिं उस्सासनीसासेहिं सिद्धे बुद्धे मुक्के परिनिव्वुए सव्वदुक्खप्पहीणे ।

(तेणमित्यादि) (पासावच्चिज्जे त्ति) पार्श्वापत्यानां पार्श्वजिनशिष्याणामयं पार्श्वापत्यीयः । (थेर त्ति) श्रीमन्महावीरजिनशिष्याः श्रुतवृद्धाः । (सामाइयं ति) समभावरूपम् । (न याणंति त्ति) न जानन्ति, सूक्ष्मत्वात्तस्य (सामाइयस्स अट्ठं ति) प्रयोजनं कर्मानुपादाननिर्जरणरूपम् । (पच्चक्खाणं ति) पौरुष्यादिनियमं, तदर्थं चाश्रवद्वारनिरोधम । (संजमं ति) पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणं, तदर्थं चानाश्रवत्वम (संवरं ति) इन्द्रियनोइन्द्रियनिवर्तनं, तदर्थं तु अनाश्रवत्वमेव (विवेगं ति) विशिष्टबोधं, तदर्थं च त्याज्यत्यागादिकम । (विउस्सग्गं ति) व्युत्सर्गं कायादीनां, तदर्थं चानभिष्वङ्गताम । (अज्जो त्ति) हे आर्य ! ओकारान्तता सम्बोधने प्राकृतत्वात् । [के भे ति] किं भवतामित्यर्थः (आयाणे त्ति) आत्मनोऽस्माकं मते सामायिकमिति । यदाह-" जीवो गुणपडिवन्नो, न यस्स दव्वट्ठियस्स सामइयं " । सामायिकार्थोऽपि जीव एव, कर्मानुपादानादीनां जीवगुणत्वात्, जीवाव्यतिरिक्तत्वाच्च तद्गुणानामिति, एवं प्रत्याख्यानाद्यप्यवगन्तव्यम् । [जइ भे अज्जो त्ति] यदि भवतां हे आर्याः स्थविराः ! सामायिकमात्मा, तथा (अवहट्टु त्ति) अपहृत्य त्यक्त्वा क्रोधादीन् किमर्थं गर्हध्वे । "निन्दामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि " इतिवचनात् क्रोधादीनेव, अथवा अवद्यमिति गम्यते । अयमभिप्रायः-यः सामायिकवान् त्यक्तक्रोधादिश्च स कथं किमपि निन्दति । निन्दा हि किल द्वेषप्रभवेति । अत्रोत्तरम । संयमार्थमिति । अवद्यं गर्हिते संयमो भवति, अवद्यानुमतेर्व्यवच्छेदनात् । तथा गर्हासंयमस्तद्धेतुत्वान्न केवलमसौ, गर्हाकर्मानुपादानहेतुत्वात्संयमो भवति । (गरहा वि य त्ति) गर्हैव च सर्वं (दोसं ति) दोषं रागादिकं, पूर्वकृतपापं वा, द्वेषं वा, प्रविनयति क्षपयति । किं कृत्वेत्याह-[सव्वं बालियं ति] बाल्यं बालतां मिथ्यात्वमविरतिं च (परिण्णाए त्ति) परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्यायेति । इह च गर्हायास्तज्ज्ञानस्याभेदादेककर्तृकत्वेन परिज्ञायेत्यत्र क्त्वाप्रत्ययविधिरदुष्ट इति । (एवं खु त्ति) एवमेव [णे इति] अस्माकम । (आयासंजमे उवहिए त्ति) उपहितः प्रक्षिप्तः स्थितो भवति । अथवा-आत्मरूपः संयम उपहितः प्राप्तो भवति । (आयासंजमे उवचिए त्ति) आत्मा संयमविषये पुष्टो भवति । आत्मरूपो वा संयम उपचितो भवति । (उवट्ठिए त्ति) उपस्थितोऽत्यन्तावस्थायी । [एएसि णं भंते ! पयाणं इति] अस्य " अदिट्ठाणमित्यादिना " सम्बन्धः । कथमदृष्टानामित्यत आह-(अण्णाणयाए त्ति) अज्ञानो निर्ज्ञानस्तस्य भावोऽज्ञानता , तयाऽज्ञानतया, स्वरूपेणानुपलम्भादित्यर्थः । एतदेव कथमित्याह-[असवणयाए त्ति] अश्रवणः श्रुतिवर्जितस्तद्भावस्तत्ता, तया [अबोहिए त्ति] अबोधिर्जिनधर्मानवाप्तिः, इह तु प्रक्रमान्महावीरजिनधर्मानवाप्तिस्तया, अथ वौत्पत्तिक्यादिबुद्ध्यभावेन [अणभिगमेणं ति] विस्तरबोधाभावेन हेतुना अदृष्टानां साक्षात्स्वयमनुपलब्धानामश्रुतानामन्यतोऽनाकर्णितानाम [असुयाणं ति] अस्मृतानां दर्शनाकर्णनाभावेनाननुध्यातानाम् , अत एवाविज्ञातानां विशिष्टबोधाविषयीकृतानाम । एतदेव कुत इत्याह-- [अव्वोकडाणं ति] अव्याकृतानां विशेषतो गुरुभिरनाख्यातानाम । [अव्वोच्छिन्नाणं ति] विपक्षाद्व्यवच्छेदितानाम [अनिज्जूढाणं ति] महतो ग्रन्थात् सुखावबोधाय संक्षेपनिमित्तमनुग्रहपरगुरुभिः अनुद्धृतानाम , अत एवास्माभिरनुपधारितानामनवधारितानाम [एयमट्ठे त्ति] एवं प्रकारार्थोऽथवाऽयमर्थो [नो सद्दहिए त्ति] न श्रद्धितः [नो पत्तिए त्ति] नो नैव ' पत्तियं ति ' प्रीतिरुच्यते, तद्योगात् 'पत्तिए त्ति ' प्रीतः प्रीतिविषयीकृतोऽथवा न प्रतीतो न प्रत्ययितो वा हेतुभिः [नो रोएइ त्ति] न चिकीर्षितः [एवमेयं से जहेयं तुब्भे वयह त्ति] अथ यथा एतद्वस्तु यूयं वदथ, एवमेव तद्वस्त्विति भावः [चाउज्जामाओ त्ति] चतुर्महाव्रतात्, पार्श्वनाथजिनस्य हि चत्वारि महाव्रतानि, नापरिगृहीता स्त्री भुज्यत इति मैथुनस्य परिग्रहेऽन्तर्भावादिति । (सपडिक्कमणं ति) पार्श्वनाथधर्मो हि अप्रतिक्रमणः, कारण एव प्रतिक्रमणकरणादन्यथात्वकरणात्; महावीरजिनस्य तु सप्रतिक्रमणः, कारणं विनाऽप्यवश्यं प्रतिक्रमणकरणादिति । (देवाणुप्पिय त्ति) प्रियामन्त्रणम् (मा पडिबंधं) । मा व्याघातं, कुरुध्वेति गम्यम । (मुंडेभावे त्ति) मुण्डभावो दीक्षितत्वम् । (फलगसेज्ज त्ति) प्रतलायतविष्कम्भवत् काष्ठरूपा (कट्ठसेज्ज त्ति) असंस्कृतकाष्ठशयनं काष्ठशय्या वा अमनोज्ञा वसतिः । (लद्धावलद्धी त्ति) लब्धं च लाभोऽपलब्धिश्च अलाभोऽपरिपूर्णलाभो वा लब्धापलब्धिः । (उच्चावय त्ति) उच्चावचा अनुकूलप्रतिकूला असमञ्जसा वा (गामकंटय त्ति) ग्रामस्येन्द्रियसमूहस्य कण्टका इव कण्टका बाधकाः शत्रवो ग्रामकण्टकाः । क एत इत्याह-(बावीसं परीसहोवसग्ग त्ति) परीषहाः क्षुधादयः त एवोपसर्गाः उपसर्जनाद्धर्मभ्रंशनात्परीषहोपसर्गाः । अथवा द्वाविंशतिः परीषहाः । तथा उपसर्गा दिव्यादयः, कालाश्यवैशिकपुत्रः प्रत्याख्यानक्रियया सिद्ध इति । भ० १ श० ६ उ० ।

कालि (ण्)-कालिन्-पुं० । कालयति, कल नोदने णिनिः । प्रेरके, त्रि० । वाच० । चम्पापुरीसमीपे कादम्बर्यटवीस्थे पर्वतभेदे, ती० १३ कल्प० ।

कालिंग-कालिङ्ग-न० । पुं० । कुत्सितं लिङ्गमस्य । हस्तिनि, सर्पे, लौहभेदे च । कलिङ्गानां राजा अण् । कलिङ्गदेशनृपतौ, बहुषु तस्य लुक्-कलिङ्गाः । " कलिङ्गदेशमारभ्य पञ्चाद्वयोजनं शिवे ! । दक्षिणस्यां महेशानि ! , कालिङ्गः परिकी-

र्तितः ॥ १ ॥ इत्युक्तदेशभेदे, गौरा० । ङीप् । राजकर्कट्याम्, वाच० । प्रज्ञा० । आचा० । स्था० ।

कालिंजणं–देशी–तापिच्छे, दे० ना० २ वर्ग ।

कालिंजणी–देशी–तापिच्छलतायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कालिंजर–कालिञ्जर–पुं० । स्वनामख्याते पर्वते, उत्त० । " दासा दस श्रेणा सीयमिया कालिंजरे नगे " । उत्त० १३ अ० ।

कालिंजरतित्थ–कालिञ्जरतीर्थ–न० । मथुरास्थे लौकिकतीर्थभेदे, ती० ६ कल्प ।

कालिआ–देशी–शरीरे, दे० ना० २ वर्ग ।

कालिग–(य)–कालिक–पुं० । स्त्री० । काले वर्षाकाले चरति ठञ् । के जले अलति, अल वा इकन् । ७ त० वा । क्रौञ्चे, बके, स्त्रियां ङीप् । कालो वर्णोऽस्त्यस्य ठन् । कालाद् वर्णवाचित्वे जानपदा० ङीष् । ततः स्वार्थे के ह्रस्व इति वा । कालिका । देवीमूर्तिभेदे, वृश्चिकपत्रवृक्षे, क्रमदेयवस्तुमूल्ये, धूसरश्याम, जटामास्याम, काकयाम्, पटोलशाखायाम्, रोमावल्याम्, शिवायाम, मेघावल्याम्, स्त्री० । क्षीरकीटे, मत्स्याम्, काकोल्याम, श्यामापक्षिणि, स्त्री० । हिमाचल–भवायां त्रिशिरायां हरीतक्याम, स्त्री० । कालस्य भावो वा वुञ् । कृष्णवर्णे, स्त्री० । स्वर्णदोषे, वह्निना दाहे, यत्संयोगात् स्वर्णस्य कृष्णता भवति सा च ताम्रादिधातुयोगैः काय जलाय अलति पर्याप्नोति । अल पर्याप्तौ ण्वुल् टाप् । अत इत्वम । कुज्झटिकायाम्, नवमेघे, स्त्री० । काले, दीयते ठक् । प्रतिमासदेयवृद्धौ, कं जलमलति भूषयति अल भूषणे ण्वुल् टाप् । अत इत्वम् । सुरायाम्, स्त्री० । कालो वर्णोऽस्त्यस्य ठन् । कालीयके कृष्णचन्दने, न० । प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्य प्रकृष्टे ठञ् । वैरे, न० । तस्य दीर्घकालस्थायित्वात् तथात्वम् । " वर्णे चानित्ये " । ५ । ४ । ३१ । इत्यधिकारे "कालाच्च" । ५ । ४ । ३३ । [पाणि०] कन् कालकः । स्त्रियां टाप् । अत इत्वम । कालिका शाटी । कालेन निर्वृत्तः ठञ् कालिकः । कालनिर्वृत्ते कालकृते, त्रि० । विशेषः कालिकोऽवस्था । काले भवः ठञ् । कालभवे, त्रि० । उभयत्र स्त्रियां ङीप् इति भेदः । वाच० । "इत्था गया इमे कामा, कालिया जे अणागया । " काले भवाः कालिकाः । उत्त० ५ अ० । काले संभवन्ति कालिकाः । उत्त० ५ अ० ।

कालिगसण्णि–कालिकसंज्ञिन्–त्रि० । कालिकसंज्ञा दीर्घकालिकी संज्ञा साऽस्त्यस्येति कालिकसंज्ञी, तत्संज्ञिनि, विशे० । (स च " सण्णि " शब्दे विवेचितः)

कालिग (य) सुय–कालिकश्रुत–न० । यदिह दिननिशाद्यन्तपौरुषीद्वय एवाऽस्वाध्यायाभावे पठ्यते तत्कालेन निर्वृत्तं कालिकम । ध० ३ अधि० । काले प्रथमचरमपौरुषीलक्षणे कालग्रहणपूर्वकं पठ्यते इति कालिकम् । विशे० । नन्त्र श्रुतं च । उत्तराध्ययनादौ, अङ्गबाह्याऽऽवश्यकव्यतिरिक्तश्रुतभेदे, यदिह दिवसनिशाप्रथमपश्चिमपौरुषीद्वय एव पठ्यते । स्था० २ ठा० १ उ० ।

तानि च–

से किं तं कालियं? कालियं अणेगविहं पन्नत्तं । तं जहा–उत्तराज्झयणाइं दसाउकप्पो ववहारो निसीयं महानिसीयं इसिभासियाइं जंबुद्दीवपन्नत्ती दीवसागरपन्नत्ती चंदपन्नत्ती खुड्डिया विमाणपविभत्ती महल्लिया विमाणपविभत्ती अंगचूलिया वंगचूलिया विवाहचूलिया अरुणोववाए वरुणोववाए गरुलोववाए धरणोववाए वेसमणोववाए वेलंधरोववाए देविंदोववाए उट्ठाणसुए समुट्ठाणसुए नागपरियावणियाउ निरयावलियाउ कप्पियाउ कप्पिवडिंसियाउ पुप्फियाउ पुप्फचूलियाउ वण्हीदसाउ एवमाइयाइं चउरासीइं पन्नगसहस्साइं भगवओ अरहओ उसहसामिस्स आइतित्थयरस्स तहा संखिज्जाइं पइन्नगसहस्साइं मज्झिमगाणजिणवराणं चोद्दस पइन्नगसहस्साणि समणस्स भगवओ वद्धमाणसामिस्स अहवा जस्स जत्तिया सीसा उप्पत्तियाए वेणइयाए कम्मियाए पारिणामियाए चउव्विहाए बुद्धीए उववेया तस्स तत्तियाइं पइन्नगसहस्साइं पत्तेयबुद्धा वि तत्तिया चेव । सेत्तं कालियं, सेत्तं आवस्सयवइरित्तं सेत्तं अणंगपविट्ठं । नं० । पा० ।

कालिकश्रुतेऽनुयोगपार्थक्यमार्यरक्षितसूरिभ्यः समारभ्य जातम् । आह–कियन्तं कालं यावत् पुनरिदमपृथक्त्वमासीत्, कुतो वा पुरुषविशेषादारभ्य पृथक्त्वमभूदित्याह–

जावं ति अज्जवइरा, अपुहत्तं कालियाणुओगस्स ।
तेणारेण पुहत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाए य ॥

यावदार्यवैरा गुरवो महामतयस्तावत्कालिकं श्रुतानुयोगस्यापृथक्त्वमासीत्तदा व्याख्यातॄणां श्रोतॄणां च तीक्ष्णप्रज्ञत्वात्, कालिकग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थमन्यथोत्कालिकेऽपि सर्वत्र प्रतिसूत्रं चत्वारोऽपि अनुयोगास्तदानीमासन्नेवेति । तदारतस्त्वार्यरक्षितेभ्यः समारभ्य कालिकश्रुते दृष्टिवादे चाऽनुयोगानां पृथक्त्वमभूदिति निर्युक्तिगाथार्थः । विशे० । ('अज्जरक्खिय' शब्दे प्र० भा० २१५ पृष्ठे 'अणुओग' शब्दे प्र० भा० ३५० पृष्ठे वा व्यक्तेण प्ररूपितमेतत्)

कालिकश्रुतस्य परं पृच्छात्रयात् पृच्छति–

जे भिक्खू कालियसुयस्स परं तिण्हं पुच्छाणं पुच्छइ, पुच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खू दिट्ठिवायस्स परं सत्तण्हं पुच्छाणं पुच्छइ, पुच्छंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

कालियसुयस्स उक्काले संझासु वा असंझाइ वा तिण्हं पुच्छाणं परेण पुच्छति तस्स चउलहुं । दिट्ठिवायस्स संझासु असज्झाइए वा सत्तण्हं परेण पुच्छं तस्स ह ।

तिण्हुवरि कालियस्सा, सत्तण्ह परेण दिट्ठिवायस्स ।
जो जो भिक्खू पुच्छा, एं च सभ पुच्छताऽऽणादी ॥ ३२ ॥

चउसु संझासु असज्झाइए वा तस्स आणादी पुच्छा ।
ते पुण किं पमाणं अतो भण्णति–

पुच्छाणं परिमाणं जा–वतियं पुच्छते अपुणरुत्तं ।
पुच्छेज्जाही भिक्खू, पुच्छणिसज्जा य चउभंगो ॥ ३३ ॥

अपुणरुत्तं जावतिओ कड्ढिओ पुच्छति सा एगा पुच्छा । एत्थ चउब्भायं करेंतस्स इमे दोसा –

पुव्वगहितं च नासति, अपुव्वगहणं कओ स निकहाहिं ।
दिवसनिसिआदिचरमा—सु चतुसु सेसासु जइयव्वं ॥३४॥

सुत्तत्थो मोत्तुं देस-भत्त-राय-इत्थिकहादिसु पमत्तो अत्थति, गुणेतस्स पुव्वगहितं णासति, विकहापमत्तस्स य अपुव्वं गहणं णत्थि, तम्हा णो विकहासु रमेज्जा, दिवसस्स पढमचरिमासु, णीसए य पढमचारिमासु य, एयासु चउसु वि कालियसुयस्स गहणं गुणणं व करेज्ज. सेसासु त्ति दिवसस्स बितियाए उक्कालियसुयस्स गहणं करेति, अत्थं वा सुणति, एसा चेव भयणा, रातियाए वा जिक्खं हिंमइ, अह ण हिंडति तो उक्कालियं पढति, पुव्वगाहियासु उक्कालियं वा गुणेति, अत्थं वा सुणइ वा, णिसिस्स ततियाए णिद्दामोक्खं करेति, उक्कालियं गेण्हति गुणेति वा, कालिकं यं वा सुत्तमत्थं वा कुरति, एवं सेसासु भावणा भावेयव्वा उक्कालिया ।

सज्झायस्स च अकरणे इमे कारणा–

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, कालं व पडुच्च णो कुज्जा ॥३५॥
सज्झायवज्जमसिवे, रायदुट्ठजयरोहगअसुद्धो ।
इतरमविरोह असिवे, जइतं इतरे पढंजयसु ॥३६॥

(सज्झायवज्जमसिवे त्ति) लोगे असिवे वा साधू अप्पणा अगाहिता तत्थ सज्झायं ण पट्ठवेंति आवस्सगादि उक्कालियं करेति, रायदुट्ठे बोहिगभए य तुण्हिक्का अत्थंति माणझिहामो, तत्थ कालिगमुक्कालिगं वा ण करेंति, अहवा रायदुट्ठे भए त्ति णिव्विसया भत्तपाणे पमिसेहे य ण करेंति सज्झायं, उवकरणहरे दुविधे भेरवे य ए करेति माणझीहामो त्ति, रोधगे असुद्धेण कालेण करेंति, इयरमवि आवस्सगादि उक्कालियं जत्थ रोधगे अवियत्तं असिवेण य गहिया तत्थ तं पि ण करेंति, इयरे ओमोदरिया तत्थ जयणा, जइ बितियजामादिसु वेलाओ ण करेंति सज्झायं, अह णं पुव्वं ति पुव्वसेयवेलातो आदिच्चोदयाओ आरब्भातो व हिंडंति जाव अवराण्हो त्ति गेलण्णठाणेसु न लंभयमुत्ति, जइ गिलाणो सत्तो अट्ठाणिगेण वा न खिन्नो तो करेंति अह सत्तो तो ण करेंति, अहवा गिलाणपडियरगा वा ण करेंति, कालं वा पडुच्च णो कुज्जति, असुद्धेण वा कालेण करेंति, तत्थ आवस्सगादी ण करेंति, अणुप्पेहा सव्वत्थ अविरुद्धा । नि० चू० १९ उ० ।

कालिकश्रुतस्य व्यवच्छेदः–

एएसु णं भंते ! तेवीसाए जिणंतरे कस्स कहिं कालियसुयस्स वोच्छेदे पण्णत्ते ?। गोयमा ! एएसु णं तेवीसाए जिणंतरेसु पुरिमे पच्छिमएसु अट्ठसु अट्ठसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स अवोच्छेदे पण्णत्ते। मज्झिमएसु सत्तसु जिणंतरेसु, एत्थ णं कालियसुयस्स वोच्छेदे पण्णत्ते । सव्वत्थ वि णं वोच्छेदे दिट्ठिवाए ॥

कस्य जिनस्य सम्बन्धिनः कस्मिन् जिनान्तरे कयोर्जिनयोरन्तरे कालिकश्रुतस्यैकादशाङ्गीरूपस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्त इति प्रश्नः । उत्तरं तु–"एएसु णमित्यादि" इह च कालिकस्य व्यवच्छेदेऽपि पृष्टे यदपृष्टस्याव्यवच्छेदस्याभिधानं तद्विपक्षज्ञापने सति विवक्षितार्थबोधनं सुकरं भवतीति कृत्वा कृतमिति । (मज्झिमएसु सत्तसु त्ति) अनेन "कस्स कहिं" इत्यस्योत्तरमवसेयम् । तथाहि–मध्यमेषु सप्तस्वित्युक्ते सुविधिजिनतीर्थस्य सुविधिशीतलजिनयोरन्तरे व्यवच्छेदो बभूव । तद्व्यवच्छेदकालश्च पल्योपमचतुर्भागः । एवमन्ये षट् जिनाः, षट् च जिनान्तराणि वाच्यानि, केवलं व्यवच्छेदकालः सप्तस्वप्येवमवसेयः १। "चउब्भागो १ चउब्भागो २, तिन्नि य चउभाग ३ पलियमेगं च ४। तिन्नेव य चउभागा ५, चउत्थभागो य ६ चउभागो ७ त्ति" । २ [एत्थ णं ति] एतेषु प्रज्ञापकेनोपदर्श्यमानेषु जिनान्तरेषु कालिकश्रुतस्य व्यवच्छेदः प्रज्ञप्तः । दृष्टिवादापेक्षया त्वाह–(सव्वत्थ वि णं वोच्छिन्ने दिट्ठिवाए त्ति) सर्वत्रापि सर्वेष्वपि जिनान्तरेषु न केवलं सप्तस्वेव क्वचित्कियन्तमपि कालं व्यवच्छिन्नो दृष्टिवाद इति । भ० २० श० ८ उ० । बृ० । सुसंज्ञाप्यशब्दे एकादशाङ्गरूपे श्रुते, एकादशाङ्गरूपं सर्वमपि श्रुतं कालग्रहणादिविधिनाऽऽधीयत इति कालिकमुच्यते । विशे० ।

कालिगा(या)—कालिका—स्त्री० । कृष्णायां रात्रौ, व्य० ५ उ० । कालीदेव्यां च । ज्ञा० २ श्रु० १ अ० ।

कालिगायरिय—कालिकाचार्य—पुं० । आर्यश्यामे, येन प्रज्ञापनासूत्रं विरचितम् । [तत्प्रयोजनं स्त्रीवेदस्य स्थितिचिन्तायामुक्तम्] । यथा–एतेषां पञ्चानामादेशानां मध्येऽन्यतमादेशसमीचीनतानिर्णयोऽतिशयज्ञानिभिः पूर्वोक्तप्रश्रुतलब्धिसम्पन्नैर्वा कर्तुं शक्यते, ते च भगवदार्यश्यामप्रतिपत्तौ नासीरन्, केवलं तत्कालापेक्षया पूर्वपूर्वतनाः सूरयस्तत्कालभाविग्रन्थपौर्वापर्यपर्यालोचनया यथास्वमति स्त्रीवेदस्य स्थितिं प्ररूपयन्ति स्म; न च तेषां मतं किमपि मिथ्या ज्ञातुं शक्यते, ततस्तेषां सर्वेषामपि प्रावचनिकसूरीणां मतानि भगवानार्यश्याम उपदिष्टवान्, तेऽपि प्रावचनिकसूरयः स्वमतेन सूत्रं पठन्तो गौतमप्रश्नभगवन्निर्वचनरूपतया पठन्ति, ततस्तदवस्थान्येव सूत्राणि लिखितानि–गोयमा ! इत्युक्तम् । अन्यथा भगवति गौतमाय साक्षान्निर्दिष्टरि न संशयकथनमुपपद्यते, भगवतः सर्वसंशयातीतत्वात्, ततः "एगेणं आएसेणं" ति वचनं आर्यश्यामस्य प्रतिपत्तव्यं न भगवद्वर्द्धमानस्वामिन इति । पं० सं० २ द्वार । दर्श० । आ० क० । ती० । ('अधिगरण' शब्दे प्रथमभागे ४८२ पृष्ठे अस्य गर्दभिल्लेन राज्ञा सह वैरमुपदर्शितम्) (चतुर्थभागे 'सुयमद' शब्दे सागरचन्द्रस्य एनं प्रति गर्वकरणम्)

कालिगा (या) वाय—कालिकावात—पुं० । प्रतिकूलवायौ, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

कालिज्ज—कालेय—न० । कलायै रक्तधारिण्यै हितं ढक् । यकृति, वाच० । वक्षोऽन्तर्गूढे मांसविशेषे, तं० ।

कालिदास—कालिदास—पुं० । ६ त० । संज्ञायां ह्रस्वः । रघुवंशादिकाव्यकर्तरि महाकविभेदे, वाच० । नं० ।

कालियजोग—कालिकयोग—पुं० । साध्वीनां कालिकयोगक्रियायां आवकदत्तानि वन्दनकानि शुद्ध्यन्ति नवेति प्रश्ने, साध्वीनां कालिकयोगक्रियायां श्राद्धदत्तानि वन्दनकानि शुद्ध्यन्तीति । सेन प्र० ९२ उल्ला० ।

कालियदीव—कालियद्वीप—पुं० । स्वनामख्याते लवणसमुद्रान्त-

गेते द्वीपभेदे, यत्र हस्तिशीर्षनगरवास्तव्या वाणिजका गत्वा रत्नान्यानीतवन्त इति । ज्ञा० १७ अ० । (एतच्च 'कुवई' शब्दे वक्ष्यते)

कालियसुयआणुओगिय–कालिकश्रुताऽऽनुयोगिक–पुं० । कालिकश्रुतानुयोगे व्याख्याने नियुक्ताः कालिकश्रुतानुयोगिकाः। कालिकश्रुतानुयोग एषां विद्यते इति कालिकश्रुतानुयोगिनः, ततः स्वार्थिककप्रत्ययविधानात्कालिकश्रुतानुयोगिकाः । कालिकश्रुतव्याख्याने नियुक्ते, "अयलपुरा णिक्खंते, कालियसुयआणुओगिए धीरे ।" नं० ।

काली–काली–स्त्री० । कालस्य शिवस्य पत्नी ङीष् । शिवपत्न्याम, स्त्री० । कालाद् वर्णश्चेत, कालवर्णा । कृष्णवर्णायां स्त्रियाम, वाच० । "सामा गायइ महुरं,काली गायइ खरं च रुक्खं च।" स्था०७ ठा०। अनु०। अभिनन्दनस्य शासनाधिष्ठात्र्यां देव्याम्,श्री अभिनन्दनस्य काली नाम्नी देवी श्यामकान्तिः पद्मासना चतुर्भुजा वरदपाशाधिष्ठितदक्षिणकरद्वया नागाङ्कुशालङ्कृतवामपाणिद्वया च । प्रव० २७ द्वार । पञ्चा० । चमरस्याऽसुरेन्द्रस्य प्रथमाग्रमहिष्याम, स्था० ५ ठा० १ उ० । (अस्या भवान्तरवक्तव्यता 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्ता) काकजङ्घायाम, उत्त० २ अ० । श्रेणिकस्य भार्यायाम्, कूणिकस्य राज्ञो लघुमातरि, नि० १ वर्ग । ग०।('काल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४८३ पृष्ठे चैतदुक्तम)

जइ णं भंते ! अट्ठमस्स वग्गस्स दस अज्झयणा पण्णत्ता । तं जहा–पढमस्स अज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समयेणं चंपा नामं णयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए कोणियराया, तत्थ णं चंपाए णयरीए सेणियस्स रण्णो भज्जा कूणियस्स रण्णो चुल्लमाउया काली नामं देवी होत्था । रण्णओ जहा–णंदा जाव सामातियाति एक्कारस अंगाइं अहिज्जंति, अहिज्जंतित्ता बहुहिं चउत्थ जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति, तते णं सा काली अज्जा अण्णया कयाइ जेणेव अज्जचंदणो अज्जा तेणेव उवागया एवं वयासी–इच्छामि णं अज्जातो तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणा रयणावलितवो उवसंपज्जित्ता णं विहरति, ते अहासुहं तसा काली अज्जा अज्जचंदणा ते अब्भणुण्णासमाणे रयणावलितवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति । तं जहा–चउत्थं करेति, चउत्थं करेतित्ता सव्वकामगुणे य पारित्ता छट्ठं करेति, छट्ठं करेतित्ता सव्वकामगु० पारि० अट्ठमं करेति २त्ता सव्वकाम० पारि० दसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० दुवालसमं करेति २ त्ता सव्वकाम० पारि० चउद्दसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० सोलसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठारसमं० करेति २ त्ता सव्व० पारि० वीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० बावीसमं० करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउवीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० छव्वीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठावीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० तीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० बत्तीसं० करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउतीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउतीसमं करेति २ त्ता सव्वकामगुणे य पारित्ता चउतीसं छट्ठाइं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चोत्तीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० बत्तीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० तीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठावीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० छव्वीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउवीसं करेति २ त्ता सव्व० पारि० बावीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० वीसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठारसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० सोलसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउद्दसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० बारसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० दसमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठमं० करेति २त्ता सव्व० पारि० छट्ठं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउत्थं करेति २ त्ता सव्व० पारि० अट्ठमछट्ठाति करेति२त्ता सव्व० पारि० अट्ठमं करेति २ त्ता सव्व० पारि० छट्ठं करेति २ त्ता सव्व० पारि० चउत्थं करेति २ त्ता सव्व पारि० एवं खलु एसा रयणावलीए तवोकम्मस्स पढमा परिवाडी एगेणं संवच्छरेणं तिहिं मासेहिं बावीसाए य अहोरत्तेहिं अहासुत्तं जाव आराहिय भवेहि, तयाणंतरं च णं दोच्चाए परिपाडीए चउत्थं करेति विगतिवज्जं पारेति छट्ठं करेति, करेतित्ता विगतिवज्जं पारेति २ त्ता एवं जहा पढमाए परिवाडीए तहा बिइयाए वि, नवरं सव्वत्थपारणए विगइवज्जं पारेति जाव आराहिया भवति, तयाणंतरं च णं तच्चाए परिवाडीए चउत्थं करेति२त्ता अलेवाडं पारेति, पारेतित्ता सेसं तहेव णवरं अलेवाडं पारेत्ता, एवं चउत्था वि परिवाडी, नवरं सव्वपारणए आयंबिलं पारेति२त्ता सेसं तं चेव, पढमम्मि सव्वकामगुणं पारणयं, बितियए विगतिवज्जं, तइयम्मि अलेवाडं आयंबिलमो, चउत्थम्मि तते णं सा काली अज्जा तं रयणावलीतवोकम्मं पंचहिं संवच्छरेहिं दोहि य मासे य अट्ठावीसाए य दिवसहिं अहासुत्तं जाव आराहेत्ता जेणेव अज्जचंदणा अज्जा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अज्जचंदणं अज्जं वंदति, २ त्ता बहुहिं चउत्थ जाव अप्पाणं भावेमाणे विहरति, तते णं सा काली अज्जा तेणे उरालेण जाव धमणीसंतया जाया या वि होत्था, सेज्जं जहा इंगाल जाव मुहुयहुयासणेति व भासरासि पलिच्छण्णा तवेणं तेएणं तवतेयसिरीए अतीव २ उवसोभेमाणी२ चिट्ठति, तते णं से कालीए अज्जाए अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अयं अज्झत्थि ते जहा खंदयस्स चिंता जहा जाव अत्थि उ ठाणेणं वा ताव ता मे सेयं कल्लं जाव जलंते अज्जचंदणं अज्जं आपुच्छित्ता अज्जचंदणाए अज्जाए अब्भणुण्णायाए समाणीए संलेहणा झुसणा २ भत्तपाण २ पडियातिक्खि

कालं अणवकंखमाणं विहरति ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेत्तिा कल्लं जेणेव अज्जचंदणा अज्जा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अज्जचंदणं वंदति नमसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं अज्जो! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणी संलेहणाए जाव विहरित्ता, ते अहासुहं, ततो णं से काली अज्जा अज्जचंदणाए० अब्भणुण्णाया समाणी संलेहणा भूसिय जाव विहरति, तसा काली अज्जा अज्जचंदणाए अंतिए सामातिमातियाइं एकारस अंगाइं अहिज्जित्ता बहुपडिपुण्णाइं अट्ठसवच्छराइं सामण्णपरियागं पालिऊण ता मासिया ते संलेहणा ते अत्ताणं भूसिया छट्ठं भत्ताइ अणसणा ते छेदेति, छेदेतित्ता जस्सट्ठा ते कीरति नगिणभावे जाव चरिमुस्सासनिस्सासेहिं सिद्धं ५ प्रथमं अज्झयणं १। निक्खेवो-तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा णामं णयरी होत्था, पुण्णभद्दे चेइए कोणिए राया तत्थ णं सेणियस्स रण्णो भज्जा कोणियस्स रण्णो चुल्लमाउया सुकाली नामं देवी होत्था, जहा काली तहा सुकाली वि निक्खंता जाव बहूहिं चउत्थं० जाव भावेमाणे विहरति, तते णं सा सुकाली अज्जा अण्णया कयाइ जेणेव अज्जा चंदणा अज्जा जाव इच्छामि णं अज्जो! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाया समाणी कणगावलिं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरति, ते एवं जहा रयणावली तहा कणगावली वि, नवरं तिसु ठाणेसु अट्ठमातिकरे जहा रयणावलीए छट्ठाती एकाए परिवामीए एगे संवच्छरे पंच मासा बारस य अहोरत्ता चउएहं पंच वरिसा नव मासा अट्ठारस दिवसा सेसं तहेव नव वासा परियातो पाउणित्ता० जाव सिद्धा ॥५॥ अन्त० ८ वर्ग॥

कालीपव्वंगसंकास–कालीपर्वाङ्गसङ्काश–त्रि०। काली काकजङ्घा, तस्याः पर्वाणि स्थूराणि मध्यानि च तनूनि भवन्ति, ततः कालीपर्वाणि जानुकूर्परादीनि येषु तानि कालीपर्वाणि, उष्ट्रमुखीवन्मध्यमपदलोपी समासः। तथाविधैरङ्गैः शरीरावयवैः सम्यक् काशते तपसि वा दीप्यते इति कालीपर्वाङ्गसंकाशः। यद् वा प्राकृते पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वाद् ग्रामो दग्ध इत्यादिवद् अवयवधर्मेणाप्यवयविनि व्यपदेशदर्शनाच्चाङ्गसन्धीनामपि कालीपर्वसदृशतायां कालीपर्वभिः संकाशानि सदृशान्यङ्गानि यस्य स तथा। विकृष्टतपोऽनुष्ठानतोऽपचितपिशितशोणिते, उत्त० २ अ०।

कालुट्ठाइ–कालोत्थायिन्–त्रि०। उद्गते आदित्ये दिवसतो गच्छति, "कालुट्ठाइ कालणिवेसी, ठाणट्ठाई य कालभोई य।" नि० चू० १६ उ०।

कालुणवडिया–कारुण्यप्रतिज्ञा–स्त्री०। कारुण्यवृत्तौ, विपा० १ श्रु० १ अ०।

कालुणिय–कारुणिक–त्रि०। करुणा शीलमस्य ठक्। दयालौ दयाशीले, वाच०। करुणाप्रधाने विलापाद्यर्थे वचसि, अनुष्ठाने च। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। कारुण्यं शोकस्तेन पुत्रवियोगादिजनितेन तदीयस्यैव तल्पादेः सजन्मान्तरे सुखितो भवत्विति वासनातोऽन्यस्य यद्दानं तत्कारुण्यदानं, कारुण्यजन्यत्वाद् वा दानमपि कारुण्यमुक्तम्, उपचारादिति। दानभेदे, स्था० १ ठा० १ उ०।

कालुसियझाण–कालुष्यध्यान–न०। अपमानतोऽपरगुणप्रशंसायामीर्ष्यातो वा चित्तस्य कलुषभावः कालुष्यं मलिनता, तस्य ध्यानं कालुष्यध्यानम्। बाहुसुबाहुप्रशंसामसहमानयोः सिंहगुहास्थितक्षपकस्येव ध्याने, आतु०।

कालेज्जं–देशी–तापिच्छकुसुमे, दे० ना० २ वर्ग।

कालेज्ज–कालेय–पुं०। काल्या अपत्यम् ढक्। कालकेये, कालचन्दने, न०। कलायै रक्तधारिण्यै हितं ढक्। यकृति, वाच०। हृदयान्तर्वर्तिमांसखण्डे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

कालोद (य)–कालोद–पुं०। धातकीखण्डस्य सर्वतः परिक्षेपके समुद्रभेदे, धातकीपरितोऽपि शुद्धोदकरसास्वादः कालोदसमुद्रः। अनु०। स्था०।

संप्रति कालोदसमुद्रवक्तव्यतामाह–

धायइसंडे णं दीवे कालोदे नामं वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरिक्खिवित्ता णं चिट्ठइ॥

(धायइसंडे णं दीवमित्यादि) धातकीखण्डं, णमिति पूर्ववत्, द्वीपं कालोदसमुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य वेष्टयित्वा तिष्ठति।

कालोदे णं समुद्दे किं समचक्कवालसंठिते विसमचक्कवालसंठिए ?। गोयमा! समचक्कवालसंठिए, णो विसमचक्कवालसंठिए। कालोदे णं भंते! समुद्दे केवतियं चक्कवालविक्खंभेणं केवतियं परिक्खेवेणं पन्नत्ते ?। गोयमा! अट्ठजोयणसयसहस्साइं चक्कवालविक्खंभेणं एकणउतिजोयणसयसहस्साइं सत्तरिसयसहस्साइं छच्च पंचुत्तरे जोयणसये किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते। से णं एकाए पउमवरवेदियाए एगेण वणसंडेण य दोण्ह वि वण्णओ॥

"कालोए णं भंते! समुद्दे किं समचक्कवालसंठिए" इत्यादि प्राग्वत् प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह–गौतम! अष्टौ योजनशतसहस्राणि चक्रवालविष्कम्भेन एकनवतियोजनशतसहस्राणि सप्ततिसहस्राणि षट्शतानि पञ्चोत्तराणि किञ्चिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण, एकं च योजनसहस्रमुद्वेधेनेति गम्यते। उक्तं च–

"अट्ठे य सयसहस्सा, कालोयचक्कवालविक्खंभो।
जोयणसहस्समेगं, उग्गाहेणं मुणेयव्वो॥
इगनउइसयसहस्सा–इ हवंति तह सत्तरीसहस्सा य।
छच्च सया पंचऽहिया, कालोयहिपरिरओ एसो"॥

(से णं एकाए इति) स कालोदः समुद्रः एकया पद्मवरवेदिकया, अष्टयोजनोच्छ्रयजगत्युपरिभाविन्येति गम्यते। एकेन च वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तो, द्वयोरपि वर्णकः, प्राग्वत्। जी० ३ प्रति०। परिक्षेपगणितभावना इयम्–कोलादसमुद्रस्य एकतोऽपि चक्रवालतायाः विष्कम्भोऽष्टौ योजनलक्षा

अपरतोऽपि इति षोमश, धातकीखण्डस्यकतोऽपि चतस्रो लक्षा अपरतोऽप्यष्टौ, लवणसमुद्रस्य एकतोऽपि द्वे लक्षे, अपरतोऽपीति चतस्रः, एको लक्षो जम्बूद्वीपस्येति सर्वसंख्यया एकोनत्रिंशल्लक्षा जाताः २९०००००। तेषां च वर्गो विधीयते, जातोऽष्टकचतुष्कं एककः, शून्यानि दश, ततो दशभिर्गुणने जातान्येकादश शून्यानि ८४१०००००००००००। तेषां वर्गमूलानयने लब्धं यथोक्तं परिधिपरिमाणम्-९१७०६०५। शेषं त्रिको नवकस्त्रिकस्त्रिको नवकः सप्तकः पञ्चकः ३९३३९७५ इति यदवतिष्ठन्ते तदपेक्षया विशेषाधिकत्वमुक्तम् । एकनवतिशतसहस्राणि सप्तशतानि सप्ततिसहस्राधिकानि नक्षत्रादिपरिमाणं चाष्टाविंशत्यादिसंख्यानि नक्षत्रादीनि द्वाचत्वारिंशता गुणयित्वा परिभावनीयम् । चं० प्र० १ पाहु० । सू० प्र० ।

कालोए णं समुद्दे एकाणउइजोयणसयसहस्साइं साहियाइं परिक्खेवेणं ॥

(कालोए णं त्ति) कालोदः समुद्रः, स चैकनवतिलक्षाणि साधिकानि परिक्षेपेण आधिक्यं च सप्तत्या सहस्रैः षड्भिः शतैः पञ्चोत्तरैः सप्तदशभिर्धनुःशतैः पञ्चादशोत्तरैः सप्ताशीत्या चाङ्गुलैः साधिकैरिति । स० ९१ सम० ।

द्वाराणि-

कालोयस्स णं भंते ! समुद्दस्स केवति दारा पण्णत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि दारा पण्णत्ता । तं जहा-विजये वेजयंते जयंते अपराजिए । कहि णं भंते ! कालोदस्स समुद्दस्स विजए णामं दारे पण्णत्ते ?। गोयमा ! कालोदसमुद्दपुरच्छिमापरंते पुक्खरवरदीवपुरच्छिमद्धस्स पच्चच्छिमे णं सीतोदाए महानदीए उप्पिं, एत्थ णं कालोदस्स विजये नामं दारे पण्णत्ते गोयमा ! अट्ठ जोयणं तं चेव पमाणं जाव रायहाणीओ । कहि णं भंते ! कालोयस्स समुद्दस्स वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते ?। गोयमा ! कालोयसमुद्दस्स दक्खिणापरंते पुक्खरवरदीवदक्खिणद्धस्स उत्तर एत्थ णं कालोयसमुद्दस्स वेजयंते णामं दारे पण्णत्ते । कहि णं भंते ! कालोयसमुद्दस्स जयंते णामं दारे पण्णत्ते ?। गोयमा ! कालोयसमुद्दस्स पच्चच्छिमापरंते पुक्खरवरदीवपच्चच्छिमद्धस्स पुरच्छिमेणं सीताए महाणदीए उप्पिं जयंते नामं दारे पण्णत्ते । कहि णं भंते ! अपराजिए णामं दारे पण्णत्ते ?। गोयमा ! कालोदसमुद्दस्स उत्तरद्धापरंते पुक्खरवरदीवोत्तरद्धस्स दाहिणओ एत्थ णं कालोयसमुद्दस्स अपराजियनामं दारे, सेसं तं चेव ॥

कालोदस्य भदन्त ! समुद्रस्य कति द्वाराणि प्रज्ञप्तानि ?। भगवानाह-गौतम ! चत्वारि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-विजयं वैजयन्तं जयन्तमपराजितम् । क्व भदन्त ! कालोदसमुद्रस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । भगवानाह-गौतम ! कालोदस्य समुद्रस्य पूर्वपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वार्द्धस्य पश्चिमदिशि शीतोदाया महानद्या उपरि, अत्र कालोदस्य विजयं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । एवं विजयद्वारवक्तव्यता पूर्वानुसारेण वक्तव्या, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे । वैजयन्तद्वारप्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! कालोदसमुद्रदक्षिणपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपदक्षिणार्द्धस्य उत्तरतोऽत्र कालोदसमुद्रस्य वैजयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम् । एवं जम्बूद्वीपगतवैजयन्तद्वारं वक्तव्यम् । नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे, जयन्तद्वारप्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! कालोदसमुद्रपश्चिमपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपपश्चिमार्द्धस्य पूर्वतः शीताया महानद्या उपरि, अत्र कालोदसमुद्रस्य जयन्तं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्, एतदपि जम्बूद्वीपगतजयन्तद्वारवत्, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदे समुद्रे । अपराजितद्वारप्रश्नसूत्रमपि सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! कालोदसमुद्रोत्तरार्द्धपर्यन्ते पुष्करवरद्वीपोत्तरार्द्धस्य दक्षिणतोऽत्र कालोदसमुद्रस्यापराजितं नाम द्वारं प्रज्ञप्तम्, तदपि जम्बूद्वीपगतापराजितद्वारवत्, नवरं राजधानी अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे ।

संप्रति द्वाराणां परस्परमन्तरं प्रतिपिपादयिषुराह-

कालोदस्स णं भंते ! समुद्दस्स दारस्स २ य एस णं केवतियं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ?। गोयमा ! बावीससयसहस्सा बाणउतिं खलु भवे सहस्साइं छच्च सया बत्ताला दारंतर तिण्णि कोसा ये दारस्स २ य अबाहा अंतरे पण्णत्ते । कालोदस्स णं भंते ! समुद्दपदेसा पुक्खरवरदीव० तहेव, एवं पुक्खरवरदीवस्स वि जीवा उद्दाइत्ता तहेव भाणियव्वं ।

प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! द्वाविंशतिर्योजनशतसहस्राणि द्विनवतिः सहस्राणि षट् योजनशतानि षट् चत्वारिंशदधिकानि त्रयश्च क्रोशा द्वारस्य द्वारस्य परस्परमबाधया अन्तरं प्रज्ञप्तम् । तथाहि-चतुर्णामपि द्वाराणामेकत्र पृथुत्वमीलने अष्टादश योजनानि, तानि कालोदसमुद्रपरिमाणात् ९१७०६०५ इत्येवंरूपात् शोध्यन्ते, शोधितेषु च तेषु जातमिदम्-एकनवतिर्लक्षाः सप्ततिः सहस्राणि, पञ्च शतानि सप्ताशीत्यधिकानि ९१७०५८७, तेषां चतुर्भिर्भागे हृते लब्धं यथोक्तं द्वाराणां परस्परमन्तरपरिमाणम् २२९२६४६ । उक्तं च-"बावीसा छच्च सया, बाणउइ सहस्सलक्खबावीसं । कोसा य तिन्नि दारं-तरं तु कालोयहिस्स भवे" ॥१॥ "कालोदस्स णं भंते ! समुद्दस्स पएसा" इत्यादिसूत्रचतुष्टयं पूर्ववद्भावनीयम् ।

नामान्वर्थमभिधित्सुराह-

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति कालोयसमुद्दे कालो० २ ?। गोयमा ! कालोयस्स णं समुद्दस्स उदके आसले मासले पेसले मासरासिवण्णाभे पगतीए उदगरसेणं पण्णत्ते, काला महाकाला य एत्थ दुवे देवा महिड्डिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति, से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव णिच्चे ।

(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते-कालोदः समुद्रः कालोदः समुद्र इति ?। भगवानाह-गौतम ! कालोदस्य समुद्रस्य उदकम् आसलमास्वाद्यम्, उदकरसत्वात् । मांसलं गुरुधर्मत्वात्, पेसलमास्वादं मनोज्ञत्वात् । कालं कृष्णम्, एतदेवोपमया प्रतिपादयति-माषराशिवर्णाभम् । उक्तं च-"पगईइ उदकरसं कालोए उदगमासरासिनिभमिति ।" ततः कालमुदकं यस्यासौ कालोदः, तथा कालमहाकालौ च तत्र द्वौ देवौ पूर्वार्द्धपश्चिमार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, ततः स कालोदः । तथाचाह-'से तेणट्ठेणमित्यादि'

चन्द्रादित्यौ—

कालोयणे णं भंते ! समुद्दे कति चंदा पभासिंसु वा ३ पुच्छा ? । गोयमा ! कालोयणे णं समुद्दे बायालीसं चंदा पभासिंसु वा ३ बायालीसं चंदा बायालीसं च दिणयरा दित्ता कालोदहिम्मि एते चरंति संबंधलेसागा एक्खत्तसहस्सं एगमेगं बावत्तरं च सतमएणं उच सया उएणउया महग्गहा तिरिण य सहस्सा अट्ठावीसं कालोदहिम्मि बाराइं सतसहस्साइं नव य सता पएणासा तारागणकोमीकोमीणं सोभं सोभंसु वा ३ ॥

चन्द्रादित्यादिसूत्रं पाठसिद्धम् । एवं रूपं च चन्द्रादीनां परिमाणमन्यत्राप्युक्तम्--

" बायालीसं चंदा, बायालीसं च दिणयरा दित्ता ।
कालोयहम्मि एए, चरंति संबंधलेसागा ।
नक्खत्ताण सहस्सा, सयं च बावत्तरं मुणेयव्वं ।
छच सया उ नउया, गहाण तिन्नेव य सहस्सा ।
अट्ठावीसं कालो-दहिम्मि बारसयसहस्साइं ।
नव य सया पन्नासा, तारागणकोमिकोमीणं" ।

तं च पुष्करवरद्वीपः सर्वतः संपरिक्षिप्य स्थितः । जी० ३ प्रति० । (तद्वक्तव्यता 'पुक्खरवरदीव' शब्दे द्रष्टव्या) नन्दीश्वरद्वीपान्तरस्थे समुद्रभेदे, स्था० ७ ठा० ।

कालोदाइ [ए]–कालोदायिन्–पुं० । स्वनामख्यातेऽन्ययूथिकभेदे, भ० ७ श० १० उ० । ['अन्नउत्थिय' शब्दे प्रथमभागे ४४९ पृष्ठे तद्वक्तव्यता उक्ता]

कालोभास–कालावभास–त्रि० । कालदीप्तौ, भ० ६ श० ५ उ० । यः काल एवाऽवभासते पश्यताम् । स्था० ८ ठा० ।

कालोवक्कम–कालोपक्रम–पुं० । कालस्योपक्रमः कालोपक्रमः । उपक्रमभेदे, "से किं तं कालोवक्कमे ? । कालोवक्कमे जण्णं नालिआईहिं कालस्सोवजणं कीरई सेत्तं कालोवक्कमे" । अनु० । नि० चू० । (इति 'उवक्कम' शब्दे द्वितीयभागे ८९२ पृष्ठे व्याख्यातम्)

काव–काव–पुं० । भारोद्वहने, आ० १ श्रु० ८ अ० । कावमिवाह्के, त्रि० । जी० ३ प्रति० ।

कावकोमिय–कावकोटिक–त्रि० । कावो भारोद्वहनं तस्य कोटी भागः कावकोटी, तया ये चरन्ति ते कावकोटिकाः । कावटिकेषु. ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अनु० ।

कावडिक–कापटिक–त्रि० । कपटचारिणि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

कावरणचाग–कार्पण्यत्याग–न० । कृपणभावपरित्यागेऽतुच्छवृत्तौ, षो० ४ विव० ।

कावध–कावध्य–पुं० । सप्तत्रिंशत्तमे महाग्रहे, चं०प्र० २० पाहु० ।

कावल्लिओ–देशी–असहने, दे० ना० २ वर्ग ।

कावलिय–कावलिक–न० । कवलैर्भवं कावलिकम् । आहारादौ, नं० । कवलप्रक्षेपनिष्पादिते प्रक्षेपाहारे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

कावालिय–कापालिक–पुं० । अस्थिरजस्के पाखण्डिकसाधौ, बृ० १ उ० । " कावालिकरूपेण तेण सह वच्चइ । " आव० ४ अ० । अनु० ।

काविट्ठ–कापित्थ–न० । स्वनामख्याते विमानभेदे, स० १४ सम० ।

काविल–कापिल–पुं० । कपिलो देवता येषां ते कापिलाः । निरीश्वरसाङ्ख्येषु, औ० । "जं काविलं दरिसणं, एवं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं " यत्कापिलं दर्शनं साङ्ख्यमतमेतत् । सम्म० १ काण्ड ।

काविलिय–कापिलीय–न० । उत्तराध्ययनानामष्टमेऽध्ययने, स० ३५ सम० । यत्र कपिलस्य महामुनेर्ग्रन्थगर्भितनिर्लोभवद्धीकरणं कथितम् । उत्त० ७ अ० । सूत्र० । ['कविल' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३८७ पृष्ठे उक्तम्]

काविसायण–कापिशायन–न० । मद्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

काव्वी–देशी–नीलवर्णायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कावोडी–कापोती–स्त्री० । भारकाये, दश० ४ अ० । ['काय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ४४७ पृष्ठे तद्व्याख्यानेन स्पष्टीकृतम्]

कास–काश(स)-पुं० । केन जलेन कफात्मकेन अश्यते व्याप्यतेऽत्र । अश व्याप्तौ आधारे घञ् । काशरोगे, वाच० । उपा० । ज्ञा० । सप्तचत्वारिंशत्तमे महाग्रहे "दो कासा" स्था० २ ठा० ३ उ० । कुने, जलेनाकीर्णत्वात्तथात्वम् । काश दीप्तौ अच् । केशियातृणभेदे, तद्गुणाद्युक्तम् । तत्पुष्पे, न० । ईषदश्नाति अश-अच् । कोः का । मूषिकभेदे, पुं० । स्त्रीयां ङीष् । ऋषिभेदे, पुं० । काशस्य गोत्रापत्यम् । अश्या० फञ् काशायनः । तच्छात्रापत्ये, पुं० । स्त्री० । वाच० । काशो भवः काश्यः । रसे, स्था० ७ ठा० । कस्यन्तेऽस्मिन्निति कासः । संसारे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० । कस हिंसने कर्त्तरि णः । हिंसके, काशतेऽनेन काश करणे घञ् । रोगभेदे, पुं० । कं जलमस्यतेऽनेन, असु क्षेपणे करणे घञ् । शोभाञ्जनवृक्षे, पुं० । तदञ्जनसेवने नेत्राज्जलनिःसारणात्तस्य तथात्वम् । वाच० ।

काष–पुं० । कष्यतेऽनेन कष करणे घञ् । कषणपाषाणे प्रस्तरभेदे, ऋषिभेदे च । वाच० ।

कासंकस–कासंकष–पुं० । कस्यन्तेऽस्मिन्निति कासः संसारस्तं कषतीति तदभिमुखो यातीति कासङ्कषः । ज्ञानादिप्रमादवति, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

कासंत–काशमान–त्रि० । रोगविशेषे, "कासंता वाहिया य आमाभिभूयगत्ता" । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कासग–कर्षक–पुं० । कृषीवले, बृ० ३ उ० । " जेण रोहंति बीआइ, जेण जीवंति कासगा । " नि० चू० १ उ० । उत्त० । क्षेत्रीकारके, उत्त० १२ अ० ।

कासण–कासन–न० । खद्करणे, ओघ० ।

कासद्दह–कासद्दह–पुं० । स्वनामख्याते तीर्थभेदे, यत्र त्रिभुवनमङ्गलकलशः श्रीआदिनाथः । ती० ४३ कल्प ।

कासमाण–काशमान–त्रि० । काशं कुर्वाणे, " णीससमाणे कासमाणे छीयमाणे वा । " आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

कासव–काश्यप–पुं० । काश्यं पिबति घञर्थे कः । उप० स० । वाच० । "ङसचजतदपयवां प्रायो लुक्" । ८ । १ । १७७ ।

इति यलोपे " लुप्तयरवशषसां शषसां दीर्घः " । ८ । १ । ४३ । इति शकारस्यादेः स्वरस्यादेर्दीर्घः । प्रा० १ पाद । ब्रह्मणो मानसपुत्रस्य मरीचेः पुत्रे ऋषिभेदे, वाच० । भगवत ऋषभदेवस्य पूर्वपुरुषे, काशे भवः काश्यो रसस्तं पीतवानिति काश्यपः, तदपत्यान्यपि काश्यपाः । तदपत्येषु, ते च मुनिसुव्रतनेमिवर्जा जिनाश्चक्रवर्त्यादयश्च क्षत्रियाः सप्तमगणधरादयो द्विजाः जम्बूस्वाम्यादयो गृहपतयश्चेति । तत्सत्के मूलगोत्रभेदे च । " सत्त महामूलगोत्ता पण्णत्ता । तं जहा-कासवा गोयमा ! " । इह च गोत्रस्य गोत्रवद्भ्यो भेदादेवं निर्देशोऽन्यथा काश्यपमिति वाच्यं स्यादेवं सर्वत्र । स्था० ७ ठा० आव० । सूत्र० । "जे कासवा ते सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा-ते कासवा ते संडिल्ला ते गोला ते वाला ते मुंजतिणो ते पव्वतिणो ते वरिसकण्हा । " स्था० ७ ठा० । चं० प्र० । जं० । न० । काश्यपगोत्रे श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनि, सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । दश० । कल्प० । " जंसि विरता समुट्ठिता कासवस्स अणुधम्मचारिणो । " काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । कापिलीयाऽध्ययनोक्तकपिलस्य पितरि, उत्त० ७ अ० । काश्यं राजभेदं पाति नरकात् पा—कः । काश्यनृपस्य पुत्रे, मृगभेदे, पुं० । स्त्री० । स्त्रियां जातित्वात् ङीष् । कश्यपस्येदम् अण् । कश्यपसम्बन्धिनि, त्रि० । स्त्रियां ङीप् । पृथिव्याम्, स्त्री० । तस्याः संबन्धितया काश्यपपत्न्याम, स्त्री० । काश्यपेयः । कश्यपगोत्रोत्पन्ने विषचिकित्साभिज्ञे ऋषिभेदे, वाच० । " समणस्स णं भगवओ महावीरस्स जेट्ठा भइणी सुदंसणा कासवी गोत्तेणं । " आचा० २ श्रु० १३ अ० । नापिते, आ० म० प्र० । ज्ञा० । सूत्र० । राजगृहवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, (तद्वक्तव्यता अन्तकृद्दशासु षष्ठे वर्गे चतुर्थेऽध्ययने सूचिता) तथाहि-"तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे गुणसीलए चेइए, तत्थ णं सेणिए राया कासवे नामं गाहावती परिवसति, जहाकामकाइ सोलसे वासा परियाउ पाउणित्ता विपुले पव्वते सिद्धे " । अन्त० ७ वर्ग० ।

कासवग–काश्यपक–पुं० । नापिते, ज० ६ श० १० उ० । आ० चू० । तस्य राज्ञः श्रेणीष्वन्तर्भावः । जं० ३ वक्ष० ।

कासवगोत्त–काश्यपगोत्र–पुं० । काश्यपाख्यगोत्रभृति, " थेरे मोरियपुत्ते कासवगोत्तेणं अरुट्ठाइ समणसयाइं वा यइ " कल्प० ८ क्षण ।

कासवज्जिया–काश्यपार्जिका–स्त्री० । माणवकगणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

कासवणालिय–काश्यपनालिक–न० । श्रीपर्णीफले, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

कासवी–काश्यपी–स्त्री० । पञ्चमतीर्थकरस्य प्रथमशिष्यायाम्, स० । काश्यपगोत्रायां स्त्रियाम् , " समणस्स णं भगवओ महावीरस्स जेट्ठा भइणी सुदंसणा कासवी गोत्तेणं " आचा० २ श्रु० ३ चूलि० ।

कासायवत्थ–काषायवस्त्र–त्रि० । काषायवस्त्रपरिधाने, सू०१ श्रु० ।

कासारं–देशी–सीसपत्रे, दे० ना० २ वर्ग ।

कासार–कासार–पुं० । कस्य जलस्य सारोऽत्र । सरोवरे, विंशत्यारगणैः रचिते दण्डकच्छन्दोभेदे च । वाच० । आ० क० ।

कासिअं–देशी–श्वेतवर्णे, दे० ना० २ वर्ग ।

कासिज्जं–देशी–काकस्थलाभिधाने देशे, दे० ना०२ वर्ग ।

कासित्ता–काशित्वा–स्त्री० । क्षुप्त्वेत्यर्थे, जी० ३ प्रति० ।

कासिय–कासित–न० । क्षुते, ध० २ अधि० ।

कासिराय–काशिराज–पुं० । काशीनां जनपदानां राजा, टच् । वाच० । काशिमण्डलाधिपतौ, उत्त० १८ अ० । " तत्थ तस्स भाइणिज्जे कासिराया तेण चेव रज्जे ठाविओ केसी कुमारो " आव० ३ अ० ।

काशिराजकथा-

तहेव कासीराया, सेओसच्चपरक्कमो ।
कामभोए परिच्चज्ज, पहणे कम्ममहावणं ॥ ४९ ॥

हे मुने ! तथैव तेनैव प्रकारेण पूर्वोक्तनृपवत् काशिदेशपतिर्नन्दननामा राजा सप्तमबलदेवः कर्मरूपं महावनं प्राहणत, उन्मूलयामासेत्यर्थः । किं कृत्वा-भोगान् परित्यज्य, कीदृशो नन्दनः, श्रेयःसत्यपराक्रमः श्रेयः कल्याणकारकं यत्सत्यं संयमः श्रेयःसत्यं तत्र पराक्रमो यस्य सः श्रेयःसत्यपराक्रमः, मोक्षदायकचारित्रधर्मे विहितवीर्य इत्यर्थः ॥ अत्र काशिराजदृष्टान्तः-वाराणस्यां नगर्याम् अग्निशिखो राजा, तस्य जयन्त्यभिधा देवी, तस्याः कुक्षिसमुद्भूतः सप्तमबलदेवो नन्दनो नाम, तस्याऽनुजो भ्राता शेषवतीराज्ञीसुतो दत्तो वासुदेवः, स च पित्रा प्रदत्तराज्यः साधितभरतार्द्धो नन्दनानुगतो राज्यश्रियं स्फीतामनुबभूव । कालेन षट्पञ्चाशद्वर्षसहस्राण्यायुरतिवाह्य मृत्वा दत्तः पञ्चमनरकपृथिव्यामुत्पन्नः, नन्दनोऽपि च गृहीतश्रामण्यः समुत्पादितकेवलज्ञानः पञ्चषष्टिवर्षसहस्राणि जीवितमनुपाल्य मोक्षं गतः, षड्विंशतिधनूंषि चानयोर्देहप्रमाणमासीदिति काशिराजदृष्टान्तः ॥ ४९ ॥ उत्त० १८ अ० ।

कासी–काशी–स्त्री० । काशते काश इन् स्त्रियां ङीप् । काश–णिच् । गौरा० ङीष् । वाच० । वाराणस्यां, तज्जनपदे च । भ० ७ श०२ उ० । काशी जनपदो, यत्र वाराणसी नगरी । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । तस्या आर्यक्षेत्रेषु गणना । प्रज्ञा०१ पद । प्रव० । स्था० । सूत्र० । "तेणं कालेणं तेणं समएणं कासी नामं जणवए होत्था; तत्थ वाणारसी नामं णयरी होत्था; तत्थ णं संखे नामं राया होत्था । " ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्वल्पार्थे ङीप् । स्वल्पकाशतृणे, वाच० ।

कासीवद्धण–काशीवर्द्धन–पुं० । वाराणसीनगरीसंबन्धिजनपदवृद्धिकरे, स्था० ८ ठा० ।

काहर–काहर–पुं० । जलाहारके, " एगो काहरो तलाए दो घमा पाणियस्स भरेऊण " । दश० ४ अ० । दे० ना० २ वर्ग ।

काहल–कातर–त्रि० । तस्य हः "हरिद्रादौ लः" ८ । १ । २५४ । इति रस्य लः । प्रा० १ पाद । अधीरे व्यसनाकुले, वाच० ।

काहल–पुं० । स्त्री० । कुत्सितं हलति लिखति हल्-अच् । कोः का० त्रिमाले, कुक्कुटे, स्त्रियां ङीष् । शब्दमात्रे, पुं० । अव्यक्तवाक्ये, शुष्के, भूरे, खले च । त्रि० । महाढक्कायाम्, स्त्रीयां टाप् ।

धूस्तूराकारे वाद्यशब्दभेदे, वाच०। तूर्यविशेषे, आ०म०प्र०। औ०। नं०। खरमुख्याम्, आ० म० प्र०। जं०। गोमुख्याम्, स्था० ७ ठा०।

काहलिया–काहलिका–स्त्री०। रत्नावलीनामभूषणस्य सौवर्णेऽवयवभेदे, अन्त० ८ वर्ग।

काहल्ली–देशी–तरुण्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

काहिय–काथिक–पुं०। कथया चरति काथिकः। सूत्र० १ श्रु०२ अ० २ उ०। कुशीलभेदे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०। यो भिक्षार्थं प्रविष्टो धर्मकथां महतीं करोति। ओघ०। कथाकथनैकनिष्ठे, ध० ३ अधि०।

अक्खाइयाउ अक्खा–णाइं गीयाइ छलियकव्वाइं ।
कहयंता य कहाओ–ऽतिसमुत्था काहिया होंति ॥

आख्यायिकास्तरङ्गवतीमलयवतीप्रभृतयः, आख्यानकानि धूर्ताख्यानकादीनि, गीतानि ध्रुवकादिच्छन्दोनिबद्धानि गीतपदानि, तथा छलितानि शृङ्गारकाव्यानि, कथा वासुदेवचरितचेटककथाः, दन्तकथया चरन्तीति व्युत्पत्तेर्यत्क्षेत्रसमुत्था धर्मकामार्थत्रयवक्तव्यताप्रभवाः, संकीर्णकथा इत्यर्थः । एता आख्यायिकादीनि कथयन्तः काथिका उच्यन्ते, तद्वन्दनं निषिद्धम् । बृ० १ उ०।

जे भिक्खू काहियं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ५१ ॥
जे भिक्खू काहियं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥५२॥

दो सुत्ते सज्झायादिकरणिज्जे जोगे मोत्तुं जो देसकहादिकहाओ कधेति सो काहिओ। इमा णिज्जुत्ती–

आहारादीणट्ठा, जसहेउं अहव पूयणणिमित्तं ।
तक्कम्मो जो धम्मं, कधेति सो काधितो होति ॥६३॥

धम्मकहं पि जो करेति आहारादिनिमित्तं, वत्थपानादिणिमित्तं वा, जसत्थी वा, वंदणादिपूयानिमित्तं वा, सुत्तत्थपोरिसिसु कयमाचारो अहो य रातो य धम्मकहादिपढणकहणवज्झो तदेवास्य केवलं कर्म्म एवंविधो काहितो भवति।

चोदग आह–अणुसज्झाओ पंचविधो वायणादिगो, तस्स पंचमो भेदो धम्मकहा, तेण भव्वसत्ता पडिबुज्झंति, तित्थे य अव्वोच्छित्ती, पभावणा य भवति, अतो ताओ णिज्जरा चेव भवति, कहं काहियं तं पडिसिज्झति ?। आचार्य आह–

कामं खलु धम्मकहा, सज्झायस्सेव पंचमं अंगं ।
अव्वोच्छित्तीऍ ततो, तित्थस्स पभावणा चेव ॥ ८४ ॥

पूर्वाभिहितनोदकार्थानुमते कामशब्दः, खलुशब्दोऽवधारणार्थः, किमवधारयति–इमं सज्झायस्स पंचमए वागं धम्मकहा, अह य एवं–

तह वि य ण सव्वकालं, धम्मकहा जीयसव्वपरिहाणी ।
नाउं व खेत्तकालं, पुरिसं च पवेदिते धम्मं ॥ ८५ ॥

सव्वकालं धम्मो ण कहेयव्वो, जतो पडिलेहणादिसंजमजोगाणं सुत्तपोरसीण य आयरियगिलाणमादिकिच्चाण य परिहाणी भवति, अतो ण काहियत्तं कायव्वं, जहा पुण धम्मं कहेति तहा णाउं साधुं साधुणीण य बहुगच्छुवग्गहं, खेत्तं ति ओमकाले बहूणं साधुसाधुणीण उवग्गहकरा इमे दाणसड्ढादि भविस्संति, धम्मं कहए रायादिपुरिसं वा णाउं करेज्जा, महाकुले वा इमेण एक्केण उवसंतेण पुरिसेणं बहू उवसमंतीति कहेज्जा। नि० चू० १३ उ०।

काहीइदाण–करिष्यतिदान–न० । करिष्यति कञ्चनोपकारं ममायमिति बुद्ध्या यद्दानं तत्करिष्यतीति दानमुच्यते। दानभेदे, स्था० १० ठा०।

किइ–कृति–स्त्री०। कृ भावादौ क्तिन्। "इत्कृपादौ"। ८। १। १२८। 'डुकृञ्' करणे इति ऋत इत्त्वम्। प्रा०१ पाद। करणे, विशे०। आ० म०। अनुष्ठाने, स्था० ३ ठा०४ उ०। अवनामादिकरणे, क्रियतेऽसाविति कृतिः। मोक्षायावनामादिचेष्टायाम्, आव० २ अ०। कृतिकर्मणि वन्दने, दशा० ८ अ०। उ०। व्य०। पुरुषप्रयत्ने कर्तृव्यापारे, कृ वधे क्तिन्। हिंसायाम्, विंशतिसंख्यायाम्,। कृत–वा–करणे–इक्। कर्त्तन्याम्, स्त्री०। वाच०।

किइकम्म–कृतिकर्मन्–न०। कृतिरेव कृतेर्वा कर्म क्रिया कृतिकर्म। वन्दनके, आव० ३ अ०। स०। आचा०। आ० चू०। कर्मापि द्विधा, द्रव्यतः कृतिकर्म निह्नवादीनामवनामादिकरणमनुपयुक्तसम्यग्दृष्टीनां च, भावतः सम्यग्दृष्ट्युपयुक्तानामिति। एतच्च द्वाविंशतिजिनसमये स्थितम्। बृ० ६ उ०।

(१) कृतिकर्मद्वारं निरूप्य कृतिकर्मणि संयतेभ्यः संयतीनां विशेषप्रतिपादनम्।
(२) यथार्हं वन्दनस्याकरणे दोषाः।
(३) कृतिकर्मणि द्रव्यभावप्रविकटयिषया दृष्टान्तप्रतिपादनम्।
(४) कृतिकर्मकरणार्हसंयतादिनिरूपणानन्तरं वन्दनार्हसंयतादिनिरूपणम्।
(५) द्रव्यक्षेत्रकालभावतो भेदाः।
(६) आचरणालक्षणं प्रतिपाद्य पर्यायज्येष्ठैराचार्यस्य वन्दनविचारः।
(७) दैवसिकरात्रिकप्रतिक्रमणयोर्मध्ये तिसृभिरेव स्तुतिभिराचार्यादिभिर्मङ्गलं विधेयम्।
(८) कृतिकर्म कस्य कर्त्तव्यं कस्य नेति विचारः।
(९) कारणतः पार्श्वस्थादीनां वन्दनप्रकारं निरूप्य तद्वन्दनकारणप्रतिपादनम्।
(१०) पार्श्वस्थादिवन्दनं निष्फलमिति निरूप्य तत्प्रतिषेधमकुर्वतामपायप्रदर्शनम्।
(११) गुणवतामपि पार्श्वस्थादिसंसर्गतो दोषसंभवात्सदृष्टान्तं वन्दननिषेधप्रतिपादनम्।
(१२) पार्श्वस्थादिवन्दने चापायप्रदर्शनम्।
(१३) सुसाधुवन्दने गुणप्रदर्शनम्।
(१४) कृतिकर्मकरणस्यानुचितानामुचितानां च प्रतिपादनम्।
(१५) कदा कृतिकर्म कर्त्तव्यं कदा वा नेति प्ररूपणम्।
(१६) कतिकृत्वः कृतिकर्म कर्त्तव्यमिति नियतानियतत्वेन निरूप्य नियतवन्दनस्थानसंख्याप्रतिपादनम्।
(१७) कृतिकर्मस्वरूपनिरूपणम्।
(१८) कतिभिरावश्यकैः परिशुद्धमित्येतन्निरूपणम्।
(१९) विराधनगुणोपदर्शनम्।
(२०) वन्दनकरणकारणप्रतिपादनम्।
(२१) वन्दनकविधिनिरूपणम्।

[१] अथ कृतिकर्मद्वारमाह—

कितिकम्मं पि य दुविहं, अब्भुट्ठाणे तहेव वंदणगा ।
समणेहि य समणीहि य, जहारिहं होति कायव्वं ॥

कृतिकर्माऽपि द्विविधम्-अभ्युत्थानं, तथैव वन्दनकमपि द्विविधमपि तृतीयोद्देशके व्याख्यातम् । बृ० ६ उ० । (अभ्युत्थानम् "अब्भुट्ठाण" शब्दे प्र० भा० ६६३ पृष्ठे उक्तम्, वन्दनं तु 'वंदणग' शब्दे व्याख्यास्यते) उभयमपि च श्रमणैः श्रमणीभिश्च यथार्हं यथारत्नाधिकं परस्परं कर्त्तव्यम् । तथा श्रमणीनामयं विशेषः–

सव्वाहि संयतीहिं, कितिकम्मं संजताण कायव्वं ।
पुरिसुत्तरितो धम्मो, सव्वजिणाणं पि तित्थम्मि ॥

सर्वाभिरपि संयतीभिश्चिरप्रव्रजिताभिरपि संयतानां तद्दिनदीक्षितानामपि कृतिकर्म कर्त्तव्यम् । कुत इत्याह-सर्वजिनानां सर्वेषामपि तीर्थकृतां तीर्थे पुरुषोत्तरो धर्म इति ।

किञ्च–

तुच्छत्तणेण गव्वो, जायति ण य संकते परिभवेणं ।
अन्नो वि होज्ज दोसो, थियासु माहुज्जहज्जासु ॥

स्त्रियाः साधुना वन्द्यमानायास्तुच्छत्वेन गर्वो जायते, गर्विता च साधुं परिभवबुद्ध्या पश्यति, ततः परिभवेन च नैव साधोः शङ्कते बिभेति । अन्योऽपि दोषः स्त्रीषु माधुर्यहार्यासु मार्दवग्राह्यासु वन्द्यमानासु भवति, भावसंबन्ध इत्यर्थः ।

अवि य हु पुरिसपणीतो, धम्मो पुरिसो य रक्खिउं सत्तो ।
लोगविरुद्धं चेयं, तम्हा समणाण कायव्वं ॥

अपि चेति कारणान्तराभ्युच्चये, पुरुषैस्तीर्थकरगणधरलक्षणैः प्रणीतः पुरुषप्रणीतो धर्मः, पुरुष एव च तं धर्मं रक्षितुं प्रत्यनीकादिभ्य उपद्रूयमाणं पालयितुं शक्तः, लोकविरुद्धं चैतत्पुरुषेण स्त्रियो वन्दनम्, तस्मात् श्रमणानां ताभिः कर्त्तव्यम् । बृ० ६ उ० । कल्प० । प्रव० । पञ्चा० ।

(२) यथार्हं वन्दनस्याकरणे दोषानाह–

एयस्स अकरणम्मी, माणो तह णीयकम्मबंधो त्ति ।
पवयणखिंसाऽयाणग, अबोहिभववुड्ढि अरिहम्मि ॥२५॥

एतस्य कृतिकर्मणोऽकरणेऽविधाने मानोऽहङ्कारः कृतो भवति । तथेति समुच्चये । नीचकर्मबन्धो नीचैर्गोत्रकर्मबन्धनमिति, एतस्मान्मानात् स्यात् । तथा प्रवचनखिंसा शासननिन्दा-नूनमेतत्प्रवचने विनयो नाभिधीयते, यत एते वन्दनं यथायोग्यं न कुर्वन्तीत्येवंरूपा । तथा (अयाणग त्ति) अज्ञायका अविज्ञा एते लोकरूढिमपि नानुवर्त्तयन्ति एवं विनिन्देति । अत एवाबोधिः सम्यग्दर्शनालाभः । अबोधिलाभफलं कर्मेत्यर्थः । ततश्च भववृद्धिः संसारवर्द्धनमिति दोषः । कैतस्याकरणे इत्याह–अर्हे योग्ये वन्दनस्य, न यत्र कुत्रचिदिति गाथाक्षरार्थः । पञ्चा० ७ विव० । प्रव० । स्था० । जीत० । पं० भा० । पं० चू० ।

वंदणचिइकिइकम्मं, पूआकम्मं च विणयकम्मं च ।
कायव्वं कस्स व के-ण वा वि काहे व कइखुत्तो ? ॥

(गाथापूर्वार्द्धं 'वंदणग' शब्दे वक्ष्यते) आह-इदं वन्दनं कर्त्तव्यं कस्य वा केन वा कदा वा कस्मिन्वा काले कतिकृत्वो वा कियत्यो वा वारा इति ।

किइओणयं कइ सिरं, कइहि व आवस्सएहि परिसुद्धं ।
कतिदोसविप्पमुक्कं, किइकम्मं कीस कीरइ वा ? ॥

अवनतिरवनतं कृत्यवनतं तद्वन्दनं कर्त्तव्यम्, कति शिरः कति शिरांसि, तत्र भवन्तीत्यर्थः । कतिभिर्वाऽऽवश्यकैरावर्त्तादिभिः परिशुद्धं, कतिदोषविप्रमुक्तं दोलगत्यादयो दोषाः । कृतिकर्म वन्दनकर्म [कीस किरइ व त्ति] किमिति वा क्रियत इति गाथासंक्षेपार्थः । आव० ३ अ० ।

(३) सांप्रतं वन्दनादिषु द्रव्यभावभेदं प्रविकटयिषुर्दृष्टान्तान् प्रतिपादयन्नाह––

सीयले खुड्डए कण्हे, सेवए पालए तहा ।
पंचेते दिट्ठंता, किइकम्मं होंति णायव्वा ॥ २ ॥

शीतलः, क्षुल्लकः, कृष्णः, सेवकः पालकस्तथा पञ्चैते दृष्टान्ताः कृतिकर्मणि भवन्ति ज्ञातव्याः । आव० ३ अ० । (तत्र सकथानकः शीतलदृष्टान्तः 'सीयल' शब्दे वक्ष्यते)

अथ क्षुल्लकदृष्टान्तमाह, तत्रेदं कथानकम्––

"एगो खुड्डगो आयरिएण कालं करेमाणेण लक्खणजुत्तो आयरिओ ठविओ । ते सव्वे पव्वइया तस्स खुड्डगस्स आणानिद्देसे वट्टंति । तेसिं च कडादीणं थेराण मूले पढइ । अन्नया मोहणिज्जेण वाहिज्जंतो भिक्खाए गएसु साहुसु बीतिज्जएण सन्नाभायणयं आणवेत्ता एत्तयं गहाय उच्चहयपरिणामो वच्चइ एगदिसाए, परिस्संतो एगम्मि वणसंडे वीसमइ, तस्स य पुप्फियफलियस्स मज्झे समिउंकरस्स पीढं बद्धं । लोगो तत्थ पूयं करेइ तिलगचउलादीणं, किंचि वि सो चिंतेइ । एयस्स पेढस्स गुणेण एयसे पूया किज्जइ चितिनिमित्तं । सो भणइ-एए किं अच्चेइ ? । ते भणंति-पुव्विल्लेहिं कएल्लयं एयं, तं च जणो वंदइ । तस्स वि चिंता जाया-पेच्छ जारिसं समिउंकरं तारिसो मि अहं, अन्ने वि तत्थ बहुस्सुया रायपुत्ता इब्भपुत्ता अत्थि, ते ण ठविया, अहं ठविओ, ममं पूयंति, कओ मज्झ समणत्तेणं रयहरणचितिगुणेणं वंदंति, परिनियत्तो इयरे वि भिक्खाओ आगया मग्गंति, न लभंति सुतिं वा पउत्तिं वा, सो आगओ आलोएइ-जहाऽहं सन्नाभूमिं गओ सूलो उट्ठाइओ तत्थ एमिओ अत्थिओ, इयाणि उवसंते आगओ मि, ते तुट्ठा, पच्छा कमाईणं आलोएइ, पायच्छित्तं च पडिवज्जइ । तस्स पुव्विं दव्वचिती, पच्छा भावचिती जाया" ।

इदानीं कृष्णकथानकमाह—

"बारवईए वासुदेवो, वीरओ कोलिओ, सो वासुदेवभत्तो । सो य किर वासुदेवो वरिसारत्ते बहवे जीवा वहिज्जंति तिओ नइ, सो वीरगो बारं अलभंतो पुप्फछज्जियाए अच्चणं काऊण वच्चइ, दिणे दिणे न य जेमेइ, परूढमंसू जाओ । वत्ते वरिसारत्ते नीसिराया सव्वे वि रायाणो उवट्ठिया, वीरओ पाएसु पडिओ । राया पुच्छइ-वीरओ दुब्बलो त्ति । बारवालेहिं कहियं जहावत्तं । रन्नो अणुकंपा जाया, अवारिओ पावेसो कओ वीरगस्स । वासुदेवो य किर सव्वाओ धूयाओ जाहे विवाहकाले पायवंदिया एयंति, ताहे पुच्छइ-किं पुत्ति ! दासी होहिहि उदाहु सामिणि त्ति ? । ताओ भणंति-सामिणिओ होहामु त्ति । राया भणइ-तो कवाई पव्वयह भट्टारगस्स पायमूले, पच्छा महया निक्खमणसक्कारेण सक्कारियाओ पव्वयंति, एवं वच्चइ कालो । अन्नया एगाए देवीए धूया, सा चिंतेइ–सव्वाओ पव्वाविज्जंति ।

तीए धूया सिक्खाविया-भणाहि, दासी होहामि त्ति । ताहे सव्वालंकियभूसिया उवणीया पुच्छिया भणइ-दासी होहामि त्ति । वासुदेवो चिंतेइ-मम धूयाओ संसारं हिंडिहिंति कहं वा अन्नेहिं अवमन्निज्जंति तो न लद्धो एको उवाओ, जेण अन्ना वि एवं न काहिंति त्ति चिंतेइ । लद्धो उवाओ वीरगं पुच्छइ-अत्थि ते किंचि कयपुव्वयं ? । भणति-नत्थि । राया भणइ-चिंतेहि य । सुचिरं चिंतेत्ता भणइ-अत्थि वयरीए उवरिं सरडो, सो पाहाणेण आहणेत्ता पाडिओ मओ य, सगडवट्टाए पाणियं वहंतं वामपाएण धारियं उव्वेलाए गयं, घडगघडियाए मच्छियाओ पविट्ठाओ हत्थेण ओहाडियाओ गुमगुमंतीओ होउंति । बीए दिवसे अत्थाणीए सोलसण्हं रायसहस्साणं मज्झे सो भणति-सुणह भो ! एयस्स वीरयस्स कुलुप्पत्ती सुया, कम्माणि य । काणि कम्माणि ? । वासुदेवो भणति-जेण रत्तसिरो नागो वसंतो बदरीवणे पाडिओ पुढविसत्थेण, वेमती नाम खत्तिओ, जेण य कलुया गंगा वहंती कलुसोदयं धारिया वामपाएण, वेमती नाम खत्तिओ, जेण घोसवती सेणा वसंती कलसीपुरे धारिया वामहत्थेणं, वेमती नाम खत्तिओ, एयस्स धूयं देमि त्ति । सो भणिओ-धूयं ते देमि, तो नेच्छति, भीउडी कया, दिन्ना, नीया य घरं, सयणिज्जे अत्थति, इमो से सव्वं करेति । अन्नया राया पुच्छति, किह ते वयणं करेति । वीरओ भणति-अहं सामिणीए दासो त्ति । राया भणति-सव्वं जइ न कारावेसि तो नत्थि ते निप्फेडओ । तेण रत्तो आकूयं नाऊण घरं गएण भणिया-जहा पज्जणं करेहि त्ति । सा रुट्ठा, कोलिय ! अप्पयं न याणसि, तेण उट्ठेऊण रज्जुए आहया कूयंती रन्नो मूलं गया । पाए पडिया भणइ-तेणाहं कोलिएण आहया । राया भणति-तेण चेव सि मए भणिया-सामिणी होहिहिति त्ति, तो दासत्तणं मग्गसि, अहमेत्ताहे न वसामि । सा भणति-सामिणी होमि । राया भणति-वीरओ जइ मन्निहिति । मोइया पव्वइया । अरिट्ठनेमिसामी समोसरिओ । राया निग्गओ । सव्वे साहू बारसावत्तेणं वंदति, रायाणो परिस्संता ठिया । वीरओ वासुदेवाणुवत्तीए वंदति, कन्हे घम्मसेओ जाओ । भट्टारओ पुच्छिओ-तिहिं सट्ठेहिं सएहिं संगमाणं न एवं परिस्संतो मि भगवं ! । भगवया भणियं-कन्ह ! खाइगं ते संमत्तं, उप्पाइयं तित्थगरनामगोयं च, जया किर पाए विद्धा तया निंदणगरिहणाए सत्तमाए पुढवीए बद्धेल्लयं आउयं उव्वट्टंतेण तच्चपुढविमाणीयं, जइ आउयं धरे तो पढमपुढविमाणेतो अन्ने भणंति-इहेव वंदंतेणं ति भावकितिकम्मं वासुदेवस्स, दव्वकितिकम्मं वीरयस्स" ।

अथ सेवककथानकमाह-

"एगस्स रन्नो दो सेवया, तेसिं अहीणा गामा । तेसिं सीमानिमित्तेणं भंडणं जातं, रायकुलं पहाविया । साहू दिट्ठो, एगो भणाति भावेणं साधुं दृष्ट्वा-'ध्रुवा सिद्धिः' पयाहिणीकाउं वंदित्ता गओ । बितिओ तस्स किर उग्घोट्ठुयं करेति, सो वि वंदति, तहेव भणति । ववहारो आवद्धो, जिओ, तस्स दव्वपूजा, इयरस्स भावपूजा " ।

इदानीं पालककथानकमाह-

"बारवतीए वासुदेवो राया पालयसंबादओ, से पुत्तो नेमी समोसढो । वासुदेवो भणति-जो कल्लं सामिं पढमं वंदति तस्साहं जं मग्गति तं देमि । संबेण सयणीआओ उट्ठित्ता वंदिओ । पालएण बोजेण सिग्घेण आसरयणेण वंदिउं गंतूण सो किर अभयसिद्धिओ वंदति, हियएण अक्कोसति । वासुदेवो निग्गओ पुच्छति-केण तुज्झे अज्ज ! पढमं वंदिया । दव्वओ पालएणं, भावओ संबेणं । संबस्स तं दिन्नं" । एवं तावद् द्रव्यपर्यायशब्दद्वारेण निरूपितम् ।

अधुना यदुक्तं कर्त्तव्यं कस्य चेति, स निरूप्यते, तत्र येषां न कर्त्तव्यं तानभिधित्सुराह-

अस्संजयं न वंदिज्जा, मायरं पिअरं गुरुं ।
सेणावइं पसत्थारं, रायाणं देवयाणि अ ॥ ४ ॥

न संयता असंयताः, अविरता इत्यर्थः; तान् वन्देत । कान् ?, मातरं जननीं, तथा पितरं जनकम्, असंयतमिति वर्त्तते । प्राकृतशैल्या चाऽसंयतशब्दो लिङ्गत्रयेऽपि यथायोगमभिसंबध्यते । तथा गुरुं पितामहादिलक्षणम्, असंयतत्वं सर्वत्र योजनीयम् । तथा हस्त्यश्वरथपदातिलक्षणा सेना, तस्याः पतिः सेनापतिः, गणराज इत्यर्थः । तं सेनापतिं, प्रशास्तारं प्रकर्षेण शास्ता, तं धर्मपाठकादिलक्षणम्, तथा बद्धमुकुटो राजाऽभिधीयते, तं राजानं, दैवतानि च न वन्देत, देवदेवीसंप्रदार्थं देवताग्रहणम् । चशब्दाल्लेखाचार्यादिग्रहो वेदितव्य इति गाथार्थः ॥४॥

[४] इदानीं यस्य वन्दनं कर्त्तव्यं स उच्यते-

समणं वंदिज्ज मेहावी, संजयं सुसमाहिअं ।
पंचसमिअं तिगुत्तं, अस्संजमदुगुंछगं ॥ ५ ॥

श्रमणः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, तं श्रमणं वन्देत नमस्कुर्यात्, कः ?, मेधावी न्यायाव्यवस्थितः । स खलु श्रमणो नामस्थापनादिभेदभिन्नोऽपि भवति, अत आह-संयतम्, समेकीभावेन यतः संयतः, क्रियायां प्रयत्नवानित्यर्थः । असावपि च व्यवहारनयाभिप्रायतो ह्रस्वादिनिमित्तमसंपूर्णदर्शनादिरपि संभाव्यते, अत आह-सुसमाहितम्, दर्शनादिषु सुष्ठु सम्यगाहितः सुसमाहितस्तम् । सुसमाहितत्वमेव दर्श्यते-पञ्चभिरीर्यासमित्यादिभिः समितिभिः समितः पञ्चसमितस्तम् । तिसृभिर्मनोगुप्त्यादिभिर्गुप्तं त्रिगुप्तम् । प्राणातिपातादिलक्षणोऽसंयमः असंयमं गर्हति जुगुप्सतीत्यसंयमजुगुप्सकस्तम् । अनेन दृढधर्मताऽस्यावेदिता भवतीति गाथार्थः ॥ ५ ॥

आह-किमिति यस्य कर्त्तव्यं वन्दनं स एवादौ नोक्तः, येन येषां न कर्त्तव्यं मात्रादीनां तेऽप्युक्ता इति ?, उच्यते-सर्वपार्षदं हीदं शास्त्रम्, त्रिविधाश्च विनेया भवन्ति-केचिदुद्घटितज्ञा भवन्ति, केचिन्मध्यमबुद्धयः, केचित्प्रपञ्चितज्ञा इति । तत्र मा भूत् प्रपञ्चितज्ञानां मतिः-सकललक्षणश्रमणस्य कर्त्तव्यं, मात्रादीनां तु न विधिर्न प्रतिषेध इत्यतस्तेऽप्युक्ता इति । यद्येवं किमिति तेषां न कर्त्तव्यं न एवादावुक्ता इति ? । अत्रोच्यते-हितप्रवृत्तेरहितनिवृत्तिर्गरीयसी । गुरु संसारकारणमिति प्रदर्शनार्थमित्यलं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः । श्रमणं वन्देत मेधावी संयतमित्युक्तम् ।

तत्रेत्थंभूतमेव वन्देत न तु पार्श्वस्थादीन्, तथा चाह—

पंचन्हं किइकम्मं, मालामरुएण होइ दिट्ठंतो ।
वेरुलिअ नाण दंसण, नीआवासे अ जे दोसा ॥ ६ ॥

पञ्चानां पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दानां कृतिकर्म, न कर्त्तव्यमिति वाक्यशेषः । अयं च वाक्यशेषः-श्रमणं वन्देत मेधावी संयतमित्यादिग्रन्थादवगम्यते, पार्श्वस्थादीनां यथोक्तश्रमण-

गुणविकलत्वात् । तथा संयतानामपि ये पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं संसर्गं कुर्वन्ति तेषामपि कृतिकर्म न कर्त्तव्यम् । आह-कुतोऽयमर्थोऽवगम्यते ?। उच्यते-माम्रामरुकाभ्यां भवंति दृष्टान्त इति वचनात् । वक्ष्यते च-" असुइट्ठाणे पडियेत्यादि" " पक्कणकुलेत्यादि"।[वेरुलिय त्ति] संसर्गजदोषनिराकरणाय वैडूर्यदृष्टान्तो भविष्यति । वक्ष्यते च-"सुचिरं पि अत्थमाणा" इत्यादि । तत्प्रत्यवस्थानं च "अंबस्स य लिंबस्स य" इत्यादिना सप्रपञ्चं वक्ष्यते । (णाणे त्ति) दर्शनचारित्राऽऽसेवनसामर्थ्यविकला ज्ञाननयप्रधाना एवमाहुः-ज्ञानिन एव कृतिकर्म कर्त्तव्यम् । वक्ष्यते च-"कामं चरणं भावो,तं पुण णाणसहिओ समाणे त्ति। न य नाणं तु न भावो,तेण णाणिं पणिवयामो" इत्यादि [दंसणे त्ति] ज्ञानचरणधर्मविकलाः स्वल्पसत्त्वा एवमाहुः-दर्शनिन एव कृतिकर्म कर्त्तव्यम् । वक्ष्यते च-"जह नाणेण विणा चर-णं नाणं दंसणिस्सइ य नाणं । ण य दरिसणं ण भावो,ते णदि।डिं पणिवयामो" इत्यादि ।तथाऽन्ये संपूर्णचरणधर्मानुपालनासमर्था नित्यवासादि प्रशंसन्ति संगमस्थविरोदाहरणेनापरे चैत्यावालम्बनं कुर्वन्ति । वक्ष्यते च-"जाहे वि य परितंता,गामागरनगरपट्टणमडुत्ता। तो केती नियवासी,संगमथेरं ववइसंति" इत्यादि। तत्र नित्यवासे च ये दोषाः, चशब्दात्केवलज्ञानदर्शनपक्षे चैत्यभक्तिपक्षे चार्यिकालाभविकृतिपरिभोगपक्षे च ते वक्तव्या इति वाक्यशेषः । एष तावद्गाथासंक्षेपार्थः ॥६॥

सांप्रतं यदुक्तं पञ्चानां कृतिकर्म न कर्तव्यम्, अथ के एते पञ्च इति तान्स्वरूपतो निदर्शयन्नाह-

पासत्थो ओसन्नो, होइ कुसीलो तहेव संसत्तो ।
अहछंदो वि अ एए, अवंदणिज्जा जिणमयम्मि ॥७॥

इयमन्यकर्तृकी सोपयोगा चेति व्याख्यायते-तत्र पार्श्वस्थः दर्शनादीनां पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थः । अथवा मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवः पाशाः,पाशेषु तिष्ठतीति पाशस्थः। आव० ३ अ०।

कृतिकर्म कर्तव्यम्-

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अहारायणियाए किइकम्मं करित्तए ।

अथ कोऽस्य सूत्रस्य संबन्ध इत्याह-

संथारं दु रुहंते, किइकम्मं कुणइ वाचियं सायं ।
पातो वि य पणिवायं, पमिबुद्धो एक्कमेक्कस्स ॥

सायं प्रदोषसमयपौरुष्यां पूर्णायां गुरुप्रदत्तायां सुवि प्रस्तोर्वे संस्तारकमारोहन् वाचिकं कृतिकर्म 'नमः क्षमाश्रमणेभ्यः' इति लक्षणं वाचनिकं प्रणामं करोति । प्रातरपि च प्रभातेऽपि प्रतिबुद्धः सन् एकैकस्य साधोः प्रणिपातं वन्दनं यथारत्नाधिकं करोति, अत इदं कृतिकर्मसूत्रमारभ्यते । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा यथारात्निकं यो यो रत्नाधिकस्तदनतिक्रमेण कृतिकर्म कर्तुमिति सूत्रसंक्षेपार्थः ।

अथ विस्तरार्थं भाष्यकार आह-

किइकम्मं पि य दुविहं, अब्भुट्ठाणं तहेव वंदणगं ।
वंदणगं तहि ठप्पं, अब्भुट्ठाणं तु वोच्छामि ॥

कृतिकर्म द्विविधम् । तद्यथा-अभ्युत्थानं, वन्दनकं च । तत्र वन्दनकं स्थाप्यम्, अभ्युत्थानं तु सांप्रतमेव वक्ष्यामि । बृ० ३ उ०। (अभ्युत्थानम् 'अब्भुट्ठाण' शब्दे प्र० भा० ६६७ पृष्ठे उक्तम् । वन्दनकं 'वंदणग' शब्दे वक्ष्यते)

[५] अथ द्रव्यक्षेत्रकालभावतः कृतिकर्मकरणविधिमाह-

आयरियउवज्झाए, काऊणं सेसगाण कायव्वं ।
उप्परिवामी मासिग, मदरहिए तिन्नि य थुईओ ॥

प्रतिक्रमणसूत्राकर्षणानन्तरमाचार्योपाध्याययोः प्रथमं कृतिकर्म कृत्वा ततः शेषसाधूनां यथारत्नाधिकक्रमं कर्तव्यम् । अपरोत्परिपाट्या वन्दते ततो लघुमासिकं, तेनापि चाचार्यादिना मदरहितेन वन्दनकं प्रतीच्छनीयम्। प्रतिक्रमणे च समापिते तिस्रः स्तुतयः स्वरेण छन्दसा च प्रवर्द्धमाना दातव्याः ।

आह-शेषसाधूनां किं सर्वेषामपि वन्दनं विधेयम्, उत नेत्यत्रोच्यते-

जा दुचरिमो त्ति ता हो-इ वंदणं तीरिए पडिक्कमणे ।
आइण्णं पुण तिण्हं, गुरुस्स दुण्हं व देवसिए ॥

प्रतिक्रमणसूत्रे तीरिते पारं प्रापिते सति वन्दनं भवति यावद् द्विचरमसाधुः । द्वौ साधू अवशिष्यमाणौ यावत् सर्वेषामपि वन्दनं कृत्वा क्षामणकं कर्तव्यमिति भावः । एष विधिः पूर्वं चतुर्दशपूर्वधरदशपूर्वधरादिकाले आसीत्; संप्रति पुनः पूर्वाचार्यैराचीर्णमिदम्-त्रयाणां साधूनां वन्दनकं कर्तव्यम्, तत्रैकस्य गुरोर्द्वयोश्चाशेषसाध्वोः पर्यायज्येष्ठयोः दैवसिके, उपलक्षणत्वाद् रात्रिके वा आवश्यके अयं विधिरवगन्तव्यः। पाक्षिके तु पञ्च साधवो वन्दित्वा क्षमयितव्याः। चातुर्मासिके सांवत्सरिके च सप्त । आह चावश्यकचूर्णिकृत्-" पक्खिए पंच अवस्सं, चाउम्मासिए संवच्छरिए सत्त अवस्सं ति "।

आह-किमत्र कारणं मौलं विधिमुल्लङ्घ्य पूर्वसूरय इत्थमभिनवां सामाचारीं स्थापयन्तीत्युच्यते-

धिइसंघयणादीणं, मेराहाणिं तु जाणिउं थेरा ।
सेहअगीतट्ठा वि य, ठवणे आइण्णकप्पस्स ॥

धृतिर्मानसावष्टम्भरूपा, संहननं वज्रऋषभनाराचादि, तयोः, आदिशब्दाद् द्रव्यक्षेत्रकालादीनां च या परिहाणिर्या च मर्यादा या सिद्धान्ताभिहितनिरपवादसमाचारीरूपा हानिः, तां ज्ञात्वा पूर्वसूरयः ऐदंयुगीनसाधुजनोचितस्याचीर्णकल्पस्य स्थापनां कुर्वन्ति । किमर्थमित्याह-शैक्षाणामगीतार्थानां चाऽनुग्रहार्थम्, मा चूदमीषां बहुतरसाधूनां वन्दित्वा क्षमयतां विशिष्टधृतिसंहननादिबलाभावात्परिभग्नानां विपरिणाम इति ।

[६] अथाचीर्णस्यैव लक्षणमाह-

असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ कारणे असावज्जं ।
ण णिवारियमण्णेहिं, बहुमणुमयमेतमाइण्णं ॥

अशठेन रागद्वेषरहितेन कालिकाचार्यादिवत्प्रमाणस्थेन सता समाचीर्णम् आचरितं भाद्रपदशुद्धचतुर्थीपर्युषणापर्ववत् । कुत्रचित् द्रव्यक्षेत्रकालादौ कारणे पुष्टालम्बने असावद्यं प्रकृत्या मूलोत्तरगुणसाधनाय अबाधकम् । न च नैव निवारितमन्यैस्तथाविधैरेव तत्कालप्रवृत्तिभिर्गीतार्थैः, अपि तु बहु यथा भवत्येवमनुमतमेतदाचीर्णमुच्यते ।

अथ ये आचार्यस्यापि पर्यायज्येष्ठास्तैः किमाचार्यस्य वन्दनकं कर्तव्यमुत नेत्यत्रोच्यते-

वियमणपच्चक्खाणे, सुए सु राइणिगा वि हु करेंति ।
मज्झिम्ले न करिंती, सो चेव करेइ तेसिं तु ॥

विकटनमनालोचनं, प्रत्याख्यानं प्रतीतं, तयोः, तथा श्रुते चोद्दिश्यमानसमुद्दिश्यमानादौ रात्निका अपि ज्येष्ठाचार्या अभ्युपसंपन्नं प्रतिपन्ना अवमरात्निकस्याचार्यस्य वन्दनकं कुर्वन्ति। ये तु मध्यमं क्षामणकवन्दनं तन्न कुर्वन्ति, किं तु स एवाचार्यस्तेषां रात्निकानां करोति।

[७] अथ यदुक्तं तिस्रः स्तुतयो दातव्या इति तत्र विधिमाह—

थुइमंगलम्मि गणिणा, उच्चारिते सेसगा थुती दिंति।
थम्मह मेरसारण, विणयो य ण फेमितो एवं ॥

पाक्षिकादिषु यद्यप्याचार्योऽवमरात्निकस्तथापि स एवावश्यके समापिते प्रथमतस्तिस्रः स्तुतीर्ददाति। दैवसिकरात्रिकयोरपि प्रथममाचार्येण स्तुतिमङ्गलं प्रारम्भणीयम्, ततः शेषैः। अत एवाह-स्तुतिमङ्गले गणिना आचार्येणोच्चारिते सति शेषाः साधवः स्तुतीर्ब्रुवते, ददतीत्यर्थः। धर्मार्थं गुरुपादमूल एव कियन्तमपि कालं तिष्ठन्ति। किमर्थमिति चेत् ?. अत आह-काचिन्मर्यादा सामाचारी विस्मृता भवेत् तस्याः स्मारणं गुरवः कुर्वीरन्, परमोपकारिणश्च गुरवः, तत एवं प्रतिक्रमणानन्तरं कियन्तमपि कालं तेषु पर्युपास्यमानेषु विश्रमणादिविधानेन विनयोऽपि न स्फेटितो न हापितो भवति ॥

अथ के पुनस्ते ये आचार्यस्यापि रत्नाधिका भवन्ती—त्युच्यते—

अन्नेसिं गच्छाणं, उवसंपन्नाण वंदणं ताहियं ।
बहुमाण तस्स वयणं, उवसेवाऽऽलोयणा जणिया ॥

अन्येषां गच्छानां संबन्धिन आचार्या रत्नाधिकतराः सूत्रार्थनिमित्तं कमप्यवमरात्निकमाचार्यमुपसंपन्नास्तेषां मध्यमवन्दनकम् अवमरात्निकेन दातव्यं शेषं कालं, तेऽपि रात्निकास्तस्यावमरात्निकस्य बहुमानं पूज्योऽयमस्माकं गुणाधिकतयेति लक्षणं वचनमाज्ञानिर्देशं कुर्वन्ति। अवमेऽपि च तथाऽऽलोचना भणिता भगवद्भिः। किमुक्तं भवति ?-तस्य पुरत आलोचनं प्रत्याख्यानं च वन्दनकं दत्त्वा विहितमिति भगवतामुपदेशः।

(८) अथ परः प्राह-कस्य पुनः कृतिकर्म कर्त्तव्यं कस्य वा नेति ?, उच्यते—

सेढीठाणठियाणं, कितिकम्मं बाहिराण भयितव्वं ।
सुत्तत्थजाणएणं, कायव्वं आणुपुव्वीए ॥

संयमश्रेण्याः संबन्धीनि विशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतस्वरूपभेदरूपाणि यानि स्थानानि तेषु स्थितानां कृतिकर्म कर्त्तव्यम् । ये तु संयमश्रेणिस्थानेभ्यो बाह्यास्तेषां भक्तव्यं कर्त्तव्यं वा न वेतिभावः। तत्र कारणे समुत्पन्ने सूत्रार्थज्ञेन गीतार्थेन आनुपूर्व्या "बायाइ नमोक्कारो" इत्यादिकया वक्ष्यमाणपरिपाट्या, कर्त्तव्यम्, अन्यथा तु नेति पुरातनीगाथासमासार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुराह—

सेढीठाणठियाणं, कितिकम्मं सेढि इच्छिमो णाउं ।
तम्हा खलु सेढीए, कायव्व परूवणा इणमो ॥

संयमश्रेणिस्थानस्थितानां कृतिकर्म कर्तव्यमित्युक्ते कश्चिद् विनेयो ब्रूयात्-वयं तामेव श्रेणिं प्रथमतो ज्ञातुमिच्छामः। सूरिराह-यत एवं भवतः श्रेणिविषया जिज्ञासा साऽस्माभिरपि कर्त्तव्या श्रेणेः प्ररूपणया इयं वक्ष्यमाणलक्षणा ।

अतस्तामेव चिकीर्षुः प्रथमतः श्रेणिस्थितानां कृतिकर्मकरणे विधिमाह—

पुव्वं चरित्तसेढी, ठियस्स पच्छा ठिएण कायव्वं ।
सो पुण तुल्लचरित्तो, हविज्ज ऊणो व अहिओ वा ।

पूर्वं प्रथमं यः सामायिकस्य छेदोपस्थापनीयस्य वा प्रतिपत्त्या चारित्रश्रेण्यां स्थितस्तस्य पश्चात्स्थितेन कृतिकर्म कर्त्तव्यम् । स पुनः पूर्वस्थितस्तं पश्चात्स्थितमपेक्ष्य निश्चयतस्तुल्यचारित्रो न्यूनो वा अधिको वा भवेत् । यतः—

निच्छयओ दुन्नेयं, को भावे कम्मि वट्टई समणो ।
ववहारओ य कीरइ, जो पुव्वठिओ चरित्तम्मि ॥

निश्चयतस्तत्त्ववृत्त्या कः पूर्वस्थितः पश्चात्स्थितो वा श्रमणः, कस्मिन् भावे चारित्राध्यवसायरूपे मन्दे मध्ये तीव्रे वा वर्तते इति दुर्ज्ञेयम्, तदपरिज्ञानाच्च कथं निश्चयनयाऽभिप्रायेण कृतिकर्म कर्तुं शक्यम् । व्यवहारतस्तु व्यवहारनयमङ्गीकृत्य पुनः क्रियते कृतिकर्म यः पूर्वं चारित्रे स्थितस्तस्येति ।

ननु फलसाधकत्वान्निश्चयस्यैव प्रामाण्यं, न व्यवहारस्येत्याह—

ववहारो वि हु बलवं, जं छउमत्थं पि वंदई अरहा ।
जा होइ अणाभिन्नो, जाणंतो धम्मओ एयं ॥

व्यवहारोऽपि, आस्तां निश्चय इत्यपिशब्दार्थः । हु निश्चितम्, बलवान् । यद्यस्माच्छद्मस्थमपि स्वगुरुप्रभृतिकं वन्दते अरहा केवली । कियन्तं कालमित्यादि-यावदसौ [अणाभिन्नो त्ति] केवलितया अनभिज्ञातो भवति तावदेनं व्यवहारनयबलवत्त्वलक्षणं धर्मतो जानन् छद्मस्थमपि वन्दते इति ।

कथं पुनरसौ केवलितया ज्ञायत इत्याह—

केवलिणा वा कहिए, अवंदमाणो व केवलि अन्नं ।
वागरणपुव्वकहिए, देवयपूआसु व सुणंति ॥

अन्येन केनापि केवलिना कथिते-अयं केवली ज्ञात इत्याख्याते सति अवन्दमानो वा केवलिनमन्यं केवलितया ज्ञायते । व्याकरणपूर्वं वा अतिशयज्ञानगम्यार्थकथनपुरस्सरं तेनैव केवलिना स्वयमेव कथिते सति, देवतापूजासु वा यथासंनिहितदेवैः क्रियमाणां महिमां दृष्ट्वा गुरुप्रभृतयस्तं केवलिनं विदन्ति।

अथ श्रेणिप्ररूपणामाह—

अविभागपलिच्छेया, ठाणंतरकंडए य छट्ठाणा ।
हिट्ठा पज्जवसाणे, वड्ढी अप्पाबहुं जीवा ॥

अविभागपरिच्छेदप्ररूपणा, स्थानान्तरप्ररूपणा, काण्डकप्ररूपणा, षट्स्थानप्ररूपणा, अधःप्ररूपणा, पर्यवसानप्ररूपणा, वृद्धिप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, जीवप्ररूपणा चामूनि प्रतिद्वाराणि।

तद्यथा—

आलावगणणविरहिय-अविरहिय फासणा परूवणया ।
गणणपयसेढिअवहा-रभाग अप्पाबहुं समया ॥

आलापकप्ररूपणा, गणनाप्ररूपणा, विरहितप्ररूपणा, अविरहितप्ररूपणा, स्पर्शनाप्ररूपणा, गणनपदप्ररूपणा, श्रेण्यपहारप्ररूपणा, भागप्ररूपणा, अल्पबहुत्वप्ररूपणा, समयप्ररूपणा इति द्वारगाथाद्वयम् ।

तत्राविभागपरिच्छेदप्ररूपणां करोति-

अविभागपलिच्छेओ, चरित्तपज्जवपएसपरमाणू ।
परमाणुस्स परूवण, चउव्विहा भावओ णं सा ॥

इह संयमस्थानकेवलिप्रज्ञाच्छेदनकेन छिद्यमानं निरंशतया यदा विभागं न यच्छति तदाऽसावन्तिमोंऽशोंऽशविभागपरिच्छेद उच्यते । स चारित्रपर्यायश्चारित्रप्रदेशश्चारित्रपरमाणुर्वा भण्यते । परमाणोश्च सामान्यतश्चतुर्विधा प्ररूपणा, द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् । द्रव्यत एकाणुकः, क्षेत्रत आकाशप्रदेशः, कालतः समयः, भावतस्त्वेकगुणकालकादि । अत एव वा चारित्राविभागपरिच्छेदाः । ते चानन्ता अनन्तानन्तकप्रमाणाः ।

तथा चाह-

ते कित्तिया पएसा, सव्वागासस्स मग्गणा होइ ।
ते जत्तिआ पएसा, अविभागतओ अणंतगुणा ॥

ते चारित्रस्य प्रदेशाः कियन्तः किं प्रमाणा इति चिन्तायां निर्वचनमाह-सर्वस्य लोकालोकगतस्याकाशस्य मार्गणा भवति । यावन्तः किल सर्वाकाशस्य प्रदेशास्ततस्तेभ्यः सर्वाकाशप्रदेशेभ्यश्चारित्रस्याविभागपरिच्छेदा अनन्तगुणाः सर्वजघन्येऽपि संयमस्थाने प्रतिपत्तव्याः, एषा प्रतिभागपरिच्छेदप्ररूपणा । सर्वजघन्यात् संयमस्थानात् द्वितीयं संयमस्थानं ततस्तस्मादनन्तभागवृद्धम् । किमुक्तं भवति ? । प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विभागापेक्षया द्वितीये संयमस्थाने निर्विभागा भागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति, एषा स्थानान्तरप्ररूपणा । तस्मादपि यदनन्तरं तृतीयं तत्र तेऽनन्तभागवृद्धाः, एवं पूर्वस्मादुत्तरोत्तराणि अनन्ततमेन भागेन वृद्धानि निरन्तरं संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावदङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतदेशराशिप्रमाणानि भवन्ति । एतावन्ति च समुदितानि स्थानानि कण्डकमित्युच्यते । एवं कण्डकप्ररूपणे अस्माच्च कण्डकात्परतो यदनन्तरं संयमस्थानं भवति तत् पूर्वस्मादसंख्येयभागाधिकम् । एतदुक्तं भवति-पाश्चात्यकण्डकसत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया कण्डकानन्तरे संयमस्थाने निर्विभागा भागा असंख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते, ततः पराणि पुनरपि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति । ततः पुनरेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, भूयोऽपि ततः पराणि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति, ततः पुनरप्येकमसंख्येयभागाधिकं संयमस्थानम् । एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितानि असंख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्तान्यपि कण्डकप्रमाणानि भवन्ति । ततश्चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि भवन्ति, ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानम्, ततो मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव क्रमेणाभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, इदं द्वितीयं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानमनेनैव क्रमेण तृतीयं यावत् संख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि कण्डकमात्राणि भवन्ति तावद्वाच्यम्, तत उक्तक्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकसंयमस्थानप्रसङ्गे संख्येयगुणाधिकमेकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि च वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानम् । अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत् कण्डकमात्राणि भवन्ति, तत उक्तक्रमेण पुनरपि संख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि भवन्ति तेनैव क्रमेण भूयोऽपि वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्; अमूनि चैवमसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकप्रमाणानि भवन्ति, ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकसंयमस्थानप्रसङ्गे अनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव क्रमेण भूयो वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वक्तव्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वक्तव्यम्, एवमनन्तगुणाधिकानि तावद्वक्तव्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततो भूयोऽपि तेषामुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वक्तव्यानि, यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तत्र प्राप्य षट्स्थानस्य परिसमाप्तत्वात् । इत्थंभूतान्यसंख्येयानि कण्डकानि समुदितानि षट्स्थानकं भवति, तस्माच्च प्रथमषट्स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयं षट्स्थानकमुत्तिष्ठति, एवमेव च तृतीयम्, एवं षट्स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्तं च-" छट्ठाणमए अवसा-णे अन्नं छट्ठाणयं पुणोऽनंतं । एवमसंखा लोगा, छट्ठाणाणं मुणेयव्वा " । इत्थंभूतानि चासंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि षट् स्थानकानि संयमश्रेणिरुच्यते । तथा चोक्तम्-"छट्ठाणा उ असंखा, संजमसेढी मुणेयव्वा" तदेवं कृताऽविभागपरिच्छेदस्थानान्तरकण्डकषट्स्थानकानां प्ररूपणा ॥ सांप्रतमधःस्थानरूपणाः क्रियन्ते-प्रथमादसंख्येयभागवृद्धात्स्थानादधः कियन्ति संयमस्थानान्यनन्तभागवृद्धानि ? । उच्यते-कण्डकमात्राणि । तथा प्रथमासंख्येयभागवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति असंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते-कण्डकमात्राणि । एवमुत्तरोत्तरस्थानादधोऽध आनन्तर्येण तावत् मार्गणा कर्तव्या यावत्प्रथमादनन्तगुणवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति असंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि ?, उच्यते-कण्डकमात्राणि ॥ इदानीमेकान्तरिता मार्गणाः क्रियन्ते-तत्र प्रथमात्संख्येयभागवृद्धात् स्थानादधः कियन्त्यनन्तभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते-कण्डकवर्गः कण्डकं च । तथा प्रथमासंख्येयगुणवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति असंख्येयभागवृद्धानि स्थानानि ? । उच्यते-कण्डकवर्गः कण्डकं च । तथा प्रथमादनन्तगुणवृद्धात् स्थानादधः कियन्ति संख्येयगुणवृद्धानि ? । उच्यते-कण्डकवर्गः कण्डकं च । एवमुक्तप्रकारेण द्व्यन्तरिता त्र्यन्तरिता चतुरन्तरिता च मार्गणा सुधिया परिभावनीया ॥ अथ पर्यवसानद्वारम्-तत्रानन्तगुणवृद्धकण्डकादुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि सर्वाणि स्थानानि गत्वा पुनरनन्तगुणवृद्धं स्थानं न प्राप्यते, षट्स्थानस्य परिसमाप्तत्वात् । ततस्तदेव सर्वान्तिमस्थानं षट्स्थानकस्य पर्यवसानम् ।

अथ भाष्यकारः प्रकारान्तरेणाधःपर्यवसानद्वारयोः युगपत्प्ररूपणायाऽऽह-

एयं चरित्तसेढिं, पडिवज्जइ हिट्ठ कोइ उवरिं वा ।
जो हिट्ठा पडिवज्जइ, सिज्झइ नियमा जहा भरहे ॥

एवं चारित्रश्रेणिं कश्चिज्जीवोऽधस्तात् जघन्यसंयमस्थानेषु प्रतिपद्यते, कश्चित्पुनरुपरि उपरितनेषु पर्यन्तवर्त्तिषु उपलक्षणत्वान्मध्यमेषु वा संयमस्थानेषु प्रतिपद्यते । तत्र योऽधस्तनेषु संयमस्थानेषु चारित्रश्रेणिं प्रतिपद्यते, स नियमात्तत्रैव भवग्रहणेन सिद्ध्यति, यथा भरतश्चक्रवर्त्ती ।

मज्झे वा उवरिं वा, नियमा गमणं तु हिट्ठिमं ठाणं ।
अंतो मुहुत्तवुड्ढी, हीणा वि तहेव नायव्वा ॥

यः पुनर्मध्ये वा मध्यमेषु, उपरि वा उपरितनेषु संयमस्थानेषु चारित्रश्रेणिं प्रतिपद्यते, तस्य नियमादधस्तनं सर्वजघन्यं संयमस्थानं यावद्गमनं भवति, ततोऽसौ तेनान्येन वा भवग्रहणे सर्वाणि संयमस्थानानि स्पृष्ट्वा सिध्यति, या पुनरधस्तनसंयमस्थानेभ्य उपरितनसंयमस्थानारोहणलक्षणा वृद्धिः सा अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं भवति, या चोपरितनसंयमस्थानेभ्योऽधस्तनसंयमस्थानेषु वाऽऽरोहणरूपा हानिः साऽपि तथैवान्तर्मुहूर्त्तमात्राऽवसातव्या; एतेन वृद्धिद्वारप्ररूपणाऽपि कृता । संप्रति अल्पबहुत्वद्वारं प्ररूप्यते-तत्र सर्वस्तोकान्यनन्तगुणवृद्धानि स्थानानि, कण्डकमात्रत्वात्तेषाम् । तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि,कण्डकमात्रत्वात्तेषाम् । तेभ्योऽसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि । गुणकारश्च इह कण्डकप्रमाणो ज्ञातव्यः । एकैकस्यानन्तगुणवृद्धस्य स्थानस्याधस्तात्प्रत्येकमसंख्येयगुणवृद्धानि स्थानानि कण्डकमात्राणि प्राप्यन्ते इतिकृत्वा अनन्तगुणवृद्धस्थानकण्डकस्योपरि कण्डकमात्राणि असंख्येयगुणवृद्धानि प्राप्यन्ते, तत्रानन्तगुणवृद्धं स्थानं तेन उपरिष्टादेकस्य कण्डकस्याधिकस्य प्रक्षेपः, तेभ्योऽप्यसंख्येयगुणवृद्धेभ्यः स्थानेभ्यः संख्येयगुणवृद्धानि असंख्येयगुणानि, तेभ्योऽपि संख्येयभागाधिकानि स्थानानि असंख्येयगुणानि, तेभ्योऽसंख्येयभागाधिकानि स्थानान्यसंख्येयगुणानि, तेभ्योऽनन्तभागवृद्धानि स्थानानि असंख्येयगुणानि, गुणकारेषु सर्वत्रापि कण्डकानामुपरि चैव कण्डकप्रक्षेपः । प्ररूपितमल्पबहुत्वद्वारम् । जीवपदप्रतिबद्धानां तु आलापगणनादीनां द्वाराणां प्ररूपणा संप्रदायाभावान्न क्रियते ।

अथ प्रस्तुतयोजनां कुर्वन्नाह-

सेढीठाणठियाणं, किइकम्मं बाहिरे न कायव्वं ।
पासत्थादी चउरो, तत्थ वि आणादिणो दोसा ।

अनन्तरोक्तायाः श्रेणेः संबन्धिषु संयमस्थानेषु स्थितानां साधूनां कृतिकर्म कर्त्तव्यं, ये तु श्रेणेर्बाह्यास्तेषां न कर्त्तव्यम् । के पुनस्ते इत्याह-पार्श्वस्थादयश्चत्वारः, तत्र पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाछन्दाः पञ्चाप्येको भेदः । काथिकप्राश्निकमामाकसंप्रसारका द्वितीयः । अन्यतीर्थिकास्तृतीयः । गृहस्थाश्चतुर्थः । एते चत्वारोऽपि श्रेणिबाह्याः मन्तव्याः । तत्राप्येतेषां कृतिकर्मकरणेऽपि, न केवलमभ्युत्थाने इत्यपिशब्दार्थः । आज्ञादयो दोषाः, प्रायश्चित्तं च प्राग् यथा अभ्युत्थाने पार्श्वस्थान्यतीर्थिकादिविषयं वर्णितं तथैव वक्तव्यम् ।

शिष्यः पृच्छति-

लिंगेन निग्गतो जो, पागमलिंगं धरेइ जो समणो ।
किध होइ णिग्गतो त्ति य, दिट्ठंतो सक्करकुमेणं ॥

लिङ्गेन रजोहरणादिना यो मुक्तः स संयमश्रेण्या निर्गतः प्रतीयते, यस्तु श्रमणः प्रकटमेव लिङ्गं धारयति स कथं निर्गतः श्रेणिबाह्यो भवति । श्रमणलिङ्गस्योपलभ्यमानत्वाद् न भवतीति भावः । अत्र सूरिराह-दृष्टान्तः शर्कराकुटेनात्र क्रियते । "जहा कस्सइ रन्नो दो घडया सक्करा भरिया, ते अन्नया मुद्दं दाऊण दोण्हं पुरिसाणं समप्पिया, भणितो य-जहा सा रक्खह, जया मग्गिज्जइ तया दिस्सह" ।

ततः किमभूदित्याह-

दाउं हिट्ठा खारं, सव्वत्तो कंटियाहि वेढित्ता ।
सकवाममणावाधे, पालेति तिसंझमिक्खंतो ।

तयोरेकः पुरुषस्तं राज्ञा समर्पितं घटं गृहीत्वा तस्याधः क्षारं दत्त्वा, यथा कीटिका नागच्छेयुरिति भावः । ततः सर्वतः कण्टिकाभिः तं वेष्टयित्वा सकपाटे पिधानमुक्तेऽनाबाधे प्रदेशे स्थापयित्वा त्रिसंध्यमीक्षमाणः सम्यक् पालयति ।

द्वितीयः पुनः किंभूतवानित्याह-

मुद्दं अविक्खंतो-हि कीडियाहिं सव्वालणी चेव ।
जज्जरितो कालेणं, पमायकुडए णिवे दंडो ।

द्वितीयः पुरुषस्तं घटं कीटिकानगरस्यादूरे स्थापयित्वा मध्ये मध्ये नावलोकते । ततः शर्करागन्धघ्राणतः समायाताभिः कीटिकाभिर्मुद्रामविकुर्वतीभिः स घटोऽधस्तात् कालेन जर्जरीकृतः, शर्करा सर्वाऽपि भक्षिता, अन्यदा राज्ञा तौ पुरुषौ घटं याचितौ, ततो द्वाभ्यामप्यानीय दर्शितयोर्घटयोः (पमायकुडए त्ति) येन कुटरक्षणे प्रमादः कृतः तस्य नृपेण दण्डः कृतः । उपलक्षणमिदं तेन यस्तं सम्यक् पालितवान् तस्य विपुलां पूजां विदधे । एष दृष्टान्तः । अयमर्थोपनयः-राजस्थानीया गुरवः, पुरुषस्थानीयाः साधवः, शर्करास्थानीयं चारित्रं, घटस्थानीय आत्मा,मुद्रास्थानीयं रजोहरणं; कीटिकास्थानीयान्यपराधपदानि, दण्डस्थानीया दुर्गतिप्राप्तिः, पूजास्थानीया स्वर्गादिसुखपरम्पराप्राप्तिः ॥

तथा चामुमेवोपनयन् लेशतो भाष्यकारोऽप्याह-

निवसरिसो आयरिओ, लिंगं मुद्दा उ सक्करा चरणं ।
पुरिसा य हुंति साहू, चरित्तदोसा मुइंगाओ ।

गतार्था, नवरं मुयिङ्गाः कीटिकाः । यथा तस्य प्रमत्तपुरुषस्य मुद्रासद्भावेऽप्यधः प्रविशन्तीभिः कीटिकाभिर्घटं विभज्य शर्करा विनाशिता, एवं साधोरपि प्रमादिनो रजोहरणमुद्रासद्भावेऽप्यपराधपदैरात्मभिः अर्जरितशर्करातुल्यं चारित्रं कालेन वा सद्यो वा विनाशमाविशति ।

तत्र कालेन यथा विनश्यति, तथा दर्शयति-

एसणदोसे सीयइ, अणाणुतावीण चेव वियडेइ ।
णेवइ करेइ सोधिं, ण य विरमति कालतो भस्से ॥

एषणादोषेषु सीदति, तद्दोषदुष्टं भक्तपानं गृह्णातीत्यर्थः । एवं कुर्वन्नपि पश्चात्तापं करिष्यतीत्याह-अननुतापी पुरःकर्मादिदोषदुष्टाहारग्रहणादनु पश्चात्तं 'दुष्टं कृतं मयेत्यादि' मानसिकतापं धर्तुं शीलमस्येत्यनुतापी, न तथेत्यननुतापी, कथमेतज्ज्ञायते इति?, आह-न चैव विकटयति गुरूणां पुरतः स्वदोषं न प्रकाशयति विकटयति वा, परं तस्य शोधिं प्रायश्चित्तं गुरुप्रदत्तं नैव करोति , न च नैवाशुद्धाहारग्रहणाद्विरमति । एवं कुर्वन् कालतः कियताऽपि कालेन चारित्रात्परिभ्रश्येत । यस्तु मूलगुणान् विराधयति स सद्यः परिभ्रश्यति ।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह-

मूलगुणउत्तरगुणे, मूलगुणेहिं तु पागडो होइ ।
उत्तरगुणपमिसेवी, संचयवोच्छेदतो तस्स ॥

इह प्रतिसेवको द्विधा-मूलगुणप्रतिसेवक उत्तरगुणप्रतिसेवकश्च। तत्र मूलगुणप्रतिसेवायां वर्त्तमानः प्रकट एव प्रतीयते,यथा चारित्रात्परिभ्रश्यति। उत्तरगुणप्रतिसेवी तु संचयेन बहुपराधमीलकेन योऽशुद्धाहारग्रहणादेव व्यवच्छेदः परिणामस्यानुपरमस्ततो भ्रश्येत , चारित्रात्परिभ्रंशमाप्नुयात् ।

अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह-

अंतो भयणा बाहिं तु, निग्गते न तत्थ मरुगदिट्ठंतो ।
संकर सरिसव सगडे, मंमववत्थेण दिट्ठंतो ॥

इह संबन्धानुलोम्यतः प्रथममुत्तरार्द्धं व्याख्यायते-संकरस्तृणादिकचवरः, तद्दृष्टान्तो यथा—" आरामे सारणीए वहंतीए एगं तणं सयं लग्गं, तं ण अवणीयं, अन्न लग्गं, तं पि न अवणीयं, एवं बहूहिं लग्गंतेहिं तत्थ तेण आश्रयेण चिक्खल्लधूलीए संचओ जाओ । तेणं संचएणं तं पाणियं रुद्धं अन्नओ गंतु पयट्टं, ताहे सो आरामो सुक्को। एवमभिक्खणं अभिक्खणं उत्तरगुणपडिसेवाए अवराहसंचओ भवइ, तेण संजमजलं वहमाणं निरुज्झइ, तओ चारित्तारामो सुक्खइ"। सर्षपशकटमण्डपदृष्टान्तो यथा-शकटे मण्डपे च कोऽप्येकः सर्षपः प्रक्षिप्तः, स तत्र यातः, अन्यः प्रक्षिप्तः, सोऽपि यातः, एवं प्रक्षिप्यमाणैः सर्षपैर्भविष्यति सुसर्षपो यः तं शकटं मण्डपं वा भनक्ति । एवं चारित्रेऽप्यशुद्धाहारग्रहणादिरेकोऽपराधः प्रक्षिप्तः,स तत्रावस्थितिं कृतवान्,द्वितीयः प्रक्षिप्तः सोऽप्यवस्थितः, एवमपरापरैरुत्तरगुणापराधैः प्रक्षिप्यमाणैर्भविष्यति स उत्तरगुणापराधः,येन चारित्रं सर्वथा भङ्गमुपगच्छति। अथ वस्त्रदृष्टान्तो भाव्यते-वस्त्रे क्वचिदेकस्तैलबिन्दुः कथमपि लग्नः, स न शोधितः, तदाश्रयेण रेणुपुद्गला अप्यवतस्थिरे, एवमन्यस्मिन्नप्यवकाशे तैलबिन्दुर्लग्नः, सोऽपि न शोधितः, एवमन्यान्यैस्तैलबिन्दुभिर्गलद्भिरप्यशोध्यमानैः सर्वमपि तद्वस्त्रं मलिनीभूतम्। एवं चारित्रवस्त्रमप्यपरापरैरुत्तरगुणापराधैरुपलिप्यमानमचिरादेव मलिनीभवतीति, तदेवमुत्तरगुणप्रतिसेवी कालेन चारित्रात् परिभ्रश्यतीति स्थितम् । अथ कृतिकर्मविषयं विशेषं बिभणिषुराह-"अंतो जयणा" इत्यादि पूर्वार्द्धम् । यः संयमश्रेणेरन्तर्मध्ये स्थितस्तस्य कृतिकर्मकरणे भजना, सा चाग्रे दर्शयिष्यति; यस्तु श्रेणेर्बहिर्निर्गतस्तस्य न कर्त्तव्यम्; तथा च मरुको वा स्तेनः, तस्य दृष्टान्तः क्रियते-

पक्कणउले वसंतो, सउणीपारो वि गरहितो होइ ।
इय गरहिया सुविहिया, मज्झि वसंता कुसीलाणं ॥

पक्कणकुलं मातङ्गगृहं, तत्र वसन् शकुनीपारगोऽपि द्विजो गर्हितो भवति। शकुनीशब्देन चतुर्दशविद्यास्थानानि गृह्यन्ते। तानि चामूनि-"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः । पुराणं धर्मशास्त्रं च, स्थानान्याहुश्चतुर्दश ॥१॥" तत्राङ्गानि षट्-शिक्षा,व्याकरणं,कल्पः,छन्दो,निरुक्तं,ज्योतिषमिति।(इय त्ति)एवं सुविहिताः साधवः कुशीलानां मध्ये वसन्तो गर्हिता भवन्ति, अतो न तेषु वस्तव्यम् , न वा कृतिकर्मादि विधेयम् ।

ननु च पार्श्वस्थादीनां कृतिकर्म न कर्त्तव्यमिति भवद्भिरभिहितं, तत्र पार्श्वस्थादीनां लक्षणं क्वचिदप्रतिपन्नमोजित्वादिकल्पदोषरूपं, क्वचित्तु स्त्रीसेवादिमहादोषरूपमावश्यकादिशास्त्रेष्वभिधीयते। तदत्र वयं तत्त्वं न जानीमहे कस्य कर्त्तव्यं कृतिकर्म कस्य वा नेत्याशङ्कावकाशमवलोक्य विषयविभागमुपदर्शयति-

संकिन्नऽवराहपदे, अणाणुतावी य होइ अवरद्धे ।
उत्तरगुणपमिसेवी, आलंबणवज्जितो वज्जो ॥

इह यो मूलगुणप्रतिसेवी स नियमादचारित्रीति कृत्वा स्फुटमेवावन्दनीय इति न तद्विचारणा , परं य उत्तरगुणविषयैर्बहुभिरपराधपदैः संकीर्णः शबलीकृतचारित्रः,अपरं च अपराधे अशुद्धाहारग्रहणादावपराधे कृतेऽपि अननुतापी,'हा दुष्ठु कृतम्' इत्यादिपश्चात्तापं न करोति, निःशङ्को निर्दयश्च प्रवर्तत इत्यर्थः । एवंविध उत्तरगुणप्रतिसेवी यथालम्बनेन ज्ञानदर्शनचारित्ररूपविशुद्धकारणेन वर्जितः, कारणमन्तरेण प्रतिसेवत इति भावः। तदाऽसौ वर्ज्यः,कृतिकर्मकरणे वर्जनीयः। शिष्यः प्राह:-नन्वेवमर्थादापन्नं आलम्बनसहित उत्तरगुणप्रतिसेव्यपि वन्दनीयः। सूरिराह—न केवलमुत्तरगुणप्रतिसेवी, मूलगुणप्रतिसेव्यप्यालम्बनसहितः पूज्यः ।

कथमिति चेदुच्यते-

हिट्ठट्ठाणठितो वी, पावयणिगणट्ठया उ अधरे उ ।
कमजोगि जं निसेवइ, आदिणिगंथो व सो पुज्जो ॥

अधस्तनस्थानेषु जघन्यसंयमस्थानेषु स्थितोऽपि, मूलगुणप्रतिसेव्यपीति भावः। कृतयोगी गीतार्थः, प्रावचनिकस्याचार्यस्य गणस्य च गच्छस्यानुग्रहार्थमधरे आत्यन्तिके कारणे समुपस्थिते यन्निषेवते, तत्रासौ संयमश्रेण्यामेव वर्त्तत इति कृत्वा पूज्यः। क इवेत्याह-आदिनिर्ग्रन्थ इव।इह पुलाकबकुशकुशीलनिर्ग्रन्थस्नातकाख्याः पञ्च निर्ग्रन्थाः। तेषामादिभूतः पुलाकस्तद्वत्, तस्य ह्येतादृशी लब्धिर्यया चक्रवर्तिस्कन्धावारमपि अभिवादनादौ कुलादिकार्ये स्तम्भीयात्, विनाशयेद्वा, न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात् ।

तथा चाह--

कुणमाणो वि य कडणं, कतकरणो णेव दोसमब्भेति ।
अप्पेण बहुं इच्छइ, विसुद्धआलंबणो समणो ॥

कडणं कटकमर्दं कुर्वाणोऽपि कृतकरणः पुलाको नैव स्वल्पमपि दोषमभ्येति प्राप्नोति। कुत इत्याह-यतोऽसौ श्रमणो विशुद्धालम्बनः सन् अल्पेन संयमव्ययेन बहुं संयमलाभमिच्छति ।

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह-

संयमहेउं अज्जे-तणं पि ण हु दोसकारगं विंति ।
पावण वोच्छेयं वा, समाहिकारो वणादीणं ॥

प्रावचनिकादेः प्राणव्यपरोपणात् क्षिप इव रक्षणेन यः संयमस्तद्धेतोस्तन्निमित्तं पुलाकादेरयतमपि नहि नैव दोषकारकं ब्रुवते। यथा समाधिकरो वैद्यो व्रणादीनां यत्तथाविधौषधप्रलेपनेन पावनं, यच्च शस्त्रादिना विच्छेदनं, यद्वा व्यवच्छेदं लङ्घनं कारयति, तत् इदानीं पीडाकरमपि परिणामसुन्दरमिति कृत्वा न सदोषम्, एवमिदमपीति ।

अथ परस्याभिप्रायमाशङ्कमान आह-

तत्थ जवे जति एवं, अस्सं अप्तेण रक्खए जिक्खू ।
असंजया वि एवं, अएां अप्तेण रक्खंति ॥

तत्रेत्यनन्तरोक्तेऽर्थे अभिहिते सति भवेत्, परस्याभिप्राय इति वाक्यशेषः । यथैवं भिक्षुः पुलाकादिरन्यमाचार्यादिकमन्येन स्कन्धावारादिना कृत्वा रक्षति, एकस्य विनाशेनापरं पालयतीति भावः। तत एवमसंयता गृहस्था अप्यन्यमन्येन रक्षन्त्येव, अतो न कश्चिदसंयतानां संयतानां च प्रतिविशेषः ।

एवं परेणोक्ते सूरिराह–

न हु ते संजमहेउं, पालिंति असंजता अजतभावा ।
अच्छित्तिसंजमट्ठा, पालिंति जती जतिजणं तु ॥

न हु नैव ते असंयता अयतभावव्यवस्थितान् गृहस्थान् संयमहेतोः पालयन्ति, किं तु स्वात्मनो जीविकादिनिमित्तं, ये तु यतयस्तथा तीर्थस्याव्यवच्छित्तिर्यश्च तेषां रक्ष्यमाणानामात्मनश्चान्योन्योपकारद्वारेण संयमस्तदर्थं यतिजनं पालयन्ति, तुशब्दो विशेषणार्थः । एष विशेषः साधूनां गृहस्थानां चेति ।

किञ्च–

कुणइ वयं धणहेऊ, धणस्स धणितो उ आगमं णाउं ।
इय संजमस्स वि वतो, तस्सेवट्ठा ण दोसाय ॥

यथा धनिको वाणिज्यं कुर्वन्नागमं लाभं ज्ञात्वा धनहेतोर्द्रव्योपार्जनार्थं शुल्ककर्मकरवृत्तिनाटकादिप्रदानेन धनस्य व्ययं करोति । (इयत्ति) एवं पुलाकादेर्मूलगुणप्रतिसेवनां कुर्वाणस्य यः कोऽपि संयमस्य व्ययः स तस्यैव संयमस्यार्थाय विधीयमानो न दोषाय संजायते; ततः पुष्टालम्बनसहितो मूलगुणप्रतिसेव्यपि शुद्ध इति स्थितम्, अथापुष्टालम्बनो निरालम्बनो वा प्रतिसेवते ततः संसारोपनिपातनमासादयति ।

तथा चात्र दृष्टान्तमाह–

तुच्छमवलंबमाणो, पतति निरालम्बनो य दुग्गम्मि ।
सालंबनिरालंबे, अह दिट्ठंतो णिसेवंतो ॥

इहालम्बनं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा, तत्र गर्तादौ पतद्भिर्यद् द्रव्यमालम्ब्यते तद् द्रव्यालम्बनम् । तच्च द्विधा–पुष्टमपुष्टञ्च । अपुष्टं दुर्बलं कुशवल्कलादि, पुष्टं बलिष्ठं तथाविधकठोरवल्ल्यादि । एवं भावालम्बनमपि पुष्टापुष्टभेदात् द्विधा, पुष्टं तीर्थाव्यवच्छित्तिग्रन्थाध्ययनादि, अपुष्टं शठतया स्वमतिमात्रोत्प्रेक्षितमालम्बनमात्रम् । ततश्च द्रव्यालम्बनमपुष्टमवलम्बमानो निरालम्बनो वा यथा दुर्गे गर्तादौ पतति, यस्तु पुष्टालम्बनमवलम्बते स सुखेनैवात्मानं गर्तादौ पतन्तं धारयति । एवं साधोरपि मूलगुणाद्यपराधान्निषेवमाणस्य सालम्बनिरालम्बविषयः, अथायं दृष्टान्तो मन्तव्यः । किमुक्तं भवति ?–यो निरालम्बनोऽपुष्टालम्बनो वा प्रतिसेवते स आत्मानं संसारगर्तादौ पतन्तं न संधारयितुं शक्नोति । यस्तु पुष्टालम्बनः स तदवष्टम्भादेव संसारगर्तं सुखेनैवातिलङ्घयति, यत एवमतः पुष्टालम्बनवर्जितः कृतिकर्मणि वर्जनीय इति ।

अथ श्रेणिस्थानस्थिता अपि ये कृतिकर्मणि नियमेन भजनया वा न व्यवह्रियन्ते तान्प्रतिपादयति–

सेढीठाणे सीमा–कज्जे चत्तारि बाहिरा होंति ।
सेढीठाणे दुयभे–यपाएँ चत्तारि जइयव्वा ॥

श्रेणिस्थानं सीमास्थानमित्यनर्थान्तरम्, तत्र प्रवर्तमाना अपि चत्वारो जनाः प्रत्येकबुद्धादयो वक्ष्यमाणाः कार्ये बाह्या भवन्ति । इह कार्यं द्विधा–वन्दनकार्यं, कार्यकार्यं च । तत्र वन्दनकार्यं द्विधा–अभ्युत्थानं, कृतिकर्म च । कार्यकार्यं कुलकार्यादिभेदादनेकविधम्; कार्यमवश्यकर्तव्यरूपं यत्कार्यं तत्कार्यकार्यमिति व्युत्पत्तेः । एतद् द्विविधमपि प्रत्येकबुद्धादयो न कुर्वन्तीति भावः । तथा श्रेणिस्थाने वर्तमाना अपि गच्छप्रतिबद्धयथालन्दिकादयश्चत्वारो (दुयभेयपाए त्ति) द्विकभेदकमनन्तरोक्तकार्यद्वयविधानमङ्गीकृत्य भक्तव्याः; तत्र व्यवह्रियन्ते वा न वेति भावः ।

इदमेव स्फुटतरमाह–

पत्तेयबुद्ध जिणक–प्पिया य सुद्धपरिहारिण अहालंदे ।
एए चउरो दुगभे–दया य कज्जेसु बाहिरगा ॥

प्रत्येकबुद्धा जिनकल्पिकाः शुद्धपरिहारिणोऽप्रतिबद्धयथालन्दिकाश्च, एते चत्वारो जना द्विकभेदानङ्गीकृतेषु कृतिकर्मकुलकार्यादिषु बाह्या भवन्ति; न तद्विषयं व्यवहारपथमवतरन्तीति भावः ।

गच्छम्मि णियमकज्जं, कज्जे चत्तारि होंति भइयव्वा ।
गच्छपडिबद्धआव–ण्णम्मि तह संजतीतो य ॥

गच्छे नियमादवश्यंतया कर्तव्यं यत्कार्यं कुलगणसङ्घविषयं तत्र कार्ये चत्वारो जना भक्तव्या भवन्ति–गच्छप्रतिबद्धयथालन्दिकाः, (आवन्न त्ति) आपन्नपरिहारिकाः, प्रतिमाप्रतिपन्नाः, संयत्यश्चेति । यथा सङ्घः कुलादिकार्यं कर्तुं न शक्नोति तत एतेऽपि कुर्वन्तीति, वन्दनकार्यं तु प्रतिबद्धयथालन्दिका यस्याचार्यस्य पार्श्वे तत्रार्थग्रहणं कुर्वते, तस्यावमस्यापि कुर्वन्ति, शेषसाधूनां तु न कुर्वन्ति । आपन्नपरिहारिणां प्रतिमाप्रतिपन्नानां संयतीनां च कृतिकर्म क्रियते वा न वा, तेऽपि कुर्वन्ति वा न वेति ।

इदमपि सविशेषमाह–

अंतो वि होइ भयणा, ओमे आवन्नसंयतीओ य ।
बाहिं पि होइ भयणा, अयवालगवायगे सीसा ॥

अन्तरेऽपि श्रेणेरभ्यन्तरतः स्थितानामपि वन्दनकं प्रतीत्य भजना भवति । कथमित्याह–(ओमे त्ति) योऽवमरात्निकः स आलोचनादौ कार्ये वन्द्यते, अन्यदा तु नेति । (आवन्न त्ति) आपन्नपरिहारिको न वन्द्यते स पुनराचार्यान् वन्दते । (संजइओ त्ति) संयत्योऽपि उत्सर्गतो न वन्द्यन्ते, अपवादपदे तु यदि बहुश्रुता महत्तरा काचिदपूर्वश्रुतस्कन्धं धारयति ततस्तस्याः सकाशाद् गृहीतव्येषु उद्देशसमुद्देशादिषु सा फेटावन्दनकेन वन्दनीया, न केवलमन्तः किं तु श्रेणेर्बहिरपि स्थितानां कृतिकर्मणि भजना मन्तव्या, कारणे तेषामपि कृतिकर्म विधेयमिति भावः । अथ न कुर्वन्ति ततो महान् दोषो भवति । यथा अजापालकवाचकमवन्दमाना अगीतार्थाः शिष्याः, दोषं प्राप्तवन्त इति वाक्यशेषः । अथवा (सीस त्ति) संविग्नविहाराल्लिङ्गाद्वा परिच्युतं स्वगुरुं रहसि शीर्षेण प्रणम्य वक्तव्यम्–भगवन् ! युष्माभिः परित्यक्ताः सन्तः सांप्रतमनाथा वयमतः कुरुतोद्यमं भूयश्चरणकरणानुपालनायामिति ।

अथ ' ओमे आवन्नसंजईओ त्ति ' गाथाऽवयवं विवृणोति–

आलोअणसुत्तत्था, खामण ओमे य संजतीसुं वा ।
आवण्णे कज्जकज्जं, करेइ ण य वंदती अगुरुं ॥

आलोचनानिमित्तसूत्रार्थग्रहणार्थं वाचकस्यापि वन्दनकं दातव्यम्, क्षामणके तु स एव रत्नाधिकानां वन्दनकं दद्यात्। संयतीनामपि आलोचनसूत्रार्थनिमित्तं कृतिकर्म कर्तव्यम्, यः पुनरापन्नपरिहारिकः स कार्याकार्यं कुलकार्यादि करोति (अगुरुं ति) गुरुं मुक्त्वा न कमपि साधुं वन्दते। उपलक्षणमिदम्-तेन नचासौ केनाऽपि साधुना वन्द्यते।

अथाजापालकदृष्टान्तमाह-

पेसविया पच्चंतं, गीतासति खित्तपेहग अगीया ।
पडियखित्ता पुच्छं-ति वायगं कत्थऽरण्णे त्ति ॥
ओसंकं जे दट्ठुं, संकच्छेती उ वातगो कुविओ ।
पल्लिवतिकहण रुंभण, गुरुआगम वंदणं सेहा ॥

केनचिदाचार्येण गीतार्थाभावे अगीतार्थाः साधवः प्रत्यन्तरूपां क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः प्रेषिताः,तत्र च भ्रष्टव्रत एको वाचको राजकुले कृतप्रमाणः परिवसति, ते च प्रत्युपेक्षितक्षेत्राः साधवस्तं वाचकं लोकस्य समीपे पृच्छन्ति-कुत्रासौ तिष्ठति ?। लोकेनोक्तम्-अरण्ये। ततस्तेऽपि तत्र गताः, तं चाजारक्षणप्रवृत्तं भ्रष्टव्रतं दृष्ट्वा अद्रष्टव्योऽयमिति विमृश्यागीतार्थत्वेन शनैरपसर्पन्ति। तांश्च तथा दृष्ट्वा वाचकस्य शङ्का?-किमेतेऽपसर्पन्तीति नूनमत्र भ्रष्टव्रतं ज्ञात्वा, ततः शङ्काच्छेदी स वाचकः कुपितः सन् पल्लीपतेः कथयित्वा तेषामगीतार्थानां (रुम्भणं) गुप्तौ प्रक्षेपणं कृतवान्, ततस्तदन्वेषणार्थं गुरूणां तत्रागमनम्, ते च तं वाचकं वन्दित्वा 'शिक्षका अगीतार्था एते' इत्युक्त्वा स्वशिष्यान् मोचितवन्तः, एवं श्रेणिबाह्यानामपि वन्दनकं कर्त्तव्यम्।

अथ 'सीस त्ति' पदं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे-

अहवा लिंगविहारा-उ पडुच्च तं पणिवयत्तु सीसेणं ।
भणति रहे पंजलिओ, उज्जम भंते ! तवगुणेहिं ॥

अथवा लिङ्गाद्वा संविग्नविहाराद्वा प्रत्युत तं स्वगुरुं रहसि शीर्षेण प्रणिपत्य प्राञ्जलिको रचिताञ्जलिपुटो भणति-भदन्त ! प्रसादं विधायोद्यच्छत गुणेष्वनशनादौ तपःकर्मणि मूलगुणोत्तरगुणेषु च, प्रयत्नं कुर्विति भावः। एवमादिके कारणे श्रेणिबाह्यानामपि कृतिकर्म कर्तव्यम्।

अथ न करोति तत इदं प्रायश्चित्तम्-

उप्पन्नकारणम्मी, कितिकम्मं जो न कुज्ज दुविहं पि ।
पासत्थादीयाणं, उग्घाया तस्स चत्तारि ॥

उत्पन्ने वक्ष्यमाणे कारणे यः कृतिकर्म द्विविधमप्यभ्युत्थानवन्दनकरूपं पार्श्वस्थादीनां न कुर्यात् तस्य चत्वार उद्घाता मासा भवन्ति, चतुर्लघुकमित्यर्थः।

शिष्यः प्राह-

दुविहे किइकम्मम्मी, वाउलिया मो णिरुद्धबुद्धीया ।
आलिपमिसेहितम्मि, उवरिं आरोवणा गुविया ॥

एवं द्विविधे अभ्युत्थाने वन्दनकलक्षणकृतकर्मणि पूर्वं प्रतिषिध्य पश्चादनुज्ञाते सति व्याकुलिता आकुलीभूता वयमत एव निरुद्धा संशयक्रोडीकृता बुद्धिर्येषां ते निरुद्धबुद्धिकाः संजाता वयम्। कुत इत्याह-आदौ प्रथमं प्रतिषिद्धं द्विविधमपि कृतिकर्म पार्श्वस्थादीनां कर्तुम्, आरोपणा च महती तत्कुर्वतो निर्दिष्टा (उवरि त्ति) इदानीं पुनस्तेषां वन्दनकर्म प्रयच्छतो वा चतुर्लघुकाख्या आरोपणा प्रतिपाद्यते, सा गुपिला गम्भीरा, नान्यतो वाऽर्थं वयमवबुद्ध्यामहे इति भावः।

(५) सूरिराह-उत्सर्गतो न कल्पते पार्श्वस्थादीन् वन्दितुं परम्-

गच्छपरिरक्खणट्ठा, अणागतं आउवायकुसलेण ।
एवं गुणाधिवतिणा, सुहसीलगवेसणा कज्जा ॥

अवमराजद्विष्टादिषु ग्लानत्वे वा यदशनपानाद्युपग्रहकरणेन गच्छपरिपालनं तदर्थमनागतमवमादिकारणे अनुत्पन्न एव आयोपायकुशलेन, आयो नाम-पार्श्वस्थादेः पार्श्वान्निष्प्रत्यूहसंयमपालनादिको लाभः। उपायो नाम-तथा कथमपि करोति यथा तेषां वन्दनकमदृदान एव शरीरवार्त्ता गवेषयति, न च तथा क्रियमाणो तेषामप्रीतिकमुपजायते, प्रत्युत स्वचेतसि ते चिन्तयन्ति-अहो एते स्वयं तपस्विनोऽपि एवं यस्मात्सुखिद्यन्ति, तत एतयोरायोपाययोः कुशलेन गणाधिपतिना भवितव्यम्,एवं वक्ष्यमाणप्रकारेण सुखशीलानां गवेषणा कार्या।

तत्र येषु स्थानेषु कर्त्तव्या तानि दर्शयति-

बाहिं आगमणपहे, उज्जाणे देउले सभाए वा ।
रत्थउवस्सयबाहिया, अंतो जयणा इमा होइ ॥

यत्र ते ग्रामनगरादौ तिष्ठन्ति तस्य बहिः स्थितो यदा तान् पश्यति, तदा निराबाधवार्त्तां गवेषयति। यदा वा भिक्षाचर्यादौ तत्रागच्छन्ति, तदा तेषामागमनपथे स्थित्वा गवेषणं करोति। एवमुद्याने दृष्टानां चैत्यवन्दननिमित्तं गतैर्देवकुले वा समवसरणे वा दृष्टानां रथ्यायां वा भिक्षामटतामभिमुखागमने मिलितानां वार्त्ता गवेषणीया। कदाचित्ते पार्श्वस्थादयोऽभ्रवीरन्-अस्माकं प्रतिश्रयं कदाऽपि नागच्छत ?। ततस्तदनुवृत्त्या तेषां प्रतिश्रयमपि गत्वा तत्रोपाश्रयस्य बहिः स्थित्वा सर्वमपि निराबाधनादिकं गवेषयितव्यम्। अथ गाढतरं निर्बन्धं ते कुर्वन्ति तत उपाश्रयस्यान्तरमभ्यन्तरतोऽपि प्रविश्य गवेषयतां साधूनामियं वक्ष्यमाणा पुरुषविशेषवन्दनविषया यतना भवति।

पुरुषविशेषं तावदाह-

मुक्कधुरा संपागम-अकिच्च चरणकरणपरिहीणा ।
लिंगावसेसमित्ते, जं कीरइ तारिसं वोच्छं ॥

धूः संयमधुरा सा मुक्ता परित्यक्ता येन स मुक्तधुरः, संप्रकटानि प्रवचनो यथा तन्निरपेक्षतया समस्तजनप्रत्यक्षाण्यकृत्यानि मूलोत्तरगुणप्रतिसेवनारूपाणि यस्य तत्संप्रकटाकृत्यः। अत एव चरणेन व्रतादिना करणेन पिण्डविशुद्ध्यादिना परिहीनः। एतादृशे लिङ्गावशेषमात्रे केवलद्रव्यलिङ्गयुक्ते यत् यादृशं वन्दनं क्रियते तादृशमहं वक्ष्ये।

वायाएँ नमोकरो, हत्युस्सेहो य सीसनमणं वा ।
संपुच्छणं अण च्छो-भवंदणं वंदणं वा वि ॥

बहिरागमनपथादिषु दृष्टस्य पार्श्वस्थादेर्वा नमस्कारः क्रियते, वन्दामहे भवन्तं वयमित्येवमुच्चार्यते इत्यर्थः। प्रणामं करोति। अथासौ विशिष्टतर उग्रतरस्वभावो वा ततो वाचा नमस्कृत्य हस्तोत्सेधमञ्जलिं कुर्यात्, ततो विशिष्टतरे प्रत्युग्रस्वभावे वा द्वावपि वा नमस्कारहस्तोत्सेधौ कृत्वा तृतीयं शिरःप्रणामं

करोति । एवमुत्तरोत्तरविशेषकरणे पुरुषकार्यभेदः प्राकनोपचारानुवृत्तिश्च द्रष्टव्या। (संपुच्छणं ति) पुरतः स्थित्वा प्राकिमिव दर्शयता शरीरवार्तायाः संप्रच्छनं कर्त्तव्यम-'कुशलं भवतां वर्तते' इति। (अत्थणं ति) शरीरवार्त्तां प्रश्नयित्वा क्षणमात्रं पर्युपासनम्। अथवा पुरुषविशेषं ज्ञात्वा तदीयं प्रतिश्रयमपि गत्वा ब्रोभवन्दनं संपूर्ण वा वन्दनं दातव्यम।

अथ किमर्थमत्र वाचैव नमस्कारः क्रियन्ते कारणाभावे वा किमिति मूलत एव कृतिकर्म न क्रियते इत्याशङ्क्याह-

जइ नाम सूइओ मि ति, विवज्जितो वा वि परहरति कज्जो ।
इय वि हु सुहसीलजणो, परिहज्जो अणुमती मा सा ॥

यदि नाम कश्चित्पार्श्वस्थादिर्वा नमस्कारमात्रकरणेन अहो! सूचितास्तिरस्कृतोऽहममुना भङ्ग्यन्तरेणेति । सर्वथा कृतिकर्माकरणेन विवर्जितः परित्यक्तोऽहममीभिरिति पराभवं मन्यमानः सुखशीलविहारितां परिहराति । (इय त्ति) एवंविधमपि कारणमवलम्ब्य परिहार्यः कृतिकर्मणि सुखशीलजनः, न केवलं पूर्वोक्तं दोषजालमाश्रित्येत्यपिशब्दार्थः । अपिच-तस्य कृतिकर्मणि विधीयमानेन तद्वीयायाः संवेद्यक्रियाया अप्यनुमतिः कृता भवति, अतः सा मा भूदिति बुद्ध्याऽपि न वन्दनीयोऽसौ ।

किञ्च-

लोए वेदे समए, दिट्ठो दंडो अकज्जकारीणं ।
वस्सेंति दारुणा वि हु, दंमेण जहावराहेण ॥

लोके लोकाचारे, वेदे समस्तदर्शनिनां सिद्धान्ते, समये राजनीतिशास्त्रे, अकार्यकारिणां चौरिकाद्यपराधिनां दण्डोऽसंभाष्यता शलाकाभिर्ग्रहणादिलक्षणः प्रयुज्यमानो दृष्टः । कुतः पुनरसौ प्रयुज्यत इत्याह--दारुणा रौद्रास्ते अपि यथापराधेनापराधानुरूपेण दण्डेन दीयमानेन वश्यन्ते वशीक्रियन्ते, अत इहापि मूलगुणाद्यपराधकारिणां कृतिकर्मवर्जनादिको दण्डः प्रयुज्यते; एतच्च कारणाजावमङ्गीकृत्योक्तम, कारणे तु वाग्नमस्कारादिकं वन्दनकपर्यन्तं सर्वमपि कर्त्तव्यम ।

यत आह-

वायाएँ कम्मणा वा, तह चेट्ठति जह ण होति से मंतुं ।
पस्सति जने अवायं, तदभावे दूरतो वज्जे ॥

यतः पार्श्वस्थादेः सकाशात कृतिकर्मण्यविधीयमाने अपायं संयमात्मविराधनादिकं पश्यति। संप्रति वाचा मधुरसंभाषणादिना, कर्मणा शिरःप्रणामादिक्रियया, तथा चेष्टते यथा तस्य मन्युः, स्वल्पमप्यप्रीतिकं,न भवति, अथावन्दनेऽपि संयमोपघातादिरपायो न भवति, ततस्तस्यापायस्याभावे दूरतस्तं सुखशीलजनं वर्जयेत् । एष विषयविभागः कृतिकर्मकरणाकरणयोरिति भावः ॥

किं पुनस्तेषां वन्दने कारणानीत्याह-

एताइ अकुव्वंतो, जहारिहं अरिहदेसिए मग्गे ।
ण भवति पवयणभत्ती, अभत्तिमंतादिया दोसा ।

एतानि वाङ्नमस्कारादीनि पार्श्वस्थादीनां यथार्हं यथायोग्यम,अर्हद्दर्शिते मार्गे स्थितः सन् कषायोत्कटतया यो न करोति, तेन प्रवचने न भक्तिः कृता भवति किंतु अभक्तिमत्त्वादयो दोषा भवन्ति, तत्राऽऽज्ञाभङ्गेन भगवतां न भक्तिमत्त्वं भवति । आदिशब्दात्स्वार्थपरिभ्रंशश्चारिकाहरिकाद्यभ्याख्यानप्रातिबन्धनादयश्च दोषा भवान्ति ।

कानि पुनस्तेषां वन्दने कारणानीत्याह-

परिवार परिस पुरिसं, खित्तं कालं च आगमं नाउं ।
कारणजाते जाते, जहारिहं जस्स कायव्वं ।

परिवारं पर्षदं पुरुषं क्षेत्रं कालं च आगमं ज्ञात्वा यथा कारणानि कुलगणादिप्रयोजनानि तेषां जातं प्रकारः कारणजातं तत्र जाते उत्पन्ने सति यथार्हं यस्य पुरुषस्य यद् वाचिकं कायिकं वा वन्दनमनुकूलं तस्य तत्कर्त्तव्यम ।

अथ परिवारादीनि पदानि व्याचष्टे-

परिवारो से विहितो, परिसगतो साहती व वेरग्गं ।
माणी दारुणभावे, णिसंस पुरिसाधमो पुरिसो ॥
लोगपगतो निवे वा, अहव स रायादिदिक्खितो अज्जो ।
खित्तं विहिमादि अन्ना-वियं च कालो वऽणाकालो ॥

'से' तस्य पार्श्वस्थादेर्यः परिवारः स सुविहितानुष्ठानयुक्तो वर्त्तते । पर्षदि गतो वा सभायामुपविष्टो वैराग्यमिति कारणे कार्योपचारात् संसारवैराग्यजनकं धर्मं स कथयति, येन प्रभूताः प्राणिनः संसारविरक्तचेतसः संजायन्ते। तथा कश्चित्पार्श्वस्थादिः स्वभावादेव मानी साहंकारः, तथा दारुणभावो रौद्राध्यवसायः नृशंसो नाम क्रूरकर्मा अवन्द्यमानो वधबन्धादिकं कारयतीत्यर्थः । अत एव पुरुषाणां मध्ये अधमः पुरुषाधमः एतादृशः पुरुष इह गृह्यते । यद्वा-लोके प्रकृतो बहुलोकसंमतो, नृपप्रकृतो वा धर्मकथादिलब्धिसंपन्नतया राजबहुमतः (अहव त्ति) अथवा राजादिदीक्षितोऽसौ शैलकाचार्यादिवत् । एवंविधपुरुष इह प्रतिपत्तव्यः । क्षेत्रं नाम-विहादिकमभावितं वा। विहं कान्तारम, आदिशब्दात्प्रत्यनीकाद्युपद्रवयुक्तम, तत्र वर्त्तमानानां साधूनामसाधूपग्रहं करोति । अभावितं नाम-संविग्नः साधुविषयः श्रद्धाविकलं पार्श्वस्थादिभावितमित्यर्थः; तत्र तेषामनुवृत्ति विदधानैः स्थातव्यम । कालश्च अनाकालो वा दुष्काल उच्यते, तत्र साधूनां वर्त्तापनं करोति । एवं परिवारादीनि कारणानि विज्ञाय कृतिकर्म विधेयम ।

आगमग्रहणेन च द्वारगाथायां दर्शनज्ञानादिको भावः सूचितः,

अतस्तमङ्गीकृत्य विधिमाह-

दंसणनाणचरित्तं, तवविणयं जत्थ जत्तियं जाणे ।
जिणपन्नत्तं भत्ती-इ पूयए तं तहिं भावं ।

दर्शनं च निःशङ्कितादिगुणोपेतं सम्यक्त्वम,ज्ञानं चाऽऽचारादिश्रुतं,चारित्रं च मूलोत्तरगुणानुपालनात्मकम्-दर्शनज्ञानचारित्रम। द्वन्द्वैकवद्भावः । एवं तपश्चानशनादिविविधं तावत्यैव भक्त्या कृतिकर्मादिलक्षणया पूजयेत् । वृ० ३ उ० । आव०।

(१०) पार्श्वस्थादिवन्दनं निष्फलमित्याह-

पासत्थाइ वंदमा-णस्स नेव कित्ती न निज्जरा होइ ।
कायकिलेसं एमे-व कुणइ तह कम्मबंधं च ॥ ३१ ॥

पार्श्वस्थादीनुक्तलक्षणान्वन्दमानस्य नमस्कुर्वतः नैव कीर्तिर्न निर्जरा भवति । तत्र कीर्तनं कीर्तिरहोऽयं पुण्यभागित्येवं लक्षणा, सा न भवति, अपि त्वकीर्तिर्भवति-नूनमयमप्येवंस्वरूपो येनैषां वन्दनं करोति । तथा निर्जरणं निर्जरा कर्मक्षयलक्षणा

सा न भवति, तीर्थकराज्ञाविराधनाद्वारेण निर्गुणत्वात् तेषामिति। चीयत इति कायः देहः,तस्य क्लेशः अवनामादिलक्षणः कायक्लेशः, तं कायक्लेशम,स एवमेव मुधैव, करोति निर्वर्तयति । तथा क्रियत इति कर्म ज्ञानावरणीयादिलक्षणं,तस्य बन्धो विशिष्टरचनया आत्मनि स्थापनं,तेन वाऽऽत्मनो बन्धः स्वस्वरूपतिरस्करणलक्षणः कर्मबन्धः,तं कर्मबन्धं करोति वर्तते।चशब्दादाज्ञाभङ्गादींश्च दोषानवाप्नुते । कथम?,भगवत्प्रतिकुष्टवन्दन आज्ञाभङ्गः,तं दृष्ट्वाऽन्येऽपि वन्दन्ति इत्यनवस्था, तान्वन्दमानान् दृष्ट्वाऽन्येषां मिथ्यात्वम, कायक्लेशतो देवताद्यो वाऽऽत्मविराधना, तद्वन्दनेन तत्कृतासंयमानुमोदनात् संयमविराधनेति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

एवं तावत् पार्श्वस्थादीन् वन्दमानस्य दोषा उक्ताः, साम्प्रतं पार्श्वस्थादीनामेव गुणाधिकवन्दनप्रतिषेधमकुर्वताम-पायान् प्रदर्शयन्नाह–

जे बंभचेरभट्ठा, पाए उड्डेंति बंभयारीणं ।
ते हुंति कुंटमंटा, बोही अ सुदुल्लहा तेसिं ॥३२॥

ये पार्श्वस्थादयः भ्रष्टब्रह्मचर्याः,अपगतब्रह्मचर्या इत्यर्थः । ब्रह्मचर्यशब्दो मैथुनविरतिवाचकः, तथौघतः संयमवाचकश्च । [पाए उड्डेंति बंभयारीणं ति] पादावभिमानतो व्यवस्थापयन्ति ब्रह्मचारिणां वन्दमानानामिति , तद्वन्दननिषेधनं न कुर्वन्तीत्यर्थः । ते तदुपात्तकर्मजं नारकत्वादिलक्षणं विपाकमासाद्य यथाकथञ्चित्कृच्छ्रेण मानुषत्वमासादयन्ति, तदापि भवन्ति कोण्टमण्टाः, बोधिश्च जिनशासनावबोधलक्षणा सकलदुःखविवेकभूता सुदुर्लभा, तेषां सकृत्प्राप्तौ सत्यामप्यनन्तसंसारत्वादिति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

तथा–

सुट्ठुतरं नासंती, अप्पाणं जे चरित्तपब्भट्ठा ।
गुरुजण वंदावंती, सुस्समण जहुत्तकारिं च ॥ ३३ ॥

[सुट्ठुतरं ति] सुतरां नाशयन्त्यात्मानं सन्मार्गात्,के?,ये चारित्रात् प्राग्निरूपितशब्दार्थात्प्रकर्षेण भ्रष्टा अपेताः सन्तः, गुरुजनं गुणस्थसाधुवर्गं, वन्दयन्ति कृतिकर्म कारयन्ति । किंभूतं गुरुजनम् ?, शोभनाः श्रमणा यस्मिन् स शुश्रमणस्तम् । अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । तथा यथोक्तं क्रियाकलापं कर्तुं शीलमस्येति यथोक्तकारी,तं यथोक्तकारिणं चेति गाथार्थः॥३३॥

(११) एवं वन्दकवन्द्यदोषसंभवात्पार्श्वस्थादयो न वन्दनीयाः, तथा गुणवन्तोऽपि ये तैः सार्द्धं संसर्गं कुर्वन्ति तेऽपि न वन्दनीयाः, किमित्यत आह–

असुइट्ठाणे पडिआ, चंपगमाला न कीरई सीसे ।
पासत्थाइठाणेसु, पवट्टमाणा तह अपुज्जा ॥ ३४ ॥

यथा अशुचिस्थाने पतिता विट्प्रधानस्थाने पतिता, चम्पकमाला स्वरूपतः शोभनाऽपि सती अशुचिस्थानसंसर्गाद् न क्रियते शिरसि, पार्श्वस्थादिस्थानेषु प्रवर्त्तमानाः साधवः तथा अपूज्या अवन्दनीयाः । पार्श्वस्थादीनां स्थानानि वसतिनिर्गमनभूम्यादीनि परिगृह्यन्ते । अन्ये तु शय्यातरपिण्डाद्युपभोगलक्षणानि व्याचक्षते । तत्संसर्गात्पार्श्वस्थादयो भवन्ति, नचैतानि सुष्ठु घटन्ते, तेषामपि तद्भावापत्तेः । चम्पकमालोदाहरणोपनयस्य च सम्यग् घटमानत्वादिति । तत्र कथानकम्– " एगो चंपगप्पिओ कुमारो चंपयमालाए सिरे कयाए आसगओ वच्चति । आसेण उद्धूतस्स सा चंपकमाला अमेज्झे पडिया, गेण्हामि त्ति अमेज्झं दट्ठूण मुक्का, सो य चंपएहिं विणा धितिं न लभइ, तहा वि ठाणदोसेण मुक्का । एवं चंपयमालाथाणीया साहू, अमेज्झथाणिया पासत्थादओ, जो विसुद्धो तेहिं समं मिलति संवसति वा सो वि परिहरणिज्जो " ।

अधिकृतार्थप्रसाधनायैव दृष्टान्तान्तरमाह–

पक्कणकुले वसंतो, सउणीपारो वि गरहिओ होइ ।
इय गरहिआ सुविहिआ, मज्झि वसंता कुसीलाणं ॥३५॥

पक्कणकुलं गर्हितकुलं तस्मिन् पक्कणकुले वसन् पारं गतवानिति पारगः शकुन्याः पारगः शकुनीपारगः, असावपि गर्हितो निन्द्यो भवति । शकुनीशब्देन चतुर्दशविद्यास्थानानि परिगृह्यन्ते–" अङ्गानि चतुरो वेदान् , मीमांसां न्यायविस्तरम । पुराणं धर्मशास्त्रं च, स्थानान्याहुश्चतुर्दश " ॥ तत्राङ्गानि षट् । तद्यथा–शिक्षा,व्याकरणं,कल्पः,छन्दो, निरुक्तं, ज्योतिषमिति । (इय त्ति) एवं गर्हिताः साधवो मध्ये वसन्तः कुशीलानां पार्श्वस्थादीनाम् । अत्र कथानकम–" एगस्स धिज्जाइयस्स पंच पुत्ता सउणीपारगा,तत्थेगो मरुगो एगाए दासीए संलग्गो, सा मज्जं पियति, इमो यइ । तीए भण्णइ-जइ तुमं पीयइ ताहे सोहणरत्ती होज्जा, इयरहा विसरिसो संजोगो त्ति।एवं सो बहुसो भणंतीए पाइओ, सो पढमं पच्छन्नं पियति, पच्छा पयमं पिइउमाढत्तो। पच्छा अतिप्पसंगेणं मंससेवी संवुत्तो । पक्कणेहिं सह खोट्टिउमाढत्तो । तेहिं चेव सह खाति, पिवति,संवसति य। पच्छा पिउणा सयणेण य सव्वयज्झो अप्पवंसो कओ, अभया सो पमिलग्गो विविओ । सो वि भायासिणेहेणं तं कुडिं पविसिऊण पुच्छति,देति य से किंचि। सो पिउणा उवलंभिऊण निच्छूढो। ततिओ बाहिरपाडए वीयं पुच्छति, विसज्जेति से किंचि । सो वि निच्छूढो । चउत्थो परंपरएण देवावेति, सो वि निच्छूढो । पंचमो गंधं पि नेच्छति, तेण मरुएण करणं चभिऊण सव्वस्स घरस्स सो सामी कओ । इयरे चत्तारि वि बाहिरा कया, लोगगरहिया य जाया । एस दिट्ठंतो । उवणओ सो इमो–जारिसा पक्कणा तारिसा पासत्थादी, जारिसो धिज्जाइओ तारिसो आयरिओ, जारिसा पुत्ता तारिसा साहू, जहा ते निच्छूढा, एवं निच्छुभंतो कुसीलसंसग्गिं करेंता गरहिया य पवयणे भवंति । जो पुण परिहरति सो पुज्जो सातीअपज्जवसियं निव्वाणं पावेति । एवं संसग्गी विणासीया कुसीलेहिं। उक्तं च-"जो जारिसेण मेत्तिं, करेति अचिरेण तारिसो होइ। कुसुमेहि सह वसंता,तिला वि तग्गंधिया होंति" ॥ १॥ मरुय त्ति दिट्ठंतो गओ "।

पार्श्वस्थादिसंसर्गदोषादवन्दनीयाः साधवोऽप्युक्ताः,तत्राह चोदकः-कः पार्श्वस्थादिसंसर्गमात्राद्गुणवतो दोषः?,तथा चाह–

सुचिरं पि अत्थमाणो, वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो ।
न उवेइ कायभावं, पाहन्नगुणेण निअएण ॥ ३६ ॥

सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् वैडूर्यो मणिविशेषः काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः । कुत्सिताः काचमणयः काचमणिकाः । तैरुत्प्राबल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः , नापैति न याति काचभावं काचधर्मं प्राधान्यगुणेन विमलगुणेन निजेनात्मीयेन । एवं सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं संवसन्नपि शीलगुणेनात्मीयेन न पार्श्वस्थादिभावमुपैत्ययं भावार्थ इतिगाथार्थः॥ ३६ ॥

अत्राह चाचार्य्यः-यत्किञ्चिदेतत्, न हि दृष्टान्तमात्रादेवाभिलषितार्थसिद्धिः संजायते, यतः-

जावुगअजावुगाणि अ, लोए दुविहाइँ हुंति दव्वाइं ।
वेरुलिओ तत्थ मणी, अजावुगो अन्नदव्वेहिं ॥ ३७ ॥

भाव्यन्ते प्रतियोगिनां स्वगुणैरात्मभावमापद्यन्त इति भाव्यानि कपिल्लुकादीनि, प्राकृतशैल्या भावुकान्युच्यन्ते । अथवा-प्रतियोगिनि सति तद्गुणापेक्षया तथा भवनशीलानि भावुकानि, "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशॄभ्य उकञ्" ।३।२। इत्युकञ्। तस्य ताच्छीलिकत्वादिति । तद्विपरीतानि अभाव्यानि च नलादीनि । लोके द्विविधानि द्विप्रकाराणि भवन्ति द्रव्याणि वस्तूनि । वैडूर्यस्तत्र मणिरभाव्यः अन्यद्रव्यैः काचादिभी रहित इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

स्यान्मतिर्जीवोऽप्येवम्भूत एव भविष्यति, न पार्श्वस्थादिसंसर्गेण तद्भावं यास्यतीत्येतदासत् । यतः-

जीवो अणाइनिहणो, तब्भावणभाविओ अ संसारे ।
खिप्पं सो भा इ, मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ३८ ॥

जीवः प्राङ्निरूपितशब्दार्थः, सोऽनादिनिधनः, अनाद्यपर्यन्त इत्यर्थः । तद्भावनाभावितश्च पार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादादिभावनाभावितश्च, संसारे तिर्यङ्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणे, ततश्च तद्भावनाभावितत्वात् क्षिप्रं शीघ्रं स भाव्यते प्रमादादिभावनया आत्मीक्रियते, मीलनदोषानुभावेन संसर्गदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

अथ भवतो दृष्टान्तमात्रेण परितोषः, ततो मद्विवक्षितार्थप्रतिपादकोऽपि दृष्टान्तोऽस्त्येव । शृणु-

अंबस्स य निंबस्स य, दुन्हं पि समागयाइँ मूलाइं ।
संसग्गीइ विणट्ठो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥ ३९ ॥
सुचिरं पि अत्थमाणो, नलथंभो उच्छुवाडमज्झम्मि ।
कीस न जायइ महुरो, जइ संसग्गी पमाणं ते ॥ ४० ॥

चिरपतिततिक्तनिम्बादिकवासितायां भूमौ आम्रवृक्षः समुत्पन्नः, पुनस्तत्राम्रस्य निम्बस्य च द्वयोरपि समागते एकीभूते मूले, ततश्च संसर्गात्संगत्या विनष्ट आम्रः, निम्बत्वं प्राप्तः, तिक्तफलः संवृत्त इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ तदेवं संसर्गिदोषदर्शनात् त्याज्याः पार्श्वस्थादिसंसर्गिरिति । पुनरप्याह चोदकः-नन्वेतदपि सप्रतिपक्षम्, तथाहि-(सुचिरं पित्ति) सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् नलस्तम्भो वृक्षविशेषः इक्षुवाटमध्ये इक्षुसंसर्गतः किमिति न जायते मधुरः, यदि संसर्गिः प्रमाणं तवेति गाथार्थः ॥ ४० ॥ आचार्य आह--ननु विदितोत्तरमेतत्-" भावुगअभावुगाणि " इत्यादिना ग्रन्थेन, अत्रापि च केवली अभाव्यः पार्श्वस्थादिभिः, सरागास्तु भाव्या इति ।

आह-तैः सहालापमात्रतायां संसर्गी क इव दोष उच्यते-

भणगसयभागेणं, बिंबाइं परिणमंति तब्भावं ।
लवणागराइसु जहा, वज्जेह कुसीलसंसग्गिं ॥ ४१ ॥

ऊनश्चासौ शतभागश्चोनशतभागः, शतभागोऽपि न पूर्य्यत इत्यर्थः । तेन तावतांशेन प्रतियोगिना सह संबन्धानीति प्रक्रमाद्गम्यते । बिम्बानि रूपाणि परिणमन्ति तद्भावमासादयन्ति, लवणीभवन्तीत्यर्थः । लवणाकरादिषु यथा, आदिशब्दात्खण्डखादिखारकादिग्रहः, तत्र किल लोहमपि तद्भावमासादयति । तथा पार्श्वस्थाद्यालापमात्रसंसर्गादपि सुविहितास्तमेव भावं यान्ति, अतः [वज्जेह कुसीलसंसग्गिं]वर्जयत कुशीलसंसर्गिं परित्यजत कुशीलसंसर्गमिति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

पुनरपि संसर्गिदोषप्रतिपादनायैवाह-

जह नाम महुरसलिलं, सागरसलिलं कमेण संपत्तं ।
पावइ लोणभावं, मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ४२ ॥
एवं खु सीलवंतो, असीलवंतेहिं मीलिओ संतो ।
पावइ गुणपरिहाणिं, मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ४३ ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासः, नामेति निपातः । मधुरसलिलं नदीपयः, तत्र लवणसमुद्रं क्रमेण परिपाट्या प्राप्तं सत् (पावेति लोणभावं ति) प्राप्नोति आसादयति लवणभावं क्षारभावं मधुरमपि सन्मीलनदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ (एवं खु त्ति) खुशब्दोऽवधारणे, एवमेव, शीलमस्यास्तीति शीलवान्, स खल्वशीलवद्भिः पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं मिलितः सम्प्राप्नोति आसादयति, गुणाः मूलोत्तरगुणलक्षणाः, तेषां परिहाणिरपचयः, तांस्तथैहिकांश्चापायान् तत्कृतदोषसमुत्थानिति मीलनदोषानुभावेनेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

यतश्चैवमतः-

खणमवि न खमं काउं, अणाययणसेवणं सुविहिआणं ।
हंदि समुद्दमइगयं, उदयं लवणत्तणमुवेइ ॥ ४४ ॥
सुविहिअ दुव्विहिअं वा, नाहं जाणामि हं खु छउमत्थो ।
लिंगं तु पूअयामी, तिगरणसुद्धेण भावेणं ॥ ४५ ॥
जइ ते लिंग पमाणं, वंदेही निन्हए तुमं सव्वे ।
एए अवंदमाण-स्स लिंगमवि अप्पमाणं ते ॥ ४६ ॥
जइ लिंगमप्पमाणं, न नज्जई निच्छएण को भावो ।
दट्ठूण समणलिंगं, किं कायव्वं तु समणेणं ॥ ४७ ॥
अप्पुव्वं दट्ठूणं, अब्भुट्ठाणं तु होइ कायव्वं ।
साहुम्मि दिट्ठपुव्वे, जहारिहं जस्स जं जुग्गं ॥ ४८ ॥

लोचननिमेषमात्रः कालः क्षणोऽभिधीयते, तं क्षणमपि, आस्तां तावन्मुहूर्तोऽन्यो वा कालविशेषः, न क्षमं न समर्थमयोग्यम, किं कर्तुम् ?, (अणाययणसेवणं ति) कर्तुं निष्पादयितुं अनायतनं पार्श्वस्थाद्यायतनं, तस्य सेवनं भजनम् अनायतनसेवनम, केषाम्?, सुविहितानां साधूनाम्, किमित्यत आह-हन्दीत्युपप्रदर्शने; समुद्रमतिगतं लवणजलधिप्राप्तमुदकं मधुरमपि सत् लवणत्वमुपैति क्षारभावमुपैति । एवं सुविहितोऽपि पार्श्वस्थादिदोषसमुद्रं प्राप्तस्तद्भावमाप्नोति । अतः परलोकार्थिना तत्संसर्गिस्त्याज्येति ॥ ४४ ॥ ततश्च व्यवस्थितमिदम्-येऽपि पार्श्वस्थादिभिः सार्द्धं संसर्गिं कुर्वन्ति तेऽपि न वन्दनीयाः, सुविहिता एव वन्दनीया इत्यत्राह-(सुविहिय त्ति) शोभनं विहितमनुष्ठानं यस्यासौ सुविहितस्तम । अनुस्वारलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । दुर्विहितस्तु पार्श्वस्थादिस्तं दुर्विहितं वाऽहं न जानामि नाहं वेद्मि, यतोऽन्तःकरणशुद्ध्यशुद्धिकृतं सुविहितदुर्विहितत्वम, परभावस्तु तत्त्वतः सर्वज्ञविषयः, (अहं खु छउमत्थो त्ति)

अहं पुनश्छद्मस्थः । अतो लिङ्गमेव रजोहरणं गच्छप्रतिग्रहधरणलक्षणं, पूजयामि वन्दे इत्यर्थः; त्रिकरणशुद्धेन भावेन वाक्कायशुद्धेन मनसेति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ आचार्य आह-(जइ ते) यदीत्ययमभ्युपगमप्रदर्शनार्थः । ते तव लिङ्गं द्रव्यलिङ्गम् । अनुस्वारोऽत्र लुप्तो वेदितव्यः । प्रमाणं कारणं वन्दनकरणे, इत्थं तर्हि वन्दस्व नमस्व निह्नवान् जमालिप्रभृतान् त्वं सर्वानविशेषात्, द्रव्यलिङ्गादियुक्तत्वात्तेषामिति । अथैतान्मिथ्यादृष्टित्वान्न वन्दसे, ननु एतान् द्रव्यलिङ्गयुक्तानप्यवन्दमानस्याप्रणमतः लिङ्गमप्यप्रमाणं तव वन्दनप्रवृत्ताविति गाथार्थः ॥४६॥ इत्थं लिङ्गमात्रस्य वन्दनप्रवृत्तावप्रमाणतायां प्रतिपादितायां सत्यामनभिनिविष्ट एव सामाचारीजिज्ञासया आह चोदकः-[जइ त्ति] यदि लिङ्गं द्रव्यलिङ्गमप्रमाणम् अकारणं वन्दनप्रवृत्तौ, इत्थं तर्हि न ज्ञायते नावगम्यते, निश्चयेन परमार्थेन, छद्मस्थेन जन्तुना कस्य को भावः ?। यतोऽसंयता अपि लब्ध्यादिनिमित्तं संयतवच्चेष्टन्ते, संयता अपि च कारणतः असंयतवदिति । तदेवं व्यवस्थिते दृष्ट्वा आलोक्य, श्रमणलिङ्गं साधुलिङ्गं, किं पुनः कर्त्तव्यं श्रमणेन साधुना । पुनःशब्दार्थस्तुशब्दः, व्यवहितश्चोत्तगाथानुलोम्यादिति गाथार्थः ॥४७॥ एवं चोदकेन पृष्टः सन्नाहाचार्यः-[अपुव्वं ति] अपूर्वमदृष्टपूर्वं, साधुमिति गम्यते । दृष्ट्वाऽवलोक्याभिमुख्येनोत्थानमभ्युत्थानम् आसनत्यागलक्षणम्, तुशब्दाद्दण्डकादिग्रहणं च भवति कर्त्तव्यम् । किमिति कदाचित्कश्चिदसौ आचार्यादिः विद्याऽतिशयसंपन्नः तत्प्रदानायैवागतो भवेत् शिष्यसकाशमाचार्यकालकवत्, स खल्वविनीतं संभाव्य न तत्प्रयच्छति । तथा दृष्टपूर्वास्तु द्विप्रकाराः- उद्यतविहारिणः, शीतलविहारिणश्च । तत्रोद्यतविहारिणि साधौ दृष्टपूर्वे उपलब्धपूर्वे यथार्हं यथायोग्यमभ्युत्थानं वन्दनादि यस्य बहुश्रुतादेर्यद्योग्यं, तत्कर्त्तव्यं भवति । यः पुनः शीतलविहारी,न तस्याभ्युत्थानवन्दनादि उत्सर्गतः किञ्चित्कर्त्तव्यमिति गाथार्थः ॥४८॥ आव० ३ अ० ।

एतच्च वाङ्नमस्कारादिना विशेषेण क्रियते, किं तर्हि-

परिआउ बंभचेरं, परिसा विणीआ सि पुरिस नच्चा वा ।
कुलकज्जादायत्ता, आघवउ गुणागमसुअं वा ॥५४॥
खित्तम्मि संवसिज्जइ, जस्स पभावेण निरुवसग्गं तु ।
ओमम्मि अपक्कितप्पइ, साहूणं आगमं तू अ ॥५५॥
एवंविहस्स कुज्जा, उप्पन्ने कारणप्पगारम्मि ।
कलिऊण जहाजुग्गं, वायाईणि अ समग्गाणि ॥५६॥

पर्यायो ब्रह्मचर्यमुच्यते, तत्प्रभूतं कालमनुपालितं येन, परिषद्विनीता वा तत्प्रतिबद्धा साधुसंहतिः शोभना (से) तस्य [पुरिस नच्चा व त्ति] पुरुषं ज्ञात्वा वा । अनुस्वारोऽत्र द्रष्टव्यः। कथं ज्ञात्वा ?, कुलकार्यादीन्यनेनायत्तानि, आदिशब्दाद्गणसंघकार्यपरिग्रहः । [आघवउ त्ति] आख्यातस्तस्मिन् क्षेत्रे प्रसिद्धः, तद्बलेन तत्रास्यन्त इति भेदवाक्यार्थः । (गुणागमसुयं व त्ति) गुणा अवमप्रतिजागरणादय इति कालद्वारावयवार्थः । आगमः सूत्रार्थोभयरूपः, श्रुतं सूत्रमेव,गुणाश्चागमश्च श्रुतं चेत्येकवद्भावः। तद्वाऽस्येति विद्यत इत्येवं ज्ञात्वेति गाथार्थः ॥ आव० ३ अ० ।
('एमाइ.' ५७ गाथा '५१६ पृष्ठे बृहत्कल्पपाठेन गतार्था)

एवमुद्यतेतरविहारिगतविधौ प्रतिपादिते सत्याह चोदकः- भिन्नोऽनेन पर्यायान्वेषणेन सर्वथा भावशुद्ध्या कर्मापनयनाय जिनप्रणीतलिङ्गनमेव युक्तं, तद्गतगुणविचारस्य निष्फलत्वात् । न हि तद्गतगुणप्रभवा नमस्कर्तुर्निर्जरा अपि तु आत्मीयाध्यात्मशुद्धिप्रभवा । तथाहि-

तित्थयरगुणा पडिमा-सु नत्थि निस्संसयं विआणंतो ।
तित्थयरु त्ति नमंतो, सो पावइ निज्जरं विउलं ॥५८॥

तीर्थकरस्य गुणा ज्ञानादयस्तीर्थकरगुणाः ते प्रतिमासु बिम्बलक्षणासु [न त्थि] न सन्ति निःसंशयं संशयरहितं विजानन् अवबुध्यमानस्तथापि तीर्थकरोऽयमित्येवं भावशुद्ध्या नमन् प्रणमन्प्रणामकर्त्ता प्राप्नोत्यासादयति निर्जरां कर्मक्षयलक्षणां विपुलां विस्तीर्णामिति गाथार्थः ॥५८॥

एष दृष्टान्तोऽयमर्थोपनयः-

लिंगं जिणपन्नत्तं, एवं नमंतस्स निज्जरा विउला ।
जइ वि गुणविप्पहीणं, वंदइ अज्झप्पसोहीए ॥५९॥

लिङ्ग्यतेऽनेन साधुरिति लिङ्गं रजोहरणादिधरणलक्षणम्, जिनैरर्हद्भिः प्रज्ञप्तं प्रणीतम् । एवं यथा प्रतिमा इति नमस्कुर्वतः प्रणमतः निर्जरा विपुला, यद्यपि गुणैर्मूलोत्तरगुणैर्विविधमनेकधा प्रकर्षेण हीनं रहितं गुणविप्रहीणं वन्दते नमस्करोति, अध्यात्मशुद्ध्या चेतःशुद्ध्येति गाथार्थः ॥५९॥

इत्थं चोदकेनोक्ते दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैधर्म्यमुपदर्शयन्नाहाचार्यः—

संता तित्थयरगुणा, तित्थयरे तेसिमं तु अज्झप्पं ।
न य सावज्जा किरिआ, इअरेसु धुवा समणुमन्ना ॥६०॥

सन्तो विद्यमानाः शोभना वा तीर्थकरस्य गुणाः ज्ञानादयः, क्व तीर्थकरे अर्हति भगवति, इयं च प्रतिमा तस्य भगवतः । (तेसिमं तु अज्झप्पं) तेषां नमस्कुर्वतामिदमध्यात्मम् इदं चेतः, तथा न च तासु सावद्या सपापा,क्रिया चेष्टा, प्रतिमासु, इतरेषु पार्श्वस्थादिषु ध्रुवा अवश्यंभाविनी सावद्या क्रिया । प्रणमतस्तत्र किमित्यत आह-(समणुमन्ना) समनुज्ञा सावद्यक्रियायुक्तपार्श्वस्थादिषु प्रणमनात्सावद्यक्रियानुमतिरिति हृदयम् । अथवा सन्तस्तीर्थङ्करगुणास्तीर्थकरे तान् वयं प्रणमामः, तेषामिदमध्यात्मम् इदं चेतः, ततोऽर्हद्गुणाध्यारोपेण प्रतिमाप्रणमनान्नमस्कर्तुर्नैव सावद्यक्रिया परिस्पन्दनलक्षणा, इतरेषु पार्श्वस्थादिषु पूज्यमानेष्वशुभक्रियोपेतत्वात् तेषां नमस्कर्तुर्ध्रुवा समनुज्ञेति गाथाऽर्थः ॥ ६० ॥

पुनरप्याह चोदकः-

जह सावज्जा किरिया, नत्थि उ पडिमासु एवमिअरा वि ।
तयभावे नत्थि फलं, अह होइ अहेउअं होइ ॥ ६१ ॥

यथा सावद्या क्रिया सपापा क्रिया नास्त्येव न विद्यत एव प्रतिमासु,एवमितराऽपि निरवद्याऽपि नास्त्येव । ततश्च तदभावे निरवद्यक्रियाभावे नास्ति फलं पुण्यलक्षणम्, अथ भवति, अहेतुकं भवति निष्कारणं च भवति,प्रणम्य वस्तुगताक्रियाहेतुकत्वात्फलस्येत्यभिप्रायः । अहेतुकत्वे चाकस्मिककर्मसंभवान्मोक्षाद्यभाव इति गाथाऽर्थः ॥६१॥

इत्थं चोदकेनोक्ते सत्याहाऽऽचार्यः—

कामं उभयाभावो, तह वि फलं अत्थि मणविसुद्धीए ।

तीइ पुण मणविसुद्धी-इ कारणं हुंति पडिमाओ ॥६२॥

कामम् अनुमतमिदं यदुत उभयाभावः सावद्येतरक्रियाभावः प्रतिमासु, तथापि फलं पुण्यलक्षणम्, अस्ति विद्यते,मनसो विशुद्धिः मनोविशुद्धिः, तस्या मनोविशुद्धेः सकाशात् । तथाहि-स्वगतमनोविशुद्धिरेव नमस्कर्त्तुः पुण्यकारणं, न नमस्करणीयवस्तुगता क्रिया, आत्मान्तरे फलाभावात् । यद्येवं किं प्रतिमाभिरिति ?। उच्यते-तस्याः पुनर्मनोविशुद्धेः कारणं निमित्तं भवन्ति प्रतिमाः, तद्द्वारेण तस्याः संभूतिदर्शनादिति गाथार्थः ॥ ६२ ॥

आह-एवं लिङ्गमपि प्रतिमावन्मनोविशुद्धिकारणं भवत्येवेत्युच्यते-

जइ वि अ पडिमा उ जहा,मुणिगुणसंकप्पकारणं लिंगं ।
उभयमवि अत्थि लिंगे, न य पडिमासूभयं अत्थि ॥६३॥

यद्यपि च प्रतिमा यथा, मुनीनां गुणाः मुनिगुणाः व्रतादयः, तेषु संकल्पः अध्यवसायः मुनिगुणसंकल्पः तस्य कारणं निमित्तं मुनिगुणसंकल्पकारणम्, लिङ्गं द्रव्यलिङ्गम्; तथापि प्रतिमाभिः सह वैधर्म्यमेव; यत उभयमप्यस्ति लिङ्गे, सावद्यकर्म निरवद्यकर्म च । तत्र निरवद्यकर्मयुक्त एव यो मुनिगुणसंकल्पः स सम्यक्संकल्पः, स एव च पुण्यफलः । यः पुनः सावद्यकर्मयुक्तेऽपि मुनिगुणसंकल्पः स एव विपर्याससंकल्पः, क्लेशफलश्चासौ, विपर्यासरूपत्वादेव । न च प्रतिमासूभयमस्ति,चेष्टारहितत्वात् । ततश्च तासु जिनगुणविषयस्य क्लेशफलस्य विपर्याससंकल्पस्याभावः, सावद्यकर्मरहितत्वात् प्रतिमानाम् । आह-इत्थं तर्हि निरवद्यकर्मरहित्वात् सम्यक्संकल्पस्याऽपि पुण्यफलस्याप्यभाव एव प्राप्त इति ?, उच्यते-तस्य तीर्थकरगुणाध्यारोपेण प्रवृत्तेर्नाभाव इति ।

तथा चाह-

निअमा जिणेसु उ गुणा,पडिमाओ दिस्स जं मणे कुणइ ।
अगुणे उ विआणंतो, कं नमउ मणे गुणं काउं ॥६४॥

नियमादिति नियमेनावश्यतया, जिनेषु तीर्थकरेष्वेव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, गुणा ज्ञानादयः,न प्रतिमासु, प्रतिमाः दृष्ट्वा तास्वध्यारोपद्वारेण यन्मनसि करोति चेतसि स्थापयति,न पुनर्नमस्करोति, अत एवासौ तासु शुभपुण्यफलो जिनगुणसंकल्पः, सावद्यकर्मरहितत्वात् । न चायं तासु निरवद्यकर्माभावमात्राद्विपर्याससंकल्पः, सावद्यकर्मोपेतवस्तुविषयत्वात् तस्य । ततश्चोभयविकल एवाकारमात्रतुल्ये कतिपयगुणान्विते वाऽध्यारोपोऽपि युक्तियुक्तः, (अगुणे तु इत्यादि) अगुणानेव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, अविद्यमानगुणमेव विजानन्नवबुध्यमानः पार्श्वस्थादीन् (कं नमउ मणे गुणं काउं त्ति) कं मनसि कृत्वा गुणं, नमस्करोतु तानिति । स्यादेतत्, अन्यसाधुसंबन्धिनं तेष्वध्यारोपमुखेन मनसि कृत्वा नमस्करोतु, न, तेषां सावद्यकर्मयुक्ततया अध्यारोपविषयलक्षणविकलत्वात्, अविषये चाध्यारोपमपि कृत्वा नमस्कुर्वतो दोषदर्शनात् ।

आह च-

जह वेलंबगलिंगं, जाणंतस्स नमओ हवइ दोसो ।
निद्धंधसमिअ नाऊ-ण वंदमाणे धुवो दोसो ॥ ६५ ॥
कह लिंगमप्पमाणं, उप्पन्ने केवले वि जं नाणे ।
न नमंति जिणं देवा, सुविहिअनेवत्थपरिहीणं ॥ ६६ ॥

यथा विडम्बकलिङ्गं भण्डादिकृतं जानतोऽवबुध्यमानस्य नमतो नमस्कुर्वतो सतोऽस्य भवति दोषः, प्रवचनहीलनादिलक्षणः । निद्धन्धसं प्रवचनोपघातनिरपेक्षं पार्श्वस्थादिकं (इय त्ति) एवं ज्ञात्वाऽवगम्य (वन्दमाणे धुवो दोसो त्ति) वन्दति नमस्कुर्वन्ति नमस्कर्त्तरि ध्रुवोऽवश्यंभावी दोषः, आज्ञाविराधनादिलक्षणः । पाठान्तरं वा-"निद्धंधसं पि नाऊण, वंदमाणस्स दोसा उ " इदं प्रकटार्थमेवेति गाथार्थः ॥ ६५ ॥ एवं न लिङ्गमात्रमकारणतोऽवगतसावद्यक्रियं नमस्क्रियत इति स्थापितम् भावलिङ्गमपि द्रव्यलिङ्गरहितमित्थमेवावगन्तव्यम् । भावलिङ्गगर्भं तु द्रव्यलिङ्गं नमस्क्रियते,तस्यैवाभिलषितार्थक्रियाप्रसाधकत्वात् ।

रूपकदृष्टान्तश्चात्राह—

रुप्पं टंकं विसमा-हयक्खरं न वि उ रूवओ छेओ ।
दुन्हं पि समाओगे, रुप्पो छेअत्तणमुवेइ ॥ ६७ ॥

अत्र तावच्चतुर्भङ्गाः-रूपमशुद्धं, टङ्कं विषमाहताक्षरमित्येको भङ्गः । रूपमशुद्धं, टङ्कं समाहताक्षरमिति द्वितीयः । रूपं शुद्धं, टङ्कं विषमाहताक्षरमिति तृतीयः । रूपं शुद्धं, टङ्कं समाहताक्षरमिति चतुर्थः । अत्र च रूपकल्पं भावलिङ्गं, टङ्ककल्पं द्रव्यलिङ्गम् । इह च प्रथमभङ्गतुल्याश्चरकादयः, अशुद्धोभयलिङ्गत्वात् । द्वितीयभङ्गतुल्याः पार्श्वस्थादयः, अशुद्धभावलिङ्गत्वात् । तृतीयभङ्गतुल्याः प्रत्येकबुद्धाः, अन्तर्मुहूर्त्तमात्रं कालमगृहीतद्रव्यलिङ्गाः । चतुर्थभङ्गतुल्याः साधवः शीलयुक्ताः, गच्छगता निर्गताश्च जिनकल्पिकादयः । यथा रूपको भङ्गत्रयान्तर्गतः " अच्छेक " इत्यविकलतदर्थक्रियार्थिना नोपादीयते, चतुर्थभङ्गनिरूपित एवोपादीयते, एवं भङ्गत्रयनिदर्शितपुरुषा अपि परलोकार्थिनौघतो न नमस्करणीयाः, चरमभङ्गकनिदर्शिता एव नमस्करणीया इति भावना । अक्षराणि त्वेवं नीयन्ते-रूपं शुद्धाशुद्धभेदं, टङ्कं विषमाहताक्षरं, विपर्यस्तनिविष्टाक्षरं, नैव रूपकश्छेकः, असांव्यवहारिक इत्यर्थः । द्वयोरपि शुद्धरूपसमाहताक्षरटङ्कयोः समायोगे सति रूपकश्छेकत्वमुपैतीति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

रूपकदृष्टान्ते दार्ष्टान्तिकनियोजनां निदर्शयन्नाह-

रुप्पं पत्तेअबुद्दा, टंकं जे लिंगधारिणो समणा ।
दव्वस्स य भावस्स य, छेओ समणो समाओगे ॥६८॥

रूपं प्रत्येकबुद्धा इत्यनेन तृतीयभङ्गकाक्षेपः, टङ्कं ये लिङ्गधारिणः श्रमणा इत्यनेन तु द्वितीयस्य,अनेनैवाशुद्धशुद्धोभयात्मकस्यापि प्रथमचरमभङ्गद्वयस्येति । तत्र द्रव्यस्य च भावस्य च छेकः श्रमणः समायोगे समाहताक्षरटङ्कशुद्धरूपककल्पद्रव्यभावलिङ्गसंयोगे शोभनः साधुरिति गाथार्थः ॥ ६८ ॥ आव० ३ अ० । (ज्ञानप्राधान्यविचारोऽतथोपयुक्तत्वान्नात्र कृतः)

अवसितमानुषङ्गिकम्, तस्मात् स्थितमिदं पञ्चानां कृतिकर्म न कर्त्तव्यम्, तथा च निगमयन्नाह-

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए निच्चकालपासत्था ।
एए अवंदणिज्जा, जे जसघाई पवयणस्स ॥ १२६ ॥

[दंसणणाणचरित्ते त्ति] प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाच्च दर्शनज्ञानचारित्राणां,तथा तपोविनययोः [निच्चकालपासत्थ त्ति]

नित्यकालं सर्वकालं पार्श्वे तिष्ठन्तीति नित्यकालपार्श्वस्थाः। नित्यकालग्रहणमित्वरप्रमादव्यवच्छेदार्थं, तथा चेत्वरप्रमादाश्रियतो ज्ञानाद्यपगमेऽपि व्यवहारतस्तु साधव एवेति। एते प्रस्तुता अवन्दनीयाः, किंभूताः?, यशोघातिनः यशोविनाशकाः। कस्य?, प्रवचनस्य, कथं यशोघातिनः?, श्रमणगुणोपात्तं यशः तत्तद्गुणवितथासेवनतो घातयन्तीति गाथाऽर्थः ॥१२६॥

(१२) पार्श्वस्थादिवन्दने चापायान् निदर्शयन्नाह–

किइकम्मं च पसंसा, सुहसीलजणम्मि कम्मबंधाय ।
जे जे पमायठाणा, ते ते उववूहिआ हुंति ॥१२७॥

कृतिकर्म वन्दनं, प्रशंसा च–'बहुश्रुतो विनीतो वाऽयमित्यादिलक्षणा, सुखशीलजने पार्श्वस्थजने, कर्मबन्धाय। कथम्?, यतस्ते पूज्या एव वयमिति निरपेक्षतरा भवन्ति। एवं यानि यानि प्रमादस्थानानि, येषु विषीदन्ति पार्श्वस्थादयः, तानि तानि उपबृंहितानि भवन्ति समर्थितानि भवन्त्यनुमतानि भवन्ति। तत्प्रत्ययश्च बन्ध इति गाथाऽर्थः ॥ १२७ ॥

यस्मादेतेऽपायास्तस्मात्पार्श्वस्थादयो न वन्दनीयाः, साधव एव वन्दनीया इति निगमयन्नाह–

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए निच्चकालमुज्जुत्ता ।
एए उ वंदणिज्जा, जे जसकारी पवयणस्स ॥ १२८ ॥

दर्शनज्ञानचारित्रेषु,तथा तपोविनययोः, नित्यकालं सर्वकालम्, उद्युक्ता उद्यता एते एव वन्दनीयाः , ये विशुद्धमार्गप्रभावनया यशःकारिणः प्रवचनस्येति गाथार्थः ॥१२८॥

(१३) अधुना सुसाधुवन्दने गुणमुपदर्शयन्नाह–

किइकम्मं च पसंसा, संविग्गजणम्मि निज्जरट्ठाए ।
जे जे विरइट्ठाणा, ते ते उववूहिआ हुंति ॥१२९॥

कृतिकर्म वन्दनं, प्रशंसा च–बहुश्रुतो विनीतः पुण्यभागित्यादिलक्षणा,संविग्नजने निर्जरार्थाय कर्मक्षयाय,कथम्?,यानि यानि विरतिस्थानानि,येषु वर्त्तन्ते ते संविग्नाः,तानि तान्युपबृंहितानि भवन्त्यनुमतानि भवन्ति,तदनुमत्या च निर्जरा। संविग्नाः पुनर्द्विविधाः–द्रव्यतो भावतश्च। द्रव्यसंविग्ना मृगाः, पत्रेऽपि चलति सदा त्रस्तचेतसः, भावसंविग्नास्तु साधवः, तैरिहाधिकार इति गाथाऽर्थः ॥ १२९ ॥

गता सप्रपञ्चं पञ्चानां कृतिकर्मेत्यादिद्वारगाथा। निगमयतोद्यमोद्यतो दर्शनाद्युपयुक्ता एव वन्दनीया इत्यधुना तानेवाचार्यादिभेदतोऽभिधित्सुराह–

आयरिअ उवज्झाओ, पवत्ति थेरे तहेव रायणिए ।
एएसिं किइकम्मं, कायव्वं निज्जरट्ठाए ॥ १३० ॥

आचार्य उपाध्यायः प्रवर्तकः स्थविरस्तथैव रत्नाधिकः। एतेषां कृतिकर्म कर्तव्यं निर्जरार्थम्। तत्र चाचार्यः सूत्रार्थोभयवेत्ता, लक्षणादियुक्तश्च। आव० ३ अ०। (अधिकमत्रत्यम् , 'पवत्तग' शब्दे वक्ष्यते)

प्रथमद्वारगाथायां गतं कस्येति द्वारम्।

(१४) अधुना केनेति द्वारम्। केन कृतिकर्म कार्यं, केन वा न कर्त्तव्यम्, कः पुनरस्य करणोचितः, अनुचितो वेत्यर्थः। तत्र मातापित्रादिरनुचितो गणः। तथाचाह ग्रन्थकारः–

मायरं पिअरं वा वि, जिट्ठगं वावि भायरं ।
किइकम्मं न कारिज्जा, सव्वे रायणिए तहा ॥ १३८ ॥

१३१

विअडप्पचक्खाणे, सुए अ रयणाहिआ वि हु करंति ।
मज्झिमट्ठे न करेई, सा चेव य तेसि पकरेई ॥ १३९ ॥

मातरं पितरं वाऽपि ज्येष्ठकं चापि भ्रातरम्, अपिशब्दान्मातामहपितामहादिपरिग्रहः, कृतिकर्म अभ्युत्थितवन्दनं न कारयेत्, सर्वान् रत्नाधिकान्। तथा पर्यायज्येष्ठानित्यर्थः। किमिति?,मात्रादीन्वन्दनं कारयतः लोकगर्होपजायते,तेषां च कदाचिद्विपरिणामो भवति। आलोचनप्रत्याख्यानसूत्रार्थेषु तु कारयेत्,सागारिकाध्यक्षं तु यतनया कारयेत्, एष प्रव्रज्याप्रतिपन्नानां विधिः। गृहस्थांस्तु कारयेदिति गाथार्थः ॥१३६॥

साम्प्रतं कृतिकर्मकरणोचितं प्रतिपादयन्नाह–

पंच महव्वयजुत्तो, अणलस माणपरिवज्जिअमईओ ।
संविग्ग निज्जरट्ठी, किइकम्मकरो हवइ साहू ॥१४०॥

पञ्च महाव्रतानि प्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणानि तैर्युक्तः, (अणलस त्ति) आलस्यरहितः, मानवर्जितमतिः जात्यादिमानपराङ्मुखमतिः, संविग्नः प्राग्व्याख्यात एव, निर्जरार्थी कर्मक्षयार्थी, एवंभूतः कृतिकर्मकारको भवति साधुः, एवंभूतेन साधुना कृतिकर्म कर्त्तव्यमिति गाथार्थः ॥ १४० ॥ गतं केनेति द्वारम्।

(१५) सांप्रतं कदेत्यायातम्, कदा कृतिकर्म कर्तव्यं कदा वा न कर्त्तव्यमित्यत आह–

वक्खित्त पराहुत्ते, अ पमत्ते मा कयाइ वंदिज्जा ।
आहारं च करंते, नीहारं वा जई करइ ॥ १४१ ॥

व्याक्षिप्तं धर्मकथादिना,(पराहुत्ते य त्ति) पराङ्मुखं च, चशब्दाज्जृम्भणादिपरिग्रहः। प्रमत्तं क्रोधादिप्रमादेन, मा कदाचिद्वन्देत, आहारं कुर्वाणं, नीहारं वा यदि करोति। इह च धर्मान्तरायाः अवधारणप्रकोपाहारान्तरायपुरीषनिर्गमादयो दोषाः प्रपञ्चेन वक्तव्या इति गाथार्थः ॥ १४१ ॥

कदा तर्हि वन्देत इत्यत आह–

पसंते आसणत्थे अ, उवसंते उवट्ठिए ।
अणुन्नवित्तु मेहावी, किइकम्मं पउंजए ॥ १४२ ॥

प्रशान्तं व्याक्षेपरहितम्, आसनस्थं निषद्यागतम् , उपशान्तं क्रोधादिप्रमादरहितम्, उपस्थितं छन्देनेत्याद्यभिधानेन प्रत्युद्यतम्, एवंभूतं सन्तम्, अनुज्ञाप्य मेधावी, ततः कृतिकर्म प्रयुञ्जीत, वन्दनं कुर्यादित्यर्थः। अनुज्ञापनायां च आदेशद्वयम्–यानि ध्रुववन्दनानि तेषु प्रतिक्रमणादौ नानुज्ञापयति। यानि पुनरौत्पत्तिकानि तेष्वनुज्ञापयतीति गाथार्थः ॥१४२॥ गतं कदेति द्वारम्।

(१६) अधुना कतिकृत्वः कृतिकर्म कार्यं, कियन्तो वारा इत्यर्थः। तत्र प्रत्यहं नियतान्यनियतानि वन्दनानि भवन्त्यत उभयस्थाननिदर्शनायाह निर्युक्तिकारः–

पडिक्कमणे सज्झाए, काउस्सग्गावराहपाहुणए ।
आलोअणसंवरणे, उत्तमट्ठे अ वंदणयं ॥ १४३ ॥

प्रतीपं क्रमणं प्रतिक्रमणम्, अपराधस्थानेभ्यो गुणस्थानेषु वर्तनमित्यर्थः। तस्मिन्सामान्यतो वन्दनं भवति। तथा स्वाध्याये वाचनादिकक्षणे, कायोत्सर्गो यो हि विगतिपरिभोगाय आयम्बिलविसर्जनार्थं क्रियते। अपराधे गुरुविनयलङ्घनरूपे यतस्तं वन्दित्वा क्षामयति पाक्षिकवन्दनान्यपराधे पतन्ति। प्राघूर्णके

ज्येष्ठे समागते सति वन्दनं भवति, इतरस्मिन्नपि प्रतीच्छितव्यम् । अत्र चायं विधिः-

" संभोइयमसंभोइ-या य दुविहा भवंति पाहुणया ।
संभोइय आयरियं, आपुच्छित्ता उ वंदंति ॥
इयर पुण आयरियं, वंदित्ता संदिसाविउं तह य ।
पच्छा वंदंति जई, गयमोहो अहव वंदावे ॥ "

तथा आलोचनायां विहारापराधभेदभिन्नायां संवरणं भुक्ते प्रत्याख्यानम् । अथवा कृतनमस्कारसहितादिप्रत्याख्यानस्यापि पुनरजीर्णादिकारणतोऽभक्तार्थं गृह्णतः संवरणं तस्मिन्वन्दनं भवति । उत्तमार्थे चानशनसंलेखनायां वन्दनमित्येतेषु प्रतिक्रमणादिषु स्थानेषु वन्दनं भवतीति गाथार्थः ॥ १४३ ॥

इत्थं सामान्येन नियतानियतस्थानानि वन्दनानि प्रदर्शितानि, साम्प्रतं नियतवन्दनस्थानसंख्याप्रदर्शनायाऽऽह-

चत्तारि पमिक्कमणे, किइकम्मा तिन्नि हुंति सज्झाए ।
पुव्वन्हे अवरन्हे, किइकम्मा चउदस हवंति ॥१४४॥

चत्वारि प्रतिक्रमणे कृतिकर्माणि, त्रीणि भवन्ति स्वाध्याये,पूर्वाह्ने प्रत्यूषसि । कथम्-" गुरुं पुव्वसंझाए वंदित्ता आलोएंति एयं एक्कं । अब्भुट्ठियावसाणे जं पुणो वंदंति गुरुं एतं वितीयं । एत्थ य विही पच्छा अहण्णेण तिन्नि । मज्झिमं पंच वा सत्त वा, उक्कोसं सव्वे वि वंदियव्वा । जइ वाउलावक्खेवो वा तो एक्केण ऊणगा जाव तिन्नि अवस्सं वंदियव्वा । एवं देवसिए पक्खिए पंच अवस्सं, चाउम्मासिए संवच्छरिए वि सत्त अवस्सं ति । ते वंदिऊण जं पुण आयरियस्स अल्लिविज्जति तं ततियं, पच्चक्खाणे चउत्थं सज्झाए पुणो वंदित्ता पट्ठवेति । पढमे पट्ठविए पवेदयंतस्स वितियं पच्छा उद्दिट्ठं समुद्दिट्ठं पढति । उद्देससमुद्देसवंदणाणमिहेवं तब्भावो ततो जाहे चउब्भागावसेसा पोरुसी ताहे पाए पडिलेहेति । जति न पढिउकामो तो वंदति,अह पढिउकामो तो अवंदित्ता पाए पडिलेहेति । पडिलेहित्ता पच्छा पढति,कालवेलाए वंदिउं पडिक्कमति । एवं तद्यं, एवं पूर्वाह्ने सप्त, अपराह्णे पि सप्तैव भवन्ति, अनुज्ञावन्दनानां स्वाध्यायवन्दनेष्वेवान्तर्भावात् । प्रतिक्रमणिकानि तु चत्वारि प्रसिद्धान्येवमेतानि ध्रुवाणि प्रत्यहं कृतिकर्माणि चतुर्दश भवन्ति अभक्तार्थिकस्य । इतरस्य तु प्रत्याख्यानवन्दनेनाधिकानि भवन्तीति गाथार्थः ॥१४४॥ गतं कतिकृत्वो द्वारम् । आव० ३ अ० ।

(१७) कृतिकर्मस्वरूपनिरूपणम्-

दुवालसावत्ते किंतिकम्मे पएणत्ते । तं जहा-दुओणयं जहाजायं कितिकम्मं बारसावयं चउसिरं तिगुत्तं दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥

द्वादशावर्त्तं कृतिकर्म वन्दनकं प्रज्ञप्तम् । द्वादशावर्ततामेवास्यानुवन्दनशेषांश्च तद्धर्मानभिधित्सितं रूपकमाह-(दुओणयेत्यादि) अवनतिरवनतम्, उत्तमाङ्गप्रधानं प्रणमनमित्यर्थः। द्वे अवनते यस्मिंस्तद् द्व्यवनतम् । तत्रैकं यदा प्रथममेव-"इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए " त्ति अभिधायावग्रहानुज्ञापनायावनमति, द्वितीयं पुनर्यदावग्रहानुज्ञापनायैवावनमतीति यथाजातं श्रमणत्वमवनलक्षणं जन्माश्रित्य योनिनिष्क्रमणलक्षणं च, तत्र च रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्ट-मात्रया श्रमणो जातो रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गत एवंभूत एव वन्दते, तदव्यतिरेकाद्धा यथाजातं भण्यते, कृतिकर्म वन्दनकम् । (बारसावयं ति) द्वादशावर्त्ताः सूत्राभिधानगर्भाः कायव्यापारविशेषाः यतिजनप्रसिद्धा यस्मिंस्तद् द्वादशावर्त्तम् । तथा-(चउसिर त्ति) चत्वारि शिरांसि यस्मिंस्तच्चतुःशिरः । प्रथमप्रविष्टस्य क्षामणाकाले शिष्याचार्यशिरोद्वयं पुनरपि निष्क्रम्य प्रविष्टस्य द्वयमेवेति भावना । तथा-(तिगुत्तं त्ति) तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तः । पाठान्तरेऽपि तिसृभिः अथ गुप्तिभिरेवेति । तथा (दुपवेसं ति) द्वौ प्रवेशौ यस्मिंस्तद् द्विप्रवेशम् । तत्र प्रथमोऽवग्रहमनुज्ञाप्य प्रविशतो, द्वितीयः पुनर्निर्गत्य प्रविशत इति । (एगनिक्खमणं ति) एकं निष्क्रमणमवग्रहादावश्यिकयानिर्गच्छतः । द्वितीयवेलायां ह्यवग्रहान्न निर्गच्छति पादपतित एव सूत्रं समापयतीति । स० १२ सम० । नि० चू० ।

कत्यवनतमित्याद्युद्धारं तदर्थप्रतिपादनायाऽऽह-

दुओणयं जहाजायं, किइकम्मं बारसावत्तं ।
चउस्सिरं तिगुत्तं च, दुपवेसं एगनिक्खमणं ॥ १४५ ॥

अवनतिरवनतम्, उत्तमाङ्गप्रधानं प्रणमनमित्यर्थः । द्वे अवनते यस्मिंस्तद् द्व्यवनतम् । एवं यदा प्रथममेव-"इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए" त्ति अभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनायावनमति । द्वितीयं पुनर्यदा कृतावर्तो निष्कान्तः इच्छामीत्यादिसूत्रमभिधाय छन्दोऽनुज्ञापनायैवावनतमिति यथाजातं जन्मश्रमणत्वमाश्रित्य योनिनिष्क्रमणं च । तत्र रजोहरणमुखवस्त्रिकाचोलपट्टकमात्रया श्रमणो जातः, रचितकरपुटस्तु योन्या निर्गतः, एवंभूत एव वन्दते । तदव्यतिरेकाच्च यथाजातं भण्यते; कृतिकर्म वन्दनम् । (बारसावत्तं ति) द्वादशावर्त्ताः सूत्राभिधानगर्भाः कायव्यापारविशेषा यस्मिन्निति समासः; तद् द्वादशावर्त्तम् । इह च प्रथमप्रविष्टस्य षडावर्त्ताः भवन्ति-" अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताण बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो, जत्ता भे जवणिज्जं च भे " एतत्सूत्रगर्भाः गुरुचरणन्यस्तहस्तशिरःस्थापनरूपा निष्क्रम्य पुनःप्रविष्टस्याप्येत एव षमिति; एतच्चापान्तरालद्वारद्वयमाद्यद्वारोपलक्षितमवगन्तव्यम् । गतं कत्यवनतद्वारम् । सांप्रतं कतिशिर एत्येद् द्वारं व्याचिख्यासुरिदमपरं गाथाशकलमाह-(चउसिरमित्यादि) चत्वारि शिरांसि यस्मिंस्तच्चतुःशिरः, प्रथमप्रविष्टस्य क्षामणाकाले शिष्याचार्यशिरोद्वयं, पुनरपि निष्क्रम्य प्रविष्टस्य शिरोद्वयमेवेति भावनाद्वारम् । तिस्रो गुप्तयो यस्मिंस्तत् त्रिगुप्तम् । मनसा सम्यक्प्रणिहितम्, वाचा अस्खलितान्यक्षराण्युच्चारयन्, कायेन आवर्तेन विराधयन् वन्दनं करोति यतः । चशब्दोऽवधारणार्थः । द्वौ प्रवेशौ यस्मिंस्तद् द्विप्रवेशम् । प्रथमोऽनुज्ञाप्य प्रविशतो, द्वितीयः पुनर्निर्गत्य प्रविशत इति । एकं निष्क्रमणम् आवश्यकया निर्गच्छतः । एतच्चापान्तरालद्वारत्रयं कतिशिरोद्वारेणैवोपलक्षितमवगन्तव्यमिति गाथार्थः ॥ १४५ ॥

[१८] सांप्रतं कतिभिर्वाऽऽवश्यकैः परिशुद्धमिति द्वारार्थोऽभिधीयते । तथाऽऽह—

अवणामा दुन्हा जायं, आवत्ता बारसे व य ॥
सीसा चत्तारि गुत्तीओ, तिन्नि दो अ पवेसणा ॥१४६॥
एगनिक्खमणं चेव , पणवीसं विराहिआ ।
आवस्सएहिं परिसुद्धं, किइकम्मं जेहिं कीरई ॥१४७॥

इदमन्यकर्तृकं गाथाद्वयं निगदसिद्धमेव । एभिर्गाथाद्वयोक्तैः पञ्चविंशतिभिरावश्यकैः परिशुद्धं कृतिकर्म कर्त्तव्यम्, अन्यथा द्रव्यकृतिकर्म भवत्यत आह-(एग त्ति) कृतिकर्म्मापि कुर्वन्न भवति कर्मनिर्जराभागी पञ्चविंशतेरावश्यकानाम् अन्यतरत् साधुस्थानं विराधयन्, विद्यादृष्टान्तोऽत्र । यथाहि-विद्या विकलानुष्ठाना फलदा न भवति, एवं कृतिकर्मापि निर्जराफलं न भवति, विकलत्वादेवेति गाथार्थः ॥ १४७ ॥

(१९) अधुना विराधनगुणोपदर्शनायाऽऽह-

पणवीसा परिसुद्धं, किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं ।
सो पावइ निव्वाणं, अचिरेण विमाणवासं वा ॥ १४८ ॥

पञ्चविंशत्याऽऽवश्यकान्यवनतादीनि प्रतिपादितान्येवं तच्छुद्धं, तदविकलं कृतिकर्म यः कश्चित्प्रयुङ्क्ते, करोतीत्यर्थः । कस्मै ?, गुरवे आचार्याय, अन्यस्मै वा गुणयुक्ताय, स प्राप्नोति निर्वाणं मोक्षम्, अचिरेण स्वल्पेन कालेन, विमानवासं वा सुरलोकं चेति गाथार्थः ॥१४८॥ (कतिदोषविप्रमुक्तमिति यदुक्तं तत्र द्वात्रिंशद्दोषदर्शनं च 'वंदण' शब्दे अनादृतादिशब्दव्याख्या 'अणादिय' आदिशब्देषु वक्ष्यते)

किइकम्मं पि करंतो, न होइ किइकम्मनिज्जराभागी ।
बत्तीसामन्नयरं, साहू ठाणं विराहंतो ॥ १७५ ॥
बत्तीसदोससुद्धं, किइकम्मं जो पउंजइ गुरूणं ।
सो पावइ निव्वाणं, अचिरेण विमाणवासं वा ॥ १७६ ॥

कृतिकर्मापि कुर्वन्न भवति कृतिकर्मा निर्जराभागी, द्वात्रिंशद्दोषाणामन्यतरत्साधुः स्थानं विराधयन्निति गाथार्थः ॥१७५॥ दोषविप्रमुक्ते कृतिकर्मकरणे गुणमुपदर्शयन्नाह-द्वात्रिंशद्दोषपरिशुद्धं कृतिकर्म यः प्रयुङ्क्ते करोति गुरवे, स प्राप्नोति निर्वाणम्, अचिरेण विमानवासं वेति गाथार्थः ॥ १७६ ॥

अहो दोषपरिशुद्धाद्वन्दनात्को गुणः, येन तत एव निर्वाणप्राप्तिः प्रतिपाद्यते, इत्यत्रोच्यते-

आवस्सएसु जह जह, कुणइ पयत्तं अहीणमइरित्तं ।
तिविहकरणोवउत्तो, तह तह से निज्जरा होइ ॥ १७७ ॥

आवश्यकेष्ववनतादिषु दोषत्यागलक्षणेषु च यथा यथा करोति प्रयत्नम्, अहीनातिरिक्तं न हीनं नाप्यतिरिक्तम् । किंभूतः सन् ?-त्रिविधकरणोपयुक्तः मनोवाक्कायैरुपयुक्त इत्यर्थः । तथा तथा (से) तस्य वन्दनकर्तुर्निर्जरा भवति कर्मक्षयो भवति । तस्मान्निर्वाणप्राप्तिरित्यतो दोषपरिशुद्धादेव फलावाप्तिरिति गाथार्थः ॥ १७७ ॥ गतं सप्रसङ्गं दोषविप्रमुक्तद्वारम् ।

(२०) अधुना 'किमिति क्रियते' इति द्वारम् । तत्र वन्दनकरणकारणानि प्रतिपादयन्नाह-

विणओवयार माण-स्स भंजणा पूअणा गुरुजणस्स ।
तित्थयराण य आणा, सुअधम्माराहणाऽकिरिया ॥१७८॥

विनय एवोपचारो विनयोपचारः कृतो भवति । स एव किमर्थं इत्याह—मानस्याहङ्कारस्य भञ्जना विनाशः तदर्थः । मानेन च भग्नेन पूजना गुरुजनस्य कृता भवति, तीर्थकराणां चाज्ञा अनुपालिता भवति । यतो भगवद्भिर्विनयमूल एवोपदिष्टो धर्मः, स च वन्दनादिलक्षण एव विनय इति । तथा श्रुतधर्माराधना कृता भवति, यतो वन्दनपूर्वं श्रुतग्रहणम्, (अकिरिय त्ति) पारंपर्येणाक्रिया भवति । यतः-अक्रियः सिद्धः, असावपि पारम्पर्येण वन्दनलक्षणाद्विनयादेव भवति । उक्तञ्च परमर्षिभिः-"तहारूवे णं भंते! समणं वा माहणं वा वंदमाणस्स पज्जुवासमाणस्स किं फला वंदणपज्जुवासणया ? । गोयमा ! सवणफला सवणे णाणफले, नाणे विन्नाणफले, विन्नाणे पच्चक्खाणफले, पच्चक्खाणे संजमफले, संजमे अणण्हयफले, अणण्हए तवफले, तवे वोदाणफले, वोदाणे अकिरियाफले, अकिरिया सिद्धगतिगमणफला ।" तथा वाचकमुख्येनाप्युक्तम्-

"विनयफलं शुश्रूषा, गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।
ज्ञानस्य फलं विरति-र्विरतिफलं चाऽऽश्रवनिरोधः ॥ १ ॥
संवरफलं तपोबल-मथ तपसो निर्जराफलं दृष्टम् ॥
तस्मात्क्रियानिवृत्तिः, क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ २ ॥
योगनिरोधाद्भवसं-ततिक्षयः संततिक्षयान्मोक्षः ।
तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः" ॥ इति गाथार्थः ॥१७८॥

किञ्च-

विणओ सासणमूलं, विणीओ संजओ भवे ।
विणयाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तवो ॥ १७९ ॥

शास्यन्तेऽनेन जीवा इति शासनं द्वादशाङ्गं, तस्मिन्विनयो मूलम् । यत उक्तम्-

"मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुवेंति साहा ।
साहा प्पसाहा वि रुहंति पत्ता, पत्ता सि पुप्फं च फलं रसो य" ॥
"एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो । जेण कित्ती सुयं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छति" । अतो विनीतः संयतो भवेत्, विनयाद् विप्रमुक्तस्य कुतो धर्मः कुतस्तप इति गाथार्थः ॥१७९॥

अतो विनयोपचारार्थं कृतिकर्म क्रियत इति स्थितम् । आह-विनय इति कः शब्दार्थ इत्युच्यते-

जम्हा विणयइ कम्मं, अट्ठविहं चाउरंतमोक्खाय ।
तम्हा उ वयंति विऊ, विणओ त्ति विलीणसंसारा ॥१८०॥

यस्माद्विनयति नाशयति कर्म अष्टविधम् । किमर्थम् ?, चतुरन्तमोक्षाय, संसारविनाशायेत्यर्थः । तस्मादेव वदन्ति विद्वांसः-विनय इति विनयनाद् विलीनसंसाराः क्षीणसंसाराः । अथवा "विणीअसंसारा" इति पाठे विनीतसंसारा नष्टसंसारा इत्यर्थः । यथा विनीता गौर्नष्टक्षीरा अभिधीयत इति गाथार्थः ॥ १८० ॥ किमिति क्रियत इति द्वारं गतम् । व्याख्याता द्वितीया कत्यवनतमित्यादिद्वारगाथा । अत्रान्तरेऽध्ययनशब्दार्थो निरूपणीयः स चान्यत्र न्यक्षेण निरूपितत्वान्नेहाधिकृतः । गतो नाम निष्पन्नो निक्षेपः ।

(२१) सांप्रतं सूत्रालापकनिष्पन्नस्य निक्षेपस्यावसरः, स च सूत्रे सति भवति, सूत्रं च सूत्रानुगम इत्यादि प्रपञ्चतो वक्तव्यम्, यावच्चेदं सूत्रम्-

इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए अणुजाणह मे मिओग्गहं निसीहि अहोकायं कायसंफासं खमणिज्जो भे किलामो अप्पकिलंताणं बहुसुभेण भे दिवसो वइक्कंतो जत्ता भे जवणिज्जं च भे खामेमि खमासमणो ! देवसियं वइक्कमं आवासियाए पडिक्कमामि खमासमणाणं देवसियाए आसायणाए तेत्तीसन्नयराए

जं किंचि मिच्छाए मणदुक्कडाए वयदुक्कडाए कायदुक्कडाए कोहाए माणाए मायाए लोभाए सव्वकालियाए सव्वमिच्छोवयाराए सव्वधम्माइक्कमणाए आसायणाए जो मे अइयारो कओ तस्स खमासमणो ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥

अस्य व्याख्या,तल्लक्षणं चेदम।'संहिता चेत्यादि'।तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता । सा च-" इच्छामि खमासमणो ! वंदिउं जावणिज्जाए णिसिहीआए त्ति" इत्येवं सूत्रोच्चारणरूपा । अधुना पदविभागः-इच्छामि क्षमाश्रमण ! वन्दितुं यापनीयया नैषेधिकया अनुजानीत मम मितावग्रहं नैषेधिकी अधःकायं कायसंस्पर्शः क्षमणीयः भवतां क्लमः अल्पक्लान्तानां बहुशुभेन भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः, यात्रा भवतां, यापनीयं च भवतां क्षमयामि क्षमाश्रमण ! दैवसिकव्यतिक्रमम, आवशिक्या प्रतिक्रमामि, क्षमाश्रमणानां दैवसिक्या आशातनया त्रयस्त्रिंशदन्यतरया यत्किञ्चिन्मिथ्यया मनोदुष्कृतया वाग्दुष्कृतया कायदुष्कृतया क्रोधया मानया मायया लोभया सर्वकालिक्या सर्वमिथ्योपचारया सर्वधर्मातिक्रमणया आशातनया यो मया अतीचारः कृतः तस्य क्षमाश्रमण ! प्रतिक्रमामि निन्दामि गर्हामि आत्मानं व्युत्सृजामि । एतावन्ति सर्वसूत्रपदानि । साम्प्रतं पदार्थः पदविग्रहश्च यथासंभवं प्रतिपाद्यते-तत्र 'इषु' इच्छायामित्यस्योत्तमपुरुषैकवचनान्तस्य इच्छामीति भवति । 'क्षमूष्' सहने इत्यस्य अङ्प्रत्ययान्तस्य क्षमा । 'श्रमु' तपसि खेदे च, अस्य कर्त्तरि ल्युट् । श्राम्यत्यसाविति श्रमणः । क्षमाप्रधानः श्रमणः क्षमाश्रमणः, तस्यामन्त्रणम । वन्देस्तुमुन्प्रत्ययान्तस्य वन्दितुम । 'या' प्रापणे अस्य णयन्तस्य पुक् कर्त्तर्यनीयः, यापयतीति यापनीया, तया । 'षिधु' गत्यामस्य निपूर्वस्य घञि निषेधनं निषेधः, निषेधेन निर्वृत्ता नैषेधिका । प्राकृतशैल्या छान्दसत्वाद्वा नैषेधिकीत्युच्यते । एवं शेषपदार्थोऽपि प्रकृतिप्रत्ययव्युत्पत्त्या वक्तव्यः; विनेयासंमोहार्थं तु न ब्रूमः । अयं प्रकृतसूत्रार्थः-अवग्रहाद् बहिः स्थितो विनेयोऽर्द्धावनतकायः करद्वयगृहीतरजोहरणो वन्दनायोद्यत एवमाह-इच्छाम्यभिलषामि हे क्षमाश्रमण ! वन्दितुं नमस्कर्त्तुं, भवन्तमिति गम्यते । यापनीयया यावत्शक्त्या नैषेधिक्या प्राणातिपातादिनिवृत्तया तया, शरीरेणेत्यर्थः । अत्रान्तरे गुरुर्व्याक्षेपादियुक्तः त्रिविधेनेति भणति । ततः शिष्यः संक्षेपवन्दनं करोति, व्याक्षेपादिविकलस्तु " छन्देणं ति भणति " । ततो विनेयस्तत्रस्य एवमाह-अनुजानीत अनुज्ञां प्रयच्छत, ममेत्यात्मनिर्देशिकम । मितश्चासाववग्रहश्चेति मितावग्रहस्तं चतुर्दिक्ष्विहाचार्यस्यात्मप्रमाणं क्षेत्रमवग्रहस्तमनुज्ञां विहाय प्रवेष्टुं न कल्पते । ततो गुरुर्भणति-अनुजानामि । ततः शिष्यो नैषेधिक्या प्रविश्य गुरुपादान्तिकं निधाय तत्र रजोहरणं तल्ललाटं च कराभ्यां संस्पृशन्निदं भणति-अधस्तात् कायः अधःकायः पादलक्षणः, तमधःकायं प्रतिकायेन निजदेहेन संस्पर्शः कायसंस्पर्शः, तं करोम्येतच्चानुजानीत, तथा क्षमणीयः, सह्यो भवताम । अधुना क्लमः देहग्लानिरूपः,तथा अल्पं स्तोकं क्लान्तं क्लमो येषां तेऽल्पक्लान्तास्तेषामल्पक्लान्तानां बहु च तत् शुभं च बहुशुभं,तेन बहुशुभेन, प्रभूतसुखेनेत्यर्थः । भवतां दिवसो व्यतिक्रान्तः, युष्माकमहर्गतमित्यर्थः । अत्रान्तरे गुरुर्भणति-तथेति, यथा भवान् ब्रवीति । पुनराह विनेयः-यात्रा तपोनियमादिलक्षणा, क्षायिकोपशमिकभावलक्षणा वा उत्सर्पति भवताम । अत्रान्तरे गुरुर्भणति-युष्माकमपि वर्तते । मम तावदुत्सर्पते, भवतोऽप्युत्सर्पत इत्यर्थः । पुनरप्याह विनेयः-यापनीयं च इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमादिना प्रकारेण भवतां,शरीरमिति गम्यते । अत्रान्तरे गुरुराह-एवं आमं, यापनीयमित्यर्थः । पुनराह विनेयः-क्षमयामि मर्षयामि । क्षमाश्रमणेति पूर्ववत् । दिवसेन निर्वृत्तो दैवसिकस्तं व्यतिक्रममपराधम;दैवसिकग्रहणं रात्रिकाद्युपलक्षणार्थम । अत्रान्तरे गुरुर्भणति-अहमपि क्षामयामि दैवसिकं व्यतिक्रमं, प्रमादोद्भवमित्यर्थः । ततो विनेयः प्रणम्यैवं क्षामयित्वा लोचनार्हेण च प्रतिक्रमणार्हेण प्रायश्चित्तेनात्मानं शोधयन् अत्रान्तरे अकरणतयोत्थायाऽवग्रहान्निर्गच्छन् यथा यो व्यवस्थितस्तथा क्रियया प्रदर्शयन्नावशिक्येत्यादिकं दण्डकसूत्रं भणति । अवश्यं कर्तव्यैश्चरणकरणयोगैर्निर्वृत्ता आवश्यकी,तया आसेवनाद्वारेण हेतुभूतया, यदसाध्वनुष्ठितं तस्य प्रतिक्रमामि निवर्तयामीत्यर्थः । इत्थं सामान्येनाभिधाय विशेषेण भणति-क्षमाश्रमणानां व्यावर्णितस्वरूपाणां संबन्धिन्या दैवसिक्या दिवसेन निर्वृत्तया ज्ञानाद्याशातना तया, किं विशिष्टया ?, त्रयस्त्रिंशदन्यतरया । आशातनाश्च यथा दशासु तथा द्रष्टव्याः । अत्रैव वाऽनन्तराध्ययने तथा द्रष्टव्या-" ताओ पुण तेत्तीसं पि आसायणाओ इमासु चउसु मूलासायणासु समोयरंति । तं जहा-दव्वासायणाए दव्वासायणारायणिएण समं भुंजंतो मणुन्नं असणं पाणं अप्पणो भुंजति, एवमुवहिसंथारगादिसु वि, भावा खेत्तासायणा आसन्नं गंता भवति राइणियस्स । कालासायणा राओ वा वियाले वा वाहरमाणस्स तुसिणीए चिट्ठइ । भावासायणा आयरियं तुमं तुमं ति वत्ता भवति । एवं तेत्तीसंपि चउसु दव्वादिसु समोयरंति" । यत् किञ्चिन्मिथ्याया यत्किञ्चिदाश्रित्य मिथ्यया, मनसा दुष्कृता मनोदुष्कृता, तया, प्रद्वेषनिमित्तयेत्यर्थः । वाग्दुष्कृतया असाधुवचननिमित्तया, कायदुष्कृतया आसन्नगमनादिनिमित्तया, क्रोधयेति क्रोधवत्येति प्राप्ते अर्शादेराकृतिगणत्वाद् अच्प्रत्ययान्तत्वात्क्रोधया क्रोधानुगतया, मानया मानानुगतया, मायया मायानुगतया, लोभया लोभानुगतया । अयं भावार्थः-क्रोधानुगतेन या काचिद्विनयभ्रंशादिलक्षणा आशातना कृता तयेति; एवं दैवसिकी भणिता । अधुनेह भवान्यभवगतातीतानागतकालसंग्रहार्थमाह-सर्वकालेनातीतादिना निर्वृत्ता सार्वकालिकी, तया । सर्वे एव मिथ्योपचाराः मातृस्थानगर्भाः क्रियाविशेषा यस्यामिति समासः, तया, सर्वधर्म्मा अष्टौ प्रवचनमातरः तासामतिक्रमणं लङ्घनं यस्याः सा सर्वधर्मातिक्रमणा, तया, एवंभूतया आशातनया इति निगमयति, यो मयाऽतिचारः अपराधः कृतो निर्वर्तितः,तस्यातिचारस्य हे क्षमाश्रमण ! युष्मत्साक्षिकं प्रतिक्रम्य पुनः करणतया निवर्तयामीत्यर्थः । तथा दुष्टकर्मकारिणं निन्दाम्यात्मानं प्रशान्तेन भवोद्विग्नेन चेतसा, तथा गर्हाम्यात्मानं युष्मत्साक्षिकं, व्युत्सृजाम्यात्मानं दुष्टकर्मकारिणम । तदनुमतित्यागेन सामायिकानुसारेण च निन्दादिपदार्थो व्यक्तेण वक्तव्यः । एवं क्षामयित्वा पुनस्तत्रस्थ एवार्द्धावनतकायः एवं भणति-" इच्छामि खमासमणो ! " इत्यादि सर्वं द्रष्टव्यमित्येवम, नवरमयं विशेषः—" खामेमि खमासमणो !" इत्यादि सर्वं सूत्रमावशिक्या विरहितं तत्पादपतित एव भणति । शिष्यासंमोहार्थं सूत्रस्पर्शिकगाथां स्वस्थाने

खलु अनादृत्य लेशतस्तदर्थकथनयैव पदार्थो निदर्शितः । आव० ३ अ० ।

इत्थं सूत्रे प्रायशो वन्दमानस्य विधिरुक्तः, निर्युक्तिकृताऽपि स एव व्याख्यातः । अधुना वन्द्यगतविधिप्रतिपाद- नायाऽऽह निर्युक्तिकारः—

छंदेणऽणुजाणामी, तह त्ति तुज्झं पि वट्टए एवं ।
अहमवि खामेमि तुमे, वयणाइं वंदणरिहस्स ॥१८७॥

छन्देन अनुजानामि, तथेति युष्माकमपि वर्तते । एवमहमपि क्षामयामि त्वां, वचनानि वन्दनार्हस्य वन्दनयोग्यस्य । विषय- विभागस्तु पदार्थनिरूपणायां निदर्शित एवेति गाथार्थः ॥१८७॥

तेण वि पमिच्छियव्वं, गारवरहिएण सुद्धहियएण ।
किइकम्मकारगस्स, संवेगं संजणंतेणं ॥१८८॥

तेन वन्दनार्हेण एवं प्रत्येष्टव्यम, अपिशब्दस्यैवकारार्थत्वात् । ऋद्ध्याऽऽदिगौरवरहितेन शुद्धहृदयेन कषायविप्रमुक्तेन कृति- कर्मकारकस्य वन्दनकर्तुः संवेगं जनयता; संवेगः शरीरादि- पृथग्भावो मोक्षौत्सुक्यं चेति गाथार्थः ॥ १८८ ॥ इत्थं सूत्रस्प- र्शनिर्युक्त्या व्याख्यातं सूत्रम् ।

सांप्रतं चालनासूत्रानुपपत्तिचोदना, तथाचाह-

आवत्ताइसु जुगवं, इह भणिओ कायवायवावारो ।
दुन्नेगया य किरिआ, जओ निसिध्दा अओ जुत्तो ॥१८९॥

इहावर्तादिषु, आदिशब्दाद्वाचिकायादिपरिग्रहः युगपदेकदा, भणित उक्तः, कायवाग्व्यापारः, तथा च सत्येकदा क्रियाद्वयप्र- सङ्गः । द्वयोरेकदा च क्रिया यतो निषिद्धा, अन्यत्रोपयोगद्वया- भावात्, अतो युक्तः स व्यापार इति ।

ततश्च सूत्रं पठित्वा कायव्यापारः कार्य इत्युच्यते-

भिन्नविसयं निसिध्दं, किरियादुगमेगया न एगम्मि ।
जोगतिगस्स विभंगिअ, सुत्ते किरिया जओ भणिया ।१९०।

इह भिन्नविषयं विलक्षणवस्तुविषयं क्रियाद्वयं निषिद्धम्, एकदा यथोत्प्रेक्षते सूत्रार्थे नयादिगोचरमटति च । तत्रोत्प्रे- क्षायां यदोपयुक्तो, न तदाऽटने, यदा चाटने, न तदोत्प्रेक्षायामि- ति कालस्य सूक्ष्मत्वादविलक्षणविषयानुयोगत्रयक्रियाऽप्यविरु- द्धा । यथोक्तम्-"भंगियसुयं गुणंतो, वट्टइ तिविहे वि झाणम्मि" इत्यादि गतं प्रत्यवस्थानम् ।

सीसो पढमपवेसे, वंदिउमावस्सियाएँ पडिकमिउं ।
बीअपवेसम्मि पुणो, वंदइ किं चालणा अहवा ॥१९१॥

जह दूओ रायाणं, नमिउं कज्जं निवेइउं पच्छा ।
वीसज्जिओ वि वंदिअ, गच्छति साहू वि एमेव ॥१९२॥

इदं प्रत्यवस्थानम्, उक्तमानुषङ्गिकम् । सांप्रतं कृतिकर्मविधि- संसेवनाफलं समासादुपदर्शयन्नाह-

एअं किइकम्मविहिं, जुंजंता चरणकरणमाउत्ता ।
साहू खवंति कम्मं, अणेगभवसंचिअमणंतं ॥ १९३ ॥

एवमन्तरदर्शितं, कृतिकर्मविधिं वन्दनविधिं, युञ्जानाश्चरण- करणोपयुक्ताः साधवः क्षपयन्ति कर्म अनेकभवसंचितं, प्रभूतभ- वोपार्जितमित्यर्थः । कियत् ?, अनन्तमिति गाथार्थः । उक्तोऽनुगमः ।

नयाः सामायिकनिर्युक्ताविव द्रष्टव्या इति । आव० ३ अ० । ध० २० । कार्यकरणे, भ० १४ श० ३ उ० ।

किइकम्मविहिण्णु–कृतिकर्मविधिज्ञ–त्रि० । वन्दनाकारादिप्रका- रज्ञे, आव० १ अ० ।

किइभोय-कृतिभोज-पुं० । द्रव्यानुयोगतर्कणाकारके, द्रव्या० १ अ० ।

किं–किम्–त्रि० । कु शब्दे, वा डिमुः । परिप्रश्ने, नि० चू० १ उ० । सूत्र० । स्था० । नं० । प्रश्न० । द्वा० । विशे० । आचा० । "से किं तं जीवाजीवाभिगमे ?" किंशब्दः परिप्रश्ने, स चाभिधेयवस्तुस्वरूपनिर्ज्ञाने नपुंसकलिङ्गतया निर्दिश्यते । तथा चोक्तम्-अव्यक्तगुणसन्दोहे नपुंसकलिङ्गं प्रयुज्य- ते, ततः पुनरर्थापेक्षया यथाऽभिधेयमभिसंबध्यते इति । जी० १ प्रति० । "किण्णा लद्धा किण्णा पत्ता किण्णा अभि- समण्णागया" (किण्णा एवेति) केन हेतुना प्राप्ता उपार्जि- ता सती प्राप्तिमुपगता । विपा० १ श्रु० ५ अ० । कारणैः प्र- योजनैः (किं ते त्ति) किं तत् । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । "किं जीवो तप्परिणतो पुव्वपडिवन्नओ उ जीवाणं" किं- शब्दः क्षेपप्रश्ननपुंसकव्याकरणेषु, तत्रेह प्रश्ने, अयं च प्रा- कृतेऽलिङ्गः सर्वादिनपुंसकनिर्देशः पूर्वलिङ्गैः सह यथायोग- मभिसंबध्यते । आ० म० द्वि० । आ० चू० । किमित्यतिश- यार्थे, नि० चू० १३ उ० । "मांसादेर्वा" ॥ ८ । १ । २९ ॥ इत्यनुस्वारस्य वा लुक् । 'कि करेमि' 'किं करेमि' प्रा० १ पाद । जिज्ञासिते, वितर्कविषये, कुत्सायां, वितर्के, कुत्सिते, साहश्ये, करणे, ईषदर्थे च । वाच० ।

किंकत्तव्वयाजाव–किंकर्त्तव्यताजाव–पुं० । मूढत्वे, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

किंकम्म–किङ्कर्मन्–पुं० । स्वनामख्याते गृहपतौ, (तद्वक्तव्यता अन्तकृद्दशासु षष्ठे वर्गे द्वितीयेऽध्ययने सूचिता, तत्रैव प्रथमाध्य- यनोक्तमकायीगमेन नेतव्या) "दोचस्स उक्खेवओ किंकम्मे वि एवं जाव विपुले सिद्धे" अंत० ७ वर्ग । स्था० ।

किंकर–किङ्कर–त्रि० । किञ्चित् करोति अच् । आदेशसमाप्तौ पुनः प्रश्नकारिणि; प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । प्रतिकर्म प्रभोः पृच्छापूर्व- कारिणि, औ० । भ० । रा० । प्रश्न० । किंकुर्वाणे कर्मकरपुरुषे, आ० १ श्रु० १ अ० । स्त्रियां तु टाप् । किंकरस्य पत्नी ङीष्, किङ्करी । दासपत्न्याम्, स्त्री० । किङ्करस्य गोत्रापत्यम् नडा० फक् कैङ्करायणः । तद्गोत्रापत्ये, पुं० । स्त्री० । वाच० ।

किंकिअं–देशी–धवले, दे० ना० २ वर्ग ।

किंकिडी–देशी–सर्पे, दे० ना० २ वर्ग ।

किंगिरिम–किङ्गिरिट–पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

किंच–किञ्च–अव्य० । किं च च च द्वन्द्वः । आरम्भे, समुच्चये, साकल्ये, संभावनायां, अवान्तरे च । वाच० । अभ्युच्चये, पञ्चा० ३ विव० । "किंचेत्थ अत्थि निज्जुत्ती, विपयरुहरिजदसूरिवय- णाउ ।" जीवा० ८ अधि० ।

किंचि–किञ्चित्–अव्य० । किम् चिच्च । असाकल्ये, वाच० । स्तोके, उत्त० २ अ० । स्वल्पतरे, नि० चू० १ उ० । रा० । "किंचि बहुयं च थोवं च ।" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । "किंचि लब्भा पावेउं" किञ्चिदल्पमपि लब्ध्वा योग्या प्रापयितुम् । प्रश्न० ३ संव० द्वार । अनिर्दिष्टे, "किंचि दव्वं मणिमुत्तसिलप्प-

वाग्नकंसदूसरयवरकणगरयणमादिपडियं " । किञ्चिदनिर्दिष्टस्वरूपं द्रव्यम् । प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । अस्य पदद्वयत्वमते अकिञ्चित्कर इत्यादौ "सह सुपा" । २ । १ । ४ । इति समास इति बोध्यम् । इदंतया निर्देष्टुमशक्यत्वमेव किञ्चित्त्वम् । वाच०।

किंजक्क–किञ्जल्क–पुं० । किञ्चित् जहाति । जल अपवारणे, कः, तस्य नेत्वम् । पुष्पकेशरे, पुष्परेणौ, नागकेशरे च । पद्ममध्यस्थे केशाकारे पदार्थे, वाच० । कुसुमासवलोला किञ्जल्कलम्पटा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

किंजक्खा–देशी–शिरीषे, दे० ना०२ वर्ग ।

किंजोणिय–किंयोनिक–त्रि० । का योनिः उत्पत्तिस्थानं येषां ते कियोनिकाः । तेषां का योनिरितिप्रश्नविषयेषु, भ०१ श०६ उ०।

किंणो–देशी–प्रश्ने, दे० ना०२ वर्ग ।

किंतु–किन्तु–अव्य० । पूर्ववाक्यसंकोचज्ञापने, प्रागुक्तविरुद्धार्थे, किंपुनरित्यर्थे च । वाच० । अभ्युपगमपूर्वकविशेषद्योतने, स्था०।

किंथुग्घ–किंस्तुघ्न–न० । बवादिकरणेष्वन्यतमे, आ० म० द्वि० । तच्च शुक्लपक्षप्रतिपदि भवति । विशे० । जं० । उत्त० । आ० चू०।

किंधरो–देशी–लघुमत्स्ये, दे० ना० २ वर्ग ।

किंपओ–देशी–कृपणे, दे० ना०२ वर्ग ।

किंपज्जवसिय–किंपर्यवसित–त्रि० । कस्मिन् स्थाने निष्ठां गते, प्रज्ञा० ११ पद ।

किंपत्तिय–किंप्रत्यय–न० । किं कारणमाश्रित्येत्यर्थे, "किंपत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा वुट्टिकायं पकरेंति" । भ०१४ श०५ उ०।

किंपरिणाम–किम्परिणाम–त्रि० । किमाहारितं सत् परिणामयतीति प्रश्नविषये, भ० १४ श० ६ उ० ।

किंपहव–किंप्रभव–त्रि० । कस्मात्प्रभव उत्पादो यस्य तत् । सत्येऽपि मौले कारणे पुनः कस्मात् कारणान्तरादुत्पद्यत इति प्रश्नविषये, प्रज्ञा० ११ पद ।

किंपाग–किम्पाक–न० । कुत्सितः पाको यस्य । महाकाललतायाम् ; वाच० । " किंपागफलमिव मुहमहुराओ " किम्पाकफलमिव मुखे आदौ मधुरा महाकामरसोत्पादिकाः परं पश्चाद्विपाकदारुणाः, ब्रह्मदत्तचक्रिवत् (स्त्रियः) तं० ।

किंपागफलोवम–किम्पाकफलोपम–त्रि० । अपुण्यफलनिबन्धनकरौ, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

किंपुरिस–किम्पुरुष–पुं० । रत्नप्रभायाः उपरि योजनसहस्रवर्तिव्यन्तरनिकायाष्टकमध्यगतषष्ठनिकायरूपे व्यन्तरविशेषे, जं० १ वक्ष० । स० । प्र० । अनु० । ते च दश । प्रज्ञा० १ पद । औ० । स्था० । सत्पुरुषो महापुरुषश्चैषामिन्द्रौ । भ० ३ श० ८ अ० । प्रज्ञा० । बलिनो वैरोचनेन्द्रस्य रथानीकाधिपतौ, स्था० ५ ठा० २ उ० । देवगायके, स च अश्वाकारजघनः नराकारमुखः । वाच० ।

किंपुरिसकंठ–किम्पुरुषकण्ठ–पुं० । किम्पुरुषकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, " अट्ठसयं किंपुरिसकंठाणं " रा० । जी० ।

किंपुरिससंघाड–किम्पुरुषसंघाट–पुं० । किंपुरुषयुग्मे, संघाटशब्दो युग्मवाची । जं० १ वक्ष० ।

किंपुरिसुत्तम–किम्पुरुषोत्तम–पुं० । किन्नरभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

किंभय–किंभय–त्रि० । कस्माद् भयमेषां ते किम्भयाः । कुतो बिभ्यतु, स्था० ।

अज्जो त्ति समणे भगवं महावीरे गोयमाई समणे निग्गंथे आमंतित्ता एवं वयासी–किंभया पाणा समणाउसो !, गोयमाई समणा निग्गंथा समणं भगवं महावीरं उवसंकमंति, उवसंकमित्ता वंदंति नमंसंति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–णो खलु वयं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं जाणामो वा, पासामो वा । तं जइ णं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठं नो गिलायंति परिकहेत्तए तमिच्छामो णं देवाणुप्पियाणं अंतिए एयमट्ठं जाणित्तए अज्जो त्ति समणे भगवं महावीरे गोयमाई समणे निग्गंथे आमंतित्ता एवं वयासी–दुक्खभया पाणा समणाउसो !, से णं भंते ! दुक्खे केण कडे ?, जीवेणं कडे पमाएणं, से णं भंते ! दुक्खे कहं वेइज्जंति ? अप्पमाएणं ।

(समणाउसो त्ति) हे श्रमणाः ! हे आयुष्मन्तः ! इति गौतमादीनामेवामन्त्रणमिति । अयं च भगवतः प्रश्नः शिष्याणां व्युत्पादनार्थं एवानेनापृच्छतोऽपि शिष्यस्य हिताय तत्त्वमाख्येयमिति ज्ञापयति । उच्यते च–

" कत्थइ पुच्छइ सीसो, कहिं चऽपुट्ठा वयंति आयरिया ।
सीसाणं तु हियट्ठा, विउलतरागं तु ऽपुच्छाए " ॥ १ ॥

ततश्च (उवसंकमंति त्ति) उपसंक्रामन्ति उपगच्छन्ति तस्य समीपवर्तिनो भवन्ति । इह च तत्कालापेक्षया क्रियाया वर्तमानत्वमिति वर्तमाननिर्देशो न दुष्टः । उपसंक्रम्य वन्दन्ते स्तुत्या, नमस्यन्ति प्रणामतः, एवमनेन प्रकारेण (वयासि त्ति) आर्षत्वाद्बहुवचनार्थे एकवचनमिति । अवादिषुरुक्तवन्तः । नो जानीमो विशेषतो, नो पश्यामः सामान्यतः । वाशब्दौ विकल्पार्थौ, तदिति तस्मादेतमर्थं किंभयाः प्राणा इत्येवं लक्षणं । [नो गिलायंति त्ति] न ग्लायन्ति न श्राम्यन्ति परिकथयितुं परिकथनेन [तं ति] ततो [दुक्खभय त्ति] दुःखान्मरणादिरूपाद्भयमेषामिति दुःखभयाः [से णं ति] तद् दुःखं [जीवेण कडे त्ति] दुःखकारणकर्मकरणाद् जीवेन कृतमित्युच्यते । कथमित्याह–(पमाएणं ति) प्रमादेनाज्ञानादिना बन्धहेतुना कारणभूतेनेति ।

उक्तं च–

" पमाओ य मुणिंदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ ।
अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहेव य ॥ १ ॥
रागो दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मि य अणायरो ।
जोगाणं दुप्पणीहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ " ॥ २ ॥

तच्च वेद्यते क्षिप्यते, अप्रमादेन बन्धहेतुप्रतिपक्षभूतत्वादिति । अस्य च सूत्रस्य "दुक्खभया पाणा १ जीवेणं कडे दुक्खे पमाएणं २ अप्पमाएणं वेइज्जइ " इत्येवंरूपप्रश्नोत्तरत्रयोपेतत्वात् त्रिस्थानकावतारो द्रष्टव्य इति, जीवेन कृतं दुःखमित्युक्तम् । स्था० ३ ठा० २ उ० ।

किंमज्झ–किम्मध्य–त्रि० । किं मध्यं यस्य तत् किम्मध्यम् । किंशब्दस्याक्षेपार्थत्वात् असारे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

किंसंठिय–किंसंस्थित–त्रि० । किं संस्थितं संस्थानं संस्थितिर्यस्याः सा किंसंस्थिता । चं० प्र० ४ पाहु० । केन कारणेन संस्थितायां कस्येव संस्थानमस्या इति भावः । प्रज्ञा० ११ पद ।

किंसुय-किंशुक-पुं०। किञ्चित् शुक इव शुकतुण्डाभपुष्पत्वात् पलाशे, वाच०। स्था०। अनु०। रा०। औ०। पलाशकुसुमे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

किंसुयफुल्ल-किंशुकपुष्प-न०। पलाशकुसुमे, स्था० ८ ठा०।

किंसुयफुल्लसमाण-किंशुकपुष्पसमान-त्रि०। रक्ततया पलाशकुसुमसमाने, "किंसुयफुल्लसमाणाणि उक्कासहस्साइं विणिम्मुयमाइं" स्था० ७ ठा०।

किंसुयवण-किंशुकवन-न०। पलाशवने, रा०।

किच्चंत-कृत्यमान-त्रि०। छिद्यमाने, पीड्यमाने च। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

किच्च-कृत्य-त्रि०। उचितकार्ये, उत्त० १ अ०। कार्ये, तं०। कर्त्तव्ये, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। तं०। नि० चू०। प्रयोजने, नित्यकरणीये च। "किच्चाइं करणिज्जाइं।" उचितानुष्ठाने, उत्त० १ अ०। अनुष्ठाने, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ०। सूत्र०। विहितानुष्ठाने, पं० व० ४ द्वार। कर्त्तव्यानि, प्रयोजनानीत्यर्थः। अथवा कृत्यानि नैत्यिकानि, करणीयानि कादाचित्कानि। ज्ञा० ३ अ०। कृत्यं करणीयं पचनपाचनकण्डनपेषणादिको भूतोपमर्दकारी व्यापारः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। "पडिसिद्धाणं करणे किच्चाणमकरणे" कृत्यानामासेवनीयानां कालस्वाध्यायादीनां योगादीनामकरणेऽनिष्पादनेऽनासेवने। आव० ४ अ०। कृतिं वन्दनकं तदर्हति कृत्याः, दण्डादित्वाद् यप्रत्ययः। अर्थात् आचार्यादिषु,उत्त० १ अ०। "न पिट्ठओ न पुरओ नेव किच्चाण पिट्ठओ"। उत्त० ३ अ०। व्याकरणप्रसिद्धे पाणिन्यादिपरिभाषिते तव्यादौ एतत्क्यप्तव्यानीयर्यत्केलिमाख्ये प्रत्यये, वाच०। कृत्यं कर्त्तव्यं सावद्यानुष्ठानं, तत्प्रधानः कृत्यः। गृहस्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

किच्चकर-कृत्यकर-पुं०। ग्रामकृत्ये नियुक्ते ग्रामव्यापके, नि० चू० २ अ०। बृ०।

किच्चा-कृत्या-स्त्री०। कृ क्यप् टाप्। "इत्कृपादौ" ।८।१।१२८। इति ऋत इत्वम्। प्रा०१ पाद। व्यभिचारक्रियाजन्येऽभिचारोद्देश्यनाशके, देवादिमूर्त्तिभेदे च। सा च वैदिकाद्यभिचारक्रियाजन्या अदृष्टविशेषनिर्वर्त्या देवादिमूर्त्तिरूपतयोत्पद्य अभिचारोद्देश्यं पुरुषं निहत्य नश्यतीति अथर्ववेदे प्रसिद्धम्। वाच०।

कृत्वा-स्त्री०। उपादायेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। विधायेत्यर्थे, हिंसित्वेत्यर्थे च। वाच०।

किच्चि-कृत्ति-स्त्री०। कृत्यते कृत् कर्मणि क्तिन्। "कृत्तिचत्वरे चः"।८।२।१२। इति संयुक्तस्य चः। "अनादौ शेषादेशयोर्द्वित्वम्। ८।२।८९। इत्यादेशस्य चस्य द्वित्वम्। प्रा०२ पाद। मृगादिचर्मणि, कृत्तिवाससि, त्वचि, भूर्जपत्रे, कृत्तिकानक्षत्रे च। गृहे, वाच०।

किच्चोवएसग-कृत्योपदेशक (ग)-पुं०। कृत्यं करणीयं पचनपाचनकण्डनपेषणादिको भूतोपमर्दव्यापारस्तस्योपदेशः, तं गच्छन्तीति कृत्योपदेशगाः, कृत्योपदेशका वा। गृहिकृत्योपदेष्टृषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

किच्चोवएसिय-कृत्योपदेशिक-पुं०। कृत्यं कर्त्तव्यं कर्त्तव्यानुष्ठानं तत्प्रधानाः कृत्या गृहस्थाः, तेषामुपदेशः संरम्भसमारम्भारम्भरूपः, स विद्यते येषां ते कृत्योपदेशिकाः। सावद्यगृहिव्यापारे प्रवर्त्तकेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०। "हिच्चा णं पुव्वसंजोगं, सिया किच्चोवएस (सि) गा।" सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ०।

किच्छ-कृच्छ्र-पुं०। न०। कृत रक्, ऋतोऽन्तादेशः "इत्कृपादौ" ।८।१।१२८। इति ऋत इत्वम्। प्रा० १ पाद। वाच०। स्वनामख्याते व्रते, द्वा०।

संतापनादिभेदेन, कृच्छ्रमुक्तमनेकधा।
अकृच्छ्रादतिकृच्छ्रेषु, हन्त! संतारणं परम्॥१८॥

(संतापनादीति) संतापनादिभेदेन कृच्छ्रं कृच्छ्रनामकं तपोऽनेकधोक्तम्, आदिना पादसंपूर्णकृच्छ्रग्रहः। तत्र संतापनकृच्छ्रं यथा--"त्र्यहमुष्णं पिबेदम्बु, त्र्यहमुष्णं घृतं पिबेत्। त्र्यहमुष्णं पिबेन्मूत्रं, त्र्यहमुष्णं पिबेत्पयः" इति। पादकृच्छ्रं त्वेतत्-"एकभक्तेन नक्तेन, तथैवायाचितेन च। उपवासेन चैकेन, पादकृच्छ्रं विधीयते" इति। सम्पूर्णकृच्छ्रं पुनरेतदेव चतुर्गुणितमिति। अकृच्छ्रादकष्टादतिकृच्छ्रेषु नरकादिपातफलेष्वपराधेषु, हन्तेति प्रत्यवधारणे, संतारणं संतरणहेतुः परं प्रकृष्टं प्राणिनाम्॥१८॥ द्वा० १२ द्वा०। यो० विं०। कष्टे, दुःखे, कष्टसाध्ये, कष्टयुक्ते च। त्रि०। वाच०। "परं किच्छेण जणो सो अतीव विसमो" आ० म० द्वि०। पापे, न०। मूत्रकृच्छ्ररोगे, पुं०। कृच्छ्रं वेदयते सुखा० क्यङ्। पापचिकीर्षायाम्, कृच्छ्राय पापं चिकीर्षतीति, सुखा० अस्त्यर्थे वा मतुप्,मस्य वः, कृच्छ्रवत् पक्षे इनिः कृच्छ्रिन्। तद्युक्ते,त्रि०। वाच०।

किच्छप्पाणगय-कृच्छ्रप्राणगत-त्रि०। कष्टे पतितप्राणे, "किच्छप्पाणगए दिसो दिसिं पमिलेहित्था।" भ० ७ श० ६ उ०।

किच्छलब्भ-कृच्छ्रलभ्य-त्रि०। दुर्लभे दुष्प्रापे, स्था० ६ ठा०।

किच्छवित्ति-कृच्छ्रवृत्ति-स्त्री०। दुर्गमे, दुःखेन गमने, दुःखेन गम्यमाने च। स्था० ५ ठा० १ उ०।

किज्जंत-क्रियमाण-त्रि०। मूल्येन गृह्यमाणे, प्रश्न० २ आश्र०द्वार।

किट्ट-किट्ट-न०। किट् के इडभावः। धातूनां मले, तैलादधोभागस्थे मले च। वाच०। लोहादिमले, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

किट्टइत्ता-कीर्तयित्वा-अव्य०। गुरुं प्रति विनयपूर्वकं मया भवदन्त्यः सकाशात् सम्यक् प्रकारेण सम्पूर्णमधीतमिति कथनेन कीर्त्तनं कृत्वेत्यर्थे, "किट्टइत्ता सोहइत्ता आराहित्ता" उत्त० २९ अ०। आविर्भावयित्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० १६ अ०। यथावस्थितान् भावान् प्रतिपादयित्वेत्यर्थे, आचा० २ श्रु० ६ अ० २ उ०।

किट्टण-कीर्तन-न०। कृतः कीर्त्तादेशः। संज्ञा० कीर्त० वा, भावे ल्युट्। वाच०। कीर्त्तनं नाम या प्रथमव्रतरूपा अहिंसा,सा भगवती सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य पूज्या द्वीपस्थानं गतिः प्रतिष्ठेत्यादि। एवं सर्वेषामपि प्रश्नव्याकरणश्लोकान् गुणान् कीर्त्तयति, बृ० ३ उ०। सूत्रार्थकथने, बृ० ३ उ०।

किट्टि–किट्टि–स्त्री० । एकोत्तरां वृद्धिं त्याजयित्वाऽनन्तगुणहीनैकैकवर्गणास्थापनेन योगस्याल्पीकरणे,आ० म० द्वि० । "अप्पुव्वविसोहीए अणुभागोणुणविभयणं किट्टी" अपूर्वया विशुद्ध्याऽनुभागस्योनस्योनस्य एकोत्तरवृद्धित्याजनेन हीनस्य हीनतरस्य यद् विभजनं सा किट्टिः । किमुक्तं भवति?–पूर्वस्पर्द्धकेभ्योऽपूर्वस्पर्द्धकेभ्यश्च वर्गणा गृहीत्वा तासामनन्तगुणहीनरसतामापाद्य बृहदन्तरालतया यद् व्यवस्थानं यथा यासां वर्गणानामसंकल्पनया अनुभागानां शतं ऽयुत्तरं सुत्तरमेकोत्तरं चाऽऽसीत्,तासामनुभागानां यथाक्रमं पञ्चविंशतिः पञ्चदशकं पञ्चकमिति ताः किट्टयः । पं० सं० १२ द्वार । कर्म० ।

किट्टिघोस–कीर्तिघोष–न० । स्वनामख्याते विमानभेदे,स०६सम० ।

किट्टित्ता–कीर्तयित्वा–अव्य० । अन्येभ्यः उपदिश्येत्यर्थे, कल्प० ए क्षण ।

किट्टिय–कीर्तित–त्रि० । कृतः कीर्तादेशे कः । व्यावर्णिते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । कथिते, प्रतिपादिते च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । "सत्त सत्त मियाणं भिक्खुपडिमा अहासुत्तं अहाकप्पं फासिया तीरिया किट्टिया जाव आराहिया भवइ" कीर्तिता नामत इदं चेदं च कर्तव्यमस्यां तत्कृतं मयेत्येवमिति । स्था० १० ठा० । कीर्तिता पारणकदिनेऽयमयं चाभिग्रहकविशेषः कृत आसीदस्यां प्रतिमायां स चाराधित एवाधुना मुत्कलोऽहमिति गुरुसमक्षं कीर्तनात् । स्था० ७ ठा० । दशा० । आ० चू० ।

किट्टिया–कीटिका–स्त्री० । साधारणशरीरबादरवनस्पतिकायिकविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । जी० । अनन्तजीवविशेषे,भ०७श०२उ० ।

किट्टिस–किट्टिस–न० । खलांशे, असारांशे, अनु० । सूत्रभेदे, ऊर्णादीनां यदुद्धरितं किट्टिसं तन्निष्पन्नं सूत्रमपि किट्टिसम्, अथवा एतेषामेवोर्णादीनां द्विकादिसंयोगनिष्पन्नं सूत्रं किट्टिसम्, अथवा उष्ट्रलोमपक्ष्मादिजीवलोमनिष्पन्नं किट्टिसम् । अनु० । विशे० । आ० म० ।

किट्टिसिय–किट्टिसिक–पुं० । आणकादौ, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० ।

किट्टीकय–किट्टीकृत–त्रि० । श्लक्ष्णीकृते, प्रव० ८९ द्वार ।

किट्ठ–कृष्ट–त्रि० । कृष कर्मणि कः । हलविदारिते, पिं० । भावे क्त० । कर्षणे, ततः दृढा० भावे इमनिच् । ऋतो रः । क्रष्टिमन् । कृष्टत्वे, कर्षणे, पुं० । वाच० ।

किमि–किरि–पुं० । स्त्री० । "किरिभेरे रो मः" । ८ । १ । २५१ । इति रस्य मः । शूकरे, प्रा० १ पाद ।

किमिकिडिया–किटिकिटिका–स्त्री० । निर्मांसास्थिसंबन्धिनि उपवेशनादिक्रियासमुत्थे शब्दविशेषे, भ० २ श० १ उ० ।

किमिकिडियाभूय–किटिकिटिकाभूत-त्रि० । किटिकिटिकां भूतः प्राप्तो यः स किटिकिटिकाभूतः । कृशत्वादुपवेशनादिक्रियासमये शब्दायमानास्थिके, भ० २ श० १ उ० ।

किडिभ–किटिभ–पुं० । किटिरिव भाति कृष्णत्वात् भा-कः । केशकीटे, सर्पदंशनोपद्रवभेदे, न० । तल्लक्षणं तन्त्रोक्तं यथा-"यत् स्रावि वृत्तं घनमुग्रकण्डु, तत् स्निग्धकृष्णं किटिभं वदन्ति" वाच० । क्षुद्रकुष्ठविशेषे, भ० ७ श० ६ उ० । "किडिभं अंघासु कालं तं रसियं वहति" नि० चू० १ उ० ।

किड्डी–किटी–स्त्री० । स्थविरश्राविकायाम्, बृ० २ उ० । शूकरे, पुं० । दे० ना० २ वर्ग ।

किड्डंत–क्रीडत्–त्रि० । अन्तर्भूतकारितार्थत्वात् अन्यान् क्रीडयति, भ० १३ श० ६ उ० ।

किड्डा–क्रीडा–स्त्री० । क्रीड भावे अः । प्रमोदे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शनालिङ्गनादिकायां वट्टकगेण्डुकादिकायाम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । "सहस्सं दप्पं रतिं किड्डं, सह भुत्तासणाणि य" उत्त० १६ अ० । नि० चू० । सारिचतुरङ्गद्यूतादायां क्रियायाम्,जीत० । क्रीडाप्रधानायां दशायाम्, 'बाला किड्डा मंदा' इति दशदशास्वियं द्वितीया । तं० ।

किड्डापरिहार–क्रीडापरिहार–पुं० । सर्वद्यूतान्दोलकजलकुक्कुटयुद्धादिवर्जने, दर्श० ।

किड्डारतिपत्तिय–क्रीडारतिप्रत्यय–न० । क्रीडायां रतिरानन्दः क्रीडारतिः,अथवा क्रीडा च रतिश्च क्रीडारती,सा,ते वा,प्रत्ययो निमित्तं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययम् । भ० १३ श० ६ उ० । क्रीडारूपा रतिः,अथवा क्रीडा च खेलनं, रतिश्च निधुवनं क्रीडारती, सैव,ते एव वा प्रत्ययः कारणं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययम् । क्रिडानिमित्तके, "किं पत्तिय णं भंते ! असुरकुमारा देवा तमुकायं पकरेंति ? । गोयमा ! किड्डारतिपत्तियं वा" । भ० १४ श० २ उ० ।

किड्ढि–कृष्टि–पुं० । कृष्यते इति कृष्टिः । संज्ञोपाय प्रतिरिक्ते स्थाने नीयमाने, "लिंगविवेगं काउं, सकिड्ढिकिड्ढी पणविसो" व्य० ३ उ० । स्थविरे, बृ० १ उ० । आव० । आ० चू० ।

किढिण–कठिन–न० । वंशमये तापससंबन्धिनि भाजनविशेषे, भ० ७ श० ६ उ० ।

किढिणपडिरूवग–किठिनप्रतिरूपक–न० । किठिनं वंशमयस्तापससम्बन्धी भाजनविशेषः, तत्प्रतिरूपके किठिनाकारे वस्तुनि, "एगं महं आयसं किढिणपडिरूवगं विउव्वित्ता" भ० ७ श० ए उ० ।

किढिणसंकाइय–किठिनसाङ्कायिक–न० । किठिनं वंशमयस्तापसभाजनविशेषः,ततश्च तयोः साङ्कायिकं भारोद्वहनयन्त्रं किठिनसाङ्कायिकम् । कावडे, 'कावड' इति प्रसिद्धेऽर्थे, भ० ११ श० ए उ० ।

किढिय–किठिक–पुं० । स्थविरे, बृ० १ उ० ।

किणं–क्रीणत्–त्रि० । किञ्चित् क्रयेण गृह्णाति "से किणं किणावेमाणे हणं घायमाणे" सूत्र० २ श्रु० १ उ० ।

किण–किण–पुं० । कण गतौ अच्, पृषो० अत इत्वम् । घुणकीटे, मांसग्रन्थौ, घर्षणजे चिह्ने च । वाच० । आचा० ।

किणण–क्रयण–न० । मूल्येन ग्रहणे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

किणावेमाण–क्रापयत्–त्रि० । क्रयेण परं ग्राहयति, "से किणं किणावेमाणे" सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

किणिय–किणिक–पुं० । जुङ्गितजातिभेदे, ये वादित्राणि

परिणमन्ति,वध्यानां च नगरमध्ये नीयमानानां पुरतो वादयन्ति। व्य० ३ उ० । " किरिणयाउ वरत्ताओ वलिंति " पं० चू० ।

किरिणत-न० । वाद्यभेदे, रा० ।

किणो-अव्य० । प्रश्ने, "किणो प्रश्ने" । ८ । २ । २१६ । किणो इति प्रश्ने प्रयोक्तव्यम् । " किणो धुवसि " प्रा० २ पाद । कस्मात्, किं ङसि " किमो ङिणोडीसो " । ८ । ३ । ६८ । इति ङसेर्डि-णादेशः । कुत इत्यर्थे, प्रा० ३ पाद० ।

किरण-किरव-न० । सुराबीजे, पापे च । वाच० । अनन्तजीवि-कवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

कीर्ण-त्रि० । कृ-क्तः । क्षिप्ते, स्था० ६ ठा० । प्रश्न० । आच्छन्ने, निहिते, विक्षिप्ते, हिंसिते च । वाच० ।

किसग्र-क्लिन्न-त्रि० । आर्द्रे, प्रा० ४ पाद ।

किरणपुडसंठाणसंठिअ-किरवपुटसंस्थानसंस्थित-त्रि० । सुरागोणकरूपतपःपुसकिरवभृतगोणीपुटद्वयसंस्थानसंस्थिते,उत्त०२अ० ।

किसपुत्तग-क्रीतपुत्रक-पुं० । दत्तकराजपुत्रे, आ० चू० ४ अ० ।

किसर-किन्नर-पुं० । रत्नप्रभाया उपरितनयोजनसहस्रवर्तिव्यन्तरनिकायाष्टकमध्यगतपञ्चमनिकायरूपे व्यन्तरविशेषे, जं० १ वक्ष० । कल्प० । प्र० । प्रज्ञा० । रा० । उत्त० । अनु० । ज्ञा० । 'किन्नरा' इत्यादि किन्नरा दशविधाः । तद्यथा-किन्नराः १ किंपुरुषाः २ किंपुरुषोत्तमाः ३ किन्नरोत्तमाः ४ हृदयंगमाः ५ रूपशालिनः ६ अनिन्दिताः ७ मनोरमाः ८ रतिप्रियाः ९ रतिश्रेष्ठाः १० । चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरराजस्य रथानीकाधिपतौ, स्था० ४ ठा०४उ० । वाद्यविशेषे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । श्रीधर्मस्य तीर्थकरस्य शासनयक्षे, स च त्रिमुखो यक्षः रक्तवर्णः कूर्मवाहनः षड्भुजो बीजपूरकगदाऽभययुक्तदक्षिणपाणित्रयो नकुलपद्माऽक्षमालायुक्तवामपाणित्रयश्च । प्रव० २६ द्वार । उत्तराहाणां द्वीपकुमाराणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

किसरकंठ-किन्नरकण्ठ-न० । किन्नरकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

किसरगेज्जसवण-किन्नरगेयश्रवण-न० । दिव्यगीतश्रवणे, पो० ११ विव० ।

किसरसंघाम-किन्नरसङ्घाट-पुं० । किन्नरयुग्मे, संघाटशब्दो युग्मवाची, जं० १ वक्ष० ।

किराई-देशी-शोभमाने, दे० ना० २ वर्ग ।

किण्ह-कृष्ण-पुं० । वर्णविशेषे, प्रज्ञा० १ पद । औ० । रा० । " एके किण्हे " स्था० १ ठा० १ उ० । कृष्णवर्णयुक्ते, सू० प्र० २० पाहु० । कालवर्णे, औ० । प्रश्न० । कृष्णेनाष्टादशसहस्रसाधूनां वन्दनकानि दत्तानि, तानि किं लब्ध्या,अन्यथा वा ?, यदि लब्ध्या तदा वीराशालविकस्यापि तथैव,अन्यथा वेति प्रश्ने,उत्तरम्-कृष्णेन सहस्रादिपरिवारसहितं थावच्चापुत्रादीनामग्रेसराणां वन्दनकानि दत्तानि, तदनुयायिसमस्तपरिवारस्यापि तानि समागतान्येव, ततो मनसा त्वष्टादशसहस्रसाधूनां दत्तान्येव, यदीत्थं न कथ्यते तदा वेला न प्राप्नोति, यतो दिनमानं तदा महच्चाभूत, तथा कृष्णस्यापि वन्दनकदानलब्धिर्ज्ञाता नास्ति,तस्माद्वीराशालविकस्य वन्दनकदाने न काऽप्याशङ्केति ज्ञेयम । ११७ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

किण्हकंगुअ-कृष्णकङ्गुक-न० । कृष्णवर्णे कङ्गुफले, स० १ सम० ।

किण्हकरवीर-कृष्णकरवीर-पुं० । कृष्णे वृक्षभेदे, रा० ।

किण्हकेसर-कृष्णकेशर-पुं० । कृष्णबकुले, रा० ।

किण्हगंग-कृष्णगङ्ग-पुं० । सप्तमे वासुदेवस्याचार्ये, ति० ।

किण्हचामरज्झय-कृष्णचामरध्वज-पुं० । कृष्णवर्णचामरयुक्तध्वजे, औ० । रा० । जं० ।

किण्हच्छाय-कृष्णच्छाय-त्रि० । कृष्णा छाया आकारः सर्वाविसंवादितया येषां ते तथा । सर्वान् प्रति कृष्णाकारेषु, रा० ।

किण्हच्छाया-कृष्णच्छाया-स्त्री० । आदित्यावरणजन्ये वस्तुविशेषे, औ० ।

किण्हपक्खिय-कृष्णपाक्षिक-पुं० । "जेसिमवड्ढो पोग्गल-परियट्टो होइ संसारो । ते सुक्कपक्खिया खलु, इयरेसुं किण्हपक्खीय" इत्युक्तलक्षणे शुक्लपाक्षिकव्यतिरिक्ते, स्था० १ ठा० १ उ० ।

किण्हपत्त-कृष्णपत्र-पुं० । चतुरिन्द्रियसंमूर्छिमनपुंसके चतुरिन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा १ पद । जी० ।

किण्हबंधुजीव-कृष्णबन्धुजीव-पुं० । कृष्णवर्णे बन्धुजीववृक्षे, रा० ।

किण्हमिगाइण-कृष्णमृगाजिन-न० । कृष्णहरिणचर्मणि, आचा० १ श्रु० ३ अ० ६ उ० ।

किण्हलेस्सा-कृष्णलेश्या-स्त्री० । कृष्णादिद्रव्योपाधिकजीवपरिणामविशेषे, पा० ।

किण्हवासुदेव-कृष्णवासुदेव-पुं० । पाण्डवचरित्रे आश्विनसिताष्टम्यां कृष्णजन्मोक्तम, नेमिचरितादौ लोकोक्तौ च श्रावणासिताष्टम्यामिति, कथमनयोः संगतिरिति प्रश्ने ?, उत्तरम्-अत्र मतान्तरं ज्ञेयमिति । ६१ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

किण्हसप्प-कृष्णसर्प-पुं० । सर्पजातिविशेषे, जं० १ वक्ष० । रा० ।

किण्हसिरी-कृष्णश्री-स्त्री० । श्रीकुन्थुनाथस्य भार्यायाम्, स० ।

किण्हा-कृष्णा-स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्योत्तरेण बहुन्त्या रक्ताया महानद्याः समर्पिकायां महानद्याम्, स्था० १० ठा० ।

किण्होभास-कृष्णावभास-त्रि० । कृष्णोऽवभासो येषां ते कृष्णावभासाः । रा० । कृष्णप्रभेषु, कृष्णा एवावभासतः कृष्णावभासाः । औ० । ज्ञा० ।

कित्त-कीर्त्त-पुं० । संशब्दने, आ० चू० २ अ० । 'कृत' संशब्दने, "उपधायाश्च" ।७।१।१०१। इति (पाणि०)ऋत इद् रपरत्वम् । उपधायां चेति दीर्घः । वाच० । "अरिहंते कित्तइस्सं,चउव्वीसं पि केवली" । कीर्तयिष्ये नामोच्चारणपूर्वकं स्तोष्ये । ध० २ अधि० । कीर्तयिष्यामि प्रतिपादयिष्यामि । आ० म० प्र० । संशब्दयिष्यामि । आ० चू० २ अ० । कीर्तयिष्ये अभिधास्ये । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " कित्तइस्सामि पकित्तिस्सामि पन्नवेस्सामि परूवा" । आ०चू० १ अ० । पारणकदिने इदं चेदं चेतस्याः कृत्यं कृतमित्येवं कीर्त्तनात् । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

कित्तण-कीर्त्तन-न० । संशब्दने, व्य० ७ उ० । गुणोच्चारणस्य करणे, उत्त० ३१ अ० ।

कित्ति-कीर्त्ति-स्त्री० । कीर्त्तनं कीर्त्तिः । अहो पुण्यभागित्येवं ल-क्षणे, आव० ३ अ० । सर्वदिग्व्यापिनि साधुवादे, स्था० १० ठा० । ज० । कीर्त्तने, संशब्दने, श्लाघने च । कर्म० १ कर्म० । दानपुण्य-कृतायाम्, एकदिग्गामिन्यां वा (कर्म० ६ कर्म०) प्रसिद्धौ, स्था० ८ ठा० । प्रश्न० । पं० सं० । औ० । आ० म० । भ० । सूत्र० । श्लाघायाम्, ष० २ १२ विव० । गुणोत्कीर्त्तनरूपायां प्रशंसायाम्, पं० सं० ३ द्वार । सर्वत्र श्रुतप्रवादे, दश ७ अ० । कीर्त्या उपलक्षितः " तहेव विजओ राया, अणट्ठा कित्तिपव्वए " उत्त० १८ अ० । पञ्चमगाणहिंसायाम्, तस्याः ख्यातिहेतुत्वात् । प्रश्न० १ सम्ब०द्वार । केसरिमहाह्रदाधिपतिदेवतायाम्, नीलवति केसरिह्रदे कीर्तिदेवता । स्था० २ ठा० ३ उ० । नीलवद्वर्षधर-पर्वतस्थे केशरिह्रदसुरीकूटे, जं० ४ वक्ष० । स्था० । सौधर्मे कल्पे कीर्त्यवतंसकविमानदेव्याम् , नि० । (तत्पूर्वभववक्तव्यता निरयावलिकादीनां चतुर्थवर्गस्य पुष्पचूलिकायां चतुर्थेऽध्ययने सूचिता, तत्रैवोक्ते श्रीदेवीवक्तव्यतयाऽवगन्तव्या) विस्तरे, कर्दमे च । वाच० ।

कित्तिकर-कीर्त्तिकर- त्रि० । सर्वदिग्व्यापिसाधुवादकरे, तं० । ख्यातिकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । श्रीऋषभनाथस्य चत्वारिंशत्तमे पुत्रे, तत्पालिते देशभेदे च । पुं० । कल्प० ७ क्षण ।

कित्तिचंद-कीर्त्तिचन्द्र-पुं० । स्वनामख्याते चम्पेश्वरे, ध० र० । (तत्कथा 'अक्कूर' शब्दे प्र० भा० १२६ पृष्ठे उदाहृता)

कित्तिधम्म-कीर्त्तिधर्म-पुं० । स्वनामख्याते राजभेदे, " सीहउरे नयरे कित्तिधम्मो नाम राया, तस्स कुमरणीए देवीए धूयाऽहं पउमसिरी णामा पसा वि भउफ वयं सिया " । दर्श० ।

कित्तिधर-किर्त्तिधर-पुं० । स्वनामख्याते राजभेदे, यस्य भार्य्या-याः कोशलजनन्याः निरनुकम्पतायां कथा प्रसिद्धा । तं० ।

कित्तिपुरिस-कीर्त्तिपुरुष-पुं० । कीर्त्तिप्रधाने पुरुषे, " एए खलु पडिसत्तू कित्ति (त्ती) पुरिसाण वासुदेवाणं " स्था० ६ ठा० आव० ।

कित्तिम-कृत्रिम-त्रि० । कर्तृकरणव्यापारसाध्ये, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आ० म० ।

कित्तिमई-कीर्त्तिमती-स्त्री० । अजितसेनाचार्यस्सकमहत्तरि-कायाम्, यदन्तिके कण्डरीकयुवराजभार्या प्रव्रजिता । आ० क० । ("अलोभया" शब्दे प्र० भा० ७०५ पृष्ठे कथा उक्ता) आव० । ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिलब्धायां कीर्तिसेनकन्यायाम्, उत्त० १३ अ० । कीर्तियुक्ते, त्रि० । वाच० ।

कित्तिय-कीर्तित-त्रि० । स्वनामभिः प्रोक्तेषु, ल० । आव० । "कित्तियवंदियमहिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा" कीर्त्तिताः स्वनामभिः प्रोक्ताः वन्दितास्त्रिविधयोगेन सम्यक् स्तुताः, महि-ताः पुष्पादिभिः पूजिताः । ध० २ अधि० । नामत उपादेयधिया संशब्दिते, स्था० २ ठा० ४ उ० । निरूपिते, तं० । कीर्तितं भोजनवेलायामभुकं मया प्रत्याख्यातं तत्पूर्वमधुना भोक्ष्ये इत्यु-च्चारणेन शब्दिते विशुद्धे प्रत्याख्याने, प्रव० ४ द्वार । आव० ।

कीर्तिद-त्रि० । कीर्त्तिप्रदे, औ० ।

कियत्-त्रि० । किंप्रमाणे, "कित्तिया सिद्धा" व्य० २ उ० । तं० ।

कित्तियमित्त-कियन्मात्र-त्रि० । कियत्प्रमाणे, तं० ।

कित्तिविजय-कीर्त्तिविजय-पुं० । श्रीहीरविजयसूरिशिष्ये, कल्प० ।
" श्रीहीरसूरिसुगुरोः प्रवरौ विनेयौ,
जातौ शुभौ सुरगुरोरिव पुष्पदन्तौ ।
श्रीमत्सोमविजयत्रिभवाचकेन्द्रः,
सत्कीर्त्तिकीर्त्तविजयाभिधवाचकश्च " ॥ १ ॥ कल्प० ६ क्षण ।

कित्तिसेण-कीर्त्तिसेन-पुं० । ब्रह्मदत्तलब्धकन्यारत्नस्य पितरि, उत्त० १३ अ० ।

किध-कथम्-अव्य० । " कथंयथातथां थादेरेमेमेहेधा डितः " । ८ । ४ । ४०१ । इति थादेरवयवस्य डित् इधादेशः । केनप्रकारे-णेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

किमस्स-किमश्व-पुं० । स्वनामख्याते राजभेदे, यः शक्रं समरे निर्जित्याऽपि शापशप्तोऽजगरो जातः । नि० चू० १ उ० । [इति 'धुत्तक्खाण' शब्दे वक्ष्यते]

किमाहार-किमाहार-त्रि० । किमाहारयन्तीति प्रश्नविषये, भ० १४ श० ६ उ० ।

किमि-कृ (क्रि) मि-पुं० । क्रम इन् , अत इत्वम् । " क्रमेः सं-प्रसारणं च" ॥५७०॥ (उणादि) इत्यतः संप्रसारणानुवृत्तौ "क्र-मितमिशमिस्तन्नामत इच्च" ॥५७६॥ (उणादि) इति कृमिः । अ-न्यथा क्रिमिः । क्षुद्रजन्तुभेदे, लाक्षायां, कृमियुक्ते, खरे, गर्दभे च । वाच० । विष्ठानीलकौ, तं० । आचा० । सूत्र० । "किमिउप्पयंतपग-लंतपूयरुहिरं" कृमिभिरुत्पद्यमानानि ऊर्ध्वं वध्यमानानि प्रगल-त्पूयरुधिराणि यस्य स तथा तम् । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

किमिच्छय-किमिच्छक-न० । कः किमिच्छति, यो यदिच्छति त-स्य तद्दानम्, समयपरिभाषयैव किमिच्छकमुच्यते । इच्छादाने, आ० म० प्र० । दशा० । किमिच्छसि किमिच्छसीति पृच्छति प्र-श्नकारके, भोजनार्थमाह्वानाय नियुक्ते भृत्यादौ, इच्छाविषय-प्रश्नपूर्वके पृच्छानुरूपदेयमात्रेऽपि, वाच० ।

किमिण-कृमिण-त्रि० । कृमियुक्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । "किमिणबहुदुरभिगंधेसु" प्रश्न० ५ संव० द्वार । कृमिरस्त्यस्य । कृमिवति, वाच० ।

किमिय-कृमिज-न० । " कोसेज्जपट्टमादी, जं किमियं तु पवुच्च-ति " इत्युक्तलक्षणे कौशेयादौ वस्त्रभेदे, पं० भा० । पं० चू० ।

किमिरागकंबल-कृमिरागकम्बल-पुं० । कृमिरागरक्ते वस्त्रे, प्र-ज्ञा० १७ पद ।

किमिरागरत्त-कृमिरागरक्त-न० । कीटजसूत्रभेदे, वस्त्रभेदे च । आ० म० । अत्र वृद्धव्याख्या-कश्चिद् विषये मनुष्यादिशोणितं गृहीत्वा केनाऽपि योगेन युक्तं भाजनसंपुटे स्थाप्यते, तत्र च प्रभूताः कृमयः समुत्पद्यन्ते, ते च वाताभिलाषिणो भाजनच्छिद्रै-र्निर्गत्य तदासन्नं पर्यटन्तो लालाजालं प्रमुञ्चन्ति, ताश्च कीलकेषु लग्नाः परिगृह्यन्ते, तत्कृमिरागं पट्टसूत्रमुच्यते । तच्च रक्तवर्ण-कृमिसमुत्थत्वात् स्वपरिणामत एव रक्तं भवति । अन्ये त्वभि-दधति-यदा तत्र शोणिते कृमयः समुत्पन्ना भवन्ति तदा सकृ-मिकमेव तन्मलिन्या किंचित् संपरित्यज्य रसो गृह्यते, तत्र च कश्चिद्योगः प्रक्षिप्यते, तेन यद्रज्यते पट्टसूत्रं तत् कृमिरागमिति । तच्च धौताद्यवस्थास्वपि न मनागपि रागं मुञ्चति । आ० म० प्र० । अनु० । ये रुधिरकृमय उत्पद्यन्ते तान् तत्रैव मृदित्वा क-चवरमुत्तार्य तद्रसे किञ्चिद् योगं प्रक्षिप्य पट्टसूत्रं रञ्जयन्ति, स

च रसः कृमिरागो भएयते अनुसारीति, तत्र कृमीणां रागो र-ञ्जकरसः कृमिरागस्तेन रक्तं कृमिरागरक्तम् । स्था० ४ ठा०२ उ० ।

किमिरायं-देशी-लाक्षारक्ते, दे० ना० २ वर्ग ।

किमिरासि-कृमिराशि-पुं० । अनन्तजीवे वनस्पतिभेदे, प्र-ज्ञा० १ पद ।

किमु-किमु-अव्य० । कै डिमुः । प्रश्ने, विशे० । आ० म० द्वि० । निषेधे, वितर्के, निन्दायां च । वाच० ।

किम्मय-किम्मय-त्रि० । किंविकारे, जी० ३ प्रति० ।

किम्मिय-किम्मित-न० । जाड्यतायाम, सर्वशरीरावयवामा-मवशित्वे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

किया-क्रिया-स्त्री० । "ईश्रीन्हीकृत्स्नक्रियादिष्ट्यास्वित्" । ८।२। १०४ । इति इकारो भवति " करणे, व्यापारे, " हम्रं नाणं क्रि-याहीणं, हया अन्नाणिणो क्रिया " प्रा० २ पाद ।

कियापर-क्रियापर-त्रि० । चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमान्मु-क्तिसाधनानुष्ठानकरणपरायणे, पञ्चा० ३ विव० ।

किर-किल-अव्य० । "किलाथवादिवासहनहेः किराहवइदिवे-सहुंनाहिं" ।।८।४।४१६। इत्यपभ्रंशे किलस्य किरः । प्रा०४ पाद । "किरेरहिरकिलार्थे वा" ।।८।२।१८६। इति प्राकृतेऽपि किलार्थे किरः । प्रा० २ पाद । दे०ना०२ वर्ग । संभावनायाम, तं० । निश्च-ये, तं० । संशये, आ० म० द्वि० । परोक्षाप्तागमवादसंसूचने, दश० १ अ० ।

किरण-किरण-पुं० । कीर्य्यते परितः कृ कर्मणि ल्युः । वाच० । रविकिरणे, अभिनवादित्यकरे, औ० । रश्मौ, क० प्र० । को०,

किरणावली-किरणावली-स्त्री० । स्वनामख्यातायां पर्युषणा-कल्पवृत्तौ, कल्प० १ क्षण ।

किरमाण-क्रीयमाण-त्रि० । आवर्त्तमाने, "तह सावज्जं जोगं प-रस्स ठाए निट्ठियं किरमाणं " दश० ७ अ० । आचा० ।

किराय-किरात-पुं० । स्त्री० । किरमवस्कारादेर्निःक्षेपस्थानं पर्य-न्तमतति अत अण्, उप० स० । " तप्तकुण्डं समारभ्य, राम-क्षेत्रान्तिकं शिवे ! । किरातदेशो विज्ञेयो,विन्ध्यशैले ऽवतिष्ठते।" इ-त्युक्तलक्षणे देशे, वाच० । अनार्य्यदेशविशेषे, प्रव० १४८ द्वार । सूत्र० । तद्देशानां राजा अण् कैरातः, तद्देशनृपे, बहुषु अणो लुक् किराताः । जातौ स्त्रियां ङीप् । मत्स्यभेदे, पुं०। स्त्री० । चा-मरवाहिन्याम,स्त्री०। भूमिनिम्बे, पुं० । घोटकरक्षके, अल्पतनौ, त्रि० । वाच० । "किराते चः" ॥८।१।१८३॥ इति किराते कस्य चो भवति । 'चिलाओ' पुलिन्द एवायं विधिः । कामरू-पिणि तु नेष्यते-"नमिमो हरकिराअं" प्रा० १ पाद ।

किरितड-गिरितट-न० । पुं० । "चूलिकापैशाचिके तृतीयचतु-र्थयोराद्यद्वितीयौ " । ८ । ४ । ४२४ । इति चूलिकापैशाचिके तृतीयस्य प्रथमः। गिरितटं, किरितटं । पर्वतप्रान्ते, प्रा० २ पाद ।

किरिया-क्रिया-स्त्री० । भावे करणादौ वा यथायथं "कृञः श च" ।३।३।१००। वाच० । "ईश्रीह्रीकृत्स्नक्रियादिष्ट्यास्वित्" । ८ । २ । १०४ । इति संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनात्पूर्वं इकारः । प्रा० २ पाद । करणे, नि० चू० १ उ० । व्यापृतौ, स्था० ३ ठा० ३ उ० । व्यापारः,कर्म, क्रियेत्यनर्थान्तरम् । विशे० । आव० । आरम्भे, निष्कृतौ, शिक्षायाम्, पूजायाम्, संप्रधारणे, विवादविचाराङ्गे साधने, सामाद्युपाये, वाच० । करोतीत्यादिके आख्याते, प्रव० ३ द्वार ।

(१) क्रियायाः स्वरूपनिरूपणम् ।
(२) क्रियाया निक्षेपः ।
(३) क्रियाया भेदनिरूपणम् ।
(४) स्पृष्टास्पृष्टत्वादिना प्राणातिपातक्रियां निरूप्य क्रियायाः सक्रियत्वमक्रियत्वं प्राणातिपातक्रियायाः प्रकारस्य च निरूपणम् ।
(५) मृषावादादिकमाश्रित्य क्रियाकरणप्रकारः ।
(६) अष्टादश स्थानान्यधिकृत्य एकत्वपृथक्त्वाभ्यां कर्मबन्धत्वोपदर्शनम् ।
(७) ज्ञानावरणीयादि कर्म बध्नन् जीवः कतिभिः क्रियाभिः समापयतीति बहुत्वमाश्रित्यैतन्निरूपणम् ।
(८) चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेणैतन्निरूपणम् ।
(९) मृगवधाद्यायुक्तस्य क्रियां निरूप्य क्रियाजन्यं कर्म तद्वेदनां चाधिकृत्य क्रियानिरूपणम् ।
(१०) स्वामिभावतः क्रियां निरूप्य क्रियान्तराणां विषयनिरूपणम् ।
(११) श्रमणोपासकस्य क्रियाः कथयित्वा अनायुक्ते गच्छतोऽनगारस्य क्रियाप्ररूपणम् ।
(१२) सण्डासकेन तप्तलोहमुत्क्षिपतः क्रियाः ।
(१३) वर्षाज्ञानार्थं हस्तादिप्रसारयतः क्रियां निरूप्य तालमारुह्य तत्फलं पातयतः क्रियानिरूपणम् ।
(१४) शरीराणि निर्वर्त्तयतः क्रियामुक्त्वा प्राणातिपातादिना क्रियमाणायाः क्रियाया निरूपणम् ।
(१५) ज्ञानयुक्तेनापि क्रिया विधेयेति क्रियाऽष्टकम् ।

(१) क्रियायाः स्वरूपनिरूपणम्—

क्रिया च भावना उत्पादयितुर्व्यापाररूपा साध्यत्वेनाभिधीयमानेति बोध्यम् । "व्यापारो भावना सैवो-त्पादना सैव च क्रिया" इति हर्य्युक्तेः "यावत्सिद्धमसिद्धं वा,साध्यत्वेनाभिधीयते। आश्रितक्रमरूपत्वात, सा क्रियेत्यभिधीयते" इति । "साध्यत्वेन क्रिया तत्र,तिङ्पदैरभिधीयते" इति वाक्यपदीयाच्च (यावदिति) सर्वमित्यर्थः। तदेव विवृणोति-(सिद्धमसिद्धं वेति) सिद्धं वर्त्तमानध्वंसप्रतियोगि, तद्भिन्नमसिद्धम् । तच्च वर्त्तमानं भविष्यच्चेति द्विविधम् ; तेनापचत् पक्ष्यति पचतीत्यादौ सर्वत्र साध्यत्वेन असत्त्वरूपत्वेनाभिधीयमाना क्रियेति, क्रियाशब्दस्य रूढिरनेन दर्शितेति भावः । यौगिकत्वमप्याह-(आश्रितक्रमरूपत्वादिति) आश्रितः क्रमो रूपं यस्यास्तत्त्वात , पूर्वापरीभूतावयवकत्वादित्यर्थः । तदीयावयवानामधिश्रयणाद्यधःश्रयणपर्यन्तानां क्रमेणोत्पत्तेः क्रियापदेन तत्समुदायोऽभिधीयते । यत्र च न क्रमिको व्यापारोऽस्ति तत्र रूढिरादरणीयेति पौर्वापर्य्यारोपेण वा सर्वत्र फलस्य स्वजनकव्यापारगतपौर्वापर्यारोपवत् यौगिकत्वम् । अत एव फलमात्रबोधकस्यापि क्वचित् धातुत्वसिद्धिरिति फलितार्थः । इयांस्तु विशेषः-पाक इत्यादौ धातुना साध्यत्वेनोपस्थाप्यायाः क्रियायाः सिद्धक्रियारूपे घञर्थे विशेषणत्वम् , पचतीत्यादौ तु नैवमिति । अत एव-"साध्यत्वेन क्रिया तत्र, तिङादैरभिधीयते" इति वाक्यपदीयकारिकाव्याख्यायां भूषणसारदर्पणे तिङ्पदैरित्येतत् तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिणा तिङन्तपदैर्धातुभिरित्यभिहितम् । तेन सर्वत्र धातोः

साध्यरूपक्रियाबोधकत्वम् । किञ्च-क्रमिकावयवानामेकदाऽसत्त्वेऽपि यत्किञ्चिदवयवसत्त्वकाले वर्त्तमानत्वव्यवहारः, अवयवावयविनोरभेदारोपात् । भूतभविष्यत्वव्यवहारस्तु सर्वेषामवयवानां भूतभविष्यत्वयोरेव, न तु यत्किञ्चित्क्रियाव्यक्तिभूतत्वादौ । उक्तञ्च वाक्यपदीये-

" गुणभूतैरवयवैः, समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताऽभेदः, क्रियेति व्यपदिश्यते" ॥१॥ इति ।

अस्यार्थः-क्रमिकतत्तद्व्यापारं प्रति गुणभूतैर्गुणभावेन भासमानैरवयवैरुपलक्षितः बुद्ध्या प्रकल्पितोऽभेदो यस्मिन् तद्रूपः क्रमजन्मनां व्यापाराणां समूहः क्रियेति । अत्र क्षणभङ्गुराणां व्यापाराणां मेलनासिद्ध्या बुद्ध्येत्युक्तम् । तथा च बुद्धिजन्यसंस्कारद्वारा तेषां मेलनसम्भव इति भावः । अत एव भाष्ये क्रिया हि नामेयमत्यन्तापरिदृष्टा पूर्वापरीभूतावयवा न शक्यते पिण्डीभूता निदर्शयितुमिति व्यापारसमुदायात्मिकायाः क्रियाया दर्शनायोग्यत्वोक्त्या तदवयवानां तद्विषयत्वं व्यतिरेकमुखेन दर्शितम् । तस्याश्चाभिन्नैकबुद्धिविषयतया एकत्वव्यवहार इत्यपि बोद्ध्यम् । अथवाऽनेकव्यापारव्यक्तिवृत्तिर्जातिरेव क्रियेति सिद्धान्तकल्प आदरणीयः; तस्याश्च व्यक्तद्वारैव साध्यत्वम् । अस्ति च पचित्वादिकं जातिः, पचतीत्याद्यनुगतव्यवहारात् । तज्जातेरैक्यादेकत्वव्यवहार इति मन्तव्यम् । तदुक्तं वाक्यपदीये-"जातिमन्ये क्रियामाहु-रनेकव्यक्तिवर्त्तिनीम् । असाध्यां व्यक्तिरूपेण,सा साध्येत्यभिधीयते" इति । युक्तञ्चैतत् । सर्वत्रैव लाघवाज्जातिशक्तिस्वीकारेण पच्यादिधातूनामपि तत्रैव शक्तिरुचितेति दिक् । सा च क्रिया धातुवाच्या फलव्यापारोभयरूपा, तद्विशिष्टरूपा वा । "फलव्यापारयोर्धातुः" इत्यग्रिमवचनात् । व्यवस्थापयिष्यते च मतभेदेन फलव्यापारयोः पृथक्शक्त्या विशिष्टशक्त्या वा धातुवाच्यता । अत्र फलांशस्य कर्त्तुरुद्देश्यत्वेऽपि प्राधान्याभावात् व्यापारस्यैव प्राधान्यं समुचितम् । तस्य च साध्यतया कर्मातिरिक्तसर्वकारकाणां तत्रैव स्वस्वव्यापारद्वारा साधकत्वेनान्वयः । कर्मणस्तु फल एव, क्रियाजन्यफलाश्रयतयैव तस्योद्देश्यत्वादिति विवेकः । उक्तं च वाक्यपदीये-

"प्राधान्यात्तु क्रिया पूर्व-मर्थस्य प्रविभज्यते ।
साध्यप्रयुक्तान्यङ्गानि, फलं तस्याः प्रयोजकमिति" ।

अर्थस्य फलस्य तदपेक्षयेत्यर्थः । प्राधान्यात् विशेष्यत्वात् साध्यं प्रयुक्तं यैः तानि साध्यसाधकानि अङ्गानि, कारकाणीत्यर्थः । अत्र फलस्य क्रियाप्रयोजकत्वाभिधानम्, तदुद्देशेनैव क्रियायां प्रवृत्तिरित्येवाभिसंधाय, तथा च सर्वो लोकः स्वाभीष्टफलमभिप्रेप्सुस्तत्साधनाय यतते, लभते च ततस्तत्फलमुपायसंसाधनेन । एवं च क्रियाफलं विक्लित्त्यादिकमभीप्सुः पाकाय यतमानो जनः पाकसंसाधनेन फलं लभते । ततश्च फलसाधनतया पाकादेरपीष्टत्वात् साध्यत्वम् । फलविशिष्टक्रियाया धात्वर्थत्वमते तु विशिष्टस्यैवेष्टत्वात् विशिष्टस्यैव साध्यत्वमिति विशेषः । कारकान्वयस्त्वेतन्मते पूर्वोक्तदिशाऽवसेयः; एकदेशान्वयस्वीकाराच्च न कर्मणोऽनन्वयमिति बोध्यम् । तथा चैवंरीत्या साध्यत्वेन क्रियां भामता अनेन तस्याः प्राधान्यबुबोधयिषयैवाख्याततया धातुः प्रयुज्यते । अन्यथा कृदन्ततयेति, एवञ्च भावकृदन्तस्थले धातुना साध्यरूपक्रियाऽवबोधनेऽपि तस्याः प्रत्ययार्थसिद्धरूपक्रियाविशेषणत्वेन न प्राधान्यम् । भावप्रधानमाख्यातमित्यादिनिरुक्तवचनस्य, प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यमिति न्यायस्य च परस्परं विरोधपरिहाराय न्यायस्य भावमात्रातिरिक्तविषयत्वव्यवस्थापनम् । हरिणाऽपि धातुभावकृतोः क्रियावाचित्वाविशेषेऽपि धातुना साध्यत्वेन, कृता तु सिद्धत्वेन क्रियाया बोधनमिति व्यवस्थापितम् । यथा-"साध्यत्वेन क्रिया तत्र, धातुरूपनिबन्धना । सिद्धभावस्तु यस्तस्याः,स घञादिनिबन्धनः" ॥१॥ इति । "आख्यातशब्दे भागाभ्यां, साध्यसाधनवर्त्तिता । प्रकल्पिता यथा शास्त्रे, स घञादिष्वपि क्रमः" ॥२॥ इत्येताभ्यां भागाभ्यां पश्य मृगो धावतीत्यादौ तिङन्ताभ्यां साध्यसाधनवर्त्तितेति । मृगो धावतीत्येतस्य साधनत्वम्, अपरस्य साध्यत्वम्, क्रियाकारकभावेन तयोरन्वयात् । घञर्थक्रियायास्तु इतरक्रियायामेव साधनत्वमिति विवेकः । साध्यत्वञ्च लिङ्गसंख्याऽनन्वयित्वम्, तद्विपरीतं सिद्धत्वम् । तथा च घञाद्युपस्थाप्यक्रियायाः लिङ्गसंख्यान्वयित्वेनापरक्रियायां साधनत्वम् । युक्तञ्चैतत् । यत् घञन्तादौ द्विविधक्रियायां भानम्, कारकाणां साध्यक्रियायामेवान्वयोपगमात् । कृदन्तस्थले कारकविभक्तिप्रयोगस्य सार्वजनीनतया साध्यत्वेन तदुपस्थितायैव कारकान्वयोपपत्तिः । "साध्यस्य साधनाकाङ्क्षेति" "नियतं साधने साध्यं, क्रिया नियतसाधनेति" "साध्यत्वेन निमित्तानि, क्रिया परमपेक्षते" इति चाभियुक्तोक्तेः । अत एव स्तोकं पाक इत्यादौ द्वितीयान्ततोपपद्यते, साध्यक्रियाफलस्य विशेषणेऽपि द्वितीयानुशासनात् । घञाद्युपस्थाप्यक्रियाविशेषणस्य तु विशिष्य लिङ्गतया प्रथमाद्यन्तता, "कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते" इति भाष्योक्तेः । कृदभिहितः कृता बोधितः, भावो भावना, धात्वर्थस्वरूपमिति यावत् द्रव्येण तुल्यं प्रकाशते द्रव्यधर्मान् लिङ्गसंख्याकारकत्वानि भजते इति यावत् । अत्र द्रव्यत्वं लिङ्गसंख्यान्वयित्वमेव, योग्यत्वात्, न तु पृथिव्याद्यात्मकत्वं, ज्ञानपाकादौ तदभावात् । नापि "वस्तूपलक्षणं यत्र, सर्वनाम प्रयुज्यते । द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो, भेद्यत्वेन विवक्षितः" ॥ १ ॥ इति पारिभाषिकसर्वनामपरामर्शयोग्यत्वादिरूपम्, साध्यक्रियाया अपि तथात्वेनाविशेषापत्तेः, किन्तु सत्त्वप्रधानानि नामानीत्येकवाक्यतया सत्त्वद्रव्ययोः पर्यायत्वस्य बहुषु स्थलेषु दर्शनात् सत्त्वभूतत्वमेव द्रव्यत्वमिति फलितार्थः । क्रिया न युज्यते इत्यादिना लिङ्गाद्ययोगस्यासत्त्वलक्षणत्वाभिधानात्, तद्योगस्यैव सत्त्वलक्षणत्वौचित्यादिति तु तत्त्वम् । वैयाकरणादिमते चल इत्यादौ क्रियायां शक्तिः । वाच० । देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतौ, सम्म० १ काण्ड । कर्मणि, प्रति० । नचैकस्य देशाद्देशान्तरप्राप्तिहेतुः क्रिया न केनचित् प्रमाणेनावसातुं शक्येति वक्तव्यम्, पूर्वपर्यायग्रहणपरिणाममुञ्चताऽध्यक्षेणोत्तरग्रहणात्, यथा स्तम्भादावधोभागग्रहणमत्यजन ऊर्ध्वादिभागग्रहणम् । सम्म० १ काण्ड । द्रव्यसमवायिनि कर्माख्ये वैशेषिकसंमते पदार्थे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । स्था० । परिस्पन्दे, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । " णत्थि किरिया अकिरिया वा, णेवं सन्नं णिवेसए " क्रिया परिस्पन्दलक्षणा, तद्विपर्यस्ता त्वक्रिया । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । करणे, कर्मनिबन्धनचेष्टायाम्, प्रज्ञा० २२ पद । आव० ।

(२) तत्र नामस्थापने सुगमत्वादनादृत्य द्रव्यादिकां क्रियां प्रतिपादयितुमाह--

दव्वे किरिए अ एयण, पयोगुवाय करणिज्ज समुदाणे ।
इरियावहसंमत्तो, सम्मत्ते चैव मिच्छत्ते ॥१५७॥ सूत्र० नि० ।

(दव्वे इत्यादि) तत्र द्रव्ये द्रव्यविषये या क्रिया एजनता । 'एजृ' कम्पने, जीवस्याजीवस्य वा कम्पनरूपा चलनस्वभावा सा द्रव्य-

क्रिया, साऽपि प्रयोगाद्विस्त्रसया वा जवेत् । तत्राप्युपयोगपूर्विका वाऽनुपयोगपूर्विका वाऽक्षिनिमेषमात्रादिका वा सा सर्वा कायक्रियेति । सावाक्रिया त्वियम्-तद्यथा-प्रयोगक्रिया, उपायक्रिया, करणीयक्रिया, समुदानक्रिया, ईर्यापथक्रिया, सम्यक्त्वक्रिया, मिथ्यात्वक्रिया चेति । तत्र प्रयोगक्रिया मनोवाक्कायलक्षणा त्रिधा । तत्र स्फुरद्भिर्मनोद्रव्यैरात्मन उपयोगो भवति, एवं वाक्काययोरपि वक्तव्यम् । तत्र शब्दे निष्पाद्ये वाक्काययोर्द्वयोरप्युपयोगः । तथा चोक्तम्-"गिरहइ य काइएणं, णिसिरइ तह वाइएण जोगेण ।" गमनादिका तु कायक्रियैव । उपायक्रिया तु घटादिकं द्रव्यं येनोपायेन क्रियते । तद्यथा-मृत्खननमर्दनचक्रारोपणदण्डचक्रसलिलकुम्भकारव्यापारैर्यावद्भिरुपायैः क्रियते सा सर्वोपायक्रिया । करणीयक्रिया तु यद्येन प्रकारेण करणीयं तत्तेनैव क्रियते नान्यथा । तथाहि-घटो मृत्पिण्डादिकयैव क्रियते, न पाषाणसिकतादिकयेति ३ । समुदानक्रिया तु यत्कर्म प्रयोगगृहीतं समुदायावस्थं सत्प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपतया यया व्यवस्थाप्यते सा समुदानक्रिया । सा च मिथ्यादृष्टेरारज्य सूक्ष्मसंपरायं यावद् भवति । ४। ईर्यापथक्रिया तूपशान्तमोहादारज्य सयोगिकेवलिनं यावदिति ५। सम्यक्त्वक्रिया तु सम्यग्दर्शनयोग्याः कर्मप्रकृतीः सप्तसप्ततिसंख्या यया बध्नाति साऽभिधीयते । मिथ्यात्वक्रिया तु सर्वाः प्रकृतीर्विंशत्युत्तरसंख्यास्तीर्थङ्कराहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गत्रिकरहिता यया बध्नाति सा मिथ्यात्वक्रियेत्यभिधीयते । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

(३) क्रियाया भेदानाह-

एगा किरिया ।

एका अविवक्षितविशेषतया करणमात्रविवक्षणात् करणं क्रिया कायिक्यादिका । स्था० १ ठा० । आस्तिकमात्रम् । स० १ समा० ।

दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-जीवकिरिया चेव, अजीवकिरिया चेव ॥

सूत्राणि षट्त्रिंशत्, करणं क्रिया, क्रियत इति वा क्रियेति । ते च द्वे प्रज्ञप्ते प्ररूपिते जिनैः । तत्र जीवस्य क्रिया व्यापारो जीवक्रिया । तथा अजीवस्य पुद्गलसमुदायस्य यत्कर्मेर्यापथं, तया परिणमनं सा अजीवक्रियेति । इह 'चेय' शब्दस्य 'चेव' शब्दस्य च पाठान्तरे प्राकृतत्वाद् द्विर्भाव इति, चेयेत्ययं च समुच्चयमात्र एव प्रतीयते, अपि चेत्यादिवदिति । स्था० २ ठा० १ उ० ।

पुनः प्रकारान्तरेण प्रतिपादयति—

दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-काइया चेव, आहिगरणिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-पाउसिया चेव, पारियावणिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-पाणाइवायकिरिया चेव, अपचक्खाणकिरिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-आरंजिया चेव, परिग्गहिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-मायावत्तिया चेव, मिच्छादंसणवत्तिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-दिठ्ठिया चेव, पुठ्ठिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-पाडुच्चिया चेव, सामन्तोवनिवाइया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-साहत्थिया चेव, नेसत्थिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-आणवणिया चेव, वेयारणिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-अणाजोगवत्तिया चेव, अणवकंखवत्तिया चेव । दो किरियाओ पन्नत्ताओ । तं जहा-पेज्जवत्तिया चेव, दोसवत्तिया चेव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

(अणाभोगवत्तिया चेव त्ति) अनाभोगोऽज्ञानादि, अज्ञानं प्रत्ययो निमित्तं यस्याः सा तथा । (अणवकंखवत्तिया चेव त्ति) अनाकाङ्क्षा स्वशरीराद्यनपेक्षत्वं, सैव प्रत्ययो यस्याः सा । स्था० २ ठा० १ उ० । आ० चू० । (प्रभेदादिप्ररूपणा तत्तच्छब्दे वक्ष्यते)

तिविहा अन्नाणकिरिआ पन्नत्ता । तं जहा-मइअन्नाणकिरिया, सुयअन्नाणकिरिया, विभंगअण्णाणकिरिया ॥

(मइअन्नाणकिरिय त्ति) "अविसेसिया मइ च्चिय, संमद्दिठिस्स सा मइन्नाणं । मइअन्नाणं मिच्छा-दिठ्ठिस्स सुयं पि एमेव" त्ति । मत्यज्ञानात्क्रिया अनुष्ठानं मत्यज्ञानक्रिया, एवमितरेऽपि । नवरं विभङ्गो मिथ्यादृष्टेरवधिः स एवाज्ञानं विभङ्गाज्ञानमिति । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

" एताहिं पंचहिं पंचवीसकिरियाओ सूचिताओ । तं जहा-मिथ्याक्रिया १ प्रयोगक्रिया २ समुदानक्रिया ३ ईर्यापथिका ४ कायिका ५ अधिकरणक्रिया ६ प्राद्वेषिकी ७ पारितापनिका ८ प्राणातिपातक्रिया ९ दर्शनक्रिया १० स्पर्शनक्रिया ११ सामन्तक्रिया १२ अनुपातक्रिया १३ अनाजोगक्रिया १४ स्वहस्तक्रिया १५ निसर्गक्रिया १६ विदारणक्रिया १७ आज्ञापनक्रिया १८ अनाकाङ्क्षक्रिया १९ आरम्भक्रिया २० परिग्रहक्रिया २१ मायाक्रिया २२ रागक्रिया २३ द्वेषक्रिया २४ अप्रत्याख्यानक्रिया २५" इति । आ० चू० ४ अ० । आ० म० । म० । द्रव्यव्यापारविशेषे, स० ४ सम० । औ० ।

कइ णं जंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-काइया, आहिगरणिया, पाउसिया, पारियावणिया, पाणाइवायकिरिया ॥

करणं क्रिया, कर्मबन्धनिबन्धनं चेष्टा इत्यर्थः । सा पञ्चधा । तद्यथा-(काइया इत्यादि) चीयते इति कायः शरीरं, काये भवा, कायेन निर्वृत्ता वा कायिकी । तथा-अधिक्रियते स्थाप्यते नारकादिष्वात्माऽनेनेत्यधिकरणमनुष्ठानविशेषो बाह्यं वस्तु चक्रखड्गादि तत्र भवा, तेन वा निर्वृत्ता आधिकरणिकी । (पाउसिया इति) प्रद्वेषो मत्सरः कर्मबन्धहेतुरकुशलो जीवपरिणामविशेष इत्यर्थः । तत्र भवा, तेन वा निर्वृत्ता, सा एव वा प्राद्वेषिकी । (पारियावणिया इति) परितापनं परितापः, पीडाकरणमित्यर्थः । तस्मिन् भवा, तेन वा निर्वृत्ता, परितापनमेव वा पारितापनिकी (पाणाइवायकिरिया इति) प्राणा इन्द्रियादयः, तेषामतिपातो विनाशः, तद्विषया, प्राणातिपात एव वा क्रिया प्राणातिपातक्रिया । प्रज्ञा० ३१ पद । स्था० ।

पाउसिया णं जंते ! किरिया कतिविहा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुजयस्स वा असुभं मणं पधारेइ, सेत्तं पाउसिया किरिया ॥

प्राद्वेषिकी त्रिभेदा । तद्यथा-(जेण अप्पणो इत्यादि) येन प्रकारेण जीवा आत्मनः स्वस्य वा, अन्यस्य वा आत्मव्यतिरिक्तस्य,

उभयस्य वा स्वपरलक्षणस्योपरि अशुभमकुशलं मनोऽन्तःकरणं प्रधारयति प्रकर्षेण धारयति, करोतीत्यर्थः। तेन कारणेन विषयस्य त्रैविध्यात् त्रिविधा प्राद्वेषिकी क्रिया । तथाहि-कश्चित्कस्मिन् प्रयोजने स्वयमनुतिष्ठते, पर्यन्ते विपाकदारुणे संवृत्ते सति अविवेकादात्मन एवोपरि अकुशलं मनः संप्रधारयति । एवं कश्चित्परस्य कश्चित्स्वपरयोरपीति ।

पारियावणिया णं भंते ! किरिया कतिविहा पमत्ता ?। गोयमा ! तिविहा पमत्ता । तं जहा-जेणं अप्पणो वा परस्स वा तदुभयस्स वा असायं वेदणं उदीरेति, सेत्तं पारियावणिया किरिया ।

पारितापनिक्यपि त्रिविधा। तद्यथा-"जेणं अप्पणो" इत्यादि। येन प्रकारेण कश्चित् कुतश्चित् हेतोरविवेकत आत्मन एवासातां दुःखरूपां वेदनामुत्पादयति। कश्चित्परस्य, कश्चिदुभयस्य । ततः स्वपरतदुभयभेदाद्भवति त्रिधा पारितापनिकी क्रिया । आह-एवं सति लोचकरणतपोऽनुष्ठानाकरणप्रसङ्गः, यथायोगं स्वपरोभयासातवेदनाहेतुत्वात्। तदयुक्तम्। विपाकहितत्वेन चिकित्साकरणवत् लोचकरणादेरसातवेदनाहेतुत्वायोगात्, अशक्यतपोऽनुष्ठानप्रतिषेधाच्च । उक्तञ्च-" सो हु तवो कायव्वो, जेण मणोऽमंगलं न चिंतेइ । जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा न हायंति " ॥ १ ॥ " कायो न केवलमयं परिपालनीयो, मृष्टै रसैर्बहुविधैर्न च लालनीयः । चित्तेन्द्रियाणि न चरन्ति यथोत्पथेषु, वश्यानि येन च तथाऽऽचरितं जिनानाम् " ॥२॥ इति ।

पाणाइवायकिरिया णं भंते ! कतिविहा पमत्ता ?। गोयमा ! तिविहा पमत्ता । तं जहा-जेणं अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा जीवियाओ ववरोवेइ, सेत्तं पाणाइवायकिरिया ।

प्राणातिपातक्रियाऽपि त्रिविधा । तद्यथा-(जेणं अप्पाणं इत्यादि) येन प्रकारेण कश्चिदविवेकी भैरवप्रतापादिनाऽऽत्मानं जीविताद्व्यपरोपयति, कश्चित्प्रद्वेषादिना परम्, कश्चिदुभयमपीत्यतः प्राणातिपातक्रियाऽपि त्रिविधा। अत एव कारणाद्भगवद्भिरकालमरणमपि प्रतिषिद्धम्, प्राणातिपातक्रियादोषसंभवात् ।

(४) स्पृष्टास्पृष्टत्वादिना प्राणातिपातक्रियां निरूपयति-

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ? जाव निव्वाघाएणं । छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउद्दिसिं सिय पंचदिसिं । सा भंते ! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ ?। गोयमा ! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ । सा भंते ! किं अत्तकडा कज्जइ, परकडा कज्जइ, तदुभयकडा कज्जइ ?। गोयमा ! अत्तकडा कज्जइ, णो परकडा कज्जइ, णो तदुभयकडा कज्जइ । सा भंते ! किं आणुपुव्विकडा कज्जइ, अणाणुपुव्विकडा कज्जइ ?। गोयमा ! आणुपुव्विकडा कज्जइ, नो अणाणुपुव्विकडा कज्जइ । जा य कडा जा य कज्जइ जा य कज्जिस्सइ, सव्वा सा आणुपुव्विं कडा नो अणाणुपुव्विं कड त्ति वत्तव्वं सिया । अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणाइवायकिरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ जाव नियमा छद्दिसिं कज्जइ । सा भंते ! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ, तं चेव जाव नो अणाणुपुव्विं कड त्ति वत्तव्वं सिया । जहा नेरइया तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्वा जाव वेमाणिया । एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्वा । जहा पाणाइवाए तहा मुसावाए तहा अदिन्ने मेहुणे परिग्गहे कोहे जाव मिच्छादंसणसल्ले । एवं एएणं अट्ठारसचउव्वीसं दंडगा भाणियव्वा । सेवं भंते ! भंते ! भगवं गोयमे समणं जाव विहरइ ॥

"अत्थीत्यादि" । (अत्थि त्ति) अस्त्ययं पक्षः (किरिया कज्जइ त्ति)। क्रियत इति क्रिया कर्म, सा क्रियते भवति। 'पुट्ठा' इत्यादेर्व्याख्या पूर्ववत् ।(कडा कज्जइ त्ति) कृता भवति, अकृतस्य कर्मणोऽभावात् । (अत्तकडा कज्जइ त्ति) आत्मकृतमेव कर्म भवति नान्यथा। (अणाणुपुव्विकडा कज्जइ त्ति) पूर्वपश्चाद्विभागो यत्र नास्ति तदनानुपूर्वीशब्देनोच्यत इति। (जहा नेरइया तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्वा त्ति) नारकवदसुरादयोऽपि वाच्याः । एकेन्द्रियवर्जाः,ते त्वन्यथा, तेषां हि दिक्पदे "निव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं" इत्यादेर्विशेषाभिलापस्य जीवपदोक्तस्य भावात्। अत एवाह-(एगिंदिया जहा जीवा तहा भाणियव्व त्ति जाव मिच्छादंसणसल्ले) इह यावत्करणात्-(माणे माया लोभे पेज्जे) अनभिव्यक्तमायालोभस्वभावमभिष्वङ्गमात्रं प्रेम (दोसे) अनभिव्यक्तक्रोधमानस्वरूपमप्रीतिमात्रं द्वेषः । कलहो राटिः।(अब्भक्खाणे) असद्दोषाविष्करणम् । (पेसुन्ने) प्रच्छन्नमसद्दोषाविष्करणम् । (परपरिवाए) विप्रकीर्णं परेषां गुणदोषवचनम् । [अरइरई] अरतिर्मोहनीयोदयाच्चित्तोद्वेगः तत्फला, रतिर्विषयेषु मोहनीयोदयात् चित्ताभिरतिः अरतिरतिः [मायामोसे] तृतीयकषायद्वितीयाश्रवयोः संयोगः । अनेन च सर्वसंयोगा उपलक्षिताः । अथवा वेषान्तरभाषान्तरकरणेन यत्परवञ्चनं तन्मायामृषेति । मिथ्यादर्शनं शल्यमिव विविधव्यथानिबन्धनत्वान्मिथ्यादर्शनशल्यमिति । भ० १ श० ६ उ० ।

सम्प्रति एताः किमविशेषेण सर्वेषां जीवानां सन्ति किं वा नेति जिज्ञासुरिदमाह-

जीवा णं भंते ! किं सकिरिया अकिरिया ?। गोयमा ! जीवा सकिरिया वि, अकिरिया वि । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि । गोयमा ! जीवा दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-संसारसमावन्नगा य, असंसारसमावन्नगा य । तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा, ते णं सिद्धा, सिद्धाणं अकिरिया । तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पमत्ता । तं जहा-सेलेसिपडिवन्नगा य, असेलेसिपडिवन्नगा य। तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवन्नगा ते णं अकिरिया, तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवन्नगा ते णं सकिरिया । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-जीवा सकिरिया वि अकिरिया वि ॥

" जीवा णं भंते ! " इत्यादि सुगमम्, नवरम् (संसारसमावन्नगा इति) संसारं चतुर्गतिभ्रमणरूपं सम्यगेकीभावेनापन्ना एवं संसारसमापन्नकाः । प्राकृतत्वात्स्वार्थे कप्रत्ययः । तद्विपरीता असंसारसमापन्नकाः । चशब्दौ स्वगतानेकभेदसूचकौ । तत्र येऽसंसारसमापन्नकास्ते सिद्धाश्च देहमनोवृत्त्यभावतोऽक्रियाः, ये तु संसारसमापन्नकास्ते द्विविधाः-शैलेशीप्रतिपन्नका अशैलेशीप्रतिपन्नकाश्च । शैलेशी नामायोग्यवस्था, तां प्रतिपन्नाः शैलेशीप्रतिपन्नाः, ततः पूर्ववत् स्वार्थिकः कप्रत्ययः । शैलेशीप्रतिपन्नकाः । तद्व्यतिरिक्ताः अशैलेशीप्रतिपन्नकाः । तत्र शैलेशीप्रतिपन्नकास्ते सूक्ष्मबादरकायवाङ्मनोयोगनिरोधादक्रियाः, ये त्वशैलेशीप्रतिपन्नकास्ते सयोगित्वात् सक्रियाः । " से तेणट्ठेणं " इत्याद्युपसंहारवाक्यम् । तदेवं ये सक्रिया ये वाऽक्रियास्ते उक्ताः ॥

संप्रति यथा प्राणातिपातक्रिया भवति तथा दर्शयति-

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि ॥

"अत्थि णं भंते !" इत्यादि । अस्त्येतत्, णमिति वाक्यालङ्कारे, भदन्त ! जीवानां प्राणातिपातेन प्राणातिपाताध्यवसायेन, क्रिया, सामर्थ्यात् प्राणातिपातक्रिया क्रियते । कर्मकर्त्तर्ययं प्रयोगो भवतीत्यर्थः । अनद्यतनयाऽभिप्रायात्मकोऽयं प्रश्नः । कतमोऽत्र नयोऽयमध्यवसायस्पृष्ट इति चेत्, उच्यते-ऋजुसूत्रम् । तथाहि-ऋजुसूत्रस्य हिंसापरिणतिकाल एव प्राणातिपातक्रियोच्यते, पुण्यपापकर्मोपादानानुपादानयोरध्यवसायानुरोधित्वात्, नान्यथा परिणतावि्ति । भगवानपि तां ऋजुसूत्रनयमधिकृत्य प्रत्युत्तरमाह—" हंता अत्थि " । हन्तेति प्रेषणप्रत्यवधारणविवादेषु । अत्र प्रत्यवधारणे, अस्त्येतत् प्राणातिपाताध्यवसायेन प्राणातिपातक्रिया भवति । "परिणामियं पमाणं, णिच्छयमवलंबमाणाणं " इत्याद्यागमवचनस्य स्थितत्वात् । अमुमेव वचनमधिकृत्यावश्यकेऽपीदं सूत्रं प्रावर्त्तिष्ट-" आया चेव अहिंसा, आयाहिंसत्ति निच्छओ एस " इति । तदेवं यथा प्राणातिपातक्रिया भवति तथोक्तम् ।

संप्रति कस्मिन् विषये सा प्राणातिपातक्रिया भवतीत्येतन्निरूपयति-

कम्हि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! छसु जीवणिकाएसु ॥

'कम्हि णं' इत्यादि सुगमम्, नवरं मारणाध्यवसायो जीवविषयो भवति नाजीवविषयोऽपि, रज्ज्वादौ सर्पादिबुद्ध्या मारणाध्यवसायोऽपि सर्पोऽयमिति बुद्ध्या प्रवर्त्तमानत्वात् जीवविषय एव, न खलु रज्ज्वादौ रज्ज्वादितया परिच्छिन्ने कश्चित्तद्विषयं मारणाध्यवसायं विदधाति, ततः प्राणातिपातक्रिया षट्सु जीवनिकायेषूक्ता ।

एतामेव प्राणातिपातक्रियामुक्तप्रकारेण नैरयिकादिकं चतुर्विंशतिदण्डकमधिकृत्य चिन्तयति-

अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! एवं चेव । एवं जाव निरंतरं वेमाणियाणं ।

(अत्थि णं भंते ! इत्यादि) नवरमेष सूत्रपाठः-" अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । कम्हि णं भंते ! पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! छसु जीवनिकाएसु " एवं तावद्वाच्यं यावद्वैमानिकसूत्रम् । तदेवं यथा प्राणातिपातक्रिया भवति यद्विषया च तत्प्रतिपादितम् ।

(५) संप्रत्येवमेव मृषावादादिविषयाण्यपि सूत्राण्याह-

अत्थि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! सव्वदव्वेसु । एवं निरंतरं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । अत्थि णं भंते ! जीवाणं अदिन्नादाणेणं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवाणं अदिन्नादाणेणं किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु । एवं णेरइयाणं निरंतरं जाव वेमाणियाणं । अत्थि णं भंते ! जीवाणं मेहुणेणं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवाणं मेहुणेणं किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु । एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । अत्थि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवाणं परिग्गहेणं किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! सव्वदव्वेसु । एवं णेरइयाणं जाव वेमाणियाणं । एवं कोहेणं माणेणं मायालोभेणं पेज्जेणं दोसेणं कलहेणं अब्भक्खाणेणं पेसुन्नेणं परपरिवाएणं अरतिरतिए मायामोसेणं मिच्छादंसणसल्लेणं सव्वेसु जीवणेरइयभेदेणं भाणियव्वं निरंतरं जाव वेमाणियाणं ति; एवं अट्ठारस एए दंडगा ॥

"अत्थि णं भंते ! मुसावाएणं" इत्यादि सुगमम्, नवरं (किरिया कज्जइ इति) यथायोगं प्राणातिपातादिका क्रिया भवतीत्यर्थः । तथा सतोऽपलापोऽसतश्च प्ररूपणं मृषावादः, स च लोकालोकगतसमस्तवस्तुविषयोऽपि घटते । तदुक्तं मृषावादसूत्रम्-"सव्वदव्वेसु" इति । द्रव्यग्रहणमुपलक्षणम्, तेन पर्यायेष्वपीत्यपि द्रष्टव्यम् । यथा यद्वस्तु गृहीतुं धारयितुं वा शक्यते तद्विषयमादानं भवति न शेषविषयमतोऽदत्तादानसूत्रे "गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु " इत्युक्तम् । मैथुनाध्यवसायेऽपि चित्रलेपकाष्ठादिकर्मगतेषु रूपेषु सहगतेषु वा स्त्र्यादिषु ततो मैथुनसूत्रे उक्तम्-"रूवेसु वा रूवसहगएसु वा इति " । तथा परिग्रहः स्वस्वामिभावेन मूर्च्छा, सा च प्राणिनामतिलोभात्सकलवस्तुविषयाऽपि प्रादुर्भवति । ततः परिग्रहसूत्रे उक्तम्-"सव्वदव्वेसु" इति । अत एवान्यत्रापि प्रथमव्रतं सर्वजीवविषयमुक्तम्, द्वितीयचरमे सर्ववस्तुविषये, चतुर्थे तदेकदेशविषये इति । उक्तञ्च-"पढमम्मि सव्वजीवा, बीए चरिमे य सव्वदव्वाइं । सेसा महव्वया खलु, तदेकदेसम्मि नायव्वा " ॥ १ ॥ क्रोधादयः सुप्रतीताः, नवरं कलहो राटिः, अभ्याख्यानमसद्दोषारोपणम् । यथा-अचौरेऽपि चौरस्त्वम्, अपारदारिकेऽपि पारदारिकस्त्वमित्यादि । इदं मृषावादेऽप्यन्तर्गतं परमुत्कृष्टोऽयं दोष इति पृथगुपात्तम् । पैशुन्यं परोक्षे सतोऽसतो वा दोषस्याविष्करणम् । परपरिवादः प्रचुरजनसमक्षपरदोषविकत्थनम् । अरतिरती प्रतीते । इदमेकं समुदितं पापस्थानम् । (मायामोसेणमिति) माया च मृषा च समाहारो द्वन्द्वः । द्वन्द्वैकत्वं नपुंसकत्वमिति "क्लीबे" ॥ २ । ४ । ६७ ॥ इति ह्रस्वत्वम्, तेन इह समुदायो विवक्षितो म-

ह्मकर्मबन्धहेतुश्चेति मृषावादमायाभ्यां पृथगुपात्तम् । [मिच्छादंसणसल्लेणं ति] मिथ्यादर्शनं मिथ्यात्वं तदेव शल्यम्, तेन। (अट्ठारस एए दंडगा इति) एते अनन्तरोदितपदोल्लेखोपदर्शिताः सर्वसंख्ययाऽष्टादश दण्डका भवन्ति, प्राणातिपातादीनां पापस्थानानामष्टादशत्वात् । तदेवमष्टादशपापस्थानान्यधिकृत्य जीवानां क्रियाऽक्रियाविषयश्चोपदर्शितः ।

[६] साम्प्रतं तान्येवाधिकृत्य जीवानामेकत्वपृथक्त्वाभ्यां कर्मबन्धत्वमुपदर्शयितुराह--

जीवे णं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा, एवं णेरइए जाव वेमाणिए । जीवा णं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपयडीओ बंधंति ?। गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि, अट्ठविहबंधगा वि । णेरइयाणं भंते ! पाणाइवाएणं कति कम्मपगडीओ बंधंति ?। गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहबंधगा अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य, अहवा सत्तविहबंधगा य, अट्ठविहबंधगा य । एवं असुरकुमारा वि जाव थणियकुमारा । पुढविआउतेउवाउवणस्सइकाइया य एए सव्वे वि जहा ओहिया जीवा अवसेसा जहा णेरइया । एवं एए जीवा एगिंदियवज्जा तिन्नि भंगा सव्वत्थ भाणियव्व त्ति जाव मिच्छादंसणसल्लेणं । एवं एगत्तपोहत्तिया छत्तीसं दंडगा होंति ।

"जीवे णं भंते !" इत्यादि सुगमम्, नवरं सप्तविधबन्धकत्वमायुर्बन्धविरहकाले आयुर्बन्धकाले चाष्टविधबन्धकत्वं पृथक्त्वचिन्तायां सामान्यतो जीवपदे सप्तविधबन्धका अष्टविधबन्धका अपि सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते, तत उभयत्रापि बहुवचनमित्येवं रूप एक एव बन्धभङ्गः । नैरयिकसूत्रे सप्तविधबन्धका अवस्थिता एव, हिंसापरिणामपरिणतानां सदैव बहुत्वेन लभ्यमानानां सप्तविधबन्धकत्वस्यावश्यंभावित्वात् । ततो यदा एकोऽप्यष्टविधबन्धको न लभ्यते तदैष भङ्गः । सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधबन्धका इति । यदा पुनरेकोऽष्टविधबन्धकः, शेषाः सर्वे सप्तविधबन्धकास्तदा द्वितीयो भङ्गः । सप्तविधबन्धकाश्च अष्टविधबन्धकाश्च । यदा त्वष्टविधबन्धका अपि बहवो लभ्यन्ते तदोभयगतबहुवचनरूपस्तृतीयो भङ्गः । सप्तविधबन्धकाश्च अष्टविधबन्धकाश्च । एवं भङ्गत्रयेणासुरकुमारादयोऽपि तावद् वक्तव्या यावत् स्तनितकुमाराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिकायिकाः । यथा सामान्यतो जीवा उक्तास्तथा वक्तव्या उभयत्रापि बहुवचनेनैक एव भङ्गो वक्तव्य इति भावः, पृथिव्यादीनां हिंसापरिणामपरिणतानां प्रत्येकं सप्तविधबन्धकानामष्टविधबन्धकानां च सदैव बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । शेषा द्वित्रिचतुरिन्द्रियतिर्यक्पञ्चेन्द्रियमनुष्यव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिका यथा नैरयिका भङ्गत्रिकेणोक्तास्तथा वक्तव्याः । यथा च प्राणातिपातेनैकत्वपृथक्त्वाभ्यां द्वौ दण्डकावुक्तावेवं सर्वपापस्थानैरपि प्रत्येकं द्वौ द्वौ दण्डकौ वक्तव्यौ । तथा चाह-"जाव मिच्छादंसणसल्लेणं ।" सर्वसङ्ख्यया कियन्तो दण्डका भवन्तीति चेत्, अत आह-"एवं एगत्तपोहत्तिया छत्तीसं दंडगा होंति" अष्टादशानां द्वाभ्यां गुणने षट्त्रिंशद्भावात् ।

(७) ज्ञानावरणीयादि कर्म बध्नन् जीवः कतिभिः क्रियाभिः समापयतीति बहुत्वमाश्रित्याह-

जीवे णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कति किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए जाव वेमाणिए । जीवा णं भंते ! णाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणा कति किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि, एवं णेरइया जाव वेमाणिया । एवं दरिसणावरणीयं वेयणिज्जं मोहणिज्जं आउयं नामं गोयं अंतराइयं च अट्ठ वि कम्मपगडीओ भाणियव्वाओ एगत्तपोहत्तिया सोलस दंडगा भवंति ।

"जीवा णं भंते !" इत्यादि । अथ कोऽस्य सूत्रस्यापि सम्बन्धः । उच्यते-इह प्रागुक्तं जीवप्राणातिपातेन सप्तविधमष्टविधं वा कर्म बध्नाति, स तु तमेव प्राणातिपातं ज्ञानावरणीयादि कर्म बध्नन् कतिभिः क्रियाभिः समापयतीति प्रतिपाद्यते । अपि च-कार्येण ज्ञानावरणीयाख्येन कर्मणा कारणस्य प्राणातिपाताख्यस्य निवृत्तिभेद उपदर्श्यते, तद्भेदाच्च बन्धविशेषोऽपीति । उक्तञ्च-"तिसृभिः चतसृभिरथ प-ञ्चभिश्च हिंसा समाप्यते क्रमशः । बन्धोऽस्य विशिष्टः स्या-द्योगप्रद्वेषसाम्यं वा " इति । तदेव प्राणातिपातस्य निवृत्तिभेदं दर्शयति-"सिय तिकिरिये" इत्यादि । स्यात्कदाचित् त्रिक्रियः, कदाचिच्चतुष्क्रियः, कदाचित्पञ्चक्रियः । तत्र त्रिक्रियता कायिक्याधिकरणिकी प्राद्वेषिकीभिः क्रियाभिः । कायिकी नाम-हस्तपादादिव्यापारणम् । आधिकरणिकी-खड्गादिप्रगुणीकरणम् । प्राद्वेषिकी-मारयाम्येनमित्यशुभमनःसंप्रधारणमिति । चतुष्क्रियता कायिक्याधिकरणिकीप्राद्वेषिकीपारितापनिकीभिः । पारितापनिकी नाम-खड्गाद्यभिघातेन पीडाकरणम्, पञ्चक्रियता यदा प्राणातिपातक्रियाऽपि पञ्चमी भवति, प्राणातिपातक्रिया जीविताद्व्यपरोपणम् । एवं नैरयिकादारभ्य चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम् । सूत्रपाठस्त्वेवम्-"नेरइया णं भंते ! नाणावरणिज्जं कम्मं बंधमाणे कइ किरिए पन्नत्ते" इत्यादि । तदेवमेकत्वेन दण्डक उक्तः । सम्प्रति बहुत्वेनाह-" जीवा णं भंते ! " इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! जीवास्त्रिक्रिया अपि चतुष्क्रिया अपि । किमुक्तं भवति ?, जीवा ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नन्तः सदैव बहव एव त्रिक्रिया अपि चतुष्क्रिया अपि पञ्चक्रिया अपि लभ्यन्ते इत्येक एव भङ्गः । यथा च सामान्यतो जीवपदेऽभङ्गकं तथा नैरयिकादिषु चतुर्विंशतौ स्वस्थानेषु प्रत्येकमभङ्गकं द्रष्टव्यम्, नैरयिकादीनामपि ज्ञानावरणीयं कर्म बध्नतां सदैव त्रिक्रियाणामपि चतुष्क्रियाणामपि पञ्चक्रियाणामपि च बहुत्वेन लभ्यमानत्वात् । यथा च ज्ञानावरणीयं कर्माधिकृत्य एकत्वपृथक्त्वाभ्यां द्वौ दण्डकावुक्तौ तथा दर्शनावरणीयादीन्यपि कर्माण्यधिकृत्य प्रत्येकं द्वौ द्वौ दण्डकौ वक्तव्यौ । तत एवं सति सर्वसंख्यया षोडश दण्डकाः ॥

जीवे णं भंते ! जीवातो कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए ॥

(जीवे णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए इति) । अथ को- ऽस्य सूत्रस्य सम्बन्धः ?। उच्यते-इह न केवलं वर्तमानभववर्तिनो जीवस्य ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धो भेदप्ररूपणे कायिक्यादिक्रियाविशेषणः प्राणातिपातभेदो भवति, किन्त्वतीतभवकायसम्बन्धः कायिक्यादिक्रियाविशेषेणापि । तत एतस्यार्थस्य प्रतिपादनार्थमिदं सूत्रम्। अस्य चेयमेव पूर्वाचार्योपदर्शिता भावना-"इह संसारमवीए परिब्भमंतेहिं सव्वजीवेहिं तेसु तेसु ठाणेसु सरीरोवाहिणा विप्पमुक्का तेहि य सव्वचूर्णाहिं जया कस्सइ" स्वतः परितापनादयो भवन्ति "तया तस्सामिणो भवंतरं गयस्स वि" तत्रानिवृत्तत्वात् "किरिया संभवइ" इति। व्युत्सृष्टे तु न भवति, निवृत्तत्वात् । एत्थ उदाहरणम्-"वसंतपुरे नयरे अजसेणस्स रन्नो परिचारणगा दुवे कुलपुत्तगा । तत्थेगो समणसड्ढो, इयरो मिच्छादिट्ठी । अन्नया रयणीए रन्नो निस्सरणे, संभमतुरंताणं तेसिं घोडगारूढाणं खग्गा पब्भट्ठा, सड्ढेण अत्ताकोलाहलो मग्गिओ न लहइ । इयरेण हत्थियं । किमेत्थ ण होसंति । सड्ढेण अहिगरणं ति कट्टु वोसिरियं । इयरे खग्गग्गाहिणो वंदिग्गाहसाहसिएहिं रुद्धा गहिया, अन्नेहिं रायवहेज्जो पलायमाणो वावाइओ । तओ आरक्खिएहिं गहिऊण रायसमीवं नीया । कहिओ वुत्तंतो । कुविओ राया । पुच्छियं च णेण-कस्स तुब्भे ?। तेहिं कहियं-अणाहा कल्लं चिय कप्पडिया एत्थ एतम्ह खग्गा कहिं लद्धि त्ति पुच्छिएहिं कहियं-पमिया इति । तओ सामरिसेण रन्ना भणियं-गवेसह तुरियं मम अणवद्धवेरिए ईसरपुत्तस्स णं महापमत्ताणं केसि इमे खग्गं ति ?। तओ तेहिं निउणं गवेसिऊण विन्नत्तं रन्नो-सामि ! गुणचंदबालचंदाविति । तओ रन्ना पि हप्पिद्दं सद्दावेऊण भणिया-सेह नियखग्गे । एक्केण गहियं, पुच्छिओ रन्ना कहं ते पणट्ठं ति । तेण कहियं जहावित्तं,कीस न गविट्ठं ? भणइ-सामि ! तुम्ह पसाएण एइहमेत्तमवि गवेसामि । सड्ढो नेच्छइ । रन्ना पुच्छिओ-कीस न गेण्हसि ?। तेण भणियं-सामि ! अम्हाणमेस ठिई चेव नत्थि, जमेवं गिण्हिज्जइ, अहिगरणतणओ परं संभमेण ममंतेण वि सव्वं ति वोसिरियं , अतो न कप्पइ मे गिण्हिउं । तओ पमायकारी अणुसासिओ । इयरो वि मुक्को य । एस दिट्ठंतो य। सो य से अत्थोवणओ-जहा सो पमायगब्भेण अवोसिरियदोसेण अवराहं पत्तो, एवं जीवो वि जम्मंतरब्भत्थं देहोवहाइ अवोसिरंतो अणुभयभावंतो पावेइ दोसं "। श्रूयते च-जातिस्मरणादिना विज्ञाय पूर्वदेहमतिमोहात् सुरनन्दीप्रत्यस्थिशकलानि नयन्तीति । इदानीं सूत्रव्याख्या-जीवो भदन्त ! जीवमधिकृत्य कतिक्रियः प्रज्ञप्तः ?। भगवानाह-गौतम ! स्यात्कचित् त्रिक्रियः, कायिक्याधिकरणकीप्राद्वेषिकीभावात्,ततो वर्तमानभवमधिकृत्य भावना प्राग्वद्भावनीया । अतीतभवमधिकृत्यैवम्-कायिकी, तत्सम्बन्धिनः कायस्य कायैकदेशस्य वा व्याप्रियमाणत्वात्। आधिकरणिकीवत्संयोजितानां हलगरकूटयन्त्रादीनां तन्निर्वर्तितानां वा असिकुन्ततोमरादीनां परोपघाताय व्याप्रियमाणत्वात् । यदि वा देहोऽप्यधिकरणमित्याधिकरणिक्यपि प्राद्वेषिकी तद्विषया कुशलपरिणामप्रवृत्तेरप्रत्याख्यानत्वात् स्याच्चतुष्क्रियः। पारितापनिक्यपि कायेन कायैकदेशेनाधिकरणेन वा तत्सम्बन्धिनी क्रिया क्रियमाणत्वात् स्यात्पञ्चक्रियः। यदा तेन जीवितादपि व्यपरोपणमाधीयते स्यादक्रियः, यदा पूर्वजन्मभाविशरीरमधिकरणं वा त्रिविधं त्रिविधेन व्युत्सृष्टं भवति, नचापि तज्जन्मभावना शरीरेण काचिदपि क्रियां करोति। इदं चाक्रियत्वं मनुष्यापेक्षया द्रष्टव्यम्, तस्यैव सर्वविरतिभावात्, सिद्धापेक्षया वा तस्य देहमनोवृत्त्यभावेनाक्रियत्वात् ।

(८) अमुमेवार्थं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति-

जीवे णं भंते ! णेरयियाओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए । एवं जाव थणियकुमाराओ पुढविकाइयाओ आउकाइयाओ तेउकाइयवाउकाइयवणस्सइकाइयबेइंदियतेइंदियचउरिंदियपंचिंदिए तिरिक्खजोणियमणुस्साओ जहा जीवाओ वाणमंतरजोइसियवेमाणियातो जहा णेरइयाओ ।

'जीवे णं भंते ! नेरइयाओ कइ किरिए' इत्यादि सुगमम्। नवरमयं भावार्थः-देवनारकान् प्रति चतुष्क्रिय एव, तेषां जीविताद् व्यपरोपणस्यासम्भवात् , अनपवर्त्यायुषो नारकदेवा इति वचनात् । शेषान् संख्येयवर्षायुषः प्रति पञ्चक्रियोऽपि, तेषामपवर्त्यायुष्कतया जीविताद् व्यपरोपणस्यापि सम्भवात् । तदेवमेकस्य जीवस्य एकजीवं प्रति क्रियाश्चिन्तिताः ।

संप्रत्येकस्यैव जीवस्य बहून् जीवान् प्रति क्रियाश्चिन्तयति-

जीवे णं भंते ! जीवेहिंतो कति किरिए पण्णत्ते ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए । जीवे णं भंते ! नेरइएहिंतो कति किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए । एवं जहेव पढमो दंडओ तहा एसो वि बितिओ जाणियव्वो । जीवा णं भंते ! जीवाओ कति किरिया ?। गोयमा ! सिय तिकिरिया वि, सिय चउकिरिया वि , सिय पंचकिरिया वि ॥

"जीवे णं भंते ! जीवेहिन्तो कइ किरिए " इत्यादि। एषोऽपि दण्डकः प्रथमदण्डकवद्वक्तव्यः ।

अधुना बहूनां जीवानां बहून् जीवानधिकृत्य सूत्रमाह—

जीवा णं भंते ! नेरइयाओ कति किरिए ? । गोयमा ! जहेव आदिल्लदंडओ तहेव जाणियव्वो जाव वेमाणिय त्ति । जीवा णं भंते ! जीवेहिंतो कइ किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि, अकिरिया वि । जीवा णं भंते ! नेरइएहिंतो कति किरिया ? । गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, अकिरिया वि, असुरकुमारेहिंतो वि एवं चेव जाव वेमाणिएहिंतो ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो ॥

'जीवा णं भंते!' इत्यादि । अत्र प्रश्नः पाठसिद्धः। निर्वचनमिदम्-गौतम ! त्रिक्रिया अपि चतुष्क्रिया अपि पञ्चक्रिया अपि । कस्याऽपि जीवस्य कमपि जीवं प्रति त्रिक्रियत्वात्, कस्यापि चतुष्क्रियत्वात्, कस्यापि पञ्चक्रियत्वात् । कस्यापि मनुष्यस्य सर्वोत्तमचारित्रिणः सिद्धस्य वा शेषस्याऽक्रियत्वादिति । सर्वत्र बहुवचनरूप एक एव भङ्गः । एवं नैरयिकादिक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम्, नवरं नैरयिकान् देवाँश्च प्रति त्रिक्रि-

या अपि चतुष्क्रिया अपि अक्रिया अपीति वक्तव्यम् । शेषान् संख्येयवर्षायुषः प्रति पञ्चक्रिया अपीति । तदेवं सामान्यतो जीवपदमधिकृत्य दण्डकचतुष्टयमुक्तम् ।

सम्प्रति नैरयिकपदमधिकृत्याऽऽह–

नेरइए णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । नेरइए णं भंते ! नेरइयातो कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए एवं जाव वेमाणिएहिंतो, नवरं णेरइयस्स णेरइएहिंतो देवेहिन्तो य पंचमा किरिया नत्थि । णेरइया णं भंते ! जीवाओ कइकिरिया ?। गोयमा ! सिय तिकिरिया सिय चउकिरिया सिय पंचकिरिया । एवं जाव वेमाणियाओ, नवरं णेरयियाओ देवाओ य पंचमा किरिया नत्थि । णेरइए णं भंते ! जीवेहिंतो कइ किरिया ? । गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि । णेरइया णं भंते ! णेरइएहिंतो कइ किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि । एवं जाव वेमाणिएहिंतो, नवरं ओरालियसरीरेहिंतो जहा जीवेहिंतो ॥

" नेरए णं भंते ! जीवाओ कइ किरिए ? " इत्यादि । " एवं जाव वेमणिएहिंतो " इति । अत्र यावत्करणात् नैरयिको ,जीवान् प्रति कतिक्रिय इति , इत्यादिरूपो द्वितीयोऽपि दण्डक उक्तो द्रष्टव्यः । सर्वत्र औदारिकशरीरान् संख्येयवर्षायुषः प्रति स्यात्त्रिक्रियः स्याच्चतुष्क्रियः स्यात्पञ्चक्रिय इति वक्तव्यम् । नैरयिकदेवान् प्रति पञ्चमी जीविताद्व्यपरोपणरूपा क्रिया नास्ति,तेषामनपवर्त्यायुष्कत्वात् । ततस्तान् प्रति स्यात्त्रिक्रियः स्याच्चतुष्क्रिय इति वक्तव्यम् । नैरयिको देवान् प्रति कथं चतुष्क्रिय इति चेत्,उच्यते-इह भवनवास्यादयो देवाः तृतीयां पृथिवीं यावद्गता गमिष्यन्ति च ।किमर्थं गता गमिष्यन्ति ?, इति चेत् । उच्यते-पूर्वसाङ्गतिकस्य वेदनामुपशमयितुं पूर्ववैरिणो वेदनामुदीरयितुं तत्र गच्छन्ति, तदानीमनन्तकालादेतदपि भवति तद्गताः सन्तो नारकैर्बध्यन्त इति । आह च मूलटीकाकारोऽपि–तत्र गता नारकैर्बध्यन्ते इत्यध्यनन्तकाल एव कथञ्चित्सम्भवमात्रमिति । अथापर आह–ननु नारकस्य द्वीन्द्रियादीनधिकृत्य कायिक्यादिक्रियासम्भवः । उच्यते–इह नारकैर्यस्मात्पूर्वभवशरीरं न व्युत्सृष्टं, विवेकाभावात्, तद्भावश्च भवप्रत्ययात्,ततो यावच्छरीरं तेन जीवेन निर्वर्तितं सततं शरीरपरिणामं सर्वथा न परित्यजति,तावद्देशतोऽपि तं परिणामं भजमानं पूर्वभावप्रज्ञापनया तस्येति व्यपदिश्यते, घृतघटवत् । यथा हि घृतपूर्णो घटो घृतेऽपगतेऽपि घृतघट इति व्यपदिश्यते, तथा तदपि शरीरं तेन निर्वर्तितमिति तस्येति व्यपदेशमर्हति। ततस्तस्य शरीरस्य एकदेशेनास्थ्यादिना योऽन्यः प्राणातिपातं करोति ततः पूर्वनिर्वर्तितशरीरजीवोऽपि कायिक्यादिक्रियाभिर्युज्यते, तेन तस्याव्युत्सृष्टत्वात्। तत्रैवं पञ्चानामपि क्रियाणां भावना–तत्कायस्य व्याप्रियमाणत्वात्कायिकी, कायोऽधिकरणमपि भवतीत्युक्तं प्राक्, तत आधिकरणिकीप्राद्वेषिक्यादयस्त्वेवम्–यदा तमेव शरीरैकदेशं अभिघातादिसमर्थमयं कश्चनापि प्राणातिपातोद्यतो दृष्ट्वा तदिन्द्रियादौ समुत्पन्ने क्रोधादिकारणेऽभिघातादिसमर्थमिदं शस्त्रमिति चिन्तयन् अतीव क्रोधादिपरिणामं भजते, पीडां चोत्पादयति,जीविताच्च व्यपरोपयति, तदा तत्संबन्धप्राद्वेषिक्यादिक्रियाकारणत्वात् । नैगमनयाभिप्रायेण तस्यापि प्राद्वेषिकी पारितापनिकी प्राणातिपातक्रिया च ॥

असुरकुमारे णं भंते ! जीवाओ कति किरिए ?। गोयमा ! जहेव णेरइए चत्तारि दंडगा तहेव असुरकुमारे वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा । एवं उवउज्जिऊण भावेयव्वं ति । जीवे मणुस्से य अकिरिए वुच्चइ,सेसा अकिरिया ण वुच्चंति सव्वजीवा । ओरालियसरीरेहिंतो पंच किरिया । णेरइयदेवेहिंतो पंच किरिया ण वुच्चंति । एवं एकेकजीवपदे चत्तारि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा एवं एतं दंडगसतं सव्वे वि य जीवादिया दंडगा ॥

यथा च नैरयिकपदे चत्वारो दण्डका उक्ताः,तथा असुरकुमारादिष्वपि, शेषेषु त्रयोविंशतौ स्थानेषु चत्वारश्चत्वारो दण्डका वक्तव्याः । नवरम् जीवपदे मनुष्यपदे वा क्रिया इत्यादि वक्तव्यम, विरतिप्रतिपत्तौ व्युत्सृष्टत्वेन तन्निमित्तक्रियाया असंभवात्, शेषा अक्रिया नोच्यन्ते, विरत्यभावतः स्वशरीरस्य भवान्तरगतस्याव्युत्सृष्टत्वेनावश्यक्रियासंभवात् । तदेवं सामान्यतो जीवपदे एकम्,शेषाणि तु नैरयिकादीनि स्थानानि चतुर्विंशतिरिति सर्वसंख्यया पञ्चविंशतिः, एकैकस्मिंश्च स्थाने चत्वारो दण्डका इति सर्वसङ्कलया दण्डकशतम् । प्रज्ञा० २२ पद ।

जीवे णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए सिय अकिरिए । नेरइए णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंच किरिए । असुरकुमारे णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिए ?। एवं चेव जाव वेमाणिए,णवरं मणुस्से जहा जीवे । जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए जाव सिय अकिरिए । नेरइए णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिए ?। एवं एसो जहा पढमो दंडओ तहा इमो वि अपरिसेसो भाणियव्वो जाव वेमाणिए, णवरं मणुस्से जहा जीवे । जीवा णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिया ?। गोयमा ! सिय तिकिरिया जाव सिय अकिरिया । नेइया णं भंते ! ओरालियसरीराओ कइ किरिया ?। एवं एसो वि जहा पढमो दंडओ तहा भाणियव्वो जाव वेमाणिया, णवरं मणुस्सा जहा जीवा । जीवा णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंच किरिया वि अकिरिया वि । नेरइया णं भंते ! ओरालियसरीरेहिंतो कइ किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि चउकिरिया वि पंचकिरिया वि, एवं जाव वेमाणिया,णवरं मणुस्सा जहा जीवा । जीवे णं भंते ! वेउव्वि-

यसरीराओ कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय अकिरिए । नेरइए णं भंते! वेउव्वियसरीराओ कइकिरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए एवं जाव वेमाणिए, णवरं मणुस्से जहा जीवे । एवं जहा ओरालियसरीरेणं चत्तारि दंडगा तहा जाणियव्वा, णवरं पंचमकिरिया न जणइ, सेसं तं चेव, एवं जहा वेउव्वियं तहा आहारगं पि,तेयगं पि, कम्मगं पि जाणियव्वं । एक्केके चत्तारि दंडगा भाणियव्वा जाव वेमाणिया । वेमाणिया णं भंते ! कम्मगसरीरेहिंतो कइ किरिया ?। गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, सेवं भंते भंते त्ति ॥

"जीवे णं" इत्यादि ।(ओरालियसरीराओ त्ति)औदारिकशरीरात्परकीयमौदारिकशरीरमाश्रित्य कतिक्रियो जीवः?,इति प्रश्नः। उत्तरं तु-(सिय तिकिरिए त्ति) यदैको जीवोऽन्यस्य पृथिव्यादेः सम्बन्ध्यौदारिकशरीरमाश्रित्य कायं व्यापारयति तदा त्रिक्रियः, कायिक्याधिकरणिकीप्राद्वेषिकीनां भावात । एतासां च परस्परेणाविनाभूतत्वात्स्यात् त्रिक्रिय इत्युक्तम । न पुनः स्यादेकक्रियः स्याद्द्विक्रिय इति, अविनाभावश्च तासामेव । अधिकृतक्रिया ह्यवीतरागस्यैव नेतरस्य,तथाविधकर्मबन्धहेतुत्वात् । अवीतरागकायस्य चाधिकरणत्वेन प्रद्वेषान्वितत्वेन च कायक्रियासद्भावे इतरयोरवश्यंभावः,इतरभावे च कायिकीसद्भावः। उक्तञ्च (वक्ष्यते चाग्रे) प्रज्ञापनायामिहार्थे-"जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया किरिया नियमा कज्जइ । जस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स वि काइया किरिया नियमा कज्जइ " इत्यादि । तथाऽऽद्यक्रियात्रयसद्भावे उत्तरक्रियाद्वयं भजनया भवति । यदाह-"जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया सिय कज्जइ,सिय णो कज्जइ" इत्यादि । ततश्च यदा कायव्यापारद्वारेणाऽऽद्यक्रियात्रय एव वर्तते, न तु परितापयति, न चातिपातयति तदा त्रिक्रिय एवेत्यतोऽपि स्यात् त्रिक्रिय इत्युक्तम,यदा तु परितापयति तदा चतुष्क्रियः, आद्यक्रियात्रयस्य तत्रावश्यंभावात् । यदा त्वतिपातयति तदा पञ्चक्रियः,आद्यक्रियाचतुष्कस्य तत्रावश्यंभावात् । उक्तञ्च "जस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया नियमा कज्जइ" इत्यादीति । अत एवाह-(सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए त्ति) । तथा (सिय अकिरिए त्ति) । वीतरागावस्थामाश्रित्य तस्यां हि वीतरागत्वादेव न सन्त्यधिकृतक्रिया इति । (नेरइए णमित्यादि) नारको यस्मादौदारिकशरीरवन्तं पृथिव्यादिकं स्पृशति परितापयति विनाशयति च तस्मादौदारिकात् स्यात् त्रिक्रिय इत्यादि । अक्रियस्त्वयं न भवत्यवीतरागत्वेन क्रियाणामवश्यंभावित्वादिति । (एवं चेव त्ति) स्यात् त्रिक्रिय इत्यादि सर्वेष्वसुरादिपदेषु वाच्यमित्यर्थः । (मणुस्से जहा जीवे त्ति) । जीवपदे इव मनुष्यपदेऽक्रियत्वमपि वाच्यमित्यर्थः । जीवपदे मनुष्यसिद्धापेक्षयैवाऽक्रियत्वस्याऽधीतत्वादिति । (ओरालियसरीरेहिंतो त्ति) औदारिकशरीरेभ्य इत्येवं बहुत्वापेक्षोऽयमपरो दण्डकः । एवमेतौ जीवस्यैकत्वेन द्वौ दण्डकौ । एवञ्च जीवबहुत्वेनापरौ द्वावेवमौदारिकशरीरापेक्षया चत्वारो दण्डका इति । "जीवे णमित्यादि" जीवः परकीयं वैक्रियशरीरमाश्रित्य कतिक्रियः?उच्यते-स्यात् त्रिक्रिय इत्यादि । पञ्चक्रियत्वमेव नोच्यते,प्राणातिपातस्य वैक्रियशरीरिणः कर्तुमशक्यत्वादविरतिमात्रस्य चेह विवक्षितत्वात् । अत एवोक्तम्-"पंचमकिरिया न भणइ त्ति" एवं "जहा वेउव्वियं तहा आहारयं पि तेयगं पि कम्मगं पि भाणियव्वं ति" अनेनाहारकादिशरीरत्रयमप्याश्रित्य दण्डकचतुष्टयेन नैरयिकादिजीवानां त्रिक्रियत्वं चतुष्क्रियत्वं चोक्तम । पञ्चक्रियत्वं तु निवारितं, मारयितुमशक्यत्वात्तस्येति । अथ नारकस्याधोलोकवर्तित्वादाहारकशरीरस्य च मनुष्यलोकवर्तित्वेन तत्क्रियाणामविषयत्वात् कथमाहारकशरीरमाश्रित्य नारकः स्यात्त्रिक्रियः स्याच्चतुष्क्रियः? इति । अत्रोच्यते-यावत्पूर्वशरीरमव्युत्सृष्टं जीवनिर्वर्तितपरिणामं न त्यजति तावत्पूर्वभावप्रज्ञापनानयमतेन निर्वर्तकजीवस्यैवेति व्यपदिश्यते घृतघटन्यायेनेत्यतो नारकपूर्वभवदेहो नारकस्यैव तद्देशेन च मनुष्यलोकवर्तिनाऽस्थ्यादिरूपेण यदाहारकशरीरं स्पृश्यते, परितप्यते वा, तदाहारकदेहान्नारकस्त्रिक्रियश्चतुष्क्रियो वा भवति, कायिकीभावे इतरयोरवश्यंभावात्, पारितापनिकीभावे चाद्यत्रयस्यावश्यंभावादिति । एवमिहान्यदपि विषयमवगन्तव्यम । यच्च तैजसकार्मणशरीरापेक्षया जीवानां परितापकत्वं तदौदारिकाद्याश्रितत्वेन तयोरवसेयम्, स्वरूपेण तयोः परितापयितुमशक्यत्वादिति । भ० ८ श० ६ उ० ।

अथ केषां जीवानां कति क्रिया इति निरूपणार्थं
प्रागुक्तमेव सूत्रं पठन्ति-

कति णं भंते ! किरियाओ पण्णत्ताओ ? । गोयमा ! पंच किरिया पण्णत्ता । तं जहा-काइया जाव पाणाइवायकिरिया ।

" कइ णं भंते ! किरिआओ पण्णत्ताओ?" इत्यादि प्राग्वत् ।

एता एव क्रियाश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण चिन्तयति-

णेरइया णं भंते ! कति किरियाओ पण्णत्ताओ ?। पंच किरियाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-काइया जाव पाणाइवायकिरिया । एवं जाव वेमाणियाणं ।

" णेरइयाणं भंते ! इत्यादि पाठसिद्धम ।

संप्रत्यासामेव क्रियाणामेकजीवाश्रयेण परस्परमविनाभावित्वं चिन्तयति-

जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ, जस्स अहिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अधिगरणिया नियमा कज्जइ, जस्साधिगरणिया किरिया कज्जइ तस्स वि काइया किरिया नियमा कज्जइ । जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पाओसिया कज्जइ, जस्स पाओसिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! एवं चेव । जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ, जस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स काइया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! जस्स णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया सिय कज्जइ, सिय

नो कज्जइ । जस्स पुण पारियावणिया कज्जइ तस्स काइया नियमा कज्जइ । एवं पाणाइवायकिरिया वि । एवं आदिल्लाओ परोप्परं नियमा तिन्नि कज्जइ । तस्स उवरिल्लाओ दोन्नि सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । जस्स उवरिल्लाओ दोन्नि कज्जइ तस्स आदिल्लाओ नियमा तिन्नि कज्जइ ॥

" जस्स णं भंते!" इत्यादि । इह कायिकी क्रिया औदारिकादिकायाश्रिता प्राणातिपातनिर्वर्तनसमर्था प्रतिविशिष्टा परिगृह्यते । अनयोः काचन कार्मणकायाश्रिता वा तत आद्यानां तिसृणां क्रियाणां परस्परं नियम्यनियामकभावः कथमिति चेत्?, उच्यते-कायोऽधिकरणमपि भवतीत्युक्तं प्राक् । ततः कायस्याधिकरणत्वात् कायिक्यां सत्यामवश्यमाधिकरणिकी, आधिकरणिक्यामवश्यं कायिकी । सा च प्रतिविशिष्टा कायिकी क्रिया प्रद्वेषमन्तरेण न भवति, ततः प्राद्वेषिक्याऽपि सह परस्परमविनाभावः । प्रद्वेषोऽपि च काये स्फुटलिङ्ग एव, वक्त्ररूक्षत्वादेस्तदविनाभाविनः प्रत्यक्षत एवोपलम्भात् । उक्तञ्च-"रूक्षयति रूक्षतो ननु, वक्त्रं स्निह्यति च रज्यतः पुंसः । औदारिकोऽपि देहो, भाववशात्परिणमत्येवम् " ॥ १ ॥ परितापनस्य प्राणातिपातस्य चाद्यक्रियात्रयसम्भवेऽप्यनियमः कथमिति चेत्?, उच्यते-यद्यसौ घात्यो मृगादिर्घातकेन धनुषा क्षिप्तेन बाणादिना विध्यते ततस्तस्य परितापनं मरणं वा भवति, नान्यथा, ततो नियमाभावः, परितापनस्य प्राणातिपातस्य च भावे पूर्वक्रियाणामवश्यंभावः, तासामभावे तयोरभावात् । ततोऽमुमर्थं परिभाव्य कायिकी शेषाभिश्चतसृभिः क्रियाभिः सह, आधिकरणकी तिसृभिः, प्राद्वेषिकी द्वाभ्यां सूत्रतः सम्यक् चिन्तनीया ॥

पारितापनिकीप्राणातिपातक्रिययोस्तु सूत्रं साक्षादाह-

जस्स णं भंते ! जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स पाणाइवायकिरिया कज्जइ, जस्स पाणाइवायकिरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! जस्स णं जीवस्स पारियावणिया किरिया कज्जइ तस्स पाणाइवायकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । जस्स पुण पाणाइवायकिरिया कज्जइ तस्स पारियावणिया किरिया नियमा कज्जइ । जस्स णं भंते ! णेरइयस्स काइया किरिया कज्जइ तस्स अधिगरणिया कज्जइ ?। गोयमा ! जहेव जीवस्स तहेव णेरइयस्स वि । एवं जाव निरंतरं वेमाणियस्स ।

" जस्स णं भंते !" इत्यादि । पारितापनिक्याः सद्भावे प्राणातिपातक्रिया स्याद्भवति, स्यान्न भवति । यदा बाणाद्यसिघातेन जीवितात् व्याव्यते तदा भवति, शेषकालं न भवतीत्यर्थः । यस्य पुनः प्राणातिपातक्रिया तस्य नियमात्परितापनमन्तरेण प्राणव्यपरोपणा । संप्रति नैरयिकादिचतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण परस्परमविनाभावं चिन्तयति-" जस्स णं भंते ! नेरइयस्स काइया कज्जइ " इत्यादि प्रतीतम्, भावितत्वात् । तदेवमेको दण्डक उक्तः ।

संप्रति कालमधिकृत्योक्तप्रकारेणैव द्वितीयदण्डकमाह-

जं समयं णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तं समयं अधिगरणिया किरिया कज्जइ, जं समयं अहिगरणिया कज्जइ तं समयं काइया किरिया कज्जइ ?। एवं जहेव आइल्लओ दंडओ तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स ॥

"जं समयं णं भंते !" इत्याद्यारभ्य सर्वं पूर्वोक्तं तदवस्थं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम् । तथा चाह-" एवं जहेव आइल्लओ दंडओ तहेव भाणियव्वो जाव वेमाणियस्स " इति । समयग्रहणेन चेह सामान्यतः कालो गृह्यते न पुनः परमनिरुद्धो यथोक्तस्वरूपो नैश्चयिकः समयः, परितापनस्य प्राणातिपातस्य वा बाणादिक्षेपजन्यतया कायिक्याः प्रथमसमये एवासम्भवात् । एष द्वितीयो दण्डकः ।

सम्प्रति द्वौ दण्डकौ क्षेत्रमधिकृत्याह-

जं देसे णं भंते ! जीवस्स काइया कज्जइ तं देसं अहिगरणिया तहेव जाव वेमाणियस्स । जं पदेसे णं जीवस्स काइया किरिया कज्जइ तं पदेसं अहिगरणिया किरिया कज्जइ । एवं तहेव जाव वेमाणियस्स । एवं एते जस्स जं समयं जं देसं जं पदेसं चत्तारि दंडका होंति ॥

"जं देसे णं भंते !" इत्यादि । अत्रापि सूत्रं पूर्वोक्तं तदवस्थं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम् । तथा चाह-" तहेव जाव वेमाणियस्स " एष तृतीयो दण्डकः । " जं पदेसे णं भंते ! जीवस्स काइया किरिया कज्जइ " इत्यादिश्चतुर्थः । अत्रापि सूत्रं प्रागुक्तक्रमेण तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम् । तथा चाह-"एवं तहेव जाव वेमाणिए " इति । दण्डकसंकलनामाह-एवमेते इत्यादि । एताश्च यथा ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धकारणं तथा संसारकारणमपि, ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धस्य संसारकारणतया तद्धेतुत्वेन तासामपि संसारकारणत्वोपचारात् । तथा चाह-

कति णं भंते ! आओजियाओ किरियाओ पन्नत्ताओ । गोयमा ! पंच आओजिताओ किरियाओ पन्नत्ताओ ?। तं जहा-काइया जाव पाणाइवायकिरिया । एवं नेरइया णं जाव वेमाणिया णं ॥

आयोजयन्ति जीवं संसारे इत्यायोजिकाः कायिक्यादिकाः । शेषं सर्वं सुगमम् । सूत्रपाठस्तु पूर्वोक्तप्रकारेण तावद्वक्तव्यो यावत्-

जस्स णं भंते ! जीवस्स काइया आओजिता किरिया अत्थि, तस्स अहिगरणिया आओजिआ किरिया अत्थि, जस्स अधिगरणिया आओजिता किरिया अत्थि, तस्स काइया आओजिया किरिया अत्थि ? । एवं एतेणं अभिलावेणं ते चेव चत्तारि दंडगा नाणियव्वा । जस्स जं समयं जं देसं जं पदेसं जाव वेमाणियाणं ॥

(जस्सेति) यं समयमिति यं देसमिति यं प्रदेशमिति परिपूर्णाः चत्वारो दण्डकाः । यं समयमित्यादि " कालाध्वनोर्व्याप्तौ " ॥२।२।४२॥ इत्यधिकरणे द्वितीया । ततो यस्मिन् समये, यस्मिन् देशे यस्मिन् प्रदेशे, इति व्याख्येयम् ।

जीवे णं भंते ! जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारितावणियाए पुट्ठे, पा-

णाइवायकिरियाए पुट्ठे ?। गोयमा ! अत्थेगतिए जीवे एगतियाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए पुट्ठे पाणाइवायकिरियाए पुट्ठे १। अत्थेगतिए जीवे एगतियाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अधिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारितावणियाए पुट्ठे पाणाइवायकिरियाए अपुट्ठे २। अत्थेगतिए जीवे एगतियाओ जीवाओ जं समयं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए किरियाए पुट्ठे तं समयं पारियावणियाए किरियाए अपुट्ठे पाणाइवायकिरियाए अपुट्ठे ३।

"जीवे णं भंते !" इत्यादि। अत्राऽपि समयग्रहणेन सामान्यतः कालो गृह्यते। प्रश्नसूत्रं सुगमम्। निर्वचनसूत्रे भङ्गत्रयी-कञ्चिज्जीवमधिकृत्य कश्चिज्जीवो यस्मिन् समये काले क्रियात्रयेण स्पृष्टस्तस्मिन्समये पारितापनिक्या स्पृष्टः प्राणातिपातक्रिया चेति एको भङ्गः। पारितापनिक्या स्पृष्टः प्राणातिपातेनास्पृष्ट इति द्वितीयः। पारितापनिक्या प्राणातिपातक्रियया वा स्पृष्ट इति तृतीयः। एष च तृतीयो भङ्गो बाणादेर्लक्ष्यात्परिभ्रंशेन घात्यस्य मृगादेः परितापनाद्यसंभवे वेदितव्यः। यस्तु यस्मिन् समये यं जीवमधिकृत्याऽऽद्यक्रियात्रयेणास्पृष्टः स तस्मिन् समये तमधिकृत्य नियमात्पारितापनिक्या प्राणातिपातक्रियया वा स्पृष्टः, कायिक्याद्यभावे परितापनादेरभावात्। तदेवमुक्ताः क्रियाः।

साम्प्रतं प्रकारान्तरेण क्रियां निरूपयति-

कति णं भंते! किरियाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-आरंभिया पारिग्गहिया मायावत्तिया अपच्चक्खाणकिरिया मिच्छादंसणवत्तिया ॥

"कति णं भंते!" इत्यादि। आरम्भः पृथिव्याद्युपमर्दः। उक्तं च- "संकप्पो संरंभो, परितावकरो भवे समारंभो। आरंभो उद्दवओ, सुद्धनयाणं तु सव्वेसिं" ॥१॥ आरम्भः प्रयोजनं कारणं यस्याः सा आरम्भिकी (पारिग्गहिय त्ति) परिग्रहो धर्मोपकरणवर्ज्यवस्तुस्वीकारः, धर्मोपकरणमूर्च्छा च। परिग्रह एव पारिग्राहिकी, परिग्रहेण निर्वृत्ता वा पारिग्राहिकी। (मायावत्तिया इति) माया अनार्जवम्, उपलक्षणत्वात् क्रोधादेरपि परिग्रहः। माया प्रत्ययं कारणं यस्याः सा मायाप्रत्यया। (अपच्चक्खाणकिरिया इति) अप्रत्याख्यानं मनागपि विरतिपरिणामाभावः, तदेव क्रिया (मिच्छादंसणवत्तिया इति) मिथ्यादर्शनं प्रत्ययो हेतुर्यस्याः सा मिथ्यादर्शनप्रत्यया।

एतासां क्रियाणां मध्ये यस्य या सम्भवति तस्य तां निरूपयति-

आरंभिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि पमत्तसंजतस्स। पारिग्गहिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि संजतासंजतस्स। मायावत्तिया णं भंते ! किरिया कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि अपमत्तसंजयस्स। अपच्चक्खाणकिरिया णं भंते ! कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि अपच्चक्खाणियस्स। मिच्छादंसणवत्तिया णं किरिया कस्स कज्जइ ?। गोयमा ! अन्नयरस्स वि मिच्छादंसणस्स ॥

"आरंभिया णं भंते !" इत्यादि। (अन्नयरस्स वि पमत्तसंजयस्स इति)। अत्रापिशब्दो भिन्नक्रमः। प्रमत्तसंयतस्याप्यन्यतरस्य एकतरस्य कस्यचित्प्रमादे सति कायदुष्प्रयोगभावतः पृथिव्यादेरुपमर्दसम्भवात्। अपिशब्दोऽन्येषामधस्तनगुणस्थानवर्त्तिनां नियमप्रदर्शनार्थः। प्रमत्तसंयतस्याप्यारम्भिकी क्रिया भवति, किं पुनः शेषाणां देशविरतिप्रभृतीनामिति। एवमुत्तरत्रापि यथायोगमपिशब्दभावना कर्त्तव्या। पारिग्राहिकी संयतासंयतस्यापि देशविरतस्यापीत्यर्थः, तस्याऽपि परिग्रहधारणात्। मायाप्रत्यया अप्रमत्तसंयतस्याऽपि। कथमिति चेत्?, उच्यते-प्रवचनोड्डाहप्रच्छादनार्थं वल्लीकरणसमुद्देशादिषु अप्रत्याख्यानक्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानिनः, अन्यतरदपि न किञ्चिदपीत्यर्थः। यो न प्रत्याख्याति तस्येति भावः। मिथ्यादर्शनक्रिया अन्यतरस्यापि सूत्रोक्तमेकमप्यक्षरं याऽरोचयमानेत्यर्थः मिथ्यादृष्टेर्भवति।

एता एव क्रियाश्चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति-

णेरइयाणं भंते ! कति किरियाओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! पंच किरियाओ पण्णत्ताओ। तं जहा-आरंभिया जाव मिच्छादंसणवत्तिया ; एवं जाव वेमाणियाणं ॥

"णेरइयाणं भंते!" इत्यादि सुगमम्। सम्प्रत्यासां क्रियाणां परस्परमविनाभावं चिन्तयति-यस्यारम्भिकी क्रिया तस्य पारिग्रहिकी स्याद्भवति, स्यान्न भवति। प्रमत्तसंयतस्य न भवति, शेषस्य भवतीत्यर्थः।

जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पारिग्गहिया किरिया कज्जइ, जस्स पारिग्गहिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पारिग्गहिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ; जस्स पुण पारिग्गहिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जइ। जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! जस्स णं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स मायावत्तिया किरिया णियमा कज्जइ, जस्स पुण मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स णं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तस्स पच्चक्खाणकिरिया कज्जइ पुच्छा ?। गोयमा ! जस्स जीवस्स आरंभिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स पुण अपच्चक्खाणकिरिया तस्स आरंभिया नियमा कज्जइ। एवं मिच्छादंसणवत्तियाए वि समं। एवं पारिग्गहिया वि तिहिं वि उवरिल्लाहिं समं संचारेयव्वा, जस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ तस्स उवरिल्लाओ दो वि सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ। जस्स उवरिल्लियाओ दो कज्जइ तस्स मायावत्तिया नियमा कज्जइ। जस्स अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ

तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया नियमा कज्जइ ॥

तथा यस्यारम्भिकी क्रिया तस्य मायाप्रत्यया नियमाद्भवति, यस्य मायाप्रत्यया तस्यारम्भिकी क्रिया स्याद् भवति,स्यान्न भवति । प्रमत्तसंयतस्य देशविरतस्य च न भवति, शेषस्याविरतिसम्यग्दृष्ट्यादेर्भवतीति भावः । यस्य पुनरप्रत्याख्यानक्रिया तस्यारम्भिकी नियमात्, अप्रत्याख्यानिनोऽवश्यमारम्भसम्भवात् । एवं मिथ्यादर्शनप्रत्ययाऽपि सहाविनाभावो भावनीयः। तथाहि-यस्यारम्भिकी क्रिया तस्य मिथ्यादर्शनप्रत्यया स्याद्भवति, स्यान्न भवति । मिथ्यादृष्टेर्भवति, शेषस्य न भवतीत्यर्थः । यस्य तु मिथ्यादर्शनक्रिया तस्य नियमादारम्भिकी, मिथ्यादृष्टेरविरतत्वेनावश्यमारम्भसम्भवात् । तदेवमारम्भिकी क्रिया पारिग्रहिक्यादिभिश्चतसृभिरुपरितनीभिः क्रियाभिः सह परस्परमविनाभावेन चिन्तिता । एवं पारिग्रहिकी तिसृभिर्मायाप्रत्यया, द्वाभ्यामप्रत्याख्यानक्रिया, एकया मिथ्यादर्शनप्रत्ययया चिन्तनीया । तथा चाह-" एवं पारिग्गहिया वि तिहिं उवरिल्लाहिं समं संचारियव्वा " इत्यादि सुगमं भावनीयाः, सुप्रतीतत्वात् ।

अमुमेवार्थं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति-

णेरइयस्स आदिल्लियाओ चत्तारि परोप्परा नियमा कज्जइ, जस्स एताओ चत्तारि कज्जइ तस्स मिच्छादंसणवत्तिया किरिया भइज्जइ, जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स एता चत्तारि नियमा कज्जइ । एवं जाव थणियकुमारस्स पुढविकाइयस्स जाव चउरिंदियस्स पंच वि परोप्परं नियमा कज्जइ ।

'नेरइयस्स आइल्लियाओ चत्तारि' इत्यादि । नैरयिका ह्युत्कर्षतोऽप्यविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं यावन्न परतः, ततो नैरयिकाणामाद्याश्चतस्रः क्रियाः परस्परमविनाभाविन्यः, मिथ्यादर्शनक्रियां प्रति स्याद्वादः । तमेवाह- "जस्स एयाओ चत्तारि" इत्यादि । मिथ्यादृष्टेर्मिथ्यादर्शनक्रिया भवति, शेषस्य न भवतीति भावः । यस्य पुनर्मिथ्यादर्शनक्रिया तस्याद्याश्चतस्रो नियमान्मिथ्यादर्शने सत्यारम्भिक्यादीनामवश्यं भावात् । एवं तावद्वक्तव्यं यावत्स्तनितकुमारस्य पृथिव्यादीनां चतुरिन्द्रियपर्यवसानानां पञ्च क्रियाः परस्परमविनाभाविन्यो वक्तव्याः, पृथिव्यादीनां मिथ्यादर्शनक्रियाया अप्यवश्यंभावात् ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स आइल्लियाओ तिन्नि वि परोप्परं नियमा कज्जंति । जस्स एताओ कज्जंति तस्स उवरिल्लियाओ दो भइज्जंति । जस्स उवरिल्लियाओ दो वि कज्जंति तस्स एताओ तिन्नि नियमा कज्जंति । जस्स अपच्चक्खाणकिरिया तस्स मिच्छादंसणवत्तिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । जस्स पुण मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्चक्खाणकिरिया नियमा कज्जइ । मणुस्सस्स जहा जीवस्स वाणमंतरजोइसियवेमाणियस्स जहा णेरइयस्स । जं समयं भंते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जइ तं समयं पारिग्गहिया किरिया कज्जइ । एवं एते जस्स जं समयं जं देसं जं पदेसं णं य चत्तारि दंडगा नेयव्वा । जहा णेरइयाणं तहा सव्वदेवाणं नेयव्वं वेमाणियाणं ।

तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्याद्यास्तिस्रः परस्परमविनाभूताः, देशविरतिं यावदासामवश्यंभावात् । उत्तराभ्यां तु द्वाभ्यां स्याद्वादः । तमेव दर्शयति-" जस्स एयाओ कज्जंति " इत्यादि । देशविरतस्य न भवतः, शेषस्य भवत इति भावः । यस्य पुनरुपरितन्यौ द्वे क्रिये तस्याद्यास्तिस्रो नियमाद्भवन्ति, उपरितन्यौ हि क्रिये-अप्रत्याख्यानक्रिया मिथ्यादर्शनप्रत्यया च । तत्राप्रत्याख्यानक्रिया अविरतिसम्यग्दृष्टिं यावत्, मिथ्यादर्शनक्रिया मिथ्यादृष्टेः, आद्याश्चतस्रो देशविरतिं यावत् । अत उपरितन्योर्भावेऽवश्यमाद्यानां तिसृणां भावः । सम्प्रत्यप्रत्याख्यानक्रियायाः मिथ्यादर्शनक्रियायास्तिर्यक्पञ्चेन्द्रियस्य परस्परमविनाभावं चिन्तयति- "जस्स अपच्चक्खाणकिरिया" इत्यादि भावितम् । मनुष्ये यथा जीवपदे तथा वक्तव्यम्, व्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकानां यथा नैरयिकस्य एवमेष एको दण्डकः एवमेव "जं समयं णं भंते ! जीवस्स" इत्यादिको द्वितीयः । "जं देसं णं" इत्यादिकस्तृतीयः । "जं पएसं णं" इत्यादिकश्चतुर्थः ।

अथ षट्कायाः प्राणातिपातादिक्रियाहेतव एव भवन्ति, किं वा तद्विरमणहेतवोऽपीति पृच्छति-

अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवायवेरमणे कज्जइ ?। हंता ! अत्थि । कम्हि णं भंते ! जीवा णं पाणाइवायवेरमणे कज्जइ ?। गोयमा ! छसु जीवनिकाएसु । अत्थि णं भंते ! नेरइयाणं पाणाइवायवेरमणे कज्जइ ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । एवं जाव वेमाणियाणं नवरं मणुस्साणं जहा जीवाणं एवं मुसावाएणं जाव मायामोसेणं जीवस्स य मणुस्सस्स य, सेसाणं णो इणट्ठे समट्ठे । णवरं अदिन्नादाणे गहणधारणिज्जेसु दव्वेसु मेहुणरूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु सेसाणं दव्वेसु सव्वेसु । अत्थि णं भंते ! जीवाणं मिच्छादंसणसल्लवेरमणे कज्जइ ?। हंता अत्थि। कम्हि णं भंते ! जीवाणं मिच्छादंसणसल्लवेरमणे कज्जइ ?। गोयमा ! सव्वदव्वेसु । एवं नेरइयाणं जाव वेमाणियाणं नवरं एगिंदियविगलिंदियाणं णो इणट्ठे समट्ठे ।

"अत्थि णं भंते !" इत्यादि । सर्वत्र क्रियते कर्मकर्त्तरि प्रयोगः,ततो भवतीति द्रष्टव्यम् । प्राणातिपातादिविरमणविषयाश्च षट्कायादयः प्रागेव भाविता इति न भूयो भाव्यन्ते । विरतिश्च प्राणातिपातादीनां मायामृषापर्यन्तानां जीवपदे मनुष्यपदे च वक्तव्या, शेषेषु तु स्थानेषु नायमर्थः समर्थ इति वक्तव्यम्;तेषां भवप्रत्ययतः सर्वविरत्यसम्भवात् । मिथ्यादर्शनविरमणविषयचिन्तायां सर्वद्रव्येष्विति । उपलक्षणमेतत् सर्वपर्यायेष्वपि, अन्यथा एकस्मिन् द्रव्ये पर्याये वा मिथ्यात्वभावे मिथ्यादर्शनविरमणासम्भवात् , सूत्रोक्तस्यैकस्याप्यरोचनादक्षरस्य भवति नरो मिथ्यादृष्टिः, मिथ्यादृष्टेर्हि सूत्रं हि न प्रमाणं जिनाभिहितमिति वचना-

त्। मिथ्यादर्शनशल्यविरमणं च एकेन्द्रियविकलेन्द्रियवर्जेषु शेषेषु स्थानेषु। एकेन्द्रियादिषु तु न भवति। कस्मादिति चेत्?। उच्यते-पृथिव्यादिषु तदभावः, "पुढवाइएसु" इति वचनात्। द्वीन्द्रियादीनां तु यद्यपि करणापर्याप्तावस्थायां केषाञ्चित्सासादनसम्यक्त्वं भवति, तथापि तन्मिथ्यात्वाभिमुखानां तत्प्रतिकूलानाम्,अतस्तेषामपि मिथ्यादर्शनशल्यविरमणप्रतिषेधः। आह च-"अत्थि णं भंते! जीवा णं मिच्छादंसणसल्लवेरमणे कज्जइ" इत्यादि।

अथ प्राणातिपातविरतस्य कर्मबन्धो भवति, किं वा नेति?। उच्यते-भवत्यपि, न भवत्यपि, तथा च एतदेव प्रश्नसूत्रपूर्वकमाह-

पाणाइवायविरए णं भंते! जीवे कइ कम्मपगडीओ बंधइ?। गोयमा! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा अबंधए वा। एवं मणुस्से वि भाणियव्वे। पाणातिवायविरया णं भंते! जीवा कइ कम्मपयडीओ बंधंति?। गोयमा! सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य १। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य २। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य ४। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ५। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अबंधगे य ६। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अबंधगा य ७। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधए य १। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य छव्विहबंधगा य २। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगे य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य ४। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अबंधए य १। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य अबंधगा य २। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अबंधए य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य अबंधगा य ४। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधए य अबंधए य १। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगे य अबंधगा य २। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगे य अबंधए य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधगा य ४। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य अबंधए य १। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधए य अबंधगा य २। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधगा य अबंधए य ३। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधए य छव्विहबंधगा य अबंधगा य ४। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य अबंधए य ५। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधए य अबंधगा य ६। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधए य ७। अहवा सत्तविहबंधगा य एगविहबंधगा य अट्ठविहबंधगा य छव्विहबंधगा य अबंधगा य ८। एवं एते अट्ठभंगा सव्वे वि मेलिया सत्तावीसं भंगा भवंति। एवं मणुस्सा वि, एवं चेव सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा। एवं मुसावायविरयस्स जाव मायामोसविरयस्स य जीवस्स य मणुस्सस्स य।

जीवेत्यादि सुगमम्। बहुवचनेऽपि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। निर्वचनसूत्रे सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधबन्धकाश्च एकविधबन्धकाश्च। इह प्रमत्ताऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसम्परायाः सप्तविधबन्धकाः प्रमत्ताः,अप्रमत्ताश्चायुर्बन्धकालेऽष्टविधबन्धकाः,आयुषोऽपि बन्धनात्। आयुर्बन्धश्च कादाचित्क इति कदाचित् सर्वकालं न लभ्यतेऽपि, प्रमत्ताश्चाप्रमत्ताश्च सदैव बहुत्वेन लभ्यन्ते, अनिवृत्तिबादराश्च कदाचिन्न भवन्त्यपि, विरहस्यापि तेषामागमे प्रतिपादनात्। एकविधबन्धका उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाः सयोगिकेवलिनः। तत्र उपशान्तमोहाः क्षीणमोहाश्च कदाचिल्लभ्यन्ते,कदाचिन्न लभ्यन्ते, तेषामन्तरस्यापि सम्भवात्। सयोगिकेवलिनस्तु सदा प्राप्यन्ते, अन्योऽन्यभावेन तेषामव्यवच्छेदात्। ततः सप्तविधबन्धका एकविधबन्धकाश्च व्यवस्थिता इत्यष्टविधबन्धकाद्यभावे एको भङ्गः। अथवा सप्तविधबन्धका बहव एकविधबन्धका बहव एकोऽष्टविधबन्धक इति द्वितीयः। अष्टविधबन्धकानां तृतीयः, षड्विधबन्धका अपि कदाचिल्लभ्यन्ते, कदाचिन्न, उत्कर्षतः षण्मासविरहभावात्। यदाऽपि लभ्यन्ते तदाऽपि जघन्यपदे एको द्वौ वा, उत्कर्षपदेऽष्टोत्तरशतम्, ततोऽष्टविधबन्धकभेदाभावे षड्विधबन्धकपदेनापि द्वौ भङ्गौ। अबन्धका अयोगिकेवलिनः,तेऽपि कदाचिदवाप्यन्ते, कदाचिन्न, तेषामप्युत्कर्षतः षण्मासविरहभावात्। यदाऽप्यवाप्यन्ते तदाऽपि जघन्यपदे एको द्वौ वा,उत्कर्षतोऽष्टाधिकं शतम्। ततोऽष्टविधबन्धकपदाभावे अबन्धकपदेनापि द्वौ भङ्गौ, तदेवमेक आद्यो भङ्गः, एकसंयोगे च षडिति सप्त भङ्गाः। इदानीं द्विकसंयोगे भङ्गा दर्श्यन्ते—तत्र सप्तविधबन्धका एकविधबन्धकाश्चावस्थिताः, उभयेषामपि सदा बहुत्वेन लभ्यमानत्वात्। ततोऽष्टविधबन्धकपदे षड्विधबन्धकपदे च प्रत्येकमेकवचनमित्येको भङ्गः। अष्टविधबन्धकपदे एकवचनं, षड्विधबन्धकपदे बहुवचनमिति द्वितीयः। एतौ द्वौ भङ्गावष्टविधबन्धकपदस्यैकवचनेन लब्धौ। एतावेव द्वौ भङ्गौ बहुवचनेनेति चत्वारः। एवमेव चत्वारो भङ्गा अष्टविधबन्धकाबन्धकपदाभ्यामेव चत्वारः, षड्विधबन्धकाबन्धकपदाभ्यामिति सर्वसंख्यया द्विकसंयोगे

शादश भङ्गाः । त्रयाणामष्टविधबन्धकषड्विधबन्धकाबन्धकरूपाणां पदानां संयोगे प्रत्येकमेकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ भङ्गाः । सर्वसंकलनया सप्तविंशतिर्भङ्गाः । अत्रापर आह- ननु विरतस्य कथं बन्धः ?, न हि विरतिर्बन्धहेतुर्भवति । यदि पुनर्विरतिरपि बन्धहेतुः स्यात्ततो निर्मोक्षप्रसङ्गः, उपायाभावात् । उच्यते-न विरतिर्बन्धहेतुः, किं तु विरतस्य ये कषाययोगास्ते बन्धकारणम् । तथाहि-सामायिकच्छेदोपस्थाप- नपरिहारविशुद्धिकेष्वपि संयमेषु कषायाः संज्वलनरूपा उदय- प्राप्ताः सन्ति योगाश्च,ततो विरतस्यापि देवायुष्कादीनां शुभप्रकृ- तीनां तत्प्रत्ययो बन्धः । यथा च प्राणातिपातविरतस्य सप्तविंशति- भङ्गा उक्ताः तथा मृषावादविरतस्य यावन्मायामृषाविरतस्य ।

मिथ्यादर्शनशल्यविरतिमधिकृत्य सूत्रमाह--

मिच्छादंसणसल्लविरए णं भंते ! जीवे कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा छव्विह- बंधए वा एगविहबंधए वा अबंधए वा । मिच्छादंसणसल्लवि- रए णं भंते ! नेरइए कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?। गोयमा ! स- त्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा जाव पंचिंदियतिरिक्ख- जोणिए मणुस्से जहा जीवे । वाणमंतरजोइसियवेमाणिए जहा नेरइए ॥

" मिच्छादंसणसल्लविरएणं भंते ! " इत्यादि सुगमम्, नवरं सप्तविधबन्धकत्वमष्टविधबन्धकत्वं षड्विधबन्धकत्वमेकविध- बन्धकत्वमबन्धकत्वं च मिथ्यादर्शनशल्यविरतेरविरतसम्य- ग्दृष्टेरारभ्यायोगिकेवलिनं यावद्भावात् । नैरयिकादिचतुर्विं- शतिदण्डकचिन्तायां मनुष्यवर्जेषु शेषेषु सर्वेष्वपि स्थानेषु सप्तविधबन्धकत्वमष्टविधबन्धकत्वं वा, न षड्विधबन्धकत्वा- दिश्रेणिप्रतिपत्त्यसम्भवात्; मनुष्यपदे च यथा जीवपदे तथा वक्तव्यं, मनुष्येषु सर्वभावसम्भवात् ।

बहुवचनेनैतद्विषयं सूत्रमाह-

मिच्छादंसणसल्लविरया णं भंते ! जीवा कइ कम्मपगडीओ बंधंति ?। गोयमा ! ते चेव सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा । मि- च्छादंसणसल्लविरया णं भंते ! णेरइया णं कइ कम्मपगडी- ओ बंधंति ?। गोयमा ! सव्वे वि ताव होज्ज सत्तविहबंधगा य, अहवा सत्तविहबंधगा य अट्ठविहबंधगे य । अहवा सत्तवि- हबंधगा य अट्ठविहबंधगा य । एवं जाव वेमाणिया नवरं म- णुस्सा णं जहा जीवा णं ॥

"मिच्छा"इत्यादि । अत्रापि ते एव पूर्वोक्ताः सप्तविंशतिभङ्गाः, नैरयिकपदे भङ्गत्रिकम् । तत्र सर्वेऽपि तावद्भवेयुः सप्तविधब- न्धका इत्येको भङ्गः । अयं च यदैकोऽप्यष्टविधबन्धको न ल- भ्यते तदा भवति, यदा पुनरेकोऽष्टविधबन्धको लभ्यते तदाऽयं द्वितीयो भङ्गः, सप्तविधबन्धकाश्च अष्टविधबन्धकश्च । यदा पु- नरष्टविधबन्धका अपि बहवो लभ्यन्ते तदा तृतीयः सप्तविध- बन्धकाश्चाष्टविधबन्धकाश्च, एवं भङ्गत्रिकं तावद्वाच्यं या- वद्वैमानिकसूत्रम्,नवरं मनुष्यपदे सप्तविंशतिभङ्गका यथा जी- वपदे इति ।

अथारम्भिक्यादीनां क्रियाणां मध्ये का क्रिया प्राणातिपातवि- रतस्येति चिन्तयति-

पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स किं आरंभिया किरि- या कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ?। गोय- मा ! पाणाइवायविरयस्स जीवस्स आरंभिया किरिया सिय कज्जइ,सिय नो कज्जइ । पाणाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स पारिग्गहिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । पा- णाइवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स मायावत्तिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । पाणा- इवायविरयस्स णं भंते ! जीवस्स अपच्चक्खाणवत्तिया कि- रिया कज्जइ ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । मिच्छादंसणव- त्तियाए पुच्छा ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । एवं पाणाइवाय- विरयस्स मणुस्सस्स वि, एवं जाव मायामोसविरयस्स जी- वस्स मणुस्सस्स य ॥

"पाणाइवायविरयस्स णं भंते!" इत्यादि । आरम्भिकी क्रिया स्याद्भवति, प्रमत्तसंयतस्य भवति, शेषस्य न भवतीति भावः । पारिग्रहिकी निषेध्या, सर्वथा परिग्रहान्निवृत्तत्वात्, अन्यथा सम्यक् प्राणातिपातविरत्यनुपपत्तेर्मायाप्रत्यया स्याद्भवति,स्या- न्न भवति । अप्रमत्तस्यापि हि कदाचित्प्रवचनमालिन्यरक्षणार्थं भवति,शेषकाले तु न भवति । अप्रत्याख्यानक्रिया मिथ्यादर्शन- प्रत्यया च सर्वथा निषेध्यते, तदभावे प्राणातिपातविरत्ययोगा- त् । प्राणातिपातविरतेश्च द्वे पदे । तद्यथा-जीवो, मनुष्यश्च । तत्र यथा सामान्यतो जीवमधिकृत्योक्तम्,तथा मनुष्यमधिकृत्य वक्त- व्यम् । तथा चाह-"एवं पाणाइवायविरयस्स मणुस्सस्स वि" इति । एवं तावद्वक्तव्यं यावन्मायामृषाविरतस्य जीवस्य मनु- ष्यस्य च ।

मिथ्यादर्शनशल्यविरतिमधिकृत्य सूत्रम्-

मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! जीवस्स किं आरंभि- या किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया क- ज्जइ ?। गोयमा ! मिच्छादंसणसल्लविरयस्स जीवस्स आरं- भिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । एवं जाव अपच्चक्खा- णकिरिया मिच्छादंसणवत्तिया किरिया नो कज्जइ । मिच्छा- दंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! णेरइयस्स किं आरंभिया कि- रिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणवत्तिया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ जाव अपच्चक्खाण- किरिया वि कज्जइ । मिच्छादंसणवत्तिया किरिया नो कज्जइ एवं जाव थणियकुमारस्स । मिच्छादंसणसल्लविरयस्स णं भंते ! पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स एवमेव पुच्छा ?। गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ अपच्चक्खाणकिरिया सिय कज्ज- इ, सिय नो कज्जइ, मिच्छादंसणवत्तिया किरिया न कज्जइ, मणुस्सस्स जहा जीवस्स । वाणमंतरजोइसियवेमाणियस्स जहा णेरइयस्स ।

" मिच्छादंसण " इत्यादि । आरम्भिकी स्याद्भवति, स्यान्न भवति । प्रमत्तसंयतस्य भवति, शेषस्य न भवतीति भावार्थः । पारिग्रहिकी देशविरतिं यावद्भवति,मायाप्रत्ययाऽप्यनिवृत्तिबाद- रसम्परायं यावद्भाविनी,परतो न भवति । अप्रत्याख्यानक्रियाऽ-

प्यविरतिसम्यग्दृष्टि यावन्न परतः । तत एता अपि क्रिया अधिकृत्य " सिय कज्जइ सिय नो कज्जइ " इति वक्तव्यम् । तथा-चाह-(एवं जाव अपच्चक्खाणकिरिया इति) मिथ्यादर्शनप्रत्यया पुनर्निषेध्या, मिथ्यादर्शनविरतस्य तस्या असम्भवात् । चतुर्विंशतिदण्डकचिन्तायां नैरयिकाणां स्तनितकुमारपर्यवसानानां चतस्रः क्रिया वक्तव्याः, मिथ्यादर्शनप्रत्यया निषेध्या तिर्यक्पञ्चेन्द्रियायास्तिस्रः क्रिया नियमतो वक्तव्याः, अप्रत्याख्यानक्रिया भाज्या । देशविरतस्य न भवति, शेषस्य भवतीत्यर्थः । मिथ्यादर्शनप्रत्यया निषेध्या मनुष्यस्य यथा सामान्यतो जीवस्य व्यन्तरादीनां यथा नैरयिकस्य ।

सम्प्रत्यासामेवारम्भिक्यादीनां क्रियाणां परस्परमल्पबहुत्वमाह-

एतासि णं भंते ! आरंभियाणं जाव मिच्छादंसणवत्तिया ण य कयरे कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा ४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवाओ मिच्छादंसणवत्तियाओ किरियाओ अपच्चक्खाणकिरियाओ विसेसाहियाओ पारिग्गहियाओ विसेसाहियाओ आरंभियाओ किरियाओ विसेसाहियाओ मायावत्तियाओ विसेसाहियाओ किरियापदं सम्मत्तं ।

"एतासि णं भंते !" इत्यादि । सर्वस्तोका मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया, मिथ्यादृष्टीनामेव भावात् । ततोऽप्रत्याख्यानक्रिया विशेषाधिका, अविरतिसम्यग्दृष्टीनां मिथ्यादृष्टीनां च भावात् । ताभ्योऽपि पारिग्रहिकया विशेषाधिकाः, देशविरतानां पूर्वेषां च भावात् ; आरम्भिक्या विशेषाधिकाः , प्रमत्तसंयतानां पूर्वेषां च भावात्, ताभ्योऽपि मायाप्रत्यया विशेषाधिकाः, अप्रमत्तसंयतानामपि भावात् । प्रज्ञा० २२ पद । (नैरयिकादीनां समक्रियत्वविवेचनं 'सम' शब्दे करिष्यते)

(६) मृगवधाद्युद्यतस्य क्रिया-

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा दहंसि वा उदगंसि वा दवियंसि वा वलयंसि वा णूमंसि वा गहणंसि वा गहणविदुग्गंसि वा पव्वयंसि वा पव्वयविदुग्गंसि वा वणंसि वा वणविदुग्गंसि वा मियवित्तीए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंताए एमिए त्ति काओ अन्नयरस्स मियवहाए कूडपासं उद्दाइ; तओ णं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए ?। गोयमा ! जे भविए उद्दवणयाए णो बंधणयाए णो मारणयाए तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए तिहिं किरियाहिं पुट्ठे जे भविए उद्दवणयाए वि बंधणयाए वि नो मारणयाए तावं च णं से पुरिसे काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे जे भविए उद्दवणयाए वि बंधणयाए वि मारणयाए वि तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे से तेणट्ठेणं जाव पंचकिरिए ॥

तत्र (कच्छंसि व त्ति) कच्छे नदीजलपरिवेष्टिते वृक्षादिमति प्रदेशे । (दहंसि व त्ति) ह्रदे प्रतीते । (उदगंसि व त्ति) उदके जलाशयमात्रे (दवियंसि व त्ति) द्रविके तृणादिद्रव्यसमुदाये (वलयंसि व त्ति) वलये वृत्ताकारनद्याद्युदककुटिलगतियुक्तदेशे (णूमंसि व त्ति) नूमे अवतमसे गाढतमसे (गहणंसि व त्ति) गहने वृक्षवल्लीलतावितानवीरुत्समुदाये (गहणविदुग्गंसि व त्ति) गहनविदुर्गे पर्वतैकदेशावस्थितवृक्षवल्ल्यादिसमुदाये (पव्वयंसि व त्ति) पर्वते (पव्वयविदुग्गंसि व त्ति) पर्वतसमुदाये (वणंसि व त्ति) वने एकजातीयवृक्षसमुदाये (वणविदुग्गंसि व त्ति) नानाविधवृक्षसमूहे, मृगैर्हरिणैर्वृत्तिर्जीविका यस्य स मृगवृत्तिकः । स च मृगरक्षकोऽपि स्यादित्यत आह-(मियसंकप्पे त्ति) मृगेषु संकल्पो वधाध्यवसायश्छेदनं वा यस्यासौ मृगसङ्कल्पः । स च चलचित्ततयाऽपि भवतीत्यत आह-(मियपणिहाणे त्ति) मृगवधैकाग्रचित्तः (मिगवहाए त्ति) मृगवधाय (गंता त्ति) गत्वा, कच्छादाविति योगः । (कूडपासं ति) कूटं च मृगग्रहणकारणं, गर्तादिपाशश्च तद्बन्धनमिति कूटपाशम् । (उद्दाइ ति) उद्दधाति, रचयतीत्यर्थः । (तओ णं ति) ततः कूटपाशकरणात् । (कइ किरिए त्ति) कति क्रियाः, क्रियाश्च कायिक्यादिकाः (जे भविए त्ति) यो भव्यो योग्यः, कर्तेति यावत् । "जावं च णं" इति शेषः । यावन्तं कालमित्यर्थः । कस्याः कर्तेत्याह-(उद्दवणयाए त्ति) कूटपाशकरणतया, ताप्रत्ययश्चेह स्वार्थिकः । (तावं च णं ति) तावन्तं कालं (काइयाए त्ति) गमनादिकायचेष्टारूपया [अहिगरणियाए त्ति) अधिकरणेन कूटपाशरूपेण निर्वृत्ता या सा तथा, तया । (पाओसियाए त्ति) प्रद्वेषो मृगेषु दुष्टभावः, तेन निर्वृत्ता प्राद्वेषिकी, तया (तिहिं किरियाहिं ति) क्रियन्त इति क्रियाश्चेष्टाविशेषाः [पारितावणियाए त्ति] परितापनप्रयोजना पारितापनिकी । सा च बद्धे सति मृगे भवति, प्राणातिपातक्रिया च घातिते इति ।

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय ऊसविय अगणिकायंसि निसिरइ तावं च णं भंते ! से पुरिसे कइकिरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जे भविए उस्सवणयाए तिहिं उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि नो दहणयाए चउहिं जे भविए उस्सवणयाए वि निसिरणयाए वि दहणयाए वि तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे से तेणट्ठेणं गोयमा ! ।

(ऊसविय त्ति) उत्सर्प्य " वत्तिक्किऊणेत्यादि " वद्धीकृत्येति वा [निसिरइ त्ति] निसृजति, क्षिपति, यावदिति शेषः ।

पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव वणविदुग्गंसि वा मियवित्तिए मियसंकप्पे मियपणिहाणे मियवहाए गंता एए मिए त्ति काउं अन्नयरस्स मियस्स वहाए उसुं निसिरइ ततो णं भंते ! से पुरिसे कइकिरिए ?। गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । से केणट्ठेणं गोयमा ! जे भविए निसिरणयाए तीहिं जे भविए निसिरणयाए वि विद्धंसणयाए वि नो मारणयाए चउहिं जे भविए निसि-

रणयाए त्ति विद्धंसणयाए त्ति मारणयाए त्ति तावं च णं से पुरिसे जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, से तेणट्ठेणं गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए । पुरिसे णं भंते ! कच्छंसि वा जाव अन्नयरस्स मियस्स वहाए आययकण्णाययं उसुं आयामेत्ता चिट्ठिज्जा अन्नयरे पुरिसे मग्गओ आगम्म सयपाणिणा असिणा सीसं छिंदेज्जा से य उसू ताए चेव पुव्वायामणयाए तं मियं विंधेज्जा । से णं भंते ! पुरिसे किं मियवेरेण य पुट्ठे पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?। गोयमा ! जे मियं मारेइ से मियवेरेणं पुट्ठे,जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव से पुरिसवेरेणं पुट्ठे ?। से णूणं गोयमा ! कज्जमाणे कडे संधिज्जमाणे संधिए निव्वत्तिज्जमाणे निव्वत्तिए निसिरिज्जमाणे निसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया । हंता भगवं ! कज्जमाणे कडे जाव निसट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया । से तेणट्ठेणं गोयमा ! जे मियं मारेइ से मियवेरेणं पुट्ठे, जे पुरिसं मारेइ से पुरिसवेरेणं पुट्ठे, अंतो छण्हं मासाणं मरइ काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, बाहिं छण्हं मासाणं मरइ काइयाए जाव पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

"उसुं ति" (वाणं आययकण्णाययं ति) कर्णं यावदायत आकृष्टः कर्णायतः । । आयतमप्ययलक्षणत् यथा भवतीत्येवं कर्णायत आयतकर्णायतः, तम् । (आयामेत्त त्ति) आयम्याकृष्य (मग्गओ त्ति) पृष्ठतः (सयपाणिण त्ति) स्वकपाणिना स्वहस्तेन (पुव्वायामणयाए त्ति) पूर्वाकर्षणेन (से णं भंते ! पुरिसे त्ति) स शिरश्छेत्ता पुरुषः (मियवेरेणं ति) इह वैरं वैरहेतुत्वाद्वधः पापं वा वैरं वैरहेतुत्वादिति । अथ शिरश्छेत्तृपुरुषहेतुकत्वादिषु निपातस्य कथं धनुर्धरपुरुषो मृगवधेन स्पृष्ट इत्याकूतवतो गौतमस्य तदभ्युपगतमेवार्थमुत्तरतया प्राह—क्रियमाणं धनुष्काण्डादिकृतमिति व्यपदिश्यते । युक्तिस्तु प्राग्वत् । तथा सन्धीयमानं प्रत्यञ्चायामारोप्यमाणं काण्डं धनुर्ष्याऽऽरोप्यमाणप्रत्यञ्चं सन्धितं कृतसन्धानं भवति तथा निर्वृत्यमानं नितरां वर्तुलीक्रियमाणं प्रत्यञ्चाकर्षणेन निर्वर्तितं वृत्तीकृतं मण्डलाकारं कृतं भवति । तथा निसृज्यमानं निक्षिप्यमाणं काण्डनिसृष्टं भवति, यदा च निसृज्यमानं निसृष्टं तदा निसृज्यमानतया धनुर्द्धरेण कृतत्वात्तेन काण्डनिसृष्टं भवति, काण्डनिसर्गाच्च मृगस्तेनैव मारितः । ततश्चोच्यते-" जे मियं मारेत्यादीति " । इह च क्रियाः प्रक्रान्तास्ताश्चानन्तरोक्ते मृगादिवधे यावत्यो यत्र यत्र कालविभागे भवन्ति तावतीस्तत्र दर्शयन्नाह-" अंतो छण्हमित्यादि " । षण्मासान् यावत्प्रहारहेतुकं मरणम्, परतस्तु परिणामान्तरापादितमिति कृत्वा षण्मासादूर्द्ध्वं प्राणातिपातक्रिया न स्यादिति हृदयम् । एतच्च व्यवहारनयापेक्षया प्राणातिपातक्रियाव्यपदेशमात्रोपदर्शनार्थमुक्तम्; अन्यथा यदा कदाऽप्यधिकृतप्रहारहेतुकं मरणं भवति तदैव प्राणातिपातक्रियेति ॥

पुरिसे णं भंते ! पुरिसं सत्तीए समभिधंसेज्जा सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदेज्जा, तओ णं भंते ! से पुरिसे कइ किरिए ?। गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तं पुरिसं सत्तीए समभिधंसेइ सयपाणिणा वा से असिणा सीसं छिंदेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे आसण्णवहएण य अणवकंखवत्तीएणं पुरिसवेरेणं पुट्ठे ॥

(सत्तीए त्ति) शक्त्या प्रहरणविशेषेण (समभिधंसेज्ज त्ति) हन्यात् (सपाणिण त्ति) स्वकहस्तेन (से त्ति) तस्य (काइयाए त्ति) कायिक्या शरीरस्पन्दरूपया, आधिकरणिक्या शक्तिखड्गव्यापाररूपया, प्राद्वेषिक्या मनोदुष्प्रणिधानेन, पारितापनिक्या परितापनरूपया प्राणातिपातक्रियया मारणरूपया (आसन्न त्ति) इत्यादिशक्त्या अभिध्वंसकोऽसिना वा शिरश्छेत्ता पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः, तथा पुरुषवैरेण च स्पृष्टो मारितः पुरुषवैरिलाभेन । किम्भूतेनेत्याह-आसन्नो वधो यस्माद्वैरात्तत्तथा तेनासन्नवधकेन भवति च वैराद्वधो वधकस्य तमेव वध्यमाभित्यान्यतो वा तत्रैव जन्मनि जन्मान्तरे वा । यदाह-" वहमारणअब्भक्खाण-दाणपरधणविलोवणाईणं । सव्वजहण्णो उदओ, दसगुणिओ एक्कसि कयाणं " ॥ १ ॥ चः समुच्चये । अनवकाङ्क्षणा परप्राणनिरपेक्षा स्वगतापायपरिहारनिरपेक्षा वा वृत्तिर्वर्तनं यत्रैव वैरे तत्तथा, तेनानवकाङ्क्षणवृत्तिकेनेति ॥ भ० १ श० ८ उ० । (पृथ्वीकायमानं यस्तत्कर्तिक्रिय इति 'आण' शब्दे द्वि० भा० १०८ पृष्ठे समुक्तम्)

अथ क्रियाजन्यं कर्म तद्वेदनां चाधिकृत्याह-

पुव्विं भंते ! किरिया पच्छा वेयणा, पुव्विं वेयणा पच्छा किरिया ?। मंडियपुत्ता ! पुव्विं किरिया पच्छा वेयणा, णो पुव्विं वेयणा पच्छा किरिया ॥

" पुव्विं भंते ! " इत्यादि । क्रियाकरणं तज्जन्यत्वात् कर्मापि क्रिया । अथवा क्रियत इति क्रिया कर्मैव । वेदना तु कर्मणोऽनुभवः, सा च पश्चादेव भवति, कर्मपूर्वकत्वात्तदनुभवनस्येति ॥

(१०) अथ क्रियामेव स्वामिभावतो निरूपयन्नाह-

अत्थि णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ?। हंता अत्थि । कहिं णं भंते ! समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ?। मंडियपुत्ता ! पमायपच्चया जोगनिमित्तं च, एवं खलु समणाणं निग्गंथाणं किरिया कज्जइ ॥

"अत्थि णं" इत्यादि । अस्त्ययं पक्षो यदुत क्रिया क्रियते, क्रिया भवति, प्रमादप्रत्ययात् । यथाऽऽहुः-प्रयुक्तकायक्रियाजन्यं कर्म, योगनिमित्तं च, यथेर्यापथिकं कर्म । भ० ३ श० ३ उ० । ('दुक्ख' शब्दे क्रियायाः कृतत्वे करणं भाण्डावहारे वक्ष्यते)

अथ क्रियान्तराणां विषयनिरूपणायाह-

गाहावइस्स णं भंते ! विक्किणमाणस्स केइ भंडं अवहरेज्जा, तस्स णं भंते ! भंडं अणुगवेसमाणस्स किं आरंभिया किरिया कज्जइ, परिग्गहिया मायावत्तिया अपच्चक्खाणीया मिच्छादंसणवत्तिया ?। गोयमा ! आरंभिया किरिया कज्जइ,परिग्गहिया मायावत्तिया अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ, मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । अह से भंडे अभिसमन्नागए भवइ, तओ से पच्छा

सव्वाओ ताओ पयणुईभवंति । गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विकिणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा भंडे य से अणुवणीए सिया । गाहावइस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ, जाव मिच्छादंसणकिरिया कज्जइ । कइयस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ जाव मिच्छादंसणकिरिया कज्जइ?। गोयमा ! गाहावइस्स ताओ भंडाओ आरंभिया किरिया कज्जइ जाव अपच्चक्खाणकिरिया कज्जइ । मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति । गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विकिणमाणस्स जाव भंडे से उवणीए सिया, कइयस्स णं भंते ! ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ, गाहावइस्स वा ताओ भंडाओ किं आरंभिया किरिया ?। गोयमा ! कइयस्स ताओ भंडाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति । मिच्छादंसणकिरिया भयणाए गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति ॥

गृहपतिर्गृही । " मिच्छादंसणकिरिया सिय कज्जइ इत्यादि" मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रिया स्यात्कदाचित् क्रियते भवति, स्याश्नो क्रियते कदाचिन्न भवति । यदा मिथ्यादृष्टिर्गृहपतिस्तदाऽसौ भवति, यदा तु सम्यग्दृष्टिस्तदा न भवतीत्यर्थः । अथ क्रियास्वेव विशेषमाह-(अहेत्यादि) अथेति पक्षान्तरद्योतनार्थः । (से भंडे त्ति) तद्भाण्डम् । (अभिसमण्णागए त्ति) गवेषयता लब्धं भवति । (तओ त्ति) समन्वागमनात् (से त्ति) तस्य गृहपतेः पश्चात्समन्वागमानन्तरमेव (सव्वाओ त्ति) यासां सम्भवोऽस्ति ता आरम्भिकयादिक्रियाः (पयणुईभवंति त्ति) प्रतनुकीभवन्ति ह्रस्वीभवन्ति । अपहृतभाण्डगवेषणकाले हि महत्यस्ता आसन् प्रयत्नविशेषपरत्वात्, गृहपतेस्तल्लाभकाले तु यत्नविशेषोपरतत्वात्ता ह्रस्वीभवन्तीति । (कइए भंडं साइज्जेज्ज त्ति) क्रयिको ग्राहको भाण्डं स्वादयेत् सत्यङ्कारदानतः स्वीकुर्यात् । (अणुवणीए सिय त्ति) क्रयिकायाः समर्पितं स्यात् (कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति त्ति) अप्रासमाणमत्वेन तत्कृतक्रियाणामल्पत्वादिति, गृहपतेस्तु महत्यो भाण्डस्य तदीयत्वात् १ । क्रयिकस्य भाण्डे समर्पिते महत्यस्ताः, गृहपतेस्तु प्रतनुकाः २ । इदं भाण्डस्यानुपनीतोपनीतभेदात्सूत्रद्वयमुक्तमेवं धनस्यापि वाच्यम् ।

गाहावइस्स णं भंते ! भंडं जाव धणे य से अणुवणीए सिया, एयं पि जहा भंडे उवणीए तहा णेयव्वं । चउत्थो आलावगो धणे य से उवणीए सिया जहा पढमो आलावगो भंडे य से अणुवणीए सिया तहा नेयव्वो पढमं चउत्थाणं एक्को गमो वितियतइयाणं एक्को ॥

तत्र प्रथममेवम्--" गाहावइस्स णं भंते ! भंडं विकिणमाणस्स कइए भंडे साइज्जेज्जा धणे य से अणुवणीए सिया कइयस्स णं भंते ! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ४ । गाहावइस्स य ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ५ ?। गोयमा ! कइयस्स ताओ धणाओ हेट्ठिल्लाओ चत्तारि किरियाओ कज्जंति, मिच्छादंसणकिरिया भयणाए गाहावइस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति " धने अनुपनीते क्रयिकस्य महत्यस्ता भवन्ति, धनस्य तदीयत्वात् । गृहपतेस्तु तास्तनुकाः, धनस्य तदानीमतदीयत्वात् । एवं द्वितीयसूत्रसमानमिदं तृतीयम् । अत एवाह-"एयं पि जहा भंडे उवणीए तहा नेयव्वं ति" द्वितीयसूत्रसमतयेत्यर्थः । चतुर्थं त्वेवमध्येयम्-" गाहावइस्स णं भंडं विकिणमाणस्स कइए भंडं साइज्जेज्जा धणे य से उवणीए सिया गाहावइस्स णं भंते ! ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ । कइयस्स वा ताओ धणाओ किं आरंभिया किरिया कज्जइ ? । गोयमा ! गाहावइस्स वा ताओ धणाओ आरंभिया किरिया ४ मिच्छादंसणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ, सिय नो कज्जइ । कइयस्स णं ताओ सव्वाओ पयणुईभवंति ।" धन उपनीते धनप्रत्ययत्वात्तासां गृहपतेर्महत्यः, क्रयिकस्य तु प्रतनुकाः, धनस्य तदानीमतदीयत्वात् । एवं च प्रथमसूत्रसममिदं चतुर्थमित्येतदनुसारेण च सूत्रपुस्तकाक्षराण्यनुगन्तव्यानि । भ० ५ श० ६ उ० ।

(११) श्रमणोपासकस्य क्रियाः-

समणोवासगस्स णं भंते ! सामाइयकडस्स समणोवस्सए अत्थमाणस्स तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ?। गोयमा ! नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ । से केणट्ठेणं जाव संपराइया ?। गोयमा ! समणोवासयस्स णं सामाइयकडस्स समणोवस्सए अत्थमाणस्स आया अहिगरणी भवइ आयाहिगरणवत्तियं च णं तस्स नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ से तेणट्ठेणं ।

" समणेत्यादि " (सामाइयकडस्स त्ति) कृतसामायिकस्य तथा श्रमणोपाश्रये साधुवसतावासीनस्य तिष्ठतः (तस्स त्ति) यो यथार्थस्तस्य श्रमणोपासकस्येति किलाकृतसामायिकस्य तथा साध्वाश्रयेऽनवतिष्ठमानस्य भवति सांपरायिकी, क्रिया विशेषणद्वययोगे पुनरैर्यापथिकी युक्ता, निरुद्धकषायत्वादित्याशङ्कातोऽयं प्रश्नः । उत्तरं तु-(आयाहिगरणी भवइ त्ति) आत्मा जीवोऽधिकरणानि हलशकटादीनि कषायाश्रयभूतानि यस्याः सन्ति साऽधिकरणी, ततश्च (आयाहिगरणवत्तियं च णं ति) आत्मनोऽधिकरणानि आत्माधिकरणानि, तान्येव प्रत्ययः कारणं यत्र क्रियाकरणे तदात्माधिकरणप्रत्ययम् । साम्परायिकी क्रिया क्रियत इति योगः । भ० ७ श० १ उ० ।

अनगारस्यानायुक्ते गच्छतः-

अणगारस्स णं भंते ! अणाउत्तं गच्छमाणस्स वा ३ अणाउत्तं वत्थपरिग्गहं कंबलं पायपुंछणं गेण्हमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स वा तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ ?। गोयमा ! नो इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ । से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिण्णा भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, जस्स णं कोहमाणमायालोभा अवोच्छिण्णा भवंति

तस्स णं संपराइया किरिया कज्जइ। अहासुत्तं रियमाणस्स इरियावहिया किरिया कज्जइ, उस्सुत्तं रियमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ, से णं उस्सुत्तमेव रियइ, से तेणट्ठेणं।

सुगमम्। भ० ७ श० १ उ०।

संवुडस्स णं भंते! अणगारस्स आउत्तं गच्छमाणस्स जाव आउत्तं वत्थपडिग्गहं कंबलं पायपुच्छणं गेण्हमाणस्स वा निक्खिवमाणस्स वा तस्स णं भंते! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ, संपराइया किरिया कज्जइ?। संवुडस्स णं अणगारस्स जाव तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ संवुडस्स णं जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ?। गोयमा! जस्स णं कोहमाणमायालोभा वोच्छिन्ना भवंति तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, तहेव जाव उस्सुत्तं रीयमाणस्स संपराइया किरिया कज्जइ, से णं अहासुत्तमेव रियइ से तेणट्ठेणं गोयमा! जाव नो संपराइया किरिया कज्जइ।

सुगमम्। भ० ७ श० ७ उ०।

(१२) सण्डासकेन तप्तलोहमुत्क्षिपतः-

पुरिसे णं भंते! अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहमाणे वा पविहमाणे वा कइ किरिए?। गोयमा! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठंसि अयोमएणं संडासएणं उव्विहिंति वा पविहिंति वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरिया पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे; जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो अयणिव्वत्तिए अयकोट्ठे णिव्वत्तिए संडासए णिव्वत्तिए इंगाला णिव्वत्तिया इंगालकड्ढिणी णिव्वत्तिया भत्था णिव्वत्तिया ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा। पुरिसे णं भंते! अयं अयकोट्ठाओ अयोमएणं संडासएणं गहाय अहिगरणी उक्खिवमाणे वा णिक्खिवमाणे वा कइ किरिए?। गोयमा! जावं च णं से पुरिसे अयं अयकोट्ठाओ जाव णिक्खिवइत्ता तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो अयणिव्वत्तिए संडासए णिव्वत्तिए चम्मेट्ठए णिव्वत्तिए मुट्ठिए णिव्वत्तिए अधिगरणीणिव्वत्तिए अधिगरणिखोडीणिव्वत्तिए उदगदोणीणिव्वत्तिए अधिगरणसालीणिव्वत्तिया ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा॥

"पुरिसे णं भंते!" इत्यादि। (अयं ति) लोहं (अयकोट्ठंसि त्ति) लोहप्रतापनार्थे कुशूले (उव्विहमाणे व त्ति) उत्क्षिपन् वा (पविहमाणे व त्ति) प्रक्षिपन् वा (इंगालकड्ढिणि त्ति) ईषद्वक्रा लोहमययष्टिः। (भत्थ त्ति) ध्मानखल्लापः इह चायःप्रभृतिपदार्थनिर्वर्त्तकजीवानां पञ्चक्रियत्वमविरतिभावेनावसेयमिति। (चम्मेट्ठि त्ति) लोहमयः प्रतलायतो लोहादिकुट्टनप्रयोजनो लोहाकाराद्युपकरणविशेषः (मुट्ठिय त्ति) लघुतरो घनः (अहिगरणिखोडि त्ति) यत्र काष्ठेऽधिकरणी निवेश्यते (उदगदोणि त्ति) जलभाजनं, यत्र तप्तं लोहं शीतलीकरणाय क्षिप्यते। (अहिगरणसाल त्ति) लोहपरिकर्मगृहम्। भ० १६ श० १ उ०।

धनुषा विध्यतः-

पुरिसे णं भंते! धणुं परामुसइ २ उसुं परामुसइ २ ठाणं ठाइ २ आययकण्णाययं उसुं करेइ २ उड्ढं वेहासं उसुं उव्विहइ, तए णं से उसुं उड्ढं वेहासं उव्विहिए समाणे जाइं तत्थ पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणइ वत्तेइ लेस्सेइ संघाएइ संघट्टेइ परितावेइ किलामेइ ठाणाओ ठाणं संकामेइ जीवियाओ ववरोवेइ। तए णं भंते! से पुरिसे कइ किरिए?। गोयमा! जावं च णं से पुरिसे धणुं परामुसइ २ जाव उव्विहइ, तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पाणाइवायकिरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, एवं धणुपिट्ठे पंचहिं किरियाहिं जीवा पंचहिं ण्हारू पंचहिं उसू पंचहिं सरे पत्तणे फले ण्हारू पंचहिं अहे णं से उसू अप्पणो गुरुयत्ताए भारियत्ताए गुरुयसंभारियत्ताए अहे वीससाए पच्चोवयमाणे जाइं तत्थ पाणाइं जाव जीवियाओ ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे कइ किरिए?। गोयमा! जावं च णं से उसू अप्पणो गुरुयत्ताए जाव ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे। जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिं धणू निव्वत्तिए ते जीवा चउहिं किरियाहिं धणूपुट्ठे, चउहिं जीवा, चउहिं ण्हारू, चउहिं उसू, पंचहिं सरे, पत्तणे फले ण्हारू पंचहिं जे वि य से जीवा अहे पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे चिट्ठंति ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा॥

(पुरिसे णमित्यादि) (परामुसइ त्ति) परामृशति गृह्णाति (आययकण्णाययं ति) आयतः क्षेपाय प्रसारितः कर्णायतः कर्णं यावदाकृष्टः, ततः कर्मधारयात् आयतकर्णायतः, अतस्तम् इषुं बाणं (उड्ढं वेहासं ति)। ऊर्द्धमिति वृक्षशिखराद्यपेक्षयाऽपि स्यादत आह-विहायसीत्याकाशे (उव्विहइ त्ति) ऊर्द्धं विजहाति, ऊर्द्धं क्षिपतीत्यर्थः। (अभिहणइ त्ति) अभिमुखमागच्छतो हन्ति (वत्तेइ त्ति) वर्तुलीकरोति, शरीरसङ्कोचापादनात्। (लेसेइ त्ति) श्लेषवत्यात्मनि श्लिष्टान् करोति (संघाए त्ति) अन्योऽन्यं गात्रैः संहतान् करोति (संघट्टेइ त्ति) मनाक् स्पृशति (परितावेइ त्ति) समन्ततः पीडयति (किलामेइ त्ति) मारणान्तिकादिसमुद्घातं नयति (ठाणाओ ठाणं संकामेइ त्ति) स्वस्थानात् स्थानान्तरं नयति, (जीवियाओ ववरोवेइ त्ति) च्युतजीवितान् करोतीति। (किरियाहिं पुट्ठे त्ति) क्रियाभिः स्पृष्टः, क्रियाजन्येन

कर्मणा बद्ध इत्यर्थः। (धणु त्ति) धनुर्दण्डगुणादिसमुदायः। ननु पुरुषस्य पञ्च क्रिया भवन्तु,कायादिव्यापाराणां तस्य दृश्यमानत्वात् धनुरादिनिर्वर्तकशरीराणां तु जीवानां कथं पञ्च क्रियाः?, कायमात्रस्यापि तदीयस्य तदानीमचेतनत्वात्,अचेतनकायमात्रादपि बन्धाभ्युपगमे सिद्धानामपि तत्प्रसङ्गः, तदीयशरीराणामपि प्राणातिपातहेतुत्वेन लोके विपरिवर्तमानत्वात् । किञ्च-यथा धनुरादीनि कायिक्यादिक्रियाहेतुत्वेन पापकर्मबन्धकारणानि भवन्ति तज्जीवानामेवं पात्रदण्डकादीनि जीवरक्षाहेतुत्वेन पुण्यकर्मनिबन्धनानि स्युर्न्यायस्य समानत्वादिति?। अत्रोच्यते-अविरतिपरिणामाद्बन्धः। अविरतिपरिणामश्च यथा पुरुषस्यास्ति एवं धनुरादिनिर्वर्तकशरीरजीवानामपीति,सिद्धानां तु नास्त्यसाविति न बन्धः। पात्रादिजीवानां तु न पुण्यबन्धहेतुत्वं,तद्धेतोर्विवेकादेस्तेष्वभावादिति । किञ्च-सर्वज्ञवचनप्रामाण्याद्यथोक्तं तत्तथा श्रद्धेयमेवेति। इषुरिति शरपत्रफलादिसमुदायः। " अहे णं से उसू " इत्यादि। इह धनुष्मदादीनां यद्यपि सर्वक्रियासु कथञ्चिन्निमित्तभावोऽस्ति तथापि विवक्षितबन्धं प्रत्यमुख्यवृत्तिकतया विवक्षितवधक्रियायास्तैः कृतत्वेनाविवक्षणात् , शेषक्रियाणां च निमित्तभावमात्रेणापि तत्कृतत्वेन विवक्षणाच्चतस्रस्ता उक्ताः, बाणादिजीवशरीराणां तु साक्षाद्वधक्रियायां प्रवृत्तत्वात्पञ्चेति। भ० ५ श० ६ उ०।

(१३) वर्षज्ञानार्थं हस्तादिप्रसारयतः-

पुरिसे णं भंते! वासं वासति वासं णो वासति हत्थं वा पायं वा बाहुं वा ऊरुं वा आउंटावेमाणे वा पसारेमाणे वा कइकिरिए ?। गोयमा! जावं च णं से पुरिसे वासं वासइ वासं णो वासतीति हत्थं वा जाव ऊरु वा आउंटावेति वा पसारेति वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

(वासं वासइ त्ति) वर्षो मेघो वर्षति नो वा वर्षो वर्षतीति ज्ञानार्थमिति शेषः। अचक्षुरालोके हि वृष्टिराकाशे हस्तादिप्रसारणादवगम्यत इतिकृत्वा हस्तादिकं आकुण्टयेद्वा, प्रसार्यं प्रसारयेद्वा, आदित एवेति । भ० १६ श० ८ उ०।

तालमारुह्य तत्फलं प्रपातयतः-

पुरिसे णं भंते ! तालमारुहइ, तालमारुहइत्ता तालाओ तालफलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइकिरिए ?। गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तालमारुहइ, तालमारुहइत्ता तालाओ तालफलं पचालेइ वा पवाडेइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो ताले णिव्वत्तिए तालफले णिव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे ।

(तालं ति) तालवृक्षं (पचालेमाणे व त्ति) प्रचालयन् वा (पवाडेमाणे व त्ति) अधः प्रपातयन् वा (पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे त्ति) तालफलानां तालफलाश्रितजीवानां च पुरुषः प्राणातिपातक्रियाकारी, यश्च प्राणातिपातक्रियाकारको सावाख्यानामपीति कृत्वा पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्ट इत्युक्तम् १। येऽपि च तालफलनिर्वर्तकजीवास्तेऽपि च पञ्चक्रियास्तदन्यजीवान् संघट्टनादिभिरुपद्रावयन्तीति कृत्वा २।

अहे णं भंते ! से तालफले अप्पणो गुरुयत्ताए जाव पच्चोवयमाणा जाइं तत्थ पाणाइं जाव जीवियाओ ववरोवेइ ॥

(अहे णमित्यादि) अथ पुरुषकृततालफलप्रचलनादेरनन्तरं तत्तालफलमात्मनो गुरुकतया, यावत्करणात्संभारिकतया, गुरुसम्भारिकतयेति दृश्यम। (पच्चोवयमाणे त्ति) प्रत्यवपतत् यांस्तत्राकाशादौ प्राणादीन् जीविताद्व्यपरोपयति।

तए णं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए ?। गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे तालफले अप्पणो गुरुयत्ताए जाव जीवियाओ ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ३ । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो ताले णिव्वत्तिए ते वि य णं जीवा काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे ४ । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो तालफले णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ५ । जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे वट्टंति, ते वि य णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा ६ । पुरिसे णं भंते! रुक्खस्स मूलं पचालेमाणे वा पवाडेमाणे वा कइकिरिए ?। गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे रुक्खस्स मूलं पचालेइ वा पवाडेइ वा तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे, जेसिं पि णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णिव्वत्तिए जाव बीए णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा । अहे णं भंते ! से मूले अप्पणो गुरुयत्ताए जाव जीवियाओ ववरोइ, तए णं से पुरिसे कइ किरिए ?। गोयमा ! जावं च णं मूले अप्पणो जाव ववरोवेइ तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठे । जेसिं पि णं सरीरेहिंतो कंदे णिव्वत्तिए जाव बीए णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव चउहिं किरियाहिं पुट्ठा । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा । जे वि य णं से जीवा अहे वीससाए पच्चोवयमाणस्स उवग्गहे वट्टंति ते वि णं जीवा काइयाए जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा । पुरिसे णं भंते ! रुक्खस्स कंदे पच्चोवयमाणस्स गोयमा ! जावं च णं से पुरिसे जाव पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णिव्वत्तिए जाव बीए णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा पंचहिं किरियाहिं पुट्ठा । अहे णं भंते ! से कंदे जावं च णं से कंदे अप्पणो जाव चउहिं पुट्ठे । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो मूले णि-

व्वत्तिए खंधे णिव्वत्तिए जाव चउहिं पुट्ठे । जेसिं पि य णं जीवाणं सरीरेहिंतो कंदे णिव्वत्तिए ते वि णं जीवा जाव पंचहिं पुट्ठा । जे वि य से जीवा अहे वीससाए पच्चोवय० जाव पंचहिं पुट्ठा जहा कंदए, एवं जाव वीयं ॥

(ततो णं ति) तेभ्यः सकाशात्कतिक्रियोऽसौ पुरुषः । उच्यते-चतुष्क्रियः, वधनिमित्तभावस्याल्पत्वेन तासां चतसृणामेव विवक्षणात् । तदल्पत्वं च यथा पुरुषस्य तालफलप्रचलनादौ साक्षाद्वधनिमित्तभावोऽस्ति, न तथा तालफलव्यापादितजीवेष्विति कृत्वा ३ । एवं तालनिर्वर्तकजीवा अपि ४ । फलनिर्वर्तकास्तु पञ्चक्रिया एव, साक्षात्तेषां वधनिमित्तत्वात् ५ । ये चाधोनिपततस्तालफलस्योपग्रहे उपकारे वर्त्तन्ते जीवास्तेऽपि पञ्चक्रियाः, वधे तेषां निमित्तभावस्य बहुतरत्वात् ६ । एतेषां च सूत्राणां विशेषतो व्याख्यानं पञ्चमशतोक्तकाण्डक्षेप-पुरुषसूत्रादवसेयम् । एतानि चलनद्वारेण षट्क्रियास्थानान्युक्तानि, मूलादिष्वपि षडेव जावनीयानि । "एवं जाव वीयं ति" अनेन कन्दसूत्राणीव कन्दत्वक्शालप्रवालपत्रपुष्पफलबीजसूत्राण्यध्येयानीति सूचितम् । भ० १७ श० १ उ० ।

(१४) शरीराणि निर्वर्त्तयतः–

जीवे णं भंते ! ओरालियसरीरं णं णिव्वत्तिएमाणे कइकिरिए ? । गोयमा ! सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए; एवं पुढवीकाइए वि । एवं जाव मणुस्से ॥

" जीवे णं भंते ! " इत्यादि । (सिय तिकिरिए सिय चउकिरिए सिय पंचकिरिए त्ति) यदौदारिकशरीरं परपरितापाद्यभावेन निर्वर्तयति तदा त्रिक्रियः, यदा तु परपरितापं कुर्वंस्तन्निर्वर्तयति तदा चतुष्क्रियः । यदा तु परमतिपातयंस्तन्निर्वर्तयति तदा पञ्चक्रिय इति । पृथक्त्वदण्डके स्याच्छब्दप्रयोगो नास्ति, एकदाऽपि सर्वविकल्पसद्भावादिति ॥

जीवा णं भंते ! ओरालियसरीरं णिव्वत्तिएमाणा कइकिरिया ? । गोयमा ! तिकिरिया वि, चउकिरिया वि, पंचकिरिया वि । एवं पुढवीकाइया वि । एवं जाव मणुस्सा । एवं वेउव्वियसरीरेण वि दो दंडगा णवरं जस्स अत्थि वेउव्वियं एवं जाव कम्मगसरीरं । एवं सोइंदियं जाव फासिंदियं । एवं मणजोगं वइजोगं कायजोगं जस्स जं अत्थि तं भाणियव्वं एते एगत्तपुहत्तेणं छव्वीसदंडगा ॥

(छव्वीसदंडग त्ति) पञ्च शरीराणि, इन्द्रियाणि च, त्रयो योगाः, एते च मीलितास्त्रयोदश । एते च एकत्वपृथक्त्वाभ्यां गुणिताः षड्विंशतिरिति । भ० १७ श० १ उ० ।

प्राणातिपातादिना क्रियमाणायाः क्रियायाः स्पर्शना–

तेणं कालेणं तेणं समएणं जाव एवं वयासी–अत्थि णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ ? । हंता अत्थि । सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ? । गोयमा ! पुट्ठा कज्जइ, णो अपुट्ठा कज्जइ, एवं जहा पढमसए छट्ठुद्देसए जाव णो अणाणुपुव्विकड त्ति वत्तव्वं सिया, एवं जाव वेमाणियाणं, णवरं जीवाणं एगिंदियाण य णिव्वाघाएणं छद्दिसिं वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं सिय चउदिसिं सिय पंचदिसिं सेसाणं णियमं छद्दिसिं । अत्थि णं भंते ! जीवाणं मुसावाएणं किरिया कज्जइ ? । हंता अत्थि । सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ? । जहा पाणाइवाएणं दंडओ, एवं मुसावाएण वि, अदिण्णादाणेण वि, मेहुणेण वि, परिग्गहेण वि । एवं एए पंच दंडगा । जं समए णं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जइ, सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ, अपुट्ठा कज्जइ ?; एवं तहेव जाव वत्तव्वं सिया जाव वेमाणियाणं, एवं जाव परिग्गहेणं । एवं एए वि पंच दंडगा । जं देसेणं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जति जाव परिग्गहेणं । जं पदेसेणं भंते ! जीवाणं पाणाइवाएणं किरिया कज्जति, सा भंते ! किं पुट्ठा कज्जइ ? एवं तहेव दंडओ । एवं जाव परिग्गहेणं । एवं एए वीस दंडगा ॥

" तेणमित्यादि " (एवं जहा पढमसते छट्ठुद्देसए त्ति) अनेनेदं सूचितम्-"सा भंते ! किं ओगाढा कज्जइ, अणोगाढा कज्जइ ? । गोयमा ! ओगाढा कज्जइ, णो अणोगाढा कज्जइ" इत्यादि । व्याख्या चास्य प्राग्वत् । (जं समयं ति) यस्मिन्समये प्राणातिपातेन क्रिया कर्म क्रियते इह स्थाने, तस्मिन्निति वाक्यशेषो दृश्यः । (जं देसं ति) यस्मिन्देशे क्षेत्रविभागे प्राणातिपातेन क्रिया क्रियते, तस्मिन्निति शेषोऽत्रापि दृश्यः । (जं पदेसं ति) यस्मिन्प्रदेशे लघुतमे क्षेत्रविभागे क्रिया प्रागुक्ता सा च कर्म, कर्म च दुःखहेतुत्वाद् दुःखमिति । तन्निरूपणायाह-(जीवाणमिति) तन्निरूपणाय दण्डकद्वयम् । कर्मजन्या च वेदना भवतीति तन्निरूपणाय दण्डकद्वयमाह-(जीवाणमित्यादि) । भ० १७ श० ४ उ० ।

(कायपञ्चस्योच्छ्वासनिश्वासावधिकृत्य क्रिया द्वितीयभागे १०८ पृष्ठे ' आणा ' शब्दे समुक्ताः)

पडिक्कमामि पंचहिं किरियाहिं काइयाए अहिगरणियाए पाओसियाए पारितावणियाए पाणाइवायाकिरियाए ॥

प्रतिक्रमामि पञ्चभिः क्रियाभिर्व्यापारलक्षणाभिर्योऽतिचारः कृतः । तद् यथा–कायिकयेत्यादि । आव० ४ अ० । आ० चू० । " आवत्ताइसु जुगवं, इह भणिओ कायवायवावारो । दुन्हेगया य किरिया, जओ निसिद्धा अओ जुत्तो ॥१८९॥ भिन्नविसयं निसिद्धं, किरियादुगमेगया न एगम्मि । जोगतिगस्स विभंगिअ, सुत्ते किरिया जओ भणिआ " ॥१९०॥ आव० ३ अ० । (किइकम्म शब्दे ५२५ पृष्ठे व्याख्याते) "गहणविसग्गपयत्ता, परोप्परविरोहिणो कहं समए । समए दो उवओगा, न होज्ज किरियाण को दोसो ? " ॥ ('भासा' शब्दे चैषा व्याख्यास्यते) (' दोकिरिय ' शब्दे क्रियाद्वयस्य युगपदनुभवः खण्डयिष्यते) जीवादिसत्तारूपे, दश० १४ अ० । जीवादिपदार्थोऽस्तीत्यादिके, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । आस्तिक्ये, पञ्चा० १६ विव० । "अकिरियं परियाणामि किरियं उवसंपज्जामि" । सम्यग्वादे, ध० ३ अधि० । ज्ञानपूर्वकसावद्यानवद्यप्रयोगनिवृत्तिप्रवृत्तिरूपे, विशे० । सम्यक्संयमानुष्ठाने, प्रश्न० १४६ द्वार । सदनुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । समाचारे, षो० ६ विव० । धर्मानुष्ठाने, उत्त० २८ अ० । [' किरियाणय ' शब्दे क्रियाप्राधान्यं वक्ष्यते]

[१५] क्रियाऽष्टकम्–

क्रियते आत्मकर्तृत्वे सा क्रिया कर्तुः द्रव्यस्य प्रवृत्तिः स्वरूपाभिमुखदर्शनज्ञानोपयोगता ज्ञानं स्वरूपाभिमुखवीर्यप्रवृत्तिक्रिया । एवं ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः । तत्र ज्ञानं स्वपरावभासनरूपम्, क्रिया स्वरूपरमणरूपा । तत्र चारित्रवीर्यगुणैकत्वपरिणतिः क्रिया सा साधिका । अत्रानादिसंसारे अशुद्धकायिक्यादिक्रियाव्यापारनिष्पन्नः संसरति, स एव विशुद्धसमितिगुप्त्यादिविनयवैयावृत्यादिसत्क्रियाकरणेन निवर्तते, अतः संसारक्षपणाय क्रिया संवरनिर्जरात्मिका करणीया । नामस्थापने सुगमे । द्रव्यक्रिया–शुद्धा अशुद्धा च। तत्र शुद्धा स्वरूपानुयायियोगप्रवृत्तिरूपा, अशुद्धा कायिक्यादिव्यापाररूपः । भावक्रिया वीर्यप्रवृत्तिरूपा । पुद्गलानुयाय्यौदारिकादिकायव्यापारसंमुखा अशुद्धा । शुद्धा पुनः स्वगुणपरिणमनत्वनिमित्तवीर्यव्यापाररूपा क्रिया भावक्रिया । तत्र क्रिया संकल्पः, नैगमेन संग्रहेण सर्वे संसारजीवाः सक्रिया उक्ताः । व्यवहारेण शरीरपर्याप्त्यनन्तरं क्रिया । ऋजुसूत्रनयेन कार्यसाधनार्थं योगप्रवृत्तिमुख्यवीर्यपरिणामरूपा क्रिया, शब्दनयेन वीर्यपरिस्पन्दात्मिका समभिरूढेन गुणसाधनानुरूपसकलकर्तव्यव्यापाररूपा । एवंभूतनयेन तत्त्वैकत्ववीर्यतीक्ष्णतासाहाय्यगुणपरिणमनरूपा । अत्र साधकस्य साधनक्रिययाऽवसरः "नाणचरणेन मुक्खो," तेन चरणगुणप्रवृत्तिस्वरूपग्रहणपरभावत्यागरूपा क्रिया मोक्षसाधका । अतः ज्ञानतत्त्वेन तत्त्वसाधनार्थं सम्यक् क्रिया करणीया । तदुपदेशः क्षायिकसम्यक्त्वं यावत्, निरन्तरं निःशङ्काद्यष्टदर्शनाचारसेवना केवलज्ञानं यावत्, कालविनयादिज्ञानाचारता निरन्तरं यथाख्यातचारित्रादर्वाग्,चारित्राचारसेवना परं शुक्लध्यानं यावत् । तप आचारसेवना सर्वसंवरं यावत् । वीर्याचारस्याराधनाऽवश्यंभाविनी, न हि पञ्चाचारमन्तरेण मोक्षनिष्पत्तिः । दर्शनादिस्वगुणानां प्रवृत्तिः क्रिया, दर्शनादिगुणविशुद्ध्यर्थं तन्निमित्तमवलम्ब्य प्रवर्तनम् आचार इति । अत एव गुणपूर्णतानिष्पत्तेरर्वाक् आचरणा करणीया, आचरणातः गुणनिष्पत्तिर्भवत्येव । पूर्णगुणानां तु आचरणा परोपकाराय इति सिद्धम् ।

अत एव उच्यते–

ज्ञानी क्रियोद्यतः शान्तो, भावितात्मा जितेन्द्रियः ।
स्वयं तीर्णो भवाम्भोधेः, परं तारयितुं क्षमः ॥ १ ॥

ज्ञानी यथार्थतत्त्वस्वरूपावबोधी, यदा क्रिया साधनकारणानुयायियोगप्रवृत्तिरूपा, स्वगुणानुयायिवीर्यप्रवृत्तिरूपा वा, तस्याम् उद्यतः । पुनः शान्तः कषायतापरहितः । भावितात्मा भावितः शुद्धस्वरूपरमणमयः आत्मा यस्य स भावितात्मा । जितेन्द्रियः पराजितेन्द्रियव्यापारः । भवसमुद्रात्स्वयं तीर्णः पारं गतः, परम् आश्रितम् , उपदेशदानादिना तारयितुं क्षमः समर्थो भवति । यो हि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणत आत्मारामी आत्मविश्रामी आत्मानुभवमग्नः स स्वयं संसाराद् निवृत्तः, तत्सेवना परानिस्तारयति । अत्र द्रव्यज्ञानं भावनारहितं वचनव्यापारमनोविकल्परूपं संवेदनज्ञानं यावत् । तच्च भावज्ञानतत्त्वानुभवनरूपोपयोगस्य कारणम् । द्रव्यक्रिया योगव्यापारात्मिका । साऽपि भावक्रिया स्वगुणानुयायि स्वगुणप्रवृत्तिरूपायाः कारणम् । अत्र ज्ञानस्य फलं विरतिः, तेन ज्ञानं विरतिकारणम् । उक्तं च तत्त्वार्थटीकायाम्– दर्शनज्ञाने चारित्रस्य कारणम्, चारित्रं मोक्षकारणम् । उत्तराध्ययनेऽपि–"नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा । अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं " ॥ ३० ॥ उत्त० २८ अ० ।

क्रियाविरहितं हन्त !, ज्ञानमात्रमनर्थकम् ।
गतिं विना पथज्ञोऽपि, नाप्नोति पुरमीप्सितम् ॥ २ ॥

अतः ज्ञानं क्रियायुक्तं हिताय,नैकमेव इत्याह–क्रियाविरहितं हन्त! इति । हन्त ! क्रियाविरहितं, क्रिया साधनप्रवृत्तिरूपा, तया रहितं, ज्ञानमात्रं संवेदनज्ञानम् । अनर्थकं न मोक्षरूपकार्यसाधकम् । तत्र दृष्टान्तः–पथज्ञोऽपि मार्गज्ञाता अपि, गतिं विना चरणविहारक्रियां विना,ईप्सितं इच्छितं,पुरं नगरं, न आप्नोति न प्राप्नोति । चरणचङ्क्रमणेनैव ईप्सितनगरप्राप्तिरिति; "नाणचरणेन मुक्खो" इति वचनात् । "सन्नाणनाणोवगए महेसी, अणुत्तरं चरिउं धम्मसंचयं । अणुत्तरे नाणधरे जसंसी, ओभासई सूरिए वंतलिक्खे ॥ २३ ॥ " इति उत्तराध्ययने २१ अ० ।

पुनस्तदेव द्रढयन्नाह—

स्वानुकूलां क्रियां काले, ज्ञानपूर्णोऽप्यपेक्षते ।
प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि, तैलपूर्त्यादिकां यथा ॥ ३ ॥

ज्ञानपूर्णोऽपि स्वपरविवेचनविशिष्टोऽपि, काले अवसरे कार्यसाधनक्षणे, स्वानुकूलां तत्कार्यकरणरूपां,क्रियाम् अपेक्षते । तत्त्वज्ञानी सम्यग्ज्ञानी प्रथमसंवरकार्यरुचिः देशविरतिसर्वविरतिग्रहणरूपां क्रियाम् आश्रयति, पुनश्चारित्रयुक्तोऽपि तत्त्वज्ञानी केवलज्ञानकार्यनिष्पादनरसिकः शुक्लध्यानारोहरूपां क्रियाम् आश्रयति । केवलज्ञानी सर्वसंवरपूर्णानन्दकार्यावसरे योगरोधरूपां क्रियां करोति । अत एव उच्यते–ज्ञानी क्रियाम् अपेक्षत एव, तदर्थमेव आवश्यककरणं मुनीनाम् । तत्र दृष्टान्तः–यथा प्रदीपः स्वप्रकाशोऽपि तैलपूर्त्यादिकां क्रियाम् अपेक्षते, एवं सम्यग्ज्ञानी अपि क्रियारुचिः भवति । क्रिया हि वीर्यशुद्धिहेतुः, अशुद्धवीर्यविहिताश्रवः संसरति संसारे, स एव गुणी सेवनगुणप्राग्भावोद्यतः संवरी भवति । कर्मप्रदेशग्रहणं योगैः, योगाः वीर्यप्रभवाः, तेन योगाः परमात्मवन्दनस्वाध्यायाध्ययनादियोजिता न कर्मग्रहणाय भवन्ति, योगानां सत्प्रवृत्तिः क्रिया इति ।

बाह्यभावं पुरस्कृत्य, ये क्रियां व्यवहारतः ।
वदने कवलक्षेपं, विना ते तृप्तिकाङ्क्षिणः ॥ ४ ॥

बाह्यभावं बाह्यत्वं पुरस्कृत्य अङ्गीकृत्य ये नरा असेवितगुरुचरणाः व्यवहारतः क्रियां निषेधयन्ति, किं बाह्यक्रियाकरणेन इति उक्त्वा क्रियोद्यमं मन्दयन्ति, ते नरा वदने मुखे कवलक्षेपं विना तृप्तिकाङ्क्षिणः तृप्तिवाञ्छका इति ।

गुणवद्बहुमानादे–र्नित्यस्मृत्या च सत्क्रिया ।
जातं न पातयेद्भाव–मजातं जनयेदपि ॥ ५ ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रक्षमामार्दवाऽऽर्जवादिगुणवन्तः,तेषां बहुमानं स्वतोऽधिकगुणवतां बहुमानम्, आदिशब्दाद् दोषपश्चात्तापः, पापजुगुप्सा, अतीचारालोचनं, देवगुरुसाधर्मिकभक्तिः, उत्तरगुणारोहणादिकं सर्वं ग्राह्यम् । च पुनः नित्यस्मृतिः पूर्वगृहीतव्रतस्मरणम्, अभिनवप्रत्याख्यानसामायिकचतुर्विंशतिस्तवगुरुवन्दनप्रतिक्रमणकायोत्सर्गप्रत्याख्यानादीनां नित्यस्मृत्या सत्क्रिया भवति । अत्र गाथाः श्रीहरिभद्रपूज्यैर्विंशतिकायाम्–

" तम्हा णिच्च सए बहु-माणेणं च अहिगयगुणम्मि ।
पडिवच्छदुगुंछाए, परिवाडिआलोयणं च ॥१॥
तित्थंकरभत्तीए, सुसाहुजणपज्जुवासणाए य ।
उत्तरगुणसद्धाए, पत्थ सया होइ जइयव्वं ॥२॥
पवमसंतो विरई, सो जाइ जिओ अ न पाडइ कया वि ।
ता पत्थं बुद्धिमया, अपमाओ होइ कायव्वो ॥३॥
सुहपरिणामो निच्चं, चउसरणगमाइआयरं जीवो ।
कुसलपयडीउ बंधइ, बद्धा उ सुहाणुबंधा उ ॥४॥"

इत्यादिक्रिया, जातम उत्पन्नं, भाव सम्यग्ज्ञानादिसंवेगनिर्वेदलक्षणं, न पातयेत् । अपि च, न जातं धर्मध्यानशुक्लध्यानादिकं भावमपि, अनुत्पन्नम् अपि, जनयेत् निष्पादयेत्, श्रेणिककृष्णादीनां गुणिबहुमानेन, मृगावत्याः पश्चात्तापेन, आलोचनेन अतिमुक्तनिर्ग्रन्थस्य,गुरुभक्त्या चण्डरुद्रशिष्यस्य, इत्याद्यनेकवाच्यमाना परमानन्दनिष्पत्तिः श्रूयते आगमे ॥ ५ ॥

क्षायोपशमिके भावे, या क्रिया क्रियते तया ।
पतितस्यापि तद्भाव-प्रवृद्धिर्जायते पुनः ॥ ६ ॥

चारित्रानुगवीर्यक्षयोपशमे जाते या क्रिया वन्दनमनादिका क्रियते,तया क्रियया,पतितस्यापि गुणपराङ्मुखस्यापि जीवस्य, पुनः तद्भावप्रवृद्धिः सम्यग्ज्ञानादिगुणभावप्रवृद्धिर्जायते । उक्तं च-"खाओवसमिगभावे दढजत्तकयं सुहं अणुट्ठाणं । पडिवडियं पि अ हुज्जा, पुणो वि तब्भावबोहिकरं" ॥१॥ औदयिकभावेऽपि क्रिया भवति, सा न तादृग्गुणवृद्धिकरी। औदयिकी क्रिया च उच्चैर्गोत्रसुभगोदययशोनामकर्मोदयेन अन्तरायोदयेन उच्चैर्गोत्रोदयेन च तपःश्रुतादिलाभः प्रज्ञापनासूत्रतो ज्ञेयः। इति ज्ञानावरणदर्शनावरणदर्शनमोहचारित्रमोहान्तरायक्षयोपशमतः शुद्धधर्मप्राग्भावार्थं या क्रिया क्रियते सा आत्मगुणप्रकाशकरी भवति ।

पुनः तदेव दर्शयति-

गुणवृद्ध्यै ततः कुर्यात्, क्रियामस्खलनाय वा ।
एकं तु संयमस्थानं, जिनानामवतिष्ठते ॥७॥

ततः स्वधर्मप्राग्भावहेतुत्वात् क्रियां सत्प्रवृत्तिं कुर्यात् । किमर्थम्?,गुणवृद्ध्यै गुणाः ज्ञानादयः तेषां वृद्धिः तस्यै; गुणप्रोल्लासार्थमिति;न ह्याहारादिपञ्चदशसंज्ञानिमित्तम् । पुनः अस्खलनाय अप्रतिपाताय क्रियारहितः साधकत्वे अवस्थातुमसक्तः, यतो वीर्यस्य चापल्यं, तच्च क्रियावतः सत्क्रियादियुक्तं प्रतिपाताय न भवति । अन्यथा च अनादिप्रवृत्तिप्रवृत्तः सन् स्खलनाय भवति,क्रियया उत्तरोत्तरस्थानारोहणं च श्रूयते आगमे । तथा च-पकमप्रतिपाति संयमस्थानं, जिनानां क्षायिकज्ञानं, चारित्रवतां पकं पूर्णस्वरूपैकत्वरूपं स्थानमवतिष्ठते नान्यस्य । अतः साधकेनाभिनवगुणवृद्ध्यर्थं क्रिया करणीया । अत एव वनं निवसन्ति निर्ग्रन्थाः, चैत्ययात्रार्थं गच्छन्ति, नन्दीश्वरादिषु कायोत्सर्गयन्ति, शरीरमाकुञ्चन्ति, विग्रहं वीरासनेन संलेखनत्यनशनोत्सुका गृह्णन्ति परिहारविशुद्धिजिनकल्पाद्यभिग्रहव्यूहम् ।

अथ विधायनुष्ठानदूषिता सानुष्ठाना हि क्रिया भवहेतुरेव, तेन रहिता या क्रिया साधनहेतुः सा एव । आह-

वचोऽनुष्ठानतोऽसङ्गक्रिया सङ्गतिमङ्गति ।
सा एव .... ॥ ८ ॥

वचोऽनुष्ठानत इति । वचनमर्हदाज्ञा,तदनुयायि क्रिया धर्महेतुः ।

यतः-

"प्रशान्तचित्तेन गभीरभावे-नैवादृता सा सफला क्रिया च । अङ्गारवृष्ट्यै सहसा न चेष्टा, नासङ्गदोषैकगुणप्रकर्षा" ॥१॥

विषगरलान्योन्यानुष्ठानत्यागेन श्रीमद्वीतरागवाक्यानुसारतः उत्सर्गापवादसापेक्षरूपा क्रिया वचनानुष्ठानक्रियाकरणतः असङ्गक्रियासंगतिं संयोगिताम् अङ्गति प्राप्नोति वचनक्रियावान् । अनुक्रमेण असङ्गक्रियां निर्विकल्पनिष्प्रयासरूपां क्रियां प्राप्नोति । सा एव असङ्गक्रिया एव, ज्ञानक्रियाया अभेदभूमिः ज्ञेया । असङ्गक्रिया भावक्रिया शुद्धोपयोगः शुद्धवीर्योल्लासः तदात्मतां दधाति । ज्ञानवीर्यैकत्वं ज्ञानक्रिया अभेद इत्यनेन यावत् गुणपूर्णता न तावद् निरनुष्ठानादिक्रिया करणीया । न हि तत्त्वज्ञानक्रिया निषेधिका, किन्तु क्रिया हि शुद्धरत्नत्रयीरूपवस्तुसाधने कारणम्, न धर्मम्, धर्मं च आत्मस्थमेव । उक्तं च श्रीहरिभद्रपूज्यैः दशवैकालिकवृत्तौ-"धर्मसाधनत्वात् धर्म" इति । अतो द्रव्यक्रियां धर्मत्वेन यद् गृह्णन्ति, तत्कारणे कार्योपचार एव, नान्यः । एतच्छूक्तानधिकलानां क्रिया न धर्महेतुः ।"बहुगुणविज्जानिलओ, उस्सुत्तभासी तहा वि मुत्तव्वो । जह पवरमणीजुत्तो, विग्घकरो विसहरो लोए ॥१॥" इति षष्टिशतप्रकरणे । तथा च आचाराङ्गे-"भयविचिकित्सायां न संयमः" इति । अतो निमित्तहेतुत्वेन क्रिया निरनुष्ठाना करणीया, इयं असङ्गक्रिया । सा आनाहपिच्छली स्वाभाविकानन्दामृतरसार्द्रा । अत आत्मतत्त्वाव्याबाधानन्दोत्थकैर्निरनुष्ठाना सत्प्रवृत्त्यसत्प्रवृत्तिपरित्यागरूपा क्रिया द्रव्यतो भावतः स्याद्वादस्वगुणानुयायी वीर्यप्रवृत्त्यभिनवगुणवृद्धिरूपा संयमस्थानारोहणतत्त्वैकत्वरूपा क्रिया प्रतिसमयं करणीया साध्यसापेक्षत्वेन, अत एव ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः इति निर्द्धारणीयम । द्रव्यक्रियोद्यतो भावक्रियावान् भवति, ततश्च स्वरूपास्वादीभवति इति श्रेयः । अष्ट० ६ अष्ट० । "नत्थि काइ किरिया वा पवं भणंति नत्थिवादिणो" नास्ति काचित् क्रिया वा अनिन्द्यक्रिया वा अक्रिया वा पापक्रिया वेतरक्रिययोरास्तिककल्पितत्वेनापारमार्थिकत्वात् । भणन्ति च-"पिब खाद च चारुलोचने! यदतीतं वरगात्रि! तन्न ते । न हि भीरु! गतं निवर्त्तते,समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥१॥" सूत्र० २ श्रु० ७ अ० । धर्मान्तराये, प्रति० । वैद्योपदेशादौषधपाने, नि० चू० १ उ० । चिकित्सायां, श्राद्धे, शौचे, प्रयोगे च । वाच० ।

किरियाकप्प-क्रियाकल्प-पुं० । क्रियायां चिकित्सायां कल्पो विधिः । अथातः क्रियाकल्पं व्याख्यास्याम इत्युपक्रम्य सुश्रुतोक्ते उत्तरतन्त्रे अष्टाध्यायप्रतिपाद्ये क्रियाभेदे, वाच० । स च चतुःशमः कौकलाभेदः । कल्प० ७ क्षण ।

किरियाकय-क्रियाकृत-त्रि० । क्रियोद्यमविहिते, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

किरियाकिरिया-क्रियाक्रिया-स्त्री० । द्वि० व० द्वन्द्वः । क्रियाशब्दार्थयोः,सूत्र० । "पुढो य छंदा इह माणवाओ,किरियाकिरीणं च पुढो य वायं । जायस्स बालस्स पकुव्व देहं,पवड्ढती वेरमसंजतस्स" सूत्र०१ श्रु०१० अ० । (एतद्व्याख्या 'समाहि' शब्दे वक्ष्यते)

किरियाकुसल-क्रियाकुशल-त्रि० । सदनुष्ठानकुशले, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० ।

किरियाचरण-क्रियाचरण-पुं० । क्रियामात्रस्यैव प्राणातिपातादेर्जीवैः क्रियमाणस्य दर्शनात् तद्धेतुकर्मणश्चादर्शनात् क्रियैवाचरणं कर्म यस्य स क्रियाचरणः । व्यापारमात्रकर्मापेते, "किरियाचरणे जीवे" क्रियाचरणः,कोऽसौ?, जीवः,इत्यवष्टम्भपरं यद् विभ-

ङ्गं तत्तृतीयम् । तृतीयो विभङ्गज्ञानभेदः । विभङ्गता चास्य कर्मणोऽदर्शनेनानभ्युपगमात् । स्था० ७ ठा० ।

किरियाजोग-क्रियायोग-पुं०। क्रियैव योगो योगोपायः। योगे,"तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः" इति पातञ्जलयुक्ते योगोपायभूते क्रियाभेदे, वाच० । सदाचारे च । द्वा० १४द्वा० । क्रियासंबन्धे, वाच० ।

किरियाट्ठाण-क्रियास्थान-न०। करणं क्रिया, कर्मबन्धनिबन्धना चेष्टेत्यर्थः। तस्याः स्थानानि भेदाः पर्यायाः। निषिद्धकरणादिषु प्रकारेषु, आव० ४ अ० । स० । तत्प्रतिपादके सूत्रकृताङ्गस्य द्वितीयश्रुतस्कन्धस्य द्वितीयेऽध्ययने, सूत्र० ।

तन्निरुक्तिश्चैवम्-

किरियाओ भणियाओ, किरियाठाणं ति तेण अज्झयणं ।
अहिगारा पुण भणिओ, बंधे तह मोक्खमग्गे य १६०॥सूत्र०नि०।

"किरियाओ" इत्यादि। तत्र क्रियन्त इति क्रियाः,ताश्च कर्मबन्धकारणत्वेनावश्यकान्तर्वर्तिनि प्रतिक्रमणाध्ययने, "पडिक्कमामि तेरसहिं किरियाठाणेहिं ति" अस्मिन् सूत्रेऽभिहिताः। यदि वा ऐहिकक्रिया भणिता अभिहितास्तेनेदमध्ययनं क्रियास्थानमित्युच्यते। तच्च क्रियास्थानं क्रियावत्स्वेव भवति, नाक्रियावत्सु। क्रियावन्तश्च केचिद्बध्यन्ते केचिन्मुच्यन्ते अतोऽध्ययनार्थाधिकारः पुनरभिहितः–'बन्धे तथा मोक्षमार्गे चेति' ।

(क्रियायाः स्थानस्य च स्वस्थाने निक्षेपः)

इह पुनर्यया क्रियया येन च स्थानेनाधिकारस्तद्दर्शयितुमाह–

समुदाणियाणिह तओ, समं पउत्ते य भावठाणम्मि ।
किरियाहि पुरिसपावा-उए उ सव्वे परीक्खेय १६१॥सूत्र०नि०।

"समुदाणीत्यादि" । क्रियाणां मध्ये समुदानिका क्रिया व्याख्याता; तस्याश्च कषायानुगतत्वात् बहवो भेदा यतः, ततस्तासां समुदानिकानां क्रियाणामिह प्रकारे (तओ त्ति) अधिकारो व्यापारः सम्यक्प्रयुक्ते च भावस्थाने, तच्चेह विरतिरूपं संयमस्थानं प्रशस्तभावसंधानरूपं च गृह्यते। सम्यक्प्रयुक्तभावस्थानग्रहणसामर्थ्यादैर्यापथिकी क्रियाऽपि गृह्यते । समुदानिकक्रियाग्रहणाच्चाप्रशस्तभावस्थानान्यपि गृहीतानि। आभिश्च पूर्वोक्ताभिः क्रियाभिः पूर्वोक्तान् पुरुषान् तद्द्वारायातान्प्रावादुकांश्च परीक्षेत सर्वानपीति । यथा चैवं तथा स्वत एव सूत्रकारः-"तं जहा से एगइया मणुस्सा भवंति" इत्यादि। तथा प्रावादुकपरीक्षायामपि-" णायउ भगवं च विप्प जहा भिक्खायरियाए समुट्ठिया " इत्यादिना वक्ष्यतीति । गतो निर्युक्त्यनुगमः । सूत्र० ।

साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्-

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं; इह खलु किरियाट्ठाणे णामज्झयणे पण्णत्ते। तस्स णं अयमट्ठे। इह खलु संजूहेणं दुवे ठाणे एवमाहिज्जंति । तं जहा–धम्मे चेव, अधम्मे चेव, उवसंते चेव, अणुवसंते चेव ॥ १ ॥

" सुयं मे आउसंतेणमित्यादि"। सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्येदमाह–तद्यथा, श्रुतं मयाऽऽयुष्मता भगवतैवमाख्यातम् । इह खलु क्रियास्थानं नामाध्ययनम् । तस्य चायमर्थः–(इह खलु संजूहेणं ति) सामान्येन संक्षेपेण समासतो द्वे स्थाने भवतः। ये क्रियावन्तस्ते सर्वेऽप्यनयोः स्थानयोरेवमाख्यायन्ते। तद्यथा–धर्मे चैवाधर्मे चैव । इदमुक्तं भवति–धर्मस्थानमधर्मस्थानं च। यदि वा धर्मादनपेतं धर्मं, विपरीतमधर्मम्। कारणशुद्ध्या च कार्यशुद्धिर्भवतीत्याह–उपशान्तं यत्तद्धर्मस्थानम्, अनुपशान्तं चाऽधर्मस्थानम् । तत्रोपशान्ते उपशमप्रधाने धर्मस्थानेऽधर्मस्थाने वा केचन महासत्त्वाः समासन्नोत्तरशुभादयो वर्तन्ते , परे च तद्विपर्यस्ते विपर्यस्तमतयः संसाराभिष्वङ्गिणोऽधोऽधोगतयो वर्तन्ते। इह च यद्यप्यनादिभवाभ्यासादिन्द्रियानुकूलतया प्रायशः पूर्वमधर्मप्रवृत्तो भवति,पश्चात्सदुपदेशयोग्याऽऽचार्यसंसर्गाद्धर्मस्थाने प्रवर्तते, तथाऽप्यभ्यर्हितत्वात्पूर्वं धर्मस्थानमुपशमस्थानं च प्रदर्शितं,पश्चात्तद्विपर्यस्तमिति ॥ १ ॥

सांप्रतं तु यत्र प्राणिनामनुपदेशः स्वपरप्रवृत्त्यादावेवं स्थानं भवति तदधिकृत्याह–

तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते । इह खलु पाईणं वा संतेगतिया मणुस्सा भवंति। तं जहा–आरिया वेगे अणारिया वेगे उच्चागोया वेगे णीयागोया वेगे कायमंता वेगे हस्समंता वेगे सुवन्ना वेगे दुवन्ना वेगे सुरूवा वेगे दुरूवा वेगे ॥२॥ तेसिं च णं इमं एतारूवं दंडसमादाणं संपेहाए। तं जहा–णेरइएसु वा तिरिक्खजोणिएसु वा मणुस्सेसु वा देवेसु वा जे यावन्ने तहप्पगारा पाणा विन्नू वेयणं वेयंति ॥३॥

तत्रेति वाक्योपन्यासार्थे, णमिति वाक्यालङ्कारे, योऽसौ प्रथमानुष्ठेयतया प्रथमस्याधर्मपक्षस्य स्थानस्य विविधो भङ्गो विचारस्तस्यायमर्थ इति । इहास्मिन् जगति प्राच्यादिषु दिक्षु मध्येऽन्यतरस्यां दिशि सन्ति विद्यन्ते एके केचन मनुष्याः पुरुषास्ते चैवंभूता भवन्तीत्याह । तद्यथा–आराद्याताः सर्वहेयधर्मेभ्य इत्यार्याः । तद्विपरीताश्चाऽनार्याः, एके केचन भवन्ति यावद् दुरूपाः, सुरूपाश्चेति। तेषां चाऽऽर्यादीनामिदं वक्ष्यमाणमेतद्रूपम्। दण्डयतीति दण्डः,पापोपादानसंकल्पः, तस्य समादानं ग्रहणं [संपेहाए त्ति] संप्रेक्ष्य। तच्चतुर्गतिकानामन्यतमस्य भवतीति दर्शयति-"तं जहेत्यादि"। तद्यथा–नारकादिषु ये चान्ये तथाप्रकारास्तद्वर्तिनः सुवर्णदुर्वर्णादयः प्राणाः प्राणिनो विद्वांसो वेदनां ज्ञानं तद्वेदयन्त्यनुभवन्ति। यदि वा सातासातरूपां वेदनामनुभवन्तीत्यत्र चत्वारो भङ्गाः । तद्यथा–संज्ञिनो वेदनामनुभवन्ति विदन्ति च १, सिद्धास्तु विदन्ति नानुभवन्ति २, असंज्ञिनोऽनुभवन्ति न पुनर्विदन्ति ३, अजीवास्तु न विदन्ति नाप्यनुभवन्तीति ४ ।

इह पुनः प्रथमतृतीयाभ्यामधिकारो, द्वितीयचतुर्थाववस्तुभूताविति–

तेसिं पि य णं इमाइं तेरस किरियाठाणाइं भवंतीति मक्खायं। तं जहा–अट्ठादंडे अणट्ठादंडे हिंसादंडे अकम्हादंडे दिट्ठीविपरियासियादंडे मोसवत्तिए अदिन्नादाणवत्तिए अज्झत्थवत्तिए माणवत्तिए मित्तदोसवत्तिए मायावत्तिए लोभवत्तिए इरियावहिए ॥ ४ ॥

तेषां च नारकातिर्यङ्मनुष्यदेवानां तथाविधज्ञानवतामिमानि वक्ष्यमाणलक्षणानि त्रयोदश क्रियास्थानानि भवन्तीत्येवमाख्यातं तीर्थंकरगणधरादिभिरिति । कानि पुनस्तानीति दर्शयितुमाह–[तं जहेत्यादि] तद्यथेत्ययमुदाहरणवाक्योपन्या-

सार्थः । आत्मार्थाय स्वप्रयोजनकृते दण्डोऽर्थदण्डः पापोपादानम् १। तथाऽनर्थदण्ड इति निष्प्रयोजनमेव सावद्यक्रियानुष्ठानमनर्थदण्डः २ । तथा हिंसनं हिंसा प्राण्युपमर्दरूपा तया, सैव वा दण्डो हिंसादण्डः ३। तथाऽकस्मादनुपयुक्तस्य दण्डोऽकस्माद्दण्डः, अन्यस्य क्रियया ऽन्यस्य व्यापादनमिति ४। तथा दृष्टेर्विपर्यासो रज्ज्वामिव सर्पबुद्धिस्तया दण्डो दृष्टिविपर्यासोऽबुद्धिदण्डः । तद्यथा-लेष्टुकादिबुद्ध्या शराद्यभिघातेन चटकादिव्यापादनम् ५। तथा मृषावादप्रत्ययिकः, स च सद्भूतनिह्नवासद्भूतारोपणः ६। तथा अदत्तस्य परकीयस्याऽऽदानं स्वीकरणमदत्तादानं स्तेयं तत्प्रत्ययिको दण्ड इति ७ । तथा आत्मन्यध्यध्यात्म, तत्र भव आध्यात्मिको दण्डः। तद्यथा-निर्निमित्तमेव दुर्मना उपहतमनःसंकल्पो हृदयेन ह्रियमाणश्चिन्तासागरावगाढः संतिष्ठते ८। तथा आत्याद्यष्टमदस्थानोपहतमनाः परावमदर्शी तस्य मानप्रत्ययिको दण्डो भवति ९। तथा मित्राणामुपतापेन दोषो मित्रदोषस्तत्प्रत्ययिको दण्डो भवति १०। तथा माया परवञ्चनबुद्धिस्तया दण्डो मायाप्रत्ययिकः ११। तथा लोभप्रत्ययिको लोभनिमित्तो दण्ड इति १२। तथा एवं पञ्चभिः समितिभिः समितस्य तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तस्य सर्वोपयुक्तस्यैर्यापथिकः सामान्येन कर्मबन्धो भवति १३ । एतच्च त्रयोदशं क्रियास्थानमिति । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स० । प्रश्न० । (अर्थदण्डादीनां व्याख्यासूत्राण्यर्थदण्डादिशब्देषु द्रष्टव्यानि)

एतानि त्रयोदश क्रियास्थानानि न भगवद्वर्धमानस्वामिनैवोक्तानि, अपि त्वन्यैरपीत्येतद्दर्शयितुमाह-

से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एयाइं चेव तेरस किरियाठाणाइं भासिंसु वा भासेंति वा भासिस्संति वा पन्नविंसु वा पन्नविंति वा पन्नविस्संति वा एवं चेव तेरसमं किरियाठाणं सेविंसु वा सेवंति वा सेविस्संति वा ॥२४॥

(से बेमीत्यादि) सोऽहं ब्रवीमीति यत्प्रागुक्तं तद्ब्रवीमीति । तद्यथा—ये तेऽतिक्रान्ता ऋषभादयस्तीर्थकृतो, ये च वर्त्तमानाः क्षेत्रान्तरे सीमंधरस्वामिप्रभृतयो, ये चाऽऽगामिनः पद्मनाभादयोऽर्हन्तो भगवन्तः सर्वेऽपि ते पूर्वोक्तान्येतानि त्रयोदश क्रियास्थानान्यभाषन्त, भाषन्ते, भाषिष्यन्ते च । तथा तत्स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च प्ररूपितवन्तः प्ररूपयन्ति प्ररूपयिष्यन्ति च । तथैतदेव त्रयोदशं क्रियास्थानं सेवितवन्तः सेवन्ते सेविष्यन्ते च । तथाहि-जम्बूद्वीपे सूर्यद्वयं तुल्यप्रकाशं भवति । यथा वा सदृशोपकरणाः प्रदीपास्तुल्यप्रकाशा भवन्त्येवं तीर्थकृतोऽपि निरावरणत्वात् कालत्रयवर्तिनोऽपि तुल्योपदेशा भवन्ति ॥२४॥ सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आव० । आ० चू० । ध० ।

किरियाणय-क्रियानय-पुं० । क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं युक्तियुक्तत्वादित्यभ्युपगमपरे नयविशेषे, दश० । क्रियानयदर्शनं चेदम्-क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं युक्तियुक्तत्वात् । तथा चायमप्युक्तलक्षणामेव स्वपक्षसिद्धये गाथामाह-

णायम्मि गिण्हियव्वे, अगिण्हियव्वम्मि चेव अत्थम्मि ।
जइयव्वमेव इइ जो, उवएसो सो नओ नामं ॥ १५५ ॥

दश० १ अ० ।

तत्र क्रियानयो वदति-इह ज्ञातेऽवबुद्धे गृहीतव्यादिकेऽर्थे सर्वामपि पुरुषार्थसिद्धिमभिलषता यतितव्यमिति प्रवृत्त्यादिलक्षणा क्रियैव कर्त्तव्येत्येवम् । अत्र व्याख्याने एवकारः स्वस्थाने एव योज्यते । एवं च सति ज्ञातेऽप्यर्थे क्रियैव साध्या । ततो ज्ञानं क्रियोपकरणत्वाद्गौणमित्यतः सकलस्यापि पुरुषार्थस्य क्रियैव प्रधानं कारणमित्ययमुपदेशः । स नयप्रस्तावात् क्रियानयः । शेषं पूर्ववत् । अयमपि स्वपक्षसिद्धये युक्तीरुद्भावयति-ननु क्रियैव प्रधानं पुरुषार्थसिद्धिकारणं प्रयत्नादिक्रियालक्षणविरहेण ज्ञानवतोऽप्यभिलषितार्थसंप्राप्त्यदर्शनात् । तथा चान्यैरप्युक्तम्-" क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥१॥ " तथा आगमेऽपि तीर्थकरगणधरैः क्रियाविकलानां ज्ञानं निष्फलमेवोक्तम्—

"सुबहुं पि सुयमहीयं, किं काही चरणविप्पमुक्कस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्सकोडी वि ।
नाणं सविसयनिययं, न नाणमेत्तेण कज्जनिप्फत्ती ॥
मग्गन्नू दिंतो, होइ सचेट्ठो अचेट्ठो य ।
जाणंतो वि य तरिउं, काइयजोगं न जुंजई जो उ ।
सो वुज्झइ सोएणं, एवं नाणी चरणहीणो" ॥

" जहा खरो चंदणभारवाही " इत्यादि । एवं तावत्क्षायोपशमिकीं चरणक्रियामङ्गीकृत्य प्राधान्यमुक्तम् । अथ क्षायिकीमप्याश्रित्य तस्या एव प्राधान्यमवसेयम् । यस्मादर्हतोऽपि भगवतः समुत्पन्नकेवलज्ञानस्यापि न तावन्मुक्त्यवाप्तिः संपद्यते, यावदखिलकर्मेन्धनानलज्वालाकलापकल्पा शैलेश्यवस्थायां सर्वसंवररूपचारित्रक्रिया न प्राप्तेति, तस्मात् क्रियैव प्रधानं सर्वपुरुषार्थसिद्धिकारणम् । प्रयोगश्चात्र-यद्यत्समनन्तरभावि तत्कारणं, यथाऽन्त्यावस्थाप्राप्तपृथिव्यादिसामग्र्यनन्तरभावी तत्कारणोऽङ्कुरः, क्रियाऽनन्तरभाविनी च सकलपुरुषार्थसिद्धिरिति । ततश्चैव चतुर्विधसामायिके सर्वदेशविरतिसामायिके एव मन्यते । क्रियारूपत्वेन प्रधानमुक्तिकारणत्वात् सम्यक्त्वश्रुतस्य, सामायिके तु तदुपकारित्वमात्रतो गौणत्वान्नेच्छतीति । विशे० । आव० । आचा० । आ० म० द्वि० । व्य० । सू० । सूत्र० । नि०चू० ।

अधुना क्रियानयाभिप्रायोऽभिधीयते । तद्यथा--क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, यस्मादर्शितेऽपि ज्ञानेनार्थक्रियासमर्थेऽर्थे प्रमाता प्रेक्षापूर्वकारी यदि हानोपादानरूपां प्रवृत्तिक्रियां न कुर्यात्ततो ज्ञानं विफलतामियात्तदर्थत्वात् तस्येति । " यस्य हि यदर्थे प्रवृत्तिस्तत्तस्य प्रधानमितरदप्रधानम् " इति न्यायात् संविदा विषयव्यवस्थानस्याप्यर्थक्रियार्थत्वात् क्रियायाः प्राधान्यमन्वयव्यतिरेकावपि क्रियायां समुपलभ्येते । यतः सम्यक्चिकित्साविधिज्ञोऽपि यथा पथ्यौषधावाप्तावपि प्रयोजनक्रियारहितो नोल्लाघतामेति । तथा चोक्तम्-

"शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः,
यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।
संचिन्त्यतामातुरमौषधं हि,
न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् " ।

तथा-

" क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् ।
यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् । "इत्यादि ।
यत्क्रियायुक्तश्च यथाभिलषितार्थभाग्भवत्यपि, कुत इति चेत्?, न

हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, न च सकललोकप्रत्यक्षसिद्धे अर्थे अन्यत्प्रमाणान्तरं मृग्यत इति। तथाऽऽमुष्मिकफलप्राप्त्यर्थिनाऽपि तपश्चरणादिका क्रियैव कर्त्तव्या, मौनीन्द्रप्रवचनमप्येवमेव व्यवस्थितम्। यत उक्तम्-"चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयणसुए य। सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजमसुज्जमंतेण"॥१॥ इतश्चैतदेवमङ्गीकर्त्तव्यम् यतस्तीर्थकृदादिभिः क्रियारहितं ज्ञानमप्यफलमुक्तम्। उक्तं च-'सुबहुं पि सुअमधीतं, किं काही चरणविप्पहूणस्स। अंधस्स जह पलित्ता, दीवसतसहस्सकोडी वि।" इति क्रियापूर्वकक्रियाविकलत्वात्तस्येति भावः। न केवलं क्षायोपशमिकाद् ज्ञानात् क्रिया प्रधाना, किन्तु क्षायिकादपि; यतः सत्यपि जीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदके ज्ञाने समुल्लासिते न व्युपरतक्रियानिवर्तिध्यानक्रियामन्तरेण भवधारणीयकर्मोच्छेदः। तदुच्छेदाच्च न मोक्षम्, चारित्रतो न ज्ञानं प्रधानम्, चरणक्रियायां पुनरैहिकामुष्मिकफलावाप्तिरित्यतः सैव प्रधानभावमनुभवतीति। आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ०।

किरियाणास-क्रियानाश-पुं०। स्वाचारभ्रंशे, विटचेष्टायां च। "साहूणमणुव्वामो, किरियाणासो उ उववाए" पञ्चा० ७ विव०।

किरिया (य) रय-क्रियारत-त्रि०। भिक्षाशुद्ध्यप्रतिकर्मताप्रान्तोपधितायापनामासक्षपणाद्यनुष्ठानविरते, पञ्चा० ११ विव०।

किरियारुइ-क्रियारुचि-स्त्री०। पुं०। कर्म० स०। दर्शनज्ञानचारित्रतपोविनयाद्यनुष्ठानविषयिण्यां रुचौ, सम्यक्त्वभेदे, ध० २ अधि०। क्रिया सम्यक्संयमानुष्ठानम्, तत्र रुचिर्यस्य स क्रियारुचिः। दर्शनार्थभेदे, प्रज्ञा०।

क्रियारुचिमाह-

दंसणनाणचरित्ते, तवविणए सव्वसमिइगुत्तीसु।
जो किरिया-भावरुई, सो खलु किरियारुई नाम॥

दर्शनं च ज्ञानं च चारित्रं च दर्शनज्ञानचारित्रम्। समाहारे द्वन्द्वः, तस्मिन्। तथा तपसि विनये च, तथा सर्वासु समितिषु ईर्यासमित्यादिषु, सर्वासु च गुप्तिषु मनोगुप्तिप्रभृतिषु यः क्रियाभावरुचिः। किमुक्तं भवति? यस्य भावतो दर्शनाद्याचारानुष्ठाने रुचिरस्ति, स खलु क्रियारुचिर्नाम। प्रज्ञा० १ पद। उत्त०।

किरियावंत-क्रियावत्-त्रि०। क्रियाऽस्त्यस्य मतुप्, मस्य वः। क्रियाविशिष्टे, क्रियानिरते, "यः क्रियावान् स पण्डितः" क्रियाश्रये कर्तरि च। वाच०। जिनकल्पादितुल्यक्रियाऽभ्यासिनि, अष्ट० ११ अष्ट०।

किरियावाइ (ण्)-क्रियावादिन्-पुं०। क्रियां जीवाजीवादिरर्थोऽस्तीत्येवं रूपां वदन्ति इति क्रियावादिनः। आस्तिकेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्र०। रा०। क्रियैव परलोकसाधनायालमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः। दीक्षात एव क्रियारूपाया मोक्ष इत्येवमभ्युपगमपरेषु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। ज्ञानादिरहितां क्रियामेकामेव स्वर्गापवर्गसाधनत्वेन वदितुं शीलमेषाम्, सूत्र० २ श्रु० ३ अ०। क्रियामात्मसमवायिनीं वदन्ति तच्छीलाश्च, न कर्तारमन्तरेण क्रिया पुण्यबन्धादिलक्षणा संभवति तत एवं परिज्ञायताम्। क्रियाऽऽत्मसमवायिनीत्यभ्युपगमपरेषु, नं०। ध०। तेषां च १८० भेदाः-"असियसयं किरियाणं" सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। तत्र जीवाजीवाश्रवबन्धपुण्यपापसंवरनिर्जरामोक्षाख्या नव पदार्थाः। स्वपरभेदाभ्यां नित्यानित्यविकल्पद्वयेन च कालनियतिस्वभावेश्वरात्माश्रयणादशीत्युत्तरं भेदशतं भवति क्रियावादिनाम्, एते चास्तित्ववादिनोऽभिधीयन्ते। इयमत्र भावना-अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः १, अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः २, अस्ति जीवः परतो नित्यः कालतः ३, अस्ति जीवः परतोऽनित्यः कालतः ४ इत्येवं नित्येन कालेन चत्वारो भेदा लब्धाः। एवं नियतिस्वभावेश्वरात्मभिरप्येकैकेन चत्वारश्चत्वारो विकल्पा लभ्यन्ते। एते च पञ्च चतुष्कका विंशतिर्भवन्ति। इयं च जीवपदार्थेन लब्धा। एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिभेदाश्च। ततश्च नवविंशतयः शतमशीत्युत्तरं भवति (१८०)। तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति न परोपाध्यपेक्षया ह्रस्वत्वदीर्घत्वे इव, नित्यः शाश्वतो न क्षणिकः, पूर्वोत्तरकालयोरवस्थितत्वात्, कालत इति काल एव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम्। उक्तं च-"कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः। कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः॥१॥" स चातीन्द्रियो युगपच्चिरक्षिप्रक्रियाभिव्यङ्ग्यो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतुः क्षणलवमुहूर्त्तयामाहोरात्रपक्षमासर्त्त्वयनसंवत्सरयुगकल्पपल्योपमसागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्पिणीपुद्गलपरावर्त्तातीतानागतवर्तमानसर्वाद्धादिव्यवहाररूपः। द्वितीयविकल्पे तु कालादेवात्मनोऽस्तित्वमभ्युपेयम्, किन्त्वनित्योऽसाविति विशेषोऽयम्, पूर्वविकल्पात्। तृतीयविकल्पे तु परत एवास्तित्वमभ्युपगम्यते, कथं पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते?, नन्वेतत्प्रसिद्धमेव सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदः, यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदः, ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येत्येवमेव चाऽनात्मानम्, स्तम्भकुम्भादिसमीक्ष्यातस्तद् व्यतिरिक्ते वस्तुन्यात्मानं बुद्धिः प्रवर्तत इति। अतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्यते, न स्वत इति। चतुर्थविकल्पोऽपि प्राग्वदिति चत्वारो विकल्पाः। तथाऽन्ये नियतिरेवात्मनः स्वरूपमवधारयन्ति। का पुनरियं नियतिरिति?। उच्यते-पदार्थानामवश्यंतया यथाभवने प्रयोजककर्त्री नियतिः। उक्तं च-"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा। भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥१॥" इयं च मस्करिपरिव्राजकानुसारिणां प्राय इति। अपरे पुनः स्वभावादेव संसारव्यवस्थामभ्युपयन्ति। कः पुनरयं स्वभावः?। वस्तुनः स्वत एव तथापरिणतिभावः स्वभावः। उक्तं च-

"कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः?॥
स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः।
नाहं कर्तेति भूतानां, यः पश्यति स पश्यति॥
केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गनानां,
कोऽलङ्करोति रुचिराङ्गरुहान् मयूरान्।
कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति,
को वा दधीत विनयं कुलजेषु पुंसु?॥"

तथाऽन्येऽभिदधते-समस्तमेतज्जीवादि ईश्वरात्प्रसूतम्, तस्मादेव स्वरूपेऽवतिष्ठते। कः पुनरयमीश्वरः?, अणिमाद्यैश्वर्ययोगादीश्वरः। उक्तं च-"अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा"॥१॥ तथाऽन्ये ब्रुवते-न जीवादयः पदार्थाः कालादिभ्यः स्वरूपं प्रतिपद्यन्ते, किं तर्ह्यात्मनः। कः पुनरयमात्मा?, आत्माऽद्वैतवादिनां विश्वपरिणतिरूप आत्मा। उक्तं च-"एक एव हि भूता-

त्मा, भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्" ॥१॥ तथा-"पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्," इत्यादि। एवमस्त्यजीवः स्वतः नित्यः कालत इत्येवं सर्वत्र योज्यम्। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। आव०। सूत्र०।

सम्मद्दिट्ठी किरिया-वादी सेसा य मिच्छवादी ।
जहिऊण मिच्छवायं,सेवह वायं इमं सच्चं ।२३। सूत्र० नि० ।

ननु च क्रियावाद्यप्यशीत्युत्तरशतभेदो भवति, तत्र तत्र प्रदेशे कालादीनभ्युपगच्छन्नेव मिथ्यावादित्वेनोपन्यस्तः, तत्कथमिह सम्यग्दृष्टित्वेनोच्यत इति?। उच्यते-स तत्रास्त्येव जीव इत्येवं सावधारणतयाऽभ्युपगमं कुर्वन् काल एवैकः सर्वस्यास्य जगतः कारणम्, तथा स्वभाव एव, नियतिरेव, पूर्वकृतमेव, पुरुषकार एवेत्येवमपरनिरपेक्षतयैकान्तेन कालादीनां कारणत्वेनाश्रयणान्मिथ्यात्वम्। तथाहि-अस्त्येव जीव इत्येवमस्तिना सह जीवस्य सामानाधिकरण्यात्। यद्यदस्ति तत्तज्जीव इति प्राप्तम्,अतो निरवधारणपक्षसमाश्रयणादिह सम्यक्त्वमभिहितम्। तथा कालादीनामपि समुदितानां परस्परसव्यपेक्षाणां कारणत्वेनेहाश्रयणात्सम्यक्त्वमिति। ननु च कथं कालादीनां प्रत्येकं निरपेक्षाणां मिथ्यात्वस्वभावत्वे सति समुदितानां सम्यक्त्वसद्भावः। न हि यत्प्रत्येकं नास्ति तत्समुदायेऽपि भवितुमर्हति। सिकतातैलवत् ?। नैतदस्ति, प्रत्येकं प्रत्येकं पद्मरागादिमणिष्वविद्यमानाऽपि रत्नावली समुदाये भवन्ती दृष्टा। न च दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति यत्किञ्चिदेतत्। तथा चोक्तम्-

"कालो सहाव णियई, पुव्वकयं पुरिसकारऽणेगंता।
मिच्छत्तं,ते चेव उ,समासओ होंति सम्मत्तं॥ १॥
सव्वे वि य कालाइय-समुदायेण साहगा भणिया।
जुज्जन्ति य एमेव य, सम्मं सव्वस्स कज्जस्स ॥ २ ॥
न हि कालादीहिंतो, केवलएहिं तु जायए किंचि।
इह मुग्गरंधणादि वि, ता सव्वे समुदिता हेऊ ॥ ३ ॥
जहऽणेगलक्खणगुणा, वेरुलियादी मणी वि संजुत्ता।
रयणावली व एसं, ण लहंति महग्घमुल्ला वि ॥ ४ ॥
तह णियवादसुविणि-च्छिया वि अप्पाणपक्खनिरवेक्खा।
सम्मद्दंसणसद्दं, सव्वे वि णया ण पाविंति ॥ ५ ॥
जह पुण ते चेव मणी, जहा गुणविसेसभागपडिबद्धा।
रयणावलि त्ति भण्णइ, चयंति पाडिक्कसण्णाओ ॥ ६ ॥
तह सव्वे णयवाया, जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा।
सम्मद्दंसणसद्दं, लभंति न विसेससण्णाओ ॥ ७ ॥
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी, सव्वे वि णया सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णनिस्सिया पुण, हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ ८ ॥"

यत एवं तस्मात् त्यक्त्वा मिथ्यात्ववादं कालादिप्रत्येकैकान्तकारणरूपं, सेवध्वमङ्गीकुरुध्वं सम्यग्वादं परस्परसव्यपेक्षं कालादिकारणरूपमिममिति भयोक्तं प्रत्यक्षावसन्नं सत्यमवितथमिति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। नि०।

सम्यक्त्वमिथ्यात्वव्याख्यानयोरुक्तम्, एवंप्रकारं क्रियावादतदितरवादेष्वतिदिशन्नाह-

इत्थमेव क्रियावादे, सम्यक्त्वोक्तिर्न दुष्यति ।
मिथ्यात्वोक्तिस्तथाऽज्ञाना-क्रियाविनयवादिषु ॥ १२७ ॥

(इत्थमेवेति) इत्थमेव मार्गप्रवेशत्यागाभ्यामेव,क्रियावादे सम्यक्त्वोक्तिः 'सम्मद्दिट्ठी किरियावाई' इत्यादिलक्षणा, अक्रियाज्ञानविनयवादिषु च मिथ्यात्वोक्तिः "सेसा य मिच्छवाई" इत्यादि न दुष्यति न दोषावहा भवति फलतः; इत्थं विभागाभिप्राप्त्या विरोधाज्ज्ञात्या चान्यत्र सर्वतौल्योक्तेरुपपत्तेः ॥१२७॥

क्रियावादस्य सम्यक्त्वरूपतामेव युक्त्यन्तरेण द्रढयति-

क्रियायां पक्षपातो हि, पुंसां मार्गाभिमुख्यकृत् ।
अन्त्यपुद्गलभावित्वा-दन्येभ्यस्तस्य मुख्यता ॥१२८॥

(क्रियायामिति) क्रियायां पक्षपातो मोक्षेच्छयाऽऽवेशो हि पुंसां मार्गाभिमुख्यकृत् मार्गानुसारितः स्थैर्याधायको भवति। तेनान्त्यपुद्गलभावित्वाच्चरमपुद्गलपरावर्त्तमात्रसंभवत्वादन्येभ्योऽक्रियावादादिभ्यस्तस्य क्रियावादस्य मुख्यता। तदुक्तं दशाचूर्णौ-"जो अकिरियावाई सो भविओ अभविओ वा कण्हपक्खिओ सुक्कपक्खिओ वा। जो किरियावाई सो णियमा भविओ णियमा सुक्कपक्खिओ अंतोपुग्गलपरियट्टस्स सिज्झइ" इत्यादि। नयो०।

दीक्षात एव मोक्षवादिनां मतं दुदूषयिषुस्तन्मतमाविष्कुर्वन्नाह—

ते एवमक्खंति समिच्च लोगं,तहा (गया) तहा समणा माहणा य।
सयंकडं णन्नकडं च दुक्खं,आहंसु विज्जाचरणं च मोक्खं ।११।

ये क्रियात एव ज्ञाननिरपेक्षाया दीक्षादिलक्षणाया मोक्षमिच्छन्ति, ते एवमाख्यान्ति। तद्यथा-अस्ति माता पिता, अस्ति सुचीर्णस्य कर्मणः फलमिति। किं कृत्वा त एवं कथयन्ति ?-क्रियात एव सर्वं सिध्यतीति स्वाभिप्रायेण लोकं चराचरजङ्गमात्मकं समेत्य ज्ञात्वा किल वयं यथावस्थितवस्तुनो ज्ञातार इत्येवमभ्युपगम्य सर्वमस्त्येवेत्येवं सावधारणं प्रतिपादयन्ति, न कथञ्चिन्नास्तीति कथमाख्यान्ति ?। तथा तेन प्रकारेण यथा यथा क्रिया तथा तथा स्वर्गनरकादिकं फलमिति। ते च श्रमणास्तीर्थिका ब्राह्मणा वा क्रियात एव सिद्धिमिच्छन्ति। किञ्च-यत् किमपि संसारे दुःखं तथा सुखं च तत्सर्वं स्वयमेवात्मना कृतं नान्येन कालेश्वरादिना। न चैतदक्रियावादे घटते। तत्र हि-अक्रियात्वादात्मनोऽकृतयोरेव सुखदुःखयोः संभवः स्यात्, एवं च कृतनाशाकृतागमौ स्याताम् ?। अत्रोच्यते-सत्यम्, अस्त्यात्मसुखदुःखादिकम्, न त्वस्त्येव। तथाहि-यद्यस्त्येवं सावधारणमुच्येत,ततश्च न कथञ्चिन्नास्तीत्यापन्नम्, एवं च सति सर्वं सर्वात्मकमापद्येत। तथा च सर्वलोकस्य व्यवहारोच्छेदः स्यात्। न च ज्ञानरहितायाः क्रियायाः सिद्धिः, तदुपायपरिज्ञानाभावात्। नचोपायमन्तरेणोपेयमवाप्यत इति प्रतीतम्। सर्वा हि क्रिया ज्ञानवत्येव फलवत्युपलक्ष्यते। उक्तं च-

"ज्ञानस्य ज्ञानिनां चैव, निन्दाप्रद्वेषमत्सरैः।
उपघातैश्च विघ्नैश्च, ज्ञानघ्नं कर्म बध्यते" ॥ १ ॥

"पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठति सव्वसंजए॥
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही छेयपावयं" ॥ १ ॥

इत्यतो ज्ञानस्यापि प्राधान्यम्। नापि ज्ञानादेव सिद्धिः, क्रियारहितस्य पङ्गोरिव कार्यसिद्धेरनुपपत्तिरित्यालोच्याह-(आहंसु विज्जाचरणं च मोक्खं ति) न ज्ञाननिरपेक्षायाः क्रियायाः सिद्धिरन्धस्येव, नापि क्रियाविकलस्य ज्ञानस्य पङ्गोरित्येवमवगम्याहुरुक्तवन्तः,तीर्थकरगणधरादयः

किमाहुः ?, मोक्षम । कथम् ?, विद्या च ज्ञानं, चरणं च क्रिया, ते द्वे अपि विद्येते कारणत्वेन यस्येति विगृह्य " अर्श आदिभ्योऽच् " ५ । २ । १२७ । इति [पाणि०] सूत्रेण मत्वर्थीयोऽच् । असौ विद्याचरणो मोक्षः, ज्ञानक्रियासाध्य इत्यर्थः । तमेव साध्यं मोक्षं प्रतिपादयन्ति । यदि वाऽन्यथा वा पातनिकाकेनैतानि समवसरणानि प्रतिपादितानि ?, यच्चोक्तं यच्च वक्ष्यते इत्येतदाशङ्क्याह-[ते एवमक्खंतीत्यादि] अनिरुद्धा कचिदप्यस्खलिता, प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा ज्ञानं, येषां तीर्थकृतां तेऽनिरुद्धप्रज्ञास्त एवमनन्तरोक्तया प्रक्रियया सम्यगाख्यान्ति प्रतिपादयन्ति । लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं,स्थावरजङ्गमाख्यं वा, समेत्य केवलज्ञानेन करतलामलकन्यायेन ज्ञात्वा । तथागतास्तीर्थकरत्वं केवलज्ञानं च गताः श्रमणाः साधवो ब्राह्मणाः संयताऽसंयताः, लौकिकी वाचोयुक्तिः । किंभूतास्त एवमाख्यान्तीति संबन्धः । 'तथा तथेति' वा क्वचित्पाठः । यथा यथा समाधिमार्गो व्यवस्थितस्तथा तथा कथयन्ति । एतच्च कथयन्ति-यथा यत्किञ्चित्संसारान्तर्गतानामसुमतां दुःखमसातोदयस्वभावं, तत्प्रतिपक्षभूतं च सातोदयापादितं सुखं, तत्स्वयमात्मना कृतं, नान्येन कालेश्वरादिना कृतमिति । तथा चोक्तम्- " सव्वो पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं । अवराहेसु गुणेसु य, णिमित्तमेत्तं परो होइ " ॥ १ ॥ एतच्चाहुस्तीर्थकरगणधरादयः । तद्यथा-विद्या ज्ञानं, चरणं चारित्रं क्रिया, तत्प्रधानो मोक्षस्तमुक्तवन्तः, न ज्ञानक्रियाभ्यां परस्परानपेक्षाभ्यामिति । तथा चोक्तम्-"क्रिया च सज्ज्ञानवियोगनिष्फला, क्रियाविहीना च विबोधसंपत् । निरस्तताक्लेशसमूहशान्तये, त्वया शिवाया लिखितेव पद्धतिः" ॥ १ ॥

किञ्च—

ते चक्खु लोगंसिह णायगा उ, मग्गाऽणुसासंति हितं पयाणं ।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव ! संपगाढा ॥ १२ ॥

(ते चक्खुलोगंसिहेत्यादि) ते तीर्थकरगणधरादयोऽतिशयज्ञानिनोऽस्मिन् लोके, चक्षुरिव चक्षुर्वर्तन्ते । यथा हि चक्षुर्योग्यदेशावस्थितान् पदार्थान् परिच्छिनत्ति, एवं तेऽपि लोकस्य यथावस्थितपदार्थाविष्करणं कारयन्ति । यथाऽस्मिन् लोके ते नायकाः प्रधानाः । तुशब्दो विशेषणे । सदुपदेशदानतो वा नायका इति । एतदाह--मार्गं ज्ञानादिकं मोक्षमार्गम्,अनुशासन्ति कथयन्ति । प्रजायन्त इति प्रजाः प्राणिनः, तेषाम् । किंभूतम् ?, हितं सद्गतिप्रापकमनर्थनिवारकम् । किञ्च-चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके पञ्चास्तिकायात्मके वा येन प्रकारेण द्रव्यास्तिकनयाभिप्रायेण यद्वस्तु शाश्वतं तत्तथा आहुरुक्तवन्तः। यदि वा लोकोऽयं प्राणिगणः संसारान्तर्वर्ती यथा यथा शाश्वतो भवति तथा तथैवाहुः । तद्यथा—यथा यथा मिथ्यादर्शनाभिवृद्धिस्तथा तथा शाश्वतो लोकः । तथाहि-तत्र तीर्थकराहारकवर्ज्याः सर्व एव कर्मबन्धाः सम्भाव्यन्त इति । तथाच महारम्भादिभिश्चतुर्भिः स्थानैर्जीवा नरकायुष्कं यावन्निवर्तयन्ति तावत्संसारानुच्छेद इति । अथवा यथा यथा रागद्वेषादिवृद्धिस्तथा तथा संसारोऽपि शाश्वत इत्याहुः । यथा यथा च कर्मोपचयमात्रा तथा तथैव संसाराभिवृद्धिरिति । दुष्टमनोवाक्कायाभिवृद्धौ वा संसाराभिवृद्धिरवगन्तव्या; तदेवं संसारस्याभिवृद्धिर्भवति । यथाऽस्मिंश्च संसारे प्रजायन्त इति प्रजा जन्तवः । हे मानव ! मनुष्याणामेव प्रायश उपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणम् । सम्यग्नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन प्रगाढाः प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति ॥ १२ ॥

लेशतो जन्तुभेदप्रदर्शनद्वारेण तत्पर्यटनमाह-

जे रक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया ।
आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥ १३ ॥

ये केचन व्यन्तरभेदा राक्षसात्मानः, तद्ग्रहणाच्च सर्वेऽपि व्यन्तरा गृह्यन्ते । तथा यमलौकिकात्मनोऽम्बर्ष्यादयः, तदुपलक्षणात्सर्वभवनपतयः, तथा ये च सुराः सौधर्मादिवैमानिकाः । चशब्दाज्ज्योतिष्काः सूर्यादयः, तथा ये गान्धर्वा विद्याधरा व्यन्तरविशेषा वा । तद्ग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थम् । तथा कायाः पृथिवीकायादयः षडपि गृह्यन्ते इति । पुनरन्येन प्रकारेण सत्त्वान्संजिघृक्षुराह-ये केचनाऽऽकाशगामिनः संप्राप्ताकाशगमनलब्धयश्चतुर्विधदेवनिकायविद्याधरपक्षिवायवः; तथा ये च पृथिव्याश्रिताः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः, ते सर्वेऽपि स्वकृतकर्मभिः पुनः पुनर्विविधमनेकप्रकारं पर्यासं परिक्षेपमरहट्टघटीन्यायेन परिभ्रमणमुप सामीप्येन यान्ति गच्छन्तीति ॥ १३ ॥

किञ्चान्यत्—

जमाहु ओहं सलिलं अपारगं,
जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं ।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं,
दुहओ वि लोयं अणुसंचरंति ॥ १४ ॥

यं संसारसागरमाहुरुक्तवन्तस्तीर्थकरगणधरादयः तद्विदः । कथमाहुः?-स्वयंभुरमणसलिलौघवदपारम्, यथा स्वयंभुरमणसलिलौघो न केनचिज्जलचरेण स्थलचरेण वा लङ्घयितुं शक्यते, एवमयमपि संसारसागरः सम्यग्दर्शनिनमन्तरेण लङ्घयितुं न शक्यत इति दर्शयति, जानीहि अवगच्छ, णमिति वाक्यालङ्कारे । भवगहनमिदं चतुरशीतियोनिलक्षप्रमाणं यथासंभवं संख्येयाऽसंख्येयानन्तस्थितिकम् । दुःखेन मुच्यत इति दुर्मोक्षं दुरुत्तरमस्तिवादिनामपि, किंपुनर्नास्तिकानाम् । पुनरपि भवगहनोपलक्षितं संसारमेव विशिनष्टि-यस्मिन् यत्र संसारे सावद्यकर्मानुष्ठायिनः कुमार्गपतिता असत्समवसरणग्राहिणो विषण्णा अवसक्ता विषयप्रधाना अङ्गना विषयाङ्गनास्ताभिः, यदि वा विषयाश्चाङ्गनाश्च विषयाङ्गनास्ताभिर्वशीकृताः सर्वत्र सदनुष्ठानेऽवसीदन्ति । त एवं विषयाङ्गनादिके पङ्के विषण्णा द्विधाऽप्याकाशाश्रितं पृथिव्याश्रितं च लोकम्, यदि वा स्थावरजङ्गमलोकमनुसंचरन्ति गच्छन्ति । यदि वा द्विधाऽपि लिङ्गमात्रप्रव्रज्ययाऽविरत्या च रागद्वेषाभ्यां वा लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं स्वकृतकर्मप्रेरिता अनुसंचरन्ति बम्भ्रम्यन्त इति ॥ १४ ॥

किञ्चान्यत्-

न कम्मणा कम्म खवेंति वाला,
अकम्मणा कम्म खवेंति धीरा ।
मेधाविणो लोभभयावतीता,
संतोसिणो नो पकरेंति पावं ॥ १५ ॥

ते एवमसत्समयशरणाश्रिता मिथ्यात्वादिभिर्दोषैरभिभूताः

सावद्येतरविशेषानभिज्ञाः सन्तः कर्मक्षपणार्थमभ्युद्यता निर्विवेकतया सावद्यमेव कर्म कुर्वते । न च कर्मणा सावद्यारम्भेण कर्म पापं क्षपयन्त्यपनयन्त्यज्ञत्वाद् बाला इव बालास्त इति । यथा च कर्म क्षिप्यते तथा दर्शयति-अकर्मणा त्वाश्रवनिरोधेन तु अन्तशः शैलेश्यवस्थायां कर्म क्षपयन्ति धीरा महासत्त्वाः सद्वैद्या इव चिकित्सयाऽऽमयानिति । मेधा प्रज्ञा विद्यते येषां ते मेधाविनः हिताहितप्राप्तिपरिहाराभिज्ञा लोभमयं परिग्रहमेवातीताः परिग्रहातिक्रमाल्लोभातीता वीतरागा इत्यर्थः । सन्तोषिणो येन केनचित्संतुष्टा अवीतरागा अपीति । यदि वा यत एवातीतलोभा अत एव सन्तोषिण इति । त एवंभूता भगवन्तः पापमसदनुष्ठानापादितं कर्म न कुर्वन्ति नाददति । क्वचित्पाठः-' लोभभयादतीताः' । लोभश्च भयं च समाहारद्वन्द्वः । लोभाद्वा भयं तस्मादतीताः संतोषिण इति । न पुनरुक्ताशङ्का विधेयेत्यतो लोभातीतत्वेन प्रतिषेधांशो दर्शितः । सन्तोषिण इत्यनेन च विध्यंश इति । यदि वा लोभातीतग्रहणेन समस्तलोभाभावः ; संतोषिण इत्यनेन तु सत्यप्यवीतरागत्वेन उत्कटलोभा इति । लोभाभावं दर्शयन् अपरकषायेभ्यो लोभस्य प्राधान्यमाह । ये च लोभातीतास्तेऽवश्यं पापं न कुर्वन्तीति स्थितम् । १५ ।

ये च लोभातीतास्ते किंभूता भवन्तीत्यत आह-

ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं ।
णेतार अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ।१६।

ते वीतरागा अल्पकषाया वा लोकस्य पञ्चास्तिकायात्मकस्य प्राणिलोकस्य वाऽतीतान्यन्यजन्माचरितानि उत्पन्नानि वर्त्तमानावस्थायीन्यनागतानि च भवान्तरभावीनि सुखदुःखादीनि तथागतानि यथाऽवस्थितानि तथैवावितथं जानन्ति, न विभङ्गज्ञानिन इव विपरीतं पश्यन्ति । तथाहि आगमः-"अणगारे णं भंते ! माई मिच्छादिट्ठी रायगिहे णयरे समोहए वाणारसीए नयरीए रूवाइं जाणइ पासइ जाव से दंसणे विवज्जासे भवति"इत्यादि । ते चातीतानागतवर्तमानज्ञानिनः प्रत्यक्षज्ञानिनश्चतुर्दशपूर्वविदो वाऽप्रत्यक्षज्ञानिनोऽन्येषां संसारोत्तितीर्षूणां भव्यानां मोक्षं प्रति नेतारः-सदुपदेशं प्रत्युपदेष्टारो भवन्ति । न च ते स्वयंबुद्धत्वादन्येन नीयन्ते-तत्त्वावबोधं कार्यन्त इत्यनन्यनेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः । ते च बुद्धाः स्वयंबुद्धास्तीर्थकरगणधरादयः । हुशब्दश्चशब्दार्थे, विशेषणे च , तथा च प्रदर्शित एव । ते च भवान्तकराः, संसारोपादानभूतस्य वा कर्मणोऽन्तकरा भवन्तीति ॥१६॥

यावद्यापि भवान्तं न कुर्वन्ति तावत्प्रतिषेध्यमंशं दर्शयितुमाह-

ते णेव कुव्वंति ण कारवंति, भूताहिसंकाएँ दुगुंछमाणा ।
सया जता विप्पणवंति धीरा, विण्णत्ति वीरा य हवंति एगे ।१७।

ते प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनो वा विदितवेद्याः सावद्यमनुष्ठानं भूतोपमर्दाभिशङ्कया पापं कर्म जुगुप्सन्तः सन्तो न स्वतः कुर्वन्ति, नाप्यन्येन कारयन्ति, कुर्वन्तमप्यपरं नानुमन्यन्ते । तथा स्वतो न मृषावादं जल्पन्ति, नान्येन जल्पयन्ति, नाप्यपरं जल्पन्तमनुजानन्ति, एवमन्यान्यपि महाव्रतान्यायोज्यानीति । तदेवं सदा सर्वकालं, यताः संयताः पापानुष्ठानान्निवृत्ताः, विविधं संयमानुष्ठानं प्रति प्रणमन्ति प्रह्वीभवन्ति । के ते?, धीरा महापुरुषा इति । तथैके केचन हेयोपादेयं विज्ञाय अपिशब्दात्सम्यक् परिज्ञाय वा तदेव निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येवं कृतनिश्चयाः कर्मणि विदारयितव्ये वीरा भवन्ति । यदि वा परीषहोपसर्गानीकविजयाद्वीरा इति । पाठान्तरं वा-(विण्णत्ति वीरा य भवन्ति एग) एके केचन गुरुकर्मणोऽल्पसत्त्वाः विज्ञप्तिर्ज्ञानं तन्मात्रेणैव वीरा नत्वनुष्ठाने, न च ज्ञानादेवाऽभिलषितार्थावाप्तिरुपजायते । तथाहि-"अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खाः, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् । संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् " ॥ १ ॥ १७ ॥

कानि पुनस्तानि भूतानि यच्छङ्कयाऽऽरम्भं जुगुप्सन्ति सन्त इत्येतदाशङ्क्याह-

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते आतओ पासइ सव्वलोए ।
उव्वेहती लोगमिणं, महन्तं बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ।१८

ये केचन (डहरे त्ति) लघवः कुन्थ्वादयः सूक्ष्मा वा, ते सर्वेऽपि प्राणाः प्राणिनः, ये च वृद्धा बादरशरीरिणस्तान्सर्वानप्यात्मतुल्यान् आत्मवत्पश्यति सर्वस्मिन्नपि लोके; यावत्प्रमाणं मम तावदेव कुन्थोरपि , यथा वा मम दुःखमनभिमतमेवं सर्वलोकस्यापि, सर्वेषामपि प्राणिनां दुःखमुत्पद्यते, दुःखादुद्विजन्ति । यथा चागमः--"पुढविकाए णं भंते ! अक्कंते समाणे केरिसयं वेयणं वेएइ ? " इत्याद्याः सूत्रालापका इति मत्वा तेऽपि नाक्रमितव्या न संघट्टनीया इत्येवं यः पश्यति । तथा लोकमिमं महान्तमुत्प्रेक्षते. षड्जीवसूक्ष्मबादरभेदैराकुलत्वान्महान्तम् ; यदि वा अनादिनिधनत्वान्महान् लोकः । तथाहि-कालतो भव्या अपि केचन सर्वेणाऽपि कालेन न सेत्स्यन्तीति । यद्यपि द्रव्यतः षड्द्रव्यात्मकत्वात् क्षेत्रतश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणतया सावधिको लोकः, तथापि कालतो भावतश्चानाद्यनिधनत्वात्पर्यायाणां चानन्तत्वान्महान् लोकः, तमुत्प्रेक्षत इति । एवं च लोकमुत्प्रेक्षमाणो बुद्धोऽवगन्तव्यः । सर्वाणि प्राणिस्थानान्यशाश्वतानि तथा नात्रापसदे संसारे सुखलेशोऽप्यस्तीत्येवं मन्यमानोऽप्रमत्तेषु संयमानुष्ठायिषु मध्ये तथाभूत एव परि समन्ताद् व्रजेत् । यदि वा बुद्धः सन् प्रमत्तेषु गृहस्थेषु अप्रमत्तः सन् संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति ॥ १८ ॥

जे आयओ परओ वा वि णच्चा,
अलमप्पणो होंति अलं परेसिं ।
तं जोइभूतं च सयाऽऽवसेज्जा,
जे पाउकुज्जा अणुवीति धम्मं ॥ १९ ॥

यः स्वयं सर्वज्ञ आत्मनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थदर्शी यथावस्थितं लोकं ज्ञात्वा, तथा यश्च गणधरादिकः परतस्तीर्थकरादेर्जीवादीन् पदार्थान् विदित्वा परेभ्य उपदिशति, स एवंभूतो हेयोपादेयवेद्यात्मनस्त्रातुमलमात्मानं संसारावटात्पालयितुं समर्थो भवति । तथा परेषां सदुपदेशदानतस्त्राता जायते । तं सर्वज्ञं स्वत एव सर्ववेदिनं तीर्थकरादिकं, परतो वेदिनं च गणधरादिकं, ज्योतिर्भूतं पदार्थप्रकाशकतया चन्द्रादित्यप्रदीपकल्पमात्महितमिच्छन् संसारदुःखोद्विग्नः कृतार्थमात्मानं भावयन् सततमनवरतमावसेत सेवेत गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत् । तथा चोक्तम्-" णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंस-

से चारित्ते य । धम्मा श्रावकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचंति"॥१॥ के एवं कुर्युरिति दर्शयति-ये कर्मपरिणतिमनुविचिन्त्य, "माणुस्सखेत्तजा " इत्यादिदुर्लभां च सद्धर्मावाप्तिं सद्धर्मं वा श्रुतचारित्राख्यं क्षान्त्यादिकं दशविधं साधुधर्मं वाऽनुविचिन्त्य पर्यालोच्य ज्ञात्वा वा तमेव धर्मं यथानुष्ठानतः प्रादुष्कुर्युः प्रकटयेयुः, ते गुरुकुलवासं यावज्जीवमासेवन्त इति । यदि वा ये ज्योतिर्भूतमाचार्यं सततमासेवन्ति, तथा आगमज्ञा धर्ममनुविचिन्त्य लोकं पञ्चास्तिकायात्मकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकं वा प्रादुष्कुर्युरिति क्रिया ॥ १६ ॥

किञ्चान्यत्-

अत्ताण जो जाणति जो य लोगं,
गइं च जो जाणइ ऽणागइं च।
जो सासयं जाण असासयं च,
जातिं च मरणं च जणोववायं ॥ २० ॥

यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद्व्यतिरिक्तं सुखदुःखाधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्तते स आत्मज्ञो भवति । येन चात्मा यथावस्थितस्वरूपोऽहंप्रत्ययग्राह्योऽभिज्ञातो भवति तेनैवायं सर्वोऽपि लोकः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपो विदितो भवति, स एव चात्मज्ञोऽस्तीत्यादिक्रियावादं भाषितुमर्हतीति द्वितीयवृत्तान्तस्य क्रिया । यश्च लोकं चराचरं वैशाखस्थानस्थकटिस्थकरयुग्मपुरुषाकारं, चशब्दादलोकं चानन्ताकाशास्तिकायमात्रं जानाति, यश्च जीवानामागतिमागमनं, कुतः समागता नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाः?, कैर्वा कर्मभिर्नारकादित्वेनोत्पद्यन्त इत्येवं यो जानाति, तथाऽनागतिं चाऽनागमनं च, कुत्र गतानां नागमनं भवति । चकारात्तदुपायं च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं यो जानाति, तत्रानागतिः सिद्धिरशेषकर्मच्युतिरूपा लोकाग्राऽऽकाशदेशस्थानरूपा वा ग्राह्या, सा च सादिरपर्यवसाना । यश्च शाश्वतं नित्यं सर्ववस्तुजातं द्रव्यास्तिकनयाश्रयादशाश्वतं वाऽनित्यं प्रतिक्षणविनाशरूपं पर्यायनयाश्रयणात्, चकारान्नित्यानित्यं चोभयाकारं सर्वमपि वस्तुजातं यो जानाति । तथाहि आगमः-
" णेरइया दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया " । एवमन्येऽपि तिर्यगादयो द्रष्टव्याः । अथ वा निर्वाणं शाश्वतं, संसारोऽशाश्वतः, तद्गतानां संसारिणां स्वकृतकर्मवशगानामितश्चेतश्च गमनादिति । तथा जातिमुत्पत्तिं नारकतिर्यङ्मनुष्यामरजन्मलक्षणां च, मरणं चाऽऽयुष्कक्षयलक्षणम् । तथा जायन्त इति जनाः सत्त्वाः, तेषामुपपातं जानाति ; स च नारकदेवयोर्भवतीति । अत्र च जन्मचिन्तायामसुमतामुत्पत्तिस्थानं योनिर्भणनीया; सा च सचित्ताऽचित्ता मिश्रा च । तथा शीता उष्णा मिश्रा च । तथा संवृता विवृता मिश्रा चेत्येवं सप्तविंशतिविधेति । मरणं पुनस्तिर्यङ्मनुष्ययोश्च्यवनं ज्योतिष्कवैमानिकानाम्, उद्वर्त्तनं भवनपतिव्यन्तरनारकाणामिति ॥ २० ॥

किञ्च—

अहो वि सत्ताण विउट्टणं च,
जो आसवं जाणति संवरं च ।
दुक्खं च जो जाणति निज्जरं च,
सो भासिउमरिहइ किरियवादं ॥ २१ ॥

सत्त्वानां स्वकृतकर्मफलभुजामधस्तान्नारकादौ दुष्कृतकर्मकारिणां त्रिविधां विरूपां वा कुट्टनां जातिजरामरणरोगशोककृतां शरीरपीडां, चशब्दात्तदभावोपायं यो जानाति । इदमुक्तं भवति-सर्वार्थसिद्धादारतोऽधः सप्तमीं नरकभुवं यावदसुमन्तः सकर्माणो विवर्त्तन्ते; तत्रापि ये गुरुतरकर्माणस्तेऽप्रतिष्ठाननरकयायिनो भवन्तीत्येवं यो जानीते । तथा आश्रवत्यष्टप्रकारकं कर्म येन स आश्रवः ; स च प्राणातिपातरूपो, रागद्वेषरूपो वा, मिथ्यादर्शनादिको वेति तम् । तथा संवरमाश्रवनिरोधरूपं यावदशेषयोगनिरोधस्वभावं, चकारात्पुण्यपापे च यो जानीते । तथा दुःखमसातोदयरूपं, तत्कारणं च यो जानाति, सुखं च तद्विपर्ययभूतं यो जानाति तपसा निर्जरां च । इदमुक्तं भवति-यः कर्मबन्धहेतून् तद्विपर्यासहेतूंश्च तुल्यतया जानाति । तथाहि—" यथाप्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासाः, निर्वाणावेशहेतवः " ॥ १ ॥ स एव परमार्थतो भाषितुं वक्तुमर्हति । किं तत् ?, इत्याह-क्रियावादम् । अस्ति जीवोऽस्ति पुण्यमस्ति च पूर्वाचरितस्य कर्मणः फलमित्येवं वादमिति । तथाहि-जीवाजीवाश्रवसंवरबन्धपुण्यपापनिर्जरामोक्षरूपा नवापि पदार्थाः श्लोकद्वयेनोपात्ताः । तत्र य आत्मानं जानातीत्यनेन जीवपदार्थो, लोकमित्यनेनाजीवपदार्थः, तथा गत्या गतिः शाश्वतेत्यादिनानयोरेव स्वभावोपदर्शनं कृतम् । तथा आश्रवसंवरौ स्वरूपेणैवोपात्तौ । दुःखमित्यनेन तु बन्धपुण्यपापानि गृहीतानि, तदविनाभावित्वाद् दुःखस्य । निर्जरायास्तु स्वाभिधानेनैवोपादानम्, तत्फलभूतस्य मोक्षस्योपादानं द्रष्टव्यमिति । तदेवमेतावन्त एव पदार्थाः, तदभ्युपगमे नवास्तीत्यादिकः क्रियावादोऽभ्युपगतो भवतीति । यश्चैतान् पदार्थान् जानात्यभ्युपगच्छति स परमार्थतः क्रियावादं जानाति । ननु चापरदर्शनोक्तपदार्थपरिज्ञानेन सम्यक्त्वादिकं कस्मान्नाभ्युपगम्यते, तदुक्तपदार्थानामेवाघटमानत्वात् । सूत्र० । (नैयायिकदर्शनमन्यत्राप्याकरिष्यते) तस्मात्पारिशेष्यसिद्धा अर्हदुक्ता नव पदार्थाः सत्याः, तत्परिज्ञानं च क्रियावादे हेतुर्नापरपदार्थपरिज्ञानमिति ॥ २१ ॥

सांप्रतमध्ययनार्थमुपसंजिहीर्षुः सम्यग्वादापरिज्ञानफलमादर्शयन्नाह-

सद्देसु रूवेसु असज्जमाणो, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे ।
णो जीवितं णो मरणाहिकंखी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के ॥ २२ ॥
त्ति बेमि ॥

" सद्देसु " इत्यादि । शब्देषु वेणुवीणादिषु श्रुतिसुखदेषु, रूपेषु च नयनानन्दकारिष्वासङ्गमकुर्वन्, गार्ध्यमकुर्वाणोऽनेन रागो गृहीतः, तथा गन्धेषु कुथितकलेवरादिषु, रसेषु चान्तप्रान्ताशनादिषु अदुष्यमाणो मनोज्ञेषु द्वेषमकुर्वन् । इदमुक्तं भवति-शब्दादिष्विन्द्रियविषयेषु मनोज्ञेतरेषु रागद्वेषाभ्यामनपदिश्यमानो जीवितमसंयमजीवितं नाभिकाङ्क्षेत्, नापि परीषहोपसर्गैरभिद्रुतो मरणमभिकाङ्क्षेत् । यदि वा जीवितमरणयोरनभिलाषी संयममनुपालयेदिति । तथा मोक्षार्थिना दीयते गृह्यत इत्यादानं संयमः, तेन तस्मिन् वा सति गुप्तः, यदि वा मिथ्यात्वादिना दीयते इत्यादानमष्टप्रकारं कर्म, तस्मिन्नादातव्ये मनोवाक्कायैर्गुप्तः समितश्च । तथा भाववलयं माया तया, विमुक्तो मायामुक्तः । इतिः

परिसमाप्त्यर्थे। ब्रवीमीति पूर्ववत्; नयाः पूर्ववदेव ॥ २२ ॥ सूत्र० १ श्रु० १२ अ०। क्रियैव चैत्यकर्मादिका प्रधानमोक्षाङ्गमित्येवं वदितुं शीलं येषां ते क्रियावादिनः। चैत्यमादित एव मोक्षवादिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०। (तेषां मतं चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीति लक्षणं "कम्म" शब्देऽत्रैव भागे ३३१ पृष्ठे दर्शितम्) व्यवहारे साध्यादिप्रमाणरूपक्रियासाध्ययुक्ते वादिनि, वाच०। यो मोक्षार्थं क्रियां करोति स क्रियावादीति प्रघोषः सत्योऽसत्यो वा?। यदि सत्यस्तर्हि मोक्षार्थं जीवघातं कुर्वत्सु सत्स्वपि तुरुष्कादिफरङ्गिकपर्यन्तसर्वमिथ्यादृष्टिषु क्रियावादित्वं स्यात्, तत्तु केषाञ्चिदस्मद्व्याख्यानामप्रत्यग्दुण्ढिकवचसां च चेतसि प्रतिभासते। प्रत्युत दुण्ढिका इत्थं कथयन्ति-श्रीमतां ये ये गीतार्था अत्र समायान्ति ते सर्वेषां क्रियाकुर्वतां मिथ्यादृशां क्रियावादित्वं कथयन्ति। तदसमीचीनं श्रद्धानम्। ते तु दुण्ढिकाः सम्यग्दृशां सम्यक्त्वाभिमुखाणां च क्रियावादित्वं कथयन्ति, नान्येषामिति प्रश्ने उत्तरम्-यो मोक्षार्थं क्रियां करोति स क्रियावादीति प्रघोषः सत्य एव लक्ष्यते। न च कोऽपि मोक्षार्थं जीवघातादिकं करोति, यतः तुरुष्काणामपि मूलशास्त्रेषु जीववधस्य निषिद्धत्वात्, याज्ञिकानामपि स्वर्गाद्यर्थमेव यज्ञस्य प्ररूपणात्; तथा सम्यग्दृश एव, सम्यक्त्वाभिमुखा एव वा क्रियावादिन इत्यक्षराणि शास्त्रे न सन्ति,प्रत्युत भगवतीवितृतावित्युक्तमस्ति-एते च सर्वेऽप्यन्यत्र यद्यपि मिथ्यादृष्टयोऽभिहितास्तथापि इहाद्याः सम्यग्दृष्टयो ग्राह्याः, सम्यगस्तित्ववादिनामेव तेषां समाश्रयणात्। भगवतीसूत्रं च विशेषपरम्,तेन तत्र क्रियावादिपदेन सम्यग्दृष्टयो गृहीताः,अत्र तु मिथ्यादृष्टयोऽपि,तत उभयेऽपि क्रियावादिन इति तत्त्वम्। ३२१प्र०। सेन० ३उल्ला०। अथ नवीननगरसंघकृतप्रश्नाः; तदुत्तराणि च। यत्र यः सम्यक्त्वमन्तर्मुहूर्तं स्पृशति सोऽर्द्धपुद्गली कथ्यते,क्रियावादी चैकपुद्गली नियमात् शुक्लपाक्षिकीति श्रूयते,तत्कथमिति प्रश्ने उत्तरम्-क्रियावादी सम्यग्दृष्टिः,तथा मिथ्यादृष्टिः,द्वावपि भव्यौ शुक्लपाक्षिकौ च ज्ञेयौ। तौ नियमात् पुद्गलपरावर्तमध्ये सिद्ध्यतः,एवंविधाक्षराणि दशाश्रुतस्कन्धचूर्णिमध्ये सन्ति, परं सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योरेकीभूतं सामान्यलक्षणं ज्ञेयम्। यतो मलधारिश्रीहेमचन्द्रसूरिकृतपुष्पमालासूत्रवृत्तिमध्ये-"अंतो मुहुत्तमित्तं,पि फासिअं हुज्ज जेहि सम्मत्तं। तेसिं अवड्ढपुग्गल-परिअट्टो चेव संसारो"।१। एतद्गाथाव्याख्यानुसारेण पुद्गलपरावर्त्तसंसारो ज्ञायते, एतद्विशेषस्तत्तद्ग्रन्थेभ्यो ज्ञेयः। तथा श्रावकप्रज्ञप्तिसूत्रवृत्तिमध्ये ययोः सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्ट्योर्देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्तसंसारो भवति,तौ शुक्लपाक्षिकौ कथ्येते,यस्य च ततोऽधिकसंसारो भवति स कृष्णपाक्षिकः कथ्यते इति कथितमस्ति, परं तन्मतान्तरं संभाव्यते। प्र० १२०। सेन० ४ उल्ला०। तथा त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयपाषण्डिकानां मध्ये अशीत्यधिकशतक्रियावादिनः सन्ति, ते सम्यग्दृष्टयो मिथ्यादृष्टयो वेति प्रश्ने, उत्तरम्-अशीत्यधिकशतक्रियावादिनो मिथ्यादृष्टयो ज्ञेया इति। १२१ प्र०। सेन० ४ उल्ला०।

किरियाविसाल-क्रियाविशाल-न०। यत्र क्रियाः कायिक्यादिकाः विशालाः विस्तीर्णाः सभेदत्वादभिधीयन्ते तत् क्रियाविशालं पूर्वम्। स० १४ सम०। क्रियाः कायिक्यादयः संयमक्रियाछन्दःक्रियादयश्च ताभिः प्ररूप्यमाणाभिर्विशालम्। त्रयोदशं पूर्वं, तस्य पदपरिमाणं नवपदकोटयः। नं०। स्था०। स०। "किरियाविसालस्स णं पुव्वस्स तीसं वत्थू पण्णत्ता" स०। नं०।

किरीय-किरीय-पुं०। म्लेच्छदेशभेदे, तत्रोत्पन्ने म्लेच्छे च। सूत्र० २ श्रु० १ अ०।

किरो-देशी-सूकरे, दे० ना० २ वर्ग।

किल-किल-अव्य०। वार्त्तायाम्, अनुशयार्थे, प्रसिद्ध्यर्थद्योतने, हेतौ, अरुचौ, अलीके, तिरस्कारे च। वाच०। सत्ये, अष्ट० ४ अष्ट०। परोक्षागमवादसंसूचने, आव० ५ अ०। पं० व०। आप्तोपदेशे, प्रव० ३५ द्वार। आप्तोक्तौ, विशे०। संथा०। नं०। निश्चये, आतु०। द्व्या०। स्था०। वाक्यालङ्कारे, उत्त० ११ अ०।

किलंत-क्लान्त-त्रि०। क्लम् क्तः। "लात्" ८।२।६। संयुक्तस्यान्त्यव्यञ्जनाल्लात्पूर्वमिद् भवति, इतीदागमः। प्रा० २ पाद। परिश्रान्ते, बृ० ३ उ०। ग्लानिमुपगते, 'क्लमु' ग्लानाविति वचनात्। जी० ३ प्रति०। ग्लानीभूते, ज्ञा० १श्रु० १ अ०। प्रश्न०।

किलकिलाइय-किलकिलायित-न०। कृते किलकिलेति संनादे, "ततो तेण जूहाहिवेण तेसिं किलकिलाइयं सद्दं सोऊण भणिओ गंतूण दिवो सो साहू"। आ० म० द्वि०।

किलणी-देशी-रथ्यायाम, दे० ना० २ वर्ग।

किलाड-किलाट-पुं०। 'नष्टदुग्धस्य एकस्य पिण्डं प्रोक्तः किलाटकः' इति परिभाषिते विश्रथितदुग्धस्य पाकेन घनीभूते पिण्डाकारे पदार्थे, ततः स्वार्थे कः किलाटकः। तत्रार्थे कूर्चिकायां क्षीरविकारभेदे, स्त्री०। गौरा० ङीष्। वाच०। देशविशेषे. तत्रोत्पन्ने जने च। "चन्द्रवक्त्रा सरोजाक्षी, सद्गीः पीनघनस्तनी। किलाटी नामतः सा स्या-द्देवानामपि दुर्लभा" ॥ १ ॥ कथा० ४ उ० २ ख०।

किलाम-क्लम-पुं०। संस्पर्शे सति देहग्लानिरूपे, ध० ३ अधि०। आव०। खेदे, रा०। विशे०। "योऽनायासः श्रमो देहे, प्रवृद्धः श्वाससङ्कुलः। क्लमः स इति विज्ञेयो, इन्द्रियार्थप्रबाधकः" ॥ १ ॥ इति। वाच०।

किलामणया-क्लामना-स्त्री०। ग्लानिनयने, भ० ३ श० ३ उ०। दश०।

किलामिय-क्लामित-त्रि०। मारणान्तिकसमुद्घातं गमिते, भ० ८ श० ७ उ०। ग्लानिमापादिते, आव० ४ अ०।

किलामेंत-क्लामयत्-त्रि०। मारणान्तिकसमुद्घातं नयति, भ० ५ श० ६ उ०।

किलिट्ठ-क्लिष्ट-त्रि०। क्लिश क्तः,वा इडभावः। "लात्" ८।२।१०६। इति इदागमः। प्रा० २ पाद। रागाद्युपहितचित्ते, उत्त० ३२ अ०। पूर्वापरविरुद्धार्थके वाक्ये, न०। वाच०। क्लिष्टं यथा-यत्कृतकं, कृतकश्चायम्, यथा घटः, तस्मादनित्यः, तस्मादनित्यम्। कृतकत्वाच्छब्दोऽनित्य इत्यादि। रत्ना० ८ परि०। क्लेशयुक्ते, उपतापिते च। वाच०।

किलिट्ठकम्मकलातीय-क्लिष्टकर्मकलातीत-त्रि०। क्लिश्नाति क्लेशस्वरूपभवहेतुत्वेन क्लेशिकाः याः कर्मकलाः ज्ञानावरणाद्यष्टप्रकारकर्मांशाः,तेभ्योऽतीतोऽपेतो यः स क्लिष्टकर्मकलातीतः। सिद्धे, हा० १ अष्ट०।

किलिट्ठचित्त–क्लिष्टचित्त–त्रि० । क्लिष्टाऽध्यवसाये, " जो पुण किलिट्ठचित्तो, णिरविक्खो णत्थदंडपाचिट्ठो।" पं०व०४ द्वार।

किलिट्ठया–क्लिष्टता–स्त्री० । दुष्टतायाम्, निरुपक्रमतायाम्, पञ्चा० १६ विव०।

किलिट्ठसत्त–क्लिष्टसत्त्व–त्रि० । क्लिष्टं सत्त्वं येषां ते तथा । क्लिष्टसत्त्वविशिष्टेषु, संक्लेशबहुलजीवेषु, " होइ य पाएणं सा, किलिट्ठसत्ताण मंदबुद्धीणं।" पञ्चा० १६ विव०।

किलिम–क्लिन्न–त्रि० । क्लिद० क्तः । नत्वम् । "लात्" ।८।२। १०६। संयुक्तस्याऽन्त्यव्यञ्जनाल्लात्पूर्वम् इद् भवति, इतीदागमः। प्रा० २ पाद । आर्द्रीकृते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रश्नण। बाधिते, उत्त० २ अ० । अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् निचिते, उत्त० ३ अ० ।

किलिएणगाय–क्लिन्नगात्र–त्रि० । क्लिन्नमनेकार्थत्वात् धातूनां निचितं, गात्रं शरीरं यस्य । निचितशरीरे, उत्त० ३ अ० । बाधितशरीरे, उत्त० २ अ०।

किलिमिमिअं–देशी–कथिते, दे० ना० २ वर्ग ।

किलिव–क्लीब–पुं० । नपुंसके, व्य० २ उ० । पं० भा० ।

किलिस्संत–क्लिश्यत्–त्रि० । क्लेशं कुर्वति, खिद्यमाने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

किलेस–क्लेश–पुं०। "लात्" ८। २। १०६। इतीदागमः। प्रा० २ पाद । रागादौ खेदे, औ० । प्रश्न०। स्था०। शारीर्यां मानस्यां च बाधायाम् , सू० प्र० २० पाहु० । पञ्चा० । उपतापे, क्लिश्नाति । क्लिश् बाधने, कर्तरि अच् । वाच० । क्लिश्यन्ते बाध्यन्ते शारीरमानसैः दुःखैः संसारिणः सत्त्वा एभिरिति क्लेशाः । अष्टकर्मसु, बृ० १ उ० । अशुभविपाके पापे, " क्लेशाः पापानि कर्माणि, बहुभदानि नो मते"। क्लेशा इति । नोऽस्माकं मते पापान्यशुभविपाकानि बहुभेदानि विचित्राणि कर्माणि ज्ञानावरणीयानि क्लेशा उच्यन्ते । द्वा० २५ द्वा० । क्लेशः साङ्ख्यानां प्रवकारणम् । द्वा० १६ द्वा० । " अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः " इति पतञ्जल्युक्ते अविद्यादिपञ्चके, द्वा० १६ द्वा० । कोपे, व्यवसाये च । तयोरपि तद्धेतुत्वात्तथात्वम्। वाच०।

किलेसक्खय–क्लेशक्षय–पुं० । कर्मक्षये, " क्लेशक्षयो हि मण्डूक–चूर्णतुल्याः क्रियाकृतः । दग्धतच्चूर्णसदृशो, ज्ञानसारकृतः पुरा ॥ " अष्ट० ३२ अष्ट० । (क्लेशहानोपायद्वात्रिंशिका ' मोक्ख ' शब्दे वक्ष्यते)

किलेसद्धंस–क्लेशध्वंस–पुं० । रागादिपरिक्षये, द्वा० १० द्वा० ।

किलेसविति–क्लेशवृत्ति–त्रि० । एकान्तक्लेशवेष्टिते, दश० १ चू० । पं० सू० ।

किव–कृप–पुं० । कृप अच् । "इत्कृपादौ" । ८ । १ । १२८ । इति ऋत इत्वम्, प्रा० १ पाद । राजर्षिभेदे, कृपाऽस्त्यस्य पालनसाधनत्वेन अर्श अच् । शरद्वतो गौतमस्य पुत्रे, तत्सुतायाम् , स्त्री० । ङीप् । वाच० ।

किवण–कृपण–पुं० । कृप–क्युन् । दरिद्रे, अनु० ३ वर्ग । आचा० । दुःस्थे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । रङ्के, अत्यागिनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अपरित्यागशीले, स्वभावतो दरिद्रे, नि० चू० १५ उ० । लोभमग्ने, अष्ट० १ अष्ट०। स्वभावत एव सतां कृपास्थाने, द्वा० १२ द्वा० । दीने, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । क्लीबे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पिण्डोलके, दश० ५ अ० २ उ० । मन्दे, त्रि० । महाव्यसनप्राप्ते दीने, कृमौ, पुं० । कृतः पणो यस्य । वेदे नित्यं तलोपः । कृतपणे पणक्रीते दासादौ, वाच० ।

किवणकुल–कृपणकुल–न० । तर्कणवृत्तिनि, स्था० ८ ठा० । अदातृकुले, कल्प० २ क्षण ।

किवणत्त–कृपणत्व–न० । नूनं गतैस्तेभ्यः किमपि दातव्यं भविष्यतीत्येवंरूपे, आ० म० द्वि० । द्रव्यव्ययासहिष्णुत्वलक्षणे, उत्त० ३ अ० ।

किवा–कृपा–स्त्री० । कृप–भिदा० अङ्। "कृपेः संप्रसारणं च"। वाच० । " इत्कृपादौ " ८ । १ । १२८ । इति ऋत इत्वम्। प्रा० १ पाद । दयायाम् , आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । अनुकम्पायाम्, अष्ट० २७ अष्ट० । " तस्स किवा जाया अधम्मो कतो । " आ० म० द्वि० ।

किवाण–कृपाण–पुं० । कृपां नुदति । नुद डः, संज्ञायां णत्वम् । "इत्कृपादौ " । ८ । १ । १२८ । इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । खड्गे, । गौरा० ङीष् । कर्त्तर्याम्, स्त्री० । छुरिकायाम्, स्त्री० । स्वार्थे के कृपाणकः । खड्गे, पुं० । टाप् । अत इत्वम् । कृपाणिका । छुरिकायाम्, स्त्री० । वाच० । आचा० ॥

किवाणुग–कृपानुग–त्रि० । कृपया करुणया अनुगमनुगतम् । करुणापरे, षो० ३ विव० ।

किविमी–देशी–पार्श्वद्वारे, दे० ना० २ वर्ग ।

किविण–कृपण–त्रि० । "इत्कृपादौ" ८ । १ । १२८ । कृपा इत्यादिषु आदेर्ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । "इः स्वप्नादौ" । ८ । १ । ४६ । इति पकारादेरस्य इत्वम् । दरिद्रे, प्रा० १ पाद ।

किव्विस–किल्बिष–न० । किल टिषच् बुक् च । वाच० । पातके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । षो० । रोगे, पापहेतुत्वात्तस्य तथात्वम् । वाच० । अष्टादशे गौणाख्ये, तस्य किल्बिषस्य पापस्य हेतुत्वात् । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । यतो मायाविशेषाज्जन्मान्तरेऽत्रैव वा भवे किल्बिषः किल्बिषिको भवति स किल्बिष उक्तेति । प्र० १२ श० ५ उ० । द्वादशे गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० । मलिने, अधमे, उत्त० ३ अ० । कर्बुरे, त० । किल्बिषं पापं ज्ञानकेवल्याद्याशातनादिकम्, तद्योगाद्देवा अपि किल्बिषाः, प्राक् संयतभवकृतज्ञानाद्याशातनेषु देवमतङ्गत्वेनोत्पन्नेषु, आतु० ।

किव्विसकम्म–किल्बिषकर्मन्–त्रि० । किल्बिषाणि क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते कर्मकिल्बिषाः । किल्बिषिकेषु, प्राकृतत्वात्पूर्वापरनिपातः । "कम्मकिव्विसा" इति, उत्त० ३ अ० ।

किव्विसत्त–किल्बिषत्व–न० । चण्डालप्रायदेवविशेषत्वे, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

किव्विससुर–किल्बिषसुर–पुं० । किल्बिषसुराणां प्रथमद्वितीयकल्पाधस्तृतीयकल्पाधः षष्ठकल्पाधश्च स्थितिरुक्ताऽस्ति, तत्राधःशब्देन किमभिधीयते ?–अधस्तः प्रस्तटः, तस्मादप्यधोदेशो वा, अन्यच्च द्वात्रिंशदादिलक्षविमानानां मध्ये साधारणदेवानां

मिवैतेषां कतिचिद्विमानानि सन्ति, विमानैकदेशे विमानाद् बहिर्वा तिष्ठन्ति, चाण्डालस्थानीयत्वात्तेषां विमानमध्ये वासोऽनुचितः। विमानानामपान्तराले भुवोऽभावाद् बहिरपि तद्वासः कथं घटते?, इति किल्बिषानां वासस्थानं ग्रन्थाक्षरपूर्वकं प्रसाध्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-किल्बिषसुराणां वासः कल्पद्विकादीनामधो भणित इत्यत्राधःशब्दस्तत्स्थानवाचको ज्ञेयः। न चात्राधःशब्दे प्रथमप्रस्तटार्थो घटते, तृतीयषष्ठकल्पसत्ककिल्बिषिकामराणां तत्प्रथमप्रस्तटयोस्त्रिसागरोपमत्रयोदशसागरोपमस्थित्योरसंभवात्, तथा तद्विमानानां संख्या शास्त्रे नोपलभ्यते, तथा देवलोकगतद्वात्रिंशल्लक्षादिविमानसंख्यया मध्ये तद्विमानानां गणनं न संभाव्यते, तेषां कल्पवृत्तादीनामधोवासाऽभिधानात्। तत्त्वं तु सर्वविद्वेद्यमिति। ३२७ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

किव्विसिय–किल्बिषिक–पुं०। किल्बिषिकीभावनोपात्तं किल्बिषं पापमुदये विद्यते येषां ते किल्बिषिकाः। स्था० ३ ठा० ४ उ०। परविदूषकत्वेन पापव्यवहारिषु भाण्डादिषु, औ०। भ०। प्रज्ञा०। पातकफलवत्सु निःस्वान्धपङ्ग्वादिषु, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। अधमेषु प्रेष्यभूतेषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ३ उ०। ('देवकिव्विसिय' शब्दे व्याख्यास्यामि चैतत्)

किव्विसिया–कैल्बिषिकी–स्त्री०। किल्बिषाः पापाः, अत एवास्पृश्यादिधर्मकाः देवाः किल्बिषाः, तेषामियं कैल्बिषिकी। संक्लिष्टभावनाभेदे, ध० ३ अधि०। सा पञ्चधा-द्वादशाङ्गीरूपश्रुतज्ञानकेवलिधर्माचार्यसर्वसाधूनामवर्णवदनं, स्वदोषगूहने च मायित्वमिति पञ्चविधाः। ध० ३ अधि०। पं० व०।

कैल्बिषिकीमाह–

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियाण सव्वसाहूणं।
भासं अवण्णवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ ॥३६॥

ज्ञानस्य श्रुतरूपस्य केवलिनां वीतरागाणां धर्माचार्याणां गुरूणां सर्वसाधूनां सामान्येन भाषमाणोऽवर्णमश्लाघारूपं, तथा मायी सामान्येन यः स कैल्बिषिकीं भावनां तद्भावाभ्यासरूपां करोतीति गाथार्थः। ग० २ अधि०। (ज्ञानावर्णादि-व्याख्याऽन्यत्र)

किस–कृश–त्रि०। कृश क्ते। "इत्कृपादौ"।८।१।१२८। इति ऋत इत्त्वम्। प्रा० १ पाद। दुर्बले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। उत्त०। जं०। तनुके, आव० ४ अ०। तनुशरीरे, स्था० ४ ठा० २ उ०। "धुणिया कुलियं व लेववं, किसए देहमणासणा इह। अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेदितो॥" कृशं भवति एवमनशनादिर्देहं कर्शयेत् अपचितमांसशोणितं विदध्यात्। सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

किसमिस–पारसीकशब्दः–द्राक्षाभेदे, लघ्वी द्राक्षा किसमिसेति व्यवह्रियते, हरीतकीकिसमिसद्राक्षाखर्जूरमरिचेत्यादि। ध० २ अधि०।

किसर–कृशर–पुं०। कृशमल्पमात्रं राति। रा-कः। "इत्कृपादौ" ।८।१।१२८। इति ऋत इत्त्वम्। प्रा० १ पाद। "तिलतण्डुलसम्मिश्रः, कृशरः परिकीर्तितः" इत्युक्ते पक्वान्नभेदे, वाच०। वर्णसंयोगनिष्पन्ने वर्णे, आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ०। केशर–पुं०। न०। "एत इद् वा वेदनाचपेटादेवरकेसरे" ८।१।४६। इति एत इत्त्वं वा। "महमहियदसणकिसर किंजक्के"। प्रा० १ पाद।

किसल(अ)–किस (श)लय–पुं०। न०। किञ्चित् शलति, शल-चलने वा कयन्। पृषो०। वाच०। "किसलयकालायसहृदये यः"। ८।१।२६९। इति सस्वरव्यञ्जनस्य यकारस्य लुग्वा। "किसलं किसलयं"। प्रा० १ पाद। अवस्थाविशेषोपेते पल्लवविशेषे, रा०। जं०। जी०। औ०। ज्ञा०। कोमलपत्रविशेषे, अनु०। "सव्वो वि किसलओ खलु, उग्गममाणो अणंतओ भणिओ।" प्रज्ञा० १ पद। ('अणंतजीव' शब्दे प्र० भा० २६३ पृष्ठे व्याख्यातमेतत्)

किससरीर–कृशशरीर–त्रि०। विचित्रतपसा भाविते शरीरेण दुर्बले, स्था० ४ ठा० २ उ०।

किसाण–कृषाण–त्रि०। कृष् वा आनक्। "शषोः सः"।८।१।२६०। इति षस्य सः। प्रा० १ पाद। कर्षके, वाच०।

किसाणु–कृशानु–पुं०। कृश आनुक्, "इत्कृपादौ"।८।१।१२८। इति ऋत इत्त्वम्। प्रा० १ पाद। वह्नौ, चित्रकवृक्षे च। तस्य तन्नामकत्वात्। सोमपालके, सव्यपार्श्वस्थरश्मिधारके च। ततः मत्वर्थे गोषदा० टन्। कृशानुकवह्नियुक्ते, त्रि०। तद्गणे कृशानुस्थाने 'कृशाकु' इति वा पाठः। कृशाकोश्च वह्निरेवार्थः। वाच०।

किसि–कृषि–स्त्री०। कृष इक्। धान्यार्थक्षेत्रकर्षणे, स्था०।

चउव्विहा किसी पण्णत्ता। तं जहा–वाविया परिवाविया णिंदिया परिणिंदिया॥

कृषिर्धान्यार्थं क्षेत्रकर्षणम्। (वाविय त्ति) सकृद्धान्यवपनवती (परिवाविय त्ति) द्विस्त्रिर्वा उत्पाद्य स्थानान्तरारोपणतः परिवपनवती, शालिकृषिवत्। (णिंदिय त्ति) एकदा विजातीयतृणाद्यपनयनेन शोधिता निन्दिता (परिनिन्दिय त्ति) द्विस्त्रिर्वा तृणादिशोधनेनेति। स्था० ४ ठा० ४ उ०। वा ङीप्। कृषीत्यप्यत्र, स्वार्थे के कृषिकाऽप्यत्र। स्त्री०। आधारे, किः। भुवि, वाच०। कृष्युपलक्षितः कृषिः। कृषिकर्मोपजीविनि, तं०।

किसिकम्म–कृषिकर्मन्–न०। कृषिसाध्यधान्यनिष्पत्तौ, ज्ञा० १८ द्वा०। पो०।

किसिपलाल–कृषिपलाल–न०। ७ त०। कर्षणे, "बुसे अणुसंगयाइं इह किसिपलालं व" कृषौ कर्षणे पलालं बुसं, तद्वदिति। पञ्चा० ५ विव०।

किसीवल–कृषीवल–त्रि०। कृषिरस्त्यस्य वृत्तित्वेन वलच्, दीर्घः। कर्षके कृषिजीविनि, वाच०। आचा०।

किस्सइत्ता–क्लिशित्वा–अव्य०। क्लेशमनुभूयेत्यर्थे, संसारान्तर्भूत्वेत्यर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

किह–कथम्–अव्य०। केन प्रकारेणेत्यर्थे, व्य० ३ उ०। नि० चू०। "से काहे वा किहं वा केवच्चिरेण वा किहं व त्ति" केन वा प्रकारेण साक्षात् दर्शनतः श्रवणतो वा। भ० ३ श० २ उ०।

" किइ जुज्झामो तुमं ऋूमीए " आ० म० प्र०। प्रा०। आचा०।

कीकस-कीकश-पुं०। कीति कशति। कश-शब्दे, अच्। कृमिजन्तुभेदे, अस्थि, न०। कठिने, त्रि०। वाच०। जं०।

कीड-कीट-पुं०। कीट अच्। कृमिभ्यः स्थूले क्षुद्रजन्तुभेदे, स्वार्थे के पूर्वोक्तार्थे, मागधजातौ, कठिने च। त्रि०। वाच०। चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० २ अ०। जी०। " तओ कीड-पयंगो य, तओ कुंथुपिपीलिया। " उत्त० ३ अ०। अनु०।

कीडय-कीटज-न०। कीटाद् जाते सूत्रभेदे, यत्तथाविधकीटेभ्यो लालात्मकं प्रभवति, यथा पट्टसूत्रम्। उत्त० २६ अ०। " कीडयं पंचविहं पण्णत्तं। तं जहा-पट्टे मलए अंसुए चीणंसुए किमिरागे " अनु०। (पट्टादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

कीडाविया-क्रीडापिका-स्त्री०। क्रीडनधात्र्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

कीडिया-कीटिका-स्त्री०। पिपीलिकायाम्, " ताहे संतो तं सा हरित्ता कीडियाओ वज्जतुंडियाओ विउव्वए " आ० म० द्वि०।

कीणास-कीनाश-पुं०। कुत्सितं नाशयति। यमे, वानरे च। पुं० क्षुद्रे, वाच०। को०।

कीय-क्रीत-त्रि०। क्री-कर्मणि क्तः। क्रियते स्मार्थदानेन गृह्यते स्मेति क्रीतम्। पञ्चा० १३ विव०। क्रये, न०। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। मूल्येन गृहीते, त्रि०। आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ०। उत्त०। उद्गमदोषभेदे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ०। " उद्देसियं कीयं आहट्टु दिज्जमाणं " भुञ्जमाने सबले, स० २१ सम०। द्रव्येण भावेन वा क्रीतं स्वीकृतं यत्तत् क्रीतमिति। यतोऽभ्यधायि-" दव्वाइएहि किणणं, साहूणं हाए कीयं तु " स्था० ६ ठा०। " तत्तो यं रायपिंडं कीअं " आव० ४ अ०। स्था०।

कीच-पुं०। युधिष्ठिरसमकालिके विराटनगराधिपतौ, " नवमं दूयं विराडनगरं, तत्थ णं तुमं कीयं रायं भाउसयसमग्गं कर-यल० जाव समोसरह "। ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०।

कीयक (ग) म-क्रीतकृत-त्रि०। क्रीतेन क्रयेण कृतं निष्पादितं क्रीतकृतम्। पिं०। क्रयणं क्रीतं, भावे निष्ठाप्रत्ययः। साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृतं निर्वर्तितं क्रयक्रीतम्। दश० ३ अ०। क्रीते, अष्टमोद्गमदोषविशिष्टे, पिं०। साध्वर्थं मूल्येन गृहीते, बृ० १ उ०।

तद्भेदादिवक्तव्यता चैवम्। अथ क्रीतद्वारमाह-

कीयगडं पि य दुविहं, दव्वे भावे य दुविहमेक्केक्कं।
आयकीय परकीयं, परदव्वं तिविह चित्ताई ॥३३०॥

क्रयणं क्रीतं, तेन कृतं निष्पादितम्; क्रीतकृतमित्यर्थः। तदपि, आस्तां प्रादुष्करणमित्यपिशब्दार्थः। द्विविधं द्विप्रकारम्। तद्यथा-(दव्वे भावे य) अत्र तृतीयार्थे सप्तमी। ततोऽयमर्थः-द्रव्येण क्रीतं, भावेन च क्रीतमित्यर्थः। पुनरप्येकैकं द्रव्यक्रीतं भावक्रीतं च प्रत्येकं द्विधा। तद्यथा-आत्मक्रीतं, परक्रीतं च। आत्मद्रव्यक्रीतमात्मभावक्रीतं च; परद्रव्यक्रीतं, परभावक्रीतं चेत्यर्थः। तत्राऽऽत्मना स्वयमेव द्रव्येणोज्जयन्तभगवत्प्रतिमाशेषाऽऽदिरूपेण प्रदानतः परमावर्जयन् भक्तादि गृह्णाते तदात्मद्रव्यक्रीतम्। यत्पुनरात्मना स्वयमेव भक्ताद्यर्थं धर्मकथादिना परमावर्ज्य भक्तकादि ततो गृह्यते तत् आत्मभावक्रीतं तत्परद्रव्यक्रीतम्। उक्तं च परद्रव्यक्रीतम्-यत्पुनः परेण साध्वर्थं निजविज्ञानप्रदर्शनेन धर्मकथादिना वा परमार्थतो गृहीतं तत्परभावक्रीतम्, तत्र विचित्रा गतिरिति प्रथमतः परद्रव्यक्रीतस्य स्वरूपमाह-परद्रव्यं गृहस्थसत्कं द्रव्यं त्रिविधम्। तद्यथा-चित्तादि। सचित्तमचित्तं वा मिश्रं वा। तेन परेण साध्वर्थं यत् क्रीतं तत् परद्रव्यक्रीतम्, उक्तं वा परद्रव्यक्रीतम्।

संप्रति शेषं भेदत्रयं सामान्यतः कथयति-

आयकियं पुण दुविहं, दव्वे भावे य चुन्नदव्वाइ।
भावम्मि परस्सट्ठा, अहवा वी अप्पणा चेव ॥३३१॥

आत्मक्रीतं पुनर्द्विविधम्। तद्यथा-(दव्वे भावे य त्ति) अत्रापि तृतीयार्थे सप्तमी। ततोऽयमर्थः-आत्मनाऽपि क्रीतं द्विधा। तद्यथा-द्रव्येण, भावेन च। तत्र द्रव्येण चूर्णादिना वक्ष्यमाणेन, भावेन पुनः परस्य साधोरर्थाय धर्मिजविज्ञानप्रदर्शनादिना पार्ज्यते तत् भावक्रीतम्, परभावक्रीतमित्यर्थः। अथवा भावेन तदात्मना स्वयमेवाऽऽहारार्थं धर्मकथादिना परमावर्ज्य ततो गृह्णाते तद् भावक्रीतम्, आत्मक्रीतमित्यर्थः। तदेवं सामान्यतस्त्रयोऽपि भेदा उक्ताः।

संप्रत्यात्मद्रव्यक्रीतं सप्रपञ्चं विवरीषुरिदमाह-

निम्मल्लगंधगुलिया-वन्नयपोयाइ आयकयदव्वे।
गेलन्ने उड्डाहो, पउणे चाडुगारि अहिगरणं ॥३३२॥

निर्माल्यं तीर्थादिगतसप्रभावप्रतिमाशेषा, गन्धाः पटवासादयः, गुलिका मुखप्रक्षेपकस्वरूपपरावर्त्तादिकारिका गुलिका, वर्णकश्चिन्तनम्, पोतानि लघुबालकयोग्यानि वस्त्रखण्डानि, आदिशब्दात्करण्डकादिपरिग्रहः। एतानि कार्ये कारणोपचारादात्मद्रव्यक्रीतानि। किमुक्तं भवति ?, निर्माल्यादिप्रदानेन परमावर्ज्य यत्ततो भक्तादि गृह्णते तदात्मद्रव्यक्रीतमिति। अत्र दोषमाह-(गेलन्ने इत्यादि) निर्माल्यप्रदानानन्तरं यदि कथमपि दैवयोगतो ग्लानो भवति तर्हि प्रवचनस्योड्डाहः-साधुनाऽहं ग्लानीकृत इत्यादिप्रजल्पनतः शासनस्य मालिन्योपपत्तिः। अथ कथमपि प्रगुणो नीरोगो भवति तर्हि स सर्वदा सर्वजनसमक्षं चाटुकारी भवति-यथाऽहं साधुना प्रगुणीकृत इति, अतिशायी चासौ साधुः सकलज्ञातव्यकुशलः परिहततिमिर इत्यादि समक्षं परोक्षं वा सदैव प्रशंसां करोति। तथा च सत्यधिकरणं भूयस्यधिकरणप्रवृत्तिः, तादृशीं हि तस्य प्रशंसामाकर्ण्याऽन्यः समागत्य तं साधुं निर्माल्यगन्धादि याचते, ततस्तत्प्रार्थनापरवशोऽधिकरणमपि समारभते।

संप्रति परभावक्रीतं विवृण्वन्नाह-

वइयाएँ मंखमाई, परभावकीयं तु संजयट्ठाए।
उप्पायणा निमंतण-कीयगमं अभिहडे ठविए ॥३३३॥

व्रजिकं लघुगोकुलम्, उपलक्षणमेतत्, तेन पत्तनादिपरिग्रहः। तत्र व्रजिकादौ मङ्खादिः, मङ्खः केदारकः, यः पटमुपदर्श्य लोकमावर्जयति। आदिशब्दात् तथाविधान्यपरिग्रहः। व्रजिकवशात् संयतार्थं यत् घृतदुग्धादेरुत्पादनं करोति, कृत्वा च निमन्त्रयति तत् परभावक्रीतम्, परेण मङ्खादिना संयतार्थं भावेन स्वपरप्रदर्शनादिरूपेण क्रीतं तद् परभावक्रीतम्। इत्थं

भूते च परभावक्रीते त्रयो दोषाः-एकं तावत् क्रीतकृतं, द्वितीयमन्यस्माद् गृहादानीतमित्यभ्याहृतम्, आनीय चैकत्र साधुनिमित्तं स्थाप्यत इति स्थापितम्। तस्मादीदृशमपि साधूनां न कल्पते।

एतदेव गाथाद्वयेन स्पष्टयन्नाह-

सागारि मंख छंदण, पडिसेहो पुच्छऽबहु गए वासे।
कयरिं दिसिं गमिस्सह, अमुइं तह संथवं कुणइ ॥३३४॥
दिज्जंते पडिसेहो, कज्जे घच्छं निमंतणा जईणं।
पुव्वगओ आगएसु, संछुहई एगगेहम्मि ॥३३५॥

शालिग्रामो नाम ग्रामः, तत्र देवशर्माऽभिधानो मङ्खः, तस्य च गृहैकदेशे कदाचित्केचित्साधवो वर्षाकालमवस्थिताः। स च मङ्खस्तेषां साधूनामनुष्ठानमत्यन्तविशिष्टतां चोपलभ्यातीव भक्तिपरीतो बभूव। प्रतिदिवसं च भक्तादिना निमन्त्रयति। साधवश्च शय्यातरपिण्डोऽयमिति प्रतिषेधन्ति। ततः स चिन्तयामास-यथैते मम गृहे भक्तादि न गृह्णन्ति, यदि पुनरन्यत्र दापयिष्यामि तथाऽपि न गृहीष्यन्ति। तस्माद् वर्षाकालानन्तरं यत्रामी गमिष्यन्ति तत्रामे गत्वा कथमप्येतेभ्यो ददामीति। ततः स्तोकशेषे वर्षाकाले साधवस्तेन पपृच्छिरे-'यथा भगवन्! वर्षाकालानन्तरं कस्यां दिशि गन्तव्यम्?'। ते च यथाभावं कथयामासुर्यथाऽमुकस्यां दिशि। ततः स तस्यामेव दिशि क्वचित् गोकुले गन्धपटमुपदर्श्य वचनकौशलेन लोकमावर्जितवान्। लोकश्च तस्मै घृतदुग्धादिकं दातुं प्रावर्तिष्ट। ततः स बभाण-'यदा याचिष्ये तदा दातव्यमिति'। साधवश्च वर्षाकालानन्तरं यथाविहारक्रमं तत्राऽऽजग्मुः तेन चात्मानमज्ञापयता पूर्वप्रतिषिद्धं घृतदुग्धादिकं प्रतिगृहं याचित्वा एकत्र च गृहे संमील्य मुक्तम्, ततः साधवो निमन्त्रिताः, तैश्च यथाशक्ति छद्मस्थदृष्ट्या परिभावितं, परं न ज्ञातं, ततः शुद्धमिति कृत्वा गृहीतम्। न च तेषां तथा गृह्णतां कश्चिद्दोषः, यथाशक्तिपरिभावनेन भगवदाज्ञाया आराधितत्वात्। यदि पुनरित्थंभूतं कथमपि ज्ञायते, तर्हि नियमतः परिहर्तव्यम्, क्रीतकृताभ्याहृतस्थापनारूपदोषत्रयसद्भावादिति। सूत्रं सुगमं, नवरं सागारिकः शय्यातरः, संस्तवः परिचयः, निजपटप्रदर्शनेन लोकावर्जनमिति तात्पर्यार्थः। तदेवमुक्तं परभावक्रीतम्।

संप्रत्यात्मभावक्रीतं स्पष्टयन्नाह—

धम्मकहवायखमणे, निमित्तमायावणे सुयट्ठाणे।
जाईकुलगणकम्मे, सिप्पम्मि य भावकीयं तु ॥३३६॥

धर्मकथादिषु भावक्रीतं भवति। इयमत्र भावना-येन परिचितावर्जनार्थं धर्मकथावादं, क्षपणं षष्ठाष्टमादिरूपं तपो, निमित्तमातापनां वा करोति। यद्वा-श्रुतस्थानमाचार्योऽहमित्यादिकं कथयति। यदि वा जातिं कुलं गणं कर्म शिल्पं वा परेभ्यः प्रकटयति। इत्थं च परमावर्जयन् ततो भक्तादि गृह्णाति तदाऽऽत्मभावक्रीतम्। यदा च दुःखक्षयार्थं च धर्मकथादिकं यथायोगं करोति तदा स प्रवचनप्रभावकतया महानिर्जराभाक् भवति। उक्तं च-"पावयणी धम्मकहा-वाई नेमित्तिओ तवस्सी य। विज्जासिद्धो य कई, अट्ठेव पभावगा भणिया ॥ १ ॥"

संप्रति धर्मकथारूपं प्रथमं द्वारं प्रपञ्चयितुमाह-

धम्मकहाअक्खित्ते, धम्मकहाओट्टियाण वा गिण्हे।
काहिंति साहवो च्चिय, तुमं व कहि पुच्छिए तुसिणी ॥३३७॥

आहारार्थं धर्मकथां कथयतः यदा ते श्रोतारो धर्मकथायाः सम्यगाक्षिप्ता भवन्ति तदा तेषां पार्श्वे यत् याचते तर्हि तदा प्रकर्षमागताः सन्तोऽभ्यर्थिता न विमुखं तिष्ठन्ति। यद्वा-धर्मकथात उत्थितानां सतां तेषां पार्श्वे यद् गृह्णाति तदात्मभावक्रीतम्। आत्मना स्वयमेव भावेन धर्मकथनरूपेण क्रीतमात्मभावक्रीतमिति। यद्वा-धर्मकथाकथकः कोऽपि प्रसिद्धो वर्तते, तदनुरूपाकारश्च विवक्षितः। ततश्च श्रावकाः पृच्छन्ति-यः कथी यो धर्मकथाकथकः श्रूयते स किं त्वमिति?। ततः स भक्तादिलोभादेवं वक्ति, यथा-साधव एव प्रायो धर्मकथां कथयन्ति, नान्ये। यदि वा तूष्णीं मौनेनावतिष्ठते। ततस्ते श्रावका मौनात् यथा स एवायम्, केवलं गम्भीरत्वादात्मानं न साक्षाद्वचसा प्रकाशयतीति; ततः प्रभूततरं तस्मै प्रयच्छन्ति। तच्च तेभ्यः प्रभूततरं लभ्यमानमात्मभावक्रीतं आत्मना स्वयमेव, भावेन स्वयमसावपि कथकः 'सोऽहं कथकः' इति ज्ञापनालक्षणेन, क्रीतमिति कृत्वा।

अथवा—

किं वा कहेज्ज छारा, दगसोयरिआ य अहवऽगारत्था।
किं छगलगगलवलया, मुंडकुडंबी व किं कहए? ॥३३८॥

यो जगति निपुणो धर्मकथाकथकः श्रूयते स किं त्वमिति पृष्टे, एवमुत्तरमाह-किं कथाः क्षारावगुण्ठितवपुषः, कथा येषु नैव, ते कथयन्ति, किं दकं जलं तस्य निरन्तरं विनाशकाः, तथा शौकरिका इव पापर्द्धिकारिण इव दकशौकरिकाः सांख्याः, किं वा अगारस्थाः गृहस्थाः शास्त्राध्ययनविकलाः। यद्वा-छगलकस्य पशोर्गलं ग्रीवां वलयन्ति मोटयन्ति ते छगलकगलवालकाः, यदि मुण्डाः सन्तो ये कुटुम्बिनः सौद्धोदनीयाः, ते कथयेयुः?। नैव ते कथयन्ति, किं तु यतय एव। तत एवमुक्ते श्रावकाश्चिन्तयन्ति-'नूनं स एवायं धर्मकथाकथकः' इत्यादि। तदेवं शेषं द्रष्टव्यम्।

तदेवं धर्मकथाद्वारं व्याख्याय शेषाण्यतिदेशेन व्याख्याति-

एमेव वाइखमए, निमित्तमायावगम्मि य विभासा।
सुयठाणं गणिमाई, अहवा वायगायरियमाई ॥३३९॥

यथा धर्मकथके विभाषा भावना कृता, एवमेव अनेनैव प्रकारेण वादिनि क्षपके निमित्तज्ञे आतापके च विभाषा कर्त्तव्या। यथा वादेनाक्षिप्तं याचते, यद्वा—ये वादिनः श्रूयन्ते ते किं यूयमिति प्रश्ने प्रायो यतय एव वादिनो भवन्तीति ब्रूते, यद्वा-मौनेनावतिष्ठते, यद्वा-किं भस्मावगुण्ठितवपुषः, किं वा दकशौकरिकाः। यद्वा, धिग्जातीयाः, यद्वा सौद्धोदनीया वादिनमवादं दद्युः, नैव ते ददति, किं तु यतय एव, एवमुक्ते ते एवं परिजानते-'यथा त एवामी,' ततो विशिष्टमाहारादिकं तस्मै वितरन्ति, तच्च तथा लभ्यमानमात्मभावक्रीतमवसेयम्। तथा श्रुतस्थानं गण्यादि, तत्र गणित्वमाचार्यत्वम्, आदिशब्दादुपाध्यायत्वादिपरिग्रहः। यद्वा-वाचनाचार्यत्वम्, आदिशब्दात् प्रवर्तकत्वादिपरिग्रहः। तत्र भक्ताद्यर्थमाचार्या वयमुपाध्याया वयमित्यादि जनेभ्यः प्रकाशयति, येन जना आचार्यत्वादिकमवगम्य प्रभूततरं वितरन्ति। यद्वा-ये आचार्या महाविद्वांसः श्रूयन्ते, किं यूयमित्यादि तथैव भावनीयम्। जात्यादिकं त्वेतदर्थं कथयति, येन समानं जात्यादिकम्, उत्कृष्टं वा शिल्पादि ज्ञात्वा प्रभूतं प्रयच्छन्ति, तच्च तथा प्रभूतं लभ्यमानमात्मभावक्रीतम्। तदेवमुक्तं क्रीतद्वारम्। पिं०। प्रव०। ग०। ध०।

प्रश्न० । दर्श० । पञ्चा० । चू० । " आयदव्वकीए परदव्वकीए आयभावकीए चउलहुं " पं० चू० । क्रीतं द्विविधम्-द्रव्यक्रीतं, भावक्रीतं च । तत्र द्रव्यक्रीतं द्विविधम्-आत्मद्रव्यक्रीतं, परद्रव्यक्रीतं च । भावक्रीतमपि द्विधा-आत्मभावक्रीतं, परभावक्रीतं च। तत्र परभावक्रीते मासलघु, स्वग्रामाभ्याहृते मासलघु। बृ० १ उ०। " उद्देसियं कीयगडं, पामिच्चं चेव आहडं। पूयं अणेसणिज्जं च, तं विज्जं परिजाणिया" ॥१४॥ सूत्र० १ श्रु० ए अ०। नि० चू०।

जे भिक्खू पडिग्गाहं कीणइ कीणावेइ कीयमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥१॥

कयेण कडं कीतगेण वा कम्मं कीयगडं, तं तिविहेण वि कारणेण करेंतस्स चउलहुं।

कीयकिणावियअणुमो-इते य वियडं जमाहितं सुत्ते ।
एक्केक्कं तं दुविहं, दव्वे भावे य णायव्वं ॥

अप्पणा वि जं किणाति तं दव्वे भावे,किणावेंते वि एते चेव दो भेदा, जं पि अणुमोदितं तं पि एतेहिं चेव कायं। नि० चू०१४उ०।

जे भिक्खू वियमं किणइ किणावेइ कीयमाहट्टु दिज्जमाणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहंतं वा साइज्जइ ॥ १ ॥

कीयकिणावियअणुमो-दिते य वियमं जमाहितं सुत्ते ।
एक्केक्कं तं दुविहं, दव्वे भावे य णायव्वं ॥ ३ ॥

अप्पणा किणाति,अण्णेण किणावेइ साहुहा वा,कीयं परिभोगओ अणुजाणति,अण्णं वा अणुमोइति,तस्स आणादिया य दोसा, चउलहुं च। सो कयो दुविधो-अप्पणा परेण वा। एक्केक्को पुणो दुविहो-दव्वे भावे य। शेषं पूर्ववत्। परभावकीए मासलहुं;जं अप्पणा किणति एस अप्पायणा,जं परेण किणावेइ एस उग्गमो।

एतेसामण्णतरं, वियमं कीतं तु जो पडिग्गाहे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ ४ ॥

कएठ्या। वियडग्गहणं अकप्पपडिसेवा य, संजमविराहणा य। जतो भणाति—

इहरहऽकितं ण कप्पति,किं तु वियडं कीतमादि अविसुद्धं ।
असमितेऽगुत्ते गेही, उड्डाहे महव्वया आदी ॥ ५ ॥

इहरहा अकीतं, किं पुण कीतं उग्गमदोससंजुत्तं सुट्ठुतरं न कप्पति। वियडत्तो पंचसु वि समितीसु असमितो भवति, गुत्तीसु वि अगुत्तो, तम्मि लहुमासा, जस्स अपरिव्वायगो गेही जणेण णाते उड्डाहो, पराहीणो वा महव्वए भज्जेज्ज। कहं ?। उच्यते—

वियमंतो छक्काए, विराहए वा सती तु सावज्जं ।
अगमागमिउदएसु व, परुणं वा तेसु घेप्पइ वा ॥ ६ ॥

परहीणत्तणओ छक्काए विराहेज्जा, मुसं वा भासेज्जा, अदत्तं वा गेण्हेज्जा, मेहुणं वा सेवेज्जा, हिरण्णादिपरिग्गहं वा करेज्जा; आयविराहणा इमा-अगमे त्ति कूवे पडेज्ज, पलित्ते य वा डज्झेज्ज, उदगेण वा मरेज्ज, तेणेव कसायण वा णिक्कासंति तो तेहिं घेप्पइ। अहवा कारणे पत्ते गेण्हेज्जा-

वितियपदं गेलण्णे, विज्जुवदेसे तहेव सिक्खाए ।
एतेहिं कारणेहिं, जयणाए कप्पती घेत्तुं ॥ ७ ॥

वेज्जोवदेसेण गिलाणट्ठा घेप्पेज्ज, कस्स वि कोऽतिवाही, तेणेव उवसमति त्ति ण दोसो, गिलाणट्ठा वा वेज्जो आणीतो तस्सट्ठा घिप्पेज्जा, पकप्पं वा सिक्खंतो गहणं करेज्ज। कहं ?। उच्यते—

संभोइयऽण्णसंभो-इयाण असती य लिंगमादीणं ।
कप्पं अहिज्जमाणो, सुद्धासति कीयमादीणि ॥ ८ ॥

पकप्पो सिक्खियव्वो सुत्तओ अत्थओ वि,स गुरुस्स पासे,ताहे समणे, सगणिस्स वि असती ताहे संभोतिताण सगासे सिक्खति, असति संभोतिताणं ताहे अण्णसंभोतिताण सगासे, तेसिं पि असती य लिंगत्थादियाण पासे पकप्पं अधिज्जति, तस्स य लिंगिस्सं तं वियडवसणं हवेज्ज, सो य अप्पणा चेव उप्पाएओ, अह सो उप्पाएउं सुत्तत्थेण तरति दाउं ताहे से साधू उप्पाएउ सुद्धं, असति सुद्धं ण लब्भइ ताहे कीयमादी गेण्हेज्जा। नि० चू० १ए उ०।

कीयकारिय-क्रीतकारित-त्रि०। क्रीतेन उत्पादिते,क्रीतकृतदोषदुष्टे, व्य० ३ उ०।

कीर-कीर-पुं०। स्त्री०। कीर्ति ईरयति-गिच्-अच्। शुके, पक्षिभेदे, " खगवारिग्रमिस्यतोऽपि किं न मुदं धास्यति कीरगीरिव ।" जातित्वात् स्त्रियां ङीप्। काश्मीरदेशे पुं० भूम्नि। अल्पार्थे कन्-कीरकः। शुकशावे, संज्ञायां कन्, वृक्षभेदे, क्षपणके च। वाच०। दर्श०। आ० क०।

कीरंत-क्रियमाण-त्रि०। कृ-कर्मणि लट्-यक्-शानच्। " इ-कृत्रामीरः " । द्व० ४ । ४ए । इत्यन्त्यस्य ईरादेशः। तत्संयोगे क्यस्य च लुक्। प्रा० ४ पाद । आश्रमिकिङ्करैः (प्रश्न० ३ आश्र० द्वार) विधीयमाने, पञ्चा० ४ विव०। पा०।

कील-कील-पुं०। कील बन्धे यथायथं भावकरणादौ घञ्। वह्निशिखायाम्, शङ्कौ, स्तम्भे, लेशे, कफोणौ, कफोणिनिम्नदेशे, "परिखास्वपि कीरव्य !, कीलैः सुनिचिताः कृताः"। रतिप्रहारभेदे, स्त्री०। "कीला उरसि कर्तरी शिरसि विद्धा कपोलयोः।" बन्धे, वाच०। सूत्र०।

कीलंत-क्रीडमान-त्रि०। कामक्रीडां कुर्वति, भ० १३ श० ६ उ०।

कीलण-क्रीडन-न०। क्रीडायाम्, औ०। प्रश्न०।

कीलणधाई-क्रीडनधात्री-स्त्री०। क्रीडनकारिण्यां धात्र्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

कीलमाण-क्रीडमान-त्रि०। क्रीडां कुर्वति, "कामगति दूसगेण कीलमाणा चिट्ठंति " आ० म० द्वि०।

कीलया-क्रीडता-स्त्री०। केलीकिलतायाम्, ध० ३ अधि०।

कीलसंठाण-कीलसंस्थान-त्रि०। कीलवद्वृत्ते, ध० ३ अधि०।

कीलावण-क्रीडन-न०। क्ष्वेडने, " खेलावणमाकिड्डा-इ दालकीलावणं च सेटाइ" आ० म० प्र०।

कीलावणधाई-क्रीडनधात्री-स्त्री०।"दढसरपुण्णमुहो, मलयगिरास्सू य मम्मणुल्लावो। उल्लावणकादीहि व,करेति कारेति वा किड्डं" ॥१३०॥ इत्युक्तस्वरूपे दासीभेदे, नि० चू० १३ उ०।

कीलिय-क्रीडित-न०। द्यूतादिरमणे, स्था० ६ ठा०। उत्त०। प्रश्न०। स्त्र्यादिभिः सह द्यूतदुरोदरादिरमणे, उत्त० २ अ०।

कीलिया-कीलिया-स्त्री०। शङ्कौ, नासिकादिवेधनं कीलिकादिभिः। आव० ४ अ०। कीलिकाविद्धास्थिद्वयसंचिते पञ्च-

मे संहनने, कर्म० ६ कर्म० । स्था० । यत्र पुनरस्थीनि कीलिकामात्रबद्धानि एव भवन्ति । कर्म० १ कर्म० । पं० सं० । जी० ।

कीलियाणाम–कीलिकानामन्–न० । कीलिकानिबन्धने संहनननामभेदे, कर्म० १ कर्म० ।

कीलियासंघयण–कीलिकासंहनन–न० । पञ्चमे संहनने, यत्रास्थीनि कीलिकामात्रबद्धान्येव भवन्ति तत्कीलिकासंहननम् । कर्म० ६ कर्म० ।

कीव–क्लीब–पुं० । न० । क्लीब–कः । क्लिश्यति इति क्लीबः । नि० चू० ११ उ० । मन्दसंहनने, भ० ६ श० ३२ उ० । ज्ञा० । असमर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । नपुंसकभेदे, बृ० ४ उ० । यः स्त्रीभिर्भोगैर्निमन्त्रितोऽसंवृतायाः वा स्त्रियोऽङ्गोपाङ्गानि दृष्ट्वा, शब्दं वा मन्मनोल्लापकं तासां श्रुत्वा समुद्भूतकामाऽभिलाषोऽनिसोढुं न शक्नोति स क्लीबः । ग० १ अधि० । प० भा० । पं० चू० । ध० ।

अथ क्लीबमाह–

कीवस्स गोणनामं, कम्मुदएँ निरोहे जायती ततिओ ।
तम्मि वि सो चेव गमो, पच्छित्तुस्सग्गअववादे ॥३०५॥

क्लीबस्य गौणं गुणनिष्पन्नं नाम, क्लिश्यते इति क्लीबः । किमुक्तं भवति ?, मैथुनाभिप्राये यस्याङ्गादानं विकारं भजति बीजबिन्दून् वा परिगलति स क्लीबः अयं च महामोहकर्मोदयेन भवति । यदा च परिगलतस्तस्य निरोधं करोति तदा निरुद्धवीर्यस्तत्कालान्तरेण तृतीयवेद उपजायते । स चतुर्धा–दृष्टिक्लीबः, शब्दक्लीबः, आदिग्धक्लीबः, निमन्त्रणाक्लीबश्चेति । तत्र यस्यानुरागतो विवस्त्राद्यवस्थं विपक्षं पश्यतो मेहनं गलति स दृष्टिक्लीबः । यस्य तु सुरतं शब्दं श्रृण्वतः स द्वितीयः । यस्तु विपक्षेणोपगूढो निमन्त्रितो वा व्रतं रक्षितुं न शक्नोति स यथाक्रममादिग्धक्लीबो निमन्त्रणाक्लीबश्चेति । चतुर्विधोऽप्ययमप्रतिसेवमानो निरोधेन नपुंसकतया परिणमति, तस्मिन् अपि क्लीबे स एव प्रायश्चित्तोत्सर्गापवादेषु गमो भवति यः पण्डकस्योक्तः । बृ० ४ उ० । ध० । नि० चू० ।

दुविहो य होति कीवो, अभिजूतो वा वि अणभिजूतो य ।
चउगुरुगा छग्गुरुगा, ततिए मूलं तु बोधव्वं ॥३५०॥
अहवा होई कीवो, अभिजूतो चेव अणभिजूतो य ।
अभिजूतो वि य दुविहो, निमंतणाऽऽदिद्धकीवो य ॥३५१॥
दुविहो य अणभिजूतो, सद्दे रूवे य होइ नायव्वो ।
अभिजूतो जतुगादी, सेसा कीवा अपभिकुट्ठा ॥ ३५२ ॥
संफासमणुप्पत्तो, पमती जो सो तु अभिजूतो ।
णिवतति य इत्थिनिमंतणेण एसो चेव अभिजूतो ॥३५३॥

अभिजूतो, अणभिजूतो य । अभिजूतो य पुणो दुविहो–णिमंतणा कीवो, आदिद्धकीवो य । अणभिजूतो दुविधो–सद्दकीवो, दिट्ठिकीवो य । एस चउव्विहो कीवो । इमा परूवणा–इत्थिए णिमंतितो भोगेहिं न तरति अहियासेतुं एस णिमंतणाकीवो । जतुघमो जहा अग्गिसंनिकरिसेण विलयति एवं जो इत्थोरुकक्खपयोधरेहिं आदिद्धो पडिसेवति एस आदिद्धकीवो । इमो दिट्ठीकीवो–

दट्ठूण संनिविट्ठं, णिगणमणायारसेवणिं वा वि ।
सद्दं व सोतु ततितो, सज्जं मरणं वओहाणं ॥३५४॥

दट्ठूण उवरि सरीरमप्पाउयं दुवियऊरुसंनिविट्ठं असंवुमं (णिगिणं ति) णग्गं मेहुणमणायारसेविणिं वा जो खुब्भति सो दिट्ठीकीवो । इमो सद्दकीवो–(सद्दं व सोउं ति) भासाभूसणगीतपरियारणासद्दं वा सोतुं जो खुब्भति सो सद्दकीवो । (ततिओ त्ति) एस ततिओ कीवो । अहवा एते निरुब्भमाणा ततिय त्ति णपुंसगा भवंति, सज्जं वा मरंति, वओ हाविंति वा । इमं दिट्ठीकीवं भणति ।

साहम्मियऽसाहम्मिय–गारत्थियइत्थियाउ दट्ठूणं ।
तो उप्पज्जति वेदा, कीवस्स ण कप्पती दिक्खा ॥३५५॥

एया तिविधत्थीउ दट्ठुं उक्कडवेदत्तणओ पुरिसवेदो उदिज्जति, उदिण्णे य जहा इत्थिग्गहणं करेज्ज, उड्डाहादी दोसा, तम्हा न दिक्खेयव्वा । दिक्खंतस्स इमं पच्छित्तं–आलिद्धकीवे चउगुरुं, णिमंतणकीवे छग्गुरुं, दिट्ठीकीवे छेदो, सद्दकीवे मूलं । अहवा सामन्नेण कीवे मूलं, एते जदि पव्वाविता अजाणता ततो इमा जयणा परियट्टणे–

संघाडगाणुवद्धा, जावज्जीवा वए णियमियचरित्ते ।
दो कीवे परियट्टति, ततियं पुण उत्तिमट्ठम्मि ॥ ४५६ ॥

सदा संघाडगाणुबद्धा सचितिया एवं अतीव नियतं कज्जति । अभिभूतो दुविहो वि एवं परियट्टिज्जति, ततिओ अणभिभूतो सो परं उत्तिमट्ठे पव्वाविज्जति । एसेवऽत्थो अण्णहा भन्नति–

अभिजूतो पुण जवितो, गच्छस्स वितिज्जगाउ सव्वत्थ ।
इयरे पुण पमिसिद्धा, सद्दे रूवे य जे कीवा ॥३५७॥

पुण सद्देण अभिजूतो दुविहो–विभयणसद्दो सेवाए, अधवा जति गच्छे वितिज्जगा अत्थि, तो ते पव्वाविज्जंति, से वितिज्जगा सव्वत्थ गच्छंति, इयरे पुण जे सद्दद्दिट्ठी कीवा, ते दो वि पडिसिद्धा, एतेसिं परं उत्तिमट्ठे दिक्खा । कीवे त्ति गयं । नि० चू० ११ उ० । स्था० । (स प्रव्रज्याऽयोग्य इति 'पवज्जा' शब्दे वक्ष्यते)

कीवसउण–क्लीबशकुन–पुं० । पक्षिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

कीस–कीश–पुं० । स्त्री० । कस्य वायोरपत्यम्, "अत इञ्" । ४ । १ । ९५ । (पाणि०) । किः हनुमान् ईशो यस्य । कुत्सितं शेते वा । वानरे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष् । सर्पे, कपिकपोलतुल्यवर्णत्वात् तत्त्वम् । पक्षिणि, कुत्सितशयनात्तस्य तथात्वम् । नग्ने, कीशवत् वस्त्ररहितत्वात्तस्य तथात्वम् । वाच० ।

कस्मात्–अव्य० । " किमो डिणोडीसो " । ८ । ३ । ६८ । इति किमो ङसेर्डीसादेशः । प्रा० ३ पाद । कुत इत्यर्थे, उत्त० ६ अ० । प्रश्न० । व्य० ।

कीसु–क्रिये–क्रिया० । निर्वर्त्ये इत्यर्थे, " संता भोग जु परिहरइ, तसु कंतहो बलि कीसु " साध्यमानावस्थात ' क्रिये ' इति संस्कृतशब्दादेष प्रयोगः । प्रा० ४ पाद ।

कु–कु–अव्य० । कु–कुः । पापे, निन्दायाम्, वाच० । कुरित्यव्ययं निपातो जुगुप्सायामशुद्धविषये वर्तते । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । निन्दायामीषदर्थे, निवारणे भूमिभागे, धरायां च, स्त्री० । वाच० । कुरिति पृथिव्याः संज्ञा । बृ० ३ उ० । आ० म० । आ० चू० । विशे० । कुमारे, त्रिपा० १ भु० ६ अ० ।

कुइय-कुचिक-पुं० । स्त्री० । कुच् वा इकन् । मत्स्यभेदे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष् । भारतवर्षे पेशान्यां दिशि देशभेदे, वाच० ।

कुचित-त्रि० । कुच् क्तिच् । परिमिते, वाच० । कुच् कः । अवस्यन्दिते, स्था० ६ ठा० ।

कुंआरी-कुमारी-स्त्री० । मांसलप्रजाताकारपशावस्याम, थ० २ अधि० ।

कुंकण-कोङ्कण-पुं० । देशभेदे, तेषां राजा कोङ्कणः । तद्देशनृपे, बहुषु अणो लुक् । तत्रार्थे, स्वार्थे कः । " शाल्वाः कोङ्कणकास्तथा" वाच० । स च देशोऽनार्यक्षेत्रम, तद्वासिनोऽनार्याः। प्रश्न० १ पद । अनु० । "अस्ति कोङ्कणदेशेऽत्र, सह्यनामा महागिरिः" । आ० क० । कोकनदे, प्रज्ञा० १ पद । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

कुंकुम-कुङ्कुम-न० । कुक्यते आदीयते । कुक आदाने, उमक्, मिमुम । काश्मीरादिदेशजे स्वनामख्याते गन्धद्रव्यभेदे, वाच० । रा० । आ० म० । प्रश्न० । ज्ञा० । अनु० । जं० ।

कुंच-क्रुञ्च-पुं० । स्त्री० । क्रुन् च अच् । वकभेदे, स्त्रियां संयोगोपधत्वात् टाप्, पुंयोगे तु अजा० टाप्, टावन्तः वीणाभेदे, स्त्री० । स्वार्थे अण् क्रौञ्चः स्वनामख्याते पर्वते, ' कुमारः क्रौञ्चदारणः ' । वकभेदे च । स्त्रियां तु अपन्तत्वात् ङीप् । वाच० । पक्षिविशेषे, स० । शरत्काले क्रौञ्चा माद्यन्ति मधुरस्वनयश्च भवन्ति । स० । प्रश्न० । उत्त० । "अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं । छट्टं च सारसा कुंचा, णेसायं सत्तमं गओ " अनु० । अनार्यदेशभेदे, तद्वासिनि जने च । प्रव० २७४ द्वार ।

कुंचग-क्रौञ्चक-पुं० । पक्षिविशेषे, " जो कुंचगावराहे पाणिदया कुंचगं तु णाइक्खे । जीवियमणुपेहंतं, मेतज्जरिसिं नमंसामि ॥ " आ० म० द्वि० ।

कुंचज्झय-क्रौञ्चध्वज-पुं० । स्त्री० । क्रौञ्चा लेखरूपविहोपेते ध्वजे, रा० ।

कुंचलं-देशी-मुकुले, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंचवीरग-क्रौञ्चवीरक-न० । शकटपञ्जरसदृशे जलयाने, नि० चू० १६ उ० ।

कुंचारि-क्रौञ्चारि-पुं० । स्कन्दे, को० ।

कुंचि-कुञ्चिन्-त्रि० । कुटिले, मायाविनि च । व्य० १ उ० ।

कुंचिकण्ण-कुञ्चिकर्ण-पुं० । स्वनामख्याते गोमण्डलाधिपतौ, ('वगणा' शब्दे तद्वक्तव्यतिः करिष्यते)

कुंचिय-कुञ्चित-त्रि० । ईषत्कुटिले कुण्डलीभूते, जं० २ वक्ष० । भ० । उत्त० । औ० । तगरपुष्पे, न० । वाच० ।

कुंचिक-पुं० । स्वनामख्याते तापसे, प्रतिकुञ्चनायां दृष्टान्तः । व्य० १ उ० ।

कुंचियभाव-कुञ्चितभाव-पुं० कुटिलभावे, व्य० १ उ० ।

कुंचिया-कुञ्चिका-स्त्री० । कुञ्चिण् आच्छादने, कुञ्चयत्याच्छादयति इति कुञ्चिका । रक्तपूरितपट्टे, या लोके माचिकेत्युच्यते । जीत० । गुञ्जायाम, वंशशाखायां, कूर्चिकायाम, मद्दीलतायां च । वाच० ।

कुंजर-कुञ्जर-पुं० । कौ जीर्यतीति कुञ्जरः । यदि वा कुञ्जे वनगहने रमते रतिमाबध्नाति इति कुञ्जरः । "क्वचित्" । ५।१। १७१। इति (हैम०) सूत्रेण रः प्रत्ययः । जी० ३ प्रति० । हस्तिनि, स्था० ८ ठा० । दन्तिनि, रा० । ज्ञा० । गजे, भ० ११ श० ११ उ० । उत्त० । को० । स्त्रियां जातित्वाद् ङीष् । पिप्पल्याम, वाच० । श्रीऋषभदेवस्य ऽयशीतितमे पुत्रे कुञ्जरबले, तत्पालितदेशभेदे च । कल्प० १ क्षण ।

कुंजरसेणा-कुञ्जरसेना-स्त्री० । ब्रह्मदत्तचक्रिणा लब्धे कन्यारत्ने, उत्त० १३ अ० ।

कुंजराणीय-कुञ्जरानीक-न० । हस्तिसमूहे, स्था० ७ ठा० ।

कुंट-कुण्ट-त्रि० । विकलपाणौ, प्रव० ११० द्वार । हीनहस्ते, नि० चू० ११ उ० । प्रश्न० । "ते होंति कुंटमंटा" आव० ३ अ० ।

कुंटत्त-कुण्टत्व-न० । पार्थिवक्षत्त्वादिके, कुब्जत्वे च । आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

कुंटलविंटल-कुण्टलवेण्टल-न० । खटिकावष्पुटिकादौ, " तत्थिमो रागसंनिवेसे अच्छंदो उ कुंटलविंटलेणं जीवइ"आ०म०द्वि० । चू० । " पाखण्डचच्छन्दकस्तत्र, मन्त्रतन्त्रादिजीवकः" आ०क० ।

कुंटार-देशी-म्लानार्थे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंटी-देशी-पोट्टले वस्त्रनिबद्धद्रव्ये, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंठ-कुण्ठ-त्रि० । कुठि वैकल्ये अच् । बुद्धिविकले, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० । मूर्खे, क्रियासु मन्दे, अकर्मण्ये, वाच० ।

कुंड-कुण्ड-न० । कुण्ड्यते रक्ष्यते जलं वह्निर्वाऽत्र । " कुडि " रक्षणे आधारे अच् णिलोपः । जलाधारे, वृत्ताकारे पात्रभेदे, होमार्थमग्न्याधारे स्थानभेदे, देवादिखातजलाशये, वाच० । गङ्गकुण्डादौ ह्रदे, नं० । स० । कादम्बर्यो कलिगिरेरुपत्यकावर्तिनि स्वनामख्याते सरोवरभेदे, ती० ३४ कल्प । कुण्डाधते कुक्षमनेन । कुडि दाहे करणे घञ् । अमृते भर्तरि जारजाते, स्त्रियां टाप् । " पत्यौ जीवति कुण्डः स्यात् " तेन निर्वृत्ताद्यर्थे चातुरर्थ्यां कुण्डरः । तन्निर्वृत्तादौ, त्रि० । कुडि दाहे भावे अः । दाहे, वाच० ।

कुंमकोलिय-कुण्डकोलिक-पुं० । स्वनामाङ्किते उपासकभेदे, स्था० । कुण्डकोलिको गृहपतिः काम्पिल्यवासी धर्मध्यानस्थो यथा देवस्य गोशालमतमुद्ग्राहयत उत्तरं ददौ, दिवं च ययौ, यथा चत्राभिधीयते तत्त्वथेति उपासकदशानां षष्ठेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ।

तद्वक्तव्यता चासौ-

छट्ठस्स उक्खेवओ-तेणं कालेणं तेणं समएणं कंपिल्लपुरे णयरे सहसंववणे उज्जाणे जियसत्तू राया, कुंमकोलिए गाहावई, पूसा भारिया, छ हिरण्णकोडीओ णिहाणपउत्ताओ, छ वुड्ढि छ पवित्थरपउत्ताओ छव्वया दस गोसाहस्सीएणं वएणं सामी समोसढो सावयधम्मं पडिवज्जइ जहा काम-

देवो, सो सव्वे वत्तव्वया जाव पडिलाभेमाणे विहरइ । तए णं से कुंडकोलिए अन्नया कया वि पुव्वावरण्हकालसमयंसि जेणेव पुढविसिलापट्टए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता णाममुद्दगं च उत्तरिज्जगं च पुढविसिलापट्टए ठवेइ, ठवेइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तए णं तस्स कुंडकोलियस्स समणोवासयस्स एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था, तए णं से देवे णाममुद्दं च उत्तरिज्जं च पुढविसिलापट्टयाओ गिण्हइ, गिण्हित्ता सखिंखिणिं अंतलिक्खपडिवन्ने कुंडकोलियं समणोवासयं एवं वयासी–हं भो ! कुंडकोलिया समणोवासया ! सुंदरी णं देवाणुप्पिया ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, नत्थि उट्ठाणे ति वा कम्मे ति वा बले ति वा वीरिए ति वा पुरिसक्कारपरक्कमे ति वा णियया सव्वभावा । मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती उट्ठाणे ति वा जाव० परक्कमे ति वा अणियया सव्वभावा । तए णं से कुंडकोलिए तं देवं एवं वयासी–जइ णं देवाणुप्पिया ! सुंदरी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, णत्थि० जाव उट्ठाणे ति वा जाव णियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे ति वा जाव अणियया सव्वभावा । तुमे णं देवाणुप्पिया ! इमे एया दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभावे किण्णा लद्धे किण्णा पत्ते किण्णा अभिसमण्णागए ?, किं उट्ठाणेणं जाव पुरिसक्कारपरक्कमेणं ?, उदाहु अणुट्ठाणेणं अकम्मेणं जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं ?। तए णं से देवे कुंडकोलियं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी अणुट्ठाणेणं० जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया ।

किमपि लिख्यते षष्ठे-(धम्मपण्णत्ति त्ति) श्रुतधर्मप्ररूपणा दर्शनं मतम्, सिद्धान्त इत्यर्थः। उत्थानम्-उपविष्टः सन् यदूर्द्ध्वीभवति, कर्म गमनादिकं, बलं शारीरं, वीर्यं जीवप्रभवं, पुरुषकारः पुरुषत्वाभिमानः, पराक्रमः स एव संपादितस्वप्रयोजनः इति उपप्रदर्शने, वा-विकल्पने, अस्त्येतदुत्थानादि जीवानाम्, एतस्य पुरुषार्थप्रसाधकत्वात् । तत्साधकं च पुरुषकारसद्भावेऽपि पुरुषार्थसिद्ध्यनुपलम्भात्, एवं च नियताः सर्वभावाः, यैर्यथा भवितव्यं ते तथैव भवन्ति, न पुरुषकारबलादन्यथाकर्तुं शक्यत इति । आह च–

"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः,
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा ।
भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने,
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः" ॥ १ ॥

तथा–

"न हि भवति यन्न भाव्यं,
भवति च भाव्यं विनाऽपि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति,
यस्य तु भवितव्यता नास्ति ॥ १ ॥"

(मंगुलि त्ति) असुन्दरा धर्मप्रज्ञप्तिः श्रुतधर्मप्ररूपणा । किंस्वरूपा असावित्याह–अस्तीत्यादि । अनियताः सर्वभावाः उत्थानादेर्भवन्ति, तदभावाच्च न भवन्तीति कृत्वा इत्येवं स्वरूपाः । ततोऽसौ कुण्डकोलिकः तदेवमेवमवादीत्–यदि गोशालकस्य सुन्दरो धर्मो, नास्ति कर्मादीन्यतो नियताः सर्वभावा इत्येवंरूपः। मङ्गुलश्च महावीरधर्मोऽस्ति कर्मादीन्यनियताः सर्वभावा इत्येवंस्वरूपमित्येवं तन्मतमनूद्य कुण्डकोलिकस्तन्मतदूषणाय विकल्पद्वयं कुर्वन्नाह–" तुमे णं " इत्यादि । पूर्ववाक्ये यदीतिपदोपादानादेतस्य वाक्यस्यादौ तदेति पदं द्रष्टव्यम् । इति त्वयाऽयं दिव्यो देवर्द्ध्यादिगुणः केन हेतुना लब्धः ?, किमुत्थानादिना, (उदाहु त्ति) आहोस्विदनुत्थानादिना तपोब्रह्मचर्यादीनामकरणेनेति भावः ।

तए णं से कुंडकोलिए समणोवासए तं देवं एवं वयासी–जइ णं देवाणुप्पिया ! तुमे इमा एयारूवा दिव्वा देविड्ढी अणुट्ठाणेणं जाव अपुरिसक्कारपरक्कमेणं लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया, जेसि णं जीवाणं नत्थि उट्ठाणे ति वा० जाव परक्कमे ति वा ते किं न देवाणुप्पिया ! अह णं, देवाणुप्पिया ! तुमे इमेयारूवा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवजुई दिव्वे देवाणुभावे उट्ठाणे ति जाव परक्कमेण वा ताओ जं वदसि सुंदरी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स धम्मपण्णत्ती, णत्थि उट्ठाणे ति वा जाव णियया सव्वभावा, मंगुली णं समणस्स भगवओ महावीरस्स धम्मपण्णत्ती, अत्थि उट्ठाणे ति वा जाव अणियया सव्वभावा, तं ते मिच्छा, तए णं से देवे कुंडकोलिएणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे संकिते जाव कलुससमावण्णे णो संचाएति कुंडकोलियस्स समणोवासयस्स किं चि पामोक्खमाइक्खित्तए णाममुद्दं च उत्तरिज्जयं च पुढविसिलापट्टए ठवेति, ठवेतित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढो । तए णं से कुंडकोलिए इमीसे कहाए लद्धट्ठे हट्ठ तुट्ठ जाव हियया जहा कामदेवे तहा णिग्गच्छइ जाव पज्जुवासइ धम्मकहा कुंडकोलिए त्ति समणे भगवं कुंडकोलियं समणं एवं वयासी–से णूणं कुंडकोलिया ! कल्लं तुम्हे पुव्वावरण्हकालसमयंसि असोगवणियाए एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था । तए णं से देवे णाममुद्दं च तं चेव जाव पडिगए, से णूणं कुंडकोलिया ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि, तं धण्णेसि णं तुमं जहा कामदेवे अज्जो त्ति समणे भगवं समणा निग्गंथा य निग्गंथीओ य आमंतित्ता एवं वयासी–जइ ताव अज्जो ! गिहिणो गिहिमज्झा वसंतो णं अण्णउत्थिए अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य कारणेहि य वागरणेहि य णिप्पट्ठपसिणवागरणे करेइ, सक्का पुणाइ अज्जो ! समणेहिं णिग्गंथेहिं दुवालसंगं गणिपिडयं अहिज्जमाणेहिं अण्णउत्थिया अट्ठेहि य० जाव णिप्पट्ठपसिणं करेत्तए, तए णं समणा णिग्गंथा समणस्स

भगवओ महावीरस्स तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ। तए णं से कुंभकोलिए समणं भगवं वंदइ नमंसइ पसिणाइं पुच्छइ अट्ठमादियइ जामेव दिसं तामेव पडिगया समणोवासया बहिया जणवयविहारं विहरइ, तस्स कुंडकोलियस्स बहूहिं सील० जाव भावेमाणे चोद्दस संवच्छरा वितिक्कंता पन्नरसमस्स संवच्छरस्स अंतरा वट्टमाणस्स अणया जहा कामदेवो तहा जेट्ठपुत्तं ठवेइ, ठवेइत्ता तहा पोसहसालाए जाव धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ; एवं एक्कारस उवासगपडिमाओ तहेव जाव सोहम्मे कप्पे अरुणज्झए विमाणे जाव अंतं काहिंति। उवासगदसाणं छट्ठं अज्झयणं सम्मत्तं ।

यदुत्थानादेरभावेनेति पक्षो गोशालकमताश्रितत्वात् भवतः,तथा येषां जीवानां नास्त्युत्थानादि, तदनुष्ठानकरणमित्यर्थः । ते इति जीवाः किं न देवाः ?। पृच्छतोऽयमभिप्रायः-यथा त्वं पुरुषकारं विना देवः संवृत्तः स्वकीयाभ्युपगमतः एवं सर्वजीवा ये तत्थानादिवर्जितास्ते किं न देवत्वं प्राप्नुवन्ति,न चैतदेवमिष्टमित्युत्थानाद्यपलापपक्षे दूषणम् । अथ त्वयेयमृद्धिरुत्थानादिना लब्धा ततो यद्वदसि-सुन्दरा गोशालकप्रज्ञप्तिः, असुन्दरा महावीरप्रज्ञप्तिरिति तत्ते तव मिथ्यावचनं भवति,तस्य व्यभिचारादिति। ततोऽसौ देवस्तेनैवमुक्तः सन् शङ्कितः संशयवान् जातः-किं गोशालकमतं सत्यमुत महावीरमतम्?,महावीरस्य युक्तितोऽनेन प्रतिष्ठितत्वात्। एवंविधविकल्पवान् संवृत्त इत्यर्थः। काङ्क्षितो ममापि, साध्ये तद्युक्त्युपेतत्वात् । इति विकल्पवान् संवृत्त इत्यर्थः। यावत्करणाद्भेदं समापन्नो मतिभेदमुपागतो गोशालकमतमेव साध्विति निश्चयादपोढत्वात् । तथा कलुषं समापन्नः प्राक्तननिश्चयविपर्ययलक्षणं गोशालकमताऽनुसारिणां मतेन मिथ्यात्वं प्राप्त इत्यर्थः। अथ वा कलुषभावम्-जितोऽहमनेनेति खेदरूपमापन्न इति । (नो संचाए इति) न शक्नोति (पामोक्खं ति) प्रमोक्षमुत्तरम्, आख्यातुं भणितुमिति। (गिहिमज्झा वसंताणं ति) गृहमध्ये वसन्तः। णमिति वाक्यालङ्कारे । अन्ययूथिकान् अर्थैर्जीवादिभिः सूत्राभिधेयैर्वा हेतुभिश्चान्वयव्यतिरेकलक्षणैः प्रश्नैश्च परप्रश्नीयपदार्थैः कारणैरुपपत्तिमात्ररूपैः व्याकरणैश्च परेण प्रश्नितस्योत्तरदानरूपैः (निप्पट्ठपसिणवागरणे त्ति) निरस्तानि स्पष्टानि व्यक्तानि व्याकरणानि प्रश्नव्याकरणानि येषां ते निस्पष्टप्रश्नव्याकरणाः। प्राकृतत्वाद्वा निःस्पिष्टप्रश्नव्याकरणाः, तान् कुर्वन्ति (सक्का पुण त्ति) शक्या एव हे आर्याः ! श्रमणैरन्ययूथिका निष्पष्टप्रश्नव्याकरणाः कर्तुमिति। षष्ठं विवरणतः समाप्तम्। उपा० ६ अ० ।

कुंडग्गाम-कुण्डग्राम-पुं० । स्वनामख्याते मगधदेशग्रामभेदे, स च ब्राह्मणकुण्डग्रामः क्षत्रियकुण्डग्राम इति च द्विधा विभक्त इति प्रतीयते । तत्र श्रीवीरः प्रतिमारूपेण प्रतिष्ठितः । ती० ४६ कल्प । " तेण सामी कुंडग्गामे दिट्ठपुव्वो । " आ० म० द्वि० ।

कुंडधार-कुण्डधार-पुं० । कुण्डं कुण्डाकारं धारयति । धारि अण् उप० स० । नागभेदे, वाच० । यक्षभेदे च । " दो कुंडधारपडिमाओ सण्णिक्खित्ताओ । " जी० ३ प्रति० ।

कुंडपुर-कुण्डपुर-न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्र भगवतो महावीरस्य ज्येष्ठा भगिनी परिणीता । " कुंडपुरं नगरं तत्थ सामिस्स जेट्ठा भगिणी सुदंसणा नाम " आ० म० द्वि० । आ० चू० । इहैव भरतक्षेत्रे कुण्डपुरं नाम नगरं, तत्र भगवतः श्रीमहावीरस्य भागिनेयो जमालिनामा राजपुत्र आसीत् । विशे० । स्था० । दर्श० । आ० क० । कुण्डग्राम इति नामान्तरम् । तस्य दक्षिणोत्तरक्रमात् ब्राह्मणकुण्डग्रामः क्षत्रियकुण्डग्रामश्चेति द्वौ भागौ। तत्र ब्राह्मणकुण्डग्रामे देवानन्दाया गर्भे भूत्वा क्षत्रियकुण्डग्रामे त्रिशलाकुक्षौ संक्रान्तो भगवान् महावीरः। आव० १ अ० । आ० म० ॥

कुंडपत्ती-कुण्डपत्री-स्त्री० । लघुपताकायाम्, आ० म० प्र० ।

कुंडमोद-कुण्डमोद-पुं० । हस्तिपादाकारे मृण्मये पात्रभेदे, दश० ६ अ० ।

कुंडल-कुण्डल-पुं० । न० । अर्द्धर्चा० । कुण्ड्यते कुण्डयते 'कुडि' दाहे ' कुडि ' रक्षायां वा कर्तरि कर्मणि वा वृषा० कल च। कुण्डं कुण्डाकारं लाति ला० क० कुण्डः। तदाकारोऽस्त्यस्य सिध्मादित्वाल्लच् वा । वाच० । कर्णाभरणे, तं० । कर्णाभरणविशेषे, भ० २ श० ५ उ० । रा० । जं० । प्रज्ञा० । आ० म० । जी० । उत्त० । आचा० । औ० । " अंगयकुंडलमट्ठगं जुयलकरणपीढधारी " प्रज्ञा० २ पद । अरुणवरावभासपरिक्षेपिणि स्वनामख्याते द्वीपभेदे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रभेदे च । तत्र कुण्डले द्वीपे कुण्डलकुण्डलभद्रौ देवौ,कुण्डलसमुद्रे चक्षुःशुभचक्षुःकान्तौ कुण्डलद्वीपदेवौ च । सू० प्र० १९ पाहु० । जी० । चं० । द्वी० । एकादशद्वीपवर्तिनि चक्रवालपर्वते, स्था० १० ठा० । वलये, वेष्टने च । वाच० ।

कुंडलउज्जोइआणण-कुण्डलोद्योतिताणन-त्रि० । कुण्डलाभ्यामुद्योतितमाननं मुखं यस्य स तथा । कुण्डलशोभितमुखे, औ० । कल्प० ।

कुंडलज्जोइय-कुण्डलद्योतित-त्रि० । कुण्डलयुक्ते, भ० ११ श० ११ उ० ।

कुंडलभद्द-कुण्डलभद्र-पुं० । कुण्डलद्वीपाधिपतौ, जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । द्वी० ।

कुंडलमहाभद्द-कुण्डलमहाभद्र-पुं० । कुण्डलद्वीपाधिपतौ, जी० ३ प्रति० ।

कुंडलमहावर-कुण्डलमहावर-पुं० । कुण्डलवरसमुद्राधिपतौ, सू० प्र० १६ पाहु० ।

कुंडलवर-कुण्डलवर-पुं० । कुण्डलसमुद्रपरिक्षेपिणि द्वीपभेदे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रे च । तत्र कुण्डलवरे द्वीपे कुण्डलवरभद्रकुण्डलवरमहाभद्रौ, कुण्डलवरे समुद्रे कुण्डलवरकुण्डलमहावरौ देवौ। जी० ३ प्रति० । चं० प्र० । अनु० । सू० प्र० । द्वी० । कुण्डलवराख्ये द्वीपे प्राकारकुण्डलाकृतौ मानुषोत्तरपर्वतविशेषे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

कुंडलवरभद्द-कुण्डलवरभद्र-पुं० । कुण्डलवरद्वीपाधिपतिदेवे, जी० ३ प्रति० ।

कुंडलवरमहाभद्द-कुण्डलवरमहाभद्र-पुं० । कुण्डलवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

कुंडलवरमहावर–कुण्डलवरमहावर–पुं० । कुण्डलवरसमुद्रपरिक्षेपिणि द्वीपे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रे च । जी० ३ प्रति० । "कुंडलवरोभासे दीवे कुंडलवरोभासभद्दमहाभद्दा इत्थं दो देवा, कुंडलवरोभाससमुद्दे कुंडलवरोभासवरमहावरा इत्थं दो देवा महड्डिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति ।" जी० ३ प्रति० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

कुंडलवरोभास–कुण्डलवरावभास–पुं० । कुण्डलवरसमुद्रपरिक्षेपिणि द्वीपे, तत्परिक्षेपिणि समुद्रे च । जी० ३ प्रति० । "कुंडलवरोभासे दीवे कुंडलवरोभासभद्दकुंडलवरोभासमहाभद्दा जत्थ दो देवा ।" जी० ३ प्रति० ।

कुंडलवरोभासभद्द–कुण्डलवरावभासभद्र–पुं० । कुण्डलवरावभासद्वीपाऽधिपती देवे, जी० ३ प्रति० ।

कुंडलवरोभासमहाभद्द–कुण्डलवरावभासमहाभद्र–पुं० । कुण्डलवरावभासद्वीपाधिपतौ देवे, सू० प्र० १६ पाहु० । जी० ।

कुंडलवरोभासमहावर–कुण्डलवरावभासमहावर–पुं० । कुण्डलवरावभाससमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

कुंडलवरोभासवर–कुण्डलवरावभासवर–पुं० । कुण्डलवरावभाससमुद्राधिपतौ, जी० । "कुंडलवरोभाससमुद्दे कुंडलवरोभासवरमहावरा इत्थं दो देवा महड्डिया जाव पलिओवमट्ठितिया परिवसंति ।" जी० ३ प्रति० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

कुंडला–कुण्डला–स्त्री० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पूर्वेण शीतोदाया महानद्या दक्षिणतः । स्था० ८ ठा० । सुवत्सविजयक्षेत्रयुगले स्वनामख्याते पुरीयुगले, "दो कुंडलाओ" स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

कुंडलिया–कुण्डलिका–स्त्री० । मात्रावृत्तभेदे, तल्लक्षणं यथा–

" कुण्डलिका सा कथ्यते प्रथमं दोहा यत्र ।
रोलाचरणचतुष्टयं प्रभवति विमलं तत्र ॥
प्रभवति विमलं तत्र पदमतिसुललितयमकम् ।
अष्टपदी सा भवति विमलकविकौशलगमकम् ॥
अष्टपदी सा भवति सुखितपलितमण्डलिका ।
कुण्डलिनायकभणिता विबुधकर्णे कुण्डलिका ॥" इति । वाच० ।

कुण्डलाकारे वस्तुनि, उत्फणत्वे कुण्डलिकादिपर्यायसमन्वितसर्पवत् । आ० म० द्वि० ।

कुंडलुल्लिहियगंडलेह–कुण्डलोल्लिखितगण्डलेख–त्रि० । कुण्डलाभ्यामुल्लिखिता स्पृष्टा गण्डलेखा कपोलविरचितमृगमदादिरेखा यस्य स कुण्डलोल्लिखितगण्डलेखः । कर्णाभरणशोभितकपोले, रा० ।

कुंडलोद–कुण्डलोद–पुं० । कुण्डलद्वीपपरिक्षेपिणि समुद्रे, सू० प्र० १९ पाहु० । जी० ।

कुंडाग–कुण्डाक–पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशभेदे, "ततो भयवं आलंभियं नयरिं गतो, तत्थ सत्तमो वासारत्तो चउम्मासखमणं करेइ, ततो बाहिं पारित्ता कुंडागो नाम सन्निवेसो तत्थ पइ ।" आ० म० द्वि० । कल्प० ।

कुंडिअपेसणं–देशी–ब्राह्मणविष्टौ, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंडिओ–देशी–ग्रामाधिपतौ, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंडिया–कुण्डिका–स्त्री० । कुडि एवुल् । कमण्डलौ, पिठरे च । वाच० । ज्ञा० । आचा० । अनु० । भ० । औ० ।

कुंत–कुन्त–पुं० । कुं भूमिमुनत्ति । उन्द्–बा तः शकन्ध्वा० । गवेधुकायाम्, धान्यभेदे, प्रासास्त्रे, क्षुद्रकीटभेदे, चण्डभावे, वाच० । तत्र प्रासास्त्रे "हलगतमुसलचक्रकुंत०" प्रश्न० १ आश्र० द्वार । विपा० । औ० । "कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामरग्गाहा" औ० ।

कुंतल–कुन्तल–पुं० । कुन्तं क्षुद्रकीटं लाति । ला–कः । केशे, तदाकारत्वात् । ह्रीवेरे च । कुन्तलाकारं केशाकारं लाति । ला० कः । यवे, चषके, पानपात्रे, लाङ्गले च । भुवकभेदे, दाक्षिणात्यजनपदभेदे, तेषां राजा अण् कौन्तलः तद्देशनृपे, बहुषु तस्य लुक् । क्वचिदेकत्वेऽपि लुक् । सोऽभिजनोऽस्य अण् । कौन्तलः पित्रादिक्रमेण तद्देशवासिनि, वाच० । आ० क० ।

कुंतलो–देशी–सातवाहने, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंतलदेवी–कुन्तलदेवी–स्त्री० । स्वनामख्यातायां राज्ञ्याम्,

तत्कथानकं भण्यते—

कस्यचिन्नरपतेः कुन्तलदेव्यभिधाना पट्टराज्ञी बभूव । साऽशेषराज्ञीमत्सरेण स्वर्धकृतमन्दिरे तत्तत्कृतपूजातः स्नानविलेपनवासधूपवस्त्राभरणाभिषेकरथयात्रास्नात्रादिकां पूजां जिनप्रतिकृतीनां कारितवती । एवं व्रजति कालेऽशुभकर्मोदयात् तस्याः कश्चिदसाध्यो रोगो जातः । जीवितशेषा च संवृत्ता । तां चैवं दृष्ट्वा पूर्वदत्तं पट्टरत्नं द्वितीयपत्न्या सर्वमाभरणवस्त्रादि तत्पार्श्वाद् गृहीत्वा राजादेशेन नियोगिभिर्नृपतिभाण्डागारे क्षिप्तम् । ततस्तस्यास्तं पराभवं मन्यमानाया आर्तध्यानमभूत् । तत्परिणतौ च मृता सती शुनीत्वेनोत्पन्ना । अन्यदा तत्र केवली समायातः । स भगवानन्तःपुरिकाभिः सपत्नीभिः कुन्तलदेव्या उत्पत्तिः पृष्टः । भगवताऽपि वृत्तान्ते कथिते तासां संसारविरक्तिर्जाता । ततस्ताभिर्गत्वा दृष्टा सा शुनी, सस्नेहं पुष्पचन्दनविशिष्टाहारदानादिभिः पूजिता । ततोऽस्या मण्डल्याः पूजादिकं ससंभ्रमं जिनमन्दिरं च दृष्ट्वा जातिस्मरणं संपन्नम्, बोधिश्च । क्षामितायाश्च ताभिः कषायोपशमे आराधना जातेति कुन्तलदेवीकथानकं समाप्तम् । जीवा० १२ अधि० ।

कुंतला–कुन्तला–स्त्री० । स्वनामख्यातायां राज्ञ्याम्, दर्श० ।
(तत्कथा 'चेइय' शब्दे स्वयंकृतजिनबिम्बपूजाप्रस्तावे वक्ष्यते)

कुंती–कुन्ती–स्त्री० । वसुदेवभगिन्याम्, कुन्तिभोजदत्तकसुदत्तकसुतायां पृथायां युधिष्ठिरादिमातरि, वाच० । पाण्डोः पत्न्याम्, स्था० १० ठा० । "वसुदेवानुजे कन्ये, कुन्ती माद्री च विश्रुते" अन्त० १ वर्ग । मञ्जर्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।
('दुवई' शब्देऽस्याः द्वारिकागमनादिकथा वक्ष्यते)

कुंतीपोट्टलयं–देशी–चतुष्कोणे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंतीविहार–कुन्तीविहार–पुं० । युधिष्ठिरेणोद्धारिते नासिक्यपुरस्थे चन्द्रप्रभस्वामिचैत्ये, "इत्यंतरे दावरजुगे पंडुरायपत्तीए कुंतीदेवीए पढमपुत्ते जुहिट्ठिल्ले संजाए चंदप्पहसामिणो पासायं जिण्णं दट्ठूण उद्धारो काराविओ, से हत्थेण चित्तकम्मो अ तत्थ ठाविओ, कुंतीविहारु त्ति नामं विक्खायं ।" ती० ४८ कल्प ।

कुंथु-कुन्थु-पुं० । अवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रजे षष्ठे चक्रवर्तिनि सप्तदशे तीर्थकरे, आ० म० । नामनिरुक्त्यन्तरम्-संप्रति कुन्थुः कुः पृथिवी तस्यां स्थितवान् कुन्थुः, पृषोदरादित्वादिष्टरूपनिष्पत्तिः । तत्र सर्वेऽपि भगवन्तं एवंविधास्ततो विशेषमाह- "थूभं रयणविचित्तं, कुंथुं सुमिणम्मि तेण कुंथुजिणो " जननी स्वप्ने कुथं मनोहरे अभ्युन्नते महीप्रदेशे स्तूपं रत्नविचित्रं दृष्ट्वा प्रतिबुद्धवती, तेन कारणेन भगवान् नामतः कुन्थुजिनः। आ०म० द्वि० । आ० चू० । आव० । स० । ध० ।

इक्खागुरायवसहो, कुंथू नाम नरेसरो ।
विक्खायकित्ती भयवं, पत्तो गइमणुत्तरं ॥ ३९ ॥

पुनः कुन्थुनामा नरेश्वरः षष्ठचक्री अनुत्तरां सर्वोत्कृष्टां गतिं प्राप्तः। कीदृशः कुन्थुः?, भगवान् ऐश्वर्यज्ञानवान्, पुनः कीदृशः कुन्थुः?,इक्ष्वाकुराजवृषभः-इक्ष्वाकुवंशीयनृपेषु वृषभो वृषभसमानः, प्रधान इत्यर्थः । पुनः कीदृशः ?, विख्यातकीर्तिः । अत्र भगवानिति विशेषणेनाष्टमहाप्रातिहार्याद्यैश्वर्ययुक्तः सप्तदशमस्तीर्थकरः षष्ठचक्री कुन्थुर्ज्ञेयः । अत्र श्रीकुन्थुनाथदृष्टान्तः-हस्तिनागपुरे सूरराजः श्रीदेवी भार्या, तस्याः कुक्षौ श्रीभगवान् पुत्रत्वेनोत्पन्नः, जन्ममहोत्सवानन्तरं च स्वप्ने जनन्या रत्नस्तूपः कुथ्वां दृष्टः, गर्भस्थे च भगवति पित्रा शत्रवः कुन्थुवत् दृष्टा इति कुन्थुरिति नाम कृतम् । पित्रा प्राप्तयौवनश्चायं विवाहितो राजकुमारिकाभिः । काले च भगवन्तं राज्ये व्यवस्थाप्य सूरराजः स्वयं दीक्षां जग्राह । भगवांश्च उत्पन्नचक्ररत्नप्रसाधितभरतः चक्रवर्तिभोगान् बुभुजे । तीर्थप्रवर्तमानसमये च निष्क्रम्य षोडश वर्षाणि चोग्रविहारेण विहृत्य केवलज्ञानभाग् जातः, देवाश्च समवसरणमकार्षुः । प्रव्राजितः केवलपर्यायेण घनकालं विहृत्य संमेतगिरिशिखरे मोक्षमगमत् । तस्य भगवतः कुमारत्वे त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि, माण्डलिकत्वे च त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि, चक्रित्वे त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि, श्रामण्ये च त्रयोविंशतिवर्षसहस्राणि सार्द्धानि च सप्तशतानि वर्षाणि अभवन्, सर्वायुर्द्विनवतिवर्षसहस्राणि सार्द्धसप्तशतानि चास्य बभूव । इति श्रीकुन्थुनाथदृष्टान्तः । उत्त० १८ अ० । "कुंथू णं अरहा पंचाणउइवाससहस्साइं परमाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे जाव प्पहीणे " (स०) । कुन्थुनाथस्य सप्तदशतीर्थकरस्य कुमारत्वमाण्डलिकत्वचक्रवर्तित्वानगारत्वेषु प्रत्येकं त्रयोविंशतेर्वर्षसहस्राणामर्द्धाष्टमवर्षशतानां च भावात्सर्वायुः पञ्चनवतिवर्षसहस्राणि भवन्तीति । स० ६५ सम० । प्रव० । नि०। स्था० । (अन्तरम् 'अंतर' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे उक्तम) (वर्णादि 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यते) "कुंथू णं अरहा पणतीसं धणूइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था " स० ३५ सम० । " कुंथुस्स णं अरहओ सत्ततीसं गणा सत्ततीसं गणहरा होत्था " कुन्थुनाथस्येह सप्तत्रिंशद्गणधरा उक्ताः, आवश्यके तु पञ्चत्रिंशत् इति मतान्तरम् । स० ३६ सम० । " कुंथुस्स णं अरहओ बत्तीसं जिणसया होत्था " स० ३२ सम० । " कुंथुस्स णं अरहओ एक्कासीतिं मणपज्जवनाणिसया होत्था " स्था० ३ ठा० २ उ० । " कुंथुस्स णं अरहओ एकाणउइं आहोहियसया होत्था " स० ९१ सम० । लघुशरीरे त्रीन्द्रियजीवे, उत्त० ३६ अ० । " पाणसुहुमे ।" प्राणसूक्ष्ममनुद्धरिः कुन्थुः, स हि चलन्नेव विभाव्यते, न स्थितः, सूक्ष्मत्वादिति । स्था० ८ ठा० । जी० । प्रज्ञा० । दश० । आचा० । उत्त० । "जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं कुंथुं अणुद्धरी नामं समुप्पन्ना जाविया अचलमाणा निग्गंथाण य निग्गंथीण य चक्खुफासं हव्वमागच्छइ" कल्प० ६ क्षण ।

कुंद-कुन्द-पुं० । कुं भूमिमुनत्ति। उन्द-अण् शक०। कौतेः अत्र दा वन् मुमच् वा । कुन्दुरुनामगन्धद्रव्ये, भ्रमियन्त्रभेदे, कुबेरस्य निधिभेदे च । पुं० । करवीरवृक्षे, पुं० । स्वनामख्याते पुष्पवृक्षे, वाच० । महाजातौ, जं० २ वक्ष० । तत्पुष्पे धवलपुष्पविशेषे, कल्प० ३ क्षण । ज्ञा० । उत्त० । रा० । आ० म० । प्रज्ञा०।जी०।औ० । कुन्दाभिधानवनस्पतिकुसुमे, ज्ञा० १श्रु० १अ०।

कुंदओ-देशी-कृशे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंदं-देशी-प्रभूते, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंदकुंद-कुन्दकुन्द-पुं० । स्वनामख्याते दिगम्बराचार्ये, भद्रबाहुगुप्तिगुप्तो माघनन्दिर्जिनचन्द्रः कुन्दकुन्दाचार्य इति तत्पट्टावल्यां शिष्यपरम्परा । अयमाचार्यो विक्रमसं० ४९ वर्षे वर्तमान आसीत् । अस्यैव चक्रग्रीवः एलाचार्यः गृध्रपिच्छः भद्रनन्दिरित्यपराणि नामानि । जै० इ० ।

कुंदमालपरिणद्ध-कुन्दमालापरिणद्ध-त्रि० । कुन्दादिकुसुममालया व्याप्ते, कल्प० २ क्षण ।

कुंदीरं-देशी-बिम्ब्याः फले,दे० ना० २ वर्ग ।

कुंदुक्क-कुन्दुक्क-पुं० । कुहनवनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । " एए अणंतजीवा, कुंदुक्के होइ भयणाओ । " प्रज्ञा० १ पद ।

कुंदुरुक्क-कुन्दुरुक्क-पुं० । चीडाभिधाने गन्धद्रव्यविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । " कालागरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवडज्झंतमघमघंतगंधुद्धयाभिरामे सिद्धत्थो भणइ " अत्र कुन्दुरुक्कः कुर्कुटः । आ० म० द्वि० ।

कुंभ-कुम्भ-पुं० । कुं भूमिं, कुत्सितं वा उम्भति ' उम्भ ' पूरणे अच् शक० । घटे, वाच० । स्था० । सूत्र० । 'उभ उम्भ' पूरणे । कुः पृथिवी तस्यां स्थितस्य उम्भनात् पूरणात्कुम्भः । अत्र यत् पृथिव्यां स्थितस्य पूरणं तत्कुम्भशब्दवाच्यम् इति समभिरूढनयमतेन घटात्कुम्भस्य भेदः । आ० म० द्वि० । " चत्तारि कुंभा पण्णत्ता । तं जहा-पुण्णे नाममेगे नो पुण्णे " स्था०४ ठा०४ उ० । (इत्यादि 'पुरिसजाय' शब्दे व्याख्यास्यते) धान्यप्रमाणभेदे, " सट्ठी आढयाई जहण्णए कुंभे, असीती आढयाई मज्झिमए कुंभे, आढयसयं उक्कोसए कुंभे " अनु० । आढकानां चतुष्षष्ट्या जघन्यः कुम्भः, अशीत्या मध्यमः, शतेनोत्कृष्टः । ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । स्था० । तं० । जलतरणद्रव्यभेदे,"स च कुंभ एव, अह वा चउकट्ठि काउं कोणे घडओ बज्झति, तत्थ अवलंबिउं आरुहियं वा संतरणं कज्जति " । नि० चू० १ उ० । कुम्भ्यादिषु नारकाणां पाचनात्कुम्भः । भ० ३ श० ६ उ० । एकादशे परमाधार्मिके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार० । प्रव० ।

कुंभीसु य पयणेसु य, लोहियसु य कुंदलोयकुंभीसु ।
कुंभी य णरयपाला, हणंति पायंति णरएसु ॥८०॥ सू०नि०।

"कुंभीसु" इत्यादि । कुम्भीनामानो नरकपालाः नारकान्नरकेषु व्यवस्थितान् निघ्नन्ति तथा पाचयन्ति । क्वेति दर्शयति ?, कुम्भीषु उष्ट्रिकाकृतिषु तथा पचनेषु कडिल्लकाकृतिषु तथा लौहीष्वायसभाजनविशेषेषु पाचयन्ति । सूत्र०१श्रु० ८ अ० । आव० ।

मिथिलानगर्यधिपतौ अवसर्पिण्यामेकोनविंशतीर्थकरस्य मल्लीत्यभिधानस्य पितरि, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । स० । प्रव० । आव० । ति० ।('मल्ली'शब्दे विशेषोऽस्य द्रष्टव्यः) अष्टादशतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स० । "ललाटे पुण्णकुंभपासेहिं" कुम्भशब्देन ललाटमेव भण्यते । प्रव० २ द्वार । वृ० । इक्ष्वोगभेदे, हस्तिशिरःस्थमांसपिण्डद्वये, कुम्भकर्णस्य पुत्रभेदे, वेश्यापतौ, प्राणायामाङ्गे श्वासरोधके चेष्टाभेदे, एकादशे राशौ, गुग्गुलौ, त्रिवृति च । वाच० ।

कुंभउर–कुम्भपुर–न० । नगरभेदे, यदधीशस्य श्रीशेखरस्य कुम्भश्रेणिर्दुहिता उत्पन्ना । दर्श० ।

कुंभग (य)–कुम्भक–पुं० । कुम्भशब्दात् स्वार्थे कः । कुम्भ इव कारयति प्रकाशते निश्चलत्वात् । कै क० वा । प्राणायामाङ्गे वायुरोधनव्यापारभेदे, वाच० । मल्लीजिनस्य पितरि च । स्था० १० ठा० । ज्ञा० ।

कुंभगा (या) र–कुम्भकार–पुं० । कुम्भं करोति कृ अण् उप स० प्राकृते कत्वादि " स्वरस्योद्वृत्ते " ८ । १ । ८ । इति सन्धिविकल्पः । " कुंभयारो कुंभारो " प्रा० १ पाद । कुलाले, आ० म० द्वि० । (तस्य ' पडिक्कमण ' शब्दे मिथ्यादुष्कृते कथा । यथा च कुम्भकाराणां च शिल्पं प्रथमं श्रीऋषभदेवस्वाम्युपादिशत तथा ' उसभ ' शब्दे द्वितीयभागे ११२६ पृष्ठे उक्तम्) कुम्भकारके, वाच० ॥

कुंभगारचक्कभामगदंडाहरण-कुम्भकारचक्रभ्रमकदण्डाहरण-न० । कुम्भकारचक्रस्य कुलालचक्रस्य यो भ्रमको भ्रमणहेतुर्दण्डो यष्टिस्तल्लक्षणं यदुदाहरणं ज्ञातं तत्कुम्भकारचक्रभ्रमकदण्डोदाहरणम् । यथा कुम्भकारचक्रस्यैकस्मिन्नपि देशे दण्डेन प्रेरिताः सर्वे तद्देशाः भ्रमिता भवन्त्येवमित्येवंरूपे दृष्टान्ते, " सुत्तादुपायरक्खण-गहणंपयत्तविसया मुणेयव्वा । कुम्भारचक्कभामग-दंडाहरणेण धीरेहिं ॥ ३४ ॥ " । पञ्चा० १ विव० ।

कुंभगारावाय–कुम्भकारापाक–पुं० । न० । कुम्भकारस्य भाण्डपचनस्थाने, स्था० ८ ठा० ।

कुंभग्ग–कुम्भाग्र–न० । मगधदेशप्रसिद्धे कुम्भपरिमाणे, जी० ३ प्रति० । रा० । आ० म० । स्था० ।

कुंभगारपक्खेव–कुम्भकारप्रक्षेप–न० । दण्डकनराजप्रव्रजितशय्यातरकुम्भकारपल्ल्याम्, तस्यां देवतया पांशुवृष्टिः कृतेति ततः कुम्भकारप्रक्षेपेति नामकं पत्तनं सा बभूव । आ० चू० ३ अ० । (' रसखाल ' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कुंभमुह–कुम्भमुख–न० । घटग्रीवायाम्, ओघ० ।

कुंभसेण–कुम्भसेन–पुं० । महापद्मस्य उत्सर्पिण्याः प्रथमतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, ति० ।

कुंभार–कुम्भकार–पुं० । 'कुंभगार' शब्दोक्तार्थे, प्रा० १ पाद ।

कुंभारचक्कभामगदंडाहरण–कुम्भकारचक्रभ्रमकदण्डाहरण–न० । 'कुंभगारचक्कभामगदंडाहरण' शब्दोक्तार्थे, पञ्चा० १ विव० ।

कुंभि (ण्) कुम्भिन्–पुं० । कुम्भोऽस्त्यस्य इनिः । हस्तिनि, कुम्भीरे, स्त्रियां ङीष् । गुग्गुलौ, जटाकलशधारिणि, स्त्रियां ङीप् वा । जयपालवृक्षे, वाच० । नपुंसकविशेषे, प्रव० । यस्य तु मोहोत्कटतया सागारिकं वृषणौ वा कुम्भवत् स्तब्धीभवतः स कुम्भी । प्रव० १०६ द्वार । " दुविहो य होइ कुंभी, जाईकुंभी य वेदकुंभी य । " पं० भा० । पं० चू० । नि० चू० । ध० । ग० । कुम्भी द्विधा–जातिकुम्भी, वेदकुम्भी च । यस्य सागारिकं प्रान्तद्वयं च ते दोषेण शूनं महाप्रमाणं भवति स जातिकुम्भी । अयं च प्रव्राजनायां भजनीयः, यदि तस्यातिमहाप्रमाणं सागारिकादिकं तदा न प्रव्राज्यते । वेदकुम्भी नाम यस्योत्कटमोहतया प्रतिसेवनामलभमानस्य मेहनं वृषणद्वयं वा शूयते स एकान्तेन निषिद्धो न प्रव्राजनीय इति । वृ० ४ उ० । कोणिकपूर्वभवजीवे, आ० क० । ('कूणिय' 'सेणिय' शब्दयोरस्य वक्तव्यता)

कुंभिणी–देशी–जलगर्ते, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंभिय–कुम्भिक–पुं० । कुम्भो (मुक्ताफलानां) परिमाणतया विद्यते येषु तानि कुम्भिकानि । कुम्भपरिमाण (कुम्भशब्दोक्त) परिमितेष्वर्थेषु, " तेसि णं वइरामएसु अंकुसेसु चत्तारि कुंभिया मुत्तादामा पण्णत्ता । " स्था० ४ ठा० २ उ० ।

कुंभियाउत्त–कुम्भ्यागुप्त–त्रि० । कुम्भी मुखाकारा कोष्ठिका, तस्यामागुप्तानि प्रक्षिप्य रचितानि कुम्भ्यागुप्तानि । कुम्भीभाण्डे रक्षितेषु, वृ० २ उ० ।

कुंभिल्ल–कुम्भिल–पुं० । कु-उम्भ इलच् शक० । चौरे, स्तोकार्थचौरे, श्यालकतुल्ये श्याले च । वाच० । " अले कुंभिला कधेहि " प्रा० ४ पाद ।

कुंभिल्ल–देशी–खननीये, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंभी–कुम्भी–स्त्री० । कुम्भ अल्पार्थे ङीप् । क्षुद्रे कुम्भे, तदाकृतित्वात् । उखायाम्, वाच० । भाजनविशेषे, स० । कुम्भमुखाकारायां कोष्ठिकायाम्, वृ० २ उ० । संकटमुखे पिठरके, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० । "कुंभीसु य पयलोहीसु य कडुहिलेहिं कुंभीसु" आ० चू० ४ अ० । आव० । वनस्पतिविशेषे, (तत्प्रतिपादक उद्देशो 'वणप्फइ' शब्दे वक्ष्यते) पाटलावृक्षे, कुम्भिकायां, परिपर्ण्याम्, कट्फले, कुम्भीपुष्पे, पर्पटवृक्षे, कदलीवृक्षे च । वाच० । घटे, " पुं० । दाहिणिल्लाए कुंभीए णिक्खिवइ " दाक्षिणात्ये कुम्भे निक्षिपति । ' कुम्भीए ' इत्यत्र स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् । जं० ३ वक्ष० । केशरचनायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कुंभीपक्क–कुम्भीपक्व–त्रि० । गर्तादावप्राप्तपाककाल एव बलात् पाकमानीयमाने फलादौ, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

कुंभीपाग-कुम्भीपाक-पुं० । कोष्ठिकाकृतितप्तलोहभाजने नरकयातनाहेतौ "…….,कुंभीपागम्मि णरयसंकासे । तुरथो अभिज्भमउझे, असुरप्पभवे असुरयम्मि" । ४ । तं० । "नरयातिरिएसु कुभीपाएसु कत्थइ" महा० १ चू० । नरकेषु, करपत्रदारणकुम्भीपाकतप्तायःशाल्मलीसमालिङ्गनादीनि दुःखानि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । भाजनविशेषे, (कुम्भ्याम्) पचने, प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

कुंभीर–कुम्भीर–पुं० । स्त्री० । कुम्भिनं हस्तिनमीरयति । ईर अण् । जलजन्तुभेदे नक्रे, स्त्रियां ङीष् । संवत्सरं तु कुम्भीरस्ततो जा-

येत मानवः "। ('कम्मविवाग' शब्दे वेदनाविस्तरः) कीटभेदे, वाच० । आचा० ।

कुकम्म-कुकर्मन्-न० । कुत्सितं कर्म। नित्य स० । लोकशास्त्रनिन्दिते कर्मणि, तद्युक्ते, त्रि० । स्त्रियां ङीप्। वाच०।कुत्सितं कर्म येषां ते कुकर्माणः । अस्थिकेषु, ओघ० ।

कुकम्मि (ण्) कुकर्म्मिन्-त्रि० । अङ्गारदाहककुम्भकारायस्कारादिषु कुत्सितकर्मकेषु, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

कुकिच्च-कुकृत्य-न० । प्राणातिपातारम्भादिकृत्ये, " कुकृत्यं कृत्यमाजाति, कृत्यं चाकृत्यमेव च । " द्वा० २२ द्वा० ।

कुकुहाइय-कुकुहायित-न० । गतिकाले शब्दविशेषे, तं० ।

कुक्कुअ-कुत्कुच-त्रि० । कुदिति कुत्सायां निपातो,निपातानामानन्त्यम् । कुत्सितं च कुचति भ्रूनयनौष्ठनासाकरचरणवदनविकारैः संकुचतीति कुत्कुचः । ध० ३ अधि० । अथ वा कुत्सितः कुचः कुकुचः । संकोचादिक्रियावति, प्रव० ६ द्वार ।

कुकूज-त्रि० । कुत्सितं कूजति आक्रन्दति इति कुकूजः । आक्रन्दं कुर्वति, उत्त० २१ अ० ।

कुक्कुआ-कुचकुचा-स्त्री० । अवस्यन्दने, बृ० ६ उ० ।

कुक्कुइय-कौकुचिक (त)-पुं० । 'कुचण्' अवस्यन्दने इति वचनात् कुत्सितमप्रत्युपेक्षितत्वादिना कुचितमवस्यन्दितं यस्य स कुकुचितः। स एव प्रज्ञादिदर्शनात् स्वार्थिकाणुप्रत्यये कौकुचितः । कुकुचा अवस्यन्दनं प्रयोजनमस्येति कौकुचिकः । बृ० ६ उ० । औ० । कौकुच्यं भाण्डचेष्टादिहास्यमुखविकारादिकं, तत्करोतीति कौकुचिकः। भाण्डचेष्टादिकारिणि, उत्त०१७ अ०। स्था० । भाण्डे, भाण्डप्राये च । भ० ३ श० ३१ उ० । " कप्पस्स पलिमंथू पण्णत्ता। तं जहा-कुक्कुइए संजमस्स पलिमंथू " कौकुचिकः संयमस्य प्रतिमन्थुः ।

कौकुचिकव्याख्यानायाऽऽह-

कोकुइअ संयमस्स उ, मोहरिए चेव सच्चवयणस्स ।
इरियाएँ चक्खुलोलो, एसणसमिईएँ तिंतिणिए ॥१॥

णासेति मुत्तिमग्गं, लोभेण णिदाणताएँ सिद्धिपहं ।
एतेसिं तु पदाणं, पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥ २ ॥

कौकुचिकः संयमस्य, मौखरिकः सत्यवचनस्य, चक्षुर्लोलः ईर्यासमितेः, तिन्तिणिक एषणासमितेः, परिमन्थुरिति प्रक्रमाद् गम्यते । लोभेन च मुक्तिमार्गं नाशयति, निदानतया तु सिद्धिपथम् । एतेषां पदानां प्रत्येकं प्ररूपणां वक्ष्ये ।

प्रतिज्ञातमेव करोति-

ठाणे सरीरभासा, तिविधो पुण कुक्कुइय समासेणं ।
चलणे देहे पत्थर, सविगार कहक लहुओ य ॥

स्थाने स्थानविषयः, शरीरविषयो, भाषाविषयश्चेति त्रिविधः समासेन कौकुचिकः । तत्र स्थानकौकुचिको यश्चलनमभीक्ष्णं भ्रमणं करोति, देहं शरीरं तद्विषयः कौकुचिको यः प्रस्तरादृ ह-

स्तादिना क्षिपति, यस्तु सविकारं परस्य हास्योत्पादकं भाषते, कहकहं वा महता शब्देन हसति स भाषाकौकुचिकः । एतेषु त्रिष्वपि प्रत्येकं मासलघु ।

आणाइणो य दोसा, विराहणा होइ संजमायाए ।
जंतं व णट्टिया वा, विराहण मतेल्लए सुत्ते ॥

आज्ञादयश्च दोषाः,संयमे आत्मविराधना भवति,यन्त्रकवर्त्तिकावद्वा भ्राम्यन् कौकुचिक उच्यते । यस्तु महता शब्देन हसति तस्य मक्षिकादीनां मुखप्रवेशेन संयमविराधना, शूलादिरोगप्रकोपेनात्मविराधना; (मयल्लए सुत्ते त्ति) मृतदृष्टान्तः, सुतदृष्टान्तश्चात्र हास्यदोषोदये भवति, स चोत्तरत्र दर्शयिष्यते।

अथैतदेव निर्युक्तिगाथाद्वयं विभावयिषुः स्थानकौकुचिकं व्याचष्टे-

आवमइ खंभकुड्डे, अभिक्खणं जमति जंतए चेव ।
कमफंदण आउंटण, ण यावि बद्धासणे ठाणे ॥

स्थोपविष्ट ऊर्द्धस्थितो वा स्तम्भे कुड्ये वा य आपतति, यन्त्रकमिव वा अभीक्ष्णं भ्रमति, क्रमस्य पादस्य स्पन्दनमाकुञ्चनं वा करोति, न च नैव,बद्धासनो निश्चलासनस्तिष्ठति कौकुचिकः।

अत्रामी दोषाः-

संचारोवतिगादी, संजम आया विहिंच्छुगादीया ।
उच्छुद्ध कुड्डिय मूले, चंड फमंते य दोसा तु ।

संचरकाः कुड्यादौ संचरणशीला ये त्रसकायाः उद्देहिकाकुन्थुकीटिकाप्रभृतयो जीवास्तेषां या विराधना सा संयमविषया मन्तव्या । आत्मविराधनायामहिवृश्चिकादयस्तत्रोपद्रवकारिणो भवेयुः। यदि वा-तत्र स्तम्भादौ स आपतति तद्दुर्द्धाधो, मूले वा कुपितं भवेत्,ततस्तस्य पतने परितापनादिका ग्लानारोपणा (चंड फलंते य त्ति) अभीक्ष्णमितस्ततो भ्राम्यतः संधिविसन्धी भवेदित्यादयो बहवो दोषाः, एवमुत्तरत्रापि दोषा मन्तव्याः ।

अथ शरीरकौकुचिकमाह-

करगोफणधणुपादा-दिएहिं उच्छुभति पत्थरादीए ।
भमुगादाढिगथणपुत-विकंपणं णट्टवाइत्तं ॥

करगोफणधनुष्पादादिभिः प्रस्तरादीन् य उत्प्राबल्येन क्षिपति स शरीरकौकुचिकः भ्रूदाढिकस्तनपुतानां विकम्पनं विविधमनेकप्रकारैः कम्पनं यत्करोति तत् नृत्तपातित्वमुच्यते, नर्तकीत्वमित्यर्थः । एतेन " नट्टिया व त्ति " पदं व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम् । गतः शरीरकौकुचिकः ।

अथ भाषाकौकुचिकमाह-

छेलिय मुहवाइत्ते, जंपति वयणं जह परो हसति ॥
कुणइ य रुए बहुविधे, वग्घाभिय देसभासा य ॥

सेण्टितं मुखवादित्रं करोति। तथा च वचनं जल्पति यथा परो हसति । बहुविधानि वा मयूरहंसकोकिलादीनां जीवानां रुतानि करोति । वग्घाभिका उग्घट्टककारिणी, देशभाषा वा मालवमहाराष्ट्रादिदेशप्रसिद्धा, तादृशीं भाषां भाषते यथा सर्वेषामपि हास्यमुपजायते, एष भाषाकौकुचिकः ।

अस्य दोषानाह-

मच्छिगमाइपवेसो, असंपुडं चेव सेट्ठिदिट्ठंतो ।
दंभिय थतणो हासण, तद्दरिथए तत्तफालेणं ॥

तदीयभाषणदोषेण ये मुखं विस्फाल्य हसन्ति तेषां मुखे मक्षिकादयः प्राणिनः प्रविशेयुः, प्रविष्टेष्वेते यत्परितापनादिकं प्राप्नुवन्ति तन्निष्पन्नं तस्य प्रायश्चित्तम्, हसतश्च मुखमसंपुटमेव भवेत, न तथा मिलेदित्यर्थः। तथा चात्र श्रेष्ठिदृष्टान्तः-कश्चिद्दाण्डिको राजा,तस्य थतणो भण्डः,तेन राजसभायामीदृशं किमपि हास्यकारि वचनं भणितं येनप्रभूतजनस्य हास्यमायातम्, तत्र श्रेष्ठिनो महता शब्देन हसता मुखं तथैव स्थितं न संपुटीभवति, वास्तव्यवैद्यानां दर्शितं, नैकेनापि प्रगुणीकर्तुं पारितम्, नवरं प्राघूर्णकेनैकेन लोहमयः फालस्तप्तोऽग्निवर्णः कृत्वा मुखे ढौकितः, ततस्तदीयेन भयेन श्रेष्ठिनो मुखं संपुटं जातम्।

अथ प्रागुद्दिष्टं मृतसुप्तदृष्टान्तद्वयमाह-

गोयरसाहूहसणं, गवक्खे दट्ठुं निवं भणति देवी ।
हसति मयगो कहिं सो, त्ति एस एमेव सुत्तो वी ॥

"एगो साहू गोयरचरियाए हिंममाणो हसंतो देवीए गवक्खोपविट्ठाए दिट्ठो, राया भणिओ—सामि ! पेच्छ अच्छेरयं मुयं माणसं हसंतं । दीसइ राया संभंतो कहं कहिं वा ?। सा साहुं दरिसेइ । राया भणइ-कहं मओ त्ति ?। देवी भणइ—इह भवे शरीरसंस्कारादिसकलसांसारिकसुखवर्जितत्वात् मृत इव मृतः । एवं सुत्तदिट्ठंतो वि भाणियव्वो"। अक्षरगमनिका त्वियम्-गोचरे साधोः पर्यटतो हसनं हास्यं दृष्ट्वा देवी नृपं भणति-मृतको हसति। नृपः पृच्छति-कुत्र स मृतको हसति ?। देवी हस्तसंज्ञया दर्शयति-एष इति। एवमेव मृतवत् सुप्तोऽपि मन्तव्यः; उभयोरपि निश्चेष्टतया विशेषाभावात् । गतः कौकुचिकः।

प्रसङ्गतः संप्रति मौखरिकमाह--

मुहरिस्स गोण णामं, आवहति अरिं मुहेण भासंतो ।
लहुगो य होति मासो, आणादि विराहणा दुविहा ॥

मौखरिकस्य गौणं गुणनिष्पन्नं नाम मुखेन प्रभूतभाषणादिमुखदोषेण प्रभाषमाणः अरिं वैरिणमावहति करोति मौखरिकः, तस्यैवं मौखरिकत्वं कुर्वाणस्य लघुको मासः । आज्ञादयश्च दोषाः। विराधना च संयमात्मविषया द्विविधा । तत्र संयमविराधना मौखरिकस्य व्रतपरिमन्थुतया सुप्रतीता।

आत्मविराधनां तु दृष्टान्तेनाह—

को गच्छेज्जा तुरियं, अमुगो त्ति य लेहएण सिग्घम्मि।
सिग्घागतो य भवितो, केणाहं लेहगं हणति ? ॥

"एगो राया, तस्स किंचि तुरियं कज्जं उप्पन्नं, ताहे सभामज्झे भणइ त्ति-को सिग्घं वच्चेज्जा ?। लेहओ भणइ-अमुगो पवणवेगेणं गच्छइ त्ति। रन्ना सो पेसिओ तं कज्जं काऊण तद्दिवसमेव आगओ। रन्ना एसो सिग्घगामि त्ति काउं धावणओ ठविओ। तेण रुट्ठेण पुच्छियं-कहियं केणाहं सिग्घो ? त्ति अक्खाते अन्नेण सिट्ठं-जहा लेहएणं। पच्छा सो तेण तिक्खच्छेण छिद्दं दट्ठूण ओद्दविओ। एवं चेव जो समोहरियत्तं करेइ, सो आयविराहणं पावेइ त्ति"। अक्षरार्थस्त्वयम्-कस्त्वरितं गच्छेदिति राज्ञोक्ते लेखकेन शिष्टः-अमुक इति। ततः स तत्कार्यं कृत्वा शीघ्रमागतः,ततः स्थापितोऽसौ राज्ञा दौत्ये कर्मणि नियुक्तः। ततः केनाऽहं कथित इति पृष्ट्वा लेखकेनेति विज्ञाय लेखकं हतवान् । गाथायामतीतकाले वर्तमाननिर्देशः प्राकृतत्वात् । गतो मौखरिकः।

तथैव प्रसङ्गतश्चक्षुर्लोलमाह—

आलोयणा य कहणा, परियट्टणुपेहणा अणाभोए ।
लहुगो य होति मासो, आणादि विराहणा दुविहा ॥

स्तूपादीनामालोचनां कुर्वाणः कथनां धर्मकथां परिवर्तमानानुप्रेक्षां च कुर्वन् यच्चदभोगेनानुपयुक्तमार्गे व्रजति तस्य लघुमासः, आज्ञादयश्च दोषाः, द्विविधा विराधना भवेत् ।

इदमेव भावयति-

आलोएंतो वच्चति, थूलादीणि च कहंति वा धम्मं ।
परियट्टणाणुपेहण, न याति पंथं ति चवउत्तो ॥

स्तूपादीनि स्तूपावचकुरामादीनि आलोचमानो धर्मं वा कथयन् परिवर्तनामुत्प्रेक्षां वा कुर्वाणो व्रजति, यद्वा सामान्येन न च नैवोपयुक्तः पथि व्रजति, एष चक्षुर्लोल उच्यते।

अस्यैते दोषाः-

छक्कायाण विराहण, संजम आयाएँ कंटगादीया ।
आवमण भाणभेदो, खद्धे उड्डाह परिहाणी ॥

अनुपयुक्तस्य गच्छतः संयमे षट्कायानां विराधना भवेत, आत्मविराधनायां कण्टकादयः पादयोर्लगेयुः, विषमे वा प्रदेशे आपतनं भवेत, तत्र भाजनभेदः, खद्धे च प्रचुरे भक्तपाने भूमौ गर्दिते उड्डाहो भवेत्-अहो बहुभक्षका अमी इति भाजने च भिन्ने परिहाणिः। सूत्रार्थपरिमन्थो भाजनान्तरगवेषणे, तत्परिकर्मणायां च भवति। गतश्चक्षुर्लोलः।

एवं प्रसङ्गतस्तिन्तिणिकमाह—

तिंतिणिए पुव्वभणिते, इच्छालोले य उवहिमतिरेगो ।
लहुओ तिविहं च तहिं, अतिरेगे जे भणिय दोसा ॥

तिन्तिणिक आहारोपधिशय्याविषयभेदात्त्रिविधः । स च पूर्वपीठिकायां सप्रपञ्चमुक्त इति नेहोच्यते। स च सुन्दरमाहारादिकं गवेषयन्नेषणासमितेः परिमन्थुर्भवतीति । इच्छालोलस्तु स उच्यते-यल्लोलाभिभूतत्वेनोपधिमतिरिक्तं गृह्णाति। तत्र लघुको मासः। त्रिविधं वा तत्र प्रायश्चित्तम् । तद्यथा-जघन्ये उपधौ प्रमाणेन गणनया वाऽतिरिक्तधार्यमाणे पाराञ्चितम्, मध्यमे मासलघु, उत्कृष्टे चतुर्लघु। ये चातिरिक्ते उपधौ दोषाः पूर्वं तृतीयोद्देशके भणितास्ते द्रष्टव्याः।

अथ निदानकरणमाह-

अनियाणं निव्वाणं, काऊणमुवट्ठितो भवे लहुओ ।
पावति धुवमायाती, तम्हा अणियाणता सेया ॥

योऽनिदानं निदानमन्तरेण साध्यनिर्वाणं भगवद्भिः प्रकृतं ततो यो निदानं करोति तस्य तद् ज्ञात्वा पुनरकरणेनोपस्थितस्य लघुको मासः प्रायश्चित्तम्, अपि च-यो निदानं करोति स यद्यपि तेनैव भवग्रहणेन सिद्धिं गन्तुकामस्तथाऽपि ध्रुवमवश्यमायाति पुनर्भवागमनं प्राप्नोति, तस्मादनिदानता श्रेयसी।

इदमेव व्याचष्टे-

इहपरलोगनिमित्तं, अवि तित्थकरत्तचरिमदेहत्तं ।
सव्वत्थेसु भगवता, अणिदाणत्तं पसत्थं तु ॥

इहलोकनिमित्तमिहैव मनुष्यलोके अस्य तपसः प्रभावेण

चक्रवर्त्यादिजोगानहं प्राप्नुयामिहैव भावविपुलान् भोगानासादयेयमिति रूपं,परलोकनिमित्तं मनुष्यापेक्षया देवभवादिकः परलोकस्तत्र महर्द्धिकम्-इन्द्रसामानिकादिरहं भूयासमित्यादिरूपं सर्वमपि निदानं प्रतिषिद्धम्। किं बहुना-तीर्थंकरत्वेन आर्हन्त्येन युक्तं चरमदेहत्वं मे भवान्तरे भूयादित्येतदपि नाशंसनीयम्। कुतः?इत्याह-सर्वार्थेषु अप्यैहिकामुष्मिकेषु प्रयोजनेषु अभिष्वङ्गविषयेषु भगवता अनिदानत्वमेव प्रशस्तं श्लाघितम्। तुशब्द एवकारार्थः, स च यथास्थानं योजितः । व्याख्याताः षडपि परिमन्थवः।

द्वितीयपदमाह-

बिइयपदं गेलन्ने, अद्धाणे चेव तह य ओमम्मि ।
मोत्तूणं चरिमपदं, णायव्वं ज जहिं कमती ॥

द्वितीयपदं ग्लानत्वे अध्वनि तथा अवमे च भवति, तच्च चरमपदं निदानकरणरूपं मुक्त्वा ज्ञातव्यम्। तत्र द्वितीयपदं न भवतीत्यर्थः। शेषेषु तु कौकुचिकादिषु यद्यत्र क्रमते तत्तत्रावतारणीयम्।

एतदेव भावयति-

कमिवेयणमवतंसे, गुदपागऽरिसा भगंदलं वा वि ।
गुदकील सकरा वा, ण तरति बद्धासणे होउं ॥

कटीवेदना कस्यापि दुःसहा, अवतंसो वा पुरुषव्याधिनामको रोगो भवेत्, एवं गुदायाः पाकोऽर्शांसि भगन्दरं गुदकीलको भवेत्, शर्करा कृच्छ्रमूत्रको रोगः, स च कस्यापि भवेत्ततो न शक्नोति बद्धासने भवितुं स्थातुम् एवंविधे ग्लानत्वे अङ्गीकृत्य परिस्पन्दनादिकं स्थानकौकुचिकत्वमपि कुर्यात्।

उव्वत्तेति गिलाणं, ओसहकज्जे व पत्थरे छुभति ।
वेवति य खित्तचित्तो, वितियपदं होति दोसुं तु ॥

ग्लानमुद्वर्तयति एकस्मात्पार्श्वतो द्वितीयस्मिन् पार्श्वे करोति, औषधकार्ये वा औषधदानहेतोस्तमेव ग्लानमन्यत्र संक्राम्य भूयस्तत्रैव स्थापयति,यस्तु क्षिप्तचित्तः स परवशतया प्रस्तारान् पाषाणान् क्षिपति, वेपते वा, चशब्दात् सेण्टितमुखवादित्रादिकं प्रकरोति। एतत् द्वितीयपदं यथाक्रमं द्वयोरपि शरीरजाषाकौकुचिकयोर्भवति। बृ० ६ उ०।

कौकुच्य-न०। कुकुचो भण्डचेष्टस्तस्य भावः कौकुच्यम्। बृ० १ उ०। परेषां हास्यजनके बहुविधनेत्रसंकोचादिविक्रियागर्भे भाण्डानामिव चेष्टिते, ध० र०। उपा०। ध०।

अथ कौकुच्यद्वारमाह-

भूनयणवयणदंसण-छेदेहि करपादकन्नमाईहिं ।
तं तं करेइ जह ह—स्सए परो अत्तणा अहसं ॥
वाया कोकुइओ पुण, तं जंपइ जेण हस्सए अन्नो ।
नाणाविहजीवरुतं, कुव्वइ मुहतूरए चेव ॥

कुकुचो भण्डचेष्टः, तस्य भावः कौकुच्यं, तद्विद्यते यस्य सः कौकुच्यवान्। स च द्वेधा-कायेन,वाचा। तत्र भ्रूनयनदशनच्छदैः करचरणकर्णादिभिश्च देहावयवैस्तां तां चेष्टामात्मना अहसन्नेव करोति यथा परो हसति, एष कायकौकुच्यवानुच्यते। वाचा कौकुच्यवान् पुनस्तत्किमपि परिहासप्रधानं वचनं जल्पति येनान्यो हसति, नानाविधानां वा मयूरमार्जारकोकिलादीनां जीवानां रुतानि कूजितानि मुखतूर्याणि वा मुखेनाऽऽतोद्यवादनलक्षणानि तथा करोति यथा परस्य हास्यमायाति। बृ० १ उ०। ध०।

कौत्कुच्य-न०। कुरिति कुत्सायां निपातः, निपातानामानन्त्यात्। कुत्सितं कुचति भ्रूनयनोष्ठनासाकरचरणवदनविकारैः संकुचतीति कुकुचः, तस्य भावः कौकुच्यम् । अनेकप्रकारे भाण्डानामिव विक्रियाकरणे; अथवा कुत्सितः कुचः कुकुचः संकोचादिक्रियावान्, तस्य भावः कौकुच्यम्। प्रव० ६ द्वार । संकोचादिक्रियायाम्, एतद्धि प्रमादाचरितविरतेः द्वितीयोऽतिचारः। अत्र च श्रावकस्य न तादृशं वक्तुं चेष्टितुं वा कल्पते येनान्ये परिहसन्ति, आत्मनश्च लाघवं भवति, प्रमादात्तथाचरणे चातिचार इति द्वितीयः। ध० २ अधि०। श्रा०। एवं गत्या गन्तुं स्थानेन वा स्थातुमिति। पञ्चा० १ विव०। "एत्थ सामायारी-तारिसगाणि भासिउं न कप्पति जारिसेहिं लोगस्स हासो उप्पज्जइ, एवं गतिए ठाणेण वा भाइओ त्ति"। आव० ६ अ०। पं० व०। आ० चू०। प्रज्ञा०।

कुकुड-कुक्कुट-पुं०। स्त्री०। कुक-संप० क्विप्। कुका आदानेन कुटतीति कुटः, कः। वाच०। ताम्रचूडे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। प्रश्न०। औ०। जी०। उपा०। अनु०। "कुक्कुडो रिसभं सरं" स्था० ७ ठा०। स च लोमपक्षिविशेषः। जी० १ प्रति०। आ०क०। विपा०। (तस्य पारिणामिकी बुद्धिरिति 'बुद्धि' शब्दे उदाहरिष्यते) चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० । उत्त० । प्रज्ञा० । आ० म०। स्त्रीयां जातित्वात् ङीष् । तृणोल्कायां, कुक्कुभस्वगे च । वह्निकणे स्फुलिङ्गे, स्वार्थे कः। तत्रार्थेषु, निषादजाते शूद्रपुत्रे च। वाच०। विद्यादिना हस्तप्रयोगलक्षणे, "मोरेण जं च गहियं, तु कुक्कमं उज्जयगंठिअविरुद्धं।" व्य० १ उ०।

कुकुडकरण कुक्कुटकरण-न०। कुक्कुटानुद्दिश्य यत्र किञ्चित् क्रियते तथा यत्र स्थाप्यते तादृशे स्थाने, आचा० २ श्रु० १० अ०।

कुकुडपोय-कुक्कुटपोत-पुं०। कुक्कुटचेल्लके,दश० ८ अ०। कुर्कुटडिम्भे, भ० ८ श० ८ उ०।

कुकुडमंसय-कुक्कुटमांसक-न०। बीजपूरकटाहे, कुक्कुटपललेच। "मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि" भ० १५ श० १ उ०। स्था०।

कुकुडय-कुकुटक-न०। खुङ्खुणके, 'अदु अंजणि अलंकारं, कुक्कुडयं मे पयच्छाहि" [कुक्कुडयं ति]खुङ्खुणकं मे मम प्रयच्छ येनाहं सर्वालङ्कारभूषिता वीणाविनोदेन भवन्तं विनोदयामि। सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०।

कुक्कुमलक्खण-कुक्कुटलक्षण-न०। कुक्कुटस्य वृजुतनुरुहाङ्गुलिस्ताम्रवक्रनखचूलिकः सित इत्यादिके सप्तत्रिंशे कलाभेदे, जं० २ वक्ष०। ज्ञा०। औ०। स०।

कुक्कुमसंडेअग्गामपउरा-कुक्कुटषण्डेयग्रामप्रचुरा-स्त्री०। कुक्कुटाः ताम्रचूडाः षण्डेयाः षण्डपुत्रकाः षण्ढा एव तेषां ग्रामाः समूहास्ते प्रचुराः प्रभूता यस्यां सा तथा। कुक्कुटषण्डपुत्रकयुक्तायां पुर्याम्, औ०। कुक्कुटषण्डेया ग्रामाः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च प्रचुरा यस्याः सा कुक्कुटषण्डेयग्रामप्रचुरा । रा०। "पमुइ-

यजणजाणवया,कुक्कुडसंमेश्रगामपउरा य । उच्छुजवसालिकलिया ....॥" कुक्कुटेत्यनेन लोकप्रमुदितत्वं व्यक्तीकृतम् । प्रमुदितो हि लोकः क्रीडार्थं कुक्कुटान् पोषयति, षण्ढांश्च करोति । औ० ।

कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्त-कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्र-पुं० । कुक्कुट्यण्डकस्य यत्प्रमाणं मानं तत्परिमाणं मानं येषां ते तथा । अथवा कुटीव कुटीरकमिव जीवस्याश्रयत्वात् कुटी शरीरं, कुत्सिता अशुचिप्रायत्वात् कुटी कुकुटी, तस्या अण्डकमिवाण्डकमुदरपूरकत्वादाहारः कुकुट्यण्डकं, तस्य प्रमाणतो मात्रा द्वात्रिंशत्तमांशरूपा येषां ते तथा कुक्कुट्यण्डकप्रमाणमात्राः । कुक्कुट्यण्डप्रमितेषु कवलेषु, " परं बत्तीसाए कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ताणं कवलाणं आहारमाहारेइ " भ० ७ श० १ उ० । (' अप्पाहार ' आदिशब्देषु व्याख्या) कवलानां च प्रमाणं कुक्कुट्यण्डम् । कुक्कुटी च द्विधा-द्रव्यकुक्कुटी, भावकुक्कुटी च । द्रव्यकुक्कुट्यपि द्विधा-उदरकुक्कुटी, गलकुक्कुटी च । तत्र साधोरुदरं यावन्मात्रेणाहारेण न न्यूनं नाप्याध्मातं भवति स आहार उदरकुक्कुटी, उदरपूरक आहारः कुकुटीव उदरकुक्कुटीति,मध्यमपदलोपिसमासाश्रयणात् । तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकं, तत्प्रमाणं कवलं स्यात् । तथा गलः कुक्कुटीव गलकुक्कुटी, गल एव कुक्कुटीत्यर्थः । तस्यान्तरालमण्डकम् । किमुक्तं भवति ?, अविकृतस्यास्य पुंसो गलान्तराले यः कवलोऽविलग्नः प्रविशति तावत्प्रमाणं कवलमश्नीयात् । अथवा शरीरमेव कुक्कुटी, तन्मुखमण्डकं, तत्राक्षिकपोलकण्ठादिविकृतिमनापाद्य यः कवलो मुखे प्रविशति तत्प्रमाणम् । अथवा कुक्कुटी पक्षिणी, तस्या अण्डकं प्रमाणं कवलस्य । भावकुक्कुटी-येन आहारेण भुक्तेन न न्यूनं नाप्याध्मातमुदरं भवति, धृतिं च समुद्वहति, ज्ञानदर्शनचारित्राणां च वृद्धिरुपजायते तावत्प्रमाण आहारो भावकुक्कुटी । अत्र भावस्य प्राधान्यविवक्षणादेव प्राक् द्रव्यकुक्कुट्यपि उक्त इह भावकुक्कुटी उक्तः । तस्य द्वात्रिंशत्तमो भागोऽण्डकप्रमाणं भक्तकस्य । पिं० । ग० ।

कुक्कुडी-कुकुटी-स्त्री० । कुक्कुटपक्षिपयाम, कुक्कुट्यण्डशब्दोक्तकुक्कुटीशब्दार्थे च । पिं० । व्य० ।

कुक्कुडीपायपसार-कुक्कुटीपादप्रसार-पुं० । यथा कुक्कुटी पादौ आकाशे प्रथमं प्रसारयति एवं साधुनाऽपि आकाशे पादौ प्रथमं शक्नुवता प्रसारणीयाविति विधिना पादप्रसारणे, औ० । ('पडिक्कमण' शब्दे तदतिचारप्रतिक्रमणम्)

कुक्कुडेसर-कुकुटेश्वर-पुं० । चारणेश्वरराजकारितजिनप्रासादविभूषिते तीर्थभेदे, ती० "पुव्विं पाससामी छउमत्थो रायासिरीए काउस्सग्गे ठिओ, तत्थ वाहकेलीए जंतस्स ईसररण्णो वाणज्जुणनामा वंसं। भयवंतं पिच्छिऊण गुणकित्तणं करेइ--उस्सग्गे ठियो आससेणनिवपुत्तो जिणु त्ति । तं सोउं राया गयाओ उत्तरित्ता पहुं पासंतो मुच्छिओ । पत्तवेयणो य पुट्ठो मंतिणा पुव्वभवे कहेइ-जहाऽहं चारुदत्तो होऊण पुव्वजम्मे वसंतपुरे पुरोहिअपुत्तो दत्तो आसि, कुट्ठाइरोगपीडिओ अ गंगाए निवडंतो चारणरिसिणा बोहिओ, अहिंसाई पंच वए पालेमि, इंदिए अ सासेमि, कसाए य जिणेमि, अन्नया चेइयहरमागओ जिणपडिमं पणमंतो दिट्ठो पुक्खलिसावयणं । तेण पुट्ठो गुणसागरमुणी-भयवं ! एयस्स चेयागमणे दोसो, न वा ?। मुणिणा भणियं-दूरओ देवं पणमंतस्स को दोसो ?, अह वि एसो कुक्कुडो भविस्सइ त्ति । तं सोऊण खेयं कुणंतो पुणरवि गुरुणा संबोहिओऽहं-तुमं जाईसरो अणसणे मरिउं रायसरीरे ईसरो नाम राया होहिसि त्ति । तओऽहं तुट्ठो तं सव्वं असुभविता कमेण राया जायाओ, पहुं पिक्खिअ जायं मे जाईसरणं ति । एवं मंतिस्स कहित्ता भगवंतं पणमिअ तत्थ संगीअं कारेइ । पच्छम्मि अन्नत्थ विहरिए तत्थ रण्णा पासाओ कारिओ, बिंबं च पइट्ठाविअं, कुक्कुडचारणाईसररण्णा कारियं ति कुक्कुडेसरनाम तित्थं रूढं । सो य राया कमेण खीणकम्मो सिज्झिहिति । एसा कुक्कुडेसरस्स उप्पत्ती ।" । ती० १६ कल्प । कुकुटेश्वरे विश्वगजः । ती० ४५ कल्प ।

कुकुर-कुकुर-पुं० । कोकते क्विप् कुरति शब्दायते ' कुर ' शब्दे कर्म० । स्वनामख्याते पशौ, वाच० । श्वनि, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० "कुकुरे कुकुरेति ततो ते कुकुरा रसंति" । आ० म० द्वि० । स्त्रियां जातित्वात् ङीप् । ग्रन्थिपर्णीवृक्षे, न० । वाच० ।

कुक्कुस-कुक्कुस-पुं० । कुण्डे, कणिककुण्डे, कणिकाभिर्मिश्राः कुक्कुसा इत्यर्थः । आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । "........., सोरठ पिठ कुक्कुसए य । उक्किट्ठमसंसट्ठं, संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥" दश० ५ अ० ।

कुक्खि(च्छि)-कुक्षि-पुं० । कुष कसि " छोऽक्ष्यादौ " । ८ । २ । १७ । इति संयुक्तस्य छः । आर्षे तु न । प्रा० २ पाद । जठरदेशे, तं० । उदरदेशविशेषे, औ० । स्था० । द्विहस्तप्रमाणे भेदे, नं० । "अमयालीसं अंगुलाई कुच्छी" जं० २ वक्ष० । "दो रयणिओ कुच्छी" रत्निद्वयं कुक्षिः । कुक्षौ भवः अण् कौक्षः उदरभवे, अनु० । मध्यभवे च । त्रि० । स्त्रियां ङीप् । कुक्षिदेशे भवः " धूमादिभ्यश्च " । ४ । २ । १२७ । इति वुञ् । कौक्षकमध्यदेशभवे, त्रि० । वाच० ।

कुक्खि (च्छि) किमि-कुक्षिकृमि-पुं० । कुक्षिप्रदेशोत्पन्ने द्वीन्द्रियजीवभेदे, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

कुक्खि (च्छि) पूर-कुक्षिपूर-पुं० । उदरपूर्त्तौ, " आगासकुच्छिपूरो, उग्गहपमिसेहियम्मि जो कालो । " व्य० ४ उ० ।

कुक्खि (च्छि) वेयणा-कुक्षिवेदना-स्त्री० । कुक्षेः शूलादिवेदनारूपे, उत्त० १ अ० । रोगातङ्कभेदे, जी० ३ प्रति० ।

कुक्खि (च्छि) संभूय कुक्षिसंभूत-त्रि० । अपत्ये, " पियगकुच्छिसंभूयाइं" निजापत्यरूपाणीत्यर्थः । विपा० १ श्रु० ७ अ० ।

कुक्खि (च्छि) संबल-कुक्षिसंबल-त्रि० । कुक्षावेव बहिः संचयाभावाज्जठर एव संबलं पाथेयं यस्यासौ कुक्षिसंबलः । संनिधिहीने, " अपयमाणस्स भिक्खावित्तिस्स कुक्खिसंबलस्स निरग्गिसरणस्स" पा० । भुक्तिमात्रपाथेये, ध० ३ अधि० ।

कुक्खि (च्छि) सूल-कुक्षिशूल-न० । पुं० । कुक्षौ शूलः ।

" प्रकुप्यति यदा कुक्षौ, वह्निमाक्रम्य मारुतः ।
तदाऽस्य भोजनं भुक्तं, सोपष्टम्भं न पच्यते ॥१॥

उच्छ्वसित्यामशक्तता, शूलेनाऽऽहन्यते मुहुः ।
नैवाशने न शयने, तिष्ठन्न लभते सुखम् ॥ २ ॥
कुक्षिशूल इतिख्यातो, वातादामसमुद्भवः " ॥
इति सुश्रुतोक्ते शूलरोगभेदे, वाच० । विपा० १ श्रु० १ अ० । उपा० । जी० । ज्ञा० ।

कुक्खि (च्छि) हार–कुक्षिधार–पुं० । यानपात्रव्यापारविशेषयोगिनि, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । नौपार्श्वनियुक्तिके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

कुखगइ–कुखगति–स्त्री० । अप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म०२ कर्म० ।

कुग्गह–कुग्रह–पुं० । कुत्सितो ग्रहः कुग्रहः । दर्श० । स्वाभिप्रायेण दुष्टाभिनिवेशे, "कुग्गहविवज्जियाणं, अणिन्दणीयाण परिणयवयाणं । " जी० १ प्रति० ।

कुग्गहविरह–कुग्रहविरह–पुं० । शास्त्रीयाभिनिवेशत्यागे, पञ्चा० ३ विव० । असदभिनिवेशवियोगे, ध० ३ अधि० ।

कुग्गाहिय–कुग्राहित–त्रि० । कुत्सितं ग्राहिते, दर्श० ।

कुचर–कुचर–त्रि० । कुत्सितं चरन्तीति कुचराः चौरपारदारिकादिषु, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

कुचिइयग्गह–कुचितिकाग्रह–पुं० । कौटिल्यावेशे, यो० बिं० ।

आस्थितं चैतदाचार्य–स्त्याज्ये कुचितिकाग्रहे ।
शास्त्रानुसारिणस्त–न्नामभेदानुपग्रहात् ॥ २४ ॥

(आस्थितं चेति) एतच्च कालातीतमतमाचार्यैः श्रीहरिभद्रसूरिभिरास्थितमङ्गीकृतं कुचितिकाग्रहे कौटिल्यावेशे त्याज्ये परिहार्ये, कुचितिकात्यागार्थमित्यर्थः । शास्त्रानुसारिणस्तत्कादर्थसिद्धौ सत्यामिति गम्यम्, नामभेदस्य संज्ञाविशेषस्यानुपग्रहादनभिवेशात्, तत्त्वार्थसिद्धौ नाममात्रक्लेशो हि योगप्रतिपन्थी न तु धर्मवादेन विशेषविमर्शोऽपीति भावः । तदिदमुक्तम्–

" साधु चैतद्यतो नीत्या, शास्त्रमत्र प्रवर्तकम् ।
तथाऽभिधानभेदात्तु, भेदः कुचितिकाग्रहः ॥ १ ॥
विपश्चितां न युक्तोऽय–मैदम्पर्यप्रिया हि ते ।
यथोक्तास्तत्पुनश्चारु, हन्तात्रापि निरूप्यताम् ॥ २ ॥
उभयोः परिणामित्वं, तथाऽभ्युपगमाद् ध्रुवम् ।
अनुग्रहात् प्रवृत्तेश्च, तथाऽऽद्याभेदतः स्थितम् ॥३॥
आत्मनां तत्स्वभावत्वे, प्रधानस्याऽपि संस्थिते ।
ईश्वरस्याऽपि सन्न्यायात्, विशेषोऽधिकृतो भवेत् " ॥ ४ ॥
द्वा० १६ द्वा० । यो० बिं० ।

कुचेल–कुचैल–त्रि० । कुत्सितं चेलं वस्त्रमस्य । कुत्सितवस्त्रधरे, वाच० । जीर्णवस्त्रपरिदधाने, बृ० १ उ० । " दुहजीविणो कुचेला, कुविंति य चोरा चंडालमुट्ठिया " अनु० । कुचा संकुचा इला यस्याः । ५ त० । विद्धकण्ठ्यां पाठायाम्, स्त्री० । "षिद्गौरादिभ्यश्च " । ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । वृक्षे, स्त्री० । वाच० ।

कुच्चग–कूर्चक–पुं० । न० । कूर्च स्वार्थे कः । कूर्चशब्दार्थे, वाच० । तृणभेदे, येन कूर्चकाः क्रियन्ते । आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । अस्त्यर्थे इनि कूर्चं किन् । सूच्यग्राकारयुक्ते, त्रि० । पञ्चगव्ये, वाच० ।

कुच्चिय–कूर्चिक–पुं० । कूर्चधरे, बृ० १ उ० ।

कुच्छ–कुत्स–पुं० । कुत्सयते संसारम् । कुत्स–अच् । ऋषिभेदे, तस्यापत्यम् ऋष्यण् कौत्सः । तदपत्ये, पुं० । स्त्री० । बहुषु तस्य "अत्रिभृगुकुत्स०" ।२।४।६५। इति पा० लुक् कुत्साः तदपत्येषु, कु–वा–स० । "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् " । ६ । ३ । १०६ । कुर्वति, त्रि० । वाच० । " थेरस्स णं अज्जसिवभूइ थेरे अंतेवासी कुच्छसगोत्ते" कल्प० ८ क्षण ।

कुच्छकुसिइया–कुत्सकुशिकिका–स्त्री० । कुत्सानां कुशिकानां च मैथुनम् " द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः " ॥ ४ । ३ । १२५ ॥ पाणि० । कुत्सगोत्राणां कुशिकगोत्राणां च स्त्रीपुंसां मैथुने, वाच० । " थेरस्स णं अज्जसिवभूई थेरे अंतेवासी कुच्छसगोत्ते " । कल्प० ८ क्षण ।

कुच्छग–कुत्सक–पुं० । वनस्पतिविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कुच्छण–कुत्सन–न० । कुत्स भावे ल्युट् । निन्दने, कुत्स्यतेऽनेन करणे ल्युट् । निन्दासाधनद्रव्ये, उपचारात्तद्युक्ते, त्रि० । वाच० ।

कोथन–न० । प्रतिभयने, बृ० १ उ० । अङ्गुल्यन्तराणां कोथे, व्य० ४ उ० ।

कुच्छणिज्ज–कुत्सनीय–त्रि० । जुगुप्सास्पदे स्थाने, सू० १ उ० ।

कुच्छल्ल–देशी–वृत्तिविवरार्थे, दे० ना०२ वर्ग ।

कुच्छा–कुत्सा–स्त्री० कुत्स–अ–भावे । निन्दायाम्, वाच० । आव० । जुगुप्सायाम्, विशे० । कर्म० ।

कुच्छिय–कुत्सित–न० । कुत्स–कर्मणि क्तः । कुष्ठनामौषधौ, भावे क्तः । निन्दायाम् न० । कर्मणि क्ते निन्दिते, त्रि० वाच० । निन्द्ये, पञ्चा० ७ विव० । असारे, विशे० ।

कुच्छेअअ–कौत्सेयक–पुं० । कुक्षौ वक्षोऽसिः । ढकञ् । "छोऽक्ष्यादौ । ८ । २ । १७ । इति क्षस्थाने छः । कुक्षिप्रदेशे बद्धे तलवारे, वाच० । प्रा० २ पाद ।

कुज–कुज–पुं० । कौ पृथिव्यां जायते जन डः । मङ्गले, वाच० । वृक्षे च । " कुजगुम्मा " । जं० २ वक्ष० ।

कुजय–कुजय–पुं० । कुत्सितो जयोऽस्येति कुजयः । द्यूतकारे, महतोऽपि द्यूतजयस्य सद्भिर्निन्दितत्वादनर्थहेतुत्वाच्च कुत्सितत्वमिति । सूत्र० । " कुजए अपराजिए जहा अक्खेहिं कुसलेहिं दीवियं " सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

कुज्ज–कुब्ज–पुं० । ईषत् उब्जमार्जवं यत्र शक० । अपामार्गे, खड्गे, हृदयपृष्ठरोगे, पुं० । "हृदयं यदि वा पृष्ठ–मुन्नतं क्रमशः सरुक् । क्रुद्धो वायुर्यदा कुर्या–त्तदा तं कुब्जमादिशेत्" ॥ इति तल्लक्षणम् । तद्युक्ते, त्रि० । वाच० । पृष्ठादौ कुब्जयोगात् कुब्जत्वयुक्ते, " गर्भे वातप्रकोपेण, दोहदे वाऽपमानिते । भवेत्कुब्जः कुणिः पङ्गु–र्मूको मन्मन एव वा" ॥ प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

कुज्जग–कुब्जक–पुं० । कौ उब्ज एवुल् शक० । अतिसुरभिपुष्पे वृक्षभेदे, वाच० । शतपत्रिकाविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । प्रज्ञा० ।

कुज्जा–कुब्जा–स्त्री० । कंसभवनस्थे सैरन्ध्रीभेदे, पादाभ्यामाक्रम्य श्रीकृष्णः सुरूपां चकार । वाच० । कुब्जरोगहरणायां योषिति, विशे० (कुब्जायाः पतद्ग्रहधारिण्याः तेत्रानुयोगे कथानकम् 'अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३८५ पृष्ठे उक्तम् ।)

कुज्जिया–कुब्जिका–स्त्री० । अष्टवर्षायां कन्यायाम्, वाच० । वक्रजङ्घायाम्, रा० ।

कुज्झंत–क्रुध्यत्–त्रि० । क्रुध श्यन् शतृ "युधबुधगृधक्रुधसिधमुहां ज्झः" ।८।४।२१७। इत्यन्त्यस्य ज्झः। कुप्यति, प्रा० ४ पाद ।

कुट्ट–कुट्ट–पुं० । कुट्टनात्कुट्टः । घटे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

कुट्टण–कुट्टन–न० । कुट्ट–ल्युट् । खदिरादेरिव भेदविशेषकरणे, औ० । आचा० । महतीकच्छपीचित्रवीणानां वादने, "कुट्टिज्जंतीणं कच्छभीणं चित्तवीणाणं" रा० ।

कुट्टणा–कुट्टना–स्त्री० । जातिजरामरणरोगशोककृतायां शारीरपीडायाम्, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

कुट्टणी–कुट्टनी–स्त्री० । कुट्ट ल्युट् ङीप् । परपुरुषेण सह परस्त्रियाः समागमकारिण्यां स्त्रियाम्, णिनि कुट्टिन्यप्यत्र । वाच० । कुट्टयतीति कुट्टनी । कण्डनकारिण्याम्, बृ० १ उ० ।

कुट्टंतिया–कुट्टयन्तिका–स्त्री० । तिलादीनां चूर्णनकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

कुट्टिज्जमाण–कुट्यमान–त्रि० । उदूखलादिषु कुट्यमाने, जं० १ वक्ष० । रा० ।

कुट्टिम–कुट्टिम–पुं० । न० । "अर्द्धर्चाः पुंसि च" ।२।४।३१। इति (पाणि०) पुंनपुंसकत्वम् । कुट्ट-भावे घञ् तेन निर्वृत्त इमप् । सुधालिप्तचत्वरतले, वाच० । मणिभूमिकायाम्, भ० ८ श० ६ उ० । कुटीरे, स्वल्पगृहे, दाडिम्बवृक्षे, बद्धभूमिभागे, सौधप्रदेशभेदे, वाच० ।

कुट्टिमतल–कुट्टिमतल–न० । मणिभूमिकायाम् , औ० । बद्धभूमितले, जी० ३ प्रति० । रा० ।

कुट्टिय–कुट्टित–त्रि० । कुट्ट क्तः । भेदिते, खण्डीकृते, वाच० । "कुट्टिओ फाडिओ भिन्नो," उत्त० १९ अ० । रजःकुट्टनेन पतितच्छिद्रे, बृ० १ उ० ।

कुट्टयित्वा–अव्य० । उदूखलादौ तिलादिकामिव कण्डयित्वेत्यर्थे, "कुट्टिय कुट्टिया चुण्णं वा पक्खिवेज्जा" भ० १४ श० ८ उ० ।

कुट्टाओ–देशी–चर्मकारे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुट्ठ–कुष्ठ–पुं० । न० । कुष्णाति रोगम् कुष क्थन् । गन्धिकहट्टविक्रेये वस्तु–(गन्धद्रव्य) विशेषे, विशे० । ज्ञा० । आ० म० । ल० प्र० । उत्पलकुष्ठे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । "उक्तं पुष्करमूलं तु,पौष्करं पुष्करं च तत् । पद्मपत्रं च काश्मीरं,कुष्ठभेदमिमं जगुः ॥" वाच० । रोगविशेषे च । व्य० ६ उ० । पिं० ।

कुट्ठा–कुष्ठा–स्त्री० । चिञ्चिनिकायाम्, बृ० १ उ० । चण्ड्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

कुट्ठाणासणकुसेज्जाकुभोयण–कुस्थानाशनकुशय्याकुभोजन–त्रि० । कुस्थानासनकुशय्याश्च ते कुभोजनाश्चेति समासः । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । कुत्सिताश्रयाविष्टरदुःशयनदुर्भोजनेषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

कुड–कुट–पुं० । कुट–कः । कोटे, शिलाकुट्टे, वृक्षे, पर्वते, कलशे, पुं० । न० । वाच० । घटे, कुटा द्विधा–नवा जीर्णाश्च । तेऽप्यभाविता इति कुटदृष्टान्तेन शिष्यप्ररूपणा । बृ० १ उ० । आ० क० । नं० । विशे० । को० । नि० । आ० चू० । समभिरूढनयमते घटपर्यायस्याऽपि कुटशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तं भिन्नमेव । कुट कौटिल्ये, कुटनात्कुटः । अत्र पृथुबुध्नोदरादिकम्बुग्रीवाद्याकारकौटिल्यं कुटशब्दवाच्यम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० । स्था० विशे० ।

कुडंग–कुटङ्क–पुं० । कुर्यृहभूमिः टङ्क्यते आच्छाद्यतेऽनेन । 'टकि' आच्छादने करणे घञ् । ६ त० । गृहाच्छादने तृणादौ, वंशजालिकायाम्, बृ० १ उ० । वंशादिगहने, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । वृक्षगहने, ‹० ३ उ० । गह्वरे, ओघ० । "ततो वंसीकुडंगोत्तं बूढो" आ० म० द्वि० ।

कुडंड–कुदण्ड–पुं० । बन्धनविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

कुडंडग–कुदण्डक–न० । काष्ठमये प्रान्ते रज्जुपाशे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कुडंडिम–कुदाण्डिम–त्रि० । कुदण्डोऽसभ्यजनिग्रहस्तेन निर्वृत्तं द्रव्यं कुदण्डिमम् । कुदण्डेन निर्वृत्ते द्रव्ये, विपा० १श्रु० ३अ० ।

कुडग–कुटक–पुं० । घटे, आ० म० प्र० । द्रव्ये, पृथुबुध्नाद्याकार वदकाद्याकारक्रमे कुटकाख्ये शब्दस्य घटादेरभिनिवेशः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

कुडभी–कुटभी–स्त्री० । लघुपताकायाम्, "कुडभीसहस्सपरिमण्डियाभिरामो इंदज्झओ" कुडमिति लघुपताकाः संभाव्यते । स० ३४ सम० ।

कुडमुह–कुटमुख–न० । घटकपटके, बृ० १ उ० । "कुडमुहाओ घेप्पंति" नि० चू० १ उ० ।

कुडय–कुटच–पुं० । कुट–इव चीयते चि० डः । कुटजवृक्षे, वाच० ।

कुटज–पुं० । कुटे पर्वते जायते जन–डः । वाच० । गिरिमल्लिकापर्याये, औ० । वृक्षविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । प्रज्ञा० । पर्वकेष्वस्यान्तर्भावः । प्रज्ञा० १ पद । कुटे घटे जायते । अगस्त्यमुनौ, द्रोणाचार्ये च । वाच० ॥

कुडव–कुटप–पुं० । कुट–कपन् । मुनौ, गृहसमीपस्थोपवने, पद्मे, न० । वाच० । "चउसेइओ कुडओ चउकुडओ पत्थओ नेवत्थि" ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

कुडिआ–देशी–वृत्तिविवरार्थे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुडिल–कुटिल–त्रि० । कुट इलच् । वक्रे, जं० २ वक्ष० । उपा० । प्रश्न० । आचा० । स्था० । अतिवक्रे, उपा० २ अ० । "धणुकुंडलवंकयागारपरिक्खित्ता" औ० । रा० । आचा० । अनृजौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ३ उ० । "जिणवरवयणोवदिट्ठमग्गेण अकुडिलेण" औ० । तगरपुष्पे, न० । युगादिभिः कुटिलमिति मतं 'स्भौ न्यौ गौ' वृत्तरत्नाकरोक्ते छन्दोभेदे, सरस्वत्याम्, स्त्री० । स्पृक्कानामगन्धद्रव्ये, स्त्री० । वाच० ।

कुडिलब्भु–कुटिलभ्रु–त्रि० । पुरन्ध्याम्, "प्रत्यापिबति नो वान्तमवशः कुटिलभ्रुवाम्" । द्वा० २६ द्वा० ।

कुडिल्लसुसिणिद्धदीहसिरय–कुटिलसुस्निग्धदीर्घशिरोज–त्रि० । कुटिलाः सुस्निग्धाः दीर्घाः शिरोजा यस्य सः । वक्रचिक्कणलम्बकेशे, जी० ३ प्रति० ।

कुडिलविडल–कुटिलविटल–न० । हस्तिशिक्षायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

कुडिल्लयं–देशी–कुटिले, दे० ना० २ वर्ग ।

कुडिव्वय–कुटीव्रत–त्रि० । कुटीचरेषु, ते च गृहे वर्तमाना व्यपगतक्रोधलोभमोहा अहङ्कारं वर्जयन्तीति । औ० ।

कुडी–कुटी–स्त्री० । कुट इन् ङीप् । गृहे, कुट्टिन्यां, मुरानामगन्धद्रव्ये च । वाच० । तत्र गृहे " एगस्स कुंजगारस्स कुडीए साहुणो ठिया " आ० म० द्वि० ।

कुडुंब–कुटुम्ब–पुं० । न० । कुटुम्ब अच् । पोष्यवर्गे, बान्धवे, सन्ततौ, नामनि, वाच० । स्वजनवर्गे, उत्त० १४ अ० ।

कुडुंबय–कुटुम्बक–पुं० । वनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १ पद ।

कुडुंबि (ण्)–कुटुम्बिन्–त्रि० । कुटुम्ब इनिः । कुटुम्बयुक्ते, गृहस्थाश्रमे, कर्षके, त्रि० । वाच० । प्रभूतपरिवारकलोकपरिवृते रजोहरणमुख (वस्त्रिका) पोत्तिकादिलिङ्गधारिणि धारत्तकप्रतिच्छन्दे, बृ० १ उ० ।

कुडुंबेसर–कुटुम्बेश्वर–पुं० । अवन्तीस्थे स्वनामख्याते श्रीऋषभदेवप्रतिमाभेदे, ती० ।

"श्वेताम्बरेण चारण–मुनिनाऽऽचार्येण वज्रसेनेन ।
शक्रावतारतीर्थे, श्रीनाभेयः प्रतिष्ठितो जीयात् ॥ १ ॥
कुटुम्बेश्वरनाभेय–देवस्यानल्पतेजसः ।
कल्पं जल्पामि लेशेन, दृष्ट्वा शासनपट्टिकाम् " ॥ २ ॥

पूर्वं लाटदेशे मण्डनभृगुकच्छपुरालङ्कारे शकुनिकाविहारे स्थिताः श्रीवृद्धवादिसूरयः ' येन निर्जीयते तेन तस्य शिष्येण भाव्यमिति ' प्रतिज्ञां विधाय वादकरणार्थं दक्षिणपथायातं कर्णाटभट्टदिवाकरं निर्जित्य व्रतं ग्राहयांचक्रिरे । किं संस्कृतं कर्तुं न जानन्ति श्रीमन्तस्तीर्थङ्करा गणधरा वा यदर्द्धमागधेनाम्नायमकुर्वन् । तदेवं जल्पतस्तव महत् प्रायश्चित्तमापन्नम्, किमेतत्तवाग्रतः कथ्यते, स्वयमेव जानन्नसि । ततो विमृश्याभिदधेऽसौ–भगवन् ! आश्रीयमाणो द्वादशवार्षिकं पाराञ्चितं नाम प्रायश्चित्तं गुप्तमुखवस्त्रिकारजोहरणादिलिङ्गः प्रकटितावधूतरूपश्चरिष्यामीति । आवश्यकमुपयुक्त इति गुरुभिराभिहितमाकर्ण्य देशान्तरग्रामनगरादिषु पर्यटन् द्वादशे वर्षे श्रीमदुज्जयिन्यां कुटुम्बेश्वरदेवालये शेफालिकाकुसुमरञ्जितचोलपट्टालङ्कृतशरीरः समागत्यासांचक्रे । ततो देवं कस्मान्न नमसीति लोकैर्जल्प्यमानोऽपि नाजल्पत् । एवं च जनपरम्परया श्रुत्वा सर्वत्राऽनृणीकृतविश्वविश्वम्भराङ्कितनिजैकवत्सरः श्रीविक्रमादित्यदेवः समागत्य जल्पयांचकार–क्षीरं लिलिक्षो ! भिक्षो ! किमिति त्वया देवो न नमस्यते । ततस्त्विदमवादि वादिना–मया नमस्कृते देवे लिङ्गभेदो भवतामप्रीतये भविष्यति । राज्ञोचे–भवतु क्रियतां नमस्कारः । तेनोक्तम्–श्रूयतां तर्हि । ततः पद्मासनेन भूत्वा द्वात्रिंशिकादिभिर्देवं स्तोतुमुपचक्रमे । तथाहि–

" स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्र–मनेकमेकाक्षरभावलिङ्गम् ।
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोक–मनादिमध्यान्तमपुण्यपापम् " ॥१॥

इत्यादि प्रथम एव श्लोके प्रासादस्थितात् शिखिशिखाग्रादिव लिङ्गात् धूमवर्तिरुदस्थात् । ततो जनैर्वचनमिदमूचे–अष्टविद्येशाधीशः कालाग्निरुद्रोऽयं भगवांस्तृतीयनेत्रानलेन भिक्षुं भस्मसात् करिष्यति । ततस्तडित्तेज इव सतडत्कारं प्रथमं ज्योतिर्निर्गत्याप्रतिचक्रतोऽयमानमिथ्यादृष्टिदैवतमामूलाल्लिङ्गं द्विधा भित्त्वा प्रादुरास पद्मासनासीनः स्वयंभूर्भगवान् नाभिसूनुः । तदनया दर्शनप्रभावनया तीर्णः पाराञ्चिताम्भोनिधिरिति विमुच्य रक्ताम्बराणि प्रकटीकृत्य मुखवस्त्रिकारजोहरणादिलिङ्गानि महाराजं धर्माङ्करैराशीर्वादयांचक्रे वादीन्द्रः । ततो विनयपुरस्सरं–

" सूरये सिद्धसेनाय, दूरादुच्छ्रितपाणये ।
धर्मलाभ इति प्रोक्ते, ददौ कोटिं नराधिपः " ॥ १ ॥

ततः प्रभूतं क्षमयित्वा नृपतिः स्तुतिमकार्षीत् । यथा–
"उदव्यूढपाराञ्चितसिद्धसेन–दिवाकराचार्यकृतप्रतिष्ठः ।
श्रीमान् कुटुम्बेश्वरनाभिसूनु–र्देवः शिवायास्तु जिनेश्वरो नः"१।

ततो भगवतो भट्टश्रीदिवाकरसूरेर्देशनया संजीविनीचारिवरकन्यायितस्वात्माविकभद्रतया विशेषतः सम्यक्त्वमूलां देशविरतिं प्रत्यपादि श्रीविक्रमादित्यः । ततश्च गोह्रदमण्डले सांबराप्रभृतिग्रामाणामेकनवतिं, चित्रकूटमण्डले वसाडप्रभृतिग्रामाणां चतुरशीतिं, तथा घुण्टारसीप्रभृतिग्रामाणां चतुर्विंशतिमाहेडवासकमण्डले ईसरोडाप्रभृतिग्रामाणां षट्पञ्चाशतं श्रीकुटुम्बेश्वरऋषभदेवाय शासनेन स्वनिःश्रेयसार्थमदात् । ततः शासनपट्टिकां श्रीमदुज्जयिन्यां संवत् १ चैत्र सुदि १ गुरुभाद्र० देशीयमहाक्षपटलिकपरमार्हतश्वेताम्बरोपासकब्राह्मणगौतमसुतकात्यायनेन राजाऽलेखयत्, ततः श्रीकुटुम्बेश्वर ऋषभदेवः प्रकटीभवति । तद्दिनात् प्रभृति सर्वात्मना मिथ्यात्वोच्छेदेन सर्वानपि जटाधरादीन् दर्शनिनः श्वेताम्बरान् कारयित्वा परिमुक्तमिथ्यादृष्टिदेवगुरुः सकलामप्यवन्तीं जैनमुद्राङ्कितां चकार । ततः परितुष्टैः श्रीसिद्धसेनसूरिभिरभिदधौ वसुधाधवः–

" पुण्णे वाससहस्से, सयम्मि वरिसाण नवनवइकलिए ।
होही कुमरनरिंदो, तुह विक्कमराय ! सारिच्छो " ॥ १ ॥

इत्थं ख्यातिं सर्वजगत्पूज्यतां चोपगतः श्रीकुटुम्बेश्वरो युगादिदेव इति ।

" कुटुम्बेश्वरदेवस्य, कल्पमेतं यथाश्रुतम् ।
रुचिरं रचयांचक्रुः, श्रीजिनप्रभसूरयः " ॥ १ ॥ ती० ४६ कल्प ।

कुडुंभग–कुटुम्भक–पुं० । जलमण्डूके, " कुडुभओ जलमंडूओ भण्णति " नि० चू० १ उ० ।

कुडुकायरिय–कुटुकाचार्य–पुं० । स्वनामख्याते दार्शनिकपण्डिते, अने० २ अधि० ।

कुडुल्ली–कुटिका–स्त्री० । अल्पकुट्याम्, "एक्क कुडुल्ली पंचहिं रुद्धी, तहं पंचहं वि जुअंजुअ बुद्धी । " प्रा० ४ पाद ।

कुड्ड–कुड्य–न० । 'कुड' कार्कश्ये ण्यत् । कौतेरन्त्या० यक्, रुगागमश्च इत्युज्ज्वलदत्तः । वाच० । प्राकृते–" अधो मनयाम् " ८ । २ । ७८ । इति यलुक् । प्रा २ पाद । " गोणादयः " । ८ । २ । १७४ । इति वा निपातः । प्रा० २ पाद । मृत्पिण्डादिनिर्मिते, बृ० २ उ० । पाषाणरचिते, उत्त० १६ अ० । खटिकादिरचिते, उत्त० २ अ० । भित्तिशब्दार्थे, उत्त० २५ अ० । भ० । " कुड्डा सा भासा कुड्डं गिहं " नि० चू० ८ उ० । विलेपने, कौतूहले, स्वार्थे के त्रिसौ, वाच० ।

कुड्डंतर–कुड्यान्तर–न० । कुड्यमध्ये, " कुड्डंतरपुव्वकीलिअपणीए " । इति कुड्यान्तरं पञ्चमब्रह्मचर्यविषयः । आव० ४ अ० ।

यत्रान्तरस्थेऽपि कुड्यादौ दम्पत्योः सुरतादिशब्दः श्रूयते तस्यागः । ध० ३ अधि० । प्रश्न० ।

कुढ--कुठ-पुं० । 'कुठ' छेदने घञर्थे कर्मणि कः । "ठो ढः" । ८ । १ । १९९ । इति ठस्य ढः । प्रा० १ पाद । वृक्षे, वाच० ।

कुढार--कुठार--पुं० । स्त्री० । कुठ करणे आरन् । "ठो ढः" । ८ । १ । १९९ । इति ठस्य ढः । प्रा० १ पाद । परशौ, अनु० । स्त्रीत्वे गौरा० ङीष् । वाच० । परशु-पर्शु-स्वधितिपर्यायाः । वाच० ।

कुढाल--कुठार-पुं० । स्त्री० । कुढारशब्दोक्तार्थे, अनु० ।

कुण--कृ--धा० । करणे "कृगोः कुणः" । ८ । ४ । ६५ । कृगेः कुण इत्यादेशो वा भवति । "व्यञ्जनाददन्ते" । ८ । ४ । २३९ । इत्यन्तेकारः । प्रा० ४ पाद । कुणइ, करइ, करोति ।

कुणंत--कुर्वत्--त्रि० । विदधाति, औ० १ प्रति० ।

कुणक्क--कुणक-पुं० । कुहणवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १पद । आचा० ।

कुणमाण--कुर्वत्--त्रि० । विदधाति, "पुढवाइयाणाइयायं कुणमाणे सबले" । आव० ४ अ० । आचा० ।

कुणव--कुणप--पुं० । क्वण--कपन् संप्र० । "पो वः ।" । ८ । १ । २३१ । इति पस्य वः । प्रा० १ पाद । त्यक्तप्राणे, मृतदेहे, शवे, पूतिगन्धे, अस्त्रभेदे, वाच० ।

कुणाल--कुणाल--पुं० । श्रेणिकसुतकोणिकसुतोदायिपट्टोदितनवनन्दपट्टोद्भूतचन्द्रगुप्तसुतबिन्दुसारसुताऽशोकश्रीसुते, कल्प० । यस्य पुत्रः सम्प्रतिनामा परमार्हतोऽभूत् । कल्प० ८ क्षण । तस्यान्धीभूतत्वे कथानकं चेदम्--पाटलीपुत्रनामनगरे मौर्यवंशसमुद्भवोऽशोकश्रीर्नाम भूपालः । तस्य चैकस्या राज्याः कुणालनामा तनयः समुत्पन्नः । तस्य च भुक्तौ उज्जयिनी नगरी नरपतिना प्रदत्ता । ततश्च सातिरेकाष्टवार्षिके तस्मिन् कुमारे लेखवाहकेनागत्य अशोकश्रीराजाय निवेदितम्, यथा-एतावति वयसि वर्त्तते युष्मत्पुत्रः । ततश्चान्तःपुरोपविष्टेन भूपतिना स्वहस्तेनैव लिखितः कुमाराय लेखः । तस्य तत्र चेदमलेखि-'यथेदानीमधीयतां कुमारः' । तं च लेखमसंवर्तितमेव मुक्त्वा शरीरचिन्तार्थमुत्थितो नरनाथः । ततश्चैकया राज्या गृहीत्वा वाचितोऽसौ लेखः । चिन्तितं च यथा-मामापि विद्यते पुत्रः, केवलं लघुरसौ, महांश्च कुणालः, ततस्तस्मिन् राज्ययोग्यतां बिभ्रति न मदीयपुत्रस्य राज्याऽऽवाप्तिः, ततस्तथा करोमि यथा कुणालो राज्यस्याऽयोग्यो भवति, अयमवसरश्चायम् । इति विचिन्त्य निष्ठीवनार्द्रीकृतया हस्तस्थितनयनाञ्जनशलाकयाऽकारस्योपरि प्रदत्तो बिन्दुः । जातं च ततो 'अन्धीयतां कुमारः' । ततस्तथैव राज्या मुक्तस्तत्रैव प्रदेशे लेखः । राज्ञाऽपि कथमपि पुनरवाचित एव संवर्तितोऽसौ । गतश्च कुमारसमीपम् । अवधारितश्च केनापि नियोगिना, अप्रकटश्च विरुद्ध इति मत्वा न वाचितः । कुमारनिर्बन्धे च वाचितः । ततो विज्ञातलेखार्थेन प्रोक्तं कुमारेण-मौर्यवंशोद्भवानामस्माकमाज्ञां भुवनेऽपि न कश्चित् खण्डयति, ततः किमहमेव तातस्याज्ञां लङ्घयिष्यामि ?, न भवत्येवैतदित्युक्त्वा तदैव एवाग्नितप्तां लोहशलाकां गृहीत्वा मुक्तहाहारवे सर्वस्मिन्नपि परिजने निवारयत्यञ्जिते अक्षिणी; जातश्चान्धः । ततो विज्ञातसमस्तैतद्व्यतिकरो राजा महान्तं खेदं विधाय कुणालस्योज्जयिनीमुत्सार्योचितं किमप्यन्यग्राममात्रं दत्तवान् । तत्र च स्थितेन कुणालकुमारेण शिक्षिता प्रकर्षवती गीतकला । पुत्रश्चान्यदा तस्य समुत्पन्नः । ततस्तद्राज्याप्तिनिमित्तं गतः पाटलीपुत्रं नगरं कुणालः । समाक्षिप्तश्चाशेष तन्नगरनिवासी समस्तोऽपि लोकस्तेन गीतकलया । गता च तत्प्रसिद्धिः । भूपालान्तिकं नीतश्चासौ । तत्र कृतं च यवनिकान्तरे तेन गीतमतीवाऽऽक्षिप्तश्च जगाद पृथिवीपतिः-याचस्व भोः ! प्रयच्छामि तव समीहितम् । ततः पठितं कुणालेन-

> चंदगुत्तपपुत्तो उ, बिंदुसारस्स नत्तुओ ।
> असोगसिरिणो पुत्तो, अंधो जायइ कागणिं ॥ ८६२ ॥

अस्याऽयं भावार्थः-पाटलीपुरनगरे चाणक्यप्रतिष्ठितो मौर्यः प्रथमं किल चन्द्रगुप्तो राजा बभूव । ततस्तत्पुत्रो बिन्दुसारः समभूत् । तदनन्तरं तु तत्पुत्रोऽशोकश्रीर्जातः । तस्य चान्धोऽसौ कुणालः पुत्रः । एवं च सत्येष चन्द्रगुप्तस्य प्रपौत्रः, बिन्दुसारस्य तु नप्तृकः पौत्रः, अशोकश्रीनृपतेस्तु पुत्रः, 'काकणिं' क्षत्रियभाषया राज्यं याचत इति । ततो यवनिकापगमं कारयित्वा किञ्चित्सकौतुकेन राज्ञा सविशेषं पृष्टः सर्वमपि स्वव्यतिकरं कुणालः कथयामास । ततः पृथिवीपतिना पृष्टः-अन्धस्त्वं राज्येन किं करिष्यसि ? । तेन प्रोक्तम्-देव ! मम राज्यार्हः पुत्र उत्पन्नो वर्तते । राज्ञा प्रोक्तम्-कदा ? । कुणालः प्राह-सम्प्रति । तत् सम्प्रतिरित्येव तस्य नाम प्रतिष्ठितम् । राज्यं च तस्मै प्रदत्तमिति । तदेवं यथेदाकारस्योपर्येकेनाप्यऽधिकेन बिन्दुना कुमारस्य नेत्रापायो जातः तथा सूत्रेऽपि बिन्द्वाद्याधिक्यादर्थान्तरप्राप्त्या सर्वानर्थसंभव इति भावनीयमिति । ८६२ । विशे० । बृ० । आचार्यजिनदेवसत्कभदन्तमित्रस्य भ्रातरि, आव० ४ अ० । ('पणिहि' शब्दे कथा)

कुणालणयर--कुणालनगर--न० । उज्जयिन्याम्, "आसी कुणालनगरे रायनामेण वेसमणदासो ।" कुणालनगरे उज्जयिन्यामित्यर्थः । संथा० ।

कुणाला--कुणाला--स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, "कालाखे नरकावासे, संजायेते स्म नारकौ । कुणालाया विनाशस्य, कालाद् वर्षे त्रयोदशे" । आ० क० । आ० म० । ऐरावतीनाम नदी कुणालाया नगर्याः समीपे जङ्घार्द्धप्रमाणेनोद्वहति, बृ० ४ उ० । ग० । उत्तरस्यां दिशि आर्यजनपदभेदे, बृ० १ उ० । यत्र श्रावस्ती नगरी । प्रव० २७४ द्वार । स्था० । "तेणं कालेणं कुणाला नाम जणवए होत्था तत्थ णं रुप्पी णामं राया होत्था" ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० ।

कुणि--कुणि--पुं० । कुण-इन् । तुन्दुवृक्षे, वाच० । गर्भाधानदोषाद् ह्रस्वैकपादे न्यूनैकपाणौ कुण्टे, प्रश्न० ५ संव० द्वार । आचा० । पादविकले, बृ० १ उ० ।

कुणिआ--देशी-वृत्तिविवरार्थे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुणिम--कुणप--न० । पुं० । मांसे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । उपा० । औ० । व्य० । पिं० । सूत्र० । शवे, तद्रसे वसादौ, भ० ७ श० ६ उ० । अनु० । प्रश्न० । "ते तुक्किनगंधे कासिणे य फासे, कम्मोवगा कुणिमे आवसंति त्ति" । कुणिमे रुधिराद्याकुले । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । दी० । मांसपेशीरुधिरपूयान्त्रफिप्फिसकश्मलाकुले सर्वामेध्याधमे बीभत्सदर्शने हाहारवाक्रन्देन कष्टं मा तावदित्यादिशब्दावधीरितदिगन्तराले परमाधमे नरकावासे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कुणिमाहार—कुणपाहार—पुं० । कर्मधारयसमासः । मांसभोजने, भ० ८ श० ६ उ० । कुणपः शवस्तद्भवोऽपि वशादिः कुणपः, तदाहारः । मृतकभक्षके, भ० ७ श० ६ उ० । जं० ।

कुतक्क—कुतर्क—पुं० । कुयुक्तौ, अष्ट० १६ अष्ट० ।

अथ कुतर्कत्यागद्वात्रिंशिका—

जीयमानेऽत्र राज्ञीव, चमूचरपरिच्छदः ।
निवर्त्तते स्वतः शीघ्रं, कुतर्कविषमग्रहः ॥ १ ॥

(जीयमान इति) जीयमानेऽत्रावेद्यसंवेद्यपदे महामिथ्यात्वनिबन्धने पशुत्वादिशब्दवाच्ये स्वत एवात्मनैवापरोपदेशेन शीघ्रम् , कुतर्क एव विषमग्रहो दृष्टापायहेतुत्वेन क्रूरग्रहः, कुतर्कस्य विषमग्रहः कुटिलावेशरूपो विनिवर्त्तते । राज्ञि जीयमान इव चमूचरपरिच्छदः ॥ १ ॥

शमाऽऽरामानलज्वाला, हिमानी ज्ञानपङ्कजे ।
श्रद्धाशल्यं स्मयोल्लासः, कुतर्कः सुनयार्गला ॥ २ ॥
कुतर्केऽभिनिवेशस्तद्, न युक्तो मुक्तिमिच्छताम् ।
युक्तः पुनः श्रुते शीले, समाधौ शुद्धचेतसाम् ॥ ३ ॥
उक्तं च योगमार्गज्ञै–स्तपोनिर्धूतकल्मषैः ।
भावियोगिहितायोच्चै–र्मोहदीपसमं वचः ॥ ४ ॥
वादांश्च प्रतिवादांश्च, वदन्तो निश्चितांस्तथा ।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति, तिलपीलकवद् गतौ ॥ ५ ॥
विकल्पकल्पनाशिल्पं, प्रायोऽविद्याविनिर्मितम् ।
तद्योजनामयश्चात्र, कुतर्कः किमनेन तत् ? ॥ ६ ॥

शमेति व्यक्तः ॥ २ ॥ (कुतर्केति) श्रुते आगमे, शीले परद्रोहविरतिलक्षणे, समाधौ ध्यानफलभूते ॥ ३ ॥ (उक्तं चेति) उक्तं च निरूपितं पुनर्योगमार्गज्ञैरध्यात्मविद्भिः पतञ्जलिप्रभृतिभिस्तपसा निर्धूतकल्मषैः प्रशमप्रधानेन तपसा क्षीणमार्गानुसारिबोधबाधकमोहमलैर्भावियोगिहिताय भविष्यद्विवादबहुलकलिकालयोगिहितार्थम्, उच्चैरत्यर्थं, मोहदीपसमं मोहान्धकारप्रदीपस्थानीयं, वचो वचनम् ॥ ४ ॥ (वादांश्चेति) वादांश्च पूर्वपक्षरूपान् प्रतिवादांश्च परोपन्यस्तपक्षप्रतिवचनरूपान्, वदन्तो ब्रुवाणाः,निश्चितान् असिद्धानैकान्तिकादिहेत्वाभासनिरासेन । तथा तेन प्रकारेण तत्तच्छास्त्रप्रसिद्धेन सर्वेऽपि दर्शनिनो मुमुक्षवोऽपि, तत्त्वान्तमात्मादितत्त्वप्रसिद्धिरूपं, न नैव, गच्छन्ति प्रतिपद्यन्ते, तिलपीलकवत्तिलपीलक इव निरुद्धाऽक्षिसंचारस्तिलयन्त्रवाहनपरः । यथा ह्ययं नित्यं भ्राम्यन्नपि निरुद्धाक्षतया न तत्परिमाणमवबुध्यते, एवमेतेऽपि वादिनः स्वपक्षाभिनिवेशान्धाः विचित्रं वदन्तोऽपि नोच्यमानतत्त्वं प्रतिपद्यन्त इति ॥५॥ (विकल्पेति) विकल्पाः शब्दविकल्पा अर्थविकल्पाश्च,तेषां कल्पनारूपं शिल्पं, प्रायो बाहुल्येनाऽविद्याविनिर्मितं ज्ञानावरणीयादिकर्मसंपर्कजनितं, तद्योजनामयस्तदेकधारात्मा चात्र कुतर्कस्तत्किमनेन मुमुक्षूणां,दुष्टकारणप्रभवस्य सत्कार्याहेतुत्वात् ।६।

जातिप्रायश्च बाध्योऽयं, प्रकृतान्यविकल्पनात् ।
हस्ती हन्तीति वचने, प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् ॥ ७ ॥
स्वभावोत्तरपर्यन्त एषोऽत्रापि च तत्त्वतः ।
नार्वाग्दृग्ज्ञानगम्यत्व–मन्यथाऽन्येन कल्पनात् ॥८॥

(जातिप्रायश्चेति) जातिप्रायश्च दूषणाभासकल्पश्च, बाध्यः प्रतीतिफलाभ्यामयं कुतर्कः । प्रकृतान्यस्योपादेयाद्यतिरिक्तस्याऽप्रयोजनस्य वस्त्वंशस्य विकल्पनात्, हस्ती हन्तीति वचने हस्त्यारूढेनोक्ते प्राप्ताप्राप्तविकल्पवन्नैयायिकच्छात्रस्य, यथा ह्ययमित्थं वक्तारं प्रति-किमयं हस्ती प्राप्तं व्यापादयत्युताप्राप्तम्? । आद्ये त्वामपि व्यापादयेदन्त्ये च जगदपीति विकल्पयन्नेव हस्तिना गृहीतो मिण्ठेन कथमपि मोचितः,तथा तथाविधविकल्पकारी तत्तद्दर्शनस्थोऽपि कुतर्कहस्तिना गृहीतः सद्गुरुमिण्ठेनैव मोच्यत इति ॥ ७ ॥ (स्वभावेऽति) एष कुतर्कः स्वभावोत्तरपर्यन्तः, अत्र च "वस्तुस्वभावैरुत्तरं वाच्यम" इति वचनात् । अत्रापि च स्वभावेनार्वाग्दृशश्छद्मस्थस्य ज्ञानगम्यत्वं तत्त्वतः । अन्यथा कल्पस्यैकेन वादिना स्वभावस्याऽन्येनान्यथाकल्पनात् ॥ ८ ॥

तथाहि—

अपां दाहस्वभावत्वे, दर्शिते दहनान्तिके ।
विप्रकृष्टेऽप्ययस्कान्ते, स्वार्थशक्तेः किमुत्तरम् ? ॥ ९ ॥
दृष्टान्तमात्रसौलभ्या–त्तदयं केन बाध्यताम् ।
स्वभावबाधने नालं, कल्पनागौरवादिकम् ॥१०॥

(अपामिति) अपां शैत्यस्वभावत्ववादिनं प्रत्यपां दहनान्तिके दाहस्वभावत्वे दर्शितेऽध्यक्षविरोधपरिहाराद् विप्रकृष्टेऽप्ययस्कान्ते स्वार्थशक्तेर्लोहाकर्षणशक्तेर्विप्रकर्षणमात्रस्याप्रयोजकत्वात् किमुत्तरम् ? । अन्यथावादिनः स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वाद्विशेषस्याविनिगमात् । तदुक्तम्—

" अतोऽग्निः क्लेदयत्यम्बु, सन्निधौ दहतीति च ।
अयाग्निसन्निधौ तस्या–भाव्यादित्युदिते तयोः ॥ १ ॥
कोशपानादृते ज्ञानो–पायो नास्त्यत्र युक्तितः ।
विप्रकृष्टोऽप्ययस्कान्तः, स्वार्थकृद् दृश्यते यतः " ॥ २ ॥

(दृष्टान्तेति) दृष्टान्तमात्रस्य सौलभ्यात्तत्तस्मादयमन्यथा स्वभावविकल्पकः कुतर्कः केन बाध्यताम् ? । अग्निसन्निधावपां दाहस्वभावत्वे कल्पनागौरवं बाधकं स्यादित्यत आह–स्वभावस्योपपत्तिसिद्धस्य बाधने कल्पनागौरवादिकं नालं न समर्थं, कल्पनासहस्रेणाऽपि स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । अत एव न कल्पनालाघवेनापि स्वभावान्तरं कल्पयितुं शक्यमिति द्रष्टव्यम् । अथ स्वस्य भावोऽनागन्तुको धर्मो नियतकारणत्वादिरूप एव, स च कल्पनालाघवज्ञानेन गृह्यते,अन्यथागृहीतश्च कल्पनागौरवज्ञानेन त्यज्यतेऽपीति चेन्न;गौरवेऽपि अप्रामाणिकत्वस्य दुर्ग्रहत्वात्प्रामाणिकस्य च गौरवादेरप्यदोषत्वादिति दिक् ॥ १० ॥

द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञान–निदर्शनबलोत्थितः ।
धियां निरालम्बनतां, कुतर्कः साधयत्यपि ॥ ११ ॥
तत् कुतर्केण पर्याप्त–मसमञ्जसकारिणा ।
अतीन्द्रियार्थसिद्ध्यर्थं नावकाशोऽस्य कुत्रचित् ॥ १२ ॥

(द्विचन्द्र इति) द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञाने एव निदर्शने उदाहरणमात्रे तद्बलादुत्थितः कुतर्कः धियां सर्वज्ञानानां,निरालम्बनतामलीकविषयतामपि साधयति ॥ ११ ॥ (तदिति) तदसमञ्जसकारिणा प्रतीतिबाधितार्थसिद्ध्यनुधाविना पर्याप्तं कुतर्केण, अ-

तीन्द्रियार्थानां धर्माधर्मानां सिद्ध्यर्थं नास्य कुतर्कस्य कुत्रचिदवकाशः ॥ १२ ॥

शास्त्रस्यैवाऽवकाशोऽत्र, कुतर्काग्रहतस्ततः ।
शीलवान् योगवानत्र, श्रद्धावाँस्तत्त्ववित् भवेत् ॥ १३ ॥
तत्त्वतः शास्त्रभेदश्च, न शास्त्रीणामभेदतः ।
मोहस्तदधिमुक्तीनां, तद्भेदाश्रयणं ततः ॥ १४ ॥

(शास्त्रस्येति)अत्रातीन्द्रियार्थसिद्धौ शास्त्रस्यैवावकाशः, तस्यातीन्द्रियार्थसाधनसमर्थत्वाच्छुष्कतर्कस्यातथात्वात्। तदुक्तम्-"गोचरस्त्वागमस्यैव,ततस्तदुपलब्धितः। चन्द्रसूर्योपरागादिसंवाद्यागमदर्शनात्" ॥१॥ ततस्तस्मात् कुतर्काग्रहतोऽत्र शास्त्रे श्रद्धावान् शीलवान् परद्रोहविरतियोगवान् सदायोगतत्परः तत्त्ववित्सर्वातीन्द्रियार्थदर्शी भवेत् ॥ १३ ॥ ननु शास्त्राणामपि भिन्नत्वात्कथं शास्त्रश्रद्धाऽपि स्यादित्यत आह-(तत्त्वत इति) तत्त्वतो धर्मवादापेक्षया तात्पर्यग्रहाच्छास्त्रभेदश्च नास्ति। शास्तॄणां धर्मप्रणेतॄणामभेदतः तत्तन्नयापेक्षदेशनाभेदेनैव स्थूलबुद्धीनां तद्भेदाभिमानात्। अत एवाह-ततस्तस्मात्तदधिमुक्तीनां शास्तृश्रद्धावतां तद्भेदाश्रयणं शास्तृभेदाङ्गीकरणं मोहोऽज्ञानं,निर्दोषत्वेन सर्वेषामेकरूप्यात्। तदुक्तम्-" न तत्त्वतो भिन्नमताः, सर्वज्ञा बहवो यतः । मोहस्तदधिमुक्तीनां, तद्भेदाश्रयणं ततः " ॥ १ ॥ १४ ॥

सर्वज्ञो मुख्य एकस्तत्-प्रतिपत्तिश्च यावताम् ।
सर्वेऽपि ते तमापन्नाः, मुख्यं सामान्यतो बुधाः ॥ १५ ॥
न ज्ञायते विशेषस्तु, सर्वथाऽसर्वदर्शिभिः ।
अतो न ते तमापन्नाः, विशिष्य भुवि केचन ॥ १६ ॥

(सर्वज्ञ इति) सर्वज्ञो मुख्यस्तात्त्विकाराधनाविषय एकः,सर्वज्ञत्वजात्यविशेषात्। तदुक्तम्-"सर्वज्ञो नाम यः कश्चित्, पारमार्थिक एव हि । स एक एव सर्वत्र,व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः" ॥१॥ तत्प्रतिपत्तिः सर्वज्ञभक्तिश्च यावतां तत्तद्दर्शनस्थानां ते सर्वेऽपि बुधास्तं सर्वज्ञं मुख्यं सामान्यतो विशेषानिर्णयेऽप्यापन्ना आश्रिताः, निरतिशयितगुणवत्त्वेन प्रतिपत्तेर्वस्तुतः सर्वज्ञविषयकत्वात् गुणवत्त्वाऽवगाहनेनैव तस्या भक्तित्वाच्च। यथोक्तम्-"प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य, सामान्येनैव यावताम् । ते सर्वेऽपि तमापन्नाः, इति न्यायगतिः परा " ॥ १ ॥१५॥ (नेति) विशेषस्तु सर्वज्ञज्ञानादिगतभेदस्तु असर्वदर्शिभिश्छद्मस्थैः, सर्वथा सर्वैः प्रकारैः, न ज्ञायते अतो न ते सर्वज्ञाभ्युपगन्तारस्तं सर्वज्ञमापन्ना आश्रिताः, विशिष्य भुवि पृथिव्यां केचन । तदुक्तम्-"विशेषस्तु पुनस्तस्य, कार्त्स्न्येनासर्वदर्शिभिः सर्वैर्न ज्ञायते तेन, तमापन्नो न कश्चन" ॥ १ ॥ १६॥

अतः सामान्यप्रतिपत्त्यंशेन सर्वयोगिषु परिशिष्टा
तुल्यतैव भावनीयेत्याह-

सर्वज्ञप्रतिपत्त्यंश-माश्रित्याऽमलया धिया ।
निर्व्याजं तुल्यता भाव्या, सर्वतन्त्रेषु योगिनाम् ॥ १७ ॥

अवान्तरभेदस्तु सामान्याविरोधीत्याह-

दूराऽऽसन्नादिभेदोऽपि, तद्भृत्यत्वं निहन्ति न ।
एको नामादिभेदेन, भिन्नाचारेष्वपि प्रभुः ॥ १८ ॥

(सर्वज्ञेति) सर्वज्ञे प्रतिपत्त्यंशमाश्रित्य, अमलया रागद्वेषमलरहितया धिया बुद्ध्या निर्व्याजमौचित्येन सर्वलोकपालनपरतया तुल्यता भाव्या, सर्वतन्त्रेषु सर्वदर्शनेषु योगिनां मुमुक्षूणाम्। तदुक्तम्-"तस्मात्सामान्यतोऽप्येन-मभ्युपैति य एव हि । निर्व्याजं तुल्य एवासौ, तेनांशेनैव धीमता " ॥१॥१७॥ (दूरेति) दूराऽऽसन्नादिभेदस्तु तद्भृत्यत्वं सर्वज्ञोपासकत्वं न निहन्ति,एकस्य राज्ञो नानाविधप्रतिपत्तिकृतामपि एकभृत्यत्वाविशेषवत् प्रकृतोपपत्तेः । भिन्नाचारेष्वपि तथाधिकारभेदेन नानाविधानुष्ठानेष्वपि योगिषु नामादीनामर्हदादिसंज्ञादीनां भेदेन एकः प्रभुरुपास्यः । तदुक्तम्-

" यथैवैकस्य नृपते-र्बहवोऽपि समाश्रिताः ।
दूरासन्नादिभेदेऽपि, तद्भृत्याः सर्व एव ते ॥ १ ॥
सर्वज्ञतत्त्वाभेदेन, तथा सर्वज्ञवादिनः ।
सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेयाः, भिन्नाचारस्थिता अपि ॥२॥
न भेद एव तत्त्वेन, सर्वज्ञानां महात्मनाम् ।
तथा नामादिभेदेऽपि, भाव्यते तन्महात्मभिः " ॥३॥ १८ ॥

देवेषु योगशास्त्रेषु, चित्राचित्रविभागतः ।
भक्तिवर्णनमप्येवं, युज्यते तद्भेदतः ॥ १९ ॥
संसारिषु हि देवेषु, भक्तिस्तत्कायगामिनाम् ।
तदतीते पुनस्तत्त्वे, तदतीतार्थयायिनाम् ॥ २० ॥

(देवेष्विति) एवमिष्टाऽनिष्टनामभेदेऽपि,तदभेदतः तत्त्वतः सर्वज्ञाभेदात्,योगशास्त्रेषु सौवाध्यात्मचिन्ताशास्त्रेषु देवेषु लोकपालमुक्तादिषु चित्राचित्रविभागतो भक्तिवर्णनं युज्यते । तदुक्तम्-" चित्राचित्रविभागेन, यच्च देवेषु वर्णिता। भक्तिः सद्योगशास्त्रेषु, ततोऽप्येवमिदं स्थितम् " ॥१॥१९॥ (संसारिष्विति) संसारिषु हि देवेषु लोकपालादिषु भक्तिः सेवा तत्कायगामिनां संसारिदेवकायगामिनाम्, तदतीते पुनः संसारातीते तु तत्त्वे तदतीतार्थयायिनां संसारातीतमार्गगामिनां योगिनां भक्तिः ॥ २० ॥

चित्रा चाद्येषु तद्राग-तदन्यद्वेषसङ्गता ।
अचित्रा चरमे त्वेषा, शमसाराऽखिलैव हि ॥ २१ ॥
इष्टापूर्त्तानि कर्माणि, लोके चित्राऽभिसन्धितः ।
फलं चित्रं प्रयच्छन्ति, तथाबुद्ध्यादिभेदतः ॥ २२ ॥

(चित्रा चेति) चित्रा च नानाप्रकारा च, आद्येषु सांसारिकेषु देवेषु तद्रागतदन्यद्वेषाभ्यां स्वाभीष्टदेवतारागानभीष्टद्वेषाभ्यां सङ्गता युक्ता,मोहगर्भत्वात्। अचित्रा एकाकारा चरमे तु तदतीते तु,एषा भक्तिः,शमसारा शमप्रधानाऽखिलैव हि तथासंमोहाभावादिति ॥२१॥ (इष्टापूर्त्तानीति) इष्टापूर्त्तानि कर्माणि लोके चित्राऽभिसन्धितः संसारिदेवस्थानादिगतविचित्राध्यवसायात् मृदुमध्याधिमात्ररागादिरूपात्, तथा बुद्ध्यादीनां वक्ष्यमाणलक्षणानां भेदतः फलं चित्रं नानारूपं प्रयच्छन्ति, विभिन्नानां नगराणामिव विभिन्नानां संसारिदेवस्थानानां प्राप्तिरुपायस्यानुष्ठानस्याभिसन्ध्यादिभेदेन विचित्रत्वात्। तदुक्तम्—

" संसारिणां हि देवानां, यस्माच्चित्राण्यनेकधा ।
स्थित्यैश्वर्यप्रभावाद्यैः, स्थानानि प्रतिशासनम् ॥ १ ॥
तस्मात्तत्साधनोपायो, नियमाच्चित्र एव हि ।
न भिन्ननगराणां स्या-देकं वर्त्म कदाचन" ॥ २ ॥ २२ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोह-स्त्रिविधो बोध इष्यते ।
रत्नोपलम्भतज्ज्ञान-तत्प्राप्तिनिदर्शनात् ॥ २३ ॥
आदरः करणे प्रीति-रविघ्नः संपदागमः ।
जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च, सदनुष्ठानलक्षणम् ॥२४॥

(बुद्धिरिति) बुद्धिस्तथाविधोहरहितं शब्दार्थश्रवणमात्रजं ज्ञानम् । यदाह-"इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिः," ज्ञानं तथाविधोहेन गृहीतार्थतत्त्वपरिच्छेदनम् । तदाह-"ज्ञानं त्वागमपूर्वकम्" । असंमोहो-हेयोपादेयत्यागोपादानोपहितं ज्ञानम् । यदाह-"सदनुष्ठानवच्चैत-दसंमोहोऽभिधीयते । " एवं त्रिविधो बोध इष्यते स्वस्वपूर्वाणां कर्मणां भेदसाधकः "तद्भेदात्सर्वकर्माणि, भिद्यन्ते सर्वदेहिनाम" इति वचनात् । रत्नोपलम्भतज्ज्ञान-तत्प्राप्तीनां निदर्शनात् । यथा ह्युपलम्भादिभेदाद् रत्नग्रहणभेदस्तथा प्रकृतेऽपि बुद्ध्यादिभेदात्सदनुष्ठानभेद इति ॥२३॥ (आदर इति) आदरो यत्नातिशय इष्टार्थे करणे प्रीतिरभिष्वङ्गात्मिका अविघ्नः करण एवादृष्टसामर्थ्यादपायाभावः संपदागमस्तत एव शुभभावपुण्यसिद्धेः जिज्ञासा इष्टादिगोचरा तज्ज्ञसेवा चेष्टादिज्ञसेवा, चशब्दात्तदनुग्रहः । एतत्सदनुष्ठानलक्षणं तदनुबन्धसारत्वात् ॥ २४ ॥

भवाय बुद्धिपूर्वाणि, विपाकविरसत्वतः ।
कर्माणि ज्ञानपूर्वाणि, श्रुतशक्त्या च मुक्तये ॥ २५ ॥
असंमोहसमुत्थानि, योगिनामाशु मुक्तये ।
भेदेऽपि तेषामेकोऽध्वा, जलधौ तीरमार्गवत् ॥२६॥

(भवायेति) बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि स्वकल्पनाप्राधान्याच्छास्त्रविवेकानादरात् विपाकस्य विरसत्वतो भवाय संसाराय भवन्ति । तदुक्तम्-"बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि, सर्वाण्येवेह देहिनाम् । संसारफलदान्येव, विपाकविरसत्वतः" ॥१॥ ज्ञानपूर्वाणि च तानि तथाविवेकसंपत्तिजनितया श्रुतशक्त्याऽमृतशक्तिकल्पया मुक्तये निःश्रेयसाय । यदुक्तम्-"ज्ञानपूर्वाणि तान्येव, मुक्त्यङ्गं कुलयोगिनाम् । श्रुतशक्तिसमावेशा-दनुबन्धफलत्वतः" ॥ १ ॥ २५॥ (असंमोहेति) असंमोहसमुत्थानि तु कर्माणि योगिनां भवातीतार्थयायिनामाशु शीघ्रं न पुनर्ज्ञानपूर्वकवदभ्युदयलाभव्यवधानेऽपि मुक्तये भवन्ति । यथोक्तम्-

"असंमोहसमुत्थानि, त्वेकान्तपरिशुद्धितः ।
निर्वाणफलदान्याशु, भवातीतार्थयायिनाम् ॥ १ ॥
प्राकृतेष्विह भावेषु, येषां चेतो निरुत्सुकम् ।
भवभोगविरक्तास्ते, भवातीतार्थयायिनः " ॥२॥

भेदेऽपि गुणस्थानपरिणतितारतम्येऽपि तेषां योगिनामेकोऽध्वा एक एव मार्गः, जलधौ समुद्रे तीरमार्गवद् दूरासन्नादिभेदेऽपि तत्त्वतस्तदैक्यात् । प्राप्यस्य मोक्षस्य सदाशिवपरब्रह्मसिद्धात्मतथतादिशब्दैर्वाच्यस्य शाश्वतशिवयोगातिशयितसञ्ज्ञावाच्यत्वनबृहत्त्वबृंहकत्वनिष्ठितार्थत्वाकालतथाभावाद्यर्थाभेदेनैकत्वात्तन्मार्गस्यापि तथात्वात् । तदुक्तम्-

"एक एव तु मार्गोऽपि, तेषां शमपरायणः ।
अवस्थाभेदभेदेऽपि, जलधौ तीरमार्गवत् ॥ १ ॥
संसारातीततत्त्वं तु, परं निर्वाणसंज्ञितम् ।
तद्ध्येकमेव नियमा-च्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥ २ ॥
सदाशिवः परब्रह्म, सिद्धात्मा तथतेति च ।
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वर्था-देकमेवैवमादिभिः ॥ ३ ॥
तल्लक्षणाविसंवादा-न्निराबाधमनामयम् ।
निष्क्रियं च परं तत्त्वं, यतो जन्माद्ययोगतः ॥ ४ ॥
ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्, न संमोहेन तत्त्वतः ।
प्रेक्षावतां न तद्भक्तौ, विवाद उपपद्यते" ॥ ५ ॥ २६ ॥

तस्मादचित्रभक्त्याऽऽप्याः, सर्वज्ञा न भिदामिताः ।
चित्रा गीर्भववैद्यानां, तेषां शिष्यानुगुण्यतः ॥ २७ ॥
तथैव बीजाधानादे-र्यथाभव्यमुपक्रिया ।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्या-देकस्या वापि भेदतः ॥ २८ ॥
चित्रा वा देशना तत्त-न्नयैः कालादियोगतः ।
यन्मूला तत्प्रतिक्षेपो-ऽयुक्तो भावमजानतः ॥ २९ ॥

(तस्मादिति) तस्मात्सर्वेषां योगिनामेकमार्गगामित्वाद् अचित्रभक्त्या एकरूपया भक्त्या, आप्याः प्राप्याः सर्वज्ञा न भिदामिता न भेदं प्राप्ताः । तदुक्तम्-" सर्वज्ञपूर्वकं चैत-न्नियमादेव यत् स्थितम् । आसन्नोऽयमृजुमार्ग-स्तद्भेदस्तत्कथं भवेत् " ॥१॥ कथं तर्हि देशनाभेदः ? इत्यत आह-तेषां सर्वज्ञानां भववैद्यानां संसाररोगभिषग्वराणां चित्रा नानाप्रकारा, गीः शिष्यानुगुण्यतो विनेयाभिप्रायानुरोधात्; यथा वैद्या बालादीन् प्रति नैकमौषधमुपदिशन्ति, किं तु यथायोग्यं विचित्रं, तथा कपिलादीनामपि कालान्तरापायभीरून् शिष्यानधिकृत्योपसर्जनीकृतपर्याया द्रव्यप्रधाना देशना, सुगतादीनां तु भोगाऽऽस्थावतोऽधिकृत्योपसर्जनीकृतद्रव्या पर्यायप्रधाना देशनेति, न तु तेऽन्वयव्यतिरेकवस्तुवेदिनो न भवन्ति, सर्वज्ञत्वानुपपत्तेः । तदुक्तम्-"चित्रा तु देशनैतेषां, स्याद्विनेयानुगुण्यतः । यस्मादेते महात्मानो, भवव्याधिभिषग्वराः " ॥२७॥ (तथैवेति) तथैव चित्रदेशनयैव बीजाधानादेर्भवोद्वेगादिभावलक्षणात् , यथाभव्यं भव्यसदृशमुपक्रिया उपकारो भवति । यदुक्तम्-" यस्य येन प्रकारेण, बीजाधानादिसंभवः । सानुबन्धो भवत्येते, तथा तस्य जगुस्ततः" ॥ १ ॥ एकस्या वा तीर्थकरदेशनाया अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यादनिर्वचनीयपरबोधाश्रयोपात्तकर्मविपाकाद्भेदतः श्रोतृभेदेन विचित्रतया परिणमनाद् यथाभव्यमुपक्रिया भवतीति न देशनावैचित्र्यात् सर्वज्ञवैचित्र्यसिद्धिः । यदाह-

"एकाऽपि देशनैतेषां, यद्वा श्रोतृविभेदतः ।
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्या-त्तथा चित्राऽवभासते ॥ १ ॥
यथाभव्यं च सर्वेषा-मुपकारोऽपि तत्कृतः ।
जायते वन्ध्यताऽप्येव-मस्याः सर्वत्र सुस्थिता" ॥ २ ॥

प्रकारान्तरमाह-(चित्रेति) वाऽथवा तत्तन्नयैर्द्रव्यास्तिकादिभिः कालादियोगतो दुःषमादियोगमाश्रित्य यन्मूला यद्वचनानुसारिणी चित्रा नानारूपा देशना कपिलादीनामृषीणां तस्य सर्वज्ञस्य प्रतिक्षेपः; भावं तत्तद्देशनानयाभिप्रायमजानतोऽयुक्तः, आर्यापवादस्यानाभोगजस्यापि महापापनिबन्धनत्वात् । तदुक्तम्-

"यद्वा तत्तन्नयापेक्षा, तत्तत्कालादियोगतः ।
ऋषिभ्यो देशना चित्रा, तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥ १ ॥
तदभिप्रायमज्ञात्वा, न ततोऽर्वाग्दृशां सताम् ।
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो, महानर्थकरः परः ॥ २ ॥
निशानाथप्रतिक्षेपो, यथाऽन्धानामसङ्गतः ।
तद्भेदपरिकल्पश्च, तथैवार्वाग्दृशामयम् ॥ ३ ॥

न युज्यते प्रतिक्षेपः, सामान्यस्यापि तत् सताम् ।
आर्यापवादस्तु पुन-र्जिह्वाच्छेदाधिको मतः ॥ ४ ॥
कुदृष्ट्यादि च नो सन्तो, भाषन्ते प्रायशः क्वचित् ।
निश्चितं सारवच्चैव, किं तु सत्त्वार्थकृत्सदा " ॥ ५ ॥ २९ ॥

तस्मात्सर्वज्ञवचनमनुसृत्यैव प्रवर्तनीयं, न तु तद्विप्रतिपत्त्यानुमानाद्यास्थया स्थेयं, तदननुसारिणस्तस्याव्यवस्थितत्वादित्यत्र भर्तृहरिवचनमनुवदन्नाह--

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।
अभियुक्ततरैरन्यै-रन्य एवोपपद्यते ॥ ३० ॥

(यत्नेनेति) यत्नेनासिद्धत्वादिदोषनिरासप्रयासेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैर्व्याप्तिग्रहादिदक्षैरनुमातृभिः अभियुक्ततरैरधिकव्याप्त्यादिगुणदोषव्युत्पत्तिकैरन्यैरन्यथैवासिद्धत्वादिनैवोपपद्यते ॥ ३० ॥

अभ्युच्चयमाह--

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता प्राज्ञैः कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥ ३१ ॥
तत् कुतर्कग्रहस्त्याज्यो, ददता दृष्टिमागमे ।
प्रायो धर्मा अपि त्याज्याः, परमानन्दसंपदि ॥ ३२ ॥

(ज्ञायेरन्निति) हेतुवादेनानुमानवादेन, यदि अतीन्द्रिया धर्मोदयः पदार्था ज्ञायेरन् तदा एतावता कालेन प्राज्ञैस्तार्किकैः, तेषु अतीन्द्रियेषु पदार्थेषु, निश्चयः कृतः स्यात् उत्तरोत्तरतर्कोपचयात् ॥ ३१ ॥

(तदिति) तत्तस्मात् कुतर्कग्रहः शुष्कतर्काभिनिवेशस्त्याज्यो दृष्टिमागमे ददता । परमानन्दसंपदि मोक्षसुखसंपत्तौ प्रायो धर्मा अपि क्षायोपशमिकाः क्षान्त्यादयस्त्याज्याः, ततः कुतर्कग्रहः सुतरां त्याज्य एव, क्वचिदपि ग्रहस्यासङ्गानुष्ठानप्रतिपन्थित्वेनाश्रेयस्त्वादिति भावः । क्षायिकव्यवच्छेदार्थं प्रायोग्रहणम् । तदिदमुक्तम्--

" न चैतदेवं यत्तस्मा-च्छुष्कतर्कग्रहो महान् ।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥१॥
ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन, मुमुक्षूणामसङ्गतः ।
मुक्तौ धर्मा अपि प्राय-स्त्यक्तव्याः किमनेन तत् " ॥ २ ॥ ३२ ॥

इति । द्वा० २३ द्वा० ।

कुतक्कग्गह--कुतर्कग्रह--पुं० । शुष्कतर्काभिनिवेशे, द्वा० २३ द्वा० ।

कुतकरादुग्गमण--कुतकरादुग्गमन--न० कुविचाररूपराहुभक्षके, ध० २ अधि० ।

कुतक्कविसमग्गह--कुतर्कविषमग्रह--पुं० । कुटिलावेशे, " जीयमानेऽत्र राज्ञीव, चमूचरपरिच्छदः । निवर्तते स्वतः शीघ्रं, कुतर्कविषमग्रहः " ॥१॥ द्वा० २३ द्वा० ।

कुतक्किय--कुतार्किक--पुं० । नैयायिके, द्वा० २३ द्वा० ।

कुतव--कुतप--पुं० । कुत्सितं पापं तपति, कुं भूमिं तपतीति वा तप-अच् कुत-पन्-वा० । सूर्ये, वह्नौ, अतिथौ, गवि, भागिनेये, द्विजातौ, दौहित्रे, वाद्यभेदे, नेपालकम्बले, कुशतृणे च । न० । पञ्चदशधाविभक्तदिनस्याष्टमे भागे, अर्द्धमादि० । वाच० । छागले, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

कुतार--कुतार--त्रि० । कुत्सिततारके, ग० १ अधि० ।

कुतित्थ--कुतीर्थ--न० । गङ्गादौ, "गंगाती कुतित्थं केयारादिया एते सव्वे कुतित्था " नि० चू० ११ उ० ।

कुतित्थसमय--कुतीर्थसमय--पुं० । पाखण्डिकाभामात्मीये आगमविशेषे, तदुक्तेऽनुष्ठाने च । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

कुतित्थिय--कुतीर्थिक--पुं० । दिगम्बरादौ पाखण्डिनि, ध० २ अधि० ।

कुतित्थियधम्म--कुतीर्थिकधर्म--पुं० । चरकादिधर्मे, दश० १ अ० ।

कुतुम्बक--कुटुम्बक--पुं० । न० । " टोस्तुर्वा " ॥ ८ । ४ । ३११ ॥ इति पैशाच्यां टोः स्थाने तुर्वा । परिवारे, प्रा० ४ पाद ।

कुतुव--कुतुप--पुं० । न० । कुत पृषो० । पञ्चदशधाविभक्तदिवसस्याष्टमांशे, ह्रस्वा कुतूः कुपच् । चर्ममये ह्रस्वे स्नेहपात्रे, पुं० । वाच० । तैलादिभाजनविशेषे, भ० ६ श० ३३ श्र० ।

कुतुलखान--कुतुलखान--पुं० । पारसीकोऽयं शब्दः । जिनप्रभसूरिसमये दौलतावादनगराधीश्वरे, ती० ६ कल्प० ।

कुतूहल्ल--कुतूहल--न० । कुक्कुटादिक्रीडायाम्, उत्त० ३ अ० । "प्रयसोमा अप्पाणा, पक्खेवं कुतूहला रमणा ।" उत्त० नि० १ खण्ड ।

कुतो--कुतस्--अव्य० । किम्-तसिल्-किमः कुः । कस्मादित्यर्थे, "उभयाभावे वि कुतो, वि अणओ हंदि परिसो चेव ।" पञ्चा० ५ विव० । निह्नवे च । आक्षेपविषये हेतौ, तत आक्षेपातिशयार्थे तरप् तमप् वा कुतस्तराम् कुतस्तमाम् । आक्षेपविषयहेत्वतिशये, अव्य० । ततो भवार्थे त्यप् । कुतस्त्यः । कुतोभवे, त्रि० । वाच० ।

कुत्तिय--कुत्रिक--न० । ६ त० । कुरिति पृथिव्याः संज्ञा । तस्यास्त्रिकं कुत्रिकम् । बृ० ३ उ० । स्वर्गपातालमर्त्यभूमीनां त्रिके, तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति तल्लोकेषु, विशे० । तद्वस्तुनि च । आ० म० द्वि० ।

कुत्रिज--न० । पृथिव्यां धातुमूलजीवलक्षणेभ्यः तेभ्यो जाते सर्वस्मिन् वस्तुनि, विशे० ।

कुत्तियावण--कुत्रिका (जा) पण--पुं० । कूनां स्वर्गपातालमर्त्यभूमीनां त्रिकं तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति कृत्वा तल्लोका अपि कुत्रिकमुच्यते । कुत्रिकमापणायति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिकापणः । अथवा धातुमूलजीवलक्षणेभ्यस्त्रिभ्यो जातं त्रिजं, सर्वमपि वास्त्वित्यर्थः । कौ पृथिव्यां त्रिजमापणायति व्यवहरति यत्र हट्टेऽसौ कुत्रिजापणः । विशे० । आ० म० । देवाधिष्ठितत्वेन स्वर्गमर्त्यपातालभूत्रित्रयसंभविवस्तुसंपादके आपणे हट्टे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

तत्प्ररूपणा चैवम्--

कुं ति पुढवीअ सण्णा, जं विज्जति तत्थ चेदणमचेयं ।
गहणुवजोगे अ खमं, न तं तहिं आवणे णत्थि ॥

कुरिति पृथिव्याः संज्ञा, तस्यास्त्रिकं कुत्रिकं स्वर्गमर्त्यपातालक्षणं, तस्यापणो हट्टः कुत्रिकापणः । किमुक्तं भवति--यदाह-तत्र पृथिवीत्रये यत्किमपि चेतनमचेतनं वा द्रव्यं सर्वस्यापि लोकस्य ग्रहणोपभोगक्षमं विद्यते, तत्तत्रापणे न नास्ति, "द्वौ नञौ प्रकृत्यर्थं गमयतः" इति वचनाद् अस्त्येवेति भावः । बृ० ३ उ० ।

अथोत्कृष्टमध्यमजघन्यमूल्यस्थानानि प्रतिपादयति--

पणतो पागतियाणं, साहस्सेहिं विइब्भमादीणं ।

ओक्कास सतसहस्सं, उत्तमपुरिसाण उवधी उ ॥

प्राकृतपुरुषाणां प्रव्रजतामुपधिः कुत्रिकापणसत्कः पञ्चकः पञ्चरूपकमूल्यो भवति,इभ्यादीनामिति-आर्थेष्ठिसार्थवाहादीनां मध्यमपुरुषाणां साहस्रः सहस्रमूल्य उपधिः, उत्तमपुरुषाणां चक्रवर्तिमाण्डलिकप्रभृतीनामुपधिः शतसहस्रमूल्यो भवति। एतच्च मूल्यमानं जघन्यतो मन्तव्यम्। उत्कर्षतः पुनस्त्रयाणामप्यनियतम्। अत्र पञ्चकं जघन्यं, सहस्रं मध्यमं, शतसहस्रमुत्कृष्टम्।

कथं पुनरेकस्यापि रजोहरणादिवस्तुन इत्थं विचित्रं मूल्यं भवतीत्युच्यते-

विक्किणगं जधा प-प्प होइ रयणस्स तव्विहं मुल्लं।

कायगमासज्ज तहा, कुत्तियमुल्लस्स णिक्कं ति ॥

यथा रत्नस्य मरकतपद्मरागादेर्विक्रेतारं प्राप्य प्रतीत्य तद्विधं मूल्यं भवति; यादृशो मुग्धः प्रबुद्धो वा विक्रेता तादृशमेव स्वल्पं बहु वा मूल्यं भवतीति भावः। एवं क्रायकं ग्राहकमासाद्य कुत्रिकापणे भाण्डमूल्यस्य निष्कं परिमाणं भवति,न प्रतिनियतं किमपीति भावः। इतिः शब्दस्वरूपोपदर्शने।

एवं तिविहे जाए, मोल्लं इच्छाएँ दिज्ज बहुयं पि।

सिद्धमिदं लोगम्मि वि, समणस्स य पंचगं भंडं ॥

एवं तावत्त्रिविधे प्राकृतमध्यमोत्तमभेदभिन्ने जाते मूल्यं पञ्चकादिरूप्यकपरिमाणं जघन्यतो मन्तव्यम्। इच्छया तु बह्वपि यथोक्तपरिमाणादधिकमपि प्राकृतादयोऽदद्युः,न कोऽप्यत्र प्रतिनियमः। न चैतदत्रैवोच्यते किं तु लोकेऽपि सिद्धं प्रतीतमिदम्, यथा श्रमणस्यापि पञ्चकं पञ्चरूपकमूल्यं भाण्डं भवति। इह च रूपको यस्मिन् देशे यत्प्रमाणको व्यवह्रियते तत्र प्रतिपत्तव्यः।

अथ कुत्रिकापणः कथमुत्पद्यते इत्याह-

पुव्वभविगा उ देवा, मणुयाण करेंति पाडिहेराइं।

लोगच्छेरयभूया, तह चक्कीणं महाणिहओ ॥

ये पूर्वभविका भवान्तरसङ्गतिका देवाः पुण्यवतां मनुजानां 'प्रातिहार्याणि' यथाभिलषितार्थोपढौकनलक्षणानि, कुर्वन्ति यथा लोकाश्चर्यभूता महानिधयो नैसर्पप्रभृतयः, चक्रिणां भरतादीनां प्रातिहार्याणि कुर्वन्ति। वर्तमाननिर्देशस्तत्कालमङ्गीकृत्याविरुद्धः, एवं कुत्रिकापण उत्पद्यते।

यथैतेषु स्थानेषु पुरा बभूवुरिति दर्शयति-

उज्जेणी रायगिहं, तोसलिनगरस्स यावि इसिवालो।

दिक्खाएँ सालिभद्दे. उवकरणं सयसहस्सेहिं ॥

उज्जयिनी, राजगृहं च नगरं कुत्रिकापणयुक्तमासीत्, तोसलिनगरवास्तव्येन च वणिजा ऋषिपालो नाम वाणमन्तर उज्जयिनीकुत्रिकापणात् क्रीत्वा स्वबुद्धिमाहात्म्येन सम्यगाराधितः,ततस्तेन ऋषितडागं नाम सरः कृतम्। तथा राजगृहे श्रेणिके राज्यमनुशासति शालिभद्रस्य सुप्रसिद्धचरितस्य दीक्षायां शतसहस्राभ्यामुपकरणं रजोहरणप्रतिग्रहलक्षणमानीतम्। अतो ज्ञायते यथा राजगृहं कुत्रिपण आसीदिति पुरातनगाथासमासार्थः।

सांप्रतमेनामेव विवृणोति-

पज्जोए णरसीहे, णव उज्जेणीएँ कुत्तिया आसी।

भरुह असदह भूय-ट्ठ सयसहस्सेण देमि कम्मम्मि ॥

आदिज्जंते रुट्ठो, मारेती सो य तं घेत्तुं।

भरुगच्छाऽऽगम वाबा-रदाण खिप्पं च सो कुणति।

भीएण खंभकरणं, एत्थुस्सर जा ण देमि वावारं।

णिज्जित्त तत्तलागं, आसेणं पेहसी जाव ॥

चण्डप्रद्योतनाम्नि नरसिंहे अवन्तिजनपदाधिपत्यमनुभवति नव कुत्रिकापणा उज्जयिन्यामासीरन्। "तदा किल भरुगच्छाओ एगो वाणियओ असद्दहंतो उज्जेणीए आगंतूण कुत्तियावणे भूयं मग्गइ, तेण कुत्तियावणवाणिएण चिंतियं-एस ताव मए वंचेइ तो एयं मोल्लेण वारेमि त्ति भणियं-जइ सयसहस्सं देसि तो देमि भूयं। तेण तं पडिवन्नं। ताहे तेण भणइ-पंचरत्तं उदिक्खाहि तओ दाहामि। तेण अट्ठमं काऊण देवो पुच्छिओ। सो भणइ-देहि इमं च भणिहिज्ज-जइ कम्मं न देसि तो भूओ तुमं ओघाएहिइ। एवं भवउ त्ति भणित्ता गहिओ। तेण भूओ भणइ-कम्मं मे देहि,दिन्नं खिप्पमेव कयं पुणो मग्गइ अन्नं, एवं सव्वम्मि कम्मे निट्ठिए पुणो भणइ-देहि कम्मं। तेण भन्नइ-एत्थ खंभे चडुत्तरं करेहि जाव अन्नं किं वि कम्मं न देमि। भूओ भणइ-अलाहि,पराजितो मि चिंधं ते करेमि जाव ता पलोएहि तावता तलागं भविस्सइ। तेण अस्सं विलग्गिऊण बारसजोयणाइं गंतूण पलोइयं, जाव तक्खणमेव कयं तेण भरुयच्छस्स उत्तरे पासे भूयतलागं नाम तलागं"। अमुमेवार्थमभिधित्सुराह-(भरुगच्छ इत्यादि) भरुकच्छवणिजा अश्रद्दधता भूतः पिशाचविशेषः कुत्रिकापणे मार्गितः,ततोऽष्टमं कृत्वा शतसहस्रेण भूतः प्रदत्तः,इदं च भणितं-कर्मण्यदीयमाने अयं रुष्टः कुपितो मारयतीति। स च भूतं गृहीत्वा भरुकच्छे आराधनं कृत्वा व्यापारदानं तस्य कृतवान्। स च भूतस्तं व्यापारं क्षिप्रमेव करोति। ततः सर्वकर्मपरिसमाप्तौ वणिजा भीतेन भूतस्य पार्श्वात् स्तम्भ एकः कारयांचक्रे। ततस्तं भूतमभिहितवान्-यावदपरं व्यापारं न ददामि तावदत्र स्तम्भे उत्सर, आरोहाऽवरोहक्रियां कुर्विति भावः। ततः स भूत उक्तवान्-निर्जितोऽहं भवता, अत आत्मनः पराजयचिह्नं करोमि,अश्वेन गच्छन् यावदत्र प्रेक्षसे, तत्पश्चादवलोकसे तत्र प्रदेशे तडागं करिष्यामि इति भणित्वा तथैव कृते भूततडागं कृतवान्।

एमेव तोसलीए, इसिवालो वाणमंतरो तत्थ।

णिज्जित्त इसितलागे, रायगिहे सालिभद्दस्स ॥

एवमेव तोसलिनगरवास्तव्येन वणिजा उज्जयिन्यामागम्य कुत्रिकापणादृषिपालो नाम वाणमन्तरः क्रीतः,तेनापि तथैव निर्जितेन ऋषितडागं नाम सरश्चक्रे। तथा राजगृहे शालिभद्रस्य रजोहरणप्रतिग्रहश्च कुत्रिकापणात् प्रत्येकशतसहस्रेण क्रीतः। बृ० ३ उ०। नि० चू०। स्था०।

कुत्तियावणभूय-कुत्रिकापणभूत-त्रि०। समीहितार्थसम्पादनलब्धियुक्तत्वेन कुत्रिकापणोपमे, औ०।

कुत्थुम्ब-कुस्तुम्ब-पुं०। चर्मावनद्धपुटे वाद्यविशेषे, रा०।

कुत्थुम्भरि-कुस्तुम्भरि-स्त्री०। गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद। आचा०।

कुदंड-कुदण्ड-पुं०। कारणिकानां प्रज्ञापराधान्महत्यपराधिनोऽपराधेऽल्पे राजग्राह्ये द्रव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

कुदंमिम-कुदण्डिम-त्रि० । कुदण्डेन निर्वृत्ते ऊये, ज० १ श० ११ उ० । ज्ञा० ।

कुदंसण-कुदर्शन-न० । क० स० । कुमते, "इमं पि बितियं कुदंसणं असब्भाववादिणो पण्णवेंति " प्रश्ना० २ पद । कुत्सितं दर्शनं यस्य सः । शाक्यादौ, प्रश्ना० १ पद । ध० ।

कुदाण-कुदान-न० । भूम्यादिदाने, "भूमिदाणं गोदाणं आसहत्थिसुवन्नादिया य सव्वे कुदाणा।" नि० चू० ११ उ० ।

कुदिट्ठि-कुदृष्टि-स्त्री० । क० स० । बौद्धमतादौ, उत्त० २८ अ० । कुत्सिता जिनागमविपरीतत्वाद् दृष्टिर्दर्शनं येषां ते कुदृष्टयः । मिथ्यादृष्टिषु, सर्वज्ञप्रणीतदर्शनव्यतिरिक्तशाक्यकपिलकणादाक्षपादादिप्रणीतानुवर्त्तिषु पाषण्डिषु, पुं० । ध० ३ अधि० ।

कुदिट्ठिपसंसा-कुदृष्टिप्रशंसा-स्त्री० । मिथ्यादृष्टीनां शाक्यादीनां 'पुण्यभाज एते,सुलब्धमेषां जन्म, दयालुव एते' इत्यादिकायां स्तुतौ, एषा सम्यक्त्वस्य पञ्चमोऽतिचारः । ध० २ अधि० ।

कुदिट्ठिसंथव-कुदृष्टिसंस्तव-पुं० । मिथ्यादृष्टिभिरेकत्र संवासात् परस्परालापादिजनितपरिचये, एष सम्यक्त्वस्यातिचारभेदः, एकत्र वासे हि तत्प्रक्रियाश्रवणात् तत्क्रियादर्शनाच्च दृढसम्यक्त्वस्यापि दृष्टिभेदः संभाव्यते, किमुत मन्दबुद्धेर्नवधर्मस्येति, तत्संस्तवोऽपि दूषणम् । ध० २ अधि० ।

कुदेसणा-कुदेशना-स्त्री० । सर्वज्ञाऽननुसारिप्ररूपणायाम्, "किंपत्तो पावयरं, संमं अणहिगतधम्मसब्भावो । अन्नं कुदेसणाए, कट्ठयरागमिम पाडेति " ॥ दश० टी० ४ अ० ।

कुदो-कुतस्-अव्य० । "अतो डो विसर्गस्य" ८ । १ । ३७ । इति संस्कृतलक्षणस्य अतः परस्य विसर्गस्य स्थाने डो इत्यादेशः । कस्मादर्थे, प्रा० १ पाद ।

कुद्दव-कुद्रव-पुं० । कुं भूमिं द्रवति द्रावयति । अन्तर्भूतण्यर्थे अच् । कोद्रवे धान्यभूते, वाच० । जं० । विशे० ।

कुद्दाल-कुद्दाल-पुं० । कुं भूमिं दलति । दल अण्-लप-स० पृषो० । कोविदारवृक्षे, भूमिदारणास्त्रे, वाच० । आचा० ।

कोद्दाल-पुं० । अवसर्पिण्याः प्रथमारके जाते वृक्षजातिभेदे, जं० २ वक्ष० ।

कुद्ध-क्रुद्ध-त्रि० । कुपिते, प्रश्न० २ संव० द्वार । ज्ञा० ।

कुद्धगामिणी-क्रुद्धगामिनी-स्त्री० । क्रुद्धायां सत्यां गमनशीलायाम्, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

कुधम्म-कुधर्म-पुं० । मल्लगणादिधर्मे, " मल्लगणधम्मो सारस्सयगणधम्मो कुयसमाइया सव्वे कुधम्मा।" नि० चू० ११ उ० । शाक्यादिप्रवचनेषु च , हा० २७ अष्ट० ।

कुधम्माइ-कुधर्मादि-त्रि० । ६ ब० । श्रुतचारित्रप्रत्यनीकत्वादिभावेषु शाक्यप्रवचनादिषु,\.\.\.\.\.\.\.\.\., अन्यथा देशनाऽप्यलम् । कुधर्मादिनिमित्तत्वा-द्दोषायैव प्रसज्यते ॥ ८ ॥ हा० २७ अष्ट० ।

कुधि-कुधि-त्रि० । कुत्सितबुद्धौ, प्रति० ।

कुपक्ख-कुपक्ष-पुं० । कुत्सितान्वये, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

कुप्प-कुप्-धा० । रोषे, दिवा-सक० प०-सेट् । " शकादीनां द्वित्वम्" । ८ । ४ । २३० । इत्यन्तस्य द्वित्वम् । कुप्पइ, कुप्यति । प्रा० ४ पाद ।

कुप्य-न० । कुप क्यप् नि० । रूप्यस्वर्णव्यतिरिक्ते कांस्यलोहताम्रसीसकत्रपुमृद्भाजनत्वचिसारविकारोदङ्किकाष्ठमञ्चकमञ्चिकामसूरकरथशकटहलादिगृहोपस्करे, ध० २० । "णाणाविहोवगरणं,णेगविहं कुप्पलक्खणं होइ" । नानाविधोपकरणं ताम्रकलशकर्मिल्लादि आततिः,अनेकविधं व्याकृतः,कुप्यलक्षणं भवति । दश० ६ अ० । ध० । "लोहाइ उवक्खरो कुप्पं" लोहादिरुपस्करः कुप्यमुच्यते । तत्र लोहोपस्करो लोहमयकमल्लीकुद्दालिकाकुन्तादिकः, आदिशब्दान्मार्तिकोपस्करो घटादिकः कांस्योपस्करः स्थालकचोलकादिकः सर्वोऽपि परिगृह्यते । बृ० १ उ० ।

कूर्प-पुं० । कुरं पाति श० क० दीर्घः । भ्रुवोर्मध्ये, वाच० ।

कुप्पपमाणाइकम-कुप्यप्रमाणातिक्रम-पुं० । कुप्यं शयनाशनकुन्तखड्गभाजनकचोलकादिगृहोपस्कररूपं तत्प्रमाणस्य भावेन पर्यायान्तररूपेणातिक्रमः स्थूलकप्राणातिपातविरमणस्य पञ्चमोऽतिचारे, यथा किल केनापि कचोलकदशकलक्षणं अप्यमानं कृतं कथञ्चित तदधिकसम्भवे सति व्रतभङ्गभयाद् भञ्जयित्वा बहुभिरपि पर्यायान्तरेण दशैव कारयतः स्वसंख्यापूरणात् स्वाभाविकसंख्याबाधनाच्चातिचार इति । ध० २० ।

कुप्पमाण-कुप्रमाण-त्रि० । अतिदीर्घे, अतिह्रस्वे वा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । क० प्र० । प्रमाणहीने, भ० ७ श० ६ उ० ।

कुप्पर-कु (कू) र्पर-पुं० । कुर-क्विप्,कुः पिपर्त्ति अच् परः कर्म० । जानुनि, कफोणौ च । दीर्घमध्यपाठान्तरे नि० दीर्घः । वाच० । "से रहवरस्स कुप्परासन्ना " कूर्परौ कूर्पराकारत्वात् पिञ्जनके इति प्रसिद्धौ रथावयवौ । जं० ३ वक्ष० ।

कुप्पवयण-कुप्रवचन-त्रि० । कुत्सितं प्रवचनं येषां ते कुप्रवचनाः । चरकचीरिकादौ, अनु० ।

कुप्पसंखा-कुप्यसंख्या-स्त्री० । कुप्यपरिमाणे, तदतिक्रमे च । स्थूलकपरिग्रहविरतेः पञ्चमोऽतिचारः । " कुप्प संखं च अप्पधणं बहुमोल्लं करेइ पंचमए दोसा " । कुप्यस्य रूप्यसुवर्णव्यतिरिक्तस्य कांस्यलोहताम्रत्रपुसीसकवंशविकारकटमञ्चिकामञ्चकमन्धानतूलिकारथशकटहलमृद्भाण्डप्रभृतिकस्य गृहोपकरणकलापस्य संख्यां परिगणमतामल्पधनां बहुधनां करोति । कोऽर्थः?, स्थालादीनां कथञ्चिदधिकत्वे प्रतिपन्ननियमस्य जाते सत्यल्पमूल्यस्थालाद्यपरेणोत्कालितेन स्थालादिना मीलयित्वा बहुमूल्यं करोति, यथा नियमो न भज्यते इति पर्यायान्तरकरणेन संख्यापूरणात्स्वाभाविकसंख्याबाधनाच्च पञ्चमोऽतिचारः । प्रव० ६ द्वार ।

कुप्पावयणिय-कुप्रावचनिक-न० । कुत्सितं प्रवचनं येषां ते कुप्रवचनाः,तेषामिदं कुप्रावचनिकम् । चरकचीरिकादिसम्बन्धिनि आवश्यकादौ, अनु० । ('आवस्सय' शब्दे द्वि० भा० ४४४ पृष्ठे कुप्रावचनिकभेदेषु स्पष्टम्) जमालिप्रभृतिषु निह्नवेषु, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

कुप्पावयणियधम्म-कुप्रावचनिकधर्म्म-पुं० । चरकपरिव्राजकादिकुतीर्थिकधर्मे, दश० १ अ० ।

कुप्पिय-कुपित-न० । भावे क्तः । क्रुद्धे, "कुप्पितं नाम कुज्झितं" । आ० चू० ४ अ० ।

कुप्पिस-कू(कु)र्पास-पुं० । न० । कुर्परे अस्यते आस्ते वा घञ्, पृ० । "इः सदादौ वा" ८।१।७२। इति प्रकृतेः अत इत्वम् । प्रा० १ पाद । स्त्रीणां कञ्चुलिकायाम्, स्वार्थे के तत्रैवार्थे, वाच० ।

कुप्पोवगरण-कुप्योपकरण-न० । "णाणाविहोवगरण-लक्खणकुप्पं समासतो होति" । "कुप्पोवकरणं णाणाविहं अणेगलक्खणं तत्र कंसभंडं लोहभंडं ताम्रमयं मृण्मयादि च । इति दर्शिते 'कुप्प' शब्दाभिधेये गृहोपकरणे, नि० चू० २ उ० ।

कुबर-कुबर-पुं० । मल्लीजिनस्य यक्षे, प्रव० २७ द्वार ।

कुबे (वे) र- कुबे (वे) र-पुं० । कुम्बति धनम् कुबि० एरक् नि० नलोपश्च । कुत्सितं बेरमस्य इति वा । धनदे, यक्षराजे, वाच० । को० । एकोनविंशजिनस्य शासनयक्षे, श्रीमल्लिजिनस्य कुबेरो यक्षश्चतुर्मुख इन्द्रायुधवर्णो गजवाहनोऽष्टभुजो वरदपरशुशूलाभययुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टयो बीजपूरकमुद्गराक्षसूत्रयुतवामपाणिचतुष्टयश्च । अन्ये कुबरस्थाने कुबेरमाहुः । प्रव० २६ द्वार । तस्येदमित्यण् कौबेरः । तत्सम्बन्धिनि, त्रि० । स्त्रियां ङीप् । कुबेरवनमित्यादौ न णत्वम् । वा कप् । कुबेरकोऽप्यत्रार्थे, कुगतिस० निन्दितदेहे, न० । वाच० । आर्य्यशान्तिश्रेणिकस्य तृतीयशिष्ये, कल्प० ८ क्षण ।

कुबेरदत्त-कुबे(वे)रदत्त-पुं० । कुबेरसेनायाः वेश्याया अपत्ये कुबेरदत्ताया भ्रातरि, आ० क० ।

कुबेरदत्ता-कुबे (वे) रदत्ता-स्त्री० । कुबेरसेनायाः वेश्यायाः पुत्र्याम्, आ० क० । ती० ।

कुबेरसेणा-कुबे (वे) रसेना-स्त्री० । कुबेरदत्तकुबेरदत्तानाम्नोः पुत्रयोर्जनन्यां वेश्यायाम्, आ० क० । ती० । ('सदारसंतोस' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कुबेरा-कुबेरा-स्त्री० । वैश्रवणप्रभस्य नगोत्तमस्य अपरतो जम्बूद्वीपसमायां राजधान्याम्, द्वी० । मथुरास्थायां नरवाहनायां तीर्थ (जैनशास्त्र) देव्यां च । ती० ६ कल्प० ।

कुबेरी-कुबेरी-स्त्री० । आर्यकुबेरान्निर्गतायां शाखायाम्, "थेरेहितो णं अज्जकुबेरेहिंतो एत्थ णं कुबेरी साहा णिग्गया ।" कल्प० ८ क्षण ।

कुभोयण-कुभोजन-त्रि० । कुभोजिनि, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कुमइणी-कुमतिनी-स्त्री० । सिंहपुरनगराधीश्वरस्य कीर्त्तिधर्मस्य राज्ञो भार्यायाम्, दर्श० ।

कुमग्ग-कुमार्ग-पुं० । शिवपुरप्रापकपथविपरीते पथि, दर्श० ।

> इड्डिरसमायगुरुया, छज्जीवनिकायघायनिरयाए ।
> जे उवदिसंति मग्गं, कुमग्गमग्गस्सिता ते उ ॥ १५ ॥ सू० नि० ।

(इड्डिरसेत्यादि) ये केचन अपुष्टधर्माणः शीतलविहारिणो ऋद्धिरससातगौरवेण गुरुका गुरुकर्माणः, आधाकर्माद्युपभोगेन षड्जीवनिकायव्यापादनरताश्चापरे तेभ्यो मार्गं मोक्षमार्गमात्मानुचीर्णमुपदिशन्ति । तथाहि-शरीरमिदमाद्यं धर्मसाधनमिति मत्वा कालसंहननादिहानेश्चाधाकर्माद्युपभोगोऽपि न दोषायेत्येवं प्रतिपादयन्ति । तच्चैवं प्रतिपादयन्तः कुत्सितमार्गास्तीर्थकरास्तन्मार्गाश्रिता भवन्ति । तुशब्दादेतेऽपि स्वयूथ्या एतदुपदिशन्तः कुमार्गाश्रिता भवन्ति इति, किं पुनस्तीर्थिका इति । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

कुमग्गट्ठिइ-कुमार्गस्थिति-स्त्री० । शिवपुरप्रापकपथविपरीतस्य स्थितिरवस्थानम् । कुमार्गावस्थाने, दर्श० ।

कुमग्गट्ठिइसंकलाभंग-कुमार्गस्थितिसङ्कलाभङ्ग-पुं० । कुमार्गस्य शिवपुरप्रापकपथविपरीतस्य स्थितिरवस्थानं कुमार्गस्थितिः, सैव संकला लोहमयनिगडबन्धनमिव कुमार्गस्थितिसंकला । तस्याः भङ्गः मिथ्यात्वमोहनीयकर्मापगमतया सत्त्वाधिकतया च परममुनिप्रणीतमार्गस्थितौ, दर्श० । "दुल्लह गुरुकम्माणं, जीवाणं सुधम्मबुद्धी वि । तीए सुगुरू तम्मि वि, कुमग्गट्ठिइसंकलाभंगो" ॥ (इत्यादि 'मग्ग' शब्दे व्याख्यास्यते)

कुमग्गमग्गस्सिय-कुमार्गमार्गाश्रित-त्रि० । कुत्सितमार्गाणां तीर्थकराणां मार्गानाश्रितेषु, "इड्डिरससायगुरुया, छज्जीवनिकायघायनिरयाए । जे उवदिसंति मग्गं, कुमग्गमग्गस्सिता ते उ ॥ १५ ॥" (इत्यनुपदमेव 'कुमग्ग' शब्दे व्याख्यातम्) सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

कुमर-कुमार-पुं० । कुमारयति क्रीडयति । "वाऽव्ययोत्खातादावदातः" । ८ । १ । ६७ । इत्युत्खातादित्वादातोऽत् । प्रा० १ पाद । बाले, राजार्हे च । "मारियो कुमरेण कावालिओ" दर्श० ।

कुमरण-कुमरण-पुं० । दुःखमृत्यौ, उपा० ७ अ० ।

कुमार-कुमार-पुं० । प्रथमवयस्थे, स्था० १० ठा० । मिम्मदारककुमाराणामल्पबहुबहुतरकालकृतो भेदः । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । कौमारं पञ्चमाब्दान्तं, पौगण्डं दशमावधि" । वाच० । राज्यार्हे, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । स्था० ।

अधुना कुमारमाह-

> पच्चंते खुब्भंते, दुद्दंते सव्वतो दुवेमाणो ।
> संगामनीतिकुसलो, कुमार एयारिसो होइ ॥

प्रत्यन्तान् सीमासन्धिवर्तिनः क्षुभ्यति अन्तर्भूतण्यर्थत्वात् समस्ता अपि सीमापर्यन्तवर्तिनीः प्रजाः क्षोभयति दुर्दान्तान् दुःशिक्षितान् संग्रामनीतिकुशलः सर्वतः सर्वासु दिक्षु यो दमयन् वर्तते स एतादृशः कुमारो भवति । व्य० १ उ० । "अनिक्खणं पुणो अकुमारे संते कुमारे हंति भासइ" आव० ४ अ० । दशभवनपतिदेवा असुरकुमारनागकुमारादयः । अथ कस्मादेते कुमारा इति व्यपदिश्यन्ते? उच्यते-कुमारवच्चेष्टनात् । तथा हि-कुमारा एते सुकुमारमृदुमधुरललिततयः शृङ्गाराभिप्रायकृतविशिष्टविशिष्टतरोत्तररूपक्रियाः कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाभरणप्रहरणावरणयानवाहनाः कुमारवच्चोल्वणरागाः क्रीडनपराश्च ततः कुमारा इव कुमारा इति । प्रज्ञा० १ पद । कार्त्तिकेये, शुके पक्षिणि, अश्ववारके, वरुणवृक्षे, सिन्धुनदे, शुद्धसुवर्णे, न० । संज्ञायां कन् । वरुणवृक्षे, तिक्तशाके, स्वार्थे कः । बालके, तस्येदं तस्य भावो वा अण् । कौमारशिशुत्वे बाल्यावस्थायाम्, वाच० । पूर्वदेशभाषायामाश्विने मासि, यथा च कुमारशब्दः पूर्वदेशे आश्विनमासे रूढः । स्था० २ ठा० १ उ० । लोहकारे, "चवेडमुट्ठिमाईहिं, कुमारेहिं अयं पि व ।" उत्त० २३ अ० । नासाद्यङ्गकर्तनादिकेन कुत्सितमारे, "इमं जावज्जीवं वहबंधणं करेह, इमं अन्तयरेणं असुभेणं कुमारेणं मारेह" । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कुमारग-कुमारक-पुं० । बाले, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । क्षुल्लके, उत्त० १ अ० ।

कुमारग्गह–कुमारग्रह–पुं० । कुमार (स्कन्द) कृते उन्मत्तताहेतौ उपद्रवे, जं० २ वक्ष० ।

कुमारग्गाम–कुमारग्राम–पुं० । स्वनामख्याते ग्रामभेदे, " कुमारग्गामसंपत्थिया तत्थउज्ज अंतरा एगो तिलत्थंभओ तं दट्ठूण गोसालो भणइति । " आ० चू० १ अ० । आ० म० । "वोसट्ठकाए विपत्तदेहे दिवसे मुहुत्तसेसे कुमारग्गामं समणुपत्ते ।" आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

कुमारणंदि (ण्) कुमारनन्दिन्–पुं० । चम्पानगरीवास्तव्ये स्वनामख्याते सुवर्णकारे, स च स्त्रीलोलुपो ऽप्सरोयुगार्थं वह्नौ प्रविश्य पञ्चशैलाधिपतिर्देवो जातः, नागिलप्रतिबोधितो वीरप्रतिमामर्चयित्वा वीतभये उदायननृपान्तिके प्रैषयदिति । आ० क० । दर्श० । आ० म० । ती० । आ० चू० । ('दसउर' शब्दे तदुत्पत्तिकथा वक्ष्यते)

कुमारधम्म–कुमारधर्म–पुं० । स्थिरगुप्तात्पश्चिमे देवर्द्धिक्षमाश्रमणात्प्राचीने स्थविरभेदे, "तत्तो अ नाणदंसण-चरित्ततवसुट्ठिअं गुणमहंतं । थेरं कुमारधम्मं, वंदामि गणिं गुणोवेयं ॥११॥" कल्प० ८ क्षण ।

कुमारपाल–कुमारपाल–पुं० । चौलुक्यवंशीये गुर्जरधरित्रीपतौ आर्हतवरिष्ठे नृपभेदे, "कुमारपालभूपाल-श्चौलुक्यकुलचन्द्रमाः । श्रीवीरचैत्यमस्योच्चैः, शिखरे निरमीममत" ॥(अर्बुदाद्रेः), ती० ७ कल्प । स च श्रीहेमचन्द्रसूरिभिः प्रतिबोध्य परमार्हतीकृत इति तच्चरित्रादिभ्यो ज्ञेयम् । स्या० ।

कुमारपुत्तिय–कुमारपुत्र–पुं० । वीरतीर्थीये श्रमणभेदे, यस्य प्रत्याख्यानदानप्रकारं उदकेन गौतमस्वामिनं प्रति पृष्टः । सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

कुमारभिच्च–कुमारभृत्य–न० । कुमाराणां बालानां भृतौ पोषणे साधु कुमारभृत्यम् । कुमारभरणक्षीरदोषसंशोधनार्थं दुष्टस्तन्यनिमित्तानां व्याधीनामुपशमनार्थे आयुर्वेदभेदे, स्था० ८ ठा० ।

कुमारभूय–कुमारभूत–त्रि० । कुमारब्रह्मचारिणि, " अकुमारभूए जे केइ, कुमारभूए तिहं वए । इत्थीहिं गिद्धे वसए, महामोहं पकुव्वए ॥" स०३०सम० । क्षुल्लकभूते राजकुमाररूपे च । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

कुमारवास–कुमारवास–पुं० । कुमाराणामराजभावेन वासे , "कुमारवासमज्झे वसित्ता मुंडे जाव पव्वइया" । स्था०५ ठा०३ उ० ।

कुमारसमण–कुमारश्रमण–पुं० । कौमार्ये प्रव्रजिते, "तए णं से अइमुत्ते कुमारसमणे अण्णया कयाइं " कुमारश्रमणः षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वात् । आह च–"छव्वरिसो पव्वइओ, णिग्गंथो रोचिऊण पावयणं ति " । एतदेव चाश्चर्यमिहान्यथा वर्षाष्टकादाराद् न प्रव्रज्या स्यादिति । भ० ५ श० ४ उ० ।

कुमारा–कुमारा–स्त्री० । स्वनामख्याते संनिवेशे, " ततो भगवं कुमाराए सन्निवेसे गतो, तत्थ चंपए रमणिज्जे उज्जाणे पडिसंठितो ।" आ० म० द्वि० ।

कुमारिय–कुमारिक–पुं० । कुत्सितो मारणीयसत्त्वस्यातीववेदनोत्पादकत्वाद् निन्द्यो यो मारो मारणं स विद्यते येषां ते कुमारिकाः । सौकरिकेषु, सू०१ उ० । ओघ० ।

कुमारिल–कुमारिल–पुं० । पूर्वमीमांसाभाष्यवार्तिककारके मीमांसकभेदे, द्वे व्याख्ये मीमांसाशास्त्रस्य-भट्टमतेन, प्रभाकरमतेन च । तत्र भट्टः कुमारिलाख्यः । वाच० । आह कुमारिलः–"अगोत्वव्यावृत्तिः सामान्यं, वाच्यं यैः परिकल्पितम् । गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्त–मगोऽपोहगिरा स्फुटम्" ॥ सम्म० २ काण्ड ।

कुमारी–कुमारी–स्त्री० । कुमारप्रथमवयोवचनत्वात् स्त्रियां ङीप् । वाच० । सूत्र० । "अजातेः पुंसः" ८ । ३ । ३२ । इत्यस्य अप्राप्तविभाषात्वात् न प्राकृते ङीविकल्पः, किन्तु नित्यम् । प्रा० ३पाद । अनूढकन्यायाम्, पार्वत्यां, नवमल्लिकायाम्, घृतकुमार्याम्, वाच० । या मांसलप्रणालाकारपत्रा (घिकुआँरी) इति प्रतीता । प्रव०४ द्वार । ज्ञ० । अपराजितायां, सहायां, सीतायाम्, वन्ध्यकर्कोट्याम्, स्थूलैलायाम्, मेदिनीपुष्पे, तरुणीपुष्पे, श्यामापक्षिणि, वाच० ।

कुमाल–कुमार–पुं० । मागध्यां रस्य लः, अपभ्रंशे–" शेषं शौरसेनीवत् " । ७ । ४ । ३०१ । मागध्यां यदुक्तं ततोऽन्यच्छौरसेनीवद् द्रष्टव्यम् । बाले, राजार्हे च । "अय्य एशे क्खु कुमाले मलयकेदू " प्रा० ४ पाद ।

कुमुअ (य)–कुमुद–न० । कौ मोदते मुद-कः । कैरवे, वाच० । आ० म० । ज्ञा० । तच्च चन्द्रविकासि । जं० १वक्ष० । रा० । चन्द्रबोध्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । रा० । औ० । जलरुहभेदे, आचा० । कर्पूरे, पुं० । वाच० । जं० । चतुरशीतिलक्षगुणिते कुमुदाङ्गे, ज्यो० २ पाहु० । समादिविमानेष्वन्तर्गते विमानभेदे, स० १७ सम० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पूर्वे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे स्वनामख्याते विजयक्षेत्रयुगले, स्था० ८ ठा० । ते च द्वे, "दो कुमुदा" स्था० ८ ठा० । अत्र नव कूटाः- "सिद्धे कुमुए खंडग-माणी वेयड्ढ पुन तिमिसगुहा । कुमुए वेसमणे त्ति य, कुमुयकूडाण नामाइं" । स्था०७ ठा० । जम्बूद्वीपे मन्दरे पर्वते भद्रशालवने पश्चिमे दिग्हस्तिकूटे, स्था० ८ ठा० ।

कुमुअंग–कुमुदाङ्ग–न० । चतुरशीतिमहाकमलशतसहस्रेषु, ज्यो० २ पाहु० ।

कुमुअगुम्म–कुमुदगुल्म–न० । विमानभेदे, स० १७ सम० ।

कुमुअणंदि–कुमुदनन्दि–पुं० । सिद्धसेनदिवाकरेति प्रसिद्धाऽपरनामके सूरौ, जै० इ० ।

कुमुअप्पभा–कुमुदप्रभा–स्त्री० । जम्बूद्वीपे उत्तरपौरस्त्ये प्रथमवनखण्डे पञ्चाशद्योजनान्यवगाह्य उत्तरस्यां दिशि नन्दापुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्ष० । जी० ।

कुमुअवण–कुमुदवन–न० । मथुरास्थे वनभेदे, ती० २१ कल्प ।

कुमुअ [य] वणविबोहग–कुमुदवनविबोधक–पुं० । ६ त० । चन्द्रविकाशिकमलवनानां विकाशके चन्द्रे, कल्प० ३ क्षण ।

कुमुआ [या]–कुमुदा–स्त्री० । कुत्सितं मोदते मुद क-टाप् । कुम्भिकायाम्, गम्भीरीवृक्षे, शालपर्णीवृक्षे, संज्ञायां कन् । कट्फले, गौरा० । ङीष् । कुमुदी । कट्फले । स्त्री० । वाच० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमायां पुष्करिण्याम्, जं० ४ वक्ष० । जी० । वरुणप्रभशैलस्यापरेण राजधान्याम्, द्वी० । दाक्षिणात्याञ्जनपर्वतस्य पश्चिमायां पुष्करिण्याम्, द्वी० । स्था० । " दो कुमुदा ।" स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कुमुआ(या)गर–कुमुदाकर–पुं० । ६ त०। कुमदखण्डे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । कुमुदस्थाने ह्रदादौ, वाच० ।

कुमुदग–कुमुदक–न० । तृणभेदे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कुम्म–कूर्म–पुं० । स्त्री० । कुत्सितः कौ वा ऊर्मिर्वेगो यस्य पृषो०। कच्छपे, वाच० । सूत्र० । स्था० । ज्ञा० । दश० । भ० । श्रीनमिजिनस्य कूर्मश्चिह्नम् । प्रव० २६ द्वार । पञ्चेन्द्रियगुप्तगुप्तिप्रदर्शनाय कूर्मोदाहरणम् । ज्ञा० १ श्रु० ४ अ० । तत्प्रतिपादके ज्ञाताधर्मकथायाः प्रथमश्रुतस्कन्धस्य चतुर्थेऽध्ययने, स० १८ सम० । प्रश्न० । आव० । आ० चू० । देहस्थे वायुभेदे, वाच० ।

कुम्मगाम–कूर्मग्राम–पुं०। स्वनामख्याते ग्रामभेदे, यत्र वैश्यायनतापसस्याऽऽतापनां कुर्वतो यूकाशय्यातरस्त्वमिति गोशालेन हसितस्य क्रुद्धस्य तेजोलेश्या गोशालं दहन्ती श्रीवीरजिनेन्द्रेण शीतलेश्यया निवारिता । कल्प० ६ क्षण । आ० क० । "तए णं अहं गोयमा ! अण्णया कयाइ गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं कुम्मग्गामाओ नयराओ सिद्धत्थगामं नयरं संपट्ठिए ।" भ० १५ श० १ उ० ।

कुम्मणाडी–कूर्मनाडी–स्त्री० । कण्ठकूपस्याधस्ताद् वर्त्तमानायां नाड्याम्, "कूर्मनाड्यामचापलम्" । कूर्मनाड्यां कण्ठकूपस्याधस्ताद् वर्त्तमानायाम् संयमाद्चापलं भवति, मनःस्थैर्यसिद्धेः । तदुक्तं "कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्" । द्वा० २६ द्वा० ।

कुम्मपडिपुरणचलण-कूर्मप्रतिपूर्णचरण–त्रि० । कूर्मवत् कूर्माकाराः प्रतिपूर्णाश्चरणा यस्य तत्तथा । कच्छपाकृतिपूर्णपादे,उपा० । "कुम्मपडिपुण्णचलणा वीसइ नक्खं" उपा० २ अ० ।

कुम्मावलिया–कूर्मावलिका–स्त्री०। कच्छपपङ्क्तौ, भ० ८ श० ३ उ० ।

कुम्मास–कुल्माष–पुं० । कोलति कुल क्विप् । कुल्माषेऽस्मिन् ७ ब० । "अर्द्धस्विन्नाश्च गोधूमाः, अन्ये च चणकादयः। कुल्माषा इति कथ्यन्ते" इत्युक्तेषु अर्द्धस्विन्नगोधूमादिषु, कुत्सिता माषाः पृषो० । कुत्सितमाषे, वाच० । तन्मदे, राजमाषे, बृ० १ उ० । उत्त० । पक्वे माषे, पिं० । कुल्माषाः सिद्धमाषाः यवमाषा इति केचित् । दश० ५ अ० १ उ० । "एगाए सणाहाए कुम्मासपिंडियाए ।" कुल्माषा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादयः, माषा इत्यन्ये । भ० १५ श० १ उ० । आ० क० । आ० म० । (कुल्माषविषयकोऽभिग्रहो वीरजिनेन्द्रस्य 'वीर' शब्दे वक्ष्यते) सूर्यस्य पारिपार्श्वकभेदे, शूकधान्ये, यवादौ च । काञ्जिके, मसीपरिणामे च । न० । माषादिमिश्रार्द्धसृष्टभक्ते, रोगभेदे, वनकुलत्थे, वाच० ।

कुम्मीपुत्त–कूर्मीपुत्र–पुं० । कूर्म्याः कच्छप्याः स्वनामख्यातायाः कस्याश्चिद् योषितो वा पुत्रे, स च द्विहस्तप्रमाणोऽङ्गुल्यष्टकाधिकरत्निप्रमाणजघन्यावगाहनया सिद्धः । औ० । "ते पुण होज्ज विहत्था, कुम्मीपुत्तादओ जहन्नेणं" । आ० म० द्वि० ।

कुम्मुण्णया-कूर्मोन्नता–स्त्री० । कूर्मः कच्छपस्तद्वदुन्नता कूर्मोन्नता । योनिभेदे, "कुम्मुन्नया णं जोणी उत्तमपुरिसमाऊणं । कुम्मुन्नया णं जोणीए तिविहा उत्तमपुरिसा गब्भं वक्कमंति । तं जहा-अरहंता, चक्कवट्टी, बलदेववासुदेवा ।" स्था० ३ ठा० १ उ० ।

कुम्हा (ण्)–कुश्मन्–पुं० । "पक्ष्मश्मष्मस्महां म्हः" । ८ । २ । ७४ । इति श्मभागस्य म्हः । देशविशेषनिवासिनि, "कुश्मानः कुम्हाणो," प्रा० २ पाद । कुश धृतौ श्लेषे वा मनिन् । द्योतके, श्लेषके च । वाच० ।

कुय–कुच-पुं० । कर्त्तरि कः । स्तने, संकुचिते । त्रि० वाच० । 'कुच' स्पन्दने । कुचतीति कुचः । इगुपान्तलक्षणः कः (इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । ३ । १ । १३५) शिथिले, व्य० ७ उ० ।

कुयबंधण-कुचबंधन–न० । कुचं शिथिलं बन्धनं यस्य । वक्षे सति स्पन्दमाने, "कुयबंधणम्मि लहुगा, विराहणा होइ संजमायाए" । व्य० ७ उ० ।

कुयर–कुचर–त्रि० । कुत्सितं शिष्टजनजुगुप्सितं चरन्तीति कुचराः । उद्भ्रामिकेषु, "किं नागओ सि समणे-हिँ दक्खियं दार कूयरा जं तु ।" बृ० १ उ० । पारदारिकेषु, नि० चू० १७ उ० ।

कुरंग–कुरङ्ग–पुं० । कौ रङ्गति अच् । "कुरङ्ग ईषत्ताम्रः स्या-द्धरिणाकृतिको महान्" इत्युक्तलक्षणे, वाच० । गोकर्णे मृगभेदे, जं० २ वक्ष० । प्रज्ञा० । को० । मृगे, मृगमात्रे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । पिं० । "हेतुरिन्दोः कलङ्के यो, विरहे रामसीतयोः। नेमे राजीमतीत्यागे, कुरङ्गः सत्यमेव सः" ॥१॥ कल्प० ७ क्षण ।

कुरंका–कुरण्का–स्त्री० । कुत्सितरण्कायाम्, रण्काकुरण्कामुण्किकादिबहुप्रसङ्गे तदतद्भावात् । सं० ।

कुरय–कुरक–पुं० । कुहणभेदे, प्रज्ञा० ८ अ० ।

कुरर–कुरर–पुं० । स्त्री० । कुङ् शब्दे, करन् । उत्क्रोशविहगे, स्त्रियां जातित्वाद् ङीप् । वाच० । कुररा उत्क्रोशाः । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । "............जिणुसमाणं । कुररी विवाऽऽभोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परितावमेइ" ॥५०॥ कुररीव पक्षिणीव । उत्त० २० अ० ।

कुरल–कुरल–पुं० । स्त्री० । कुरर–रस्य लः । स्वनामख्याते पक्षिभेदे, स्त्रियां जातित्वात् ङीष् । चूर्णकुन्तले, पुं० । वाच० । कुरलो लोमपक्षिविशेषः । जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

कुरा–स्त्री०–कुरु–पुं० । ब० व० । अकर्मभूमिभेदे, स्था० ।

जंबू ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणेणं दो कुराओ पण्णत्ताओ । तं जहा-बहुसमतुल्ला अविसेसा०जाव देवकुरा चेव उत्तरकुरा चेव । तत्थ णं दो महइ महालया महादुमा पण्णत्ता । तं जहा–बहुसमतुल्ला अविसेसमणाणत्ता अन्नमन्नं णाइवट्टंति आयामविक्खंभुच्चत्तोवेहसंठाणपरिणाहेणं । तं जहा-कूडसामली चेव जंबू चेव सुदंसणा । तत्थ णं दो देवा महड्ढिया० जाव महासोक्खा पलिओवमट्ठिइया परिवसंति । तं जहा–गरुले चेव, वेणुदेवे अणाढिए चेव, जंबूदीवाहिवई ।

दक्षिणेन देवकुरवः, उत्तरेण उत्तरकुरवः, तत्राद्याः विद्युत्प्रभसौमनसाभिधानवक्षस्कारपर्वताभ्यां गजदन्ताकाराभ्यामावृताः, इतरे तु गन्धमादनमाल्यवद्भ्यामावृताः, उभये चामी अर्द्धचन्द्राकारा दक्षिणोत्तरतो विस्तृताः । तत्प्रमाणं चैवम्–"अट्ठसया बायाला, एक्कारसहस्स दो कलाओ य । विक्खंभो य कुरूणं, तेवन्नसहस्स जीवासिं ॥१॥" पूर्वापराऽऽयामाश्चेता इति । (महइ महालय त्ति) महान्तौ गुरू, अतीति अत्यन्तं, महसां तेजसां महतां वोत्सवानामालयावाश्रयौ, महति महालयौ महातिमहालयौ वा, समयभाषया वा महान्तावित्यर्थः । महाद्रुमौ प्रशस्ततया

आयामो दैर्घ्यं,विष्कम्भो विस्तारः,उच्चत्वमुच्छ्रयः,उद्वेधो भुवि प्रवेशः, संस्थानमाकारः, परिणाहः परिधिरिति ।

तत्र अनयोः प्रमाणम्-

" रयणमया पुप्फफला, विक्खंभो अट्ठ अट्ठ उच्चत्तं ।
जोयणमद्धुव्वेहो, खंधो दोजोयणुव्विद्धो ॥१॥
दो कोसा विच्छिन्नो, विडिया छज्जोयणाणि जंबूए ।
चाउद्दिसिं पि साला, पुव्विल्ले तत्थ सालम्मि ॥२॥
भवणं कोसपमाणं, सयणिज्जं तत्थ णाढियसुरस्स ।
तिसु पासाया साले-सु तेसु सीहासणा रम्मा " ॥ ३ ॥

शाल्मल्यामप्येवमेवेति,कूटाकारा शिखराकारा शाल्मली कूटशाल्मलीति संज्ञा, सुष्ठु दर्शनमस्या इति सुदर्शनेतीयमपि संज्ञेति। (तत्थ त्ति) तयोर्महाद्रुमयोर्महेत्यादि । महती ऋद्धिरावासपरिवाररत्नादिका ययोस्तौ महर्द्धिकौ । यावद्ग्रहणात् "महज्जुइया महाणुभागा महायसा महाबला महासोक्खेति । " तत्र द्युतिः शरीराभरणदीप्तिः, अनुभागोऽचिन्त्या शक्तिः वैक्रियकरणादिका, यशः ख्यातिः, बलं सामर्थ्यं शरीरस्य, सौख्यमानन्दात्मकम् ।"महसेक्खा"इति क्वचित् पाठः। महेसौ महेश्वरावित्याख्या ययोस्तौ, महेशाख्याविति पल्योपमं यावत् स्थितिरायुर्ययोस्तौ, तथा गरुडः सुपर्णकुमारजातीयः, वेणुदेवो नाम्ना, ' अणाढिओ त्ति ' नाम्ना । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

जंबू ! दोसु कुरासु मणुया सया सुसमसुसमिड्ढिं पत्ता पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । तं जहा-देवकुराए चेव,उत्तरकुराए चेव।

(जंबू इत्यादि) सदा सर्वदा (सुसमसुसम त्ति) प्रथमाऽऽरकानुभागः सुषमसुषमा, तस्याः सम्बन्धिनी या सा सुषमेव, तामुत्तमर्द्धिं प्रधानविभूतिमुच्चैस्त्वायुःकल्पवृक्षदत्तभोगोपभोगादिकां प्राप्ताः प्रत्यनुभवन्तो वेदयन्तो, न सत्तामात्रेणेत्यर्थः । अथवा सुषमसुषमां कालविशेषं प्राप्ता अधिगता उत्तमामृर्द्धिं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति आसते इति। अभिधीयते च-

" दोसु वि कुरा मणुया, तिपल्लपरमाउणो तिको सुच्चा ।
पिट्ठकरंडसयाइं, दो छप्पन्नाइँ मणुयाणं ॥ १ ॥
सुसमसुसमाणुभावं, अणुभवमाणेण वच्चगोवणया ।
अउणा पन्नदिणाइं, अट्ठमभत्तस्स आहारो" ॥ २ ॥

देवकुरवो दक्षिणाः, उत्तरकुरव उत्तरास्तेष्विति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

दश कुरवः—

समयखित्तेणं दस कुराओ पण्णत्ता । तं जहा-पंच देवकुराओ, पंच उत्तरकुराओ । तत्थ णं दस महइमहालया महादुमा पण्णत्ता । तं जहा-जंबू सुदंसणे धायइरुक्खे महाधायइरुक्खे पउमरुक्खे महापउमरुक्खे पंच कूडसामलीओ । तत्थ णं दस देवा महिड्ढिया जाव परिवसंति । तं जहा-अणाढिए जंबुद्दीवाहिवई सुदंसणे पियदंसणे पोंमरीए महापोंमरीए पंच गरुला वेणुदेवा । स्था० १० ठा० ।

कुराइ (ण्)-कुराजन्-पुं० । कुत्सिते राज्ञि, प्रत्यन्तनृपे च । नि० चू० ६ उ० । आचा० ।

कुरु-कुरु-पुं० ब० व० । आर्यजनपदभेदे,यत्र हस्तिनापुरं नगरम् । ज्ञा० १श्रु० ८अ० । सूत्र० । आ० म० । प्रज्ञा० । स्था० । "आकरः सर्ववस्तूनां, देशोऽस्ति कुरुनामकः । समुद्र इव रत्नानां, गुणानामिव सज्जनः" ॥१॥ आ० क० । स्वनामके ऋषभदेवपुत्रे,कल्प० ७ क्षण । महावीरशान्तिजिनपूर्वजेषु च । स्था० ६ ठा० ।

कुरुकुया-कुरुकुचा-स्त्री० । बहुना जलेन पादप्रक्षालनादौ,ओघ० । आचा० । नि० चू० ।

कुरुक्खेत्त-कुरुक्षेत्र-न० । कुरुणा चन्द्रवंश्यनृपभेदेन कृष्टं क्षेत्रं, कुरुदेशान्तर्गतं वा क्षेत्रम् । शाक० मध्यपदलोपः ।

" प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते,
सनातनी रामसमन्तपञ्चकम् ।
समीजिरे तत्र पुरा दिवौकसो,
वरेण सत्रेण महावरप्रदाः ॥ १ ॥
पुरा च राजर्षिवरेण धीमता,
बहूनि वर्षाण्यमितेन तेजसा ।
प्रकृष्टमेतत् कुरुणा महात्मना,
ततः कुरुक्षेत्रमितीह पप्रथे " ॥ २ ॥ वाच० ।

लोकोत्तररीत्या ऋषभदेवस्य पुत्रः कुरुः, तस्य क्षेत्रम् । हस्तिनापुरे, ती० १६ कल्प ।

"शतपुत्र्यामभूत्राभि-सूनोः सूनुः कुरुर्नृपः ।
कुरुक्षेत्रमितिख्यातं, राष्ट्रमेतत्तदाख्यया ॥
कुरोः पुत्रोऽभवद्धस्ती, तदुपज्ञमिदं पुरम् ।
हस्तिनापुरमित्याहु-रनेकाश्चर्यसेवधिम्" ॥ ती० ४६ कल्प ।

कुरुचंद-कुरुचन्द्र-पुं० । काञ्चनपुराधीश्वरे स्वनामख्याते नृपभेदे, ध० र० । तत्कथा त्वेवम्-

"गयवज्जियं पि सगयं, केण वि अहयं पि सव्वया सुहयं ।
पुरमत्थि कंचणपुरं, कुरुचंदो तत्थ नरचंदो ॥ १ ॥
तस्सासि जिणोइयस-मतत्तवरतुरगगमणदुल्ललिओ ।
मिहिरु व्व तिमिरभरपसर-रोहगो रोहगो मंती ॥२॥
गड्डरिगपवाहं मुत्तु-मुत्तमं सो नरुत्तमो धम्मं ।
सम्मं जिण्णासमणो, कया वि मंतिं भणइ एवं ॥ ३ ॥
मह कहसु सचिवपुंगव !, को धम्मो उत्तमु त्ति सो आह ।
हेलाहीलियसुरनर-गणाण करणाण जत्थ जओ ॥ ४ ॥
कह नज्जइ त्ति रन्ना, वुत्ते मंती भणेइ वयणेणं ।
लग्गारेणं नज्जइ , भुत्तमद्दिट्ठं पि जह इत्थ ॥ ५ ॥
इय सोउं जणइ निवो, जइ एवं तो तुमं महामंति ! ।
सव्वे दंसणिणो वा-हरित्तुं धम्मं वियारेसु ॥ ६ ॥
होउ त्ति एवं भणिऊण मंती, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ।
एवं समस्साइपयं लिहेतुं, ओलंबिऊणं च भणेइ एवं ॥ ७ ॥
जो सह इमिणा पाए-ण संगयत्थेण पूरियसमस्सं ।
रंजेइ पुहइनाहं, तस्सेव इमो हवइ भत्तो ॥ ८ ॥
इय सोऊणं अहमह-मिगाइ सव्वे वि तत्थ दंसणिणो ।
तं गहिऊणं पायं, रइउं विंति ससत्तीए ॥ ९ ॥
पत्ता निवअत्थाणे, आसीणायं भणे वि उवविट्ठा ।
तो रन्नोऽणुन्नाए, पढई एवं सुगयसीसो ॥ १० ॥
माला विहारम्मि मइऽज्ज दिट्ठा, उवासिया कंचणभूसियंगी ।
वक्खित्तचित्तेण मए न नायं,सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥११॥

अन्यः प्रोवाच-

भिक्खाभमंतेण मइऽज्ज दिट्ठं, पमदामुहं कमलविसालनेत्तं ।
वक्खित्तचित्तेण मए न नायं,सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥१२॥

अपरः प्रणिजगाद-

फलोदएण म्हि गिहं पविट्ठो, तत्थाऽऽसणत्था पमया मि दिट्ठा ।

वक्खित्तचित्तेण मए न नायं,सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥१३॥
तो सारेयरभावं, निवेण कव्वाण पुच्छिया विवुहा ।
जंपंति न हु विसेसं, एसि वयं देव ! पिच्छामो ॥ १४ ॥
जं इह कमेहिँ वक्खित्त-चित्तया अक्खिवया कुरु सो ब ।
अजिइंदियत्तमूलं, स अधम्मो तेण चिंतमिणं ॥ १५ ॥
तं सोऊणं सयमवि, वीमंसित्ता पयंपइ नरिंदो ।
कह मंतिसत्तम ! अहं, उत्तमधम्मं वियाणिस्सं ॥ १६ ॥
पभणइ मंती नरवर !, जिणदंसणिणो वि अत्थि इह मुणिणो ।
विहियपयत्था पालिय-महव्वया पवरगोयसमा ॥ १७ ॥
समतिणमणिणो सममित्त-सत्तुणो तुल्लरंकनरवइणो ।
महुयरवित्ती कयपाण-वित्तिणो धम्मफलतरुणो ॥ १८ ॥
सज्झायज्झाणरया, जिइंदिया जियपरीसहकसाया ।
ते आहूया वि इहं, इंति न इंति व न याणामि ॥ १९ ॥
भणियं निवेण वरमं-ति ! झत्ति वाहरसु ते महामुणिणो ।
तत्तो अखुद्दबुद्धी, खुड्डमुणी तेण आहूओ ॥२०॥
नमिउं भणियं रन्ना, खुड्डय ! किं मुणसि काउ तं कव्वं ।
गुरुपायपसाएणं, मुणेमि इय भणइ साहू वि ॥ २१ ॥
तो कुरुचंदनरिंदो, तयं समस्सापयं पयंपेइ ।
सिंगाररस विरहिया, मुणिणा वि हु पूरिया एवं ॥ २२ ॥
खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स, अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स ।
किं मज्झ एएण वि चिंतिएणं, सकुंडलं वा वयणं न व त्ति ॥२३॥
भणइ निवो खुड्डु ! तए, सिंगारेणं न पूरिया किमियं ? ।
स भणिइ जिइंदियाणं, अईण वुत्तुं न सो जुत्तो ॥ २४ ॥
सिरिअंगारो सिंगा-रउ त्ति जंपंत तं पि जइ जइणो ।
ता नूण चंदबिंबा, अग्गीवुट्ठी समुप्पन्ना ॥ २५ ॥

किंच-

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलिया मट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो ऽवलग्गई ॥ २६ ॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा,जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता तु न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥ २७ ॥
इय दुद्दमइंदियदु-दृस्स अस्संदमस्स वरमुणिणो ।
वयणं सुणिउं राया, चमक्किओ चिंतए चित्ते ॥ २८ ॥
अमयं रसेसु गोसी-सचंदणं चंदणेसु जह पवरं ।
तह सव्वेसु वि धम्मे-सु नूण धम्मो उ जिणभणिओ ॥ २९ ॥
एवं चिंतिय सम्मं खु-ड्डुण समं गमिसु गुरुपासे ।
सोऊणं धम्मकहं, गिहत्थधम्मं पवज्जेइ ॥ ३० ॥
चिरकालं परिपालिय, धम्मं सचिवेण रोहगेण समं ।
कुरुचंदमहाराओ, जाओ सुक्खाण आभागी " ॥ ३१ ॥
"एवं निशम्य चरितं सुविवेकिकेकि,
जीमूतगर्जितनिभं कुरुचन्द्रराज्ञः ।
भव्या जनाः सपदि गड्डरिकाप्रवाहं,
मुक्त्वाऽऽश्रयन्तु विशदं जिनराजधर्मम् " ॥ ३२ ॥

इति कुरुचन्द्रनरेन्द्रकथा। ध०र०। आ० म० । श्रावस्त्यधीश्वरस्य ताराचन्द्रस्य पुत्रे बालवयस्ये,('ताराचंद' शब्दे कथा वक्ष्यते) हरिचन्द्रस्य पितरि कुरुमत्याः पत्यौ नास्तिकवादरते नृपभेदे, आ०म०प्र०। आ०चू०। (तत्कथा 'अल्लिअंगदेव' वक्तव्यतायाम्)

कुरुचर–कुरुचर–त्रि० । कुरुषु चरतीति कुरुचरः । कुरुदेशजे, स्त्रियां टित्वाद् ङीप् । प्राकृते तु "प्रत्यये ङीर्नवा " ८ । ३ । ३१ । इति ङीर्वा । कुरुचरी, कुरुचरा । प्रा० ३ पाद ।

कुरुजंगल–कुरुजाङ्गल–न० । जङ्गलमेव जाङ्गलम् । कुरुषु जाङ्गलम् । कुरुक्षेत्रे,कुरवश्च जाङ्गलाश्च द्वन्द्वः। कुरुदेशे,जाङ्गलदेशे च । पुं० भूम्नि, कुरवश्च जाङ्गलं च "विशिष्टलिङ्गो नदीदेशो ग्रामाः" २ । ४ । ७ । (पाणि०) समा० । एकवद्भावे कुरुजाङ्गलम् । तत्समाहारे, न० । वाच० । " इहेव जम्बूदीवे दीवे भारहे वासे मज्झिमखंडे कुरुजंगलजणवए संखावई नाम नयरी । " ती० ७ कल्प ।

कुरुड–कुरुट–पुं० । कुणालावास्तव्ये उत्कुरुटस्य मातृष्वस्रेयके भ्रातरि, आ० क० । ('सुयकरण' शब्द कथा वक्ष्यते) कुत्सितं रोटति । ' रुट ' दीप्तिप्रतीघाते कः । सितावरकशाके, वाच० ।

कुरण–कुरुण–न० । राजकीयेऽन्यदीये वा वित्ते, व्य० २ उ० ।

कुरुत्थल–कुरुस्थल–न० । मथुरास्थे स्थलभेदे, ती० ६ कल्प ।

कुरुदत्त–कुरुदत्त–पुं० । स्वनामख्याते हस्तिनापुरवास्तव्ये इभ्यपुत्रे, स प्रव्रजितो नैषेधिकीं परीषहमधिसह्य सिद्ध इति । उत्त० २ अ० । " कुरुदत्तो वि कुमारो, संवलिफालि व्व अग्गिणा दड्ढो । सो वि तह डज्झमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ " संथा० ।

कुरुदत्तपुत्त–कुरुदत्तपुत्र–पुं० । कुरुदत्तस्य पुत्रे ईशानेन्द्रपूर्वभवजीवे, भ० ।

तत्कथा—

एवं खलु देवाणुप्पिया णं अंतेवासी कुरुदत्तपुत्ते नामं अणगारे पगइभद्दए जाव विणीए अट्ठमं अट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं पारणए आयंबिलपरिग्गहिएणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे बहुपडिपुण्णे छम्मासे सामण्णपरियागं पाउणित्ता अद्धमासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसइत्ता तीसं भत्ताइं अणसणाइं छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा ईसाणे कप्पे सयंसि विमाणंसि जाइसए वत्तव्वया सव्वे वि अपरिसेसा कुरुदत्तपुत्ते वि, णवरं सातिरेगे दो केवलकप्पे जंबूदीवे दीवे, अवसेसं तं चेव ॥ भ० ३ श० १ उ० ।

कुरुदत्तसुय–कुरुदत्तसुत–पुं० । हस्तिनापुरे जाते स्वनामख्याते इभ्यपुत्रे, " कुरुदत्तसुतोऽनगारः " इति शान्त्याचार्यः, कुरुदत्त इति लक्ष्मीवल्लभः । उत्त० २ अ० ।

कुरुमइ–कुरुमती–स्त्री० । ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिनः सकलान्तःपुरप्रधानाग्रमहिष्याम्, उत्त० १३ अ० । स० । आचा० । कुरुचन्द्रनृपभार्यायाम्, आ० म० प्र० । आ० चू० ।

कुरुया–कुरुका–स्त्री० । देशतः सर्वतो वा शरीरस्य प्रक्षालने, व्य० १ उ० ।

कुरुराय–कुरुराज–पुं० । कुरूणां राजा टच् समा० । वाच० । कुरुदेशनाथे, " अदीणा सत्तकुरुराया" स्था० ७ ठा० ।

कुरुवासि (ण्)–कुरुवासिन्–पुं० । देवकुरूत्तरकुरुजेऽकर्मभूमिजमनुष्यभेदे, स्था० ६ ठा० ।

कुरुविंद–कुरुविन्द–पुं० । कुरून् मूलकारणत्वेन विन्दति । विद शः । " शे मुचादीनाम् " ७ । १ । ५९ । इति (पाणि०) मुम् ।

मुस्तायाम, माषे, वाच० । तृणविशेषे, औ० । प्रश्न० । प्रज्ञा० । तं० । आचा० । कुटिलकाभिधाने रोगविशेषे, ओघ० । काचलवणे, माणिक्यरत्ने, न० । कुरुविल्वरत्ने, कुल्माषे, व्रीहिभेदे, दर्पणे, हिङ्गुले च । वाच० ।

कुरूव—कुरूप—न० । कुत्सितं यथा भवत्येवं रूपयति विमोहयति यत्तत्कुरूपम् । भाण्डादिकर्मणि मायाविशेषे, भ० १२ श० ५ उ० । तदात्मके मोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० । कुत्सितवर्णे, त्रि० । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

कुल—कुल—न० । कुल कः । कुङ् शब्दे कर्मणि वा लक् । कुं भूमिं लाति ला कः । कौ भूमौ लीयते अन्येऽन्योऽपि पा० उ० यथायथं व्युत्पत्तिः । जनपदे, देशे, मध्यमहलद्वयेन यावती भूमिः कृष्यते तावत्यां भूमौ, वाच० । वंशस्यावान्तरभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । पैतृके पक्षे, नि० । तं० । रा० । औ० । ग० । प्रश्न० । "कुलं पेइयं,माइया जाई ।" उत्त० ३ अ० । स्था० । ज्ञा० । गुणवत्पितृकत्वे, स्था० ४ ठा० २ उ० । इक्ष्वाकादौ, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सूत्र० । राष्ट्रकूटादौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । पितृपितामहादिपूर्वपुरुषवंशे, ध० १ अधि० । प्रतिनियतपुरुषजन्यत्वे, सम्म० १ काण्ड । स्वगोत्रे, स्था० ४ ठा० १ उ० । नागेन्द्रादौ, वृ० १ उ० । विद्याधरादौ, आव० २ अ० । चान्द्रादिके साधुसमुदायविशेषे, स्था० ५ ठा० १ उ० । प्रश्न० । प्रति० । स्था० । बहूनां गच्छानामेकजातीयानां समूहे, ध० ३ अधि० । एकाचार्यसन्ततौ, कल्प० ८ क्षण । स्था० । पं० व० । "एत्थ कुलं विण्णेयं, एगायरियस्स संतई जाओ । तिण्ह कुलाणमिहो पुण, सावेक्खाणं गणो होइ ॥" प्र० ८ श० ८ उ० । गृहस्थानाम्(सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०) गृहे, कल्प० ६ क्षण । आचा० । सूत्र० । क्षत्रियादिगृहे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । (ततो भगवान् ! श्रीऋषभः राज्ये हस्त्यश्वगवादिसंग्रहपुरस्सरमुग्रभोगराजन्यक्षत्रियलक्षणानि चत्वारि कुलानि व्यवस्थापितवान् इति 'उसभ' शब्दे द्वि० भा० ११२४ पृष्ठे दर्शितम्) कल्प० । कुटुम्बे, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० । स्था० । कल्प० । वृन्दे, गजकुलवानरकुलानि । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । सान्निध्ये, गुरुकुलं, कुलं सान्निध्यं, गुरोः कुलं गुरुसान्निध्यम् । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । कुले भवः यत् कुल्यः । ख कुलीनः । ढकञ् कौलेयकः । कुलोद्भवे, त्रि० । वाच० । कुलसंज्ञितेषु नक्षत्रेषु, सू० प्र० ।

तानि च—

ता कहं ते कुला आहिता ति वदेज्जा ? तत्थ खलु इमे बारस कुला,बारस उवकुला,चत्तारि कुलोवकुलाए । बारस कुला । तं जहा—धणिट्ठाकुलं उत्तराभद्दवयाकुलं अस्सिणीकुलं कत्तियाकुलं संठाणाकुलं पुस्सेकुलं महाकुलं उत्तराफग्गुनीकुलं चित्ताकुलं विसाहाकुलं मूलो कुलं उत्तरासाढाकुलं । बारस उवकुला । तं जहा—सवणो उवकुलं पुव्वभद्दवया उवकुलं रेवति उवकुलं भरणी उवकुलं पुणव्वसू उवकुलं अस्सेसा उवकुलं पुव्वाफग्गुणी उवकुलं हत्थो उवकुलं साति उवकुलं जेट्ठा उवकुलं पुव्वासाढा उवकुलं । चत्तारि कुलोवकुलं । तं जहा—अभिई कुलोवकुलं सतभिसया कुलोवकुलं अद्दा कुलोवकुलं अणुराधा कुलोवकुलं । "ता कहं ते" इत्यादि । ता इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण, भगवन् ! त्वया कुलान्याख्यातानीति वदेत् ? एवमुक्ते भगवानाह—"तत्थ" इत्यादि । इह न केवलं भगवता कुलान्येवाख्यातानि,किं तूपकुलानि,कुलोपकुलानि च,ततो निर्धारणार्थप्रतिपत्त्यर्थम् । तत्रेति भगवान् सूते—तत्र तेषां कुलादीनां मध्ये अमूनि द्वादश कुलानि । सूत्रे पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । इमे इति प्रतिपदमभिसंबध्यते । इमानि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि द्वादश उपकुलानि,इमानि वक्ष्यमाणस्वरूपाणि चत्वारि कुलोपकुलानि प्रज्ञप्तानि । अथ किं कुलादीनां लक्षणमुच्यते—इह यैर्नक्षत्रैः प्रायः सदा मासानां परिसमाप्तय उपजायन्ते, माससदृशनामानि नक्षत्राणि,तानि कुलानीति प्रसिद्धानि । तद्यथा-श्राविष्ठो मासः,प्रायः श्रविष्ठया धनिष्ठाऽपरपर्यायया परिसमाप्तिमुपैति । भाद्रपद उत्तरभद्रपदया, अश्वयुक् अश्विन्या इति । धनिष्ठादीनि प्रायो मासपरिसमापकानि माससदृशनामानि कुलानि, तेषामेव कुलानामधस्तनानि यानि नक्षत्राणि श्रवणादीनि तानि उपकुलानि, कुलानां समीपमुपकुलं, तत्र वर्तन्ते यानि नक्षत्राणि तान्युपचारादुपकुलानि । यानि च कुलानामुपकुलानां चाधस्तनानि तानि कुलोपकुलानि अभिजिदादीनि चत्वारि नक्षत्राणि । उक्तं च—

"मासाणं परिणामा, हुंति कुला उवकुला उ हिट्ठिमगा ।
हुंति पुण कुलोवकुला, अभिइसयभद्दअणुराहा" ॥ १ ॥

अत्र (मासाणं परिणामा इति) प्रायो मासानां परिसमापकानि । क्वचित्—" मासाण सरिसनामा " इति पाठः । तत्र मासानां सदृशनामानीति व्याख्येयम् । (सय त्ति) शतभिषक् । शेषं सुगमम् ।

संप्रति यानि द्वादश कुलानि,यानि च द्वादश उपकुलानि, यानि च चत्वारि कुलोपकुलानि तानि क्रमेण कथयति—(बारस कुला तं जहा) इत्यादि सुगमम् । सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । जं० ।

कुलंप—कुलम्प—पुं० । अनार्यक्षेत्रभेदे, तद्वासिनि जने च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कुलक(ग)र—कुलकर—पुं० । कुलकरणशीलाः कुलकराः । कुलकरणशीलेषु विशिष्टबुद्धिषु लोकव्यवस्थाकारिषु पुरुषविशेषेषु, स्था० १० ठा० ।

इदानीं यस्मिन् काले क्षेत्रे च कुलकराणां प्रभवस्तदुपदर्शनायाह—

उस्सप्पिणी इमीसे, तइयाए समाएँ पच्छिमे भागे ।
पलिओवमट्ठभागे, सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती ॥
अद्धभरहमज्झल्लति—भागे गंगासिंधुमज्झम्मि ।
एत्थ बहुमज्झदेसे, उप्पन्ना कुलगरा सत्त ॥

अस्यामवसर्पिण्यां वर्तमानायां या तृतीया समा सुषमदुःषमाभिधाना,तस्या यः पश्चिमो भागस्तस्मिन् । कियन्मात्रे इत्याह-पल्योपमाष्टभागे पल्योपमाष्टभागप्रमाणे शेषे तिष्ठति सति, कुलकरोत्पत्तिरभूदिति वाक्यशेषः । कुत्रेत्यत आह-अर्द्धभरतमध्यमत्रिभागे, किं विशिष्टे इत्याह-गङ्गासिन्धुमध्येऽत्र एतस्मिन्नर्द्धभरतमध्यमत्रिभागे बहुमध्यदेशे, न तु पर्यन्तेषु,उत्पन्नाः कुलकराः सप्त । इहार्द्धभरतं विद्याधरालयवैताढ्यपर्वतादारतः परिग्राह्यं, न तु परतः, व्याख्यानात् ।

संप्रति कुलकरवक्तव्यतानिधायिकां द्वारगाथां प्रतिपादयति—

पुव्वभवजम्मनाम—प्पमाणसंघयणमेव संठाणं ।
वन्निस्थियाऽऽउ भागा, भवणोवाता य नीई य ॥

कुलकराणां पूर्वभवा वक्तव्याः, ततो जन्म, तदनन्तरं नामानि, तत्प्रमाणानि, तदनन्तरं संहननं वक्तव्यम्, एवशब्दः पूरणार्थः । तथा संस्थानं,ततो वर्णाः प्रतिपादयितव्याः,तदनन्तरं स्त्रियः,तत आयुर्वक्तव्यम्, ततो भागा वाच्याः–कस्मिन् वयोभागे कुलकराः संवृत्ता इति । भवनेषु उपपातो वक्तव्यः, भवनग्रहणं भवनपतिनिकायेषु तेषामुपपातो नान्येष्वेति प्रदर्शनार्थम्, तथा नीतिश्च या यस्य हकारादिलक्षणा सा तस्य वक्तव्येति गाथाऽक्षरार्थः । अवयवार्थं तु प्रतिद्वारं स्वयमेव वक्ष्यति ।

तत्र प्रथमद्वारावयवार्थाभिधित्सयेदमाह–

अवरविदेहे दो वणि–यवयंसा माइ उज्जुगे चेव ।
कालगया इह भरहे, हत्थी मणुओ य आयाया ॥
दट्ठुं सिणेहकरणं, गयमारुहणं च नामनिव्वुत्ती ।
परिहाणि गेहि कलहो, सामत्थण विन्नवण ह त्ति ॥

अपरविदेहे द्वौ वणिग्वयस्यावभूताम् । तद्यथा-एको मायी,अपरश्च ऋजुः, तौ च कालगताविह भरते आयातौ,मायी हस्ती,इतरो मनुष्य इति । ततो दृष्ट्वा परस्परं स्नेहकरणं,ततो गजारोहणं,तदनन्तरं नामनिर्वृत्तिः । गच्छता च कालेन कल्पद्रुमाणां परिहाणिः, ततः प्रजाता प्रभूततरा गृद्धिः,तदनन्तरं कलहः,ततः "सामत्थणं ति" देशीवचनमेतत् । पर्यालोचनमित्यर्थः । ततो विज्ञपना, तदनन्तरं हा इति हकारलक्षणा या नीतिः प्रवृत्तिः । भावार्थः कथानकादवसेयः । तच्चेदम्–"अवरविदेहे दो मित्ता वाणिया,तत्थेगो माई, इयरो उज्जुगो । ते पुण एगतो चेव ववहरंति । तत्थ जो माई सो तं उज्जुगं अइसंधेइ, इयरो सव्वमगूढंतो सम्मं ववहरइ । दो वि पुण दाणरुई, ततो सो उज्जुगो कालं काऊण इहेव दाहिणड्ढे मिहुणगो जातो । वंको पुण तम्मि चेव पएसे हत्थिरयणं । सो य सेतो वण्णेणं चउद्दंतो य । जाहे ते दो वि पडुप्पण्णसरीरगा जाया ताहे ते हिंडिउमारद्धा, तेण य हत्थिणा हिंमतेण सो मिहुणगो दिट्ठो, दट्ठूण य से परमा पीई उप्पन्ना,तं च से अभिओगनिव्वत्तियं कम्मं उदिन्नं,ततो तेण मिहुणगं खंधे विलइयं । ततो सव्वेण लोगेण तं मिहुणगं तहारूवं दट्ठूण अम्हेहिंतो मणूसो एसो, इमं च से विमलं वाहणं,तिसे 'विमलवाहण' त्ति नाम कयं,तेसिं च जाईसरणं च जायं,ताहे कालदोसेण इमे सत्त कप्परुक्खा परिहायंति–"मत्तंगया य भिंगा, चित्तंगा चेव तह य चित्तरसा । गेहागारअणिगणा, सत्तमया कप्परुक्ख त्ति" ॥१॥ तेसु परिहायंतेसु कसाया उप्पन्ना । अयं मम,मा इत्थ कोइ अल्लियउ इति भणिउं पवित्ता, जो ममीकयमल्लियइ,तेण इयरो कसाइज्जइ, ततो परोप्परमसंखमं ताहे चिंतिंति–कंचि अहिवई ठवेमो, जो ववत्थाइ,ठवेइ ताहे तेहिं सो विमलवाहणो, एस अम्हेहिंतो अहिओ इति अहिवई ठविओ । ताहे तेण तेसिं रुक्खा विरिक्का, भणिया य–जो तुब्भं एयामेरं अइक्कमइ,तं मम कहेज्जह, जेणाहं से दंडं वत्तेमि, सो वि कहं जाणइ, भणइ–सो जाइस्सरो तं वाणियत्तं सारइ, तेण जाणइ, ताहे तेसिं जो को वि अवरज्झइ सो तस्स कहिज्जइ, ताहे सो तेहिं दंडं वत्तेइ, सो पुण दंडो हक्कारो–हा तुमे दुट्ठु कयं ति । ताहे सो जाणइ, अहं सव्वस्सहरणो कतो,वरं हतो होंतो,सीसं वा मे वरं छिन्नं होंतं, न य एरिसं विडंवणं पावितो त्ति । एवं बहुं कालं हक्कारदंडो अणुवत्तितो, तस्स य चंदजसा, तीए समं भोगे भुंजंतस्स अवरं मिहुणं जायं, तस्स वि कालंतरेण अवरं, एवं ते एगवंसम्मि सत्त कुलगरा उप्पन्ना ॥" पूर्वभवाः खल्वमीषां प्रथमानुयोगतोऽवसेयाः, जन्म पुनरिहैव सर्वेषां द्रष्टव्यम्, व्याख्यातं पूर्वभवजन्मरूपं द्वारद्वयम् । आ० म० प्र० ।

संप्रति कुलकरनामप्रतिपादनार्थमाह–

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए सत्त कुलगरा होत्था । तं जहा–'पढमित्थ विमलवाहण, चक्खुम जससं चउत्थमभिचंदे । तत्तो पसेणई पुण, मरुदेवे चेव नाभी य ॥१॥ स्था० ७ ठा० ।

प्रथमोऽत्र विमलवाहनो, द्वितीयश्चक्षुष्मान्, तृतीयो यशस्वी, चतुर्थोऽभिचन्द्रः, पञ्चमः प्रसेनजित्, षष्ठो मरुदेवः, सप्तमो नाभिरिति । गतं नामद्वारम् । आ० म० प्र० । आ० चू० । आ०क० ।

अधुना प्रमाणद्वारावयवार्थमभिधित्सुराह–

नवधणुसयाइ पढमो, अट्ठ य सत्तऽद्धसत्तमाइं च ।
छ चेव अद्धछट्ठा, पंच सया पण्णवीसाओ ॥

प्रथमो विमलवाहन उच्चैस्त्वेन नवधनुःशतानि, द्वितीयश्चक्षुष्मान् अष्टौ धनुःशतानि, तृतीयो यशस्वी सप्तधनुःशतानि, चतुर्थोऽभिचन्द्रोऽर्द्धसप्तमानि धनुःशतानि, पञ्चमः प्रसेनजित् षड्धनुःशतानि, षष्ठो मरुदेवोऽर्द्धषष्ठानि धनुःशतानि, सप्तमो नाभिः पञ्चविंशानि पञ्चविंशत्यधिकानि पञ्चधनुःशतानि ५२५। गतं प्रमाणद्वारम् ।

अधुना संहननसंस्थानप्रतिपादनार्थमाह–

वज्जरिसहसंघयणा, समचउरंसा य होंति संठाणे ।
वण्णं वि य वोच्छामी, पत्तेयं जस्स जो आसी ॥

सर्वे एव विमलवाहनादयो वज्रर्षभसंहननाः; संस्थाने च चिन्त्यमाने समचतुरस्राश्च भवन्ति । वर्णद्वारसंबन्धाभिधानार्थमाह– (वर्णः) "वण्णं वीत्यादि" वर्णमपि च वक्ष्ये प्रत्येकं यस्य य आसीदिति ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

चक्खुम जससं च पसे–णई य एए पियंगुवण्णाभा ।
अभिचंदो ससिगोरा, निम्मलकणगप्पभा सेसा ॥

चक्षुष्मान् यशस्वी प्रसेनजित् एते द्वितीयतृतीयपञ्चमाः प्रियङ्गुवर्णा इवाभा छाया येषां ते तथा प्रियङ्गुश्यामाः । अभिचन्द्रश्चतुर्थः कुलकरः शशिवद् गौरः । निर्मलकनकवत् प्रभा छाया येषां ते तथा शेषा विमलवाहनमरुदेवनाभयः । गतं वर्णद्वारम् । आ० म० प्र० ।

स्त्रीद्वारप्रतिपादनार्थमाह–

एतेसि णं सत्तण्हं कुलगराणं सत्त भारिआ होत्था । तं जहा–'चंदजस चंदकंता,सुरूवपडिरूवचक्खुकंता य । सिरिकंता मरुदेवी, कुलगरइत्थीण णामाइं' ॥१॥ स० । स्था० ।

विमलवाहनस्य पत्नी चन्द्रयशाः, चक्षुष्मतश्चन्द्रकान्ता, यशस्विनः सुरूपा, अभिचन्द्रस्य प्रतिरूपा, प्रसेनजितश्चक्षुष्कान्ता, नाभेर्मरुदेवी । इमानि यथाक्रमं कुलकरपत्नीनां नामानि, एताश्च संहननादिभिः कुलकरतुल्या एव द्रष्टव्याः ।

यत आह-

संघयणं संठाणं, उच्चत्तं चेव कुलगरेहिँ समं ।
वन्नेण एगवन्ना, सव्वाउ पियंगुवन्नातो ॥

संहननं,संस्थानम्,उच्चैस्त्वं चैव कुलकरैरात्मीयैरात्मीयैः सममनुरूपमासामधिकृतस्त्रीणां नवरं प्रमाणेन ईषन्न्यूना इति संप्रदायः । तथा वर्णेन सर्वा अप्येकवर्णाः प्रियङ्गुवर्णा इति । गतं स्त्रीद्वारम् ।

इदानीमायुर्द्वारमाह-

पलिओवमदसभागो, पढमस्साउं ततो असंखेज्जा ।
ते आणुपुव्विहीणा, पुव्वा नाभिस्स संखिज्जा ॥

प्रथमस्य विमलवाहनस्यायुः पल्योपमदशभागः, तदनन्तरमन्येषां चक्षुष्मदादीनामसंख्येयानि, पूर्वाणीति संबध्यते। तान्यपि चानुपूर्व्या क्रमेण हीनानि।नाभेस्तु संख्येयानि पूर्वाण्यायुष्कमिति । अन्ये तु व्याचक्षते-प्रथमस्य पल्योपमदशमभाग एवायुः, ततो द्वितीयस्यासंख्येयाः पल्योपमासंख्येयभागा इति वाक्यशेषः। एवं चानुपूर्व्या हीनाः शेषाणामायुष्कं द्रष्टव्यम्, तावद् यावत्संख्येयानि पूर्वाणि नाभेरायुष्कमित्यविरुद्धम् । अपरे व्याचक्षते-प्रथमस्यायुः पल्योपमदशभागः,ततोऽसंख्येया इति शेषाणां समुदितानां पल्योपमासंख्येयभागाः। किमुक्तं भवति?-द्वितीयस्य पल्योपमासंख्येयभाग आयुः,शेषाणां तत एवासंख्येयभागः,असंख्येयभागः पात्यते तावद्यावन्नाभेरसंख्येयानि पूर्वाणि। तदेतदपव्याख्यानम्।कथमिति चेत्?। उच्यते-इह पल्योपमाष्टभागे अशेषकुलकराणामुत्पत्तिः,'पलितोवमट्ठभागे,सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती।' इति वचनात् । तत्र पल्योपमं किलासत्कल्पनया चत्वारिंशद्भागं परिकल्प्यते,तस्याष्टमो भागः पञ्च चत्वारिंशद्भागाः,तत्रापि प्रथमस्य विमलवाहनस्यायुः पल्योपमदशभागः,ततश्चत्वारश्चत्वारिंशद्भागास्तदायुषि गताः;शेष एकः पल्योपमस्य चत्वारिंशत्तमः संख्येयो भागोऽवतिष्ठते,स च चक्षुष्मदादिगतैः पञ्चभिरसंख्येयभागैर्न पूर्यते इत्यपव्याख्या। अथ अत एव नाभेरसंख्येयानि पूर्वाण्यायुष्कमुक्तमिति। इदमयुक्तं तूक्तम्। यतो मरुदेव्याः संख्येयानि वर्षाण्यायुरसंख्येयवर्षायुषां केवलज्ञानाभावात्;ततो नाभेः संख्येयवर्षायुष्कत्वमेव कुलकराणां,कुलकरपत्नीनां च,समानायुष्कत्वात्।

तथाचाह-

जं चेव आउयं कुल-गराण तं चेव होइ तासिं पि ।
जं पढमगस्स आऊ, तावइयं होइ हत्थिस्स ॥

यदेवायुष्कं कुलकराणां प्रागुक्तं,तदेव भवति तासामपि कुलकराङ्गनानां, संख्यासाम्याच्च तदेवेत्यभिधीयते,यावता प्रत्येकं भिन्नमेव प्राणिनामायुः, तथा यत्प्रथमस्य कुलकरस्य विमलवाहनाख्यस्यायुस्तावदेव भवति हस्तिनः। एवं शेषकुलकरहास्तिनामपि कुलकरतुल्यं द्रष्टव्यम् ।

भागः-

संप्रति भागद्वारं वक्तव्यम्-यथा कः कस्यं सर्वायुष्ककुलकरकाल इति । तत्रेदमाह-

जं जस्स आउयं खलु, तं दसभागे समं विभइऊणं ।
मज्झिल्लट्ठतिभागे, कुलगरकालं वियाणाहि ॥

यद् यस्य कुलकरस्याऽऽयुस्तत् खलु दशभागान् समं विभज्य मध्यमेऽष्टभागात्मके त्रिभागे कुलकरकालं विजानीहि ।

अमुमेवार्थं प्रकटयन्नाह-

पढमो य कुमारत्ते, भागो चरिमो य वुड्ढभावम्मि ।
ते पयणुपेज्जदोसा, सव्वे देवेसु उववन्ना ॥

तेषां दशानां भागानां मध्ये प्रथमो भागः कुमारत्वे भवति, चरमो वृद्धभावे, शेषा मध्यमा अष्टौ भागाः कुलकरकाल इति । गतं भागद्वारम् ।

उपपातः-

उपपातद्वारमुच्यते-ते प्रतनुप्रेमद्वेषाः,प्रेम रागो, द्वेषः प्रसिद्धः, सर्वे विमलवाहनादयो देवेषूपपन्नाः ।

तत्र न ज्ञायते केषु देवेषूपपन्ना इत्यत आह-

दो चेव सुवन्नेसुं, उयहिकुमारेसु होंति दो चेव ।
दो दीवकुमारेसुं, एगो नागेसु उववन्नो ।

द्वौ आद्यौ विमलवाहनचक्षुष्मदभिधानौ सुपर्णेषु देवेषूत्पन्नौ, द्वावेव च यशस्व्यभिचन्द्राख्यावुदधिकुमारेषु भवतः, द्वौ प्रसेनजिन्मरुदेवाख्यौ द्वीपकुमारेषु, एको नाभिनामा सप्तमकुलकरो नागेषूपपन्नः ।

संप्रति कुलकरस्त्रीणां हस्तिनां चोपपातमभिधित्सुराह-

हत्थी छच्चित्थीओ, नागकुमारेसु होंति उववन्ना ।
एगा सिद्धिं पत्ता, मरुदेवी नाभिणो पत्ती ॥

हस्तिनः सप्तापि, षट् च स्त्रियश्चन्द्रयशःप्रभृतयो नागकुमारेषूपपन्नाः । अन्ये तु प्रतिपादयन्ति-एक एव हस्ती, षट् स्त्रियो, नागेषूपपन्नाः; शेषाणामिहाऽनभिधानमेवेति । एका सप्तमी मरुदेवी नाभेः पत्नी सिद्धिं प्राप्ता । उक्तमुपपातद्वारम् । आ० म० प्र० ।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्या पञ्चदश कुलकरास्तेषां नामायुरादीनि-

तीसे णं समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमट्ठभागावसेसा, एत्थ णं इमे पन्नरस कुलगरा समुप्पज्जित्था । तं जहा-सुमई १ पडिस्सुई २ सीमंकरे ३ सीमंधरे ४ खेमंकरे ५ खेमंधरे ६ विमलवाहणे ७ चक्खुमं ८ जसमं ९ अभिचंदे १० चंदाभे ११ पसेणई १२ मरुदेवे १३ णाभी १४ उसभे १५ त्ति ॥

अत्राह कश्चित्-आवश्यकनिर्युक्त्यादिषु सप्तानां कुलकराणामभिधानादिह पञ्चदशानां तेषामभिधानं कथम्?,यदि वा भवतु नामैतत्, पुण्यपुरुषाणामधिकाधिकवंश्यपुरुषवर्णनस्य न्याय्यत्वात्, परं पल्योपमाष्टमभागावशिष्टतावचनं कालस्य सुतरां बाधते, अनुपपत्तेः। तथाहि-पल्योपमं किलाऽसत्कल्पनया चत्वारिंशद्भागं परिकल्प्यतेऽस्याष्टमो भागश्चत्वारिंशद्भागाः पञ्च। तत्राप्याद्यस्य विमलवाहनस्यायुः पल्योपमदशमभागः,ततश्चत्वारश्चत्वारिंशद्भागास्तदायुषि गताः,शेष एकः पल्योपमस्य चत्वारिंशत्तमः संख्येयो भागोऽवतिष्ठते,स चक्षुष्मदादीनामसंख्येयपूर्वैर्नाभेः, संख्येयपूर्वैः श्रीऋषभस्वामिनश्चतुरशीत्या पूर्वलक्षैः शेषैश्चैकोननवत्या पक्षैः परिपूर्यते;तेन पूर्वेषां सुमत्यादिकुलकराणां महत्तमायुषां क्वावकाशः? उच्यते-आद्यस्य सुमतेस्तावत्पल्यदशमायुः,ततो द्वाद-

शयंश्यात् यावत् पूर्वदर्शितन्यायेनैकास्मिंश्चत्वारिंशत्तमेऽवशिष्टे भागेऽसंख्येयानि पूर्वाणि, तानि च यथोत्तरं हीनहीनानि। नाभेस्तु संख्येयानि पूर्वाणीत्यादि; इत्थं चाविरुद्धमिव प्रतिभाति। यत्तु हारिभद्रयामावश्यकवृत्तौ-"पलिओवमदसमं-सो पढमस्साऽ तओ असंखिज्जा। ते आणुपुव्विहीणा,पुव्वा नाभिस्स संखिज्जा"॥१॥इति गाथाव्याख्याने मतान्तरेण नाभेरसंख्येयपूर्वायुष्कत्वमुक्तम्, तत्त कुलकरसमानायुष्कत्वेन कुलकरपत्नीनां मरुदेव्या अप्यसंख्यपूर्वायुष्कतापत्तौ मुक्त्यनुपपत्तिरिति तत्रैव दूषितमस्तीति न कोऽपि परस्परं विरोधः। यथाऽऽवश्यकादिषु विमलवाहनस्य पल्यदशमांशायुष्कत्वं, तद्वाचनाभेदादवगन्तव्यम्। यच्च ग्रन्थान्तरे नामपाठे भेदः, सोऽपि तथैवेत्यत्र सर्ववित् प्रप्रमाणमित्यलं विस्तरेण। अथ प्रस्तुतमुपक्रम्यते-तद्यथेति। तान् नामतो दर्शयति-सुमतिः १ प्रतिश्रुतिः २ सीमंकरः ३ सीमंधरः ४ क्षेमंकरः ५ क्षेमंधरः ६ विमलवाहनः ७ चक्षुष्मान् ८ यशस्वी ९ अभिचन्द्रः १० चन्द्राभः ११ प्रसेनजित् १२ मरुदेवः १३ नाभिः १४ ऋषभ इति। यत्पुनः पद्मचरित्रे चतुर्दशानां कुलकरत्वमभिहितम्, अत्र तु पञ्चदशस्य ऋषभस्यापि, तद्भरतक्षेत्रप्रकरणे भरतभर्तुर्भरतनाम्नोऽपि महाराजस्य प्ररूपणा प्रक्रमितव्याऽस्तीति ज्ञापनार्थमिति। जं० २ वक्ष०।

कल्पवृक्षाः—

विमलवाहणेणं कुलकरे सत्तविहा रुक्खा उवभोगत्ताए हव्वमागच्छिसु। तं जहा—" मत्तंगया य भिंगा, चित्तंगा चेव होंति चित्तरसा। मणियंगा य अणिअणा, सत्तमगा कप्परुक्खा य" ॥ १ ॥

तथा विमलवाहने प्रथमकुलकरे सन्ति सप्तविधा इति। पूर्वं दशविधा अभूवन्, (रुक्ख त्ति) कल्पवृक्षाः (उवभोगत्ताए त्ति) उपभोग्यतया (हव्वं) शीघ्रमागतवन्तो भोजनादिसंपादनेनोपभोगं तत्कालीनमनुष्याणामागता इत्यर्थः। "मत्तंगया य" गाहा। (मत्तंगया इति) मत्तं मदः, तस्य कारणत्वाद् मद्यमिह मत्तशब्देनोच्यते, तस्याङ्गभूताः कारणभूताः, तदेवाङ्गमवयवो येषां ते मत्ताङ्गकाः, सुखपेयमद्यदायिन इत्यर्थः। चकारः पूरणे। (भिंग त्ति) संज्ञाशब्दत्वात् भृङ्गारादिविविधभाजनसंपादका भृङ्गाः। (चित्तंग त्ति) चित्रस्यानेकविधस्य माल्यस्य कारणत्वात् चित्राङ्गाः। (चित्तरस त्ति) चित्रा विचित्रा रसा मधुरादयो मनोहारिणो येभ्यः सकाशात्संपद्यन्ते ते चित्ररसाः। (मणियंग त्ति) मणीनामाभरणभूतानामङ्गभूताः कारणभूता मणयो वाऽङ्गान्यवयवा येषां ते मण्यङ्गाः, भूषणसंपादका इत्यर्थः। (अणियण त्ति) अनग्नकारकत्वादनग्ना विशिष्टवस्त्रदायिनः, संज्ञाशब्दो वाऽयमिति। (कप्परुक्ख त्ति) उक्तव्यतिरिक्तसामान्यकल्पितफलदायित्वेन कल्पना कल्पः, तत्प्रधाना वृक्षाः कल्पवृक्षा इति।

अथैते कुलकरत्वं कथं कृतवन्त इत्याह–

(नीतिद्वारम्)

सत्तविहा दंडणीई पण्णत्ता। तं जहा—हक्कारे मक्कारे धिक्कारे परिभासे मंडलिबंधे चारए छविच्छेदे।

(दंमनीइ त्ति) दण्डनं दण्डोऽपराधिनामनुशासनं, तत्र तस्य वा,स एव वा नीतिर्नयो दण्डनीतिः। (हक्कारे त्ति) हा इत्यधिक्षेपार्थः,तस्य करणं हक्कारः। अयमर्थः-प्रथमद्वितीयकुलकरकाले अपराधिनो दण्डो हक्कारमात्रं, तेनैवासौ हृतसर्वस्वमिवात्मानं मन्यमानः पुनरपराधस्थाने न प्रवर्तत इति, तस्य दण्डनीतिता। एवं मा इत्यस्य निषेधार्थस्य करणमभिधानं माकारः। तृतीयचतुर्थकुलकरकाले महत्यपराधे माकारो दण्डः,इतरत्र तु पूर्व एवेति। तथा धिगधिक्षेपार्थ एव, तस्य करणमुच्चारणं धिक्कारः, पञ्चमषष्ठसप्तमकुलकरकाले महापराधे धिक्कारो दण्डः, जघन्यमध्यमापराधयोस्तु क्रमेण हक्कारमक्काराविति। आह च-" पढमबितियाण पढमा, तइयचउत्थाण अभिणवा बीआ। पंचमछट्ठस्स य स-त्तमस्स तइया अभिणवा उ ॥" इति। तथा परिभाषणं परिभाषा, अपराधिनं प्रति कोपाविष्कारेण मा यासीरित्यभिधानम्। तथा मण्डलबन्धो-मण्डलमिङ्गितं क्षेत्रं, तत्र बन्धो-नास्मात्प्रदेशाद् गन्तव्यमित्येवं वचनलक्षणः पुरुषमण्डलपरिचारणलक्षणो वा। चारकं गुप्तिगृहम्; छविच्छेदो हस्तपादनासिकाऽऽदिच्छेदः। इयमनन्तरा चतुर्विधा भरतकाले बभूव। चतसृणामन्त्यानामाद्यद्वयमृषभकाले, अन्ये तु भरतकाल इत्यन्ये। आह च—" परिभासणा उ पढमा, मंडलिबंधम्मि होइ बीयाओ। चारगछविछेदाई, भरहस्स चउव्विहा नीई " ॥ स्था० ७ ठा०।

अधुना नीतिद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

हक्कारे मक्कारे, धिक्कारे चेव दंमनीईउ।
वोच्छं तासि विसेसं, जहक्कमं आणुपुव्वीए ॥

हक्कारो मक्कारो धिक्कारश्चेति कुलकराणां दण्डनीतयः,ततो वक्ष्ये तासां दण्डनीतीनां विशेषं यथाक्रमं, या यस्य तां तस्य वक्ष्ये इति भावः। तामपि तथा वक्ष्ये, आनुपूर्व्या परिपाट्या विमलवाहनादारभ्य क्रमेणेति यावत्।

प्रतिज्ञातमेव करोति–

पढमबिइयाण पढमा, तइयचउत्थाण अहिणवा बिइया।
पंचमछट्ठस्स य स–त्तमस्स तइया अहिणवा तु ॥

प्रथमद्वितीययोः,सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्। कुलकरयोः प्रथमा हक्कारलक्षणा दण्डनीतिः। तृतीयचतुर्थयोः यशस्व्यभिचन्द्राख्ययोः कुलकरयोरभिनवा द्वितीया मक्कारलक्षणा दण्डनीतिः। किमुक्तं भवति?, स्वल्पापराधे प्रथमया दण्डः क्रियते,महापराधे द्वितीययेति। तथा पञ्चमषष्ठयोः सप्तमस्य च तृतीया धिक्काराख्या अभिनवा। एषा उत्कृष्टा,द्वितीया मध्यमा,प्रथमा जघन्या। एताश्च तिस्रोऽपि लघुमध्यमोत्कृष्टापराधेषु यथाक्रमं प्रवर्तिता इति।

सेसा उ दंमनीती, माणवगनिहीउ होइ भरहस्स।
उसभस्स गिहावासे, असक्कतो आसि आहारो।

शेषा चारकछविच्छेदलक्षणा दण्डनीतिर्भरतस्य माणवकनिधेः सकाशाद्भवति। इयमत्र भावना-कोपाविष्करणेन "रे इतः स्थानान्मा यासीः" इत्येवं यत्परिभाषणं,यश्च मण्डलिबन्धो-यथा नास्मात्प्रदेशाद्गन्तव्यमित्येवंरूपे द्वे दण्डनीती भगवता ऋषभस्वामिना प्रवर्तिते। चारकछविच्छेदाख्ये च द्वे दण्डनीती भरतेन माणवकनिधेरिति। इदं च नीत्युत्पादाभिधानमन्यास्वप्यतीतासु एष्यासु चावसर्पिणीषु अयमेव न्याय इति ख्यापनार्थम्, तस्य च भरतस्य पिता ऋषभनाथः, तस्य च ऋषभनाथस्य गृहवासे आहार आसीदसंस्कृतः स्वभावसंपन्नः। भगवतो हि ऋषभस्वामिनो यावद्गृहवासस्तावद्देवेन्द्रादेशाद्देवा देवकुरूत्तरकुरुक्षेत्रयोः स्वादूनि फलानि, क्षीरोदसमुद्राच्च उदकमुपनीतवन्त इति।

अथ भरतचक्रवर्त्तिकाले कियत्यो दण्डनीतयः प्रावर्त्तिषतेत्यत आह-

परिहासणा उ पढमा, मंडलिबंधो उ होइ बीया उ।
चारगछविछेयाई, भरहस्स चउव्विहा नीती।।

भरतस्य साम्राज्यानुभवनकाले चतुर्विधा दण्डनीतिरभूत्। तद्यथा-प्रथमा स्वल्पापराधविषया परिभाषणा प्रागुक्तस्वरूपा भगवता आदिनाथेन प्रवर्त्तिता आसीत्। द्वितीया मण्डलिबन्धो मण्डलिबन्धाख्या आदिनाथेनैव प्रवर्त्तिता, साऽपि किञ्चिन्महापराधविषया। तृतीया चारकलक्षणा भरतेन माणवकविधिं परिभाव्य प्रवर्त्तिता, सा गुरुतरापराधविषया। चतुर्थी छविच्छेदादिका, आदिशब्दाच्छिरःकर्त्तनादिपरिग्रहः। कुलकराणामुत्पत्तिः, "पलितोवमट्ठभागे, सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती" इति वचनात्। तत्र पल्योपमं किलासत्कल्पनया चत्वारिंशद्भागं परिकल्पते, तस्याष्टमो भागः,पञ्च च, विधिं परिभाव्य प्रवर्त्तिता, सा गुरुतरापराधविषया, चतुर्थी छविच्छेदादिका । आदिशब्दाच्छिरःकर्त्तनादिपरिग्रहः । सा महापराधविषया, भरतेनैव माणवकनिधेः प्रवर्त्तितेति । अन्ये तु चतस्रोऽप्येताः दण्डनीतयो भरतेनैवोत्पादिता इति व्याचक्षते। आ० म० प्र० ।

पञ्चदशकुलकराणां तु-

तत्थ णं सुमई-पडिस्सुई-सीमंकर-सीमंधर-खेमंकराणं एतेसिं णं पंचण्हं कुलगराणं हक्कारे णामं दंडणीई होत्था। तेणं मणुआ हक्कारेणं दंडेणं हया समाणा लज्जिआ विलिआ विड्डा भीआ तुसिणा विणओणया चिट्ठंति। तत्थ णं खेमंधरविमलवाहणचक्खुमंजसमअभिचंदाणं एतेसि णं पंचण्हं कुलगराणं मक्कारणामं दंडणीई होत्था। तेणं मणुआ मक्कारेणं दंडेण हया समाणा० जाव चिट्ठंति। तत्थ णं चंदाभपसेणईमरुदेवणाभिउसभाणं एतेसि णं पंचण्हं कुलगराणं धिक्कारे णामं दंडणीई होत्था । तेणं मणुआ धिक्कारेणं दंडेणं हया समाणा० जाव चिट्ठंति ।।

तेषु पञ्चदशसु कुलकरेषु मध्ये सुमतिप्रतिश्रुतिसीमंकरसीमन्धरक्षेमंकराणामेतेषां पञ्चानां कुलकराणां हा इत्यधिक्षेपार्थकशब्दस्य करणं हाकारो नाम दण्डोऽपराधिनामनुशासनं तत्र नीतिर्न्यायोऽभवत्। अत्रायं संप्रदायः-पुरा तृतीयाऽऽरान्तकालदोषेण व्रतभ्रष्टानामिव यतीनां कल्पद्रुमाणां मन्दायमानेषु स्वदेहावयवेष्विव तेषु मिथुनानां जायमाने ममत्वेऽन्यत्स्वीकृतं तमन्योऽसिन् गृह्णाति, परस्परं जायमाने विवादे स्वदशाजनकृतपराभवमसहिष्णव आत्माधिकं सुमतिं स्वामितया ते चक्रुः,स च तेषां तान् विभज्य स्थविरो गोत्रिणं द्रव्यमिव ददौ, यो यः स्थितिमतिचक्राम तच्छासनाय जातिस्मृत्या नीतिज्ञत्वेन हाकारदण्डनीतिं चकार, तां च प्रतिश्रुत्यादयश्चत्वारोऽनुचक्रुरिति; तया च ते कीदृशा अभवन्नित्याह-" तेणमित्यादि " ते (मणुजा णमिति) प्राग्वत्, हकारेण दण्डेन हताः सन्तो लज्जिता व्रीडिताः, व्यलीकिताः संजातव्यलीकाः। व्यलीकमपराधः। "विड्डा" इति विशेषतो जातव्रीडाः, लज्जाप्रकर्षवन्त इत्यर्थः। एते त्रयोऽपि पर्यायशब्दा लज्जाप्रकृष्टताबाचनयोक्ताः। भीता व्यक्तम्, तूष्णीका मौनभाजो विनयावनता न तूद्धता इव निस्त्रपा निर्भया अल्पाका अहंयवश्च तिष्ठन्ति । ते अनेनैव दण्डेन हतस्वमेवात्मानं मन्यमानाः पुनरपराधस्थाने न प्रवर्त्तन्त इत्याशयः। अत्र चादृष्टपूर्वशासनानां तेषां दण्डादिघातेभ्योऽप्यतिशायिमर्माविच्छासनमिदमिति हता इति वचनम्। अथोत्तरकालवर्तिकुलकरकाले किं सैव दण्डनीतिरन्या वेत्याशङ्कायां समाधत्ते-(तत्थ णमित्यादि) तत्र क्षेमंधरविमलवाहनचक्षुष्मद्यशस्व्यभिचन्द्राणामेतेषां पञ्चानां कुलकराणां मा इत्यस्य निषेधार्थस्य करणमभिधानं माकारो नाम दण्डनीतिरभवत् ।शेषं पूर्ववत् । आवश्यकादौ तु-विमलवाहनचक्षुष्मतोः कुलकरयोर्हाकाररूपा दण्डनीतिः, यशोभिचन्द्रप्रसेनजितोरन्तराले चन्द्राभस्याकथनमित्याद्युत्तरं तद्वाचनान्तरेणेति । अयमर्थः-क्रमेणातिसंस्तवादिना जीर्णभीतिकत्वेन हाकारमतिक्रामत्सु अङ्कुशमिव गम्भीरवेदिषु गजेषु युग्मिषु क्षेमंधरः कुलकुञ्जरो दुश्चिकित्से हि चिकित्सान्तरं कार्यमिति द्वितीयां माकाररूपां दण्डनीतिं चकार। ते च विमलवाहनादयश्चत्वारोऽनुचक्रुः । अत्र संप्रदायविदः-महत्यपराधपदे माकाररूपा इत्यभिप्रेत्यैव । श्रीहेमसूरयस्तु ऋषभचरित्रे सप्तकुलकराधिकारे यशस्विवारके दण्डनीतिमाश्रित्याह-"आगस्यल्पे नीतिमाद्यां, द्वितीयां मध्यमे पुनः । महीयसि द्वे अपि च,स प्रायुङ्क्त महामतिः" ।।१।। इत्याहुः। अथ तृतीयकुलकरपञ्चकव्यवस्थामाह-"तत्थ णमित्यादि" । इदं सूत्रं गतार्थं, नवरं धिगित्याक्षेपार्थ एव,तस्य करणमुच्चारणं धिक्कारः। संप्रदायस्त्वयम्-पूर्वनीतिमतिक्रामत्सु तेषु त्रपामर्यादे इव कामुकेषु च धिग्नाम्नीं धिक्कारदण्डनीतिं विदधे, तां च प्रसेनजिदादयश्चत्वारोऽनुकृतवन्तः। महत्यपराधे धिक्कारो, मध्यमजघन्ययोस्तु माकारहाकारावेति । अन्यास्तु परिभाषणाद्या भरतकाले, "परिभासणा उ पढमा, मंडलिबंधम्मि होइ बीआउ । चारगछविछेआई, भरहस्स चउव्विहा नीई"।। इति वचनात्। ऋषभकाले इत्यन्ये। जं० २ वक्ष० ।

अतीतायामुत्सर्पिण्याम्-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे तीयाए उस्सप्पिणीए सत्त कुलगरा होत्था । तं जहा-" मित्तदामे सुदामे य, सुपासे य सयंपभे । विमलघोसे सुघोसे य, महाघोसे य सत्तमे"।। स० । स्था० ।

अतीतायामवसर्पिण्याम्-

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे तीयाए ओसप्पिणीए दस कुलगरा होत्था । तं जहा-"सयंजले सयाऊ य,जियसेणाणंतसेणे य । कज्जसेणे भीमसेणे, महासेणे य सत्तमे" ।। दढरहे दसरहे सयरहे । स० । स्था० ।।

आगमिष्यन्त्यामवसर्पिण्याम्—

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमिस्साए ओसप्पिणीए दस कुलगरा भविस्संति । तं जहा-सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे विमलवाहणे । संमुत्ती पडिस्सुए दढधणू सयधणू दसधणू । स्था० १० ठा० ।

आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्याम्-

जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए सत्त कुलगरा भविस्संति। तं जहा-"मित्तवाहण सुभोमे य,

सुप्पभे य सयंपभे । दत्ते सुहुमे सुबंधू य, आगमिस्सेण होक्खई "॥ १ ॥ स्था० ७ ठा० ।

आगमिष्यन्त्यामुत्सर्पिण्यामैरवते–

जंबुद्दीवे णं दीवे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए एरवए वासे दस कुलगरा जविस्संति । तं जहा–विमलवाहणे सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे दढधणू दढधणू सयधणू पडिसुई सुमई ति । स० ॥

कुलक (ग) रइत्थी–कुलकरस्त्री–स्त्री० । कुलकरपत्नीषु, " चंदजस चंदकंता, सुरूप पडिरूव चक्खुकंता य । सिरिकंता मरुदेवी, कुलकरइत्थीण णामाई ॥ १ ॥ " स्था० ७ ठा० ।

कुलक (ग) रगंडिया–कुलकरगण्डिका–स्त्री० । कुलकरवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां वाक्यपद्धतौ, यत्र कुलकराणां विमलवाहनादीनां पूर्वजन्माभिधीयते । स० ।

कुलक (ग) रवंस–कुलकरवंश–पुं० । कुलकराणां प्रवाहे अन्वये, तत्प्रतिपादकत्वात् प्रवचने च । स० ।

कुलकहा–कुलकथा–स्त्री० । स्त्रीणां कुलप्रशंसायाम, यथा–"अहो चौलुक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोऽधिकम् । पत्युर्मृत्यौ विशन्त्यग्नौ, याः प्रेमरहिता अपि ॥१॥ " प्रश्न० ४ संब० द्वार ।

कुलकित्तिकर–कुलकीर्तिकर–त्रि० । कुलख्याति (एकदिग्गामिप्रसिद्धि) करे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । कल्प० ।

कुलकेउ–कुलकेतु–त्रि० । केतुः चिह्नं ध्वज इत्यनर्थान्तरम, केतुरिव केतुरद्भुतत्वात्, कुलस्य केतुः कुलकेतुः । भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । कुलेऽत्यद्भुते, कल्प० ३ क्षण ।

कुलकोडी–कुलकोटि (टी)–स्त्री० । एकेन्द्रियादीनां जातिविशेषे, यथा द्वीन्द्रियाणां गोमये उत्पद्यमानानां कृम्याद्यनेकाकाराणि कुलानि । स्था० १० ठा० ।

इदानीं " कुलकोडीणं संखा जीवाणं ति " पञ्चाशदधिकशततमं द्वारमाह–

बारस सत्त य तिन्नि य, सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं ।
नेया पुढविदगागणि–वाऊणं चेव परिसंखा ॥ ८७७ ॥

पृथिव्युदकाग्निवायूनामेव कुलान्याश्रित्य परिसंख्यानं परिसंख्या यथाक्रमं ज्ञेया । तद्यथा–द्वादश कुलकोटिशतसहस्राणि लक्षाः पृथिवीकायिकानां, सप्त उदकजीवानां, त्रीण्यग्निकायिकानां, वायूनां पुनः सप्तैव कुलकोटिशतसहस्राणि ।

कुलकोडिसयसहस्सा, सत्तऽट्ठ य नव य अट्ठवीसं च ।
बेइंदिअतेइंदिअ–चतुरिंदियहरियकायाणं ॥ ८७८ ॥

अत्रापि यथासंख्येन योजना–द्वीन्द्रियाणां सप्त कुलकोटिशतसहस्राणि, अष्टौ त्रीन्द्रियाणाम, नव चतुरिन्द्रियाणाम्, अष्टाविंशतिर्हरितकायिकानां समस्तवनस्पतिकायिकानाम् ।

अद्धतेरस बारस, दस दस नव चेव सयसहस्साइं ।
जलयरपक्खिचउप्पय–उरभुयसप्पाण परिसंखा ॥ ८७९ ॥

अत्रापि यथाक्रमं पदघटना । जले चरन्ति पर्यटन्तीति जलचराः, मत्स्यमकरादयः, तेषामर्द्धत्रयोदशकुलकोटिशतसहस्राणि, सार्द्धद्वादश कुलकोटिलक्षा इत्यर्थः । पक्षिणां केकिकाकादीनां द्वादश, चतुष्पदानां गजगर्दभादीनां दश, उरःपरिसर्पाणां भुजङ्गादीनां दश, भुजपरिसर्पाणां गोधानकुलादीनां नव कुलकोटिलक्षाणि भवन्ति ।

छब्बीसा पणवीसा, सुरनेरइयाण सयसहस्साइं ।
बारस य सयसहस्सा, कुलकोडीणं मणुस्साणं॥ ८८० ॥

षड्विंशतिर्देवानां, पञ्चविंशतिः नारकिणां, मनुष्याणां पुनर्द्वादश कुलकोटीनां शतसहस्राणि भवन्ति ।

अथ पूर्वोक्तानामेव कुलानां सर्वसंख्यामाह–

एगा कोडाकोडी, सत्ताणउई जवे सयसहस्सा ।
पन्नासं च सहस्सा, कुलकोडीणं मुणेयव्वा ॥ ८८१ ॥

सर्वसंख्यया एका कुलकोटिकोटिः सप्तनवतिकुलकोटीनां शतसहस्राणि पञ्चाशच्च सहस्राः कुलकोटीनां ज्ञातव्याः । प्रव० १५१ द्वार ।

चउरिंदियाणं नव जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा पम्मत्ता । भुयगपरिसप्पथलयरपंचिंदियातिरिक्खजोणियाणं नव जाइकुलकोडिजोणिपमुहसयसहस्सा पम्मत्ता ॥

" नव जाईत्यादि " । चतुरिन्द्रियाणां जातौ यानि कुलकोटीनां योनिप्रमुखानां योनिद्वाराणां शतसहस्राणि तानि तथा भुजैर्गच्छन्तीति भुजगा गोधादय इति । स्था० ६ ठा० ।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दस जाइकुलकोडिजोणिपमुहसयसहस्सा पम्मत्ता । उरपरिसप्पथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं दस जाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्सा पम्मत्ता ॥

" चउप्पए " इत्यादि । चत्वारि पदानि पादा येषां ते चतुष्पदाः, ते च ते स्थले चरन्तीति स्थलचराश्चेति चतुष्पदस्थलचराः, ते च ते पञ्चेन्द्रियाश्चेति विग्रहः । पुनस्तिर्यग्योनिकाश्चेति कर्मधारयः, तेषां दशेति दशैव, जातौ पञ्चेन्द्रियजातौ, यानि कुलकोटीनां जातिविशेषलक्षणानां योनिप्रमुखानि उत्पत्तिस्थानद्वारकाणि शतसहस्राणि लक्षाणि तानि तथा प्रज्ञप्तानि सर्वविद्भिः । तत्र योनिर्यथा–गोमयो द्वीन्द्रियाणामुत्पत्तिस्थानमङ्कुलानि तत्रैकत्रापि द्वीन्द्रियाणां कृम्याद्यनेकाकाराणि प्रतीतानि । तथा उरसा वक्षसा परिसर्पन्ति संचरन्तीत्युरःपरिसर्पास्ते च ते स्थलचराश्चेत्यादि । स्था० १० ठा० ।

आचाराङ्गप्रथमाध्ययनषष्ठोद्देशकवृत्तौ–" कुलकोडिसयसहस्सा, बत्तीसमट्ठनव य पणवीसा । एगिंदियवितेइंदिय–चउरिंदिअ हरिअकायाणं"॥१॥ अत्र गाथायां पृथिव्यादिचतुर्णां कुलकोटिलक्षा द्वात्रिंशद्वनस्पतिकायानां पञ्चविंशतिकुलकोटिलक्षाः । संग्रहण्यां तु–"एगिंदिएसु पंचसु, बारसगतिसत्तअट्ठवीसा य" इति । अत्र चतुर्णां पृथ्व्यादीनां द्वादशसप्तत्रिसप्तमीलने एकोनत्रिंशत्कुलकोटिलक्षा भवन्ति । आचाराङ्गवृत्तौ तु पृथिव्यादीनां पृथक् २ कति कुलकोटिलक्षा इति सम्यक् प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरं तु आचाराङ्गोक्तपृथिव्यादीनां चतुर्णां द्वात्रिंशत्कुलकोटिलक्षेषु प्रत्येकं व्यक्तिर्नोपलभ्यत इति । प्र० १६ । सेन० ४०२ उल्ला० ।

तथा-कुलकोटीमध्ये एककुलस्य कियन्तः पुरुषाः सन्ति,उत्तम-मध्यमजघन्यभेदजाश्च कियन्त इति प्रश्ने, उत्तरम-अधाधिकशतपुरुषा एककुलमध्ये भवन्तीति प्रसिद्धिरस्ति इति, परम उत्तममध्यमजघन्यभेदास्ते ज्ञाता न सन्ति; तथा एतस्य व्यक्ताक्षराणि शास्त्रे न दृष्टानीति । ४६८ प्र० । सेन०प्र०३ उल्ला०।

कुलक्ख-कुलक्ष-पुं० । अनार्यक्षेत्रभेदे, तद्वासिनि जने च । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कुलक्खय-कुलक्षय-पुं० । कुलनाशे, जी० ३ प्रति० ।

कुलगणसंघवज्झ-कुलगणसङ्घबाह्य-त्रि० । कुलगणसङ्घेभ्य आर्हतसमुदायविशेषलक्षणेभ्यो बहिष्कृते, तत्र येषु कृत्येषु कुलगणसङ्घबाह्यः क्रियते तानि-

गुरुं पडिसूरेज्जा, अन्नं वा गणहराइयं कहिं वि हीलिज्जा, गच्छायारं वा संघायारं वा वंदणपडिक्कमणमाइमंडलीधम्मं वा अइक्कामेज्जा, अविहीए पव्वावेज्ज वा, उवसग्गस्स वा उवट्ठावेज्ज वा सुत्तं वा अत्थं वा उजयं वा परूवेज्ज अविहीए सारेज्ज वा वारिज्ज वा चाएज्ज वा विहीए वा सारणवारणचोयणं ण करेज्जा उम्मग्गपट्ठियस्स वा, जहाविहीए जाव णं सयलजणसन्निज्जं परिवामीए ण जामेज्जा हियं भासं सपक्खगुणावहं; एतेसुं सव्वेसुं पत्तेगं कुलगणसंघवज्झो; कुलगणसंघवज्झीकयस्स णं अचंतघोरवीरतवाणुट्ठाणं भिरयस्स वि ण गोयमा ! अणुप्पेहं, तम्हा कुलगणसंघवज्झीकयस्स णं खणखणद्धमिगं वा ण चिट्ठेयव्वं ति । महा० ७ अ० ।

कुलघर-कुलगृह-न० । पितृगृहे, औ० ।

कुलघररक्खिय-कुलगृहरक्षित-त्रि० । पितृगृहरक्षिते, औ० ।

कुलजसकर-कुलयशस्कर-त्रि० । कुलस्य सर्वदिग्गामिख्यातिकरे, "एकदिग्गामिनी कीर्तिः, सर्वदिग्गामि वै यशः" इति वचनात् । कल्प० ३ क्षण । भ० । ज्ञा० ।

कुलजुअ-कुलयुत-पुं० । कुलं पैतृकं, तथा च लोके व्यवहारः-इक्ष्वाकुकुलजोऽयमित्यादि, तेन युतः । कुलीने, कुलयुतः सूरिः प्रतिपन्नार्थनिर्वाहको भवति । द्वितीयगुणवत्त्वं तस्य । प्रव० ६४ द्वार ।

कुलजोगि (ण्)-कुलयोगिन्-पुं० । योगिकुलजाते योगिनि, तल्लक्षणं चेदम्-

ये योगिनां कुले जाता-स्तद्धर्मानुगताश्च ये ।
कुलयोगिन उच्यन्ते, गोत्रवन्तोऽपि नापरे ॥ २१ ॥

(ये इति) योगिनां कुले जाता लब्धजन्मानः, तद्धर्मानुगताश्च योगिधर्मानुसरणवन्तश्च ये प्रकृत्याऽन्येऽपि ते कुलयोगिन उच्यन्ते । द्रव्यतो भावतश्च गोत्रवन्तोऽपि सामान्येन कर्मभूमिभव्या अपि नाऽपरे कुलयोगिन इति ॥ २१ ॥

सर्वत्राद्वेषिणश्चैते, गुरुदेवद्विजप्रियाः ।
दयालवो विनीताश्च, बोधवन्तो जितेन्द्रियाः ॥ २२ ॥

(सर्वत्रेति) एते च तथाविधाग्रहाभावेन सर्वत्राद्वेषिणः, तथा धर्मप्रभावाद् यथास्वाचारं गुर्वादिप्रियाः, तथा प्रकृत्या क्लिष्टपापाभावेन दयालवः विनीताश्च कुशलानुबन्धिभव्यतया बोधवन्तो ग्रन्थिभेदेन जितेन्द्रियाश्चारित्रभावेन । द्वा० १६ द्वा० ।

कुलडा-कुलटा-स्त्री० । कुलात् कुलान्तरमटति अट अच् शक० पररूपम । स्वैरिण्यां वेश्यास्त्रियाम, बृ० १ उ० । या तु भिक्षार्थं कुलमटति सा कुलाटा इति न शक० इतिभेदः । वाच० ।

कुलणंदिकर-कुलनन्दिकर-त्रि० । कुलस्य नन्दिर्वृद्धिस्तत्करः । कल्प० ३ क्षण । कुलवृद्धिकरे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कुलसमृद्धिहेतौ, भ० ११ श० ११ उ० ।

कुलणाम (ण्)-कुलनामन्-न० । कुलमाश्रित्य क्रियमाणे नामस्थापने, अनु० ।

से किं तं कुलनामे ? कुलनामे उग्गे भोगे रायणे खत्तिए इक्खागे णाते कोरवे, सेत्तं कुलनामे ।

" से किं तं कुलनामे " इत्यादि । यो यस्मिन्नुग्रादिकुले जातस्तस्य तदेवोग्रादिकुलनाम स्थाप्यमानं कुलस्थापनानामोच्यत इति भावार्थः । अनु० ।

कुलतंतु-कुलतन्तु-पुं० । ६ त० । कुलसन्ताने, व्य० ६ उ० । कुलस्य तन्तुरिव । कुलावलम्बने, वाच० ।

कुलतिलग (य)-कुलतिलक-त्रि० । कुलस्य भूषकत्वादविशेषके, भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० ।

कुलत्थ-कुलत्थ-पुं० । कुलं भूतलं सन् तिष्ठति स्था-क-पृषो० । वाच० । धान्यभेदे, प्रव० १५६ द्वार । प्रज्ञा० । जं० । आचा० । कुलत्थाश्च पत्रकलुत्थाश्चिपिटा भवन्ति । जं० २ वक्ष० । भ० । " कुलत्था चवलगसरिसा चिप्पमिया भवंति " स्था० ५ ठा० ३ उ० । वाच० । वनकुलत्थे, स्त्री० टाप् ।

तत्पर्यायादि उक्तम्-

"कुलत्थिका कुलत्थश्च, कथ्यन्ते तद्गुणा अथ ।
कुलत्थः कटुकः पाके, कषायो रक्तपित्तकृत् ॥
लघुर्विदाही वीर्योष्णः, श्वासकासकफानिलान् ।
हन्ति हिक्काश्मरीशुक्र-दाहानाहान् सपीनसान् ॥
स्वेदसंग्राहको मेदो, ज्वरकृमिहरः परः ॥ "

कुलत्थिकेति निर्देशात् स्त्रीत्वमपि । सा च उपचारात् तदुत्थाञ्जने, वनकुलत्थायाम्, स्त्री० । " कुलाली लोचनहिता चक्षुष्या कुम्भकारिका । (कुलत्थिकेति)वनकुलत्थापरपर्याये उक्ते स्वार्थे कः तत्रैवार्थे कुलत्थे,सञ्ज्ञायां कन् । कुलत्थाञ्जनाकारप्रस्तरभेदे, वाच० ।

कुलस्थ-त्रि० । कुले तिष्ठन्तीति कुलस्थाः। कुलीने,नि० ३ वर्ग । ज्ञा० । " कुलत्था ते भंते ! भक्खेया अभक्खेया ? । सोमिला ! कुलत्था मे भक्खेया वि अभक्खेया वि । " भ० १८ श० १० उ० । (सोमिलादिशब्देषु वक्ष्यते)

कुलत्थेर-कुलस्थविर-पुं० । पं० चू० ।

चरणकरणे समग्गो, जो जत्थ जदा कुलप्पहाणो तु ।
सो होति कुलत्थेरो, कुलचरित्तवियारओ धीरो ।
पासत्थोसन्नकुसी-लट्ठाणपरिरक्खितो दुपक्खे वि ।
सो होति कुलत्थेरो, कुलथेरगुणेहिँ उववेदो ॥ पं० भा० ।

कुलगणसंपउत्तो पुण सो कुलत्थेरो होइ चरणकरणसमग्गो समग्र उपपेत इत्यर्थः । अहवा-चरणकरणानां सामग्री यो

यदा यस्मिन् कुले प्रधानः, एवंगुणसमन्वागतः स भवान् कुलस्थविरो भवति, कुलाचारविहिन्नू पासत्थाइठाणपरिक्खणा अप्पणं च परं च परिरक्खइ सो कुलथेरो भवइ । कुलथेरो गुणेहिं उववेओ "। इत्युक्तलक्षणे स्थविरभेदे, पं० चू०।

कुलदिणयर–कुलदिनकर–पुं०। कुले दिनकर इव प्रकाशकत्वात् यः सः। कुलप्रकाशके, कल्प० ३ क्षण।

कुलदीव–कुलदीप–पुं०। कुले दीप इव दीपः प्रकाशकत्वात्। भ०११श० ११ उ०। कुलप्रकाशके, मङ्गलकारके च। कल्प० ३ क्षण। ज्ञा०।

कुलदेवया–कुलदेवता–स्त्री०। कुले पूज्या देवता। कुलक्रमेणोपास्यदेवतायाम्, वाच०। " तत्थंतरस्स कुलदेवया मा अकिज्जुमायरओ वाहेमि त्ति"। आ० म० द्वि०। स्वगृहे कुलदेवताऽभिनिवेशात्। स्था ४ ठा० ३ उ०।

कुलधम्म–कुलधर्म–पुं०। उग्रादिकुलाचारे, कुलं चान्द्रादिकमार्हतानां गच्छसमूहात्मकं तस्य धर्मः। गच्छसामाचार्याम्, स्था० १० ठा०।

कुलपत्त–कुलप्राप्त–न०। सचित्तनिमित्तोऽचित्तनिमित्तो वा यो व्यवहारः कुले क्रियते यथेदं सचित्तादिकं विवादास्पदीभूतं कुलेन छेत्तव्यमिति तत्कुलप्राप्तम्। सचित्तादिके विवादास्पदीभूते व्यवहारेण छेद्यतया कुलं प्राप्ते, व्य० ३ उ०।

कुलपव्वय–कुलपर्वत–पुं०। कुले पर्वत इव कुलपर्वतः अनभिभवनीयः, स्थिराश्रयसाधर्म्यात्। भ० ११ श० ११ उ०। ज्ञा०। कुले अपराभवनीये स्थिरे, कुलस्याधारे, कल्प० ३ क्षण। क्षेत्रमर्यादाकारित्वेन कुलकल्पेषु पर्वतेषु, कुलानि हि लोकानां मर्यादानिबन्धनानि भवन्तीतीह तैरुपमा कृता।

समयक्खेत्ते एगूणचत्तालीसं कुलपव्वया पण्णत्ता। तं जहा– तीसं वासहरा पंच मंदरा चत्तारि उसुकरा।

तत्र वर्षधरास्त्रिंशद्, जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करार्द्धपूर्वापरार्द्धेषु च प्रत्येकं हिमवदादीनां षण्णां भावात्। मन्दराः पञ्चेषुकारा धातकीखण्डपुष्करार्द्धयोः पूर्वेतरविभागकारिणश्चत्वारः, एवमेव एकोनचत्वारिंशदिति। स० ४० सम०।

कुलपायव–कुलपादप–पुं०। छायाकरत्वात् आश्रयत्वाच्च कुलस्य पादप इव वृक्ष इव कुलपादपः। कल्प० ३ क्षण। कुलस्याश्रयणीयच्छाये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। भ०।

कुलपुत्त–कुलपुत्र–पुं०। कुलरक्षकः पुत्रः। वंशधरे पुत्रे, ततः कर्मणि च मनोज्ञा० वुञ् कौलपुत्रकः। तद्भावे, तत्कर्मणि च। न०। वाच०। उत्त० १ अ०। आव०। (एकस्य कुलपुत्रस्य भ्रातृघ्नमोचने क्रोधाऽसत्यताकरणे उदाहरणं ' कोह ' शब्दे वक्ष्यते)

कुलप्पसूअ–कुलप्रसूत–त्रि०। कुले सत्कुले प्रसुतः। सत्कुले जाते, वाच०। " तरिअव्वा व पइन्निआ, मरिअव्वं वा समरे समत्थेणं। असरिसजणउल्लावा, न हु सहिअव्वा कुले पसूएणं॥ " आव० ४ अ०।

कुलवहू–कुलवधू–स्त्री०। कुले गृहे एव स्थिता वधूः। गृहमात्रस्थितायां योषिति, " भूते भूतां भजकुलवधूः क्वापि साध्वी मार्गे। " कुलयोषिदादयोऽप्यत्र। "असंस्कृतप्रमीतानां, त्यागिनां कुलयोषिताम् " वाच०। आव० ४ अ०।

कुलवहूणाय–कुलवधूज्ञात–न०। कुलाङ्गनोदाहरणे, पञ्चा० ११ विव०।

कुलमंडण-कुलमण्डन-पुं०। स्वनामख्याते आचार्ये, स च वि० सं० १४०६ मिते जातः सं० १४१७ मिते देवसुन्दरसूरिपार्श्वे प्रव्रजितः सं० १४४२ मिते सूरिपदे स्थापितः, सिद्धान्तालोकोद्धारविचारसङ्ग्रहनामानौ ग्रन्थौ रचयित्वा सं० १४५५ मिते देवलोकं गतः। जै० इ०।

कुलमय–कुलमद–पुं०। कुलजत्वाभिमाने, " दसहिं ठाणेहिं अहमंतीति थंभेज्जा। तं जहा–जाइमएण वा कुलमएण वा। " स्था० १० ठा०। स०।

कुलमसी–कुलमषी–स्त्री०। कुलमालिन्यहेतौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

कुलमहत्तरिया–कुलमहत्तरिका–स्त्री०। कुले प्रतिष्ठितायां वृद्धस्त्रियाम्, अवतीर्य वरं स्वयमेवाभरणान्युन्मुञ्चति वीरजिनः, तानि कुलमहत्तरिका छिन्नमुक्ताफलप्रकाशान्यश्रूणि विनिर्मुञ्चन्ती हंसलक्षणेन पटशाटकेन प्रतीच्छति। आ० म० द्वि०।

कुलय–कुलज–पुं०। स्त्री०। प्रशस्यकुलजाते, आभिजकुलजाते, पञ्चा० १ विव०। विशिष्टकुलोत्पन्ने, स ह्यङ्गीकृतभारपारगमनं प्रति समर्थो भवतीति तस्य जिनभवनकरणेऽधिकारित्वमादर्शि०।

कुलय–न०। गण्डूषे, ध० २ अधि०।

कुलरोग–कुलरोग–पुं०। कुलव्यापके रोगे, जं० २ वक्ष०।

कुलल–कुलल–पुं०। गृध्रे, उत्त० १४ अ०। शकुनौ, उत्त० १४ अ०। जलाश्रये आमिषजीविनि पक्षिविशेषे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। मार्जारे, "जहा कुक्कुडपोयस्स णिच्चं कुललओ भयं" कुललतो मार्जारात्। दश० ४ अ०।

कुलव–कुड (ल) व–पुं०। मगधदेशप्रसिद्धे धान्यमानविशेषे, रा०। "चउसेइयाओ कुलओ" ओघ०। चतस्रः सेतिकाः कुडवः। अनु०। "पत्थेण व कुलएण व, जह कोइ मिणेज्ज सव्वधन्नाई, " दश० ४ अ०। "तिण्णि व पलाणि कुलवो, करिसद्धं चेव होइ बोधव्वो। चत्तारि चेव कुलवा, पत्थो पुण मागहो होइ॥" इह कुलवो मागधदेशप्रसिद्धो यदा धरिमप्रमाणेन मातुमिष्यते तदा स त्रीणि पलानि, एकस्य च कर्षस्य पलचतुर्भागरूपस्यार्द्धं बोद्धव्यः। ज्यो० २ पाहु०।

कुलवइ–कुलपति–पुं०। "मुनीनां दशसाहस्रं, योऽन्नदानादिपोषणात्। अध्यापयति विप्रर्षि-रसौ कुलपतिः स्मृतः"॥ इति पुराणोक्तलक्षणे मुनिभेदे, वाच०। "स चातिकोपनत्वेन, ख्यातोऽभूच्चण्डकौशिकः। मृते कुलपतौ तत्र, सोऽभूत्कुलपतिस्ततः॥" आ० क०। आ० चू०। वंशश्रेष्ठे च। कुलनायकादयोऽप्यत्र। वाच०।

कुलवंस–कुलवंश–पुं०। क० स०। कुलरूपे वंशे, भ० ११ श० १० उ०।

कुलवंस्य-कुललक्षणे वंश्ये, "आसत्तकामाउं कुलवंसाउ य कामं भोत्तुं परिजाएत्तुं तओ ण होहि।" भ० ९ श० ३३ उ०। कुलवंश्यात् कुललक्षणवंशे भवः कुलवंश्यस्तस्मात्सप्तमं पुरुषं यावदित्यर्थः। भ० ९ श० ३३ उ०। ज्ञा०।

कुलवडिंसय-कुलावतंसक-पुं०। कुले अवतंसक इव मुकुट इव यः सः, शोभाकरत्वात्। कल्प० ३ क्षण। कुलस्यावतंसकः शेखरः उत्तमत्वात्। भ० ११ श० ११ उ०। ज्ञा०।

कुलवद्धण-कुलवर्द्धन-त्रि०। कुलवृद्धिकारके, नामसत्योदाहरणं यथा कुलमवर्द्धयन्नपि कुलवर्द्धन उच्यते इति। स्था० १ ठा०।

कुलविचिकर-कुलवृत्तिकर-त्रि०। कुलस्य वृत्तिर्निर्वाहस्तत्करः। कुलनिर्वाहके, कल्प० ३ क्षण। ज्ञा०।

कुलविवद्धणकर-कुलविवर्द्धनकर-त्रि०। विविधैः प्रकारैर्वर्धनं विवर्धनं तत्करणशीलः कुलस्याऽनेकैः प्रकारैर्वर्द्धके, भ० ११ श० ११ उ०। ज्ञा०। "अम्हं कुलकेउं अम्हं कुलदीवं कुलपव्वयं कुलवडिंसयं कुलतिलयं कुलकित्तिकरं कुलवित्तिकरं कुलदिणयरं कुलआधारं कुलणंदिकरं कुलजसकरं कुलपायवं कुलविवद्धणकरं सुकुमालपाणिपायं जाव दारयं पयाहिसि।" कल्प० ३ क्षण।

कुलविहि-कुलविधि-पुं०। कुलकोटिप्रकारे, "उववायठिइसमुग्घायं च चवणजाई कुलविहीओ" भ० ७ श० ५ उ०।

कुलवेयावच्च-कुलवैयावृत्य-न०। गच्छसमुदायस्य वैयावृत्ये, औ०।

कुलसंताणतंतुवद्धणकर-कुलसन्तानतन्तुवर्द्धनकर-त्रि०। कुलरूपो यः सन्तानः स एव तन्तुर्दीर्घत्वात्तद्वर्धनकरं माङ्गल्यत्वात्तथा। माङ्गल्यत्वात्कुलवर्द्धके, ज्ञ० ८ श० २ उ०।

कुलसंपण्ण-कुलसंपन्न-त्रि०। कुलं पैतृकः पक्षः तत्सम्पन्नः उत्तमपैतृकपक्षयुक्ते, नि०। औ०। रा०। ज्ञा०। स्था०। "जाई कुलसंपन्नो-पावमकिंचन सेवई किंचि। आसेविउं च पच्छा, तग्गुणओ सम्ममालोए॥ ति" स्था० ८ ठा०। गुणवत्पितृकत्वे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

कुलसमय-कुलसमय-पुं०। कुलाचारे, यथा शकानां पितृशुद्धिः, आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

कुलसयणमित्तभेयणकारग-कुलस्वजनमित्रभेदनकारक-त्रि०। वंशज्ञातिसुहृद्विनाशजनके, तं०।

कुलसरिस-कुलसदृश-त्रि०। कुलप्रतियोगिकसादृश्यवति, यथा बलस्य राज्ञः पुत्रस्य महाबल इति नाम। तत्र कुलसदृशं तत्कुलस्य बलवत्पुरुषकुलत्वात् महाबल इति नाम्नश्च बलवदर्थाभिधायकत्वात्। कुलस्य महाबल इति नाम्नश्च सादृश्यमिति। ज्ञ० १० श० ११ उ०।

कुलहेउ-कुलहेतु-पुं०। कुलकारणे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

कुलाजीव-कुलाजीव-पुं०। कुलमुग्रादिकं गुरुकुलं वाऽऽजीवत्युपजीवति तत्कुलजमात्मानं सूचनादिनोपदर्श्य ततो भक्तादिकं गृह्णातीति कुलाजीवः। आजीवभेदे, आजीवपिण्डदोषयुक्तसाधुभेदे, स्था० ४ ठा० २ उ०।

कुलाण-कुलाण-पुं०। लणयोर्विपर्ययः। श्रावस्तीनगरीप्रतिबद्धे देशभेदे, "सावित्थी य कुणाला कोडीवरिसं च लाढा य।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। प्रज्ञा०। नि० चू०।

कुलाणुरूप-कुलानुरूप-त्रि०। कुलोचिते, भ० ११ श० ११ उ०। ज्ञा०।

कुलादिपत्थार-कुलादिप्रस्तार-पुं०। कुलस्य गणस्य वा विनाशे, व्य० ३ उ०।

कुलाय-कुलाय-पुं०। कुलं पक्षिसंघातोऽयतेऽत्र अय घञ्। पक्षिनिलये नीडे, वाच०। "पक्षिणामथमकान्यत्ति, कोऽप्याऽरुह्य फणी तरौ। कुलायमागतः सो हि, गृध्रेण निहितोऽन्यदा॥" आ० क०। स्थानमात्रे, कौ लायो गतिरस्मात्। देहे, न०। वाच०।

कुलायार-कुलाचार-पुं०। कुलसमये, यथा शकानां पितृशुद्धिः, आभीरकाणां मन्थनिकाशुद्धिः। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

कुलायारसमन्निय-कुलाचारसमन्वित-त्रि०। कुलदोषरहिते, व्य० १ उ०।

कुलारिय-कुलार्य-पुं०। कुलं पैतृकः पक्षः तेन आर्यः। अपापा निर्दोषाः कुलार्याः। विशुद्धपितृकेषु, "छव्विहा कुलारिया मणुस्सा पण्णत्ता। तं जहा-उग्गा भोगा राइन्ना इक्खागा णाया कोरवा।" स्था० ३ ठा० १ उ०।

कुलाल-कुलाल-पुं०। स्त्री०। कुल कालन अल् अण् कुलमालाति आ ला क वा। वाच०। कुम्भकारे, उपा० ७ अ०। को०। कर्म०। कुक्कुभपक्षिणि, जातित्वात्स्त्रियां ङीप्। ततस्तेन कृतमित्यर्थे संज्ञायां कुलालात्। वुञ् कौलालकः। तत्कृते शरावादौ, त्रि०। वाच०।

कुलालय-कुलाट-पुं०। कुलानि गृहाण्याभिक्षान्वेषणार्थिनो नित्यं येऽटन्ति ते कुलाटाः। मार्जारेषु, कुलाटा इव कुलाटाः। ब्राह्मणेषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

कुलालय-पुं०। कुलानि क्षत्रियादिगृहाणि तानि नित्यं पिण्डपातान्वेषिणां परतर्कुणामालयो येषां ते कुलालयाः। क्षत्रियादिगृहे नित्यं भिक्षां याचमानेषु, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। "सिणायगाणं तु दुवे सहस्से जे भोयए णितिए कुलालयाणं"। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

कुलिंग-कुलिङ्ग-न०। कुत्सितं लिङ्गं कुलिङ्गम्। शिवसुखाऽसाधके, दर्श०। तापसपरिव्राजकादीनां स्वरुचिविरचिताकारे, आ० चू० १ अ०। आ० म०। कुतीर्थिनि, पुं०। आ० म० द्वि०।

कुलिंगाल-कुलाङ्गार-पुं०। कुलस्य स्वगोत्रस्याङ्गार इवाङ्गारो दूषकत्वादुपतापकत्वाद् वा। कण्डरीककल्पे सुतभेदे, कूलवालुकतुल्ये उदायिनृपमारकसदृशे वा शिष्यभेदे च। स्था० ४ ठा० १ उ०।

कुलिंगि(ण्)-कुलिङ्गिन्-पुं०। कुत्सितो लिङ्गी कुलिङ्गी। विशे०। कुत्सितं लिङ्गं कुलिङ्गं शिवसुखसाधकं, तद्विद्यते येषां ते कुलिङ्गिनः। स्वरुच्याचारचिताकाराचारेषु त्रिदण्डिबौद्धतापससरजस्कादिषु, "गिहिलिंगि कुलिंगी य दव्वलिंगिणो तिन्नि हुंति भवमग्गा।" दर्श०। कुतीर्थिकेषु, प्रश्न० २ आश्र० द्वार। कुत्सितानि लिङ्गानि इन्द्रियाणि यस्याऽसौ कुलिङ्गी। द्वीन्द्रियादौ, "कुलिंगी मरिज्ज तं जोगमासज्ज।" ओघ०।

चोदगाह-किं वुत्तं कुलिंगो काणि वा लिंगाणि को वा लिंगी-

कुत्थियलिंग कुलिंगी, जस्स व पंचेंदिया असंपुण्णा ।
लिंगिंदियाइं आता-उ लिंगं तो घिप्पते तेहिं ॥६६॥

कुसद्दो अणिट्ठवादी, कुत्सितेन्द्रिय इत्यर्थः । सेसं कंठं । (जस्सेत्ति) जस्स पाणिणो (पंचिंदिया असंपुण्ण त्ति) अत्थि पंचिंदिया, किं तर्हि असंपुण्णा, जहा असंणिणो परिफुडत्थपरिच्छेदणो ण भवंति त्ति भणियं भवति,एरिसे अत्थे एयं वयणं ण भवति, इमं तु पंच ण कज्जंति त्ति भणियं भवति,द्वीन्द्रियादारभ्य यावत् चतुरिन्द्रिय इत्यर्थः । सो कुलिंगी, लिङ्गमिति जीवस्य लक्षणं, यथा अप्रत्यक्षोऽप्यग्निर्धूमेन लिङ्ग्यते ज्ञायत इत्यर्थः । एवं लिंगाणिंदियाणि अतो आत्मा लिङ्गमस्यास्तीति लिङ्गी, आत्मा लिंगी कहं घेप्पते, तेहिं इन्द्रियैरित्यर्थः । नि० चू० १ उ० ।

कुलिय-कुलिक-त्रि० । कुलमधीनत्वेन प्राशस्त्येन वाऽस्त्यस्य ठन् । कुलश्रेष्ठे, शिल्पप्रधाने, शाकभेदे पुं० । वाच० । हलविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अधोनिबद्धतिर्यक्कृतीक्ष्णलोहपट्टिकं कुलिकं लघुतरं काष्ठं तृणादिच्छेदार्थं यत् क्षेत्रे वाह्यते तन्मरुमण्डलादिप्रसिद्धं कुलिकमुच्यते । अनु० । दन्तान्तरालवर्त्तिन्यक्कृतकाष्ठे उभयपार्श्वनिखातकाष्ठमयकीलकयोस्तिर्यग्व्यवस्थापिततीक्ष्णलोहपट्टकं हरितादिच्छेदनार्थं क्षेत्रेषु यद्वाह्यते तद्वाटादिकप्रबलप्रतीतं वेदितव्यम् । विशे० । कुलितं णाम सुरट्ठा वि सते दुहत्थप्पमाणं कट्ठं,तस्स अंते अयखीलगा, तेसु पगयाओ पगहारो य लोहपट्टो अभिज्जाति सो जावति तं दोच्चादि तणं तं सव्वं छिंदंतो गच्छति,एयं कुलियं । नि० चू० १ उ० । आचा० । कुड्य-न० । भित्तौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । नि० चू० । इष्टकादिरचिता भित्तिः,मृत्पिण्डादिनिर्मितं कुड्यम् । बृ० २ उ० ।

कुलियकम-कुलिकाकृत-त्रि० । कुड्यालीने कुड्ये स्थापिते, बृ० २ उ० ।

कुलिया-कुलिका-स्त्री० । कुड्ये, बृ० २ उ० ।

कुलिव्वत-कुलिवत्-त्रि० । समानकुलोद्भवे, "अहवा कुलिव्वतो उप्पव्वज्जा एगपक्खीओ ।" बृ०४ उ० । कुलसत्के, "दोण्हं बहूणं च पिमए कुलिव्वमंतं जयणिधारे" (कुलिव्वमंतं ति) कुलसत्कमन्यसामाचारीमभिधारयति । व्य० ४ उ० ।

कुलीण-कुलीन-पुं० । स्त्री० । कुले खः । विशुद्धकुलोत्पन्ने, बृ० १ उ० । सत्कुलजे हये,स्त्रियां ङीप् । कौ पृथिव्यां लीनः । भूमिलग्ने, त्रि० । संज्ञायां कन् । वाच० ।

कुलोवकुल-कुलोपकुल-न० । कुलानामुपकुलानां चाधस्तने नक्षत्रे, चं० प्र० १० पाहु० । सू० प्र० । जं० । (तानि च 'कुल' शब्देऽत्रैव भागे ५०२ पृष्ठे दर्शितानि)

कुल्ल-कुल्य-न० । कुल-क्यप् । "सर्वत्र लवरामवन्द्रे" । ८ । २ । ७९ । इति लकारादधःस्थस्य यस्य लोपः । अस्थि, प्रा० २ पाद । अष्टद्रोणपरिमाणे शूर्पे, आमिषे च । कुले भवः यत् । कुलजाते, मान्ये च । त्रि० । कुलाय हितं यत् । कुलहिते, त्रि० । कुल्यायां भवः यत्, यलोपः । कुल्याभवे, त्रि० । वाच० ।

कुल्ला-कुल्या-स्त्री० । कुल्य टाप् । "सर्वत्र लवरामवन्द्रे" । ८ । २ । ७९ । इति लकारादधस्थस्य यस्य लोपः । प्रा० २ पाद । कृत्रिमायां नद्याम, पयःप्रणाल्याम्, जीवन्त्यामौषध्यां, नदीमात्रे च । स्त्री० । वाच० ।

कुल्लाग-कुल्लाग-पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र धम्मिल्लविप्रस्य भद्दिलाभार्यायां सुधर्मा स्वामी जज्ञे । कल्प० ८ क्षण ।

कुल्लुमिया-कुल्लुमिका-स्त्री० । घटिकायाम, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

कुवणय-देशी-लकुटे, बृ० १ उ० ।

कुवल-कुवल-न० । कौ वलति वल्-अच् । उत्पले, मुक्ताफले च । बदर्याम, "षिद्गौरादिभ्यश्च" ४ । १ । ४१ । इति (पाणि०) ङीष् । तस्याः फलम, अण् लुक् । बदरीफले, न० । कौ वलनात् जले, सर्पोदरे च । न० । "कुवलं जुवलनाम वाबवुद्धा,ताण वि जेण समाधी तत्कर्तव्यमिति" । नि०चू०१ उ० ।

कुवलय-कुवलय-न० । कोर्वलयमिव शोभाहेतुत्वात् । उत्पले, वाच० । नीलोत्पले, चं० प्र० १ पाहु० । रा० । प्रश्न० । ज्ञा० । जी० । स्था० । चन्द्रविकाशिनि कमले, कल्प०३ क्षण । को० ।

कुवलयदलसाम-कुवलयदलश्याम-पुं० । नीलोत्पलदलसदृशे श्यामले,जं० ३ वक्ष० ।

कुवलयप्पभ (ह)-कुवलयप्रभ-पुं० । पापमतिलिङ्गमात्रोपजीविसाधुकृतसावद्याचार्येत्यपरनामके मरकतच्छवौ तपस्विनि उग्रविहारिणि आचार्यभेदे, यो हि चारित्रभ्रष्टैः स्वाजिमतचैत्यालयसंपादनायाऽर्थितः, वक्तव्येऽपि पापमित्युक्त्वा भवं तीर्णवान्, भ्रष्टैश्च कुपितैः सावद्याचार्य इति प्रथां नीतः । प्रति० । ग० । (कथानकं च 'सावज्जायरिय' शब्दे भावयिष्यामि)

कुवलयायरिय-कुवलयाचार्य-पुं० । पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् कुवलयप्रभाचार्यः । सावद्याचार्ये, "भ्रष्टैश्चैत्यकृतेऽर्थितः कुवलयाचार्यो जिनेन्द्रालये । यद्यप्यस्ति तथाऽप्यदः सतम इत्युक्त्वा भवं तीर्णवान्" । प्रति० ।

कुवसहि-कुवसति-स्त्री० । अमनोज्ञे वासस्थाने, "कुमोयणकुवाससाकुवसहीसु किलिस्संता नेव सुहं नेवं निव्वुइं उवलभंति" । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

कुवाइ (ण्)-कुवादिन्-त्रि० । कुत्सितवादिनि, एकांशग्राहकनयानुयायिनि अन्यतीर्थिके, स्या० । "छन्यास्तिकरथारूढः, पर्यायोद्यतकार्मुकः । युक्तिसन्नाहवान् वादी, कुवादिभ्यो भवत्यलम ॥१॥" सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

कुवाइकुरंगसंतासणसीहणाद-कुवादिकुरङ्गसंत्रासनसिंहनाद-पुं० । कुवादिनः कुत्सितवादिन एकांशग्राहकनयानुयायिनोऽन्यतीर्थिकास्त एव संसारवनगहनवसनव्यसनितया कुरङ्गा मृगाः,तेषां सम्यक् त्रासने सिंहनादा इव सिंहनादाः । जिनवचनेषु,यथा सिंहस्य नादमात्रमप्याकर्ण्य कुरङ्गास्त्रासमासूत्रयन्ति तथा भगवद्जिनप्रणीतैवंप्रकारप्रमाणवचनान्यपि श्रुत्वा कुवादिनस्त्रासतामङ्गुवते, प्रतिवचनप्रदानकातरतां बिभ्रतीति यावत् । "अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् । इति प्रमाणान्यपि ते कुवादि-कुरङ्गसंत्रासनसिंहनादाः" ॥ २२ ॥ स्या० ।

कुव्वावारपोसह-कुव्यापारपोषध-पुं० । देशत एकतरस्य कस्यापि कुव्यापारस्याकरणे, सर्वतस्तु सर्वेषां कृषिसेवापाशुपाल्यगृहकर्मादीनामकरणे, ध० २ अधि० ।

कुवास-कुवासस्-त्रि० । ब० स० । मलिनजीर्णवस्त्रावृते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

कुविंद-कुविन्द-पुं० । स्त्री० । कुं भुवं कुत्सितं विन्दति विद् शः । तन्तुवाये, वाच० । प्रज्ञा० १ पद । स्था० ।

कुविंदवल्ली-कुविन्दवल्ली-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

कुवित्ति-कुवृत्ति-स्त्री० । कुगति० समा० । निन्दिताचरणे, ईषद्वरणे च । ब० व० । तद्युक्ते, त्रि० । वाच० । अनु० ।

कुविय-कुपित-त्रि० । प्रवृद्धकोपोदये, विपा० १ श्रु० २ अ० । ज्ञा० । जातकोपोदये, ज० ३ श० १ उ० । कोपं गते, तं० । कोपवति, विपा० १ श्रु० ८ अ० । कृतकोपे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । "आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए" । उत्त० १ अ० । कुपितमिति सकोपमनुशासनौदासीनतादिभिः । " पुरिसजाए वि तहा, विणीयविणयम्मि णत्थि अहिओगो । सेसम्मि उ अहिओगो, जणवयजाए जहा आसे ॥ " इत्यागमात् कृतबहिष्कोपं वा । उत्त० १ अ० । आ० म० ।

कुप्य-न० । आसनशयनभाण्डकरोटकलोहाद्युपस्करजाते, आव० ६ अ० । ध० । " कुवियं घरोवक्खरकणगवारसलोहीकमाहगादि णाणाविहं" आ० चू० ६ अ० । "लोहाइउवक्खरो कुप्पं" लोहादि उपस्करः कुप्यमुच्यते । तत्र लोहोपस्करो लोहकवल्ली कुद्दालिकाकुठारादिकः, आदिशब्दान्मार्त्तिकोपस्करो घटादिकः, कांस्योपस्करः स्थालकच्चोलकादिक इत्यादिकः सर्वोऽपि परिगृह्यते । वृ० १ उ० ।

कुवियपमाणाइक्कम-कुप्यप्रमाणातिक्रम-पुं० । गृहोपस्करस्य स्थालकच्चोलकादेः प्रत्याख्यानकालगृहीतप्रमाणोल्लङ्घने, उपा० १ अ० । अयं च इच्छापरिमाणस्य पञ्चमोऽतिचारोऽनाभोगादिना अथवा पञ्चैव स्थालानि परिगृहीतव्यानीत्यभिग्रहवतः कस्याप्यधिकतराणां तेषां संपत्तौ प्रत्येकं द्वयादिमीलनेन पूर्वसंख्यावस्थापनेनातिचारोऽयमिति । उपा० १ अ० । आव० ।

कुवियफुंफुगा-कुपितफुंफुगा-स्त्री० । घट्टितकुकूलायाम्, " सिंगाररसुत्तइया, मोहकुवियफुंफुगा हसहसिंति । जं सुणमाणस्स कहं, समणेण न सा कहेयव्वा ॥२१८॥ " दश० ३ अ० ।

कुवियसाला-कुपितशाला-स्त्री० । तल्पादिगृहोपस्करणशालायाम्, प्रश्न० ३ संब० द्वार ।

कुवुट्ठि-कुवृष्टि-स्त्री० । कुत्सिता वृष्टिः कुवृष्टिः । कर्षकजनानभिलषणीयायां वृष्टौ, जं० १ वक्ष० ।

कुवेज्ज-कुवैद्य-पुं० । कुगति० स० । दुर्भिषजि, पञ्चा० १५ विव० । तल्लक्षणदोषादिकं सुश्रुते उक्तम्, यथा-

" यस्तु केवलशास्त्रज्ञः, कर्मस्वपरिनिष्ठितः ।
स मुह्यत्यातुरं प्राप्य, प्राप्य भीरुरिवाऽऽहवम् ॥
यस्तु कर्मसु निष्णातो, धार्ष्ट्याच्छास्त्रबहिष्कृतः ।
स सत्सु पूजां नाप्नोति, वधं चार्हति राजतः ॥
उभावेतावनिपुणा-वसमर्थौ स्वकर्मणि ।
अर्द्धवेदधरावेता-वेकपक्षाविव द्विजौ ॥
ओषध्योऽमृतकल्पास्ते, शस्त्राशनिविषोपमाः ।
भवन्त्यज्ञैरुपहता-स्तस्मादेतौ विवर्जयेत् ॥
छेद्यादिष्वनभिज्ञो यः, स्नेहादिषु च कर्मसु ।
स निहन्ति जनं लोभात्, कुवैद्यो नृपदोषतः ॥
यस्तूभयज्ञो मतिमान्, स समर्थोऽर्थसाधने ।
आहवे कर्म निर्वोढुं, द्विचक्रः स्यन्दनो यथा "॥ वाच० ।

कुवेज्जकिरियादिणाय-कुवैद्यक्रियादिज्ञात-न० । दुर्भिषक्प्रवर्तितरोगचिकित्साप्रभृत्युदाहरणे, " इहरा विवज्जओ वि हु, कुवेज्जकिरियादिणायतो णेओ । अवि होज्ज तत्थ सिद्धी, आणाभंगो न उ य तत्थ ॥" आदिशब्दाद्विधिविद्यासाधनादिपरिग्रहः । पञ्चा० १५ विव० ।

कुवेणि (णी)-कुवेणि (णी)-स्त्री० । कु ईषत् वेणन्ते मत्स्याः अत्र । वेण इन् । वा ङीप् । मत्स्यधान्याम्, वाच० । " तो ण कुवेणा पीढा " कुवेणयत्र रूढिगम्या । प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

कुवेरग्ग-कुवैराग्य-न० । दुःखगर्भमोहगर्भवैराग्ये, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

कुव्वकारिया-कुर्वत्कारिका-स्त्री० । गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

कुव्वमाण-कुर्वत्-त्रि० । विदधति, " आहेवच्चं पोरेवच्चं जाव कुव्वमाणे विहरइ " प्रज्ञा० २ पद । आचरति, आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ उ० ।

कुव्वय-कुव्रत-न० । कुत्सिते व्रते, " गोव्वदियादि सावेक्खिया पचग्गितावया पंचगव्वासणिया पवमादिया सव्वे कुव्वया " नि० चू० ११ उ० ।

कुस-कुश-पुं० । कौ शेते शी-कः । कुं पापं श्यति शो ड वा । " श-षोः सः " । ८ । १ । २६० । इति शस्य सः । प्रा० १ पाद । वाच० दर्भे, उत्त० १२ अ० । ज्ञा० । दर्भविशेषे, उत्त० ७ अ० । निर्मूलदर्भे, भ० ८ श० ६ उ० । दर्भाः समूलाः, कुशाः निर्मूलाः । विपा० १ श्रु० ६ अ० । नि० । कुशैर्दर्भैरवच्छिन्नमूलैः । भ० ५ श० ६ उ० । औ० । ' कुसो दब्भो ' नि० चू० १ उ० । ज० । आचा० । प्रज्ञा० । कुशनामके श्रीरामसुते, पुं० । जले, न० । सर्पोदरे, वाच० । वेधप्रोते काष्ठे, कुशो यो वेधप्रोतः प्रवेश्यते । वृ० १ उ० ।

कुसंघयण-कुसंहनन-त्रि० । छेदवर्त्या संहननयुक्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । सेवाऽऽर्त्तसंहनने, भ० ७ श० ६ उ० । जं० । बलविकले, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

कुसंठिय-कुसंस्थित-त्रि० । हुण्डादिसंस्थाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । दुःसंस्थाने, भ० ७ श० ६ उ० ।

कुसंत-कुशान्त-पुं० । दर्भपर्यन्ते, रा० ।

कुसंसग्ग-कुसंसर्ग-पुं० । साधुजनैर्निन्दनीये सहवासादौ, ध० ३ अधि० ।

कुसंसग्गच्चाय-कुसंसर्गत्याग-पुं० । कुत्सितः साधुजनैर्निन्दनीयः संसर्गः सहवासादिस्तस्य त्यागो वर्जनम् । पार्श्वस्थादिभिः सह सम्बन्धत्यागे, ध० । कुसंसर्गश्च साधूनां पार्श्वस्थादिभिः पापमित्रैः सह संबन्धरूपः, तैः सह वासे हि स्वस्मिन्नपि तादृग्भावाप-

सिरवश्यंभाविनी। यतः-"जो जारिसेण संगं करेइ सो तारिसो होइ। कुसुमेहिँ सह वसंता, तिला वि तग्गंधया जाया" ॥१॥ तन एव च पार्श्वस्थादिरिव पार्श्वस्थादिसंसर्गी अपि शास्त्रगर्हणीयतयोक्तः। ध० ३ अधि०। ('कुसील' शब्दे 'पासत्थ' शब्दे चैतद् भावयिष्यामि)

कुसग्ग-कुशाग्र-न०। कुशस्याग्रे, उत्त० १ अ०। "जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे। एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए ॥ २३ ॥" उत्त०७ अ०। "कुसग्गे जह ओसबिंदुए, थोवं चिट्ठइ लंबमाणए। एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम! मा पमायए ॥ २ ॥" उत्त० १० अ०। कुशस्याग्रमिव सूक्ष्मत्वात्। कुशाग्रतुल्यसूक्ष्मे अतिदुर्बोधग्राहके, वाच०। कुशाग्रीयया शेमुष्या। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

कुसग्गपुर-कुशाग्रपुर-न०। राजगृहे, प्राग् राजगृहस्य कुशाग्रपुरमिति नामाऽऽसीत्। "तथापि क्वयिणं प्रेक्ष्य, कुशास्तम्बं महोच्छ्रितम्। तद्विदोऽकारयंस्तत्र, कुशाग्रपुरपत्तनम्" ॥ ४ ॥ आ० क०। "क्षितिप्रतिष्ठचणक-पुरर्षभपुराभिधम्। कुशाग्रपुरसंज्ञं च, क्रमाद् राजगृहाह्वयम्" ॥ १४ ॥ ती० ११ कल्प। आव०।

कुसच्च (च)-कुसत्त्व-त्रि०। कुत्सितं सत्त्वं यस्य भवति स कुसत्त्वः। अलसत्वे, नि० चू० १६ उ०।

कुसण-कुसण-न०। मुद्गदाल्यादिके, तस्योदके च। बृ० ३ उ०।

कुसत्त-कुशक्त-पुं०। आस्तरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

कुसत्थ-कुशास्त्र-न०। मिथ्यादृष्टिशास्त्रे, "शाक्यमतं कपिलमतं ईसरमतादिया सव्वे कुसत्था।" नि०चू०११ उ०। "शिवमस्तु कुशास्त्राणां, वैशेषिकषाड्गुण्यबौद्धानाम्। येषां दुर्विहितत्वाद् भगवत्यनुरज्यते चेतः" ॥१॥ आचा० १ श्रु० ४ अ० ६ उ०।

कुसपडिमा-कुशप्रतिमा-स्त्री०। मृतकशरीराऽप्राप्तौ तत्संस्कारार्थे क्रियमाणे पुत्तलके, आ० चू० ४ अ०। आव०।

कुसमट्टिया-कुशमृत्तिका-स्त्री०। दर्भैः सह कुट्यमानायां मृत्तिकायाम्, नि० चू० १७ उ०।

कुसमय-कुसमय-पुं०। कुत्सितः समयः कुसमयः। आचा०१ श्रु०५ अ०१ उ०। कुशास्त्रे, प्रति०। कुसिद्धान्ते, स०। परतीर्थिकप्रवचने, नं०। कुत्सितः समयः सिद्धान्तो यस्य सः। कुतीर्थिके, स०।

कुसमयमयनासणय-कुसमयमदनाशनक-न०। कुत्सिताः समयाः परतीर्थिकप्रवचनानि तेषां मदोऽवष्टम्भस्तस्य नाशनं, ततः स्वार्थिककप्रत्यये कुसमयमदनाशनकम्। जिनेन्द्रप्रवचने, कुसमयनाशनत्वं चास्य कुसमयानां यथोक्तसर्वभावदेशकत्वायोगात्। "कुसमयमयनासणयं, जिणिंदवरवीरसासणयं।" नं०।

कुसमयमोहमोहमइमोहिय-कुसमयमोहमोहमतिमोहित-कुसमयमोघ (मौघ) मोहमतिमोहित-कुसमयौघमोहमतिमोहित-त्रि०। कुत्सितः समयः सिद्धान्तो येषां ते कुसमयाः कुतीर्थिकाः, तेषां मोहः पदार्थेष्वयथावबोधः कुसमयमोहः, तस्माद् यो मोहः अतमनोमूढता, तेन मतिर्मोहिता मूढतां नीता, येषां ते कुसमयमोहमोहमतिमोहिताः, अथ वा कुसमयाः कुसिद्धान्तास्तेषामोघः सङ्घो, मकारस्तु प्राकृतत्वात्, तस्माद्यो मोहो मूढता तेन मतिर्मोहिता येषां ते कुसमयौघमोहमतिमोहिताः; अथवा कुसमयानां कुतीर्थिकानां मोघो मौघो वा शुभफलापेक्षया निष्फलो यो मोहस्तेन मतिर्मोहिता येषां ते कुसमयमोघमोहमतिमोहिताः, कुसमयमोहमोहमतिमोहिता वा। परतीर्थिकविपरिणामितेषु, "अचिरकालपव्वइयाणं कुसमयमोहमोहमइमोहियाणं संदेहजायसहजबुद्धिपरिणामसंसइयाणं।" स०।

कुसमयविसासण-कुसमयविशासन-न०। कुत्सिताः प्रमाणबाधितैकान्तस्वरूपार्थप्रतिपादकत्वेन समयाः कपिलादिप्रणीतसिद्धान्तास्तेषां सन्ति "पंचमहब्भूया" इत्यादिवचनसंदर्भेण दृष्टे विषये विरोधोद्भावकत्वेन विशासनं विध्वंसकम्। जैनशासने, सम्म० २ काण्ड।

कुसमयसुइ-कुसमयश्रुति-त्रि०। कुसिद्धान्तमतौ, जीवा०२७अधि०।

कुसल-कुशल-त्रि०। हिताहितप्रवृत्तिनिवृत्तिनिपुणे, सूत्र०२ श्रु०१ अ०। आचा०। ज्ञा०। आव०। सूत्र०। जं०। अवगततत्त्वे, आचा०१ श्रु० २ अ०२ उ०। सूक्ष्मेक्षिणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ४ उ०। विवेकिनि, कल्प०३ क्षण। तत्त्वाऽभिज्ञे, उत्त०२५ अ०। मोक्षमार्गाभिज्ञे, सूत्र०१ श्रु०७ अ०। सम्यक्क्रियापरिज्ञानवति, रा०। आ०म०। जी०। अनुमातरि, उत्त०२ अ०। व्याप्तिग्रहादिदक्षे, द्वा०२३ द्वा०। आलोलितकारिणि, भ० १४ श० १ उ०। अनु०। उपा०। प्रधाने कर्मक्षपणसमर्थे, नि० चू० १ उ०। आश्रवादीनां हेयोपादेयतास्वरूपवेदिनि, भ० २ श० ५ उ०। द्रव्यकुशानष्टविधकर्मरूपान् लुनाति छिनत्ति कुशलः। प्राणिनः कर्मोच्छित्तये निपुणे, सूत्र०१ श्रु० ६ अ०। "कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के"। कुशलोऽत्र क्षीणघातिकर्मांशो विवक्षितः, स च तीर्थकृत् सामान्यकेवली वा, छद्मस्थो हि कर्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषकः, केवली तु पुनर्घातिकर्मक्षयाद्बद्धो नवोपग्राहिककर्मसद्भावान्मुक्तः। यदि वा छद्मस्थ एवाभिधीयते कुशलोऽवाप्तज्ञानदर्शनचारित्रो मिथ्यात्वद्वादशकषायोपशमसद्भावात् तदुदयवानिव न बद्धोऽपि तत्सत्कर्मतामुद्भावनान्मुक्त इत्यादि। आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ०। "स पंचधा आयारकुसलसंजमपवयणपण्णत्तिसंगहोवग्गहे" अत्र कुशलशब्दः पूर्वार्द्धे प्रत्येकं संबध्यते। व्य०३ उ०। (आचारकुशलशब्दस्य प्रवचनकुशलशब्दस्य प्रज्ञप्तिकुशलशब्दस्य संग्रहकुशलशब्दस्य उपग्रहकुशलशब्दस्य च व्याख्या संयमकुशलादिशब्देषु) गीतार्थे, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ०। दक्षे, वि० शे०। "जे यावि भुंजंति तहप्पगारं, सेवंति ते पावमजाणमाणा। मणं न एयं कुसला करेंती, वाया वि एसा बुइयाउ मिच्छा" ॥ ३९ ॥ कुशला निपुणा मांसाशित्वविपाकवेदिनस्तन्निवृत्तिगुणाभिज्ञाश्च न कुर्वन्ति। सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। कुत्सितं शलति इति कुशलः। 'शल, पल, षल' गतौ। कुत्सिताद् वा निर्गतः कुशलः। वृद्धे, पं० चू०। प्रधाने, "कुसलं पहाणं विसोहिकारणमिति वुत्तं भवति।" नि० चू० १ उ०। पुण्ये, पञ्चा० ६ विव०। कल्याणे, वाच०। सुखे, रा०।

कुसलजोग-कुशलयोग-पुं०। प्रशस्तव्यापारे, पञ्चा०८ विव०। "तह किरियाभावाउ, सक्कामेत्तीय कुसलजोगाउ" कुशलयोगत्वात्प्रशस्तमनोव्यापारत्वात्। पञ्चा० १३ विव०।

कुसलणर-कुशलनर-पुं०। विज्ञपुरुषे, औ०। रा०। जी०। भ०। "कुसलणरच्छेयसारहिसुसंपग्गहिए" कुशलनरच्छेकसारथिसु-

संप्रग्रहीतः, कुशलनररूपो यश्छेकः सारथिर्दत्तप्राजिता, तेन सुष्ठु संप्रग्रहीतो यः स तथा । भ० ७ श० ६ उ० ।

कुसलत्त–कुशलत्व–न० । प्रावीण्ये, उत्त० ३ अ० ।

कुसलदंसण–कुसलदर्शन–न० । तीर्थकृतोऽभिप्राये, "ते मा होउ एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिट्ठीए तम्मुत्तीए तप्पुरकारे तस्सण्णी तन्निवेसणे ।" आचा० १ श्रु० ५ अ० ६ उ० ।

कुसलदिट्ठ–कुशलदृष्ट–त्रि० । जिनोपलब्धे, ग० १ अधि० । निपुणोपलब्धे, सर्वज्ञप्ररूपिते, पञ्चा० १५ विव० ।

कुसलधम्म–कुशलधर्म–पुं० । प्राणातिपातविरमणादिके शुभसमाचारे, पञ्चा० । "पञ्चैतानि पवित्राणि, सर्वेषां धर्मचारिणाम । अहिंसा सत्यमस्तेयं, त्यागो मैथुनवर्जनम" ॥१॥ पञ्चा० १० विव० । बौद्धैः पुनरेतानि कुशलधर्मा उक्ताः । यदाहुस्ते दश कुशलानि । तद्यथा-"हिंसा स्तैन्योऽन्यथाकाम-पैशुन्यपुरुषानृतम । संभिन्नालापं व्यापाद-मभिध्यां दृग्विपर्ययम । पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्" । अत्र चान्यथाकामं पारदार्यम, भिन्नालापोऽसंबद्धभाषणं,व्यापादः परपीडाचिन्तनम्, अभिध्या धनादिष्वसंतोषः, परिग्रह इति तात्पर्यम् । दृग्विपर्यसो मिथ्याऽभिनिवेशः, एतद्विपर्ययश्च दश कुशलधर्मा भवन्तीति । वैदिकस्तु ब्रह्मशब्देनैतान्यभिहितानीति । द्वा० १३ अष्ट० । द्वा० ।

कुसलपक्खहेउ–कुशलपक्षहेतु–पुं० । पुण्यपक्षकारणे, पं० व० २ द्वार ।

कुसलपरिणाम–कुशलपरिणाम–पुं० । शुभाध्यवसाये, पञ्चा० ४ विव० ।

कुसलबंध–कुशलबन्ध–पुं० । पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्मबन्धने, पञ्चा० ६ विव० ।

कुसलमणउईरण–कुशलमनउदीरण–न० । धर्मध्यानादिप्रवृत्त्या शुभचित्तोदीरणे, दश० । "अकुसलचित्तणिरोहो कुसलमणउईरणं ।" दश० ए अ० १ उ० ।

कुसलया–कुशलता–स्त्री० । कौशल्ये, दर्श० ।

कुसलविभाग–कुशलविभाग–त्रि० । कुशलो विभागो कुशलविभागः, राजदन्तादित्वाभ्युपगमात् कुशलशब्दस्य पूर्वनिपातः । वणिजीव विभागकुशले, "कुशलविभागसरिसओ, गुरुसादृया होंति वणिया य ॥" व्य० १ उ० ।

कुसला–कुशला–स्त्री० । विनीताया नगर्या अदूरस्थिता जना विनीताः । वास्तव्यान् जनान् कलासु विशारदानुपलक्ष्यैवमूचुः-अहो ! कुशला अमी जनास्ततः कुशलपुरुषयोगाद् विनीता नगरी कुशलेत्युच्यते । विनीतायाम् अयोध्यायाम्, आ० म० प्र० ।

कुसलासय–कुशलाशय–पुं० । शुभाभिसन्धौ, हा० २ए अष्ट० ।

कुसवर–कुशवर–पुं० । भुजगवरद्वीपाद् असंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा सम्भवति द्वीपभेदे, अनु० ।

कुसविकुसविसुद्धरुक्खमूल–कुशविकुशविशुद्धवृक्षमूल–त्रि० । कुशा दर्भा विकुशा बिल्वजादयस्तृणविशेषास्तैर्विशुद्धानि तदपेतानि वृक्षमूलानि तदधोभागा येषां ते तथा । कुशविकुशरहितमूलभागे, ज० ६ श० ७ उ० । रा० । (वृत्तवर्णके चैतत्स्पष्टीभविष्यति)

कुसिय–कुशिक–पुं० । गाधिनृपजनके विश्वामित्रपितामहे, वाच० ।

कुशित–त्रि० । कुश इतच् । जलमिश्रिते, उणा० । वाच० ।

कुषित–त्रि० । ईषद् दुर्गन्धे, आ० १ श्रु० १२ अ० ।

कुसित–पुं० । वृद्धिजीविनि, वाच० ।

कुसील–कुशील–न० । कुत्सितं शीलं कुशीलम् । आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० । अब्रह्मणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । कुत्सितं शीलमाचारो यस्य स कुशीलः । आव० ३ अ० । आतु० । व्य० । स्था० । भ० । कुत्सितमुत्तरगुणप्रतिसेवया संज्वलनकषायोदयेन वा दूषितत्वात् शीलमष्टादशशीलाङ्गसहस्रभेदं यस्य स कुशीलः । स्था० ५ ठा० ३ उ० । मूलोत्तरगुणविराधनात् संज्वलनकषायोदयाद्वा (प्रव० ए३ द्वार । ध०) कालविनयादिभेदभिन्नानां ज्ञानदर्शनचारित्राचाराणां विराधके, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । स च निर्ग्रन्थभेदः, पार्श्वस्थाद्यन्यतमो वा ।

(१) कुशीलभेदाः ।
(२) कुशीलप्ररूपणा ।
(३) एतेषु कौतुककारिषु प्रायश्चित्तम् ।
(४) कुशीलवृत्तम् ।
(५) पाखण्डकाधिकारः ।
(६) अग्निकायसमारम्भे च प्राणातिपातो भवति ।
(७) पार्श्वस्थादिसंसर्गो न कर्तव्यः ।
(८) पार्श्वस्थादिसंसर्गे दोषाः ।

(१) तद्भेदा यथा-

कुसीले णं भंते ! कइविहे पएणत्ते ? । गोयमा ! दुविहे पएणत्ते । तं जहा–पमिसेवणाकुसीले य, कसायकुसीले य ।

(पमिसेवणाकुसीले य त्ति) तत्र सेवना सम्यगाराधना,तत्प्रतिपक्षस्तु प्रतिसेवना,तया कुशीलः (कसायकुसीले त्ति)कषायैः कुशीलः कषायकुशीलः ।

पमिसेवणाकुसीले णं भंते ! कइविहे पएणत्ते ? । गोयमा ! पंचविहे पएणत्ते । तं जहा–णाणपडिसेवणाकुसीले दंसणपमिसेवणाकुसीले चरित्तपमिसेवणाकुसीले लिंगपमिसेवणाकुसीले अहासुहुमपमिसेवणाकुसीले णामं पंचमे । कसायकुसीले णं भंते ! कइविहे पएणत्ते ? । गोयमा ! पंचविहे पएणत्ते । तं जहा–णाणकसायकुसीले दंसणकसायकुसीले चरित्तकसायकुसीले लिंगकसायकुसीले अहासुहुमकसायकुसीले णामं पंचमे ।।

(नाणपडिसेवणाकुसीले त्ति) ज्ञानस्य प्रतिसेवनया कुशीलो ज्ञानप्रतिसेवनाकुशीलः । एवमन्येऽपि । उक्तं चेह-"इह नाणाइकुसीलो, उवजीवं होइ नाणपभिईए । अह सुहुमो पुण तुस्सं, एस तवस्सि त्ति संसाए" ॥ १ ॥ (नाणकसायकुसीले त्ति) ज्ञानमाश्रित्य कषायकुशीलो ज्ञानकषायकुशीलः । एवमन्येऽपि ।

इह गाथा–

" नाणं दंसणलिंगे, जो जुंजइ कोहमाणमाईहिं ।
सो नाणाइकुसीलो, कसायओ होइ विन्नेओ ॥ १ ॥
चारित्तम्मि कुसीलो, कसायओ जो पयच्छई सावं ।
मणसा कोहाईए, निसेवयं हो अहासुहुमो ॥ २ ॥
अहवा वि कसाएहिं, नाणाईणं विराहओ जो उ ।
सो नाणाइकुसीलो, नेओ वक्खाणभेएणं ॥ ३ ॥

भ० २५ श० ६ उ० । प्रव० । आव० । नि० चू० । ध०

(२) अधुना कुशीलप्ररूपणामाह—

एत्तो तिविह कुसीलं, तमहं वुच्छामि आणुपुव्वीए ।
दंसणनाणचरित्ते, तिविह कुसीलो मुणेयव्वो ॥

त्रिविधं कुशीलमहमानुपूर्व्या वक्ष्यामि । यथाप्रतिज्ञातमेव करोति-(दंसणेत्यादि) त्रिविधः कुशीलो ज्ञातव्यः । तद्यथा-दर्शने, ज्ञाने, चारित्रे च ।

एतदेव व्याचिख्यासुराह—

नाणे नाणायारं, जो उ विराहेइ कालमादी य ।
दंसणे दंसणायारं, चरणकुसीलो इमो होइ ॥

यो ज्ञानाचारकाले 'विणएत्यादि' रूपं विराधयति स ज्ञाने ज्ञानकुशील उच्यते। यस्तु दर्शनाचारं निःशङ्कितत्वादिकं विराधयति स दर्शने दर्शनकुशीलः । चरणकुशीलोऽयं वक्ष्यमाणस्वरूपो भवति ।

तमेवाह-

कोउय भूईकम्मे, पसिणापसिणा य निमित्तमाजीवो ।
कक्क कुरुया य लक्खण-मुवजीवति विज्जमंतादी ॥

कौतुकं नाम आश्चर्यं यथा मायाकारको मुखे गोलकान्प्रक्षिप्य कर्णेन निष्काशयति, नासिकया वा। तथा मुखादग्निं निष्काशयतीत्यादि । अथवा परेषां सौभाग्यादिनिमित्तं यत् स्नपनादि क्रियते एतत् कौतुकम् । उक्तं च-"सोहग्गाइ निमित्तं, परेसि एहवणादि कोउगं भणियं" इति। एवंभूतानि कौतुकानि । तथा भूतादिकर्म नाम यद् ज्वरितादीनामभिमन्त्रितेन क्षारेण रक्षाकरणम् "जरियादिभूतिदाणं भूतीकम्मं विणिद्दिट्ठं" इति वचनात् । प्रश्नाप्रश्नं नाम यत् स्वप्नविद्यादिभिः शिष्टस्यान्येभ्यः कथनम् । उक्तं च-" सुविणगविज्जाकहियं, आयंखणिघंटियादिकहियं वा । जं सीसइ अण्णेसिं, पसिणापसिणं हवइ एयं॥ " निमित्तमतीतादिभावकथनम् । तथा आजीवो नाम आजीविका, स च जात्यादिभेदः सप्तप्रकारस्तान् । तथा कल्को नाम प्रसूत्यादिषु रोगेषु क्षारपातनमथवाऽऽत्मनः शरीरस्य देशतः सर्वतो वा लोध्रादिभिरुद्वर्त्तनम्। तथा कुरुका देशतः सर्वतो वा शरीरस्य प्रक्षालनम् । लक्षणं पुरुषलक्षणादि । तथा ससाधना विद्या, असाधनो मन्त्रः । यदि वा यस्याधिष्ठात्री देवता सा विद्या, यस्य पुरुषः स मन्त्रः, आदिशब्दान्मूलकर्मचूर्णादिपरिग्रहः । तत्र मूलकर्म नाम पुरुषद्वेषिण्याः स्त्रियाः सपुरुषद्वेषिणीकरणमपुरुषद्वेषिण्याः स्त्र्या अपुरुषद्वेषिणीकरणम्,गर्भोत्पादनं गर्भपातनमित्यादि। चूर्णयोगादयश्च प्रतीताः। एतानि य उपजीवति स चरणकुशीलः ।

संप्रत्याजीवं व्याख्यानयति-

जाती कुले गणे या, कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव ।
सत्तविहं आजीवं, उवजीवइ जो कुसीलो उ ॥

जातिर्मातृकी,कुलं पैतृकं,गणो मल्लगणादि,कर्म अनाचार्यकम्, आचार्योपदेशजं शिल्पं, तपःश्रुते प्रतीते, एवं सप्तविधमाजीवं य उपजीवति जीवनार्थमाश्रयते। तद्यथा-जातिं कुलं वाऽऽत्मीयं लोकेभ्यः कथयति, येन जातिपूज्यतया कुलपूज्यतया वा भक्तपानादिकं प्रभूतं लभेयमिति। अनयैव युक्त्या मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्वं कर्मशिल्पकुशलेभ्यः कर्मशिल्पकौशलं कथयति । तपस उपजीवना-तपः कृत्वा क्षपकोऽहमिति जनेभ्यः कथयति विश्रुतोऽयमिति । उक्तः कुशील इति ।

(३) सांप्रतमेतेषु कौतुकादिषु प्रायश्चित्तमाह-

भूतीकम्मे लहुगो, लहु गुरुग निमित्त सेसए इमं तु ।
लहुगा य सयं करणे, परकरणे हुंतऽणुग्घाया ॥

भूतिकर्मकरणे प्रायश्चित्तं मासलघु, अतीतनिमित्तकथने चत्वारो लघुमासाः, अनागतनिमित्तकथने चत्वारो गुरुमासाः । वर्तमाननिमित्तकथने चत्वारो लघुमासाः, वर्तमाननिमित्तकथने चत्वारो गुरुमासाः । शेषके कौतुकादौ इदं प्रायश्चित्तम-स्वयं कौतुकादिकरणे चत्वारो लघुकाः । परैः कारणे भवन्ति चत्वारोऽनुद्घाता गुरवो मासाः । मूलकर्मकरणे मूलमिति । व्य० १ उ० ।

जे भिक्खू कुसीलं वंदइ वंदंतं वा साइज्जइ ॥ ४५ ॥
जे भिक्खू कुसीलं पसंसइ पसंसंतं वा साइज्जइ ॥ ४६ ॥

जे कुसीलं वंदतीत्येवं द्वे सूत्रे । कुत्सितशीलः कुत्सितेषु शीलं करोतीत्यर्थः नि०चू० । वंदणादि उवयारं करेंतस्स आणादिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं । नि० चू० १३ उ० ।

तत्थ कुसीले तात्र समासओ दुविहे पएण-परंपरकुसीले, अपरंपरकुसीले य। तत्थ णं जे ते परंपरकुसीले ते वि उ दुविहे णेए-सत्तट्ठगुरुपरंपरकुसीले एगवितिगुरुपरंपरकुसले य। जे वि य ते अपरंपरकुसीले ते वि उ दुविहे णेए-आगमओ णोआगमओ य। तत्थ आगमओ गुरुपरंपरएणं आवलियाएणं केई कुसीले आसीओ ते चेव कुसीले जवंते । नोआगमओ अणेगविहा । तं जहा-णाणकुसीले दंसणकुसीले चारित्तकुसीले तवकुसीले वीरट्ठकुसीले । तत्थ णं जे से णाणकुसीले से णं तिविहे णेए-पसत्थापसत्थे नाणकुसीले अपसत्थणाणकुसीले सुपसत्थनाणकुसीले । तत्थ जे से पसत्थापसत्थनाणकुसीले से दुविहे णेए-आगमओ नोआगमओ य। तत्थ आगमओ विहंगनाणी पन्नविय पसत्थापसत्थपयत्थजाले-अज्झयणज्झावणकुसीले । नोआगमओ अणेगहा-पसत्थापसत्थपरपासंमसत्थजाइज्जाहिज्जणे अज्झावणवायणापट्ठणकुसीले। तत्थ जे ते अपसत्थनाणकुसीले ते एगूणतीसइविहे दट्ठव्वे। तं जहा-सावज्जवायविज्जामंततंताहिज्जणकुसीले वत्थुविज्जापउंजणाहिज्जणकुसीले गहरिक्खचाऽजोइसमत्थपउंजणाहिज्जणकुसीले निमित्तलक्खणपउंजणाहिज्जणकुसीले सउणलक्खणपउंजणाहिज्जणकुसीले हत्थिसिक्खापउंजणाहिज्जणकुसीले धणुव्वेयपउंजणाहिज्जणकुसीले गधव्ववेयपउंजणाहिज्जणकुसीले पुरिसि-

त्थीलक्खणपउंजणाहिज्जणकुसीले काममत्थपउंजणाहिज्जणकुसीले कुहुगिंदजालसत्थपउंजणाहिज्जणकुसीले आलेक्खविज्जाहिज्जणकुसीले लेप्पकम्मविज्जाहिज्जणकुसीले वमणविरेयणवहुवेल्लिजालसमुद्धरणकटणकाटणवणस्सईवल्लिमोडणतच्छणाइबहुदोसविज्जगसत्थपउंजणाहिज्जणजावणकुसीले; एवं जाणयोगवुन्नवन्नथउवायरायदंडणीइसत्थअसणिपवअघकंडरयणपरिक्खारसवेहत्थअमच्चसिक्खागुढमंततंतकालदेससंधिवग्गहोवएससत्थममजाणववहारनिरूवणत्थसत्थपउंजणाहिज्जणं अपसत्थनाणकुसीले, एवमेएसिं चेव पावसुयाणं वायणापेहणापरावत्तणाअणुसंधणासवणायण अपसत्थनाणकुशीले तत्थ जे य ते सुपसत्थनाणकुसीले ते वि य दुविहे णेए–आगमओ, नो आगमओ य। तत्थ आगमओ सुपसत्थं पंचप्पयारं णाणं आसायंते सुपसत्थणाणधरेइ वा आसायंते सुपसत्थनाणकुसीले। नोआगमओ य सुपसत्थनाणकुसीले अट्ठहा णेए। तं जहा–अकालेणं सुपसत्थणाणाहिज्जणजावणकुसीले अविणएणं सुपसत्थणाणाहिज्जणजावणकुसीले अवहुमाणेणं सुपसत्थनाणाहिज्जणकुसीले अणोवहाणेणं सुपसत्थनाणाहिज्जणज्जावणकुसीले, जस्स य सयासे सुपसत्थसुत्तत्थाज्जयमहियं तं निन्हवणसुपसत्थनाणकुसीले सरवंजणहीणक्खरियज्जहीणज्जावणसुपसत्थनाणकुसीले विवरियसुत्तत्थोज्जयाहियजावणसुपसत्थनाणकुसीले संदिद्धसुत्तत्थोज्जयाहियज्जावणसुपसत्थनाणकुसीले तत्थ एएसिं अट्ठण्हं पि पयाणं गोयमा ! जे केइ अणोवहाणेणं सुपसत्थं नाणमहीयंति अज्झावयंति वा अहीयंति वा अज्झावयंतेइ वा समणुज्जाणंति ते णं महापावकम्मे महती सुपसत्थनाणस्सासयणं पकुव्वंति। महा० ३ अ० । (पञ्चमङ्गलोपधानकर्तव्यता 'उवहाण' शब्दे द्वि० भा० १०४६ पृष्ठे उक्ता)

जइ अन्नहा ण सुत्तं अत्थं वा किं वि वाएज्जा एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जहा णं जावज्जीवं अभिग्गहेणं वा उक्कालियं सज्झायं कायव्वं ति तहा य गोयमा ! जे भिक्खू विहीए सुपसत्थनाणमहिज्जेऊण नाणमयं करेज्जा से वि नाणकुसीले, एवमाइनाणकुसीले अणेगहा पन्नविज्जंति। से भयवं ! कयरे ते दंसणकुसीले ?। दंसणकुसीले दुविहे णेए–आगमओ नोआगमओ य । तत्थ आगमओ सम्मद्दंसणं संकंते कंखंते वि दुगंछंते दिट्ठिमोहं गच्छंते अणोववूहाए परिवडियधम्मसद्धासंमत्तमुज्झिउकामाणं अथिरिकरणेण साहम्मियाणं अवच्छलतणेणं अप्पभावणाए एतेहिं अट्ठहिं पि ठाणंतरेहिं कुसीले णेए। णोआगमओ दंसणकुसीले अणेगहा। तं जहा–चक्खुकुसीले घाणकुसीले सवणकुसीले जिब्भाकुसीले सरीरकुसीले। तत्थ चक्खुकुसीले तिविहे णेए। तं जहा–पसत्थचक्खुकुसीले, पसत्थापसत्थचक्खुकुसीले, अपसत्थचक्खुकुसीले । तत्थ जे केइ पसत्था उसभादितित्थयरबिंबं पुरओ चक्खुगोयरट्ठियं तमेव पासेमाणा अण्णं किंचि मणसा अपसत्थमज्झवसेमाणे पसत्थचक्खुकुसीले, तहा पसत्थापसत्थचक्खुकुसीले तित्थयरबिंबहियएणं अच्छीहिं अन्नं किं पि पेहिज्जा से णं पसत्थापसत्थचक्खुकुसीले, तहा पसत्थाइं अपसत्थाई दव्वाइं कामक्कगटंकसिच्चिरमयूराइं सुकं सदितिच्छिमं वा दट्ठूणं तए हुतं चक्खुं विसज्जे, सो वि पसत्थापसत्थचक्खुकुसीले, तहा अपसत्थचक्खुकुसीले तिसट्ठिपयारेहिं अपसत्था सरागा चक्खू एती। से भयवं ! कयरे ते अपसत्थे तिसट्ठीचक्खुभेए ?। गोयमा ! इमे। तं जहा–मव्वूकडक्खाता रामदा मदालसा वंका विवंका कुसीला अद्धक्खिया काणक्खिया साणुरागा भामिया उब्भामिया वलियावलिया वलवलिया अद्धुमिल्ला मिलिमिला माणुसा पासवा पक्खा सरीसिवा असंता अपसंता अथिरा बहुविगरा साणुरागा रोगाईरणी रोगजन्नामयुप्पायणी मयणी मोहणी वंमोहणी भउइरणी भयजणा भयंकरी हिययभेयणी संसयावहरणी चित्तचमक्कुप्पायणी णिवद्धा अनिबद्धा गया आगया गयागया गयगयपच्चागया निद्धारूणी अहिलासणी अरइकरा रइकरा दीणा दीणावणा सूरा धीरा हणणी मारणी संतावणी तावणी कुद्धा पकुद्धा घोरा महाघोरा चंडा रुद्दा सुरुद्दा हाहाभूयरणा रुक्खा सणिद्धा रुक्खसणिद्धेति महिलाणं चलणंगुट्ठकोडिणट्ठकरणसुविलिहियदिन्नालत्तगायं च णहमाणिकिरणनिबद्धसक्कव्वा वा कुमुमयचलणं समग्गानिमग्गवद्धगूढजाणुजंघापिहुलकडियमज्झोगानयणनियंवणाहीघणगुज्झंतरकट्ठाजूया लट्ठीओ अहरोट्ठदसणं पंती कन्ननासानयणजुयलाभमुहानि मुहनिलाडसिरकुहसीमंतया मोमयपट्टातिलगकुंडलकवोलकज्जलतमालकलावहारकडिसुत्तगणेउरबाहुरक्खगमणिरयणकडगकंकणमुद्दियाइसुकंतदित्ताभरणदुगुल्लवमणनेवत्था काममग्गिसंधुक्खणी निरयतिरियगईसु अणंतदुक्खदायगा एस महिला सससरागदिट्ठत्ति एसव्वचक्खुकुसीले, तहा घाणकुसीले जे केइ सुरहिगंधिसुसंगं गच्छइ दुरहिगंधि दुगुंछइ से णं घाणकुसीले, तहा सवणकुसीले दुविहे णेए–पसत्थे अपसत्थे य। तत्थ जे भिक्खू अपसत्थाई कामरागसंधुक्खणदीवणउज्जालणपज्जालणसंदीवणाइं गंधव्वनट्टधणुव्वेयहत्थसिक्खाकामरतीसत्थाई णिग्गंथाइं सुणे–

ऊणं णालोएज्जा जाव णं णो पायच्छित्तमणुचरेज्जा से णं अपसत्थसवणकुसीले णेए,तहा जे भिक्खू पसत्थाइं सिद्धंतायरियपुराणधम्मकहाओ य अन्नाइं च गंथसत्थाइं सुणेत्ता णं न किंचि भावहियं अणुदे णाणभय वा करेइ से णं पसत्थसवणकुसीले णेए,तहा जिब्भाकुसीले से णं अणेगहा। तं जहा-तित्तकडुयकसायमहुराइं लवणाइं रसाइं आसायंते अदिट्ठासुयाइं हियरलोगोभयविरुद्धाइं सदोसाइं मयारजयारुच्चारणाइं आयसज्झाबाणासंताजिओगाइं वा जणंते असमयन्नुधम्मदेसणावत्तणाए य जिब्भाकुसीले णेए। से जयवं! किं जासाए वि भासियाए कुसीलत्तं भवति?। गोयमा! भवइ। से भयवं! जइ एवं ता धम्मदेसेणं ण कायव्वं?। गोयमा! सावज्जाणवज्जाणं वयणाणं जो न जाणइ विसेसं वुत्तं पि तस्स न खमं किमंग! पुण देसणं काओ, तहा सरीरकुसीले दुविहे-चिट्ठाकुसीले विजूसाकुसीले य। तत्थ जे भिक्खू एयं किमिकुलनिलयं सिऊण साणाइभत्तं सडणपडणेण विद्धंसणधम्मं असुयं असासयं असारं सरीरगं आहारादीह णिच्चं चेट्टेज्जा णो णं इणमो भवसयसुलद्धनाणं दंसणाइ समन्निएणं सरीरेणं अच्चंतघोरवीरुग्गकट्ठघोरतवसंयममणुट्ठे सेज्जाणं चेट्ठाकुसीले, तहा जे णं विजूसाकुसीले से वि अणेगहा। तं जहा-तेल्लाजंगणविमद्दणसंवाहणसिणाणुव्वट्टणपरिहसणतंबोलधूवणवासणे दसणग्घसणसमालहइणपुप्फोमालणकेससमारणे सोवाहणदुवियट्टगइभणिइहसिहरउवविट्ठुट्ठिइयसत्तिवक्खेक्खिया विजूसा व त्ति से वि गारणियं सणुत्तरीयपाउरणं दंमगगहणमाई सरीरविजूसाकुसीले णेए। एए य पवयणउड्डाहपरे दुरंतपंतलक्खणे अदट्ठव्वे महापावकम्मकारी विजूसाकुसीले भवंति। गयदंसणकुसीले तहा चारित्तकुसीले अणेगहा-मूलगुणउत्तरगुणेसु। तत्थमूलगुणा पंचमहव्वयाणि राईभोयणछट्ठाणि, तेसु जे पमत्ते भवेज्जा तत्थ पाणाइवायं पुढविदगागणिमारुयवणप्फईवितिचउपंचिंदियाईणं संघट्टणपरियावणकिलामणोद्दवणोमुसावायसुहुमं बायरं च। तत्थ सुहुमपयाउला उल्लामरुए एवमादि बादरा कन्नालिगादि अदिन्नं दाणं सुहुमं बादरं च। तत्थ सुहुमं तणडगललवारमल्लगादीणं गहणं बादरं हिरण्णसुवण्णादी मेहुणं दिव्वोरालियं मणोवयकायकरणकारावणाणुमइभेदेण अट्ठारसहा,तहा करकम्मादी सचित्ताचित्तभेदेणं णवगुत्तीविराहणेणं वा विजूसावत्तिएण वा परिग्गहं सुहुमं बायरं च। तत्थ सुहुमं कप्पट्टगरक्खणममत्थो बादरं हिरण्णमादीणं गहणे धारणे वा राईजोयणं दिया गहियं दिया जुत्तं एवमाइ उत्तरगुणा। "पिंडस्स जा विसोही, समितीओ जावणा तवो दुविहो। पडिमा अभिग्गहा वि य, उत्तरगुण मो वियाणाहि। तत्थ पिंडविसोही "सोलस उग्गमदोसा, सोलस उप्पायणा य दोसाओ। दस एसणाए दोसा,संजोयणमाइ पंचेव"। तत्थ उग्गमदोसा "आहाकम्मुद्देसिय-पूइकम्मे य मीसजाए य। ठवणा पाहुडियाए, पाउयरकीयपामिच्चे। परियट्टिए अभिहडे,उब्भिन्ने मालोहडे इअ अच्छिज्जे। अणिसट्ठेयज्झोयरए य,सोलसमे पिंडुग्गमे दोसा"। इमे उप्पायणादोसा "धाईदूइनिमित्ते,आजीववणीमगतिगिच्छाए। कोहे माणे माया,लोभे य हवंति दस एए।। पुव्विं पच्छा संथव-विज्जा मंते य चुन्नजोगे य। उप्पायणाइ दोसा,सोलसमे मूलकम्मे य"। एसणदोसा-"संकियमक्खियनिक्खित्त-पिहियसाहरियदायगुम्मीसे। अपरिणयलित्तछड्डिय-एसण दोसा हवंति एए य"। तत्थुग्गमदोसे गिहत्थसमुत्थे। उप्पायणा य दोसे साहुसमुत्थे। एसणादोसे उभयसमुत्थे। संजोयणा पमाणे इंगालधूमकरणे पंचमं लीकयदोसे भवति। तत्थ संजोयणा लवकरणभत्तपाणसाब्भिंतरबाहिएणं पमाणं "बत्तीसं किर कवले, आहारो कुच्छिपूरओ भणिओ। रागेण सयंगालं,दोसेण सधूमगं ति नायव्वं"। कारणं "वेयणवेयावच्चे,इरियट्ठाए य संजमट्ठाए। तह पाणवत्तियाए, छट्ठं पुण धम्मचिंताए। नत्थि छुहाए सरिसिया, वियणा भुंजिज्ज तप्पसमणट्ठाए"। तओ वेयावच्चं ण तरइ काउं। अओ भुंजे "इरियं पि न सोहिस्सं,पेहाइयं च संजमं काउं। थामो वा परिहायइ, गुणणुप्पेहासु य असत्तो"। पिंडविसोही गया। ईयाणि समिती उ पंच। तं जहा-इरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिई, आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिई, उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिई। तहा गुत्तीओ तिन्नि-मणगुत्ती,वयगुत्ती,कायगुत्ती। तह भावणाओ दुवालसं। तं जहा-अणिच्चत्तभावणा, असरणभावना,अन्नत्तभावणा, असुइभावणा, विचित्तसंसारभावणा,कम्मासवभावणा,संवरभावणा, विनिज्जरभावणा, लोगवित्थरभावणा, धम्मं सुयक्खायं सुपन्नत्तं तित्थयरे तत्थ चिंताभावणा,बोहिसुदुल्लहा जम्मंतरकोडीहिं वि त्ति भावणा। एवमादियाणंतरेसुं जे पमाई कुज्जा से णं चरित्तकुसीले णेए। तहा तवकुसीले दुविहे णेए-बज्झतवकुसीले, अब्भंतरतवकुसीले य। तत्थ जे केइ विचित्त अणसणऊणोदरिया वित्तीसंखेवणं रसपरिच्चाओ। कायकिलेसो संलीणया य त्ति छट्ठाणेसुं न उज्जमेज्जा, से णं बज्झतवकुसीले। तहा जे केइ विचित्तपच्छित्तविणयवेयावच्चे सज्झायज्झाणउस्सग्गम्मि वि एसु छट्ठाणेसु ण उज्जमेज्जा से णं अब्भितरतवकुसीले। तहा पडिमाओ बारस। तं जहा-मासादी सत्ता एगदुतिसत्तराइंदिणा अहराति गराती भिक्खुपडिमाणं बारसगं, तहा अभिग्गहा दव्वओ खेत्तओ कालओ

भावओ । तत्थ दव्वे कुम्मासाइं दव्वं गहेयव्वं । खेत्तओ गामे बहिं वा गामस्स, कालओ पढमपोरिसिमाए, भावओ कोहमाइसंपन्नो जं देहं इमं गहिस्सामि । एवं उत्तरगुणा संखेवओ सम्मत्ता । संमत्तोयं संखेवेणं चरित्तायारो । तवायारो वि संखेवेणाइंतरगओ तहा वीरीयारो । एएसु चेव जाअड्डाणी पएसु पंचसु आयाराइयारेसु जं आयट्टियाए दप्पओ पमाओ कप्पेण वा अजयणाए वा जयणाए वा पडिसेवियं तं तहेवालोइत्ताणं, जं मग्गं वि उ गुरु उवइसंति, तं मुहा पायच्छित्तं णाणुचरेइ । एवं अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं जं जत्थ पए पमत्ते भवेज्जा से णं ते णं पमायदोसेणं कुसीले णेए । महा० ३ अ० । स्था० । ध० र० । उत्त० ।

पार्श्वस्थादीनामन्यतमे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । आव० । ज्ञानाभेणाविष्कृतवीर्ये, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । अन्यतीर्थिके, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । कायिकपश्यकसंप्रसारकमामकरूपेषु, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । निन्दितशीले (वृत्ते), तथाविधेषु द्यूतकारादिषु च । उक्तं च-" जूयरसालमेंठावट्टाउब्भामगाइणो जे य । एते हुंति कुसीला, वज्जेयव्वा पयत्तेणं " ॥ आव० ४ अ० । "जे एयं उंछं अणुगिद्धा अन्नयरा हुंति कुसीलाणं । सुतवस्सिए वि से भिक्खु, नो विहरे सह णमित्थीसु" ॥१२॥ सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । "धुवमग्गमेव पवयंति वाया वीरियं कुसीलाणं । " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

(४) अथ कुशीलपरिभाषाऽध्ययनोक्तं कुशीलसूत्रं लिख्यते-

पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ,
तणरुक्खबीया य तसा य पाणा ।
जे अंडया जे य जराउपाणा,
संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥ १ ॥

पृथिवी पृथिवीकायिकाः सत्त्वाः, चकारः स्वगतभेदसंसूचनार्थः स चाऽयं भेदः । पृथिवीकायिकाः सूक्ष्मा बादराश्च । ते च प्रत्येकं पर्याप्तकाऽपर्याप्तकभेदेन द्विधा । एवमप्कायिका अपि । तथाऽग्निकायिकाः, वायुकायिकाश्च द्रष्टव्याः । वनस्पतिकायिकान् भेदेन दर्शयति-तृणानि कुशादीनि, वृक्षाश्चाश्वत्थादयो, बीजानि शाल्यादीनि, एवं वल्लीगुल्मादयोऽपि वनस्पतिभेदा द्रष्टव्याः । त्रस्यन्तीति त्रसा द्वीन्द्रियादयः प्राणिनो ये चाऽण्डाज्जाता अण्डजाः शकुनिसरीसृपादयः, ये च जरायुजा जम्बालवेष्टिताः समुत्पद्यन्ते, ते च गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः । तथा संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूका मत्कुणकृम्यादयः, ये च रसाभिधाना दधिसौवीरकादिषु कृतपदमसंज्ञिना इति ॥ १ ॥

नानाभेदभिन्नं जीवसंघातं प्रदर्श्याऽधुना तदुपघाते दोषं दर्शयितुमाह-

एयाइं कायाइं पवेदिताइं, एतेसु जाणे पडिलेह सायं ।
एतेण काएण य आयदंडे, एतेसु या विप्परियासुविंति ॥२॥

(एयाइमित्यादि) एते पृथिव्यादयः काया जीवनिकाया भगवद्भिः प्रवेदिताः कथिताः, छान्दसत्वान्नपुंसकलिङ्गता । एतेषु च पूर्वं प्रतिपादितेषु पृथिवीकायादिषु प्राणिषु सातं सुखं जानीहि । एतदुक्तं भवति-सर्वेऽपि सत्त्वाः सातैषिणो दुःखद्विषश्चेति ज्ञात्वा प्रत्युपेक्षस्व कुशाग्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेदिति । यैरेभिः कायैः समारभ्यमाणैः पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते तत्समारम्भादात्मदण्डो भवतीत्यर्थः । अथवैभिरेव कायैः ये आयतदण्डा दीर्घदण्डाः । एतदुक्तं भवति-एतान् कायान् ये दीर्घकालं दण्डयन्ति पीडयन्तीति तेषां यद्भवति तद्दर्शयति-ते एतेष्वेव पृथिव्यादिकायेषु विविधमनेकप्रकारं परि समन्तादाशु क्षिप्रमुप सामीप्येन यान्ति व्रजन्ति, तेष्वेव पृथिव्यादिकायेषु विविधमनेकप्रकारं भूयो भूयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थः । यदि वा विपर्यासो व्यत्ययः सुखार्थिभिः कायसमारम्भः क्रियते, तत्समारम्भेण च दुःखमेवाऽऽप्यते न सुखमिति । यदि वा कुतीर्थिका मोक्षार्थमेतैः कायैर्या क्रियां कुर्वन्ति तया संसार एव भवतीति ॥२॥

यथा चाऽसावायतदण्डो मोक्षार्थी तान् कायान् समारभ्य तद्विपर्यासात् संसारमाप्नोति तथा दर्शयति-

जाईवहं अणु परिवट्टमाणे,
तसथावरेहिं विणिघायमेति ।
से जाति जातिं बहुकूरकम्मे,
जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ॥ ३ ॥

(जाईवहमित्यादि) जातीनामेकेन्द्रियादीनां पन्थाः जातिपथः, यदि वा जातिरुत्पत्तिर्वधो मरणं जातिश्च वधश्च जातिवधं, तदनु परिवर्त्तमान एकेन्द्रियादिषु पर्यटन् जन्मजरामरणानि वा बहुशोऽनुभवंस्त्रसेषु तेजोवायुद्वीन्द्रियादिषु स्थावरेषु च पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु समुत्पन्नः सन् कायदण्डविपाकजेन कर्मणा बहुशो विनिघातं विनाशमेत्यवाप्नोति, स आयतदण्डोऽसुमान् (जाति) जातिमुत्पत्तिमवाप्य बहूनि क्रूराणि दारुणान्यनुष्ठानानि यस्य स भवति बहुक्रूरकर्मा, स एवंभूतो निर्विवेकः सदसद्विवेकशून्यत्वात् बाल इव बालो यस्यामेकेन्द्रियादिकायां जातौ यत्प्राण्युपमर्दकारि कर्म कुरुते स तेनैव कर्मणा मीयते भ्रियते पूर्यते । यदि वा 'मीङ् हिंसायां' मीयते हिंस्यते । अथवा बहुक्रूरकर्मेति चौरोऽयं पारदारिक इति वा इत्यं तेनैव कर्मणा मीयते परिच्छिद्यत इति ॥ ३ ॥

क पुनरसौ तैः कर्मभिर्मीयते इति दर्शयति-

अस्सिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा ।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेदंति य दुन्नियाणि ॥४॥

[अस्सिं चेत्यदि] यान्याशुकारीणि कर्माणि तान्यस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं ददति, अथवा परस्मिन् जन्मनि नरकादौ तस्य कर्मविपाकं ददत्येकस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं तीव्रं ददति [शताग्रशो वेति] बहुषु जन्मसु येनैव प्रकारेण तदशुभमाचरति तथैवोदीर्यते । तथा अन्यथा वेति, इदमुक्तं भवति-किञ्चित्कर्म तद्भव एव विपाकं ददाति, किञ्चिच्च जन्मान्तरे । यथा मृगापुत्रस्य दुःखविपाकाख्ये विपाकश्रुताङ्गश्रुतस्कन्धे कथितमिति दीर्घकालस्थितिकं स्वपरजन्मान्तरितं वेद्यते येन प्रकारेण सकृत्तथैवाऽनेकशो वा, यदि वाऽन्येन प्रकारेण सकृत्सहस्रशो वा शिरश्छेदादिकं हस्तपादच्छेदादिकं चानुभूयत इति । तदेवं ते कुशीला आयतदण्डाश्चतुर्गतिकसंसारमापन्ना अरहट्टघटीयन्त्रन्यायेन संसारं पर्यटन्तः परं परं प्रकृष्टं प्रकृष्टं दुःखमनुभवन्ति, जन्मान्तरकृतं कर्मानुभवन्तश्चैकमार्तध्यानोपह-

ता अपरं बध्नन्ति वेदयन्ति च,दुष्टं नीतानि दुर्नीतानि दुष्कृतानि, न हि स्वकृतस्य कर्मणो विनाशोऽस्तीति भावः । तदुक्तम्—

" मा होहि रे विसण्णो, जीव ! तुमं विमण दुम्मणो दीणो ।
ण हु चिंतिएणं फिट्टइ, तं दुक्खं जं पुरा रइयं ॥ १ ॥
जइ पविससि पायालं, अडइं व दरिं गुहं समुदं वा ।
पुव्वकयाउ न चुक्कसि, अप्पाणं घायसे जइ वि" ॥ २ ॥

(५) एवं तावदोघतः कुशीलाः प्रतिपादिताः, तदधुना पाषण्डिकानधिकृत्याऽऽह—

जे मायरं वा पियरं च हिच्चा,
समणव्वए अगणिं समारभिज्जा ।
अहाहु से लोए कुसीलधम्मे,
भूताइँ जे हिंसति आयसाते ॥ ५ ॥

ये केचनाऽविदितपरमार्था धर्मार्थमुत्थिता मातरं पितरं च त्यक्त्वा, मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वात् तदुपादानम्,अन्यथा भ्रातृपुत्रादिकमपि त्यक्त्वेति द्रष्टव्यम् । श्रमणव्रते किल वयं समुपस्थिता इत्येवमभ्युपगम्याऽग्निकायं समारभन्ते पचनपाचनादिप्रकारेण कृतकारितानुमत्योद्देशिकादिपरिभोगाच्चाऽग्निकायसमारम्भं कुर्युरित्यर्थः । अथेति वाक्योपन्यासार्थः, आहुरिति तीर्थकृद्गणधरादय एवमुक्तवन्तः, यथा-सोऽयं पाषण्डिको लोको गृहस्थलोको वाऽग्निकायसमारम्भात् कुशीलः कुत्सितशीलो धर्मो यस्य स कुशीलधर्मा । अयं किंभूत इति दर्शयति-अभूवन् भवन्ति भविष्यन्तीति भूतानि प्राणिनः,तान्यात्मसुखार्थं हिनस्ति व्यापादयति । तथाहि- पञ्चाग्नितपसा निष्टप्तदेहास्तथाऽग्निहोत्रादिकया च क्रियया पाषण्डिकाः स्वर्गावाप्तिमिच्छन्तीति । तथा लौकिकाः पचनपाचनादिप्रकारेणाऽग्निकायं समारभमाणाः सुखमभिलषन्तीति ॥ ५ ॥

(६) अग्निकायसमारम्भे च यथा प्राणातिपातो भवति तथा दर्शयितुमाह—

उज्जालओ पाण निवातएज्जा,
निव्वावओ अगणि निवायवेज्जा ।
तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं,
ण पंडिए अगणि समारभिज्जा ॥ ६ ॥

तपनतापनादिप्रकाशहेतुं काष्ठादिसमारम्भेण योऽग्निकायं समारभते सोऽग्निकायमपरांश्च पृथिव्याद्याश्रितान् स्थावरांस्त्रसांश्च प्राणिनो निपातयेत्,त्रिभ्यो वा मनोवाक्कायेभ्य आयुर्बलेन्द्रियेभ्यो वा पातयेन्निपातयेत्, तथाऽग्निकायमुदकादिना निर्वापयेत् विध्यापयंस्तदाश्रितानन्यांश्च प्राणिनो निपातयेद्वा, तत्रोज्ज्वालकनिर्वापकयोर्योऽग्निकायमुज्ज्वलयति स बहूनामन्यकायानां समारम्भकः । तथा चाऽऽगमः—"दो भंते ! पुरिसा अन्नमन्नेण सद्धिं अगणिकायं समारभंति, तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से एगे णं पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, तेसिं भंते ! पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए अप्पकम्मतराए ?। गोयमा ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविकायं समारभति । एवं आउकायं वाउकायं वणस्सइकायं अप्पतरागं अगणिकायं समारभइ, तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविकायं समारभइ जाव अप्पतरागं तसकायं समारभइ बहुतरागं अगणिकायं समारभइ । से एतेणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ " । अपि चोक्तम्-" भूयाणं एसमाघाओ, हव्ववाहे ण संसओ ।" इत्यादि । यस्मादेवं तस्मान्मेधावी सद्विवेकः सश्रुतिकः समीक्ष्य धर्मं पापाड्डीनः पण्डितो नाग्निकायं समारभते, स एव च परमार्थतः पण्डितो योऽग्निकायसमारम्भकृतात् पापान्निवर्तेत इति ॥ ६ ॥

कथमग्निकायसमारम्भेण अपरप्राणिवधो भवतीत्याशङ्क्याह—

पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा, पाणाइ संपाइम संपयंति ।
संसेयया कट्ठसमस्सिया य,एते दहे अगणि समारभंते ॥७॥

न केवलं पृथिव्याश्रिता द्वीन्द्रियादयो जीवाः, याऽपि च पृथ्वी सूक्ष्मलक्षणा असावपि जीवाः,तथा आपश्च द्रवलक्षणा जीवाः,तदाश्रिताश्च प्राणाः संपातिमाः शलभादयस्तत्र संपतन्ति । तथा संस्वेदजाः करीषादिष्विन्धनेषु घुणपिपीलिकाः कृम्यादयः काष्ठाद्याश्रिताश्च ये केचन,एतान् स्थावरजङ्गमान् स दहेद्योऽग्निकायं समारभतेऽतोऽग्निकायसमारम्भो महादोषायेति ॥ ७ ॥

एवं तावदग्निकायसमारम्भकास्तापसास्तथा पाकादनिवृत्ताः शाक्यादयश्चोपदिष्टाः । साम्प्रतं ते चाऽन्ये वनस्पतिसमारम्भादनिवृत्ताः परामृश्यन्ते इत्याह—

हरियाणि भूताणि विलंबगाणि,
आहारदेहाय पुढो सियाई ।
जे छिंदती आयसुहं पडुच्च,
पगब्भि पाणे बहुणं-तिवाती ॥ ८ ॥

हरितानि दूर्वाऽङ्कुरादीन्येतान्यप्याहारादेर्वृद्धिदर्शनाद् भूतानि जीवाः । तथा-विलम्बकानीति जीवाकारं यानि विलम्बन्ते धारयन्ति । तथाहि-कललार्बुदमांसपेशीगर्भप्रसवबालकुमारयुवमध्यमस्थविरावस्थान्तो मनुष्यो भवति, एवं हरितान्यपि शाल्यादीनि जातान्यभिनवानि संजातरसानि यौवनवन्ति परिपक्वानि जीर्णानि परिशुष्काणि मृतानि,तथा वृक्षा अप्यङ्कुरावस्थायां जाता इत्युपदिश्यन्ते, मूलस्कन्धशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैः परिवर्धमाना युवानः पोता इत्युपदिश्यन्त इत्यादि शेषावस्थाद्वयस्वायोज्यम् । तदेवं हरितादीन्यपि जीवाकारं विलम्बयन्ति तत एतानि मूलस्कन्धशाखापत्रपुष्पादिस्थानेषु पृथक् प्रत्येकं व्यवस्थितानि, न तु मूलादिषु सर्वेष्वपि समुदितेषु एक एव जीवः । एतानि च भूतानि संख्येयाऽसंख्येयानन्तभेदभिन्नानि, वनस्पतिकायाश्रितान्याहारार्थं वा देहक्षतसंरोहणार्थं चात्मसुखं प्रतीत्याश्रित्य यश्छिनत्ति स प्रागल्भ्यात् धाष्टर्याद्बहूनां प्राणिनामतिपाती भवति, तदतिपाताच्च निरनुक्रोशतया न धर्मो नाऽप्यात्मसुखमित्युक्तं भवति ॥ ८ ॥

किञ्च—

जातिं च वुड्ढिं च विणासयंते,
बीयाइ अस्संजय आयदंडे ।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे,
बीयाइ जे हिंसति आयसाते ॥ ९ ॥

जातिमुत्पत्तिं, तथाऽङ्कुरपत्रमूलस्कन्धशाखाप्रशाखाभेदेन वृद्धिं च विनाशयन्, बीजानि च तत्फलानि विनाशयन् हरितानि छिनत्तीति । असंयतो गृहस्थः प्रव्रजितो वा, तत्कर्मकारी

गृहस्थ एव, स च हरितच्छेदं विधायाऽऽत्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः। स हि परमार्थतः परोपघातेनाऽऽत्मानमेवोपहन्ति। अथशब्दो वाक्यालङ्कारे, आहुरेवमुक्तवन्त इति दर्शयति-यो हरितादिच्छेदको निरनुक्रोशः सोऽस्मिन् लोकेऽनार्यधर्मा क्रूरकर्मकारी, भवतीत्यर्थः। स च एवंभूतो यो धर्मोपदेशेनात्मसुखार्थं वा बीजानि, अस्य चोपलक्षणार्थत्वाद् वनस्पतिकायं, हिनस्ति स पाषण्डिकलोकोऽन्यो वाऽनार्यधर्मा भवतीति संबन्धः ॥६॥

साम्प्रतं हरितच्छेदकर्मविपाकमाह-

गब्भाइ मिज्झंति बुयाऽबुयाणा,
णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य,
चयंति ते आउखए पलीणा ॥१०॥

इह वनस्पतिकायोपमर्दका बहुषु जन्मसु गर्भादिकास्ववस्थासु कललार्बुदमांसपेशीरूपासु म्रियन्ते, तथा ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तश्च व्यक्तवाचोऽव्यक्तवाचश्च, तथा परे नराः पञ्चशिखाः कुमाराः सन्तो म्रियन्ते। तथा युवानो मध्यमवयसः,स्थविराश्च। क्वचित्पाठः-"मज्झिमपोरुसा य त्ति" तत्र मध्यमा मध्यमवयसः (पोरुसा य त्ति) पुरुषाणां चरमावस्थां प्राप्ता अत्यन्तवृद्धा एवेति यावत्। तदेवं सर्वास्वप्यवस्थासु बीजादीनामुपमर्दकाः स्वायुषः क्षये प्रलीनाः सन्तो देहं त्यजन्तीति। एवमपरस्थावरजङ्गमोपमर्दकारिणामप्यनियतायुष्कत्वमायोजनीयम ॥ १० ॥

किञ्चान्यत्-

संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं,
दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए,
सकम्मणा विप्परियासुवेइ ॥११॥

हे जन्तवः प्राणिनः! संबुध्यध्वं यूयं,नहि कुशीलपाषण्डिकलोकस्तृणाय भवति, धर्मं च सुदुर्लभत्वेन संबुध्यध्वम्। तथा चोक्तम्-" माणुस्सखेत्तजाई, कुलरूवारोग्गमाउयं बुद्धी। सवणोग्गहसद्धा संजमो य लोगम्मि दुल्लहाइं॥" तदेवमकृतधर्माणां मनुष्यत्वमतिदुर्लभमित्यवगम्य, तथा जातिजरामरणरोगशोकादीनि नरकतिर्यक्षु च तीव्रदुःखतया भयं दृष्ट्वा, तथा बालिशेनाऽज्ञेन सद्विवेकस्याऽलम्भ इत्येतच्चावगम्य, तथा निश्चयनयमवगम्य एकान्तदुःखोऽयं ज्वरित इव लोकः संसारप्राणिगणः। तथाचोक्तम्-

"जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति पाणिणो"॥

तथा-

"तण्हाहिहस्स पाणं, कूरो छायस्स छुज्जए तेत्ती।
दुक्खसयसंपउत्तं, जरियमिव जगं कलयइ"॥

इत्यत्र चैवंभूतलोके अनार्यकर्मकारी स्वकर्मणो विपर्यासमुपैति सुखार्थी प्राण्युपमर्दं कुर्वन् दुःखं प्राप्नोति तथा मोक्षार्थी संसारं पर्यटतीति ॥११॥

उक्तः कुशीलविपाकोऽधुना तद्दर्शनान्यभिधीयन्ते-

इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं।
एगे य सीओदगसेवणेणं,हुएण एगे पवयंति मोक्खं।१२।

इहेति मनुष्यलोके,मोक्षगमनाधिकारे वा,एके केचन मूढा अज्ञानाऽऽच्छादितमतयः परैश्च मोहिताः, प्रकर्षेण वदन्ति प्रतिपादयन्ति। किं तत्?-मोक्षं मोक्षावाप्तिम्। केनेति दर्शयन्ति-आह्रियत इत्याहार ओदनादिस्तस्य संपद्रसपुष्टिस्तां जनयतीत्याहारसंपज्जनं लवणं तेन ह्याहारस्य रसपुष्टिः क्रियते तस्य वर्जनं, तेनाऽऽहारसंपज्जनवर्जनेन लवणवर्जनेन मोक्षं वदन्ति। पाठान्तरं वा-"आहारसपंचयवज्जणेण" लवणपञ्चकमाहारसपञ्चकं, लवणपञ्चकं चेदम्-तद्यथा-सैन्धवं सौवर्चलं बिडं रौमं सामुद्रं चेति। लवणेन हि सर्वरसानामभिव्यक्तिर्भवति। तथा चोक्तम्-"लवणविहूणा य रसा,चक्खुविहूणा य इंदियग्गामा। धम्मो दयाएँ रहिओ, सोक्खं संतोसरहियं नो" ॥१॥ तथा लवणं रसानां तैलं स्नेहानां घृतं मेध्यानामिति। तदेवंभूतलवणपरिवर्जनेन रसपरित्याग एव कृतो भवति, तत्त्यागाच्च मोक्षावाप्तिरित्येवं केचन मूढाः प्रतिपादयन्ति। पाठान्तरं वा-"आहारओ पञ्चकवज्जणेण" आहारत इति,ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी। आहारमाश्रित्य पञ्चकं वर्जयन्ति। तथा-लसुनं पलाण्डुः करभीक्षीरं गोमांसं मद्यं चेत्येतत्पञ्चकवर्जनेन मोक्षं प्रवदन्ति। तथैके वारिभद्रकादयो भागवतविशेषाः शीतोदकसेवनेन सचित्ताप्कायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति। उपपत्तिं च ते अभिदधति-यथोदकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि। वस्त्रादेश्च यथोदकाच्छुद्धिरुपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनादान्तराऽपि शुद्धिरुदकादेवेति मन्यन्ते। तथैके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति। ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधा घृतादिभिर्द्रव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वति, शेषास्त्वभ्युदयायेति। युक्तिं चात्र ते आहुः-यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनां मलं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ॥१२॥

तेषामसंबद्धप्रलापिनामुत्तरदानायाऽऽह-

पाओ सिणाणादिसु णत्थि मोक्खो,
खारस्स लोणस्स अणासएणं।
ते मज्ज मंसं लसणं च भोच्चा,
अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥ १३ ॥

प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्ष इति प्रत्यूषजलावगाहनेन निःशीलानां मोक्षो न भवति। आदिग्रहणाद् हस्तपादादिप्रक्षालनं गृह्यते। तथा ह्युदकपरिभोगेन तदाश्रितजीवानामुपमर्दः समुपजायते, न च जीवोपमर्दान्मोक्षावाप्तिरिति। न चैकान्तेनोदकं बाह्यमलस्याप्यपनयने समर्थम्, अथाऽपि स्यात्तथाऽप्यान्तरमलं न शोधयति,भावशुध्या तच्छुद्धेः, अथ भावरहितस्यापि तच्छुद्धिः स्यात् ततो मत्स्यबन्धादीनामपि जलाभिषेकेण मुक्त्यवाप्तिः स्यात्। तथा क्षारस्य पञ्चप्रकारस्याऽपि लवणस्याऽनशनेनाऽपरिभोगेन मोक्षो नास्ति। तथाहि-लवणपरिभोगरहितानां मोक्षो न भवतीत्ययुक्तिकमेतत्। नचाऽयमेकान्ततो लवणमेव रसपुष्टिजनकमिति, क्षीरशर्करादिभिर्व्यभिचारात्। अपि चासौ प्रष्टव्यः-किं द्रव्यतो लवणवर्जनेन मोक्षावाप्तिरुत भावतः? यदि द्रव्यतस्ततो लवणरहितदेशे सर्वेषां मोक्षः स्यात्,न चैवं दृष्टमिष्टं वा। अथ भावतस्ततो भाव एव प्रधानं किं लवणवर्जनेनेति?। तथा ते मूढा मद्यमांसलशुनादिकं वा भुक्त्वा अन्यत्र मोक्षादन्यत्र संसारे वासमवस्थानं तथाविधानुष्ठानमसद्भावात् सम्यग्दर्शन-

ज्ञानचारित्ररूपमोक्षमार्गस्थाऽनुष्ठानाच्च परिकल्पयन्ति समन्ताद् निष्पादयन्तीति। (अतः परं चतस्रो गाथाः ' उदग ' शब्दे द्वि० भा० ७६६ पृष्ठे उक्ताः । एका च गाथा ' अग्गिहोत्त ' शब्दे प्र० भा० १७७ पृष्ठे उक्ता)

उक्तानि पृथक्कुशीलदर्शनानि, अथमपरस्तेषां सामान्योपालम्भ इत्याह–

अपरिक्ख दिट्ठं ण हु एव सिद्धी,
एहिंति ते घायमबुज्झमाणा ।
भूएहि जाणं पडिलेह सातं,
विज्जं गहायं तसथावरेहिं ॥ १९ ॥

यैर्मुमुक्षुभिरुदकसंपर्केणाऽग्निहोत्रेण वा प्राण्युपमर्दकारिणा सिद्धिरिति, ते च परमार्थमबुध्यमानाः प्राण्युपघातेन पापमेव धर्मबुद्ध्या कुर्वन्तो घात्यन्ते वा व्यापाद्यन्ते नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राणिनः संघातः संसारस्तमेष्यन्ति अप्कायतेजस्कायसमारम्भेण हि त्रसस्थावराणामवश्यंभावी विनाशः, तन्नाशे च संसार एव, न सिद्धिरित्यभिप्रायः; यत एवं ततो विद्वान् सदसद्विवेकी यथावस्थिततत्त्वं गृहीत्वा त्रसस्थावरैर्भूतैर्जन्तुभिः कथं सांप्रतं सुखमवाप्यत इति एतत्प्रत्युपेक्ष्य जानीहि अवबुध्यस्व। एतदुक्तं भवति–सर्वेऽप्यसुमन्तः सुखैषिणो दुःखद्विषः। न च तेषां सुखैषिणां दुःखोत्पादकत्वेन सुखावाप्तिर्भवतीति। यदि वा (विज्जं गहाय त्ति) विद्यां ज्ञानं गृहीत्वा विवेकमादाय त्रसस्थावरैर्भूतैर्जन्तुभिः करणभूतैः सातं सुखं प्रत्युपेक्ष्य पर्यालोच्य जानीह्यवगच्छेति। यत उक्तम्–" पढमं नाणं तओ दया,एवं चिट्ठइ सव्वसंजए। अन्नाणी किं काही, किं वा णाही छेयपावगमित्यादि " ॥ १९ ॥

ये पुनः प्राण्युपमर्देन सातमभिलषन्तीत्यशीलाः कुशीलाश्च ते संसारे एवंविधा अवस्था अनुभवन्तीत्याह–

थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी,
पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू ।
तम्हा विऊ विरतो आयगुत्ते,
दट्ठुं तसे या पडिसंहरेज्जा ॥ २० ॥

तेजस्कायसमारम्भिणो भूतसमारम्भेण सुखमभिलषन्तो नारकादिगतिगतास्तीव्रदुःखैः पीड्यमाना असह्यवेदनाग्रस्तमानसा अशरणाः स्तनन्ति केवलं करुणमाक्रन्दन्तीति यावत्। (तथा लुप्पंतीति) छिद्यन्ते खड्गादिभिः,एवं च कदर्थ्यमानास्त्रस्यन्ति प्रपलायन्ते। कर्माण्येषां सन्तीति कर्मिणः,सपापा इत्यर्थः। तथा पृथक् (जगा इति) जन्तव इति। एवं परिज्ञाय ज्ञात्वा भिक्षणशीलो भिक्षुः,साधुरित्यर्थः। यस्मात्प्राण्युपमर्दकारिणः संसारान्तर्गता विलुप्यन्ते तस्माद्विद्वान् पण्डितो विरतः पापानुष्ठानादात्मा गुप्तो यस्य सोऽयमात्मगुप्तो, मनोवाक्कायगुप्त इत्यर्थः। दृष्ट्वा च त्रसान्, चशब्दात् स्थावरांश्च दृष्ट्वा परिज्ञाय तदुपघातकारिणीं क्रियां प्रतिसंहरेन्निवर्तयेदिति ॥ २० ॥

साम्प्रतं स्वयूथ्याः कुशीला अभिधीयन्त इत्याह–

जे धम्मलद्धं वि णिहाय भुंजे,
वियडेण साहट्टु य जे सिणाइं ।
जे धोवती लूसयती व वत्थं,
अहाहु से णागणियस्स दूरे ॥ २१ ॥

ये केचन शीतलविहारिणो धर्मेण सुधिकया लब्धं धर्मलब्धं, उद्देशककीतकृतादिदोषरहितमित्यर्थः । तदेवंभूतमप्याहारजातं निधाय व्यवस्थाप्य सन्निधिं कृत्वा भुञ्जन्ते। तथा–ये विकटेन प्रासुकोदकेनाऽपि संकोच्याङ्गानि प्राशुक एव प्रदेशे देशसर्वस्नानं कुर्वन्ति। तथा यो वस्त्रं धावति प्रक्षालयति, तथा लूषयति शोभार्थं दीर्घमुत्पाट्यित्वा ह्रस्वं करोति, ह्रस्वं वा संधाय दीर्घं करोति, एवं लूषयति, तदेवं स्वार्थं परार्थं वा यो वस्त्रं लूषयति अथाऽसौ (णागणियस्स त्ति) निर्ग्रन्थभावस्य संयमानुष्ठानस्य दूरे वर्तते, तस्य न संयमो भवत्येवं तीर्थङ्करगणधरादय आहुरिति ॥ २१ ॥

उक्ताः कुशीलाः, तत्प्रतिपक्षभूताः शीलवन्तः प्रतिपाद्यन्त इत्येतदाह–

कम्मं परिन्नाय दगंसि धीरे,
वियडेण जीविज्ज य आदिमोक्खं ।
से बीयकंदाइ अभुंजमाणे,
विरते सिणाणाइसु इत्थियासु ॥२२॥

धिया राजते इति धीरो बुद्धिमान्, (दगंसि त्ति) उदकसमारम्भे सति कर्मबन्धो भवति एवं परिज्ञाय, किं कुर्यादित्याह–विकटेन प्रासुकोदकेन सौवीरादिना जीव्यात् प्राणसंधारणं कुर्यात् । चशब्दात् अन्येनाप्याहारेण प्रासुकेनैव प्राणवृत्तिं कुर्यात् । आदिः संसारः, तस्मान्मोक्ष आदिमोक्षः, संसारविमुक्तिं यावदिति । धर्मकारणानां तावदादिभूतं शरीरं तद्विमुक्तिं, यावज्जीवमित्यर्थः । किञ्चासौ साधुर्बीजकन्दादीन् भुञ्जानः, आदिग्रहणाद् मूलपत्रफलानि गृह्यन्ते । एतान्यप्यपरिणतानि परिहरन् विरतो भवति। कुत इति दर्शयति–स्नानाभ्यङ्गोद्वर्तनादिषु क्रियासु निष्प्रतिकर्मशरीरतयाऽन्यासु चिकित्सादिक्रियासु न वर्तते, तथा स्त्रीषु च विरतः वस्तिनिरोधग्रहणात् अन्येऽप्याश्रवा गृह्यन्ते। यश्चैवंभूतः सर्वेभ्योऽप्याश्रवद्वारेभ्यो विरतो नाऽसौ कुशीलदोषैर्युज्यते, तदयोगाच्च न संसारे बम्भ्रमीति । ततश्च न दुःखितः स्तनति, नापि नानाविधैरुपायैर्विलुप्यत इति ॥२२॥

पुनरपि कुशीलानेवमधिकृत्याह–

जे मायरं च पियरं च हिच्चा–ऽगारं तहा पुत्त पसुं धणं च ।
कुलाइँ जे धावइ साउगाइं,अहाहु से सामणियस्स दूरे।२३।

(जे मायरं चेत्यादि) ये केचनाऽपरिणतसम्यग्धर्माणस्त्यक्त्वा मातरं च पितरं च मातापित्रोर्दुस्त्यजत्वादुपादानम्, अतो भ्रातृदुहित्रादिकमपि त्यक्त्वेति एतदपि द्रष्टव्यम् । तथा अगारं गृहं, पुत्रमपत्यं, पशुं हस्त्यश्वरथगोमहिष्यादिकं धनं च त्यक्त्वा सम्यक् प्रव्रज्योत्थानेनोत्थाय पञ्चमहाव्रतभारस्य स्कन्धं दत्त्वा पुनर्हीनसत्त्वतया रससातादिगौरवगृद्धो यः कुलानि गृहाणि स्वादुकानि स्वादुभोजनवन्ति धावति गच्छति, अथाऽसौ श्रमणभावस्य श्रामण्यस्य दूरे वर्तत एवमाहुस्तीर्थङ्करगणधरादय इति ॥ २३ ॥

एतदेव विशेषेण दर्शयितुमाह–

कुलाइँ जे धावइ साउगाइं,

अघाति धम्मं उदराणुगिद्धे ॥
अहाहु से आयरियाण सयंसे,
जो लावएज्जा असणस्स हेऊ ॥ २४ ॥

(कुलाइँ जे धावतीत्यादि) कुलानि स्वादुभोजनवन्ति धावति गच्छति, तथा गत्वा धर्ममाख्याति भिक्षार्थं वा प्रविष्टो यद्यस्मै रोचते कथासंबन्धस्तं तस्याऽऽख्याति । किंभूत इति दर्शयति-उदरेऽनुगृद्ध उदरानुगृद्धः उदरभरणव्यग्रः, तुन्दपरिमृज इत्यर्थः । इदमुक्तं भवति-यो ह्युदरगृद्ध आहारादिनिमित्तं दानश्रद्धकाख्यानि कुलानि गत्वाऽऽख्यायिकाः कथयति स कुशील इति, अथाऽसावाचार्यगुणानां वा शतांशे वर्त्तत इति । यो ह्यशनस्य हेतुं भोजननिमित्तमपरवस्त्रादिनिमित्तं वा आत्मगुणानपरेणालापयेद्भाणयेत् असावप्याचार्यगुणानां सहस्रांशे वर्तते, किमङ्ग ! पुनर्यः स्वत एवाऽऽत्मप्रशंसां विदध्यातीति ॥२४॥

किञ्च-

णिक्खम्म दीणे परभोयणम्मि,
मुहमंगलीए उदराणुगिद्धे ॥
नीवारगिद्धे व महावराहे,
अदूरए एहइ घातमेव ॥ २५ ॥

यो ह्यात्मीयं धनधान्याहिरण्यादिकं त्यक्त्वा निष्क्रान्तो निष्क्रम्य च परभोजने पराहारविषये दीनो दैन्यमुपगतो जिह्वेन्द्रियवशादार्त्तो बन्दिवन्मुखमाङ्गलिको भवति मुखेन मङ्गलानि प्रशंसावाक्यानि ईदृशस्तादृशस्त्वमित्येवं दैन्यभावमुपगतो वक्ति । उक्तं च-"सो एसो जस्स गुणा, वियरंत न वारिया दस दिसासु । इहरा कहासु सुव्वसि, पच्चक्खं अत्थ दिट्ठोसि" इत्येवमौदर्यं प्रति गृद्धोऽध्युपपन्नः । किमिव नीवारः सूकरादिमृगभक्ष्यविशेषस्तस्मिन् गृद्ध आसक्तमना गृहीत्वा च स्वयूथं महावराहो महाकायः सूकरः । एवकारोऽवधारणे, अवश्यं तस्य विनाश एव, नाऽपरा गतिरस्तीति, एवमसावपि कुशील आहारमात्रगृद्धः संसारोदरः पौनःपुन्येन विनाशमेवैति ॥ २५ ॥

किञ्च-

अन्नस्स पाणस्सिह लोइयस्स,
अणुप्पियं भासति सेवमाणे ॥
पासत्थयं चेव कुसीलयं च,
निस्सारए होइ जहा पुलाए ॥ २६ ॥

(अन्नस्सेत्यादि) स कुशीलोऽन्नस्य पानस्य वा कृतेऽन्यस्य वैहिकार्थस्य वस्त्रादेः कृते अनुप्रियं भाषते, यद्यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनु पश्चाद् भाषतेऽनुभाषते । प्रतिशब्दकवत् सेवकवद्वा राजाद्युक्तमनुवदतीत्यर्थः । तमेव दातारमनुसेवमानः आहारमात्रगृद्धः सर्वमेतत्करोतीत्यर्थः । स चैवंभूतः सदाचारभ्रष्टः पार्श्वस्थभावमेव व्रजति कुशीलतां च गच्छति । तथा निर्गत एकान्ततः सारश्चारित्राख्यो यस्य स निःसारः, यदि वा निर्गतस्य सारो निःसारः, स विद्यते यस्याऽसौ निःसारवान्, पुलाक इव निष्कणो भवति यथा, एवमसौ संयमानुष्ठानं निःसारीकरोति । एवंभूतश्चाऽसौ लिङ्गमात्रावशेषो बहूनां स्वयूथ्यानां तिरस्कारपदवीमवाप्नोति, परलोके च निकृष्टानि यातनास्थानान्यवाप्नोति ॥२६॥

उक्ताः कुशीलास्तत्प्रतिपक्षभूतान् सुशीलान् प्रतिपादयितुमाह-

अण्णातपिंडेणऽहियासएज्जा,
णो पूयणं तवसा आवहेज्जा ।
सद्देहिँ रूवेहिँ असज्जमाणं,
सव्वेहि कामेहिँ विणीय गेहिं ॥ २७ ॥

अज्ञातश्चासौ पिण्डश्चाऽज्ञातपिण्डः, अन्तप्रान्त इत्यर्थः । अज्ञातेभ्यो वा पूर्वापरासंस्तुतेभ्यो वा पिण्डोऽज्ञातः उञ्छवृत्त्या लब्धस्तेनात्मानमधिसहेत् वर्त्तयेत् पालयेत् । एतदुक्तं भवति-अन्तप्रान्तेन लब्धेनाऽलब्धेन वा न दैन्यं कुर्यात्, नाऽप्युत्कृष्टेन लब्धेन मदं विदध्यात्, नाऽपि तपसा पूजनं सत्कारमावहेत्, न पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः । यदि वा पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथाविधार्थत्वेन वा महताऽपि केनचित्तपो मुक्तिहेतुकं न निःसारं कुर्यात् । तदुक्तम्-"परलोकाधिकं धाम, तपः श्रुतमिति द्वयम् । तदेवार्थित्वनिर्लुप्त-सारं तृणलवायते" ॥१॥ तथा च रसेषु गृद्धिं न कुर्यात् । एवं शब्दादिष्वपीति दर्शयति-शब्दैर्वेणुवीणादिभिराक्षिप्तः संस्तेष्वसज्जन्नासक्तिमकुर्वन् कर्कशेषु च द्वेषमगच्छन्, तथा रूपैरपि मनोज्ञेतरैः रागद्वेषमकुर्वन् । एवं सर्वैरपि कामैरिच्छामदनरूपैः सर्वेभ्यो वा कामेभ्यो गृद्धिं विनीयाऽपनीय संयममनुपालयेदिति । सर्वथा मनोज्ञेतरेषु विषयेषु रागद्वेषं न कुर्यात् ।

तथा चोक्तम्-

"सद्देसु य भद्दयपावएसु, सोयविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ १ ॥
रूवेसु य भद्दयपावएसु, चक्खुविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ २ ॥
गंधेसु य भद्दयपावएसु, घाणविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया ण होयव्वं ॥ ३ ॥
भक्खेसु य भद्दयपावएसु, रसणविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया न होयव्वं ॥ ४ ॥
फासेसु य भद्दयपावएसु, फासविसयमुवगएसु ।
तुट्ठेण व रुट्ठेण व, समणेण सया न होयव्वं" ॥ ५ ॥ २७ ॥

यथा चेन्द्रियनिरोधो विधेय एवमपरसङ्गनिरोधोऽपि कार्य इति दर्शयति-

सव्वाइँ संगाइँ अइच्च धीरे,
सव्वाइँ दुक्खाइँ तितिक्खमाणे ।
अखिले अगिद्धे अणिए य चारी,
अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ॥ २८ ॥

(सव्वाइ इत्यादि) सर्वान् बाह्यांश्च द्रव्यपरिग्रहलक्षणानतीत्य त्यक्त्वा धीरो विवेकी सर्वाणि दुःखानि शारीरमानसानि त्यक्त्वा परीषहोपसर्गजनितानि तितिक्षमाणोऽधिसहमानोऽखिलो ज्ञानदर्शनचारित्रैः सम्पूर्णः, तथा कामेष्वगृद्धः, तथाऽनियतचारी अप्रतिबद्धविहारी, तथा-जीवानामभयंकरोऽपि भिक्षणशीलो भिक्षुः साधुरेवमनाविलो विषयकषायैरनाकुलात्मा यस्याऽसावनाविलात्मा संयममनुवर्तेत इति ॥२८॥

किञ्चान्यत्-

भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा,
कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू ॥

दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा,
संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥ २९ ॥

संयमजारस्य यात्राऽर्थे पञ्चमहाव्रतभारनिर्वाहणार्थं, मुनिः कालत्रयवेत्ता, भुञ्जीत आहारग्रहणं कुर्वीत, तथा पापस्य कर्मणः पूर्वचरितस्य विवेकं पृथग्भावं विनाशमाकाङ्क्षेद्भिक्षुः साधुरिति। तथा दुःखयतीति दुःखं परीषहोपजनिता पीडा, तेन स्पृष्टो व्याप्तः सन् धूतं संयमं मोक्षं वा आददीत गृह्णीयात्, यथा सुभटः कश्चित् संग्रामशिरसि शत्रुभिरभिद्रुतः परं शत्रुं दमयति, एवं परं कर्मशत्रुं परीषहोपसर्गाऽभिद्रुतो दमयेदिति ॥ २९ ॥

अपि च-

अवि हम्ममाणे फलगाव तट्ठी,
समागमं कंखति अंतकस्स ।
णिधूय कम्मं ण पवंचुवेइ,
अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि ॥ ३० ॥

(अविहम्ममाणेत्यादि) परीषहोपसर्गैर्हन्यमानोऽपि सम्यक् सहते। किमिव फलकवदवकृष्टः। यथा फलकमुभाभ्यामपि पार्श्वाभ्यां तष्टं घट्टितं सत्तनु भवति अरक्तं द्विष्टं वा संभवत्येवमसावपि साधुः सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा निष्टप्तदेहो दुर्बलशरीरोऽरक्तद्विष्टश्चान्तकस्य मृत्योः समागमं प्राप्तिमाकाङ्क्षत्यभिलषति। एवं चाऽष्टप्रकारं कर्म निर्धूयाऽपनीय न पुनः प्रपञ्चं जातिजरामरणरोगशोकादिकं प्रपञ्च्यते बहुधा नटवद्यस्मिन् स प्रपञ्चः संसारस्तं नोपैति न याति। दृष्टान्तमाह-यथाऽक्षस्य क्षये विनाशे सति शकटं गत्यादिकं समविषमपथरूपं प्रपञ्चमुपष्टम्भकारणभावान्नोपयाति, एवमसावपि साधुरष्टप्रकारस्य कर्मणः क्षये संसारप्रपञ्चं नोपयातीति। गतोऽनुगमोऽनया, पूर्ववदितिशब्दः परिसमाप्त्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥ ३० ॥ सूत्र० १ श्रु० ७ अ०।

(७) पार्श्वस्थादिसंसर्गो न कर्तव्यः-

अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए ।
सुहरूवा तत्थुवस्सग्गा, पडिवुज्झेज्ज ते विऊ ॥२८॥

कुत्सितं शीलमस्येति कुशीलः, स च पार्श्वस्थादीनामन्यतमः, न कुशीलोऽकुशीलः, सदा सर्वकालं भिक्षणशीलो भिक्षुः कुशीलो न भवेन्नापि कुशीलैः सार्धं संसर्गं सांगत्यं भजेत सेवेत। तत्संसर्गदोषोद्भिभावयिषयाऽऽह-सुखरूपाः सातागौरवस्वभावास्तत्र तस्मिन् कुशीलसंसर्गे संयमोपघातकारिण उपसर्गाः प्रादुष्षन्ति । तथाहि-कुशीलवक्तारो भवन्ति-कः किल प्रासुकोदकेन हस्तपाददन्तादिके प्रक्षाल्यमाने दोषः स्यात्?, तथा नाशरीरो धर्मो भवति इत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाधाकर्मसान्निध्यादिना तथा उपानच्छत्रादिना च शरीरं धर्माधारं वर्त्तयेत् । उक्तं च-"अप्पेण बहुमेसेज्जा, एयं पंडियलक्खणं।" इति "शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः। शरीरात्स्रवते पापं, पर्वतात्सलिलं यथा ॥१॥" तथा साम्प्रतमल्पानि संहननानि अल्पधृतयश्च संयमे जन्तव इत्येवमादि कुशीलोक्तं श्रुत्वा अल्पसत्त्वास्तत्रानुषज्जन्त्येवं विद्वान् विवेकी प्रतिबुद्ध्येत जानीयात्, बुद्ध्वा चापायरूपं कुशीलसंसर्गं परिहरेदिति।

किञ्चान्यत्-

नन्नत्थ अंतराएणं, परगेहे ण णिसीयए ।
गामकुमारियं किड्डं, नातिवेलं हसे मुणी ॥२९॥

तत्र साधुर्भिक्षादिनिमित्तं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् परो गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहं तत्र न निषीदेन्नोपविशेत्, उत्सर्गतोऽस्यापवादं दर्शयति-नान्यत्रान्तरायेणेति। अन्तरायः शक्त्यभावः, स च जरसा रोगातङ्काभ्यां स्यात्तस्मिंश्चान्तराये सत्युपविशेद्यदि वोपशमलब्धिमान् कश्चित्सुसहायो गुर्वनुज्ञातः कस्यचित्तथाविधस्य धर्मदेशनानिमित्तमुपविशेदपि, तथा ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिकाऽसौ क्रीडा हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शनालिङ्गनाऽऽदिका, यदि वा वट्टकन्दुकादिका, तां मुनिर्न कुर्यात्, तथा वेला मर्यादा तामतिक्रान्तमतिवेलं, न हसेन्मर्यादामतिक्रम्य मुनिः साधुर्ज्ञानावरणीयाद्यष्टविधकर्मबन्धभयान्न हसेत्। तथा चागमः-"जीवे णं भंते! हसमाणे उस्सूयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ?। गोयमा! सत्तविह बंधए वा अट्ठविह बंधए वा" इत्यादि।

किञ्च-

अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए ।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थ हियासए ॥३०॥

उराला उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दादिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राभरणगीतगन्धर्वयानवाहनादयः, तथा आज्ञैश्वर्यादयश्चैतेषूदारेषु दृष्टेषु श्रुतेषु वा नोत्सुकः स्यात्। पाठान्तरं वा-न निश्रितोऽनिश्रितोऽप्रतिबद्धः स्याद् । यतमानश्च संयमानुष्ठाने परि समन्तान्मूलोत्तरगुणेषु उद्यमं कुर्वन् व्रजेत् संयमं गच्छेत्। तथा चर्यायां भिक्षादिकायामप्रमत्तः स्यात्, नाहारादिषु रसगार्ध्यं विदध्यादिति । तथा स्पृष्टश्चाभिद्रुतश्च परीषहोपसर्गैस्तत्रादीनमनस्कः कर्मनिर्जरां मन्यमानो विषहेत सम्यक् सहेतादिति। सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

(८) पार्श्वस्थादिसंसर्गदोषमाह-

वज्जिज्ज य संसग्गिं, पासत्थाईहिं पावमित्तेहिं ।
कुज्जा य अप्पमत्तो, सुद्धचरित्तेहिँ धीरेहिं ॥ ३० ॥

विवर्जयेच्च संसर्गं संबन्धमित्यर्थः । कैरित्याह-पार्श्वस्थादिभिः पापमित्रैरकल्याणमित्रैः सह; कुर्याच्च संसर्गमप्रमत्तः सन् शुद्धचारित्रैर्धीरैः साधुभिः सहेति गाथार्थः ॥ ३० ॥

किमित्येतदेवमित्यत्राह-

जो जारिसेण मेत्तिं, करेइ अचिरेण तारिसो होइ ।
कुसुमेहि सह वसंता, तिला वि तग्गंधिया हुंति ॥ ३१ ॥

यः कश्चित् यादृशेन येन केनचित् सह मैत्रीं संसर्गरूपां करोति सोऽचिरात् तादृशो भवति । अत्र निदर्शनमाह-कुसुमैः सह वसन्तः सन्तस्तिला अपि तद्गन्धिनो भवन्ति कुसुमगन्धिन एवेति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अत्राह-

सुचिरं पि अत्थमाणो, वेरुलिओ कायमणिअउम्मीसो ।
न उवेइ कायभावं, पाहण्णगुणेण निअएणं ॥ ३२ ॥

सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् वैडूर्यो मणिविशेषः, काचाश्च ते मणयश्च काचमणयः, कुत्सिताः काचमणयः काचमणिकाः, तैरुत्प्राबल्येन मिश्रः काचमणिकोन्मिश्रः, नोपैति न याति काचभावं काचधर्मं प्राधान्यगुणेन वैमल्यगुणेन निजेनात्मीयेन, एवं सुसाधुरपि पार्श्वस्थादिभिर्न यास्यतीति गाथार्थः ॥३२॥

तथा-

सुचिरं पि अत्थमाणो, नलथंभो उच्छुवाममज्झम्मि ।

कीस न जायइ महुरो, जइ संसग्गी पमाणं ते ? ॥ ३३ ॥

सुचिरमपि प्रभूतमपि कालं तिष्ठन् नलस्तम्बो वृक्षविशेषः इक्षुवाटमध्ये इक्षुसंसर्गात्किमिति न जायते मधुरः यदि संसर्गी प्रमाणं तवेति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

अत्रोत्तरमाह-

भावुग अभावुगाणि अ, लोए दुविहाणि होंति दव्वाणि ।

वेरुलिओ तत्थ मणी, अभावुगो अन्नदव्वेहिं ॥ ३४ ॥

भाव्यन्ते प्रतियोगिना स्वगुणैरात्मभावमापद्यन्त इति भाव्यानि कवेल्लुकादीनि, प्राकृतशैल्या भावुकान्युच्यन्ते । अथ वा प्रतियोगिनि सति तद्गुणापेक्षया तथा भवनशीलानि भावुकानि, "लषपतपदस्थाभूवृषहनकमगमशृभ्य उकञ्" ३।२।१५४। इति पाणिनिसूत्राद्युकञ्, तस्य ताच्छीलिकत्वादिति । तद्विपरीतानि अभाव्यानि च नलादीनि लोके द्विविधानि द्विप्रकाराणि भवन्ति द्रव्याणि वस्तूनि, वैडूर्यस्तत्र मणिरभाव्योऽन्यद्रव्यैः काचादिभिरिति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

स्यान्मतिर्जीवोऽप्येवंभूत एव भविष्यति न पार्श्वस्थादिसंसर्गेण तद्भावं यास्यतीत्येतच्च असद्, यतः—

जीवो अणाइनिहणो, तब्भावणभाविओ अ संसारे ।

खिप्पं सो भाविज्जइ, मेलणदोसाणुभावेणं ॥ ३५ ॥

जीवः प्राग्निरूपितशब्दार्थः, स ह्यनादिनिधनोऽनाद्यपर्यन्त इत्यर्थः । तद्भावनाभावितश्च पार्श्वस्थाद्याचरितप्रमादादिभावनाभावितश्च संसारे तिर्यग्नरनारकामरभवानुभूतिलक्षणे, ततश्च तद्भावनाभावितत्वात् क्षिप्रं शीघ्रं स भाव्यते प्रमादादिभावनया आत्मीक्रियते मीलनदोषानुभावेन संसर्गदोषानुभावेनेति-गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अथ भावतो दृष्टान्तमात्रेण परितोषः, ततो मद्विवक्षितार्थप्रतिपादकोऽपि दृष्टान्तोऽस्त्येव, शृणु-

अंबस्स य निंबस्स य, दोण्हं पि समागयाइँ मूलाइं ।

संसग्गीएँ विणट्ठो, अंबो निंबत्तणं पत्तो ॥ ३६ ॥

तिक्तनिम्बोदकवासितायां भूमावाम्रवृक्षः समुत्पन्नः, पुनस्तत्राम्रस्य च निम्बस्य च द्वयोरपि समागते एकीभूते मूले ततश्च संसर्गात् संगत्या विनष्टः आम्रो निम्बत्वं प्राप्तः, तिक्तफलः संवृत इतिगाथाऽर्थः ॥ ३६ ॥

दोषान्तरोपदर्शनेन प्रकृतमेव समर्थयन्नाह-

संसग्गीए दोसा, निअमादेवेह होइ अकिरिया ।

लोए गरिहा पावे, अणुमइ सो तह य आणाई ॥ ३७ ॥

संसर्गात् संसक्तेर्या पार्श्वस्थादिभिः सदेति गम्यते, दोषा इमे नियमादेवेह, या च भवत्यक्रिया तदुपरोधेन तथा लोके गर्हा भवति-सर्वे एवैते एवंभूता इति, तथा पापेऽनुमतिर्भवति पार्श्वस्थादिसम्बन्धिनी, तत्सङ्गमात्रनिमित्तत्वादनुमतेः, तथा आज्ञादयश्च दोषा भवन्तीति गाथाऽर्थः ॥ ३७ ॥ पं० व० ।

(कुशीलसंसर्गे दोषाः 'किइकम्म' शब्देऽपि ५०९ पृष्ठेऽस्मिन्नेव भागे भाविताः, ततस्ते तत एवाऽवधार्याः)

कुसीलधम्म-कुसीलधर्मन्-न० । पुं० । कुत्सितशीलो धर्मो यस्य स कुशीलधर्मा । सावद्यकर्मणा धर्मत्वाभिमानिषु, "अहाहु से लोएँ कुसीलधम्मे, भूताइँ जे हिंसति आयसाते ।" सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

कुसीलपडिसेवणया-कुशीलप्रतिसेवनका (ता)-स्त्री० । कुशीलमब्रह्म, तस्य प्रतिसेवनं कुशीलप्रतिसेवनं, तद्भावः कुशीलप्रतिसेवनता, उपसर्गकुशीलस्य वा प्रतिसेवनं येषु ते कुशीलप्रतिसेवनकाः । मानुष्योपसर्गभेदेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कुसीलपडिसेवणा-कुशीलप्रतिसेवना-स्त्री० । मैथुनप्रतिसेवनायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कुसीलपणग-कुशीलपञ्चक-न० । पार्श्वस्थावसन्नयथाच्छन्दसंसक्तकुशीलपञ्चके, महा० २ अ० ।

कुसीलपरिभासा-कुशीलपरिभाषा-स्त्री० । सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमश्रुतस्कन्धस्य सप्तमेऽध्ययने, तत्र कुशीलाः परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा स्वयूथ्या अशीलाश्च गृहस्थाः परि समन्ताद् भाष्यन्ते प्रतिपाद्यन्ते तदनुष्ठानतस्तद्विपाकदुर्गतिगमनाश्च निरूप्यन्त इति,तथा तद्विपर्ययेण कश्चित्सुशीलाश्चेति । निक्षेपस्त्रिधा-ओघनामसूत्रालापकभेदात् । तत्रौघनिष्पन्ननिक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने कुशीलपरिभाषेति । सूत्र० ।

साम्प्रतं कुशीलपरिभाषाख्यस्याऽध्ययनस्याऽन्वर्थतां दर्शयितुमाह-

परिभासिया कुसीला य, एत्थ जावंति अविरता केइ ।

सुत्तिपसंसासुद्धो, कुंति दुगुंछा अपरिसुद्धो ॥ ९० ॥

(परिभासिया इत्यादि) परि समन्ताद् भाषिताः प्रतिपादिताः कुशीलाः कुत्सितशीलाः परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च । चशब्दाद् यावन्तः केचनाऽविरता अस्मिन्निस्थत इदमध्ययनं कुशीलपरिभाषेत्युच्यते । किमिति कुशीला अशुद्धा गृह्यन्ते ?, इत्याह-सुरित्ययं निपातः प्रशंसायां शुद्धविषये वर्तते । तद्यथा-सौराज्यमित्यादि । तथा कुरित्ययमपि निपातो जुगुप्सायामशुद्धविषये वर्त्तते, कुतीर्थं कुग्राम इत्यादि ।

यदि कुत्सितशीलाः कुशीलाः कथं तर्हि परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयश्च तथाविधा भवन्ति इत्याह-

अप्फासुयपडिसेवी, णामं भुज्जो य सीलवादी य ।

फासुं वयंति सीलं, अफासुया मो अभुंजंता ॥ ९१ ॥

(अप्फासुय इत्यादि) अस्त्ययं शीलशब्दस्तत्स्वभावाभाव्ये । तथाहि-यः फलनिरपेक्षः क्रियास्वाभरणादिषु प्रवर्त्तते स चेह द्रव्यशीलत्वेन प्रदर्शितः, अस्त्युपशमप्रधाने चारित्रे । तथाहि-तत्प्रधानः शीलवानयं तपस्वीति, तद्विपर्ययेण दुःशील इति । स चेह भावशीलग्रहणेनोपात्त इति । इह च यतीनां स्वाध्यायध्यानादिकं मुक्त्वा धर्माधारशरीरतत्पालनाहारव्यापारं च मुक्त्वा नाऽपरः कश्चिद्व्यापारोऽस्तीत्यतस्तदाश्रयेणैव सुशीलत्वं च चिन्त्यते-तत्र कुतीर्थिकः पार्श्वस्थादिर्वा अप्रासुकं सचित्तं प्रति सेवितुं शीलमस्य स भवत्यप्रासुकप्रतिसेवी, नामशब्दः संभावनायां, भूयः पुनर्धाष्टर्याच्छीलवन्तमात्मानं वदितुं शीलं यस्य स शीलवादी, किमित्येवं, यतः प्रासुकमचेतनं शीलं वदति । इदमुक्तं भवति-यः प्रासुकमुद्गमादिदोषरहितमाहारं भुङ्क्ते तं शीलवन्तं वदन्ति तज्ज्ञाः । तथाहि-यतयोऽप्रासुकमुद्गमादिदोषदुष्ट-

मेषाऽऽहारमभुञ्जानाः शीलवन्तो भणयन्ते नेतर इति स्थितम्। नाशब्दस्य निपातत्वेनाऽवधारणार्थत्वादिति ।

अप्राशुकभोजित्वेन कुशीलत्वं प्रतिपादयितुं दृष्टान्तमाह–

जह णाम गोयमा चं-मिदेवगा वारिभद्दगा चेव ।
जे अग्गिहोत्तवादी, जलसोयं जे य इच्छंति ॥ ८२ ॥

(जह णाम इत्यादि) यथेति दृष्टान्तोपदर्शनार्थे, नामशब्दो वाक्यालङ्कारे। गौतमा इति गोव्रतिका गृहीतशिक्षं लघुकायं वृषभमुपादाय धान्यार्थं प्रतिगृहमटन्ति । तथा (चंडिदेवगा इति) चक्रधरप्रायाः । एवं वारिभद्रका अब्भक्षाः शैवलाशिनो नित्यं स्नानपानादिधावनाभिरता वा । तथा ये चाऽन्येऽग्निहोत्रवादिनोऽग्निहोत्रादेव स्वर्गगमनमिच्छन्ति, ये चान्ये जलशौचमिच्छन्ति भागवतादयस्ते सर्वेऽप्यप्राशुकाहारभोजित्वात् कुशीला इति। चशब्दात् ये च स्वयूथ्याः पार्श्वस्थादय उद्गमाद्यशुद्धमाहारं भुञ्जन्ते, तेऽपि कुशीला इति । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः ॥ सूत्र० नि० १ श्रु० ७ अ० । आ० चू० । आव० । स० । प्रश्न० ।

कुसीललिंग–कुशीललिङ्ग–न० । पार्श्वस्थादीनां चिह्ने, उत्त० २० अ० ।

कुसीलविहारि (ण्)–कुशीलविहारिन्–पुं० । आजन्माऽपि ज्ञानाद्याचारविराधके, भ० १० श० ४ उ० ।

कुसीलसंसग्गि–कुशीलसंसर्गि–पुं० । पार्श्वस्थादिसम्बन्धे, सावद्यमनायतनमशोधिस्थानं कुशीलसंसर्गिः, एतान्येकार्थिकानि पदानि भवन्ति । ओघ० ।

कुसीस–कुशिष्य–पुं० । दुष्टशिष्ये, उत्त० २७ अ० ।

कुसुंभ–कुसुम्भ–पुं० । लट्टायाम, स्था० ८ ठा० । भ० । औषधिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । भ० । नि० चू० । लट्टकरागे, यत्पुष्पैर्वस्त्रादिरागः समुत्पद्यते । जं० २ वक्ष० । " चत्तारि हुंति तेल्ला, तिलअयसिकुसुंभसरिसवाणं च।" प्रव० ४ द्वार । " जे सुंभए से कुसुंभए " अनु० । कमण्डलौ, स्वर्णे, न० । वाच० ।

कुसुट्ट–कुशावर्त–पुं० । ब० व० । आर्यदेशभेदे, यत्र सौरिकं नगरं, ' सोरियं कुसुट्टा य ' सौरिकं नगरं, कुशावर्तो देशः । प्रव० २७३ द्वार । सूत्र० ।

कुसुम–कुसुम–न० । कुस-उम । गुणाभावः । पुष्पे, जं० १ वक्ष० । जी० । रा० । दश० । स्था० । औ० । कल्प० । प्रज्ञा० । "पुप्फाणि य कुसुमाणि य,फुल्लाणि य तहेव होंति पसवाणि। सुमणाणि य सुहुमाणि य,पुप्फाणं होंति एगट्ठा ॥" दश० ८ अ० । पद्मप्रभस्य यक्षे, स च नीलवर्णः कुरङ्गवाहनश्चतुर्भुजः फलाभययुक्तदक्षिणपाणिद्वयो नकुलाक्षसूत्रवामपाणिद्वयश्च । प्रव० २७ द्वार ।

कुसुमकुंडल–कुसुमकुण्डल–न० । इत्पूरकपुष्पसमानाकृतिकर्णाभरणे, अन्त० ४ वर्ग ।

कुसुमकेउ–कुसुमकेतु–पुं० । अरुणवरद्वीपाधिपतिदेवे, द्वी० ।

कुसुमक्खयधूव–कुसुमाक्षतधूप–पुं० । पुष्पमालाद्यखण्डतण्डुलकृष्णागरुसारधूपेषु, दर्श० ।

कुसुमगथण–कुसुमग्रथन–न० । स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

कुसुमघरय–कुसुमगृहक–न० । कुसुमप्रायवनस्पतिगृहे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । कुसुमप्रकारोपचिते गृहे,जं० १ वक्ष० । जी० । रा० ।

कुसुमणयर–कुसुमनगर–न० । पाटलिपुत्रे, आ० म० द्वि० ।

कुसुमदाम–कुसुमदामन्–न० । पुष्पमालायाम, उपा० १ अ० ।

कुसुमदामकोदंड–कुसुमदामकोदण्ड–पुं० । कामदेवे," मुंडमालिए जं पणएण तं नमहुं कुसुमदामकोदंडकामहुं " प्रा०४पाद ।

कुसुमप्पअर–कुसुमप्रकर–पुं० । " समासे वा " ८ । २ । ९७ । इति पद्वित्वं वा । पुष्पसमूहे, प्रा० २ पाद ।

कुसुमपुर–कुसुमपुर–न० । पाटलिपुत्रे, बृ० ३ उ० ।

कुसुमभर–कुसुमभर–पुं० । पुष्पसम्भारे, "कुसुमभरसमोणमंतपत्तविसालसालं " कुसुमभरेण पुष्पसंभारेण समीषदवनमन्त्यः पत्रसमूहाः, पत्रसमिद्धंति स्कन्धपत्रलमिति वचनात् विशाला विस्तीर्णाः शालाः शाखा यस्य सः कुसुमभरसमवनमत्पत्रलविशालशालः । रा० ।

कुसुमवुट्ठि–कुसुमवृष्टि–स्त्री० । दशार्द्धवर्णपुष्पवर्षे,पञ्चा०२ विव० । दशार्द्धवर्णजलजाधोभागस्थायिवृन्तआजानुदघ्नप्रमाणकुसुमवर्षणे, दर्श० ।

कुसुमसंथर–कुसुमसंस्तर–पुं० । पुष्पशयने,प्रश्न० ५ सम्व० द्वार ।

कुसुमसंभव–कुसुमसम्भव–पुं० । वनस्पतिषु बाहुल्येन कुसुमानां मल्लिकापाटलादीनां सम्भवो यस्मिन् स तथा । मधुमासे, "अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं ।" अनु० । कल्प० । स्था० । चं० प्र० । जं० । ज्यो० । सू० प्र० ।

कुसुमसम–कुसुमसम–त्रि० । पुष्पसदृशे, तं० ।

कुसुमसार–कुसुमसार–पुं० । मलयमहायाः पितरि सार्थवाहे, " विजयमणणंदणे णयरे कुसुमसारसत्थवाहसुकुमालियाए भारियाए मलयमहा नाम दुहिया" । दर्श० ।

कुसुमालिओ–देशी-शून्यमनसि, दे० ना० २ वर्ग ।

कुसुमासव–कुसुमासव–न० । कुसुमस्य तद्रसस्याऽऽसवम् । पौष्पे मधुनि, तज्जाते मद्ये च । वाच० । किञ्जल्के, औ० ।

कुसुमासवलोल–कुसुमासवलोल–त्रि० । किञ्जल्कपानलम्पटे, जी० ३ प्रति० । जं० । रा० । औ० ।

कुसुमिय–कुसुमित–त्रि० । कुसुमानि पुष्पाणि सञ्जातानि एषामिति कुसुमिताः तारकादिदर्शनादितच् प्रत्ययः । रा० । स्था० । संजातकुसुमेषु, भ० १ श० १ उ० । जी० । औ० । जं० । आ० म० । मुकुलितेषु, बृ० १ उ० ।

कुसुर–ताम्बूल–न० । " गोणाऽऽदयः " । ८ । २ । १७४ । इति ताम्बूलस्थाने कुसुराऽऽदेशः । नागवल्लीदले, प्रा० २ पाद ।

कुसूल-कुशूल-पुं० । कोष्ठे, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

कुसेज्ज-कुशय्य-त्रि० । कुत्सितशयने, जं० २ वक्ष० । प्रश्न० ।

कुह-कुह-पुं० । कुहयति विस्मापयति ऐश्वर्येण । कुह-अच् । कुबेरे, पुं० । विस्मापके,त्रि० । वाच० । वृक्षे, " कुहा महीरुहा वच्छा, रोवगा रुंजगा वि य " । एते द्रुमपर्यायाः । दश० ७ अ० । कुध्-स्त्री० । सम्पदादि० भावे क्विप् । क्रोधे, ध० २ अधि० ।

कुहंड-कूष्माण्ड-पुं० । रत्नप्रभापृथिव्या उपरितनयोजनशतवर्तिनि व्यन्तरनिकायविशेषे, औ० ।

कुहंडिया-कूष्माण्डिका-स्त्री० । पुष्पफल्याम्, रा० ।

कुहंडियाकुसुम-कूष्माण्डिकाकुसुम-न० । पुष्पफलीकुसुमे, रा० । जी० ।

कुहग (य)-कुहक-न० । कुह-वा क्विन् । इन्द्रजाले, असद्वस्तुनः सत्त्वेन बोधके व्यापारभेदे, वञ्चनायाम्, स्त्री० । क्षिपकादित्वाद् नेत्वम् । वाच० । धावतोऽश्वस्य उदरप्रदेशसमीपे संमूर्च्छितवायुविशेषे, " घणगज्जियहयकुहए, विज्जुदुगिज्झगूढहिययाओ । " अत्र कुहकशब्देन यो धावतोऽश्वस्योदरप्रदेशसमीपे संमूर्च्छितवायुविशेष उत्पद्यते स प्रोच्यते । यत उक्तं परिशिष्टपर्वणि श्रीहेमचन्द्रसूरिपादैः-' दध्यौ च स्वर्णकारोऽपि, चरितं योषितामहो । अश्वानां कुहकारावमिह को वेत्तुमीश्वरः ' ? ॥१॥ ग० २ अधि० ।

कुहड-देशी-कुब्जे, दे० ना० २ वर्ग ।

कुहण-कुहन-न० । ईषत् प्रयत्नेन हन्यते । हन्-कर्मणि वा अप् । मृद्भाण्डे, काचपात्रे च । तयोरीषत् प्रयत्नेन हन्यमानत्वात्तथात्वम् । कुत्सिताचारेण हन्ति । हन् अच् । ईर्षालौ, त्रि० । कुं पृथिवीं हन्ति, हन् अच् । मूषके, सर्पे च । पुं० । स्त्री० । स्त्रियां ङीप् । वाच० । भूमिस्फोटकाभिधाने वनस्पतिभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रज्ञा० । उत्त० । भ० । ' से किं तं कुहणा ? कुहणा अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा-" आए काए कुहणे, कुणक्के दव्वहलियाए । सप्पभाए सत्ताए वत्तोए वंसीणहिया कुहए " ॥१॥ या अण्णे तहप्पगारा सेत्तं कुहणा " । प्रज्ञा० १ पद । सूत्र० । प्रश्न० ।

कुहणी-कूष्माण्डी-स्त्री० । वल्लीभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

कुहर-कुहर-न० । विवरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । रा० । पर्वतान्तराले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० । जिनमण्डपादिके, नं० । कर्णे, कण्ठशब्दे, गले, समीपे च । न० । वाच० ।

कुहाड-कुठार-पुं० । परशौ, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । विपा० । ' जो परं कुहाडेहिं छेत्तव्वो ' नि० चू० १ उ० । काष्ठसंस्करणसाधनप्रहरणे, उत्त० १९ अ० ।

कुहाडहत्थ-कुठारहस्त-त्रि० । परशुपाणौ, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कुहाडी-कुठारी-स्त्री० । शस्त्रविशेषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

कुहावणा-कुहना-स्त्री० । ' कुह ' विस्मापने । अदन्तस्य चुरादित्वादिनि " ईषिपन्थ्यासिविदिकारितान्तेभ्यो युः " इति युप्रत्ययः । कुहना । विस्मयकारिण्यां दम्भक्रियायाम्, " धावणडेवणसंघरिस-गमणकिड्डाकुहावणाईसु । उक्किट्ठगीयछेलिय-जीवरुयाईसु य चउत्था " ॥ ४५ ॥ इन्द्रजालगोलकखेलनाद्याः, आदिशब्दात्समस्याप्रहेलिकादयो गृह्यन्ते । जीत० ।

कुहिय-कुथित-त्रि० । कोथमुपनीते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कोथवति, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । पूतिभावमुपगते, जी० ३ प्रति० । विनष्टे च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कुहियकढिणकट्ठभूय-कुथितकठिनकाष्ठभूत-त्रि० । विनष्टककेशदारुभूते, तं० ।

कुहियकिमिय-कुथितकृमिक-त्रि० । विनष्टकृमिके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कुहियपूइय-कुथितपूतिक-त्रि० । अत्यन्तकुथिते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

कुहुव्वय-कुहुव्रत-पुं० । कन्दविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

कुहेडग-कुहेटक-पुं० । अलीकाश्चर्यविधायकमन्त्रतन्त्रयन्त्रज्ञानात्मिकायां विद्यायाम्, उत्त० २० अ० । " तेसु न विम्हयइ सयं, आहट्टु कुहेडएहिं व । " अत्र आहट्टु त्ति प्रहेलिका, कुहेटक आभाणकः प्रायः प्रसिद्ध एव । प्रव० ७३ द्वार । वक्रोक्तिविशेषे, बृ० १ उ० ।

कुहेडगा-कुहेटका-स्त्री० । पिण्डार्थके, पञ्चा० ५ विव० । पिण्डालौ, प्रव० ४ द्वार ।

कुहेडयविज्जासवदारजीवि (ण्)-कुहेटकविद्याश्रवद्वारजीविन्-त्रि० । कुहेटका विद्याः कुहेटकविद्या अलीकाश्चर्यविधायकमन्त्रयन्त्रतन्त्रज्ञानात्मिकाः, ता एव आश्रवद्वाराणि, तैर्जीवितुमाजीविकां कर्तुं शीलं यस्य स कुहेटकविद्याश्रवद्वारजीवी । कुहेटकविद्यया कर्मोपार्जनहेतुभूतया जीवननिर्वाहके, " कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले । " उत्त० २ अ० ।

कुहेवाग-कुहेवाक-पुं० । कुत्सिता हेवाका आग्रहविशेषाः कुहेवाकाः । कदाग्रहेषु, " इमाः कुहेवाकविडम्बनाः स्युस्तेषां न येषामनुशासकस्त्वमिति " । स्या० ३ श्लोक । स्था० ।

कूअ-कुतप-पुं० । तैलादिभाजने, " कूअग्गाहा " जं० ३ वक्ष० ।

कूअणया-कूजनता-स्त्री० । आर्तस्वरकरणे, स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

कूइय-कूजित-न० । कासिते, अविधिना मुखवस्त्रिकां करं वा मुखेनाधायकृते, आव० ४ अ० । पक्षिभेदे, अव्यक्तशब्दे च । वाच० ।

कूचिया-कूर्चिका-स्त्री० । बिन्दुरूपेषु बुद्बुदेषु, विशे० । " अंबत्तणेण जीहाए, कूचिया होइ खीरमुदगम्मि । हंसो मुत्तूण जलं, आपियइ पयं तह सुसीसो " ॥१४६७॥ आ० म० प्र० । विशे० ।

कूजंत-कूजत्-त्रि० । अव्यक्तं शब्दायमाने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

कूड-कूट-पुं० । कूट-अच् । यथायथं कर्मादौ घञ् वा । अगस्त्यमुनौ, गृहे, पुं० । स्त्री० । निश्चले राशौ, लौहमुद्गरे, दम्भे, मायायाम्, वाच० । असद्भूते, आव० ६ अ० । प्रव० । भ्रान्तिजनकद्रव्ये, भ० ७ श० ६ उ० । जं० । कार्षापणतुलाप्रस्थादेः परवञ्चनार्थं नानाविधकरणे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । न्यूनाधिककरणे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । प्रश्न० । अनेकेषां मृगादीनां ग्रहणाय नानाविधप्रयोगकरणे, रा० । गौणमोहनीयकर्मणि, स० ३० सम० । नरके, कश्चिदतिक्रूरकर्मा तन्मध्यात्कूटमिव कूटं प्रभूतप्राणियातनाहेतुत्वात् नरक इत्यर्थः, यथैव हि कूटनिपतितो मृगो व्याधैरनेकधा

हन्यत एवं नरकपातितोऽपि जन्तुः परमाधार्मिकैरिति । उत्त० ५ अ०। "जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडा य गच्छति"। उत्त० ५ अ० । प्राणिनां पोडाकरे स्थाने, उत्त० ६ अ० । दुःखोत्पत्तिस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । हस्त्यादिबन्धनस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । सत्त्वबन्धनस्थाने,स्था० ४ ठा० २ उ० । गलयन्त्रपाशादिके,सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०। "एगंतकूडे णरए महंते, कूडेण तत्थावि समे हताओ ।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । शिखरे, स्था० ४ ठा० २ उ० । जं० । जी० । भ० । पर्वतशिखरे,विपा० १ श्रु० ३ अ० । रा० । पर्वतोपरि व्यवस्थिते शिखरे,सू० प्र० १६ पाहु० । महति शिखरे, रा० । अधोविस्तीर्णे उपरि संकीर्णे वृत्तपर्वते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पर्वतानां मध्यभागे, जं० २ वक्ष० । रा० । जी० ।

अथ क्षुल्लहिमवदादीनां कूटानि। तत्र क्षुल्लहिमवतः–

चुल्लहिमवंते णं भंते ! वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ?। गोयमा ! इक्कारस कूडा पण्णत्ता । तं जहा–सिद्धाययणकूडे १ चुल्लहिमवंतकूडे २ भरहकूडे ३ इलादेवीकूडे ४ गंगाकूडे ५ सिरिकूडे ६ रोहिअंसाकूडे ७ सिंधुदेवीकूडे ८ सुरादेवीकूडे ९ हेमवयकूडे १० वेसमणकूडे ११। कहि णं भंते ! चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए सिद्धायणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं चुल्लहिमवंतकूडस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं सिद्धायणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते । पंच जोयणसयाइं उद्धं उच्चत्तेणं मूले पंच जोयणसयाइं विक्खंभेणं मज्झे तिण्णि अ पण्णत्तरे जोअणसए विक्खंभेणं उप्पिं अड्ढाइज्जे जोअणसए विक्खंभेणं मूले एगं जोअणसहस्सं पंच य एगासीए जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं मज्झे एगं जोअणसहस्सं एगं च छलसीअं जोअणसयं किंचि विसेसूणं परिक्खेवेणं उप्पिं सत्त इक्काणउए जोअणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं मूले वित्थिण्णे मज्झे संक्खित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते सिद्धायणस्स कूडस्स णं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहु मज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे सिद्धायणे पण्णत्ते, पण्णासं जोअणाइं आयामेणं पणवीसं जोयणाइं विक्खंभेणं छत्तीसं जोअणाइं उद्धं उच्चत्तेणं जाव जिणपडिमा वण्णओ भाणिअव्वो। कहि णं भंते ! चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंतकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ?। गोयमा ! भरहकूडस्स पुरच्छिमेणं सिद्धायणकूडस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंतकूडे णामं कूडे पण्णत्ते। एवं जो चेव सिद्धायणकूडस्स उच्चत्तविक्खंभपरिक्खेवो जाव बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहु मज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडेंसए पण्णत्ते, बासट्ठि जोअणाइं अद्धजोयणं च उच्चत्तेणं इक्कतीसं जोअणाइं कोसं च विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिअपहसिए विविहमणिरयणभत्तिचित्ते वाउद्धूअविजयवेजयंतीपडागच्छत्ताइच्छत्तकलिए तुंगे गगणतलमभिलंघमाणसिहरे जालंतररयण पंजरुम्मीलिए व्व मणिरयणथूभिआए विअसिअसयवत्तपुंडरीअतिलयरयणद्धचन्दचित्ते णाणामणिमयदामालंकिए अंतो बाहिं च सण्हे वइरतवणिज्जरुइलवालुगापत्थडे सुहफासे सस्सिरीए अरूवे पासाइए जाव पडिरूवे तस्स णं पासायवडेंसगस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते० जाव सीहासणपरिवारं । से केणट्ठेणं एवं वुच्चइ चुल्लहिमवंतकूडे कूडे ?। गोयमा ! चुल्लहिमवंते णामं देवे महिड्ढीए जाव परिवसइ । कहि णं भंते ! चुल्लहिमवंतगिरिकुमारस्स देवस्स चुल्लहिमवंता णामं रायहाणी पण्णत्ता ? । गोयमा ! चुल्लहिमवंतकूडस्स दाहिणेणं तिरिअमसंखिज्जे दीवसमुद्दे वीई वइत्ता अण्णं जंबुद्दीवं दीवं दाहिणेणं बारस जोअणसहस्साइं ओगाहित्ता इत्थ णं चुल्लहिमवंतस्स देवस्स चुल्लहिमवंता णामं रायहाणी पण्णत्ता,बारस जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं एवं विजयरायहाणीसरिसा भाणियव्वा। एवं अवसेसाण वि कूडाणं वत्तव्वया णेअव्वा, आयामविक्खंभपरिक्खेवपासायदेवयाओ सीहासणपरिवारो अट्ठो अ देवाण य देवीण य रायहाणीओ णेअव्वाओ, चउसु देवा चुल्लहिमवंत १ भरह २ हेमवय ३ वेसमणकूडेसु ४ सेसेसु देवयाओ ॥

व्यक्तं,नवरं सिद्धायतनकूटं, क्षुल्लहिमगिरिकुमारदेवकूटं, भरताधिपदेवकूटम, इलादेवीसुरादेवीकूटे तु षट्पञ्चाशद्दिक्कुमारीदेवीवर्गमध्यगते देवीकूटे, गङ्गादेवीकूटं,श्रीदेवीकूटं, रोहितांशादेवीकूटं,सिन्धुदेवीकूटं,सुरादेवीकूटं, हैमवतवर्षेशसुरकूटं, वैश्रमणलोकपालकूटम् । अथैतेषामेव स्थानादिस्वरूपमाह–(कहि णमित्यादि) क्व भदन्त! क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वते सिद्धायतनकूटं प्रज्ञप्तम ?। गौतमेत्यादिनिर्वचनसूत्रं व्यक्तं, नवरं पञ्चयोजनशतान्युच्चैस्त्वेन मूले पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भेण मध्ये त्रीणि च योजनशतानि पञ्चसप्ततिशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि विष्कम्भेण उपरि अर्द्धतृतीयानि योजनशतानि विष्कम्भेण मूले एकं योजनसहस्रं पञ्च एकाशीत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाधिकानि, किञ्चिदधिकानीत्यर्थः । मध्ये एकं योजनसहस्रम, एकं षडशीत्यधिकं योजनशतं, किञ्चिदूनमित्यर्थः। अयं भावः–एकं सहस्रमेकं शतं पञ्चाशीतिर्योजनानि पूर्णानि,शेषं च क्रोशत्रिकम,धनुषामष्टशतानि त्रयोविंशत्यधिकानि इति किञ्चित् षडशीतितमं योजनं विवक्षितमिति । तथा उपरि सप्त योजनशतानि एकनवत्यधिकानि किञ्चिदूनानि परिक्षेपेण। अत्राप्ययं भावः–सप्तशतानि नवतिर्योजनानि पूर्णानि, शेषं क्रोशत्रिकं, धनुषां सप्तशतानि पञ्चविंशत्यधिकानीति किञ्चिद्विशेषोनम्, एकनवतितमं योजनं विवक्षितं,परिक्षेपेणेति सर्वत्र

ग्राह्यम्, शेषं स्पष्टम्। अथात्र पद्मवरवेदिकाद्याह-'से णमित्यादि' प्रकटम्, अत्र यदस्ति तत्कथनायोपक्रमते-सिद्धायतनमित्यादिनिगदसिद्धम्, नवरं प्रथमयावत्पदेन वैताढ्यगतसिद्धायतनकूटस्यैवात्र वर्णको ग्राह्यः, द्वितीयेन तद्गतसिद्धायतनादिवर्णक इति। अथात्रैव क्षुद्रहिमगिरिकूटवक्तव्यमाह-(कहि णमित्यादि) क्व भदन्त ! क्षुद्रहिमवति वर्षधरपर्वते क्षुद्रहिमवत्कूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् ?। गौतमेत्यादि उत्तरसूत्रं प्राग्वत्, नवरं "एवं जो चेत्यादि" अतिदेशसूत्रे एवमित्युक्तप्रकारेण य एव सिद्धायतनकूटस्योच्चत्वविष्कम्भाभ्यां युक्तः परिक्षेपः उच्चत्वविष्कम्भपरिक्षेपे मध्यमपदलोपी समासः, स इहापि हिमवत्कूटे बोध्य इत्यर्थः। इदं च वचनं उपलक्षणभूतं, तेन पद्मवरवेदिकादिवर्णनं समभूमिभागवर्णनं च ज्ञेयम्। कियत्पर्यन्तमित्याह-यावद्बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्रान्तरे महानेकः प्रासादावतंसकः प्रज्ञप्तः। प्रासादानाम् आयामाद् द्विगुणोच्छ्रितवास्तुविशेषाणामवतंसक इव शेखरक इव प्रासादावतंसकः, प्रधानप्रासाद इत्यर्थः। स च प्रासादो द्वाषष्टिं योजनान्यर्द्धयोजनं च उच्चत्वेन एकत्रिंशद्योजनानि क्रोशं च विष्कम्भेण समचतुरस्रत्वादस्यायामचिन्ता सूत्रकृता न कृता, तत्र हेतुर्वैताढ्यकूटगतप्रासादाधिकारे निरूपित इति ततो ज्ञेयः। कीदृश इत्याह-अभ्युद्गता अभिमुखेन सर्वतो विनिर्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वासु दिक्षु प्रसृता। यद्वा-अभ्रे आकाशे उद्गता उत्सृता प्रबलतया सर्वतस्तिर्यक् प्रसृता एवंविधा या प्रभा तया सित इव बद्ध इव, तिष्ठतीति गम्यते। अन्यथा कथमिवासावत्युच्चैर्निरालम्बस्तिष्ठतीति भावः। अत्र हि उत्प्रेक्षया इदं सूचितं भवति—ऊर्द्धमधस्तिर्यक् आयततया याः प्रासादप्रभास्ताः किल रज्जवस्ताभिर्बद्ध इति। यदि वा प्रबलश्वेतप्रभापटलतया प्रहसित इव प्रकर्षेण हसित इवेति। विविधा अनेकप्रकारा ये मणयो रत्नानि च, मणिरत्नयोर्भेदश्चात्र प्राग्वत्। तेषां भक्तिभिः छित्तिभिश्चित्रो नानारूप आश्चर्यवान् वा। वातोद्धूता वायुकम्पिता विजयोऽभ्युदयः, तत्संसूचिका वैजयन्तीनाम्न्यो याः पताकाः, अथवा विजया इति वैजयन्तीनां पार्श्वकर्णिका उच्यन्ते, तत्प्रधाना वैजयन्त्यः पताकाः, ता एव विजयावर्जिता वैजयन्त्यः, छत्रातिच्छत्राण्युपर्युपरि स्थितान्यातपत्राणि तैः कलितं तुङ्गम्, उच्चैस्त्वेन सार्धद्वाषष्टियोजनप्रमाणत्वात्। अत एव गगनतलमभिलङ्घयदनुलिखच्छिखरं यस्य स तथा, जालानि जालकानि गृहभित्तिषु लोके यानि प्रतीतानि, तदन्तरेषु विशिष्टशोभानिमित्तं रत्नानि रचना वा यस्मिन् स तथा, सूत्रे च विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। पञ्जरादुन्मीलित इव बहिष्कृत इव, यथा किमपि वस्तु वंशादिमयप्रच्छादनविशेषाद्बहिष्कृतमत्यन्तमविनष्टप्रायं भवति एवं सोऽपि प्रासादावतंसक इति भावः। अथवा जालान्तरगतरत्नपञ्जरै रत्नसमुदायविशेषैः उन्मीलित इव, उन्मिषितलोचन इवेत्यर्थः। मणिकनकमयस्तूपिका इति प्रतीतम्। विकसितानि विकस्वराणि शतपत्राणि पुण्डरीकाणि च कमलविशेषा द्वारादिषु तैश्चित्रो नानारूप आश्चर्यवान् वा, नानामणिमयदामालङ्कृत इति व्यक्तम्। अन्तर्बहिश्च श्लक्ष्णो मसृणः, स्निग्ध इत्यर्थः। तपनीयस्य रक्तसुवर्णस्य सत्कसया वालुकास्तासां प्रस्तटः प्रतरः प्राङ्गणेषु यस्य स तथा। शेषं पूर्ववत्। जं० ४ वक्ष० । स्था० ।

महाहिमवतः कूटानि-

महाहिमवंते वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अट्ठ कूडा पण्णत्ता । तं जहा-सिद्धायययणकूडे, महाहिमवंतकूडे, हेमवयकूडे, रोहिअकूडे, हिरीकूडे, हरिकंतकूडे, हरिवासकूडे, वेरुलिअकूडे, एवं चुल्लहिमवंतकूडाणं जा वत्तव्वया सा चेव णेअव्वा ॥

(महाहिमवंते त्ति) महाहिमवद्वर्षधरपर्वते भगवन् कति कूटानि ?। गौतमेत्यादिसूत्रं सुगमम्। कूटानां नामार्थस्त्वयम्-सिद्धायतनकूटं महाहिमवदधिष्ठातृकूटं रोहितानदीसुरीकूटं ह्रीसुरीकूटं हरिकान्तानदीसुरीकूटं हरिवर्षपर्वतकूटं, वैडूर्यकूटं तु तद्रत्नमयत्वात् तत्स्वामिकत्वाच्चेति । एवमिति कूटानामुच्चत्वादि सिद्धायतनप्रासादानां चायामादित्वं तत्स्वामिनां च यथारूपं महर्द्धिकत्वं यत्र च राजधान्यस्तत् सर्वमत्रापि वाच्यं, केवलं नामविपर्यास एव देवानां राजधानीनां चेति । जं० ४ वक्ष० ।

भरते दीर्घवैताढ्यपर्वतस्य—

जंबू ! मंदरदाहिणे णं भरहे दीहवेयड्ढे नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"सिद्धे भरहे खंडग-माणी वेयड्ढपुण्णतिमिसगुहा । भरहे वेसमणे य, भरहे कूडाण नामाइं " ॥ १ ॥

भरतग्रहणं विजयादिव्यवच्छेदार्थम्, दीर्घग्रहणं वर्तुलवैताढ्यव्यवच्छेदार्थमिति । (सिद्धे त्ति) तत्र सिद्धायतनयुक्तं सिद्धकूटं सक्रोशयोजनषट्कोच्छ्रयमेतावदेव मूले विस्तीर्णम्, एतदर्द्धोपरि विस्तारं क्रोशायामेनार्द्धक्रोशविष्कम्भेण देशोनक्रोशोच्चत्वेनापरदिग्द्वारवर्गपञ्चधनुःशतोच्छ्रयं तदर्द्धविष्कम्भद्वारत्रयोपेतेन जिनप्रतिमाष्टोत्तरशतान्वितेन सिद्धायतनेन विभूषितोपरितनभाग इति; तच्च वैताढ्ये पूर्वस्यां दिशि, शेषाणि तु क्रमेण परतस्तस्मादेवेति । भरतदेवप्रासादावतंसकोपलक्षितं भरतकूटम् (खंडग त्ति) खण्डप्रपाता नाम वैताढ्यगुहा, यया चक्रवर्ती अनार्यक्षेत्रात्स्वक्षेत्रमागच्छति तदधिष्ठायकदेवसंबन्धित्वात्खण्डप्रपातकूटमुच्यते। (माणीति) मणिभद्राभिधानदेवावासत्वान्माणिभद्रकूटम् । (वेयड्ढ त्ति) वैताढ्यगिरिनाथदेवनिवासात् वैताढ्यकूटमिति। (पुण्ण त्ति) पूर्णभद्राऽभिधानदेवनिवासात् पूर्णभद्रकूटम्। तिमिस्रगुहा, यया स्वक्षेत्राच्चक्रवर्ती चिलातक्षेत्रं याति तदधिष्ठायकदेवावासात्तिमिस्रगुहाकूटमिति। (भरहे त्ति) तथैव वैश्रमणलोकपालावासत्वाद्वैश्रमणकूटमिति । स्था० ९ ठा० ।

अथ यथोद्देशं निर्देश इति प्रथमं सिद्धायतनकूटस्थानप्रश्नमाह-

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेयड्ढपव्वए सिद्धायतणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ?। गोयमा ! पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं दाहिणड्ढभरहकूडस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे वेअड्ढे पव्वए सिद्धायययणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते । छ सकोसाइं जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं मूले छ सकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं मज्झे देसूणाइं पंच जोअणाइं विक्खंभेणं उवरि साइरेगाइं तिण्णि जोअणाइं विक्खंभेणं मूले देसूणाइं वीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं मज्झे देसूणाइं पण्णरस जोअणाइं परिक्खेवेणं उवरि साइरेगाइं णव जोअणाइं परिक्खेवेणं मूले विच्छिण्णे मज्झे संक्खित्ते उप्पिं तणुए गोपुच्छसंठाणसंठिए सव्वरयणामए

अत्थे सण्हे जाव पडिरूवे तेणं एगाए पउमवरवेइयाए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते पमाणं वण्णओ दोण्हं पि सिद्धायतणकूडस्स णं उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते। से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा जाव वाणमंतरा देवा य जाव विहरंति, तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभागे एत्थ णं महं एगे सिद्धाययणे पण्णत्ते कोसं आयामेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसन्निविट्ठे खंभुग्गयसुकयवइरवेइआतोरणवररइआसालभंजिअसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठसंठियपसत्थवेरुलिअविमलखंभे णाणामणिरयणखचिअउज्जलबहुसमसुविभत्तभूमिभागे ईहामिगउसभतुरगणरमगरविहगवालगकिंनररुरुसरभचमरकुंजरवणलयपउमलयभत्तिचित्ते कंचणमणिरयणथूभियाए णाणाविहपंचवण्णघंटापडागपरिमंडिअग्गसिहरे धवले मरीइकवयं विणिम्मुअंते लाउल्लोइअमहिए जाव झया तस्स णं सिद्धायतणस्स तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता, तेणं दारा पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं विक्खंभेणं तावइयं चेव पवेसेणं से आवरकणगथूभिआगा दारवण्णओ० जाव वणमाला। तस्स णं सिद्धाययणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा सिद्धाययणस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे देवच्छंदए पण्णत्ते। पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पंच धणुसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सव्वरयणामए एत्थ णं अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहपमाणमित्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठइ, एवं जाव धूवकडच्छुगे। कहि णं भंते! वेअड्ढपव्वए दाहिणड्ढभरहे कूडे णामं कूडे पण्णत्ते?। गोयमा! खंडप्पवायकूडस्स पुरच्छिमेणं सिद्धाययणकूडस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं वेअड्ढपव्वए दाहिणड्ढभरहकूडे णामं कूडे पण्णत्ते। सिद्धाययणकूडप्पमाणसरिसे जाव तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडेंसए पण्णत्ते, कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं अब्भुग्गयमूसिअपहसिए० जाव पासाईए ४ तस्स णं पासायवडेंसगस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगा मणिपेढिआ पण्णत्ता। पंच धणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई तीसेणं मणिपेढिआए उप्पिं सिंहासणं पण्णत्ते, सपरिवारं भाणियव्वं। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ दाहिणड्ढभरहकूडे णामं कूडे?। गोयमा! दाहिणड्ढभरहकूडेण दाहिणड्ढभरहे णामं देवे महिड्ढिए जाव पलिओवमट्ठिईए परिवसइ, से णं तत्थ चउण्हं सामाणिअसहस्साणं चउण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं तिण्हं परिसाणं सत्तण्हं अणिआणं सत्तण्हं अणिआहिवईणं सोलसण्हं आयरक्खदेवसाहस्सीणं दाहिणड्ढभरहस्स दाहिणड्ढाए रायहाणीए अण्णेसिं बहूणं देवाण य देवीण य० जाव विहरइ। कहि णं भंते! दाहिणड्ढभरहकूडस्स देवस्स दाहिणड्ढा णाम रायहाणी पण्णत्ता?। गोयमा! मंदरस्स पव्वयस्स दक्खिणेणं तिरियमसंखेज्जे दीवसमुद्दे वीईवइत्ता अण्णं जंबुद्दीवं दीवं दक्खिणेणं बारस जोअणसहस्साइं ओगाहित्ताए एत्थ णं दाहिणड्ढभरहकूडस्स देवस्स दाहिणड्ढभरहा णामं रायहाणी भाणिअव्वा, जहा विजयस्स देवस्स, एवं सव्वकूडा णेयव्वा० जाव वेसमणकूडे परोप्परं पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं, इमीसिं वण्णावासे गाहा—"मज्झे वेअड्ढस्स उ, कणगमया तिण्णि होंति कूडाओ। सेसा पव्वयकूडा, सव्वे रयणामया होंति ॥ १ ॥" माणिभद्दकूडे १ वेयड्ढकूडे २ पुण्णभद्दकूडे ३, एए तिण्णि कूडा कणगमया, सेसा छप्पि रयणमया दोण्हं वि सरिसणामया देवा कयमालए चेव णट्टमालए चेव, सेसाणं छण्हं सरिसणामया "जं णामया य कूडा, तन्नामा खलु हवंति ते देवा। पलिओवमट्ठिईया, हवंति पत्तेअ पत्तेअं" ॥ १ ॥ रायहाणीओ जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तिरिअं असंखेज्जे दीवसमुद्दे वीईवइत्ता अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारस जोअणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं रायहाणीओ भाणिअव्वाओ विजयरायहाणीसरिसयाओ ॥

"कहि णमित्यादि" कण्ठ्यम, नवरं दक्षिणार्द्धभरतकूटं खण्डमस्मात्पश्चिमदिग्वर्तीनि, ततः पूर्वेणेति तच्चोच्चत्वादिना कियत्प्रमाणमित्याह-(छ सकोसाइं इत्यादि) सक्रोशानि षड्योजनान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन मूले सक्रोशानि षड् योजनानि विष्कम्भेण मध्ये देशोनानि पञ्च योजनानि, सपादक्रोशन्यूनानि पञ्च योजनानीत्यर्थः। विष्कम्भेण उपरि सातिरेकाणि त्रीणि योजनानि, अर्द्धक्रोशाधिकानि त्रीणि योजनानीत्यर्थः। विष्कम्भेणेति, अथास्य शिखराद्धोगमने विवक्षितस्थाने पृथुत्वज्ञानाय करणमुच्यते-शिखरादेव प्रत्येकं यावद्योजनादिकमतिक्रान्तं तावत्प्रमाणे योजनादिके द्विकेन भक्ते कूटोत्सेधार्द्धयुक्ते च यज्जायते तदिष्टस्थाने विष्कम्भः। तथाहि-शिखरात्किल त्रीणि योजनानि, क्रोशार्द्धाधिकान्यवतीर्णः ततो योजनत्रयस्य क्रोशार्द्धाधिकस्य द्विकेन भागे लब्धाः षट् क्रोशाः, क्रोशस्य च पादः कूटोत्सेधश्च सक्रोशानि षट् योजनानि अस्यार्द्धं योजनत्रयी क्रोशार्द्धाधिका, अस्मिँश्च पूर्वराशौ प्रक्षिप्ते जातानि सपादक्रोशानि पञ्च योजनानि, इयान्मध्यदेशे विष्कम्भः। एवमन्यत्रापि प्रदेशे भावनीयम्। तथा-मूलादूर्द्ध्वगमने इष्टस्थाने विष्कम्भपरिज्ञानाय करणमिदम्-मूलादतिक्रान्तयोजनादिके द्विकेन भक्ते लब्धं मूलव्यासाच्छोध्यते, अवशिष्टमिष्टस्थाने विष्कम्भः। तथाहि-मूलाद् योजनानि क्रो-

शार्द्धाधिकानि ऊर्द्धं गतः,अस्य द्विकेन भागे लब्धाः षट् क्रोशाः, क्रोशस्य च पादः, एतावन्मूलव्यासात् शोध्यते, शेषं पञ्च योजनानि सपादक्रोशोनानि,इयान्मध्यभागे विष्कम्भः। एवमन्यत्रापि प्रदेशे भाव्यम्। इमे चावरोहावरोहकरणे, शेषेषु वैताढ्यकूटेषु पञ्चशतिकेषु हिमवदादिकूटेषु सहस्राङ्केषु च हरिस्सहादिकूटेषु अष्टयोजनिकेषु ऋषभकूटेषु अवतारणीयं।वाचनान्तरोक्तमानापेक्षया तु-ऋषभकूटेषु करणं जगतीवदिति। अस्य पद्मवरवेदिकादिवर्णनायाह-'तेणमित्यादि' व्यक्तम्। अथ सिद्धायतनकूटस्योपरि भूभागवर्णनायाह-'सिद्धायतण इत्यादि' प्राग्वत्। अथात्र जिनगृहवर्णनायाऽऽह-(तस्स णमित्यादि)तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महदेकं सिद्धानां शाश्वतानामर्हत्प्रतिमानामायतनं स्थानं,चैत्यमित्यर्थः। प्रज्ञप्तम्,क्रोशमायामेनार्द्धक्रोशं विष्कम्भेन देशोनं क्रोशमूर्द्धोच्चत्वेन,देशश्चात्र षष्ट्यधिकपञ्चशतधनूरूप इति। यत उक्तम्-'वीरं जय सेहरे'त्यादि क्षेत्रविचारस्य वृत्तौ-" ताणुवरिं चेइहरा, दहदेवीभवणतुल्लपरिमाणा, " इत्यस्याः गाथाया व्याख्याने तेषां वैताढ्यकूटानामुपरि चैत्यगृहाणि द्रहदेवीभवनतुल्यपरिमाणानि वर्त्तन्ते, यथा श्रीगृहं क्रोशैकदीर्घं क्रोशार्द्धविस्तारं चत्वारिंशदधिकचतुर्दशशतधनुरुच्चमिति । तथा-अनेकेषु स्तम्भशतेषु संनिविष्टं, तदाधारकत्वेन स्थितमित्यर्थः । तथा-स्तम्भेषु उद्गता संस्थिता सुकृतेव सुकृता निपुणशिल्पिरचितेवेति भावः । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः। तादृशी वज्रा वेदिका द्वारमुण्डिकोपरि वज्ररत्नमयी वेदिका तोरणं च स्तम्भोद्गतसुकृतं यत्र तत्तथा। तथा वराः प्रधानाः रतिदाः नयनमनःसुखकारिण्यः सालभञ्जिका येषु ते तथा, सुश्लिष्टं संबद्धं विशिष्टं प्रधानं लष्टं मनोज्ञं संस्थितं संस्थानं येषां ते तथा । ततः पदद्वयकर्मधारये तादृशाः प्रशस्ताः प्रशंसास्पदीभूता वैडूर्यविमलस्तम्भा यत्र तत्तथा। ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः। तथा नानामणिरत्नानि खचितानि यत्र स नानामणिरत्नखचितः।निष्ठान्तस्य परनिपातः, भार्यादिदर्शनात्। तादृश उज्ज्वलो निर्मलो बहुसमोऽत्यन्तसमः सुविभक्तो भूमिभागो यत्र तत्तथा। (ईहामिगेत्यादि) प्राग्वद् व्याख्येयं, नवरं मरीचिकवचं किरणजालपरिक्षेपं विनिर्मुञ्चत्, तथा 'लाइअ' नाम यद् भूमेर्गोमयादिना उपलेपनम्, 'उल्लोइअं'कुड्यानामालयस्य च सेटिकादिभिः संमृष्टीकरणं 'लाउल्लोइअं'ताभ्यामिव महितं पूजितम्'लाउल्लोइअमहिअं'। यथा गोमयादिनोपलिप्तं सेटिकादिना च धवलीकृतं यद् गृहादि सश्रीकं भवति तथेदमपीति भावः। तथा-(जाव झया इति) अत्र यावत्करणात् वक्ष्यमाणयमिका राजधानी,प्रकरणगतसिद्धायतनवर्णकेऽतिदिष्टा,सुधर्मासभागमो वाच्यो,यावत् सिद्धायतनोपरि ध्वजा उपवर्णिता भवति, यद्यप्यत्र यावत्पदग्राह्ये द्वारवर्णकप्रतिमावर्णकधूपकडुच्छकादिकं सर्वमन्तर्भवति तथाऽपि स्थानाशून्यतार्थं किञ्चित् सूत्रे दर्शयति-(तस्स णं सिद्धायतणस्स इत्यादि) तस्य सिद्धायतनस्य तिसृणां दिशां समाहारस्त्रिदिक् तस्मिन्। अनुस्वारः प्राकृतत्वात्। पूर्वदक्षिणोत्तरविभागेषु त्रीणि द्वाराणि प्रज्ञप्तानि, तानि द्वाराणि पञ्चधनुःशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन अर्द्धतृतीयानि धनुःशतानि, विष्कम्भेण तावन्मात्रमेव प्रवेशेन अर्द्धतृतीयानि, धनुःशतानीत्यर्थः। (से आवरकणगथूभिआगा इति) पदोपलक्षितो द्वारवर्णको मन्तव्यः, विजयद्वारवद्यावद्वनमालावर्णनम्। अत्रैव भूभागवर्णनायाह-(तस्स णमित्यादि) सुगमम्। (सिद्धायणस्स इत्यादि) तस्य बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र महानेको देवच्छन्दको देवोपवेशनस्थानं प्रज्ञप्तः, अत्रानुक्ताऽपि आयामविष्कम्भाभ्यां देवच्छन्दकसमाना उच्चैस्त्वेन तु तदर्द्धमाना मणिपीठिका संभाव्यते। अन्यत्र राजप्रश्नीयादिषु देवच्छन्दकाधिकारे तथा मणिपीठिकाया दर्शनात्, तथा सूर्याभविमाने-(तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महा एगा मणिपेढिया पन्नत्ता सोलस जोअणाइं आयामविक्खम्भेणं अट्ठ जोअणाइं उच्चत्तेणं ति) तथा विजयराजधान्यामपि-(तस्स णं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगा मणिपेढिआ पन्नत्ता, दो जोअणाइं आयामविक्खम्भेणं जोअणं बाहल्लेणं सव्वमणिमया अत्था जाव पडिरूवा इति)। स च देवच्छन्दकः पञ्चधनुःशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां सातिरेकाणि साधिकानि पञ्चधनुःशतान्यूर्द्धोच्चत्वेन सर्वात्मना रत्नमयः, तत्र देवच्छन्दकेऽष्टशतमष्टोत्तरशतं जिनप्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां, जिनोत्सेधस्तीर्थकरशरीरोच्छ्रायः, तस्य च प्रमाणम् उत्कृष्टतः पञ्चधनुःशतात्मकं,जघन्यतः सप्तहस्तात्मकम्। इह च पञ्चधनुःशतात्मकं गृह्यते, तदेव मात्रं प्रमाणं यासां तास्तथा, तासां तथा जगत्स्वाभाव्यात्, देवच्छन्दकस्य चतुर्दिक्षु प्रत्येकं सप्तविंशतिभागेन सन्निक्षिप्तं तिष्ठन्ति। ननु पद्मवरवेदिकादय इव शाश्वतभावरूपा जिनप्रतिमा भवन्तु, परं प्रतिष्ठितत्वाभावेन तासामाराध्यत्वं कथमिति चेत् ?। उच्यते-शाश्वतभावा इव शाश्वतभावरूपा जिनप्रतिमा भावधर्मा अपि सहजसिद्धा एव भवन्ति, तेन शाश्वताः प्रतिमा इव शाश्वतप्रतिमा धर्मा अपि प्रतिष्ठितत्वाराध्यत्वादयः सहजसिद्धा एवेति किं प्रतिष्ठापनान्तरविचारेण। ततः शाश्वतप्रतिमासु सहजसिद्धमेवाराध्यत्वमिति न किञ्चिदनुपपन्नमिति। अत्र प्रतिमानामुत्सेधाङ्गुलमानेन पञ्चधनुःशतप्रमाणानां प्रमाणाङ्गुलमानेन पञ्चधनुःशतायामविष्कम्भे देवच्छन्दकेऽनवकाशचिन्ता न विधेयेति।

अत्र प्रतिमावर्णकसूत्रम्-

(तासि णं जिणपडिमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पन्नत्ते। तं जहा-तवणिज्जमया इत्थतलपायतला अंकामयाइं णक्खाइं अंतो लोहिअक्खपडिसेगाइं कणगामया पाया कणगामया गुप्फा कणगामईओ जंघाओ कणगमया जाणू कणगमयाओ ऊरू कणगमईओ गायलट्ठीओ रिट्ठामए मंसू तवणिज्जमईओ णाभीओ रिट्ठामईओ रोमराईओ तवणिज्जमया चुच्चू तवणिज्जमया सिरिवच्छा कणगमईओ बाहाओ कणगामईओ गीवाओ रिट्ठमयाइं मंसूइं सिलप्पवालमया ओट्ठा फलियामया दंता तवणिज्जमईओ जीहाओ तवणिज्जमया तालुआ कणगमईओ णासिगाओ अंतो लोहिअक्खपडिसेगाइओ अंकमयाइं अच्छीणि अंतो लोहिअक्खपडिसेगाइं पुलगामईओ दिट्ठीओ रिट्ठामईओ तारगाओ रिट्ठामयाइं अच्छिपत्ताइं रिट्ठामईओ भमुहाओ कणगामया कवोला कणगामया सवणा कणगामईओ णिडालपट्टियाओ वइरामईओ सीसघडीओ तवणिज्जमईओ केसंतकेसभूमिओ रिट्ठामया उवरि मुद्धया तासि णं जिणपडिमाणं पिट्ठओ पत्तेअं पत्तेअं छत्तधारपडिमा पन्नत्ता, ताओ

णं छत्तधारपडिमाओ हिमरययकुंदिंदुप्पगासाइं सकोरंटमल्लदामाइं धवलाइं आयवत्ताइं सलीलं ओहारेमाणीओ चिट्ठंति । तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासिं पत्तेअं पत्तेअं दो दो चामरधरपडिमाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं चामरधरपडिमाओ चंदप्पहवइरवेरुलिअणाणामणिकणगरयणखइअमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमयमहिअफेणपुंजसण्णिकासाओ सुहुमरययदीहवालाओ धवलाओ चामराओ सलीलं धारेमाणीओ चिट्ठंति । तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ दो दो णागपडिमाओ दो दो जक्खपडिमाओ दो दो भूअपडिमाओ दो दो कुंडधारपडिमाओ विणओणयाओ पायपडियाओ पंजलिउडाओ सण्णिखित्ताओ चिट्ठंति सव्वरयणमईओ अच्छाओ अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ नीरयाओ निप्पंकाओ० जाव पडिरूवाओ । तत्थ णं जिणपडिमाणं पुरओ अट्ठसयं घंटाणं अट्ठसयं वंदणकलसाणं एवं भिंगाराणं आयंसगाणं थालाणं पाईणं सुपइट्ठगाणं मणगुलिआणं वातकरगाणं चित्ताणं रयणकरंडगाणं हयकंठाणं० जाव उसभकंठाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं० जाव लोमहत्थपडलगाणं ।)

(तासां जिनप्रतिमानामयमेतद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-तपनीयमयानि हस्ततलपादतलानि, तथा कनकमयाः पादाः, तथा कनकमया गुल्फाः, अङ्करत्नमया अन्तर्लोहिताख्यरत्नप्रतिसेका नखाः, कनकमय्यो जङ्घाः, कनकमयानि जानूनि, कनकमया ऊरवः, कनकमय्यो गात्रयष्टयः, तपनीयमया नाभयः, रिष्टरत्नमय्यो रोमराजयः, तपनीयमयाश्चुचुकाः स्तनाग्रभागाः, तपनीयमयाः श्रीवत्साः, तथा-कनकमय्यो बाहवः, तथा कनकमय्यो ग्रीवाः, रिष्टरत्नमयानि श्मश्रूणि, शिलाप्रवालमया विद्रुममया ओष्ठाः, स्फटिकमया दन्ताः, तपनीयमय्यो जिह्वाः, तपनीयमयानि तालुकानि, कनकमय्यो नासिकाः, अन्तर्लोहिताख्यरत्नप्रतिसेकाः, अङ्कमयान्यक्षीणि अन्तर्लोहिताक्षप्रतिसेकानि, रिष्टरत्नमय्योऽक्षिमध्यगतास्तारिकाः, रिष्टरत्नमयान्यक्षिपत्राणि नेत्ररोमाणि, रिष्टरत्नमय्यो भ्रुवः, कनकमयाः कपोलाः, कनकमयाः श्रवणाः, कनकमय्यो ललाटपट्टिकाः, वज्रमय्यः शीर्षघटिकाः, तपनीयमय्यः केशान्तकेशभूमयः, केशान्तभूमयः केशभूमयश्चेति भावः । रिष्टरत्नमया उपरि मूर्द्धजाः केशाः । ननु केशरहितशीर्षमुखानां भावजिनानां प्रतिरूपकत्वेन सद्भावस्थापना, जिनानां कुतः केशकूर्चादिसंभवः ?। उच्यते-भावजिनानामपि अवस्थितकेशादिप्रतिपादनस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात् । यदुक्तं श्रीसमवायाङ्गे अतिशयाधिकारे-"अवट्ठिअकेसमंसुरोमणहे" इति । तथा औपपातिकोपाङ्गे-"अवट्ठिअसुविभत्तचित्तमंसु" इति । अवस्थितत्वं च देवमाहात्म्यतः पूर्वोत्पन्नानां केशादीनां तथैवावस्थानं, न तु सर्वथाऽभाववत्त्वम्; इत्थमेव शोभातिरेकदर्शनं पुरुषत्वप्रतिपत्तिश्च, तेन प्रस्तुतेन तत्प्रतिरूपताव्याघातः । नन्वेवं सति अर्चनकेन किमालम्ब्य तेषां श्रामण्यावस्था भावनीयेति चेत्, उच्यते-परिकर्मितरिष्टमणि-मयतथाविधाल्पकेशादिरमणीयमुखादिस्वरूपमिति । यत्तु श्रीतपागच्छनायकश्रीदेवेन्द्रसूरिशिष्यश्रीधर्मघोषसूरिपादैर्भाष्यवृत्तौ भगवतोऽपगतकेशशीर्षमुखनिरीक्षणेन श्रामण्यावस्था सुज्ञानेत्यभिदधे, तदवस्थितिरूपलघुत्वेनाऽल्पत्वेन चाभावस्य विवक्षणात्; श्रामण्यावस्थाया अप्रतिबन्धकत्वाच्चेति न किमप्यनुपपन्नम् । तासां जिनप्रतिमानां पृष्ठत एकैका छत्रधारप्रतिमा प्रज्ञप्ता, ताश्च छत्रधारप्रतिमा हिमरजतकुन्देन्दुप्रकाशानि सकोरण्टमाल्यदामानि धवलानि आतपत्राणि सलीलं धारयन्त्यस्तिष्ठन्ति, तासां जिनप्रतिमानामुभयोः पार्श्वयोः प्रत्येकं द्वे द्वे चामरधारप्रतिमे प्रज्ञप्ते, ताश्च चामरधारप्रतिमाः चन्द्रप्रभश्चन्द्रकान्तो, वज्रं हीरकमणिः, वैडूर्यं च प्रतीतं, तानि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु ते तथा, एवंरूपा महार्हस्य महार्घस्य तपनीयस्य सत्का उज्ज्वला विचित्रा दण्डा येषु तानि तथा, (चिल्लियाउ इत्यादि) प्राग्वत्, नवरं (चामराउ त्ति) प्राकृतत्वात्स्त्रीत्वम्, चामराणि सलीलं धारयन्त्यो वीजयन्त्यस्तिष्ठन्ति । तासां जिनप्रतिमानां पुरतो द्वे द्वे नागप्रतिमे द्वे द्वे यक्षप्रतिमे द्वे द्वे भूतप्रतिमे द्वे द्वे कुण्डधारप्रतिमे आज्ञाधारप्रतिमे विनयावनते पादपतिते प्राञ्जलिपुटे संनिक्षिप्ते तिष्ठतः, ताश्च "सव्वरयणामईओ" इत्यादि प्राग्वत् (तत्थ णमित्यादि) तस्मिन् देवच्छन्दके जिनप्रतिमानां पुरतोऽष्टशतं घण्टानाम्, अष्टशतं चन्दनकलशानां मङ्गल्यघटानाम् अष्टशतं भृङ्गाराणामष्टशतमादर्शानामष्टशतं स्थालानामष्टशतं पात्रीणामष्टशतं सुप्रतिष्ठकानामष्टशतं मनोगुलिकानां पीठिकाविशेषरूपाणामष्टशतं वातकरकाणामष्टशतं चित्राणां रत्नकरण्डकानामष्टशतं हयकण्ठानामष्टशतं गजकण्ठानामष्टशतं नरकण्ठानामष्टशतं किंनरकण्ठानामष्टशतं किंपुरुषकण्ठानामष्टशतं महोरगकण्ठानामष्टशतं गन्धर्वकण्ठानामष्टशतं वृषभकण्ठानामष्टशतं पुष्पचङ्गेरीणामष्टशतं माल्यचङ्गेरीणामष्टशतं चूर्णचङ्गेरीणामष्टशतं गन्धचङ्गेरीणामष्टशतं वस्त्रचङ्गेरीणामष्टशतमाभरणचङ्गेरीणामष्टशतं सिद्धार्थकचङ्गेरीणामष्टशतं लोमहस्तकचङ्गेरीणां, लोमहस्तका मयूरपिच्छपुञ्जनिकाः, अष्टशतं पुष्पपटलकानामष्टशतं माल्यपटलकानां मुत्कलानि पुष्पाणि ग्रथितानि माल्यानि, अष्टशतं चूर्णपटलकानाम्, एवं गन्धवस्त्राभरणसिद्धार्थकलोमहस्तकपटलकानामपि प्रत्येकं प्रत्येकमष्टशतं द्रष्टव्यम् । अष्टशतं सिंहासनानामष्टशतं छत्राणामष्टशतं चामराणामष्टशतं तैलसमुद्गकानामष्टशतं कोष्ठसमुद्गकानामष्टशतं चोयकसमुद्गकानामष्टशतं तगरसमुद्गकानामष्टशतमेलासमुद्गकानामष्टशतं हरितालसमुद्गकानामष्टशतं हिङ्गुलकसमुद्गकानामष्टशतं मनःशिलासमुद्गकानामष्टशतमञ्जनसमुद्गकानां, सर्वाण्यप्येतानि तैलादीनि परमसुरभिगन्धोपेतानि द्रष्टव्यानि, अष्टशतं ध्वजानाम् ।

अत्र संग्रहणिगाथे-

"वंदणकलसा भिंगा-रगा य आयंसगा य थाला य ।
पाई उ सुपइट्ठा, मणुगुलिया वायकरगा य ॥ १ ॥
चित्ता रयणकरंडय-हयगयनरकंठगा य चंगेरी ।
पडलगसीहासणछ-त्तचामरा समुग्गयझया य" ॥ २ ॥
अष्टशतं धूपकडुच्छुकानां संनिक्षिप्तं तिष्ठति ।

उक्ता सिद्धायतनकूटवक्तव्यता ।

अथ दक्षिणार्द्धभरतकूटस्वरूपं पृच्छन्नाह-(कहि णमित्यादि) अत्र सर्वाऽपि पदयोजना सुगमा, नवरं प्रासा-

सादावतंसकः क्रोशमूर्द्धोच्चत्वेनार्द्धक्रोशं विष्कम्भेन, अत्र सूत्रेऽनुक्तमप्यर्द्धक्रोशमायामेनेति बोध्यम् । " सेसेसु अ पासाया, कोसुच्चा अद्धकोसपिहुदीहा । " इत्यादि श्रीसोमतिलकसूरिकृतसिरिनिलयमिति क्षेत्रविचारवचनात् । श्रीउमास्वातिकृते जम्बूद्वीपसमासे तु प्रासादावतंसकः क्रोशार्द्धक्रोशदैर्घ्यविस्तारः किञ्चिन्न्यूनस्तदुच्चत्व उक्तोऽस्तीति । (अब्भुग्गयमूसिअ) इत्यादि प्राग्वत् । अथ तत्र यदस्ति तदाह-(तस्स णं) इत्यादि सुगमं, नवरं (सपरिवारं ति) दक्षिणार्द्धभरतकूटाधिपसामानिकादिदेवयोग्यभद्रासनसहितमिति । अथ वा प्रस्तुतकूटनामान्वर्थं पृच्छति-(से केणट्ठेणमित्यादि) सर्वं चैतत्सूत्रं विजयद्वारनामान्वर्थसूचकसूत्रवत्परिभावनीयं, नवरं दक्षिणार्द्धीया इति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पाठान्तरानुसारद्वारा दक्षिणार्द्धभरतीया राजधान्या इति । अत्र सूत्रेऽदृश्यमानमपि " से तेणट्ठेणं " इत्यादि सूत्रं स्वयं ज्ञेयम् । तथा च दक्षिणार्द्धभरतकूटनामा देवः स्वामित्वेनास्यास्तीत्यभ्रादित्वादप्प्रत्यये दक्षिणार्द्धभरतकूटमिति । अथास्य राजधानी क्वास्तीति पृच्छति-(कहि णं) इत्यादि व्यक्तम् । अथापरकूटवक्तव्यता दक्षिणार्द्धभरतकूटातिदेशेनाह-(एवं सव्व इत्यादि) एवं दक्षिणार्द्धभरतकूटन्यायेन सर्वकूटानि तृतीयखण्डप्रपातगुहाकूटादीनि नेतव्यानि बुद्धिपथं प्रापणीयानि यावन्नवमं वैश्रमणकूटम् । [परोप्परं ति] परस्परम् [पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं ति) पूर्वापरेण । अयमर्थः-पूर्वं पूर्वं पूर्वस्याम्, उत्तरमुत्तरमपरस्यां, पूर्वपरविभागस्यापेक्षिकत्वात् । (इमीसे इत्यादि) एषां कूटानां वर्णकव्यासे वर्णकविस्तारे इमाः वक्ष्यमाणा गाथाः । " इमा से " इति पाठे तु ' से ' इतिवचनव्यत्ययात् तेषां कूटानां वर्णावासे इमा गाथा इति योजनीयम् । (मज्झे वेअड्ढस्स उ इत्यादि) तुशब्दो विशेषे, स च व्यवहितसंबन्धः । तेन वैताढ्यस्य मध्ये तु चतुर्थपञ्चमषष्ठरूपाणि त्रीणि कूटानि कनकमयानि भवन्ति । सूत्रे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः प्राकृतत्वात् । शेषाणि पर्वतकूटानि वैताढ्यवर्षधरमेरुप्रभृतिगिरिकूटानि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति हरिस्सहहरिकूटबलकूटवर्जितानि रत्नमयानि ज्ञातव्यानि । यच्चात्र वैताढ्यप्रकरणे सर्वपर्वतगतकूटज्ञापनं तत्सर्वेषामेकवर्णकत्वेन लाघवार्थम् । तथा वैताढ्यस्येत्यत्र जात्यपेक्षयैकवचनम्, तेन सर्वेषामपि वैताढ्यानां भरतैरवतमहाविदेहविजयगतानां नवसु कूटेषु सर्वमध्यमानि त्रीणि त्रीणि कूटानि कनकमयानि ज्ञातव्यानि । एतदेव वैताढ्ये व्यक्त्या दर्शयति-(माणिभद्द इत्यादि) द्वयोः कूटयोर्विसदृशनामकौ देवौ स्वामिनौ । तद्यथा-कृतमालकश्चैव नृत्तमालकश्चैव । तमिस्रगुहाकूटस्य कृतमालः स्वामी, खण्डप्रपातगुहाकूटस्य नृत्तमालः स्वामी । शेषाणां षण्णां कूटानां सदृक् कूटनामसदृशं नाम येषां ते सदृग्नामका देवाः स्वामिनः । यथा दक्षिणार्द्धभरतकूटस्य दक्षिणार्द्धभरतकूटनामा देवः स्वामी । एवमन्येषामपि भावना कार्या । एनमेवार्थं सविशेषं गाथयाऽऽह-यन्नामकानि कूटानि तन्नामानः खलु निश्चयेन भवन्ति देवाः पल्योपमस्थितिका भवन्ति प्रत्येकं प्रत्येकं प्रतिकूटमित्यर्थः । एतेनाष्टानां कूटानां स्वामिन उक्ताः । सिद्धायतनकूटे तु सिद्धायतनस्यैव मुख्यत्वेन तत्स्वामिदेवानामभिधानमिति । ननु दक्षिणार्द्धभरतकूटानां स्वसदृशनामकदेवाश्रयभूतत्वात् नामान्वर्थः संगच्छते, यथा दक्षिणार्द्धभरतनामदेवस्वामिकत्वात् उपचारेण दक्षिणार्द्धभरतनामा देवः स्वामित्वेनास्यास्तीति अभ्रादित्वादप्प्रत्यये वा दक्षिणार्द्धभरतम् । एवमन्येष्वपि, परं खण्डप्रपातगुहाकूटतमिस्रगुहाकूटयोः स कथम् ?, तत्स्वामिनोर्नृत्तमालकृतमालयोर्विसदृशनामकत्वात् । ननु खण्डप्रपातगुहाया उपरिवर्त्ति कूटं खण्डप्रपातकूटमित्यादिरेवान्वर्थोऽस्त्विति वाच्यम्, अत्र सूत्रे दक्षिणार्द्धभरतकूटवत् शेषकूटानामतिदेशात् ; बृहत्क्षेत्रसमासवृत्तौ एवं शेषकूटान्यपि स्वस्वाधिपतियोगतः प्रवृत्तान्यवसेयानीति श्रीमलयगिरिसूरिभिरुक्तत्वाच्चेति चेत्; उच्यते-खण्डप्रपातगुहाधिपस्य कूटं खण्डप्रपातकूटं, तमिस्रगुहाधिपस्य कूटं तमिस्रगुहाकूटमिति स्वामिनो यौगिकनामान्तरापेक्षया अत्राप्यन्वर्थो घटत एव । यदुक्तं तैरेव तत्र-तृतीये कूटे खण्डप्रपातगुहाधिपतिदेवाधिपत्यं परिपालयति, तेन तत्खण्डप्रपातगुहाकूटमित्युच्यते इति न किमप्यनुपपन्नम् । अथ तृतीयादिकूटाधिपतीनां राजधान्यः क्व सन्तीति प्रश्नसूत्रमाह-(रायहाणीओ त्ति) अत्र निर्वचनसूत्रम्-(जंबुद्दीवे दीवे इत्यादि) जम्बूद्वीपे द्वीपे इत्यादि सर्वं व्यक्तम्, नवरं खण्डप्रपातगुहाधिपतिदेवस्य राजधानी खण्डप्रपातगुहाऽभिधाना, माणिभद्रस्य माणिभद्रा इत्यादि सर्वाणि चोक्तवक्ष्यमाणानि कूटानि एकैकवनखण्डपद्मवरवेदिकायुतानि मन्तव्यानि । जं० १ वक्ष० ।

निषधवर्षधरे-

जंबू ! मंदरदाहिणे णं निसढवासहरे पव्वए नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-

"सिद्धे निसहे हरिवस्स, विदेहे हिरि धिई य सीओया ।
अवरविदेहे रुयगे, निसहे कूडाण नामाइं " ॥ १ ॥

(सिद्धे त्ति) सिद्धायतनकूटं, तथा निषधपर्वताधिष्ठातृदेवनिवासोपेतं निषधकूटं, हरिवर्षस्य क्षेत्रविशेषस्याधिष्ठातृदेवेन स्वीकृतं हरिवर्षकूटम्, एवं विदेहकूटमपि, ह्रीदेवीनिवासो ह्रीकूटम् । एवं धृतिकूटं, शीतोदा नदी तद्देवीनिवासः शीतोदाकूटम्, अपरविदेहकूटवदिति । रुचकश्चक्रवालपर्वतः तदधिष्ठातृदेवनिवासो रुचककूटमिति ।

नन्दनवने-

जम्बू ! मंदरपव्वए णंदणवणे नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-
" णंदणे मंदरे चेव, निसहे हेमवयरययरुयए य ।
सागरचित्ते वइरे, बलकूडे चेव बोधव्वे " ॥ १ ॥

(णंदणे त्ति) नन्दनवनं मेरोः प्रथममेखलायां, तत्र "कूडाणि" णंदण गाहा । तत्र नन्दनवने पूर्वादिदिक्षु चत्वारि सिद्धायतनानि, विदिक्षु चतुश्चतुष्पुष्करिणीपरिवृताश्चत्वारः प्रासादावतंसकाः, तत्र पूर्वस्मात्सिद्धायतनादुत्तरत उत्तरपूर्वस्थप्रासादाद्दक्षिणतो नन्दनकूटं, तत्र देवी मेघंकरा, तथा पूर्वसिद्धायतनादेव दक्षिणतो दक्षिणपूर्वप्रासादादुत्तरतो मन्दरकूटं, तत्र मेघवती देवी, अनेन क्रमेण शेषाण्यपि यावदष्टमम् । देव्यस्तु निषधकूटे सुमेघा, हैमवतकूटे मेघमालिनी, रजतकूटे सुवत्सा, रुचककूटे वत्समित्रा, सागरचित्रकूटे वैरसेना, वैरकूटे बलाहकेति, बलकूटं तु मेरोरुत्तरपूर्वस्यां नन्दनवने तत्र बलो देव इति । स्था० ६ ठा० ।

कहि णं भंते ! णंदणवणे णंदणवणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ?। गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमिल्लसिद्धायतणस्स उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसयस्स दक्खि-

णेणं, एत्थ णं णंदणवणे णंदणवणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते, पंचसइआ कूडा पुव्ववण्णिआ जाणिअव्वा, देवी मेहंकरा च, रायहाणी विदिसाए, एआहि चेव पुव्वाभिलावेणं णेअव्वा, इमे कूडा इमाहिं दिसाहिं पुरच्छिमिल्लस्स भवणस्स दाहिणेणं दाहिणपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स उत्तरेणं मंदरे कूडे मेहवई देवी रायहाणी पुव्वेणं दक्खिणिल्लस्स भवणस्स पुरच्छिमेणं दाहिणपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पच्चच्छिमेणं णिसहे कूडे सुमेहा देवी रायहाणी दक्खिणेण दक्खिणिल्लस्स भवणस्स पच्चच्छिमेणं दक्खिणपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पुरच्छिमेणं हेमवए कूडे हेममालिनी देवी रायहाणी दक्खिणेणं पच्चच्छिमिल्लस्स भवणस्स दक्खिणेणं दाहिणपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स उत्तरेणं रयए कूडे सुवच्छा देवी रायहाणी पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमिल्लस्स भवणस्स उत्तरेणं उत्तरपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स दक्खिणेणं रुअगे कूडे वच्छमित्ता देवी रायहाणी पच्चच्छिमेणं उत्तरिल्लस्स भवणस्स पच्चच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पुरच्छिमेणं सागरचित्ते कूडे वइरसेणा देवी रायहाणी उत्तरेणं उत्तरिल्लस्स भवणस्स पुरच्छिमेणं उत्तरपुरच्छिमिल्लस्स पासायवडेंसगस्स पच्चच्छिमेणं वइरे कूडे बलाहया देवी रायहाणी उत्तरेणं ति । कहि णं भंते ! णंदणवणे बलकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ?। गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं णंदणवणे कूडे णामं कूडे पण्णत्ते । एवं जं चेव हरिस्सहकूडस्स पमाणं रायहाणी अ, तं चेव बलकूडस्स वि, णवरं बलो देवो रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं ति ॥

क भदन्त ! नन्दनवने नन्दनवनकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् ?। गौतम ! मन्दरस्य पर्वतस्य संबन्धिनः पौरस्त्यसिद्धायतनस्योत्तरतः उत्तरपौरस्त्येशानदिग्वर्तिनः प्रासादावतंसकस्य दक्षिणेन एतस्मिन् प्रदेशे नन्दनवनकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् । अत्रापि मेरुतः पञ्चाशद्योजनातिक्रम एव क्षेत्रनियमो बोद्धव्यः । अन्यथाऽस्य प्रासादभवनयोरन्तरालवर्तित्वं न स्यात् । अथ लाघवार्थमुक्तस्य वक्ष्यमाणानां च कूटानां साधारणमतिदिशति-पञ्चशतिकानि कूटानि पूर्वं दिग्हस्तिकूटप्रकरणे वर्णितानि उच्चत्वव्यासपरिधिवर्णसंस्थानराजधानीदिगादिभिः, तान्यत्र भणितव्यानीति शेषः । सदृशगमत्वात् । अत्र देवी मेघंकरा नाम्नी, अस्या राजधानी विदिशि, अस्य पश्चोत्तरं कूटस्थानीयत्वेन राजधानी विदिगुत्तरपूर्वआख्या । अथ शेषकूटानां तद्देवीनां तद्राजधानीनां च का व्यवस्था ? इत्याह-(एआहिं इत्यादि) एताभिर्देवीभिश्चशब्दाद् राजधानीभिरनन्तरसूत्रे वक्ष्यमाणाभिः सह पूर्वाभिलापेन नन्दनवनकूटसत्कसूत्रगमेन नेतव्यानि इमानि वक्ष्यमाणानि कूटानि इमाभिर्वक्ष्यमाणाभिर्दिग्भिः। एतदेव दर्शयति-(पुरच्छिमिल्लस्स इत्यादि) इदं च सर्वं भद्रशालवनगमसदृशम्, तेन तदनुसारेण व्याख्येयम् । विशेषप्राप्त्यर्थं पञ्चशतिके नन्दनवने मेरुतः पञ्चाशद्योजनान्तरे स्थितानि पञ्चशतिकानि कूटानि किञ्चिन्मेखलातो बहिराकाशे स्थितानि बोध्यानि, बलकूटवत् एतत्कूटवासिन्यश्च देव्योऽष्टौ दिक्कुमार्यः। अथ नवमं कूटं सहस्राङ्कमिति पृथक् पृच्छति-(कहि णमित्यादि) क भदन्त ! नन्दनवने बलकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् ?। गौतम ! मेरोरीशानविदिशि नन्दनवनेऽत्रान्तरे बलकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् । अयमर्थः-मेरुतः पञ्चाशद्योजनातिक्रमे ईशानकोणे ऐशानप्रासादः, ततोऽपीशानकोणे बलकूटं, महत्तमवस्तुनो विदिशोऽपि महत्तमत्वात् । एवमनेनाभिलापेन यदेव हरिस्सहकूटस्य माल्यवद्वक्षस्कारगिरेर्नवमकूटस्य प्रमाणं सहस्रयोजनरूपं यथा चाल्पेऽपि स्वाधारक्षेत्रमहतोऽप्यस्यावकाशः,या च राजधानी चतुरशीतियोजनसहस्रप्रमाणा तदेव सर्वं बलकूटस्यापि, नवरमत्र बलो देवः, तत्र तु हरिस्सहनामा । जं० ४ वक्ष० ।

माल्यवतः—

जंबुद्दीवे दीवे मालवंते वक्खारपव्वए नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"सिद्धे य मालवंते, उत्तरकुरुकच्छसागरे रयए । सीया य पुण्णनामे, हरिस्सकूडे य बोधव्वे" ॥ १ ॥

(मालवंते इत्यादि) माल्यवान् पूर्वोत्तरो गजदन्तपर्वतः, तत्र सिद्धायतनकूटं मेरोरुत्तरपूर्वतः, एवं शेषाण्यपि, नवरं सिद्धकूटे भोगा देवी, रजतकूटे भोगमालिनी देवी, शेषेषु स्वसमाननामानो देवाः, हरिस्सहकूटं नीलवत्पर्वतस्य नीलवत्कूटाद्दक्षिणतः सहस्रप्रमाणं, विद्युत्प्रभवर्ति हरिकूटं नन्दनवनवर्ति बलकूटं च, शेषाणि तु प्रायः पञ्चयोजनशतिकानीति । स्था० ९ ठा० । सर्वसंग्रहायेति सिद्धायतनकूटं,चः पादपूरणे, माल्यवत्कूटं प्रस्तुतवक्षस्काराधिपतिवासकूटम्,उत्तरकुरुकूटमुत्तरकुरुदेवकूटं कच्छकूटं कच्छविजयाधिपकूटं, सागरकूटं, रजतकूटम्, इदं चान्यत्र रुचकमिति प्रसिद्धं,शीताकूटं शीतासरित्सुरीकूटं,पदैकदेशे पदसमुदायोपचार इति सिद्धिः। चः समुच्चये,पूर्णभद्रनाम्नो व्यन्तरेशस्य कूटं पूर्णभद्रकूटं, हरिस्सहनाम्न उत्तरश्रेणिपतिविद्युत्कुमारेन्द्रस्य कूटं हरिस्सहकूटम् । चैवशब्दः पूर्ववत् । जं० ४ वक्ष० ।

संप्रत्यमीषां स्थानप्ररूपणायाऽऽह-

कहि णं भंते ! मालवंते वक्खारपव्वए सिद्धायणकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ?। गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं मालवंतस्स कूडस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं एत्थ णं सिद्धायणकूडे पंच जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अवसिट्ठं तं चेव, जाव रायहाणी, एवं मालवंतस्स कूडस्स उत्तरकुरुकूडस्स कच्छकूडस्स, एए चत्तारि कूडा दिसाहिं पमाणेहिं अ णेयव्वा कूडसरिसणामया देवा । कहि णं भंते ! मालवंते सागरकूडे णामं कूडे पण्णत्ते ?। गोयमा ! कच्छकूडस्स उत्तरपुरच्छिमेणं रययकूडस्स दक्खिणेणं, एत्थ णं सागरकूडे णामं कूडे पण्णत्ते; पंच जोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, अवसिट्ठं तं चेव । सुभोगा देवी रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं रययकूडे भोगमालिणी देवी, रायहाणी उत्तरपुरच्छिमेणं अवसिट्ठा कूडा उत्तरदाहिणेणं णेअव्वा एक्केणं पमाणेणं । कहि णं भंते ! मालवंते हरि-

रसहकूमे णामं कूमे पण्णत्ते ? । गोयमा ! पुण्णभद्दस्स उत्तरेणं णीलवंतस्स दक्खिणेणं, एत्थ णं हरिस्सहकूमे णामं कूमे पण्णत्ते । एगं जोअणसहस्सं उद्धं उच्चत्तेणं जमगपमाणेणं रायहाणी उत्तरेणं असंखेज्जदीवे अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे उत्तरेणं बारस जोअणसहस्साइं उग्गाहित्ता, एत्थ णं हरिस्सहदेवस्स हरिस्सहा णामं रायहाणी पण्णत्ता । चउरासीइं जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं छ जोअणसयसहस्साइं पण्णट्ठिं च सहस्साइं छच्च छत्तीसे जोअणसए परिक्खेवेणं, सेसं जहा चमरचंचाए रायहाणीए तहा पमाणं भाणिअव्वं महिड्ढीए महज्जुईए ॥

"कहि णमित्यादि" प्रश्नः प्रतीतः। उत्तरसूत्रे मन्दरस्य पर्वतस्य उत्तरपूर्वस्याम् ईशानकोणे प्रत्यासन्नमाल्यवत्कूटस्य दक्षिणपश्चिमायां नैर्ऋतके,अत्र सिद्धायतनकूटं प्रज्ञप्तमिति गम्यं, पञ्चयोजनशतान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन,अवशिष्टं मूलविष्कम्भादिकं वक्तव्यं तदेव गन्धमादनसिद्धायतनकूटवदेव वाच्यं यावद्राजधानी भणितव्या स्यात् । अयमर्थः-सिद्धायतनकूटवर्णके सामान्यतः कूटवर्णकसूत्रं,विशेषतः सिद्धायतनादिवर्णकसूत्रं च द्वयमपि वाच्यम्,तत्र सिद्धायतनकूटे राजधानीसूत्रं न संगच्छते इति राजधानीसूत्रं विहाय तदधस्तनसूत्रं वाच्यमिति। अत्र यावच्छब्दो न संग्राहकः,किन्त्ववधिमात्रसूचकः। यथा-'आसमुद्रक्षितीशानाम्' इत्यत्र (रघुकाव्ये) समुद्रं विहाय क्षितीशत्वं वर्णितमिति । लाघवार्थमत्रातिदेशमाह-(एवं मालवंतस्स इत्यादि) एवं सिद्धायतनकूटरीत्या माल्यवत्कूटस्य कच्छकूटस्य वक्तव्यं, ज्ञेयमिति गम्यम् । अथैतानि किं परस्परं स्थानादिना तुल्यानि उताऽतुल्यानीत्याह-एतानि सिद्धायतनकूटसहितानि चत्वारि परस्परं दिग्भिरैशानविदिग्रूपाभिः प्रमाणैश्च नेतव्यानि, तुल्यानीति शेषः। अयमर्थः-प्रथमं सिद्धायतनकूटं मेरोरुत्तरपूर्वस्यां दिशि ततस्तस्यामेव दिशि द्वितीयमाल्यवत्कूटं ततस्तस्यामेव दिशि तृतीयमुत्तरकुरुकूटं ततोऽप्यस्यां दिशि कच्छकूटम् । एतानि चत्वार्यपि कूटानि विदिग्भावीनि मानतो हिमवत्कूटप्रमाणानीति। कूटसदृग्नामकाश्चात्र देवाः। अत्र 'यावत् संभवस्तावद् विधिप्राप्तिः' इति न्यायात् सिद्धकूटवर्जेषु त्रिषु कूटेषु कूटनामका देवा इति बोध्यं सिद्धायतनम् । अन्यथा " जसयपरिक्केसु तहा, चूला चउवणतरूसु जिणभवणं । भणिआ जंबुद्दीवे, सदेवया सेसठाणेसु " ॥ १ ॥ इति स्वोपज्ञक्षेत्रविचारे रत्नशेखरसूरिवचोविरोधमापद्यते इति । अथावशिष्टकूटस्वरूपमाह-(कहि णं) इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरसूत्रे कच्छकूटस्य च कूटस्य चतुर्थस्योत्तरपूर्वस्यां रजतकूटस्य दाक्षिणस्याम्; अत्रान्तरे सागरकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तं पञ्चयोजनशतान्यूर्द्ध्वोच्चत्वेन, अवशिष्टं मूलविष्कम्भादिकं तदेव । अत्र सुभोगा नाम्नी दिक्कुमारी देवी, अस्या राजधानी मेरोरुत्तरपूर्वस्यां रजतकूटं षष्ठं पूर्वस्मादुत्तरस्याम्,अत्र भोगमालिनी दिक्कुमारी सुरी,राजधानी उत्तरपूर्वस्याम्, अवशिष्टानि शीताकूटादीनि उत्तरदक्षिणाभ्यां नेतव्यानि। कोऽर्थः? पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरमुत्तरस्याम् २ उत्तरस्मादुत्तरस्मात्पूर्वं २ दक्षिणस्याम् २ इत्यर्थः। एकेन तुल्यप्रमाणेन सर्वेषामपि हिमवत्कूटप्रमाणत्वात् । अथ नवरं सहस्राङ्कमिति पृथग् निर्देष्टुमाह-(कहि णमित्यादि) क भदन्त ! माल्यवति वक्षस्कारगिरौ हरिस्सहकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम् ?। गौतम ! पूर्णभद्रस्योत्तरस्यां नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणस्याम्, अत्रान्तरे हरिस्सहकूटं नाम कूटं प्रज्ञप्तम्, एकं योजनसहस्रमूर्द्ध्वोच्चत्वेन; अवशिष्टं यमकगिरिप्रमाणेन नेतव्यम् । तद्यथा-" अड्ढाइज्जाइं जोअणसयाइं उव्वेहेणं मूले एगं जोअणसहस्सं आयामविक्खंभेणमित्यादि " । आह परः-पञ्चशतयोजनपृथुगजदन्ते सहस्रयोजनपृथु इदं कथं माति ?। उच्यते-अनेन गजदन्तस्य ५०० योजनानि रुद्धानि, ५०० योजनानि पुनर्गजदन्ताद्बहिराकाशे,ततो न कश्चिद्दोष इति। अस्य चाधिपत्यस्याऽपरराजधानीतो दिक्प्रमाणाद्यैर्विशेष इति तां विवक्षुराह-(रायहाणी इत्यादि) राजधानी उत्तरस्यामिति । एतदेव विवृणोति-(असंखेज्जदीवे त्ति) इदं पदं स्मारकम्,तेन "मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरेणं तिरिअमसंखेज्जाइं दीवसमुद्दाइं वीईवइत्ता" इति ग्राह्यम् । अन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे उत्तरस्यां द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य। अत्रान्तरे हरिस्सहदेवस्य हरिस्सहा नाम्नी राजधानी प्रज्ञप्ता, चतुरशीतियोजनसहस्राण्यायामविष्कम्भाभ्यां द्वे योजनलक्षे पञ्चषष्टिं च योजनसहस्राणि षट् च द्वात्रिंशदधिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण, शेषं यथा चमरचञ्चायाश्चमरेन्द्रराजधान्याः प्रमाणं भणितं भवति तथा नेतव्या, प्रमाणं प्रासादादीनां भणितव्यमिति । " महिड्ढिए महज्जुईए " इति सूत्रेणास्य नामनिमित्तविषयके प्रश्ननिर्वचने सूचिते। तेषां चैवम्-"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ हरिस्सहकूडे कूडे ?। गोयमा ! हरिस्सहकूडे बहवे उप्पलाइं पउमाइं हरिस्सहकूडसमवण्णाइं जाव हरिस्सहे णामं देवे अइत्थमहिड्ढीए जाव परिवसइ, से तेणट्ठेणं जाव अदुत्तरं च णं गोअमा ! जाव सासए णामधेज्जे। " इति । जं० ४ वक्ष०।

कच्छादिषु वैताढ्यपर्वतेषु-

जंबू ! कच्छे दीहवेयड्ढे णं नव कूडा पन्नत्ता । तं जहा-"सिद्धे कच्छे खंडग-माणी वेयड्ढपुन्नतिमिसगुहा । कच्छे वेसमणे य, कच्छे कूमाण नामाइं " ॥ १ ॥ जंबू ! सुकच्छे दीहे वेयड्ढे णं नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा-"सिद्धे सुकच्छखंडग-माणी, वेयड्ढपुन्नतिमिसगुहा । सुकच्छे वेसमणे य, सुकच्छकूडाण नामाइं " ॥ १ ॥ एवं जाव पुक्खलावइम्मि दीहवेयड्ढे एवं वच्छे दीहवेयड्ढे एवं जाव मंगलावइम्मि दीहवेयड्ढे ।

एवं कच्छादिविजये वैताढ्यकूटान्यपि व्याख्यातानुसारेण ज्ञेयानि। नवरं "एवं जाव पुक्खलावइम्मीत्यादि" यावत्करणात् महाकच्छाकच्छावतीआवर्त्तमङ्गलावर्त्तपुष्कलेषु सुकच्छवैताढ्येषु सिद्धकूटादीनि नव नव कूटानि वाच्यानि, नवरं द्वितीयाष्टमस्थानेऽधिकृतविजयनामवाच्यमिति। (एवं वच्छे त्ति) शीताया दक्षिणे समुद्रासन्ने "एवं जाव मंगलावइम्मि" इत्यत्र यावत्करणात् सुवच्छमहावच्छवच्छावतीरम्यरम्यकरमणीयेषु प्रागिव कूटनवकं द्रष्टव्यमिति । स्था० ६ ठा०। जं० । (' कच्छ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८२ पृष्ठे वर्णक उक्तः) विद्युत्प्रभे, स्था० ।

जंबू ! विज्जुप्पभे वक्खारपव्वए नव कूडा पण्णत्ता । तं जहा- " सिद्धे य विज्जुनामे, देवकुरा पम्हकणगसोवत्थी । सीओदाए सजले, हरिकूडे चेव बोधव्वे " ॥ १ ॥

(जम्बुद्दीवेत्यादि) विद्युत्प्रभो देवकुरुपश्चिमगजदन्तकः, तत्र नव कूटानि पूर्ववत्, नवरं दिक्कुमार्यौ वारिसेनावलाहकाभिधाने क्रमेण कनककूटस्वस्तिककूटयोरिति ।

पद्मादिषु विजयेषु दीर्घवैताढ्यानाम्-

जंबू ! पम्हे दीहवेयड्ढे नव कूडा पसत्ता । तं जहा-सिद्धे पम्हे खंडगप्पाणी वेयड्ढए, एवं चेव जाव सलिलावइम्मि दीहवेयड्ढे, एवं वप्पे दीहवेयड्ढे एवं जाव गंधिलावइम्मि दीहवेयड्ढे नव कूडा पसत्ता । तं जहा-" सिद्धे गंधिलखंडगप्पाणी-वेयड्ढपुन्नतिमिसगुहा । गंधिलावइवेसमणे, कूडाणं होंति नामाइं ॥ १ ॥ " एवं सव्वेसु दीहवेयड्ढेसु दो कूडा सरिसनामगा सेसा ते चेव ।

(पम्हे त्ति) शीतोदाया दक्षिणेन विद्युत्प्रभाभिधानगजदन्तकप्रत्यासन्नविजये (जाव सलिलावइम्मि) इत्यत्र यावत्करणात् सुपक्ष्महापक्ष्मपद्मावतीशङ्खनलिनकुमुदेषु प्रागिव नव नव कूटानि वाच्यानि । एवमित्युक्ताभिलापेन (वप्पे त्ति) शीतोदाया उत्तरेण समुद्रप्रत्यासन्नविजये " जाव गंधिलावइम्मि " इत्यत्र यावत्करणात् सुवप्रमहावप्रवप्रावतीवल्गुसुवल्गुगन्धिलेषु नव नव कूटानि प्रागिव द्रष्टव्यानीति, पुनः पद्मादिविजयेषु षोडशस्वतिदिशति-" एवं सव्वेसु " इत्यादिना कूटानां सामान्यलक्षणमुक्तमिति । स्था० ६ ठा० ।

सौमनसे वक्षस्कारपर्वते-

जंबुद्दीवे दीवे सोमणसे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पसत्ता । तं जहा-"सिद्धे सोमणसे य, बोधव्वे मंगलावई कूडे । देवकुरुविमलकंचण-विसिट्ठकूडे य बोधव्वे " ॥ १ ॥

(सिद्धे त्ति) सिद्धायतनोपलक्षितं कूटं मेरुप्रत्यासन्नम्, एवं सर्वगजदन्तकेषु सिद्धायतनानि शेषाणि, ततः परम्परयेति । (सोमणसे त्ति) सौमनसकूटं तत्समाननामकतदधिष्ठातृदेवतोपलक्षितं, मङ्गलावतीविजयसमनामदेवस्य मङ्गलावतीकूटम्,एवं देवकुरुदेवनिवासो देवकुरुकूटमिति, विमलकाञ्चनकूटे यथार्थे, क्रमेण च वत्सवत्समित्राभिधानाऽधोलोकनिवासिदिक्कुमारीद्वयनिवासभूते, विशिष्टकूटं तन्नामदेवनिवास एवमुत्तरत्रापि । स्था० ७ ठा० । जं० ।

रुक्मिणि-

जंबू ! मंदरउत्तरेणं रुप्पिम्मि वासहरपव्वए अट्ठ कूडा पसत्ता । तं जहा-" सिद्धे रुप्पी रम्मग-नरकंता बुद्धिरुप्पकूडे य । हेरण्णवए मणिकं-चणे य रुप्पिम्मि कूडा य ॥१॥ "

जंबू ! मंदरपुरच्छिमेणं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पसत्ता । तं जहा-"रिट्ठतवणिज्जकंचण-रययदिसा सोवत्थिए पलंबे य । अंजणे अंजणपुलए, रुयगस्स पुरच्छिमे कूडा" ॥१॥

अनेनैव क्रमेण रुक्मिकूटान्यप्यूह्यानि । तद्गाथा'सिद्धे रुप्पी'इत्यादि कण्ठ्यम् । 'जंबुद्दीवे' इत्यादि क्षेत्राधिकारात् रुचकाश्रितसूत्राष्टकं कण्ठ्यम्,नवरं जम्बूद्वीपे यो मन्दरस्तदपेक्षया प्राच्यां दिशि रुचकवरे रुचकद्वीपवर्तिनि प्राग्वर्णितस्वरूपे चक्रवालाकारे अष्टौ कूटानि,तत्र रिट्ठेत्यादि गाथा स्पष्टा, तेषु च नन्दोत्तराद्याः दिक्कुमार्यो वसन्ति, भगवतोऽर्हतो या जन्मन्यादर्शहस्ता गायन्त्यस्तं पर्युपासन्ते, एवं दाक्षिणात्या भृङ्गारहस्ता गायन्ति, एवं प्रातीच्यास्तालवृन्तहस्ताः, एवमौदीच्याश्चामरहस्ताः देवाधिकारादेव । स्था० ८ ठा० ।

गन्धमादने-

जंबुद्दीवे दीवे गंधमायणे वक्खारपव्वए सत्त कूडा पसत्ता । तं जहा-"सिद्धे य गन्धमायणे, बोधव्वे गंधिलावई कूडे । उत्तरकुरुफलिहे लो-हियक्खआणंदणे चेव" ॥१॥ स्था०७ठा०।

गंधमायणे णं वक्खारपव्वए कति कूडा पसत्ता ? । गोयमा ! सत्त कूडा पसत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे १ गंधमायणकूडे २ गंधिलावइकूडे ३ उत्तरकुरुकूडे ४ फलिहकूडे ५ लोहिअक्खकूडे ६ आणंदकूडे ७। कहि णं भंते ! गंधमायणे वक्खारपव्वए सिद्धाययणणामं कूडे पसत्ते ? । गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपुरच्छिमेणं गंधमायणकूडस्स दाहिणपुरच्छिमेणं एत्थ णं गंधमायणे वक्खारपव्वए सिद्धाययणकूडे णामं कूडे पसत्ते । जं चेव चुल्लहिमवंते सिद्धाययणकूडस्स पमाणं तं चेव एएसिं सव्वेसिं भाणिअव्वं, एवं चेव विदिसाहिं तिष्णि कूडा भाणिअव्वा, चउत्थे ततिअस्स उत्तरपच्चच्छिमेणं, पंचमस्स दाहिणेणं, सेसाओ उत्तरदाहिणेणं फलोहिअक्खेसु भोगंकराभोगवईओ देवयाओ, सेसेसु सरिसणामया देवा छसु वि पासायवडेंसगरायहाणीओ विदिसासु ॥

"गंधमायणे" इत्यादि व्यक्तं,नवरं स्फटिककूटं स्फटिकरत्नमयत्वात्,लोहिताक्षकूटं लोहितरत्नवर्णत्वात्, आनन्दनाम्नो देवस्य कूटमानन्दकूटम् । ननु यथा वैताढ्यादिषु सिद्धायतनादिकूटव्यवस्था पूर्वापरायतत्वेन तदत्रापि,उत कश्चिद्विशेष इत्याह-(कहि णं भंते !) इत्यादि व्यक्तं, नवरं यथा वैताढ्यादिषु सिद्धायतनं कूटं समुद्रासन्नं पूर्वेण ततः क्रमेण शेषाणि स्थितानि, तथाऽत्र मन्दरासन्नं सिद्धायतनकूटं मन्दरादुत्तरपश्चिमायां वायव्यां दिशि गन्धमादनकूटस्य तु दक्षिणपूर्वस्यामाग्नेय्यामस्ति यदेव क्षुद्रहिमवति सिद्धायतनकूटस्य प्रमाणं तदेवैतेषां सर्वेषां सिद्धायतनादिकूटानां भणितव्यम्, अर्थाद्वर्णनमपि तद्वदेवेति । व्यवस्था तु शेषकूटानामत्र भिन्नप्रकारेणेति मनसिकृत्याह-(एवं चेव इत्यादि) एवं चेवेत्येव सिद्धायतनानुसारेण विदिक्षु वायव्यकोणेषु त्रीणि कूटानि सिद्धायतनादीनि भणितव्यानि । उक्तवक्तव्यानां मिश्रितनिर्देशस्तु " एवं चत्तारि वि दारा भाणिअव्वा " इति सूत्रविचारेणोक्तयुक्त्या समाधेयः । अयमर्थः-मेरुत उत्तरपश्चिमायां सिद्धायतनकूटं, तस्मादुत्तरपश्चिमायां गन्धमादनकूटं, तस्माच्च गन्धिलावतीकूटमुत्तरपश्चिमायामिति । अत्र तिस्रो वायव्या दिशः समुदिता विवक्षिता इति बहुत्वेन निर्देशः चतुर्थमुत्तरकुरुकूटं तृतीयस्य गन्धिलावतीकूटस्योत्तरपश्चिमायां पञ्चमस्य स्फटिककूटस्य दक्षिणतः ननु यथा तृतीयाद्गन्धिलावतीकूटाच्चतुर्थमुत्तरकुरुकूटमुत्तरपश्चिमायां चतुर्थाच्च तृतीयं दक्षिणपूर्वस्यां तथा पञ्चमात् स्फटिककूटात् कथं दक्षिणस्यां चतुर्थं कूटं न संगच्छते? । उच्यते-पर्वतस्य वक्रत्वेन चतुर्थकूटत एवं दक्षिणपूर्वां प्रति वलनात् पञ्चमाच्चतुर्थं दक्षिणस्यामिति; शेषाणि स्फटिककूटादीनि त्रीणि उत्तरद-

क्षिणश्रेण्यवस्थया स्थितानि; कोऽर्थः? पञ्चमं चतुर्थस्योत्तरतः षष्ठस्य दक्षिणतः, षष्ठं पञ्चमस्योत्तरतः सप्तमस्य दक्षिणतः, सप्तमं षष्ठस्योत्तरत इति परस्य उत्तरदक्षिणजाव इति । अत्र पञ्चयोजनशतविस्तराण्यपि कूटानि यत्कमदीयमानेऽपि प्रस्तुतगिरिक्षेत्रे मान्ति, तत्र सहस्रा कूटरीतिर्ज्ञेया । अथैषामेवाधिष्ठातृस्वरूपं निरूपयति-(फलिहलोहियक्खे) इत्यादि कूटलोहिताक्षकूटयोः पञ्चमषष्ठयोर्भोगंकराभोगवत्योर्द्वे देवते दिक्कुमार्यौ वसतः। शेषेषु कूटसदृशनामका देवाः षट्स्वपि प्रासादावतंसकाः स्वस्वाधिपतिवासयोग्याः; एषां च राजधान्योऽसंख्याततमे जम्बूद्वीपे विदिक्षु उत्तरपश्चिमासु ॥ जं० ४ वक्ष० ।

कूटानि-

जंबू ! मंदरदाहिणे णं छ कूडा पसत्ता । तं जहा-चुल्लहिमवंतकूडे वेसमणकूडे महाहिमवंतकूडे वेरुलियकूडे निसहकूडे रुयगकूडे । जम्बू ! मंदरउत्तरे णं छ कूडा पएणत्ता । तं जहा-नीलवंतकूडे उवदंसणकूडे रुप्पिकूडे मणिकंचणकूडे सिहरिकूडे तिगिच्छिकूडे ॥

कूटसूत्रे हिमवदादिषु वर्षधरपर्वतेषु द्विस्थानकोक्तक्रमेण द्वे द्वे कूटे समवसेये इति । स्था० ६ ठा० ।

जंबू ! मंदरदाहिणे णं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पसत्ता । तं जहा-"कणए कंचणपउमे, नलिणे ससिदिवाकरे चेव । वेसमणे वेरुलिए, रुयगस्स य दाहिणे कूडा" ॥१॥ स्था० ।

जंबू ! मंदरपच्चत्थिमेणं रुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पसत्ता । तं जहा-" सोत्थिए य अमोहे य, हिमवं मंदरे तहा । रुयगे रुयगुत्तमे चंदे, अट्ठमे अ सुदंसणे " ॥१॥ स्था० ।

जंबू ! मंदरउत्तररुयगवरे पव्वए अट्ठ कूडा पसत्ता । तं जहा- "रयणे रयणुच्चए सव्व-रयणे रयणसंचए । विजए वेजयंते य, जयवंते अपराजिए" ॥१॥ स्था० ८ ठा० ।

(दिक्कुमारीवक्तव्यता तु ' दिसाकुमारिया ' शब्दे वक्ष्यते)

अथात्र कूटानि प्रष्टव्यानि नीलवतः-

णीलवंते णं भंते ! वासहरपव्वए कइ कूडा पसत्ता ? । गोयमा ! नव कूडा पएणत्ता । तं जहा-"सिद्धायणकूडे १ सिद्धे, णीले २ पुव्वविदेहे ३ सीआ य कित्ति ५ णारी अ ६ । अवरविदेहे ७ रम्मग-कूडे ८ उवदंसणे चेव " ॥१॥ सव्वे एए कूडा पंचसइआ रायहाणीओ उत्तरे ॥

(णीलवंते णमित्यादि) नीलवति भदन्त ! वर्षधरपर्वते कति कूटानि प्रज्ञप्तानि ? । गौतम ! नव कूटानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-सिद्धायतनकूटम्, अत्र नवानामप्येकत्र संग्राहकेयं गाथा-(सिद्धे त्ति) सिद्धकूटं सिद्धायतनकूटं, तच्च पूर्वदिशि समुद्रासन्नं ततो नीलवत्कूटं न नीलवद्वक्षस्काराधिपकूटं पूर्वविदेहाधिपकूटं शीताकूटं शीतासुरीकूटं, चः समुच्चये, कीर्त्तिकूटं केसरिद्रहसुरीकूटं नारीकान्तनदीसुरीकूटं, चः पूर्ववत् । अपरविदेहकूटम्, अपरविदेहाधिपकूटं रम्यककूटं रम्यकक्षेत्राधिपकूटम्, उपदर्शनकूटं उपदर्शननामककूटम् । एतानि च कूटानि हिमवत्कूटवत् पञ्चशतिकानि पञ्चशतयोजनप्रमाणानि, वक्तव्यताऽपि तद्वत् कूटाधिपानां राजधान्यो मेरोरुत्तरस्याम् । जं० ४ वक्ष० ।

जम्बू ! मंदरउत्तरे णं एरवए दीहवेयड्ढे नव कूडा पसत्ता । तं जहा-

" सिद्धेरवए खंमग-माणी वेयड्ढपुसतिमिसगुहा । एरवए वेसमणे, एरवए कूडनामाइं" ॥१॥ स्था० ९ ठा० ॥

तत्र यानि समानि-

जंबू ! मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला जाव विक्खंभुच्चत्तसंठाणपरिणाहेणं । तं जहा-चुल्लहिमवंतकूडे चेव वेसमणकूडे चेव । जंबू ! मंदरदाहिणे णं महाहिमवंते वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला जाव महाहिमवंतकूडे चेव वेरुलियकूडे चेव । एवं निसढे वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला, जाव निसढकूडे चेव रुयगकूडे चेव । जंबू ! मंदरस्स उत्तरे णं नीलवंते वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला जाव नीलवंतकूडे चेव उवदंसणकूडे चेव । एवं रुप्पिम्मि वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता । तं जहा-बहुसमतुल्ला जाव । तं जहा-रुप्पिकूडे चेव मणिकंचणकूडे चेव । एवं सिहरिम्मि वि वासहरपव्वए दो कूडा पन्नत्ता बहुसमतुल्ला । तं जहा-सिहरिकूडे चेव तिगिच्छिकूडे चेव ।

(जंबू इत्यादि) हिमवद्वर्षधरपर्वते एकादश कूटानि-सिद्धायतन १ क्षुल्लहिमवत् २ भरत ३ इला ४ गङ्गा ५ श्री ६ रोहितांशा ७ सिन्धु ८ सुरा ९ हैमवत १० वैश्रमण ११ कूटाभिधानानि भवन्ति । पूर्वदिशि सिद्धायतनं कूटमतः क्रमेणापरतोऽन्यानि सर्वरत्नमयानि स्वनामदेवतास्थानानि पञ्च योजनशतोच्छ्रयाणि तावदेव मूले विस्तृतानि उपरि तदर्द्धविस्तृतानि, आद्ये सिद्धायतनं पञ्चाशद्योजनायामं तदर्द्धविष्कम्भं षट्त्रिंशदुच्चम, अष्टयोजनायामैश्चतुर्योजनविष्कम्भप्रवेशैस्त्रिभिर्द्वारैरुपेतं जिनप्रतिमाष्टोत्तरशतसमन्वितं, शेषेषु प्रासादाः सार्द्धषष्टियोजनोच्चास्तदर्द्धविस्तृतास्तन्निवासिदेवसिंहासनवन्त इति । इह तु प्रकृतनगनायकनिवासभूतत्वाद्देवनिवासभूतानामेषां मध्ये आद्यत्वाच्च हिमवत्कूटं गृहीतं, सर्वान्तिमत्वाच्च वैश्रमणकूटमिति द्विस्थानकानुरोधेनेति । आह च-"कत्थइ देसग्गहणं, कत्थइ घिप्पंति निरवसेसाइं । उक्कमकमजुत्ताइं, कारणवसओ निउत्ताइं" ॥ १ ॥ कूटसंग्रहश्चायम्- "वेयड्ढ ९ मालवंते, ९, विज्जुप्पह ९ निसढ ९ नीलवंते य ९ । नव नव कूडा भणिया, एक्कारस सिहरि ११ हिमवंते ११ ॥१॥ रुप्पि ८ महाहिमवंते, ८ सोमणस ७ गंधमायणनगे य ७ । अट्ठ सत्त सत्त य, वक्खारगिरीसु चत्तारि ४ ॥ २ ॥"

(जम्बू इत्यादि) महाहिमवति ह्यष्टौ कूटानि- सिद्ध-महाहिमवत्-हैमवत-रोहिता-ह्री-हरिकान्ता-हरि-वैडूर्यकूटाभिधानानि, द्वयग्रहणे च कारणमुक्तमेव इत्यादि एवं करणात् ' जम्बू ' इत्यादिरभिलापो दृश्यः । निषधवर्षधरपर्वते हि सिद्धनिषधहरिवर्षप्राग्विदेहहरिधृतिशीतोदाऽपरवि-

वेदरुचकाख्यानि स्वनामदेवतानि नव कूटानि । इहाऽपि द्वितीयान्त्ययोर्ग्रहणं प्राग्वद् व्याख्येयमिति । (जम्बू इत्यादि) नीलवर्षधरपर्वते हि सिद्ध-नील-पूर्वविदेह-शीता-कीर्ति-नारिकान्ताऽपरविदेह-रम्यकोपदर्शनाख्यानि नव कूटानि । इहापि द्वितीयान्त्यग्रहणं प्राग्वदिति । एवमित्यादि । रुक्मिवर्षधरे सिद्ध-रुक्मि-रम्यक-नरकान्ता-बुद्धि-रूप्यकूला—हैरण्यवत—मणिकाञ्चनकूटाख्यानि अष्ट कूटानि । द्वयाभिधानं च प्राग्वदिति । एवमित्यादि । शिखरिणि हि वर्षधरे सिद्ध—शिखरि—हैरण्यवत-सुरादेवी—रक्ता-लक्ष्मी—सुवर्णकूला-रक्तोदा-गन्धपति--ऐरवत—तिगिञ्छिकूटाख्यानि एकादश कूटानि । इहापि द्वयोर्ग्रहणं तथैवेति । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

सिहरिम्मि णं भंते ! वासहरपव्वए कइ कूडा पण्णत्ता ?। गोयमा ! इक्कारस कूडा पण्णत्ता । तं जहा–सिद्धाययणकूडे १ सिहरिकूडे २ हेरण्णवयकूडे ३ सुवण्णकूलाकूडे ४ सुरादेवीकूडे ५ रत्ताकूडे ६ लच्छीकूडे ७ रत्तावइकूडे ८ इलादेवीकूडे ९ एरवयकूडे १० तिगिच्छिकूडे ११; एवं सव्वे वि कूडा पंचसइआ रायहाणीओ उत्तरेणं ॥

(सिहरिम्मि णं भंते ! वासहरपव्वए इत्यादि) शिखरिणि पर्वते भगवन् ! कति कूटानि प्रज्ञप्तानि ? । गौतम ! एकादश कूटानि प्रज्ञप्तानि । तद् यथा–पूर्वस्यां सिद्धायतनकूटं, ततः क्रमेण शिखरिवर्षधरनाम्ना कूटं, हैरण्यवतक्षेत्रसुरकूटं, सुवर्णकूलानदीसुरीकूटं, सुरादेवीदिक्कुमारीकूटं, रक्तावर्तनकूटं, लक्ष्मीकूटं,पुण्डरीकह्रदसुरीकूटं,रक्तावत्यावर्तनकूटम्, इलादेवीदिक्कुमारीकूटं, ऐरवतक्षेत्रपतिकूटं तिगिञ्छिह्रदपतिकूटम् । एवं सर्वाण्यप्येतानि पञ्चशतिकानि ज्ञातव्यानि क्षुद्रहिमवत्कूटतुल्यवक्तव्यताकानि ज्ञेयानि । एतत्स्वामिनां राजधान्य उत्तरस्यामिति । जं० ४ वक्ष० ।

सव्वे वि णं हरिहरिस्सहकूडा वक्खारपव्वयकूडवज्जा दस दस जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ता । मूले दस जोयणसयाइं विक्खंभेणं एवं बलकूडा वि नंदणकूडवज्जा । हरिकूटं विद्युत्प्रभाऽभिधाने गजदन्ताकारवक्षस्कारपर्वते, हरिसहकूटं तु माल्यवद्वक्षस्कारे,तानि च पञ्चस्वपि मन्दरेषु भावात् पञ्च पञ्च भवन्ति सहस्रोच्छ्रितानि (वक्खारकूडवज्ज त्ति) शेषवक्षस्कारकूटेष्वेवमुच्चत्वं नास्त्येतेष्वेवास्तीत्यर्थः । एवं (बलकूडा वि त्ति) पञ्चसु मन्दरेषु पञ्च नन्दनवनानि तेषु प्रत्येकमैशान्यां दिशि बलकूटाऽभिधानं कूटमस्ति,ततः पञ्च शतानि सहस्रोच्छ्रितानि च (नंदनकूडवज्ज त्ति) शेषाणि नन्दनवनेषु प्रत्येकं पूर्वादिदिग्विदिग्व्यवस्थितानि चत्वारिंशत्संख्यानि नन्दनकूटानि वर्जयित्वा तानि साहस्रिकाणि न भवन्तीत्यर्थः । स० १०० समं० । पाषाणमयमारणमहायन्त्रे, नि० । समूहे, अएककूटमएकसमूहमित्यर्थः । नि० १ वर्ग । लौहमुद्गरे, तुच्छे, हलावयवभेदे, फालाधारे यन्त्रे, भग्नशृङ्गे, पुं० । पुरद्वारि, निश्चले, वाच० ।

कूडकाहावणोवजीवि (ण्)–कूटकार्षापणोपजीविन्–त्रि० । कार्षापणो द्रम्मः । असत्यकार्षापणोपजीविनि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

कूडग–कूटक–पुं० । कूट-एवुल् । सुरानामगन्धद्रव्ये, कवर्याम्, फाले, न० । वाच० । कूट-क० । असत्ये, " से दक्खिणं खिले तेण परिक्खावितो जाव कूडगो " आ० म० द्वि० ।

कूडग्गह–कूटग्रह–पुं० । कूरग्रहे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

कूडग्गाह–कूटग्राह–पुं० । कूटेन जीवान् गृह्णातीति कूटग्राहः । वञ्चनव्यापारविशेषेण जीवग्राहके, विपा० १ श्रु० २ अ० । स्त्रियां कूटग्राहिणी । " तत्थ णं हत्थिणाउरे नीमे णामं कूडग्गाहे होत्था । अहम्मिए जाव दुप्पडियाणंदे तस्स णं भीमस्स कूडग्गाहस्स उप्पला णामं भारिया होत्था । अहीणतएणं सा उप्पला कूडग्गाहिणी । " विपा० १ श्रु० २ अ० ।

कूडजाल–कूटजाल–न० । कूटवागुरादौ, उत्त० १९ अ० ।

कूडतुलाकूडमाणकरण–कूटतुलाकूटमानकरण–न० । तुला प्रतीता, मानं कुडवादि । कूटत्वं न्यूनाधिकत्वम् । उपा० १ अ० । तयोर्व्यवस्थापेक्षया न्यूनाधिकयोः करणं कूटतुलाकूटमानकरणम् । ध० र० । तुलामानाभ्यां न्यूनाभ्यां ददतोऽधिकाभ्यां गृह्णतोऽनर्थदण्डविरमणस्य चतुर्थेऽतिचारे, आव० ४ अ० । उपा० । आ० ।

कूडपास–कूटपाश–पुं० । मत्स्यबन्धनभेदे, विपा० १ श्रु० ८ अ० ।

कूडप्पओग–कूटप्रयोग–पुं० । प्रच्छन्ने पापे, आव० ४ अ० ।

कूडया-कूटता-स्त्री० । तुलादीनामन्यथात्वे,प्रश्न० ४ आश्र०द्वार ।

कूडरूवसमा–कूटरूपसमा–स्त्री० । द्रव्यरहितटङ्कचित्रविशेषयुक्ततृतीयरूपकतुल्यायां वन्दनायाम, पञ्चा० ३ विव० ।

कूडलेह–कूटलेख–पुं० । कूटमसद्भूतं तस्य लेखो लिखनं कूटलेखः । अन्यसरूपाक्षरमुद्राकरणे,ध० २ अधि० । अन्यमुद्राक्षरविन्द्वादिना कूटस्यार्थस्य लेखने, एष च स्थूलकमृषावादस्य पञ्चमोऽतिचारः । ध० २ अधि० ।

कूडलेहकरण–कूटलेखकरण–न० । कूटमसद्भूतं लिख्यते इति लेखः, करणं क्रिया, कूटलेखक्रिया कूटलेखकरणम् । अन्यमुद्राक्षरबिन्दुसरूपलेखकरणे, आव० ६ अ० । असद्भूतार्थस्य लेखस्य विधाने, उपा० १ अ० । असद्भूतार्थसूचकाक्षरलेखनस्य करणे, ध० र० । इहापि मृषाभणनमेव मया प्रत्याख्यातमिदं तु लेखनमिति भावनया मुग्धबुद्धेर्व्रतसत्यापेक्षस्यातिचारता भावनीया । अन्यथा वा अनाभोगादिकारणेभ्योऽसौ वाच्येति । ध० र० । एतच्च यद्यपि कायेनासत्यां वाचं न वदामीत्यस्य न वादयामीत्यस्य वा व्रतस्य भङ्ग एव,तथाऽपि सहसाकारानाभोगादिनाऽतिक्रमादिना वाऽतिचारः । अथ वा सत्यमित्यसत्यभणनं मया प्रत्याख्यातमिदं तु लेखनमिति भावनया व्रतसव्यपेक्षस्यातिचार एवेति चतुर्थोऽतिचारः । प्रव० ६ द्वार ।

कूडलेहकिरिया–कूटलेखक्रिया–स्त्री० । कूटलेखस्य करणे, आव० ६ अ० ।

कूडवासि (ण्)–कूटवासिन्–पुं० । कूटेषु नन्दनवनकूटादिषु वस्तुं शीलं येषां ते तथा । वर्षधरादिवासिषु देवेषु, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार ।

कूडवाहि (ण्)–कूटवाहिन्–पुं० । बलीवर्दे, " समभोमे वि अइभारो, उज्झाणे किमु अकूडवाहिस्स । " आव० ५ अ० ।

कूमसक्ख-कूटसाक्ष्य-न०। लभ्यदेयविषये प्रमाणीकृतस्य क्रोधमत्सरादिना कूटं वदतः यथाऽहमत्र साक्षीति साक्षित्वदाने, ध० २ अधि० । कूटसाक्ष्यं तत्क्रोधमत्सराद्यभिभूतः प्रमाणीकृतः सन् कूटं वक्ति यथाऽस्याहमत्र साक्षी । पञ्चा० १ विव० । उपा० ।

कूमसक्खित्त-कूटसाक्षित्व-न० । लभ्यदेयविषये प्रमाणीकृतस्योत्कोचमत्सराद्यभिभूतस्य कूटसाक्षिदाने, ध० २ अधि० । कूटसाक्षित्वमुत्कोचमत्सराद्यभिभूतप्रमाणीकृतः सन् कूटं वक्ति अविधवाद्यनृतस्यात्रैवान्तर्भावो वेदितव्यः । आव० ६ अ० ।

कूमसामलि-कूटशाल्मलि-पुं०। स्त्री० । कूटाकारः शिखराकारः शाल्मलिः कूटशाल्मलिरिति संज्ञा । स्था० । "दो कूडसामली चेव" स्था० । स च देवकुरुषु, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कहि णं भंते ! देवकुराए कूमसामलिपेढे पन्नत्ते। गोयमा ! मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणपच्चच्छिमेणं णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरेणं विजयप्पभस्स वक्खारपव्वयस्स पुरच्छिमेणं सीओदाए महाणईए पच्चच्छिमेणं देवकुरुपच्चच्छिमद्धस्स बहुमज्झदेसभाए, एत्थ णं देवकुराए कूमसामलीए पेढे णामं पेढे पन्नत्ते, एवं जच्चेव जम्बूए सुदंसणाए वत्तव्वया सच्चेव सामलीए वि भाणिअव्वा णामविहूणा गरुलदेवे रायहाणी दाक्खिणे णं अवसिद्धं तं चेव ।।

"कहि णं" इत्यादिप्रश्नसूत्रं प्राग्वत्, नवरं कूटाकारा शिखराकारा शाल्मली तस्याः पीठम, उत्तरसूत्रे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणपश्चिमायां नैर्ऋतकोणे निषधस्योत्तरस्यां विद्युत्प्रभवक्षस्कारस्य सर्वतः शीतोदाया महानद्याः पश्चिमायां देवकुरूणां शीतयोत्तरकुरूणामिव शीतोदयाद् द्विधाकृतानां पश्चिमार्द्धस्य बहुमध्यदेशभागे, अत्र प्रज्ञापकनिर्दिष्टदेशे देवकुरुषु कूटशाल्मल्याः कूटशाल्मलीपीठं नाम पीठं प्रज्ञप्तम । एवमुक्तसूत्रानुसारेण यैव जम्ब्वाः सुदर्शनाया वक्तव्यता सैव शाल्मल्या अपि भणितव्या। अत्र विशेषमाह-नामभिः प्राग्वर्णितैर्द्वादशभिर्जम्बूनामभिर्विहीना भणितव्येति संयोजना । इह शाल्मलीनामानि न सन्तीत्यर्थः। तथा अनादृतस्थाने गरुडदेवः,अत्र गरुडो गरुडजातीयो वेणुदेवनामा, मतान्तरे गरुडवेगनामा देवः,राजधान्यस्य मेरुतो दक्षिणस्यां, तथा सूत्रेऽनुक्तमपीदं बोध्यम् । अस्य पीठं कूटानि च प्रासादभवनान्तरालवर्त्तीनि रजतमयानि, जम्बूवृक्षस्य तु सुवर्णमयानि । अपि चायं शाल्मलीवृक्षो यदा तदा वा सुवर्णकुमाराधिपवेणुदेववेणुदालिक्रीडास्थानम्। तथा चाह सूत्रकृताङ्गचूर्णिकृत् शाल्मलीवृक्षवक्तव्यताऽवसरे-"तत्थ वेणुदेवे वेणुदाली अ वसइ।" तयोर्हि तत् क्रीडास्थानमिति,अवशिष्टं तदेव जम्बूप्रकरणतोक्तमेव यो विशेषः स दर्शित इत्यर्थः । जं० ४ वक्ष० ।

कूमसामली णं गरुलावासे अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नत्ता ।

कूटशाल्मली वृक्षविशेषः, देवकुरुषु गरुडजातीयस्य वेणुदेवाभिधानस्य देवस्याऽऽवास इति । स० ७ सम० । नरकस्थे वृक्षविशेषे च, "अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली" । उत्त० २० अ० । स्था० ।

कूमागार-कूटाकार-पुं० । पर्वतशिखरस्य संस्थाने, औ० । शिखराकृतौ, रा० ।

कूटागार-न० । कूटानि शिखराणि स्तूपिकाः,तद्वन्ति अगाराणि गेहानि । स्था० ४ ठा० २ उ० । पर्वतोपरिगृहेषु, आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० । हैमवत्कूटस्थेषु देवभवनेषु, स्था० २ ठा० ४ उ० । " पव्वयसंठियं ववरुपरिभूमियाहिं उव्वट्टमाणं कूडागारं " फूमेवागारं पर्वते कुट्टितमित्यर्थः । नि० चू० १२ उ० । कूटं सत्त्वबन्धनस्थानं तद्वदगाराणि कूटागाराणि । हिंसास्थानगृहेषु, स्था० ४ ठा० १ उ० । (कूटागारचातुर्विध्यदर्शनेन पुरुषजातप्ररूपणं ' पुरिसजाय ' शब्दे वक्ष्यते)

कूडागारसाला-कूटाका (गा) रशाला-स्त्री० । कूटस्येव पर्वतशिखरस्येवाकारो यस्याः सा कूटाकारा । रा० । सा चासौ शाला चेति समासः । विपा० १ श्रु० ३ अ० । स्था० । शिखराकृत्योपलक्षितायां शालायाम्,भ० ३ श० १ उ० । यस्या उपरि आच्छादनं शिखराकारं सा कूटाकारेति भावः । रा० ।

कूटागारशालास्वरूपं चेत्थम्-

सूरियाभस्स णं भंते ! देवस्स एसा दिव्वा देवड्डी दिव्वा देवजुती दिव्वे देवाणुभावे कहिं गते कहिं अणुप्पविट्ठे ? । गोयमा ! सरीरं गते सरीरं अणुपविट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ सरीरं गते सरीरं अणुपविट्ठे ? । गोयमा ! से जहा णामए कूटागारसाले सिया दुहुतो गुलित्ता गुत्तदुवारा णिवाया णिवायगंभीरा तीसे णं कूमागारसालाए अदूरसामंते एत्थ णं महेणं जणसमूहे चिट्ठइ, तते णं से जहा जणसमूहे एगं महं अब्भवद्दलगं वा वासवद्दलगं वा महावायं वा एज्जमाणं पासति, पासित्ता णं कूमागारसालं अंतो २ अणुपविसित्ता णं चिट्ठइ, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ सरीरं अणुप्पविट्ठे ।।

(कहिं अणुप्पविट्ठे इति) क्वानुप्रविष्टः,क्वानुलीन इति भावः । भगवानाह-गौतम! शरीरं गतः शरीरमनुप्रविष्टः।पुनः पृच्छति-(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन केन हेतुना भदन्त ! एवमुच्यते शरीरं गतः शरीरमनुप्रविष्टः । भगवानाह-गौतम ! "से जहा णामए"इत्यादि कूटस्येव पर्वतशिखरस्येवाकारो यस्याः सा कूटाकारा; यस्या उपरि आच्छादनं शिखराकारं सा कूटाकारेति भावः । कूटाकारा चासौ शाला च कूटाकारशाला । यदि वा कूटाकारेण शिखराकृत्योपलक्षिता शाला कूटाकारशाला या सा । (दुहतो गुलित्ता इति) बहिरन्तश्च गोमयादिना लिप्ता बहिः प्राकारावृता गुप्तद्वारा द्वारस्थगनात् यदि गुप्ताऽगुप्तद्वारा केषांकेषांचित् द्वाराणां स्थगितत्वात्केषाञ्चिदस्थगितत्वादिति, निवाता वायोरप्रवेशात् किल महत् गृहं निवातं प्रायो न भवति, तत आह-निवातगम्भीरा निवाता सती विशाला इत्यर्थः । ततस्तस्याः कूटाकारशालाया अदूरसामन्ते नातिदूरे नातिनिकटे वा प्रदेशे महान् एकोऽन्यतरो जनसमूहस्तिष्ठति । स च एकं महत् अभ्ररूपं वार्दलमभ्रवार्दलं धारानिपातरहितं सम्भाव्य वर्षं वार्दलमित्यर्थः । वर्षप्रधानं वार्दलकं वर्षं कुर्वन् वार्दलकं महावातं (वा-

पज्जमाणमिति) आयान्तमागच्छन्तं पश्यति,दृष्ट्वा च तं (कूडागारसालं ति) षष्ठ्यर्थे द्वितीया । तस्याः कूटाकारशालाया अन्तरं ततोऽनु प्रविशति तिष्ठति । एवं सूर्याभस्यापि देवस्य सा तथा विशाला दिव्या देवद्युतिर्दिव्यो देवानुभावः शरीरमनुप्रविष्टः । (तेणट्ठेणमित्यादि) तेन प्रकारेण गौतम ! एवमुच्यते-- (सूरियाजस्येत्यादि) । रा० । भ० ।

कूडाहच्च-कूटाहत्य-न० । कूटे इव तथाविधपाषाणसम्पुटादौ कालविलम्बाभावसाधर्म्यादाहत्याहननं यत्र तत्कूटाहत्यम् । भ० ७ श० ए उ० । कूटस्येव पाषाणमयमारणमहायन्त्रस्येवाहत्याऽऽहननं यत्र तत्कूटाहत्यम् । भ०१५ श० १ उ० । नि० । कूटे कूटस्येवाऽऽघातेन मरणे, " तो णं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेमि " । भ० १५ श० १ उ० ।

कू (को) णिय-कू (को) णिक-पुं० । श्रेणिकराजपुत्रे राज्ञि, कल्प० ८ क्षण । ज्ञा० ।

तस्योत्पत्तिः-

तते णं सा चेल्लणा देवी अन्नदा कयायि तंसि तारिसयंसि वासघरंसि० जाव सीहं सामिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा जहा पभावती० जाव सुमिणपाढगा पडिविसज्जित्ता० जाव चिल्लणा से वयणं पडिच्छित्ता जेणेव सए भवणे तेणेव अणुपविट्ठा तते णं तीसे चेल्लणाए देवीए अन्नदा कदायि तिएहं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूते धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ० जाव जम्मजीवियफले । जाओ णं सेणियस्स रन्नो उदरवलिमंसेहिं सोल्लेहि य तलिएहि य भज्जितेहि य सुरं च० जाव पसन्नं च आसादेमाणीओ०जाव परिभाएमाणी । ते दोहलं पविणेंति तते णं सा चेल्लणा देवी तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि सुक्खा भुक्खा लुक्खा णिम्मंसा ओलुग्गा ओलुग्गसरीरा नित्तेया दीनविमणवयणा पंडुल्लुइयमुही ओमंथियनयणवयणकमला जहोचियं पुप्फवत्थगंधमल्लालंकारं अपरिभुंजमाणी करतलमलियव्व कमलमालाओ हतमणसंकप्पा०जाव ज्झियाति, तते णं तीसे चेल्लणाए देवीए अंगपडियारिया तो चेल्लणादेविं सुक्कं भुक्कं०जाव ज्झियायमाणी पासंति,पासित्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छंति करतलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु सेणियं रायं एवं वयासीएवं खलु सामी ! चेल्लणा देवी न जाणामो केणइ कारणेणं सुक्खा भुक्खा० जाव ज्झियाति । तते णं से सेणिए राया तासिं अंगपडियाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म तहेव संभंते समाणे जेणेव चेल्लणा देवी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छित्ता चिल्लणं देविं सुक्खं भुक्खं०जाव ज्झियायमाणिं पासति,पासित्ता एवं वयासी-किं णं तुमं देवाणुप्पिए!सुक्खा भुक्खा०जाव ज्झियासि । तते णं सा चिल्लणा देवी सेणियस्स रएणो एयमट्ठं णो आढाती णो परिजाणति तुसिणीया संचिट्ठति । तते णं से सेणिए राया चिल्लणादेविं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी-किं णं अहं देवाणुप्पिए!एयमट्ठस्स नो अरिहे सवणयाए जं णं तुमं एयमट्ठं रहस्सीकरेसि ?। तते णं सा चेल्लणा देवी सेणिएणं रन्ना दोच्चं पि एवं वुत्ता समाणी सेणियं रायं एवं वयासी-णत्थि णं सामी ! से केति अट्ठे जस्स णं तुब्भे अरिहा सवणयाए नो चेव णं इमस्स अट्ठस्स सवणयाए एवं खलु सामी ! ममं तस्स उरालस्स० जाव महासुमिणस्स तिएहं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूए धन्नाओ णं ताओ अम्मयाओ जाओ णं तुब्भं उदरवलिमंसेहिं सोल्लेहि य०जाव दोहलं विणेति,तते णं अहं सामी ! तंसि दोहलंसि अविणिज्जमाणंसि सुक्खा भुक्खा०जाव ज्झियामि । तते णं से सेणिए राया चेल्लणं देविं एवं वदासिमाणं तुमे देवाणुप्पिए ! ओहय० जाव ज्झियासि, अहं णं तहा पत्तिहामि जहा णं तव दोहलस्स संपत्ती भविस्सतीति कट्टु चेल्लणं देविं ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पियाहिं मणुन्नाहिं मणामाहिं उरालाहिं कल्लाणाहिं सिवाहिं धन्नाहिं मंगल्लाहिं मियमहुरसस्सिरियाहिं वग्गूहिं समासासेति चिल्लणाए देवीए अंतियातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सिंहासणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सीहासणवरंसि पुरत्थाभिमुहे निसीयति, तस्स दोहलस्स संपत्तिनिमित्तं बहूहिं आएहिं उवाएहि य उप्पत्तियाए य वेणइयाए य कम्मयाहि य पारिणामियाति, परिणामेमाणे परिणामेमाणे तस्स दोहलस्स आयं वा उवायं वा वियक्कं वा अविंदमाणे ओमणसंकप्पे हय० जाव ज्झियाए इमं च णं अभए कुमारे एहाए० जाव सरीरे । सयाओ गेहाओ पडिनिक्खमति,पडिनिक्खमतित्ता जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सेणियं रायं ओहय०जाव ज्झियायमाणं पासति, पासतित्ता एवं वदासिअन्नता णं तात ! तुब्भे ममं पासित्ता हट्ठ० जाव हयहियया भवह । किं णं तातो अज्ज तुब्भे ओहय० जाव ज्झियाह । तं जइ णं अहं तातो एयमट्ठस्स अरिहे सवणयाए तो णं तुब्भे मम एयमट्ठं जहाभूतमवितहं असंदिद्धं परिकहेह, जाणं अहं तस्स अट्ठस्स अंतगमणं करेमि । तते णं से सेणिए राया अभयं कुमारं एवं वदासि-णत्थि णं पुत्ता ! से केति अट्ठे जस्स णं तुमं अणरिहो सवणयाए, एवं खलु पुत्ता ! तव चुल्लमाउयाए चेल्लणाए देवीए तस्स उरालस्स० जाव महासुमिणस्स तिएहं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं० जाव जओ णं मम उदरवलिमंसेहिं सोल्लेहि य० जाव दोहलं विणिंति । तते णं सा चिल्लणा देवी तंसि दोहलंसि अणुविणिज्जमाणंसि सुक्खा०जाव ज्झियाति । तते णं अहं पुत्ता ! तस्स दोहलस्स संपत्तिनिमित्तं बहूहिं आएहि य०जाव ठितिं वा

अविंदमाणे ओहय० जाव झियामि । तए णं से अजए कुमारे सेणियं रायं एवं वदासिमाणं तातो तुब्भे ओहय० जाव झियाह अह णं तहा जत्तिहामि जहा णं मम चुल्लमाउआए चेल्लणाए देवीए तस्स दोहलस्स संपत्ती भविस्सतीति कट्टु सेणियं रायं ताहिं इट्ठाहिं जाव वग्गूहिं समासासेति, समासासेतित्ता जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छतित्ता अब्भिंतरए रहस्सितिए ठाणिज्जे पुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी-गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सूणातो अल्लं मंसं रुहिरं वत्थिपुडगं च गिराहह, तते णं ते ठाणिज्जा पुरिसा अभएणं कुमारेणं एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठा० जाव करतलं पडिसुणेत्ता अभयस्स कुमारस्स अंतियाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमंतित्ता जेणेव सूणा तेणेव उवागच्छइ, अल्लं मंसं रुहिरं वत्थिपुडगं च गिराहंति, गिराहंतित्ता जेणेव अजए कुमारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता करतल० अल्लं मंसं रुहिरं वत्थिपुडगं च उवणेंति, तते णं से अभए कुमारे तं अल्लं मंसं रुहिरं कप्पणिकप्पियं करेति, करेतित्ता जेणेव सेणिए राया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता सेणियं रायं रहस्सिगयं सयणिज्जंसि उत्ताणयं निवज्जावेति, निवज्जावेतित्ता सेणियस्स उदरवलीसु तं अल्लं मंसं रुहिरं विरचेति, विरचेतित्ता वत्थपुडएणं वेढेती सवंती करणेणं करेति, करेतित्ता चेल्लणं देविं उप्पिं पासादे अवलोयणवरगयं ठवेति, ठवेतित्ता चेल्लणाए देवीए अहे सपक्खं सपडिदिसिं सेणियं रायं सयणिज्जंसि उत्ताणगं निवज्जावेति, सेणियस्स रन्नो उदरवलिमंसाइं कप्पणिकप्पियाइं करेति, करेतित्ता सेयजायणंसि पक्खिवति, तते णं से सेणिए राया अलीयमुच्छियं करेति, करेतित्ता मुहुत्तंतरेणं अन्नमन्नेणं सद्धिं संलवमाणे चिट्ठति, तते णं से अजयकुमारे सेणियस्स रन्नो उदरवलिमंसाइं गिराहति, गिराहतित्ता जेणेव चिल्लणा देवी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता चिल्लणाए उवणेति, तते णं सा चिल्लणा सेणियस्स रन्नो तेहिं उदरवलिमंसेहिं सोल्लेहिं० जाव दोहलं विणेति, तते णं सा चिल्लणा देवी संपुण्णदोहलाए वसमाणी विच्छिन्नदोहलाए वसमाणी तं गब्भं सुहं सुहेणं परिवहति, तते णं तीसे चेल्लणाए देवीए अन्नया कयाति पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि अयमेया० जाव समुप्पज्जित्ता जइ ताव इमेणं दारएणं गब्भगएणं चेव पिउणो उदरवलिमंसाणि खाइयाणि तं सेयं खलु मम एयं गब्भं साडित्तए वा पाडित्तए वा गालित्तए वा विद्धंसित्तए वा एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता तं गब्भं बहूहिं गब्भसाडणेहि य गालणेहि य गब्भविद्धंसणेहि य इच्छति सामित्तए वा पाडित्तए वा गालित्तए वा नो चेव णं से गब्भे साडति वा गालति वा विद्धंसति वा, तते णं सा चेल्लणा देवी तं गब्भं जाहे नो संचाएति बहूहिं गब्भसाडएहि य० जाव गब्भपाडणेहि य साडित्तए वा० जाव विद्धंसित्तए वा ताहे संता तंता परितंता निव्विण्णा समाणी अकामिया अवसवसा अट्टवसट्टदुहट्टा तं गब्भं परिवहति ।

(अप्फुणा समाणी) व्याप्ता सती शेषं सुगमं यावत् (सोल्लेहि य त्ति) पक्वैः (तलिएहिं ति) स्नेहपक्वैः (भज्जिएहिं) भ्रष्टैः (पसन्नं च) द्राक्षादिद्रव्यजात्या मनःप्रसत्तिहेतुः (आसाएमाणीओ त्ति) ईषत् स्वादयन्त्यो बहुंश्च त्यजन्त्यः इक्षुखण्डादेरिव (परिभाएमाणीओ) सर्वमुपभुञ्जानाः (सुक्ख त्ति) शुष्केव शुष्काभाः रुधिरक्षयात् (भुक्ख त्ति) भोजनाकरणतो बुभुक्षितेव (निम्मंसा) मांसोपचयाभावतः (ओरुग्ग त्ति) अवरुग्णा भग्नमनोवृत्तिः (ओलुग्गसरीरा) भग्नदेहाः, निस्तेजाः गतकान्तिः, दीना विमनोवदना, पाण्डुकितमुखी पाण्डुरीभूतवदना (ओमंथिय त्ति) अधोमुखीकृतोपहतमनःसंकल्पा, गतयुक्तायुक्तविवेचना (करयल । कट्टु त्ति) (करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु सेणियं रायं एवं वदासी)इति स्पष्टम् । एनमर्थं नाद्रियते अत्रार्थे आदरं न कुरुते, न परिजानीते नाभ्युपगच्छति, कृतमौना तिष्ठति (धन्नाओ णं कयलक्खणाओ णं सुलद्धे णं तासिं अम्मजीवियफले इट्ठाहिं अवणिज्जमाणंसि त्ति) अपूर्यमाणा (झियामि त्ति) 'इट्ठाहिं' इत्यादीनां व्याख्या प्रागिहैवोक्ता । (उवट्ठाणसाला) आस्थानमण्डपं(ठिइं वा)तथा(अविंदमाणे)अलभमाने (अंतगमनं)पारगमनं तत्संपादने उद्यतमनःस्थानात् (वत्थिपुडगं) उदरान्तर्वर्तिप्रदेशे(कप्पणिकप्पियं)आत्मसमीपस्थं सपक्षं समतं पार्श्वसमवामेतरपार्श्वतया संप्रति दिक्तया अत्यर्थमभिमुखमित्यर्थः। अभिमुखावस्थानेन हि परस्परं समावेव दक्षिणवामपार्श्वे भवतः। एवं विदिशावपि (अयमेयारूवे अब्भत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था) सातनं पातनं गालनं विध्वंसनमिति कर्तुं संप्रधारयति उदरान्तर्वर्तिन औषधैः सातनम्, उदराद्बहिष्करणं पातनं, गालनं रुधिरादितया कृत्वा, विध्वंसनं सर्वं गर्भपरिशाटनेन च शटनाद्यवस्थाऽस्य भवति। 'संता तंता परितंता' इत्येकार्थाः, खेदवाचका एते ध्वनयः 'अट्टवसट्टदुहट्टा' इत्यादि पूर्ववत्।

तते णं सा चिल्लणा देवी नवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं० जाव सुकुमालं सुरूवं दारयं पयाया। तते णं तीसे चेल्लणाए देवीए इमे एतारूवे० जाव समुप्पज्जित्था जइ ताव इमेणं दारएणं गब्भगएणं चेव पिउणो उदरवलिमंसाइं खाइयाइं तं तं नज्जइ एस णं दारए संवड्ढमाणे अम्हं कुलस्स अंतकरे भविस्सति, तं सेयं खलु अम्हं एयं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झाहित्तिए एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता दासचेडिं सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी-गच्छ णं तुमे देवाणुप्पिए ! एयं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झाहि। तते णं सा दासचेडी चेल्लणाए देवीए एवं वुत्ता समाणी करतल० जाव कट्टु चिल्लणाए देवीए तमट्ठं विणएणं पडिसुणेति, पडिसुणेत्तित्ता तं दारगं करतलपुडेणं गिराहति जेणेव असोगवणिया

तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झति, तते णं तेणं दारएणं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झितेणं समाणेणं सा असोगवणिया उज्जोविता यावि होत्था, तते णं सेणिए राया इमी से कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव असोगवणिया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झियं पासेति, पासेतित्ता आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तं दारगं करतलपुडेणं गिण्हति, गिण्हतित्ता जेणेव चेल्लणा देवी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चेल्लणं देविं उच्चावयाहिं आओसणाहिं आओसति, आओसतित्ता उच्चावयाहिं निब्भत्थणाहिं निब्भत्थेति, निब्भत्थेतित्ता एवं उद्धंसणाहिं उद्धंसेति, उद्धंसेतित्ता एवं वयासी–किस्स णं तुमं मम पुत्तं एगंते उक्कुरुडियाए उज्झावेसि त्ति कट्टु चेल्लणं देविं उच्चावयाहिं सावितं करेति, करेतित्ता एवं वयासी–तुमं णं देवाणुप्पिए ! एवं दारगं अणुपुव्वेणं सा रक्खमाणी संगोवेमाणी संवड्ढेहि । तते णं सा चेल्लणा देवी सेणिएणं रन्ना एवं वुत्ता समाणी लज्जिया विलिता करतलपरिग्गहियं सेणियस्स रन्नो विणएणं एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणेतित्ता तं दारगं अणुपुव्वेणं सा रक्खमाणी संगोवेमाणी संवड्ढेति । तते णं तस्स दारगस्स एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिज्जमाणस्स अग्गंगुलिआए कुक्कुडपिच्छएणं दूमिया वि होत्था अभिक्खणं अभिक्खणं पूयं च सोणियं च अभिनिस्सवेति, तते णं से दारए वेदणाभिभूए समाणे महता महता सद्देणं आरसति, तते णं से सेणिए राया तस्स दारगस्स आरसितसद्दं सोच्चा निसम्म जेणेव से दारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं करतलपुडेणं गेण्हइ, गेण्हइत्ता तं अग्गंगुलियं आसयंसि पक्खिवति, पक्खिवतित्ता पूइं च सोणियं च आसएणं आमुसति, आमुसतित्ता तते णं से दारए निव्वेदणे तुसिणीए संचिट्ठइ जाहे वि य णं से दारए वेदणाए अभिभूते समाणे महता महता सद्देणं आरसति ताहे वि य णं सेणिए राया जेणेव से दारए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं दारगं करतलपुडेणं गिण्हति, तं चेव० जाव निव्वेयणे तुसिणीए संचिट्ठइ । तते णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो ततिए दिवसे चंदसूरदंसणियं करेति० जाव संपत्ते । बारसाहे दिवसे अयमेयारूवं गुणं गुणनिप्फन्नं नामधिज्जं करेति जहा णं अम्हं इमस्स दारगस्स एगंते उक्कुरुडियाए उज्झिज्जमाणस्स अंगुली कुक्कुडपिच्छएणं दूमिया तं होऊणं अम्हं इमस्स दारगस्स नामधेज्जं कूणिए, तते णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो नामधिज्जं करेंति कूणिय त्ति, तते णं तस्स कूणियस्स दारगस्स अणुपुव्वेणं ठितिवडियं च जहा मेहस्स० जाव उप्पिं पासाए विहरति अट्ठदातिओ । तते णं तस्स कूणियस्स कुमारस्स अन्नदा पुव्वरत्ता० जाव समुप्पिज्जि एवं खलु अहं सेणियस्स रन्नो वाघाएणं नो संचाएमि सयमेव रज्जसिरिं करेमाणे पालेमाणे विहरित्तए तं सेयं मम खलु सेणियं रायं नियलबंधणं करेत्ता अप्पाणं महता रायाभिसेएणं अभिसिंचावित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेति, संपेहेतित्ता सेणियस्स रन्नो अंतराणि य छिद्दाणि य विरहाणि य पडिजागरमाणे विहरति । तते णं से कूणिए कुमारे सेणियस्स रन्नो अंतरं वा० जाव संवा अलभमाणे अन्नदा कदायि कालादिए दस कुमारे नियघरे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे सेणियस्स रन्नो वाघाएणं णो संचाएमो सयमेव रज्जसिरिं करेमाणा पालेमाणा विहरित्तए तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं सेणियरायं नियलबंधणं करेत्ता रज्जं च रट्ठं च बलं च वाहणं च कोसं च कोट्ठागारं च जणवयं च एक्कारसभाए विरचित्ता सयमेव रज्जं करेमाणाणं पालेमाणाणं० जाव विहरित्तए, तते णं कालादीया दस कुमारा कूणियस्स कुमारस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति, तते णं से कूणिए कुमारे अन्नदा कदायि सेणियस्स रन्नो अंतरं जाणति, जाणतित्ता सेणियं रायं नियलबंधणं करेति, करेतित्ता अप्पाणं महता रायाभिसेएणं अभिसिंचावेति, तते णं से कूणिए कुमारे राजा जाते महता महता तते णं से कूणिए राया अन्नदा कदायि ण्हाए० जाव सव्वालंकारविभूसिए चेल्लणाए देवीए पायवंदए हव्वमागच्छति, तते णं से कूणिए राया चेल्लणं देविं ओहय० जाव झियायमाणिं पासति, पासतित्ता चेल्लणाए देवीए पायग्गहं करेति चेल्लणं देविं एवं वयासी–किं णं अम्मो ! न तुट्ठी वा न ऊसए वा न हरिसे वा ण णंदे वा जं नं अहं सयमेव रज्जसिरिं० जाव विहरामि, तते णं सा चेल्लणा देवी कूणियं रायं एवं वयासी–कहं णं पुत्ता ! मम तुट्ठी वा उस्सहरिसाणंदे वा भविस्सति, जं णं तुम्हं सेणियं रायं पियं देवयं गुरुजणगं अच्चंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणं करित्ता अप्पाणं महता महता रायाभिसेएणं अभिसिंचावेसि । तते णं से कूणिए राया चेल्लणं देविं एवं वदासी–घातेउकामे णं अम्मो ! मम सेणिए राया एवं मारेतुं बंधितुं निच्छुभिउकामए णं अम्मो ! ममं सेणिए राया तं कहं णं अम्मो ! मम सेणिए राया अच्चंतनेहाणुरागरत्ते ? । तते णं सा चेल्लणा देवी कूणियं कुमारं एवं वयासी–एवं खलु पुत्ता ! तुमंसि ममं गब्भे आभूते समाणे तिण्हं मासाणं बहुपडिपुन्नाणं ममं अयमेयारूवे दोहले पाउब्भूते धन्ना तो णं ताओ अम्मया तो० जाव अंगपडिचारियाओ

निरवसेसं भाणियव्वं० जाव जाहे वि य णं तुमं वेयणे य अभिभूते महता०जाव तुसिणीए संचिट्ठसि एवं खलु तव पुत्ता ! सेणिए राया अच्चंतनेहाणुरागरत्ते । तते णं से कूणिए राया चेल्लणादेवीए अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म चेल्लणं देविं एवं वयासी–दुट्ठु णं अम्मो ! मए कयं सेणियं रायं पियं गुरुजणगं अच्चंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणं करेंति, तेणं तं गच्छामि णं सेणियस्स रन्नो सयमेव नियलानि छिंदामि त्ति कट्टु परसुहत्थगते जेणेव चारगसाला तेणेव पहारेत्थगमणाए । तते णं सेणिए राया कूणियं कुमारं परसुहत्थगयं एज्जमाणं पासति, पासतित्ता एवं वयासी–एस णं कूणिए कुमारे अपत्थियपत्थिए० जाव सिरिहिरिपरिवज्जिए परसुहत्थगए इह हव्वमागच्छति तं न नज्जइ णं ममं केणइ कुमारेणं मारिस्सतीति कट्टु० जाव संजायभए तालपुडगं विसं आसगं विसं आसगंसि पक्खिवइ । तते णं से सेणिए राया तालपुडगविसंसि आसगंसि पक्खित्ते समाणे मुहुत्तंतरेणं परिणममाणंसि निप्पाणे निच्चिट्ठे०जाव विप्पजढे उए । तते णं से कूणिए कुमारे जेणेव चारगसाला तेणेव उवागए २ त्ता सेणियं रायं निप्पाणं निच्चिट्ठं०जाव विप्पजढं उइणं पासति, पासतित्ता महता पितुसोएणं अप्फुण्णे परसुनियत्ते विव चंपगवरपादवे धसति धरणीतलंसि सव्वंगेहिं संनिवडिए,तते णं से कूणिए कुमारे मुहुत्तंतरेणं आसत्थे समाणे रोयमाणे कंदमाणे सोयमाणे विलवमाणे एवं वदासी–अहो णं मए अधन्नेणं अपुन्नेणं अकयपुन्नेणं दुट्ठु कयं सेणियं रायं पियदेवयं अच्चंतनेहाणुरागरत्तं नियलबंधणे करेंति तेण मम मूलागं चेव णं सेणिए राया कालगति त्ति कट्टु ईसरतलवर०जाव सन्धिवालसद्धिं संपरिवुडे रोयमाणे कंदमाणे सोयमाणे विलवमाणे महया इड्ढिसक्कारसमुदएणं सेणियस्स रन्नो नीहरणं करेति, बहूइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेति, तते णं से कूणिए कुमारे एतेणं महया मणोमाणसिएण दुक्खेणं अभिभूते समाणे अन्नदा कदायि अंतेउरपरियालपरिवुडे सभंडमत्तोवगरणमाताए रायगिहातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव चम्पा नगरी तेणेव उवागच्छइ । तत्थ वि णं विपुलभोगसमितिसमन्नागए कालेणं अप्पसोए जाए यावि होत्था । तते णं से कूणिए राया अन्नया कयाइं कालादीए दस कुमारे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता रज्जं च० जाव जणवयं च एक्कारसभाए विरचेति, विरचेतित्ता सयमेव रज्जसिरिं करेमाणे पालेमाणे विहरति ।

(उच्चावयाहिं ति) उच्चाजिराक्रोशे सति निर्भर्त्सना उद्घोषणाऽजिलज्जिता व्रीडिता (निव्वडियं ति) स्थितिपतितं कुलक्रमागतं पुत्रजन्मानुष्ठानम् (अंतराणि य) अवसरान् (छिद्दाणि) अल्पपरिवारादीनि, विरहो विजनत्वं, तुष्टिरुत्सवः हर्ष आनन्दः प्रमोदार्थी एते घोषाः । (घायउकामेणं) घातयितुकामः । णं वाक्यालङ्कारे, मां श्रेणिको राजा हननं मारणं बन्धनं निर्भर्त्सनं एते पराजित्वसूचकाः ध्वनयः । निश्चेष्टः जीवितविप्रजढः प्राणापहारसूचकाः एते । अवतीर्णो भूमौ पतितः आपन्नो व्यासः सन् (रोअमाणे त्ति) रुदन् (कंदमाणे) क्रन्दनं कुर्वन् (सोयमाणे) शोकं कुर्वन् (विलवमाणे) विलापं कुर्वन् (नीहरणं ति) परोक्षस्य यन्निर्गमादिकार्यम् । (मणोमानसिएणं ति) मनसि जातं मानसिकं मनस्येव यद्वर्तते वचनेनाप्रकाशितत्वात् तन्मनोमानसिकं तेनाबहिर्वर्तिना अभिभूता (अंतेउरपरियालसंपरिवुडे) नि० १ वर्ग । भ० । व्य० । आ० क० । आ० चू० । आव० । अंत० । आ० म० । (चेटकराजेन सहाऽस्य सङ्ग्रामः कालकुमारवक्तव्यतायां ' काल ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ४७१ पृष्ठे उक्तः । ' रहमुसल ' शब्दे ' महासिलाकंटय ' शब्देऽपि वक्ष्यते)

स च चम्पानगरीपतिर्जातः–

एवं खलु जम्बू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे चम्पा नामं नयरी होत्था, रिद्धपुन्नभद्दे चेइए, तत्थ णं चंपाए नयरीए सेणियस्स रन्नो पुत्ते चेल्लणाए देवीए अत्तए कूणिए नाम राया होत्था । महता तस्स णं कूणियस्स रन्नो पउमावई नामं देवी होत्था, सुकुमाल० जाव विहरइ । तत्थ णं चम्पाए नयरीए सेणियस्स रन्नो भज्जा कूणियस्स रन्नो चुल्लमाउया काली नामं देवी होत्था सुकुमाल० जाव सुरूवा । नि० १ वर्ग ।

तद्वर्णक औपपातिके यथा–

तत्थ णं चम्पाए णयरीए कूणिए णामं राया परिवसइ महया हिमवंतमहंतमलयमंदरमहिंदसारे अच्चंतविसुद्धदीहरायकुलवंससुप्पसूए णिरंतरं रायलक्खणविराइअंगुवंगे बहुजणबहुमाणपूजिए सव्वगुणसमिद्धे खत्तिए मुइए मुद्धाहिसित्ते माउपिउसु जाए दयपत्ते सीमंकरे सीमंधरे खेमंकरे खेमंधरे मणुस्सिंदे जणवयपिया जणवयपाले जणवयपुरोहिए सेउंकरे केउंकरे णरपवरे पुरिसवरे पुरिससीहे पुरिसवग्घे पुरिसासीविसे पुरिसपुंडरीए पुरिसवरगंधहत्थी अड्ढे दित्ते वित्ते विच्छिन्ने विउलभवणसयणासणजाणवाहणाइण्णे बहुधणबहुजायरूवे रयते आओगपओगसंपउत्ते विच्छड्डिअपउरभत्तपाणे बहुदासीदासगोमहिसगवेलकप्पभूते पडिपुण्णजंतकोसकोट्ठागाराउधागारे बलवं दुब्बलपच्चामित्ते ओहयकंटयं मलिअकंटयं उद्धियकंटयं अकंटयं उक्कंटयं ओहयसत्तुं निहयसत्तुं मलियसत्तुं उद्धिअसत्तुं निज्जिअसत्तुं पराइअसत्तुं ववगयदुब्भिक्खं मारिभयविप्पमुक्कं खेमं सिवं सुभिक्खं पसंतडिंबडमरं रज्जं पसासेमाणे विहरति ।

तद्राज्ञीवर्णकः–

तस्स णं कोणियस्स रन्नो धारिणी नामं देवी होत्था सुकुमालपाणिपाया अहीणपडिपुन्नपंचिंदियसरीरा लक्ख-

णवंजणगुणोववेआ माणुम्माणप्पमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगी ससिसोमाकारा कंतपियदंसणा सुरूवा करयलपरिमिअपसत्थतिवलियवलियमज्झा कोमुइरयणियरविमलपडिपुण्णसोमवयणा कुंडलुल्लिहिअगंडलेहा सिंगारागारचारुवेसा संगयगयहसिअभणिअचिट्ठिअविलाससललिअसंलावणिउणजुत्तोवयारकुसला पासादीआ दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा कोणिएणं रण्णा भंभसारपुत्तेणं सद्धिं अणुरत्ता अविरत्ता इट्ठे सद्दफरिसरसरूवगंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणी विहरति। तस्स णं कोणिअस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकयवित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए भगवतो तद्देवसिअं पवित्तिं णिवेएइ। तस्स णं पुरिसस्स बहवे अण्णे पुरिसा दिण्णभत्तिभत्तवेअणा भगवतो पवित्तिवाउआ भगवतो तद्देवसिअं पवित्तिं णिवेदेंति। तेणं कालेणं तेणं समएणं कोणिए राया भंभसारपुत्ते बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए अणेगगणनायकदंडनायकराईसरतलवरमाडंबिअकोडुंबिअमंतिमहामंतिगणकदोवारिअअमच्चचेडपीढमद्दनगरनिगमसेट्ठिसेणावइसत्थवाहदूतसंधिवालसद्धिं संपरिवुडे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे आइगरे (औ०) पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे चंपाए णयरीए बहिया उवणगरग्गामं उवागए चंपं नगरिं पुण्णभद्दं चेइअं समोसरिउकामे। तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणस्सिए हरिसवसविसप्पमाणहियए ण्हाए कयबलिकम्मे कयकोउअमंगलपायच्छित्ते सुद्धप्पवेसाइं मंगल्लाइं वत्थाइं पवरपरिहिए अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे सआओ गिहाओ पडिनिक्खमइ, सआओ गिहाओ पडिनिक्खमित्ता चंपाए णयरीए मज्झंमज्झेणं जेणेव कोणियस्स रण्णो गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावेइत्ता एवं वयासी-जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं कंखंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं पीहंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं पत्थंति, जस्स णं देवाणुप्पिया दंसणं अभिलसंति, जस्स णं देवाणुप्पिया णामगोत्तस्स वि समणयाए हट्ठतुट्ठ० जाव हिअया भवंति, से णं समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे चंपाए णयरीए उवणगरगामं उवागए चंपं णगरिं पुण्णभद्दं चेइअं समोसरिउकामे तं एअं णं देवाणुप्पियाणं पिअट्ठयाए पिअं णिवेदेमि-पिअं ते भवओ। तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते तस्स पवित्तिवाउअस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हिअए विअसियवरकमलणयणवयणे पअलियवरकडगतुडियकेयूरमउडकुंडलहारविरायंतरइयवच्छे पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससंभमं तुरिअं चपलं नरिन्दे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता पायपीढाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता पाउआओ उम्मुअइ, उम्मुअइत्ता अवहट्टु पंच रायककुहाइं। तं जहा-खग्गं १ छत्तं २ उप्फेसं ३ वाहणाउ ४ वालवीअणं ५, एकसाडिअं उत्तरासंगं करेइ, करेइत्ता आयंते चोक्खे परमसुइभूए अंजलिमउलिअग्गहत्थे तित्थगराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छति, सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छतित्ता वामं जाणुं अंचेइ, अंचेत्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निवेसेइ त्ति साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसइत्ता ईसिं पच्चुण्णमति, पच्चुण्णमित्ता कडगतुडियथंभिआओ भुआओ पडिसाहरति, हरतित्ता करयल० जाव कट्टु एवं वयासी-णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं आइगराणं तित्थगराणं सयंसंबुद्धाणं पुरिसुत्तमाणं पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीआणं पुरिसवरगंधहत्थीणं लोगुत्तमाणं लोगनाहाणं लोगहियाणं लोगपईवाणं लोगपज्जोअगराणं अभयदयाणं चक्खुदयाणं मग्गदयाणं सरणदयाणं जीवदयाणं बोहिदयाणं धम्मदयाणं धम्मदेसयाणं धम्मनायगाणं धम्मसारहीणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं दीवोत्ताणं सरणंगइपइट्ठा अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं विअट्टच्छउमाणं जिणाणं जावयाणं तिण्णाणं तारयाणं बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोअगाणं सव्वन्नूणं सव्वदरिसीणं सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्तिसिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं, नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स आदिगरस्स तित्थगरस्स० जाव संपाविउकामस्स मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स वंदामि णं भगवंतं तत्थ गयं इह गते पासउ मे भगवं तत्थ गए इहगयं तिकट्टु वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता सीहासणवरगए पुरत्थाभिमुहे निसीअइ, निसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउअस्स अट्ठुत्तरसयसहस्सं पीतिदाणं दलयति, दलइत्ता सक्कारेति, सम्माणेति, सक्कारित्ता संमाणित्ता एवं वयासी-जया णं देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे इहमागच्छेज्जा, इह समोसरिज्जा, इहेव चंपाए णयरीए बहिआ पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरेज्जा, तया णं मम एअमट्ठं निवेदिज्जासि त्ति कट्टु विसज्जिते। तए णं समणे भगवं महावीरे कल्लं पाओ पभायाए रयणीए फुल्लुप्पलक-

मलकोमलुम्मिल्लितम्मि अहा पंडुरे पहाए रत्तासोगप्पगास-किंसुअसुहमुहगुंजद्धरागसरिसे कमलागरसंडबोहए उट्ठियंमि सूरे सहस्सरस्सिम्मि दिणअरे तेयसा जलंते जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छतित्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणा विहरति (औ०)। तए णं चंपाए णयरीए सिंघाडगतिगचउक्कचच्चरचउम्मुहमहापहपहेसु महया जणसद्देति वा जणवूहेति वा जणबोलेति वा जणकलकलेति वा जणुम्मीति वा जणुक्कलियाति वा जणसन्निवाएति वा बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ, एवं भासइ, एवं पण्णवेइ, एवं परूवेइ—एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे आदिगरे तित्थगरे सयं संबुद्धे पुरिसुत्तमे० जाव संपाविउकामे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे इहमागए इह संपत्ते इह समोसढे इहेव चंपाए णयरीए बाहिं पुण्णभद्दे चेइए अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति; तं महप्फलं खलु भो देवाणुप्पिया ! तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं णामगोअस्स वि सवणताए, किमंग ! पुण अभिगमणवंदणणमंसणपडिपुच्छणपज्जुवासणयाए, एकस्स वि आयरियस्स धम्मिअस्स सुवणयस्स सवणताए किमंग ! पुण विपुलस्स अत्थस्स गहणयाए, तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंसामो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं देवयं चेइअं विणएणं पज्जुवासामो, एतेण पेच्चभवे इहभवे अ हियाए सुहाए खमाए निस्सेअसाए आणुगामिअत्ताए भविस्सइ त्ति कट्टु बहवे उग्गा उग्गपुत्ता भोगा भोगपुत्ता एवं दुपडोआरेणं राइण्णा खत्तिआ माहणा भडा जोहा पसत्थारो मल्लई लेच्छई लेच्छईपुत्ता अण्णे य बहवे राईसरतलवरमाडंबियकोडुंबिअइब्भसेट्ठिसेणावइसत्थवाहपभितिओ अप्पेगइआ वंदणवत्तिअं अप्पेगइआ पूअणवत्तियं एवं सक्कारवत्तियं सम्माणवत्तियं दंसणवत्तिअं कोऊहलवत्तियं अप्पेगइआ अट्ठविणिच्छयहेउं असुयाइ सुणेस्सामो, सुआइ निस्संकियाइं करिस्सामो, अप्पेगइआ अट्ठाइं हेऊइं कारणाइं वागरणाइं पुच्छिस्सामो, अप्पेगईआ सव्वओ समंताए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारिअं पव्वइस्सामो, पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामो, अप्पेगइआ जिणभत्तिरागेण अप्पेगइआ जीअमेअं ति कट्टु ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउअमंगलपायच्छित्ता सिरसा कंठमालकडा आविद्धमणिसुवन्ना कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलंबमाणकडिसुत्तयसुकयसोहाभरणा पवरवत्थपरिहिआ चंदणालित्तगायसरीरा अप्पेगइआ हयगया एवं गयगया रहगया सिबियागया संदमाणियागया अप्पेगइया पायविहारचारिणो पुरिसवग्गुरा परिखित्ता महया उक्किट्ठसीहणायबोलकलकलरवेणं पक्खुभिअमहासमुद्दरवभूतं पि व करेमाणा चंपाए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छंति, णिग्गच्छतित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छतित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तातीए तित्थयराभिसेसे पासंति, पासित्ता जाणवाहणाइं ठावइंति, ठावइंतित्ता जाणवाहणेहिंतो पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करित्ता वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासण्णे णाइदूरे सुस्सूसमाणा णमंसमाणा अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पज्जुवासंति। तए णं से पवित्तिवाउए इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठे० जाव हियए ण्हाए० जाव अप्पमहग्घाभरणालंकिअसरीरे सयाओ गिहाओ पडिनिक्खमइ, सयाओ गिहाओ पडिणिक्खमित्ता चंपानगरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव बाहिरिया सच्चे वहेट्ठिल्ला वत्तव्वया० जाव णिसीयइ, णिसीइत्ता तस्स पवित्तिवाउअस्स अद्धतेरससयसहस्साइं पीइदाणं दलयति, दलयतित्ता सक्कारेति, सम्माणेति, सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ। तते णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते बलवाउअं आमंतेति, आमंतेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि, हयगयरहपवरजोहकलिअं च चाउरंगिणं सेणं सण्णाहिहि, सुभद्दापमुहाण य देवीणं बाहिरियाए उवट्ठाणसालाए पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइ जाणाइ उवट्ठवेह, चंपं णगरिं सब्भितरबाहिरिअं आसित्तसित्तसुइसम्मट्ठरत्थंतरावणवीहिअं मंचाइमंचकलिअं णाणाविहरागउत्थियज्झयं पडागाइपडागमंडिअं लाउल्लोइयमहियं गोसीससरसरत्तचंदण० जाव गंधिवट्टिभूअं करेह, कारवेह, करित्ता कारवेत्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणह—निज्जाइस्सामि समणं भगवं महावीरं अभिवंदए; तए णं से बलवाउए कूणिएणं रण्णा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हिअए करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी—सामि त्ति आणाइ विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता हत्थिवाउअं आमंतेति, आमंतेत्ता एवं वयासी—खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कूणिअस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि, हयगयरहपवरजोहकलियं चाउरंगिणिसेणं सण्णाहेहि, सण्णाहित्ता एअमाणत्तिअं पच्चप्पिणाहि। तए णं से हत्थिवाउए बलवाउअस्स एअमट्ठं सोच्चा आ-

णाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता छेआय-
रिअउवदेसमतिविकप्पणाविकप्पेहिं सुणिउणेहिं उज्जलणे-
वत्थहत्थपरिवत्थिअसुसज्जं धम्मिअसएणद्धवद्धकवइयउ-
प्पीलियकच्छवच्छगेवेयवद्धगलवरभूसणविराइयं ति अहिय-
तेअजुत्तं सललिअवरकण्णपूरविराइअं पलंबउच्चूलमहुअर-
कयंधयारं चित्तपरिच्छेअपच्छंदं पहरणावरणभरिअजुद्ध-
सज्जं सच्छत्तं सज्झयं सघंटं सपडागं पंचामेलअपरिमंडि-
आभिरामं ओसारिअजमलजुअलघंटं विज्जुपणद्धं व का-
लमेहं उप्पाइयपव्वयं व चंकमंतं मत्तं गुलगुलंतं मणपवण-
जइणवेगं भीमं संगामियाओग्गं आभिसेक्कं हत्थिरयणं प-
डिकप्पइ, पडिकप्पेत्ता हयगयरहपवरजोहकलिअं चाउरं-
गिणिं सेणं सण्णाहेइ, सण्णाहित्ता जेणेव बलवाउए तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छित्ता एअमाणत्तिअं पच्चुप्पिणइ। तए णं
से बलवाउए जाणसालिअं सद्दावेइ, सद्दावेइत्ता एवं वयासी-
खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! सुभद्दापमुहाणं देवीणं बाहि-
रियाए उवट्ठाणसालाए पडिअक्कपाडिअक्काइं जत्ताभिमु-
हाइं जुत्ताइं जाणाइं उवट्ठवेह, उवट्ठवेत्ता एअमाणत्तिअं
पच्चुप्पिणाहि। तते णं से जाणसालिए बलवाउअस्स ए-
अमट्ठं आणाए विणएणं वयणं पडिसुणेइ, पडिसुणित्ता
जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता
जाणाइं पच्चुवेक्खेइ, पच्चुवेक्खेइत्ता जाणाइं संपमज्जेइ,
संपमज्जेइत्ता जाणाइं संवट्टेइ, जाणाइं संवट्टेत्ता जाणाइं णीणेइ,
जाणाइं णीणेत्ता जाणाणं दूसे पवीणेइ, पवीणेइत्ता जाणाइं
समलंकरेइ, समलंकरेइत्ता जाणाइं वरभंडकमंडियाइं करेति,
करेतित्ता जेणेव वाहणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उ-
वागच्छित्ता वाहणाइं पच्चुवेक्खेइ, पच्चुवेक्खेइत्ता वाहणा-
इं संपमज्जइ, संपमज्जइत्ता वाहणाइं णीणेइ, णीणेइत्ता वा-
हणाइं अप्पफालेइ, अप्पफालेइत्ता दूसे पवीणेइ, पवीणेइ-
त्ता वाहणाइं समलंकरेति, करेतित्ता वाहणाइं वरभंडक-
मंडियाइ करेइ, करेइत्ता वाहणाइं जाणाइं जोएइ, जो-
एइत्ता पतोदलट्ठिपउअधरे अ समं आउहइ, आउहित्ता
वट्टमग्गं गाहेइ, गाहेइत्ता जेणेव बलवाउए तेणेव उवाग-
च्छइ, उवागच्छइत्ता बलवाउअस्स एअमाणत्तिअं पच्चप्पि-
णाइ। तते णं से बलवाउए णगरगुत्तिए आमंतेइ, आमंतेइ-
त्ता एवं वयासी-खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! चंपं णगरिं
सब्भिंतरबाहिरियं असिय० जाव कारवेत्ता एअमाणत्ति-
अं पच्चप्पिणाहि। तते णं से णगरगुत्तिए बलवाउअस्स ए-
अमट्ठं आणाए विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता चंपं ण-
गरिं सब्भिंतरबाहिरिअं आसिअ० जाव कारवेत्ता जेणेव
बलवाउए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एअमाणत्तिअं
पच्चप्पिणइ। तते णं से बलवाउए कोणिअस्स रन्नो भंभसा-
रपुत्तस्स आभिसेक्कं हत्थिरयणं पडिकप्पिअं पासेइ, हयगय०
जाव सण्णाहिअं पासति, सुभद्दापमुहाणं देवीणं पडिजाणा-
इ उवट्ठविआइ पासति, चंपं णगरिं अब्भिंतर० जाव गं-
धवट्टिभूअं कयं पासति, पासित्ता हट्ठतुट्ठ चित्त माणंदिए पी-
अमणे० जाव हिअए (औ०) जेणेव मज्जणघरे तेणेव
उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छित्ता मज्जणघरं अणुप-
विसइ, अणुपविसइत्ता समुत्तजालाउलाभिरामे विचित्तम-
णिरयणकुट्टिमतले रमणिज्जे ण्हाणमंडवंसि णाणामणि-
रयणभत्तिचित्तंसि ण्हाणपीढंसि सुहणिसण्णे सुद्धो-
दएहिं गंधोदएहिं पुप्फोदएहिं सुद्धोदएहिं पुणो पुणो
कल्लाणपवरमज्जणविहीणे मज्जिए, तत्थ कोउअसएहिं ब-
हुविहेहिं कल्लाणपवरमज्जणावसाणे पम्हलसुकुमालगं-
धकासाइयलूहिअंगे सरससुरहिगोसीसचंदणाणुलित्तगत्ते
अहयसुमहग्घदूसरयणसुसंवुए सुइमालावण्णगविलेवणे आ-
विद्धमणिसुवण्णे य कप्पियहारद्धहारतिसरयपालंबपलं-
बमाणकडिसुत्तसुकयसोभे पिणद्धगेविज्जअंगुलिज्जगललि-
यंगयललियकयाभरणे वरकडगतुडियथंभिअभुए अहिय-
रूवसस्सिरीए मुद्दिआपिंगलंगुलिए कुंडलउज्जोविआणणे
मउडदित्तसिरए हारोत्थयसुकयरइयवच्छे पालंबपलंबमा-
णपडसुकयउत्तरिज्जे णाणामणिकणगरयणविमलमहरिह-
णिउणो वि अ मिसिमिसंतविरइयसुसिलिट्ठविसिट्ठलट्ठ-
आविद्धवीरवलए किं बहुणा कप्परुक्खए चेव अलंकिय-
विभूसिए णरवईसकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं
चउचामरवालवीजियंगे मंगलजयसद्दकयालोए मज्जणघ-
राओ पडिनिक्खमइ, मज्जणघराओ पडिणिक्खमित्ता अणेग-
गणनायगदंडनायकराईसरतलवरमाडंबियकोडुंबियइब्भसे-
ट्ठिसेणावइसत्थवाहदूअसंधिवालसद्धिं संपरिवुडे धवलम-
हामेहणिग्गए इव गहगणदिप्पंतरिक्खतारागणाण मज्झे स-
सि व्व पिअदंसणे णरवई जेणेव बाहिरिआ उवट्ठाणसाला
जेणेव आभिक्के हत्थिरयणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छि-
त्ता अंजणगिरिकूडसण्णिभं गयवई णरवई दुरूढे, तए णं त-
स्स कूणियस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स आभिसिक्कं हत्थिरय-
णं दुरूढस्स समाणस्स तप्पढमयाए इमे अट्ठट्ठमंगलया
पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ, तं जहा-सोवत्थियसिरि-
वत्थणंदिआवत्तवद्धमाणकभद्दासणकलसमच्छदप्पणा तया-
णंतरं च णं पुण्णकलसभिंगारं दिव्वा य छत्तपडागा स-
चामरा दंसणरइअआलोअदरसणिज्जा वाउद्धूयविजय-
वेजयंती ऊसिआ गगणतलमणुलिहंती पुरओ अहाणु-
पुव्वीए संपट्ठिआ, तयाणंतरं च णं वेरुलिअभिसंतविमलदंडं
पलंबकोरंटमल्लदामोवसोभिअं चंदमंडलणिभं समूसिअं वि-

मल्लं आयवत्तपवरं सीहासणं वरमणिरयणपादपीढं सपाउआयो अ समाउत्तं बहुकिंकरकम्मकरपुरिसपायत्तपरिक्खित्तं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं, तयाणंतरं बहवे लट्ठिग्गाहा कुंतग्गाहा चावग्गाहा चामरग्गाहा पासग्गाहा पोत्थयग्गाहा फलकग्गाहा पीढग्गाहा वीणग्गाहा हडप्फग्गाहा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिया, तयाणंतरं बहवे दंडिणो मुंडिणो सिहंडिणो जडिणो पिच्छिणो हासकरा डमरकरा चाडुकरा वादकरा कंदप्पिकरा दवकरा कोकुइआ किड्डकरा वायंता गायंता हसंता णच्चंता भासंता सावेंता रक्खंता आलोअं च करेमाणा जयजयसद्दं पउंजमाणा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिआ, तयाणंतरं जच्चाणं तरमल्लिहायणाणं हरिमेलामउलमल्लियच्छाणं चुंचुच्चिअललियपुलियचलचवलचंचलगईणं लंघणवग्गणधावणधोरणतिवईजइणसिक्खिअगईणं ललंतलामगललायवरभूसणाणं मुहभंडगओचूलगथासगअहिलाणचामरदंडपरिमंडियकडीणं किंकरवरतरुणपरिग्गहिआणं अट्ठसयं वरतुरगाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं, तयाणंतरं च णं ईसीदंताणं ईसीमत्ताणं ईसीतुंगाणं ईसीउच्छंगविसालधवलदंताणं कंचणकोसीपविट्ठदंताणं कंचणमणिरयणभूसियाणं वरपुरिसारोहगसंपउत्ताणं अट्ठसयं गयाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं, तयाणंतरं सच्छत्ताणं सज्झयाणं सघंटाणं सपडागाणं सतोरणवराणं सणंदिघोसाणं सखिंखिणीजालपरिक्खित्ताणं हेमवयचित्ततिणिसकणगणिज्जुत्तदारुआणं कालायससुकयणेमिजंतकम्माणं सुसिलिट्ठवत्तमंडलधुराणं आइण्णवरतुरगसंपउत्ताणं कुसलनरछेअसारहिसुसंपग्गहिआणं बत्तीसतोणपरिमंडिआणं सकंकडवडेंसकाणं सचावसरपहरणावरणभरिअजुद्धसज्जाणं अट्ठसयं रहाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठियं, तयाणंतरं च णं असिसत्तिकोंततोमरसूललउडभिंडिमालधणुपाणिसज्जं पायत्ताणीयं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्ठिअं। तते णं से कूणिए राया हारोत्थयसुकयरइयवच्छे कुंडलउज्जोयिआणणे मउडदित्तसिरए णरसीहे णरवई णरिंदे णरवसहे मणुअरायवसभकप्पे अब्भहिअरायतेअलच्छीए दिप्पमाणे हत्थिक्खंधवरगए सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेअवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं उद्धुव्वमाणीहिं वेसमणे चेव णरवई अमरवइसण्णिभाए इड्ढीए पहिअकित्ती हयगयरहपवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए समणुगम्ममाणमग्गे जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव पहारित्थगमणाए, तए णं तस्स कूणिअस्स रण्णो भंभसारपुत्तस्स पुरओ महं आसा आसधरा उभओ पासिं णागा णागधरा पिट्ठओ रहसंगेल्ली। तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते अब्भुग्गयभिंगारपग्गहियतालियंटे उच्छियसेअच्छत्ते पवीइअवालवीयणीए सव्विड्ढीए सव्वज्जुतीए सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वादरेणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वसंभमेणं सव्वपुप्फगंधमल्लालंकारेणं सव्वतुडिअसद्दसण्णिणाएणं महया इड्ढीए महया जुतीए महया बलेणं महया समुदएणं महया वरतुडिअजमगसमगप्पवाइएणं संखपणवपडहभेरिझल्लरिखरमुहिहुडुक्कमुरयमुइंगदुंदुहिणिग्घोसणाइयरवेणं चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ। तए णं कूणिअस्स रण्णो चंपानगरिं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छमाणस्स बहवे अत्थत्थिया कामत्थिआ भोगत्थिआ किव्विसिआ करोडिआ लाभत्थिया कारवाहिआ संखिआ चक्किया लंगलिया मुहमंगलिया वद्धमाणा पुस्समाणआ खंडियगणा ताहिं इट्ठाहिं कंताहिं पिआहिं मणुण्णाहिं मणामाहिं मणाभिरामाहिं हिययगमणिज्जाहिं वग्गूहिं जयविजयमंगलसएहिं अणवरयं अभिणंदंता य अभित्थुणंता य एवं वयासी-जय जय णंदा, जय जय भद्दा, भद्दं ते अजिअं जिणाहिं जिअं पालेहिं जिअमज्झे वसाहिं इंदो इव देवाणं चमरो इव असुराणं धरणो इव नागाणं चंदो इव ताराणं भरहो इव मणुआणं बहूइं वासाइं बहूइं वाससआइं बहूइं वाससहस्साइं बहूइं वाससयसहस्साइं अणहसमग्गो हट्ठतुट्ठो परमाउं पालयाहिं इट्ठजणसंपरिवुडो चंपाए णयरीए अण्णेसिं च बहूणं गामागरणगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणआसमनिगमसंवाहसंनिवेसाणं आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे पालेमाणे महया हयणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडिअघणमुइंगपडुप्पवाइअरवेणं विउलाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहराहि त्ति कट्टु जयजयसद्दं पउंजंति। तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते णयणमालासहस्सेहिं पेच्छिज्जमाणे पेच्छिज्जमाणे हिअयमालासहस्सेहिं अभिणंदिज्जमाणे अभिणंदिज्जमाणे मणोरहमालासहस्सेहिं विच्छिप्पमाणे विच्छिप्पमाणे वयणमालासहस्सेहिं अभिथुव्वमाणे अभिथुव्वमाणे कंतिसोहग्गगुणेहिं पत्थिज्जमाणे पत्थिज्जमाणे बहूणं णरणारिसहस्साणं दाहिणहत्थेणं अंजलिमालासहस्साइं पडिच्छमाणे पडिच्छमाणे मंजुमंजुणा घोसेणं पडिबुज्झमाणे पडिबुज्झमाणे भवणपतिसहस्साइं समइच्छमाणे समइच्छमाणे चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्ताईए तित्थयराइसए पासइ, पासित्ता आभिसेक्कं हत्थिरयणं ठवेइ,

ठवित्ता आभिसेक्काओ हत्थिरयणाओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता अवहट्टु पंच रायककुहाइं । तं जहा–खग्गं छत्तं उप्फेसं वाहणाओ वालवीअणं, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंते । तं जहा–सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए एगसाडिअं उत्तरासंगं करणं चक्खुप्फासं अंजलिपग्गहेणं मणसो एगत्तभावकरणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ । तं जहा–काइयाए वाइआए माणसिआए, कायाइए ताव संकुइअग्गहत्थपाए सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासइ, वाइआए जं जं भगवं वाकरेइ एवमेवं भंते ! तहमेयं भंते ! अवितहमेयं भंते ! असंदिद्धमेअं भंते ! इच्छिअमेअं भंते ! पडिच्छिअमेअं भंते ! इच्छियपडिच्छियमेअं भंते ! से जहेयं तुब्भे वदह अपडिकूलमाणे पज्जुवासंति, माणसियाए महया संवेगं जणइत्ता तिव्वधम्माणुरागरत्ते पज्जुवासइ । तते णं ताओ सुभद्दापमुहाओ देवीओ अंतो अंतेउरंसि ण्हायाए० जाव पायच्छित्ताओ सव्वालंकारविभूसियाओ बहूहिं खुज्जाहिं चेल्लाहिं वामणीहिं वडभीहिं बव्वरीहिं पयाउसियाहिं जोणिआहिं पण्हविआहिं इसिगणिआहिं वासिइणिआहिं लासिआहिं लउसियाहिं सिंहलीहिं दमिलिहिं आरबीहिं पुलिंदीहिं पक्कणीहिं बहलीहिं मुरुंडीहिं सवरियाहिं पारसीहिं णाणादेसविदेसपरिमंडिआहिं इंगियचिंतियपत्थिअविजाणियाहिं सदेसणेवत्थग्गहिअवेसाहिं चेडियाचक्कवालवरिसधरकंचुइज्जमहत्तरगवंदपरिक्खित्ताओ अंतेउराओ णिग्गच्छंति, अंतेउराओ णिग्गच्छित्ता जेणेव पाडिएक्कजाणाइं तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता पाडिएक्कपाडिएक्काइं जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं दुरुहंति, दुरुहित्ता णिअगपरिआलसद्धिं संपरिवुडाओ चंपाए णयरीए मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छंति, णिग्गच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेइए तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते छत्तादिए तित्थयराभिसेसे पासंति, पासित्ता पाडिएक्कपाडिएक्काइं जाणाइं ठवेंति, ठवित्ता जाणेहिंतो पच्चोरुहंते, जाणेहिंतो पच्चोरुहित्ता बहूहिं खुज्जाइ० जाव परिक्खित्ताओ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छंति, तेणेव उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छंति । तं जहा–सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए विणओणताए गायलट्ठीए चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं मणसो एगत्तकरणेणं समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता कूणियं रायं पुरओ कट्टु ठिइयाओ चेव सपरिवाराओ अभिमुहाओ विणएणं पंजलिउडाओ पज्जुवासंति । तते णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स भंभसारपुत्तस्स सुभद्दापमुहाणं देवीणं तीसे अ महति महालियाए परिसाए इसीपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए देवपरिसाए अणेगसयाए अणेगसयवंद्राए अणेगसयवंदपरिवाराए ओहबले अइबले महब्बले अपरिमिअबलवीरियतेयमाहप्पकंतिजुत्ते सारयनवत्थणियमहुरगंभीरकोंचणिग्घोसदुंदुभिस्सरे उरे वित्थडाए कंठे वट्टिआए सिरे समाइण्णाए अगरलाए अमम्मणाए सव्वक्खरसण्णिवाइयाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए जोयणणीहारिणा सरेणं अद्धमागहाए भासा भासति, अरिहा धम्मं परिकहेइ, तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अगिलाए धम्ममाइक्खइ, सा वि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणमइ । तं जहा–अत्थि लोए, अत्थि अलोए, एवं जीवा अजीवा बंधे मोक्खे पुण्णे पावे आसवे संवरे वेयणा णिज्जरा अरिहंता चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा नरका णेरइया तिरिक्खजोणिआ तिरिक्खजोणिणीओ माया पिया रिसओ देवा देवलोआ सिद्धी सिद्धा परिणिव्वाणपरिणिव्वुया, अत्थि पाणाइवाए मुसावाए अदिण्णादाणे मेहुणे परिग्गहे, अत्थि कोहे माणे माया लोभे० जाव मिच्छादंसणसल्ले, अत्थि पाणाइवायवेरमणे मुसावायवेरमणे अदिण्णादाणवेरमणे मेहुणवेरमणे परिग्गहवेरमणे० जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे; सव्वं अत्थि भावं अत्थि त्ति वयति, सव्वं णत्थि भावं णत्थि त्ति वयति, सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णफला भवंति, फुसइ पुण्णपावे, पच्चायंति जीवा, सफले कल्लाणपावए धम्ममाइक्खइ, इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलए संसुद्धे पडिपुण्णे णेआउए सल्लकत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे णिव्वाणमग्गे णिज्जाणमग्गे अवितहमविसंधिसव्वदुक्खप्पहीणमग्गे इह ट्ठिआ जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणमंतं करंति, एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुव्वकम्मावसेसेणं अण्णयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, महड्ढीए० जाव महासुक्खेसु दूरगइएसु चिरट्ठिइएसु तेणं तत्थ देवा भवंति महड्ढीए० जाव चिरट्ठिई आहारविराइयवच्छा० जाव पभासमाणा कप्पोवगा गतिकल्लाणा आगमे से भद्दा० जाव पडिरूवा तमाइक्खइ । एवं खलु चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइअत्ताए कम्मं पकरेंति,

णेरइअत्ताए कम्मं पकरेत्ता णेरइसु उववज्जंति । तं जहा– महारंभयाए महापरिग्गहयाए पंचिंदियवहेण कुणिमाहारेणं । एवं एएणं अभिलावेणं तिरिक्खजोणिएसु माइल्लयाए णिअडिल्लयाए अलिअवयणेणं उक्कंचणयाए वंचणयाए मणुस्सेसु पगतिभद्दयाए पगतिविणीतताए साणुक्कोसयाए अमच्छरियताए देवेसु सरागसंजमेणं संजमासंजमेणं अकामणिज्जराए बालतवोकम्मेणं तमाइक्खइ, जह णरगा गमंती, जे णेरगा जातवेयणा णरए सारीरमाणसाइं दुक्खाइं तिरिक्खजोणिए माणुस्सं च अणिच्चं वाहिजरामरणवेयणापउरं देवे अ देवलोए देविड्ढिं देवसोक्खाइं नरगं तिरिक्खजोणिं माणुसभावं च देवलोअं च सिद्धे अ सिद्धवसहिं छज्जीवणियं परिकहेइ–जह जीवा वज्झंति मुच्चंति, जह य परिकिलिस्संति, जह दुक्खाणं अंतं करंति, केइ अपडिबद्धा अट्टदुहट्टियचित्ता जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति, जह वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडंति, जहा रागेण कडाणं कम्माणं पावगो फलविवागो, जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति, तमेव धम्मं दुविहं आइक्खइ । तं जहा–अगारधम्मं अणगारधम्मं च, अणगारधम्मो ताव इह खलु सव्वओ सव्वयाए मुंडे भवित्ता अगारातो अणगारियं पव्वइस्स सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावायअदिन्नादाणमेहुणपरिग्गहराईभोअणाओ वेरमणं, अयमाउसो ! अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते, एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए निग्गंथे वा निग्गंथी वा विहरमाणे आणाए आराहए भवति । अगारधम्मं दुवालसविहं आइक्खइ । तं जहा–पंच अणुव्वयाइं, तिण्णि गुणव्वयाइं, चत्तारि सिक्खावयाइं । पंच अणुव्वयाइं तं जहा–थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं सदारसंतोसे इच्छापरिमाणे । तिण्णि गुणव्वयाइं–तं जहा–अणत्थदंडे वेरमणं दिसिव्वयं उवभोगपरिभोगपरिमाणं । चत्तारि सिक्खावयाइं–तं जहा–सामाइअं देसावगासिअं पोसहोववासे अतिहिसंविभागे अपच्छिममारणंतिआ संलेहणा झूसणा राहणा, अयमाउसो ! अगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते । एअस्स धम्मस्स सिक्खाए उवट्ठिए समणोवासए समणोवासिआ वा विहरमाणे आणाइआराहए भवति । तए णं सा महति महालिआ मणूसपरिसा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हिअया उट्ठाए उट्ठेति, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता वंदंति णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता अत्थेगइआ पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवण्णा, अवसेसा णं परिसा समणं भगवं महावीरं वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–सुअक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे, एवं सुपण्णत्ते सुभासिए सुविणीए सुभाविए, अणुत्तरे ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे धम्मेणं आइक्खमाणा तुब्भे उवसमं आइक्खह, उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह, विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह, वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह, णत्थि णं अण्णे केइ समणे वा माहणे वा जे परिसधम्ममाइक्खित्तए किमंग ! पुण इत्तो उत्तरतरं, एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूआ तामेव दिसं पडिगया । तए णं कूणिए राया भंभसारपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–सुअक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे० जाव किमंग ! पुण एत्तो उत्तरतरं, एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं पडिगए । तते णं ताओ सुभद्दापमुहाओ देवीओ समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हिअयाओ उट्ठाए उट्ठेंति, उट्ठाए उट्ठित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति, वंदंति, णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी–सुअक्खाए ते भंते ! णिग्गंथे पावयणे० जाव किमंग ! पुण एत्तो उत्तरतरं, एवं वदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूआओ तामेव दिसं पडिगयाओ । समोसरणं सम्मत्तं । औ० ।

केन कृतमित्यादि यत्र विधेयतयोपदिश्यते सा पृच्छा । यथा पृच्छनीया ज्ञानिनो निर्णयार्थिभिः, यथा भगवान् कोणिकेन पृष्टः । तथाहि–किल कोणिकः श्रेणिकराजपुत्रः श्रमणं भगवन्तं महावीरं पप्रच्छ । तद्यथा–भदन्त ! चक्रवर्तिनः परित्यक्तकामा मृताः क्वोपपद्यन्ते ? । भगवताऽभिहितम्–सप्तमनरकपृथिव्याम् । ततोऽसौ बभाण–अहं क्वोत्पत्स्ये ? । स्वामिनोक्तम्–षष्ठ्याम् । स उवाच–अहं किं न सप्तम्याम् ? । स्वामिना अभदे–सप्तम्यां चक्रवर्तिनो यान्ति । ततोऽसावभिदधौ–किमहं न चक्रवर्ती, यतो ममापि हस्त्यादिकं तत्समानमस्ति ? । स्वामिना प्रत्यूचे–तव रत्ननिधयो न सन्ति । ततोऽसौ कृत्रिमाणि रत्नानि कृत्वा भरतक्षेत्रसाधनप्रवृत्तः कृतमालकयक्षेण गुहाद्वारे व्यापादितः षष्ठीं गत इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

प्रथमोपाङ्गे कूणिकवर्णके " माउपिउसुजाओ " एतत्सूत्रवृत्तौ पित्रोर्विनीततया सत्पुत्र इत्युक्तं, तत्कथमिति प्रश्ने उत्तरम्–कूणिकः पित्रोर्विनीत एवास्ति, यत्त्वन्तराले श्रेणिकस्य किञ्चिद्विरूपमाचरितं तन्निदानवशादेव, कथमन्यथा पितृमरणशोकाकुलितो राजगृहं विहाय चम्पायामुषित इति । २३७ प्र० सेन० ३ उल्ला० । कूणिकरावणयोस्तीर्थकरत्वं कुत्र ग्रन्थे प्रोक्तमस्ति कस्मिन् क्षेत्रे कतिभवैरिति प्रश्ने उत्तरम्–रावणाख्यभवादारभ्य रावणजीवस्य चतुर्दशे भवे तीर्थक-

रत्वं त्रिषष्टीयपद्मचरित्रे प्रोक्तमस्ति, क्रमव्यक्तिस्तु न दृश्यते। कूणिकस्य तु तीर्थंकरत्वप्राप्त्यक्षराणि कुत्रापि दृष्टानि न सन्तीति । १४७ प्र० सेन० ३ उल्ला० । ('रावण' शब्दे स्पष्टीकरिष्यते चैतत्)

कूयमाण–कूजत्–त्रि० । अव्यक्तं भणति, विपा० १ श्रु० ७ अ०।

कूर–कूर–पुं० । न० । षेञ् भावे क्विप् ऊः। कौ भूमौ ऊवं वयनं लाति ला-कः। लस्य रः। भक्ते, वाच०। ओदने, उत्त०१२ अ०। "एगंतेण न कप्पइ, सीयलकूरो अणुसिणो अ" स० १ सम०। अवह्लादननिमित्ते कलिङ्गादौ, स्था० ३ ठा० ३ उ०। "असणाणि य चउसट्ठा, कूरे जाणहे एगतीसं तु।" स०१ सम०।

कूर–त्रि० । रौद्रे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०। आचा०। निष्कृपे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । दारुणे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । जीवोपघातोपदेशत्वात् क्षुद्रे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। स्था०।

कूरकम्म (ण्)–क्रूरकर्मन्–त्रि०। अनार्ये, आचा०१ श्रु०४अ०२ उ० । क्रूरे कर्मणि, " कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेति" क्रूराणि गलकर्त्तनादीनि कर्माण्यनुष्ठानानि बालोऽज्ञः प्रकुर्वाणो विदधानः तेन कर्मविपाकोत्पादितदुःखेन सातोदये मूढोऽपगतविवेको विपर्यासमुपैति। आचा० १ श्रु०२ अ० ३ उ० । क्रूराणि निर्दयानि निरनुक्रोशानि कर्माणि अनुष्ठानानि हिंसाऽनृतस्तेयादीनि सकललोकाऽसुखकारीणि, अष्टादश वा पापस्थानानि । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

कूरगडुय–कूरगडुक–पुं० । प्रत्यहभोजिनि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

कूरपिउड–देशी–देशीवचनमेतत् । कूरसिक्थादौ, आ० म० द्वि० । कूरसिक्थादिदाने, विशे० ।

कूरपिक्क–ईषत्पक्व–त्रि० । "गौणस्येषतः कूरः" । ८।२।१२९। ईषच्छब्दस्य गौणस्य कूर इत्यादेशो वा भवति । अल्पपक्के, 'चिंच व्व कूरपिक्का ' पक्षे–' ईसिपिक्का ' प्रा० २ पाद ।

कूरभोयण–कूरभोजन– न० । कूरमात्रभोजने, पिं० ।

कूल–कूल–न० । कूलति आवृणोति जलप्रवाहम् । कूल अच् । नद्यादस्तीरे, कर्मणि घञर्थे कः। स्तूपे, तडागे, सैन्यपृष्ठे च । अन्तिके, वाच० । " रययामयकूलाओ " रजतमयं रूप्यमयं कूलं यासां ता रजतमयकूलाः । रा०। आ० म०। सैन्यस्य पश्चाद्भागे, दे० ना० २ वर्ग ।

कूलधमग–कूलध्मायक–त्रि० । वानप्रस्थभेदे, ये कूले स्थित्वा शब्दं कृत्वा भुञ्जते । औ० । नि० ।

कूलवालग–कूलवालक–पुं० । स्वनामख्याते मुनौ, आ० क० ।

तत्कथा चैवम्–

इतश्च श्रेणिकपुत्रः कोणिको राजा स्वपत्नीपद्मावतीप्रेरितः स्वभ्रातृहल्लविहल्लपार्श्वे जनकश्रेणिकार्पितदिव्यकुण्डले अष्टादशसरिकहारं सेचनकहस्त्यादिकं वस्तु मार्गितवान्। तौ च सर्वं लात्वा मातामहचेटकमहाराजपार्श्वे वैशालीनगर्यां गतौ । कोणिकेन मातामहचेटकमहाराजपार्श्वात्सर्ववस्तुसहितौ तौ भ्रातरौ मार्गितौ । शरणागतवज्रपञ्जरविरुदं वहता तेन न प्रेषितौ । ततो रुष्टः कोणिकः समाराधितशक्रचमरप्रभावेण स्वजीवितं रक्षन् अमोघबाणमपि चेटकमहाराजं संग्रामे निर्जित्य वैशालीनगरीमध्ये क्षिप्तवान्, सञ्जातवप्रां च तां वैशालीं नगरीं स कोणिको रोधयति स्म, नगरीमध्यस्थितश्रीमुनिसुव्रतस्वामिस्तूपप्रभावात् तां नगरीं ग्रहीतुं न शक्नोति । ततो बहुना कालेन देवतयैवमाकाशे भणितम्–"समणे जइ कूलवालए, मागहिअं गणिअं रमिस्सए । राया य असोगचंदए, वेसालिं नगरिं गहिस्सए ॥१॥ " कोणिकेनेमां वाणीं श्रुत्वा स कूलवालकश्रमणो विलोक्यमानस्तत्र स्थितो ज्ञातः । राजगृहादाकारिता मागधिका गणिका । तस्याः सर्वं कथितम् । तयाऽपि प्रतिपन्नम्–तं कूलवालकश्रमणमहमत्राऽऽनेष्यामीति । कपटश्राविका जाता, सार्थेन तत्राऽऽगता। तं वन्दित्वा भणति–स्थाने स्थाने चैत्यानि साधूंश्च वन्दित्वाऽहं भोजनं कुर्वे। यूयमत्र श्रुताः , ततो वन्दनार्थमागता, अनुग्रहं कुरुत, प्रासुकमेषणीयं भक्तं गृह्णीत। इति श्रुत्वा कूलवालुकश्रमणस्तस्या उत्तारके गतः। तया च नेपालगोटकचूर्णसंयोजिता मोदका दत्ताः। तद्भक्षणानन्तरं तस्य अतीसारो जातः। तया औषधप्रयोगेण निवर्तितः। प्रक्षालनोद्वर्तनादिभिस्तया तस्य चित्तं भेदितम्;स कूलवालकश्रमणस्तस्यामाशक्तोऽभूत्। तयाऽपि स्ववशीभूतः स कोणिकसमीपमानीतः। कोणिकेनोक्तम्–भोः कूलवालक श्रमण! यथेयं वैशाली नगरी गृह्यते तथा क्रियताम्। तेनापि तद्वचः प्रतिपद्य नैमित्तिकवेषेण वैशालीनगर्यभ्यन्तरे गत्वा मुनिसुव्रतस्वामिस्तूपप्रभावो नगरीरक्षको ज्ञातः। नैमित्तिकोऽयं नगरीलोकैः पृष्टः–कदा नगरीरोधोऽपगमिष्यति । स प्राह–यदा एनं स्तूपं यूयम् अपनयत तदा नगरीरोधापगमो भविष्यतीति श्रुत्वा तैर्लोकैस्तथा कृतम्। कूलवालकश्रमणेन बहिर्गत्वा सज्जितः कोणिकः। तेन तदैव स्तूपप्रभावरहिता सा नगरी भग्ना एव, पतितः कूलवालकश्रमणः, अविनीतत्वात् । इति कूलवालककथा ॥ उत्त० १अ०। आ०क०।

कूव–कूप–पुं० । कु ईषत् आपो यत्र । कुवन्ति मण्डूकाः अस्मिन् कु-पक् दीर्घश्च वा । स्वनामख्याते जलाधारे, " भूमौ खातोऽल्पविस्तारो. गम्भीरो मण्डलाकृतिः । बद्धोऽबद्धः स कूपः स्यात्, तद्स्मः कौपमुच्यते" ॥१॥ वाच०। "कूवे तोयं सिणाया अहा कूवे कया पडिता" नि० चू० १ उ० । आ० क० ।

कूजक–त्रि० । व्यावर्त्तकबले, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

कूवणय–कूपनक–पुं० । स्वनामख्याते कुम्भकारे, यस्य हि कुमारसन्निवेशे परमरमणीये उद्याने प्रतिसंस्थिते श्रीवीरभगवति शालायां मुनिचन्द्रः स्थविरः स्थितः । आ० म० द्वि० ।

कूवणाय–कूपज्ञात–न०। अवष्टोदाहरणे, इह चैवं साधनप्रयोगः– किञ्चित्सदोषमपि स्नानादि विशिष्टशुभभावहेतुत्वात् यत्तद् गुणकरं दृष्टं, यथा कूपखननम्। विशिष्टशुभभावहेतुश्च यतनया स्नानादि ततो गुणकरमिति । कूपखननपक्षे शुभभावात् तृष्णादिव्युदासेनाऽऽनन्दावाप्तिरिति । इदमुक्तं भवति–यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्त्यनन्तरमुक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय किल भवति । प्रति० ।

कूवतड–कूपतट–पुं० । कूपसमीपे, "तहिं मासेहिं संपिंसवितलतेयलेसो जातो कूवतडे दासीए विनासियं " आ० म० द्वि०।

कूवत्थंभ-कूपस्तम्भ–पुं० । कूपमध्यस्थापितस्तम्भे, विशे० । कूपकस्तम्भो यत्र सितपटो निबध्यते । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

कूवमंडुक-कूपमण्डूक-पुं० । कूपस्थे मण्डूके, तत्तुल्ये एकदेशज्ञे, "तुमं किं जाणयंसि कूवमण्डुक्को" नि० चू० १ उ० ।

कूवर-कूवर-पुं० । 'कू' शब्दे कुटादि० वरच् । कूबके, मनोहरे, युगन्धरे, रथावयवभेदे, वाच० । जं० । तुडे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

कूवल-देशी-जघनवसने, दे० ना० २ वर्ग ।

कूविय-कूपिक-पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र भगवान् वीरस्वामी उपसर्गितः पश्चात्पार्श्वनाथान्तेवासिनीभ्यां मोचितः । आ० म० द्वि० । मोषव्यावर्तके, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । चौरगवेषके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कूवियबल-कूपिकबल-न० । मोषव्यावर्तकसैन्यनिवर्तकसैन्ये, "सुबहुस्स वि कुवियबलस्स आगयस्स दुप्पधंसया वि होत्था" ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

कूविया-कूपिका-स्त्री० । कूप-इन् ङीप् । स्वार्थे कः । स्नेहपात्रभेदे, वाच० । "जो कुणति कूवियत्तं कूविया कूढिया भणति" नि० चू० १ उ० ।

कूवोदाहरण-कूपोदाहरण-न० । समयप्रसिद्धे कूपज्ञाते, षो० ८ विव० । ('कूवणाय' शब्देऽनुपदमेव दर्शितम्)

कूसारो-देशी-गर्ताकारे, दे० ना० २ वर्ग ।

कूहंड-कूष्माण्ड-पुं० । व्यन्तरनिकायानामुपरिवर्तिनि व्यन्तरजातिविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

केअण-केतन-न० । वक्रे वस्तुनि, पुष्पकरण्डसंबन्धिनि मुष्टिग्रहणस्थाने वंशादिदलके, स्था० ।

"चत्तारि केअणा पण्णत्ता । तं जहा-वंसीमूलकेअणए, मेंढविसाणकेअणए, गोमुत्तिकेअणए, अवलेहणियाकेअणए ।

"चत्तारि" इत्यादि प्रकटम्, किन्तु केतनं सामान्येन वक्रं वस्तु पुष्पकरण्डकस्य वा संबन्धि मुष्टिग्रहणस्थानं वंशादिदलकं तच्च वक्रं भवति, केवलमिह सामान्येन वक्रं वस्तु केतनं गृह्यते, तत्र वंशीमूलं च तत्केतनं च वंशीमूलकेतनम्, एवं सर्वत्र, नवरं मेढविषाणं मेढश्रृङ्गं, गोमूत्रिका प्रतीता (अवलेहणिय त्ति) अवलिख्यमानस्य वंशशलाकादेर्या प्रतन्वी त्वक् साऽवलेखनिकेति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

केआ-देशी-रज्जौ, दे० ना० २ वर्ग ।

केआरवाणो-देशी-पलाशे, दे० ना० २ वर्ग ।

केइ-कश्चित्-केचित्-अव्य० । किमः सौ-जसि वा कः के, चित् प्रत्ययः । पदद्वयमित्यन्ये । वाच० । अनिर्दिष्टस्वरूपे, विशे० । "केइ राया रायपुत्तो वा" विपा० १ श्रु० २ अ० । स्था० । अनु० । अन्यशब्दार्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

केउ-केतु-पुं० । चाय-तु क्यादेशः । प्रज्ञायाम्, राहोरर्द्धदेहात्मके ग्रहभेदे, वाच० । ज्ञा० । अङ्कविन्यासप्रामाण्याभ्युपगमे अष्टाशीतितमे महाग्रहे, कल्प० ६ क्षण । अन्यथा अष्टाशीतितमो भावकेतुः । सू० प्र० २० पाहु० । स्था० । चिह्ने, ध्वजे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । जं० । रा० । जी० । औ० । स० । द्वीपी, ज्योतिषप्रसिद्धे उत्पातभेदे च । वाच० । कन्दे, दे० ना० २ वर्ग ।

केउकर-केतुकर-पुं० । अद्भुतकार्यकारित्वेन चिह्नकारिणि, औ० । ज्ञा० । स्था० । सूत्र० ।

केउखेत्त-केतुक्षेत्र-न० । आकाशोदकनिष्पाद्यशस्ये क्षेत्रभेदे, आव० ६ अ० । ध० ।

केउभूय-केतुभूत-त्रि० । दृष्टिवादस्य सिद्धश्रेणिकापरिकर्मणः चतुर्थे दशमे च भेदे, स० ।

केउमई-केतुमती-स्त्री० । किन्नरस्य किन्नरेन्द्रस्य किंपुरुषस्य किंपुरुषेन्द्रस्य चाग्रमहिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । स्था० । (अस्या भवान्तरकथा 'अग्गमहिसी' शब्दे प्र० भा० १७१ पृष्ठे दर्शिता)

केउय-केतुक-पुं० । जम्बूद्वीपस्य बाह्याया वेदिकाया दक्षिणस्यां पञ्चनवतियोजनान्यवगाह्य स्थिते द्वितीयमहापातालो, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

केऊर-केयूर-पुं० । के बाहुशिरसि याति, या ऊर किच्च, अलुक्समासः । वाच० । बाह्वाभरणविशेषे, आ० म० प्र० । औ० । रा० । जं० । "अंगयाइं केऊराइं कडगाइं तुडियाइं कडिसुत्तयं दसमुद्दियाणंतयं" इत्यादि । अङ्गदं केयूरं च बाह्वाभरणविशेष एतयोश्च यद्यपि नामकोशे एकार्थतोक्ता, तथाऽपीहाकारविशेषाद् भेदोऽवगन्तव्यः । भ० ६ श० ३३ उ० । ज्ञा० । मेरोर्दक्षिणस्यां दिशि पातालकलशे, "बलयामुहकेऊरे, जूए य तह ईसरे य बोद्धव्वे ।" केयूरः केऊरो वा । समवायाङ्गटीकायां तु केतुकः । प्रव० २७२ द्वार ।

केसुअ-किंशुक-न० । किंशुकस्य पुष्पम् । पुष्पफले, "बहुलम्" ॥८।१।२॥ इति अणो लुक् । "किंशुके वा" ॥८।१।८६॥ इत्यादेरित एकारः । प्रा० १ पाद । पलाशपुष्पे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

केकई-कै (के) क (के) यी-स्त्री० । कैकयानां राजा अण् कैकयः । जन्यजनकभावरूपे पुंयोगे ङीप् । कैकयी, कैकयी, केकयी वा । केकयनृपकन्यायाम्, वाच० । अष्टमवासुदेवलक्ष्मणमातरि, आव० १ अ० । आ० चू० । ति० । अस्याः सुमित्रेति द्वितीयं नाम (भाषाटीका) स० । अपरविदेहे, सलिलावतीविजये वीतशोकायां नगर्याम्, विभीषणवासुदेवस्य मातरि च । आ० म० प्र० ।

केयई-कै (के) क (के) यी-स्त्री० । पूर्वोक्तशब्दार्थे, वाच० ।

केक(य)य-केकय-पुं० । देशभेदे, स च अर्द्धेन आर्योऽर्द्धेनानार्यः । "केकयकिरायहयमुहखरमुहगयतुरगमिंढयमुहा य" प्रव० २७४ द्वार । प्रज्ञा० । सूत्र० । "केकय अद्धं च आरियं भणियं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । केकयार्द्धजनपदः श्वेतवीनगरीराजस्य । स्था० ८ ठा० । स च देशः कर्मविभागे उत्तरस्यामुक्तः । वाच० ।

केका (गा) इय-केकायित-न० । मयूराणां शब्दे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

केज्ज-क्रय्य-त्रि० । क्रयणीये, स्था० ७ ठा० ।

केढव-कैटभ-पुं० । "देत एत्" ८ । १ । १४८ । इति देत एत्वम् । प्रा० १ पाद । "सटाशकटकैटभे ढः" ८ । १ । १९६ ।

इति टस्य ढः । प्रा० १ पाद । " कैटभे भो वः " ८ । १ । २४० । इति भस्य वः । मधुभ्रातरि दैत्यभेदे, प्रा० १ पाद ।

केतिअ–कियत्–त्रि० । किमः परिमाणे वतुप् । वस्य यः । " इदं किमश्च डेत्तिअडेत्तिलडेद्दहाः " ॥ ८ । २ । १५७ ॥ इदंकिम्भ्यां यत्तदेतद्भ्यश्च परस्यातोर्मावतोर्वा डित् एत्तिअ एत्तिल एद्दह इत्यादेशा भवन्ति, एतल्लुक् च । इत्यतः स्थाने डेत्तिअ केत्तिल केद्दह रूपमादेशत्रयम्; डित्वादिलोपः । केत्तिअं, केत्तिलं, केद्दहं । किंपरिमाणपरिमिते, प्रा० ४ पाद ।

केतिस–कीदृश–त्रि० । किम् दृशः कञ् " इदंकिमोरीशकी " ॥ ६ । ३ । ९० । इति (पाणि०) किमः की । पैशाच्याम्–"याद-शादेर्दुस्तिः " ८ । ४ । ३१७ । इति द इत्यस्य स्थाने तिरादेशः । किम्प्रकारे, प्रा० ४ पाद ।

केतूव–केयूप–पुं० । मेरोर्दक्षिणस्यां दिशि महापाताले, जी० ३ प्रति० ।

केत्तुल–(केवड) कियत्–त्रि० । " अतोर्डेत्तुलः " ८ । ४ । ४३५ । इति किमः परस्यातोः प्रत्ययस्य डेत्तुल इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । " येदंकिमोर्यादेः " । ८ । ४ । ४०८ । इति अवन्तस्य किमो यादेरवयवस्य डित् एव ड इत्यादेशः । प्रा० ४ पाद । किंपरिमाणपरिमिते, प्रा० ४ पाद ।

केत्थु–कुत्र–अव्य० । " एत्थु कुत्रात्रे " । ८ । ४ । ४०५ । अपभ्रंशे कुत्र इत्येतस्य शब्दस्य डित् एत्थु इत्यादेशः । कस्मिन्नित्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

केम्व–कथम्–अव्य० । अपभ्रंशे तथारूपता । केन प्रकारेणेत्यर्थे, "जो पुण अग्गि सीअला,तसु उण्हत्तणु केम्व?।" प्रा० ४ पाद ।

केय–केत–पुं० । 'कित' निवासे इत्यस्य धातोः कित्यन्ते उष्यन्ते-ऽस्मिन्निति घञि केतः । गृहे, प्रव० ४ द्वार । चिह्ने, अङ्गुष्ठमुष्टिग्रन्थ्यादिके,स्था० ४ ठा० । केयमिति गृहम । " केयं णाम चिन्हं " आ० चू० ६ अ० । भावे घञ् । वासे, प्रज्ञायां, संकल्पे, मन्त्रणे, ज्ञातरि च । वाच० ।

केय–त्रि० । क्रयणीये, स्था० ८ ठा० ।

केयइअद्ध–केकयार्द्ध–न० । केकयजनपदस्यार्द्धे, यत्र श्वेताम्बिका नगरी, तत्र आर्य्यक्षेत्रम । "सेयविया य नयरी, केयइअद्धं च आरियं भणियं । " प्रज्ञा० १ पद । प्रव० ।

केयई-केतकी-स्त्री० । केतकशब्दात् "षिद्गौरादिभ्यश्च" ४।१।४१। षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष् इति (पाणि०) ङीष् । वलयाख्यवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । आचा० । गुच्छवनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद । संख्यातजीववनस्पतिभेदे, भ० ८ श० ३ उ० । गन्धद्रव्यभेदे च । रा० । केतकी पाटला । जं० १ वक्ष० ।

केयग–केतक–पुं० । कित निवासे एवुल्, केतकः । सूचिकापुष्पो जम्बुकः क्रकचच्छद इत्युक्तलक्षणे वृक्षे, तत्पुष्पे, न० । केत स्वार्थे कः । ध्वजे, पुं० । वाच० । अङ्गुष्ठमुष्टिग्रन्थिगृहादिके चिह्ने, स्था० १० ठा० ।

केयण–केतन–न० । सङ्केते, व्य० ४ उ० । शृङ्गमयधनुर्मध्ये काष्ठमयमुष्टिकायाम्,उत्त० । "धणुं परक्कमं किच्चा,जीवं च इरियं सया ॥ धिइं च केयणं किच्चा,सच्चेणं पलिमंथए ॥२१॥" केतनं शृङ्गमयं धनुर्मध्ये काष्ठं मुष्टिस्थानं कृत्वा । उत्त० ९ अ० । मत्स्यबन्धने,सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सामान्येन वक्रे वस्तुनि, पुष्पकरण्डस्य वा सम्बन्धिनि मुष्टिग्रहणस्थाने वंशादिदलके,स्था० ४ ठा० २ उ० । नि० चू० । (तच्चातुर्विध्यदृष्टान्तेन मायाप्ररूपणं 'माया' शब्दे करिष्यते) " से केयणं अरिहइ पूरित्तए " कश्चकेतनं चालनीपरिपूर्णकः समुद्रो वेति, जावकेतनं लोभेच्छा, तदसावनेकचित्तः केनाप्यभृतः पूर्वं पूरयितुमर्हति । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । निमन्त्रणे, ध्वजे, गृहे, चिह्ने, स्थाने, कृत्ये, ध्वजे, वाच० ।

केयव–कैतव–न० । कितवस्य भावः कर्म वा । शाठ्ये, द्यूते, वैदूर्यमणौ, स्वार्थे अण् । कितवे, शठे, द्यूतकारके, धत्तूरे च । पुं० । " कैतवेनाक्षवत्यां वा, युद्धे वा नाश्यतां धनुः " । " दीव्य यत् कैतवं पाण्डव ! तेऽवशिष्टम " । ' यद्वोचस्तद्वेभि कैतवम '। वाच० । आ० म० द्वि० ।

केयाघडिया–केयाघटिका–स्त्री० । रज्जुप्रान्तबद्धघटिकायाम् , भ० १३ श० ९ उ० ।

केयाघडियाकिच्चहत्थगय–केयाघटिकाकृत्यहस्तगत–त्रि० । केयाघटिकालक्षणं यत्कृत्यं कार्य्यं तद्धस्ते गतं यस्य स तथा । हस्तधृतकेयाघटिके, " केयाघडियं किच्चं हत्थगयाइं कडाइं विसविस्सए । " भ० १३ श० ६ उ० ।

केयार–केदार–पुं० । के शिरसि दारोऽस्य, केन जलेन दारो यस्य वा । एत्वम । हिमालयस्थे पर्वतभेदे,तत्स्थे शिवलिङ्गभेदे, जलनिवारणार्थे चतुष्पार्श्वे सेतुबन्धयुक्ते क्षेत्रे आलवाले, वाच० । वप्रे, आचा० २ श्रु० ११ अ० ।

केरव–केरव–पुं० । स्त्री० । के जले रौति रु अच्, अलुक्समासः । हंसे, वाच० । तस्य प्रियम अण् । कुमुदे, शुक्लोत्पले, शत्रौ, पुं० । कैतवे, न० । वाच० । आ० म० ।

केरिस–कीदृश–त्रि० । "दृशेः क्विप् टक्सकः" ८ । १ । १४२ । इति ऋतौ रिरादेशः । प्रा० १ पाद । " एत्पीयूषापीडबिभीतककीदृशेदृशे ।"८ ।१ । १०५ । इति ईत एत्वम । प्रा० १ पाद । किम्प्रकारे, "अणुजावे केरिसे वुत्ते" सू० प्र० १ पाहु० ।

केल–कदल–पुं० । वृषा०कलच् । " वा कदले " ।८।१ । १६७। इत्यादेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एद् वा । प्रा० १ पाद । रम्भावृक्षे, वाच० ।

केलाय–समारच्–णिच्–धा० । सम्यक् समन्तात् प्रतियत्ने, " समारचेरुवहत्थसारवसमारकेलायाः " ॥८ । ४ । ९५॥ इति-समारचेः केलायाऽऽदेशः । "केलायइ,समारभइ,समारचयति" प्रा० ४ पाद ।

केलास–कैलास–पुं० । केला विलासः सीदत्यस्मिन्निति । सद आधारे-वा ड । स्फटिके, वाच० ।

केलास–पुं० । के जले लासो लसनं दीप्तिरस्य । अलुक्समासः । केलासः स्फटिकस्तस्येव शुभ्रः अण् । केलीनां समूहः अण् । कैलम । तेनास्यतेऽत्र । आस–आधारे घञ् वा । वाच० । " ऐत एत " । ८ । १ । १४८ । इत्यैकारस्य एत्वम । प्रा० १ पाद । शिवकुबेरयोः स्थाने पर्वतभेदे, वाच० । " केलासभवणा एए, गुज्झगा आगया महिं । चरंति जक्खरूवेणं,पूयापूया हियाहिया ॥१॥" स्था०

५ठा०३उ०। अनुवेलन्धरनागराजभेदे, तदावासपर्वते च। स्था० ४ ठा० २ उ०। भाजनविशेषे, तैलकेलासो राष्ट्रप्रसिद्धो मृण्मयस्तैलभाजनविशेषः। नि० ३ वर्ग। ज्ञा०। नन्दीश्वरस्थे तदधिपदेवे, सू० प्र० १० पाहु०। राहुमण्डलस्थे नवमे कृष्णे पुद्गले, सू० प्र० २० पाहु०। चं० प्र०। साकेतनगरे जाते स्वनामख्याते गृहपतौ, तत्कथा अन्तकृद्दशासु षष्ठे वर्गे सप्तमेऽध्ययने सुचिता। यथा-स च साकेतनगरे जातस्तत्रैव श्रीवीरान्तिके प्रव्रज्य द्वादश वर्षाणि प्रव्रज्यापर्यायं परिपाल्य विपुले सिद्धः। अन्त०६वर्ग।

केलाससम–कैलाससम–त्रि०। कैलासपर्वततुल्ये, उत्त० ८अ०। "सुवण्णरुप्पस्स य पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया। नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया" ॥ ४८ ॥ उत्त० ए अ०।

केलि–केलि–पुं०। स्त्री०। केल-इन्। द्यूतक्रीडादिकायां क्रीडायाम, ध० २ अधि०। प्रव०। जी०। परिहासे, बृ० १ उ०। नर्मणि, कामे च। औ०। "विहारे सह कान्तेन,क्रीडितं केलिरुच्यते।" पृथिव्याम्, वाच०।

केली–कदली–स्त्री०। "वा कदले" ॥ ८ । १ । १६७ ॥ इति आदेः स्वरस्य परेण सस्वरव्यञ्जनेन सह एद् वा। रम्भायाम, प्रा० १ पाद।

केवइय–कियत्–त्रि०। किंपरिमाणे, भ० ६ श० १ उ०। कियत्संख्याके, "केवइया णं भंते! दीवसमुद्दा पण्णत्ता।" जी० ३ प्रति०। "ओभासति केवतियं, सेयाए किं ते संठिती।" सू० प्र० १ पाहु०। "केवइयं कालं ति" कियता कालेन निर्वर्त्स्यते। भ० १२ श० ४ उ०। कतिकालं यावति इत्यर्थे, स्था० ३ ठा० १ उ०।

केवट्ट–कैवर्त्त–पुं०। स्त्री०। के जले वर्त्तते वृत् अलुक्समासः। ततः स्वार्थे अण्। "त्तस्याधूर्त्तादौ" ।८।२।३०। इति त्तस्य ट्टः। 'केवट्टो'। प्रा० १ पाद। धीवरजातौ, वाच०।

केवडिय–देशी-रूपके, बृ० १ उ०।

केवल–केवल–न०। केवृ सेवने, वृषा० कल। शिरसि बलयति क्षुरा० बल प्रापणे अच्। वाच०। संपूर्णे, आ० चू० ३ अ०। परिपूर्णे,नि० १ वर्ग। विशे०।स्था०।ज्ञा०।अनु०। भ०। अनन्ते, एकस्मिन्, स्था० ३ ठा० ४ उ०। असहाये, स्था० २ ठा० १ उ०। पा०। दशा०। औ०। आ० म०। कर्म०। अद्वितीये, भ० ९ श० ३३ उ०। ज्ञा०। शुद्धे अन्यपदार्थासंसृष्टे, दश० ४ अ०। "केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइज्जा" केवलां शुद्धां संपूर्णां वा, अनगारतामिति योगः। भ० ६ श० ३१ उ०। 'केवलणाण' शब्दे दर्शयिष्यमाणस्वरूपे परिपूर्णे ज्ञाने, स्था० ४ ठा० १ उ०।

केवलकप्प–केवलकल्प–पुं०। केवलः परिपूर्णः कल्पत इति कल्पः, स्वकार्य्यकरणसामर्थ्योपेतः। ततः कर्मधारयः। भ० ३ श० १ उ०। ज्ञा०। स्था०। नि०। केवलकल्पं परिपूर्णं, भ० ६ श० ५ उ०। "केवलकप्पं जंबुद्दीवं" जी० ३ प्रति०। 'केवलकप्पा पुढवी चलेज्जा" केवलैव केवलकल्पा, ईषदूनता चेह न विवक्ष्यते, अतः परिपूर्णेत्यर्थः। परिपूर्णप्राया चेति। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

केवलक्खर–केवलाक्षर–न०। केवलज्ञाने, विशे०।

केवलजुयलावरण–केवलयुगलावरण–न०। केवलयुगलं केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपं तस्य आवरणे आच्छादके कर्मणि केवलज्ञानावरणकेवलदर्शनावरणद्विके, कर्म० ५ कर्म०।

केवलणाण–केवलज्ञान–न०। "केवलणाणे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-भवत्थकेवलनाणे चेव, सिद्धकेवलनाणे चेव"। (व्याख्याऽस्य स्वस्वस्थाने व्याख्यास्यते) स्था० २ ठा० १ उ०। कर्म०। भ०। यथावस्थिताशेषभूतभवद्भाविभावस्वभावावभासिनि, स्था० ५ ठा० ३ उ०। समस्तपदार्थाविर्भावके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। अनु०। प्रत्यक्षज्ञानभेदे, विशे०।

(१) अथ केवलज्ञानविषयं शब्दार्थमाह–

केवलमेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणंतं च।
पायं च नाणसद्दो, नामसमाणाहिगरणोऽयं ॥ ८४ ॥

केवलमिति व्याख्येयं पदम्। ततः केवलमिति कोऽर्थः? इत्याह–एकमसहायम्, इन्द्रियादिसाहाय्यानपेक्षित्वात्, तद्भावे शेषछाद्मस्थिकज्ञाननिवृत्तेर्वा। शुद्धं निर्मलं, सकलावरणमलकलङ्कविगमसंभूतत्वादिति। सकलं परिपूर्णं, संपूर्णज्ञेयग्राहित्वात्। असाधारणमनन्यसदृशं, तादृशापरज्ञानाभावात्। अनन्तम्, अप्रतिपातित्वेनाविद्यमानपर्यन्तत्वात्। इत्येकादिष्वर्थेषु केवलशब्दोऽत्र वर्त्तते। केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानमिति समासः। आह–नन्वाभिनिबोधिकादीनि ज्ञानवाचकानि नामान्येव भाष्यकृता "अत्थाभिमुहो नियओ" इत्यादौ सर्वत्र व्युत्पादितानि, ज्ञानशब्दस्तु न क्वचिदुपात्तः, स कथं लभ्यते? इत्याशङ्क्याह–(पायं चेत्यादि) प्रक्रमलब्धो ज्ञानशब्द आभिनिबोधिकश्रुतादिभिर्ज्ञानाभिधायकैर्नामभिः समानाधिकरणः स्वयमेव योजनीयः, स च योजित एव। तद्यथा-आभिनिबोधिकं च तद् ज्ञानं च, श्रुतं च तज्ज्ञानं चेत्यादि। क्वचिद्वैयधिकरण्यसमासोऽपि संभवतीति प्रायो ग्रहणम्। स च मनःपर्यायज्ञाने दर्शित एव। अन्यत्रापि च यथासंभवं द्रष्टव्यम्। इति गाथार्थः ॥ ८४ ॥ विशे०। बृ०। आ० म०। नं०।

(२) केवलज्ञानस्वरूपनिर्वचनम्–

केवलमेकमसहायं, मत्यादिज्ञाननिरपेक्षत्वात्। केवलज्ञान–

प्रादुर्भावे मत्यादीनामसंभवात् । ननु पुनः कथमसंभवः ?, यावता मतिज्ञानादीनि स्वस्वावरणक्षयोपशमेऽपि प्रादुष्षन्ति, ततो निर्मूलस्वस्वावरणविलये तानि सुतरां भविष्यन्ति ?, चारित्रपरिणामवत् । उक्तं च-" आवरणदेसविगमे, जाइं विज्जंति मइसुयाईणि । आवरणसव्वविगमे, कह ताइं न होंति जीवस्स ?" ॥१॥ उच्यते-इह जात्यस्य मरकतादिमणेर्मलपङ्कादिदिग्धस्य यावन्नाद्यापि समूलमलापगमस्तावद्यथा यथा देशतो मलाविलयस्तथा तथा देशतोऽभिव्यक्तिरुपजायते, सा च काचित्कदाचित्कथञ्चिद्भवति इत्यनेकप्रकारा, तथाऽऽत्मनोऽपि सकलकालावलम्बिनिखिलपदार्थपरिच्छेदकरणैकपारमार्थिकस्वरूपस्याप्याऽऽवरणमलपटलतिरोहितस्वरूपस्य यावन्नाद्यापि निखिलकर्ममलापगमस्तावद्यथा देशतः कर्ममलोच्छेदः तथा तथा देशतः तस्य विज्ञप्तिरुज्जृम्भते, सा च क्वचित्कदाचित्कथञ्चिदित्यनेकप्रकारा । उक्तं च-"मलविद्धमणेर्व्यक्ति-र्यथाऽनेकप्रकारतः । कर्मविद्धाऽऽत्मविज्ञप्ति-स्तथाऽनेकप्रकारतः" ॥१॥ सा चानेकप्रकारतः मतिश्रुतादिभेदेनावसेया । ततो यथा मरकतमणेरशेषमलापगमसंभवे समस्तास्पष्टदेशव्यक्तिव्यवच्छेदेन परिस्फुटरूपैकाऽभिव्यक्तिरुपजायते, तद्वदात्मनोऽपि ज्ञानदर्शनचारित्रप्रभावतो निःशेषाऽऽवरणप्रहाणादशेषदेशज्ञानव्यवच्छेदेनैकरूपा अतिपरिस्फुटा सर्ववस्तुपर्यायसाक्षात्कारिणी विज्ञप्तिरुल्लसति । तथा चोक्तम्-" यथा जात्यस्य रत्नस्य, निःशेषमलहानितः । स्फुटैकरूपाभिव्यक्ति-र्विज्ञप्तिस्तद्वदात्मनः " ॥ १ ॥ ततो मत्यादिनिरपेक्षं केवलज्ञानम् । नं० । तथा चागमः-" केवली णं भंते ! आयाणेहिं जाणइ पासइ ? गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं ? गोयमा ! केवली णं पुरच्छिमेणं मियं पि जाणइ, अमियं पि जाणइ० जाव निव्वुडे दंसणे केवलिस्स से तेणट्ठेणं जीवाण य सुहं दुक्खं जीवे जीवइ तहेव भविया य एगंतदुक्खवेयण अत्तमाया य केवली,सेवं भंते ! भंते त्ति । " भ० ६ श० १० उ० । अथ वा शुद्धं केवलं, तदाऽऽवरणमलकलङ्कस्य निःशेषतोऽप्युपगमात्; सकलं वा केवलं, प्रथमत एवाशेषतदाऽऽवरणापगमतः संपूर्णोत्पत्तेः; असाधारणं वा केवलम्, अनन्यसदृशत्वात्, अनन्तं वा केवलं,ज्ञेयानन्तत्वात् । केवलं च तज्ज्ञानं च केवलज्ञानम् । नं० ।

अथ किंस्वरूपं केवलज्ञानम् ?, इत्याह-

स्वरूपमात्मनो ह्येतत्, किं त्वनादिमलाऽऽवृतम् ।
जात्यरत्नांशुवत्तस्य, क्षयात्स्यात्तदुपायतः ॥ ३ ॥

स्वरूपं स्वभाव एव, अवधारणार्थस्य हिशब्दस्येह संबन्धात् । कस्येत्याह-आत्मनो जीवस्य एतत् केवलज्ञानम् । एतेन चेदमुक्तं भवति-न प्रतिबियोगमात्रं केवलज्ञानं, तस्याभावरूपत्वात् । नाप्यात्मनो भिन्नं, पुरुषान्तरज्ञानसंवेदनप्रसङ्गात् । नापि समवायवशात् तत्र वर्तत इति समवायकृतो विशेषः, तस्यैकत्वेन सर्वत्र तद्वर्तनप्रसङ्गादिति । ननु यद्येतदात्मनः स्वरूपं तत्कुतः सदा नोपलभ्यते ?, इत्यत्राह-किं तु केवलमनादिरप्राथम्यो योमलो ज्ञानावरणादिकर्मरूपः,तेनावृतमाच्छादितम्; अनादिमलावृतमिति कृत्वा सदा नोपलभ्यते । अनादित्वं च कर्ममलस्य प्रवाहापेक्षया, सादित्वे चास्य मुक्तस्येव बन्धाभावः स्यादिति । किंवदित्याह-जात्यं प्रधानं यद्रत्नं माणिक्यमरकतादि,तस्यांशवः किरणास्त इव, जात्यरत्नांशुवत् तस्यानादिमलस्य, क्षयाद्विनाशात्, स्यात्संजायते तत्केवलज्ञानम् । मलक्षय एव कथं स्यादित्याह-उपायतः उपायाद्धेतोः,सामायिकाद्यासेवनात् । नन्वनादित्वादेव न युक्तोऽस्य कर्ममलवियोगो व्योमात्मनोरिव । नैवम् । अनादित्वेऽपि रत्नांशुमलसंयोगस्योपायतः क्षयदर्शनात् । आह च-"जह वह कंचणोवल-संजोगोऽणाइ संतइगओ वि । वोच्छिज्जइ सुवायं, तह जोगो जीवकम्माणं ॥ ३ ॥ "

नन्वाऽऽत्मस्वरूपत्वेऽपीदं केवलज्ञानं कथं लोकालोकप्रकाशकमित्यत आह-

आत्मनस्तत्स्वभावत्वा-ल्लोकालोकप्रकाशकम् ।
अत एव तदुत्पत्ति-समयेऽपि यथोदितम् ॥ ४ ॥

आत्मनो जीवस्य, तल्लोकालोकप्रकाशनं, स्वभावो यस्य स तथा, तद्भावस्तत्त्वं, तस्मात्तत्स्वभावत्वात्, लोकालोकप्रकाशकं सकलपदार्थसार्थाविर्भावकमित्यर्थः, केवलमिति प्रकृतम् । ननूत्पत्तिसमये तद्यथोक्तप्रकाशं न संगतम्,उत्पद्यमानत्वात् दीपादिरिव । दीपो हि क्रमेण स्वप्रकाश्यं प्रकाशयतीत्यत आह-(अत एवेति) यत एव तल्लोकालोकप्रकाशकस्वभावात्मरूपम् अत एव कारणात्तत्केवलज्ञानमुत्पत्तिसमयेऽपि प्रादुर्भावक्षणेऽपि, आस्तामुत्पत्तिसमयानन्तरम् । यथोदितमुक्तस्वरूपमेव, युगपल्लोकालोकप्रकाशकमित्यर्थः ॥४॥ हा० ३ अष्ट० । सम्म० ।

(३) तल्लक्षणम् । सकलप्रत्यक्षं लक्षयन्ति-

सकलं तु सामग्रीविशेषतः समुद्भूतसमस्तावरणक्षयाऽपेक्षं निखिलद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिस्वरूपं केवलज्ञानमिति ॥२३॥

सामग्री सम्यग्दर्शनादिलक्षणाऽन्तरङ्गा, बहिरङ्गा तु जिनकालिकमनुष्यभवादिलक्षणा, ततः सामग्रीविशेषात्प्रकर्षप्राप्तसामग्रीतः,समुद्भूतो यः समस्तावरणक्षयः सकलघातिसंघातविघातः,तदपेक्षं सकलवस्तुप्रकाशस्वभावं,केवलज्ञानं ज्ञातव्यम् ।

(४) केवलज्ञानस्य सिद्धिः-

यस्तु नैतदमंस्त मीमांसकः, मीमांसनीया तन्मनीषा । तथाहि-बाधकभावात्साधकाभावाद्वा सकलप्रत्यक्षप्रतिक्षेपः क्रियेत । आद्यपक्षे प्रत्यक्षम्,अप्रत्यक्षं वा बाधकमभिदध्याः ? । प्रत्यक्षं चेत्पारमार्थिकं, सांव्यवहारिकं वा ? । पारमार्थिकमपि विकलं, सकलं वा ? । विकलमप्यवधिलक्षणं, मनःपर्यायरूपं वा ? । नैतत्पक्षद्वयमपि क्षेमाय, द्वयस्यास्य क्रमेण रूपिद्रव्यमनोवर्गणागोचरत्वेन तद्बाधनविधावधीरत्वात् । सकलं चेत्, अहो ! शुचिविचारचातुरी, यत्केवलमेव केवलप्रत्यक्षस्याभावं विभावयतीति वदति, वन्ध्याऽपि प्रसूतामिदानीं स्तनन्धयान्, वान्ध्येयोऽपि च विधत्तामुत्तंसान् । सांव्यवहारिकमप्यनिन्द्रियोद्भवम्, इन्द्रियोद्भवं वा ? । न तावत् प्रथमम्, अस्य प्रातिभाऽतिरिक्तस्य स्वात्माविष्वग्भूतसुखादिमात्रगोचरत्वात् । प्रातिभं तु तद्बाधकं नानुभूयत एव । ऐन्द्रियं तु स्वकीयं, परकीयं वा ? । स्वकीयमपीदानीमत्र तद्बाधेत, सर्वत्र सर्वदा वा ? । प्राचि पक्षे पिष्टं पिनष्टि भवान्, तथा तदभावस्यास्माभिरप्यभीष्टेः । द्वितीये तु सर्वदेशकालानाकलय्येदं तदभावमुद्भावयेत्, इतरथा वा ? । आकलय्य चेदाकालं नन्दताद्भवान्, भवत्येव सकलकालकलाकलापाशेषदेशविशेषवेदिनि वेदनस्य तादृशप्रसिद्धेः । अनाकलय्य चेत्, कथं सकलदेशकालाऽनाकलने सर्वत्र सर्वदा वेदनं तादृक् नास्तीति प्रतीतिरुल्लसेत्, परकीयमपीदानीमत्र

तद्भावं बाधेत, सर्वत्र सर्वदा वेत्यादिविकल्पजालजर्जरीभूतं न तद्बाधनधुरां धारयितुं धीरतां दधाति । कथं वा परगृहरहस्याभिज्ञो भवानेवमजुत ? । तादृक्प्रत्यक्षप्रतिक्षेपदक्षं प्रत्यक्षं प्रावर्तिष्ट ममेति तेन कथनाच्चेत्; यदि कथिते प्रत्ययः, तर्हि तादृक्षाध्यक्षप्रतिक्षेपि प्रत्यक्षं नास्त्येव, इत्युत्तम्भितहस्ता वयं व्याकुर्म्महे इति किं न तथाऽनुमन्यसे ?। अथ न यौष्माकीणः प्रमाणप्रवीणः समुल्लापः, परकीयः कथमिति वाच्यम् ? । न खल्वयं स्वप्रत्यक्षं त्वत्प्रत्यक्षं कर्तुं शक्नोति, वचसा तु यथाऽसौ कथयति, तथा वयमपि । अथ तदुपदर्शितेऽर्थे संवादात्तद्वचः प्रमाणम् । नन्वेवं प्रत्यक्षम्, अप्रत्यक्षं वा संवादकं स्यात् ? इत्यादि पूर्वोक्तावर्त्तनेनानवस्थावल्लिरुल्लसन्ती कथं कर्तनीया ?। किञ्च संविदामिन्द्रियागोचरत्वादैन्द्रियमध्यक्षं सकलप्रत्यक्षस्य विधौ, प्रतिषेधे वा मूकमेव वराकम् । न च त्वन्मतेनाऽभावः प्रत्यक्षेण प्रेद्यते । तथात्वे हि किमिदानीमपहृतसर्वस्वेन तपस्विनाऽभावप्रमाणेन कर्त्तव्यम् ? । तन्न प्रत्यक्षं तद्बाधविधानसंविधानोद्धुरम् । अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षाभावमात्रम्, अपरप्रमाणरूपं वा प्रणिगद्येत ? । आद्यं चेत् तर्हि निद्राणदशायामप्यस्तम्भकुम्भाम्भोरुहाम्भोधरादिगोचरप्रत्यक्षाभावात् तेषामभावो भवेत् । द्वितीयं चेद्भावस्वभावम्, अभावस्वभावं वा ? । भावस्वभावमप्यनुमानम्, शाब्दम्, अर्थापत्तिः, उपमानं वा ?। अनुमानं चेत्, कस्तत्र धर्मी ?–सकलप्रत्यक्षं, पुरुषो वा कश्चित् ?। सकलप्रत्यक्षं चेत्, तत्रोपादीयमानः समस्तो हेतुराश्रयासिद्धतामाश्रयेत् , भवतस्तस्याऽप्रसिद्धेः । पुरुषोऽपि सर्वज्ञः, तदन्यो वा धर्म्मी वर्ण्येत ?। सर्वज्ञश्चेत्, किं सर्वज्ञत्वेन निर्णीतः, पराभ्युपगतो वा ?। निर्णीतश्चेत् कथं तत्र तादृक्प्रत्यक्षप्रतिक्षेपः प्रेक्षाकारिणः कर्तुमुचितः ?, तन्निर्णायकप्रमाणेनैव तद्बाधनात् । अथ सर्वज्ञत्वेन परैरभ्युपगतः पुमान् वर्द्धमानादिर्धर्मी, तर्हि किं तत्र साध्यम् ?–नास्तित्वम्, असर्वविस्त्वं वा ?। न तावन्नास्तित्वं, तथाविधपुरुषमात्रसत्तायामुभयोरविवादात्, तथा व्यवहारपारमार्थिकापारमार्थिकत्व एव विप्रतिपत्तेः । असर्वविस्त्वं चेत्, कस्तत्र हेतुः ?–उपलब्धिः,अनुपलब्धिर्वा ?। उपलब्धिश्चेत्, अविरुद्धोपलब्धिः,विरुद्धोपलब्धिर्वा ?।,अविरुद्धोपलब्धिस्तावद् व्यभिचारिणी, नित्यत्वनिषेधाभिधीयमानप्रमेयत्ववत् । विरुद्धोपलब्धिस्तु–किं साक्षाद्विरुद्धोपलब्धिः, विरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, विरुद्धकार्योपलब्धिः, विरुद्धकारणोपलब्धिः, विरुद्धसहचराद्युपलब्धिर्वा स्यात् ? । नाद्या, सर्वज्ञत्वेन साक्षात् विरुद्धस्य किञ्चिज्ज्ञत्वस्य तत्र प्रसाधकप्रमाणाभावात् । नाग्रेतनविकल्पचतुष्टयमपि घटामटाट्यते, प्रतिषेधस्य हि सर्वविस्त्वस्य विरुद्धं किञ्चिज्ज्ञत्वम्, तस्य च व्याप्यं कतिपयार्थसाक्षात्कारित्वं कार्यं, कतिपयार्थप्रज्ञापकत्वं कारणमावरणक्षयोपशमः, सहचरादि रागद्वेषादिकम्; न च विवादोपादाने पुंसि तेषामन्यतमस्यापि प्रसाधकं किञ्चित्प्रमाणं तत्रास्ति, यतस्तदुपलब्धीनां सिद्धिः स्यात् । वक्तृत्वरूपा विरुद्धकार्योपलब्धिरस्त्येव तन्निषेधे साधनं साधिष्ठमिति चेत् । ननु कीदृग् वक्तृत्वमत्र विवक्षाचक्षे, यत्सर्वविस्त्वविरुद्धस्य कार्यं स्यात् ?–प्रमाणविरुद्धार्थवक्तृत्वं, तदविरुद्धार्थवक्तृत्वं, वक्तृत्वमात्रं वा ? । आद्यभिदायाम् असिद्धं साधनम्, वर्द्धमानादौ भगवति तथाभूतार्थवक्तृत्वाभावात् । द्वितीयभिदि तु, नेयं विरुद्धकार्योपलब्धिः, किन्तु कार्योपलब्धिरेव तद्विधिसाधनी, धूमध्वजसिद्धिनिबन्धनोपन्यस्तधूमोपलब्धिवत्, तथा च विरुद्धो हेतुः । तृतीयभेदे त्वनेकान्तः, वक्तृत्वमात्रे सर्वविस्त्वकार्यस्यस्याविरोधात् । अनुपलब्धिरपि विरुद्धानुपलब्धिः, अविरुद्धानुपलब्धिर्वा ? । विरुद्धानुपलब्धिस्तावद्विधिसिद्धावेव साधीयस्तां दधाति, अनेकान्तात्मकं वस्तु, एकान्तस्वरूपानुपलब्धेः, इत्यादिवत् । अविरुद्धानुपलब्धिरपि स्वभावानुपलब्धिः, व्यापकानुपलब्धिः , कार्यानुपलब्धिः, कारणानुपलब्धिः, सहचराद्यनुपलब्धिर्वाऽभिधीयेत ? । स्वभावानुपलब्धिरपि सामान्येन, उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वविशेषणा वा व्याक्रियेत ?। पौरस्त्या तावत्पिशाचरादिना व्यभिचारिणी । द्वितीया पुनरसिद्धा, सर्वविस्त्वस्य स्वभावविप्रकृष्टत्वात् । व्यापकानुपलब्धिप्रभृतयोऽपि विकल्पा अल्पीयांसः, यतः सर्वविस्त्वस्य व्यापकं सकलार्थसाक्षात्कारित्वं कार्यमतीन्द्रियवस्तूपदेशः, कारणमखिलावरणविलयः, सहचरादि क्षायिकचारित्रादिकम्; न च तत्र तदनुपलब्धीनां सिद्धौ साधनं किञ्चित्तेऽस्ति, इत्यसिद्धा एवामूः । अथ सर्वज्ञादन्यः कश्चिद्धर्मी, तर्हि तस्यासर्वविस्त्वे साध्ये सिद्धसाध्यता, तन्नानुमानं तद्बाधकम् ॥ नापि शाब्दम्, यतस्तदपौरुषेयं, पौरुषेयं वा स्यात् ?। न तावदपौरुषेयम्, अपौरुषेयत्वस्य वचस्सु सम्भवाभावात् । पौरुषेयमपि केवलालोकाकलितपुरुषप्रणीतं, तदितरपुरुषप्रणीतं वा ? । आद्यं कथं बाधकं ?, विरोधात् । द्वितीये त्वसौ पुरुषः केवलालोकविकलाः सकलाः पुरुषपर्षदः प्रेक्षते, न वा ? । आद्यपक्षे, कथं तत्प्रतिषेधः ?। तस्यैव तदाकलितत्वात् । द्वितीयेऽपि कथन्तराम्, तत्प्रणीतशाब्दस्य पांशुलपादकोपदिष्टशब्दस्येव प्रमाणत्वासम्भवात् ॥ नाप्यर्थापत्तिस्तद्बाधिका, तदभावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कनिष्टङ्कितस्यार्थस्य कस्यचिदसत्त्वात् ॥ नाप्युपमानं, तस्य सादृश्यमात्रगोचरत्वात् । तन्न भावरूपं प्रमाणं तद्बाधकम् ॥ नाप्यभावरूपम्, तस्य सत्तापरामर्शिप्रमाणपञ्चकाप्रवृत्तौ सत्यां भावात् । न चासौ समस्ति विवादास्पदं कस्यचित्प्रत्यक्षं, प्रमेयत्वात्पटवत्, इति तद्ग्राहकानुमानस्य प्रवृत्तेः । तन्न बाधकभावात् सकलप्रत्यक्षाऽभावः । नापि साधकाभावाद्, अनुमानस्यैव तत्साधकस्येदानीमेव निवेदनात् । इति सिद्धं करतलकलितनिस्तुलस्थूलमुक्ताफलायमानाकलितसकलवस्तुविस्तारं केवलनामधेयं संवेदनम् । इति सिद्धमेवं केवलज्ञानम् ॥ २३ ॥ रत्ना० २ परि० ।

(इह दिङ्मात्रमुपदर्शितं, विस्तरस्तु सर्वज्ञसिद्धिप्रक्रियाऽवसरे वक्ष्यते मतिज्ञानादिज्ञानचतुष्कभणनानन्तरम्)

(५) इदानीमवसरप्राप्तं केवलज्ञानं प्रतिपादयन्नाह–

अह सव्वदव्वपरिणा–मभावविण्णत्तिकारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाई, एगविहं केवलं णाणं ॥ ७७ ॥

अथशब्द इहोपन्यासार्थः, पूर्वसमुद्देशसूत्रे मनःपर्यायानन्तरं केवलज्ञानमुपन्यस्तं, तत्संप्रति तात्पर्यनिर्देशार्थमुपन्यस्यते, इति पठितश्चाप्युपन्यासार्थोऽथशब्दः । यत उक्तम्–'अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलोपन्यासप्रतिवचनसमुच्चयेष्विति' । सर्वाणि च तानि द्रव्याणि च जीवादीनि, तेषां परिणामाः प्रयोगविस्रसोभयजन्या उत्पादादयः पर्यायाः सर्वद्रव्यपरिणामाः, तेषां भावः सत्ता स्वलक्षणं स्वं स्वमसाधारणं रूपं, तस्य विशेषेण ज्ञापनं विज्ञप्तिः, विज्ञानं वा विज्ञप्तिः, परिच्छेद इत्यर्थः । तस्याः कारणं हेतुः सर्वद्रव्यपरिणामविज्ञप्तिकारणं, केवलज्ञानमिति संबध्यते । उक्तं च–

"सव्वदव्वाण पओ-गवीससा-मीसजा जहाजोग्गं ।
परिणामा पज्जाया, जम्मविणासाइओ सव्वे ॥ ८२५ ॥
तेसिं भावो सत्ता, सलक्खणं वा विसेसओ तस्स ।
णाणं विसत्तीए, कारणं केवलणाणं " ॥ ८२६ ॥

तथा ज्ञेयानन्तत्वादनन्तं, तथा शश्वद्भवं शाश्वतं, सदोपयोगवदिति भावार्थः । तथा प्रतिपतनशीलं प्रतिपाति, न प्रतिपाति अप्रतिपाति, सदाऽवस्थायीति भावः । ननु यत् शाश्वतं तदप्रतिपात्येव,ततः किमनेन विशेषणेन?। तदयुक्तम्,सम्यक् शब्दार्थापरिज्ञानात्। शाश्वतं हि नाम अनवरतं भवदुच्यते, शश्वद्भवं शाश्वतमिति व्युत्पत्तेः । तच्च कियत्कालमपि भवति,यावद्भवति तावन्निरन्तरं भवनात्ततः सकलकालभावप्रतिपत्त्यर्थमप्रतिपाति विशेषणोपादानम् । एष तात्पर्यार्थः-अनवरतं सकलकालं भवतीति, अथवा एकपदव्यभिचारेऽपि विशेषणविशेष्यभावो भवतीति ज्ञापनार्थं विशेषणद्वयोपादानम् । तथाहि-शाश्वतमप्रतिपात्येव, प्रतिपाति तु शाश्वतमशाश्वतं च भवति । यथा अप्रतिपात्यवधिज्ञानमिति । तथा एकविधमेकप्रकारं, तदावरणक्षयस्यैकरूपत्वात् ।

उक्तं च-

" पज्जायओ अणंतं, सासयमिह सदोवओगाओ ।
अव्वयओ पडिवादी, एगविहं सव्वसुद्धीए " ॥ ८२८ ॥

(विशे०) केवलं च तद् ज्ञानं च केवलज्ञानम् । आ० म०प्र० । (६) अथ साद्यपर्यवसितं केवलज्ञानं सूत्रे प्रदर्शितम् । अनुमानं च तथाभूतस्य तस्य प्रतिपादकं संभवति । तथाहि-घातिकर्मचतुष्टयक्षयादाविर्भूतत्वात् केवलं सादि । न च तथोत्पन्नस्य पश्चात्तस्यावरणमस्त्यतोऽनन्तमिति न पुनरुत्पद्यते,विनाशपूर्वकत्वादुत्पादस्य ।

न हि घटस्याविनाशे कपालानामुत्पादो दृष्ट इत्यनुत्पादव्ययात्मकं केवलमित्यभ्युपगमवतो निराकर्तुमाह-

केवलणाणं साई, अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते ।
तेत्तियमित्तो तूणा, केइ विसेसं ण इच्छंति ॥ ८८ ॥

केवलज्ञानं साद्यपर्यवसितमिति दर्शितं सूत्रे इत्येतावन्मात्रेण गर्विताः केचन विशेषं पर्यायं पर्यवसितत्वस्वभावं विद्यमानमपि नेच्छन्ति, ते न च सम्यग्वादिनः ॥ ८८ ॥

यतः—

जे संघयणाईया, भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया ।
ते सिज्झमाणसमये, ण होंति विगयं तओ होई ॥८९॥

ये वज्रऋषभनाराचसंहननादयो भवस्थकेवलिजन्मपुद्गलप्रदेशयोरन्योऽन्यानुवेधात् व्यवस्थितेः विशेषपर्यायाः, ते सिध्यत्समये अपगच्छन्ति । तदपगमे तदव्यतिरिक्तस्य केवलज्ञानस्याप्यात्मद्रव्यद्वारेण विगमात्; अन्यथाऽवस्थातुरवस्थानामात्यन्तिकभेदप्रसक्तेः; केवलज्ञानं ततो विगतं भवतीति सूत्रकृतोऽभिप्रायः ।

विनाशवत्केवलज्ञानस्योत्पादोऽपि सिद्ध्यत्समय इत्याह-

सिद्धत्तणेण य पुणो, उप्पन्नो एस अत्थपज्जाओ ।
केवलभावं तु पडुच्च केवलं दाइयं सुत्ते ॥ ९० ॥

सिद्धत्वेनाशेषकर्मविगमस्वरूपेण पुनः पूर्ववदुत्पन्न एष केवलज्ञानाख्योऽर्थपर्यायः, उत्पादविगमध्रौव्यात्मकत्वाद् वस्तुनोऽन्यथा वस्तुहानिः। यत्त्वपर्यवसितत्वं सूत्रे केवलस्य दर्शितं,तत्तस्य केवलभावं सत्तामात्रमाश्रित्य, कथञ्चिदात्मव्यतिरिक्तस्वात्तस्यात्मनश्च द्रव्यरूपतया नित्यत्वात् ॥ ९० ॥

ननु केवलज्ञानस्याऽऽत्मरूपतामाश्रित्य तस्योत्पादविनाशाभ्यां केवलस्य तौ भवतः, न चात्मनः केवलरूपतेति कुतस्तद्द्वारेण तस्य ताविस्याह-

जीवो अणाइणिहणो, केवलणाणं तु साइयमणंतं ।
इय थोरम्मि विसेसे, कह जीवो केवलं होई ? ॥९१॥

जीवोऽनादिनिधनः,केवलज्ञानं तु साद्यपर्यवसितम्,इति स्थूरे विरुद्धधर्माध्यासलक्षणे विशेषे छायाऽऽतपवदत्यन्तभेदात् कथं जीवः केवलं भवेत् ?,जीवस्यैव तावत् केवलरूपता असङ्गता दूरतः संहननादेरिति भावः।

तम्हा अन्नो जीवो, अन्ने णाणाइपज्जवा तस्स ।
उवसमियाईलक्खण-विसेसओ केइ इच्छंति ॥ ९२ ॥

तस्माद् विरुद्धधर्माध्यासतोऽन्यो जीवः,अन्ये ज्ञानादिपर्यायाः,लक्षणभेदाच्च तयोर्भेदः। तथाहि-ज्ञानदर्शनयोः क्षायिकः, क्षायोपशमिको वा भावो लक्षणम् । जीवस्य तु पारिणामिकादिभावो लक्षणमिति केचित् व्याख्यातारः प्रतिपन्नाः।

एतन्निषेधायाऽऽह-

अह पुण पुव्वपउत्तो, अत्थो एगंतपक्खपडिसेहो ।
तह वि उयाहरणमिणं,ति हेउपडिजोयणं वोच्छं ॥९३॥

यद्यप्ययं पूर्वमेव द्रव्यपर्यायो भेदाभेदैकान्तपक्षप्रतिषेधलक्षणोऽर्थः प्रयुक्तो योजितः । " अप्पायठी भंगा " इत्यादिना अनेकान्तव्यवस्थापनात् , तथापि केवलज्ञानेनैकान्तात्मकैकप्ररूपप्रसाधकस्य हेतोः साध्येनानुगमप्रदर्शकप्रमाणविषयमुदाहरणमिदमुत्तरगाथया वक्ष्ये ॥ ९३ ॥

तदेवाऽऽह-

जह कोइ सट्ठिवरिसो, तीसइवरिसो णराहिवो जाओ ।
उभयत्थ जायसद्दो, वरिसविभागं विसेसेइ ॥ ९४ ॥

यथा कश्चित्पुरुषः षष्टिवर्षः सर्वायुष्कमाश्रित्य, त्रिंशद्वर्षः सन्नराधिपो जातः, उभयत्र मनुष्ये राजनि च जातशब्दोऽयं प्रयुक्तो वर्षविभागमेवास्य दर्शयति । षष्टिवर्षायुष्कस्य पुरुषसामान्यस्य नराधिपपर्यायो जातोऽभेदाध्यवसितभेदात्मकत्वात् पर्यायस्य, नराधिपपर्यायात्मकत्वेन वाऽयं पुरुषः पुनर्जातो, भेदानुषक्ताभेदात्मकत्वात् । सामान्यस्यैकान्तभेदे अभेदे तयोरभावप्रसङ्गान्निराश्रयस्य पर्यायप्रादुर्भावस्य तद्विकलस्य वा सामान्यस्यासंभवात् संशयविरोधवैयधिकरण्येऽनवस्थोभयदोषादीनामनेकान्तवादे च प्रागेव निरस्तत्वात् ॥९४॥

दृष्टान्तं प्रसाध्य दार्ष्टान्तिकयोजनायाऽऽह-

एवं जीवद्दव्वं, अणाइनिहणमविसेसियं जम्हा ।
रायसरिसो उ केवलि-पज्जावो तस्स सविसेसो ॥९५॥

एवमनन्तरोक्तदृष्टान्तवज्जीवद्रव्यमनादिनिधनमविशेषितभव्यजीवरूपं सामान्यं, यतो राजत्वपर्यायसदृशः केवलित्वपर्यायस्तस्य तथाभूतजीवद्रव्यस्य विशेषस्तस्माद् तेन रूपेण जीवद्रव्यसामान्यस्यापि कथञ्चिदुत्पत्तेः सामान्यमप्युत्पन्नं, प्राक्तनरूपस्य विगमात् । सामान्यमपि तदभिन्नं कथञ्चिद्विगतपू-

र्वोत्तरपिण्डघटपर्यायपरित्यागोपादानप्रवर्तकमृद्द्रव्यवत्केवलरूपतया जीवरूपतया वा अनादिनिधनत्वाच्चिन्त्यं द्रव्यमभ्युपगन्तव्यं,प्रतिक्षणभाविपर्याययुतस्य च मृद्द्रव्यस्याध्यक्षतोऽनुभूतेर्न दृष्टान्तासिद्धिः । तस्मात्केवलं कथञ्चित्सादिकं, कथञ्चिदनादिकं, कथञ्चित्सपर्यवसानं, कथञ्चिदपर्यवसानं सत्त्वादात्मवदिति स्थितम् ॥ ९५ ॥

न द्रव्यं पर्यायेभ्यो भिन्नमेवेत्याह–

जीवो अणाइनिहणो, जीव त्ति य णियमओ ण वत्तव्वो ।
जं पुरिसाउयजीवो, देवाउयजीवियविसिट्ठो ॥ ९६ ॥

जीवोऽनादिनिधनो जीव एव विशेषविकल्प इति न नियमतो वक्तव्यं, यतः पुरुषायुष्कजीवो देवायुष्कजीवाद्विशिष्टो जीव एव इति तत्त्वभेदे पुरुषजीव इत्यादिभेदो न भवेत्, केवलस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययाभिधानान्निर्निमित्तस्यापि विशेषप्रत्ययाऽभिधानस्य संभवे सामान्यस्याभिधानस्यापि निर्निमित्तस्यैव भावात्तन्निबन्धनसामान्याऽभ्युपगमोऽप्ययुक्तः स्यादिति सर्वाभावः । न च विशेषप्रत्ययस्य बाधारहितस्यापि मिथ्यात्वम्, इतरथाऽपि तत्प्रसक्तेरिति प्रतिपादनात्, केवलज्ञानस्य कथञ्चिदात्मव्यतिरेकादात्मनो वा केवलज्ञानाव्यतिरेकात् ॥ ९६ ॥

कथञ्चिदेकत्वं तयोरित्याह–

संखेज्जमसंखेज्जं, अणंतकप्पं च केवलं णाणं ।
तह रागदोसमोहा, अन्ने वि य जीवपज्जाया ॥ ९७ ॥

आत्मन एकत्वात् कथञ्चित्तदव्यतिरिक्तं केवलमप्येकम्, केवलस्य वा ज्ञानदर्शनरूपतया द्विरूपत्वात्तदव्यतिरिक्त आत्माऽपि द्विरूपोऽसङ्ख्येयप्रदेशात्मकत्वादात्मनः केवलमप्यसङ्ख्येयम् । अनन्तार्थविषयतया केवलस्यानन्तत्वादात्माऽप्यनन्तः, एवं रागद्वेषमोहा अन्येऽपि जीवपर्याया छद्मस्थाऽवस्थाभाविनः सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तप्रकारा आत्मव्यभेदात्तदात्मकत्वात्स आत्माऽपि तद्वत् तथैव स्यात् । सोमिलब्राह्मणप्रश्नप्रतिवचने चागमे एतदर्थं प्रतिप्रश्न उत्तरम्—" सोमिल ! एगे वि अहं० जाव अणेगभूयभावभविए य अहं । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ एगे वि अहं " इत्याद्युत्तरहेतुप्रश्ने हेतुप्रतिपादनम्–" सोमिल ! दव्वट्ठयाए एगे अहं णाणदंसणट्ठयाए अणेगे अहं " इत्यादि प्रकृतार्थसंवादिसिद्धे रागादीनां चैकाद्यनन्तभेदत्वमात्मपर्यायत्वात्, यो ह्यात्मपर्यायः स एकाद्यनन्तभेदो, यथा केवलावबोधः, तथा च रागादय इति स्थित्युत्पत्तिनिरोधात्मकत्वमर्हत्यपि सिद्धमिति । यत्परेणोक्तमनेकान्तात्मकत्वाभावेऽपि केवलिनि सत्त्वाद्, यत् सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमिति प्रतिपादकस्य शासनस्याव्यापकत्वात् कुसमयविशासित्वं तस्यासिद्धमिति, तत्प्रत्युक्तं द्रष्टव्यम् । सम्म० २ काण्ड ।

(७) अथेदं किं प्राप्य विषयं परिच्छिनत्ति, अप्राप्य वा ? ।

अप्राप्येति ब्रूमः, कथम् ?, यतः—

आत्मस्थमात्मधर्मत्वात्, संवित्त्या चैवमिष्यते ।
गमनादेरयोगेन, नान्यथा तत्त्वमस्य तु ॥ ५ ॥

आत्मनि जीवे शरीरपरिमाणे तिष्ठति इत्यात्मस्थम्, शरीरपरिमाणता चास्य तत्रैव तद्गुणोपलब्धेः। कुतः ? आत्मस्थं तदित्याह- आत्मधर्मत्वाद् जीवपर्यायत्वात् । यो हि यस्य धर्मः स तत्रैव वर्तते, यथा घटे रूपम्,आत्मधर्मश्च केवलज्ञानमिति,न केवलमात्मधर्मत्वात्तदात्मसंस्थं,संवित्त्या च स्वसंवेदनाच्च हेतोः। तथाहि- यद्यत्र संवेद्यते तत्तत्रैव प्रवर्तते,यथा घटे रूपं, संवेद्यते चात्मनि ज्ञानमित्यात्मस्थज्ञानसिद्धिः । तथा यद् यज् ज्ञानं तत्तदात्मस्थं, यथा रूपज्ञानं,ज्ञानं च केवलमिति । एवमनेन प्रकारेणाऽऽत्मस्थतालक्षणेनेष्यतेऽभिमन्यते, केवलमिति प्रक्रमः। तदेवं संवेदनात् प्रणालिकयाऽऽत्मस्थकेवलसिद्धिः। अथ वा आत्मस्थं केवलमात्मधर्मत्वात् । अथाऽऽत्मधर्मत्वमेव कथम् ?, इत्याह-संवित्त्या पुनरेवमात्मधर्मत्वेन इष्यते केवलज्ञानं, संवेद्यते ह्यात्मधर्मतया ज्ञानं,ज्ञानं च केवलमित्यात्मधर्मस्तदित्यात्मधर्मलक्षणहेतुसिद्धिः। तथा गमनादेः केवलज्ञानस्य ज्ञेयदेशे गत्यादेः,आदिशब्दात् ज्ञेयदेशं गत्वा पुनः स्वस्थानागमनग्रहः। अयोगेनायुज्यमानत्वेन,केवलस्य ज्ञेयदेशगमने आत्मनो निःस्वभावत्वं स्यात्,तत्स्वरूपत्वादात्मनः, केवलस्य चात्मधर्मत्वं न स्यात्, आत्मविरहेऽपि भावादिति । किमित्यत आह–नान्यथा नैवान्येन प्रकारेण प्राप्य परिच्छेदतो नात्मस्थतालक्षणेन तत्त्वं तत् रूपम्, अस्य केवलस्य, तुशब्दोऽवधारणे, तस्य च प्रयोगो दर्शित एव। ततो यदभिधीयते-"अज्ज वि धावइ नाणं, तह वि अलोओ अणंतओ चेव। अज्ज वि न कोइ एवं,पावइ सव्वन्नुयं जीवो ॥१॥" इति। तन्निरस्तमिति। अथ वा गमनादेरयोगेनाऽऽत्मस्थं तदिति योगोऽन्यथेति गमनादिसद्भावे पुनस्तत्त्वं केवलमस्य न स्यात्,केवलज्ञानं हि सकलज्ञानमुच्यते, अलोकस्यानन्तत्वेन गमनतः सकलो ज्ञातुमशक्यः । तुशब्दः पुनरर्थो, योजितश्चेति ॥ ५ ॥

अथ यदीदमात्मस्थमेव तदा कथं चन्द्रादिप्रभोपमानमेतदभिधीयते-" स्थितः शीतांशुवज्जीवः, प्रकृत्या भावशुद्धया । चन्द्रिकावच्च विज्ञानं, तदावरणमभ्रवत्" ॥ १ ॥ इति ।

अथोत्तरमाह मूलसूत्रम्-

यत्र चन्द्रप्रभाऽऽद्यत्र, ज्ञातं तज् ज्ञातमात्रकम् ।
प्रभा पुद्गलरूपा य–त्तद्धर्मो नोपपद्यते ॥ ६ ॥

आत्मस्थमेवेदं तावत्केवलज्ञानं,यत्त यत्पुनश्चन्द्रप्रभाऽऽदिः शीतांशुरश्मिप्रभृतिकम्, आदिशब्दादादित्यदीपादिपरिग्रहः । अत्र केवलज्ञानस्वरूपे ज्ञापयितव्ये प्रकाशमात्रसाधर्म्यात् ज्ञातं ज्ञापकम्। तत्किमित्याह–ज्ञातमेव ज्ञातमात्रं, तदेव चावगीतं ज्ञातमात्रकं,विशिष्टसाधर्म्याभावात् । कुत एतदेवमित्याह-प्रभा दीप्तिः,पुद्गलरूपा परमाणुप्रचयस्वभावा, यद् यस्मात्कारणात् ततोऽसौ प्रभा तद्धर्मश्चन्द्रादिपर्यायो नोपपद्यते, न घटते। न हि पुद्गलानां धर्मताऽस्ति,द्रव्यत्वात्, तदेवं केवलस्य जीवधर्मत्वात्, प्रभायाश्चाधर्मत्वात् न सर्वसाधर्म्यं, ततो ज्ञातमात्रकमेवैतदिति । अथ वा प्रभा पुद्गलरूपा यत्ततश्च प्रभाकेवलयोर्विशिष्टसाधर्म्याभ्युपगमे तदिति केवलज्ञानं धर्मो जीवपर्यायो नोपपद्यते,द्रव्यत्वेन प्रभायाः केवलस्यापि द्रव्यत्वप्राप्तेः,अन्यथा सर्वसाधर्म्यं न स्यादित्यतो ज्ञातमात्रमिति ॥ ६ ॥

पुनर्ज्ञातमात्रतामेवास्य समर्थयन्नाह–

अतः सर्वगताऽऽभास–मप्येतन्न यदन्यथा ।
युज्यते तेन सन्न्यायात्, संवित्त्याऽदोऽपि भाव्यताम् ॥७॥

अत एतस्माच्चन्द्रप्रभाज्ञानात्,सर्वेषु समस्तेषु वस्तुषु,गतः प्राप्तः, आभासः प्रकाशो यस्य तत्सर्वगताभासं, न केवलमात्मस्थमात्मधर्मो वा,न युज्यते सर्वगताभासमपि न युज्यत इति संबन्धः।

एतत्केवलज्ञानं, न नैव, यद् यस्मात्कारणात्, अन्यथा अनन्तरोक्तप्रकारात् प्रकारान्तरेण चन्द्रप्रभाज्ञातस्य सर्वसाधर्म्यज्ञातता-लक्षणे न युज्यते घटते। अघटना चैवम्-चन्द्रप्रभा हि न सर्वगताभासा, तत्साधर्म्याच्च केवलमपि तथा स्यादिति (तेनेति) तस्मात्कारणात् सन्न्यायादुक्तलक्षणया शोभनोपपत्त्या संवित्त्या स्वसंवेदनेन च अदोऽप्येतदपि प्रभाज्ञातस्य ज्ञातमात्रत्वमपि न केवलमात्मस्थत्वं केवलस्य भाव्यतां पर्यालोच्यताम्। तथाहि-संवेद्यत एव ज्ञातस्य ज्ञातमात्रत्वं प्रभायाः पुद्गलद्रव्यत्वेन, केवलस्य च जीवधर्मत्वेन वैधर्म्यस्य स्पष्टत्वादिति ॥७॥

अथ पूर्वोक्तस्वरूपं केवलज्ञानं निगमयन्नाह-

नाऽद्रव्योऽस्ति गुणोऽलोके, न धर्मान्तौ विभुर्न च ।
आत्मा तद्गमनाऽऽद्यस्य, नास्तु तस्माद्यथोदितम् ॥८॥

न नैव, अद्रव्यो द्रव्यवर्जितोऽस्ति विद्यते, गुणो धर्मः; "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः" इति वचनात्। अत आत्मगुणत्वात् केवलस्यात्मस्थमेव तदिति गर्भः। तथा अलोके केवलाऽऽकाशे, न नैव, धर्मश्च धर्मास्तिकायो जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भकारी, अन्तश्च पर्यवसानं, धर्मान्तौ, स्त इति गम्यते। इदमुक्तं भवति-लोके गमनसंभवात् संभवति तद्नात्मस्थमपि लोकप्रकाशम्, अलोके पुनर्धर्मास्तिकायाभावाद् गमनाभावेन अन्ताभावाच्च सर्वत्रालोकं गन्तुमशक्तत्वेनात्मस्थमेव सत्तदलोकप्रकाशकमिति। अथ सर्वगतत्वादात्मन आत्मस्थमपि केवलं लोकालोकप्रकाशकं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-विभुः सर्वव्यापी, नच नैव, आत्मा जीवः, शरीरमात्र एव चैतन्योपलब्धेरतः शरीरावगाहमानमेव सत्तत्सर्वाभासकमिति भावः। तदिति यस्मादेवं तस्मात्गमनादि गत्यादिका क्रिया, आदिशब्दादागमनपरिग्रहः। अस्य केवलज्ञानस्य, न नैवास्तीति गम्यते। अस्तु भवतु, तस्मात्कारणाद्, यथोदितं यथाऽभिहितमात्मस्थं केवलमित्यर्थः। इति ॥ ८ ॥ द्वा० ३० अष्ट०। (केवलज्ञानकेवलदर्शनयोर्युगपदुपयोगचिन्ता 'उवओग' शब्दे द्वितीयभागे ८६२ पृष्ठे कृता)

(८) तद्भेदाः-

से किं तं केवलनाणं ?। केवलनाणं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा-भवत्थकेवलनाणं च, सिद्धकेवलनाणं च। से किं तं भवत्थकेवलनाणं ?। भवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा-सजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अजोगिभवत्थकेवलनाणं च। से किं तं सजोगिभवत्थकेवलनाणं ?। सजोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा-पढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अपढमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च। अहवा चरमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अचरमसमयसजोगिभवत्थकेवलनाणं च। सेत्तं सजोगिभवत्थकेवलनाणं। से किं तं अजोगिभवत्थकेवलनाणं ?। अजोगिभवत्थकेवलनाणं दुविहं पण्णत्तं। तं जहा-पढमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अपढमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च। अहवा चरमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च, अचरमसमयअजोगिभवत्थकेवलनाणं च; सेत्तं अजोगिभवत्थकेवलनाणं।

(से किं तमित्यादि) अथ किं तत् केवलज्ञानम्?। सूरिराह-केवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-भवस्थकेवलज्ञानं, सिद्धकेवलज्ञानं च। भवन्ति कर्मवशवर्तिनः प्राणिनोऽस्मिन्निति भवो नारकादिजन्म, तत्र इह भवो मनुष्यभव एव ग्राह्यः, अन्यत्र केवलोत्पादाभावात्। भवे तिष्ठतीति भवस्थः। "स्थादिभ्यः कः" ॥५। ३। ८२। इति (हैम०) कः प्रत्ययः। तस्य केवलज्ञानं भवस्थकेवलज्ञानम्। चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। तथा 'षिधू' संसिद्धौ, सिध्यति स्म सिद्धः। यो येन गुणेन परिनिष्ठितो न पुनः साधनीयः स सिद्ध उच्यते। यथा सिद्ध ओदनः। स च कर्मसिद्धादिभेदादनेकविधः। उक्तं च-"कम्मे सिप्पे य विज्जाए, मंते जोगे अ आगमे। अत्थ जत्ता अभिप्पाए, तवे कम्मक्खए इय" ॥१॥ अत्र कर्मक्षयसिद्धेनाधिकारोऽन्यस्य केवलज्ञानाभावात्। अथवा सितं बद्धं ध्मातं भस्मीकृतमष्टप्रकारं कर्म येन स सिद्धः। "पृषोदरादयः"।३।२। ११५। इति (हेम०) रूपसिद्धिः। सकलकर्मविनिर्मुक्तो, मुक्ताऽवस्थामुपगत इत्यर्थः। तस्य केवलज्ञानं सिद्धकेवलज्ञानम्। अत्राऽपि चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। (से किं तमित्यादि) अथ किं तत् भवस्थकेवलज्ञानम्। भवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च, अयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च। तत्र योजनं योगो व्यापारः। उक्तं च-"कायवाङ्मनःकर्मयोगः" इह औदारिकादिशरीरस्याऽऽत्मनो वीर्यपरिणतिविशेषः काययोगः, औदारिकवैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतवाग्द्रव्यसमूहसाचिव्याज्जीवव्यापारो वाग्योगः। उक्तं च-"अहवा तणु जोगाहिय, वइदव्वसमूहजीववावारो। सो वयजोगो भण्णइ, वाया निसरिज्ज एतेणं" ॥ १ ॥ तथा औदारिकं वैक्रियाहारकशरीरव्यापाराहृतमनोद्रव्यसाचिव्याज्जीवव्यापारो मनोयोगः। उक्तं च-"तह तणु वावाराहिय-मणदव्वसमूहजीववावारो। सो मणजोगो भण्णइ, मन्नइ नेयं जओ तेण" ॥ १ ॥ ततः सह योगेन वर्तन्ते ये ते सयोगाः मनोवाक्कायाः, ते यथासंभवमस्य विद्यन्ते इति सयोगी, सयोगी चासौ भवस्थश्च सयोगिभवस्थः, तस्य केवलज्ञानं सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्। तथा योगोऽस्य विद्यते इति योगी, न योगी अयोगी, अयोगी चासौ भवस्थश्च अयोगिभवस्थः, शैलेश्यवस्थामुपगत इत्यर्थः। तस्य केवलज्ञानमयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्। अथ किं तत् सयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् ?। सयोगिभवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-प्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च, अप्रथमसमयसयोगिभवस्थकेवलज्ञानं च। तत्रेह प्रथमसमयः केवलज्ञानोत्पत्तिसमयः, अप्रथमसमयः केवलोत्पत्तिसमयादूर्ध्वं द्वितीयादिकः सर्वोऽपि समयो यावत्सयोगित्वचरमसमयः। अथ वेति प्रकारान्तरे, एष एवार्थः, समयविकल्पनेन अन्यथा प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। (चरमसमयेत्यादि) तत्र चरमसमयः सयोग्यवस्थाऽन्तिमसमयः, न चरमसमयः अचरमसमयः, सयोग्यवस्थाचरमसमयादर्वाक्तनः सर्वोऽप्याकेवलप्राप्तेः। "सेत्तमित्यादि" निगमनं सुगमम्। (से किं तमित्यादि) अथ किं तत् अयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् ?। अयोगिभवस्थकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम्। तद्यथा-प्रथमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानम्, अप्रथमसमयायोगिभवस्थकेवलज्ञानं च। अत्र प्रथमसमयोऽयोगित्वोत्पत्तिसमयो वेदितव्यः; शैलेश्यवस्थाप्रतिपत्तिसमय इत्यर्थः। प्रथमसमयादन्यः सर्वोऽप्यप्रथमसमयो यावच्छैलेश्यवस्थाचरमसमयः। अथवेति प्र-

कालान्तरे, (चरमसमयेत्यादि) इह चरमसमयः शैलेश्यवस्थाऽन्तिमसमयः, स चरमसमयादन्यः सर्वोऽप्यन्यः सर्वोऽप्यचरमसमयो यावच्छैलेश्यवस्थाचरमसमयः । " सेत्तं " अयोगिभवस्थकेवलज्ञानम्; तदेतदयोगिभवस्थकेवलज्ञानम् । नं० । स्था० ।

(९) सिद्धकेवलज्ञानस्य द्वैविध्यम्-

से किं तं सिद्धकेवलणाणं ?। सिद्धकेवलणाणं दुविहं पएणत्तं-अणंतरसिद्धकेवलनाणं च, परंपरसिद्धकेवलनाणं च ॥

" से किं तमित्यादि " अथ किं तत् सिद्धकेवलज्ञानम् ?। सिद्धकेवलज्ञानं द्विविधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा— अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं च, परम्परसिद्धकेवलज्ञानं च । तत्र न विद्यते अन्तरं समयेन व्यवधानं यस्य सोऽनन्तरः, स चासौ सिद्धश्चानन्तरसिद्धः, सिद्धत्वप्रथमसमये वर्तमान इत्यर्थः। तस्य केवलज्ञानमनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम्। चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः । तथा विवक्षिते प्रथमसमये यः सिद्धः तस्य यो द्वितीयसमयसिद्धः स परः, तस्यापि यस्तृतीयसमयसिद्धः स परः। एवमन्येऽपि वाच्याः। परे च परे चेति वीप्सायां "पृषोदरादयः" ॥३।२।१५५॥ इति परम्परशब्दनिष्पत्तिः । परम्परे च ते सिद्धाश्च परम्परसिद्धाः । विवक्षितसिद्धत्वप्रथमसमयात्प्राग् द्वितीयादिषु समयेष्वनन्तामतीताद्धां यावद्वर्तमाना इत्यर्थः। तेषां केवलज्ञानं परम्परसिद्धकेवलज्ञानम् । अत्रापि चशब्दः स्वगतानेकभेदसंसूचकः । नं० ।

(१०) संप्रति विशेषान्तरं जिज्ञासुरनन्तरसिद्धस्वरूपं शिष्यः प्रश्नयन्नाह—

से किं तं अणंतरसिद्धकेवलनाणं ?। अणंतरसिद्धकेवलनाणं पएणरसविहं पएणत्तं । तं जहा-तित्थसिद्धा १ अतित्थसिद्धा २ तित्थयरसिद्धा ३ अतित्थयरसिद्धा ४ सयंबुद्धसिद्धा ५ पत्तेयबुद्धसिद्धा ६ बुद्धबोहियसिद्धा ७ इत्थिलिंगसिद्धा ८ पुरिसलिंगसिद्धा ९ नपुंसयलिंगसिद्धा १० सलिंगसिद्धा ११ अन्नलिंगसिद्धा १२ गिहिलिंगसिद्धा १३ एगसिद्धा १४ अणेगसिद्धा १५ । सेत्तं अणंतरसिद्धकेवलनाणं ॥

अथ किं तत् अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानम् ?। सूरिराह-अनन्तरसिद्धकेवलज्ञानं पञ्चदशविधं प्रज्ञप्तम् । पञ्चदशविधता च तस्यानन्तरसिद्धानामनन्तरपाश्चात्यभवरूपोपाधिभेदापेक्षया, पञ्चदशविधत्वात्, ततोऽनन्तरसिद्धानामेवानन्तरभवोपाधिभेदतः, पञ्चदशविधतां मुख्यत आह-तद्यथेत्युपदर्शनम्, " तित्थसिद्धा " इत्यादि ।

से किं तं परंपरसिद्धकेवलनाणं ?। परंपरसिद्धकेवलनाणं अणेगविहं पएणत्तं । तं जहा-अपढमसमयसिद्धा दुसमयसिद्धा तिसमयसिद्धा चउसमयसिद्धा० जाव दससमयसिद्धा संखिज्जसमयसिद्धा असंखिज्जसमयसिद्धा अणंतसमयसिद्धा, सेत्तं परंपरसिद्धकेवलनाणं ।

" से किं तं परंपर " इत्यादि । न प्रथमसमयसिद्धा अप्रथमसमयसिद्धाः परंपरसिद्धविशेषणं प्रथमसमयवर्तिनः, सिद्धत्वसमयात् द्वितीयसमयवर्तिन इत्यर्थः । आदिषु द्वितीयसमयसिद्धादय उच्यन्ते। यद्वा-सामान्यतोऽप्रथमसमयसिद्धा इत्युक्तम् । तत एतदेव विशेषेण व्याचष्टे-द्विसमयसिद्धास्त्रिसमय इत्यादि । नं० ।

अणंतरसिद्धकेवलनाणे दुविहे पएणत्ते। तं जहा-एकाणंतरसिद्धकेवलनाणे चेव, अणेकाणंतरसिद्धकेवलनाणे चेव। परंपरसिद्धकेवलणाणे दुविहे पएणत्ते। तं जहा-एक्कपरंपरसिद्धकेवलणाणे चेव, अणेक्कपरंपरसिद्धकेवलणाणे चेव । स्था० २ ठा० १ उ० ।

द्रव्यक्षेत्रादिविषयाः-

तं समासओ चउव्विहं पएणत्तं । तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ । तत्थ दव्वओ णं केवलनाणी सव्वदव्वाइं जाणइ पासइ, खित्तओ णं केवलनाणी सव्वं खेत्तं जाणइ पासइ, कालओ णं केवलनाणी सव्वं कालं जाणइ पासइ, भावओ णं केवलनाणी सव्वे भावे जाणइ पासइ ।

(समासतो इत्यादि) तदिदं सामान्येन केवलज्ञानमभिधीयते । समासतः संक्षेपेण चतुर्विधं प्रज्ञप्तम् । तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतो, णमिति वाक्यालङ्कारे। केवलज्ञानी सर्वद्रव्याणि धर्मास्तिकायादीनि साक्षाज्जानाति, पश्यति । क्षेत्रतः केवलज्ञानी सर्वं क्षेत्रं लोकालोकभेदभिन्नं जानाति, पश्यति । इह यद्यपि सर्वद्रव्यग्रहणेनाऽऽकाशास्तिकायोऽपि गृह्यते, तथाऽपि तस्य क्षेत्रत्वेन रूढत्वाद्भेदेनोपन्यासः । कालतः केवलज्ञानी सर्वकालमतीतानागतवर्तमानभेदभिन्नं जानाति, पश्यति । भावतः केवलज्ञानी सर्वान् जीवाजीवगतान् भावान् गतिकषायागुरुलघुप्रभृतीन् जानाति, पश्यति । (अग्रेतनपाठस्तु ६४४ पृष्ठस्थ आ० म० प्र० पाठेन गतार्थः)

(११) इह तीर्थकृत्समुपजातकेवलालोकः तीर्थकरनामकर्मोदयतः तथास्वाभाव्याद्धुपकार्यकृतोपकारानपेक्षं सकलसत्त्वाऽनुग्रहाय सवितेव प्रकाशं देशनामातनोति; तत्राव्युत्पन्नविनेयानां केषाञ्चिदेवमाशङ्काभावात् भगवतोऽपि तीर्थकृतस्तावद् द्रव्यश्रुतं ध्वनिरूपं वर्तते, द्रव्यश्रुतं च भावश्रुतपूर्वकं, ततो भगवानपि श्रुतज्ञानीति; ततस्तदाऽऽशङ्काऽपनोदार्थमाह-

केवलनाणेणऽत्थे, नाउं जे तत्थ पएणवणजोग्गे ।
ते भासइ तित्थयरो, वइजोगसुयं हवइ सेसं ॥८२६॥ (नं०)

इह समुत्पन्नकेवलज्ञानः तीर्थकरादिरर्थान् धर्मास्तिकायादीन् मूर्ताऽमूर्तानभिलाप्याऽनभिलाप्यान् केवलज्ञानेनैव ज्ञात्वा अवबुध्य न तु श्रुतज्ञानेन, तस्य क्षायोपशमिकत्वात् । केवलिनश्चावरणस्य सर्वथा क्षीणत्वेन तत्क्षयोपशमाभावात्; नहि सर्वशुद्धे पटे देशशुद्धिः संभवति, तद्वदिहापीति भावः । ततः किम् ?, इत्याह-तत्र तेषामर्थानां मध्ये ये प्रज्ञापनीयाः प्ररूपणीयाः योग्यास्तानभिलाप्यान् भाषते, नेतरान्-अनभिलप्यान् । प्रज्ञापनीयानपि न सर्वानेव भाषते तेषामनन्तत्वात्, आयुषस्तु परिमितत्वात्, किं तर्हि, योग्यानेव भाषते गृहीतृशक्त्यपेक्षया, यो हि यावतां योग्य इति । यत्र चाऽभिहिते शेषमनुक्तमपि विनेयोऽभ्यूहति तदपि योग्यं भाषते, यथा ऋषभसेनादीनामुत्पादादिपदत्रयोपन्यासेनैव शेषगतिः । तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिर्भाष्यमाणः तस्य भगवतः । (वइजो-

ग त्ति) वाग्योग एव भवति, न तु श्रुतं, नामकर्मोदयजन्यत्वात्, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्, ज्ञानमप्यस्य क्षायिकत्वात्केवलमेव, न भावश्रुतम् । आह-ननु वाग्योगो वाक्परिस्पन्दो वाग्वीर्यमित्यनर्थान्तरम् । अयं च भवतु नामकर्मोदयजन्यः, भाष्यमाणस्तु पुद्गलात्मकः शब्दः किं भवतु ?, इति चेत् । उच्यते-सोऽपि श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतमात्रं भवति, न तु भावश्रुतम् । तर्हि किं तद् भावश्रुतम् ?, इत्याह-(सुयं हवइ सेसं ति) यच्छद्मस्थानां गणधरादीनां श्रुतग्रन्थानुसारि ज्ञानं तदेव केवलगतज्ञानापेक्षया शेषमन्यद्भावश्रुतं भवति, क्षायोपशमिकोपयोगात्, न तु केवलिगतं, तस्य क्षायिकत्वादिति । अथ वा 'सुयं हवइ सेसं' इत्यन्यथा व्याख्यायते-तद्भण्यमानं शब्दमात्रं तत्काल एव श्रुतं न भवति, किं तर्हि?, शेषं, कालमिति वाक्यशेषः । इदमुक्तं भवति-तत् केवलिनः शब्दमात्रं श्रोतॄणां श्रवणानन्तरलक्षणे शेषकाले श्रोतृगतज्ञानकारणत्वेनोपचारात् श्रुतं भवति, न तु भणनक्रियाकाल इति । अथ वा अन्यथा व्याख्यायते-स केवलिनः संबन्धी वाग्योगः श्रुतं भवति, कथंभूतम्?, शेषं-गुणभूतम्-प्रधानम्, औपचारिकत्वादिति । अन्ये तु पठन्ति -'वइजोगसुयं हवइ तेसिं ति' । तत्र तेषां भाष्यमाणानां संबन्धी वाग्योगः श्रोतृगतश्रुतकारणत्वात् श्रुतं भवति, द्रव्यश्रुतमित्यर्थः । अथ वा तेषामिति श्रोतॄणां तानाश्रित्येत्यर्थः, भावकगतं वाग्योग एव श्रुतं वाग्योगश्रुतं भवति, भावश्रुतकारणत्वाद्द्रव्यश्रुतमेवेत्यर्थः । अथ वा, तानर्थान् भाषते केवली, वाग्योगश्चायमस्य भाषमाणस्य भवति, तेषां श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् श्रुतमसौ भवतीति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ ८२९ ॥

अथ भाष्यम्-

नाऊण केवलेणं, भासइ न सुएण जं सुयाईओ ।
पन्नवणिज्जे भासइ, नाणज्जिप्पे सुयाईए ॥ ८३० ॥
तत्थ वि जोग्गे भासइ, नाजोग्गे गाहयाणुविच्चीए ।
भणिए व जम्मि सेसं, सयमूहइ भणइ तम्मत्तं ॥ ८३१ ॥
वइजोगो तं न सुयं, खओवसमियं सुयं जओ न तओ ।
विन्नाणं से खइयं, सद्दो उण दव्वसुयमित्तं ॥ ८३२ ॥
सेसं छउमत्थाणं, विन्नाणं सुयाणुसारेणं ।
तं भावसुयं भण्णइ, खओवसमिओवओगाओ ॥८३३॥
भन्नं तं वा न सुयं, सेसं कालं सुयं सुणेंताणं ।
तं चेव सुयं भण्णइ, कारणकज्जोवयारेण ॥ ८३४ ॥
अह वा वइजोगसुयं, सेसं सेसं ति जं गुणब्भूयं ।
भावसुयकारणाओ, जमप्पहाणं तओ सेसं ॥ ८३५ ॥
वइजोगसुयं तेसिं, ति केइ तेसिं ति भासमाणाणं ।
अह वा सुयकारणओ, वइजोगसुयं सुणेंताणं ।८३६।

सत्ताऽपि व्याख्यातार्था एव । नवरं, प्रथमगाथायां यद् यस्माच्छ्रुतातीतः केवलज्ञानेनैवाभासितसमस्तत्रिभुवनोदरत्वात् श्रुतातिक्रान्तोऽसौ भगवान् केवली (सुयाईए त्ति) वाग्गोचरातिक्रान्तत्वेन श्रुतातीतानर्थान् भाषत इति । तृतीयगाथायां (न तओ त्ति) तकः क्षयोपशमोऽस्य केवलिनो नास्तीति । विशे० ।

(१२) सत्पदप्ररूपणा-अथास्य गत्यादिद्वारेषु सत्पदप्ररूपणतादयो वाच्याः । तत्र गतौ तावत्-मनुष्यसिद्धयोः केवलज्ञानं प्राप्यते । इन्द्रियद्वारे-अतीन्द्रियाणाम्; कायद्वारे-त्रसकायाकाययोः; योगद्वारे-सयोगायोगयोः, वेदद्वारे-अवेदकानाम्; कषायद्वारे-अकषायाणाम्, लेश्याद्वारे-सलेश्यालेश्ययोः; सम्यक्त्वद्वारे-सम्यग्दृष्टीनाम्, ज्ञानद्वारे-केवलज्ञानिनाम्; दर्शनद्वारे-केवलदर्शनिनाम्; संयतद्वारे-संयतानाम्, नोसंयतासंयतानां च; उपयोगद्वारे-साकारानाकारोपयोगयोः; आहारकद्वारे- आहारकानाहारकयोः; भाषकद्वारे-भाषकाऽभाषकयोः; परीत्तद्वारे-परीत्तानां, नोपरीत्तापरीत्तानां च; पर्याप्तद्वारे-पर्याप्तानां, नोपर्याप्तापर्याप्तानां च; सूक्ष्मद्वारे-बादराणां, नोबादरसूक्ष्माणां च; संज्ञिद्वारे-नोसंज्ञ्यसंज्ञिनाम्; भव्यद्वारे-भव्यानां, नोभव्याभव्यानां च । चरमद्वारे-चरमाणां भवस्थकेवलिनां, नोचरमाचरमाणां च, सिद्धानां केवलज्ञानं प्राप्यते । पूर्वप्रतिपन्नप्रतिपद्यमानकयोजना तु स्वबुद्ध्या कर्तव्येति । द्रव्यप्रमाणद्वारे-प्रतिपद्यमानकानाश्रित्योत्कृष्टतोऽष्टोत्तरशतं केवलिनां प्राप्यते, पूर्वप्रतिपन्नास्तु जघन्यत उत्कृष्टतश्च कोटिपृथक्त्वप्रमाणा भवस्थकेवलिनः प्राप्यन्ते, सिद्धास्त्वनन्ताः । क्षेत्रस्पर्शनाद्वारयोस्तु जघन्यतो लोकस्यासंख्येयभागे केवली लभ्यते, उत्कृष्टतस्तु सर्वलोके । कालद्वारे-साद्यपर्यवसितं कालं सर्वोऽपि केवली भवति, अन्तरं तु केवलज्ञानस्य नास्ति, उत्पन्नस्य प्रतिपाताभावात्, भागद्वारं मतिज्ञानवदिति । भावद्वारे-क्षायिके भावे केवलमवाप्यते । अल्पबहुत्वद्वारे-मतिज्ञानवद्वाच्यमिति । तदेवं,केवलज्ञानं समाप्तम् । विशे० ।

तदेवं " तस्स फलजोगमंगल-समुदायत्था तहेव दाराइं " इत्यादिकायां धुरि निर्दिष्टद्वितीयगाथायां मङ्गलरूपं तृतीयद्वारं परिसमाप्य, चतुर्थं समुदायार्थद्वारमभिधानीयम्, इति चेतसि निधाय तावदिदमाह-

केवलनाणं नंदी, मंगलमिति चेह परिसमत्ताइं ।
अहुणा समंगलत्थो, भण्णइ पगओऽणुओग त्ति ।८३७।

विशे० । ध० र० । आ० चू० ।

(१३) अथ कीदृशं केवलज्ञानं भवति ?, तदाह-

जता से णाणावरणं, सव्वं होति खतं गतं ।
ततो लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥ ८ ॥

"जता से" इत्यादि । यदा यस्मिन्नवसरे, "से इति" अनिर्दिष्टनाम्नो जीवस्य ज्ञानावरणं विशेषावबोधरूपप्रस्तावात् केवलज्ञानावरणं सर्वं निरवशेषं क्षयं गतं भवति । ननु केवलज्ञानं तदैवोत्पद्यते यदा सर्वावरणविगमो भवतीति अर्थादागते किमर्थं सर्वग्रहणमित्याशङ्का । तत्रोच्यते-सर्वग्रहणं ज्ञानान्तरभेदसूचकं ज्ञेयं यावदावरणविगमे ज्ञानान्तरव्यपदेशाद् दर्शितः, ततो न निरर्थकता आशङ्कनीया । "तत" इति तदा लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकमलोकं चानन्तं जिनो जानाति केवली लोकालोकं च सर्वं नान्यतरमेवेत्यर्थः । दशा० ५ अ० । विशे० ।

अथाऽऽवरणक्षये केवलज्ञानलाभ इत्यत्र निश्चयव्यवहारनयवादमुपदर्शयन्नाह-

आवरणक्खयसमये, नेच्छइअनयस्स केवलुप्पत्ती ।
तत्तोऽणंतरसमये, ववहारो केवलं भणइ ॥ १३३४ ॥

निश्चयनयस्यायमभिप्रायः-यस्मिन्नेव समये आवरणस्य क्षयः-

क्षीयमाणमावरणमित्यर्थः । तस्मिन्नेव समये केवलज्ञानोत्पत्तिः क्षीयमाणस्य क्षीणत्वात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेकत्वाद्; भेदे चान्यत्र काले क्रिया, अन्यत्र च कार्योत्पत्तिरिति स्यात् । इदं चाऽयुक्तम् । क्रियाविरहेऽपि कार्योत्पत्त्यभ्युपगमात्,इत्थं च क्रियाऽऽरम्भकालात्पूर्वमपि कार्योत्पत्तिप्रासेरतिप्रसङ्गादिति । व्यवहारनयस्तु-आवरणक्षयसमयादनन्तरसमये केवलोत्पत्तिं भणति, आवरणस्य क्षयसमये क्षीयमाणत्वात्, क्षीयमाणस्य चाऽक्षीणत्वात्, क्रियाकालनिष्ठाकालयोर्भेदाद् ; तदेकत्वे च क्रियाकालेऽपि कार्यस्य सत्त्वे क्रियावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । न च समानकालभाविनोः क्रियाकार्ययोः कार्यकारणभावो युज्यते, सव्येतरगोविषाणादीनामपि तत्प्रसङ्गादिति ॥ १३३४॥

तथा च व्यवहारनयो निजपक्षं समर्थयति-

नाणं न खिज्जमाणे, खीणे जुत्तं जओ तदावरणे ।
न य किरियानिट्ठाणं, कालेगत्तं जओ जुत्तं ॥ १३३५ ॥

यस्मात्क्षीयमाणे तदावरणे ज्ञानमुत्पद्यते,इत्येतन्न युक्तम् । अस्य क्रियाकालत्वात्, तत्काले च कार्यसत्त्वाभ्युपगमस्य दूषितत्वात्; किं तु क्षीणे एव तदावरणे ज्ञानं युज्यते, अस्य निष्ठाकालत्वात्, न च क्रियानिष्ठयोः कालैकत्वं युज्यते, प्रतिविहितत्वादिति ॥ १३३५ ॥

अथ निश्चयः प्राह-

जइ किरियाए न खओ, को हेऊ तप्परिक्खए अन्नो ? ।
अह ताए किह काले,अण्णत्थ तई खओ एत्थ?॥१३३६॥

हन्त व्यवहारवादिन् ! आवरणस्य क्षये भवता केवलोत्पत्तिरिष्यते, न तु तत्र क्षीयमाणे । तदत्र भवन्तं पृच्छामः-आवरणक्षयकाले क्रियास्ति,न वा ? यदि नास्ति, तर्हि क्रियान्तरेणावरणक्षये कोऽन्यो हेतुरिति वक्तव्यम्?-न कोऽपि प्राप्नोतीत्यर्थः । अथास्त्यावरणक्षयकाले तद्धेतुभूता क्रिया,तया च तत्क्षयो विधीयते; तर्ह्यायातं क्रियाकालनिष्ठाकालयोरेकत्वम्, इति कथमुच्यते-'अन्यसमये क्रिया,अन्यत्र च तत्परिक्षयः'? ॥१३३६॥

किं च—

किरियाकालम्मि खओ, जइ नत्थि तओ न होज्ज पच्छा वि ।
जइ वा किरियस्स खओ,पढमम्मि वि कीस किरियाए?१३३७।

यदि क्रियाकालेऽप्यावरणक्षयो नास्ति, ततः पश्चादप्यसौ न भवेत्, अक्रियत्वात्, पूर्वकालवदिति । अथ वा यदि क्रियानिवृत्तौ द्वितीयसमयेऽक्रियस्य सत आवरणक्षयोऽभ्युपगम्यते, तर्हि क्रियाऽन्वितप्रथमसमये किं क्रियया?, तामन्तरेणाप्यावरणक्षयोपपत्तेः, क्रियाविरहितद्वितीयसमयवदिति ? ॥ १३३७ ॥

क्रियाकालनिष्ठाकालयोश्चैकत्वमागमेऽप्युक्तम्, इति निश्चयः स्वपक्षं द्रढयन्नाह-

जं निज्जरिज्जमाणं, निज्जिन्नं ति भणियं सुए जं च ।
नो कम्मं निज्जरिइ, नावरणं तेण तस्स मए ॥१३३८॥

यदस्माद् " चलमाणे चलिए० जाव निज्जरिज्जमाणे निज्जिन्ने " इति वचनान्निर्जीर्यमाणं कर्म निर्जीर्णं श्रुतेऽप्युक्तम्, अतः क्षीयमाणं क्षीणमेव, इति नानयोः कालभेदः । (जं च त्ति) यस्मादिदं चागमे प्रोक्तम् । किम् ? इत्याह-" कम्मं वेइज्जइ नो कम्मं निज्जरेज्ज " इति,एतावत् सूत्रं द्रष्टव्यं, वेद्यमानावस्थायां कर्म वेद्यते, निर्जरावस्थायां तु नोकर्म-अकर्मेत्यर्थः । अन्यश्च वेदनासमयः,अन्यश्च निर्जरासमयः । ततः तस्मात् कारणात्तत्समये आवरणक्षीयमाणतासमये-आवरणस्य निर्जरणसमये इत्यर्थः । (नावरणं ति) नास्त्यावरणं-नास्ति प्रतिबन्धकं कर्म, क्षीयमाणस्य क्षीणत्वादित्यर्थः ॥ १३३८ ॥

प्रतिबन्धकाभावाच्च भवत्येवावरणक्षीयमाणतासमये केवलज्ञानोत्पत्तिः,कस्तां निरुणद्धि?,अहमिति चेदित्याह-

जइ नाणमणावरणे,वि नत्थि तो तं न नाम पच्छा वि ।
जायं च अकारणओ,तमकारणओ च्चिय पडेज्जा॥१३३९॥

यद्यनावरणेऽप्यावरणाभावेऽपि केवलज्ञानमुत्पत्तिं न लभते, ततः पश्चादप्यावरणक्षयोत्तरकालं यदा किल त्वया इष्यते तदाऽपि तदुत्पत्तिर्न स्यात् । अथावरणाभावाविशेषेऽप्यावरणक्षयसमये केवलज्ञानं न भवति, तदुत्तरकालं तु पश्चाद्भवति, इति यदृच्छया प्रोच्यते; हन्त ! तर्ह्यकारणा यदृच्छयैव प्रसूतिरस्य, ततोऽकारणत एव जातम्, अकारणतयैव तत् प्रतिपतेत्, विशेषाभावादिति ॥ १३३९ ॥

तस्मात् किमिदं स्थितम् ?, इत्याह—

नाणस्सावरणस्स य, समयं तम्हा पगासतमसो व्व ।
उप्पायव्वयधम्मा, तह नेया सव्वभावाणं ॥ १३४० ॥

तस्मात्केवलज्ञानस्य तदावरणस्य च युगपदेवोत्पादव्ययधर्मौ द्रष्टव्यौ । कयोरिव ?, इत्याह—प्रकाशतमसोरिव । यथा हि युगपदेव तमो निवर्तते, प्रदीपादिप्रकाशस्तूत्पद्यते, इति य एव तमसो निवृत्तिसमयः स एव प्रकाशस्योत्पादसमयः एवमिहापि युगपदेवावरणं निवर्तते, केवलज्ञानं तूत्पद्यते । आत्मद्रव्यं स्ववतिष्ठते इति । य एवावरणस्य क्षयसमयः स एव केवलज्ञानस्योत्पादसमयः; तत्र हि समये आवरणस्य क्षीयमाणस्य क्षीणत्वात्, केवलज्ञानस्य चोत्पद्यमानस्योत्पन्नत्वात्, आत्मद्रव्यस्य त्ववस्थितत्वादिति । एवं सर्वेषामपि भावानां मृदङ्गुल्यादिपदार्थानां घटऋजुतादिभिरपूर्वपर्यायैरुत्पादः, पिण्डशिवकस्थासकोशादिभिः, वक्रत्वाभिश्च प्राक्तनपर्यायैर्व्ययः, मृदङ्गुल्यादिद्रव्यरूपतया त्ववस्थानं युगपद्भवतीति ज्ञातव्यमिति ॥१३४०॥

यदि चरमसमये केवललाभः, ततः किम्?, इत्याह-

उभयावरणाईओ, केवलवरनाणदंसणसहावो ।
जाणइ पासइ य जिणो, नेयं सव्वं सयाकालं ॥१३४१॥

ततश्च सर्वमपि ज्ञेयं साद्यपर्यवसितं सदाकालं जिनः केवली जानाति केवलज्ञानेन, पश्यति च केवलदर्शनेन । स कथंभूतः सन्?, केवलवरज्ञानदर्शनस्वभावस्तदव्यतिरिक्तस्वरूपः । तर्हि पूर्वमित्थमदृष्ट्वा किमितीदानीमिदं पश्यति ?, इत्याह-यत इदानीमुभयावरणातीतः केवलज्ञानकेवलदर्शनावरणद्वितयातीतत्वादित्यर्थः ॥ १३४१ ॥

अत एवाह-

संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं ।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥१३४२॥

सम्-एकीभावेन भिन्नं संभिन्नं-यथा बहिस्तथा मध्येऽपीत्यर्थः । अथ वा द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं सर्वमपि ज्ञेयमत्र के

वलज्ञानस्य विषयत्वेन दर्शितम्, तत्र संभिन्नमिति द्रव्यं गृह्यते, कालभावौ च तत्पर्यायत्वाद् गृह्येते; ताभ्यां च समस्ताभ्यां समन्ताद्वा भिन्नं संभिन्नमिति कृत्वा द्रव्यं संभिन्नमुच्यते। तत्पश्यन्नुपलभमानो 'लोकमलोकं च प्रसिद्धस्वरूपं पश्यन्' अनेन च क्षेत्रं प्रतिपादितं भवति। एतावदेव द्रव्यादिचतुर्विधं ज्ञेयं, नान्यदिति। किमेवमेकया दिशा पश्यन्?, इत्याह-सर्वतः सर्वासु दिक्षु। तास्वपि किं कियदपि द्रव्यादि, उत न?, इत्याह-सर्वं निरवशेषम्। अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह-तन्नास्ति किमपि ज्ञेयं भूतमतीतं, भवतीति भव्यं वर्तमानं, भविष्यच्च यन्न पश्यति केवली इति निर्युक्तिगाथाऽक्षरार्थः ॥ १३४२ ॥

संभिन्नं पश्यन्नित्युक्तं, तत्र संभिन्नम्, इति कोऽर्थः?, इत्याह-

बाहिं जहा तहंऽतो, संभिन्नं सव्वपज्जवेहिं वा।
अत्तपरनिव्विसेसं, स-परपज्जायओ वा वि ॥१३४३॥

यथा बहिस्तथाऽन्तश्चेति संभिन्नम्। अथवा-सर्वपर्यायैः संकीर्णं व्याप्तं संभिन्नम्, यदि वा-यथाऽऽत्मानं जानाति तथा परमपि, यथा परं तथाऽऽत्मानमपि निर्विशेषं जानाति, इत्येवं स्वपरानिर्विशेषं संभिन्नं, स्वपरपर्यायैर्वा युक्तं संभिन्नमिति ॥१३४३॥

अथवा-

संभिन्नग्गहणेणं, व दव्वमिह सकालपज्जवं गहियं।
लोगालोगं सव्वं, ति सव्वओ खित्तपरिमाणं ॥१३४४॥

संभिन्नग्रहणेनेह सकालपर्यायं द्रव्यं गृह्यते, कालश्च पर्यायाश्च कालपर्यायाः, सह तैर्वर्तत इति सकालपर्यायं, संभिन्नम्। "लोकालोकं च सर्वतः सर्वम्" इत्यनेन क्षेत्रपरिमाणं गृहीतम्। एतावदेव च ज्ञेयं यद्द्रव्यादिचतुष्टयमिति ॥ १३४४ ॥

तच्च पश्यन् किम्? इत्याह-

तं पासंतो भूया-ईं जं न पासइ तओ तयं नत्थि।
पंचत्थिकाय पज्जय-माणं नेयं जओऽभिहियं ॥१३४५॥

तच्च द्रव्यादि चतुर्विधं ज्ञेयं पश्यंस्तकोऽसौ केवली भूतादिकालत्रिशिष्टं तत्किमपि वस्तु नास्ति, यन्न पश्यति। कुतः?, इत्याह-यतो यस्मात्पञ्चास्तिकायपर्यायराशिप्रमाणमेव गेयमागमेऽभिहितं, नान्यत्। एतच्च द्रव्यादिचतुष्टयं न गृहीतमेवेति भावः ॥ १३४५ ॥ विशे०। आ० म०।

(१४) केवलज्ञानदर्शनयोः प्रतिबन्धः-

चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अस्सिं समयंसि अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे वि णो समुप्पज्जेज्जा, अभिक्खणं अभिक्खणं इत्थिकहं भत्तकहं देसकहं रायकहं कहेत्ता भवइ। १। विवेगेणं विउस्सग्गेणं णो सम्ममप्पाणं भावेत्ता भवइ। २। पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि णो धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ। ३। फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स णो सम्मं गवेसइत्ता भवइ। ४। इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा० जाव नो समुप्पज्जेज्जा, चउहिं ठाणेहिं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अइसेसे नाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे समुप्पज्जेज्जा। तं जहा-इत्थिकहं भत्तकहं देसकहं रायकहं णो कहेत्ता भवइ। विवेगेण विउस्सग्गेणं सम्ममप्पाणं भावेत्ता भवइ। पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरित्ता भवइ। फासुयस्स एसणिज्जस्स उंछस्स सामुदाणियस्स सम्मं गवेसइत्ता भवइ। ४। इच्चेएहिं चउहिं ठाणेहिं णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा० जाव समुप्पज्जेज्जा ॥

"चउहीत्यादि" सूत्रं स्फुटं, परं निर्ग्रन्थीग्रहणात् स्त्रिया अपि केवलमुत्पद्यत इत्याह-अस्मिन्निति प्रत्यक्ष इवानन्तं प्रत्यासन्ने समये (अइसेसे ति) शेषाणि मत्यादिचक्षुर्दर्शनादीनि अतिक्रान्तं सर्वावबोधादिगुणैर्यत्तदतिशेषमतिशयवतः केवलमित्यर्थः। (समुत्पत्तुकाममपीति) इहैवार्थो द्रष्टव्यः, ज्ञानादेरभिलापाभावात्कथयितेति शीलार्थिकस्तृन्। तेन द्वितीया न विरुद्धा इति विवेकेनेति अशुद्धादित्यागेन (विउस्सग्गेणं ति) कायव्युत्सर्गेण पूर्वरात्रश्च रात्रेः पूर्वो भागः, अपररात्रश्च रात्रेरपरो भागस्तावेव कालः समयोऽवसरो जागरिकायाः पूर्वरात्रापररात्रकालसमयः, तस्मिन् कुटुम्बजागरिकाव्यवच्छेदेन धर्मप्रधाना जागरिका निद्राक्षयेण बोधो धर्मजागरिका भावप्रत्युपेक्षेत्यर्थः। यथा-

"किं कय किं वा सेसं, किं करणिज्जं तवं च न करेमि।
पुव्वावरत्तकाले जा-गरओ भावपडिलेह त्ति ॥ १ ॥
अहवा को मम कालो, किमेयस्स उचियं असारा वि।
विसया नियमगामिणो, विरसावसाणा भीसणो मच्चू" ॥२॥

इत्यादिरूपा विभक्तिपरिणामात् तया जागरिता जागरको भवति, अथवा धर्मजागरिकां जागरिता कर्तेति द्रष्टव्यमिति। तथा प्रगता असव उच्छ्वासादयः प्राणा यस्मात् स प्रासुको निर्जीवः, तस्य एष्यते गवेष्यते उद्गमादिदोषरहिततयेत्येषणीयः कल्पः, तस्य उञ्छ्यते अल्पाल्पतया गृह्यत इत्युञ्छो भक्तपानादिः, तस्य समुदाने भैक्षणे याच्ञायां भवः सामुदानिकः, तस्य नो सम्यग्गवेषयिता अन्वेष्टा भवतीति। एवंप्रकारैरेतैरनन्तरोदितैरित्यादि निगमनम्। एतद्विपर्ययसूत्रं कण्ठ्यम्। स्था०४ठा०२ उ०।

केवलणाणजिण-केवलज्ञानजिन-पुं०। केवलप्रधानो जिनः केवलज्ञानजिनः। स्था० ३ ठा० ४ उ०।

केवलणाणदंसण-केवलज्ञानदर्शन-पुं०। केवले संपूर्णे ज्ञानदर्शने येषां ते तथाविधाः। सर्वज्ञेषु सर्वदर्शिषु, पं० सू० १ सू०। ("पंचहिं ठाणेहिं केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जिउकामे न खुब्भइ" इत्यादि 'ओहिदंसण' शब्देऽत्रैव भागे १६० पृष्ठे प्रोक्तम्)

केवलणाणायरिय-केवलज्ञानार्य-पुं०। केवलज्ञानेनार्ये ज्ञानार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

केवलणाणावरण-केवलज्ञानावरण-न०। केवलज्ञानस्याऽऽवरणं केवलज्ञानावरणम्। ज्ञानावरणकर्मण उत्तरप्रकृतौ, कर्म० १ कर्म०।

केवलणाणि (ण्)-केवलज्ञानिन्-पुं०। प्रथमे भारतातीतजिने, प्रव० ६ द्वार।

केवलत्त-केवलत्व-न०। शुद्धे भावे. (कैवल्ये) "शुद्धो भावः केवलत्वमन्यश्चौपाधिकः स्मृतः। शुद्धं विना न मुक्तिश्च, विनाऽशुद्धं न लेपता" ॥ ९ ॥ द्रव्या० १२ अध्या०।

केवलदंस (दरि) ण-केवलदर्शन-न० । केवलेन संपूर्ण-वस्तुतत्त्वग्राहकबोधविशेषरूपेण यद्दर्शनं सामान्यांशग्रहणं तत्केवलदर्शनम् । कर्म० १ कर्म० । केवलदर्शनावरणकर्मक्षयाविर्भूते कारणक्रमव्यवधानानिवर्तिसकललोकालोकविषयत्रिकालस्वभावपरिणामभेदानन्तपदार्थसामान्यसाक्षात्करणप्रवृत्ते, सम्म० २ काण्ड । सकलजगद्भाविवस्तुसामान्यपरिच्छेदरूपे दर्शनभेदे, पं० सं० १ द्वार । स्था० । " जया से दरिसणावरणे सव्वं होइ खयं गयं । तओ लोगमलोगं च, जिणो पासइ केवली " ॥ ६ ॥ दशा० ५ अ० ।

केवलदंस (दरिस) णावरण-केवलदर्शनावरण-न० । केवलमुक्तस्वरूपं, तच्च दर्शनं च,तस्यावरणं केवलदर्शनावरणम्। दर्शनावरणकर्मणः उत्तरप्रकृतौ, स्था० ८ ठा० । स० ।

केवलदुग-केवलद्विक-न० । केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे केवलयुग्मे, पं० सं० ११ द्वार ।

केवलबोहि-केवलबोधि-स्त्री० । शुद्धे सम्यग्दर्शने, " केवलं बोहिं बुज्झेज्जा " इति सूत्रे समासाभावेऽपि समाससंभवादेवमुपन्यस्तः शब्दः । भ० ९ श० ३१ उ० । (अश्रुत्वा केवलबोधिलाभो ' असोच्चा ' शब्दे प्र० भा० ८५६ पृष्ठे उक्तः)

केवलवरणाणदंसण-केवलवरज्ञानदर्शन-न० । केवलमभिधानतो वरं ज्ञानान्तरापेक्षया प्रधानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शनम् । समाहारद्वन्द्वः । केवलज्ञानकेवलदर्शनयुगे,भ०६श०३१उ०।स्था०।

केवलसिरि-केवलश्री-स्त्री० । केवलज्ञानलक्ष्म्याम्,द्वा०२५द्वा०।

केवलिआराहणा-केवल्याराधना-स्त्री० । आराधनाभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (केवल्याराधनाऽपि द्विविधा 'आराहणा' शब्दे, द्वि० भा० ३८३ पृष्ठे सव्याख्याऽवसेया)

केवलि (ण्)-केवलिन्-पुं०। केवलं परिपूर्णं केवलं शुद्धमनन्तं वा । दशा० ७ अ० । ज्ञानादित्रयमस्यास्तीति केवली । स्था० ३ ठा० ३ उ० । अनु०। आव० । आ० म० । औ०। संपूर्णासहायज्ञानादित्रययोगात् सर्वज्ञे, स्था०९ ठा० । आतु० । सूत्र० । कल्प० । आचा० । भ० । उत्पन्नकेवलज्ञाने, ध० २ अधि० । तीर्थकृति, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । " लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे । अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली " ॥ आ० म० द्वि०। समस्तवस्तुस्तोमवेदिनि, ध० ३ अधि० । अतीतानागतवर्तमानसूक्ष्मव्यवहितपदार्थवेदिनि, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । जिने, भ० ५ श० ४ उ० ।

(१) लक्षणम्-

कसिणं केवलकप्पं,लोगं जाणंति तह य पासंति ।
केवलिचरित्तनाणी,तम्हा ते केवली होंति॥४०॥आव०नि०।

कृत्स्नं संपूर्ण, केवलकल्पं केवलोपमम्,इह कल्पशब्द औपम्ये गृह्यते । उक्तं च-"सामर्थ्ये वर्णनायां च,छेदने करणे तथा । औपम्ये चाऽधिवासे च, कल्पशब्दं विदुर्बुधाः" ॥ १ ॥ लोकं पञ्चास्तिकायात्मकं, जानन्ति विशेषरूपतया,तथैव संपूर्णमेव,चशब्दस्यावधारणार्थत्वात्,पश्यन्ति सामान्यरूपतया । इह ज्ञानदर्शनयोः संपूर्णलोकविषयत्वे बहुवक्तव्यं, तत्तु नोच्यते,ग्रन्थविस्तरभयात् इति,केवलं निर्विशेषं विशेषाणां ग्रहो दर्शनमुच्यते,विशिष्टग्रहणं ज्ञानमेवं सर्वगं द्वयमित्यनया दिशा स्वयमेवाऽभ्यूह्यमिति । धर्मसंग्रहणिकायाः परिभावनीया यतश्चैवं केवलचारित्रिणः केवलज्ञानिनश्च तस्मात्ते केवलिनो भवन्ति,केवलमेषां विद्यते इति केवलिन एषां व्युत्पत्तेः। अहो अत्राकाण्ड एव केवलचारित्रि इति किमर्थमुक्तम्? उच्यते-केवलचारित्रप्राप्तिपूर्विका नियमतः केवलज्ञानावाप्तिरिति न्यायदर्शनार्थमित्यदोषः । तदेवं व्याख्याता लोकस्येत्यादिरूपस्तत्र प्रथमश्लोकः ॥ ४० ॥(आव०) आ० म० द्वि० । (अस्य भवस्थसिद्धकेवल्यादिभेदाः ' केवलणाण ' शब्देऽनन्तरमेव तद्विशेषणभूताः प्रोक्ताः सुविचक्षणैः स्वयमूह्याः)

भवस्थकेवली तु-

उप्पन्नणाणदंसणधरे णं अरहा जिणे केवली चत्तारि कम्मं से वेदेंति । तं जहा-वेयणिज्जं,आउयं, णाम, गोयं । स्था० ४ ठा० १ उ० ।

(२) शल्योद्धरणानुसारेण केवलिभेदाः-

परमत्थतत्तसारत्थं, सल्लुद्धरणमिमं सुणे ।
सुणेत्ता तह मालोए, जह आलोयंतो चेव ॥ ६५ ॥
उप्पाएं केवलं णाणं, दिन्ने रिसभावत्थेहिं ।
नीसल्लाऽऽलोयणा जेण (आलोयमाणाणं चेव)
उप्पन्नं तत्थेव केवलं ॥ ६६ ॥
केसिंचि साहिमो नामे, महासत्ताण गोयमा ! ।
जेहिं भावेणालोयंते-ह्हिं केवलणाणमुप्पाइयं ॥ ६७ ॥
हा हा दुट्ठु कडे साहू , हा हा दुट्ठु विचिंतिरे ।
हा हा दुट्ठु जाणिरे साहू , हा हा दुट्ठु मणुमते ॥६८॥
संवेगालोयगे तह य, जावालोयणकेवली ।
पयखेवकेवली चेव, मुहणंतगकेवली ॥ ६९ ॥
तह पच्छित्तकेवली सम्मं, महावेरग्गकेवली ।
आलोयणकेवली तह य, हाहं पाविसिकेवली ॥७०॥
उस्सुत्तमग्गं पन्नवए, हा हा अणगारकेवली ।
सावज्जं न करेमि त्ति, अक्खंडियसीलकेवली ॥७१॥
तवसंजमवयसंरक्खे, निंदणगरहणे तहा ।
सव्वतो सीलसंरक्खे, कोडीपच्छित्ते वि य ॥ ७२ ॥
निप्पडिकम्मे अकंडु-यणे अणिमिसच्छी य केवली ।
एगपासित्तदोपहरे, मूणव्वयकेवली तहा ॥ ७३ ॥

न सक्को काउ सामन्नं, अणसणे वामिकेवली ।
नवकारकेवली तह य, निंदालोयणकेवली ॥ ७४ ॥
नीसल्लकेवली तह य, सल्लुद्धरणकेवली ।
धन्नो मित्तिसंपुन्नो, सताहं पी किन्न केवली ॥ ७५ ॥
ससल्लोऽहं न पारेमि, बलकट्टपयकेवली ।
पक्खसुद्धाविहाणे य, चाउम्मासीयकेवली ॥ ७६ ॥
संवच्छरमहपच्छित्ते, जहा चलजीविते तहा ।
अणिच्चे खणविद्धंसी, मणुयत्ते केवली तहा ॥ ७७ ॥
आलोयंनिंदवंदियए, घोरपच्छित्तदुक्करे ।
लक्खोवभग्गपच्छित्ते, सम्महियासणकेवली ॥ ७८ ॥
हत्थोसरणनिवासे य, अट्ठकवलासिकेवली ।
एगासिद्धगपच्छित्ते, दसवासो केवली तहा ॥ ७९ ॥
पच्छित्ताढवगे चेव, पच्छित्तद्धकयकेवली ।
पच्छित्तपरिसमत्ती य, अट्ठसउक्कोसकेवली ॥ ८० ॥
न सुद्धी वि न पच्छित्ता, तावरं खिप्पकेवली ।
एगं काऊण पच्छित्तं, बीयं न भवे जह चेव केवली ८१
तं वायराम पच्छित्तं, जेण गच्छइ केवली ।
तं वायराम जेण समं, सफली होइ केवली ॥ ८२ ॥
किं पच्छित्तं चरंतो, हं चिट्ठणो तवकेवली ।
जिणाण माणं ण लंघेयं, पाणपरिच्चयणकेवली ॥ ८३ ॥
अन्नं होही सरीरं मे, नो बोही चेव केवली ।
सुलद्धमिणं सरीरेणं, पावणिद्दुहणकेवली ॥ ८४ ॥
अणाइपावकम्ममलं, निच्छोवेमीह केवली ।
बीयं तं न समायरियं, पमाया केवली तहा ॥ ८५ ॥
देहे खवउ सरीरं मे, निज्जराभावउ केवली ।
सरीरस्स संजमं सारं, निक्कलंकं तु केवली ॥ ८६ ॥
मणसा वि खंडिए सीले, पाणे ण धरामि केवली ।
एवं वइकायजोगेणं, सीलं रक्खे अह केवली ॥ ८७ ॥
एवमाई अणाईया, कालाऊणंते मुणी ।
केई याऽऽलोयणासिद्धे, पच्छित्ता जाइ गोयमा ! ॥ ८८ ॥

महा० १ अ० । आ० म० ।

(३) अनुत्तराणि-

केवलिस्स णं पंच अणुत्तरा पन्नत्ता । तं जहा-अणुत्तरे णाणे, अणुत्तरे दंसणे, अणुत्तरे चरित्ते, अणुत्तरे तवे, अणुत्तरे वीरिए ।

तथा न सन्त्युत्तराणि प्रधानानि येभ्यस्तान्यनुत्तराणि, यथा ख्यलर्वथाऽऽवरणक्षयात्, तथाद्ये ज्ञानदर्शनावरणक्षयादनन्तरमोहक्षयात्तपसश्चारित्रभेदत्वात्तपश्च केवलिनामनुत्तरं शैलेश्यवस्थायां शुक्लध्यानभेदद्वयस्वरूपं ध्यानस्याभ्यन्तरतपोभेदत्वाद्वीर्यान्तरायक्षयादिति । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

केवलिस्स णं दस अणुत्तरा पन्नत्ता । तं जहा-अणुत्तरे णाणे अणुत्तरे दंसणे अणुत्तरे चरित्ते अणुत्तरे तवे अणुत्तरे वीरिए अणुत्तरा खंती अणुत्तरा मुत्ती अणुत्तरे अज्जवे अणुत्तरे मद्दवे अणुत्तरे लाघवे । स्था० १० ठा० ।

(४) अन्तक्रिया । केवलीभूत्वैव सिद्ध्यति-

एस णं भंते ! पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया ? । हंता गोयमा ! एस णं पोग्गले तीतमणंतं सासयं समयं भुवीति वत्तव्वं सिया । एस णं भंते ! पोग्गले पडुप्पण्णसासयं समयं भवतीति वत्तव्वं सिया ? । हंता गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं । एस णं भंते ! पोग्गले अणागयमणंतं सासयं समयं भविस्सतीति वत्तव्वं सिया ? । हंता गोयमा ! तं चेव उच्चारेयव्वं, एवं खंधेण वि तिणि आलावगा, एवं जीवेण वि तिणि आलावगा भाणियव्वा । छउमत्थे णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं समयं केवलेणं संजमेणं केवलेणं संवरेणं केवलेणं बंभचेरवासेणं केवलीहिं पवयणमायाहिं सिज्झिसु बुज्झिसु० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु ? । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, तं चेव० जाव अंतं करिंसु ? । गोयमा ! जे केइ अंतकरा वा अंतिमसरीरिया वा सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा, करिंति वा, करिस्संति वा, सव्वे ते उप्पन्नणाणदंसणधरा अरहा जिणे केवली भवित्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिनिव्वायंति० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा, करिंति वा, करिस्संति वा, से तेणट्ठेणं गोयमा !० जाव सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु, पडुप्पन्ने वि एवं चेव, नवरं सिज्झंति भाणियव्वं, अणागए वि एवं चेव, नवरं सिज्झिस्संति भाणियव्वं, जहा छउमत्थो तहा आहोहिओ वि, तहा परमोहिओ वि तिन्नि तिन्नि आलावगा भाणियव्वा ॥

इह छद्मस्थोऽवधिज्ञानरहितोऽवसेयः, न पुनरकेवलिमात्रम्, उत्तरत्रावधिज्ञानिनो वक्ष्यमाणत्वादिति । (केवलेणं ति) असहायेन शुद्धेन वा परिपूर्णेन वा असाधारणेन वा । यदाह-"केवलमेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणंतं च ।" (संजमेणं ति) पृथिव्यादिरक्षणरूपेण (संवरेणं ति) इन्द्रियकषायनिरोधेन, " सिज्झिसु " इत्यादौ च बहुवचनं प्राकृतत्वादिति । एतच्च गौतमेनानेनाभिप्रायेण पृष्टम्-यदुत उपशान्तमोहाद्यवस्थायां सर्वविशुद्धाः संयमादयोऽपि भवन्ति, विशुद्धसंयमादिसाध्या च सिद्धिरिति, सा छद्मस्थस्यापि स्यादिति । (अंतकरे त्ति) भवान्तकारिणः, ते च दीर्घतरकालापेक्षयाऽपि भवन्तीत्यत आह-(अंतिमसरीरिया व त्ति) अन्तिमं शरीरं येषामस्ति तेऽन्तिमशारीरिकाः, चरमदेहा इत्यर्थः । वाशब्दो समुच्चये, "सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु" इत्यादौ "सिज्झिसु सिज्झंति" इत्याद्यपि द्रष्टव्यम्, सिद्ध्याद्यविनाभूतत्वात् सर्वदुःखान्तकरणस्येति । (उप्पन्ननाणदंसणधरा) उत्पन्ने ज्ञानदर्शने धारयन्ति ये ते तथा, न त्वनादिसंसिद्धज्ञानाः, अत एव (अरह त्ति) पूजार्हाः (जिण त्ति) रागादिजेतारः । ते छद्मस्था अपि भवन्तीत्यत आह-(केवलीति) सर्वज्ञाः । "सिज्झंति" इत्यादिषु चतुर्षु पदेषु वर्तमान-

निर्देशस्य शेषोपलक्षणत्वात् "सिज्झिसु सिज्झंति सिज्झिस्संति" इत्येवमतीतादिनिर्देशो द्रष्टव्यः । अत एव " सव्वदुक्खाणं " इत्यादौ पञ्चमपदेऽसौ विहित इति । "जहा छउमत्थो" इत्यादेरियं भावना-"आहोहिए णं भंते ! मणूसे तीतमणंतं सासयं" इत्यादिदण्डकत्रयं, तत्र अधः परमावधेरधस्ताद्योऽवधिः सोऽधोऽवधिः,तेन यो व्यवहरत्यसावाऽधोऽवधिकः, परिमितक्षेत्रविषयावधिकः। (परमाहोहिउ त्ति) परम आधोऽवधिकाद्यः स परमाधोऽवधिकः । प्राकृतत्वाच्च व्यत्ययनिर्देशः ।" परमोहिउ त्ति " क्वचित्पाठो व्यक्तश्च । स च समस्तरूपिद्रव्यासंख्यातलोकमात्रालोकखण्डासंख्यातावसर्पिणीविषयावधिज्ञानः। (तिन्नि आलावग त्ति) कालत्रयवेदिनः केवलिनोऽप्यत एव त्रयो दण्डकाः, विशेषस्तु सूत्रोक्त एवेति ।

से नूणं भंते ! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु त्ति वत्तव्वं सिया ?। हंता गोयमा! उप्पन्ननाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली अलमत्थु त्ति वत्तव्वं सिया, सेवं भंते भंते त्ति ॥

" से नूणं " इत्यादिषु कालत्रयनिर्देशो वाच्य एवेति । (अलमत्थु त्ति) अलमस्तु पर्याप्तं भवतु,नातः परं किञ्चिज्ज्ञानान्तरं प्राप्तव्यमस्यास्तीति एतद्वक्तव्यं स्याद्भवेत् ,सत्यत्वादस्येति । भ० १ श० ४ उ० ।

(५) अवगाहना । केवली यस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाढस्तत्र हस्ताद्यवगाह्य स्थातुं शक्तः-

केवली भंते ! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु हत्थं वा पायं वा बाहं वा ऊरुं वा उग्गाहित्ता णं चिट्ठइ पभू ! णं केवली से य कालंसि चिएसु चेव आगासपएसेसु हत्थं वा० जाव उग्गाहित्ता णं चिट्ठित्तए?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! ० जाव केवली णं अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु० जाव चिट्ठइ णो णं पभू ! केवली से य कालंसि चिएसु चेव हत्थं वा० जाव चिट्ठित्तए। गोयमा ! केवलिस्स णं वीरियस्स सजोगसद्दव्वयाए चलाइं उवगरणाइं भवंति चलोवगरणट्ठयाए णं केवली अस्सिं समयंसि जेसु आगासपएसेसु हत्थं वा० जाव चिट्ठइ णो णं पभू ! केवली से य कालंसि चिएसु चेव० जाव चिट्ठित्तए से तेणट्ठेणं० जाव वुच्चइ केवली णं अस्सिं समयंसि० जाव चिट्ठित्तए ।

(अस्सिं समयंसि त्ति) अस्मिन् वर्तमानसमये (ओगाहित्ता णं ति) अवगाह्याऽऽक्रम्य (से य कालंसि व त्ति) एष्यत्कालेऽपि(वीरियसजोगसद्दव्वयाए त्ति) वीर्यं वीर्यान्तरायक्षयप्रभवा शक्तिः, तत्प्रधानं सयोगं मानसादिव्यापारयुक्तं यत्सत् विद्यमानं द्रव्यं जीवद्रव्यं तत्तया; वीर्यसद्भावेऽपि जीवद्रव्यस्य योगान् विना चलनं न स्यादिति; सयोगशब्देन सद् द्रव्यं विशेषितं, सदिति विशेषणं च, तस्य सदा सत्ताऽवधारणार्थम् । अथवा स्व आत्मा,तद्रूपं द्रव्यं स्वद्रव्यं, ततः कर्मधारयः। अथवा वीर्यप्रधानः सयोगो योगवान् वीर्यसयोगः, स चासौ सद्द्रव्यश्च मनःप्रभृतिवर्गणायुक्तो वीर्यसयोगसद्द्रव्यः,तस्य भावस्तत्ता, तया हेतुभूतया (चलाइं ति) अस्थिराणि (उवगरणाइं ति)अङ्गानि (चलोवगरणट्ठयाए त्ति) चलोपकरणलक्षणो योऽर्थस्तद्भावश्चलोपकरणार्थता, तया। चशब्दः पुनरर्थः । भ० ५ श० ४ उ० ।

(६) अनुत्तरोपपातिकैः सहाऽऽलापः-

पभू णं भंते ! अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा इह गएणं केवलिणा सद्धिं आलावं वा संलावं वा करेत्तए ?। हंता पभू । से केणट्ठेणं० जाव पभू णं अणुत्तरोववाइया देवा० जाव करेत्तए ?। गोयमा ! जएणं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा अट्ठं वा हेउं वा पसिणं वा कारणं वा वागरणं वा पुच्छंति तएणं इह गए केवली अट्ठं वा० जाव वागरणं वा वागरेइ, से तेणट्ठेणं भंते ! इह गए केवली अट्ठं वा० जाव वागरेइ, तएणं अणुत्तरोववाइया देवा तत्थ गया चेव समाणा जाणंति, पासंति, से केणट्ठेणं० जाव पासंति । गोयमा ! तेसि णं देवाणं अणंताओ मणोदव्ववग्गणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमण्णागयाओ भवंति, से तेणट्ठेणं जएणं इह गए केवली० जाव पासइ ।

(आलावं व त्ति) सकृज्जल्पं (संलावं व त्ति) मुहुर्मुहुर्जल्पं मानसिकमेवेति, (लद्धाओ त्ति) तदवधेर्विषयभावं गताः (पत्ताओ त्ति) तदवधिना सामान्यतः प्राप्ताः, परिच्छिन्ना इत्यर्थः । (अभिसमण्णागयाओ त्ति) विशेषतः परिच्छिन्नाः, यतस्तेषामवधिज्ञानं संभिन्नलोकनाडीविषयं,यच्च लोकनाडीग्राहकं तन्मनोवर्गणाग्राहकं भवत्येव,यतो योऽपि लोकसंख्येयभागविषयोऽवधिः सोऽपि मनोद्रव्यग्राही, यः पुनः संभिन्नलोकनाडीविषयोऽसौ कथं मनोद्रव्यग्राही न भविष्यति, इष्यते च लोकसंख्येयभागावधेर्मनोद्रव्यग्राहित्वम। यदाह-"संखेज्जमणोदव्वे, भागो लोगपलियस्स बोधव्वो " त्ति। भ० ५ श० ४ उ० ।

(७) आहारः । तत्र दिगम्बरैः सह विप्रतिपत्तिः-

सर्वथा दोषविगमात्, कृतकृत्यतया तथा ।
आहारसंज्ञाविरहा-दनन्तसुखसङ्गतेः ॥ १ ॥
दग्धरज्जुसमत्वाच्च, वेदनीयस्य कर्मणः ।
अक्षोद्भवतया देह-गतयोः सुखदुःखयोः ॥ २ ॥
मोहात्परमवृत्तेश्च, सातवेद्यानुदीरणात् ।
प्रमादजननादुच्चै-राहारकथयाऽपि च ॥ ३ ॥
भुक्त्या निद्रादिकोत्पत्तेः, तथा ध्यानतपोव्ययात् ।
परमौदारिकाङ्गस्य, स्थास्नुत्वात्तां विनाऽपि च ॥ ४ ॥
परोपकारहानेश्च, पुरीषादिजुगुप्सया ।
व्याध्युत्पत्तेश्च भगवान्, भुङ्क्ते नेति दिगम्बराः ॥ ५ ॥

(सर्वथेति) सर्वथा सर्वप्रकारैर्दोषविगमात्, क्षुधायाश्च दोषत्वात्तदभावे कवलाहारानुपपत्तेः । तथा कृतकृत्यतया केवलिनः कवलभोजित्वे तद्धान्यापत्तेः । आहारसंज्ञाविरहात् तस्याश्चाहारहेतुत्वात् । अनन्तसुखस्य संगतेः केवलिनः कवलभुक्तौ तत्कारणक्षुद्वेदनोदयावश्यंभावात्तेनानन्तसुखविरो-

धात् ॥ १ ॥ (दग्धेति) च पुनर्वेदनीयकर्मणो दग्धरज्जुसमत्वात्तादृशेन तेन स्वकार्यस्य क्षुद्वेदनोदयस्य जनयितुमशक्यत्वात् । देहगतयोः शरीराश्रितयोः सुखदुःखयोरक्षोद्भवतयेन्द्रियाधीनतयाऽतीन्द्रियाणां भगवतां तदनुपपत्तेः ॥ २ ॥ (मोहादिति) मोहाद् मोहनीयकर्मणः परप्रवृत्तेः परद्रव्यप्रवृत्तेर्निर्मोहस्य सत आहारादिपरद्रव्यप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । सातवेद्यस्य सातवेदनीयस्यानुदीरणात् सातासातमनुजायुषामुदीरणायाः सप्तमगुणस्थान एव निवृत्तेः केवलिनः कवलभुक्तौ तज्जन्यसातोदीरणप्रसङ्गात् । च पुनराहारकथयाऽप्युपचैरत्यर्थं प्रमादजननादाहारस्य सुतरां तथात्वात् ॥ ३ ॥ (भुक्त्येति) भुक्त्या कवलाहारेण निद्रादिकस्योत्पत्तेः,आदिना रासनमतिज्ञानेर्यापथपरिग्रहः । केवलिनां च निद्राद्यभावात् तद्व्याप्यभुक्तेरप्ययोगात् । तथा भुक्तौ सत्यां ध्यानतपसोर्व्ययात्, केवलिनश्च तयोः सदातनत्वात् तां विनाऽपि च भुक्तिं विनाऽपि च परमौदारिकाङ्गस्य स्थास्नुत्वाच्चिरकालमवस्थितिशीलत्वात्तदर्थं केवलिनस्तत्कल्पनायोगात् ॥ ४ ॥ (परेति) परोपकारहानेश्च भुक्तिकाले धर्मदेशनाऽनुपपत्तेः, सदा परोपकारस्वभावस्य भगवतस्तद्व्याघातायोगात् । पुरीषादिजुगुप्सया भुक्तौ तद्धौव्यात् । व्याध्युत्पत्तेश्च भुक्तेस्तन्निमित्तत्वात् । भगवान् केवली भुङ्क्ते न इति दिगम्बरा वदन्ति ॥ ५ ॥

सिद्धान्तश्चायमधुना, लेशेनास्माभिरुच्यते ।
दिगम्बरमतव्याल-पलायनकलागुरुः ॥ ६ ॥
हन्ताज्ञानादिका दोषाः, घातिकर्मोदयोद्भवाः ।
तदभावेऽपि किं न स्या-द्वेदनीयोद्भवा क्षुधा ॥ ७ ॥
अव्याबाधविघाताच्चेत्, सा दोष इति ते मतम् ।
नरत्वमपि दोषः स्यात्, तदा सिद्धत्वदूषणात् ॥ ८ ॥
घातिकर्मक्षयादेवा-कृता च कृतकृत्यता ।
तदभावेऽपि नो बाधा, भवोपग्राहिकर्मभिः ॥ ९ ॥
आहारसंज्ञा चाहार-तृष्णाख्या न मुनेरपि ।
किं पुनस्तदभावेन, स्वामिनो मुक्तिबाधनम् ॥ १० ॥
अनन्तं च सुखं भर्तु-र्ज्ञानादिगुणसङ्गतम् ।
क्षुधादयो न बाधन्ते, पूर्णे त्वस्ति महोदये ॥ ११ ॥
दग्धरज्जुसमत्वं च, वेदनीयस्य कर्मणः ।
वदन्तो नैव जानन्ति, सिद्धान्तार्थव्यवस्थितिम् ॥ १२ ॥

सिद्धान्तश्चायमिति व्यक्तः ॥ ६ ॥ (हन्तेति) हन्त अज्ञानादिका घातिकर्मोदयोद्भवा दोषाः प्रसिद्धाः। तदभावेऽपि वेदनीयोद्भवा क्षुधा किं न स्यात् । न हि वयं भवन्तमिव तत्त्वमनालोच्य क्षुत्पिपासादिनैव दोषानभ्युपेमो येन निर्दोषस्य केवलिनः क्षुधाद्यभावः स्यादिति भावः ॥ ७ ॥ (अव्याबाधेति) अव्याबाधस्य निरतिशयसुखस्य विघातात् सा क्षुधा दोषो,गुणदूषणस्यैव दोषलक्षणत्वादिति चेद् यदि ते तव मतं, तदा नरत्वमपि भवतां दोषः स्यात्, सिद्धत्वदूषणात् । तस्मात्केवलज्ञानप्रतिबन्धकत्वेन घातिकर्मोदयोद्भवानामज्ञानादीनामिव दोषत्वं, न तु क्षुधादीनामिति युक्तमुत्पश्यामः ॥ ८ ॥ (घातीति) घातिकर्मक्षयादेवाकृताऽहीना च कृतकृत्यता भवोपग्राहिकर्मभिर्वेदनीयादिभिः सद्भिःतद्भावेऽपि कृतकृत्यत्वाभावेऽपि (नो) नैव बाधा । सर्वथा कृतकृत्यत्वस्य सिद्धेष्वेव संभवात् उपादित्साभावेऽप्युपादेयस्य मोक्षस्य सयोगिकेवलित्वकालेऽसिद्धेः । रागाद्यभावमात्रेण कृतकृत्यत्वस्य च मुक्तिपक्षेऽप्यबाध एवेति कथितप्रायमेव ॥ ९ ॥ (आहारसंज्ञा चेति) आहारसंज्ञा चाहारतृष्णाख्या मोहाभिव्यक्तचैतन्यस्य संज्ञा पदार्थत्वान्न मुनेरपि भावसाधोरपि, किं पुनस्तदभावेनाहारसंज्ञाभावेन स्वामिनो भगवतो मुक्तिबाधनम् ?। तथा चाहारसामान्ये तद्विशेषे वा आहारसंज्ञया हेतुत्वमेव नास्तीत्युक्तं भवति । न च तद्विशेष तद्धेतुत्वमेवाप्रमत्तादीनां चाहाराभावान्न व्यभिचार इति कुचोद्यमाशङ्कनीयम्, आहारसंज्ञाया अतिचारनिमित्तत्वेन कदापि निरतिचाराहारस्य साधूनामप्राप्तिप्रसङ्गात् ॥ १० ॥ (अनन्तं चेति) अनन्तं च सुखं भर्तुर्भगवतो ज्ञानादिगुणसङ्गतं तन्मयीभूतमिति यावद् अज्ञानादिजन्यदुःखनिवृत्तेः सर्वेषामेव कर्मणां परिणामदुःखहेतुत्वाच्च क्षुदादयो न बाधन्ते, स्वभावनियतसुखानामेव तैर्बाधनं, पूर्णे तु निरवशेषं तु सुखं महोदये मोक्षेऽस्ति, तत्रैव सर्वकर्मक्षयोपपत्तेः ॥ ११ (दग्धेति) दग्धरज्जुसमत्वं च वेदनीयस्य कर्मणो वदन्तः सिद्धान्तार्थव्यवस्थितिं नैव जानन्ति ॥ १२ ॥

पुण्यप्रकृतितीव्रत्वा-दसाताद्यनुपक्रयात् ।
स्थितिशेषाद्यपेक्षं वा, तद्वचो व्यवतिष्ठते ॥ १३ ॥
इन्द्रियोद्भवता ध्रौव्यं, बाह्ययोः सुखदुःखयोः ।
चित्रं पुनः श्रुतं हेतुः, कर्माध्यात्मिकयोस्तयोः ॥ १४ ॥
आहारादिप्रवृत्तिश्च, मोहजन्या यदीष्यते ।
देशनाऽऽदिप्रवृत्त्याऽपि, भवितव्यं तदा तथा ॥ १५ ॥
यत्नं विना निसर्गाच्चेद्, देशनाऽऽदिकमिष्यते ।
भुक्त्यादिकं तथैव स्याद्, दृष्टबाधा समोभयोः ॥ १६ ॥
भुक्त्या या सातवेद्यस्यो-दीरणाऽऽपाद्यते त्वया ।
साऽपि देशनयाऽसात-वेद्यस्यैतां तवाक्षिपेत् ॥ १७ ॥
उदीरणाख्यं करणं, प्रमादव्यङ्ग्यमत्र यत् ।
तस्य तत्त्वमजानानाः, खिद्यसे स्थूलया धिया ॥ १८ ॥
आहारकथया हन्त, प्रमादः प्रतिबन्धतः ।
तदभावे च नो भुक्त्या, श्रूयते सुमुनेरपि ॥ १९ ॥
निद्रा नोत्पाद्यते भुक्त्या, दर्शनावरणं विना ।
उत्पाद्यते न दण्डेन, घटो मृत्पिण्डमन्तरा ॥ २० ॥
रासनं च मतिज्ञान-माहारेण भवेद्यदि ।
घ्राणीयं स्यात्तदा पुष्पं, घ्राणतर्पणयोगतः ॥ २१ ॥
ईर्यापथप्रसङ्गश्च, समोऽत्र गमनादिना ।
अक्षते ध्यानतपसी, स्वकालासंभवे पुनः ॥ २२ ॥

(पुण्येति) पुण्यप्रकृतीनां तीर्थकरनामादिरूपाणां तीव्रत्वात्तीव्रविपाकत्वात्तज्जन्यसातप्राबल्ये वेदनीयमात्रस्य दग्धरज्जुसमत्वासिद्धेरसातादीनामनुपक्रयादसातवेदनीयस्यापि तदसिद्धेः पापप्रकृतीनां भगवति रसघातेन नीरसत्वाभ्युपगमे स्थितिघातेन निःस्थितिकत्वस्याप्यापत्तेः,अपूर्वकरणादौ वध्यमानप्रकृतिविषयकस्यैव तस्य व्यवस्थितेः। ननु तर्हि कथं भवोपग्राहिकर्मणां केवलिनां दग्धरज्जुकल्पत्वाभिधानम्,आवश्यक-

सूत्रयादौ श्रूयते ?, इत्यत आह-स्थितिशेषायपेक्षं वा तद्वचो दग्धरज्जुकल्पत्ववचो व्यवतिष्ठते,न तु रसापेक्षया,अन्यथा सूत्रकृद्वृत्तिविरोधप्रसङ्गात्,असातादिप्रकृतीनामसुखदत्वाभिधानमप्यावश्यकनिर्युक्त्यादौ घातिकर्मजन्यबहुतरासुखविलयेनाल्पस्याविवक्षणात्। अन्यथा भवोपग्रहायोगादिति विभावनीयं सुधीभिः ॥ १३ ॥ (इन्द्रियेति) इन्द्रियोद्भवतायाः ध्रौव्यमावश्यकत्वं बाह्ययोरिन्द्रियार्थसम्बन्धापेक्षयोर्विलक्षणयोरेव सुखदुःखयोः आध्यात्मिकयोस्तयोः सुखदुःखयोः पुनश्चित्रं कर्महेतुश्रुतं क्वचिद् बहिरिन्द्रियव्यापाराभावेऽपि मनोमात्रव्यापारेण सदसच्चिन्ताभ्यामेव तयोरुत्पत्तेः । क्वचिच्च तस्याऽप्यभावे आध्यात्मिकदोषोपशमोद्रेकाभ्यामेव तदुत्पत्तेर्दर्शनाद्भगवत्यपि द्विविधवेदनीयोदयध्रौव्ये तयोः सुवचत्वादिति । वस्तुतो बाह्ययोरपि सुखदुःखयोरिष्टानिष्टार्थशरीरसंपर्कमात्रं प्रयोजकं, न तु बहिरिन्द्रियज्ञानमपीति भगवति तृणस्पर्शादिपरीषहाभिधानं सांप्रदायिकं संगच्छत इति न किञ्चिदेतत्॥१४॥ (आहारादीति) आहारादिप्रवृत्तिश्च यदि मोहजन्या इष्यते भगवता बुद्धिपूर्वकपरद्रव्यविषयकप्रवृत्तेर्मोहजन्यत्वनियमात्तदा देशनादिप्रवृत्त्याऽपि भगवतस्तथा मोहजन्यत्वेन भवितव्यम् ॥ १५ ॥ इच्छाभावाद्भगवतो नास्त्येव देशनाप्रवृत्तिः, स्वभावत एव च तेषां नियतदेशकाला देशनेतीष्टापत्तावाह-(यत्नमिति) यत्नं ताल्वोष्ठादिव्यापारजनकप्रयत्नं विना निसर्गात् स्वभावाच्चेद् देशनादिकमिष्यते भगवतः तदा भुक्त्यादिकं तथैव यत्नं विनैव स्यात् दृष्टबाधोभयोः पक्षयोः समा। भुक्तेरिव देशनाया अपि यत्नं विना क्वाप्यदर्शनात् । चेष्टाविशेषे यत्नहेतुत्वकल्पनस्य चोभयत्र साम्यात् । ननु प्रयत्नं विना चेष्टामात्रं न भवत्येव, देशना च भगवतामव्यापृतानामेव ध्वनिमयी संभवति, अकरमय्यामेव तस्यां यत्नजन्यत्वेनेच्छाजन्यत्वादिति यमावधारणादिति न साम्यम्।यदाह समन्तभद्रः-"अनात्मार्थं विना रागैः, शास्ता शास्ति सतो हितम् । ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते ?"॥ १ ॥ इति,मैवं, शब्दस्य शब्दान्तरपरिणामकल्पनस्य साजात्येन न्याय्यत्वेऽपि ध्वनेस्तत्कल्पनस्यातिशयतोऽप्यन्याय्यत्वाद्,भगवद्देशनाया ध्वनिरूपत्वेऽपि वाग्योगापेक्षत्वेन तादृशशब्दमात्रे पुरुषप्रयत्नानुसरणध्रौव्यात्। अन्यथा'अपौरुषेयमागमं'वदतो मीमांसकस्य दुर्जयत्वापत्तेरिति न किञ्चिदेतत्। अथ सुहृद्भावेन पृच्छामः-बुद्धिपूर्वकप्रवृत्तावेच्छाया हेतुत्वात् कथं केवलिनो देशनादावाहारादौ च प्रवृत्तिरिति चेत्?,सुहृद्भावेन ब्रूमः-बुद्धिः खल्विष्टसाधनताधीरन्यस्यातिप्रसङ्गत्वात्,तत्पूर्वकत्वं च यदीष्टसाधनताधीजन्यतावच्छेदकं तदाऽप्यबुद्धिपूर्वकप्रवृत्तेर्जीवनयोनिभूताया इव भवोपग्राहिकर्मवशादुपपत्तेर्न कश्चिद्दोष इति। प्रवृत्तिसामान्ये तु योगानामेव हेतुत्वादिच्छापूर्वकत्वमंशेऽसमाजसिद्धमेव। यदवदाम-"परदव्वम्मि पवित्ती-ण-मोहजणिया व मोहजम्मा वा । जोगकया हु पवित्ती,फलकंखा रागदोसकया"॥१॥ इत्यधिकमन्यत्र॥१६॥(भुक्त्येति)भुक्त्या कवलाहारेण वा सातवेद्यस्य सातवेदनीयस्योदीरणा स्यात्ऽपाद्यते। भुक्तिव्यापारेण सातोत्पत्तेः साऽपि देशनया सातवेद्यस्यैतामुदीरणां तथापि क्षिपेत्, ततोऽपि परिश्रमदुःखसंभवात् प्रयत्नजन्यत्वस्य तत्र व्यवस्थापितत्वादिति भावः ॥ १७ ॥ सुहृद्भावेन समाधत्ते-(उदीरणाख्यमिति)उदीरणाख्यं करणं यदान्तरशक्तिविशेषलक्षणं प्रमादव्यङ्ग्यं वर्तते, तस्य तत्त्वं स्वरूपमजानानाः स्थूलया धिया बहिर्योगमात्रव्यापारगोचरया खिद्यसे त्वम्। योगव्यापारमात्रस्य तदाक्षेपकत्वे ततो मनोयोगेनाप्यप्रमत्ते सुखोदीरणप्रसङ्गात्, तदीयसुखस्य ज्ञानरूपत्वे सुखान्तरस्यापि तथात्वप्रसङ्गात्। सुख्यहमित्यनुभवस्य चाप्रमत्तेऽप्यक्षतत्वादिति॥१८॥ (आहारकथयेति) आहारकथया हन्त ! प्रतिबन्धतस्तथाविधाहारेच्छासंस्कारप्रबुद्धः प्रमादो भवति, न त्वन्यथाऽपि। अकथाविकथानां विपरिणामस्य परिणामभेदेन व्यवस्थितत्वात्। तद्भावे च प्रतिबन्धाभावे च 'नो' नैव भुक्त्या श्रूयते सुमुनेरपि उत्तमसाधोरपि प्रमादः, किं पुनर्भगवत इति भावः। बहिर्योगव्यापारमात्रोपरम एवाप्रमत्तत्वलाभ इति तु न युक्तम्,आरब्धस्य तस्य तत्रासक्ततया निष्ठाया अविरोधादिति ॥ १६ ॥ निद्रेति स्पष्टः ॥ २० ॥ रासनं चेति स्पष्टः ॥२१॥ (ईर्येति) ईर्यापथप्रसङ्गश्चात्र भगवतो भुक्तौ गमनादिना समस्तेनापि तत्प्रसङ्गस्य तुल्ययोगक्षेमत्वात्, स्वाभाविकस्य च तद्गमनस्य दृष्टबाधेन कल्पयितुमशक्यत्वादिति भावः। स्वकालासंभवे भुक्तिकालासंभविनी ध्यानतपसी पुनरक्षते। योगनिरोधदेहापवर्गकालयोरेव तत्स्वभावात् स्वभावसमवस्थितिलक्षणयोश्च तयोर्गमनादिनेव भुक्त्याऽपि न व्याघात इति द्रष्टव्यम् ॥ २२ ॥

परमौदारिकं चाङ्गं, भिन्नं चेत्तत्र का प्रमा ? ।
औदारिकादभिन्नं चेत्, विना भुक्तिं न तिष्ठति ॥ २३ ॥
भुक्ताद्यदृष्टसंबन्ध-मदृष्टं स्थापकं तनोः ।
तत्त्यागे दृष्टबाधा स्व-स्वपक्षक्षणराक्षसी ॥ २४ ॥
प्रतिकूलानिवर्त्यत्वा-त्तत्तनुत्वं च नोचितम् ।
दोषजन्म तनुत्वं च, निर्दोषे नोपपद्यते ॥ २५ ॥
परोपकारहानिश्च, नियतावसरस्य न ।
पुरीषादिजुगुप्सा च, निर्मोहस्य न विद्यते ॥ २६ ॥
ततोऽन्येषां जुगुप्सा चेत्, सुरासुरनृपर्षदि ।
नाग्न्येऽपि न कथं तस्या-वर्तमानोऽनुभूयते ॥ २७ ॥
(गुणहानेरनिष्टत्वं, वैराग्यान्नाथ चेष्यते ।
इच्छाबन्धं विना नैवं, प्रवृत्तिः सुखदुःखयोः ॥ २८ ॥)

(परमौदारिकं चेति) परमौदारिकं चाङ्गं शरीरं भिन्नं चेदौदारिकादिभ्यः कल्पशरीरेभ्यस्तर्हि तत्र का प्रमा-किं प्रमाणम्?, न किञ्चिदित्यर्थः । औदारिकादभिन्नं चेत्तत्केवलमतिशयितरूपाद्युपेतं तदेव तदा भुक्तिं विना न तिष्ठति। चिरकालीनौदारिकशरीरस्थितेर्भुक्तिप्रयोज्यत्वनियमात्। भुक्तेः सामान्यतः पुद्गलविशेषोपचयव्यापारकत्वेनैवोपयोगाद्गन्धस्पर्शादीनामपि जलाद्यभ्यादानेनैव चिरकालस्थितेः शरीरविशेषस्थितौ विचित्रपुद्गलोपादानस्यापि हेतुत्वेन तं विना केवलिशरीरस्थितेः कथमप्यसंभवात् तत्र परमौदारिकभिन्नत्वस्य कैवल्याकालीनत्वपर्यवशितस्य विशेषणस्याप्रामाणिकत्वादिति ॥ २३॥ (भुक्त्यादीति) भुक्त्याद्यदृष्टेन भोजनादिफलहेतुभूतविपाककर्मणा संबन्धं तनोः शरीरस्य स्थापकमदृष्टम्, दृष्टमिति शेषः। तत्त्यागे केवलिन्यनुपगम्यमाने स्वपक्षक्षणराक्षसी दृष्टबाधा समुपतिष्ठते । तथा च तद्भयादपि तव नैत्थं कल्पना हितावहेति भावः ॥ २४ ॥ ननु तनुस्थापकादृष्टस्य भुक्त्याद्यदृष्टनियतत्वेऽपि भुक्त्याद्यदृष्टस्य तनुत्वाद्भुक्त्याद्युपपत्तिर्भगवतो भविष्यतीत्यत आह-(प्रतिकूलेति) तस्य भुक्त्याद्यदृष्टस्य तनुत्वं च नोचितं, प्रतिकूलेन विरोधिपरिणामेनानिवर्त्यत्वात्। न हि वीतरागत्वादिपरिणा-

मेन रागादीनामिव क्षुधादीनां तथाविधपरिणामेन निवर्त्यत्वमस्ति, येन ततस्तज्जनकादृष्टतनुत्वं स्यात् । अस्त्येवाभोजनभावनातारतम्येन क्षुन्निरोधतारतम्यदर्शनादिति चेन्न । ततो भोजनादिगतस्य प्रतिबन्धमात्रस्यैव निवृत्तेः शरीरादिगतस्येव शरीरादिभावनया । अन्यथा भोजनभावनाऽत्यन्तोत्कर्षेण भुक्तिनिवृत्तिवदशरीरभावनाऽत्यन्तोत्कर्षेण शरीरनिवृत्तिरपि प्रसज्येतेति महत्सङ्कटमायुष्मतः । ननु भुक्त्यादिविपरीतपरिणामेन भुक्त्याद्यदृष्टस्य मोहरूपप्रभूतसामग्रीं विना स्वकार्याक्षमत्वलक्षणं तनुत्वमेव क्रियते । तनुस्थापकादृष्टस्यापि अशरीरभावनया तद्भवबाह्ययोगक्रियां निरुणद्धेव । शरीरं तु प्रागेव निष्पादितं न बाधितुं क्षमत इत्यस्माकं न कोऽपि दोषः? इति चेन्न, विपरीतपरिणामनिवर्त्यत्वे भुक्त्यादेस्तददृष्टस्य रागाद्यर्जकादृष्टवद् योगप्रकर्षवति भगवति निर्मूलनाशापत्तेर्विशेषाभावात् । घात्यघातिकृतविशेषाभ्युपगमे तु अघातिनां भवोपग्राहिणां यथाविपाकोपक्रममेव निवृत्तिसंभवादिति न किञ्चिदेतत् । दोषजन्म अग्निमान्द्यादिदोषजनितं तनुत्वं च चिरकालविच्छेदलक्षणं निर्दोषे भगवति नोपपद्यते । नियतविच्छेदश्च नियतकालभुक्त्याद्यापेक्षक एवेति भावः । ॥ २५ ॥ (परोपकारेति) परोपकारस्य हानिश्च नियतावसरस्य भगवतो न भवति, तृतीययाममुहूर्त्तमात्र एव भगवतो भुक्तेः, शेषमशेषकालमुपकारावसरात् । पुरुषादिजुगुप्सा च निर्मोहस्य क्षीणजुगुप्सामोहनीयकर्मणो न विद्यते भगवतः ॥२६॥ (तत इति) ततः पुरीषादेरन्येषां लोकानां जुगुप्सा चेत्सुरासुरनृपर्षदि, उपविष्टस्येति शेषः । नान्येऽपि तेषां कथं न जुगुप्सा ?। अतिशयभोजयोः पक्षयोः समः । ततो भगवतो नाग्न्यादर्शनवत्पुरीषाद्यदर्शनस्याप्युपपत्तेः । सामान्यकेवलिभिस्तु विविक्तदेशे तत्करणान्न दोष इति वदन्ति ॥ २७ ॥

स्वतो हितमिताहाराद्, व्याध्युत्पत्तिश्च काऽपि न ।
ततो भगवतो भुक्तौ, पश्यामो नैव बाधकम् ॥ २८ ॥

(स्वत इति) स्वतः पुण्याक्रमनिसर्गतः हितमिताहाराद् व्याध्युत्पत्तिश्च काऽपि न भवति । ततो भगवतो भुक्तौ कवलभोजने नैव बाधकं पश्यामः; उपन्यस्तानां तेषां निर्दलनात् । अन्येषामप्येतज्जातीयानामुक्तजातीयतर्केण निर्दलयितुं शक्यत्वादिति । तत्त्वार्थिना दिगम्बरमतिभ्रमध्वान्तहरणतरणिरुचिरध्यात्ममतपरीक्षा निरीक्षणीया सूक्ष्मधिया ॥२८॥ द्वा० ३० द्वा० । अतः शास्त्रे- "विग्गहगइमावन्ना, केवलिणो समुहया अयोगीया । सिद्धा य अनाहारा, सेसा आहारगा जीवा" ॥१॥ सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । ('उवओग'शब्दे द्वि० भागे ८६० पृष्ठे उपयोगद्वयविचारे चैतत्स्पष्टीकृतम)

(८) उन्मेषनिमेषौ-

केवली णं भंते ! उम्मिसेज्ज वा निम्मिसेज्ज वा ?। हंता गोयमा ! उम्मिसेज्ज वा निम्मिसेज्ज वा एवं चेव, एवं आउट्टेज्ज वा पसारेज्ज वा, एवं ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेएज्जा ॥

(ठाणं ति) ऊर्द्धस्थानं, निषदनस्थानं, त्वग्वर्तनस्थानं चेति । (सेज्जं ति) शय्यां वसतिं (निसीहियं ति) अल्पतरकालिकां वसतिं (चेएज्ज त्ति) कुर्यादिति । भ० १४ श० १० उ० । (उपयोगद्वययौगपद्यविचार 'उवओग' शब्दे द्वि० भागे ८६५ पृष्ठे उक्तः । चतुर्दशपूर्वी केवलज्ञानिना सह 'चउद्दसपुव्वि' शब्दे वक्ष्यते)

(९) केवलिपरिज्ञानम्—

सत्तहिं ठाणेहिं केवली जाणेज्जा । तं जहा-णो पाणे अइवाएत्ता भवइ० जाव जहा वाई तहा कारीया वि भवइ ॥ स्था० ७ ठा० ।

कथं पुनरसौ केवलितया ज्ञायत इत्याह-

केवलिणा वा कहिए, अवंदमाणो व केवलि अन्नं ।
वागरणपुव्वकहिए, देवयपूआसु व सुणंति ॥

अन्येन केनापि केवलिना कथिते अथ केवली ज्ञात इत्याख्याते सति अवन्दमानो वा केवलिनमन्यं केवलितया ज्ञायते व्याकरणपूर्वं वा अतिशयज्ञानगम्यार्थकथनपुरस्सरं तेनैव केवलिना स्वयमेव कथिते सति दैवतपूजासु वा यथा सन्निहितदेवैः क्रियमाणां महिमां दृष्ट्वा गुरुप्रभृतयस्तं केवलिनं विदन्ति । बृ० ३ उ० ।

(१०) केवलिनोऽन्तकरज्ञानम्-

केवली णं भंते ! अंतिकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ, पासइ?। हंता गोयमा ! जाणइ पासइ । जहा णं भंते ! केवली अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ पासइ, तहा णं छउमत्थे वि अंतकरं वा अंतिमसरीरियं वा जाणइ पासइ ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे, सोच्चा जाणइ पासइ, पमाणओ वा । से किं तं सोच्चा?। सोच्चा णं केवलिस्स वा केवलिसावयस्स वा केवलिसावियाए वा केवलिउवासगस्स वा केवलिउवासियाए वा तप्पक्खियस्स वा तप्पक्खियसावयस्स वा तप्पक्खियसावियाए वा तप्पक्खियउवासगस्स वा तप्पक्खियउवासियाए वा ।

यथा केवली जानाति तथा छद्मस्थो, न जानाति । कथञ्चित्पुनर्जानात्यपीत्येतदेव दर्शयन्नाह-" सोच्चेत्यादि " (केवलिस्स व त्ति) केवलिनो जिनस्य अयमन्तकरो भविष्यतीत्यादि वचनं श्रुत्वा जानातीति (केवलिसावयस्स व त्ति) जिनस्य समीपे यः श्रवणार्थी सन् शृणोति तद्वाक्यान्यसौ केवलिश्रावकः, तस्य वचनं श्रुत्वा जानाति, स हि किल जिनसमीपे वाक्यान्तराणि शृण्वन् अयमन्तकरो भविष्यतीत्यादिकमपि वाक्यं शृणुयात् , ततश्च तद्वचनश्रवणाज्जानातीति । (केवलिउवासगस्स व त्ति) केवलिनमुपास्ते यः श्रवणानाकाङ्क्षी तदुपासनामात्रपरः सन्नसौ केवल्युपासकः, तस्य वचः श्रुत्वा जानाति । भावना प्राग्वत् । (तप्पक्खियस्स व त्ति) केवलिपाक्षिकस्य स्वयंबुद्धस्येत्यर्थः । इह च श्रुत्वेति वचनेन प्रकीर्णकं वचनमात्रं ज्ञाननिमित्ततया अवसेयं, न त्वागमरूपं, तस्य प्रमाणग्रहणेन ग्रहीष्यमाणत्वादिति । भ० ५ श० ४ उ० ।

तओ केवली पण्णत्ता । तं जहा-ओहिणाणकेवली, मणपज्जवणाणकेवली, केवलणाणकेवली ।

केवलमेकमनन्तं पूर्णं वा ज्ञानादि येषामस्ति ते केवलिनः । उक्तं च-"कसिणं केवलकप्पं, लोगं जाणंति तह य पासंति । केवलचरित्तनाणी, तम्हा ते केवली होंति " ॥ १ ॥ इहापि जिनवद् व्याख्या । स्था० ३ ठा० ४ उ० । (केवलिनो यक्षावेशो न भवति इति 'जक्खावेस' शब्दे वक्ष्यते)

केवली छद्मस्थमाधोवधिकं वा जानाति-

केवली णं भंते ! छउमत्थं जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ । जहा णं भंते ! केवली छउमत्थं जाणइ पासइ, तहा णं सिद्धे वि जाणइ पासइ ?। हंता जाणइ पासइ। केवली णं भंते! आधोहियं जाणइ पासइ ?। एवं चेव। एवं परमाहोहियं, एवं केवलिं, एवं सिद्धे० जाव । जहा णं भंते ! केवली सिद्धं जाणइ पासइ तहा णं सिद्धे वि सिद्धं जाणइ पासइ ? । हंता ! जाणइ पासइ ।

"केवलीत्यादि"। इह केवलिशब्देन भवस्थकेवली गृह्यते, उत्तरत्र सिद्धग्रहणादिति । (आहोहियं ति) प्रतिनियतक्षेत्रावधिज्ञानम् । (परमाहोहियं ति) परमावधिकम् । भ०१४ श०१० उ०।

केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभं पुढविं रयणप्पभपुढवीति जाणइ पासइ ?। हंता गोयमा ! जाणइ पासइ । जहा णं भंते ! केवली इमं रयणप्पभं पुढविं रयणप्पभपुढवि त्ति जाणइ पासइ, तहा णं सिद्धे वि इमं रयणप्पभं पुढविं रयणप्पभपुढवीति जाणइ पासइ ?। हंता ! जाणइ पासइ। केवली णं भंते! सक्करप्पभं पुढविं सक्करप्पभपुढवीति जाणइ पासइ ?। एवं चेव। एवं० जाव अहे सत्तमं। केवली णं भंते! सोहम्मं कप्पं सोहम्मकप्पेति जाणइ पासइ ?। एवं चेव, एवं ईसाणं, एवं० जाव अच्चुयं। केवली णं भंते! गेविज्जगविमाणं गेविज्जगविमाणे ति जाणइ पासइ ?। एवं चेव, एवं अणुत्तरविमाणे वि। केवली णं भंते! ईसिप्पब्भारं पुढविं ईसिप्पब्भारा पुढवीति जाणइ पासइ ?। एवं चेव। केवली णं भंते ! परमाणुपोग्गलं परमाणुपोग्गलेति जाणइ पासइ ?। एवं चेव । एवं दुपदेसियं खंधं एवं० जाव जहा णं भंते ! केवली अणंतपदेसिए खंधेति जाणइ पासइ तहा णं सिद्धे वि अणंतपदेसियं० जाव पासइ ?। हंता ! जाणइ पासइ। सेवं भंते भंते त्ति । भ० १४ श० १० उ० । उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ पासइ, धम्मत्थिकायं० जाव परमाणुपोग्गलं। स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

(११) चरमकर्मादिः-

केवली णं भंते ! चरिमकम्मं वा चरिमणिज्जरं वा जाणइ पासइ ?। हंता गोयमा ! जाणइ पासइ। जहा णं भंते! केवली चरिमकम्मं वा जहा णं अंतकरेणं आलावगो तहा चरिमकम्मेण वि अपरिसेसिओ णेयव्वो ।

"केवली णं" इत्यादि चरमकर्म यच्छैलेशीचरमसमयेऽनुभूयते, चरमनिर्जरा तु यत्ततोऽनन्तरसमये जीवप्रदेशेभ्यः परिशटतीति । भ० ५ श० ४ उ० । (परीषहसहनहेतुः 'परीसह' शब्दे वक्ष्यते)

(१२) भाषणम्-

केवली णं भंते ! भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ?। हंता भासेज्ज वा वागरेज्ज वा। जहा णं भंते! केवली भासेज्ज वा वागरेज्ज वा तहा णं सिद्धे वि भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ?। णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जहा णं केवली भासेज्ज वा वागरेज्ज वा णो तहा णं सिद्धे भासेज्ज वा वागरेज्ज वा ?। गोयमा! केवली णं सउट्ठाणे सकम्मे सबले सवीरिए सपुरिसक्कारपरक्कमे सिद्धे णं अणुट्ठाणे० जाव अपुरिसक्कारपरक्कमे से तेणट्ठेणं० जाव णो वागरेज्ज वा ॥

(भासेज्ज त्ति) भाषेताऽपृष्ट एव [वागरेज्ज त्ति] पृष्टः सन् व्याकुर्यात् । भ० १४ श० १० उ० ।

(१३) मनोवाग्योगः-

केवली णं भंते ! पणीयं मणं वा वइं वा धारेज्जा ?। हंता धारेज्जा। जण्णं भंते ! केवली पणीयं मणं वा वइं वा धारेज्जा तं णं वेमाणिया देवा जाणंति पासंति ?। गोयमा ! अत्थेगइया जाणंति पासंति; अत्थेगइया जाणंति ण पासंति। से केणट्ठेणं० जाव ण पासंति ?। गोयमा ! वेमाणिया देवा दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-माइमिच्छादिट्ठिउववण्णगा य, अमायिसम्मदिट्ठिउववण्णगा य । तत्थ णं जे ते माइमिच्छादिट्ठिउववण्णगा ते न जाणंति न पासंति, एवं अणंतरपरंपरपज्जत्तअपज्जत्ता य, उवउत्ता अणुवउत्ता, तत्थ णं जे ते उवउत्ता ते जाणंति पासंति, से तेणट्ठेणं तं चेव ।

(पणीय त्ति) प्रणीतं शुभतया प्रकृष्टं (धारेज्ज त्ति) धारयेद्, व्यापारयेदित्यर्थः । "एवं अणंतरेत्यादि" । अस्यायमर्थः-यथा वैमानिका द्विविधा उक्ता मायिमिथ्यादृष्टीनां च ज्ञाननिषेध एवममायिसम्यग्दृष्टयोऽनन्तरोपपन्नपरम्परोपपन्नकभेदेन द्विधा वाच्याः। अनन्तरोपपन्नकानां च ज्ञाननिषेधस्तथा परम्परोपपन्नकाः पर्याप्तापर्याप्तकभेदेन द्विधा वाच्याः । अपर्याप्तकानां च ज्ञाननिषेधस्तथा पर्याप्तका उपयुक्तानुपयुक्तभेदेन द्विधा वाच्याः। अनुपयुक्तानां च ज्ञाननिषेधश्चेति। वाचनान्तरे त्विदं सूत्रं साक्षादेवोपलक्ष्यत इति । भ०५ श०४ उ०। चतुर्विकलस्य केवलज्ञानमुत्पद्यते न वेति प्रश्ने ? उत्तरम्-उत्पद्यत इति। १८६ प्र०सेन० ३ उल्ला० । (अमनस्कस्यापि केवलिनो ध्यानं 'झाण' शब्दे वक्ष्यते) (केवलिनः समुद्घातः 'केवलिसमुग्घाय' शब्देऽनुपदमेव वक्ष्यते) केवलिनः पट्टधरा भवन्ति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-

"प्राप्ते निर्वाणसमये, पूर्णवर्षशतायुषा ।
सुधर्मास्वामिनाऽस्थापि, जम्बूस्वामी गणाधिपः ॥ ५९ ॥
तप्यमानस्तपस्तीव्रं, जम्बूस्वाम्यपि केवलम् ।
आसाद्य सद्यो भव्य-भविकान् प्रत्यबूबुधत् ॥ ६० ॥
श्रीवीरमोक्षदिवसादपि हायनानि,
चत्वारि षष्टिमपि च व्यतिगम्य जम्बूः ।
कात्यायनं प्रभवमात्मपदे निवेश्य,
कर्मक्षयेण पदमव्ययमाससाद" ॥ ६१ ॥

इति परिशिष्टपर्वणि चतुर्थसर्गप्रान्तवचनानुसारेण केवलिनः पट्टधरा भवन्तीति प्रकटमेवावसीयत इति। ३६प्र०सेन०२उल्ला०। पन्यासचन्द्रविजयगणिकृतप्रश्नाः, तदुत्तराणि यथा-तीर्थकरस्य सामान्यकेवलिनो वा वीर्यान्तरायः सदैव क्षयं गतस्तत्कथं सा-

मर्थे न्यूनाधिक्यं दृश्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्-तीर्थकृत्केवलिनां सामान्यकेवलिनां च वीर्यान्तरायकर्मक्षयजनित्यस्यात्मवीर्यस्य समानत्वेऽपि नामकर्मभेदरूपशरीरलक्षणबाह्योपकरणभेदाद्बले भेदोऽत एव सामान्यकेवलिशरीरेभ्यस्तीर्थकरशरीरमनन्तबलवज्जीर्णे, तुलादृष्टान्तोऽत्र भावनीय इति । ३६१ प्र० सेन० ३ उल्ला० । केवलिनां कति परीषहा भवन्तीति प्रश्ने? उत्तरम्-केवलिनां क्षुधा १ तृषा २ शीतोष्ण ३-४ दंस ५ चर्या ६ शय्या ७ बध ८ रोग ९ तृणस्पर्श १० मल ११ रूपैकादश परीषहा भवन्तीति भगवत्यष्टमशतकनवमोद्देशके इति । ८६ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

केवलिआगासपएस-केवल्याकाशप्रदेश-पुं० । " केवली णं भंते ! अस्सिं समयंसि जेसु आगासपदेसेसु हत्थं वा पायं वा ओगाहित्ता णं चिट्ठति" इत्यालापकेऽपि भगवतीत आचाराङ्गवृत्तौ द्वितीयाध्ययनप्रथमोद्देशके पाठभेदोऽस्ति, सोऽपि कथं घटते? इति प्रश्ने, उत्तरम्-आचाराङ्गवृत्तावुक्तं चेत्युक्तमस्ति न तूक्तं भगवत्यामिति, तेनायं पाठो ग्रन्थान्तरगतः संभाव्यते । अथवा आचाराङ्गवृत्तिकारकालवर्तिभगवत्यादर्शेष्वयं पाठो दृष्टः संभाव्यत इति । १२ प्र० सेन० २ उल्ला० ।

केवलिउवासग-केवल्युपासक-पुं० । केवलिनमुपास्ते यः श्रवणानाकाङ्क्षी तदुपासनामात्रपरः सन्नसौ केवल्युपासकः । भ० ५ श० ४ उ० । केवलिन उपासनं विदधानेन केवलिनैवान्यस्य कथ्यमानं श्रुतं येनासौ केवल्युपासकः । केवलिन उपासनामात्रं विदधाने , अन्यं प्रति उपदिशतः केवलिनः श्रावके च । भ० ९ श० ३१ उ० ।

केवलिखीणकसायवीयरागदंसण-केवलिक्षीणकषायवीतरागदर्शन-न० । क्षीणकषायवीतरागदर्शनभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

केवलिपक्खिय-केवलिपाक्षिक-पुं० । स्वयम्बुद्धे, भ० ९ श० ३१ उ० ।

केवलिपन्नत्त-केवलिप्रज्ञप्त-त्रि० । सर्वज्ञोपदिष्टे, पा० ।

केवलिपन्नत्तो धम्मो जावज्जीवं मे भगवं सरणं ।

केवलिप्रज्ञप्तः केवलिप्ररूपितो धर्मः श्रुतादिरूपः । पं० सू० ५ सूत्र । आ० चू० । आव० ।

अम्हे णं देवाणुप्पिए ! णं तवविचित्तं केवलिपन्नत्तं धम्मं परिकहेमो ।

केवलिप्रज्ञप्तधर्मश्च-" जीवदया सच्चवयणं, परधणपरिवज्जणं सुसीलं च । खंती पंचिंदियनि-ग्गहो य धम्मस्स मूलाइं " ॥ १ ॥ नि० ३ वर्ग ।

केवलिपरियाय-केवलिपर्याय-पुं० । जिनपर्याये, आ० म० द्वि० ।

केवलिमरण-केवलिमरण-न० । उत्पन्नकेवलज्ञानस्य सकलकर्मपुद्गलपरिशाटनतो म्रियमाणस्य मरणे, प्रव० १५७ द्वार । "केवलिमरणं तु केवलिणो" उत्त० नि० २ खण्ड । केवलिमरणं तु ये केवलिन उत्पन्नकेवलज्ञानाः सकलकर्मपुद्गलपरिशाटनतो म्रियन्ते तदीयमिति । उत्त० ५ अ० ।

केवलिय-कैवलिक-त्रि० । केवलमेव कैवलिकम् । आव० ४ अ० । अद्वितीये, यस्मान्नापरमित्थंभूतमित्यर्थः । " इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं । " ध० ३ अधि० । केवलिन इदं कैवलिकम् । केवलिना कथिते, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । ज्ञा० ।

"तं सोयकारी पुढो पवेसे, संखाइमं केवलियं समाहिं" सूत्र० १ श्रु० १४ अ० । ज्ञा० । केवलिसंबन्धिनि च । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

केवलियणाणलंभ-कैवलिकज्ञानलाभ-पुं० । केवलज्ञानोपलब्धौ, आ० म० प्र० । आव० ।

केवलिलद्धि-केवलिलब्धि-स्त्री० । केवलिनः केवलज्ञानऋद्धिरूपे लब्धिभेदे, प्रव० २७० द्वार ।

केवलिसमुग्घाय-केवलिसमुद्घात-पुं० । केवलिन्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदे भवः समुद्घातः केवलिसमुद्घातः । पं० सं० २ द्वार । प्रव० । जिनसमुद्घाते, समुद्घातभेदे, विशे० ।

अशेषकेवलिसमुद्घातवक्तव्यता । संप्रति केवलिसमुद्घातविधौ यथास्वरूपैर्यावत्प्रमाणस्य क्षेत्रस्यापूरणमुपजायते तथास्वरूपैः पुद्गलैस्तावत्प्रमाणस्य क्षेत्रस्यापूरणमभिधित्सुराह-

अणगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो केवलिसमुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा निज्जरा पोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला सव्वलोगं पि य णं भंते ! फुसित्ता णं चिट्ठंति ? । हंता गोयमा ! अणगारस्स भावियप्पणो केवली समुग्घाएणं समोहयस्स जे चरिमा निज्जरा पोग्गला सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो ! सव्वलोगं पि य णं फुसित्ता णं चिट्ठंति ।

इह समुद्घातः केवलिनो भवति, न छद्मस्थस्य । केवली च निश्चयनयमते नानगारो न गृहस्थो नापि पाखण्डी, स च नियमाद् भावितात्मा, विशिष्टशुभाध्यवसानकलितत्वात् ; अन्यथा केवलित्वानुपपत्तेः, तत उक्तमनगारस्य भावितात्मनः । इह केवलिसमुद्घातेनोक्तस्वरूपेण समवहतस्य ये चरमाश्चरमसमयभाविन इत्यर्थः । तैरेव सकललोकापूरणात् । (निर्जराः पुद्गला इति) निर्जरा निर्जीर्णा इत्यर्थः । ते च ते पुद्गलाश्चेति विशेषणसमासः । किमुक्तं भवति?-ये लोकापूरणसमये पुद्गला आत्मप्रदेशेभ्यो विशिष्टाः परित्यक्तकर्मत्वपरिणामा इति (सुहुमा णं भंते ! पुग्गला) आत्मप्रदेशेभ्यो विशिष्टाः परित्यक्तकर्मत्वपरिणामा इति । (सुहुमा णं भंते ! पुग्गला इति) णमिति निश्चये, सूक्ष्माश्चक्षुरादीन्द्रियपथमतिक्रान्तास्ते पुद्गलाः प्रज्ञप्ताः भगवद्भिः हे श्रमण हे आयुष्मन्! , गौतमकृतं भगवतः सम्बोधनमेतत्, तथा (णमिति) निश्चितमेतत् सर्वलोकमपि ते पुद्गलाः स्पृष्ट्वा, णमिति वाक्यालङ्कारे तिष्ठन्ति । गौतमेन प्रश्ने कृते भगवानाह-" हन्ता गोयमा !" इत्यादि । हन्तेति प्रीतौ । यदाह शाकटायनः-'हन्तेति' संप्रदाने प्रीतिश्चात्र यथावस्थितस्वरूपप्रतिपादकत्वात् प्रश्नसूत्रस्य सामान्यलक्षणा वेदितव्या, न तु हर्षरूपा । क्षीणमोहत्वेन भगवतो हर्षविषादातीतत्वात् । सामान्यमेव ख्यापयति-यदुक्तं गौतमेन तदनुवदति-"अणगारस्येत्यादि" भावितार्थसूक्ष्मपुद्गला इत्युक्तम् । तच्च सूक्ष्मत्वमपि भवति यथा बदरादीनामामलकाद्यपेक्षया वा, ततश्चक्षुरादीन्द्रियगोचरातिक्रान्तरूपः ।

तत्प्रतिपिपादयिषुरिदमाह-

छउमत्थे णं भंते ! मणुसे तेसिं निज्जरापोग्गलाणं वन्नेणं वन्नं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं वा फासं जाणइ, पासइ ? । गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठे णं भंते ! एवं

वुच्चइ–छउमत्थे णं मणुस्से तेसिं निज्जरापोग्गलाणं नो किंचि वि वन्नेणं वन्नं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ पासइ ?। गोयमा ! अयन्नं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतरए सव्वखुड्डयाए वट्टे तेल्ला पूयसंठाणसंठिए वट्टे रहचक्कवालसंठाणसंठिए वट्टे पुक्खरकण्णियासंठाणसंठिए वट्टे पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए चेव एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं तिन्नि जोयणसयसहस्साइं सोलससहस्साइं दोण्णि सत्तावीसे जोयणसए तिन्नि य कोसे अट्ठावीसं च धणुसयं तेरस अंगुलाइं अद्धंगुलं च किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ते देवे णं महड्ढिए० जाव महासोक्खे एगं महं सविलेवणं गंधसमुग्गयं गहाय तं अवद्दालेइ, तं महं एगं सविलेवणं गंधसमुग्गयं अवद्दालइत्ता इणमेव णं तिकट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छराणि वा तेहिं सत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा। से नूणं गोयमा ! से केवलकप्पे जंबुद्दीवे दीवे तेहिं घाणपुग्गलेहिं फुडे ?। हन्ता फुडे। छउमत्थे णं गोयमा ! मणूसे तेसिं घाणपोग्गलाणं किंचि वण्णेणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ पासइ ?। नभगवं ! णो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ छउमत्थेणं मणुस्से तेसिं निज्जरापोग्गलाणं नो किंचि वन्नेणं वण्णं गंधेणं गंधं रसेणं रसं फासेणं फासं जाणइ पासइ ?। जे सुहुमा णं ते पोग्गला पण्णत्ता समणाउसो ! सव्वलोगं पि य णं फुसित्ता णं चिट्ठंति ॥

(छउमत्थे णमित्यादि) छद्मस्थो भदन्त ! मनुष्यः,तेषामनन्तरोदितानां निर्जरापुद्गलानां किञ्चिदिति प्रथमतः सामान्येन प्रयुक्तं जानाति पश्यतीति संबध्यते । एतदेव विशेषतो व्याचष्टे–वर्णेन वर्णग्राहकेण चक्षुरिन्द्रियेण वर्ण्यते यथाक्थितं वस्तुस्वरूपं निर्णीयतेऽनेनेति वर्ण इति व्युत्पत्तेः वर्णं कृष्णादिरूपम्। गन्धनं गन्धग्राहकेण नासिकेन्द्रियेण 'गन्ध' आघ्राणे, चुरादिभ्यो णिच्, गन्ध्यत आघ्रायते शुभोऽशुभो वा गन्धोऽनेनेति गन्ध इति व्युत्पादनात् गन्धं शुभाशुभं वा । रसेन रसग्राहकेण रसनेन्द्रियेण रस्यते आस्वाद्यतेऽनेनेति शब्दार्थत्वात् रसं तिक्तादिरूपम्। स्पर्शेन स्पर्शग्राहकेण स्पर्शनेन्द्रियेण स्पृश्यतेऽनेनेति कर्कशादिरूपः परिच्छेद्यवस्तुगतः स्पर्श इति व्युत्पादनात् स्पर्शं कर्कशादिरूपं जानाति पश्यतीति । भगवानाह—गौतम ! नायमर्थ उपपन्न इत्यर्थः । पुनर्गौतमः प्रश्नयति–" से केट्ठेणं भंते ! " इत्यादि उत्तानार्थम्। भगवानाह--गौतम ! "अयण्णमित्यादि" अयं प्रत्यक्षत उपलभ्यमानो, णमिति वाक्यालङ्कारे, अष्टयोजनोच्छ्रितया रत्नमय्या जम्ब्वा उपलक्षितो द्वीपो जम्बूद्वीपः,द्वीपसमुद्राणां सर्वाभ्यन्तरक इति सर्वेषामभ्यन्तरो मध्यवर्ती सर्वाभ्यन्तरः, सर्वाभ्यन्तर एव सर्वाभ्यन्तरकः, ' जातौ वा स्वार्थे कः ' (स्वार्थे कश्च वा)॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति प्राकृतलक्षणवशात् स्वार्थे कः प्रत्ययः । केषां सर्वेषामभ्यन्तर इत्याह—सर्वद्वीपसमुद्राणां, तथाहि- सर्वे शेषा द्वीपसमुद्रा जम्बूद्वीपादारभ्याऽऽगमाभिहितेन क्रमेण द्विगुणद्विगुणविस्तारा व्यवस्थिताः,ततो भवति द्वीपसमुद्राणां च जम्बूद्वीपोऽभ्यन्तरः। तथा (सव्वखुड्डागे इति) सर्वेभ्यो द्वीपसमुद्रेभ्यः क्षुल्लको ह्रस्वः सर्वक्षुल्लक इति। तथाहि–सर्वे लवणादयः समुद्राः सर्वे च धातकीखण्डादयो द्वीपाः, अस्माज्जम्बूद्वीपादारभ्य प्रवचनोक्तेन क्रमेण द्विगुणचक्रवालचिन्तना; ततः शेषद्वीपसमुद्रापेक्षया सर्वलघुरिति। तथा वृत्तो वर्तुलो यतस्तैलापूपसंस्थानसंस्थितः; तैलेन हि पक्वोऽपूपः प्रायः परिपूर्णवृत्तो भवति न घृतपक्व इति तैलविशेषणं,तस्येव संस्थानसंस्थितस्तथा वृत्तो जम्बूद्वीपो यतो रथचक्रवालसंस्थानसंस्थितः रथस्य रथाङ्गस्य चक्रवालं मण्डलं तस्येव यत् संस्थानं तेन संस्थितः। एवमुक्तमपि पदद्वयं भावनीयम् (आयामविक्खंभेणं ति) आयामश्च विष्कम्भकश्चेति समाहारो द्वन्द्वः। तेन आयामेन विष्कम्भेण च प्रत्येकमेकं योजनशतसहस्रमित्यर्थः । परिधिपरिमाणानयनगणितं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादावनेकशो भावितमिति ततोऽवधार्यम्। "देवे णमित्यादि" देवश्च, णमिति वाक्यालङ्कारे । (महड्ढिए इति) महती ऋद्धिर्विमानपरिवारादिका यस्याऽसौ महर्द्धिकः। (जाव महासोक्खे इति) यावच्छब्दकरणात् "महज्जुईए इति महाबले महाजसे" इति दृष्टव्यम् । तत्र महती द्युतिः शरीराभरणविषया यस्य सः महाद्युतिः, महद्बलं शारीरप्राणो यस्य स महाबलः, महत् यशः ख्यातिर्यस्य सः महायशाः, तथा महत् प्रभूतं सौख्यं यस्य प्रभूतसद्वेद्यकर्मोदयभावादिति । महासौख्यः। क्वचित् "महेसक्खे" इति पाठः, तत्र महान् ईशः ईश्वरः इत्याख्या शब्दप्रथा यस्य लोके स महेशाख्यः। अथवा ईशानमीशो भावे घञ्प्रत्ययः,ऐश्वर्यमित्यर्थः , ' ईश ' ऐश्वर्ये इति वचनात् । तत ईशमैश्वर्यमात्मनः ख्यातिम्। अन्तर्भूतण्यर्थतया ख्यापयति प्रकाशयति। तथा परिवारादिस्फीत्या वर्तत इति ईशाख्यः महांश्चासावीशाख्यश्च महेशाख्यः । अन्यत्र ' महासक्खे त्ति ' पाठः, तत्रैवं वृद्धव्याख्या-आशुगमनादश्वं मनः, अक्षाणि इन्द्रियाणि,स्वस्वविषयव्यापकत्वात्। अक्षशब्दो हि प्रायेण ' अशूङ् ' व्याप्तावित्यस्य धातोर्निष्पाद्यते,अश्वश्च अक्षाणि च अश्वाक्षाणि, महान्ति स्फीतिमन्ति अश्वाक्षाणि यस्याऽसौ महाश्वाक्षः; स्फीतमनाः, स्फूर्तिमच्चक्षुरादीन्द्रियश्चेत्यर्थः । एकं महान्तमति च गुरुकमन्यथा स्तोकं तथा तद्गतैर्गन्धपुद्गलैः सकलस्य जम्बूद्वीपस्य व्याप्तमशक्यत्वात् । (सविलेवणमिति) सह विशिष्टमतिसूक्ष्मरन्ध्राणामपि स्थगनात् लेपनं लेपो जत्वादिकृतं पिधानोपरि वर्तते येन स तथा तम्। विशिष्टलेपप्रदानाभावे हि बहवः सूक्ष्मरन्ध्रैर्गन्धपुद्गला निर्गच्छन्ति,तत उद्घाटनवेलायां तेषां स्तोकीभावेन सकलजम्बूद्वीपापूरणं नोपपद्यते। (गंधसमुग्गयं ति) गन्धद्रव्यैरतिविशिष्टैः परिपूर्णभृतः समुद्गको गन्धसमुद्गकस्तम् । (अवदाले इति) अवदलयति, उत्पाटयतीत्यर्थः। (इणमेवेति) एवमेवेत्यर्थः । (केवलकप्पं ति) केवलं केवलज्ञानं तत्कल्पं परिपूर्णतया तत्सदृशं, परिपूर्णमित्यर्थः। जम्बूद्वीपं त्रिभिरप्सरोनिपातो नाम चप्पुटिका,ततास्तिसृभिश्चप्पुटिकाभिरिति द्रष्टव्यम्। चप्पुटिकाश्च कालोपलक्षणम्। ततोऽयमर्थः-यावत्कालेन तिस्रश्चप्पुटिकाः पूर्यन्ते तावत्कालमध्ये इति त्रिःसप्तकृत्वः एकविंशतिवारान् अतिपरिवर्त्य सामस्त्येन परिभ्रम्य (हव्वं) शीघ्रमागच्छेत्। " से नूणमित्यादि " ' से ' शब्दो मगधदेशप्रसिद्धा अथशब्दार्थः । अथशब्दस्य चार्थो वाक्योपन्यासादयः। उक्तं च-"अथ प्रक्रियाप्रश्नानन्तर्यमङ्गलाधिकारवाक्योपन्यासेषु" अत्राथ वाक्योपन्यासे। तद्भावना चैवम्। उक्तस्तावत्

विवक्षितार्थप्रतिपत्तिहेतोर्दृष्टान्तस्य पीठिकाबन्धः। संप्रति विवक्षितार्थप्रतिपत्तिहेतुदृष्टान्तवाक्यमुपन्यस्यते-नूनं निश्चितं गौतम ! स केवलकल्पो जम्बूद्वीपस्तैर्गन्धसमुद्गकाद् विनिर्गतैर्घ्राणपुद्गलैः स्पृष्टो व्याप्तः। काका चेदं सूत्रमभिधीयते, ततः प्रश्नोऽवगम्यते। अथवा प्रश्नार्थः सशब्दः। ततोऽञ्जसैव प्रश्नयतीति गौतम आह-हन्त ! स्पृष्टो, गन्धपुद्गलानां सर्वतोऽभिसर्पणशीलत्वात् । पुनरपि भगवानाह-"छउमत्थे णमित्यादि" सुगमम् । एष चात्र भावार्थः-यथा ते सकलजम्बूद्वीपव्यापिनो गन्धपुद्गलाः सूक्ष्मत्वान्न छद्मस्थानां चक्षुरादीन्द्रियगम्याः, तथा सकललोकव्यापिनो निर्जरापुद्गला अपीति । उपसंहारमाह-(एसुहुमा णं ते) एतावत्सूक्ष्माः ।

अथ यन्निमित्तं केवली समुद्घातमारभते तत् पिपृच्छिषुरिदं प्रश्नसूत्रमाह-

कम्हा णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छइ ? । गोयमा ! केवलिस्स चत्तारि कम्मंसा अंता अक्खीणा अवेदिता अनिज्जिन्ना भवंति । तं जहा-वेदणिज्जे आउए नामे गोत्ते सव्वबहुए, से वेदणिज्जे कम्मे हवइ, सव्वत्थोवे, से आउए कम्मे हवइ, विसमं समं करेइ बंधणेहिं ठिईहि य विसमसमीकरणयाए बंधणेहिं ठिईहिं, एवं खलु केवली समोहणइ; एवं खलु समुग्घायं गच्छइ । सव्वे वि णं भंते ! केवली समोहणइ, सव्वे वि णं भंते ! केवली समुग्घायं गच्छंति ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । "जस्साउ पुण तुल्लाइ,बंधणेहिँ ठिईहि य ।। भवोवग्गहकम्माइं,समुग्घातं(से) न गच्छइ ।। १ ।। अणंताणं समुग्घायं, अणंता केवली जिणा । जरामरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगतिं गया" ॥२॥

"कम्हा णमित्यादि" कस्मात्कारणात्, णमिति वाक्यालङ्कारे। भदन्त ! केवली केवलज्ञानोपेतः समुद्घातं गच्छत्यारभते, कृतकृत्यत्वात्किल तस्येति भावः। भगवानाह-"गोयमेत्यादि" गौतम ! केवलिनश्चत्वारः कर्मांशाः कर्मभेदा अक्षीणाः क्षयमनुपगताः। कुत इत्याह-अवेदिताः,अत्र "निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्" इति न्यायात् हेतौ प्रथमा। ततोऽयमर्थः-यतो वेदिताः ततोऽक्षीणकर्मणां हि क्षयो नियमतः प्रदेशतो विपाकतो वा वेदनाद्भवति, "सव्वं च पएसतया, भुञ्जइ कम्ममणुभावतो भइयं" इत्यादि वचनात् । ते चत्वारोऽपि कर्मांशा अवेदिता अतोऽक्षीणाः। एतदेव पर्यायेण व्याचष्टे-अनिर्जीर्णाः सामस्त्येनात्मप्रदेशेभ्यो परिशाटिता भवन्ति तिष्ठन्ति। तानेव नामग्राहमभिधित्सुराह-"तं जह"इत्यादि सुगमम् । तत्र यदा (से) तस्य केवलिनः सर्वबहुप्रदेशं वेदनीयम्,उपलक्षणमेतत्-नामगोत्रे च। तथा सर्वस्तोकप्रदेशमायुःकर्म तदा। (संबंधणेहि ठिईहि य त्ति)बध्यते भवचारकात् विनिर्गच्छन् प्रतिबध्यते यैस्ते बन्धनाः। "करणाधारे" ॥५।३।१२६॥ इति(हैम०) करणे अनट्प्रत्ययः। अथ वा बध्यन्ते आत्मप्रदेशैः सह लोलीभावेन संश्लिष्टाः क्रियन्ते योगवशात् ये ते बन्धनाः "बहुलम्" ॥ ५ । १ । २ ॥ कृत् इति (हैम०) वचनात् कर्मणि अनट् । उभयथापि कर्मपरमाणवो वाच्याः स्थितयो वेदनाकालाः। तथा चोक्तं भाष्यकृता-"विसमं करेइ समं,बंधणेहिँ ठिईहि य। कम्मदव्वाइँ बन्धणेँ,वि य कालो वई तेसिं" ॥ ततश्च तैर्बन्धनैः स्थितिभिश्च विषमं सद्वेदनीयादिकं समुद्घातविधिना समयायुषा सह करोति स एवं खलु केवली बन्धनैः स्थितिभिश्च विषमस्य सतो वेदनीयादिकस्य कर्मणः (समीकरणयाए इति) अत्र ताप्रत्ययः स्वार्थिकः। ततोऽयमर्थः-समीकरणाय (समोहणइ त्ति) समवहन्ति । समुद्घाताय प्रयतन्त एवं खलु समुद्घातं गच्छति। उक्तञ्च-आयुषि समाप्यमाने शेषाणां कर्मणां यदि समाप्तिर्न स्यात्, स्थितिवैषम्यात्गच्छति । स ततः समुद्घातं स्थित्या च बन्धनेन च समीक्रियार्थं हि कर्मणां तेषामन्तर्मुहूर्तशेषे तदायुः समुज्जिघांसति स न तु प्रभूतस्थितिकस्य वेदनीयादेरायुषा सह समीकरणार्थं समुद्घातमारभते इति । यदुक्तम्-तन्नोपपन्नं, कृतनाशादिदोषप्रसङ्गात् । तथाहि—प्रभूतकालोपभोगस्य वेदनीयादेरारात एवापगमसम्भवात् कृतनाशः वेदनीयादिवच्च कृतस्यापि कर्मक्षयस्य पुनर्नाशसम्भवान्मोक्षेऽप्यनास्थाप्रसङ्गः। तदसत्। कृतनाशादिदोषप्रसङ्गात् । तथाहि-इह यथा प्रतिदिवसं सेतिकापरिभोगेन वर्षशतोपभोग्यस्य कल्पितस्याहारकस्य भस्मकव्याधिना तत्सामर्थ्यात्स्तोकदिवसैर्निःशेषतः परिभोगान्न कृतनाशोपमः, तथा कर्मणोऽपि वेदनीयादेः तथाविधशुभाध्यवसायानुबन्धादुपक्रमेण साकल्यतो भोगान्न कृतनाशरूपदोषप्रसङ्गः। द्विविधो हि कर्मणोऽनुभवः-प्रदेशतो विपाकतश्च। तत्र प्रदेशतः सकलमपि कर्मानुभूयते न तदस्ति, किञ्चित्कर्म यत्प्रदेशतोऽप्यननुभूतं सत् क्षयमुपयाति,ततः कथं कृतनाशदोषापत्तिः। विपाकतस्तु किञ्चिन्न,अन्यथा मोक्षाभावप्रसङ्गात्। तथाहि-यदि विपाकानुभूतित एव सर्वं कर्म क्षपणीयमिति नियमस्तर्हि असङ्ख्यातेषु भवेषु तथाविधविचित्राध्यवसायविशेषैर्यन्नरकगत्यादिकं कर्मोपार्जितम्, तस्यैकस्मिन् मनुष्यादावेव भवेऽनुभवः, स्वस्वनिबन्धनत्वात्तद्विपाकानुभवस्य क्रमेण च स्वभवानुगमनेन वेदने नारकादिभवेषु चारित्राभावेन प्रभूततरकर्मसन्तानोपचयात्तस्यापि स्वभवानुगमनेनानुभवोपगमात् कुतो मोक्षः?। तस्मात्सर्वं कर्म विपाकतो भाव्यप्रदेशतोऽवश्यमनुभवनीयमिति प्रतिपत्तव्यम्,एवञ्च न कश्चिद्दोषः। नन्वेवमपि दीर्घकालभोग्यतया तद्वेदनीयादिकं कर्मोपचितम्। अथ च परिणामविशेषादुपक्रमेणारादेव तदनुभवति,ततः कथं न कृतनाशदोषापत्तिः?। तदप्यसम्यक्। बन्धकाले तथाविधाध्यवसायवशाद्दाद्युपक्रमयोग्यस्यैव तेन बन्धात्। अपि च-जिनवचनप्रामाण्यादपि वेदनीयादिकर्मणामुपक्रमो मन्तव्यः। यदाह भाष्यकृत्-'उदयक्खयक्खओवसमो, व समाजं च कम्मुणो भणिया । दव्वाइ पंचमं पइजुत्तमवक्कमेण मत्तो वि' ॥१॥ न चैवं मोक्षोपक्रमः हेतुः कश्चिदस्ति तथाविधोऽन्तिमसूत्रे भावयिष्यते। ततो यदुक्तं वेदनीयादिवच्च कृतस्यापि कर्मक्षय इत्यादि, न तत्सम्यगुपपन्नमिति स्थितम् । अपर आह-ननु यदा वेदनीयादिकमतिप्रभूतं सर्वस्तोकं चाऽऽयुस्तदा समधिकवेदनीयादेः सोपक्रमत्वात्, यदा समधिकमायुः सर्वस्तोकं तदा का वार्ता?। न खल्वायुषः समधिकस्य समुद्घाताय समुद्घातः कल्पते,चरमशरीरिणामायुषो निरुपक्रमत्वात्, चरमशरीराय "निरुवक्कमा" इति वचनात् । तदयुक्तम् । एवंविधभावस्य कदाप्यभावात्। तथाहि-सर्वदैव वेदनीयाद्येवायुषः सकाशादधिकस्थितिकं भवति,न तु कदाचिदपि वेदनीयादेरायुः। अथैवंविधो नियमः कुतो लभ्यते?। उच्यते-परिणामस्वाभाव्यात्। तथाहि-इत्थंभूत एवात्मनः परिणामो येनास्यायुर्वेदनीयादेः संभवति,न्यूने वा,न तु कदाचनाऽप्यधिकं, यथैतस्यैवायुषः खलु ध्रुवबन्धः। तथाहि-ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि आयुर्वर्ज्यानि सप्तापि सदैव बध्यन्ते, आयुस्तु प्रतिनियत एव काले स्वभवत्रि-

मागादिशेषरूपे, तत्र चैवंविधवैचित्र्यनियमनं स्वभावाहते परः कश्चिदस्ति हेतुरेवमिहापि स्वभावविशेष एव नियामको द्रष्टव्यः। आह च भाष्यकृत्–" असमठिईणं नियमो, को थोवं आउयं व सेवंति?। परिणाममहावाओ, भङ्गुवबंधा वि तस्सेव ॥१॥" अथ विशेषपरिज्ञानाय गौतमो भगवन्तं पृच्छति-(सव्वे वि णमित्यादि) णमिति निश्चये। सर्वेऽपि खलु केवलिनः समवघ्नन्ति समुद्घाताय प्रयतन्ते,प्रयत्नानन्तरं च सर्वेऽपि खलु केवलिनः समुद्घातं गच्छन्ति?। गौतमेन प्रश्ने कृते भगवान्निर्वचनमाह-(गोयमेत्यादि) गौतम ! नायमर्थः समर्थः, उपपन्नः। किमुक्तं भवति?–सर्वेऽपि केवलिनः समुद्घाताय प्रयतन्ते नापि समुद्घातं गच्छन्ति, किं तु येषामायुषः समधिकं वेदनीयादिकं, यस्य पुनः स्वभावत एवायुषा सह समस्थितिकानि वेदनीयादीनि कर्माणि सोऽकृतसमुद्घात एव तानि क्षपयित्वा सिध्यति। तथा चाह-(जस्सेत्यादि) यस्य केवलिन आयुषा सह भवो मनुष्यभव उप समीपेन गृह्यते अवष्टभ्यते यैस्तानि भवोपग्रहकर्माणि तानि च तानि कर्माणि च भवोपग्रहकर्माणि वेदनीयनामगोत्राणि बन्धनैः प्रदेशैः स्थितिभिश्च तुल्यानि समानि भवन्ति समुद्घातं न गच्छन्ति,अकृतसमुद्घात एव तानि क्षपयित्वा स सिद्धिसौधमध्यास्ते इति भावः। उक्तञ्च–" जस्स उ तुल्ला भवइ य, कम्मचउक्कं सभावतो जायं। भो अकयसमुग्घाओ, भिज्झइ जुगवं खवेऊणं ॥ १ ॥" अथायं कादाचित्को भाव उत बाहुल्यभावः?,यत आह-(अगंतूण समुग्घायमित्यादि) अगत्वा समुद्घातं केवलिसमुद्घातं सिद्धिं चरमगतिं गता इति सम्बन्धः। कियत्संख्याका इत्याह–अनन्ता अनन्तसंख्याकाः,केवलिनः केवलज्ञानदर्शनोपेताः। अनेन ये'नवानामात्मगुणानामत्यन्तोच्छेदो मोक्षः'इति प्रतिपन्नास्ते अपास्ता द्रष्टव्याः। ज्ञानस्य निरुपचरितात्मस्वभावत्वात्, तस्य च विनाशायोगात्। अन्यथाऽऽत्मन एवाभावापत्तेः। नचात्मनो निरन्वयो विनाशः,सतः सर्वथा विनाशायोगात्, ''नासतो विद्यते भावो,नाभावो विद्यते सतः''इति न्यायात्। तथा जिना जितरागादिशत्रवः, अनेन गोशालकमतापाकरणमाह, ते हि मुक्तिपदमध्यासीनमपि तत्त्वतो वीतरागमपि मन्यन्ते, अवाप्तमुक्तिपदा अपि तीर्थनिकारदर्शनार्थमिहागच्छन्तीति वचनात्,तत्त्वतो वीतरागस्य च पराभवबुद्धेरिहागमनस्य चासंभवात्। पुनः कथंभूता इत्याह-जरामरणविप्रमुक्ताः,जरा च मरणं च जरामरणे ताभ्यां विप्रमुक्ताः,जरामरणग्रहणमुपलक्षणं, तेन समस्तरोगशोकादिसांसारिकक्लेशविप्रमुक्ता इति द्रष्टव्यम्। एतेन एकान्ततो मोक्षस्योपादेयतामाह,अन्यस्यैवंस्वरूपस्य स्थानस्यासम्भवात्। न हि संसारे प्रकर्षसुखप्राप्तमपि स्थानमेवंविधमस्ति,सर्वस्यापि मरणपर्यवसानत्वात्। सेघनं सिद्धिरशेषकर्मांशापगमेनात्मनः स्वरूपे अवस्थानता, वरा सर्वगतीनामुत्तमा, गम्यते इति गतिर्वरगतिस्तां वरगतिरूपामित्यर्थः; गताः प्राप्ताः। प्रज्ञा० । इह सर्वोऽपि केवली केवलिसमुद्घातं गच्छन् प्रथमत आवर्जीकरणमुपगच्छति। प्रज्ञा०। (तच्च " आउज्जीकरण" शब्दे द्वितीयभागे २९ पृष्ठे उक्तम)

आवर्जीकरणानन्तरं चाव्यवधानेन केवलिसमुद्घातमारजते। स च कतिसामायिक इत्याशङ्कायां तत्समयनिरूपणार्थमाह–

कइ समए णं भंते ! केवलिसमुग्घाए पन्नत्ते ?। गोयमा ! अट्ठ समए पण्णत्ते। तं जहा–पढमे समए दंमं करेइ बीए कवाडं करेइ, ततिए समए मंथं करेइ, चउत्थे समए लोगं पूरेइ, पंचमे समए लोयं पडिसाहरइ, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरइ, सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरइ,अट्ठमे समए दंडं पडिसाहरइ, पडिसाहरित्ता ततो पच्छा सरीरत्थे हवइ। से णं भंते ! तहा समुग्घायगए किं मणजोगं जुंजइ वइजोगं जुंजइ कायजोगं जुंजइ ?। गोयमा ! नो मणजोगं जुंजइ, नो वइजोगं जुंजइ, गोयमा ! कायजोगं जुंजइ। कायजोगेणं भंते ! जुंजमाणे किं उरालियसरीरकायजोगं जुंजति उरालियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, किं वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ वेउव्वियमीससरीरकायजोगं जुंजइ,किं आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ आहारगमीससरीरकायजोगं जुंजइ, किं कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ ?। गोयमा ! उरालियसरीरकायजोगं पि जुंजइ उरालियमीससरीरकायजोगं पि जुंजइ, नो वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ नो वेउव्वियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, नो आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ नो आहारगमीससरीरकायजोगं जुंजइ, कम्मगसरीरकायजोगं पि जुंजइ पढमट्ठमेसु समएसु उरालियसरीरकायजोगं जुंजइ बितीयछट्ठसत्तमेसु समएसु उरालियमीससरीरकायजोगं जुंजइ ततियचउत्थपंचमेसु समएसु कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ ॥

"कइ समए णमित्यादि" सुगमम्। तत्र यस्मिन् समये यत्करोति तद्दर्शयति–" तं जहा–पढमसमए " इत्यादि। इदमपि सुगमं, प्रागेव व्याख्यातत्वात्, नवरमेवं भावार्थः–यथाचैश्चतुर्भिः समयैः क्रमेणात्मप्रदेशानां विस्तरणं तथैव प्रतिलोमं क्रमेण संहरणमिति। उक्तं चैतदन्यत्रापि—

" उड्ढदेहो य लोगं-तगामिणं, सोसदेहविक्खंभं।
पढमसमयम्मि दंडं, करेइ बिइयम्मि य कवाडं ॥
तइयसमयम्मि मंथं, चउत्थए लोगपूरणं कुणइ।
पडिलोमं साहरणं, काउं तो होइ देहत्थो" ॥ १ ॥

अस्मिंश्च समुद्घाते क्रियमाणे सति यो योगो व्याप्रियते तमभिधित्सुरिदमाह–" से णं भंते " इत्यादि। तत्र मनोयोगं वाग्योगं वा न व्यापारयति,प्रयोजनाभावात्। आह च धर्मसारमूलटीकायां हरिभद्रसूरिः–मनोवचसी तदा न व्यापारयति, प्रयोजनाभावात् काययोगं पुनर्युञ्ज्यत औदारिककाययोगमौदारिकमिश्रकाययोगं वा युनक्ति, न शेषं, लब्ध्युपजीवनाभावेन शेषस्य काययोगस्यासम्भवात्। तत्र प्रथमेऽष्टमे च समये केवलमौदारिकमेव शरीरं व्याप्रियते इत्यौदारिककाययोगः। द्वितीये षष्ठे सप्तमे च समये कार्मणशरीरस्यापि व्याप्रियमाणत्वात् औदारिकमिश्रकाययोगः। तृतीयचतुर्थपञ्चमेषु तु समयेषु केवलमेव कार्मणशरीरव्यापारभागिति कार्मणकाययोगः। आह च भाष्यकृत्–

"न किर समुग्घायगओ,मणवइजोगप्पयोयणं कुणइ ॥
ओरालियजोगं पुण, जुंजइ पढमट्ठमे समए ॥
उभयव्वावाराओ, तम्मीसं बीयछट्ठसत्तमए।
तिचउत्थपंचमे क–म्मगं तु कम्मत्तचेट्ठाओ"॥प्रज्ञा० ३६पद।स्था०।

संग्रहः–केवलिसमुद्घातगतः केवली सदसद्वेद्यादिकर्मपुद्गलपरिशातं करोति; स च यथा कुरुते तथा विनेयजनानुग्र–

द्राय ज्ञाप्यते इति—केवलिसमुद्घातोऽष्टसामयिकः, तथा-कुर्वन् केवली प्रथमसमयकाहूप्यतः स्वशरीरप्रमाणमूर्ध्वमधश्च लोकान्तपर्यन्तमात्मप्रदेशानां दण्डमारचयति । द्वितीयसमये पूर्वापरं दक्षिणोत्तरं वा कपाटं, तृतीये मन्थानं, चतुर्थेऽवकाशान्तराणां पूरणं, पञ्चमेऽवकाशान्तराणां संहारं, षष्ठे मन्थः, सप्तमे कपाटस्य, अष्टमे स्वशरीरस्थो भवति । वक्ष्यति च-" पढमसमयम्मि दंडं करेइ " इत्यादि । तत्र दण्डकसमयात् प्राक् या पल्योपमाऽसंख्येयभागमात्रा वेदनीयनामगोत्राणां स्थितिरासीत्,तस्या बुद्ध्याऽसंख्येया भागाः क्रियन्ते, ततो दण्डसमये दण्डं कुर्वन् असंख्येयान् भागान् हन्ति,एकोऽसंख्येयो भागोऽवतिष्ठते; यच्च प्राक् कर्मत्रयस्यापि रसस्तस्याप्यनन्ता भागाः क्रियन्ते, ततस्तस्मिन् दण्डसमये असातवेदनीयप्रथमवर्जसंस्थानपञ्चकाऽप्रशस्तवर्णादिचतुष्टयोपघाताप्रशस्तविहायोगतिदुर्भगास्थिराऽपर्याप्तश्चाशुभानादेयायशःकीर्तिनीचैर्गोत्ररूपाणां पञ्चविंशतिप्रकृतीनामनन्तान् भागान् हन्ति, एकोऽनन्तभागोऽवशिष्यते; तस्मिन्नेव च समये सातवेदनीयदेवगतिदेवानुपूर्वीपञ्चेन्द्रियजातिशरीरपञ्चकाङ्गोपाङ्गत्रयप्रथमसंधानसंहननप्रशस्तवर्णादिचतुष्टयागुरुलघुपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायोगति—त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकाऽतपोद्योतस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्तिनिर्माणतीर्थकरोच्चैर्गोत्ररूपाणामेकोनचत्वारिंशतः प्रकृतीनामनुभागोऽप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशनेनोपहन्यते। समुद्घातमाहात्म्यमेतत्; तस्य चोद्धरितस्य स्थितेः संख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्तभागस्य पुनर्यथाक्रमं असङ्ख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते । ततो द्वितीये कपाटसमये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, एकोऽवशिष्यते; अनुभागस्य चानन्तान् भागान् हन्ति, एकं मुञ्चति । अत्राप्यप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशनेन प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातो द्रष्टव्यः । पुनरप्येतत्समयेऽवशिष्टस्य स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततमभागस्य पुनर्बुद्ध्या यथाक्रममसंख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते । ततश्च तृतीये समये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, एकं मुञ्चति, अनुभागस्य चानन्तान् भागान् हन्ति, एकमनन्तभागं मुञ्चति। अत्रापि प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातोऽप्रशस्तप्रकृत्यनुभागमध्यप्रवेशनेनाऽवसेयः । ततः पुनरपि तृतीयसमयावशिष्टस्य स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततमभागस्य बुद्ध्या यथाक्रममसङ्ख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते; ततश्चतुर्थसमये स्थितेरसंख्येयान् भागान् हन्ति, एकस्तिष्ठति, अनुभागस्याप्यनन्तान् भागान् हन्त्येकोऽवशिष्यते; प्रशस्तप्रकृत्यनुभागघातश्च पूर्ववदवसेयः। एवं च स्थितिघातादिकुर्वतश्चतुर्थसमये स्वप्रदेशापूरितं समस्तलोकस्य भगवतः केवलिनो वेदनीयादिकर्मत्रयस्थितिरायुषः संख्येयगुणाः जाताः, अनुभागस्त्वद्याप्यनन्तगुणः, चतुर्थसमयावशिष्टस्य च स्थितेरसंख्येयभागस्यानुभागस्य चानन्ततमभागस्य भूयोऽपि बुद्ध्या यथाक्रमं संख्येया अनन्ताश्च भागाः क्रियन्ते। ततोऽवकाशान्तरसंहारसमये स्थितेः संख्येयान् भागान् हन्ति, एकं संख्येयभागं शेषीकरोति; अनुभागस्यानन्तान् भागान् हन्ति, एकं मुञ्चति। एवमेतेषु पञ्चसु दण्डादिसमयेषु प्रत्येकं सामायिकं दण्डकमुत्कीर्णं समये समये स्थितिदण्डकानुभागदण्डकघातनात्।अतः परं षष्ठसमयादारभ्य स्थितिकण्डकमनुभागकण्डकं चान्तर्मुहूर्त्तेन कालेन विनाशयति, प्रयत्नमन्दीभावात् । षष्ठादिषु च समयेषु दण्डकस्य प्रतिसमयमेकैकं शकलं तावदुत्किरति, यावदन्तर्मुहूर्त्तचरमसमयसकलमपि तत्कण्डकमुत्कीर्णं भवति । एवमान्तर्मुहूर्त्तिकानि स्थितिकण्डकमनुभागकण्डकानि च घातयन् तावद्वेदितव्यौ यावदस्ययोग्यवस्थाचरमसमयः; सर्वाण्यपि चामूनि स्थित्यनुभागकण्डकान्यसंख्येयान्यवगन्तव्यानीति । प्रज्ञा० २६ पद । विशे० ॥

अथ यदुक्तम्-" चउहिं समएहिं लोगो " इत्यादि (गाथा ३७७) तत्राह-

जइणसमुग्घायगइए, केई भासंति चउहिँ समएहिं ।
पूरइ सयलो लोगो, अन्ने भण तीहिँ समएहिं ॥३७३॥

रागादिजेतृत्वाज्जिनः केवली, तस्याऽयं जैनः, स चाऽसौ समुद्धातश्च जैनसमुद्धातः, केवलिसमुद्धात इत्यर्थः । तस्य गतिः प्रवृत्तिः क्रम इति यावत्। तया जैनसमुद्धातगत्या। "दण्डं प्रथमे समये, कपाटमथ चोत्तरे तथा समये । मन्थानमथ तृतीये, लोकव्यापी चतुर्थे च ॥१॥ " इत्यादिग्रन्थेनोक्तेन केवलिसमुद्धातक्रमेण चतुर्भिः समयैः सर्वोऽपि लोको भाषाद्रव्यैरापूर्यत इति केचिद्भाषन्ते। अयं चानादेश एव; पुरस्तान्निराकरिष्यमाणत्वादिति। अन्ये पुनस्त्रिभिः समयैः सर्वोऽपि लोकः पूर्यत इति ब्रुवत इति ॥ ३८३ ॥

किं वाक्यमात्रेण ?, न, इत्याह-

पढमसमये च्चिय जओ, मुक्काइं जंति छद्दिसिं ताइं ।
बितियसमयम्मि ते च्चिय,छ दंडा होंति छ म्मंथा ॥३७४॥
मंथंतरेहिँ तइए, समए पुन्नेहिँ पूरिओ लोगो ।
चउहिँ समएहिँ पूरइ, लोगंते भासमाणस्स ॥ ३७५ ॥

यतो लोकमध्यस्थितेन महाप्रयत्नभाषकेण मुक्तानि तानि भाषाद्रव्याणि प्रथमसमय एव षट्सु दिक्षु लोकान्तमाप्नुवन्ति, जीव-सूक्ष्मपुद्गलानामनुश्रेणिगमनात्। ततो द्वितीयसमये त एव षट् दण्डाश्चतुर्दिशमेकैकशोऽनुश्रेण्या वासितद्रव्यैः प्रसरन्तः षट् मन्थानो भवन्ति । तृतीयसमये तु मन्थान्तरैः पूरितैः पूरितो भवति सर्वोऽपि लोकः, स्वयंभूरमणपरतटवर्तिनि लोकान्तेऽलोकस्याऽत्यन्तं निकटीभूय भाषमाणस्य भाषकस्य त्रसनाड्या बहिर्वा चतसृणां दिशामन्यतमस्यां दिशि भाषमाणस्य तस्येति स्वयमपि द्रष्टव्यं, चतुर्भिः समयैर्लोकः सर्वोऽपि पूर्यत इति । ॥ ३८४ । ३८५ ॥

कथम् ?, इत्याह-

दिसि विदिसियस्स पढमोऽ—तिगमे ते चेव सेसया तिन्नि ।
विदिसि ठियस्स समया,पंचातिगमम्मि जं दोन्नि ।३७६।

त्रसनाड्या बहिश्चतसृणां दिशामन्यतमस्यां दिशि व्यवस्थितस्य भाषकस्य प्रथमः समयोऽतिगमे नाडीमध्यप्रवेशे भवति। शेषसमयत्रयभावना तु-"होइ असंखेज्ज इमे भागे" (३६०) इत्यादिवक्ष्यमाणगाथावृत्तौ 'कथमिति च' इत्यादिना वक्ष्यते । लोकान्तेऽपि स्वयंभूरमणपरतटवर्तिनि चतसृणां दिशामन्यतमस्यां दिशि व्यवस्थितस्य भाषकस्योर्द्ध्वाधोलोकस्खलितत्वाद्भाषाद्रव्याणां प्रथमः समयोऽतिगमे लोकमध्यप्रवेशे, त्रयस्तु समयाः शेषास्तथैव । त्रसनाडीबहिर्विदिग्व्यवस्थितस्य तु भाषकस्य भाषाद्रव्यैः सर्वलोकापूरणे पञ्च समया लगन्तीति

विशेषः। कुतः?, इत्याह-"अतिगमम्मि जं दोसि।त्ति" विदिशः सकाशात् भाषाद्रव्याणि लोकनाडीबहिरेव प्रथमे समये दिशि समागच्छन्ति, द्वितीये तु लोकनाडीमध्ये प्रविशन्ति, इत्येवं यस्मादतिगमे नाडीमध्यप्रवेशे द्वौ समयौ लगतः शेषास्तु, त्रयः समयाः चतुःसमयव्याप्तिवत् द्रष्टव्याः, इत्येवं पञ्च समयाः, सर्वेऽपि च लोकापूरणे प्राप्यन्त इति ॥ ३८६ ॥

ननु यथोक्तन्यायेन त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिश्च समयैर्लोको वाग्द्रव्यैः पूर्यते, तर्हि किमिति निर्द्धार्य निर्युक्तिकृता चतुःसमयग्रहणमेव कृतम्?, इत्याशङ्क्याह-

चउसमयमज्झगहणे, तिपंचगहणं तुलाइँ मज्झस्स ।
जह गहणे पज्जंत-ग्गहणं चित्ता य सुत्तगई ॥३८७॥

(तिपंचगहणमिति) आद्यन्तवर्त्तिनां त्रयाणां पञ्चानां च समयानां ग्रहणमिह निर्युक्तिकृता विहितमेव द्रष्टव्यम्।क सती-त्याह-चतुः समयरूपस्य मध्यस्य ग्रहणे कृते सति। ननु किमन्यत्रापि मध्यग्रहणे सत्याद्यन्तग्रहणं क्वापि दृष्टम्?। इत्याह-(तुलाइत्यादि) यथा तुलादीनाम्। आदिशब्दान्नाराचयष्ट्यादीनां, मध्यस्य ग्रहणे कृते पर्यन्तयोराद्यन्तलक्षणयोर्ग्रहणं पर्यन्तग्रहणं कृतमेव भवति, एवमिहापीति । नन्वयं न्यायः क्वाप्यागमे दृश्यते, येनैवमुच्यते?, इत्याह-चित्रा च भगवतः सूत्रस्य गतिः प्रवृत्तिर्दृश्यते ॥ ३८७ ॥

तथाहि—

कत्थइ देसग्गहणं, कत्थइ घेप्पंति निरवसेसाइं ।
उक्कमकमजुत्ताइं, कारणवसओ निउत्ताइं ॥ ३८८ ॥

क्वापि सूत्रे देशस्यैकपक्षलक्षणस्य ग्रहणं, यथाऽत्रैव चतुःसमयलक्षणस्य; क्वचित्सूत्रे निरवशेषाण्यपि पक्षान्तराणि गृह्यन्ते। अपरं च-कानिचित्सूत्राणि कुतोऽपि कारणवशात् उत्क्रमयुक्तानि नियुक्तानि निबद्धानि दृश्यन्ते, कानिचित्तु क्रमयुक्तानीति, एवं विचित्रा सूत्रगतिः ॥ ३८८ ॥

अथ प्रस्तुतार्थस्यैव शास्त्रान्तरसंवादकारिणं दृष्टान्तमाह--

चउसमयविग्गहे सति, महल्लबंधम्मि तिसमओ जह वा ।
मोत्तुं तिपंचसमये, तह चउसमओ इह निबद्धो ३८९ ॥

यथा वा भगवत्यामष्टमशते महाबन्धोद्देशके सत्यपि चतुःसामयिके विग्रहे त्रिसामायिकोऽयमुपनिबद्धः, तथाऽत्रापि त्रीन् पञ्च च समयान् मुक्त्वा चतुःसामयिक एव लोकव्याप्तिपक्ष उपनिबद्ध इत्यदोष इति ॥ ३८९ ॥

तदुक्तम्-"लोगस्स य कइ भावे, कइ भाओ होइ भासाए" (३७८) एतद्व्याचिख्यासुराह-

होइ असंखेज्ज इमे, भागे लोगस्स पढमबिइएसु।
भासा असंखभागो, भयणा सेसेसु समएसु ॥ ३९० ॥

चतुर्दशरज्जूच्छ्रितस्य लोकस्याऽसंख्याततमे भागे भाषाया अपि समस्तलोकव्यापिन्या असंख्याततम एव भागो भवति । कदा?, इत्याह-प्रथमद्वितीयसमययोः । इदमुक्तं भवति-त्रिसमयव्याप्तौ, चतुःसमयव्याप्तौ, पञ्चसमयव्याप्तौ च प्रथमसमयद्वितीयसमययोस्तावन्नियमेन सर्वत्र लोकाऽसंख्येयभागे भाषाऽसंख्येयभागलक्षण एव विकल्पः संभवति, नान्यः। त्रिसमयव्याप्तौ हि प्रथमसमये दण्डषट्कं भवति, द्वितीयसमये तु षट् मन्थानः संपद्यन्ते। एते च दण्डादयो दैर्घ्येण यद्यपि लोकान्तस्पर्शिनो भवन्ति, तथापि वक्तृमुखविनिर्गतत्वात् तत्प्रमाणानुसारतो बाहुल्येन चतुरङ्गुलादिमाना एव भवन्ति। चतुरादीनि चाङ्गुलानि लोकाऽसंख्येयभागवर्तीन्येवाइति सिद्धस्त्रिसमयव्याप्तौ प्रथमद्वितीयसमययोर्लोकाऽसंख्येयभागे भाषाऽसंख्येयभागः । चतुःसमयव्याप्तावप्येतदित्थमवगम्यत एव, प्रथमसमये लोकमध्यमात्र एव प्रवेशात्, द्वितीयसमये तु वक्ष्यमाणगत्या दण्डानामेव सद्भावादिति। पञ्चमसमयव्याप्तिपक्षे तु सुबोधमेव, प्रथमसमये भाषाद्रव्याणां विदिशो दिश्येव गमनात्, द्वितीयसमये तु लोकमध्यमात्र एव प्रवेशात्तस्मात् त्र्यादिसमयव्याप्तौ सर्वत्र प्रथमद्वितीयसमययोर्लोकाऽसंख्येयभागे भाषाया असंख्येयभाग एव भवति। (भयणा सेसेसु समएसु त्ति) उक्तशेषेषु तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु भजना विकल्परूपा बोद्धव्या। क्वाऽपि लोकासंख्येयभागे स एव भाषाऽसंख्येयभाग एव भवति, क्वचित्पुनर्लोकस्य संख्येयभागे भाषासंख्येयभागः, क्वापि समस्तलोकव्याप्तिः । तथाहि-त्रिसमयव्याप्तौ तृतीयसमये भाषायाः समस्तलोकव्याप्तिः, चतुःसमयव्याप्तितृतीयसमये तु लोकसंख्येयभागे भाषासंख्येयभागः। कथम्?, इति चेत् । उच्यते- स्वयंभूरमणपश्चिमपरतटवर्तिनि लोकान्ते, त्रसनाडीबहिर्वा पश्चिमदिशि स्थित्वा ब्रुवतो भाषकस्य प्रथमसमये चतुरङ्गुलादिबाहुल्यो रज्जुदीर्घो दण्डस्तिरश्चीनं गत्वा स्वयंभूरमणपूर्वपरतटवर्तिनि लोकान्ते लगति । ततो द्वितीयसमये तस्माद्दण्डादूर्ध्वाधश्चतुर्दशरज्जूच्छ्रितः पूर्वापरतस्तिरश्चीनरज्जुविस्तृतः पराघातवासितद्रव्याणां दण्डो निर्गच्छति। लोकमध्ये तु दक्षिणतः,उत्तरतश्च पराघातवासितद्रव्याणामेव चतुरङ्गुलादिबाहुल्यं रज्जुविस्तीर्णदण्डद्वयं विनिर्गत्य स्वयंभूरमणदक्षिणोत्तरवर्तिलोकान्तयोर्लगति । एवं च सति चतुरङ्गुलादिबाहुल्यं सर्वतोऽपि रज्जुविस्तीर्णं लोकमध्ये वृत्तच्छत्वरं सिद्धं भवति। तृतीयसमये तूर्द्ध्वाधो व्यवस्थितदण्डाच्चतुर्दिशं प्रसृतः पराघातवासितद्रव्यसमूहो मन्थानं साधयति । लोकमध्यव्यवस्थितसर्वतो रज्जुविस्तीर्णच्छत्वरादूर्ध्वाधः प्रसृतः पुनः स एव त्रसनाडीं समस्तामपि पूरयति। एवं च सति सर्वाऽपि त्रसनाडी ऊर्ध्वाधोव्यवस्थितदण्डमन्थिभावेन तदधिकं च लोकस्य पूरितं भवति । एतच्चैतावत् क्षेत्रं तस्य संख्याततमो भागः । तथा च सति चतुःसामयिक्या व्याप्तेस्तृतीयसमये लोकस्य संख्याततमे भागे भाषाया अपि समस्तलोकव्यापिन्याः संख्याततमो भाग इति स्थितम् । पञ्चसामयिक्यास्तु व्याप्तेस्तृतीयसमये लोकासंख्येयभागे भाषाऽसंख्येयभागः। कुतः?, इति चेत् । उच्यते-तस्यां तस्य दण्डसमयत्वात्, तत्र च संख्येयभागवर्तित्वस्य प्रागेव भावित्वादिति । चतुर्थसमये चतुःसामयिक्यां व्याप्तौ मन्थान्तरपूरणात्समस्तलोकव्याप्तिः। पञ्चसामयिक्यां तु व्याप्तौ चतुर्थसमये लोकसंख्येयभागे भाषासंख्येयभागः, तस्यां तस्य मन्थिसमयत्वात्, तत्र च संख्येयभागवर्त्तित्वस्य प्रागेव भावितत्वादिति । पञ्चमसमये तु पञ्चसामयिक्यां व्याप्तौ मन्थाऽन्तरालपूरणात्समस्तलोकव्याप्तिरिति। एवं तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु भाविता भजना। तद्भावने च व्याख्यातम्-(भयणा सेसेसु समयेसु त्ति) एतच्च महाप्रयत्नवक्तृनिसृष्टद्रव्यापेक्षयैवोक्तं, मन्दप्रयत्नवक्तृनिसृष्टानि तु लोकासंख्येयभाग एव वर्त्तन्ते, दण्डादिक्रमेण तेषां लोकपूरणासंभवादिति ॥ ३९० ॥

अथ यदुक्तं " लोगस्स य चरिमंते चरिमंतो होइ भासाए " (३७६) तदेतद्भावयन्नाह—

आपूरियम्मि लोगे,दोएह वि लोगस्स तह य भासाए ।
चरिमंते चरिमंतो, चरिमे समयम्मि सव्वत्थ ॥ ३७१ ॥

ज्यादिसमयैरापूरिते लोके द्वयोरपि लोकभाषयोश्चरमान्ते चरमान्तो भवति । क ?, इत्याह–चरमे समये । केषु विषये योऽसौ चरमः समयः?,इत्याह–सर्वत्र सर्वेष्वपि ज्यादिसमयव्याप्तिपक्षेषु, इदमुक्तं भवति–त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिश्च समयैर्भाषया पूरिते लोके तेषामेव ज्यादीनां लोकापूरकसमयानां यथास्वं योऽसौ चरमः समयस्तत्र लोकस्य चरमः पर्यन्तवर्त्ती अन्तो भवति-भाषायाश्च चरमःपर्यन्तवर्त्ती अन्तो भवति, ज्यादिसमयानां चरमसमये लोके निष्ठाकृते भाषाऽपि निष्ठां याति,न पुनः परतोऽप्यलोके गच्छतीति भावः।जीवपुद्गलानां तत्र गतेरेवाभावादिति।इह च विवक्षया आदिरप्यन्तो भवति,तद्व्यवच्छेदार्थं चरमग्रहणं,चरमः पर्यन्तवर्त्ती अन्तो, न पुनरादिभूत इत्यर्थ इति ॥ ३७१ ॥

तदेवं " कइहिँ समएहिँ लोगो" (३७८)इत्यादिनिर्युक्तिगाथाद्वयव्याख्यानेन निराकुलीकृत्य " जइणसमुग्घायगई, केई भासंति " (३८३) इत्यादिना यदादेशान्तरमुक्तं, सोऽनादेश एवेति स्थापनार्थम् । तत्र दूषणमाह–

न समुग्घायगईए, मीसयसवणं मयं च दंडम्मि ।
जइ तो वि तीहिँ पूरइ,समएहिँ जओ पराघाओ ॥३७२॥

(न समुग्घायगईए त्ति) जैनसमुद्घातगत्या भाषया लोकपूरणे इष्यमाणे न प्राप्नोतीति । किम् ?, इत्याह–मिश्रस्य शब्दस्य श्रवणं मिश्रश्रवणं, सर्वासु दिक्ष्विति शेषः । इदमुक्तं भवति–जैनसमुद्घाते ऊर्ध्वाधोदिग्द्वयगाम्येव प्रथमसमये दण्डो भवति, तद्यदि भाषाद्रव्येष्वप्येवमिष्यते, तर्हि ऊर्ध्वाधोदिग्द्वय एव मिश्रशब्दश्रवणं प्राप्नोति, न पूर्वपश्चिमदक्षिणोत्तरादिक्षु, तासु विदिक्ष्विव वक्तृनिसृष्टद्रव्याणामगमनेन पराघातवासिततद्द्रव्याणामेव श्रवणादिति; अविशेषेण तु "भासासमसेढीओ, सद्दं जं सुणइ मीसयं सुणइ " (३५१) इत्यनेन दिक्षु मिश्रशब्दश्रवणमुक्तम् । अथवा–व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेर्यदि तव मतं संमतम् ,ऊर्ध्वाधोदिग्द्वयवर्त्तिदण्ड एव मिश्रशब्दश्रवणं, शेषदिक्षु पराघातवासितद्रव्यश्रवणेऽप्यदोषादिति । भवत्वेवं, (तो वि)तथापि त्रिभिस्समयैः पूर्यते लोको न चतुर्भिः, यतो भाषाद्रव्येषु पराघातोऽस्ति।यदि नाम तेषु पराघातस्ततः किम्?, इति चेत् । उच्यते–स खलु दण्ड ऊर्ध्वाधो गच्छन्नविशेषेण चतुर्दिशमपि शब्दप्रायोग्यद्रव्याणि पराहन्ति, वासयित्वा शब्दपरिणामवन्ति करोति; ततस्तानि द्वितीयसमये मन्थानं साधयन्ति, तृतीयसमये तु तदन्तरालपूरणात्पूर्यते लोक इति । एवं त्रिभिः समयैर्लोकपूरणं प्राप्नोति ॥ ३६२ ॥

ननु यथा जैनसमुद्घातश्चतुर्भिः समयैर्लोकमापूरयति, तथा भाषाऽपि तैः समापूरयिष्यति, को दोषः?, इत्याशङ्क्याऽऽह–

जइणेन पराघाओ, सजीवजोगो य तेण चउसमओ ।
हेऊ होज्जाहि तहिं, इच्छा कम्मं सहावो वा ॥३७३॥

इह जैनसमुद्घाते जीवप्रदेशाः स्वरूपेणैव लोकमापूरयन्ति, न पुनस्तत्र कस्यापि पराघातोऽस्ति । ततो न द्वितीयसमये मन्थाः, किं तु कपाट एव भवति । किं च–स केवलिसमुद्घातो जीवस्य संबन्धी योगो व्यापारस्तेन लोकव्याप्तिमपेक्ष्याऽयं चत्वारः समयाः, यत्र चतुः समयो भवति । यदि नाम जीवयोगस्तथापि कथं तस्य चतुःसमयता ?, इत्याह–तत्र तस्मिन् जीवव्यापारलक्षणे केवलिसमुद्घाते द्वितीयसमये मथ्यऽभावे हेतुर्भवेत । कः?, इत्याह–(इच्छेत्यादि) तथाहि–तत्रैतच्छक्यते वक्तुम–केवलज्ञानरूपा येयमिच्छाऽभिप्रायस्तद्वशाद् गुणदोषौ पर्यालोच्य केवली द्वितीयसमये मन्थानं न करोति । भवोपग्राहिकर्मवशाद्वा, स्वभावाद्वाऽऽसौ तदा तं न करोति । ततो द्वितीयसमये कपाट एव, तृतीयसमये मन्थाः, चतुर्थे त्वऽन्तरालपूरणम्, इति युज्यते जैनसमुद्घाते चतुस्समयता । विशे० ।

अत्रैव विशेषपरिज्ञानायाऽऽह–

से णं भंते ! तहा समुग्घायगए किं मणजोगं जुंजइ, वइजोगं जुंजइ, कायजोगं जुंजइ ?। गोयमा ! नो मणजोगं जुंजइ, नो वइजोगं जुंजइ, गोयमा ! कायजोगं जुंजइ । कायजोगे णं भंते ! जुंजमाणे किं उरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, उरालियमीससरीरकायजोगं जुंजइ,किं वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ, वेउव्वियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, किं आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ, आहारगमीससरीरकायजोगं जुंजइ , किं कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ ? । गोयमा ! उरालियसरीरकायजोगं पि जुंजइ, उरालियमीससरीरकायजोगं पि जुंजइ, नो वेउव्वियसरीरकायजोगं जुंजइ, नो वेउव्वियमीससरीरकायजोगं जुंजइ, नो आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ, नो आहारगमीससरीरकायजोगं जुंजइ, कम्मगसरीरकायजोगं पि जुंजइ,पढमट्ठमेसु समएसु उरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, बितीयछट्ठसत्तमेसु समएसु उरालियमीससरीरकायजोगं जुंजइ,ततियचउत्थपंचमेसु समएसु कम्मगसरीरकायजोगं जुंजइ । से णं भंते ! तहा समुग्घायगए सिज्झइ,बुज्झइ,मुच्चइ,परिनिव्वाति, सव्वदुक्खाणं अंतं करेइ ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे ।

स भदन्त ! केवली तथा दण्डकपाटादिक्रमेण समुद्घातं गतः सन् सिध्यति–निष्ठितार्थो भवति । स च " वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा " ॥ ३ । ३ । १३१ ॥ इति (पाणि०) वचनात् सेत्स्यन्नपि व्यवहारत उच्यते । तत आह–बुध्यते अवगच्छति केवलज्ञानेन यथाऽहं निश्चयतो निष्ठितार्थो भविष्यामि निःशेषकर्मांशापगमतस्तत आह–मुच्यते,शेषकर्मांशैरिति गम्यते । मुच्यमानश्च कर्माणुवेदनापरितापरहितो भवति तत आह–परिनिर्वाति सामस्त्येन शीतीभवति । समस्तमेतदेकेन पर्यायेण स्पष्टयति—सर्वदुःखानामन्तं करोतीति । भगवानाह–गौतम ! नायमर्थः समर्थः, नायमर्थः सङ्गतो यः समुद्घातं गतः सन् सर्वदुःखान्तं करोतीति योगनिरोधस्याद्याप्यकृतत्वात्, सयोगस्य च वक्ष्यमाणयुक्त्या सिद्ध्यभावादिति भावः ।

किंकरोतीत्यत आह-

से णं भंते ! तओ पडिनियत्तति, तओ पच्छा मणजोगं

पि जुंजइ, वइजोगं पि जुंजइ, कायजोगं पि जुंजइ ?। हंता० जाव कायजोगं पि जुंजइ, मणजोगं जुंजमाणे किं सच्चमणजोगं जुंजइ, मोसमणजोगं जुंजइ, सच्चामोसमणजोगं जुंजइ, असच्चामोसमणजोगं जुंजइ ? । गोयमा ! सच्चमणजोगं जुंजइ, नो मोसमणजोगं जुंजइ, नो सच्चामोसमणजोगं जुंजइ, असच्चामोसमणजोगं पि जुंजइ। वइजोगं जुंजमाणे किं सच्चवइजोगं जुंजइ, मोसवइजोगं जुंजइ, सच्चामोसवइजोगं जुंजइ, असच्चामोसवइजोगं जुंजइ ?। गोयमा ! सच्चवइजोगं जुंजइ, नो मोसवइजोगं जुंजइ, नो सच्चामोसवइजोगं जुंजइ, असच्चामोसवइजोगं पि जुंजइ । कायजोगं जुंजमाणे आगच्छेज्ज वा, गच्छेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, निसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, उल्लंघिज्ज वा, पलंघिज्ज वा, पाडिहारियपीढफलगसेज्जासंथारगं पच्चप्पिणेज्जा ।

(से णमित्यादि) सोऽधिकृतसमुद्घातगतः, णमिति वाक्यालङ्कारे, ततः समुद्घातात् प्रतिनिवर्तते इति। निवर्त्य च ततः प्रतिनिवर्तनात्, पश्चादनन्तरं, मनोयोगमपि वाग्योगमपि काययोगमपि युनक्ति व्यापारयति, यतः भगवान् भवधारणीयकर्मसु नामगोत्रवेदनीयेष्वचिन्त्यमाहात्म्यसमुद्घातवशतः प्रभूतमायुषा सह समीकृतेष्वप्यन्तर्मुहूर्तभाविपरमपदस्तस्मिन् काले यद्यनुत्तरोपपातिकादिना देवेन मनसा पृच्छ्यते, तर्हि व्याकरणाय मनःपुद्गलान् गृहीत्वा मनोयोगं युनक्ति, तमपि सत्यमसत्यामृषारूपं वा मनुष्यादिना पृष्टः सन्नपृष्टो वा कार्यवशतो वा पुद्गलान् गृहीत्वा वाग्योगं, तमपि सत्यमसत्यं मृषा वा, न शेषान् वाङ्मनसो योगान् क्षीणरागादित्वात् आगमनादौ चौदारिकादिकाययोगम्। तथाहि-भगवान् कार्यवशतः कुतश्चित् स्थानात् विवक्षिते स्थाने आगच्छेत्, यदि वा क्वापि गच्छेत्, अथवा तिष्ठेत्, ऊर्ध्वस्थाने वा तिष्ठेत्, निषीदेद्वा, तथाविधश्रमापगमनाय त्वग्वर्तनं कुर्यात्, अथवा विवक्षिते स्थाने तथाविधसम्पातिमसत्त्वाकुलां भूमिमवलोक्य तत्परिहाराय जन्तुरक्षानिमित्तमुल्लङ्घनं प्रलङ्घनं वा कुर्यात्, तत्र सहजात्पादविक्षेपान्मनागधिकतरः पादविक्षेप उल्लङ्घनम्, स एवातिविकटः प्रलङ्घनम्, यदि वा प्रातिहारिकपीठफलकशय्यासंस्तारकं प्रत्यर्पयेत् यस्मादानीतं तस्मै समर्पयेत्, इह भगवताऽऽर्यश्यामेन प्रातिहारकपीठफलकादिना प्रत्यर्पणमेवोक्तं ततोऽवसीयते, नियमादन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्क एवाऽऽवर्जीकरणादिकमारभते न प्रभूतावशेषायुष्कः, अन्यथा ग्रहणस्यापि सम्भवात्तदप्युपादीयते। एतेन यदाहुः-एके जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तशेषे समुद्घातमारभते, उत्कर्षतः षट्सु मासेषु शेषेष्विति। तदपास्तं द्रष्टव्यम्। षट्सु मासेषु कदाचिदपान्तराले वर्षाकालसम्भवात् तन्निमित्तपीठफलकादीनामादानमप्युपपद्यते । न च तत्सूत्रसम्मतमिति तत्प्ररूपणमुत्सूत्रमवसेयम्, एतच्चोत्सूत्रमावश्यकेऽपि समुद्घातानन्तरमव्यवधानेन शैलेश्यभिधानात् । तत्सूत्रम्-" दण्डकवाडे मंथं-तरे य साहारणा सरीरत्थे । भासाजोगनिरोहे, सेलेसीसिज्झणा चेव ॥१॥" यदि पुनरुत्कर्षतः षण्मासरूपमपान्तरालं भवेत्तस्तदप्यभिधीयेत, न चोक्तं, तस्मादेवं तदयुक्तमेतदिति । तथाचाह भाष्यकारः-

" कम्मलहुयाए समओ, भिन्नमुहुत्तो विसेसओ कालो ।
अन्ने जहन्नमेयं, छम्मासुक्कोसमिच्छंति ।
तत्तोऽनंतरसेले-सिवयणो जं च पाडिहारीणं ।
पच्चप्पिणमेव सुए, इराऽग्गहणं पि होज्जाहि ॥"

अत्र कर्मलघुतानिमित्तं समुद्घातस्य समयोऽवसरो भिन्नमुहूर्तं विशेषकालः, शेषं सुगमं, तदेवमन्तरमुहूर्तं कालं यथायोगं योगत्रयव्यापारभाक् केवली भूत्वा तदनन्तरमत्यन्ताप्रकम्पं लेश्यातीतं परमनिर्जराकारणं ध्यानप्रतिपित्सुरवश्यं योगनिरोधायोपक्रमते, योगे सति यथोक्तरूपस्य ध्यानस्याऽसम्भवात्। तथाहि-योगपरिणामो लेश्या, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्, ततो यावद्योगस्तावदवश्यम्भाविनी लेश्येति, लेश्यातीते ध्यानसम्भवः अपि च-यावद् योगस्तावत्कर्मबन्धोऽपि-"जोगापयडिपएसं, ठिइअणुभागं कसायओ कुणइ " इति वचनात् केवलं स कर्मबन्धः केवलियोगनिमित्तता समयत्रयावस्थायाम्। तथाहि-प्रथमसमये कर्म बध्यते, द्वितीयसमये वेद्यते, तृतीयेन तु समयेन कर्माकर्मीभवति । तत्र यद्यपि समयत्रयरूपस्थितिकर्माणि क्रियान्तःपूर्वाणि प्रक्षयमुपगच्छन्ति, तथाऽपि समये समये सन्तत्या कर्मादाने प्रवर्त्तमाने सति न मोक्षः स्यात्। अथवा अवश्यं मोक्षं गन्तव्यं तस्मात्कुरुते सयोगनिरोधमिति । उक्तं च-

" सततं योगनिरोधं, करोति लेश्यानिरोधमभिकाङ्क्षन् ।
समयस्थिति च बन्धं, योगनिमित्तं स निरुरुत्सुः ॥ १ ॥
समये समये कर्मा-ऽऽदाने सति सन्ततेन मोक्षः स्यात् ।
यद्यपि हि विमुच्यन्ते, स्थितिक्षयात् पूर्वकर्माणि ॥ २ ॥
नाकर्मणो हि वीर्यं, योगद्रव्येण भवति जीवस्य ।
तस्यावस्थानेन तु, सिद्धः समयस्थितेर्बन्धः ॥ ३ ॥

अत्र बन्धस्य समयमात्रस्थितिकता बन्धसमयमतिरिच्य वेदितव्या । भाष्यमप्येनं पूर्वोक्तं सकलमपि प्रमेयं पुष्णाति । तथा च तद्गतो ग्रन्थः-

" विणिवित्तसमुग्घाओ, तिन्नि वि जोगे जिणो पउंजिज्जा ।
सच्चमसच्चामोसं . च सोमणं तहा वईजोगं ॥ १ ॥
ओरालकायजोगं, गमणाई पाडिहारियाणं वा ।
पच्चप्पिणं करेज्जा, जोगनिरोहं तओ कुरुते ॥ २ ॥
किं न सजोगी सिज्झइ, सबंधहेउ त्ति जं सजोगी य ।
न समेइ परमसुक्कं, सनिज्जराकारणं परमं " ॥ ३ ॥

अत एवाह-

से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झइ० जाव अंतं करेति ?। गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे ।

" से णं भंते ! तहा सजोगी सिज्झइ " इत्यादि सुगमम्। योगनिरोधं च कुर्वन् प्रथमं मनोयोगं निरुणद्धि । तच्च पर्याप्तमात्रसञ्ज्ञिपञ्चेन्द्रियस्य प्रथमसमये यावन्ति मनोद्रव्याणि , यावन्मात्रश्च तद्व्यापारः तस्मादसंख्येयगुणहीनं मनोयोगं प्रतिसमयं निरुन्धानोऽसंख्येयैः समयैः साकल्येन निरुणद्धि । उक्तं च-

पज्जत्तमेत्तसन्नि-स्स जत्तियाइं जहन्नजोगिस्स ।
होंति मणोदव्वाइं, तव्वावारो य जम्मत्तो ।
तदसंखगुणविहीणं, समए समए निरुंभमाणो सो ।
मणसो सव्वनिरोहं जोगी, करेइ संखेज्जसमएहिं " ॥

एतदेवाह-"से णं भंते !" इत्यादि। सोऽधिकृतकेवली योगनिरोधं चिकीर्षन् पूर्वमेव सञ्ज्ञिनः पर्याप्तस्य जघन्ययोगिनः स-

त्कस्य, मनोयोगस्येति गम्यते। अधस्तात् असंख्येयगुणपरिहीनं समये समये निरुन्धानो संख्येयैः समयैः, साकल्येनेति गम्यते। प्रथमं मनोयोगं निरुणद्धि, (तत्तो ऽणंतरं च णं) इत्यादि। तस्मान्मनोयोगनिरुन्धानादनन्तरं, चशब्दो वाक्ये, णमिति वाक्यालङ्कारे, द्वीन्द्रियस्य पर्याप्तस्य जघन्ययोगिनः सत्कस्य, वाग्योगस्येति गम्यते। अधस्तात् वाग्योगं संख्येयगुणपरिहीनं समये समये निरुन्धानोऽसंख्येयैः समयैः, साकल्येनेति गम्यते। द्वितीयं वाग्योगं निरुणद्धि। आह च भाष्यकारः—

" पज्जत्तमित्तबिंदिय-जहन्नवइजोगपज्जवा सेओ।
तदसंखगुणविहीणे, समए समए निरुंभंतो।
सव्ववइजोगरोहं, संखाईएहिँ कुणइ समएहिं "॥

तत्तो अणंतरं सुहुमपणगजीवस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नजोगिस्स हेट्ठा असंखेज्जगुणपरिहीणं तच्चं कायजोगं निरुंभइ, से णं एएणं उवाएणं पढमं मणजोगं निरुंभइ, निरुंभइत्ता वइजोगं निरुंभइ, निरुंभइत्ता कायजोगं निरुंभइ, निरुंभइत्ता जोगनिरोहं करेइ, जोगनिरोहं करेत्ता अजोगतं पाउणइ, अजोगतं पाउणित्ता ईसिं हस्सपंचक्खरुच्चारणद्धाए असंखेज्जसमइयं अंतोमुहुत्तियं सेलेसिं पडिवज्जइ, पुव्वरइयगुणसेढीयं च णं कम्मं तीसे सेलेसिमद्धाए असंखेज्जाहिं गुणसेढीहिं असंखेज्जे कम्मखंधे खवयति, खवयइत्ता वेदणिज्जाउयनामगोए, इच्चेते चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेइ, खवेइत्ता उरालियतेयाकम्माइं सव्वाहिं विप्पजहन्नाहिं विप्पजहयइ, विप्पजहयइत्ता उज्जुसेढीपडिवन्ने अफुसमाणगती एगसमएणं अविग्गहेणं उड्ढं गता सागारोवउत्ते सिज्झइ, बुज्झइ।

"ततोऽणंतरं च णं" इत्यादि। ततो वाग्योगादनन्तरं 'च णं' प्राग्वत्। सूक्ष्मस्य पनकजीवस्यापर्याप्तकस्य, प्रथमसमयोत्पन्नस्येति भावार्थः। जघन्ययोगिनः सर्वाल्पवीर्यस्य पनकजीवस्य यः काययोगस्तस्याधस्तात् असंख्येयगुणहीनं काययोगं समये समये निरुन्धन् असंख्येयैः समयैः; समस्तमपीति गम्यते। तृतीयं काययोगं निरुणद्धि, तं च काययोगं निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति ध्यानमधिरोहति, तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन संकुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति। तथा चाह भाष्यकृत्-

" तत्तो य सुहुमपणग-स्स पढमसमयोववन्नस्स।
जो किर जहन्नजोगो, तदसंखेज्जगुणहीणमेकेक्के ॥ १ ॥
समए निरुंभमाणो, देहतिभागं च मुंचंतो।
रुंभइ स कायजोगं, संखाईएहिँ चेवणसमएहिं " ॥ २ ॥

काययोगनिरोधकालान्तरचरमे अन्तर्मुहूर्ते वेदनीयादित्रयस्य प्रत्येकं स्थितिसर्वापवर्तनयाऽपवर्त्यायोग्यवस्थासमानं क्रियन्ते गुणश्रेणिक्रमविरचितप्रदेशाः। तद्यथा-प्रथमस्थितौ स्तोकाः प्रदेशाः, द्वितीयस्यां स्थितौ ततोऽसंख्येयगुणाः, तृतीयस्यां ततोऽप्यसंख्येयगुणाः। एवं तावद्वाच्यं यावच्चरमा स्थितिः। एताः प्रथमसमयगृहीतदलिकनिवर्तिता गुणश्रेणयः, एवं प्रतिसमयगृहीतदलिकनिवर्तिताः कर्मत्रयस्य प्रत्येकमसंख्येया द्रष्टव्याः, अन्तर्मुहूर्तसमयानामसंख्यातत्वात्। आयुषः स्थितिर्यथा बद्धैवावतिष्ठते। सा च गुणश्रेणिक्रमदलिकरचना स्थापना चेयम्। अयञ्च सर्वोऽपि मनोयोगादिनिरोधो मन्दमतिसुखावबोधार्थमाचार्येण स्थूरदृष्ट्या प्रतिपादितः, यदि पुनः सूक्ष्मदृष्ट्या तत्स्वरूपजिज्ञासा भवति तदा पञ्चसङ्ग्रहटीका निभालनीया। तस्यामतिनिपुणं प्रपञ्चेन तस्याभिधानादिह तच्च ग्रन्थगौरवभयान्नास्माभिरभिहितः। (से णमित्यादि) सोऽधिकृतकेवली। णमिति पूर्ववत्। एतेनानन्तरोदितेनोपायप्रकारेण। शेषं सुगमं यावदयोगिताम्। (पाउणइ त्ति) प्राप्नोति, अयोगिताप्राप्त्यभिमुखो भवतीति भावार्थः। अयोगितां च प्राप्य अयोगिताप्राप्त्यभिमुखो भूत्वा, (ईसि त्ति) स्तोकं कालं शैलेशीं प्रतिपद्यत इति संबन्धः। कियता कालेन विशिष्टामित्यत आह-ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चारणाद्धया। किमुक्तं भवति?-नातिद्रुतं नातिविलम्बितं, किन्तु मध्येन प्रकारेण, यावता कालेन ङञणनम इत्येवं रूपाणि पञ्चाक्षराणि उच्चार्यन्ते, तावता कालेन विशिष्टामिति। एतावान् कालः किं समयप्रमाण इति निरूपणार्थमाह-असंख्येयसामायिकामसंख्येयसमयप्रमाणां, तच्च जघन्यतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं प्रमाणं, तत एवाऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेति व्यापनायाऽऽह-आन्तर्मौहूर्त्तिकीं शैलेशीमिति। शीलं चारित्रं, तच्चेह निश्चयतः सर्वसंवररूपं, तद् बाह्यं, तस्यैव सर्वोत्तमत्वात्; तस्येशः शैलेशः, तस्य या अवस्था सा शैलेशी तां प्रतिपद्यते, तदानीं च ध्यानं ध्यायति व्यवच्छिन्नक्रियमप्रतिपाति। उक्तञ्च-

" सीलं य समाहाणं, निच्छयओ सव्वसंवरो सो य।
तस्सेसो सेलेसो, सेलेसी होइ तदवत्था ॥ १ ॥
हस्सक्खराइमज्झं, ण जेण कालेण पंच भन्नंति।
अत्थइ सेलेसिगतो, तत्तियमित्तओ कालं ॥२॥
तणुरोहारंता उ-ज्झायइ सुहुमकिरियानियट्टं।
सो विच्छिन्नकिरियम-प्पडिवाई सेलेसिकालम्मि " ॥३॥

न केवलं शैलेशीं प्रतिपद्यते पूर्वरचितगुणश्रेणीकं च वेदनीयादिकं कर्म, अनुभवितुमिति शेषः। प्रतिपद्यते च तत्पूर्वं काययोगनिरोधगते चरमे अन्तर्मुहूर्त्ते रचिता गुणश्रेणयः प्राग् निर्दिष्टस्वरूपा यस्य तत्तथा। ततः किं करोतीत्याह-(तो सेलेसिअद्धाए इत्यादि) तस्यां शैलेश्यद्धायां वर्तमानोऽसंख्येयाभिर्गुणश्रेणीभिः पूर्वनिर्वर्तिताभिः प्रापिता ये कर्मत्रयस्य पृथक् प्रतिसमयमसंख्येयाः कर्मस्कन्धास्तान् क्षपयन् विपाकतः प्रदेशतो वा वेदनेन निर्जरयन् चरमे समये वेदनीयमायुर्नामगोत्रमित्येतान् चतुरः कर्मांशान् कर्मभेदान् युगपत् क्षपयति, युगपच्च क्षपयित्वा ततोऽनन्तरसमये औदारिकतैजसकार्मणरूपाणि त्रीणि शरीराणि (सव्वाहिं विप्पजहन्नाहिं इति) सर्वाभिः प्रहाणिभिः, सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्। विप्रजहातीति। किमुक्तं भवति?-यथा प्राक् देशतस्त्यक्तवान् तथा न त्यजति किन्तु सर्वैः प्रकारैः परित्यजतीति। उक्तञ्च-"ओरालियाइँ च याइँ, सव्वाइं विप्पजहन्नाईहिं। जं भणियं निस्सेसं, तहा न जहा देसच्चाएण सो पुव्वं "॥ परित्यज्य च तस्मिन्नेव समये कोशबन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादेरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसम्बन्धविमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादूर्ध्वं लोकान्ते गत्वेति सम्बन्धः। उक्तञ्च-" एरंडाइ फलं जह, बंधच्छेदेरियं दुहं जाति। तह कम्मबंधणच्छे-दणोरितो जाति सिद्धो वि"॥१॥ कथं गच्छत्यत आह-अविग्रहेण विग्रहस्याभावोऽविग्रहः, तेन एकेन समयेन स्पृशन्, समयान्तरप्रदेशान्तरास्पर्शनेनेत्यर्थः। ऋजुश्रेणिञ्च प्रतिपन्नः। एतदुक्तं भवति-यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावत एव प्रदेशानूर्ध्वमृजुश्रेण्याऽवगाहमा-

नो विवक्षिताच्च समयादन्यत् समयान्तरमस्पृशन् गत्वा। तथा चोक्तमावश्यकचूर्णौ-"जावतिए जीवोऽवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उज्जुगं गच्छइ न य किंचिदियं च समयं न फुसइ" इति। भाष्यकारोऽप्याह-" रिउसेढिं पडिवन्नो, समयपएसंतरं अफुसमाणो। एगसमएण सिज्झइ, इति इह सागरोवउत्तो सो ॥१॥" अथमूर्द्ध गत्वा किमित्याह-साकारोपयोगोपयुक्तः सन् सिद्ध्यति-निष्ठितार्थो भवति । सर्वा हि लब्धयः साकारोपयोगयुक्तस्य उपजायन्ते, नानाकारोपयुक्तस्य सिद्धिरप्येष्या, सर्वलब्ध्युत्तमा लब्धिरिति साकारोपयोगोपयुक्तस्योपजायते। आह च-" सव्वाओ लद्धीओ, जं सागारोवओगलाभाओ। तेणेह सिद्धिलद्धी, उप्पज्जइ तदुवउत्तस्स" ॥१॥ तदनन्तरं तु क्रमेणोपयोगप्रवृत्तिः, तदेवं केवली यथा सिद्धो भवति तथा प्रतिपादितम्। प्रज्ञा० ३६ पद । स्था० । कर्म० ।

जह उल्ला साडीया, आसुं सुक्कइ विरल्लिया संती ।
तह कम्मलहुयसमए, वच्चंति जिणा समुग्घायं ॥

यथेत्युदाहरणोपन्यासार्थः । आर्द्रा शाटिका, जलेनेति गम्यते। (आसु त्ति) शीघ्रं,शुष्यति शोषमुपयाति विरल्लिता विस्तारिता सती। तथा तेऽपि भगवन्तो जिनाः प्रयत्नविशेषात् कर्मोदयमधिकृत्याऽऽशु, शुष्यन्तीति शेषः। यतश्चैवमतः कर्मलघुतासमये कर्मण आयुष्कस्य लघुता, लघोर्जीवो लघुता, स्तोकता इत्यर्थः। तस्याः समयः कालः कर्मलघुतासमयः सर्वान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः,तस्मिन् । अथ वा कर्मभिर्लघुता, स्तोकतेत्यर्थः। तस्याः समयः कालः कर्मलघुतासमयः, सर्वान्तर्मुहूर्तप्रमाणः,तस्मिन्। अथवा कर्मभिर्लघुता कर्मलघुता,जीवस्येति सामर्थ्याद्गम्यते। सा च समुद्घातानन्तरभाविन्येवंभूतोपचारं कृत्वा अनावृत्तैव गृह्यते। तस्याः समयः कालः कर्मलघुतासमयस्तस्मिन् जिना व्रजन्ति, समुद्घातं प्राक् प्रतिपादितस्वरूपमिति ॥ आ० म० द्वि०। केवली केवलिसमुद्घातं यदा करोति तदाऽऽत्मप्रदेशैस्त्रसनाडीमेव पूरयति, किं वा संपूर्णं लोकमिति प्रश्ने-उत्तरम्-अत्र केवली केवलिसमुद्घातं यदा करोति तदा संपूर्णं लोकं पूरयतीति। १७ प्र० ही० ४ प्रका०।

केवल्ल-कैवल्य-न० । केवलस्य भावः ष्यञ् । आत्यन्तिकदुःखविगमरूपे मुक्तिभेदे, वाच० ।

स्मृता सिद्धिर्विशोकेयं, तद्वैराग्याच्च योगिनः ।
दोषबीजक्षये नूनं, कैवल्यमुपदर्शितम् ॥ १८ ॥

(स्मृतेति) इयं विशोका सिद्धिः स्मृता । तस्यां विशोकायां सिद्धौ वैराग्याच्च योगिनो योगराजः । दोषाणां रागादीनां बीजस्याविद्यादेः, क्षये निर्मूलने, नूनं निश्चितम्, कैवल्यं पुरुषस्य गुणानामधिकारपरिसमाप्तेः स्वरूपप्रतिष्ठितत्वमुपदर्शितम् । यतः-" तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यमिति । " द्वा० २६ द्वा० । कैवलं स्वरूपेणास्त्यस्य अर्श० अच्। कैवलस्वरूपे, त्रि०। केवल एव स्वार्थे ष्यञ् । अद्वितीये वस्तुनि, न० । वाच० ।

केवल्लपाय-कैवल्यपाद-पुं० । योगानुशासनचतुर्थपादे, द्वा० ११ द्वा० ।

केस-केश-पुं० । चिहुरकचपर्याये, क्लिश्यते क्लिश्नाति वा क्लिश अच् लत्वोपश्च। कस्य जलस्य ब्रह्मणो वा ईशो वा। वरुणे, हीबेर, दैत्यभेदे, केशिनि, विष्णौ, काशते काश अच् पृषो० । सूर्याग्निप्रभृतिरश्मौ, के शिरसि शेते शीङ् अलुक् स० । चिकुरे, वाच० । शिरोजे, तं० । स्था० । शिरसिजे, रा० । नि० चू० । स० । आ० चू० । शिरःकूर्चसम्भवे, प्रव० ४० द्वार । को० । बालवर्षे, आ० चू० ४ अ० ।

केसंत-केशान्त-पुं० । केशानन्तयति छेदनात् हन्ति, अन्ति अण् । द्विजातीनां षोडशादिषु वर्षेषु कर्तव्ये केशच्छेदनाख्ये गोदानाख्ये कर्मणि, वाच० । बालसमीपे, औ० । केशभूमिपर्यन्ते च । जी० ३ प्रति० । मध्यकेशे, तं० ।

केसंतकेसभूमि-केशान्तकेशभूमि-स्त्री० । बालसमीपे केशोत्पत्तिस्थानभूतायां मस्तकत्वचि, औ० । तं० । जी० । केशान्तभूमौ, केशभूमौ च । औ० । " दालिमपुप्फकासतवणिज्जसरिसनिम्मलसुणिद्धकेसंतकेसभूमी " औ० ।

केसपास-केशपाश-पुं० । केशानां समूहः वा० पाशादेशः । केशः पाश इव वा । केशसमूहे, " करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः " "तां काञ्चनप्रभावन्तीं केशपाशे परामृशत्" वाच० । आ० क० ।

केसबल्लरी-केशवल्लरी-स्त्री० । वल्लर्योपमितेषु केशेषु, " तालयन्त्यास्तदा तस्या-स्त्रुटिता केशवल्लरी ॥ " आ० क० ।

केसवाणिज्ज-केशवाणिज्य-न० । केशशब्दः केशवदुपलक्षकस्तो दासादिनृणां गवाश्वादितिरश्चां केशवताम् (ध० २ अधि०) वाणिज्यम्। केशवज्जीवानां गोमहिषीस्त्रीप्रभृतिकानां विक्रये, भ० ८ श० ५ उ० । केशवाणिज्यं " दासी उ गहाय अन्नत्थ विक्किणइ " आव० ६ अ० । आ० । आ० चू० । यत्र दासीदासहस्त्यश्वगवोष्ट्रादिजीवान् गृहीत्वा तत्रान्यत्र वा विक्रीणीते जीविकानिमित्तं तत्केशवाणिज्यम् । प्रव० ६ द्वार । एतच्च कर्मेत उपभोगपरिभोगस्य भेदः पापकर्मादानम् । उपा० १ अ० ।

केसभूमि-केशभूमि-स्त्री० । केशोत्पत्तिस्थानभूतायां मस्तकत्वचि, औ० ।

केसर-केश (स) र-पुं० । न० । के जले शिरसि वा शीर्य्यति शॄ-अच् । सरति सृ-अच् अलुक् स० । केशः केशाकरोऽस्त्यस्य वा । किञ्जल्के, पद्मादिपुष्पमध्यस्थ केशाकारपदार्थभेदे, वाच० । जं० । ' कर्णिकापरितोऽवयवे, भ० ११ श० १ उ० । स्कन्धसंधिरोमणि, कल्प० २ क्षण । तुरगस्कन्धस्थलोमपुञ्जरूपजटायाम्, हेमकेशरप्रधाने फुल्ले, जी० ३ प्रति० । बकुले, आ० म० प्र० । मिश्रफले, प्रज्ञा० १ पद । हिङ्गुवृक्षे, पुन्नागवृक्षे, कासीसे, बीजपूरके, पुं० । स्वर्णे, न० । " अर्थाश्वाश्वैः ४-७-७—भमनयरयुगैर्वृत्तं मतं केसरम् " वृत्तरत्नाकरोक्ते छन्दोभेदे, न० । वाच० । स्वनामख्याते काम्पिल्योद्याने, उत्त० १८ अ० । " अह केसरम्मि उज्जाणे नामेणं गद्दभालिअणगारे । " उत्त० १७ अ० । ती० ।

केसरि (ण्) केसरिन्-पुं० । स्त्री० । केश (स) रा: सन्त्यस्य इनिः। सिंहे, अश्वे च। वाच०। सूत्र०। को०। स्त्रियां ङीप्। पुन्नागवृक्षे, नागकेशरवृक्षे, पुं० । बीजपूरकवृक्षे, पुं० । हनुमत्पितरि, वानरभेदे, पुं० । वाच० । चतुर्थवासुदेवस्य सुप्रभस्य प्रतिशत्रौ, स० । ति० ।

केसरिदह-केशरिहद-पुं० । नीलवद्वर्षधरपर्वतस्थे ह्रदभेदे, तत्र कीर्तिर्देवता । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

केसरिया-केशरिका-स्त्री० । प्रमार्जनार्थे चीवरखण्डे, भ० २ श० ५ उ० । औ० । ज्ञा० ।

केसलोय-केशलोच-पुं० । ६ त० । केशानामुत्पाटने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । स च नियमेन वीरमहापद्मयोस्तीर्थकृतोर्धर्मः। स्था० ६ ठा० । " संतत्ता केसलोएणं, बंभचेरपराइया । तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा विद्धा व केयणे " ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

केसव-केशव-पुं० । केशाः प्रशस्ताः सन्त्यस्य " केशाद् वोऽन्यतरस्याम् । " ॥५।२।१०६॥ पा० वः । प्रशस्तकेशयुक्ते, केशं केशिनं वा निहन्ति वा कः विष्णौ, "यस्मात्त्वया हतः केशी, तस्मान्मच्छासनं शृणु । केशवो नाम नाम्ना त्वं, ख्यातो लोके भविष्यसि " ॥ वाच० । नारायणनाम्नि वासुदेवे, प्रव० ३५ द्वार । नवस्वपि वासुदेवेषु, स० । आ० म० । आव० । ति० । ('वासुदेव' शब्देऽस्य व्याख्या) यच्च केशवस्य बलं तद् द्विगुणं भवति चक्रवर्तिनः। विशे० । प्राचीने पञ्चमे भवे श्रीऋषभदेवस्य जीवे, तदुक्तं भगवन्तं प्रति श्रेयसा-"वच्छ आवतीविजये पभंकराइ णगरीय, तत्थ सामी पितामहो सुवेज्जस्स पुत्तो केसवो णाम जातो, अहं पुण सेट्ठिसुतो अजयघोसो, तत्थ वि णे सिणेहाधिकता " आ० चू० १ अ० । अत्र ततोभगवानपरविदेहे वैद्यपुत्रस्तदाऽहं जीर्णश्रेष्ठिपुत्रः केशवनामा मित्रम् । कल्प० ७ क्षण । जलस्थे शवे च । वाच० ।

केसवुट्ठि-केशवृष्टि-स्त्री० । केशानां वर्षणे, यदुपरिभागात्केशाः पतन्ति । प्रव० १३४ द्वार । व्य० । केशवृष्टिचिन्ताकारके शास्त्रे च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

केसहत्थ-केशहस्त-पुं० । केशो हस्त इव । केशसमूहे, वाच० । केशपाशे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । वेण्याम्, कल्प० २ क्षण ।

केसालंकार-केशालङ्कार-पुं० । केशा एवालङ्कारः केशालङ्कारः। अलङ्कृतेषु केशेषु, केशानामलङ्कारे पुष्पादौ, भ० ६ श० ३३ उ० । केशोनोपलक्षितोऽलङ्कारः कटककेयूरहारकङ्कणवस्त्राद्यलङ्कारे, आ० म० द्वि० ।

केसि (ण्)-केशिन्-पुं० । केशसंस्पृष्टशुक्रपुद्गलसम्पर्काज्जाते निर्ग्रन्थीपुत्रे, पं० व० १ द्वार । (स च यथा जातस्तथा 'अजणियकक्खिया' शब्दे, प्र० भागे २०१ पृष्ठे दर्शितः) स च कुमार एव प्रव्रजितः पार्श्वापत्यीयश्चतुर्ज्ञानी अनगारगुणसम्पन्नः सूर्याभदेवजीवं पूर्वभवे प्रदेशिनामानं राजानं प्राबोधयदिति । रा० । नि० धृ० २० । (तद्वर्णकविशिष्टं 'पएसि' शब्दे वक्ष्यते) ('गोयमकेसिज्ज' शब्दे गौतमेन सहास्य सम्वादो वक्ष्यते) उदायननृपभागिनेये, आव० २ अ० । स च उदायनेन स्वपुत्रमभिजितं वञ्चयित्वा राज्ये स्थापितः । (रोगग्रस्तं च उदायनं विषप्रदानेन मारितवानिति 'उदायन' शब्दे द्वि० भा० ७०६ पृष्ठे दर्शितम्) स्था० । ध० । आ० चू० । भ० । अश्वरूपधारके कृष्णेन निहते दानवभेदे, वाच० । केशवे वासुदेवे, प्रव० ३५ द्वार ।

कीदृश-त्रि० । किम्प्रकारे, "केसी गायइ मधुरं, केसी गायइ खरं च रुक्खं च । " स्था० ७ ठा० ।

केसिआ-केशिका-स्त्री० । केशीव कायति, कै-कः । शतावरीवृक्षे, वाच० । केशा विद्यन्ते यस्याः सा केशिका । केशवत्यां स्त्रियाम्, "जइ केसिआणं मए भिक्खू णो विहरे सह णमित्थीए केसाण वि लुंचिस्सं तत्थ मए चरिज्जासि । " सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

केहिं-अव्य० । किमर्थे, "तादर्थ्ये केहिं-तेहिं-रेसि-रेसिं-तणेणाः।" । ८ । ४ । ४२५ । इति तादर्थ्ये केहिं इति निपातः। प्रा० ४ पाद ।

कैअव-कैतव-न० । छले, कपटे, यद्यपि प्राकृते ऐकारो नास्ति तथापि क्वचिद् भवत्येव 'कैअवं' । प्रा० १ पाद ।

कोआस-विकस-धा० । भ्वादि० अक० । विशेषेण दीप्तौ, "विकसेः कोआस-वोसट्टौ " ८ । ४ । १९५ । इति विपूर्वस्य कसेः कोआसादेशः । प्रा० ४ पाद ।

कोआसिय-विकसित-त्रि० । विशेषेण दीप्ते, " कोआसिअ धवलपत्तच्छा,(कोआसिअ त्ति)"विकसेः कोआस-वोसट्टौ"॥८। ४ । १९५ । इति विपूर्वस्य कसेः कोआसादेशः । कोआसिते विकासिते धवले च क्वचिद्देशे पत्तले पक्ष्मवती अक्षिणी नेत्रे येषां ते तथा । जं० २ वक्ष० ।

कोइल-कोकिल-पुं० । स्त्री० । कुक् क्लच् । परपुष्टे, स्था० १० ठा० । परभृते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । पिके, रा० । स्वनामख्याते पक्षिणि, स्त्रियां जातित्वेऽपि अजा० टाप् । वाच० । औ० । " अह कुसुमसंभवे काले, कोइला पंचमं सरं " अनु० । स्था० ७ । वर्द्धिष्णुस्तालपिशाचो. लीलयैव हतः स्वयम् । कोकिलौ श्वेतचित्रौ च, सेवकाविव पार्श्वगौ" ॥ आ० क० । अङ्गारे, पुं० । संज्ञायां कन् " हयदशभिर्नजौ भजजला गुरु नर्दटकम् । मुनिगुहकार्णवैः कृतयति वद कोकिलकम् " इति वृत्तरत्नाकरोक्ते छन्दोभेदे, न० । वाच० ।

कोइलच्छय-कोकिलच्छद-पुं० । तैलकटके, " कोइलच्छा कुसुमेइ वा" कोकिलच्छदस्तैलकटकः। तथा च मूलटीकाकृत-"वन्नाहिगारे जो एत्थ कोइलच्छदो, सो तिलकंटओ भन्नइ त्ति । " प्रज्ञा० १७ पद ।

कोउय-कौतुक-न० । कुतुकस्य भावः । युवादि० अण् । प्रज्ञा० स्वार्थे अण् वा । कुतूहले, तच्च अद्भुतजिज्ञासाऽतिशयः । वाच० । उत्सवविशेषे, रा० । सुरतविषये औत्सुक्ये, पं० व० १ द्वार । वचननयनादिभवे तं०-आश्चर्ये, तच्च यथा-मायाकारको मुखे गोलकान् प्रक्षिप्य कर्णेन निष्काशयति नासिकया वा, तथा मुखादग्निं निष्काशयति । व्य० १ उ० । मषीपर्वादिके, विपा० १ श्रु० १ उ० । मषीतिलकादिके, रा० । ज्ञा० । औ० । कल्प० । नि० । मषीपुण्ड्रकादिके, विपा० १ श्रु० ३ अ० । " कयकोउयमंगलपायच्छित्ता " औ० । अवतारणकादिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । रक्षादिके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । औ० । आ० म० । समवसरणादिके, बृ० १ उ० । सौभाग्याद्यर्थे, प्रज्ञा० २० पद । बालादीनां रक्षार्थं स्नपनकरभ्रमणथुक्कुकरणहोमधूपादिके, ध० ३ अधि० । परेषां सौभाग्यादिनिमित्तं यत् स्नपनादि क्रियते तत् कौतुकम् । उक्तं च-" सोहग्गादिनिमित्तं, परेसिं ण्हवणादि कोउगं भणियम् " एवंभूतानि कौतुकानि । व्य० १ उ० । आव० । पं० व० ।

कौतुकद्वाराऽऽवयवार्थमाह-

विम्हवणहोमसिरपरि-रयाइ खारडहणाणि धूवे अ ।
असरिसवेसग्गहणा, अवयासणउच्छुभणबंधो ॥ ४३ ॥

विस्मापनं बालस्नापनं, होममग्निहवनं, शिरःपरिरयः करभ्रमणाभिमन्त्रणम् । आदिशब्दः स्वभेदप्रख्यापकः । बालस्नपनादी-

नामनेकप्रकारत्वात्। क्षारदहनानि तथाविधव्याधिशमनाय धूपश्चायोगगर्भैः; असदृशवेशग्रहणानि नार्याद्वैरनार्यादिनेपथ्यकरणानि, अवत्रासनं वृक्षादीनां प्रभावेन चालनम्, एवमवस्तम्भनम्, अनिष्टोपशान्तये ततुकनिष्ठीवना थुकुथुकरणम् । एवं बन्धमन्त्रादिनाप्रतिबन्धनं कौतुकमिति गाथार्थः । पं० व०४द्वारावृ० । कौतुकं कुर्वन् आभियोगिकीं भावनां करोति । पं० व० । नि० चू० । अभिलाषे, नर्मणि, हर्षे, परम्परायातमङ्गले, गीतादिभोगे, औगकाद्ये च । वाच० ।

कोउयकम्म–कौतुककर्मन्–न० । सौभाग्यनिमित्तं स्नपनादिके, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

कोउयकरण–कौतुककरण–न० । सौभाग्यादिनिमित्तं परस्नपनादिकरणे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

कोउयदंसण–कौतुकदर्शन–न० । उत्सवप्रेक्षणे, यथा वीरजिनेन्द्रनिष्क्रमणे–

" तिणि वि थीओं वल्लहाँ, कलिकज्जलसिंदूर ।
एए पुण अतीहिं वल्लहाँ, दूधजमाई तूर " ॥ चेष्टाश्चेमाः–
" स्वगल्लयोः काचन कज्जलाङ्कं, कस्तूरिकाभिर्नयनाञ्जनं च ।
गले चलन्नूपुरमंहिपीठे, ग्रैवेयकं चारु चकार बाला ॥ १ ॥
कटीतटे काऽपि बबन्ध हारं, काचित् कणत्किङ्किणिकां च कण्ठे।
गोशीर्षपङ्केन ररञ्ज पादा–वलक्तपङ्केन वपुर्लिलेप ॥ २ ॥
अर्द्धस्नाता काचन बाला, विगलत्सलिला विश्लथबाला ।
तत्र प्रथममुपेता त्रासं, व्यधित न केषां ज्ञाता हासम् ॥३॥
काऽपि परिच्युतविश्लथवसना, मूढा करधृतकेवलरसना ।
चित्रं तत्र गता न ललज्जे, सर्वजने जिनवीक्षणसज्जे ॥ ४ ॥
संत्यज्य काचित्तरणी रुदन्तं, स्वपोतमोतुं च करे विधृत्य ।
निवेश्य कट्यां त्वरया व्रजन्ती, हासावकाशं न चकार केषाम् ५॥
अहो महोरूपमहो महौजः, सौभाग्यमेतत्कटरे शरीरे ।
गृह्णामि दुःखानि करस्य धातु–र्यच्चित्रमीदृग् वदति स्म काचित्॥
काश्चिन्महेला विकसत्कपोलाः, श्रीवीरवक्त्रेक्षणगाढलोलाः ।
विस्मृत्य दूरं पतितानि तानि, नाज्ञासिषुः काञ्चनभूषणानि ॥७॥
हस्ताम्बुजाभ्यां शुचिमौक्तिकौघै–रवाकिरन्काश्चन चञ्चलाक्ष्यः।
काश्चिज्जगुर्मञ्जुलमङ्गलानि, प्रमोदपूर्णा ननृतुश्च काश्चित्" ॥८॥
कल्प० ५ क्षण ॥

कोउ (ऊ) हल्ल (ल्ल)–कुतूहल–न० । "कुतूहले वा ह्रस्वश्च" । ८ । १ । ११७ । कुतूहलशब्दे उत ओद् वा भवति, तत्सन्नियोगे ह्रस्वश्च, 'कोऊहलं कुऊहलं कोउहल्लम्,' प्रा० १ पाद । " सेवादौ वा " ॥ ८ । २ । ९९ ॥ इति लद्वित्वम् । प्रा० २ पाद । औत्सुक्ये, " जायकोउहले " जातं कुतूहलं यस्य स तथा, जातौत्सुक्य इत्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । चं०प्र० । "ते सव्वे परेण कोउहलेन पुच्छंति " आ० म० प्र० । ज्ञा० । औ० । नि० । कुतूहलाद् गीतनृत्तनाटकादिनिरीक्षणं कामशास्त्रप्रवृत्तिश्च द्यूतमद्यादिसेवनं प्रमादाचरणम् । ध० २ अधि० । कौतुके, वृ० १ उ० । रा० ।

कुतूहलार्थं प्राणिविघातादिषु प्रायश्चित्तम्–

जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अण्णयरं तसपाणजायं तणपासएण वा मुंजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा वेत्तपासएण वा रज्जुपासएण वा सुत्तपासएण वा बंधइ, बंधंतं वा साइज्जइ ॥१॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए बद्धेल्लयं वा मुयइ, मुयंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

तसपाणगतणगादी, कोतूहल्ल वडियाएँ जो उ बंधिज्जा ।
तणपासमगमादीहिं, सो पावति आणमादीणि ॥ २ ॥
तणगवानरवरहिण–चगोरहंससुगमाइणो पक्खी ।
गामारणिय चउप्पद, दिट्ठादिट्ठजुयउरपरिसप्पा ॥३॥

तसपाणगो वच्छमादि सेडुरं, आणादी चउलहुं च (तसगादा) तसगगहणातो इमे वि पक्खिणो गहीता । वरहिणो त्ति मोरो, रक्तपादो दीर्घग्रीवो जलचरो पक्खी चकोरो, अण्णं वा किंचि किसोरादि गामेयगं मृगादि वा, आरण्णं दिट्ठपुव्वं वा अदिट्ठपुव्वं वा, णकुलादि वा भुयपरिसप्पं, सप्पादि वा उरपरिसप्पं, एवमादि बंधति मुयति वा । बंधमुयणे वा इमं कारणं—

दिस्सिहि ति चिरं वद्धो, णयणादि च उप्पडेंत दुप्पसमा ।
गमणच्छुतादिकुतूहल, मुयति व जे तारिसे दोसा ॥४॥
वितियपदमणप्पज्झे, बंधे अविकोविते व अप्पज्झा ।
जाणंते वा वि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥ ५ ॥
वितियपदमणप्पज्झे, मुंचे अविकोविते व अप्पज्झे ।
जाणंतो वा वि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥ ६ ॥

उस्सग्गो अववादो जहा वारसमे उद्देसमे तहा भाणियव्वो ।

जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा भिंडमालियं वा मयणमालियं वा पिच्छमालियं वा दंतमालियं वा सिंगमालियं वा संखमालियं वा हड्डमालियं वा कट्ठमालियं वा पत्तमालियं वा पुप्फमालियं वा फलमालियं वा बीजमालियं वा हरियमालियं वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा भिंडमालियं वा मयणमालियं वा पिच्छमालियं वा दंतमालियं वा सिंगमालियं वा संखमालियं वा कट्ठमालियं वा पत्तमालियं वा पुप्फमालियं वा फलमालियं वा बीजमालियं वा हरियमालियं वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा० जाव हरियमालियं वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए तणमालियं वा मुंजमालियं वा० जाव हरियमालियं वा पिणद्धइ, पिणद्धंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अयल्लोहाणी वा तंबल्लोहाणी वा सीसलोहाणी वा रूपल्लोहाणी वा सुवन्नलोहाणी वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अयल्लोहाणी वा तंबल्लोहाणी वा सीसलोहाणी वा रूपल्लोहाणी वा सुवन्नलोहाणी वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ ८ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए अयल्लोहाणी वा० जाव सुवन्नलोहाणी वा परिभुं–

जइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥ जे भिक्खू कोउह-ल्लवमियाए हाराणि वा, अद्धहाराणि वा, एकावली वा, मुत्तावली वा, कणगावली वा, रयणावली वा, कणगाणि वा, तुडियाणि वा, कवरीणि वा, कुंडलाणि वा, पट्टाणि वा, मउडाणि वा, पलंबसुत्ताणि वा, सोवण्णसुत्ताणि वा करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए हाराणि वा० जाव सोवण्णसुत्ताणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए हाराणि वा० जाव सोवण्णसुत्ताणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवमियाए आइणाणि वा आइणपावाराणि वा कंबलाणि वा कंबलपावारीणि वा सामायाणि वा कायपावारीणि वा गोरमियाणि वा कालमियाणि वा मेहासाणमायाणि वा उट्टीणि वा उद्देल्लेसाणि वा वग्घाणि वा विवग्घाणि वा परवंगाणि वा सहिणीणि वा साहाकल्लाणि वा खोमाणि वा तीरीडपट्टाणाणि वा पउल्लाणि वा सामाआवरंताणि वा चाणीणि वा अंसुयाणि वा कणककताणि वा कणकखचियाणि वा कणकचित्ताणि वा कणकविचित्ताणि, आजरणाणि वा आभरणविचित्ताणि वा करेइ,करंतं वा साइज्जइ ॥ १३ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवमियाए आइणाणि वा आइणपावाराणि वा० जाव आजरणाणि आजरणविचित्ताणि वा धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥ जे भिक्खू कोउहल्लवडियाए आइणाणि वा आइणपावारीणि वा० जाव आभरणविचित्ताणि वा परिभुंजइ, परिभुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

एतेसिं सुत्ताणं भासगाहाण य अत्थो सत्तमुद्देसगे तहा भाणियव्वो, णवरं तत्थ माउगामस्स मेहुणपडियाए करेति, इह पुण कोउअपडियाए करेति वि कयहा वा काउं धरेति, कारणे परलिंगट्ठिते वा पिणिधति,एवं सेसा वि उवओगा भावेयव्वा।

तणगादिमालियाओ, जत्तियमेत्ताउ आहिया सुत्ते ।
ताओ कुतूहलेणं, धारित्तं आणमादीणि ॥ ७ ॥
वितियपदमणप्पज्झे, बंधंते अविकोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥ ८ ॥
अयमादि आगरा खलु, जत्तियमेत्ताउ आहिया सुत्ते ।
ताइं कुतूहलेणं, माणेंती आणमादीणि ॥ ९ ॥

जे भिक्खू णिग्गंथे निग्गंथस्स अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आमज्जंतं वा पमज्जंतं वा साइज्जइ ॥ १६ ॥

आमज्जणं सकृत्, पुनः पुनः प्रमार्जनम् । नि० चू० १७ उ० ।

कुतूहलेनाहारग्रहणं निषिद्धम्-

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओजासिय जायति,जायंतं वा साइज्जइ ॥१॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओजासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियाणि वा गारत्थियाणि वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओजासियं ओजासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ३ ॥

'जे भिक्खू' पूर्ववत्। आगंतारो जत्थ आगारा आगंतु विहरंति तं आगंतागारं,गामपरिसट्ठाणं ति वुत्तं भवति। आगंतुगाण वा कयं अगारं आगंतागारं, बहियावासो त्ति। आरामे अगारं आरामागारं गिहस्स पती गिहपती, तस्स कुलं गिहवतिकुलं, अन्यगृहमित्यर्थः । गिहपज्जायं मोत्तुं पव्वज्जापरियाए ठिता, तेसिं आवसहो परियावसहो; एतेसु ठाणेसु ठितं अण्णउत्थियं वा गारत्थियं वा असणाइ ओभासति साइज्जति वा, तस्स मासलहुं। एस सुत्तत्थो। इमा सुत्तफासिया गाहा-

आगंतारादीसुं, असणादी जासती तु जो भिक्खू ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥२॥

आगंतारादिसु गिहत्थमन्नतित्थियं वा जो भिक्खू असणातीं ओभासति सो पावति आणाअणवत्थमिच्छत्तविराहणं च ॥

आगमेहि कतमा-गारं आगंतु जत्थ चिट्ठंति ।
आगारा परिगमणं, पव्वाओ चरगादी णेगविधो ॥३॥

आगमा रुक्खा, तेहिं कतं अगारं आगंतुं जत्थ चिट्ठंति अगारांतं आगंतागारं,परि समंता गमणं,गिहभावगतेत्यर्थः। पव्वाओ पव्वज्जा, सो य चरगपरिव्वायसक्कआजीवागमादि णेगविधो ॥

भद्देतरा तु दोसा, हवेज्ज ओभासिते अठाणम्मि ।
अवियत्तोजावणता, पंतं जेहे इमे होंति ॥ ४ ॥

अठाणट्ठितोजासिते पंतभद्ददोसा, पंतस्स अवियत्तं भवति, ओजावणता । अहो इमे भद्ददोसा—

जह आतरो सि दीसइ,जह य विमग्गंति मं अठाणम्मि ।
दंतेंदिया तवस्सी, तो देमि णं भारितं कज्जं ॥ ५ ॥

जहा एयं साहुस्सातरो दीसति,जह अयं अट्ठाणच्चियं विमग्गंति, दंतेंदिया तवस्सी तो देमि अहं एतेसिं णूणं से भारितं कज्जं, आपत्कल्पमित्यर्थः ।

सड्डिगिहिं अण्णतित्थी,करिज्ज ओजासिते तु सो सड्ढो।
उग्गमदोसेगतरं, खिप्पं से संजतट्ठाए ॥ ६ ॥

श्रद्धाऽस्यास्तीति श्राद्धी, सो य गिही अण्णतित्थिओ वा ओभासिए समाणसे इति स गिही अण्णतित्थिओ वा खिप्पं तुरियं सग्गई उग्गमदोसाणं अणंतरं करेज्जा संजयट्ठाए ।

एवं खलु जिणकप्पे, गच्छो णिक्कारणम्मि तह चेव ।
कप्पति य कारणम्मी, जतणा ओजासितुं मच्छे ॥ ७ ॥

एवं ता जिणकप्पे भणियं गच्छवासिणो वि णिक्कारणे । एवं चेव कारणजाते पुण कप्पति ।

थेरकप्पियाणं ओभासितुं किंचित्कारणं इमं—

गेलण्णरायदुट्ठे, रोहगअद्धाण अंचिते ओमे ।
एतेहि कारणेहिं, असतो छंमम्मि ओभासो ॥ ८ ॥

गिलाणट्ठा रायदुट्ठे वा रोहगे वा अंतो अपच्चंता अंचिते वा अंचियणं णाम दाम्रसंधी तत्थ जवणाओ खंभियाओ ण वा णिप्फण्णाणं णिप्फणे वा ण लब्भति,ओमं दुर्भिक्षम् एवं अंचिए ओमे दीर्घे दुर्भिक्षमित्यर्थः ।एतेहिं कारणेहिं अलब्भंते ओभासेज्जा।

भिक्खं समतिक्कंतो, पुव्वं जतिऊण पणगपणगेहिं ।
तो मासियत्राणेसुं, ओभासणमादिसुमसढो ॥ ६ ॥

इमा जयणा—पढमं पणगदोसेण गेण्हति, पच्छा दस-पण्णरस-वीसभिन्नमासदोसेण य एवं पणगभेदेहिं जाहे भिक्खं समतिक्कंतो ताहे मासिअट्ठाणेसु ओभासणादिसु जतति असढो ।

तत्थ ओभासणे इमा जयणा—

तिगुणगतेहि ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स उ कहेह ।
पुट्ठाऽपुट्ठा व ततो, करेंति जं सुत्तपमिकुट्ठं ॥ १० ॥

पढमं घरे ओभासिज्जति अदिट्ठे, एवं तओवारा घरे गवेसियव्वो, तत्थ भज्जादि णीया वत्तव्वा, तस्स आगयस्स कहेज्जाह-साधू तव सगासं आगया,कज्जेणं घरे अदिट्ठे पच्छा आगंतारादिसु दिट्ठस्स घरगमणाति सव्वं कहेउं तेण वंदिते अवंदिते वा तेणेव पुट्ठा अपुट्ठा वा जं सुत्ते पडिसिद्धं तं कुव्वंति, ओभासंति इत्यर्थः।

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइ-कुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नउत्थियं वा गारत्थियं वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ४ ॥

एवं अण्णउत्थिया वा गारत्थिया वा एवं अण्णउत्थिणीओ वा गारत्थिणीओ वा ।

पढमम्मी जो तु गमो, सुत्ते वितिए वि होति सो चेव ।
ततियचउत्थे वि तहा, एगत्तपुहत्तसंजुत्ते ॥ ११ ॥

पढमे सुत्ते जो गमो वितिए वि पुरिसपोहत्तियसुत्ते सो चेव गमो; ततियचउत्थेसु वि इत्थिसुत्तेसु सो चेव गमो ॥

जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउ वा गारत्थियाउ वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ५ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाण वा गारत्थियाण वा गारत्थियाउणी वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ६ ॥ जे भिक्खू आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावइकुलेसु वा परियावसहेसु वा अण्णउत्थियाउणी वा गारत्थियाउणी वा कोउहल्लपडियाए पडियागयं समाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ओभासियं ओभासिय जायति, जायंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

" जे भिक्खू आगंतारेसु वा इत्यादि " कोउहल्लप्रतिज्ञया कौतुकेनेत्यर्थः ।

आगंतागारेसुं, आरामागारे तयेह वसहे वा ।
पुव्वट्ठिताण पच्छा,एज्ज गिही अण्णतित्थी वा ॥ १२ ॥

तमागतं जे असणातीतोभासति तस्स मासलहुं । धम्मं सावगधम्मं वा पेच्छामो एत्तो—

आहाभावेणं को-ऊहल्लं केइ वंदणणिमित्तं ।
पुच्छिस्सामो केई, धम्मं दुविधं व पेच्छामो ॥ १३ ॥
एगो एगतरेणं, कारणजाएण आगतं संतं ।
जो भिक्खू ओभासति, असणादी तस्सिमो दोसो ॥ १४ ॥

तस्सिमे भद्दपंतदोसा—

आतपरोभावणता, अदिण्णादिण्णे व तस्स अवियत्तं ।
पुरिसोभावणदोसा, सविसेसतरा य इत्थी य ॥ १५ ॥

अलद्धे अप्पणो ओभावणा सुद्धा न लभंति तिण्णि अदिण्णे परस्स ओभावणा किवणो त्ति अदिण्णे वा अवियत्तं भवति, महाजणमज्झे वा पणए तो देमि त्ति पच्छा अवियत्तं भवति. दाओ पुरिसे ओभावणदोसा एवं केवला इत्थिआसु ओभावणदोसा संकादोसा य आयपरसमुत्था य दोसा ।

भद्दो उग्गमदोसे, करेज्ज पच्छण्णअभिहडादीणि ।
पंता पेलवगहणं, पुणरावत्तिं तथा दुविधं ॥ १६ ॥

भद्दओ उग्गमेगतरदोसं कुज्जा, पच्छण्णाभिहडं पागडाभिहडं वा अणेज्ज पंतो साहूसु पेलवगहणं करेज्ज । अहो इमे अदिण्णदाणा जो आगच्छति तं ओभासंति, साहु सावगधम्मं वा पडिवज्जामि त्ति ओभासितं उद्दुदूढो पडिणियत्तो जाहे सावगो होहामि ताहे ण सुणेहिं ति, जइ पव्वज्जं घेच्छामो त्ति एगो विपरिणमति, तो मूलं, दोसु णवमं, तिसु चरिमं जं च ते वि पडिणया अस्संजमं काहिंति तमावज्जंति, अध वा गिण्हएसु घच्चंति, जम्हा एते दोसा तम्हा ण ओभासियव्वो आगओ, एवं वि पच्छित्तं परिहरियं,आणा अणुपालिया, अणवत्था मिच्छत्तं च परिहरियं, दुविहा विराहणा परिहरिय ता कारणे पुण ओभासति । इमे य कारणा—

असिवे ओमोदरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाण रोहए वा, जतणा ओभासितुं कप्पे ॥ १७ ॥
तिगुणगतेहि ण दिट्ठो, णीया वुत्ता तु तस्स तु कहेह ।
पुट्ठापुट्ठा व ततो, करेंति संसुत्तपडिकुट्ठं ॥ १८ ॥
एगत्ते जो तु गमो, णियमा पोहत्तियम्मि सो चेव ।
एगत्तातो दोसा, सविसेसतरा पुहत्तम्मि ॥ १६ ॥

असिवे जता मासं पत्तो ताहे घरं गंतुं ओभासिज्जति,अदिट्ठे महिला से भणति, अक्खेज्जासि सावगस्स साधुणो दट्ठमागता,ते आसिसो अविरईए समीवे सोउं अह भावेण वा आगता,सव्वं से घरगमणं कहिज्जति,कारणं च से दीविज्जति,ततो जयणाए ओभासिज्जति,जइ सो भणति-घरं पज्जह,ताहे तेणेव समं गंतव्वं,मा अनिट्ठं काहिति, असुद्धं वा। एवं रायदुट्ठादिसु वि एगत्तियसुत्तातो पोहत्तिएसु सविसेसतरा दोसा।

पुरिसाणं जो उ गमा, णियमा सो चेव होइ इत्थीसु।
आहारे जो उ गमो, णियमा सो चेव उवधिम्मि ॥२०॥

जो पुरिसाणं गमो दोसु सुत्तेसु, इत्थीसु वि सो चेव दोसु सुत्तेसु वत्तव्वो । जो आहारे गमो सो चेव अवसेसिओवकरणे दट्ठव्वो । नि० चू० ३ उ० ।

कोऊहल्लवडियाः-कौतूहलप्रतिज्ञा-स्त्री० । कौतुकार्थमित्यर्थे, रा० । नि० चू० ।

कोंकण-कोङ्कण-पुं० । कोङ्क एव स्वार्थे अण् कौङ्कणः । पुं० । अनार्यक्षेत्र (देश) भेदे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । नि० चू० । विशे० । आ० चू० । तस्य राजा अण् । तद्देशनृपे च । वाच० । आ० चू० । आ० म० । आव० । नि० चू० । आतु० ।

कोंकणदारग-कोङ्कणदारक-पुं० । कोङ्कणदेशनिवासिनि दारके, विशे० । (' अणुओग ' शब्दे प्रथमभागे २८७ पृष्ठेऽस्य कथा निरूपिता)

कोंकणायरिय-कोङ्कणार्य-पुं० । स्वनामख्याते साधौ, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

कोंच-क्रौञ्च-पुं० । कुञ्च अच् वा गुणः । कैलाशे, धनदावासे क्रौञ्चः क्रौञ्चोऽभिधीयते इति । वाच० । अनार्यदेशभेदे,तद्वासिनि, सूत्र०२श्रु० १ अ० । प्रश्न० । क्रुञ्च स्वार्थे प्रज्ञा० अण् । "औत ओत्" ॥ ८ ॥ १।१५९॥ इत्यौकारस्य ओकारः । वकपक्षिभेदे, स्त्रियामणन्तत्वात् ङीप् । निशम्य रुदती क्रौञ्चम् । कुररीखगे, वाच० । " अट्ठ च सारसा कोंचा, णेसायं सत्तमं गया " स्था० ७ ठा० । मयदानवपुत्रे च, वाच० ।

कोंचदीव-क्रौञ्चद्वीप-पुं० । क्रौञ्चवरद्वीपे, क्रौञ्चद्वीपे, सिंहलद्वीपे, हंसद्वीपे, श्रीसुमतिनाथदेवपादुकाः । ती० ४५ कल्प ।

कोंचवर-क्रौञ्चवर-पुं० । कुशवरद्वीपादसंख्येयान् द्वीपानतिक्रम्य स्थिते द्वीपभेदे, अनु० ।

कोंचवीरग-क्रौञ्चवीरक-पुं० । पेटासदृशे जलयानभेदे,बृ० १ उ० ।

कोंचस्सर-क्रौञ्चस्वर-त्रि० । क्रौञ्चस्येव मधुरः स्वरो यस्य स तथा । क्रौञ्चस्येव मधुरारावके, जी० ३ प्रति० । जं० । क्रौञ्चस्यैवाप्रयासेन विनिर्गतोऽपि दीर्घदेशव्यापी स्वरो येषां ते क्रौञ्चस्वराः । क्रौञ्चसदृशेषु निर्ह्रादिस्वरेषु, तं० । रा० ।

कोंचासण-क्रौञ्चासन-न० । आसनभेदे, यस्मादधोभागे क्रौञ्चा व्यवस्थिताः। जी० ३ प्रति० । जं० ।

कोंचिय-कुञ्चित-त्रि० । आकुञ्चिते," पलंबकोंचियवरधरा " प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

कोंडल-कुण्डल-न० । कर्णाभरणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

कोंडलमेत्तग-कुण्डलमित्रक-पुं० । स्वनामख्याते व्यन्तरे,"कोंडलमेत्तपन्नासे, अच्चुयमाईण वाहम्मि । " कुण्डलमित्रनाम्नो वाणमन्तरस्य यात्रायाम्, बृ० ३ उ० ।

कोंडिआ-कुण्डिका-स्त्री० । कमण्डलौ,प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

कोंडिण्ण-कौण्डिन्य-पुं० । स्त्री० । कुण्डिनस्यर्षेः गोत्रापत्यं गर्गा० यञ् । कुण्डिनगोत्रापत्ये, वाच० । कौण्डिन्यो मेतार्यः, प्रभासश्च । आ० म० द्वि० । शिवभूतेः (बोटिकनिह्नवाचार्यस्य) शिष्ये, विशे० । महागिरेराचार्यस्य शिष्ये, " महिला नगरी लच्छीघरं चेतियं महागिरी य आयरिया सीसो कोंडिणो, तस्स वि आसमित्तो सीसो " आ० चू० १ अ० । स्त्रियां तु ङीपि यञोपः । वंशब्राह्मणे, कुण्डिनस्य युवाऽपत्यम् गर्गा० यञन्तात् फक्,कौण्डिन्यायनः । कुण्डिनस्य युवापत्ये,पुं० । स्त्री० । वाच० ।

कोंडिण्णकोट्टवीर-कौण्डिन्यकोट्टवीर-न० । कौण्डिन्यश्च कोट्टवीरश्चेति सर्वो द्वन्द्वो विभाषया एकवद् भवतीति वचनात् । कौण्डिन्यकोट्टवीरे, शिवभूतेः शिष्यद्वये, विशे० ।

कोकंतिया-कोकन्तिका-स्त्री० । लोमटिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० । जीवा० । जं० । प्रज्ञा० । सा च शृगालाकृतिः लोमटिका रात्रौ 'कोको' इत्येवं रारटीति । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । त्रसकायाम्, प्रति० । जी० ।

कोकणय-कोकनद-न० । कोकान् चक्रवाकान् नदति नादयति अन्तर्भूतण्यर्थे नद अच् । रक्तकुमुदे,रक्तपद्मे च । वाच० । प्रज्ञा० ।

कोकणयच्छवि-कोकनदच्छवि-पुं० । कोकनदस्य छविरिव छविर्दीप्तिर्यस्य । रक्तवर्णे, तद्वति च । त्रि० । वाच० । प्रज्ञा० ।

कोकय-कोकक-पुं० । कोकावसतिपार्श्वनाथप्रतिष्ठापके, ती० ४० कल्प । (' कोकावसहिपासणाह ' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कोक (ग) स्सर-कोकस्वर-पुं० । श्लक्ष्णस्वरेण वस्त्राले, जी० ३ प्रति० ।

कोकावसहिपासणाह-कोकावसतिपार्श्वनाथ-पुं० । कोकावसतिस्थे पार्श्वनाथे, ती० ।

" नमिऊण पासणाहं, पउमावइनागरायकयसेवं ।
कोकावसही पास-स्स किं पि वत्तव्वयं भणिमो " ॥ १ ॥

सिरिपण्हवाहणकुलसंभूओ हरिसओ सरीयगच्छालंकारभूओ अभयदेवसूरी, हरिसओ राओ,एगया गामाणुगामं विहरंतो सिरिअणहिल्लवाडयपट्टणभागओ ठिओ बाहिं पएसे सपरिवारो, अन्नया सिरिजयसिंहदेवनरिंदेण गयखंधारूढेण रायवाडियागएण दिट्ठो मलमलिणवत्थदेहो, रण्णा गयखंधाओ ओअरिऊण दुक्करकारउ त्ति दिन्नं 'मलधारि' त्ति नामं,अब्भत्थिऊण नयरमज्झे नीओ रण्णा, दिण्णो उवस्सओ घयवसहीसमीवे, तत्थ ट्ठिआ सूरिणो,तस्स पट्टे कालकमेणं आणगगंथनिम्माणविक्खायकित्ती सिरिहेमचंदसूरी संजाओ,ते अ पइदिअहं चासारत्तचउम्मासीए घयवसहीए गंतूण वक्खाणं करेंति, अन्नया कस्स वि घयवसहीए गुट्ठियस्स पिउकज्जे बलिवित्थाराइकरणं घयवसहीचेइए आढत्तं,तओ वक्खाणकरणत्थमागया सिरिहेमचंदसूरी;परमसिद्धा गुट्ठिएहिं । जहा-अज्ज व-

१६९

कल्लाणं इत्थ न कायव्वं, इत्थ बलिमंडलाइणा नत्थि ओगासो। तओ सूरीहिं भणियं-थोवमेव अज्ज वक्खाणिस्सामी, मा चाउम्मासीवक्खाणविच्छेओ भविस्सइ त्ति, तं चेव न पडिवन्नं गुट्ठिएहिं । तओ अमरिसविलक्खमाणसा पडिआगया उवस्सयमायरिआ, तओ दूमिअचित्ते गुरुणो नाऊण सोवन्निअमोक्खदेवनायगनामगेहिं सड्ढेहिं मा अन्नया वि पराभवो एवंविहो भवमाणो होउ त्ति पयवसहीसमीवे चेइअकरावणत्थं भूमी मागया, न य कच्छविहा, तओ कोकओ नाम सिद्धिभूमिं मग्गओ, वारिओ अ सो पयवसहीगुट्ठिएहिं निउणइम्मदारुच्छगोण । तओ ससंघा आगया सूरिणो कोकयस्स घरं, तेण वि पडिवत्तं काऊण भणिअं-दिन्ना मए भूमी जहोचिअमुल्लेण, परं मज्झ नामेणं चेइअं कारेअव्वं । तओ सूरीहिं सावएहि अ 'तह' त्ति पडिवन्नं, तत्थ य पयवसहीआसन्नं कारिअं चेइअं,'कोकावसहि' त्ति ठाविओ तत्थ सिरिपासनाहो पूइज्जए तिकालं, कालक्कमेण सिरिभीमदेवरज्जे पट्टणं भंजंतेण मालवरायणा सा पासनाहपडिमा वि भग्गा, तओ सोवन्निअमोक्खदेवनायगसंताणुप्पन्नेहिं रामदेवआसाधरसड्ढेहिं उद्धारो करेउमाढत्तो, आयसणाओ फलहीनिगं आणीयं, नियत निद्दोसं, तओ बिंबतिगे वि घडिए न परितोसो संजाओ गुरूणं सावयाण य, तओ रामदेवेण अभिग्गहो गहिओ-जहा इं अकाराविअ पाससामिबिंबं न भुंजामि त्ति, गुरुणो वि वासे कुणंति त्ह, तओ अट्ठमोववासे रामदेवस्स देवादेव सो जाओ, जहा जत्थ गोहलिआ सपुप्फक्खया दीसइ तस्स हिट्ठा इत्थेव चेइअ परिसरेइ त्ति, एहिं हत्थेहिं फलही चिट्ठइ त्ति खणिऊण लद्धा फलही,कारिअं निरुवमरूवं पासनाहबिंबं, बारससयछासट्ठे (१२६६) विक्कमसंवच्छरे देवाणंदसूरीहिं पइट्ठियं,ठाविअं च चेइए,पसिद्धं च कोकापासनाहु त्ति। रामदेवस्स पुत्ता निहुणजाजानामाणो निहुणणामस्स पुत्तो मल्लओ,तस्स पुत्ता लेएहणजइतसीहनामधेया, ते अ पूअंति पइदिणं पासनाहं, अन्नया लेएहणस्स सिरिसंखेसरपासनाहेण सुमिणयं दिएणं । जहा-पहाए घडिआचउक्कं जाव अहं कोकापासनाहपडिमाए सन्निहिस्सामि, तम्मि घडिआचउक्के एअम्मि बिंबे पूइए किर अहं पूइओ त्ति, तहेव लोगेहिं पूइज्जमाणो कोकापासनाहो पूरेइ संखेसरपासनाहु व्व पच्चए, संखेसरपासनाहविसया पुज्जाजत्ताइअभिग्गहा तत्थेव पुज्जंति जणाणं, एवं सन्निहिअपाडिहेरे जाओ भयवं 'कोकयपासनाहो' त्तिसीसपच्चमाणमुत्ती मलधारिगच्छपडिबद्धो ।" अणहिलपट्टणमंमण-सिरिकोकावसहिपासनाहस्स । इय एस कप्पलेसो, होउ जिणाणं धुअकिलेसो" ॥ १ ॥ इति कोकापार्श्वनाथकल्पः समाप्तः ॥ ती० ४० कल्प ।

कोकासिय--विकसित--त्रि०। पद्मवद्विकसिते, जी०३ प्रति०। तं०। जं० । "कोकासियधवलपत्तलच्छा" कोकासिते पद्मवद् विकसिते धवले कचिद्देशे पत्तले पक्ष्मवती अक्षिणी लोचने येषां ते कोकासितधवलपत्राक्षाः। जी० ३ प्रति० । तं० ।

कोकुइय-कौकुचिक-त्रि० । भाण्डे, भाण्डप्राये वा । औ० । ग०।

कोक-वि-आ-हृ-धा० । आह्वाने, " व्याहृगेः कोक्कपोक्कौ " । ८ । ४ । ७६ । इति व्याहरतेः कोक्कादेशः "कोक्काइ,वाहरइ" व्याहरति । प्रा० ४ पाद ।

कोक्कास-कोक्कास-पुं० । स्वनामख्याते वर्द्धकिरत्ने, आ० म० द्वि० । (स च शिल्पसिद्ध इति ' सिप्पसिद्ध ' शब्दे वक्ष्यते) "कोक्कासो उज्जेणिं गतो किह रायं जाणावे" आ० चू० १ अ०।

कोगंमी-कोकाएमी-स्त्री० । पुरीभेदे, यत्र षष्ठवासुदेवो निदानमकार्षीत् । ती० १० कल्प ।

कोच्चित-कोचित-पुं० । शैक्षके, "खमगो इड्ढिमावुड्ढो न कोच्चितो वावि ।" व्य० ६ उ० ।

कोच्छ-कौत्स-पुं० । स्त्री० । कुत्सस्य ऋषेरपत्यम् ऋष्यण् । कुत्सापत्ये, वाच० । कुत्साऽऽख्यपुरुषप्रभवे मनुष्यसन्ताने तद्रूपे मूलगोत्रभेदे, बहुष्वणो लुक्, कुत्साः शिवभूत्यादयः । " कोच्छं सिवभूइं पि य" इति वचनात् । " जे कोत्था ते सत्तविहा पएणत्ता । तं जहा-ते कोत्था ते पोग्गलायणा ते पिंगायणा ते कोडीणा ते मंडालिणो ते हारिया ते सोमया" । स्था०७ ठा०। कुक्ष-पुं० । उदरदेशे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कोट्ट-कोट्ट-पुं० । दुर्गे, उत्त० ३० अ० । अटव्यां चतुर्वर्णजनपदमिश्रे भिल्लदुर्गे, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

कोट्टइत्ता-कुट्टयित्वा-अव्य० । खण्डशः कृत्वेत्यर्थे, "समीरिया कोट्टबलिं करेंति " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

कोट्टकिरिया-कोट्टक्रिया-स्त्री० । महिषकुट्टनक्रियावत्यां रौद्ररूपायां चण्डिकायाम्, भ० ३ श० १ उ० । ज्ञा० । अनु० । उपचारात्तदायतने च । ग० २ अधि० ।

कोट्टग-कुट्टक-पुं० । काष्ठतक्षके वर्द्धकिनि, आचा० २ श्रु०१ अ०२ उ० । प्रचुरफलायामटव्याम्, गत्वा फलानि पर्याप्तं गृहीत्वा यत्र गत्वा शोषयति पश्चाद् गन्त्री पोट्टलिकादिभिरानीय नगरं विक्रीणातीत्येवं फलशोषणस्थाने, न० । बृ० १ उ० ।

कोट्टण-कुट्टन-न० । चूर्णने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

कोट्टवीर-कोट्टवीर-पुं० । शिवभूतेर्बोटिकाचार्यस्य शिष्ये, विशे०

कोट्टिज्जमाण-कुट्टयमान-त्रि० । उदूखलेन कुट्यमाने, आ० म० प्र० ।

कोट्टिम-कुट्टिम-न० । "ओत्संयोगे" । ८ । १ । ११६ । इति उकारस्यौकारः । प्रा० १ पाद । उपरिबद्धभूमिकगृहे, व्य० ४ उ० ।

कोट्टिमतल-कुट्टिमतल-न० । मणिभूमिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । बद्धभूमितले, जं० १ वक्ष० ।

कोट्टिय-कुट्टयित्वा-अव्य० । खण्डशः कृत्वेत्यर्थे, जी० ३ प्रति० ।

कोट्टिल्ल-कौट्टिक-पुं० । ह्रस्वमुद्गरविशेषे, विशे० ।

कोट्टुम्-रम्-धा० । क्रीडायाम्, "रमेः संखुड्डखेड्डोब्भावकिलिकिञ्चकोट्टुममोट्टायणीसरवेल्लाः " ॥ ८ । ४ । १६८ ॥ इति रमेः कोट्टुमादेशः । कोट्टुमइ, रमते । प्रा० ४ पाद ।

कोट्ठ-कोष्ठ--पुं० । कुष थन् । गृहमध्ये,वाच०। धान्यभाजने, स्था० ३ ठा० ४ उ० । कुशूले,स्था० ३ ठा० १ उ० । ब० । "झाणकोट्ठोवगए" औ० । भ० । जं० । उदरमध्ये आत्मीये, त्रि० । " स्थानान्यामाग्निपक्वानां, मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च, कोष्ठ इत्यभिधीयते" ॥ १ ॥ इति सुश्रुतोक्ते आमाग्निपक्वमूत्ररुधिरस्थाने, वाच० । " पंचकोट्ठे पुरिसे, छक्कोट्ठा इत्थिया " पञ्चकोष्ठः पुरुषः, पुरुषस्य पञ्च कोष्ठका भवन्तीत्यर्थः ।

षट् कोष्ठा स्त्री । कोष्ठकस्य रूपं संप्रदायादवगन्तव्यमित्यर्थः । नं० । कोष्ठ इव कोष्ठः अविनष्टसूत्रार्थधारणे, नं० । प्रश्ना० ।

कु (को) ट्ठ–पुं० । न० । वाससमुदाये, भ० १६ श० ६ उ० । उत्पलकुष्ठे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । रा० ।

कोट्ठग–कोष्ठक–न० । आश्रयविशेषे, व्य० १ उ० । लोहकोष्ठकादौ, षो०११ विव० । आवासविशेषे, ओघ० । अपवरके, दश० ५ अ० १ उ० । श्रावस्तीनगरीस्थे तिन्दुकोद्याने स्वनामख्याते चैत्ये, ज्ञा० २ श्रु० १ अ० । भ० । आव० । स्था० । उत्त० ।

कोट्ठघर–कोष्ठगृह–न० । धान्यानां कोष्ठागारे गृहे, रा० ।

कोट्ठपुड–कोष्ठपुट-पुं० । कोष्ठे यः पच्यते वाससमुदायः स कोष्ठ एव, तस्य पुटः पुटिकाः कोष्ठपुटः । भ० १६ श० ६ उ० । ज्ञा० । जं० । वासविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

कोट्ठबलि–कोष्ठबलि–पुं० । कोष्ठबलौ,"विवसुतएहिँ विवसचित्ते, समीरिया कोट्ठबलिं करिंति ।" सूत्र० १ श्रु०५ अ० २ उ० ।

कोट्ठबुद्धि–कोष्ठबुद्धि–पुं० । कोष्ठकप्रक्षिप्तधान्यमिव यस्य सूत्रार्थौ सुचिरमपि तिष्ठतः स कोष्ठबुद्धिः । विशे० । लब्धिमत्पुरुषभेदे,यथा कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तं तदवस्थमेव चिरमप्यवतिष्ठते न किमपि कालान्तरेऽपि गलति,एवं येषु सूत्रार्थौ निक्षिप्तौ तदवस्थावेव चिरमप्यवतिष्ठेते ते कोष्ठबुद्धयः । बृ० १ उ० । "कुट्ठयधरासुनिग्गल-सुत्तत्था कोट्ठबुद्धीए" कोष्ठकधान्यवत्सुनिर्गलावविस्मृतत्वाच्चिरस्थायिनौ सूत्रार्थौ येषां ते कोष्ठकधान्यसुनिर्गलितसूत्रार्थाः कोष्ठबुद्धयः । विशे० । पा० । प्रश्न० । ग० । लब्धिभेदे, " कोट्ठबुद्धि य कोट्ठयवत्तसुनिग्गलसुत्तत्था " कोष्ठ इव धान्यं या बुद्धिराचार्यमुखाद्विनिर्गतौ तदवस्थावेव सूत्रार्थौ धारयति न किमपि तयोः सूत्रार्थयोः कालान्तरेऽपि गलति सा कोष्ठबुद्धिः । प्रव० २७० द्वार । आ० म० । प्रश्ना० । आ० चू० ।

कोट्ठसमुग्ग–कोष्ठसमुद्ग–पुं० । कोष्ठा आवासविशेषास्तेषां समुद्गकः संपुटकः । आधारविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

कोट्ठाउत्त–कोष्ठागुप्त–त्रि० । कोष्ठे कुशूले आगुप्तानि तत्प्रक्षेपणेन संरक्षितानि कोष्ठागुप्तानि । भ०६ श० ६ उ० । कुशूले संरक्षितेषु, बृ० २ उ० ।

कोट्ठागार–कोष्ठागार–न० । भाण्डागारे, नि० चू० ६ उ० । कोष्ठा धान्यपल्यस्तेषामगारं तदाधारभूतं गृहम्, उत्त०११ उ० । धान्यगृहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । औ० । रा० । कल्प० ।

कोट्ठि (ण्)–कुष्ठिन्–त्रि० । कुष्ठमष्टादशभेदं, तदस्यास्तीति कुष्ठी । कुष्ठरोगिणि, आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ० । (कुष्ठभेदाः 'कुठ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५७८ पृष्ठे उक्ताः)

कोट्ठिया–कोष्ठिका–स्त्री० । लोहादिधातुधमनार्थमृत्तिकामय्यां कुशूलिकायाम्, उपा०२ अ० । आचा० । "पुरिसप्पमाणा हीणाधिया वा चिक्खल्लमती कोट्ठिया भवति" । नि० चू० १७ उ० । "जमलकोट्ठियसंठाणसंठियं तस्स दो वि उरू" समतया व्यवस्थापितकुशूलिकाद्वयसंस्थानसंस्थितौ द्वावपि तस्य उरू जङ्घे । उपा० २ अ० ।

कोट्ठु–क्रोष्टुकि–पुं० । नेमिराजीमतीविवाहमुहूर्त्तदे ज्योतिर्विद्भेदे, लग्नं पृष्टश्च क्रोष्टुकिनामा ज्योतिर्विदाह–"वर्षासु शुभकार्याणि, नान्यान्यपि समाचरेत् । गृहिणां मुख्यकार्यस्य,विवाहस्य तु का कथा" ॥ १ ॥ कल्प० ७ क्षण ।

कोड–कोट–पुं० । कुट घञ् । कौटिल्ये,आधार घञ् । दुर्गे, वाच० ।

क्रोड––पुं० । 'क्रुड' घनीभावे । संज्ञायां घञ् । शूकरे, भुजयोरन्तरे, न० । स्त्री० । वृक्षकोटरे, घनीभूते, अश्वानामुरसि, उत्तरग्रामभेदे, वाराहीकन्दे, पुं० । शनिग्रहे, वाच० । पञ्चादिशाटने, ज्ञा० १ श्रु० ११ अ० ।

कोडग–कोटक–पुं० । स्त्री० । कुट-एवुल् । जातिभेदे, वाच० । " काउंकगे मुंमकोमगादीणि खइताणि तेहिं सज्जेणहमंतो " नि० चू० १ उ० ।

कोडर–कोटर–पुं० । न० । कोटं कौटिल्यं राति रा०-कः । वृक्षस्कन्धादिस्थगह्वरे दुर्गसन्निकृष्टदेशादौ, कोटरं दुर्गसन्निकृष्टं वनं तथाभूतवृक्षाणां वा वनम् कोटरा । पूर्वपददीर्घः णत्वं च । कोटरावणम् । वनभेदे, न० । वाच० । आव० ।

कोडल–कोटर–पुं० । पक्षिभेदे, जीवा० १ अधि० । औ० ।

कोडाल–कोडाल–पुं० । गोत्रप्रवर्त्तके ऋषिभेदे, " उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए " आचा० ३ चू० । आ० म० । " कोडालैः समानं गोत्रं यस्य स तथा, तस्य कोडालगोत्रस्येत्यर्थे, कल्प० १ क्षण ।

कोडालसगोत्त–कोडालसगोत्र–त्रि० । कोडालैः समानं गोत्रं यस्य स तथा । कोडालसगोत्रे, कल्प० १ क्षण ।

कोडि–कोटि–स्त्री० । कुट इञ् । धनुषोऽग्रभागे, वस्तुमात्रस्याग्रभागे, अस्त्राणां कोणे, उत्कर्षे, वाच० । स्था० । कर्णिकाकोणविभागे, स्था० ८ ठा० । विभागमात्रे, " नवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे पन्नत्ते " नवभिः कोटिभिर्विभागैः परिशुद्धं निर्दोषं नवकोटिपरिशुद्धम् । स्था० ९ ठा० । दश० । द्रव्यसंघातानां स्वरूपपरिमाणे, औ० । प्रयुते, कल्प० ७ क्षण । शतं लक्षाणामेका कोटिः । अनु० । शतलक्षेषु विंशतौ च । ही० ३ प्रका० । तत्संख्येये च, पृक्कायाम्, संशयस्थालम्बने वादे निर्णयार्थं कृते पूर्वपक्षे, पा० ङीप् कोटीत्यप्यत्र । वाच० ।

कोडिक–कोटिक-पुं० । कोट्या बहुधा कायति प्रकाशते कै-कः इन्द्रगोपकीटे, वाच० । सुहस्तिशिष्ये सुस्थितसुप्रतिबद्धे, स्थविरे, कोटिशः सूरिमन्त्रजपात् कोटिशः सूरिमन्त्रजापके, कल्प० ८ क्षण । ह्रा० । " तदनु च सुहस्तिशिष्यौ, कौटिककाकन्दकावजायेताम् । सुस्थितसुप्रतिबद्धौ, कौटिकगच्छस्ततः समभूत् " ॥ ग० ४ अधि० ।

कौटिक–त्रि० । कूटेन मृगबन्धनयन्त्रेण चरति ठक् । मांसविक्रयोपजीविनि, वाच० ।

कोडिग (य) गण–कोटिकगण–पुं० । कोटिकान्निर्गते गणे, "थेरेहिंतो सुट्ठियसुप्पडिबद्धेहिंतो कोडिककाकंदिएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिंतो इत्थ णं कोडियगणे णामं गणे निग्गए " कल्प० ८ क्षण ।

कोडिग्गसो–कोट्यग्रशस्–अव्य० । कोटिसंख्येयेत्यर्थे, व्य० १ उ० ।

कोडिण्ण–कौण्डिन्य–पुं० । कौत्सगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तदपत्ये पु च । स्था० ७ ठा० । कौण्डिन्यो मेतार्यः, प्रभासश्च । आ० म० द्वि० । महागिरिसूरीणां कौण्डिन्यो नाम शिष्यः यस्य शिष्योऽश्वमित्रः । विशे० । स्था० । आ० चू० । कल्प० । आ० म० । उत्त० । शिवभूतेः सहस्रमल्लदीक्षितस्य (विशे० । आ०

चू०) गौतमस्वामिना प्रव्राजिते अष्टापदे प्रथममेवसम्मारूढे तापसगुरौ च । वाच० ।

कोमिसदंमणीइ-कौण्डिन्यदण्डनीति-स्त्री० । कौण्डिन्यप्रणीतासु दण्डनीतिषु, व्य० १ उ० ।

कोडिवद्ध-कोटिवद्ध-त्रि० । कोटिसंख्याके, व्य० ३ उ० ।

कोमिजूमि-कोटिजूमि-स्त्री० । चतुरशीतितीर्थेष्वन्यतमे कोटिभूमौ वीरकोटिभूमिनामके तीर्थे, यत्र श्रीवीरः प्रतिमारूपेण विराजते । ती० ४३ कल्प ।

कोडिल्ल-कौटिल्य-न० । कुटिलस्य भावः ष्यञ् । वक्रीभावे, चाणक्यमुनौ, वाच० । मुक्करे, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

कोमिल्लय-कौटिल्लक-न० । लौकिके नोआगमतो भावश्रुते, अनु० ।

कोमिसिला-कोटिशिला-स्त्री० । भरतक्षेत्रमध्ये मगधेषु तीर्थभेदे, ती० ।

" नमिअ जिणे उवजीविअ, चक्काइं पुरिससीहाणं ।
कोमिसिलाए कप्पं, जिणपहसूरी पयासेइ ॥ १ ॥
इह भरहखित्तमज्झे, तित्थमगहेसु अत्थि कोडिसिला ।
अज्ज वि जं पूइज्जइ, चारणसुरअसुरजक्खेहिं ॥ २ ॥
भरहद्धवासिणीहिं, अहिट्ठियदेवसयाइँ जा स सयं ।
जोअणमेगं पिहुला, जोयणमेगं च उस्सेहो ॥ ३ ॥
तिक्खंरूपुट्ठविपइणो, निअ परिरक्खंति वाहुबलमखिला ।
लप्पामिअ जं हरिणो, सुरनरखयराण पच्चक्खं ॥ ४ ॥
पढमेण कया छत्तं, वीएण पाविआ सिरं जाव ।
तइएणं गीवाए, तओ चउत्थेण वच्छयले ॥ ५ ॥
अवरंतं पंचमएण, तह य छट्ठेण कडियडं नीआ ।
उरुपज्जंतेणं सत्ते-मेणं उप्पाडिया हरिणा ॥ ६ ॥
जाणूसु अट्ठमेणं, नीआ चउरंगुलं तु जूमीओ
उद्धरिआ चरमेणं, कण्हेणं वामवाहाए ॥ ७ ॥
अवसप्पिणिकालवसा, कमेण हायंति माणवबलाइं ।
तित्थयराणं तु बलं, सव्वेसिं होइ गुरुरूवं ॥ ८ ॥
उप्पामेउं तीरइ, जं बलवतीए सुहरुकोमीए ।
तेणेसा कोडिसिला, इक्कलेणावि हरिणाओ ॥ ९ ॥
चक्काउहो त्ति नामे-ण संति नाहस्स गणहरो पढमो ।
काऊण अणसणविहिं, कोडिसिलाए सिवं पत्तो ॥ १० ॥
सिरिसंतिनाह-तित्थे संखिज्जाओ मुणीण कोमीओ ।
इत्थेव य सिद्धाओ, एवं सिरिकुंथुसिद्धे वि ॥ ११ ॥
अरणहाजिणतित्थम्मि वि, वारस सिद्धा उ समणकोमीओ ।
छ कोमी उ रिसीणं, सिद्धाओ मल्लिजिणतित्थे ॥ १२ ॥
मुणिसुव्वयजिणतित्थे, सिद्धाओ तिन्नि साहुकोमीओ ।
इक्का कोमी सिद्धा, नमिजिणतित्थेऽणगाराणं ॥ १३ ॥
अन्ने वि अणेगे ति-त्थमहसीसा सयं सयं पत्ता ।
इह कोमिसिला तित्थं, विक्खायं पुहविवलयम्मि ॥ १४ ॥
पुव्वायरिएहिं च इत्थ सविसेसं किं पि भणिअं । तं जहा-
जोअणपिहुलायामा, दसन्नपव्वयसमीवि कोडिसिला ।
जिणछक्कतित्थसिद्धा, तत्थ अणेगाउ मुणिकोडी ॥ १५ ॥
संखिज्जा मुणिकोडी, अमवीसजुगेहिं कुंथुनाहस्स ।
अरजिण चुव्वीसजुगा, वारस कोडीउ सिद्धाओ ॥ १६ ॥
मल्लिस्स वि वीसजुगा, छ कोडि मुणिसुव्वयस्स कोडितिगं ।
नमितित्थे इगकोमी, सिद्धा तेणेस कोमिसिला ॥ १७ ॥
छत्ते सिरम्मि गीवा, वच्छे उअरे कडीइ ऊरूसु ।
जाणू कहमवि जाणू, नीआ सा वासुदेवेण ॥ १८ ॥
इय कोमिसिलातित्थं, तिहुअणजणजणिअनिव्वुआवत्थं ।
सुरनरखेअरमहिअं, भविआणं कुणउ कल्लाणं" ॥ १९ ॥ ती० ४१ कल्प ।

वासुदेवोत्पाट्या कोटिशिला शाश्वत्यशाश्वती वा ?, सा च कुत्र स्थानकेऽस्ति ?, तथा सर्वैर्वासुदेवैः सर्वाऽप्युत्पाट्यतेऽथ वैकदेशेन ?, तथा नराणां कोट्योत्पाट्या कोटिशिलेति यथार्थं नाम, अन्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्-कोटिशिलाऽशाश्वतीति ज्ञायते, गङ्गासिन्धुवैताढ्यादिशाश्वतपदार्थानां मध्ये शास्त्रे तस्या अदर्शनात्, तथा सा मगधदेशे दशार्णपर्वतसमीपे चास्तीति, तथा सर्वैरपि वासुदेवैः सर्वथाऽप्युत्पाट्यते, न त्वेकदेशेन, परं प्रथमेन छत्रस्थानं, चरमेण च भूमेश्चतुरङ्गुलानि यावन्महता कष्टेन जानू यावद्वा नीयते, तथा नराणां कोट्योत्पाट्यत्वेन श्रीशान्तिनाथादिजिनषट्कतीर्थगतानेकमुनिकोटीनां तत्र सिद्धत्वेन च कोटिशिलेत्यभिधीयते इत्येतदक्षरादि तीर्थकल्पादौ सन्तीति । ७ प्र० सेन० १ उल्ला० । आ० म० ।

कोमीकरण-कोटीकरण-न० । कोट्येव कोटीकरणमिति । विभागे, दश० ।

पिंडेसणा य सव्वा, संखेवेणोयरइ नवसु कोमीसु ।
न हणइ न पयइ न किणइ, तह कारवणअणुमईहिं नव ।३०५।

पिण्डैषणा च सर्वा उद्गमादिभेदभिन्ना संक्षेपेणावतरति नवसु कोटीषु । ताश्चेमाः-न हन्ति, न पचति, न क्रीणाति स्वयम् । तथा न घातयति, न पाचयति, न क्रापयत्यन्येन । तथा घ्नन्तं वा पचन्तं वा क्रीणन्तं वा न समनुजानात्यन्यमिति नव । एतद्वाह-कारणानुमतिभ्यां नवेति गाथार्थः ॥ ३०५ ॥

सा नवहा दुह कीरइ, उग्गमकोमी विसोहिकोमी य ।
छसु पढमा ओयरई, कीयतियम्मी विसोही उ ॥ ३०६ ॥

सा नवधा स्थिता पिण्डैषणा द्विविधा क्रियते-उद्गमकोटी, विशुद्धिकोटी च । तत्र षट्सु हननघातनानुमोदनपचनपाचनानुमोदनेषु प्रथमा उद्गमकोटी अविशोधिकोट्यामवतरति । क्रीतत्रितये क्रयणक्रापणानुमतिरूपे विशोधिस्तु विशोधिकोटी द्वितीयेति गाथार्थः ॥ ३०६ ॥

एतदेव व्याचिख्यासुराह भाष्यकारः-

कोमीकरणं दुविहं, उग्गमकोमी विसोहिकोमी य ।
उग्गमकोमीछक्कं, विसोहिकोडी अणेगविहा ॥ ३०७ ॥

कोटीकरणमिति कोट्येव कोटीकरणम् । कोटीकरणं द्विविधम्-उद्गमकोटी, विशोधिकोटी च । उद्गमकोटीषट्कं हननादिनिष्पन्नमाधाकर्मादि, विशोधिकोटी क्रीतत्रितयनिष्पन्ना अनेकविधा ओघौद्देशिकादिभेदेनेति गाथार्थः ॥ ३०७ ॥

षट्कोट्याऽऽह-

कम्मुद्देसियचरिमति-गं पूइय मीस चरिमपाहुडिया ।
अज्झोयरअविसोही, विसोहिकोमी भवे सेसा ॥३०८॥

कर्म संपूर्णमेव, औद्देशिकचरमत्रितयं, कर्मौद्देशिकस्य पाखण्डश्रमणनिर्ग्रन्थविषयं पूति भक्तपानपूत्येव, मिश्रग्रहणात् पाखण्डश्रमणनिर्ग्रन्थमिश्रजम, चरमप्राभृतिका बादरेत्यर्थः । अध्यव-

पूरक इत्यविशोधिरित्येतत्षट्कम् , विशोधिकोटी भवति शेषा, औघौद्देशिकादिभेदभिन्नाऽनेकविधेति गाथार्थः ॥ ३०८ ॥

इहैव रागादियोजनया कोटीसंख्यामाह–

नव चेवऽट्ठारसगा, सत्तावीसा तहेव चउपन्ना ।
नउई दो चेव सया, सत्तरा हुंति कोडीणं ॥ ३०९ ॥
रागाई मिच्छाई, रागाईसमणधम्मनाणाई ।
नव नव सत्तावीसा, नव नउई एयगुणगारा ॥ ३१० ॥

नव चैव कोट्यः,तथा अष्टादशकं कोटीनाम,तथा सप्तविंशतिः कोटीनां,तथैव चतुःपञ्चाशत्कोटीनां,तथा नवतिः कोटीनां,द्वे एव च शते समत्यधिके कोटीनामिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवसेयः । स चायम्-" नव कोडीओ दोहिं रागदोसेहिं गुणियाओ अट्ठारस हवंति । ताओ चेव नवतिहिं मिच्छत्ताणाणअविरतीहिं गुणिताओ सत्तावीसं हवंति, सत्तावीसा रागदोसेहिं गुणिया चउपन्ना हवंति, ताओ चेव णवदसविहेण समणधम्मेण गुणियाओ विसुद्धाओ णउती भवंति, सा णउती तिहिं णाणदंसणचरित्तेहिं गुणिया दो सया सत्तरा हवंतीति गाथाऽर्थः ॥ ३०६ । ३१० ॥ दश० ५ अ० २ उ० । पिं० । ('उग्गम' शब्दे द्वि० भागे ६०५ पृष्ठे चैतद् भावितं व्यक्तेण)

कोडीणार–कोटीनार–न० । सौराष्ट्रविषये स्वनामख्याते नगरे, " अत्थि सुरट्ठाविसए धणकणयसंपन्नजणसमिद्धं कोडीणारं नाम नयरं. तत्थ सोमो नाम रिद्धिसमिद्धो छक्कम्मपरायणो वा आगमपरायणो बंभणो हुत्था । " ती० ५६ कल्प ।

कोडीवरिस–कोटीवर्ष–न० । लाटदेशराजधान्याम्, तस्यानार्यक्षेत्रेष्वन्तर्भावः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । " कोडीवरिसं च लाडा य " प्रव० १७४ द्वार । आ० क० । आव० ।

कोडीवरिसिया–कोटीवर्षिका–स्त्री० । स्थविराद् गोदासात्काश्यपगोत्रान्तर्गतस्य गणस्य प्रथमशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

कोडीसहिय–कोटीसहित–न० । कोटीभ्यामेकस्य चतुर्थादेरन्तविभागोऽपरस्य चतुर्थादेरेवारम्भविभाग इत्येवं लक्षणाभ्यां सहितं मिलितं युक्तं कोटीसहितम् ।(मिलितोभयप्रत्याख्यानकोटेश्चतुर्थादेः करणे, स्था० १० ठा० । प्रत्याख्यानभेदे, प्रव० ।

कोटीसहितमाह–

गोसेऽभत्तट्ठं जो, कायं तं कुणइ बीयगोसे वि ।
इय कोडीदुगमिलणे, कोडीसहियं तु नामेणं ॥१४॥

(गोसे त्ति) प्रभाते अभक्तार्थमुपवासं यः कृत्वा तमुपवासं करोति द्वितीयप्रभातेऽपि, इति कोटीद्विकमिलने पूर्वदिनकृतोपवासप्रत्याख्याननिष्ठापनालक्षणाया द्वितीयदिनप्रभातक्रियमाणोपवासप्रस्थापनालक्षणायाश्च कोटेर्मेलने सस्य कोटीसहितमिति नाम्ना प्रत्याख्यानमेवमष्टमादिषु एकतः कोटिद्वयनिष्ठापनारूपमन्यतश्च तृतीयोपवासस्य प्रस्थापनरूपमनयोर्मीलने कोटिसहितम्, एवमाचामाम्लनिर्विकृतिकैकासनकैकस्थानेष्वपीति । यदाहुर्गणभृतः–" पट्ठवणओ य दिवसो, पच्चक्खाणस्स निट्ठवणीओ य । जहिअं समिंति दोन्नि वि,तं भन्नइ कोडिसहिअं ति"॥ प्रव० ४ द्वार । "कोडीसहितं णाम जत्थ कोणो य मिलति गोसे आवासे एकए अभत्तट्ठो गहितो अहोरत्तं अतिऊणं पच्छा पुणरवि अभत्तट्ठं करेति,बीयस्स ठवणा पढमस्स य निट्ठावणा,एए दोन्नि कोणा एगत्थ मिलिता,एवं अट्ठमिमादि दुहओ कोडीसहियं जो चरिमदिवसो तस्स वि एगा कोडी, एवं आयंबिलं णिव्विए य एगासणएगट्ठाणाण वि, अहवा इमो अण्णो विही, अभत्तट्ठो कतो आयंबिलेण पारियं,पुणरवि अभत्तो कीरति,एत्थ संजोगा कायव्वा णिव्वितिकादिसु सव्वेसु सरिसे विसरिसेसु य " । आ० चू० ६ अ० । आव० । ल० ।

कोडुंबिणी–कौटुम्बी–स्त्री० । उत्तरबलिस्सहगणस्य तृतीयशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

कोडुंबि (ण्)–कुटुम्बिन्–त्रि० । प्रधानकर्मकारिणि, कौटुम्बिका नरकं यान्ति । स्था० ३ ठा० १ उ० ।

कोडुंबिय–कौटुम्बिक–त्रि० । कुटुम्बभरणे प्रसृतः ठक् । कुटुम्बभरणे व्यापृते, कुटुम्बे भवः ठक् । कुटुम्बमध्यपातिनि,वाच० । कतिपयकुटुम्बप्रभौ, (स्वामिनि) नायके, राजसेवके, ज० २ श० १ उ० । कल्प० । स्था० । औ० । अन्त० । रा० । जं० । अनु० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । जी० ।

अथ कौटुम्बिकदृष्टान्तं भावयति–

वड्ढीधन्नसुभरियं, कोट्ठागारं तु डज्झते कुडुंबिस्स ।
किं अम्ह मुहा देई, कोई तहियं न अल्लीणा ॥

एकः कौटुम्बिकः स कर्षकाणां कारणे उत्पन्ने वृद्ध्या कालान्तररूपया धान्यं ददाति, तया च वृद्ध्या कौटुम्बिकस्य कोष्ठागाराणि धान्यस्य सुभृतानि जातानि, अन्यदा च तस्यैकं कोष्ठागारं वृद्धिधान्यसुभृतं वह्निना प्रदीप्तेन दह्यते,तत्र केचिद कर्षका विध्यापननिमित्तं तत्र प्रदह्यमाने कोष्ठागारे समागताः । किमेष कौटुम्बिकोऽस्माकं सुधा ददाति येन वयं विध्यापनार्थमभ्युद्यता भवामः ।

एयस्स पभावेणं, जीवा अम्हे त्ति एव नाऊणं ।
अण्णे उ समल्लीणा, विज्झविए तेसि सो तुट्ठो ॥

अन्ये कर्षका एतस्य कौटुम्बिकस्य प्रभावेण वयं जीवन्ति स्म । जीवाः, अत्प्रत्ययः, जीविता इत्यर्थः । एवं ज्ञात्वा समालीनास्तत्र समागता विध्यापनाय च प्रवृत्ताः ततो विध्यापिते कोष्ठागारे स कौटुम्बिकस्तेषां तुष्टः ।

ततः किमकार्षीदित्यत आह–

जे उ सहाएगत्तं, करेंसु तेसिं अवड्ढियं दिन्नं ।
दड्ढं ति न दिण्णियरे, अकासगा दुक्खजीवीया ॥

ये तु विध्यापने सहायत्वमकार्षुः तेषामवृद्धिकं कालान्तररहितं धान्यं दत्तम्, इतरेषां तु सहायत्वमकृतवतां दग्धमित्युत्तरं विध्यापने दत्तं ततस्ते अकर्षकाः सन्तो दुःखजीविनो जाताः ।

एष दृष्टान्तः । अथ उपनयमभिधित्सुराह–

आयरिय कुडुंबी वा, सामण्णियथाणिया भवे साहू ।
वावाहू अगणितुल्ला, सुत्तया जाण धन्नं तु ॥

आचार्यः कुटुम्बीव, कुटुम्बितुल्य इत्यर्थः । सामान्यकर्षकस्थानीयाः साधवः, आचार्यस्य भिक्षाटने वातादिव्यावाधाग्नितुल्यान् सूत्रार्थान् जानीहि धान्यं धान्यतुल्यान् ।

एमेव विणीयाणं, करेंति सुत्तत्थसंगहं थेरा ।
हावेंति उदासीणे, किलेसभागी य संसारे ॥

एवमेव कौटुम्बिकदृष्टान्तप्रकारेण ये विनीतास्तेषां स्थविरा आचार्याः सूत्रार्थसंग्रहं कुर्वन्ति सूत्रार्थान् प्रयच्छन्ति। यस्तदा उदासीनस्तत्र हापयन्ति इति, न प्रयच्छन्तीति भावः। स चोदा-सीनो वर्तमानः केवलं सूत्रार्थायोग्यो भवेत्, क्लेशभागी च संसारे जायते। व्य०६ उ०। कुटुम्बभवेषु कार्येषु, जी०३ प्रति०।

कोडूसग-कोदूषक-पुं०। कोद्रवविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

कोढ-कुष्ठ-न०। रोगभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०। विपा०। आव०। तपा०। सप्त महाकुष्ठानि। तद्यथा-अरुणोदुम्बरनिश्यजिह्वकापालकाकनादपौण्डरीकदद्रुकुष्ठानीति। महत्त्वं चैषां सर्वधात्वन्तःप्रवेशादसाध्यत्वाच्चेति। एकादश क्षुद्रकुष्ठानि। तद्यथा-स्थूलारुष्कमहाकुष्ठचर्मदलपरिसर्पविसर्पसिध्मविचर्चिकाकिटिभपामापशतारुकसंज्ञानीति सर्वाण्यप्यष्टादश। सामान्यतः कुष्ठं सर्वं संनिपातजमपि वातादिदोषोत्कटतयाऽनुभेदभाग्भवतीति। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

कोढि-कुष्ठिन्-त्रि०। कुष्ठमष्टादशभेदमस्यास्तीति कुष्ठी। कुष्ठरोगग्रस्ते, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार। आचा०।

कोण-कोण-पुं०। कुण-करणे घञ्, कर्त्तरि अच् वा। येन धनुराकृतिना काष्ठेन वीणादयो वाद्यन्ते। तस्मिन् वादनसाधने काष्ठभेदे, अस्त्रौ, वाच०। वीणावादनदण्डे, जी० ३ प्रति०। लकुटे, "कोणओ लगुडो भण्णति" नि० चू०१ उ०। गृहादीनामेकदेशे, नि० चू० १ उ०। अस्त्राणामग्रभागे, मङ्गलग्रहे, शनिग्रहे, द्वयोर्दिशोर्मध्यभागे विदिशि, वाच०।

कोणालग-कोनालक-पुं०। स्त्री०। कोने जलोने अलति अप-र्याप्नोति। अल ण्वुल्। सङ्घचारिणि, शबे, कृष्णपुच्छे, श्वेतोदरे, जलचरपक्षिभेदे, वाच०। प्रश्न०। कुन्थुजिनेन्द्रस्य पूजके, "सर्हि तु सहस्साइं, कुंथुजिणिंदस्स परिवारो। कोणालगमाहियस्स य, सिरीए सूरस्स य सुयस्स"॥ ती० ६ कल्प०।

कोणाली-कोनाली-स्त्री०। गोष्ठधाम, बृ० १ उ०। नि० चू०।

कोणिय (अ)-कूणिक-पुं०। श्रेणिकराजस्य चेल्लणायां जाते पुत्रे, कल्प०८ क्षण। ('कूणिय' शब्देऽत्रैव भागे ६२६ पृष्ठे कथोक्ता)

कोण्ठ-कुण्ठ-त्रि०। 'कुठि' वैकल्ये। अच्। "ओत्संयोगे" ८। १। ११६। इत्यादेरुत ओत्वम्। प्रा० १ पाद।

कोत-कुत्र-अव्य०। "ओत्संयोगे" ८। १। ११६। इति आदेरुत ओत्वम्। कस्मिन्नित्यर्थे, प्रा० १ पाद।

कोतव-कौतव-न०। मूषिकलोमनिष्पन्ने सूत्रे, विशे०। अनु०। आ० म०। बृ०।

कोत्तिय-कौत्रिक-पुं०। भूमिशायिनि वानप्रस्थे, औ०। नि०। भ०। मधुभेदे, स्था० ६ ठा०। आव०।

कोत्थ-कुत्स-न०। गोत्रभेदे, "जे कोत्था ते सत्तविहा पण्णत्ता। तं जहा-ते कोत्था ते मुग्गलायणा ते पिंगायणा ते कोडीणा ते मंडलीणा ते हारिया ते सोमया"। स्था० ७ ठा०।

कोत्थलकारी-कोत्थलकारी-स्त्री०। भ्रमर्याम्, त्रीन्द्रियजीवे, बृ० १ उ०। प्रज्ञा०।

कोत्थुंभरी-कौस्तुम्भरी-स्त्री०। कुस्तुम्भशाखिषु, जं० ३ वक्ष०। नि० चू०।

कोत्थुभ (ह)-कौस्तुभ-पुं०। कुं भूमिं स्तुभ्नाति कुस्तुभो जलधिः तत्र भवः अण्। "औत ओत्" ८। १। १५६। इत्यौकारस्य ओकारः प्रा० १ पाद। विष्णोर्वक्षःस्थे मणौ, वाच०। "कोत्थुभो य मणी दिव्वो वासुदेवस्स"। ती० १० कल्प।

कोदं (मं) ड-कोदण्ड-न०। 'कु'शब्दे क्विप्। कोः शब्दितो दण्डोऽस्य, धनुषि, तत्तुल्यत्वात् भूलतायाम्, देशभेदे च। धनराशौ च। वाच०। "कोदंडविप्पमुक्केणं उसुणा वामे पादे विद्धे समाणे" अन्त० ५ वर्ग।

कोदंडिम-कुदण्डिम-त्रि०। कुदण्डेन निर्वृत्ते, जं० ३ वक्ष०।

कोदूसग-कोदूषक-पुं०। कोद्रवविशेषे, भ० ६ श० ७ उ०।

कोद्दव-कोद्रव-पुं०। कु-क्विप्। कोः सन् द्रवति। द्रु-अच्। धान्यभेदे, वाच०। जं०। प्रज्ञा०। नि० चू०। आचा०। स्था०। सूत्र०। मदने, मदनकोद्रवे, कर्म० ६कर्म०। ('सम्मत्त'शब्दे त्रिपुञ्जीकरणप्रस्तावे मदनकोद्रवदृष्टान्तो द्रष्टव्यः)

कोप्पर-कूर्पर-पुं०। न०। "ओत् कूष्माण्डी-तूणीर-कूर्पर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूचीमूल्ये" ॥ ८। १। १२४ ॥ इति उकारस्य ओकारः। प्रा० १ पाद। प्रश्न०। कुहणिकायाम्, पञ्चा० ३विव०।

कोभीसणि-कौभीषणि-पुं०। गोत्रप्रवर्तकर्षिभेदे, उमास्वातिवाचकः कौभीषणिगोत्रः। ती० ३६ कल्प।

कोमल-कोमल-त्रि०। कु कलच, मुट् च, गुणः। जले, मृदौ, वाच०। अकठोरे, भ० २ श० १ उ०। औ०। रा०। विपा०। आतु०। मनोज्ञे, नं०। रा०। द्वारिकायाम्, स्त्री०। द्वाप०। वाच०।

कोमलंबिलिया-कोमलाम्लिका-स्त्री०। अबद्धास्थिकायां चिञ्चिणिकायाम्, ध० २ अधि०। प्रव०।

कोमारिया-कौमारिकी-स्त्री०। कुमारस्येयं कौमारी, सैव कौमारिकी। कुमारप्रव्रज्यायाम्, भ० १५ श० १ उ०।

कोमुइया-कौमुदिका-स्त्री०। कौमुदोत्सवाद्युत्सवज्ञापनार्थं वाद्यमानायां कृष्णवासुदेवभेर्याम्, विशे०। आ० म०। आ० चू०।

कोमुई (दी)-कौमुदी-स्त्री०। कुमुदस्येयं प्रकाशकत्वात् प्रिया० अण्, ङीप्। "औत ओत्" ॥ ८। १। १५६ ॥ इत्यौकारस्य ओकारः। प्रा० १ पाद। वाच०। चन्द्रिकायाम्, औ०। ज्ञा०। तद्वत्प्रकाशिकायाम्, कुमुदस्येयम् अण्, ङीप्। "कुशब्देन मही ज्ञेया, मुद हर्षे ततो द्वयम्। धातुज्ञैर्नैगमैश्चैव, तेन सा कौमुदी स्मृता" इत्युक्तायां कार्त्तिकपौर्णमास्याम्, वाच०। जं०। ज्ञा०। रा०। व्य०। आश्विनपौर्णमास्याम्, दीपोत्सवतिथौ, उत्सवे, कार्त्तिकोत्सवे, स्वार्थे के ह्रस्वे कौमुदिका। ज्योत्स्नायाम्, संज्ञायां कन्। कुमुदकः। चातुरर्थ्याम् कुमुदात् ठक् कौमुदिकः। कुमुदसन्निकृष्टदेशादौ, त्रि०। वाच०।

कोमुई (दी) चार-कौमुदीचार-पुं०। कौमुद्याः ज्योत्स्नायाश्चारः प्राशस्त्यमत्र काले। आश्विनपौर्णमास्याम्, वाच०। कौमुदीमहे च। आ० क०। "अभओ सोणिओ य पच्छन्नं कोमुदीचारं पेच्छति" नि० चू० १ उ०। आव०।

कोमुईजोगजुत्त-कौमुदीयोगयुक्त-त्रि०। कौमुदी कार्त्तिकीपूर्णमासी, तद्योगयुक्तः। कार्त्तिक्यामभ्युदिते, "कोमुदीजोगजुत्तं व, तारापरिवुडं ससिं"। व्य० ४ उ०।

कोमुईरयणीयर–कौमुदीरजनीकर–पुं०। कौमुदी कार्त्तिकी पौर्णमासी, तस्यां रजनीकरश्चन्द्रः । रा० । कार्त्तिकीरजनीकरे,नि० १ वर्ग । " कोमुईरयणिगरविमलपडिपुन्नसोमवयणा " कौमुदी कार्त्तिकी पौर्णमासी, तस्यां रजनीकरश्चन्द्रस्तद्वत् विमलं निर्मलं प्रतिपूर्णमन्यूनानतिरिच्यमानं सौम्यमरौद्राकारं वदनं यस्याः सा तथा । रा० । जं० । नि० ।

कोयवि–कोयवि–पुं० । रूतपूरिते पटे, यो लोके माणिकी प्रसिद्धा । बृ० ३ उ० । प्रव० । नि० चू० ।

कोरंट–(ग)- कोरण्ट (क)–पुं० । पुष्पजातिविशेषे, रा० । ज्ञा० । जं० । स च कण्टसेलियाख्यः संभाव्यते । जं० १ वक्ष०। अग्रबीजाः कोरण्टकादयः। आ० म० द्वि०। कोरण्टकादीनि लता, इति लतासु अग्रबीजवनस्पतिष्वन्तर्भवति । औ० । स्था० । आ० म० । स्वनामख्याते मरुकच्छीये, " कोरण्टगं जहा–भावियधम्मं पुच्छिऊण " कोरण्टकं नाम मरुकच्छे उद्यानं तत्र भगवान् मुनिसुव्रतस्वाम्यर्हन्नीकृणं समवसृतः । व्य० १ उ० ।

कोरंटदाम–कोरण्टदामन्–न० । कोरण्टकाभिधाने पुष्पदामनि, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

कोरंटमल्लदाम–कोरण्टमाल्यदामन्–न० । कोरण्टकः पुष्पजातिविशेषः, स च कण्टसेलियाख्यः संभाव्यते, तस्य मालायै हितानीति कृत्वा माल्यानि पुष्पाणि तेषां दाम माला । जं० १ वक्ष० । कोरण्टकाभिधानकुसुमस्तवकवति माल्यदामनि, औ० । रा० । कोरण्टपुष्पमालायाम्, रा० । प्रश्न० । औ० ।

कोरय–कोरक–पुं० । न०। ' कुल ' संख्याने एवुल्, लस्य रः । कलिकायाम्, वाच० । फलनिष्पादके मुकुले, (आम्रप्रलम्बकोरकदृष्टान्तेन कोरकचातुर्विध्यं 'पुरिसजाय' शब्दे वक्ष्यते)स्था०। कक्कोले,मृणाले च । चोरनामगन्धद्रव्ये,ततः तारका० संजातेऽर्थे इतच् , कोरकितः । जातमुकुले, त्रि० । वाच० । जालके, विशे० । पक्षिभेदे, रा० ।

कोरव–कौरव–पुं० । स्त्री० । कुरोरपत्यादि,उत्सादित्वा०अञ् । तद्देशस्य राजा अण् । तेषु भवो वा अण् । वाच० । कुरुवंशोद्भवे, बृ० १ उ० । औ० । भ० । कुरुवंशभूते क्षत्रिये, औ० । तद्देशनृपे, पुं० । कुरुसंबन्धिनि, तद्देशभवे च । त्रि० । स्त्रियां ङीप् । वाच० ।

कोरव्व–कौरव्य–पुं० । स्त्री० । कुरोरपत्यम् । कुर्वादि० ण्यः। कुरुवंश्ये वाच० । कौरव्यगोत्रे ब्रह्मदत्ते चुलनीसुते, जी० ३ प्रति० । स चाऽवसर्पिण्यामष्टमश्चक्रवर्त्ती । आव०४अ० । स० । प्रव० । ('बम्हदत्त' शब्दे कथाऽस्य वक्ष्यते) तस्यापत्यं फिञ्, कौरव्यायणिः । कुरुकुलोत्पन्ने ब्राह्मणादावपत्ये, पुं० । स्त्री० । कुरूणां राजा ण्यः, कौरव्यः । कुरुदेशराजे, स्त्रियां ङीप्, कौरवी । स्त्री० । ण्यन्तत्वात् यून्यपत्ये फिञो लुक् । कौरव्यः–पिता पुत्रश्च । वाच० ।

कोल–कोल–पुं० । 'कुल' संस्त्याने । अच् । शूकरे,ज्ञा०१श्रु०१ अ०। तं० । प्लवे, कोडे, शनिग्रहे, चित्रके, अङ्कपाली, आलिङ्गने, देशभेदे, पुं० । वाच० । घुणकीटे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । उन्दुराकृतौ जन्तौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अस्त्रभेदे, पुं० । ध० र० । नटात् धीवरकन्याजातिभेदे, मरिचे, न० । चव्ये, कर्कन्धूवृक्षे, स्त्री० । गौरा० ङीष् । तस्याः फलम् अण्, तस्य लुक् । बदरीफले, न० । वाच० । आचा० । बदरचूर्णे,बृ०१ उ० ।

कोलंब–कोलम्ब–पुं० । अवनते शाखाग्रे, कोलम्बो हि लोके अवनतवृक्षशाखाग्रमुच्यते, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ज्ञा० ।

कोलग–कोलक–पुं० । कुल एवुल् । अङ्कोटवृक्षे,बहुवारवृक्षे,गन्धद्रव्यभेदे, मरिचे, कक्कोले च । न० । वाच० । कोलजातौ, स्त्रियां तु "यदि एसा कोलगिणी एवं करेति" आ० चू० ४ अ० ।

कोलघरिय–कौलग्रहिक–पुं० । कुलगृहसम्बन्धिनि, उपा०२ अ० ।

कोलचुण्ण–कोलचूर्ण–पुं० । बदरशक्तुषु, दश० ५ अ० १ उ० ।

कोलज्जा–कोलार्या–स्त्री० । अधोवृत्तखाताकारे धान्यस्थाने, आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

कोलट्ठिय–कुवलयास्थिक–न० । बदरकुलके, भ०६ श०१० उ० ।

कोलपा (वा) गपट्टण–कोलपाकपत्तन–न० । स्वनामख्याते तीर्थीभूते नगरे, कौलपाकपत्तने माणिक्यदेवः श्रीऋषभो मन्दोदरीदेवतावसरः, । ती० ४५ कल्प० ।

कोलपा (वा) ल–कोलपाल–पुं० । धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य द्वितीये लोकपाले, भूतानन्दस्य च लोकपाले, स्था० ४ ठा० २ उ० । जं० । आ० चू० । विशे० । आ० म० ।

कोलव–कौलव–न० बवादिषु तृतीये करणे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । भ० ।

कोलवण–कोलवन –न० मथुरास्थे वनभेदे, ती० ६ कल्प ।

कोलसुणह–कोलश्वन् (शुनक)–पुं० । महाशूकरे, आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रश्न० । जं० । प्रज्ञा० । मृगया कुशले शुनि, प्रज्ञा० ११ पद ।

कोलसुणिया–कोलशुनिका–स्त्री० । स्त्रीत्वविशिष्टे कोलशुनकजातौ, प्रज्ञा० ११ पद ।

कोलाल–कौलाल–न० । कुलालाः कुम्भकारास्तेषामिदं कौलालम् । मृद्भाण्डे, अनु० ।

कोलालभंड–कौलालभाण्ड–न० । कुलालाः कुम्भकारास्तेषामिदं कौलालं,तच्च तद् भाण्डं च पण्यं भाजनं वा कौलालभाण्डम् । कुम्भकारकृते मृद्भाण्डे, " से सद्दालपुत्ते अण्णया कयाई वाताहतयं कोलालभंडं अंतो सालाहिंतो बहिता णीणेई " उपा० ७ अ० ।

कोलालिय–कौलालिक–पुं० । कौलालानि मृद्भाण्डानि पण्यमस्येति कौलालिकः । अनु० । कुलालक्रयविक्रयिणि, बृ० २ उ० ।

कोलालियावण–कौलालिकापण–पुं० । कौलालिकाः कुलालक्रयविक्रयिणस्तेषामापणः । पणितशालायाम्, " कोलालियावणो खलु पणितसाला"कौलालिकापणः पणितशाला मन्तव्या । किमुक्तं भवति ?-यत्र कुम्भकारा भाजनानि विक्रीणते,वणिजो वा कुम्भकारहस्ताद् भाजनानि क्रीत्वा यत्रापणे विक्रीणन्ति । बृ०२ उ० ।

कोलावास–कोलावास–पुं० । कोला घुणास्तेषामावासः । दारुणि, "चित्तमंताए सालाए कोलावासंसि वा दारुए गणं वा स-

हियं वा चेतेमाणे सबले " स० २१ सम० । आव० । दशा० । आचा० । अनु० ।

कोलाह–कोलाभ–पुं० । दर्वीकरसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

कोलाहल–कोलाहल–पुं० । कुल–घञ्, तमाहलति अच् । वाच० । बहुजनमहाध्वनौ, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । प्रति० । अव्यक्ते (उत्त० ९ अ०) बोले, जी० ३ प्रति० । " ण य कोलाहलं करे " सूत्र० १ श्रु० ९ अ० । आर्तशकुनिसमूहध्वनौ, न० ७ श० ६ उ० । विलपिताक्रन्दिकले, उत्त० ६ अ० ।

कोलाहलगभूय–कोलाहलकभूत–त्रि० । कोलाहलो विलपिताक्रन्दिकलः, कोलाहल एव कोलाहलकः, स भूत इति जातोऽस्मिन् तत् कोलाहलकभूतम्, आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वात् निष्ठान्तस्य परनिपातः संजातबहुध्वनौ, यदि वा भूतशब्द उपमार्थस्ततः कोलाहलभूतम् । कोलाहलकरूपतामिवापन्ने, हा मातर्हा मातरित्यादिकलकलाकुलितया सदृग्भूते, " कोलाहलयपभूयं आसी मिहिलाए पव्वयंतं " उत्त० ९ अ० ।

कोलाहलगसंकुल–कोलाहलकसंकुल–त्रि० । बहलकलकलात्मकेन कोलाहलेन व्याकुले, " किमु तो अज्ज मिहिलाए, कोलाहलगसंकुला । सुव्वंति दारुणा सद्दा पसाए सुगिहेसु य " । उत्त० ९ अ० ।

कोलिय–कौलिक–त्रि० । कुलादागतः ठक् । कुलपरम्परागते आचारादौ कुले, कुलागमे सिद्धः ठक् । तन्त्रोक्ते कुलाचारे, कौलं कुलधर्मं प्रवर्त्तयति ठक् । कुलधर्मप्रवर्त्तके, शिवे, पाखण्डे, कुलं तदाचारः प्रयोजनमस्य ठक् । कौले ब्रह्मविदि, वाच० । तन्तुवाये, नं० । आ० म० । आव० । " पढमाए कोलियकन्नाए दिट्ठंतो कीरइ (नियति शब्दे भावतः कृष्णस्य, द्रव्यतः कौलिकवीरस्य 'किइकम्म' शब्दे ५०७ पृष्ठे दृष्टान्त उक्तः) प्रव० २ द्वार । आव० ।

कोलियाजाल–कोलिकाजाल–न० । मर्कटकसन्ताने, आव० ४ अ० । नि० चू० । जालाकारे कोलिकाजालसन्ताने, बृ० १ उ० ।

कोलुण–कारुण्य–न० । अनुकम्पायाम्, नि० चू० ११ उ० ।

कोलुणपडिया–कारुण्यप्रतिज्ञा–स्त्री० । अनुकम्पाप्रतिज्ञायाम्, नि० चू० ।

जे भिक्खू कोलुणपडियाए अण्णयरिं तसपाणजायं तणपासएण वा मुंजपासएण वा कट्ठपासएण वा चम्मपासएण वा बंधइ, बंधंतं वा साइज्जइ ॥१॥ जे भिक्खू बंधेल्लयं वा मुयइ, मुयंतं वा साइज्जइ ॥ २ ॥

भिक्खू पुव्ववण्णिओ, कोलुणं ति कारुण्यं अणुकंपा, पडियाए त्ति प्रतिज्ञा, अनुकम्पाप्रतिज्ञया इत्यर्थः । त्रसन्तीति त्रसाः, ते च तेजोवायू द्वीन्द्रियादयश्च प्राणिनो त्रसाः, एत्थ तेउवाऊहिं णाहिकारो जाइग्गहणाओ वि सिद्धगो जाइवल्लयाईहिं अहिगारो, तणा दब्भाइया, पासो त्ति बंधणं, दब्भा रज्जुः इत्यर्थः । वत्तपासग्गहणाओ सव्वे पासा गहिया, कट्ठपासग्गहणाओ कयलिखोडाइया गहिया, एवमाईहिं बंधंतस्स चतुलहुं, बिइयसुत्ते वि वरूवगं मुयंतस्स चतुलहुं चेव । इमा सुत्तफासिया गाहा–

तसपाणगतणगादी, कलुणपरं नाएं जो उ बंधेज्जा ।
तणपासगमादीहिं, मुंचाति वा आणमादीणि ॥ १ ॥

गतार्था । जइ सेज्जगसेज्जायराई वलगखेत्ताई वच्चंता भणेज्जा–

ओहाण ति अज्जो ती, देज्जेवं तणगादीणं ।
अम्हे तुब्भं इहयं, भायणभूता परिवसामो ॥ ३ ॥

ओहाणं ति उवयोगो, अज्जो त्ति आमंतणे, इह त्ति घरे, तणगाईणं, आइसद्दाओ गवाइसु विविहोवक्खारेसु च, एवं भणंतेसु साहुणा वत्तव्वं पच्छद्धं, भूतशब्दः भयणे तुल्यवाची, जहा अ सेहाइ–भायणं गिहंतो बाहिरे वा वियं व किंचि घरवावारं करेंति, तहेव अम्हे इह परिवसामो वसहिग्गहणकाले । अथवा वसंतो जइ गिही किंचि विज्जं पत्थेज्जा तत्थिमं भासेज्जा–

न वि जोइसं न गणितं, ण अक्खारेणेव किंचि रक्खामो ।
अप्पस्सगा अमुणगा, भोयणखंजावमात्तसिमो ॥ ४ ॥

घरे किंचि मुणगाइणा अवरज्झंते अपस्सगा अम्हे, गिहिणो संदिसंतस्स असुणगा, अम्हे झाणोवगया वा अम्हं ण पस्सामो, सुणेमो वा, सेसं कंठं । तणगगहणं किमर्थं चेत्?–

घणजीविनगं खलु त–णगगहणं तु तं बहु अवातं च ।
सेसा वि मूइया खलु, तणगगहणं तु गोणादी ॥ ५ ॥

बालवत्थं तणगं, तं घणजीवी बहुअवायं च । अओ तणगहणं कयं सुत्ते तणगग्गहणाओ य सेसा वि गोणाई सव्वे सूइया, न संबंधितया इत्यर्थः । अहवा बंधं इंतो आणाइया दोसा इमे य अन्ने य ।

अच्चावेढण मरणं–तराय फड्डंत अत्तपरहिंसा ।
सिंगखुरपेल्लणं वा, उड्डाहो भद्द पंता वा ॥ ६ ॥

अईव आवेढियं परितावेज्जइ, मरइ वा, अंतरायं च भवइ । बद्धं च तडफडंतं अप्पाणं परं वा हिंसइ, एसा संजमविराहणा, तं वा वज्झंतं सिंगेण खुरेण वा काएण वा साहुं पेल्लेज्जा, एवं साहुस्स आयविराहणा । तं च दट्ठुं जणो उड्डाहं करेज्ज–अहो ! दुद्दिट्ठधम्मा परतत्तियाहिणो, एवं पवयणोवघाओ, भद्दपंतदोसा वा भवे । भद्दो भणाइ–अहो इमे साहवो अम्हं परोवक्खाणघरवावारं करेंति । पंतो पुणो भणेज्ज–दुद्दिट्ठधम्मचाडुकारिणो कीस वा अम्हं वच्छे बंधति, मुयंति वा, दिया वा राओ वा निच्छुभेज्जा, वोच्छेयं वा करेज्ज, एए बंधणे दोसा ।

इमे मुयणे–

छक्काय अगड विसमे, हिय णट्ठ पलाय खइय पीते वा ।
जोगक्खेम वहंती, णेत्रं दोसा य जे वुत्ता ॥ ७ ॥

तणगाइ मुक्कमरंते छक्कायविराहणं करेज्ज, अगडे विसमे वा पडिज्ज, तेणेहिं वा हीरेज्जा, नट्ठं अरन्नीए रुलंतं अत्थेज्ज, मुक्कं वा पलाइयं वा पुणो बंधितुं न सक्कइ, दुगादिसणप्फईहिं वा खज्जइ, मुक्कं वा माऊए थणाओ खीरं पिएज्ज । जइ वि एवमाइ दोसा न होज्ज तहा वि गिहिणो वीसत्था अत्थेज्ज, अम्हं घरे साहवो सुत्तत्थजोगक्खेमवावारं वहंति मए त्ति एवं मणेण चिंतित्ता अणुत्तसत्ता अप्पणो कम्मं करेंति, अह तद्दोसभया मुक्कं पुणो बंधति, तत्थ बंधणे दोसा जे वुत्ता ते भवंति । जम्हा एते दोसा तम्हा ण बंधंति मुयंति वा ।

कारणे पुण बंधमुयणं करेज्जा–

वितियपदमणप्पज्झे, बंधे अविकोविते व अप्पज्झे ।
विसपगडअगणिआऊ–वणप्फगादीसु जाणमवी ॥ ८ ॥

अणप्पज्झो बंधइ, अविकोविओ वा, सेहो अहवा विकोवि–

ओ वा लेहो, अहवा विकोविओ अप्पज्झो, इमेहिं कारणेहिं बंधति, विसमा अगडिअगणिकसु मरिजिहि इति डुगादिसणप्फएण वा मा खजिहि त्ति एवं आणणा वि बंधइ, मुंचइ।

तस्स इमं विइयपदं-

वितियपदमणप्पज्झे, मुंचे अविकोविते व अप्पज्झे।
जाणंते वावि पुणो, वलिपासगअगणिमादीसु ॥ ९ ॥

वलिपासगो त्ति बंधणा तेण अईव गाढं बद्धो मूढो वा तरुफडेइ, मरइ वा जया, तया मुंचइ, मा मरिज्जिहि त्ति।

बंधणमुयणे इमा जयणा-

तेसु असाहीणेसुं, अहवा साहीणपत्थणे जयणा।
केणं बद्धविमुक्को, पुच्छंति न जाणिमो केण ? ॥ १०॥

(तेसु त्ति) जया घरे गिहत्था असाहीणा तया एवं करेइ, साहीणेसु वा अपच्छमाणेसु मिगेसु, अह गिही पुच्छेज्जा-केण तणगं बद्धं मुक्कं वा, तत्थ साहूहिं वत्तव्वं-न जाणामो अम्हे ॥ नि० चू० १२ उ०।

कोल्लइर-कोल्लकिर-न०। वार्द्धक्ये, पिं०। कोल्लाकपुरे, यत्र सङ्गमस्थविरा नित्यवासमाश्रिताः। आव०३ अ०। आ० चू०।

कोल्लग-कोल्लक-पुं०। दग्धकाष्ठलघुखण्डेषु, "कोल्लपरंपरं संकेल्लियाग्गसणेणेति।" नि० चू० १ उ०।

कोल्लपागपुर-कोल्लपाकपुर-न०। माणिक्यदेव ऋषभस्थाने तीर्थे, ती० ५१ कल्प। ('माणिक्कदेव' शब्दे कथा वक्ष्यते)

कोल्लयरपुर-कोल्लयरपुर-न०। स्वनामख्याते पुरे, यत्र धर्मसिंहाभिधानः क्षत्रियमुनिः। संथा०।

कोल्लाग-कोल्लाक-पुं०। स्वनामख्याते सन्निवेशे, कल्प० २ क्षण। यत्राऽव्यक्तः सुधर्मा च गणधरो जातः। आ० म० द्वि०। यत्र च बहलब्राह्मणगृहे श्रीवीरजिनेन्द्रेण प्रथमभिक्षा लब्धा। कल्प० १ क्षण। आ० म०। न०। यत्र वा सङ्गमस्थविराः नित्यवासं समाश्रिताः। "इहासन् कोल्लाकपुरे, निर्मलश्रुतसम्पदः सङ्गमस्थविराचार्या-स्तैर्दुर्भिक्षे स्वसाधवः"। आ० क०।

कोल्लापुर-कोल्लापुर-न०। दक्षिणदेशस्थे पुरभेदे, यत्र शूद्रकनृपेण महालक्ष्मी तोषिता, सातवाहननृपभार्याः सातवाहनं महिषीप्रवृत्तिं व्यजिज्ञपत्। ती० ३४ कल्प०। (सातवाहनशब्दे कथा वक्ष्यते)

कोल्लासुर-कोल्लासुर-पुं०। स्वनामख्याते असुरभेदे,यो हि कोल्लापुरे महालक्ष्म्या देशात् कृतद्वयनप्रत्यूहकरणाय वृत्तः शूद्रकनृपतिना मारितः। ती०३४ कल्प। (सातवाहन शब्देऽस्य कथा)

कोल्लुग-कोल्लुक-पुं०। इक्षुरसोत्पादके यन्त्रविशेषे, बध्वा च "कोल्लुकचक्रन्यायेन परंपराया" बृ० १ उ०।

कोल्लुगाणुग-क्रोष्टुकानुग-पुं०। क्रोष्टुकः शृगालस्तदनुगः शृगालोपमे आचार्यभेदे, वृषभभेदे, भिक्षुभेदे, यो हि रजोहरणनिषद्यायामौपग्रहिकपादप्रोञ्छने वा स्थितो वा वाचयति तिष्ठति वा शृगालानुगः। व्य० १ उ०। नि० चू०।

कोव-कोप-पुं०। कुप भावे घञ्। कामाग्निजे चित्तवृत्तिभेदे, बधाद्यनुकूलचित्तवृत्तिभेदे, "मानः कोपः स तु द्वेधा, प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः। द्वयोः प्रणयमानः स्यात्,प्रमोदे तु महत्यपि॥ प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्,कोपो यः कारणं विना"। इति साहित्यदर्पणोक्ते शृङ्गाररसाङ्गे,प्रणयकोपे च। धातुवैषम्यकारिदोषाणां विकारभेदे,वाच०। क्रोधोदयात् स्वभावाज्ज्वलनमात्रे,भ० १२ श० ५ उ०। तद्रूपे द्वितीये मोहनीये कर्मणि,स० ५२ सम०। ('कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३९६ पृष्ठे प्ररूपितम्)

कोवघर-कोपगृह-न०। मानिनीनां कोपभवने, "देवी ईसाए कोवघरं पविट्ठा।" आ० म० प्र०।

कोविय-कोपित-त्रि०। दूषिते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ०।

कोविद-पुं०। 'कुह' शब्दे। विच्। कोर्विदस्तं वेत्ति। विद-कः। परिणते, विदुषि, वाच०। कुशले, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। निपुणे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०। अभ्यस्तसर्वागमत्वात् निपुणे, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। विपश्चिति, दशा०६ अ०३ उ०।

कोवीण-कौपीन-न०। कूपे पतनमर्हति खञ्। अकार्य्ये, पापे, गुह्यप्रदेशे, चीरे, मेखलाबद्धे वस्त्रखण्डे, (कपनी) तत्कारणेन कूपे पतनात् तस्य तथात्वम्। अकार्यवदाच्छाद्यत्वात् पुरुषलिङ्गे, तदावरकतया वस्त्रखण्डस्य कौपीनत्वम्। 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः'। 'पुरा कौपीनाच्छादनं यावत्तावदिच्छेच्च चीवरम्'। "अथलाः स्वल्पकौपीनाः, सुहृदः सत्यजिष्णवः।" वाच०। तं०।

कोस-कोष (श)-पुं०। न०। अर्द्धर्चादि०। कुश (ष) आधारादौ घञ्, कर्तरि अच् वा। अण्डे, कृताकृतयोर्हेमरूप्ययोः कुड्मले, मुकुले, समूहे, दिव्यभेदे, शब्दपर्यायज्ञापके अभिधाने, पानपात्रे, चषके, शिम्बायां, पनसादिमध्यस्थे (कोषा) ख्याते पदार्थे, ध० र०। शब्दान्तरपूर्वे तु गोलकाकारे पदार्थे, यथा नेत्रकोषः। वाच०। आश्रयं, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। धान्यनिधौ, स्था० ५ ठा० ३ उ०। भाण्डागारे, व्य० ४ उ०। औ०। कल्प०। रा०। स्था०। ज्ञा०। श्रीगृहे, स्था० ६ ठा०। वारकादिभाजने, "कोसं यमो व मेहाए" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ०। खड्गपिधानके, तं०। असिपरिधारे, "से जहाणामए केइ पुरिसे कोसाओ असिं अभिनिव्वट्टित्ता णं" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। प्रत्याकारे, व्य० १० उ०। त्वगाद्यावरणे कोषवदावरकत्वात् पिधानमात्रे, कोशाधारे गृहे, कुशा भूमौ सन्त्यत्र अण्। कान्यकुब्जदेशे, मेघे," वाच०। धनुःसदृशद्वये, स्था० ६ ठा०।

कोसंब-कोशा-(षा) म्र-पुं०। कोशे, (षे) आम्र इव फलप्रधानवृक्षभेदे,फलवृत्ते,वाच०। प्रज्ञा०। भ०। आचा०। ति०।

कोसंबकाणण-कोशाम्रकानन-न०। स्वनामख्याते वने, यत्र पाण्डुमथुरां प्रति चलितः कृष्णवासुदेवजराकुमारेण पादे विद्धः। स्था० ८ ठा०।

कोसंबगंडिया-कोशाम्रगण्डिका-स्त्री०। ६ त०। कोशाम्रस्य वृक्षविशेषस्य गण्डिकायां, खड्गविशेषे, भ० १६ श० ३ उ०।

कोसंबपल्लवप्पविभत्ति-कोशाम्रपल्लवप्रविभक्ति-न०। कोशाम्रपल्लवप्रविभागाकाराभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा०।

कोसंबी-कौशाम्बी-स्त्री०। वत्सदेशप्रतिबद्धे पुरीभेदे, "वारवई य सुरट्ठा, मिहिलविदेहा य वच्छकोसंबी।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। आ० म०। आव०। स्था०। प्रज्ञा०। अत्रैव भरतक्षेत्रे यमुनानदीकूले पूर्वदिग्वधूकण्ठ-

निवेशितमुक्ताफलकण्ठिकेव कौशाम्बी नगरी, तत्र सहस्रानीकराजसूनुः स्वकुलमहासरसि आयमानः शतानीको नाम राजा। विशे० । भ० । संथा० । बृ० । आ०म० । विपा० । वत्सदेशे कौशाम्बी नगरी। प्रव० २७५ द्वार।

अथ कौशाम्ब्यां यथदृत्सत्संगृह्णन्नाह विविधतीर्थकल्पकृत्-"वच्छाजणवए कोसंबी नाम नगरी, जत्थ चंदसूरा सविमाणा सिरिवद्धमाणं नमंसिउं समागया। तत्थ तस्स अज्ञा य वेलं अजाणंती अज्ञमिगावई समोसरणे पत्थाविअा चंदाइवेसु सट्ठाणं गएसु अज्ञचंदणाइसाहुणीसु कयावस्सयासु पडिस्सयं हवमागया अज्ञचंदणाए उवालद्धा निअावराहं खमंती पायपडिया चेव केवलं संपत्ता, जत्थ य उज्जेणीओ पुरिसपरंपराणीयइट्टयाइ पयोअरणा मिगावईअज्झोववसेण दुग्गं कारिअं अज्ज विट्टिज्जइ, तत्थ य मिगावईकुक्खिसंभवो गंधव्ववेयनिउणो सयाणीयपुत्तो उदयणो वच्छाहिवो अहेसि। जत्थ चेइएसु पिक्खगजणनयणअमयंजणरूवा जिणपडिमाओ, जत्थ य कालिंदिजललहरिआलिंगिज्जमाणाणि वणाणि, जत्थ पोसबहुलपाडिवयपडिवन्नभिग्गहस्स सिरिमहावीरस्स चंदणबालाए पंचदिवसूणछम्मासेहिं सुप्पकोणट्ठियकुम्मासेहिं पारणं कारियं, वसुहारा य अद्धतेरसकोडिपमाणा देवेहिं वुट्ठा, अओ चेव सुहारत्ति गामो नयरीसन्निहिओ पसिद्धो वसइ, पंच दिव्वाणि अपाउब्भआणि इसुचिअ तद्दिणाओ पहुरुजिट्ठसुद्धछसमीए सामिपाएण दिट्ठे विरथन्हाणपाणाई आयारा, तत्थ अज्ज वि ओए पउमप्पहसामिणो चरणअम्मणदिक्खनाणकल्लाणगाइं संवुत्ताइं, जत्थ य सिणिरूच्छाया कोसंबितरुणो महापमाणा दीसंति, जत्थ य पउमप्पहचेइए पारणकारावणद्सानिसंधिघडिया चंदणबालामुत्ती दीसइ। जत्थ य अज्ज वि तम्मि चेव चेइए पइदिणं पसंत मुत्ती सीहो आगंतूण नगवओ भत्ति करेइ।

" सा कोसंबी नयरी, जिणजम्मणप्पवित्तिआ महातित्थं ।
अम्हाण वेसविव्वं, थुवंती जिणप्पहसूरीहिं " ॥ १ ॥

इति श्रीकौशाम्बीकल्पः । ती० १२ कल्प० ।

दक्षिणस्यां दिशि यावत्कौशाम्बीविहारयोग्यो देशः। बृ०१ उ०।

कोसंबिया-कोशाम्बिका-स्त्री० । स्थविरादुत्तरबलिसहान्निर्गतस्य गणस्य शाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

कोसकोट्ठागारकहा-कोषकोष्ठागारकथा-स्त्री० । राजकथाभेदे, स्था० । (' रायकहा ' शब्दे व्याख्या)

कोसग-कोषग-पुं० । कोष-स्वार्थे कः । अण्डकोषे, वाच० ।

कोशक-पुं०। चर्ममयकोत्थलीप्राये पाषाणादिस्खलनया भज्यमाननखैरङ्गुष्ठादौ क्षिप्यमाने नखरदनगृहरूपे वा साधूनां चर्मोपकरणे, ध० ३ अधि० । " कोसगनहरक्खट्ठा, अंगुलीकोसो " नखरक्षार्थं गृह्यते, स च पादयोरङ्गुष्ठके च प्रक्षिप्यते। बृ० १ उ०। अनु०। सूत्रयोनौ, अनु०।

कोसकार-कोश (ष) कार-पुं० । कोशं (षं) करोति, कृ-एवुल् उप० स० । खड्गाद्यावरणकारके, वाच० । तस्य पत्नी ङीप् । इक्षुभेदे, कोषं स्ववेष्टनं तन्तुभिः करोति । कृ-अण् चटकसूत्रादिकारणे, अनु० । कीटभेदे, वाच० ।

कोसल-कोश (स) ल-पुं० । व० व० । श्रीऋषभदेवस्य चतुर्विंशतितमे पुत्रे, तद्व्याज्युते देशभेदे च । स च देशः साकेत अयोध्याप्रतिबद्धआर्यक्षेत्रेषु अन्यतमः । कल्प० ७ क्षण । " साकेयं कोसलागयपुरं कुमुदा य " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। ज्ञा० । स्था० । प्रज्ञा० । कोकेऽपि-"कोश (स) लो नाम मुदितः, स्फीतो जनपदो महान् । निविष्टः सरयूतीरे, प्रभूधान्यसमृद्धिमान् ॥ " कोशलदेशो द्विविधः प्राच्योत्तरभेदात् । तत्र अयोध्यायुक्तदेशस्योत्तरकोशलत्वम् प्राच्यकोशलास्तु पूर्वस्याम् । वाच० ।

कौशल-न०। कुशलस्य भावो युवा० अण्। दक्षतायाम, वाच०।

कोसलग-कोशलक-पुं० । कोशला अयोध्या, तज्जनपदोऽपि कोशला, तत्सम्बन्धिनः कोशलकाः। भ० ७ श० ६ उ०। कोशलदेशोद्भवेषु, पिं० । कोशलदेशोत्पन्नत्वात् कौशलिकेषु भरतादिषु, स्था० ५ ठा० २ उ० । कोशलदेशस्य राजसु, कल्प० ६ क्षण।

कोसलपुर-कोशलपुर-न० । अयोध्यायाम, आव० १ अ० ।

कोसला-कोश (स) ला-स्त्री० । कुश (स) वृषा० कल नि० गुणः । वाच० । अयोध्यायाम, ती० ११ कल्प । " अवज्झा कोसंविणिया साकेयं इक्खागुभूमी रायपुरि कोसल त्ति" अयोध्याया एकार्थिकानि । कल्प०। जं० । ('अउज्झा' शब्दे प्र० भा० ३४ पृष्ठे कल्प उक्तः) साकेतप्रतिबद्धे जनपदे च । कोशला अयोध्या, तज्जनपदोऽपि कोशला। भ० ७ श० ६ उ० । आ० म० द्वि० । प्रव० ।

कोसलाउर-कोशलापुर-न० । अयोध्यायाम, "कोशलाउरे, नंदस्स धूया सिरिसमती। " आ० म० द्वि०।

कोसलिय-कौशलिक-पुं० । कुशला विनीता अयोध्या, तस्या अधिपतिस्तत्र भवो वा कौशलिकः, अध्यात्मादित्वादिकण् प्रत्ययः। आ० म० प्र० । कोशलदेशे भवः कौशलिकः । स० ८३ सम० । कोशलायामयोध्यायां भवः। जं० २ वक्ष० । कोशलदेशे जाते,भ०२०श० ८उ०। कोशलदेशोत्पन्नत्वात् श्रीऋषभदेवे, "उसभेणं अरहा कोसलिए पंचसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं होत्था " स्था० ५ ठा० ३ उ० । कुशलाय कर्मणि दीयते, ठक् । निजकार्यसाधनार्थं राजादिकार्यकरेभ्यो दीयमाने उत्कोचे, वाच० ।

कोसल्ल-कौश (स) ल्य-न० । कुशलमेव प्रज्ञा० ष्यञ् । दक्षतायाम, वाच० । निपुणत्वे, "निउणत्तणं च कोसल्लं तत्थ निसेवासयणं" संथा० ।

कोसा-कोशा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां वेश्यायाम्, यस्या गृहे द्वादश वर्षाण्युषित्वाऽपि श्रीस्थूलभद्रस्वामी न धैर्यात्स्खलितः। कल्प० ८ क्षण । आ० म० द्वि० । ती० । आ० चू० । (तत्कथा ' थूलभद्द'शब्दे कथयिष्यते)

कोसागार-कोशाकार पुं० । कमलकोरकाकृतिषु, प्रज्ञा० ३ विव०। विकसितकमलसदृशे, दर्श० ।

कोसातग-कोशा (षा) तक-पुं० । कोश (ष) मतति। अत-कुन्। कठे वेदशाखाभेदे, पटोल्याम, घोषके, (तरुई) वाच०। आचा०।

कोसिय-कौशिक-न० । कुशिकस्यापत्यम ऋष्यण् । कुशेन वृत्तः अध्या० ठञ् । कुशिके, तद्वंशे भवः अण् वा । वाच०। कौशिकाऽऽद्यपुरुषप्रभवे मनुष्यसन्ताने, तद्रूपे मूलगोत्रभेदे, स्था० ७ ठा० । "जे कोसिया ते सत्तविहा पण्णत्ता। तं जहा-ते कोसिया ते कच्चायणा ते सालंकायणा ते गोलिकायणा ते पक्खिकायणा ते अग्गिच्चा ते लोहिच्चा"। कौशिकाः पडुलूकादयः। स्था०

७ ठा० । बहुलो बलिसहश्च द्वौ जमलभ्रातरौ कौशिकगोत्रौ, नं०। त्रिशतितमनक्षत्रस्य गोत्रं कौशिकम् । चं०प्र०१०पाहु०।जं०। सूत्र० । अङ्गर्षिरुद्रकयोर्गुरौ, स्वनामख्याते ब्राह्मणोपाध्याये, आ० क०। ('अङ्ग' शब्दे प्र० भागे २१५ पृष्ठे कथोक्ता) आव० । आ० चू० । चण्डकौशिके, तस्य कौशिक इति मुख्यं नाम, चण्ड इति तीव्रकोपत्वाद् विशेषणम् । आ० म० द्वि० । आ० चू० । ('चंडकोसिय' शब्दे कथा) कोलाकसन्निवेशे जाते ब्रह्मलोकाच्च्युते मरीचिजीवे ब्राह्मणे, आ० म० प्र० । आ० चू० । सिद्धार्थपुरेऽनध्यैर्गृहीतस्य वीरभगवतो मोचके स्वनामख्यातेऽश्ववणिजि, आ० म० द्वि० । आ० चू० । कल्प० ।

कोसियार–कोशिकार–पुं० । चीनविषये उत्पद्यमाने चीनांशुके, स्था० ५ ठा० ३ उ० । हंसगर्भे सूत्रकारणे, अनु० । कोशकारके जीवभेदे, पुं० । कोशिकारकीटो हि दिग्भ्योऽनुदिग्भ्यश्च विभ्यदात्मसंरक्षणार्थं वेष्टनं करोति। आचा० १ श्रु० १ अ० ६ उ०।

कोसी–कोशी (षी)–स्त्री० । कुश (कुष) अच्, गौरा० ङीष्, चर्मपादुकायाम, धान्याद्यग्रभागे च । वाच० ।

कौशी–स्त्री०। गङ्गामहानदीं सलिलैः समर्पयति। नदीभेदे,स्था० ५ ठा० ३ उ०। प्रतिमायाम्,स्था०५ ठा० २ उ०। ज्ञा० । उपा० ।

कोसेय–कौशेय–न० । कोशा (षा) दुत्थितम् ढक् । कृमिकोशादिजाते वस्त्रे, वाच० । त्रसरितन्तुनिष्पन्ने वस्त्रे, जी० ३ प्रति० । कौशेयकारोद्भवे वस्त्रे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । " कोसेज्जो वडओ भण्णति " । नि० चू० १ उ० । आ० म० । 'हलधरकोसेयं।' बलदेववस्त्रम् । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

कोस्टागार- कोष्ठागार–न० । मागध्यां "ष्टष्ठयोः स्टः" ।८।४।२९०। इति षकाराक्रान्तस्य ठकारस्य सकाराक्रान्तः टः । धान्यागारे, प्रा० ४ पाद ।

कोह–कोथ–पुं० । कुथित्वे शटने, भ० ३ श० ६ उ० ।

क्रोध-पुं०। क्रोधनं कुध्यति वा येन स क्रोधः । स्था०४ ठा०१उ०। (चतुर्धा क्रोधः 'कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३९५ पृष्ठे उक्तः) कुध घञ् । कोपे, पा० । प्रव० । दर्श० । उत्त० । रोषे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । आव० । अक्षान्तिपरिणतिरूपे, प्रव० २१६ द्वार । अविचार्य्य परस्यात्मनो वाऽपायहेतौ अन्तर्बहिर्वा स्फुरणात्मनि, ध० १ अधि० । उत्त० । सूत्र० । स्वपरात्मनाऽप्रीतिलक्षणे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० । क्रोधमोहनीयोदयसंपाद्ये जीवस्य परिणतिविशेषे, स्था० ४ ठा० १ उ० । जातिकुलरूपबलादिसमुत्थे, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलके प्रज्वलनात्मके चित्तधर्मे, द्वा० २१ द्वा० ।

क्रोधनिक्षेपः-तत्र क्रोधो नामादिभेदाच्चतुष्प्रकारः । नामस्थापने क्षुण्णे, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यक्रोधः । प्राकृतशब्दसामान्यापेक्षया चर्म्मकारकोथः रजककोथो नीलिकोथश्च कोथ इति गृह्यते। नोआगमतो भावक्रोधः क्रोधोदय एव । स च चतुर्भेदः । उक्तं च-"जलरेणुपुढविपव्वय-राईसरीसो चउव्विहो कोहो " ॥ (२९९०) विशे० । आ० म० द्वि० ।

अथ नामादिके द्रव्यक्रोधे ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यक्रोधमाह—

दुविहो दव्वकोहो, कम्मदव्वे य नो य कम्मम्मि ।
कम्मदव्वे कोहो, तज्जोग्गा पोग्गलाऽणुइया ॥२९८७॥
नो कम्मदव्वकोहो, नेओ चम्मारनीलिकोहाई ।
जं कोहवेयणिज्जं, समुइण्णं भावकोहो सो ॥ २९८८ ॥

ज्ञभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यक्रोधो द्विधा-कर्म्मद्रव्यक्रोधो, नोकर्म्मद्रव्यक्रोधश्च । तत्र योग्यादयोऽनुदिताश्चतुर्विधाः पुद्गलाः कर्म्मद्रव्यक्रोधः ॥२९८७॥ नोकर्म्मद्रव्यक्रोधस्तु-(कोहि त्ति) प्राकृतशब्दमाश्रित्य चर्म्मकारचर्म्मकोथो नीलकोथादिश्च ज्ञेयः । भावक्रोधमाह–यत्क्रोधवेदनीयं कर्म्म विपाकतः समुदीर्णमुदयमागतं तज्जनितश्च क्रोधपरिणामः स भावक्रोध इति ॥२९८८॥ विशे० । " एगे कोहे " स्था० १ ठा० १ उ० ।

दुविहे कोहे पन्नत्ते । तं जहा–आयपइट्ठिए चेव,परपइट्ठिए चेव । एवं णेरइयाणं० जाव वेमाणियाणं एवं० जाव मिच्छादंसणसल्ले ॥

(दुविहे कोहे इत्यादि) आत्मापराधादैहिकापायदर्शनादात्मनि प्रतिष्ठित आत्मविषयो जात आत्मना वा परआक्रोशादिना प्रतिष्ठितो जनित आत्मप्रतिष्ठितः, परेणाक्रोशादिना प्रतिष्ठित उदीरितः परस्मिन् वा प्रतिष्ठितो जातः परप्रतिष्ठित इति । (एवमिति)यथा सामान्यतो द्विधा क्रोध उक्तः,एवं नारकादीनां चतुर्विंशतेर्वाच्यं,नवरं पृथिव्यादीनामसंज्ञिनामुक्तलक्षणमात्मप्रतिष्ठितत्वादिपूर्वभवसंस्कारात् क्रोधद्वयमवगन्तव्यमिति । एवं मानादीनि मिथ्यात्वान्तानि पापस्थानकान्यात्मप्रतिष्ठितविशेषणानि, सामान्यपदपूर्वकं चतुर्विंशतिदण्डकेनाध्येतव्यानि । अत एवाह–(एवं जाव मिच्छादंसणसल्ले त्ति) एतेषां च मानादीनस्वविकल्पजातपरजनितत्वाभ्यां स्वात्मवर्त्तिपरात्मवर्त्तित्वाभ्यां वा स्वपरप्रतिष्ठितत्वमवसेयम्, एते पापस्थानाश्रितास्त्रयोदश दण्डका इति । स्था० २ ठा० ४ उ० । (क्रोधस्यात्मप्रतिष्ठितत्वादिभेदाः सदण्डकाः 'कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३९५ पृष्ठे उक्ताः)

राजयः–

चत्तारि राईओ पन्नत्ता । तं जहा–पव्वयराई पुढविराई वालुयराई उदगराई । एवामेव चउव्विहे कोहे पन्नत्ते । तं जहा-पव्वयराईसमाणे पुढविराईसमाणे वालुयराईसमाणे उदगराईसमाणे । पव्वयराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, णेरइएसु उववज्जइ, पुढविराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, तिरिक्खजोणिएसु उववज्जइ, वालुयराइसमाणं कोहं अणुप्पविट्ठे जीवे कालं करेइ, मणुस्सेसु उववज्जइ, उदगराइसमाणं कोहमणुप्पविट्ठे समाणे जीवे कालं करेइ, देवेसु उववज्जइ ।

अस्य चायमभिसम्बन्धः-पूर्वं चारित्रमुक्तं तत्प्रतिबन्धकश्च क्रोधादिभावः इति क्रोधस्वरूपनिरूपणायेदमुच्यते–तदेवं संबन्धस्यास्य दृष्टान्तभूतादिसूत्रव्याख्या राजी रेखा, शेषं क्रोधव्याख्यानं मायादिवत् मायादिप्रकरणाच्चान्यत्र क्रोधविचारो विचित्रत्वात्सूत्रगतेः। द्वितीयं च सुगममेव। अयञ्च क्रोधो भावविशेष इति । भावप्ररूपणाय दृष्टान्तादिसूत्रद्वयमाह–(चत्तारीत्यादि) *प्रसिद्धं किन्तु कर्दमो यत्र प्रविष्टः पादादिना क्रष्टुं शक्यते, कष्टेन वा शक्यते, खञ्जनं दीपादिखञ्जनतुल्यः पादादि-*

लेपकारी कर्दमविशेष एव, बालुका प्रतीता, सा तु लग्नाऽपि अ-सशोषे पादादेरल्पेनैव प्रयत्नेनापैतीत्यल्पलेपकारिणी, शैलास्तु पाषाणाः श्लक्ष्णरूपाः, ते पादादेः स्पर्शनेनैव किञ्चित् दुःखमुत्पादयन्ति, न तु तथाविधं लेपमुपजनयन्ति ॥ स्था० ४ ठा० ३ उ० । आचा० ।

जलरेणुपुढविपव्वय-राईसरिसो चउव्विहो कोहो ।

इह राजिशब्दः सदृशशब्दश्च प्रत्येकं संबध्यते, ततो जलराजिसदृशस्तावत्संज्वलनः क्रोधः। यथा यष्ट्यादिभिर्जलमध्ये राजी रेखा क्रियमाणा शीघ्रमेव निवर्त्तते, तथा यः कथमप्युदयं प्राप्तोऽपि सत्वरमेव व्यावर्त्तते, स संज्वलनक्रोधोऽभिधीयते, रेणुराजिसदृशः प्रत्याख्यानावरणः क्रोधः । अयं हि संज्वलनक्रोधापेक्षया तीव्रत्वाद्रेणुमध्यविहितरेखावच्चिरेण निवर्त्तत इति भावः। पृथिवीराजिसदृशस्त्वप्रत्याख्यानावरणः, यथा स्फुटितपृथिवीसंबन्धिनी राजी कचवरादिभिः पूरिता कष्टेनापनीयते, एवमेषोऽपि प्रत्याख्यानावरणापेक्षया कष्टेन विनिवर्त्तत इति भावः। विदलितपर्वतराजीसदृशः पुनरनन्तानुबन्धी क्रोधः, कथमपि निवर्तयितुमशक्य इत्यर्थः । उक्तश्चतुर्विधः क्रोधः । कर्म० १ कर्म० । "कोहे कोवे रोसे दोसे अखमासंजलणे कलहे चंडिक्के भंडणे विवाए " इति दश नामानि क्रोधकषायस्य मोहमोहनीयकर्मणि अन्तर्भवन्ति । स० ५२ सम० । आ० म० । आ० चू० । (क्रोधे उदाहरणम् 'जमदग्गि' शब्दे)

कोहं असच्चं कुवेज्जा, धारेज्जा पियमप्पियं ।

क्रोधमसत्यं कुर्यात् गुरुभिर्निर्भर्त्सितः कदाचित् सक्रोधः स्यात्तदाऽपि क्रोधं विफलं कुर्यात् अप्रियमपि गुरुवचनं प्रियमिव आत्मनो हितमिव स्वमनसि धारयेत् ।१४। अथ क्रोधस्य असत्यकरणे उदाहरणम् । यथा-कस्यचित् कुलपुत्रस्य भ्राता वैरिणा व्यापादितः, अन्यदा कुलपुत्रो जनन्या भणितः-पुत्र ! त्वद्भ्रातृघातुकं वैरिणं घातय । ततः स वैरी तेन कुलपुत्रेण शीघ्रं निजबलात् जीवग्राहं गृहीत्वा जननीसमीपे आनीतः भणितश्च । अरे । भ्रातृघातक ! अनेन खड्गेन त्वामहं क्व हन्मि ?, तेनापि उद्गमितं प्रचण्डं दृष्ट्वा प्रयत्नीतेन भणितम्-यत्र शरणागता न हन्यन्ते पतद्वचः श्रुत्वा कुलपुत्रेण जननीमुखमवलोकितम् । जनन्या च सत्वमवलम्ब्य उत्पन्नकरुणया भणितम्-हे पुत्र ! शरणागता न हन्यन्ते । यतः-"सरणागयाणं विस्सं-भियाण पणयाण वसणपत्ताणं । रोगी अजुंगमाणं, सप्पुरिसा नेव पहरंति" ॥१॥ तेन कुलपुत्रेण भणितम्-कथं रोषं सफलीकरोमि ?। जनन्या उक्तम् वत्स ! सर्वत्र न रोषः सफलीक्रियते । जननीवचनात् स तेन मुक्तः । तयोश्चरणेषु पतित्वा क्षामयित्वा चापराधं स गतः । एवं क्रोधमसत्यं कुर्यात् । इति कुलपुत्रस्य कथा । उत्त० १ अ० ।

"कोहो अप्पीइकरो, उव्वेयकरो य सुगइनिद्दलणो ।
वेरगुणबंधजलणो, जलणो वरगुणगणवणस्स ॥८४॥
कोहंधा निहणंती, पुत्तं मित्तं गुरुं कलत्तं च ।
अणयं जणि अप्पि पि, निग्घिणा किंच न कुणंति ? ॥ ८५ ॥
कोहग्गी पज्जलिओ, न केवलं दहइ अप्पणो देहं ।
छत्ताविंड य परंपि हु, पहवइ परभवविणासाय ॥ ८६ ॥
ता कोहमहाजलणो, विज्झवियव्वो खमाजलेण सया" ।
न कारणवशं संख्या-ऽसंख्यातः कारणक्रुधः ।
कारणेऽपि न कुप्यन्ति, ये ते जगति पञ्चषाः"॥ धर्म०१ प्रस्ता०।

क्रोधकषायमुद्भावयितुमाह-

जे कोहणे होइ जगट्टभासी,
विओसियं जे उ उदीरएज्जा ॥
अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविओसिए धासति पावकम्मी ॥ ५ ॥

यो ह्यविदितकषायविपाकः प्रकृत्यैव क्रोधनो भवति, तथा जगदर्थभाषी यश्च भवति । जगत्यर्था जगदर्था ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थास्तानाभाषितुं शीलमस्य जगदर्थभाषी तद्यथा— ब्राह्मणं 'डोमं' इति ब्रूयात्तथा वणिजं 'किराटं' इति, शूद्रम् 'आभीरं' इति, श्वपाकं 'चाण्डालं' इत्यादि । तथा काणं काणमिति, तथा खंजं कुब्जं वडभमित्यादि, तथा कुष्ठिनं क्षयिणमित्यादि । यो यस्य दोषस्तं तेन खरं परुषं ब्रूयात् यः स जगदर्थभाषी । यदि वा जयार्थभाषी यथैवात्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भाषते तच्छीलश्च, येन केनचित्प्रकारेणाऽसदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थः। (विओसियं ति) विविधमवसितं पर्यवसितमुपशान्तं द्वन्द्वं कलहं यः पुनरप्युदीरयेत् । एतदुक्तं भवति-कलहकारिभिर्मिथ्यादुष्कृतादिना परस्परं क्षामितेऽपि तद् ब्रूयाद्येन पुनरपि तेषां क्रोधादयो भवन्ति । सांप्रतमेतद्विपाकं दर्शयति-यथा ह्यन्धश्चक्षुर्विकलो दण्डपथं गोदण्डमार्गं प्रमुखोज्ज्वलं गृहीत्वाऽऽश्रित्य व्रजन् सम्यक्कोविदतया घृष्यते कण्टकश्वापदादिभिः पीड्यते, एवमसावपि केवलं लिङ्गधार्यनुपशान्तक्रोधः कर्कशभाष्यधिकरणोद्दीपकः, तथा (अविओसिय त्ति) अनुपशान्तद्वन्द्वः पापमनार्यकर्मानुष्ठानं यस्यासौ पापकर्मा घृष्यते, चतुर्गतिके संसारे यातनास्थानगतः पौनःपुन्येन पीड्यत इति ॥५॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । "णत्थि कोहे व माणे वा, णेवं सन्नं निवेसए । अत्थि कोहे व माणे वा, एवं सन्नं निवेसए" ॥२०॥ इति क्रोधसिद्धिः 'अत्थिवाय' शब्दे प्र० भागे ५२१ पृष्ठे उक्ता) "विगिंच कोहं अविकंपमाणे " कारणेऽकारणे वाऽतिक्रूराध्यवसायः क्रोधः, तं त्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्प्रतिषेधं दर्शयत्यविकम्पमानः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । "लोभी पश्येद्धनप्राप्तिं, कामिनीं कामुकस्तथा । भ्रमन् पश्येद्यथोन्मत्तो, न किञ्चिच्च क्रुधाऽऽकुलः" ॥ १ ॥ उत्त० ७ अ० । क्रोधपरिणामजनके (मोहनीय) कर्मणि, भ० १२ श० ५ उ० ।

कोहंगक—कोहङ्गक-पुं० । पक्षिभेदे, औ० । (अनन्तानुबन्ध्यादि चतुर्धा क्रोधः 'कसाय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ३६५ पृष्ठे उक्तः)

कोहंझाण—क्रोधध्यान-न० । कूलवालुकगोशालककपालकनमुचिशिवभूतिप्रभृतीनामिव क्रोधाध्यवसिते ध्याने, आतु० ।

कोहंड—कूष्माण्ड-पुं० । रत्नप्रभाया उपरि योजनशते व्यानवति अप्रज्ञप्त्यादिषु सप्तमे व्यन्तरनिकाये, प्रव० १९४ द्वार । पुष्पफले, अनु० । सौधर्मकल्पे स्वनामख्याते विमाने, ती० ५६ कल्प ।

कोहंडिदेव—कूष्माण्डिदेव-पुं० । सोमभट्टभार्याया अम्बिकायाः कूष्माण्डे कल्पे देवत्वेनोत्पन्ने जीवे, ती० ।

तत्कल्प इत्थम्-

" सिरिउज्जयंतगिरिसिहर-सेहर पणमिऊण नेमिजिणं ।
कोहंडिदेवकप्पं, लिहामि वुड्ढोवएसाओ " ॥ १ ॥
अत्थि सुरट्ठाविसए धणकणयसंपन्नजणसमिद्धं कोडीनारं

नाम नयरं, तत्थ सोमो नाम रिद्धिसमिद्धो छक्कम्मपरायणो य आगमपारगो बंभणो हुत्था। तस्स घरणी अंबिणी नाम महग्घसीलालंकारभूसिअसरीरा आसि । तेसिं विसयसुहमणुभवंताणं उप्पन्ना दुवे पुत्ता। पढमो सिद्धो,बीओ बुद्धु त्ति । अन्नया समागयाए पिअरपक्खे भट्टसोमेणं निमंतिआ बंभणा सिद्धविप्पे कत्थ वि ते वेअमुच्चारंति, कत्थ वि आढवंति पिंडप्पयाणं,कत्थ वि होमं करिंति,वइस्सदेवं च,संपाडिआ सालिदालिवंजणपक्कन्नभेअखीणसंरूपमुहा,जे मरणरा अवि णीएअ सासुआ ण्हाणं काउं पवट्टा,तम्मि अवसरे एगो साहू मासोववासपारणे एअम्मि घरे भिक्खट्ठा संपत्तो, तं पालइत्ता हरिसभरनिब्भरतुलइअंगी उट्ठिआ अंबिणी, पडिलाभिओ तीए मुणिवरो भत्तिबहुमाणपुव्वं महापवित्तेणं भत्तपाणेहिं जाव गहिअभिक्खो साहू वलिओ ताव सासुआ वि ण्हाऊण रसवईठाणमागया,तं पिच्छइ पढमसिहं,तओ तीए कुविआए पुट्ठा वहुआ। तीए जहट्ठिए वुत्ते अंबाभिआ सा अज्जइ । जहा-पावे ! किमेअं तए कयं ?, अज्ज वि कुलदेवया न पूइआ, अज्ज वि न भुंजाविआ विप्पा, अज्ज वि न भरियाइं पिंडाइं,अग्गसिहो तए किमग्घं साहुणो दिन्ना,तओ तीए भणिओ सव्वो वि वइअरो सोमभट्टस्स, तेण रुट्ठेण अप्पच्छंदिअ त्ति निक्कासिआ गिहाओ। सा परिभवदूसिआ सिद्धं करंगुलीए धरित्ता बुद्धं च कडीए चडाविता चलिआ नयराओ बाहिं, पंथे तिसाभिभूएहिं दारएहिं जलं मग्गिआ जाव सा अंसुजलपुण्णलोअणा संवुत्ता ताव पुरओ ठिअं सुक्कसरोवरं तिस्स अणग्घेणं सीलमाहप्पेणं तक्खणं जलपूरिअं जायं, पाइआ दो वि सीअलं नीरं । तओ छुहिएहिं भोअणं मग्गिआ बालएहिं, पुरओ ठिओ सुक्कसहयारतरू, तक्खणं फलिओ, दिन्नाइं फलाइं । अविणीए तेसिं जाया ते सुत्था जाव साहूछायाए वीसमइ ताव जं जायं तं निसामेह--तीए बालयाई पढमं जेमाविआ तेसिं छुत्तुत्तरं पत्तलीओ तीए ठाहिं उज्झिआउ आसि, ताओ सीलमाहप्पा कंपिअमणाए सासणदेवयाए सोवन्नपालकच्चोलथरूवाओ कयाओ जलउच्चिट्ठमिच्छकरणा भूमीए पडिआ। ते मुत्तिआइं संपाइआइं,अग्गिसिहा य सिहरेसु तहेव दंसिआए अमच्छुज्झअं सासए दट्ठूण निवेइअं सोमविप्पस्स-सिद्धं च जहा वच्छ! सुलक्खणिआ पइव्वया य एसा वहू ता पच्चणीहि एअं कुलहरं ति, जणणीपेरिओ पच्छातावानलरुज्झंतमाणसो गओ वहुअं वालेउं सोमभट्टो, तीए पिट्ठओ आगच्छंतं दिअवरं निअवरं दट्ठूण दिसाओ पलोइआओ,दिट्ठओ अग्गओ मग्गओ कूवओ, तओ जिणवरं मणे अणुसरिऊण सुपत्तदाणं अणुमेअंतीए अप्पा कूवम्मि झंपाविओ, सुहज्झवसाणेण पाणे चइऊण उप्पन्ना कोहंडविमाणे सोहम्मकप्पट्ठिए चउहिं जोअणेहिं अंबिआ देवी नाम महिड्ढिया देवी,विमाणनामेणं कोहंडी वि भण्णइ । सोमभट्टेण वि तीसे मग्गलईए कूवे पडणं दट्ठुं अप्पा तत्थेव झंपाविओ, सो अ मरिऊण तत्थेव जाओ देवो,आभिओगिअकम्मुणा सिंहरूवं विउव्वित्ता तीसे चेव वाहणं जाओ । अन्ने भणंति-अंबिणी रेवयसिहरिओ अप्पाणं झंपावित्ता तप्पिट्ठओ सोमभट्टो वि तहेव मओ, सेसं तहेव। सा य भगवई चउब्भुआ दाहिणहत्थेसु अंबलुंबिं पासं च धारेइ,वामहत्थेसु पुण पुत्तं अंकुसं च धारेइ, उत्तत्तकणयसवन्नं च वण्णं समुव्वहइ सरीरे, सिरिनेमिनाहस्स सासणदेवय त्ति निवसइ रेवयगिरिसिहरे मउलकुंडलमुत्ताहलहाररयणेकंकणनेउराइं सव्वंगीणाभरणरमणिज्जा पूरेइ सम्मदिट्ठीणमाणाहरेहिं निवारेइ विग्घसंघायं, तीए मंतमंडलाईणि आराहइत्ता णं भविआणं दीसंति अणेगरूवाओ रिद्धिसिद्धिओ, न पहवंति भूतपिसायसाइणीविसमग्गहा, संपज्जंति पुत्तकलत्तमित्तधणधन्नरज्जसिरिओ त्ति । अंबिआमंता इमे-

"वयवीअमकुलकुलजल-हरिहयअक्कंतपेआइं।
पणइणिवायावसिओ, अंबिअदेवीए अह मंतो ॥ १ ॥
भुवभुवणदेविसंबु-दिपासअंकुसतिलोअपंचसरा ॥
णहसिहिकुलकलअज्झा-सिरिमायाए पणामपयं ॥ २ ॥
वागुब्भवंति लोअं, पाससिणीहाउ तइअवन्नस्स ।
कूहंडअंबियाए, नमु त्ति आराहणामंतो" ॥ ३ ॥

एवं अंते वि अंबादेवीमंता अप्परक्खाविसया सुरमणजुग्गा मग्गखेमा इइ गोअरा य बहवो चिट्ठंति, ते अ तहामंडलाणि अइच्छुंतभणिआणि गंथवित्थरभएणं ति गुरुमुहाओ नायव्वाणि ।

" एयं अंबियदेवी-कप्पं अवि अप्पवित्तवित्तीणं ।
वायंतसुणंताणं,पुज्जंति समीहिआ अत्था"॥१॥ती० ५६ कल्प ।

कोहंडिया–कूष्माण्डी–स्त्री० । पुष्पफल्याम, आ० म० प्र० ।

कोहंडी–कूष्माण्डी–स्त्री० । ईषदूष्माऽण्डेष्वस्याः । गौरा० ङीप् । " ओत्कूष्माण्डीतूणीरकर्पूरस्थूलताम्बूलगुडूचीमूल्ये" ८ । १ । १२४ । इति उकारस्य ओकारः । ' कोहंडी, कोहली '। प्रा० १ पाद । औषधिभेदे, कर्कर्यां, दुर्गायाम्, दुर्गायाः कूष्माण्डबलिप्रियत्वाच्च तथात्वम । वाच० ।

कोहकंडूइ–क्रोधकण्डूति–स्त्री० । क्रोधकण्ड्वाम, षो० ।

तस्या लिङ्गम –

सत्येतरदोषश्रुति–ज्ञावादन्तर्बहिश्च यत् स्फुरणम् ।
अविचार्य्य कार्यतत्त्वं, तच्चिह्नं क्रोधकण्डूतेः ॥१३॥

(सत्येत्यादि) सत्येतरदोषश्रुतिज्ञावाद्यन्तर्बहिश्चाज्न्यन्तरपरिणाममाश्रित्यान्तर्बहिर्गता अप्रसन्नताद्याकारद्वारेण बहिश्च यत् स्फुरणं वा वृद्धिश्चलनं वा अविचार्यानालोच्य कार्य्य–तत्त्वं कार्यपरमार्थं तच्चिह्नं लक्षणं क्रोधकण्डूतेः क्रोधकण्ड्वाः। षो० ४ विव० ।

कोहकसाय–क्रोधकषाय–पुं० । कोपात्मके प्रथमकषाये, प्रज्ञा० १४ पद । स० ।

कोहकायरियाइपीसण–क्रोधकातरिकादिपीषण–त्रि० । क्रोधग्रहणात् मानो गृहीतः, कातरिका माया, तद्ग्रहणात् लोभो गृहीतः । आदिग्रहणाच्छेषमोहनीयपरिग्रहः, तत्पीषणं तदपनेतारः। विगतमोहनीयकर्मांशेषु, " वीरया वीरा समुट्ठिया कोहकायरियाइपीसणा ।" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

कोहकिरिया–क्रोधक्रिया–स्त्री० । क्रोधाश्रिते क्रियाभेदे, यथाऽऽत्मना क्रुध्यति परस्य क्रोधमुत्पादयति । आ० चू० ४ अ० ।

कोहकिलाम–क्रोधक्रम–पुं० । क्रोधाच्छरीरायासे, भ० ७ श० १ उ० ।

कोहण–क्रोधन–न० । क्रोधकरणशीले, उत्त० २७ अ० । रोषिणि,सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । नवमाऽसमाधिस्थानं प्राप्तः क्रोधनः। स च सकृत्क्रुद्धोऽत्यन्तक्रुद्धो भवति। स० २० सम० । दशा० ।

आव० । आ० चू० । "कोहं परियाणइ से णिग्गंथे णो कोहणे सिया" इत्यादि मृषावादविरतेर्द्वितीया भावना । आचा०२ श्रु० ३ चू० ।

कोहणिग्गह-क्रोधनिग्रह-पुं० । क्रुध कोपे,क्रोधनं क्रोधः। निग्रहणं निग्रहः। तितिक्षात्मके चरणभेदे, ओघ० । प्रव० ।

कोहणिरोह-क्रोधनिरोध-पुं० । क्षमायाम्, "खम त्ति वा तितिक्ख त्ति वा कोहनिरोह त्ति वा एगट्ठा।" आ० चू० ४ अ० ।

कोहणिस्सिय-क्रोधनिश्रित-न०। क्रोधे निश्रितं क्रोधानिश्रितम् । क्रोधाश्रिते मृषाशब्दार्थे, तद्यथा क्रोधाभिभूतोऽदासमपि दासमभिधत्त इति । स्था० १० ठा० । क्रोधे च माने च मूर्च्छाभेदे, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

कोहदंसि (ण्)-क्रोधदर्शिन्-त्रि० । क्रोधस्य स्वरूपतो वेत्तरि, 'जे कोहदंसी से मानदंसी।' यो हि क्रोधं स्वरूपतो वेत्त्यनर्थपरित्यागरूपत्वात् ज्ञानस्य परिहरति च समानमपि पश्यति परिहरति चेति,यदि वा यः क्रोधं पश्यत्याचरति समानमपि पश्यति मानाध्मातो भवतीत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४उ० ।

कोहपडिसंलीण-क्रोधप्रतिसंलीन-त्रि० । क्रोधं प्रति उदयनिरोधेनोदयप्राप्तविफलीकरणेन प्रतिसंलीनः । क्रोधनिरोधवति, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

कोहपिंड-क्रोधपिण्ड-पुं० । क्रोधः कोपस्तद्धेतुकः पिण्डः क्रोधपिण्डः। प्रव० ६७ द्वार । विद्यातपःप्रभावज्ञापनं राजपूजादिख्यापनं क्रोधफलदर्शनं वा भिक्षार्थं कुर्वतः सप्तमे उत्पादनादोषे, ध० ३ अधि० । पञ्चा० । उत्त० ।

अस्य सम्भवमाह-

विज्जा तवप्पभावं,रायकुले वा वि वल्लभत्तं ।
से नाउ उरस्सबलं, जो लब्भइ कोहपिंडो सो ॥

(से) साधोर्विद्याप्रभावमुच्चाटनमरणादिकं, तपःप्रभावं शापदानादिकं, राजकुले वल्लभत्वं वा ज्ञात्वा, यदि वा उरस्यं बलसहस्रं योधित्वादिकं ज्ञात्वा यः पिण्डो लभ्यते गृहस्थेन दीयते स क्रोधपिण्डः ।

अथवा वृथा क्रोधपिण्डसंभवस्तमेव दर्शयति-

अन्नेसि दिज्जमाणे, जायंतो वा अलद्धिओ कुप्पे ।
कोहफलम्मि वि दिट्ठे, जो लब्भइ कोहपिंडो सो॥

अन्येभ्यो ब्राह्मणादिभ्यो दीयमाने याचमानोऽपि साधुर्यदा न लभते तदा अलब्धिमान् सन् कुप्येत्, कुपिते च सति (तस्मात् साधुः कुपितो भव्यो न भवतीति) यद्दीयते स क्रोधपिण्डः,यदि वा तस्मिन्नप्येवं वा क्रोधफले मरणादिशापे फलवति दृष्ट्वा लभ्यते स क्रोधपिण्डः।

अत्रैवोदाहरणमाह-

करडुयभत्तमलद्धुं, अन्नहिं दाहित्थ एव वच्चंतो ।
थेरा भोयण तइए, आइक्खण खामणा दाणे ॥

हस्तकल्पे नगरे कश्चित् ब्राह्मणगृहे मृतकभक्ते मासिके दीयमाने कोऽपि साधुः मासक्षपणपर्यवसाने भिक्षार्थं प्रविवेश, दृष्टाश्च तेन घृतपूरा ब्राह्मणेभ्यो दीयमानाः, सोऽपि च साधुः प्रतिषिद्धो दौवारिकेण, ततः कुपितोऽवादीत्-(अन्नहिं दाहित्थ त्ति) अस्य चायमर्थः-अस्मिन् मासिके तावन्मया न लब्धं ततोऽन्यस्मिन् मासिके दास्यथेति।एवं अभ्युक्त्वा निर्गतो,दैवयोगेन च तत्राप्यमानुषं पञ्चमदिनमध्ये मृतं, ततस्तस्य मासिके दीयमाने भूयः स एव साधुर्मासक्षपणपारणे गतः, तथैव च प्रतिषिद्धो दौवारिकेण, ततो भूयोऽपि कुपितोऽवादीत्-(अन्नहिं दाहित्थ त्ति)ततः पुनरपि दैवयोगतस्तत्रान्यमानुषं मृतं,ततस्तस्यापि मासिके स एव साधुर्मासक्षपणपारणे भिक्षार्थमागतः, तथैव च प्रतिषिद्धो दौवारिकेण भणति-(अन्नहिं दाहित्थ त्ति) एतच्च श्रुत्वा तेन स्थविरेण दौवारिकेण चिन्तितम्-पुराऽप्येतेन वारद्वयमित्थं शापो वितीर्णस्ततो द्वे मानुषे उपगते,संप्रति तृतीया वेला, ततो मा किमपि मानुषं म्रियतामिति निजानुकम्पया सर्वोऽपि वृत्तान्तो गृहनायकाय निवेदितः, तेन च समागत्य सादरं साधुं क्षमयित्वा घृतपूरादिकं तस्मै यथेच्छं व्यतारि, स क्रोधपिण्डः । सूत्रं सुगमं, नवरं करडुकभक्तं मृतकभोजनं मासिकादि, पिं० । अत्राचामाम्लं प्रायश्चित्तम् । जी० १ प्रति० ।

जे भिक्खू कोहपिंडं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ॥ ६५ ॥

क्रोधात् प्रमादात् यः पिण्डो लभ्यते स कोपपिण्डः ।

जे भिक्खु कोहपिंडं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जा ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १७७ ॥

पूर्ववत् । नि० चू० १३ उ० ।

कोहपत्त-क्रोधप्राप्त-त्रि० । क्रोधोदये वर्तमाने, " कोहपत्ते कोही समावदेज्जा मोसवयणाई । " आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

कोहमुंड-क्रोधमुण्ड-पुं० । क्रोधे मुण्डः क्रोधमुण्डः। क्रोधच्छेदनान्मुण्डमशब्दार्थतां प्राप्ते, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

कोहल-कुतूहल-न० । "न वा मयूख-लवण-चतुर्गुण-चतुर्थ-चतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले" । ८ । १ । १७१। 'कोहलं, कोऊहलं' औत्सुक्ये, "तहमन्ने कोहलिए"प्रा०१पाद ।

कोहली-कूष्माण्डी-स्त्री० । " ओत्कूष्माण्डीतूणीरकूर्परस्थूलताम्बूलगुडूचीमूल्ये । " ८ । १ । १२४ । इति उत ओत्वम् । प्रा० १ पाद । "कूष्माण्ड्यां ष्मो लस्तुण्डो वा" । ८ । २ । ७३ । कूष्माण्ड्यां ष्मा इत्येतस्य हो भवति,ण्ड इत्येतस्य तु वा लो भवति । "कोहली, कोहंडी।" पुष्पफल्याम्, प्रा० २ पाद ।

कोहविजय-क्रोधविजय-पुं० । क्रोधस्य विजयो दुरन्तादिपरिभावनेनोदयनिरोधः क्रोधविजयः। क्रोधनिग्रहे, उत्त० २९ अ० ।

क्रोधफलं प्रश्नपूर्वकमाह-

कोहविजयेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । कोहविजएणं खंतिं जणयइ, कोहवेयणिज्जं कम्मं न बंधइ, पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥ ६७ ॥

हे भगवन् ! क्रोधविजयेन जीवः किं जनयति ?। गुरुराह-हे शिष्य ! क्रोधविजयेन जीवः क्षान्तिं जनयति, क्रोधविजयी क्षान्तिमान् भवति इत्यर्थः । पुनः क्रोधवेदनीयं न कर्म बध्नाति,क्रोधोदयेन वेद्यते इति क्रोधवेदनीयं क्रोधहेतुभूतं पुद्गलरूपं मोहनीयकर्मणो भेदं न बध्नाति,पूर्वबद्धं च कर्म निर्जरयति । उत्त० । तत्र क्रोधस्य विजयो दुरन्ततादिपरिभावनेनोदयनिरोधः क्रोध-

विजयः,तेन क्रोधेन कोपाध्यवसायेन वेद्यत इति क्रोधवेदनीयः, तद्धेतुभूतं पुद्गलरूपं कर्म न बध्नाति । " जं वेयति तं बंधइ " इति वचनात्तथा पूर्वबद्धं प्रक्रमात्तदेव निर्जरयति, तत एवं विशिष्टजीववीर्योल्लासात् । उत्त० २६ अ० ।

कोहविवेग–क्रोधविवेक–पुं० । कोपत्यागे,क्रोधस्य दुरन्ततादिपरिभावनेनोदयनिरोधे, प्र० १७ श० ३ उ० । " एगे कोहविवेगे " स्था० १ ठा० १ उ० ।

कोहवेयणिज्ज–क्रोधवेदनीय–न० । क्रोधेन कोपाध्यवसायेन वेद्यत इति क्रोधवेदनीयम् । कोपेन वेद्यमाने कर्मभेदे, उत्त० २९ अ० ।

कोहसण्णा–क्रोधसंज्ञा–स्त्री० । क्रोधोदयात्तदावेशगर्भा प्ररूक्षमुखनयनदन्तच्छदस्फुरणादिचेष्टैव संज्ञायते अनयेति क्रोधसंज्ञा । भ० ७ श० ८ उ० । प्रज्ञा० । संज्ञाभेदे, स्था० १० ठा० । आचा०

कोहा–क्रोधा–स्त्री० । क्रोध–अर्शआदित्वात् अच् । क्रोधवत्याम्, क्रोधानुमतायाम्, " से कोहाए माणाए लोहाए आसायणाए । " क्रोधयेति क्रोधवत्या इति प्राप्ते अर्शआदेराकृतिगणत्वाद् अच्प्रत्ययान्तत्वात् क्रोधया क्रोधानुमतया । आव० ३ अ० ।

कोहाइ–क्रोधादि–पुं० । क्रोधप्रभृतिकषाये,"कोहाती,आदिसद्दातो माणया लोभा घेप्पंति । " नि० चू० १ उ० ।

कोहाइदूसियमण–क्रोधादिदूषितमनस्–त्रि० । कोपलोभादिकषायकलङ्कितान्तःकरणे प्राणिप्राणप्रहाणनिरपेक्षे, पञ्चा० १ विव० ।

कोहाइमाण–क्रोधादिमान–न० । पुं० । क्रोध आदिर्येषां ते क्रोधादयः, मीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति मानं स्वलक्षणमनन्तानुबन्ध्यादिर्विशेषः क्रोधादीनां मानं क्रोधादिर्वा यो मानो गर्वः क्रोधकारणः । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । कषायमाने, "कोहाइमाणं हणियाय वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं ॥ तम्हा हि वीरे विरए वहाओ, छिंदेज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥ १ ॥ " आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

कोहाइविवेग–क्रोधादिविवेक–पुं० । क्रोधादयोऽप्रशस्ता भावास्तेषां विवेकः नरकयातनाद्यपायहेतुत्वात्परित्यागः । क्रोधादिभावे, दश० १ अ० ।

कोहि–क्रोधिन्–पुं० । कुध्यतीति क्रोधी । हेतुमन्तरेणापि कुध्यति धर्मिणि,उत्त० ७ अ० । "कोही समावदेज्जा । " आचा० ३ चू० । अनु० । क्रोधकषायिणि, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

कोहिल्ल–क्रोधवत्–त्रि० । क्रोधिनि, सू० १ उ० ।

कोहुप्पत्ति–क्रोधोत्पत्ति–स्त्री० । क्रोधजनने, स्था० ।

दसहिं ठाणेहिं कोहुप्पत्ती सिया । तं जहा-मणुन्नाइं मे सद्द० जाव गंधाइं अवहरिंसु ॥१॥ अमणुन्नाइं मे सद्दाइं० जाव उवहरिंसु ॥ २ ॥ मणुन्नाइं मे सद्दफरिसरसरूवगंधाइं अवहरइ ॥ ३ ॥ अमणुन्नाइं मे सद्दफरिसरसरूवगंधाइं उवहरइ ॥४॥ मणुन्नाइं मे सद्दफरिसरसरूवगंधाइं अवहरिस्सइ ॥५॥ अमणुन्नाइं मे सद्दाइं० जाव उवहरिस्सइ ॥ ६ ॥ मणुन्नाइं मे सद्द० जाव गंधाइं अवहरिंसु, अवहरइ, अवहरिस्सइ ॥ ७ ॥ अमणुन्नाइं मे सद्द० जाव उवहरिंसु, उवहरइ, उवहरिस्सइ ॥ ८ ॥ मणुन्नामणुन्नाइं मे सद्दाइं० जाव अवहरिंसु, अवहरइ, अवहरिस्सइ ॥ ९ ॥ उवहरिंसु उवहरइ उवहरिस्सइ ॥ १० ॥ अहं च णं आयरियउवज्झायाणं सम्मं वट्टामि ममं च णं आयरियउवज्झाया मिच्छं वि पडिवन्ना ॥

गतार्थं,नवरं स्थानविभागोऽयं,तत्र मनोज्ञान् शब्दादीन् मे अपहृतवानित्येवं भावयतः क्रोधोत्पत्तिः स्यादित्येकमेवममनोज्ञानुपहृतवानुपनीतवानिह चैकवचनबहुवचनयोर्नविशेषः,प्राकृतत्वादिति । द्वितीय एवं वर्त्तमाननिर्देशेनापि द्वयं भविष्यताऽपि द्वयमित्येवं षट् । तथा मनोज्ञानामपहारतः कालत्रयनिर्देशेन सप्तम एवममनोज्ञानामुपहरतोऽष्टमं मनोज्ञामनोज्ञानामपहारोपहारतः कालत्रयनिर्देशेन नवमम । (अहं चेत्यादि)दशमं(मिच्छं ति) वैपरीत्यं विशेषेण प्रतिपन्नो विप्रतिपन्नाविति ॥ स्था० १० ठा० । (चतुर्धा क्रोधोत्पत्तिः 'कसाय' शब्देऽत्रैव भागे ३६५ पृष्ठे उक्ता)

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८
श्री विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे ककारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ।

खकार

ख–ख–पुं०। खकारः व्यञ्जनवर्णभेदः। कवर्गद्वितीयवर्णे कण्ठ्ये, खन–धा० डः। सुखे, सूर्ये, वितर्के, वेदने, निन्दायां, नृपे, कूपे, दिवि, अवसाने, अपवर्गे, परब्रह्मणि, न०। कुशे, धीने, उदरे, अग्नौ, कृपणे, निश्चये, शान्ते रसे, विहगनायके, क्षेत्रे, पुरे, इन्दौ, दन्तधावने, कुणहे, संवेशे, फुल्लणे, एका०। इन्द्रिये, न०। आ० म० प्र०। विशे०। खमित्याकाशम्। आ० चू० ६ अ०। "गज्जंते खे मेहा" प्रा० १ पाद। तत्प्रादशमे स्थाने, वाच०।

खअ–खत–त्रि०। "खः खः कथंचित्तु ग–कौ"। ८। १। ३। इति प्राकृतसूत्रेण खस्य खः। प्रा० २ पाद। विदारिते, पीडिते, धर्षिते, क्षये, पुं०। विनाशे, वाच०।

खअजलहल–क्षयजलधर–पुं०। "क्षः खः क्वचित्तु छ–झौ"। ८। २। ३। इति क्षस्य खः। क्षस्य कः इति अनादावित्येव, जिह्वामूलीयः। प्रलयमेघे, प्रा० ४ पाद।

खइत–खचित–त्रि०। नियुक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। रञ्जिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। मण्डिते, औ०। विच्छुरिते, आ० म० प्र०।

खइय–क्ष(क्षा)यिक–पुं०। क्षयकर्मणामत्यन्तोच्छेदः। क्षय एव क्षायिकः, क्षयेण वा निर्वृतः क्षायिकस्तत्कर्माजावफलरूपो विचित्रो जीवस्य परिणतिविशेषः। जावभेदे परिणतिविशेषे, प्रव० २२१ द्वार। आ० म०। ल०। उत्त०। कर्म०। क्षयाज्जातः क्षायिकोऽप्रतिपातिज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणः। अप्रतिपातिज्ञानादौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ०। अनु०। क्षायिको नवप्रकारः केवलज्ञानं, केवलदर्शनं, दानादिलब्धयः पञ्च, सम्यक्त्वं चारित्रं चेति। सूत्र० १ श्रु० २ अ०। कर्म०। 'खइत' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

क्षायिको जावो द्विधा। तद्यथा–

से किं तं खइए ?। खइए दुविहे पणत्ते। तं जहा–खइए अ, खयनिप्पन्ने अ। से किं तं खइए ?। खइए अट्ठएहं कम्मपयडीणं खइएणं। सेत्तं खइए। से किं तं खयनिप्फन्ने ?। खयनिप्फण्णे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा–उप्पण्णनाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली खीणआभिणिबोहिअणाणावरणे खीणसुअणाणावरणे खीणओहिणाणावरणे खीणमणपज्जवणाणावरणे खीणकेवलणाणावरणे अणावरणे निरावरणे खीणावरणे णाणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के केवलदंसी सव्वदंसी खीणनिद्दे खीणनिद्दानिद्दे खीणपयले खीणपयलापयले खीणथीणगिद्धे खीणचक्खुदंसणावरणे खीणअचक्खुदंसणावरणे खीणओहिदंसणावरणे खीणकेवलदंसणावरणे निरावरणे खीणावरणे दरिसणावरणिज्जकम्मविप्पमुक्के खीणसायावेअणिज्जे खीणअसायावेयणिज्जे अवेअणे निव्वेअणे खीणवेअणे सुजासुजवेअणिज्जविप्पमुक्के खीणकोहे० जाव खीणलोहे खीणपेज्जे खीणदोसे खीणदंसणमोहणिज्जे खीणचरित्तमोहणिज्जे अमोहे निम्मोहे खीणमोहे मोहणिज्जकम्मविप्पमुक्के खीणणेरइअआउए खीणतिरिक्खजोणिआउए खीणमणुस्साउए खीणदेवाउए अणाउए निराउए खीणाउए आउकम्मविप्पमुक्के गइजाइसरीरंगोवंगबंधणसंघायणसंघयणसंठाणअणेगबोंदिविंदिसंघायविप्पमुक्के खीणसुजनामे खीणअसुभनामे अणामे निणामे खीणनामे सुभासुभणामकम्मविप्पमुक्के खीणउच्चगोए खीणणीअगोए अगोए निगोए खीणगोए उच्चनीचगोत्तकम्मविप्पमुक्के खीणदाणंतराए खीणलाभंतराए खीणभोगंतराए खीणउवभोगंतराए खीणवीरियंतराए अणंतराए णिरंतराए खीणंतराए अणंतरायकम्मविप्पमुक्के सिद्धे बुद्धे मुत्ते परिणिव्वुए अंतगडे सव्वदुक्खप्पहीणे, सेत्तं खयनिप्फन्ने, सेत्तं खइए ॥

(से किं तमित्यादि) एषोऽपि द्विधा क्षयस्तन्निष्पन्नश्च। तत्र "खइए" अत्र णमिति पूर्ववत्। क्षयोऽष्टानां ज्ञानावरणादिकर्मप्रकृतीनां सोत्तरभेदानां सर्वथाऽपगमलक्षणः। स च क्षायिकठक्प्रत्यये क्षायिकः, क्षयनिष्पन्नस्तु तत्फलरूपः, तत्र च सर्वेष्वपि कर्मसु सर्वथा क्षीणेषु विषये पर्यायाः संभवन्ति, तत्क्रमेण विदर्शयिषुर्ज्ञानावरणक्षये तावदेवं भवन्ति। तानाह–(उप्पन्ननाणदंसणेत्यादि) उत्पन्ने श्यामतापगमेनादर्शमण्डलप्रभावत्सकलतदावरणापगमादभिव्यक्ते ज्ञानदर्शने धरति यः स तथा। अरहा अविद्यमानरहस्यो, नास्य गोप्यं किञ्चिदस्तीति भावः। आवरणशत्रुजेतृत्वाज्जिनः, केवलं संपूर्णं ज्ञानमस्यास्तीति केवली, क्षीणमाभिनिबोधिकं ज्ञानावरणं यस्य स तथा। एवं नेयं यावत् क्षीणकेवलज्ञानावरणम्। अविद्यमानमावरणं यस्य स विशुद्धाम्बरश्वेतरोचिरिवानावरणः, तथा निर्गत आगन्तुकादप्यावरणाद्वा दुराहितरोहिणीशवदेवं निरावरणः। तथा क्षीणप्रकाशेनापुनर्भावतया आवरणमस्येत्यपाकृतमनावरणजात्यमणिवत् क्षीणावरणः। निगमयन्नाह–ज्ञानावरणीयेन कर्मणा विविधमनेकैः प्रकारैः प्रकर्षेण मुक्तो ज्ञानावरणीयकर्मविप्रमुक्तः। एकार्थकानि वा एतान्यनावरणादिपदानि, अन्यथा वा नयमतभेदेन सुधिया भेदा वाच्याः। तदेवमेतानि ज्ञानावरणीयापेक्षाणि नामान्युक्तानि। अथ दर्शनावरणीयक्षयापेक्षाणि तान्यप्याह–केवलेन क्षीणावरणेन दर्शनेन पश्यतीति केवलदर्शी, क्षीणदर्शनावरणत्वादेव सर्वं पश्यतीति सर्वदर्शीत्येवं निद्रापञ्चकदर्शनावरणचतुष्कक्षयसंभवीन्यपराण्यपि नामान्यत्र पूर्वोक्तानुसारेण व्युत्पादनीयानि, नवरं निद्रापञ्चकस्वरूपमिदम्–

"सुहपडिबोहो निद्दा, दुहपडिबोहो य निद्दनिद्दा य।
पयला होइ ठियस्सा, पयलापयला य चंकमओ ॥ १ ॥
अइसंकिलिट्ठकम्मा–णुवेयणे होइ थीणगिद्धीओ।
महानिद्दादि ण चिंतिय, वावारपसाहणीपायं" ॥ २ ॥

अपरं ज्ञानावरणादिशब्दाः पूर्वं ज्ञानावरणाजावापेक्षाः प्रवृत्ताः,

अत्र तु दर्शनावरणापरमोपेक्षा इति विशेषः। वेदनीयं द्विधा-प्रीत्युत्पादकं सातम्, अप्रीत्युत्पादकं त्वसातम् । तत्क्षयापेक्षास्तु क्षीणसातवेदनीयादयः शब्दाः सुखोन्नेयाः,नवरमवेदनो वेदनारहितः,स च व्यवहारतोऽल्पवेदनोऽप्युच्यते। अतः आह-निर्वेदनोपगतः सर्ववेदनः,स च पुनः कालान्तरभाविवेदनोऽपि स्यादित्याह-क्षीणवेदनोऽपुनर्भाविवेदनः। निगमयन्नाह-(सुभासुभवेअणिज्जकम्मविप्पमुक्के ति)। मोहनीयं द्विधा-दर्शनमोहनीयं,चारित्रमोहनीयं च। तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिधा-सम्यक्त्वमिश्रमिथ्यात्वभेदात् । चारित्रमोहनीयं च द्विधा-क्रोधादिकषायहास्यादिनोकषायभेदात्। तत एतत्क्षयसंभवीनि सूत्रलिखितानि क्षीणक्रोधादीनि नामानि सुबोधान्येव, नवरं मायालोभौ प्रेम,क्रोधमानौ तु द्वेषः। तथाऽमोहोऽपगतमोहनीयकर्म्मा,स च व्यावहारिकैरल्पमोहोदयोऽपि निर्दिश्यते । अत आह-निर्गतो मोहान्निर्मोहः,स च पुनः कालान्तरभाविमोहोदयोऽपि स्यादुपशान्तमोहवत्तद्व्यवच्छेदार्थमाह-क्षीणमोहोऽपुनर्भाविमोहोदय इत्यर्थः । निगमयति-मोहनीयकर्म्मविप्रमुक्त इति । नारकाद्यायुष्कभेदेनायुश्चतुर्द्धा। तत्क्षयसमुद्भवानि च नामानि सुगमानि,नवरमविद्यमानायुष्कोऽनायुष्कस्तद्भविकायुःक्षयमात्रेऽपि स्यादत उक्तम्-निरायुष्कः। स च शैलेशीं गतः किञ्चिदवतिष्ठमानायुःशेषोऽप्युपचारतः स्यादत उक्तम्-क्षीणायुरिति। आयुःकर्म्मविप्रमुक्त इति निगमनं, नामकर्म्मसामान्येन शुभाशुभभेदतो द्विविधम्, विशेषतस्तु गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गादिभेदाद् द्विचत्वारिंशद्भेदाः स्थानान्तरादवसेयाः,तत्रेह तत्क्षयभावीनि कियन्ति नामानि ?। अभिधत्ते-(गइजाइसरीरेत्यादि) इह प्रक्रमान्नामशब्दो यथासंभवं द्रष्टव्यः, ततश्च नारकादिगतिचतुष्टयहेतुभूतं गतिनाम, एकेन्द्रियजातिपञ्चककारणं जातिनाम, औदारिकादिशरीरपञ्चकनिबन्धनं शरीरनाम, औदारिकवैक्रियाहारकशरीरत्रयाङ्गोपाङ्गनिर्वृत्तिकारणमङ्गोपाङ्गनाम, काष्ठादीनां लाक्षादिद्रव्यमिव शरीरपञ्चकपुद्गलानां परस्परं बन्धहेतुः बन्धननाम, तेषामेव पुद्गलानां परस्परबन्धनार्थमन्योऽन्यसान्निध्यलक्षणसंघातकारणं काष्ठसन्निकर्षकृत्तथाविधकर्म्मकर इव संघातनाम, कपाटादीनां लोहपट्टादिरिवौदारिकशरीरास्थिपरस्परबन्धविशेषनिबन्धनं संहनननाम । एतच्च बन्धनादिपदत्रयं क्वचिद्वाचनान्तरे न दृश्यत इति । बोन्दिस्तनुः शरीरमिति पर्यायाः । अनेकाश्च नाना भवेषु तासां भावात् तस्मिन्नेव वा भवे जघन्यतोऽप्यौदारिकतैजसकार्मणलक्षणानां तिसृणां भावानेकबोन्द्यः, तासां वृन्दं पटलं, तदेव पुद्गलसंख्यातरूपत्वात् सङ्घातोऽनेकबोन्दिवृन्दसंघातः, गत्यादीनां च द्वन्द्वे गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गबन्धनसंहननानेकबोन्दिवृन्दसंघातास्तैर्विमुक्तो यः स तथा । प्राक्तनेन शरीरशब्देन शरीराणां निबन्धनं नाम कर्मगृहीतं, बोन्दिवृन्दग्रहणेन तु तत्कार्यभूतशरीराणामेव ग्रहणमिति विशेषः। क्षीणमपगतं तीर्थकरशुभसुभगसुस्वरादेययशःकीर्त्यादिकं शुभं नाम यस्य स तथा, क्षीणमपगतं नरकगत्यशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशोऽकीर्त्यादिकमशुभं नाम यस्य स तथा । अनामनिर्नामक्षीणनामादिशब्दास्तु पूर्वोक्तानुसारेण भावनीयाः । शुभाशुभनामविप्रमुक्त इति निगमनम् । गोत्रं द्विधा-उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रं च। ततस्तत्क्षयसम्भवीनि क्षीणगोत्रादिनामान्युक्तानुसारतः सुखावसेयान्येवं दानान्तरायादिभेदादन्तरायं पञ्चधा, तत्क्षयनिष्पन्नानि च क्षीणदानान्तरायादिनामानि त्रिषमाण्येव । तदेवमेकैकं प्रकृतिक्षयनिष्पन्ननामानि प्रत्येकं निर्दिश्य साम्प्रतं पुनः समुदितप्रकृत्यष्टकक्षयनिष्पन्नानि सामान्यतो यानि नामानि भवन्ति तान्याह-(सिद्धे इत्यादि) समस्तप्रयोजनत्वात् सिद्धः,बोधात्मकत्वादेव बुद्धः, बाह्याभ्यन्तरग्रन्थिबन्धनमुक्तत्वान्मुक्तः,परि समन्तात् सर्वप्रकारैः निर्वृतः सकलसमीहितार्थलाभप्रकर्षप्राप्तत्वात् शीतीभूतः परिनिर्वृतः, समस्तसंसारान्तं कृत्वाऽन्तकृदिति, एकान्तेनैव शारीरमानसदुःखप्रहाणात् सर्वदुःखप्रहाण इति ।(सेत्तमित्यादि) निगमनद्वयम्। उक्तो द्विविधोऽपि क्षायिकः। अनु०। पं०सं०। क्षायिकभावगुणश्चतुर्द्धा। तद्यथा-क्षीणसप्तकस्य पुनर्मिथ्यात्वगमनं क्षीणमोहनीयस्यावश्यंभाविशेषघातिकर्म्मक्षयः क्षीणघातिकर्म्मणोऽनावरणज्ञानदर्शनाविर्भावोपगताशेषकर्मणोऽपुनर्भवस्तथाऽऽत्यन्तिकैकान्तिकानाबाधः परमानन्दलक्षणः सुखावाप्तिश्चेति। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । गुणशब्दमत्रं क्षायिकं त्रिविधस्यापि दर्शनमोहनीयस्य क्षयेण निर्मूलमपगमेन निर्वृत्तम् । सम्यक्त्वस्य तृतीयभेदे,नं०। उत्त० । नि० । ध० । पं० सं० । दर्श० । कर्म० ।

खादित–त्रि० । भक्षिते, आव० ४ अ० । (क्षायिकसम्यक्त्वस्यान्या व्याख्या 'सम्मत्त' शब्दे विलोकनीया)

खइर-खादिर-पुं०। (खयर) इति ख्याते वृक्षभेदे,तस्य सारे स्थितत्वात्तथात्वम । इन्द्रे, शत्रुहिंसकत्वात्तथात्वम । खे आकाशे दीर्यते इष्टापूर्तकारिभिर्यतः। 'द्व' अपादाने किरच् । चन्द्रे,वाच०। खदिरे मध्यगुरुत्वम। आचा०१ श्रु०२ अ०१ उ०। "खइरो होइ दुमो अक्खयरो खयरो वा" । आचा०१ श्रु०५ अ० १ उ०। खादिरं "वाऽव्ययोत्खातादावदातः " ॥८।१।६७॥ इति आत्वम। प्रा०१ पाद ।

खइरवण–खदिरवन–न०। मथुरातीर्थे द्वादशवनानां खदिरवने सप्तमे, ती० ६ कल्प ।

खइरोल्लग–न० । खरसटादौ, महा० ७ अ० ।

खउड–खपुट–पुं०। विद्यासिद्धाचार्यभेदे, आ० म० प्र० । आ० क० । नि० चू० । (कथाऽस्य ' विज्जा ' शब्दे)

खउर–क्षुभ–धा०। अङ्गचालने,दिवादि आ०अक० सेट्। वाच०। "क्षुभेः खउरपड्डुहौ" ।८।४।१५४। इति क्षुभेः खउरादेशः। ' खउरइ, खुब्भइ ' प्रा०४ पाद।

खपुर–पुं० । खं पिपर्ति उच्चतया, पृ कः । गुवाके, खमिन्द्रियं पिपर्ति पृ-कः। अलसे, त्रि० । खेन पूर्यते घञर्थे कर्मणि कः। भद्रमुस्तके, व्याघ्रनखवृक्षे, गन्धर्वनगरे, न०। वाच० । त्रिकण्टकद्रव्ये, बृ० ३ उ० । नि० चू० । "चुण्णखउरादि दानं,चुण्णो बदरादियाणं गोरखदिरमादियाणं खउरो" । नि०चू० १६ उ० ।

खउरकढिण–खपुरकठिन–न० । तापसानां भोजनादिनिमित्ते उपकरणविशेषे, तच्च किल वंशकुन्दादिकं द्रव्यमिति श्लक्ष्णं कुट्टयित्वा कमठाकारं क्रियते । विशे० । बिल्वरसभल्लातकरसाभ्यां लिप्तत्वात् कठिनमतिशयेन घनं तद्द्रवमपि पानीयमप्यवस्रवति । बृ० १ उ० ।

खउरिय–क्षुभित–त्रि० । कलुषितचेतसि, बृ० ३ उ०। खरण्टिते, नि० चू० ५ उ० ।

खओवसमिय–क्षायोपशमिक–पुं० । क्षयेणोदयप्राप्तकर्मणो विनाशेन सहोपशमो विष्कम्भितोदयत्वं क्षयोपशमः। भ०१४ श०

७ उ० । कर्म० । उदीर्णस्यांशस्य क्षयोऽनुदीर्णस्यांशस्य विपाकमधिकृत्योपशमः क्षयोपशमः । प्रव० २२१ द्वार । स एव क्षायोपशमिकः । क्रियामात्रे भावभेदे, क्षयोपशमेन वा निर्वृत्तः क्षायोपशमिकः । भ० ७ श० १४ उ० । क्षयोपशमसंपाद्ये मतिज्ञानादिलब्धिरूपे आत्मनः परिणामविशेषे मिथ्यात्वमोहनीयादिकर्मविगमविशेषविहितात्मपरिणामे, पञ्चा० ३ विव० । भावभेदे, प्रव० ८७ द्वार । सूत्र० । अनु० ।

" ओहीखओवसमिए, भावे भणिओ भवो तहोदइए ।
तो किह भवपच्चइओ, वोत्तुं जुत्तोऽवही दोण्हं " ॥१॥ इति ।

यतः—

" उदयक्खओवसमओ, य समाओ च कम्मुणो भणिया ।
दव्वं खेत्तं कालं, भवं च भावं च संपप्प " ॥ १ ॥

तथा तदावरणस्य क्षयोपशमे भवं क्षायोपशमिकमिति । स्था० । "दोण्हं खओवसमिए पन्नत्ते । तं जहा-मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव।" स्था० २ ठा० १ उ० । कर्म० । पं० सं० । आ० म० । " खओवसमितो णाम तस्स कम्मस्स सव्वघातिफड्डगाणं " उदयक्षयात् तेषामेव सदुपशमात् देशघातिफड्डगाणं उदयात् खतोवसमितो भावो भवति औपशमिकादस्य भेदः । आ० चू० १ अ० । " से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ संठाणतुल्लए ?। संठाणतुल्लए गोयमा ! परिमंडलसंठाणे" भ० ७ श० १४ उ० ।

क्षायोपशमिकभेदानाह—

से किं तं खओवसमिए ?। खओवसमिए दुविहे पन्नत्ते । तं जहा—खओवसमिए खओवसमनिप्पन्ने य । से किं तं खओवसमे ?। खओवसमे चउण्हं घाइकम्माणं खओवसमेणं तं जहा-णाणावरणिज्जस्स दंसणावरणिज्जस्स मोहणिज्जस्स अंतरायस्स, सेत्तं खओवसमे ।

असावपि द्विरूपः क्षयोपशमस्तन्निष्पन्नश्च । तत्र विवक्षितज्ञानादिगुणविघातकस्य कर्मण उदयप्राप्तस्य क्षयः सर्वथाऽपगमः, अनुदीर्णस्य तु तस्यैवोपशमो विपाकत उदयाभाव इत्यर्थः । ततश्च क्षयोपलक्षित उपशमः क्षयोपशमः । ननु औपशमिकेऽपि यदुदयप्राप्तं तत्सर्वथा क्षीणं शेषं तु न क्षीणं नाप्युदयप्राप्तमतस्तस्योपशम उच्यते इत्यनयोः कः प्रतिविशेषः ?। उच्यते-क्षयोपशमावस्थे कर्मणि विपाकत एवोदयो नास्ति प्रदेशतोऽस्त्येव, उपशान्तावस्थायां तु प्रदेशतोऽपि नास्त्युदय इत्येतावाता विशेषः । तत्र चतुर्णां घातिकर्मणां केवलज्ञानप्रतिबन्धकानां ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाणां यः क्षयोपशमः स क्षयोपशमरूपः क्षायोपशमिको भावः। णमिति पूर्ववत् " तद्यथेत्यादिना " स्वत एव घातिकर्माणि विवृणोति, शेषकर्मणां तु क्षायोपशमो नास्त्येव, निषिद्धत्वात् । " सेत्तमित्यादि" निगमनम् । तेन च क्षायोपशमेनोक्तस्वरूपेण निष्पन्नः क्षयोपशमिको भावोऽनेकधा भवति । तमाह-(खओवसमिया आभिनिबोहियनाणलद्धीत्यादि) आभिनिबोधिकज्ञानं मतिज्ञानं तस्य लब्धिर्योग्यता स्वस्वावरणकर्मक्षयोपशमसाध्यत्वात् क्षयोपशमिकी, एवं वक्तव्यं यावन्मनः पर्यायज्ञानलब्धिः। केवलज्ञानलब्धिस्तु स्वस्वावरणकर्मणः क्षय एवोत्पद्यत इति नेहोक्ता । कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं, मतिरेव अज्ञानं मत्यज्ञानम् । कुत्सितत्वं चेह मिथ्यादर्शनोदयदूषितत्वाद् द्रष्टव्यम् । दृष्टा च कुत्सार्थे नञो वृत्तिर्यथा-कुत्सितं शीलमशीलमिति । मत्यज्ञानस्य लब्धिर्योग्यता, साऽपि स्वावरणक्षयोपशमेनैव निष्पद्यते । एवं श्रुताज्ञानलब्धिरपि वाच्या । भङ्गः प्रकारो, भेद इत्यर्थः । स चेह प्रक्रमादवधिरेव गृह्यते विरूपः कुत्सितो भङ्गो विभङ्गः, स एवार्थपरिज्ञानात्मकत्वात् ज्ञानं विभङ्गज्ञानं, मिथ्यादृष्टेरवधिरेव विभङ्गज्ञानमुच्यते इत्यर्थः । इह च विशब्देनैव कुत्सितार्थप्रतीतेर्न नञो निर्देशः, तस्य लब्धिर्योग्यता, साऽपि स्वावरणक्षयोपशमेनैव प्रादुरस्ति, एवं मिथ्यात्वादिकर्मणः क्षयोपशमसाध्या शेषा अपि सम्यग्दर्शनादिलब्धयो यथासम्भवं भावनीयाः, नवरं बाला अविरताः पण्डिताः साधवः, बालपण्डितास्तु देशविरताः, तेषां यथा स्ववीर्यलब्धिर्वीर्यान्तरायकर्मक्षयोपशमाद्भावनीया, इन्द्रियाणि चेह लब्ध्युपयोगरूपाणि भावेन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेषां च लब्धिर्योग्यता मतिश्रुतज्ञानचक्षुरचक्षुर्दर्शनावरणक्षयोपशमत्वात् क्षायोपशमिकीति भावनीयम् । आचारधरत्वादिपर्यायाणां च श्रुतज्ञानप्रभवत्वात्तस्य च तदावरणकर्मक्षयोपशमसाध्यत्वादाचारधरादिशब्दा इह पठ्यन्ते इति प्रतिपत्तव्यम् । " सेत्तमित्यादि " निगमनद्वयम् ।

से किं तं खओवसमनिप्पन्ने ?। खओवसमनिप्पन्ने अणेगविहे पन्नत्ते । तं जहा—खओवसमिआ आभिणिबोहिअणाणलद्धी,० जाव खओवसमिआ मणपज्जवणाणलद्धी, खओवसमिआ मतिअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ सुअअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ विभंगणाणलद्धी, खओवसमिआ चक्खुदंसणलद्धी, अचक्खुदंसणलद्धी, ओहिदंसणलद्धी, एवं सम्मदंसणलद्धी, मिच्छादंसणलद्धी, सम्मामिच्छादंसणलद्धी, खओवसमिआ सामाइअचरित्तलद्धी, एवं छेदोवट्ठावणलद्धी, परिहारविसुद्धिअलद्धी, सुहुमसंपरायचरित्तलद्धी, एवं चरित्ताचरित्तलद्धी, खओवसमिआ दाणलद्धी, एवं लाभभोगउवभोगलद्धी, खओवसमिआ वीरिअलद्धी, एवं पंडिअवीरिअलद्धी, बलवीरिअलद्धी, बालपंडिअवीरिअलद्धी, खओवसमिआ सोइंदिअलद्धी० जाव खओवसमिआ फासिंदिअलद्धी, खओवसमिआ आयारंगधरे, एवं सूअगडंगधरे ठाणंगधरे समवायंगधरे चेव, विवाहपण्णत्ती नायाधम्मकहा उवासगदसा अंतगडदसा अणुत्तरोववाइअदसा पण्हवागरणधरे विवागसुअधरे खओवसमिए दिट्ठिवायधरे खओवसमिए० णवपुव्वी खओवसमिए० जाव चउद्दसपुव्वी खओवसमिए गणी वायए खओवसमिए, सेत्तं खओवसमनिप्पन्ने, सेत्तं खओवसमिए । अनु० ।

अधुना क्षायोपशमिकभावभेदानष्टादशसंख्यानाह—

चउणाणमणाणतिगं, दंसणतिग पंचदानलद्धीओ ।
सम्मत्तं चारित्तं, च संजमासंजमो तइए ॥ ३ ॥

चत्वारि ज्ञानानि मतिश्रुतावधिमनःपर्यायरूपाणि, अज्ञानत्रिकं मतिश्रुताज्ञानविभङ्गरूपं, दर्शनत्रिकं चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनस्वभावं, पञ्चेतिसंख्या दानेनोपलक्षिता लब्धयो दानलब्ध-

यो दानलाभोपभोगभोगवीर्यलब्धयः सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं चारित्रं च सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकसूक्ष्मसंपरायलक्षणं संयमासंयमो देशविरतिरूप इत्येते अष्टादश भेदास्तृतीये क्षायोपशमिके भावे भवन्ति। तथाहि-ज्ञानचतुष्कमज्ञानत्रिकं च यथास्वमावारकस्य मतिज्ञानावरणादिकर्मणः क्षायोपशमिक एव भवति। दर्शनत्रिकं तु चक्षुर्दर्शनावरणादिक्षायोपशमिके दानादिकाः पुनः पञ्च लब्धयः, अन्तरायकर्मक्षयोपशमे भवन्ति। ननु दानादिलब्धयः पूर्वं क्षायिकभाववर्तिन्य उक्ताः, इह तु क्षायोपशमिक इति कथं न विरोधः ?। नैतदेवम्। अभिप्रायाऽपरिज्ञानात्। दानादिलब्धयो हि द्विधा भवन्त्यन्तरायकर्मणः क्षयसंभविन्यः, क्षायोपशमसंभविन्यश्च। तत्र याः क्षायिकाः पूर्वमुक्तास्ताः क्षयसंभूतत्वेन केवलिन एव भवन्ति। यास्त्विह क्षायोपशमिक्य उच्यन्ते ताः क्षयोपशमसंभूताः छद्मस्थानामेव भवन्ति। सम्यक्त्वमपि क्षायोपशमिकं दर्शनसप्तकक्षयोपशमे, चारित्रचतुष्कं तु चारित्रमोहनीयक्षयोपशमे संयमासंयमश्चाप्रत्याख्यानावरणकषायमोहनीयक्षयोपशमे इति। प्रव० २२१ द्वार। कर्म०। सूत्र०। उत्त०। ('भावे खओवसमिए, दुवालसंगं पि होइ सुयनाणं' इत्यादि 'मोक्खशब्दे' व्याख्यास्यामि) उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षयेण शेषस्य तूपशमेन निर्वृत्तं क्षायोपशमिकम्। उदयावलिकाप्रविष्टस्यांशस्य क्षये सति शेषस्य प्रसन्नजलाग्नेरिवानुद्रेकावस्था उपशमः, तेन निर्वृत्तमौपशमिकम्। सम्यक्त्वभेदे, न०। कर्म०।

अधुना क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वमाह-

जो उ उदिसे खीणे, मिच्छे अणुदिअगम्मि उवसंते ।
संमीभावपरिणतो, वेयंतो पोग्गले मीसो ॥

यस्तु उदीर्णे उदयावलिकाप्रविष्टे मिथ्यात्वे क्षीणेऽनुदयप्राप्ते चोपशान्ते उपशान्तं वा सत् किञ्चिन्मिथ्यात्वरूपतामपनीय सम्यक्त्वरूपतया परिणतं किञ्चिन्मिथ्यात्वरूपमेव सत् भस्मच्छन्नाग्निरिवानुद्रेकावस्थाप्राप्तं तस्मिन् तथारूपे सति पुद्गलान् सम्यक्त्वरूपान् वेदयमानः सम्यग्भावपरिणतः स मिश्रक्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टिः सम्यक्त्वरूपधर्मनिर्देशप्रक्रमेऽपि धर्मिणो निर्देशो धर्मधर्मिणोः कथञ्चिदभेदख्यापनार्थमेवं पूर्वत्र परत्र च भावनीयम्। बृ० १ उ०। आ०। विशे०। दश०। क्षयश्चोपशमश्च क्षयोपशमौ, ताभ्यां निर्वृत्तं क्षायोपशमिकम्। अवधिज्ञानादिभेदे, न०। स्था०। विपा०। (अत्र हेतुः 'ओहि' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १३० पृष्ठे उक्तः)

खंखर-खङ्खर-पुं०। वृक्षभेदे, (पलास) इति ख्याते "खंखरपलासमज्झे सयं सयं भूसिरीपासनाहो अत्थइ तत्थ पुरोदेवं वंदेह।" ती० ५३ कल्प।

खंखुणग-खङ्खुनक-पुं०। बालक्रीडोपकरणविशेषे, आ०म०द्वि०।

खंगार-खङ्गार-पुं०। नृपविशेषे ती०। यो जयसिंहदेवेन मारितः "गुज्जरधराए जयसिंहदेवेणं खंगाररायं हणित्ता सज्जणो दंडाहिवो ठाविओ"। ती० ४ कल्प। विक्रमादेकादशशतके, जाते गुर्जरधरित्र्या राजनि, ती० ४ कल्प।

खंगारगढ-खङ्गारगढ-न०। जीर्णदुर्गे, (जूनागढ) इति ख्याते, ती० ४ कल्प।

खंज-खञ्ज-न०। (खोडा) पादविकले, स्था० ४ ठा०। श्यामीभूते सकटचक्रान्तर्गतलोहदण्डोपरिघृतादिसिक्तसणादिकज्जले, उत्त० ३४ अ०। स्वार्थे कः, एतुल्या अञ्जकः। तत्रार्थे, वाच०।

खंजण-खञ्जन-खजि भावे ल्युट्। विकलगतौ, कर्तरि ल्युः। स्वनामख्याते पक्षिभेदे, स्त्रियां ङीप्। वाच०। दीपमल्लिकामले, जी० ३ प्रति०। आ० म०। जं०। रा०। स्था०। बृ०। ज्ञ०। अञ्जनं सूर्यं वा ग्रसतो राहोः कृष्णपुद्गलानां षष्ठे भेदे, चं० प्र० २० पाहु०। सू० प्र०। दीपकलिकासमाने, स्था० ४ ठा० २ उ०।

खंजणाभ-खञ्जनाभ-त्री०। खञ्जनं दीपमल्लिकामलः, तस्य यो वर्णस्तद्वदाभा यस्य तथा। कृष्णवर्णे, भ० २१ श० ६ उ०।

खंजरीड-खञ्जरीट-पुं०। स्त्री०। खञ्ज इव ऋच्छति। 'ऋ' गतौ। कीटन्। खञ्जनविहगे, स्त्रियां जातित्वात् ङीप्। वाच०। आचा०।

खंड-खण्ड-पुं०। भागे, अंशे, आ० चू० १ अ०। उभयोः पर्वदेशसहिते इक्षुखण्डादौ, नि० चू० १५ उ०। अपरिपूर्णे, विपा० १ श्रु० १ अ०। वनसमूहे, स्था० २ ठा० ३ उ०। अनेकजातीयवृक्षसमूहे, जी० ३ प्रति०। शर्करायाम्, (जं०) गुडविकारे, जं० २ वक्ष०। इक्षुरसविकारसंस्कारे, उत्त० ३४ अ०। देशविशेषभाषया लवणे, स्त्री०। बिड्लवणे, कर्मणि घञ्। खण्डिते, त्रि०। वाच०। विरोधिते, न०।

खंडकम्प-खण्डकर्ण-पुं०। अवन्त्यधीशचण्डप्रद्योतमन्त्रिणि, ध्य० १ उ०। खण्ड इव कर्णः कन्दो यस्य (सकरकंद) आलुभेदे, वाच०।

खंडखंडग-खण्डखण्डक-न०। चतुर्भिः खण्डकैरेका रज्जुः परिकल्पिता, ततो रज्जुचतुर्थभागत्वात् खण्डकं (स्रोक) रज्जुपादे, प्रव० १४३ द्वार। (चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्यासत्कल्पनया खण्डकपरिभागो 'लोक' शब्दे दर्शयिष्यते) दीर्घवैताढ्यपर्वतभरतैरवतवर्षयोः कच्छादिषु गन्धिलावतीपर्यन्तेषु विजयक्षेत्रेषु सन्ति तेषां तृतीयं कूटं खण्डकनामकम्। स्था० ९ ठा०।

खंडण-खण्डन-न०। 'खडि' भावे ल्युः। देशतो भञ्जने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। छेदने, निराकरणे च। भावे युच्। वाच०। विनाशे, स्त्री०। नि० चू० १ उ०। "विराहणा खंडणा भंजणा य एगट्ठा।" नि० चू० १ उ०।

खंडदेउलिया-खण्डदेवकुलिका-स्त्री०। द्वादशव्रतमङ्गकसंख्याप्रदर्शकयन्त्रे, ध० २ अधि०। तत्स्थापना च प्र० भा० ४२० पृष्ठे द्रष्टव्या। (तदुपपत्तिः श्रावकव्रतव्याख्यातोऽवसेया)

खंडपट्ट-खण्डपट्ट-पुं०। खण्डोऽपरिपूर्णः पट्टः परिधानपट्टो यस्य स द्यूतादिव्यसनाभिभूततयाऽपरिपूर्णः परिधानं प्राप्तः स खण्डपट्टः। द्यूतकारे, अन्यायव्यवहारिणि इत्यन्ये। विपा० १ श्रु० ३ अ०। धूर्ते, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

खंडपाणा-खंडपा (गा) णा-स्त्री०। धूर्ताख्याने : उपयन्त्यां पञ्चशतधूर्तस्वामिन्यां स्वनामख्यातायां स्त्रियाम्, नि० चू० १ उ०। (अस्याः कथा धूर्ताख्याने)

खंडप्पवायगुहा-खण्डप्रपातगुहा-स्त्री०। वैताढ्यगुहायाम्, यया चक्रवर्ती अनार्यक्षेत्रात् स्वक्षेत्रमागच्छति। स्था० ८ ठा०। "खंडप्पवायगुहाणं अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं।" स्था० ८ ठा०। एवं धातकीखण्डे पुष्करार्द्धे च प्रत्येकमष्टषष्टिर्तासां प्रमाणम्। यथा-गिरिविस्तारायामा द्वादशयोजनविस्तारा अष्टयोजनोच्छ्रया आयतचतुरस्रसंस्थाना विजयद्वार गण-

द्वारा वज्रकपाटपिहिता बहुमध्ये द्वियोजनान्तराभ्यां त्रियोजनविस्ताराभ्यामुन्मग्ननिमग्नजलाभिधानाभ्यां नदीभ्यां युक्ता। स्था० २ ठा०३ उ० । स० । जं० । (तत्र भरतचक्रिगमनं 'भरह' शब्दे)

खंमप्पवायगुहाकूड-खण्डप्रपातगुहाकूट-न० । खण्डप्रपातगुहाधिपदेवनिवासभूतं कूटं खण्डप्रपातगुहाकूटम् । वैताढ्यकूटानां तृतीयेषु कूटेषु, जं० १ वक्ष० । स्था० ।

खंमभेय-खण्डभेद-पुं० । लोहखण्डादेरिव यथा क्षिप्तमृत्पिण्डस्येव (स्था० १० ठा०) लोष्ठादेर्वा खण्डशो जायमाने द्रव्यभेदे, भ० ५ श० ४ उ० । सूत्र० । प्रज्ञा० ।

खंमरक्ख-खण्डरक्ष-पुं० । दण्डपाशिके, रा० । ज्ञा० । आहिण्डके, बृ०१ उ०। शुल्कपाले, प्रश्न०३ आश्र० द्वार । उपा०। कम्पिल्यपत्तनवासिषु शौल्किकेषु श्रावकेषु, यैः समुच्छेदं वदन् अश्वमित्रनिह्नवः प्रतिबोधितः । विशे० । आ० क० । आ० म० । आ० चू० ।

खंमाभेय-खण्डभेद-पुं० । 'खंमभेय' शब्दार्थे, स्था० १० ठा०।

खंडित्तए-खण्डयितुं-अव्य० । देशतो भङ्क्तुमित्यर्थे, उपा० २ अ० । ज्ञा० ।

खंडिय-खण्डिक-पुं० । छात्रे, विशे० । उत्त० । कले, कुले, त्रि० । वाच० ।

खंडित-त्रि० । देशतो भग्ने, ध०२ अधि० । आ० चू० । ग० । सर्वथा भग्ने, " खंडिअविराहियाणं, मूलगुणाणं सउत्तरगुणाणं । " आव० ५ अ० । छिन्ने, द्विधाकृते च । "ज्ञातान्यासंगविकृतेः, खण्डितेर्ष्याकषायिता" इत्युक्तलक्षणायां स्त्रियाम्, स्त्री० । वाच० ।

खंडियगण-खण्डिकगण-पुं० । छात्रगणे, औ० ।

खंडियविहूण-खण्डिकविहीन-त्रि० । छात्ररहिते, नि० १ वर्ग ।

खंडी-खण्डी-स्त्री० । खडि अच्, गौरा० ङीष् । वनमुद्गे, प्राकारच्छिद्ररूपायां छिण्डिकायाम्, ज्ञा०१ श्रु० २ अ० । बृ० । नद्यन्तरनिर्गमापद्वारे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

खंत-क्षान्त-त्रि० । क्षाम्यति क्षमां करोतीति क्षान्तः । बहुलवचनात्कर्तरि निष्ठा । क्षमागुणप्रधानजिह्वौ, दश० १० अ० । आ० चू० । नि० चू० । ज्ञा० । क्रोधविजयिनि, दश० २ अ० । ज्ञा० । क्षमायुक्ते, ग० २ अधि० । प्रश्न० । सूत्र० आलोचनादानयोग्ये, व्य० १ उ० । क्षान्तो नाम क्षमायुक्तः स कस्मिंश्चित्प्रयोजने गुर्वादिभिः खरपरुषमपि भणितः सम्यक्प्रतिपद्यते, यदपि च प्रायश्चित्तमारोपितं तत्सम्यग् वहति । आह च-"खंतो आयरिएहिं, फरुसं भणिओ वि न रूसेति ।" स्था० ८ ठा० । (खन्तपुत्तस्स 'अईमत्तक' शब्दे प्र० भा० ७५६ पृष्ठे कथा)

खंतलक्ख-क्षान्तलक्ष्य-न० । वृद्धव्याजे, वृद्धवेषधारणेन, स्वरूपप्रच्छादने, बृ० १ उ० ।

खंताइजुय-क्षान्त्यादियुत-त्रि० । क्षमामार्दवार्जवसंतोषसमन्विते, षो० ६ विव० ।

खंति-क्षान्ति-स्त्री० । आक्रोशादिश्रवणेऽपि क्रोधत्यागे, ज्ञा० १७ ज्ञा० । दश० । षो० । पञ्चा० । जं० । पा० । उत्त० । शक्तस्याऽशक्तस्य वा सहनपरिणामे सर्वथा क्रोधविवेके, ध० ३ अधि० । आव० । उत्त० । ज्ञा० । स्था० । आव० । परुषभाषणादिसहने, उत्त० १ अ० । क्रोधोदयनिरोधे, औ० । कषायोपशमे, दर्श० । तितिक्षायाम्, ध० ३ अधि० । क्षान्तिश्च प्रथमः श्रमणधर्मः । स० १० सम० । स्था० । शुक्लध्यानस्य प्रथममालम्बनम् । स्था०४ ठा० १ उ० । क्षान्तेः फलम् । "खंतिए णं भंते ! जीवे किं जणयइ? खंतिए णं परीसहे जणयइ।" हे भगवन्! क्षान्त्या क्षमया कृत्वा जीवः किं फलं जनयति? तदा गुरुराह-शिष्य ! क्षमया परीषहान् जनयति, क्षान्तिः क्रोधनिग्रहस्तदनन्यत्वात् अयोदश्यां गौणधामहिंसायाम्, उत्त० २९ अ० । प्रश्न० ।

इहादौ वचनक्षान्ति-र्धर्मक्षान्तिरनन्तरम् ।
अनुष्ठानं च वचना-नुष्ठानात्स्यादसङ्गतम् ॥ ६ ॥
उपकारापकाराभ्यां, विपाकाद्वचनात्तथा ।
धर्माच्च समये क्षान्तिः, पञ्चधा हि प्रकीर्तिता ॥ ७ ॥

(इहेति) इह दीक्षायामादौ प्रथमं वचनक्षान्तिः, अनन्तरं धर्मक्षान्तिर्भवति । अनुष्ठानं च वचनानुष्ठानादध्ययनाद्यभिरतिलक्षणादनन्तरं तन्मयीभावेन स्पर्शाख्यं सत्यामसङ्गं स्यात् ॥ ६ ॥ (उपकारेति) उपकारेण क्षान्तिरुपकारिप्रोक्तदुर्वचनाद्यपि सहमानस्य; अपकारेण क्षान्तिर्मम दुर्वचनाद्यसहमानस्याऽयमपकारी भविष्यतीत्याशयेन क्षमां कुर्वतः । विपाकाच्चेह परलोकगतानर्थपरम्परालक्षणादालोच्यमानात् क्षान्तिर्विपाकक्षान्तिः । तथा वचनात्क्षान्तिरागममेवावलम्ब्यनीकुर्यात्पक्षीरत्वादिनैरपेक्ष्येण क्षमां कुर्वतः । धर्मात्क्षात्मशुद्धस्वभावलक्षणाज्जायमाना क्षान्तिश्चन्दनस्येव शरीरस्य छेददाहादिषु सौरभ्यादिस्वधर्मकल्पापरोपकारिणी सहजत्वेनावस्थिता अविकारिणी । एवं पञ्चधा क्षान्तिः समये प्रकीर्तिता । यदुक्तम्-" उपकार्यपकारिविपा-कवचनधर्मोत्तरा मता क्षान्तिः " इति ॥ ७ ॥ द्वा० २७ द्वा० ।

खंतिखम-क्षान्तिक्षम-त्रि० । क्षान्त्या क्षमया क्षमते न त्वसमर्थतया यः सः क्षान्तिक्षमः । कल्प० ५ क्षण । जं० । भ० । सत्यामपि शक्तौ तितिक्षौ, " कोहनिग्गहो खंती अक्कुस्समाणस्स वि जस्स खमाकरणे सामत्थमत्थि सो खंतिए खमो भण्णति, "अह वा खंतिखमो क्षमाया आधार इत्यर्थः । नि० चू० १० उ० ।

खंतिखमणया-क्षान्तिक्षमणता-स्त्री० । क्षान्त्या क्षम्यत इति क्षान्तिक्षमणः । क्षान्तिग्रहणमसमर्थताव्यवच्छेदार्थं, यतः समर्थोऽपि क्षमत इति । क्षान्तिक्षमणस्य भावस्तत्ता । शक्तस्यापि सहने, स्था० १० ठा० ।

खंतिजुय-क्षान्तियुत-त्रि० । क्षमान्विते, कर्म० १ कर्म० ।

खंतिप्पहाण-क्षान्तिप्रधान-पुं० । क्षान्तिः क्षमा प्रधाना सारभूता यस्याऽसौ क्षान्तिप्रधानः । क्षमासारे, पा० ।

खंतिसंजमरय-क्षान्तिसंयमरत-त्रि० । क्षान्तिप्रधानसंयमासेविनि, दश० ४ अ० ।

खंतिसूर-क्षान्तिशूर-पुं० । क्षमाधीरे शूरभेदे, "खंतिसूरा अरिहंता " क्षान्तिशूरा अर्हन्तो महावीरवत् । स्था० ४ ठा० ३ उ० । संथा० ।

खंद-स्कन्द-पुं० । स्कन्दते उत्प्लुत्य गच्छति, अच् । वाच० । "शुष्कस्कन्दे वा" ।८ । २ । ५ । इति स्कस्य वा खः । प्रा० २ पाद । स्वामिकार्तिकेये, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० । अनु० । जं० । भ० । जीवा० । नि० चू० । रा० । पाञ्चालकग्रामवास्तव्ये ग्रामकूट-

पुत्रे, येन स्वग्रामे गोशालकः कदर्थितः । आ० म० द्वि० । आ० चू० । आचा० । ज्ञा० । अनु० ।

खंदग–स्कन्दक–पुं० । श्रावस्त्यां नगर्यां जाते मुनिसुव्रतशिष्ये, उत्त० । तत्संबन्धो यथा—श्रावस्त्यां जितशत्रुर्नृपो, धारिणी प्रिया, तयोः पुत्रः स्कन्दकः, पुरन्दरयशा पुत्री, कुम्भकारकटके पुरे दण्डकनृपस्य दत्ता, तस्य पुरोहितः पालको मिथ्यात्वी, अन्यदा श्रावस्त्यां मुनिसुव्रतस्वामी समवसृतः, तस्य देशनां श्रुत्वा स्कन्दकः श्रावको जातः । एकदा पालकपुरोहितो दूतत्वेन श्रावस्त्यां प्राप्तः राजसभायां जैनसाधूनामवर्णवादं वदन् स्कन्दकेन निरुत्तरीकृत्य निर्द्धारितः सन् स्कन्दककुमारोपरि रुष्टः छिद्राणि पश्यति । अन्यदा स्कन्दककुमारः श्रीमुनिसुव्रतस्वामिपार्श्वे पञ्चशतकुमारैः सह प्रव्रजितो गीतार्थो जातः, स्वामिना ते कुमाराः शिष्यास्तस्यैव दत्ताः, अन्यदा स स्कन्दकः स्वामिनं पृच्छति-हे भगवन्! भगिनीवन्दापनार्थं गच्छामि । स्वामिना भणितम्–तत्र मारणान्तिकोपसर्गोऽस्ति । स्कन्दकेनोक्तम्–भगवन्! वयमाराधका विराधका वा? स्वामिना भणितम्-त्वां मुक्त्वा सर्वेऽप्याराधकाः स्वामिनैव मुक्तेऽपि भवितव्यतावशेन पञ्चशतशिष्यपरिवृतः कुम्भकारकटकपुरे गतः । पालकेन तमागच्छन्तं ज्ञात्वा पूर्ववैरं स्मरता साधुस्थितियोग्योद्याने षट्त्रिंशदायुधानि भूमौ स्थापितानि । स्कन्दकाचार्यस्तु तत्रैव समवसृतः । ततः पालकेन नृपस्याऽग्रे कथितम्-महाराज ! अयं स्कन्दकः पञ्चशतसाधवोऽपि च सहस्रयोधिनः परीषहभग्नास्तव राज्यं गृहीतुकामाः समायातास्त्वां हनिष्यन्ति, राज्यञ्च गृहीष्यन्ति । यदि न प्रत्ययस्तदा उद्यानं विलोकय । एभिरायुधानि भूमौ गोपितानि सन्ति,नृपेण उद्यानं विलोकितम्, आयुधानि दृष्टानि, क्रोधान्धेन ते साधवस्तस्यैव दत्ताः, तेन सर्वेऽपि यन्त्रेण पीलिताः । वधपरीषहस्य सम्यग् अधिसहनात् उत्पन्नकेवलज्ञानाः सिद्धाः, स्कन्दकाचार्यस्तु सर्वेषां शिष्याणां तथाविधमरणं दृष्ट्वोत्पन्नक्रोधः सर्वस्याप्यस्य देशस्य दाहकोऽहं स्यामिति कृतनिदानोऽग्निकुमारेषूत्पन्नः । अथाचार्यस्य रजोहरणं रुधिरलिप्तं सद् गृध्रैः पुरुषहस्तं ज्ञात्वा चञ्चुपुटेनोत्पाट्य पुरन्दरयशापुरः पातितम् । साऽपि महतीमधृतिं चकार । साधवो गवेषिता न दृष्टाः,प्रत्यभिज्ञातानि कम्बलाद्युपकरणानि, ज्ञातं च तया-साधवो मारिता इति, ततो धिक्कृतस्तया नृपतिः, अहं तव मुखं न पश्यामि, प्रव्रजिष्यास्येवेति वदन्तीं तां स्कन्दकभगिनीं देवाः श्रीमुनिसुव्रतस्वामिसमीपे मुक्तवन्तः । स्वामिना सा दीक्षिता । ततोऽग्निकुमारदेवेन सनगरो देशो दग्धः, ततो दण्डकारण्यं जातम् । अद्यापि तथैव तज्जनैर्भण्यते । यथा एभिः साधुभिर्वधपरीषहः सोढस्तथा परैरपि सोढव्यः । उत्त० २ अ० । सू० । ग० । नि० चू० । संथा० । भूतभेदे च, प्रज्ञा० १ पद । श्रावस्त्यां गर्दभालिशिष्ये ; कात्यायनगोत्रे परिव्राजके, भ० ।

तच्चरितम्–

तेणं कालेणं तेणं समएणं कयंगला णामं नयरी होत्था । वण्णओ–तीसे णं कयंगलाए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए छत्तपलासए णामं चेइए होत्था, वण्णओ–तए णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्नणाणदंसणधरे० जाव समोसरणं परिसा निग्गया,तीसे णं कयंगलाए नयरीए अदूरसामंते सावत्थी णामं नयरी होत्था । वण्णओ–तत्थ णं सावत्थीए

णयरीए गद्दभालिस्स अंतेवासी खंदए नामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायगे परिवसइ । रिउव्वेय–जजुव्वेय–सामवेय-अहव्वणवेय–इतिहासपंचमाणं निघंटुछट्ठाणं चउण्हं वेयाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं सारए वारए धारए पारए सडंगवी-सट्ठितंतविसारए संखाणे सिक्खा कप्पे वागरणे छंदे निरुत्ते जोइसामयणे अन्नेसु य बहूसु बंभण्णएसु परिव्वायएसु नएसु सुपरिनिट्ठिए यावि होत्था । (पिङ्गलपृच्छा) तत्थ णं सावत्थीए नयरीए पिंगलए नामं नियंठे वेसालियसावए परिवसइ । तए णं से पिंगलए नामं नियंठे वेसालिसावए अन्नया कयाइ जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता खंदयं कच्चायणसगोत्तं इणमक्खेवं पुच्छे मागहा ?–किं सअंते लोए, अणंते लोए, सअंते जीवे, अणंते जीवे, सअंता सिद्धी,अणंता सिद्धी,सअंते सिद्धे, अणंते सिद्धे, केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा,हायइ वा, एतावं ताव आइक्खाहि वुच्चमाणे,एवं तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएणं नियंठेणं वेसालीसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिंछिए भेदसमावण्णे कलुससमावण्णे णो संचाएइ पिंगलयस्स नियंठस्स वेसालियसावयस्स किंचि विप्पमोक्खमक्खाइउं तुसिणीए संचिट्ठइ,तेएणं से पिंगलए नियंठे वेसालीसावए खंदयं कच्चायणसगोत्तं दोच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छे मागहा–किं सअंते लोए० जाव केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा, हायइ वा, एतावं ताव आइक्खाहि वुच्चमाणे, एवं तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते पिंगलएणं नियंठेणं वेसालीसावएणं दोच्चं पि तच्चं पि इणमक्खेवं पुच्छिए समाणे संकिए कंखिए वितिगिंछिए भेदसमावन्ने कलुससमावन्ने नो संचाएइ, पिंगलस्स नियंठस्स वेसालियसावयस्स किंचि वि पमोक्खमक्खाइउं तुसिणीए संचिट्ठइ, तए णं सावत्थीए नयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु महया जणसम्मद्देइ वा जणवूहेइ वा निग्गच्छइ,तए णं तस्स खंदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म इमे एयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था, एवं खलु समणे भगवं महावीरे कयंगलाए नयरीए बहिया छत्तपलासए चेइए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि,नमंसामि, सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेत्ता इमाइं च णं एयारूवाइं अट्ठाइं हेऊइं पसिणाइं वागरणाइं पुच्छित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता जेणेव परिव्वायगा वसही तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तिदंडं च कुंडियं च कंचणियं च क-

रोमियं च भिसियं च केसरियं च छणालियं च अंकुसयं च पवित्तयं च गणेत्तियं च छत्तयं च वाहणाउ य पाउयाउ य धाउरत्ताउ य गेएहइ, गेएहइत्ता परिव्वायगवसहीओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता तिदंडकुंडियं कंचणियं करोडियं भिसियकेसरियच्छनालियअंकुसयपवित्तियगणेत्तिय हत्थगए छत्तोवाहणसंजुत्ते धाउरत्तवत्थपरिहिए सावत्थीए नयरीए मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव कयंगला नगरी जेणेव छत्तपलासए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थगमणाए गोयमाइ समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी–दिच्छसि णं गोयमा ! पुव्वसंगइयं भंते ?। कं भंते ! खंदयं नाम से काहे वा किहं वा केवच्चिरेण वा ?। एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं सावत्थी णामं णयरी होत्था। वण्णओ–तत्थ णं सावत्थीए नगरीए गद्दभालिस्स अंतेवासी खंदए णामं कच्चायणसगोत्ते परिव्वायए परिवसइ, तं चेव०जाव जेणेव मम अंतिए तेणेव पहारेत्थगमणाए से अदूरागए बहुसंपत्ते अद्धाण पडिवन्ने अंतरापहे वट्टइ, अज्जेव णं दिच्छसि गोयमा ! भंते त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी–पहू णं भंते ! खंदए कच्चायणसगोत्ते देवाणुप्पियाणं अंतिए मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए। हंता पभू ! जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठं परिकहेइ, तावं च णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते तं देसं हव्वमागए, तए णं भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं अदूरमागयं जाणेत्ता खिप्पामेव अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता खिप्पामेव पच्चुगच्छइ, पच्चुगच्छइत्ता जेणेव खंदए कच्चायणसगोत्ते तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी–हे खंदया ! सागयं खंदया !, सुसागयं खंदया !, अणुरागयं खंदया !, सागयमणुरागयं खंदया !, से णूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए णयरीए पिंगलएणं नियंठेणं वेसालियसावएणं इणमक्खेवं पुच्छिए। मागहा ! किं सअंते लोए, एवं तं चेव जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए, से णूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी–से केसि णं गोयमा ! तहारूवे णाणी वा तवस्सी वा जेणं तव एस अट्ठे मम ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए जओ णं तुमं जाणासि, तए णं से भगवं गोयमे खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी–एवं खलु खंदया ! मम धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली तीयपच्चुप्पण्णमणागयवियाणए सव्वण्णू सव्वदरिसी, जेणं मम एस अट्ठे तव ताव रहस्सकडे हव्वमक्खाए, जओ णं अहं जाणामि खंदया ! तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी–गच्छामो णं गोयमा ! तव धम्मायरियं धम्मोवदेसयं समणं भगवं महावीरं वंदामो, नमंसामो० जाव पज्जुवासामो। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं, तए णं भगवं गोयमे खंदएणं कच्चायणसगोत्तेणं सद्धिं जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव पहारेत्थगमणाए, तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे वियट्टभोजी यावि होत्था, तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स वियट्टभोइस्स सरीरयं उरालं सिंगारं कल्लाणं सिवं धन्नं मंगल्लं अणलंकियविभूसियं लक्खणवंजणगुणोववेयं सिरीए अतीव अतीव उवसोभेमाणे चिट्ठइ, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स वियट्टभोइस्स सरीरयं उरालयं० जाव अतीव अतीव उवसोभेमाणं पासइ, पासइत्ता हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए पीइमणे परमसोमणसिए हरिसवसविसप्पमाणहियए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ०, जाव पज्जुवासइ, खंदयाइ, समणे भगवं महावीरे खंदयं कच्चायणसगोत्तं एवं वयासी–से णूणं तुमं खंदया ! सावत्थीए णयरीए पिंगलएणं नियंठेणं वेसालिसावएणं इणमक्खेवं, मागहा–किं सअंते लोए, अणंते लोए, एवं तं चेव० जाव जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए, से णूणं खंदया ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि, जे वि य ते खंदया ! अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था, किं सअंते लोए, अणंते लोए, तस्स वि य णं अयमट्ठे, एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते। तं जहा–दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं एगे लोए सअंते, खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयामविक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पण्णत्ता, अत्थि पुण से अंते, कालओ णं लोए न कयाइ न आसि, न कदाइ न भवइ, न कदाइ न भविस्सइ, भविंसु य, भवति य, भविस्सइ य, धुवे णियए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे णत्थि पुण से अंते। भावओ णं लोए अणंता वण्णपज्जवा, गंधरसफासा अणंता संठाणपज्जवा, अणंता गुरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगुरुयलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते, सेत्तं खंदया। दव्वओ लोगे सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालओ लोए अणंते, भावओ लोए अणंते, जे वि य ते खंदया० ! जाव सअंते जीवे अणंते जीवे तस्स वि य णं अयमट्ठे, एवं खलु० जाव दव्वओ णं एगे जीवे सअंते, खेत्तओ णं जीवे असंखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे, अत्थि पुण से अंते, कालओ णं जीवे न

कदाइ न आसि, णिच्चे, नत्थि पुण से अंते, भावओ णं जीवे अणंता नाणपज्जवा, अणंता दंसणपज्जवा, अणंता चरित्तपज्जवा, अणंता गुरुयलहुयपज्जवा, अणंता अगुरुयलहुयपज्जवा। नत्थि पुण से अंते सेत्तं दव्वओ जीवे सअंते, खेत्तओ जीवे सअंते, कालओ जीवे अणंते, भावओ जीवे अणंते, जे वि य णं ते खंदया पुच्छा ?। अंता सिद्धी, अणंता सिद्धी, तस्स वि य णं अयमट्ठे, मए चउव्विहा सिद्धी पण्णत्ता । तं जहा-दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ। दव्वओ णं एगा सिद्धी सअंता, खेत्तओ णं सिद्धी पणयालीसजोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, एगा जोयणकोडी बायालीसं सयसहस्साइं तीसं च सहस्साइं दोण्णि य अउणापण्णे जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पण्णत्ता, अत्थि पुण से अंते, कालओ णं सिद्धी न कदाइ न आसि, भावओ य जहा लोयस्स तहा भाणियव्वा। तत्थ दव्वओ सिद्धी सअंता, खेत्तओ सिद्धी सअंता, कालओ सिद्धी अणंता, भावओ सिद्धी अणंता, जे वि य ते खंदया०! जाव किं अणंते सिद्धे तं चेव० जाव दव्वओ णं एगे सिद्धे सअंते, खेत्तओ णं सिद्धे असंखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे अत्थि पुण अंते, कालओ णं सिद्धे सादिए अपज्जवसिए, नत्थि पुण से अंते, भावओ णं सिद्धे, अणंता णाणपज्जवा, अणंता दंसणपज्जवा, अणंता अगुरुलहुयपज्जवा, नत्थि पुण से अंते सेत्तं दव्वओ सिद्धे सअंते, खेत्तओ सिद्धे सअंते, कालओ सिद्धे अणंते, भावओ सिद्धे अणंते, जे वि य ते खंदया ! इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए० जाव समुप्पज्जित्था। केण वा मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा, हायइ वा, तस्स वि य णं अयमट्ठे एवं खलु खंदया ! मए दुविहे मरणे पण्णत्ते। तं जहा-बालमरणे य, पंडियमरणे य। से किं तं बालमरणे ?। बालमरणे दुवालसविहे पण्णत्ते। तं जहा-वलयमरणे वसट्टमरणे अंतोसल्लमरणे तब्भवमरणे गिरिपडणे तरुपडणे जलप्पवेसे जलणप्पवेसे विसभक्खणे सत्थोवाडणे वेहाणसे गिद्धपिट्ठे, इच्चेएणं खंदया ! दुवालसविहेणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं संजोएइ, तिरियमणुदेवअणाइयं च णं अणवदग्गं दीहद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टइ, सेत्तं बालमरणेणं मरमाणे वड्ढइ, वड्ढइ, सेत्तं बालमरणे। से किं तं पंडियमरणे ?। पंडियमरणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-पाओवगमणे य, भत्तपच्चक्खाणे य। से किं तं पाओवगमणे ?। पाओवगमणे दुविहे पणत्ते। तं जहा-नीहारिमे य, अनीहारिमे य नियमा अपडिक्कमे। सेत्तं पाओवगमणे। से किं तं भत्तपच्चक्खाणे ?। भत्तपच्चक्खाणे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-नीहारिमे य, अनीहारिमे य, नियमा सपडिक्कमे, सेत्तं भत्तपच्चक्खाणे। इच्चेतेणं खंदया ! दुविहेणं पंडियमरणेणं मरमाणे जीवे अणंतेहिं नेरइयभवग्गहणेहिं अप्पाणं वि संजोएइ०, जाव वीयीवयइ, सेत्तं मरमाणे हायइ, सेत्तं पंडियमरणे। इच्चेएणं खंदया ! दुविहेणं मरणेणं मरमाणे जीवे वड्ढइ वा, हायइ वा, एत्थ णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते संबुद्धे समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुज्झं अंतिए केवलिपन्नत्तं धम्मं निसामित्तए। अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं, तए णं समणे भगवं महावीरे खंदयस्स कच्चायणसगोत्तस्स तीसे य महइ महालियाए परिसाए धम्मं परिकहेइ, धम्मकहा भाणियव्वा, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियए उट्ठाए उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता एवं वयासी-सद्दहामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, रोएमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, पत्तियामि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, अब्भुट्ठेमि णं भंते ! निग्गंथं पावयणं, एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते !, अवितहमेयं भंते !, असंदिद्धमेयं भंते !, इच्छियमेयं भंते !, पडिच्छियमेयं भंते !, इच्छियपडिच्छियमेयं भंते !, से जहेयं तुज्झे वदह त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसइत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसिभायं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता तिदंडं च कुंडियं च० जाव धाउरत्ताउ य एगंते एडेइ, एडेइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आदाहिणं पयाहिणं करेइ, करेइत्ता० जाव नमंसइत्ता एवं वयासी-आलित्ते णं भंते ! लोए, जराए मरणेण य, से जहानामए केइ गाहावई आगारं सिज्झियायमाणंसि जे से तत्थ भंडे भवइ, अप्पभारे मोल्लगुरुए तं गहाय आयाए एगंतमंतं अवक्कमइ, एस मे नित्थारिए समाणे पच्छा पुराए हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ, एवामेव देवाणुप्पिया ! मज्झ वि आया एगे भंडे इट्ठे कंते पिए मणुण्णे मणामे थेज्जे विस्सासिए समए बहुमए अणुमए भंडकरंडगसमाणे माणं सीयं माणं उण्हं माणं खुहा माणं पिवासा माणं चोरा माणं वाला माणं दंसा माणं मसया माणं वाइयपित्तियसंभियसण्णिवाइयविविहा रोगायंका परीसहोवसग्गा फुसंतु त्ति कट्टु, एस नित्थारिए समाणे परलोयस्स हियाए सुहाए खमाए नो सेसाए आणुगामियत्ताए भविस्सइ, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! सयमेव पव्वावियं सयमेव मुंडावियं सयमेव सेहावियं सयमेव सिक्खावियं सयमेव आयारगो-

यरं विणयवेणयियचरणकरणजायामायावत्तियं धम्ममाइक्खियं, तए णं समणे भगवं महावीरे खंदयं कच्चायणसगोत्तं सयमेव पव्वावेइ० जाव धम्ममाइक्खइ, एवं देवाणुप्पिया ! चिट्टियव्वं गंतव्वं, एवं निसीइयव्वं, एवं तुयट्टियव्वं, एवं भुंजियव्वं, एवं भासियव्वं, एवं उट्ठाय उट्ठाय पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमियव्वं, अस्सिं च णं अट्ठे णो किंचि पमाइयव्वं, तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स इमं एयारूवं धम्मियं उवएसं सम्मं संपडिवज्जइ, तमाणाए तह गच्छइ, तह चिट्ठइ, तह निसीयइ, तह तुयट्टइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह उट्ठाएइ, उट्ठाएइ, तह पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेणं संजमेइ, अस्सिं च णं अट्ठे णो पमायइ । तए णं से खंदए कच्चायणसगोत्ते अणगारे जाए इरियासमिए भासासमिए एसणासमिए आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिए मणसमिए वयसमिए कायसमिये मणगुत्ते वयगुत्ते कायगुत्ते गुत्ते गुत्तिंदिए गुत्तबंभचारी लज्जू धन्ने खंतिक्खमे जिइंदिए सोहिए अणियाणे अप्पुस्सुए अवहिल्लेस्से सुसमणए दंते इणमेव निग्गंथं पावयणं पुरओ काउं विहरइ, तए णं समणे भगवं महावीरे कयंगलाओ णयराओ छत्तपलासयाओ चेइयाओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ, तए णं से खंदए अणगारे समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ, अहिज्जइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं । तए णं खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव नमंसित्ता मासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तए णं से खंदए अणगारे मासियं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं अहाकप्पं अहामग्गं अहातच्चं अहासम्मं सम्मं काएण फासेइ, पालेइ, सोभेइ, तीरेइ, पूरेइ, किट्टेइ, अणुपालेइ, आणाए आराहेइ, सम्मं काएण फासित्ता० जाव आराहेत्ता, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं० जाव नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे दोमासियं भिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं । तं चेव एवं दोमासियं तिमासियं चाउम्मासियं पंच छ सत्त, पढमं सत्तराइंदियं, दोच्चं सत्तराइंदियं, तच्चं सत्तराइंदियं, अहोराइंदियं, एगराइंदियं । तए णं से खंदए अणगारे एगराइं भिक्खुपडिमं अहासुत्तं० जाव आराहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणे भगवं महावीरं० जाव नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं । तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे० जाव नमंसित्ता गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ, तं जहा-पढमं मासं चउत्थं चउत्थेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य दोच्चं मासं छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे, रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य, एवं तच्चं मासं अट्ठमं अट्ठमेणं चउत्थं मासं दसमं दसमेणं पंचमं मासं बारसमं बारसमेणं छट्ठं मासं चोद्दसमं चोद्दसमेणं सत्तमं मासं सोलसमं सोलसमेणं अट्ठमं मासं अट्ठारसमं अट्ठारसमेणं नवमं मासं वीसइमं वीसइमेणं दसमं मासं बावीसइमं बावीसइमेणं एक्कारसमं मासं चउवीसइमं चउवीसइमेणं बारसमं मासं छव्वीसइमं छव्वीसइमेणं तेरसमं मासं अट्ठावीसइमं अट्ठावीसइमेणं चोद्दसमं मासं तीसइमं तीसइमेणं पन्नरसमं मासं बत्तीसइमं बत्तीसइमेणं सोलसमं मासं चउत्तीसइमं चउत्तीसइमेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेणं तए णं से खंदए अणगारे गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं अहासुत्तं अहाकप्पं० जाव आराहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, बहूहिं चउत्थछट्ठट्ठमदसमदुवालसेहिं मासद्धमासखमणेहिं विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं से खंदए अणगारे तेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं कल्लाणेणं सिवेणं धन्नेणं मंगलेणं सस्सिरीएणं उदग्गेणं उदत्तेणं उत्तमेणं उदारेणं महाणुभागेणं तवोकम्मेणं सुक्के लुक्खे निम्मंसे अट्ठिचम्मावणद्धे किडिकिडियभूए किसे धमणिसंतए जाए यावि होत्था, जीवं जीवेणं गच्छइ, जीवं जीवेणं चिट्ठइ, भासं भासित्ता वि गिलाइ, भासं भासमाणे गिलाइ, भासं भासिस्सामीति गिलाइ, से जहानामए कट्ठसगडियाइ वा, पत्तसगडियाइ वा, पत्ततिलभंडगसगडियाइ वा, एरंडकट्ठसगडियाइ वा

इंगालसगमियाइ वा उराहे दिएणा सुक्का समाणी ससदं
गच्छइ,ससदं चिट्ठइ, एवामेव खंदए अणगारे ससदं गच्छइ,
ससदं चिट्ठइ,उवचिते तवेणं अवचिए मंससोणिएणं हुयासणे
वि व भासरासिपमिच्छणे तवेणं तेएणं तवतेयासिरीए अतीव
उवसोभेमाणे उवसोभेमाणं चिट्ठइ। तेणं कालेणं तेणं सम-
एणं रायगिहे नयरे समोसरणं० जाव परिसा पमिगया। तए
णं तस्स खंदयस्स अणगारस्स अएणया कयाइ पुव्वरत्तावर-
त्तकालसमयंसि धम्मजागरियं जागरमाणस्स इमेयारूवे अ-
ज्झत्थिए चिंतिए०जाव समुप्पज्जेत्था। एवं खलु अहं इमेणं
एयारूवेणं उरालेणं० जाव किसे धमणिसंतए० जाव जीवं
जीवेणं गच्छामि,जीवं जीवेणं चिट्ठामि०,जाव गिलामि,०जाव
एवामेव अहं पि ससदं गच्छामि, ससदं चिट्ठामि, तं अ-
त्थि ताव मे उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे तं०
जाव ताव मे अत्थि उट्ठाणे कम्मे बले वीरिए पुरिसक्कारपर-
क्कमे०जाव य मे धम्मायरिए धम्मोवदेसए समणे भगवं म-
हावीरे जिणे सुहत्थी विहरइ,ताव ताव मे सेयं कल्लं पाउप्प-
भायाए रयणीए फुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मिलियम्मि अहपं-
डुरे पजाए रत्तासोगप्पकासे किंसुयसुयमुहगुंजद्धराग-
सरिसे कमलागरसंमवोहए उट्ठियम्मि सूरे सहस्सरस्सि-
म्मि दिणयरे तेयसा जलंते समणं भगवं महावीरं वंदित्ता
नमंसित्ता० जाव पज्जुवासेत्ता समणेणं भगवया महा-
वीरेणं अब्भणुएणाए समाणे सयमेव पंचमहव्वयाणि
आराहेत्ता समणा य समणीओ य खामेत्ता तहारूवेहिं थे-
रेहिं कडाईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं सणियं सणियं दुरूहि-
त्ता मेहघणसंनिगासं देवसंनिवायं पुढविसिलापट्टयं प-
डिलेहेत्ता दब्भसंथारयं संथरित्ता दब्भसंथारोवगयस्स
संलेहणाझूसणाझूसियस्स भत्तपाणपमियाइक्खियस्स
पाओवगयस्स कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति
कट्टु एवं संपेहेइ, एवं संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणी-
ए०जाव जलंते जेणेव समणे भगवं महावीरे०जाव पज्जुवा-
सइ खंदयादि, समणे भगवं महावीरे खंदयं अणगारं ए-
वं वयासी–से णूणं तव खंदया पुव्वारत्तावरत्तं० जाव
जागरमाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जि-
त्था, एवं खलु अहं इमेणं एयारूवेणं उरालेणं विउलेणं
तं चेव० जाव कालं अणवकंखमाणस्स विहरित्तए त्ति
कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए० जाव ज-
लंते जेणेव मम अंतिए तेणेव हव्वमागए, से णूणं खंदया !
अट्ठे समट्ठे। हंता अत्थि,अहासुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबं-
धं, तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावी-
रेणं अब्भणुण्णाए समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियए उट्ठाए
उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं

पयाहिणं करेइ० जाव नमंसित्ता सयमेव पंच महव्वयाइं
आरुहेइ, आरुहेइत्ता समणा य समणीओ य खामेइ, खा-
मेइत्ता, तहारूवेहिं थेरेहिं कडाईहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं स-
णियं सणियं दुरूहेइ,दुरूहेइत्ता मेहघणसन्निगासं देवसन्नि-
वायं पुढविसिलावट्टयं पमिलेहेइ,पडिलेहेइत्ता उच्चारपासव-
णभूमिं पडिलेहेइ,पडिलेहेइत्ता दब्भसंथारयं संथरइ,संथरइ-
त्ता पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयलपरिग्गहियं द-
सनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी–न-
मोऽत्थु णं अरहंताणं भगवंताणं० जाव संपत्ताणं,नमोऽत्थु
णं समणस्स भगवओ महावीरस्स० जाव संपाविउकामस्स
वंदामि णं भगवं तं तत्थ गतं इह गओ पासउ,मे से भय-
वं तत्थ गए इह गयं ति त्तिकट्टु वंदइ,णमंसइ,वंदित्ता णमं-
सित्ता एवं वयासी–पुव्विं पि मए समणस्स भगवओ म-
हावीरस्स अंतिए सव्वे पाणाइवाए पच्चक्खाए जावज्जी-
वाए० जाव मिच्छादंसणसल्ले पच्चक्खाए जावज्जीवाए,
इयाणं पि य णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए
सव्वं पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए०जाव मिच्छा०
दंसणसल्लं पच्चक्खामि जावज्जीवाए,सव्वं असणपाणखा-
इमसाइमं चउव्विहं पि आहारं पच्चक्खामि जावज्जीवाए,
जं पि य इमं सरीरं इट्ठं कंतं पियं० जाव फुसंतु त्ति कट्टु एयं
पि णं चरिमेहिं उस्सासनीसासेहिं वोसिरामि त्ति कट्टु सं-
लेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपमियाइक्खिए पाओवग-
ए कालं अणवकंखमाणे विहरइ। तए णं से खंदए अणगारे
समणस्स भगवओ महावीरस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए
सामाइयमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जित्ता बहु-
पमिपुण्णाइं दुवालसवासाइं सामण्णपरियागं पाउणित्ता
मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसित्ता सट्ठिं भत्ताइं अ-
णसणाए छेदित्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपु-
व्वीए कालगए, तए णं ते थेरा भगवंतो खंदयं अणगारं
कालगयं जाणित्ता परिनिव्वाणवत्तियं काउस्सग्गं करेइ,पत्त-
चीवराणि गिण्हंति, विपुलाओ पव्वयाओ सणियं सणि-
यं पच्चोरुहंति, पच्चोरुहइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे
तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वं-
दइ, नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी–एवं खलु दे-
वाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए णामं अणगारे पगइभ-
द्दए पगइउवसंते पगइपयणुकोहमाणमायालोभे मिउमद्दव-
संपण्णे अल्लीणे भद्दए विणीए से णं देवाणुप्पिएहिं अब्भ-
णुण्णाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाणि आराहेत्ता समणा
य समणीओ य खामेत्ता अम्हेहिं सद्धिं विपुलं पव्वयं तं
चेव निरवसेसं०जाव आणुपुव्वीए कालगए इमे य से आया-
रभंडए भंते त्ति भयवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ,

णमंसइ,वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी खंदए णामं अणगारे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए कहिं उववन्ने ?। गोयमादि, समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—एवं खलु गोयमा ! मम अंतेवासी खंदए णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव से णं मए अब्भणुन्नाए समाणे सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेत्ता तं चेव सव्वं अवसेसयं नेयव्वं० जाव आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे, तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, तत्थ णं खंदयस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता, से णं भंते ! खंदए देवत्ताओ देवलोयाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता कहिं गमिहिति कहिं उववज्जिहिति ?। गोयमा ! महाविदेहे सिज्झिहिति, बुज्झिहिति, मुच्चिहिति, परिनिव्वाहिति,सव्वदुक्खाणमंतं करिहिति। खंदओ सम्मत्तो ॥ भ० २ श० १ उ०। ज्ञा०।

खंदग्गह—स्कन्दग्रह—पुं० । उन्मत्तताहेतौ स्कन्ददेवकृतोपद्रवे, जं० २ वक्ष० । ज्वरविशेषे, भ० ३ श० ६ उ० ।

खंदमह—स्कन्दमह—पुं० । स्कन्दः स्वामी कार्त्तिकेयस्तस्य महो महिमा पूजा। आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० । कार्त्तिकेयोत्सवे, भ० ६ श० ३३ उ० । विपा० ।

खंदसिरी—स्कन्दश्री—स्त्री० । शालाटव्यां चोरपल्ल्यां विजयस्य सेनापतेर्भार्यायाम्, विपा० १ श्रु० ३ अ० । ('अभग्गसेण' शब्दे प्र० भागे ७०१ पृष्ठे कथा)

खंदिल्ल—स्कन्दिल्ल—पुं० । स्वनामख्याते आचार्ये, तेन मथुरायां संघमेलापकं कृत्वा शास्त्रवाचनाऽनुगमिता। ग० १ अधि०। नं० ।

जेसि इमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि ।
बहुनयरनिग्गयजसे, तं वंदे खंदिलायरिए ॥३३॥

(जेसिमित्यादि) येषामयं श्रवणप्रत्यक्षत उपलभ्यमानोऽनुयोगोऽद्यापि अर्द्धभरते वैताढ्यादर्वाक् प्रचरति व्याप्रियते, तान् स्कन्दिलाचार्यान्,सिंहवाचकसूरिशिष्यान् बहुषु नगरेषु निर्गतं प्रसृतं यशो येषां ते बहुनगरनिर्गतयशसः,तान्,वन्दे। अथ येषामनुयोगोऽर्द्धभरते व्याप्रियमाणः, कथं तेषां स्कन्दिलनाम्नामाचार्याणां संबन्धी ?। उच्यते-इह स्कन्दिलाचार्यप्रतिपत्तौ दुःषमसुषमाप्रतिपन्थिन्यास्तत्कृतसकलशुभभावप्रसनैकसमारम्भायाः दुःषमायाः सहायकमाधातुं परमसुहृदिव द्वादशवार्षिकं दुर्भिक्षम उदपादि; तत्र चैवंरूपे महति दुर्भिक्षे भिक्षालाभस्यासंभवात् अवसीदतां साधूनामपूर्वार्थग्रहणपूर्वार्थस्मरणश्रुतपरावर्तनानि मूलत एवापजग्मुः, श्रुतमपि चातिशायि प्रभूतमनेशत्। अङ्गोपाङ्गादिगतमपि भावतो विप्रनष्टं तत्परावर्तनादेरभावात्,ततो द्वादशवर्षानन्तरमुत्पन्ने महति सुभिक्षे मथुरापुरि स्कन्दिलाचार्यप्रमुखश्रमणसंघेनैकत्र मिलित्वा यो यत्स्मरति स तत्कथयतीत्येवं कालिकश्रुतपूर्वगतं च किञ्चिदनुसंधाय घटितं, ततश्चैतत् मथुरापुरि संघटितम्,अत इयं वाचना माथुरीत्यभिधीयते। सा च तत्कालयुगप्रधानानां स्कन्दिलाचार्याणामभिमता,तैरेव चार्थतः शिष्यबुद्धिं प्रापिता इति तदनुयोगः तेषामाचार्याणां संबन्धीति व्यपदिश्यते। अपरे पुनरेवमाहुः—न किमपि श्रुतं दुर्भिक्षवशादनेशत्, किन्तु तावदेव तत्काले श्रुतमनुवर्तते स्म, केवलमन्ये प्रधाना येऽनुयोगधराः ते सर्वेऽपि दुर्भिक्षकालकवलीकृताः, एक एव स्कन्दिलसूरयो विद्यन्ते स्म,ततस्तैर्दुर्भिक्षापगमे मथुरापुरि पुनरनुयोगः प्रवर्तित इति माथुरी वाचना व्यपदिश्यते,अनुयोगश्च तेषामाचार्याणामिति। नं०। येन (स्कन्दिलाचार्येण) च मथुरायां देवनिर्मितस्तूपे पक्षक्षपणेन देवतामाराध्य जिनभद्रक्षमाश्रमणैरुद्देहिकाभक्षितपुस्तकपत्रत्वेन त्रुटितं भग्नं महानिशीथं सन्धितम्। ती० ६ कल्प। स्थूणानगर्यामेकस्यैवाचार्यस्य शिष्याणां पुष्पमित्रादीनामष्टानामन्यतम एवमेते त्रयः स्कन्दिलाचार्याः संभाव्यन्ते, तत्त्वं पुनः पुरातत्त्वविद्भिः स्वयमूह्यम्। व्य०। स च दशपूर्वी, युगप्रधानप्रवरश्च। कल्प० ८ क्षण।

खंध—स्कन्ध—पुं० । स्कन्दन्ति शुष्यन्ति क्षीयन्ते च पुष्यन्ते पुद्गलानां चटनेन विचटनेन चेति स्कन्धाः। पृषोदरादित्वाद्रूपनिष्पत्तिः। प्रव० १ द्वार। "ष्कस्कयोर्नाम्नि" ८ । २ । ४। इति स्कन्नागस्य खः। प्रा० २ पाद। पुद्गलप्रचयरूपेषु, आ० चू० १ अ०। अणुसमुदायेषु, स्था० १ ठा० १ उ० ।

निक्षेपः—

से किं तं खंधे ?। खंधे चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा—नामखंधे, ठवणाखंधे, दव्वखंधे, भावखंधे, नामठवणाओ पुव्वभणिआणुक्कमेण भाणिअव्वाओ ।

अथ किं तत् स्कन्ध इत्युच्यते?,इति प्रश्ने निर्वचनमाह—"खंधे चउव्विहे" इत्यादि । अत्र नामस्कन्धम् आवश्यकसूत्रं स्थापनास्कन्धप्रतिपादकसूत्रं नामस्थापनावश्यकप्रतिपादकसूत्रव्याख्याऽनुसारेण स्वयमेव भावनीयम् ।

(द्रव्यस्कन्धः)

से किं तं दव्वखंधे ?। दव्वखंधे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा—आगमतो अ,नोआगमतो अ। से किं तं आगमओ दव्वखंधे?। आगमतो दव्वखंधे जस्स णं खंधेत्ति पयं सिक्खितं, सेसं जहा दव्वावस्सए तहा भाणिव्वं, नवरं खंधाभिलावो जाव। से किं तं जाणियसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे ?। जाणियसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा—सचित्ते अचित्ते, मीसए ।

द्रव्यस्कन्धसूत्रमपि ज्ञशरीरद्रव्यस्कन्धसूत्रं यावद् द्रव्यावश्यकोक्तव्याख्याऽनुसारेणैव भावनीयम्। प्रायस्तुल्यवक्तव्यत्वादिति। "से किं तं जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे"? इति प्रश्ने निर्वचनमाह—" जाणगसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखन्धे तिविहे पण्णत्ते" इत्यादि। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तद्रव्यस्कन्धस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा—सचित्तोऽचित्तो मिश्रः।

तत्राद्यभेदं जिज्ञासुः पृच्छति—

से किं तं सचित्ते दव्वखंधे ?। सचित्ते दव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा—हयखंधे गंधव्वखंधे उसभखंधे, सेत्तं सचित्ते दव्वखंधे ।

"से किं तमित्यादि"। अत्रोत्तरम्—"सचित्तदव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते" इत्यादि। चित्तं मनो विज्ञानमिति पर्यायाः। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः,स चासौ द्रव्यस्कन्धश्चेति सचित्त-

द्रव्यस्कन्धः। अनेकविधोऽकिमेदतोऽनेकप्रकारः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-हयस्कन्ध इत्यादि। हयस्तुरगः,स एव विशिष्टपरिणामपरिणतत्वात् स्कन्धो हयस्कन्धः। एवं गजस्कन्धादिष्वपि समासः। नवरं किंनरकिंपुरुषमहोरगादिव्यन्तरविशेषाः। (उसन्न त्ति)वृषभः कचित्पर्वतस्कन्धादीन्यधिकान्यप्युदाहरणानि दृश्यन्ते, सुगमानि च,नवरं "पसुपसयविहगवानरखंधे त्ति" कचिद् दृश्यते। तत्र पशुः छगलकः, पसयस्त्वाटविको द्विखुरः चतुष्पदविशेषः, विहगः पक्षी,वानरः प्रतीतः, स्कन्धशब्दस्तु प्रत्येकं द्रष्टव्यः। इह च सचित्तस्कन्धाधिकाराज्जीवानामेव च परमार्थतः सचेतनत्वात्कथञ्चिच्छरीरैः सह भेदे सत्यपि हयादीनां संबन्धिनो जीवा एव विवक्षिता न तु तदधिष्ठितशरीराणीति संप्रदायः। न च जीवानां स्कन्धत्वं नोपपद्यते, प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशात्मकत्वेन तेषां स्कन्धत्वस्य सुप्रतीतत्वादिति हयस्कन्धादीनामन्यतरेणैकेनाऽप्युदाहरणेन सिद्धम्, किं प्रभूतोदाहरणाभिधानेति चेत्सत्यम्। किं तु पृथग् भिन्नस्वरूपं विजातीयं स्कन्धबहुत्वाभिधानेनात्माद्वैतवादं निरस्यति, तथाऽभ्युपगमे मुक्तेतरादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गात्। " सेत्तं " इत्यादि निगमनम्।

अथाचित्तद्रव्यस्कन्धनिरूपणार्थमाह-

से किं तं अचित्ते दव्वखंधे ?। अचित्ते दव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा-दुपएसिए तिपएसिए० जाव दसपएसिए, संखिज्जपएसिए असंखिज्जपएसिए अणंतपएसिए,सेत्तं अचित्ते दव्वखंधे।

"से किं तं" इत्यादि। अत्र निर्वचनम्-"अचित्तदव्वखंधे" इत्यादि। अविद्यमानचित्तोऽचित्तः,स चासौ द्रव्यस्कन्धश्चेति समासः। अयमनेकविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-द्विप्रदेशस्कन्ध इत्यादि। तत्र प्रकृष्टः पुद्गलास्तिकायदेशः प्रदेशः, परमाणुरित्यर्थः। द्वौ प्रदेशौ यत्र स द्विप्रदेशिकः, स चासौ स्कन्धश्च द्विप्रदेशिकस्कन्धः। एवमन्यत्रापि यथायोगं समासः। "सेत्तं" इत्यादि निगमनम्। अनु०।

अथ मिश्रद्रव्यस्कन्धनिरूपणायाऽऽह-

से किं तं मीसए दव्वखंधे ?। मीसए दव्वखंधे अणेगविहे पण्णत्ते। तं जहा-सेणाए अग्गिमे खंधे, सेणाए मज्झिमे खंधे, सेणाए पच्छिमे खंधे। सेत्तं मीसए दव्वखंधे।

अयमपरोऽचित्तमहाद्रव्यस्कन्धः। तद्व्याख्यानार्थमाह-

जइणसमुग्घायगइए, चउहिँ समएहिँ पूरणं कुणइ।
लोगस्स तेहिँ चेव य, संहरणं तस्स पडिलोमं ॥६४३॥

इह निर्युक्तिगाथायां "तहाऽचित्तेत्ति" न केवलं मिश्रः, तथा एकदेशेन समुदायस्य गम्यमानत्वादचित्तमहास्कन्धश्च भवतीति गम्यते। स चास्यां प्रस्तुतगाथायां योज्यते। कथमिति चेत् ?, उच्यते-अचित्तमहास्कन्धः स भवति, यः किमित्याह-जैनसमुद्घातगत्या " दण्डं प्रथमे समये,कपाटमथ चोत्तरेत्यादि " केवलिसमुद्घातन्यायेन विस्रसापरिणामवशाच्चतुर्भिः समयैः लोकस्य पूरणं करोति। संहरणमपि प्रतिलोमं पश्चान्मुखं तस्याचित्तमहास्कन्धस्य तैरेव चतुर्भिः समयैर्द्रष्टव्यम्। एवं च सत्यष्टौ समयान् कालमानेनासौ भवतीति ॥ ६४३ ॥

आह-ननु पुद्गला इह विचारयितुमुपक्रान्तास्ततश्च पुद्गलमहास्कन्धोऽचेतन एव भवति, किं तस्याचित्तत्वविशेषणेन, अव्यवच्छेद्याभावादित्याशङ्क्याह-

जइणसमुग्घायसचि-त्तकम्मपोग्गलमयं महाखंधं।
पइ तस्समाणुभावो, होइ अचित्तो महाखंधो ॥६४४॥

जैनसमुद्घाते यः सचेतनजीवाधिष्ठितत्वात्सचित्तः कर्मपुद्गलमयो महास्कन्धस्तं प्रति तमाश्रित्य,तद्व्यवच्छेदायेत्यर्थः। किमित्याह-प्रस्तुतः पुद्गलमहास्कन्धोऽचित्तमहास्कन्धः इति व्यपदेश्यो भवति-अचित्तविशेषणेन विशेष्यो भवतीत्यर्थः। कुत इत्याह-यतस्तत्समानभावः, उपलक्षणत्वात्तत्समक्षेत्रकालानुभावः-तेन केवलिसमुद्घातवर्तिना कर्मपुद्गलमयमहास्कन्धेन समास्तुल्याः क्षेत्रकालानुभावा यस्यासौ तत्समक्षेत्रकालानुभावः तत्र क्षेत्रं सर्वलोकलक्षणं, कालोऽष्टसमयमानः, अनुभावो वर्णगन्धादिगुणः। अयमत्र भावार्थः-अनन्तानन्तपरमाणुपुद्गलोपचितस्कन्धे वक्तुं प्रस्तुते यदि महास्कन्ध इत्येतावन्मात्रमेवोच्यते, तदा केवलसमुद्घातगतोऽनन्ताऽनन्तकर्मपुद्गलमयस्कन्धोऽपि लभ्येत, प्रस्तुतमहास्कन्धस्य केवलिसमुद्घातकर्मपुद्गलमयमहास्कन्धस्य च समानक्षेत्रकालानुभावत्वात्। तथाहि-चतुर्थे समये द्वावपि लोकक्षेत्रं व्याप्नुतः, अष्टसामयिकं च कालं द्वावपि तिष्ठतः, वर्णपञ्चकगन्धद्वयरसपञ्चकस्पर्शचतुष्टयलक्षणगुणयुक्तौ द्वावपि भवतः। तदेवं महास्कन्ध इत्युक्तेऽनन्तानन्तकर्मपुद्गलमयमहास्कन्धः केवलिसमुद्घातगतोऽपि लभ्येत, तस्यापि प्रस्तुतमहास्कन्धे समानक्षेत्रकालानुभावत्वात्। न च तेनेह प्रयोजनमतोऽचित्तविशेषणेन तद्व्यवच्छेदः क्रियते, जीवाधिष्ठितत्वेन किल तस्य सचेतनत्वादिति ॥६४४॥

अथाऽत्र केषांचिन्मतमुपदर्श्य निराकुर्वन्नाह-

सव्वुक्कोसपएसो, एसो केई न चायमेगंतो।
उक्कोसपएसो जम-वगाहविइओ चउट्ठाणो ॥६४५॥
अट्ठप्फासो य जओ, भणिओ एसो य जं चउप्फासो।
अन्ने वि तओ पोग्गल-भेया संति त्ति सद्धेयं ॥६४६॥

एष प्रस्तुतोऽचित्तमहास्कन्धः सर्वोत्कृष्टप्रदेशनिर्वृत्तो, नान्यः। अयं ह्यौदारिकादिवर्गणाः सर्वा अप्यभिधाय पर्यन्ते प्रोक्तोऽतो ज्ञायतेऽयमेव सर्वोत्कृष्टपरमाणुसंख्याप्रचितो, न स्कन्धान्तराणि। निवर्तते ह्यत ऊर्ध्वं सर्वोऽपि पुद्गलविशेषाणां कथेति भावः। इत्येवं केचिद् व्याचक्षते। न चायमेकान्तो,नैतद्व्याख्यानं सङ्गतमित्यर्थः, यद्यस्मादुत्कृष्टप्रदेशः स्कन्धः प्रतियोग्युत्कृष्टप्रदेशस्कन्धान्तरापेक्षया प्रज्ञापनायामवगाहनास्थितिभ्यां चतुःस्थानपतित उक्तः। तथा च तत्सूत्रम्-"उक्कोसपएसिआणं भंते ! खंधाणं केवइया पज्जवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! अणंता। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति ?। गोयमा ! उक्कोसपएसिए खंधे, उक्कोसपएसिअस्स खंधस्स दव्वट्ठयाए तुल्ले" (एकैकद्रव्यत्वात्) पएसट्ठयाएतुल्ले, (उत्कृष्टप्रदेशिकस्यैव प्रस्तुतत्वात्) ओगाहणट्ठियाए चउट्ठाणवडिए। तं जहा-असंखेज्जभागहीणे वा संखेज्जभागहीणे वा संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जभागब्भहिए वा संखेज्जभागब्भहिए वा संखेज्जगुणब्भहिए वा असंखेज्जगुणब्भहिए वा। एवं ठिईए वि चउट्ठाणवडिए वण्णगंधरस०। अट्ठहिं फासेहिं छट्ठाणवडिए"॥ अयं पुनरचित्तमहास्कन्धोऽचित्तमहास्कन्धान्तरेण सहावगाहनास्थितिभ्यां तुल्य एव। अतो ज्ञायते-एतस्मादपर एव केचित्ते प्रज्ञापनोक्ता उत्कृष्टप्रदेशिकाः स्कन्धा इति। किं च-'अ-

ट्ठप्फासो य जओ, भणिओ" 'उक्कोसपएसो' इत्यनन्तरगाथागतं संबध्यते। ततश्चाष्टस्पर्शस्य यतः "प्रज्ञापनायां" भणित उत्कृष्टप्रदेशिकः स्कन्धः। एष पुनरचित्तमहास्कन्धो यस्माच्चतुःस्पर्श इष्यते। तस्मादनयैवोत्कृष्टप्रदेशिकस्कन्धानां भेदसिद्ध्या पूर्वोक्तवर्गणाभिश्चाचित्तमहास्कन्धेभ्योऽन्येऽपि केचिदसंगृहीताः पुद्गलविशेषा अद्यापि सन्तीति श्रद्धेयम्,न पुनरेतावता सर्वोऽपि पुद्गलास्तिकायः संगृहीत इति भावः॥ ६४५। ६४६॥ विशे०। प्रज्ञा०। आ० म०।

अहवा जाणयसरीरभवियसरीरवइरित्ते दव्वखंधे तिविहे पण्णत्ते। तं जहा–कसिणखंधे, अकसिणखंधे, अणेगदव्वियखंधे॥

"अहवा जाणगेत्यादि" अथ वा अन्येन प्रकारेण ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यस्कन्धस्त्रिविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–कृत्स्नस्कन्धोऽकृत्स्नस्कन्धोऽनेकद्रव्यस्कन्धः।

से किं तं कसिणखंधे?। कसिणखंधे सो चेव हयक्खंधे गयक्खंधे० जाव उसभखंधे। सेत्तं कसिणखंधे॥

"से किं तमित्यादि"। अत्रोत्तरम्–"कसिणक्खन्ध इत्यादि"। यस्मादन्यो बृहत्तरः स्कन्धो नास्ति कृत्स्नः परिपूर्णः स्कन्धः कृत्स्नस्कन्धः। कोऽयमित्याह–"सो चेत्यादि" स एव "हयक्खन्ध" इत्यादिनोपन्यस्तो हयादिस्कन्धः कृत्स्नस्कन्धः। आह–यद्येवं प्रकारान्तरत्वमसिद्धं सचित्तस्कन्धस्यैव संज्ञान्तरेणोक्तत्वात्। नैतदेवम्। प्राक् सचित्तद्रव्यस्कन्धाधिकारात् तथाभिसन्धोऽपि बुद्ध्या निष्कृष्य जीवा एवोक्ताः,इह तु जीवाधिष्ठितः शरीरावयवलक्षणसमुदायः कृत्स्नस्कन्धत्वेन विवक्षित इत्यतोऽभिधेयभेदात्सिद्धं प्रकारान्तरत्वम्;यद्येवं तर्हि हयादिस्कन्धस्य कृत्स्नत्वं नोपपद्यते,तदपेक्षया गजादिस्कन्धस्य बृहत्तरत्वात्। नैतदेवम्। यतोऽसंख्येयप्रदेशात्मको जीवस्तदधिष्ठिताश्च शरीरावयवा इत्येवंलक्षणः समुदायो हयादिस्कन्धत्वेन विवक्षितो जीवस्य वा संख्येयप्रदेशात्मकभयात्सर्वत्र तुल्यत्वात् गजादिस्कन्धस्य बृहत्तरत्वमसिद्धम्, यदिह जीवप्रदेशपुद्गलसमुदायः सामस्त्येन वर्तेत, तदा स्याद्गजादिस्कन्धस्य बृहत्त्वं,तच्च नास्ति, समुदायवृद्ध्यभावात्,तस्मादितरेतरापेक्षया जीवप्रदेशपुद्गलसमुदायस्य हीनाधिक्याभावात्सर्वेऽपि समुदायादिस्कन्धाः परिपूर्णत्वात् कृत्स्नस्कन्धाः,अन्ये तु दूरं सचित्तस्कन्धविचारे जीवाधिष्ठितशरीरावयवसमुदायः सचित्तस्कन्धोऽत्र तु शरीरात् बुद्ध्या पृथक्कृत्य जीव एव केवलः कृत्स्नस्कन्ध इति व्यत्ययं व्याचक्षते। अत्र च व्याख्याने प्रैर्यमेव नास्ति, हयगजादिजीवानां प्रदेशतो हीनाधिक्याभावेन कृत्स्नस्कन्धत्वस्य सर्वत्राविरोधादित्यलं प्रसङ्गेन। "सेत्तं" इत्यादिनिगमनम्।

अथाकृत्स्नस्कन्धनिरूपणार्थमाह–

से किं तं अकसिणखंधे?। अकसिणखंधे सो चेव दुपएसियाइ खंधे० जाव अणंतपएसिए खंधे। सेत्तं अकसिणखंधे।

"से किं तं मित्यादि।" अत्रोत्तरम्–"अकसिणखंधे सोचेत्यादि। न कृत्स्नोऽकृत्स्नः, स चासौ स्कन्धश्चाकृत्स्नस्कन्धो, यस्मादन्योऽपि बृहत्तरस्कन्धोऽस्ति सोऽपरिपूर्णत्वादकृत्स्नस्कन्ध इत्यर्थः। कस्यायमित्याह–"सो चेवेत्यादि"। स एव "दुपदेसिपखंधे तिपदेसिए खंधे" इत्यादिना पूर्वमुपन्यस्तो द्विप्रदेशकादिकृत्स्नस्कन्ध इत्यर्थः। द्विप्रदेशिकस्य त्रिप्रदेशिकापेक्षया कृत्स्नत्वात् त्रिप्रदेशिकस्यापि चतुःप्रदेशिकापेक्षया कृत्स्नत्वादेवं तावद्वाच्यं यावत् कृत्स्नं नापद्यत इति पूर्वे द्विप्रशिकादिः सर्वोत्कृष्टप्रदेशश्च स्कन्धः सामान्येनाचित्ततया प्रोक्तः। इह तु सर्वोत्कृष्टस्कन्धादधोवर्तिन एवोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वतरा अकृत्स्नस्कन्धत्वेनोक्ता इति विशेषः। "सेत्तं" इत्यादिनिगमनम्।

अथानेकद्रव्यस्कन्धनिरूपणार्थमाह–

से किं तं अणेगदव्वियखंधे?। अणेगदव्वियखंधे तस्स चेव देसे अवचिए, तस्स चेव देसे उवचिये, सेत्तं अणेगदव्विअखंधे। सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवतिरित्ते दव्वखंधे। सेत्तं नोआगमतो दव्वखंधे।

"से किं तमित्यादि"। अत्रोत्तरम्–"अणेगदवियखंधस्येत्यादि" अनेकद्रव्यश्चासौ स्कन्धश्चेति समासः। तस्यैवेत्यत्रानुवर्तमानं स्कन्धमात्रं संबध्यते, ततश्च तस्यैव यस्य कस्यचित् स्कन्धस्य यो देशो नखदन्तकेशादिलक्षणोऽपि चितो जीवप्रदेशैर्विरहितस्तस्यैव देशः पृष्ठोदरचरणादिरुपचितो, जीवप्रदेशैर्व्याप्त इत्यर्थः। तयोर्यथोक्तदेशयोर्विशिष्टैकपरिणामपरिणतयोर्यो देहाख्यः समुदायः सोऽनेकद्रव्यस्कन्ध इति विशेषः। सचेतनमचेतनानेकद्रव्यात्मकत्वादिति भावः। स चैवंभूतः सामर्थ्यात्तुरगादिस्कन्ध एव प्रतीयते। यद्येवं तर्हि कृत्स्नस्कन्धादस्य को विशेष इति चेद्?। उच्यते–स किल यावानेव जीवप्रदेशानुगतस्तावानेव विवक्षितो, न तु जीवप्रदेशाव्याप्तनखाद्यपेक्षया, अयं तु नखाद्यपेक्षयाऽपीति विशेषः। पूर्वोक्तमिश्रस्कन्धादस्य तर्हि को विशेष इति चेद्?, उच्यते–तत्र खड्गाद्यजीवानां हस्त्यादिजीवानां च अपृथग्व्यवस्थितानां समूहकल्पनया मिश्रस्कन्धमुक्तम्। अत्र तु जीवप्रयोगतो विशिष्टैकपरिणामपरिणतानां सचेतनद्रव्याणामनेकद्रव्यस्कन्धत्वमिति विशेष इत्यलं प्रसङ्गेन। "सेत्तमित्यादि" निगमनं, तदेवमुक्तो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तो द्रव्यस्कन्धः,तद्भणने च समर्थितो 'नोआगमतो' द्रव्यस्कन्धविचारः,तत्समर्थने च समर्थितो द्रव्यस्कन्ध इति। अनु०। उत्त०। दश०। सूत्र०। आ० म०। आचा०।

भावस्कन्धनिरूपणार्थमाह–

से किं तं भावखंधे?। भावक्खंधे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा–आगमतो अ, नोआगमतो अ। से किं तं आगमतो भावक्खंधे। जाणए उवउत्ते सेत्तं आगमतो भावखंधे। से किं तं नोआगमतो भावखंधे। एएसिं चेव सामाइअमाइयाणं छण्हं अज्झयणाणं समुदयसमिइसमागमेणं आवस्सयं सुअखंधे भावखंधे त्ति लब्भइ। सेत्तं नो आगमओ भावखंधे। सेत्तं भावखंधे॥

"से किं तमित्यादि।" अत्रोत्तरम्–"भावखंधे दुविहे" इत्यादि। भावश्चासौ स्कन्धश्च भावस्कन्धः, भावमाश्रित्य वा स्कन्धो भावस्कन्धः। स च द्विविधः प्रज्ञप्तः। तद्यथा–आगमतश्च, नोआगमतश्च। तत्रागमतः स्कन्धपदार्थज्ञः,तत्र चोपयुक्तस्तु तदुपयोगित्वाद्भावस्कन्धः। नोआगमतस्तु एतेषामेव प्रस्तुतावश्यकभेदानां सामायिकादीनां षण्णामध्ययनानां समुदायः। स चैतेषां विशकलितानामपि तथाविधदेवदत्तादीनामिव स्यात्। अत उच्यते–समुदयस्य समितिर्नैरन्तर्येण मीलना, सा च नैरन्तर्यावस्थापितानां शलाकानामिव परस्परनिरपेक्षाणामपि स्यात्, अत उच्यते–

तस्याः समुदयसमितेर्यः समागमः परस्परं संबद्धतया विशिष्टैकपरिणामसमुदायसमितिसमागमस्तेन निष्पन्नोऽयम् आवश्यकश्रुतस्कन्धः स भावस्कन्ध इति लभ्यते प्राप्यते भवति इति हृदयम्। इदमुक्तं भवति-सामायिकादिषडध्ययनसंहितिनिष्पन्न आवश्यकश्रुतस्कन्धो मुखवस्त्रिकारजोहरणादिव्यापारलक्षणक्रियायुक्ततया विवक्षितो नो आगमतो भावस्कन्धः। नो शब्दस्य देश आगमनिषेधपरत्वात्, क्रियालक्षणस्य च देशस्यानागमत्वादिति भावः। " सेत्तमित्यादि "। तदेवं प्रतिपादितो द्विविधोऽपि भावस्कन्ध इति। निगमयति-" सेत्तं भावखंधे त्ति "। अनु०। आ० चू०। विपा०।

इदानीं त्वस्यैव एकार्थिकानभिधित्सुराह-

तस्स णं सेत्तं इमे एगट्ठिया णाणा घोसा णाणा वंजणा नामधेज्जा भवंति। तं जहा-"गणकाए अ निकाए,खंधे वग्गे तहेव रासी अ। पुंजे पिंमे निगरे,संघाए आउलसमूहे"॥१॥ सेत्तं खंधे। अनु०।

द्विप्रदेशिका यावदनन्तप्रदेशिकाः स्कन्धान्ताः। स्था० १ ठा० १ उ०। ('पज्जाय' शब्देऽस्य पर्याया द्रष्टव्याः) समुच्चयेषु, स्था० १० ठा०। सर्वास्थिकायसंघाते,आ० म० द्वि०। सूत्र०। ('पंच खंधे वयंतेगे' इत्यादि 'खणिअवाइ' शब्दे उपपादयिष्यते,निराकरिष्यते च) वनस्पतीनां स्थूमे, यतो मूलशाखाः प्रभवन्ति। जी० ३ प्रति०। स्था०। औ०। जं०। रा०। ज्ञा०। अंशादेशे, उत्त० २ अ०। औ०। पृष्ठे स्कन्धप्रदेशप्रत्यासक्ते, पृष्ठमपि स्कन्ध इति व्यपदिश्यते। ज्ञा० १ श्रु० १२ अ०। एकस्य स्तम्भस्योपरि आश्रये, आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ०। अर्द्धप्राकारे, नि० चू० १२ उ०। द्वीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

खंधंतर-स्कन्धान्तर-न०। एकस्मात् स्कन्धादन्यस्मिन् स्कन्धे, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

खंधकरणी-स्कन्धकरणी-स्त्री०। साध्वीनामुपकरणविशेषे, सा च " खंधकरणी अ चउहत्थवित्थडा वायविहुयरक्खट्ठा। " स्कन्धकरणी च चतुर्हस्तविस्तरा समचतुरस्रा प्रावरणस्य वातविधूतरक्षणार्थं चतुष्पुटा (चतुःपुटीकृत्य) स्कन्धे कृत्वा प्रश्रियते। बृ० ३ उ०। प्रव०। ध०।

खंधकुमार-स्कन्धकुमार-पुं०। स्वनामख्याते कुमारे, " जंतेहिँ पीलिआ वि " इत्यादि उपदेशमालागाथावृत्तौ स्कन्दकुमारः पञ्चशतपरिकरो निष्क्रान्त इत्युक्तम्। ऋषिमण्डले तु " पगूणे पंचसया" इत्युक्तम्। तत्कथमिति प्रश्ने, उपदेशमालावृत्तौ प्रव्रज्याधिकारे पञ्चशतपरिकरितत्वमुक्तम्, ऋषिमण्डले तु निर्वाणाधिकारे एकोनपञ्चशतत्वमिति न कश्चिद्विरोध इति। २४३ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

खंधचडियविहार-स्कन्धचटितविहार-पुं०। निजशिष्यसाध्वंसारूढाटने, जी०।

एकविंशतितममधिकारमाह-

अन्ने उणऽहम्माणी, नियया निप्पायउज्जुयविहारी।
नियसिस्सखंधचडिया, भमंति बहुगामनगरेसु ॥१॥

अन्ये पुनरपरे अहंमानिनोऽहंकारिणो निजकाभिप्रायोद्युक्तविहारिणः सुमतसुविहिताः निजशिष्यस्कन्धचटिताः स्वसाध्वंसारूढाः भ्रमन्ति ग्रामनगरेषु प्रवृत्तनिवासेष्वशेषकल्पविहारिणो वयमिति शेष इति गाथार्थः ॥१॥

अत्रापि जीवोपदेशगर्भविरोधं दर्शयन् गाथाद्वयमाह-

तत्थ वि जावसु अहहा, अन्नाणविलसियं एयं।
जं जत्था बलहीणा-इविहरणं वारियं बहुहा ॥ २ ॥
ववहारपंचकप्पा-इएसु गंथेसु सुत्तकेवलिणा।
अइवित्थरेण जणियं, पज्जंते तत्थिमा गाहा ॥ ३ ॥

तत्रापि स्कन्धे चटितविहरणेऽपि हे जीव ! भावय चिन्तय। अहहा इत्याश्चर्ये, अज्ञानविलसितं मूढताविकल्पितमेतत् विहरणं यद् यस्माद्यया बलहीनादिविहरणम्। आदिशब्दाद् ग्लानादिपरिग्रहः। वारितं निषिद्धं बहुधाऽनेकप्रकारं व्यवहारपञ्चकल्पादिषु प्रतीतेषु ग्रन्थेषु शास्त्रेषु सूत्रकेवलिना भद्रबाहुस्वामिना, कथमित्याह-अतिविस्तरेण महाप्रपञ्चेन भणितमुक्तं पर्यन्ते तदधिकारव्युच्छित्तौ तत्र तेषु ग्रन्थेषु, इयमग्रे जणिष्यमाणा गाथा छन्दोविशेषलक्षणा। इति गाथाद्वयार्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

तामेवाह-

जा गाउयं समत्थो, सूरादारब्भ भिक्खवेलाओ।
विहरउ एसो सप-रक्कमाउ नो विहरि तेण परं ॥४॥

सुबोधा। नवरं प्रहरद्वयेन गव्यूतमेकं यावत् गन्तुं शक्नोति चरणाभ्यां तावद्विहरतु, तदभावे स्थानस्थितेनैवासितव्यमिति तात्पर्यार्थः ॥ ४ ॥

एवमवगत्य जीवोपदेशमाह-

ता जइ तुहऽत्थि सत्ती, विज्जंते सोहणा जइ सहाया।
जीव ! तुमं तो विहरसु, अथ नो संस विहरंते ॥५॥

ततो यदि तव भवतोऽस्ति विद्यते शक्तिः सामर्थ्यं, विद्यन्ते सन्ति शोभना भव्या यदि सहायाः गीतार्थादिसाधवः, जीवाऽऽत्मन् ! ततो विहर पर्यट, अथेति विकल्पार्थे। नो नैव, ततः शंस श्लाघय विहरत आगमोक्तविधिना चरत इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ जीवा० २१ अधि०।

खंधछिरा-स्कन्धशिरा-स्त्री०। अंसधमन्याम्, तं०।

खंधणिवेस-स्कंधनिवेश-स्त्री०। सैन्यस्थापनपरिज्ञानात्मिकायां सप्तचत्वारिंशकलायाम्, स० ७४ सम०।

खंधदेस-स्कंधदेश-पुं०। स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरिणतानां बुद्धिपरिकल्पितेषु द्व्यादिप्रदेशात्मकेषु विभागेषु, ते च धर्मास्तिकायादीनां भवन्ति। जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। सूत्र०।

खंधप्पएस-स्कन्धप्रदेश-पुं०। स्कन्धानां स्कन्धत्वपरिणामपरिणतानां बुद्धिपरिकल्पिताः प्रकृष्टा देशाः निर्विभागभागाः। परमाणुषु, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०। सूत्र०।

खंधप्पभव-स्कन्धप्रभव-पुं०। स्थूडोत्पादे, "मूलाओ खंधप्पभावो दुमस्स " दश० ९ अ० १ उ०।

खंधमत-स्कन्धवत्-त्रि०। स्कन्धोऽस्यास्तीति। अतिशयितस्थूमे, बहुस्थूमे च। जी० ३ प्रति०। ज्ञा०। रा०।

खंधवीय-स्कन्धवीज पुं०। स्कन्धं स्थुडमिति प्रसिद्धम्। (स्था० ५ ठा० १ उ०) वीजं येषां ते स्कन्धवीजाः। सल्लक्यादिषु, स्था० ५

ठा० २ ठा० । सूत्र० । विपा० । दशा० । आ० म० । आचा० । इक्षु वंशवेत्रादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । तृणवनस्पतिभेदे, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

खंधसालि–स्कंधशालिन्–पुं० । दशानां महोरगाणां पञ्चमे व्यन्तरभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

खंधार–स्कन्धावार–पुं० । स्कन्ध० आ० वृ० घञ् । वाच० । "ष्कस्कयोर्नाम्नि" । ८ । २ । ४ । इति कभागस्य खः । प्रा०२पाद । कटकोत्तरणनिवासे, उत्त० २७ अ० । शकटकनिवेशे, स्था० ७ ठा० । राजबिम्बसहिते स्वचक्रे, परचक्रे च । बृ० ३ उ० । चक्रवर्त्यादिस्कन्धावारेषु आशालिक उत्पद्यते । प्रज्ञा० १ पद । राजधान्याम्, वाच० ।

खंधावार–स्कन्धावार–पुं० । 'खंधार' शब्दार्थे, बृ० ३ उ० ।

खंधावारमाण–स्कन्धावारमान–न० । सैन्यप्रमाणज्ञानलक्षणे चतुश्चत्वारिंशे कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । स० ।

खंभ–स्तम्भ–पुं० । "स्तम्भे स्तो वा ७ । २ । ८ । इति स्तस्य वा खः । "खघथधभाम्" । ७ । १ । १८७ । इति हः प्राप्तः । स्वरादित्येव इति हो न । "अनादौ" । ७ । २ । ७९ । इति न द्वित्वम् । प्रा० २ पाद । स्थूणायाम्, भावे घञ् । जडीभावे, पुं० । वाच० । प्रासादावष्टम्भहेतौ, जी० ४ प्रति० । प्रासादाधारे, ग० १ अधि० । खंभे वा कुड्ये वा अवष्टभ्य स्थानम्, इति कायोत्सर्गदोषे तृतीये, प्रव० ५ द्वार । आव० । औत्पत्तिकबुद्धौ स्तम्भोदाहरणम् । आ० क० ।

खंभतित्थ–स्तम्भतीर्थ–न० । चतुरशीतितीर्थानामन्यतमे, यत्र पाताळगङ्गाभिधः श्रीनेमिनाथः । ती० ४१ कल्प ।

खंभबाहा–स्तम्भबाहा–स्त्री० । स्तम्भपार्श्वे, जी० ३ प्रति० ।

खंभपुडंतर–स्तम्भपुटान्तर–न० । द्वौ स्तम्भौ स्तम्भपुटं, तस्यान्तरं स्तम्भपुटान्तरं, द्वयोः स्तम्भयोरन्तराले, जी० ३ प्रति० ।

खंभाइत–स्तम्भादित्य–न० । "खंभात" इति ख्याते गुर्जरदेशीयपत्तने, यत्र यशोभद्रसूरिभिर्विक्रमात् ५०२ वर्षेष्वतिक्रान्तेषु तत्रत्यानां प्रतिमानां ध्वजारोपमहः कृतः । ती० ४३ कल्प ।

खंभागरिसग–स्तम्भाकर्षक–पुं० । मन्त्रबलेन स्तम्भानामुत्पाटके, प्रभावके द्रव्यसिद्धे, आ० म० प्र० । ('मंतसिद्ध' शब्देऽस्य कथा वक्ष्यते)

खंभालण–स्तम्भालन–स्तम्भालगन–न० । स्तम्भालगने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार० ।

खंभुग्गय–स्तम्भोद्गत–त्रि० । स्तम्भेषु उद्गतो निविष्टः । भ० ६ श० ३३ उ० । स्तम्भोपरिवर्तिनि, "खंभुग्गयवइरवेइयापरिगताभिरामा" स्तम्भोद्गतवज्रवेदिकापरिगताभिरामाणि स्तम्भोद्गताभिः स्तम्भोपरिवर्तिनीभिः वज्ररत्नमयीभिर्वेदिकाभिः परिगतानि सन्ति यानि अभिरमणीयानि तानि । जी० ३ प्रति० । स्तम्भेषूद्गता निविष्टा या वज्रवेदिका तया परिगता परिकरिता अत एवाभिरामा रम्या या सा । भ० ६ श० ३३ उ० ।

खक्खर–खर्खर–पुं० । अश्वत्रासनाय चर्ममयवस्त्रविशेषे, स्फुटितवंशे च । विपा० १ श्रु० २ अ० ।

खक्खरग–खर्खरक–न० । अग्निशुष्करोटके, (खाखरा) इति ख्याते, ध० २ अधि० ।

खगइ–खगति–स्त्री० । प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतौ, कर्म०५ कर्म० ।

खगइदुग–खगतिद्विक–न० । प्रशस्तविहायोगत्यप्रशस्तविहायोगतिलक्षणे, कर्म० ५ कर्म० ।

खगमुह–खगमुख–न० । विहङ्गमतुण्डे तं० ।

खग्ग–खड्ग–पुं० । "क-ग-ट-ड-त-द-प-श-ष-स-ᳵ क ᳶ पामूर्ध्वे लुक्" ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति डलुक् । प्रा० २ पाद । "डो लः" ॥ ८ । १ । २०२ ॥ इत्यनेनासंयुक्तस्यैव लत्वम् । प्रा० १ पाद । "गुणाद्याः क्लीबे वा" ॥ ८ । १ । ३४ ॥ इति वा नपुंसकत्वम् । 'खग्गो, खग्गं' । प्रा०१ पाद । उज्ज्वलविकोशिकतकरवाले, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । तत्र प्रथमं राजककुदम् । औ० । आटव्ये चतुष्पदविशेषे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । ज्ञा० । स्था० । यस्य गच्छतो द्वयोरपि पार्श्वयोः पक्षवच्चर्माणि लम्बन्ते शृङ्गं चैकं शिरसि भवति । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । बृ० । स चाटव्यश्चतुष्पथे जनं मारयित्वा खादयति । नं० । नि० चू० । प्रज्ञा० । औ० । चोरनामगन्धद्रव्ये, वाच० ।

खग्गधेणुया–खड्गधेनुका–स्त्री० । छुरिकायाम्, "तओ गहियखग्गधेणुया मए" दर्श० ।

खग्गपुरा–खड्गपुरा–(री)–स्त्री० । सुवल्गुविजयक्षेत्रवर्त्तिनि पुरीयुगले, "दो खग्गपुराओ" । स्था० २ ठा० ३ उ० । नवयोजनविस्तारा द्वादशयोजनायामा । स्था० ७ ठा० । "सुवग्गुविजयखग्गपुरा रायहाणी गंभीरमालिणी अंतरणई" जं० ४ वक्ष० ।

खग्गी–खड्गी–स्त्री० । आवर्ताख्यविजयक्षेत्रयुगलवर्त्तिनि पुरीयुगले, "दो खग्गीओ" । स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

खग्गूड–खग्गूड–त्री० । स्निग्धमधुराद्याहारलम्पटे, बृ० १ उ० । स्वभावाद्वक्राचारे, व्य० ३ उ० । निद्रालौ, बृ० १ उ० ।

खज्ज–खाद्य–त्री० । कूरमोदकादौ, ज्ञा० १ श्रु० १० अ० । "सुकं तु खज्जगं सुइयं" शष्कुलिकामोदकादिकं सर्वमपि खाद्यं सूचितम् । बृ० २ उ० ।

खज्जगवंजणविहि–खाद्यकव्यञ्जनविधि–पुं० । खाद्यकानि अशोकवृत्तयो व्यञ्जनं तक्रादीनि शालनकानि वा तेषां ये विधयः प्रकारास्ते खाद्यकव्यञ्जनविधयः । खाद्यव्यञ्जनलक्षणभोजनप्रकारेषु, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

खज्जगविहि–खाद्यकविधि–पुं० । अशोकवृत्तिमोदकादिपरिग्रहे, पञ्चा० ५ विव० । खण्डखाद्यादिलक्षणभोजनप्रकारे, भ० १५ श० १ उ० ।

खज्जगावण–खाद्यकापण–पुं० । कुल्लूरिकाहट्टे, विशे० । कन्दोरिकापणे, आ० म० द्वि० ।

खज्जू–खर्जू–पुं० । स्त्री० । खर्ज ऊन् । कण्डूयाम्, स्था०१० ठा० । खर्जूरीवृक्षे, कीटभेदे, वाच० ।

खज्जूर–खर्जूर–पुं० । स्त्री० । खर्ज ऊरच् । 'खजूर' इति ख्याते वृक्षे, वाच० । स च संख्येयजीविकः । भ०८ श०३ उ० । प्रज्ञा० । जं० । पिण्डखर्जूरे, उत्त० ३४ अ० । तस्य फलम् अण्, तस्य लुक् । तत्फले, न० । रौप्ये, हरिताले, क्षारे, तृणजातिभेदे, स्त्री० । वाच० ।

खज्जूरमत्थय-खर्जूरमस्तक-खर्जूरमध्यवर्त्तिनि गर्भे, आचा०।

खज्जूरसार-खर्जूरसार-पुं० । मूलदलखर्जूरसारनिष्पन्ने,आसवविशेषे, जी० १ प्रति०। प्रज्ञा०।

खज्जूरीपत्तमुंज-खर्जूरीपत्रमुञ्ज-पुं० । खर्जूरीपत्रमयप्रमार्जन्यां मुञ्जमयबहुर्या वा। " खज्जूरिपत्तमुंजेण, जो पमज्जे उवस्सयं । नो दया तस्स जीवेसु, सम्मं जाणाहि गोयमा ! " ॥ ग० २ अधि० ।

खज्जोय-खद्योत-पुं० । खे द्योतते द्युत् अच्। कीटभेदे, वाच० । " जह देहपरिणामो रत्ति खज्जोअगस्स सा उवमा " देहपरिणामः प्रतिविशिष्टा शरीरशक्तिः रात्राविति विशिष्टकालनिर्देशः। खद्योतक इति प्राणिविशेषपरिग्रहः । यथा तस्याऽसौ देहपरिणामो जीवप्रयोगनिर्वृत्तशक्तिराविष्करकास्ति, एवमङ्गारादीनामपि । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

खट्ट-खट्ट-त्रि० । अम्ले, प्रज्ञा० १ पद ।

खट्टंग-खट्वाङ्ग-न० । (खाटके पाया) खट्वापादे, पट्टिकायुतखट्वावरणरूपे अङ्गे, चतुर्थव्यन्तराणां मुकुटे चिह्नं खट्वाङ्गम्। औ०।

खट्टमेह-खट्टमेघ-पुं० । अम्लजले मेघे, उत्पातमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

खट्टामल्ल-खट्वामल्ल-पुं० । प्रबलजराजर्जरितदेहतया यः खट्वाया उत्थातुं न शक्नोति तस्मिन्, बृ० १ उ० ।

खट्टिय-खट्टिक- त्रि० खट्टनमाचरणं खट्टः, स शिल्पत्वेनास्त्यस्य वुन् । जालादिना पक्षिमारके, वाच० । शौकरिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

खट्टोदग-खट्टोदक-न० । ईषदम्लपरिणते जले, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० ।

खडखडग-खटखटक-त्रि० । लघुष्वायतेषु च । जी० ३ प्रति०।

खडुग-खडुक-पुं० । टक्करे, " खडुया मे चवेडा मे " उत्त० १ अ० ।

खड्डा-स्त्री० गर्त-पुं० । रन्ध्राकारे निम्नमध्यभागे, उत्त०२अ०। भ्रमे, पञ्चा० ७ विव० ।

खड्डातड-गर्त्ततट-पुं० । श्वभ्रतटयाम्, पञ्चा० ७ विव० ।

खडुय-खडुक-पुं०। न०। टक्करे, (टकरा) व्य०१ उ०। अंगुलीयकविशेषे,औ०। ज्ञा०। मुद्रारत्ने, आ० चू०१अ०।आ०म०।

खण-क्षण-पुं० । " क्षण उत्सवे " ८ । २ । २० । इति उत्सवार्थे छः, अन्यत्र तु न । प्रा० २ पाद । बहुतरोच्छ्वासरूपे, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । मुहूर्त्ते, स्था० ४ ठा० ३ उ० । दशाभिर्लेशैः परिमिते काले, तं० । परमनिकृष्टे काले,सूत्र० १ श्रु० १ अ०१ उ० । लोचननिमेषमात्रे काले, आव० ३ अ० । संख्यातप्राणलक्षणे काले, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

स्यात् क्षणक्रमसंबन्ध-संयमाद्धिवेकजम् ।
ज्ञानं जात्यादिभिस्तच, तुल्ययोः प्रतिपत्तिकृत् ॥ १० ॥

(स्यादिति) क्षणः सर्वान्त्यः कालावयवस्तस्य क्रमः पौर्वापर्यं तत्संबन्धसंयमात्सूक्ष्मान्तरसाक्षात्करणसमर्थात् यद्विवेकजं ज्ञानं स्यात् । यदाह-"क्षणक्रमयोः संबन्धसंयमाद्विवेकजं ज्ञानमिति" (३-५२) तच्च जात्यादिभिस्तुल्ययोः पदार्थयोः प्रतिपत्तिकृत् विवेचकम् । तदुक्तम्-" जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिरिति " (३-५३) पदार्थानां भेदहेतवो हि जातिलक्षणदेशा भवन्ति, जातिः पदार्थभेत्री, यथा गौरयं महिषोऽयमिति । जात्या तुल्ययोर्लक्षणं भेदकं यथेयं कर्बुरा, इयं चारुणेति । द्वाभ्यामभिन्नयोर्देशो भेदहेतुर्यथा-तुल्यप्रमाणयोरामलकयोर्भिन्नदेशस्थितयोः। यत्र च त्रयमपि न भेदकं,यथैकदेशस्थितयोः शुक्लयोः पार्थिवयोः परमाण्वोः, तत्र संयमजनिताद्विवेकजज्ञानादेव भवति भेदधीरिति ॥ १० ॥ द्वा० २६ द्वा० । अवसरे, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

इणमेव खणं वियाणिया, णो सुलभं बोहिं च आहितं ॥
एवं सहिएऽहिपासए, आहि जिणे इणमेव सेसगा ॥ १९॥

इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात् इमं द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं, क्षणमवसरं, ज्ञात्वा तदुचितं विधेयम्। तथाहि-द्रव्यं जङ्गमत्वपञ्चेन्द्रियत्वसुकुलोत्पत्तिमानुष्यलक्षणं,क्षेत्रमप्यार्यदेशार्धषड्विंशतिजनपदलक्षणम् । कालोऽप्यवसर्पिणीचतुर्थाकरादिधर्मप्रतिपत्तियोग्यलक्षणः। भावश्च धर्मश्रवणतच्छ्रद्धानचारित्रावरणकर्मक्षयोपशमाहितविरतिप्रतिपत्त्युत्साहलक्षणः, तदेवंविधं क्षणमवसरं परिज्ञाय, तथा बोधिं च सम्यग्दर्शनावाप्तिलक्षणां नो सुलभामित्येवमाख्यातामवगम्य, तदवाप्तौ तदनुरूपमेव कुर्यादिति शेषः । अकृतधर्माणां च पुनर्दुर्लभा बोधिः । तथा हि-" लद्धेल्लियं च बोहिं, अकरेंतो अणागयं च पत्थंतो । अन्नं दाइं बोहिं, लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं" ॥ ? तदेवमुत्कृष्टतोऽपार्धपुद्गलपरावर्त्तप्रमाणकालेन पुनः सुदुर्लभा बोधिरित्येवं सहितो ज्ञानादिभिरधिपश्येत् बोधिसुदुर्लभत्वं पर्यालोचयेत् । पाठान्तरं वा (अहियासए त्ति) परीषहानुदीरणान् सम्यगधिसहेत। एतच्चाह जिनो रागद्वेषजेता नाभेयो ह्यवदत्स्वात्सुतानुद्दिश्य। तथा अन्येऽपि ह्यमेव शेषका जिना आभिहितवन्त इति, ॥ १९ ॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । पञ्चा० । विश्रामे, निर्व्यापारस्थितौ, पराधीनतायाम्, वाच० ।

खणजोइ-क्षणयोगिन्-त्रि० । परमनिकृष्टकालः क्षणः, क्षणेन योगः संबन्धः क्षणयोगः। स विद्यते येषां ते क्षणयोगिनः। क्षणमात्रावस्थायिषु, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

खणट्ठिइधम्मय-क्षणस्थितिधर्मक-त्रि० । क्षणभावस्वभावे, विशे० ।

खणण-खनन-न० । भूमिविदारणे,नि० चू० १ उ० । (भूमिखननस्य दोषा अपवादपदं च ' पडिसेवणा ' शब्दे वक्ष्यते)

खणमित्तपियरोह-क्षणमित्रप्रियरोष-त्रि० । तदैव रुष्टे तदैव अनवस्थितचित्ते, बृ० १ उ० ।

खणयन्नु-क्षणज्ञ-त्रि० । क्षण एव क्षणकोऽवसरो भिक्षार्थमुपसर्पणादिकस्तं जानाति। भिक्षाद्यवसराभिज्ञे, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

खणलवसमाहि-क्षणलवसमाधि-पुं० । क्षणलवग्रहणमशेषकालविशेषोपलक्षणम्। लवादिषु कालविशेषेषु निरन्तरं संवेगभावतो ध्यानासेवना, तस्य समाधौ, प्रव० १० द्वार ।

खणलाभदीवणा-क्षणलाभदीपना-स्त्री० । क्षणेनापि लाभस्य प्रकाशनायाम्, पञ्चा० ।

आउयपरिहाणीए, असमंजसचेट्ठियाण व विवागे ।
खणलाभदीवणाए, धम्मगुणेसुं च विविहेसु ॥४८॥

क्षणे कालविशेषे स्तोककालेऽपीत्यर्थः, लाभोऽशुभाध्यवसायेन महतोऽशुभकर्मणः शुभाध्यवसायेन च महत इतरस्यार्जनं तस्य दीपना प्रकाशना क्षणलाभदीपना। अथवा, क्षणोऽवसरो मोक्षसाधनस्य। स च द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधः- तत्र द्रव्यतो मानुषत्वं, क्षेत्रत आर्यक्षेत्रं,कालतो दुःखमसुषमादि कालविशेषो, भावतो बोधिरिति। तस्य क्षणस्य यो लाभो युगसमिलान्यायेन कष्टात्प्राप्तिस्तस्य या दीपना सा तथा, तस्याम्॥ पञ्चा०२ विव०।

खणि–खनी--स्त्री०। खन् इन् वा ङीप्। धातुरत्नादेरुत्पत्तिस्थाने, वाच०। आकरे, उत्त० १४ अ०। तं०।

खणिअवाइ–क्षणिकवादिन्–त्रि०। सर्वपदार्थानां क्षणभङ्गुरत्वप्रतिपादके शौद्धोदनिशिष्ये बौद्धे, ते च क्षणिकवादिनः एकान्तक्षणिकान् पञ्च स्कन्धान् वदन्ति। सूत्र०।

(१) स्कन्धपञ्चकप्ररूपणपुरस्सरं तन्निराकरणम्।
(२) क्षणिकत्वप्ररूपणखण्डने।
(३) क्षणिकवादिनामैहिकामुष्मिकव्यवहारानुपपत्तिरविमृश्यकारित्वं च।
(४) वासनाप्ररूपणम्।
(५) सर्वथाविनाशाभावप्ररूपणम्।
(६) क्षणभङ्गवादे यन्नोपपद्यते तन्निरूपणम्।
(७) क्षणभङ्गवादे दीक्षाया वैफल्यप्ररूपणम्।
(८) स्थविराणामश्वमित्रं प्रति शिक्षणम्।
(१०) सांप्रतं बौद्धमतं पूर्वपक्षयन् निर्युक्तिकारोपन्यस्तमफलवादाधिकारमाविर्भावयन्नाह—

पंच खंधे वयंतेगे, बालाउ खणजोइणो ।
अण्णो अणण्णो णेवाहु, हेउयं च अहेउयं ॥ १७ ॥

एके केचन वादिनो बौद्धाः पञ्च स्कन्धान् वदन्ति। रूप-वेदना-विज्ञान-संज्ञा-संस्काराख्याः पञ्चैव स्कन्धा विद्यन्ते,नापरः कश्चिदात्माख्यः स्कन्धोऽस्तीत्येवं प्रतिपादयन्ति। तत्र रूपस्कन्धः-पृथिवीधात्वादयो, रूपादयश्च॥ १॥ सुखा दुःखा अदुःखसुखा चेति वेदना वेदनास्कन्धः॥२॥ रूपविज्ञानं-रसविज्ञानमित्यादिविज्ञानं विज्ञानस्कन्धः॥ ३॥ संज्ञास्कन्धः-संज्ञानिमित्तोऽवग्रहणात्मकः प्रत्ययः॥४॥ संस्कारस्कन्धः-पुण्यापुण्यादिधर्मसमुदायः इति॥ ५॥ न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽध्यक्षेणाऽध्यवसीयते, तदव्यभिचारिलिङ्गग्रहणाऽभावात्। नाप्यनुमानेन। न च प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तमर्थाऽविसंवादि प्रमाणान्तरमस्तीत्येवं बाला इव बाला यथाऽवस्थितार्थापरिज्ञानात् बौद्धाः प्रतिपादयन्ति। तथा ते स्कन्धाः क्षणयोगिनः परमनिकृष्टः कालः क्षणः, क्षणेन योगः संबन्धः क्षणयोगः, स विद्यते येषां ते क्षणयोगिनः,क्षणमात्राऽवस्थायिन इत्यर्थः। तथा च तेऽभिदधति-स्वकारणेभ्यः पदार्थ उत्पद्यमानः किं विनश्वरस्वभाव उत्पद्यतेऽविनश्वरस्वभावो वा ?। यद्यविनश्वरः ततस्तद्व्यापिन्या क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाया अभावात् पदार्थस्यापि व्याप्यस्याभावः प्रसजति। तथाहि—यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थतः सदिति। स च नित्योऽर्थः क्रियायां प्रवर्तमानः क्रमेण वा प्रवर्तते, यौगपद्येन वा ?। न तावत्क्रमेण, यतो ह्येकस्याऽर्थक्रियायाः काले तस्यापरार्थक्रियाकरणस्वभावो विद्यते वा, न वा ?। यदि विद्यते किमिति क्रमकरणम् ?। सहकार्यपेक्षयेति चेत्। तेन सहकारिणा तस्य कश्चिदतिशयः क्रियते, न वा ?। यदि क्रियते किं पूर्वस्वभावपरित्यागेनापरित्यागेन वा ?। यदि परित्यागेन, ततोऽतादवस्थ्यापत्तेरनित्यत्वम्। अथ पूर्वस्वभावापरित्यागेन, ततोऽतिशयाभावात्किं सहकार्यपेक्षया ?। अथाकिञ्चित्करोऽपि विशिष्टकार्यार्थमपेक्षते। तदयुक्तम्। यतः "अपेक्षेत परं कश्चि-द्यदि कुर्वीत किञ्चन। यदि किञ्चित्करं वस्तु, किं केनचिदपेक्ष्यते ?" ॥ १॥ अथ तस्यैकार्थक्रियाकरणकालेऽपरार्थक्रियाकरणस्वभावो न विद्यते। तथा च सति स्पष्टैव नित्यताहानिः। अथासौ नित्यो यौगपद्येनाऽर्थक्रियां कुर्यात्तथा सति प्रथमक्षण एवाऽशेषार्थक्रियाणां करणात् द्वितीयक्षणेऽकर्तृत्वमायातम्। तथा च-सैवानित्यता। अथ तस्य तत्स्वभावत्वात्ता एवार्थक्रिया भूयो भूयो द्वितीयादिक्षणेष्वपि कुर्यात्। तदसांप्रतम्। कृतस्य करणाभावादिति। किं च-द्वितीयादिक्षणसाध्या अप्यर्थाः प्रथमक्षण एव प्राप्नुवन्ति, तस्य तत्स्वभावत्वात्। अतस्तत्स्वभावत्वे च तस्यानित्यत्वापत्तिरिति। तदेवं नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरहान्न स्वकारणेभ्यो नित्यस्योत्पाद इति। अथाऽनित्यस्वभावः समुत्पद्यते। तथा च सति विघ्नाभावादायातमस्मदुक्तमशेषपदार्थजातस्य क्षणिकत्वम्। तथा चोक्तम्—"जातिरेव हि भावानां, विनाशे हेतुरिष्यते। यो जातश्च न च ध्वस्तो, नश्येत्पश्चात्स केन च ?" ॥ १॥ ननु च सत्यप्यनित्यत्वे यस्य यदा विनाशहेतुसद्भावस्तस्य तदा विनाशः। तथा च स्वविनाशकारणापेक्षाणामनित्यानामपि पदार्थानां न क्षणिकत्वमित्येतच्चानुपासितगुरोर्वचः। तथाहि-तेन मुद्गरादिकेन विनाशहेतुना घटादेः किं क्रियते? किमत्र प्रष्टव्यम् ?। अभावः क्रियते। अत्र च प्रष्टव्यो देवानांप्रियः-अभाव इति किं पर्युदासप्रतिषेधोऽयम्,उत प्रसज्यप्रतिषेध इति ?। तत्र यदि पर्युदासस्ततोऽयमर्थो भावादन्यो भावो भावान्तरं घटात्पटादिः सोऽभाव इति। तत्र भावान्तरे यदि मुद्गरादिव्यापारो न तर्हि तेन किञ्चिद् घटस्य कृतमिति। अथ प्रसज्यप्रतिषेधस्तदा यथार्थो विनाशहेतुरभावं करोति। किमुक्तं भवति?-भावं न करोतीति। ततश्च क्रियाप्रतिषेध एव कृतः स्यात्। न च घटादेः पदार्थस्य मुद्गरादिना करणम्। तस्य स्वकारणैरेव कृतत्वात्। अथ भावाभावोऽभावस्तं करोतीति, तस्य तुच्छस्य नीरूपत्वात्। कुतस्तत्र कारणानां व्यापारोऽथ तत्रापि कारणव्यापारो भवेत्,खरशृङ्गादावपि व्याप्रियेरन् कारणानीति। तदेवं विनाशहेतोरकिञ्चित्करत्वात् स्वहेतुत एवाऽनित्यताकोडीकृतानां पदार्थानामुत्पत्तेर्विघ्नहेतोश्चाभावात् क्षणिकत्वमवस्थितमिति। तुशब्दः पूर्वादिभ्योऽस्य व्यतिरेकप्रदर्शकः। तमेव श्लोकपश्चार्धेन दर्शयति-(अण्णो अणण्णो इति) ते हि बौद्धा यथाऽऽत्मषष्ठवादिनः-सांख्यादयो भूतव्यतिरिक्तमात्मानमभ्युपगतवन्तः। यथा चार्वाका भूताऽव्यतिरिक्तं चैतन्याख्यमात्मानमिष्टवन्तस्तथा नैवाहुर्नैवोक्तवन्तः। तथा हेतुभ्यो जातो हेतुकः, कायाकारपरिणतभूतनिष्पादित इति यावत्। तथाऽहेतुकोऽनाद्यपर्यवसितत्वान्नित्य इत्येवमात्मानं ते बौद्धा नाऽभ्युपगतवन्त इति॥१७॥ (सूत्र०) यदि पञ्चस्कन्धव्यतिरिक्तः कश्चिदात्माख्यः पदार्थो न विद्यते, ततस्तदभावात्सुखदुःखादिकं कोऽनुभवतीत्यादिगाथा प्राग्वद् व्याख्येयेति। तदेवमात्मनोऽभावाद्योऽयं स्वसंविदितः सुखदुःखानुभवः स कस्य भवत्विति चिन्त्यताम् ?।

ज्ञानस्कन्धस्यायमनुभव इति चेत् । न। तस्यापि क्षणिकत्वात्। ज्ञानक्षणस्य चातिसूक्ष्मत्वात्सुखदुःखानुभवाभावः। क्रियाफलवतोश्च क्षणयोरत्यन्तासङ्गतेः कृतनाशाकृताभ्यागमाऽऽपत्तिरिति ज्ञानसन्तान एकोऽस्तीति । तस्यापि सन्तानिव्यतिरिक्तस्याभावात् यत्किञ्चिदेतत् । पूर्वक्षण एव उत्तरक्षणे वासनामाधाय विनङ्क्ष्यतीति चेत् । तथाचोक्तम्-" यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना। फलं तत्रैव संधत्ते, कार्पासे रक्तता यथा" ॥१॥ अत्रापीदं विकल्प्यते-सा वासना किं क्षणेभ्यो व्यतिरिक्ता, अव्यतिरिक्ता वा ?। यदि व्यतिरिक्ता,वासकत्वानुपपत्तिः। अथाव्यतिरिक्ता क्षणवत्क्षणक्षयित्वं तस्याः। तदेवमात्माभावे सुखदुःखानुभवाभावः स्यादस्ति च सुखदुःखानुभवोऽतोऽस्त्यात्मेति । अन्यथा पञ्चविषयानुभवोत्तरकालमिन्द्रियज्ञानानां स्वविषयादन्यत्राप्रवृत्तेः सङ्कलनाप्रत्ययो न स्यात् । आलयविज्ञानाद्भविष्यतीति चेत् । आत्मैव तर्हि संज्ञाऽन्तरेणाभ्युपगत इति । तथा बौद्धागमोऽप्यात्मप्रतिपादकोऽस्ति । स चायम्-" इत एकनवतेः कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः । तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः " ॥ १ ॥ तथा-" कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि, तनूभवन्त्यात्मनिगर्हणेन । प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषा-मत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि "॥२॥ इत्येवमादि। सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

(२) शौद्धोदनिशिष्यः समाचष्टे-

अहो ! कष्टः शिष्टैरुपक्रान्तोऽयमेकस्यानेककालावस्थितिवादः। यतः-प्रतिक्षणभङ्गुरभावावभासनायामेव हि प्रमाणमुद्रा साक्षिणी । तथाहि-यत्सत्तत्क्षणिकं, सँश्च विवादाध्यासितः शब्दादिः। सत्त्वं तावद्यत्किञ्चिदन्यत्रास्तु, प्रस्तुते तावदर्थक्रियाकारित्वमेव मे संमतं,तच्च शब्दादौ धर्मिणि प्रत्यक्षप्रमाणप्रतीतमेव। विपक्षाच्च व्यापकानुपलब्ध्या व्यावृत्तम् । सत्त्वस्य हि क्षणिकत्वव्यापकक्रमाक्रमावपि व्यापकावेव । न हि क्रमाक्रमाभ्यामन्यः प्रकारः शङ्कितुमपि शक्यते, व्याघातस्योद्भटत्वात्, न क्रम इति निषेधादेवाक्रमोपगमात्, नाक्रम इति निषेधादेव च क्रमोपगमात् । तौ च क्रमाक्रमौ स्थिराद्व्यावर्त्तमानावर्थक्रियामपि ततो व्यावर्त्तयतः । वर्त्तमानार्थक्रियाकरणकाले ह्यतीतानागतयोरप्यर्थक्रिययोः समर्थत्वे तयोरपि करणप्रसङ्गः। असमर्थत्वे पूर्वापरकालयोरप्यकरणाऽऽपत्तिः। समर्थोऽप्यपेक्षणीयासन्निधेर्न करोति, तत्सन्निधेस्तु करोतीति चेत् । ननु किमर्थं सहकारिणामपेक्षा ?, किं स्वरूपलाभार्थम्, उतोपकारार्थम्, अथ कार्यार्थम् । न प्रथमः, स्वरूपस्य कारणाधीनत्वान्नित्यस्य वा पूर्वसिद्धत्वात् । न द्वितीयः, स्वयं सामर्थ्येऽसामर्थ्ये वा तस्यानुपयोगात् । तथा च-" भावः स्वतः समर्थश्चे-दुपकारः किमर्थकः ?। भावः स्वतोऽसमर्थश्चे-दुपकारः किमर्थकः ?" ॥१॥ अत एव न तृतीयः । उपकारवत्सहकारिणामप्यनुपयोगात् । तथा च-" भावः स्वतः समर्थश्चेत्, पर्याप्तं सहकारिभिः । भावः स्वतोऽसमर्थश्चेत्, पर्याप्तं सहकारिभिः " ॥ १ ॥ अनेकाधीनस्वभावतया कार्यमेव तानपेक्षत इति चेत् । न । तस्यास्वतन्त्रत्वात्, स्वातन्त्र्ये वा कार्यत्वव्याघातात्, तद्धि तच्छाकल्येऽपि स्वातन्त्र्यादेव न भवेदिति। एवं च यत्क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाकारि न भवति,तदसत्,यथा गगनेन्दीवरं,तथा चाक्षणिकाभिमतो भाव इति व्यापकानुपलब्धिरुक्लिष्टैव । तथा च-क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकयोर्व्यावृत्तेरक्षणिकाद् व्यावर्त्तमानार्थक्रिया क्षणिके वि-

श्राम्यतीति प्रतिबन्धसिद्धिः ॥ (उत्तरम्) अत्राचक्ष्महे-ननु क्षणभिदेलिमभावाभिधायिभिक्षुणा कारणग्राहिणः,कार्यग्राहिणः,तद्द्वयग्राहिणो वा प्रत्यक्षादर्थक्रियाकारित्वप्रतीतिः प्रोच्येत, यतस्तच्च शब्दादौ धर्मिणि प्रत्यक्षप्रमाणप्रतीतमेवेत्युक्तं युक्तं स्यात् । न तावत्पौरस्त्यात्, तस्य कारणमात्रमन्त्रणपरायणत्वेन कार्यं किंचिदस्तीकुर्वत्त्वात् । नापि द्वितीयात्, तस्य कार्यमात्रपरिच्छेदनिर्गुणत्वेन कारणावधारणवन्ध्यत्वात् । तदुभयावभासे चेदमस्य कारणं, कार्यं चेत्यर्थक्रियाकारित्वावसायोत्पादात् । वस्तुस्वरूपमेव कारणत्वं, कार्यत्वं चेति तदन्यतरपरिच्छेदेऽपि तद्बुद्धिसिद्धिरिति चेत्, एवं तर्हि नालिकेरद्वीपवासिनोऽपि वह्निदर्शनादेव तत्र धूमजनकत्वनिश्चयस्य, धूमदर्शनादेव वह्निजन्यत्वनिश्चयस्य च प्रसङ्गः । नापि तृतीयात् , कार्यकारणोभयग्राहिणः प्रत्यक्षस्यासंभवात्, तस्य क्षणमात्रजीवित्वात्, अन्यथाऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात्। तदुभयसामर्थ्यसमुद्भूतविकल्पप्रसादात् तदवसाय इति चेत्,तर्हि कथं प्रत्यक्षेण तत्प्रतीतिः। प्रत्यक्षव्यापारपरामर्शित्वाद्विकल्पस्य तद्द्वारेण प्रत्यक्षमेव तद्ग्राहकमिति चेत् । ननु न कार्यकारणग्राहिणोरन्यतरेणापि प्रत्यक्षेण प्राक्कार्यकारणभावो भासयामासे, तत्कथं विकल्पेन तद्व्यापारः परामृश्येत ?, इति न क्षणिकवादिनः कापि अर्थक्रियाप्रतीतिरस्तीति वाद्यसिद्धं सत्त्वम्। संदिग्धानैकान्तिकं च,क्षणिकाऽक्षणिके क्षणिकैकान्तविपक्षे क्रमाक्रमव्यापकानुपलम्भस्यासिद्धत्वेन तद्व्याप्तार्थक्रियायास्ततो व्यावृत्त्यनिर्णयात्। यतः-किञ्चित्कृत्वाऽन्यस्य करणं हि क्रमः। अयं च कलशस्य कथञ्चिदेकरूपस्यैव क्रमवत् सहकारिकारणकलापाढौकनवशेन क्रमेण घटचेटिकामस्तकोपरि पर्यटनात् तासां कलमं कुर्वतः सुप्रतीत एव। अत्र हि भवानत्यन्ततार्किकंमन्योऽप्येतदेव वक्तुं शक्नोति, यस्मादर्कोपक्रियाधर्मणः समर्थस्वभावादेकं कार्यमुदपादि,स एव चेत्पूर्वमप्यस्ति, तदा तत्कालवत्तदैव तद्विदधानः कथं वार्यताम् ?। "कार्याणि हि विलम्बन्ते,कारणासन्निधानतः। समर्थहेतुसद्भावे,क्षेपस्तेषां नु किं कृतः ?" ॥१॥ इति । नैतदवदातम्। एकान्तेनाक्षेपक्रियाधर्मत्वानभ्युपगमात् द्रव्यरूपशक्त्यपेक्षया हि तत्समर्थमभिधीयते, पर्यायशक्त्यपेक्षया त्वसमर्थमिति । यदेव हि कुशूलमूलावलम्बि बीजद्रव्यम्, तदेवावनिपवनवनाऽऽतपसमर्पितातिशयविशेषस्वरूपपर्यायशक्तिसमन्वितमङ्कुरं करोति। नन्वसौ पर्यायशक्तिः कुशूलमूलावस्थानावस्थायामविद्यमाना,क्षेत्रक्षितिक्षेपक्षणे तु संपद्यमाना बीजद्रव्यादभिन्ना वा स्यात्,अभिन्ना वा,भिन्नाभिन्ना वा ?। यदा भिन्ना,तदा किमनया काणनेत्राञ्जनरेखाप्रख्यया ?। विभिन्नाः सन्निधिभाजः संवेदनकोटीमुपागताः सहकारिण एवासताम् । अथ सहकारिणः कमपि बीजस्यातिशयविशेषमपोषयन्तः कथं सहकारितामपि प्राप्नुयुः ?, इति चेत्, तर्हि अतिशयोऽप्यतिशयान्तरमनारचयन् कथं तत्तां प्राप्नुयात् ?। अथायमारचयति तदन्तरं, तर्हि समुपस्थितमनवस्थादौःस्थ्यम् । अथाभिन्नाभावात् पर्यायशक्तिः, तर्हि तत्करणे स एव कृत इति कथं न क्षणिकत्वम् ?। भिन्नाभिन्नपर्यायशक्तिपक्षोऽप्येष क्षणिकत्वमनर्पयन् न कुशलीति । अत्र ब्रूमः- एषु चरम एव पक्षः कक्षीक्रियते । नचात्र कलङ्कः कश्चिद्, द्रव्यांशद्वारेणाक्षणिके वस्तुनि पर्यायांशद्वारेण क्षणिकत्वोपगमात्, क्षणिकैकान्तस्यैव कुट्टयितुमुपक्रान्तत्वात् । क्षणिकपर्यायेभ्योऽव्यतिरेकात् क्षणिकमेव द्रव्यं प्राप्नोतीति चेत् । न । व्यतिरेकस्यापि संभवात् । न च व्यतिरेकाऽव्यतिरेकाव्नेकस्य

विरुध्येते । न हि नञः प्रयोगाप्रयोगमात्रेण विरोधगतिः, अतिप्रसङ्गात् ।

"दलति हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा न तु भिद्यते,
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम् ।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्,
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्" ॥ १ ॥

इत्यादिष्वपि तत्प्राप्तेः । न च स्थिरभावस्यापि येनैव रूपेण व्यतिरेकं, तेनैवाव्यतिरेकं व्याकुर्महे । द्रव्यमेतत्, एते च पर्याया इतिरूपेण हि व्यतिरेकः, वस्त्वेतदितिरूपेण त्वव्यतिरेकः । एकमेव च विज्ञानक्षणं सविकल्पाविकल्पकं, भ्रान्ताभ्रान्तं, कार्यं कारणं चायं स्वयमेव स्वीकरोति, भेदाभेदे तु विरोधप्रतिरोधमभिदधातीति महासाहसिकः, इति क्षणिकाक्षणिकेऽपि क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियायाः संभवात् सिद्धं संदिग्धानैकान्तिकं सत्त्वम् । क्षणिकैकान्ते ताभ्यामर्थक्रियाया अनुपपत्तेर्विरुद्धं वा । तथाहि-क्रमस्तावत् द्वेधा, देशक्रमः, कालक्रमश्च । तत्र देशक्रमो यथा-तरलतरतरङ्गपरम्परोत्सरणरमणीयश्रेणीभूतश्वेतच्छदमिथुनानाम् । कालक्रमस्त्वेकस्मिन्कलशे क्रमेण मधुमधूकबन्धूकशम्बूकादीनां धारणक्रियां कुर्वाणे । क्षणिकैकान्ते तु द्वयोरप्येतयोरभाव एव । येन हि वस्तुना कस्मिन्देशे, काले वा किञ्चित्कार्यमर्जयामासे, तत्रैव, तदानीमेव च निरन्वयमनश्यत, ततो देशान्तरकालान्तरानुसरणव्यसनशालिनः कस्याप्येकस्यासंभवात् क नाम क्षणिकैकान्ते क्रमोऽस्तु ? । नाप्यत्र यौगपद्यमनवद्यम् । यतः क्षणिकानंशस्वरूपं रूपं युगपदेव स्वकार्याणि कार्याणि कुर्वाणं येनैव स्वभावेन स्वोपादेयं रूपमुत्पादयति तेनैव ज्ञानक्षणमपि, यद्वा-येनैव ज्ञानक्षणं तेनैव रूपक्षणमपि, स्वभावान्तरेण वा ?। प्राचिपक्षे, ज्ञानस्य रूपस्वरूपत्वापत्तिः । रूपोत्पादैकस्वभावाभिनिर्वर्त्यत्वात्, रूपस्वरूपवत् । द्वितीये, रूपस्य ज्ञानरूपतापत्तिः, ज्ञानोत्पादनैकस्वभावसंपाद्यत्वात्, ज्ञानस्वरूपवत् । तृतीये रूपक्षणस्य क्षणिकानंशस्वरूपस्यापत्तिः, स्वभावभेदस्य भेदकस्य सद्भावात् । अथानंशैकस्वरूपमपि रूपं सामग्रीभेदाद्भिन्नकार्यकारि भविष्यति को दोष इति चेत्, तर्हि नित्यैकरूपोऽपि पदार्थस्तत्तत्सामग्रीभेदात्तत्तत्कार्यकर्ता भविष्यतीति कथं क्षणिकैकान्तसिद्धिः स्यात् ?। ततो न क्षणिकैकान्ते क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियासंभवतीति सिद्धं विरुद्धं सत्त्वमिति ॥ यदप्याचक्षते भिक्षवः क्षणक्षयैकान्तप्रसाधनाय प्रमाणम्-ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षाः ते तद्भावनियताः, यथा अन्त्या कारणसामग्री स्वकार्यजनने, विनाशं प्रत्यनपेक्षाश्च भावा इति । तत्र विनाशं प्रत्यनपेक्षत्वमसिद्धतावष्टम्भमेव नोच्छ्वसितुमपि शक्नोतीति कथं वस्तूनां विनाशनैयत्यसिद्धौ सावधानतां दध्यात् ?। तथाहि-तरस्विपुरुषप्रेरितप्रचण्डमुद्गरसंपर्कात् कुम्भादयो ध्वंसमानाः समीक्ष्यन्ते । न त्वेतत्साधनसिद्धिबद्धकक्षेष्वस्मासु सत्सु कथमसिद्धताऽभिधातुं शक्या ?। तथाहि-वेगवन्मुद्गरादिर्नाशहेतुर्नश्वरं वा भावं नाशयति, अनश्वरं वा । तत्रानश्वरस्य नाशहेतुशतोपनिपातेऽपि नाशानुपपत्तिः, स्वभावस्य गीर्वाणप्रभुणाऽप्यन्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । नश्वरस्य च नाशे तद्धेतूनां वैयर्थ्यम् । न हि स्वहेतुभ्य एवावाप्तस्वभावे भावे भावान्तरव्यापारः फलवान्, तदनुपरतिप्रसक्तेः । उक्तं च-"भावो हि नश्वरात्मा चेत्, कृतं प्रलयहेतुभिः । अथाप्यनश्वरात्माऽसौ, कृतं प्रलयहेतुभिः" ॥१॥ अपि च भावात् पृथग्भूतो नाशो नाशहेतुभ्यः स्यात्, अपृथग्भूतो वा ?। यद्यपृथग्भूतस्तदा भाव एव तद्धेतुभिः कृतः स्यात्, तस्य च स्वहेतोरेवोत्पत्तेः कृतस्य करणायोगात् तदेव तद्धेतुवैयर्थ्यम् । अथ पृथग्भूतोऽसौ, तदा भावसमकालभावी, तदुत्तरकालभावी वा स्यात् ?। तत्र समकालभावित्वे निर्भरप्रतिबन्धबन्धुरबान्धवयोरिव भावाभावयोः समकालमेवोपलम्भो भवेत् अविरोधात् । तदुत्तरकालभावित्वे तु घटादेः किमायातं ?, येनासौ स्वोपलम्भं स्वार्थक्रियां च न कुर्यात् । न हि तन्त्वादेः समुत्पन्ने पटे घटः स्वोपलम्भं स्वार्थक्रियां च कुर्वन् केनचित्प्रतिषेद्धुं शक्यः । ननु पटस्याविरोधित्वान्न तदुत्पत्तौ तदभावः, अभावस्य तु तद्विपर्ययादसौ स्यात् । ननु किमिदमस्य विरोधित्वं नाम ?। नाशकत्वं, नाशस्वरूपत्वं वा । नाशकत्वं चेत्, तर्हि मुद्गरादिवन्नाशोत्पादद्वारेणानेन घटादिरुन्मूलनीयः; तथा च तत्रापि नाशेऽप्ययमेव पर्यनुयोग इत्यनवस्था । नाशस्वरूपत्वं चेत् । नन्वेवमर्थान्तरत्वाविशेषात् कथं कूटस्यैवासौ स्यात्?, अन्यस्यापि कस्मान्नोच्यते ?। तत्संबन्धित्वेन करणादिति चेत्, कः संबन्धः ?। कार्यकारणभावः, संयोगः, विशेषणीभावः, अविष्वग्भावो वा ?। न प्राच्यः पक्षः, मुद्गरादिकार्यत्वेन तदभ्युपगमात् । न द्वितीयः, तस्याद्रव्यत्वात्, कुटादिसमकालतापत्तेश्च । न तृतीयः, भूतलादिविशेषणतया तत्स्वीकारात् । तुरीये त्वविष्वग्भावः सर्वथा भेदः, कथञ्चिद् भेदो वा भवेत् । नाद्यः पक्षः, पृथग्भूतत्वेनास्य कक्षीकारात् । न द्वितीयः, विरोधावरोधात् । इति नाशहेतोरयोगतः सिद्धं वस्तूनां तं प्रत्यनपेक्षत्वमिति । तदेतदेतस्य समस्तमुत्पादेऽपि समानं पश्यतः प्रध्वंस एव पर्यनुयुञ्जानस्य लूनैकलोचनतामाविष्करोति । तथाहि-उत्पादहेतुरपि सत्स्वभावस्य, असत्स्वभावस्य वा भावस्योत्पादकः स्यात् । न सत्स्वभावस्य, तस्य कृतोपस्थायिताप्रसङ्गात् । नाप्यसत्स्वभावस्य, स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्तेः, अभ्युपगमविरोधाच्च । न ह्यसत्स्वभावजन्योत्पादकत्वमिष्यते त्वया । अथाऽनुत्पन्नस्यासत्त्वादुत्पन्नस्य सत्स्वभावत्वाद्व्यर्थो विकल्पयुगलोपन्यासपरिश्रम इति चेत् । नैवम् । नष्टेतरविकल्पापेक्षयाऽस्य नाशेऽपि तुल्यत्वात् । तथा च-"भावो भवत्स्वभावश्चेत्, कृतमुत्पादहेतुभिः । अथाभवत्स्वभावोऽसौ, कृतमुत्पादहेतुभिः" ॥१॥ तथाऽयमुत्पद्यमानाद् व्यतिरिक्तः, अव्यतिरिक्तो वा । तत्र जन्याव्यतिरिक्तोत्पादजनकत्वेन जन्यस्योत्पादः, जन्याद् व्यतिरिक्तत्वेनोत्पादस्य कस्यचिदयोगात् । न हि कथञ्चित् भिन्नमुत्पादमन्तरेण तदेवोत्पद्यत इत्यपि वक्तुं शक्यते, किं तु वस्त्विदमित्येव वक्तुं शक्यम् । न च तथा तदुत्पादः कथितः स्यात् । उत्पद्यमानाद् व्यतिरिक्तोत्पादजनकतायां न तस्योत्पादः, तद्वदन्यस्यापि वा कथमसौ न भवेत् ?। तस्यैव संबन्धिनस्तस्य करणादिति चेत् । तदप्यवद्यम् । उत्पादेनापि साकं कार्यकारणभावादेस्त्वन्मतेन संबन्धस्यासंभवात् । तस्मादेयमीदृग्विकल्पपरिकल्पजल्पाकता परिशीलनीया । इदं पुनरिहैदंपर्यम् । यथा दण्डचक्रचीवरादिकारणकलापसहकृतात् मृत्स्नालक्षणोपादानकारणात् कुम्भ उत्पद्यते, तथा वेगवद्मुद्गरसहकृतात् तस्मादेव विनश्यत्यपि । नचैकान्तेन विनाशः कलशाद्भिन्न एव, मृल्लक्षणैकद्रव्यतादात्म्यात् । विरोधित्वं चास्य विनाशरूपत्वमेव । न चैवं घटवत् पटस्यापि तदापत्तिः, मृद्द्रव्यतादात्म्येनैवावस्थानादुत्पादवत् । न च सर्वथा तादात्म्यं, तदन्यतरस्यासत्त्वापत्तेः । न चैवमत्र विरोधावरोधः, चित्रैकज्ञानवदन्यथोत्पादेऽपि तदापत्तेः । इत्यसिद्धं विनाशं प्रत्यनपेक्षत्वम-

र्यानाम् । अतः कथं क्षणभिदेलिमभावस्वभावसिद्धिः स्यात् ? । एवं च सिद्धं पूर्वापरपरिणामव्यापकमूर्द्धतासामान्यस्वभावं समस्तं वस्त्विति ॥ ५ ॥ अथ विशेषस्य प्रकारौ प्रकाशयन्ति-

विशेषोऽपि द्विरूपो, गुणः, पर्यायश्चेति ॥ ६ ॥

सर्वेषां विशेषाणां वाचकोऽपि पर्यायशब्दो गुणशब्दस्य सहवर्त्तिविशेषवाचिनः सन्निधानेन क्रमवर्त्तिविशेषवाची गोबलीवर्दन्यायादत्र गृह्यते ॥ ६ ॥

तत्र गुणं लक्षयन्ति-

गुणः सहभावी धर्मो यथाऽऽत्मनि विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादिरिति ॥ ७ ॥

सहभावित्वमत्र लक्षणम् । यथेत्यादिकमुदाहरणम् । विज्ञानव्यक्तिर्यत्किञ्चिज्ज्ञानं तदानीं विद्यमानम् । विज्ञानशक्तिरुत्तरज्ञानपरिणामयोग्यता । आदिशब्दात् सुखपरिस्पन्दयौवनादयो गृह्यन्ते ।

पर्यायं प्ररूपयन्ति-

पर्यायस्तु क्रमभावी, यथा तत्रैव सुखदुःखादिरिति ॥८॥

धर्म्म इत्यनुवर्त्तनीयम् । क्रमभावित्वमिह लक्षणम् । परिशिष्टं तु निदर्शनम् । तत्रेत्यात्मनि । आदिशब्देन हर्षविषादादीनामुपादानम् । अयमर्थः-ये सहभाविनः सुखज्ञानवीर्यपरिस्पन्दयौवनादयः, ते गुणाः, ये तु क्रमवृत्तयः सुखदुःखहर्षविषादादयः, ते पर्यायाः । नन्वेवं त एव गुणास्त एव पर्याया इति कथं तेषां भेदः ?, इति चेत् । मैवम् । कालाभेदविभेदविवक्षया तद्भेदस्यानुभूयमानत्वात् । न चैवमेषां सर्वथा भेद इत्यपि मन्तव्यम्; कथञ्चिद्भेदस्याप्यविरोधात् । न खल्वेषां स्तम्भकुम्भादिवद्भेदः, नापि स्वरूपवद् भेदः, किं तु धर्म्यपेक्षयाऽभेदः, स्वरूपापेक्षया तु भेदः इति ॥ अथैतदाकर्ण्य यौगाः शालूककण्टकाक्रान्तमर्माण इवोत्सवन्ते-यदि धर्म्यपेक्षया धर्मिणो धर्मा अभिन्ना भवेयुस्तदा तद्वत्तस्यापि भेदापत्तेः प्रत्यभिज्ञाप्रतिपन्नैकत्वव्याहतिरिति । तच्चावितथम् । कथञ्चित्तद्भेदस्याभीष्टत्वात्, प्रत्यभिज्ञायाश्च कथञ्चिदेकत्वगोचरत्वेनाबाधनात्, नित्यैकान्तस्य प्रमाणभूमित्वात् । तथाहि-यद्यसौ नित्यैकस्वरूपः पदार्थो वर्तमानार्थक्रियाकरणकालवत् पूर्वापरकालयोरपि समर्थः स्यात्, तदा तदानीमपि तत्क्रियाकरणप्रसङ्गः । अथासमर्थः पूर्वं पश्चाच्चाऽयं स्यात्, तदा तदानीमिव वर्तमानकालेऽपि तत्करणं कथं स्यात् ? । अथ समर्थोऽप्ययमपेक्षणीयासंनिधेर्न करोति, तत्संनिधौ तु करोतीति चेत् । ननु केयमपेक्षा नाम ?; किं तैरुपकृतः करोतीत्युपकारभेदः ?, किं वा तैः सह करोतीत्यन्वयरूपर्यवसायी स्वभावभेदः, अथ तैर्विना न करोतीति व्यतिरेकनिष्ठं स्वरूपं, यद्वा-सहकारिषु सत्सु करोति, तद्विरहे तु न करोतीति तदुभयावष्टम्भिवस्तुरूपम् । तत्र प्राच्यः प्रकारस्तावदसारः, अनवस्थाराक्षसीकटाक्षितत्वात् । तथाहि-उपकारेऽपि कर्तव्ये सहकार्यन्तरमपेक्षणीयम्, उपकरणीयं च तेनापीत्युपकारपरम्परा समापततीत्यनवस्था । तथाऽमी उपकारमारभमाणा भावस्वभावभूतम्, अतत्स्वभावं वाऽऽरभेरन् । स्वभावभूतोपकारारम्भभेदे भावस्याप्युत्पत्तिरापतति । न ह्यनुत्पद्यमानस्योत्पद्यमानः स्वभावो भवति, विरुद्धधर्माध्यासात् । द्वितीयपक्षे तु धर्मिणः किमायातम् ? । न ह्यन्यस्मिन् जाते विनष्टे वाऽन्यस्य किञ्चिद्भवति, अतिप्रसङ्गात्, अथ तेनाऽपि तस्य किञ्चिदुपकारान्तरमारचनीयमित्येषाऽपरा अनवस्था । तैः सह करोतीत्यादिपक्षोऽपि नाक्षूणः, स्वभावस्य तादवस्थ्यात् । न ह्यस्य सहकारिव्यावृत्तौ स्वभावव्यावृत्तिरिति तैर्विनाऽपि कुर्यात् । ननु यत एव सहकारिव्यावृत्तावस्य स्वभावो न व्यावर्तते, अत एव तैर्विनाऽपि न करोति । कुर्वाणो हि तैः सहैव करोतीति स्वभावं जह्यात् । स तर्हि स्वभावभेदः सहकारिसाहित्ये सति कार्यकरणनियतः सहकारिणो न जह्यात्, प्रत्युत पलायमानानपि गले पादिकयोपस्थापयेद्, अन्यथा स्वभावहानिप्रसङ्गात् । अत एव न तृतीयोऽपि । कर्तृस्वभावापरावृत्तेः । अथ तद्विरहाकर्तृस्वभावः, तर्हि कालान्तरेऽपि स्वहेतुवशादुपसर्पतोऽपि सहकारिणः पराणुद्य न कुर्यात्, तद्विरहाकर्तृशीलः खल्वयमिति । तुरीयभेदे विरुद्धधर्माध्यासः, यः खलु सहकारिसहितः, स कथं तद्विरहितः स्यात्, तथा च भावभेदो भवेत् । अथायं कालभेदेन सुपरिहर एव; अन्यदा हि सहकारिसाकल्यम्, अन्यदा च तद्वैकल्यमिति । तदसत् । धर्मिणोऽनतिरेकात् । कालभेदेऽपि ह्येक एव धर्मी स्वीचक्रे । तथा चास्य कथं तत्साकल्यवैकल्ये स्याताम् ?, सत्त्वे वा सिद्धो धर्मिभेदः । अथ सहकारिसाकल्यं, तद्वैकल्यं च धर्मः । न च धर्मभेदेऽपि धर्मिणः किञ्चित्, ततो भिन्नत्वात्तेषामिति चेत् । अस्तु तावदेकान्तभिन्नधर्मधर्मिवादापवाद एव पृष्ठः परीहारः । तत्त्वेऽपि न साकल्यमेव कार्यमर्जयति, किं तु सोऽपि पदार्थः । तथा च तस्य भावस्य यादृशश्चरमक्षणेऽक्षेपक्रियाधर्मस्वभावः, तादृश एव चेत्प्रथमक्षणेऽपि, तदा तदैवासौ प्रसह्य कुर्वाणो गीर्वाणशापेनापि नापहस्तयितुं शक्यः । यथा हि विरुद्धधर्माध्यासेन भेदप्रसङ्गपरिहाराय साकल्यवैकल्यलक्षणौ धर्मौ भिन्नस्वभावौ परिकल्पितौ तौ, तथा न सोऽप्यक्षेपक्रियाधर्मस्वभावो भावाद्भिन्न एवाभिधातुं शक्यः, भावस्याकर्तृत्वप्रसङ्गात् । ततः सिद्धो विरुद्धधर्माध्यासः । एवं च यद्विरुद्धधर्माध्यस्तं, तद्भिन्नं, यथा शीतोष्णे, विरुद्धधर्माध्यस्तश्च विवादास्पदीभूतो भाव इति न नित्यैकान्तसिद्धिः । एवं चोपस्थितमिदं नित्यानित्यात्मकं वस्तु, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वान्यथाऽनुपपत्तेरिति । तथाहि-सर्वं वस्तु द्रव्यात्मना नोत्पद्यते वा, विपद्यते वा; परिस्फुटमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति न वाच्यम्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यान्वयस्यापरिस्फुटत्वात् । न च प्रस्तुतोऽन्वयः प्रमाणविरुद्धः; सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः । पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते, विपद्यते च । अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैवं शुक्ले शङ्खे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचारः, तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्खलद्रूपो येन पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकारोत्पादाविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरंपरानुभवः स्खलद्रूपः, कस्यचिद्बाधकस्याभावात् । ननूत्पादादयः परस्परं भिद्यन्ते, न वा ? । यदि भिद्यन्ते, कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम् ? । न भिद्यन्ते चेत्, तथाऽपि कथमेकं वस्तु त्र्यात्मकम् ? । तथा च-" यद्युत्पत्त्यादयो भिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् ? । अथोत्पत्त्यादयोऽभिन्नाः, कथमेकं त्रयात्मकम् " ? ॥१॥ इति चेत् । तदयुक्तम् । कथञ्चिद्भिन्नलक्षणत्वेन तेषां कथञ्चिद्भेदाभ्युपगमात् । तथाहि-उत्पादविनाशध्रौव्याणि स्याद्भिन्नानि, भिन्नलक्षणत्वात्, रूपादिवत् । न च भिन्नलक्षणत्वमसिद्धम् । असतः आत्मलाभः, सतः सत्तावियोगः, द्रव्यरूपतयाऽनुवर्त्तनं च खलूत्पादादीनां परस्परमसंकीर्णानि लक्षणानि सकललो-

कस्मात्क्षिकायेव । न चाऽमी भिन्नलक्षणा अपि परस्परानपेक्षाः, खपुष्पवदसत्त्वापत्तेः । तथाहि—उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात्कूर्मरोमवत् । तथा—विनाशः केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात्, तद्वत् । एवं स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादशून्यत्वात्, तद्वदेव; इत्यन्योऽन्यापेक्षाणामुत्पादादीनां वस्तुनि सत्त्वं प्रतिपत्तव्यम् । तथा च कथं नैकं त्र्यात्मकम् ? । किं च, अपरमप्यध्यैष्महि पञ्चाशति—

"प्रध्वस्ते कलशे शुशोच तनया मौलौ समुत्पादिते,
पुत्रः प्रीतिमुवाह कामपि नृपः शिश्राय मध्यस्थताम् ।
पूर्वाकारपरिक्षयस्तदपराकारोदयस्तद्द्वया-
धारश्चैक इति स्थितं त्रयमयं तत्त्वं तथाप्रत्ययात्" ॥ १ ॥

तथा च स्थितं नित्यानित्यानेकान्तः कान्त एवेति । एवं सदसदनेकान्तोऽपि । नन्वत्र विरोधः । कथमेकमेव कुम्भादि वस्तु सच्च, असच्च भवति ?। सत्त्वं ह्यसत्त्वपरिहारेण व्यवस्थितम्, असत्त्वमपि सत्त्वपरिहारेण; अन्यथा तयोरविशेषः स्यात् । ततश्च तद्यदि सत्, कथमसत् ?, अथासत्, कथं सदिति ? । तदनवदातम् । यतो यदि येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैवासत्त्वं; येनैव चासत्त्वं, तेनैव सत्त्वमभ्युपेयेत, तदा स्याद्विरोधः । यदा तु स्वरूपेण घटादित्वेन, स्वद्रव्येण हिरण्मयादित्वेन, स्वक्षेत्रेण नागरादित्वेन, स्वकालत्वेन वासन्तिकादित्वेन सत्त्वं, पररूपादिना तु पटत्वतन्तुत्वग्राम्यत्वग्रैष्मिकत्वादिनाऽसत्त्वं, तदा क्व विरोधगन्धोऽपि ?। ये तु सौगताः परासत्त्वं नाभ्युपयन्ति, तेषां घटादेः सर्वात्मकत्वप्रसङ्गः। तथाहि-यथा घटस्य स्वरूपादिना सत्त्वं, तथा यदि पररूपादिनाऽपि स्यात्, तथासति स्वरूपादित्ववत् पररूपादित्वप्रसक्तेः कथं न सर्वात्मकत्वं भवेत् ? । परासत्त्वेन तु प्रतिनियतोऽसौ सिद्ध्यति । अथ न नाम नास्ति परासत्त्वं, किं तु स्वसत्त्वमेव तदिति चेत् । अहो ! नूतनः कोऽपि तर्कवितर्ककर्कशः समुल्लापः । न खलु यदेव सत्त्वं, तदेवासत्त्वं भवितुमर्हति, विधिप्रतिषेधरूपतया विरुद्धधर्माध्यासेनानयोरैक्यायोगात् । अथ पृथक् तन्नाभ्युपगम्यते, न च नाभ्युपगम्यत एवेति किमिदमिन्द्रजालम् ?। ततश्चास्यानक्षरमसत्त्वमेवोक्तं भवति । एवं च यथा स्वासत्त्वासत्त्वात्स्वसत्त्वं तस्य, तथा परासत्त्वासत्त्वात्परसत्त्वप्रसक्तिरनिवारितप्रसरा, विशेषाभावात् । अथ नाभावनिवृत्त्या पदार्थो भावरूपः, प्रतिनियतो वा भवति, अपि तु स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियत एवोपजायते इति किं परासत्त्वेनेति चेत् ?। न किञ्चित् । केवलं स्वसामग्रीतः स्वस्वभावनियतोत्पत्तिरेव परासत्त्वात्मकत्वव्यतिरेकेण नोपपद्यते । पारमार्थिकस्यासत्त्वासत्त्वात्मकस्वसत्त्वेनैव परासत्त्वासत्त्वात्मकपरसत्त्वेनाप्युत्पत्तिप्रसङ्गात् । यौगास्तु प्रगल्भन्ते—सर्वथा पृथग्भूतपरस्पराभावाभ्युपगममात्रेण पदार्थप्रतिनियमप्रसिद्धेः पर्याप्तं तेषामसत्त्वात्मककल्पना कदर्थनेनेति । तदसुन्दरम् । यतो यदा पटाद्यभावरूपो घटो न भवति, तदा घटः पटादिरेव स्यात् । यथा च-घटस्य घटाभावात् भिन्नत्वात् घटरूपता, तथा पटादेरपि स्यात् । घटाभावाद्भिन्नत्वादेव । किं च-अमीषां भावानां स्वतो भिन्नानामभिन्नानां वा भिन्नाभावेन भेदः क्रियते ?। नाद्यः पक्षः, स्वहेतुभ्य एव भिन्नानामेषामुत्पत्तेः । नापि द्वितीयः, स्वयमभिन्नानामन्योऽन्याभावासंभवात् । भावाभावयोश्च भेदः स्वत एव वा स्यात्, अभावान्तरेण वा। प्राचि पक्षे, भावानामपि स्वरूपेणैवायमस्तु, किमपरेणाभावेन परिकल्पितेन ?। द्वितीये, पुनरनवस्थानापत्तिः, अभावान्तरेष्वप्यभावान्तराणां भेदकानामवश्यस्वीकरणीयत्वात् । कथञ्चिदभिन्ने तु भावादभावे न कश्चिदमूदृशकलङ्कावकाशः । वस्त्वेव हि तत्तथा; सदसदंशयोस्तथा परिणतिरेव हि घटः पटो वाऽभिधीयते, न केवलः सदंशः, ततः कथं घटादिः परेणात्मानं मिश्रयेत् ?। इति सूक्तः सदसदनेकान्तवादः । एवमपरेऽपि भेदाभेदानेकान्तादयः स्वयं चतुरैर्विवेचनीयाः। स्या० ५ परि० ।

(३) अधुना क्षणिकवादिन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारानुपपत्त्यर्थसमर्थनमविमृश्यकारिताकारितं दर्शयन्नाह-

कृतप्रणाशाऽकृतकर्मभोग-
भवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभङ्गमिच्छ-
न्नहो ! महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥

कृतप्रणाशदोषमकृतकर्मभोगदोषं भवभङ्गदोषं प्रमोक्षभङ्गदोषं स्मृतिभङ्गदोषमित्येतान् साक्षादित्यनुभवसिद्धान् उपेक्ष्यानादृत्य साक्षात्कुर्वन्नपि गजनिमीलिकामवलम्बमानः सर्वभावानां क्षणभङ्गमुदयानन्तरविनाशरूपक्षणक्षयितामिच्छन् प्रतिपद्यमानस्ते तव परः प्रतिपक्षी वैनाशिकः (सौगत इत्यर्थः) अहो ! महासाहसिकः । सहसाऽविमर्शात्मकेन बलेन वर्तते साहसिकः । भाविनमनर्थमविभाव्य यः प्रवर्तते स एवमुच्यते । महांश्चासौ साहसिकश्च महासाहसिकोऽत्यन्तमविमृश्य प्रवृत्तिकारी । इति समुच्चितार्थः । विवृतार्थस्त्वयम्-बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति, न पुनर्मौक्तिककणनिकरानुस्यूतैकसूत्रवत् तदन्वयिनमेकम् । तन्मते येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठानमसदनुष्ठानं वा कृतं तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः । यस्य च फलोपभोगस्तेन तत्कर्म न कृतम् । इति प्राच्यज्ञानक्षणस्य कृतप्रणाशः, स्वकृतस्य कर्मणः फलानुपभोगात् । उत्तरज्ञानक्षणस्य चाकृतकर्मभोगः, स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मणः फलोपभोगादिति । अत्र च कर्मशब्द उभयत्रापि योज्यः । तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्थो दृश्यः । बन्धानुलोम्याच्चेत्थमुपन्यासः । तथा भवभङ्गदोषः भव आजवंजवीभावलक्षणः संसारस्तस्य भङ्गो विलोपः स एव दोषः क्षणिकवादे प्रसज्यते । परलोकाभावप्रसङ्ग इत्यर्थः । परलोकिनः कस्यचिदभावात् । परलोको हि पूर्वजन्मकृतकर्मानुसारेण भवति । तच्च प्राचीनज्ञानक्षणानां निरन्वयं नाशात्केन नामोपभुज्यतां जन्मान्तरे ?। यच्च मोक्षाकरगुप्तेन "यच्चित्तं तच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते यथेदानीन्तनं चित्तं, चित्तं च मरणकालभावि" इति भवपरंपरासिद्धये प्रमाणमुक्तं, तदपि व्यर्थम्; चित्तक्षणानां निरवशेषनाशिनां चित्तान्तरप्रतिसन्धानायोगात् । द्वयोरवस्थितयोर्हि प्रतिसन्धानमुभयानुगामिना केनचित् क्रियते । यश्चानयोः प्रतिसन्धाता स तेन नाभ्युपगम्यते । स ह्यात्माऽन्वयी । न च प्रतिसन्धत्ते इत्यस्य जनयतीत्यर्थः; कार्यहेतुप्रसङ्गात् । तेन वादिनाऽस्य हेतोः स्वभावहेतुत्वेनोक्तत्वात् । स्वभावहेतुश्च तादात्म्ये सति भवति । भिन्नकालभाविनोश्च चित्तचित्तान्तरयोः कुतस्तादात्म्यम् ?, युगपद्भाविनोश्च प्रतिसन्धेयप्रतिसन्धायकत्वाभावापत्तिः । युगपद्भावित्वेऽविशिष्टेऽपि किमत्र नियामकं यदेकः प्रतिसन्धायकोऽपरश्च प्रतिसन्धेय इति ?, अस्तु वा प्रतिसन्धानस्य जननमर्थः । सोऽप्यनुपपन्नः, तुल्यकालत्वे हेतुफलभावस्याभावात् । भिन्नकालत्वे च पूर्वचित्तक्षणस्य विनष्टत्वात्, उत्तरचित्तक्षणः कथमुपादानमन्तरेणोत्पद्यताम् ? इति । यत्किञ्चिदेतत् । तथा प्रमोक्षभङ्गदोषः प्रकर्ष-

यापुनर्भावेन कर्मबन्धनान्मुक्तिः प्रमोदास्तस्यापि भङ्गः प्राप्नोति । तन्मते तावदात्मैव नास्ति, कः प्रेत्य सुखीभवनार्थं यतिष्यते ? । ज्ञानक्षणोऽपि संसारी कथमपरज्ञानक्षणसुखीभवनाय घटिष्यते ? । न हि दुःखी देवदत्तो यज्ञदत्तसुखाय चेष्टमानो दृष्टः । क्षणस्य तु दुःखं स्वरसनाशित्वात्तेनैव सार्द्धं ध्वंसते । सन्तानस्तु न वास्तवः कश्चित् । वास्तवत्वे तु आत्माऽभ्युपगमप्रसङ्गः । अपि च-बौद्धा निखिलवासनोच्छेदे विगतविषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्ष इत्याहुः, तच्च न घटते; कारणाभावादेव तदनुपपत्तेः। भावनाप्रचयो हि तस्य कारणमिष्यते। स च स्थिरैकाश्रयाभावाद्विशेषानाधायकः प्रतिक्षणमपूर्ववदुपजायमानो निरन्वयविनाशी गगनलङ्घनाभ्यासवदनासादितप्रकर्षो न स्फुटाभिज्ञानजननाय प्रभवतीत्यनुपपत्तिरेव तस्य । समलचित्तक्षणानां स्वाभाविक्याः सदृशारम्भणशक्तेरसदृशारम्भं प्रत्यशक्तेश्चाकस्मादनुच्छेदात् । किं च-समलचित्तक्षणाः पूर्वे स्वरसपरिनिर्वाणाः । अयमपूर्वो जातः सन्तानश्चैको न विद्यते । बन्धमोक्षौ चैकाधिकरणौ; न विषयभेदेन वर्तेते । तत् कस्येयं मुक्तिर्यदर्थं प्रयतते ? । अयं हि मोक्षशब्दो बन्धनविच्छेदपर्यायः । मोक्षश्च तस्यैव घटते यो बद्धः । क्षणक्षयवादे त्वन्यः क्षणो बद्धः क्षणान्तरस्य च मुक्तिरिति मोक्षाभावः प्राप्नोति । तथा स्मृतिभङ्गदोषः । तथाहि-पूर्वबुद्ध्याऽनुभूतेऽर्थे नोत्तरबुद्धीनां स्मृतिः संभवति, ततोऽन्यत्वात्, सन्तानान्तरबुद्धिवत् । न ह्यन्यदृष्टोऽर्थोऽन्येन स्मर्यते । अन्यथा एकेन दृष्टोऽर्थः सर्वैः स्मर्येत । स्मरणाभावे च कौतस्कुती प्रत्यभिज्ञाप्रसूतिः ?, तस्याः स्मरणानुभवोभयसंभवत्वात् । पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धप्राक्तनसंस्कारस्य हि प्रमातुः स एवायमित्याकारेयमुत्पद्यते । अथ स्यादयं दोषो यद्यविशेषेणान्यदृष्टमन्यः स्मरतीत्युच्यते, किं त्वन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावादेव च स्मृतिः । भिन्नसन्तानबुद्धीनां तु कार्यकारणभावो नास्ति; तेन सन्तानान्तराणां स्मृतिर्न भवति । न चैकसान्तानिकीनामपि बुद्धीनां कार्यकारणभावो नास्ति, येन पूर्वबुद्ध्यनुभूतेऽर्थे तदुत्तरबुद्धीनां स्मृतिर्न स्यात् । तदप्यनवदातम् । एवमपि अन्यत्वस्य तदवस्थत्वात् । न हि कार्यकारणभावाभिधानेऽपि तदपगतं, क्षणिकत्वेन सर्वासां भिन्नत्वात् । न हि कार्यकारणभावात् स्मृतिरित्यत्राऽन्वयप्रसिद्धोऽस्ति दृष्टान्तः । अथ-"यस्मिन्नेव हि सन्ताने, आहिता कर्मवासना । फलं तत्रैव संधत्ते, कार्पासे रक्तता यथा" ॥१॥ इति कार्पासे रक्ततादृष्टान्तोऽस्तीति चेत्, तदसाधीयः, साधनदूषणयोरसंभवात् । तथाहि-अन्वयाद्यसंभवान्न साधनम् । न हि कार्यकारणभावो यत्र तत्र स्मृतिः, कार्पासे रक्ततावदित्यन्वयः संभवति । नापि यत्र न स्मृतिस्तत्र न कार्यकारणभाव इति व्यतिरेकोऽस्ति । असिद्धत्वाद्यनुद्भावनाच्च न दूषणम् । न हि ततोऽन्यत्वादित्यस्य हेतोः कार्पासे रक्ततावदित्यनेन कश्चिद्दोषः प्रतिपाद्यते । किं च-यद्यन्यत्वेऽपि कार्यकारणभावेन स्मृतेरुत्पत्तिरिष्यते, तदा शिष्याचार्यादिबुद्धीनामपि कार्यकारणभावसद्भावेन स्मृत्यादिः स्यात् । अथ नाऽयं प्रसङ्ग एकसन्तानत्वे सतीति विशेषणादिति चेत्, तदप्ययुक्तम् । भेदाभेदपक्षाभ्यां तस्योपक्षीणत्वात् । क्षणपरंपरातस्तस्याऽभेदे हि क्षणपरंपरैव सा । तथा च सन्तान इति न किञ्चिदतिरिक्तमुक्तं स्यात् । भेदे त्वपारमार्थिकः, पारमार्थिको वाऽसौ स्यात् ?, अपारमार्थिकत्वेऽस्य तदेव दूषणम्, अकिञ्चित्करत्वात् । पारमार्थिकत्वे स्थिरो वा स्यात्, क्षणिको वा ? । क्षणिकत्वे सन्तानिनिर्विशेष एवायमिति किमनेन स्तेनभीतस्य स्तेनान्तरशरणस्वीकरणानुकारिणा । स्थिरश्चेदात्मैव संज्ञाभेदतिरोहितः प्रतिपन्नः । इति न स्मृतिर्घटते क्षणक्षयवादिनाम् । स्मृतेरभावे चानुमानस्यानुत्थानमित्युक्तं प्रागेव । अपि च-स्मृतेरभावे निहितप्रत्युन्मार्गणप्रत्यर्पणादिव्यवहारा विशीर्येरन् । "इत एकनवते: कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हतः। तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षवः" ॥१॥ इति वचनस्य च का गतिः ?। एवमुत्पत्तिरुत्पादयति, स्थितिः स्थापयति, जरा जरयति, विनाशो नाशयति, इति चतुःक्षणिकं वस्तु प्रतिजानाना अपि प्रतिक्षेप्याः । क्षणचतुष्कानन्तरमपि निहितप्रत्युन्मार्गणादिव्यवहाराणां दर्शनात् । तदेवमनेकदोषापातेऽपि यः क्षणभङ्गमभिधत्ते तस्य महत्साहसम् ॥ १८ ॥

(४) अथ तथागताः क्षणक्षयपक्षे सर्वव्यवहारानुपपत्तिं परैरुद्भावितमाकर्ण्येत्थं प्रतिपादयिष्यन्ति, यत्पदार्थानां क्षणिकत्वेऽपि वासनाबललब्धजन्मना ऐक्याध्यवसायेन ऐहिकामुष्मिकव्यवहारप्रवृत्तेः कृतप्रणाशादिदोषा निरवकाशा एवेति । तदाकूतं परिहर्तुकामस्तत्कल्पितवासनायाः क्षणपरम्परातो भेदाभेदानुभयलक्षणे पक्षत्रयेऽपि अघटमानत्वं दर्शयन् स्वाभिप्रेतभेदाभेदस्याद्वादमकामयमानानपि तानङ्गीकारयितुमाह-

> सा वासना सा क्षणसन्ततिश्च,
> नाभेदभेदाऽनुभयैर्घटेते ।
> ततस्तटाऽदर्शिशकुन्तपोत-
> न्यायात्त्वदुक्तानि परे श्रयन्तु ॥ १९ ॥

सा शाक्यपरिकल्पिता त्रुटितमुक्तावलीकल्पानां परस्परविशकलितानां क्षणानामन्योऽन्यानुस्यूतप्रत्ययजनिका एकसूत्रस्थानीया सन्तानापरपर्याया वासना । वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहुः । सा च क्षणसन्ततिस्तद्दर्शनप्रसिद्धा प्रदीपकलिकावन्नवनवोत्पद्यमाना परापरसदृशक्षणपरम्परा । एते द्वे अपि अभेदभेदानुभयैर्न घटेते । न तावदभेदेन तादात्म्येन ते घटेते । तयोर्हि अभेदे वासना वा स्यात्, क्षणपरम्परा वा; न द्वयम् । यद्धि यस्मादभिन्नं न तत्ततः पृथगुपलभ्यते । यथा घटात् घटस्वरूपम् । केवलायां वासनायामन्वयिस्वीकारः । वास्याऽभावे च किं तया वासनीयमस्तु ? इति तस्या अपि न स्वरूपमवतिष्ठते । क्षणपरंपरामात्राङ्गीकरणे च प्राग्वत् एव दोषाः । न च भेदेन ते युज्येते । सा हि भिन्ना वासना क्षणिका वा स्यादक्षणिका वा ? । क्षणिका चेत्तर्हि तयोभ्यस्तस्याः पृथक् कल्पनं व्यर्थम् । अक्षणिका चेदन्वयिपदार्थाभ्युपगमेनाऽऽगमबाधः । तथा च-पदार्थान्तराणां क्षणिकत्वकल्पनाप्रयासो व्यसनमात्रम् । अनुभयपक्षेणापि न घटते । स हि कदाचिदेवं ब्रूयात्-नाऽहं वासनायाः क्षणश्रेणितोऽभेदं प्रतिपद्ये, न च भेदं; किं त्वनुभयमिति तदप्यनुचितम्, भेदाभेदयोर्विधिनिषेधरूपयोरेकतरप्रतिषेधेऽन्यतरस्यावश्यं विधिभावात् । अन्यतरपक्षाभ्युपगमस्तत्र च प्रागुक्त एव दोषः । स्या० १९ श्लोक ।

(५) अयमेवाशयः सामुच्छेदिकनिह्नवादेः प्रतिपादितदृष्टोपयोगित्वाद्योच्यते-

> नेउणमणुपवाए, अहिज्जओ वत्थुमासमित्तस्स ।
> एगसमयाइवोच्छे-यसुत्तओ नासपडिवत्ती ॥ २३९१ ॥
> उप्पायाणंतरओ, सव्वं चिय सव्वहा विणासि त्ति ।

गुरुवयणमेगनयमय-मेयं मिच्छं न सव्वमयं ॥ २३९२ ॥

अनुप्रवादपूर्वमध्यगतं नैपुणं वस्त्वधीयानस्याश्वमित्रस्य पूर्वोक्तादेकसमयादिव्यवच्छेदसूत्रान्नाशप्रतिपत्तिरुत्पन्ना । कोऽर्थः ? इत्याह-" उत्पादान्तरमेव सर्वं वस्तु सर्वथा विनश्वररूपम्" इत्येवंभूतो बोधः समुत्पन्नः। अत्र प्रतिविधानार्थं गुरुवचनम्-' ननु प्रतिसमयविनाशित्वं वस्तूनाम् ' इत्येतदेकस्यैव क्षणक्षयवादिन ऋजुसूत्रनयस्य मतं, न तु सर्वनयमतं, ततो मिथ्यात्वमेवेति ॥ २३९१ । २३९२ ॥

कुतः पुनरेतन्मिथ्यात्वम् ?, इत्याह-

न हि सव्वहा विणासो, ऽद्धापज्जायमेत्तनासम्मि ।
स-परपज्जायाणंत-धम्मणो वत्थुणो जुत्तो ॥२३९३॥

न हि सर्वथैव वस्तुनो विनाशो युक्तः। क सति ?, इत्याह-अद्धापर्यायमात्रनाशे। तत्रेहाद्धा नारकादीनामुत्पत्तिप्रथमादिसमयः, स एव पर्यायमात्रं तस्य नाशोऽपगमस्तस्मिन्सति । कथंभूतस्य वस्तुनः ?, इत्याह-स्वपरपर्यायानन्तधर्मकस्य । इदमुक्तं भवति-यस्मिन्नेव समये तन्नारकवस्तु प्रथमसमयनारकत्वेन समुच्छिद्यते,तस्मिन्नेव समये द्वितीयसमयनारकत्वेनोत्पद्यते, जीवद्रव्यतया त्ववतिष्ठते । अतो यदि नामाद्धापर्यायमात्रमुच्छिन्नं, ततः सर्वस्यापि वस्तुनः समुच्छेदे किमायातम्, अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनः एकपर्यायमात्रोच्छेदे सर्वोच्छेदस्य दूरविरुद्धत्वात् ? इति ॥ २३९३ ॥

अत्र पराभिप्रायमाशङ्क्य परिहरति-

अह सुत्ताउ त्ति मई, सुत्ते णणु सासयं पि निद्दिट्ठं ।
वत्थुं दव्वट्ठाए, असासयं पज्जयट्ठाए ॥ २३९४ ॥

अथ पूर्वोक्तालापकरूपात्सूत्रात्सूत्रप्रामाण्यात्प्रतिसमयं सर्वथा वस्तूच्छेदः प्रतिपाद्यत इति तव मतिः ; ननु यदि सूत्रं तव प्रमाणं, तर्हि सूत्रे द्रव्यार्थतया शाश्वतमपि वस्त्वन्यत्रोक्तमेव,पर्यायार्थतयैव चाशाश्वतम् । तथा च सूत्रम्-"नेरइयाणं भंते ! किं सासया, असासया ? गोयमा ! सिय सासया, सिय असासया । से केणऽट्ठेणं ? । गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया " इति ॥ २३९४ ॥

अपि च-

एत्थ वि न सव्वनासो, समयाइविसेसणं जओऽभिहियं ।
इहरा न सव्वनासे, समयाइविसेसणं जुत्तं ॥२३९५॥
को पढमसमयनारग-नासे बितिसमयनारगो नाम ।
न सुरो घडो अभावो,व होइ जइ सव्वहा नासो ? ।२३९६।

अत्रापि 'प्रथमसमयनारका व्यवच्छेदं यास्यन्ति' इति सूत्रे न सर्वनाशः सर्वात्मना नाशो गम्यते । कुतः ? इत्याह-यतो यस्मात्समयादिविशेषणमभिहितं, ततो न सर्वथा नाशोऽत्र गम्यते, किं तु प्रथमसमयनारका व्यवच्छेत्स्यन्ति । कोऽर्थः ? । प्रथमसमयनारकत्वेन विनङ्क्ष्यन्ति । एवं द्वितीयादिसमयनारका अपि द्वितीयादिसमयनारकत्वेनैव विनङ्क्ष्यन्ति । न तु सर्वथा,द्रव्यार्थतया शाश्वतत्वात् । इतरथा सर्वनाशे अभिप्रेते प्रथमसमयादिविशेषणं न युक्तं स्यादिति । कथमयुक्तम् ?, इत्याह -" को पढमे " इत्यादि । प्रथमसमयोत्पन्नानां हि नारकाणां सर्वथा विनाशे को नाम द्वितीयतृतीयादिसमयनारकः ? । अवस्थितस्यैव हि कस्यचित् प्रथमद्वितीयतृतीयादिसमयोत्पन्नविशेषणं युज्यते, यदि तु सर्वथा नाशः, तर्हि प्रथमसमयोत्पन्ननारकस्य निरन्वयनाशेन नष्टत्वात् द्वितीयसमयोत्पन्नो नारक इति व्यपदेष्टुं कथं युज्यते ?, यन्नारकात्सर्वथा विलक्षणत्वादसौ सुरो घटोऽभावो वा नोच्यते ? । सुरादिव्यपदेशो च न द्वितीयादिसमयनारकाः । तस्मात्प्रथमद्वितीयतृतीयादिसमयोत्पन्ना इति विशेषणं कथञ्चिदवस्थितस्यैव नारकादेर्युज्यत इत्यस्मिन्नपि सूत्रे न नारकादेः सर्वोच्छेदः प्रतिपाद्यते । इति निर्मूल एव निजाशुभकर्मविपाकजनितस्तवैष व्यामोह इति ॥ २३९५-२३९६ ॥

अथ पराशङ्कापरिहारार्थमाह--

अह व समाणुप्पत्ती, समाणसंताणओ मई होज्जा ।
को सव्वहा विणासे, संताणो किं व सामन्नं ॥ २३९७ ॥

अथवैवंभूता मतिः परस्य भवेत्, यदुत-नारकादीनां प्रतिसमयमपरापरसमानक्षणोत्पत्तिर्भवति । ततस्तया समानक्षणोत्पत्त्या यः समानक्षणसन्ततिरूपः सन्तानस्तस्मात्सन्तानात्सन्तानमाश्रित्य नारकादेः कथञ्चिद् ध्रौव्यमन्तरेणापि प्रथमद्वितीयादिसमयोत्पन्नविशेषणमुपपद्यत एव । अत्रोत्तरमाह-"को सव्वहा" इत्यादि । ननु सर्वथा विनाशे समुच्छेदेऽङ्गीक्रियमाणे कः कस्य सन्तानः,किं वा कस्य समानम् ?, इति निर्विकल्पमेवेदमुच्यते । न हि निरन्वयविनाशेऽवस्थिताः केचनापि नारकादिक्षणाः सन्ति, यानाश्रित्येदमुच्यते-' अयमेषां सन्तानः, इदं वाऽस्य समानम् ' इति ॥ २३९७ ॥

किञ्च—

संताणिणो न भिन्नो, जइ संताणो न नाम संताणो ।
अह भिन्नो न क्खणिओ,खणिओ वा जइ न संताणो २३९८

यदि सन्तानिभ्यो न भिन्नः, किं त्वभिन्नः सन्तानः,तर्हि न नामाऽसौ सन्तानः, सन्तानिभ्योऽनर्थान्तरभूतत्वात्,तत्स्वरूपवत् । अथ सन्तानिभ्यो भिन्नः सन्तानः, तर्हि क्षणिकोऽसौ भवन्मते, अवस्थितत्वाभ्युपगमात् । अथ क्षणिकोऽसाविष्यते,तर्हि नासौ सन्तानः, सन्तानिवत् । ततस्त एव सन्तानाभावपक्षोक्ता दोषा इति । तदेवं सर्वथोच्छेदेऽभ्युपगम्यमाने सन्तान नोपपद्यत इति भावितम् ॥ २३९८ ॥

अथ यदुक्तम्-"किं व सामन्नमिति" (२३९७) तद्भावनार्थमाह-

पुव्वाणुगमे समया, हुज्ज न सा सव्वहा विणासम्मि ।
अह सा न सव्वनासे, तेण समं वा णणु खपुप्फं २३९९

यदि पूर्वक्षणस्योत्तरक्षणे केनाऽपि रूपेणानुगमोऽन्वयो भवेत्तदा तत्रानुगमे पूर्वोत्तरक्षणयोः समता समानरूपता भवेत् । सर्वथा तु सर्वात्मना पूर्वक्षणस्य निरन्वयविनाशे न सा समता उत्तरक्षणस्य युज्यते । अथ सा समता तयोरभ्युपगम्यते, तर्हि तद्रूपस्य कथञ्चिदवस्थितत्वान्न पूर्वक्षणस्य सर्वथा विनाशः । अथ सर्वथा विनाशेऽपि तस्य समताऽभ्युपगम्यते,हन्त ! तर्हि तेन सर्वथाऽभावीभूतेन पूर्वक्षणेन समं तुल्यं युज्यते यदि, परं खपुष्पम्,सर्वथा भावरूपतया द्वयोरपि तुल्यत्वादिति ॥२३९९॥

किञ्च—

अन्नविणासे अन्नं, जइ सरिसं होइ होउ तेलुक्कं ।
तदसंबद्धं व मई, सो वि कओ सव्वनासम्मि ॥२४००॥

सर्वथा निरन्वयविनाशे घटात्पट इवोत्तरक्षणात्सर्वथाऽन्य एव पूर्वक्षणस्तस्मादप्यन्य एवोत्तरक्षणः । ततः सर्वथाऽन्यस्य पूर्वक्षणस्य विनाशे तस्मात्सर्वथा अन्यदुत्तरक्षणरूपं यदि सदृशं भवतीत्यभ्युपेयते, तर्हि भवतु त्रैलोक्यमपि ततस्तत्सदृशम्, अनन्वयित्वे अन्यत्वस्य सर्वत्र तुल्यत्वात्। अथ तत् त्रैलोक्यं प्रस्तुतपूर्वक्षणेन सह देशादिव्यवहितत्वादसंबद्धमिति न तत्सदृशम्, उत्तरक्षणस्तु तेन सह संबद्ध इति तत्सदृश इति परस्य मतिः स्यात्। ननु सोऽपि पूर्वोत्तरक्षणयोः संबन्धः पूर्वस्य सर्वथा विनाशे कुतः?-न कुतश्चिदित्यर्थः। तत्संबन्धाभ्युपगमेऽप्यसंबन्धायोगेनान्वयाभ्युपगमप्रसङ्गादिति भावः ॥२४००॥

अपि च पर्यनुयुञ्ज्महे भवन्तम् । किम् ? इत्याह-

किह वा सव्वं खणियं, विण्णायं जइ मई सुयाउ त्ति ।
तदसंखसमयसुत्त-त्थगहणपरिणामओ जुत्तं ॥२४०१॥
न उ पइसमयविणासे, जेणेक्केक्कक्खरं चिय पयस्स ।
संखाइयसामइयं, संखिज्जाइं पयं ताइं ॥ २४०२ ॥
संखिज्जपयं वक्कं, तदत्थगहणपरिणामओ जुज्जा ।
सव्वक्खणभंगनाणं, तदजुत्तं समयनट्ठस्स ॥ २४०३ ॥

वा इत्यथवा, पर्यनुयुज्यते भवान् ननु 'सर्वं वस्तु क्षणिकम्' इत्येतत्कथं भवता विज्ञातमिति वक्तव्यम्?। श्रुतादिति चेत्। ननु तत् श्रुतादर्थविज्ञानमसंख्येयसमयैर्निष्पन्नो यः सूत्रार्थग्रहणपरिणामस्तस्मादेव युक्तं, न तु प्रतिसमयविनाशे । इदमुक्तं भवति-असंख्येयानेव समयान् यावच्चित्तस्यावस्थाने 'सर्वं क्षणिकम्' इति विज्ञानोपयोगो युज्यते, न तु प्रतिसमयोच्छेदे । अत्र कारणमाह-येन यस्मात्कारणात्पदस्य सावयवत्वात् तत्संबन्ध्येकैकमप्यक्षरं संख्याऽतीतसामयिकमसंख्यातैः समयैर्निष्पद्यत इत्यर्थः । तानि चाक्षराणि संख्यातानि समुदितानि पदं भवति । संख्यातैश्च पदैर्वाक्यमिष्यते, तदर्थग्रहणपरिणामाच्च वाक्यार्थग्रहणपरिणामादित्यर्थः, सर्वक्षणभङ्गज्ञानं भवेत् । तच्चोत्पत्तिसमयानन्तरमेव नष्टस्य समुच्छिन्नस्य मनसोऽयुक्तमेवेति ॥ २४०१ । २४०२ । २४०३ ॥

(६) अन्यदपि क्षणभङ्गवादे यन्नोपपद्यते तद्दर्शयति-

तित्ती समो किलामो, सारिक्ख-विवक्ख-पच्चयाईणि ।
अज्झयणं झाणं भावणा य का सव्वनासम्मि ? ॥२४०४॥

तृप्तिर्प्रीणिः, मार्गगमनादिप्रवृत्तस्य खेदः श्रमः, क्लमो ग्लानिः, सादृश्यं साधर्म्यं, विपक्षो वैधर्म्यं, प्रत्ययः प्रत्यभिज्ञानादिः, आदिशब्दात्स्वनिहितप्रत्यनुमार्गणस्मरणादिपरिग्रहः । अध्ययनं पुनः पुनर्ग्रन्थाभ्यासः, ध्यानमेकालम्बने मनःस्थैर्यं, भावना पौनः पुन्येनानित्यत्वादिप्रकारतो भवनैर्गुण्यपरिभावनरूपा । एतानि सर्वाण्यप्युत्पत्त्यनन्तरमेव वस्तुनः सर्वनाशेऽङ्गीक्रियमाणे कथमुपपद्यन्ते ? इति ॥ २४०४ ॥

यथा च नोपपद्यन्ते तथा दर्शयन्नाह—

अन्नो पइगासं, भुत्ता अंते न सो त्ति का तित्ती ? ।
गंताइओ वि एवं, इय संववहारवोच्छित्ती ॥ २४०५ ॥

'ग्रसु-ग्लसु' अदने । ग्रसनं ग्रासः कवलप्रक्षेपः, ग्रस्यत इति वा ग्रासः कवलः । ततश्च प्रतिग्रासं प्रतिकवलं भोक्ता देवदत्तः क्षणिकत्वादन्यश्चान्यश्च भवति, भोजनक्रियायाश्चान्ते पर्यन्ते सोऽपि भोक्ता सर्वथा न भवति, भुजिक्रियाविशेषणस्याभावे तद्विशिष्टस्य देवदत्तस्यापि सर्वथोच्छेदात् । ततश्चैकस्मिन्नन्यकवलप्रक्षेपे का तृप्तिः, भोक्तुश्चाभावात्कस्याऽसौ तृप्तिः?। एवमुक्तानुसारेण गन्त्रादीनामपि श्रमाद्यभावः स्वबुद्ध्या भावनीय इति । एवं समस्तलोकव्यवहारोच्छेदप्रसक्तिरिति ॥२४०५॥

अत्र परः प्राह-

जेणं चिय पइगासं, भिन्ना तित्ती अओ च्चिय विणासो।
तित्तीए तित्तस्स य, एवं चिय सव्वसंसिद्धी ॥ २४०६ ॥

येनैव यत एव प्रतिग्रासमन्योऽन्यश्च भोक्ता भवति, अपराऽपरा च तृप्तिमात्रा भवति, अत एव तृप्तेः, तृप्तस्य च प्रतिक्षणं विनाशोऽभ्युपगम्यते अस्माभिः, विशेषणभेदे विशेष्यस्याप्यवश्यं भेदात्, अन्यथा विशेषणभेदस्याप्ययोगात् । प्रतिक्षणविनाशित्वे तृप्त्याद्ययोगोऽभिहित एवेति चेत्। तदयुक्तम् । कुतः?, इत्याह-(एवं चिय सव्वसंसिद्धि त्ति) एवमेव प्रतिक्षणविनाशित्व एव सर्वस्यापि तृप्तिश्रमक्लमादेर्लोकव्यवहारस्य संसिद्धिः । इदमुक्तं भवति-तृप्त्यादिवासनावासितः पूर्वपूर्वक्षणादुत्तरोत्तरक्षणः समुत्पद्यते तावत्, यावत्पर्यन्ते उत्कर्षवन्तस्तृप्त्यादयो भवन्ति । एतच्च क्षणिकत्व एवोपपद्यते न नित्यत्वे । नित्यस्याप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावत्वेन सर्वदैव तृप्त्यादिसद्भावात्, सर्वदैव तद्भावाद्वेति ॥ २४०६ ॥

अत्रोत्तरमाह-

पुव्विल्लसव्वनासे, वुड्ढी तित्ती य किंनिमित्ता तो ?।
अह सा वि तेऽणुवत्तइ, सव्वविणासो कहं जुत्तो ? ॥२४०७॥

(तो त्ति) यद्येवं ततः पूर्वक्षणस्य सर्वथा विनाशे उत्तरोत्तरक्षणेषु तृप्त्यादीनां या क्रमेण वृद्धिरुत्कर्षवती पर्यन्ते तृप्तिः श्रमादिसंभूतिश्च, सा किंनिमित्ता किंकारणा ?, इति वक्तव्यम् ?। पूर्वपूर्वक्षणेनोत्तरोत्तरक्षणस्य या तृप्त्यादिवासना जन्यते तन्निमित्तेति चेत्। न। तस्यास्तदनर्थान्तरत्वे पूर्वपूर्वक्षणनाशे नाशात्। अथोत्तरोत्तरक्षणेषु साऽनुवर्तत एवेति ते तथाभिप्रायः, तर्हि पूर्वपूर्वक्षणस्य सर्वविनाशः कथं युक्तो वक्तुम्, तदनर्थान्तरभूततृप्त्यादिवासनायाः समनुवर्तनात् ? इति ॥ २४०७ ॥

(७) सर्वस्य क्षणिकत्वे दूषणान्तरमप्याह-

दिक्खा व सव्वनासे, किमत्थमहवा मई विमोक्खत्थं ।
सो जइ नासो सव्व-स्स तो तओ किं व दिक्खाए? ॥२४०८॥

दीक्षा वा क्षणानां सर्वनाशे किमर्थमिति वाच्यम्?-निरर्थिकेयमिति भावः । अथ मोक्षार्थं दीक्षेति परस्य मतिः, नन्वत्रापि वक्तव्यम्-स मोक्षो नाशरूपो वाऽभ्युपगम्यते, अनाशरूपो वा ?। तत्र (सो जइ नासो त्ति) स मोक्षो यदि नाशरूप इति पक्षः, (सव्वस्स तो तओ त्ति) ततस्तर्हि तकोऽसौ मोक्षः सर्वस्यापि वस्तुनः स्वरसतः प्रयत्नमन्तरेणापि त्वदभिप्रायेण सिद्ध एव, किं दीक्षाप्रयत्नेन ? इति ॥ २४०८ ॥

अथानाशरूपो नित्यो मोक्षस्तत्राऽऽह-

अह निच्चो न क्खणियं,तो सव्वं अह मई ससंताणो ।
अहुउ त्ति तओ दिक्खा,निस्संताणस्स मुक्खो ।त्ति॥२४०९॥

अथ नित्यो मोक्षः (तो त्ति) ततस्तर्हि 'सर्वं वस्तु क्षणिकम्' इत्येतन्न भवति, मोक्षेणैव व्यभिचारात्। अथ स्व आत्मीयो वि-

ज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्कार-रूपात्मकस्कन्धस्य क्षणपरंपरारूपः सन्तानो नाद्यापि हतः, निःसन्तानस्यैव च मोक्षः,अतो निःसन्तानार्थं दीक्षा विधीयत इति ॥ २४०९ ॥

अत्रोत्तरमाह-

छिन्नेणाछिन्नेण व, किं संताणेण सव्वनट्ठस्स ।
किं चाभावीभूयस्स स-परसंतानचिंताए ? ॥ २४१० ॥

सर्वनष्टस्य सर्वप्रकारैर्विनाशमापन्नस्य छिन्नेन, अच्छिन्नेन वा सन्तानेन किं प्रयोजनं, येन सन्तानहननार्थं दीक्षां गृह्णीयात् ?। किं च-सर्वथाऽभावीभूतस्य क्षणभङ्गुरतया सर्वथा विनष्टस्य किमनया चिन्तया-अयं स्वसन्तानः, अयं तु परसन्तानः, अयं तु न हतः, येनोच्यते-" स संताणो अहउ त्ति तओ दिक्खा " इति ॥ २४१० ॥

अथ क्षणिकत्वसाधकपराभिमतप्रमाणमुपन्यस्य दूषणमाह-

सव्वं पयं व खणियं, पज्जंते नासदरिसणाउ त्ति ।
नणु इत्तो च्चिय न खणिय-मंते नासोवलद्धीओ ।२४११।

सर्वं वस्तु क्षणिकं, पर्यन्ते नाशदर्शनात्, पयोवदिति। आह-ननु यदि वस्तूनां पर्यन्ते नाशो दृश्यते, तर्हि प्रतिक्षणविनाशित्वे किमायातं, येन सर्वं क्षणिकमुच्यते ?। सत्यं, किं त्वयमिह तदभिप्रायः-पर्यन्तेऽपि घटादीनां विनाशः तावन्निर्हेतुक एव भवति, मुद्गरादेर्विनाशहेतोरयोगात्। तथाहि-मुद्गरादिना किं घट एव क्रियते, कपालानि वा, तुच्छरूपोऽभावो वा ? इत्यादियुक्तितो विनाशस्य निर्हेतुकत्वं प्रागेव दर्शितम्। ततो निर्हेतुकोऽसौ भवन्नादित एव भवतु, अन्यथा पर्यन्तेऽपि तदभवनप्रसङ्गादिति पर्यन्ते नाशदर्शनाद्धेतोः क्षणिकत्वसिद्धिः। अत्र सूरिराह-नन्वेतस्मादेव पर्यन्ते नाशदर्शनलक्षणाद्धेतोरस्माभिरेतच्छक्यते वक्तुम्। किम् ?, इत्याह-न क्षणिकं, न प्रतिक्षणं वस्तु विनश्यतीत्यर्थः, पर्यन्त एव तन्नाशोपलब्धेः, घटादिवत्। न च युक्तिबाधितत्वादन्त्येयमुपलब्धिरिति शक्यते वक्तुम, सर्वेषां सर्वत्रेत्थमेव प्रवर्तनात्, युक्तीनामेवानया बाधनात्, शून्यवादियुक्तिवदिति ॥ २४११ ॥

यदि पुनरादित एव वस्तूनां विनाशः स्यात्, तदा किं भवेत् ?, इत्याह-

इहराइउ च्चिय तओ, दीसेज्जंते व्व कीस व समाणो ।
सव्वविणासे नासो, दीसइ अंते न सोऽन्नत्थ? ॥२४१२॥

इतरथा यदि प्रतिक्षणं नाशो भवेत्तदा यथा पर्यन्ते सर्वेणाऽपि भवन्नसौ दृश्यते, तथा आदित एव आदिमध्येषु सर्वत्र तकोऽसौ नाशो दृश्येत। अथ पर्यन्तेऽसौ दृश्यते नादि-मध्येषु किं कुर्मः ?। तर्हि प्रष्टव्योऽसि। किम् ?, इत्याह-" कीस व " इत्यादि। किमिति चाऽसौ नाशो वस्त्वभावरूपतया सर्वत्र समानो निरवशेषस्वरूपोऽपि सन् सर्वविनाशे मुद्गरादिना विहिते दृश्यते उपलक्ष्यते अन्ते पर्यन्ते न पुनरन्यत्राऽऽदि-मध्येषु सर्वत्र भवताऽभ्युपगतोऽप्यसौ भवन्नुपलक्ष्यत इत्यत्र कारणं वाच्यम् ?, न पुनः पादप्रसारिका श्रेयस्करीति भावः ॥२४१२॥

अपि च-पर्यन्ते नाशदर्शनरूपस्य हेतोः सिद्धत्वमभ्युपगम्य दूषणमुक्तं यावता जैनानां हेतुरप्ययमसिद्धः,पर्यन्तेऽपि घटादीनां सर्वथा नाशानभ्युपगमादिति दर्शयन्नाह-

अंते व सव्वनासो, पडिवन्नो केण जडुवलद्धीओ ।
कप्पेसि खणविणासं, नणु पज्जायंतरं तं पि ॥ २४१३ ॥

यदि वा, भोः क्षणभङ्गवादिन् ! अन्ते पर्यन्तेऽपि मुद्गरादिसंनिधाने घटादिवस्तुनः सर्वनाशः सर्वथा विनाशः केन प्रतिवादिना जैनेनाभ्युपगतो, यदुपलब्धेर्यद्दर्शनावष्टम्भेन त्वं क्षणभङ्गरूपं प्रतिक्षणविनाशं कल्पयसि घटादेः ?। यदि मुद्गरादिसंनिधाने सर्वविनाशस्तस्य जैनैर्नाभ्युपगम्यते,तर्हि तदवस्थायां घटो न दृश्यते, कपालान्येव च दृश्यन्त इत्येतत्किमिष्यते ? इत्याह-" नणु " इत्यादि। नन्वहो ! मृद्रूपतया अवस्थितस्यैव घटद्रव्यस्य भूतभविष्यदनन्तपर्यायापेक्षया तदपि पर्यायान्तरं, पर्यायविशेष एव कपालानि, न पुनस्तदानीं घटस्य सर्वथा विनाशः, मृद्रूपताया अप्यभावप्रसङ्गात्, तथा च कपालानाममृद्रूपतापत्तेरित्यसिद्धिः पर्यन्ते सर्वनाशस्येति ॥ २४१३ ॥

भवतु वा तत्सिद्धिः, तथाऽपि नातः सर्वव्यापिनी क्षणिकत्वसिद्धिरिति दर्शयन्नाह-

जेसिं व न पज्जंते, विणासदरिसणमिहंबराईणं ।
तन्निच्चब्भुवगमओ, सव्वक्खणविणासिमयहाणी ।२४१४।

घटादीनां तावत्पर्यन्ते सर्वनाशदर्शनात्प्रसङ्गेनादित एव प्रतिक्षणनश्वरतां साधयति भवान्,ततो येषामम्बरादीनां व्योमकालदिगादीनां पर्यन्ते विनाशदर्शनं कदाचिदपि नास्ति, तेष्वसात्प्रसङ्गसाधनात्प्रतिसमयनश्वरत्वं न सिध्यति। ततस्तेषां नित्यत्वमेवाभ्युपगन्तव्यम्। तन्नित्यत्वाभ्युपगमे च सर्वं ' क्षणिकम् ' इति व्याप्तिपरं यन्मतं भवतस्तस्य हानिरघटमानतैव प्राप्नोतीति ॥ २४१४ ॥

(८) भङ्ग्यन्तरेणापि स्थविरा अश्वमित्रं शिक्षयन्ति। कथम् ?, इत्याह-

पज्जायनयमयमिणं, जं सव्वं विगमसंभवसहावं ।
दव्वट्ठियस्स निच्चं, एगयरमयं च मिच्छत्तं ॥ २४१५ ॥

पर्यायवादिन एव नयस्येदं मतं यत् त्वं ब्रूषे-सर्वमेव त्रिभुवनान्तर्गतं वस्तु विगमसंभवस्वभावम्-प्रतिक्षणमुत्पद्यते, विनश्यति चेत्यर्थः। द्रव्यमेवार्थो यस्य न पर्यायः स द्रव्यार्थिकस्तस्य तु द्रव्यार्थिकनयस्य तदेव सर्वं वस्तु नित्यं मतम्। एवं च स्थिते यद्भवानेकतरस्यैव पर्यायनयस्य प्रतिक्षणविनश्वरत्वलक्षणं मतमभ्युपगच्छति तन्मिथ्यात्वमेवेति मुञ्चेदमिति भावः। ॥ २४१५ ॥

किमित्येतन्मिथ्यात्वम् ?, इत्याह-

जमणंतपज्जयमयं,वत्थुं भुवणं व चित्तपरिणामं ।
ठिइविभवभंगरूवं, निच्चानिच्चाइ तोऽभिमयं ॥२४१६॥

यद्यस्मान्नैकान्ततः पर्यायमयं,नाप्येकान्तेन द्रव्यरूपं,किं त्वनन्तपर्यायं स्थित्युत्पादविनाशरूपत्वाद् भूभवनविमानद्वीपसमुद्रादिरूपतया त्रिभुवनमिव समस्तमपि वस्तु नित्याऽनित्यादिरूपतया चित्रपरिणाममनेकरूपं भगवतामभिमतम्। अतोऽस्यैकान्तविनश्वरलक्षणैकरूपाभ्युपगमो मिथ्यात्वमेवेति।

अपि च-

सुहदुक्खबंधमोक्खा, उभयनयमयाणुवत्तिणो जुत्ता ।
एगयरपरिच्चाए, सव्वव्ववहारवोच्छित्ती ॥२४१७॥

भावितार्थैवेति ॥ २४१७ ॥

किमित्येकतरपरित्यागे सुखादिव्यवहाराभावः ?, इत्याशङ्क्य प्रमाणयन्नाह-

न सुहाइ पज्जयमए, नासाओ सव्वहा मयस्सेव ।
न य दव्वट्ठियपक्खे, निच्चत्तणओ नभस्सेव ॥२४१८॥

एकस्मिन्नेव पर्यायनयमतेऽङ्गीक्रियमाणे न सुखादि, जगतो घटत इति प्रतिज्ञा, सुखदुःखबन्धमोक्षादयो न घटन्त इत्यर्थः । उत्पत्त्यनन्तरं सर्वथा नाशादिति हेतुः मृतस्येवेति दृष्टान्तः । न च द्रव्यार्थिकनयपक्षे केवले समाश्रीयमाणे सुखादि घटते, एकान्तनित्यत्वेनाविचलितरूपत्वात् । नभस इवेति । तस्माद्द्रव्य-पर्यायोभयपक्ष एव सर्वमिदमुपपद्यत इत्ययमेव ग्राह्यः, केवलैकनयपक्षस्तु दोषकलङ्ककलङ्कीकृतत्वात् त्याज्य एवेति । २४१८ ।

पुनरप्यश्वमित्रमनुकम्पमानाः स्थविरास्तच्छिक्षामाहुः-

जइ जिणमयं पमाणं, तो मा दव्वट्ठियं परिच्चयसु ।
सव्वस्स व होइ जओ, तन्नासे सव्वनासो त्ति ॥२४१९॥

पूर्वदर्शितसूत्रालापकभावार्थमजानन्नपि विभ्रमितचित्ततया तत्प्रामाण्यं पुरस्कुर्वाणः किल जिनवचनप्रामाण्यावलम्बिनमात्मानं मन्यते भवान् । तथापि हन्त ! सत्यमेव जिनमतं भवतः प्रमाणं, ततः केवलपर्यायवादितया जिनमताभिमतमपि द्रव्यास्तिकनयं मा परित्याक्षीः, द्रव्यास्तित्वं मा प्रतिषेधयेत्यर्थः । यतो यस्मात्सर्वस्य बौद्धस्येव तत्र तन्नाशे द्रव्यस्य सर्वथा विनाशे स्वीक्रियमाणे 'सर्वनाशोऽस्ति'सर्वस्यापि तृप्तिश्रमादेर्बन्धमोक्षादेश्च व्यवहारस्य नाशो भवति, विलोपः प्राप्नोतीत्यर्थः । ॥ २४१९ ॥

इत्यादियुक्तिप्रबन्धतः प्रज्ञाप्यमानोऽप्यसौ यावन्न किञ्चित्प्रतिपद्यते, ततस्तत्र किं संजातम् ? इत्याह-

इय पण्णविओ वि जओ, न पवज्जइ सो कओ तओ बज्झो ।
विहरंतो रायगिहे, नाउं तो खंडरक्खेहिं ॥ २४२० ॥
गहिओ सीसेहिँ समं, एएऽहिमर त्ति जंपमाणेहिं ।
संजयवेसच्छन्ना, सज्जं सव्वे समाणेह ॥ २४२१ ॥
अम्हे सावय ! जयओ, कत्थुप्पन्ना कहिं च पव्वइया ।
अमुगत्थ वेंति सड्ढा, ते वोच्छिन्ना तया चेव ॥२४२२॥
तुब्भे तव्वेसधरा, भणिए भगओ सकारणं च त्ति ।
पडिवन्ना गुरुमूलं, गंतूण तओ पमिकंता ॥ २४२३ ॥

उक्तार्था एव, नवरं (भणिए भयओ सकारणं च त्ति) तैः खण्डरक्षश्रावकैरेवं पूर्वोक्ते भणिते सति जयतो भयात्सकारणं च सयुक्तिकं च समाकर्ण्यानुशास्तिरूपं तद्वचः प्रतिपन्नास्तेऽश्वमित्रप्रमुखा निह्नवस्साधव इति ॥ २४२०--२४२१--२४२२--२४२३ ॥ (विस्तरस्तु प्रमाणग्रन्थेभ्यः सम्मत्यादिभ्योऽवसेयः) विशे० । आचा० । नं० । अनु० । अने० । नयो० ।

खणेत्तु-खनित्वा-अव्य० । खननं कृत्वेत्यर्थे, "खणेत्तु वा कट्टेतु वा " आचा० ।

खण्ण-खन्य-त्रि० । खननीये, खनितव्यायाम् , वाच० । कल्प० ।

केनचिद्दत्ते खाते, बृ० ३ उ० । (खण्णमिति) देशीपदम्, सर्वात्मना लूषिते, व्य० १ उ० ।

खण्णु-स्थाणु-पुं० । " सेवादौ वा " ८ । २।९९। इत्यन्त्यद्वित्वं वा । खणू,खण्णू, शिवे, शाखाशून्यवृक्षे च । वाच० । प्रा० २ पाद ।

खत्त-क्षत्र-पुं० । न० । शस्त्रेणाभिहते करीषविशेषे,ओघ० । पिं० । क्षतात् त्रायते । त्रै-क । ५ त । क्षत्रिये, वाच० । उत्त० । क्षत्रियजातौ, वर्णसङ्करोत्पन्ने च । उत्त० १२ अ० । मुखद्वारे, संधौ, उत्त० ४ अ० । राष्ट्रे, उदके, धने, देहे, तगरे च, न० । वाच० ।

खात-न० । उभयत्रापि समे गर्ते, प्रज्ञा० २ पद । ज्ञा० ।

खत्तखाणय-क्षत्रखानक-पुं० । संधिकचौरेषु, ये संधानवर्जितभित्तीः कारयन्ति । ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

खत्तमेह-क्षत्रमेघ-पुं० । करीषसमानरसजलोपेतमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

खत्तय-खातक-त्रि० । क्षेत्रस्य खानके, चौरे च । ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । राहुविमानस्य तृतीये कृष्णपुद्गले, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० । ज्र० ।

खत्ता-क्षत्ता-पुं० । स्त्री० । शूद्रपुरुषेण क्षत्रियस्त्रियां जाते, ऋकारान्तोऽयं शब्दः । आचा० १ श्रु० ४२१ पत्र ।

खत्तिखकारपविभत्ति-ख इति खकारप्रविभक्ति-न० । खकाराकृतिनर्तकनमस्काराभिनयात्मके नाट्यविधौ, रा० ।

खत्तिय-क्षत्रिय-पुं० । स्त्री० । क्षतात्त्रायते इति क्षत्रियः। सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । क्षणनानि क्षतानि,तेभ्यस्त्रायते इति क्षत्रियः। उत्त० ३ अ० । भ० । सूत्र० । आरक्षके,नि० चू० ५ उ० । क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः, "क्षत्रादियः"।६।१।९३। इति (हैम०) इयप्रत्ययः । रा० । सामान्यराजकुलीने,औ० । भ० । ज्ञा० । रा० । इक्ष्वाकुवंश्यादिके,सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । श्रीऋषभदेवसजातीये,कल्प० ५ क्षण । श्रीआदिनाथेन प्रजालोकतया स्थापिते,कल्प० २ क्षण । प्रधानप्रकृतौ, कल्प० ७ क्षण । आ० म० । (श्रीऋषभदेवेन कृतस्य उग्र-भोग-राजन्य-क्षत्रिय-चतुष्कसंग्रहस्य मध्ये उग्रादयस्त्रय आरक्षकादय आसन्, शेषाः क्षत्रिया इति ' उसभ ' शब्दे द्वि० भागे ११२४ पृष्ठे उक्तम्) राष्ट्रकूटादौ, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० । श्रेष्ठ्यादौ, " माहणा अदुव खत्तिया पुच्छंति " दश० ६ अ० । चक्रवर्तिबलदेववासुदेवप्रभृतिषु क्षत्रियेषु , आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० । सामान्यतो राजोपजीविनि, बृ० १ उ० । नृपात् अपरिणीतायां क्षत्रियजातिस्त्रियां गूढोत्पन्ने पुत्रे च । तस्य पत्नी,ङीष् वा आनुक् । क्षत्रियाणी क्षत्रियी, (आर्यक्षत्रियाभ्यां वा) इति स्वार्थे आनुक् ङीष् च । पत्न्यां तु ङीषेवेत्युक्तं, जातौ तु योपधत्वान्न ङीष्, किंतु टाप्, क्षत्रिया । वाच० ।

खत्तियकुंडगाम-क्षत्रियकुण्डग्राम-पुं० । मगधदेशे ब्राह्मणकुण्डग्रामात्पश्चिमायां श्रीमहावीरजन्मग्रामे, कल्प० २ क्षण । " तस्स णं माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स पच्छिमे णं एत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णामं णयरे होत्था, वण्णओ तत्थ णं खत्तियकुंडग्गामे णयरे जमाली णामं खत्तियकुमारे परिवसइ । " भ० ९ श० ३३ उ० ।

खत्तियकुंभपुर-क्षत्रियकुण्डपुर-न० । ज्ञातानां क्षत्रियाणां आवाससन्निवेशे वीरजन्मपुरे,तत्र ब्राह्मणकुण्डग्रामात् उत्तरस्याम् । " दाहिणमाहणकुंभपुरसन्निवेसाओ उत्तरखत्तियकुंभपुर-

संणिवेसंसि णायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स का-सवगोत्तस्स तिसलाए खत्तियाणीए पत्तिमायां " यथोक्तं पूर्वम् । आचा० ३ चू० ।

खत्तियकुल-क्षत्रियकुल-न० । श्रीआदिदेवेन प्रजालोकतया स्थापितानां कुलेषु, कल्प० २ क्षण ।

खत्तियपरिव्वायग-क्षत्रियपरिव्राजक-पुं० । क्षत्रियो भूत्वा प-रिव्राजकतां गते, " अट्ठ खत्तियपरिव्वायया होंति । तं जहा-सीलई ससिहारे णगई भग्गई तियविदेहे राया रामे बलेति य । " औ० ।

खत्तियपव्वइय-क्षत्रियप्रव्रजित-पुं० । चातुर्वर्ण्ये द्वितीयवर्ण-भूतेषु सत्सु दीक्षामाश्रितेषु, औ० ।

खत्तियविज्जा-क्षत्रियविद्या-क्षत्रियाणां धनुर्वेदादिकायां स-गोत्रकर्मणि आयातायां च विद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

खद्ध-खद्ध-त्रि० । बृहत्प्रमाणे, विशे० । प्रचुरे, खद्धशब्देन सै-द्धान्तिकेन प्रचुरमभिधीयते । प्रव० २ द्वार । ओघ० । दशा० । आचा० । प्रभूते, बृ० ४ उ० । " खद्धं २ मायं २ सियं २ आ-हारेत्ता भवइ आसायणा सेहस्स । " स० ३३ सम० । " खद्धं २ त्ति चड्डे चड्डे लंबणे" आव० ४ अ० । "खद्धं २ त्ति" शीघ्रं २ द्विर्वचनमादरख्यापनार्थम् । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

खद्धपजणण-खद्धप्रजनन-न० । बृहत्प्रमाणे मेहने, (शेफे) स्था० ३ ठा० ४ उ० । ओघ० ।

खद्धलोह-खद्धलोभ-पुं० । प्रभूते अन्नादौ लभ्यमाने लुब्धता-याम्, पञ्चा० १७ विव० ।

खद्धाइयण-खद्धाग्रदन-न० । प्रचुरादिभक्षणे, प्रव० । खद्धाद्य-दने इत्यत्र पदे खद्धशब्देन बहु भण्यते, (अयणे त्ति) अदनमश-नमित्यर्थः, ततः खद्धं बहु आदिर्यस्य तत् खद्धादि अदनं "च-डुचडुहिं लंबणेहिं " खादनमित्यर्थः । आदिशब्दाद् डाकादिप-रिग्रहो॰त एवाह-" आइसद्दा डागं होइ पुणो पत्तसागं तं, " प्रव० २ द्वार । आचा० ।

खद्धादणीयगिह-खद्धादनीयगृह-न० । खद्धम् अदनीयं येषु गृहेषु तानि खद्धादनीयगृहाणि । ईश्वरगृहेषु, नि०चू० ११ उ० ।

खपुसा-खपुसा-स्त्री० । उपानद्भेदे, "खपुसा य खलुगमेसं" खल्लुको घुण्टकः, तन्मात्रं यावदाच्छादयन्ती खपुसा । बृ० ३ उ० । नि० चू० ।

खप्पर-कर्पर-पुं० । कृप् अरन् लत्वाभावः । "कुब्जकर्परकीलके कः खोऽपुष्पे " । ८ । १ । १८१ । इति कस्य खः । प्रा० १ पाद । कपाले, घटावयवे, शीर्षोऽर्द्धास्थनि, शस्त्रभेदे, कटाहे च । उ-दुम्बरे वृक्षे, वाच० । आव० ।

खर्पर-पृषोदरादित्वात्कस्य खत्वम् । तस्करे, भिक्षापात्रे, भि-न्नमृन्मयखण्डे, तुच्छाञ्जने, वाच० ।

खव्व-खर्व-(खरव) पुं० । 'खर्व' गर्वे, अच् । कुबेरनिधिविशेषे, कुब्जकवृक्षे, अन्त्यस्थमध्यः । 'खर्व' गतौ, अच् । वर्गमध्यह्रस्वे, वामने, त्रि० । गर्वसमूहपूरिततनौ, संख्याभेदे, वाच० । अनु-न्नते, स्था० ४ ठा० १ उ० । दशगुणितेऽब्जे, कल्प० ७ क्षण ।

खव्वड-ख (क) र्व (र्ब) ट-न० । क्षुल्लकप्राकारवेष्टिते, व्य० १ उ० । जी० । ज्यो० । पर्वतेनाजितः परिवृते वा । सूत्र० २ श्रु० २ उ० । कुनगरे, नि० चू० १२ उ० । बृ० । ग० ।

खम-क्षम-त्रि० । क्षमते इति क्षमः । प्रश्न० ५ संव० द्वार । हिते. बृ० ३ उ० । समर्थे, अष्ट० ६ अष्ट० । तारणसमर्थे, ध० ३ अधि० । सङ्गते, दशा० १० अ० । औ० । युक्ते, पा० । स्था० । आचा० । योग्ये, आव० ४ अ० "न वंजयारिस्स खमो निवासो" उत्त० ३२ अ० । कुशले, विशे० । उचिते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । क्षमत्वे, सङ्गतत्वे, "खमाए भविस्सइ, " भ० ६ श० ३३ उ० । स्था० ।

खमग-क्षपक-पुं० । विकृष्टतपस्विनि, जीवा० १२ अधि० "भिक्खु-त्ति वा जभि त्ति वा खमग त्ति वा, " नि० चू० २० उ० ।

खमण-क्षपण-न० । अभक्तार्थे, नि० चू० २० उ० । व्य० । उपवासे, बृ० १ उ० ।

क्षमण-पुं० । क्षमते इति क्षमणः । क्षान्ते, अनु० ।

खमणोवसंपया-क्षमणोपसंपत्-स्त्री० । चारित्रनिमित्तं गच्छान्त-रे क्षपणार्थमुपसंपत्तौ, (अस्याः स्वरूपम् 'उवसंपया' शब्दे द्वि० भा० ९०५ पृष्ठे उक्तम्) नवरमिह स च क्षपको द्विधा-इत्वरो, यावत्काथिकश्च । यावत्काथिक उत्तरकालेऽनशनकर्त्ता । इत्वरस्तु द्विविधः-विकृष्टक्षपकः, अविकृष्टक्षपकश्च । पञ्चा० १२ विव० । नि० चू० । आ० चू० । व्य० । आ० म० ।

खमया-क्षमता-स्त्री० । क्षाम्यतीति क्षमः, तद्भावः क्षमता । अभिग्रहे, पञ्चा० १६ विव० ।

खमयाभिग्गह-क्षमताभिग्रह-पुं० । क्षान्तिमार्दवार्जवादौ नि-यमे, पं० सं० ५ द्वार ।

खमा-क्षमा-स्त्री० । ' क्षमूष् ' सहने, अच् । आव० ३ अ० । "क्षमायां कौ" । ८ । २ । १८ । इत्यनेन पृथिव्यां वाच्यायां खः, अन्यत्र तु खः । प्रा० २ पाद । आ० चू० । मर्षणे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । क्रोधोपशमे, अष्ट० २९ अष्ट० । संथा० । कल्प० । आव० । क्रोधाभावेन तितिक्षायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सत्येतरदोषश्रवणेन कार्यतत्त्वमविचार्यान्त-र्बहिश्च कोपोदयात् विक्रियामापद्यमानस्यात्मनो निरोधने, यो० विं० । " तत्थ खमा अक्कोसणतालणादी अहियासे तस्स कम्मखओ भवति, अणहियासे न तस्स कम्मखओ भवति,तम्हा कोधोदयनिरोहो कायव्वो । उदयप्पत्तस्स चावि-फलीकरणं एसा खम त्ति वा"। आव० १ अ० । खदिरे, वाच० ।

खमाधीसर-क्षमाधीश्वर-पुं० । विजयरत्नसूरिपट्टारूढविजयक्ष-मासूरि इति ख्याते तपागच्छीये आचार्ये,

"तत्पट्टोदयशैलसक्ततरविर्मिथ्यातमस्त्रासने,
भव्याम्भोरुहभासने सुविपुलं ज्ञानाकरं वहन् ।
कुग्राहग्रहतारतारकमिलद्दोषाविलं पुष्करं,
शोभावद् विदधद् बभूव विजयाज्जीमतक्षमाधीश्वरः" ॥१२॥

द्रव्या० १५ अ० ।

खमावणया-क्षमापनता-स्त्री० । परस्यासंतोषवतः क्षमोत्पा-दने, भ० १७ श० ३ उ० ।

खमावणा-क्षमापना-स्त्री० । अपराधक्षामणे, उत्त० ।

तत्फलम्-

खमावणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । खमावण-

याए णं पल्हायणभावं जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभावं उप्पाएइ मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥ १७ ॥

हे भदन्त! क्षामणया दुष्कृतानन्तरं क्षन्तव्यमिदं मम अपराधं पुनर्न करिष्यामि एतादृशम् इत्यादिरूपया जीवः किं जनयति?। गुरुराह—हे शिष्य! क्षामणया गुरोरग्रे स्वदुष्कृतनिन्दया प्रह्लादनभावं चित्तप्रसत्तिरूपं जनयति। प्रह्लादनभावमुपगतो जीवः सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वेषु प्राणाश्च भूताश्च जीवाश्च सत्त्वाश्च प्राणभूतजीवसत्त्वाः, सर्वे च ते प्राणभूतजीवसत्त्वाश्च सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वास्तेषु मैत्रीभावमुत्पादयति। मैत्रीभावं गतस्तु जीवो भावविशोधिं कृत्वा रागद्वेषनिवारणं विधाय इहलोकादिसप्तभयानि निवार्य निर्भयो भवति। उत्त० २९ अ०।

खमाविय–क्षामित–त्रि०। " णुगावी क्ष्माणकर्मसु "। ८। ३। १५२। इति णेः स्थाने णुक् आवि इत्यादेशः। लुकि आते वृद्ध्यभावः। क्षमां कारिते, प्रा० ४ पाद।

खमासमण–क्षमाश्रमण–पुं०। 'क्षमूष्' सहने इत्यस्यार्थत्वादक्ति,अजन्तस्य वा क्षमा,सहनमित्यर्थः। श्राम्यति संसारविषये खिन्नो भवति, तपस्यतीति वा नन्द्यादित्वात्कर्त्तर्यने श्रमणः। क्षमाप्रधानः श्रमणः क्षमाश्रमणः। ध० २ अधि०। आव०। आ० चू०। क्षमादिगुणप्रधानमहातपस्विनि, पा०। ("इच्छामि खमासमणो वंदिउं" इत्यादि 'किइकम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५२३ पृष्ठे व्याख्यातम्)देवान् वन्दित्वा भगवन्नित्यादि चत्वारि क्षमाश्रमणानि क्रियासंबद्धान्यन्यथा वा?, तथा पडिक्कमणोः क्षमाश्रमणं पृथक् दातव्यं, न वेति प्रश्ने,उत्तरम्–भगवन्नित्यादि चत्वारि क्षमाश्रमणानि क्रियासंबद्धानि सन्ति। तत्र सर्वेऽपि तीर्थकृतो वन्दिताः। अथ ये विशेषतो गुरून् तथा पडिक्कमणं वन्दते तदौचित्यसत्यापनार्थमिति। १४० प्र० सेन० ४ उल्ला०।

खमिय–क्षामित–पुं०। क्षामिते,ज्येष्ठोऽपि शैक्षं क्षामयति। कल्प० ९ क्षण।

खम्म–घर्म्म–पुं०। " चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ "।८।४।३२५। इति घस्य खः। आतपे, प्रा० ४ पाद।

खम्मंत–खन्यमान–त्रि०। " हन्खनोऽन्त्यस्य " ८।४।२४४। इति अन्त्यस्य द्विरुक्तो मः। विदार्यमाणे, प्रा० ४ पाद।

खय–क्षत–त्रि०। क्षतियुक्ते, भावे क्तः। विदारणे,न०। घर्षणे, अघडुकपूयादौ व्रणे, वाच०।

क्षय–पुं०। ध्वंसे,उत्त० ५ अ०। विनाशे,आतु०। सूत्र०। सर्वविनाशे, भ० ११ श० ११ उ०। अवसाये, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ०। राजयक्ष्मरोगे, स च क्षयः संनिपातजश्चतुर्भ्यः कारणेभ्यो भवतीति। उक्तं च–" त्रिदोषे जायते यक्ष्मा, गदो हेतुचतुष्टयात्। वेगरोधात् क्षयाच्चैव, कासाच्च विषमाशनात् ॥ " आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। लावकादिपिशिताशिनः किल क्षयव्याधेरुपशमः। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०। कर्मण उदयावस्थात्यन्ताभावे, कर्म० ५ कर्म०। स्था०। सूत्र०। प्रश्न०। पूर्णीकरणे, कल्प० १ क्षण। स्था०।

खयनाणि–क्षयज्ञानिन्–पुं०। क्षयेण ज्ञानी क्षयज्ञानी। केवलिनि, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

खयायार–क्षताचार–पुं०। स्त्री०। आवश्यकादिषु अनुगमेऽवसन्ने, " ओसन्ने खयायारो " व्य० ३ उ०। क्षताचारस्य निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा तादृश्या उपस्थापनादि न कल्पते—

नो कप्पति निग्गंथाणं वा निग्गंथीणं वा णिग्गंथी अन्नगणाओ आगइय खयायारं सबलायारं भिन्नायारं संकिलिट्ठायारं चरित्तस्स अणालोयावेत्ता अपडिक्कमावेत्ता पायच्छित्तं अपडिवज्जावेत्ता उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरयं दिसं वा अणुदिसं ओदिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ ए ॥

न कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा निर्ग्रन्थी क्षताचारां सबलाचारां भिन्नाचारां संक्लिष्टाचारां,क्षतादीनां शब्दानामर्थः प्राग्वत्। तस्य स्थानस्य अनालोचयित्वा यस्मिन् सेवते सा क्षताचारा भवेत् तत्स्थानमनालोच्य तस्मात्स्थानादपरिक्रम्य तथा तस्य स्थानस्य विषये प्रायश्चित्तमप्रतिपाद्य उपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा संवस्तुं वा तस्याम् इत्वरां दिशमनुदिशं वा उद्देष्टुमनुज्ञापयितुं वाऽपि तस्याः स्वयं धारयितुं कल्पते इत्येष सूत्राक्षरार्थः। व्य० अ०।

सम्प्रति भाष्यविस्तरः। तत्र परप्रश्नावकाशमाह—

जा होइ परिब्भवंती–ह निग्गया सीयइ कहं स त्ति।
संवासमाइएहिं, सबलिज्जइ उज्जमंता वि ॥

या प्रमादिगणं परिभवन्ती धर्मश्रद्धया गृहवासादिह निर्गता, सा कथं सीदति, येन सा क्षताचारादिर्जाता। अत्र सूरिराह–संवासादिभिः सा उद्यच्छन्त्यपि उद्यमं कुर्वत्यपि शबलीक्रियते। इयमत्र भावना–सा एकाकित्वेन विहरन्ती गृहस्थाभिः समं वसन्ती स्वशक्त्यनुसारेणोद्यमं कुर्वत्यपि स्खलनां प्राप्नोति। आदिशब्दात् गोचरचर्यायां विचारभूमौ वा यतः सत्येकाकिनी स्खलनामाप्नुयादिति।

अथैकाकिनी सा कथं जातेत्यत आह—

अद्धाण निग्गयादी, कप्पट्ठि संजरंति जा बितिया।
आगमणदेसभंगे, चउत्थि पुण मग्गए सिक्खं ॥

अध्वनि अवमौदर्येणाऽशिवेन वा निर्गता अध्वनिर्गता,आदिशब्दात् राजद्विष्टेन वा,सार्थेन वा, स्तेनैरभिहते निर्गतेति परिगृह्यते, एषा प्रथमा। द्वितीया ' कप्पट्ठि ' दुहितरं संस्मरन्ती एकाकिनी जाता। तृतीया परचक्रागमनेन देशभङ्गे एकाकिनी। चतुर्थी शिक्षां मृगयमाणा एकाकिनी जाता।

तत्र "अध्वनिर्गतादीनाम्" व्याख्यानार्थमाह–

गोउम्मुगमादीया, नाया पुव्वमुदाहडा।
ओमेऽसिवे रायदुट्ठे, सत्थे वा तेणऽभिद्दुते ॥

अवमौदर्ये संयत्यो न संस्तरन्ति। तत्र गोज्ञातं पूर्वमुदाहृतम्, यथा–अल्पं गोब्राह्मणं न हन्ति, तत एतत् ज्ञातमवधार्य या यत्र संस्तरति सा तत्र गच्छति। अशिवे समुपस्थिते उल्मुकज्ञातमुदाहृतं पूर्वं कल्पाध्ययने। यथा–उल्मुकानि बहूनि मिलितानि ज्वलन्ति एकं, द्वे वा न ज्वलतः। एवमशिवमपि बहुषु गाढमुपतिष्ठति नैकस्मिन् द्वयोर्वा। ततो वृन्दघाते एकाकिनी जाता। एताभ्यां प्रकाराभ्यामध्वानं प्राप्ता। तथा–राजद्विष्टेन पूर्वभणितेनैकाकिनी जायते। सार्थे वा स्तेनैरभिद्रुते एकाकिनी जायते। त-

तः सा आचार्योपाध्यायप्रवर्त्तिनीविरहिता निर्धर्मीभूता पार्श्वस्थादिविहारं विहृत्य पुनरपि संवेगमापन्ना कञ्चिदाचार्यमुपाध्यायं गणावच्छेदकं वा द्रष्टुमुपस्थिता विज्ञपयति-यथाऽहं पार्श्वस्थादिविहारात्प्रतिक्रमामि, ततो मम संग्रहं कुरुत, यावदाचार्यमुपाध्यायं चाऽऽत्मीयं पश्यामि। एवमन्यगणादागतां तस्मात्स्थानादप्रतिक्राम्य न कल्पते उपस्थापयितुं, नापि षड्विधेन संभोगेन यथासंभवमार्यिकाणां संयतानां च संभोक्तुं, नापि यावदात्मीयमाचार्यादिकं न गच्छति तावदित्वर आचार्यः, एषा दिगित्युच्यते। इत्वर उपाध्यायप्रवर्त्तिनी वा दीयते, एषा अनुदिक्। गतमध्वानं प्रतिपन्नादिति।

अधुना " कप्पाहिं संभरंति जा वितिया " इति व्याख्यानार्थमाह—

अन्नत्थ दिक्खिया थेरी, तीसे धूया य अन्नहिं।
वारिज्जंती य सा एज्जा, धूयानेहेण तं गणं ॥

अन्यत्र गच्छे स्थविरा माता दीक्षिता। अन्यत्र गच्छान्तरे (तीसे) तस्या दुहिता। ततः सा माता दुहितुः स्नेहेनाऽऽत्मीयानाचार्योपाध्यायान्पृच्छति-व्रजामि तां दुहितरं द्रष्टुम्। सा वार्यमाणाऽप्याचार्योपाध्यायैर्निर्गता, एवमेकाकिनी सा जाता। एकाकितया निर्धर्मीभूता यत्र सा दुहिता दीक्षिताऽस्ति तं गणमागता, दृष्टा दुहिता, संवेगमापन्ना, शेषं प्राग्वत्।

इदानीम् "आगमणदेसभंगे" इत्यादिव्याख्यानार्थमाह--

परचक्केण रट्ठम्मि, विद्दुते बोहिकाइणा।
जहा सिग्घे पणट्ठासु, एय एगाऽसहायिका ॥

परचक्रेण बोधिकादिना विद्रुते अभिद्रुते राष्ट्रे तथा शीघ्रमार्यिकाः प्रनष्टाः, यथा तासु प्रनष्टासु मध्ये सा एका असहायिका जाता, एकाकितया धर्मरहिता बभूव। ततो गणान्तरं दृष्ट्वा पुनः संवेगमापन्ना, शेषमध्वानं प्रतिपन्ना इव वाच्यम्।

अधुना " चतुर्थी पुनर्मृगयते शिक्षामिति " व्याख्यानार्थमाह—

सोऊण काइ धम्मं, उवसंता परिणया य पव्वज्जं।
निक्खंत मंदपुन्ना, सो चेव जहिं तु आरंभो ॥

श्रुत्वा काचन संविग्नानां पार्श्वे धर्मं उपशान्ता प्रव्रज्यां प्रति परिणता च, सा च निष्क्रान्ता पार्श्वस्थादीनां समीपे, ततः सा अचिन्तयत्-यस्मादारम्भात्संयमरूपात् भीताऽहं मन्दपुण्या स एव मे समापतित आरम्भो यस्मादत्राहं प्रव्रजिता वर्त्ते इति।

एतदेवाह-

आभीरिं पव्वइत्ताण, गया ते आययट्ठिया।
अह तत्थेतरे पत्ता, निक्खमंति तमुज्जयं ॥

आयतो मोक्षस्तत्र स्थिता आयतस्थिता उद्यतविहारिणः संविग्ना इत्यर्थः। ते आभीरीं काञ्चन प्रव्राज्यान्यत्र विहारक्रमेण गताः, अथानन्तरं तत्र ग्रामं इतरे पार्श्वस्थादयः प्राप्तास्ते तामुद्यतां निष्क्रामयन्ति, सा चापूर्वप्रकारेणासंयमाद्भीता तत्र समाधिं न लभते।

दट्ठुं वा सोउं वा, मग्गंती तु पमिच्छिया विहिणा।
संविग्गसिक्ख मग्गइ, पवित्तिणिमायरिय उवज्झं ॥

ततः सा मूलधर्मग्राहकानाचार्यान् मृगयन्ती द्रष्टुं श्रोतुं वा स्नानादिसमवसरणादौ समागतान् संविग्नशिक्षां ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षां च मार्गयति। अन्यां च प्रवर्त्तिनीमन्यमाचार्यमन्यं चोपाध्यायं सा चैवं मार्गयन्ती विधिना तैः प्रतीच्छिता स्वीकृता कर्त्तव्या तत्र यत्र ते दृष्टाः श्रुता वा मूलधर्मग्राहका यथावत् तैर्विधिना प्रतीच्छनीया।

तदेतद्विभणिषुराह-

एहाणाइएसु मिलिया, पव्वावेंति भणंति तेहिं से।
होह व उज्जुयचरणा, इमं व वइणि वयं नेमो ॥

स्नानादिसमवसरणं गतया तया ते मूलधर्मग्राहका आचार्या दृष्टा भवेयुः, श्रुता वा, यथा अमुकग्रामनगरादौ वर्त्तन्ते, ततः स्नानादिसमवसरणे, अन्यत्र वा गत्वा तेषां मिलित्वा शिक्षां प्रवर्त्तिन्यादिकं च याचते, ततो विधिना तस्याः प्रतीच्छनं कुर्वन्ति। तमेव विधिमाह-ते मूलधर्मग्राहका आचार्यास्तस्याः प्रव्राजयतः प्रव्राजकान् आचार्यान् भणन्ति-यूयं वा भवत उद्यतचरणाः, अथवा इमां व्रतिनीं नयाम।

भणति पवत्तिणी ते-सिमसति विसज्जेह वतिणिमेतं ति।
विस्सज्जिए नयंती, अविसज्जंतीए मासलहुं ॥

तेषां प्रव्राजकानामाचार्योपाध्यायानामसति अभावे, प्रवर्तिनी भण्यते। यथा-एतां व्रतिनीं विसर्जय। एवं भणिते यदि विसर्जयति ततो विसर्जिते विसर्जने कृते नयन्ति, अथैवं भणिताऽपि सती सा प्रवर्त्तिनी न विसर्जयति, तर्हि तस्या अविसर्जयन्त्याः प्रायश्चित्तं मासलघु। अत्रायं विधिः-प्रथमतः सा प्रवर्तिनी संयत्या भण्यते। यथा-विसर्जयेमां साध्वीमिति, एवमुक्ता यदि न विसर्जयति ततो मासलघु।

वसभे य उवज्झाए, आयरिएँ कुलेण वावि थेरेण।
गणथेरेण गणेण व, संघत्थेरेण संघेणं ॥
भणिया न विसज्जंती, लहुगादी सोहि जाव मूलं तु।
तीए हरिऊण ततो, अण्णो से दिज्जते उ गणे ॥

यदा संयत्या भणितेऽपि सा प्रवर्त्तिनी न विसर्जयति तदा वृषभो गीतार्थः कोऽपि साधुर्गत्वा तामापृच्छति। तत्रापि यदि न विसर्जयति तदा प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। ततो यः साधुरुपाध्यायस्थानं प्राप्तस्तेन सा आपृच्छ्यते, तत्राप्यविसर्जने चतुर्गुरु। ततो यः साधुराचार्यस्थानं प्राप्तः स तामापृच्छति, यदि न विसर्जयति तर्हि तस्याः प्रायश्चित्तं षड् लघु। ततः कुलेन कुलस्थविरेण सा भणनीया, तत्राविसर्जने षड् गुरु। ततो गणेन गणस्थविरेण वा सा प्रज्ञापनीया। तथाप्यमुत्कलने प्रायश्चित्तं छेदः, तदनन्तरं सङ्घेन सङ्घस्थविरेण वा सा भणनीया। तथाऽपि चेन्न विसर्जयति तर्हि प्रायश्चित्तं तस्या मूलम्। अन्यच्च यदि सा सङ्घमपक्रामति ततस्तस्याः सकाशात् हृत्वा (से) तस्या अन्यो गणो दीयते; अन्यस्याः प्रवर्तिन्याः सा समर्प्यत इत्यर्थः।

एमेव उवज्झाए, अविसज्जंते हवंति लहुगा उ।
भिक्खंते गुरुगादी, वसभादी जाव नवमं तु।
एमेव य आयरिए, अविसज्जंते हवंति गुरुगा उ।
वसभाइए हि भणिए, छल्लहुगाई उ जा चरमो ॥

संयत्या भणितया स्वयं प्रवर्त्तिन्यास्तस्यामविसर्जनायां यदि तस्यामुपाध्यायो न तां जणति-यथा विसर्जयैनां साध्वीमिति, तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। उपाध्यायातिक्रमणे यथाचार्यो न भणति-यथेमां विसर्जयेति, तदा तस्यापि प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। एवं तावत्प्रवर्त्तिन्यामविसर्जयन्त्यामुक्तम्। इदानीमाचार्यस्योपाध्यायस्य वा अविसर्जयतः प्रतिपाद्यते-एवमेव अनेनैव प्रकारेणोपाध्यायेऽप्यविसर्जयति प्रथमतो भवन्ति चत्वारो लघुकाः। ततो वृषभादिक्रमेण प्रायश्चित्तं वर्द्धमानं तावत् द्रष्टव्यं यावत्पर्यन्ते नवममनवस्थाप्यलक्षणं प्रायश्चित्तम्। आचार्ये प्रथमतो भण्यन्ते गुरुकाश्चत्वारः, ततस्तदधिकं वृषभादिक्रमेण प्रवर्द्धमानं तावदवसेयं यावत्पर्यन्ते चरमं पाराञ्चितम्, इति॥ इयमक्षरयोजना॥ भावार्थस्त्वयम्-संयत्याः प्रेषणे प्रवर्त्तिन्याः विसर्जितायामविसर्जितायां वा यद्युपाध्यायो न विसर्जयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। ततोऽन्येन साधुना गीतार्थेन स उपाध्यायो जण्यते, तथाऽप्यमुत्कलने चतुर्गुरु। ततो यः साधुरुपाध्यायस्थानं प्राप्तः स प्रज्ञाप्यते, तथाऽप्यविसर्जने षट् लघु। तदनन्तरमाचार्यस्थानं प्राप्तः साधुः प्रेष्यते तेनाप्यविसर्जने षम् गुरु। ततः कुलेन, कुलस्थविरेण वा जावनीयः, तथाऽप्यविसर्जने छेदः। गणेन, गणस्थविरेण वा भणनेऽप्यविसर्जने मूलम्। सङ्घेन, स्थविरेण वा प्रज्ञापनायामप्यमुत्कलने अनवस्थाप्यम्। तथा संयत्या भणने प्रवर्त्तिन्या विसर्जितायां वा यद्याचार्यो न विसर्जयति, तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम्। तदनन्तरं तस्य समीपे वृषभः प्रेष्यते, तथाऽप्यमुत्कलने षट् लघु। तत उपाध्यायस्थानं प्राप्तेन साधुना भणनेऽप्यविसर्जने षम् गुरु। तदनन्तरमाचार्यस्थानं प्राप्तः साधुः प्रेषणीयस्तथाऽप्यमुत्कलने छेदः। कुलेन, कुलस्थविरेण वा जणितेऽप्यविसर्जने मूलम्। गणेन, गणस्थविरेण वा अनवस्थाप्यम्। सङ्घेन, सङ्घस्थविरेण वा पाराञ्चितम्। सङ्घातिक्रमे तस्या गणादपहरणं सङ्घेन।

तथा चाह-

सयहत्थमुंमियं ग-च्छवासिणिं बंधवा विमग्गंती।
अण्णस्स देइ संघो, णाणचरणरक्खणा जत्थ॥

पार्श्वस्थादिभिः स्वकहस्तमुण्डितां गच्छवासिनीं, पार्श्वस्थादिगच्छवासिनीं वा बान्धवा उद्यतविहारिणो ये संसारान्निस्तारयन्ति, तान्विमार्गयन्ती अन्वेषयन्ती, अन्यस्याचार्यस्योपाध्यायस्यान्यस्याश्च प्रवर्त्तिन्याः सङ्घो ददाति, यत्र तस्या ज्ञानचरणरक्षणा भवति।

किं ? इत्येवम्। अत आह-

नाण-चरणस्स पव्व-ज्जकारणं नाणचरणतो सिद्धी।
जे हि नाणचरणवुड्ढी, अज्जाठाणं तहिं वुत्तं॥

प्रव्रज्याकारणं ज्ञानस्य, चरणस्य च, ज्ञानचरणनिमित्तं प्रव्रज्या प्रतिपद्यते इति भावः। यतो ज्ञानचरणवृद्धिस्तत्रार्याणामार्यिकाणां स्थानमवस्थानमुक्तं तीर्थकरगणधरैः पार्श्वस्थादीनां सकाशे ज्ञानचरणे न, ततस्तेभ्यस्तामपहृत्य सङ्घोऽन्यस्य ददाति।

मुत्तूण इत्थ चरिमं, इत्तरितो होइ ऊ दिसाबंधो।
ओसण्णदिक्खियाए, आवकहाए दिसाबंधो॥

अत्र एतासु चतसृषु मध्ये, चरमां चतुर्थीं "पुण मग्गए सिक्खं" इत्येवंरूपां मुक्त्वा शेषाणां तिसृणामध्वनिर्गतादिकादीनां दिग्बन्ध इत्वरो भवति। चरमयोः पुनरवसन्नदीक्षिताया यावत्कथिको दिग्बन्धः॥ व्य० ६ उ०।

नो कप्पति निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अन्नगणातो आगतं खयायारं सबलायारं संकिलिट्ठायारं चरित्तं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमावेत्ता पायच्छित्तं पडिवज्जित्ता उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसेइ तिरिया-दिसि वा अणुदिसि वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा त्ति बेमि॥ १०॥ व्य० अ० ६ उ०।

एसेव गमो नियमा, निग्गंथाणं पि होइ नायव्वो।
नवरं पुण णाणत्तं, अणवट्ठप्पो य पारंची॥

एष एवानन्तरोदितो गमः प्रकारो निर्ग्रन्थानामप्यन्यगणादागच्छतां भवति। नियमाद् ज्ञातव्यः, नवरं पुनः प्रायश्चित्ते नानात्वम्, अनवस्थाप्यं, पाराञ्चितं च। इयमत्र भावना-येन प्रव्राजितः स क्षुल्लको, भिक्षुर्वा, स चेत् संयते प्रेषिते न मुत्कलयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। ततो वृषभादिक्रमेण प्रायश्चित्तं पूर्वप्रकारेण वर्द्धमानं तावत् द्रष्टव्यं यावत्सङ्घेन, सङ्घस्थविरेण वा भणनेऽप्यमुत्कलने अनवस्थाप्यम्। तथा तस्य साधुना भणनेऽप्यमुत्कलने यद्युपाध्यायस्तं प्रव्राजकं न जणति-यथा विसर्जयैनमिति तदा तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्लघु। आचार्यस्याभणने चतुर्गुरु। तथा उपाध्यायः साधुप्रेषणे यदि न मुत्कलयति तदा चतुर्लघु। ततो वृषभादिक्रमेण पूर्ववत् वर्द्धमानं प्रायश्चित्तं तावत् द्रष्टव्यं, यावत्सङ्घातिक्रमेऽनवस्थाप्यम्। आचार्यस्य तु चतुर्गुरुकादारभ्य तावद्द्रष्टव्यं यावत्सङ्घातिक्रमे पाराञ्चितम्, अत्रापि निर्ग्रन्थ्या इव चत्वारो भेदाः।

तथा चाह-

अद्धाण निग्गयादी, कप्पट्ठग संजरंत तो विइतो।
आगमणदेसभंगे, चतुत्थओ मग्गए सिक्खं॥

प्रथमोऽध्वनिर्गतादिको, द्वितीयः कल्पस्थकं बालकं संस्मरन्। तृतीयः-परचक्रागमनेन देशभङ्गे, चतुर्थः-पार्श्वस्थादिदीक्षितः शिक्षां मार्गयति। अमीषां च व्याख्यानं सविस्तरं प्राग्वन्निरवशेषं द्रष्टव्यम्। अत्रापि चरमं मुक्त्वा शेषाणां त्रयाणामित्वरो दिग्बन्धः, चतुर्थस्य तु यावत्कथिकः। व्य० ६ उ०।

सूत्रम्-जे निग्गंथा य णिग्गंथीउ य संभोइया सिया णो कप्पति निग्गंथीणं निग्गंथे अणापुच्छित्ता णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खयायारं सबलायारं संकिलिट्ठायारं चरित्तं तस्स ठाणस्स अणालोयावित्ता अपडिक्कमावेत्ता० जाव पायच्छित्तं अप्पडिवज्जा पुच्छित्तए वा वाइत्तए वा उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा॥ १॥ व्य० अ० ७ उ०।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह-

णिग्गंथीणऽहिगारे, ओसन्नत्ते य समणुवत्तंते।
सत्तमए आरंभो, नवरं पुण दो वि निग्गंथी॥१॥

निर्ग्रन्थीनामधिकारे अवसन्नत्वे षष्ठोद्देशके चरमसूत्रद्वयादनुवर्त्तमाने, सप्तमे उद्देशके सूत्रद्वयस्यारम्भो भवति । तत्र यथा षष्ठोद्देशके चरमसूत्रद्वये एकस्मिन् सूत्रे निर्ग्रन्थी द्वितीयसूत्रे निर्ग्रन्थ एवमिहापि न । यत आह-नवरं सूत्रद्वयेऽपि द्वे अपि निर्ग्रन्थ्यौ, एवमनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या—ये निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थ्यश्च सांभोगिकाः स्युस्तेषां मध्ये निर्ग्रन्थीनां न कल्पते निर्ग्रन्थाननापृच्छयान्यस्मात् गणादागतां, क्षताचारां संक्लिष्टाचारामसमीषां शब्दानामर्थः प्राग्वत् । यस्मिन् स्थाने स्थीकृति स तस्य स्थानस्य अनालोच्य अप्रतिक्रम्य प्रायश्चित्तमप्रतिपाद्य प्रष्टुं वा वाचयितुं वा उपस्थापयितुं वा षष्णां संभोगानामन्यतमेन संभोगेन संभोक्तुं वा तस्याम् इत्वरां दिशमाचार्यलक्षणामनुदिशं वा उपाध्यायप्रवर्त्तिनीलक्षणामुपदेष्टुं वा अनुज्ञातुं, नापि तस्याः स्वयं धारयितुमित्येष प्रथमसूत्राक्षरार्थः ।

सम्प्रति भाष्यविस्तरः-

सुत्तं धम्मकहनिमि-त्तमादि घेत्तूण निग्गया गच्छा ।
पसवणचेइयाणं, पूयं काऊण आगमणं ॥१॥

कस्याप्याचार्यस्य शिष्या, सा,सूत्रम,उपलक्षणमेतदर्थं च गृहीत्वा, तथा धर्म्मकथाः पठित्वा, निमित्तं चातीतानागतादिकं गृहीत्वा, आदिशब्दाद्विद्यामन्त्रचूर्णयोगांश्च ज्ञात्वा गच्छान्निर्गता। ततः संनिमित्तादिबलेन धर्मकथया च इभ्यादीनामीप्सिता जाता। ततः संस्तवेनावृत्त्य चैत्यायतनप्रज्ञापनाश्चैत्यायतनं कारितवती, विपुलं तत्र सत्कारसमुदयमनुभवति। अन्यदा सा महत्तरिका तस्याः संबोधनार्थं विहारप्रत्ययं वा चैत्यमहमुद्दिश्य वा तत्र समागता, सा तस्याः शिष्या परितुष्टा, तत इभ्यगृहेषु विविधान्यशनादीनि वस्त्राणि च महार्हाणि तस्या महत्तराया महत्तरिकया साऽनुशिष्टा—किमद्याप्यार्ये ! पार्श्वस्थेन तिष्ठसि,कुरु संयमे समुद्योगं,स्वयं वा सा उद्यतकामा,एवं तस्यामुपस्थितायां यदि चैत्यानामन्यः शुश्रूषकोऽस्ति ततस्तस्मात्स्थानात्प्रतिक्राम्यते । अथ नास्ति चैत्यानामन्यः शुश्रूषकस्ततो यदि तस्मात्स्थानात् प्रतिक्रामयतां महत्तरिका नयति, तदा चैत्यभक्तिनिमित्तं तस्याः प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम् ॥२॥

एवं पूजां महत्तरिकायाः कृत्वा महत्तरिकया सह गुरुसन्निधावागमनम, एतदेवाभिधित्सुराह-

धम्मकहनिमित्तेहि य, विज्जामंतेहि य चुण्णजोगेहिं ।
इत्यादि जोसिया णं, संथवदाणे जिणाययणं ॥३॥

धर्म्मकथाभिर्निमित्तैर्विद्यामन्त्रैश्चूर्णयोगैश्च इत्यादि जोषित्वा प्रीणयित्वा संस्तवदाने परिचयकरणे तथाविधप्रज्ञापनया जिनायतनं कारितवती ॥३॥

संवोहणट्ठयाए,विहारवित्ती व जिणवरमहे वा ।
महयरिया तत्थ गया, निज्जरणं भत्तवत्थाणं ॥४॥

तस्याः संबोधनार्थं विहारवृत्त्या वा जिनवरमहे वा तस्या महत्तरिका तत्र गता तत्र इभ्यगृहेषु तस्या विविधस्य भक्तस्य महार्हाणां वस्त्राणां निर्जरणं दानं तया कारितम् ॥४॥

अणुसट्ठ उज्जमंती, व रिज्जए चेइयाण सारवए ।
पडिवज्जंति अविज्जं-तए उ गुरुगा अभत्तीए ॥५॥

ततः सा महत्तरिकया संयमोद्योगकरणे समनुशिष्टा,स्वयं वा उद्यच्छन्ती वर्तते। तत्र विद्यमाने चैत्यानां सारापके साराकारके तां नेतुं प्रतिपद्यन्ते । अविद्यमाने तु चैत्यसाराकारके तस्या नयने अभक्तिनिमित्ताश्चत्वारो गुरुकास्तासां महत्तरिकाणां प्रायश्चित्तम् ॥५॥

आगमणं सक्कारं, हिंमंति तहिं विरूवरूवेहिं ।
खामेण सन्निविट्ठा, हिंडंती तो तहिं दिट्ठा ॥६॥

एवं सत्कारं संमानं च प्रतिगृह्य गुरुसमीपे आगमनं, ततो लाभेन वस्त्रलाभेनोपेताः सन्निवृत्ता विरूपरूपैरन्यदेशसत्कैस्तैर्वस्त्रैः प्रावृतास्तत्र भिक्षां हिण्डन्ते चैत्यवन्दनाय वा व्रजन्ति, तत्र हिण्डमाना वृषभैर्दृष्टा ॥६॥

एतदेव स्पष्टं भावयति—

सक्कारिया य आया, हिंडंति तहिं विरूवरूवेहिं ।
वत्थेहिँ पाउया ते, दिट्ठा य तहिं तु वसभेहिं ॥७॥

सत्कारिताश्च महत्तराः प्रवृत्तकार्या यत्र गुरवास्तिष्ठन्ति तत्रायातास्तत्र च विरूपरूपैर्नानाप्रकारैर्महार्हैर्वस्त्रैः प्रावृता हिण्डन्ति, ताश्च तत्र हिण्डमाना वृषभैर्दृष्टाः ॥ ७ ॥

भिक्खा ओसरणम्मि व, अपुव्ववत्थाउ ताउ दट्ठूणं ।
गुरुकहणा तासि पुच्छा, अम्हे दिन्ना न वा दिण्णा ॥८॥

भिक्षायामवसरणे वा अपूर्ववस्त्रास्ता दृष्ट्वा वृषभा गुरुकथनं कृतवन्तो,वृषभैर्गुरोर्निवेदितम । तत आचार्येण वृषभा भणिताः-पृच्छत ता आर्यिकाः, कुतो युष्माकं तानि वस्त्राणि? । ततो वृषभैस्तासां समीपं गत्वा पृच्छा कर्त्तव्या-यथा आर्याः ! नास्माभिरेतानि वस्त्राणि दत्तानि, नापि केनचिद्दीयमानानि अस्माभिर्दृष्टानि ॥ ८ ॥

न निवेदियं च वसभे, आयरिए दिट्ठ एत्थ किं जायं ।
तुम्हे अम्ह निवेयह, किं तुज्झऽहियं नवर दोण्हि ॥९॥
लहुगो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, गणं च हाओ विगिंचेज्जा ॥१०॥

अत्र द्वयोर्गाथयोर्यथासंख्येन पदघटना। सा चैवम्-संयताभिर्यत्किमपि वस्त्रादिकं लभ्यते तत्सर्वं गुरवे निवेदनीयम, अनिवेदिते प्रायश्चित्तं लघुको मासः । (वसभे इति वृषभे पृच्छके वृषभेण पृच्छायां कृतायां यदि न निवेदयन्ति तदा चत्वारो लघुकाः। आचार्येऽपि पृच्छके यदि न कथयन्ति तदा चत्वारो गुरुकाः।यदि पुनराचार्यैरधिक्षिप्ताः-यथा किं युष्माभिर्न निवेदितानि,तदा यद्व्याहृता तदा चतुर्लघुकम् । अथानामृताः सत्यो न कथयन्ति तदा चतुर्गुरुकम्। अथ ता ब्रुवते-यद् भणन्ति तद् दृष्टं स्यात् तदा षण्मासा लघवः। अथाभिदधाति-किमत्र जातं यदि न निवेदितम् तदा षण्मासा गुरवः प्रायश्चित्तम् । अथवा भाषन्ते-यूयं किमस्माकं निवेदयत,अत्र प्रायश्चित्तं छेदः । किं युष्माकमस्मदधिकं नवरमावां परस्परं द्वे भ्रातृभाण्डमे, एवं तासां ब्रुवतीनां प्रायश्चित्तं मूलम् । तस्याश्च प्रवर्त्तिन्या गणो हृत्वा अन्यस्या दीयते। अथ साऽपि नेच्छति ततोऽन्यस्या दातव्यः। अथ साऽपि नेच्छति तदान्यस्या दीयते ॥ ६ ॥ १० ॥

एतदेवाह--

अण्णस्सा देंति गणं, अह नेच्छति तो विगिंचते तं पि ।
पुणरावि दिंतन्नस्सा, एवं तु कमेण सव्वासिं ॥११॥

अन्यस्या गणमाचार्या ददति गणं हृत्वा तं पूर्वां प्रवर्त्तिनी

विगिञ्चयेत् परित्यजेत। पुनरन्यस्या गणं ददति। एवं क्रमेण सर्वासामपि पूर्वस्याः पूर्वस्या अनिच्छायां गणो दातव्यः। सर्वासामनिच्छायां सर्वासां परित्यागः ॥ ११ ॥

अथ कस्मात् ता गणं दीयमानं नेच्छन्ति, तत आह–

पवत्तिणिममत्तेण, गीयत्थातो गणं जई ।
धारइत्ता ण इच्छंति, सव्वासिं पि विगिंचणा ॥ १२ ॥

यदि गीतार्था अपि गणं धारयितुं प्रवर्तिनीममत्वेन नेच्छन्ति तदा सर्वासां विगिञ्चना परित्यागः ॥ १२ ॥

चोयग गुरुको दंडो,पक्खेवग चरियसिद्धपुत्तीहिं ।
विसयहरणट्ठया ते–णियं च एयं न नाहिंति ॥१३॥

चोदकः प्राह–प्रवर्तिन्याः तुच्छे अपराधे गुरुको दण्डो दत्तः?। आचार्यः प्राह–अपराधोऽपि तासां गरीयान्,यत् व्याहृताः सत्यो निष्ठुरं भाषन्ते। अन्यच्च-ता एवमशिक्ष्यमाणा अनापृच्छयोपधि गृह्णन्त्यश्चरिकासिद्धपुत्रीणां प्रक्षेपमुपचारं विषयनिमित्तहरणार्थतया न ज्ञास्यन्ति, नापि कयाचित्सिद्धपुत्रिकया स्तैन्यकरणाय प्रव्रजितया एतत् उत्कृष्टवस्त्रादिकं स्तेनितं न ज्ञास्यन्ति, तस्मादेतच्छिक्षापननिमित्तमेष गुरुको दण्डः ॥१३॥

एतदेव सप्रपञ्चमाह–

अवराहो गुरु तासिं, सच्छंदेणोवहिं तु जा घेत्तुं ।
न कहंती भिन्ना वा, जं निट्ठुरमुत्तरं वेंति ॥१४॥

अपराधोऽपि तासां संयतीनां गुरुरेव। यतः स्वच्छन्दास्ता उपधिं गृहीत्वा न कथयन्ति। भिन्ना वा ज्ञाता वा सत्यो यन्निष्ठुरमुत्तरं ब्रुवते। अन्यच्च अनापृच्छय गृह्णन्त्यो विषयहरणार्थतया चरिकासिद्धपुत्रीभिः प्रक्षेपकं न ज्ञास्यन्ति ॥१४॥

एतदेव भावयति–

अवियत्ता निक्खंता, निरोह लावन्नलंकियं दिस्सा ।
विरहालंभे चरिया, आराहणा दिक्खलक्खेण ॥१५॥

काऽपि महेला कुटुम्बिनोऽवियत्ता अप्रीतिमती अहमिति प्रव्रजिता, नवरं संयतीत्वे निरोधेन कुतोऽपि कर्मकरणादीनामर्थाय निर्गमनम्,ततः शरीरस्य लावण्यमुद्भूतं यातं,तां लावण्यालङ्कृतां भिक्षामटन्तीं स भर्त्ता दृष्ट्वा लोभं गतः,सा चात्मतृतीया भिक्षामटतीति विरहो न विद्यते यत्र तामालपयति, ततः स चरिकां दानसंमानाभ्यामाराधयति। ततश्चरिका ब्रूते–संदिश यन्मया कर्तव्यम्। स प्राह–एतां सतीं तथा कुरुत यथा प्रतिभज्यते,ततः सा दीक्षाछद्मेन दीक्षाव्याजेनाहं प्रव्रजिष्यमीत्येवंरूपेण तां संयतीमुपागता ॥१५॥

अहवा अन्नो कोई, रूवगुणुम्माइतो सुविहियाए ।
चरिगाए पक्खेवं, करेज्ज छिदं अविंदंतो ॥१६॥

अथ वा कोऽप्यन्योऽविरतः सुविहितायाः संयत्या रूपगुणेनोन्मादित उन्मादं प्रापितः, छिद्रमविन्दन् अलभमानश्चरिकया दानसंमानाभ्यामाराधितया प्रक्षेपमुपचारं कुर्यात् ॥ १६ ॥

सिद्धा वि कावि एवं, अहवा उक्कोसणंतगा जिन्ना ।
होहं वीसंभेउ य, गहियागहिए य लिंगम्मि ॥१७॥

अथ वा चरिकाया अभावे चरिकया प्रयोजनासिद्धौ, काऽपि सिद्धाऽपि सिद्धपुत्रिकाऽपि एवं दानसंमानाभ्यां गृहीत्वा प्रयुज्येत, ततोऽनापृच्छया ग्रहणे जानन्त्यस्तास्तमप्युपचारं गृह्णीयुः, तथा च सति महान् दोषः। अथ वा सा सिद्धपुत्रिका तासां संयतीनामुत्कृष्टान्यनन्तकानि वस्त्राणि दृष्ट्वा जिन्ना वस्त्रग्रहणलोभेन विसम्भक्तिमुपागता–भविष्याम्यहं प्रव्रजितेति विश्रभ्य गृहीते अगृहीते च लिङ्गे उत्कृष्टवस्त्राणां स्तैन्यं कुर्यात् ॥१७॥

पर आह–

वीसज्जिय नासिहित्ती, दिट्ठंतो तत्थ घंटलोहेण ।
तम्हा पवत्तिणीए, सारण जयणाएँ कायव्वा ॥१८॥

चोदकः प्राह–नन्वेवं विसर्जितास्ता नङ्क्ष्यन्ति, तस्मान्मा क्रियतामीदृशो गुरुको दण्डः। आचार्यः प्राह–दृष्टान्तस्तत्र घण्टालोहेन। किमुक्तं भवति–यस्मिन्नेव दिने यत्र लोहे घण्टा कृता तल्लोहं तस्मिन्नेव दिने विनष्टम्। एवं यत्र दिवसे ताः स्वच्छन्दतो वस्त्राणि गृहीतवत्यस्तस्मिन्नेव दिने ता विनष्टाः,यत एते दोषास्तस्मात् प्रवर्त्तिन्याः सारणा यतनया कर्त्तव्या ॥१८॥

तामेवाह–

धम्मं जई काउ समुट्ठियासि, अप्पेव दुग्गं तु कुमंसएहिं ।
तदा पि वच्चामों गुरूण पासं,भव्वं अभव्वं च वदंति ते उ।१९।

सा परिव्राजिका, सिद्धपुत्रिका वा यदि संयतानामुत्तिष्ठति, ततः सा प्रवर्तिन्या वक्तव्या, यदि धर्मं कर्तुं समुत्थिताऽसि तर्हि संप्रति व्रजामो गुरूणां पार्श्वे यतो भव्यमभव्यं वा ते विदन्ति वयं तु किं जानीमः।

गुरवः कथं जानन्तीति चेत् आह–

जो जेण अभिप्पाए–ण एति तं भो गुरू वियाणंति ।
पारगमपारग त्ति य, लक्खणतो दिस्स जाणंति ॥२०॥

यो येनाभिप्रायेण समागच्छति तत् भोः! गुरवो विजानन्ति। तथा प्रव्रज्याग्रहीतुकामं दृष्ट्वा लक्षणत एतत् जानन्ति, यथा–एष प्रव्रज्यायाः पारगो भविष्यत्येषोऽपारग इति ॥ २० ॥

तथा–

पत्ता पोरिसिमादी, छाया भुक्खाय वत्थु साहंति ।
चोदेति पुव्वदोसे, रक्खंती नाउ से भावं ॥ २१ ॥

प्राप्ता पौरुष्यादिकं प्रथमपौरुष्यादिकं गुरवे निवेदनीया। तथा (गाता) बुभुक्षिता,उद्घाता परिश्रान्ता,तथा अपिता,एतदपि संयत्यो गुरूणां कथयन्ति। गुरुश्च पूर्वदोषान् चोदयति। तथा (से) तस्या दीक्षिताया भावमभिप्रायं द्रष्टुं ज्ञात्वा गुरवो रक्षयन्ति ॥२१॥

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः प्राप्तपौरुष्यादिकमिति विवृणोति—

जा जीएँ होति पत्ता, नयंति ता तीएँ उ गुरुसमीवे ।
छाउव्वायनिमित्तं, वितिया तइयाएँ चरमाए ॥२२॥

यस्यां पौरुष्यां संयतीनां पार्श्वे प्राप्ता भवति,तस्यां पौरुष्यां संयत्यो गुरुसमीपं नयन्ति। अथ सा गाता,उद्घाता वा,तर्हि तन्निमित्तं तेन कारणेन तस्यां तु द्वितीयस्यां, तृतीयस्यां, चरमायां वा गुरुसमीपं नीयते, नीत्वा च गातादिकं सर्वं कथ्यते। एतेन गातोद्घातेति व्याख्यातम् ॥२२॥

साम्प्रतम् " उषिता " इति भावयति–

चरमाएँ जाव दिज्जइ, भत्तं विस्सामयंति णं जाव ।

ता होइ निसा दूरं, च अंतरं तेण वुच्छम्मि ॥२३॥

चरमायां पौरुष्यां समागता, सा च ज्ञाता, ततो यावत् तस्यां चरमायां पौरुष्यां भक्तं दीयते, भक्तानन्तरं च संयत्यस्तां विश्रामयन्ति, तावन्निशा भवति दूरं वा गुरूणामुपाश्रयात्तेन सा तत्रैव संयतीनामुपाश्रये उषिता, प्रभाते च गुरुसमीपे नेष्यते ॥ २३ ॥

नाहिंति समं ते ऊ, काई नासेज्ज अप्पसंकाए ।

जा उ न नासेज्ज तहिं, तं तु गयं बेंति आयरिया ॥२४॥

प्रभाते हि गुरुसमीपे नेष्यते, ते तु गुरवो मां ज्ञास्यन्ति, इति विचिन्त्य काचिदात्मशङ्कया नश्येत् । या तु न नश्यति, तां तत्र गुरूपाश्रये गतामाचार्याणां संयत्यः कथयन्ति, यथैषाऽस्माकमुपाश्रयेऽनेन कारणेनोषिता । एतेन " वुच्छ साइंतीति " व्याख्यातम् ॥२४॥

एवं कथिते आचार्यास्तां ब्रुवते । किम् ?, इति आह–

नहु कप्पइ दूती वा, चोरी वा अम्ह काइ इति वुत्ते ।

गुरुणा नायामि अहं, पव्वज्ज नाहं ति वा बूया ॥२५॥

(नहु) नैव कल्पते दूती चौरी वाऽस्माकं काचित्तु दीक्षयितुम् इति गुरुणोक्ते—ज्ञाताऽहमिति विचिन्त्य व्रजेत् , यदि वा ब्रूयान्नाहं तादृशीति । एतेन पूर्वदोषान् चोदयतीति व्याख्यातम् ॥२५॥

संप्रति " रक्खंति नाउ से भावमिति " व्याख्येयम् । तत्र कथं तस्या भावं लक्षयन्ति ?, इत्यत आह–

अतिसयरहिया थेरा, भावं इत्थीण नाउ दुण्णेयं ।

बेंति इमं जयणाए, रक्खह से लक्खऽभिप्पायं ॥२६॥

अतिशयरहिता अपि स्थविराः स्त्रीणां दुर्विज्ञेयं भावमिङ्गिताकारकुशलतया ज्ञात्वा वदन्ति–एतामुत्पथपरां यत्नेन रक्षत, लक्षयत च (से) तस्या अभिप्रायम् ।

कथं लक्षयन्ति ?, इत्यत आह–

उच्चार भिक्खे अहुवा विहारे,
थेरीहि जुत्तं गणिणीउ पेसे ।
थेरीण असती तु अतव्वयाहि,
ठावंति एमेव उवस्सयम्मि ॥२७॥

यदा सा ब्रूते–नाहं तादृशीति,तदा तस्या उपरिस्थितेन लिङ्गमात्रं समर्पितम्, तत उच्चारभूम्यां भिक्षायामथवा विहारे गणिनी प्रवर्तिनी, तां स्थविराभिर्युक्तां प्रेषयेत्, स्थविराणामभावे अतद्वयाभिस्तस्याः सकाशात् या याः क्षुल्लकतरास्तरुण्यस्ताभिः सममुच्चारभूम्यादिषु प्रेषयति; एवमेव प्रथमतः स्थविराभिः,तासामभावे असदृशवयोभिरित्यर्थः, उपाश्रये स्थापयति ॥२७॥

कइयविया उ पविट्ठा, अत्थति छिद्दं निलिच्छंती ।

विरहालंभे अहवा, भणइ इणमो तहिं सा उ ॥२८॥

कैतविका कैतववती प्रविष्टा सती सा तत्र छिद्रं निरीक्षमाणा तिष्ठति । अथवा विरहालाभे तत्र सा इदं भणति ॥२८॥

किं तद्भणति ? इत्यत आह–

अविहामाऽहं अव्वो !, मा संपस्सेज्ज नीयवग्गो वा ।

तं दाणि चेइयाइं, वंदह रक्खामहं वसहिं ॥२९॥

पाक्षिकादिषु आर्यिकाश्चैत्यवन्दनार्थं प्रस्थिता अवलोक्य सा शैक्षी ब्रूते–'अव्वो' इति संबोधने, अहमविघाटा अविकटा वर्ते, यदि वा मा मां प्रव्रजितां निजवर्गः पश्येत्, ततः स बलात् त्याजयेत्, तस्मादिदानीं यूयं चैत्यानि वन्दध्वमहं वसतिं रक्षामि, एवमुक्ते एकया तरुण्या सह प्रतिश्रयपालिका स्थापिता, ततो गतास्वार्यिकासु सा शैक्षा तरुणीमार्यिकां ब्रूते ॥२९॥

उव्वाओ सो धणियं, तुज्झ धवो जो तयासि निसट्ठो ।

वभिचारि उव्वण्णो, इति नाते विगिंचणा तीसे ॥३०॥

तव धवो भर्त्ता यस्तदा निसृष्ट आसीत्, स इदानीं 'धणियं' अत्यर्थं तव विषये 'उव्वाओ' उत्कण्ठितः। अथवा–अन्यः कोऽपि व्यभिचारी पारदारिकः संयतीं प्रार्थयामास,तां प्रव्रज्याव्याजेन व्यापारितवान्। तत एवं विरहं ज्ञात्वा ब्रूयात्–को वा तरुणो रूपादिगुणोपेतस्तवानुगोऽनुरूपो वर्त्तते,स तव समागममिच्छति । एवं तस्या भावे ज्ञाते विगिञ्चना परित्यागः कर्त्तव्यः ॥३०॥

अथ वा काचित् सिद्धपुत्रिका वा, अन्या वा, संयतीनां वस्त्राद्यपहर्तुकामा निष्क्रमणव्याजेन प्रविष्टा चैत्यवन्दनार्थं गतास्वार्यिकासु तरुणीक्षुल्लकाः प्रतीदं ब्रूते–

पारावयादियाइं, दिट्ठा णं नासि यंऽतगाणि मए ।

तुब्भं नत्थिहि विरिहे, वुत्ता खुड्डीउ दंसंति ॥३१॥

पारापतादिकानि, आदिशब्दात् पुण्ड्रवर्द्धनकादिपरिग्रहः, न मयाऽनन्तकानि वस्त्राणि दृष्टानि । णमिति वाक्यालङ्कारे, तत किं युष्माकं महत्तरिकायाः पार्श्वे तानि न सन्ति, एवमुक्तास्ताः क्षुल्लकाः तुच्छतयाऽस्माकं महत्तरिकायाः परिभवो भूयादिति कृत्वा दर्शयन्ति ॥३१॥

कानि कानि ?,इत्यत आह–

कोट्टंव तामलित्तिग, सिंधवए कासिए जुंगिए चेव ।

बहुदेसिए य अन्ने, पेच्छसु अम्हं खमज्जाणं ॥३२॥

कोट्टम्बानि गौडदेशोद्भवानि, तामलित्तिकानि सैन्धवानि, अन्यानि च बहुदेशिकानि कृत्स्नानि परिपूर्णानि जुङ्गितानि खण्डीकृतानि अस्माकं क्षमार्याणां क्षमाप्रधानानामार्याणां, प्रवर्त्तिन्या इत्यर्थः, प्रेक्षस्व वस्त्राणीति ॥३२॥

उपसंहारमाह–

सच्छंद गेण्हमाणी, होंति दोसा जतो उ इच्चादी ।

इइ पुच्छिउं पडिच्छा, न तासिं सच्छंदया सेयं ॥३३॥

स्वच्छन्दत उपधिं शिक्षां वा गृह्णतीनां संयतीनां यत इत्यादय एवमादयो दोषा भवन्ति, इत्यस्मात्कारणात् गुरूनापृच्छ्य उपधेः शिष्याया वा प्रतीच्छा ग्रहणं, न तु स्वच्छन्दता तासां श्रेयसी ॥ ३३ ॥ व्य० ७ उ० ।

जे णिग्गंथा णिग्गंथीओ य संभोइया सिया कप्पति णिग्गंथीणं णिग्गंथे आपुच्छित्ता णिग्गंथिं अन्नगणाओ आगयं खयायारं सबलायारं भिण्णायारं संकिलिट्ठायारं तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिक्कमित्ता० जाव उवट्ठावित्तए वा संभुञ्जित्तए वा संवासित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा ॥ २ ॥ जे निग्गंथा य णिग्गंथीओ य संभोइया सिया कप्पति निग्गंथाणं निग्गंथीओ य आपुच्छित्ता णिग्गंथिं अण्णगणाओ आगयं खयायारं० जाव तस्स ठाणस्स आलोयावेत्ता पडिकमि-

ता० जाव उवट्ठावित्तए वा संभुंजित्तए वा संवसित्तए वा तीसे इत्तरियं दिसं वा अणुदिसं वा उद्दिसित्तए वा धारित्तए वा तं च णिग्गंथीओ णो इच्छेज्जा, सेहिमेव णियं ठाणं ॥ ३ ॥ व्य० अ० ७ उ० ।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह-

अत्थेण गंथतो वा, संबंधो सव्वहा अपडिसिद्धो ।
सुत्तं अत्थमवेक्खति, अत्थो वि न सुत्तमतियाति ॥३४॥

अर्थतो ग्रन्थतश्च संबन्धोऽप्रतिषिद्धः सर्वथा यतः सूत्रमर्थमपेक्षते । अर्थेऽपि च निर्ग्रन्थीनामधिकारे सूत्रमिदं प्रवृत्तमतः सूत्रतोऽर्थतश्च संबन्धोऽस्तीति न किंचिदनुपपन्नम् ॥३४॥

नदिसोयसरिसओ वा, अहिगारो एस होई दट्ठव्वो ।
उद्धाणंतरसुत्ता, समणीणमयं तु जा जोगो ॥३५॥

अथ वा षष्ठोद्देशके चरमानन्तरसूत्रद्वयादारभ्य यथोऽधिकारो नदीस्रोतःसदृशो द्रष्टव्योऽयं तु योगस्तावद्यावत् श्रमणीनामधिकारः ॥ ३५ ॥ अनेन संबन्धेनायातस्य व्याख्या । कल्पते निर्ग्रन्था निर्ग्रन्थीरापृच्छ्य अनापृच्छ्य वा निर्ग्रन्थीमन्यगणादागतां क्षताचारां संक्लिष्टाचारचरित्रं तस्मात्स्थानात् आलोच्य प्रतिक्राम्य प्रायश्चित्तं प्रतिपाद्य प्रष्टुं वा वाचयितुं वा उपस्थापयितुं वा संभोक्तुं वा संवस्तुं वा तस्या इत्वरां दिशमाचार्यत्वलक्षणमनुदिशमुपाध्यायलक्षणां च उद्देष्टुं वा धारयितुं वा तां च निर्ग्रन्थ्यः सांभोगिक्यो वा नेच्छेयुस्तर्हि (सेहिमेव णियं ठाणं) निजमात्मीयं स्थानं प्रतिगमयतामपि तां परित्यजतामपीति भावः। निर्दोषस्त्वां प्रति सिद्धिरेव न कश्चनापि दोष इति सूत्रसंक्षेपार्थः । (२-३)

सम्प्रति भाष्यविस्तरः-

संविग्गाणुवसंती, आभीरी दिक्खिया य इतरेहिं ।
तत्थाऽऽरंभं दट्ठुं, विपरिणमति-तरे व दिट्ठा उ ॥३६॥

काचित् आभीरी संविग्नानां समीपे धर्मं श्रुत्वा उपशान्ता। ते च संविग्ना अन्यत्र विहृताः। इतरे असंविग्नाः समागताः। तैः सा आभीरी दीक्षिता । तेषां वा असंविग्नानामारम्भं रन्धनादिकं दृष्ट्वा सा विपरिणमति । विपरिणामे च तस्या अभिप्रायो जातस्तेषामेव संविग्नानां समीपमुपगच्छामि । एवं चिन्तयन्त्या यथा ते इतरे संविग्नाः स्नानादिसमवसरणे दृष्टाः श्रुता वा । यथा अमुकस्थाने तिष्ठन्ति ॥३६॥

तह चेव अज्जुवगया, जह उद्देसे वासिया पुव्वं ।
अविसज्जंताणं पि य, दंसो तह चेव पुव्वुत्तो ॥३७॥

सा तत्र गता यत्र ते संविग्नाः गत्वा श्रुत्वा च ग्रहणशिक्षामासेवनाशिक्षामन्यमाचार्यमन्यमुपाध्यायमन्यां च प्रवर्तिनीं यावत् एवमुक्ते यथैव षष्ठोद्देशे-चतुर्थी "मग्गए सिक्ख" मित्यर्थः पूर्वं वर्णिता, तथैव एषामविसर्जयद्भिरभ्युपगता । यथा विसर्जयतां प्रवर्तिन्युपाध्यायाचार्याणां पूर्वे च ङःप्रायश्चित्तदण्डस्तथैवात्रापि द्रष्टव्यः ॥३७॥

तं पुण संविग्गमणं, तत्थाऽऽणीयं तु जइ न इच्छेज्जा ।
नियमा तो संजईउ, ममकाराईहिँ कज्जेहिँ ॥ ३८ ॥

तां पुनः संविग्नमानसां तत्रानीतां यदि निजकाः संयत्यो ममकारादिभिः कार्यैर्नेच्छेयुः ॥३८॥

तान्येव 'ममकारादीनि' कारणान्याह-

पासत्थममत्तेणं, पगती विस्सा अचक्खुकंता य ।
गुरुगणतणीयस्स व, नेच्छंती पाभिसिच्छीतो ॥ ३९ ॥
ओमाणं नो काहिति, सिंखलबद्धा व ततो सव्वातो ।
मा होहिइ सागरियं, सीयंति व उज्जुयं नेच्छे ॥४०॥

यस्याः सा शिष्या तया सह तासां मैत्री ततो मा ते पार्श्वस्थाः अस्माकमुपरि मन्युं कार्षीरिति, पार्श्वस्थममत्वेन नेच्छन्ति । अथ वा सा कर्मानुभावतः प्रकृत्या प्रायः सर्वजनस्यापि द्वेष्या । यदि वा पूर्वभवानुभावत एकस्याः प्रवर्तिन्या अचक्षुःकान्ता । अथ वा सा प्रवर्तिनी आत्मीयस्याचार्यस्य विषये केनाऽपि कारणेन कुपिता वर्तते, यदि वा गणस्य गच्छस्योपरि, एतदाचार्यो न जानाति । यद्वा तस्याः संयत्या यो निजवर्गस्तस्य विषये प्रवर्तिन्याः प्रतिसिद्धिः प्रतिस्पर्द्धता विद्यते ॥३९॥ अथ वा ताः सर्वा अपि संयत्यः शृङ्खलाबद्धाः परस्परं स्वजनाः ततो नोऽस्माकमपमानमेषा करिष्यति । तस्मान्मा सागारिकं भवतु । यदि वा ताः सीदन्ति तथाऽऽचार्यो न जानन्ति । सा च धर्मश्रद्धया पार्श्वस्थाविग्रहायान्यत्र समागता साऽस्माकं सागारिकीतिकारणैस्तामुद्यतामपि नेच्छन्ति ॥ ४० ॥

अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह-

भणिय वसभाभिसेए, आयरिय कुले गणेण संघेण ।
लहुगादि जाव मूलं, अणणेसि गणो य दायव्वो ॥४१॥
एवं पुव्वगमेणं, विगिंचणं जाव होइ सव्वासिं ।
देवगण मणुस्सीणं, अमणुन्न चउण्हमेगयरं ॥४२॥

वृषभैरानीतां यदि पूर्वकारणैस्तां नेच्छन्ति तदा गणं प्रायश्चित्तं चतुर्लघु । अभिषेक उपाध्यायस्तेन ताः संयत्यो ज्ञापनाय प्रतीच्छते मा संयतीति तथापि चेन्नेच्छति चतुर्गुरु । एवमाचार्येणापि ज्ञपनेऽनिच्छायां षट् लघु । कुलेन षट् गुरु, गणेन छेदः। सङ्घेन मूलम् । तथाचाह-लघुकादि चतुर्लघ्वादि प्रायश्चित्तं क्रमेण तावत् द्रष्टव्यं यावन्मूलं सङ्घज्ञपनेऽप्यनिच्छायां प्रवर्तिन्या गणोऽपह्रियते अन्यस्या गणो दातव्यः। अथ सा प्रवर्तिनी ममत्वेन गणं नेच्छति तर्ह्यन्यस्या दीयते ॥ ४१ ॥ एवं पूर्वगमेन (विगिंचणं) परित्यजनं, तावत् द्रष्टव्यम् यावत् सर्वासामपि भवति । ततो यस्तस्याचार्यस्य द्वितीयो गच्छः तत्र नीयते । तत्राऽपि यदि तथैव ता नेच्छन्ति । ततोऽन्यगच्छसत्काः साम्भोगिक्यः संयत्यस्तासां दीयते । ता अपि यदि नेच्छेयुस्तर्हि अन्यसाम्भोगिकानां दीयते । तथा चाह—अन्यासां मनोज्ञानाममनोज्ञानां च सर्वसंख्यया चतसृणामेकतरं स्थानं ददाति । तत्र प्रथमं स्थानमात्मीयाः संयत्यः द्वितीयं गच्छवर्तिन्यः । तृतीयमन्याः साम्भोगिक्यः । चतुर्थममनोज्ञाः । अथ वा अन्यथा चतुर्णामेकतरमिति व्याख्यायते ॥ ४२ ॥

समणुन्नमणुन्नाणं, संजय तह संजतीण चउरो य ।
पासत्थममत्तादि व, अद्धाणादि व्व जे चउरो ॥४३॥

समनोज्ञानां संयतानां समुदाय एकं स्थानम् (समनोज्ञानां संयतीनां चतुर्थम् । एवमेतानि चत्वारि स्थानानि । एतेषामेकतरं समनोज्ञसंयतीनामात्मतृतीयानाम्, द्वितीयं गच्छवर्त्तिनीनामन्यगच्छवर्त्तिनीनां वा स्थानं दीयते। तदभावे अमनोज्ञसंयतीनामपि । अथ वा-पार्श्वस्थममत्वं, प्रकृत्या सर्वजनद्वेष्या प्रवर्तिन्या

वा, अचक्षुष्कान्तो, गुर्वादिप्रतिस्पर्द्धता, वा प्रवर्त्तिन्या एतानि यानि चत्वारि कारणानि एतेषामेकतरत्कारणमधिकृत्यान्यसांभोगिकीनामसांभोगिकीनां च दीयते । अथ वा अध्वनिर्गतादिका, क्षुद्दितरं वा संस्मरन्ती, परचक्रागमनेन देशनष्टे वा, शिक्षां वा मृगयमाणा । एता याः चतस्रस्तासामेकतरामन्यसाम्भोगिकीनां दातव्या ॥४४॥

यद्यन्यसाम्भोगिकयोऽपि नेच्छन्ति तदा किं कर्त्तव्यम् ? इति आह-

'सेहि त्ति नियं ठाणं,' एवं सुत्तंमि जं तु भणियमिणं ।
एवं कयप्पयत्ता, तहि य ताउ ते सुद्धा ॥४४॥

एवमसाम्भोगिकीनामप्यनिच्छायां यत्सूत्रे भणितं (सेहिमेय नियं ठाणमिति) तत्कर्तव्यमस्यायमर्थ एवं कृतप्रयत्ना अपि यदा संयत्यो नेच्छन्ति तदा ते तां मुञ्चन्तोऽपि शुद्धाः ॥४४॥ व्य० ६ उ० ।

खर-क्षर-न० । क्षरति स्यन्दते मुञ्चति वा अच् । जले, मेघे, पुं० । चले, त्रि० । देहे, वाच० । आ० म० ।

खर-पुं० । खं मुखविलमतिशयेनास्ति अस्य खरः । गर्द्दभे, वाच० । व्य० । जी० । औ० । विप्राभक्ककगर्द्दभे, तं० । अश्वतरे, राक्षसभेदे, कण्टकवृते, अजयकाके, अजयपालकङ्कविहगे, कुररपक्षिणि, घर्मे, वाच० । दासे, बृ० २ उ० । स्तब्धतादिकारणे हयरादिगते चतुर्थे स्पर्शे, कर्म० १ कर्म० । निष्ठुरे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । कठिने, आव० ५ अ० । परुषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० । खरस्थानरूपे गेयदोषे, " केसी गायइ खरं च रुक्खं च " स्था० ७ ठा० ।

खरंट-खरण्ट-न० । खरण्टयति लेपवन्तं करोतीति यत् तत् खरण्टम् । अशुच्यादौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खरंटण-खरण्टन-न० । निर्भर्त्सने, व्य० १ उ० । प्रवचनोपदेशपूर्वकं परुषभणने, ओघ० ।

खरंटसमाण-खरण्टसमान-पुं० । अशुच्यादितुल्ये श्रमणोपासके, यो हि कुबोधापनयनप्रवृत्तं संसर्गमात्रादेव दूषणवन्तं करोति । कुबोधकुशीलता दुःप्रसिद्धिजनकत्वेनोत्सूत्रप्ररूपकोऽयमित्यसद्दूषणोद्भावकत्वेन चेति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खरकंट-खरकण्ट-न० । खरा निरन्तरा निष्ठुरा वा कण्टका यस्मिंस्तत्खरकण्टम् । वब्बुलादिडाले, ' खरणमिति ' लोके यदुच्यते । स्था० २ ठा० ४ उ० ।

खरकंटसमाण-खरकण्टसमान-पुं० । खरकण्टं खरणं तत्र विलग्नं चीवरं न केवलमविनाशितं न मुञ्चति अपि तु तद्विमोचकपुरुषादिहस्तादिषु कण्टकैर्विध्यति तत्समानः श्रमणोपासकभेदे, यो हि प्रज्ञाप्यमानो न केवलं स्वाग्रहान्न चलति । अपि तु प्रज्ञापकं दुर्वचनकण्टकैर्विध्यति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

खरकंड-खरकाण्ड-न० । खरं कठिनं काण्डम् । रत्नप्रभायाः प्रथमे काण्डे, जी० ।

तच्च षोडशविधम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे कतिविधे पण्णत्ते ?। गोयमा ! सोलसविधे पण्णत्ते तं जहा-रतणकंडे, वइरे, वेरुलिए, लोहितक्खे, मारगल्ले, हंसगब्भे, पुलए, सोइंधिए, जोतिरसे, अंजणे, अंजणपुलए, रयते, जातरूवे, अंके, फलिहे, रिट्ठे कंडे । इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रयणकंडे कतिविहे पण्णत्ते ?। गोयमा ! एगागारे पण्णत्ते । एवं० जाव रिट्ठे कंडे ॥

"इमीसे णं भंते !" इत्यादि । अस्यां भदन्त ! रत्नप्रभायां पृथिव्यां खरकाण्डं कतिविधं प्रज्ञप्तम् ? भगवानाह-गौतम ! षोडशविधं षोडशविभागं प्रज्ञप्तं तद्यथा-'रयणे' इति पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् रत्नकाण्डं तच्च प्रथमं, द्वितीयं वज्रकाण्डं, तृतीयं वैडूर्यकाण्डं, चतुर्थं लोहिताक्षकाण्डं, पञ्चमं सारगल्लकाण्डं, षष्ठं हंसगर्भकाण्डं, सप्तमं पुलककाण्डम्, अष्टमं सौगन्धिककाण्डं, नवमं ज्योतीरसकाण्डं, दशममञ्जनककाण्डम्, एकादशम् अञ्जनपुलाककाण्डं, द्वादशं रजतकाण्डं, त्रयोदशं जातरूपकाण्डं, चतुर्दशम् अङ्ककाण्डं, पञ्चदशं स्फटिककाण्डं, षोडशं रिष्टकाण्डं, तत्र रत्नानि कर्केतनादीनि तत्प्रधानं काण्डं रत्नकाण्डं वज्ररत्नप्रधानं काण्डं वज्रकाण्डम् एवं शेषाण्यपि एकैकं च काण्डं योजनसहस्रबाहुल्यम् । जी० ।

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए खरकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ? । गोयमा ! सोलसजोयणसहस्साइं बाहल्लेणं पण्णत्ते ।

" इमीसे णं भंते ! " इत्यादि । अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्याः संबन्धि यत् प्रथमं खरं खराभिधानं काण्डं तत् कियत् बाहल्येन प्रज्ञप्तं भगवानाह-गौतम ! षोडशयोजनसहस्राणि ॥ जी० ।

रत्नादिकाण्डबाहुल्यम्-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए रतणकंडे केवतियं बाहल्लेणं पण्णत्ते ?। गोयमा ! एकजोयणसहस्सबाहल्लेणं पण्णत्ते । एवं० जावरिट्ठे ।

" इमीसे णं भंते !" इत्यादि । अस्या भदन्त ! रत्नप्रभायाः पृथिव्या रत्नं रत्नाभिधानं काण्डं तत् कियत् बाहल्येन प्रज्ञप्तं भगवानाह-गौतम ! एकं योजनसहस्रम् । शेषाण्यपि काण्डानि वक्तव्यानि यावत् रिष्टं रिष्टाभिधानं काण्डम् । जी० ३ प्रति० । स० ।

(अत्र नरकावासा भुवनपतीनां भुवनानि च स्वस्थाने ज्ञेयानि)

खरकम्म-खरकर्मन्-न० । खरं कठोरं कर्म कोट्टपालगुप्तपालनादिरूपे कर्मोपादानहेतौ भोगोपभोगव्रतस्यातिचारे, ध० २ अधि० ।

खरकंमिय-खरकर्मिक-त्रि० । आसन्नपरिकरे यथासंभवं गृहीतायुधे, सू० १ उ० । क्रूरकर्मणि, सा च " गोखरकंमिओ महाजइओ वा " आ० म० द्वि० ।

खरकर-खरकर-पुं० । खरास्तीव्राः करा यस्य । सूर्ये, वाच० । श्लक्ष्णपाषाणभूतचर्मकोशकविशेषे, स्फुटितवंशे च । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खरचावकर-खरचापकर-त्रि० । निष्ठुरकोदण्डहस्ते धानुष्के, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खरण-खरण-न० । बब्बूलादिडाले, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खरतर-खरतर-पुं० । वैक्रमसंवत् १०८० श्रीपत्तने वादिनो जित्वा खरतरेत्याख्यं विरुदं प्राप्तेन जिनेश्वरसूरिणा प्रवर्त्तिते गच्छे, आत्मप्रबोध १४१ " आसीत् तत्पादपङ्कजैकमधुकृत् श्रीवर्द्धमानाभिधः, सूरिस्तस्य जिनेश्वराख्यगणभृञ्जातो विनेयोत्तमः । यः प्रापत् शिवसिद्धिपङ्क्ति (संव० १०८०) शरदि श्रीपत्तने वादिनो, जित्वा सद्विरुदं कृती खरतरेत्याख्यां नृपादेर्मुखात् " अष्ट० ३२ अष्ट० ।

खरतिक्खनखकंडूइयविकयतणु-खरतीक्ष्णनखकण्डूयितविकृततनु-त्रि० खरतीक्ष्णनखानां कण्डूयितेन विकृता कृतव्रणा तनुः शरीरं येषां ते । खर्ज्वादिविकृतशरीरेषु, भ० ७ श० ६ उ० ।

खरपम्ह-खरपक्ष्म-न० । खराणि पक्ष्माणि दशा यस्य तत् खरपक्ष्म । तीक्ष्णखरदशाके रजोहरणे, नि० चू० ५ उ० ।

खरफरुस-खरपरुष-त्रि० । खरमतिशयेन परुषं खरपरुषम् । जी० ३ प्रति० । अतिकर्कशे, प्रश्न० । अतिकठोरे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार । " खरफरुसज्झामवण्णा " खरपरुषास्पर्शतोऽतीवकठोरा ध्यामवर्णा अनुज्ज्वलवर्णा ततः कर्मधारयः । भ०७ श०६ उ० । " खरफरुसधूलीमइला " खरपरुषा अत्यन्तकठोरा धूल्या च मलिना ये वातास्ते तथा । भ० ७ श० ६ उ० ।

खरफरुसवयण-खरपरुषवचन-न० । अतिकर्कशभणिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खरफासणाम-खरस्पर्शनामन्-न० । नामकर्मभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं खरं कर्कशं पाषाणादिवद्भवति । कर्म० १ कर्म० ।

खरबादरपुढविकाइय-खरबादरपृथिवीकायिक-पुं० । खरा नाम पृथिवीसंघातविशेषं काठिन्यविशेषं आपन्ना तदात्मका जीवा अपि खराः ते च ते बादरपृथिवीकायिकाः । अथवा खरा च सा बादरपृथ्वी सा कायः शरीरं येषां ते खरबादरपृथिवीकायास्त एव स्वार्थे कप्रत्ययः । बादरपृथिवीकायभेदेषु, प्रज्ञा० १ पद (तद्भेदाः 'पुढवीकाइय' शब्दे)

खरमज्झ-खरमध्य-त्रि० । कठिनान्तःकरणे, यो हि कठोरवचनजननमन्तरेण शिक्षां न प्रतिपद्यते । बृ० ६ उ० ।

खरमुह-खरमुख-पुं० । अनार्यक्षेत्रविशेषे, तन्निवासिनि जने च । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । सूत्र० ।

खरमुही-खरमुखी-स्त्री० । तोमहिकायां काहलायाम्, आचा० २ श्रु० १ चू० । ज्ञा० । जं० । रा० । प्रश्न० । आ० म० । जी० । भ० । नि० चू० । कल्प० । औ० । नपुंसकायां दास्यां च । व्य०६ उ० ।

खरय-क्षरक-त्रि० । दुष्पक्वत्वात् परिस्राविणि, स्था० ४ ठा० ४ उ० । खरके, चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णतो राहोश्चतुर्थे कृष्णपुद्गले, सू० प्र० २० पाहु० । चं० प्र० । तद्भेदाद्राहौ, भ० १२ श० ६ उ० । दासे, बृ० ३ उ० । मध्यमग्रामवास्तव्यसिद्धार्थवणिङ्मित्रे स्वनामख्याते वैद्ये, आ० म० द्वि० । येन महावीरस्वामिनः कर्णयोः कण्टशलाका निर्हारिता । आ० चू० १ अ० ।

खरयर-खरतर-' खरतर ' शब्दार्थे ।

खरवाय-खरवात-पुं० । मन्दरस्यापि चालनासमर्थे, तीव्रवायौ, आ० म० द्वि० ।

खरसद्द-खरशब्द-पुं० । खरः उग्रः शब्दोऽस्य । कुररखगे, गर्दभशब्दे, वाच० । व्य० ७ उ० ।

खरस्सर-खरस्वर-पुं० । चतुर्दशे परमाधार्मिके, यो वज्रकण्टकाकुलशाल्मलिवृक्षमारोप्य नारकं खरस्वरं कुर्वन्तं कुर्वन्नाऽऽकर्षयत्यसौ खरस्वरः । भ० ३ श० ६ उ० । प्रव० । स० । आ० चू० ॥

कप्पेंति करकरएहिं, तच्छिंति परोप्परं तु परसूहिं ति ।
सिंबलितमारुहंती, खरस्सरा तत्थ णेरइए ॥ ८३ ॥

"कप्पेंति" इत्यादि खरस्वराख्यास्तु परमाधार्मिका नरकानेवं कदर्थयन्ति । तद्यथा-क्रकचपातैर्मध्यंमध्येन स्तम्भमिव तान् पातानुसारेण कल्पयन्ति पाटयन्ति । तथा परशुभिश्च तानेव नारकान् परस्परमन्योन्यं तक्षयन्ति सर्वशो देहावयवापनयनेन तनून् कारयन्ति । तथा शाल्मलीं वज्रमयतीक्ष्णकण्टकाकुलां खरस्वरैरारटन्तो नारकानारोहयन्ति पुनराकृष्टानाकर्षयन्तीति ॥ ८३ ॥ सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

खरा-खरा-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

खरामरिस-खरामर्श (र्ष)-पुं० । कर्कशस्पर्शे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार ।

खरावट्ट-खरावर्त्त-पुं० । खरो निष्ठुरोऽतिवेगतया पातकः छेदको वा आवर्त्तनमावर्तः समुद्रादेश्चक्रविशेषाणां च निष्ठुरे आवर्ते, स्था० ४ ठा० २ उ० ।

खरिंसुक-खरिंशुक-पुं० । कन्दभेदे, ध० २ अधि० ।

खरिया-खरिका-स्त्री० । चूर्णाकृतिकस्तूरीभेदे, वाच० । दास्याम्, । बृ० ३ उ० । द्यूतकरिकायां कर्मकर्यां च । ओघ० ।

खरोट्ठी-खरोष्ट्री-स्त्री० । ब्राह्म्याः लिपेश्चतुर्थे लेख्यविधाने, प्रज्ञा० १ पद ।

खल-खल-पुं० । न० । खल-अच् अर्द्धर्चादि० । धान्यमेलनपवनादि स्थण्डिले, जं० २० वक्ष० । ज्ञा० । व्य० । धान्यतुषपृथक्करणस्थाने, कल्प० ६ क्षण । स्खलनकृति, प्रति० । कुथितादिविशिष्टेऽल्पधान्यादौ, सूत्र०२ श्रु०२ अ० । धूलिराशौ, तिलादिकल्के, ' सरिसवखलो ' अत्र " खघथधभाम् " । ८ । १ । १८७ । इति हत्वं न प्रायोग्रहणात् । प्रा० १ पाद । ' खल ' इत्यत्र तु आविभूतत्वान्न खस्य हः । नीचे, अधमे, दुर्जने, त्रि० । खे लीयते लि-ड-सूर्ये, खं तद्रसं लाति ला-क-तमालवृक्षे, पुं० । प्रस्तरमये औषधमर्दनपात्रे, वाच० ।

खलइ-खलति-पुं० । स्खलन्ति केशा यस्मात् भीमा० अपादाने, पृषो० । इन्द्रलुप्तरोगे, ... त्रि० । खल्वाटे, वाच० नदीमुत्तरन् खलतिना शिरसा । स्था० ७ ठा० ।

खलंत-स्खलत्-त्रि० । निपतति । " ... " स्खलन्ती विह्वला चार्दविततां गतिर्येषां ते । भ० ७ श० ६ उ० ।

खलखिल-खलखिल-त्रि० । निर्जीवे, व्य० १ उ० ।

खलगय-खलगत-त्रि० । धान्यमलनस्थानास्थिते, प्रश्न० ३ संव० द्वार ।

खलजनपीला-खलजनपीडा-स्त्री० । दुर्जनदुःखोत्पादने, न० । " इक्को व ण इह दोसो, जं जाए खलजणस्स पील त्ति । तह वि पयट्टो इत्थं, दट्ठुं सुयनाणसद्दोसं " नयो० ।

खलण-स्खलन-न० । पुद्गलप्रतिघाते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । निपतने, आचा० १ श्रु० ६ अ० ३ उ० ।

खलणा–स्खलना–स्त्री० । स्खलनायाम्, तं० " खलना य उवघाओ सबलिकरणं च एगट्ठा " ओघ० । सूत्र० ।

खलदाण–खलदान–न० । कुथितादिविशिष्टस्य अल्पधान्यादेर्वा दाने, सूत्र० । कुपितस्य दाने, सूत्र० । २ श्रु० २ अ० ।

खलपू–खलपू–त्रि० । खलं भूमिं पुनाति । पुं० । क्विप् स्थानशोधनकारिणि, वाच० । संबोधने, " ईदूतोर्ह्रस्वः " ८ । ३ । ४२ । इति प्राकृते ह्रस्वः हे खलपु ! प्रा० ३ पाद ।

खलिअचरण–स्खलितचरण–त्रि० । स्खलितचारित्रे,व्य०४उ० ।

खलिअपरिसुद्धि–स्खलितपरिशुद्धि–स्त्री० । अतिचाराणामालोचनया शुद्धौ, ध० र० ।

संप्रति स्खलितपरिशुद्धिरिति चतुर्थं श्रद्धालक्षणमाह–

अइयारमलकलंकं, पमायमाईहिँ कहँ वि चरणस्स ।
जणियं पि वियडणाए,सोहंति मुणी विमलसद्धा ।।१०४।।

अतिचरणमतिचारो मूलोत्तरगुणमर्यादातिक्रमः स एव डिण्डीरपिण्डपाण्डुरगुणगणमालिन्यहेतुत्वान्मलं तच्चरणं शशधरस्य कलङ्क इव तं प्रमाददर्पकल्पैराकुट्टिकाद्यात्मिकैः प्रायेणासंभवात् कथमपि कण्टकाकुलमार्गे यत्नेनापि गच्छतः कण्टकभङ्गवच्चरणस्य चारित्रस्य जनितमुत्पादितम् । आकुट्टिकादीनां पुनः स्वरूपमिदम् ।

" आउट्टिया उ तिव्वा, दप्पो पुण होइ वग्गणाईओ ।
विगहाइओ पमाओ, कप्पो पुण कारणे करणं " ॥

उपलक्षणं चैतद्दशविधायाः प्रतिसेवायाः सा चेयम्–

" १ दप्प २ प्पमायऽणाभोग, ३ आउरे ४ आवईसु य ५ ।
संकिए ६ सहसागारे, ७ भए ८ पओसेय ९ वीमंसा " ॥१०॥

अपिशब्दः संभावने संभाव्यत एतच्चारित्रिणो विकटनयाऽऽलोचनया शोधयन्त्यपनयन्ति मुनयो यतयो विमलश्रद्धा निष्कलङ्कधर्माभिलाषाः शिवभद्रमुनिवत् ॥ १०४ ॥ ध० र० ।

खलिण–खलीन–न० । कविके, (लगाम) । ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । आ० म० । कायोत्सर्गदोषभेदे, " ठायइ खलिणं व जहा रयहरणमग्गओ काउं " खलिनमिव कविकमिव रजोहरणमग्रतः कृत्वा तिष्ठत्युत्सर्गे इति खलीनदोषः वाऽत्र समुच्चये अन्ये खलिनार्तवा जीवादूर्ध्वाधः शिरःकम्पनं खलीनदोषमाहुः प्रव०५ द्वार । आ० चू० । आव० ।

खलिय–स्खलित–त्रि० । उपलशकलाद्याकुलभूभागे,लाङ्गलमिव यत्स्खलितम् । अनु० । कार्यमकृत्वा प्रपतिते, नि० ३ वर्ग । निपतिते,आव० ३ अ० । " खलिओ नेहो " प्रा० २ पाद । (स्खलितप्रायश्चित्तं ' सुत्त ' शब्दे)

खलीण–खलीन–न० । 'खलिण' शब्दार्थे,

खलु–खलु–अव्य० । अवधारणे, आ० म० द्वि० । पं० सू० । नि० चू० । नि० । आ० । विशे० । दशा० । सूत्र० । पञ्चा० । स० । एवकारार्थे, दर्श० । उत्त० । सूत्र० । निश्चये, आ० चू० १ अ० । संथा० । रा० । तं० । उत्त० । पुनःशब्दार्थे, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । उत्त० । विशेषणे, दशा० ४ अ० । नि०चू० । नि० । सूत्र० । विपा० । वाक्यालङ्कारे,आचा० १श्रु०२ अ० ५ उ० । ज्ञा० । विपा० । कर्म० । प्रज्ञ० । जं० । स्था० । दशा० । भ० । जी० । सूत्र० । उत्त० । पञ्चा० । पादपूरणे, नि० चू० १० उ० । आ० । वाक्यायाम् , निषेधे, वाच० ।

खलुंक–खलुङ्क–पुं० । अविनीते गलौ, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

(निर्युक्तिस्थः) अस्य निक्षेपः–

निक्खेवो खलुंकम्मि, चउव्विहो दुविहो उ दव्वम्मि ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ।।२२।।
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य गलमाईसु ।
पमिलोमो सव्वत्थे, स भावओ होइ खलुंको ।।२३।।

गाथाद्वयं व्याख्यातप्रायमेव । नवरं बलीवर्दादिषु इत्यादिशब्देनाश्वादिपरिग्रहो निर्धारणे चेयं सप्तमी, ततो बलीवर्दादिषु यो गल्यादिरिति गम्यते, स द्रव्यतः खलुंक इति । प्रतिलोमः प्रतिकूलसर्वार्थेषु पाठान्तरतः सर्वस्थानेषु । ज्ञानादिषु भावतो भवति खलुंक इति गाथाद्वयार्थः ॥ २२-२३ ॥

तद्व्यतिरिक्तद्रव्यखलुंकस्वरूपमाह–

अवदाली उत्तसओ, जुत्तजुगं भंज तोत्तभंजो य ।
उप्पहविप्पहगामी, एऍ खलुंका भवे गोणा ।।२४।।
जं किर दव्वं खुज्जं, कक्कसगुरुगं तहा दुरोनामं ।
तं दव्वेसु खलुंकं, वंककुडिल वेढमाइन्नं ।।२५।।
सुचिरं पि वंकुडाइं, होहिंति अणुज्जुइज्जमाणाइं ।
करमद्दिदारुगाइं, गयंकुसाइं व विंटाइं ।।२६।।

(अवदालि त्ति) अवदारयति शकटं, स्वस्वामिनं वा विनाशयत्येवंशीलोऽवदारी उत्त्रासको यो यत किंचनावलोक्य उत्त्रस्यति (जोत्तजुगं भंज त्ति) योक्त्रं तथाविधसंयमनं युगं प्रतीतमेव, स भनक्ति तोत्रभञ्जश्च उभयत्र "कर्मण्यण् ।३।२।१। इति(पाणि०)अण् उत्पथविपथगामी उत्पथ उन्मार्गो विपथो विरूपमार्गस्ताभ्यां गमनशील एतेऽवदार्यादयः खलुंका भवन्ति । भवेयुर्गोणा बलीवर्दा उपलक्षणत्वादश्वादयश्च ।।२४।। अमुमेवार्थं प्रकारान्तरेणाह–यदिति सामान्यनिर्देशे किलेति परोक्षाप्तवादसूचकः, द्रव्यं दार्वादि कुब्जमिव कुब्जं मध्यस्थूलतया कर्कशं च तत कठिनतया गुरुकं चातिनिचितपुद्गलतया कर्कशगुरुकम् । तथा तदेव दुःखेनावनमयितुं शक्यत इति दुरवनामं करीरकाष्ठवत् तद् द्रव्येषु खलुंकं वक्रमनृजुत्वात् कुटिलं विशिष्टकौटिल्ययोगात् (वेढमाइद्धं ति)मकारोऽलाक्षणिकः । ततश्च वेष्टैर्ग्रन्थिभिराविद्धं व्याप्तं वेष्टाविद्धम्,एषां विशेषणसमासः ।।२५।। इहैव दृष्टान्तमाह–सुचिरमपि प्रभूतकालमपि(वंकुडाइं ति) वक्राण्येवधारणफलत्वाद्वाक्यस्य. वक्राण्येव भविष्यन्ति । न कदाचित् । ऋजुभावमनुभविष्यन्ति । (अणुज्जुइज्जमाणाइं ति) एवं स्वरूपतोऽनृजून्यपरं च तेषां क्वचित् कार्येऽनुपयोगात् केनचिद् ऋजूक्रियमाणानि । कान्येवंविधानीत्याह–करमर्दी गुल्मभेदस्तद्दारुकाणि । तथा–(गयंकुसाइं व विंटाइं ति) वस्य गम्यमानत्वाद् गजाङ्कुशानीव वक्रतया वृन्तानि च फलबन्धनानि प्रक्रमात् करमर्द्या एवोक्तरूपाण्यनेकधा द्रव्यखलुंकाभिधानं च काक्वाऽनेकविधकुशिष्यदृष्टान्तप्रदर्शनार्थमिति गाथात्रयार्थः ।।२७।।

सम्प्रति यदुक्तं (२३ गाथायाम्) प्रतिलोमः सर्वार्थेषु भावतो भवति । तदभिव्यक्तीकर्तुमाह–

दंसगमसगसमाणा, जलूगविच्छुगसमा य जे होंति ।
ते किर होंति खलुंका, तिक्खमिऊ चंममद्दविया ॥

जे किर गुरुपडिणीया, सबला असमाहिकारगा पावा ।
कलहकरणस्सजावा, जिणवयणे ते किर खलुंका ॥२८॥
पिसुणा परोवयावी, भिन्नरहस्सा परं परिजवंति ।
निव्वेयणिज्जा सढा, जिणवयणे ते किर खलुंका ॥२९॥

(दंसगमसगसमाण त्ति) दंशमशकैः समानास्तुल्या दंशमशकसमानास्ते हि जात्यादिभिः तद्वत् तुदन्तीति, तथा जलौकावृश्चिकसमाश्च प्रस्तावाकिछ्या ये भवन्ति दोषग्राहितया अप्रस्तुतपृच्छादिनोद्वेजकतया च पठन्ति । (जलुगविच्छुगसमा य त्ति) यथा वृश्चिकोऽवष्टब्धो विध्यति कण्टकेनैवं ये शिष्यमाणा गुरुं वचनकण्टकैर्विध्यन्ति ते एवंविधाः किल भवन्ति खलुंका भावत इति गम्यते । तीक्ष्णा असहिष्णवः, मृदवोऽलसतया कार्यकरणं प्रत्यदक्षाः, चण्डाः कोपनतया, मार्दवेन चरन्ति मार्दविकाः शतकृत्वोऽपि गुरुप्रेरिता न सम्यगनुष्ठानं प्रति प्रवर्तन्ते किंत्वलसा एव अमीषां द्वन्द्वः ॥२७॥ अन्यच्च-ये किल गुरुप्रत्यनीकाः आचार्यादिप्रतिकूलाः कुलवालकवत्, सबलाः सबलचारित्रयोगात्, असमाधिकारका गुर्वादीनामसमाधानजनकाः, अत एव पापा अधिकरणकारकात्मानः, कलहकर्तृस्वभावाः सदनुष्ठानं प्रति प्रेर्यमाणा युद्धायैवोपतिष्ठन्ते । जिनवचने सर्वज्ञशासने ते किल खलुंका उच्यन्त इति शेषः ॥२८॥ तथा पिशुनाः सूचकाः, अत एव (परोवयावीति) परोपतापिनः, भिन्नरहस्या विश्वस्तजनकथितरहस्यभेदिनः, तथा परमन्यं परिभवन्ति येन केनचित्प्रकारेणाभिभवन्ति । (निव्वेयणिज्ज त्ति) निर्वेदनीया निर्वेदं प्राप्याः प्रक्रमात्यतिकृतेन । पाठान्तरतो निर्गता वचनीयादुपदेशवाक्यात्मकाद् ये ते निर्वचनीयाः, चः समुच्चये, भिन्नक्रमश्च, ततः शठाश्च मायाविनः, पठ्यते च-" निद्दयनिस्सीलसञ्चत्ति " सुगममेव जिनवचने सर्वज्ञशासने भणिता ये इति शेषः । ते प्रागभिहितस्वरूपाः किल खलुंका इति गाथात्रयार्थः ॥ २९ ॥

ततः किमित्याह-

तम्हा खलुंकजावं-चइऊणं पंडिएण पुरिसेण ।
कायव्वा होइ मई, उज्जुसहावम्मि भावेणं ॥ ३० ॥

तस्मात् इत्थं दोषवन्तं खलुंकभावं त्यक्त्वा, पण्डितेन बुद्धिमता पुरुषेणोपलक्षणत्वात् स्त्र्यादिना च कर्त्तव्या भवति । मतिर्बुद्धिः एव ऋजुस्वभावे आर्जवे भावे परमार्थे न तु बहिर्वृत्त्यैवेति गाथार्थः ॥ ३० ॥ उत्त० २६ अ० ।

खलुंकदृष्टान्तेन विनीतशिष्यप्ररूपणा-

थेरे गणहरे गग्गे, मुणी आसि विसारए ।
आइम्मे गणिभावम्मि, समाहिं पमिसंधए ॥ १ ॥

गार्ग्यो नाम गणधरो मुनिः स्थविरः आसीत् । गणस्य गच्छस्य धारकत्वाद्गणधरः, धर्मे स्थिरीकरणत्वात् स्थविरः, गर्गगोत्रोत्पन्नत्वात् गार्ग्यो, मनुते सर्वसावद्यविरमणस्य प्रतिज्ञां कुरुते इति मुनिः । कीदृशो गार्ग्यः-विशारदः सर्वशास्त्रनिपुणः । पुनः कीदृशः सः-आकीर्णः आचार्यगुणैर्व्याप्तः । पुनः कीदृशः सः-गणिभावे आचार्यत्वे स्थितः । पुनः स गार्ग्यो गणधरः समाधिं धत्ते । कुशिष्यैः त्रोटितं ज्ञानदर्शनचारित्राणां समाधिं प्रतिसंधयतीत्यर्थः ।

वहणे वहमाणस्स, कंतारं अइवत्तई ।
जोए य वहमाणस्स, संसारं अइवत्तई ॥ २ ॥

यथा यथा वहने शकटादौ विनीततुरगवृषभादीन् (वहमाणस्स इति) उह्यमानस्य सारथ्यादेः (कंतारम) अरण्यमतिवर्त्तते सम्पूर्णं भवति । तथा योगे संयमव्यापारेषु शिष्यान् वाहयतः आचार्यस्य संसारः अतिवर्तते शिष्याणां विनीतत्वं दृष्ट्वा स्वयं समाधिमान् जायते । शिष्यास्तु विनीतत्वेन स्वयं संसारमुल्लङ्घयन्ते एव, एवं उभयोर्विनीतशिष्यसदाचार्ययोर्योगः सम्बन्धः संसारच्छेदकर इति भावः ॥ २ ॥

खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सई ।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ य से भज्जई ॥ ३ ॥

यस्तु सारथिः, खलुंकान् गलिवृषभान् योजयति रथे स्थापयति । स सारथिः (विहम्माणो इति) विशेषेण तान् खलुंकान् घ्नन् प्राजनकेन ताडयन् संक्लिश्यते संक्लेशं प्राप्नोति । अत एव असमाधिम् असातां वेदयते प्राप्नोति च पुनस्तस्य खलुंकवृषभयोजयतुः, पुरुषस्य तोत्रकः प्राजनको भज्यते खलुंकानामतिकुट्टनात् प्राजनको भज्यते इति भावः ॥ ३ ॥

एगं मसइ पुच्छंमि, एगं विंधइ अभिक्खणं ।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ ॥ ४ ॥

पुनः खलुंकवृषभस्वामी रथारोहको रुष्टः सन् तं खलुंकं पुच्छे दन्तैर्दशति एकम् । स एव । एकं गलिवृषभम् अभीक्ष्णं वारं २ विध्यति प्राजनकस्य आरया व्यथयति । एको गलिर्वृषभः समिलां युगकीलिकां भनक्ति । एकः पुनर्गलिवृषभः उत्पथमार्गे प्रस्थितो भवति ॥ ४ ॥

एगो पमइ पासेणं, निवेसइ निवज्जई ।
उक्कुद्दइ उप्फिडई, सढे बालगवीवए ॥ ५ ॥

एको गलिस्ताडितः सन् पार्श्वेन वामदक्षिणभागेन पतति । अन्यः कश्चिद्भूमौ निवसने नीचैस्तिष्ठति । एकः कश्चिन्निपद्यते स्वपिति प्रलम्बो भूत्वा शेते । एक उत्कूर्दति उच्छलति दर्दुरवत् चतुःफालो भवति । अन्यः शठो भवति धूर्तत्वमाचरति । अन्यः कश्चित् गलिर्बलीवर्दो बालगवीं लघिष्ठां धेनुं दृष्ट्वा तामनुव्रजति ॥ ५ ॥

माई मुद्धेण पमइ, कुद्धे गच्छइ पडिपहं ।
मयलक्खेण चिट्ठइ, वेगेण य पहावई ॥ ६ ॥

एको मायी मायावान् भूत्वा मस्तकं भूमौ निक्षिप्य पतति । एकः कश्चित् क्रुद्धः सन् प्रतिपथं प्रतिकूलः पन्थाः प्रतिपथस्तं प्रतिपथम् अग्रेतनमार्गं त्यक्त्वा पश्चान्मार्गे गच्छति । एकः कश्चित् मृतलक्ष्येण तिष्ठति मृतस्य लक्षणं कृत्वा तिष्ठति निश्चेष्टो भूत्वा पततीत्यर्थः । यदा च पुनः कथञ्चित् सज्जीकृत्य उत्थापितस्तदा वेगेन प्रधावति, अनया रीत्या धावति यथा पश्चात्स्वामी ग्रहीतुं न शक्नोति ॥ ६ ॥

छिन्नाले छिंदई सल्लिं, दुद्दन्ते भंजई जुगं ।
से वि य सुस्सुया इत्ता, उज्जूहित्ता पलायई ॥ ७ ॥

एकश्छिन्नालो दुष्टजातीयः कश्चित् (सल्लिं इति) रश्मिं बन्धनरज्जुं छिनत्ति बलात् त्रोटयति । अन्यो दुर्दान्तो दमितुमशक्यो युगं जूसरं भनक्ति । (से वि य इति) स च दुष्टो बलीवर्दः सुतराम् अतिशयेन पूत्कृत्य अत्यन्तपूत्कारं कृत्वा बलप्राबल्येन (उज्जुहि-

सा इति) स्वस्वामिनं शकटम् उन्मार्गे नीत्वा कुत्रचिद्विषमप्रदेशे भङ्क्त्वा स्वयं पलायते ॥ ७ ॥

खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणंमि, भज्जंती धिइदुब्बला ॥ ८ ॥

गार्ग्यनामा आचार्य एवं वदति-भो मुनयो! यथा लोके खलुंकाः अत्र उक्तलक्षणाः गलिवृषभाः योज्याः रथस्याग्रे धुरि योजिताः सन्तो यादृशा भवन्ति। रथारोहकस्य असमाधिक्लेशकरा भवन्ति। 'हु' इति निश्चयेन,आचार्यस्यापि दुःशिष्या दुष्टाः शिष्याः विनयरहिताः कुशिष्यास्तादृशा भवन्ति। धर्मयाने मुक्तिनगरप्रापकत्वेन संयमरथे योजिताः व्यापारिताः भज्यन्ते संयमक्रियानुष्ठानात् स्खलन्ते। सम्यग् न प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः। कीदृशास्ते धृतिदुर्बलाः निर्बलचित्ताः धर्मे दुःस्थिरा इत्यर्थः॥८॥

इड्ढिगारवए एगे, एगेऽत्थ रसगारवे।
सायागारविए एगे, एगे सुचिरकोहणे ॥ ९ ॥
भिक्खालसिए एगे, एगे ओमाणभीरुए।
एगं च अणुसासम्मी, हेउहिं कारणेहि य ॥ १० ॥

एकः कश्चित् ऋद्धिगौरविकः ऋद्ध्या गौरवमस्यास्तीति ऋद्धिगौरविको मम श्राद्धा आढ्याः, मम आढ्याः वश्याः, मम उपकरणं वस्त्रपात्रादिसमीचीनम् इत्यादि आत्मानं बहुमानरूपं मनुते स ऋद्धिगौरविक उच्यते एतादृशो गुर्वादेशे न प्रवर्त्तते। एकः कश्चित् पुनरत्र रसगौरविकः आहारादिषु रसलोलुपः एतादृशो हि ग्लानाद्याहारदानतपसे न प्रवर्त्तते। एकः कश्चित् कुशिष्यः सातागौरविको भवति सातायां गौरवे भवः सातागौरविकः एतादृशो हि विहारं कर्त्तुं न शक्नोति। एकः कश्चित् कुशिष्यः सुचिरक्रोधनः चिरं क्रोधकरणशीलः एतादृशो हि तपःक्रियानुष्ठानकरणे योग्यो न भवति ॥ ९ ॥ एकः कश्चित् भिक्षालसिकः भिक्षायामालस्ययुक्तः एतादृशो हि गोचरीपरीषहसहनयोग्यो न भवति। एकः कश्चिदपमानभीरुर्भवति अपमानात् भीरुः अपमानभीरुः एतादृशो हि कस्यचिद् गृहे न प्रविशति। एकः कश्चित् स्तब्धोऽहङ्कारी भवति एतादृशो निजकुग्रहात् विनयं कर्त्तुं न शक्नोति। स पुनः एकं कुशिष्यं प्रतिशिक्षादाने आचार्यः एवं विचारयति-हेतुभिः कारणैः अहमेनं कुशिष्यमनुशास्मि कथम्? इति अध्याहारः कथं शिक्षयिष्यामि आचार्य इति चिन्तापरो भवति इति भावः ॥ १० ॥ युग्मम्।

सो वि अंतरभासिल्लो, दोसमेव पकुव्वई।
आयरियाणं तं वयणं, पडिकूलेइ अभिक्खणं ॥ ११ ॥

सोऽपि कुशिष्यः आचार्येण शिक्षितः सन् अन्तरभाषावान् पुनर्दोषमेव अपराधमेव प्रकरोति आचार्यस्य शिक्षायां दोषमेव प्रकाशयति अपगुणग्राही भवतीत्यर्थः। पुनः स कुशिष्यः आचार्याणां यद्वचनं तद्वचनं वारं वारं प्रतिकूलयति संमुखं जल्पति। यदा आचार्याः किञ्चित् शिक्षावचनं वदन्ति तदा अभीक्ष्णं मुहुरेवं वदति-किं मां यूयं वदत यूयमेव किं न कुरुत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

न सा ममं वियाणाइ, न वि सा मज्झ दाहिई।
निग्गया होहि सा मन्ने, साहु अन्नोत्थ वच्चओ ॥१२॥

तदा आचार्यः किञ्चित् कुशिष्यं प्रति वदति-भो! शिष्य! अमुकस्य गृहस्थस्य गृहात् भक्तमाहाराद्यानीय देहि। तदा स कुशिष्यो वदति-सा श्राद्धी (ममं इति) मां न विजानीते मां न उपलक्षयति सा श्राद्धी मह्यमाहारादिकं न दास्यति। अथवा स गुरुं प्रति एवं वदति-हे गुरो! अहमेवं मन्ये सा श्राद्धी निर्गता भविष्यति स्वगृहादपरत्र इदानीं गता भविष्यति। अथवा-अन्यः साधुः अस्मिन् कार्ये व्रजतु, अहं न व्रजामि इत्यर्थः ॥ १२ ॥

पेसिया पलिओचिंति, ते परियन्ति समंतओ।
रायवेट्ठिं व मन्नंता, करिंति भिउडिं मुहे ॥ १३ ॥

पुनस्ते कुशिष्याः आचार्येण कुत्रचित् गृहस्थगृहे आहाराद्यर्थे गृहस्थस्य आकारणाय वा प्रेषिताः सन्तः (पलिओचिंति) अपह्नुवन्ति। वयं भवद्भिः कुत्र मुक्ता अस्माकं न स्मरसि। अथवा भिक्षाहारादिकं गोपयन्ति। अथवा उक्तं कार्यं न निष्पादयन्ति। अनुत्पादितमपि उत्पादितमिति वदन्ति। उत्पादितं च अनुत्पादितं वदन्ति। अथवा यत्र भवद्भिर्वयं प्रेषिताः स गृही न कश्चित् दृष्टः इति पृष्टाः सन्तः अपलपन्ति। पुनस्ते कुशिष्याः समन्ततः सर्वासु दिक्षु परियन्ति पर्यटन्ति। गुरुपार्श्वे कदाचिन्न आयान्ति न उपविशन्ति कदाचिद्वयं गुरूणां पार्श्वे स्थास्यामस्तदाऽस्माकं किञ्चित्कार्यं कथयिष्यन्ति इति मत्वा अन्यत्र भ्रमन्तिइति भावः। कदाचित्कस्मिन् कार्ये गुरुभिः प्रेषितास्तदा राजवेष्टिम इव मन्यमानास्तत्कार्यं कुर्वन्ति, नृपस्य वेष्टिः (राजभृतिः) पतिता इति जानतो मुखे भृकुटीं भ्रूभङ्गरचनां कुर्वन्ति। अन्यामपि ईर्ष्याशूचिकां चेष्टां कुर्वन्तीति भावः ॥१३॥

वाइया संगहिया चेव, भत्तपाणेण पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा, पक्कमंति दिसो दिसिं ॥ १४ ॥

पुनस्ते कुशिष्याः गुरुभिर्वाचिताः सूत्रं ग्राहिताः शास्त्राभ्यासं कारयित्वा पण्डिताः कृताः, पुनः संगृहीताः सम्यक् स्वनिश्रायां रक्षिताः, पुनर्भक्तपानैः पोषिताः पुष्टिं नीताः, चकारात् दीक्षिताः स्वयमेव उपस्थापिताः, पश्चात् ते कार्ये सुते दिशो दिशि प्रक्रमन्ति यथेच्छं विहरन्ति,ते कुशिष्याः के? यथा-जातपक्षाः हंसाः यथा जाताः पक्षास्तनूरुहाणि येषां ते जातपक्षाः हंसा इव यथा उत्पन्नपक्षा हंसाः स्वजननीं जनकं च त्यक्त्वा दशसु दिक्षु व्रजन्ति। तथा ते कुशिष्याः अपि इति भावः ॥१४॥

अह सारही विचिन्तेइ, खलुंकेहिं समं गओ।
किं? मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयई ॥१५॥

अथाऽनन्तरं सारथिर्गर्गाचार्यो धर्मयानस्य प्रेरकः चेतसि चिन्तयति। खलुंकैर्गलिवृषभसदृशैः कुशिष्यैः समं गतः सहितः किंचिन्तयति?-एभिर्दुष्टशिष्यैः प्रेरितैः सद्भिः (किं मज्झ इति) किम् ऐहिकामुष्मिकफलं वा मम प्रयोजनं सिद्ध्यति। दुष्टशिष्यैः प्रेरितैः केवलं मे मम आत्मा एव अवसीदति। तेषां प्रेरणात् स्वकृत्यहानिरेव भविष्यति नान्यत्किमपि फलं तत् एतेषां कुशिष्याणां त्यागेन मया उद्यतविहारिणा एव भाव्यमिति चिन्तयति ॥ १५ ॥

जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे चइत्ता णं, दढं परिगिण्हई तवं ॥ १६ ॥

पुनः स आचार्यश्चिन्तयति—यादृशाः मम शिष्याः सन्ति तादृशा गलिगर्दभा भवन्ति। अत्र गलिगर्दभदृष्टान्तेन शिष्याणामत्यन्तनिन्दा सूचिता। ततः गर्गाचार्यो गलिगर्दभसदृशान्

कुशिष्यान् त्यक्त्वा दृढं यथा स्यात्तथा तपो बाह्यमाभ्यन्तरं च प्रगृह्णाति प्रकर्षेणाङ्गीकरोति । तुशब्दः पादपूरणे यदा एतान् कुशिष्यान् अहं न त्यक्ष्यामि तदा मदीयः कालः क्लेशेन एव प्रयास्यतीति आचार्यो विचारयति ॥ १६ ॥

मिउमद्दवसंपन्ने, गम्भीरे सुसमाहिए ।

विहरइ महिं महप्पा, सीलभूएण अप्पणो त्ति बेमि ॥१७॥

स गार्ग्य आचार्यस्तदा ईदृशः सन् महीं पृथिवीं ग्रामानुग्रामं विहरति, कीदृशः सः? मृदुर्बहिर्वृत्त्या विनयवान्, पुनः कीदृशः? मार्दवसंपन्नः अन्तःकरणेऽपि कोमलतायुक्तः, पुनः कीदृशः? गम्भीरः अलब्धमध्यः । पुनः कीदृशः? सुसमाहितः सुतरामतिशयेन समाधिसहितः । पुनः कीदृशः? शीलभूतेन आत्मना उपलक्षितः, शीलं चारित्रं भूतः प्राप्तो यः स शीलभूतः तेन शीलभूतेन शीलयुक्तेनाऽऽत्मना सहितः यतो हि खलुंकत्वं कुशिष्यत्वं तत्तु अविनीतत्वं तच्च स्वस्य गुरोश्च दोषहेतुरस्ति । अतः अविनीतत्वं त्यक्त्वा विनीतत्वमङ्गीकर्तव्यमिति भावः ॥ १७ ॥ इति अहं ब्रवीमि इति श्रीसुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह ।

खलुंकिज्ज-खलुंकीय-न० । सप्तविंशे उत्तराध्ययने, स० ३६ सम० । (निर्युक्तिरनुपदमेव 'खलुंक' शब्दे उक्ता)

खलुखित्त-खलुक्षेत्र-न० । यत्र किमपि प्रायोग्यं लभ्यते-तस्मिन्, व्य० ७ उ० ।

खलुय-खलुक-पुं० । पादमणिबन्धे, । विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

खल्लग-खल्लक-पुं० । पादत्राणे चर्मणि, तानि च विचर्चिकावा तेन स्फुटितपादैः धार्याणि । ध० ३ अधि० ।

खल्लाम-खल्वाट-पुं० । खल क्विप् तं वटते वेष्टयते । अण् उप० स० वाच० । "ईस्त्यानखल्वाटे" ८ । १ । ७४ इति आत ईत्वम् । प्रा० १ पाद । आर्षे तु क्वचिदात्वम् । न० । इन्द्रलुप्तरोगे, तद्रोगवति, त्रि० । वाच० । "सो य खल्लीमो तस्स वएहे तडउजइ " आ० म० द्वि० । "एको खल्लाडो तंबोलियवाणियओ पविणविक्केति" । नि० चू० २० उ० । "तसुदइवेणविमुंमिअउंजसु खल्लिहडवं सीसु" इत्यपभ्रंशः । प्रा० ४ पाद ।

खल्ली-खल्ली-स्त्री० । खलति रोगवत्यां शिरस्तभ्याम्, खल्वाटस्ततः तस्योपरिप्रादुर्भावेन दृष्टाते खल्ली । विशे० । आ० चू० ।

खल्लीम-खल्वाट-पुं० । खल्लाडशब्दार्थे,

खल्लूड-खल्लूट-पुं० । कन्दभेदे, प्रव० ४ द्वार । ध० । प्रज्ञा० ।

खवइत्ता-क्षपयित्वा-अव्य० । अतिवाह्येत्यर्थे, "तिसि कम्मंसे अणुपुव्वेणं खवइत्ता" भ० १५ श० १ उ० ।

खवग-क्षपक-पुं० । पापं क्षपयति, द्वा० २७ द्वा० । प्रवचनप्रभावके, दश०२ अ० । अविरतसम्यग्दृष्टौ, कल्प० ३ क्षण । क्षपकश्रेण्यन्तर्गते अपूर्वकरणादिक्षीणमोहपर्यन्ते, पञ्चा०५ विव० । क्षपकाः क्षपकश्रेण्यन्तर्गताः अपूर्वकरणानि वृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायाः । पञ्चा०५ विव० । क्षपकश्रेण्यारूढो निवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायश्च निगद्यते-कर्म०५ कर्म० क्षेपकश्रेणौ, कल्प० ८ क्षण । तस्य तिर्यगानुपूर्वीनामक्षपणप्रतिपादनेनोक्तार्थत्वात् । आव० । तत्क्षपयति । सर्वमिदमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेणेति । आव० १ अ० ।

खवगसेढि-क्षपकश्रेणि-स्त्री० । क्षपणक्रमे, भ० ७ श० ३१ उ० सा चेत्थम्-

अण-मिच्छ-मीस-संमं, अट्ठ नपुंसि त्थिवये छक्कं च । पुममेयं च खवेई, कोहाईए य संजलणे ॥१३१३॥

इह-('उपशमश्रेणिन्यायेन' आव०१ अ०) क्षपकश्रेणि-(प्रस्थापकः सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टकाद्योपरि वर्त्तमानः । आ० म० प्र०)-अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानामन्यतम उत्तमसंहननः प्रशस्तध्यानोपगतमानसः प्रतिपद्यते, यदुक्तं क्षपकश्रेणिप्रक्रमे-(एकस्मिन्नप्यन्तर्मुहूर्त्ते लघुतराणामसंख्येयानामन्तर्मुहूर्त्तानां भावात् । आ०म० प्र० ।) विशेषावश्यके-"पडिवत्तीय अविरय-देसपमत्तापमत्तविरयाणं । अन्नयरो पमिवज्जइ,सुद्धज्झाणोवगयचित्तो ॥१३१४॥" तत्र पूर्वविदप्रमत्तः शुक्लध्यानोपगतोऽपि एतां प्रतिपद्यते । शेषास्तु अविरतादयो धर्मध्यानोपगता एवेति ।

क्षपणाक्रमश्चायम्-

प्रथममन्तर्मुहूर्त्तेनानन्तानुबन्धिनः क्रोधादीन् चतुरो युगपत् क्षपयति । तदनन्तभागं तु मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तेन सह मिथ्यात्वं क्षपयति । तस्याप्यनन्तभागं सम्यग्मिथ्यात्वे प्रक्षिप्य तदपि सविशेषं क्षपयति । आह-किं पुनः कारणं सविशेषं क्षपयति? इति । उच्यते-यथा खलु अतिसंभृतो दावानलः अर्द्धदग्धेन्धन एव इन्धनान्तरमासाद्य उभयमपि दहति । एवमसावपि क्षपकस्तीव्रशुभपरिणामत्वात् प्राकने कर्मण्यल्पशेषित एवापरं क्षपयितुमारभते,एवं सम्यग्मिथ्यात्वस्यावशेषं सम्यक्त्वे प्रक्षिप्य तेन सम्यक्त्वं निरवशेषमेव क्षपयति । तदाह चूर्णिकृत्-"जंसेसं तं संमत्ते छुभित्ता निरवसेसं खवेइ त्ति" एतच्च बद्धायुष्कापेक्षं संभाव्यते । आवश्यकादौ तमेवाधिकृत्य सम्यक्त्वनिरवशेषक्षपणस्योक्तत्वात्, इह च यदि बद्धायुः प्रतिपद्यते अनन्तानुबन्धिक्षये च (मरणसंभवतो, आ० म० प्र० । आव० ।) व्युपरमति । ततो मिथ्यादर्शनोदयतस्तान् पुनरप्युपचिनोति मिथ्यात्वे तद्बीजसंभवात् क्षीणमिथ्यात्वस्तु नोपचिनोति । मूलाभावात् । तदवस्थश्च मृतोऽवश्यमेव त्रिदशेषूपपद्यते, क्षीणदर्शनसप्तकोऽप्यप्रतिपतितपरिणामो म्रियमाणः सुरगतावेवोपपद्यते । प्रतिपतितपरिणामस्तु नानामतित्वात् सर्वगतिभाग्भवति । तथा चोक्तं (विशेषावश्यके)-

" बद्धाऊ पडिवन्नो, पढमकसायक्खए जइ मरिज्जा ।

तो मिच्छत्तोदयओ, विणिज्ज भुज्जो न खीणम्मि ॥ १३१६ ॥

तम्मि मओ जाइ दिवं,तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।

उवरयपरिणामो पुण, पच्छा नाणामईगइओ " ॥ १३१७ ॥

स च यदि बद्धायुः प्रतिपद्यते-(स च सम्यग्दर्शनमशेषमेव क्षपयति । आव० १ अ० ।) ततो नियमाद्दर्शनसप्तके क्षीणे सति उपरमति । अबद्धायुष्कः पुनरनुपरत एव समस्तां श्रेणिं समापयति । स च सकलसम्यग्दर्शनावशेष एवाऽप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं क्षपयितुं युगपदारभते । एतेषां च अर्द्धक्षपितेषु,आ०म० प्र० ।)संख्येयतमं भागं क्षपयन्नेताः षोडश(सप्तदश आव० १ अ०) कर्म प्रकृतीः क्षपयति । तद्यथा-नैरयिकगतिनाम, तिर्यग्गतिनाम, एकेन्द्रियजातिनाम, द्वीन्द्रियजातिनाम, त्रीन्द्रियजातिनाम, चतुरिन्द्रियजातिनाम, नरकानुपूर्वीनाम तिर्यगानुपूर्वीनामेति, अप्रशस्तविहायोगतिनाम, स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम, निद्रानिद्रां, प्रचलाप्रचलां, स्त्यानर्द्धिनामेति । अधिकम्-आतपनाम, उद्योतनाम, ततोऽष्टानां कषायाणामविशेषं क्षपयति । ततो नपुंसकवेदं, ततः स्त्रीवेदं, ततो हास्यादिषट्कं, ततः पुरुषवेदं त्रिधा कृत्वा खण्डद्वयं युगपत् क्षपयति, तृतीयं तु खण्डं ज्वलनक्रोधे प्रक्षिपति पुरुषे प्रतिपत्तर्ययं क्रमः । स्त्रीनपुंसकयोः प्रतिपत्त्रो-

क्षपशमश्रेणिन्यायो वक्तव्यः। क्रोधादींश्च संज्वलनान् प्रत्येकमन्तर्मुहूर्त्तेनानेनैव खण्डत्रयरचनान्यायेन क्षपयति। श्रेणिपरिसमाप्तिकालोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण एव द्रष्टव्यः। केवलं बृहत्तरमत्रान्तर्मुहूर्त्तम्। अन्तर्मुहूर्त्तानामसंख्येयभेदात् लोभचरमखण्डं तु संख्येयानि खण्डानि कृत्वा पृथक् पृथक् कालभेदेन क्षपयति। चरमसंख्येयखण्डं पुनरसंख्येयानि खण्डानि करोति। तान्यपि समये समये एकैकं क्षपयति। इह च क्षीणदर्शनसप्तको निवृत्तिबादरसंपरायः (उच्यते-आव०)तत ऊर्द्ध्वमनिवृत्तिबादरसंपरायो,यावत् संज्वलनलोभस्य द्विचरमं संख्येयखण्डं चरमसंख्येयं खण्डस्य पुनरसंख्येयानि खण्डानि क्षपयन् सूक्ष्मसंपराय उच्यते। तत ऊर्ध्वं क्षीणमोहच्छद्मस्थवीतरागो यथाख्यातचारित्री भवति। ततो यथा कश्चिन्महापुरुषो बाहुभ्यामपारां गम्भीरां महानदीं तीर्त्वा तीरमासाद्य क्षणमेकम् (अनाभोगनिवर्त्तितेन करणेन आ० म० प्र०) विश्राममादत्ते एवमयमपि दुस्तरं मोहसागरं तीर्त्वा संजातपरिश्रमो विश्राम्यतीति। ततश्छद्मस्थवीतरागसंबन्धिनि समयद्वयेऽवशिष्यमाणे (यदाह—चूर्णीकृत्— " पढमे निद्दं पयलं " ॥ ४६ ॥ आव० १ अ०) ततः प्रथमे समये निद्रां १, प्रचलां २, देवगतिं ३, देवानुपूर्वीं ४, वैक्रियशरीरनामकर्म ५, वज्रर्षभनाराचसंहननं मुक्त्वा शेषाणि संहननानि षण्णां संस्थानानां मध्ये यस्मिन् व्यवस्थितस्तदेकं मुक्त्वा शेषाणि संस्थानानि १५। आहारकशरीरनाम १६। यद्यतीर्थकरः प्रतिपत्ता ततस्तीर्थकरनामकर्मापीति १ वाच्यं १७ एवं सप्तदश प्रकृतीः क्षपयति। ततो द्वितीयसमये पञ्चप्रकारं ज्ञानावरणम्। चतुर्विधं दर्शनावरणम्। पञ्चविधमन्तरायं च (युगपत् आ० म० प्र०) क्षपयित्वा विमलकेवलश्रियमवाप्नोतीति। वृ० १ उ०। आ० म० प्र०। आ० चू०। भ०। कर्म०। स्थापना चेयम्-

अधोभागाद् वाचनक्रमेणाऽयमुपशमश्रेणिक्रमः।

०	संज्वलनलोभम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणलोभौ	२
०	संज्वलमायाम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणमाये	२
०	संज्वलनमानम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणौ मानौ	२
०	संज्वलक्रोधम्	१
० ०	अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणौ क्रोधौ	२
०	स्त्रीवेदम्	१
००० ०००	कषायषट्कम्	१
०	पुरुषवेदम्	१
०	नपुंसकवेदम्	१
०००	मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वम्	३
०० ००	क्रोध-मान-माया-लोभाः-	४

स्त्रीनपुंसकयोर्मध्ये-यदि स्त्री प्रारम्भिका तदा उपशमश्रेणिन्यायेनायं क्षपकश्रेणिक्रमः।

अथ नपुंसकः प्रारम्भकः तदा-प्रथमं क्रोध-मान-माया-लोभान्-ततः स्त्रीवेदम्-ततः पुरुषवेदम्-ततः षट्कादि-संज्वलनान्तम्। क्षपयति उपशमश्रेणिन्यायचक्रोद्धारः ' उवसमसेढि ' शब्दे द्वितीयभागे १०४६ पृष्ठे १९ पङ्क्तौ गतो द्रष्टव्यः।

अधोभागाद्वाचनक्रमेणायं क्षपकश्रेणिक्रमः—

०	पुरुषवेदम्	१
००००००	हास्यादिषट्कम्	६
०	स्त्रीवेदम्	१
०	नपुंसकवेदम्	१
०	उद्योतनाम	१
०	आतपनाम	१
०	स्त्यानर्द्धिनाम	१
०	प्रचलाप्रचलां	१
०	निद्रानिद्रां	१
०	साधारणनाम	१
०	अपर्याप्तनाम	१
०	सूक्ष्मनाम	१
०	स्थावरनाम	१
०	अप्रशस्तविहायोगतिनाम	१
०	तिर्यगानुपूर्वी	१
०	नरकानुपूर्वी	१
०	चतुरिन्द्रियजातिनाम	१
०	त्रीन्द्रियजातिनाम	१
०	द्वीन्द्रियजातिनाम	१
०	एकेन्द्रियजातिनाम	१
०	तिर्यग्गतिनाम	१
०	नैरयिकगतिनाम	१
००००००००	कषायाष्टकम्	८
०	सम्यक्त्वम्	१
०	मिश्रम्	१
०	मिथ्यात्वम्	१
००००	क्रोध-मान-माया-लोभाः	४

पुरुषप्रतिपत्तर्ययं क्षपकश्रेणिक्रमः।

तथा चाह निर्युक्तिकृत्—

संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वतो सव्वं।
तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ॥ १३४९ ॥

सम्-एकीभावेन भिन्नं संभिन्नं-यथा बाहिस्तथा मध्येऽपीत्यर्थः। अथ वा, द्रव्य क्षेत्रकालभावलक्षणं सर्वमपि ज्ञेयं विषयत्वेन दर्शनीयम्। तत्र संभिन्नमिति द्रव्यं विशेष्यं सूचितं, कालभा-

यौ तद्विशेषकौ । कालभावौ हि द्रव्यस्य पर्यायौ । ततस्ताभ्यां समन्ताद्भिन्नं द्रव्यमिति, संभिन्नग्रहणेन त्रितयमपि सूचितम् । तत् पश्यन् उपलभमानो लोकं धर्म्माद्याधारभूतं क्षेत्रम्, अलोकं च तद्विपरीतं क्षेत्रम् अनेन क्षेत्रं प्रतिपादितम्। एतावदेव चतुर्विधं ज्ञेयम्। नान्यदिति । किमेकया दिशा पश्यन् नेत्याह-सर्वतः सर्वासु दिक्षु तास्वपि किं कियदपि द्रव्यादि उत नेत्याह-सर्वं निरवशेषम् । अमुमेवार्थं स्पष्टयन्नाह—तन्नास्ति किमपि ज्ञेयं भूतमतीतम्, भवतीति भव्यं वर्त्तमानम्, भविष्यच्च यन्न पश्यति केवलीति । आ० म० प्र० । कर्म० ।

पढमकसायचउक्कं, एत्तो मिच्छत्तमीससंमत्तं ।
अविरयदेसे विरए, पमत्ति अपमत्ति खीयंति ॥ ६६ ॥

इह यः क्षपकश्रेणिमारभते सोऽवश्यं मनुष्यो वर्षाष्टकाच्चोपरि वर्त्तमानः, स च प्रथमतः प्रथमकषायचतुष्कमनन्तानुबन्धिसंज्ञं विसंयोजयति । तद्विसंयोजना च प्रागेवोक्ता । तत इतः प्रथमकषायचतुष्कक्षयादनन्तरं मिथ्यात्वमिश्रसम्यक्त्वानि क्षपयति । सूत्रे चैकवचनं समाहारविवक्षणात् । समाहारविवक्षा चामीषां त्रयाणामपि युगपत् क्षपणाय यतते इति ख्यापनार्था । मिथ्यात्वादीनि च क्षपयन् यथा प्रवृत्तादीनि त्रीणि करणान्यारभते । करणानि च प्रागिव वक्तव्यानि । नवरम् अपूर्वकरणस्य प्रथमसमयेऽनुदितयोर्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोर्दलिकं, गुणसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । उद्वलनासंक्रममपि तयोरेवमारभते, तद्यथा—प्रथमस्थितिखण्डं बृहत्तरमुद्वलयति, ततो द्वितीयं, विशेषहीनं, ततोऽपि तृतीयं विशेषहीनम्, एवं तावद्वाच्यं यावदपूर्वकरणचरमसमयः । अपूर्वकरणे प्रथमसमये च यत् स्थितिकर्म्मासीत्तस्यैव चरमसमये संख्येयगुणहीनं जातम् । ततोऽनिवृत्तिकरणे प्रविशति । तत्रापि स्थितिघातादीन् सर्वानपि तथैव करोति । अनिवृत्तिकरणप्रथमसमये च दर्शनत्रिकस्यापि देशोपशमनानि धत्ते, निकाचना व्यवच्छिद्यन्ते । दर्शनमोहनीयत्रिकस्य च स्थितिसत्कर्मानिवृत्तिकरणप्रथमसमयादारभ्य स्थितिघातादिभिर्घात्यमानम् । घात्यमानं स्थितिखण्डसहस्रेषु गतेष्वसंज्ञिपञ्चेन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानं भवति । ततः स्थितिखण्डसहस्रपृथक्त्वे गते सति चतुरिन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानं भवति । ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु त्रीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम् । ततोऽपि तावन्मात्रेषु गतेषु द्वीन्द्रियस्थितिसत्कर्मसमानम् । ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेष्वेकेन्द्रियस्थितिसत्कर्म्मसमानम् । ततोऽपि तावन्मात्रेषु खण्डेषु गतेषु पल्योपमासंख्येयभागप्रमाणं भवति । ततस्त्रयाणामपि प्रत्येकमेकैकं संख्येयभागं मुक्त्वा शेषं सर्वमपि घातयति । ततस्तस्यापि प्राग्मुक्तस्य संख्येयभागस्यैकं संख्येयतमं भागं मुक्त्वा शेषं सर्वं विनाशयति । एवं स्थितिघाताः सहस्रशो व्रजन्ति । तदनन्तरं च मिथ्यात्वस्यासंख्येयान् भागान् खण्डयति । सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु संख्येयान् । तत एवं स्थितिखण्डेषु प्रभूतेषु गतेषु सत्सु मिथ्यात्वस्य दलिकमावलिकामात्रं संजातम् । सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु पल्योपमासंख्येयभागमात्रम् । अमूनि च स्थितिखण्डानि खण्ड्यमानानि मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोः प्रक्षिपति । सम्यग्मिथ्यात्वसत्कानि सम्यक्त्वे । सम्यक्त्वसत्कानि तु अधस्तात् स्वस्थाने इति । तदपि च मिथ्यात्वदलिकमावलिकामात्रं स्तिबुकसंक्रमेण सम्यक्त्वे प्रक्षिपति । तदनन्तरं सम्यक्त्वसम्यग्मिथ्यात्वयोरसंख्येयान् भागान् खण्डयति, एकोऽवशिष्यते । ततस्तस्याप्यसंख्येयान् भागान् खण्डयति, एकं मुञ्चति । एवं कतिपयेषु स्थितिखण्डेषु गतेषु सम्यग्मिथ्यात्वमावलिकामात्रं जातम् । तदानीं सम्यक्त्वस्य स्थितिसत्कर्माष्टवर्षप्रमाणं भवति । तस्मिन्नेव च काले सकलप्रत्यूहापगमतो निश्चयमतेन दर्शनमोहनीयक्षपक उच्यते । तत ऊर्द्धं सम्यक्त्वस्य स्थितिखण्डमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणमुत्किरति । तद्दलिकं तूदयसमयादारभ्य प्रक्षिपति । केवलमुदयसमये सर्वस्तोकम् । ततो द्वितीयसमये असंख्येयगुणम् । ततोऽपि तृतीयसमयेऽसंख्येयगुणम् । एवं तावद्वक्तव्यं यावद् गुणश्रेणीशिरः । तत ऊर्ध्वं तु विशेषहीनं यावच्चरमा स्थितिः । एवमान्तर्मुहूर्तिकान्यनेकानि खण्डान्युत्किरति, निक्षिपति च, तानि च तावत् यावत् द्विचरमं स्थितिखण्डम् । द्विचरमात् स्थितिखण्डाच्चरमखण्डमसंख्येयगुणम् । चरमे च स्थितिखण्डे उत्कीर्णे सति असौ क्षपकः कृतकरण इत्युच्यते । अस्यां च कृतकरणाद्धायां वर्त्तमानः कश्चित्कालमपि कृत्वा चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतावुत्पद्यते । लेश्यायामपि च पूर्वं शुक्ललेश्यायामासीत्, संप्रति त्वन्यतमायां गच्छति । तदेवं प्रस्थापको मनुष्यो निष्ठापकश्चतसृष्वपि गतिषु प्राप्यते । उक्तं च–"पट्ठवगो उ मणुस्सो, निट्ठवगो चउसु वि गईसु" इह यदि बद्धायुः क्षपकश्रेणिमारभते, अनन्तानुबन्धिनां च क्षयादनन्तरं मरणसंभवतो व्युपरमते । ततः कदाचित् मिथ्यात्वोदयाद्भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिन उपचिनोति, तद्बीजस्य मिथ्यात्वस्याविनाशात् । क्षीणमिथ्यात्वदर्शनस्तु नोपचिनोति, बीजाभावात् । क्षीणसप्तकस्तु प्रतिपतितपरिणामोऽवश्यं त्रिदशेषूत्पद्यते । प्रतिपतितपरिणामस्तु नानापरिणामसंभवाद्यथा परिणाममन्यतमायां गतावुत्पद्यते । उक्तं च (विशेषावश्यके)–

" बद्धाऊ पडिवन्नो , पढमकसायक्खए जइ मरेज्जा ॥
तो मिच्छत्तोदयओ, चिणेज्ज भूयो न खीणम्मि ॥ १३१६ ॥
तम्मि मओ जाइ दिवं, तप्परिणामो य सत्तए खीणे ।
उवरयपरिणामो पुण, पच्छा णाणामइगईओ ॥ १३१७ ॥ "

बद्धायुष्कोऽपि यदि तदानीं कालं न करोति,तथापि सप्तके क्षीणे नियमादवतिष्ठते, न तु चारित्रमोहक्षपणाय यत्नमारभते, यत आह-(विशेषावश्यककारः)–"बद्धाऊ पडिवन्नो, नियमा खीणम्मि सत्तए ठाइ । इयरोऽणुवरओच्चिय, सयलं सेढिं समाणेइ" ॥१३२५॥ अथोच्यते-क्षीणसप्तको यदन्तरं संक्रामन् कतितमे भवे मोक्षमुपयाति ? उच्यते-तृतीये चतुर्थे वा भवे, तथाहि-यदि देवगतिं नरकगतिं वा संक्रामति ततो देवभवान्तरितो नरकभवान्तरितो वा तृतीयभवे मोक्षमुपयाति । अथ तिर्यक्षु मनुष्येषु वा समुत्पद्यते, तर्हि सोऽवश्यमसंख्येयवर्षायुष्केषु मध्ये गच्छति, न संख्येयवर्षायुष्केषु । ततस्तद्भवानन्तरं देवभवे, तस्माच्च देवभवाच्च्युत्वा मनुष्यभवे, ततो मोक्षं यातीति चतुर्थे भवे मोक्षगमनम् । उक्तं च पञ्चसंग्रहे-"तइयचउत्थे तम्मि व,भवम्मि सिज्झंति दंसणे खीणे । जं देवनिरयसंखाउ चरिमदेहेसु ते होंति ॥१॥" एतानि च सप्त कर्माणि क्षपयति, अविरतसम्यग्दृष्टिर्देशविरतिः प्रमत्तः अप्रमत्तो वा । तत एतेषु चतुर्ष्वपि सप्तकक्षयः प्राप्यते । तथा चाह सूत्रकृत् (अविरत इत्यादि) अविरते देशे देशविरते प्रमत्तेऽप्रमत्ते च प्रथमकषायचतुष्कादीनि सप्त कर्माणि क्षीयन्ते क्षयमुपयान्ति, यदि पुनरबद्धायुः क्षपक-

श्रेणिमारभते, ततः सप्तके क्षीणे नियमादनुपरतपरिणाम एव चारित्रमोहनीयक्षपणाय यत्नमारभते । यत आह-भाष्यकृत्- "इयरो अणुवरओच्चिय, सयलं सेढिं समाणेई" चारित्रमोहनीयं च क्षपयितुं यतमानो यथा प्रवृत्तादीनि त्रीणि करणानि करोति, तद्यथा-यथा प्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणं च । एतेषां च स्वरूपं पूर्ववदेवावगन्तव्यम् नवरमिह यथा प्रवृत्तकरणमप्रमत्तगुणस्थानके द्रष्टव्यम्, अपूर्वकरणमपूर्वगुणस्थानके । अनिवृत्तिकरणमनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानके । तत्रापूर्वकरणे स्थितिघातादिभिरप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं तथा क्षपयति स्म, यथा अनिवृत्तिकरणाद्धायाः प्रथमसमये तत्पल्योपमासंख्येयभागमात्रस्थितिकं जातम् । अनिवृत्तिकरणाद्धायाश्च संख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु स्त्यानर्द्धित्रिकनरकगतितिर्यग्गतिनरकानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्व्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियजातिस्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणरूपाणां षोडश प्रकृतीनामुद्वलनासंक्रमेणोद्वल्यमानानां पल्योपमासंख्येयभागमात्रा स्थितिर्जाता । ततो बध्यमानासु प्रकृतिषु तानि षोडश कर्माणि गुणसंक्रमेण प्रतिसमयं प्रक्षिप्यमाणानि प्रक्षिप्यमाणानि निःशेषतः क्षीणानि भवन्ति । इहाप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकं पूर्वमेव क्षपयितुमारब्धं, परं तन्नाद्यापि क्षीणं, केवलमपान्तराल एव पूर्वोक्तप्रकृतिषोडशकं क्षपितम् । ततः पश्चात्तदपि कषायाष्टकमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण क्षपयति । तथा चाह-

" अनियट्टिबायरं थी-णगिद्धितिगनिरयतिरियनामा उ ।
संखेज्ज इमे सेसे, तप्पाउग्गा य खीयंति ।
एत्तो हणइ कसाय-ट्ठगं पि पच्छा नपुंसगं इत्थीं ।
तो नो कसायछक्कं छुब्भइ संजलणकोहम्मि " ॥ २ ॥

अनिवृत्तिबादरगुणस्थानके संख्येयतमे भागे शेषे स्त्यानर्द्धित्रिकं निरयगतितिर्यग्गतिनाम्नी तत्प्रायोग्याश्च निरयगतितिर्यग्गतिप्रायोग्याश्च एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजातिनिरयानुपूर्वीतिर्यगानुपूर्वीस्थावरातपोद्योतसूक्ष्मसाधारणरूपाः सर्वसंख्यया षोडश प्रकृतयः क्षीयन्ते । तत इतः प्रकृतिषोडशकक्षयादनन्तरं निःशेषतः कषायाष्टकं हन्ति । अन्ये पुनराहुः- षोडश कर्माण्येव पूर्वं क्षपयितुमारभते, केवलमपान्तरालेऽष्टौ कषायान् क्षपयति, पश्चात् षोडश कर्माणि । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण नवानां नोकषायाणां चतुर्णां संज्वलनानामन्तरकरणं करोति । तच्च कृत्वा नपुंसकवेददलिकमुपरितनस्थितिगतमुद्वलनविधिना क्षपयितुमारभते । तच्चान्तर्मुहूर्त्तमात्रेण पल्योपमासंख्येयभागमात्रं जातम् । ततः प्रभृति बध्यमानासु प्रकृतिषु गुणसंक्रमेण दलिकं प्रक्षिपति । तच्चैवं प्रक्षिप्यमाणमन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण निःशेषं क्षीणम् , अधस्तनदलिकं च यदि नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिमारूढः ततोऽनुभवतः क्षपयति, अन्यथा त्वावलिकामात्रं, तच्च वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति । तदेवं क्षपितो नपुंसकवेदः । ततोऽन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण स्त्रीवेदोऽप्यनेनैव क्रमेण क्षिप्यते । ततः षट् नोकषायान् युगपत् क्षपयितुमारभते । ततः प्रभृति च तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं न पुरुषवेदे संक्रमयति, किंतु संज्वलनक्रोधे । तथा चाह सूत्रकृत्-" पच्छा नपुंसगं इत्थीं नोकषायछक्कं छुब्भइ संजलणकोहम्मि " कषायाष्टकक्षयानन्तरं पश्चात् (नपुंसगं) नपुंसकवेदं क्षपयति । ततः (इत्थीं) स्त्रीवेदम् । ततः षट् नोकषायान् क्षपयन् । तेषामुपरितनस्थितिगतं दलिकं संज्वलनक्रोधे (छुब्भइ त्ति) क्षिपति, न पुरुषवेदे । एतेऽपि च षट् नोकषायाः संज्वलनक्रोधे पूर्वोक्तविधिना क्षिप्यमाणा अन्तर्मुहूर्त्तमात्रेण निःशेषाः क्षीणाः । तत्समयमेव च पुरुषवेदस्य बन्धादयोदीरणाव्यवच्छेदः समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वा शेषदलिकस्य क्षयश्च, ततोऽसाविदानीमवेदको जातः । एवं पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु नपुंसकवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपद्यते तदा प्रथमं स्त्रीवेदनपुंसकवेदौ युगपत् क्षपयति । स्त्रीवेदनपुंसकवेदक्षयसमकालमेव पुरुषवेदस्य बन्धो व्यवच्छिद्यते । तदनन्तरं चावेदकः सन् पुरुषवेदहास्यादिषट्कं युगपत् क्षपयति । यदा तु स्त्रीवेदेन प्रतिपद्यते तदा प्रथमतो नपुंसकवेदं, ततः स्त्रीवेदं, स्त्रीवेदक्षयसमकालमेव च पुरुषवेदस्य बन्धव्यवच्छेदः । ततोऽवेदकः पुरुषवेदहास्यादिषट्कं युगपत् क्षपयति । संप्रति पुरुषवेदेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नमधिकृत्य प्रस्तुतमभिधीयते-क्रोधं वेदयमानस्य सतस्तस्याः क्रोधाद्धायास्त्रयो विभागा भवन्ति, तद्यथा-अश्वकर्णकरणाद्धा, किट्टिकरणाद्धा, किट्टिवेदनाद्धा च । तत्राऽऽश्वकर्णकरणाद्धायां वर्त्तमानः प्रतिसमयमनन्तानि अपूर्वस्पर्द्धकानि चतुर्णामपि संज्वलनानामन्तरकरणादुपरितनस्थितौ करोति । अस्यां च अश्वकर्णकरणाद्धायां वर्त्तमानः पुरुषवेदमपि समयोनावलिकाद्विकेन कालेन क्रोधे गुणसंक्रमेण संक्रमयन् चरमसमये सर्वसंक्रमेण संक्रमयति । तदेवं क्षीणः पुरुषवेदः । अश्वकर्णकरणाद्धायां च समाप्तायां किट्टिकरणाद्धायां प्रविशति । तत्र च प्रविष्टः सन् चतुर्णामपि संज्वलनानामुपरितनस्थितिगतस्य दलिकस्य किट्टीः करोति । ताश्च किट्टयः परमार्थतोऽनन्ता अपि स्थूरजातभेदापेक्षया द्वादश कल्प्यन्ते । एकैकस्य च कषायस्य तिस्रस्तिस्रः, तद्यथा-प्रथमा, द्वितीया, तृतीया च । एवं क्रोधेन क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्नस्य द्रष्टव्यम् । यदा तु मानेन प्रतिपद्यते, तदा उद्वलनविधिना क्रोधे क्षपिते सति त्रयाणां पूर्वक्रमेण नव किट्टीः करोति । मायया चेत्प्रतिपन्नस्तर्हि क्रोधमानयोरुद्वलनविधिना क्षपितयोः सतोः शेषद्विकस्य पूर्वक्रमेण षट् किट्टीः करोति । यदि पुनर्लोभेन प्रतिपद्यते तत उद्वलनविधिना क्रोधादित्रिके क्षपिते सति लोभस्य किट्टित्रिकं करोति । एष किट्टीकरणविधिः । किट्टीकरणाद्धायां निष्ठितायां क्रोधेन प्रतिपन्नः सन् क्रोधस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतम् आकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । तिसृष्वपि चामूषु किट्टिवेदनाद्धासूपरितनस्थितिगतं दलिकं गुणसंक्रमेणापि प्रतिसमयमसंख्येयगुणवृद्धिलक्षणेन संज्वलनमाने प्रक्षिपति । तृतीयकिट्टिवेदनाद्धायाश्च चरमसमये संज्वलनक्रोधस्य बन्धोदयोदीरणानां युगपद् व्यवच्छेदः सत्कर्मापि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धं मुक्त्वाऽन्यन्नास्ति, सर्वस्यापि माने प्रक्षिप्तत्वात् । ततोऽनन्तरसमये मानस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावदन्तर्मुहूर्त्तम् । क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य संबान्ध दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसंक्रमेण संक-

मयन् चरमसमये सर्वसंक्रमेण संक्रमयति । मानस्याऽपि च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातम् । ततोऽनन्तरसमये मानस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः। तस्मिन्नेव च समये मानस्य बन्धोदयोदीरणानां युगपद्व्यवच्छेदः, सत्कर्मापि च तस्य समयोनावलिकाद्विकबद्धमेव, शेषस्य मायायां प्रक्षिप्तत्वात् । ततो मायायाः प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद्यावदन्तर्मुहूर्त्तम् । मानस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति तस्य संबन्धिदलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसंक्रमेण मायायां प्रक्षिपति । मायाया अपि च प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं समयाधिकावलिकाशेषं जातम् । ततोऽनन्तरसमये मायायाः द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावत् यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये तृतीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावद् समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । तस्मिन्नेवसमये मामायाः बन्धोदयोदीरणानां युगपद्व्यवच्छेदः, सत्कर्मापि च तस्याः समयोनावलिकाद्विकबद्धमात्रमेव, शेषस्य गुणसंक्रमेण लोभे प्रक्षिप्तत्वात् । ततोऽनन्तरसमये लोभस्य प्रथमकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च तावद् यावदन्तर्मुहूर्त्तम् । संज्वलनमायायाश्च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तस्याः संबन्धि दलिकं समयोनावलिकाद्विकमात्रेण कालेन गुणसंक्रमेण लोभे सर्वं संक्रमयति । लोभस्य च प्रथमकिट्टिदलिकं प्रथमस्थितीकृतं वेद्यमानं समयाधिकावलिकामात्रं शेषं जातम् । ततोऽनन्तरसमये लोभस्य द्वितीयकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च । तां च वेदयमानस्तृतीयकिट्टिदलिकं गृहीत्वा सूक्ष्मकिट्टीः करोति, तावद् यावद् द्वितीयकिट्टिदलिकस्य प्रथमस्थितिकृतस्य समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । तस्मिन्नेव च समये संज्वलनलोभस्य बन्धव्यवच्छेदो बादरकषायोदयोदीरणाव्यवच्छेदोऽनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानकव्यवच्छेदश्च युगपज्जायते । ततोऽनन्तरसमये सूक्ष्मकिट्टिदलिकं द्वितीयस्थितिगतमाकृष्य प्रथमस्थितिं करोति वेदयते च । तदानीमसौ सूक्ष्मसंपराय उच्यते । पूर्वोक्ताश्चावलिकास्तृतीयकिट्टिगताः शेषीभूताः सर्वा अपि वेद्यमानासु परप्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयति । प्रथमद्वितीयकिट्टिगताश्च यथास्वं द्वितीयतृतीयकिट्ट्यन्तर्गता वेद्यन्ते । सूक्ष्मसंपरायश्च लोभस्य सूक्ष्मकिट्टीर्वेदयमानः सूक्ष्मकिट्टिदलिकं समयोनावलिकाद्विकबद्धं च प्रतिसमयं स्थितिघातादिभिस्तावत् क्षपयति यावत्सूक्ष्मसंपरायाद्धायाः संख्येया भागा गता भवन्ति, एकोऽवशिष्यते । ततस्तस्मिन् संख्येयभागे संज्वलनलोभं सर्वापवर्त्तनयाऽपवर्त्य सूक्ष्मसंपरायाद्धासमं करोति । सा च सूक्ष्मसंपरायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा । ततः प्रभृति च स्थितिघातादयो निवृत्ताः शेषकर्मणां तु प्रवर्तन्त एव । तां च लोभस्यापवर्त्तितां स्थितिमुदयोदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद्गतो यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये उदीरणा स्थिता । तत उदयेनैव केवलेन तां वेदयते यावच्चरमसमयः । तस्मिंश्चरमसमये ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्कयशःकीर्त्युच्चैर्गोत्रान्तरायपञ्चकरूपाणां षोडश कर्मणां बन्धव्यवच्छेदः मोहनीयस्योदयसत्ताव्यवच्छेदश्च ॥ ६६ ॥

अमुमेवार्थं संकलय्य सूत्रकृत्प्रतिपादयति-

पुरिसं कोहे कोहं, माणे माणं च छुहइ मायाए ।
मायं च छुहइ लोहे, लोहं सुहुमं पि तो हणई ॥६७॥

पुरुषं पुरुषवेदं बन्धादौ व्यवच्छिन्ने सति गुणसंक्रमेण क्रोधे संज्वलनक्रोधे (छुहइ त्ति) संक्रमयति । क्रोधस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं क्रोधं माने संज्वलनमाने संक्रमयति । संज्वलनमानस्यापि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलनमानं गुणसंक्रमेण मायायां संज्वलनमायायां प्रक्षिपति । संज्वलनमायाया अपि बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तां संज्वलनमायां लोभे संज्वलनलोभे गुणसंक्रमेण संक्रमयति । संज्वलनलोभस्यापि च बन्धादौ व्यवच्छिन्ने तं संज्वलनलोभं सूक्ष्ममपि, अपिशब्दाच्छेषमपि हन्ति स्थितिघातादिभिर्विनाशयति । लोभे च साकल्येन विनाशिते सत्यनन्तरसमये क्षीणकषायो जायते । तस्य च क्षीणकषायस्य मोहनीयवर्ज्जानां शेषकर्मणां स्थितिघातादयः पूर्ववत् प्रवर्तन्ते तावद् यावत् क्षीणकषायाद्धायाः संख्येया भागा गता भवन्ति, एकः संख्येयो भागोऽवतिष्ठते । तस्मिंश्च ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणचतुष्टयान्तरायपञ्चकनिद्राद्विकरूपाणां षोडशकर्म्मणां स्थितिसत्कर्म्म सर्वापवर्त्तनयाऽपवर्त्य क्षीणकषायाद्धासमं करोति । केवलं हि निद्राद्विकस्य स्वरूपापेक्षया समयन्यूनं, कर्मत्वमात्रापेक्षया तु तुल्यम् । सा च क्षीणकषायाद्धा अद्याप्यन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा, ततः प्रभृति च तेषां स्थितिघातादयः स्थिताः, शेषाणां तु भवन्त्येव । तानि च षोडशकर्माणि निद्राद्विकहीनानि उदयोदीरणाभ्यां वेदयमानस्तावद्गतो यावत्समयाधिकावलिकामात्रं शेषः । ततोऽनन्तरसमये उदीरणा निवृत्ता, तत आवलिकामात्रं कालं यावदुदयेनैव केवलेन वेदयते यावत् क्षीणकषायाद्धाया द्विचरमसमयः तस्मिंश्च द्विचरमसमये निद्राद्विकं स्वरूपसत्तापेक्षया क्षीणं चतुर्दशानां च शेषप्रकृतीनां चरमसमये क्षयः । तथा चाह सूत्रकृत्-" खीणकसायदुचरिमे, निद्दापयला य हणइ छउमत्थो । आवरणमंतराए, छउमत्थे चरिमसमयम्मि ॥१॥ ' व्याख्यातार्थाः । ततोऽनन्तरसमये सयोगिकेवली भवति । स च लोकमलोकं वा सर्वं सर्वात्मना परिपूर्णं पश्यति । न हि तदस्ति भूतं भवद्भविष्य द्वा यद् भगवान् न पश्यति उक्तं च-विशेषावश्यके-" संभिन्नं पासंतो, लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं । तं नत्थि जं न पासइ, भूयं भव्वं भविस्सं च ।१३४२। " इत्थंभूतश्च सयोगिकेवली जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोनां पूर्वकोटिं विहृत्य कश्चित्कर्मणां समीकरणार्थं समुद्घातं करोति । यस्य वेदनीयादिकमायुषः सकाशात् अधिकतरं भवति । अन्यस्तु न करोत्येव । तथा चोक्तं प्रज्ञापनायाम्-" सव्वो वि णं भंते ! केवलिसमुग्घायं गच्छति ? । गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे, जस्साऽऽउएण तुल्लाइं बंधणेहिं ठिईए य भवोवग्गाहकम्माइं स न समुग्घायं गच्छइ "अगंतूणं समुग्घाय-मणंता केवली जिणा जरमरणविप्पमुक्का, सिद्धिं वरगइं गया ।१।" अत्र (बंधणेहिं ति) बध्यन्ते इति बन्धनाः कर्मपरमाणवः । कृत् "बहुलम्" ।५।१।३।

इति (हैम) वचनात् कर्मण्यनट् प्रत्ययः । तैः । शेषं सुगमम् । गत्वाऽगत्वा च समुद्धातं भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय लेश्यातीतमत्यन्ताप्रकम्पं परमनिर्जराकारणं ध्यानं प्रतिपित्सुर्योगनिरोधायोपक्रमत एव। तत्र पूर्वं बादरकाययोगेन बादरमनोयोगं निरुणद्धि, ततो वाग्योगम् । ततः सूक्ष्मकाययोगेन बादरकाययोगम् । ततस्तेनैव सूक्ष्मकाययोगेन सूक्ष्ममनोयोगं, ततः सूक्ष्मवाग्योगं निरुन्धानः सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपातिध्यानमारोहति । तत्सामर्थ्याच्च वदनोदरादिविवरपूरणेन संकुचितदेहत्रिभागवर्तिप्रदेशो भवति । तस्मिंश्च ध्याने वर्तमानः स्थितिघातादिभिरायुर्वर्जानि सर्वाण्यपि भवोपग्राहिकर्माणि तावदपवर्तयति यावत्सयोग्यवस्थाचरमसमयः। तस्मिंश्च चरमसमये सर्वाण्यपि कर्माणि अयोग्यवस्थासमस्थितिकानि जातानि। नवरं येषां कर्मणामयोग्यवस्थायामुदयाभावस्तेषां स्थितिं स्वरूपं प्रतीत्य समयोनां विधत्ते । कर्मत्वमात्ररूपतां त्वाश्रित्यायोग्यवस्थासमानामेव स्थितिं करोति। तस्मिंश्च सयोग्यवस्थाचरमसमये अन्यतरद्वेदनीयमौदारिकतैजसकार्मणशरीरसंबद्धे बन्धनसङ्घातनसंस्थानषट्कप्रथमसंहननौदारिकाङ्गोपाङ्गवर्णादिचतुष्टया गुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासशुभाशुभविहायोगतिप्रत्येकस्थिराऽस्थिरशुभाशुभसुस्वरदुःस्वर-निर्माणनाम्नामुदयोदीरणाव्यवच्छेदः । ततोऽनन्तरसमये अयोगिकेवली भवति । अयोगिकेवली च भवस्थो जघन्योत्कर्षमन्तर्मुहूर्त्तं कालं भवति । स च तस्यामवस्थायां वर्त्तमानो भवोपग्राहिकर्मक्षपणाय व्युपरतक्रियमप्रतिपातिध्यानमारोहति । एवमसावयोगिकेवली स्थितिघातादिरहितो यान्युदयवन्ति कर्माणि तानि स्थितिक्षयेणानुभवन् क्षपयति । यानि पुनरुदयवन्ति तदानीं न सन्ति तानि वेद्यमानासु प्रकृतिषु स्तिबुकसंक्रमेण संक्रमयन् वेद्यमानप्रकृतिरूपतया च वेदयमानस्तावद्याति यावदयोग्यवस्थाद्विचरमसमयः ॥ ६७ ॥

देवगइसहगयाउ, दुचरमसमयभवसिद्धियम्मि खीयंति।
सविवागेयरनामा, नीया गोयं पि तत्थेव ॥ ६८ ॥

देवगत्या सह गताः स्थिताः देवगतिसहगताः देवगत्या सह एकान्तेनेह बन्धो यासां ताः देवगतिसहगता इत्यर्थः । कास्ता इति चेत् ? । उच्यते-वैक्रियाहारकशरीरे, वैक्रियाहारकबन्धने, वैक्रियाहारकसङ्घाते, वैक्रियहारकाङ्गोपाङ्गे, देवगतिर्देवानुपूर्वी च एता देवगतिसहगताः । द्विचरमसमयभवसिद्धिके इति । द्वौ चरमौ समयौ यस्य भवसिद्धिकस्य स द्विचरमसमयः, स चासौ भवसिद्धिकश्च तस्मिन् द्विचरमसमयभवसिद्धिके क्षीयन्ते क्षयमुपगच्छन्ति । तथा तत्रैव द्विचरमसमयभवसिद्धिके सविपाकेतरनामानि विपाक उदयः, सह विपाकेन यानि वर्त्तन्ते तानि सविपाकानि, तेषामितराणि प्रतिपक्षभूतानि यानि नामानि तानि सविपाकेतरनामानि,अनुदयवत्यो नाम प्रकृतय इत्यर्थः। ताश्चेमाः-औदारिकतैजसकार्मणशरीरम्,औदारिकतैजसकार्मणबन्धनसङ्घातानि,संस्थानषट्कम्,संहननषट्कम्, औदारिकाङ्गोपाङ्गं, वर्णगन्धरसस्पर्शा, मनुजानुपूर्वी, पराघातम्, उपघातम्, अगुरु, लघु, प्रशस्ताप्रशस्तविहायोगती, प्रत्येकमपर्याप्तकमुच्छ्वासनाम, स्थिरास्थिरे, शुभाशुभे, सुस्वरदुःस्वरे, दुर्भगम्, अनादेयम् यशः कीर्त्तिनिर्माणमिति, तथा नीचैर्गोत्रम्, अपिशब्दादन्यतरदनुदितं वेदनीयं सर्वसंख्यया सप्तचत्वारिंशत् प्रकृतयः क्षयमुपयान्ति ॥ ६८ ॥

अन्नयरवेयणिज्जं, मणुयाउयउच्चगोयनवनामा ।
वेएइ अजोगिजिणो, उक्कोसो जहन्नइक्कारं ॥ ६९ ॥

अन्यतरद्वेदनीयं सातमसातं वा द्विचरमसमयक्षीणादितरद् मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रं नव नामानि नव नामप्रकृतीः,सर्वसंख्यया द्वादश प्रकृतीर्वेदयते । अयोगिजिनोऽयोगिकेवली जघन्येन एकादश, ताश्च ता एव द्वादश, तीर्थंकरवर्जा द्रष्टव्याः ॥ ६९ ॥

नवनाम इत्युक्तं ततस्ता एव नवनामप्रकृतीर्दर्शयति-

मणुयगइजाइतस-बायरं च पज्जत्तसुभगमाइज्जं ।
जसकित्ती तित्थयरं,नामस्स हवंति नव एया ॥७०॥ गतार्था।

अत्रैव मतान्तरं दर्शयति-

तच्चाणुपुव्वीसहिया, तेरस भवसिद्धियस्स चरिमम्मि ।
संतं सगमुक्कोसं, जहन्नयं बारस हवंति ॥ ७१ ॥

तृतीयानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी तया सहितास्ता एव द्वादश प्रकृतयस्त्रयोदश सत्यो भवसिद्धिकस्य तद्भवमोक्षगामिनः (संतं सगं ति) सत्कर्म उत्कृष्टं भवति । जघन्यं पुनर्द्वादश प्रकृतयो भवन्ति ताश्च द्वादश प्रकृतयस्ता एव त्रयोदशतीर्थंकरनामसहिता वेदितव्याः ॥ ७१ ॥

अथ कस्मात्ते एवमिच्छन्ति ? इति । आह-

मणुयगइसहगया उ, भवखित्तविवागजीवविवागि त्ति ।
वेयणियन्नयरुच्चं, व चरिमभवियस्स खीयम्मि ॥ ७२ ॥

मनुजगत्या सह गताः स्थिताः मनुजगतिसहगताः, मनुष्यगत्या सह यासामुदयस्ता मनुजगतिसहगता इत्यर्थः । किंविशिष्टास्ता इत्याह-(भवखित्तविवागजीवविवागि त्ति) भवविपाकाः क्षेत्रविपाका जीवविपाकाश्च। तत्र भवविपाका मनुष्यायुः, क्षेत्रविपाका मनुष्यानुपूर्वी, शेषा नव जीवविपाकाः । तथाऽन्यतरद्वेदनीयमुच्चैर्गोत्रं च,सर्वसंख्यया त्रयोदश प्रकृतयो भविकस्य भवसिद्धिकस्य चरमे समये क्षीयन्ते,न द्विचरमसमये।ततश्चरमसमये भवसिद्धिकस्योत्कृष्टं सत्कर्म त्रयोदशप्रकृतयो जघन्यतो द्वादश भवन्तीति। अन्ये पुनराहुः-मनुष्यानुपूर्व्या द्विचरमसमय एव व्यवच्छेदः उदयाभावात् । उदयवतीनां हि स्तिबुकसंक्रमाभावात् स्वस्वरूपेण चरमसमये दलिकं दृश्यत एवेति युक्तस्तासां चरमसमये सत्ताव्यवच्छेदः । आनुपूर्वीनाम्नां तु चतुर्णामपि क्षेत्रविपाकितया भवापान्तरालगतावेवोदयः, तेन न भवस्थस्य तदुदयसंभवः, तदसंभवाच्चायोग्यवस्थाद्विचरमसमय एव मनुष्यानुपूर्व्याः सत्ताव्यवच्छेद इति। एतदेव मतमधिकृत्य प्राक् द्विचरमसमये सप्तचत्वारिंशत्प्रकृतीनां सत्ताव्यवच्छेदो दर्शितः । चरमसमये तूत्कर्षतो द्वादशानां जघन्यत एकादशानामिति । ततोऽनन्तरसमये कोशबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषाद् एरण्डफलमिव भगवानपि कर्मसंबन्धमोक्षलक्षणसहकारिसमुत्थस्वभावविशेषादूर्ध्वं लोकान्ते गच्छति। स चोर्ध्वं गच्छन् ऋजुश्रेण्या यावत्स्वाकाशप्रदेशेष्विहावगाढस्तावतः प्रदेशानूर्ध्वमप्यवगाहमानो विवक्षितसमयाच्चान्यत्समयान्तरमस्पृशन् गच्छति । उक्तं चावश्यकचूर्णौ-" जत्तिए जीवो अवगाढो तावइयाए ओगाहणाए उड्ढं उज्जुगं गच्छइ न वंकं बीयं च समयं न फुसइ त्ति " ॥ इत्थं चानेके भगवन्तः कर्मक्षयं कृत्वा तत्र गताः सन्तः सिद्धिसुखं शाश्वतं कालमनुभवन्तोऽवतिष्ठन्ते । कर्म० ६ कर्म० । पं० सं० । आचा० ।

खवण-क्षपण-न०। प्रकृत्यन्तरसंक्रमितस्य कर्मणः प्रदेशोदयेन निर्झरणे, विशे०। अप्रत्याख्यानादिप्रक्रमेण क्षपकश्रेण्यां मोहाद्यभावापादने, आचा० १ श्रु० ए अ० १ उ०।

कर्मांशक्षपणकालो देवानाम्-

अत्थि णं जंते ! देवा अणंते कम्मंसे जहस्रेणं एकेण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचहिं वासमएहिं खवयंति ? हंता अत्थि । अत्थि णं भंते ! देवा जे अणंते कम्मंसे जहस्रेणं एकेण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति ? हंता अत्थि । अत्थि णं भंते ! देवा जे अणंते कम्मंसे जहस्रेणं एकेण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसेणं पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति ? हंता अत्थि । कयरे जंते ! देवा जे अणंते कम्मंसे जहस्रेणं एकेण वा दोहिं वा तिहिं वा० जाव पंचहिं वाससएहिं खवयंति । कयरे णं भंते ! देवा० जाव पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । कयरे णं जंते ! देवा० जाव पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति ? । गोयमा ! वाणमंतरा अणंते कम्मंसे एगेण वाससएणं खवयंति । असुरिंदवज्जियाणं जवणवासी देवा अणंते कम्मंसे दोहिं वाससएहिं खवयंति । असुरकुमारा देवा अणंते कम्मंसे तिहिं वाससएहिं खवयंति । गहगणणक्खत्ततारारूवा जोइसिया देवा अणंते कम्मंसे चउवास० जाव खवयंति । चंदिमसूरिया जोइसिंदा जोइसरायाणो अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससएहिं खवयंति । सोहम्मीसाणगा देवा अणंते कम्मंसे एगेणं वाससहस्सेणं० जाव खवयंति । सणंकुमारमाहिंदगा देवा अणंते कम्मंसे दोहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । एवं एएणं अजिलावेणं बंजलोगंतगा देवा अणंते कम्मंसे तिहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । महासुक्कसहस्सारगा देवा अणंते कम्मंसे चउहिं वाससहस्सेहिं खवयंति। आणयपाणयआरणअच्चुयगा देवा अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति। हेट्ठिमगेवेज्जगा देवा अणंते कम्मंसे एगेणं वाससयसहस्सेणं खवयंति । मज्झिमगेवेज्जगा देवा दोहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । उवरिमगेवेज्जगा देवा अणंते कम्मंसे तिहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । विजयवेजयंतजयंतअपराजियगा देवा अणंते कम्मंसे चउहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । सव्वट्ठसिद्धगा देवा अणंते कम्मंसे पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति । एएणं गोयमा ! ते देवा जे अणंते कम्मंसे जहस्रेणं एकेण वा दोहिं वा तिहिं वा उक्कोसे णं पंचहिं वाससएहिं खवयंति । एएणं गोयमा ! ते देवा० जाव पंचहिं वाससहस्सेहिं खवयंति । एएणं गोयमा ! ते देवा० जाव पंचहिं वाससयसहस्सेहिं खवयंति, सेवं जंते ! जंते त्ति । ज० १ए श० ७ उ० ।

संस्तारस्थितसाधुः कर्मलघु क्षपयति-

जो संखेज्जभवट्ठिई, सव्वं पि खवेइ सो तहिं कम्मं ।
अणुसमयं साहुपयं, साहू वुत्तो तहिं समए ॥ ४६ ॥

यः साधुः (संखिज्जभवट्ठिइ त्ति) संख्याता संख्यायुर्लक्षणा भवे एकस्मिन् जवे एकजन्मस्थितिकः असंख्यातवर्षायुषो हि चारित्रप्रतीतिरपि न भवतीति संख्यातवर्षस्थितिकत्वमुक्तम् (सव्वं पि खवेइ सो तहिं कम्मं ति) सर्वमपि क्षपयति निर्जरयति स साधुस्तत्र तस्मिन्संस्तारके व्यवस्थितः प्रथमसंहननवत्प्रकृष्टाराधनः क्षपयति अष्टप्रकारमपि कर्म। अयं प्रतिसमयं स साधु साधुपदं प्रतिपन्नः सन् तस्मिन्नेव भवे प्रायः कर्म क्षपयति । अनुसमयं तस्मिन्सुपर्यन्ताराधनासमर्थैर्युक्तो विशेषेणोक्तः तस्यामवस्थायां विशेषतः क्षपणात् लाभप्रश्नस्य गुरुणा निर्वचनं दत्तम् ॥ ४६ ॥ संथा० ॥ 'जं अन्नाणी कम्मं खवेइ' इत्यादि ज्ञानमये उपवासे, । "चउत्थं छट्ठं अट्ठमं दसमं दुवालसमं अद्धमासखमणं मासदुमासतिमासचउमासपंचमासछम्मासा सव्वं पि इत्तरं आवकहियं वा " ॥ नि० चू० १ उ० । (ये ये क्षपणाः शोध्याः तान् एकत्रीकृत्य गाथाद्वयेन ' उग्गम ' शब्दे द्वि० भागे ६९६ पृष्ठे)

कालद्धाणाईए, निव्विगइ खमणमेव परिजोगे (४ए) ॥

विकथादिप्रमादेन विस्मृत्य भक्तादौ कालाध्वातीतस्य परिभागे कृते सति (निव्विगइ खमणमेव त्ति) एवशब्दः पुनरर्थे स च परिभोगशब्दादग्रे प्रोच्यते। ततश्च कालाध्वातीतस्य परिभोगे पुनः क्षपणम् ॥ जीत० ॥

(जीएएगासणयं,) सेसगमाया तु खमणं तु (॥५६॥)

पूर्वोक्तमायातोऽन्याः यथा—

" सिया एगयओ लर्द्धु, विविहं पाणभोयणं ।
भद्दगं भद्दगं भुच्चा, विवन्नं विरसमाहरे ॥ १ ॥ "
जाणं तु ता इमे समणा, आययट्ठी (मोक्षार्थी) अयं मुणी ।
संतुट्ठो सेवए पंतं लूहवित्ती सुतोसओ ॥ २ ॥ "

इत्यादिकासु यशोऽर्थं कृतासु मायासु पुनः क्षपणम् । जीत० । त्रैकालिकचैत्यवन्दनस्यैकवारमकरणे क्षपणम् । महा० ७ अ०। क्षपयति कर्माणि इति क्षपणः पुं० क्षपकर्षौ, पिं० । "खवेति जं च आणं " क्षपयति यद्यस्मात् ऋणं कर्म तस्मात् क्षपणः । दश० ७ अ० । सुते, आ० म० प्र० ।

खवणा-क्षपणा-स्त्री० । क्षपणमपचयो निर्जरा पापकर्मक्षपणहेतुत्वात् क्षपणा। भावाध्ययने सामायिकादिश्रुतविशेषे,अनु० । आ० म० । अस्या ' झवणा ' इत्यपि रूपं भवति ।

अस्य निक्षेपः ।

से किं तं ? झवणा । झवणा चउव्विहा पप्पत्ता । तं जहा-नामज्झवणा, ठवणज्झवणा, दव्वज्झवणा, भावज्झवणा, नामठवणज्झवणा उ पुव्वं भणिआओ । से किं तं दव्वज्झवणा । दव्वज्झवणा दुविहा पप्पत्ता । तं जहा-आगमओ अ, नोआगमओ अ। से किं तं आगमओ,दव्वज्झवणा ? २ जस्स णं झवणे त्ति पदं सिक्खिअं ठिअं जिअं मिअं परिजिअं० जाव सेत्तं आगमओ दव्वज्झवणा । से किं तं नोआगमओ दव्वज्झवणा ? । नो आगम-

ओ दव्वज्झवणा तिविहा पएणत्ता । तं जहा–जाणगसरीरदव्वज्झवणा, भविअसरीरदव्वज्झवणा, जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ता दव्वज्झवणा । से किं तं जाणगसरीदव्वज्झवणा ?। पयत्थाहिगारजाणयस्स जं सरीरयं ववगयचुअचाविअचत्तदेहं सेसं जहा दव्वज्झयणे० जाव सेत्तं जाणगसरीरदव्वज्झवणा । से किं तं भविअसरीरदव्वज्झवणा ?। भविअसरीरदव्वज्झवणाए जे जीवे जोणी जम्मण णिक्खंते सेसं जहा दव्वज्झयणे० जाव सेत्तं भविअसरीरदव्वज्झवणा । से किं तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्तादव्वज्झवणा ? २ जहा जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ते दव्वाए तहा भाणियव्वा० जाव सेत्तं मीसिआ । सेत्तं लोगुत्तरिआ । सेत्तं जाणगसरीरभविअसरीरवइरित्ता दव्वज्झवणा । सेत्तं नोआगमओ दव्वज्झवणा । सेत्तं दव्वज्झवणा । से किं तं भावज्झवणा ?। भावज्झवणा दुविहा पएणत्ता । तं जहा–आगमओ अ, णोआगमओ अ । से किं तं आगमओ भावज्झवणा ?। भावज्झवणा जाणए उवउत्ते सेत्तं आगमओ भावज्झवणा । से किं तं णोआगमओ भावज्झवणा ?। णोआगमओ भावज्झवणा दुविहा पएणत्ता । तं जहा–पसत्था य, अपसत्था य । से किं तं पसत्था ? पसत्था तिविहा पएणत्ता । तं जहा–णाणज्झवणा, दंसणज्झवणा, चरित्तज्झवणा । सेत्तं पसत्था । से किं तं अपसत्था ?। अपसत्था चउव्विहा पएणत्ता । तं जहा–कोहज्झवणा, माणज्झवणा, मायज्झवणा, लोभज्झवणा । सेत्तं अपसत्था । सेत्तं नोआगमओ भावज्झवणा । सेत्तं भावज्झवणा । सेत्तं नोआगमओ भावज्झवणा । सेत्तं ओहनिप्फन्ने ॥ अनु० ॥

क्षपणा द्विधा । द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतः सकषायस्यैहिकापायभीरोः भावतः संवेगमापन्नस्य सम्यग्दृष्टेरिति ॥ आव० ३ अ० । दशा० ।

खवल्लमच्छ–खवल्लमत्स्य–पुं० । मत्स्यभेदे, । विपा० १ श्रु० ८ अ० । जी० ।

खवा–क्षपा–स्त्री० । रात्रौ, हरिद्रायां च । वाच० । बृ० ।

खवाजल–क्षपाजल–न० । अवश्याये, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

खस–ख (श) स–पुं० । अनार्यदेशभेदे, म्लेच्छजातौ च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । प्रव० । प्रश्न० । सू० प्र० । मुरानामगन्धद्रव्ये, वाच० । (खस) इति ख्याते वृक्षे, वाच० ।

खसखस–खसखस–पुं० । खसप्रकारः द्वित्वं पृषो० । खसतिले (पोस्ता) वृक्षभेदे, धान्यभेदे, वाच० । ध० ।

खसदुम–खशद्रुम–पुं० । खित्रितशृगाले, बृ० १ उ० । (तत्कथा 'कप्प' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २२२ पृष्ठे उक्ता)

खसिअ–खचित–न० । "खचितपिशाचयोश्चः स–ल्लौ वा" ।८। १।१९३ । इति चस्य सः । मण्डिते, प्रा० १ पाद ।

कसित–त्रि० । आर्षत्वात्कस्य खः । कासरोगे, प्रा० १ पाद ।

खह–खह–न० । खनने भुवो हाने च त्यागे यद्भवति तत् खहमिति निर्युक्तिवशात् । आकाशे, भ० २० श० २ उ० ।

खहचर–खचर–पुं० । खे आकाशे चरन्तीति खचराः प्राकृतत्वाद् दीर्घत्वाच्च खहचरा इति सूत्रे पाठः । प्रज्ञा० १ पद ।

तद्भेदाः खचरप्रतिपादनार्थमाह–"से किं तमित्यादि" अथ के ते संमूर्छिमखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाः? सूरिराह–संमूर्च्छिमखचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकाश्चतुर्विधाः प्रज्ञप्तास्तद्यथा–" भेदो जहा पएणवणाए " इति भेदो यथा प्रज्ञापनायां तथा वक्तव्यः सचैवं " चम्मपक्खी लोमपक्खी समुग्गपक्खी विततपक्खी " (चरमपक्षादीनां भेदाः स्वस्वशब्दे) (अवगाहनादिरस्य अवगाहनादि शब्देषु) वैताढ्यवासिनि विद्याधरे, जं० २ वक्ष० । ('आहार' शब्दे द्वि० भागे ४६७ पृष्ठे एषामाहारः)

खहयरमंस–खचरमांस–पुं० । लावकचटकादीनां खेचराणां सम्बन्धिनि मांसे, प्रव० ४ द्वार ।

खहयरी–खचरी–स्त्री० । खचरस्त्रियाम्, स्था० ३ ठा० १ उ० ।

खाअ–खात–न० । खन–भावे क्तः " द्वितीयतुर्ययोरुपरिपूर्वः " ८ । २ । ९० । इति द्वित्वाभावान्न प्रवर्त्तते । प्रा० २ पाद । खनने,

खादित–त्रि० । खाद्–क्त । "खादधावोर्लुक्" । ८।४।२२८ । इत्यन्त्यस्य लुक् । भक्षिते, प्रा० ४ पाद ।

खाइ–ख्याति–स्त्री० । ख्या क्तिन् प्रशंसायाम्, कथने, वाच० । गुणवन्तो विशिष्टाः साधवः इत्यादिप्रवादरूपायाम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० । यशःपराक्रमकृतायां प्रसिद्धौ, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ज्ञाने चतस्रः ख्यातयः । अख्यातिः, अन्यथाख्यातिः, आत्मख्यातिः, असत्ख्यातिश्च । तत्राख्यातिर्नाम विवेकाख्यातिः, अन्यथाख्यातिर्विपरीतख्यातिः । वाच० ।

ख्यातयो लिख्यन्ते–तत्र प्रभाकरमतानुसारिणो विवेकाख्यातिं मन्यन्ते विपर्यस्तज्ञाने । तथाहि–इदं रजतमिति ज्ञाने अन्योऽन्यविभिन्नं ज्ञानद्वयं प्रत्यक्षस्मरणरूपं विभिन्नकारणप्रभवत्वात् विभिन्नविषयत्वाच्च सिध्यत्येव । इन्द्रियं हीदमंशोल्लेखिनः प्रत्यक्षस्य कारणं संस्कारश्च स्मरणस्येति सिद्धमत्र भिन्नकारणप्रभवत्वं, ययोश्च भिन्नकारणप्रभवत्वं तयोरन्योऽन्यं भेदो यथा प्रत्यक्षानुमानयोः विभिन्नकारणप्रभवत्वं चात्र विभिन्नविषयत्वं चात्र सुप्रसिद्धम् । इदमिति ज्ञानस्य पुरोवर्तिशुक्तिशकलालम्बनत्वात् । रजतमिति ज्ञानस्य च व्यवहितरजतविषयत्वात् । यत्र विभिन्नविषयत्वं तत्रान्योऽन्यं भेदो यथा रूपरसाऽऽदिज्ञाने अस्ति चात्र विभिन्नविषयत्वमिति इत्थं प्रत्यक्षात् स्मृतिर्विभिन्नापि प्रसृष्टेति न विवेकेन प्रतिभासत इत्यविवेकख्यातिः । न त्वेकमेवेदं ज्ञानम् । तथात्वेन तदुत्पत्तौ कारणाभावात् । तत्र हि कारणमिन्द्रियमन्यद्वा ? न तावदन्यदुपरतेन्द्रियव्यापारस्यापि तदुत्पत्तिप्रसङ्गात् । नापीन्द्रियं । तद्धि रजतसदृशे शुक्तिशकले संप्रयुक्तं सत्तत्र निर्विकल्पकमुपजनयेत् सविकल्पकमपि तत्रैव, न रजते, तस्येन्द्रियेणासंबन्धात् अवर्त्तमानत्वाच्च । नचासंबद्धमवर्त्तमानं चेन्द्रियग्राह्यम् । संबद्धं वर्त्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना इत्यभिधानात् । अन्यथा विप्रकृष्टाशेषार्थानामपि ग्राह्यत्वप्रसङ्गतोऽनुपाये सिद्धमशेषस्याशेषज्ञत्वं स्यात् । न च दोषाणामयं महिमेत्यभिधातव्यम् यतः कोऽयं तन्महिमा नाम इन्द्रियशक्तेः प्रतिबन्धः, प्रध्वंसो वा, विपरीतज्ञानाविर्भा-

षो वा । तत्राद्यविकल्पद्वयमयुक्तम् । कार्यानुत्पादप्रसङ्गात् । न हि मणिमन्त्रादिना दहनशक्तेः प्रतिबन्धे प्रध्वंसे वा स्फोटादिकार्योत्पत्तिर्दृष्टा । तृतीयविकल्पोऽप्यनुपपन्नः न खलु दुष्टावयवाः विपरीतं कार्यमाविर्भावयन्तः प्रतीयन्ते । अतो ज्ञानद्वयमेतदिदमिति हि प्रत्यक्षं पुरो व्यवस्थितार्थग्राहि, रजतमिति चानुभूतरजतस्मरणमिति, रजताकारा हि प्रतीती रजतविषयैव, न शुक्तिविषया, अन्याकारायाः प्रतीतेरन्यविषयत्वायोगात्, तद्योगे वा, सर्वज्ञानं सर्वविषयं स्यादिति, सर्वस्य सर्वदर्शित्वापत्तिः । प्रयोगे यद् यदाकारं ज्ञानं तत्तद्विषयमेव । यथा घटाकारं घटविषयमेव, रजताकारं चेदमिति । यदि वाऽन्याकारापि प्रतीतिरन्यविषया स्यात्तदा स्वार्थव्यभिचारतः सर्वत्राप्यनाश्वासः स्यात् ततो रजताकारं रजतविषयमेव ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम् । न च रजतमग्रतः संनिहितमतोऽतीतमेव तत्तदा स्मर्यते इति, न तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसंप्रयोगजत्वाभावात् । ननु यद्यतीतं रजतं स्मर्यते तदाऽतीतस्यातीततयैव प्रतिभासः स्यात्, न तु वर्त्तमानरजततुल्यतयेत्यपेशलम् । अतीतस्यापि रजतस्य दोषतोऽतीतत्वेनाप्रतिभासनात् । वर्त्तमानस्य च शुक्तिलक्षणार्थस्य ग्राहकं ज्ञानं शुक्तिकेयमिति तल्लक्षणमर्थं स्वरूपेण प्रतिपत्तुमसमर्थं शुक्तित्वलक्षणविशेषणस्य रजतात् शुक्तेर्भेदकस्याग्रहणात् साधारणात्मभावो रजतान्वयिना स्थितं वस्तुप्रतिपद्यमानं रजतस्मृतिज्ञानस्य स्मरामीत्याकारशून्यस्य कारणतां प्रतिपद्यते । स्मरामीत्याकारशून्यत्वमेव चास्याः प्रमोष इति । न च स्मृतिप्रमोषाऽभ्युपगमे रजतज्ञानस्य सत्यत्वादुत्तरज्ञानेन बाध्यतानुपपत्तिरित्यभिधातव्यम् । शुक्तिकेयमिति भेदबुद्धौ भेदानध्यवसायनिवारणेन पूर्वप्रत्ययप्रसञ्जितरजतोचितप्रवृत्त्यादिव्यवहारनिवारणतस्तस्या उपपत्तेः । ये तु स्मृतिप्रमोषमनिच्छन्तस्तत्र विपरीतख्यातिं प्रतिपद्यन्ते तेषां बाह्यार्थसिद्धिर्न प्राप्नोति । तद्दृष्टान्तेनाशेषप्रत्ययानां निरालम्बनत्वप्रसङ्गात् । यथैव हि-रजतप्रत्ययो रजताभावेऽपि रजतमवभासयति तथा-सर्वे बाह्यार्थप्रत्ययास्तदभावेऽपि तदवभासिनः इत्यद्वैतवादिमतसिद्धिः स्यात् । तामनिच्छता स्मृतिप्रमोष एवाऽभ्युपगन्तव्यः इति विवेकाख्यातिः ॥१॥ अपरे अख्यातिं मन्यन्ते-तथाहीदं रजतमिति ज्ञाने रजतसत्ताविषयभूता तावन्नास्ति अभ्रान्तत्वानुषङ्गात् । रजताऽभावोऽपि न तदालम्बनं तद्विषयपरत्वेनास्य प्रवृत्तेः अत एव शुक्तिशकलमपि न तदालम्बनं रजताकारेण शुक्तिशकलमित्यप्ययुक्तम् । अन्यस्यान्याकारेण ग्रहणाप्रवृत्तेः । न खलु घटाकारेण पटस्य ग्रहणं प्रतीतम् । अतो न किञ्चिदत्र ज्ञाने ख्यातीति, सिद्धा अख्यातिः ॥२॥ अपरे तु असत्ख्यातिं मन्यन्ते ॥ तथाहि-इदं प्रतिभासमानं वस्तुस्वरूपं ज्ञानधर्मः, अर्थधर्मो वा स्यात् न तावज्ज्ञानधर्मोऽनहङ्कारास्पदत्वात् । बहिरिदंतया प्रतिभासमानत्वाच्च । नाप्यर्थधर्मः । तत्साध्यार्थक्रियाकारित्वाभावात् । बाधकप्रत्ययेन तद्धर्मतयाऽस्य बाध्यमानत्वाच्च । असदेव तत्तत्र प्रतिभासते । इत्यसत्ख्यातिः ॥ ३ ॥ अन्ये तु प्रसिद्धार्थख्यातिं प्रतिपन्नाः तथा हि-प्रतीतिसिद्ध एवार्थो विपर्ययज्ञाने प्रतिभाति । न चास्य विचार्यमाणस्यासत्त्वं वाच्यं, प्रतीतिव्यतिरेकेणापरस्य विचारस्यैवासंभवात्, प्रतीतिबाधितत्वाच्च । न च तत्प्रसिद्धेऽर्थे विचारो युक्तः । करतलगतामलकादेरपि हि प्रतिभासबलेनैव सत्त्वम् । स च प्रतिभासोऽन्यत्राऽप्यविशिष्टः । अथ मरीचिकाचक्रादौ जलार्थस्य प्रतिभा, तस्य तद्देशोपसर्पणे सत्युत्तरकाले प्रतिभासाभावादसत्त्वम् । तदयुक्तम् । यतो यद्यप्युत्तरकाले सोऽर्थो न प्रतिभाति, तथापि यदा प्रतिभाति, तदा तावदस्त्येव । अन्यथा विद्युदादेरपि स्वप्रतिभासकाले सत्त्वसिद्धिर्न स्यात्तस्मात्प्रसिद्धार्थख्यातिरेवेयमिति ॥ ४ ॥ अन्ये त्वात्मख्यातिं मन्यन्ते । तथाहि-शुक्तिकायामिदं रजतमिति रजतं प्रतिभासते, तस्य च बाह्यस्य बाधकप्रत्ययात्प्रतिभासो नोपपद्यते । न खलु यथैव प्रतिभासते तथैवार्थ इत्यभ्युपगन्तुं युक्तम् । भ्रान्तत्वाभावप्रसङ्गात् । अतो ज्ञानस्यैवायमाकारोऽनाद्यविद्यावासनासामर्थ्याद्बहिरिव प्रतिभासत इत्यात्मख्यातिः ॥५॥ केचिदनिर्वचनीयख्यातिं मन्यन्ते । तथाहि-शुक्तिकायां रजताकारः सन्, असन्, उभयरूपो वा ? । न तावत् सन्, उत्तरकाले बाधकानुत्पत्तिप्रसङ्गतस्तर्हि तद्भ्रान्तत्वप्रसक्तेः । नाप्यसन्-आकाशकुशेशयवत् प्रतिभासाभावप्रसङ्गात् । नाप्युभयरूपः, उभयदोषानुषङ्गात् । सदसतोरैकात्म्यविरोधाच्च । तस्मादयं बुद्धिदर्शितोऽर्थः सत्त्वेनासत्त्वेनोभयधर्मेण वा निर्वक्तुं न शक्यत, इत्यनिर्वचनीयार्थख्यातिः ।६। इति ख्यातिग्रन्थपाठः । अत्र विवेकाख्यातिवादी वदति-विवादास्पदमिदं रजतमिति प्रत्ययो, न वैपरीत्येन स्वीकर्त्तव्यः, तथा विचार्यमाणस्य तस्यानुपपद्यमानत्वाद्, यद्यथा विचार्यमाणं नोपपद्यते, न तत्तथा स्वीकर्त्तव्यम्, यथा-स्तम्भः कुम्भरूपतयेति । न चेदं साधनम् सिद्धिमधारयत्, तथाहि-किमिदं प्रत्ययस्य वैपरीत्यं स्याद् ?-अर्थक्रियाकारिपदार्थाप्रत्यायकत्वम्, अन्यथा प्रथनं वा ? । आद्ये भेदे, विवादास्पदप्रत्ययप्रत्यायिते पदार्थे किमर्थक्रियामात्रमपि नास्ति, तद्विशेषसाध्या वा सा न विद्यते ?। नाद्यः पक्षः, शुक्तिसाध्यायास्तस्या भावात् । द्वितीये तु, ज्ञानकाले सा नास्ति, कालान्तरेऽपि वा ?। ज्ञानकाले तावत्तथ्यकलधौतबोधेऽपि क्वापि सा नास्त्येव । कालान्तरे तु प्रचुरतरसमीरसमीरणाशुष्यत्पायिपयोबुद्बुदबोधेऽपि सा न विद्यत एव । तन्नार्थक्रियेत्यादिपक्षः क्षेमकारः । तत्पुरस्सरपक्षे तु, तथाविधवैपरीत्यं तस्य स्वेनैव, पूर्वज्ञानेन, उत्तरज्ञानेन वा अवसीयेत ?। न स्वेनैव, तेन स्वस्य वैपरीत्यावसाये प्रमातुः प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गात् । अथ पूर्वज्ञानेन, किं स्वकालस्थेन, तत्कालस्थेन वा ? । नाद्येन, तत्काले वैपरीत्यास्पदसंवेदनस्यासत्त्वात् । नाऽपि द्वितीयेन, ज्ञानयोर्यौगपद्यासंभवात् । अथोत्तरज्ञानेन, तत्किं विजातीयं, सजातीयं वा स्यात् ? । विजातीयमप्येकसन्तानं, भिन्नसन्तानं वा ?। भेदद्वयेऽपि घटज्ञानं पटज्ञानस्य वैपरीत्याऽवसायि भवेत् । सजातीयमप्येकविषयं, भिन्नविषयं वा ? । एकविषयमप्येकसन्तानं, भिन्नसन्तानं वा ? । द्वयमपीदं संवाददत्तहस्तावलम्बं कथं वैपरीत्यावबोधधुराधौरेयतां दधीत ? । भिन्नविषयमप्येकसन्तानं, भिन्नसन्तानं वा ?। उभयथाऽपि पटज्ञानं पटान्तरज्ञानस्य तथा भवेत् । अथ न सर्वमेवोत्तरज्ञानं प्राक्तनस्यान्यथात्वावबोधबद्धकक्षं, किं तु यदेव बाधकत्वेनोल्लसति । ननु किमिदं तस्य तद्बाधकत्वं ?-तदन्यत्वं, तदुपमर्दकत्वं, तस्य स्वविषये प्रवर्तमानस्य प्रतिहन्तृत्वं, प्रवृत्तस्यापि फलोत्पादप्रतिबन्धकत्वं वा ?। प्राचि पक्षे, मिथ्याज्ञानमपि तस्य बाधकं स्याद् अन्यत्वस्योभयत्राविशेषात् । द्वितीये घटज्ञानं पटज्ञानस्य बाधकं स्यात्, तस्यापि तदुपमर्देनोत्पादात् । तृतीये, न प्रवृत्तिः तस्य तेन प्रतिहन्तुं शक्या, यत्र क्वचन गोचरे प्रागेव प्रवृत्तत्वात् । तुरीयेऽपि, न फलोत्पत्तिस्तस्य तेन प्रतिबद्धुं पार्यते, उपादानादिसंविदोऽपि प्रथममेव समुत्पन्नत्वात् । किंच-विपरीतप्रत्यये रजतम्, असत् चकास्ति, सद् वा ?। असच्चेत् । असत्ख्यातिरेवेयं स्यात् । सच्चेत् । तत्रैव, अन्यत्र वा ?। यदि

तत्रैव, तदा तथ्यपदार्थख्यातिरेवेयं भवेत् । अन्यत्र तु सतः कथं तत्र प्रतीतिः ?, पुरस्सरगोचर एव चक्षुरादेर्व्यापारात् । दोषमाहात्म्यादिति चेत् । न, दोषाणामिन्द्रियसामर्थ्यकदर्थनमात्रचरितार्थत्वेन विपरीतकार्योत्पत्तिं प्रत्यकिञ्चित्करत्वात् । ततस्तथा विचार्यमाणस्य तस्यानुपपद्यमानत्वमसिध्यदेव । 'नापि व्यभिचारि, विपक्षादत्यन्तं व्यावृत्तेः, अत एव न विरुद्धमपि । ततः सत्यमेवैतत् संवेदनद्वयम्-इदमिति प्रत्यक्षं, रजतमिति तु स्मरणं, करणोद्भवद्दोषवशाच्छुक्तिरजतयोः प्रत्यक्षस्मरणयोश्च भेदाप्रतिभासाद्भेदाख्यातिरियमुच्यत इति । अत्राऽभिदध्महे-ये तावत्साधनासिद्धिविध्वंसनाय व्यधायिषत विकल्पाः, तत्र शुक्त्यादिरूपतयाऽन्यथास्थितार्थस्यान्यथा रजताद्यर्थप्रकारेण यत्प्रथनं तत्स्वरूपं वैपरीत्यं नेदं रजतमित्येवं तदुपमर्दतः पश्चादुज्जृम्भमाणेन बाधकेनावधार्यते इति भ्रमः । तथा चान्यथा प्रथनोत्तरज्ञानतदुपमर्दकत्वविकल्पाभ्यां शेषं तु विकल्पनिकुरम्बं तुण्डताण्डवाडम्बरविडम्बनामात्रफलमेव । अथ विजातीयं सजातीयं वा तद्विद्यादिप्रकारेषु किमुत्तरं ते स्यात् ? । ननु वितीर्णमेव । अस्तु यत्किञ्चित्, तदुपमर्देन चेदुत्पद्यते, तदा तदखिलं बाधकं सत्तस्य तथात्वमाविष्करोतीति । उपमर्दश्च न प्रध्वंसः, यतः पटज्ञानप्रध्वंसेनोत्पद्यमानस्य घटज्ञानस्य बाधकत्वं स्यात्,किं तु तत्प्रतिभातवस्त्वऽसत्त्वख्यापनम्-यन्मदीयवेदने रजतमिति प्रत्यभात्, तद्रजतं न भवत्येवेति । अपि च, भेदाख्यातावपि प्रत्यक्षस्मरणयोर्भेदाख्यानं किं स्वेनैव वेद्यते? इत्यादिसकलविकल्पपेटकमाटीकित एव, इति स्वबधाय कृत्योत्थापनमेतद्भवतः । अथ प्रकृतज्ञाने रजतप्रतिभाने कथं तेन शुक्तिकाऽपेक्ष्येत ?। तत्र,संवृतस्वाकारायाः समुपात्तरजताकारायाः शुक्तिकाया एवात्र प्रतिभानात् । वस्तुस्थित्या हि शुक्तिरेव सा, त्रिकोणत्वादिविशेषग्रहणाभावात्तु संवृतस्वाकारा, चाकचिक्यादिसाधारणधर्मदर्शनोपजनितरूप्यस्मरणाऽऽरोपितरजताकारत्वाच्च समुपात्तरजताकारा, इत्यभिधीयते । यत्खलु यत्र कर्मतया चकास्ति तत्तत्रालम्बनम्,एतच्च शृङ्गग्राहिकया निर्दिश्यमानायां शुक्तौ समस्त्येव । सैव हि दोषवशात्तथा प्रतिभाति । दृष्टं च दोषवशाद्विपरीतकार्योत्पादकत्वं, यथा त्रिमन्दाक्रान्तलक्ष्मीकायाः कुलपद्मलावण्यास्तत्तद्विरुद्धवीक्षणभाषणादि । त्वयाऽपि चैतदङ्गीकृतमेव, प्रकृतरजतस्मरणस्यानुभूतरजतदेशानुसारिप्रवृत्तिजनकत्वौत्सर्गिककार्यपरिहारेण पुरोदेश एव प्रवृत्तिजनकत्वस्वीकारात् । भेदाऽग्रहणं सहकारिणमपेक्ष्य प्रकृतरजतस्मरणस्य तदविरुद्धमिति चेत् । दोषान् सहकारिणोऽपेक्ष्य हृषीकस्यापि तत्तथास्तु । किंच,प्रत्यभिज्ञानेन रजतसंवित्तेः शुक्तिगोचरत्वमवस्थाप्यते-यदेव मम रजतत्वेन पूर्वमचकात् तदेवेदं शुक्तिशकलम्, इत्येवं तस्योत्पादात् । अनुमानेन च विवादपदं रजतज्ञानं शुक्तिगोचरं, तत्रैव प्रवर्त्तकत्वात्,यदेवं तदेवं यथा सत्यरजतज्ञानं रजतगोचरम्,इति विचारेण वैपरीत्यस्योपपत्तेरसिद्धिदुर्गन्धमेव त्वत्साधनमिति स्थितम् । यच्चोक्तम्-शुक्तिरजतयोः प्रत्यक्षस्मरणयोश्च भेदाप्रतिभासादिति, तत्र भेदाप्रतिभासस्तुच्छः कश्चिदुच्येत, अभेदप्रतिभासो वा ? । नाद्यः, प्राभाकरैरभावानभ्युपगमात् । नापि द्वितीयः, विपरीतख्यातिप्रसक्तेः, भिन्नयोरभेदेन प्रतिभासात् । अथ भेदो व्यावर्त्तकधर्मयोगः, तस्य चाप्रतिभासः । साधारणधर्मप्रतिभास इति चेत् । न,शुक्तिज्ञाने सत्येऽपि तस्य भावाद् दीप्रतादेस्तत्राऽपि प्रतिभासात् । अथ न तत्र तस्यैव प्रतिभासः, त्रिकोणतादिव्यावर्त्तकधर्माणामपि प्रतिभासादिति चेत् । तर्हि साधारणः साधारणधर्मप्रतिभासः प्रकृतरजतबोधेऽपि नास्त्येव, रजतगतस्य रजतत्वस्येव शुक्तिगतस्य स्वनियतदेशकालस्मर्यमाणरजतासंभविनियतदेशकालत्वस्य व्यावर्तकधर्मस्य प्रतिभानादिति । ग्रहणस्मरणसंवित्ती अपि स्वसंविदिते प्राभाकराणाम् । ते च यदि स्वरूपेण प्रतिभातः,तदा न रजतार्थिनस्तत्र प्रवृत्तिः स्याद् । अथ ग्रहणं स्मरणरूपतया प्रतिभाति, तदा विपरीतख्यातिरस्पष्टतया प्रतिभानम् , अनुभूतरजतदेशे प्रवृत्तिश्च स्यात् । अथ स्मरणं ग्रहणरूपतया,तदाऽपि विपरीतख्यातिरेव । प्रभूतं चात्र वक्तव्यं, तच्चोक्तमेव बृहद्वृत्तौ वितत्य श्रीपूज्यैः ॥ १० ॥ रत्ना० १ परि० । (विस्तरस्तु संमतितर्कादवसेयः)

खाइं—अव्य० । " घइमादयोऽनर्थकाः " ८ । ४ । ४२४ । इति अपभ्रंशे ' खाइमिति ' निपातः । प्रा० ४ पाद । पुनरर्थे, "किं खाइं णं भंते" भ० ५ श० ४ उ० । देशभाषया वाक्यालङ्कारे, औ० ।

खाइम—खादिम—न० । 'खाद' भक्षणे । खादनं खादो भावे घञ् । खादेन निर्वृत्तं खादिमम् "तेन निर्वृत्तम्" ४ । २ । ६८ । (पाणि०) अस्याधिकारे इमप्रत्ययः । प्रव० ४ द्वार । स्था० । खमित्याकाशं तच्च मुखविवरमेव तस्मिन् मातीति खादिमम् । पृषोदरादित्वात्सिद्धिः । प्रव०४ द्वार । आव० । आ०चू० । खादः प्रयोजनमस्येति खादिमं स्था० ४ ठा० २ उ० । खाद्यत इति खादिमम् । दश० १ अ० । आव० । भक्तौषधखर्जूरफलादिके आहारभेदे, प्रव० ।

संप्रति खादिममाह—

भत्तोसं दंताई, खज्जूरगनालिकेरदक्खाई ।
कक्कडिअंबगफणसाइ, बहुविहं खाइमं नेयं ॥ २३ ॥

भक्तं च तद्भोजनमोषं च दाहं भक्तौषं रूढितः परिभ्रष्टचणक गोधूमादि, दन्त्यादि दन्तेभ्यो हितं दन्त्यं गुडादि, आदिशब्दाच्चारुकुलिकाखण्डेक्षुशर्करादिपरिग्रहः । यद्वा दन्तादि देशविशेषप्रसिद्धं गुडसंस्कृतदन्तपवनादिः । तथा खर्जूरकनालिकेरद्राक्षादि आदिशब्दादक्षोटदाडिमादिपरिग्रहः । तथा कर्कटिकाम्रपनसादि आदिशब्दात्कदल्यादिफलपटलपरिग्रहः बहुविधं खादिमं ज्ञेयम् । प्रव० ४ द्वार । ध० पं० । सं० । दर्श० । प्रव० ।

भत्तोसं दंताई, टोप्परखारिकदक्खजूरं ।
अंबगफणसं चव्वी, चारुलिया पत्तणागं च ॥४७॥
भट्ठं धन्नं सव्वं, बदामअक्खोडउच्छुगंडुलिया ।
फलपक्कं सव्वं,बहुविहं खाइमं नेयं ॥४८॥ ल०प्र०उत्त० ।

खाइय—खाजिक—पुं० । खे कर्णदेशे आजः क्षेपः तत्र साधुः ठन् लाजेषु, तस्य खाजिकस्य भर्जनपात्रात् कर्णदेशे स्फोटनेन तथात्वम् । वाच० । 'खइय' शब्दार्थे,

खाइया—खातिका—स्त्री० । उपरिविस्तीर्णाधःसंकटखातरूपे, भ० ५ श०७ उ० । खातवलये, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

खाश्रोदग—खातोदक—त्रि० । कृतप्रणालिकपजलमार्गे गृहादौ, कल्प० ६ क्षण ।

खाओवसमिय—क्षायोपशमिक—'खओवसमिअ' शब्दार्थे ।

खाश्रोसिय—खातोत्सृत—न० । भूमिगृहस्योपरिप्रासादे वास्तुभेदे, आव० ६ अ० । नि० चू० ।

खाडखम-खाडखड-पुं० । षष्ठप्रज्ञायाः षष्ठे अपक्रान्ते महानरके, स्था० ६ ठा० ।

खामहिना-खामहिना-स्त्री० । शुक्लकृष्णपटाकाररोमाङ्कितशरीरायां शून्यदेवकुलादिवासिन्यां (टाली) (टीली) (गिलहरी इतिलोके प्रसिद्धायां) चतुष्पादविशेषजातौ, प्रश्न०१ आश्र० द्वार । नं० ।

खाण-ख्यान-न० । कथने, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

खाणि-खानि-स्त्री० । स्वर्णाद्युत्पत्तिस्थाने, आकरे, वा ङीप् तत्रार्थे, वाच० । आचा० ।

खाणु-स्थाणु पुं० । स्था-नु-पृषोदरादित्वात् णत्वं " स्थाणावहरे " ८ । २ । ७ इति स्थाणौ संयुक्तस्य खो भवति हर श्चेत् वाच्यो न भवति । प्रा०२ पाद । ऊर्ध्वकाष्ठे । जं०२ वक्ष० । दश० । स्थूलकीलकेषु, ये छिन्नावशिष्टवनस्पतीनां शुष्का अवयवाः (ठूंठ) इति लोके प्रसिद्धाः । जं० १ वक्ष० । " खाणु व्व उच्चकाये " स्थाणुरिवोर्द्धकायः । कायोत्सर्गकाले, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

खाणुबहुल-स्थाणुबहुल-त्रि० । स्थाणवो बहुला यत्र तत् तथा स्थाणुप्रचुरे, स्थाणुभिर्व्याप्ते, जं० १ वक्ष० ।

खाणुसमाण-स्थाणुसमान-पुं० । स्थाणुतुल्ये श्रमणोपासके, यो हि कुतोऽपि कदाग्रहात् न गीतार्थप्रदेशनया चाल्यते सोऽनमनस्वभावो बोधकेनाऽप्रज्ञापनीयः स्थाणुसमान इति । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

खात-खात-न० । उपरि विस्तीर्णेऽधः संकुचिते, रा० । ज्ञा० । अधः उपरि च समे, स० । जी० । कूपादौ, अनु० । भूमिगृहादौ वास्तुभेदे, नि० चू० १ उ० । आ० चू० ।

ख्यात-त्रि० । प्रसिद्धे, ध० १ अधि० ।

खामण-क्षामण-न० । पाक्षिकचातुर्मासिकसांवत्सरिकक्षामणकानि तत्तपांसि च कियद्दिनानि यावत्कृतानि शुद्ध्यन्तीति प्रश्ने-उत्तरम् । तत्क्षामणकानि च यथाक्रमं द्वितीयां, पञ्चमीं, दशमीं च । यावत्कृतानि परम्परया शुद्ध्यन्तीति । किं च पाक्षिकायर्थागपि तद्दिनसंख्यया यथासंभवं तत्तपांसि च प्रापणीयानि इति श्रद्धेयम । ४४ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

खामणगपडिक्कमण-क्षामणकप्रतिक्रमण-न० । दन्तधावनं कल्पवर्ते च विधाय क्षामणकप्रतिक्रमणादि कर्तुं शुद्ध्यति न वेति प्रश्ने-उत्तरम् कारणे वेलामध्ये क्षामणकप्रतिक्रमणादि कर्तुं शुद्ध्यतीति । ३६२ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

खामणा-क्षामणा-स्त्री० । कृतापराधत्वेनान्यस्य क्षमोत्पादने, सा च द्वेधा द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतः सकलुषाशयस्यैहिकापायभीरोः । भावतः संवेगापन्नस्य सम्यग्दृष्टेः । आव०३ अ० ।

खमावेमि अहं सव्वे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ ण केण वि ॥ ६१ ॥
खमामिऽहं पि सव्वेसिं, सव्वभावेण सव्वहा ।
भवभवेसु वि जंतूणं, वाया मणसा य कम्मुणा ॥ ६२ ॥
एवं घोसेत्तु वंदित्ता, चेइय साहू विही जओ ।
गुरुस्साऽवि विही पुव्वं, खामणमरिसामणं करे ॥ ६३ ॥
खमावेंतु गुरुं सम्मं, नाणमद्दिमसंसिचित ।
काऊणं वंदिऊणं च, विहिपुव्वेण पुणो वि य ॥ ६४ ॥ महा०१अ० ।

क्षमयामि सर्वजीवाननन्तभवेष्वप्यज्ञानमोहाभ्यामावृतेन मया तेषां पीडा कृता यान्यामज्ञानमोहाभ्यामावृतेन मया पीडा कृता तयोरपराधान्मर्षयामि । सर्वे जीवाः क्षाम्यन्तु मे दुश्चेष्टितम् । अत्र हेतुमाह-मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित् । कोऽर्थः मोक्षलाभहेतुनिस्तान् सर्वान् स्वशक्त्या न लम्भयामि न च केषांचिद्विघ्नकृतामपि विघाते यतेऽहमिति, वैरं हि भूरिभवपरम्पराऽनुयायिकरूमकत्रूत्यादीनामिवेति ॥६१॥ ध०२ अधि० । (अधिकरणे उत्पन्ने क्षामणा ' अधिगरण ' शब्दे प्र० भागे ८०८ पृष्ठे उक्ता) (क्षामणां कृत्वा जिनकल्पादि प्रतिपद्यते इति जिनकल्पिकादिशब्देषु) केवलस्थापनाचार्यनिकटे प्रतिक्रमणं कुर्वन्तः श्राद्धाः क्षामणावसरे कतिवारं क्षामयन्तीति प्रश्ने-उत्तरम् केवलस्थापनाचार्याग्रे प्रतिक्रमणे श्राद्धा एकां क्षामणां कुर्वन्तीति । ३६१ प्र० सेन ३ उल्ला० ।

खामिय-क्षामित-त्रि० । क्षम-णिच्-क्त-प्राकृते णिलोपः "अदेल्लुक्यादेरत आः" । ८ । ३ । १५३ । इति आदेरकारस्याऽऽकारः । प्रा०३ पाद । अपगमितरोषे, रोसावगमे खमा तं च खामियं भण्णति । नि० चू० ४ उ० ।

खाय-खाद्-पुं० । खादने भक्षणे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

खायणिग्गमण-खातनिर्गमन-न० । सन्निनखालगृहे, कल्प० ७ क्षण ।

खायदेसायारपवालण-ख्यातदेशाचारप्रपालन-न० । ख्यातस्य प्रसिद्धस्य तथाविधापरशिष्टसंमततया दूररूढिमागतस्य देशाचारस्य सकलस्य प्रपालनमनुवर्त्तनम् । देशाचाराऽनुवर्त्तनरूपे गृहिधर्मे, तदाचाराऽतिलङ्घने तद्देशवासिजनतया सह विरोधसंभवेनाऽकल्याणलाभः स्यादिति । पठन्ति चात्र लौकिकाः । "यद्यपि सकलां योगी, छिद्रां पश्यति मेदिनीम् । तथापि लौकिकाचारं, मनसापि न लङ्घयेदिति " ध० १ अधि० ।

खायमाण-खादत्-त्रि० । भक्षयति, जी० ३ प्रति० ।

खार-क्षार-पुं० । क्षरणं क्षारः । संचलने, स्था० ८ ठा० । करीषादिप्रभवे, दश० ४ अ० । सद्यो भस्मनि, ज्ञा० १ श्रु० १२ अ० । मृत्खटीवर्णिकादौ, ध० २ अधि० । यवतिलक्षारादौ, पिं० । प्रश्न० । वल्कुलादिके, नि० चू० १ उ० । भर्जिकादौ, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । लवणे, बृ० ४ उ० । " खारस्स लोणस्स अणासयणं " क्षारस्य पञ्चप्रकारस्यापि लवणस्याऽनशनेनाऽपरिभोगेन मोक्षो नास्ति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । भक्तादौ, शस्त्रभेदे, वाच० ।

खार-पुं० । खमवकाशमाधिक्येन ऋच्छति, ऋ अण् उपसंचारी परिमाणे, वाच० । भुजपरिसर्पभेदे, च प्रज्ञा० १ पद ।

खारकरीर-क्षारकरीर-न० । वस्तुविशेषे, क्षारकरीरादिकमातपे दत्वा पश्चात्तैलादिदाने सन्धानकं भवति न वेति । प्रश्ने-उत्तरम् क्षारकरीरादिकं दिनत्रयमातपे दत्वा पश्चात्तैलादिदापनेन सन्धानकं जायते इत्थं श्रीपरमगुरुपार्श्वे श्रुतं नास्ति एवंविधान्यक्षराण्यपि दृष्टानि न सन्ति प्रत्युत क्षारकरीरादिकमध्यस्थितं पानीयं दिनत्रयोपरि यदि न शुष्यति तदा सन्धानकं जायत इति । ११२ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

खारखत्त-क्षारखात-त्रि० । लवणशस्त्राभिहते, श्रोघ० ।

खारगालण-क्षारगालन-न० । सर्जिकादेर्गालनके गृहस्थोपकरणेषु,खलणं च खारगालणं च । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

खारतउसी-क्षारत्रपुषी-स्त्री० । क्षारशब्दः कटुकवाची तथागमेऽनेकधा प्रसिद्धेस्ततः कटुकायां त्रपुष्याम, प्रज्ञा० १० पद ।

खारतंत-क्षारतन्त्र-न० । क्षरणं क्षारः शुक्रस्य तद्विषयं तन्त्रं यत् तत्तथा । वाजिकरणतन्त्रे,तद्धि अल्पक्षीणविशुष्करेतसामाप्यायनप्रसादोपजननिमित्तं प्रहर्षजननार्थं च कृतम् । सप्तम आयुर्वेदः । स्था० ८ ठा० ।

खारतिल्ल-क्षारतैल-न० । करणशूलनिवारके, निर्लोमतासाधने च क्षारपक्वतैले, वाच० । "लक्खारसखारतिल्लकलकलतश्रो" प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

खारपइद्धियंग-क्षारप्रदिग्धाङ्ग-त्रि० । क्षारेण प्रदिग्धाङ्गेषु "पज्जोइया खारपइद्धियंगा" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ५ उ० ।

खारमेह-क्षारमेघ-पुं० । सर्जादिक्षारसमानरसजलोपेतमेघे, भ० ७ श० ६ उ० ।

खारवत्तिय-क्षारपात्रित-त्रि० । क्षारपात्रकृता क्षारपात्रिता क्षारपात्रेर्योजिते, क्षारपात्रस्याधारतां नीते, श्रौ० ।

क्षारवर्तित-त्रि० । क्षारेण क्षारे वा तीक्ष्णकतरुनिर्मितमहाक्षारे वर्त्तिनो वृत्तिं कारितः क्षारवर्त्तितः,श्रौ० । शस्त्रेण छित्वा लवणक्षारादिभिः सिच्यमाने दण्डविशेषं प्राप्नुवति, दशा० ६ अ० ।

खारवावी-क्षारवापी-स्त्री० । क्षारद्रव्यभृतवाप्याम, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

खारसाविया-स्त्री० । ब्राह्मीलिपिभेदे, अस्याः सम्यग् अवबोधो नास्ति स० १८ सम० ।

खारसिंचण-क्षारसिञ्चन-न० । क्षारोदकसेचने, पारदारिकाः वास्यादिना तक्षयित्वा क्षारोदकसेचनानि प्राप्यन्ते । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

खारायण-क्षारायण-पुं० । माणवगोत्रान्तर्गतक्षारपुरुषापत्येषु, स्था० ७ ठा० ।

खारिखारी-खारिखारी-स्त्री० । एकत्र समुदितेषु षोडशद्रोणेषु ज्यो० १ पाहु० । रत्ना० ।

खारिय-क्षारित-त्रि० । क्षर-णिच्-क्त । अभिशस्ते, प्राप्तदोषे, श्रावित, "लवणसंगिते शालनकादिके" व्य० ६ उ० ।

खारुगणिय-क्षारुगणिक-पुं० । म्लेच्छदेशभेदे, अनार्ये, तज्जे मनुष्ये च । भ० १२ श० २ उ० ।

खारोदय-क्षारोदक-न० । ईषल्लवणपरिणामे जले, । जीं० १ प्रति० । प्रज्ञा० । अम्लोदके,अन्तःक्षारजले च । कूपादौ,त्रि० । पिं० ।

खारोदा-क्षारोदा-स्त्री० । क्षीरोदापरनामिकायां सुपक्ष्मविजये महानद्याम, । स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

खाल-क्षाल-न० । नगरादेर्निर्गमने स्था० २ ठा० ३ उ० ।

खावणा-क्षापणा-स्त्री० । प्रकथने, विशे० ।

खाविंत-खाद्यमान-त्रि० । भक्ष्यमाणे, "काकणिमंसाइं खाविअंते" विपा० १० श्रु० २ अ० ।

खास-कास-पुं० । आर्षत्वात्कस्य खः । प्रा०१ पाद । खासिकायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । द्वितीये रोगातङ्के, "सोलस रोगाइंका, पाउब्भूया तं जहा-सासे १ खासे २ जरे ३ इत्यादि । विपा० १ श्रु० १ अ० ।

खासिय-कासित-न० । कासने, (खाँसना) इति लोकप्रसिद्धे, स० । आ० म० । आव० । "खासिएणं छीएणं" आ० चू० ५ अ० । अनक्षरश्रुतभेदे, । नं० । विशे० । अनार्यदेशभेदे, तत्र जाते मनुष्येऽपि । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रश्न० । प्रव० ।

खिइ-क्षिति-स्त्री० । घर्मादासु ईषत् प्राग्भारावसानासु अष्टसु भूमिषु, आव० ४ अ० । दर्श० ।

खिइपइट्ठिअ-क्षितिप्रतिष्ठित-त्रि० । भूम्यां प्रतिष्ठायुक्ते नगरादौ,आ० म० द्वि० । "क्षितिप्रतिष्ठचणक,पुरर्षभपुराभिधम् । कुशाग्रपुरसंज्ञं च,क्रमाद्राजगृहाह्वयम् ॥१४॥" इति राजगृहनगरमेव पूर्वं क्षितिप्रतिष्ठितं नामाऽऽसीत् । ती० १० कल्प । आव० । आ० चू० ।

खिंखिणिया-किङ्किणिका-स्त्री० । क्षुद्रघण्टिकायाम्, श्रौ० ।

खिंखिणिसर-किङ्किणिस्वर-पुं० । क्षुद्रघण्टिकाध्वनौ,स्था०६ठा० ।

खिंखिणी-किङ्किणी-स्त्री० । क्षुद्रघण्टिकायाम, स्था० १० ठा० । जं० । रा० । श्रौ० । प्रश्न० ।

खिंखिणीजाल-किङ्किणीजाल-न० । क्षुद्रघण्टिकासमूहे, जी० ५ प्रति० । रा० ।

खिंसण-खिंसन-न० । निन्दावचने. प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । प्रव० । स० । अत्यन्तनिन्दायाम, श्रौ० । लोकसमक्षमेव जात्याद्युद्घाटने, न० । ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । स्था० । अन्त० । परस्याग्रतः तद्दोषकीर्तने, न० । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । धिङ् मुण्डमेत्यादिवाक्यरूपे गर्हणे, रा० ।

आचार्यखिंसनम्-

वितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वा वएज्ज खिंसंतो ।
उवलंभं वा य तथा, सीतंते वा वदेज्जाहि ॥ २२ ॥

अणप्पज्झो वा साहू जपेज्ज । अणप्पज्झो वा भदंतो जपेज्ज । अप्पज्झो वा भणेज्ज । खिंसणपरं भदंतं, सो आयरिओ बहुस्सुओ जातीहीणो सीसपडिच्छए अभिक्खं जातिमादीहिं खिंसति । सो सुत्तत्थे उवजीवितुं ण सक्कति । ताहे तस्स जातिसारेण एए खिंसं उवालंभं वा करेज्ज । जो आयरिओ जाइहीणो, अहं ण जाणामि त्ति ।

अप्पा साहू जातिमादिएहिं खिंसंति । तस्स अप्पावदेसेण इमा खिंसा-

जातिकुलस्स सरिसयं,करेहि ण हु कोद्दवो भवे साली ।
आसललितं वराओ, वाएति ण गद्दभो काउं ॥ २३ ॥

तुज्झ वि जं कुलं जाती वा तं अम्हेहिं परिणायं, तो अप्पणो चेव जातिकुलं सरिसं करेहि । मा कोद्दवसमाणो होउं अप्पाणं सालिसरिसं मण्णतु । ण वा गद्दभेहिं होउं । जती अस्सललियं काउं सक्कति ॥ २३ ॥

विरूवरूवेण खिंसमाणो इमं भणति-

रूवस्सेव सरिसयं, करे हि ण हु कोद्दवो भवे साली ।

असमक्खलितं वराओ, वाएति ण गहओ काउं ।२४। कंठ्या।
वायगो, गणी, आयरिओ वा जेण कओ तस्स इमा खिंसा-

अह वायगो त्ति भणति,एस किर गणी अयं व आयरिओ ।
सो वि मणे एरिसओ, जेण कओ एस आयरिओ ॥२५॥

इमो उवालंभो खिंसंते सीतंते वा-

जातिकुलस्स सरिसयं, करेहि मा अप्पवेरिओ होहि ।
होज्ज हु परिवादो वि, गिहि पक्खे साहुपक्खे य ॥२६॥

परिवयणं परिवादो अयसो गुणकित्तणं वा इत्यर्थः ।

अह वा इमो उवालंभो-

जुत्तं णाम तुमे वाय-एण गणिणा च परिमकातुं ।
आयरिएण व होउ, काऊणं किं व काहामो ॥ २७ ॥

(जुत्तमिति) युज्यते योग्यं वा णामशब्दः पादपूरणे इदमेति निर्देशवाचको वा । आयरियस्स वा होउं किं परिसं काऊण जुज्जति अह तुमे चेव । मज्झायं रक्ख । तो अम्हे किं कहामो । सीदंते वा इमो उवालंभो—

अह वा ण मज्झ जुत्तं, जदंत एयारिसाणि वोत्तुं जो ।
गुरुजत्ति वोदित्तमणा, भणामि लज्जं पयहिऊणं ।२८। कंठ्या

किंचान्यत्-

वरतरं मरसि जणितो, नया वि अन्नेण पच्चुवालद्धो ।
इसे मम वेणप्पं, जणेज्ज अण्णो पगासेंतो ॥ २९ ॥

अह पच्छन्ने दोसा पच्छायणं करेंतो भणामि। अण्णा पुण दोसकित्तणं करेंतो बहुजणमज्झे भणेज्ज तेण वरतरं मरसि भणितो संतो जातेति रूसेज्ज तो ।

इमं प्रणति-

तुम्हे मम आयरिया, हितोवएसि त्ति तेण सीसो हं ।
एवं वियाणमाणा, ण हु जुज्जइ रूसितुं भंतो ॥ ३० ॥

जेण मे हितोपदेसं देहा तेण तुम्हे मम आयरिया हिओवदसणो त्ति काउं । अहं पि सीसत्तणं ते पडिवण्णो । किं च जो जेण जंमि ठाणंमि ठावितो दंसणे चरणे च। सो तं तओ वुत्तंतम्मि चेव काउं ज्ञावणिरिओ एवं वियाणमाणा तुज्झे किं रूसह ।

एमेव सेसएसु वि, तस्सेव हितट्ठयावदागाढं ।
रागं कुसुंजओ सु य, इण विदु अ विकोइओ संजो ।३१।

एतं पायसो खिंसंतं सीदंते जणितं (सेसेसु वि) अणप्पज्झादिएसु। तस्सेव गुरुस्स हियट्ठताबदे आगाढं अहवा एयं आगाढं वयणं च भदंते भणियं सेसेसु वि उवज्झायादिएसु हियट्ठ तावदे आगाढं ॥ चोदगाऽऽह—जाणंतेहिं गुरु कहं आगाढं प्रणति। उच्यते-कुसुंभो अ वि को वि रागं जहा ण मुंचति तहा गुरुवि एगंते जाव फुडोवदेसेण ण विकोवितो ताव अणायारसेवणं ण मुंचति ।

किंचान्यत्-

वच्चुं वि जाणिऊणं, एवं खिंमे उवालंभेज्ज वा ।
खिंसा तु णिप्पवासा, सपिवासा होउवालंभो ॥ ३२ ॥

आयरिय उवज्झायादीया खरमओ य सज्झावारोयमादिइट्टिमं वा एते वच्चुं जाणिऊणं खिंसा उवालभो वा पयुंजियव्वो। णिट्ठुरं णिएहेहवयणं खिंसाउयं । सणेहवयणं उवालंभो ।

खिंसा खलु ओमंमी, खरमज्झे वा वि सीयमाणंमि ।
राइणिओवालंभो, पुव्वं गुरु महिड्ढिमाणीए ॥३३॥

ओमे, खरमज्झे वा खिंसा पउंजते। रातिणिओ, आयरिओ, जेट्ठो वा पुव्वं गुरू आसी सो य कम्मभारिय यायपासत्थादाना तो व णिक्खंते वायारायादि महिड्ढियं पि जो माणीए तेसु उवालंभो पयुंजति। नि०चू० १० उ०। आव० । अशातनायाम्,आव०। ४ अ० । ('आगाढ' शब्दे द्वि० भागे ९० पृष्ठे उत्सर्गोसूत्रमुक्तम् अत्र तु अपवादत्वम्)

खिंसणा–खिंसना–स्त्री० । लोकसमक्षं कुत्सने, औ० ।

खिंसा–खिंसा–स्त्री० । लोकसमक्षं निंदायाम्, आव० २ अ० । खरण्टनायाम्, व्य०१ उ०। शासननिन्दायाम्, पञ्चा०१७ विव०। "खिंसिज्ज" खिंस्यते निन्द्यते । बृ० १ उ० ।

खिंसिज्जमाण–खिंस्यमान–त्रि० । परोक्षकुत्सनेन निन्द्यमाने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आव० ।

खिंसिय–खिंसित–त्रि० । जन्मकर्माद्युद्घाटनतो निन्दिते, स्था० ६ ठा० । प्रव० ।

खिंसियवयण- खिंसितवचन–न० । जन्मकर्माद्युद्घाटनतो निन्दावचने, स्था० ६ ठा० ।

तच्च न वाच्यम्-

अतिंतिणे अचवले, अप्पभासी मियासणे ।
हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धुं न खिंसए ॥ २९ ॥

अतिंतिणो भवेत् अतिन्तिणो नामालाभेऽपि नेषद् यत्किंचनभाषी ।तथा अचपलोभवेत् सर्वत्र स्थिर इत्यर्थः। तथा अल्पभाषी कारणे परिमितवक्ता। तथा मिताशनो मितभोक्ता भवेदित्येवंभूतो भवेत्। तथा उदरे दान्तो येन वा तेन वा वृत्तिशीलः। तथा स्तोकं लब्ध्वा न खिंसयेत् । देयं दातारं वा न हीलयेत् इति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥ दश० ८ अ० ।

अथ खिंसितवचनमाह-

गहियं च जहाघोसं, तहियं परिपिंडियाए संलावो ।
अमुएणं सुत्तत्थो, सो वि य उवजीवितुं दुक्खो ॥

एकेन साधुना यथाघोषं यथा गुरुभिरभिलापा भणिताः तथा श्रुतं गृहीतं मयैव गृहीतः सूत्रार्थः। प्रतीच्छकादीन् वाचयति । यदा च प्रतीच्छक उपतिष्ठते तदा तस्य जातिकुलादीनि पृष्ट्वा पश्चात्तैरेव खिंसां करोति। इतश्चान्यत्र साधूनां परिपिंडितानां स्वाध्यायमण्डल्या उच्छिन्नानां संलापो वर्त्तते । कुत्र सूत्रार्थौ परिशुद्धौ प्राप्येते। तत्रैकस्तं यथा घोषश्रुतग्राहकं साधु व्यपदिशति । तथाऽमुकेन सूत्रार्थौ शुद्धौ गृहीतौ परं स उपजीवितुं (दुक्खो) दुष्करः।

कथम् ? इति । आह-

जह को वि अमयरुक्खो, विसकंटगवल्लिवेढिलो संतो ।
ण चइज्जइ अल्लीतुं, एवं सो खिंसमाणो उ ॥

यथा कोऽप्यमृतवृक्षो विषकण्टकवल्लीभिर्वेष्टितः सन् आलीतुमाश्रयितुं न शक्यते । एवमसावपि साधुः प्रतीच्छकान् खिंसन् न श्रयितुं शक्यः ।

तथाहि—

ते खिंसणा परद्धा, जातीकुलदेसकंमपुच्छाहिं ।
आसाऽऽगता णिरासा, वच्चंति विरागसंजुत्ता ॥

यस्तस्योपसंपद् यतिनं पूर्वमेव पृच्छति–का तव जातिः?, किं नामिका माता?, को वा पिता?, कस्मिन् वा देशे संजातः?, किंच कृष्यादिकं कर्म पूर्वं कृतवान्?, एवं पृष्ट्वा पश्चात् तान् पठतो हीनाधिकाक्षरायुच्चारणादेः कुतोऽपि कारणात् कुपितस्तैरेव जात्यादिभिः खिंसति । ततस्ते प्रतीच्छका जातिकुलदेशकर्मपृच्छाभिः पूर्वं पृष्टाः ततः खिंसनया प्रारब्धास्त्याजिताः सन्तः सूत्रार्थौ ग्रहीष्याम इत्याशया आगता निराशाः क्षीणमनोरथा विरागसंयुक्ताः " चिठसि कसेरुमई, अणुभूयासि कसेरुमई ?। पीतं ते पाणियर्य, वरिसु हता मनदंसणयं " इति भणित्वा स्वगच्छं व्रजन्ति ।

सुत्तत्थाणं गहणं, अहगं काहं ततो परीनियतो ॥
जातिकुलदेसकम्मं, पुच्छंति सब्भावधभागं ॥

एवं तदीयवृत्तान्तमाकर्ण्य कोऽपि साधुर्भणति–अहं तस्य सकाशे गत्वा सूत्रार्थयोर्ग्रहणं करिष्ये, तं चाचार्यं खिंसनादोषाल्लिवर्तयिष्यामि । एवमुक्तो येषामाचार्याणां स शिष्यस्तेषामन्तिके गत्वा पृच्छति–योऽसौ युष्माकं शिष्यः स कुत्र युष्माभिः प्राप्तः?। आचार्योः प्राहुः–वैदसनामकस्य नगरस्यासन्ने गोचरग्रामे । ततोऽसौ साधुस्ततः प्रतिनिवृत्तो गोचरग्रामं गत्वा पृच्छति—अमुकनामा युष्मदीये ग्रामे पूर्वं किम् आसीत्?, ग्रामेयकैरुक्तम् । आसीत् । ततः का तस्य माता?। को वा पिता?। किं वा कर्म?, तैरुक्तम् (सब्भावधभागं ति) नापितस्य धक्किका नाम दासी सा खल्वाटकौलिकेन सममुषितवती । तस्याः संबन्धी पुत्रोऽसौ एवं श्रुत्वा तस्य साधोः सकाशं गत्वा भणति—अहं तवोपसंपदं प्रतिपद्ये । ततस्तेन प्रतीच्छ्य पृष्टः । कुत्र त्वं जातः, का च ते मातेत्यादि । एवं पृष्टोऽसौ न किमपि ब्रवीति । तत इतरश्चिन्तयति–जानाम्येषोऽपि हीनजातीयः ।

ततो निर्बन्धे कृते स साधुः प्राह–

ठाणम्मि पुच्छियम्मि, इण्हिं कहेमि ओहिता सुणध ।
सोहस्सहो कस्स व, इमाईं तिक्खाईं दुक्खाइं ॥

स्थाने भवद्भिः पृष्टे सति (इण्हिं ति) तत इदानीं कथयामि अवहिताः शृणुत यूयं कस्यान्यस्येमानि ईदृशानि तीक्ष्णानि दुःखानि कथयिष्यामि ।

वइदिसगोचरगामे, खल्वाडगधुत्तकोलिओ थेरो ।
नावियधक्किपदासी, तेसिम्मि सुतो कुलह गुज्झं ॥

वैदिसनगरासन्ने गोचरग्रामे धूर्तः कौलिकः कश्चित् खल्वाटस्थविरः, तस्य नापितदासी धक्किका नाम जार्या, तयोः सुतोऽस्म्यहम् एतत् गुह्यं कुरुत मा कस्यापि प्रकाशयतेत्यर्थः ।

जेट्ठो मइ जाया ग–च्छत्थे किर ममम्मि पव्वइतो ।
तमहं लद्धसुतीओ, अणुपव्वइतो ऽणुरागेणं ॥

मम ज्येष्ठो भ्राता गच्छे किल मयि प्रव्रजित इति मया श्रुतम् । ततोऽहमेवं लब्धश्रुतिको भ्रातुरनुरागेण तमनु तस्य पश्चात्प्रव्रजितः ।

एवं श्रुत्वा स खिंसनकारी साधुः किं कृतवान्? इति । आह–

आगारविसंवइयं, तं नाउं सेसचिंधसंविदियं ।
णिउणो वा पच्छलितो, आउंटण दाणमुज्जयस्स ॥

न मदीयस्य भ्रातुरेवंविध आकारो भवतीत्याकारविसंवादिनं तं ज्ञात्वा शेषैश्च जात्यादिचिह्नैः संविदितं ज्ञात्वा चिन्तयति अहो अमुना निपुणं पापेन छलितोऽहं यदेवमन्यव्यपदेशेन मम जात्यादिकं प्रकटितम्, तत आवर्त्तनं मिथ्यादुष्कृतदानपूर्वम्, ततो दोषादुपरमणं, ततस्तस्मै सूत्रार्थरूपस्योभयस्य प्रदानमिति गतं खिंसितवचनम् बृ० ६ उ० । (अत्र शोधिश्चलघुगुरुकादिका जिनमासान्ता इत्यादि ' अवयण ' शब्दे प्र० भागे ७१६ पृष्ठे प्रतिपादितम्)

खिज्जणिया–खेदनिका–स्त्री० । " खिदां जूरः " ८ । ४ । १३४॥ इति खिदेरन्त्यस्य द्विरुक्तो जः । प्रा० ४ पाद । खेदक्रियायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

खिण्ण–खिन्न–त्रि० । दैन्ययुक्ते, निर्विण्णे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । अलसे, खेदयुक्ते च । वाच० । लवणाब्धौ कच्छपादिजलचरे, जी० ३ प्रति० ।

खितिपइट्ठिय–क्षितिप्रतिष्ठित–त्रि० । 'खिइपइट्ठिअ' शब्दार्थे ।

खित्त–क्षिप्त–त्रि० । न्यस्ते, कर्मणि ३ कर्म० । रागभयापमानैर्नष्टचित्तादौ, स्था० ५ ठा० २ उ० । प्रेरिते, विकीर्णे, अवज्ञाने, वाच० ।

क्षेत्र–न० । कृषिकर्मादिविषयभूतायाम्, अनु० । धान्यवपनभूमौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । ('खेत्त' शब्दे सर्वेऽर्था ज्ञेयाः)

खित्तचित्त–क्षिप्तचित्त–त्रि० । क्षिप्तं नष्टं रागभयापमानैश्चित्तं यस्य सः । स्था० ५ ठा० २ उ० । चित्तभ्रमिणि, ध० ३ अधि० । यस्य पुत्रशोकादिना (स्था० ५ ठा० १ उ०) द्रविणापहारेण वा चित्तभ्रमो जातः । ओघ० ।

क्षिप्तचित्तस्य वैयावृत्तिः–

सूत्रम्–खित्तचित्ते भिक्खू गिलायमाणं नो कप्पइ तस्स गणाऽवच्छेइयस्स निज्जूहित्तए अगिलाए तस्स करणिज्जं वेयावडियं० जाव रोगायंकाओ विप्पमुक्के तओ पच्छा तस्स अहालहुयस्सए नामं ववहारे पट्ठवेसिया ॥ १० ॥ व्य० अ० १ उ० ।

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्धः? उच्यते–

घोरम्मि तवे दिन्ने, भएण सहसा भवेज्ज खित्तो उ ।
गेलक्कं वा पगयं, अगिलाएँ करणं व संबन्धो ॥

घोरे रौद्रे परिहारादिरूपे तपसि दत्ते भयेन सहसा भवेत् क्षिप्तः क्षिप्तचित्तः अपहृतचित्त इत्यर्थः । अथ वा ग्लान्यं प्रकृतं क्षिप्तचित्तोऽपि च ग्लानकल्पः तस्याऽपि (अगिलया) अग्लान्या यथोक्तस्वरूपया कर्त्तव्यमिति ।

संप्रति क्षिप्तचित्तप्ररूपणार्थमाह–

लोइय लोउत्तरिओ, दुविहो खित्तो समासतो होइ ।
कह पुण हवेज्ज खित्तो, इमेहिँ सुण कारणेहिं तु ॥

समासतः संक्षेपतो द्विविधो द्विप्रकारः क्षिप्तो भवति । तद्यथा–लौकिको, लोकोत्तरिकश्च । तत्र लोके भवो लौकिकः । अ-

ध्यात्मादित्वाद् इकण्। एवं लोकोत्तरे भवो लौकोत्तरिकः। अथ कथं केन प्रकारेण पुनः क्षिप्तः क्षिप्तचित्तो भवेत् ?। सूरिराह-शृणु एभिर्वक्ष्यमाणैःकारणैर्भवति।

तान्येव कारणान्याह-

रागेण वा भएण व, अह वा अवमाणितो नरिंदेण।
एएहिँ खित्तचित्तो, वणियाइपरूवणा लोए ॥

रागेण,यदि वा भयेन। अथ वा नरेन्द्रेण प्रजापतिना। उपलक्षणमेतत्-सामान्येन वा प्रभुणा अपमानितोऽपमानं ग्राहितः। एतैः खलु कारणैः क्षिप्तचित्तो भवति। ते च लोके उदाहरणत्वेन प्ररूपिता वणिगादयः। अत्र रागे क्षिप्तचित्तो यथा-वणिग्भार्या। तथाहि-काचिद्वणिग्भार्या। भर्त्तारं मृतं श्रुत्वा क्षिप्तचित्ता जाता।

भयेनापमानेन च क्षिप्तचित्तत्वे उदाहरणान्याह-

भयतो सोमिलवडुओ, सहसोत्थरितो व संजुयादीसु।
धणहरणेण व पहुणा, विमाणितो लोइया खित्ते ॥

भयतो भयेन क्षिप्तचित्तः। यथा-गजसुकुमालमारको जनार्दनभयेन। सोमिलनामा बटुको ब्राह्मणः। अथ वा संयुगादिषु संयुगं संग्रामस्तत्र, आदिशब्दात्परबलधाटीसमापतनादिपरिग्रहः तैः। गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे। सहसा अतर्कितः समन्ततः परिगृहीतो भयेन क्षिप्तचित्तो भवति। स च प्रतीत एव। भयेनोदाहरणमुक्तम्। संप्रत्यपमानत आह-प्रभुणा वा नरेन्द्रेण धनहरणेन समस्तद्रव्यापहरणतो विमानितोऽपमानितः क्षिप्तो भवति। एवमादिकानि लौकिकान्युदाहरणानि क्षिप्ते क्षिप्तचित्तविषयाणि।

संप्रति लोकोत्तरिकाण्यभिधित्सुराह-

रागम्मि रायखुड्डो, जड्डादितिरिक्खचरियवायम्मि।
रागेण जहा खित्तो, तमहं वुच्छं समासेणं ॥

रागे सप्तमी तृतीयार्थे, रागेण क्षिप्तचित्तो यथा राजक्षुल्लकः-शाकपार्थिवादिदर्शनादिह मध्यमपदलोपी समासः। उभयेन यथा जड्डादीन् हस्तिप्रभृतीन् तिरश्चो दृष्ट्वा। अपमानेन यथा-चरकेण सह वादे पराजितः। तत्र रागेण यः राजक्षुल्लकः क्षिप्तचित्तोऽभवत्तमहं तथा समासेन वक्ष्ये।

यथाप्रतिज्ञातं करोति-

जियसत्तुनरवइस्सा, पव्वज्जा सिक्खणा विदेसम्मि।
काऊण पोयणम्मी, तव्वादं निव्वुतो भयवं ॥
एक्को य तस्स भाया, रज्जसिरिं पयहिऊण पव्वइतो।
भाउगअणुरागेणं, खित्तो जातो इमो उ विही ॥

जितशत्रुर्नाम नरपतिस्तस्य प्रव्रज्याऽभवत्, धर्मं तथाविधानां स्थविराणामन्तिके श्रुत्वा प्रव्रज्यां स प्रतिपन्नवानित्यर्थः। प्रव्रज्यानन्तरं च तस्य शिक्षा ग्रहणशिक्षा, आसेवनाशिक्षा च प्रवृत्ता। कालान्तरे च पोतनपुरे विदेशरूपे परतीर्थिभिः सह वाद उपस्थितः। ततस्तैः सह शोभनो वादस्तान् जित्वा महतीं जिनशासने प्रभावनां कृत्वा स भगवान् निर्वृत्तो मुक्तिपदवीमधिरूढः। (एक्को य इत्यादि) एकश्च तस्य जितशत्रोः राज्ञः प्रव्रजितस्यानुरागेण राज्यश्रियं प्रहाय परित्यज्य जितशत्रुप्रव्रज्याप्रतिपत्त्यनन्तरं कियता कालेन प्रव्रजितः प्रव्रज्यां प्रतिपन्नः। स च तं ज्येष्ठभ्रातरं विदेशे पोतनपुरे कालगतं श्रुत्वा भ्रात्रनुरागेणापहृतचित्तो जातः। तत्र चायं वक्ष्यमाणस्तत्प्रगुणीकरणाय विधिः।

तमेवाह—

तेल्लोक्कदेवमहिया, तित्थयरा नीरया गया सिद्धिं।
थेरा वि गया केई, चरणगुणपहावगा धीरा ॥

तस्य भ्रात्रादिमरणं श्रुत्वा क्षिप्तचित्तीभूतस्याऽऽश्वासनार्थमियं देशना कर्त्तव्या। यथा-मरणपर्यवसानो जीवलोकः। तथाहि-ये तीर्थकरा भगवन्तस्त्रैलोक्यदेवैस्त्रिभुवननिवासिभिर्भवनपत्यादिभिर्देवैर्महितास्तेऽपि नीरजसो विरलसमस्तकर्मपरिमाणवः सन्तो गताः सिद्धिम्। तथा-स्थविरा अपि केचिन्महीयांसो गौतमस्वामिप्रभृतयश्चरणप्रभावका धीरा महासत्त्वाः देवदानवैरप्यक्षोभ्याः सिद्धिं गताः। तद्यदि भगवतामपि तीर्थकृतां महतामपि महर्षीणामीदृशी गतिस्तत्र का कथा शेषजन्तूनां तस्मादेतादृशीं संसारस्थितिमनुचिन्त्य न शोकः कर्त्तव्य इति।

अन्यच्च--

न हु होइ सोइयव्वो, जो कालगतो दढो चरित्तम्मि।
सो होइ सोइयव्वो, जो संजमदुब्बलो विहरे ॥

न 'हु' निश्चितं स शोचयितव्यो भवति, यश्चारित्रे दृढः सन् कालगतः। स खलु भवति शोचयितव्यो यः संयमे दुर्बलः सन् विहृतवान्।

स कस्माच्छोचयितव्यः ? इत्यत आह-

जो जह व तह व लद्धं, भुंजइ अहारउवहिमाईयं।
समणगुणमुक्कजोगी, संसारपवड्ढगो भणिओ ॥

यो नाम यथा वा तथा वा दोषदुष्टं,सदोषतया इत्यर्थः। लब्धमाहारोपध्यादिकं भुङ्क्ते उपभोगविषयीकरोति। श्रमणानां गुणाः मूलोत्तरगुणरूपाः श्रमणगुणास्तैर्मुक्ताः परित्यक्तास्तद्रहिता ये योगा मनोवाक्कायव्यापारास्ते श्रमणगुणमुक्तयोगास्ते यस्य सन्ति स श्रमणगुणमुक्तयोगी संसारप्रवर्द्धको भणितस्तीर्थकरगणधरैः। ततो यः संयमदुर्बलो विहृतवान् स शोच्य एव। भवदीयस्तु भ्राता यदि कालगतो दृढश्चारित्रे ततः स परलोकेऽपि सुगतिभागिति। न करणीयः शोकः।

संप्रति 'जड्डादितिरिक्ख' इत्यंशस्य व्याख्यानार्थमाह-

जड्डाई तेरिच्छे, सत्थं अगणी य मेहविज्जू य।
ओमे पमिभीसणया, चरगं पुव्वं परूवेइ ॥

जड्डो हस्ती आदिशब्दात् सिंहादिपरिग्रहः तान्। तिरश्चो दृष्ट्वा। किमुक्तं भवति—गजं वा मदोन्मत्तं, सिंहं वा गर्जन्तं, व्याघ्रं वा, तीक्ष्णखरनखरविकरालमुखं दृष्ट्वा कोऽपि भयतः क्षिप्तचित्तो भवति। कोऽपि पुनः शस्त्राणि खड्गादीन्यायुधानि दृष्ट्वा। इयमत्र भावना-केनापि परिहासेनोत्कीर्णं खड्गं वा कुन्तं वा छुरिकादिकं वा दृष्ट्वा कोऽपि हा मारयति मामेव इति सहसा क्षिप्तचित्त उपजायते। तथा अग्नौ प्रदीपनके लग्ने कोऽपि भयतः क्षिप्तो भवति। कोऽपि स्तनितं मेघगर्जितमाकर्ण्य। कोऽपि विद्युतं दृष्ट्वा। एवं क्षिप्तचित्ततां यातस्य (ओमे पमिभीसणया इति) अवमो लघुतरस्तेन प्रतिभीषणं हस्त्यादेः कर्त्तव्यं येन क्षिप्तचित्तताऽपगच्छति। यदि पुनश्चरकेण वादे पराजितः इति क्षिप्तचित्तो भवेत् ततश्चरकं

पूर्वं प्ररूप्य तदनन्तरं तेन स्वमुखोच्चारितेन वचसा तस्य क्षिप्तचित्तता-तारयितव्या ।

संप्रत्यपमानतः क्षिप्तचित्ततां भावयति-

अवहीरितो व गणिणा,अहव ण सगणेण कम्हिइ पमाए य ।
वायंमि वि चरगाई, पराइतो तत्थिमा जयणा ॥

गणिना आचार्येण सोऽवधीरितः स्यात् अथ वा (णमिति) वाक्यालङ्कारे स्वगणेन स्वगच्छेन गणावच्छेदादिना कस्मिंश्चित्प्रमादे वर्त्तमानः सन् गाढं शिक्षितो भवेत् । ततोऽपमानेन क्षिप्तचित्तो जायते । यदि वा चरकादिना परतीर्थिकेन वादे पराजित इत्यपमानतः क्षिप्तचित्तः स्यात् । तत्र तस्मिन् क्षिप्तचित्ते इयं वक्ष्यमाणा यतना ।

तत्र प्रथमतो भयेन क्षिप्तचित्ते यतनामाह-

कप्पम्मि एस सीहो, गहितो अह धामितो य सो हत्थी ।
खुड्डगतरेण उ तुमे, ते वि य गमिया पुरा पाला ॥

इह पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् पाला इत्युक्ते हस्तिपालाः, सिंहपाला द्रष्टव्याः । तेऽपि पुरा पूर्वं गमिताः प्रतिबोधिताः कर्तव्याः, यथाऽस्माकं क्षुल्लको युष्मदीयं सिंहं हस्तिनं वा दृष्ट्वा क्षोभमुपगतः, ततः स यथा क्षोभं मुञ्चति तथा कर्तव्यम् । एवं तेषु प्रतिबोधितेषु, स क्षिप्तचित्तीभूतस्तेषामन्तिके नीयते, नीत्वा च तेषां मध्ये यः क्षुल्लकादपि लघुतरः तेन सिंहः कर्णे धार्यते, हस्ती वा तेन धाट्यते । ततः स क्षिप्तचित्तः प्रोच्यते-त्वत्तोऽपि यः क्षुल्लकतरोऽतिशयेन लघुः तेन एष सिंहः कर्णे गृहीतः । अथ वा स हस्ती अनेन धाटितः त्वं तु बिभेषि, किं त्वमेतस्मादपि भीरुर्जातः ? ततो धाष्टर्यमवलम्ब्यतामिति ।

सत्थऽग्गि थंभेउं, पणोल्लणं तस्स एस सो हत्थी ।
थेरो चम्मविकड्ढए, अन्नायचक्कं च दोसुं च ॥

यदि शस्त्रं,यदि वाऽग्निं दृष्ट्वा क्षिप्तोऽभवत्, ततः शस्त्रमग्निं च विद्यया स्तम्भित्वा तस्य पादाभ्यां प्रणोदनं कर्तव्यं, भणितव्यं च तं प्रति-एषोऽस्माभिरग्निः शस्त्रं च पादाभ्यां प्रणोद्यते, त्वं पुनरेताभ्यां बिभेषीति । यदि वा पानीयेनाऽऽर्द्रीकृत्य हस्तादिभिः सोऽग्निः स्पृश्यते, भण्यते-एतस्मादपि तव किं भयम् ? । तथा यतो हस्तिनः तस्य भयमभूत् स हस्ती स्वयं पराङ्मुखो गच्छन् दर्श्यते, यथा-यतस्त्वं बिभेषि स हस्ती नश्यति नश्यन् वर्तते, ततः कथं त्वमेवं भीरोरपि भीरुर्जातः । तथा यो गर्जितं श्रुत्वा भयमग्रहीत् , तं प्रत्युच्यते-स्थविरो नभसि शुष्कं चर्म विकर्षति आकर्षति, एवं चोक्त्वा शुष्कचर्मण आकर्षणशब्दः श्राव्यते, ततो भयं जरयति । तथा यद्यग्नेः स्तम्भनं न क्रियते, तदा द्वयोः अग्नौ च विद्युति च भयं प्रतिपन्नः सन् अलातचक्रं पुनरकस्मात्तस्य दर्श्यते, यावदुभयोरपि भयं जीर्णं भवति ।

सम्प्रति वादे पराजयापमानतः क्षिप्तचित्तीभूतस्य यतनामाह-

एएण जितोऽमि अहं,तं पुण सहसा न लक्खिय जणेणं ।
धिक्कयकइयवलज्जा, खित्तो पन्नणो ततो खुड्डो ॥

इह येन चरकेण वादे पराजितः स च ज्ञाप्यते यथोक्तं प्राक् । ततः स आगत्य वदति-एतेनाहं वादे पराजितोऽस्मि । तत्पुनः सर्वं जनेन सहसा न लक्षितम् । ततो मे लोकतो जयप्रवादोऽभवत् । एवमुक्ते स चरको धिक्कृतो धिक्कारेण लज्जाप्यते लज्जां ग्राहते लज्जां च ग्राहितः सन् सोऽपसार्यते । ततः स क्षिप्तो भण्यते-किमपि त्वमपध्यानं गृहीतवान् वादे हि ननु स त्वया पराजितः । तथा च त्वत्समक्षमेवैष धिक्कारं ग्राहित इति, एवं यतनायां क्रियमाणायां यदि स क्षुल्लकः प्रगुणीभवति ततः सुन्दरम् ।

तह वि य अनिवट्टमाणे, संरक्खणमरक्खणे य चउ गुरुगा ।
आणाइणो य दोसा, जं सेवति जं य पाविहिती ॥

तथाऽपि च एवं यतनायां क्रियमाणायामपि तिष्ठति अनिवर्तमाने क्षिप्तचित्तत्वे, संरक्षणं वक्ष्यमाणयतना कर्तव्या अरक्षणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुका गुरुमासाः । तथा आज्ञादय आज्ञाऽनवस्था-मिथ्यात्व-विराधना दोषाः । तथा असंरक्ष्यमाणो यत्सेवते षड्जीवनिकायविराधनादिकं यच्च प्राप्स्यत्यनर्थं तन्निमित्तं च प्रायश्चित्तम् ।

अथ किं सेवते ?, किं वा प्राप्स्यति ?, इति । तन्निरूपणार्थमाह-

छक्कायाण विराहण, कामणतेणा निवायणं चेव ।
अवडे विसमे य पडिए, तम्हा रक्खंति जयणाए ॥

षण्णां कायानां पृथिवीकायिकादीनां विराधना क्रियेत । ध्मापनं प्रदीपनकं तद्वा कुर्यात् । यदि वा स्तैन्यम् । अथ वा निपातनमात्मनः परस्य वा विधीयते, अवटे कूपे, अथ वाऽन्यत्र विषमे पतितो भवेत्, तदेवमसंरक्षणे इमे दोषास्तस्मात् रक्षन्ति यतनया वक्ष्यमाणया ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां व्याचिख्यासुराह—

सस्सगिहादीणि डहे,तेणे अह सो सयं वाही ।
रज्जा मारणपिट्टण-मुज्जये तद्दोस जं च सेसाणं ॥

सस्यं धान्यं तद् गृह्णातीति तद्गृहं,तद्गृहं सस्यगृहं तदादीनि आदिशब्दात् शेषगृहापणादिपरिग्रहः दहेत स क्षिप्तचित्ततया अग्निप्रदानेन भस्मसात्कुर्यात् एतेन ध्मापनमिति व्याख्यातम् । यदि वा स्तेनयेत् । अथ वा स स्वयं किमपि जिह्येत एतेन स्तैन्यं व्याख्यातम् । मारणं पिट्टनमुज्जयस्थित्यात् किमुक्तं भवति-स क्षिप्तचित्तत्वेन परवश इव स्वयमात्मानं मारयेत् पिट्टयेत् यद्वा-परं मारयन् पिट्टयित्वा स परमारणेन पिट्येत वा इति (तद्दोसा जं च सेसाणमिति) तस्य क्षिप्तचित्तस्य दोषात् यच्च शेषाणां साधूनां मारणं पिट्टनं वा तथा हि स क्षिप्तचित्तः परान् यदा व्यापादयति तदा परे स्वरूपमजानानाः शेषसाधूनामपि घातप्रहारादिकं कुर्युस्तन्निमित्तं मारणे द्रष्टव्यं शेषाणि तु स्थानानि सुगमानीति व्याख्यानयति यदुक्तम्-तस्माद्रक्षन्ति यतनयेति ।

तत्र यतनामाह—

महिड्ढीए उट्ठनिवेसणा य,आहारविगिंचणा वि उस्सग्गो ।
रक्खंताण य फिडिए, अगवेसणे होंति चउ गुरुगा ॥

महर्द्धिको नाम ग्रामस्य नगरस्य वा रक्षाकारी तस्य कथनीयम्, यथा-(उट्ठनिवेसणा इति) मृदुबन्धैस्तथा संयमनीयो यथा स्वयमुत्थानं निवेशनं च कर्तुमीशो भवति तथा । यदि वातादिना धातुक्षोभोऽस्याभूदिति ज्ञायते तदाऽपथ्याहारपरिहारेण स्निग्धमधुरादिरूप आहारः प्रदातव्यः (विगिंचण त्ति) उच्चारादेस्तस्य परिष्ठापनं कर्तव्यम् । यदि पुनर्देवताकृत एष उपद्रव इति ज्ञायते तदा प्रासुकैषणा क्रिया यत्नेन कार्या । तथा (वि उस्सग्गो इति) किमयं वातादिना क्षोभः, उत देवताकृत-

उपद्रव इति परिज्ञानाय देवताराधनार्थं कायोत्सर्गः करणीयः। ततस्तया आकम्पितया कथिते सति तदनुरूपो यत्नो यथोक्तस्वरूपः करणीयः एवं रक्ष्यमाणमपि यदि स कथञ्चित् स्फिटितः स्यात् ततस्तस्य गवेषणं कर्त्तव्यम् । अन्यथाऽगवेषणे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो महर्द्धिकद्वारं विवृणोति-

अम्हं एस पिसाओ, रक्खंताणं पि फिलिए कयाइ ।
सो परिरक्खेयव्वो, महिड्डिए चेव कहणा उ ॥

रक्षा अस्यास्तीति रक्षको, रक्षायां नियुक्तो राक्षिको वा ग्रामस्य नगरस्य वा रक्षको कारणिके महर्द्धिके कथना कर्त्तव्या तस्मै कथयितव्यमिति भावः । यथा अत्र तस्मिन्नुपाश्रये अस्माकं रक्षतामपि एष पिशाचो ग्रथिलः कदाचित्स्फिटति अपगच्छति । स 'तु' निश्चितं परिरक्षितव्यः प्रतिपन्नवत्सलत्वात् । इति । व्याख्यातं महर्द्धिकद्वारम् ।

अधुना 'उत्तानिवेसणाय' इति व्याख्यानयति—

मिउबंधेहिँ तहा णं, जमेंति जइ सो सयम्मि उट्ठेइ ।
अपवरग सत्थरहिते, बाहि कुडंमे असुण्णं च ॥

मृदुबन्धैस्तथा (णमिति) तं क्षिप्तचित्तं यमयन्ति बध्नन्ति । यथा स स्वयमुत्तिष्ठति, तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वान्निविशते च, तथा स तस्मिन्नपवरके स्थाप्यते । यत्र न किमपि शस्त्रं भवति । अन्यथा स क्षिप्तचित्ततया युक्तमयुक्तं चाऽजानानः शस्त्रं दृष्ट्वा तेनात्मानं व्यापादयेत्, तस्य वाऽपवरकस्य द्वारं बहिः कुड्यडेन वा विशङ्कटादिना बध्यते येन न निर्गत्याऽपगच्छति । तथा अशून्यं यथा भवति एवंप्रकारेण प्रतिजागर्यते, । अन्यथा शून्यमात्मानमुपलभ्य बहुतरं क्षिप्तो विक्षिप्येत ॥

उव्वरयस्स य असती, पुव्वखया सती य खंमए अगमो ।
तस्सोवरिं च चक्कं, न प्फिडइ जह उप्फिडंतो वि ॥

अपवरकस्य असति अभावे, पूर्वखनितकूपे निर्जले स प्रक्षिप्यते, तस्याप्यभावे अवटो नवः खन्यते, खनित्वा तत्र स क्षिप्यते, प्रक्षिप्य च तस्यावटकस्योपरि चक्रं रथाङ्गं स्थगनाय दीयते, यथा स उत्स्फिटन्नपि उत्प्लवमानोऽपि न स्फिटति न बहिर्गच्छति ।

साम्प्रतम् 'आहारविगिंचणेत्यादि' व्याख्यानयति-

निद्धमहुरं च भत्तं, करीससेज्जा उ नो जहा वाऊ ।
दिव्विय धातुक्खोभे, नाउं उस्सग्ग तो किरिया ॥

यदि वातादिना धातुक्षोभोऽस्य संजात इति ज्ञायते, तदा भक्तमपथ्यपरिहारेण स्निग्धं मधुरं च तस्मै दातव्यम्, शय्या च करीषमयी कर्त्तव्या, सा हि सोष्णा भवति, उष्णे च वातश्लेष्मापहारः । तथा किमयं दैविको देवेन भूतादिना कृत उपद्रवः धातुक्षोभज इति ज्ञाते देवताऽऽराधनाय उत्सर्गः क्रियते । तस्मिंश्च क्रियमाणे यदा किञ्चित्तया देवतया कथितं तदनुसारेण ततः क्रिया कर्त्तव्या यदि दैविक इति ।

संप्रति 'रक्खंताणं पि फिडिए' इत्यादि व्याख्यानयति-

अगमे पलाय मग्गण, अन्नगणा वा वि जेण सारक्खो ।
गुरुगा य जं च जुत्तो, तेसिं च निवेयणाकरणं ॥

'अगमे' इति सप्तमी पञ्चम्यर्थे, ततोऽयमर्थः-अवटात् कूपात् उपलक्षणमेतत्, अपवरकाद्वा, यदि पलायते, कथमपि ततस्तस्य मार्गणमन्वेषणं कर्त्तव्यम् । तथा ये तत्रान्यत्र वा आसन्ने, दूरे वा अन्यगणा विद्यन्ते तेषां च निवेदनाकरणं, तेषामपि निवेदनं कर्त्तव्यमिति भावः । यथाऽस्मदीय एकः साधुः क्षिप्तचित्तो नष्टो वर्त्तते । ततस्तैरपि गवेषणीयः दृष्टे च स संग्रहणीयः । यदि पुनर्न गवेषयन्ति स्वगणवर्त्तिनोऽन्यगणवर्त्तिनो वा, तदा तेषां प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुमासाः । यच्च करिष्यति षड्जीवनिकायविराधनादिकं तन्निमित्तं च तेषां प्रायश्चित्तमिति ॥

छम्मासे पडियरिउं, अणिच्छमाणेसु भुज्जतरगो वि ।
कुलगणसंघसमाए, पुव्वगमेणं निवेएज्जा ॥

पूर्वोक्तेन प्रकारेण तावत्स प्रतिचरणीयो यावत्षण्मासा भवन्ति । ततो यदि प्रगुणो जायते, तर्हि सुन्दरम् । अथ न प्रगुणीभूतस्ततो भूयस्तरकमपि तस्य प्रतिचरणं विधेयम् । अथ ते साधवः परिश्रान्ता भूयस्तरकं प्रतिचरणं नेच्छन्ति, ततस्तेष्वनिच्छत्सु कुलगणसङ्घसमवायं कृत्वा पूर्वगमेन कल्पोक्तप्रकारेण तस्मै निवेदनीयम्, निवेद्य च तदाज्ञया वर्त्तितव्यमिति ।

अथ स साधुः कदाचिद् राजादीनां स्वजनः स्यात्, तत इयं यतना विधेया-

रण्णो निवेइयम्मी, तेसिं वयणे गवेसणा हुंति ।
ओसहवेज्जा संबं-धुवस्सए तीसु वी जयणा ॥

यदि राज्ञोऽन्येषां वा स पुत्रादिको भवेत्, ततो राज्ञः, उपलक्षणमेतत् । अन्येषां वा स्वजनानां निवेदनं क्रियते । यथा-युष्मदीय एष पुत्रादिकः क्षिप्तचित्तो जात इति । एवं निवेदिते यदि राजादयो ब्रुवते मम पुत्रादीनां क्रिया स्वयमेव क्रियमाणा वर्त्तते । तत इहैव तमप्यानयतेति । ततः स तेषां वचनेन तत्र नीयते । नीतस्य तत्र गवेषणादि भवति । अयमत्र भावार्थः-साधवोऽपि तत्र गत्वा औषधं भेषजानि प्रयच्छन्ति प्रतिदिवसं च शरीरस्योदन्तं वहन्ति । यदि पुनः संबन्धिनः स्वजना वदेयुर्वयमौषधानि वैद्यं वा संप्रयच्छामः । परमस्माकमासन्ने प्रदेशे स्थित्वा यूयं प्रतिचरथ, तत्र यदि शोभनो भावस्तदैवं क्रियते । अथ गृहस्थीकरणाय तेषां भावः तदा न तत्र नयनम् । किन्तु स्वोपाश्रय एव ध्रियते । तत्र च त्रिष्वपि आहारोपधिशय्यासु यतना कर्तव्या । एष द्वारगाथा संक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतो 'रण्णो निवेइयम्मी' इत्येतद् व्याख्यानयति-

पुत्तादीणं किरियं, सयमेव घरम्मि को वि कारेज्जा ।
अणुजाणंते य तहिं, इमे व गंतुं पडियरंति ॥

यदि कोऽपि राजा, अन्यो वा तस्य क्षिप्तचित्तस्य साधोः स्वजनो गृहे स्वयमेव साधुनिवेदनात् प्राक् आत्मनैव पुत्रादीनां क्रियां चिकित्सां कारयति, तदा तस्मै निवेदिते युष्मदीयः क्षिप्तचित्तो जात इति कथिते यदि अनुजानीते यथा तमत्र समानयतेति, ततः स तत्र नीयते नीतं वसन्तमिमेऽपि गच्छवासिनः साधवो गत्वा प्रतिचरन्ति ।

ओसहवेज्जे देमो, पडिजग्गह णं तहिं ठियं चेव ।
तेसिं च नाय भावं, न देंति मा णं गिही कुज्जा ॥

कदाचित्स्वजना ब्रूयुः । यथा-औषधानि वैद्यं च वयं दद्मः केवलमिह अस्मिन्नस्माकमासन्ने प्रदेशे स्थितं एनमित्थं प्रतिजागृत, तत्र यदि तेषां भावो विरूपो गृहस्थीकरणात्मकस्ततस्ते-

षां तथारूपं भावमिङ्गिताकारं कुशलो ज्ञात्वा न ददाति न प्रयच्छति । न तेषामासन्नप्रदेशो नयतीति भावः। कुतः? इति आह-मा एतं गृहस्थीकुर्युरिति हेतोः ।

सम्प्रति ' तीसु वि जयणा ' इत्येतद्व्याख्यानयति—

आहारउवहिसेज्जा-उग्गमउप्पायणादिसु जयंता ।
वायादी खोजम्मि वि, नयंति पत्तेय मिस्सा वा ॥

आहारे उपधौ शय्यायां च विषये उद्गमोत्पादनादिषु, आदिशब्दादेषणादिदोषपरिग्रहः । यतन्ते प्रयत्नपरा भवन्ति । उद्गमोत्पादनादिदोषविशुद्धाहाराद्युत्पादनेन प्रतिचरन्तीति भावः । एषा यतना दैविके क्षिप्तचित्तत्वे द्रष्टव्या । एवं वातादिना धातुक्षोभेऽपि प्रत्येकं साम्भोगिका मिश्रा वा असाम्भोगिकैः संमिश्रा वा पूर्वोक्तप्रकारेण यतन्ते ।

पुव्वं दिट्ठो उ विही, इह वि करेत्ताण होति तह चेव ।
तेगिच्छंमि कयम्मी, आदेसा तिन्नि सुच्चो वा ॥

यः पूर्वं कल्पाध्ययने ग्लानस्तत्र उद्दिष्टः प्रतिपादितो विधिः, स एव इहापि क्षिप्तचित्तसूत्रेऽपि वैयावृत्त्यं कुर्वता तथैव भवति ज्ञातव्यः । चैकित्स्ये च चिकित्सायाः कर्म्मणि च कृते प्रगुणीभूते च तस्मिन् त्रयः आदेशाः । एके ब्रुवते-गुरुको व्यवहारः प्रस्थापयितव्यः । अपरे ब्रुवते-लघुकः । अन्ये आचक्षते-लघुस्वकः । तत्र तृतीयः आदेशः प्रमाणं, सूत्रोपदिष्टत्वात् । अथवा स शुद्धो न प्रायश्चित्तभाक् ।

परवशतया रागद्वेषाभावेन प्रतिसेवनादेव विभावयिषुरिदमाह-

चउरो य हुंति भंगा, तेसिं वयणम्मि होंति पएणवणा ।
परिसाए मज्झम्मी, पट्ठवणा होइ पच्छित्ते ॥

इह चारित्रविषये वृद्धिहान्यादिगताश्चत्वारो भवन्ति भङ्गाः । ते चाग्रे वक्ष्यन्ते—येषां च भङ्गानां वचनेन, गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे, भवन्ति पर्षदो मध्ये प्रज्ञापना प्ररूपणा तदनन्तरं यदि भवति शुद्धिमात्रनिमित्तं प्रायश्चित्तं दातव्यम् । ततस्तस्य प्रायश्चित्तस्य लघुकस्वरूपस्य, गाथायां सप्तमी षष्ठ्यर्थो, भवति प्रस्थापनाधानमिति ।

सम्प्रति चतुरो भङ्गान् कथयन् प्रायश्चित्तदानाभावं भावयति-

वड्ढति हायति उभयं, अवट्ठियं च चरणं भवे चउहा ।
खइयं तहोवसमियं, मीस अह खायखित्तं च ॥

कस्यापि चारित्रं वर्द्धते, कस्यापि हीयते, कस्यापि वर्द्धते हीयते च, कस्याप्यवस्थितं वर्तते । एते चत्वारो भङ्गाश्चारित्रस्य । साम्प्रतममीषामेव चतुर्णां भङ्गानां यथासंख्येन विषयान्प्रदर्शयति- (खइयमित्यादि) क्षपकश्रेणिं प्रतिपन्ने क्षायिकं चरणं वर्त्तते । उपशमश्रेणीतः प्रतिपतने औपशमिकं चरणहानिमुपगच्छति । क्षायोपशमिकं तु रागद्वेषोत्कर्षापकर्षवशतः क्षीयते परिवर्द्धते च यथा क्षिप्तं च 'पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्' क्षिप्तचित्तचारित्रं चावस्थितं यथाख्यातचारित्रे सर्वथा रागद्वेषोदयाभावात्, क्षिप्तचित्तचारित्रे परवशतया प्रवृत्तेः ततो रागद्वेषाभावात्तत्रापि तदेवं यतः क्षिप्तचित्ते चारित्रमवस्थितमसौ प्रायश्चित्तभागिति । पर आह-ननु स क्षिप्तचित्त आश्रवद्वारेषु चिरकालं प्रवर्त्तितः बहुविधं वाऽसमञ्जसं तेन प्रलपितं लोकलोकोत्तरविरुद्धं च । समाचरितम् ।

ततः कथमयमप्रायश्चित्तभाक् ? । अत्र सूरिराह-

कामं आसवदारे-सु वट्टितो पलवियं बहुविहं च ।
लोगविरुद्धा य पया, लोगोत्तरिया य आइण्णा ॥

काममित्यनुमतौ, अनुमतमेतत् । यथा स आश्रवद्वारेषु चिरकालं प्रवर्तितो बहुविधं च तेन प्रलपितं लोकविरुद्धानि लोकोत्तरिकाणि च, लोकोत्तरविरुद्धानि च पदानि आचीर्णानि प्रतिसेवितानि ।

न य बंधहेउविगल-त्तणेण कम्मस्स उवचओ होइ ।
लोगो वि एत्थ सक्खी, जह एस परव्वसो कासी ॥

तथाऽपि च नैव तस्य च क्षिप्तचित्तस्य बन्धहेतुविकलत्वेन बन्धहेतवो रागद्वेषास्तद्विकलत्वेन तद्रहितत्वेन कर्मण उपचयो भवति । कर्मोपचयस्य रागद्वेषाधीनत्वात् । तस्य च रागद्वेषविकलत्वात् । न च तद्रागद्वेषविकलत्वं वचनमात्रसिद्धम्, यतो लोकोऽप्यत्रास्मिन्विषये साक्षी, यथा एष सर्वं परवशोऽकार्षीदिति । ततो रागद्वेषाभावान्न कर्मोपचयः । तस्य तदनुगत्वात् ।

तथा चाह-

रागद्दोसाणुगया, जीवा कम्मस्स बंधगा हुंति ।
रागादिविसेसेण वि, बंधविसेसो वि अविगीतो ॥

रागद्वेषाभ्यामनुगताः सन्तो जीवाः कर्मणो बन्धका भवन्ति । ततो रागद्वेषतारतम्येन बन्धविशेषो बन्धतरतमभावोऽविगीतो विप्रतिपन्नः । ततः क्षिप्तचित्तस्य रागद्वेषाभावतः कर्मोपचयाभावः ।

अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन द्रढयति-

कुणमाणी वि य चिट्ठा, परतंता णट्टिया बहुविहा उ ।
किरियाफलेण जुज्जइ, न जहा एमेव एयं पि ॥

यथा नर्त्तकी यन्त्रकाष्ठमयी परतन्त्रा परायत्ता परप्रयोगत इत्यर्थः । बहुविधा बहुप्रकारा अपि तुशब्दोऽपिशब्दार्थः । चेष्टाः कुर्वाणा क्रियाफलेन कर्मणा न युज्यते । एवमेव अनेनैव प्रकारेण अयमपि क्षिप्तचित्तोऽप्यनेका अपि विरुद्धाः क्रियाः कुर्वाणो न कर्मोपचयं प्राप्नोति ।

अत्र परस्परमताशङ्कमानमाह-

जइ इच्छसि सा सेरी, अचेयणा तेण से विओ नत्थि ।
जीवपरिग्गहिया पुण, बोंदी असमंजसं समया ॥

यदि त्वमेतदिच्छसि अनुमन्यते । यथा (सेरीति) देशीवचनमेतत् । यन्त्रमयी नर्त्तकी अचेतना तेन कारणेन [से] तस्याश्च कर्मोपचयो नास्ति । बोन्दिस्तनुः पुनर्जीवपरिगृहीता जीवेनाधिष्ठिता जीवपरिगृहीतत्वाच्चावश्यं तद्विरुद्धचेष्टातः कर्मोपचयसंभवस्ततो या 'सेरी' दृष्टान्तेन संमता आपादिता, सा असमञ्जसमयुज्यमाना अचेतना,ऽचेतनत्वे दृष्टान्ते च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यात् ।

अत्राचार्य आह—

चेयणमचेयणं वा, परतंतत्तेण दो वि तुल्लाइं ।
न तया विसेसियं ए-त्थ किं वी जणती सुण विसेसं ।

चेतनं वा स्याद्, अचेतनं वा चेतनत्वाऽचेतनत्वविशेषस्यात्राऽप्रयोजकत्वात् । कथमप्रयोजकत्वम् ? । अत आह-परतन्त्रत्वेन प-

रायत्ततया यतो द्वे अपि तुल्ये ततो न किञ्चिद्वैषम्यम् । पर आह-न त्वया अत्र कर्म्मोपचयचिन्तायां किञ्चिदपि मनागपि विशेषितं येन जीवपरिगृहीतत्वेऽप्येकत्र कर्मोपचयो भवत्येकत्र नेति। प्रतिपाद्यमाह-आचार्यो भणति ननु अत्र शृणु भण्यमानविशेषम् ।

तमेवाह-

णणु सो चेव विसेसो, जं एगमचेयणं सचित्तेयं ।

जह चेयणे विसेसो, तह भणमु इमं निसामेह ॥

ननु स एव च यन्त्रनर्त्तकी स्वाभाविकनर्त्तकदृष्टान्ततस्ततो विशेष एवं शरीरं जीवपरिगृहीतमपि परायत्ततया चेष्टमानमचेतनमेकं स्वायत्ततया प्रवृत्तेः सचित्तं सचेतनमिति । पर आह-यद्येव चेतने विशेषो निस्सन्दिग्धप्रतिपत्तिविषयो भवति । तथा भणतः प्रतिपादयतः। आचार्य आह-तत इदं वक्ष्यमाणं निशमय आकर्णय ।

तदेवाह—

जो पल्लितो परेणं, हेऊ वसहस्स होइ कायाणं ।

तत्थ न दोसं इच्छसि, लोगेण समं तहा तं च ॥

यः परेण प्रेरितः स च कायादीनां पृथिव्यादीनां व्यसनस्य सङ्घट्टनपरितापनादिरूपस्य हेतुः कारणं भवति । तत्र तस्मिन् परेण प्रेरिततया कायव्यसनहेतोर्न त्वं दोषमिच्छसि । अनात्मवशतया प्रवृत्तेः कथं पुनर्दोषं नेच्छसि ? इत्यत आह-लोकेन समं लोके तथादर्शनमित्यर्थः । तथाहि-लोको यो यत्राऽनात्मवशतया प्रवर्त्तते तं तत्र निर्दोषमभिमन्यते । ततो लोके तथादर्शनतस्तमपि कायव्यसनहेतुं निर्दोषमभिमन्यताम । यथा च तं निर्दोषमिच्छसि । तथा तमपि च क्षिप्तचित्तं निर्दोषं पश्य तस्यापि परायत्ततया तथारूपासु चेष्टासु प्रवृत्तेः ।

एतदेव सविशेषं भावयति-

पासंतो वि य काए, अपचलो अप्पगं वि धारेउं ।

जह पेल्लितो अदोसो, एमेवमिमं पि पासामो ॥

यथा परेण प्रेरितः आत्मानं विधारयितुं संस्थापयितुमप्रत्यलोऽसमर्थः सन् पश्यन्नपि कायान् पृथिवीकायिकादीन् विराधयन् । अग्निकापुत्राचार्य इव, अदोषो निर्दोषः एवमेव अनेनैव प्रकारेण परायत्ततया प्रवृत्तिलक्षणेन इममपि क्षिप्तचित्तमदोषं पश्यामः ।

इह पूर्वं प्रगुणीभूतस्य प्रायश्चित्तदानविषये अथ आदेशा गुरुकादय उक्तास्ततस्तानेव गुरुकादीन् प्ररूपयति-

गुरुगो गुरुगतरागो, अहागुरूगो य होइ ववहारो ।

लहुओ लहुयतरागो, अहालहूगो य होइ ववहारो ॥

लहुसो लहुसतरागो, अहालहूसो य होइ ववहारो ।

एएसिं पच्छित्तं, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

व्यवहारस्त्रिविधः । तद्यथा-गुरुकः, गुरुतरकः, यथागुरुकश्च । लघुकः, लघुतरकः, यथालघुकश्च । लघुस्वः, लघुस्वतरकः, यथालघुस्वश्च । एतेषां व्यवहाराणां यथानुपूर्व्या यथोक्तपरिपाट्या प्रायश्चित्तं वक्ष्यामि । किमुक्तं भवति ?-एतेषु व्यवहारेषु समुपस्थितेषु यथापरिपाट्या प्रायश्चित्तपरिमाणमभिधास्ये ।

गुरुकादिव्यवहारप्रायश्चित्तमाह—

गुरुगो य होइ मासो, गुरुगतरागो य होइ चउमासो ।

अहगुरुगो छम्मासो, गुरुगपक्खम्मि पडिवत्ती ॥

गुरुको नाम व्यवहारो मासः मासपरिमाणः, गुरुके व्यवहारे समापतिते एकः मासः प्रायश्चित्तं दातव्यमिति भावः । एवं गुरुतरको भवेति चतुर्मासपरिमाणः । यथागुरुकः षण्मासः, षण्मासपरिमाणः । एषा गुरुकपक्षे,गुरुके व्यवहारे त्रिविधेऽपि यथाक्रमं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः ।

अथ लघुकादिव्यवहारप्रायश्चित्तमाह-

तीसा य पन्नवीसा य, वीसा पण्णरसेव य ।

दस पंच य दिवसाइं, लहुसगपक्खम्मि पडिवत्ती ॥

लघुको व्यवहारः त्रिंशद्दिवसपरिमाणः । एवं लघुतरकः पञ्चविंशतिदिनमानः । यथालघुको विंशतिदिनमानः । एषा लघुकव्यवहारे त्रिविधे यथाक्रमं प्रतिपत्तिः । लघुस्वकः पञ्चदशदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः । एवं लघुस्वतरकः दशदिवसमानः। यथालघुस्वकः पञ्चदिवसप्रायश्चित्तपरिमाणः एषा लघुस्वकव्यवहारपक्षे प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिः ।

अथ कं व्यवहारं केन तपसा परिपूरयति ? इति प्रतिपादनार्थमाह-

गुरुगं च अट्ठमं खलु, गुरुगतरागं च होइ दसमं तु ।

अहगुरुगं दुवालसमं, गुरुगपक्खम्मि पडिवत्ती ॥

गुरुकं व्यवहारं मासपरिमाणम, अष्टमं कुर्वन् पूरयति गुरुकं व्यवहारं मासपरिमाणमष्टमेन वहति । यथा-गुरुतरकं चतुर्मासप्रमाणं व्यवहारं दशमं कुर्वन् पूरयति दशमेनवहतीत्यर्थः । यथागुरुकं कुर्वन् द्वादशे (शमं) नेत्यर्थः । एषा गुरुकपक्षे गुरुकव्यवहारपूरणविषये प्रतिपत्तिः ।

छट्ठं च चउत्थं वा, आयंबिलएगठाणपुरिमड्ढं ।

निव्वायं दायव्वं, अहलहुसम्मि सुद्धो वा ॥

लघुकं व्यवहारं त्रिंशद्दिनपरिमाणं षष्ठं कुर्वन् पूरयति । लघुतरकं पञ्चविंशतिदिवसपरिमाणव्यवहारं चतुर्थं कुर्वन् । यथालघुकव्यवहारं विंशतिदिनमानम् आचाम्लं कुर्वन् । एषा लघुकत्रिविधव्यवहारपूरणे तपःप्रतिपत्तिः । तथा-लघुस्वकं व्यवहारं पञ्चदशदिवसपरिमाणम, एकस्थानकं कुर्वन् पूरयति । लघुस्वकतरकव्यवहारं दशदिवसपरिमाणं पूर्वार्द्धकं कुर्वन् । यथालघुस्वकव्यवहारं पञ्चदिनपरिमाणं निर्विकृतिकं कुर्वन्पूरयति । तत एतेषु गुरुकादिषु व्यवहारेषु अनेनैव क्रमेण तपो दातव्यम् । यदि वा लघुस्वके व्यवहारे प्रस्थापयितव्ये सप्रतिपन्नव्यवहारतपःप्रायश्चित्तम एवमेवालोचनाप्रदानमात्रतः शुद्धः क्रियते । व्य० २ उ० ।

सूत्रम्-खित्तचित्तं निग्गंथिं निग्गंथे गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ ।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह-

लहुउज्झंती व भया, संफासा रागतो व खिप्पेज्जा ॥

संबंधविहिष्णा ते, वदंति संबंधमेयं तु ।

पानीयेनापोह्यमाना वा भयात् क्षिप्येत क्षिप्तचित्ता भवेदित्यर्थः। यद्वा संस्पर्शतो यो राग उत्पद्यते तस्माद्वा । तत्र साधौ अन्यत्र गते सति क्षिप्तचित्ता जनेत।अथ क्षिप्तचित्तासूत्रमारभ्यते-एवं संबन्धार्थं विधिज्ञाः सूरयोऽत्र सूत्रे एवं संबन्धं वदन्ति-

अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या (खित्तचित्तं ति) क्षिप्तं नष्टं रागजयापमानैः चित्तं यस्याः सा क्षिप्तचित्ता तां निर्ग्रन्थीं निर्ग्रन्थो गृह्णाति वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामति आज्ञामिति सूत्रार्थः । बृ० ६ उ० । (क्षिप्तचित्ताया निर्ग्रन्थ्याः प्ररूपणा क्षिप्तचित्तस्य निर्ग्रन्थस्येव भावनीया नवरं पुरुषाभिलापे स्त्र्यभिलापः कर्त्तव्यः)

खिप्प–क्षिप्र–न० । शीघ्रे, उत्त० ४ अ० । विशे० । सूत्र० । रा० । संथा० । आ० म० । अचिरे, पो० ३ विव० । "खिप्पमेव गिण्हइ" क्षिप्रमेव गृह्णाति तूल्यादिस्पर्शं क्षयोपशमपटुत्वादचिरेणैवेति । स्था० ६ ठा० । "खिप्पामेव दुयालसजोयणाइं" जं० ३ वक्ष० १ । क्रियाविशेषणत्वे क्लीबता । तद्वति, त्रि० । वाच० । "खिप्पं हवइ सुचोइए" क्षिप्रं भवति शीघ्रं कार्यकृद्भवति । उत्त० १ अ० ।

खिप्पगइ–क्षिप्रगति–पुं० । दिक्कुमारेन्द्रयोः अमितगत्यमितवाहनयोः लोकपालयुगले, भ० ३ श० ८ उ० । स्था० ।

खिप्पचारि–क्षिप्रचारिन्–त्रि० । शीघ्रसंचरणशीले, विशे० ।

खिर–क्षर–सञ्चने, भ्वा० पर० अक० सेट् । "क्षरः खिर-झर-पज्झर-पच्चड-णिच्चल-णिट्टुआः" ८ । ४ । १७३ इति खिरादेशः ' खिरइ ' क्षरति । प्रा० ४ पाद ॥

खिलभूमि–खिलभूमि–स्त्री० । हलैरकृष्टायां भूमौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

खिल्ल–खिल्ल–पुं० । खील इति जनोक्तिप्रसिद्धे, तं० ।

खिल्लहल–खिल्लहल–पुं० । स्वनाम्ना लोकप्रसिद्धे कन्दे, ध० २ अधि० । प्रव० ।

खिव–क्षिप्–प्रेरणे, धा० । तुदा० उभ० सक० । " क्षिपेर्गलत्था-ऽड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः । ८ । ४ । १४३ । इत्यादेशो वा । पक्षे 'खिवइ' क्षिपति । प्रा० ४ पाद ॥

खीण–क्षीण–त्रि० । क्षि-क्त "क्षः खः क्वचित्तु छ-झौ" । ८ । १ । ३ । इति क्षस्य खः । प्रा० २ पाद । अपगते, । अनु० । निर्जीर्णे, विशे० ।

खीणअसुभणाम–क्षीणाशुभनामन्–पुं० । क्षीणमपगतं नरकगत्यशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्यादिकमशुभं नाम यस्य सः । अशुभनामविप्रमुक्ते, अनु० ।

खीणकसाय–क्षीणकषाय–पुं० । क्षीणा अभावमापन्ना कषाया यस्य स क्षीणकषायः । क्षपकश्रेणिद्वारा प्रतिहतकषाये, प्रव० । २६ द्वार ।

खीणकसायवीयरागछउमत्थ–क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थ–पुं० । क्षीणा अभावमापन्नाः कषाया यस्य स क्षीणकषायः तच्चाऽन्येष्वपि गुणस्थानकेषु क्षपकश्रेणिद्वारोक्तयुक्त्या क्वापि कियतामपि कषायाणां क्षीणत्वसंभवात् क्षीणकषायव्यपदेशः संभवति । ततस्तद्व्यवच्छेदार्थं वीतरागग्रहणं, क्षीणकषायवीतरागत्वं च केवलिनोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं छद्मस्थग्रहणम् । यद्वा छद्मस्थस्य रागोऽपि भवतीति तदपनोदार्थं वीतरागग्रहणं वीतरागश्चासौ छद्मस्थश्च वीतरागच्छद्मस्थः स चोपशान्तकषायोऽप्यस्तीति तद्व्यवच्छेदार्थं क्षीणकषायग्रहणं क्षीणकषायश्चासौ वीतरागच्छद्मस्थश्च । द्वादशे गुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे, प्रव० २२४ द्वार । पञ्चा० । दर्श० । कल्प० ।

खीणकसायवीयरागछउमत्थगुणट्ठाण–क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थान–न० । द्वादशे गुणस्थाने, पञ्चा० १ द्वार । (इदं च यथा चाप्यते, तथा मूलत एव भावितं ' खवगसेढि ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ७२८ पृष्ठे)

खीणकोह–क्षीणक्रोध–त्रि० । क्षीणक्रोधमोहनीयकर्मणि, औ० ।

खीणप्पायासुभकम्म–क्षीणप्रायाऽशुभकर्मन्–पुं० । क्षीणप्रायाणि बाहुल्येन क्षीणानि अशुभकर्माणि चारित्रप्रतिबन्धकानि यस्य स तथा । क्षीणक्लिष्टकर्मणि, ध० ३ अधि० ।

खीणभोगि–क्षीणभोगिन्–त्रि० । भोगो जीवस्य यत्रास्ति तद्भोगि शरीरं तत् क्षीणं तपोरोगादिभिर्यस्य स क्षीणभोगी । क्षीणतनौ दुर्बले, भ० २ श० ५ उ० ।

खीणमोह–क्षीणमोह–पुं० । क्षीणो निःसत्ताकीभूतो मोहो यस्य स तथा । क्षयवीतरागे द्वादशगुणस्थाने वर्त्तमाने जीवे, स० १४ सम० । सूक्ष्मसंपरायावस्थायां संज्वलनलोभमपि निःशेषं क्षपयित्वा सर्वथा मोहनीयकर्माभावं प्रतिपन्ने निर्ग्रन्थभेदे, प्रव० ९३ द्वार ।

खीणमोहस्स णं अरहओ तओ कम्मंसा जुगवं खिज्जंति तं णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं अंतरायं ॥

क्षीणमोहस्य क्षीणमोहनीयकर्मणोऽर्हतो जिनस्य त्रयः कर्मांशाः कर्मप्रकृतय इति उक्तञ्च-"चरमे नाणावरणं,पंचविहं दंस णं चउवियप्पं । पंचविहमंतरायं, खवइत्ता केवली होइ " त्ति ॥ ३॥ स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

खीणराग–क्षीणराग–पुं० । वीतरागे, ग० १ अधि० ।

खीणरागदोसमोह–क्षीणरागद्वेषमोह–पुं० । क्षीणा रागद्वेषमोहा यस्य सः । वीतानिष्टक्षायिकज्ञाने, पं० सू० ४ सू० ।

खीणवित्ति–क्षीणवृत्ति–त्रि० । क्षीणा वृत्तिः परा जीविका यस्य सः जीविकारहिते,अष्ट० ३० अष्ट० । क्षीणमले, "मलेरिवाभिजातस्य, क्षीणवृत्तेरसंशयम " द्वा० २० द्वा० ।

खीर–क्षीर–न० । क्षि क्रन् दीर्घश्च । जले,सरलद्रव्ये,वाच० । स्तन्ये, बृ० १ उ० । पिं० । प्रज्ञा० । प्रश्न० । विशे० । उत्त० । सूत्र० । पञ्च क्षीराणि गोमहिष्यजोष्ट्रैलकसंबन्धिभेदात् विकृतयः । ध० २ अधि० । आ० चू० । नि० चू० । आव० । पञ्चा० । प्रव० । स्था० । " एगंतेण अपेयं, खीरं दुरजाइयं तहिं देसे । संसेइमं तत्थ जिया, गंमुलया सप्पसंमुक्का" ॥ १५ ॥ संस० नि० क्षीरवरद्वीपस्य अधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ॥

खीरइय–क्षीरकित–त्रि० । संजातक्षीरके,ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० ।

खीरकाउली–क्षीरकाकोली–स्त्री० । क्षीरविदारीनामके साधारणशरीरबादरवनस्पतौ,प्रज्ञा० १ पद । वाच० । आचा० ।

खीरजल–क्षीरजल–पुं० । क्षीरसमुद्रे, द्वी० ।

खीरण्ण–क्षीरान्न–न० । परमान्ने, अष्ट० २६ अष्ट० ।

खीरदुम–क्षीरद्रुम–पुं० । वटोदुम्बरपिप्पलादौ, क्षीरप्रधाने वृक्षे, नि० चू० १ उ० । पिं० । आव० । 'दव्वे खीरदुमादि' न्यग्रोधादि । पञ्चा० १५ विव० ।

खीरधाई-क्षीरधात्री-स्त्री० । स्तनदायिन्यां धाव्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० चू० । (धात्रीपिण्डे स्वरूपमस्या ज्ञेयम्)

खीरपूरसमप्पह-क्षीरपूरसमप्रभ-त्रि०। दुग्धपूरसदृशवर्णे, उत्त० ३४ अ० ।

खीरप्पभ-क्षीरप्रभ-पुं०। क्षीरवरद्वीपाधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति०।

खीरमहुसप्पियासव-क्षीरमधुसर्पिराश्रव-पुं० । क्षीराश्रवादि-लब्धित्रिके, ।

खीरमहुसप्पिसाऽऽसव-माणवयणा तयाऽऽसवा हुंति ॥५१६॥

क्षीरं दुग्धं, मधु मधुरद्रव्यं, सर्पिर्घृतम्, एतत्स्वादूपमानव-चना येस्ताऽऽश्वादिवत् तदाश्रवाः क्षीरमधुसर्पिराश्रवा भवन्ति। इयमत्र भावना। पुण्ड्रेक्षुचारिणीनां गवां लक्षस्य क्षीरम् अर्धार्ध-क्रमेण दीयते यावत् एवमेकस्याः पीतगोक्षीरायाः क्षीरं तत्किल चातुरिक्यमित्यागमे गीयते। तद्यथोपभुज्यमानमतीव मनःश-रीरप्रह्लादहेतुरुपजायते। तथा यद्वचनमाकर्ण्यमानं मनःशरी-रसुखोत्पादनाय प्रभवति, ते क्षीराश्रवाः क्षीरमिव वचनम् आसमन्तात् श्रवन्तीति व्युत्पत्तेः। एवं मधु किमप्यतिशायि शर्करादि मधुरद्रव्यममृतमपि पुण्ड्रेक्षुचारिगोक्षीरं मन्दाग्नि-क्वथितमपि विशिष्टवर्णाद्युपेतं मध्विव वचनमाश्रवन्तीति म-ध्वाश्रवाः घृतमिव वचनमाश्रवन्तीति घृताश्रवाः । उपलक्ष-णत्वाच्चामृताश्रविणः इक्षुरसाश्रविण इत्यादयोऽप्यवसेयाः। अथ वा येषां पात्रे पतितं कदन्नमपि क्षीरमधुसर्पिरादिरस-वीर्यविपाकं जायते क्रमेण क्षीराश्रविणो मध्वाश्रविणः सर्पि-राश्रविण इत्यादि ॥ प्रव० २७० द्वार । ग० । विपा० ।

खीरमेह-क्षीरमेघ-पुं०। भरतैरवतयोर्भूम्या वर्णगन्धरसस्पर्शज-नके दुःषमदुःषमान्ते वृष्टिकारके द्वितीये महामेघे, ति० । जं०। ('सप्पिणी' शब्दे वर्णकोऽस्य)

खीरवती-क्षीरवती-स्त्री० । क्षीरं विद्यते यस्याः सा । भूम्नि, मतुप् प्रत्ययः । बहुक्षीरायाम्, "दुग्धासे खीरवती गावी" बृ० ३ उ० ।

खीरवर-क्षीरवर-पुं०। चतुर्थे द्वीपे, स्था० ३ ठा० ४ उ०। अनु०।

वारुणोद णं समुद्दं खीरवरे णामं दीवे वट्टे० जाव चि-ट्ठति सव्वं । संखेज्जगं विक्खंभे परिक्खेवो य० जाव अ-ट्ठो बहूउ खुड्डावावीउ० जाव सरपंतियासु खीरोदगपडिह-त्थाउ पासादीयाउ तासु णं खुड्डियासु० जाव बिलपंतियासु बहवे उप्पायपव्वयगा सव्वरयणामया० जाव पडिरूवा पंमरगपुप्फदंता इत्थ दो देवा महिड्ढिया० जाव परिवसं-ति । से तेणट्ठेणं० जाव णिच्चे जोतिसं सव्वं संखेज्जं ॥

(वरुणोद णमित्यादि) वरुणोदं णमिति पूर्ववत् समुद्रं क्षी-रवरनामद्वीपो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः स-मन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति। एवं यैव वरुणवरद्वीपस्य वक्तव्य-ता सैवेहापि द्रष्टव्या यावज्जीवोपपातसूत्रम् । संप्रति नामान्वर्थ-मभिधित्सुराह—" से केणट्ठेणमित्यादि " अथ केनार्थेन भदंत एवमुच्यते ? । क्षीरवरो द्वीपः क्षीरवरो द्वीपः, प्रभूतजनो-क्तिसंग्रहार्थं वीप्सायां द्विर्वचनं भगवानाह-गौतम-क्षीरवरे द्वीपे तत्र देशे तस्य तस्य देशस्य तत्र प्रदेशे बहवः (खुड्डा-वावीउ इत्यादि) वरुणवरद्वीपवत्सर्वं वक्तव्यं यावत् " वा-णमन्तरा देवा देवी उ आसयंति सयंति० जाव विहरंति" नव-रमत्र वाप्यादयः क्षीरोदकपरिपूर्णा वक्तव्याः पर्वतापर्वतकेषु आसनानि गृहकाणि गृहकेष्वासनानि मण्डपकेषु पृथिवीशि-लापट्टकाः सर्वरत्नमया वाच्याः शेषं तथैव। पुण्डरीकपुष्पदन्तौ चात्र क्षीरवरे द्वीपे यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत् पल्योपमस्थितिकौ परिवसतस्ततो यस्मादत्र वाप्यादिषूदकं क्षीरतुल्यं क्षीरक्षीरप्रभौ तदधिपतिदेवाविति स द्वीपः क्षीरवरः तथा चाह-(से एएणट्ठेणमित्यादि) उपसंहारवा-क्यं चन्द्रादिसूत्रं प्राग्वत् ॥ जी० ३ प्रति० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

खीरसागर—क्षीरसागर—पुं० । दुग्धसमुद्रे, कल्प० २ क्षण ।

खीरादिलद्धिजुत्त—क्षीरादिलब्धियुक्त—पुं० । क्षीरादिकल-ब्धिसम्पन्ने आदिशब्दाद्विद्यामन्त्रयोगवशीकरणादिकुशले, व्य० १ उ० ।

खीरादिविग्घितताणु—क्षीरादिबृंहिततनु—त्रि० । प्रचुरक्ष-व्याद्युपचितशरीरे, बृ० ४ उ० ।

खीरामलय-क्षीरामलक-न० । अबद्धास्थिके फले, क्षीरवन्मधु-रे, आमलके, "फलपरिमाणं करेइ तत्थ पगेणं क्षीरामलएणं" उत्त० १ अ० ।

खीरासव-क्षीराश्रव-पुं० । यद्वचनमाकर्ण्यमानं मनःशरीरसु-खोत्पादनाय प्रभवति स लब्धिविशेषसंपन्नः तस्मिन्, क्षीरमिव वचनमासमन्तात् श्रवतीति व्युत्पत्तेः । प्रव० २७० द्वार० । आ० चू० । पा० ।

खीरासवलद्धि-क्षीराश्रवलब्धि-पुं०। क्षीरमिवाश्रवति कथयन् यस्या लब्धेः सा क्षीराश्रवा सा लब्धिर्यस्यासौ क्षीराश्रवल-ब्धिः । क्षीराश्रवलब्धियुक्ते, व्य० ३ उ० ।

खीरिज्जमाण-क्षीर्यमाण-त्रि० । दुह्यमाने, " खीरिणीओ गा-वीओ खीरिमाणाओ वेहाए " आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

खीरोद-क्षीरोद-पुं० । क्षीरवदुदकं यस्य । संथा० । क्षीरवर-द्वीपस्य परितः समुद्रभेदे, जी० ।

तद्वक्तव्यता—

खीरवरे णं दीवं खीरोदे णामं समुद्दे, वलयागारसंठाण-संठिते० जाव परिक्खिवित्ताणं चिट्ठंति समचक्कवालसंठिते, नो विसमचक्कवालसंठिते, संखेज्जाइं जोयणसयाइं विक्खं-भपरिक्खेवो तहेव सव्वं० जाव अट्ठो। गोयमा ! खीरोय-स्स णं समुद्दे उदगे से जहानाम तेमु उ महामारुपच्छअ-न-णतणसरसपत्तकोमलअच्छिएणतणगपोमगवरुथुवारिणीणं लवंगपत्तपुप्फपल्लकंकोलगसफलरुक्खा बहुगुच्छगुम्मक-लिते लट्ठिमहुपउरपिप्पलीफलितवल्लिवरविवरचारिणीणं अप्पोदगपीतसइरसमत्तूमिभागणिज्झयसुहे सीताणं सुपो-सितसुधाताणं रोगपरिवज्जिताणं निरुवहतसरीराणं काल-प्पसंठाणं वितियसमप्पसूताणं अंजणवरगवलवलयजलधर-जव्वं जणरिट्ठजमरपरहुतसमप्पभाणं गावीणं कुंडदोहणाणं बद्धत्थी पत्तुत्ताणं रूढाणं मधुमासकाले संगहिते होज्ज,

चातुरक्केव होज्ज, तासि खीरे मधुररसविवगत्थबहुदव्वसं-पयुत्ते पयत्तमंदग्गिसुकढिते । आउत्तडगुरुमच्छंडितोववेत-रस्रो । चाउरंतचक्कवट्टिस्स उवठविते आसादणिज्जे वी-सादणिज्जे पीणणिज्जे० जाव सव्विंदियगातपल्हायणि-ज्जे वरणेणं उववेते० जाव फासेणं जवे तारूवे सिया । नो तिणट्ठे समट्ठे। खीरोदस्स णं से उदए एत्तो इट्ठयराये चेव आसायेणं पएणत्ते विमलप्पभाय इत्थ दो देवा महिड्डिया० जाव परिवसंति। से तेणट्ठेणं संखेज्जा चंदा० जाव तारा।

(खीरवरेणमित्यादि) क्षीरवरे णमिति पूर्ववत् द्वीपं क्षीरोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति शेषा वक्तव्यता क्षीरवरद्वीपस्येव वक्तव्या याव उज्जीवोपपातसूत्रम् । संप्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह-(से केणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एव मुच्यते? क्षीरोदः समुद्रः क्षीरोदसमुद्र इति भगवानाह-गौतम ! क्षीरोदस्य समुद्रस्योदकं यथा राज्ञश्चक्रवर्त्तिनश्चातुरक्यं चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तगोक्षीरं चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तता च प्रागेव व्याख्याता। खण्डगुममत्स्यण्डिकोपनीतं खण्डगुडमत्स्यण्डिकाभिरतिशयेन प्रापितरसं प्रयत्नेन मन्दाग्निना क्वथितम् । अत्यग्निपरितापे वैरस्यापत्तेः। अत एवाह-वर्णेनोपपेतं गन्धेनोपपेतं रसेनोपपेतम् स्पर्शेनोपपेतम् आस्वादनीयं विस्वादनीयं दीपनीयं दर्पणीयं मदनीयं बृंहणीयं सर्वेन्द्रियगात्रप्रह्लादनीयमिति पूर्ववत् । एवमुक्ते । गौतम आह-"भवे एयारूवे सिया" भवेत् क्षीरसमुद्रस्योदकमेतद्रूपम् । भगवानाह-गौतम ! नायमर्थः समर्थः। क्षीरोदस्य यस्मात्समुद्रस्योदकमितो यथोक्तरूपात् क्षीरादिष्टतरमेव यावन्मनआप्यायनतरमेवास्वादेन प्रज्ञप्तं विमल-विमलप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः ततः क्षीरमिवोदकं यस्य क्षीरवर्त्मिमलस्वभावयोः सुरयोः संबन्धि उदकं यत्रेति वा क्षीरोदः तथा चाह-"से एएणट्ठेणमित्यादि" गतार्थम् । जी०३ प्रति०। सू०प्र०। अनु०। चं०प्र०। स्था०। (चतुर्दशमहास्वप्नमध्यगतोऽस्य वर्णकः)

खीरोदगा-क्षीरोदका-स्त्री० । क्षीरमिव (मेव) उदकं यासां ताः । दुग्धजलासु वापीषु । जी० ३ प्रति० ।

खीरोदा-क्षीरोदा-स्त्री० । सुपक्ष्मविजये अन्तर्नद्याम्, जं० ४ वक्ष० । स्था० । "दो खीरोदाओ" स्था० ठा० २ उ० ।

खील-कील-पुं० । "कुब्जकर्परकीले कः खोऽपुष्पे" । ८ । १ । १८१ । इति कस्य खः । प्रा० । शङ्कौ, प्रा० १ पाद ।

खीलगमग्ग-कीलकमार्ग-पुं० । मार्गभेदे, यत्र वालुकोत्कटे मरुकादिविषये कीलिकाभिज्ञानेन गम्यते । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

खीलसंठिय-कीलसंस्थित-न० । कीलकाकृतिपात्रे, " जं उविद्धा तं णठाति तं खीलसंठियं " नि० चू० १ उ० ।

खीलिया-कीलिका-स्त्री० । ह्रस्वकीले, " खीलियापओ गनिम्मातो गरुमो कतो " आ० म० द्वि० ।

खु-खु-अव्य० । " हु खु निश्चयवितर्कसंभावनविस्मये " ८।२। १९८ । इति । निश्चयादिषु, (खु) तत्र निश्चये तं खु सिरीए रहस्सं । तर्के एअं खु हसइ । संशये जलहरो खु धूमवडलो खु । संभावने-एयं खु हसइ । विस्मये-को खु एसो सहस्स-सिरो । प्रा० २ पाद । अवधारणे, आव० ३ अ० । सूत्र० । दश० । दशा० । प्रश्न० । उत्त० । आचा० । निश्चये,तं० । ग० । वाक्यालङ्कारे, आचा० १ श्रु० ६ अ०३ उ० । सूत्र० । हेतुप्रदर्शने, उत्त० २ अ० ।

खुइ-क्षुति-स्त्री० । क्षवणं क्षुतिः । छीत्कारादौ शब्दविशेषे, " मम कथ वि खुइं वा खुइं वा पविसिं वा असम्भमाणे " क्षुतिं वार्त्तामात्रं, क्षुतिं तस्यैव सबन्धिनं शब्दं तच्छिंहं वा । ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । एषाऽप्यदृश्यमनुष्यादिगामिका भवतीति गृहीता । भ० ३ श० १ उ० ।

खुज्ज-कुब्ज-न० । " कुब्जकर्परकीले कः खोऽपुष्पे " ८ । १ । १८१ ॥ इत्यनेन कस्य खः । चतुर्थे संस्थाने,यत्र शिरो ग्रीवं हस्तपादादिकं च यथोक्तप्रमाणलक्षणोपेतम् उदरादिमण्डलं तत् कुब्जम् । जी० १ प्रति० । तं० । कल्प० । " हिट्ठिल्लकायमडहं । अधस्तनकायं मरुहम्" । इहाधस्तनकायशब्देन पादपाणिशिरोग्रीवमुच्यते, तथा शरीरलक्षणोक्तप्रमाणव्यभिचारि यत्पुनः शेषं तद्यथोक्तप्रमाणं तत्कुब्जमिति । स्था० ६ ठा० । वक्रशरीरे, त्रि० बृ० १ उ० । वक्रे, ओघ० । एकपार्श्वहीने,प्रव० ११० द्वार । नि० चू० ।

खुज्जणाम-कुब्जनामन्-न० । संस्थाननामकर्मभेदे, यदुदयाज्जीवानां कुब्जसंस्थानं भवति । कल्प० १ क्षण ।

खुज्जत्त-कुब्जत्व-न० । वामनलक्षणे संस्थाने, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

खुज्जा-कुब्जा-स्त्री० । वक्रजङ्घायां शातवाहनदास्याम्, ज० १२ श० २ उ० । (अस्या उदाहरणम् ' अणुओग ' शब्दे प्र० भागे ३५५ पृष्ठे उक्तम्)

खुज्जिआ-कुब्जिका-स्त्री० । वक्रजङ्घायां दास्याम्, नि० १ व० गं० । ज्ञा० । भ० ।

खुज्जि (ण्)-कुब्जिन्-त्रि० । कुब्जं पृष्ठादावस्यास्तीति कुब्जी । कुब्जे, आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

खुट्ट-तुम-धा० । द्विधाकरणे, भ्वा० पर० सेट् " तुडेः-तोड-तुट्ट-खुट्ट-खुडोक्खुडोल्लुक्क-णिलुक्क-लुक्को-ल्लूराः " ॥८।४।११६॥ इति तुडेः खुट्टखुडावादेशौ भवतः । खुट्टइ, खुडइ, तोडइ । प्रा० ४ पाद० ।

खुडिय-खंडित-त्रि० । " चण्डखण्डिमते णा वा " ॥ ८ । १ । ५३ ॥ इति णकारेण सहितस्यादेरस्य उत्वम् । छिन्ने, खुडिओ, खण्डिओ । प्रा० १ पाद ।

खुडुक्क-शल्याय-नामधातु । शल्यस्येवाचरणे, " तक्यादीनां छोल्लादयः " ॥ ८ । ४ । ३९५ ॥ इति शल्यायस्य खुडुक्कादेशः " हियइ खुडुक्कइ गोरडी " गौरी स्त्री हृदये शल्यायते । प्रा० ढुं० ४ पाद ।

खुड्ड-क्षुद्र-त्रि० । क्षुद्रकर्मकारिणि, ज्ञा०१ श्रु०१७ अ० । दशा० । लघुनि, आचा०२ श्रु०२ अ०३ उ० । नि० चू० । बाले, उत्त० १ अ० । नि० चू० । अधमे, क्रूरे, अल्पे, दरिद्रे च । वाच० ।

खुड्डग-क्षुद्र (द्र) क-पुं० । "गोणादयः" ॥ ८ । २ । १७४ ॥

इति लस्य डः । प्रा० २ पाद । महत्प्रतिपक्षे द्रव्यभावबाले, " खुड्डगो सिसू बालो त्ति वुत्तं भवति " नि० चू० १ उ० ।

अत्र निक्षेपः ।

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले पहाणपज्जावे ।
एएसि महंताणं, पडिवक्खे खुड्डया होंति ॥ १८४ ॥

नामादिमहतां प्रतिपक्षे क्षुल्लकानि भवन्ति । अभिधेयवल्लिङ्गवचनानि भवन्तीति न्यायात् । यथार्थे क्षुल्लकलिङ्गवचनमिति । तत्र नामस्थापने क्षुण्णे । द्रव्यक्षुल्लकः-परमाणुः द्रव्यं चासौ क्षुल्लकश्चेति । क्षेत्रक्षुल्लकः-आकाशप्रदेशः । कालक्षुल्लकः-समयः । प्रधानक्षुल्लकं त्रिविधम्-सचित्ता-ऽचित्त-मिश्रभेदात् । सचित्तं त्रिविधम्-द्विपदचतुष्पदापदभेदात् । द्विपदेषु क्षुल्लकाः प्रधानाश्चानुत्तरसुराः । शरीरेषु क्षुल्लकमाहारकम् । चतुष्पदेषु प्रधानः क्षुल्लकः सिंहः । अपदेषु जातीकुसुमानि । अचित्तेषु-पद्मम प्रधानं क्षुल्लकं च । मिश्रेषु-अनुत्तरसुरा एव शयनीयगता इति । दश० ३ अ० । प्रतिक्षुल्लकमामलकाद्बदरं बदराच्चणक इत्यादि । भावक्षुल्लकम्-क्षायिको भावः । उक्तं हि वृद्धैः-"सव्वत्थो वा जीवा खाइयभावे वट्टंति" सांसारिकत्वापेक्षं चैतदन्यथौपशमिक एव सर्वस्तोकतया भावक्षुल्लकं संभवतीति । उत्त० ६ अ० । लघौ साधौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । क्षुद्रकोदाहरणमौपपातिकवृत्तौ, आ० क० । नं० । आ० म० । (भिक्षार्थे गतानां क्षुल्लकानां ' उवसग्ग ' शब्दे द्वि० भागे १०२० पृष्ठे कथा उक्ता) (भ्रष्टाचारनिग्रहे तादृशक्षुल्लकस्य कथा)

क्षुल्लकविपरिणामसंभवे यतनामाह-

उज्जलवेसे खुड्डे, करिंति उव्वट्टणाइचोक्खे य ।
न य मुच्चं असहाए, चिंतिमणुन्ने य आहारे ॥

क्षुल्लकान् उज्ज्वलवेषान् पाण्डुरचोलपट्टधारिणः उद्वर्तनप्रक्षालनादिना च चोक्षान् शुचिशरीरान् कुर्वन्ति, न च, ते क्षुल्लका असहाया एकाकिनो मुच्यन्ते । वृषभाश्च, तेषां मनोज्ञान् स्निग्धमधुरानाहारानानीय ददति । उरभ्रदृष्टान्तेन च प्रज्ञापयन्ति ।

तमेवाह-

आतुरचिण्णाइँ एयाइँ, जाइं चरइ नंदिओ ।
सुक्कत्तणेहि जावेहिं, एयं दीहाउलक्खणं ॥

" जहा एगो उरणगो पाहुणनिमित्तं पोसिज्जइ, सो य पीणियसरीरो हलद्दाइकयंगराओ कयकन्नओ सुहं सुहेणं अभिरमइ, कुमारगा वि य तं नाणाविहेहिं कीलाविसेसेहिं कीलाविंति, तं च एवं लालिज्जमाणं दट्टूण वच्छगो माऊए नेहेण गोवियं दोहणए य तहाऽणुकंपाए सुक्कमवि खीरं न पिवइ । रोसेणं ताए पुच्छिओ, वच्छ ! किं न धावसि ? तेण भणियं अम्मो ! एस नन्दियगो इट्ठेहिं० जाव सजोगासणेहिं अलंकारविसेसेहिं अलंकारिओ पुत्त इव परिपालिज्जई, अहं तु मंदभग्गो सुक्काणि तणाणि कयाइ लभामि, ताणि विपज्जत्तगाणि, एवं पाणियं पि न य मं कोई लालइ । ताए भण्णइ-पुत्त ! आउरचिंताई एयाइं जहा आउरो मरिउकामो जं मग्गइ पत्थं वा अपत्थं वा तं दिज्जइ, एवमेसो वि नन्दियओ पोसिज्जइ, जया मारिज्जिहिइ तया पिच्छिहिसि । अन्नया सो वच्छगो तं नन्दियगं पाहुणएसु वहिज्जमाणं दट्ठूंति सिओवि माउपच्छन्नं

नाभिलसइ । भए भण्णइ किं पुत्त ! संपमीओ सि नेहेण पहुयं पि मं न पियसि । तेण भण्णइ । कत्तो मे पयाभिलासो, णणु से वराओ नन्दियओ अज्ज पाहुणएहिं आगएहिं मम अग्गओ विनियजीहो विलोलनयणो विस्सरं रसंतो मारिओ भिच्छा ताए भण्णइ, नणु पुत्तया तया चेव ते कहियं आउरचिंताइं एयाइं ति । एस तेसिं विवागो अणुपत्तो त्ति " । अथाक्षरार्थः । आतुरश्चिकित्साया अविषयभूतो रोगी, तस्य यथा मर्तुकामस्य पथ्यमपथ्यं वा दीयते, एवमयमपि नन्दिको यानि मनोज्ञाहारजातानि चरति तानि आतुरचीर्णानि, अतो वत्स ! शुष्कतृणैर्यापय स्वशरीरं निर्वाहय यत एतद्दीर्घायुषो लक्षणम् एवमेतेऽप्यसंविग्नक्षुल्लका यन्मनोज्ञाहारादिभिरुपलाल्यन्ते तद् नन्दिकपोषणवद्द्रष्टव्यम् । बृ० १ उ० । अङ्गुलीयकविशेषे, औ० । जं० ।

खुड्डगकुमार-क्षुल्लककुमार-पुं० । पुण्डरीकभारितकण्डरीकस्य भार्यायाः यशोभद्रायाः पुत्रे, आव० ४ अ० । आ० चू० । (' अलोभया ' शब्दे प्र० भागे ७८४ पृष्ठे कथाऽस्य)

खुड्डगगणि-क्षुल्लकगणिन्-पुं० । क्षुल्लके गणिनि, व्य० ३ अ० । ('पवत्तिकुसल' शब्देऽस्य स्वरूपम्)

खुड्डगपयर-क्षुल्लकप्रतर-पुं० । सर्वलघुप्रदेशप्रतरे, भ० १३ श० ४ उ० । अथ किमिदं क्षुल्लकप्रतर इति ? । उच्यते-इह लोकाकाशप्रदेश उपरितनाधस्तनप्रदेशरहिततया विवक्षिता मण्डलाऽऽकारतया व्यवस्थिताः प्रतरमित्युच्यते । तत्र तिर्यग्लोकस्य ऊर्ध्वाऽधोऽपेक्षयाऽष्टादशयोजनशतप्रमाणस्य मध्यभागे द्वौ सर्वलघू क्षुल्लकप्रतरौ तयोर्मध्यभागे जम्बूद्वीपे रत्नप्रभाया बहुसमे भूमेः भागे मेरुमध्येऽष्टप्रादेशिको रुचकस्तत्र गोस्तनाकाराश्चत्वार उपरितनाः प्रदेशाश्चत्वारश्चाधस्तनाः एष एव च रुचकः सर्वासां दिशां विदिशां वा प्रवर्तकः । एतदेव च सकलतिर्यग्लोकमध्यं तौ च द्वौ सर्वलघू प्रतरावङ्गुलाऽसंख्येयभागबाहल्याच्च लोकसंवर्तितौ रज्जुप्रमाणौ । तत एतयोरुपर्यन्येऽन्ये प्रतराः । तिर्यग् अङ्गुलासंख्येयभागवृद्ध्या वर्द्धमानास्तावद् वृद्ध्या यावदूर्द्धलोकमध्यं तत्र पञ्चकरज्जुप्रमाणः प्रतरः । ततः उपर्यन्येऽन्ये प्रतराः तिर्यक् अङ्गुलासंख्येयभागहान्या हीयमानाः २ तावदेवाऽवसेयाः यावल्लोकान्ते रज्जुप्रमाणः प्रतरः । इहोर्ध्वलोकमध्यवर्तिनं सर्वोत्कृष्टं पञ्चरज्जुप्रमाणं प्रतरमवधीकृत्यान्ये उपरितना अधस्तनाश्च क्रमेण हीयमानाः सर्वेऽपि प्रतराः क्षुल्लकप्रतरा इति व्यवह्रियन्ते, यावल्लोकान्ते तिर्यग्लोके च रज्जुप्रमाणः प्रतर इति । तथा तिर्यग्लोकमध्यवर्त्ति सर्वलघुक्षुल्लकप्रतरस्याधस्तिर्यगङ्गुलासंख्येयभागवृद्ध्या वर्द्धमानाः २ प्रतरास्तावद्वक्तव्याः यावदधोलोकान्ते सर्वोत्कृष्टः सप्तरज्जुप्रमाणः प्रतरः । तं च सप्तरज्जुप्रमाणं प्रतरमपेक्ष्यान्ये उपरितनाः सर्वेऽपि क्रमेण हीयमानाः क्षुल्लकप्रतरा अभिधीयन्ते, यावत्तिर्यग्लोकमध्यवर्त्ती सर्वलघुः क्षुल्लकः प्रतरः । एषा क्षुल्लकप्रतरप्ररूपणा । तत्र तिर्यक्लोकमध्यवर्तिनः सर्वलघो रज्जुप्रमाणात् क्षुल्लकप्रतरादारभ्य यावदधो नवयोजनशतानि तावदस्यां रत्नप्रभायां पृथिव्यां ये प्रतराः ते उपरितनक्षुल्लकप्रतरा भण्यन्ते । तेषामपि चाधस्ताद् ये प्रतरा यावदधोलौकिकग्रामेषु सर्वान्तिमः प्रतरः तेऽधस्तनक्षुल्लकप्रतराः । नं० ।

खुड्डुजंतु-क्षुद्रजन्तु-पुं० । क्षुद्रप्राणिनि, । व्य० ४ उ० ।

खुड्डपाण-क्षुद्रप्राण-पुं० । क्षुद्रा अधमा अनन्तरभवे सिद्ध्यभावात् प्राणा उच्छ्वासादिमन्तः क्षुद्रप्राणाः एकद्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्मूर्छिमेषु अल्पकायेषु वा सत्त्वेषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०।
चउव्विहा खुद्दपाणा पएणत्ता तं जहा-बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया संमुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया। स्था०४ठा०४उ०।
छव्विहा खुड्डा पाणा पएणत्ता। तं जहा-बेइंदिया तेइंदिया चउरिंदिया समुच्छिमपंचिंदियतिरिक्खजोणिया तेउकाइया वाउकाइया ।

(छव्विहेत्यादि) सुगमम् । परमिह क्षुद्रा अधमा यदाह-"अल्पमधमं पण्यस्त्रीं, क्रूरं सरघां नटीं च षट् क्षुद्रान् ब्रुवत इति" अधमत्वं च विकलेन्द्रियतेजोवायूनामनन्तरभवे सिद्धिगमनाभावात् । यत उक्तम्-"भूदगपंकप्पभवा, श्रोरोहरिया उवच्चसिज्झेज्जा । विगलालभेज्ज विरइं, न उ किं च लभेज्ज सुहुमतसा" ॥ १ ॥ सूक्ष्मत्रसास्तेजोवायव इति। तथा एतेषु देवानुत्पत्तेश्च । यत उक्तम्-"पुढवीआउवणस्सइ-गब्भे पज्जत्तसंखजीवीसु । सग्गुच्चुयाणवासो, सेसा पमिसेहिया ठाणं " इति ॥ १ ॥ संमूर्छिमपञ्चेन्द्रियतिरश्चां चाधमत्वं तेषु देवानुत्पत्तेः। तथा पञ्चेन्द्रियत्वेऽप्यमनस्कतया विवेकाभावेन निर्गुणत्वादिति वाचनान्तरे तु सिंहा व्याघ्रा वृका दीपिका ऋक्षा इति क्षुद्रा उक्ताः, क्रूरा इत्यर्थः । स्था० ६ ठा० ।

खुड्डपायालकलस-क्षुद्रपातालकलश-पुं० । लघुपातालकलशेषु,जी० ३ प्रति०। (ते च 'लवणसमुद्द' शब्दे व्याख्यास्यन्ते)

खुड्डमड्ड-देशी-बहुशो व्याख्याने, " खुड्डमड्डत्ति वा बहुसोत्ति वा खुज्जोत्ति वा पुणोपुणो त्ति वा एगट्ठं " नि० चू० २० उ० ।

खुड्डमिग-क्षुद्रमृग-पुं० । क्लिष्टकर्मसत्त्वहरिणे,पञ्चा० ३ विव०। क्षुद्रा तुच्छपशो हरिणजात्यादौ, सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

खुड्डमुह-क्षुद्रमुख-त्रि० । मधुरमुखे मधुरभाषिणि, बृ० १ उ० ।

खुड्डसत्त-क्षुद्रसत्त्व-पुं० । अधमप्राणिनि,अल्पाध्यवसानविशेषे च । पञ्चा० १४ विव० ।

खुड्डा-क्षुद्रा-स्त्री० । क्षुद् रक् । वेश्यायां, कराटकायां,सरघायां मक्षिकायां, चाङ्गेर्यां, हिंस्रायां गवेधुकायाम्, वाच० । अखातसरस्याम्, जं० १ वक्ष० । दर्याम्, दशा० ७ अ० ।

खुड्डागजुम्म-क्षुल्लकयुग्म-पुं० । महायुग्मापेक्षया अल्पेषु राशिविशेषेषु, भ० ।

कइ णं भंते ! खुड्डागजुम्मा पएणत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि खुड्डागजुम्मा पएणत्ता । तं जहा-कडजुम्मे, तेओगे,दावरजुम्मे, कलिओए । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ,चत्तारि खुड्डागजुम्मा पएणत्ता । तं जहा-कडजुम्मे० जाव कलिओए ?। गोयमा ! जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, सेत्तं खुड्डागकडजुम्मे । जे णं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, सेत्तं खुड्डागतेओगे । जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए सेत्तं खुड्डागदावरजुम्मे । जेणं रासीचउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए, सेत्तं खुड्डागकलिओगे से तेणट्ठेणं जाव कलिओगे ॥

(खुड्डागजुम्म त्ति) युग्मानि वक्ष्यमाणा राशिविशेषास्ते च महान्तोऽपि सन्त्यतः क्षुल्लकशब्देन विशेषिताः तत्र चत्वारोऽष्टौ द्वादशेत्यादिसंख्यावान् राशिः क्षुल्लककृतयुग्मोऽभिधीयते, एवं त्रिसप्तैकादशादिको राशिः क्षुल्लकस्त्र्योजः । द्विषट्प्रभृतिको राशिः क्षुल्लकद्वापरः । एकपञ्चप्रभृतिकस्तु क्षुल्लककल्योज इति । भ० ३१ श० १ उ० । क्षुद्रकयुग्मविशेषणेन नैरयिकादीनामुपपातः ' उववाय ' शब्दे द्वि० भागे ९६३ पृष्ठे उक्तः)

खुड्डागणियंठ-क्षुद्रकनैर्ग्रन्थ्य-न० । उत्तराध्ययने षष्ठे, उत्त० । पूर्वस्मिन् अध्ययने अकामसकाममरणे उक्ते । तत्र सकाममरणं निर्ग्रन्थस्य भवति ततो निर्ग्रन्थस्य आचारः षष्ठे अध्ययने कथ्यते । अयं पञ्चमषष्ठाध्ययनयोः सम्बन्धः ।

जावन्तिऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अनन्तगे ॥ १ ॥

यावन्तोऽविद्याः पुरुषाः ते सर्वेऽपि मूढाः, संसारे बहुशो वारं वारं लुप्यन्ते आधिव्याधिवियोगादिभिः पीड्यन्ते । न विद्यते विद्या सम्यक् ज्ञानं येषां ते अविद्या अत्र नञ् कुत्सार्थवाचकः ये कुत्सितज्ञानसहिताः मिथ्यात्वोपहतचेतसो वर्त्तन्ते ते मूर्खाः संसारे दुःखिनो भवन्ति। कीदृशे संसारे? अनन्तके अपारे। कीदृशास्ते? अविद्याः दुःखसम्भवा दुःखस्य सम्भवो येषु ते दुःखसम्भवाः दुःखभाजनमित्यर्थः। यावन्तः अविद्या इत्यत्र प्राकृतत्वात् अकारोऽदृश्यः ॥ १ ॥ अत्र अविद्यापुरुषोदाहरणं यथाकश्चिद् द्रमकोऽभाग्यात् क्वापि किञ्चिद् प्राप्नुवन् पुरादेकस्मिन् देवकुले रात्रावुषितः । तत्रैकं पुरुषं कामकुम्भप्रसादेन यथेष्टभोगान् भुञ्जानं वीक्ष्य प्रकामं सेवितवान्। तुष्टेन तेनास्य भणितम्। भो! तुभ्यं कामकुम्भं ददामि। उत कामकुम्भविधायिकां विद्यां ददामि? तेन विद्यासाधनपुरश्चरणादिभीरुणा विद्याभिमन्त्रितं घटमेव मे देहीति भणितम्। विद्यापुरुषेण विद्याभिमन्त्रितो घट एव तस्मै दत्तः सोऽपि तत्प्रसादात् सुखी जातः । अन्यदापीतमद्योऽयं पुरुषस्तं कामकुम्भं मस्तके कृत्वा नृत्यन् पातितवान् । भग्नः कामकुम्भः । ततो नाऽसौ किञ्चिदर्थमवाप्नोति । शोचति चैवम्-यदि मया तदा विद्या गृहीताऽभविष्यत् तदाऽभिमन्त्र्य नवं कामकुम्भमकारिष्यं पूर्ववदेवं सुखी अभविष्यम् एवं अविद्या नराः दुःखसम्भवाः क्लिश्यन्ते ॥ १ ॥

समिक्ख पण्डिए तम्हा, पासजाईपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसिज्जा, मित्तिं भूएसु कप्पए ॥ २ ॥

तस्मात्प्रज्ञानिनां मिथ्यात्विनां संसारभ्रमणत्वात् पण्डितः तत्त्वज्ञः आत्मना स्वयमेव परोपदेशं विनैव सत्यमेषयेत् सद्भ्यो हितं सत्यम् अर्थात् संयममभिलषेत्। पुनः पण्डितः भूतेषु पृथिव्यादिषु षट्कायेषु मैत्रीं कल्पयेत्। किं कृत्वा? बहून् पाशजातिपथान् समीक्ष्य, पाशाः पारवश्यहेतवः पुत्रकलत्रादिसंबन्धास्त एव मोहहेतुतया एकेन्द्रियादिजातीनां पन्थानः पाशजातिपथास्तान् पाशजातिपथान् दृष्ट्वा यदा हि पुत्रकलत्रादिषु मोहं करोति तदा हि एकेन्द्रियत्वं जीवो बध्नाति ॥ २ ॥

माया पिया एहुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा ।
नालन्ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥ ३ ॥

परिमितः इति विचारयेदिति अध्याहारः कर्त्तव्यः इतीति किं? एते मम त्राणाय मम रक्षायै न अलं समर्थाः। कथंभूतस्य मम

स्वकर्मणा पीड्यमानस्य। एते के माता, पिता, स्नुषा पुत्रवधूः, भ्राता सहोदरः, भार्या पत्नी, पुत्राः पुत्रत्वेन मानिताः, च पुनः औरसाः स्वयमुत्पादिता एते सर्वेऽपि स्वकर्मसमुद्भूतदुःखात् रक्षणाय न समर्था भवन्तीत्यर्थः ॥३॥

एयमट्ठं सपेहाए, पासे समियदंसणे ।
छिंदे गेहिं सिणेहं च, न कंखे पुव्वसंथवं ॥ ४ ॥

शमितदर्शनः शमितं ध्वस्तं दर्शनं मिथ्यादर्शनं येन स शमितदर्शनः। अथवा सम्यक् प्रकारेण इतं प्राप्तं दर्शनं सम्यक्त्वं येन स समितदर्शनः एतादृशः संयमी एतदर्थं पूर्वोक्तमर्थम् अशरणादिकम् (सपेहाए) स्वप्रेक्षया स्वबुद्ध्या (पासे इति) पश्येत् हृदि अवधारयेत् च पुनः गेहिं) गृद्धिं रसलाम्पट्यं च पुनः स्नेहं पुत्रकलत्रादिषु रागं छिन्द्यात् । पुनः पूर्वसंस्तवः पूर्वपरिचयः एकत्र ग्रामादिवासस्तं न स्मरेत् ॥ ४ ॥

गवासं मणिकुंडलं, पसवो दासपोरुसं ।
सव्वमेयं चइत्ताणं, कामरूवी भविस्ससि ॥ ५ ॥

पुनरपि पण्डितः आत्मानमिति शिक्षयेत् । अथ वा गुरुः शिष्यं प्रत्युपदिशति-हे आत्मन्! अथवा हे शिष्य ! एतत् सर्वं त्यक्त्वा कामरूपी स्वेच्छाचारी भविष्यसि । एतेषु ममत्वं त्यजसि । तदा इह भवे तु वैक्रियलब्धिः अणिमामहिमागरिमालघिमाप्राप्तिप्राकाम्येशित्ववशित्वादिमान् भविष्यसि । परलोके च निरतीचारसंयमपालनात् देवभवे वैक्रियादिलब्धिमान् त्वं भविष्यसि । तत्किं ? तदाह-गवाश्वं गावश्च अश्वाश्च गवाश्वं पुनर्मणिकुण्डलं मणयश्चन्द्रकान्ताद्याः कुण्डलग्रहणेन अन्येषामप्यलङ्काराणां ग्रहणं स्यात्, सर्वे मणयः सर्वाण्यलङ्काराणि च इत्यर्थः। पशवः अजैडकपट्टमपट्यादुत्पादकरोमधारककुक्कुरादयश्च, दासा गृहदासीभ्यः समुत्पन्नाः, दासाश्च पौरुषाश्च दासपौरुषम् एते सर्वेऽपि मरणात्र त्रायन्ते इत्यर्थः । तस्मात् पूर्वम् एतत् त्यक्त्वा संयमं परिपालयेदित्यर्थः ।

थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं ।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाउ मोयणे ॥ ६ ॥

पुनरेतत्सर्वं वस्तु कर्मभिः पच्यमानस्य जीवस्य दुःखान्मोचने अलं समर्थं न भवति । एतत्किम् ? स्थावरं, गृहादिकं । पुनर्जङ्गमं च पुत्रमित्रभृत्यादि । पुनर्धनं गवादि,धान्यं व्रीह्यादि । पुनरुपस्करं गृहोपकरणम् ॥ ६ ॥

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियाऽऽयए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराउ उवरए ॥ ७ ॥

साधुः सर्वतः सर्वप्रकारेण सर्वमध्यात्मं सुखदुःखादिकं (दिस्स इति) दृष्ट्वा सर्वप्रकारेण सर्वं सुखदुःखादिकमात्मनि स्थितं ज्ञात्वा सुखदुःखयोर्वेदकमात्मानं ज्ञात्वा । इष्टसंयोगादिहेतुभ्यः समुत्पन्नं सुखं सर्वस्यात्मनः प्रियं स्यात् । इष्टवियोगादिहेतुभ्यः समुत्पन्नं दुःखं सर्वस्यात्मनः अप्रियं ज्ञात्वा इत्यर्थः । च पुनः प्राणिनो जीवान् प्रियात्मनो दृष्ट्वा, प्रियः आत्मा येषां ते प्रियात्मानः " सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जिउं " इति दृष्ट्वा हृदि विचार्य प्राणिनो जीवस्य प्राणान् इन्द्रियोच्छ्वासनिःश्वासायुर्बलरूपान् न हन्यात् । भयात् वैरात् च उपरमेन निवर्तेत । अथ वा कथंभूतः साधुः भयात् वैरात् उपरतो निवर्तितः इति साधुविशेषणं कर्तव्यम् ॥ ७ ॥

आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि ।
दोगुंछी अप्पणो पाए, दिन्नं भुंजिज्ज भोयणं ॥ ८ ॥

साधुस्तृणमपि (नायइज्ज इति) न आददीत अदत्तं न गृह्णीत । किं कृत्वा आदानं नरकं दृष्ट्वा, आदीयते इत्यादानं धनधान्यादिकपरिग्रहं नरकं नरकहेतुत्वात् नरकं ज्ञात्वा इत्यर्थः । पुनः साधुः (पाए दिन्नं)पात्रे दत्तं गृहस्थेन पात्रमध्ये प्रक्षिप्तं भोजनं शुद्धाहारम् (भुंजेज्ज इति) भुञ्जीत । कथम्भूतः सन् (अप्पणो दुगुंछी) आत्मनो जुगुप्सी सन् । आहारसमये आत्मनिन्दकः सन् अहो धिक् मम आत्मानमयं ममात्मा देहो वा आहारं विना धर्मकरणे असमर्थः । किं करोमि धर्मनिर्वाहार्थमस्मै भाटकं दीयते इति चिन्तयन् आहारं कुर्यात् । न तु बलवीर्यपुष्ट्याद्यर्थमाहारो विधीयते इति चिन्तयेत् । अत्रादत्तपरिग्रहाश्रवद्वयनिरोधात् अन्येषामप्याश्रवाणां निरोधोऽप्युक्त एव ॥८॥

इह एगे उ मन्नंति, अपच्चक्खायपावगं ।
आयरियं विदित्ता णं, सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥ ९ ॥

इह अस्मिन् संसारे एके केचित् कापिलिकादयो ज्ञानवादिन इति मन्यन्ते । इतीति किं ? पापकं हिंसादिकमप्रत्याख्याय पापमनालोच्याऽपि मनुष्यः आचारिकं स्वकीयमतोक्तधानुष्ठानसमूहं विदित्वा ज्ञात्वा सर्वदुःखात् विमुच्यते । एतावता तत्त्वज्ञानात् मोक्षावाप्तिः इति वदन्ति । जैनानां तु ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः ज्ञानवादिनां तु ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गमिति ॥९॥

भणन्ता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
वायावीरियमेत्तेणं, समासासन्ति अप्पयं ॥ १० ॥

पुनस्ते एव ज्ञानवादिनो बन्धमोक्षप्रतिज्ञिनः वाचावीर्यमात्रेण केवलं वाक्शूरत्वेन आत्मानं समाश्वासयन्ति । बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षौ, तयोः प्रतिज्ञा आद्यं ज्ञानं येषां ते बन्धमोक्षप्रतिज्ञिनः, बन्धमोक्षज्ञा इत्यर्थः । "मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः । यत्रैवालिङ्गिता कान्ता, तत्रैवालिङ्गिता सुता " इत्यादि प्रतिज्ञां कुर्वाणाः । ते किं कुर्वन्तः आत्मानम् आश्वासयन्ति भणन्तो ज्ञानमभ्यस्यन्तः, च पुनः अकुर्वन्तः क्रियामनाचरन्तः, प्रत्याख्यानतपःपौषधव्रतादिकां क्रियां निन्दन्तः ज्ञानमेव मुक्त्यङ्गतयाऽङ्गीकुर्वन्त इत्यर्थः ॥१०॥

न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।
विसन्ना पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥ ११ ॥

पण्डितमानिनः आत्मानं पण्डितं मन्यन्ते इति पण्डितम्मन्याः,ज्ञानाहङ्कारधारिण इति न जानन्तीत्यध्याहारः। इतीति किं ? चित्राः प्राकृतसंस्कृताद्याः षट् भाषाः। अथ वा अन्या अपि देशविशेषात् नानारूपा भाषा वा पापेभ्यो दुःखेभ्यो न त्रायन्ते न रक्षन्ति। तर्हि विद्यानां न्यायमीमांसादीनाम् अनुशासनमनुशिक्षणं विद्यानुशासनं कुतः त्रायते,?, न त्रायते इत्यर्थः । अथ वा-विद्यानां विचित्रमन्त्रात्मिकानां रोहिणीप्रज्ञप्तिकागौरीगान्धार्यादिषोडशविद्यादेव्यधिष्ठितानामनुशासनम् अनुशिक्षणम् आराधनं कुतो नरकात्त्रायते ?। कीदृशास्ते ? बाला अतत्त्वज्ञाः । पुनः कीदृशास्ते ?- पापकर्मभिर्विषण्णाः, विविधमनेकप्रकारं यथा स्यात्तथा सन्नाः, पापपङ्केषु कलिता इत्यर्थः ॥ ११ ॥

जे केई सरीरे सत्ता, वन्ने रूवे य सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥ १२ ॥

ये केचन ज्ञानवादिनः शरीरे शक्ताः सन्ति, शरीरे सुखान्वेषिणः सन्ति । तथा-पुनर्ये वर्णे शरीरस्य गौरादिके, च पुनस्तथा-रूपे सुन्दरनयननासादिके, चशब्दात् शब्दे रसे गन्धे स्पर्शे च । सर्वथा मनसा कायेन वाक्येन सक्ताः संलग्नाः सन्ति । ते सर्वे दुःखसम्भवाः दुःखस्य संभवा दुःखभाजनं भवन्ति । मृगपतङ्गमीनमधुपमातङ्गवत् । इहलोके यथा मरणदुःखभाजः मृताः, तथा परलोकेऽप्यार्तध्यानेन दुःखिनः स्युरित्यर्थः ॥१२॥

आवन्ना दीहमद्धाणं, संसारम्मि अणन्तए ।
तम्हा सव्वदिसं पस्स, अप्पमत्तो परिव्वए ॥ १३ ॥

ते ज्ञानवादिनो विषयिणः अनन्तके अपारे संसारे दीर्घं मध्वानं दीर्घं मार्गमापन्नाः प्राप्ताः सन्ति । तस्मात्कारणात् सर्वां दिशं भवभ्रमणरूपाम । अष्टादश भावदिशः दृष्ट्वा साधुरप्रमत्तः प्रमादरहितः सन् परिव्रजेत् विचरेत् । अष्टादश भावदिशश्च इमाः-

"पुढवि १ जल २ जलण ३ वाऊ ४-
मूला ५ खंध ६ गा ७ पोरबीया य ८ ।
वि ९ ति १० चउ ११ पंचिंदियतिरि-
१२ नारया १३ देवसंघाया १४ ॥ १ ॥
संमुच्छिम १५ कम्मा १६ क-
म्मगा य १७ मणुया १८ तहंतरद्दीवा १८ ।
भावदिसा दिस्सइ जं, संसारी नियमेआहिं" ॥ २ ॥ इति ।

संसारे प्रमादिनो जीवा इमासु अष्टादशभावदिशासु पुनः पुनर्भ्रमन्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

वहिया उड्ढमादाय, नावकंखे कयाइ वि ।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे ॥ १४ ॥

साधुः पूर्वकर्मक्षयार्थमिमं देहं समुद्धरेत्, सम्यक् शुद्धाहारेण धारयेत् । पुनः कदापि च परीषहोपसर्गादिभिः पीडितोऽपि न कस्यापि साहाय्यमवकाङ्क्षेत् अभिलषेत् । अथवा-कदापि विषयादिभ्यो न स्पृहयेत् । किं कृत्वा ?-(वहिया) संसाराद्बहिस्तात् संसाराद्बहिर्भूतमूर्द्ध्वं लोकाग्रस्थानं मोक्षमादाय अभिलष्य ॥ १४ ॥

विगिंच कम्मुणो हेउं, कालकंखी परिव्वए ।
मायं पिंमस्स पाणस्स, कडं लद्धूण भक्खए ॥ १५ ॥

कालकाङ्क्षी अवसरज्ञः साधुः कर्मणां हेतुं कर्मणां कारणं मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगादिकम् (विगिंच) विविच्य आत्मनः सकाशाद् पृथक्कृत्य परित्यजेत्संयममार्गे सञ्चरेत् । कालं स्वक्रियानुष्ठानस्य अवसरं काङ्क्षतीत्येवंशीलः कालकांक्षी, पुनः स साधुः पिण्डस्य आहारस्य तथा-पानस्य पानीयस्य मात्रां परिमाणं लब्ध्वा भक्षयेत्; यावत्या मात्रया आत्मसंयमनिर्वाहः स्यात्, तावत्परिमाणम् आहारं पानीयं च गृहीत्वा, आहारं पानीयं च कुर्यादित्यर्थः । कथंभूतमाहारम् ?- (कडं) गृहस्थेन आत्मार्थं कृतं, प्राकृतत्वात् विभक्तिव्यत्ययः ॥ १५ ॥

संनिहिं च न कुव्विज्जा, लेवमायाएँ संजए ।
पक्खी पत्तं समादाय, निरविक्खो परिव्वए ॥ १६ ॥

च पुनः संयतः साधुर्लेपमात्रयापि संनिधिं न कुर्यात् लेपस्य मात्रा लेपमात्रा तया लेपमात्रया, सं सम्यक्प्रकारेण निधीयते स्थाप्यते दुर्गतौ आत्मा येन स सन्निधिः, घृतगुडादिसञ्चयस्तं न कुर्यात्, यावता पात्रं लिप्यते तावन्मात्रमपि घृतादिकं न सञ्चयेत् । भिक्षुराहारं कृत्वा (पत्तं) पात्रं समादाय गृहीत्वा निरपेक्षः सन् निःस्पृहः सन् परिव्रजेत्, साधुमार्गे प्रवर्तेत । क इव?, (पक्खी इव) यथा-पक्षी आहारं कृत्वा (पत्तं) पत्रं तनूरुहमात्रं गृहीत्वा उड्डीयते तथा साधुरपि कुक्षिसंबलो भवेत् ॥१६॥

एसणासमिओ लज्जू, गामे अनिअओचरे ।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिंमवायं गवेसए ॥ १७ ॥

एषणासमितो निर्दोषाहारग्राही ग्रामे नगरे वा, अनियतो नित्यवासरहितः सन् चरेत् संयममार्गे प्रवर्तेत । कीदृशः साधुः ?-(लज्जू) लज्जालुः लज्जा संयमस्तेन सहितः । पुनः कीदृशः?-अप्रमत्तः प्रमादरहितः । पुनः साधुः ?-(पमत्तेहिं इति) प्रमत्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः पिण्डपातं भिक्षां गवेषयेत् गृह्णीत । प्राकृतत्वात्पञ्चमीस्थाने तृतीया ॥ १७ ॥

एवं से उदाहु, अणुत्तरनाणी अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे अरहा नायपुत्ते भयवं वेसालिए वियाहिए त्ति बेमि ॥ १८ ॥

सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनं प्रत्याह-हेजम्बु ! (से इति) स अर्हन् ज्ञातपुत्रो महावीर एवं (उदाहु) उदाहृतवान् । अहं तवाग्रे इति ब्रवीमि । अर्हन् इन्द्रादिभिः पूज्यः ज्ञातः प्रसिद्धः सिद्धार्थक्षत्रियः तस्य पुत्रो ज्ञातपुत्रः । कीदृशः महावीरः?-भगवान् अष्ट महाप्रातिहार्याद्यतिशयमाहात्म्ययुक्तः । पुनः कीदृशः?-विशाला त्रिशला तस्याः पुत्रो वैशालिकः । अथवा-विशालाः शिष्य-तीर्थ-यशःप्रभृतयो गुणाः अस्येति वैशालिकः । पुनः कीदृशो महावीरः-(वियाहिए इति) व्याख्यातविशेषेण आख्याता द्वादशासु परिषदासु समवसरणे धर्मोपदेशं व्याख्याता, धर्मोपदेशक इत्यर्थः । पुनः कीदृशो महावीरः?-अनुत्तरज्ञानी सर्वोत्कृष्टज्ञानधारी । पुनः कीदृशः?-अनुत्तरदर्शी अनुत्तरं सर्वोत्कृष्टं पश्यतीत्येवंशीलोऽनुत्तरदर्शी । पुनः कीदृशः?-अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः ज्ञानं च दर्शनं च ज्ञानदर्शने, अनुत्तरे च ते ज्ञानदर्शने च अनुत्तरज्ञानदर्शने, अनुत्तरज्ञानदर्शने धरतीति अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः, केवलवरज्ञानदर्शधारी इत्यर्थः । अत्र पूर्वम् अनुत्तरज्ञानी अनुत्तरदर्शी इति विशेषणद्वयं मुक्त्वा पुनरनुत्तरज्ञानदर्शनधर इति विशेषणमुक्तं, तेन केवलज्ञानकेवलदर्शनयोरेकसमयान्तरेण युगपदुत्पत्तिः सूचिता, अनयोः कथञ्चिद्भेदोऽभेदश्च सूचितः, पुनरुक्तिदोषो न ज्ञेयः ॥ १८ ॥ इति क्षुल्लकनिर्ग्रन्थित्वाध्ययनं संपूर्णम् अत्राध्ययने क्षुल्लकस्य साधोर्निर्ग्रन्थित्वमुक्तमित्यर्थः । उत्त० ६ अ० ।

खुड्डागनिग्गंथसुत्त-क्षुल्लकनिर्ग्रन्थसूत्र-न० । क्षुल्लकनिर्ग्रन्थनामकसूत्रे षष्ठे उत्तराध्ययने, उत्त० ६ अ० ।

खुड्डागभव-क्षुल्लकभव-पुं० । क्षुल्लकः सर्वभवापेक्षया स्तोकाम् भवतीति क्षुल्लकभवः । तस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणं च सर्वेषामप्यौदारिकशरीरिणां भवतीत्यवसेयम्, भगवत्यामेवमेवोक्तत्वात्, कर्मप्रकृत्यादिषु औदारिकशरीरिणां तिर्यङ्मनुष्याणामायुषो जघन्यस्थितिः क्षुल्लकभवग्रहणरूपायाः प्रतिपादनाच्च । यत्पुनरावश्यकटीकायां क्षुल्लकभवग्रहणं वनस्पतिष्वेव प्राप्यते इत्युक्तं तन्मतान्तरमित्यवसीयते इति । साम्प्रतमेकस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे आवलिकाद्वारेण कालमानं निरूपयितुकामो यावत्यः आवलिका प-

कस्मिन् क्षुल्लकभवग्रहणे भवन्ति एतदेवाह-(आवलियाणं दोसे येत्यादि) आवलिकानाम् "असंखिज्जाणं समयाणं समुदयसमिइसमागमेणं सा एगा आवलिय त्ति वुच्चइ " इति । इत्यागमप्रतिपादितस्वरूपाणां द्वे शते षट्पञ्चाशदधिके भवत एकक्षुल्लकभवे एकक्षुल्लकभवग्रहणे इति । कर्म० ५ कर्म० ।

खुड्डागभवग्गहण-क्षुल्लकभवग्रहण-न० । क्षुल्लं लघु स्तोकमित्येकार्थाः । क्षुल्लमेव क्षुल्लकम् एकायुष्कसंवेदनकालो भवः तस्य ग्रहणं संबन्धनं भवग्रहणं क्षुल्लकं च तद्भवग्रहणं च क्षुल्लकभवग्रहणम् । क्षुल्लकभवसंबन्धने, जी० १ प्रति० । (अस्य विस्तारो ' भवग्गहण ' शब्दे)

खुड्डागसव्वओभद्दपडिमा-क्षुद्रकसर्वतोभद्रप्रतिमा-स्त्री० । महत्यपेक्षया क्षुद्रायां सर्वतोभद्रप्रतिमायाम्, अन्त० ।

तत्स्वरूपं चेत्थम्—

खुड्डायं सव्वतोभद्दं उवसंपज्जित्ताणं विहरति तं चउत्थं करोति कचउत्थं करेतित्ता सव्वकामगुणेय पारति पारित्ता छट्ठं क० २ सव्व० २ । अट्ठमं २ सव्व० २ । दसमं २ सव्व० २ । दुवालसमं २ सव्व० २ । अट्ठमं २ सव्व० २ । दसमं २ सव्व० २ । दुवालसमं २ सव्व० २ । चउत्थं २ सव्व० २ । छट्ठं क० २ सव्व० २ । दुवालसमं २ सव्व० २ । छट्ठं क० २ सव्व० २ । अट्ठमं २ सव्व० २ । दसमं २ सव्व० २ । छट्ठं क० २ । सव्व० २ । अट्ठमं २ सव्व० २ । दसमं २ सव्व० २ । दुवालसमं २ सव्व० २ । चउत्थं क० २ । सव्व० २ । दसमं २ सव्व० २ । दुवालसमं २ सव्व० २ । चउत्थं २ सव्व० २ । छट्ठं क० २ । सव्व० २ । अट्ठमं २ सव्व० २ । एवं खलु एयं खुड्डागसव्वतोभद्दस्स तवोकम्मस्स पढमं परिवाडी, तिहिं मासेहिं दसहिं दिवसेहिं अहासुत्तं० जाव आराहेती । दोच्चा ते परिवाडी ते चउत्थं करेति करेतित्ता विगतवज्जं पारेति पारेतित्ता जहा रयणावलीए तहा एत्थ वि ॥

(खुड्डायं सव्वओभद्दपडिमं) भिक्षुः प्रकामं महत्यपेक्षया सर्वतः सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च भद्रा समसंख्येति सर्वतो भद्रा तथाहि-एकादीनां पञ्चकानामङ्कानां सर्वतो भावात् पञ्चदश पञ्चदश सर्वत्र तस्या जायन्त इति स्थापनोपायगाथा "एगाई पंचंऽते य, विओ मज्झं तु आइमणुयंति । सेसे कमेण ठविउं, जाण लहुं सव्वओभद्दं ॥ १ ॥" इति तपोदिनानीह पञ्चसप्ततिः । अन्त० ८ वर्ग ।

खुड्डागसीहनिक्कीलिय-क्षुद्रकसिंहनिष्क्रीडित-न० । महासिंहनिष्क्रीडितापेक्षया क्षुद्रकसिंहनिष्क्रीडितनामके तपसि, औ० । अन्त० । (तत्स्वरूपं 'सीहनिक्कीलिय' शब्दे वक्ष्यते)

खुड्डिय-खण्डित-त्रि० । " च्यमस्खण्डिते णा वा " । ८ । १ । ५३ । इति णकारेण सहितस्यादेरत उत्वम् । छिन्ने, खुड्डिओ-खंडिओ । प्रा० १ पाद

खुड्डिया-क्षुद्रिका-स्त्री० । लघ्व्यामखातसरस्याम्, जं० १ वक्ष० । जलाशयविशेषे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । लघ्वीनि, स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थे, " खुड्डियाओ खुड्डुवारियाओ " क्षुद्रिका लघ्व्यस्तथा क्षुद्रद्वाराः । आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ० । रा० । सूत्र० " खुड्डिया चेव मोयपडिमा " स्था० २ ठा० ३ उ० । इयं च द्रव्यतः प्रश्रवणविषया क्षेत्रतो ग्रामादेर्बहिः, कालतः शरदि, निदाघे वा प्रतिपद्यते । भुक्त्वा चेत् प्रतिपद्यते चतुर्दशभक्तेन समाप्यते अभुक्त्वा तु षोडशभक्तेन भावतस्तु दिव्याद्युपसर्गसहनमिति । स्था० २ ठा० ३ उ० । औ० । (विस्तरस्तु ' मोयपडिमा ' शब्दे अभिधास्यते) " खुड्डियाविमाणपविभत्ति " अल्पग्रन्थार्था विमानप्रविभक्तिः कालिकश्रुतविशेषः । पा० ।

खुड्डियाए णं विमाणपविभत्तीए पढमे वग्गे । सत्त तीसं उद्देसणकाला पण्णत्ता ॥

क्षुद्रिकायां विमानप्रविभक्तौ कालिकश्रुतविशेषस्तत्र किल बहवो वर्गा अध्ययनसमुदायात्मका भवन्ति । तत्र प्रथमे वर्गे प्रत्यध्ययनमुद्देशस्य ये काला इति स० ३ सम० ।

खुण्ण-क्षुण्ण-त्रि० । मर्दिते, नि० चू० १ उ० । मग्ने, संथा० । अभ्यस्ते, विहते, चूर्णीकृते च । वाच० ।

खुत्थिय-क्षुभित-त्रि० । भूमीपतनात् प्रदेशान्तरेषु नमिते, भ० १ श० २ उ० ।

खुत्त-क्षुप्त-त्रि० । संसारसागरे बुमिते, " जम्ममरणं च ते खुत्ता " संथा० ।

खुद्द-क्षुद्र-त्रि० । अधमे, स्था० ६ ठा० । क्षुद्रजनाचरितत्वात् प्राणवधे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । क्षुद्रकर्मकारिणि, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । नीचे, उत्त० ३१ अ० । " खुद्दो जणो नत्थि " क्षुद्रो जनो दुर्जनलोकः । बृ० १ उ० । कृपणे, द्वा० १० द्वा० । क्षौद्र-न० । क्षौद्राभिर्भ्रमरीभिः कृतः । मधुनि, वाच० ।

खुद्दकुट्ठ-क्षुद्रकुष्ठ-न० । एकादशकुष्ठादिषु एकादशकुष्ठभेदेषु, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि तद्यथा-स्थूलारुष्कमहाकुष्ठचर्मदलपरिसर्पविसर्पसिध्मविचर्चिकाकिटिभपामापशलतारुकसंज्ञानीति । आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

खुद्दमुह-क्षुद्रमुख-पुं० । मधुमुखे, मधुरभाषिणि, बृ० १ उ० ।

खुद्दाय-क्षुद्रात्मन्-त्रि० । क्रूरस्वभावे, " खुद्दाए भासरसी " कल्प० ६ क्षण ।

खुद्दिमा-क्षुद्रिमा-स्त्री० । गान्धारग्रामस्य द्वितीयमूर्च्छनायाम्, स्था० ७ ठा० ।

खुधिय-क्षुधित-त्रि० । बुभुक्षिते, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

खुप्प-मज्ज-धा० । स्नाने, तुदा० पर० अक० अनि० । वाच० ।

" मस्जेराउड्ड-णिउड्ड-बुड्ड-खुप्पाः " ८ । ४ । १०१ इति मस्जेः खुप्पादेशः । ' खुप्पइ ' मज्जति । प्रा० ४ पाद ।

क्षुप-पुं० । लतासमुदाये, प्रा० ४ पाद ।

खुप्पिउं-मङ्क्तुम्-अव्य० । खुत्तयितुमित्यर्थे, " पङ्कव्व खुप्पिउं जे " तं० ।

खुब्भंत-क्षुभ्यत्-त्रि० । अधो निमज्जति, स्था० ७ ठा० ।

खुब्भण-क्षोभण-न० । बहुमोहने, ओघ० । संचलने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

खुभिय-क्षुभित-त्रि० । भीते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । क्षोभे, न० ।

भोघ० । कलहे, बृ० ३ उ० । आलोडिते,व्याकुले, वाच० । "समं-तओ खुभियचक्कवालं" क्षुभितानि चक्रवालानि जनमण्डलानि यत्र गमने तत्तथा भवत्येवं निर्गच्छतीति संबन्धः । भ० ६ श० ३३ उ० ।

खुभियव्व–क्षुभितव्य–न० । क्षोभे कार्ये,प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार ।

खुमा–क्षुमा–स्त्री० । अतस्याम, शणे, नीलिकायाम, वाच० । रोममुण्डनसाधने, उत्त० १७ अ० ।

खुर–क्षुर–पुं० । नापितोपकरणे, अनु० । सूत्र० । तीक्ष्णे शरीरावयवकर्त्तने, सूत्र० १ श्रु०२ अ० १ उ० । ज्ञा० । क्षुरे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । "खुरे चेव एगधारए त्ति" यथा क्षुर एकधार एवं साधुरुत्सर्गलक्षणैकधारः । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । कोकिलाक्षे, गोखुरे, महापिण्डीतके वाणे च । वाच० ।

खुर–पुं० । शफे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । कोलदले, नखिनां गन्धद्रव्ये, खट्वापादे, वाच० ।

खुरदुगुत्ता–क्षुरद्रिकोत्था–स्त्री० । चर्मकीटतायाम, "एवं खुरदुगुत्ताए" चर्मकीटत्वेन जायन्ते तथा हि–जीवतामेव गोमहिष्यादीनां चर्मणोऽन्तः प्राणिनः संमूर्च्छन्ते, । सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

खुरधार–क्षुरधार–त्रि० । क्षुरस्येव धारा यस्यातिच्छेदकत्वादसौ क्षुरधारः । क्षुरवत्तीक्ष्णधारे, "असिं खुरधारं गहाय" उपा० २ अ० । क्षुरो हापितीक्ष्णधारो भवति । अन्यथा केशानाममुण्डनात् । इति क्षुरेणोपमा खड्गधारायाः । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

खुरनिबद्ध–क्षुरनिबद्ध–पुं० । शफवद्धयोः रासभबलीवर्दयोः,पिं० ।

खुरपत्त–क्षुरपत्र–न० । क्षुरः (क्षुरः) एव पत्रं क्षुरपत्रम् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । क्षुरे, विपा० १ श्रु० ६ अ० । ज्ञा० ।

खुरप्प–क्षुरप्र–पुं० । प्रहरणविशेषे, दशा० ६ अ० । श्रोत्रेन्द्रियं क्षुरप्रसंस्थानसंस्थितम् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० । निशी० । सूत्र० । घासच्छेदनशस्त्रे, (खुरपी) लोके तत्तुल्याग्रफलके शरे, वाच० ।

खुरि–खुरिन्–पुं० । स्त्री० । खुरोऽस्यास्तीति खुरी खुररूपावयवयुक्ते, आव० ३ अ० ।

खुल्ल–क्षुल्ल–त्रि० । लघौ,प्रज्ञा० १ पद । द्वीन्द्रियभेदे,जी० १ प्रति० ।

खुल्लक–क्षुल्लक–त्रि० । ह्रस्वे, अन्त० ४ वर्ग । बाले,क्षुल्लकसम्बन्धश्चायम्–वसन्तपुरे देवप्रियः श्रेष्ठी तस्य यौवने भार्या मृता पुत्रेणाष्टवार्षिकेण सह प्रव्रजितः । ततश्च स क्षुल्लकः परीषहैर्बाध्यमानो वक्ति–तात ! न शक्नोमि उपानहौ विना प्रव्रजितुम् । मोहेन पिता ते अनुजानाति । पुनर्वक्ति–तात ! न शक्नोमि शीर्षे सोढुमातपम् । पिता शीर्षे छत्रमनुजानाति । पुनर्वक्ति–तात ! न शक्नोमि भिक्षाटनं कर्तुम् । ततः पिता आनीय दत्ते । एवं भूमौ न संस्तारयितुं शक्नोमि । ततः पिता फलकमर्पयति । एवं लोचस्थाने क्षौरं कारयति । प्रक्षालयत्यङ्गं प्रासुकनीरेण । पुनर्वक्ति–तात ! न शक्नोमि ब्रह्मव्रतं पालयितुम् । ततोऽयोग्योयमिति पित्रा निष्काशितः मृत्वा महिषो जातः । पिता चारित्रमाराध्य देवो जातः । अवधिना सुतं महिषं पश्यति । स सार्थवाहरूपं कृत्वा तं महिषं गुरुभारमवाहयत् । तात ! न शक्नोमि इत्यादि पूर्वभवोक्तं पुनः कथयन् स्मारयति । तस्य जातिस्मरणमुत्पन्नम् । गृहीताऽनशनो महिषो मृत्वा वैमानिकदेवो जातः । इति क्षुल्लककथा । ग० २ अधि० । (क्षुल्लकस्य धर्मपरित्यागे समस्यापादपूर्त्तिः 'सम्मत्त' शब्दे ज्ञेया । गच्छक्षुल्लकस्य पिपासापरिषहसहनं च 'पिवासा' शब्दे)

खुल्लगपायसमास–क्षुल्लकपादसमास–पुं० । शिष्टिनां परीक्षणाय कृतायां सभायां क्षुल्लकेन कृते गाथापादसंक्षेपे, आचा० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

खुव–क्षुप–पुं० । ह्रस्वशाखामूले वृक्षे । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

खुव्वय–खुव्वक–न० । पलाशादिपत्रमये दोक्षिके, १ व्य० २ उ० ।

खुहज्झाण–क्षुद्ध्यान–न० । क्षुधा क्षुत्परीषहोदयजन्यपीडाविशेषः । तया यद्ध्यानं क्षुद्ध्यानं राजगृहपाशगतलोकसङ्घगतद्रमकस्येव क्षुधार्तध्याने, आतु० ।

खुहपिवास–क्षुत्पिपास–न० । क्षुध पिपासा च क्षुत्पिपासम् । बुभुक्षा तृष्णयोः । जी० ३ प्रति० ।

नैरयिकाणां क्षुत्पिपासे चिन्तयति–

इमीसे णं भंते ! रयणप्पहाए णेरतिया केरिसयं खुहपिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । गोयमा ! एगमेगस्स णं रयणप्पभापुढविनेरतियस्स असब्भाव पत्थवणाए सव्वोदधी वा सव्वपोग्गले वा आमयंसि पक्खिवेज्जा । णो चेव णं से रयणप्पभाए पुढवीए नेरइए तित्ते वा सिता वितण्हे वा सिता एरिसिया णं । गोयमा ! रयणप्पभाए जे णेरइया खुधं पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । एवं० जाव अहे सत्तमाए ॥

(रयणेत्यादि) रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाः भदन्त ! कीदृशं क्षुधं पिपासां प्रत्यनुभवन्तः प्रत्येकं वेदयमाना विहरन्त्यवतिष्ठन्ते भगवानाह–गौतम ! (एगमेगस्स णमित्यादि) एकैकस्य रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकस्य असद्भावस्थापना असद्भावकल्पनया ये केचन पुद्गला उदधयश्चेति शेषाः तान् आस्यके मुखे सर्वपुद्गलान् सर्वोदधीन् प्रक्षिपेत् तथाऽपि (नो चेव णमित्यादि) नैव स रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकस्तृप्तो वा वितृष्णो वा स्यात् । लेशतोऽत्र प्रबलभस्मकव्याध्युपेतः पुरुषो दृष्टान्तः (एरिसिया णमित्यादि) ईदृशीं णमिति वाक्यालङ्कृतौ गौतम ! रत्नप्रभापृथिवीनैरयिकाः क्षुधं पिपासां प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति । एवं प्रतिपृथिवि तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी । जी० ३ प्रति० । वाच० ।

देवानाम्—

सोधम्मीसाणे देवा केरिसयं खुहं पिवासं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति । गोयमा ! णत्थि खुहं पिवासं पच्चणुभवमाणा विहरंति० जाव अणुत्तरो ॥

(सोधम्मीत्यादि) सौधर्मेशानयोर्भदन्त ! कल्पयोर्देवाः कीदृशं क्षुत्पिपासं क्षुध पिपासा च क्षुत्पिपासं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्ति–आसते ?। गौतम ! नास्त्येतत् यत्तत्क्षुत्पिपासं प्रत्यनुभवन्तो विहरन्तीति । एवं यावदनुत्तरोपपातिकाः । जी० ४ प्रति० ।

खुहपिवासमहण–क्षुत्पिपासामथन–त्रि० । क्षुच्च पिपासा च तयोर्मथनः क्षुत्पिपासामथनः क्षुत्तृणाशने प्रबलाहारे, जी० ३ प्रति० ।

खुहा–क्षुध्–स्त्री० । " क्षुधो हा " ८ । १ । १७ । इत्यन्तस्य हाऽऽदेशः । प्रा० १ पाद । बुभुक्षायाम्, स्था० १० ठा० । सं० । आव० । कल्प० । क्षुध इति कर्मणः आख्यानम् ' भिनत्तीति ' निरुक्तिः । नि० चू० २० उ० । ध्य० ।

खुहापरिसह–क्षुत्परिषह–पुं० । क्षुदेवात्यन्तव्याकुलत्वहेतुरप्यासंयमभीरुतया आहारपरिपाकादिवाञ्छानिवर्त्तनेन परीति सर्वप्रकारं सह्यते इति क्षुत्परिषहः । उत्त० २ अ० । प्रथमपरीषहे, क्षुद्वेदनामुदितामशेषवेदनातिशायिनीं सम्यग्विषहमाणस्य जठराग्निविदाहिनीमागमविहितेन भक्तेन शमयतोऽनेषणीयं च परिहरतः क्षुत्परीषहविजयो भवति अनेषणीयग्रहणे तु न विजितः स्यात् क्षुत्परीषहः । प्रव० ८ द्वार । आव० । " क्षुधार्त्तः शक्तिमान् साधु-रेषणां नातिलङ्घयेत् । अदीनोऽविह्वलो विद्वान्, यात्रामात्रोद्यतश्चरेत् " ॥१॥ ध० २ अधि० । आ० म० ।

एतदेव सूत्रकृद् विवृण्वन्नाह–

दिगिंच्छापरिगए देहे, तवस्सी भिक्खु थामवं ।

ण छिंदे ण छिंदावए, न पए न पयावए ॥२॥ उत्त० ।

दिगिञ्छोक्तरूपा तया परितापः सर्वाङ्गीणसन्तापो दिगिञ्छा परितापस्तेन छेदादिक्रियापेक्षा हेतौ तृतीया । पाठान्तरम्–दिगिञ्छापरिगते बुभुक्षाव्याप्ते देहे शरीरे सति तपोऽस्यास्तीति अतिशायने विनिः, तपस्वी । विकृष्टाष्टमादितपोऽनुष्ठानवान् । स च गृहस्थादिरपि स्यात् । अत आह–भिक्षुर्यतिः । सोऽपि कीदृग् ? स्थाम बलं तदस्य संयमविषयमस्तीति स्थामवान् । "भूम्नि प्रशंसायां वा मतुप्" अयं च किमिति ? । आह–न छिन्द्यान्न द्विधा विदध्यात्, स्वयमिति गम्यते । न छेदयेद्वाऽन्यैः फलादिकमिति शेषः । तथा–न पचेत् स्वयं, न चान्यैः पाचयेत्, उपलक्षणत्वाच्च नान्यं छिन्दन्तं वा पचन्तं वाऽनुमन्येत तत एव च न स्वयं क्रीणीयात, नापि क्राययेत्, न च परं क्रीणन्तमनुमन्येत । छेदस्य हननोपलक्षणत्वात्क्षुत्प्रपीडितोऽपि न नवकोटीशुद्धिबाधां विधत्ते इति गाथार्थः ॥२॥

किं च–

कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए ।

मायन्ने असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥ ३ ॥

काली काकजङ्घा, तस्याः पर्वाणि स्थूराणि मध्यानि च तनूनि भवन्ति, ततः कालीपर्वाणीव पर्वाणि जानुकूर्परादीनि येषु तानि काल्रीपर्वाणि उष्ट्रमुखीवत् मध्यपदलोपी समासः । तथा–एवंविधैरङ्गैः शरीरावयवैः सम्यक् काशते तपःश्रिया दीप्यत इति कालीपर्वाङ्गसंकाशः । यद्वा–प्रकृते पूर्वापरनिपातस्यातन्त्रत्वाद् ग्रामो दग्ध इत्यादिवत् अवयवधर्मेणाप्यवयविनि व्यपदेशदर्शनाच्चाङ्गसन्धीनामपि कालीपर्वसदृशतायां कालीपर्वभिः संकाशानि सदृशान्यङ्गानि यस्य स तथा । स हि विकृष्टतपोऽनुष्ठानतोऽपचितपिशितशोणित इत्यस्थिचर्मावशेष एवंविध एव भवति अत एव–कृशः कृशशरीरः । धमनयः शिरास्ताभिः सन्ततो व्याप्तो धमनिसन्ततः । एवंविधावस्थोऽपि मात्रां परिमाणरूपां जानातीति मात्राज्ञो, नातिलौल्यतोऽतिमात्रोपयोगी । कस्येति ? आह–अश्यत इत्यशनम् ओदनादि, पीयत इति पानं सौवीरादि, अनयोः समाहारेऽशनपानं तस्य तथा (अदीणमणसो त्ति) सूत्रत्वाददीनमनाः अदीनमानसो वा अनाकुलचित्तश्चरेत् संयमाध्वनि यायात् । किमुक्तं भवति–अतिबाधितोऽपि क्षुधा नवकोटीशुद्धमप्याहारमवाप्य न लौल्यतोऽतिमात्रोपयोगी तदप्राप्तौ वा दैन्यवानित्येवं क्षुत्परिषह्यमाणा क्षुत्परिषहः सोढव्यो भवतीति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥ उत्त० ।

इदानीं निर्युक्तिकार एव "न छिंदे" इत्यादिसूत्रावयवसूचितं कुमारकेत्यादिद्वारोपक्षिप्तं च क्षुत्परीषहोदाहरणमाह––

उज्जेणि हत्थिमित्तो, भोयकडिपुरहत्थिभूइखुड्डो य ।

अडवीये वयणीत्तो, पादोवगओ य सोढव्वं ॥ उत्त० नि० १ खण्ड

(उज्जेणि त्ति) उज्जयिनिहस्तिमित्रो भोगकटकपुरं हस्तिभूतक्षुल्लकश्चाटव्यां वेदनार्त्तः पादपोपगतश्च सादेव्यं देवसन्निधानमिति गाथाक्षरार्थो वृद्धसंप्रदायादवसेयः । उत्त० । सचायम्–उज्जयिन्यां हस्तिमित्रो श्रेष्ठी वर्तते । तस्य हस्तिभूतनामबालकोऽस्ति । अन्यदा हस्तिमित्रश्रेष्ठिनः प्रिया मृता दुःखगर्भवैराग्येण हस्तिमित्रश्रेष्ठी हस्तिभूतदारकेण समं प्रव्रजितः । अन्यदा दुर्भिक्षे साधुभिः समं विहरन्नसौ हस्तिमित्रसाधुर्भोजकटकनगरमार्गेऽटव्यां कण्टकेन विद्धपादोऽग्रे विहर्त्तुमक्षमोऽटव्यामेव स्थितः । तमक्षमं दृष्ट्वा साधुभिर्भणितं दारकेण त्वां मार्गे वहिष्यामो मा विषादं कृथाः । तेन भणितम्–मदायुः स्तोकमेवास्ति, अतोऽहमत्रैव भक्तं प्रत्याख्यामि, यूयं यात, मदर्थमत्र स्थितस्यान्यस्य कस्यापि साधोर्मा भूद्विनाशः । इत्युक्तवन्तं तं क्षमयित्वा भक्तपानप्रत्याख्यानं कारयित्वा तत्रैवमुक्त्वा च अनिच्छन्तमपि क्षुल्लकं गृहीत्वा ते साधवश्चेलुः । क्षुल्लकोऽर्द्धमार्गात्तान्विप्रतार्य पितृमोहात्तत्राऽऽयातः । तावत्तत्र गृहीतानशनः स मृतो देवोऽभूत् । क्षुल्लको मौग्ध्यात्तं मृतं न जानाति । सुप्तस्य तत्कलेवरस्य पार्श्वे एव भ्रमति । क्षुधार्त्तोऽपि फलादिकं न गृह्णाति । स देवः क्षुल्लकमोहेन निजदेहमधिष्ठाय अवदत् । वत्स ! गच्छ भिक्षायां क्षुल्लकेन भणितं कुत्र व्रजामि । तेन भणितम् एषु धवनिकुञ्जेषु व्रज । तन्निवासिनो जना भिक्षां दास्यन्ति । ततः तथेति भणित्वा क्षुल्लकस्तत्र गतः धर्मलाभमुच्चचार । स देवो नरनारीरूपं विधाय करं प्रसार्य दिव्यशक्त्या तस्मै भक्तपानादि ददौ । तावद् यावद् दुर्भिक्षे निवृत्ते भोजकटकनगरात् पश्चाद्वलिताः साधवस्तेनैव मार्गेण तत्राऽऽगताः । जीर्णं शवं दृष्ट्वा ज्ञातदिव्यप्रयोगास्तं क्षुल्लकं गृहीत्वा विजहुः । यथा ताभ्यां पितृपुत्राभ्यां क्षुत्परीषहः सोढः तथा साम्प्रतिकमुनिभिरपि सोढव्यः । उत्त० २ अ० ।

('परिसह' शब्दे साधारणवक्तव्यता)

खुहापरिसहविजय–क्षुत्परिषहविजय–पुं० । साधोर्निरवद्याहारगवेषिणः निरवद्यस्याहारस्यालाभे, ईषल्लाभे, वा अनपगतक्षुद्वेदनस्याकालभिक्षाप्रतिनिवृत्तेच्छस्यावश्यकपरिहाणिं मनागप्यसहमानस्य स्वाध्यायध्यानभावनापरीतचेतसः उदीरणप्रबलक्षुद्वेदनस्यापि सतोऽनेषणीयपरिहारतोऽपरिदेवनेन क्षुद्वेदना–सहने, पञ्चा० १ विव० ।

खुहापरीसह–क्षुत्परीषह–पुं० । ' खुहापरिसह ' शब्दार्थे, ।

खुहियजल–क्षुभितजल–त्रि० । क्षोभयुक्तजले, लवणसमुद्रे, " खुहियजले " क्षुभितजलः वेलावशात् वेला च महापातालकलशगतवायुक्षोभात । भ० ६ श० ८ उ० ।

खेअणा–खेदना–स्त्री० । खेदसंसूचिकायां वाचि, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

खेम–खेट–न० । धूलिप्राकारपरिक्षिप्ते, नि० चू० १२ उ० । औ० । रा० । विपा० । ग० । कल्प० । जी० । नि० चू० । पांशुप्राका-

रनिबद्धे, । नं० । प्र० । जत्त० । ज्ञा० । स्था० । बृ० । आचा० । प्रश्न० । कुल्लकप्राकारावेष्टिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । व्य० । नद्यद्रिवेष्टिते, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । नगरविशेषे, विशे० । खे अटति अट् अच्। खिट् अच् वा। सूर्यादिग्रहे, सुनिन्दके, अधमे, असभेदे, स च यष्टिरूपः। चर्मणि, खिट् भावे करणे घञ्। मृगयायाम्, कर्त्तरि अच्। तृणे, न० धनवृद्धिर्जीविनि, कफे, वाच०।

खेडअ-क्ष्वेटक-पुं०। "क्ष्वेटकादौ" । ८ । २ । ६ । इति संयुक्तस्य खः । विषे, प्रा० २ पाद।

स्फेटक-त्रि०। "क्ष्वेटकादौ" ८ । २ । ६ । इति स्फस्य खः । हिंसके, अनादरकारके च । प्रा० २ पाद।

खेडग-खेटक-न०। फलके, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

खेडट्ठाण-खेटस्थान-न०। धूलिप्राकारावृत्तनगरविशेषे,विशे० आ० म० प्र०।

खेडिअ-स्फेटिक-पुं०। "क्ष्वेटकादौ" ८ । २ । ६ । संयुक्तस्य खः । प्रा० २ पाद।

खेड्ड-खेल-पुं०। "गोणादयः" । ८ । २ । १७४ । इत्यन्तस्य डः । क्रीडायाम्, प्रा० २ पाद।

खेड्डा-खेला-स्त्री०।खेला क्रीडा। शारिचतुरङ्गद्यूताद्यायामन्ताक्षरिकाप्रहेलिकादानादिजनितायाम् इन्द्रजालकगोलकखेलनाद्यायां वा क्रीडायाम्, ग० २ अधि०।

खेत्त-क्षेत्र-न०। 'क्षि' निवासगत्योः इति क्षियन्ति निवसन्ति जीवा अजीवाश्च अत्र इति उणादिके त्रप्रत्यये क्षेत्रमिति। विशे०। 'क्षि' निवासगत्योः अस्मादधिकरणे ष्ट्रन् सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०। अवगाहदानलक्षणे आकाशे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सम्म० । स० । आ० चू० । स्था० । "खित्तं खलु आगासं" इति वचनात् । आ० म० प्र० । नि० चू० । स्था० । पिएड० नि० । यत्रावगाढस्तत् क्षेत्रमुच्यते, यथा परमाणोरागमे यत्रैकस्मिन् प्रदेशे अवगाढस्तदेकं प्रदेशं क्षेत्रमभिहितम् । विशे० । विपा० ।

खेत्तं मयमागासं, सव्वदव्वावगाहणा लिंगं ।
तं दव्वं चेव निवा-समेत्तपज्जायओ खेत्तं ॥ २०७७ ॥
तं च महासेणवणो-वलक्खियं जत्थ निग्गयं पुव्वं ।
सामाइयमन्नेसु य, परंपरविणिग्गमो तस्स ॥ २०८७ ॥

'क्षि' निवासगत्योः, क्षियन्ति-अवगाहन्ते निवसन्ति जीवादयोऽस्मिन्निति क्षेत्रम्। तच्चाकाशं सर्वार्थवेदिनां मतम्।कथंभूतम्?-सर्वेषामपि जीवादिद्रव्याणां याऽवगाहनाऽवस्थानरूपा सैव लिङ्गं चिन्हमुपयोगो यस्य तत्सर्वद्रव्यावगाहनालिङ्गम् । तच्चापरपर्यायेषु द्रव्याणां गमनाद् द्रव्यमेव, केवलं निवासमात्रपर्यायमाश्रित्य क्षेत्रमुच्यते। तच्चोपाधिभेदाद् बहुभेदम्। अत इह महासेनवनोपलक्षितमेव गृह्यते। विशे०। धर्मादीनां द्रव्याणां वृत्तिर्भवति यत्र तत् क्षेत्रम्। ल०। आव०। क्षेत्रं यथा संख्येयप्रदेशावगाहनोऽसौ स०। धान्यनिष्पत्तिस्थाने,कल्प० ६ क्षण। सस्योत्पत्तिभूमौ, पञ्चा० १ विव०।

तच्च त्रिविधम्-

खेत्तं सेउं केउं, सेउ ऽरहट्टाइ केउ वरिसेणं।
भूमि घरवत्थु सेउं, केउं पासायगिहमाई ॥

क्षेत्रं द्विधा-सेतुः केतुश्च,तत्र (सेउऽरहट्टाइ त्ति)अरहट्टादिना सिच्यमानं यन्निष्पद्यते तत्सेतुः। अत्रादिशब्दात्तडागादिपरिग्रहः। यत्पुनर्वर्षेण मेघवृष्ट्या निष्पद्यते तत् केतुः। बृ० १ उ०। ध०। उत्त०। स्था०। आव०। आ० चू०। ग्रामादियोग्यस्थाने,ध० ३ अधि०। "खेत्ते काले जम्मे" इत्यादि(२०२५)। क्षेत्रं जनपदग्रामनगरादि,यदुक्तम्-"मगहागोव्वरगामे" इत्यादि। विशे०। संयमनिर्वाहार्थं क्षेत्रगुणा अन्वेषणीयाः,जघन्ये क्षेत्रे चत्वारो गुणाः तच्च क्षेत्रं त्रिविधम्-जघन्यम्, उत्कृष्टं, मध्यमं च। तत्र चतुर्गुणयुक्तं जघन्यम्।

ते चामी-

सुलहा विहारभूमी, वियारभूमी य सुलहसज्झाओ ।
सुलहा भिक्खा य जहिं, जहन्नयं वासखेत्तं तु ॥ १ ॥

यत्र विहारभूमिः सुलभा, आसन्नो जिनप्रासाद इत्यर्थः । १ । यत्र स्थण्डिलं शुद्धं, निर्जीवमनालोकं च । २ । यत्र स्वाध्यायभूमिः सुलभा, अस्वाध्यायादिरहिता ३ । यत्र भिक्षा च सुलभा ४। तज्जघन्यं वर्षायोग्यं क्षेत्रम्। कल्प० १ क्षण।

उत्कृष्टं त्रयोदशगुणोपेतं तानेव गुणानाह-

चिक्खल्लपाण-थंडिल,वसही-गोरस-जणाउलो य वेज्जो य।
ओसह-निचया-ऽहिवती, पासंडा भिक्ख-सज्झाए ॥

यत्र (चिक्खल्लः)कर्दमो भूयान् भवति। प्राणाश्च द्वीन्द्रियादयो भूयांसो न संमूर्च्छन्ति। यत्र भूयांसि स्थण्डिलानि, वसतयश्च द्वित्रादयो यत्र प्राप्यन्ते। गोरसं च प्रभूतं, प्रत्येकं भूयो जनसमाकुलः कुलवर्गः,वैद्यश्च यत्र विद्यते। औषधानि च सुप्रतीतानि। यत्र धान्यमतिप्रभूतम्। यत्र अधिपतिः प्रजानामतीवसुरक्तको वर्त्तते। पाषण्डाश्च स्तोका विद्यन्ते। भिक्षा च सुलभा। स्वाध्यायश्च निर्व्याघातः। एतदुत्कृष्टं वर्षासु योग्यं क्षेत्रम्।

साम्प्रतमेतद्गुणाभावे वर्षासु वसतां प्रायश्चित्तमाह-

पाणा थंडिल्लवसही, अहिवतिपासंडभिक्खसज्झाए ।
लहुया सेसे लहुओ, केसिंची सव्वहिं लहुगा ॥

यदि यत्र प्राणा अतिबहवो, यदि वा न विद्यन्ते। स्थण्डिलानि, वसतयो वा द्वित्रादिका न विद्यन्ते। अधिपतिर्वा नास्ति। पाषण्डा वा बहवः। भिक्षा वा न सुप्रापा। स्वाध्यायो वा न निर्वहते। तत्र वर्षाकालं करोति। तदैतेषु दोषेषु प्रत्येकं प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः। शेषे (चिक्खल्लादिके) दोषे प्रत्येकं लघुको मासः। केषाञ्चिदाचार्याणां मतेन-पुनः सर्वत्र सर्वेष्वपि दोषेषु प्रत्येकं चत्वारो लघुकाः।

संप्रति (चिक्खल्ले) दोषानभिधित्सुराह-

नीसरण कुच्छणागा-रकंटगा सिज्ज आयभेदो य ।
संजमतो पाणादी, अगाहनिमज्जणादीया ॥

निस्सरणं नाम फेल्हसणम्,कुत्सना अङ्गुल्यन्तराणां कोथकाराः कर्करकाः, कण्टका बब्बूलशूलादयः (सिज्ज त्ति)देशीपदमेतत् परिश्रम इत्यर्थः। एष आत्मभेदः,एते आत्मविराधनादयो दोषा इत्यर्थः। संयमतः संयमे पुनरयं दोषः प्राणा द्वीन्द्रियादयः आदिशब्दात् पृथिवीकायादिपरिग्रहः ते विद्यन्ते तथा यदि सुखेनात्र गच्छामीति विचिन्त्य सोदके कर्दमे गच्छति तथा कचि-

दगाधे निमज्जति । आदिशब्दात्पादजङ्घादिक्षोभिताः सकर्दमजलविप्रव उत्थापयति । तानिश्च प्राणादिविघातः, संमुखं गच्छन् पुरुषादिखरण्टनं निजशरीरोपकरणखरण्टनं चेति परिग्रहः।

धुवणे वि होंति दोसा, उप्पीलणादी य वा उसत्तं च ।
सेहादीणमवण्णा, अधोवणे चीरनासो वा ॥

कर्दमाकुले मार्गे गमनेन कर्दम उपकरणे लगति । तथा चोपकरणस्य धावनेऽपि आस्तामधावने इत्यपिशब्दार्थः । दोषाः के ते ? इति । आह-उत्पीडनादय उत्पीडनं प्राणादीनां प्लावनमादिशब्दात् शरीरायासस्वाध्यायविघातादिपरिग्रहः। अपि च-वस्त्राणि शरीरं च प्रक्षालयतो वा कुशीकत्वमुपजायते । शरीरे, उपकरणे च कुशीकरणात् । अथ न प्रक्षालयति तर्ह्यधावने शैक्षकादीनामवज्ञासंभवः, चीरनाशश्च कर्दमेन शटनात् वाशब्दः समुच्चये ।

सम्प्रति प्राणसंभवे दोषानाह-

मुइंगविच्छुगादिसु, दो दोसा संजमे य सेसेसु ।
नियमा दोसु दुगुंछिय, अथंडिल-निसग्ग-धरणे य ॥

'मुइंगा' नाम पिपीलिका,पिपीलिकावृश्चिकादिषु शेषेषु च प्राणेषु बाहुल्येन संभवत्सु द्वौ दोषौ । तद्यथा-संयमे चशब्दादात्मनि च, आत्मविराधना संयमविराधना चेत्यर्थः । तत्र वृश्चिकादिभिर्दंशादात्मविराधना, कीटकादिसत्त्वव्याघाताच्च संयमविराधना। स्थण्डिलाभावे दोषानाह-(नियमेत्यादि) स्थण्डिलाऽभावे अस्थण्डिले,जुगुप्सिते वा स्थण्डिले,निसर्गे पुरीषप्रश्रवणोत्सर्गे नियमात् दोषाः संयमविराधनादयः, तत्रास्थण्डिले हरितकायादिव्यापादनात् संयमविराधना, पादादिलहसनादात्मविराधना,जुगुप्सिते स्थण्डिले प्रवचनविराधना, अथैतद्दोषभयान्न व्युत्सृजति । किंतु-धारयति । तत आह-धारणे दोषा आत्मविघातादयः । तथा च-पुरीषादिधारणे जीवितनाशादि "मुत्तनिरोहे चक्खुं,वच्चनिरोहे य जीवियं चयति" इत्यादिवचनात् । ग्लानत्वे चिकित्साकरणतः संयमव्याघातः ॥

यत्र संकटा वसतिर्यत्र च द्वित्र्याद्यो वसतयो न लभ्यन्ते तत्र (वासे) दोषानाह-

वसहीऍ संकडाए, विरल्ले अविरल्लणे भवे दोसा ।
वाघातेण व अण्णा,स तीऍ दोसा ओवेच्चंते ॥

वसतौ संकटायां सत्याम उपधेः (विरल्ले त्ति) विस्तारणे वा दोषा भवन्ति । के ते इति चेत् ? । उच्यते-यदि उपधिस्तीमितो विस्तार्यते, ततः संकटत्वादन्यमप्यतीमितमुपधिं तीमयति । अथ न विस्तार्यते तर्हि स कोथमुपयाति,तत्संसर्गतः शरीरस्य च मान्द्यमुपजायते । एकस्याश्च वसतेः कथमपि व्याघाते अन्यस्याश्च अभावे ग्रामान्तरं व्रजनीयम् । तत्र च व्रजति संयमात्मप्रवचनविराधना । तथाहि-मार्गे जलहरितकायादिव्यापादनात्संयमविराधना । अगाधे सलिले प्रविशत आत्मविराधना । वसत्यलाभतो वर्षाकालेऽपि वर्षप्रपातेनाऽवरुध्यमानात् पथि गच्छतस्तान् दृष्ट्वा लोकः प्रवचनं कुत्सयते ईदृशा एवैते वर्षास्वपि नाश्रमं कचिदपि लभन्ते इति प्रवचनविराधना ।

गोरसाऽभावे दोषानाह-

अतरंत-बाल-वुड्ढा, अभाविता चेव गोरसस्स ऽसती ।
जं पाविहिंति दोसं, आहारमएसु पाणेसुं ॥

अतरन्तो नाम असहाः (असमर्थाः) तथा-बालाः,वृद्धाश्च तथा-ये अभाविता येषां गोरसव्यतिरेकेण नान्यत्किमपि प्रतिभासते । ते गोरसस्य असति अभावे आहारमयेषु प्राणेषु सत्सु यत् आगाढाऽनागाढपरितापनादिकं दोषं प्राप्स्यन्ति । तन्निमित्तं सर्वमपि प्रायश्चित्तमाचार्योलप्स्यते तस्माद्यत्र तदभावस्तत्र न वस्तव्यम् ।

अत्र पर आह-

णणु भणितो रसचाओ, पणीयरसभोयणे य दोसा उ ।
किं गोरसेण ? भंते ! , भण्णइ सुण चोयग ! इमं तु ॥

ननु सूत्रे रसानां क्षीरादीनां त्यागो भणितः । "अनशनम्,ऊनोदरतावृत्तिः,संक्षेपणं,रसत्यागः" इत्यादि बाह्यतपोव्याख्यानात् प्रणीतरसभोजने दोषाः कामोद्रेकादयः शरीरोपचयादिभावात् । ततः किं भदंत ! गोरसेन कर्तव्यम् ? । सूरिराह-भण्यते । शृणु चोदक ! इदं वक्ष्यमाणम् ।

तदेवाह-

कामं तु रसच्चागो, चतुत्थमंगं तु बाहिरतवस्स ।
सो पुण सहू (हा)ण जुज्जति,असहू(हा)ण य सज्ज वावत्ती ॥

कामं तपस्तत्त्वमेतत् रसत्यागश्चतुर्थमङ्गं वा चतुर्थो भेदो बाह्यतपसः षड्भेदात्मकस्य केवलं पुनःशब्दः केवलार्थः स रसत्यागः सहानां युज्यते संगच्छते । असहानामसमर्थानां रसाभावे सद्यस्तत्कालं व्यापत्तिः मृत्युः ।

अन्यच्च-

अगिलाऍ तवोकम्मं, परकमे भंजतोत्ति इति वुत्तं ।
तम्हा जत्तरसव्वा, न नियमतो होति सव्वस्स ॥

संयतः तपःकर्म्म प्रति,अग्लान्या पराक्रमेत् इत्युक्तं भगवता । तस्मात् न नियमतः सर्वस्य रसत्यागो भवति ।

जस्स उ सरीरजवणा, रुते पणीयं न होइ साहुस्स ।
सो वि य हु मिस्सपिंमं, भुंजउ अहवा जह समाही ॥

यस्य साधोः शरीरयापना न प्रणीतं प्रणीतरसमृते भवति । सोऽपि च अश्रुताम पूर्वोक्ता असहा इत्यपिशब्दार्थः । ' हु ' निश्चितं मिश्रपिण्डं घृतादिना मिश्रितं गलितपिण्डं भुञ्जीत । अथवा-यथासमाधि क्षीरादि भुङ्क्ते केवलं मा गृद्धिर्भूयादिति संपूर्णपानकादिना मीलयित्वा क्षीरमापिबेत् ।

सम्प्रति " जनाऽऽकुल " पदव्याख्यानार्थमाह-

चउ भंगो अजणाउल-कुलाउले चेव ततिय भंगो उ ।
भोइयमादि जणाउल,कुलाउल-मरुवमादीसु ॥

जनाऽऽकुलकुलाऽऽकुलयोश्चतुर्भङ्गिका । जनाऽऽकुलमपि कुलाऽऽकुलमपीति प्रथमो भङ्गः । जनाऽऽकुलं,न कुलाऽऽकुलमपि द्वितीयः । न जनाऽऽकुलं कुलाऽऽकुलमिति तृतीयः । न जनाऽऽकुलं नाऽपि कुलाऽऽकुलमिति चतुर्थः । प्रथमभङ्गे-बहूनि मानुषाणि,बहूनि च कुलानि । द्वितीयभङ्गे-कुलानि स्तोकानि,जनास्त्वतिबहवः,कुले कुले भोजकादिजनानां सहस्रसंख्याभावात् । तृतीयभङ्गे-बहूनि कुलानि,जनाः स्तोकाः,गृहे गृहे एकस्य द्वयोर्वा मानुषयोर्भावात् । चतुर्थभङ्गे-न बहूनि कुलानि, नापि बहवो जनाः, कतिपयकुलानां प्रतिकुलं च स्तोकमानुषाणां भावात् । अत्र यौ भङ्गौ ग्राह्यौ तावाह-अजनाऽऽकुलेत्यादिना,न जनाऽऽकुलं,कुलाऽऽकुलमिति तृतीयो ग्राह्यः । एतदनुज्ञानात् प्रथमः सुतरामनुज्ञातो द्रष्टव्यः,

तस्योभयगुणोपेतत्वात् । आह च चूर्णिकृत्—" जइ ताव तइओ भंगो अणुण्णाओ, प्रागेव पढमो भंगो अणुण्णातो " इति । शेषौ तु द्वौ भङ्गौ ज्ञाताऽनुज्ञातौ कुलानामल्पत्वात् । सम्प्रति जनाऽऽकुलतां कुलाऽऽकुलतां च व्याख्यानयति-(भोइय) इत्यादि प्रथमभङ्गे च जनाऽऽकुलं भोजिकादिभिरतिप्रभूतैर्जनैराकीर्णत्वात् । कुलाऽऽकुलं मडम्बादिषु स्थानेषु । तथाहि-मडम्बे अष्टादश कुलसहस्राणि, आदिशब्दात् पत्तनादिपरिग्रहः व्याख्यातं जनाऽऽकुलद्वारम् ।

अधुना वैद्यद्वारमौषधद्वारं च युगपदाह-

वेज्जस्स ओसहस्स च, असतीए गिलाणो उ जं पावे ।
वेज्जसगासं नेंतो, आणेंतो चेव जे दोसा ॥

यदि नाम कोऽपि ग्लानो जायते तदा, वैद्यस्य औषधस्य च असति अभावे यत् ग्लानोऽनागाढाऽऽगाढपरितापनादि प्राप्नोति तन्निमित्तं सर्वं प्रायश्चित्तमाचार्यः प्राप्नोति । अन्यच्च-तादृशके-त्रेऽवतिष्ठमानो वैद्योऽत्र नास्तीति ग्लानेऽन्यस्मिन् ग्रामे वैद्यस्य सकाशं नीयमाने आनीयमाने वा दोषा अनागाढमागाढं वा परितापनं, स्तेनैरुपकरणापहरणं व्याघ्रादिश्वापदैर्भक्षणमित्यादि तद्धेतुकमपि प्राप्नोति । एवमौषधस्याऽप्यानयनाय साधुषु ग्रामान्तरे प्रेष्यमाणेषु दोषा वाच्याः ॥

अधुना निचयद्वारमधिपतिद्वारं चाह-

नेचइया पुण धन्नं, दलंति असारअंचितादीसु ।
अहिवम्मि होइ रक्खा, निरंकुसेसुं बहू दोसा ॥

निचयेन संचयेन अर्थात् धान्यानां ये व्यवहरन्ति ते नैचयिकाः ते?; असारा दरिद्राः, अञ्चिताः पूज्या राज्यमान्याः पितृपितृव्यादयो वा आदिशब्दादनञ्चितादिपरिग्रहः तेषु, क्रयेणाऽन्यथा वा धान्यं ददति । ततः सर्वत्र भिक्षा सुलभोपजायते । तथा अधिपेऽधिपतौ विद्यमाने रक्षा भवति । निरङ्कुशेषु लोकेषु मध्ये पुनर्वसतो बहवो दोषा उपकरणापहारापमानादिलक्षणाः ।

पाषण्डद्वारमाह—

पासंडभाविएसुं, लभंति ओमाणमतिबहूसुं ।
अवि य विसेसुवलद्धी, हवंति कज्जेसु य सहाया ॥

यदि स्तोकाः पाषण्डास्ततोऽशनादीनि वस्त्राणि भेषजानि तदाऽतिसुलभानि भवन्ति । अतिबहुषु पुनः पाषण्डेषु सत्सु पाषण्डभावितेभ्यो जनेभ्यो गाथायां सप्तमी पञ्चम्यर्थे अपमानं लभन्ते । अपीति संभावने,चः पुनरर्थे संभाव्यते पुनरियं विशेषोपलब्धिरन्यपाषण्डेभ्योऽतिशयोपलब्धिर्यथा यदन्यत् पाषण्डिनां कल्पते । तत्साधूनां न कल्पते । तत एवं लोको भावितः सन् साधूनां कल्पिकं ददाति । तथा कार्येषु च बहुप्रकारेषु गृहस्थादिताऽऽदिलक्षणेषु वयमपि पाषण्डा, एतेऽपि च पाषण्डा धर्मस्थिता इति कृत्वा सहाया भवन्ति ।

सम्प्रति भिक्षाद्वारमाह—

नाणतवाण विसिट्ठा, गच्छस्स य संपया सुलभभिक्खे ।
न य एसणाएँ घातो, नेव ठवणाए भंगो उ ॥

सुलभा भिक्षा यत्र तस्मिन् सुलभभिक्षे ग्रामादौ वसतां ज्ञानस्य श्रुतज्ञानस्य, तपसश्चानशनादेर्विशिष्टा वृद्धिर्भवत्याहारोपष्टम्भतः, स्वाध्यायस्य तपसश्च कर्तुं शक्यत्वात् । तथा गच्छस्य संपत् स्फीता अतिविशिष्टा भवति । शिष्याणां प्रातीच्छिकानां च अनेकेषामागमात् । न च एषणाया घातः प्रेरणा, नापि स्थापनायाः मासकल्पवर्षाकल्परूपायाः । अथवा-स्थापनाकुलानां भङ्गः प्रेरणा ।

स्वाध्यायद्वारमाह—

वायंतस्स उ पणगं, पणगं पडिच्छतो भवे सुत्तं ।
एगग्गं बहुमाणो, कित्ती य गुणा य सज्झाय ॥

यत्र स्वाध्यायश्चतुःकालं निर्वहति । तत्र वर्षावासः कर्त्तव्यः । यतः स्वाध्यायेऽमी गुणाः-सूत्रमाचारादिकं सूत्रतोऽर्थतस्तदुभयतश्च वाचयतः । पञ्चकं वक्ष्यमाणं संग्रहादिकं भवति । यथा च-वाचयतः पञ्चकं, तथा प्रतीच्छतः श्रोतुरपि पञ्चकं तस्यापि संग्रहादिनिमित्तं श्रुतश्रवणाय प्रवृत्तेः । तथा वाचयतः प्रतीच्छतश्चैकाग्र्यं श्रुतैकपरतोपजायते । सा च विस्रोतसिकाऽवारिता भवति । तथा बहुमानं भक्तिः श्रुतस्य तीर्थकरस्य च कृतं भवति । कीर्त्तिश्च अवदाता सकलभराभरणव्यापिनी । यथा-भगवतः आर्यवैरस्येति । व्य० ४ उ० ।

क्षेत्रगुणसंख्यामाह -

चउग्गुणोववेयं तु, खेत्तं होइ जहन्नगं ।
तेरसगुणमुक्कोसं, दोण्हं मज्झम्मि मज्झिमगं ॥

चतुर्भिर्गुणैर्वक्ष्यमाणैरुपेतं भवति क्षेत्रं जघन्यम् । त्रयोदशगुणमुत्कृष्टम् । द्वयोर्जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमकम् ।

तत्र जघन्यं चतुर्गुणोपेतमाह-

महती विहारभूमी, वियारभूमी य सुलभवित्ती य ।
सुलभा वसही य जहिं, जहन्नगं वासखेत्तं तु ॥

यत्र महती विहारभूमिः भिक्षापरिभ्रमणभूमिः । महती च विचारभूमिः । तथा-यत्र वृत्तिर्भिक्षा सुलभा । वसतिश्च सुलभा । तत् जघन्यं वर्षक्षेत्रम् ॥ व्य० १० उ० । पूर्वोक्तचतुर्गुणादधिकं पञ्चादिगुणं त्रयोदशगुणाच्च न्यूनं द्वादशगुणपर्यन्तं मध्यमं क्षेत्रम् । एवं च उत्कृष्टे क्षेत्रे, तदप्राप्तौ मध्यमे, तस्यापि अप्राप्तौ जघन्ये । कल्प० १ क्षण० ।

अथ क्षेत्रस्याभवनव्यवहारः । तत्र क्षेत्रे तावदाभवनं प्राह-

वासासु निग्गयाणं, अट्ठसु मासेसु मग्गणा खेत्ते ।
आयरिय कहण सेहेण, नयणे गुरुगा य सचित्ते ॥

अष्टसु ऋतुबद्धेषु मासेषु विहरतां वर्षासु विषये क्षेत्रे मार्गणा भवति क्षेत्रमार्गणा । यच्च निर्गतानां साधूनां क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्य प्रत्यागतानामाचार्यस्य पुरतः क्षेत्रगुणकथनं तच्च गच्छान्तरादागतप्राघूर्णकसाधुभिराकर्ण्य निजाऽऽचार्यसमीपं गत्वा तस्य कथनम् । तत्र नयने प्रायश्चित्तं तत्र गतैः सचित्ते गृह्यमाणे चत्वारो गुरुकाः ।

साम्प्रतमेनामेव गाथां विवृणोति—

उउबद्धे विहरंता, वासाजोग्गं तु पेहए खेत्तं ।
वत्थव्वा य गता वा, उवेंच खित्ता नियत्ता वा ॥

ऋतुबद्धे काले विहरन्त आचार्यप्रायोग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षन्ते । वास्तव्या वा क्षेत्रप्रत्युपेक्षणायोपेत्य गताः । यदि वा-तस्मात् क्षेत्रान्निवृत्ताः केचित् स्वगच्छसाधवः समागताः ।

आलोयंते सोउं, साहेंते ते उ अप्पणो गुरुणो ।
कहणम्मि होइ मासो, गयाण तेसिं न तं खेत्तं ॥

ते वास्तव्या गताः क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्य समागताः । ततो वा क्षेत्राद्

निवृत्ता आचार्याणां पुरतः आलोचयन्ति क्षेत्रस्य गुणान् कथयन्ति। तत्र चान्येऽन्यस्मात्प्राघूर्णकाः समागतास्ते च तान् तथा आलोचयतः श्रुत्वा गत्वा आत्मानो गुरोराचार्यस्य (साहंते) कथयन्ति। ततो ध्रुवं ते यावत्तत्र तिष्ठन्ति, तावद्वयं गच्छामः, एवं कथने तेषां प्रायश्चित्तं लघुको मासः। नच गतानां तेषां तत् क्षेत्रमाभवति।

सामच्छण निज्जविए, पयभेदे चेव पंथ पत्ते य।
पणवीसादी गुरुगा, गणिणो गाहेण वेज्जस्स ॥

तत् श्रुत्वा यद्याचार्याः (सामच्छणं ति) संप्रधारयन्ति तत् क्षेत्रं गच्छाम इति, तदा तेषां प्रायश्चित्तं पञ्चविंशतिदिनानि। निर्यापितं नाम अवश्यं गन्तव्यमिति निर्णयनं तत्र लघुको मासः। पदभेदे क्रियमाणे गुरुको मासः। पथि व्रजतां चतुर्लघुकम्। क्षेत्रं प्राप्तानां चतुर्गुरुकम्। एतत् प्रायश्चित्तं गणिन आचार्यस्य, यस्य वाऽऽग्रहेण ते आचार्या व्रजन्ति। तस्याप्येतदेव प्रायश्चित्तम्। न च तत् क्षेत्रं तेषाम् आभवति। तत्र गत्वा यदि सचित्तमाददति तदा प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः। आदेशान्तरेण अनवस्थाप्यम्, अचित्ते उपधिनिष्पन्नं, तस्मादविधिरेष न कर्त्तव्यः।

तथा चाह-

एसा अ विही जणिया, तम्हा एवं न तत्थ गंतव्वं।
गंतव्वविहीए पमि-लेहे जणं य तं खेत्तं ॥

यस्माद्दोषोऽनन्तरोदितो विधिगाथायां क्लीबं प्राकृतत्वादेवं तत्र न गन्तव्यम्।

खेत्तपमिलेहणविही, पढमुद्देसम्मि वणिया कप्पे।
सवेव इहोद्देसे, खेत्तविहाणम्मि नाणत्तं ॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षणविधिः कल्पे कल्पाध्ययने प्रथमोद्देशे वर्णितः। स एवेह अस्मिन्नपि व्यवहारस्य दशमे उद्देशके द्रष्टव्यः। नवरमत्र क्षेत्रभेदकथने नानात्वं इहाधिकं क्षेत्रभेदकथनमित्यर्थः।

तदेव करोति-

खेत्तपडिलेहणविही, खेत्तगुणा चेव वणिया एए।
पेहेयव्वं खेत्तं, वासाजोग्गं तु जं कालं ॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षणविधिः, क्षेत्रगुणाश्च एते अनन्तरोदिता वर्णिताः। तत्र कस्मिन्काले वर्षायोग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितव्यमनुज्ञापयितव्यम्।

अत आह-

खेत्ताण अणुण्णवणा, जेट्ठा मूलस्स सुद्धपामिवए।
अहिगरणोमाणो मा, मणसंतावो तहा होति ॥

ज्येष्ठा,मूलस्य मासस्य शुद्धप्रतिपदि शुक्लपक्षे प्रतिपदि। क्षेत्राणामनुज्ञापना भवति। किं कारणम्? अत आह-"अहिगरणो" इत्यादि। अन्येऽपि तत्राज्ञानतस्तिष्ठेयुस्तावद्विधिकरणं भवेत्। तथास्वपक्षेभ्योऽपमानं ब्रूयात्। तथा च सति-महान्मनःसंतापः प्रेरिता वयं परिभूताः स्म इति। अथवा-कलहं प्रवृत्तं वा अयुक्तवचनैर्मनःसंतापः स्यात्। तस्मात् ज्येष्ठामूलशुद्धप्रतिपदि कर्त्तव्या तथा ज्ञापना।

एतदेवाह-

एएहिँ कारणेहिं, अणागयं चेव होइ ऽनुण्णवणा।
निग्गम-पवेसणम्मि य, पेहंताणं विहिं वुच्छं ॥

एतैरनन्तरोदितैः कारणैरनागतमेव भवति क्षेत्रस्यानुज्ञापना। संप्रति तेषां क्षेत्रं प्रेक्ष्यमाणानां निर्गमे प्रवेशे च विधिं वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव करोति-

केई पुव्वं पच्छा, निग्गया पुव्वमइगया खेत्तं।
सम सीमं पत्ताए य, तत्थ इमा मग्गणा होइ ॥

केचित् क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय पूर्वं निर्गताः, केचित्पश्चान्निर्गताः, तथा प्रवेशे पूर्वमतिगताः प्राप्ताः क्षेत्रं, केचित्तत्र। समकालं सीमानं प्राप्तानामियं वक्ष्यमाणा मार्गणा भवति—अनया गाथया पादत्रयेऽत्र समकं किल चतुर्भङ्गी सूचिता।

ततस्तामेव दर्शयति—

पुव्वं विणिग्गतो पुव्वं, पत्तो य पुव्व निग्गतो।
पुव्वं तु अतिगतो दो, ति पच्छा खेत्तमागओ ॥

जातावेकवचनम्, अतो बहुवचनं द्रष्टव्यम्। पूर्वं निर्गताः पूर्वमेव समकं प्राप्ताः। १। पूर्वनिर्गताः पश्चादेकतरे प्राप्ताः। २। पश्चाद् विनिर्गताः पूर्वं प्राप्ताः। ३। इतरे पश्चाद्विनिर्गताः पश्चादेव च तत् क्षेत्रमागताः। ४।

पढमगभंगे इणमो, ज मग्गणो पुव्वऽणुण्णवेजइओ।
तो तेसि होइ खेत्तं, अह पुण अच्छंति दप्पेण ॥

तत्र भङ्गचतुष्टयमध्ये, प्रथमके भङ्गे इयं मार्गणा भवति-यदि पूर्वमेव समकं निर्गतैः, पूर्वमेव च समकं तत् क्षेत्रं प्राप्तैः, पूर्वमेव च समकमनुज्ञापयन्ति। तदा तेषां भवति साधारणं क्षेत्रम्। अथ पुनः समकं प्राप्ता अपि एकतरे दर्पेण तिष्ठन्ति। दर्पो नाम निष्कारणं, तदा यैः पूर्वमनुज्ञापितं तेषां तत् क्षेत्रम्। नेतरेषाम्।

एतदेव स्पष्टतरमाचष्टे-

खेत्तमतिगया मो त्ति, वासत्था जइ अच्छहो।
पच्छा गयऽणुण्णवए, तेसिं खेत्तं विपाहियं ॥

क्षेत्रमतिगताः प्राप्ताः स्म इति यदि विश्वस्ता आसीरन् न क्षेत्रानुज्ञापनाय प्रयतन्ते। तदा आसतां पूर्वं प्राप्ताः किं, पश्चाद्गता अपि ये तेभ्यः पूर्वमनुज्ञापयन्ति क्षेत्रं तेषाम्। तत् क्षेत्रं पूर्वं समकं प्राप्तानामविसमकं पूर्वं वा न तु ज्ञापनमभूत्तदा कारणस्थितश्चेत्क्षमाभवति। तत् क्षेत्रमन्यस्य पूर्वप्राप्तस्य पूर्वानुज्ञापकस्य वा?। तथा क्षपको निष्कारणे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय न पूर्वं वर्तयितव्यो निषेधात्तेन कारणेन तस्य क्षपकस्य यत् क्षेत्रं तेन क्षपकेण यदनुज्ञापितं क्षेत्रमित्यर्थः। तत्तेन लभ्यते। किं वा यैः पश्चादप्यागतैरनुज्ञापितं तेषां तत् क्षेत्रम्। अथ कारणे क्षेत्रप्रत्युपेक्षणाय क्षपकः प्रवर्तितस्तदा तेनानुज्ञापितं न लभन्ते क्षेत्रम्। तथा-क्षपकस्य पारणके व्याकुला इति नाऽनुज्ञापयन्ति। तदा न ते तत् क्षेत्रम्। किं तु-यैरनुज्ञापितं तेषामिति। तदेवं गतः प्रथमो भङ्गः।

सम्प्रति द्वितीयं तृतीयं च भङ्गमधिकृत्य विवक्षुरिदमाह-

पुव्वविणिग्गय पच्छा, पविट्ठ पच्छा य निग्गया पुव्वं।
पविट्ठ कयरेसि खेत्तं, तत्थ इमा मग्गणा होई ॥

पूर्वं विनिर्गताः पश्चादन्यापेक्षया क्षेत्रे प्रविष्टाः। अत्र परे-पश्चाद्विनिर्गतापेक्षया पूर्वं प्रविष्टाः कतरेषां क्षेत्रं भवति?। तत्रेयं भवति मार्गणा।

तामेवाह-

गेलन्नादिहिँ कज्जे-हिं पच्छा (इं) ताण होति खेत्तं तु।

निक्कारणविस्सामा, पच्छा ते ताउ न लभन्ति ।

पूर्वं विनिर्गताः सन्तो यदि ग्लानादिभिः कारणैः पश्चादागच्छन्ति तदा तेषां पश्चादनियतमागच्छतां भवति क्षेत्रम् । अथ निष्कारणं यत्र तत्र वा स्थितास्तेन पश्चात् गतास्तदा ते पश्चादागच्छन्तो न लभन्ते क्षेत्रम्, गतो द्वितीयो भङ्गः ।

तृतीयमधिकृत्याह—

पच्छा विणिग्गश्रो वि हु, दूराऽऽसन्ना समा व अद्धाणं ।
सिग्घगई उ सभावा, पुव्वं पत्तो लभति खेत्तं ॥

गाथायामेकवचनं स्पर्द्धकस्वाम्यपेक्षया पश्चाद्विनिर्गतोऽपि 'हु' निश्चितं दूरात् आसन्नात् समाद्वा अध्वनः स्वभावात् शीघ्रगतिरिति कृत्वा पूर्वं प्राप्तस्तदा स लभते क्षेत्रम् ।

अह पुण असुद्धभावो, गतिभेदं काउ वच्चती पुरतो ।
मा एए गच्छंति य, पुरओगी ताहे न लभंति ॥

अथ पुनर्मा एते, अन्ये, पुरतो न गच्छन्तीति, यास्यन्तीति । एवमशुद्धभावो गतिभेदं कृत्वा पुरतो याति । तदा स पुरोगाम्यपि न लभते क्षेत्रम् । भावस्याऽशुद्धत्वात् ।

समयं पि पत्थियाणं, सभावसिग्घगतिणो भवे खेत्तं ।
एमेव य आसन्ने, दूरद्धाणी य जो एति ॥

समकमपि विवक्षितानां प्रस्थितानां मध्ये यः स्वभावशीघ्रगतिः सन् पुरतो याति तस्य तत् क्षेत्रम् । एवमासन्ने आसन्नाऽध्वनीनो दूराऽध्वनीनो वा यः पुरतः समागच्छति, अनुज्ञापयति च स लभते क्षेत्रम् ।

अहवाऽऽसमऽद्धं पत्ता, समयं चेव अणुन्नावितो दाहिं ।
साहारणं तु तेसिं, दोण्ह वि वग्गाण तं होइ ॥

अथवा-आसन्नात् दूरात् वा समध्वा अध्वनः समकमेव तत् क्षेत्रं प्राप्ताः, समकमेव द्वाभ्यामपि वर्गाभ्यां तत् क्षेत्रमनुज्ञापितं तदा तयोर्द्वयोरपि वर्गयोः साधारणं तत् क्षेत्रम् । गतस्तृतीयो भङ्गः । चतुर्थे तु भङ्गे-यदि पूर्वप्रविष्टैःसह समनुज्ञापितं तदा साधारणम् । अथ पश्चात्प्राप्तैरपि पूर्वमनुज्ञापितं तदा तेषामिति । तदेवमुक्ता चतुर्भङ्गिका ।

सम्प्रति " समसीमं पत्ताण " इत्येतद्व्याख्यानमाह-

अहवा समयं दोण्णि वि, सीमं पत्ता उ तत्थ जे पुव्वं ।
अणुजाणा वो तेसिं, न जे उ दप्पेण अच्छंति ॥

(अथ वेति) प्रागुक्तापेक्षया प्रकारान्तरौ द्वावपि वर्गौ समकं सीमानं प्राप्तौ तत्र ये पूर्वमनुज्ञापयन्ति तेषां तत् क्षेत्रं, न ये दर्पेण निष्कारणमेव तिष्ठन्ति तेषामिति । सीमाग्रहणं द्वारगाथायामुद्यानादीनामुपलक्षणम् ।

तेन तद्विषयामपि मार्गणामाह-

उज्जाण-गामदारे, वसहिं पत्ताण मग्गणा एवं ।
समयमणुन्ने साहर-णं, तु न लभंति जे पच्छा ॥

उद्यानं ग्रामद्वारं ग्रामग्रहणं नगरादीनामुपलक्षणम् । तथा वसतिं समकं प्राप्तानामेवमुक्तप्रकारेण मार्गणा कर्त्तव्या । तामेव दर्शयति-यदि समकमनुज्ञापयन्ति, ततः साधारणं, ये पुनः पश्चादनुज्ञापयन्ति ते न लभन्ते ।

ते पुण दोणी वग्गा, गणि-आयरियाण होज्ज दोण्हं तु ।
गणिणं व होज्ज दोण्हं, आयरियाणं व दोण्हं तु ॥

तौ पुनर्द्वौ वर्गौ द्वयोर्गण्याचार्ययोर्भवेताम् । गणी नामात्र वृषभः । एको वर्गो वृषभस्य, अपर आचार्यस्य । अथवा-द्वयोर्गणिनोः यदि वा द्वयोराचार्ययोर्द्वौ वर्गाविति ।

तत्रेयं मार्गणा-

अच्छंति संथरे सव्वे, गणी नीति असंथरे ।
जत्थ तुल्ला भवे दो उत्ती, तत्थिमा होति मग्गणा ॥

यदि तत्र क्षेत्रे संस्तरणं तदा सर्वेऽपि तिष्ठन्ति । अथ सर्वेषामसंस्तरणं तदा असंस्तरेण गणी वृषभो निर्गच्छति । आचार्यस्तिष्ठति । अथ द्वावपि वर्गौ तुल्यौ द्वावपि गणिनौ द्वावप्याचार्यौ वा तदा तत्रेयं भवति मार्गणा ।

तामेवाह—

निप्फन्नतरुणसेहे, जुंगियपायच्छिन्नासकरकन्ना ।
एमेव संयतीणं, नवरं वुड्ढा उ नाणत्तं ॥

एकस्य निष्पन्नः परिवारः, एकस्याऽनिष्पन्नः । यस्य निष्पन्नः स गच्छतु । इतरस्तिष्ठतु । अथ द्वयोरपि परिवारो निष्पन्नः केवलमेकस्य तरुणः, एकस्य वृद्धः । वृद्धास्तिष्ठन्तु । इतरे गच्छन्तु । अथ द्वयोरपि तरुणा वृद्धा वा । नवरमेकस्य शैक्षा अपरस्य चिरप्रव्रजितास्ते गच्छन्तु । इतरे तिष्ठन्तु । अथ द्वयोरपि शैक्षाः चिरप्रव्रजिता वा केवलमेकस्य जुङ्गितपादच्छिन्नासाकरकर्णाः, अपरस्याऽजुङ्गितास्तत्र जुङ्गितास्तिष्ठन्तु । इतरे गच्छन्तु । अथ द्वयोरपि जुङ्गितास्तत्र ये पादजुङ्गिताः ते तिष्ठन्तु, इतरे गच्छन्तु । सम्प्रति प्रवर्त्तिन्या संयतीनां अभिषेकयोश्च मार्गणा कर्त्तव्या । ततस्तामाह-(एमेव) अनेनैव प्रकारेण संयतीनां मार्गणा कर्त्तव्या । नवरं वृद्धास्तु नानात्वम् । तच्चेदम्-तरुणवृद्धानां तरुण्यस्तिष्ठन्ति, वृद्धा गच्छन्ति । शेषं तथैव ।

सम्प्रति संयतानां संयतीनां च समुदायेन मार्गणां करोति-

समणाण संजतीण य, समणी अच्छंति नेति समणा उ ।
संजोगे वि य बहुसो, अप्पाबहुयं असंथरणे ॥

श्रमणानां, संयतीनां च एकस्थानेऽवस्थितानामसंस्तरणे श्रमण्यस्तिष्ठन्ति । निर्गच्छन्ति श्रमणाः । संयोगेषु च बहुशः प्रवर्त्तमानेष्वसंस्तरणे अल्पबहु परिभाव्य वक्तव्यम् । अथैवम्-यत्र संयता जुङ्गिताः श्रमण्यो वृद्धाः, तत्र जुङ्गितास्तिष्ठन्ति । वृद्धाः श्रमण्यो निर्गच्छन्ति । एवं गुरुलाघवं परिभव्य स्वबुद्ध्या भावनीयम् ।

संप्रति क्षेत्रिकाऽक्षेत्रिकाणां संस्तरणाऽसंस्तरणयोर्मार्गणां करोति-

एमेव जत्तसंसट्ठा, तस्साऽसंजम्मि अप्पज्जू निंति ।
जुंगियमादीएसु य, वयंति खेत्तीण ते तेसिं ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण क्षेत्रिकाऽक्षेत्रिकाणामपि संस्तरणे, असंस्तरणे च भावनीयम् । तद्यैवम्-यदि संस्तरणं तदा क्षेत्रिका अपि नवरमक्षेत्रिका भक्तसंतुष्टास्तिष्ठन्तु । सचित्तमुपधिं च न लभन्ते । तस्मात् (तस्साऽसंजम्मि त्ति) तस्य भङ्गस्य अभावे असंस्तरणे इत्यर्थः । अप्रभवोऽक्षेत्रिका निर्गच्छन्ति । अथ क्षेत्रिका जुङ्गिता, आदिशब्दात् अजुङ्गिता वा । तदा तेष्वक्षेत्रेषु जुङ्गितादिक्षेत्रिणो व्रजन्ति । अजुङ्गितादयस्तिष्ठन्तु । येषां च संबन्धिनस्ते जुङ्गितादयस्तिष्ठन्तु येषां चासंबन्धिनस्ते जुङ्गिता वृद्धा वा न तेषां तत् क्षेत्रम् आभवति । उपलक्षणमेतत् तेनादेशिनां कुटुकादीनां च न आभवति क्षेत्रम् ।

पत्ताए अणुन्नवणा, सारूविय–सिद्धपुत्त–सम्नीया ।
भोइय–महयर–णाविय–निवेयण दु–गाउयाइं वा ॥
तग्गाम सन्नि असती, पडिवसभे पल्लिए व गंतूणं ।
अम्हं रुइयं खेत्तं, नाऽयं खु करेह अन्नेसिं ॥

क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाणां यत्र वर्षारात्रः कर्त्तव्यस्तत् क्षेत्रं प्राप्तानामनुज्ञापना भवत्यमीषां कर्त्तव्या । तानेवाह–सारूपिकासिद्धपुत्रौ प्रागभिहितौ। संज्ञिनौ गृहीताऽणुव्रतदर्शनश्रावकाः। भोजिको ग्रामस्वामी। महत्तरा ग्रामप्रधानाः पुरुषाः नापिता नखशोधका वारिका इत्यर्थः। एतेषामनुज्ञापना कर्त्तव्या। यथा–वयमत्र वर्षारात्रं कर्तुकामास्तद्यद्यन्ये कश्चित्साधव आगच्छेयुस्तदा तेषामेतत् यूयं कथयतेति (दुगाउयाइं वेत्यादि) तत्र ग्रामे संज्ञी श्रावको न विद्यते। तदा द्वे गव्यूती गत्वा प्रतिवृषभे अन्तरपल्ल्यां वा गत्वा। यदि श्रावकोऽस्ति ततस्तस्य निवेदना कर्त्तव्या यथाऽस्माकमिदं रुचितं क्षेत्रमेतत् ज्ञातव्यम्। नाऽन्येषां कुरुध्वेति ।

जयणाए समणाणं, अणुएण वि ता वसंति खेत्तबहिं ।
वासावासट्ठाणं, आसाढे सुद्धदसमीए ॥

यतनया सारूपिकादिकं सन्तमनुज्ञाप्य क्षेत्रस्य बहिर्वसन्ति । वर्षावासस्थानं पुनराषाढशुद्धदशम्याम् ।

सम्प्रति " जयणाए" इत्यस्य व्याख्यानमाह–

सारूवियादिजयणा, अन्नेसिं वा वि साहए ।
बाहिं वा वि, ठिता वा सापायोग्गं ता वि गेण्हए ॥

सारूपिकादीनामन्येषां वा यत्साधयति एषा यतना। इयं च प्रागेवोक्ता। अथवा-पूर्वगाथाप्रथमार्द्धस्यैवं व्याख्या-सन्तं सारूपिकादिकमनुज्ञाप्य क्षेत्रस्य बहिर्यतनया वसन्ति। तत्र तामेव यतनामाह-बहिर्वाऽपि स्थितास्तत्र वर्षाप्रायोग्यमुपधिं गृह्णन्ति। उत्पादयन्ति। तं चैवं सङ्घाटकाः सर्वासु दिक्षु प्रत्यासन्नं प्रेक्षन्ते। एकैकश्च सङ्घाट आत्मनः परिपूर्णमुपधिमुत्पादयति। एकस्य च जनस्याधिकस्येति ।

एतदेवाह–

दोण्हं जतो एगस्सा, निप्पज्जइ तत्तियं बहिट्ठा उ ।
दुगुणस्साणुवासबहिं, संथरे पल्लिं च वज्जंति ॥

द्वयोरुपधिर्यस्मादेकस्मादन्यस्य निष्पद्यते। उपधिरात्मनश्च सङ्घाटस्य तदपेक्षया द्विगुणस्तावन्मात्रमुपधिं वर्षायोग्यं सर्वासु दिक्षु बहिः स्थिताउत्पादयन्ति। यदि पुनः संस्तरन्ति तदा बहिः प्रति वृषभग्रामान् अन्तरपल्लीं च वर्जयन्ति। न तत्र गच्छन्ति।

उच्चारमत्तगादी, छाराऽऽदी चेव वासपाउग्गं ।
संथारफलगमेज्जा, तत्थ वि ये चेव ऽणुन्नवणे ॥

तथा तत्र बहिः स्थिता एव उच्चारमात्रकादि आदिशब्दात्प्रश्रवणक्ष्वेलमात्रकपरिग्रहः। तथा क्षारादि आदिशब्दात् रूगगादिपरिग्रहः। वर्षाप्रायोग्यं तथा संस्तरकफलकशय्या अनुज्ञापयन्ति। अथ कस्मात्सर्वेषां सारूपिकादीनामनुज्ञापना क्रियते। उच्यते-एकस्य कथिते कदाचित्सोऽसद्भूतः स्यात् ततोऽनुज्ञापितमेव जायते। सर्वेषां पुनः कथिते यदि केचिदसद्भूताः भवन्ति तदा ये शेषाः सन्तस्ते अन्येषां साधूनामागतानां

कथयन्ति। चैवं बहिस्तिष्ठन्ति। प्रतिवृषभे अन्तरपल्ल्यां वा तत्र ये न नोक्ष्यन्ते।

तथा चाह–

पुन्नो य तेसिं तहि मासकप्पो,
अण्णं व दूरे खलु वासजोग्गं ।
ठायंति तो अंतरपल्लियाए,
जं एस्स कालेन य भुज्जिहत्ती ॥

पूर्णः खलु तेषां तत्र वर्षाप्रायोग्यतया संभाविते क्षेत्रे। अथवा–आषाढशुक्लदशमी अद्यापि दूरे। अन्यच्च-वर्षाकालयोग्यं क्षेत्रं दूरे ततः आषाढशुद्धदशमीप्रतीक्षणार्थं यामेष्यत्कालेन भोक्ष्यन्ते तस्यामनन्तरपल्यामुपलक्षणमेतत् प्रतिवृषभे वा ग्रामे तिष्ठन्ति।

अत्र आषाढशुद्धदशम्यां वर्षायोग्ये क्षेत्रे समागच्छति-

संविग्गबहुलकाले, एसा मेरा पुरा य आसी य ।
इयरबहुले उ संपइ, पविसंति अणागयं चेव ॥

एषा मर्यादा पुनरसंविग्नबहुले काले आसीत् । संप्रति इतरबहुले पार्श्वस्थादिबहुले अनागतमेव प्रविशन्ति ।

किं कारणम् ? अत आह–

पेहिए न हु अन्नेहिं, पविसंता य पढिया ।
इयरे कालमासज्ज, पल्लिज्जा परिवज्जिया ॥

अन्यैः प्रेक्षिते क्षेत्रे ननु नैवायतार्थिनो मोक्षाऽर्थिनः प्रविशन्ति। इतरे तु पार्श्वस्थादयः कालमासाद्य परिवर्जिताः पूर्वप्रत्युपेक्षितक्षेत्रानपि प्रेरयेयुस्ततोऽनागतमेव प्रविशन्ति ।

तत्रार्थे कल्पितमुदाहरणमाह–

रुएणं तगराहारे, वएहि कुसुमस्सुयं मुयंतेहिं ।
उज्जाणपडिवत्तीहिं, बब्बूलाहि वयंतिहिं ॥

तगराहारे आम्रकास्तैराम्रोद्यानप्रतिपन्नैर्बब्बूलैर्वृत्तिकरणायावस्थाप्यमानैर्गाथायां स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् वयमाच्छादिता इति हेतोः कुसुमाश्रुभिर्मुच्यमानैरुदितम। इयमत्र भावना–तगराहारे पूर्वं बहव आम्रका आसीरन्, स्तोका वा बब्बूलास्ततो लोकेन बब्बूलान् छित्वा तैराम्रोद्यानस्य वृत्तिः कृताऽत्र बब्बूलफलपतनतो बब्बूला जातास्तैः परिवर्द्धमानैः शालि सस्यमेव तृणैः आम्रा विनाशिताः। तत उत्प्रेक्षितमाम्रोद्यानप्रतिपन्नैर्बब्बूलैर्वृत्तिकरणाय स्थाप्यमानैः। वयमाच्छादिता नूनमेतैरिति कुसुमाऽश्रुमोक्षणेनाऽऽम्रै रुदितमिति।

अत्रोपनयमाह—

एवं पासत्थमादीओ, कालेण परिवड्ढिया ।
पेल्लिज्जा माइठाणेहिं, सोच्चादी ते इमे पुण ॥

एवमाम्रस्थानीयान् साधून् बब्बूलस्थानीयाः पार्श्वस्थादयः कालेन परिवर्द्धिताः असंयता मातृस्थानैः प्रेरयन्ति। किं विशिष्टास्ते पार्श्वस्थादय ? इति आह-श्रुत्वादयस्ते पुनरित्थमेव वक्ष्यमाणाः।

तानेवाऽऽह—

सोच्चाऽऽउट्टी अणापुच्छा, मायापुच्छा जहट्ठिते ।
अजयट्ठिए जयंते, ततिए समणुएणया दोण्हं ॥

एके-श्रुत्वा उपेत्य, समागताः। अपरे-अनापृच्छाः, समाययुः। अथवा-मायापृच्छाः। एते द्वयेऽप्ययतस्थिताः तृतीयाः यतस्थिताः। तत्राऽऽद्यानां द्वयानां भरक्रमाणानां कलहयतां गाथायां सप्तमी

षष्ठ्यर्थे, बहुवचने एकवचनं प्राकृतत्वात् न किञ्चिदाभाव्यम् । तृतीये यतनास्थिते समानाहता । साधारणं क्षेत्रम् । एष द्वारगाथासमासार्थः ।

सांप्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः " सोच्चा उट्ठीति " पदं व्याख्यानयति-

गुरुणो सुंदरं खेत्तं, साहणं सोच्च पाहुणो ।
नएज्ज अप्पणो गच्छं, एस आउट्टिया ठितो ॥

गुरोराचार्यस्यात्मीयस्य क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्य, समागतैः सुन्दरं क्षेत्रमिति कथ्यमानं श्रुत्वा, प्राघूर्णकः आत्मनो गच्छं तत्र नयति । एष 'श्रुत्वा उपेत्य स्थितः' उच्यते ।

सांप्रतमनापृच्छां मायापृच्छां च दर्शयति-

पेहितमपेहितं वा, ठाएइ अएणो अपुच्छिया खेत्तं ।
गोवालवच्छवाले, पुच्छइ अएणो उ दुप्पुच्छी ॥

प्रेक्षितमिदं क्षेत्रम् । अन्यैः । अप्रेक्षितं च इति । अन्योऽनापृच्छ्य तिष्ठति । अन्यः पुनः दुःपृच्छी यो न किमपि जानते । तान् गोपालवत्सपालान् पृच्छति । अन्यैरिदं क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं किं वा न ? इति ।

अविहिट्ठिया उ दो वे, ते तासि ओ पुच्छियं विहीऍ ठितो ।
सारूवियमादि काउं, वेंतसेहिं न पेहियं ॥
तं तु वीसरियं तेसिं पउ-त्था वा वि ते जवे ।
खेत्तिओ य तहिं पत्तो, तत्थिमा होइ मग्गणा ॥

तावनन्तरोदितौ द्वावपि । श्रुत्वोपेत्य स्थितौ अनापृच्छया मायापृच्छया ऽवस्थित इत्येवं लक्षणविधिस्थितौ । तृतीयः पुनः सारूपिकमादि कृत्वा सूत्रोक्तेन विधिना पृष्ट्वा स्थितः यतस्तेषां सारूपिकादीनां यत्पूर्वैरनुज्ञापितम् । तत् विस्मृतम् । अथ वा-ये अनुज्ञापितास्ते प्रोषिता अभवन् । अन्ये च-स्वरूपं न जानते । ततस्ते कुर्वते । अन्यैर्न प्रेक्षितमिदं क्षेत्रमिति येन पूर्वं सङ्घाटकप्रेषणेन क्षेत्रं प्रत्युपेक्षितं स क्षेत्रिकस्तत्र प्राप्तस्तत्रेयं वक्ष्यमाणा भवति मार्गणा ।

तामेवाह-

आउट्टियाठितो जे उ, तस्स नामं पि नेच्छिमो ।
अणापुच्छिय-दुप्पुच्छी, जंपंते खेत्तकारणा ॥

तत्र य उपेत्य स्थितस्तस्य नामाऽपि नेच्छामः सर्वथा सर्वज्ञाऽऽज्ञाप्रतिकूलतया दुर्गृहीतनामधेयत्वात् । यस्त्वनापृच्छी दुःपृच्छी वा तौ द्वावपि क्षेत्रकारणेन जल्पतः कलहं कुरुतः ।

अहवा दो वि जंपंते, जयणापट्ठिएण ते ।
खेत्तिओ दो वि नेऊण, जत्तं देइ न उग्गहं ॥

अथवा-द्वावपि तौ यतनाप्रस्थितेन सह जल्पाते । ततः अवग्रहे जाते क्षेत्रिकः सूत्रोक्तेन विधिना तौ जित्वा तयोर्भक्तं ददाति । अनुजानाति तत्रावग्रहं सचित्तमुपधिं वा नानुजानातीति भावः ।

तइयाणं सयं सोच्चा, सड्ढादीए व पुच्छियं ।
होइ साहारणं खेत्तं, दिट्ठं तो खमएण उ ॥

तृतीयानां यतनां स्थितानां तद्वचनतः क्षेत्रिकः स्वयं श्रुत्वा, श्राद्धादीन्वा पृष्ट्वा ज्ञातं स्वरूपम्, यथा पृष्ट्वा विधिनैते स्थिताः । इयमत्र भावना- क्षेत्रिकेण यतनास्थिता अपि पृष्टाः । किं भवन्तोऽत्र स्थिताः ? । तेऽवादिषुः-वयमत्र पृष्टाः स्थिताः । परं न केनापि कथितं यथाऽन्यैरनुज्ञापितमिदं क्षेत्रमिति । ततस्तेन क्षेत्रिकेण श्राद्धादयः पृष्टाः । तेऽब्रुवुः-यत् पुनर्युष्माभिरनुज्ञापितं तदस्माकं विस्मृतम् । यदि वा-वयं प्रोषिता अभूमयथैतैरनुज्ञापितास्तैरप्यस्माकं कथितं तथैतैर्वयमनुज्ञापिता इति एवं तेषां यथास्थिते स्वरूपे ज्ञाते साधारणमुभयेषां भवति क्षेत्रम् । विधिना पृच्छातो यतनास्थितानामपि शुद्धत्वात् । अत्र दृष्टान्तः क्षपकेण पिण्डनिर्युक्तिप्रसिद्धेन-यथा स क्षपको विधिना शुद्धं गवेषयन् आधाकर्मण्यपि शुद्धः । तथा इमे यतना स्थिता अपि शुद्धाः ।

एतदेवाह-

सुद्धं गवेसमाणो, पायमखमतो जहा भवे सुद्धो ।
तह पुच्छिऊय ठायंता, सुद्धा उ जवे असढभावा ॥

यथा पायसस्य क्षीरान्नस्य प्रतिग्राहकः शुद्धं गवेषयेत् । आधाकर्मण्यपि पयांसि गृह्णाणो शुद्धः तथा विधिना पृष्टाः तिष्ठन्तोऽशठभावाः शुद्धा भवन्ति ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह-

अतिसंथरणे तेसिं, उपसंपन्ना उ खेत्ततो इयरे ।
अविहिट्ठिया उ दो वी, अहव इमा मग्गणा अन्ना ॥

अतिसंस्तरणातिक्रमेण तेषां क्षेत्रिकाणामितरे यतनास्थायिनः क्षेत्रत उपसंपन्ना द्वौ पुनः प्रागुक्तावविधिस्थितौ तेषाम् । अथ वा इयमन्या मार्गणा ।

तामेवाह-

पेहेऊणं खेत्तं, एहाणादिगं तु ओसरणं ।
पुच्छंताण कहेंती, अमुगत्थ वयं तु गच्छामो ॥

केचित्साधवो वर्षाप्रायोग्यं क्षेत्रं प्रत्युपेक्ष्याऽनुज्ञाप्य चेदं चिन्तयन्ति । यथा-अत्र प्रत्यासन्नेषु स्थानेषु समन्ततो बहवो गच्छाः क्षेत्राणि च वर्षाप्रायोग्याणि । तत्र प्रचुराणि । न सन्ति समासन्नश्च वर्षाकालः ततो मा केचिदज्ञानतोऽत्र तिष्ठेयुरिति. स्नानादिसमवसरणं सर्वेऽपि मिलिता भविष्यन्तीति, तत्र गत्वा सर्वेषां विदितं कुर्मः । एवं चिन्तयित्वा तदनन्तरं स्नानादिसमवसरणं गत्वा । तेषां पृच्छतां कथयन्ति । अमुकत्र वयं वर्षाकरणाय गच्छाम इति ।

घोसणं सोच्च स'न्न-स्स पिच्छणा पुव्वमतिगए पुच्छा ।
पुव्वठिते परिणते, पच्छ जणंते न से इच्छा ॥

प्रागुक्तां घोषणां श्रुत्वा कोऽपि धर्मकथालब्धिसंपन्नः 'धर्मश्राद्धिकास्तत्र श्रावका भूयांसः तिष्ठन्तीति, परिभाव्य निर्मर्यादस्तत्र पूर्वतरं गतो गत्वा च संज्ञिनः संज्ञिवर्गस्य प्रेक्षणा संस्तवधर्मकथादिभिरात्मीकरणम् । ततः पश्चादागताः क्षेत्रिकास्तैः स पृष्टो युष्माकमग्रे कथितं ततः कस्मादिह त्वमागतः ? स तूष्णीक आसीत् । ततः क्षेत्रिकैरुक्तं गच्छत यूयं संप्रत्यपि श्रावकवर्गश्च तस्मिन्पूर्वस्थिते परिणत आसीत् । ततः पश्चाद् ब्रूते-मा निर्गच्छन्तु, वयं द्वयोरपि वर्तिष्यामहे । अत्र यत् क्षेत्रिकाणामाभवति (से) तस्य न निर्मर्यादा तस्य वा इच्छा भवति ।

साम्प्रतमिमामेव गाथां व्याचिख्यासुः प्रथमतो घोषणां संभावयति—

बाहुल्ला संजयाणं तो, उवगेया वि पाउसो ।
ठियामो अमुगे खेत्तं, घोसए ऽण्णोऽण्णसाहणं ॥

संयतानां समंततः प्रत्यासन्नेषु बाहुल्यात् उपागच्छतिप्रत्यासन्नश्च प्रावृट्काले अपिशब्दादन्यानि च वर्षाप्रायोग्याणि क्षेत्राणि प्रचुराणि न सन्ति ततो मा अन्ये प्रविशन्त्विति, स्नानादिसमव-

सरणे घोषादिकमन्योऽन्यकथनं कृतवन्तो वयं त्वमुकक्षेत्रे स्थिताः स्म इति ।

घोषणस्यैव प्रकारान्तरमाह-

विजिज्जंते व ते पत्ता, एहाणादीसु समागमो ।
पडुप्पन्ने य नो कालो, सढ्ढो घोषणयं ततो ॥

साधूनां स्नानादिषु समागमो यो यत आगतः स तत्र प्रस्थितस्ते च विवाक्षिताः क्षेत्रमनुज्ञाप्य, तत्र प्राप्तास्तत्र यदैकैकगच्छस्य समीपे गत्वा क्रमेण कथ्यते । तदा कालो न प्राप्यते । वरसूत्रस्य भवनात् । ततो ये संयममवाप्य चैत्याद्या संप्रस्थितास्तान् आसन्नान् कृत्वा मेलापके मेलयित्वा महता शब्देन घोषणकं कुर्वते । यथा शृणुत साधवः । अस्माभिरमुकं क्षेत्रं वर्षानिमित्तमनुज्ञापितमिति ।

"सोऊण सचित्ते" त्यादिव्याख्यानार्थमाह-

दाणादीसङ्कुकलियं, सोऊणं तत्थ कोइ गच्छेज्जा ।
रमणिज्जं खेत्तं ति य, धम्मकहालद्धिसंपन्नो ॥

तद्घोषणं श्रुत्वा कोऽपि धर्मकथालब्धिसंपन्नो दानादिप्रधानश्राद्धकलितं तत रमणीयं क्षेत्रमिति कृत्वा तत्र गच्छेत् ।

संथवकहाहि आउ-ट्टिऊण अत्तीकरेहि ते सड्ढे ।
ते वि य तेसु परिणया, इयरे वि तहिं अणुप्पत्ता ॥

संस्तवेन धर्मकथाभिश्च तान् श्राद्धान् आवर्त्य आवर्ज्य आत्मीकरोति । तेऽपि च श्राद्धास्तेषु परिणता इतरेऽपि च क्षेत्रिकास्तत्राऽनु पश्चात्प्राप्ताः ।

नीह त्ति तेण जणिते, सड्ढे पुच्छंति ते वि य जणंति ।
अच्छह जंते ! दोण्ह वि, न तेसि इच्छाएँ सचित्तं ॥

तैः क्षेत्रिकैर्निर्गच्छतेति भणिते, ते पूर्वगताः श्राद्धान् पृच्छन्ति । यामो वयम् । निष्काश्यमाना स्तिष्ठामः । तेऽपि च श्राद्धाः क्षेत्रिकान् समागत्य भणन्ति-आसीध्वं भदन्ताः ! यूयं द्वयेऽपि यतो द्वयोरपि वयं वर्तिष्यामहे । तत्र तेषां पूर्वगतानामिच्छया सचित्तमुपलक्षणमेतदुपधिश्च न भवति । किं तु क्षेत्रिकाणामेवेति ।

असंथरे अनिंतणे, कुलगणसंघे य होइ ववहारो ।
केवइयं पुण खेत्तं, होइ पमाणेण बोधव्वं ॥

असंस्तरे अन्यत्र असंस्तरणे पुनरनिर्गच्छन्तं कुले गणे सङ्घे च भवति । प्रमाणेन बोद्धव्यम् ।

तत्राऽऽह-

एत्थ सकोसमकोसं, मूलानिबद्धं गाममणुयंताणं ।
सचित्ते अच्चित्ते, मीसे य विदिसकालम्मि ॥

अत्र क्षेत्रमार्गणायां यत् क्षेत्रं मासयोग्यं, वर्षाप्रायोग्यं वा । तत् सक्रोशम, अक्रोशं च । तत्र यत् सक्रोशम्-तत्पूर्वासु दिक्षु प्रत्येकं सगव्यूतमूर्ध्वमधश्चाऽर्द्धक्रोशम् अर्द्धयोजनेन च समन्ततो यस्य ग्रामाः सन्ति । अक्रोशं नाम-यस्य मूलनिबन्धात्परतः यस्यां दिशामन्यतरस्यामेकस्यां द्वयोस्तिसृषु वा दिक्षु अटवीजलश्वापदास्तेन पर्वतनद्याव्याघातेन गमनं भिक्षाचर्या च न संभवति तत् मूलनिबद्धमात्रमक्रोशम । तं ग्राममनुज्ञतां किमुक्तं भवति-तस्मिन् सक्रोशे अक्रोशे वा क्षेत्रे स्थितानामृतुबद्धे काले निष्कारणमेकैको मासकल्पो वितीर्णोऽनुज्ञातः, कारणेन पुनर्द्वावपि कालौ वर्षासु निष्कारणं चत्वारो मासाः कालो वितीर्णः । कारणेन पुनरपि प्रभूतोऽपि एवं वितीर्णे काले सचित्ते अचित्ते मिश्रे च विग्रहो भवति । मा अवितीर्णे काले तेषामसंस्तरणे अनिर्गच्छतां तत्साधारणं भवति क्षेत्रम ।

तत्र चाऽऽयं क्षेत्रव्यवहारः-

आच्चिहु वसहग्गामा, कुदेसनगरोवमा सुहविहारा ।
बहुगच्छवग्गहकरा, सीमाछेएण वसियव्वं ॥

विवक्षितस्य स्थानस्य समन्ततः सन्ति वृषभग्रामाः किंविशिष्टा ? इति आह-कुदेशो नगरोपमा बहुगच्छोपग्रहकारिणस्तेषु सीमाच्छेदेन वस्तव्यम । तत्र वृषभक्षेत्रं द्विविधम । ऋतुबद्धे वर्षाकाले वा । एकैकं त्रिविधम् । तद्यथा—जघन्यं, मध्यम, उत्कृष्टं च ।

तत्र ऋतुबद्धे जघन्यमाह-

जहियं व तिन्नि गच्छा, पण्णरसुभया जणा परिवसंति ।
एयं वसभा खेत्तं, तव्विवरीयं भवे इयरं ॥

उभौ जनौ । आचार्यो, गणाऽवच्छेदकश्च । तत्राऽऽचार्य आत्मद्वितीयः, गणाऽवच्छेदी आत्मतृतीयः । सर्वसंख्यया पञ्च परिवसन्ति । एतत् जघन्यम्, ऋतुबद्धे काले वृषभक्षेत्रम । तद्विपरीतं यत्र तादृशाः पञ्च जना न संस्तरन्ति तत् भवति इतरत्, न वृषभक्षेत्रम । यत्र द्वात्रिंशत् साधुसहस्राणि संस्तरन्ति । यथा-ऋषभस्वामिकाले ऋषभसेनगणधरस्य । जघन्योत्कृष्टयोर्मध्ये मध्यमं वर्षाकाले यत्राऽऽचार्यः आत्मतृतीयः । गणाऽऽवच्छेदी स्यात्मचतुर्थः । सर्वसंख्यया सप्त । एवंप्रमाणा यत्र त्रयो गच्छाः संस्तरन्ति । एतत् जघन्यं वर्षाकालप्रायोग्यं वृषभक्षेत्रम । उत्कृष्टं, मध्यमं च । यथा-ऋतुबद्धे काले ईदृशेषु बहुगच्छोपग्रहकरेषु वृषभग्रामेषु सत्सु । यदि वा-एतेष्वेव साधारणेषु क्षेत्रेषु न परस्परं भण्डनं कर्तव्यम । सचित्ताऽऽदिनिमित्तं किंतु-सीमाच्छेदेन वस्तव्यम् ।

तमेव सीमाच्छेदमाह-

तुज्भं तो मम बाहिं, तुज्झ सचित्तं ममेतरं वा वि ।
आगंतुग-वत्थव्वा, थी-पुरिस-कुलेसु व विरेगो ॥

परस्परं वर्गेऽन्तर्गो व्यवहार एवं कर्तव्यः । मूलग्रामस्याऽन्तर्मध्ये यत् सचित्ताऽऽदि, तत् युष्माकम् । अस्माकं तु बहिः प्रतिवृषभाऽऽदिषु । अथ वा-युष्माकमितरत्, अचित्तम । यदि वा-युष्माकमागन्तुकाः, अस्माकं वास्तव्याः । युष्माकं स्त्रियः, अस्माकं पुरुषाः । यदि वा एतेषु कुलेषु यो लाभः स युष्माकम् । एतेषु तु कुलेष्वस्माकमिति ।

एवं सीमच्छेदं, करेंति साहारणम्मि खेत्तम्मि ।
पुव्वं ठितेसु जे पुण, पच्छा एज्जाहि अन्ने उ ॥

अन्ये तु एवमुक्तेन प्रकारेण साधारणे क्षेत्रे सीमाच्छेदं कुर्वन्ति । ये पुनरन्ये तत्र पूर्वस्थितेष्वन्येषां क्षेत्राणां न समागच्छन्ति ।

खेत्ते उवसंपन्ना, ते सव्वे नियमाउ बोद्धव्वा ।
आभव तत्था तेसिं, सचित्ताऽऽदीण किं जवइ ॥

ते सर्वे नियमेन क्षेत्रतः उपसंपन्ना ज्ञातव्याः । अथ-तत्र क्षेत्रे तेषां तथास्थितानां सचित्तादीनां मध्ये किमाभाव्यं भवति ? किं वा नेति ? ।

तत्राऽऽह-

नाल पुर पच्छ संथुय, मित्ताइ व वंसया सचित्ते य ।
आहारमेत्तगातिगं, संथरग-वसहि-अचित्ते ॥

उग्गहम्मि परे एयं, लभते उ अखेत्तितो ।
वत्थगादी वि दिन्नं तु, कारणम्मिव सो लभे ॥

नालबद्धाः पूर्वं संस्तुताः, पश्चात्संस्तुतानि मित्राणि,वयस्याश्च । एतत्सचित्ते परे परकीये अवग्रहे अक्षेत्रिको लभते । अचित्ते आहारम् अशनाऽऽदिकम्,प्रश्रवणमात्रकं,श्लेष्ममात्रकं च संस्तारकं परिशाटिकमपरिशाटिरूपं वा वसतिं च वस्त्राऽऽदिकं पुनर्दत्तं लभते।कारणे अतिस्तरणाऽऽदिलक्षणे पुनरदत्तमपि लभते । तदेवं गतं क्षेत्रद्वारम् । व्य० १० उ० ।

एकक्षेत्रे उपसंपद्यमानानां कस्य क्षेत्रमाभवति सम्प्रति " साहरणपत्तेगे " इत्यादि व्याख्यानयति-

दोमादि ठिया साहर-णम्मि सुतत्थकारणा एके ।
जति तं उवसंपज्जे, पुव्वठिया वी य सेकंतं ॥

द्व्यादयो द्विप्रभृतयो गच्छाः समाप्तकल्पाः । समकमेकस्मिन् क्षेत्रे स्थितास्तेषां तत् क्षेत्रम् आभाव्यतया साधारणम् । तस्मिन् साधारणे क्षेत्रे स्थिताः सन्तो यदि तमेके गच्छमन्ये सूत्रार्थकारणादुपसंपद्यन्ते । अथवा-ये पूर्वं समाप्तकल्पतया स्थितास्तेषाम् आभवति तत् क्षेत्रम् । न पश्चादागतानां समाप्तकल्पानामपि । एवं ते पूर्वस्थिता अपि यदि पश्चादागतं गच्छं सूत्रार्थकारणादुपसंपद्यन्ते ; तर्हि-यस्य समीपमुपसंपद्यन्ते तस्य तत्क्षेत्रं संक्रान्तं तस्य तदाभवति । नान्येषामिति भावः । ते हि तस्य प्रतीच्छकीभूतास्तेन तेषां क्षेत्रमितरस्य संक्रामतीति । अथ नोपसंपद्यन्ते । किं तु सूत्रमर्थं वा पृच्छन्ति ।

तत्राऽऽह-

पुच्छाहि तीहि दिवसं, सत्तहिँ पुच्छाहिँ मासियं हरति ।
अक्खेत्तुवस्सए पु-च्छमाणे दूराऽऽवलियमासो ॥

तिसृभिः पृच्छाभिः कृताभिः पृच्छ्यमानः परिपूर्णं दिवसं यावत् तत्क्षेत्रगतं सचित्तादि हरति गृह्णाति । त्रिपृच्छादानतस्तस्य क्षेत्रस्यैकं दिवसं यावत्तदाभवनात् । सप्तभिः पृच्छाभिर्मासिकं हरति । किमुक्तं भवति-सप्तपृच्छासु कृतासु पृच्छ्यमानः परिपूर्णमासं यावत्तत्क्षेत्रगतं सचित्तादि लभते मासं यावत्तस्य क्षेत्रस्य तदाभवनादिति । (अक्खेत्तुवस्सए इति) अक्षेत्रे स्थितानामुपाश्रये विशेषा मार्गणा कर्त्तव्या । सा चाऽऽग्रे करिष्यते । तथा-यदि पृच्छ्यमानः आत्मीयमुपाश्रयं दूरम्, उपलक्षणमेतत् आसन्नं वा । आवलिकाप्रविष्टम् उपलक्षणमेतत् मण्डलिकाप्रविष्टं वा, पुष्पाऽऽवकीर्णं वा कथयति । तदा तस्मिन् प्रायश्चित्तं मासो लघुकः,तं च पृच्छन्तं लभन्ते । एष संक्षेपार्थो व्यासार्थोऽग्रे कथयिष्यते । अक्षेत्रे उपाश्रयस्य मार्गणा कर्त्तव्येत्युक्तम् ।

तत्र तावदक्षेत्रमाह-

एहाण ऽणुजाणं अण्हाण, सीसए कुलगणे चउक्के य ।
गामादिवाणमंतर-देय उज्जाणमादीसुं ।
इंदकीलमणोग्गाहो, जत्थ राया जेहिं व पंच इमे ।
अमच्चपुरोहियसेट्ठी-सेणावतिसत्थवाहा य ॥

स्नातमर्हतः प्रतिमानां तन्निमित्तमेकत्र मिलितानामनुयानं रथयात्रा तन्निमित्तं मिलितानाम् । अथवा-ऊर्ध्वशीर्षकं यतः परं समुदायेन सार्थेन सह गन्तव्यं सम्यग् मार्गवहनात् । तत्र मिलितानां (कुल त्ति) कुलसमवायमिलितानाम् (गण त्ति)गणसमवायमिलितानां चतुष्कं सङ्घः तत्समवायमिलितानाम् (गामाइ) इत्यादि । ग्राममहे वा,आदिशब्दान्नगराऽऽदिमहे वा,उद्यानमहे वा, आदिशब्दात्समागाऽऽदिमहेषु वा । इन्द्रकीलकमहे वा यत्र च सकलजनमनोग्राहो राजा यत्र वा इमे अमात्यपुरोहितश्रेष्ठिसेनापतिसार्थवाहाः पञ्च गता वर्त्तन्ते । तत्र कथमपि गताः समकं स्थिताः तर्हि साधारणा वसतिः । अथ विषमं स्थितास्तर्हि ये पूर्वं स्थितास्तेषां वसतिराभवति । नेतरेषां पश्चादागतानाम् । तस्यां च वसतौ यः शिष्यतया उपतिष्ठति तं वसतिस्वामिनो लभन्ते नेतरे ।

" पुच्छमाणे दूराऽऽवलियमासो " इत्यस्य व्याख्यानार्थमाह—

पुप्फाऽवकिण्णमंमलि-याऽऽवलिय उवस्सया भवे तिविहा ।
जो अब्भासे तस्स उ, दूरे कहंतो न लभे मासो ॥

क्वचित् ग्रामे नगरे वा साधवः पृथक् उपाश्रये स्थिताः । ते चोपाश्रयास्त्रिविधा भवेयुः तद्यथा-पुष्पाऽवकीर्णकाः,माण्डलिकावकाः, आवलिकास्थिता वा । स्थापना

०००००	००००	
००००००	० ०	००००
०००००	००००	

एतेषामुपाश्रयाणां मध्ये कुतश्चिदेकतरस्मादुपाश्रयाद्भिक्षाऽऽदिनिमित्तं कोऽपि विनिर्गतस्तं दृष्ट्वा कोऽपि प्रविव्रजिषुः पृच्छेत् । यथा-कुत्र साधूनां वसतिरिति । स ब्रूते-किं कारणं त्वं पृच्छसि ?। शिष्यः प्राह-प्रव्रजिष्यामीति । तत्र यदि स एवं पृष्टः सन् (दूरे कहंतो न लभे मासो इति) आत्मीयमुपाश्रयं दूरम्, आसन्नं वा कथयति । तर्हि तस्य प्रायश्चित्तं लघुको मासः । न च तं शिष्यं लभते । कस्य पुनः स आभवतीति चेत् ?। तत आह-योऽभ्यासे तस्य किमुक्तं भवति-तस्मात्पृच्छकात् यस्य प्रत्यासन्नतर उपाश्रयस्तस्य आभवति ।

किह पुण साहेयव्वा, उद्दिसियव्वा जहक्कमं सव्वे ।
अह पुच्छइ संविग्गे, तत्थ व सव्वे व अण्णा वा ॥

कथं पुनः कथयितव्या उपाश्रयाः ?। सूरिराह-उद्देष्टव्याः यथाक्रमं सर्वे । यथा-अमुकस्याऽमुकप्रदेशे । एवं कथिते यत्र व्रजति तस्य स आभवति । अथ पृच्छति संविग्नान् बहुश्रुततरान् तपस्वितरांश्चेत्यर्थः। तत्र यथाभावमाख्यातव्यम् । वितथाऽऽख्याने मासलघुः । न च स तं लभते । किं-तु ये तपस्वितरा बहुश्रुततराश्च तेषां स आभवति । अथ सर्वे अन्ये वा संविग्नास्ततस्तथैवाऽऽख्याते यत्र स व्रजति तस्य स आभवति । न शेषस्येति ।

एतदेव सविशेषमाह-

मुत्तूण असंविग्गे, जे जहियं ते य साहती सव्वे ।
सिट्ठम्मि जेसि पासं, गच्छति तेसिं न अन्नेसिं ॥

इह ये पार्श्वस्थाऽऽदयोऽसंविग्नास्ते यदि पृच्छ्यन्ते तदा ते न कथनीयास्तेन मुक्त्वा शेषेषु पृष्टेषु ये यत्र विद्यन्ते तान् सर्वान् कथयति । शिष्टे च कथिते सति, येषां पार्श्वे गच्छति तेषामाभवति । नाऽन्येषाम् ।

नीयल्लगाण व भया, हिरिवात्ति असंजमाऽहिगारे वा ।
एमेव देसरज्जे, गामेसु व पुव्वकहणं तु ॥

इह कोऽपि तस्मिन् ग्रामे नगरे देशे राज्ये वा न प्रव्रजति । किं-

कारणमिति चेत्? उच्यते-निजकानां स्वज्ञातीयानां भयात्। मा निजका उत्प्रव्राजयेयुः प्रव्रजन्तं वा मा रुन्ध्युरिति। यदि वा-तेषां निजकानां समक्षं लज्जते। ततो हीनो वा। अथवा-असंयमाऽधिकारः असंयमाधिकरणं तत् ग्रामादि अप्कायादिप्रचुरत्वात्। ततोऽन्यत् ग्रामादिकं गन्तुमनास्तथैव विचारादिगतं पृच्छेत्। यथा-कस्मिन् ग्रामे नगरे देशे राज्ये वा साधवः? एवमन्यस्मिन् राज्ये ग्रामेषु वा पृच्छायामेवं पूर्वोक्तेनैव प्रकारेण यथाभाव कथनं कर्त्तव्यम्। किमुक्तं भवति-यथा-त्रिविधेषूपाश्रयेषु आसन्नदूरतरस्थितबहुश्रुतानां पृच्छायां व्याकरणमनाभाव्य,आभाव्य च वर्णितम् तथाऽत्राऽपि द्रष्टव्यम्। तद्यथा-यत् यथा कथनीयं वितथाऽऽख्याते तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु। तदा च गतस्तेषां समीपमुपगच्छति। स तेषामाभवति। नान्येषामिति।

अहवा वि अन्नदेसं, संपट्ठियगं तगं मुणेऊण।
मायानियमिपहाणो, विप्परिणामो इमेहिँ तु॥

अथवेति प्रकारान्तरे तच्च प्रकारान्तरं विपरिणामविषयं वक्ष्यमाणरीत्या द्रष्टव्यम्। विचाराऽऽदिविनिर्गतं साधुं दृष्ट्वा कोऽपि परेण आदरेण वन्दते। तं च तथा वन्दमानं पृच्छति। कुतस्त्वं? कुत्र वा संप्रस्थित इति? स प्राऽऽह-अमुकं देशं संस्थितः तत्र गत्वा प्रव्रजिष्यामि। तत एनमन्यदेशं संप्रस्थितं तं ज्ञात्वा। मायी परवञ्चनाऽऽभिप्रायी निकृतिराकारवचनाऽऽच्छादनं यथाकूटाऽऽख्यातृत्वेन नद्दयते मायानिकृती प्रधाने यस्य स तथा। एभिर्वक्ष्यमाणैश्चैत्याऽऽदिभिर्विपरिणामयति।

तान्येव विपरिणामिस्थानानि चैत्याऽऽदीनि दर्शयति-

चेइय साहू वसही, वेज्जा व न संति तम्मि देसम्मि।
पमिणीय-सड्ढि-साणो, वियारखेत्ता अहिगमग्गो॥

यत्र त्वया गन्तव्यं तस्मिन् देशे चैत्यानि,यदि वा-साधवः,अथवा-संवसतयः, यद्वा-वैद्या न सन्ति। तथा-बहवस्तत्र प्रत्यनीकाः। न च दानाऽऽदिप्रधानानि श्राद्धकुलानि। श्वानः प्रभूताः,न च तत्र विचारभूमिः, सर्वत्र पानीयाऽऽकुलत्वात्। नाऽपि तत्र विहारयोग्यानि क्षेत्राणि। अधिकश्च भूयान् मार्गः पन्था एतैः प्रकारैर्विपरिणामयति।

तत्र प्रथमतश्चैत्यमधिकृत्याह-

वंदण पुच्छा कहणं, अमुगं देसं वयामि पव्वइउं।
नत्थि तहिं चेइयाइं, दंसणसोही जतो होइ॥

परया भक्त्या विचाराऽऽदिविनिर्गतस्य साधोर्वन्दनम्। ततः पृच्छा कुत्र गन्तव्यम्? तदनन्तरं तस्य कथनम्-अमुकं देशं व्रजामि प्रव्रजितुमिति। एवमुक्ते स प्राऽऽह- न सन्ति तत्र चैत्यानि यतो येभ्यो दर्शने शोधिः सम्यग्दर्शने निर्मलता भवति।

कथं तेभ्यो दर्शनशोधिः? इति। अत आह-

पूयं तु दट्ठुं जगबंधवाणं,
साहू विचित्ता समुवेंति तत्थ।
ऽभंगं च दट्ठूण उवासगाणं,
सेहस्स वी थीरइ धम्मसद्धा॥

जगद्बान्धवानां पूजां दृष्ट्वा तत्र तेषु चैत्येषु साधवो विचित्रा भव्या भव्यतराः समुपयन्ति मूर्तिं दृष्ट्वा देशनां वा समाकर्ण्य तथा उपासकानां श्रावकाणां स्नानविलेपनाऽऽदिषु अभ्यङ्गं च दृष्ट्वा आस्तामन्येषां शुभपरिणामोल्लासः शैक्षस्याऽपि धर्मश्रद्धा स्थिरति स्थिरीभवतीत्यर्थः।

चैत्यानि तु तत्र न विद्यन्ते। ततः किं तत्र गत्वा त्वया कार्यम्? इति द्वारमाह-

न संति साहू तहियं विचित्ता,
ओसन्नकिन्नो खलु सो उ देसे।
संसग्गिहज्जम्मि इमम्मि लोए,
सा भावणा तुब्भ वि मा ह वेज्जा॥

न सन्ति तत्र साधवो विचित्रा एकान्तसंविग्नाः। किं तु-अवसन्नकीर्णोऽवसन्नव्याप्तः खलु स कुदेशः। अयं च लोकः संसर्गिहार्यः संसर्गात् ह्रियते संसर्ग्यनुयायी भवति। तथाऽवसन्नव्याप्ततः संसर्गिहार्येऽस्मिन् लोके वर्तमानस्य तवाऽपि सा अवसन्नभावना मा भूदिति तत्र न गन्तव्यम्।

शय्याद्वारमाह—

सेज्जा न संती अहवेसणिज्जा,
इत्थीपसुपंडगमादिकेएणा।
आउच्छमादीसु य तासु निच्चं,
ठायंतयाणं चरणं न सुज्झे॥

तत्र शय्या न सन्ति। अथवा-एषणीया न विद्यन्ते। यदि-परमात्मकृताः स्युः। यदि वा-स्त्रीपशुपण्डकाऽऽद्याकीर्णाः सचित्तासु चाऽऽत्मोत्थाऽऽदिषु आत्मकृताऽऽदिषु नित्यं सर्वकालं तिष्ठतां चरणं न शुद्ध्यति चारित्रशुद्धिर्न जायते।

वैद्याऽऽदिद्वारचतुष्टयमाह-

वेज्जा तहिं नत्थि तहोसहाइं,
लोगो य पाएण सपच्चणीओ॥
दाणाइ सड्ढी य तहिँ न संति,
सोणेहिँ किराणो सहलूसएहिं॥

तत्र वैद्याः,तथा औषधानि च न संन्ति। लोकश्च प्रायेण तत्र सप्रत्यनीकः। दानादिप्रधानाश्च श्राद्धिनः श्रावकास्तत्र न संन्ति। तथा श्वभिः सहलूषकैश्चौरैः कीर्णो व्याप्तः।

विहारक्षेत्रद्वारमाह-

अणूवदेसम्मि वियारभूमी,
विहारखेत्ताणि य तत्थ णत्थी।
साहूसु आसन्नठिएसु तुज्झं,
को दूरमग्गेण मरुप्फरो ते॥

यत्र त्वया गन्तव्यं तस्मिन् अनूपदेशे जलमयदेशे विचारभूमिर्नास्ति। नाऽपि तत्र सन्ति विहारयोग्यानि क्षेत्राणि। अन्यच्च-साधुष्वासन्नस्थितेषु तव को दूरमार्गेण (मरुप्फरो) गमनोत्साहः तदेवमृतुबद्धकालविषयं सूत्रं भावितम्।

अधुना वर्षावासविषयं भावयन्ति-

वासासुं अमणुन्ना, असमत्ता जे वि या भवे वीसुं।
तेसिं न होइ खेत्तं, अह पुण समणुन्नय करेंति॥
तो तेसि होति खेत्तं, को उ पभू सिं जो उ रायणिओ।
लाभो पुण जो तत्था, सो सव्वेसिं तु सामण्णो॥

वर्षासु वर्षाकाले ये अमनोज्ञाः परस्परोपसंपद्विकला असमा-

सा असमाप्तकल्पा विष्वक् पृथक् स्थिता भवेयुस्तेषां न भवति क्षेत्रम् । आत्मानमसमाप्तकल्पत्वात् । अथ पुनः-सुखदुःखादिनिमित्तं समनीकृतां परस्परोपसंपदं कुर्वन्ति । ततो भवति तेषामाभाव्यं क्षेत्रम् । परस्परोपसंपदा समाप्तकल्पीभूतत्वात् । अथ तेषां कः प्रभुः? । उच्यते-यो रात्निको रत्नाधिको यस्य पर्यायाधिकतया वन्दनादीनि क्रियन्ते (सं) तेषां प्रभुर्लाभः पुनर्यस्तत्र भवति स सर्वेषां सामान्यः साधारणः सर्वेषामप्याचार्यत्वादुपाध्यायत्वाद्वा ।

अहव जइ वीसु वीसु, ठिया उ सम्मत्तकप्पिया हुज्जा ।
अण्णो समत्तकप्पी, एज्जाही तस्स तं खेत्तं ॥

अथवा-असमाप्तकल्पिका यदि विष्वक्विष्वक्स्थिता भवेयुरन्यः समाप्तकल्पः समाप्तकल्पोपेतः पश्चादागच्छेत् तस्य तत् आभवति क्षेत्रम् । नेतरेषां पूर्वस्थितानामपि असमाप्तकल्पत्वात् ।

अहवा दोण्णि व तिण्णि व, समगं पत्ता समत्तकप्पीओ ।
सव्वेसिं वी तेसिं, तं खेत्तं होइ साहरणं ॥

अथवा-द्वौ वा, त्रयो वा, गच्छाः समाप्तकल्पिताः पृथक् पृथक् कल्पोपेताः समकं प्राप्तास्ततस्तेषां सर्वेषामपि तत्क्षेत्रम् । आभाव्यतया साधारणं भवति ।

अपुण्णकप्पो व दुवे तओ वा,
जं कालकुज्जा समणुण्णयं तु ।
तक्कालपत्तो य समत्तकप्पो,
साहारणं तं पि हु तेसि खेत्तं ॥

अपूर्णकल्पा असमाप्तकल्पा द्वौ त्रयो वा गच्छाः स्थिता न च परस्परमुपसंपत् गृहीता पश्चात् सूत्रार्थाऽऽदिनिमित्तमुपसंपदं गृहीतुमारब्धाः । ते च यत्कालं यस्मिन्काले समनोकृतां परस्परमुपसंपदं कुर्युः कुर्वन्ति । तत्कालप्राप्तस्तस्मिन्काले प्राप्तोऽन्यः समाप्तकल्पस्तेषामपि तत् क्षेत्रम् भवति साधारणम् । परस्परोपसंपद्ग्रहणवेलायामेव समाप्तकल्पस्यापि प्राप्तत्वात् ।

संप्रति परस्परोपसंपन्नानां साधारणाऽवग्रहाऽवस्थितानां सूत्रमर्थं वाऽधिकृत्य य आभवनविशेषस्तमभिधित्सुराह-

साहारणट्ठियाणं, जो भासति तस्स तं व हरति खेत्तं ।
वारगतं दिण पोरिसि, मुहुत्त जासे उ जे ताहे ॥

साधारणस्थितानां साधारणाऽवग्रहाऽवस्थितानां मध्ये यः सूत्रमर्थं वा भाषते । तस्य तद्भवति क्षेत्रम् । न शेषाणाम् । अथ ते वारवारेण भाषन्ते । तत आह-यो यदा वारकेण । दिनं, पौरुषीं मुहूर्त्तं वा भाषते । तस्य तावन्तं कालमाभाव्यम् । न शेषकालम् । इयमत्र भावना-यो (यति) दिवसा भाषते तस्य (तति) दिवसा आभाव्यम् । अथवा-प्रतिदिवसं यो (यति) पौरुषीर्भाषते तस्य (तति) पौरुषीरवग्रहः । यदि वा-यो (यति) मुहूर्त्तान् भाषते तस्य तावत्कालमवग्रहः । न शेषकालमपीति ।

आवलिया मंडलिया, घोडगकंडूइए व जासेज्जा ।
सुत्तं जासतिमा-सा इयादि जा अट्ठसीतिं तु ॥

इह सूत्रस्याऽर्थस्य वा भावणे त्रयः प्रकाराः । तद्यथा-आवलिकया मण्डल्या घोटककण्डूयितेन च तथा विच्छिन्ना एकान्ते भवति मण्डली सा आवलिकायाः । पुनः स्वस्थान एव सा मण्डली घोटककण्डूयितं नाम यद्वारं वारं परस्परं प्रच्छन्नं तयोः परस्परं कण्डूयितमिव घोटककण्डूयितं तत्र सूत्रमर्थं वा भाषते । आवलिकया मण्डलिकया घोटककण्डूयितेन वा तत्र सूत्रं भाषते । सामायिकाऽऽदि तावत् यावत् दृष्टिवादगताऽन्यष्टाऽशीतिसूत्राणि । पूर्वेषु तु विशेषो वक्तव्य इति तदनुपादानम् । संप्रति यथोत्तममाण आवश्यकप्रतिप्रच्छकस्य समीपे दशवैकालिकमधीते दशवैकालिकवाचनाऽऽचार्यस्य भवति क्षेत्रम् । तथा एकस्य पार्श्वे दशवैकालिकमधीते दशवैकालिकवाचनाचार्यः । पुनर्दशवैकालिकप्रतिप्रच्छकस्य पार्श्वे उत्तराध्ययनान्यधीते उत्तराध्ययनवाचनाऽऽचार्यस्य आभाव्यं क्षेत्रम् । एवं यथोत्तरं तावद्भावनीयं यावदष्टाऽशीतिसूत्राणि ।

सुत्ते जहुत्तरं खलु, बलिया जा होति दिट्ठि वातो त्ति ।
अत्थे वि होइ एवं, छेअसुअत्थं नवरिमुत्तुं ॥

यथा-सूत्रे यथोत्तरं बलिष्ठता एवमर्थेऽपि भावनीया । तद्यथा-एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकार्थवाचनाचार्यः । पुनरावश्यकाऽर्थ-प्रतिप्रच्छकस्य समीपे दशवैकालिकार्थवाचनाऽऽचार्यस्य आभवति क्षेत्रम् । एवं तावद्वाच्यं यावदष्टाशीतिसूत्रार्थमुक्त्वा अथाऽऽचार्याणामुपरि छेदसूत्राऽर्थाऽऽचार्यो वक्तव्यः । तद्यथा-एकस्य पार्श्वे दृष्टिवादगतानामष्टाशीतेः सूत्राणामर्थमधीते, अष्टाशीतिसूत्रार्थ-वाचनाचार्यः । पुनरष्टाशीतिसूत्रार्थप्रतिप्रच्छकस्य समीपे छेदसूत्रार्थमधीते, छेदसूत्रार्थवाचनाचार्यस्य आभाव्यं तत् क्षेत्रम् ।

एमेव मीसगम्मि वि, सुत्तातो बलवगो पगासो उ ।
पुव्वगयं खलु बलियं, हेट्ठिल्लत्था किमु सुयातो ॥

एवमेव अनेनैव प्रकारेण मिश्रकेऽपि सूत्राऽर्थरूपोभयस्मिन्नपि वक्तव्यं सर्वत्र सूत्रात् बलवान् प्रकाशोऽर्थस्य प्रकाशकः तद्यथा-एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकसूत्रमधीते । तस्य समीपे पुनः सूत्रवाचनाचार्य आवश्यकस्यार्थमधीते । आवश्यकार्थवाचनाचार्यस्य आभवति तत् क्षेत्रम् । एवं तावद्भावनीयं यावदष्टाशीतिसूत्रार्थं वाचनाऽऽचार्यः सर्वत्राऽधस्तनात्सूत्रादर्थाद्वा पूर्वगतं बलीयः तथा चाह-(पुव्वगयमित्यादि) यदि पूर्वगतं सूत्रं खलु अधस्तनादर्थाद्भवति बलीयः किमङ्ग! सूत्रात् सुतरामधस्तनात् सूत्राद्बलीय इत्यर्थः । तद्यथा-एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकस्य सूत्रमर्थं तदुभयं वाऽधीते । तस्य समीपे पुनरावश्यकसूत्रार्थतदुभयवाचनाचार्यः पूर्वगतं सूत्रमधीते । आवश्यकसूत्रादिप्रतीच्छकस्य आभवति । एवं तावद्वाच्यं यावदष्टाशीतिः सूत्राणि पूर्वगतसूत्राच्च पूर्वगताऽर्थो बलीयान् । तत एकस्य पार्श्वे पूर्वगतसूत्रमधीते तस्य समीपे पूर्वगतसूत्रवाचनाचार्यः पूर्वगतमर्थं पूर्वगतसूत्रमर्थं पूर्वगतसूत्रप्रतीच्छकस्य आभवति ।

अथ किं कारणं शेषात्सूत्रादर्थाच्च पूर्वगतं सूत्रं बलीयः? तत आह-

परिकम्मेहि य अत्था, सुत्तेहि य जेहि सूइया तेसिं ।
होइ विभासा उवरिं, पुव्वगयं तेण बलियं तु ॥

दृष्टिवादः पञ्चप्रस्थानः । तद्यथा-परिकर्माणि सूत्राणि पूर्वगतमनुयोगश्चूलिकाश्च । तत्र ये परिकर्मभिः सिद्धश्रेणिकाप्रभृतिभिः सूत्रैश्चाष्टाशीतिसङ्ख्यैरर्थाः सूचितास्तेषां सर्वेषामप्येषां च उपरि पूर्वेषु विभाषा भवति । अनेकप्रकारात् तत्र भाष्यन्ते इत्यर्थः तेन कारणेन पूर्वगतं सूत्रं बलिकम् ।

सम्प्रति येन कारणेन सूत्रार्थो बलियान् तदभिधित्सुराह-

तित्थगरत्था (ट्ठा) णं खलु, अत्थो सुत्तं तु गणहरत्था(ट्ठा)णं ।

अत्थेण य वंजिज्जइ, सुत्तं तम्हा उ सो बलवं ।

अर्थः खलु तीर्थकरस्थानं तस्य तेनाऽभिहितत्वात्। सूत्रं तु गणधरस्थानं तस्य तैर्दृब्धत्वात्। अर्थेन च यस्मात्सूत्रं व्यज्यते प्रकटीक्रियते तस्मात्सोऽर्थः सूत्राद् बलवान्।

अथ कस्मात्? शेषाऽर्थेभ्यश्छेदसूत्राऽर्थो बलीयानित्यत आह–

जम्हा उ होइ सोही, छेयसुयत्थेण खलियचरणस्स ।
तम्हा छेयसुयत्थो, बलवं मुत्तूण पुव्वगयं ॥

यस्मात् स्खलितचरणस्य स्खलितचारित्रस्य छेदश्रुताऽर्थेन शोधिर्भवति। तस्मात्पूर्वगतमर्थं मुक्त्वा शेषात्सर्वस्मादप्यर्थात् छेदश्रुताऽर्थो बलवान् तदेवमावलिकामधिकृत्योक्तम्।

अधुना मण्डलीमधिकृत्याह–

एमेव मंडलीए, पुव्वाहिय नट्ठधम्मकहिवादी ।
अहवा पइण्णगसुए, अहिज्जमाणे बहुस्सुए वि ॥

यथा अधस्तादावलिकायामुक्तम् एवमेव मण्डल्यामपि द्रष्टव्यम्। सा मण्डली कथं भवति? इति चेत्। उच्यते–पूर्वाधीते नष्टे उज्झाल्यमाने धर्मकथायां धर्मकथाशास्त्रेषु, वादे वादशास्त्रेषु उज्झाल्यमानेष्वधीयमानेषु वा। अथवा–प्रकीर्णकश्रुते अधीयमाने बहुश्रुतेऽपि बहुश्रुतविषयेऽपि मण्डली भवति। तत्राप्याभाव्यमावलिकायामिव। अथ कथमावलिकायामिव मण्डल्यामपि द्रष्टव्यमिति चेत्? उच्यते–एक एकस्य पार्श्वे पूर्वाधीतं नष्टमावश्यकमुज्झालयति। आवश्यकवाचनाचार्यः पुनस्तस्य समीपे दशवैकालिकं दशवैकालिकवाचनाचार्यस्याभवति इत्यादि सर्वं तथैव। तथा–एक एकस्य पार्श्वे आवश्यकं नष्टमुज्झालयति एषोऽप्यावश्यकवाचनाचार्योऽन्यस्य समीपे दशवैकालिकं, दशवैकालिकवाचनाचार्योऽप्यपरस्य समीपे उत्तराध्ययनानि, उत्तराध्ययनवाचनाचार्योऽप्यन्यस्य समीपे आचाराङ्गम्। एवं यावत् विपाकश्रुतवाचनाचार्यः पूर्वाधीतं नष्टमन्यस्य पार्श्वे दृष्टिवादमुज्झालयति। दृष्टिवादवाचनाचार्यस्य आभवति। न शेषाणामाभवनस्योत्तमसंक्रान्त्यान्तिमेऽवस्थानादेतदावलिकायामपि द्रष्टव्यम्। तथा–यस्य पार्श्वे धर्मकथाशास्त्राणि योऽज्झालयत्यधीयते वा संघाटस्य आभवति। न पाठ्यमानस्य। तथा बहुश्रुततरोऽपि यद्यन्यस्य समीपे प्रकीर्णकश्रुतमधीयते तदा तस्य प्रकीर्णकश्रुतवाचनाचार्यस्य आभवति। न बहुश्रुततरस्य। किं बहुना यो यस्य समीपे पठत्युज्झालयति वा तस्य भक्तमाभाव्यमितरो वाचनाऽऽचार्यो हरतीति।

अथाऽऽवलिकाया मण्डल्याश्च कः प्रतिविशेषः? इति अत आह–

छिण्णाछिण्णविसेसो, आवलियाए उ अंतए जाति ।
मंडलिए सट्ठाणं, सच्चित्तादीसु संकमति ॥

आवलिका-मण्डल्योः परस्परं छिन्नाऽछिन्नकृतो विशेषः। आवलिका छिन्ना विविक्त एकान्तो भवति। मण्डलिका त्वछिन्ना। "आवलिया तत्थ छिन्ना, मण्डलिया होइ अच्छिन्ना उ" इति वचनात्। एतदेव सुव्यक्तमाह–आवलिकायामुपाध्यायकोऽन्तमध्ये विविक्ते प्रदेशे तिष्ठति। मण्डल्या पुनः स्वस्थानमाभवनं च पाठयितरि संक्रामति सचित्ताऽऽदिषु तत्क्षेत्रगतसचित्ताऽऽदिविषयम्।

अधुना घोटककण्डूयितमधिकृत्याऽऽह–

दोण्हं तु संजयाणं, घोडककंडूइयं करेंताणं ।
जो जाहे जं पुच्छइ, सो ताहे पडिच्छओ तस्स ॥

द्वयोः संयतयोर्घोटककण्डूयितमिव (घोटककंडूइयं) परस्परं प्रच्छनमित्यर्थः। तं कुर्वतां यो यदा यं पृच्छति स तदा तस्य प्रतीच्छकः। इतरः प्रतीच्छ्यः। तावत्तस्य आभवति। न शेषकालमिति।

उपसंहारमाह–

एवं ता असमत्ते, कप्पे भणितो विही उ ओ एस ।
एत्तो समत्तकप्पे, वुच्छामि विहिं समासेणं ॥

एवं तावत् असमाप्ते कल्पे यो विधिर्भवति। स एष भणितः। अतः ऊर्ध्वं समासेन समाप्तकल्पे विधिं वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति–

गणिआयरियाणं तो, खेत्तम्मि ठियाण दोसु गामेसु ।
वासासु होति खेत्तं, निस्संचारेण बाहिरतो ।

गणोऽस्याऽस्तीति गणी गणाऽवच्छेदकः। आचार्यः प्रतीतः। तयोर्द्वयोः पृथक् पृथक् स्थितयोर्वर्षासु आभवति क्षेत्रम्। ग्रामद्वयलक्षणम्। अन्तः क्षेत्रं स्थितयोः क्षेत्राभ्यन्तरव्यवस्थितयोर्न पुनः परस्परं गमनाऽऽगमनतः। कुतः? इति। आह–बहिर्निःसंचारेण स्वस्वग्रामाद्बहिः पानीयहरिताऽऽद्याकुलतया संचारी भवतः।

वासासु समत्ताणं, उग्गहो एगदुगपिंडियाणं पि ।
साहारणं तु सेहं, वोच्छं दुविहं च पच्छ कमं ॥

वर्षासु बहूनामाचार्याणां परस्परोपसंपदा समाप्तकल्पानां वर्षासु समाप्तजनाः समाप्तकल्पाः। असमाप्तकल्पा जनाः असमाप्तकल्पाः (एगदुगपिंडियाणं पि) संप्राप्त्याऽप्येकका: सन्तः पिण्डिता एकपिण्डिताः। अथवा–द्विकेन वर्गद्वयेन एकः एकाकी, एकः एकवर्गः। यदि वा–एको द्विवर्गः, एकः पञ्चवर्ग इत्यादिरूपेण पिण्डिताः द्विकपिण्डितास्तेषामेकद्विकपिण्डितानाम् अपिशब्दात्त्रिकचतुष्कादिपिण्डितानां चावग्रह आभवति। न शेषाणामसमाप्तकल्पस्थितानाम्। तथा साधारणं शैक्षं वक्ष्ये साधारणः शैक्षो यस्य भवति। तस्य तं वक्ष्ये। तथा द्विविधं च–गृहस्थसारूपिकभेदतो द्विप्रकारं च। पश्चात्कृतमुपरि गणावच्छेदकपृथक्त्वं सूत्रे वक्ष्यामि। व्य० ४ उ०। (क्षेत्रे प्राप्तस्य शिष्यस्य आभवनव्यवहारः 'सीस' शब्दे) (समकं क्षेत्रप्राप्तानामाभवनम् ' उवसंपया ' शब्दे द्वि० भागे १००१ पृष्ठे उक्तम्) (संयतनिर्ग्रन्थपरिहारविशुद्धादीनां स्वस्थाने क्षेत्रतो मार्गणाऽवसेया) (अवधिक्षेत्रम् ' ओहि ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १५१ पृष्ठे उक्तम्) "एताओ य कालातो खेत्तो सुहुमतरागं भवति। कहं जेण अंगुलपमाणमेत्ते आगासे जावतिया आगासपएसा ते जइ एगे समए समए एगमेगं आगासपएसं गहाय अवहीरमाणा अवहीरमाणा असंखेज्जाहिं ओसप्पिणीहिं अवहिता भवंति अतो कालातो खेत्तं सुहुमतरागं भवति " आ० चू० १ अ०। (वर्षाक्षेत्रस्थापना 'पज्जुसणा' शब्दे) (सामायिकक्षेत्राहारम् ' सामाइय ' शब्दे) " जम्बुद्दीवे दीवे दस खेत्ता पण्णत्ता। तं जहा—भरहे, एरवए, हेमवए, हेरण्णवए, हरिवस्से, रम्मगवस्से, पुव्वविदेहे, अवरविदेहे, देवकुरा, उत्तरकुरा " ॥ देहे, अन्तःकरणे, कलत्रे, सिद्धिस्थाने क्षेत्राकारे, त्रिकोणचतुष्कोणादिकपदार्थे, वाच०। ('खेत्तारिय' शब्दे आर्यक्षेत्राणि)

खेत्तओ–क्षेत्रतस्–अव्य०। क्षेत्रमाश्रित्येत्यर्थे। तत्र क्षेत्रं द्रव्याऽऽधारमाकाशमात्रं वा। भ० ७ श० ६ उ०।

खेत्तकप्प–क्षेत्रकल्प–पुं०। देशविशेषाऽऽचारे, बृ० ६ उ०। क्षेत्रकल्पाकल्पत्वे। पं० भा०।

समासतः क्षेत्रकल्पप्रतिपादनायाह–

एतो समासतो हं, वोच्छामि खेत्तकप्पं तु ।
जं देवलोगसरिसं, खेत्तं निप्पव्ववातियं जं च ॥ ८ ॥
एसो तु खेत्तकप्पो, देसा खलु अद्धछव्वीसं । पं० भा०
जत्थ य गुणा इमे तू, खेमाईया मुणेयव्वा ।
खेमो सिवो सुभिक्खो, अप्पप्पाणो उवस्सयमणुन्नो ॥९॥
एसो तु खेत्तकप्पो, गामनगरपट्टणाइओ ।

(खेमो सिवादि) खेमो–डमरविरहिओ। सिवो–रोगविरहिओ। सुभिक्खो–पउरअपाणो । अप्पपाणो पि–चीलियाविरहिओ। उवस्सयमणुन्नो–इत्थिनपुंसकाइविरहिओ। समासेज्ज कयपवर-विवज्जिओ, गामणगराकराणि बहूणि वासामासपाउग्गाणि खेत्ताणि ॥ ६ ॥

व्यासतो गाथाभिरेव तद्विवरणमाह–

खेमो डमरविरहितो, रोगाइविरहितो य सिवो होति ।१०।
पउरन्न-पाणदोसा, होति सुभिक्खो मुणेयव्वो ।
जलूगासंखण मुइंग–पिसुगमसगादिविरहितो जो तु ॥११॥
सो होति अप्पपाणो, अप्पअभावम्मि थोवे य ।
समजूमिरेणुवज्जिय,परितुक्खमोवस्सया मणुन्नाओ ॥१२॥
गामणगरा वि य बहू, पाउग्गा मासकप्पस्स ।
सज्जणजणो य भद्दो, जहियं च मणुन्नसाहुजोणीओ ।१३।
तारिसए खेत्तम्मी, समणुन्नाओ विहारो तु ।
खेमो य सिवो य तहा, खेमसुभिक्खो य एव संजोगा ।१४।
णेयव्वा छसु पदेसुं, सत्तसु वा आणुपुव्वीए ।
अहवोदयऽग्गिसावग–तक्करवालजयवज्जिओ रंमो ॥१५॥
.... ।
.... ॥ १६ ॥

णिरविक्खा वि य जहियं, समणगुणविदू य जत्थ जणो ।

(उदय त्ति) उदएण य पेलिज्जंति न वुज्झंतीर्थः । अग्गिणा न डज्झंति, घणकवाडहम्मियगाओ कोट्टिमतलाओ य । अहाकडाओ वसहीओ सरीरोवहितेण सावगतक्कर-परचक्कविरहिएसु देसेसु साहुविहारो अणुण्णाओ । तत्थ य साहूणं कालपरिभोगी जणो सुतत्थपोरिसीं काउं तइयाए पोरिसीए भिक्खवेलाए ॥१५॥ (गाहा) पुढवीपइ य सूरो विसेसो जाणइ साहूणं जहा एए अहिरन्नसोवन्नियमंगलभूया सव्व-संगवज्जिया समणगुणा य जणो जाणइ आहाराइ ॥ १६ ॥

एताणि चेवमाई–याणि आरीय खेत्तसहिआणि ॥१७॥
पुव्वभणियाणि जाणि उ, ताइं खलु सत्त य हवंति ।
णाणस्स दंसणस्स य, जत्थ य नत्थी य उवघातो ॥१८॥
एसो तु खेत्तकप्पो, जहियं च अणायणा नत्थि ।
उदगजयतुणादी, जह कुंकणसिंधुतामलितादी ॥१९॥

(नाणस्स) नाणदंसणचरित्ताईणि जत्थ विही तवणियमसं-जमजोगाण य परिवुड्ढी अणायतणाणि य जत्थ लोइया । इत्थि-पुरुसनपुंसका वा, वाउरिया वा वाहलोद्धियचरगसक्काइया चि-क्खभूया नत्थि लोउत्तरं च अणाययणं पासत्थोसन्नकुसीला-इलिंगमेत्तपडिच्छन्ना नत्थि एरिसे खेत्ते विहरियव्वं को इ पुण आलंबणाइं काऊणं ण विहरइ तत्थ ॥ १८ ॥ १९ ॥

णत्थि जहं अग्गिजयं, निरग्गिताहंमि य गिहा वा ।
जहियं च सावयजयं, सीहादीणं ण विज्जए देसे ॥२०॥
जहियं च णत्थि चोरा–देरुवही पंथि मोसादी ।
वालाउ सप्पगोणस्स,मादीदाबोहिगभयं च णत्थि जहिं २१
मणसो समाहिकारो, सो रंमो होति णायव्वो ।
सूरो अणन्नगम्मो, जत्थ णरिंदो तहिं सुहविहारं ॥२२॥
साहुगुणे य वियाण–ति कुणति य साहूण जो रक्खं ।
अहिरन्नसुवन्ने ते, छज्जिवनिकायसंजमे णिरता ॥२३॥
जाणति जणो य एवं, जत्थ तु साहूण गुणनिसहं ।
सज्झाओ जहि सुज्झति,कुदिट्ठिगिओ णयविओ होति २४
एसण इत्थी सोही, य जत्थ तहियं निवासो तु ।
जहियं च अणायतना, ण संति के पुण अणायतणा ॥२५॥
भणिय साहम्मि जिन्न–चित्ता मूलुत्तरदेसपडिसेवी ।
एतेहिं जो देसो, आइन्नो तहय अन्नतित्थीहिं ॥२६॥
सत्थंधवाहगामा, पुलिंददेसा अणायतणा ।
एतारिसम्मि खेत्ते, अप्पडिबद्धेण विहरियव्वं तु ॥२७॥
आलंबणा विकित्तुं, तु इमातिकातुं ण विहरंति ।
वसही संथारो ज–त्तपाणवत्थे पडिग्गहे सेहा ॥२८॥
सड्ढा य पुव्वसंथुय, असहहं ते य पडिबंधो ।

(वसहि) संथारवसहि सीयकाले निवाया, उण्हकाले सीयला, वासासु सीयविवज्जिया, अणेवारिसा संथारगा च । मरुक्खमाइ पाणयं च सीयलं वत्थाइतामलित्तकं सिंधवाइ लब्भंति पडिग्गहा इत्थं पारंपरया लब्भंति । सेहा उ उप्पज्जंति सड्ढा य दुद्धदहियघयाइ देंति । पुव्वपच्छासंथुएसु नेहाणुरा-यपडिबंधेण वा असहइंतस्स वा मासकप्पं पडिबंधो होइ । किं मासकप्पेण बहुतरीरियासु विराहणा नाणाईणं च परिहाणी, को इ तित्थवोच्छेयो य यो इ जं च भणध णितियवासे संथा-साइदोसा अंतोमासं संवसमाणस्स तो वधसंवासाइं दोसा होहिंति । एवं निइयावसे दोसे असहइंतस्स आह ॥२८॥

फासुया एसणिज्जायं, णिव्वातापरितुक्खमा ॥२९॥
एरिसा साहुयानुग्ग, वसही दुल्लभं न हि ।
एमेव य संथारा, सुलभा जोग्गा य साहूणं ॥३०॥
भत्तं सुलभमणुन्नं च, परिसं णत्थि अन्नहि ।
वत्था पडिग्गहा वि य,सुलभा सहाये एत्थ खेत्तम्मि ॥३१॥
अन्नत्थ दुल्लभा तु, तेण तु एत्थं बहुगुणं तु ।
सड्ढा आहारादी, देंति जोग्गणिसंयुता चेव ॥३२॥
पुर पच्छ दट्ठभद्दा, य अन्नहिं णत्थि एरिसगा ।
उडुबद्धे मासकप्पे–ण विहारो तं ण सदह इमेहिं ॥३३॥
संजम आतविराहण, वच्चंते गामणुग्गामं ।
णाणादीण य हाणी, जोग्गं खेत्तं तु मग्गमाणेणं ॥३४॥

खेत्ताओ वि य खेत्तं, संकममाणे ख्रुवमसायो ।
जे णीयत्ते दोसा, मासंते परिवसेण ते चेव ॥३५॥
एवं मासविहारे, मन्नंतो बहुविहे य दोसे य ।
णो सद्दहति विहारं, ण तु विहरति तस्स आणादी ॥३६॥
मासोवरिं च लहुओ, णीया वासे य जे दोसा ।
ते सो पावति सव्वं, एते सालंवणेहिं अत्थंतो ॥३७॥
किं एगंतेणेरं, ण विसेसो जन्नती मुणसु ।
णिक्कारणम्मि एवं, पडिबंधे कारणम्मि णिद्दोसा ॥३८॥
ते चेव अजयणाए, पुणो व सो पावती दोसो ।
काणि पुण कारणाणि, जेहिं चिट्ठिज्ज एकठाणम्मि ।३९।
भणंति पुव्वुद्दिट्ठा, जे खेमसिवादिया दारा ।
तेसिंचिय पडिवक्खा, अक्खेमे असिव तह य दुभिक्खं ।४०।
बहुपाणवस्सओ वा, अमणुन्नो जो तु दयमादी ।
एतेहिं एगट्ठा-णम्मि अ उ अत्थमाणाओ ॥४१॥
जदि जयण ण कुव्वंती, तेच्चिय नीयादिया दोसा ।
का पुण जयणा तहियं,जन्नति तहिँ कारणेहिँ तुट्ठितस्स ॥
अन्नउवस्सयविक्खा-दिया तु जयणा मुणेयव्वा ।
अक्खेममादिएसु वि, अक्खेत्तेसु तु कारणवसेणं ॥४३॥
चिट्ठंताणं तहियं, इमा तु जयणा मुणेयव्वा ।
अक्खेमे विसंति पुरं, संवट्टं वा वि आसयंतीओ ॥४४॥
अक्खेमं व ऽन्नत्था, तहिँ खेमं तो ण णिग्गच्छे ।
जदि असिवं तु पहिच्छा, ताहे अच्छंति ते तहिं चेव ॥४५॥
दुब्भिक्खे व ण णीति, अहवा सव्वत्थ दुब्भिक्खं ।
दुब्भिक्खजयण तहियं,अच्छंते वा वि जयण तह चेव।४६।
बहुपाणे आउत्ता, पचक्कमंते तु जयणा उ ।
उवस्सए आउत्ता, कुड्डमुहजूती नवाविक्खवंति ॥४७॥
अन्नाए वसहीए, ठंति य मज्जंति य अभिक्खं ।
जा जत्थ जयण जुज्जति,अमणुन्ने उवस्सयम्मि तं कुव्वे४८
कयवरसोहणमादी, दुग्गंधे गंधपकिरंती ।
उदगभए थलगामे, थले व वसही तहिं तु गेण्हंति ॥४९॥
अग्गिभए मालवच्छे, हंमिततलगम्मि व वसंति ।
रोगबहुले य वत्थाणि, वज्जए चोरकिएहेण तु विहारे ।५०।
सत्थेण वा वि गच्छे, वायं ति व अत्थ णिरवायं ।
जहियं सावयदोच्चा, तहियं एगाणितो ण गच्छेज्जा ।५१।
गेण्ह वसहिं च गुत्तं, गामस्स तु मज्झयारम्मि ।
विज्जामंतादीहिं, वाले णीणंतिए तो ण विगच्छे ॥५२॥
राया व पन्नवेती, साहुगुणमजाणमाणं तु ।
जत्थ जणो न विजाणति,साहुगुणे तहि कहिंति साहुगुणे॥
परिभोगे अकालम्मी, रत्तिं कुव्वंति सज्झायं ।
दूरेण कुतित्थीए, वज्जेंति एस एं व पन्नवए ॥५४॥
कुलटा इत्थीचारिया-दिया य वज्जेंति चरणट्ठा ।
वज्जेज्ज अणायतणा, णाणादीण जत्थ उवघातो ॥५५॥
एवं जहसंभवंतु, करेज्ज जयणं णिवसमाणो ।
एसो तु खेत्तकप्पो, उवसग्गऽवायसंजुत्तो ।५६। पं०भा०।

(निक्कारणम्मि गाहा—३८—) निक्कारणम्मि दोसा निक्कारणे एएसिं चेव वितियपयं ॥ कारणं जत्थ वाहिं विहरंताणं अक्खेमं । तत्थ अत्थेज्ज वि तत्थ य अक्खेमे जयणा णगरं पविसइ । संवट्टयं वा आसयंति ॥ अहवा-जत्थ अन्हे अच्छंति तत्थ खेमं तेण न विहरइ । असिवं वा अन्नत्थ वट्टमाणे तत्थ सिवं ताहे अच्छंति । अन्नत्थ वा दुब्भिक्खं ताहे अच्छंति । दुब्भिक्खं वा पणगपरिहाणाइ जयणा बहुपाणे उवस्सए जममुहाइसु जयंति कीडियासंचारएसु कुंथुमाइपउरे वा अभिक्खं वा मज्जणाइ जयणा छप्पइयपयरे अन्हो परिभोगे अन्नासु वा वसहीसु अविज्जमाणीसु य मणुन्ने उवस्सए गंधे करेंति । सुपमज्जियं च करेंति । उदयभएण वलाणि दहंति । उन्ने वसहिं गिण्हंति । अग्गिभएण घणकवाडाइसु हम्मियतलेसु वा वसंति । रोगे असिवाइअ वत्थाणि परिहरंति । लोणनेहाइ सावयभए एगाणियाणि संचरंति । गाममज्झे वसहिं गेण्हंति । सप्पेमं ते हि नीणेंति । तेण तक्करभएण सत्थेण संचरंति । अकालपरिभोगिसु रत्तिं सज्झायं करेंति । अन्ने धम्मं कहिंति । सज्झायं च गाहेंति । अहवा-वसहीए वि एकम्मि वसंतस्स मासाइयं वा वासाइ वा अन्नदेसे वा वसहीओ इत्थिनपुंसएसु दोसा कुलाउ सीयकाले वा मंदोवकरणाणं निवाया, उण्हकाले वा सीयलप्पवाया, वासासु वा निग्गालनिब्भिक्खिला घडकवामदढकुड्डुपिलवज्जियासु । अन्नेसु य खेत्तेसु एयग्गुणसमाउत्ता वसही नत्थि । संथारगा चम्मरुक्खाइ अहाकुमयामं कुणाइ । दोसवज्जिया ते य तेसु खेत्तेसु नत्थि भत्तं पाणं वा सबालवुड्ढाउलगच्छे पाउग्गं मणुन्नं सपक्खपरपक्खोमाणविवज्जियं उग्गमाइसुद्धं पाणगं च सीयलं असंसत्तं पउरं तत्थ लब्भइ । अन्नेसु य खेत्तेसु तारिसयं नत्थि । वत्थाय वासत्ताणाइ अहाकडया गुरुमाइया उग्गाणि तत्थ लब्भंति । पडिग्गहाय(अलथिर) भिक्खुवधारणीया अहाकडया तत्थ लब्भंति । सेहाइ जाइकुलरूवसंपत्ताइ तत्थ गामे नगरे मेहाविणो तित्थ वोच्छित्तिकरा । सड्ढाय तत्थ गामे नगरे देसे वा सेणावइइब्भसेट्ठिसत्थवाहाइ साहू विवज्जिया वरगातित्थं डवितुज्जाईहिं विप्परिणामिज्जंति । पुव्वपच्छसंथुया वा तम्मि अच्छमाणे सम्मद्दंसणं गेण्हंति । पव्वयंति वा । एयनिमित्तं अच्छमाणो निद्दोसो निक्कारणे पडिबद्धं अच्छमाणस्स । जइ पुण कारणं अच्छमाणो अजयणाए अच्छइ तत्थ दोसो । का पुण जयणा ? । जइ सपरिक्खेवो सबाहिरिया तत्थ जइ अंतो मासकप्पो वा वासावासो वा कुओ वाहिरिगा य अपरिभूता तत्थ वाहिरियाए अन्नवसहिं गेण्हंति । अन्नेत्तणसंथारगा डगलयकुडमुहउच्चारपासवणमत्ताइ वाहिं चेव भिक्खायरिया वाहिं चेव उच्चारपासवणभूमी । अहवा-वाहिरिया वि य चित्तजुत्ता वसही वा नत्थि पाउग्गा इत्थिनपुंसगएसु-विरहिया घणकुड्डकवाडा ताहे तम्मि चेव वसही एसणसंथारगकुसुमुहउच्चारमत्तयाइ अन्ने गिण्हंति । अन्नइत्ते चेव परिभुंजंति । वाहिं वा अपरिभूते वाहिं भिक्खायरियं हिंडंति । पुव्विं पच्छा संथवाइ परिहरंता उग्गममाइसु जयंति । पं० चू० ।

| .... |

आदी उक्कोनियत्ती,तु वन्निता जम्मि जम्मि खेत्तम्मि ।१।

एतेसिं सण्णिकासे, सालंबो मुणी व से खेत्ते ॥
छव्विहकप्पो आदी,तहि जारिसगाणि सेविया खेत्ता ।१।
अक्खेमअसिवामादी–णि कप्पती तारिसे वासे ॥
खेमादि असज्जंतो, परिकुट्ठेहिं पि वसति जयणाए ।२।
दुयगादी संजोगा, वक्खाणं सन्निकासस्स ॥
अक्खेमे असिवम्मि य,असिवं वज्जे वसेज्ज अक्खेमे ।३।
तहियं उवहिविणासो, असिवे पुण जीवणासो तु ॥
एवं ओमादीसुं, संजोगा तिगचउगमादीया ।५।
वसियव्वं जेसु जहा, तमहं वोच्छं समासेणं ॥
कम्मिजोगिसण्णिकासे, वहुतरगं जत्थ अवगाहं ।६।
जाणे थोवंतरियं, च हाणि तच्च णयरे दुविहकाले ॥
एतेसामन्नतरे, आलंबणविरहिओ वसे खेत्ते ।७।
कालदुया अवराहे, संवट्टिय मो वराहाणं ॥
संवट्टितावराहे, तवोवछेदो तहेव मूलं वा ।८।
आयारपकप्पे जं–पमाणणेमाण चरिमम्मि ॥
एसो तु खेत्तकप्पो······················ ।९।

(आई उक्तनियत्ती) आई खेत्तकप्पो छविहकप्पे वसिओ । खेत्तकप्पविही–खेमो सिवाइ जइ पुण एगो अक्खेमो, एगो असिवो होज्जा । अक्खेमो नाम जत्थ उवहिविणासो, उच्यते–क्खोमे उवहि विणासो अत्थिजइ । असिवे उ सव्वनासो चेव, अह अक्खेमो य दुभिक्खं च दुब्भिक्खे य णगरपरिहाणी । जयणाए गुरुलाघवं वा नाऊण एत्र एक्कगसंजोएण जावइया संजोगा उट्ठेति तावइएसु अप्पाबहुयं नाऊणं जत्थ अप्पदोसं तत्थ वाइयव्वं सालबो नाणदरिसणाइ (आलंबणं गाहा)कडजोगी वि ह कडजोगी वि सन्निगासं, सन्निगासो नाम अब्भासो वा अवबादो वा नाऊण अप्पदोसतरे अच्छेज्जा जत्थ गुणा बहुतरा नाणाइअप्पतरिया य हाणी दुविहा तत्थ काले वि उडुबद्धे वासासु य वसमाणो सुद्धो एए सामन्नतरे खेत्ते आलंबणविरहिओ पडिकुट्ठे खेत्ते वसइ तस्ससंथरित्तावराहे तवोवछेदो वा । एस खेत्तकप्पो ॥ पं० चू० । गणिविद्याप्रकीर्णकेन च क्षेत्राणि कथितानि तानि कतीति प्रश्ने-सप्त क्षेत्राणि चैत्यादीनि प्रसिद्धानि । प्रतीष्ठातीर्थयात्रालक्षणक्षेत्रद्वयप्रक्षेपेण च न व क्षेत्राणि भवन्ति इति । ११७ प्र० सेन० ४ उल्ल० ।

खेत्तक्खा–क्षेत्राख्या–स्त्री० । एकत्र पट्टादौ चतुर्विंशतिप्रतिमासु, ध० २ अधि० ।

खेत्तगय–क्षेत्रगत–त्रि० । कर्षणभूमिसंश्रिते, प्रश्न० ३ संव० द्वार।

खेत्तद्वाणाउय–क्षेत्रस्थानाऽऽयुष्–न० । क्षेत्रस्याऽऽकाशस्य स्थानं भेदः पुद्गलाऽवगाहकृतः तस्याऽऽयुः स्थितिः अथवा क्षेत्रे एकप्रदेशाऽऽदौ स्थानं यत्पुद्गलानामवस्थानं तद्रूपमायुः क्षेत्रस्थानाऽऽयुः पुद्गलानामाकाशावगाहस्थितौ, भ० ५ श० ७ उ० ।

खेत्तनाण–क्षेत्रज्ञान–न० । किमिदं मायाबहुलम ? अन्यथा वा तथा साधुभिरभावितं भावितं वा नगराऽऽदीति विमर्शरूपे प्रयोगमतिसंपद्भेदे, उत्त० १ अ० । स्था० ।

खेत्तपइट्ठा–क्षेत्रप्रतिष्ठा–स्त्री० । क्षेत्रेषु जिनानां प्रतिष्ठायाम, षो० ७ विवि० । जीवा० । ('पइट्ठा' शब्दे विलोकनीया)

खेत्तपमाण–क्षेत्रप्रमाण–न० । क्षेत्रविषयप्रमाणभेदे, अनु० ।

अथ क्षेत्रप्रमाणमभिधित्सुराह–

से किं तं खेत्तपमाणे ?; खेत्तपमाणे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–पएसणिप्फण्णे अ विभागनिप्फण्णे अ । से किं तं पएसणिप्फण्णे ?–पएसनिप्फण्णे एगपएसोगाढे,दुपएसोगाढे,तिपएसोगाढे, संखिज्जपएसोगाढे, असंखिज्जपएसोगाढे । सेत्तं पएसणिप्फण्णे । से किं तं विभागनिप्फण्णे ?–विभागनिप्फण्णे–"अंगुलविहत्थीरयणी, कुच्छी धणुगाउअं च बोधव्वं । जोयणसेढीपयरं, लोगमलोगे वि अ तहेव " ॥ १ ॥

(से किं तं खेत्तप्पमाणे ? इत्यादि) इदमपि द्विविधं, प्रदेशा इह क्षेत्रस्य निर्विभागास्तैर्निष्पन्नं प्रदेशनिष्पन्नम, विभागः पूर्वोक्तस्वरूपस्तेन निष्पन्नं विभागनिष्पन्नम (से किं तं पएसनिप्फण्णे) तत्रैकप्रदेशावगाढाद्यसंख्येयप्रदेशाऽवगाढपर्यन्तं प्रदेशनिष्पन्नम । एकप्रदेशाऽऽद्यवगाढतया एकाऽऽदिभिः क्षेत्रप्रदेशैर्निष्पन्नत्वादत्राऽपि प्रदेशनिष्पन्नता भावनीया । प्रमाणता त्वेकप्रदेशाऽवगाहित्वादिना स्वस्वरूपेणैव प्रमीयमानत्वादिति विभागनिष्पन्नं त्वङ्गुलाऽऽदि । तदेवाऽऽह–(अंगुलविहत्थिगाहा) अंगुलादिस्वरूपं च स्वत एव शास्त्रकारो वक्ष्यति । अनु० ।

खेत्तपलिओवम–क्षेत्रपल्योपम–न० । क्षेत्रमाकाशं तदुद्धारप्रधानं पल्योपमं क्षेत्रपल्योपमम् । आकाशोद्धारकालविशेषे,अनु० । कर्म० । ('पलिओवम' शब्दे स्वरूपतो ज्ञेयम)

खेत्तपाल–क्षेत्रपाल–त्रि० । क्षेत्रं पालयति । पाल अण् । क्षेत्ररक्षके व्यन्तरविशेषे, भैरवे, पुं० । वाच० । मथुरायां क्षेत्रपालसारमेयवाहनः तीर्थस्य रक्षां करोति । ती० ६ कल्प । टिंपुयः क्षेत्रपालभुजगहूभास्वरसत्कस्य विघ्नौघमपोहति, । ती० ४४ कल्प ।

खेत्तपोग्गलपरियट्ट–क्षेत्रपुद्गलपरावर्त्त–पुं० । क्षेत्रविषये पुद्गलपरावर्त्ते, कल्प० ७ क्षण । (अस्य स्वरूपं 'पुग्गलपरावट्ट' शब्दे ज्ञेयम)

खेत्तय–क्षेत्रज–पुं० । क्षेत्रं भार्या तस्यां जातः क्षेत्रजः । स्वधर्मेण नियुक्तायां पत्न्यां पुरुषाऽन्तरेण जनिते पुत्रभेदे, यथा पाण्डोः पाण्डवाः, लोकरूढ्या तद्भार्याकुन्त्या एव तेषां पुत्रत्वात् न तु पाण्डोरावित्यादिभिर्जनितत्वादिति । स्था० १० ठा० ।

खेत्तरोग–क्षेत्ररोग–पुं० । रोगाऽन्तराऽऽधारभूते कुष्ठाऽऽदिरोगे, स्था० १० ठा० ।

खेत्तलोय–क्षेत्रलोक–पुं० । क्षेत्रमेव लोकः क्षेत्रलोकः लोकभेदे, आ० म० द्वि० । (लोकशब्दे व्याख्यास्यते)

खेत्तवत्थुपमाणाइक्कम्म–क्षेत्रव (वा) स्तुप्रमाणाऽतिक्रम–पुं० । क्षेत्रमेव वस्तु क्षेत्रवस्तु ग्रन्थान्तरे तु क्षेत्रं च वास्तुगृहमिति कथ्यते । दश० १ अ० । तयोः क्षेत्रवास्तुनोः प्रमाणस्य योजनेन क्षेत्रान्तरादिमीलनेनाऽतिक्रमोऽतिचारः । ध० २० । क्षेत्रवस्तुनः प्रत्याख्यानकाले गृहीतप्रमाणोल्लङ्घने, एकक्षेत्रादिपरिमाणकर्तुर्मदन्यक्षेत्रस्य वृत्तिप्रवृत्तिसीमाऽपनयनेन पूर्वक्षेत्रे योजनात्प्रमाणातिक्रमे च । एष च इच्छापरिमाणस्य द्वितीयोऽतिचारः । उ० १ अ० । आव० ।

खेत्तवासि-क्षेत्रवर्षिन्-पुं० । धान्याद्युत्पत्तिस्थाने वर्षणशीले मेघे, तत्तुल्ये पात्रे दानश्रुतादीनां निक्षेपके पुरुषजाते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

खेत्तविवागा-क्षेत्रविपाका-स्त्री० । क्षेत्रमाकाशं तत्रैव विपाक उदयो यासां ताः क्षेत्रविपाकाः कर्मप्रकृतिषु, कर्म० ५ कर्म० पञ्चा० । (ताश्च ' कम्म ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २५८ पृष्ठे उक्ताः)

खेत्तवुड्ढि-क्षेत्रवृद्धि-स्त्री० । दिग्व्रतस्य चतुर्थेऽतिचारे, आव० ६ अ० । क्षेत्रस्य पूर्वाऽऽदिदेशस्य दिग्व्रतविषयस्य ह्रस्वस्य सतो वृद्धिर्वर्धनं पश्चिमाऽऽदिक्षेत्राऽन्तरपरिमाणप्रक्षेपेण दीर्घीकरणं क्षेत्रवृद्धिः । यथा किल केनाऽपि पूर्वाऽपरदिशोः प्रत्येकं योजनशतं गमनपरिमाणं कृतम् । स चोत्पन्नप्रयोजन एकस्यां दिशि नवतियोजनानि व्यवस्थाप्याऽन्यस्यां तु दशोत्तरं योजनशतं करोति । उभाभ्यामपि प्रकाराभ्यां योजनशतद्वयरूपस्य परिमाणस्याऽव्याहतत्वादित्येवमेकत्र क्षेत्रं वर्द्धयतो व्रतसापेक्षत्वादतिचारः चतुर्थः ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

खेत्ताइक्कंत-क्षेत्राऽतिक्रान्त-न० । क्षेत्रं सूर्यसम्बन्धितापक्षेत्रं दिनमित्यर्थः । तदतिक्रान्तं येन तत् क्षेत्रातिक्रान्तम् । तस्मिन्, "जे णं निग्गंथे णिग्गंथी वा फासुएसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं अणुग्गए सूरिए पडिग्गाहित्ता उग्गए सूरिए आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! खेत्ताइक्कंते पाणभोयणे " भ० ७ श० १ उ० ।

खेत्ताभिग्गह-क्षेत्राऽभिग्रह-पुं० । स्वग्रामपरग्रामादिविषये क्षेत्राश्रितभिक्षाऽभिग्रहे, औ० । ग० ।

खेत्तारिय-क्षेत्राऽऽर्य-पुं० । आर्यक्षेत्रजाते मनुष्ये, प्रज्ञा० १ पद । [आर्यक्षेत्राणि 'आयरिय' शब्दे द्वि० भागे ३३५ पृष्ठे उक्तानि] [अनार्यक्षेत्राणि 'अणारिय' शब्दे प्र० भागे ३१६ पृष्ठे द्रष्टव्यानि]

खेत्तावइ-क्षेत्रापत्-स्त्री० । प्रत्यासन्नग्रामनगरादिरहितात्यक्षेत्रे, जी० १ प्रति० ।

खेत्तोववायगइ-क्षेत्रोपपातगति-स्त्री० । उपपातगतिभेदे, प्रज्ञा० १६ पद । ('गइप्पवाय' शब्दे वक्ष्यते)

खेम-क्षेम-पुं० । क्षि-मन् पुं० न० । चोरनामगन्धद्रव्ये, वाच० । शिवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । उत्त० । व्याधिरहिततया शिवे, उत्त० २३ अ० । उपद्रवाऽभावे, स्था० ३ ठा० ३ उ० । रा० । निरुपद्रवे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्वचक्रपरचक्राद्युपद्रवाऽभावे, बृ० १ उ० । राजविप्लवशून्ये, दश० ७ अ० । जी० । तत्तदुपद्रवाद्यभावापादने, रा० । शान्तौ, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । लब्धस्य परिपालने, ज्ञा० १ श्रु० ५ अ० । प्राप्तज्ञानादिरक्षणे, कल्प० १ क्षण । अशिवाभावात् देशसौख्ये, उत्त० २ अ० । ज्ञा० । औ० । मुक्तौ, न० । हैम० । पाटलीपुत्रनगरराजजितशत्रोरमात्ये आ० चू० १ अ० । आव० । "दो खेमाओ" स्था० २ ठा० ४ उ० ।

खेमंकर-क्षेमङ्कर-पुं० । क्षेमं करोति " क्षेमप्रियमद्रेऽण् च " ३ । २ । ४४ । इति (पाणि०) खच् मुम् च । वाच० । अनुपद्रवकारिणि रक्षके, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । स्था० । ज्ञा० । औ० । अष्टषष्टितमे महाग्रहे, कल्प० ६ क्षण । चं० प्र० । एकोनसप्ततिमे महाग्रहे "दो खेमंकरा" स्था० २ ठा० ४ उ० । भारते वर्षेऽवसर्पिण्यां जाते पञ्चमे (जं० २ वक्ष०) ऐरवते वर्षे भविष्यति उत्सर्पिण्यां चतुर्थे (स०) भारते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति तृतीये च कुलकरे, स्था० १० ठा० । वसन्तपुरस्थजितशत्रुश्रेष्ठिपुत्रे, पिं० । ('पराधत्तिय' शब्दे तस्य कथा)

खेमंधर-क्षेमन्धर-पुं० । क्षेमं धारयत्यन्यकृतमिति यः स तथा । स्था० ६ ठा० । अनुपद्रवताधारके राज्ञि, ज्ञा० १ श्रु० १ उ० । औ० । भारते वर्षेऽवसर्पिण्यां जाते षष्ठे (जं० २ वक्ष०) उत्सर्पिण्यां भाविष्यति चतुर्थे, (स्था० १० ठा० ।) ऐरवते वर्षे उत्सर्पिण्यां भविष्यति पञ्चमे च कुलकरे, स० ।

खेमकित्ति-क्षेमकीर्त्ति-पुं० । श्रीविजयेन्दुसूरीणां शिष्ये, येन कल्पवृत्तिपूर्तिः कृता ।

"तार्तीयीकस्तेषां, विनेयपरमाणुरणुशास्त्रेऽऽस्मिन् ।
श्रीक्षेमकीर्तिसूरि-र्विनिर्ममे विवृतिकल्पमिति ॥ २२ ॥
श्रीविक्रमतः क्रामति, नयनाग्निगुणेन्दुपरिमिते (१३३२) वर्षे ।
ज्येष्ठश्वेतदशम्यां, समर्थितैषा च हस्ताऽर्के ॥ २३ ॥
प्रथमादर्शे लिखिता, नयप्रभप्रभृतियतिभिरेषा ।
गुरुग्रन्थेगुरुभक्ति-भरोद्वहनाद्विवाऽऽनतशिरोभिः ॥ २४ ॥
सुत्रादर्शेषु यतो, भूयस्यो वाचना विलोक्यन्ते ।
विषमाश्च भाष्यगाथाः, प्रायः स्वल्पाश्च चूर्णिगिरः ॥ २५ ॥
सूत्रे वा भाष्ये वा, यन्मतिमोहान्मयाऽन्यथा किमपि ।
लिखितं वा विवृतं वा, तन्मिथ्या दुष्कृतं भूयात् । बृ० ६ उ० ।

खेमत-क्षेमत-पुं० । काकन्दिनगरीवासिनि स्वनामख्याते गृहपतौ, यो हि महावीरान्तिके प्रव्रज्य षोडशवर्षपर्यायोऽनशनेन केवलमुत्पाद्य विपुले पर्वते सिद्ध इति । अन्त० ६ वर्ग ५ अ० ।

खेमदेव-क्षेमदेव-पुं० । कौशाम्ब्यां जाते स्वनामख्याते वणिजे, यस्तृतीयभवे ब्रह्मसेनो नाम वणिग् जातः ध० २ अधि० । ('बम्हसेन' शब्देऽस्य कथा)

खेमपुरा-क्षेमपुरा-स्त्री० । पुरीभेदे, ' दो खेमपुराओ ' । स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० ।

खेमपुरी-क्षेमपुरी-स्त्री० । पुरीभेदे, या पूर्वं धन्यानामासीत् । दर्श० । (अस्याः कथा नैवेद्यपूजायाम्)

खेमराय-क्षेमराज-पुं० । विक्रमवत्सराणामष्टमशतके अणहिलपट्टननगरराज्यं कृतवति चापोत्कटवंश्ये नृपे, ती० २६ कल्प० ।

खेमरूव-क्षेमरूप-त्रि० । आकारेण निरुपद्रवे, स्था० ४ ठा० २ उ० । सूत्र० ।

खेमलज्जिया-क्षेमिलिया-स्त्री० । वेशपाटिकगणस्य चतुर्थशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

खेमलिज्जिया-क्षेमिलिया-स्त्री० । ' खेमलज्जिया ' शब्दार्थे,

खेय-खेद-पुं० । खेदयति मन्दीकरोति कर्म अनेनेति खेदः । संयमे, उत्त० १५ अ० । स्वपरसमयतत्त्वाधिगमे, आव० ४ अ० । जन्मदुःखे, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । परिश्रमे, अभ्यासे, ध० २ अधि० । आचा० । श्रमे, आ० म० द्वि० । विशे० । क्लेशे, स्था० ७ ठा० । दैन्ये, 'दैन्ये' इतिवचनात्, औ० । शोके, रोगे, वाच० । प्रवृत्तिजे क्लमे, द्वा० १७ द्वा० । क्रियास्वप्रवृत्तिहेतौ श्रान्ततायाम्, षो० १४ विव० ।

खेय-त्रि० । खन-कर्मणि यत् टेरेत् । खननीये, परिखायाम्, न० । तोयप्रवर्तनाञ्जाते सेतौ, वाच० ।

खेयण्ण-खेदज्ञ-त्रि० । खेदोऽभ्यासस्तेन जानातीति खेदज्ञः । खेदः श्रमः संसारपर्यटनजनितस्तं जानातीति । आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । निपुणे, आचा० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । सूत्र० । आव० । जन्मदुःखपरिच्छेत्तरि, आचा० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

खेदं संसारान्तर्वर्तिनां प्राणिनां कर्मविपाकजं दुःखं जानातीति खेदज्ञो दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानात् सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । गीतार्थे, ओघ० । " खेयन्नो " खेदः सम्यक् प्रायश्चित्तविधेः परिश्रमोऽभ्यासः इत्यर्थस्तं जानातीति खेदज्ञः । तथाविधे आलोचनार्हे गुरौ, ध० २ अधि० ।

क्षेत्रज्ञ–त्रि० । संसक्तविरुद्धद्रव्यपरिहार्यकुलादिक्षेत्रस्वरूपपरिच्छेदके, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । " खेयन्ने से कुसले महेसी " यदि वा क्षेत्रज्ञो यथाऽवस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादात्मज्ञ इति । अथवा क्षेत्रमाकाशं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञो लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थः । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

खेयाणुगय–खेदानुगत–त्रि० । खेदः संयमस्तेनानुगतः खेदानुगतः । सप्तदशविधसंयमरते, उत्त० १५ अ० ।

खेरि–खेरि–स्त्री० । परिशाटौ, " धन्नखेरिं वा " धान्यस्य खेरिं परिशाटिं दृष्ट्वा पृच्छति । बृ० २ उ० ।

खेल–खेल–न० । कण्ठमुखश्लेष्मणि, भ० २ श० १ उ० । तं० । आ० म० । प्रश्न० । स्था० । आव० । विशे० । कफसंघाते, जं० २ वक्ष० । निष्ठीवने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । उत्त० । ध० । प्रश्न० । तं० । नि० चू० ।

खेलग–खेलक–पुं० । राइस्सोत्रपाठके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

खेलण–खेलन–न० । खेल ल्युट् । क्रीडायाम्, आधारे ल्युट् । शारिफलके, करणे ल्युट् वाच० । क्रीडासाधने, आ० क० ।

खेलपमिय–खेलपतित–त्रि० । श्लेष्मपतिते, " खेलपडियमप्पाणं न तरइ मच्छिआ जहा विमोहे " ग० २ अधि० ।

खेलमल्लग–खेलमल्लक–न० । श्लेष्मपरिष्ठापनभाजने, आ० म० प्र० । खेलमल्लकाद् दीक्षां गृहीत्वा स्वयमेव लोचः कृतः । विशे० ।

खेलसंचाल–खेलसंचाल–पुं० । श्लेष्मसंचारे, ध० २ अधि० । प्र० ।

खेलासव–खेलाऽऽस्रव–त्रि० । खेलं निष्ठीवनं तदाश्रवति क्षरतीति खेलाश्रवम् । श्लेष्मक्षरके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

खेलोसहि–खेलौषधि–पुं० । खेलः श्लेष्म औषधिर्यस्य स तथा । आ० म० प्र० । ग० । तृतीयलब्धियुक्ते, पा० । यत्प्रभावतः श्लेष्मा सर्वरोगापहारकः सुरभिश्च भवति । प्रव० २७० द्वार० । आ० चू० ।

खेल्ल–खेल–न० । ' खेल ' शब्दार्थे, ।

खेल्लावणधाइ–खेलापनधात्री–स्त्री० । क्रीडनधात्र्याम्, आचा० ।

खेल्लुड–खेल्लुड–पुं० । अनन्तकायेऽभेदे लोकरूढिगम्ये, भ० ७ श० ३ उ० ।

खेव–क्षेप–पुं० । क्षिप घञ् । निन्दायाम्, प्रेरणे, क्षेपणे, हेलायाम्, लङ्घने, करणे घञ् । गर्वे, विलम्बे, कर्मणि घञ् गुच्छे, वाच० । " क्षेपोन्तरान्तरान्यत्र, चित्तन्यासोऽफलावहः " (१७) अन्तरान्तरा योगकरणकालस्यैवान्यत्राधिकृतान्यकर्मणि चित्तन्यासः क्षेपः । द्वा० १८ द्वा० । इत्युक्तलक्षणायां क्षिप्तचित्ततायाम्, षो० १४ विव० ।

खेवण–क्षेपण–न० । प्रेरणे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० (नौकायाः क्षेपणं नौकाशब्दे) अपवादे, लङ्घने, मारणे, विक्षेपे, यापने च । वाच० ।

खोखुब्भमाण–चोक्षुभ्यमाण–त्रि० । भृशं क्षुभ्यमाणे, औ० । अभिक्षुभ्यति, भयभ्रान्ते, कल्प० ३ क्षण । प्रश्न० । व्याकुलीक्रियमाणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

खोट–क्षोट–पुं० । हस्तोपरिप्रस्फोटने, उत्त० १२ अ० ।

क्षोभ–घञ् । आलाने, गजबन्धन्याम्, वा । खोटराजकुलदातव्यहिरण्यादिद्रव्ये, व्य० १ उ० । नि० चू० ।

खोभ–त्रि० । खोभ गतिप्रतिघाते । अच् । खञ्जे, वाच० । काष्ठमयप्राकारे, बृ० १ उ० ।

खोमग–क्षोटक–पुं० । "क्ष्वेटकादौ" । ८ । २ । ६ इत्यनेन क्षयोः स्थाने खः । अङ्गुलीनखाग्रेण चर्मखण्डनिष्पीडने, प्रा० २ पाद ।

स्फोटक–पुं० । पूर्वसूत्रेण स्फोः अत्र खो । अत्रो, वाच० ।

खोमभंग–खोटभङ्ग–पुं० । खोटं नाम यत राजकुले हिरण्याऽऽदि द्रव्यं दातव्यम् । तस्य भङ्गः । खोटभञ्जने "खोडभंगो त्ति वा अखोडभंगो त्ति वा उक्कोडभंगो त्ति वा एगट्ठं " व्य० १ उ० । नि० चू० ।

खोमिय–खोटिक–पुं० । रैवतगिरेः क्षेत्रपाले, ती० ५ कल्प० ।

खोद–क्षोद–पुं० । इक्षुरसे, रा० । मधुनि, भ० ७ श० ६ उ० । चूर्णने, पेषणे, (नायं चोदक्षमः) आ० म० द्वि० । कर्मणि घञ् रजसि, वाच० ।

खोदरस–क्षोदरस–पुं० । क्षोदोदसमुद्रे, द्वी० ।

खोदवर–खोदवर–पुं० । जम्बूद्वीपाऽपेक्षया सप्तमे द्वीपे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । चं० प्र० । सू० प्र० ।

घतोदे णं समुद्दं खोदवरे णामं दीवे वट्टवलयागारे० जाव चिट्ठंति । तहेव जाव० अट्ठो खोदवरेणं दीवे तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं खुड्डावावीओ० जाव खोदोदगपडिहत्थाओ उप्पातपव्वतगा सव्ववेरुलिया मया० जाव परिवसंति । से तेणट्ठेणं सव्वं जोइसं तहेव० जाव तारा ॥

(से केणट्ठेणमित्यादि) अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते । क्षोदवरो द्वीपः । भगवानाह–गौतम ! क्षोदवरे द्वीपे तत्र तत्र देशे तस्य २ देशस्य तत्र २ प्रदेशे बहवः (खुड्डवावीओ) इत्यादि पूर्ववत् तावद्वक्तव्यं–"यावत् वाणमंतरा देवा देवीउ आसयंति सयंति० जाव विहरंति" नवरं वाप्यादयः क्षोदोदकवरपरिपूर्णा इति वक्तव्यम् । तथा पर्वतकाः पर्वतेष्वासनानि गृहकाणि गृहकेष्वासनानि मण्डपका मण्डपकेषु पृथिवीशिलापट्टकाः सर्वात्मना वैडूर्यमयाः प्रज्ञप्ताः । सुप्रभमहाप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती द्वौ देवावत्र क्षोदवरे द्वीपे महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः । तत्र क्षोदोदकवाप्यादियोगात् क्षोदवरः स द्वीपः । अत एवाह–(से एएणट्ठेणमित्यादि) चन्द्रादिसूत्रं प्राग्वत् (खोदवरेणं दीवमित्यादि) क्षोदवरं णामिति पूर्ववत् । द्वीपं क्षोदोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति । चक्रवालविष्कम्भादिवक्तव्यता पूर्ववत् यावज्जीवोपपातसूत्रम् । जी० ३ प्रति० ।

खोदोदय–क्षोदोदक–पुं० । क्षोद इक्षुरस इवोदकं यस्य स तथा सूत्र० १ श्रु ६ अ० । लवणसमुद्रापेक्षया सप्तमे समुद्रे, स्था ७ ठा० ।

खोदवरं णं दीवं खोदोदे नाम समुद्दे वट्टे वलया० जाव संखेज्जाइं जोयणसतपरिक्खेवेणं० जाव अट्ठे, गोयमा ! खोओदस्स णं समुद्दस्स उदये जहा से आसलमासलपसत्थे वीसंतनिद्धसुकुमालभूमिभागेसु छिन्नेसु कट्ठलट्ठविसट्ठनिरुवहयवीयवावितेसु कासगपत्तयनिउणपरिकम्मअणुपालियसुवुड्ढिवुड्ढाण सुजाताणं लवणतणदोसवज्जिताणं णयायपरिवड्ढियाणं निम्मातसुन्दराणं परिणयमउपीणपोरिभंगुरसुजातमधुररसपुप्फविरियाणं उपद्दवविवज्जिताणं सीयपरिफासियाणं अभिणवभग्गाणं अभिलत्ताणं तिभागणिच्छोडियवाडगाणं अविणीतमूलाणं गंधपरिसोहिताणं कुसलनरकप्पियाणं उव्वुद्धाणं जाव पंडुयाणं चवलगणरजंतजुत्तपरिगालितमेत्ताणं खोयरसे होज्ज वत्थवपरिपूये चाउज्जातगसुवासिते अहियपसत्थलहुगोवन्नेणं उववेतो तहेव भवेयारूवे सिया, नो तिणट्ठे समट्ठे खोयरस्स णं समुद्दस्स उदये एत्तो इट्ठतराए चेव० जाव आसाएणं पण्णत्ते पुण्णभद्दमाणिभद्दा इत्थ दुवे देवा० जाव परिवसन्ति । सेसं तहेव जोतिसं संखेज्जं चंदाई ॥

अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते क्षोदोदः समुद्रः क्षोदोदसमुद्र? इति । भगवानाह–गौतम ! क्षोदोदस्य समुद्रस्य उदकं स यथा नाम इक्षूणां जात्यानाम् । जात्यत्वमेवाह-वरपुण्ड्रकाणां विशिष्टानां पुण्ड्रदेशोद्भवानां हरितानां शाद्वलानां भेरण्डेक्षूणां वा भेरण्डदेशोद्भवानां वा इक्षूणां (कालपोराणं ति) कृष्णपर्वणाम् उपरितनपत्रसमूहापेक्षया हरितालवत् पिञ्जराणां अपनीतमूलानामपनीतमूलत्रिभागानां त्रिभागनिर्वाटितवाटानामूर्ध्वभागादपि त्रिभागहीनानामिति भावः, मध्यत्रिभागावशेषाणामिति समुदायाऽर्थः । (गंठिपरिसोहियाणं ति) ग्रन्थिः पर्वग्रन्थिः शोधितोऽपनीतो येभ्यस्ते तथा, तेषां मूलत्रिभाग उपरितनत्रिभागे पर्वग्रन्थौ च नातिसमीचीनो रस इति तद्वर्जनं क्षोदरसो भवेत् वस्त्रपरिपूतः श्लक्ष्णवस्त्रपरिपूतश्च चतुर्जातकेन सुष्ठु अतिशयेन वासितश्चतुर्जातकं त्वगेलाकेसराख्यगन्धद्रव्यमरिचात्मकम् । " त्वगेलाकेसरैस्तुल्यं, त्रिसुगन्धं त्रिजातकम् । मरिचेन समायुक्तं, चतुर्जातकमुच्यते ॥१॥ अधिकमतिशयेन पथ्यं न रोगहेतुः लघुः परिणामलघुर्वर्णेन सामर्थ्यादतिशायिना उपपेतः। एवं गन्धेन रसेन स्पर्शेनोपपेतः आस्वादनीयो विस्वादनीयो दर्पणीयो मदनीयो बृंहणीयः सर्वेन्द्रियो गात्रप्रल्हादनीयः । एवमुक्ते गौतम आह–(भवेयारूवे) भवेद् भगवन् ! क्षोदोदकसमुद्रस्योदकमेवंरूपम् । भगवानाह-नायमर्थः समर्थः, क्षोदोदकस्य यस्मात्समुद्रस्य उदकमस्मात् यथोक्तरूपात् क्षारोदरसात् इष्टतरमेव यावन्मन आपतरमेव आस्वादेन प्रज्ञप्तम् । इह प्रविरलपुस्तके अन्यथाऽपि पाठो दृश्यते, सोऽप्येतदनुसारेण व्याख्येयो बहुषु पुस्तकेषु न दृष्ट इति न लिखितः । पूर्णापूर्णप्रभौ च यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती अत्र क्षोदोदे समुद्रे द्वौ देवौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः। ततः क्षोद इव क्षोदरस इव उदकं यस्य स क्षोदोदः । तथा चाह–(से एएणट्ठेणमित्यादि) गतार्थम् । चन्द्रादिसङ्ख्यासूत्रं प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । चं० प्र० । प्रज्ञा० । इक्षुरसवद् मिष्टोदकासु वापीषु, जी० ३ प्रति० । जं० । रा० । इक्षुसमुद्रस्येक्षुरसोदके, प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

खोदाहार–क्षौद्राहार–त्रि० । मधुभोजिनि, भ० ७ श० ६ उ० ।

खोभ-क्षोभ-पुं० । संभ्रमे, भाव० ५ अ० । आ० म० ।

खोभित्तए–क्षोभयितुम्–अव्य० । एतद् (विवक्षित) विषयं क्षोभं कर्तुमित्यर्थे । उपा० २ अ० । संशयितो विपरिणामयितुमित्यर्थे च, उपा० २ अ० । रा० ।

खोभिय–क्षोभित–त्रि० । स्वस्थानाच्चालिते, रा० । जं० ।

खोभेत–क्षोभयत्–त्रि० । ईषद् भूमिमुत्कीर्य तत्र प्रवेशयति । ज्ञा० १ श्रु० ३ क० । सीदयति च । नि० चू० १७ उ० ।

खोम–क्षौम–न० । कार्पासिकेऽतसीमये वा वस्त्रे, भ० ११ श० ११ उ० । जं० । रा० । ज्ञा० । जी० । स्था० ।

खोमगपसिण–क्षौमकप्रश्न–न० । प्रश्नविद्याभेदे, यया क्षौमके (वस्त्रे) देवतावतारः क्रियते । पूर्वं प्रश्नव्याकरणानां षष्ठमासीदिदानीं तु नोपलभ्यते । स्था० १० ठा० ।

खोमजुयल–क्षौमयुगल–न० । कार्पासिकवस्त्रयुगले, उपा० १ अ० ।

खोमिय–क्षौमिक–न० । अतसीमये-(कल्प० २ क्षण)-कार्पासिके वा वस्त्रे, नि० चू० ५ अ० । सू० प्र० । आचा० स्था० ।

खोय–क्षोद–पुं० ' क्षोद ' शब्दार्थे ।

खोयाहार–क्षोदाहार–पुं० । भूक्षोदेनाहारो येषां ते भूमि विदार्य्य मत्स्याद्याहारकेषु, दुःषमदुःषमामनुष्येषु, भ० १७ श० ६ उ० ।

खोरय–खोरक–न० । वृत्ताकारे भाजनविशेषे, व्य० १ उ० । रूप्यमये महाप्रमाणभाजने, " तुज्झ पिया मह पिउणो, धारेइ अणूणगं सयसहस्सं । जइ सुयपुव्वं दिज्जउ, अह ण सुयं खोरयं देहि " नं० । दश० । व्य० । आ० चू० । आ० म० । ('वेणइया ' शब्दे कथा)

खोल–खोल–न० । मद्याधःकर्दमे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० । मद्यकिट्टविशेषे, बृ० १ उ० । तत्र मध्येन विकृतिः । पं० व० २ द्वार । गोरसभाविते वस्त्रोपेते, बृ० १ उ० । राजपुरुषे, पिं० ।

खोल्ल–खोल–न० । कन्थायाम्, खोल्लं कोत्थरम्, नि० चू० । १५ उ० । कोरपटे, बृ० ।

॥ इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे खकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

गकार

गअ-गज-पुं० । " क-ग-च-ज-त-द-प-य-वां प्रायो लुक् " ८।१।१७७ । इति जलुक्, हस्तिनि, प्रा० १ पाद ।

गत-पुं० । क-ग-च-ज० ८।१ । १७७ । इत्यादिना तलुक् प्रा० १ पाद । याते, अह आसगओ राया " उत्त० १८ अ० ।

गआ-गदा-स्त्री० । "क-ग-च-ज-त-द० " ८।१। १७७ । इत्यादिना दलुक् ' गआ ' दण्डकीलितलौहादिमयगोलकलक्षणेऽस्त्रभेदे, प्रा० १ पाद ।

गइ-गति-स्त्री० । गम भावादौ यथायथं क्तिन् । गमने, औ० । सूत्र० । स्था० । दर्श० । चलने,मरण०। गतिः प्रवृत्तिः क्रम इति यावत् विशे० । पादविहरणादिक्रियायाम्, दर्श० ।

देवगतिः-

उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चंमाए जयणाए उद्धूआए सिग्घाए दिव्वाए देवगईए ॥

(उक्किट्ठाए त्ति) उत्कृष्टया अन्येषां गतिभ्यो मनोहरया (तुरियाए त्ति) त्वरितया, चित्तौत्सुक्यवत्या (चवलाए त्ति) कायचापल्यवत्या (चंडाए त्ति) चण्डया तीव्रया (जयणाए त्ति) शेषगतिजयनशीलया (उद्धूआए त्ति) उद्धूतया प्रचण्डपवनोद्धूतधूमादेरिव (सिग्घाए त्ति) शीघ्रया 'छेयाए' त्ति कुत्रचित्पाठः तत्र छेकया विघ्नपरिहारदक्षया(दिव्वाए त्ति) देवयोग्यया ईदृश्या (देवगईए त्ति) देवगत्या । कल्प० २ क्षण । भ० । सञ्चरणे, जं० ३ वक्ष० । (ज्योतिष्काणां गतिः ' जोइसिय ' शब्दे वक्ष्यते) अश्वादीनां गमनपरिणामे, विशे० । उत्पत्तिस्थानगमने, स्था० ६ ठा० । प्रज्ञापकस्थानापेक्षया मृत्वान्यत्र गमने, (सा चतसृषु दिक्ष्विति ' दिसा ' शब्दे वक्ष्यते)मरणानन्तरं मनुजत्वादेः सकाशात् नारकत्वादौ जीवस्य गमने, " एगा गती " सा चैकस्यैकैव ऋज्वादिका नरकगत्यादिका पुद्गलस्य वा स्थितिवैलक्षण्यमात्रतया चैकनयैकस्वरूपा सर्वजीवपुद्गलानामिति । स्था० १ ठा० १ उ० । " एगस्स जंतो गतिरागती य " एकस्याऽसहायस्य जन्तोः शुभाशुभसहायस्य गतिर्गमनं परलोके भवति । तथा आगतिरागमनं भवान्तरादुपजायते , कर्मसहायस्यैवेति । उक्तं च-" एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम् । जायते म्रियते चैक, एको याति भवान्तरम् ॥ १ ॥ " इत्यादि । तदेवं संसारे परमार्थतो न कश्चित्सहायो धर्ममेकं विहायैतद्विगणय्य मुनीनामयं मौनः संयमस्तेन तत्प्रधाने वा ब्रूयादिति । सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । गतिर्द्विधा, स्पृशद्गतिः, अस्पृशद्गतिश्च , उपरिष्टाद् व्याख्यास्यते । आ० म० द्वि० । "गई दुविहा" (१२३ गाथाङ्क) गतिर्वा द्विविधेति । तत्र गमनं गच्छति वा अनयेति गतिः । द्वे विधे यस्याः सेयं द्विविधा, द्वैविध्यं वक्ष्यमाणलक्षणमिति गाथार्थः । तथा चेदमेव द्वैविध्यमुपदर्शयन्नाह-द्विविधा गतिः, कन्दुकगतिरिलिकागतिश्च । पं० सं० (अनयोः स्वरूपं स्वस्वस्थाने वक्ष्ये) गम्यते तथाविधकर्मसचिवैर्जीवैः प्राप्यते इति गतिः । कर्म० ६ कर्म० । प्रज्ञा० । गम्यते प्राप्यते स्वकर्मरजसा समाकृष्टैर्जन्तुभिरिति गतिः । प्रव० १५ द्वार । गतिः नामकर्मोदयान्नारकत्वतिर्यक्त्वमनुजत्वलक्षणपर्यायपरिणतौ, कर्म० ४ कर्म० । पं० सं० । सा चतुर्धा नारकगतिस्तिर्यग्गतिर्मनुष्यगतिर्देवगतिश्च । तद्विपाकवेद्यायां कर्मप्रकृतौ च । साऽपि चतुर्धा । पं० सं० ३ द्वार । अत्राह-ननु सर्वेऽपि पर्याया जीवेन गम्यन्ते प्राप्यन्ते इति सर्वेषामपि तेषां गतित्वप्रसङ्गस्तथा च प्रागतिशब्दस्यैवमेव व्युत्पत्तिर्दर्शितेति ? नैवम् । यतो विशेषेण व्युत्पादिता अपि शब्दा रूढितो गोशब्दवत्प्रतिनियतमेवार्थं विषयीकुर्वन्तीत्यदोषः । कर्म० १ कर्म० । आचा० । स० । विशे० । उत्त० । दर्श० । भ० । प्रव० ।

पञ्चधा-

पंच गईओ पण्णत्ताओ । तं जहा-निरयगई, तिरियगई, मणुयगई, देवगई, सिद्धिगई ॥

गमनं गतिर्गम्यत इति वा गतिः क्षेत्रविशेषो गम्यते वा अनया कर्मपुद्गलसंहत्येति गतिर्नामकर्मोत्तरप्रकृतिरूपा तत्कृता वा जीवावस्थितिः । तत्र निरये नरके १ गतिर्निरयश्चासौ गतिश्चेति वा २ निरयप्रापिका वा गतिः ३ निरयगतिः । एवं तिर्यक्षु ? तिरश्चां २ तिर्यक्त्वप्रसाधिका वा गतिः ३ तिर्यग्गतिः । एवं मनुष्यदेवगती सिद्धौ गतिः सिद्धिश्चासौ गतिश्चेति वा सिद्धिगतिरिह नामप्रकृतिर्नास्तीति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । प्रव० ।

अष्टधा वा-

अट्ठ गईओ पण्णत्ताओ । तं जहा-निरयगई,तिरियगई,० जाव सिद्धिगई, गुरुगई पणोल्लणगई, पब्भारगई ॥ स्था० ॥

(अट्ठगईओ इत्यादि) सुगमम् । नवरम् गुरुगइ त्ति भावप्रधानत्वात् निर्देशस्य गौरवेण ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनस्वभावेन या परमाण्वादीनां स्वभावतो गतिः सा गुरुगतिरिति । या तु परप्रेरणात्सा प्रणोदनगतिर्बाणादीनामिव । या तु द्रव्यान्तराक्रान्तस्य सा प्राग्भारगतिर्यथा नावादेरधोगतिरिति । स्था० ८ठा० ।

यद्वा दशधा-

दसविहा गई पण्णत्ता । तं जहा-निरयगई,निरयविग्गहगई, तिरियगई, तिरियविग्गहगई, एवं० जाव सिद्धगई, सिद्धविग्गहगई, ॥

(विशेषः निरयगत्यादिशब्देषु) (एकेन्द्रियादयो जीवा मृत्वा क गच्छन्ति इत्यत्र ' उववाय ' शब्दे द्वि० भा० ११६ पृष्ठे गतीनामुपपातविरहश्च तत्रैव ९१९ पृष्ठे च) सर्वं सूत्रकदम्बकमवतारणीयम् । प्रज्ञा० । नवरमिह-प्रव० १६१ द्वार । (गतिषु जीवस्थानगणस्थानचिन्तामार्गणा ' ठाण ' शब्दे करिष्यते) नारकादीनां शीघ्रा गतिः-

णेरइयाणं भंते ! कहं सीहा गई कहं सीहागइविसए पण्णत्ते ? गोयमा ! से जहाणामए केइ पुरिसे तरुणे बलवं

जुगवं० जाव णिउणसिप्पोवगए आउंटिअं बाहं पसारेज्जा, पसारियं बाहं आउंटेज्जा, विकिण्णं वा मुट्ठिं साहरेज्जा, साहरियं वा मुट्ठिं विक्खिरेज्जा, उम्मिसियं वा अच्छिं णिम्मिसेज्जा, णिम्मिसियं वा अच्छिं उम्मिसेज्जा, भवे एआरूवे णो इणट्ठे समट्ठे णेरइयाणं एगसमएण वा दुसमएण वा तिसमएण वा विग्गहेणं उववज्जंति णेरइयाणं तहा सीहा गई तहा सीहे गइविसए पण्णत्ते एवं० जाव वेमाणियाणं। णवरं एगिंदियाणं चउसमइए विग्गहे भाणियव्वे सेसं तं चेव।

"णेरइयाणं" इत्यादि (कहं सीहा गइ त्ति) कथं केन प्रकारेण कीदृशीत्यर्थः। शीघ्रा गतिर्नारकाणामुत्पद्यमानानां शीघ्रा गतिर्भवतीति प्रतीतम्। यादृशेन च शीघ्रत्वेन शीघ्राऽसाविति च न प्रतीतमित्यतः प्रश्नः कृतः (कहं सीहे गइविसए त्ति) कथमिति कीदृशः (सीहे त्ति) शीघ्रगतिहेतुत्वाच्छीघ्रः गतिविषयो गतिगोचरस्तद्धेतुत्वात्काल इत्यर्थः। कीदृशी शीघ्रा गतिः कीदृशश्च तत्काल इति तात्पर्यम् (तरुणे त्ति) प्रवर्द्धमानवयाः स च दुर्बलोऽपि स्यादत आह-(बलवं ति) शरीरप्राणवान्, बलं च कालविशेषाद्विशिष्टं भवतीत्यत आह-(जुगवं ति) युगं सुषमदुःषमादिः कालविशेषस्तत्प्रशस्तविशिष्टबलहेतुभूतं तस्यास्त्यसौ युगवान् यावत्करणादिदं दृश्यम्। (जुवाणे) वयः प्राप्तः (अप्पायङ्के) अल्पशब्दस्याभावार्थत्वादनातङ्को नीरोगः (थिरग्गहत्थे) स्थिराग्रहस्तः सुलेखकवत् (दढपाणिपायपासपिट्ठंतरोरुपरिणए) दृढं पाणिपादं यस्य पार्श्वौ पृष्ठ्यन्तरे च ऊरू च परिणते परिनिष्ठिततां गते यस्य स तथा उत्तमसंहनन इत्यर्थः। (तलजमलजुयलपरिघनिभबाहू) तलौ तालवृक्षौ तयोर्यमलं समश्रेणिकं यद्युगलं द्वयं परिघश्चार्गला तन्निभौ तत्सदृशौ दीर्घसरलपीनत्वादिना बाहू यस्य स तथा (चम्मेट्ठदुहणमुट्ठियसमाहयनिचियगायकाए) चर्मेष्टया दुघणेन मुष्टिकेन च समाहतानि अभ्यासप्रवृत्तस्य निचितानि गात्राणि यत्र स तथाविधः कायो यस्य स तथा। चर्मेष्टकादयश्च लोकप्रतीताः ("ओरसबलसमण्णागए") आन्तरबलयुक्तः (लंघणपवणजइणवायामसमत्थे) जवनशब्दः शीघ्रवचनः (छेए) प्रयोगज्ञः (दक्खे) शीघ्रकारी। (पत्तट्ठे) अधिकृतकर्मणि निष्ठां गतः (कुसले) आलोचितकारी (मेहावी) सकृच्छ्रुतदृष्टकर्मज्ञः [निउणेत्ति] उपायारम्भकः एवंविधस्य हि पुरुषस्य शीघ्रं गत्यादिकं भवतीत्यतो बहुविशेषणोपादानमिति। (आउंटियं ति) संकोचितम् (विकिण्णं ति) विकीर्णां प्रसारिताम्। [साहरेज्ज त्ति] संहरेत्। संकोचयेत् [विक्खिरेज्ज त्ति] विकिरेत् प्रसारयेत् (उम्मिसियं ति) उन्मिषितं उन्मीलितम्। (निमिसेज्ज त्ति) निमीलयेत् (भवे एआरूवे त्ति) काक्वाऽध्येयं, काकुपाठे चायमर्थः। स्यादेतद् एवं मन्यसे त्वं गौतम! भवेत् तद्रूपं भवेत्स स्वभावः शीघ्रताया नारकगतेस्तद्विषयस्य च यदुक्तविशेषणपुरुषबाहुप्रसारणादेरिति। एवं गौतममतमाशङ्क्य भगवानाह-नायमर्थः। अथ कस्मादेवम्? इत्याह-(णेरइयाणं इत्यादि) अयमभिप्रायः-नारकाणां गतिरेकद्वित्रिसमया बाहुप्रसारणादिका असङ्ख्येयसमयेति। कथं तादृशी गतिर्भवति नारकाणामिति तत्र च (एगसमएण व त्ति) एकेन समयेन उपपद्यन्त इति योगः। ते च ऋजुगतावेव, वाशब्दो विकल्पे। इह च विग्रहशब्दो न सम्बन्धित इत्येकसामयिकस्याऽभावात्। (दुसमयेण व त्ति) द्वौ समयौ यत्र स द्विसमयः तेन विग्रहेणेति योगः। एवं त्रिसमयेन वा विग्रहेण वक्रेण, तत्र द्विसमयो विग्रह, एवं यदा भरतस्य पूर्वस्या दिशो नरके पश्चिमायामुत्पद्यते तदैकेन समयेनाधो याति द्वितीयेन तु तिर्यगुत्पत्तिस्थानमिति। त्रिसमयविग्रहस्त्वेवम्-यदा भरतस्य पूर्वदक्षिणाया दिशो नरकेऽपरोत्तरायां दिशि गत्वोत्पद्यते तदा एकेनाधः समश्रेण्या याति, द्वितीयेन च तिर्यक्पश्चिमायां, तृतीयेन तु तिर्यगेव वायव्यां दिश्युत्पत्तिस्थानमिति। तदनेन गतिकाल उक्तः। एतदभिधानाच्च शीघ्रा गतिर्यादृशी तदुक्तमिति। अथ निगमयन्नाह-('णेरइयाणं' इत्यादि) (तहा सीहा गइ त्ति) यथोत्कृष्टतः समयत्रये भवति। (तहा सीहे गइविसए त्ति) तथैव (एगिंदियाणं चउसमइए विग्गहे त्ति) उत्कर्षेण चतुःसमय एकेन्द्रियाणां विग्रहो वक्रगतिर्भवति। कथम्? उच्यते-त्रसनाड्या बहिस्तादधोलोके विदिशो दिशं यात्येकेन जीवानामनुश्रेणिगमनात्। द्वितीयेन तु लोकमध्ये प्रविशति। तृतीयेनोर्ध्वं याति। चतुर्थेन तु त्रसनाडीतो निर्गत्य दिग्व्यवस्थितमुत्पादस्थानं प्राप्नोतीति। एतच्च बाहुल्यमङ्गीकृत्योच्यते, अन्यथा पञ्चसमयोऽपि विग्रहो भवेदेकेन्द्रियाणाम्। तथाहि-त्रसनाड्या बहिस्तादधोलोके विदिशो दिशं यात्येकेन, द्वितीयेन लोकमध्ये, तृतीयेनोर्ध्वलोके, चतुर्थेन ततस्तिर्यक्पूर्वादिदिशो निर्गच्छति। ततः पञ्चमेन विदिग्व्यवस्थितमुत्पत्तिस्थानं यातीति। उक्तं च-" विदिसा उ दिसिं पढमे, बीए पइसरइ नाभि मज्झम्मि। उड्ढं तइए तुरिए, दिसीइ विदिसिं तु पंचमए" ॥१॥ इति। (सेसं तं चेव त्ति) "पुढविकाइयाणं भंते! कहं सीहा गई" इत्यादि सर्वं यथा नारकाणां तथा वाच्यमित्यर्थः। भ० १४ श० १ उ०। (निर्ग्रन्थानां गतिः 'णियंठ' शब्दे) (सामायिकादिसंयतानाञ्च 'संजय' शब्दे) (सामाइयशब्दे च सामायिकवताम्) (गतिमाश्रित्याल्पबहुत्वादि 'अप्पाबहुय' शब्दे प्र० भागे० ६३० पृष्ठे विचिन्तितम्) (अथ के कतिगतिकाः कत्यागतिका इति 'आगइ' शब्दे द्वि० भागे ४६ पृष्ठे विचिन्तितम्) भवान्तरस्थितौ, कल्प० ६ क्षण। गम्यते सौस्थ्याय दुःस्थैराश्रीयते इति गतिः। कल्प० २ क्षण। दुःस्थितैः सुखार्थमभिगम्यमाने शरणे, औ०। सिद्धैर्गम्यते इति गतिः कर्मसाधनः। दश० १ अ०। सिद्धौ तस्याः सिद्धैर्गम्यमानत्वात् भ० १ श० १ उ०। विशे०। रा०। सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था इति। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। अवबोधे, विशे०। प्रमाणे, आधारे क्तिन्। शरणे, पथिस्थाने च। गम्यते कर्मणि क्तिन् स्वरूपे, विषये, करणे क्तिन् अभ्युपाये, नाडीव्रणे, पाणिन्युक्तेषु प्रादिषु शब्दविशेषेषु, "उपसर्गाः क्रियायोगे" १।४।५९। "गतिश्च" १।४।६०। वाच०।

सम्प्रति किं सर्वा अपि प्रकृतयः सर्वासु गतिषु प्राप्यन्ते किं वा न? इति संशये सति तदपनोदार्थमाह-

तित्थगरदेवनिरियाउगं च तिसु तिसु गईसु बोधव्वं।
अवसेसा पयडीओ हवंति, सव्वासु वि गईसु ॥६४॥

तीर्थकरनामदेवायुर्नरकायुश्च प्रत्येकं तिसृषु तिसृषु गतिषु बोद्धव्यम्। तथाहि-तीर्थकरनाम नरकदेवमनुष्यगतिरूपासु तिसृषु गतिषु सत्प्राप्यते, न तिर्यग्गतावपि तीर्थकरसत्कर्मणस्तिर्यक्षूत्पादाभावात्। तत्र गतस्य च तीर्थकरनामबन्धासंभवात्तथा भवस्वाभाव्यात्। तथा तिर्यग्मनुष्यदेवगतिषु च देवायुर्न

नरकगतौ, नैरयिकाणां देवायुर्बन्धाऽभवात् । तिर्यङ्मनुष्य-नरकगतिषु च नरकायुः, न देवगतौ देवानां नरकायुर्बन्धा-भावात् । शेषाः प्रकृतयः सर्वास्वपि गतिषु सत्तामाधिकृत्य प्राप्यन्ते ॥ ६५ ॥ कर्म० ६ कर्म० ।

गइंद-गजेन्द्र-पुं० । गजानामिन्द्रो गजेन्द्रः । शेषगजेभ्योऽधिके, " धीरो गइंदमयगलसललियगयविक्कमो भयवं " गजेन्द्रमदकलसललितगतविक्रमः । अत्रापि मदकलशब्दस्य विशेषणभूतस्य विशेष्यात्परनिपातः प्राकृतत्वात्, मदकलो मदमभिगृह्णानस्तरुणो, गजानामिन्द्रो गजेन्द्रः शेषगजेभ्यो गुणैरधिकत्वात्, मदकलश्चासौ गजेन्द्रश्च मदकलगजेन्द्रः तस्येव सललितो मनोज्ञलीलया सहितो गतरूपो गमनरूपो विक्रमो यस्य स तथा । चं० प्र० १ पाहु० ।

गइंदपय-गजेन्द्रपद-न० । गिरिमालपर्वताशिरस्थे जलतीर्थे, ती० ३ कल्प० । (दशार्णकूटपर्वते तस्य गजेन्द्रपदता ' अणिस्सिओवहाण ' शब्दे ३३० पृष्ठे)

गइकल्लाण-गतिकल्याण-पुं० । गतिर्देवगतिलक्षणा, कल्याणं येषां ते गतिकल्याणाः । स० । स्था० । देवलोकरूपया शोभनगत्या वा कल्याणेषु, सूत्र० । २ श्रु० २ अ० । गतौ, आगामिन्यां मनुष्यगतौ, कल्याणं मोक्षप्राप्तिलक्षणं येषां ते । अनन्तरागामिनि भवे मोक्ष्यमाणेषु, " अणुत्तरोववाइयाणं गइकल्लाणाणं ठिइकल्लाणाणं " कल्प० ६ क्षण ।

गइकाय-गतिकाय-पुं० । चतसृष्वपि गतिषु नारकादीनां देहाभिन्नत्वेन शरीरसमुच्छ्रये, आव० ५ अ० । निरयगत्यादिषु, प्रत्येकं प्रत्येकं समापद्यमाने काये, आ० चू० ५ अ० । (गतिसमापन्नस्य कायः ' काय ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ४४५ पृष्ठे उपपादि)

गइचंचल-गतिचञ्चल-त्रि० । चञ्चलशब्दवक्ष्यमाणार्थके चञ्चलभेदे, बृ० १ उ० ।

गइचवल-गतिचपल-त्रि० । गतिश्चपला स्वरूपत एव यस्य तद्गतिचपलम् । चञ्चले, औ० ।

गइणाम-गतिनामन्-न० । गतिर्नारकादिपर्यायपरिणतिः, तद्विपाका कर्म्मप्रकृतिरपि गतिः सैव नाम गतिनाम । कर्म्म० १ कर्म० । नामकर्म्मभेदे, यदुदयात् नारकादित्वेन जीवो व्यपदिश्यते । स० ४२ सम० । प्रव० । भ० । पं० सं० ।

गइनामनिहत्ताउ-गतिनामनिधत्तायुष्-न० । गतिर्नारकगत्यादि तल्लक्षणं नामकर्म्म तेन सह निधत्तं निषिक्तमायुर्गतिनामनिधत्तायुः । आयुर्बन्धभेदे । स० । भ० । प्रज्ञा० ।

गइपरिणाम-गतिपरिणाम-पुं० । गतिर्देवादिका तां नियतां येन स्वभावेनायुर्जीवं प्रापयति स आयुषो गतिपरिणामः । आयुःपरिणामभेदे, स्था० ६ ठा० ग० । देशान्तरप्राप्तिलक्षणे जीवपरिणामे, सूत्र० १ श्रु० १२१ उ० ।

अधुना द्विविधं गतिपरिणाममाह-

गतिपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते, तं जहा-फुसमाणगतिपरिणामे य, अफुसमाणगतिपरिणामे य ।

(गतिपरिणामे णं भंते ! इत्यादि) द्विविधो गतिपरिणामः तद्यथा-स्पृशद्गतिपरिणामः, अस्पृशद्गतिपरिणामश्च । तत्र वस्त्वन्तरं स्पृशतो यो गतिपरिणामः स स्पृशद्गतिपरिणामः, यथा-ठिक्करिकाया जलस्योपरि यत्नेन तिर्यक् प्रक्षिप्तायाः, सा हि तथा प्रक्षिप्ता सती अपान्तराले जलं स्पृशन्ती स्पृशन्ती गच्छति बालजनप्रसिद्धमेतत् । तथाऽस्पृशतो गतिपरिणामोऽस्पृशद्गतिपरिणामो यद्वस्तु न केनापि सहाऽपान्तराले संस्पर्शनमनुभवति तस्याऽस्पृशद्गतिपरिणाम इतिभावः । अन्ये तु व्याचक्षते-स्पृशद्गतिपरिणामो नाम येन प्रयत्नविशेषात् क्षेत्रप्रदेशान् स्पृशन्गच्छति । अस्पृशद्गतिपरिणामो येन क्षेत्रप्रदेशान्न स्पृशन्नेव गच्छति । तन्न बुद्ध्यामहे, नभः सर्वव्यापितया तत्प्रदेशसंस्पर्शव्यतिरेकेण गतेरसम्भवात् । बहुश्रुतेभ्यो वा परिभावनीयम् ।

अत्रैव प्रकारान्तरमाह-

अहवा दीहगतिपरिणामे य हस्सगतिपरिणामे य इति ।

अथवेति प्रकारे अन्यथा वा गतिपरिणामो द्विविधः । तथा-दीर्घगतिपरिणामः, ह्रस्वगतिपरिणामश्च । तत्र विप्रकृष्टदेशान्तरप्राप्तिपरिणामो दीर्घगतिपरिणामः । तद्विपरीतो ह्रस्वगतिपरिणामः । प्रज्ञा० १३ पद । गतिर्नैरयिकत्वादिपर्यायपरिणतिः, गतिरेव परिणामो गतिपरिणामः, जीवपरिणामभेदे, प्रज्ञा० १२ पद । स चतुर्धा " गतिपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ? गोयमा ! चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा-नेरइयगतिपरिणामे, तिरियगतिपरिणामे, मणुयगतिपरिणामे, देवगतिपरिणामे । " प्रज्ञा० १२ पद ।

गइपरियाय-गतिपर्याय-पुं० । चलने, स्था० । (सा च त्रिभिः षभिर्वा दिग्भिः प्रवर्त्तते स्था० ६ ठा० इति " दिसा " शब्दे) मृत्वा वा गत्यन्तरे गमनलक्षणो यश्च वैक्रियलब्धिमान् गर्भान्निर्गत्य प्रदेशतो बहिः संग्रामयति स वा गतिपर्यायः । स्था० २ ठा० ३ उ० । (गतिपर्यायश्च द्वयोरेव गर्भस्थयोः मनुष्याणां पञ्चेन्द्रियतिरश्चां च)

गइपुव्विदुग-गतिपूर्वीद्विक-न० । इह पूर्वीशब्देनाऽऽनुपूर्वी प्रपद्यते । आनुशब्दलोपः " ते सुग्वा " सिद्ध० ३।२।१०८। इतिसूत्रेण, यथा देवदत्तः देवः दत्त इति । ततो नरकादिगतिनरकाद्यानुपूर्वीस्वरूपे नरकादिद्विके, कर्म्म० १ कर्म० ।

गइपुव्वितिग-गतिपूर्वीत्रिक-न० । नरकाद्यायुःसमन्विते नरकादित्रिके, कर्म० १ कर्म० ।

गइप्पवाय-गतिप्रपात-पुं० । गमनं गतिः प्राप्तिरित्यर्थः । प्राप्तिश्च देशान्तरविषया पर्यायान्तरविषया च, उभयत्रापि गतिशब्दप्रयोगदर्शनात् । तथाहि-क गतो देवदत्तः ? पत्तनं गतः; तथा वचनमात्रेणाप्यसौ गतः कोपमिति लोकान्तरेऽप्युभयथा प्रयोगः । परमाणुरेकसमयेन एकस्माल्लोकान्तादपरं लोकान्तं गच्छति । तथा तानि तान्यध्यवसायान्तराणि गच्छतीति । गतेः प्रपातो गतिप्रपातः । प्रज्ञा० १६ पद । गतिशब्दप्रवृत्तिरूपानियततायाम्, प्रज्ञा० १६ पद ।

गतिप्रपातभेदाः-

कतिविहेणं भंते ! गइप्पवाए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे गइप्पवाए पण्णत्ते । तं जहा-पओगगति ततगति बन्धन-

च्छेदनगती उववायगती विहायगती । से किं तं पत्रोगगती ? पओगगती पन्नरसविहा पण्णत्ता । तं जहा-सच्चमणप्पओगगती, एवं जहा पओगो भणिओ तहा एसा वि भाणियव्वा० जाव कम्मगसरीरकायप्पओगगती । जीवाणं भंते ! कइविहा पओगगती पण्णत्ता ? गोयमा ! पन्नरसविहा पण्णत्ता । तं जहा-सच्चमणप्पओगगती० जाव कम्मासरीरकायप्पओगगती । नेरइयाणं भंते ! कतिविहा पओगगती पण्णत्ता ? गोयमा ! एक्कारसविहा पण्णत्ता । तं जहा-सच्चमणप्पओगगती, एवं उववज्जिउण जस्स जतिविहा तस्स ततिविहा भाणियव्वा० जाव वेमाणियाणं । जीवाणं भंते ! किं सच्चमणप्पओगती० जाव कम्मगसरीरकायप्पओगगती ? गोयमा ! जीवा सव्वे वि ताव होज्जा सच्चमणप्पओगगती वि एवं ते चेव पुव्ववन्नियं भाणियव्वं भंगा, तहेव० जाव वेमाणियाणं । सेत्तं पओगगती । से किं तं ततगती ? ततगती जेणं जं गामं वा० जाव सन्निवेसं वा संपट्ठिए असंपत्ते अंतरापहे व वट्टइ । सेत्तं ततगती । से किं तं बंधनच्छेदनगती ? बंधनच्छेदनगती जीवो वा सरीराओ सरीरं वा जीवाओ । सेत्तं बंधणच्छेदनगती । से किं तं उववायगती ? उववायगती तिविहा पण्णत्ता । तं जहा-खित्तोववायगती भवोववायगती नोभवोववायगती । से किं तं खित्तोववायगती ? खित्तोववायगती पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-नेरइयखेत्तोववायगती तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती मणुस्सखेत्तोववायगती देवखेत्तोववायती सिद्धखेत्तोववायगती । से किं तं नेरइयखेत्तोववायगती ? णेरइयखेत्तोववायगती सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा-रयणप्पभापुढवीनेरइयखेत्तोववायगती० जाव अहेसत्तमपुढवीनेरइयखेत्तोववायगती । सेत्तं नेरइयखेत्तोववायगती । से किं तं तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती ? तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-एगिंदियतिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती० जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती । सेत्तं तिरिक्खजोणियखेत्तोववायगती । से किं तं मणुस्सखेत्तोववायगती ? मणुस्सखेत्तोववायगती दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संमुच्छिममणुस्सगब्भवक्कंतियमणुस्सखेत्तोववायगती । सेत्तं मणुस्सखेत्तोववायगती । से किं तं देवखेत्तोववायगती ? देवखेत्तोववायगती चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-भवणवई० जाव वेमाणियखेत्तोववायगती । सेत्तं देवखेत्तोववायगती । से किं तं सिद्धखेत्तोववायगती ? सिद्धखेत्तोववायगती अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा-जंबुद्दीवे दीवे भरहेरवयवासस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे चुल्लहिमवंतसिहरिवासहरपव्वयसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे हेमवयएरण्णवयवाससपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे सद्दावइवियडावइवट्टवेयड्ढसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे महाहिमवंतरुप्पिवासहरपव्वयसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे हरिवासरम्मगवाससपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे गंधावइमालवंतपरियायवट्टवेयड्ढसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे णिसहनीलवंतवासहरसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे पुव्वविदेहावरविदेहसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबुद्दीवे दीवे देवकुरुउत्तरकुरुसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । जंबूद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । लवणसमुद्दस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । धायइखंडे दीवे पुरिमद्धपच्छिमद्धमंदरस्स पव्वयस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । कालोयसमुद्दे सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । पुक्खरवरदीवड्ढे पुरिमद्धभरहेरवयवाससपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । एवं० जाव पुक्खरवरदीवड्ढे पच्छिमद्धपुरिमद्धमंदरपव्वयसपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगती । सेत्तं सिद्धखेत्तोववायगई । सेत्तं खेत्तोववायगई । से किं तं भवोववायगई ? भवोववायगई चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-नेरइय० जाव देवभवोववायगती । से किं तं नेरइयभवोववायगई ? णेरइयभवोववायगती सत्तविहा पण्णत्ता । एवं सिद्धवज्जो भेदो भाणियव्वो जो चेव खेत्तोववायगतीए सो चेव भवोववायगतीए । सेत्तं भवोववायगती । से किं तं नोभवोववायगती ? । नोभवोववायगई दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पुग्गलनोभवोववायगती य सिद्धनोभवोववायगती य । से किं तं पुग्गलनोभवोववायगती ? पुग्गलनोभवोववायगती जन्नं परमाणुपोग्गले लोगस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पच्चच्छिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ । पच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ उत्तरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ । दाहिणिल्लाओ वा चरिमंताओ उत्तरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छति । एवं उत्तरिल्लाओ दाहिणिल्लं० जाव हेट्ठिल्लाओ उवरिल्लं । सेत्तं पोग्गलनोभवोववायगती । से किं तं सिद्धनोभवोववायगती ? सिद्धनोभवोववायगती दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-अणंतरसिद्धनोभवोववायगती परंपरसिद्धनोभवोववायगती य । से किं तं अणंतरसिद्धनोभवोववायगती ? अ-

णंतरसिद्धनोजवोववायगई पन्नरसविहा पण्णत्ता, तं जहा–तित्थसिद्धअणंतरनोजवोववायगती य० जाव अणेगसिद्धनोभवोववायगती । से किं तं परंपरसिद्धनोभवोववायगती ? परंपरसिद्धनोजवोववायगती अणेगविहा पण्णत्ता, तं जहा–अपढमसमयसिद्धनोभवोववायगती, दुसमयसिद्धनोजवोववातगती० जाव अणंतसमयसिद्धनोभवोववायगती । सेत्तं नोजवोववायगती । सेत्तं उववायगती । से किं तं विहायगती ? विहायगती सत्तरसविहा पण्णत्ता । तं जहा–फूसमाणगती अफूसमाणगती उवसंपज्जमाणगती अणुवसंपज्जमाणगती पोग्गलगती मंडूयगती नावागती नयगती छायागती छायाणुवातगती लेस्सागती लेस्साणुवातगती उद्दिस्सयपविभत्तगती चउपुरिसपविभत्तगती वंकगती पंकगती बंधणविमोयणगती । से किं तं फूसमाणगती ? फूसमाणगती जण्णं परमाणुपोग्गले दुपदेसिए० जाव अणंतपदेसिआणं खंधाणं अन्नमन्नं फुसित्ताण गती पवत्तइ । सेत्तं फूसमाणगती । से किं तं अफूसमाणगती ? अफूसमाणगती जन्नं एतेसिं चेव अफुसित्ताण गती पवत्तइ । सेत्तं अफूसमाणगती । से किं तं उवसंपज्जमाणगती ? उवसंपज्जमाणगती जण्णं जं रायं वा जुवरायं वा ईसरं वा तलवरं वा माडंबियं वा कोडुंबियं वा इब्भं वा सेट्ठिं वा सेणावइं वा सत्थवाहं वा उवसंपज्जित्ताणं गच्छति । सेत्तं उवसंपज्जमाणगती । से किं तं अणुवसंपज्जमाणगती ? अणुवसंपज्जमाणगती जन्नं एतेसिं चेव अन्नमन्नं अणुवसंपज्जित्ताणं गच्छति । सेत्तं अणुवसंपज्जमाणगती । से किं तं पोग्गलगती ? पोग्गलगती जन्नं परमाणुपोग्गलाणं० जाव अणंतपदेसियाणं खंधाण गती पवत्तइ । सेत्तं पोग्गलगती । से किं तं मंडूयगती ? मंडूयगती जन्नं मंडूए उप्पडित्ता उप्पडित्ता गच्छति । सेत्तं मंडूयगती । से किं तं णावागती ? णावागती जन्नं णावा पुव्ववेतालीओ दाहिणवेतालिं जलपहेणं गच्छति, दाहिणवेतालिं वा अवरवेतालिं जलपहेणं गच्छति । सेत्तं णावागती । से किं तं नयगती ? नयगती जन्नं नेगमसंगहववहारउज्जुसुयसद्दसमभिरूढएवंभूताणं नयाणं जा गती, अहवा सव्वणया वि जं इच्छन्ति । सेत्तं नयगती । से किं तं छायागती ? छायागती जेणं हयच्छायं वा गयच्छायं वा नरच्छायं वा किन्नरच्छायं वा महोरगच्छायं वा गंधव्वच्छायं वा रहच्छायं वा छत्तच्छायं वा उवसंपज्जित्ताणं गच्छति । सेत्तं छायागती । से किं तं छायाणुवायगती ? छायाणुवायगती जं णं पुरिसच्छाया अणुगच्छति, नो पुरिसे छायं अणुगच्छति । सेत्तं छायाणुवायगती । से किं तं लेस्सागती ? लेस्सागती जन्नं कण्हलेस्सा नीललेस्सा नीललेस्सं पप्प तारूवत्ताए तारसत्ताए ताफासत्ताए भुज्जो भुज्जो परिणमति । एवं नीललेस्सा काउलेस्सं पप्प तारूवत्ताए जाव० फासत्ताए परिणमति । एवं काउलेस्सा वि तेउलेस्सं, तेउलेस्सा वि पम्हलेस्सं, पम्हलेस्सा वि सुक्कलेस्सं, पप्प तारूवत्ताए० जाव परिणमति । सेत्तं लेस्सागती । से किं तं लेस्साणुवायगती ? लेस्साणुवायगती जं लेस्साइं दव्वाइं परियाइत्ता कालं करेइ तल्लेसेसु उववज्जइ । तं जहा–कण्हलेस्सेसु वा० जाव सुक्किल्लेस्सेसु वा । सेत्तं लेस्साणुवायगती । से किं तं उद्दिस्सपविभत्तगती ? उद्दिस्सपविभत्तगती जेणं आयरियं वा उवज्झायं वा थेरं वा पवत्तिं वा गणिं वा गणहरं वा गणावच्छेदं वा उद्दिसिय उद्दिसिय गच्छति । सेत्तं उद्दिस्सपविभत्तगती । से किं तं चउपुरिसपविभत्तगती ? चउपुरिसपविभत्तगती से जहा नामए चत्तारि पुरिसा समगं पज्जवट्ठिया, समगं पट्ठिता विसमं पट्ठिता समगं पज्जवट्ठिया विसमं पज्जवट्ठिता विसमं पज्जवट्ठिया । सेत्तं चउपुरिसपविभत्तगती । से किं तं वंकगती ? वंकगती चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा–घट्टणता थंभणता लेसणता पवमणया । सेत्तं वंकगती । से किं तं पंकगती ? पंकगती से जहा नामए केइ पुरिसे सेउंसि वा पंकंसि वा उदयंसि वा कायं उव्विहित्ता गच्छति । सेत्तं पंकगती । से किं तं बंधणविमोयणगती ? बंधणविमोयणगती जन्नं अंबाण वा अंबाडगाण वा माउलिंगाण वा बिल्लाण वा कविट्ठाण वा भव्वाण वा फणसाण वा दालिमाण वा पारेवताण वा अक्खोलाण वा चाराण वा तंदुयाण वा पक्काणं परियागयाणं बंधणाओ विप्पमुक्काणं वा णिव्वाघाएणं अहेवीसाए गती पवत्तई । सेत्तं बंधणविमोयणगती ।

सुगममापदपरिसमाप्तेः, नवरं (जम्बूद्दीवे दीवे भरहेरवयवासस्स सपक्खं सपडिदिसिं सिद्धखेत्तोववायगइत्ति) जम्बूद्वीपे द्वीपे यद्भरतवर्षमैरवतवर्षं च तयोरुपरि सिद्धिक्षेत्रोपपातगतिर्भवति । कथमित्याह–सपक्षं सप्रतिदिक्, तत्र सह पक्षाः पार्श्वाः पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपा यस्मिन् सिद्धक्षेत्रोपपातगतिभवने ततः सपक्षं, सह प्रतिदिशो विदिश आग्नेय्यादयो यस्मिन् तत्सप्रतिदिक्, क्रियाविशेषणमेतत् । एषोऽत्र भावार्थः–जम्बूद्वीपे द्वीपे भरतैरावतवर्षयोरुपरि सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च सर्वत्र सिद्धक्षेत्रोपपातगतिर्भवतीति । एवं शेषभूतेष्वपि भावनीयम् । उपसम्पद्यमानगतिसूत्रे-(जण्णं जं राइयं वा) इत्यादि । राजा पृथिवीपतिः, युवराजा राज्यचिन्ताकारी राजप्रतिशरीरं, ईश्वरः अणिमाद्यैश्वर्ययुक्तः, तलवरः परतुष्टनरपतिप्रदत्तपट्टबन्धविभूषितो राजस्थानीयः, माडम्बिकः छिन्नमडम्बाधिपः, कौटुम्बिकः कतिपयकुटुम्बस्वामी, इभमर्हतीति इभ्यो धनवान्, श्रेष्ठी श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टभूषितोत्तमाङ्गः, सेनापतिर्नृपतिनिरूपितचतुरङ्गसैन्यनायकः, सार्थवाहः सार्थनायकः, नौग-

तिसूत्रेषु (अन्नं नावा पुव्ववेतालि) इत्यादि । वेतालिशब्दो देशीवचनत्वाद्वेतालातटवाची । प्रज्ञा० १६ पद । गतेर्गा प्रवृत्तेः क्रियायाः प्रपातः प्रपतनं सम्भवः प्रयोगादिष्वर्थेषु वर्त्तनं गतिप्रपातस्तत्प्रपातकमध्ययनं गतिप्रपातम् । भ० ८ श० ७ उ० । गतिप्रपातप्रतिपादकेऽन्ययूथिकान्प्रति स्थविरैः कथिते अध्ययने, भ० " तएणं ते थेरा भगवंतो अण्णउत्थिए एवं पडिहणन्ति, एवं पडिहणेत्ता गइप्पवायनामं अज्झयणं पण्णवइंसु । कइविहे णं भंते ! गइप्पवाए पण्णत्ते ? गोयमा ! पंचविहे गइप्पवाए पण्णत्ते । तं जहा-पओगगई ततगई बंधणच्छेयणगई उववायगई विहायगई एत्तो आरब्भ पओगपदं निरवसेसं भाणियव्वं० जाव सेत्तं विहायगई सेवं भंते ! भंते ! त्ति " ॥ भ० ८ श० ७ उ० ।

गतिप्रवाद-न० । गतिः प्रोद्यते प्ररूप्यते यत्र तद्गतिप्रवादम् । भ० ८ श० ७ उ० ।

गइबन्धनपरिणाम-गतिबन्धनपरिणाम-पुं० । येनायुःस्वभावेन प्रतिनियतगतिकर्मबन्धो भवति, यथा नारकायुःस्वभावेन मनुष्यतिर्यग्गतिनामकर्म बध्नाति; तदेव नारकगतिनामकर्मेति स गतिबन्धनपरिणामः । आयुःपरिणामभेदे, स्था० ६ ठा० ।

गइय-गदित-त्रि० । प्रतिपादिते, प्रति० ।

गइरइय-गतिरतिक-त्रि० । गतौ रतिरासक्तिः प्रीतिर्येषां ते गतिरतिकाः समयक्षेत्रवर्तिषु अनुपरतगतिकेषु देवेषु । स्था० २ ठा० २ उ० ।

गइरागइलक्खण-गतिरागतिलक्षण-न० । लक्षणभेदे, विशे० । तत्स्वरूपं च विशे० ।

अथ "गइरागइ त्ति" गत्यागतिलक्षणस्वरूपं प्रचिकटयिषुराह-

अवरोप्परं पयाणं, विसेसण-विसेसणिज्जया जत्थ ।
गच्चागई य दोएहं, गच्चागइलक्खणं तं तु ॥ २१५६ ॥

परस्परं द्वयोर्द्वयोः पदयोर्यत्र विशेषणविशेष्यतया आनुकूल्येन गमनं गतिः । ' यथा जीवो भदन्त ! देवः ' इति, जीवमनूद्य देवत्वं पृच्छ्यते । अत्र जीवपदाद् देवपदे आनुकूल्येन यथास्थित्या गतिः। तथा प्रत्यावृत्त्या प्रातिकूल्येनागमनमागतिर्यथा 'देवो जीवः' इत्यत्र देवमनूद्य जीवत्वं पृच्छ्यत इतीह प्रत्यावृत्त्या देवपदाज्जीवपदे आगतिः। गतिश्चागतिश्च गत्यागती ताभ्यां तेषां लक्षणं तदेतद् गत्यागतिलक्षणम् । एतच्च चतुर्धा, तद्यथा-पूर्वपदव्याहतम्, उत्तरपदव्याहतम्, उभयपदव्याहतम् उभयपदाव्याहतं चेति । तत्र पूर्वपदं व्याहतं व्यभिचारि यत्र तत्पूर्वपदव्याहतं लक्षणं पूर्वपदव्यभिचारीत्यर्थः । एवमन्यत्रापि यथायोगं समासः ।

एतानेव चतुरो भङ्गान् सोदाहरणानाह भाष्यकारः-

पुव्वावरोभएसुं, वाहयमव्वाहयं च तं तत्थ ।
जीवो देवो देवो, जीवो त्ति विगप्पनियमोऽयं ॥२१५७॥

इह पूर्वपदव्याहतम् अपरपदव्याहतमुभयपदव्याहतमुभयपदाव्याहतं चेति चतुर्धा तद् गत्यागतिलक्षणमुक्तम् । तत्र 'जीवे भंते ! देवे देवे जीवे गोयमा ! जीवे सिय देवे सिय नो देवे देवे पुण नियमा जीवे' इति भुवनगुरुवचनाज्जीवो देव इति विशेषणविशेष्यभूते पदद्वये जीव इति पूर्वपदं देवत्वं व्यभिचरत्यपि । जीवस्य देवस्यादेवस्य च नारकादेर्दर्शनात् । 'देवः किं जीवः ?' इति प्रत्यावृत्तौ देवो जीवत्वं न व्यभिचरत्येव, देवस्य नियमेन जीवत्वात्तस्मात्पूर्वपदव्याहतो विकल्पनियमोऽयं भङ्गः । विकल्पो व्याहतिर्भजना व्यभिचार इत्यर्थः । नियमो निश्चयोऽव्यभिचार इत्यर्थः । ततश्च पूर्वपदविकल्पोपलक्षित उत्तरपदनियमो यत्रासौ विकल्पनियमः प्रथमो भङ्ग इति ।

शेषं भङ्गत्रयं सोदाहरणं यथा-

जीवइ जीवो जीवो, जीवइ नियमो भओ विगप्पो य ।
देवो भव्वो भव्वो, देवो त्ति विगप्पमो दो वि ॥२१५८॥
जीवो जीवो जीवो, जीवो त्ति दुगे वि गम्मए नियमो ।
जीवो जहोवओगो, तहोवओगो य जीवो त्ति ॥२१५९॥

व्याख्या-(जीवइ जीवो जीवो जीवइ त्ति) इत्यनेन द्वितीयभङ्गप्रतिपादकं भगवतीसूत्रं सूचितम् । तच्चेदम्-"जीवइ भंते ! जीवे जीवे जीवइ गोयमा ! जीवइ ताव नियमा जीवे जीवे पुण सिय जीवइ सिय नो जीवइ" इति । इह 'जीवइ'शब्देन दशविधप्राणलक्षणं जीवनं जीवितव्यमुच्यते । तत्र जीवनं तावन्नियमाज्जीवे, अजीवे तस्य सर्वथाऽसंभवात् । जीवः पुनः स्याज्जीवति स्यान्न जीवति, सिद्धजीवस्य जीवनासंभवादत इहोत्तरपदं व्याहतं व्यभिचारात् । पूर्वपदं त्वव्याहतं, जीवनस्य जीवमन्तरेणाभावादत एवाह-(नियमो भओ विगप्पो य त्ति) पूर्वपदेऽव्यभिचाराम्नियमो मतः। उत्तरपदे तु विकल्पो भजना व्याहतिर्व्यभिचार इत्यर्थः। ततश्च नियमेनोपलक्षितो विकल्पो यत्रासौ नियमविकल्पनामकोऽयमुत्तरपदव्याहतो द्वितीयो भङ्गः । (देवो भव्वो भव्वो देवो त्ति) अनेनापि तृतीयभङ्गप्रतिपादकं प्रज्ञप्तिसूत्रं सूचितम् । तद्यथा-"देवे णं भंते ! भवसिद्धिए भवसिद्धिए ? देवे गोयमा ! देवे सिय भवसिद्धिए सिय अभवसिद्धिए भवसिद्धिए वि सिय देवे सिय नो देवे त्ति " अत्र पूर्वपदवर्ती देवो भव्यत्वं व्यभिचरति अभव्यस्यापि तस्य संभवात्, उत्तरपदवर्त्यपि भव्यो देवत्वं व्यभिचरत्यदेवस्यापि तस्य नरकादौ संभवादत उभयपदव्याहतमिदमत एवाह-(विगप्पमो दो वि त्ति) इह प्राकृतशैल्या द्वयोरपि पदयोर्विकल्पो व्यभिचार इत्यर्थः। ततश्च विकल्पयुक्तो विकल्पो यत्रासौ विकल्पविकल्पनामकोऽयमुभयपदव्याहतस्तृतीयो भङ्ग इति । (जीवो जीवो जीवो जीवो त्ति) इहापि व्याख्या प्रज्ञप्तिसूत्रमेतद्द्रष्टव्यं, तद्यथा-"जीवे भंते ! जीवे जीवे जीवे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे त्ति" इहैकस्य जीवशब्दस्योपयोगो वाच्यस्ततश्चोपयोगो नियमाज्जीवः, जीवोऽपि नियमादुपयोगोऽत उभयपदव्याहतमिदमत एवाह-" दुगे वि गम्मए नियमो " इत्यादि । पदद्वयेऽप्यत्र नियमो गम्यते । ततश्च नियमान्वितो नियमो यत्रासौ नियमनियमाभिधान उभयपदाऽव्याहतश्चतुर्थो भङ्ग इति ।

अथ लोकेऽपि चतुर्विधमिदं गत्यागतिलक्षणं प्रसिद्धमिति दर्शयन्नाह-

रूवी घडो त्ति चूओ, दुम्मो त्ति नीलुप्पलं च लोयम्मि ।
जीवो सचेयणो त्ति य, विगप्पनियमादओ सिद्धा ॥२१६०॥

पूर्वपदव्याहतं यथा-'रूपी घटः' इति । अत्र रूपिणो घटस्य पटादेश्च भावात्पूर्वपदव्याहतिः, उत्तरपदं तु न व्याहतं; घटस्य रूपिण एव भावादिति विकल्पनियमः प्रथमो भङ्गः । उत्तरपदव्याहतं ' चूतो द्रुमः ' इति । इह चूतो द्रुम एव भवतीति न व्याहतिः, द्रुमस्तु चूतोऽचूतश्च स्यादित्युत्तरपदव्याहतिरिति नियमविकल्पो द्वितीयो भङ्गः । उभयपदव्याहतं यथा-नीलोत्पलमिति । नीलमुत्पलं मरकतादि च भवति, उत्पलमपि नीलं शु-

कलादिरूपं च भवतीत्युभयपदव्यभिचाराद् विकल्पविकल्पस्तृतीयो भङ्गः । उभयपदाव्याहतं यथा-' जीवः सचेतनः ' इति । जीवः सचेतन एव भवति चेतनापि जीवस्यैवेत्युभयपदाव्यभिचाराद् नियमनियमश्चतुर्थो भङ्ग इति । इत्येवं विकल्पनियमादयश्चत्वारो भङ्गा लोकेऽपि सिद्धा इति । तदेवमभिहितं गत्यागतिलक्षणम् । विशे० । आ० म० द्वि० ।

गइविसय-गतिविषय-पुं० । गतिगोचरविषये क्षेत्रे, । प्रति० । " असुरकुमाराणं देवाणं अहे गइविसये सिग्घे " इह यद्यपि गतिगोचरभूतं क्षेत्रं गतिविषयशब्देनोच्यते तथापि गतिरेव गृह्यते शीघ्रादिविशेषणानां क्षेत्रे युज्यमानत्वादिति । भ० ३ श० २ उ० ।

गइसमावन्न-गतिसमापन्न-पुं० । गतिर्गमनं तां समापन्नाः प्राप्ताः स्तद्वन्तो गतिसमापन्नाः गतिमत्सु पृथ्वीकायिकादिषु । स्था० ।

दुविहा दव्वा पणत्ता तं जहा-गइसमावन्नगा चेव अगइसमावन्नगा चेव ॥

गतिर्गमनं तां समापन्नाः प्राप्तास्तद्वन्तो गतिसमापन्नाः । ये हि पृथ्वीकायिकाद्यायुष्कोदयात् पृथिवीकायिकादिव्यपदेशवन्तो विग्रहगत्या उत्पत्तिस्थानं व्रजन्ति, अगतिसमापन्नास्तु स्थितिमन्तः । स्था० । २ ठा० १ उ० । सू० प्र० ।

गइसमावन्नग-गतिसमापन्नक-पुं० । गतिर्गमनं समिति संततमापन्नकाः प्राप्ताः गतिसमापन्नकाः अनुपरतगतिकेषु देवेषु, स्था० २ ठा० २ उ० । (' अगइसमावण्ण ' शब्दे प्र० भागे १५३ पृष्ठे दण्डक उक्तः)

गउअ-पुं०-गो-पुं० । गच्छत्यनेन गमः करणे मो । " गव्यउआअः " ८ । १ । १५८ । गोशब्दे ओतः अउआअ इत्यादेशौ भवतः । गउओ गउआ गाओ प्रा० १ पाद । स्वनामख्याते पशुभेदे, वृषभस्य यानसाधनत्वात् । वाच० ।

गउआ-गो-स्त्री० । स्त्रियां " स्वस्रादेर्डा " ८ । ३ । ३५ । इति डा प्रत्ययः " गउआ " प्रा० ३ पाद ।

गउड-गौड-पुं० । " डो लः " ८ । १ । २०२ । इत्यस्य क्वाचित्कत्वान्न मस्य लः । प्रा० १ पाद । देशभेदे, तद्देशस्थे जने, ब० व० ब्राह्मणभेदे, गुडविकारे मदिराभेदे, स्त्री० । वाच० ।

गउरि-गौरी-स्त्री० । " स्वराणां स्वराः प्रायोऽपभ्रंशे " ८ । ४ । ३२९ । इति प्रायिके स्वरादेशे । गउरि गोरि प्रा० ४ पाद । गौरवर्णायां स्त्रियाम् , "कपोलभित्तीरिव लोध्रगौरीः" वाच० ।

गंग-गङ्ग-पुं० । द्वैक्रियनिह्नवानां धर्माचार्ये (तद्वक्तव्यता च ' दोकिरिय ' शब्दे) आ० म० द्वि० । विशे० । स्था० । उत्त० । नि० ।

गंगदत्त-गङ्गदत्त-पुं० । पूर्वभवे नवमे वासुदेवे, (स च गङ्गदत्तनामा मल्लः पितृव्यां त्यक्तः चारित्रं गृहीत्वा क्रमेण वासुदेवो जात इति ' वसण ' शब्दे कथा) आ० क० । आ० म० द्वि० । आ० चू० । स० । ति० । षष्ठबलदेववासुदेवयोः पूर्वभविके धर्माचार्ये, स० । हस्तिनापुरजाते मुनिसुव्रतशिष्ये श्रेष्ठिनि, स च प्रव्रज्य कालं कृत्वा सम्यग्दृष्टिदेवो जात इति । भ० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं उल्लुयातीरे णामं णयरे होत्था वण्णओ एगजंबुए चेइए, वण्णओ । तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे० जाव पज्जुवासइ । तेणं कालेणं तेण समएणं सक्के देविंदे देवराया वज्जपाणी एवं जहेव बितिए उद्देसए तहेव दिव्वेणं जाणविमाणेणं आगओ जाव जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता० जाव णमंसित्ता एवं वयासी-देवे णं भंते ! महिड्डिए० जाव महेसक्खे बाहिरए पोग्गले अपरियाइत्ता पभू आगमित्तए ? णो इणट्ठे समट्ठे । देवे णं भंते ! महिड्डिए० जाव महेसक्खे बाहिरए पोग्गले परियाइत्ता पभू आगमित्तए ? हंता पभू ? । देवे णं भंते ! महिड्डिए एवं एएणं अभिलावेणं गमित्तए २, एवं भासित्तए वा वियागरित्तए वा ३, उंमिसावेत्तए वा निम्मिसावेत्तए वा ४, आउंटावेत्तए वा पसारेत्तए वा ५, ठाणं वा सेज्जं वा णिसीहियं वा चेतित्तए वा ६, एवं विउव्वित्तए वा ७, एवं परियाएत्तए वा० ८, जाव हंता पभू इमाइं अट्ठउक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छइ संभंति य वंदणएणं वंदेइ । वंदेइत्ता तमेव दिव्वं जाणविमाणं दुरूहइ, दुरूहइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए । भंते ! त्ति भगवं !, गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ । वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-अण्णदा णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया देवाणुप्पियं वंदइ णमंसइ० जाव पज्जुवासइ । किण्णं भंते ! सक्के देविंदे देवराया देवाणुप्पियं अट्ठ उक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छइ, पुच्छइत्ता संभंतियं वंदइ, वंदइत्ता० जाव पडिगए । गोयमादि !, समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी-एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं महासुक्के कप्पे महासामाणियविमाणे दो देवा महिड्डिया० जाव महेसक्खा एगविमाणंसि देवत्ताए उववन्ना । तं जहा-मायीमिच्छद्दिट्ठी उववन्नए य, अमायी सम्मद्दिट्ठी उववन्नए य । तए णं से मायीमिच्छद्दिट्ठीउववन्नए देवे तं अमायीसम्मद्दिट्ठीउववन्नयं देवं एवं वयासी-परिणममाणा पोग्गला, णो परिणया; अपरिणया, 'परिणमंतीति पोग्गला' णो परिणया, अपरिणया । तए णं से अमायीसम्मद्दिट्ठीउववन्नए देवे तं मायीमिच्छद्दिट्ठीउववन्नगं देवं एवं वयासी-परिणममाणा पोग्गला परिणया, णो अपरिणया, 'परिणमंतीति पोग्गला' परिणया, णो अपरिणया । तं मायीमिच्छद्दिट्ठीउववन्नगं देवं एवं पडिहणइ । एवं पडिहणइत्ता ओहिं पउंजइ, ओहिं पउंजइत्ता ममं ओहिणा आभोएइ । आभोएइत्ता अयमेयारूवे० जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जेणेव उल्लुयातीरे णयरे जेणेव एगजंबुए चेइए अहापडिरूवं० जाव विहरइ, तं सेयं

खलु समणं भगवं महावीरं वंदित्ता० जाव पज्जवासित्ता इमं एयारूवं वागरणं पुच्छित्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ। संपेहेइत्ता चउहिं सामाणियसाहस्सीहिं परियारो जहा सूरियाभस्स० जाव णिग्घोसणादितरवेणं जेणेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे जेणेव उल्लुयातीरे णयरे जेणेव एगजंबूए चेइए जेणेव ममं अंतिए तेणेव पहारेत्थगमणाए । तएण से सक्के देविंदे देवराया तस्स देवस्स तं दिव्वं देविड्ढिं दिव्वं देवज्जुतिं दिव्वं देवाणुभावं दिव्वतेयलेस्सं असहमाणे अट्ठउक्खित्तपसिणवागरणाइं पुच्छइ, पुच्छइत्ता संभंतिय० जाव पडिगए, जावं च णं समणे भगवं महावीरे भगवओ गोयमस्स एयमट्ठे परिकहेइ, तावं च णं से देवे तं देसं हव्वमागए । तएणं से देवे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ णमंसइ, वंदइत्ता णमंसइत्ता एव वयासी–एवं खलु भंते ! महासुक्के कप्पे महासामाणे विमाणे एगे मायी उववण्णए देव ममं एवं वयासी–परिणममाणा पोग्गला, णो परिणया; अपरिणया, 'परिणमंतीति पोग्गला' णो परिणया, अपरिणया । तएणं अहं तं मायीमिच्छदिट्ठीउववणगं देवं एवं वयासी–परिणममाणा पोग्गला परिणया, णो अपरिणया, 'परिणमन्तीति' पोग्गला परिणया, णो अपरिणया। से कहमेयं भंते ! एवं गंगदत्तादि ! समणे भगवं महावीरे गंगदत्तं देवं एवं वयासी–अहं पि णं गंगदत्ता ! एवमाइक्खामि ४, परिणममाणा पोग्गला० जाव णो अपरिणया, सच्चमेसे अट्ठे । तए णं से गंगदत्ते देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चा सण्णे० जाव पज्जुवासइ । तए णं से गंगदत्ते देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठे उट्ठाए उट्ठेइ । उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–अहं णं भंते ! गंगदत्ते देवे किं भवसिद्धिए अभवसिद्धिए एवं जहा सूरियाभो० जाव बत्तीसविहं उवदंसेइ । उवदंसेइत्ता० जाव तामेव दिसिं पडिगए ? भंते ! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं० जाव एवं वयासी–गंगदत्तस्स णं भंते ! देवस्स सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती० जाव अणुप्पविट्ठा ? गोयमा ! सरीरं गया सरीरं अणुप्पविट्ठा कूडागारसालादिट्ठंतो० जाव सरीरं अणुप्पविट्ठा। अहो णं भंते ! गंगदत्ते देवे महिड्ढिए० जाव महेसक्खे गंगदत्तेणं भंते ! देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी दिव्वा देवज्जुती किंणा लद्धा० जाव जेणं गंगदत्तेणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी० जाव अभिसमण्णागया ? । गोयमादि ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी–एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे हत्थिणापुरे णामं णयरे होत्था वण्णओ, सहसंबवणे उज्जाणे वण्णओ। तत्थ णं हत्थिणापुरे णयरे गंगदत्ते णामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे जाव अपरिभूए। तेणं कालेणं तेण समएणं मुणिसुव्वए अरहा आदिगरे० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी आगासगएणं चक्केणं० जाव पकड्ढिज्जमाणेणं पकड्ढिज्जमाणेणं सीसगणसंपरिवुडे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं० जाव जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे० जाव विहरइ । परिसा णिग्गया० जाव पज्जुवासइ । तएणं से गंगदत्ते गाहावई इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव कयबलिसरीरे साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता पादविहारचारेणं हत्थिणाउरं णयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ। णिग्गच्छइत्ता जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे जेणेव मुणिसुव्वए अरहा तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता मुणिसुव्वयं अरहं तिक्खुत्तो आयाहिणप्पयाहिणं० जाव तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासइ। तए णं मुणिसुव्वए अरहा गंगदत्तस्स गाहावइस्स तीसे य महति० जाव परिसा पडिगया, तए णं से गंगदत्ते गाहावई मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियं धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ उट्ठाए उट्ठेइ । उट्ठेइत्ता मुणिसुव्वयं अरहं वंदइ णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–सद्दहामि णं भंते ! णिग्गंथं पावयणं जाव से जहेयं तुब्भे वदह । जं णवरं देवाणुप्पिया ! जेट्ठपुत्त कुडुंबे ठावेमि । तए णं अहं देवाणुप्पियाणं अंतियं मुंडे० जाव पव्वयामि । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं। तए णं से गंगदत्ते गाहावई मुणिसुव्वएणं अरहा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठे मुणिसुव्वयं अरहं वंदइ णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता मुणिसुव्वयस्स अरहओ अंतियाओ सहसंबवणाओ उज्जाणाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता जेणेव हत्थिणापुरे णयरे जेणेव सए गिहे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता विपुलं असणं पाणं० जाव उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता मित्तणाइणियग० जाव आमंतेइ। आमंतेइत्ता तओ पच्छा ण्हाए जहा पूरणे० जाव जेट्ठपुत्तं कुडुंबे ठावेइ। तं मित्तणाइ० जाव जेट्ठपुत्तं च आपुच्छइ। आपुच्छइत्ता पुरिससहस्सवाहिणिं सीयं दुरूहइ। दुरूहइत्ता मित्तणाइणियग० जाव परिजणेणं जेट्ठपुत्तेण य समणुगम्ममाणमग्गे सव्विड्ढीए जाव० णादितरवेणं हत्थिणापुरं णयरं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ। णिग्गच्छइत्ता जेणेव सहसंबवणे उज्जाणे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता छत्ताइछत्ते तित्थगरादि पासइ। एवं जहा–उदायणे० जाव सयमेव आभरणे ओमुयइ। ओमुयइत्ता सयमेव पंचमुट्ठियं लोयं करेइ। करेइत्ता जेणेव मुणिसुव्वए अरहा एवं जहा उदायणे

तहेव पव्वइए,तहेव एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ०जाव मासियाए संलेहणाए सट्ठिं जत्ताइं अणसणाए० जाव च्छेदेइ। छेदेइत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे, कालं किच्चा महासुक्के कप्पे महासामाणे विमाणे उववायसभाए देवसयणिज्जंसि०जाव गंगदत्तदेवत्ताए उववन्ने । तए णं से गंगदत्ते देवे अहुणोववन्नमेत्तए समाणे पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ । तं जहा-आहारपज्जत्तीए० जाव भासमणपज्जत्तीए । एवं खलु गोयमा! गंगदत्तेणं देवेणं सा दिव्वा देविड्ढी० जाव अभिसमण्णागया। गंगदत्तस्स णं भंते! देवस्स केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ? गोयमा! सत्तसागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। गंगदत्ते णं भंते! देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ० जाव अंतं काहिति ॥ सेवं भंते! भंते त्ति ।

(तेणं) इत्यादि। इह सर्वोऽपि संसारी बाह्यान् पुद्गलाननुपादाय न काञ्चित् क्रियां करोतीति सिद्धमेव,किन्तु देवः किल महर्द्धिको,महर्द्धिकत्वाद्देव च गमनादिक्रियां मा कदाचित्करिष्यति इति सम्भावनया शक्रः प्रश्नं चकार-(देवे णं भंते!) इत्यादि। (भासित्तए वा वागरित्तए व त्ति) भाषितुं वक्तुं व्याकर्त्तुमुत्तरं दातुमित्यनयोर्विशेषः । प्रश्नश्चायं तृतीय, उन्मेषादिश्चतुर्थः,आकुण्टनादिः पञ्चमः, स्थानादिः षष्ठः, विकुर्वयितुमिति सप्तमः, परिचारयितुमित्यष्टमः । (उक्खित्तपसिणवागरणाइं ति) उत्क्षिप्तानीवोत्क्षिप्तानि अविस्तारितस्वरूपाणि, प्रच्छनीयत्वात्प्रश्नाः, व्याक्रियमाणत्वाच्च व्याकरणानि यानि तानि तथा। (संभंतियवंदणएणं ति) संभ्रान्तिः सम्भ्रमः औत्सुक्यं तया निर्वृत्तं सांभ्रान्तिकं यद्वन्दनं तत्तथा तेन। (परिणममाणा पोग्गला णो परिणय त्ति) वर्तमानातीतकालयोर्विरोधादत एवाह-(अपरिणय त्ति) इहैवोपपत्तिमाह-परिणमन्तीति कृत्वा नो परिणतास्ते व्यपदिश्यन्त इति मिथ्यादृष्टिवचनम्। सम्यग्दृष्टिः पुनराह-(परिणममाणा पोग्गला परिणया नो अपरिणय त्ति) कुत इत्याह-परिणमन्तीति कृत्वा पुद्गलाः परिणता नोऽपरिणताः, परिणमन्तीति हि यदुच्यते तत्परिणामसद्भावे, अन्यथाऽन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । परिणामसद्भावे तु परिणमन्तीति व्यपदेशे परिणतत्वमवश्यं भावि । यदि हि परिणामे सत्यपि परिणतत्वं न स्यात्सदा सर्वदा तदभावप्रसङ्ग इति। (परिवारो जहा सूरियाभस्स त्ति) अनेनेदं सूचितम्-"तिहिं परिसाहिं सत्तहिं अणिएहिं सत्तहिं अणियाहिवईहिं सोलसहिं आयरक्खदेवसाहस्सीहिं अन्नेहि य बहूहिं महासामाणविमाणवासीहिं वेमाणिएहिं देवेहिं सद्धिं संपरिवुडे" इत्यादि। (दिव्वं तेयलेस्सं असहमाणे त्ति) इह किल शक्रः पूर्वभवे कार्तिकाभिधानोऽभिनवश्रेष्ठी बभूव। गङ्गदत्तस्तु जीर्णश्रेष्ठीति। तयोश्च प्रायो मत्सरो भवतीत्यसावसहनकारणं सम्भाव्यत इति । एवं (जहा सूरियाभो त्ति) अनेनेदं सूचितं "सम्मादिट्ठी मिच्छादिट्ठी परित्तसंसारिए अणंतसंसारिए सुलहबोहिए दुल्लहबोहिए आराहए विराहए चरिमे अचरिमे इत्यादि " इति । भ० १६ श० ५ उ० । ती० । नि० । विजयपुरस्थे मगधाया भर्तरि, गृहपतौ च । ध० र० । सागरदत्तस्य भार्यायां उदुम्बरदत्तस्य मातरि, स्त्री० । विपा० ७ अ० ।

गंगप्पवायद्दह-गङ्गाप्रपातह्रद-पुं० । हिमवद्वर्षधरपर्वतोपरिवर्तिपद्मह्रदस्य पूर्वतोरणेन निर्गत्य क्रमेण यत्र प्रपतति तस्मिन् ह्रदविशेषे, स्था० २ ठा० ३ उ० । (' गंगा ' शब्देऽस्य स्वरूपं दर्शयिष्यामि) " दो गंगप्पवायद्दहा " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गंगा-गङ्गा-स्त्री० । पद्मह्रदान्निर्गतायां लवणसमुद्रे सङ्गतायां महानद्याम् । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

अथ गङ्गामहानदीस्वरूपमाह-

तस्स णं पउमद्दहस्स पुरच्छिमिल्लेणं तोरणेणं गंगा महाणई पवूढा समाणी पुरच्छाभिमुही पंचजोअणसयाइं पव्वएणं गंता । गंगावत्तणकूडे आवत्ता समाणी पंचतेवीसे जोअणसए तिण्णि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स दाहिणाभिमुही पव्वएणं गंता महया घडमुहपवत्तिएणं मुत्तावलिहारसंठिएणं साइरेग जोअणसएणं पवाएणं पवडइ। गंगामहाणई जओ पवडइ इत्थ णं महं एगा जिब्भिआ पण्णत्ता। सा णं जिब्भिआ अद्धजोअणं आयामेणं छसकोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं अद्धकोसं बाहल्लेणं मगरमुहविउट्टसंठाणसंठिआ सव्ववइरामई अच्छा सण्हा । गंगा महाणई जत्थ पवडइ एत्थ णं महं एगे गंगप्पवायकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते सट्ठिं जोअणाइं आयामविक्खंभेणं णउअं जोअणसयं किंचि विसेसाहिअं परिक्खेवेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे रययामयकूले समतीरे वइरामयपासाणे वइरतले सुवण्णसुब्भरययामयवालुआए वेरुलिअमणिफलिअपडलपच्चोअडे सुहोआरसुहोत्तारे णाणामणितित्थसुबद्धे वट्टे अणुपुव्वसुजायवप्पगंभीरसीअलजले संछण्णपत्तभिसमुणाले बहुउप्पलकुमुअणलिणसुभगसोगंधिअपोंडरीअमहापोंडरीअसयपत्तसहस्सपत्तसयसहस्सपत्तए फुल्लकेसरोवचिए छप्पयपरिभुज्जमाणकमले अच्छविमलपत्थसलिलपुण्णपडिहत्थभमंतमच्छकच्छभअणेगसउणगणमिहुणपविअरिए सद्दुन्नइअमहुरसरणाइए पासाइए ४ । से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वेइआ वणसंडगाणं पमाणं वण्णओ अ भाणियव्वो। तस्स णं गंगप्पवायकुंडस्स तिदिसिं तओ तिसोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता । तं जहा-पुरच्छिमेणं दाहिणेणं पच्चच्छिमेणं तेसिणं तिसोवाणपडिरूवगाणं । अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहा-वइरामया णेमा रिट्ठामया पइट्ठाणा वेरुलिआमया खंभा सुवण्णरूप्पमया फलया लोहिअक्खमईओ सूईओ वइरामया संधा णाणामणिमया आलंबणा बाहाओ। तेसिणं तिसोवाणपडिरूवगाणं पुरओ पत्तेअं पत्तेअं तोरणा पण्णत्ता । ते णं तोरणा णाणामणिमया णाणामणिमएसु खंभेसु उवणिविट्ठसंणिविट्ठा विविहमुत्तंतरोव-

इआ विविहताराख्वोवचिआ ईहामिअउसहतुरगणरमगरविहगवालगकिन्नररुरुसरजचमरकुंजरवणलयपउमलभत्तिचित्ता खंभुग्गयवइरवेइअपरिगयाभिरामा विज्जाहरजमलजुअलजंतजुत्ता विवअच्चीसहस्समालणिआ रूवगसहस्सकलिआ भिसमाणा भिब्भिसमाणा चक्खुल्लोअणलेसा सुहफासा सस्सिरीअरूवा घंटावलिचलिअमहुरमणहरसरा पासादीआ ४ । तेसिणं तोरणाणं उवरिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा पण्णत्ता । तं सोत्थियसिरिवच्छ० जाव पडिरूवा । तेसिणं तोरणाणं उवरिं बहवे किण्हचामरज्झया० जाव सुकिल्लचामरज्झया अच्छा सण्हा रूप्पपट्टा वइरामयदंडा जलयामलगंधिआ सुरम्मा पासाईआ ४ । तेसिणं तोरणाणं उप्पिं बहवे छत्ताइच्छत्ता पडागाइपडागा घंटाजुअला चामरजुआलउप्पलहत्थगा पउमहत्थगा० जाव सयसहस्सपत्तहत्थगा सव्वरयणामया अत्था० जाव पडिरूवा । तस्स णं गंगाप्पवायकुंडस्स बहुमज्झदेसभाए । एत्थ णं महं एगे गंगादीवे णामं दीवे पण्णत्ते अट्ठजोअणाइं आयामविक्खंभेणं साइरेगाइं पणवीसं जोअणाइं परिक्खेवेणं दोकोसऊसिए जलंताओ सव्ववइरामए अच्छे सण्हे । से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेण सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वण्णओ भाणिअव्वो । गंगादीवस्स णं दीवस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते । तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं गंगाए देवीए एगे भवणे पण्णत्ते । कोसं आयमेणं अद्धकोसं विक्खंभेणं देसूणंगकोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे० जाव मज्झदेसभाए मणिपेढिआए सयणिज्जे से केणट्ठेणं० जाव सासए णामधेज्जे पण्णत्ते । तस्स णं गंगप्पवायकुंडस्स दक्खिणिल्लेणं तोरणेणं गंगामहाणई पव्वूढा समाणी उत्तरड्ढभरहवासए जेमाणी जेमाणी सत्तहिं सलिलासहस्सेहिं आउरेमाणी अउरेमाणी अहे खंडप्पवायगुहाए वेअड्ढपव्वयं दालइत्ता दाहिणड्ढभरहवासए जेमाणी जेमाणी दाहिणड्ढभरहवासस्स बहुमज्झदेसभागं गंता पुरच्छाभिमुही आवत्ता समाणी चोदसहिं सलिलासहस्सेहिं समाणा अहेज्ज गइं दालइत्ता पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं समुप्पेइ गंगा णाम महाणई पवहेच्छस्स कोसाइं जोअणाइं विक्खंभेणं अद्धकोसं उव्वेहेणं, तयणंतरं च णं मायाए मायाए परिवट्टमाणी परिवट्टमाणी मुहे वा सट्ठिं जोअणाइं अद्धजोअणं च विक्खंभेणं सकोसं जोअणं उव्वेहेणं उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं वणसंडेहिं संपरिकित्ता वेइया वणसंडवण्णओ भाणियव्वो ।

(तस्स णं) इत्यादि । तस्य पद्मद्रहस्य पौरस्त्येन तोरणेन गङ्गानाम्नी महानदी स्वपरिवारभूतचतुर्दशसहस्रनदीसंपदुपेतत्वेन स्वतन्त्रतया समुद्रगामित्वेन च प्रकृष्टा नदी, एवं सिन्ध्वादिष्वपि ज्ञेयम् । प्रव्यूढा निर्गता सती पूर्वाभिमुखी पञ्चयोजनशतानि पर्वतेन पर्वतोपरीत्यर्थः । अथवा पं इति प्राग्वत्, पर्वते गत्वा गङ्गावर्तननाम्नि कूटे, अत्र सामीप्ये सप्तमी । 'वटे गावः सुशरते' इत्यादिवत् । गङ्गावर्त्तनकूटस्याधस्तादावृत्ता सती प्रत्यावृत्येत्यर्थः । पञ्चयोजनशतानि त्रयोविंशत्यधिकानि त्रींश्चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य दक्षिणाभिमुखी पर्वतेन गत्वा महान् यो घटस्तन्मुखादिव प्रवृत्तिर्निर्गमो यस्य स तथा तेन । अयमर्थः—यथा घटमुखाज्जलौघो निर्यन् ' खुभिखुभीति" शब्दायमानो बलीयाँश्च निर्याति तथाऽयमपीति । मुक्तावलीनां मुक्तासरीणां यो हारस्तत्संस्थितेन तत्संस्थानेनेत्यर्थः, सातिरेकं योजनशतं क्षुद्रहिमवच्छिखरतलादारभ्य दशयोजनोद्वेधप्रपातकुण्डं यावद्धाराप्रपातो मानं यस्येति सातिरेकयोजनशतिकस्तेन । तथा प्रपातेन प्रपतज्जलौघेन, अत्र करणे तृतीया, प्रपतति प्रपातकुण्डं प्राप्नोतीत्यर्थः । प्रदक्षिणाभिमुखगमनपञ्चयोजनशतादिसंख्यात्वे च हिमवद्गिरिव्यासात् योजन १०५२ कला १२ रूपात् गङ्गाप्रवाहव्यासे योजन ६ क्रोश १ प्रमिते शोधिते, शेष १०४६ क्रोशे तु पाश्चात्यं कलापञ्चकं, तत्कलाष्टादशकात् शोध्यं, ततः शेषाः सप्त सपादाः कलाः । गङ्गाप्रवाहः पर्वतस्य मध्यभागेन पद्मद्रहाद्विनिर्याति, तेनास्या दक्षिणाभिमुखगङ्गाप्रवाहो न गिरिव्यासार्द्धस्य, गन्तव्यत्वेन गङ्गाव्यासो न गिरिव्यासः योजन १०४६ कलासपादसप्त ७ रूपोऽर्द्धीक्रियते । जातं यथोक्तं योजन ५२३ कला ३ । यद्यप्यत्र कलात्रिकं किंचित् समधिकार्द्धयुक्तमायाति तथाप्यल्पत्वान्न विवक्षितमिति । अथ जिह्विकाया अवसरः (गङ्गा महाणई जओ पवडइ इत्थ णं) इत्यादि । गङ्गा महानदी यतः स्थानात् प्रपतति, अत्रान्तरे महती एका जिह्विका प्रणालापरपर्याया प्रज्ञप्ता । (सा णं) इत्यादि । सा जिह्विका अर्द्धयोजनमायामेन षट्सक्रोशानि योजनानि विष्कम्भेन गङ्गामूलव्यासस्य मातव्यत्वात् अर्द्धक्रोशं बाहल्येन पिण्डेन विवृतं प्रसारितं यन्मकरमुखं जलचरविशेषमुखं तत्संस्थानसंस्थिता, विशेषणस्य परनिपातः प्राग्वत् । सर्वात्मना वज्रमया इत्यादिकत्वम् । अथ प्रपातकुण्डस्वरूपमाह-(गंगा महाणई) इत्यादि । गङ्गा महानदी यत्र प्रपतति, अत्रान्तरे महदेकं गंगाप्रपातकुण्डं नाम यथार्थनामकं प्रज्ञप्तं कुण्डं षष्टियोजनान्यायामविष्कम्भाभ्याम् । अत्र करणविभावनायां मूले "पणासं जोअणवित्थारो ५० चवारि सट्ठी ६०" इति विशेषोऽस्ति । श्रीउमास्वातिवाचककृतजम्बूद्वीपसमाससूत्रादावपि तथैव । इत्थं च कुण्डस्य यथार्थनामतोपपत्तिरपि भवति । एवमन्येष्वपि यथायोगं ज्ञेयमिति । तथा नवतिं नवत्यधिकं योजनशतं किञ्चिद्विशेषाधिकं परिक्षेपेण श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणपादाः स्वोपज्ञक्षेत्रविचारसूत्रे "आयामो विक्खंभो, सट्ठिं कुंडस्स जोअणा हुंति । नउअसयं किंचूणं, परिही दसजोअणोगाहो" ॥१॥ इत्यूचुः । तद्वृत्तावपि श्रीमलयगिरिपादास्तथैव करणरीत्यापि तथैवागच्छन्ति, तेन प्रस्तुतसूत्रं गम्भीरार्थं बहुश्रुतैर्विचार्यं, नाऽस्मादृशां मन्दमेधसां मतिप्रवेश इति । यद्वा प्रस्तुतसूत्रं पद्मवरवेदिकासहितकुण्डपरिधिविवक्षया प्रवृत्तमिति संभाव्यते, तेन न दोषस्तत्त्वं तु केवलिगम्यमिति । दशयोजनान्युद्वेधेन उच्चत्वेन अच्छस्फटिकवदतिनिर्मलप्रदेशं श्लक्ष्णश्लक्ष्णपुद्गलनिष्पादितबहिःप्रदेशं रजतमयं रूप्यमयं कूलं यस्य तत्तथा । समं न गर्त्तासद्भावतो विषमं तीरवर्त्तिजलापूरितं स्थानं यस्मिन् तत्तथा । वज्रमयाः पाषाणाः भिसिबन्धनाय यस्य तत् । तथा वज्रमयं तलं यस्य तत्तथा । सुवर्णं पीतहेम, शुक्लरूप्यविशेषः

रजतं प्रतीतं, तन्मयी वालुका यस्मिन् तत्तथा । वैडूर्यमणिमयानि स्फटिकरत्नसंबन्धिपटलमयानि प्रत्यवतटानि तटसमीपवर्त्यभ्युन्नतप्रदेशा यस्य तत् तथा। सुखेनावतारो जलमध्ये प्रवेशनं यस्मिन् तत्तथा । सुखेनोत्तारो जलमध्याद् बहिर्विनिर्गमनं यस्मिन् तत्तथा । ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः । तथा नानामणिभिः सुबद्धं तीर्थं यत्र तत्तथा । अत्र बहुव्रीहावपि क्तान्तस्य परनिपातो, ज्ञातोदिदर्शनात्, प्राकृतशैलीवशाद्वा। तथा वृत्तं वर्तुलम् आनुपूर्व्येण क्रमेण नीचैर्नीचैस्तरभावरूपेण सुष्ठु अतिशयेन यो जातो वप्रः केदारा जलस्थानं तत्र गम्भीरमलब्धस्ताघं जलं यस्मिन् तत् तथा । संछन्नानि जलेनान्तरितानि पत्रबिसमृणालानि यस्मिन् तत्तथा। अत्र बिसमृणालसाहचर्यात् पत्राणि पद्मिनीपत्राणि द्रष्टव्यानि। बिसानि कन्दाः,मृणालानि पद्मनालानि। बहूनामुत्पलकुमुदनलिनसुभगसौगन्धिकपुण्डरीकमहापुण्डरीकशतपत्रसहस्रपत्रशतसहस्रपत्राणां प्रफुल्लानां विकस्वराणां कैरः किञ्जल्कैरुपशोभितं भृतं,विशेषणस्य व्यस्ततया निपातः,प्राकृतत्वात्। षट्पदैर्भ्रमरैः परिभुज्यमानानि कमलानि उपलक्षणमेतत् कुमुदादीनि यस्मिन् तत्तथा। अच्छेन स्वरूपतः स्फटिकवत् शुद्धेन विमलेनागन्तुकमलरहितेन पथ्येनारोग्यकारणेन सलिलेन पूर्णम्। तथा(पडिहत्था)अतिप्रभूता,देशीशब्दोऽयं;भ्रमन्तो मत्स्यकच्छपा यत्र तत्तथा। अनेकशकुनिमिथुनकानां प्रविचरितमितस्ततो गमनं यत्र तत्तथा। ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः। तथा शब्दोन्नतिकं उन्नतशब्दकं, सागसा द्विजलचररुतापेक्षया,मधुरस्वरं च हंसभ्रमरादिकूजितापेक्षया,एवंविधं नादितं पालितं यत्र तत्तथा । अत्र च यत् कानिचिद्विशेषणानि प्रस्तुतसूत्रदृश्यमानादर्शापेक्षया व्यस्ततया लिखितानि सन्ति तज्जीवाजिगमवाप्यादिवर्णकसूत्रस्य बहुसमानगमनकतया तदनुसारेणेति बोध्यम्, एवमन्यत्रापि । (पासाईए त्ति) अनेन " पासाईए दरिसणिज्जे अभिरूवे पडिरूवे " इति पदचतुष्टयं ग्राह्यं,तच्च प्राग्वत्। अथात्र पद्मवरवेदिकादिवर्णनायाह-(से णं) इत्यादि व्यक्तम्। अत्र सुखावतारोत्तारौ कथं भवतः? इत्याह-(तस्स णं) इत्यादि। तस्य गङ्गाप्रतापकुण्डस्य त्रिदिशि दिक्त्रये वक्ष्यमाणलक्षणे त्रीणि सोपानप्रतिरूपकाणि प्रज्ञप्तानि,एतद्व्याख्या प्राग्वत्,शेषं व्यक्तम्। (तेसिणं)इत्यादि। व्यक्तं,जगतीवर्णकतुल्यत्वात्। नवरम्-(आलंबण) अवतारोत्तारयोरालम्बनहेतूभूताः अवलम्बनबाहावयवाः,अवलम्बनबाहा नाम तयोः पार्श्वयोरवलम्बनाश्रयभूता भित्तयः। (तेसिणं)इत्यादि। तेषां त्रिसोपानप्रतिरूपकाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं तोरणानि प्रज्ञप्तानि । तानि तोरणानि नानामणिमयानि नानामणिमयेषु स्तम्भेषु उपनिविष्टानि सामीप्येन स्थितानि तानि च कदाचिच्चलानि स्थानभ्रष्टानीत्यर्थः। अथवा पद्मनीतानि भवेयुरिति संनिविष्टानि सम्यग् निश्चलतया अपद्मपरिहारेण च निविष्टानि,ततो विशेषणसमासः। विविधा नाना विच्छित्तिकलितामुक्ताफलानि, अन्तराशब्दोऽगृहीतवीप्सोऽपि सामर्थ्याद्वीप्सां गमयति । (अंतरांतरोवइआ) आरोपिता यत्र तानि । तथा विविधैस्तारारूपैस्तारिकारूपैरुपचितानि,तोरणेषु हि शोभार्थं तारिकाणि बध्यन्ते इति प्रतीतं लोकेऽपि। ईहामृगाः वृकाः,ऋषभा वृषभाः,व्याला भुजङ्गाः,रुरवो मृगविशेषाः, शरभा अष्टापदाः, चमराः आटव्या गावः, वनलता अशोकादिलताः प्रतीताः, पद्मलताः पद्मिन्यः, शेषं प्रतीतम्; एतासां भक्त्या विच्छित्त्या याभिस्ताभिश्चित्राणि। स्तम्भोद्गता स्तम्भोपरिवर्त्तिन्या वज्रवेदिकया परिगतानि परिकरितानि सन्ति यानि अभिरामाणि अभिरमणीयानि तानि तथा । विद्याधरयोर्विशिष्टशक्तिमत्पुरुषविशेषयोर्यमलं समश्रेणिकं युगलं द्वन्द्वं तेनैव यन्त्रेण संचरिष्णुपुरुषप्रतिमाद्वयरूपेण युक्तानि, आर्षत्वाच्चैवंविधः समासः । अथवा प्राकृतत्वेन तृतीयालोपात् । विद्याधरयमलयुगलेन चेति, शेषं पूर्ववत् । अर्चिषां मणिरत्नप्रभाणां सहस्रैर्मालनीयानि परिवारणीयानि रूपकसहस्रकलितानीति स्पष्टम्।भृशमत्यर्थं मानं प्रमाणं येषां तानि तथा। (भिब्भिसमाण त्ति) " भासेर्भिसः " ८ । ४ । २० ३ । इत्यनेन भिसादेशे प्रकृत्यर्थप्रत्यये रूपसिद्धिः । अत्यर्थं देदीप्यमानानि लोकने सति चक्षुषो लेशः श्लेषो यत्र तानि, त्रिपदो बहुव्रीहिः। पदविपर्यासः प्राकृतत्वात्,शेषं सुबोधम्। नवरं घण्टावलेर्वातवशेन चलिताया मधुरो मनोहरश्च स्वरो येषु तानि तथा। (तेसिणं) इत्यादि । अस्य व्याख्या प्राग्वत् । (तेसिणं) इत्यादि । तेषां तोरणानामुपरि बहवः कृष्णचामरध्वजाः, एवं नीलचामरध्वजादयोऽपि वाच्याः, ते च सर्वेऽपि कथंभूताः? इत्याह-अच्छा आकाशस्फटिकवदतिनिर्मलाः, श्लक्ष्णाः श्लक्ष्णपुद्गलस्कन्धनिर्मापिताः, रूप्यमया वज्रमयस्य दण्डस्योपरि पट्टा येषां ते तथा । वज्रमयो दण्डो रूप्यपट्टमध्यवर्त्ती येषां ते तथा । जलजानामिव जलजकुसुमानां पद्मादीनामिवाऽमलो, न तु कुद्रव्यगन्धसंमिश्रो यो गन्धः स विद्यते येषां ते जलजामलगन्धिकाः । " अतोऽनेकस्वरात " ७ । २ । ६ । इति (हैम०) इकप्रत्ययः । अत एव सुरम्याः (पासाईआ) इत्यादि प्राग्वत् । (तेसिणं) इत्यादि। अस्य व्याख्या प्राग्वत् । अथ गङ्गाद्वीपवक्तव्यतामाह-(तस्स गंगप्पवाय) इत्यादि। तस्य गङ्गाप्रपातकुण्डस्य बहुमध्यदेशभागेऽत्र महानेको गङ्गादेव्या वासभूतो द्वीपो 'गङ्गाद्वीप' इति नाम्ना द्वीपः प्रज्ञप्तः, मध्यलोपिसमासात् साधुः। अष्टौ योजनान्यायामविष्कम्भेण सातिरेकाणि पञ्चविंशतिं योजनानि परिक्षेपेण द्वौ क्रोशौ यावदुच्छ्रितो जलं तावत् जलपर्यन्तात् सर्वतोवर्तिजलस्य जलेनावृतस्य क्षेत्रस्य द्वीपव्यवहारात्। शेषं व्यक्तम्। (से णं) इत्यादि । स गङ्गाद्वीप एकया पद्मवरवेदिकया एकेन वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः, वर्णकश्च भणितव्यो जगतीपद्मवरवेदिकावदिति । अथ तत्र यदस्ति तदाह-(गंगादीवस्स णं) इत्यादि । गङ्गाद्वीपस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । तस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे गङ्गाया देव्या महदेकं भवनं प्रज्ञप्तम् । आयामादिविभागादिकं शय्यावर्णकपर्यन्तं सूत्रं सव्याख्यानं श्रीभवनानुसारेण ज्ञेयम् । अथ तामन्वर्थं पृच्छति (से केणट्ठेणं) इत्यादि । व्यक्तम् । अथ गङ्गा यथा समुपसर्पति तथाह-(तस्स णं) इत्यादि।तस्य गङ्गाप्रपातकुण्डस्य दाक्षिणात्येन तोरणेन प्रव्यूढा निर्गता सती गङ्गा महानदी उत्तरार्द्धभरतवर्षे द्यूती द्यूती गच्छन्ती गच्छन्ती सप्तभिः सलिलानां नदीनां सहस्रैरापूर्यमाणा आपूर्यमाणा भ्रियमाणा भ्रियमाणा अधः खण्डप्रपातगुहाया वैताढ्यपर्वतं दारयित्वा भित्त्वा दक्षिणार्द्धभरतं वर्षं द्यूती द्यूती दक्षिणार्द्धभरतवर्षस्य बहुमध्यदेशभागं गत्वा पूर्वाभिमुखा आवृत्ता सती चतुर्दशभिः सलिलासहस्रैः समग्रा सम्पूर्णा आपूर्यमाणा इत्यर्थः। अधोभागे जगतीं जम्बूद्वीपप्राकारं दारयित्वा पूर्वेण लवणसमुद्रं समुपसर्पति अवतरतीत्यर्थः। अथास्या एव प्रवाहमुखयोः पृथुत्वोद्वेधौ दर्शयति (गंगा णं) इत्यादि । गंगा महानदी प्रवहे यतः स्थानात् वोढुं प्रवर्त्तते स प्रवाहः। पद्मद्रहतोरणान्निर्गम इत्यर्थः । तत्र षट् सक्रोशानि योजनानि

विष्कम्भेण तथा क्रोशार्द्धमुद्वेधेन महानदीनां सर्वत्रोद्वेधस्य स्वव्यासपञ्चाशत्तमभागरूपत्वात् , अस्तीति शेषः । तदनन्तरमिति पद्मद्रहतोरणीयव्यासादनन्तरम,एतेन यावत्क्षेत्रं स व्यासोऽनुवृत्तस्तावत् क्षेत्रादनन्तरं गङ्गाप्रपातकुण्डनिर्गमादनन्तरमित्यर्थः । एतेन च योऽन्यत्र प्रवहशब्दे मकरमुखप्रणालनिर्गमः प्रपातकुण्डनिर्गमो वाऽभिहितः स नेति श्रीअभयदेवसूरिपादैः समवायाङ्गवृत्तौ,श्रीमलयगिरिपादैश्च बृहत्क्षेत्रसमासवृत्तौ;पद्मद्रहतोरणनिर्गमपरत्वेनैव व्याख्यानात्। एवमुद्वेधेऽपि ज्ञेयम्। मात्रया मात्रया क्रमेण क्रमेण प्रतियोजनं समुदितयोरुभयोः पार्श्वयोर्धनुर्दशकवृद्ध्या प्रतिपार्श्वधनुःपञ्चकवृद्ध्येत्यर्थः। परिवर्धमाना परिवर्धमाना मुखे समुद्रप्रवेशे द्वाषष्टिं योजनानि अर्धयोजनं च विष्कम्भेण प्रवहनान्मुखमानस्य दशगुणत्वात् सक्रोशां योजनमुद्वेधेन सार्धद्वाषष्टियोजनप्रमाणमुखव्यासस्य, पञ्चाशत्तमभागे एतावत एव लाभात्। उभयोः पार्श्वयोर्द्वाभ्यां पद्मवरवेदिकाभ्यां वनखण्डाभ्यां संपरिक्षिप्ता गङ्गेत्यर्थः। प्रतियोजनं धनुर्दशकवृद्धिस्त्वेवम्-मुखव्यासात् प्रवहव्यासेऽपनीतेऽवशिष्टे धनूरूपे कृते सूत्रविशदायामेन लब्धे लब्धमिष्टप्रदेशगतयोजनसंख्यया गुण्यते यावत् स्यात्तावदुभयपार्श्वयोर्वृद्धिर्वाच्या । तथाहि-गङ्गायाः प्रवहे व्यासः योजन ६ क्रोशमुखे तु योजन ६२ क्रोश २। तत्र मुखव्यासात् प्रवहव्यासेऽपनीते जातं योजन ५६ क्रोश १, योजनानां च क्रोशकरणाय चतुर्भिर्गुणने उपरितनैकक्रोशप्रक्षेपे च जाताः २२५। क्रोशे च धनुषां सहस्रद्वयमिति सहस्रद्वयेन गुण्यन्ते,जातानि धनूंषि ४५०००० । ततः पञ्चचत्वारिंशता सहस्रैर्भज्यन्ते, लब्धानि १० धनूंषि । एकेन गुण्यन्ते,जातानि १०। 'एकेन गुणितं तदेव भवति'इति न्यायात। एतावती च समुदितयोरुभयोः पार्श्वयोः प्रवहादेकस्मिन् योजने गते जलवृद्धिः। अथ मूलाद् योजनद्वयान्ते यदा वृद्धिर्ज्ञातुमिष्यते तदा दश धनूंषि द्विकेन गुण्यन्ते, जातानि २० । एतावती प्रवहादुभयपार्श्वयोर्योजनद्विकान्ते वृद्धिः स्यात् । अस्याश्चार्धे १०, एतावत्येकपार्श्वे वृद्धिः। एवं सर्वत्र भाव्यम् । जं० ४ वक्ष० ।

गंगासिंधूओ णं महाणदीओ पणवीसं गाउयाणि पोहत्तेणं घडमुहपवित्तिएणं मुत्तावलिहारसंठिएणं पवातेण पडन्ति ।

(गंगा) इत्यादि । पञ्चविंशतिगव्यूतानि पृथुत्वेन यः प्रपातस्तेनेति शेषः। (दुहओ त्ति) द्वयोर्दिशोः पूर्वतो गङ्गा,अपरतः सिन्धुरित्यर्थः। पद्मह्रदाद् विनिर्गते पञ्च पञ्च योजनशतानि पर्वतोपरि गत्वा दक्षिणाभिमुखे प्रवृत्ते (घडमुहपवित्तिएणं ति) घटमुखादिव पञ्चविंशतिक्रोशे पृथुलजिह्वाकाद् मकरमुखप्रणालात् प्रवृत्तेन मुक्तावली नाम मुक्ताशरीराणां यो हारस्तत्संस्थितेन प्रपतज्जलसन्तानेन योजनशतोच्छ्रितस्य हिमवतोऽधोवर्तिनोः स्वकीययोः प्रपातकुण्डयोः प्रपततः। स० २५ सम० ।

गंगासिंधूओ णं महाणदीओ पवाहे सातिरेगेणं चउवीसं कोसे वित्थारेणं पण्णत्ता ॥ स० २४ सम० ।

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स दाहिणेणं गंगामहाणदिं पंच महाणदीओ समप्पेंति। तं जहा–जउणा, सरऊ, आदी, कोसी, मही । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

गङ्गाऽवतारः-

अन्यदा जह्नुकुमारेण कथञ्चित्सगरः सन्तोषितः । स उवाच-जह्नुकुमार! यत्तव रोचते तन्मार्गय। जह्नुरुवाच-तात!ममास्त्ययमभिलाषः यत्तातानुज्ञातोऽहं चतुर्दशरत्नसहितोऽखिलभ्रातृपरिवृतः पृथ्वीं परिभ्रमामि । सगरचक्रिणा तत् प्रतिपन्नम् । प्रशस्तमुहूर्ते सगरचक्रिणः समीपात् स निर्गतः सबलवाहनः। अनेकजनपदेषु भ्रमन् प्राप्तोऽष्टापदपर्वते। सैन्यमधस्तान्निवेश्य स्वयमष्टापदपर्वतमारूढः । दृष्टवांस्तत्र भरतनरेन्द्रकारितं मणिकनकमयं चतुर्विंशतिजिनप्रतिमाधिष्ठितं स्तूपशतसङ्कुलं जिनायतनम। तत्र जिनप्रतिमा अभिवन्द्य जह्नुकुमारेण मन्त्रिणं पृष्टम्-केन सुकृतवता इदमतीव रमणीयं जिनभवनं कारितम्? मन्त्रिणा कथितम्-भवत्पूर्वजेन श्रीभरतचक्रिणेति श्रुत्वा जह्नुकुमारोऽवदत्-अन्यः कश्चिदष्टापदसदृशः पर्वतोऽस्ति यत्रेदृशमन्यच्चैत्यं कारयामः?। चतसृषु दिक्षु पुरुषास्तद्गवेषणाय प्रेषितास्ते सर्वत्र परिभ्रम्य समायाता ऊचुः-स्वामिन्! ईदृशः पर्वतः क्वापि नास्ति । जह्नुना भणितम्-यद्येवं वयं कुर्म एतस्यैव रक्षां,यतोऽत्र सेत्रे कालक्रमेण लुब्धाः सर्वे नरा भविष्यन्ति;अभिनवकारणात्। पूर्वकृतपरिपालनं श्रेयः, ततश्च दण्डरत्नं गृहीत्वा समन्ततोऽष्टापदपार्श्वेषु जह्नुप्रमुखाः सर्वेऽपि कुमाराः खातुं लग्नाः। तच्च दण्डरत्नं योजनसहस्रं भित्वा प्राप्तं नागभवनेषु। तेन तानि (योजनानि) भिन्नानि दृष्ट्वा नागकुमाराः शरणं गवेषयन्तो गता नागराजज्वलनप्रभसमीपे । कथितः स्वभवनविदारणवृत्तान्तः । सोऽपि संभ्रान्त उत्थितोऽवधिना ज्ञात्वा क्रोधोद्धुरः समागतः सगरसुतसमीपम्। भणितवांश्च-भो भोः! किं भवद्भिर्दण्डरत्नेन पृथ्वीं विदार्य असमञ्जसोपद्रवः कृतः?। अविचार्य भवद्भिरेतत्कृतम्। यत उक्तम्-"अप्पवहाए नूणं,होइ बलं उत्तणाण भुवणम्मि। णियपक्खुब्बलेणं चिय,पडेइ पयंगो पईवम्मि"॥१॥ ततो नागराजोपशमननिमित्तं जह्नुना भणितम्-भो नागराज! कुरु प्रसादम,उपसंहर क्रोधसम्भरं,क्षमस्वास्मदपराधमेकं,न ह्यस्माभिर्भवतामुपद्रवनिमित्तमेतत्कृतम; किन्तु अष्टापदचैत्यरक्षार्थमेषा परिखा कृता,न पुनरेवं करिष्यामः। तत उपशान्तकोपो ज्वलनप्रभः स्वस्थानं गतः। जह्नुकुमारेण भ्रातृणां पुर एवं भणितम्-एषा परिखा दुर्लङ्घ्यापि जलविरहिता न शोभते,तत इमां नीरेण पूरयामः। दण्डरत्नेन गङ्गां भित्वा जह्नुना जलमानीतं, भृता परिखा । तज्जलं नागभवनेषु प्राप्तम । जलप्रवाहसन्त्रस्तं नागनागिनीप्रकरमितस्ततः प्रणश्यन्तं प्रेक्ष्य प्रदत्तावधिज्ञानोपयोगः कोपानलज्वालामालाकुलो ज्वलनप्रभ एवमचिन्तयत्-अहो! एतेषां जह्नुकुमारादीनां महापापानां मया एकवारमपराधः क्षान्तः। पुनरधिकतरमुपद्रवः कृतः। ततो दर्शयाम्येषामविनयफलम् । इति ध्यात्वा ज्वलनप्रभेण तद्वधार्थं नयनविषा महाफणिनः प्रेषितास्तैः परिखाजलान्तर्निर्गत्य नयनैस्ते कुमाराः प्रलोकिता भस्मराशीभूताः सर्वेऽपि सगरसुताः । तथाभूतांस्तान् वीक्ष्य सैन्ये हाहारवो जातः । मन्त्रिणा उक्तम्-एते तु तीर्थरक्षां कुर्वन्तोऽवश्यभावितया इमामवस्थां प्राप्ताः सद्गताश्चैव भविष्यन्तीति किं शोच्यन्ते?। अतस्त्वरितमितः प्रयाणः क्रियते। गम्यते महाराजचक्रिसमीपम्। सर्वसैन्येन मन्त्रिवचनमङ्गीकृतम्। ततस्त्वरितप्रयाणकरणेन क्रमात् प्राप्तं स्वपुरसमीपे। ततः सामन्तामात्यादिभिरेवं विचारितम्-समस्तपुत्रवधोदन्तः कथं चक्रिणो वक्तुं पार्यते?। ते सर्वे दग्धाः वयं चाऽक्षताङ्गाः समायाता एतदपि प्रकामं अपाकरं, ततः सर्वेऽपि वयं प्रविशामोऽग्नौ । एवं विचारयतां तेषां पुरः समायात एको द्विजः। तेनेदमुक्तम्-"भो वीराः! किमेवमाकुलीभूताः?, मुञ्चत विषादं; यतः संसारे न किञ्चित्सुखं दुःखमत्यन्तमद्भुतम

स्ति । भणितं च-"कालम्मि अणाईए, जीवाणं विविहकम्मवसगाणं । तं नत्थि संविहाणं, जं संसारे न संभवइ" ॥ १ ॥ अहं सगरचक्रिणः पुत्रवधव्यतिकरं कथयिष्यामि । सामन्तादिभिस्तद्वचः प्रतिपन्नम् । ततः स द्विजो मृतं बालकं करे कृत्वा 'दष्टोऽसि' इति वदन् सगरचक्रिगृहद्वारे गतः। चक्रिणा तस्य विलापशब्दः श्रुतः। चक्रिणा स द्विज आकारितः। केन दष्टोऽसि ? इति चक्रिणा पृष्टः,स प्राह-देव! एक एव मे सुतः सर्पेण दष्टो मृतः, एतद्दुःखेनाहं विलपामीति । करुणासागर ! त्वमेनं जीवय। अस्मिन्नवसरे तत्र मन्त्रिसामन्ताः प्रापिताः,प्राप्ताः, चक्रिणं प्रणम्य उपविष्टाः। तदानीं चक्रिणा राजवैद्यमाकार्य उक्तम्-एनं निर्विषं कुरु। वैद्येन तु चक्रिसुतमारण श्रुतवता उक्तम्-राजन् ! यस्मिन् कुले कोऽपि न मृतः तत्कुलाद्भस्म यद्यानयसि तदैनमहं जीवयामि। द्विजेन गृहे गृहे प्रश्नपूर्वकं भस्म मार्गितं, गृहमनुष्याः स्वमातृपितृभ्रातृदुहितृप्रमुखकुटुम्बमरणान्याचख्युः। द्विजश्चक्रिसमीपे समागत्य उवाच-नास्ति वैद्योपदिष्टतादृशभस्मोपलब्धिः, सर्वगृहे कुटुम्बमनुष्यमरणसद्भावात् । यद्येवं तत् किं स्वपुत्रं शोचसि ? सर्वसाधारणमिदं मरणम् । उक्तं च-" किं अत्थि कोइ भुवणे, जस्स जायाइ नेव पायाइं । नियकम्मपरिणईए, जम्मणमरणाइं संसारे " ॥१॥ ततो ब्राह्मण ! मा रुद, शोकं मुञ्च, आत्महितं कार्यं चिन्तय यावत् त्वमपि एवं मृत्युसिंहेन न कवलीक्रियसे । विप्रेण भणितम्-देव ! अहमपि जानाम्येवं, परं पुत्रमन्तरेण सम्प्रति मे कुलक्षयः। तेनाऽहमतीव दुःखितः। त्वं तु दुःखिताऽनाथवत्सलोऽप्रतिहतप्रतापश्चासि, ततो मे देहि पुत्रजीवितदानेन मनुष्यभिक्षाम्। चक्रिणा भणितम्-भद्र ! इदमशक्यप्रतीकारम्। उक्तञ्च-"सीयन्ति सव्वसत्थाइं, एत्थ न कम्मन्तिमन्ति तं ताइं । अदिट्ठपहरगम्मी, विहिम्मि किं पोरसं कुणइ " ॥ १ ॥ ततः परित्यज्य शोकं कुरु परलोकहितम्। मूर्ख एव हृते नष्टे मृते करोति शोकम्। विप्रेण भणितम्-महाराज ! सत्यमेतत्; न कार्योऽत्र जनकेन शोकः। ततस्त्वमपि मा कुर्याः शोकम्, असम्भावनीयं भवतः शोककारणं जातम्। संभ्रान्तेन चक्रिणा पृष्टम्-भो विप्र! कीदृशं मम शोककारणं जातम् ?। विप्रेण भणितम्-देव! तव षष्टिसहस्राः पुत्राः कालं गताः। इदं श्रुत्वा चक्री वज्रप्रहाराहत इव नष्टचेतनः सिंहासनान्निपतितो मूर्छितः सेवकैरुपचरितश्च। मूर्छाऽवसाने च शोकातुरमना मुक्तकण्ठेन रुरोद। एवं विलापांश्चकार-हा पुत्राः! हा हृदयदयिताः! हा बन्धुवल्लभाः! हा शुभस्वभावाः! हा विनीताः! हा सकलगुणनिधयः! कथं मामनाथं मुक्त्वा यूयं गताः?। युष्मद्विरहार्तस्य मम दारुणं ददतः हा निर्दय पापविधे ! एकपदे चैव सर्वान् बालकान् संहरतस्तव किं पूर्णं जातं?। हा निष्ठुरहृदय ! त्वमसह्यसुतमरणदुःखसन्तप्तं किं न शतखण्डं भवसि ? । एवं विलपंश्चक्री तेन विप्रेण भणितः-महाराज ! त्वं मम सामस्त्येन उपदिष्टवान्,स्वयं च कथं शोकं गच्छसि? इति। उक्तं च-" परवसणम्मि सुहेणं, संसारासायरं कहइ लोओ । णियबन्धुजणविणासो,सव्वस्स वि चलइ धीरत्तं"॥१॥ एकपुत्रस्यापि मरणं दुःसहं, किं पुनः षष्टिसहस्रपुत्राणां?,तथापि सत्पुरुषा व्यसनं सहन्ति,पृथिव्येव वज्रनिपातं सहति नापर इति। अवलम्ब्य सुधीरत्वमलमत्र विलपितेन । यत उक्तम्-" सोयं ताणं पि नो ताणं, कम्मबन्धो उ केवलो । तो पंडिया न सीयन्ति, जाणंता भवरूवयं " ॥ १ ॥ एवमादिवचनैः न्यासैर्विप्रेण स्वस्थीकृतो राजा । भणिताश्च तेनैव सामन्तमन्त्रिणः-एतन्तु यथावृत्तं षष्टिसहस्रपुत्रमरणव्यतिकरम्। नैरुक्तः सकलोऽपि तद्व्यतिकरः । प्रधानपुरुषैः सर्वैरपि राज्ञा धीरतां नीत उचितकृत्यं कृतवान्। अत्रान्तरेऽष्टापदासन्नवासिनो जनाः प्रणतशिरस्काश्चक्रिणे एवं कथयन्ति यथा-देव ! यो युष्मदीयसुतैरष्टापदरक्षणार्थं गङ्गाप्रवाह आनीतः स आसन्नग्रामनगराण्युपद्रवान् प्रसरतीति तं भवान् निवारयतु । देव ! अन्यस्य कस्यापि तन्निवारणशक्तिर्नास्तीति। चक्रिणा स्वपौत्रो भगीरथिर्भणितः-वत्स ! नागराजमनुज्ञाप्य दण्डरत्नेन गङ्गाप्रवाहं नय समुद्रम्। ततो भगीरथिरष्टापदसमीपं गतः। अष्टमभक्तेन नागराज आराधितः समागतो भणति-किं ते सम्पादयामि?,प्रणामपूर्वं भगीरथिना भणितम्-तव प्रसादेनामुं गङ्गाप्रवाहम् उदधौ नयामि। अष्टापदासन्नलोकानां महानुपद्रवोऽस्तीति । नागराजेन भणितम्-' विगतभयस्त्वं कुरुष्व समीहितं,निवारयिष्याम्यहं भरतनिवासिनो नागान्' इति भणित्वा नागराजः स्वस्थानं गतः। भगीरथिनापि कृता नागानां बलिकुसुमादिभिः पूजा। ततः प्रभृति लोको नागबलिं करोति। भगीरथिर्दण्डेन गङ्गाप्रवाहमाकर्षन् भञ्जंश्च बहून् स्थलशैलप्रवाहान्, प्राप्तः पूर्वसमुद्रं तत्रावतारिता गङ्गा। तत्र नागानां बलिपूजा विहिता। यत्र गङ्गा सागरे प्रवाहिता तत्र 'गङ्गासागर' तीर्थं जातम्। गङ्गा जह्नुना नीतेति 'जाह्नवी' भगीरथिना नीतेति ' भागीरथी' । भगीरथिस्तदा मिलितैर्नागैः पूजितो गतोऽयोध्यां,पूजितश्चक्रिणा तुष्टेन स्थापितः स्वराज्ये । उत्त० १८ अ०। आ० म० । गङ्गासंख्या-एका भारते, अष्ट मन्दरस्य पूर्वे शीताया महानद्या उत्तरे,अष्ट च मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या दक्षिणे;इत्येवं सप्तदश । स्था० ८ ठा० । तदधिष्ठातृदेव्यां च । " ततो भरहो गंगाओ य देइ,पच्छा सेणावती उत्तरिल्लं गंगानिक्खुडओ य नेइ । भरहो गंगाए सद्धिं वाससहस्सं भोगे भुंजइ" आ० म०प्र०। गोशालकमतेन कालप्रमाणभेदे। ('गोसालय' शब्दे व्याख्या)भ० । जी० ॥ "गंगापुलिनवालुकीया अवदालो त्रिदलनं" पादादिन्यासेऽधोगमनमिति भावस्तेन (सालिसं) इति सदृशकं गङ्गापुलिनवालुकावदालसदृशम् । जी० ३ प्रति० । भ० ।

गंगाकुंम-गङ्गाकुण्ड-न० । गङ्गाप्रपातह्रदे, जं० ४ वक्ष० । तानि च सप्तदश गङ्गावद्भावनीयानि । नवरं गङ्गाकुण्डानि नीलवद्वर्षधरपर्वतदक्षिणनितम्बस्थितानि षष्टियोजनायामविष्कम्भाणि मध्यवर्तिगङ्गादेवीसभवनद्वीपानि त्रिदिक्सतोरणद्वाराणि येभ्यः । प्रत्येकं दक्षिणतोरणेन गङ्गा विनिर्गत्य विजयानि विभजन्त्यो भरतगङ्गावच्छीतामनुप्रविशन्तीति । स्था० ८ ठा० । (एतच्च सूत्रतः ' कच्छ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १८५ पृष्ठे दर्शितम्)

गंगाकूड-गङ्गाकूट-न० । क्षुद्रहिमवतः पञ्चमे कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० । जं० । (' कूम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१७ पृष्ठे तत्स्वरूपं दर्शितम्)

गंगाएहाण-गङ्गास्नान-न० । जाह्नवीमज्जने, "आसु महारिसि एउ, भणइ जइ सुइसत्थु पमाणु । मायहं चलण नवंताहं, दिवि दिवि गंगाएहाणु " प्रा० ४ पादे ।

गंगादीव-गङ्गाद्वीप-पुं० । गङ्गाप्रपातमध्यस्थे गङ्गादेवीभवनशोभिते द्वीपे । स्था०२ ठा०३ उ० । (तद्वर्णको 'गंगा' शब्दे उक्तः) " गंगासिंधुरत्तारत्तवईदेवीणं दीवा अट्ठट्ठजोयणाइं आयामविक्खंभेणं पण्णत्ता" स्था० ८ ठा० ।

गङ्गावत्त-गंगावर्त्त-पुं० । आवर्त्तविशेषे, कल्प० ३ क्षण ।

औ० ।"गंगावत्तअ पयाहिणावत्ततरंगभंगुररविकिरणतरुणबोहियअकोसायंतपउमगंभीरवियडनाभा"गंगावर्त्तक इव प्रदक्षिणावर्त्ततरङ्गैरिव तरङ्गैस्तिसृभिर्वलिभिर्भङ्गुराः तरङ्गभङ्गुराः । रविकिरणैः सूर्यकिरणैस्तरुणमभिनवं तत्प्रथमतया तत्कालमित्यर्थः, यद्बोधितं उन्निद्रीकृतम् , अत एवाकोशायन्त इत्याकोशायमानं विकचीभवदित्यर्थः, पद्मं तद्वद्गम्भीरा च विकटा च नाभिर्येषां ते गङ्गावर्त्तकप्रदक्षिणावर्त्ततरङ्गभङ्गुररविकिरणतरुणबोधिताकोशायमानपद्मगम्भीरविकटनाभाः । जी० ३ प्रति० । औ० ।

गंगासय–गङ्गाशत–न० । गोशालकमतेन महाकल्पान्तर्गतकालपरिमाणभेदे । भ० १५ श० १ उ० । ('गोसालय' शब्दे वक्तव्यता)

गंगासागर–गङ्गासागर–पुं० । यत्र गङ्गा सागरे प्रविष्टा तस्मिन् तीर्थविशेषे, उत्त० १८ अ० ।

गंगेय–गाङ्गेय–पुं० । भीष्मपितामहे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । आर्यमहागिरिशिष्यधनगुप्तशिष्ये, द्वैक्रियनिह्नवानां धर्माचार्ये, आ० चू० १ अ० । स्वनामख्याते पार्श्वापत्यीयेऽनगारे,

तद्वक्तव्यता चैवम्–

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णामं णयरे होत्था वण्णओ दूइपलासे चेइए सामी समोसढे, परिसा णिग्गया, धम्मो कहिओ, परिसा पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं पासावच्चिज्जे गंगेयं णामं अणगारे जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी । भ० ९ श० ३२ उ० ।

(स्वतोऽस्वतो वा नैरयिकादय उत्पद्यन्ते इत्याद्युत्पादोद्वर्त्तनाविषयाणि प्रश्नोत्तरसूत्राणि " उववाय " शब्दे द्वि० भागे ९६५ पृष्ठे उक्तानि)

(प्रवेशनकवक्तव्यता च 'पवेसणय' शब्दे वक्ष्यते)

तप्पभिइं च णं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं पच्चभिजाणइ सव्वण्णू सव्वदरिसी. तएणं से गंगेये अणगारे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ वंदेइ णमंसइ । वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भे अंतिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वयं एवं जहा कालासवेसियपुत्ते अणगारे तहेव भाणियव्वं० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे सेवं भंते ! भंते ! त्ति ॥

(तप्पभिइं च त्ति) यस्मिन् समयेऽनन्तरोक्तं वस्तु भगवता प्रतिपादितं स एव समयः प्रभृतिरादिर्यस्य प्रत्यभिज्ञानस्य तत्तथा । च शब्दः पुनरर्थे समुच्चये वा । (से त्ति) असौ (पच्चभिजाणइ त्ति) प्रत्यभिजानाति स्म । किं कृत्वा ? इत्याह-सर्वज्ञं सर्वदर्शिनं जातप्रत्ययत्वादिति । भ० ९ श० ३२ उ० ।

गंगेयभंग–गाङ्गेयभङ्ग–पुं० । गाङ्गेयभङ्गानां गतिचतुष्टयमाश्रित्य सर्वाग्रसंख्याऽनया रीत्या, तेषामयं तत्तमो भेद इति च प्रसाद्यमिति प्रश्नः । अत्रोत्तरम्-नरकगतौ सर्वप्रवेशनकेष्वसंयोगिकान् सप्तसप्तभङ्गान् रत्नप्रभादिगतद्विकादिसंयोगसत्कभङ्गैर्द्विप्रवेशनरकादिगतद्विकादिसंयोगाश्च गणयित्वा यथा जीतभङ्गानेकीकृत्य तद्भङ्गसर्वाग्रमानयपरं प्रति प्रवेशनकं भिन्नं भिन्नं सर्वाग्रमायाति । प्रवेशनकभङ्गसंबन्धस्तु न संभवतीति संभाव्यते । एवं गतित्रयमाश्रित्यापि यथासंभवं ज्ञेयम् । किञ्चैतद्विषये भगवतीसूत्रवृत्तौ करणं दर्शितं नास्ति तेन तत्तमो भागो व्यक्त्या न लिखितुं शक्यत इति । ७७ प्र० सेन० १ उल्ला० ।

गंज–गञ्ज–पुं० । गजि-घञ्-अवज्ञायाम्,आधारे घञ् गोष्ठागारे, भाण्डागारे, खनौ, पामरगृहे, हट्टस्थाने, मद्यभाण्डे, मदिरागृहे, स्त्री० टाप्० वाच० । भोज्यविशेषे च, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

गंजसाला–गञ्जशाला–स्त्री० । धृतेन्धनादिस्थाने, " जत्थ धणं दलिज्जति सा गंजसाला " नि० चू० ६ उ० ।

गंठ–ग्रन्थ–धा० सन्दर्भे, वा चु० पक्षे भ्वा० प० सक० सेट् । वाच० । ग्रन्थो गंठः । ८ । ४ । १२० । इति ग्रन्थो गंठादेशः । 'गंठेइ' ग्रन्थयति० । प्रा० ४ पाद ।

ग्रन्थ–पुं० । " ग्रन्थो गंठः " इति गंठः । मिथ्यात्वादौ आन्तरे बाह्ये च । धनादौ तस्य धर्मोपकरणवर्जनात्सग्रन्थत्वम् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । आचा० ।

गंठि–ग्रन्थि–पुं० । 'ग्रन्थ सन्दर्भे' इनि । कार्षापणादिपोटलिकायाम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । पर्वणि, शङ्गस्थाने च , आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । प्रव० । प्रज्ञा० । ग्रन्थिरिव ग्रन्थिः । जीवेन कर्मनिर्जरयताऽनतिक्रान्तपूर्वकर्मस्थितिविशेषे, पञ्चा० ।

पल्लगघोलणजोगा, जीवेण जया हवेज्ज कम्मठिती ।
खविया सव्वा सागरकोडीकोडीए मोत्तूणं ॥ १ ॥
तीयवियप्पेगमेत्तं, खविए एत्यंतरंमि जीवस्स ।
हवति हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जिणा बेंति ॥ २ ॥
गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥ ३ ॥

ता इति तावद् ग्रन्थिभेदप्रदेशं यावदित्यर्थः । पञ्चा० ३ विव० ।

ग्रन्थिः किमुच्यते ? इत्याह–

गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥ ११९५ ॥

ग्रन्थिरिति भण्यते, कः ? इत्याह-घनोऽतिनिबिडो रागद्वेषोदयपरिणामः कस्य?जीवस्य, कथंभूतः?कर्मजनितः कर्मविशेषप्रत्ययः । अयं च दुर्भेदो दुर्मोचो दुःक्षेपणीयो भवति । क इव ? वल्कादेर्दारुविशेषस्य संबन्धी, कर्कशघनगूढरूढग्रन्थिरिव । कर्कशोऽतिपरुषः, घनः सर्वतो निबिडः, स चार्द्रोऽपि स्यादित्याह रूढः शुष्कः, गूढः कथमप्युद्ग्रथितुमशक्योऽतिप्रचयमापन्नः, यथैवंभूतो द्रव्यग्रन्थिर्दुर्भेदो भवत्येवं रागद्वेषोदयपरिणामोऽप्यसौ दुर्भेदो भवत्यतो ग्रन्थिरिव ग्रन्थिर्व्यपदिश्यत इति । विशे० ।

गंठिभेय–ग्रन्थिभेद–पुं० । अतितीव्ररागद्वेषपरिणामविदारणे, द्वा० १९ द्वा० । इह गम्भीराऽपारसंसारसागरमध्यमध्यासीनो जन्तुर्मिथ्यात्वप्रत्ययमनन्तान् पुद्गलपरावर्त्तानन्नन्तदुःखलक्षाण्यनुभूय कथमपि तथाभव्यत्वपरिपाकवशतो गिरिसरिदुपलघोलनाकल्पे नानाभोगनिर्वर्तितयथाप्रवृत्तिकरणेन 'करणं परिणामोऽत्रेति' वचनादध्यवसायविशेषरूपेणायुर्वर्जानि ज्ञानावरणीयादिकर्माणि सर्वाण्यपि पल्योपमास-

ख्येयभागन्यूनैकसागरोपमकोटाकोटीस्थितिकानि करोति । अत्र चान्तरे जीवस्य कर्मजनितो घनरागद्वेषपरिणामरूपः कर्कशनिबिडचिरप्ररूढगुपिलवक्रग्रन्थिवद् दुर्भेदोऽभिन्नपूर्वो ग्रन्थिर्भवति । तदुक्तम्-

" तीए वि थोवमित्ते, खविए इत्थंतरम्मि जीवस्स ।
हवइ हु अभिन्नपुव्वो, गंठी एवं जिणा बिंति ॥ १ ॥
गंठि त्ति सुदुब्भेओ, कक्खडघणरूढगूढगंठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ, घणरागद्दोसपरिणामो ॥२॥ इति ।

इमं च ग्रन्थिं यावदभव्या अपि यथाप्रवृत्तिकरणेन कर्म क्षपयित्वा अनन्तशः समागच्छन्ति । उक्तं च आवश्यकटीकायाम्-अभव्यस्यापि कस्यचिद्यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्य अर्हदादिविभूतिदर्शनतः प्रयोजनान्तरतो वा प्रवर्तमानस्य श्रुतसामायिकलाभो भवति न शेषलाभ इति । एतदनन्तरं कश्चिदेव महात्मा समासन्नपरमनिर्वृतिसुखः समुल्लसितप्रचुरदुर्निवारवीर्यप्रसरो निशितकुठारधारयेव परमविशुद्ध्या यथोक्तस्वरूपस्य ग्रन्थेर्भेदं विधाय मिथ्यात्वस्थितेरन्तर्मुहूर्त्तमुदयक्षणादुपर्यतिक्रम्यापूर्वकरणानिवृत्तिकरणलक्षणविशुद्धिजनितसामर्थ्यादन्तर्मुहूर्त्तकालप्रमाणं तत्प्रदेशवेद्यदलिकाभावरूपमन्तरकरणं करोति । अत्र यथाप्रवृत्तिकरणाऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणानामयं क्रमः-

" जा गंठी ता पढमं, गंठिं समइच्छओ भवे बीयं ।
अनियट्टीकरणं पुण, संमत्तपुरक्खडे जीवे " ॥ ६ ॥

(गंठिं समइच्छओ त्ति) ग्रन्थिं समतिक्रामतो भिन्दानस्येति । (संमत्तपुरक्खडे त्ति) सम्यक्त्वं पुरस्कृतं येन तस्मिन्नासन्नसम्यक्त्वे जीवे अनिवृत्तिकरणं भवतीत्यर्थः । एतस्मिंश्चान्तरकरणे कृते सति तस्य मिथ्यात्वकर्मणः स्थितिद्वयं भवति । अन्तरकरणादधस्तनी प्रथमा स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणा । तस्मादेवान्तरकरणादुपरितनी शेषा द्वितीया स्थितिः स्थापना । तत्र प्रथमस्थितौ मिथ्यात्वदलिकवेदनादसौ मिथ्यादृष्टिरेव । अन्तर्मुहूर्त्तेन पुनस्तस्यामपगतायामन्तरकरणप्रथमसमय एवौपशमिकसम्यक्त्वमवाप्नोति, मिथ्यादलिकवेदनाभावात् । यथा हि वनदावानलः पूर्वदग्धेन्धनमूषरं वा देशमवाप्य विध्यायति तथा मिथ्यात्ववेदनवनदवोऽप्यन्तरकरणमवाप्य विध्यायति । तथा च सति तस्यौपशमिकसम्यक्त्वलाभः । यदाहुः श्रीपूज्यपादाः-" ऊसरदेसं दड्डिल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इअ मिच्छस्स अणुदए, उवसमसम्मं लहइ जीवो " ॥१॥ इति व्यावर्णितं ग्रन्थिभेदसंभवमौपशमिकसम्यक्त्वम् । कर्म० ४ कर्म० । ततः किमित्याह---

जिणम्मि तम्मि लाभो, सम्मत्ताईण मोक्खहेऊणं ।
सो य दुलभो परिस्सम-चित्तविघायाइविग्घेहिं ॥ ११९६ ॥

तस्मिन् ग्रन्थौ भिन्ने क्षपयित्वा समतिक्रान्ते मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादीनां लाभो भवति । स च ग्रन्थिभेदो मनोविघातपरिश्रमादिविघ्नैरतिदुर्लभो अतिशयेन दुष्करः, तस्य हि जीवस्य ग्रन्थिभेदं चिकीर्षोर्विद्यासाधकस्येव बिभीषिकादिभ्यो मनोविघातो मनःक्षोभो भवति, प्रचुरदुर्जयकर्मशत्रुसंघातजयाय महासमरगतसुभटस्येव परिश्रमश्चातिशयेन संजायत इति ।

एतदेवाह-

सो तत्थ परिस्सम्मइ, घोरमहासमरनिग्गयाइ व्व ।
विज्जा य सिद्धिकाले, जह बहुविग्घा तहा सो वि ॥ ११९७ ॥

स जीवस्तत्र ग्रन्थिभेदे प्रवृत्तो घोरमहासमरशिरसि दुर्जयापाकृताऽनेकशत्रुगणसुभट इव, आदिशब्दाद् महासमुद्रावितारकवत् परिश्राम्यति । यथा च सिद्धिकाले विद्या बहुविघ्ना संपद्यते साधकस्योपसर्गैर्मनःक्षोभं जनयति, तथा सोऽपि ग्रन्थिभेद इति ।

अथ परः प्राह-

कम्मट्ठिई सुदीहा, खविया जइ निग्गुणेण सेसं पि ।
स खवेउ निग्गुणो च्चिय, किं पुणो दंसणाईहिं ॥ ११९८ ॥

यदि ग्रन्थिभेदात् पूर्वं सम्यक्त्वादिगुणविकलेनैवानेन जन्तुना सुदीर्घा द्राघीयसी कर्मस्थितिः क्षपिता, तर्हि शेषमपि कर्मांशं सम्यक्त्वादिगुणशून्य एव क्षपयतु, ततो मोक्षमप्येवमेवासादयतु; किं पुनः सम्यग्दर्शनादिगुणैस्तद्धेतुभिर्विकल्पितैः ? इति ।

अत्रोत्तरमाह-

पाएण पुव्वसेवा, परिमउई साहणम्मि गुरुतरिया ।
होइ महाविज्जाए, किरिया पायं सविग्घा य ॥ ११९९ ॥
तह कम्मट्ठिइखवणे, परिमउई मोक्खसाहणे गुरुई ।
इह दंसणाइकिरिया, दुलहा पायं सविग्घा य ॥ १२०० ॥

महाविद्यासाधनवदेतद् द्रष्टव्यम् । यथा महाविद्यायाः सिसाधयिषितायाः प्रायः पूर्वसेवा नातिगुर्वी, किन्तु परिमृद्वी भवति, तत्साधनकाले तु या क्रिया सा गुरुतरा अतिगरीयसी भवति, सविघ्ना च प्रायः संजायते ॥ विशे० ॥ ग्रन्थिभेदेनात्यन्तसंक्लेश इति । इह ग्रन्थिरिव ग्रन्थिर्दृढो रागद्वेषपरिणामः, तस्य ग्रन्थेर्भेदे अपूर्वकरणवज्रसूच्या विदारणे सति लब्धशुद्धतत्त्वश्रद्धानसामर्थ्यादात्यन्तं न प्राणिघातनिर्निबन्धनया संक्लेशो रागद्वेषपरिणामः प्रवर्तते । नहि लब्धवेधपरिणामो मणिः कथञ्चिन्मलापूरितरन्ध्रोऽपि प्रागवस्थां प्रतिपद्यत इति । एतदपि कुतः ? इत्याह-न भूयस्तद्बन्धनमिति । यतो न भूयः पुनरपि तस्य ग्रन्थेर्बन्धनं निष्पादनं भेदे सति संपद्यत इति । किमुक्तं भवति ? यावती ग्रन्थिभेदकाले सर्वकर्मणामायुर्वर्जानां स्थितिरन्तःसागरोपमकोटाकोटिलक्षणाऽवशिष्यते तावत्प्रमाणमेवासौ सम्यगुपलब्धसम्यग्दर्शनो जीवः कथञ्चित् सम्यक्त्वापगमात्तीव्रायामपि तथाविधसंक्लेशप्राप्तौ बध्नाति, न पुनस्तं बन्धेनातिक्रामतीति ॥ ध० १ अधि० । ग्रन्थिच्छेदे, रा० । अथ ग्रन्थिभेदस्वरूपम्-तत्र पञ्चेन्द्रियत्वसंज्ञित्वपर्याप्तत्वरूपाभिस्तिसृभिः लब्धिभिर्युक्तः । अथवा उपशमलब्धिः उपदेशश्रवणलब्धिकरणत्रयहेतुप्रकृष्टयोगलब्धित्रिकयुक्तः । करणकालात् पूर्वमपि अन्तर्मुहूर्तकालं यावत् प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या विशुद्ध्या विशुध्यमानोऽनवद्यमानचित्तसन्ततिः । ग्रन्थिकसत्त्वानामभव्यसिद्धिकानां या विशोधिस्तामतिक्रम्य वर्तमानः । ततोऽनन्तगुणविशुद्धः । अन्यतरस्मिन् मतिश्रुतविभङ्गान्यतमस्मिन् साकारोपयोगे चान्यतमस्मिन् वर्तमानस्तिसृणां विशुद्धानां लेश्यानामन्यतमस्यां लेश्यायां वर्तमानः, जघन्यतस्तेजोलेश्यायां मध्यमपरिणामेन पद्मलेश्यायामुत्कृष्टपरिणामेन शुक्ललेश्यायाम् । तथाऽऽयुर्वर्जानां सप्तानां कर्मणां स्थितिमन्तःसागरोपमकोटाकोटीप्रमाणां कृत्वा अशुभानां क-

र्मणामनुभागचतुःस्थानकं सन्तं द्विस्थानकं करोति । शुभानां च कर्मणां द्विस्थानकं सन्तं चतुःस्थानकं करोति । तथा ध्रुवप्रकृतिसप्तचत्वारिंशत्सङ्ख्यया बध्नन् परावर्तमानाः स्वस्वभवप्रायोग्याः प्रकृतीः शुभा एव बध्नाति । ता अप्यायुर्वर्जाः, अतिविशुद्धपरिणामो हि बन्धमारभते । यदुत तिर्यङ् मनुष्यो वा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन् देवगतिप्रायोग्याः शुभाः प्रकृतीर्बध्नाति । देवो नैरयिको वा प्रथमसम्यक्त्वमुत्पादयन् मनुजगतिप्रायोग्याः शुभाः प्रकृतीर्बध्नाति । सप्तमनरकनारकः तिर्यग्द्विकं नीचैर्गोत्रं बध्नाति, भवप्रायोग्यात् । बध्यमानस्थितिमन्तःसागरकोटाकोटिं बध्नाति, नाधिकां, योगवशात् । प्रदेशाग्रमुत्कृष्टजघन्यमध्यमं च बध्नाति । स्थितिबन्धे पूर्णे सत्यन्यस्थितिबन्धं प्राक्तनस्थितिबन्धापेक्षया पल्योपमासंख्येयभागन्यूनं करोति । ततः अन्यं पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनं करोति । अतोऽन्यं स्थितिबन्धं पूर्वपूर्वापेक्षया पल्योपमाऽसंख्येयभागन्यूनं करोति । अशुभानां च प्रकृतीनां बध्यमानानामनुभागं द्विस्थानकं बध्नाति । तमपि प्रतिसमयमनन्तगुणहीनं, शुभानां च चतुःस्थानकं प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धं कुर्वन् करणं यथाप्रवृत्तं करोति, अपूर्वकरणं ततः अनिवृत्तिकरणमिति । करणं परिणामविशेषः । एतानि च त्रीण्यपि करणानि प्रत्येकमान्तर्मुहूर्तिकानि । ततः उपशान्ताद्धां लभते, सापि चाऽऽन्तर्मुहूर्त्तिकी यथाप्रवृत्तकरणं च । " अणुसमयं वड्ढंतो, अज्झवसाणाणणंतगुणणाए । परिणामट्ठाणाणं, दोसु वि लोगा असंखिज्जा " ॥ १ ॥ इति कर्मप्रकृतौ । प्रतिसमयमध्यवसानानामनन्तगुणतया विशुद्ध्या वर्धमानानां करणसमाप्तिं यावत् वर्धते । ते कियन्ति अध्यवसानानि भवन्ति । द्वयोरपि यथाप्रवृत्तापूर्वकरणयोः परिणामस्थानानामनुसमयं लोकाऽसंख्येया भवन्ति । यथाप्रवृत्तकरणे अपूर्वकरणे च प्रतिसमयेऽसङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशराशिप्रमाणानि अध्यवसायस्थानानि भवन्ति । तथाहि-यथाप्रवृत्तकरणे प्रथमसमये विशोधिस्थानानि नानाजीवापेक्षया असङ्ख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि , द्वितीयसमये विशेषाधिकानि, ततोऽपि तृतीयसमये विशेषाधिकानि, एवं यावच्चरमसमयः । एवमपूर्वकरणेऽपि द्रष्टव्यम् । अमूनि चाध्यवसायस्थानानि यथाप्रवृत्ताऽपूर्वकरणयोः संबन्धीनि स्थाप्यमानानि विषमचतुरस्रं क्षेत्रमावरणन्ति । तयोरुपरि चाऽनिवृत्तिकरणाध्यवसायानि मुक्तावलीसंस्थानि उपर्युपरि अमूनि अनुचिन्त्यमानानि प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्ध्या प्रवर्तमानान्यवगन्तव्यानि तिर्यक्पट्स्थानपतितानि । इह कल्पनया द्वौ पुरुषौ युगपत् करणप्रतिपन्नौ विवक्ष्येते । तत्रैकः सर्वजघन्यया श्रेण्या प्रतिपन्नः, अपरः सर्वोत्कृष्टया विशोध्या । प्रथमजीवस्य प्रथमसमय मन्दा, द्वितीयसमये अनन्तगुणा, तृतीयेऽनन्तगुणा, एवं यावत् यथाप्रवृत्तकरणस्याऽसंख्येयभागो गतो भवति । ततः प्रथमसमये द्वितीयस्य जीवस्य उत्कृष्टं विशोधिस्थानमनन्तगुणं वक्तव्यम् । ततोऽपि द्वितीये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, तत उपरि जघन्यविशोधिरनन्तगुणा, एवमुपर्यधश्च एकैकं विशोधिस्थानमनन्तगुणं द्वयोर्जीवयोस्तावज्ज्ञेयं यावच्चरमसमये जघन्या विशोधिः । तत आचरमात् चरममभिव्याप्य यानि अमुक्तानि शेषाणि उत्कृष्टानि स्थानानि तानि क्रमेण निरन्तरमनन्तगुणानि वक्तव्यानि । तदेवं समाप्तं यथाप्रवृत्तकरणम् । अस्य च यथाप्रवृत्तकरणस्य पूर्वप्रवृत्तं द्वितीयं नाम शेषकरणाभ्यां पूर्वं प्रथमं प्रवृत्तं पूर्वप्रवृत्तमिति । अस्मिश्च यथाप्रवृत्तकरणे स्थितिघातरसघातौ गुणश्रेणिर्वा न प्रवर्तन्ते, केवलमुक्तरूपा विशोधिरेवानन्तगुणा । यानि वा प्रशस्तानि कर्माण्यत्र स्थितौ बध्नाति तेषामनुभागं द्विस्थानकं बध्नाति । यानि च शुभानि येषां चतुःस्थानकं स्थितिबन्धेऽपि च पूर्णे पूर्णे सत्यन्यं स्थितिबन्धं पल्योपमसंख्येयभागन्यूनं च बध्नाति । सम्प्रत्यपूर्वकरणमभिधीयते-"बीयस्स बीयसमये, सहएहमविअणंतरुक्कस्सा" इत्यादि वचनात् । द्वितीयस्याऽपूर्वकरणस्य यो द्वितीयः समयः तत्र जघन्यमपि विशोधिस्थानाद् अनन्तगुणं वक्तव्यम् । एतदुक्तं भवति,नेह यथाप्रवृत्तकरणवत् प्रथमतो निरन्तरं विशोधिस्थानमनन्तगुणं वक्तव्यं, किन्तु प्रथमसमये प्रथमतो जघन्या विशोधिः सर्वस्तोका,सापि च यथाप्रवृत्तकरणचरमसमयवत् तावद् उत्कृष्टाद् विशोधिस्थानात् अनन्तगुणा । ततः प्रथमसमये एवोत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि द्वितीयसमये जघन्या विशोधिरनन्तगुणा, ततोऽपि तस्मिन्नेव द्वितीयसमये उत्कृष्टा विशोधिरनन्तगुणा, एवं प्रतिसमये तावद् वाच्यं यावच्चरमसमये उत्कृष्टा विशोधिः । अपूर्वाणि करणानि स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिस्थितिबन्धादीनि वर्त्तनानि यस्मिन् तत् अपूर्वकरणम् । तथाहि-अपूर्वकरणे प्रविशन् प्रथमसमयमेव स्थितिघातं रसघातं गुणश्रेणिस्थितिबन्धं चान्यं युगपदारभते । तत्र स्थितिघातः स्थितिसत्कर्मणोऽग्रिमभागादुत्कर्षेण उदधिपृथक्त्वप्रमाणं, जघन्येन पुनः पल्योपमसङ्ख्येयभागमात्रं स्थितिकण्डकमुत्किरति । उत्कीर्य च या स्थितिः अधो न खण्डयिष्यति तत्र तद्दलिकं प्रक्षिपति अन्तर्मुहूर्तेन कालेन,तत् स्थितिकण्डकमुत्कीर्यते । एवं द्वितीयम्,एवं तृतीयम्,एवं प्रभूतानि स्थितिखण्डसहस्राणि व्यतिक्रामन्ति । तथा च सति यद् अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये सत्कर्माऽऽसीत् तत् तस्यैव चरमसमये सङ्ख्येयगुणहीनं जातम् । रसघाते तु अशुभानां प्रकृतीनां यद् अनुभागसत्कर्म तस्यानन्ततमं भागं मुक्त्वा शेषाननन्तानुभागभागान् अन्तर्मुहूर्तेन विनाशयति । ततः पुनरपि तस्य प्रागुक्तस्यानन्ततमं भागं शेषाद् विनाशयति । एवमनेकानि अनुभागखण्डसहस्राणि एकस्मिन् स्थितिखण्डे व्यतिक्रामन्ति । तेषां च स्थितिकण्डानां सहस्रे द्वितीयमपूर्वकरणं परिसमाप्यते । स्थितिबन्धाद्धा तु अपूर्वकरणस्य प्रथमसमये अन्य एव अपूर्वपल्योपमसङ्ख्येयभागहीनस्थितिबन्ध आरभ्यते । जीर्णस्थितिघातस्थितिबन्धौ तु युगपदेवारभ्येते, युगपदेव निष्ठां यातः । गुणश्रेणिस्तु "गुणसेढी निक्खेवो,समये असंखगुणणाए । अद्धादुगाइरित्तो, सेसे सेसे य निक्खेवो" ॥ ? ॥ भावितार्थ घातिस्थितिखण्डमध्याद्दलिकं गृहीत्वा उदयसमयात् प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया निक्षिपति । प्रथमसमये स्तोकं, द्वितीयसमये असङ्ख्येयगुणं, तृतीयसमये असंख्येयगुणम्, एवं यावच्चरमसमयः । एष प्रथमसमयगृहीतदलिकनिक्षेपविधिः, एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि । इत्यनेन प्रथमसमय स्तोकः, द्वितीयसमये असङ्ख्येयगुणः, तृतीयसमये असंख्येयगुणश्रेणिदलिकनिक्षेपो भवति । इति अपूर्वकरणस्वरूपम् । अनिवृत्तिकरणे एतदुक्तं भवति, अनिवृत्तिकरणस्य प्रथमसमयेऽपि ये वर्त्तन्ते ये च वृत्ता ये च वर्तिष्यन्ते तेषां सर्वेषामपि समाना एकरूपा विशोधिः । द्वितीयसमयेऽपि ये वर्त्तन्ते, ये च वृत्ता, ये च वर्त्तिष्यन्ते, तेषामपि समा विशोधिः । एवं सर्वेष्वपि समयेषु । नवरं पूर्वतः उपरितनेऽनन्तगुणाऽधिका विशोधिः चरमसमयं यावदस्मिन् करणे प्रविष्टानां तु-

स्यकालानामसुमतां परस्परमध्यवसानानां या निवृत्तिर्व्यावृत्तिः सा न विद्यते। इत्यनिवृत्तिकरणम्। अनिवृत्तिकरणे यावन्तः समयास्तावन्ति अध्यवसायस्थानानि पूर्वस्मात् पूर्वस्माद् अनन्तगुणवृद्धानि भवन्ति। अनिवृत्तिकरणाद्धायाः सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेषु सत्सु एकस्मिंश्च भागे सङ्ख्येयतमे शेषे तिष्ठति। अन्तर्मुहूर्त्तमात्रमधो मुक्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणं करोति। अन्तरकरणकालश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणः। अन्तरकरणे च क्रियमाणे गुणश्रेणेः सङ्ख्येयतमं भागमुत्किरति। उत्कीर्यमाणं च दलिकं प्रथमस्थितौ द्वितीयस्थितौ च प्रक्षिपति। एवमुदीरणा आगालबलेन मिथ्यात्वोदयं निवार्य उपशमिकं सम्यक्त्वं लभते। उक्तं च-"मिच्छत्तुदये खीणे,लहइ सम्मत्तमोवसमियं सो। लंभेण जस्स लब्भइ, आयहियं अलद्धपुव्वजं" ॥१॥ मिथ्यात्वस्योदये क्षीणे सति स जीव उक्तेन प्रकारेण उपशमिकं सम्यक्त्वं लभते। यस्य सम्यक्त्वस्य लाभेन यदात्महितमलब्धपूर्वमर्हदादितत्त्वप्रतिपत्त्यादि तल्लभ्यते। तथाहि-सम्यक्त्वलाभे सति जात्यन्धस्य पुंसश्चक्षुर्लाभे सति,एवं जन्तोर्यथावस्थितवस्तुतत्त्वाऽवलोको भवति। महाव्याध्यातिभूतस्य व्याध्यापगमे इव महांश्च प्रमोदः। अत्राऽनिवृत्तिकरणे क्रियमाणे यदि पुञ्जत्रयं करोति तदा प्रथमं क्षयोपशमसम्यक्त्वं लभते। अकृतत्रिपुञ्जः प्रथममुपशमसम्यक्त्वं लभते इति सिद्धान्ताशयः। कर्मग्रन्थमते तु प्रथममुपशममेव लभते। अयं च त्रिपुञ्जीकरणं उपशमे करोति इति ग्रन्थिभिज्ज्ञानं तत्त्वोपयोगलक्षणं तस्य अन्यविकल्पैः किम् ? ॥ ६ ॥ अष्ट० ५ अष्ट०। (अत्र विशेषः 'सम्मदंसण' शब्दे वीक्ष्यः)

गंठिभेयकाल–ग्रन्थिभेदकाल–पुं०। यस्मिन् कालेऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिकरणाभ्यां ग्रन्थिर्भिन्नो भवति तस्मिन्, ध० १ अधि०।

गंठिभेयग–ग्रन्थिभेदक–पुं०। न्यासाऽन्यथाकारिणि,ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। चौरविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। घुर्घुरादिना ग्रन्थिच्छेदके, विपा० १ श्रु० ३ अ०।

गंठिम–ग्रन्थिम–न०। ग्रन्थनं ग्रन्थस्तेन निर्वृत्तं ग्रन्थिमम्। भावादिमप्रत्ययः। रा०। जी०। सूत्रसन्दर्भे, स्था० ४ ठा० ४ उ०। सूत्रग्रथिते माल्यादौ, भ० ९ श० ३३ उ०। ज्ञा०। नि० चू०। दश०। कौशलातिशयाद् ग्रन्थिसमुदायनिष्पादिते रूपके, अनु०। ग०। ग्रथितपुष्पादिनिर्वर्त्तितस्वस्तिकादौ, आचा० २ श्रु० १२ अ०। गुल्मभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

गंठिय–ग्रन्थित–त्रि०। सूत्रीकृते, विशे०। जं०।

ग्रन्थिक–पुं०। कर्मात्मको ग्रन्थो विद्यते येषां ते ग्रन्थिकाः। कर्मग्रन्थोऽपि तेषु प्राणिषु ग्रन्थिकसत्त्वेषु ग्रन्थिभेदं कर्तुमसमर्थेषु, सूत्र० २ श्रु० ५ अ०। वाच०।

गंठिल्ल–ग्रन्थिमत्–त्रि०। ग्रन्थियुक्ते, भ० १ श० १० उ०।

गंठिसहियपच्चक्खाण—ग्रन्थिसहितप्रत्याख्यान—न०। ग्रन्थिभेदरूपे प्रत्याख्याने। तत्स्वरूपम्—ग्रन्थिसहितं च नित्यमप्रमत्ततानिमित्ततया महाफलम्। उक्तं च–

" जे निच्चमपमत्ता, गंठिं बंधन्ति गंठिसहिअस्स।
सग्गापवग्गसुक्खं, तेहिं निबद्धं सगंठम्मि ॥ १ ॥
भणिऊण नमुक्कारं, निच्चं विस्सरणवज्जिआ धन्ना।
छोडन्ति गंठिसहियं, गंठिं सह कम्मगंठीहिं ॥ २ ॥
इह कुणई अब्भासं, अब्भासं सिवपुरस्स जइ महसि।
अणसणसरिसं पुन्नं, वयंति पयस्स समयण्णू ॥ ३ ॥

रात्रिचतुर्विधाहारपरिहारस्थानोपवेशनपूर्वकताम्बूलादिव्यापारणमुखशुद्धिकरणादिविधिना ग्रन्थिसहितप्रत्याख्यानपालने एकवारभोजिनः प्रतिमासमेकोनत्रिंशद्, द्विवारभोजिनस्त्वष्टाविंशतिर्निर्जला उपवासाः स्युरिति वृद्धाः। भोजनताम्बूलजलव्यापारणादौ हि प्रत्यहं घटीद्वय २ संभवे मासे एकोनत्रिंशद्, घटीचतुष्टय ४ संभवे त्वष्टाविंशतिः। यदुक्तं पद्मचरित्रे—

" भुंजइ अणंतरेणं, छड्डिउ वेलाउ जो निओगेणं।
सो पावइ उववासं, अट्ठावीसं तु मासेणं ॥ १ ॥
इक्कं पि अह मुहुत्तं, परिवज्जइ जो चउव्विहाहारं।
मासेण तस्स जायइ, उववासफलं तु परलोए ॥ २ ॥
दसवरिससहस्साउं, भुंजइ जो अण्णदेवयाभत्तो।
पलिओवमकोडी पुण, होइ ठिई जिणवरमतेणं ॥ ३ ॥
एवं मुहुत्तवुड्ढी, उववासे छट्ठअट्ठमाईणं।
जो कुणइ जहाथामं, तस्स फलं तारिसं भणिअं ॥ ४ ॥

एवं युक्त्या ग्रन्थिसहितप्रत्याख्यानफलमप्यनन्तरोदितं भाव्यम्। ध० २ अधि०।

गंम–गण्म–पुं०। न०। 'गमि' वदनैकदेशे, अच्। कपोले,जी० ३ प्रति०। ज्ञा०। जं०। प्रज्ञा०। हस्तिकपोले, गण्डके, पुं०। स्त्री०। प्रव० २६ द्वार। वीथ्यङ्गे, पिटके, चिह्ने, वीरे हयभूषणे, बुद्बुदे च। वाच०। गच्छतीति गण्डम्। गण्डमालायाम्, 'जं च अन्नं सुपादगं तं गण्डं" नि०चू० ३ उ०। रुधिरप्रकोपोद्भूतस्फोटके, उत्त० १० अ०। आचा०। अपद्रव्ये, उदकफेने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। गण्डसाधर्म्यात् कुचे, उत्त० ८ अ०। घने, दाण्डपाशिके, लघुमृगे, नापिते च। दे० ना० २ वर्ग।

गंमइया—गण्मकिका—स्त्री०। वैशालीवणिग्ग्रामयोरन्तराले वहति नदीभेदे, यामुत्तरन् वीरस्वामी नाविकैर्मौल्यं याचितः। आ० म० द्वि०। आ० चू०।

गंमग—गण्मक—पुं०। एकशृङ्गे पशुभेदे, ग्रन्थौ, वाच०। नापिते, यो हि ग्रामे उद्घोषयति। आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०। चतुर्वेदसमवायलमयज्ञापनाय ब्राह्मणैः स्थाप्यमाने पुरुषे, व्य० ७ उ०। ओघ०।

गंडयल-गण्डतल-न०। कपोलतटे, " अंगदकुंमलमट्ठगंमतल " उत्त० २ अ०। स्था०।

गंममाणिया-गण्ममाणिका–स्त्री०। गण्डयुक्ता माणिका गण्ममाणिका। देशविशेषप्रसिद्धे धान्यमानभेदे, रा०।

गंडलेहा-गंमरे (ले) खा-स्त्री०। कपोलपाल्याम्, जं० २ वक्ष०। कपोलविरचितमृगमदादिलेखायाम्, नि० १ वर्ग०। रा०। ज्ञा०।

गंमवच्छा–गण्मवक्षस्–स्त्री०। गण्ड इव चोपचितपिशितपिण्डरूपतया गलत्पूतिरुधिरार्द्रतासम्भवाच्च तदुपमितत्वाद्गण्डे कुचावुक्तौ, ते च वक्षसि यासां तास्तथा। मांसपिण्डोपमस्तनयुक्तोरस्कासु स्त्रीषु, " नो रक्खसीसु गिज्झिज्जा, गंमवच्छासु णेगचित्तासु " उत्त० ८ अ०।

गंमवाणिया–गण्मपाणिका–स्त्री०। वंशमयभाजनविशेषे, भ० ७ श० ७ उ०।

गंमि–गण्मि–पुं०। गच्छति प्रेरितः प्रतिपथादिना मीयते च कूर्दमानो विहायोगमनेनेति गण्मिः। गण्डश्वे, उत्त० १ अ०।

गंमि [ण्] गणिमत्–त्रि० । चतुर्थां गएरं, तदस्यास्तीति गएडी । गरमालावति, आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ०। नि० चू०। उत्कूलगुल्फपादे, " गंडींगंमीति वा णेवए " आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

गंमिया–गणिमका–स्त्री० । सुवर्णकारादीनामधिकारिण्याम्, स्था०४ ठा० ४ उ०। दश०। सएडे, ज्ञा०१ श्रु०१ अ०। आचा०। इक्ष्वादीनां पूर्वापरपरिच्छिन्ने मध्यभागे । गणिकैव गणिमका। एकार्थाधिकारायां ग्रन्थपद्धतौ, नं० ।

गंमियाणुओग–गणिमकानुयोग–पुं० । इहैकवक्तव्यतार्थाधिकाराऽनुगता वाक्यपद्धतयो गण्डिका उच्यन्ते। तासामनुयोगोऽर्थकथनविधिर्गण्डिकाऽनुयोगः, स० । भरतनरपतिवंशजातानां निर्वाणगमनानुत्तरविमानवक्तव्यताऽऽख्यानग्रन्थे, स्था०१०ठा०।

से किं तं गंमियाणुओगे ?, गंमियाणुओगे–कुलगरगंमियाउ, तित्थयरगंमियाउ चक्कवट्टीगंमियाउ दसारगंमियाउ बलदेवगंमियाउ वासुदेवगंमियाउ गणधरगंमियाउ भद्दबाहुगंडियाउ तवोकम्मगंमियाउ हरिवंसगंमियाउ उस्सप्पिणिगंमियाउ ओसप्पिणिगंडियाउ चित्तंतरगंमियाउ अमरनरतिरियनिरइगइगमणविविहपरियट्टणाणुओगेसु एवमाइयाउ गंमियाउ आघविज्जंति पणविज्जंति । सेत्तं गंमियाणुओगे । सेत्तं अणुओगे ॥

(से किं तमित्यादि) अथ कोऽयं गण्डिकानुयोगः ?, सूरिराह–गण्डिकानुयोगेन, अथवा गण्डिकानुयोगे सप्तमी, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, कुलकरगणिमकाः । इह सर्वत्राप्यन्तरालवर्तिन्यो बह्व्यः प्रतिनियतैकार्थाधिकाररूपा गणिमकाः कुलकरगणिमकाः । ततो बहुवचनं, कुलकराणां गण्डिकाः कुलकरगणिमकाः, यासु कुलकराणां विमलवाहनादीनां पूर्वभवजन्मनामादीनि सप्रपञ्चमुपवर्ण्यन्ते । एवं तीर्थकरगण्डिकादिष्वभिधानवशतो भावनीयं यावत् (चित्तंतरगंमियाउ त्ति) चित्रा अनेकार्था अन्तरे ऋषभाऽजिततीर्थकरापान्तराले गण्डिकाश्चित्रान्तरगणिमकाः । एतदुक्तं भवति, ऋषभाजिततीर्थकरान्तरे ऋषभवंशसमुद्भूतभूपतीनां शेषगतिगमनव्युदासेन शिवगतिगमनानुत्तरोपपातप्राप्तिप्रतिपादिका गण्डिकाः चित्रान्तरगण्डिकाः। तासां च प्ररूपणा पूर्वाचार्यैरेवमकारि–इह सुबुद्धिनामा सगरचक्रवर्त्तिनो महाऽमात्योऽष्टापदपर्वते सगरचक्रवर्तिसुतेभ्य आदित्ययशःप्रभृतीनां भगवद्वंशजानां नरपतीनामेवं सङ्ख्यामाख्यातुमुपक्रमते स्म । आह च–"आइच्चजसाईणं, उसभस्स परंपराए नरवईणं। सगरसुयाण सुबुद्धी, इणमो संखं परिकहेइ" ॥१॥ आदित्ययशःप्रभृतयो भगवन्नाभेयवंशजाः त्रिखण्डभरतार्द्धमनुपाल्य पर्यन्ते पारमेश्वरीं दीक्षामभिगृह्य तत्प्रभावतः सकलकर्मक्षयं कृत्वा चतुर्दशलक्षा निरन्तरं सिद्धिगमन्। तत एकः सर्वार्थसिद्धे, ततो भूयोऽपि चतुर्दशलक्षा निरन्तरं निर्वाणे। ततोऽपि एकः सर्वार्थसिद्धमहाविमाने। एवं चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरितः सर्वार्थसिद्धौ एकैकस्तावद्वक्तव्यः, यावत्तेऽप्येकैकका असङ्ख्येया भवन्ति । ततो भूयः चतुर्दशलक्षा नरपतीनां निरन्तरं निर्वाणे, ततो द्वौ सर्वार्थसिद्धे। ततः पुनरपि चतुर्दशलक्षा निरन्तरं निर्वाणे, ततो भूयोऽपि द्वौ सर्वार्थसिद्धे। एवं चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरितौ द्वौ द्वौ सर्वार्थसिद्धे तावद्वक्तव्यौ यावत्तेऽपि द्विकाद्विकसङ्ख्या असङ्ख्येया भवन्ति। एवं त्रिकात्रिकसङ्ख्यादयोऽपि प्रत्येकमसङ्ख्येयास्तावद् वक्तव्या यावन्निरन्तरं चतुर्दशलक्षा निर्वाणे। ततः पञ्चाशत्सर्वार्थसिद्धे, ततो भूयोऽपि चतुर्दशलक्षा निर्वाणे । ततः पुनरपि पञ्चाशत् सर्वार्थसिद्धे । एवं पञ्चाशत्पञ्चाशत्सङ्ख्याका अपि चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरितास्तावद्वक्तव्या यावत्तेऽपि असङ्ख्येया भवन्ति । उक्तं च–

"चउदस लक्खा सिद्धा, निवईण एक्को य होइ सव्वट्ठे ।
एवेक्केकट्ठाणे, पुरिसजुगा होन्तऽसंखेज्जा ॥ १ ॥
पुणरवि चोद्दसलक्खा, सिद्धा निवईण दो वि सव्वट्ठे ।
दुगट्ठाणे वि असंखा, पुरिसजुगा होन्ति नायव्वा ॥ २ ॥
जाव य लक्खा चोद्दस, सिद्धा पन्नास होन्ति सव्वट्ठे ।
पन्नासट्ठाणे वि उ, पुरिसजुगा होन्तऽसंखेज्जा ॥ ३ ॥
एगुत्तराउ ट्ठाणा, सव्वट्ठे चेव जाव पन्नासा ।
एक्केक्कंतरट्ठाणे, पुरिसजुगा होंतऽसंखेज्जा ॥ ४ ॥

स्थापना–

१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	सिद्धि
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०	सर्वा०

ततोऽनन्तरं चतुर्दश लक्षा नरपतीनां निरन्तरं सर्वार्थसिद्धे, एकः सिद्धौ । भूयश्चतुर्दश लक्षाः सर्वार्थसिद्धे, एकः सिद्धौ । एवं चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरित एकैकः सिद्धौ तावद्वक्तव्यो यावत्तेऽप्येकैकका असंख्येया भवन्ति । ततो भूयोऽपि चतुर्दशलक्षा निरन्तरं नरपतीनां सर्वार्थसिद्धे, ततो द्वौ निर्वाणे। ततः पुनरपि चतुर्दशलक्षाः सर्वार्थसिद्धे, ततो भूयोऽपि द्वौ निर्वाणे । एवं चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरितौ द्वौ निर्वाणे तावद्वक्तव्यौ यावत्तेऽपि द्विकद्विकसङ्ख्या असंख्येया भवन्ति । एवं त्रिकत्रिकसंख्यादयोऽपि, यावत्पञ्चाशत्पञ्चाशत्संख्याः चतुर्दशचतुर्दशलक्षान्तरिताः सिद्धौ प्रत्येकमसंख्येया वक्तव्याः । उक्तं च–विवरीयं सव्वट्ठे, चोद्दसलक्खा उ निव्वुओ एगो । सव्वे वयपरिणामी, पन्नासा जाव सिद्धीए ।

स्थापना चेयम्–

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	५०	सिद्धि
१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	१४	सर्वा०

ततः परं द्वे लक्षे नरपतीनां निरन्तरं निर्वाणे, ततो द्वे लक्षे निरन्तरं सर्वार्थसिद्धे । ततस्तिस्रो लक्षा निर्वाणे, ततः पुनरपि तिस्रो लक्षाः सर्वार्थसिद्धे । ततश्चतस्रो लक्षा निर्वाणे, ततः पुनरपि चतस्रो लक्षाः सर्वार्थसिद्धे । एवं पञ्च पञ्च षट् षट् यावदुभयत्राप्यसंख्येया असङ्ख्येया लक्षा वक्तव्याः । आह च–

तेण परदुलक्खाई, दो दो ठाणा य समगवच्चन्ति ।
सिवगइसव्वट्ठेहिं, इणमो तेसिं विही होइ ॥ १ ॥
दो लक्खा सिद्धीए, दो लक्खा नरवईण सव्वट्ठे ।
एवं तिलक्खचउपंच, जाव लक्खा असंखेज्जा ॥ २ ॥

स्थापना चेयम्–

२	३	४	५	६	७	८	९	१०	मोक्षे गताः
२	३	४	५	६	७	८	९	१०	सर्वार्थसिद्धिगताः

ततः परं चतस्रः चित्रान्तरगण्डिकास्तद्यथा–प्रथमा एकादिका एकोत्तरा, द्वितीया एकादिका द्व्युत्तरा, तृतीया एकादिका त्र्युत्तरा, चतुर्थी त्र्यादिका द्व्यादिविषमोत्तरा । आह च–

" सिवगइसव्वट्ठेहिं, चित्तंतरगंडिया तओ चउरो ।

एगा एगोत्तरिया, एगाइबिउत्तरा बिइया ॥ १ ॥
एगाइतिउत्तरगा, तिगाइविसमुत्तरा चउत्थीओ ।
तत्र प्रथमा भाव्यते-प्रथममेकः सिद्धौ,ततो द्वौ सर्वार्थसिद्धे । ततः त्रयः सिद्धौ, ततश्चत्वारः सिद्धार्थे । ततः पञ्च सिद्धौ, ततः षट् सर्वार्थे । एवमेकोत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च तावद्वक्तव्यं यावदुभयत्राऽप्यसङ्ख्येया भवन्ति । उक्तं च-
"पढमाए सिद्धेक्को, दोणिओ सव्वट्ठमिक्कम्मि ।
तत्तो तिन्नि नरिंदा, सिद्धा चत्तारि होन्ति सव्वट्ठे ॥१॥
इय जाव असंखेज्जा, सिवगतिसव्वट्ठसिद्धेहिं " ॥

१ स्थापना चेयम्-

१	३	५	७	९	११	१३	१५	१७	१९	मोक्षे
२	४	६	८	१०	१२	१४	१६	१८	२०	सर्वा०

सम्प्रति द्वितीया भाव्यते-तत्र प्रथमेकः सिद्धौ,त्रयः सर्वार्थे । ततः पञ्च सिद्धौ, सप्त सर्वार्थे । ततो नव सिद्धौ, एकादश सर्वार्थे । ततस्त्रयोदश सिद्धौ,पञ्चदश सर्वार्थे । एवं द्व्युत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च तावद्वक्तव्यं यावदुभयत्राप्यसंख्येया भवन्ति । उक्तं च-"ताहे बिउत्तराए, सिद्धेक्को तिन्नि होंति सव्वट्ठे । एवं पंच य सत्त य, जाव असंखेज्जा दो वि त्ति " ॥ १ ॥

२ स्थापना चेयम्-

१	५	९	१३	१७	२१	२५	मोक्षे
३	७	११	१५	१९	२३	२७	सर्वार्थसिद्धौ

संप्रति तृतीया भाव्यते-ततः प्रथमेकः सिद्धौ, चत्वारः सर्वार्थे । ततः सप्त सिद्धौ,दश सर्वार्थे । ततस्त्रयोदश सिद्धौ,षोडश सर्वार्थे । एवं त्र्युत्तरया वृद्ध्या शिवगतौ सर्वार्थे च क्रमेण तावद्वक्तव्यं यावदुभयत्रापि असंख्येया गता भवन्ति । उक्तं च-"एगचउसत्तदसगं, जाव असंखेज्ज होन्ति ते दो वि । सिवगतिसव्वट्ठेहिं, तिउत्तराए उ नायव्वा ॥ १ ॥

३ स्थापना चेयम्-

१	७	१३	१९	२५	३१	३७	४३	४९	५५	मो०
४	१०	१६	२२	२८	३४	४०	४६	५२	५८	सर्वा०

सम्प्रति चतुर्थी भाव्यते । सा च विचित्रा, ततस्तस्याः परिज्ञानार्थमयमुपायः पूर्वाचार्यैर्दर्शितः--इह एकोनत्रिंशत्संख्यास्त्रिका ऊर्ध्वाधः परिपाट्या पट्टिकादौ स्थाप्यन्ते । तत्र प्रथमे त्रिके न किञ्चिदपि प्रक्षिप्यते । द्वितीये द्वौ प्रक्षिप्येते । तृतीये पञ्च, चतुर्थे नव, पञ्चमे त्रयोदश, षष्ठे सप्तदश, सप्तमे द्वाविंशतिः, अष्टमे षट्, नवमेऽष्टौ, दशमे द्वादश,एकादशे चतुर्दश, द्वादशेऽष्टाविंशतिः, त्रयोदशे षड्विंशतिः,चतुर्दशे पञ्चविंशतिः, पञ्चदशे एकादश,षोडशे त्रयोविंशतिः, सप्तदशे सप्तचत्वारिंशत्, अष्टादशे सप्ततिः,एकोनविंशे सप्तसप्ततिः,विंशे एकः, एकविंशे द्वौ,द्वाविंशे सप्ताशीतिः,त्रयोविंशे एकसप्ततिः, चतुर्विंशे षष्टिः, पञ्चविंशे एकोनसप्ततिः,षड्विंशे चतुर्विंशतिः,सप्तविंशे षट्चत्वारिंशत्, अष्टाविंशे शतम्, एकोनत्रिंशे षड्विंशतिः ।

उक्तञ्च-

" ताहे तियमाइविसमु-त्तराए अउणतीसं तु तियगट्ठा ।
वेसं पढमे नत्थि, उक्खेवो सेसेसु इमो नवे क्खेवो ॥ १ ॥
दुगपणगं नव तेरस, सत्तरस दुवीस छ य अट्ठेव ।
बारस चोद्दस तह, अट्ठवीस छव्वीस पणवीसा ॥ २ ॥
एक्कारस तेवीसा, सीयाला सयरिसत्तहत्तरिया ।
इगदुगसत्तासीती, एगत्तरिमेव सयरी ॥ ३ ॥
अउणुत्तरिचउवीसा, छायालसयं तहेव छव्वीसा ।
एए रासिक्खेवा, तिगअंतं ता जहा कमसो " ॥ ४ ॥

एतेषु च राशिषु प्रक्षिप्तेषु यद्भवति तावन्तस्तावन्तः क्रमेण सिद्धौ सर्वार्थे चैत्येकैकरूपेण वेदितव्याः । तद्यथा-त्रयः सिद्धौ, पञ्च सर्वार्थे । ततः सिद्धावष्टौ,द्वादश सर्वार्थे । ततः षोडश सिद्धौ,सर्वार्थे विंशतिः । ततः पञ्चविंशतिः सिद्धौ, नव सर्वार्थे । तत एकादश सिद्धौ, पञ्चदश सर्वार्थे । ततः सप्तदश सिद्धौ,एकविंशत् सर्वार्थे । तत एकोनत्रिंशत्सिद्धौ,अष्टाविंशतिः सर्वार्थे । ततश्चतुर्दश सिद्धौ,षड्विंशतिः सर्वार्थे । ततः पञ्चाशत् सिद्धौ,त्रिसप्ततिः सर्वार्थे । ततोऽशीतिः सिद्धौ, चत्वारः सर्वार्थे । ततः पञ्च सिद्धौ, नवतिः सर्वार्थे । ततश्चतुःसप्ततिर्मुक्तौ,पञ्चषष्टिः सर्वार्थे । ततो द्विसप्ततिः सिद्धौ, सप्तविंशतिः सर्वार्थे । एकोनपञ्चाशन्मुक्तौ, त्र्युत्तरं शतं सर्वार्थे । तत एकोनत्रिंशत् सिद्धौ । उक्तञ्च-"सिवगइसव्वट्ठेहिं, दो दो ठाणा विसमुत्तरा नेया । जावेगुणतीसट्ठाणे, गुणतीस पुण छव्वीसाए " ॥ १ ॥ अत्र " जावेत्यादि " यावदेकोनत्रिंशत्तमे स्थाने त्रिकरूपे षड्विंशतौ प्रक्षिप्तायामेकोनत्रिंशद् भवति ।

४ स्थापना—

३	८	१६	२४	११	१७	२६	१४	५०	८०	४	७५	६२	४६	२६	मो०
५	१२	२०	६	१५	३१	२८	२६	७३	४	६०	६५	२७	१०३	०	स०

एवं त्र्यादिविषमोत्तरा गण्डिका असंख्येयास्तावद्वक्तव्या यावदजिनस्वामिपिता जितशत्रुः समुत्पन्नः । नवरं पाश्चात्यायां गण्डिकायां यदन्त्यमङ्कस्थानं तदुत्तरस्यामुत्तरस्यामादिमं द्रष्टव्यम् । तथा प्रथमायां गण्डिकायामादिममङ्कस्थानं सिद्धौ, द्वितीयस्यां सर्वार्थसिद्धे, तृतीयस्यां सिद्धौ, चतुर्थ्यां सर्वार्थे । एवमसंख्येयास्वपि गण्डिकास्वादिमान्यङ्कस्थानानि क्रमेणैकान्तरितानि शिवगतौ सर्वार्थे च वेदितव्यानि । एतदेव दिग्मात्रप्रदर्शनतो भाव्यते-तत्र प्रथमायां गण्डिकायामन्त्यमङ्कस्थानमेकोनत्रिंशत्,तत एकोनत्रिंशद्वारान् सा एकोनत्रिंशदूर्ध्वाधः क्रमेण स्थाप्यते । तत्र प्रथमेऽङ्के नास्ति प्रक्षेपः । द्वितीयादिषु चाङ्केषु "दुगपणनवगं तेरस" इत्यादयः क्रमेण प्रक्षेपणीया राशयः प्रक्षिप्यन्ते । तेषु च प्रक्षिप्तेषु सत्सु यद्यत्क्रमेण भवति तावन्तस्तावन्तः क्रमेण सिद्धौ सर्वार्थे एवं वेदितव्याः । तद्यथा-एकोनत्रिंशत्सर्वार्थे, सिद्धावेकत्रिंशत् । ततश्चतुस्त्रिंशत् सर्वार्थे, सिद्धावष्टात्रिंशत् । ततो द्विचत्वारिंशत्सर्वार्थे, षट्चत्वारिंशत् सिद्धौ । तत एकपञ्चाशत्सर्वार्थे, पञ्चत्रिंशत् सिद्धौ । सप्तत्रिंशत्सर्वार्थे, सिद्धावेकचत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत्सर्वार्थे, सप्तपञ्चाशत् सिद्धौ । ततः पञ्चपञ्चाशत्सर्वार्थे, चतुःपञ्चाशत्सिद्धौ । चत्वारिंशत्सर्वार्थे, द्विचत्वारिंशत् सिद्धौ । सर्वार्थे षट्सप्ततिः, सिद्धौ नवनवतिः । षडुत्तरं शतं सर्वार्थे,त्रिंशत् सिद्धौ । एकत्रिंशत् सर्वार्थे,सिद्धौ षोडशाधिकं शतम् । शतं सर्वार्थे,सिद्धावेकनवतिः । सर्वार्थेऽष्टानवतिः, त्रिपञ्चाशत् सिद्धौ । पञ्चसप्ततिः सर्वार्थे,सिद्धावेकोनत्रिंशं शतम् । ततः पञ्चपञ्चाशत् सर्वार्थे ।

स्थापना-

२६	३४	४२	५१	३७	४३	५५	५०	७६	१०६	३१	१००	६०	९५	५५	म०
३१	३८	४६	३५	४१	४७	५४	४२	६६	३०	११८	६१	५३	१२१	०	सि

एषा द्वितीया गण्डिका । अस्यां च गण्डिकायामन्त्यमङ्कस्थानं पञ्चपञ्चाशत् । ततस्तृतीयस्यां गण्डिकायामिदमेवादिममङ्क-

स्थानम्। ततः पञ्चाशत् एकोनत्रिंशद्वारान् स्थाप्यते। ततः प्रथमेऽङ्के नास्ति प्रक्षेपो, द्वितीयादिषु चाङ्केषु क्रमेण द्विकपञ्चनवकत्रयोदशादयः पूर्वोक्तराशयः क्रमेण प्रक्षेपणीयाः प्रक्षिप्यन्ते। इह चादिममङ्कस्थानं सिद्धौ, ततस्तेषु प्रक्षेपणीयेषु राशिषु प्रक्षिप्तेषु सत्सु यद्यत्क्रमेण भवति तावन्तस्तावन्तः प्रथमादङ्कादारभ्य सिद्धौ सर्वार्थे इत्येवं क्रमेण वेदितव्याः। एवमन्यास्वपि गणिमकासूक्तप्रकारेण भावनीयम्। उक्तं च-

"विसमुत्तरा य पढमा, एवमसंखविसमुत्तरा नेया।
सव्वत्थ वि अंतिल्लं, अग्गाए आइमं ठाणं ॥ १ ॥
अउणतीसं वारा, ठावेउं नत्थि पढमपक्खेवो।
सेसे अडवीसाए, सव्वत्थ दुगाइओ क्खेवो ॥ २ ॥
सिवगइपढमादीए, बीयाए तह य होइ सव्वट्ठे।
इय एगंतरियाइं, सिवगइसव्वट्ठठाणाइं ॥ ३ ॥
एवमसंखेज्जाओ, चित्तंतरगंडिया मुणेयव्वा।
जाव जिअसत्तुराया, अजियजिणपिया समुप्पन्नो" ॥ ४ ॥

तथा अमरेत्यादिविविधेषु परिवर्तेषु भवभ्रमणेषु, जन्तूनामिति गम्यते। अमरनरतिर्यग्निरयगतिगमनमेवमादिका गणिमका बहव आख्यायन्ते। (सेत्तं गंडियाणुश्रोगे) सोऽयं गणिमकानुयोगः। नं०। स०।

गंमी-गण्मी-स्त्री०। सुवर्णकारादीनामधिकरण्यां गण्डिकायाम्, स्था० ४ ठा० ४ उ०। कमलमध्यस्थकर्णिकायाम्, उत्त० ३६ अ०।

गंमीतिंदुग-गण्मीतिन्दुक-पुं०। वाराणस्यां तिन्दुकोद्याने स्वनामख्याते यक्षे, ती० ३८ कल्प।

गंमीपय-गण्डीपद-पुं०। गण्डी च सुवर्णकाराधिकरणिस्थानमिव पदं येषां ते गण्डीपदाः। हस्त्यादिषु चतुष्पदेषु, प्रज्ञा० १ पद। स्था०। जीवा०। भ०। सूत्र०।

गंमीपोत्थय-गण्मीपुस्तक-न०। पुस्तकभेदे, "बाहल्लपुहुत्तेहिं गंमीपोत्थओ तुल्लगो दीहो" बृ० ३ उ०। बाहल्यं पिण्डः, पृथुत्वम् विस्तारस्ताभ्यां तुल्यः समानश्चतुरस्रो दीर्घश्च गण्डीपुस्तको ज्ञातव्यः, स्था० ४ ठा० २ उ०। नि० चू०। प्रव०। आव०। ध०। दश०। जीत०।

गंमीरी-इक्षुखण्डे, दे० ना० २ वर्ग।

गंमीव-धनुषि, दे० ना० २ वर्ग। अर्जुनस्य धनुषि, धनुर्मात्रे, वाच०।

गंडूपय-गण्डूपद-पुं०। स्त्री०। गण्डूः ग्रन्थयस्तद्युतानि पदानि यस्य। किञ्चुलुके, वाच०। अद्रिन्द्रियकर्कटकादौ च, आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ०।

गंमूस-गण्डूष-पुं०। गडि ऊषन्। मुखपूरणे, मुखान्तर्जलादौ च। वाच०। गण्डूषोऽपि अभावे दन्तकाष्ठस्य मुखशुद्धविधिः पुनः कार्यो, द्वादशगण्डूषैर्जिह्वोल्लेखस्तु सर्वदेति विधिना कार्यः। ध० २ अधि०। सूत्र०।

गंमोपहान-गण्मोपधान-न०। गल्लमसूरिकायाम्, बृ० ३ उ०।

गंतव्व-गन्तव्य-त्रि०। यातव्ये "तम्हा ण उ वीसंभो गन्तव्वो" सूत्र० ३ श्रु० ४ अ० १ उ०। गंतव्वमवसस्स मे, उत्त० १२ अ०।

गंता-गत्वा-अव्य०। गम्-क्त्वाप्रत्ययः। 'प्राप्य' इत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ०।

गंतिय-गन्तृक-न०। तृणभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

गंतुं-गत्वा-अव्य०। गमनं कृत्वेत्यर्थे, "गंतुं ताय! पुणो गच्छे" तात पुत्र! गत्वा गृहम्। सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०।

गंतुकाम-गन्तुकाम-त्रि०। गन्तुमनस्के, गन्तुकामो नाम सोऽभिधीयते यः सदैव गन्तुमना व्यवतिष्ठते, वक्ति च कोऽस्य गुरोः संनिधानेऽवतिष्ठते?, समर्थ्यतामेतत् श्रुतस्कन्धादि,ततो यास्यामीति। तदेवंभूतः शिष्यो न योग्यः श्रवणस्य। आ० म० प्र०।

गंतुपच्चागइया-गत्वाप्रत्यागतिका-स्त्री०। गत्वा प्रत्यागतं यस्यामिति। गोचरभूमिभेदे, उपाश्रयात्रिर्गतः सन् एकस्यां गृहपङ्क्तौ भिक्षमाणः क्षेत्रपर्यन्तं गत्वा प्रत्यागच्छन् पुनर्द्वितीयायां गृहपङ्क्तौ यस्यां भिक्षते। स्था० ६ ठा०। पञ्चा०। पं० व०। ध०। ग०। बृ०।

गंतूण-गत्वा-अव्य०। गम्-क्त्वा "क्त्वस्तूनः"। ८।४।३१२। इति पैशाच्यां क्त्वाप्रत्ययस्य तूनादेशः। प्राकृते तु तूणादेशः। यात्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद। "गंतूण जणस्स" गत्वा जनस्य सांयात्रिकलोकस्य। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। "कत्थ गंतूण सिज्झइ" क्व गत्वा सिज्झइ त्ति। औ०।

गंथ-ग्रन्थ-पुं०। ग्रथ्यतेऽनेन अस्मादस्मिन्निति वा अर्थ इति ग्रन्थः। ग्रन्थ्यते इति वा ग्रन्थः। श्रुते शास्त्रे, आ० म० प्र०। शब्दसंदर्भे, आ० म० प्र०। रा०। "गंथिज्जइ तेण तओ, तम्मि व तो तं मयं गंथो" (१३८३) ग्रथ्यतेऽनेनास्मादस्मिन्वाऽर्थ इति तदेव ग्रन्थ उच्यते। अथवा तदेव ग्रथ्यते विरच्यते इति ग्रन्थः। विशे०।

ग्रन्थनिक्षेपः-

सच्चित्ताई गंथो, दव्वे भावे इमं चेव।

ग्रन्थद्वारमाह-द्रव्यतो नोआगमतो व्यतिरिक्तो ग्रन्थस्त्रिविधः। सचित्तादि, सचित्तोऽचित्तो मिश्रश्च। एष त्रिविधोऽप्युपरि प्रथमसूत्रे। वक्ष्यते भावे ग्रन्थः, इदमेव कल्पाध्ययनम्॥ बृ० १ उ०। अनु०। आ० चू०। स्था०। विशे०। आचा०। ग्रथ्यते बध्यते कषायवशगेनात्मनेति ग्रन्थः। अथवा गध्नाति बध्नाति आत्मानं कर्मणेति ग्रन्थः। उत्त० ६ अ०। बन्धहेतौ हिरण्यादौ, मिथ्यात्वादौ च, स्था० २ ठा० १ उ०। सूत्र०। परिग्रहे, विशे०। स्था०। सूत्र०।

अथ ग्रन्थपदं, तस्य च नामादिभेदाच्चतुर्धा निक्षेपः। तत्र नामस्थापने गतार्थे। द्रव्यग्रन्थस्त्रिधा, सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदात्। सचित्तश्चम्पकमालेत्यादि। अचित्त एकावलिहारादिकः। मिश्रः शुष्कपत्रमिश्रिता प्रशस्तमाला। भावग्रन्थस्तु स उच्यते येन क्षेत्रवस्त्वादिना क्रोधादिना वाऽमी जन्तवः कर्मणा सहात्मानं ग्रन्थयन्ति। तं च भाष्यकार एव सविस्तरं व्याख्यानयति-

सो वि य गंथो दुविहो, बज्झो अब्भिंतरो अ बोधव्वो।
अंतो अ चोदसविहो, दसहा पुण बाहिरो गंथो ॥ १ ॥

सोऽपि च भावग्रन्थो द्विविधस्तद्यथा-बाह्योऽभ्यन्तरश्च बोद्धव्यः। तत्राभ्यन्तरो ग्रन्थश्चतुर्दशविधो वक्ष्यमाणः, बाह्यः पुनर्ग्रन्थो दशधा दशप्रकारो वक्ष्यमाण एव।

यदि नामैवं द्विविधो ग्रन्थस्ततो निर्ग्रन्थ इति किमुक्तं भवति?, इत्याह—

सद्दिरन्नगो सगंथो त्ति, तेण निग्गंथ अहय निक्खेवो।

करिसे अवचियगंथो, पतणुगंथो च निग्गंथो ॥

सहिरण्यक इत्येकग्रहणे तज्जातीयग्रहणमिति न्यायाद् हिरण्यसुवर्णादिबाह्यग्रन्थसहित उपलक्षणत्वादान्तरग्रन्थ उच्यते। नास्ति न विद्यते यस्य तथाविधो द्विविधोऽपि ग्रन्थः स निर्ग्रन्थः। अथवा निर्ग्रन्थ इत्यत्र यो निर्शब्दः सोऽपकर्षेऽपचये वर्त्तते, ततश्चापचितः प्रतनुकृतो ग्रन्थो बाह्य आभ्यन्तरश्च येन स निर्ग्रन्थ उच्यते ॥

अथ यदुक्तं बाह्यो ग्रन्थो दशधेति तद्विवरीपुराह–

खेत्तं१ वत्थुं२ धण ३ धन्न४-संचओ ५ मित्तणाइसंजोगो ६ ।
जाणऽसयणासणाणि य७,दासीदासं च८ कुवियं च १० ॥

क्षेत्रं धान्यनिष्पत्तिस्थानम् १, वस्तु भूमिगृहादि २, धनं सुवर्णादि ३,धान्यं बीजजातिः ४, संचयस्तृणकाष्ठादिसंग्रहः५। मित्राणि सुहृदयः, ज्ञातयः स्वजनाः, संयोगः श्वशुरकुलसम्बन्ध इति त्रिभिरप्येक एव ग्रन्थः ६। यानानि वाहनानि ७, शयनासनानि च पल्यङ्कपीठकादीनि ८, दास्यश्च दासाश्च दासीदासं ९, कुप्यं चोपस्कररूपं १०, इत्येष दशविधो ग्रन्थः॥ बृ० १ उ० ॥
सम्प्रति चतुर्दशविधमभ्यन्तरग्रन्थमाह–

कोहे १ माणे २ माया ३ ,
लोभे ४ पेज्जं ५ तहेव दोसो अ ६ ।
मिच्छत्तं ७ वेय ८ अरई ९,
रई १० हास ११ सोगो १२ भय १३ दुगुंछ १४ ॥

क्रोधो मानो माया लोभश्चेति चत्वारः प्रतीताः ४। प्रेमशब्देनाभिष्वङ्गलक्षणो रागोऽभिधीयते ५। दोषशब्देन तु अप्रीतिकलक्षणो द्वेषः ६। मिथ्यात्वमर्हत्प्रणीतत्त्वविपरीतावबोधरूपम्, तच्च द्विविधं वा, त्रिषष्ट्यधिकशतत्रयभेदं वा, अपरिमितभेदं वा। तत्राऽनाभिग्रहिकं आभिग्रहिकं चेति द्विविधम्, अनाभिग्रहिकं पृथिव्यादीनाम् ।

आभिग्रहिकं तु एवंविधम्–

नत्थि न तित्थो न कुणइ, कयं भवे एइ नत्थि निव्वाणं ।
नत्थि य मोक्खो वाओ, छव्विहमिच्छत्तभिग्गहिय ॥

षष्ट्यधिकशतत्रयविधं पुनरिदम्–

असियसयं किरियाणं, अकिरियवाईण होइ चुलसीई ।
अन्नाणी सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा ॥

अपरिमितभेदं तु–

जावइया नयवाया, तावइया चेव होंति परसमया ।
जावइया परसमया, तावइया चेव मिच्छत्ता ॥

एवमनेकविकल्पमपि सामान्यतो मिथ्यात्वशब्देन गृह्यते, इति सप्तमो भेदः ७। वेदस्त्रिविधः, पुंस्त्रीनपुंसकभेदात्। तत्र यत् स्त्रियाः पित्तोदये मधुराभिलाष इव पुंस्यभिलाषो जायते स स्त्रीवेदः। यत्पुनः पुंसः श्लेष्मोदयादम्लाभिलाषवत् स्त्रियामभिलाषो भवति स पुंवेदः। यत्तु पण्डकस्य पित्तश्लेष्मोदये मज्जिकाभिलाषवदुभयोरपि स्त्रीपुंसयोरभिलाषः समुदेति स नपुंसकवेदः। इति त्रयोऽप्येक एव भेदः ८। तथा यदमनोज्ञेषु शब्दादिविषयेषु संयमे वा जीवस्य चित्तोद्वेगः सा अरतिः ९। यत्पुनस्तेष्वेव मनोज्ञेषु असंयमे वा रमणं सा रतिः १०। यत्तु सनिमित्तमनिमित्तं वा हसति तद् हास्यम् ११। प्रियविप्रयोगादिविह्वलचेतोवृत्तिराक्रन्दनादिका यत् करोति स शोकः १२। सनिमित्तमनिमित्तं वा यद्विभेति तद्भयम् १३। यत्पुनरस्नानदन्तपावनमलक्लीभोजनादिकमपरं मृतकलेवरविष्ठादिकं जुगुप्सते सा जुगुप्सा ॥ १४ ॥ एष चतुर्दशविधोऽप्याभ्यन्तरग्रन्थ उच्यते। बृ० १ उ० । उत्त० । " गंथेहिं विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए " (११) । ग्रन्थैः सबाह्याभ्यन्तरैः शरीररागादिभिर्विविक्तैस्त्यक्तैः सद्भिर्ग्रन्थैर्वाऽङ्गानङ्गप्रविष्टैः। आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । ग्रन्थत्वं हि कर्मबन्धहेतुत्वेन व्याप्तम्, ग्रथ्नाति संबध्नाति जीवः कर्ममलानिति ग्रन्थ इति व्युत्पत्तेः। आ० म० द्वि०। यत्र वस्तु-देहा-ऽऽहार-कनकादौ मूर्छा संपद्यते तन्निश्चयतः परमार्थतो ग्रन्थः। (वस्त्रपरिभोगेऽपरैः सह 'कप्प' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २३१ पृष्ठे विचारितम्) "सव्वं गंथं कलहं च विप्पजहे भिक्खू" भिक्षुः साधुः तथाविधं पूर्वोक्तं कर्मबन्धहेतुं सर्वग्रन्थं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं परिग्रहं विशेषेण परिजह्यात् परित्यजेत्। उत्त० ८ अ० । " गंथं परिण्णाय इहज्ज धीरे " ग्रन्थं बाह्यान्तभेदभिन्नं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय इहाद्यैव कालानतिपातेन धीरः सन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत् । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । शालकादिसंबन्धेषु, तद्भार्यादुहित्रादिषु, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । चतुर्दशे सूत्रकृताङ्गस्याऽध्ययने, स० २३ सम० । सूत्र० । आ० चू० । प्रश्न० । ('विणय' शब्दे समस्तमध्ययनं वक्ष्यते)

गंथदिट्ठ–ग्रन्थदृष्ट–त्रि०। प्रतिष्ठाकल्पादौ ग्रन्थे दृष्टे,ध० २अधि०।

गंथातीत–ग्रन्थातीत–पुं०। निर्ग्रन्थे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०।

गंथिम–ग्रन्थिम–न०। ' गंठिम ' शब्दार्थे ।

गंदीणी–चक्षुःस्थगनक्रीडायाम, दे० ना० २ वर्ग ।

गंध–गन्ध–पुं०। ' गन्ध ' अर्दने । गन्ध्यते आघ्रायते इति गन्धः। कर्म० ६ कर्म०। पं० सं०। विशे०। जी०। आ० म०। उत्त०। अनु०। गन्धो घ्राणग्राह्ये पृथिवीवृत्तौ, सम्म० ३ काण्ड। वाच०। दुर्गन्धसुगन्धात्मके गुणे,उत्त० २८ अ०। जी०। औ०। गन्धो द्वेधा, सुरभिश्च दुरभिश्च, तत्र सौमुख्यकृत्सुरभिः, वैमुख्यकृद् दुरभिः। साधारणपरिणामोऽप्यस्येष्टो दुर्ग्रह इति संसर्गजत्वादेव नोक्तः। (स्था०) "एगे गंधे" घ्रायते सिध्यते इति गन्धो घ्राणविषयः। स्था० १ ठा० १ उ०। विशे०। आ० म०। प्रज्ञा०। प्रव०। " दुविहा गंधा पन्नत्ता। तं जहा–अत्ता चेव अणत्ता चेव, मणामा चेव अमणामा चेव"। स्था० २ ठा० ३ उ०। प्राणातिपातादीनां वर्णगन्धादयो 'वण्ण' आदिशब्दे वक्ष्यन्ते। (सौधर्मेशानयोर्गन्धोऽन्यत्र)। गन्धेष्विति, गुणगुणिनोरभेदाद् मतुब्लोपाद्वा गन्धवत्सु, सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। कोष्ठपुटपाकादौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। आ० म०। दशा०। ज०। नि० चू०। पटवासादिरूपे, व्य० २ उ०। कर्पूरसम्बन्धिनि, प्रज्ञा० २३ पद। चूर्णविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। रा०।

सुरभिगन्धवर्णकः। तत्र सुरभिगन्धस्वरूपप्रतिपादयन्नाह–

तेसि णं भंते ! तणाण य मणीण य केरिसये गंधे पन्नत्ते ?। से जहा नामए कोट्ठपुडाण वा पत्तपुडाण वा चोयपुडाण वा तगरपुडाण वा एलापुडाण वा हिरिमेरपुडाण वा चंद-

णपुडाण वा कुंकुमपुडाण वा उसीरपुडाण वा चंपयपुडाण वा मरुगपुडाण वा दमणगपुडाण वा जातिपुडाण वा जूहियपुडाण वा मल्लियपुडाण वा एहाणमल्लियपुडाण वा वासंतियपुडाण वा केतियपुडाण वा कप्पूरपुडाण वा पाडलिपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण वा निब्भिज्जमाणाण वा कोट्टिज्जमाणाण वा भंजिज्जमाणाण वा उक्किरिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा भंडाओ वा भंडं साहरिज्जमाणाणं उराला मणुण्णा घाणमणोनिव्वुत्तिकरा सव्वतो समंता गंधा अभिणिस्सवंति । भवे एयारूवे सिया नो तिणट्ठे समट्ठे तेसिं णं तणाणं मणीण य एत्तो इट्ठतराए चेव० जाव गंधणं पन्नत्ते ॥

सम्प्रति गन्धस्वरूपप्रतिपादनार्थमाह-(तेसिं णं मणीणं तणाण येत्यादि) तेषां मणीनां तृणानां च कीदृशो गन्धः प्रज्ञप्तः? । भगवानाह-(से जहा नामए इत्यादि) प्राकृतत्वात् 'से' इति बहुवचानार्थः । ते यथा नाम गन्धाः अभिनिःस्रवन्तीति संबन्धः । कोष्ठं गन्धद्रव्यं, तस्य पुटाः कोष्ठपुटाः, तेषां 'वा' शब्दः सर्वत्रापि समुच्चये, इह एकस्य पुटस्य न तादृशो गन्ध आयाति, द्रव्यस्वल्पत्वात्, ततो बहुवचनम् । तगरमपि गन्धद्रव्यम्, एलाः प्रतीताः । चोयकं गन्धद्रव्यम् । चम्पकदमनककुङ्कुमचन्दनोशीरमरुकजातियूथिकामल्लिकास्नानमल्लिकाकेतकीपाटलीनवमालिकावासकर्पूराणि प्रतीतानि । नवरमुशीरं वीरणमूलं, स्नानमल्लिका स्नानयोग्या मल्लिकाविशेषः । एतेषामनुकूलवाते आघ्रायकविवक्षितपुरुषाणामनुकूलवाते वाति, उद्भिद्यमानानामुद्घाट्यमानानां, वाशब्दः सर्वत्रापि समुच्चये, निर्भिद्यमानानां नितरामतिशयेन भिद्यमानानाम् । (कोट्टिज्जमाणाण वा इति) इह पुटैः परिमितानि यानि कोष्ठादिगन्धद्रव्याणि तान्यपि परिमेये परिमाणोपचारात् कोष्ठपुटादीनीत्युच्यन्ते, तेषां कुट्यमानानां उदूखले कुट्यमानानाम् । (उव्विज्जमाणाण वा इति) श्लक्ष्णखण्डीक्रियमाणानाम्, एतच्च विशेषणद्वयं कोष्ठादिद्रव्याणामवसेयम् । तेषामेव प्रायः कुट्टतः श्लक्ष्णखण्डीकरणसंभवात्, न तु यूथिकानाम् । (उक्किरिज्जमाणाण वा इति) क्षुरिकादिभिः कोष्ठादिपुटानां कोष्ठादिद्रव्याणां वा उत्कीर्यमाणानाम् । (विकिरिज्जमाणाण वा इति) विकीर्यमाणानामितस्ततो विकीर्यमाणानाम् । (परिभुज्जमाणाण वा) परिभोगाय उपभुज्यमानानाम् । क्वचित् पाठे "परिभाइज्जमाणाण वा " इति । तत्र परिभाज्यमानानां पार्श्ववर्तिभ्यो मनाग् मनाग् दीयमानानाम् । (भंडाओ भंडं साहरिज्जमाणाण वा इति) भाण्डात् स्थानाद् एकस्माद् अन्यद् भाण्डं भाजनान्तरं संह्रियमाणानाम् । उदाराः स्फारास्ते वा मनोज्ञा अपि स्युरत आह-मनोज्ञा मनोऽनुकूलास्तच्च मनोज्ञत्वं कुत इत्याह-मनोहरा मनो हरन्ति आत्मवशं नयन्तीति मनोहरा यतस्ततो मनोज्ञाः । तदपि मनोहरत्वं कुत इत्याह-घ्राणमनोनिर्वृत्तिकरा एवंभूताः सर्वतः सर्वासु दिक्षु समन्ततः सामस्त्येन गन्धा अभिनिःस्रवन्ति, जिघ्रतामभिमुखं निस्सरन्ति । एवमुक्ते शिष्यः पृच्छति-(भवे एयारूवे) इत्यादि प्राग्वत् । जी० ३ प्रति०।

दुरभिगन्धवर्णकः-

घाणिंदिएण अग्घाइय गंधाणी अमणुण्णपावकाइं, किं ते? अहिमडअस्समडहत्थिमडगोमडविगसुणगसियालमणुयमज्जारसीहदीवियमयकुहियविणट्ठकिमिणबहुदुरभिगंधेसु अन्नेसु य एवमाइएसु अमणुण्णपावएसु न तेसु समणेण रूसियव्वं ।

अहिमृतादीन्येकादश प्रतीतानि । नवरं वृक ईहामृगः, द्वीपी चित्रकः, एषां चाहिमृतकादीनां द्वन्द्वः । द्वितीयाबहुवचनं द्रश्यम । तत आघ्रायेति क्रिया योजनीया । ततस्तेष्विति योगात्तेषु किंविधेष्वित्याह-मृतानि जीवविमुक्तानि, कुथितानि कोथमुपगतानि, विनष्टानि पूर्वाकारविनाशेन (किमिण त्ति) कृमिवन्ति, बहुदुरभिगन्धानि चात्यन्तामनोज्ञगन्धानि यानि तानि तथा । तेषु अन्येषु चैवमादिकेषु गन्धेषु अमनोज्ञपापकेषु न श्रमणेन रोषितव्यमिति । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । ज्ञा० । आचा० ।

सचित्तगन्धग्रहणे दोषाः-

जे भिक्खू सचित्तं पइट्ठियं गंधं जिग्घइ, जिग्घंतं वा साइज्जइ ॥ १० ॥

जे भिक्खू पूर्ववत् सचित्ते दव्वे जो गंधो सो सचित्तपतिट्ठितो, सो य अइमुत्तगपुप्फातियं जो जिघाति तस्स मासगुरुं आणादिणो य दोसा ।

इदाणिं णिज्जुत्ती-

जो गंधो जीवजुए, दव्वंमि सो तु होति सच्चित्तो ।
संबद्धमसंबद्धा व, जिंघणा तस्स दुविधा तु ॥ ११७ ॥

जीवजुत्तं दव्वं सचेयणं, तंमि जो गंधो सो सचित्तपतिट्ठितो भन्नति । तं पुणो दव्वं पुप्फफलानि, तस्स जिंघणा दुविहा, नासाग्रे संबद्धा वा, नासाग्रेऽसंस्पृष्टा, असंस्पृष्टा दूरे कृत्वा जिघ्रतीत्यर्थः ।

जिग्घंतस्स इमे दोसा-

जो तं संबद्धं वा, अथवाऽसंबद्ध जिंघते भिक्खू ।
सो आणाअणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥ ११८ ॥

जो साहू तं गंधं णासाए संबद्धं वा असंबद्धं वा जिग्घति सो आणाभंगे अणवत्थाए य वट्टति, अन्नेसिं च मिच्छत्तं जणयति, आयसंजमविराहणाए य वट्टति ।

इमा संजमविराहणा-

णासामुहणिस्सासा, पुप्फजीववधो तदस्सिताणं च ।
आयाए विसपुप्फं, तब्भावियमच्चादिट्ठंतो ॥ ११९ ॥

णीससंतस्स णासामुहेसु जो वायू तेण पुप्फजीवस्स संघट्टणादी भवति । (तदस्सियाणं ति) तम्मि पुप्फे ये आश्रिता अलिकादयः तेषां च संघट्टणादि संभवति । इमा आयविराहणा, आयाए पच्छद्धं आयविराहणाकयाइ विसपुप्फं भवति तेण मरति । (तब्भावियं ति) तेण विसेण भावितं तद्भावितं प्रत्यनीकादिना अमच्चो वा णक्को तदुवलक्खित्तो दिट्ठंतो जहा तेण वा णक्केण जोगविसभाविता गंधा कता सुबुद्धिमंत्रिवधाय इदमावश्यके गतार्थम ।

इदाणिं अववातो-

बितियपदमणप्पज्झे, अप्पज्झे वा पयागरादीसु ।

बाधा हवेज्ज कोयी, विज्जुविदेसा ततो कप्पे ॥ १२० ॥

अणपज्जो जिंघेज्जा, अणुपज्जो अजाणमाणो जिंघति अप्प-ज्जो वा जाणमाणो पयागरादिसु त्ति ततो जग्गियव्वं । तत्थ किंचि एरिसं पुप्फफलं जेण जिंघिएण णिद्दाणए त्ति । आदिस-द्दातो निद्दालाभे वा निमित्तं जिंघति । वाहीवाकोतिजिं-घिएण उवसमाति तं विज्जुवदेसा जिंघति ।

इमेण विहिणा-

अचित्तमसंबद्धं, पुव्वं जिंघे ततो य संबद्धं ।

अचित्तमसंबद्धं, सचित्तं चेव संवद्धं ॥ १२१ ॥

अचित्ते दव्वे गंधं असंबद्धं नासिकाग्रे (पुव्वं ति) पढमं जिं-घति । ततो तं चेव अचित्तं संबद्धं । ततो सचित्तं संबद्धं जिंघ-ति ॥ नि० चू० १ उ० ।

जे भिक्खू अचित्तपतिट्ठियं गंधं जिंघति, जिंघंतं वा साइज्जइ ॥ ए ॥

जे भिक्खू अचित्तं गंधं जिंघतीत्यादि णिज्जीवे चंदणादिकठे गंधं जिंघति मासलहुं ॥

जो गंधो जीवदढे, दव्वमीसो य होति अचित्तो ।

संबद्धासंबद्धा य, सिंघणा तस्स णातव्वा ॥ ३४ ॥

सो तं संबद्धं वा बितीयपदसचित्तमसंबद्धम । एता उ जिंघा पढमुद्देसो ॥ नि० चू० १ उ० ।

अह भंते ! कोट्ठपुडाण वा केतईपुडाण वा अणुवायंसि उब्भिज्जमाणाण वा० जाव ठाणाओठाणं संकामिज्जमाणाणं किं कोट्ठे वाइ० जाव केतई वाति ? । गोयमा ! णो कोट्ठे वाति० जाव णो केतईवाइ, घाणसहगया पोग्गला वाइ ॥

(अहेत्यादि) (कोट्ठपुडाण व त्ति) कोष्ठे यः पच्यते वासससमुदायः स कोष्ठ एव,तस्य पुटाः पुटिकाः कोष्ठपुटास्तेषां, यावत्करणादिदं दृश्यम-"पत्तपुडाण वा चोयपुडाण वा तगरपु-पुडाण वेत्यादि" तत्र पत्राणि तमालपत्राणि । (चोय त्ति) त्वक्, तगरं च गन्धद्रव्यविशेषः । (अणुवायंसि त्ति) अनुकूलो वातो यत्र देशे सोऽनुवातोऽतस्तत्र, यस्माद्देशाद् वायुरागच्छति तत्रेत्यर्थः । (उब्भिज्जमाणाण व त्ति) प्राबल्येनोर्ध्वं वा दार्य-माणानाम् । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"निब्भिज्जमाणाण वा" प्राबल्याभावेनाधो वा दार्यमाणानाम् । "उक्किरिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाणाण वा" इत्यादि । प्रतीतार्थाश्चैते शब्दाः (किं कोट्ठे वा इति) कोष्ठो वाससमुदयो, (वाति) दूरादागच्छत्यागत्य घ्राणग्राह्यो भवतीति भावः (घाणसहगय त्ति)घ्रायत इति घ्राणो गन्धो,गन्धोपलम्भक्रिया वा, तेन सह गताः प्रवृत्ता ये पुद्गलास्ते घ्राणसहगताः,गन्धगुणोपेता इत्यर्थः॥ इति । भ० १६ श० ६ उ० । गन्धस्य घ्राणेन्द्रियग्राह्यस्याऽऽसक्तिः "इंदिय" शब्दे द्वि० भागे ५५६ पृष्ठे उक्ता ।

गंधंग-गन्धाङ्ग-न० । वालकप्रियङ्गुपत्रकदमनकत्वकचंदनोशीर-देवदार्वादिषु गन्धकारणेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

कई णं भंते ! गंधंगा पन्नत्ता ?,कई णं भंते ! गंधसया य ?। गोयमा ! सत्त गंधंगा, सत्तगंधसया पन्नत्ता ।

(कई णमित्यादि) कति भदन्त ! गन्धाङ्गानि, क्वचित् गन्धा इति पाठः, तत्र पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् 'गन्धाङ्ग' इति गन्धाङ्गानीति द्रष्टव्यं, प्रज्ञप्तानि ? तथा कति गन्धाङ्गशतानि प्रज्ञ-प्तानि ? भगवानाह -गौतम ! सप्त गन्धाङ्गानि सप्त गन्धाङ्गशता-नि प्रज्ञप्तानि । इह सप्त गन्धाङ्गानि परिस्थूलजातिभेदादमूनि-तद्यथा, मूलं त्वक् काष्ठं निर्यासः पत्रं पुष्पं फलं च । तत्र मूलं मुस्तावालकोशीरादि, त्वक् सुवर्णवल्लीत्वचाप्रभृति, काष्ठं चन्दनागरुप्रभृति, निर्यासः कर्पूरादि,पत्रं जातिपत्रतमालपत्रादि, पुष्पं प्रियङ्गुनागरपुष्पादि, फलं जातिफलककङ्कोलकैलालवङ्गप्र-भृति, एते च वर्णमधिकृत्य प्रत्येकं कृष्णादिभेदात् पञ्च पञ्च भेदा इति वर्णपञ्चकेन गुण्यन्ते, जाताः पञ्चत्रिंशत् । गन्धचि-न्तायामेते सुरभिगन्धयः एवेत्येकेन गुणिताः, पञ्चत्रिंशद् जाताः । पञ्चत्रिंशदेव एकेन गुणिताः, तदेव भवतीति न्यायात् तत्राप्येकैकस्मिन् वर्णभेदे रसपञ्चकं द्रव्यभेदेन विविक्तं प्राप्यते, इति सा पञ्चत्रिंशद् रसपञ्चकेन गुण्यते, जातं पञ्च-सप्ततं शतम् । स्पर्शाश्च यद्यप्यष्टौ भवन्ति तथापि गन्धाङ्गेषु यथोक्तरूपेषु प्रशस्ता व्यवहारतश्चत्वार एव मृदुलघुशीतोष्ण-रूपास्ततः पञ्चसप्ततं शतम् । स्पर्शचतुष्टयेन गुण्यते, जातानि सप्तशतानि । उक्तं च-मूलतयकट्ठनिज्जास-पत्तपुप्फफलमो य गंधंगा । वण्णादुत्तरभेया, गंधंगसया मुणेयव्वा " ॥ १ ॥

अस्या व्याख्यानरूपं गाथाद्वयम्-

" मुत्था सुवण्णवल्ली, अगरुवालो तमालपत्तं च ।

तह य पियंगू (जाइफलं च) जाईए गंधंगा गुणणाए ।

सत्तसया पंचहिं, वण्णेहिं सुरभिगंधेण ।

रसपणगेणं तह फा-सेहिं यचउहिं मेसेहिं "॥

"अत्र (जाईए गंधंगा इति) जात्यजात्यभेदेनामूनि गन्धाङ्गानि । शेषं भावितम् । (कई णमित्यादि) कति भदन्त ! पुष्पजातिकुल-कोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि ? । भगवानाह-गौतम ! षोमश पुष्पजातिकुलकोटियोनिप्रमुखशतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा--चत्वारि जलजानां पद्मानां जातिभेदेन, तथा चत्वारि स्थलजानां कोरिण्टकादीनां जातिभेदेन,चत्वारि महागुल्मिका-दीनां जात्यादीनां, चत्वारि महावृक्षाणां मधुकादीनामिति । जी० ३ प्रति० ।

गंधकासाइया-गन्धकाषायिका-स्त्री० । गन्धप्रधानेन कषायेण रक्ता शाटिका गन्धकाषायिका । उपा० १ अ० । गन्धप्रधाना-यां कषायरक्तायां शाटिकायाम्, भ० ६ श० ३३ उ० । कल्प० ।

गंधघाणि-गन्धघ्राणि-स्त्री० । घ्राणेन्द्रियस्य पूर्णतृप्तिकरे ग-न्धद्रव्ये, यावद्भिर्गन्धपुद्गलैर्गन्धविषये घ्राणिरुपजायते तावती-र्गन्धपुद्गलसंहतिरुपचाराद् गन्धघ्राणिरित्युच्यते । रा० । जी० ।

गंधट्टय-गन्धाष्टक-न० । गन्धद्रव्यक्षोदे, " गन्धट्टएणं उव्वट्टि-त्ता " स्था० ३ ठा० १ उ० ।

गंधड्ड-गन्धाढ्य-त्रि० । सद्गन्धगुणसमृद्धे, पञ्चा० ४ विव० । कर्पूरकस्तूरिकादिगन्धैः पूर्णे, वाच० ।

गंधणाम-गन्धनामन्-न० । गन्ध्यत आघ्रायत इति गन्धस्तद्धे-तुर्वाङ्नामकर्म गन्धनाम । कर्म० १ कर्म० । नामकर्मभेदे, ।

अथ गन्धनाम द्विधाऽऽह-

सुरहिदुरही रसा पण, तित्तकडुकसायअंबिला महुरा ।

फासा गुरुलहुमिउखर–सीउएहसिणिद्धरुक्खट्ठा ॥४०॥ इह गन्धशब्दः प्रक्रमाक्रम्यते । ततः सुरभिगन्धो दुरभिगन्धश्च द्वेधा गन्धः । तत्र सौमुख्यकृत्सुरभिगन्धः, यदुदयाज्जन्तुशरीरं कर्पूरादिवत् सुरभिगन्धं भवति, तत्सुरभिगन्धनाम । वैमुख्यकृद् दुरभिगन्धः, यदुदयाज्जन्तुशरीरं लशुनादिवद् दुरभिगन्धं भवति तद् दुरभिगन्धनाम । अत्राप्युभयसंयोगजाः पृथग् नोक्ताः, एतत्संसर्गजत्वादेव भेदाऽविवक्षणात् । उक्तं द्विधा गन्धनाम ॥ कर्म्म० १ कर्म । स० । आ० । पं० सं० । गन्धरूपे अर्थे, से किं तं गंधनामे ?, गंधनामे दुविहे पण्णत्ते, तं जहा–सुरभिगंधनामे दुरभिगंधनामे । सेत्तं गंधनामे । अनु० ।

गंधदव्व–गन्धद्रव्य–न० । गन्धप्रधाने श्रीखण्डादौ, उत्त० १ अ० । आ० म० । नागकेसरे, वाच० ।

गंधदेवी–गन्धदेवी–स्त्री० । सौधर्मे कल्पे देवीभेदे, सा च पूर्वभवे पार्श्वस्वाम्यन्तिके प्रव्रज्य कालं कृत्वा सौधर्मे कल्पे गन्धविमाने देवीत्वेनोपपन्नेति । नि० ४ वर्ग ।

गंधपरिणय–गन्धपरिणत–त्रि० । गन्धतः परिणतः। गन्धभाजि, प्रज्ञा० १ पद ।

गंधपरिणाम–गन्धपरिणाम–पुं० । अजीवपरिणामभेदे, " गंधपरिणामे णं भंते ! कतिविहे पण्णत्ते ?, गोयमा ! दुविहे पण्णत्ते । तं जहा–सुब्भिगंधपरिणामे दुब्भिगंधपरिणामे य " ॥ प्रज्ञा० १३ पद ।

गंधपिसाअ–देशी–गान्धिके, दे० ना० २ वर्ग ।

गंधप्पिय–गन्धप्रिय–पुं० । पद्मखण्डनगरराजज्येष्ठपुत्रे ग० २ अधि० । आ० म० । आचा० । (स चाऽपरमात्रा गन्धेन मारित इति 'घाणिंदिय' शब्दे द्रष्टव्यम्)

गंधमंत–गन्धवत्–त्रि० । प्रशंसायामतिशायने वा मतुः । प्रशस्तगन्धयुक्ते, अतिशायितगन्धयुक्ते च । स्था० ४ ठा० ४ उ० । आचा० । सूत्र० ।

गंधमायण–गन्धमादन–पुं० । गजदन्तकगिरिविशेषे, प्रश्न० २ संव० द्वार ।

गन्धमादनवक्षस्कारगिरिप्रश्नमाह–

कहि णं भंते ! महाविदेहे वासे गंधमायणे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते ?। गोयमा ! णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं, मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरपच्चत्थिमेणं, गंधिलावइस्स विजयस्स पुरच्छिमेणं, उत्तरकुराए पच्चत्थिमेणं; एत्थ णं महाविदेहे वासे गंधमायणे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते । उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणवित्थिण्णे तीसं जोअणसहस्साइं दुण्णि अ णवुत्तरे जोअणसए छच्च य एगूणवीसइभाए जोअणस्स आयामेणं णीलवंतवासहरपव्वयं । तेणं चत्तारि जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, चत्तारी गाउअसयाइं उव्वेहेणं, पंचजोअणसयाइं विक्खंभेणं, तयाणंतरं च णं मायाए मायाए उस्सेहुव्वेहपरिवुड्ढमाणे परिवुड्ढमाणे विक्खंभपरिहाणीए परिहायमाणे परिहायमाणे मंदरपव्वयंतेणं पंचजोअणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पंचगाउअसयाइं उव्वेहेणं, अंगुलस्स असंखिज्जइभागं विक्खंभेणं पण्णत्ते । गयदंतसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे । उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं अ वणसंडेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते गंधमायणस्स णं वक्खारपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे० जाव आसयंति सयंति ॥

(कहि णमित्यादि) भदन्त ! महाविदेहे वर्षे गन्धमादनो नाम वक्षसि मध्ये गोप्यं क्षेत्रं द्वौ संभूय कुर्वन्तीति वक्षस्काराः, तज्जातीयोऽयमिति वक्षस्कारपर्वतो गजदन्ताऽपरपर्यायः प्रज्ञप्तः ?। गौतम ! नीलवन्नाम्नो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिणभागेन, मन्दरपर्वतस्य मेरोरुत्तरपश्चिमायां च, अन्तरालवर्तिना दिग्विभागेन वायव्यकोणेनेत्यर्थः । गन्धिलावत्याः शीतोदोत्तरकूलवर्तिनोऽष्टमविजयस्य पूर्वेण, उत्तरकुरूणां सर्वोत्कृष्टभोगभूमिक्षेत्रस्य पश्चिमेन, अत्रान्तरे महाविदेहे वर्षे गन्धमादनो नाम वक्षस्कारपर्वतः प्रज्ञप्तः। उत्तरदक्षिणयोरायतप्राचीनप्रतीचीनयोः पूर्वपश्चिमयोर्दिशोर्विस्तीर्णः त्रिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च नवोत्तरे योजनशते षट् एकोनविंशतिभागान् योजनस्यायामेन । अत्र यद्यपि वर्षधराद्रिसम्बन्धमूलानां वक्षस्कारगिरीणां सार्धैकैकाऽष्टशतद्विचत्वारिंशद्योजनप्रमाणकुरुक्षेत्रान्तर्वर्तिनामेतावानायामो न संपद्यते, तथाऽप्येषां वक्रभावपरिणतत्वेन बहुतरक्षेत्राऽवगाहित्वात् संभवतीति । नीलवद्वर्षधरसमीपे चत्वारि योजनशतानि ऊर्ध्वोच्चत्वेन, चत्वारि गव्यूतशतानि उद्वेधेन, पञ्चयोजनशतानि विष्कम्भेण, तदनन्तरं मात्रया मात्रया क्रमेण क्रमेणोत्सेधोद्वेधयोरुच्चत्वोच्चत्वपरिवृद्ध्या परिवर्धमानः परिवर्धमानो विष्कम्भपरिहीयमाणः परिहीयमाणो मन्दरपर्वतस्य मेरोरन्ते समीपे पञ्चयोजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन, पञ्चगव्यूतिशतान्युद्वेधेन, अङ्गुलस्यासंख्यभागविष्कम्भेण प्रज्ञप्तः । गजदन्तस्य यत् संस्थानं प्रारम्भे नीचत्वमन्ते उच्चत्वमित्येवं, तेन संस्थितः सर्वात्मना रत्नमयः। श्रीउमास्वातिवाचककृतजम्बूद्वीपसमासप्रकरणे तु कनकमय इति, शेषं प्राग्वत् । अथास्य भूमिसौभाग्यमावेदयति-(गंधमायणस्स इत्यादि) गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्योपरि बहुसमरमणीयो भूमिभागः प्रज्ञप्तः । अत्र यावत्पदाद्धिताढ्याद्रिशिखरतलवर्णकगतं सर्वं बोध्यम् । जं० ४ वक्ष० । (कूटान्यस्य 'कूड' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२५ पृष्ठे उक्तानि)

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ गंधमायणे वक्खारपव्वए गंधमायणे वक्खारपव्वए ?। गोयमा ! गंधमायणस्स णं वक्खारपव्वयस्स गंधे से जहा णामए कोट्ठपुडाण वा० जाव पिसिज्जमाणाण वा उक्किरिज्जमाणाण वा विकिरिज्जमाणाण वा परिभुज्जमाणाण वा० जाव उराला मणुण्णा० जाव गंधा अभिणिस्सवंति । भवे एआरूवे ?, णो इणट्ठे समट्ठे, गंधमायणस्स णं इत्तो इट्ठतराए चेव० जाव गंधे पण्णत्ते, से एणट्ठेणं गोअमा ! एवं वुच्चइ गंधमायणवक्खारपव्वए गंधमायणवक्खारपव्वए । गंधमायणे अ इत्थ देवे महिड्ढीए परिवसइ, अदुत्तरं च णं सासए णामधिज्जे ॥

सम्प्रति नामार्थं पिपृच्छिषुराह—(से केणट्ठेणमित्यादि) प्रश्नसूत्रं सुगमम् । उत्तरसूत्रे गन्धमादनस्य वक्षस्कारपर्वतस्य गन्धः स यथा नाम कोष्ठपुटानां यावत् पदात् तगरपुटादीनां

संग्रहः । पिष्यमाणानां वा संचूर्ण्यमानानां, उत्कीर्यमाणानां वा, विकीर्यमाणानां वा, परिभुज्यमानानां वा, यावत् पदात् भाण्डाद् भाण्डान्तरं वा संह्रियमाणानामिति । उदारा मनोज्ञाः, यावत्पदाद् गन्धा इति कर्तृपदम् , अभिनिःस्रवन्ति । एवमुक्ते शिष्यः पृच्छति-भवेत् तद्रूपो गन्ध इति ?। भगवानाह-नायमर्थः समर्थः। गन्धमादनस्य इतो भवदुक्तगन्धादिष्टतरक एव। यावत् करणात् कान्ततरक एवेत्यादि पदग्रहो निगमनवाक्ये,ने नार्थेन गौतम ! एवमुच्यते-गन्धेन स्वयं माद्यतीव मदयति वा तन्निवासिदेवदेवीनां मनांसीति गन्धमादनः । "बहुलम्" ।५। १ । २। इति वचनात् कर्त्तर्यनट् कृत्प्रत्ययः " घञ्युपसर्गस्य बहुलम् । ३ । २ । ८६। इत्यत्र बहुलाधिकारादतिशायनादिवद् मकाराकारस्य दीर्घत्वमिति। गन्धमादननामा चात्र देवो महर्द्धिकः परिवसति, तेन तद्योगादितिनाम। अन्यत् सर्वं प्राग्वत् । जं० ४ वक्ष० । ' दो गंधमायणा ' स्था० २ ठा० ३ उ० । स० ।

गंधमायणकूड-गन्धमादनकूट-न०। गन्धमादनस्य तृतीये कूटे, जं० ४ वक्ष० ।

गंधवया-देशी-नासायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गंधवई-गन्धवती-स्त्री० । भूतानन्दावासस्थाने, " धरणस्स नागरन्नो, सुहवतिपरियाए दक्खिणे पासे । गन्धवईपरियाओ, भूयाणंदस्स उत्तरओ " ॥२१६॥ द्वी० ।

गंधवट्टय-गन्धवर्त्तक-न० । गन्धयुक्तोद्वर्त्तनचूर्णे, यदि, " गन्धद्रव्याणामुपलकोष्ठादीनां यद्वर्त्तिचूर्णं गोधूमचूर्णं वा गन्धयुक्तं तत् " । उपा० १ अ० ।

गंधवट्टि-गन्धवर्त्ति-स्त्री० । गन्धद्रव्याणां गन्धयुक्तशास्त्रोद्देशेन निर्वर्तितगुटिकायाम्, स० । कस्तूरिकागुटिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गंधवट्टिभूय-गंधवर्त्तिभूत-त्रि०। गन्धवर्तिभूतं सौरभ्याऽतिशयात् । गन्धद्रव्यगुटिकाकल्पे, रा० । जी०। प्रज्ञा०। औ० । स०। भ० । ज्ञा०। कल्प०।

गंधवर-गन्धवर-पुं० । न० । प्रधानचूर्णे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । गन्धप्रधाने चूर्णे, पञ्चा० ४ विव० ।

गंधवाइकूड-गन्धपातिकूट-न० । अष्टमे शिखरिवर्षधरपर्वतस्य कूटे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गंधवाय-गन्धवाद-पुं० । द्वासप्ततिकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

गंधवास-गन्धवर्ष-पुं० । गन्धद्रव्यवृष्टौ, " एगं महं अमयवासं च गंधवासं " आचा० ३ चू० ।

गंधविहि-गन्धविधि-पुं० । कोष्ठपुटपाकादीनां गन्धानां प्रकारे, सू० १ उ० ।

गंधव्व-गन्धर्व-पुं० । देवगायने, उत्त० १ अ० । व्यन्तराऽष्टमभेदे, औ० । स्था० । भ० । उत्त० । सूत्र० । स० । गन्धर्वा द्वादशविधास्तद्यथा-हाहा १-हूहू २-तुम्बुरवः ३ नारदाः ४ ऋषिवादिकाः ५। भूतवादिकाः ६ कादम्बाः ७ महाकादम्बाः ८ रैवताः ९ विश्वावसवः १० गीतरतयः ११ गीतयशसः १२ । प्रज्ञा० १ पद । ('इंद' आदिशब्देष्वेषामिन्द्रादयः) मनुष्यगायने राज्ञां अश्विभेदे, जं० ३ वक्ष० । एकविंशतितमे अहोरात्रमुहूर्त्ते,ज्यो० २ पाहु०। चं०प्र० । कल्प० । स० । कुन्थुयक्षे,श्रीकुन्थोर्गन्धर्वयक्षः श्यामवर्णः सिंहवाहनश्चतुर्भुजो वरदपाशकान्वितदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गाऽङ्कुशाधिष्ठितवामकरद्वयश्च । प्रव० २६ द्वार० । मृगभेदे कस्तूरीमृगे, घोटके, अन्तराभवसत्त्वे च । वाच० ।

गान्धर्व-न० । गन्धर्वैः कृतं गान्धर्वम् । नाट्यादिके,रागगीत्यादिकं गीतं, पदस्वरतालाऽवधानात्मकं गान्धर्वमिति भरतादिशास्त्रवचनात् । जं० १ वक्ष० । आव० । नृत्तयुक्तगीते, विपा० १ श्रु० २ अ० । कल्प० । ध० । "गंधव्वेण विवाहेण,सयमेव विवाहिया " आ० म० प्र० । स्था० ।

गंधव्वकंठ-गन्धर्वकण्ठ-न० । गन्धर्वकण्ठप्रमाणे रत्नविशेषे, रा० ।

गंधव्वगण-गन्धर्वगण-पुं० । गन्धर्वसमुदाये, जी० ३ प्रति० ।

गंधव्वघरग-गन्धर्वगृहक-न० । गीतनृत्याऽभ्यासयोग्येषु गृहकेषु, जं० १ वक्ष० । रा० । जी० ।

गंधव्वणागदत्त-गान्धर्वनागदत्त-पुं० । गान्धर्वप्रिये नागदत्तकुमारे, आव० ४ अ० । ("पडिक्कम" शब्देऽस्य कथा द्रष्टव्या)

गंधव्वणिकाय-गन्धर्वनिकाय-पुं० । गन्धर्वाणां व्यन्तराष्टमभेदभूतानां निकायो वर्गो येषां ते गन्धर्वनिकायाः । गन्धर्वेषु, औ० ।

गंधव्वनगर-गन्धर्वनगर-न० । सुरसद्मप्रासादोपशोभितनगराऽऽकारतया दृश्यमानेऽर्थे, अनु० । गन्धर्वनगरं नाम चक्रवर्त्यादिनगरस्योत्पातसूचनाय सन्ध्यासमये तस्य नगरस्योपरि द्वितीयं नगरं प्राकाराट्टालादिसंस्थितं दृश्यते । प्रव० १६८ द्वार० । व्य० ।

" कपिलं सस्यघाताय, माञ्जिष्ठं हरणं गवाम् ।
अव्यक्तवर्णं कुरुते, बलक्षोभं न संशयः ॥ १ ॥
गन्धर्वनगरं स्निग्धं, सप्राकारं सतोरणम् ।
सौम्यां दिशं समाश्रित्य, राज्ञस्तद्विजयंकरम् ॥ २ ॥
स्था० ८ ठा० ॥

गंधव्वमंडलपविभत्ति-गन्धर्वमण्डलप्रविभक्ति-न० । गन्धर्वमण्डलाऽऽकृत्यभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा० ।

गंधव्वसंघाम-गन्धर्वसङ्ग्राम-पुं० । गन्धर्वयुद्धे, जं० १ वक्ष० ।

गंधव्वसाला-गन्धर्वशाला-स्त्री० । गानशालायाम्, व्य० १० उ० ।

गंधव्वाणीय-गन्धर्वानीक-न० । गायनसमूहे, स्था ७ ठा० । नाट्यानीके, रा० ।

गंधव्विय-गान्धर्विक-त्रि० । गन्धर्वे कुशलः, ठक् । सङ्गीतकुशले, वाच० । प्रत्युत्पन्नविनाशिज्ञाततायां गान्धर्विकाऽऽख्यानं तत्रैव । स्था० ४ ठा० ३ उ० । दश० ।

गंधसमिद्ध-गन्धसमृद्ध-न० । गन्धिलावतीविजये गन्धारजनपदप्रधाननगरे, आ० म० प्र० । आ० चू० ।

गंधसालि-गन्धशालि-पुं० । गन्धप्रधानः शालिः । आमोदवति धान्यभेदे, बासमतीप्रसिद्धे सुगन्धके शालौ, वाच० । " तेहिं गन्धसालिं अवहरइ " आ० म० द्वि० ।

गंधहत्थि [ण्]-गन्धहस्तिन्-पुं० । मदगलहस्तिनि, " तहेव पवित्थरितो सेयणतो गंधहत्थी " । आ० म० द्वि० । स्व-

नामख्याते आचार्यभेदे, आह च गन्धहस्ती-निह्नादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपपाते वर्त्तन्ते । कर्म्म० ६ कर्म० । स महानाचार्यः, आचाराङ्गादिषु पूर्वं तस्य वृत्तय आसन्, ततः शीलाङ्काचार्येण वृत्तिः कृता । तथा च आचाराङ्गव्याख्योपक्रमे शीलाङ्काचार्य एव-" शस्त्रपरिज्ञाविवरण-मतिगहनं च गन्धहस्तिकृतम् । तस्मात् सुखबोधार्थं, गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् " ॥१॥ आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

गंधहारग-गन्धहारक-पुं० । म्लेच्छजातीयभेदे, तेषां देशे च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० ।

गंधार-गान्धार-पुं० । " वायुः समुत्थितो नाभेः, कण्ठशीर्षसमाहतः । नानागन्धावहः पुण्यो, गान्धारस्तेन हेतुना ॥१॥" इति । तृतीये स्वरे, स्था० ७ ठा० । अनु० । अपरविदेहे गन्धिलावतीगन्धमादनवक्षस्कारगिरिवरासन्नवैताढ्यपर्वते, स्वनामख्याते जनपदे, आ० चू० १ अ० । आ० म० । ' कन्धार ' इतिख्याते भरतक्षेत्रीये जनपदभेदे, " इतो य गंधारविसए सुपुरिसपुरं नयरं, तत्थ नग्गई राया " आचू० ४ अ० । आव० । उत्त० । वैताढ्ये पर्वते दक्षिणविद्याधरश्रेण्यां स्वनामख्याते निकाये, कल्प० ७ क्षण । श्रीवीरप्रतिमार्चनाऽऽगते नीरोगीभूते स्वनामख्याते श्रावके, कल्प० ६ क्षण । आ० म० । संथा० ।

गंधारराय-गन्धारराज-पुं० । गन्धारजनपदराजे नग्नजिति, जो चूअरुक्खं तु मणाभिरामं, सो मंजरीपल्लवपुप्फचित्तं । रिद्धिं अरिद्धिं समुपेहियाणं, गंधाररायावि समिक्ख धम्मं ॥ १८ ॥ आव० ४ अ० । नि० चू० । आ० क० ।

गंधारी-गान्धारी-स्त्री० । सा चाऽरिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्यां गृहीत्वा सिद्धा, इत्यन्तकृद्दशासु पञ्चमे वर्गे तृतीयेऽध्ययने सूचितम् । अन्त० ५ वर्ग । गन्धारदेशोत्पन्नायां कृष्णाग्रमहिष्याम्, अन्त० ५ वर्ग । स्था० । आ० क० । श्रीनेमिजिनस्य शासनदेव्याम्, श्रीनेमिजिनस्य गान्धारी देवी श्वेतवर्णा हंसवाहना चतुर्भुजा वरदखड्गयुतदक्षिणकरद्वया बीजपूरककुन्तकलितवामकरद्वया च । प्रव० २७ द्वार । महाविद्याभेदे, आ० चू० । कल्प० ।

गंधावइ-गन्धापातिन्-पुं० । हरिवर्षे वृत्तवैताढ्यपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । " गंधावइवासी अरुणा देवी " स्था० २ ठा० ३ उ० । (रम्यग्वर्षेऽस्य वृत्तवैताढ्यपर्वते 'रम्मग' शब्दे व्याख्या)

गंधावईवासि [ण]-गन्धावतीवासिन्-पुं० । गन्धावतीवासिनि देवे, ' दो गंधावईवासी अरुणा देवा ' स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गंधियसाला-गन्धिकशाला-स्त्री० । गन्धप्रधानशालायाम्, गन्धिकशाला शौरिकशाला अन्याऽपि च एवमादिका गन्धप्रधाना सा गन्धिकशालेत्युच्यते । व्य० ६ उ० ।

गंधिल-गन्धिल-पुं० । मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदया उत्तरे चक्रवर्तिविजयक्षेत्रयुगले, " दो गंधिला " स्था० २ ठा० ३ उ० । " गंधिले विजये अवज्झा रायहाणी देवे वक्खारपव्वए " । गन्धिले विजयेऽयोध्या राजधानी देवो वक्षस्कारः । जं० ४ वक्ष० ।

गंधिलावई-गन्धिलावती-स्त्री० । मन्दरस्य पश्चिमेन शीतोदाया महानद्या उत्तरेऽष्टनामन्तिमे चक्रवर्तिविजये, स्था० ८ ठा० । " गंधिलावईविजए अवज्झा रायहाणी " गन्धिलावतीविजयेऽयोध्या राजधानी । जं० ४ वक्ष० । ' दो गंधिलावई ' । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गंधिलावईकूड-गन्धिलावतीकूट-पुं० । गन्धमादनवक्षस्कारपर्वतस्य तृतीये कूटे, जं० ४ वक्ष० । स्था० । गन्धिलावतीदीर्घवैताढ्यपर्वतस्याऽष्टमे कूटे च । स्था० ६ ठा० ।

गंधोदय-गन्धोदक-न० । श्रीखण्डादिरसमिश्रे जले, औ० । कल्प० । ज्ञा० । सुगन्धवारिणि, कल्प० ३ क्षण ।

गंधोदगदाण-गन्धोदकदान-न० । सुरभिजलवर्षणे, पञ्चा० २ विव० ।

गंधोदगदाणाइ-गन्धोदकदानादि-त्रि० । सकुन्धुरुक्योमिश्रजलप्रभृतौ, पञ्चा० ८ विव० ।

गंधोदगपुप्फवुट्ठि-गन्धोदकपुष्पवृष्टि-स्त्री० । तीर्थकरदानसमये जायमाने चतुर्थे दिव्ये, कल्प० ७ क्षण० ।

गंप्पि-गत्वा-अव्य० । गम-क्त्वा । " एप्प्येप्पिण्वेव्येविणवः " । ८ । ४ । ४४० । इति अपभ्रंशे क्त्वाप्रत्ययस्य एप्पिरादेशः । ततो " गमेरेप्पिण्वेप्प्योरेर्लुग्वा " । ८ । ४ । ४४२ । इति एप्पिप्रत्ययस्यैकारस्य लोपः । गमनं कृत्वेत्यर्थे, " गंप्पिणु वाणारसिहिं, नर अह उज्जेणिहिं गंप्पि । मुआ परावहिं परम-पउ दिव्वं तरिइं म जम्पि " ॥ प्रा० ४ पाद ।

गंप्पिणु-गत्वा-अव्य० । ' गंप्पि ' शब्दार्थे, ।

गंभीर-गम्भीर-न० । अलब्धस्ताघे, जी० ३ प्रति० । औ० । गम्भीरं नाम भग्नत्वादिदोषवर्जितं शेषजनेन च प्रायेणाऽवज्ञाणीयमध्यमभागं स्थानं, गम्भीरमस्ताघमितिवचनात् । व्य० १ उ० । ज्ञा० । रोषतोषाद्यवस्थायामप्यलब्धमध्ये, ध० ३ अधि० । रा० । जितेन्द्रिये, दर्श० । रा० । अतुच्छस्वभावे, प्रव० ६४ द्वार । ग० । व्य० । स्था० । सूक्ष्ममतिविषयभावाभिधायिनि, षो० ६ विव० । दैन्यादिवत्त्वेऽपि कारणवशात् संवृताऽऽकारतया महति, स्था० ४ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । रा० । प्रति० । गम्भीरो नाम संयतीनां पुरुषाद्याचरणं दृष्ट्वाऽपि विपरिणामं न याति । बृ० १ उ० । अलक्ष्यमाणहर्षदैन्यादिभावे, पञ्चा० ११ विव० । अदर्शितरोषतोषशोकादिविकारे, स० । विपुलचित्ते, पं० व० १ द्वार । खेदसहे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अप्रकाशे, दश० ५ अ० १ उ० । मेघशब्दवद् अतुच्छे स्वरे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । गम्भीरो नाम यतः प्रतिशब्द उत्तिष्ठते । बृ० १ उ० । एकत्रिंशत्तमे ऋषभदेवनन्दने, कल्प० ७ क्षण । जम्बीरे, पङ्के च । वाच० ।

गंभीरतर-गम्भीरतर-त्रि० । गन्तुमत्यन्तमलब्धमध्ये, जीवा० १ अधि० । गम्भीरतरो मधुरः शब्दो यस्याः सा तथा । आ० म० प्र० ।

गंभीरदरिसणिज्ज-गम्भीरदर्शनीय-त्रि० । अलक्ष्यमाणाऽन्तर्वृत्तित्वेन दृश्यमानेषु, स० ।

गंभीरदेसणा-गम्भीरदेशना-स्त्री० । सूक्ष्मदेशनायाम्, परिणते गम्भीरायाः पूर्वदेशनापेक्षयाऽत्यन्तसूक्ष्माया आत्मास्तित्वं तद्बन्धमोक्षादिकाया देशनाया योगो व्यापारः कार्यः । इदमुक्तं भवति-यः पूर्वं साधारणगुणप्रशंसादिरनेकधोपदेशः प्रोक्त आस्ते स यदा तदाचारककर्म्महासातिशयादङ्गाङ्गिभावलक्षणं परिणाममुपगतो भवति, तदा जीर्णे भोजनमिव गम्भीरदेशनायामसौ देशनार्हेऽवतार्यत इति । ध० १ अधि० ।

गंभीरपयत्थभणियमग्ग-गम्भीरपदार्थभणितमार्ग-पुं० । बन्धमोक्षस्वतत्त्वलक्षणे वचनपथे, पं० व० ४ द्वार ।

गंभीरपयत्थविरइय–गम्भीरपदार्थविरचित–त्रि०। गम्भीरैरतुच्छैः पदार्थानां शब्दानामर्थैरभिधेयैर्विरचितानि दृब्धानि गम्भीरपदार्थविरचितानि। महार्थेषु, "सारा पुण थुई थोत्ता, गंभीरपयत्थविरइया जे अ," पञ्चा० ७ विव०।

गंभीरपोयपट्टण–गम्भीरपोतपट्टन–न०। समुद्रतटस्थे पोतावलगनस्थाने ग्रामे, "जेणेव गंभीरपोयपट्टणे तेणेव उवागच्छति" ज्ञा० १ श्रु० १७ अ०।

गंभीरमज्झ–गम्भीरमध्य–त्रि०। गम्भीरं मध्यं यस्य स गम्भीरमध्यः। अप्राप्तमध्ये भवार्णवे, अष्ट० २२ अष्ट०।

गंभीरमालिणी–गम्भीरमालिनी–स्त्री०। गम्भीरं जलं मलने धारयतीति गम्भीरमालिनी। महाविदेहे सुवल्गुविजयेऽन्तर्नदीभेदे, जं० ४ वक्ष०। स्था०। 'दो गम्भीरमालिणीउ' स्था० २ ठा० ३ उ०।

गंभीररोमहरिस–गम्भीररोमहर्ष–त्रि०। गम्भीरोऽतीवोत्कटो रोमोद्धर्षो भयवशाद् येभ्यस्ते गम्भीररोमहर्षाः। दृष्टिभयानकेषु, यद्दर्शनमात्रे जन्तूनां भयसम्पादनेन मात्रागतरोमहर्षमुत्पादयन्तीति। जी० ३ प्रति०।

गंभीररोमहरिसजणण–गम्भीररोमहर्षजनन–त्रि०। गम्भीरश्चासौ भीषणत्वाद्रोमहर्षजननश्चेति गम्भीररोमहर्षजननः। भीषणे रोमहर्षजनने, भ० ६ श० ५ उ०।

गंभीरविजय–गम्भीरविजय–पुं०। गम्भीरमप्रकाशं विजय आश्रयः। अप्रकाशाश्रये, "गंभीरविजया एए, पाणा दुप्पडिलेहणा" (५६) दश० ६ अ०।

गंभीरसद्दत्त–गम्भीरशब्दत्व–न०। मेघस्येव शब्दनत्वे चतुर्थे सत्यवचनाऽतिशये, औ०।

गंभीरा–गम्भीरा–स्त्री०। ग्लानसाधुं प्रति जागरणयोग्यायां साध्व्याम्, "काउं न उत्तणेइ" गम्भीरा या वैयावृत्यं कृत्वा न उत्तणेइ, गर्वबुद्ध्या न प्रकाशयति सा। व्य० ५ उ०। चतुरिन्द्रियभेदे, प्रज्ञा० १ पद। जी०।

गंभीरोदाहरण–गम्भीरोदाहरण–न०। महापुरुषगतेऽतुच्छज्ञाने, पञ्चा० ६ विव०।

गंभीरिम–गाम्भीर्य–न०। परैरलब्धमध्यो गम्भीरस्तद्भावो गाम्भीर्यम्। षो० ४ विव०। अल्पशेमुष्याऽज्ञातमध्यत्वे, जीवा० ३ अधि०।

गगण–गगन–न०। अम्बरे, चं० प्र० १८ पाहु०। आकाशे, उत्त० २६ अ०। रा०। "गगणमिव निरालंबो" स्था० ९ ठा०।

गगणतल–गगनतल–न०। अम्बरतले, रा०। चं० प्र०। जी०। कल्प०। स०। "गगणतलविमलविपुलगमणगइचवलचलचवलियमणप्पवणजइणसिग्घवेगा" गगनतले विमले विपुले च यद्गमनं तस्य सम्बन्धी शीघ्रवेग इति सम्बन्धः। गतिश्चपला स्वरूपत एव यस्य तद्गतिचपलं, तच्च तच्चलितं च गन्तुं प्रवृत्तं तद्विधं यन्मनः पवनश्च तयोर्जयनशीलोऽत एव शीघ्रो वेगो येषां ते तथा। औ०। आकाशतले, भ० ६ श० ३३ उ०। कल्प०। गगनतलमम्बरमनुलिखन्ति अभिलङ्घयन्ति शिखराणि येषां ते गगनतलानुलिखच्छिखराः। जी० ३ प्रति। रा०। स०। सू० प्र०।

गगणवल्लह–गगनवल्लभ–न०। वैताढ्ये नगे उत्तरश्रेण्यां नमिविनमिभ्यां निवासिते नगरभेदे, कल्प० ७ क्षण०।

गग्ग–गर्ग–पुं०। गौतमगोत्रविशेषभूतपुरुषे, स्था० ७ ठा०। स च भरद्वाजगोत्र इति स्मृतिः। तस्य गोत्रापत्यं गर्ग–यञ्–गार्ग्यः। तद्गोत्रापत्ये, पुं०। स्त्री०। वाच०। स्वनामख्याते मुनौ, "थेरे गणहरे गग्गे मुणी आसी" गार्ग्यो नाम गर्गगोत्रोत्पन्नत्वाद् गार्ग्यः। उत्त० २६ अ०। (तस्य कुशिष्यत्यागः 'खलुंक' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७२५ पृष्ठे द्रष्टव्यः) प्रश्नः–गर्गाचार्यत्यक्तपञ्चशतसाधूनां साधुत्वं सम्भाव्यते नवा? स्वेच्छाचारित्वात्। उत्तरम्–गर्गाचार्यत्यक्तशिष्याणां व्यवहारतः साधुत्वेऽपि परमार्थतः साधुत्वाऽभाव एव सम्भाव्यते। ह्री० ४ प्रका०। पाशककेवलिकर्मविपाकनाम्नोर्ग्रन्थयोः कर्त्तरि स्वनामख्याते आचार्ये, स च विक्रमसंवत् ६६२ वर्षे आसीत। जै० इ०। यून्यपत्ये फक्–गार्ग्यायणः। यूनि तद्गोत्रापत्ये, पुं०। स्त्री०। बहुषु यञो लुग अस्त्रियाम्। कुणिरोगाक्रान्ते मुनिभेदे, वाच०।

गग्गर–गद्गद–न०। "संख्यागद्गदे रः"। ८। १। २१९॥ इति दस्य रः। "गग्गरं" प्रा० १ पाद॥

गर्गर–पुं०। स्त्री०। गर्गेति शब्दं राति। रा–क। गृ–वा यङ्। तरुणपशौ, दधिमन्थनभाण्डे च। वाच०।

गग्गरी–गर्गरी–स्त्री०। गर्गर–अल्पार्थे ङीप्। स्वल्पघटे, वाच०। यावता वृष्टेनाकाशबिन्दुभिर्महती गर्गरी भ्रियते। विशे०। अनु०।

गच्छ–गच्छ–पुं०। समुदाये, आ० म० प्र०। अनु०। एकाचार्यपरिवारे, औ०। जीवा०। एकाचार्यप्रणेयसाधुसमुदाये, पञ्चा० १८ विव०। ध०। गच्छमानम्–तिगमाइया गच्छा, सहस्सबत्तीसई उसभेण। त्रिकादयस्त्रिचतुःप्रभृतिपुरुषपरिमाणा गच्छा भवेयुः। किमुक्तं भवति?, एकस्मिन् गच्छे जघन्यतस्त्रयो जना भवन्ति, गच्छस्य साधुसमुदायरूपत्वात्तस्य च त्रयाणामधस्तादभावादिति। तत ऊर्ध्वं ये चतुःपञ्चप्रभृतिपुरुषसंख्याका गच्छास्ते मध्यमपरिमाणतः प्रतिपत्तव्यास्तावद्यावदुत्कृष्टं परिमाणं न प्राप्नोति। किं पुनस्तद्?, इति चेदत आह–(सहस्स बत्तीसइं उसभेण त्ति) द्वात्रिंशत्सहस्राण्येकस्मिन् गच्छे उत्कृष्टं साधूनां परिमाणं, यथा श्रीऋषभस्वामिप्रथमगणधरस्य भगवत ऋषभसेनस्येति। बृ० १ उ०। व्य०।

अथ गच्छाचारोक्तगच्छविधिरभिधीयते–

नमिऊण महावीरं, तिअसिंदनमंसिअं महाभागं।
गच्छायारं किंची, उद्धरिमो सुयसमुद्दाओ ॥१॥ ग०।

इह हि साधुना इहपरलोकहितार्थं सदाचारगच्छसंवासो विधेयोऽसदाचारगच्छसंवासश्च परिहार्यः, क्रमेण परमशुभाशुभफलत्वात्। तत्रापि अपरिकर्मितप्रदेशं चित्रकरणमिव, सच्छिद्रप्रवहणं समुद्रतरणमिव, अपरिवर्जिताऽपथ्यं तथौषधकरणमिव, अव्याकरणाध्ययनमन्यशास्त्राऽध्ययनमिव, अपरिबद्धपीठं भित्तिचयनमिव, सधूलीकं लिम्पनमिव, अनम्भःसङ्गं कमलरोपणमिव, अलोचनं मुखमण्डनमिव, अन्तर्गूढं च अपरित्यक्तोन्मार्गगामिगच्छसङ्गं सदाचारगच्छसंवलनमित्युन्मार्ग–

गामिगच्छसङ्गतिं परित्यज्यैव सन्मार्गगामिनि गच्छे संवसनीयमितिज्ञापनार्थं प्रथममुन्मार्गगामिगच्छसंवासे परमाऽपायफलं दर्शयति–

अत्थेगे गोयमा ! पाणी, जे उम्मग्गपइट्ठिए ।
गच्छम्मि संवसित्ता णं, भमई भवपरंपरं ॥ २ ॥

हे गौतम ! सन्त्येके केचन प्राणिनः सत्त्वा ये उन्मार्गप्रतिष्ठिते उन्मार्गगामिनि गच्छे संवस्य संवासं कृत्वा, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, भवपरम्परां संसारपरिपाटीं भ्रमन्ति । अत्र वचनव्यत्ययो दीर्घत्वं च प्राकृतत्वात् । एवमग्रेऽपि तत्र तत्र वचनादिव्यत्ययह्रस्वत्वदीर्घत्वविभक्तिलोपादि प्राकृतत्वादिनिबन्धनमनुक्तमपि स्वयमभ्यूह्यम् । असत्सङ्गो हि सतोऽपि शीलस्य विलयेन पातहेतुरेव । उच्यते चान्यत्रापि–"यदि सत्सङ्गनिरतो,भविष्यसि भविष्यसि । अथाऽसज्जनगोष्ठीषु,पतिष्यसि पतिष्यसि" ॥१॥ इह च "अत्थेगे गोयमा ! पाणी" इत्यादि सगौतमामन्त्रणश्रीमन्महावीरनिर्वचनवाक्योपलम्भाद् हे भदन्त ! किं सन्ति केचन प्राणिनः, ये उन्मार्गगामिनि गच्छे संवस्य भवपरम्परां भ्रमन्तीत्यादिरूपं यथासंभवि सभगवदामन्त्रणश्रीगौतमप्रश्नवाक्यमनुक्तमपि ज्ञेयम्; प्रश्नमन्तरेण निर्वचनस्य प्रायोऽसंभवात् । एवमुत्तरत्रापि तत्र तत्र प्रश्नवाक्यं यथासंभवि स्वयमेव वाच्यमिति । (ग०)

सदाचारलक्षणो गच्छः ।

अथ गाथात्रयेण सदाचारगच्छसंवासगुणानाह–

जामद्ध–जाम–दिण पक्खं, मासं संवच्छरं पि वा ।
सम्मग्गपट्ठिए गच्छे, संवसमाणस्स गोयमा ! ॥ ३ ॥
लीलाअलसमाणस्स, निरुच्छाहस्स वीमणं ।
पिक्खविक्खइ अन्नेसिं, महाणुभागाण साहुणं ॥ ४ ॥
उज्जमं सव्वथामेसु, घोरवीरतवाइयं ।
लज्जं संकं अइक्कम्म, तस्स विरियं समुच्छले ॥ ५ ॥

यामार्द्धं चतुर्घटिकं, यामं प्रहरं, दिनमहोरात्रम्; अत्र पदत्रयेऽपि विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात् । समाहारद्वन्द्वो वा चतुर्णां पदानाम् । पक्षं पञ्चदशदिनात्मकं, मासं पक्षद्वयात्मकं, संवत्सरं द्वादशमासात्मकम्, अपिशब्दाद्वर्षद्वयादिकं यावत् । वाशब्दो विकल्पार्थः । सन्मार्गप्रस्थिते आप्तोक्तमार्गप्रवृत्ते, गच्छे गणे संवसतो निवासं कुर्वाणस्य, जन्तोरिति शेषः, हे गौतम ! कथंभूतस्य?, लीलया अलसायमानस्य, अनलसोऽलसो भवतीति अलसायते; अलसायते इति अलसायमानः, तस्य । अत्र "डाच् लोहितादिभ्यः षित्" ।३।४।३०। इति (हैम०) सूत्रेण लोहितादेराकृतिगणत्वात् च्व्यर्थे क्यङ् प्रत्ययः । निरुत्साहस्य निरुद्यमस्य (वीमणं ति) षष्ठ्यर्थे द्वितीया, विमनस्कस्य शून्यचित्तस्य, (पिक्खविक्खइ त्ति) पश्यतः, अन्येषां महानुभागानां महाप्रभावाणां साधूनाम्, उद्यममनालस्यं, सर्वस्थामसु सर्वक्रियासु, कथंभूतमुद्यमम् ?, (घोरवीरतवाइअं ति) घोरं दारुणम्, अल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वात् । (वीर त्ति) वीरे भवं वैरं, वीरैः साध्यमानत्वात्, एवंविधं तप आदिर्यत्र तम् । आदिशब्दाद्वैयावृत्त्यादिकम् । लज्जां व्रीडां, शङ्कां जिनोक्ते संशयरूपाम्, अतिक्रम्य परित्यज्य, स्थितस्येति शेषः । तस्य सुखशीलत्वादिदोषयुक्तस्यापि, वीर्यं प्रधानधर्मानुष्ठानकरणोत्साहरूपं, समुच्छलेत् प्रादुर्भवेत् । सोऽपि जिनोक्तमार्गक्रियां कुर्यादित्यर्थः, पष्ठाङ्गोक्तशैलकाचार्यवदिति । त्रीण्यपि विषमाक्षराणीति गाथाच्छन्दांसि । ग० १ अधि० ।

गच्छस्याऽगच्छत्वं यथा स्यात्तथाऽऽह–

पज्जलंति जत्थ धगधग–धगस्स गुरुणा वि चोइए सीसा ।
रागद्दोसेण विअणु–सएण तं गोयम ! न गच्छं ॥ ५० ॥

प्रज्वलन्ति अग्निवद् यत्र गच्छे (धगधगधगस्स त्ति) अनुकरणशब्दोऽयं धगधगिति, धगधगायमानं यथा स्यात्तथेत्यर्थः । प्राकृतत्वाच्चैवं प्रयोगः । गुरुणाऽऽचार्येण, अपिशब्दादुपाध्यायादिनाऽपि (चोइए त्ति) भवादृशामयुक्तमेतदित्यादिना प्रकारेण नोदिते सति । के ?, शिष्या अन्तेवासिनः, केन प्रज्वलन्ति ?, रागद्वेषेण, अत्र समाहारद्वन्द्वादेकवचनम् । तथाऽनुशयेनापि 'हा ! कथं निरन्तरातिदुःसहदुःखसन्तापव्याकुलीकृतान्तःकरणा प्रव्रज्योररीकृता मया ' इत्यादिपश्चात्तापकरणेन चेत्यर्थः । अपिशब्दः चशब्दार्थे । यद्वा रागद्वेषेण, किंभूतेन ?, (विअणुसएण त्ति) विगतोऽनुशयः पश्चात्तापो यत्र तद् व्यनुशयं, तेन, पश्चात्तापरहितेनेत्यर्थः । हे गौतम ! स गच्छो न भवतीति । ग० २ अधि० ।

उम्मग्गपट्ठियं गच्छं, जे वासे लिंगजीवी णं ॥
से णं निव्विग्घमकिलिट्ठं, सामन्नं संजमं तवं ।
ण लभेज्जा ते सिया भावे, मोक्खे दूरयरंतिए ॥ (महा०)

(अत्थेगे गोयमेत्यादिगाथास्तु गच्छाचारपाठेन गतार्थाः)

वीरिएणं तु जीवस्स, समुच्छलिएण गोयमा ! ॥
जम्मंतरकए पावे, पाणी मुहुत्तेण निद्दहे ।
तम्हा निउणं निहालेउं, गच्छं संमग्गपट्ठियं ॥
निवसेज्ज तत्थ आजम्मं, गोयमा ! संजए मुणी ।

से भयवं ! कयरेणं से गच्छे जेणं वासेज्जा ?। एवं तु गच्छस्स पुच्छा० जाव णं वयासी । गोयमा ! जत्थ णं समसत्तुमित्तपक्खे अच्चंतसुनिम्मलविसुद्धतकरणे आसायणाभीरू सपरोवयारमब्भुज्जए अच्चंतं छज्जीवनिकायवच्छले सव्वालंबणविप्पमुक्के अच्चंतमप्पमादी सविसेसवितियसमयसब्भावे रोदट्टज्झाणविप्पमुक्के सव्वत्थ अणिगूहियबलवीरियपुरिसक्कारपरक्कमे एगंतेणं संजई कप्पपरिभोगविरए एगंतेणं धम्मंतरायभीरू एगंतेणं तत्तरुई एगंतेणं इत्थिकहा भत्तकहा तेणकहा रायकहा जणवयकहा परिभट्ठायारकहा एवं तिन्नि तिय अट्ठारस बत्तीसं विचित्तसप्पभेयसव्वविगहाविप्पमुक्के एगंतेणं जहासत्तीए अट्ठारसएहं सीलंगसहस्साणं आराहगे सयलमहन्निसाणुसमयमगिलाए जहोवइयमग्गपरूवए बहुगुणकलिए मग्गट्ठिए अक्खलियसीलंगमहासत्ते महाणुभागे नाणदंसणचरणगुणोववेए गणी । महा० ५ अ० ।

गच्छे वसतां बह्वी निर्जरा स्यादित्याह–

गच्छो महाणुभावो, तत्थ वसंताण निज्जरा विउला ।
सारणवारणचोयण–माईहिं न दोसपडिवत्ती ॥ ५१ ॥

गच्छः सुविहितमुनिवृन्दरूपः, महानुभावः प्रभावो यस्याऽसौ

महानुभावः। (तत्थ त्ति) तत्र गच्छे,वसतां वासं कुर्वतां,निर्जरा कर्मक्षयरूपा, भवतीति शेषः। किं भूता?,विपुला महती। कुतः?,इत्याह-यतस्तत्र वसतां सारणावारणाचोदनादिभिः, मोऽलाक्षणिकः;न दोषप्रतिपत्तिर्न दोषाबाभिर्भवति। तत्र विस्मृते क्वचित् कर्तव्ये भवतेदं न कृतमिति सारणा, अकर्तव्यानां निषेधो वारणा, संयमयोगेषु स्खलितस्याऽयुक्तमेतद्भवादृशां विधातुमित्यादिखरमधुरवचनैः प्रेरणं चोदना । आदिशब्दात्तथैव पुनः पुनः प्रेरणरूपा प्रतिचोदनेति । ग० २ अधि० ।

अथ शिष्यस्वरूपप्रतिपादनद्वारेण गच्छस्वरूपमेव प्रतिपादयन्नाह-

गुरुणो कज्जमकज्जं, खरकक्कसदुट्ठनिट्ठुरगिराए ।
भणिए तह त्ति सीसा, भणंति तं गोयमा! गच्छं ॥५६॥

गुरुणाऽऽचार्येण कार्ये चाकार्ये च कार्याकार्ये, तस्मिन्, मकारोऽलाक्षणिकः । खरकर्कशदुष्टनिष्ठुरगिरा अत्यन्तनिष्ठुरवचनया भणिते प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं कथिते सति (तह त्ति) तथेति यथा यूयं वदथ तत्तथैवेति यत्र गच्छे शिष्या विनेया भणन्ति, प्रतिपाद्यन्ते इत्यर्थः, तं गच्छं हे गौतम ! घण्टालालान्यायेन भणन्तीति क्रियाया अत्रापि संबन्धात्, भणन्ति प्रतिपादयन्ति, तीर्थंकरगणधरादय इति शेषः । ग० २ अधि० ।

आर्यिकाभिः सह न संवदन्ति-

जत्थ य अज्जाहि समं, थेरा वि न उल्लवंति गयदसणा।
न य झायंति त्थीणं, अंगोवंगाइ तं गच्छं ॥ ६१ ॥

यत्र च गच्छे आर्याभिः साध्वीभिः समं सार्धं स्थविरा अपि साधवः, किं पुनस्तरुणाः, 'न उल्लवंति' नाऽऽलापादि कुर्वन्ति । किंभूताः?,गता नष्टा दशना दन्ता येषां ते गतदशनाः;न च ध्यायन्ति स्त्रीणां नारीणामङ्गोपाङ्गानि । तत्राऽङ्गान्यष्टौ-बाहुद्वयम, ऊरुद्वयं, पृष्ठिः, शिरः, हृदयम, उदरं च । उपाङ्गानि-कर्ण-नेत्र-नासिकादीनि । तं गच्छं वदन्तीति शेषः। ग० २ अधि० । (व्याख्या ६३ गाथा च 'अज्जासंसग्गी' शब्दे प्र० भा० २२४ पृष्ठे द्रष्टव्या)

षट्काययतनावान् गच्छः ।

अथ पृथिव्यादिषड्जीवयतनामाश्रित्य प्रस्तुतमेवाह-

पुढविदगअगणिमारुअ-वाउवणस्सइतसाण विविहाणं ।
मरणंते वि न पीमा, कीरइ मणसा तयं गच्छं ॥ ७५ ॥

पृथिवी च पृथिवी च पृथिवीकायः, उदकं च उदकं च, अग्निश्च वह्निश्च, मारुतश्च वायुश्च; म्रियन्ते क्षुद्रजन्तवोऽनेनेति मरुत्, मरुदेव मारुतः, स चासौ वायुश्च मारुतवायुः, अतिचञ्चलत्वेन क्षुद्रसत्त्वोपद्रवकारी समीरणः; वनस्पतिश्च प्रत्येकसाधारणरूपः, त्रसाश्च द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियरूपास्ते तथा, तेषां विविधानामनेकप्रकाराणां, पीडा बाधा, मरणान्तेऽपि यत्र गच्छे मनसा, उपलक्षणत्वाद्वचनकायाभ्यां च न क्रियते मुनिभिः, हे गौतम ! स गच्छः स्यादिति । गाथाच्छन्दः। क्वचिद् 'चात्र त्ति' पदं न दृश्यते, तत्र व्याख्यानं सुकरमेव, छन्दस्तूपगीतिः । तल्लक्षणं चेदम्-"आर्या द्वितीयकेऽर्द्धे, यद् गदितं लक्षणं तत्स्यात ॥ यद्युभयोरपि दलयो-रुपगीतिं तां मुनिर्ब्रूते " ॥१॥ इति ॥

खज्जूरिपत्तमुंजेणं, जो पमज्जे उवस्सयं ।
नो दया तस्स जीवेसु, सम्मं जाणाहि गोयमा ! ॥७६॥

(खज्जूरिपत्तमुंजेण त्ति) खर्जूरीपत्रमयप्रमार्जन्या मुञ्जमयबहुकर्या वा यः साधुरुपाश्रयं वसतिं प्रमार्जयति तस्य मुनेर्जीवेषु दया घृणा नास्ति, हे गौतम ! त्वं सम्यग् जानीहीति । अनुष्टुप् छन्दः ।

जत्थ य बाहिरपाणिअ-बिंदूमित्तं पि गिम्हमाईसु ।
तिएहासोसियपाणा, मरणे वि मुणी न गिएहंति ॥७७॥

(अस्या व्याख्या 'आउकाय' शब्दे द्वि० भागे २४ पृष्ठे द्रष्टव्या) ग० २ अधि० ।

अथ स्त्रीकरस्पर्शादिकमिदमवसेयमित्यधिकृत्य प्रस्तुतमेवोद्भावयति-

जत्थित्थीकरफरिसं, अंतरियं कारणे वि उप्पन्ने ।
दिट्ठीविस-दित्तग्गी-वीसं व विवज्जए गच्छे ॥ ८३ ॥

यत्र गणे स्त्रीकरस्य स्पर्शः,अथवा स्त्रियाः करेण स्पर्शः स्त्रीकरस्पर्शस्तम्, उपलक्षणत्वात् स्त्रीपादादिस्पर्शं च, कथंभूतम ?, (अंतरियं) अपिशब्दस्येहाऽपि संबन्धाद् अन्तरितमपि वस्त्रादिना जातान्तरमपि किं पुनरनन्तरितम्, कारणेऽपि कण्टककरोगोन्मत्तत्वादिके उत्पन्ने संजाते सति, किं पुनरकारणे; दृष्टिविषश्च सर्पविशेषः, दीप्ताग्निश्च ज्वलितवह्निः, विषं च हालाहलादीनि, समाहारद्वन्द्वः,तदिव वर्जयेत्, उत्सर्गमार्गेण दूरतः त्यजेन्मुनिसमुदायः (गच्छ त्ति) स गच्छः स्यादिति शेषः ॥ ८३ ॥

बालाए वुड्ढाए, नत्तूअ दुहिआएँ अहव भइणीए ।
न य कीरइ तणुफरिसं, गोयम! गच्छं तयं भणियं ॥८४॥

इहापशब्दस्य सर्वत्र संबन्धाद् बालाया अपि अप्राप्तयौवनाया अपि, किंपुनः प्राप्तयौवनायाः;वृद्धाया अपि अतिक्रान्तयौवनाया अपि, किं पुनरनतिक्रान्तयौवनायाः; एवंविधायाः कस्याः ?, इत्याह-नप्तृका पौत्री, तस्या अपि, दुहिता पुत्री, तस्या अपि, अथवा भगिनी स्वसा, तस्या अपि, बालवृद्धोपलक्षणत्वादस्य दौहित्री-भ्रातृजा-जामेयी-पितृष्वसृ-मातृष्वसृ-जननी-मातामही-पितामहीग्रहः । कोऽर्थः ?, नप्तृकादीनामेकादशानां नालबद्धानामपि स्त्रीणां, किं पुनरनालबद्धानां तनुस्पर्शः, उपलक्षणत्वात् सविलासशब्दश्रवणादि च यत्र गच्छे न च नैव क्रियते हे गौतम ! स गच्छो भणित इति । इह हि संबन्धिन्या अपि स्त्रिया अङ्गस्पर्शादिवर्जनं, स्त्रीस्पर्शस्योत्कटमोहोदयहेतुत्वात् । ग० २ अधि० ।

क्रयविक्रयकारी गच्छो न भवति-

जत्थ य मुणिणो कयवि-क्कयाइँ कुव्वंति संजमब्भट्ठा ।
तं गच्छं गुणसायर !, विसं व दूरं परिहरिज्जा ॥१०३॥

यत्र गणे मुनयो द्रव्यसाधवः क्रयं मूल्येन वस्त्रपात्रौषधशिष्यादिग्रहणं, विक्रयं च मूल्येनान्येषां वस्त्रपात्रादिकार्पणं कुर्वन्ति । चशब्दादन्यैः कारयन्ति, अनुमोदयन्ति वा, किंभूता मुनयः ?, संयमभ्रष्टा दूरीकृतचारित्रगुणाः, गुणसागरेति गौतमामन्त्रणम, तं गच्छं विषमिव हालाहलमिव दूरतः परिहरेत् सन्मुनिः । अत्र विषस्योपमा देशसाम्येन, यतो विषादेकं मरणं भवति, संयमभ्रष्टगच्छात्त्वनन्तानि जन्ममरणानि भवन्तीति । ग० २ अधि० ।

सुगच्छे वसेत् ।

एवं शुभाऽशुभगच्छस्वरूपेऽवगते सति मुनिः किं कुर्यात् ?, इत्याह-

तम्हा सम्मं निहालेउं, गच्छं सम्मग्गपट्ठिअं ।
वसिज्जा पक्ख मासं वा, जावज्जीवं तु गोयमा ! ॥१०५॥

यस्मात् सद्गच्छः संसारोच्छेदकारी, असद्गच्छश्च संसारवर्द्धकः ; तस्मात् सम्यग् निभाल्य सम्यग् विलोक्य, गच्छं गणं सन्मार्गप्रस्थितं, तत्र पक्षं वा मासं वा, उपलक्षणत्वाद् मासद्वयादिकं वा, यावज्जीवम्, वा तुरपि विकल्पार्थे एव, वसेन्मुनिः, हे गौतम ! इति । ग० ३ अधि० । (वसतिरक्षणमधिकृत्यैकाकिन्या क्षुल्लिकादिकया प्रतिश्रयोपाश्रयरक्षणे दोषो, रात्रौ वसतेर्बहिर्गमने निर्मर्यादत्वादि च भागेऽस्मिन्नेव ३२ पृष्ठे 'एगाइ' शब्दे गच्छाचारपाठे द्रष्टव्यम्) (आर्यया गृहिसमक्षं दुष्टभाषणे दोषस्तु 'अज्जा' शब्दे प्र० भागे २२० पृष्ठे द्रष्टव्यः)

गच्छमर्यादा-

से भयवं ! केवइयं कालं० जाव गच्छस्स णं मेरा पन्नविया ?, केवइयं कालं० जाव णं गच्छस्स मेरा णाइक्कमेयव्वा ?। गोयमा ! जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे दुप्पसहे अणगारे ताव णं गच्छमेरा पन्नविया, जाव णं महायसे महासत्ते महाणुभागे दुप्पसहे अणगारे ताव णं गच्छमेरा नाइक्कमेयव्वा । महा० ॥

जत्थ य गोयम ! पंच-एह कह वि सूणाण एक्कमवि होज्जा ।
तं गच्छं तिविहेणं, वोसिरिय वइज्ज अन्नत्थं ॥
सूणारंभपवित्तं, गच्छं वेसुज्जलं ण वसेज्जा ।
जं चारित्तगुणेहिं,तु उज्जलं तं निवासेज्जा । महा०५अ० ।

गच्छे आचार्यादीनामभावे न वसेत् । यत्र गच्छे पञ्चानामाचार्योपाध्यायगणावच्छेदिप्रवर्तिस्थविररूपाणामसद्भावो,यदि वा यत्र पञ्चानामन्यतमोऽप्येको न विद्यते तत्र न वस्तव्यम्,अनेकदोषसंभवात्, तानेव दोषानाह-

एगं अमुत्तगिलाणे, परिण्णकुलकज्जमादिवग्गो उ ।
अप्पस्स ससल्लस्सा, जीवियघाते चरणघातो ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण एकादिहीने गच्छे, एकोऽशुभकार्ये मृतकस्थापनादौ, अपरो ग्लानप्रयोजनेषु, अन्यः परिज्ञायां कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य देशनादौ, अपरः कुलकार्यादौ व्यग्र इति; अन्यस्य पञ्चमस्याप्यन्यावस्थाप्राप्तस्य आलोचनाया असंभवेन सशल्यस्य सतो जीवनाशे चरणव्याघातश्चरणाद्भ्रंशः,चरणभ्रंशे च शुभगतिविनाशः ।

अत्र पर आह-

एवं होइ विरोहो, आलोयणपरिणतो उ सुद्धो उ ।
एगंतेण पमाणं, परिणामो वी न खलु अम्हं ॥

नन्वेवं सति परस्परविरोधः । तथाहि-भवद्भिरिदानीमेवमुच्यते-सशल्यस्य सतो जीवितनाशे चरणभ्रंशः, प्राक्त्वेवमुक्तम्-अदत्तालोचनेऽप्यालोचनापरिणामपरिणतः शुद्ध इति, ततो भवति परस्परविरोधः । अत्र सूरिराह-(एगंतेणेत्यादि) न खल्वस्माकं स्वशक्तिनिगूहनेन यथाशक्तिप्रवृत्तिविरहितः केवलपरिणाम एकान्तेन प्रमाणं, तस्य परिणामाऽऽभासत्वात् ; किन्तु सूत्रं प्रमाणीकुर्वतो यथाशक्तिप्रवृत्तिसमन्वितः, न चैकाद्यभावे गच्छे वसन् सूत्रमनुवर्तते, ततस्तस्य तात्त्विकपरिणाम एव नेति सशल्यस्य जीवितनाशे चरणनाशः ।

पुनरपि वक्तव्यान्तरं विवक्षुः प्रश्नमुत्थापयति-

चोयग किं वा कारण, पंचण्हऽसती तहिं न वसियव्वं ।
दिट्ठंतो वाणियए, पिंडियअत्थे वसिउकामे ॥

चोदक आह-यत्र पञ्चानां परिपूर्णानामसद्भावस्तत्र न वस्तव्यमित्यत्र किं वा कारणम्? को नाम दोषः ? सूरिराह-अत्र अधिकृतार्थे वणिजा पिण्डितार्थेन वस्तुकामेन दृष्टान्त उपमा, गाथायां सप्तमी तृतीयाऽर्थे । इयमत्र भावना-कोऽपि वणिक्,तेन प्रभूतोऽर्थः पिण्डितः, ततः सोऽचिन्तयत्-कुत्र मया वस्तव्यम् ?, यत्रैनमर्थं परिभुञ्जेऽहमिति ।

ततस्तेन परिचिन्त्येदं निश्चिक्ये-

तत्थ न कप्पइ वासो, आहारो जत्थ नत्थि पंच इमे ।
राया वेज्जो धणिमं, नेवइया रूवजक्खा य ॥

तत्र न कल्पते वासो यत्रेमे वक्ष्यमाणाः पञ्च नाधाराः के ते ?, इत्याह-राजा नृपतिः, वैद्यो भिषग्, अन्ये च धनवन्तो, नैतिकिका नीतिकारिणो, रूपयक्षा धर्मपाठकाः ।

कस्मादिति चेदत आह-

दविणस्स जीवियस्स व, वाघातो होज्ज जत्थ नत्थे ते ।
वाघाए वेगतर-स्स दव्वसंघाडणा अफला ॥

यत्र न सन्त्येते राजादयः परिपूर्णाः पञ्च, नियमतो द्रविणस्य धनस्य,जीवितस्य वा व्याघातो भवेत् । वैद्येन विना जीवितस्य, राजादिभिर्विना धनस्य, व्याघाते चैकस्य धनस्य जीवितस्य वा द्रव्यसंघाटना द्रव्योपार्जना विफला, परिभोगस्यासंभवात् ।

अथवा-

रण्णा जुवरण्णा वा, महत्तरय अमच्च तह कुमारेहिं ।
एएहिं परिग्गहियं, वसेज्ज रज्जं गुणविसालं ॥

राज्ञा युवराजेन महत्तरकेणामात्येन तथा कुमारैः, एतैः पञ्चभिः परिगृहीतं राज्यं गुणविशालं भवति, गुणविशालत्वाच्च तद्वसेत् । व्य० १ उ० । (राजादीनां लक्षणानि स्वस्वस्थाने द्रष्टव्यानि)

गच्छो जिनकल्पश्च द्वावप्येतौ महर्द्धिकौ

अथ शिष्यः प्रश्नयति-

गच्छे जिणकप्पम्मि य, दोण्ह वि कयरो भवे महिड्ढीओ ?
निप्फायगनिप्फण्णा, दोन्नि वि होंती महिड्ढीया ॥

गच्छजिनकल्पयोर्मध्ये कतरो महर्द्धिकः प्रधानतरो भवेत् ? गुरुराह-निष्पादकनिष्पन्नाविति कृत्वा द्वावपि महर्द्धिकौ प्रभवतः । तत्र गच्छः सूत्रार्थग्रहणादिना जिनकल्पिकस्य निष्पादकः, अतोऽसौ महर्द्धिकः; जिनकल्पिकस्तु निष्पन्नो ज्ञानदर्शनचारित्रेषु परिनिष्ठित इत्यसौ महर्द्धिकः ।

इदमेव भावयति-

दंसणनाणचरित्ते, जम्हा गच्छम्मि होइ परिवुड्ढी ।

एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ ॥

दर्शनज्ञानचारित्राणां यस्माद्गच्छे परिवृद्धिर्भवति, एतेन कारणेन गच्छो महर्द्धिको भवति ।

पुरतो व मग्गतो वा, जम्हा कत्तो वि नत्थि पडिबंधो ।

एएण कारणेणं, जिणकप्पीओ महिड्ढीओ ॥

पुरतो वा विहरिष्यमाणक्षेत्रे, मार्गतो वा पृष्ठतः पूर्वविहृतक्षेत्रे यस्मात्कुतोऽपि द्रव्यतः कालतो भावतो वा प्रतिबन्धस्तस्य भगवतो न विद्यते एतेन कारणेन जिनकल्पिको महर्द्धिकः ।

अथ द्वयोरपि महर्द्धिकत्वं दृष्टान्तेन दर्शयति–

दीवा अन्नो दीवो, पइप्पई सो य दिप्पइ तहेव ।

सीसो च्चिय सिक्खंतो, आयरिओ होइ नन्नत्तो ॥

दीपादन्यो द्वितीयो दीपो दीप्यते, स च मूलो दीपस्तथैव दीप्यते, एवं जिनकल्पिकदीपोऽपि गच्छदीपादेव प्रादुर्भवति, स च गच्छदीपस्तथैव ज्ञानदर्शनचारित्रैः स्वयं प्रदीप्यते। यद्वा–यथा शिष्य एव शिष्यमाणः सन् क्रमेणाचार्यो भवति, नान्यतो नान्येन प्रकारेण, एवं स्थविरकल्पिक एव तपःप्रभृतिभिर्भावनाभिरात्मानं भावयन् क्रमेण जिनकल्पिको भवति, नान्यथा । अतो द्वावपि महर्द्धिकौ ।

अस्यैवार्थस्य समर्थनायाऽपरं दृष्टान्तत्रयं दर्शयितुं निर्युक्तिगाथामाह–

दिट्ठंत गुहासीहे, दोन्नि य महिला पया य अपया य ।

गावीए दोन्नि वग्गा, सावेक्खो चेव निरवेक्खो ॥

दृष्टान्तोऽत्र गुहासिंहविषयः प्रथमः । द्वितीयो द्वे महिले, एका प्रजा अपत्यवती, द्वितीया अप्रजा अपत्यविकला । तृतीयो गवां द्वौ वर्गौ, एकः सापेक्षोऽपरो निरपेक्ष इति ।

तत्र गुहासिंहदृष्टान्तं भावयति—

सीहं पालेइ गुहा, अविहाडं तेण सा महिड्ढीया ।

तस्स पुण जोव्वणम्मी, पओअणं किं गिरिगुहाए ? ॥

"अविहाडं" इति देशीभाषया बालकं सिंहं गुहा पालयति वनमहिषव्याघ्रादिभ्यो रक्षति, तन्निर्गतस्य तेभ्यः प्रत्यपायसंभवात् । तेन कारणेन गुहा महर्द्धिका । यदा तु सिंहो यौवनं प्राप्तो भवति तदा तस्य किं प्रयोजनं गिरिगुहया ?, न किञ्चिदित्यर्थः । स्वयमेव वनमहिषाद्युपद्रवादात्मानं पालयितुं प्रत्यलीभूतत्वादित्थं सिंहो महर्द्धिकः ।

अथाऽर्थोपनयमाह–

दव्वाइमाईसुं, कुसीलसंसग्गिअन्नतित्थीहिं ।

रक्खइ गणी पुरोगो, गच्छो अ वि कोविए धम्मे ॥

गणी आचार्यः, स पुरोगः पुरःसरो नायको यस्य स तथाविधो गच्छो गुहास्थानीयः । सिंहशावकस्थानीयसाधुधर्मे श्रुतचारित्रात्मकोविदमध्याप्य प्रबुद्धं द्रव्यापदि, आदिशब्दात् क्षेत्रकालभावापत्सु, तथा कुशीलाः पार्श्वस्थादयस्तैरन्यतीर्थिकैर्वा सार्द्धं यः संसर्गस्तत्र च रक्षति । विस्रोतसिकाप्रमादमिथ्यात्वाद्युपद्रवात् पालयति, अतो गच्छो महर्द्धिकः । यदा त्वसौ द्विविधेऽपि धर्मे व्युत्पन्नमतिः कृतपरिकर्मा जिनकल्पं प्रतिपन्नस्तदा स्वयमेवाऽऽत्मानं द्रव्यापदादिष्वपि विस्रोतसिकादिविरहितः सम्यक् परिपालयति, अतो जिनकल्पिको महर्द्धिकः ।

अथ महेलाद्वयदृष्टान्तमाह—

आणाइस्सरियसुहं, एगा अणुभवति जइ वि बहुपुत्ती।

देहस्स य संठप्पं, भोगसुहं चेव कालम्मि ॥

परवावारविमुक्का, सरीरसक्कारतप्परा निच्चं ।

मंडणए वक्खित्ता, भत्तं पि न चेयई अपया ॥

द्वयोर्महेलयोर्मध्ये एका सप्रसवा यद्यपि बहुतरापत्यस्तनपानादिबहुव्यापारव्यापृता तथापि सा गृहस्वामिनीत्वादाज्ञैश्वर्यसुखमनुभवति, काले च प्रस्तावे देहस्य संस्थाप्यं संस्थापनां भोगसुखमपि च प्राप्नोति । या चाऽप्रजा अप्रसवा सा परव्यापारविमुक्ता अपत्यादिचिन्तावर्जिता नित्यं सदा शरीरस्य संस्कारमुखधावनादौ तत्परा मण्डनके विलेपनाभरणादौ व्याक्षिप्ता सती भक्तमपि भोजनमपि न चेतयति न संस्मरति ।

अर्थोपनयमाह–

वेयावच्चे चोयण–वारणवावारणासु य बहूसु ।

एमादी वक्खेवो, सययं झाणं न गच्छम्मि ॥

यथा सप्रसवायाः स्त्रियो बहुव्यापारव्यग्रता भवति तथा गच्छेऽपि, यथाऽऽचार्योपाध्यायादिवैयावृत्त्यम् । यावच्चक्रवालसामाचारीं हापयतो नोदनां चाकृत्य प्रतिसेवनां कुर्वतो, वारणीयाश्च बहवो, वस्त्रपात्राद्युत्पादनविषया व्यापारणाः, तदेवमादिषु यो व्याक्षेपो व्याकुलत्वं तस्मादेतोर्गच्छे सततं निरन्तरं ध्यानमेकाग्रशुभाऽध्यवसायात्मकमात्मनो मरणमनकल्पं न भवति । जिनकल्पिकस्य तु वैयावृत्त्यादिव्याक्षेपरहितस्य निरपत्यस्त्रिया आत्मनो मण्डनमिव निन्तरमेव तथा तदुपजायते, यथा भोक्तुमपि स्पृहा न भवति।

अथ गोवर्गद्वयदृष्टान्तमाह–

सद्दूलपाइयाओ, नस्संतीओ वि णेव धेनूओ ।

मोत्तूण वच्छगाइं, इवन्ति सपरक्कमाओ वि ।

न वि वच्छएसु सज्जं–ति वाहिओ नेव वच्छमाऊसु ।

सबलमगूहंतीओ, नस्संति भएण वग्घस्स ॥

धेनवोऽभिनवप्रसूता गावः, ताः शार्दूलेन व्याघ्रेण पातितास्त्रासिताः सत्यो नश्यन्त्योऽपि वर्णकानि वत्सरूपाणि मुक्त्वा सपराक्रमा अपि समर्था अपि नैव प्रधावन्ति न शीघ्रं पलायन्ते, अपत्यसापेक्षत्वात् । यास्तु 'वाहिओ' वष्कयण्यः, ता नापि वत्सकेषु सज्जयन्ति ममत्वं कुर्वन्ति, नापि वत्समातृषु धेनुषु, किन्तु स्वबलमगूहमाना व्याघ्रस्य भयेन नश्यन्ति, निरपेक्षत्वात् । एष दृष्टान्तः ।

अथार्थोपनयमाह–

आयसरीरे आयरि–यबालवुड्ढेसु अवि य सावेक्खा ।

कुलगणसंघेसु तहा, चेइयकज्जाइएसुं च ॥

यथा धेनवस्तथा गच्छवासिनोऽप्यात्मशरीरे आचार्यबालवृद्धेष्वपि च कुलगणसङ्घकार्येषु चैत्यादिकार्येषु च सापेक्षाः, अतः संसारव्याघ्रभयेन नश्यतोऽपि संहननादिबलोपेता अपि न शीघ्रं पलायन्ते । जिनकल्पिकास्तु भगवन्त आत्मशरीरादिनिरपेक्षा अधेनुगाव इव स्ववीर्यमगूहमानाः संसारव्याघ्राभिप्रसूतं पलायन्ते ।

यद्येवं तर्हि जिनकल्पो महर्द्धिकतर इत्यापन्नम्,नैवम्, यत आह-

रयणायर इव गच्छो, निप्फादश्र नाणदंसणचरित्ते ।
एएण कारणेणं, गच्छो उ भवे महिड्ढीओ ॥

रत्नाकर इव जिनकल्पिकादिरत्नानामुत्पत्तिस्थानं यतो गच्छो वर्त्तते, निष्पादकश्च ज्ञानदर्शनचारित्रेषु, तेन कारणेन गच्छो महर्द्धिकः।

इदमेव भावयति-

रयणेसु बहुविहेसुं, नीणिज्जंतेसु नेव नीरयणो ।
अतरो तीरइ काउं, उप्पत्ती सो य रयणाणं ॥
इय रयणसरिच्छेसुं, विणिग्गएसुं पि नेव नीरयणो ।
जायइ गच्छो कुणइ य, रयणब्भूते बहू अन्ने ॥

न तरीतुं शक्यते इति अतरो रत्नाकरः,स यथा बहुविधेषु रत्नेषु निष्काश्यमानेष्वपि नैव नीरत्नो रत्नविरहितः कर्तुं शक्यते । कुतः?,इत्याह-यत उत्पत्तिराकरोऽसौ रत्नानाम्। 'इय' एवं गच्छरत्नाकरोऽपि रत्नसदृशेषु जिनकल्पिकादिषु विनिर्गतेष्वपि नैव नीरत्नो जायते, आचार्यादिरत्नानां सर्वदैव तत्र सद्भावात् । करोति च पश्चादपि बहूनन्यान् साधून् रत्नभूतानिति गच्छो जिनकल्पिकश्च उभावपि महर्द्धिकौ। बृ० १ उ० ।

प्रश्नः--तन्मध्यस्थः (कृपणकादिदशमध्यस्थः) कश्चिद् ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपःप्रभृति शुभं कुर्वतां सङ्घस्थानां साम्निध्यम्, तदन्यस्तु वैपरीत्यं करोति, तयोः साम्यं न वेति ? ॥ ७ ॥

उत्तरम्-यथा प्रासादादिरक्षणविधाने शुभमेव फलं, तद्विपरीतविधाने त्वशुभमेव, एवं ज्ञानादिशुभं समाचरतां सङ्घस्थानां साम्निध्याऽसांनिध्ययोरपि (शुभाऽशुभफले) ॥ ७ ॥

प्रश्नः-वर्णादिभिर्भेदे जात्या शुनामिव दशानां परस्परमतभेदेऽपि आज्ञाविराधकत्वेन साम्यम्, किं वा विशेष इति ? ॥ ८ ॥

उत्तरम्-दशानां वर्णादिविचित्रत्वे साम्यप्रतिपादकं वचस्तु नात्मीयं, किन्तु परकीयमेव ॥ ८ ॥

प्रश्नः-चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वतामेषां तपागणसम्बन्धी शक्तिमान् श्राद्धः साम्निध्यं माध्यस्थ्यं विकारं वा भजते तदा लाभो न वेति ? ॥ ९ ॥

उत्तरम्-चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वतां तेषां श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽदिष्टचैत्यादिधर्मकार्ये साम्निध्यकरणमायाति सुन्दरम्, तदितरकार्ये तु माध्यस्थ्यमेव, न तु क्वापि वैपरीत्यकरणेन विरोधोत्पादनं श्रेयसे ॥ ९ ॥

प्रश्नः-नवानां लुम्पाकव्यतिरिक्तानां प्रतिमापूजा-स्तुती अशुचिविलेपनगालीप्रदानरूपे ?, अथवा-पूजास्तुतिरूपे ? इति ॥ १० ॥

उत्तरम्-नवानां पूजास्तुती अशुचिविलेपनगालीप्रदानरूपे इत्यादिवचनं तु सतामुच्चारार्हमेव न भवतीति किं प्रतिवचनेन ? ॥ १० ॥

प्रश्नः-केषाञ्चित्सङ्घभक्तिं च कुर्वतां भूतार्त्तमद्यपवत् साम्यम्, उत भक्तिजनितशुभप्रकृतिफलोदयो वा जन्मान्तरे ? ॥ ११ ॥

उत्तरम्-सङ्घभक्तिमनर्क्ति च कुर्वतां भूतार्त्तमद्यपवत् साम्यमित्यादिवाक्यं पूर्ववदेव प्रत्युत्तरितं बोध्यम् ॥ ११ ॥

प्रश्नः-एतेषां नमस्कारपाठ-बन्दिमोचन-ब्रह्मपालनादिकं किञ्चित् केषाञ्चिन्मार्गानुयायि, किं वा सर्वेषां शौनिक-लुब्धक-धीवराध्यवसायवत्पापहेतुः ? ॥ १२ ॥

उत्तरम्-एतेषां नमस्कारपाठ-बन्दिमोचन-ब्रह्मपालनादिकं किञ्चित्केषाञ्चिन्मार्गानुयायि किं वा सर्वेषां शौनिक-लुब्धक-धीवराध्यवसायवत्पापहेतुरिति वचः सतां वक्तुमेवानुचितमिति किं प्रतिवचसा ? ॥ १२ ॥

प्रश्नः—परपाक्षिकसंपादितस्तोत्रादिकं मातङ्ग-तुरुष्कादिसंपादितरसवतीवदनास्वाद्यमेव, कश्चिद्विशेषो वा ? ॥ १३ ॥

उत्तरम्-परपाक्षिकसंपादितस्तोत्रादीनां मातङ्ग-तुरुष्कादिसंपादितरसवत्युपमानं सतां वक्तुमेवानुचितमिति किं प्रतिवचनेन ? ॥ १३ ॥

प्रश्नः-तपागणसम्बन्धिश्राद्धः स्वकीय-स्वकीयेतरचैत्येषु वन्दनादिकं मुञ्चति, तत्र स्वकीयचैत्ये लाभहेतुरन्यत्र पापहेतुः, किं वोभयत्र साम्यम् ? ॥ १४ ॥

उत्तरम्-तपापक्षीयः श्राद्धः स्वकीयेषु परकीयेषु वा चैत्येषु वन्दनादि मुञ्चति, तत्र स्वकीयेषु यथा लाभस्तथा श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽदिष्टेषु परकीयेष्वपि लाभ एव ज्ञातोऽस्ति न तु पापम् ॥ १४ ॥

प्रश्नः-द्वितीयादिपञ्चपर्वी श्राद्धविध्यादिस्वीयग्रन्थातिरिक्तग्रन्थे क्वास्ति ? ॥ १५ ॥

उत्तरम्-द्वितीयादिपञ्चपर्व्यां उपादेयत्वं संविग्नगीतार्थाऽऽचीर्णतया संभाव्यते, अक्षराणि तु श्राद्धविधेरन्यत्र दृष्टानि न सन्ति ॥ १५ ॥

गच्छइल्ल-गामिन्-त्रि० । गमनशीले, प्रा० ४ पाद ।

गच्छंत-गच्छत्-त्रि० । पथि वहति, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

गच्छगय-गच्छगत-त्रि० । गच्छमध्यवर्तिनि, ग० १ अधि० ।

गच्छणिग्गय-गच्छनिर्गत-त्रि० । अशिवेत्यादिभिः कारणैरेकाकीभूते, ग० १ अधि० । परित्यक्तगच्छे, ओघ० ।

गच्छपडिबद्ध-गच्छप्रतिबद्ध-त्रि० । गच्छवशवर्तिनि अयथेष्टचेष्टया धर्मचारिणि, दर्श० । गच्छपरिपालनप्रवृत्ते, व्य० ४ उ० ।

गच्छमाण-गच्छत्-त्रि० । स्वभावचारेण चरति,भ० १२ श० ६ उ० ।

गच्छवर-गच्छवर-पुं० । सकलगच्छप्रतिबद्धे, ग० ३ अधि० ।

गच्छवास-गच्छवास-पुं० । गच्छो गुरुपरिवारस्तस्मिन् वासो वसनम् । गुरुकुलवासे, (तत्रैव विषयं दर्शयिष्यामः) गच्छवासे हि केषाञ्चित्स्वतोऽधिकानां विनयकरणं भवति, अन्येषां च शैक्षकादीनां विनयस्य कारणं भवति, तथा विध्यादिकमुल्लङ्घ्य प्रवर्तमानेषु केषुचित्सारणं क्रियते, तथाविधे च स्वस्मिन् केचित्कुर्वन्ति, एवं द्विरूपं वारणादि द्रष्टव्यम् । एवं च परस्पराऽपेक्षया विनयादियोगे प्रवर्तमानस्य गच्छवासिनोऽवश्यं मुक्तिसाधकत्वमिति गच्छवासोऽपि मुख्यो धर्मः । यतः पञ्चवस्तुके-

" गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण णिज्जरा विउला ।
विणयाओ तह सारण-माईहिं ण दोसपडिवत्ती ॥ १ ॥
अन्नोन्नाविक्खाए, जोगम्मि तहिं तहिं पयट्टंतो ।
णियमेण गच्छवासी, असंगपदसाहगो णेओ" ॥ २ ॥ इति।

गच्छे सारणादिगुणयोगादेव तं त्यक्त्वा स्वेच्छया विचरतां ज्ञानादिहानिरुक्ता । तथा चौघनिर्युक्तिः-

" जह सागरम्मि मीणा, संखोहं सागरस्स असहंता ।

णिंति तओ सुहकामी, णिग्गयमित्ता विणस्संति ॥ १ ॥
एवं गच्छसमुद्दे, सारणमाईहिं चोइआ संता ।
णिंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा विणस्संति ॥२॥"
सारणादिवियुक्तस्तु गच्छस्याऽथ एव, परमार्थतोऽगच्छवासस्य । धर्म० ३ अधि० । ओघ० । पञ्चा० ।

गच्छे पुण वसंतस्स इमे गुणा–

भत्तो वासो रती धम्मे, अणायतणवज्जणं ।
णिग्गहो य कसायाणं, एयं धीराण सासणं ॥ ३६१ ॥

'भत्तो वासो त्ति' । अस्य व्याख्या—

आयरियादीण भया, पच्छित्तभया ण सेवति अकज्जं ।
वेयावच्चऽज्झयणे–सु सज्जते तदुपयोगेणं ॥ ३६२ ॥

पुव्वद्धं कंठं । 'रती धम्मे' अस्य व्याख्या वेयावच्चपच्छद्धं; आयरियादीणं वेयावच्चं करेति,'अज्झयणं ति' सज्झायं करेति । 'तदुवओगेण' सुत्तत्थोवओगेण वेयावच्चज्झयणेसु रज्जति रतिं करेइ त्ति वुत्तं भवति । अहवा तदुवओगो अप्पणा आयरियादीहिं य भण्णमाणो वेयावच्चज्झयणादिसु रज्जति ।

'अणाययणवज्जण त्ति' अस्य व्याख्या–

एगो इत्थीगम्मो, तेणादिभया य अक्खियतगारे ।
कोहादी व उदिण्णे, परिणिव्वावेन्ति से अण्णे ॥ ३६३ ॥

पुव्वद्धं कंठं । "कसायणिग्गहो" अस्य व्याख्या कोहादीपच्छद्धं; गच्छवासे वसंतस्स अण्णे य आयरियादी परिणिव्ववेंति सकसाए गच्छवासे वसंतेण एवं वीरसासणं, वीरसासणे वा जं भणियं तं आराहियं भवति ।

इमे य अण्णे गच्छवासे वसंतस्स गुणा–

णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते य ।
धण्णा आवकहाए, गुरुकुलवासं न मुंचंति ॥ ३६४ ॥

कंठा । जम्हा गच्छवासे वसंतस्स एवमादी गुणा तम्हा णिक्कारणे संविग्गे अवि अण्णगणसंकमो ण कायव्वो । नि० चू० १९ उ० ।

गच्छवासि (ण्)–गच्छवासिन्–त्रि० । गच्छप्रतिबद्धेषु साधुषु, बृ० १ उ० । (तेषां प्रव्रज्यादिद्वारैर्मासकल्पप्ररूपणा 'थविरकप्प' शब्दे वक्ष्यते)

गच्छविहार–गच्छविहार–पुं० । गच्छसामाचार्याम्, व्य० १ उ० ।

गच्छसइया–गच्छशतिका–स्त्री० । शतसङ्ख्यपुरुषपरिमाणेषु गच्छेषु, बृ० १ उ० ।

गच्छसारणा–गच्छसारणा–स्त्री० । गच्छपरिपालने, बृ० ।
अगीतार्थस्तदयोग्यः । (प्रलम्बग्रहणे प्रायश्चित्तमुपदर्शयन्नाह)
अथ 'कस्स अगीयत्थेति' पदं व्याचिख्यासुराह–

कस्सेयं पच्छित्तं ?, गणिणो गच्छं असारवेंतस्स ।
अहवा वि अगीयत्थ–स्स भिक्खुणो विसयलोलस्स ॥

शिष्यः प्रश्नयति–यदेतदन्यत्र ग्रहणादावनेकधा प्रायश्चित्तमुक्तं तत्कस्य भवति ? । सूरिराह–गणिन आचार्यस्य गच्छमसारयतः सतः, असारणा नाम अगवेषणा–कः कुत्र गतः ?, को वा मामापृच्छ्य गतः?,को वाऽनापृच्छ्य?,यद्वा–प्रलम्बं गृहीत्वा आगत्याऽऽलोचिते अन्येन वा निवेदिते यत्प्रायश्चित्तं न ददाति, दत्त्वा वा न कारयति,न वा नोदनादिना खरण्टयति, एषा सर्वाप्यसारणाऽभिधीयते ।

आह–किं कारणमाचार्यस्य षट्कायानविराधयतोऽपि प्रायश्चित्तम् ?, उच्यते–स्वसाधूनुत्पथे प्रवर्त्तमानानसारयन्नसौ गच्छस्य विराधनायां वर्त्तते । तथा चोक्तमिदमेव सहेतुकं बृहद्भाष्ये—

" किं कारणं तु गणिणो, असारवितस्स होइ पच्छित्तं ? ।
चिट्ठति यो ण गणहरो, विराहणाए सगच्छस्स ॥
भण्णति खलु स जह गणी, विराहओ होति गच्छस्स ।
जह सरणमुवगयाणं, जीवियववरोवणं नरो कुणति ।
एवं सारणियाणं, आयरिओ असारओ गच्छे ।
किह सरणमुवगया पुण, पक्खे पक्खम्मि जं उवटुंति ।
इच्छामि खमासमणो, कतकितिकम्मे उ जं अम्हे " ॥
अत आचार्यस्य सर्वमेतत् प्रायश्चित्तम् ।

अथवा यो भिक्षुरगीतार्थः, अपिशब्दाद् गीतार्थोऽपि, विषयलोलः सुखाङ्कुरसास्वादलम्पटो भूत्वा प्रलम्बानि गृह्णाति तस्यैव प्रायश्चित्तम् ।

अत्र चाचार्यविषया अष्टौ भङ्गाः—अगीतार्थ आचार्यो गच्छं न सारयति विषयलोलश्च । अगीतार्थ आचार्यो गच्छं न सारयति विषयनिःस्पृहश्च, इत्यादि । अत्र चान्तिमो भङ्गः शुद्धः, शेषाः सप्त परित्यक्तव्याः ।

देसो व सोवसग्गो, वसणी व जहा अजाणगनरिंदो ।
रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो ॥

भङ्गसप्तकवर्ती आचार्यो देश इव सोपसर्गो,व्यसनी वा,यथा अज्ञायकनरेन्द्रो परित्यज्यते तथा परित्याज्यः । यथा च राज्ञा अचिन्त्यमानं राज्यं विलुप्तसारं भवति, तथा गच्छोऽप्याचार्येणासार्यमाणो निस्सारो भवतीति परिहरणीय इति संग्रहगाथाऽक्षरार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतो "देसो व सोवसग्गो" इति पदं व्याचष्टे–

ऊणोदरिया य जहिं, असिवं च न तत्थ होइ गंतव्वं ।
तत्थ भवे न हि वासो, एमेव गणी असारणिओ ॥

यत्र देशे अवमौदरिका, अशिवं च, उपलक्षणत्वादपरोऽप्युपद्रवो भवति, तत्र गन्तव्यं न भवति । अथ यत्र देशे वसतामेवमौदर्यादिकमुत्पन्नं तत्र उत्पन्ने सति न वस्तव्यम् । एवमेव गणी आचार्यो असारणिको गच्छसारणाविकलो नाऽनुगन्तव्यः ।

अथ "वसणी व जहा अजाणगनरिंदो त्ति" व्याख्याति–

सत्तण्हं वसणाणं, अन्नयरजुतो न जाणई रज्जं ।
अंतेउरे व अत्थइ, कज्जाइँ सयं न सीलेइ ॥

यथा सप्तानां व्यसनानामन्यतरेण व्यसनेन युतो राजा राज्यं पालयितुं न जानाति । यो वा शेषव्यसनैरनभिभूतोऽपि विषयलोलुपतया नित्यमन्तःपुरे आस्ते, सोऽपि कार्याणि व्यवहारादीनि स्वयमात्मना न शीलयति, भावलोक इत्युक्तं भवति । ततश्च यथेच्छमुद्वृत्तं खलाः प्रजाः संजायन्ते । एवमाचार्योऽप्यगीतार्थो गीतार्थो वा सातगौरवादिव्यसनोपहततया यदि स्व-

गच्छं न सारयति तदा गच्छः सर्वोऽपि निरङ्कुशः संजायते। यतश्चैवमतो असारणिक आचार्यो दूरं दूरेण परिहर्त्तव्यः ॥ बृ० १ उ० । (व्यसनसप्तकं 'वसण' शब्दे द्रष्टव्यम्)

अथ प्रकारान्तरेण भङ्गानाह-

अहवा वि अगीयत्थो, गच्छं न सारेइ इत्थ चउभंगो ।
बिइए अगीयदोसो, तइअ न सारे-तरो सुद्धो ॥

अथवा अगीतार्थो गच्छं न सारयतीत्यत्र चतुर्भङ्गी । गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात् । सा चेयम्-अगीतार्थो न गच्छं न सारयति १ । अगीतार्थो गच्छं न सारयति २ । गीतार्थो गच्छं न सारयति ३ । गीतार्थो गच्छं सारयति ४ । अत्र प्रथमस्य द्वौ दोषौ, अगीतार्थत्वदोषः, असारणादोषश्च । द्वितीयस्य पुनरेक एव गीतार्थत्वदोषः । तृतीयस्तु यन्न सारयति स एकस्तस्यासारणादोषः । इतरश्चतुर्थो भङ्गः शुद्धः ।

आद्यानां त्रयाणां भङ्गानां भावनामाह-

देसो व सोवसग्गो, पढमो तइओ तु होइ वसणी व ।
बिइओ अजाणतुल्लो, सारो दुविहो दुहेक्केको ॥

प्रथमः प्रथमभङ्गवर्ती आचार्यः सोपसर्गदेश इव परित्यक्तव्यः। तृतीयो गीतार्थोऽप्यसारणिकत्वाद्व्यसनीव राजा परित्यक्तव्यः। द्वितीयः सारणिकोऽप्यगीतार्थत्वादज्ञनरेन्द्रतुल्य इति कृत्वा परिहार्य इति चूर्ण्यभिप्रायः । अथ निशीथचूर्ण्यभिप्रायेण व्याख्यायते-प्रथमः सोपसर्गदेश इव परिहार्य इति । द्वितीयः पुनरगीतार्थः परं सारणिकः, स च व्यसनीव ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ? सोऽगीतार्थः सन् यत्किमपि स्वशिष्यान् नोदयति सा नोदना तस्य व्यसनमिव द्रष्टव्या । अतो व्यसनाभिभूतभूपतिवदसौ परिहार्यः । तृतीयः पुनरसारणिकत्वाद्गीतार्थोऽप्यज्ञनृपतुल्य इति कृत्वा परित्याज्यः । अस्मिंश्च व्याख्याने " देसो व सोवसग्गो, पढमो बिइओ उ होइ वसणी व । तइओ अजाणतुल्लो, त्ति" पाठो द्रष्टव्यः। पुस्तकेष्वपि बहुष्वयमेव दृश्यत इति । यदुक्तम्-" रज्जं विलुत्तसारं, जह तह गच्छो वि निस्सारो त्ति " तदेतद्भावयति-" सारो दुविहो दुहेक्केको " सारो द्विविधः-लौकिको लौकोत्तरिकश्च । पुनरेकैको द्विधा, बाह्य आभ्यन्तरश्च ।

एतदेव व्याचष्टे-

गोमंडलधन्नाई, बज्झो कणगाइँ अंत लोगम्मि ।
लोगुत्तरिओ सारो, अंतो बहि नाण-वत्थाई ॥

गोशब्देन गावो बलीवर्दाश्चोच्यन्ते, उपलक्षणत्वाद् हस्त्यश्वादीनामपि परिग्रहः । मण्डलमिति देशखण्डम्; यथा षण्णवतिमण्डलानि सुराष्ट्रदेशः । अथवा गोमण्डलं नाम गोवर्गः, उपलक्षणत्वान्महिष्यादिवर्गोऽपि । धान्यानि शालिप्रभृतीनि । आदिशब्दाद् वास्तुकुप्यादिपरिग्रहः । एष लौकिको बाह्यसारः । कनकं सुवर्णम् । आदिग्रहणेन रूप्यरत्नादीनि, एष अन्तरित्याभ्यन्तरः सारो लोके लोकविषये मन्तव्यः । एतेन द्विप्रकारेणापि सारेण राज्यं पार्थिवेनाऽचिन्त्यमानं निस्सारम् । लौकोत्तरिकः सारो द्विधा, अन्तर्बहिश्च । तत्रान्तःसारो ज्ञानम्, आदिशब्दाद्दर्शनचारित्रे च । बहिःसारो वस्त्रादिकः। आदिग्रहणेन शय्यापात्रादीनि गृह्यन्ते। अनेन च द्विविधेनापि लौकोत्तरिकसारेणाचार्येणासार्यमाणो गच्छो निस्सारो भवतीति प्रकृतं, तस्माद्गणिनो गच्छमसारयत एतत्प्रायश्चित्तम् । अथवा यो भिक्षुरगीतार्थो गुरूणामनुपदेशेन प्रलम्बानि गृह्णाति तस्य सर्वमेतत्प्रायश्चित्तम् ।

गीतार्थोऽपि यदि देशमन्तरेण चाऽगीतार्थस्य स्वयमेव कार्येषु प्रवर्त्तमानः, तस्यायं दोषो भवति-

सुहसाहगं पि कज्जं, करणविहूणमणुवायसंजुत्तं ।
अन्नायदेसकाले, विवत्तिमुवजाति सेहस्स ॥

सुखेन साध्यः साधनं यस्य तत् सुखसाधकम् " शेषाद्वा " ७ । ३ । १७५ । इति कच्प्रत्ययः, सुखसाध्यमित्यर्थः । तदपि कार्यं, करणमारम्भस्तद्विहीनं, तथा यस्य कार्यस्य यः साधनोपायस्तद्विपरीतेनानुपायेन संयुक्तम् । (अन्नाय त्ति) यदस्य कार्यमज्ञातं तत्तेनारभ्यमाणम् अदेशकाले चाऽनवसरे विधीयमानं शैक्षस्याज्ञस्य विपत्तिमुपयाति, विपत्तिशब्देन कार्यस्यासिद्धिरत्राभिधीयते । तदुक्तम्-" संपत्तिश्च विपत्तिश्च, कार्याणां द्विविधा स्मृता । संपत्तिः सिद्धिरर्थेषु, विपत्तिश्च विपर्ययः " ॥ १ ॥ ततो न निष्पद्यत इत्युक्तं भवति ।

तत्रैव निदर्शनमाह-

नक्खेणावि हु छिज्जइ, पासाए अभिनवुट्ठितो रुक्खो ।
दुच्छेज्जो वड्ढंतो, सोच्चिय वत्थुस्स भेदाय ॥
जो य अणुवायछिन्नो, तस्स इ मूलाइँ वत्थुभेदाय ।
अहिनव उवायछिन्नो, वत्थुस्स न होइ भेदाय ॥

प्रासादे वटपिप्पलादिर्वृक्षोऽभिनवोत्थितोऽधुनोद्गतः नखेनापि, हुर्निश्चितं, छिद्यते छेत्तुं शक्यते, इत्यनेन कार्यस्य सुखसाध्यतोक्ता। स एव वृक्षो वर्द्धमानः शाखाप्रशाखाभिः प्रसरन् दुश्छेद्यो भवति, कुठारेणापि छेत्तुं न शक्यत इति भावः । अपरं च वास्तुनः प्रासादस्य भेदाय जायते । यश्चानुपायेन मूलोद्धारणलक्षणोपायमन्तरेण छिन्नः तस्यापि मूलान्यनुद्धृतानि वास्तुभेदाय जायन्ते । एतेन चाऽनारम्भे, अदेशकालारम्भे, अनुपायारम्भे च सुखसाध्यस्यापि कार्यस्य विपत्तिः, क्लेशसाध्यता चोक्ता । अथ देशकाले उपायेन विधीयमानस्य यथा निष्पत्तिर्भवति तथा निदर्शयति-" अहिनव " इत्यादि उत्तरार्द्धम् । यस्तु वृक्षोऽभिनव उद्गतमात्र उपायेन प्रयत्नपूर्वकं छिन्नः, मूलान्यपि तस्योद्धृत्य करीषाग्निना दग्धानि, स वास्तुनो भेदाय न भवति । एष दृष्टान्तः ।

अयमर्थोपनयः-

पडिसिद्ध त्ति तिगिच्छा, जो उ न करेइ अभिनवे रोगे ।
किरियं सो उ न मुयइ, पच्छा जत्तेण वि करेंतो ॥
सहसुप्पइअम्मि जरे, अट्ठम काऊण जो वि पारेइ ।
सीयलअंबदवाणी, न हु पउणइ सो वि अणुवाया ॥

यस्य साधोर्ज्वरादिको रोग उत्पन्नः स यदि, " तेगिच्छं नाभिनंदेज्जा, संचिक्खुत्तगवेसए । एवं खु तस्स सामन्नं, जं न कुज्जा न कारवे " ॥ १ ॥ इति सूत्रमनुश्रित्य प्रतिषिद्धा चिकित्सेति कृत्वा अभिनवे रोगे क्रियां चिकित्सां न कारयति, स पश्चात्तस्मिन् रोगे प्रवृद्धिं गते सति यत्नेनापि महताऽप्यादरेण क्रियां कुर्वाणो न मुच्यते रोगात् । यदि पुनरधुनोत्थित एव रोगे क्रियामकारयिष्यत् ततो नीरुगभविष्यत् । यो वा अनुपायेन क्रियां करोति सोऽपि न प्रगुणीभवति, यथा सहसोत्पन्ने

ज्वरेऽन्यस्मिन् वा अजीर्णप्रभवे रोगे सह समुत्पन्नं रोगम् "अष्टमेण निवारए" इति वचनादष्टमं कृत्वा योऽपि न केवलं क्रियाया अकारक,इत्यपिशब्दार्थः । (सीयलअंबदवाणि त्ति) शीतलकूराम्लद्रव्यादीनि पारयति, मा पेया कारणीया भवत्विति कृत्वा सोऽपि न प्रगुणीभवति, अनुपायात् उपायाभावात् । प्रत्युत तेन शीतलकूरादिना सरोगस्तस्य गाढतरं प्रकुप्यति । यदि पुनस्तेन पेयादिनाऽपारयिष्यत् ततः पटुरभविष्यत् । यच्चानेषणीयपारणकसमुत्थं पापं तत्पश्चात्प्रायश्चित्तेनाऽशोधयिष्यत् इत्युपायानुपायरूपमगीतार्थो न जानाति, ततश्चाज्ञातमदेशकाले वा कार्यं कुर्वतस्तस्य शैक्षस्य विपत्तिमुपयातीति प्रकृतम् ।

अत्रैव तात्पर्यमाह-

संपत्ती य विपत्ती, य होज्ज कज्जेसु कारगं पप्प ।
अणुवायतो विपत्ती, संपत्ती कालुवाएहिं ॥

संपत्तिश्च विपत्तिश्च कार्येषु कारकं कर्तारं प्राप्य भवति, यदाज्ञः कर्ता ततस्तेनादेशकाले अनुपायत आरब्धस्य कार्यस्य विपत्तिर्भवति । अथासौ ज्ञस्ततस्तेन कालोपायाभ्यां देशकाले उपायेन चारब्धस्य कार्यस्य संपत्तिः सिद्धिर्भवति ।

उपसंहरन्नाह-

इय दोसाउ अगीय-त्थि उ गीयम्मि कालहीणकारिम्मि ।
गीयत्थस्स गुणा पुण, होंति इमे कालकारिस्स ॥

'इय' एवमगीतार्थे कार्यकर्तरि दोषा भवन्ति । गीतार्थेऽपि कालहीनकारिणि हीने वाऽधिके वा काले कार्यकारिणि एत एव दोषाः । यः पुनः गीतार्थ उपायेनाऽतिरिक्ते काले कार्यं करोति, तस्य गीतार्थस्य कालकारिण इमे गुणा भवन्ति ।

तानेवाह—

आयं कारण गाढं, वत्थुं जुत्तं ससत्ति जयणं च ।
सव्वं च सपडिवक्खं, फलं च विधिवं वियाणाई ॥

'आयं' लाभं 'कारणं' आलम्बनं गाढमागाढं ग्लानत्वं च, वस्तु द्रव्यं,दलिकमित्यनर्थान्तरम्, युक्तं योग्यं,सशक्तिकं समर्थं,यतनां त्रिःपरिभ्रमणादिलक्षणाम्; एतदायादिकं सर्वमपि सप्रतिपक्षं गीतार्थो विजानाति । आयस्य प्रतिपक्षोऽनायः,कारणस्याकारणम्, अगाढस्यानागाढं,वस्तुनोऽवस्तु, युक्तस्यायुक्तं, सशक्तिकस्याशक्तिको, यतनाया अयतनेति यथाक्रमं प्रतिपक्षाः । तथा फलं चैहिकादिकं विधिमान् गीतार्थो विजानातीति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथ प्रतिपदं विस्तरार्थमाह—

सुंकादीपरिसुद्धे, सइ लाभे कुणइ वाणिओ चिट्ठं ।
एमेव य गीयत्थो, आयं दट्ठुं समायरइ ॥

शुल्कं राजदेयं द्रव्यम्, आदिशब्दाद्भावकर्मकरवृत्त्यादिपरिग्रहः । यथा शुल्कादिभिर्द्रव्योपक्षयहेतुभिः परिशुद्धो निर्वर्तितो यदि कोऽपि लाभ उत्तिष्ठते, तत एवं शुल्कादिपरिशुद्धे लाभे सति वाणिजो देशान्तरं गत्वा वाणिज्यचेष्टां करोति आरभते । अथ लाभमुत्तिष्ठमानं न पश्यति ततो नारभते । एवमेव च गीतार्थोऽपि ज्ञानादिकमायं लाभं दृष्ट्वा प्रलम्बाद्यकल्पां प्रतिसेवां समाचरति, नान्यथा ।

इदमेव स्पष्टयन्नाह-

असिवाइसु सुंकत्था-णिएसु किंचि खलियस्स तो पच्छा ।
वायणवेयावच्चे, लाभे तवसंजमऽज्झयणे ॥

स हि गीतार्थः प्रलम्बादिकं प्रतिसेवमान एवं चिन्तयति- अशिवादिषु शुल्कस्थानीयेषु अकल्पप्रतिसेवया कल्पोऽपि संयमस्थानेभ्यः स्खलितस्यापि मम ततः पश्चादशिवादिषु व्यतीतेषु वाचनां ददत आचार्यादीनां वैयावृत्त्ये तपःसंयमाध्ययनेषु उद्यमं कुर्वाणस्य भूयानायो लाभो भविष्यति । अकल्प्यं प्रति सेवाजनितं चातीचारं प्रायश्चित्तेन शोधयिष्यामीति बहुतरं लाभमल्पतरं व्ययं परिज्ञाय्य गीतार्थः समाचरति । अगीतार्थः पुनरेव तदायव्ययरूपं न जानातीति । गतमायद्वारम् ।

अथ कारणगाढद्वारद्वयमाह—

नाणाइतिगस्सट्ठा, कारण निक्कारणं तु तव्वज्जं ।
अहिमक्खिसविसूइय-सज्जक्खयसूलमागाढं ॥

गीतार्थः कारणे एव प्रतिसेवते,नाकारणे । आह-किमिदं कारणं ? किं वा अकारणमिति ? । आह-ज्ञानादित्रयस्य ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्याऽर्थाय यत्प्रतिसेवते तत्कारणं, तद्वर्जं सेवमानस्य निष्कारणमुच्यते । तथाऽगीतार्थो यद्देशमागाढे प्रतिसेव्यं तादृशमागाढ एव, यादृशं पुनरनागाढे तादृशमनागाढ एव प्रतिसेवते । अथ किमिदमागाढम् ? किं वाऽनागाढम् ? । उच्यते-अहिना सर्पेण दष्टः कश्चित्साधुः,विषं वा केनचिद्भक्तादिमिश्रं दत्तं,विसूचिका वा कस्यापि जाता, सद्यः क्षयकारि वा कस्यापि शूलमुत्पन्नम्, एवमादिकमाशुघाति सर्वमप्यागाढम्, एतद्विपरीतं तु चिरघाति कुष्ठादिरोगात्मकमनागाढम् ।

अथ वस्तुयुक्तद्वारे व्याचष्टे-

आयरियाई वत्थुं, तेसिं चिय जुत्त होइ जं जोग्गं ।
गीय परिणामगा वा, वत्थुं इयरे पुण अवत्थुं ॥

आचार्यादिः प्रधानपुरुषो, यद्वा गीतार्थः सामान्यतो वस्तु भण्यते,परिणामका वा साधवो वस्तु,एतादृशमात्मानं परं वा वस्तुभूतं ज्ञात्वा प्रतिसेवते, प्रतिसेवाऽऽप्यते वा । इतरे प्रतिपक्षभूताः पुनरनाचार्यादिरगीतार्थो वा अपरिणामका अतिपरिणामका वा सर्वेऽप्यवस्तु भण्यन्ते, एतेषामेवाऽऽचार्यादीनां यद्योग्यं भक्तपानौषधादिकं तद् युक्तं, तद्विपरीतं पुनरयुक्तम् । एतत् युक्तायुक्तस्वरूपं गीतार्थो जानाति, नेतर इति ।

अथ सशक्तिकयतनाद्वारद्वयमाह-

धिई सरीरो सत्ती, आयपरगता उ तं न हावेति ।
जयणा खलु तिपरिरया, अलंभे पच्छा पणगहाणी ॥

शक्तिर्द्वेधा, धृति-संहननभेदात् । तत्र धृतिरूपां, शरीरां च संहननरूपामात्मगतां परगतां च शक्तिं ज्ञात्वाऽऽचार्योऽन्यो वा गीतार्थस्तां न हापयतीत्यत्र चतुर्भङ्गी सूचिता । सा चेयम्-आत्मगता शक्तिर्विद्यते न परगता १,परगता नाऽऽत्मगता २, आत्मगताऽपि परगताऽपि ३, नाऽऽत्मगता न परगता ४। तत्र प्रथमभङ्गे आचार्य आत्मनः शक्तिं न हापयति, परस्य पुनरशक्तित्वाद्यथायोगं प्रतिसेवनामनुजानीते । द्वितीयभङ्गे ऽशक्तत्वादात्मना प्रतिसेवते, परस्य तु समर्थत्वान्नाऽनुजानाति । तृतीयभङ्गे उभयोरपि शक्तिसद्भावादात्मनाऽपि न प्रतिसेवते, परस्यापि

न वितरति । चतुर्थभङ्गे पुनरुभयोरप्यशक्तत्वादात्मनाऽपि प्रतिसेवते, परेणापि प्रतिसेवापयति । तथा यतना खलु त्रिपरिरया द्रष्टव्या । 'रीङ्' गतौ, परि समन्तात् रयणं परिरयः परिभ्रमणमित्यर्थः । त्रयः परिरया यस्यां सा त्रिपरिरया । किमुक्तं भवति ?–एषणीयाहारान्वेषणार्थं स्वग्रामादौ तिस्रो वाराः सर्वतः पर्यट्य यद्येषणीयं न लभते ततः पश्चादलाभे अप्राप्तौ पञ्चकपरिहाण्या यतते ।

अथ फलद्वारम्–गीतार्थः प्रथममेव कार्यं प्रारभमाणः परिभावयति । एवमनुतिष्ठतो ममाऽन्यस्य वा फलं भविष्यति, न वा । तच्च फलं द्विविधम् । तदेवाह–

इह परलोगे य फलं, इह आहाराइ इक्कमेक्कस्स ।
सिद्धी सग्ग सुकुलता, फलं तु परलोइयं एयं ॥

इहलोकफलं, परलोकफलं चेति फलं द्विधा । तत्रेहलोकफलमाहारादि, आदिशब्दाद्वस्त्रपात्रादि । तथा सिद्धिगमनं, स्वर्गगमनं, सुकुलोत्पत्तिश्च, एतत्पारलौकिकं फलम् । एतद् द्वयमप्येकैकस्याऽऽत्मनः परस्य च परस्परोपकारेण यथा भवति तथा गीतार्थः समाचरति । यत्र गीतार्थोऽरक्तद्विष्टः प्रतिसेवते, तत्र नियमादप्रायश्चित्ती भवति ।

आह–केन पुनः कारणेन प्रायश्चित्ती ? । उच्यते–

खेत्तोऽयं कालोऽयं, करणमिणं साहओ उवाओऽयं ।
कत्त त्ति य जोगि त्ति य, इय कडजोगी वियाणाहि ॥

यो न रागे न द्वेषे किन्तु तुलादण्डवद् द्वयोरपि मध्ये प्रवर्तते स ओजा भण्यते । क्षेत्रेऽध्वादौ ओजाः क्षेत्रौजाः । काले अवमौदर्यादौ ओजाः कालौजाः, क्षेत्रे काले च प्रतिसेवमानो न रागद्वेषाभ्यां दुष्यते इत्यर्थः । कथम् ?, इत्याह–यतः स गीतार्थः करणमिदं सम्यक् क्रियेयम्, एवं क्रियमाणे महती कर्मनिर्जरा भवतीति विमृशति । तथा ज्ञानदर्शनचारित्राणि साधनीयानि, तेषां च साधकोऽयमुपायो यदसंस्तरणे यतनया प्रलम्बसेवनम् । तथा कृतयोगी गीतार्थः स कर्तेति च योगीति भण्यते । 'इय' एवं विजानीहि, इति निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति–

ओयन्भूतो खित्ते, काले भावे य जं समायरइ ।
कत्ता उ सो अकोप्पो, जोगी व जहा महावेज्जो ॥

य ओजोभूतो रागद्वेषविरहितो गीतार्थः क्षेत्रेऽध्वादौ, काले दुर्भिक्षादौ, भावे च ग्लानत्वादौ, प्रलम्बादिप्रतिसेवारूपं यत्किमपि समाचरति, स सम्यक् क्रियेयं साधकोऽयमुपाय इत्यालोच्यकारी कर्ता, अकोप्योऽकोपनीयः, अदूषणीय इत्युक्तं भवति । क इवेत्याह–योगीव यथा महावैद्य इति । यथेतिदृष्टान्तोपन्यासे, स योगी धन्वन्तरिः, तेन च विभङ्गज्ञानबलेनाऽऽगामिनि काले प्राचुर्येण रोगसंभवं दृष्ट्वा अष्टाङ्गायुर्वेदरूपं वैद्यकशास्त्रं चक्रे, तच्च यथाऽऽम्नायं येनाधीतं स महावैद्य उच्यते । स चायुर्वेदप्रामाण्येन क्रियां कुर्वाणो योगीव धन्वन्तरिरिव न दूषणभाग् भवति । यथोक्तक्रियाकारिणश्च तस्य तच्चिकित्साकर्म सिध्यति । एवमत्रापि योगी तीर्थकरस्तदुपदेशानुसारेणोत्सर्गाऽपवादाभ्यां यथोक्तां क्रियां कुर्वन् गीतार्थोऽपि न वाच्यतामर्हति ।

अथ "कत्त त्ति य जोगि त्ति य" पदद्वयमेव प्रकारान्तरेण व्याख्याति–

अहवण कत्ता सत्था, न तेण कोविज्जती कयं किंचि ।
कत्ता इव सो कत्ता, एवं जोगी वि नायव्वो ॥

'अहवण त्ति' अखण्डमव्ययम् अथवाऽर्थे, कर्ता शास्ता तीर्थकर उच्यते; यथा तेन तीर्थकरेण कृतं कार्यं किञ्चिदपि न कोप्यते, एवमसावपि गीतार्थो विधिना क्रियां कुर्वन् कर्ता इव तीर्थकर इवाऽकोपनीयत्वात्कर्त्ता द्रष्टव्यः । एवं योग्यपि ज्ञातव्यः । किमुक्तं भवति ?, यथा तीर्थकरः प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगी भण्यते, एवं गीतार्थोऽप्युत्सर्गापवादबलवेत्ता अपवादक्रियां कुर्वाणोऽपि प्रशस्तमनोवाक्काययोगं प्रयुञ्जानो योगीवज्ज्ञातव्यः ।

एवमाचार्योक्ते शिष्यः प्राह–

किं गीयत्थो केवलि, चउव्विहे जाणणे य गहणे य ।
तुल्ले रागदोसे, अणंतकायस्स वज्जणया ॥

किं गीतार्थः केवली येन तीर्थकृत इव तस्य वचनं करणं वा कोपनीयम् । सूरिराह–ओमिति ब्रूमः । तथाहि–द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधं ज्ञानं, तद्यथा केवलिनस्तथा गीतार्थस्यापि, तथा यत्प्रलम्बानामेकानेकग्रहणविषयं विषमप्रायश्चित्तप्रदानं, यश्च तत्र तुल्येऽपि जीवत्वे रागद्वेषाभावो, या वाऽनन्तकायस्य वर्जना, एतानि यथा केवली प्ररूपयति तथा गीतार्थोऽपीति द्वारगाथासमासार्थः ।

विस्तरार्थं प्रतिपदं विभणिषुराह–

सव्वं नेयं चउहा, तं वेइ जिणो जहा तहा गीतो ।
चित्तमचित्तं मीसं, परित्तऽणंतं च लक्खणतो ॥

सर्वमपि जगत्त्रयगतं ज्ञेयं चतुर्धा । तद्यथा–द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । तच्चतुर्विधमपि यथा जिनः केवली ब्रूते तथा गीतार्थोऽपि । यद्वा–(तं वेइ त्ति) तच्चतुर्विधं ज्ञेयं यथा जिनो वेत्ति जानाति तथा गीतार्थोऽपि श्रुतज्ञानी जानात्येव । तथाहि–यथा केवली सचित्तमचित्तं मिश्रं परीत्तमनन्तं च लक्षणतो जानाति प्रज्ञापयति वा, तथा श्रुतधरोऽपि श्रुतानुसारेणैव सचित्तलक्षणेन सचित्तम् । एवमचित्तमिश्रपरीत्ताऽनन्तान्यपि स्वस्वलक्षणावैपरीत्येन जानाति, प्ररूपयति चेति केवलीव द्रष्टव्यः ।

आह–केवली समस्तवस्तुस्तोमवेदी, श्रुतकेवली पुनः केवलज्ञानानन्ततमभागमात्रज्ञानवान्, ततः कथमिव केवली तुल्यो भवितुमर्हति ?, इत्याह–

कामं खलु सव्वण्णू, नाणेणऽहिओ दुवालसंगीतो ।
पन्नत्ताइ उ तुल्लो, केवलनाणं जओ मूयं ॥

काममनुमतं खल्वस्माकं सर्वज्ञः केवली द्वादशाङ्गिनः श्रुतकेवलिनः सकाशाद् ज्ञानेनाऽधिकः, परं प्रज्ञप्त्या प्रज्ञापनया श्रुतकेवलिनः केवली तुल्यः । कुतः ?, इत्याह–यतः केवलज्ञानं मूकम् अमुखम् । किमुक्तं भवति ?–यावतः पदार्थान् श्रुतकेवली भाषते तावत एव केवल्यपि । ये तु श्रुतज्ञानस्याऽविषयभूता भावाः केवलिनाऽवगम्यन्ते तेषामप्रज्ञापनीयतया केवलिनाऽपि वक्तुमशक्यत्वात् । (बृ०) (इतोऽग्रे 'णाण' शब्दे मतिश्रुतभेदप्रस्तावादवगन्तव्यः) श्रुते द्वादशाङ्गलक्षणे सूत्ररचनया निबद्धोऽनन्तस्यानन्तभेदभिन्नत्वादित्यभिप्रायः ।

आह–कथमेतत्प्रतीयते, यथा प्रज्ञापनायामनन्तभागः श्रुते निबद्धः ? । उच्यते–

जं चउदसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परोप्परं होंति ।

तेण उ अणंतभागो, पन्नवणिज्जाण जं सुत्तं ॥

यद् यस्माच्चतुर्दशपूर्वधराः षट्स्थानगता अनन्तभागादिस्थानवर्तिनः परस्परं भवन्ति। कथमिति चेत्,उच्यते-इह चतुर्दशपूर्वी चतुर्दशपूर्विणः किं तुल्यः,किं वा हीनः?,किं वा अभ्यधिकश्चिन्तायां निर्वचनम्-तुल्यो वा,हीनो वा,अभ्यधिको वा ?। यदि तुल्यस्तर्हि नास्ति विशेषः, अथ हीनस्ततो यदपेक्षया हीनस्तमुद्दिश्यानन्तभागहीनो वा, असंख्येयभागहीनो वा, संख्येयभागहीनो वा, संख्येयगुणहीनो वा,असंख्येयगुणहीनो वा,अनन्तगुणहीनो वा?। अथाभ्यधिकस्ततो यदपेक्षयाऽभ्यधिकस्तं प्रतीत्याऽनन्तभागाभ्यधिको वा, असंख्येयभागाभ्यधिको वा, संख्येयभागाभ्यधिको वा,संख्येयगुणाभ्यधिको वा, असंख्येयगुणाभ्यधिको वा, अनन्तगुणाभ्यधिको वा ?। असहमाने सर्वेषामप्यक्षरलाभे षट्स्थानपतितत्वमेव कथं जाघटीति ?। उच्यते-एकस्मात् सूत्रादनन्ताऽसंख्येयसंख्येयगम्यार्थगोचरा ये मतिविशेषाः श्रुतज्ञानाभ्यन्तरवर्तिनस्तैः षट्स्थानपतितत्वं न विरुध्यते। तदुक्तम्-"अक्खरलंभेण समा, ऊणऽहिआ हुंति मइविसेसेहिं। ते पुण मईविसेसे, सुयनाणऽभंतरे जाण॥" एवंविधं च षट्स्थानपतितत्वं प्रज्ञापनीयानामनन्ततमभागमात्र एव श्रुतनिबद्धे घटमानकं भवति। यदिह सर्व एव प्रज्ञापनीया भावाः श्रुते निबद्धा भवेयुस्तर्हि चतुर्दशपूर्विणोऽपि परस्परं तुल्या एव भवेयुर्न षट्स्थानपतिता इति । अत एवाह-तेन कारणेन यत्किमपि श्रुतं चतुर्दशपूर्वरूपं तत् प्रज्ञापनीयानामनन्ततमो भागो वर्तते इति ।

अथ यदुक्तं प्रज्ञापनायां द्वावपि तुल्यौ, तद्भावनामाह-

केवलविन्नेयऽत्थे, सुयनाणेणं जिणो पगासेइ ।
सुयनाणकेवली वि हु, तेणेवऽत्थे पगासेइ ॥

केवलेन विज्ञेया ये अर्थास्तान् यावत् श्रुतज्ञानेन जिनः केवली प्रकाशयति । इह च केवलिनः संबन्धी वाग्योग एव, श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात्, कारणे कार्योपचारात् श्रुतज्ञानमुच्यते, न पुनस्तस्य भगवतः किमप्यपरं केवलज्ञानव्यतिरिक्तं श्रुतज्ञानं विद्यते। "नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे" इति वचनात्। श्रुतज्ञानकेवल्यपि तानेव भावतस्तेनैव श्रुतज्ञानेनार्थान् जीवादीन् प्रकाशयति । अतः श्रुतकेवलिकेवलिनौ द्वावपि प्रज्ञापनया तुल्याविति स्थितम् । तदेवं यथा केवली द्रव्यक्षेत्रकालभावैर्वस्तु जानाति तथा गीतार्थोऽपि जानीते । बृ० १ उ० । नि० चू० ।

गच्छसारणायोग्यो गुरुः, तथाभूतेन गुरुणा स्वाध्यायः कार्यः-

से भयवं! केरिसगुणजुत्तस्स णं गुरुणो गच्छनिक्खेवं कायव्वं ?। गोयमा ! जे णं सुव्वए, जे णं सुसीले,जे णं दढचारित्ते, जे णं अणिंदियंगे, जे णं अरहे,जे णं गयरागे,जे णं गयदोसे, जे णं निज्जियमोहमिच्छत्तमलकलंके,जे णं उवसंते,जे णं सुविण्णायजगट्ठिती, जे णं सुमहावेरग्गमग्गमल्लीणे, जे णं इत्थिकहापडिणीए, जे णं भत्तकहापडिणीए, जे णं तेणगकहापडिणीए, जे णं रायकहापडिणीए,जे णं जणवयकहापडिणीए,जे णं अच्चंतमणुकंपसीले, जे णं परलोगपच्चवायभीरू, जे णं कुसीलपडिणीए,जे णं विन्नायसमयसब्भावे,जे णं गहियसमयपेयाले, जे णं अहन्निसाणुसमयट्ठिए अहिंसालक्खणे दसविहे समणधम्मे, जे णं उज्जते अहन्निसाणुसमयं दुवालसविहे तवोकम्मे, जे णं सुउवउत्ते सययं च समिईसु, जे णं सुगुत्ते सययं तिसु गुत्तीसु,जे णं आराहगे ससत्तीए अट्ठारसण्हं सीलंगसहस्साणं,जे णं अविराहगे,एगंतेणं ससत्तीए सत्तरसविहस्स णं संजमस्स उस्सग्गरुई, जे णं तत्तरुई,जे णं समसत्तुमित्तपक्खो,जे णं सत्तभयट्ठाणविप्पमुक्के,जे णं अट्ठमयट्ठाणविप्पजढे, जे णं नवण्हं बंभचेरगुत्तीणं विराहणाभीरू, जे णं बहुसुए,जे णं आयरियकुलुप्पन्ने,जे णं अदीणे, जे णं अकिविणे, जे णं अणालसिए,जे णं संजइवग्गस्स पडिपक्खे, जे णं सययं धम्मोवएसदायगे, जे णं सययं ओहसामायारीपरूवगे,जे णं मेराववट्ठिए,जे णं असामायारीभीरू,जे णं आलोयणारिहपायच्छित्तदाणपयच्छणक्खमे, जे णं वंदणमंडलिविराहणजाणगे,जे णं पडिकमणमंडलिविराहणजाणगे जे णं उद्देसमंडलिविराहणजाणगे, जे णं झाणमंडलिविराहणजाणगे, जे णं वक्खाणमंडलिविराहणजाणगे, जे णं आलोयणामंडलिविराहणजाणगे, जे णं समुद्देसमंडलिविराहणजाणगे, जे णं पव्वज्जाविराहणजाणगे,जे णं उवट्ठावणाविराहणजाणगे, जे णं उद्देससमुद्देसाणुविराहणजाणगे,जे णं दव्वखेत्तकालभावंतरायवियाणगे, जे णं दव्वखेत्तकालभावालंबणाविप्पमुक्के, जे णं सबालवुड्ढगिलाणसेहसिक्खगसाहम्मिगइज्जावट्ठावणाकुसले,जे णं परूवगे नाणदंसणचारित्ततवोगुणाणं,जे णं चरणधरए पभावगे नाणदंसणचारित्ततवोगुणाणं,जे णं दढसंमत्ते,जे णं सययं अपरिसाई,जे णं धीइमं, जे णं गंभीरे, जे णं सुसोमलेसे, जे णं दिणयरमिव अणभिभवणीए तवतेएणं, जे णं सरीरोवरमे वि छक्कायसमारंभविवज्जी, जे णं तवसीलदाणभावणामयचउव्विहधम्मंतरायभीरू, जे णं सव्वासायणाभीरू, जे णं इड्ढिरससायागारवरोद्दऽट्टज्झाणविप्पमुक्के, जे णं सव्वावस्सगमुज्जुत्ते, जे णं सविसेसलद्धिजुत्ते, जे णं आवडियपेल्लियामंतिओ वी णायरेज्जा अयज्जं, जे णं नो बहुनिद्दे, जे णं नो बहुभोई, जे णं सव्वावस्सगसज्झायज्झाणपडिमाभिग्गहे घोरपरीसहोवसग्गे सुजियपरीसहे, जे णं सुपत्तसंगहसीले,जे णं अपत्तपरिट्ठवणविहिन्नू,जे णं अणुद्धयबोंदी, जे णं परसमयससमयवियाणगे,जे णं कोहमाणमायालोभममकाररतिहासखेड्डकंदप्पणाहवायविप्पमुक्के धम्मकहासंसारवासविसयाभिलासादीणं वेरग्गुप्पायगे पडिबोहगे भव्वसत्ताणं,से णं गच्छनिक्खेवणाजोग्गे,से णं गणी, से णं गणहरे, से णं तित्थे,से णं तित्थयरे,से णं अरहा,से णं केवली, से णं जिणे, से णं तित्थुब्भासगे,से णं वंदे,से णं पुज्जे,से णं नमंसणिज्जे, से णं दट्ठव्वे, से णं परमपवित्ते, से णं परमकल्लाणे, से णं परममंगल्ले, से णं सिद्धी,से णं मुत्ती, से णं सिवे, से णं मोक्खे,से णं ताया,से णं संमग्गे, से णं म-

ती,से णं रत्ते,से णं सिद्धे,से णं मुत्ते,से णं पारगए, से णं देवे, से णं देवदेवे, एयस्स गोयमा ! गणणिक्खेवं कुज्जा, एयस्स णं गणनिक्खेवं कारवेज्जा, एयस्स णं गच्छनिक्खवणं समणुजाणेज्जा । अन्नहा णं गोयमा ! आणाभंगे । महा० ४ अ० ।

पार्श्वस्थदीक्षितात्साधोर्गणश्चलतीति कुत्रोक्तमस्ति ?। अत्र संविग्न आचार्यादिः संविग्नगीतार्थाद्यभावे संविग्नभक्तपार्श्वस्थादिपार्श्वे यदा प्रायश्चित्तमङ्गीकरोति तदा पुनर्व्रतारोपरूपं प्रायश्चित्तं कश्चित्प्रतिपद्यते, एवं छेदग्रन्थोक्तानुसारेण समाधानमवसेयम्। इति श्रीहीरविजयसूरिणं प्रति पण्डितकेवलर्षिगणिकृतः प्रश्नः । ही० ३ प्रका० ।

गच्छाणुकंपणट्ठ—गच्छानुकम्पनार्थ—पुं० । सबालवृद्धस्य गच्छस्यानुकम्पनहेतौ, नि० चू० १ उ० । पं० भा० । पं० चू० ।

गच्छायार—गच्छाचार—पुं० । गच्छस्य सुविहितमुनिसमुदायस्याचारः । शिष्टजनसमाचरितक्रियाकलापप्रकीर्णकविशेषाभिधेये, तादृशे प्रकीर्णके च । ग० ।

" वर्द्धोधो विदधेऽज्ञाना-मिव भव्यशरीरिणाम् ।
गवां विलासैर्येनासौ, जीयाद्वीररविश्चिरम् ॥ १ ॥
पदपद्मं स्वगुरूणां, सदा सदाचारचरणचुञ्चूनाम् ।
नत्वा विदधे विवृतिं, गच्छाचाराख्यसूत्रस्य " ॥ २ ॥

इह तावच्छास्त्रादौ मङ्गलसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनान्यभिधातव्यानि। तत्र विघ्नविनायकोपशान्तये शिष्यजनप्रवर्त्तनाय शिष्टसमयपरिपालनार्थं चेष्टदेवतानमस्काररूपं भावमङ्गलमुपादेयम् । तथा श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थं शिष्टसमयपरिपालनार्थं च संबन्धादित्रयं वाच्यम् । तथाहि—इह श्रेयोभूते वस्तुनि प्रवर्त्तमानानां प्रायो विघ्नः संभवति , श्रेयोभूतत्वादेव, श्रेयोभूतं चेदम् , स्वर्गापवर्गहेतुत्वात् । विघ्नोपहतशक्तेश्च शास्त्रकर्तुश्चिकीर्षितशास्त्राऽसमाप्त्याऽभिमतपुरुषार्थस्याऽनिष्पत्तिर्मा भूदिति विघ्नविनायकोपशमनाय मङ्गलमुपादेयम् । आह च-" बहुविग्घाइ सेयाइ, तेण कयमंगलोवयारेहिं । सत्थे पयट्टियव्वं, विज्जाए महानिहीए व्व ॥ " ननु मानसादिनमस्कारतपश्चरणादिना मङ्गलान्तरेणैव विघ्नोपघातसद्भावादिष्टसिद्धिर्भविष्यतीति किमनेन ग्रन्थगौरवकारिणा वाचनिकनमस्कारेणेति ?। सत्यम्, किन्तु श्रोतृप्रवृत्त्यर्थमिदं भविष्यति । तथाहि—यद्यप्युक्तन्यायेन कर्तुरविघ्नेष्टसिद्धिः स्यात्तथापि प्रमादवतः शिष्यस्येष्टदेवतानमस्काररूपमङ्गलं विना प्रक्रान्तग्रन्थाध्ययनश्रवणादिषु प्रवर्तमानस्य विघ्नसंभवादप्रवृत्तिः स्यात् । मङ्गलवाक्योपन्यासे तु मङ्गलवचनाभिधानपूर्वकं प्रवर्तमानस्य मङ्गलवचनापादितदेवताविषयशुभभावव्यपोहितविघ्नत्वेन शास्त्रे प्रवृत्तिरप्रतिहततरा स्यात्। तथा देवताविशेषनमस्कारोपादाने सति देवताविशेषगदितागमानुसारीदं शास्त्रमत उपादेयमित्येवंविधबुद्धिनिबन्धनत्वेन शिष्यप्रवृत्त्यर्थमिदं भवतीति । आह च-" मंगलपुव्वपवत्तो, पमत्तसीसो वि पारमिह जाइ । सत्थे विसासणाओ,गोरवाइह पयट्टेज्जा " ॥ १॥ ननु मङ्गलविकलानामपि बहुतमशास्त्राणां दृश्यते संसिद्धिः, श्रोतृजनप्रवृत्तिश्चेति, ततः किमनेनानैकान्तिकेन शास्त्रगौरवकारिणा च मङ्गलेनाभिहितेन ?। सत्यम्,किं तु शिष्टसमयपरिपालनार्थमिदं भविष्यति तथाहि-शिष्टाः कचिदिष्टे वस्तुनि प्रवर्तमाना इष्टदेवतानमस्कारपूर्वकं प्रायः प्रवर्तन्ते। शिष्टश्चायमप्याचार्य इति शिष्टसमाचारः परिपालितो भवत्विति मङ्गलमभिधेयम्। आह च-"शिष्टाः शिष्टत्वमायान्ति, शिष्टमार्गानुपालनात् । तल्लङ्घनादशिष्टत्वं, तेषां समनुपद्यते " ॥ १ ॥ तथा सम्बन्धादीनि श्रोतृजनप्रवृत्त्यर्थमभिधेयानि । तथाहि-यदसंबद्धं तत्र न प्रवर्तन्ते प्रेक्षावन्तो दशदाडिमादिवाक्ये इव, एवं निरभिधेयेऽपि काकदन्तपरीक्षायामिव, एवं निष्प्रयोजनेऽपि कण्टकशाखामर्दन इवेति । अतः संबन्धादिप्रतिपादनं श्रोतृणां शास्त्रे प्रवृत्त्यङ्गम्। अथासर्वज्ञाऽवीतरागवचनानां व्यभिचारित्वसंभवेन सम्बन्धादिसद्भावनिश्चयाभावाचेतः प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरत्र भविष्यति। या पुनः संशयात्प्रवृत्तिस्तां संबन्धादिवचनं विनैव भवन्तीं को निवारयितुं पारयतीति न श्रोतृप्रवृत्त्यङ्गं संबन्धादिवचनम्। सत्यं,किं तु शिष्टसमयपरिपालनार्थं भविष्यति, शास्त्रकारा ह्येवं प्रवर्तमानाः प्रायः प्रेक्ष्यन्ते इति ।

ग्रन्थकृद् गच्छाचाराऽभिधप्रकीर्णकं चिकीर्षुर्मङ्गल-संबन्धाभिधेय-प्रयोजनाभिधायिकामिमां गाथामाह-

नमिऊण महावीरं, तिअसिंदनमंसिअं महाभागं ।
गच्छायारं किंची, उद्धरिमो सुगसमुद्दाओ ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, कमित्याह-महावीरं, विशेषेण ईरयति क्षिपति कर्माणीति वीरः । " विदारयति कर्माणि, तपसा च विराजते । तपोवीर्येण युक्तश्च,तस्माद्वीर इति स्मृतः"॥१॥ इति सकृणाभिरुक्ताद्वा वीरः,महांश्चासौ इतरवीरापेक्षया वीरश्च महावीरः,तम्। जन्ममहोत्सवसमये तनुशरीरोऽयं कथं जलप्रभारं सोढा?,इति शक्रशङ्काशङ्कुसमुद्धरणाय भगवता वामचरणाङ्गुष्ठनिपीडितसुमेरुशिखरप्रकम्पमानमहीतलोल्लसितसरित्पतिक्षोभशङ्कितब्रह्माण्डभाण्डोदरदर्शनप्रयुक्तावधिज्ञानज्ञातप्रभावातिशयविस्मितेन वासवोपतिना व्यवस्थापितैवंविधनामकं चरमतीर्थाधिपतिं; शेषजिनत्यागेन च महावीरग्रहणं वर्तमानतीर्थाधिपत्वेन परमोपकारित्वात्। किंभूतम्?,त्रिदशेन्द्रनमस्थितं,त्रिदशाः सुमनसस्तेषामिन्द्रास्त्रिदशेन्द्रास्तैर्नमस्थितस्तम् । तथा महाभागं, महान् भागः " भागो [illegible] " इति हैमवचनाद्भाग्यं परमैश्वर्यादिप्राप्तिहेतु तीर्थकृन्नामकर्मोदयरूपं यस्यासौ महाभागस्तम् । ततः किमित्याह-गच्छस्य सुविहितमुनिसमुदायस्याचारः शिष्टजनसमाचरितः क्रियाकलापो गच्छाचारस्तमुद्धरामः प्रकीर्णकरूपत्वेन पृथक्कुर्मो, वयमिति शेषः । अनेन चास्याभिधेयमुक्तम् । ननु भद्रबाहुस्वाम्यादिभिरेव गच्छाचारस्योद्धृतत्वात् किं तु तदुद्धरणेनेत्याशङ्कयाह-किञ्चित् संक्षिप्तमेव, पूर्वाचार्यैर्हि प्रपञ्चतः स उद्धृतो, वयं तु मन्दमतिसत्त्वानुग्रहार्थं संक्षेपेण तमुद्धराम इत्यर्थः । अनेन च प्रकीर्णककरणविषयायाः स्वप्रवृत्तेः प्रयोजनमुक्तम्। यतः "प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्त्तते " । तथा संक्षिप्तप्रकीर्णकस्य सुखाध्येयत्वादिना विस्तरवद्ग्रन्थत्यागेन श्रोतारोऽत्र प्रवर्त्तिता भवन्ति, ननु श्रोतृजनप्रवर्त्तकविशेषणकदम्बकोऽयमपीदं प्रकीर्णकमसर्वज्ञेनावीतरागेण च भवतोद्धियमाणमविसंवादार्थिनां न प्रवृत्तिविषयो भविष्यत्यसर्वज्ञवचने विसंवादाशङ्कानिवृत्तेरित्याशङ्कमान आह-श्रुतसमुद्रात्, श्रुतं कल्पव्यवहारादिरूपं तदेव गम्भीरत्वादिगुणैः समुद्रः श्रुतसमुद्रस्तस्मात्। यदि हि स्वरचितादेमंयोद्ध्रियेत तदा व्यभिचारशङ्कया नेदं प्रवृत्तिवि-

षयः स्यात् । तदेवमस्या गाथायाः पूर्वार्द्धेन मङ्गलमभिहितम् । उत्तरार्द्धेन तु सविशेषणमभिधेयं मुख्यवृत्त्याऽभिहितं, तदभिधाने च गौणवृत्त्या प्रयोजनं,संबन्धश्चोक्तः। तथाहि-अस्य द्विविधं प्रयोजनम्-अनन्तरं,परम्परं च । पुनरेकैकं कर्तृश्रोत्रपेक्षया द्विधा, तत्र कर्तुरनन्तरप्रयोजनं संक्षेपतो विनेयानां गच्छाचाराधिगमकरणं, परम्परं तूपकारद्वारेण कर्मक्षयान्निर्वाणम् । श्रोतॄणां पुनरनन्तरं प्रकीर्णकस्य संक्षिप्तत्वादल्पायासेन गच्छाचाराधिगमः, परम्परं निर्वाणमेवेति । इदं च प्रयोजनमभिधेयाभिधानेन सामर्थ्यादभिहितम् । न हि पुरुषार्थाऽनुपयोगिवस्तुनोऽभिधानाय सन्तः प्रवर्त्तन्ते,तत्त्वहानिप्रसङ्गात् । तथाऽस्य प्रकीर्णकस्येदं प्रयोजनमिति दर्शयता दर्शित एवास्योपायभावलक्षणः संबन्धस्तर्कानुसारिणः प्रति । तथाहीदं प्रकीर्णकमुपायो वर्त्तते,उपायान्तरेण विवक्षिताधिगमकरणादीनामसिद्धेः, अत एवेदमेवाधिगमादिकरणमस्योपेयमिति।आह च-"संबन्धः प्रोक्त एव स्यादेतस्यैतत्प्रयोजनम् । इत्युक्ते तेन नो वाच्यो, भेदेनासौ प्रयोजनात्"॥ १ ॥ इति । तथा श्रुतसमुद्रादित्यनेन श्रद्धानुसारिणः प्रति गुरुपर्वक्रमलक्षणोऽपि संबन्धोऽभिहितः। तथाहि-प्रथमतो भगवता परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानेन वर्द्धमानस्वामिना गच्छाचारः प्रतिपादितः, ततः सुधर्मस्वामिना द्वादशस्कन्धे सूत्रतया निबद्धः, ततोऽप्यार्यभद्रबाहुस्वाम्यादिभिः कल्पादिषु समुद्धृतः, तेभ्योऽपि मन्दमेधसामवबोधाय संक्षिप्याऽस्मिन् प्रकीर्णके समुद्ध्रियते । अत एव परम्परया सर्वज्ञमूलमिदं प्रकीर्णकमित्यवश्यमवदातधियामुपादेयमिति गाथाछन्दः (ग०) नन्विदं प्रकीर्णकं केन विरचितमिति ?। उच्यते-"महानिसीहकप्पाओ, ववहाराओ तहेव य । साहुसाहुणिअट्ठाए, गच्छायारं समुद्धिअं "॥१॥ इतीहैव वक्ष्यमाणवचनादेवेदमवसीयते—यदुतेदं प्रकीर्णकं श्रीभद्रबाहुस्वामिपादविरचितग्रन्थादिभ्य उद्धृतत्वेन तदर्वाग्भाविना पूर्वान्तर्गतसूत्रार्थधारकेण केनाप्याचार्येण विरचितमिति प्रायो ज्योतिष्करण्डकप्रकीर्णकं चावलभ्यवाचनानुगतेन पूर्वगतसूत्रार्थधारिणा केनाप्याचार्येण विरचितम् । उक्तं च श्रीमलयगिरिसूरिपादैस्तत्प्रथमगाथावृत्तौ-अयमत्र पूर्वाचार्योपदर्शित उपोद्घातः-कोऽपि शिष्योऽल्पश्रुतः कञ्चिदाचार्यं पूर्वगते सूत्रार्थधारकं वाऽवलभ्यश्रुतसागरपारगतं शिरसा प्रणम्य विज्ञपयति स्म । यथा-भगवन् ! इच्छामि युष्माकं श्रुतनिधीनामन्ते यथावस्थितं कालविभागं ज्ञातुमिति । तत एवमुक्ते सति आचार्य आह-शृणु वत्स ! तावदित्यादि । तथा तद्द्वितीयप्राभृतवृत्तावपि संख्यास्थानके सदृशत्वमाश्रित्योक्तम् । यथा-इह स्कन्दिलाचार्यप्रवृत्तौ दुःषमानुभावतो दुर्भिक्षप्रवृत्त्या साधूनां पठनगुणनादिकं सर्वमप्यनेशत् । ततो दुर्भिक्षातिक्रमे सुभिक्षप्रवृत्तौ द्वयोः संघयोर्मेलापकोऽभवत् । तद्यथा-एको वलभ्यामेको मथुरायाम् । तत्र च सूत्रार्थसंघटने परस्परवाचनाभेदो जातः । विस्मृतयोर्हि सूत्रार्थयोः स्मृत्वा संघटने भवत्यवश्यं वाचनाभेदो न काचिदनुपपत्तिः । तत्रानुयोगद्वारादिकमिदानीं वर्तमानं माथुरवाचनाऽनुगतं ज्योतिष्करण्डकसूत्रकर्ता चाचार्यो वालभ्यः,तत इहेदं संख्यास्थानप्रतिपादनं वालभ्यवाचनाऽनुगतमिति नास्यानुयोगद्वारप्रतिपादितसंख्यास्थानैः सह विसदृशत्वमुपलभ्य विचिकित्सितव्यमिति । यथा वा नन्द्यध्ययनं देववाचकेन, उक्तं च श्रीमलयगिरिसूरिपादैरेव तद्वृत्तौ । यथा-तदेवमर्भाष्टदेवतास्तवादिसंपादितसकलसौविहित्यो भगवान् दूष्यगणिपादोपसेवी पूर्वान्तर्गतसूत्रार्थधारको देववाचको योग्यविनेयपरीक्षां कृत्वा संप्रत्यधिकृताऽध्ययनविषयस्य ज्ञानस्य प्ररूपणां विदधाति-" नाणं पंचविहं पन्नत्तं " इत्यादीति । ननु यद्येवं तर्ह्यत्र गौतमप्रश्ने श्रीमन्महावीरनिर्वचनरूपं सूत्रमतो भगवान् गच्छाचारप्रकीर्णककर्ताऽपीत्थमेव सूत्रं रचयति स्मेति । ग० १ अधि० ।

श्रीगच्छाचारप्रकीर्णकटीकातः—

" प्रायः स्वकीयोदितमन्यतादृशं,
सर्वाङ्गभाजां जगतीह रोचते ।
इयं मदुक्तिस्तु ममैव नो तथा,
कथं परेषां रुचये भविष्यति ? ॥ १ ॥
न चाभूद्वृद्धोक्तवृत्ति-रस्यादर्शास्तु जूरिशः ।
तथाऽप्यस्ति गुरूपास्तिः, समस्तस्वस्तिदाऽऽत्मनः ॥ २ ॥
यदत्र मतिवैगुण्यात्, ग्रन्थाभ्यासतस्तथा ।
भ्रमाद्वा विवृतं सर्वा-गमेनापि विरोधभाक् ॥ ३ ॥
विभक्त्यादिविरुद्धं च, मिथ्यादुष्कृतमस्तु तत् ।
शोधयन्तु च तत्त्वज्ञाः, कृत्वा तत्र घृणां मयि ॥ ४ ॥ (युग्मम्)
विचारोपनिषद्भेद-समुच्चयचिकीर्षया ।
गच्छाचाराभिधग्रन्थ-वृत्तिं निर्मितवानहम् " ॥ ५ ॥ (ग०)
" तेषां श्रीसुगुरूणां, प्रसादमासाद्य संश्रुतानन्दः ।
वेदाग्निरसेन्दु १६३४ मिते, विक्रमनृपालतो वर्षे ॥७३॥
शिष्यो सूरिगुणानां, युगोत्तमानन्दविमलसूरीणाम् ।
निर्मितवान् वृत्तिमिमा-मुपकारकृते विजयविमलः ॥ ७४ ॥
कोविदविद्याविमला, विवेकविमलाभिधाश्च विद्वांसः ।
आनन्दविजयगणयो, विचिन्तयन्तो गुरौ भक्तिम् ॥७५॥
शोधनलिखनादिविधा-वस्या वृत्तेर्व्यधुः समुद्योगम् ।
इत्युर्वीढमादरपराः, उतेह कृत्ये कृतज्ञा वा ॥७६॥ ग०४अधि०।

गच्छिय-गच्छिदूण-गत्वा-अव्य० । "क्त्व-गमो डत्तुअः" । ८ । ४ । २७२ । इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् पक्षे " क्त्व इय-दूणौ " ८ । ४ । २७१ । शौरसेन्यां क्त्वाप्रत्ययस्य इय दूण इत्यादेशौ भवतः । गमनं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद ।

गच्छिल्ल-गच्छवत्-त्रि० । गच्छवासिनि, वृ० १ उ० ।

गच्छुवज्झाय-गच्छोपाध्याय-पुं० । गच्छनायके, व्य० २ उ० ।

गज्ज-गर्ज-धा० । कर्ज्जाहेतुकशब्दे, भ्वा० प० अक० सेट् । "गर्जेर्बुक्कः " । ८ । ४ । ९८ । इत्यस्य पाक्षिकत्वात् ' गज्जइ ' गर्जति, प्रा० ४ पाद ।

गद्य-न० । ब्रह्मचर्याध्ययनवत्, (सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०) शस्त्रपरिज्ञाध्ययनवद् वाऽछन्दोनिबद्धे (स्था० ४ ठा० ४ उ०) प्रथमेऽष्टविधगेयभेदे, यत्र स्वरसंचारेण गद्यं गीयते । जं० १ वक्ष० । जी० । पं० भा० ।

गद्यलक्षणमाह-

महुरं हेउनिजुत्तं, गहियमपायं विरामसंजुत्तं ।
अपरिमियं चऽवसाणे, कव्वं गज्जं ति नायव्वं ॥ ७७ ॥

मधुरं सूत्रार्थोभयैः श्राव्यम्, हेतुनियुक्तं सोपपत्तिकम्, ग्रथितं बद्धमानुपूर्व्या, अपादं विशिष्टच्छन्दोरचनाऽयोगात्पादवर्जितम्, विरामोऽवसानं तत्संयुक्तमर्थतो न तु पाठत इत्येके । यथा-"जिणवरपादारविंदसंदाणिवरुणिम्मल्लस्सहस्स" एवमादि "अस-

माणिउं न चिट्ठइ त्ति" यतिविशेषसंयुक्तमन्ये, अपरिमितं चावसाने मृदुकं भवतीत्येके। अन्ये तु अपरिमितमेव भवति, बृहदित्यर्थः; अवसाने मृदु च पठ्यत इति शेषः। काव्यं गद्यम्, इति एवंप्रकारं, ज्ञातव्यमिति गाथाऽर्थः ॥ ७७ ॥ दश० २ अ०।

गज्जंत—गर्जत्—त्रि०। घनध्वनिं मुञ्चति, उत्त० २ अ०।

गज्जणग—गर्जनक—न०। पुरभेदे, यत्र मासकल्पविहारे स्थितैर्विजयसेनसूरिभिरङ्गारदाहकः परीक्षितः। पञ्चा० ६ विव०। 'गजनी' (अफगानिस्तान) इति ख्याते म्लेच्छराजनगरे, यदधीश्वरेण हम्मीरनाम्ना म्लेच्छराजेन वल्लभीपुरेश्वरः शिलादित्यो मारितः। ती० १७ कल्प।

गज्जणसद्द—देशी—मृगवारणध्वनौ, दे० ना० २ वर्ग।

गज्जभ—गर्दभ—पुं०। अपरोत्तरस्यां शुद्धविदिग्वाते, आ० म० द्वि०।

गज्जरग—गर्जरक—न०। 'गाजर' इति प्रसिद्धे कन्दभेदे, प्रव० ४ द्वार। ध०।

गज्जल—गर्जल—न०। गर्जितसमानशब्दं कुर्वति वस्त्रविशेषे, नि० चू० ७ उ०। आचा०।

गज्जह—गर्दभ—पुं०। 'गज्जभ' शब्दोक्तार्थे, आ० म० द्वि०।

गज्झाण—गद्याण—पुं०। वल्लषोडशके, " गुञ्जात्रयेण वल्लः स्याद्, गद्याणं ते च षोडश "। कल्प० १ क्षण।

गज्जिता—गर्जिता—त्रि०। गर्जितकृति, स्था० ४ ठा०।

गज्जिय—गर्जित—न०। मेघध्वनौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। प्रव०। ज्ञा०। स्था०। जी०।

गज्जियसद्द—गर्जितशब्द—पुं०। गर्जितशब्दो जलसमुत्थो, वायुसमुत्थो वाऽन्यद्वा किमपीति प्रश्ने, उत्तरम्—स्थानाङ्गवृत्तौ स्थाने स्थाने स्तनितानि शब्दानां व्याख्याने मेघगर्जितमित्यर्थकरणान्मेघस्य च जलमयत्वाद् गर्जितशब्दो जलसमुद्भवः संभाव्यते। वायुसमुत्थः शब्दो गर्जितमित्यक्षराणि तु शास्त्रे नोपलभ्यन्त इति। ५ प्र०। सेन० २ उल्ला०।

गज्झवक्क—ग्राह्यवाक्य—त्रि०। नायके, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०।

गट्टण—गट्टन—पुं०। धरणस्य नागकुमारेन्द्रस्य नाट्याऽनीकाधिपतौ, स्था० ७ ठा०।

गढिय—ग्रथित—न०। शास्त्रेषूपनिबद्धे, स्था० २ ठा० १ उ०।

गमुअ—गत्वा—अव्य०। "क्त्वागमो मडुअः" ।८।४।२१२। इति क्त्वाप्रत्ययस्य मडुआदेशः। गमनं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद।

गमुल—गमुल्ल—न०। तन्दुलधावनादौ पानीये, ध० २ अधि०। स्था०।

गड्ड—गर्त्त—पुं०। "गर्ते डः"। ८। २। ३५। गर्तशब्दे संयुक्तस्य डः। प्रा० २ पाद। श्वभ्रे, भ० ७ श० ६ उ०। निम्ने भूभागे, अधोलोकग्रामादौ च। भ० ६ श० ३१ उ०।

गड्डरिया—गड्डरिका—स्त्री०। पूतनायाम्, 'भेम' इतिख्याते चतुष्पदजीवे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ०।

गड्डरियापवाह—गड्डरिकाप्रवाह—पुं०। ६ त०। एडकानामेकस्या अनुमार्गेण सर्वासां सञ्चरणे, ध० र०।

अधुना गड्डरिकाप्रवाह इति नवमं भेदमाह—

गड्डरिगपवाहेणं, गयाणुगइयं जणं वियाणंतो।
परिहरइ लोगसन्नं, सुपरिक्खियकारओ धीरो ॥६८॥

गड्डरिका एडका, तासां प्रवाहः संचरणम्। एकस्या अनुमार्गेण सर्वासां गमनं गड्डरिकाप्रवाहः। द्वारगाथायामादिशब्दः कीटिकामक्कोटकादिप्रवाहसंसूचनार्थः, तेन कृत्वा गतानुगतिकमविचारितकारिणं,जनं लोकं विजानन्नवबुध्यमानः परिहरति,लोकसंज्ञामविचारितरमणीयां लोकहेरिं,कुरुचन्द्रनरेन्द्रवत्। कथंभूतः सन्नित्याह—सुपरीक्षितकारकः सुपर्यालोचितविधायी, धीरो मतिमानिति। ध० र०। (कुरुचन्द्रनरेन्द्रकथा तु 'कुरुचंद' शब्देऽत्रैव भागे ५६० पृष्ठे द्रष्टव्या)

गड्डह—गर्दभ—पुं०। "गर्दभे वा"। ८। २। ३७। गर्दभे र्दस्य डो वा भवति, इति र्दस्य डः। प्रा० २ पाद। खरे, " गड्डहे व्व गवं मज्झे, विस्सरं नयई नयं " स० ३२ सम०।

गड्डा—गर्त्ता—स्त्री०। महत्यां खड्डायाम्, जी० ३ प्रति०। आचा०। जं०।

गढ—घट—धा०। चेष्टायाम्, भ्वा० आत्म० अक० सेट्। घटेर्गढः" ८। ४। ११२। घटेर्गढ इत्यादेशो वा भवति इति गढादेशः। 'गढइ,' घटते। प्रा० ४ पाद।

गढित्तए—ग्रथयितुम्—अव्य०। दृढबन्धनबन्धीकर्तुमित्यर्थे, जी० ४ प्रति०।

गढिय—गृद्ध—त्रि०। अध्युपपन्ने, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ०। दशा०। अवबद्धे, सूत्र० २ श्रु० १ अ०। आचा०। प्रश्न०। ग्रथित इव ग्रथितः। आहारविषयस्नेहरज्जुभिः संदर्भिते, भ० १४ श० ७ उ०। ज्ञा०। विपा०। सूत्र०। पदपानबन्धेन वा श्लोकबन्धेन वा बद्धे, बृ० ३ उ०। शास्त्रेषूपनिबद्धे, स्था० २ ठा० १ उ०।

गढियगिद्ध—ग्रथितगृद्ध—त्रि०। अत्यन्तं गृद्धिमति, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

गण—गण—पुं०। मल्लादीनां समूहे, उत्त० १५ अ०। स्था०। आ० चू०। एकवाचनाऽऽचारक्रियास्थानां (आ० म० प्र०। स्था०। कल्प०) परस्परसापेक्षाणामनेककुलानां साधूनां समुदाये, पं० व० १ द्वार। स्था०। प्रति०। चं० प्र०। ज्ञ०। गच्छे, नं०। प्रव०। व्य०। आ० चू०। प्रश्न०। ग०।

सम्प्रति गणस्य निक्षेपमभिधित्सुराह—

नामादिगणो चउहा, दव्वगणो खलु पुणो भवे तिविहो।
लोइय कुप्पवयणिओ, लोउत्तरियं य बोधव्वो।

नामादिरूपो गणश्चतुर्धा चतुष्प्रकारः। तद्यथा—नामगणः, स्थापनागणो,द्रव्यगणो,भावगणश्च। तत्र यस्य गण इति नाम स नामगणः। गणस्य स्थापनाऽक्षवराटकादिषु स्थापनागणः। द्रव्यगणो द्विधा—आगमतो,नोआगमतश्च। तत्राऽऽगमतो गणशब्दार्थज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तः। नोआगमतस्त्रिधा—ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरे प्राग्वत्, तद्व्यतिरिक्तस्त्रिधा। तद्यथा—लौकिकः कुप्रावचनिको, लोकोत्तरिकश्च।

एतेषां त्रयाणामपि प्रतिपादनार्थमाह—

सच्चित्तादिसमूहो, लोगम्मि गणो उ मल्लपूरादी।
कुप्पावयणम्मी ला—उत्तरओनग्गीयाणं ॥

सचित्तादिसमूहः-सचित्तसमूहः अचित्तसमूहो, मिश्रसमूहश्च द्रव्यगणः । तत्र सचित्तसमूहो यथा-मल्लगणः, तथा पुरे भवः पौरस्तस्य गणः । अचित्तसमूहो यथा-वसुगणः। मिश्रसमूहो यथा-सुवर्णालङ्कारभूषितो मल्लगणः,पौरगणो वा । कुप्रावचने द्रव्यगणो यथा चरकादिगणः। चरकः परिव्राजकः, आदिशब्दाच्यां दुरङ्गादिपरिग्रहः । लौकोत्तरिको द्रव्यगणः-अवसन्नागीतार्थानां समूहः। किमुक्तं भवति?-पार्श्वस्थादिगणैर्यद्वि वा प्रवचनविडम्बककुमतप्ररूपकगणोऽथवाऽगीतार्थगणो लौकोत्तरिको द्रव्यगण इति । भावगणो द्विधा-आगमतो, नोआगमतश्च । तत्रागमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो नोआगमतः।

आह-

छउमत्थउज्जुयाणं, गीयपुरोगामिणं अगीयाणं ।
एसो खलु भावगणो, नाणादितिगं व जत्थऽत्थि ॥

गीतार्थानामुद्युक्तानां शक्त्यनुपगूहनेन संयमे प्रवर्त्तमानानाम्, अथवा अगीतानामपि, अपिशब्दो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्यः, गीतपुरोगामिनां तथा मिश्रितानां समूहो भावगणः । एष अनन्तरोदितो भावगणो नोआगमतो भावगणः । अथवा किं बहुनोक्तेन ?, यत्र ज्ञानादित्रिकमस्ति स नोआगमतो भावगणः ।

भावगणेणऽहिगारो, सो उ अपव्वाविए न संभवति ।
इच्छातियगहणं पुण, नियमणहेउं तओ कुणइ ॥

भावगणेन नोआगमतो भावगणेनाधिकारः प्रयोजनम्, स च भावगणो यथोक्तरूपः स्वयमप्रव्राजिते नास्ति तस्मात्स्वयं साधवः प्रव्राजनीयास्ते परिवारतया कर्त्तव्याः । अथवा प्रमाणत्याचार्ये यः परिवारः स्वको निर्युक्तिकारद्वारगाथायामिच्छात्रिकग्रहणं नियमहेतुं करोतीति । व्य० ३ उ० । (तीर्थकृतां गणसंख्या 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यते) मल्लादिगणवद्गणः । स्कन्धे, अनु० । विशे० । परिवारे, आ० म० प्र० । चोरनामगन्धद्रव्ये, गणेशे, स्वपथे, वाच० । पार्श्वस्थादिदीक्षितसाधोर्गणो भवति, न वेति प्रश्नः । उत्तरम्--पार्श्वस्थादिदीक्षितमुनेर्गणो भवति । यदुक्तं महानिशीथतृतीयाध्ययनप्रान्तप्रस्तावे-" सत्तदगुरुपरंपरकुसीले इगविंतिगुरुपरंपरकुसीले " इत्यस्यार्थोऽत्र विकल्पद्वयभणनादेवमवसीयते—यदेकद्वित्रिगुरुपरम्परां यावत्कुशीलत्वेऽपि तत्र साधुसामाचारी सर्वथोच्छिन्ना न भवति। तेन यदि कश्चित्क्रियोद्धारं करोति तदाऽन्यसांभोगिकादिभ्यश्चारित्रोपसंपदं गृहीत्वैव क्रियोद्धारं करोति, नान्यथेति । किञ्च-कश्चित्सिद्धवपार्श्वे प्रव्राजितस्तान् विहाय साधुसमीपे आगतस्तस्य तदेव प्रायश्चित्तं यदसौ सम्यग् मार्गं प्रतिपद्यते, स एव च तस्य व्रतपर्यायो, न भूय उपस्थापना कर्त्तव्येति बृहत्कल्पतृतीयखण्डेऽपीति । २ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

गणओ-गणतस्-अव्य० । गणश इत्यर्थे, गणशो बहुशोऽनेकश इति यावत् । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

गणंत-गणयत्-त्रि० । पर्यालोचयति, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । " भावओ गणंतेणं " भावतः परमार्थतो गणयताऽऽत्मनोऽन्विच्छता सता । पञ्चा० ४ विव० ।

गणग-गणक-पुं० । ज्योतिषिके, औ० । कल्प० । भ० । गणितज्ञे, भाण्डागारिके इति वृद्धाः। ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । 'चर्मकारस्य द्वौ पुत्रौ, गणको वाद्यपूरकः' तस्मिन् संकीर्णजातौ च । वाच० ।

गणट्ठकर-गणार्थकर-त्रि० । गणस्य साधुसमुदायस्यार्थान् प्रयोजनानि करोतीति गणार्थकरः। गच्छस्य आहारादिनिरुपष्टम्भके, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

गणण-गणन-न० । परिसङ्ख्याने, स्था० १ ठा० १ उ० ।

गणणग्ग-गणनाग्र-न० । गणनायाः परस्तात्प्रवर्त्तने, नि० चू० १ उ० । आचा० । (विस्तरस्तु 'अग्ग' शब्दे प्रथमभागे १६४ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

गणणट्ठाण-गणनस्थान-न० । गणने संख्यायां स्थाने, व्य० १ उ० ।

गणणा-गणना-स्त्री० । गणनाविषये एकद्व्यादिशीर्षप्रहेलिकापर्यन्ते स्थानभेदे, स्था० १ ठा० १ उ० । आचा० । संख्याने, स्था० ५ ठा० ३ उ० । संख्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

गणणाइया-देशी-चण्डयाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गणणाणंतय-गणनानन्तक-न० । संख्यामानस्यपेक्षे अनन्तके, स्था० १ ठा० १ उ० । (' अणंतग ' शब्दे प्र० भागे २६० पृष्ठे व्याख्योक्ता)

गणणातिक्कंत-गणनातिक्रान्त-त्रि० । असंख्येये, " गणणमतिक्कंत त्ति वा असंखेज्ज त्ति वा एगट्ठा " आ० चू० १ अ० ।

गणणायग-गणनायक-पुं० । प्रकृतिमहत्तरे, रा० । जं० । औ० । ज्ञा० । स्था० । अनु० ।

गणणाम-गणनामन्-न० । मल्लविशेषाभिधायके शब्दे, अनु० ।

से किं तं गणनामे ?। गणनामे मल्ले मल्लदिन्ने मल्लधम्मे मल्लसम्मे मल्लदेवे मल्लदासे मल्लसेणे मल्लरक्खिए। सेत्तं गणनामे।

" से किं तं गणनामे " इत्यादि । इह मल्लादयो गणास्तत्र यस्मिन्नभिन्न वर्तते तस्य तन्नाम गणस्थापनानामोच्यते ' मल्ले मल्लदिन्ने ' इत्यादि । अनु० ।

गणणासंखा-गणनासङ्ख्या-स्त्री० । एकादिकायां संख्यायाम्, अनु० ।

से किं तं गणणासंखा ?। गणणासंखा एगो गणणं न उवेइ दुप्पभिइसंखातं संखेज्जए असंखेज्जए अणंतए ।

"से किं तं गणणासंखा" इत्यादि । एतावन्त एते इति संख्यानं गणनासंख्या। तत्र (एगो गणणं न उवेइ) एकस्तावद्गणनं संख्यां नोपैति, यत एकस्मिन् घटादौ दृष्टे घटादिवस्त्विदं तिष्ठतीत्येवमेव प्रायः प्रतीतिरुत्पद्यते, नैकसंख्याविषयत्वेन । अथवा आदानसमर्पणादिव्यवहारकाले एकं वस्तु प्रायो न कश्चिद्गणयत्यतोऽसंव्यवहार्यत्वादल्पत्वाद्वा नैको गणनासंख्यामवतरति; तस्माद् द्विप्रभृतिरेव गणनासंख्या। सा च संख्येयकादिभेदभिन्ना। तद्यथा-संख्येयकमसंख्येयकमनन्तकम् । अनु० ।

गणणिक्खेव-गणनिक्षेप-पुं० । यो यत्रोपाध्यायादिस्थाने स्थितस्तेन इत्वरं तत्पदमात्मसमस्याऽन्यस्य साधोर्निक्षेपे, ध० ४ अधि० । ('उद्देसणा' शब्दे द्वितीयभागे ८१६ पृष्ठे गणावच्छेदकस्य निक्षेप उक्तः। स च जिनकल्पिकस्य ' जिणकप्पिय ' शब्दे द्रष्टव्यः)

गणतत्ति-गणतप्ति-स्त्री० । गणचिन्तायाम्, प्रति० ।

गणथेर–गणस्थविर–पुं०। लौकिकस्य लोकोत्तरिकस्य च व्यवस्थाकारिणि, तद्भङ्क्तुश्च निग्राहके स्थविरभेदे, स्था० १० ठा०। " सो होति गणथेरो गणथेरगुणेहिं उववेतो " पं० भा०। " गणथेरेण कयं गणो न वोक्कामइ " पं० चू०।

गणधम्म–गणधर्म–पुं०। मल्लादिगणव्यवस्थायाम, यथा समपातपातेन विषमग्रह इत्यादि। दश० १ अ०। जैनानां वा कुलसमुदायो गणः कोटिकादिस्तद्धर्मः, तत्सामाचारी। गणसामाचार्याम्,स्था० १० ठा०. गणः समुदायो,निजज्ञातिरिति यावत्। तस्य धर्मः। स्वस्वप्रवर्तिते विवाहादिके व्यवहारे, जं० २ वक्ष०।

गणधर–गणधर–पुं०। अनुत्तरज्ञानदर्शनादिधर्मगणं धरतीति गणधरः। अनुत्तरज्ञानदर्शनादिधर्मगणधरे, " सेज्जंभवं गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पमिबुद्धं।" आ० म० प्र०। पं० चू०। सूत्रकर्तरि, आ० म० प्र०। तीर्थकृच्छिष्ये, कल्प० ६ क्षण। गणनायके, कल्प० ७ क्षण। गौतमस्वाम्यादौ, विशे०। स्था०।

वन्दनमुखेन गणधरस्वरूपम्–

एक्कारस वि गणहरे,पवायए पवयणस्स वंदामि।
सव्वं गणहरवंसं, वायगवंसं पवयणं च॥ १०६२॥

अनुत्तरज्ञानदर्शनादिगुणानां गणं धारयन्तीति गणधरास्तानेकादशाऽपि गौतमादीन् वन्दे। कथंभूतान् ?, इत्याह–प्रकर्षेण प्रधाना आदौ वा वाचकाः प्रवाचकाः प्रवचनस्यागमस्य। एवं तावद् मूलगणधरवन्दनं कृतम्। तथा सर्वं निरवशेषम्, गणधरा जम्बूप्रभवशय्यम्भवादयः शेषा आचार्याः,तेषां परम्परया प्रवाहो वंशस्तम्। तथा वाचका उपाध्यायास्तेषां वंशस्तम्। तथा प्रवचनं चागमं वन्दे. इति निर्युक्तिगाथार्थः॥ १०६२॥

अथ भाष्यम्–

पुज्जा जहत्थवत्ता, सुयवत्तारो तहा गणहरा वि।
पुज्जा पवायगा पव–यणस्स ते वारसंगस्स॥ १०६३॥
जह वा रायाणत्तं, रायनिउत्तपणओ सुहं लहइ।
तह जिणवरिंदविहियं, गणहरपणओ सुहं लहइ १०६४
जह मूलसुयप्पभवा, पुज्जा जिणगणहरा तहा जेहिं।
तदुभयमाणीयमिदं, तेसिं वंसो किह न पुज्जो?॥१०६५॥
जिणगणहरुग्गयस्स वि, सुयस्स को गहणधरणदाणाइं।
कुणमाणो जइ गणहर–वायगवंसो न होज्जाहि?१०६६॥
सीसहिया वत्तारो, गणाहिवा गणहरा तयत्थस्स।
सुत्तस्सोवज्झाया, वंसो तेसिं परंपरओ॥ १०६७॥
पगयं पहाणवयणं, पवयणं वारसंगमिह तस्स।
जइ वत्तारो पुज्जा, तं पि विसेसेण तो पुज्जं॥ १०६८॥

इहापि सुगमार्थाः, नवरं यथार्थस्य वक्ता तीर्थकरः पूज्यः, तथा गणधरा अपि गौतमादयः पूज्याः, यतस्तेऽपि प्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्य सूत्रतः प्रवाचका एव इति तेषामपि नमस्कारः कृतः। अथवा यथा राज्ञा पृथ्वीपतिना आज्ञातं तदाज्ञापितमर्थादिकं राजनियुक्तानाममात्यादीनां प्रणतः सुखेनैव लभते, तथा प्रणतिप्रसन्नैर्जिनवरेन्द्रैर्विहितं विस्तीर्णं मङ्गलादिकं गणधरप्रणतः सुखेनैव लभत इति तेषामपि नमस्कारः। अथ सामान्येन शेषाचार्योपाध्यायनमस्कृतौ हेतुमाह–(जहेत्यादि) यथा मूलश्रुतस्य द्वादशाङ्गीसम्बन्धिनोऽर्थस्य सूत्रस्य च प्रभवा हेतवो यथासंख्यं जिना गणधराश्च पूज्याः, तथा यैरिदं तयोर्द्वादशाङ्गीसंबन्धिसूत्रार्थयोरुभयमियतीं कालकक्षां यावदानीतं, तेषां शेषाचार्यरूपगणधरोपाध्यायानां वंशः कथं न पूज्यः ?, अपि तु पूज्य एवेति। किञ्च " जिणेत्यादि " अथ विशेषतो गणधराणाम्, उपाध्यायानां च नमस्कृतौ हेतुमाह–(सीसेत्यादि) यथा गणाधिपा गौतमादयः, गणधरास्तु जम्बूस्वाम्यादयः शेषाचार्याः, तदर्थस्य द्वादशाङ्गार्थस्य वक्तारो व्याख्यातारः सन्तः शिष्यवर्गस्य हिताः, तद्धितत्वाच्च नमस्क्रियन्ते; तथा तत्सूत्रस्य वक्तारः पाठयितारः सन्त उपाध्याया अपि शिष्यहिता एव। वंशश्च तेषामेवोपाध्यायानां परम्परकः पारम्पर्येणावस्थितः समूहः, अतः शिष्यहितत्वात्सोऽपि नमस्क्रियते। शेषं सुबोधमिति। विशे०। आ० म०। आ० चू०।

अथ कस्य तीर्थकृतः कियन्तो गणधरा इति दर्श्यते–

" एवं नवसु वि खेत्ते–सु पुरिमपच्छिममज्झिमजिणाणं च।
वोच्छं गणहरसंखं, जिणाण नामं च पढमस्स॥ ४७॥
उसभजिणे चुलसीती, गणहर उसभसेण आदी य।
अजियजिणिंदे नउमि–तु सीहसेणो भवे आदी॥ ४८॥
चारुय संभवजिणे, पंचाणउती य गणहरा तस्स।
पढमो य वज्जनाभो, अभिनंदण तियधिकसयं तु ४६॥
सोलसयं सुमइ सओ–चमराविय पढमगणहरो तस्स।
सुज्जो सुप्पभजिणो, सयमेकोऽरगणहराणं॥ ५०॥
होइ सुपासवियब्भो, पंचाणउतीय गणहरा भवे तस्स।
नंदो य सीयलजिणे, एकासीतिं मुणेयव्वा॥ ५१॥
सिज्जंसे छसत्तरी, पढमो सिस्सो य गोत्थुभो होइ।
छावट्ठी य सुभूमो, बोधव्वा वासपुज्जस्स ५२॥
विमलजिणे छप्पन्ना, गणहरपढमो य मंदरो होइ।
पण्णासाऽणंतजिणे, पढमो सिस्सो जसो नाम॥ ५३॥
धम्मस्स होइऽरिट्ठो, तेयालीसं च गणहरा तस्स।
चक्की उच्छेय पढमो, छत्तालीसा य संतिजिणे॥ ५४॥
कुंथुस्स भवे संबो, सत्त त्तीसं च गणहरा तस्स।
कुंभो य अरजिणिंदे, तेत्तीसं च गणहरा तस्स॥ ५५॥
भिसंसिगो मल्लिजिणे, अट्ठावीसं च गणहरा होंति।
मुणिसुव्वयस्स मल्ला, अट्ठारस गणहरा तस्स॥ ५६॥
सुंभो नमिजिणवसभे, एक्कारस गणहरा चरिमदेहा।
नेमिस्स वि अट्ठारस, गणहर पढमो वेरदत्तो॥ ५७॥
पासस्स अज्जदिण्णो, पढमो अट्ठेव गणहरा भणिया।
जिणवीरे एक्कारस, पढमो से इंदभूई उ॥ ५८॥
गणहरसंखा भणिया, जं नामो पढमगणहरो तस्स"। ति०।

भगवत आदितीर्थकरस्य चतुरशीतिर्गणधराः, अजितस्वामिनः पञ्चनवतिः, संभवनाथस्य द्व्युत्तरं शतम, अभिनन्दनस्य षोडशोत्तरं शतं, सुमतिनाथस्य परिपूर्णं शतं, पद्मप्रभस्य सप्ताधिकं शतं, सुपार्श्वस्य पञ्चनवतिः, चन्द्रप्रभस्य त्रिनवतिः, सुविधिस्वामिनोऽष्टाशीतिः, शीतलस्य एकाशीतिः, श्रेयांसस्य षट्सप्ततिः, वासुपूज्यस्य षट्षष्टिः, विमलस्य सप्तपञ्चाशत्, अनन्तजिनस्य पञ्चाशत्, धर्मस्य त्रिचत्वारिंशत्, शान्तिनाथस्य षट्त्रिंशत्, कुन्थुनाथस्य पञ्चत्रिंशत्, अरजिनस्य त्रयस्त्रिंशत्, मल्लिस्वामिनो अष्टाविंशतिः, मुनिसुव्रतस्य अष्टादश, नमिनाथस्य सप्तदश, अरिष्टनेमेरेकादश, पार्श्वनाथस्य दश, वर्द्धमानस्वामिनश्च एकादशैवेति। एतद् ऋषभादीनां चतुर्विंश-

तैस्तीर्थकृतां यथाक्रमं गणधराणां मूलसूत्रकर्तॄणां प्रमाणम् । प्रव० १५ द्वार । आ० म० । (' तित्थयर ' शब्देऽपि वक्ष्यते)

पासस्स णं अरिहा पुरिसादाणीअस्स अट्ठ गणा अट्ठ गणहरा होत्था । तं जहा–" सुभे य सुभघोसे य, वसिट्ठे बंभयारिय । सोमे सिरीधरे चेव,वीरभद्दे जसेइ य"।१।

पार्श्वस्यार्हतस्त्रयोविंशतितमतीर्थकरस्य (पुरिसादाणीअस्स त्ति) पुरुषाणां मध्ये आदानीय आदेयः पुरुषादानीयः, तस्याष्टौ गणाः समानवाचनाक्रियाः साधुसमुदायाः, अष्टौ गणधरास्तन्नायकाः सूरयः । इदं चैतत्प्रमाणं स्थानाङ्गे, पर्युषणकल्पे च श्रूयते । केवलमावश्यकेऽन्यथा । तत्र ह्युक्तम्–" दसनवगं गणाण माणं जिणिंदाणं" ति । कोऽर्थः?, पार्श्वस्य दश गणाः,गणधराश्च । तदिह द्वयोरल्पायुष्कत्वादिना कारणेनाविवक्षाऽनुमन्तव्येति । स० ८ सम० ।

वीरस्य–

समणस्स णं भगवओ महावीरस्स एक्कारस गणा एक्कारस गणहरा होत्था । तं जहा–इंदभूई अग्गिभूई वाउभूई विअत्ते सोहम्मे मंडिए मोरपुत्ते अकंपिए अयलभाए मेअज्जे पभासे । स० ११ सम० । कल्प० ।

अथैषां सर्वेषां वक्तव्यता–

उप्पन्नम्मि अणंते, नट्ठम्मि य छाउमत्थिए नाणे ।
राईए संपत्तो, महसेणवणम्मि उज्जाणे ॥

उत्पन्ने प्रादुर्भूते अनन्तज्ञेयविषये केवलज्ञाने, नष्टे च छाद्मस्थिके मत्यादिरूपे ज्ञाने, देशज्ञानव्यवच्छेदेन केवलज्ञानसद्भावात् । भावितं चैतत् प्रथमपीठिकायाम् । रात्रौ संप्राप्तो महसेनवने उद्याने, किमिति चेत्?, उच्यते–भगवतो ज्ञानरत्नोत्पत्तिसमनन्तरमेव देवाश्चतुर्विधा अभ्यागता आसन् अत्यद्भुतां च प्रहर्षवन्तो ज्ञानोत्पादमहिमां चक्रुः । तत्र भगवानवबुध्यते, नात्र कश्चित् प्रव्रज्याप्रतिपत्ता विद्यते । तत एतद्विज्ञाय न विशिष्टधर्मकथनाय प्रवृत्तवान्, केवलं कल्प एष यत्र ज्ञानमुत्पद्यते, तत्र जघन्यतोऽपि मुहूर्त्तमात्रमवस्थातव्यम्, देवकृता च पूजा प्रतीच्छनीया, धर्मदेशना च कर्त्तव्येति संक्षेपतो धर्मदेशनां कृत्वा द्वादशसु योजनेषु मध्यमा नाम नगरी, तत्र सोमिलार्यो नाम ब्राह्मणः, स यज्ञं यष्टुमुद्यतः, तत्र चैकादशोपाध्यायाः समवागताः,ते च चरमशरीरा भवान्तरोपार्जितगणधरलब्धयश्च, तान् विज्ञायासंख्येयाभिर्देवकोटिभिः परिवृतो देवोद्द्योतेन दिवस इवाशेषं पन्थानमुद्द्योतयन् देवपरिकल्पितेषु सहस्रपत्रेषु नवनीतस्पर्शेषु पद्मेषु चरणन्यासं विदधानो मध्यमनगर्या महसेनवनोद्यानं संप्राप्तः ।

अमरनररायमहिओ, पत्तो वरधम्मचक्कवट्टित्तं ।
बीयम्मि समोसरणे, पावाए मज्झिमाए उ ॥

अमरा देवाः,नरा मनुष्याः, तेषां राजानः तैर्महितः पूजितः,प्राप्तो धर्मवरचक्रवर्त्तित्वं धर्मवरप्रभुत्वम् । द्वितीयं पुनः समवसरणम्, अपिशब्दः पुनरर्थे, पापायां मध्यमायां प्राप्त इत्यनुवर्त्तते, ज्ञानोत्पत्तिस्थानकृतपूजापेक्षया चास्याभ्यधिकता ॥

तत्थ किर सोमिलज्जो, त्ति माहणो तस्स दिक्खकालम्मि ।
पउरा जणजाणवया, समागया जन्नवाडम्मी ॥

तत्र पापायां मध्यमायां, किलशब्दः पूर्ववत्, सोमिलार्य इति ब्राह्मणः,तस्य दीक्षाकाले योगकाले पौरा विशिष्टनगरनिवासिलोकाः, जनाः सामान्यलोकाः, जानपदा नानाजनपदभवा लोकाः समागता यज्ञपाटे । अत्रान्तरे–

एगंते य विवित्ते, उत्तरपासम्मि जन्नवाडस्स ।
तो देवदाणविंदा, करेंति महिमं जिणिंदस्स ॥

एकान्ते विविक्ते यज्ञपाटस्योत्तरपार्श्वे ततो देवदानवेन्द्रा जिनेन्द्रस्य महिमां कुर्वन्ति । पाठान्तरं वा "कासी महिमं जिणिंदस्स " कृतवन्त इत्यर्थः ।

अमुमेवार्थं सविशेषं भाष्यकार आह–

भवणवई वाणमंतर, जोइसवासी विमाणवासी य ।
सव्विड्ढीए सपरिसा, कासी नाणुप्पयामहिमं ॥

भवनपतिव्यन्तरज्योतिर्वासिनो विमानवासिनश्च सपर्षदः सर्वर्द्ध्या ज्ञानोत्पत्तिमहिमामकार्षुः कृतवन्तः ॥ आ० म० द्वि० । तत्र भगवतः समवसरणे निष्पन्ने सति अत्रान्तरे देवकृतजयशब्दसंमिश्रदिव्यदुन्दुभिशब्दाकर्णनोत्फुल्लनयनगगनावलोकनोपलब्धस्वर्गवधूसमेतसुरवृन्दानां यज्ञपाटकसमभ्यागतजनानां परितोषोऽभवत्–अहो! स्विष्टं यद्विप्रहवन्तः समागता देवा इति । तथा चाह–

तं दिव्वदेवघोसं, सोऊणं माणुसा तहिं तुट्ठा ।
अहो जन्निएण इट्ठं, देवा किर आगया इहइं ॥

तं दिव्यदेवघोषं श्रुत्वा मनुष्यास्तत्र यज्ञपाटके तुष्टाः, अहो विस्मये, यज्ञेन जयति लोकानिति याज्ञिकः,तेन इष्टं यतो देवाः किल आगता अत्रेति । किलशब्दोऽसंशये एव, तेषामभ्यागमनात् तत्र यज्ञपाटके वेदाऽर्थविद एकादशापि गणधरा ऋत्विजः समन्वागताः । तथा चाह–

एक्कारस वि गणहरा, सव्वे उन्नयविसालकुलवंसा ।
पावाए मज्झिमाए, समोसढा जन्नवाडम्मी ॥

एकादशापि गणधराः समवसृता यज्ञपाटे इति योगः । किंभूताः?, इत्याह–सर्वे निरवशेषा उन्नताः प्रधानजातित्वात् विशालाः पितामहपितृपितृव्याद्यनेकजनसमाकुलाः । कुलान्येव वंशा अन्वया येषां ते तथाविधाः, पापायां मध्यमायां समवसृता एकीभूता यज्ञपाटे ।

आह–किमाख्याः किंनामानो वा ते गणधरा इति?, उच्यते–

पढमेऽत्थ इंदभूई, बीए पुण होइ अग्गिभूइ त्ति ।
तइए य वाउभूई,तत्तो वियत्ते सुहम्मे य ॥
मंडियमोरियपुत्ते, अकंपिए चेव अयलभाया य ।
मेयज्जे य पभासे, गणधरा होंति वीरस्स ॥

प्रथमोऽत्र गणधरमध्ये इन्द्रभूतिर्द्वितीयः पुनर्भवति अग्निभूतिस्तृतीयो वायुभूतिः, चतुर्थो व्यक्तः, पञ्चमः सुधर्म्मा स्वामी, षष्ठो मण्डिकपुत्रः, सप्तमो मौर्यपुत्रः, पुत्रशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, अष्टमोऽकम्पिकः, नवमोऽचलभ्राता, दशमो मेतार्यः, एकादशः प्रभासः । एते गणधरा भवन्ति वीरस्य ॥

जं कारणनिक्खमणं, वोच्छं एएसि आणुपुव्वीए ।
तित्थं च सुहम्माओ, निरपच्चा गणहरा सेसा ॥

यत्कारणं यन्निमित्तं निष्क्रमणं, यत्तदोर्नित्याभिसंबन्धात् तद्, एतेषां गणधराणामानुपूर्व्या परिपाट्या वक्ष्ये, तथा तीर्थं सुधर्म्मात् पञ्चमाद् गणधराद् जातं, यतो निरपत्याः शिष्यरहिताः शेषा इन्द्रभूत्यादयो गणधराः ।

तत्र जीवादिसंशयापनोदनिमित्तं गणधरनिष्क्रमणमिति-कृत्वा, यो यस्य संशयस्तदुपदर्शनार्थमाह-

जीवे कम्मे तज्जी-व भूय तारिसय बंध मुक्खे य।
देवा नेरइया वा, पुन्ने परलोय निव्वाणे ॥

आद्यस्य गणभृतो जीवे संशयः-किमस्ति?,नास्तीति । द्वितीयस्य कर्मणि। यथा-ज्ञानावरणीयादिलक्षणं कर्मास्ति?,किं वा नास्तीति । तृतीयस्य (तज्जीवेति) किं तदेव शरीरं, स एव जीवः?,किं वाऽन्य इति,न पुनर्जीवसत्तायां तस्य संशयः। चतुर्थस्य भूतेषु संशयः-किं पृथिव्यादीनि भूतानि सन्ति?, किं वा नेति । पञ्चमस्य (तारिसय त्ति) किं यो यादृश इह भवे सोऽन्यस्मिन्नपि तावत्तादृश एव ?, उतान्यथाऽपीति संशयः । षष्ठस्य बन्धो मोक्षश्च तस्मिन् संशयः । यथा-बन्धमोक्षौ स्तः, किं वा नेति?। आह-कर्मसंशयादस्य को विशेषः?। उच्यते-स कर्मसत्तागोचरः, अयं तु तदस्तित्वे सत्यपि जीवकर्मसंयोगविभागगोचर इति। सप्तमस्य किं देवाः सन्ति?, किं वा न सन्तीति संशयः। अष्टमस्य नारकाः संशयगोचराः-किं ते सन्ति,?न सन्तीति?। नवमस्य पुण्यसंशयः-कर्मणि सत्यपि किं पुण्यमेव प्रकर्षप्राप्तं प्रकृष्टसुखहेतुस्तदेव चाऽपचीयमानमत्यन्तस्वल्पावस्थं दुःखस्य,उत तदतिरिक्तं पापमस्ति?, आहोस्विदेकमेवोभयरूपम, उत स्वतन्त्रमुभयमिति । दशमस्य परलोके संशयः, सत्यप्यात्मनि परलोको भवान्तरलक्षणः किमस्ति?,किं वा नास्तीति ?। एकादशस्य निर्वाणे संशयः-निर्वाणं किमस्ति, किं वा नेति ?। आह-बन्धमोक्षसंशयादस्य को विशेषः?। उच्यते-स हि उभयगोचरः, अयं तु केवलविभागविषय एव। तथा किं संसाराभावमात्र एव मोक्षः?, किं वा अन्यः?, इत्यादि।

साम्प्रतं गणधरपरिवारप्रदर्शनार्थमाह-

पंचण्हं पंचसया, अद्धुट्ठसया य होंति दोण्ह गणा ॥
दोण्हं तु जुयलगाणं, तिसयो तिसयो हवइ गच्छो ॥

पञ्चानामाद्यानां गणधराणां प्रत्येकं प्रत्येकं परिवारः पञ्चशतानि, तथा अर्द्धं चतुर्थस्य येषु तानि अर्द्धचतुर्थानि अर्द्धचतुर्थानि शतानि मानं ययोस्तौ अर्द्धचतुर्थशतौ। भवतो द्वयोः प्रत्येकं गणौ। इह गणः समुदाय एवोच्यते, न पुनरागमिकः । तथा द्वयोर्गणधरयुगलकयोः प्रत्येकं त्रिशतस्त्रिशतो गच्छः। किमुक्तं भवति ?-उपरितनानां चतुर्णां गणभृतां प्रत्येकं त्रिशतमानः परिवारः । आ० म० द्वि० । आव० । कल्प० । (गणधरसंशयाऽपनयनवक्तव्यता तत्तत्संशयविषयवाचकशब्देषु द्रष्टव्या)

क्षेत्रादिद्वाराणि-

साम्प्रतमेतेषामेव वक्तव्यताऽशेषप्रतिपादनार्थं द्वारगाथामाह-

खेत्ते काले जम्मे, गोत्तमगारछउमत्थपरियाए ।
केवलि य आउ आगम, परिनिव्वाणे तवे चेव ॥२०२५॥

अत्र एकारान्ताः शब्दाः प्राकृतत्वात् प्रथमाद्वितीयान्ता द्रष्टव्याः। ततोऽयमर्थः-गणधरानधिकृत्य क्षेत्रं जनपदग्रामनगरादि वक्तव्यं, जन्मभूमिर्वाच्येत्यर्थः। तथा कालो नक्षत्रचन्द्रयोगोपलक्षितो वाच्यः । तथा जन्म वक्तव्यं, जन्म च मातापित्रायत्तमित्यतो मातापितरौ वाच्यौ। तथा गोत्रं यद् यस्य तद्वाच्यम । "अगारछउमत्थपरियाए" इति। पर्यायशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, अगारपर्यायो गृहस्थपर्यायो वाच्यः, तथा छद्मस्थपर्यायश्चेति । तथा केवलिपर्यायो वाच्यः, आयुः सर्वायुष्कं वाच्यं,तथा आगमो वाच्यः-कस्य क आगम आसीदिति। तथा परिनिर्वाणं वाच्यम, कस्य भगवति जीवति परिनिर्वाणमासीत, कस्य वा भगवति परिनिर्वृते इति । तथा तपो वक्तव्यम-यथा किं केनापवर्गं गच्छता तप आचरितमिति । चशब्दात्संहननादि च वक्तव्यमिति गाथासमुदायार्थः ।

इदानीमवयवार्थः प्रतिपाद्यते, तत्राद्यद्वारावयवार्थाभिधित्सया प्राह-

मगहा गोव्वरगामे, जाया तिन्नेव गोयमसगोत्ता ।
कोल्लागसन्निवेसे, जाओ वियत्तो सुहम्मो य ॥६६॥

मगधेषु जनपदेषु गोर्वरग्रामे जातास्त्रय एवाद्या गणधराः। कथमेते त्रयोऽपीत्यत आह-गौतमसगोत्राः, समानं गोत्रं येषां ते सगोत्राः, गौतमेन गोत्रेण सगोत्राः गौतमसगोत्राः, गौतमाभिधगोत्रयुक्ता इत्यर्थः । तथा कोल्लाकसन्निवेसे जातो व्यक्तः सुधर्म्मस्तु ।

मोरीयसन्निवेसे, दो भायरो मंडिमोरिया जाया ।
अयलो य कोसलाए, मिहिलाए अकंपिओ जाओ ॥६७॥

मौर्यसन्निवेशे द्वौ भ्रातरौ मण्डिकमौर्यौ जातौ, अचलश्च कोशलायां, मिथिलायामकम्पितो जात इति ।

तुंगीयसन्निवेसे, मेयज्जो वच्छभूमिए जाओ ।
भयवं पि य प्पभासे, रायगिहे गणहरो जाओ ॥६८॥

तुङ्गिकसन्निवेशे वत्सभूमौ, कौशाम्बीविषये इत्यर्थः; मेतार्यो जातः। भगवानपि च प्रभासे राजगृहे गणधरो जातः ।

सम्प्रति कालद्वाराऽवयवार्थप्रतिपाद्यः । कालश्च नक्षत्रचन्द्रयोगोपलक्षित इति यद् यस्य गणभृतो नक्षत्रं तदभिधित्सुराह-

जेट्ठा कत्तिय साई, सवणो हत्थुत्तरा महाओ य ।
रोहिणि उत्तरसाढा,मिगसिर तह अस्सिणी पुस्सो ॥६९॥

इन्द्रभूतेर्जन्मनक्षत्रं ज्येष्ठा, अग्निभूतेः कृत्तिका, वायुभूतेः स्वातिः, व्यक्तस्य श्रवणः, सुधर्मस्य हस्त उत्तरो यासां ता हस्तोत्तराः, उत्तरफल्गुन्य इत्यर्थः । मण्डिकस्य मघा, मौर्यस्य रोहिणी, अकम्पितस्य उत्तराषाढाः, अचलभ्रातुर्मृगशिराः, मेतार्यस्य अश्विनी, प्रभासस्य पुष्यः ।

अधुना जन्मद्वारं प्रतिपाद्यं, जन्म च मातापित्रायत्तमिति गणभृतां मातापितरावेव प्रतिपादयति-

वसुभूई धणमित्ते, धम्मिल्ल धणदेव मोरिए चेव ।
देवे य वसू दत्ते, बले य पियरो गणहराणं ॥ ७० ॥

आद्यानां त्रयाणां गणभृतां पिता वसुभूतिः, व्यक्तस्य धनमित्रः, सुधर्मस्य धम्मिलः, मण्डिकस्य धनदेवः, मौर्यस्य मौर्यः, अकम्पितस्य देवः, अचलभ्रातुर्वसुः, मेतार्यस्य दत्तः, प्रभासस्य बलः, एवं पितरो गणधराणां भवन्ति।

पुढवि वारुणि भद्दिला, य विजयदेवा तहा जयंती य ।

नंदा य वरुणदेवा, अइभद्दा मायरो चेव ॥ ७१ ॥

आद्यानां त्रयाणां गणभृतां माता पृथिवी, व्यक्तस्य वारुणी, सुधर्मस्य भद्दिला, मण्डिकमौर्यपुत्राणां विजयदेवा पितृभेदेन, धनदेवे हि पञ्चत्वमुपगते मण्डिकपुत्रसहिता मौर्येण धृता, ततो मौर्यो जातः अविरोधश्च तस्मिन् देशे इत्यदूषणम् । जयन्तीनामा अकम्पितस्य, नन्दा अचलभ्रातुः, वरुणदेवा मेतार्यस्य, अतिभद्रा प्रभासस्य ।

संप्रति गोत्रद्वाराभिधानार्थमाह–

तिन्नि य गोयमगोत्ता, भारद्दाअऽग्गिवेसवासिट्ठा ।
कासवगोयमहारिय, कोमिन्न दुगं च गोत्ताइं ॥ ७२ ॥

अथ आद्या गणभृतो गौतमगोत्राः, भारद्वाजो व्यक्तः, अग्निवैश्यायनः सुधर्मः, वासिष्ठो मण्डिकः, काश्यपो मौर्यिकः, गौतमोऽकम्पितः, हारीतो अचलभ्राता, कौण्डिन्यो मेतार्यः प्रभासश्च ।

अधुना अगारपर्यायद्वारप्रतिपादनार्थमाह–

पन्ना छायालीसा, बायाला होंति पन्नपन्ना य ।
पणसट्ठी तेवन्ना, अमयालीसा य छायाला ॥ ७३ ॥
छत्तीसा सोलसगं, आगारवासो भवे गणहराणं ।
छउमत्थपरीयागं, अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥ ७४ ॥

इन्द्रभूतेरगारपर्यायः पञ्चाशद्वर्षाणि, अग्निभूतेः षट्चत्वारिंशत्, वायुभूतेर्द्वाचत्वारिंशत्, व्यक्तस्य पञ्चाशत्, सुधर्मणः पञ्चाशत्, मण्डिकस्य पञ्चषष्टिः, मौर्यस्य त्रिपञ्चाशत्, अकम्पितस्याऽष्टचत्वारिंशत्, अचलभ्रातुः षट्चत्वारिंशत्, मेतार्यस्य षट्त्रिंशत्, प्रभासस्य षोडश ॥ अत ऊर्ध्वं छद्मस्थपर्यायं यथाक्रमं कीर्तयिष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेवाह–

तीसा बारस दसगं, बारस बायाल चोद्दसदुगं च ।
नवगं बारस दस अ–ट्ठगं च छउमत्थपरियाओ ॥७५॥

इन्द्रभूतेश्छद्मस्थपर्यायस्त्रिंशद्वर्षाणि, अग्निभूतेर्द्वादश, वायुभूतेर्वर्षदशकं, व्यक्तस्य द्वादश, सुधर्मणो द्वाचत्वारिंशत्, मण्डिकस्य चतुर्दश, अकम्पितस्य वर्षनवकं, अचलभ्रातुर्द्वादश वर्षाणि, मेतार्यस्य दश, प्रभासस्य वर्षाष्टकम्, एषामेव यथाक्रमं छद्मस्थपर्यायः ।

केवलिपर्यायपरिज्ञानोपायमाह–

छउमत्थपरीयागं, अगारवासं च वुक्कसित्ताणं ।
सव्वाउयस्स सेसं, जिणपरियागं वियाणाहि ॥ ७६ ॥

छद्मस्थपर्यायमगारवासं च व्यवकलय्य यत् सर्वायुष्कस्य शेषं तच्च जिनपर्यायं विजानीहि ।

स चायं जिनपर्यायः–

बारस सोलस अट्ठा–रसेव अट्ठारसेव अट्ठेव ।
सोलस सोलस तह ए–गवीस चोद्दस सोलस य ॥७७॥

इन्द्रभूतेः केवलिपर्यायो द्वादशवर्षाणि, अग्निभूतेः षोडश, वायुभूतेरष्टादश, व्यक्तस्याष्टादश, सुधर्मणोऽष्टौ, मण्डिकस्य षोडश, मौर्यपुत्रस्य षोडश, अकम्पितस्य एकविंशतिः, अचलभ्रातुश्चतुर्दश, मेतार्यस्य षोडश, प्रभासस्य षोडश ।

सम्प्रति सर्वायुष्कमाह–

बाणउई चउहत्तरि, सत्तरि तत्तो भवे असीई अ ।
एगं च सयं तत्तो, पणनउई चेव तेसीई ॥ ७८ ॥
अट्ठत्तरिं च वासा, तत्तो बावत्तरिं च वासाइं ।
बावट्ठी चत्ता खलु, सव्वगणहराउयं एयं ॥ ७९ ॥

इन्द्रभूतेः सर्वायुर्द्विनवतिवर्षाणि, अग्निभूतेश्चतुःसप्ततिः, वायुभूतेः सप्ततिः, व्यक्तस्य अशीतिः, सुधर्मस्य एकं वर्षशतं, मण्डिकस्य पञ्चनवतिवर्षाणि, मौर्यपुत्रस्याशीतिः । अकम्पितस्याष्टासप्ततिः, अचलभ्रातुर्द्वासप्ततिः, मेतार्यस्य द्वाषष्टिः, प्रभासस्य चत्वारिंशत् । एवं क्रमेण गणधराणां सर्वायुष्कमिति । आ० म० द्वि० । आव० ।

थेरे णं इंदभूती बाणउइवासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे ॥

स्थविर इन्द्रभूतिर्महावीरस्य प्रथमगणनायकः । स च गृहस्थपर्यायं पञ्चाशतं वर्षाणि, त्रिंशत छद्मस्थपर्यायं, द्वादश च केवलित्वं पालयित्वा सिद्ध इति सर्वाणि द्विनवतिरिति । स० ९२ सम० ।

थेरे णं अग्गिभूई गणहरे चोवत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव प्पहीणे ॥

तत्राऽग्निभूतिरिति महावीरस्य द्वितीयो गणधरः गणनायकः, तस्येह चतुःसप्ततिवर्षाण्यायुः । अत्र चायं विभागः–षट्चत्वारिंशद्वर्षाणि गृहस्थपर्यायः, द्वादश छद्मस्थपर्यायः, षोडश केवलिपर्याय इति । स० ७४ सम० ।

थेरे णं अकंपिए अट्ठहत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे० जाव प्पहीणे ॥

अकम्पितः स्थविरो महावीरस्याऽष्टमो गणधरः, तस्य चाष्टसप्ततिवर्षाणि सर्वायुः । कथम् ?, गृहस्थपर्याये अष्टचत्वारिंशत्, छद्मस्थपर्याये नव, केवलिपर्याये चैकविंशतिरिति । स० ७८ सम० ।

आगमद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

सव्वे य माहणा जच्चा, सव्वे अज्झावया विऊ ।
सव्वे दुवालसंगी य, सव्वे चोद्दसपुव्विणो ॥ ७७ ॥

सर्वे ब्राह्मणा जात्याः प्रशस्तजातिकुलोत्पन्नाः । तथा सर्वे अध्यापका उपाध्यायाः, विदन्तीति विदो विद्वांसः, चतुर्दशविद्यास्थानपारगमनात् । तानि चतुर्दशविद्यास्थानान्यमूनि–"अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च, विद्या ह्येताश्चतुर्दश" ॥१॥ तत्राऽङ्गानि षट् । तद्यथा–शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्दो, ज्योतिषं चेति । एतेन गृहस्थागम उक्तः । लोकोत्तरागमप्रतिपादनार्थमाह–सर्वे द्वादशाङ्गिनः, तत्र स्वल्पेऽपि द्वादशाङ्गाध्ययने द्वादशाङ्गिनोऽभिधीयन्ते । ततः संपूर्णद्वादशाङ्गज्ञापनार्थमाह–सर्वे चतुर्दशपूर्विणः ।

परिनिर्वाणद्वारमाह–

परिनिव्वुया गणहरा, जीवंते नायए नव जणाओ ।
इंदभूइ सुहम्मो य, रायगिहे निव्वुए वीरे ॥७८॥

जीवति ज्ञातके ज्ञातकुलोत्पन्ने, वीरे भगवति, नव जनाः, इन्द्रभू-

तिः, सुधर्मश्च स्वामिनि वीरे निर्वृते परिनिर्वृतः। तत्रापि प्रथममिन्द्रभूतिः, पश्चात् सुधर्मस्वामी । यश्च यश्च कालं करोति स सुधर्मस्वामिनो गणं ददाति, तेषां तथाविधसन्तानप्रवृत्तिहेतुभूताचार्यासंभवात् । सुधर्मस्वामी तु कालं कुर्वन्निजशिष्याय जम्बूस्वामिने गणं समर्पितवान् ।

अधुना तपोद्वारमाह–

मासं पाओवगया, सव्वे वि य सव्वलद्धिसंपन्ना ।
वज्जरिसहसंघयणा, समचउरंसा य संठाणे ॥

सर्वे एव गणधरा मासं यावत् पादपोपगमनगताः। द्वारगाथोपन्यस्तचशब्दार्थमाह–सर्वेऽपि सर्वलब्धिसंपन्नाः, आमर्षौषध्याद्यशेषलब्धिसंपन्नाः। तथा वज्रर्षभसंहननाः समचतुरस्राश्च संहननाः । समचतुरस्राश्च संस्थाने संस्थानविषये। आ० म० द्वि० । विशे० । एवं चतुश्चत्वारिंशच्छतानि द्विजाः प्रव्राजिताः । तत्र मुख्यानां त्रिपदीग्रहणपूर्वकमेकादशाङ्गचतुर्दशपूर्वरचना गणधरपदप्रतिष्ठा च । तत्र द्वादशाङ्गीरचनाऽनन्तरं भगवाँस्तेषां तदनुज्ञां करोति, शक्रश्च दिव्यं वज्रमयस्थालं दिव्यचूर्णानां भृत्वा त्रिभुवनस्वामिनः सन्निहितो भवति । ततः स्वामी रत्नमयसिंहासनादुत्थाय संपूर्णां चूर्णमुष्टिं गृह्णाति, ततो गौतमप्रमुखा एकादशापि गणधरा ईषदवनता अनुक्रमेण तिष्ठन्ति। देवास्तूर्यध्वनिगीतादिनिरोधं विधाय तूष्णीकाः शृण्वन्ति। ततो भगवान् पूर्वं भणति–" गौतमस्य द्रव्यगुणपर्यायैस्तीर्थमनुजानामीति," चूर्णांश्च तन्मस्तके क्षिपति । ततो देवा अपि चूर्णपुष्पगन्धवृष्टिं तदुपरि कुर्वन्ति, गणं च भगवान् सुधर्मस्वामिनं धुरि व्यवस्थाप्यानुजानाति। इति ॥१२१॥ कल्प०६ क्षण। ती० । "अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं " (१११६) इति । (गणधारिणां सूत्रकरणं 'सुय' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्यास्यते) विशे० । सूत्र० । अत्यन्ताप्तगोचरश्रद्धास्थैर्यवतोऽनुष्ठानात्तीर्थकृत्वं, मध्यमश्रद्धासमन्विताद्गणधरत्वम् । यो० बिं० । गणस्य गच्छस्य धारकत्वाद्गणधरः। उत्त० २६ अ०। गणनायके आचार्ये, स्था० ८ ठा० । संथा० । गणधरश्च यैर्गुणैर्युक्तस्य नरस्य गणधरणार्हत्वं भवति तद्युक्त एवेति । स्था० ८ ठा० । यस्त्वाचार्यदेशीयो गुर्वादेशात्साधुगणं गृहीत्वा पृथग् विहरति स गणधरः । आचा० २ श्रु०१ अ०१० उ० । " चिन्तयत्येवमेवैतत्, स्वजनादिगतं तु यः । तथाऽनुष्ठानतः सोऽपि, धीमान् गणधरो भवेत्" ॥ १ ॥ द्वा० १५ द्वा० । पं० सं० । (अथ कीदृशः कथं वा आचार्यपदे स्थाप्यते इति ' आयरिय ' शब्दे द्वि० भागे ३०२ पृष्ठे उक्तम)

नवरमिह भिक्षोर्गणधारणसूत्रम्-

भिक्खू य इच्छेज्जा गणं धारित्तए नो कप्पइ से थेरे अणापुच्छित्ता गणं धारित्तए । कप्पइ से थेरे आपुच्छित्ता गणं धारित्तए थविरा य से वियरेज्जा । एवं से कप्पइ गणं धारित्तए थेरा य से एगे वियरेज्जा । एवं से णो कप्पइ गणं धारित्तए, जण्णं थेरेहिं अविदिण्णं गणं धारेति से संतरा छेए वा परिहारे वा जे ते साहम्मिया उट्ठाए विहरंति । णत्थि णं तेसिं केइ छेदे वा परिहारे वा ॥ २ ॥

अथास्य सूत्रस्य कः संबन्धः ?, तत आह–

दुहतो वि पलिच्छन्ने, अप्पडिसेहो त्तऽतिप्पसंगाओ ।
धारेज्ज अणापुच्छा, गणमेसो सुत्तसंबंधो ॥

द्विधातोऽपि द्रव्यतो भावतश्च, परिच्छन्ने परिच्छदोपेत आचार्यस्त्वयमपि च द्विधातः परिच्छन्ने गणधारणस्य न प्रतिषेध इति कृत्वा किमनुज्ञया स्थविराणां कार्यमिति बुद्ध्या माऽतिप्रसंगतः स्थविराणामनापृच्छया गणं धारयेदतस्तत्प्रतिषेधार्थमिदं सूत्रमारभ्यते। एषोऽधिकृतसूत्रस्य संबन्धः । अनेन संबन्धेनायातस्याऽस्य व्याख्या–भिक्षुरिच्छेद् गणं धारयितुम् । तत्र (से) तस्य न कल्पते स्थविरान् गच्छगतान् पुरुषान् अनापृच्छ्य गणं धारयितुम् । कल्पते (से) तस्य स्थविरान् आपृच्छ्य गणं धारयितुम्, स्थविराश्च (से) तस्य वितरेयुरनुजानीयुर्गणधारणम्, पूर्वोक्तैः कारणैरर्हत्वात्, तत एवं सति (से) तस्य कल्पते गणं धारयितुम् । स्थविराश्च (से) तस्य न वितरेयुः, गणधारणानर्हत्वात्, एवं सति न कल्पते गणं धारयितुम् । यः पुनः स्थविरैरवितीर्णमननुज्ञातः गणं धारयेत् ततः (से) तस्य कृतादनन्तरादपन्यायात्प्रायश्चित्तं छेदो वा परिहारो वा, वाशब्दादन्यद्वा तपः । एष सूत्राक्षरार्थः ।

भावार्थं भाष्यकृदाह–

कालं देसदरिसणं, आगतऽपट्ठाविए भवरया थेरा ।
असिवादिकारणेहिं, न ठाविओ साहगस्सऽसती ॥
सो कालगतम्मी भव–गतो विदेसं व तत्थ व अपुच्छा ।
थेरे धारेय गणं, भावनिसिट्ठं अणुण्णाया ॥

देशदर्शननिमित्तं गतेन ये प्रव्राजितास्तान् यदि आत्मनो यावत्कथिकान् शिष्यतया बध्नाति, ततस्तस्य प्रायश्चित्तं चतुर्गुरुकम् । तथा देशदर्शनं कृत्वा तस्मिन्नागते अप्रस्थापिते च तस्मिन्नाचार्यपदे स्थविरा यस्याचार्या उपरताः कालगताः, यदि वा स प्रत्यागतोऽप्यशिवादिभिः कारणैः, यद्वा साधकस्य (असति त्ति) अभावेनाचार्यपदेऽस्थापितोऽत्रान्तरे चाचार्यः ततस्तस्मिन् कालगते, यदि वा गतो विदेशं तत्रैव विदेशे गणं धारयितुमिच्छेत्, एतेषु सर्वेष्वपि कारणेषु समुत्पन्नेषु यदि स्थविरान् गच्छमहत्तरोऽपृष्ट्वा, यद्यपि तस्याचार्येण भावतो गणो निसृष्टोऽनुज्ञातस्तथापि स्थविरा आपृच्छनीयाः । तत आह–भावनिसृष्टमपि गणं धारयति तर्हि तस्य स्थविरानापृच्छाप्रत्ययं प्रायश्चित्तम् । अनुद्धाता गुरुकाश्चत्वारो मासाः । उपलक्षणमेतद् आज्ञानवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपाश्च तस्य दोषाः ।

सयमेव दिसाबंधं, अणणुण्णाते करे अणापुच्छा ।
थेरेहिं पडिसिद्धो, सुद्धा लग्गा उवेहंता ॥

यो नाम स्वयमेव आत्मच्छन्दसा को मम निजमाचार्यं मुक्त्वाऽन्य आपृच्छनीयः समास्ति?, इत्यध्यवसायतः पूर्वाचार्येणाननुज्ञात आचार्यपदे तस्यास्थापनात् । स्थविरान् गच्छमहत्तररूपान् अनापृच्छ्य दिग्बन्धं करोति, स्थविरैः प्रतिषेधनीयः यथा निवर्त्तते–' आर्य ! तव तीर्थकराणामाज्ञां लोपयितुं न युक्तम ' । एवं प्रतिचोदितोऽपि यदि न प्रतिनिवर्त्तते तर्हि स्थविराः शुद्धाः, स तु चतुर्गुरुके प्रायश्चित्ते लग्नः । अथ स्थविरा उपेक्षन्ते तर्हि ते उपेक्षाप्रत्ययं चतुर्गुरुके लग्नाः, यत एवमुपेक्षायामनापृच्छायां च

तीर्थकराभिहितं प्रायश्चित्तमाज्ञादयश्च दोषास्तस्मात् स्थविरैरुपेक्षा न कर्त्तव्या, तेन च स्थविरा आपृच्छनीयाः ।

सगणे थेराणऽसती, तिगथेरे वा तिगं तुवट्ठाति ।
से वा सति इत्तरियं, धारेइ न मेलितो जाव ॥

अथ स्वगच्छे स्थविरा न सन्ति तर्हि गणे स्वकीये गच्छे स्थविराणामसति अभावे, ये त्रिककुलगणसंघरूपे स्थविरास्तान् त्रिकस्थविरान्, त्रिकं वा समस्तं कुलं वा गणं वा सङ्घं वा इत्यर्थः, उपतिष्ठेत। यथा–यूयमनुजानीत मह्यं दिशमिति । अथ अशिवादिभिः कारणैर्न पश्येत्कुलस्थविरादीनामसत्यभावे इत्वरिकां दिशं गणस्य धारयति , यावत्कुलादिभिः सह गणो न मिलितो भवति ।

जे उ अहाकप्पेणं, च अणुण्णायम्मि तत्थ साहम्मी ।
विहरंति य वद्धाए, न तेसि छेओ न परिहारो ॥

ये तु साधर्मिकाः स्वगच्छवर्त्तिनः परगच्छवर्त्तिनो वा यथाकल्पेन श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्रार्थं तत्रोपस्थापनाविषये तदर्थाय सूत्राणामर्थाय , आसेवनाशिक्षायै चेत्यर्थः, अनुज्ञाते गणधरेण तत्र गच्छे विहरन्ति, ऋतुबद्धे काले मासकल्पे न वर्षासु वर्षाकल्पे न तेषां तत्प्रत्ययो यदेषोऽनुज्ञातो गणं धारयतीति तन्निमित्तमित्यर्थः । प्रायश्चित्तच्छेदो न परिहार उपलक्षणमेतच्चान्यद्वा तपः श्रुतोपदेशेन तेषां सूत्रार्थं तपोपस्थानात्। विषयलोलता हि तस्याः समीपमुपतिष्ठमानानां दोषः,न सूत्रार्थमिति । (अस्य विशेषविस्तरस्तु 'आयरिय' शब्दे द्वि० भागे ३३५ पृष्ठे द्रष्टव्यः) व्य० ३ उ० । इदानीन्तनानामपि योग्यानां गणधरपदं युज्यते। अपवादपदमपुष्टमवलम्ब्य नैवेदंयुगीनसाधूनामपि युज्यते कालोचितानुपूर्वीमपहाय गणधरपदाद्यारोपणम्। मा प्रापन्महापुरुषगौतमादीनामाशातनाप्रसङ्गः। तेषामाशातना स्वल्पीयस्यपि प्रकृष्टदुरन्तसंसारोपनिपातकारिणी । यत उक्तम्–"बूढो गणहरसद्दो,गोयममाईहि धीरपुरिसेहिं। जो तं ठवइ अपत्ते, जाणंतो सो महापावो " ॥ १ ॥ तत एतत्परिभाव्य संसारभीरुणा कथञ्चिद्विनयादिना समर्जितेनापि स्वशिष्ये गुणवति कालोचितवयःपर्यायानुपूर्वीसंपन्ने गणधरपदाध्यारोपः कर्त्तव्यो न यत्र कुत्रचिदिति स्थितम्। नं० । अन्यथा प्रायश्चित्तम् ॥

ततः शिष्यः प्रश्नयति–कीदृशस्य गच्छो दीयते ?। अयोग्यस्य वा गच्छं प्रयच्छन्नयोग्यो वा गच्छं धारयन् कीदृशं प्रायश्चित्तं प्राप्नोति ?। उच्यते–

अबहुस्सुएँ ऽगीयत्थे, निसिरए वा वि धारए व गणं ।
तद्देवसियं तस्सा, मासा चत्तारि भारीया ॥

अबहुश्रुतो नाम येनाचारप्रकल्पाध्ययनं नाधीतम्,अधीतं वा परं विस्मारितम्, अगीतार्थो येन छेदश्रुतार्थो न गृहीतो, गृहीतो वा परं विस्मारितः,तस्मिन् बहुश्रुतेऽगीतार्थे यो गणं गच्छं निसृजति निक्षिपति,तस्य चत्वारो भारिका मासाः। यो वा अबहुश्रुतोऽगीतार्थो वा गणं निसृष्टं धारयति तस्यापि चत्वारो मासा गुरुकाः। एतच्च दिवसनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्। द्वितीयादिषु तु दिवसेषु यत्प्रायश्चित्तमापद्यते तदुपरिष्टाद्वक्ष्यते ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति–

अबहुस्सुअस्स देइ य, जो वा अबहुस्सुओ गणं धरए ।
भंगतिगम्मि वि गुरुगा, चरिमे भंगे अणुन्नाओ ॥

अबहुश्रुतस्य गीतार्थस्य गणं ददति चत्वारो गुरवः । अस्य च प्रमादादिना निशीथसूत्रं विस्मृतमर्थं पुनः स्मरतीत्यबहुश्रुतस्य गीतार्थत्वम् । यद्वा–आज्ञाधारणादिमात्रव्यवहारेण बहुश्रुतस्यापि गीतार्थत्वमिति । बहुश्रुतस्यागीतार्थस्य ददति चत्वारो गुरवः। अनेन चाचारप्रकल्पाध्ययनं सूत्रतोऽधीतं,न पुनरर्थतः श्रुत्वा सम्यगधिगतमिति बहुश्रुतस्यागीतार्थत्वम्। बहुश्रुतस्य गीतार्थस्य ददतीत्यत्र चतुर्थे भङ्गे शुद्धः। यो वा अबहुश्रुतो गणं धारयतीत्यत्रापि चतुर्भङ्गी, तत्रापि बहुश्रुतोऽगीतार्थश्च सन् निसृष्टं गणं धारयति, अबहुश्रुतो गीतार्थो धारयति, बहुश्रुतोऽगीतार्थो धारयति । त्रिष्वपि चतुर्गुरुकाः, बहुश्रुतो गीतार्थो धारयतीत्यत्र शुद्धः । अत एवाह–भङ्गत्रिकेऽपि त्रिष्वप्याद्यभङ्गेषु गणदायकधारकयोरुभयोरपि गुरुकाश्चतुर्गुरवः। चरमे चतुर्थे भङ्गे शुद्धत्वाद्दायको धारको वाऽनुज्ञातो न तत्र कश्चिद्दोषः ॥ बृ० १ उ० । आर्यिकाप्रतिजागरके साधुविशेषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । "पियधम्मे दढधम्मे, संविग्गे वज्जओ य तेयस्सी। संगवहुग्गहकुसले,सुत्तत्थविऊ गणाहिवई " ॥ १ ॥ बृ० १ उ०। नि० चू० । पं० व०। तीर्थकरगणभृतां मिथो भिन्नवाचनत्वेऽपि सांभोगिकत्वं भवति, न वा?, तथा सामाचार्यादिकृतो भेदो भवति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–गणभृतां परस्परं वाचनाभेदेन सामाचार्या अपि कियान् भेदः संभाव्यते। तद्भेदे च कथञ्चिदसांभोगिकत्वमपि संभाव्यत इति।८१ प्र०। सेन० २ उल्ला०। गणधरो ज्येष्ठोऽन्यो वा तीर्थस्थापनादिने एव तीर्थकरस्य व्याख्यानानन्तरं व्याख्यानं करोति, उत सर्वदा भगवद्व्याख्यानाऽनन्तरं मुहूर्त्तमेकं व्याख्यानं करोतीति प्रश्ने,उत्तरम्-ज्येष्ठोऽन्यो वा गणधरः सर्वदा द्वितीयपौरुष्यां व्याख्यानं करोतीत्यक्षराण्यावश्यकवृत्त्यादौ सन्ति, न तु तीर्थस्थापनादिने एव मुहूर्त्तमेकं करोतीति । १७५ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। तथा " संखाईए उ भवे, साहइ जं वा परो उ पुच्छिज्जा। नयणं अणाइसेसी, वियाणउ एस छउमत्थो " ॥१॥ इयं गाथा गणधरानाश्रित्योक्ता,सामान्यतश्चतुर्दशपूर्विणो वेति?, तथा तत्रावधिज्ञानी संख्येयानसंख्येयांश्च भवान् पश्यति १,एवं मनःपर्यायज्ञान्यपि २, केवलज्ञानी तु नियमतोऽनन्तान् ३, जातिस्मरणं तु नियमतः संख्येयानित्याचाराङ्गवृत्तौ प्रोक्तमस्ति। अथ चतुर्दशपूर्वी कति भवान् जानातीति, चतुर्दशपूर्वविदोऽसंख्यातान् भवान् जानन्तीति प्रघोषः सत्योऽसत्यो वेति प्रश्नः। उत्तरम्-'संखाइए उ भवे' इयं गाथा गणधरानाश्रित्यैवावश्यके प्रोक्ताऽस्तीति तथैतदनुसारेणान्येऽपि संपूर्णचतुर्दशपूर्वविदः संख्यातीतान् भवान् जानन्तीति प्रघोषोऽपि सत्यस्संभाव्य इति। ६ प्र०। सेन० ३ उल्ला० ।

गणधरगंडिया–गणधरगण्डिका–स्त्री० । यत्र गणधराणां पूर्वजन्माभिधीयते तादृश्यां वाक्यपद्धतौ, स० ।

गणधरपाउग्ग–गणधरप्रायोग्य–पुं०। गणधरपदस्य प्रायोग्ये, व्य० २ उ०।

गणधरलद्धि–गणधरलब्धि–स्त्री०। त्रयोदश्यां लब्धौ, यद्युक्तो गणधरो भवति। पा०। प्रव०।

गणधरवंस–गणधरवंश-पुं०। गणधरस्य तत्प्रवाहस्य प्रतिपादकत्वाद्गणधरवंशः। समवायाङ्गे, स०।

गणधारि(ण्)–गणधारिन्–पुं० । गणधरे, आ० म० द्वि० । (समवसरणे गणधारी व्याख्यानयति इति 'समोसरण' शब्दे चतुर्थभागे व्याख्यास्यते) "जगदेकतिलकभूताः, जयन्ति गणधारिणः सर्वे।" चं० प्र० १ पाहु० ।

गणभत्त–गणभक्त–न० । समवायभोजने, नि० चू० ८ उ० ।

गणराय–गणराज–पुं० । समुत्पन्ने प्रयोजने ये गणं कुर्वन्ति ते गणप्रधाना राजानो गणराजाः । सामन्ते, भ० ७ श० ६ उ० । आचा० । " ततो भगवं वेसालिं नगरिं संपत्तो, तत्थ संखो नाम गणराया " आ० म० द्वि० । सेनापतौ च । आव० ३ अ० । "जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे तं रयणिं च णं नव मल्लई नव लेच्छई कासी कोसलगा अट्ठारस वि गणरायाणो "कल्प० ६ क्षण ।

गणवइ–गणपति–पुं० । उज्जयन्तशैलशिखरे विक्खल्लनगरे गजरसकुण्डस्योपरि वर्त्तमानगणपतिमूर्तौ, ती० ४ कल्प ।

गणवइदेव–गणपतिदेव–पुं० । काकन्दीयराजभेदे, ती० ५० कल्प ।

गणविउस्सग–गणव्युत्सर्ग–पुं० । गणत्यागरूपे द्रव्यव्युत्सर्गभेदे, औ० ।

गणवेयावच्च–गणवैयावृत्त्य–पुं० । कुलसमुदायस्य सेवालक्षणे नवमे वैयावृत्त्यभेदे, औ० ।

गणसंकम–गणसंक्रम–पुं० । वसुराजगणादवसुराजगणं संक्रमति, नि० चू० ।

सूत्रम्–

जे भिक्खू वुसराइयाओ गणाओ अवुसराइयं गणं
संकमइ, गणं संकमंतं वा साइज्जइ ॥१५॥
वुसिरातियागणातो, जे भिक्खू संकमे अवुसिरातिं ।
पढमवितियचउत्थे, सो पावति आणमादीणि ॥३५८॥

(वुसि त्ति) तो वुसिरातिए चउभंगो कायव्वो, चउत्थभंगो अवत्थु, ततियभंगे किं पडिसेहो ?, आचार्य आह–तत्थ ण पडिसेहो, कारणे पुण पढमभंगे उवसंपदं करेति, सा य उवसंपया कालं पडुच्च तिविहा । इमा गाहा–

छम्मासे उवसंपद, जहण्ण बारससमा उ मज्झमिया ।
आवकहा उक्कोसो, पडिच्छ सीसे तु जा जीव ॥३५९॥

उवसंपदा तिविहा–जहण्णा, मज्झिमा, उक्कोसा । जहण्णा छम्मासे, मज्झिमा बारसवरिसे, उक्कोसा जावजीवं, एवं पडिच्छगस्स सिस्से एगविहा चेव, जावज्जीवं आयरिओ ण मोत्तव्वो ।

छम्मासेऽपूरेत्ता, गुरुगा बारससमासु चउलहुगा ।
तेण परमासियत्तं, भणितं पुण आरते कज्जे ॥ ३६० ॥

जेणं पडिच्छगेणं छम्मासिता उवसंपया कता, सो जति छम्मासे अपूरेत्ता जाति तस्स चउगुरुगा, जेण बारसवरिसा कता ते अपूरेत्ता जाइ चउलहुं, जेण जावज्जीवं उवसंपदा कता तस्स मासलहुं, छम्मासाणं परेणं णिक्कारणे गच्छंतस्स मासलहु, जेण बारससमा उवसंपदा कता तस्स वि छम्मासे अपूरेंतस्स चउगुरुआ चेव, बारसमासातो परेण मासलहुं चेव, जेण जावज्जीवं संपया कया तस्स छम्मासे अपूरेंतस्स चउ गुरुगा चेव, तस्सेव बारससमाओ अपूरेंतस्स चउलहुगा । एस सोही गच्छतो णितस्स भणिता । नि० चू० ६ उ० । ('अवुसराइय' शब्दे प्र० भागे ८१३ पृष्ठे 'उवसंपया' शब्दे द्वि० भागे च विस्तरो द्रष्टव्यः)

गणसंगहकर–गणसंग्रहकर–पुं० । गणस्याहारादिना ज्ञानादिना च संग्रहकारके, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

गणसंग्रहकृदाचार्य उपाध्यायो वा कतिभिर्भवैः सिध्यति?–

आयरियउवज्झाए णं भंते ! सविसयंसि गणं अगिलाए संगिण्हमाणे अगिलाए उवगिण्हमाणे कइहिं भवग्गहणेहिं सिज्झइ० जाव अंतं करेइ ? । गोयमा ! अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ, अत्थेगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिज्झइ, तच्चं पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ ।

(आयरियउवज्झाए णं ति) आचार्येण सहोपाध्याय आचार्योपाध्यायः । (सविसयंसि त्ति) स्वविषये अर्थदानसूत्रदानलक्षणे (गणं ति) शिष्यवर्गम् (अगिलाए त्ति) अखेदेन संगृह्णन् स्वीकुर्वन्, उपगृह्णन् उपष्टम्भयन्, द्वितीयस्तृतीयश्च भवो मनुष्यभवो देवभवान्तरितो दृश्यः चारित्रवतोऽनन्तरो देवभवो भवति । न च तत्र सिद्धिरस्तीति परानुग्रहस्यानन्तरं फलमुक्तम् । भ० ५ श० ६ उ० ।

गणसंठिति–गणसंस्थिति–स्त्री० । गणस्य मर्यादायाम्, यथा अशिष्येऽयोग्यशिष्ये महाकल्पश्रुतं न दातव्यम् । व्य० १ उ० ।

गणसंम (म्म) य–गणसंमत–पुं० । महत्तरादौ प्रवचनप्रभावके, व्य० १ उ० ।

गणसम–दशी–गोष्ठीरते, दे० ना० २ वर्ग ।

गणसामायारी–गणसामाचारी–स्त्री० । गणसामाचारी गणं विषीदन्तं चोदयति । कथम् ?, इत्याह–

पडिलेहणपप्फोडण, बालगिलाणाइवेयावच्चेया ।
सीदंतं गाहेई, सयं च उज्जत्त एएसु ॥

प्रत्युपेक्षणं चक्षुषा निरीक्षणं, प्रस्फोटनमाखोटादिकम्, एतयोर्बालग्लानादिवैयावृत्त्ये च सीदन्तं प्रत्युपेक्षणादि ग्राहयति–कारयति, स्वयं च एतेषु स्थानेषु सततमुद्युक्तः । उक्ता गणसामाचारी । व्य० १० उ० । प्रत्युपेक्षणा बालवृद्धादिवैयावृत्त्यादिकार्येषु स्वयमुद्यतोऽन्यान्या गणं प्रेरयति गणसामाचारी । आचारविनयभेदे, प्रव० ६४ द्वार ।

गणसोभाकर–गणशोभाकर–पुं० । गणस्याभिनवसाधुसामाचारीप्रवर्तनेन वादिधर्मकथकनैमित्तिकविद्यासिद्धत्यादिना वा शोभाकरणशीले पुरुषे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

गणसोभायर–गणशोभाकर–पुं० । 'गणसोभाकर' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

गणसोभि (ण्)–गणशोभिन्–पुं० । गणं वादप्रदानतः शोभयतीत्येवंशीलो गणशोभी । गणशोभाकरे पुरुषजाते, व्य० १० उ० ।

गणहर–गणधर–पुं० । 'गणधर' शब्दार्थे, आ० म० प्र० ।

गणहरगंडिया–गणधरगण्डिका–स्त्री० । 'गणधरगंडिया' शब्दार्थे, स० ।

गणहरपाउग्ग–गणधरप्रायोग्य–त्रि०।'गणधरपाउग्ग' शब्दार्थे, व्य० २ उ० ।

गणहरलद्धि–गणधरलब्धि–स्त्री० । 'गणधरलद्धि' शब्दार्थे, पा० । प्रव० ।

गणहरवंस–गणधरवंश–पुं० । 'गणधरवंस' शब्दार्थे, स० ।

गणहारिण्–गणधारिन्–पुं०। 'गणधारि' शब्दार्थे,आ०म०द्वि०।

गणाजीव–गणाजीव–पुं० । मल्लादिगणीयमात्मानं सूत्रादिनोपदर्श्य भक्तादिग्राहके आजीवभेदे, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

गणाधिव–गणाधिप–पुं० । गौतमादिषु प्रधानगणधरेषु,विशे०।

गणाभिओग–गणाभियोग–पुं० । गणः स्वजनादिसमुदायस्तस्याभियोगो गणाभियोगः । ध० २ अधि० । गणवश्यतायाम्, उपा० १ अ० ।

गणावक्कमण–गणापक्रमण–न० । गणाद्गच्छादपक्रमणं निर्गमो गणापक्रमणम् । गच्छान्निर्गमे, स्था० ।

सत्तविहे गणावक्कमणे पएणत्ते । तं जहा–सव्वधम्मा रोएमि, एगइया रोएमि,एगइया नो रोएमि,सव्वधम्मा वितिगिच्छामि एगइया वितिगिच्छामि, एगइया नो वितिगिच्छामि,सव्वधम्मा जुहुणामि, एगइया जुहुणामि, एगइया नो जुहुणामि, इच्छामि णं भंते ! एगल्लविहारपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए ।

सप्तविधं सप्तप्रकारं प्रयोजनभेदेन भेदाद्गणाद्गच्छादपक्रमणं निर्गमो गणापक्रमणं प्रज्ञप्तं तीर्थङ्करादिभिः । तद्यथा–सर्वान् धर्मान् निर्जराहेतून् श्रुतभेदान् सूत्रार्थोभयविषयान् अपूर्वग्रहणविस्मृतसंधानपूर्वाधीतपरावर्त्तनरूपान् चारित्रभेदांश्च क्षपणवैयावृत्त्यरूपान् रोचयामि रुचिविषयीकरोमि चिकीर्षामि । ते चामुत्र परगणे संपद्यन्ते, नेह स्वगणे,बहुश्रुतादिसामग्र्यभावात् । अतस्तदर्थं स्वगणादपक्रमामि भदन्त ! इत्येवं गुरुपृच्छाद्वारेणैकं गणापक्रमणमुक्तम् । अथ सर्वधर्मान् रोचयामीत्युक्ते कथं पृच्छार्थोऽवगम्यत इत्युच्यते–"इच्छामि णं भंते ! एगल्लविहारपडिमं" इत्यादि पृच्छावचनसाधर्म्यादिति । रुचेस्तु करणेच्छार्थता "पत्तियामि रोएमि" इत्यत्र व्याख्यातैवेति । क्वचित्तु "सव्वधम्मं जाणामि एवमेगे अवक्कमे" इत्येवं पाठः, तत्र ज्ञानी अहमिति किं गणेनेति मदादपक्रामति । तथा (एगइय त्ति) एककान् कांश्चन श्रुतधर्मान् चारित्रधर्मान् वा रोचयामि चिकीर्षामि, एककांश्च श्रुतधर्मान् चारित्रधर्मान् वा नो रोचयामि न चिकीर्षामि, इत्यतश्चिकीर्षितधर्माणां स्वगणे करणसामर्थ्याभावादपक्रमामि भदन्त ! इति द्वितीयम् २। तथा सर्वधर्मानुक्तलक्षणान् विचिकित्सामि संशयविषयीकरोमि,इत्यतः संशयापनोदार्थं स्वगणादपक्रमामीति तृतीयम् ३।एवमेककान्विचिकित्सामि,एककान् नो विचिकित्सामीति चतुर्थम् ४। तथा(जुहुणामि त्ति)जुहोमि अन्येभ्यो ददामि, न च स्वगणे पात्रमस्त्यतोऽपक्रमामीति पञ्चमम् ५। एवं षष्ठमपि ६। 'तथा इच्छामि णं भदंत!' धर्माचार्य एकाकिनो गच्छनिर्गतस्य जिनकल्पिकादितया यो विहारो विचरणं तस्य या प्रतिमा प्रतिपत्तिः प्रतिज्ञा,सा एकाकिविहारप्रतिमा,तामुपसंपद्याङ्गीकृत्य विहर्तुमिति सप्तममिति ७ । अथवा सर्वधर्मान् रोचयामि श्रद्दधेऽहमिति तेषां स्थिरीकरणार्थमुपक्रमामि, तथा एककान् रोचयामि श्रद्दधे,एककांश्च नो रोचयामीत्यश्रद्धितानां श्रद्धानार्थमपक्रमामीत्यनेन पदद्वयेन सर्वविषयाय, देशविषयाय च सम्यग्दर्शनाय गणापक्रमणमुक्तम् । एवं सर्वदेशविषयसंशयविनोदसूचकेन "सव्वधम्मा वितिगिच्छामि" इत्यादिपदद्वयेन ज्ञानार्थमपक्रमणमुक्तम् । तथा सर्वधर्मान् जुहोमीति जुहोतेरदनार्थत्वाद्भक्षणार्थस्य च सेवावृत्तिदर्शनादाचराम्यनुतिष्ठामीति यावत्,तथा एककान् नो सेवामीति सर्वेषामासेव्यमानानां विशेषार्थमनासेवितानां च क्षपणवैयावृत्त्यादीनां चारित्रधर्माणामासेवार्थमपक्रमामीत्यनेन पदद्वयेन तथैव चारित्रार्थमपक्रमणमुक्तमिति । उक्तञ्च–"नाणट्ठ दंसणट्ठा, चरणट्ठा एवमाइसंकमणं । संभोगट्ठा व पुणो, आयरियट्ठा य णायव्वं" ॥ १ ॥ इति । तत्र ज्ञानार्थं "सुत्तस्स य, अत्थस्स य उजयस्स य कारणा उ संकमणं । वीसज्जियस्स गमणं, भीओ य नियत्तए कोए" ॥१॥ त्ति । दर्शनप्रभावकशास्त्रार्थं दर्शनार्थं चारित्रार्थं यथा "चरित्तट्ठ देसे दुविहा" देशे द्विविधा दोषा इत्यर्थः । "एसणदोसा य इत्थिदोसा य" ततो गणापक्रमणं भवति "गच्छंमि य सीयंते, आयसमुत्थेहिं दोसेहिं" ॥१॥ ति । संभोगार्थं नाम यत्रोपसंपन्नस्ततोऽपि विसंभोगकारणे सदनलक्षणे सत्यपक्रामतीति आचार्यार्थं नामाचार्यस्य महाकल्पश्रुतादि श्रुतं नास्त्यऽतस्तदध्यापनाय शिष्यस्य गणान्तरसंक्रमो भवतीति । इह च स्वगुरुं पृष्ट्वैव विसर्जितेनाऽपक्रमितव्यमिति सर्वत्र पृच्छार्थो व्याख्येयः । उक्तकारणवशात्तु पक्षादिकालात्परतोऽविसर्जितोऽपि गच्छादिति निष्कारणगणापक्रमणं त्वविधेयं,यतः "आयरियाईण भया, पव्विज्जत्ता भया न सेवइ अकिच्चं । वेयावच्चऽज्झयणे,सुसज्जए तदुवओगेणं" ॥१॥ सूत्रार्थोपयोगेनेत्यर्थः । तथा "एगो इत्थीगम्मो, तेणादिभया य अल्लियइ गारे" (गृहस्थान्) "कोहादी व उदिण्णे, परिनिव्वावेंति से अस्से त्ति" ॥ १ ॥ स्था० ७ ठा० ।

पंचहिं ठाणेहिं आयरियउवज्झायस्स गणावक्कमणे पएणत्ते । तं जहा–आयरियउवज्झाए गणंसि आणं वा धारणं वा नो सम्मं पउंजित्ता भवइ । आयरियउवज्झाए गणंसि अहारायणियाए किइकम्मं वेणइयं नो सम्मं पउंजित्ता भवइ । आयरियउवज्झाए गणंसि जे सुयपज्जवजाए धारिंति ते काले णो सम्ममणुपवादेत्ता भवइ । आयरियउवज्झाए गणंसि सगणियाए वा परगणियाए वा निग्गंथीए बहिल्लेसे भवइ; मित्ते णाइगणे वा से गणाओ अवक्कमेज्जा तेसिं संगहोवग्गहट्ठयाए गणावक्कमणे पएणत्ते ॥

आचार्योपाध्यायस्य आचार्योपाध्याययोर्वा गणाद् गच्छाद् अपक्रमणं विनिर्गमो गणापक्रमणम् । आचार्योपाध्याय–योर्गणे गच्छविषये आज्ञां वा योगेषु प्रवर्त्तनलक्षणां धारणां वा विधेयेषु निवर्त्तनलक्षणां नो नैव सम्यग्यथौचित्यं प्रयोक्ता तयोः प्रवर्त्तनशीलो भवति । इदमुक्तं भवति–दुर्विनीतत्वाद्गणस्य तं प्रयोक्तुमशक्नुवन् गणादपक्रामति कालिकाचार्यवदित्येकम् । तथा गणविषये यथारत्नाधिकतया यथाज्येष्ठं कृतिकर्म, तथा वैनयिकं विनयं नो नैव सम्यक् प्रयोक्ता भवत्यथाऽऽचार्यसंपदा, साभिमानत्वात् । यत आचार्येणापि प्रतिक्रमणक्षामणादिषूचितानामुचितविनयः कर्त्तव्य एवेति द्वितीयः । तथा असौ यानि श्रुतपर्यवजातानि यान् श्रुतपर्यायप्रकारान् उद्देशकाध्ययनादीन् धारयति, इदमविस्मरणतस्तानि काले काले यथावसरं नो सम्यगनुप्रवाचयिता तेषां पाठयिता भवति । 'गणे त्ति' इह संबध्यते,तेन गणे गणविषये,गणमित्यर्थः । तस्या-

विनीतत्वात्स्वस्य वा सुखबुध्यतस्वाद् मन्दप्रज्ञत्वाद्वेति गणादपक्रामतीति तृतीयम्। तथाऽसौ गणे वर्तमानः (सगणियाए त्ति) स्वगणसंबन्धिन्यां (परगणियाए त्ति) परगणसत्कायां निर्ग्रन्थ्यां तथाविधाशुभकर्मवशवर्त्तितया सकलकल्याणाश्रयसंयमसौधमध्याद् बहिर्लेश्यान्तःकरणं यस्यासौ बहिर्लेश्य आसक्तो भवतीत्यर्थः। एवं गणादपक्रामतीति न चेदमधिकगुणत्वेनास्याऽसंभाव्यम्। यतः पठ्यते-" कम्माइ नूणिघणाचिक्कणाइ गरुयाइ वज्जसाराइं । नाणड्ढियं पि पुरिसं, पंथाओ उप्पहं नेंति " ॥ १ ॥ इति चतुर्थम्। तथा मित्रज्ञातिगणो वा सुहृत् स्वजनवर्गो वा (से) तस्याचार्यादेः कुतोऽपि कारणाद्गणादपक्रामेत्तस्तेषां सुहृत्स्वजनानां संग्रहार्थं गणादपक्रमणं प्रकृतम्। तत्र संग्रहस्तेषां स्वीकारे उपग्रहो वस्त्रादिभिरुपष्टम्भ इति पञ्चमम्। स्था० ५ ठा० २ उ०। (गणादपक्रम्य किञ्चित्कृत्यं कृत्वा पुनः स्वगणमुपसम्पद्येत तत्र विधिः 'उवसंपया' शब्दे द्वि० भागे १००८ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

गणावच्छेइय–गणावच्छेदक–त्रि०। गणस्यावच्छेदो विभागोंऽशोऽस्यास्तीति। स्था० ३ ठा० ४ उ०। गणकार्यचिन्तके, आचा० २ श्रु०१ अ०१० उ०। यो हि तं गृहीत्वा गच्छोपष्टम्भायैवोपधिमार्गणादिनिमित्तं विहरति। स्था० ४ ठा० ३ उ०।

अधुना गीतार्थस्य स्वरूपमाह-

उद्धावणा पहावण-खेत्तोवहिमग्गणासु अविसादी ।
सुत्तत्थतदुभयविऊ, गीयत्थाए वि साहुं ति ॥

उत्प्राबल्येन धावनमुद्धावनं, प्राकृतत्वाच्च स्त्रीत्वनिर्देशः, किमुक्तं भवति?-तथाविधे गच्छप्रयोजने समुत्पन्ने आचार्येण संदिष्टोऽसंदिष्टो वा आचार्यं विज्ञप्य यथैतत्कार्यमहं कारिष्यामीति । तस्य कार्यस्यात्मानुग्रहबुद्ध्या करणं उद्धावनम्, शीघ्रं तस्य कार्यस्य निष्पादनं प्रधावनम्, क्षेत्रमार्गणा क्षेत्रप्रत्युपेक्षणा,उपधिरुत्पादनम्, एतासु येऽविषादिनो विषादं न गच्छन्ति,तथा सूत्रार्थतदुभयविदः, अन्यथा हेयोपादेयपरिज्ञानायोगात्, ते एतादृशा एवंविधा गीतार्थाः, गणावच्छेदिन इत्यर्थः। व्य० १ उ०। आव०। ध०।

अथ गणावच्छेदकयोग्यगुणानाह—

प्रभावनोद्धावनयोः, क्षेत्रोपध्येषणासु च ।
अविषादी गणावच्छे-दकः सूत्रार्थविन्मतः ॥ ७४ ॥

प्रभावना जिनशासनस्योत्सर्पणाकरणम्, उद्धावना उत्प्राबल्येन धावना, गच्छोपग्रहार्थं दूरक्षेत्रादौ गमनमित्यर्थः। तयोश्च पुनः क्षेत्रं ग्रामादियोग्यस्थानम्, उपधिः कल्पादिः, तयोरेषणा मार्गणा, गवेषणेति यावत्। आसु अविषादी खेदरहितः। तथा सूत्रार्थवित् उचितसूत्रार्थज्ञाता, ईदृशो गणावच्छेदकस्तत्संज्ञो मतः प्रज्ञप्तो जिनैरिति शेषः, न पुनर्गुणरहित इति भावः। ध० ३ अधि०। (कियत्पर्यायस्य गणावच्छेदकत्वं कल्पत इति 'आयरिय' शब्दे द्वि० भागे ३३१ पृष्ठ उक्तम्)

गणावच्छेदय–गणावच्छेदक–पुं०। 'गणावच्छेइय' शब्दार्थे, स्था० ३ ठा० ४ उ०।

गणि–गणिन्–त्रि०। गणः साधुसमुदायो यस्यास्ति स्वस्वामिसम्बन्धेनासौ गणी। स्था० ३ ठा० ३ उ०। चं० प्र०। गणः साधुसमुदायो भूयानतिशयवान् वा गणानां साधूनां वा यस्यास्ति स गणी। स्था०८ ठा०। गुणगणो वाऽस्यास्तीति। नं०। प्रव०। आचा०। गणाचार्ये, उत्त० ३ अ०। अनु०। स०। गच्छाधिपतौ, व्य० १ उ०। आचा०। सूत्र०। अस्य पार्श्वे आचार्याः सूत्रायमव्ययस्यन्ति। कल्प० ६ क्षण।

एकं पि जो दुहत्तं, सत्तं पडिबोहिउं ठवे मग्गे।
ससुरासुरम्मि वि जगे, तेण इहं घोसियं अमाघायं ॥
जूण अत्थि जविस्सं, ति केइ जगवंदणीयकमजुयले।
जेसिं परिहियकरणे-कवस्डलक्खणवोच्छिड्डीकालं ॥
जूएं अणागएं काले, ण केइ इह होंति गोयमा ! सूरी ।
णामग्गहणेण वि जे-सि होज्ज नियमेण पच्छित्तं ॥
एयं गच्छववत्थं, दुप्पसहाणंतरं तु जो खंभे ।
तं गोयम ! जाण गणिं, निच्छयओऽणंतसंसारी ॥
जसयलजीवजगमं-गलेक्ककल्लाणपरमकल्लाणं ।
सिद्धिपए वोच्छिन्ने, पच्छित्तं होइ तं गणिणो ॥
तम्हा गणिणं समस-त्तुमित्तपक्खेण परहियरएणं ।
कल्लाणकंखुणा अ-प्पणो वि आणा ण लंघेया ॥
एवं मेरा ण लंघेयव्व त्ति ॥
एयं गच्छववत्थं लंघित्तु नगारवेहि पडिवद्धे ।
संखाईए गणिणो, अज्ज वि बोहिं न पावेंति ॥
ण लभंति हि य अन्ने, अणंतहुत्तो वि परिजमंतित्थं ।
चउगइभवसंसारे, चेट्ठिज्ज चिरं सुदुक्खत्ते ॥ महा०५अ०।

"सुत्तत्थे निम्माओ, पियदढधम्मोऽणुवत्तणाकुसलो ।
जाईकुलसंपन्नो, गंभीरो लद्धिमंतो य ॥ १ ॥
संगहुवग्गहनिरओ, कयकरणो पवयणाणुरागी य ।
एवंविहो य भणिओ गणसामी जिणवरिंदेहिं " ॥ २ ॥
स्था० ६ ठा०।

गणी आवश्यके प्रमाद्येत तदा प्रायश्चित्तम्-

से जयवं जे णं गणी किंचि आवस्सगं पमाएज्जा ? गोयमा ! जे णं गणी अकारणिगे किंचि खणमेगमवि पमाए, से णं आवस्सगं उवइसेज्जा जओ णं तु सुमहाकारणिगे वि संते गणी खणमेगमवी ण किंचि णिययावस्सगं पमाए से णं वंदे पूए दट्ठव्वे जाव णं सिद्धे बुद्धे पारगए खीणट्ठकम्ममले नीरए उवइसेज्जा; सेसं तु महयाए बंधेणं सत्थाणे नेव णाणिहिइ। एवं पच्छित्ते विहिं सो उ णाणुट्ठती अदीणमणो जं जइ य जहाथामं जे से आराहगे भणिए ॥
महा० ७ अ०। गणावच्छेदके, व्य० ४ उ०।

गणिगुणसलद्धिय–गणिगुणस्वलब्धिक–पुं०। गणिनो गुणा यस्य स्वा च स्वकीया च लब्धिर्यस्य स गणिगुणस्वलब्धिकः। प्रव्राजितुमुपग्रहीतुं च शक्ते, पञ्चा० १८ विव०।

गणिड्ढि–गणर्द्धि–स्त्री०। ज्ञानदर्शनचारित्ररूपसम्पदि, स्था०।

गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-णाणिड्ढी दंसणिड्ढी चरित्तिड्ढी। अहवा गणिड्ढी तिविहा पण्णत्ता। तं जहा-सचित्ता अचित्ता मीसिया ॥

ज्ञानर्द्धिर्विशिष्टश्रुतसम्पद्, दर्शनार्द्धिः प्रवचने निश्शङ्कितादित्वं, प्रवचनप्रभावकशास्त्रसंपच्च । चारित्रर्द्धिर्निरतिचारता-सचित्ता शिष्यादिका, अचित्ता वस्त्रादिका, मिश्रा तथैवेति । इह च विकुर्वणादिऋद्धयोऽन्येषामपि भवन्ति, केवलं देवादीनां विशेषवत्यस्ता इति तेषामेवोक्ता इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

गणिणी-गणिनी-स्त्री० । प्रवर्तिन्याम्, व्य० ७ उ० ।

गणिपिडग-गणिपिटक-न० । गणो गच्छो गुणगणो वाऽस्यास्तीति गणी आचार्यः, तस्य पिटकमिव पिटकम्, सर्वस्वमित्यर्थः; गणिपिटकम् । अथवा गणिशब्दः परिच्छेदवचनोऽस्ति । तथा चोक्तम्-"आयारम्मि अहीए, जं नाओ होइ समणधम्मो उ । तम्हा आयारधरो, भन्नइ पढमं गणट्ठाणं " ॥ १ ॥ ततश्च गणिनां पिटकं गणिपिटकं, परिच्छेदः, समूह इत्यर्थः । नं० । स० । स्था० ।

गणिपिटकभेदाः-

कइविहे णं भंते ! गणिपिडए णं पण्णत्ते ?। गोयमा ! दुवालसंगे गणिपिडए पण्णत्ते । त जहा-आयारो० जाव दिट्ठिवाओ । से किं तं आयारो ?। आयारे णं समणाणं णिग्गंथाणं आयारगोयरा । एवं अंगपरूवणा भाणियव्वा जहा णंदीए जाव " सुत्तत्थो खलु पढमो, बीओ निज्जुत्तिमीसओ भणिओ । तइओ य णिरवसेसो, एसविहो होइ अणुओगो " ॥ १ ॥

(एवं अंगपरूवणा भाणियव्वा जहा नंदीए त्ति) एवमिति पूर्वप्रदर्शितप्रकारवता सूत्रेणाऽऽचाराद्यङ्गप्ररूपणा भणितव्या, यथा नन्द्याम्, सा च तत एवावधार्या । अथ कियद्दूरमियमङ्गप्ररूपणा नन्द्युक्ता वक्तव्येत्याह-(जाव सुत्तत्थो गाहा) सूत्रार्थमात्रप्रतिपादनपरः सूत्रार्थोऽनुयोग इति गम्यते, खलुशब्दस्त्वेवकारार्थः, स चावधारण इति । एतदुक्तं भवति-गुरुणा सूत्रार्थमात्राभिधानलक्षणः प्रथमोऽनुयोगः कार्यः । मा भूत् प्राथमिकविनेयानामतिमोह इति द्वितीयोऽनुयोगः सूत्रस्पर्शकनिर्युक्तिमिश्रः कार्य इत्येवंभूतो भणितो जिनादिभिः । तृतीयश्च तृतीयः पुनरनुयोगो निरवशेषो, निरवशेषस्य प्रसक्तानुप्रसक्तस्यार्थस्य कथनात् । एषोऽनन्तरोक्तः प्रकारत्रयलक्षणो भवति, स्याद्विधिर्विधानमनुयोगे सूत्रस्यार्थेनानुरूपतया योजनलक्षणे विषयभूते इति गाथार्थः । भ० २५ श० ३ उ० । उत्त० । सूत्र० । गणिनामर्थपरिच्छेदानां पिटकमेव पिटकं स्थानं गणिपिटकम्, अथवा पिटकमिव वा लञ्जुकवाणिजकसर्वस्वाधारभाजनविशेष इव यत्तत्पिटकं गणिपिटकम् । औ० । कल्प० । अनु० । गणिनः सर्वार्थसारभूते प्रवचने, पा० । पिटकमिव पिटकं गणिपिटकं रत्नसर्वस्वाधारकल्पं भवति । स० १ सम० ।

गणिपिडगधारग-गणिपिटकधारक-त्रि० । समस्तद्वादशाङ्गीधारके, कल्प० ८ क्षण ।

गणिभद्द-गणिभद्र-पुं० । आर्यसंभूतेः षष्ठे शिष्ये, कल्प० ८ क्षण ।

गणिम-गणिम-न० । नालिकेरपूगीफलादिके, यद्गणितं सद्व्यवहारे प्रविशति । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स्था० । आ० चू० । "गणिमं जं दुगाइयाए गणणाए गणिज्जति" तच्च हरीतक्यादि । नि० चू० १ उ० ।

से किं तं गणिमे ?। गणिमे जण्णं गणिज्जइ । तं जहा-एगो दस सयं सहस्सं दससहस्साइं सयसहस्सं दससयसहस्साइं कोडी, एएणं गणिमप्पमाणेणं किं पओअणं, एएणं गणिमप्पमाणेणं भितगभितिभत्तवेअणआयव्वयसंसिआणं दव्वाणं गणियप्पमाणं निव्वित्तिलक्खणं भवइ । सेत्तं गणिमे ॥

"से किं तं गणिमे" इत्यादि । गण्यते संख्यायते वस्त्वनेनेति गणिमम्, एकादि । अथवा गण्यते संख्यायते यत्तद्गणिमं, रूपकादि । तत्र कर्मसाधनपक्षमङ्गीकृत्याह-(जण्णमित्यादि) गण्यते यद्गणिमम् । कथं गण्यते ?, इत्याह-(एगो इत्यादि) एतेन गणिमप्रमाणेन किं प्रयोजनमित्यादि गतार्थमेव । नवरं भृतकः कर्मकरो, भृतिः पदात्यादीनां वृत्तिः, भक्तं भोजनं, वेतनकं कुविन्दादिना व्यूतवस्त्रव्यतिकरेऽर्थप्रदानम् । एतेषु विषये आयव्ययसंश्रितानां प्रतिबद्धानां रूपकादिद्रव्याणां गणिमप्रमाणेन निर्वृत्तिलक्षणमियत्ताऽवगमरूपं भवति तदेतद्गणिममिति । अनु० । उत्त० । गणिमं यदेकादिसंख्यया परिच्छिद्यते, तच्च ऋषभे राज्यमनुशासति प्रवृत्तम् । आ० म० प्र० ।

गणिय-गणिक-त्रि० । गणितज्ञे, रा० । " गणिअं जाणइ गणिओ " अनु० ।

गणित-न० । गण्यते इति गणितम् । ओघ० । कीटिकासंकलनादिके, स्था० १० ठा० । श्रूयते च वज्रान्तं गणितमिति । नं० । सङ्ख्याने, स्था० ६ ठा० । नं० । कल्प० । विशे० । ज्ञा० । संकलिताद्यनेकभेदे पाटीप्रसिद्धे सङ्ख्याने, जं० २ वक्ष० । कलाभेदे, स० ७२ सम० । एकद्व्यादिसंख्याने, तच्च भगवता सुन्दर्या वामकरेणोपदिष्टमत एव तत्पर्यन्तादारभ्य गण्यते । आ० म० प्र० । आ० चू० । बीजगणितादौ, आचा० २ चू० ।

दशप्रकारं तु गणितमिदम्-

परिकम्मरज्जुरासी, ववहारे तह कलासवण्णे य ।
पुग्गलजावंतावे, घणे य घणवग्गवग्गे य ।

एषां संस्थानानां मध्ये समचतुरस्रं संस्थानं प्रवरत्वात् पौण्डरीकमित्येवमेते द्वे अपि पौण्डरीके, शेषाणि तु परिकर्मादीनि गणितानि, न्यग्रोधपरिमण्डलादीनि च संस्थानानि, इतराणि कण्डरीकाण्यप्रवराणि भवन्तीति यावत् । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । यथा पञ्च महार्णवा इति संख्याते, स्था० ५ ठा० ३ उ० । नि० चू० । वेसवाडियगणस्य प्रथमे कुले, कल्प० ८ क्षण ।

गणियपकिरिया-गणितप्रक्रिया-स्त्री० । गणितपरिज्ञानोपाये, सूत्र० । तद्यथा-" एकाद्या गच्छपर्यन्ताः, परस्परसमाहताः । राशयस्तद्धि विज्ञेयं, विकल्पगणिते फलम् " ॥ १ ॥ प्रस्तारानयनोपायस्त्वयम्-तत्र " गणितेऽन्त्यविभक्ते तु, लब्धं शेषैर्विभाजयेत् । आदावन्ते च तत् स्थाप्यं, विकल्पगणिते क्रमात् " ॥ १ ॥ अयं श्लोकः शिष्यहितार्थं विव्रियते-तत्र सुखावगमार्थं षट् पदानि समाश्रित्य तावत् श्लोकार्थो योज्यते । तत्रैवं षट् पदानि स्थाप्यानि-१२३४५६

१२३४५६	२१३४५६	१३२४५६	३१२४५६	२३१४५६	३२१४५६	१२४३५६

एतेषु परस्परताडनेन सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि गणितमुच्यते,तस्मिन् गणितेऽन्त्योऽत्र षट्कः, तेन भागे हृते विंशत्युत्तरं शतं लभ्यते, तच्च षण्णां पङ्क्तीनामन्त्यपङ्क्तौ षट्कानां न्यस्यते, तदधः पञ्चकानां विंशत्युत्तरमेव शतम । एवमधोऽधश्चतुष्कत्रिकद्विकैकानां प्रत्येकं विंशत्युत्तरशतं न्यस्यमेवमन्त्यपङ्क्तौ सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रियाया आदिरुच्यते,तथा यत्तद्विंशत्युत्तरं शतं लब्धं तस्य च पुनः शेषेण पञ्चकेन भागेनापहृते लब्धा चतुर्विंशतिस्तावन्तस्तावन्तश्च पञ्चकचतुष्कत्रिकद्विकैकाः प्रत्येकं पञ्चमपङ्क्तौ न्यस्या याद्विंशत्युत्तरं शतमिति । तदधोऽप्रतो न्यस्तमङ्कं मुक्त्वा येऽन्ये तेषां यो यो महत्संख्यः स सोऽधस्ताच्चतुर्विंशतिसंख्य एव तावद् न्यस्यो यावत्सप्तशतानि विंशत्युत्तराणि पञ्चमपङ्क्तावपि पूर्णानि भवन्ति, एषा च गणितप्रक्रियेत्यभिधीयते । एवमनया प्रक्रियया चतुर्विंशतेः शेषचतुष्ककेण भागे हृते षट् लभ्यन्ते, तावन्तश्चतुःपङ्क्तौ चतुष्ककाः स्थाप्याः, तदधः षट् त्रिकाः पुनर्द्विकाः, भूय एककाः, पुनः पूर्वन्यायेन पङ्क्तिः पूरणीया, पुनः षट्कस्य शेषत्रिकेण भागे हृते द्वौ लभ्येते, तावन्मात्रौ त्रिकौ तृतीयपङ्क्तौ शेषं पूर्ववत । शेषपङ्क्तिद्वये शेषमङ्कद्वयं क्रमोत्क्रमाभ्यां व्यवस्थाप्यमिति ॥ सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

गणियलिवि–गणितलिपि–स्त्री० । ब्राह्म्या लिपेर्विधाने, प्रज्ञा० १ पद ।

गणियसुहुम–गणितसूक्ष्म–न० । गणितं कोटिकासंकलनादि, तदेव सूक्ष्मं सूक्ष्मबुद्धिगम्यत्वात् । सूक्ष्मभेदे, स्था० १० ठा० ।

गणिया–गणिका–स्त्री० । विलासिन्याम् , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । आ० म० ।

अहीण० जाव सुरूवा बावत्तरिकलापंडिया चउसट्ठिगणियागुणोववेया एकूणतीसे वि सेसे रममाणी एक्कतीसरइगुणप्पहाणा बत्तीसपुरिसोवयारकुसला णवंगसुत्तपडिबोहिया अट्ठारसदेसीभासाविसारया सिंगारागारचारुवेसा गीयरइगंधव्वणट्टकुसला संगयगयभणियविहियविलाससललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसला सुंदरथणा जहणवयणकरचरणलावण्णविलासकलिया ऊसियधया सहस्सलंभा विदिण्णछत्तचामरवालवीयणिकया कण्णीरहप्पयाया होत्था बहूणं गणियासहस्साणं आहेवच्चं पोरेवच्चं सामित्तं भट्टित्तं महत्तरगत्तं आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणी पालेमाणी विहरइ ॥

(अहीण त्ति) अहीना पूर्णपञ्चेन्द्रियशरीरेत्यर्थः । यावत्करणात्-" लक्खणवंजणगुणोवेया माणुम्माणपमाणपडिपुण्णसुजायसव्वंगसुंदरंगी"इत्यादि द्रष्टव्यम । तत्र लक्षणानि स्वस्तिकलक्षणादीनि, व्यञ्जनानि मषीतिलकादीनि, गुणाः सौभाग्यादयः, मानं जलद्रोणमानता, उन्मानमर्धभारप्रमाणता, प्रमाणताऽष्टोत्तरशताङ्गुलोच्छ्रयतेति (बावत्तरिकलापंडिय त्ति) लेखाद्याः शकुनरुतपर्यन्ता गणितप्रधानाः कलाः प्रायः पुरुषाणामेवाभ्यासयोग्याः, स्त्रीणां तु विज्ञेया एव प्राय इति । (चउसट्ठिगणियागुणोववेया) गीतनृत्यादीनि विशेषतः पण्यस्त्रीजनोचितानि चतुःषष्टिविज्ञानानि ते गणिकागुणाः । अथवा वात्स्यायनोक्तानि आलिङ्गनादीन्यष्टौ वस्तूनि, तानि च प्रत्येकमष्टभेदत्वाच्चतुःषष्टिर्भवन्तीति । चतुःषष्ट्या गणिकागुणैरुपेता या सा, तथा एकोनत्रिंशद्विशेषा एकविंशती रतिगुणाः, द्वात्रिंशच्च पुरुषोपचाराः कामशास्त्रप्रसिद्धाः । (नवंगसुत्तपडिबोहिय त्ति) द्वे श्रोत्रे, द्वे चक्षुषी, द्वे घ्राणे, एका जिह्वा, एका त्वक्, एकं च मन इत्येतानि नवाङ्गानि सुप्तानि इव सुप्तानि यौवनेन प्रतिबोधितानि स्वार्थग्रहणपटुतां प्रापितानि यस्याः सा तथा "अट्ठारसदेसीभासाविसारय त्ति" रूढिगम्यम् । (सिंगारागारचारुवेस त्ति) शृङ्गारस्य रसविशेषस्यागारमिव चारुवेषो यस्याः सा तथा (गीयरइगंधव्वनट्टकुसल त्ति) गीतरतिश्चासौ गन्धर्वनाट्यकुशला चेति समासः । गन्धर्वं नृत्तयुक्तगीतं, नाट्यं तु नृत्तमेवेति (संगयगयभणियविहियविलाससललियसंलावनिउणजुत्तोवयारकुसल त्ति) दृश्यम, सङ्गतानि गतादीनि यस्याः सा तथा, सललिताः सुप्रसन्नतोपेता ये संलापास्तेषु निपुणा या सा तथा, युक्ताः सङ्गता ये उपचारा व्यवहारास्तेषु कुशला या सा तथा, ततः पदत्रयस्य कर्मधारयः । (सुंदरथण त्ति) एतेनेदं दृश्यम-"सुंदरथणजघणवयणकरचरणणयणलावण्णविलासकलिय त्ति " व्यक्तम, नवरं जघनं पूर्वः कटीभागस्य, लावण्यमाकारस्य स्पृहणीयता, विलासः स्त्रीणां चेष्टाविशेषः (ऊसियज्झय त्ति) ऊर्ध्वीकृतजयपताका "सहस्सलाभे ति" व्यक्तम् (विदिण्णछत्तचामरवालवीयणिय त्ति) वितीर्णं राज्ञा प्रसादतो दत्तं छत्रचामररूपा वालव्यजनिका यस्यै सा तथा, (कण्णीरहप्पयाया वि होत्थ त्ति) कर्णीरथः प्रवहणं तेन प्रयातं गमनं यस्याः सा तथा, वाऽपीति समुच्चये (होत्थ त्ति) अभवदिति । (आहेवच्चं ति) आधिपत्यं आधिपतिकर्म्म । इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-(पोरेवच्चं) पुरोवर्त्तित्वम्, अग्रेसरत्वमित्यर्थः । (भट्टित्तं) भर्तृत्वं, पोषकत्वं, (सामित्तं) स्वस्वामिसंबन्धमात्रम, (महत्तरगत्तं) शेषवेश्याजनापेक्षया महत्तरत्वम, (आणाईसरसेणावच्चं) आज्ञेश्वर आज्ञाप्रधानो यः सेनापतिः सैन्यनायकस्तस्य भावः कर्म्म वा आज्ञेश्वरसेनापत्यमिव आज्ञेश्वरसेनापत्यम, (कारेमाणी) कारयन्ती परैः, (पालेमाणी) पालयन्ती स्वयमिति । विपा० २ अ० । "गणियायारकरेणुकोत्थहत्थीणं" (गणियायार त्ति) गणिकाकाराः सकामायाः करेणवस्तासां (कोत्थ त्ति) उदरदेशस्तत्र हस्तो यस्य कामक्रीडापरायणत्वात्स तथा, इह चेत्समासान्तो द्रष्टव्यः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गणियागुण–गणिकागुण–पुं० । आलिङ्गनादिके विलासिनीगुणे, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० ।

गणियाणुओग–गणितानुयोग–पुं० । सूर्यप्रज्ञप्त्यादौ अनुयोगभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

गणियावर–गणिकावर–न० । विलासिनीप्रधाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । विपा० । "गणियावरनाडइज्जकलियं" गणिकावरैर्वेश्याप्रधानैर्नाटकीयैर्नाटकसम्बन्धिनीभिर्मोभिः कलिता या सा तथा ताम । भ० ११ श० ११ उ० ।

गणिविज्जा–गणिविद्या–स्त्री० । उत्कालिकश्रुतविशेषे, नं० । सबालवृद्धो गच्छो गणः, सोऽस्यास्तीति गणी आचार्यः, तस्य

विद्या ज्ञानं गणिविद्या, सा चेह ज्योतिष्कनिमित्तादिपरिज्ञानरूपा वेदितव्या,ज्योतिष्कनिमित्तादिकं हि सम्यक् परिज्ञाय प्रव्राजनसामायिकारोपणोपस्थापनश्रुतोद्देशानुज्ञागणारोपणदिशानुज्ञाविहारक्रमादिषु प्रयोजनेषूपस्थितेषु प्रशस्ते तिथिकरणमुहूर्त्तनक्षत्रयोगे यद्यत्र कर्त्तव्यं भवति तत्तत्र सूरिणा कर्त्तव्यं, तथा चेन्न करोति तर्हि महान् दोषः । उक्तं च-"जोइसनिमित्तनाणं, गणिणो पव्वावणाइकज्जेसु । उवजुज्जइ तिहिकरण-इ जाणणट्ठऽन्नहा दोसो" ॥१॥ ततो यानि सामायिकादीनि प्रयोजनानि यत्र तिथिकरणादौ कर्त्तव्यानि भवन्ति तानि तत्र यस्यां ग्रन्थपद्धतौ व्यावर्ण्यन्ते सा गणिविद्या । नं० । पा० ।

गणिव्वय-गणिव्रक-पुं० । स्वनामख्याते कस्यचिद् धर्मज्ञातरि, " सीसो सज्झिलओ वा, गणिव्वओ वा न सावए " (७०१ गाथा) पं० व० ३ द्वार ।

गणिसंपया-गणिसम्पद्-स्त्री० । गणानां साधूनां वा गणः समुदायो भूयानतिशयवान् वा यस्यास्तीति गणी आचार्य्यस्तस्य सम्पत् समृद्धिर्भावरूपा गणिसंपत् । प्रव० ६४ द्वार । आचारश्रुतशरीरवचनादिकायामाचार्य्यगुणर्द्धौ, स्था० ।

अट्ठविहा गणिसंपया पण्णत्ता । तं जहा-आयारसंपया सुयसंपया सरीरसंपया वयणसंपया वायणासंपया मइसंपया पयोगसंपया संगहपरिण्णा णाम अट्ठमा ॥

गणः समुदायो भूयानतिशयवान् वा गणानां साधूनां वा यस्यास्ति स गणी आचार्यस्तस्य सम्पत् समृद्धिर्भावरूपी गणिसम्पत्, तत्राचरणमाचारोऽनुष्ठानं स एव संपद्विभूतिस्तस्य वा सम्पत् सम्पत्तिः प्राप्तिराचारसम्पत् । सा च चतुर्द्धा, संयमध्रुवयोगयुक्तता चरणे नित्यं समाध्युपयुक्ततेत्यर्थः । असम्प्रग्रह आत्मनो जात्याद्युत्सेकरूपग्रहवर्जनमिति भावः २ । अनियतवृत्तिरनियतविहार इत्यर्थः ३ । वृद्धशीलता वपुर्मनसोर्निर्विकारतेति यावत् ४ । एवं श्रुतसम्पत्,साऽपि चतुर्द्धा । तद्यथा-बहुश्रुतता युगप्रधानागमतेत्यर्थः १. परिचितसूत्रता२, विचित्रसूत्रता स्वसमयादिभेदात्३, घोषविशुद्धिकरता च उदात्तादिविज्ञानादिति । शरीरसम्पच्चतुर्द्धा, आरोहपरिणाहयुक्तता उचितदैर्घ्यविस्तारतेत्यर्थः, अनवत्राप्यता,अलज्जनीयाङ्गतेत्यर्थः २,परिपूर्णेन्द्रियता ३, स्थिरसंहननता चेति ४, वचनसम्पच्चतुर्द्धा । तद्यथा-आदेयवचनता १, मधुरवचनता २, अनिश्रितवचनता, मध्यस्थवचनतेत्यर्थः ३, असंदिग्धवचनता चेति ४ । वाचनासंपच्चतुर्द्धा । तद्यथा-विदित्वोद्देशनं विदित्वा समुद्देशनं पारिणामिकादिकं शिष्यं ज्ञात्वेत्यर्थः २,परिनिर्वाप्य वाचना पूर्वदत्तालापकानधिगमय्य शिष्यं पुनः सूत्रदानमित्यर्थः ३,अर्थनिर्यापणा-अर्थस्य पूर्वापरसाङ्गत्येन गमनिकेत्यर्थः ४ । मतिसंपच्चतुर्द्धा-अवग्रहेहापायधारणाभेदादिति ४ । प्रयोगसम्पच्चतुर्द्धा, इह च प्रयोगो वादविषयस्तत्रात्मपरिज्ञानं वादादिसामर्थ्यविषये पुरुषपरिज्ञानं, किं नयोऽयं वाद्यादिः २, क्षेत्रपरिज्ञानं ३, वस्तुपरिज्ञानम्, वस्त्विह वादकाले राजामात्यादि ४ । संग्रहः स्वीकरणं,तत्र परिज्ञा ज्ञानं नामाभिधानमष्टमी सम्पत् । सा च चतुर्विधा । तद्यथा-बालादियोग्यक्षेत्रविषया १, पीठफलकादिविषया २, यथासमयं स्वाध्यायभिक्षादिविषया ३, यथोचितविनयविषया चेति ४ । स्था० ८ ठा० । प्रश्न० । दर्श० । ध० र० ।

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविधा गणिसंपदा पण्णत्ता, कयरा खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठ गणिसंपदा पण्णत्ता ?। इमा खलु थेरेहिं भगवंतेहिं अट्ठविहा गणिसंपदा पण्णत्ता । तं जहा-आयारसंपदा १ सुतसंपदा २ सरीरसंपदा ३ वयणसंपदा ४ वायणासंपदा ५ मतिसंपदा ६ संयोगसंपदा ७ संगहपरिण्णा णामं अट्ठमा । से किं तं आयारसंपदा ?। आयारसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-संजमधुवजोगजुत्ते यावि भवति १ असंगहियप्पा २ अणियतावित्ती ३ वुड्ढसीले यावि भवति ४। सेत्तं आयारसंपदा । से किं तं सुतसंपदा ?,सुतसंपदा चउव्विधा पण्णत्ता । तं जहा-बहुसुते यावि भवति १, परिचित सुते यावि भवति २ विचित्तसुते यावि भवति ३, घोसविसुद्धिकारए यावि भवति ४ । सेत्तं सुतसंपदा । से किं तं सरीरसंपदा ?। सरीरसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-आरोहपरिणाहसंपन्ने यावि भवइ १, अणोतप्पसरीरे २, थिरसंघयणे ३, बहुपडिपुण्णिदिए यावि भवति ४ । सेत्तं सरीरसंपदा । से किं तं वयणसंपदा ?। वयणसंपदा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-आदिज्जवयणे यावि भवति १, महुरवयणे यावि भवति २, अणिस्सियवयणे यावि भवति ३, फुडवयणे यावि भवइ ४। सेत्तं वयणसंपदा । से किं तं वायणासंपदा ?। वायणासंपदा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-विइयं उद्दिसति विइयं वाएति परिणिव्वावियं वाएइ अत्थणिज्जवए यावि भवति । सेत्तं वायणासंपदा । से किं तं मतिसंपदा ?। मतिसंपदा चउव्विधा पण्णत्ता । तं जहा-उग्गहमतिसंपदा १, ईहामती० २, अवायमती ३, धारणामती । से किं तं उग्गहमती ?। उग्गहमती छव्विधा पण्णत्ता । तं जहा-खिप्पं उगिण्हति,बहुं उगिण्हति, बहुविहं उगिण्हति, धुवं उगिण्हति, अणिस्सियं उगिण्हति, असंदिद्धं उगिण्हति । सेत्तं उग्गहमती । एवं ईहामती वि । एवं अवायमती । से किं तं धारणामती ? । धारणामती छव्विधा पण्णत्ता । तं जहा-बहुं धरेति, बहुविधं धरेति, पोराणं धरेति, दुद्धरं धरेति,अणिस्सियं धरेति, असंदिद्धं धरेति । सेत्तं धारणामती । सेत्तं मतिसंपदा । से किं तं पओगसंपदा ?। पओगसंपदा चउव्विधा पण्णत्ता । तं जहा-आतंविदाय वायं पउंजित्ता भवति, परिसंविदाय वादं पउंजित्ता भवति । सेत्तं विदाय वादं पउंजित्ता भवति, वत्थुं विदाय वायं पउंजित्ता भवति । सेत्तं पओगमतिसंपदा । से किं तं संगहपरिण्णा नाम संपदा ?। संगहपरिण्णा नाम संपदा चउव्विहा पण्णत्ता । तं जहा-बहुजणपाउग्गताए वासावासेसु खेत्तं पडिलेहित्ता भवति, बहुजणपाउग्गताए पाडिहारियं पीढफलगसेज्जासंथारयं उगिण्हित्ता भवति, काले णं

कालं समाणइत्ता भवति, अहागुरुसंपूइत्ता भवति । सेत्तं संगहपरिन्ना ।

"सुयं मे आउसंतेणं" इत्यादिव्याख्या प्राग्वत् । अष्टौ विधाः प्रकारा यासां ता अष्टविधाः । (गणिसंपद त्ति) गणोऽस्यास्तीति गणिराचार्यस्तस्य संपद इव संपदो गणिसंपदः प्रज्ञप्ताः प्ररूपिताः । तद्यथा-आचारसम्पत् १, श्रुतसंपत् २, शरीरसम्पत् ३, वचनसम्पत् ४, वाचनासम्पत् ५, मतिसम्पत् ६, संयोगसंपत् ७, संग्रहपरिज्ञा नाम सम्पत् ८ । अत्र च प्रत्येकमष्टौ प्रकारा गणिसंपदो वर्णयिष्यति, तदेवमुपन्यस्ताः प्रकाराः । साम्प्रतं तद्गतं सूत्रं वक्तव्यं, तत्र प्रथमं संपद्गतमिदमादिसूत्रम्-(से किं तं गणिसंपया इति) अथास्य सूत्रस्य कः प्रस्तावः ?, उच्यते-प्रश्नसूत्रमिदम्, एतच्चादावुपन्यस्तमिदं ज्ञापयति-पृच्छतो मध्यस्थस्य बुद्धिमतोऽर्थिनो भगवदर्हदुपदिष्टतत्त्वप्ररूपणा कार्या, न शेषस्य । तथा चोक्तम्-"मध्यस्थो बुद्धिमान्न्यायी, श्रोता पात्रमिति स्मृतः" इति । पात्रं योग्योऽधिकारी चोच्यते । सर्वजगज्जन्तुनिवहहिताऽभ्युत्थिता आचार्यास्तद्गुणविशेषणविशिष्टस्यैवाल्पाऽक्षरमसंदिग्धं पारावारस्येवाऽतितरां गूढाशयं भवाम्भोध्युत्तारणप्रवरपोतसमानमहार्थरूपं श्रीजिनागमं संप्रदर्शयन्ति । स एव सम्यग् रक्षति, तद्विपरीतस्तु नाशयति । यत उक्तं च-'आमे घडे इत्यादि ' ततोऽयोग्यस्यागमार्थो न देयोऽनुपधानादनुष्ठानस्य च । यत उक्तं स्थानाङ्गे—" चत्तारि अवायणिज्जा पन्नत्ता । तं जहा-अविणीए, विगइपडिबद्धे, अविओसियपाहुडो, मायी "तत्र "विगइपडिबद्धे" इत्यस्यार्थ उपधानकारी इति, न तु उपधानमिति । कोऽर्थः ? । उच्यते-उपष्टभ्यते श्रुतमनेनाऽऽचाम्लादितपोविशेषरूपेण च, योगविधिनेति यावत् । उपधीयते तदुपधानं, ततश्च य एवंविधानुष्ठानयुक्तो भवति तस्यैवार्थसूत्रभेदाभ्युतं देयमिति ज्ञापितं भवति, इति कृतं प्रसङ्गेन । प्रकृतमनुसरामः-तत्र 'से' शब्दो मगधदेशीप्रसिद्धो निपातस्तत्रशब्दार्थे, अथशब्दार्थे वा द्रष्टव्यः । स च वाक्योपन्यासार्थः । किमिति परिप्रश्ने (तं ति) तावदिति द्रष्टव्यम् । तच्च क्रमोद्द्योतनं । तत एष समुदायार्थः-तिष्ठन्तु श्रुतसंपदादीनि प्रष्टव्यानि तावद्, आचारसम्पदानन्तरं च तथामुपन्यस्तत्वात् । तत्रैतावदेव तावत् पृच्छामि-किमाचारसंपदिति ? । अथवा प्राकृतशैलया अभिधेयवद् लिङ्गवचनानि योजनीयानीति न्यायादेवं द्रष्टव्यम्, तत्र का तावदाचारसंपदिति ? । एवं सामान्येन केनचित्प्रश्ने कृते सति भगवान् गुरुः शिष्यवचनानुरोधेनानुग्रहार्थं किञ्चिच्छिष्योक्तं प्रत्युच्चार्य आह-' चउव्विहा पन्नत्ता ' इति । अनेन चागृहीतशिष्याभिधानेन निर्वचनसूत्रेणैतद्दर्शयति, न सर्वमेव सूत्रं गणधरप्रश्नतीर्थकरनिर्वचनरूपं किन्तु किञ्चित्तथा, किञ्चिदन्यथापि, बाहुल्येन तु तथारूपम् । यत उक्तम्-"अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा णिउणं । सासणस्स हियट्ठाए, तत्तो सुत्तं पवत्तइ " ॥ १ ॥ इत्यादि । तत्राचारसंपच्चतुर्धा प्रज्ञप्ता प्ररूपिता, यदा तीर्थकरा एव निर्वक्तारस्तदा अयमर्थो अवसेयोऽन्यैरपि तीर्थकरैर्यदा पुनरन्यः कश्चिदाचार्यस्तन्मतानुसारी तदा तीर्थकरगणधरैरिति । चातुर्विध्यमेवोपदर्शयति-(तं जहा) तद्यथेति वक्ष्यमाणभेदकथनप्रकाशनार्थम् । ननु पूर्वमेव 'कयरा खलु अट्ठविहा गणिसंपदा' इत्यनेन स्पष्टमेवेति किमर्थं पुनः "से किं तं " इत्यादिना पृच्छति, पुनरुक्तत्वात् । उच्यते-सामान्यतः संपद्विषयः पूर्वप्रश्नः, द्वितीयस्तु तद्विषयभेदान्तरज्ञापनाविषय इति समुच्चयविशेषविवक्षायां न विरोध इत्यलं प्रसङ्गेन । प्रस्तुतमुपस्तूयते-यः संयमध्रुवयोगयुक्तश्चापि भवति १ असंप्रतिगृहीतात्मा २ अनियतवृत्तिः ३ वृद्धशीलश्चापि भवति । तत्राचारो नाम प्रथममङ्गं, तस्मिन् अधीते दशविधश्रमणधर्मो ज्ञातो भवति, तस्मादाचाराङ्गं यो भणति सूत्रतोऽर्थतः संपद्युक्तो भवति यः स आचारसंपत् । (संजमेत्यादि) संयमो नाम चरणं, तस्य ये ध्रुवा अवश्यं कर्तव्यत्वाद् योगाः प्रतिलेखनास्वाध्यायादयः तैर्युक्तो भवति । अथवा संयमः सप्तदशप्रकारः पञ्चाश्रवाद्विरमणमित्यादिकः, तस्मिन् ध्रुवो नित्यो योगो व्यापारो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः । अथवा संयमे ध्रुवो नित्यो योगो यस्य स संयमध्रुवयोगयुक्तः । चशब्दाद् ज्ञानादिष्वपि नित्योपयोगः । अपिशब्दग्रहणात् असंयमेऽपि योजयति इत्येका १ । असंप्रगृहीतः अनुत्सेकवानात्मा यस्य सोऽसंप्रगृहीतात्मा, निरभिमान इत्यर्थः । यथा अहमाचार्यो बहुश्रुतस्तपस्वी सामाचारीकुशलो जात्यादिमान् वा इत्यादि मदरहितः २ । अनियता अनिश्चिता वृत्तिर्व्यवहरणं विहारो वा यस्य सोऽनियतवृत्तिर्यथा ' गामे एगराइं नगरे पंचराइं ' इत्यादिका । अथवा निकेतं नाम गृहं, तत्र वृत्तिर्वर्तनं यस्य स निकेतवृत्तिः, न निकेतवृत्तिरनिकेतवृत्तिः । अथवा चतुर्थादितपोविशेषैरेषणासमितियोगेन च निकेतवृत्तिः परिचितगृहेष्वगन्ता इति ३ । वृद्धशीलो निभृतशीलः, अचञ्चलशील इति यावत् । अर्थग्रहणात् वृद्धेषु ग्लानादिषु सम्यग्वैयावृत्यादिकरणकारापणयोरुद्युक्तो भवति, एवंविधः । अथवा वृद्धशीलता तावद् दुःखितमनसि च निभृतस्वभावता, निर्विकारतेति यावत् ४ । (सेत्तमित्यादि) सैषा आचारसंपत् चतुर्विधा । एवंविधाचारविशिष्टस्य श्रुतं भवति, दीयमानं च यथोक्तं गृह्णाति, सा श्रुतसंपत् । तां पिपृच्छिषुरिदमाह-(से किं तमित्यादि) अथ का सा श्रुतसंपत् ?, सूरिराह-श्रुतसंपत् चतुर्विधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-बहुश्रुतश्चापि भवति १, परिचितसूत्रः २, विचित्रसूत्रः ३, घोषविशुद्धिकारकः ४ । तत्र बहुश्रुतो युगे युगे प्रधानः श्रुतेन, एतावता यस्मिन् काले यावानागमो भवति तस्मिन् काले तावन्तं संपूर्णं हेत्वर्थयुक्त्यादिभिर्जानाति, युगप्रधानागम इति भावः । चशब्दाद् बहुचारित्रः । अपिशब्दाद् बहुपर्यायः, स चैवं जघन्यतः पञ्चवार्षिकः, उत्कर्षत एकोनविंशतिवर्षपर्यायः १ । परिचितसूत्रः-उत्क्रमक्रमवाचनादिभिः स्थिरसूत्रोऽस्खलितागमः २ । विचित्रः-स्वपरसमयादिपर्यायैर्जानाति, अथवाऽर्थेन विचित्रं बह्वर्थविचारणायुक्तं जानाति । अथवा उत्सर्गापवादौ सामान्यविशेषैर्वा विचित्रं जानाति स विचित्रसूत्रः ३ । घोषविशुद्धिकारकः-घोषा उदात्तादयः, तेषां शुद्धिर्घोषशुद्धिः, विशेषेण शुद्धिर्विशुद्धिस्तां करोतीति घोषविशुद्धिकारकः । यतः स्वयं घोषविशुद्धिमान् अन्यानपि तथैव स्वरशुद्धिकारः । घोषा उदात्तादयः, तैषां शुद्धिर्घोषशुद्धिः ४ । (सेत्तं) पूर्ववत् । सांप्रतं शरीरबलवद् एव श्रुतं चतुर्विधं भवति, अतः शारीरं संपदमेव पिपृच्छिषुरिदमाह—(से किं तमित्यादि) प्रश्नसूत्रं व्यक्तम् । सूरिराह-शरीरसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-आरोहपरिणाहसंपूर्णश्चापि भवति १, एवमनवत्राप्यशरीरः २, स्थिरसंहननः ३, बहुप्रतिपूर्णेन्द्रियः ४ । इह च आरोहो दैर्घ्यं, परिणाहो विस्तारः, ताभ्यां संपूर्णः । चापिशब्दादन्याङ्गसुन्दरत्वस्थापकाविति । येन उच्यते लौकिकैरपि-'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' । अनवत्राप्यम्-नावत्राप्यम् लज्जनं यस्य सोऽयमनवत्राप्यः ।

अथवा अपत्रापयितुं लज्जयितुमर्हः शक्यो वाऽपत्राप्यो लज्जनीयः, न तथाऽनवत्राप्यः यतो हीनशरीरस्तु लज्जोत्पादको भवति २। स्थिरसंहननो बलवच्छरीरः, एवंविधश्च तपःप्रभृतिषु शक्तिमान् भवति ३। बहुपरिपूर्णानीन्द्रियाणि यस्य स बहुपरिपूर्णेन्द्रियोऽनुपहतचक्षुरादिकरणः, एवंविधश्च सर्वार्थसाधनपरो भवति ४। सेत्तमित्यादि पूर्ववत् । शरीरश्रुतसम्पद्युक्तस्यैव प्रायो वचनसंपद् भवति अतस्तां पिपृच्छिषुरिदमाह-(से किं तं) इत्यादि व्यक्तम् । सूरिराह-वचनसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-आदेयवचनश्चापि भवति१,एवं मधुरवचनः२, अनिश्रितवचनः ३, असन्दिग्धवचनः ४। तत्रादेयवचनः सकलजनग्राह्यवाक्यः, श्रोतारः श्रुत्वा यद्वाक्यं प्रमाणं कुर्वन्ति। चाऽपिशब्दावादेशान्तरदानेऽपि न कोऽपि तद्वाक्यमन्यथा करोतीति द्योतकः १, मधुरं रसवदर्थतो विशिष्टार्थवत्तया अर्थावगाढत्वेन शब्देन चाऽपरुषत्वमौस्वर्यगाम्भीर्यादिगुणोपेतत्वेन श्रोतुराह्लादमुपजनयति तदेवंविधं वचनं यस्य स तथा २। अनिश्रितवचनो रागादिना वाक्यकालुष्यवर्जितः ३। असन्दिग्धवचनः परिस्फुटवाक्यः, यद् ब्रूते तत्सर्वैरपि संदेहरहितं बुध्यते। एवंविधस्य वाक्यश्रवणान्न संशयेदिति ४। सेत्तमित्यादि प्राग्वत्। अधुना एवंविध एव शिष्याणां वाचनां दातुं समर्थो भवतीति वाचनासंपदं प्रश्नयितुमाह-(से किं तं) इत्यादि कण्ठ्यम्। गुरुराह-(वायणेत्यादि) वाचनासंपच्चतुर्धा प्रज्ञप्ता। विदित्वोद्दिशति १, विदित्वा समुद्दिशति २, परिनिर्वाप्य वाचयति ३, अर्थनिर्यापकश्चापि भवति ४। तत्र विदित्वोद्दिशति यथा योगविधिक्रमेण सम्यग्योगेनाधीष्वेत्युद्दिशति, समुद्दिशति वा ययायोगसामाचार्यैव स्थिरपरिचितं कुर्विदमिति वदतीति, अन्यथा अपरिणामिकादावपक्वघटनिहितजलोदाहरणेन दोषसंभवात् । अथवा आमभाजने वा निक्षिप्तं क्षीरं विनश्यति, एवमयोग्ये दत्तं सूत्रं विनश्यतीति २ । (परीति) सर्वप्रकारं निर्वापयतो निरो निःसंदिग्धादिभृशार्थदर्शनाद् भृशं गमयते पूर्वदत्तालापकादिसर्वात्मना स्वात्मनि परिणमयतः शिष्यस्य सूत्रगताऽशेषविशेषग्रहणकालं प्रतीक्ष्य शक्त्यनुरूपप्रदानेन प्रयोजकत्वमनुभूय परिनिर्वाप्य वाचयति सूत्रं प्रददाति ३। अर्थः सूत्राऽभिधेयं वस्तु, तस्य निरिति भृशं यापना निर्वाहणा, पूर्वापरसाङ्गत्येन स्वयं ज्ञानतोऽन्येषां च कथनतो निर्गमयति निर्यापयति इति निर्यापकः । चाऽपिशब्दौ विचारादिद्योतकौ ४। सेत्तमित्यादि सुगमम् । सांप्रतं जात्यमेवोपदिष्टं उत्पन्नप्रतिभो भवति । जातिग्रहणाद् विशिष्टजातिमत एव विशिष्टबुद्धिसंभव इति दर्शितं भवति, अन्यथा हि परतीर्थिकैराक्षिप्तस्तत्प्रत्युत्तराऽसमर्थश्चेत्तदा तादृशं तं दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं गच्छेयुरभिनवश्राद्धालवोऽपि चेतिमतिसंपदं प्रश्नयितुमिदमाह-(से किं तं) इत्यादि प्रश्नसूत्रं व्यक्तम्। भगवानाह-मतिसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता, तद्यथा—अवग्रहमतिसंपदेव १। ईहा २ अपायः ३ धारणा ४। तत्र सामान्यार्थस्य अशेषविशेषनिरपेक्षाऽनिर्देश्यरूपादेरवग्रहणमवग्रहः, सा चासौ मतिसंपच्चावग्रहमतिसंपत्, एवमन्या अपि १ । नवरं ईहा तदर्थविशेषालोचनम् २ । प्रकृतार्थविशेषनिश्चयोऽपायः ३, अवगतार्थस्याऽविच्युतिस्मृतिवासना धारणा ४ । सांप्रतमवग्रहमतिसंपद्भेदान् जिज्ञासुरिदं प्रश्नयति-(से किं तं) इत्यादि व्यक्तम्। सूरिराह-षड्विधा षट्प्रकारा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-क्षिप्रमवगृह्णाति १, बहुकमवगृह्णाति २, बहुविधमवगृह्णाति ३, ध्रुवमवगृह्णाति ४, अनिश्रितमवगृह्णाति ५, असन्दिग्धमवगृह्णाति ६। तत्र क्षिप्रमतिशीघ्रमुच्चारितमात्रमवपृच्छद्भिः शिष्यैरवगृह्णाति । अथवा परवादिभिः पृच्छद्भिरेवोच्चारितमात्रमवगृह्णाति, यथा प्रतिज्ञानामनिग्रहस्थानादिदोषा न संभवन्ति उक्ताऽननुवादेन च वादे पराजितत्वं भवति १, बहुमिति पञ्चषाण्युक्तानि पञ्च षट् ग्रन्थशतानि धारयति २, बहुविधमिति लिखति, धारयति, मनसि संख्यां गणयति, स्वमुखेनाऽन्यदाऽऽख्यानमप्यन्तराले कथयति, अनेकैश्चोच्चारितमवगृह्णाति, एवं च यथा लोकोक्त्या अष्टावधानिनो दशावधानिनश्चोच्यन्ते तथा करोतीति ३। ध्रुवमिति न कदापि विस्मारयति सकृत्पठितमपि यथाश्रुतमवगृह्णाति, एवं च प्रज्ञावान् लोके प्रशस्यते, प्रत्युत्तरादिविधाने च समर्थो भवतीति ४। अनिश्रितं नाम पुस्तकादिनिरपेक्षमेव पठति, अवगृह्णाति च । अथवा एकवारं श्रुतं पुनर्यदा कश्चिदनूद्य वदति तदैव वक्तुं समर्थो भवति नान्यथैवंविधाने भवति किं तु स्मारणनिरपेक्ष एव भवतीति ५। असन्दिग्धं नाम सन्देहवर्जितमवगृह्णाति, न तु यत्र तत्र साशङ्क एवंविधश्च स्वयं निस्संदेहत्वात् अन्यानपि निःसन्देहतया प्रज्ञापयिता भवति इति एवमित्थमीहामतिसंपत् क्षिप्रमवगृह्णातीत्यादिषट्प्रकारा ज्ञेया २ । एवमित्यमुनैव क्रमेण षट्प्रकारा अपायमतिसंपद् अपि वर्णनीया ३। अधुना धारणामतिसंपदं जिज्ञासुः परिपृच्छति-(से किं तं) इत्यादि सुकरं प्रश्नसूत्रम्। गुरुराह-(उग्गिहेत्यादि) व्यक्तम्। तद्यथा-बहु धारयति१, बहुविधं धारयति २, पुराणं धारयति ३ दुर्द्धरं धारयति ४, अनिश्रितं धारयति ५, असंदिग्धं धारयति ६, इति षडपि पदानि व्यक्तानि । नवरं (पोराणं ति) पुराणं जीर्णं, प्रभूतकालपठितं तदपि यथाश्रुतं धारयति यदा पृच्छति तदा धारणासमर्थत्वात् सर्वं वदति (दुद्धरं ति) दुर्द्धरं दुःखेन धर्तुं शक्यं नयगमनङ्गगुपिलं धारयति । सेत्तमित्यादि निगमनवाक्यं व्यक्तमिति । इदानीं मतिसंपत्समन्वित एव प्रयोगसंपद्योग्यो भवति इति प्रयोगमतिसंपदं जिज्ञासुरिदं पृच्छति-(से किं तं) इत्यादि प्रश्नसूत्रं कण्ठ्यम् । गुरुराह-प्रयोगमतिसंपच्चतुर्विधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-आत्मानं विदाय वादप्रयोक्ता भवति २, क्षेत्रं विदाय वादप्रयोक्ता भवति ३, वस्तु विदाय वादप्रयोक्ता भवति ४। तत्र आत्मानं वादादिव्यापारकाले किमसुं प्रतिवादिनं जेतुं मनःशक्तिरस्ति न वेति (विदाय त्ति) विद् ज्ञानी जानीते, ततो (वादं इति) धर्मं कथयितुं वादं वा कर्तुं प्रयोक्ता इति आत्मानं वादं प्रयोजयिता भवति १। एवं परिषदं यथा किमियं पर्षत् सौगता, सांख्या, अन्या वा, तथा प्रतिज्ञादिवती, तदितरा वेति। अथवा " जाणिया अजाणिया दुब्वियड्ढा वा " क्वचित् (पुरिसं वेत्ति) तत्र पुरुष एवैतादृशो वाच्यः २। (क्षेत्रं विदायेति) किमिदं क्षेत्रम् बहुलम् ऋजु परिणतं वा तथा साधुभिरभावितं भावितं नगरादीति ज्ञात्वा वादप्रयोक्ता भवति, अन्यथा हि तत्स्वरूपाऽपरिज्ञाने सहसा वादकरणे पराजयप्रसङ्गात् ३ । ' वस्तु विदायेति ' किमिदं राजामात्यादिसभासदि विवादवस्तु दारुणं वा भद्रकमभद्रकं वेति परवादिप्रभृति बह्वागममल्पागमं वा। अथवा वस्तुशब्दादुपलक्षिता द्रव्य१क्षेत्र२काल३भावस्त्वादयः४, तान् विदाय वाद इति उपलक्षणत्वात् सामाचारीप्रभृतिप्रयोक्ता भवति। तत्र द्रव्यम् इदमनुष्ठानादि कर्तुं स किं वाऽऽग्रहानादिकं निर्वाहयितुं वा समर्थो भविष्यति, नवेति क्षेत्रमिदं किं मासकल्पचतुर्मासकल्पादिकरणयो-

ग्यं भवति, न वेति कालं विज्ञाय किमयं कालस्तथाविधोग्रतपःकरणाय युक्तो भवति, न वेति। अथवा इदमिदानीं कर्त्तव्यमित्येवं वस्तु बालग्लानदुर्बलक्षपकाचार्योपाध्यायराजर्षिवृषभगीतार्थादि विज्ञाय तथाविधाऽऽदेशदानाहारोपधिशय्यादि यथोचितप्रयोक्ता भवति, एवंविधज्ञानयुक्तो यथोचितकार्येषु प्रवर्तमानो न गच्छस्य द्वेष्यो भवतीति ४। 'सेत्तं' इत्यादि पूर्ववत्। अधुना प्रयोगमतिसंपत्समन्वितस्यैव संग्रहपरिज्ञाकौशल्यं भवति, अतस्तान्येव प्रश्नयितुमाह-(से किं तं) इत्यादि व्याख्यातार्थम्। सूरिराह-संग्रहपरिज्ञा चतुर्विधा प्रज्ञप्ता। तद्यथा-बहुजनप्रायोग्यतया वर्षावासेषु क्षेत्रं प्रतिलेखयिता भवति १। बहुजनप्रायोग्यतया प्रातिहारदार्वादेरवगृहीता भवति २। काले कालं संमानयिता भवति ३। यथागुरु संपूजयिता भवति ४। तत्र बहवो जना बहुजनाः प्रस्तावात् साधवः, अथवा बहुसंख्याको जनो जातावेकवचनम्, तत्रापि स एवार्थः, तस्य प्रायोग्यं योग्यमिति, तस्य भावो बहुजनप्रायोग्यता, तया करणभूतयेति। (वासावासासु त्ति) वर्षासु वर्षासु वर्षाकाले वर्षा वृष्टिवर्षा वर्षासु वा आवासोऽवस्थानं वर्षावासस्तस्मिन्, स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात्। क्षेत्रं बालवृद्धदुर्बलग्लानक्षपकाचार्यादीनां तथायोगवाहिनामितरेषां वाऽऽहारादिगुणोपेतं बृहत्कल्पानुसारतो ज्ञेयम्, तत्प्रतिलेखयिता शेषकाले गवेषयिता भवति, तदप्रतिलेखने स्थितानां पीठाहारादिसंकीर्णतादिदोषप्रसङ्गात्। ननु वर्षाग्रहणमिति किमर्थम् ?, शेषकालेऽपि तत्प्रतिलिख्यते एवेति चेत्। उच्यते-अन्यस्मिन् काले अन्यत्रापि गम्यते, परं वर्षासु न तथेति तद्ग्रहणम् १। तथा बहुजनप्रायोग्यतया (पडिहारिए त्ति) प्रतिहारः प्रत्यर्पणं प्रयोजनमस्येति प्रातिहारिकं पीठमासनं पट्टकादिफलकमवष्टम्भनफलकं कोष्ठविशेषः, शयनं वा, यत्र प्रसारितपादैः सुप्यते संस्तारको लघुतरशयनमेव, एतेषामवगृहीता भवति। इदमपि वर्षावासे एव, यतश्चतुर्मासकमध्ये एवं वृद्धसामाचारी दृश्यते, न्यूनोदरतादितपःकरणं पर्युषणाकल्पकर्षणं विकृतेः परित्यागो विशेषकारणमन्तरा पीठफलकादिसंस्तारकादानम् उच्चारादिमात्रकसंग्रहणं लोचकरणं शैक्षप्रव्राजनं प्राग्गृहीतभस्मरूगलादिपरित्यजनमेतेषां तु ग्रहणं द्विगुणवर्षोपग्रहोपकरणं धरणमित्यादि अग्रे "कल्पाध्ययने" स्वयमेव वक्ष्यते सूत्रकारः, इति कृतं प्रसङ्गेनेति २। काले यथोचितप्रस्तावे एव स्वाध्यायोपधिसमुत्पादनप्रत्युपेक्षणाध्यापनभिक्षादिकरणात्मकम्, अनुष्ठानं, संमानयिता स्वस्थाने आदरकरणेन प्रतिपत्तिकर्त्ता भवति ३। तथा गुरुमिति येन गुरुणा प्रव्राजितो यस्य पार्श्वे वा पठितः तं गुरुं संपूजयिता इति स्वयमाचार्यत्वे प्राप्तेऽपि मा एतेषां विनयहानिर्भवत्विति कृत्वा अभ्युत्थानवन्दनकाहारोपधिपथिविश्रामणचरणसंवाहनाशुश्रूषादिभिर्विनयहेतुभिः सम्यग् यथा भवति तथा पूजयिता भवति, न पुनः प्राप्तप्रतिष्ठस्तथा भवतीति ४। सेत्तमित्यादि निगमनवाक्यं व्यक्तार्थम्। दशा०४ अ०। गणिसंपद् यत्राभिधीयते तदध्ययनमपि तथैवोच्यत इति। आचारदशानां चतुर्थेऽध्ययने, स्था० १० ठा०।

गणेत्तिया-गणेत्रिका-स्त्री०। रुद्राक्षकृते कलापिकाभरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। औ०। भ०।

गणेस-गणेश-पुं०। द्विपास्ये लम्बोदरदेवे, वाच०। गणधरे च। जीत०। "निष्प्रत्यूहं प्रणिदधे, भवानीतनयानहम्। सर्वानपि गणाध्यक्षा-नक्षामोदरसङ्गतान्" ॥१॥ इत्यत्र भवानीतनयानुमासुतान् संसारे भ्रान्तशास्त्रान् वा गणाध्यक्षान् गणपतिदेवान् गणधरांश्च अक्षामोदरसङ्गतान् लम्बोदरान् आत्मानन्दरसं प्राप्तान् वेति श्लिष्टार्थप्रतीतेः। जीत०।

गतकिलेस-गतक्लेश-त्रि०। गतसमस्तरागादिक्लेशे, चं० प्र० १ पाहु०।

गति-गति-स्त्री०। चूलिकापैशाचिके गस्य कः प्राप्तः "नादियुज्योरन्येषाम्"। ८। ४। ३२७। इति न भवति। प्रा० ४ पाद। गमने, प्रश्न० ४ संव० द्वार। नामकर्मोदयसंपाद्ये जीवपर्याये, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार।

गत्त-गर्त-पुं०। श्वभ्रे, भ० १५ श० १ उ०। ईषायाम्, पङ्के च। दे० ना० २ वर्ग।

गात्र-न०। अङ्गे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। शरीरे, उत्त० १६ अ०। जीवा०। औ०। 'गत्ततालुक्खए इव'। प्रज्ञा० १७ पद।

गत्तिगकारपविभत्ति-गतिगकारप्रविभक्ति-न०। गकाराकृत्यभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा०।

गद्दतोय-गर्दतोय-पुं०। अभ्यन्तरपश्चिमायाः कृष्णराजेरग्रे चन्द्राभे लोकान्तिकविमाने परिवसति लोकान्तिकदेवभेदे, स्था० ८ ठा०। प्रव०। आ० म०। ज्ञा०। "गद्दतोयतुसियाणं देवाणं सत्त देवा सत्त देवसहस्सा पण्णत्ता"। स्था०७ ठा०। "गद्दतोयतुसियाणं देवाणं सत्तहत्तरिं देवसहस्सपरिवारा पण्णत्ते" तत्र गर्दतोयानां तुषितानां च देवानामुभयपरिवारसंख्यामीलनेन सप्तसप्ततिदेवसहस्राणि परिवारः प्रज्ञप्तानीति। स० ७७ सम०।

गद्दभ-गर्दभ-पुं०। स्त्री०। रासभे, 'गधा' इतिख्याते, स्त्रियां जातित्वात् ङीप्। आ० क०। युवराजसचिवदीर्घपृष्ठपुत्रे, बृ० १ उ०। ('जुवराज' शब्दे वक्ष्यते)

गद्दभय-गर्दभक-पुं०। 'गदइया' इतिख्याते प्राणिनि, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०। आ० म०। उत्पलनामके गन्धद्रव्ये, श्वेतकुमुदे, विकङ्के च। न०। वाच०।

गद्दभाल-गर्दभाल-पुं०। वक्ष्यमाण "गद्दभालि" शब्दार्थे, भ० २ श० २ उ०।

गद्दभालि-गर्दभालि-पुं०। स्वनामख्याते परिव्राजके, यच्छिष्यः स्कन्दक आसीत्। भ० २ श० २ उ०। स्वनामख्यातेऽनगारप्रवरे, यदन्तिके काम्पिल्येश्वरः संजयो नामाऽनगारः प्रवव्राज। ती० २५ कल्प। उत्त०।

गद्दभिल्ल-गर्दभिल्ल-पुं०। स्वनामख्याते उज्जयिनीनृपे, यो हि साध्वीव्रतभञ्जकत्वेन कालकाचार्येणोन्मूलितः। नि० चू० १० उ०। पञ्चा०। ती०। (गर्दभिल्लकथा तु "अधिगरण" शब्दे प्र० भागे ५८२ पृष्ठे कालकाचार्यप्रस्तावे निरूपिता)

गद्दभी-गर्दभी-स्त्री०। गर्द-अभच्। गौरा-ङीष्। अग्निप्रकृतिके कीटभेदे, स्वार्थे कः। गर्दभिका। रोगे, संज्ञायां कन्। अपराजितायाम्, श्वेतकण्टकार्याम्, कटभ्यां च। गर्दभजातिस्त्रियाम्, वाच०। गर्दभीरूपधारिण्यां गर्दभिल्लराजरक्षिकायां विद्यायाम्, नि० चू० १० उ०।

गद्दह-गर्दभ-पुं०। 'गद्दभ' शब्दार्थे, आ० क०।

गद्दही–गर्दभी–स्त्री० । 'गद्दभी' शब्दार्थे, नि० चू० १० उ० ।

गद्ध–गार्ध्य–न० । तात्पर्ये, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

गद्धपिट्ठ–गृध्रस्पृष्ट–न०। मरणभेदे, गृध्रादिभक्षणं गृध्रम्। उत्त० १ अ०। गृध्राः प्रतीताः ते आदिर्येषां शकुनिका–शिवादीनां, तैर्भक्षणं गम्यमानत्वादात्मनस्तदनिवारणादिना तद्भक्ष्यकरि-करभादिशरीरानुप्रवेशेन च गृध्रादिभक्षणम्। तत्किमुच्यते इ-त्याह–(गद्धपिट्ठ त्ति) गृध्रैः स्पृष्टं स्पर्शनं यस्मिंस्तद् गृध्रस्पृष्टं, यदि वा गृध्राणां भक्ष्यं स्पृष्टमुपलक्षणत्वादुदरादि च मर्तुर्य-स्मिंस्तद् गृध्रस्पृष्टम्, स ह्यलक्तकपूरिकापुटप्रदानेनाप्यात्मानं गृध्रादिभिः स्पृष्टादि भक्षयतीति। उत्त० ५ अ० । गृध्रस्पृष्टा-भिधानमनाथपातितगोकलेवरादिवदध्वनि निपतनरूपम्। तं०।

गन–गण–पुं० "णो नः" ।८।४।३०६। इति पैशाच्यां णस्य नः । समुदाये, प्रा० ४ पाद ।

गब्भ–गर्भ–पुं० । जननीकुक्षौ, तं० । "गब्भं वक्कंते" गर्भे कुक्षौ व्युत्क्रान्त उत्पन्नः । स्था० ५ ठा०१ उ० । गर्भाशये, स्था० २ ठा० ३ उ० । सजीवपुद्गलपिण्डके, भ०५ श०४ उ०। उदर-सत्त्वे, स्था० १० ठा०। प्राणिनां जन्मविशेषे, स्था०४ ठा०४ उ०।

अथ गर्भाधिकारः–

सुणह गणिए दस दसा, वाससयाउस्स जह विभज्जंति।
संकलिए वोगसिए, जं चाउं सेसयं होइ ॥ २ ॥
जत्तियमेत्ते दिवसे, जत्तियराईसु होइ उस्सासे ।
गब्भम्मि वसइ जीवो, आहारविहिं च वुच्छामि ॥ ३ ॥

(सुणह०। जत्तिय०) अत्र पदानां संबन्धोऽयम्–वर्षशतायुषो ज-न्तोर्यथा दश दशा अवस्था विभजन्तीति पृथग् भवन्ति तथा यूयं शृणुत,क्व सति ? गणिते–एकद्व्यादिक्रियमाणे सति, तथा दश दशाः संकलिते एकत्र मीलिते, तथा व्युत्कर्षिते निष्काशिते सति 'वाससयं परमाउं इत्तो पन्नासं हरइ' इत्यादिना यच्चायुःशेषकं भवति तदपि यूयं शृणुत ।२। यावन्मात्रान् दिवसान् यावद्रात्रीः यावन्मुहूर्तान् यावदुच्छ्वासान् जीवो गर्भे वसति तान् वक्ष्ये, गर्भादिके आहारविधिं, चशब्दाच्छरीररोमादिस्वरूपं च वक्ष्ये भणिष्यामीति ॥३॥

तत्र गर्भे अहोरात्राणां प्रमाणमाह–

दुन्नि अहोरत्तसए, संपुण्णे सत्तसत्तरिं चेव ।
गब्भम्मि वसइ जीवो, अद्धमहोरत्तमण्णं च ॥ ४ ॥
एए उ अहोरत्ता, नियमा जीवस्स गब्भवासम्मि ।
हीणाहियाउ इत्तो, उवघायवसेण जायंति ॥ ५ ॥

'दुन्नि' द्वे अहोरात्रशते २०० संपूर्णे सप्तसप्तत्यधिके ७७ अन्यदर्धमहोरात्रं च जीवो गर्भे वसति तिष्ठति, एतावता नवमासान् सार्द्धसप्तदिनान् जीवो गर्भे तिष्ठतीत्यर्थः ॥४॥ (एए उ) एते उक्तरूपा अहोरात्रा निश्चयेन जीवस्य गर्भवासे भ-वन्ति । (इत्तो त्ति) अस्मादुक्तादहोरात्रप्रमाणात् उपघातवशेन वातपित्तादिदोषेण हीनाधिका अपि (जायंति त्ति) धातूनाम-नेकार्थत्वाद् भवन्तीत्यर्थः । तुशब्दोऽप्यर्थः, स च योजित इति ॥ ५ ॥

अथ गर्भे मुहूर्तानां प्रमाणमाह–

अट्ठ सहस्सा तिन्नि उ, सया मुहुत्ताण पन्नवीसा य ।
गब्भगओ वसइ जिओ, नियमा हीणाहिया इत्तो ॥६॥

(अट्ठस०) अष्टौ सहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चविंशत्यधि-कानि मुहूर्तानि ८३२५ निश्चयेन जीवो गर्भे वसति । तानि च कथं भवन्ति ?–उक्तलक्षणाः सप्तसप्तत्यधिकद्विशताहोरात्राः २७७ त्रिंशता गुणिता ८३१० एतावन्तो भवन्ति, अर्द्धाहोरात्र-स्य च पञ्चदश मुहूर्तानि क्षिप्यन्ते, जातानि ८३२५ इति । इत उ-क्तरूपात् ८३२५ वातदोषादिविकारेण हीनाधिकान्यपि मुहू-र्तानि वसति गर्भे जीव इति ॥ ६ ॥

अथ गाथाद्वयेन गर्भे निःश्वासोच्छ्वासप्रमाणमाह–

तिन्नेव य कोडीओ, चउदससय हवंति सयसहस्साइं ।
दस चेव सहस्साइं, दुन्नि सया पण्णवीसा य ॥ ७ ॥
उस्सासा निस्सासा, इत्तियमित्ता हवंति संकलिया ।
जीवस्स गब्भवासे नियमा, हीणाहिया इत्तो ॥ ८ ॥

(तिन्नेव य उस्सासा) तिस्रः कोटयः चतुर्दश शतसहस्राणि,च-तुर्दश लक्षाणीत्यर्थः,दश सहस्राणि,द्वे शते,पञ्चविंशत्यधिक इति ३१४१०२२५ । (इत्तियमित्त त्ति) एतावन्मात्राः सङ्कलिता एकी-कृता जीवस्य गर्भवासे निश्चयेन निःश्वासोच्छ्वासा भवन्ति । कथमेकस्मिन्नन्तर्मुहूर्ते सप्तत्रिंशच्छतानि त्रिसप्तत्यधिकानि ३ ७७३ निःश्वासोच्छ्वासा भवन्ति, एतैश्च यदैतानि ८३२५ उ-क्तरूपाणि मुहूर्तानि गुण्यन्ते तदा यथोक्तम् ३१४१०२२५ एतद्भ-वतीति । इत उक्तरूपाद् दोषादिकारणेन हीनाधिका निःश्वा-सोच्छ्वासा भवन्तीति ॥ ८ ॥

अथाहाराधिकारे किञ्चिद् गर्भादिस्वरूपमाह–

(आउसो !)इत्थीएँ नाभिहिट्ठा,सिरादुगं पुप्फनालियागारं ।
तस्स य हिट्ठा जोणी, अहोमुहा संठिया कोसा ॥९॥

(आउसो इत्थी०) हे आयुष्मन्! हे गौतम ! स्त्रिया नार्या ना-भेरधोभागे पुष्पनालिकाकारं सुमनोवृन्तसदृशं शिराद्विकं ध-मनियुग्मं वर्तते, च पुनस्तस्य शिराद्विकस्याधो योनिः स्मरकूपि-का संस्थिताऽस्ति । किंभूता ?, अधोमुखा । पुनः किंभूता ?, (कोस त्ति) कोशा, खड्गपिधानकाऽऽकारेत्यर्थः ॥९॥

तस्स य हिट्ठा चूय–स्स मंजरी तारिसा उ मंसस्स ।
ते रिउकाले फुडिया, सोणियलवया विमोयंति ॥ १० ॥

(तस्स य) तस्याश्च योनेरधोऽधोभागे चूतस्याऽऽम्रस्य या-दृश्यो मञ्जर्यो वल्लर्यो भवन्ति तादृश्यो मांसस्य पललस्य म-ञ्जर्यो भवन्ति,ता मञ्जर्यो मासान्ते स्त्रीणां यद्रजस्वलत्वं दिनत्रयं स्रवति तदृतुकालः स्त्रीधर्मप्रस्तावः, तस्मिन् स्फुटिताः प्रफुल्लाः सत्यः शोणितलवकान् रुधिरबिन्दून् विमुञ्चन्ति श्रवन्ति ॥१०॥ तं० । "सप्ताहं कललं विन्द्यात्, ततः सप्ताहमर्बुदम् । अर्बुदा-ज्जायते पेसी, पेसीतोऽपि घनं भवेत्" ॥ १ ॥ वाच० ।

कोसायारिं जोणिं, संपत्ता सुक्कमीसिया जइया ।
तइया जीवुववाए, जुग्गा भणिया जिणिंदेहिं ॥११॥

(कोसा) ते रुधिरबिन्दवः कोशाकारां योनिं संप्राप्ताः सन्तः शुक्रमिश्रिताः ऋतुदिनत्रयान्ते पुरुषसंयोगेनाऽसंयोगेन

या पुरुषवीर्येण यदा मिलिताः (नइय त्ति) तदा जीवोत्पादे गर्भसंभूतिलक्षणे योग्या भणिताः कथिता जिनेन्द्रैः सर्वज्ञैरिति ॥११॥

ननु कथं पुरुषासंयोगे पुरुषसंभव इति ? । यदुक्तं स्थानाङ्गे- "पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं असंवसमाणी वि गब्भं धरेज्जा। तं जह-इत्थी दुवियडा दुन्निसन्ना सुक्कपोग्गले अधिट्ठिज्जा १, सुक्कपोग्गलसंसट्ठे वा से वत्थे अंतो जोणिए अणुपवेसेज्जा २, सयं वा से ३, परो वा से सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा ४, सीओदगवियडेण वा से आयममाणीए सुक्कपोग्गले अणुपवेसेज्जा ५, इच्चेतेहिं पंचहिं ठाणेहिं जाव धरेज्जा" (स्था०५ ठा०२उ०)

परिधानवर्जितेत्यर्थः । दुर्निषण्णान् पुरुषशुक्रपुद्गलान् कथञ्चित्पुरुषनिसृष्टानासनस्थानधितिष्ठेद् योन्याकर्षणेन संगृह्णीयात् १, तथा शुक्रपुद्गलसंसृष्टं 'से' तस्याः स्त्रिया वस्त्रमन्तर्मध्ये योनावनुप्रविशेद्, इह च वस्त्रमित्युपलक्षणं तथाविधमन्यदपि अनुप्रविशेदिति २, स्वयमिति पुत्रार्थिनी वा अच्छीलरक्षकत्वाच्च [से ति] सा शुक्रपुद्गलान् योनावनुप्रवेशयेत् ३, (परो वे त्ति) श्वश्रूप्रभृतिकः पुत्रार्थमेव (से) तस्या योनाविति ४, शीतोदकलक्षणं यद्विकटं पल्वलादिगतामित्यर्थः, तेन वा [से] तस्या आचामत्याः पूर्वपतिता उदकमध्यवर्तिनः शुक्रपुद्गला अनुप्रविशेयुरिति ।

अथाध्वस्तयोनिकालमानं जीवसंख्यापरिमाणं चाह-

वारस चेव मुहुत्ता, उवरिं विद्धंसं गच्छई सा उ ।
जीवाणं परिसंखा, लक्खपुहुत्तं च उक्कोसं ॥१२॥

(बारस०) सा पुरुषवीर्यसंयुक्ता योनिर्द्वादशैव मुहूर्तान् यावदध्वस्ता भवति । तथा [उवरिं ति] द्वादशमुहूर्तानन्तरं सा योनिर्विध्वंसं गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः। अयमाशयः-ऋत्वन्ते स्त्रीणां नरोपभोगेन द्वादशमुहूर्तमध्य एव गर्भभावः, तदनन्तरं वीर्यविनाशत्वाद् गर्भाभाव इति । तथा मनुष्यगर्भे जीवानां गर्भजन्तूनां परिसंख्या, संख्या-मानं, लक्षपृथक्त्वमुत्कृष्टतो भवति । सिद्धान्तभाषया द्विप्रभृतिरानवभ्यः संख्या कथ्यत इति ॥१२॥

अथ कियद्भ्यो वर्षेभ्यः पुनरूर्ध्वं गर्भं स्त्रियो न
धारयन्ति, पुमाँश्चाबीर्यो भवति इति प्रसङ्गतो
निरूपयितुमाह-

पणपन्ना य परेणं, जोणि पमिलायए महिलियाणं ।
पणसत्तरीइ परओ, पाएण पुमं भवे बीओ ॥ १३ ॥

(पणप०) महिलानां स्त्रीणां प्रायः प्रवाहेण (पणपन्ना य त्ति) पञ्चपञ्चाशद्वर्षेभ्यः (परेणं ति) ऊर्ध्वं योनिः प्रम्लायति, गर्भधारणाऽसमर्था भवतीत्यर्थः । भावार्थोऽयं निशीथोक्तो यथा- " इत्थीए जाव पणपन्नवासा न पूरेंति ताव अमिलाया जोणी " आर्तवं स्याद्, गर्भं च गृह्णातीत्यर्थः । " पणपन्नवासाए पुण कस्स वि अत्तवं भवति, न पुण गब्भं गेण्हइ, पणपन्नाए परओ न अत्तवं नो गब्भं गेण्हइ त्ति"। तथा चोक्तं स्थानाङ्गटीकायाम्- " मासि मासि रजः स्त्रीणा-मजस्रं स्रवति त्र्यहम् ।
वत्सराद् द्वादशादूर्ध्वं, याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥ १ ॥
पूर्णषोडशवर्षा स्त्री, पूर्णविंशेन सङ्गता ।
शुद्धे गर्भाशये १ मार्गे २, रक्ते ३ शुक्रे ४ अनिले ५ हृदि ६ ॥२॥
वीर्यवन्तं सुतं सूते, ततो न्यूनाद् द्वयोः पुनः ।
रोग्यल्पायुरधन्यो वा, गर्भो भवति नैव वा" ॥ ३ ॥ इति ।
शुद्धे निर्दोषे गर्भाशयादिषट्के इत्यर्थः । तथा च-
"ऋतुस्तु द्वादश निशाः, पूर्वास्तिस्रोऽत्र निन्दिताः ।
एकादशी च, युग्मासु, स्यात्पुत्रोऽन्यासु कन्यका ॥ ४ ॥
पद्मं संकोचमायाति, दिनेऽतीते यथा तथा ।
ऋतावतीते योनिः सा, शुक्रं नैव प्रतीच्छति ॥ ५ ॥
मासेनोपचितं रक्तं, धमनीभ्यामृतौ पुनः ।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च,वायुर्योनिमुखान्नुदेत्" ६।(स्था०५ठा०२उ०)

तथा चाविध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजम् १, अविध्वस्ता योनिः विध्वस्तं बीजम् २, विध्वस्ता योनिरविध्वस्तं बीजम् ३, विध्वस्ता योनिर्विध्वस्तं बीजम् ४, चतुर्षु भङ्गेषु आद्यभङ्ग एव उत्पत्तेरवकाशो न शेषेषु त्रिष्विति । तत्र पञ्चपञ्चाशिका नारी विध्वस्तयोनिः । सप्तसप्ततिकः पुमानिति द्वादशमुहूर्तान् यावद् बीजमविध्वस्तं स्यात्,तत ऊर्ध्वं विध्वस्तमिति द्वितीयाङ्गवृत्ताविति । तथा पुमान् पुरुषः प्रायः पञ्चसप्ततिवर्षेभ्यः परत ऊर्ध्वमबीजो भवेत्, गर्भाधानयोग्यबीजविवर्जित इत्यर्थः ।

कियत्प्रमाणायुषामेतन्मानं द्रष्टव्यम् ?, इत्याह-

वाससयाउयमेयं, परेण जा होइ पुव्वकोडीओ ।
तस्सऽद्धे अमिलाया, सव्वाउयवीसभागो य ॥ १४ ॥

वर्षशतायुषामिदंयुगीनानामेतद् गर्भधारणादिकालमानमुक्तम् । परेण तर्हि का वार्ता ?, इत्याह-(परेण त्ति) वर्षशतात्परतो वर्षद्वयं त्रयं चतुष्टयं चेत्यादि यावन्महाविदेहमनुष्याणां या पूर्वकोटिः सर्वायुषि स्यात् तस्य सर्वायुषोऽर्द्धे तदर्द्धं यावदम्लाना गर्भधारणयोग्या स्त्रीणां योनिर्द्रष्टव्या। ततोऽपि परतः सकृत्प्रसवधर्माणोऽम्लानयोनयोऽवस्थितयौवनत्वात् पुंसां मनः सर्वस्यापि पूर्वकोटिपर्यन्तस्यायुषोऽन्त्यो विंशतितमो भागो बीज इति ॥ १४ ॥ तं० । प्रव० ।

अथ कियन्तः पुनर्जीवा एकस्याः स्त्रियो गर्भे एकहेलयैवोत्पद्यन्ते, कियतां च पितॄणामेकः पुत्रो भवति ?, इत्याह-

रत्तुक्कडाओ इत्थी, लक्खपुहुत्तं च बारस मुहुत्ता ।
पिअसंखसयपुहुत्तं, बारसवासा उ गब्भस्स ॥ १५ ॥

अत्रान्यत्राप्यार्षत्वाद्विभक्तीनां वैचित्र्यं ज्ञातव्यमिति । मासान्ते त्रीणि दिनानि यावत्स्त्रीणां यन्निरन्तरमस्रं स्रवति तदत्र रक्तमुच्यते, तेन रक्तेन रुधिरेण उत्कटायाः पुरुषवीर्ययुक्तयोन्या एकस्याः स्त्रिया गर्भे जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वोत्कृष्टतस्तु (लक्खपुहुत्तं ति) लक्षपृथक्त्वं नवलक्षगर्भजजीवा उत्पद्यन्ते इत्यर्थः । निष्पत्तिं च प्राय एको द्वौ वा गच्छतः, शेषास्त्वल्पजीवित्वात्तत्रैव म्रियन्ते। एको द्वौ वा इत्युक्तं व्यवहारापेक्षया, निश्चयापेक्षया तु ततोऽधिकं न्यूनं वा भवतीति द्रष्टव्यमिति । चशब्दात् स्त्रियाः संसक्तायां योनौ द्वीन्द्रिया जीवा जघन्यत एको द्वौ वा त्रयो वोत्कृष्टतो नवलक्षप्रमाणा उत्पद्यन्ते। तस्यायःशलाकान्यायेन पुरुषसंयोगे तेषां जीवानां विनाशो भवति। स्त्रीपुरुषमैथुने मिथ्यादृष्टयः अन्तर्मुहूर्तायुषः अपर्याप्तावस्थाकालकारिणः अष्टौ प्राणधारकाः नारकदेवयुगलाञ्जिवायुवर्जितशेषजीवस्थानागमनस्वभावा मुहूर्तपृथक्त्वकायस्थितिकाः असंख्येयाः संमूर्च्छिममनुष्या उत्पद्यन्ते चेति । तथा (बारसमुहुत्त त्ति) पुरुषवीर्यस्य कालमानं द्वादश मुहूर्तानि,एतावत्कालमेव शुक्रशोणितेऽविध्वस्तयोनिके भवत इति । (पिअ त्ति) पि-

तृणां संख्या पितृसंख्या, तस्याः शतपृथक्त्वं भवति। अयमाशयः-उत्कृष्टतो नवानां पितृशतानामेकः पुत्रो जायते, एतदुक्तं भवति-कस्याश्चिद् दृढसंहननायाः कामातुरायाश्च योषितो यदा द्वादशमुहूर्तमध्ये उत्कर्षतो नवभिः पुरुषशतैः सह संगमो भवति तदा तद्बीजे यः पुत्रो भवति स नवानां पितृशतानां पुत्रो भवति। उपलक्षणत्वात्तिरश्चां च बीजं द्वादशमुहूर्तान् यावद्योनिभूतं भवति, ततश्च गवादीनां शतपृथक्त्वस्यापि बीजं गवादियोनिप्रविष्टं बीजमेव। तत्र च बीजसमुदाये एको जीव उत्पद्यमानस्तेषां बीजस्वामिनामुत्कर्षतः पुत्रो भवति। मत्स्यादीनामेकसंयोगेऽपि शतसहस्रपृथक्त्वं गर्भे उत्पद्यते, निष्पद्यते चैकस्मिन्नपि गर्भे लक्षपृथक्त्वं पुत्राणां स्यादिति। ननु देवानां शुक्रपुद्गलाः किं सन्ति, उत न ?। उच्यते-सन्त्येव परं ते वैक्रियशरीरान्तर्गता इति न गर्भाधानहेतवः तं०। (इति 'पुत्त' शब्दे स्पष्टयिष्यामि)

अथ कियन्तं कालं भवस्थित्या जीवो गर्भे वसति ?, इत्याह-(वारस०) गर्भस्य स्थितिर्द्वादशवर्षमुहूर्त्तप्रमाणा भवति। एतदुक्तं भवति-कोऽपि पापकारी वातपित्तादिदूषिते देवादिस्तम्भिते वा गर्भे द्वादश संवत्सराणि निरन्तरं तिष्ठति उत्कृष्टतः, जघन्यस्त्वन्तर्मुहूर्तमेव तिष्ठति, भवस्थित्या गर्भाऽधिकारात्। " उदगगब्भेणं भंते ! कालओ केव चिरं होइ ?, गोयमा ! जहन्नेणं इक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा " उदकगर्भे कालान्तरे वृष्टिहेतुः पुद्गलपरिणामः, तस्य समयानन्तरं षण्मासानन्तरं वर्षणात्। अयं च मार्गशीर्षादिषु वैशाखान्तेषु सन्ध्यारागादिलिङ्गो भवतीति। तुशब्दान्मनुष्यतिरश्चां कायस्थितिश्चतुर्विंशतिवर्षाण्युत्कृष्टवर्षप्रमाणाऽवगन्तव्या, यथा कोऽपि स्त्रीकाये द्वादश वर्षाणि जीवित्वा तदन्ते च मृत्वा तथाविधकर्मवशात् तत्रैव गर्भस्थिते कलेवरे समुत्पद्य पुनर्द्वादश वर्षाणि जीवतीत्येवं चतुर्विंशतिवर्षाण्युत्कर्षतो गर्भे जन्तुरवतिष्ठते। केचिदाहुः-द्वादशवर्षाणि स्थित्वा पुनस्तत्रैवान्यजीवस्तच्छरीर उत्पद्यते तावत्स्थितिरिति ॥ १५ ॥

अथ कुक्षौ पुरुषादयः कुत्र परिवसन्तीत्याह-

दाहिणकुच्छी पुरिसस्स होइ वामाएँ इत्थियाओ य।
उभयंतरं नपुंसे, तिरिए अट्ठेव वरिसाइं ॥ १६ ॥

(दाहिण०) पुरुषस्य दक्षिणकुक्षिः स्यात्, दक्षिणकुक्षौ वसन् जीवः पुरुषः स्यादितिभावः १। स्त्रिया वामकुक्षिः स्यात्, वामकुक्षौ वसन् जीवः स्त्री भवतीति भावः २। नपुंसके उभयान्तरं स्यात्, कुक्षिमध्यभागे वसन् जीवो नपुंसको जायते इति भावः ३॥

स्त्रीपुरुषनपुंसकलक्षणानि यथा-

" योनेर्मृदुत्वमस्थैर्यं, मुग्धचञ्चलता स्तने।
पुंस्कामितेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्वे प्रचक्षते ॥ १ ॥
मेहने खरता दार्ढ्यं, शौण्डीर्यं श्मश्रुधृष्टता।
स्त्रीकामितेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥ २ ॥
स्तनादिश्मश्रुकेशादि-भावाभावसमन्वितम्।
नपुंसकं बुधाः प्राहु-र्मोहाऽनलसुदीपितम् " ॥ ३ ॥

अथ तिरश्चां गर्भे भवस्थितिमाह-(तिरिए०) तिरश्चां गर्भे भवस्थितिरुत्कृष्टतोऽष्टौ वर्षाणि, ततः परं विपत्तिः, प्रसवो वेति। जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमाना भवस्थितिरिति ॥१६॥ तं०।

जीवः किं सेन्द्रियः सशरीरो व्युत्क्रामति ?-

जीवेणं भंते ! गब्भं वक्कममाणे किं सइंदिए वक्कमइ, अणिंदिए वक्कमइ ?। गोयमा ! सिय सइंदिए वक्कमइ, सिय अणिंदिए वक्कमइ। से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्कमइ, भाविंदियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमइ, से तेणट्ठेणं। जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे किं ससरीरी वक्कमइ, असरीरी वक्कमइ ?। गोयमा ! सिय ससरीरी वक्कमइ, सिय असरीरी वक्कमइ। से केणट्ठेणं ?। गोयमा ! ओरालियवेउव्वियआहारयाइं पडुच्च असरीरी वक्कमइ, तेयाकम्माइं पडुच्च ससरीरी वक्कमइ, से तेणट्ठेणं गोयमा !। जीवे णं भंते ! गब्भं वक्कममाणे तप्पढमयाए कमाहारमाहारेइ ?। गोयमा ! माउओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसिट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारमाहारेइ। भ० १ श० ७ उ०।

अथ जीवो गर्भे व्युत्पद्यमानः किमाहारमाहारयति, ततश्च किं स्वरूपो भवति ?, इत्याह-

इमो खलु जीवो अम्मापिउसंजोगे माउओयं पिउसुक्कं तं तदुभयसंसट्ठं कलुसं किब्बिसं तप्पढमयाए आहारं आहारित्ता गब्भत्ताए वक्कमइ।

सत्ताहं कललं होइ, सत्ताहं होइ अब्बुयं।
अब्बुया जायए पेसी, पेसीओ य घणं भवे ॥ १७ ॥

" इमो खलु त्ति " यावत् " वक्कमइ त्ति " सुगमम्। अयं जीवः खलु निश्चितं (दाहिणकुच्छीए) पित्रोः संजोगे (माउओयं ति) मातुरोजो जनन्या आर्त्तवं, शोणितमित्यर्थः (पिउसुक्कं ति) पितुः शुक्रम्, इह यदिति शेषः (तं ति) तदाहारं तस्य गर्भव्युत्क्रमणस्य (पढमयाए) तत्प्रथमतया (आहारित्त त्ति) तैजसकार्मणशरीराभ्यां मुक्त्वा गर्भतया गर्भत्वेन (वक्कमइ त्ति) व्युत्क्रामति, उत्पद्यते इत्यर्थः। किंभूतमाहारम् ?, तदुभयसंस्पृष्टं कलुषं मलिनम् (किब्बिसं ति) कर्बुरमिति। ततः केन क्रमेण शरीरं निष्पद्यते ?, इत्याह-सत्ताहमित्यादि यावद्भवे त्ति पद्यम्। सप्ताऽहोरात्राणि यावत् शुक्रशोणितसमुदायमात्रं कललं भवति १। ततः सप्ताहोरात्राणि अर्बुदो भवति, तत एव शुक्रशोणिते किञ्चित् स्त्यानीभूतत्वं प्रतिपद्येते इति २। ततोऽपि चार्बुदात्पेशी मांसखण्डरूपा भवति ३। ततश्चानन्तरं सा घनं समचतुरस्रं मांसखण्डं भवति ४ ॥१७॥

तो पढमे मासे करिसूणं पलं जायइ १। बीए मासे पेसी संजायए घणा २। तइए मासे माउए डोहलं जणइ ३। चउत्थे मासे माऊए अंगाइं पीणेइ ४। पंचमे मासे पंच पिंडियाओ पाणिं २ पायं २ सिरं ५ चेव निव्वत्तइ ५। छट्ठे मासे पित्तसोणियं उवचिणेइ ६। सत्तमे मासे सत्तसिरासयाइं ७०० पंचपेसीसयाइं ५०० नवधमणीओ ९ नवनउइं च रोमकूवसयसहस्साइं निवत्तेइ ९९००००० , विणा केसमंसुणा, सह केसमंसुणा अद्धुट्ठाओ रोमकूवकोडीओ निव्वत्तेइ ३५०००००० । ७। अट्ठमे मासे वित्तीकप्पो हवइ। ८।

(तो पढमे०) तत इह च तच्छुक्रशोणितमुत्तरोत्तरपरिणाममासादयत् प्रथमे मासे कर्षोनं पलं जायते। "पञ्चगुञ्जाभिर्माषः, षोडशभिर्माषैः कर्षः,चतुर्भिः कर्षैः पलम्" इति वचनात् । त्रयः कर्षाः स्युरितिभावः १, द्वितीये तु मासे पेसी घनस्वरूपा भवति, समचतुरस्रं मांसखण्डं जायत इत्यर्थः २, तृतीये मासे तु मातुर्दौहृदं जनयतीत्यर्थः ३, चतुर्थे मासे मातुरङ्गानि प्रीणयति, पुष्टानि करोतीत्यर्थः ४, जीवः पञ्चमे मासे पाणिद्वय-पादद्वय-मस्तकरूपाः पञ्च पिण्डिकाः पञ्चाङ्कुरान् निर्वर्तयति, निष्पादयतीत्यर्थः ५, षष्ठे मासे पीयते अलमनेनेति पित्तं, पित्तं च शोणितं तद् उपचिनोति, पुष्टं करोतीत्यर्थः ६, सप्तमे मासे सप्त शिराशतानि ७०० पञ्च पेसीशतानि ५०० नव धमन्यो नवनाड्यो नवनवतिरोमकूपशतसहस्राणि निर्वर्तयति । रोम्णां तनूरुहाणां कूपा इव कूपा रोमकूपाः, रोमरन्ध्राणीत्यर्थः, तेषां नवनवतिर्लक्षा इति केशश्मश्रूणि विना, तत्र केशाः शिरोजाः, श्मश्रूणि कूर्चकेशाः ९९०००००, केशश्मश्रुभिः सह (अद्धुट्ठाउ त्ति) सार्द्धास्तिस्रो रोमकूपकोटीः निर्वर्तयतीति ३५००००००॥७॥ अष्टमे मासे तु शरीरमाश्रित्य (वित्तीकप्पो त्ति) निष्पन्नप्रायो जीवो भवतीति॥८॥

अत्राधिकारे इन्द्रभूतिः जनोपकाराय श्रेशलेयं सर्वज्ञं सर्वभूतदयैकरसं प्रश्नयति-

जीवस्स णं भंते ! गब्भगयस्स समाणस्स अत्थि उच्चारे इ वा पासवणे इ वा खेले इ वा सिंघाणे इ वा वंते इ वा पित्ते इ वा सुक्के इ वा सोणिए इ वा ?। नो इणट्ठे समट्ठे। से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जीवस्स णं गब्भगयस्स समाणस्स नत्थि उच्चारे इ वा०जाव सोणिए इ वा ?। गोयमा ! जीवेणं गब्भगए समाणे जं आहारमाहारेइ तं चिणाइ सोइंदियत्ताए १ चक्खिदियत्ताए २ घाणिंदियत्ताए ३ जिब्भिंदियत्ताए ४ फासिंदियत्ताए ५ अट्ठिअट्ठिमिंजकेसमंसुरोमनहत्ताए से एएणं अट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ-जीवस्स णं गब्भगयस्स समाणस्स नत्थि उच्चारे इ वा० जाव सोणिए इ वा ॥

(जीवस्स णं भंते ! इत्यादि) हे भदन्त ! जीवस्य जन्तोः 'णं' वाक्यालङ्कारे, गर्भगतस्य गर्भत्वं प्राप्तस्य (समाणस्स त्ति) सतः, अस्ति विद्यते, वर्तते इत्यर्थः । उच्चारो विष्ठा, 'इ' इति रूपप्रदर्शने. अलङ्कारे, पूरणे वा, वेति विकल्पार्थे । प्रस्रवणं मूत्रम्, खेलो निष्ठीवनं, (सिंघाणे त्ति)नासिकाश्लेष्मा, (वंते) वमनं, पित्तं मायुः, शुक्रं वीर्यं, शोणितं रुधिरं "सुक्के इ वा सोणिए इ वा" इति पदद्वयं भगवत्यादिसूत्रे न दृश्यते,आगमज्ञैर्विचार्यमिति । (नो इणट्ठे०) नो नैव (इणट्ठे त्ति) अयमनन्तरोक्तत्वेन प्रत्यक्षोऽर्थो भावः समर्थो बलवान्, वक्ष्यमाणदूषणमुद्गरप्रहारजर्जरितत्वात् । गौतमस्वामी प्राह-(से केणट्ठेणं ति) अथ केन कारणेनेत्यर्थः । हे भदन्त ! एवं प्रोच्यते-जीवस्य गर्भगतस्य सतो नास्ति उच्चारो यावच्छोणितमिति ?। भगवान् प्राह-हे गौतम ! जीवः 'णं' वाक्यालङ्कारे,गर्भगतः सन् यदाहारमाहारयति तदाहारं श्रोत्रेन्द्रियतया १ चक्षुरिन्द्रियतया २ घ्राणेन्द्रियतया ३ जिह्वेन्द्रियतया ४ स्पर्शनेन्द्रियतया ५ चिनोति,पुष्टीभावं नयतीत्यर्थः । इन्द्रियाणि द्वैधानि-पुद्गलरूपाणि द्रव्येन्द्रियाणि १, लब्ध्युपयोगरूपाणि तु भावेन्द्रियाणि २ । पुनर्निर्वृत्त्युपकरणलक्षणभेदाद् द्वैधानि द्रव्येन्द्रियाणि । तत्र निर्वृत्तिर्द्विधा-अन्तो बहिश्च २, तत्रान्तः श्रोत्रेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये नेत्रगोचरातीता केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति, या शब्दग्रहणोपकारे वर्तते १ । चक्षुरिन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिगम्या धान्यमसूराकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति,या रूपग्रहणोपकारे वर्तते २ । घ्राणेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिदृष्टा अतिमुक्तककुसुमाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति, या गन्धग्रहणोपकारे वर्तते ३ । रसनेन्द्रियस्यान्तर्मध्ये जिनगम्या क्षुरप्रहरणाकारा देहावयवरूपा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति, या रसग्रहणोपकारे वर्तते ४ । स्पर्शनेन्द्रियस्यान्तः केवलिदृष्टा देहाकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति, या स्पर्शग्रहणोपकारे वर्तते ५ । बहिर्निर्वृत्तिस्तु या सर्वेषामपि श्रोत्रादीनां कर्णशष्कुलिकादिका दृश्यते, सैव मन्तव्या । उपकरणेन्द्रियं तु तेषामेव कदम्बगोलकाकारादीनां खड्गस्य छेदनशक्तिरिव ज्वलनस्य दहनशक्तिरिव या या स्वकीयस्वकीयविषयग्रहणशक्तिस्तत्स्वरूपं द्रव्यम् २ । तथा ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमाद् जीवस्य शब्दादिग्रहणशक्तिरूपं लब्धिभावेन्द्रियम् १। यत्तु शब्दादीनामेव ग्रहणपरिणामलक्षणं तदुपयोगभावेन्द्रियमिति २ । तत्र यानि द्रव्येन्द्रियाणि तानि जीवानां पर्याप्तौ सत्यां भवन्ति, यानि च भावेन्द्रियाणि तानि संसारिणां सर्वावस्थाभावीनीति । तथा नयनस्य विषयोऽप्रकाशकवस्तुपर्वताद्याश्रित्यात्माङ्गुलेन सातिरेकं योजनलक्षं स्यात् । प्रकाशके त्वादित्यचन्द्राद्यधिकमपि विषयपरिमाणं स्यात् । नात्र विषये नियमः कोऽपि निर्दिष्टोऽस्ति सिद्धान्ते, यतः पुष्करवरद्वीपादिमानुषोत्तरपर्वतसमीपे कर्कसंक्रान्तौ मनुष्याः प्रमाणाङ्गुलजनैः सातिरेकैरेकविंशतियोजनलक्षैर्व्यवस्थितं रविं पश्यन्तः प्रोच्यन्ते शास्त्रान्तरे इति । जघन्यतस्त्वत्यासन्नरजोमलादेरग्रहणादङ्गुलसंख्येयभागात्परतः स्थितं वस्तु चक्षुषो विषयः १। श्रोत्रस्य द्वादशयोजनान्युत्कृष्टविषयो मेघगर्जितादौ २। घ्राणरसनस्पर्शनानां तूत्कृष्टं नव योजनानि, जघन्यतस्तु चतुर्णामप्यङ्गुलासंख्येयभागादागतं गन्धादिकं विषयः। मनसस्तु केवलज्ञानस्येव समस्तमूर्ताऽमूर्तवस्तुविषयत्वेन क्षेत्रतो नास्ति विषयपरिमाणं,मनसोऽप्राप्यकारित्वादिति । विषयपरिमाणं चात्रेन्द्रियविचारे आत्माङ्गुलेनैव ज्ञेयमिति । तथा [अट्ठिअट्ठिमिंज] अस्थ्यास्थिमिञ्जकेशश्मश्रुरोमनखतया चिनोतीति । तत्रास्थि हड्डम्, अस्थिमिञ्जा अस्थिमध्यावयवः, केशाः शिरोजाः, श्मश्रूणि कूर्चकेशाः,रोमाणि कक्षादिकेशा इति । 'से'अथानेनार्थेन अनेन कारणेन हे गौतम ! हे इन्द्रभूते ! एवं पूर्वोक्तं प्रोच्यते प्रकर्षेण प्रतिपाद्यते, जीवस्य गर्भगतस्य सतो नास्ति उच्चारो यावच्छोणितमिति ।

पुनर्गौतमो ज्ञातनन्दनं प्रश्नयति-

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे पहू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए ?। गोयमा ! नो इणट्ठे समट्ठे । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ ?। गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे सव्वओ आहारेइ, सव्वओ परिणामेइ, सव्वओ ऊससेइ, सव्वओ नीससेइ,अभिक्खणं २ आहारेइ, अभिक्खणं २ परिणामेइ,अभिक्खणं २ ऊससेइ, अभिक्खणं २ नीससेइ,आहच्च आहारेइ, आहच्च परिणामेइ, आहच्च ऊससेइ, आहच्च नीससेइ, माउजीवरसहरणी पुत्तजीवरसहरणी, माउजीवपडिबद्धा

पुत्तजीवफुडा तम्हा आहारेइ तम्हा परिणामेइ अवरा वि य णं पुत्तजीवपडिबद्धा माउजीवफुडा तम्हा चिणाइ, तम्हा उवचिणाइ, से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जीवे णं गब्भगए समाणे नो पहू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए । जीवे णं गब्भगए समाणे किमाहारं आहारेइ ?। गोयमा ! जं से माया नाणाविहाओ रसविगईओ तित्तकडुयकसायंबिलमहुराइं दव्वाइं आहारेइ । तओ एगदेसेणं ओयमाहारेइ । "तस्स फलबिंटसरिसा, उप्पलनालोवमा हवइ नाभी ॥ रसहरणी जणणीए, सयाऽऽइ नाभीएँ पडिबद्धा" ॥१॥ नाभीए तीए गब्भो ओयं आईयइ अण्हयंतीए ओयाए तीए गब्भो विवड्ढइ० जाव जाउ त्ति ।

(जीवे णं)हे भदन्त ! हे भयान्त ! हे दयैकरस ! कृतवाग्वृष्ट्याऽऽह्लादितभव्यहृदयवसुन्धर ! जीवो गर्भगतः सन् प्रभुः समर्थः मुखेन वक्त्रेण कवलैर्निर्वृत्तं कावलिकम् आहारमशनादिकम् (आहारित्तए त्ति) आहर्तुमदनं कर्तुमिति ?। आह जगदीश्वरः-हे गौतम ! नाऽयमर्थः समर्थः। श्रीगौतमः प्राह-(से) अथ केनार्थेन एवं प्रोच्यते ?। त्रिश्ववत्सलो वीरः प्राह-हे गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् (सव्वओ त्ति) सर्वात्मना सर्वप्रकारेण आहारयति, आहारतया गृह्णातीत्यर्थः। सर्वतः सर्वात्मना परिणामयति,शरीरादितया गृह्णातीत्यर्थः । सर्वतः सर्वात्मना उच्छ्वसिति,सर्वप्रकारेण ऊर्ध्वश्वासं गृह्णातीत्यर्थः। सर्वतः सर्वात्मना निःश्वसिति, श्वासमोक्षणं करोतीत्यर्थः । अभीक्ष्णं पुनःपुनराहारयति, अभीक्ष्णं परिणामयति, अभीक्ष्णमुच्छ्वसिति,अभीक्ष्णं निःश्वसिति । (आहच्च त्ति) कदाचिदाहारयति कदाचिन्नाहारयति, तथास्वभावत्वात् । कदाचित् परिणामयति,कदाचिन्न परिणामयति, कदाचिदुच्छ्वसिति, कदाचिन्नोच्छ्वसिति, कदाचिन्निःश्वसिति, कदाचिन्न निःश्वसिति । अथ कथं सर्वत आहारयतीत्याह-(माउजीव०) रसो ह्रियते आदीयते यया सा रसहरणी, नाभिनालमित्यर्थः । मातृजीवस्य रसहरणी मातृजीवरसहरणी । किमित्याह—पुत्रजीवरसहरणी पुत्रस्य रसोपादाने कारणत्वात् । कथमेवमित्याह-मातृजीवप्रतिबद्धा सती सा यतः (पुत्तजीव फुडा त्ति) पुत्रजीवं स्पृष्टवती । इह च प्रतिबद्धता गाढसंबन्धः, तदंशत्वात् । स्पृष्टता च संबन्धमात्रं, तदंशत्वात् । अथवा मातृजीवरसहरणी १ पुत्रजीवरसहरणी २ चेति द्वे नाड्यौ स्तः, तयोश्चाद्या मातृजीवप्रतिबद्धा पुत्रजीवस्पृष्टेति । (तम्हा त्ति) यस्मादेवं तस्मान्मातृजीवप्रतिबद्धया रसहरण्या पुत्रजीवस्पर्शनात् आहारयति, तस्मात्परिणामयति । (अवरा वि य त्ति) पुत्रजीवरसहरण्यपि च पुत्रजीवप्रतिबद्धा सती मातृजीवं स्पृष्टवती यस्मादेवं तस्माच्चिनोति शरीरम् । उक्तं च तन्त्रान्तरे-"पुत्रस्य नाभौ मातुश्च,हृदि नाडी निबध्यते । ययाऽसौ पुष्टिमाप्नोति,केदार इव कुल्यया" ॥१॥ इति ।(से) अथानेनार्थेन हे गौतम ! एवं प्रोच्यते-जीवो गर्भगतः सन् न प्रभुः समर्थः मुखेन कावलिकमाहारमाहर्तुमिति । पुनर्गौतमो वीरं प्रश्नयति-जीवो गर्भगतः सन् किमाहारमाहारयति ?। गौतम ! [जं से त्ति माया] से तस्य गर्भसत्त्वस्य माता गर्भधारिणी (नाणा) नानाविधा विविधप्रकारा रसरूपा। रसप्रधाना विकृतीर्दुग्धाद्या रसविकारास्ता आहारयति । तथा यानि तिक्तकटुकषायाम्लमधुराणि द्रव्याणि चाहारयति । तत्र तिक्तानि निम्बचर्भटादीनि १, कटुकानि आर्द्रकतीमनादीनि २, कषायाणि वल्लादीनि ३, अम्लानि आरनालकादीनि ४, मधुराणि क्षीरदध्यादीनि ५, [तओ एगदेसेणं ति] तासां रसविकृत्यादीनामेकदेशस्तेन सह [ओयं ति] ओजसं शुक्रशोणितसमुदायरूपमाहारयति । यद्वा-स्वेकदेशेन मातुराहारमोजसा मिश्रेण लोमभिर्वेति शेषमाहारयति । कथमित्याह-"तस्स फलं इत्यादि यावज्जाउ त्ति" तस्य गर्भस्थजीवस्य [जणणीए त्ति] जनन्या मातुः नाभिरसहरणी नाभिनालमस्ति । किंभूता ?, फलवृन्तसदृशी, उत्पलनालोपमा च । पुनः किंभूता ?, [पडिबद्धा] गाढलग्ना, क-नाभौ, कथं ?, सदा 'आइ' वाक्यालङ्कारे । [तीए त्ति] तया (नाभीए त्ति)जननीनाभिप्रतिबद्धया रसहरण्या [गब्भो ओयं ति] गर्भ उदरस्थजन्तुः, ओजसं मातुराहारमिश्रं शुक्रशोणितरूपम [आईयइ त्ति] आदत्ते गृह्णातीति । [अण्हयंतीए ओयाए तीए त्ति] तस्यां तया वा भोजनं कुर्वत्यां सत्यां भोजनं कुर्वत्या वा ओजसा मातुराहारमिश्रेण शुक्रशोणितरूपेण गर्भो विवर्धते वृद्धिं याति यावज्जात इति । "भुजो भुंज-जिम-जेम-कम्माऽण्ह-समाण-चमढ-चड्डाः" ।८।४।११०। इति प्राकृतसूत्रेण भुजधातोः ' अण्ह ' इत्यादेशः ।

पुनर्गौतमो वीरदेवं प्रश्नयति-

कइ णं भंते ! माउअंगा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तओ माउअंगा पण्णत्ता । तं जहा-मंसे सोणिए मत्थुलिंगे । कइ णं भंते ! पिउअंगा पण्णत्ता ? । गोयमा ! तओ पिउअंगा पण्णत्ता । तं जहा-अट्ठिअट्ठिमिंजाकेसमंसुरोमनहा ।

(कइ णं भंते !) हे भदन्त ! णमिति वाक्यालङ्कारे, कति मातुरङ्गानि आर्तवबहुलानीत्यर्थः,प्रज्ञप्तानि ?। जगदीश्वरो जगत्त्राता जगद्भावविज्ञाता वीर आह-हे गणधरगौतम ! त्रीणि मातुरङ्गानि प्रज्ञप्तानि मयाऽन्यैश्च जगदीश्वरैः । तद्यथा-मांसं पललम् १ शोणितं रुधिरम् २ (मत्थुलिंगेति) मस्तकं भेजकम् । अन्ये त्वाहुर्मेदःफिप्फिसादि मस्तुलिङ्गमिति । तं० । भ० ।

गर्भादपि किं केचिज्जीवा नरकं देवलोकं वा गच्छन्ति ?,
इति गौतमो वीरं प्रश्नयति-

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे नरएसु उववज्जिज्जा ?। गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए णो उववज्जिज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जीवे णं गब्भगए समाणे नरएसु अत्थेगइए उववज्जिज्जा,अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा?। गोयमा ! जे णं जीवे णं गब्भगए समाणे सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए विउव्वियलद्धिपत्ते पराणीयं आगयं सुच्चा निसम्म पएसे निच्छुहइ, वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता चउरंगिणिसिन्नं सन्नाहेइ,सन्नाहइत्ता पराणीएण सद्धिं संगामं संगामेइ,से णं जीवे अत्थकामए १ रज्जकामए २ भोगकामए ३ कामकामए ४, अत्थकंखिए १ रज्जकंखिए २ भोगकंखिए ३ कामकंखिए ४, अत्थपिवासिए १ भोगपिवासिए २ रज्जपिवासिए ३ कामपिवासिए ४, तच्चित्ते १ तम्मणे २ तल्लेस्से

३ तदज्झवसिए ४ तत्तिव्वज्झवसाणे ५ तदट्ठोवउत्ते ६ तदप्पियकरणे ७ तब्भावणाभाविए ८। एयंसि च णं अंतरंसि कालं करिज्जा नेरइएसु उववज्जिज्जा । से एएणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे णेरइए अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा ॥

(जीवे णं गब्भ०) हे भदन्त ! जीवो गर्भगतः सन्, सूत्रेति-शेषः । नरकेषूत्पद्यते ?। हे गौतम ! अस्ति विद्यते (एगइए त्ति) एककः कश्चित् स गर्भः राजादिगर्भरूप उत्पद्यते, अस्ति अयं एककः-यदुत एककः कश्चिन्नोत्पद्यते, हे गौतम ! अस्ति विद्यते (एगइए त्ति) एककः कश्चित् । (से) अथ केनार्थेन हे भदन्त ! एवं प्रोच्यते-जीवो गर्भगतः सन् नरकेषु अस्त्येकक उत्पद्यते,अस्त्येकको नोत्पद्यते ?। हे गौतम ! (जं णं त्ति) यो जीवः णमितिवाक्यालङ्कारे, गर्भगतः सन्, आहारादिका संज्ञा विद्यते यस्य स संज्ञी. पञ्च इन्द्रियाणि श्रवण १ घ्राण २ रसन ३ चक्षुः ४ स्पर्शन ५ लक्षणानि विद्यन्ते यस्य स पञ्चेन्द्रियः,सर्वाभिराहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासभाषामनोलक्षणाभिः षड्भिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तो,मासद्वयोपरिवर्तीत्यनुक्तमपि ज्ञेयम । यतो मासद्वयमध्यवर्ती मनुष्यो गर्भस्थो नरके देवलोकेऽपि न यातीत्युक्तं भगवत्याम् इति । पूर्वभविकवीर्यलब्ध्या पूर्वभविकविभङ्गज्ञानलब्ध्या पूर्वभविकवैक्रियलब्ध्या वैक्रियलब्धिं प्राप्तः सन्, यद्वा-वीर्यलब्धिकः विभङ्गज्ञानलब्धिकः वैक्रियलब्धिकः,वैक्रियलब्धिं प्राप्तः सन् परानीकं शत्रुसैन्यम् आगतं प्राप्तं (सुच्चे त्ति) श्रुत्वा (निसम्म त्ति) निशम्य-मनसा अवधार्य (पएसे निच्छुभइ त्ति) स्वप्रदेशान् अनन्तानन्तकर्मस्कन्धानुविद्धाद् गर्भवासाद्बहिः क्षिपति निष्काशयति, निष्काश्य विष्कम्भबाहल्याभ्यां शरीरप्रमाणम्, आयामतः संख्येययोजनप्रमाणजीवप्रदेशदण्डं निसृजति, वैक्रियसमुद्घातेन (समोहणइ त्ति) समवहन्ति समवहतो भवति । तथाविधपुद्गलग्रहणार्थं समवहत्य चत्वारि गजाश्वरथपदातिलक्षणानि अङ्गानि विद्यन्ते यस्याः यस्यां वा सा चतुरङ्गिणी (सिन्नं ति) सेनां, कटकमित्यर्थः । (सन्नाहेइ त्ति) सज्जां करोतीत्यर्थः । सज्जां कृत्वा परानीकेन सार्द्धं संग्रामं संग्रामयति, युद्धं करोत्यर्थः । (से णं जीवे त्ति) णमितिवाक्यालंकारे, स युद्धकर्ता जीवः (अत्थकामए त्ति) अर्थे द्रव्ये कामो वाञ्छामात्रं यस्यासावर्थकामः १, एवमन्यान्यपि विशेषणानि । नवरं राज्यं नृपत्वं २, भोगा गन्धरसस्पर्शाः ३, कामौ शब्दरूपे ४ । (अत्थकंखिए त्ति) काङ्क्षा गृद्धिरासक्तिरित्यर्थः, अर्थे द्रव्ये काङ्क्षा संजाता अस्येति अर्थकाङ्क्षितः, एवमन्यानि १ राज्यकाङ्क्षितः २ भोगकाङ्क्षितः ३ कामकाङ्क्षितः ४ । (अत्थपिवासिए त्ति) पिपासेव पिपासा प्राप्तेऽप्यर्थे अतृप्तिः, अर्थेऽर्थस्य वा पिपासा संजाताऽस्येति अर्थपिपासितः, एवमन्यानि १ । राज्यपिपासितः २ भोगपिपासितः ३ कामपिपासितः ४ । (तच्चित्ते त्ति) तथाऽर्थराज्यभोगकामे चित्तं सामान्योपयोगरूपं यस्यासौ तच्चित्तः १ । (तम्मणे त्ति) तत्रैवार्थादौ मनो विशेषोपयोगरूपं यस्य स तन्मनाः २ (तल्लेस्से त्ति) तत्रैवार्थादौ लेश्या आत्मपरिणामविशेषो यस्यासौ तल्लेश्यः ३, (तदज्झवसिए त्ति) इहाध्यवसायोऽध्यवसितः ४ (तत्तिव्वज्झवसाणे त्ति) तस्मिन्नेवार्थादौ तीव्रमारम्भकालादारभ्य प्रकर्षयापि अध्यवसानं प्रयत्नविशेषलक्षणं यस्य स तत्तीव्राध्यवसानः ५। (तदट्ठोवउत्ते त्ति) तदर्थमर्थादिनिमित्तम उपयुक्तोऽवहितस्तदर्थोपयुक्तः ५ । (तदप्पियकरणे त्ति) तस्मिन्नेवार्थादौ अर्पितानि आहितानि इन्द्रियाणि कृतकारितानुमतिरूपाणि वा येन स तदर्पितकरणः ७। (तब्भावणाभाविए त्ति) असकृदनादौ संसारे तद्भावनया त्यक्त्वा अर्थादिसंस्कारेण भावितो यः स तद्भावनाभावितः ८। (एयंसि त्ति) एतस्मिन्, णमितिवाक्यालङ्कारे । चेद्यदि (अंतरंसि त्ति) संग्रामकरणावसरे कालं मरणं कुर्यात्तदा नरकेषु गाढदुःखाकुलेषु उत्पद्यते, नरभवं त्यक्त्वा महारम्भी मिथ्यादृष्टिर्नरके यातीत्यर्थः । ' से ' अथैतेनार्थेनैवं प्रोच्यते हे गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् नरकेषु एककः कश्चिदुत्पद्यते, अस्ति एककः कश्चिन्नोत्पद्यते इति ।

पुनर्गौतमो वीरं प्रश्नयतीत्याह-

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे देवलोगेसु उववज्जिज्जा ?। गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा ?। गोयमा ! जे णं जीवे गब्भगए समाणे सन्नी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वे- उव्विए य लद्धीए ओहिनाणलद्धीए तहारूवस्स स- [illegible] वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आयरियं धम्मियं सुवयणं सुच्चा निसम्म तओ से भवइ तिव्वसंवेगसंजायसड्ढे तिव्वधम्माणुरायरत्ते से णं जीवे धम्मकामए १ पुण्णकामए २ सग्गकामए ३ मुक्खकामए ४, धम्मकंखिए १ पुण्णकंखिए २ सग्गकंखिए ३ मुक्खकंखिए ४, धम्मपिवासिए १ पुण्णपिवासिए २ सग्गपिवासिए ३ मुक्खपिवासिए ४, तच्चित्ते १ तम्मणे २ तल्लेस्से ३ तदज्झवसिए ४, तत्तिव्वज्झवसाणे ५ तदप्पियकरणे ६ तयट्ठोवउत्ते ७ तब्भावणाभाविए ८। एयंसि णं अंतरं कालं करिज्जा देवलोएसु उववज्जिज्जा । से एएण अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ अत्थेगइए उववज्जिज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जिज्जा ॥

(जीवे णं) जीवो हे भदन्त ! गर्भगतः सन् देवलोकेषु उत्पद्यते ?। हे गौतम ! अस्ति एककः कश्चिदुत्पद्यते, अस्ति एककः कश्चिन्नोत्पद्यते । 'से' अथ केनार्थेन हे भदन्त ! एवं प्रोच्यते-कश्चिदुत्पद्यते ?। हे गौतम ! यो जीवो गर्भगतः सन् संज्ञी पञ्चेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तः मासद्वयोपरिवर्तीत्यभ्यार्थं, मासद्वयमध्यवर्ती तु स्वर्गे न यातीति पूर्वभाविकवैक्रियलब्धिकः पूर्वभविकावधिज्ञानलब्धिकः,तथारूपस्य तथाविधस्य,उचितस्येत्यर्थः । श्रमणस्य साधोः, वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्वं प्रतिश्रमणमाह, न वचनयोस्तुल्यत्वप्रकाशनार्थः । (माहणस्स त्ति) मा हन मा हन इत्येवमादिशति स्वयं स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तत्वाद्यः स माहनः,यद्वा-ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यस्य देशतः सद्भावाद् ब्राह्मणो देशविरतः,तस्य वा, यद्वा-श्रमणः साधुस्तस्य माहनः परमगीतार्थः,तस्य वा (अंतिए त्ति) समीपे एकमप्यास्तामनेकम् आर्यम् आराद् यातं पापकर्मभ्य इत्यार्थः,अत एव धार्मिकमिति । सुवचनं शोभनवाक्यं श्रुत्वा आ-

कर्णयं निशम्य मनसा अवधार्य (तउ त्ति) तदनन्तरमेव स गर्भस्थजन्तुः भवति जायते। (तिव्वसं०) तीव्रसंवेगेन भृशं दुःखलक्षाकुलभवभयेन संजाता सम्यगुत्पन्ना श्रद्धा श्रद्धानं धर्मादिषु यस्य स तीव्रसंवेगसंजातश्रद्धः । (तिव्वध०) तीव्रो यो धर्मानुरागो धर्मबहुमानस्तेन रक्त इव रञ्जित इव यः स तीव्रधर्मानुरागरक्तः, स गर्भस्थवैराग्यवान् जीवः, णं वाक्यालंकारे । (धम्मकामए त्ति) धर्मे श्रुतचारित्रलक्षणे कामो वाञ्छामात्रं यस्य स धर्मकामकः १। पुण्ये तत्फलभूते शुभकर्मणि कामो यस्य स पुण्यकामकः । स्थानाङ्गे तु-अन्नपानवस्त्रालयशयनासनमनोवचनकायलक्षणं नवविधं पुण्यं प्रतिपादितं जगदीश्वरेण भगवतेति २। स्वर्गे देवलोके कामो यस्य स स्वर्गकामकः ३। मोक्षे शिवे अनन्तानन्तसुखमये कामो यस्य स मोक्षकामकः ४। एवमग्रेऽपि,नवरं काङ्क्षा गृद्धिरासक्तिरित्यर्थः। धर्मे काङ्क्षा संजाताऽस्येति धर्मकाङ्क्षितः१,पुण्यकाङ्क्षितः२,स्वर्गकाङ्क्षितः३, मोक्षकाङ्क्षितः४,पिपासेव पिपासा प्राप्तेऽपि धर्मेऽतृप्तिः,धर्मपिपासा संजाताऽस्येति धर्मपिपासितः १, पुण्यपिपासितः २, स्वर्गपिपासितः३,मोक्षपिपासितः४।'तच्चित्ते'इत्यादि सप्त विशेषणानि धर्मपुण्यस्वर्गमोक्षे शुभानि वाच्यानि। तच्चित्तः१ तन्मनाः २ तल्लेश्यः ३,तदध्यवसितः ४,तत्तीव्राध्यवसायः५,तदर्थोपयुक्तः६,तदर्पितकरणः ७, तद्भावनाभावितः ८। (एयंसि णं ति) एतस्मिन् अन्तरे धर्मध्यानावसरे कालं मरणं (करिज्ज त्ति) कुर्यात् तदा देवलोकेषु उत्पद्यते । (से) अथ तेनार्थेन हे गौतम ! एवमस्माभिः प्रोच्यते अस्ति एककः कश्चित् स्वर्गे उत्पद्यते, अस्ति एककः कश्चिन्नोत्पद्यते इति । तं० । भ० ।

गर्भाधिकारे पुनर्गौतमस्वामी वीरं प्रश्नयति—

जीवे णं भंते ! गब्भगए समाणे उत्ताणए वा पासिल्लिए वा अंबरं कुज्जए वा, अत्थिज्ज वा, चिट्ठिज्ज वा, निसिइज्ज वा, तुयट्टिज्ज वा, आसइज्ज वा, सइज्ज वा, माउए सुयमाणीए सुयइ,जागरमाणीए जागरइ, सुहीयाए सुहीओ जवइ, दुहियाए दुक्खिओ जवइ ? । हंता गोयमा ! जीवे णं गब्भगए समाणे उत्ताणए वा० जाव दुक्खिओ जवइ ।

"थिरजायं पि हु रक्खइ,सम्मं सा रक्खइ तओ जणणी ।
संवाहई तुयट्टइ, रक्खइ अप्पं च गब्भं च ॥१॥
अणुसुयइ सुयंतीए, जागरमाणीएँ जागरइ गब्भो ।
सुहियाइ होइ सुहिओ, दुहियाए दुक्खिओ होइ ॥ २ ॥
उच्चार पासवणे, खेलं संघाणओ व से नऽत्थि ।
अट्ठीयमिंजनहके-समंसुरोमेसु परिणामो ॥३॥
एवं बुंदिमइगओ, गब्भे संवसइ दुक्खिओ जीवो ।
परमतमसंऽधकारे, अमिज्झजरिए पएसं ति" ॥ ४ ॥

आउसो! तओ नवमे मासे तीए वा पडुप्पन्ने वा अणागए वा चउण्हं माया अन्नयरं पयायइ । तं जहा-इत्थिं वा इत्थीरूवेणं १, पुरिसं वा पुरिसरूवेणं २, नपुंसगं वा नपुंसगरूवेणं ३ , बिंबं वा बिंबरूवेणं ४ । अप्पं सुक्कं बहुअं ओयं इत्थी तत्थ जायइ १, अप्पं ओयं बहुं सुक्कं पुरिसो तत्थ जायइ २, दुण्हं पि रत्तसुक्काणं तुल्लभावे नपुंसओ ३, इत्थीओ य समाओगे बिंबं तत्थ जायइ ॥

(जीवे णं भंते !) जीवो हे भदन्त ! गर्भगतः सन् [उत्ताणए वेति] उत्तानको वा सुप्तोऽनुमुखो वेत्यर्थः । [पासिल्लिए वेति] पार्श्वशायी वा (अम्बरकुज्जए वेति) आम्रफलवत् कुब्ज इति (अत्थिज्ज त्ति) आसीनः सामान्यतः। एतदेव विशेषत उच्यते-(चिट्ठिज्ज वेति) ऊर्ध्वस्थानेन (निसीइज्ज वेति) निषदनस्थानेन (तुयट्टिज्ज वेति) शयीत निद्रयेति [आसइज्ज वेति] आश्रयति गर्भमध्यप्रदेशं [सइज्ज वेति] शेते निद्रां विना माता मातरि वा [सुयमाणीए त्ति] शयनं कुर्वत्या कुर्वत्यां वा (सुयइ त्ति) स्वपिति निद्रां करोतीत्यर्थः, (जागरमाणीए त्ति) जागरणं कुर्वत्या कुर्वत्यां वा, जागर्ति निद्रानाशं कुरुत इत्यर्थः । सुखितया सुखितो भवति, दुःखितया दुःखितो भवति (हंता ! गोयम त्ति) हन्त इति कोमलामन्त्रणार्थः। दीर्घत्वं च मागधदेशीप्रभवमुभयत्रापि। (जीवे णं गब्भगए समाणे इत्यादि) प्रत्युच्चारणं तु स्वानुमतस्यप्रदर्शनार्थम्।वृद्धाः पुनराहुः-'हंता गोयमा!' इत्यत्र हन्त इति एवमेतदिति अभ्युपगमवचनं यदनुमतं तत्प्रदर्शनार्थम् । ' जीवे णं गब्भगए ' इत्यादि प्रत्युच्चारितमिति। हे गौतम ! जीवो गर्भगतः सन् उत्तानको वा यावत् दुःखितो भवति इति। अथ पूर्वोक्तं पद्येन गाथाचतुष्टयेन दर्शयति इत्याह-[थिरजायं०] स्थिरेण निर्विघ्नेन जात उत्पन्नो गर्भस्थिरजातस्तं [रक्खइ त्ति] रक्षति सामान्येन पालयति । ततः सा जननी तं सम्यग् यत्नादिकरणेन रक्षति । [संवाहइ त्ति] संवहति गमनाऽऽगमनादिप्रकारेण [तुयट्टइ त्ति] त्वग्वर्तयति, रक्षति आहारादिना पालयति आत्मानं, गर्भं च इति । [अणु०] अनुस्वापिति शेते । [सुयंतीए त्ति] स्वपत्यां सत्यां स्वपत्या सत्या वा जागरत्यां जागरत्या वा जागर्ति, गर्भः उदरस्थजन्तुः । जनन्याः सुखितया सुखितो भवति, दुःखितया दुःखितो भवति २। उच्चारो विष्ठा, प्रस्रवणं मूत्रं, खेलो निष्ठीवनं, सिंघाणं नासिकाश्लेष्मापि [से] तस्य गर्भसत्त्वस्य गर्भस्थस्य नास्तीति जननीजठरस्थो जीव आहारत्वेन तु यद् गृह्णाति तदस्थ्यस्थिमिञ्जनखकेशश्मश्रुरोमेषु पूर्वव्याख्यातेषु [परिणामो त्ति] परिणमतीत्यर्थः ३ [एवं] एवमुक्तप्रकारेण [बुंदिम त्ति] शरीरमतिगतः प्राप्तः सन् गर्भे जननीकुक्षौ संवसति संतिष्ठते चारकगृहे चौरवत्। [दुक्खिओ जीवो त्ति] अग्निवर्णाभिः सूचीभिः भिद्यमानस्य जन्तोः यादृशं दुःखं जायते ततोऽप्यष्टगुणं यद् दुःखं भवति तेन सदृशेन दुःखेन दुःखितो भवति जीवो गर्भे, किंभूते गर्भे ?, तमसा अन्धकारो यत्र तत् तमसन्धकारं, परमं च तत्तमसन्धकारं, महान्धकारमित्यर्थः। तस्मिन् अमेध्यभृते विष्ठापूर्णे प्रदेशे जीववसनस्थानके ४ इति, [आउसो ! तओ इत्यादि] हे आयुष्मन् ! हे इन्द्रभूते ! ततोऽष्टममासानन्तरं नवमे मासे अतीते वा अतिक्रान्ते वा, प्रत्युत्पन्ने वा वर्तमाने वा अनागते वा अप्राप्ते चतुर्णां स्त्र्यादिरूपाणां वक्ष्यमाणानां माता जननी अन्यतरं चतुर्णां मध्ये एकतरं [पयायइ त्ति] प्रसूते,प्रसवं करोतीत्यर्थः। (तं जह त्ति) तत्पूर्वोक्तं यथा स्त्रियं वा स्त्रीरूपेण स्त्र्याकारेण प्रसूते १, पुरुषं वा पुरुषरूपेण पुरुषाकारेण० २,नपुंसकं वा नपुंसकरूपेण नपुंसकाकारेण० ३,बिम्बं वा बिम्बरूपेण बिम्बाकारेण० ४ बिम्बमिति गर्भप्रतिबि-

मं गर्भाकृतिरार्तवपरिणामो, न तु गर्भ एव । एते कथं जायन्त इति आह-(अप्पं०) अल्पशुक्रम [बहुय ति] बहुकं प्रभूतं [ओयं ति] ऋतुरार्तवं, स्त्री तत्र गर्भाशये जायते उत्पद्यते १, अल्पमार्तवं बहुशुक्रं, पुरुषस्तत्र जायते २, द्वयोरपि रक्तशुक्रयो रुधिरवीर्ययोः तुल्यभावे समत्वे सति नपुंसको जायते ३. (इत्थि त्ति) स्त्रिया नार्याः [ओय त्ति] ओजसा (समाओगे त्ति) समायोगो वातवशेन तत्स्थिरीभवनलक्षणं स्त्र्योजःसमायोगस्तस्मिन् सति, बिम्बं तत्र गर्भाशये प्रजायते ४ । तं० ।

कथं स्वपिति-

अह णं पसवणकालसमयंसि सीसेण वा पाएहिं वा आगच्छइ, सममागच्छइ, तिरियमागच्छइ, विणिघायमावज्जइ ।

"कोइ पुण पावकारी, बारस संवच्छराइं उक्कोसं ।
अत्थइ उ गब्भवासे, असुइप्पभवे असुइयम्मि" ॥१॥

(अह णं इत्यादि) अथानन्तरं 'णं' वाक्यालंकारे, प्रसवकालसमये जन्मकालावसरे शीर्षेण वा मस्तकेन वा पादाभ्यां चरणाभ्यां वा आगच्छति, समागच्छति इति सममविषममागच्छति । " सम्मं आगच्छइ त्ति " पाठे सम्यग् अनुपघातहेतुत्वादागच्छति, मातुरुदराद् योन्या निष्कामति (तिरियमागच्छइ त्ति) तिरश्चीनो भूत्वा जठराग्निर्गन्तुं प्रवर्तते यदि तदा विनिघातं मरणमापद्यते, निर्गमाभावादिति । (कोइ पुण०) कोऽपि पुनः पापकारी ग्रामघातरामाजठरविदारणजिनमुनिमहाशातनाविधायी, वातपित्तादिदूषितो, देवादिस्तम्भितो वेति शेषः द्वादश संवत्सराणि उत्कृष्टतः (अत्थइ त्ति) तिष्ठति । तुशब्दाद् गर्भोत्थं प्रबलं दुःखं सहमानोऽवतिष्ठते गर्भवासे गर्भगृहे, किंभूते ?, अशुचिप्रभवे अशुचिके अशुच्यात्मके इति । तं० । स्था० ।

गर्भान्निर्गतस्य च यत्स्यात्तदाह-

वण्णवज्झाणि य से कम्माइं बद्धाइं पुट्ठाइं णिहत्ताइं कडाइं पट्ठवियाइं अभिनिविट्ठाइं अभिसमण्णागयाइं उदिण्णाइं णो उवसंताइं भवंति, तओ भवइ दुरूवे दुव्वण्णे दुग्गंधे दुरसे दुप्फासे अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुण्णे अमणामे हीणस्सरे दीणस्सरे अणिट्ठस्सरे अकंतस्सरे अप्पियस्सरे असुभस्सरे अमणुण्णस्सरे अमणामस्सरे अणाएज्जवयणं पच्चायाए वि भवइ, वण्णवज्झाणि य से कम्माइं नो बद्धाइं पसत्थं नेयव्वं० जाव आदेज्जवयणं पच्चायाए वि भवइ सेवं भंते भंते ।

(वण्णवज्झाणि य त्ति) वर्णः श्लाघा, वध्यो हन्तव्यो येषां तानि वर्णवध्यानि, अथवा वर्णाद्बाह्यानि वर्णबाह्यानि, अशुभानीत्यर्थः । चशब्दो वाक्यान्तरत्वद्योतनार्थः । (से त्ति) तस्य गर्भनिर्गतस्य (बद्धाइं ति) सामान्यतो बद्धानि (पुट्ठाइं ति) पोषितानि गाढतरबन्धतो निधत्तानि उद्वर्तनाऽपवर्तनकरणवर्जशेषकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः । अथवा बद्धानि, कथं, यतः पूर्वं स्पृष्टानीति (कडाइं ति) निकाचितानि, सर्वकरणायोग्यत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः । (पट्ठवियाइं ति) मनुष्यगतिपञ्चेन्द्रियजातित्रसादिनामकर्मणा सहोदयत्वेन व्यवस्थापितानीत्यर्थः । (अभिनिविट्ठाइं ति) तीव्रानुभावतया निविष्टानि (अभिसमण्णागयाइं ति) उदयाभिमुखीभूतानि, ततश्च (उदिण्णाइं ति) उदीर्णानि स्वत उदीरणाकरणेन वोदितानि । व्यतिरेकमाह-(णो उवसंताइं ति) अनिष्टादीनि व्याख्यातान्येवैकार्थानि वा (हीणस्सरे त्ति) अल्पस्वरः (दीणस्सरे त्ति) दीनस्येव दुःस्थितस्येव स्वरो यस्य स दीनस्वरः (अणादेयवयणपच्चायाए वि त्ति) इहैवमक्षरघटना प्रत्याजातश्चापि समुत्पन्नोऽपि चाऽनादेयवचनो भवति । भ० १ श० ७ उ० ।

ननु नवमासमात्रान्तरितमपि प्राक्तनं भवं सामान्यजीवः किं न स्मरतीत्याह-

जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो ।
तेण दुक्खेण संमूढो, जाइसरइ न अप्पणो ॥ २ ॥
वीसरसरं रसंतो, सो जोणिमुहाउ निप्फिडइ जीवो ।
माऊए अप्पणो वि य, वेयणमउलं जणेमाणो ॥ ३ ॥

जायमानस्य गर्भान्निःसरमाणस्य उत्पद्यमानस्य वा दुःखं भवति, वा अथवा पुनर्म्रियमाणस्य पञ्चत्वं कुर्वाणस्य च दुःखं भवति, तेन दारुणदुःखेन संमूढो महामोहभावं प्राप्तः जातिमात्मनस्तनजन्मात्मीयं स्वकीयं मूढात्मा प्राणी न स्मरति-कोऽहं पूर्वभवे देवादिकोऽभवमिति न जानातीति ॥२॥ (वीसरत्ति) परमकरुणामयं (सरं ति) स्वरं ध्वनिं (रसंतो त्ति) भृशं कुर्वन् स गर्भस्थो जीवो योनिमुखात् [निप्फिडइ त्ति] निष्कामति मातुरात्मनोऽपि च वेदनामतुलां जनयन् उत्पादयन् ॥ ३ ॥ तं० । महा० ।

गब्भघरयम्मि जीवो, कुंभीपागम्मि नरयसंकासे ।
वुत्थो अमिज्झमज्झे, असुइप्पभवे असुइयम्मि ॥ ४ ॥
पित्तस्स य सिंभस्स य, सुक्कस्स य सोणियस्स वि य मज्झे ।
मुत्तस्स पुरीसस्स य, जायइ जह वच्चकिमिउ व्व ॥ ५ ॥

[गब्भघ०] गर्भगृहे जीवः कुम्भीपाके कोष्ठिकाकृतिमलोहभाजनसदृशे नरकसदृशे नारकोत्पत्तिस्थानतुल्ये [वुत्थो त्ति] उपस्थितः स्थितः, अमेध्यं गूथं, मध्ये यस्य गर्भस्य स अमेध्यमध्यः, तस्मिन् अशुचिप्रभवे जम्बालाद्युद्भवे अशुचिके अपवित्रस्वरूपे ॥ ४ ॥ [पित्त०] पित्तस्य 'सिम्भस्य' श्लेष्मणः शुक्रस्य शोणितस्य मूत्रस्य पुरीषस्य विष्ठाया मध्ये मध्यभागे जायते उत्पद्यते । क इव ? [वच्चकिमिउ व्व त्ति] वर्चस्ककृमिकवत् विष्ठानिलकुवत् । यथा कृमिर्द्वीन्द्रियजन्तुविशेष उदरमध्यस्थविष्ठायामुत्पद्यते तथा जीवोऽपीति ॥ ५ ॥ तं० । संथा० ।

शौचादि गर्भगतस्य-

तं दाणि सोयकरणं, केरिसयं होइ तस्स जीवस्स ? ।
सुक्करुहिरागराओ, जस्सुप्पत्ती सरीरस्स ॥ ६ ॥
एयारिसे सरीरे, कलमलभरिए अमिज्झसंभूए ।
निययं वि गणिज्जंतं, सोयमयं केरिसं तस्स ? ॥ ७ ॥

(तं दा०)तत् (दाणि त्ति) इदानीं सांप्रतं शौचकरणं शरीरसंस्कारकरणं कीदृशं भवति तस्य गर्भनिर्गतस्य जीवस्य ? यस्य मनुष्यशरीरस्योत्पत्तिः प्रादुर्भावः शुक्ररुधिराकरात् वीर्यजनेः वर्तते इति ॥ ६ ॥ [एया०] एतादृशे शरीरे कलमलभृते उदरादिजलावटकमांदिपूर्णे, अमेध्यसंभूते विष्ठासंभवे 'नियय विगणिज्जंतं' इति पदद्वये 'सप्तम्या द्वितीया'

। ८ । ३ । १३७ । इति सप्तम्यर्थे द्वितीया । निजके आत्मीये [विगणिउजंतं इति] आत्मपरेषां जुगुप्सायोग्ये शौचमदं पवित्रत्वाङ्गीकारलक्षणं यथा मयाऽस्य स्नानचन्दनादिना पवित्रत्वं विधेयमिति । यद्वा-शौचेन वस्त्रचन्दनाभरणादिना मदो गर्वो यत्र सनत्कुमारचक्रीवत् तच्छौचमदं, यथा कीदृशं मम शरीरं शोभतेऽलङ्कारादिनेति । यदि वा-एवंविधे शरीरे कुत्रापि रोगादिना विनष्टे शोकमदं शोकाङ्गीकारकरणं, यथा-हा ! मम सुन्दरं शरीरं स्फोटकादिना विनष्टमिति कीदृशं तस्य जीवस्येति ॥ ७ ॥ तं० । (पञ्चप्रकारैः स्त्री गर्भं धरति न धरति च तत्र पुरुषाऽसंयोगेऽपि गर्भसंभव इति तु स्थानाङ्गे प्रोक्तमस्ति, तच्चास्मिन्नेव शब्दे ८३१ पृष्ठे तंदुलवयालीय ११ गाथा-टीकायां समुद्धृतमिति न पुनरुच्यते)

अथ पुरुषसंगताऽपि स्त्री कथं गर्भं न धरति ?-

पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा । तं जहा-अप्पत्तजोव्वणा, अइकंतजोव्वणा, जाइवंझा, गेलन्नपुट्ठा, दोमणंसिया, इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा । पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा । तं जहा-निच्चोउआ अणोउया वावन्नसोया वाविद्धसोया अणंगपडिसेविणी, इच्चेएहिं पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणा वि गब्भं नो धरेज्जा । पंचहिं ठाणेहिं इत्थी पुरिसेण सद्धिं संवसमाणी वि गब्भं नो धरेज्जा । तं जहा-उउंसि णो णिगामपडिसेविणी वा वि भवइ, समागया वा से सुक्कपोग्गले पडिविद्धंसंति, उदिन्ने वा से पित्तसोणिए पुरा वा देवकम्मुणा पुत्तफले वा नो निविट्ठे भवइ, इच्चेएहिं० जाव नो धरेज्जा ॥

अप्राप्तयौवना प्राय आवर्षद्वादशकादार्तवाभावात , तथाऽतिक्रान्तयौवना वर्षाणां पञ्चपञ्चाशतः पञ्चाशतो वा परत आर्तवाऽभावादेव (यतोऽवाचि-'मासि मासीत्यादिगाथात्रयम'। तत्र तन्दुलवयालीय १३ गाथाटीकायां ८३१ पृष्ठेऽत्र भागे स्वरूपि, मत एवावधार्यम) तथा जातेर्जन्मत आरभ्य वन्ध्या निर्बीजा जातिवन्ध्या । तथा ग्लान्येन ग्लानत्वेन स्पृष्टा ग्लान्यस्पृष्टा रोगार्दिता । तथा दौर्मनस्यं शोकाद्यस्ति यस्याः सा दौर्मनस्यिका, तद्वा जातमस्या इति दौर्मनस्यितेति । "इच्चेएहिं इत्यादि" निगमनम् । नित्यं सदा, न त्वहमेव, ऋतू रक्तप्रवृत्तिलक्षणो यस्याः सा नित्यर्तुका । तथा न विद्यते ऋतू रक्तरूपः शास्त्रप्रसिद्धो वा यस्याः सा अनृतुका, (कियत्यः खलु ऋतुनिशाः, कस्यां कन्या, कस्यां च पुत्रः समुत्पद्यते, इत्यादि विषये " ऋतुस्तु द्वादश निशाः " इत्येतद् गाथात्रयं ८३१ पृष्ठेऽत्रैव शब्दे प्रोक्तम्) तथा व्यापन्नं विनष्टं रोगतः स्रोतो गर्भाशयच्छिद्रलक्षणं यस्याः सा व्यापन्नस्रोताः । तथा व्याविद्धं व्याविद्धं वा वातादिव्याप्तं विद्यमानमप्युपहतशक्तिकं स्रोत उक्तरूपं यस्याः सा व्याविद्धस्रोता, व्याविद्धस्रोता वा । तथा मैथुने प्रधानमङ्गं मेहनं भगश्च तत्प्रतिषेधोऽनङ्गम्, तेनानङ्गेनाहार्यलिङ्गादिना अनङ्गे वा मुखादौ प्रतिषेवा अस्ति यस्याः, अनङ्गं वा कामममपरापरपुरुषसंपर्कतोऽतिशयेन प्रतिषेवत इत्येवंशीला अनङ्गप्रतिषेविणी, तथाविधवेश्यावदिति । ऋतौ ऋतुकाले नो नैव निकाममत्यर्थं बीजपातं यावत् पुरुषं प्रतिषेवते इत्येवंशीला निकामप्रतिषेविणी , वापीति उत्तरविकल्पापेक्षया समुच्चये । समागता वा (से) तस्यास्ते प्रतिविध्वंसन्ते योनिदोषादुपहतशक्तयो भवन्ति, मेहनविस्रोतसा वा योनेर्बहिः पतन्तो विध्वंसन्ते इति । उदीर्णं चोत्कटं तस्याः पित्तप्रधानं शोणितं स्यात्तच्चाबीजमिति, पुरा वा पूर्वं वा गर्भावसराद् देवकर्मणा देवक्रियया देवताऽनुभावेन, शक्त्युपघातः स्यादितिशेषः । अथवा देवश्च कार्मणं च तथाविधद्रव्यसंयोगो देवकार्मणं, तस्मादिति, पुत्रलक्षणं फलं पुत्रफलं, पुत्रो वा फलं यस्य कर्मणस्तत्पुत्रफलं, तद्वा नो निर्विष्टं भवति, अलब्धमनुपात्तं स्यादित्यर्थः । " थोवं वहुं निवेसं" इत्यादौ निर्वेशशब्दस्य लाभार्थस्य दर्शनात् । अथवा पुत्रं फलं यस्य तत्पुत्रफलं दानं तज्जन्मान्तरे अनिर्विष्टमदत्तं भवति, निर्विष्टस्य दत्तार्थत्वाद् । यथा 'नाऽनिविट्ठं लब्भइ' त्ति । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

गर्भपतनकारणानि-

" पसुपक्खिमाणुसाणं, बाल्ले जो वि हु विओजए पावो ।
सो अणवच्चो जायइ, अह जायइ तो विवज्जिज्जा ॥ १३ ॥
तत्पक्षका मया किं, त्यक्ता वा त्याजिता अधमबुद्धया ? ।
लघुवत्सानां मात्रा, समं वियोगः कृतः किं वा ? ॥ १४ ॥
तेषां दुग्धापायोऽ-कारि मया कारितोऽथवा लोकैः ।
किं वा सवाक्षकोन्दुरु-बिलानि परिपूरितानि जलैः ॥ १५ ॥
किं वा साण्डशिशून्यपि, खगनीडानि प्रपातितानि भुवि ।
पिकशुककुर्कुटकादे-र्बालवियोगोऽथवा विहितः ॥ १६ ॥
किं वा बालकहत्याऽ-कारि सपत्नीसुताद्युपरि दुष्टम् ।
चिन्तितमचिन्त्यमपि वा, कृतानि किं कार्मणादीनि ? ॥ १७ ॥
किं वा गर्भस्तम्भन-शातनपातनमुखं मया चक्रे ।
तन्मन्त्रभेषजान्यपि, किं वा मयका प्रयुक्तानि ?॥ १८ ॥
अथवा भवान्तरे किं, मया कृतं शीलखण्डनं बहुशः ? ।
यदिदं दुःखं तस्मा-द्विना न संभवति जीवानाम् ॥ १९ ॥

यतः-

कुरंकरंकलणदुब्भगाई, वंझत्तनिंदुविसकन्नगाई ।
लहंति जम्मंतरभग्गसीला, नाऊण कुज्जा दढसीलभावं"२०
कल्प० ४ क्षण ।

गर्भपोषणविधिः-

तए णं सा तिसला खत्तियाणी पहाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सव्वालंकारविभूसिया तं गब्भं नाइसीएहिं नाइउण्हेहिं नाइतित्तेहिं नाइकडुएहिं नाइकसाइएहिं नाइअंबिलेहिं नाइमहुरेहिं नाइनिद्धेहिं नाइलुक्खेहिं नाइउल्लेहिं नाइसुक्केहिं सव्वत्तुभयमाणसुहेहिं भोयणच्छायणगंधमल्लेहिं ववगयरोगसोगमोहभयपरिस्समा, जं तस्स गब्भस्स हियं मियं पत्थं गब्भपोसणं तं देसे अ काले अ आहारमाहारेमाणी विवित्तमउएहिं सयणासणेहिं पइरिक्कसुहाए मणाणुकूलाए विहारभूमीए पसत्थदोहला संपुन्नदोहला सम्माणियदोहला अविमाणियदोहला वुच्छिन्नदोहला ववणीयदोहला सुहं सुहेणं आसइ, सयइ, चिट्ठइ, निसीअइ,तुयट्टइ,विहरइ, सुहं सुहेणं तं गब्भं परिवहइ ॥

'तए णं सा' इत्यादितः ' परिवहइ ' इति यावत्। तत्र ततः सा त्रिशला क्षत्रियाणी (एहाया कयबलिकम्मा) स्नाता, कृतं बलिकर्म पूजा यया (कयकोउयमंगलपायच्छित्ता) कृतानि कौतुकमङ्गलान्येव प्रायश्चित्तानि यया सा, तथा सर्वालङ्कारैर्भूषिता सती, तं गर्भं नातिशीतैर्नात्युष्णैः नातितिक्तैर्नातिकटुकैः नातिकषायैर्नात्यम्लैर्नातिमधुरैः नातिस्निग्धैर्नातिरूक्षैः (नाइउल्लेहिं ति) नात्यार्द्रैः, नातिशुष्कैः, सर्वर्तुषु ऋतौ ऋतौ भज्यमाना सेव्यमाना ये सुखहेतवो गुणकारिणः, तैः। तदुक्तम्-
"वर्षासु लवणममृतं,शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते। शिशिरे चामलकरसो,घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते"॥१॥ एवंविधैर्भोजनाच्छादनगन्धमाल्यैः, तत्र भोजनं प्रतीतम्, आच्छादनं वस्त्रं, गन्धः पटवासादयः, माल्यानि पुष्पमालाः, तैर्गर्भं पोषयतीति शेषः । तत्र नातिशीतलादय एव आहारादयो गर्भस्य हिताः, न तु अतिशीतलादयः, ते हि केचिद्वातिकाः, केचित् पैत्तिकाः, केचित् श्लेष्मकराश्च, ते च अहिताः । यदुक्तं वाग्भट्टे-
"वातलैश्च भवेद् गर्भः, कुब्जान्धजडवामनः ।
पित्तलैः स्खलतिः पिङ्गः,श्वित्री पाण्डुः कफात्मभिः" ॥ १ ॥

तथा—

"अतिलवणं नेत्रहर-मतिशीतं मारुतं प्रकोपयति ।
अत्युष्णं हरति बलं, अतिकामं जीवितं हरति" ॥ १ ॥

अन्यच्च- मैथुन-यान-वाहन -मार्गगमन -प्रस्खलन-प्रपतन-प्रपीडन-प्रधावना-ऽभिघात-विषमशयन-विषमासनो-पवास-वेगविघाता-ऽतिरूक्षा-ऽतितिक्ता-ऽतिकटुका-ऽतिभोजना-ऽतिरागाऽतिशोका-ऽतिक्षार-सेवा-ऽतीसार-वमन-विरेचन-प्रेङ्खोलनाऽजीर्णप्रभृतिभिर्गर्भो बन्धनान्मुच्यते, ततो नातिशीतलाद्याहाराद्यैस्तं गर्भं सा पोषयतीति युक्तम्। अथ सा त्रिशला कथंभूता ?, (ववगयरोगसोगमोहभयपरिस्सम त्ति) रोगा ज्वराद्याः, शोक इष्टवियोगादिजनितः, मोहो मूर्च्छा, भयं भीतिः, परिश्रमो व्यायामः, एते व्यपगता यस्याः सा तथा, रोगादिरहिता इतिभावः। यत एते गर्भस्य अहितकारिणस्तदुक्तं सुश्रुते-
"दिवा स्वपत्याः स्त्रियाः स्वापशीलो गर्भः,अञ्जनादन्धः,रोदनाद्विकृतदृष्टिः,स्नानानुलेपनाद् दुःशीलः,तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी,नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनात् श्यामदन्तौष्ठतालुजिह्वः, अतिकथनाच्च प्रलापी, अतिशब्दश्रवणाद् बधिरः, अवलेखनात् स्खलतिः, व्यजनक्षेपणादिमारुतायाससेवनादुन्मत्तः स्यात् "।

तथा च कुलवृद्धाः स्त्रियस्त्रिशलां शिक्षयन्ति-
"मन्दं संचर मन्दमेव निगद व्यामुञ्च कोपक्रमं,
पथ्यं भुङ्क्ष्व बधान नीविमनघां मा माऽट्टहासं कृथाः ।
आकाशे भव मा सुशेष्व शयने नीचैर्बहिर्गच्छ मा,
देवी गर्भभरालसा निजसखीवर्गेण सा शिक्ष्यते" ॥ १ ॥

अथ सा त्रिशला पुनः किंकुर्वती ?, [जं तस्स गब्भस्सेत्यादि] यत्तस्य गर्भस्य हितं तदपि मितं न तु न्यूनम्, अधिकं वा, पथ्यं आरोग्यकारणम्, अत एव गर्भपोषकं, तदपि देशे उचितस्थाने न तु आकाशादौ, तदपि काले भोजनसमये न तु अकाले आहारम् आहारयन्ती, [विवित्तमउएहिं सयणासणेहिं ति] विविक्तानि दोषरहितानि मृदुकानि कोमलानि यानि शयनासनानि, तैः, तथा [पइरिक्कसुहाए मणाणुकूलाए विहारभूमीए त्ति]प्रतिरिक्ता अन्यजनापेक्षया निर्जना अत एव सुखा सुखकारिणी तथा, मनोऽनुकूलया मनःप्रमोददायिन्या एवंविधया विहारभूम्या चङ्क्रमणासनादिभूम्या कृत्वा । अथ सा त्रिशला किंविशिष्टा सती तं गर्भं परिवहति ?, प्रशस्ता दोहदा गर्भप्रभावोद्भूता मनोरथा यस्याः सा तथा । ते चैवम्—

"जानात्यमारिपटहं पटु घोषयामि,
दानं ददामि सुगुरून् परिपूजयामि ।
तीर्थेश्वरार्चनमहं रचयामि सङ्घे,
वात्सल्यमुत्सवभृतं बहुधा करोमि ॥ १ ॥
सिंहासने समुपविश्य धरातपत्रा,
संवीज्यमानसचिवा सितचामराभ्याम् ।
आज्ञेश्वरत्वमुदिताऽनुभवामि सम्यग्,
भूपालमौलिमणिलालितपादपीठा ॥ २ ॥
आरूढा कुञ्जरशिरः प्रचलत्पताका,
वादित्रनादपरिपूरितदिग्विभागा ।
लोकैः स्तुता जयजयेति रवैः प्रमोदा—
दुद्यानकेलिमनघां कलयामि जाने" ॥ ३ ॥ इत्यादि ।

पुनः सा किंविशिष्टा ?, संपूर्णदोहदा सिद्धार्थराजेन सर्वमनोरथपूरणात्, अत एव संमानितदोहदा पूर्णीकृत्य तेषां निर्वर्तितत्वात्, तत एव अविमानितदोहदा, कस्यापि दोहदस्य अवगणनाऽभावात् । पुनः किंविशिष्टा ?, व्युच्छिन्नदोहदा पूर्णवाञ्छितत्वात्, अत एव व्यपनीतदोहदा, सर्वथा अपदोहदा (सुहं सुहेण त्ति) सुखं सुखेन गर्भानाबाधया (आसइ त्ति) आश्रयति आश्रयणीयं स्तम्भादिकमवलम्बते (सयइ त्ति) शेते निद्रां करोति (चिट्ठइ त्ति) ऊर्ध्वं तिष्ठति (निसीयइ त्ति) निषीदति आसने उपविशति [तुयट्टइ त्ति] त्वग् वर्तयति निद्रां विना शय्यायां शेते इत्यर्थः। [विहरइ त्ति] विहरति कुट्टिमतले विचरति, अनेन प्रकारेण च सुखं सुखेन तं गर्भं परिवहतीति ॥९५॥ कल्प०४ क्षण । प्र० । "गर्भे वातप्रकोपेण, दौर्हृदे चावमानिते । भवेत्कुब्जः कुणिः पङ्गुः, मूको मिन्मिन एव वा" ॥१॥ आचा०१ श्रु०६ अ०१ उ० । (' कायट्ठिइ ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४६१ पृष्ठे उदकगर्भादीनां कायस्थितिर्निरूपिता) कुक्षौ, नाटकसन्धिभेदे, पनसकण्टके, अपवरके,"आषाढकृष्णचतुर्दश्यां, यावदाप्लवते जलम् । तावद् गर्भं विजानीयात्" उक्ते आषाढकृष्णचतुर्दश्यां गङ्गाजलप्लावनस्थाने, अब्दे, अग्नौ, पुत्रे च । वाच० ।

गब्भकरा-गर्भकरी-स्त्री० । गर्भाधानविधायिन्यां विद्यायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

गब्भगरा-गर्भकरी-' गब्भकरा ' शब्दार्थार्थे, सूत्र०२श्रु०२अ०।

गब्भघरक-गर्भगृहक-न० । गर्भगृहाकारे, रा० । जं० जी० । मोहनगृहस्य रतिगृहस्य मोहजनकगृहस्य वाऽन्तर्भवने, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

गब्भघरग-गर्भगृहक-'गब्भघरक' शब्दार्थार्थे, ज्ञा०१ श्रु०८ अ०।

गब्भट्ठिइ-गर्भस्थिति-स्त्री० । गर्भस्थितिविचारे ' दुच्चउक्कास्स ' गाथाधिकारे सप्तमजिनस्याष्ट मासा एकोनविंशतिदिनानि च, तत्कथं घटते ?, ' दुचउक्क ' गाथायां षष्ठां जिनानामष्टमासादि कथितमस्त्येवं तु सप्त ज्ञायत इति प्रश्ने,उत्तरम्-'दुचउक्क' गा-

यायाः सप्तमस्थाने शेषजिनग्रहणं कृतमस्ति, तेन ' मासा अट्ठ नव ' इत्यत्र षष्ठामष्टौ मासाः, शेषजिनानां च नव मासा उक्ताः सन्ति, तेन सप्तमजिनस्य नव मासा एकोनविंशतिदिनानि गर्भस्थितिरितिबोध्यम् ११४ प्र०। सेनप्र०२ उल्ला०।(तित्थयर शब्दे विस्तरोऽस्य द्रष्टव्यः)मत्स्यकच्छपवृषभमहिषशुकसारसादिजलचरस्थलचरखचरतिरश्चामायुषो गर्भे स्थितिश्च कियती परमितिरिति प्रश्ने, उत्तरम्-जलचरस्थलचरखचरतिरश्चामायुर्मानं 'गब्भनुअजलयरोभय' इत्यासंग्रहणीगाथातो "मणुआऊ समगयाई हयाइ चउरंसजाउअट्ठस्स ॥ गोमहिसुट्टखराई, पणस साणाइ दस मंस" ॥१॥ इति "वीरं जय सेहरपय, इति क्षेत्रविचारगाथातश्चावसेयम् । तेषां गर्भस्थितिमानं तु जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतश्चाष्टौ वर्षाणीति भगवत्यादौ प्रतिपादितमस्तीति । ४१० प्र० सेनप्र० ३ उल्ला० ।

गब्भत्थ-गर्भस्थ-पुं० । मनुष्ये, तिर्यग्योनिके च गर्भव्युत्क्रान्तिके, स्था० २ ठा० २ उ० ।

दोण्हं गब्भत्थाणं आहारे पन्नत्ते । तं जहा-मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव । दोण्हं गब्भत्थाणं वुड्ढी पन्नत्ता । तं जहा-मणुस्साणं चेव, पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव। एवं निवुड्ढी विगुव्वणा गइपरियाए समुग्घाइ कालसंयोगे आयाइ मरणे ।

द्वयोरेव गर्भस्थयोराहारोऽन्येषां गर्भस्यैवाभावादिति, वृद्धिः शरीरोपचयः निर्वृद्धिस्तस्यानिर्वातपित्तादिभिः, निःशब्दस्याभावार्थत्वात्, निरुदरा कन्येत्यादिवत् । वैक्रियलब्धिमतां विकुर्वणा । गतिपर्यायश्चलनं, मृत्वा वा गत्यन्तरे गमनलक्षणो यश्च वैक्रियलब्धिमान् गर्भान्निर्गत्य प्रदेशतो बहिः संग्रामयति स वा गतिपर्यायः उक्तश्च भगवत्याम्-" जीवे णं भंते! गब्भगए समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा ?। गोयमा ! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा । से केणट्ठेणं । गोयमा ! से णं सन्निपंचिंदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरियलद्धिए वेउव्वियलद्धिए पराणीयमागयं सोच्चा निसम्म पएसे निच्छुभइ, निच्छुभइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, चाउरंगिणिं सिन्नं विउव्वइ , विउव्वइत्ता चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ " इत्यादि समुद्घातो मारणान्तिकादिः । कालसंयोगः कालकृतावस्था, आयातिर्गर्भान्निष्क्रमः । मरणं प्राणत्यागः । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गर्भार्थ-पुं० । हृदयगतार्थे भावार्थे, षो० १६ विव० ।

गब्भदंसि(ण्)-गर्भदर्शिन्-त्रि०।गर्भद्रष्टरि गर्भवासिनि,आचा०।

जे मोहदंसी से गब्भदंसी, (जे गब्भदंसी से जम्मदंसी)।

यो हि मोहं रूपतो वेत्त्यर्थपरित्यागरूपत्वात् ज्ञानस्य परिहरति चेति, यदि वा यो मोहं पश्यत्याचरति स गर्भमपि पश्यति, गर्भे वसतीत्यर्थः । आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

गब्भपोसण-गर्भपोषण-न० । गर्भपोषके, भ० ११ श० ११ उ०।

गब्भमास-गर्भमास-पुं० । कार्तिकादौ यावद् माघमासे, यत्र उदकगर्भा भवन्ति । ज्यो० ७ ठ० । गर्भस्य तदारम्भस्य मासस्तत्सहितो मासः । गर्भारम्भमासे, गर्भसहिते मासे च । वाच०।

गब्भर-गह्वर-त्रि० । गहने, आव० ४ अ० । दम्भे, वने, निकुञ्जे, पुं० । रोदने, विषमस्थाने, अनेकार्थसङ्कुले च । न० । गुहायाम्, न० स्त्री० । वाच० ।

गब्भय-गर्भज-त्रि० । स्त्रीगर्भोत्पन्ने गर्भव्युत्क्रान्तिके, अनु० ।

गब्भवक्कंति-गर्भव्युत्क्रान्ति-स्त्री०। गर्भाशये उत्पत्तौ, स्था० ।

दोण्हं गब्भवक्कंती पन्नत्ता । तं जहा—मणुस्साणं चेव, पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव ।

तेषां गर्भे गर्भाशये व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिर्गर्भव्युत्क्रान्तिः,मनोरपत्यानि मनुष्यास्तेषां, तिरोऽञ्चन्ति गच्छन्तीति तिर्यञ्चस्तेषां संबन्धिनी योनिरुत्पत्तिस्थानं येषां ते तिर्यग्योनिकाः. ते चैकेन्द्रियादयोऽपि भवन्ति इति विशिष्यन्ते, पञ्चेन्द्रियाश्च तिर्यग्योनिकाश्चेति पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकास्तेषाम् । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गब्भवक्कंतिय-गर्भव्युत्क्रान्तिक-पुं० । गर्भे व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तियेषां, व्युत्क्रान्तिशब्दोऽत्रोत्पत्तिवाची, तथा पूर्वाचार्यप्रसिद्धेः। यदि वा गर्भाद् गर्भावासाद् व्युत्क्रान्तिर्निष्क्रमणं येषां ते गर्भव्युत्क्रान्तिकाः। 'शेषाद्वा' ७।३।१७५। इति कच् समासान्तः। प्रज्ञा० १ पद । नं० । जी० । गर्भजे मनुष्ये, तिरश्चि च । अनु० । स्था० । गर्भव्युत्क्रान्तिकमानुष्यास्त्रिधा-कर्मभूमिजा अकर्मभूमिजा अन्तर्द्वीपजाश्चेति । स० । प्रज्ञा० ।

गब्भवासवसहि-गर्भवासवसति-स्त्री० । गर्भाश्रयनिवासे, औ०।

गब्भसाहरण-गर्भसंहरण-न० । गर्भस्य उदरसत्त्वस्य संहरणमुदरान्तरसंक्रामणं गर्भसंहरणम्। भगवतो महावीरस्य पुरन्दरादिष्टेन हरिनैगमेषिदेवेन देवानन्दाभिधानब्राह्मण्युदरात् त्रिशलाभिधानाया राजपत्न्या उदरान्तरे संक्रामणे, स्था० १० ठा० (' वीर ' शब्दे चैतत्स्पष्टीभविष्यति) गर्भान्तरसंक्रमणमात्रे च । भ० ।

अत्र प्रश्नोत्तरे-

हरी णं भंते! हरिणेगमेसी सक्कदूए इत्थीगब्भं साहरमाणे किं गब्भाओ गब्भं साहरइ, १ गब्भाओ जोणिं साहरइ २, जोणीओ गब्भं साहरइ ३, जोणीओ जोणिं साहरइ ४?। गोयमा ! नो गब्भाओ गब्भं साहरइ १, नो गब्भाओ जोणिं साहरइ २, नो जोणीओ जोणिं परामुसिय परामुसिय अव्वावाहेणं अव्वावाहं जोणीओ गब्भं साहरइ । पभू ! णं भंते! हरिणेगमेसी सक्कस्स णं दूए इत्थीए गब्भं नहसिरंसि वा रोमकूवंसि वा साहरित्तए वा नीहरित्तए वा ?। हंता। पभू! नो चेव णं तस्स गब्भस्स किंचि आवाहं वा विवाहं वा उप्पाएज्जा छविच्छेदं पुण करेज्जा ए सुहुमं च णं साहरिज्ज वा नीहरिज्ज वा ॥

इह च यद्यपि महावीरसंविधानाभिधायकं पदं न दृश्यते, तथापि हरिनैगमेषीति वचनात् तदेवानुमीयते, हरिनैगमेषिणा भगवतो गर्भान्तरे नयनात् । यदि पुनः सामान्यतो गर्भहरणविवक्षाऽभविष्यत्तदा 'देवे णं भंते!' इत्यवक्ष्यदिति । तत्र हरि-

रिन्द्रः, तत्संबन्धित्वाद् हरिनैगमेषीति नाम। (सक्कदूए त्ति) शक्रदूतः,शक्रादेशकारी पदात्यनीकाधिपतिः, येन शक्रादेशाद्भगवान्महावीरो देवानन्दागर्भात् त्रिशलागर्भे संहृत इति । (इत्थीगब्भं ति) स्त्रियाः संबन्धी गर्भः सजीवपुद्गलपिण्डकः स्त्रीगर्भस्तं (साहरमाणे त्ति) अन्यत्र नयन् । इह चतुर्भङ्गिका-तत्र गर्भाद् गर्भाशयादवधेर्गर्भे गर्भाशयान्तरं संहरति प्रवेशयति, गर्भे सजीवपुद्गलपिण्डलक्षणमिति प्रकृतमित्येका १। तथा गर्भाद्वधेर्योनिं गर्भनिर्गमद्वारं संहरति, योन्योदरान्तरं प्रवेशयतीत्यर्थः २ । तथा योनितो योनिद्वारेण गर्भे संहरति, गर्भाशयं प्रवेशयतीत्यर्थः ३। तथा योनितो योनेः सकाशाद् योनिं संहरति नयति,योन्योदरान्निष्काश्य योनिद्वारेणैवोदरान्तरं प्रवेशयतीत्यर्थः ४। एतेषु शेषनिषेधेन तृतीयमनुजानन्नाह-(परामुसियेत्यादि) परामृश्य परामृश्य तथाविधकरणव्यापारेण संस्पृश्य संस्पृश्य स्त्रीगर्भमव्याबाधमव्याबाधेन सुखं सुखेनेत्यर्थः,योनितो योनिद्वारेण निष्काश्य गर्भे गर्भाशयं संहरति । गर्भमिति प्रकृतं, यच्चेह योनितो निर्गमनं स्त्रीगर्भस्योक्तं तल्लोकव्यवहारानुवर्तनात् । तथाहि-निष्पन्नोऽनिष्पन्नो वा गर्भः स्वभावाद् योन्यैव निर्गच्छतीति । अयं च तस्य गर्भस्य संहरणे आचार उक्तः । अथ तत्सामर्थ्यं दर्शयन्नाह-'पभू णं' इत्यादि । (नहसिरंसि त्ति) नखाग्रे (साहरित्तए त्ति) संहर्तुं प्रवेशयितुं (नीहरित्तए त्ति) विभक्तिपरिणामेन नखशिरसो रोमकूपाद्वा निर्हर्तुं निष्काशयितुं (आबाहं ति) ईषद्बाधां (विबाहं ति) विशिष्टबाधां (छविच्छेदं ति) शरीरच्छेदं पुनः कुर्यात्, गर्भस्य हि छविच्छेदमकृत्वा नखाग्रादौ प्रवेशयितुमशक्यत्वात् । (ए सुहुमं च णं ति) इति सूक्ष्ममित्येवं लघ्विति । भ० ५ श० ४ उ० ।

गब्भाइदिण-गर्भादिदिन-न०। गर्भनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणदिवसेषु, पञ्चा० ६ विव० ।

गब्भिज्ज-गार्भेय-त्रि०। गर्भे भवा गार्भेयाः । नौमध्ये उच्चावचकर्मकारिषु, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

गब्भिण-गर्भित-त्रि० । " गर्भितातिमुक्ते णः " । ८ । १ । २०८ । इति तस्य णः । जातगर्भे, प्रा० १ पाद ।

गब्भिय-गर्भित-त्रि० । अनिर्गतशीर्षके, दश० ७ अ० । जातगर्भे, डोरकिते, वृक्षादौ, ज्ञा० १ श्रु० ७ अ० । आचा० ।

गभेज्ज-गार्भेय-त्रि० । 'गब्भिज्ज' शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

गम-गम-पुं० । वस्तुव्यवच्छेदे, अनु० । सूत्र०। बोधे, विशे०। अभिधानाभिधेयवशतोऽर्थपरिच्छेदे, नं० । स्था०। स० । व्याख्याने, विशे० । गणितादिविशेषे, विशे० । आ० म० । सदृशपाठे, विशे० । आ० म० । चतुर्विंशतिदण्डकादौ, भ० ५ श्र० । वाचनाविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । पथिनि, स्था० ७ ठा० । जिगीषोर्यात्रायाम्, द्यूतभेदे, वाच० । गमने च । आचा० ।

गमग-गमक-त्रि० । गमयति गम्-णिच्-ण्वुल् । गमयितरि, बोधके, वाच० । प्रापके, विशे० ।

गमण-गमन-न०। गम्-ल्युट् । गतौ, ज्ञा०१ श्रु० १ अ० । आचा०। अनियतदिग्देशैः संयोगविभागकारणे नैयायिकसम्मततर्कभेदे, सम्म० २ काण्ड । हंसगत्या चङ्क्रमणे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । अन्यतोऽन्यत्र (दश० ४ अ०) परिभ्रमणे, स० । ('विहार' शब्दे गमनविधिं साधूनां वक्ष्यामि) गमननक्षत्राणि-"पुस्सऽस्सिणि मिगसिर बे-इंदि य हत्थो तहेव चित्ता य । अणुराह जिट्ठ मूला, नव नक्खत्ता गमणसिद्धा" ॥११॥ द० प० ८ प० । "गतं न गम्यते ताव-दगतं नैव गम्यते । गतागतविनिर्मुक्तं, गम्यमानं तु गम्यते" ॥१॥ विशे०। सूत्र० । स्वाध्यायादिनिमित्तं वसतेर्निष्क्रमणे, "गमणागमणे पाणक्कमणे बीयक्कमणे" आव० ४ अ० । जिगीषोः प्रयाणे, वाच० । ध० । व्याख्याने, विशे०। वेदने, नं०। आ० म० । प्राप्तौ च । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गमणगुण-गमनगुण-पुं० । गमनं गतिः, तद्गुणो गतिपरिणामपरिणतानां जीवपुद्गलानां सहकारिकारणभावतः कार्यमत्स्यानां जलस्येव यस्यासौ गमनगुणः । गमने वा गुण उपकारो जीवादीनां यस्मादसौ गमनगुण इति । स्था० ८ ठा० । मत्स्यानां जल इव जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भहेतौ गुणतः पुद्गलास्तिकाये, भ० २ श० १० उ० ।

गमणमंडल-गमनमण्डल-न० । सूर्यस्य गमनयोग्ये मण्डले, ज्यो० ४ पाहु० ।

गमणया-गमनता-स्त्री० । स्वार्थिकस्तुमर्थे ताप्रत्ययः । "गमणे लोगंतगमणयाए" गमनतायै, गमनाय, गन्तुमित्यर्थः। गमनतायै गन्तुमिति छान्दसत्वेन तुमर्थे युट् प्रत्ययः। स्था०४ठा०३उ०।

गमणसज्ज-गमनसज्ज-त्रि० । गमनप्रवणे, रा० ।

गमणागमण-गमनागमन-न०। प्रज्ञापकं प्रतीत्याऽन्यस्थानाद् गमनमागमनं गन्तुं प्रत्यागतस्य, गमनं चागमनं च गमनागमनम् । नि० चू० ११ उ० । हस्तशताद् बहिर्गमनादौ, जीत०। "गमणागमणाए पडिक्कमइ त्ति " ईर्यापथिकीं प्रतिक्रामतीत्यर्थः । भ० १२ श० १ उ० ।

गमणागमणविहार-गमनागमनविहार-न० । गमनं च उच्चारार्थमाश्रयान्निर्गमः, आगमनं च प्रत्यावृत्तिर्विहारश्च ग्रामान्तर्गमनं स्वाध्यायादिनिमित्तं वसत्यन्तर्गमः । समाहारद्वन्द्वः । गमनादित्रिके ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणविषये, पञ्चा० १७ विव०।

गमणिया-गमनिका-स्त्री० । संक्षिप्तव्याख्याने, स्था० १० ठा०।

गमणी-गमनी-स्त्री० । गमनप्रकर्षसाधिकायां विद्याधरविद्यायाम्, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

गमय-गमक-पुं० । 'गमग' शब्दार्थार्थे, विशे० ।

गमिय-गमिक-न० । गम-अस्त्यर्थे इकप्रत्ययः । भङ्गयुक्ते, श्रुतविशेषे, आ० चू० १ अ० ।

भंग-गणियाइगमियं, जं सरिसगमं च कारणवसेण ।
गाहाइ अगमियं खलु, कालियसुय दिट्ठिवाए वा ॥५४९॥

गमाः भङ्गकाः गणितादिविशेषाश्च तद्बहुलं तत्संकुलं गमिकम्। अथवा-गमाः सदृशपाठास्ते च कारणवशेन यत्र बहवो भवन्ति तद्गमिकं, तच्चैवंविधं प्रायो दृष्टिवादे इत्येवंपर्यन्ते । दृष्टिवादपदमत्र संबध्यते । यत्र प्रायो गाथाश्लोकवेष्टकाद्यसदृशपाठात्मकं तदगमिकम् । तच्चैवंविधं प्रायः कालिकश्रुतमिति गाथार्थः ॥ ५४६ ॥ विशे० । आ० म० । वृ० ।

गमित-त्रि० । प्रदर्शिते, उपनीते, अर्पिते, आ० चू० १ अ० ।

गमेप्पिणु-गत्वा-अव्य० । अपभ्रंशे यात्वेत्यर्थे,"गमेरेप्पिएवेप्प्योरे-

सुंभ्वा"॥ ८ । ४ । ४४२॥ अपभ्रंशे गमेर्धातोः परयोरेप्पिणु-एप्पि इत्यादेशयोरेकारस्य लुग् वा भवति । इति लोपाभावपक्षे "गंग गमेप्पिणु जो मुअइ, जो सिवतित्थ गमेप्पि ।" प्रा० ४ पाद ।

गमेस-गवेष-धा० । अन्वेषणे, अच्-चुरा० आत्म० सेट् । "गवेषेर्दुढुल्ल-ढंढोल-गमेस-घत्ताः।८।४।१८९। इति गवेषेर्गमेसाऽऽदेशः। "गमेसइ-गवेषयते" प्रा० ४ पाद ।

गम्मधम्म—गम्यधर्म—पुं० । लौकिकधर्मभेदे,स च यथा दक्षिणापथे मातुलकन्या गम्या, उत्तरापथे पुनरगम्या । दश० १ अ० । ग्राम्यधर्म—पुं० । ग्राम्यस्य प्राकृतस्य हालिकादेर्धर्मः । व्यवाये, मैथुने, वाच० ।

गम्ममाण—गम्यमान—त्रि० । गम्-कर्मणि यक्, शानच् । "गमादीनां द्वित्वम्" । ८। ४ २४९ । इति कर्मणि अन्त्यस्य द्वित्वम् । प्राप्यमाणे, प्रा० ४ पाद ।

गम्मागम्मविभाग—गम्यागम्यविभाग—पुं० । गम्यागम्ये लोकप्रतीते । तयोर्विभागः आसेवनपरिहाररूपः । विषयनियमने, "गम्यागम्यविभागं,त्यक्त्वा सर्वत्र वर्तते जन्तुः" । षो०४विव० ।

गय—गज—पुं० । स्त्री० । गजभेदे, अच् । हस्तिनि, तं० । दश० । पिं० । प्रव० । औ० । "छसायं सत्तमं गओ" । अनु० । गजसुकुमाले, अन्त० ३ वर्ग ।

गत—त्रि० । व्यवस्थिते, स्था० १० ठा० औ० । स्थिते, मनोगतं मनसि स्थितमिति । उत्त० १ अ० । ज्ञा० । आ० म० । प्राप्ते, उत्त० १६ अ० । सूत्र० । आतु० । प्रवृत्ते, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । प्रविष्टे, स्था० ४ ठा० १ उ० । अतीते, समासे, पतिते, वाच० । भावे क्तः । गमने, आचा० १ श्रु० ३ अ० । चं० प्र० । रा० । सविलाससंक्रमणे, चं० प्र० २० पाहु० । जी० ।

गद—पुं० । अच् । रोगे, मेघध्वनौ, कुष्ठे, विषभेदे, न० । वाच० ।

गयंक—गजाङ्क—पुं० । दिक्कुमारेषु, औ० ।

गयकण्ण—गजकर्ण—पुं० । आभाषिकद्वीपस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च । जी० ३ प्रति० । प्रव० । उत्त० । स्था० । नं० । कर्म० । प्रज्ञा० । ('अन्तरदीव' शब्दे प्र० भा० ८९ पृष्ठे प्रदर्शितं चैतत्) अनार्यक्षेत्रभेदे, तत्र मनुष्ये च । सूत्र० २ श्रु० १ अ० । प्रव० ।

गयकरेणु—गजकरेणु—गजकलभिकायाम, स० ।

गयकलभ—गजकलभ—पुं० । हस्तिशावके , रा० ।

गयगय—गजगत—त्रि० हस्त्यारूढे, औ० ।

गयग्गपय—गजाग्रपद—न० । स्वाभिधेयतां प्राप्ते दशार्णकूटे, आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

"गजाग्रपदतोत्पत्तिः, शैलस्यैवमभून्मुनेः ।
गर्वं दशार्णभद्रस्य, हर्तुं शक्रः समागतः ॥ १८ ॥
गजेन्द्रारूढ एवाथ, त्रिः प्रादक्षिणयत्प्रभुम् ।
ततो दशार्णकूटाख्ये, तत्पदान्युत्थितान्यगे ॥ १९ ॥
देवानुभावात् ख्यातोऽथ, गजेन्द्रपद इत्यसौ ।
तस्मिन्महामुनिर्भक्त्, प्रत्याख्याय दिवं ययौ" ॥२०॥ आ० क० ।
आ० चू० । आव० । आ० म० ।

गयचरणमलण—गजचरणमलन—न० । हस्तिपादैः पीडयित्वा प्राणनाशने, स० । "अपो य गयचलणमलणणिम्मद्दिया कीरंति" प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गयजूहियट्ठाण—गजजूथिकस्थान—न० । गजजूथं यत्र तिष्ठति तादृशे स्थाने, आचा० २ श्रु० ११ उ० ।

गयजोव्वण—गतयौवन—त्रि० । अतिक्रान्तद्वितीयवयसि, वृद्धप्राय इत्यर्थः । पं० व० १ द्वार ।

गयणगइ—गगनगति—पुं० । बहूत्सवनगरपतिगगनमण्डलनृपपुत्रे, दर्श० ।

गयणमण्डल—गगनमण्डल—पुं० । स्वनामख्याते बहूत्सवनगरराजे, दर्श० ।

गयदंत—गजदन्त—पुं० । करिदन्ते, रा० । ज्येष्ठाया गजदन्तसंस्थानम् । जं० १ वक्ष० ।

गयदंतसमाण—गजदन्तसमान—त्रि० । गजदन्ताकारे, रा० ।

गयपंति—गजपङ्क्ति—स्त्री० । क्रमव्यवस्थितहस्तिसमूहे, भ० ११ श० ६ उ० ।

गयपतिया—गतपतिका—स्त्री० । विधवायाम, औ० ।

गयपुर—गजपुर—न० । कुरुदेशप्रधाननगरे हस्तिनापुरे,प्रज्ञा०१पद । प्रव० । आव० । कुरुजनपदप्रधाने नगरे, यत्र बाहुबलिपुत्रसोमप्रभसुतः श्रेयानासीत् । आ० म० प्र० । प्रज्ञा० । "गयपुरं च कुरु" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

"आकरः सर्ववस्तूनां, देशोऽस्ति कुरुनामकः ।
समुद्र इव रत्नानां, गुणानामिव सज्जनः ॥ १ ॥
पुरं गजपुरं तत्र, करकुञ्जमदोर्मिभिः ।
तदैव नर्मदा जज्ञे, नूनं या दृश्यतेऽधुना ॥ २ ॥
तत्र बाहुबलेः पुत्रः, सौम्यः सोमप्रभो नृपः ।
चित्रं पद्माहितानन्दः, शूरस्तीव्रः प्रतापवान् ॥ ३ ॥
श्रेयांसस्तनयस्तस्य, यौवराज्यपदाऽऽस्पदम् ।
कौरव्यद्यापि विश्वश्री-क्रोडान्तर्यद्यशः शिशुः" ॥ ४ ॥
आ० क० । ('हत्थिणाउर' शब्दे तत्कल्पो वक्ष्यते)

गयमाइ—गजादि—त्रि० । हस्तिप्रभृतौ, उत्त० ३६ अ० ।

गयमारिणी—गजमारिणी—स्त्री० । गुच्छभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

गयमुह—गजमुख—पुं० । शष्कुलीकर्णस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, उत्त० ३६ अ० । ('अंतरदीव' शब्दे प्र० भागे ८९ पृष्ठे निरूपितः) अनार्यदेशभेदे, तद्वासिनि मनुष्ये च । प्रव० १४८ द्वार ।

गयलक्खण—गजलक्षण—न० । हस्तिलक्षणपरिज्ञानात्मिकायां पञ्चत्रिंशत्कलायाम, जं० २ वक्ष० । सूत्र० । ज्ञा० । कल्प० । स० ।

गयवर—गजवर—पुं० । गजेन्द्रे, "गयवरकरसरिसपीवरोरू" कल्प० २ क्षण ।

गयवरपत्थंत—गजवरप्रार्थयमान—त्रि० । मतङ्गजान् प्रार्थयमाने, हन्तुमारोढुं वाऽभिलषमाणे, तत्र शक्ते, तच्छीले वा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गयविक्कम—गजविक्रम—पुं० । मत्तगजक्रीडायाम, पूर्वाषाढायाः गजविक्रमः स्थानम् । जं० १ वक्ष० ।

गयवीही–गजवीथी–स्त्री० । गजसंज्ञके त्रिभिर्नक्षत्रैरुपलक्षिते शुक्रादिमहाग्रहचारक्षेत्रभागे, स्था० ९ ठा० ।

गयसंघाड–गजसङ्घाट–पुं० । हस्तियुग्मे, अं० १ वक्ष० ।

गयससण–गजश्वसन–पुं० । हस्तिशुण्डादण्डे, "गयससणसुजायसन्निभोरू" गजश्वसनस्य हस्तिनासिकायाः सुजातस्य सुनिष्पन्नस्य सन्निभे सदृशे ऊरू जङ्घे यस्य स तथा । "समुग्गणिमग्गगूढजाणू" समुद्गः समुद्गकाख्यभाजनविशेषस्य, तत्पिधानस्य च सन्धिः, तद्वन्निमग्नगूढे अत्यन्तनिगूढे मांसलत्वादनुन्नते जानुनी अष्ठीवती यस्य स तथा । औ० ।

गयसाल–गजशाल–न० । हस्तिशालायाम, नि० चू० ८ उ० ।

गयसिरीय–गतश्रीक–त्रि० । निःशोभे, भ० ६ श० ३३ उ० ।

गयसीहवाइ(ण्)–गजसिंहवादिन्–पुं० । इन्द्रभूतिना सह वीरप्रभोरन्तिकं गते वादिनि, कल्प० ६ क्षण ।

गयसुकुमाल–गजसुकुमार–पुं० । विष्णोर्लघुभ्रातरि, स हि भगवतोऽरिष्टनेमिजिननाथस्यान्तिके प्रव्रज्यां प्रतिपद्य श्मशाने कृतकायोत्सर्गलक्षणमहातपाः शिरोनिहितजाज्वल्यमानाङ्गारजनितात्यन्तवेदनोऽल्पेनैव पर्यायेण सिद्धिमासवानिति । स्था० ८ ठा० १ उ० ।

तद्वक्तव्यता चैवम्–

जति उक्खेवो अट्ठमस्स २ एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवतीए णयरीए जहा पढमे० जाव अरहा अरिट्ठनेमी समोसढे । तेणं कालेणं तेणं समएणं अरहा अरिट्ठनेमिस्स अंतेवासी छ अणगारे भायरो सहोदरा होत्था, सरिसया सरितया सरिवया नीलुप्पलगवलगुलियअयसीकुसुमप्पगासा सिरिवच्छंकियवच्छा कुसुमकुंडलजवलया नलकूवरसमाणा, तते णं से छ अणगारा जं चेव दिवसं मुंडा भवित्ता अगारातो अणगारिया पव्वइया तं चेव दिवसं अरहं अरिट्ठनेमिं वंदंति, नमंसंति, नमंसित्ता एवं वयासी–इच्छामो णं भंते ! तुज्झेहिं अब्भणुन्नाया समाना जावज्जीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडि० । तते णं ते छ अणगारा अरहा अरिट्ठनेमिणा अब्भणुन्नाता समाणा जावजीवाए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं० जाव विहरंति, तते णं ते छ अणगारा अन्नया कयाती छट्ठक्खमणस्स पारणयंसि पढमाए पोरसीए सज्झायं करेंति । जहा गोयमो० जाव इच्छामो णं छट्ठक्खमणस्स पारणए तुज्झेहिं अब्भणुन्नाया समाणा तहिं संघाडएहिं बारवतीए णयरीए० जाव अडित्तए अहासुहं, तते णं ते छ अणगारा अरहतो अरिट्ठनेमिणा अब्भणुन्नाया समाणा अरहं अरिट्ठनेमिं वंदंति, नमंसंति, अरहतो अरिट्ठनेमिस्स अंतियाओ सहस्संबवणाओ पडिनिक्खमंति, पडिनिक्खमित्ता तिहिं संघाडएहिं अतुरिता० जाव अडंति, तत्थ णं एगे संघाडए बारवतीए णयरीए उच्चनीचमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे वसुदेवस्स रन्नो देवतीए देवीए गिहिं अणुपविट्ठे, तते णं सा देवी एते अणगारे एज्जमाणे पासति, पासित्ता हट्ठ० जाव हियया आसणाओ अब्भुट्ठेति, अब्भुट्ठेत्ता सत्तट्ठपयाति तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करेतित्ता वंदति, णमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सीहकेसराणं मोयगाण थालं भरेति, थालं भरेतित्ता ते अणगारे पडिलाभेति, पडिलाभेतित्ता वंदति, णमंसति, वंदित्ता णमंसित्ता पडिविसज्जेति, तदा णंतरं च णं दोच्चे संघाडए बारवतीए णयरीए उच्च० जाव विसज्जेति, विसज्जेतित्ता तदा णंतरं च णं तच्चे संघाडए बारवतीए णयरीए उच्चनीच० एवं वयासी–किं णं देवाणुप्पिया ! कण्हस्स वासुदेवस्स इमीसे बारवतीए णयरीए णव जोयणओ० जाव पच्चक्खदेवलोयभूया य समणा निग्गंथा उच्चनीच० जाव अडमाणा भत्तपाणं णो लभंति, जेण ताइं चेव कुलाइं भत्तपाणाए भुओ २ अणुप्पविसंति, तते णं ते अणगारे देवतिं देविं एवं वयासी–णो खलु देवा० ! कण्हस्स वासुदेवस्स इमीसे बारवतीए णयरीए० जाव देवलोयभूयाणं समणा णिग्गंथा उच्चनीच० जाव अडमाणा भत्तपाणं णो लभंति, णो चेव णं ताइं चेव कुलाइं दोच्चं पि तच्चं पि भत्तपाणाए अणुप्पविसंति । एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्ह भद्दलपुरे णगरे णागस्स गाहावतिस्स पुत्ता सुलसाए भारियाए अत्तयाए छ भायरो सहोदरा सरिसया० जाव नलकूवरसमाणा अरहो अरिट्ठनेमिस्स अंतिए धम्मं सोच्चा संसारभउव्विग्गा भीया जम्मणमरणाणं मुंडा० जाव पव्वइया, तते णं अम्हे जं चेव दिवसं पव्वतिता तं चेव दिवसं अरहं अरिट्ठनेमिं वंदामो, णमंसामो, इमं एतारूवं अभिग्गहओ गेण्हामो, इच्छामो, तुज्झे अब्भणुन्नाया समाणा० जाव अहासुहं, तते णं अम्हे अरहा अरिट्ठनेमिस्स अब्भणुन्नाया समाणा जावजीवए छट्ठं छट्ठेणं० जाव विहरामो, तं अम्हे अज्ज छट्ठक्खमणपारणयंसि पढमाए पोरिसीए स० जाव अडमाणे तव गेहं अणुप्पविट्ठा, ते णो खलु देवाणुप्पिया ! तच्चेव णं अम्हे अम्हेणं अन्ने एवं निंदेति, एवं वदंति, वदंतित्ता जामेव दिसं पाउब्भूया तामेव दिसं पडिगया, तते णं से देवतीए देवीए अयमेयारूवे अब्भत्थीए समुप्पन्ने, एवं खलु अहं पोलासपुरे णगरे अतिमुत्तेणं कुमारसमणेणं बालत्तणे वागरिया अम्हं देवाणुप्पिया ! अट्ठपुत्ते पयाइस्स सिरीसए० जाव णलकूवरसमाणे णो चेव णं भारहे वासे अण्णाउअं मयाओ तारिसए पुत्तेयाइ पोस्संति, तं णं मिच्छा इमेणं पच्चक्खमेव दिस्सती भारहे वासे अण्णाउत्तिअं मयाओ खलु सरिसए०

जाव पुत्ते पयायाओ, तं गच्छामि णं अरहं अरिट्ठनेमिं वंदामि, णमंसामि, इमं च णं एयारूवं वागरेणं पुच्छिस्सामि त्ति-कट्टु एवं संपेहेति,संपेहेतित्ता कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी-लहुकरणजाणपवरं० जाव उवट्ठवेति, जहा देवाणंदाए० जाव पज्जुवासति, तं अरहा अरिट्ठनेमी देवई देविं एवं वयासी-से णूणं तव देवई इमे छ अणगारे पासंति, अयं अज्झत्थिए ४। एवं खलु अहं पोलासपुरे णयरे अतिमुत्तेणं तं चेव० जाव णिग्गच्छित्ता जेणेव ममं अंतिए तेणेव हव्वमागया,से णूणं देवई अत्थे समत्थे। हंता अत्थि। एवं खलु देवाणुप्पिए! तेणं कालेणं तेणं समएणं भद्दलपुरे णगरे णागे णामं गाहावती परिवसइ, अड्ढे तस्स णं णागस्स गाहावती सुलसा णामं भारिया होत्था। तं सा सुलसा गाहावती बालत्तेण चेव निमित्तिएणं वागरिया, एस णं दारियाणि दुन्नविस्सति, तते णं सा सुलसा बालप्पभितिं चेव हरिणेगमेसिं देवभत्ती यावि होत्था, हरिणेगमेसिस्स देवस्स पणामं करेति, करेतित्ता कल्लाकल्लिं ण्हाया०जाव पायच्छित्ता उल्लपडसाडया महरिहं पुप्फच्चणं करेति, जाणुपायपडिया पणामं करेति, करेतित्ता ततो पच्छा आहारं ति वा णीहारं ति वा करेइ, करेतित्ता तेणं तीसे सुलसाए गाहावइणीए भत्तिबहुमाणसुस्सूसाए हरिणेगमेसी देवे आराहिए यावि होत्था। तते णं से हरिणेगमेसी देवे सुलसाए गाहावतिणीए अणुकंपणट्ठाए सुलसं गाहावइणी तुमं च णं दो वि सममेव सगब्भयाओ करेति, तते णं तुब्भे दो वि सममेव गब्भे गिण्हेह, गिण्हेइत्ता सममेव गब्भे परिवहइ, सममेव दारए पयाया, तते णं सा सुलसा गाहावइणी विणिहायमावण्णे दारए पयावेति,तते णं से हरिणेगमेसी देवे सुलसाए गाहावइणीए अणुकंपणट्ठाए विणिहायमाणे दारए करयलसंपुडं गेण्हइ, गेण्हइत्ता तव अंतियं साहरए, साहरएत्ता तं समयं च णं तुमं पि णवण्हं मासाणं सुकुमालदारए पसवसि,जे वि अ णं देवाणुप्पियाए! तव पुत्ता ते वि य तव अंतियाओ करयलपुडेणं गेण्हति, गेण्हइत्ता सुलसाए गाहावइणीए अंतिए साहरइ,तव चेव णं देवतीए ते पुत्ता नो सुलसाए गाहावइणीए पुत्ता, तते णं सा देवई देवी अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियया अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, नमंसति, नमंसइत्ता जेणेव ते छ अणगारा तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता ते छप्पि य अणगाराणं वंदति, नमंसति, नमंसइत्ता आगयपण्हया पप्फुल्ललोयणा कंचुयपरिक्खित्तिया दरियवलियबाहा धाराहतकलंबपुप्फगं पि व समुसियरोमकूवा ते छप्पि य अणगारा अणिमिसाए दिट्ठीए पेहमाणा, पेहमाणित्ता सुचिरं निरिक्खति,निरिक्खइत्ता वंदति, नमंसति, नमंसइत्ता जेणेव अरहा अरिट्ठनेमिस्स तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति,करेतित्ता वंदति,णमंसति,तमेव धम्मियजाणपवरं ओरुहति, ओरुहतित्ता जेणेव बारवती णगरी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छइत्ता बारवतिं णयरिं अणुप्पविसति, अणुप्पविसतित्ता जेणेव सए गिहे जेणेव बाहिरिया उवट्ठाणसाला तेणेव उवागता, धम्मियाओ जाणपवराओ पच्चोरुहति, पच्चोरुहतित्ता जेणेव सए वासघरए जेणेव सयणिज्जे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सयंसि सयणिज्जंसि नीसियंति,तीसे णं तते देवतीए देवीए अयं अज्झत्थिते ४ समुप्पन्ने एवं खलु अहं सरिसए०जाव णलकूबरसमाणे सत्तपुत्ते पयाया, नो चेव णं मए एगस्स वि बालत्तणए समुब्भूए, एस वि य णं कण्हे वासुदेवे छण्हं २ मासाणं मम अंतीयं पायं वंदति, हव्वमागच्छति,ते धण्णाओ णं ताओ अम्मा० ४ जीसे मन्ने णियगकुच्छिसंभूयाइं थणदुद्धलुद्धयाइं महुरसमुल्लावयाइं मम्मणजंपियाइं थणमूलकक्खदेसभागं अभिसरमाणाइं मुद्धयाति,पुणो य कोमलकमलोवमेहिं हत्थेहिं गिण्हतीओ णं उच्छंगनिवेसियाइं देंति,समुल्लावते सुमहुरे पुणो पुणो मंजुलप्पभाणिते, अह णं अधण्णा अपुण्णा अकयपुण्णा एत्तो एकतरमवि न य ता उवहय० जाव झियायति, इमं च णं कण्हे वासुदेवे ण्हाते०जाव विभूसिते देवतीए देवीए पायं वंदति, हव्वमागच्छति,तते णं से कण्हे वासुदेवे देवतिं देविं पासति,उवहत०जाव पासित्ता देवतीए देवीए पायग्गहणं करेति,करेतित्ता देवतिं देविं एवं वयासी-अण्णया णं अम्मो! तुम्हे ममं पासित्ता हट्ठ०जाव भवह,किं णं अम्मो! अज्ज तुम्हे ओहय०जाव झियायह ? । तते णं सा देवती देवी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी-एवं खलु अहं पुत्ता! सरिसए०जाव नलकूबरसमाणा सत्तपुत्ते पयाया, नो चेव णं मए एगमवि बालत्तणे अणुब्भूते, तुमं पि य णं पुत्ता ममं छण्हं २ मासाणं अंतियं पायं वंदए, हव्वमागच्छसि,तं धण्णाओ णं ताओ अम्मयाओ०जाव झियामि,तं से कण्हे वासुदेवे देवतिं देविं एवं वयासी-मा णं तुब्भे अम्मो! ओहय०जाव झियायह,अहं णं तहा वत्तिस्सामि जहा णं ममं सहोदरं कणीयसे भाउए भविस्सति त्ति कट्टु देवतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं वग्गेहिं समासासेति, समासासेत्ता तओ पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छति,उवागच्छतित्ता जहा अभओ। णवरं हरिणेगमेसियस्स अट्ठमभत्तं पगिण्हति०जाव अंजलिं कट्टु एवं वयासी-इच्छामि णं देवाणुप्पिया! सहोदरं कणीयसं भाउयं विदिन्नं, तते णं हरिणेगमेसी वासु-

देवं कएहं एवं वयासी–होहिति णं देवाणु० तव देवलोयचुए सहोदरए कणीयसे भाउए से णं उम्मुक्क० जाव अणुपत्तो अरहो अरिट्ठनेमिस्स अंतियं मुंडे० जाव पव्वइस्सति, कएहं वासुदेवं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–जामेव दिसं पाउब्भूए तामेव दिसं पडिगए, तते णं से कएहे वासुदेवे पोसहसालातो पडिनिग्गता जेणेव देवती देवी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता देवतीए देवीए पायग्गहणं करेति, करेतित्ता एवं वयासी–होहिति णं अम्मो ! मम सहोदरे कणीयसे भाउ त्ति कट्टु देवतिं देविं ताहिं इट्ठाहिं० जाव आसासेति, आसासेतित्ता जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं पडिगते ॥

(जइ उक्खेवो त्ति) " जइ ण भंते ! अंतगडदसाणं तच्चस्स वग्गस्स सत्तमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पन्नत्ते" (अट्ठमस्स त्ति) "अट्ठमस्स णं भंते ! के अट्ठे पन्नत्ते । अट्ठमस्स णं अयमट्ठे पन्नत्ते" इत्युपक्षेपः। तत 'एवं खलु' इत्यादिनिर्वचनम् (सरिसय त्ति) सदृशाः समानाः [सरित्तय त्ति] सदृग्त्वचः । [सरिव्वय त्ति] सदृग्वयसः, नीलोत्पलगवलगुलिकाऽतसीकुसुमप्रकाशाः, गवलं माहिषं शृङ्गम्, अतसी धान्यविशेषः, श्रीवत्साङ्कितवक्षसः (कुसुमकुंडलय त्ति) कुसुमकुन्डुलं धत्तूरकपुष्पसमानाकृतिकर्णाभरणं, तेन भद्रकाः शोभना ये ते तथा, बालावस्थाश्रयं विशेषणं न पुनरनगारावस्थाश्रयमिदमित्येके । अन्ये पुनराहुः–दर्भकुसुमवद्भद्राः सुकुमाराकारा इत्यर्थः । तत्त्वं तु बहुश्रुतगम्यम् । नलकूबरसमाना वैश्रवणपुत्रतुल्याः, इदं च लोकरूढ्या व्याख्यातं, यतो देवानां पुत्रा न सन्ति । (जं चेव दिवसं) यत्रैव दिवसे मुण्डो भूत्वा अगाराद् अनगारितां प्रव्रजिताः (तं चेव दिवसं ति) तत्रैव दिवसे (कुलाइं ति) गृहाणि (भुज्जो २ ति) भूयो भूयः, पुनःपुनरित्यर्थः (लघुकरणोसि) लघुकरणेत्यादिवर्णकयुक्तं यानप्रवरमुपस्थापयन्ति । (जहा देवाणंदाए त्ति) भगवत्याभिहिता यथा देवानन्दा भगवन्महावीरप्रथममाना गता तथेयमपि भणनीया (निंदु त्ति) मृतप्रसविनी, ते यत्र षडप्यनगाराः तत्रोपागच्छति, तांश्च सा वन्दत (आगयपण्हय त्ति) आगतप्रस्नवा पुत्रस्नेहेन स्तनागतस्तन्या (पप्फुल्ललोयण त्ति) प्रफुल्ले आनन्दजलेन लोचने यस्याः सा तथा (कंचुकपरिक्खितय त्ति) परिक्षिप्तो विक्षिप्तो, विस्तारित इत्यर्थः। कञ्चुको वारवाणः हर्षातिरेकस्थूलीभूतशरीरतया यया सा तया। (दरियवलयबाहि त्ति) दीर्घवलयौ हर्षरोमाञ्चस्थूलत्वात् स्फुटितकटकौ बाहू भुजौ यस्याः सा प्राकृतत्वेन "दरियवलयबाहा" (धाराहयकलंबपुष्फगं पिव समुससियरोमकूवा) धाराभिर्मेघजलधाराभिराहतम् यत् कदम्बपुष्पं तदिव समुच्छ्रितानि रोमाणि कूपकेषु यस्याः सा तथा (अयमब्भत्थिए त्ति) इहैवं दृश्यम् (अयमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिते पत्थिते मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था) तत्रायमेतद्रूप अभ्यर्थितः चिन्तितः स्मरणरूपः प्रार्थितोऽभिलाषरूपो मनोगतो मनोविकाररूपः संकल्पो विकल्पः समुत्पन्नः। "धन्नाओ णं ताओ" इत्यादि। धन्या धनमर्हन्ति लप्स्यन्ते वा यास्ता धन्याः ता इति यासामित्यपेक्षया अम्बाः स्त्रियः पुण्या पवित्राः कृतपुण्याः कृतसुकृताः कृतार्थाः कृतप्रयोजनाः कृतलक्षणाः सफलीकृतलक्षणाः (जासिं ति) यासां मन्ये इतिवितर्कार्थो निपातः, निजकुक्षिसंभूतानि डिम्भरूपाणीत्यर्थः। स्तनदुग्धे लुब्धानि यानि तानि तथा, मधुराः समुल्लापाः येषां तानि तथा, मन्मनमव्यक्तमीषत् संवलितं प्रजल्पितं येषां तानि तथा, स्तनमूलात् कक्षादेशभागमभिसरन्ति, मुग्धकान्यव्यक्तविज्ञानानि भवन्तीति गम्यते। पुनश्च कोमलकमलोपमाभ्यां हस्ताभ्यां गृहीत्वा उत्सङ्गनिवेशितानि सन्ति ददति समुल्लापकान् सुमधुरान् पुनः पुनः मञ्जुलप्रभणितान् मञ्जुलं मधुरं प्रभणिते भणितिः येषु ते तथा तान्, इह सुमधुरानित्यभिधाय यन्मञ्जुलप्रभणितानीत्युक्तं तत् पुनरुक्तमपि न दुष्टं, सम्भ्रमभणितत्वादस्येति। (एत्तो त्ति) विभक्तिपरिणामादेषामुक्तविशेषणवतां डिम्भानां मध्यात् एकतरमपि अन्यतरविशेषणमपि डिम्भं न प्राप्ता इत्युपहतमनःसङ्कल्पा भूमिगतदृष्टिका करतलपर्यस्तितमुखी ध्यायति (तहा वत्तिस्सामि त्ति) वर्तिष्ये (कणियसे त्ति) कनीयान् कनिष्ठो, लघुरित्यर्थः। (जहा अभओ त्ति) यथा प्रथमे ज्ञाते अभयकुमारोऽष्टमं कृतवानेवमयमपीति, नवरं केवलमयं विशेषः–अयं हरिणैगमेषिण आराधनाय अष्टमं कृतवान्, स तु पूर्वसम्मतिकस्य देवस्येति । (वितिणं ति) विस्तीर्णं दत्तं, युष्माभिरिति गम्यते। अन्त० ४ वर्ग ।

तं सा देवई देवी अण्णया कयाई तंसि तारिसगंसि० जाव सीहं, सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा० जाव हट्ठतुट्ठहियया गब्भं परिवहति । तते णं सा देवती देवी णवएहं मासाणं० जाव सुमणरत्तबंधुजीवियलक्खारससरसपारिजातकतरुणदिवाकरसमप्पभं सव्वणयणकंतं सुकुमालं० जाव सरूवं गयतालुयसमाणं दारयं पयाया, जमणं जहा मेहकुमारे० जाव, जम्हा णं अम्हं इमे दारए गयतालुयसमाणे तं होऊणं अम्हं एयस्स दारगस्स नामधेज्जे गयसुकुमाले, तते णं ते सदारगस्स अम्मापिअरो नामं कयं गयसुकुमालो त्ति, सेसं जहा मेहे० जाव अलं भोगसमत्थे जाते यावि होत्था । तते णं वारवतीए णयरीए सोमले नामं माहणे परिवसति, अड्डे रिउव्वेय० जाव सुपरिनिट्ठिते यावि होत्था, तस्स सोमिलस्स माहणस्स सोमसिरी णामं माहणी होत्था, सुकुमाल० तस्स णं सोमिलस्स धूया सोमसिरीए माहणीए अत्तया सोमा नामं दारिया होत्था, सुकुमाल० जाव सुरूवा, रूवेण य जोव्वणेण य० जाव लावण्णेण य उक्किट्ठा उक्किट्ठसरीरे यावि होत्था, तते णं सा सोमा दारिया अण्णया कयाइ एहाया० जाव विभूसिया बहुहिं खुज्जाहिं० जाव परिक्खित्ता सयाओ गिहातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव रायमग्गे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता रायमग्गंसि कणगए उसएणं कीलमाणी २ चिट्ठति, तेणं कालेणं अरहा अरिट्ठनेमी समोसढे, परिसा निग्गया, तते णं से कएहे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे एहाए० जा

विभूसिते गयसुकुमालेणं कुमारेणं सद्धिं हत्थिकंधवरगते सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणेणं सेयवरचामराहिं उद्धुव्वमाणीहिं वारवतीए णयरीए मज्झं मज्झेणं अरहो अरिट्ठनेमिस्स पायवंदए, निग्गच्छमाणे सोमं दारियं पासति. पासतित्ता सोमाए दारियाए रूवेण य जोव्वणेण य लावण्णेण य० जाव विम्हिए, तए णं कण्हे वासुदेवे कोडुंबियपुरिसे सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी–गच्छह णं तुब्भे देवाणुप्पिया ! सोमिलं माहणं जाचित्ता सोमदारियं गिण्हह, तं कण्णंतेउरंसि पक्खिवह, तते णं से एसा गयसुकुमालस्स कुमारस्स भारिया भविस्सति, ते कोडुंबिय० जाव पक्खिवंति, तए णं से कण्हे वासुदेवे वारवतीए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, निग्गच्छतित्ता जेणेव सहसंबवणे० जाव पज्जुवासति, तते णं अरहा अरिट्ठनेमी कण्हस्स वासुदेवस्स गयसुकुमालस्स कुमारस्स तीसे य धम्मकहा कणे पडिगते, तते णं से गयसुकुमाले अरहा अरिट्ठनेमिस्स अंतियं धम्मं सोच्चा० जाव णवरं देवाणुप्पिया ! अम्मापियरं आपुच्छति जहा मेहो महोलियावत्थं ०जाव वड्ढियकुलं, तते णं से कण्हे वासुदेवे इमीसे कहाए लद्धट्ठे समाणे जेणेव गयसुकुमाले कुमारे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता गयसुकुमालं आलिंगति, उच्छंगं निवेसति, उच्छंगं निवेसतित्ता एवं वयासी–तुम्हे णं ममं सहोदरे कणीयसे भाया तं माणं तुमं देवाणुप्पिया ! इयाणिं अरहओ मुंडे० जाव पव्वयाहि, अहे णं तुमे वारवतीए णयरीए महया २ रायाभिसेएणं अभिसिंचिस्सामि, तते णं से गयसुकुमालेणं कण्हेणं वासुदेवेणं एवं वुत्ते समाणे तुसिणीए संचिट्ठति, तं से गयसुकुमाले कण्हे वासुदेवे अम्मापियरो य दोच्चं तच्चं पि एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिए ! माणुसयाकामा खेलासवा पीतासवा० ०जाव विप्पजहियव्वा भविस्संति, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे अरहओ अरिट्ठनेमिस्स अंतिए० जाव पव्वइत्तए, तते णं ते गयसुकुमाले कण्हे वासुदेवस्स अम्मापिअरो य जाहे नो संचाएति, बहुयाहिं अणुलोमाहिं० जाव आघवित्तए वा पण्णवित्तए वा सन्नवित्तए वा ताहे अकामाइं चेव एवं वयासी–तं इच्छामो ए जाया ! एगदिवसमवि रज्जसिरिं पासित्ता ते निक्खमणं जहा महाबलस्स० जाव तमाणाते तहा० जाव संजमति। तते णं से गयसुकुमाले कुमारे अणगारे जाते इरियासमिइए० जाव गुत्तबंभचारी, तते णं से गयसुकुमाले जं चेव दिवसं पव्वतिए तस्सेव दिवसस्स पच्चावरण्हे कालसमयंसि जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता अरहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं वंदति, णमंसति, इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाते समाणे महाकालंसि सुसाणंसि एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति, से अहासुहं देवाणुप्पिए ! तते णं गय०अणगारे अरहा अरिट्ठनेमिस्स अब्भणुण्णाया समाणे अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता अरहतो अरिट्ठनेमिस्स अंतियाओ सहसंबवणाओ उज्जाणातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता जेणेव महाकाले सुसाणे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता थंडिल्लं पडिलेहेति, उच्चारपासवणभूमिं पडिलेहेति, इसिं पब्भारगतेणं० जाव दो वि पाए साहट्टु एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरति, इमं च णं सोमिले माहणे सामिधेयस्स अट्ठाए बारवतीओ नगरीओ बहिया पुव्वं निग्गते समिहाओ य दब्भे य कुसे य पत्तामोडं च गेण्हति, गेण्हतित्ता तओ पडिनियत्तइ, पडिनियत्तइत्ता महाकालस्स सुसाणस्स अदूरसामंते णं वीयीवयमाणे २ संझाकालसमयंसि पविरलमणुस्संसि गयसुकुमालं अणगारं पासति, पासतित्ता तं वयरं सरति, सरतित्ता आसुरत्ते एवं वयासी-एस णं जो गयसुकुमाले कुमारे ! अपत्थिय० जाव परिवज्जिते जेण ममं धूअं सोमसिरीए भारियाए अत्तए सोमं दारियं अदिट्ठदोसपतितं कालवत्तिणिं विप्पजहित्ता मुण्डे० जाव पव्वाए तं सेयं खलु ममं गयसुकुमालस्स कुमारस्स वेरणिज्जा तणं करेतते एवं संपेहाति, संपेहातित्ता दिसापडिलेहणं करेति, करेतित्ता सरसं मट्टियं गिण्हाति, जेणेव गयसुकुमाले अणगारे तेणेव उवागच्छति, गयसुकुमालस्स अणगारस्स मत्थए मट्टियापालिं बहाति, बहातित्ता जिलंती नो चिय गाऊ फुल्लियकिंसुयसमाणे खयरंगारे कभल्लेणं गेण्हति, गेण्हतित्ता गयसुकुमालस्स अणगारस्स मत्थए पक्खिवति, पक्खिवतित्ता भीते ४ ततो खिप्पमेव अवक्कमति, अवक्कमतित्ता जामेव दिसं पाउब्भूते तामेव दिसं पडिगए. तते णं से गयसुकुमालस्स अणगारस्स सरीरगंसि वेयणा पाउब्भूया उज्जला० जाव दुरहियासा तं से गये अणगारे सोमिलस्स माहणस्स पणसा वि अप्पदुस्समाणे तं उज्जलं० जाव दुरुअहियासेति, तते णं से गयसुकुमाले अणगारे तं उज्जलं० जाव अहियासेति, सुभेणं परिणामेणं पसत्थअज्झवसाणेणं तयावरणिज्जाण कम्माणं कम्मरयविकिरणकरं अपुव्वकरणं अणुप्पविट्ठस्स अणते अणुत्तरे० जाव केवलवरणाणदसणे समुप्पन्ने, तओ पच्छा सिद्धे० जाव सव्वदुक्खपहीणे तत्थ णं अहासन्निहं तेहिं देवेहिं सम्मं आराहित त्ति कट्टु दिव्वे सुराभिगंधोदए वड्ढे दसद्धवण्णे कुसुमे निवाडिते चेलुक्खेवे कते दिव्वे गीयं गंधव्वनिनाए यावि होत्था। तते णं से कण्हे वासुदेवे कल्लं पाउप्पभायाए० जाव जलंते ण्हाए० जाव विभूसिते ह-

त्थिखंधवरगते सकोरंटमल्लदामेणं छत्तेणं धरिज्जमाणे सेयवरचमाराहिं उद्धुवमाणीहिं २ महया भमचमगपहकरचंदपरिक्खित्ते बारवतिं नगरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव पहारत्थगमणाए. ततेणं से कण्हे वासुदेवे बारवतीए नगरीए मज्झं मज्झेणं निजेणं निग्गच्छमाणे एगं पुरिसं पासति जुण्णं जराजज्जरियदेहं० जाव किलंते महइमहालयाओ इट्टगरासीओ एगमेगं इट्टगं गहाय बहिया रत्थापहातो अंतोगिहं अणुप्पविसेमाणं पासति, पासतित्ता तं से कण्हे वासुदेवे तस्स पुरिसस्स अणुकंपणट्ठाए हत्थिखंधवरगते चेव एगं इट्टगं गेण्हति, गेण्हतित्ता बहिया रत्थपहातो अंतोगिहं अणुपविसति, तते णं कण्हेण वासुदेवेण एगाए इट्टगाए गहियाए समाणीए अणेगेहिं पुरिसएहिं से महालते इट्टगरासिं बहिया रत्थपहातो अंतोघरंसि अणुप्पविसिए, ततेणं से कण्हे वासुदेवे बारवतीए नयरीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छति, निग्गच्छतित्ता जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता० जाव वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता गयसुकुमालं अणगारं असेसमाणे अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, नमंसति, एवं वयासी–कहि णं भंते! से ममं सहोदरे कणीयसे भाया गजसुकुमाले अणगारे, जं णं अहं वंदामि, नमंसामि, तते णं अरहा अरिट्ठनेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी–साहिते णं कण्हा! गयसुकुमालेणं अणगारेणं अप्पणो अट्ठो, तते णं से कण्हे वासुदेवे अरहं अरिट्ठनेमिं एवं वयासी–कह णं भंते! गयसुकुमाले अणगारेणं साहितो अप्पणो अट्ठो?। तते णं से अरहा अरिट्ठनेमी कण्हं वासुदेवं० एवं खलु कण्हा! गयसुकुमालेणं अणगारेणं ममं कल्लं पच्चावरण्हकालसमयंसि वंदति, नमंसति, नमंसतित्ता एवं वयासी–इच्छा० जाव उवसंपज्जित्ता णं विहरति, तते णं तं गयसुकुमालं अणगारं एगे पुरिसे पासति, पासतित्ता आसुरुत्ते० जाव सिद्धे; तं एवं खलु कण्हा! गयसुकुमालेणं अणगारेणं साहितो अप्पणो अट्ठो; तते णं से कण्हे वासुदेवे अरहं अरिट्ठनेमिं एवं वयासी–से केणं भंते! से पुरिसे अप्पत्थिय० जाव परिवज्जेते, जेणं ममं सहोदरं कणीयसं भायं गयसुकुमालं अणगारं अकाले चेव जीवियाओ ववरोविति, तते णं अरहा अरिट्ठनेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी–मा णं कण्हा! तुमं तस्स पुरिसस्स पदोसमापज्जाहि, एवं खलु कण्हा! तेणं पुरिसेणं गयसुकुमालस्स अणगारस्स साहिज्जे दिण्णे। कहं णं भंते! तेणं पुरिसेणं गयसुकुमालस्स साहिज्जे दिण्णे?। तं अरहा अरिट्ठनेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी–से णूणं कण्हा! तुमं ममं पायं वंदिउं हव्वमागच्छमाणे बारवईए णयरीए एगं पुरिसं पासति० जाव अणुप्पविसति, जहा णं कण्हा! तुमे तस्स पुरिसस्स साहज्जे दिण्णे, एवामेव कण्हा! तेणं पुरिसेणं गयसुकुमालस्स अणगारस्स अणेगभवसयसहस्ससंचियं कम्मं उदीरमाणे बहुकम्मणिज्जरत्थं साहज्जे दिण्णे। तते णं से कण्हे वासुदेवे अरहं अरिट्ठनेमिं एवं वयासी–से णं भंते! पुरिसे मए कहं जाणियव्वे?। तए णं अरहा अरिट्ठनेमी सकण्हं वासुदेवं एवं वयासी–जया णं कण्हा! तुमं बारवतीए णयरीए अणुपविसमाणे पासित्ता ठितए चेव ठितिभेएणं कालं करिस्सइ, तं जे तुमं जाणेज्जासि, एस णं पुरिसे। तते णं से कण्हे वासुदेवे अरहं अरिट्ठनेमिं वंदति, नमंसति, जेणेव आभिसेयं हत्थिरयणं तेणेव उवागते, हत्थिं ओरुहति, ओरुहतित्ता जेणेव बारवती णयरी जेणेव सए गिहे तेणेव पहारत्थगमणाते तं तस्स सोमलस्स माहणस्स कल्लं० जाव जलंते अयमेयारूवे अज्झत्थिते ४ समुप्पण्णे। एवं खलु कण्हे वासुदेवे अरहं अरिट्ठनेमिं पायं वंदते निग्गए, तं णायमेयं अरहा, विण्णायमेयं अरहा, सुतमेयं अरहा, सिद्धमेयं अरहा भविस्सति, कण्हस्स वासुदेवस्स तं न नज्जति णं कण्हे वासुदेवे ममं केण वि कुमारेणं मारिस्सति ति कट्टु भीतो ४ सयातो गिहातो पडिनिक्खमति, पडिनिक्खमतित्ता कण्हस्स वासुदेवस्स बारवतिं णयरिं अणुपविस्समाणस्स पुरतो सियपक्खिं सपडिदिसिं हव्वमागते, तते णं से सोमले माहणे कण्हं वासुदेवं सहसा पासित्ता भीता ४ ठिविए चेव ठितिभेदेणं कालं करेति, धरणितलंसि सव्वंगेहिं धसति सन्निवडिते। तते णं से कण्हे वासुदेवे सोमलं माहणं पासति, पासतित्ता एवं वयासी–एस णं भो देवाणुप्पिया! सोमले माहणे अपत्थियपत्थिते० जाव परिवज्जिते, जेणं ममं सहोदरे कणीयसे भाया–गयसुकुमाले अणगारे अकाले चेव जीविताओ ववरोविउ त्ति कट्टु सोमिलं माहणं पाणेहिं कड्ढावेति, तं भूमिपाणएणं अब्भुक्खावेति, जेणेव सए गेहे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता सयं गेहं अणुप्पविट्ठे। एवं खलु जंबू! तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवतीए नगरीए जहा पढमए० जाव विहरति।

"तंसि तारिसयंसि" इत्यादौ यावत्करणात् शयनसिंहस्य वर्णकौ साधन्तौ (सुमिणे पासित्ता णं पडिबुद्धा० जाव इति) इतो यावत्करणात् हृष्टतुष्टा स्वप्नावग्रहं करोति, शयनीयात् पादपीठाद्वारोहति, राज्ञः निवेदयति। स तु पुत्रजन्म तत्फलमादिशति 'पाढग त्ति' स्वप्नपाठकशकुनिकानाकारयति, तेऽपि तदेवाऽऽदिशन्ति, ततो राज्ञी तदादिष्टमुपश्रुत्य (परिवहइ त्ति) सुखं सुखेन गर्भं परिवहतीति द्रष्टव्यमिति। (जवसुमिणेत्यादि) जपा वनस्पतिविशेषः, तस्य सुमनसः पुष्पाणि, रक्तबन्धुजीवकं लोहितबन्धुकं, तद्धि पञ्चवर्णमपि भवतीति रक्तग्रहणम्, लाक्षारसो यावकरसः, सरसपारिजातकम्, अम्लानसुरद्रुमविशेषकुसुमं. तरुणदिवाकर उदयद्दिनकरः, एतैः समा एतत्प्रभातुल्येत्यर्थः; प्रभा वर्णो यस्य स तथा, रक्त इत्यर्थः। तं सर्वस्य जनस्य नयनानां कान्तः

कमनीयोऽभिलषणीय इत्यर्थः। सर्वनयनकान्तस्तं (सुकुमाल त्ति) 'सुकुमालपाणिपायमित्यादि' वर्णको दृश्यः यावत् सुरूपमिति। (गयतालुयसमाणं) कोमलत्वरक्तत्वाभ्यां (रिउब्वेय इत्यादि) ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेदा-थर्वणवेदानां साङ्गोपाङ्गानां सारको धारकः, पारग इत्यादिवर्णको यावत्करणाद् दृश्यः। "वहुहिं" इत्यत्र वह्वीभिः कुब्जिकाभिः, यावत्करणाद् वामनकाभिः चेटिकाभिः परिक्षिप्ता इत्यादिवर्णको दृश्यः। (जहा मेहो महोलियावज्जं ति) यथा प्रथमे ज्ञाते मेघकुमारो मालां पिधयत्युरस्येवमयमपि, केवलं तत्र माता तं प्रतीदमुक्तम्, एतास्तव भार्याः सदृग्वयस्यः सदृशराजकुलेभ्यः तावदेताभिः सार्द्धं विषयसुखमित्यादि तदिह न वक्तव्यम्, अपरिणीतत्वात्। तस्य कियद् वक्तव्यं हि (जाव वड्डियकुल त्ति) त्वं जातोऽस्माकमिष्टः पुत्रो नेच्छामस्त्वया वियोगं सोढुं, ततोऽतुलान् भुङ्क्ष्व भोगान् यावद्वयं जीवाम इत्यत आरभ्य यावदस्मासु दिवं गतेसु परिणतवयाः वर्द्धिते कुलवंशे तं कुकार्ये निरपेक्षः सन् प्रव्राजिष्यतीति (खेलासवा) इह यावत्करणात् 'सुक्कासवा सोणियासवा' यावत् अवश्यं विप्रहातव्यः। (आघविसए त्ति) आख्यातुं, जणितुमित्यर्थः। (निक्खमणं जहा महाबलस्स त्ति) यथा भगवत्यां महाबलस्य निष्क्रमणं राज्याभिषेकशिविकारोहणादिपूर्वकमुक्तमेवमस्यापि वाच्यम्। किमित्याह-[जाव तमाणाए तहा जाव संजमइ त्ति] तस्य प्रव्रजितस्य किल भगवान् उपदिशति स्म-"एवं देवाणुप्पिया! चिट्ठियव्वं निसीयव्वं कुयट्टियव्वं भुंजियव्वं भासियव्वं एवं उट्ठाए उट्ठाए पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमेसं संजमियव्वं अस्सिं च णं अट्ठे नो पमायेयव्वं, तए णं से गयसुयमाले अणगारे भगवंतं अरहंतअरिट्ठनेमिस्स अंतिए इमं एयारूवं धम्मियं उवएसं सम्मं पडिच्छइ, पडिच्छमाणाए तह गच्छइ, तह चिट्ठइ, तह निसीयइ, तह कुयट्टइ, तह भुंजइ, तह भासइ, तह उट्ठाए पाणेहिं ४ संजमेणं संजमइ त्ति जं चेव दिवसं पव्वइए" इत्यादि गजसुकुमारमुनेः प्रतिमाप्रतिपत्तिरभिधीयते, तत्सर्वज्ञेनाऽरिष्टनेमिना उपदिष्टत्वादविरुद्धम्, इतरथा प्रतिमाप्रतिपत्तावयं न्यायो यथा-"पडिवज्जइ एयाओ संघयणधिइजुओ महासत्तो पडिमाओ भावियऽप्पासमं गुरुणा अणुण्णाओ गच्छे च्चिय निम्माओ ४ जा पुव्वा दसभवे असंपुण्णो नवमस्स तइ वत्थुं होइ जहण्णो सुयाभिगमो त्ति" (ईसिं पब्भारगतेणं ति) ईषद् वनसेन, यावत्करणात् एतत् द्रष्टव्यम्-"वग्घारियपाणी" प्रलम्बभुज इत्यर्थः। "अणिमिसणयणे सुक्कपोग्गलनिवद्धदिट्ठी" (सामिधेयस्स त्ति) समित (समिहाओ त्ति) इन्धनभूताः काष्ठिकाः (दब्भे त्ति) समूलान् दर्भान् (कुसेति) दर्भाग्राणीति (पत्तामोडयं च त्ति) शाखाशाखाशिखामोटितपत्राणि, देवताऽर्चनार्थानीत्यर्थः। (अदिट्ठदोसपइयं ति) दृष्टो दोषः चौर्यादिः यस्याः सा तथा सा चासौ पतिता च जात्यादेर्बहिष्कृता इति दृष्टदोषपतिता, न तथेत्यदृष्टदोषपतिता। अथ वा न दृष्टदोषे एतत्यदृष्टदोषपतिता (कालवत्तिणि त्ति) काले भोगकाले यौवने वर्तत इति कालवर्तिनी (विप्पजहित्ता) विप्रहाय (फुल्लियकिंसुयसमाणेति) विकसितपलाशकुसुमसमानान्, रक्तानित्यर्थः। खादिराङ्गारान् खदिरदार्वविकारभूतानङ्गारान्, (कभल्लेणं ति) 'कप्पउज्झभा' इत्यत्र यावत्करणात् वहव एकार्थाः, विपुलास्तीव्राः, चण्डा प्रगाढाः। 'कढी' कर्कशा इत्येवं अकुणा द्रष्टव्याः (अप्पदुस्समाणे त्ति) अप्रद्विषन्, प्रद्वेषमगच्छन्नित्यर्थः। (कम्मरयविकिरणकरं) कर्मरजोविक्षेपकम् (अपुव्वकरणं ति) अष्टमगुणस्थानकम् [अणंते] इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-" अणुत्तरे निव्वाघाए निरावरणे कसिणे पडिपुण्णे त्ति " सिद्धे इह यावत् करणात् "बुद्धे मुत्ते परिनिव्वुए त्ति" दृश्यम्। [गीतं गंधव्वनिनाए त्ति] गीतं सामान्यं, गन्धर्वं तु मृदङ्गादिनादसंमिश्रमिति। [भडचडगपहगरवंदपरिक्खित्ते] भटानां ये चटकरप्रकरा विस्तारवत्समूहास्तेषां यद्वृन्दं तेन परिक्षिप्तः [पहा रथगमणाए त्ति] गमनाय संप्रधारितवानित्यर्थः। (जुण्णं) इह यावत् करणात् (जराजज्जरियदेहं आउरं झुसियं) बुभुक्षितमित्यर्थः। 'पिवासियं दुब्बलं ति' द्रष्टव्यमिति। (महइमहालयाउ त्ति) महतः महत इष्टकाराशेः सकाशात् (वहुकम्मनिज्जरत्थं साहिज्जे दिन्ने त्ति) प्रतीतम् [ठितिभेएणं ति] आयुःक्षयेण भयाद्व्यवसानोपक्रमेणेत्यर्थः। [तन्नायमेयं अरहया ति] तदेवं ज्ञातं सामान्येन, एतद् गजसुकुमारमरणमर्हता जिनेन (मुयमेयं ति) स्मृतं पूर्वकाले ज्ञातं सत् कथनावसरे स्मृतं भविष्यति, विज्ञातं विशेषतः सोमिलेनैवमभिप्रायेण कृतमेतदित्येवमिति शिष्टं कृष्णवासुदेवाय प्रतिपादितं भविष्यतीति [सियपक्खि सपडिदिसं ति] सितपक्षं समानपार्श्वं सममेवेतरपार्श्वतया सप्रतिदिक् समानप्रतिदिक्तया अन्यार्थमभिमुख इत्यर्थः। अभिमुखागमने हि परस्परं समावेव दक्षिणवामपार्श्वौ भवतः। एवं विदिशावर्नीति। "एवं खलु जंबू ! समणेणं० जाव भगवया संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगडदसाणं तच्चस्स वग्गस्स अट्ठमस्स अज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति वेमीति " निगमनम्। अन्त० ४ वर्ग। संथा०। आ०म०। आ०चू०। आ०क०।

गया-गदा-स्त्री०। धातुपाषाणमयगोलकाग्रके लकुटविशेषे, स०। प्रश्न०। प्रहरणविशेषे, रा०। ज्ञा०। वासुदेवादीनां कौमोदकी नाम गदा। प्रव० २१२ द्वार। पाटलवृक्षे, वाच०।

गया-स्त्री०। गयो गयाऽसुरो गयनृपो वा कारणत्वेनास्त्यस्या अच्। पिण्डदानमुख्यतीर्थे, वाच०।

गयाणीय-गजानीक-न०। कुञ्जरकटके, उत्त० १८ अ०।

गयाणुगामि (ण्)-गतानुगामिन्-त्रि०। गतमनुगच्छति, दर्श०।

गयादिओसरण-गजाद्यपसरण-न०। प्रयत्नविशेषलक्षणे गजाश्वशिविकाप्रभृतिभ्यो देवावग्रहगमनप्रवणेभ्योऽवतरणे, पञ्चा० १२ विव०।

गयारोहणसिक्खा-गजारोहणशिक्षा-स्त्री०। हस्त्यारोहणाभ्यासलक्षणे कलाभेदे, स०।

गयावाय-गतापाय-त्रि०। अपायरहिते, निरपाये, षो० ११ विव०।

गयाहर-गदाधर-पुं०। कौमोदक्या गदाया धारके वासुदेवे, उत्त० ११ अ०।

गर-गर-पुं०। गरयत्याहारं स्तम्भयति कार्मणं वा गरः। ओघ०। कुद्रव्यसंयोगजे विषविशेषे, यो० बिं०। " अणेगाणं दव्वाविसद्दव्वाणं णिगरो अकालघायगो गरो जणति " नि० चू० १ उ०। अनुष्ठानभेदे, द्वा०।

दिव्यभोगाऽभिलाषेण, गरः कालान्तरे क्षयात् ॥ १२ ॥

दिव्यभोगस्याभिलाषः ऐहिकभोगानिरपेक्षस्य सतः स्वर्गसु-

स्वाऽल्लालक्षणः, तेनानुष्ठानं गर उच्यते, कालान्तरे भवान्तरलक्षणे क्रियाऽद्योगात् पुण्यनाशेनाऽनर्थसंपादनात्। गरो हि कुद्रव्यसंयोगजो विषविशेषः, तस्य च कालान्तरे विषमविकारः प्रादुर्भवतीति उभयापेक्षाजनितमतिरिच्यते नोभयापेक्षायामप्यधिकस्य बलवत्त्वादिति संभावयामः। द्वा० १३ द्वा०। यो० विं०। वधादिकरणानामन्यतमे, जं० ७ वक्ष०। उत्त०। विशे०। आ० म०। आ० चू०। सूत्र०। रोगे, दूष्ये, निगरणे च। वाच०।

गरलिगावद्ध–गरलिकाबद्ध–त्रि०। निक्षिप्ते, नि० चू० १ उ०।

गरहंत–गर्हमाण–त्रि०। निन्दति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ०।

गरहणया–गर्हणा–स्त्री०। परसमक्षमात्मदोषोद्भावने, भ० १७ श० ३ उ०। अपरलोकानां पुरतः स्वदोषप्रकाशने, उत्त०।

गरहणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। गरहणयाए अपुरेक्कारं जणयइ, अपुरेक्कारगए णं जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ, पसत्थे य पडिवज्जइ, पसत्थजोगपडिवन्ने य णं अणगारे अणंतघाइपज्जवे खवेइ ॥ ७ ॥ सामाइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥ ८ ॥ चउव्वीसत्थएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ ॥ ९ ॥ वंदणएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ, उच्चागोयं कम्मं निबंधइ, सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ॥ १० ॥ पडिक्कमणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। पडिक्कमणेणं वयच्छिद्दाणि पिहेइ, पिहियच्छिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ ॥ ११ ॥ काउस्सग्गेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नपायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरो व्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ ॥ १२ ॥ पच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीयलभूए विहरइ ॥ १३ ॥

कश्चिदात्मनोऽत्यन्तदुष्टतां परिभावयन् न निन्दामात्रेण तिष्ठेत् किन्तु गर्हामपि कुर्यादिति तामाह–(गरिहणयाए त्ति) गर्हणेन परसमक्षमात्मनो दोषोद्भावनेन (अपुरेक्कारं ति) पुरस्करणं पुरस्कारः, गुणवानयमिति गौरवाध्यारोपः, न तथाऽपुरस्कारोऽवज्ञाऽऽस्पदत्वं, तं जनयति, आत्मन इति गम्यते। तथा चापुरस्कारं गतः प्राप्तोऽपुरस्कारगतः सर्वत्रावज्ञाऽऽस्पदीभूतो जीवः कदाचित् कदध्यवसायोत्पत्तावपि तद्भीतित एवाप्रशस्तेभ्यः कर्मबन्धहेतुभ्यो योगेभ्यो निवर्त्तते, न तान् प्रतिपद्यते, प्रशस्तयोगांस्तु प्रतिपद्यते इति गम्यते। (पसत्थजोगे पडिवन्ने य त्ति) प्रतिपन्नप्रशस्तयोगोऽनगारोऽनन्तविषयतयाऽनन्ते ज्ञानदर्शने हेतुं शीलं येषां तेऽनन्तघातिनस्तान् पर्यवान् प्रस्तावाद् ज्ञानावरणादिकर्मणः, तद्घातित्वलक्षणान् परिणतिविशेषान् क्षपयति क्षयं नयति, पर्यवाभिधानं च तद्रूपतयैव द्रव्यस्य विनाश इति ख्यापनार्थम्। उपलक्षणं चैतत् मुक्तिप्राप्तेः, तदर्थत्वात् सर्वप्रयासस्य, एवमनुक्ताऽपि सर्वत्र मुक्तिप्राप्तिरेव फलत्वेन द्रष्टव्या ॥ ७ ॥ आलोचनादीनि सामायिकवत एव तत्त्वतो भवन्तीति उच्यते–सामायिकेनोक्तरूपेण सहावद्येन वर्तत इति सावद्याः कर्मबन्धहेतवो योगा व्यापाराः, तेभ्यो विरतिरुपरमः सावद्ययोगविरतिः, तां जनयति, तद्विरत्या सहितस्यैव सामायिकसंभवात्। न चैवं तुल्यकालत्वेनानयोः कार्यकारणभावासंभव इति वाच्यम्, केषुचित् तुल्यकालेष्वपि वृक्षच्छायाऽऽदिवत् कार्यकारणभावदर्शनात्, एवं सर्वत्र भावनीयम् ॥ ८ ॥ सामायिकं च प्रतिपत्तुकामेन तत्प्रणेतारः स्तोतव्याः। ते च तत्त्वतस्तीर्थकृत एवेति तत्स्तवमाह–चतुर्विंशतिस्तवेनैतदवसर्पिणीप्रभवतीर्थकृदुत्कीर्तनात्मकेन दर्शनं सम्यक्त्वं, तस्य विशुद्धिस्तदुपघातिकर्मापगमतो निर्मलीभवनं दर्शनविशुद्धिस्तां जनयति ॥ ९ ॥ स्तुत्वाऽपि तीर्थकरान् गुरुवन्दनकपूर्विकैव तत्प्रतिपत्तिरिति तदाह–वन्दनकेनाचार्याद्युचितप्रतिपत्तिरूपेण नीचैर्गोत्रमधमकुलोत्पत्तिनिबन्धनं कर्म क्षपयति। उच्चैर्गोत्रं तद्विपरीतरूपं निबध्नाति। सौभाग्यं च सर्वजनस्पृहणीयतारूपमप्रतिहतं सर्वत्राऽप्रतिस्खलितमत एवाज्ञा यथोदितवचनप्रतिरूपा फलं प्रयोजनमस्येत्याज्ञाफलं निर्वर्तयति। तद्वतो हि प्राय आदेयकर्मणोऽभ्युदयसंभवादादेयवाक्यताऽपि संभवति। दाक्षिण्यभावं चानुकूलभावं च जनयति, लोकस्येति गम्यते। तन्माहात्म्यतोऽपि सर्वः सर्वावस्थास्वनुकूल एव भवति ॥ १० ॥ एतद् गुणस्थितेनापि मध्यमतीर्थकृतां तीर्थेऽस्खलितसंभवे पूर्वपश्चिमयोस्तु तदभावेऽपि प्रतिक्रमितव्यमिति। प्रतिक्रमणमाह–प्रतिक्रमणेनाऽपराधेभ्यः प्रतीपनिवर्तनात्मकेन व्रतानां प्राणातिपातनिवृत्त्यादीनां छिद्राण्यतीचाररूपाणि विवराणि व्रतच्छिद्राणि पिदधाति स्थगयति, अपनयतीति यावत्। तथाविधश्च कं गुणमवाप्नोतीति ?। आह–पिहितच्छिद्रः पुनर्जीवो निरुद्धाश्रवः, सर्वथा हिंसाद्याश्रवाणां निरुद्धत्वात्। अत एवाशबलं शबलस्थानैरकर्बुरीकृतं चारित्रं यस्य स तथाऽष्टसु प्रवचनमातृषूक्तरूपासु उपयुक्तोऽवधानवान्, तत एवाविद्यमानं पृथक्त्वं प्रस्तावात् संयमयोगेभ्यो वियुक्तत्वस्वरूपं यस्यासावपृथक्त्वः, सदा संयमयोगवान् अप्रमत्तो वा, पाठान्तरात्तथा सुप्रणिहितः सुष्ठु संयमे प्रणिधानवान्, पाठान्तरतो वा सुष्ठु प्रणिहितान्यसन्मार्गात् प्रच्याव्य सन्मार्गे व्यवस्थापितानीन्द्रियाण्यनेनेति सुप्रणिहितेन्द्रियो विहरति संयमाध्वनि यातीति ॥ ११ ॥ अत्र चातीचारशुद्धिनिमित्तं कायोत्सर्गः कर्तव्य इति तमाह–कायः शरीरं, तस्योत्सर्ग आगमोक्तनीत्या परित्यागः कायोत्सर्गः, तेनातीतं चेह चिरकालभावित्वेन प्रत्युत्पन्नमिव प्रत्युत्पन्नं चासन्नकालभावितयाऽतीतप्रत्युत्पन्नं प्रायश्चित्तमुपचारात् प्रायश्चित्तार्हमतीचारं विशोधयति। तदुपार्जितपापाऽपनयतोऽपनयति, विशुद्धप्रायश्चित्तश्च जीवो निर्वृतं स्वस्थीकृतं हृदयमन्तःकरणमस्येति निर्वृतहृदयः, क इव (ओहरिय त्ति) अपहृत्योपसारितो भर इति भारो यस्मात्स तथा इवेति भिन्नक्रमः। ततो भारं वहतीति मूलविभुजादेराकृतिगणत्वात् कप्रत्यये भारवहो वाहीकादिः, स इव। भारप्राया हि अतीचाराः, ततः तदपनयने अपहृतभरभारवह इव निर्वृतहृदयो

भवतीति भावार्थः। स च ध्यानं धर्माद्युपगतः प्राप्तो धर्मध्यानोपगतः,पाठान्तरतः प्रशस्तध्यानध्यायी सुखं सुखेन सुखपरम्पराबाप्त्या विहरति इहपरलोकयोरव्यतिष्ठते, इहैव जीवन्मुक्तावास्तेरिति भावः ॥ १२ ॥ एवमप्यगृद्ध्यमाने प्रत्याख्यानं विधेयमिति तदाह—(पच्चक्खाणेणं ति) ॥१३॥ उत्त० २ अ० ।

गरहणिज्ज–गर्हणीय–त्रि०। निन्दनीये, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

गरहितए–गर्हितुम्–अव्य० । गुरुसमक्षमतीचारान् जुगुप्सितुमित्यर्थे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गरहित्ता–गर्हित्वा–अव्य०। समक्षं निन्दित्वेत्यर्थे,आचा०३ चू०।

गरहिय–गर्हित–त्रि०। निन्दिते, दश० ६ अ०। सूत्र० । कुत्साऽऽस्पदे, पं० सू० १ सूत्र । निन्द्ये गालीप्रदाने, पञ्चा० ६ विव० । जुगुप्सिते मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगे कर्मबन्धहेतौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । लोकलोकोत्तरयोरनादरणीयतया निन्दनीये मद्यमांससेवनपरदारगमनादिपापस्थाने, ध० १ अधि० । अवद्ये, आ० चू० १ अ० ।

गरहियकुल–गर्ह्यकुल–न० । दास्यादिकुले, आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

गरहियमिच्छायार–गर्हितमिथ्याचार–त्रि० । गर्हिता निन्दिता मिथ्याचारा अमोक्षमार्गसमाचारा मिथ्यात्वाविरतिकषायदुष्प्रयोगलक्षणा अनन्तकालासेविता ये ते तथा । आसेवितमिथ्यात्वादिदुष्प्रयोगे, पञ्चा० २ विव० ।

गरहियव्व–गर्हितव्य–त्रि० । परसमक्षं निन्दितव्ये, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार ।

गरिमा–पुं० स्त्री०–गरिमन्–पुं० । गुरुत्वप्राप्तौ, द्वा० २६ द्वा० । गुरोर्भाव इमनिच्, गरादेशः । "वेमाञ्जल्याद्याः स्त्रियाम्" । ८ । १ । ३५ । 'एसा गरिमा' 'एस गरिमा' प्रा० १ पाद । वज्रवद्गुरुत्वप्राप्तौ योगे सिद्धिभेदे, द्वा० २६ द्वा० । सूत्र० । गुरुत्वगुणे च । वाच० ।

गरिहा–गर्हा–स्त्री० । 'गर्ह' 'गल्ह' कुत्सायाम् । 'गुरोश्च हलः' ३।३।१०३। (पाणि०) इत्यकारः। टाप्। आव० ४ अ०। "र्हश्रीह्रीकृत्स्नक्रियादिष्ट्यास्वित्" ।८ ।२ ।१०४। इत्यन्त्यव्यञ्जनात्पूर्व इकारः। प्रा० २ पाद । प्राकाश्ये, आ० चू० ४ अ० । परसमक्षं दोषोद्भावने, आतु० । आ०चू० । दश० । गुरुसमक्षमात्मनो निन्दायाम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । पा० । आ०म० । प्रति० । "सचरित्तपच्छयावो णिंदा गरिहा गुरुसमक्खं" पा० । स्था० । ह्रा० । सा च नामादिभेदात् षोढा भवति । तथा चाह–" नामं ठवणा दविए, खित्ते काले य भावे य । एसो खलु गरिहाए, निक्खेवो छव्विहो होइ " ॥ तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्यगर्हा तापसादीनां स्वगुर्वालोचनाद्यनुपयुक्तस्य सम्यग्दृष्टेरुपयुक्तस्य वा निह्नवस्येत्यादि भावार्थो वक्तव्यो यावत् प्रशस्तयेहाधिकारः । आव० ४ अ० । पा० । सूत्र० ।

द्रव्यगर्हायां पतिमारिकादृष्टान्तः–

"एकत्राऽध्यापको विप्र–स्तस्यासीत् तरुणी प्रिया ।
छात्रे भर्त्रा बलिं देहि, काकेभ्यः साऽभ्यवोचत ॥ १ ॥
बिभेम्यहमिति च्छात्राः, उपाध्यायनिदेशतः ।
रक्षन्ति वारकेणैतां, तत्रैकोऽचिन्तयत्सुधीः ॥ २ ॥
न मुग्धा किं त्वसत्येषा, स तच्चरितमीक्षते ।
नर्मदाऽपरकूले च, गोपेन सममस्ति सा ॥ ३ ॥
नर्मदां निशि कुम्भेनो–त्तरन्ती चास्ति साऽन्यदा ।
सन्त्युत्तरन्तश्चौराश्च, तेष्वेको जलजन्तुना ॥ ४ ॥
आत्तो रुदंस्तया प्रोचे, पिधेह्यक्षीणि मुच्यसे ।
मुक्तस्तथाकृतेऽथोचे, कुतीर्थेऽवततार किम् ? ॥ ५ ॥
स तच्छ्रुत्वा निवृत्तोऽथ, द्वितीयेऽहनि खण्डिकः ।
बलिं ददानां दृष्ट्वैतां, मन्दस्वरमवोचत ॥ ६ ॥
दिवा बिभेषि काकेभ्यो, रात्रौ तरसि नर्मदाम् ।
कुतीर्थानि च जानासि, जलजन्त्वक्षिरोधनम् ॥ ७ ॥
साऽवदत् किं करोम्यत्र, यच्छेच्छन्ति भवादृशाः ।
उपाचचार तं साऽथ, स ऊचेऽध्यापकात् त्रपे ॥ ८ ॥
सा दध्यौ मारयाम्येनं, भर्ताऽसौ स्याद् यथा मम ।
विनाश्य पिटके क्षिप्त्वा, गताऽटव्यां तमुज्झितुम् ॥ ९ ॥
व्यन्तर्याऽस्तम्भि पिटकं, मूर्ध्नि साऽथ वनेऽभ्रमत् ।
गलत्युपरि मांसं त–द्भक्ष्यमाणाऽथ सा क्षुधा ॥ १० ॥
उद्विग्ना स्वचरित्रेण, गर्हते स्वं गृहे गृहे ।
व्रतं साऽथाऽग्रहीदेवं, कार्या दुष्कृतगर्हणा" ॥११॥ आ० क० ।

द्रव्यनिन्दायां चित्रकसुता उदाहरणम्–" सा जहा रएणा परिणीया अप्पाणं निंदियाइया तहा करेयव्वा, हेठा कहाणगं कहियं ति पुणो न भएणइ ॥"

भावनिन्दायां सुबहून्युदाहरणानि योगसंग्रहे वक्ष्यन्ते । लक्षणं पुनरिदम्–

" हा दुट्ठ कयं हा दु–ट्ठु कारियं अणुमयं ह त्ति ।
अंतो अंतो डज्झइ, पच्छातावेण वेवंतो ॥
गरिहा वि तहा जाई–यमेव नवरं परप्पगासणया ।
दव्वम्मि य मरुयाणं, भावेसु बहू उदाहरणा " ॥

गर्हाऽपि तथाजातीयैव निन्दाजातीयैव, नवरमेतावान् विशेषः, प्रकाशनया गर्हा भवति । किमुक्तं भवति ?–या गुरोः प्रत्यक्षं जुगुप्सा सा गर्हेतिवचनात् । साऽपि नामादिभेदाच्चतुर्विधा । तत्र नामस्थापने अनादृत्याह–द्रव्ये द्रव्यगर्हायां मरुकोदाहरणम् । तच्चेदम्–"आणंदपुरे मरुओ एहुसाए समं संवासं काऊण उवज्झायस्स कहेइ । जहा–सुमिणए एहुसाए समं वासं गतो मि त्ति ।" भावगर्हायां साधुरुदाहरणम् । "गंतूण गुरुसमीवं, काऊण य अंजलिं विणयमूलं । अहमप्पणा तह परे, जाणावि ण एस गरिहाओ" ॥ १ ॥ आ० म० द्वि० । पा० । विशे० ।

द्वे गर्हे—

दुविहा गरिहा पएणत्ता । तं जहा–मणसा वेगे गरिहइ, वयसा वेगे गरिहइ । अहवा गरिहा दुविहा पएणत्ता । तं जहा–दीहं एगे अद्धं, हस्सं एगे अद्धं ॥

विधानं विधा, द्वे विधे भेदौ यस्याः सा द्विविधा, गर्हणं गर्हा, दुश्चरितं प्रति कुत्सा । सा च स्वपरविषयत्वेन द्विविधा । साऽपि मिथ्यादृष्टेरनुपयुक्ता, सम्यग्दृष्टेश्च द्रव्यगर्हा, अप्रधानगर्हेत्यर्थः । द्रव्यशब्दस्याप्रधानार्थत्वात् । उक्तं च–"अप्पाहन्ने वि इहं, कत्थइ दिट्ठो दु दव्वसद्दो त्ति । अंगारमद्दओ जह–दव्वायरिओ सया भ-

च्चो त्ति "॥ सम्यग्दृष्टेस्तत्प्रयुक्तस्य भावगर्हेति चतुर्थो, गर्हणीयभेदात्। बहुप्रकारा वा,सा चेह करणापेक्षया त्रिविधोक्ता। तथा चाह-(मणसा वेगे गरिहइ त्ति) मनसा चेतसा, वाशब्दो विकल्पार्थोऽवधारणार्थो वा। ततो मनसैव, न वाचेत्यर्थः। कायोत्सर्गस्थो दुर्मुखसुमुखाभिधानपुरुषद्वयनिन्दितोऽनभिभूतस्तत्सुतनोपलब्धसामन्तपरिभूतस्वतनयराजवार्तो मनसा समारब्धपुत्रपरिभवकारिसामन्तसंग्रामो वैकल्पिकप्रहरणक्षये स्वतीर्थकप्रहरणार्थव्यापारितहस्तसंस्पृष्टलुञ्चितमस्तकस्ततः समुपजातपश्चात्तापानलज्वालाकलापदन्दह्यमानसकलकर्मेन्धनो राजर्षिः प्रसन्नचन्द्र इव एकः कोऽपि साध्वादिर्गर्हते जुगुप्सते, गर्हामिति गम्यते। तथा वचसा वा वाचा,अथवा वचसैव न मनसा,भावतो दुश्चरितादिरक्तत्वाज्जनरञ्जनार्थं गर्हाप्रवृत्ताङ्गारमर्दकादिप्रायसाधुवत् एकोऽन्यो गर्हते इति। (अथवा मणसा वेगे गरिहइ त्ति) इह अपि च संभावने, तेन संभाव्यते अयमर्थोऽपि-मनस्यैको गर्हते, अन्यो वचसेति। अथवा मनसाऽपि न केवलं वचसा एको गर्हते, तथा वचसाऽपि न केवलं मनसा एक इति, स एव गर्हते, उभयथाऽप्येक एव गर्हत इति भावः। अन्यथा गर्हाद्वैविध्यमाह-(अहवेत्यादि) अथवेति पूर्वोक्तद्वैविध्यप्रकारापेक्षया द्विविधा गर्हा प्रज्ञप्तेति। प्रागिव अपिः संभावने। तेन अपि दीर्घां बृहतीं अद्धां कालं यावदेकः कोऽपि गर्हते गर्हणीयम, आजन्मापीत्यर्थः। अन्यथा वा दीर्घत्वं विवक्षया भावनीयम,आपेक्षितत्वात् दीर्घह्रस्वयोरिति। एवमपि ह्रस्वामल्पां यावदेकोऽन्य इति। अथ वा दीर्घामेव यावद्, ह्रस्वामेव यावदिति व्याख्येयम, अपेरवधारणत्वादिति। एक एव वा द्विधा कालभेदेन गर्हते, भावभेदादिति। स्था० २ ठा०१ उ०।

तिस्रो गर्हाः—

तिविहा गरिहा पन्नत्ता। तं जहा-मणसा वेगे गरहइ, वयसा वेगे गरहइ,कायसा वेगे गरहइ,पावाणं कम्माणं अकरणयाए। अहवा गरहा तिविहा पन्नत्ता। तं जहा-दीहं वेगे अद्धं गरहइ,रहस्सं वेगे अद्धं गरहइ, कायं वेगे पडिसाहरइ पावाणं कम्माणं अकरणयाए॥

(दीहं वेगे अद्धं ति) दीर्घं कालं यावदित्यर्थः। तथा कायमप्येकः प्रतिसंहरति निरुणद्धि,कथा?-पापानां कर्मणामकरणतया हेतुभूतया, तदकरणेन तदकरणतायै वा तेभ्यो गर्हते, कायं वा प्रतिसंहरति तेभ्योऽकरणतायै। स्था० ३ ठा० १ उ०।

ज्ञानदर्शनचारित्रगर्हा। अथ त्रिविधां गर्हां व्याचिख्यासुस्तत्स्वरूपं तावदाह-

सीसो कंपण गरिहा, हत्थ विलंबिय अहो य हक्कारो।
वेला कण्णा य दिसा, अवत्तु णामं ण घेत्तव्वं॥

गर्हा नाम शैक्षेण पृष्टः सन् शीर्षाऽऽकम्पनं करोति, हस्तौ वा धुनीते,विलम्बितानि वा करोति, हस्तावोष्ठौ वा विलम्बयतीत्यर्थः। यद्वा-ब्रवीति-अहो प्रव्रज्या,हाकारं वा करोति-हा हा कष्टं यदेवं नष्टो लोकः (वेल त्ति) नामापि तस्य न वर्तते अस्यां वेलायां ग्रहीतुमिति, कर्णौ वा तदीयनामग्रहणे स्थगयति, यस्यां वा दिशि स तिष्ठति तस्यां न स्थातव्यमिति ब्रवीति। उपलक्षणत्वादक्षिणी वा निमीलयति। यद्वा-नामापि तस्य निरक्षपैर्न ग्रहीतव्यम्। अतः आस्तामेतद्विषयं पृच्छादिकमिति।

णाणे दंसणचरणे, सुत्ते अत्थे य तदुभये चेव।
अह होति तिहा गरिहा, कायो वाया मणो वा वि॥

ज्ञाने दर्शने चारित्रे चेति त्रिविधा गर्हा भवति। तत्र ज्ञानगर्हा नाम-ननु पठितैव किं तदीयेन ज्ञानेन। दर्शनगर्हा तु मिथ्यादृष्टिर्नास्तिकप्रायोऽसौ। चारित्रगर्हा-सातिचारं चारित्रोऽचारित्रो वाऽसौ। अथवा-सूत्रे अर्थे तदुभये चेति त्रिविधा गर्हा। तत्र सूत्रं तस्य शङ्कितस्खलितमर्थं पुनरवबुध्यते १। यद्वा-अर्थं नावबुध्यते सूत्रं पुनरागच्छति २। उभयमपि वा तस्याविशुद्धं न जानाति वा किमपीति ३। अथ वा कायवाग्मनोभेदात् त्रिधा गर्हा। तत्र कायगर्हा-तेषामाचार्याणां शरीरं हुण्डादिसंस्थानं, विरूपं वा। वाग्गर्हा-मन्मनं काहलं वा ते जल्पन्ति। मनोगर्हा-न तेषां तथाविधमूहापोहपाटवं तथा ग्रहणसामर्थ्यमिति। अथवा त्रिविधा गर्हा भवति।

प्रकारान्तरेण गर्हामेवाह-

पव्वयसि आम कस्स, त्ति सकासे चामुगस्स निद्दिट्ठो।
आयपराधिगसंसी, उवहणति परं इमेहिं तु॥

कोऽपि शैक्षकेणापि साधुना पृष्टः-प्रव्रजसि त्वम्। स प्राह-आमम्। कस्य सकाशे इति पृष्टः सन् भूयोऽप्याह-अमुकस्य समीपे। एवं निर्दिष्टे उक्ते स साधुरात्मानं परस्मादधिकं शंसितुमाख्यातुं शीलमस्य इत्यात्मपराधिकशंसी परमेभिः वचनैरुपहन्ति।

तद्यथा—

अबहुस्सुताऽविसुद्धं, अहछंदा तेसुवाधिसंसग्गि।
ओसण्णा संसग्गी, व तेसु एक्केक्कए दुन्नि॥

अहं बहुश्रुतः, सोऽबहुश्रुतः। अहं विशुद्धपाठकः, स पुनरविशुद्धपाठी। यद्वा-यथाच्छन्दास्ते आचार्यास्तैर्वा यथाच्छन्दैः सह ते गाढतरं संसर्गिणः,गाथायां तृतीयार्थे सप्तमी। अवसन्ना वा तैः सार्द्धं संसर्गिणो वा, एवं पार्श्वस्थादावप्येकैकस्मिन् भेदौ द्वौ द्वौ दोषावेवमेव वक्तव्यौ।

अथ कायवाङ्मनोगर्हामेव प्रकारान्तरेणाह-

सीसोकंपण हत्थे, कण्ण दिसा अच्छि काइगी गरिहा।
वेला अहो य ह त्ति य, णामं ति य वायगी गरिहा॥

शीर्षकम्पनं,हस्तविलम्बनं, कर्णमोटनम,अन्यस्यां दिशि स्थानम, अक्षिनिमीलनम् अनिमिषलोचनस्य वीक्षणमवस्थानम, एषा सर्वाऽपि कायिकी गर्हा। यत्तु यस्यां वेलायां नाम न ग्रहीतव्यम अहो कष्टं हाहाकारकरणं नाम च तस्य कदापि न ग्रहीतव्यमित्यादिभाषणम्, सा वाचिकी गर्हा।

अह मानसिगी गरिहा, सूइज्जति णेत्तवत्तरागेहिं।
धीरत्तणेण य पुणो, अभिणंदइ णावि तं वयणं॥

अथानन्तरं मानसिकी गर्हा-मनसि तमाचार्यं जुगुप्सते। कथमेतत् ज्ञायते?, इत्याह-नेत्रवक्त्रयोः संबन्धिनो ये रागा मुकुलनविच्छायीभवनादयो विकारास्तैः सूच्यते मानसिकी गर्हा इति, भणिते साधिदं कृत्यमेतद्व्याख्यानमित्यादिवचोभिर्न तदीयं वचनमभिनन्दते, धीरतया वा तूष्णीकमास्ते, एवमन्यतरस्मिन् गर्हाप्रकारे कृते तस्य शङ्का भवति-अवश्यमकार्यकारी स आचार्यादिः संभाव्यते, न चामी साधवोऽलीकं भाषन्ते, अहमपि तत्र गत आत्मानं नाशयिष्यामीति।

एताणि य अण्णाणि य, विप्परिणामणपदाणि सेहस्स ।
उवहिणियडिप्पहाणा, कुव्वंति अणिज्जुया केई ॥

एतानि चाऽनन्तरोक्तानि अन्यानि च द्रव्यक्षेत्रकालभावाः शैक्षस्य विपरिणामनपदानि भवन्ति। तत्र द्रव्यतो-मनोज्ञाहारादि ददाति। क्षेत्रतः-प्रवातनिवाते मनोऽनुकूले प्रदेशे तं स्थापयति। कालतो-वेलायामेव भोजयति । भावतः-तस्याकर्षणार्थं हितमधुरमुपदेशं ददाति। एवं केचिदनृजुकाः शठा उपधिः परवञ्चनाऽभिप्रायो, निकृतिः कैतवार्थं प्रयुक्तवचनाकाराच्छादनं, ते प्रधाने येषां ते तथाविधा विपरिणामनपदानि कुर्वन्ति ।

उपसंहरन्नाह-

एएमाममयरं, कप्पं जो अतिचरे अ लोभेण ।
थेरे कुलगणसंघे, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

एतेषामव्याहतादिद्वारकलापप्रतिपादितानां कल्पानामन्यतरकल्पं विधाय आचार्यादिर्लोभदोषतोऽतिचरेत् अतिक्रामेत्, तं सम्यग् ज्ञात्वा कुलगणस्थविरं कुलादिसमवायेन वा तस्य पार्श्वात् तं शैक्षमाकृष्य चत्वारो मासा गुरुकास्तस्य प्रायश्चित्तं दातव्यम् । अथ स्थविरैः समवायेन वा भणितोऽपि तं शैक्षं न समर्पयति ततः कुलगणसंघबाह्यः क्रियते। बृ० ३ उ०। नि०चू०। (गर्हासंयमोऽगर्हासंयम इति 'कालासवेसिय' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४१७ पृष्ठे उक्तः)। शल्योद्धरणे, "णिंदा गरह विउट्टा, सल्लुद्धरणं च एगट्ठा"। ओघ०। मृषावादभेदे, गर्हा तु त्रिधा। एका सावद्यव्यापारप्रवर्तिनी। यथा-क्षेत्रं कृषेत्यादि । द्वितीया अप्रियाकाणं काणं वदतः। तृतीया आक्रोशरूपा। यथा-अरे बान्धकिनेय ! इत्यादि। धर्म० २ अधि०। दश०।

गरुअ--गुरुक-पुं०। "गुरौ के वा"। ८।१।१०९। गुरौ स्वार्थे के सति आदेरुतोऽद् वा भवति। 'गरुओ। गुरुओ' प्रा० १ पाद। अधःपतनहेतावयोगोलकादिगते स्पर्शे, अनु० । वज्रादिवद् गुरुकस्पर्शपरिणते, प्रज्ञा० १ पद। गरीयसि, पञ्चा० ६ विव०। महाशिलादिके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। "गुरुयं जणति" गुरुकं बादरं स्वस्य जिह्वाच्छेदनाधर्थकम्। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। ('अगरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५८ पृष्ठेऽस्य दण्डकः)

गरुअणिवइय-गुरुकनिपतित-न० । विद्युदादिगुरुकद्रव्यनिपातजनितध्वनौ, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

गरुअत्त-गुरुकत्व-न०। अधस्तात्गमनहेतुभूते अशुभकर्मोपचये, भ०। "कह णं भंते ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति ? । गोयमा ! पाणाइवाएणं मुसावाएणं अदिण्ण-मेहुण-परीसह-कोह-माण-माया-लोह-पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुन्न-रति-अरति-परपरिवाय-माया-मोस-मिच्छादंसणसल्लेणं एवं खलु गोयमा ! जीवा गरुयत्तं हव्वमागच्छंति" भ०१ श० ९ उ०। आ० म०। (कथं गुरुकत्वं कथं वा लघुकत्वं जीवा गच्छन्तीति 'कम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २४४ पृष्ठे उक्तम्)

गरुआअ-गुरुकाय-धा०। अगुरुर्गुरुर्भवति, गुरु-क्यङ्। अगुरोर्गुरोरिवाचरणे, "क्यङो यलुक्" ।८।३।१३८। क्यङन्तस्य यलोपः। 'गरुआइ। गरुआअइ'। प्रा० ३ पाद।

गरुई-गुर्वी-स्त्री०। 'उतो मुकुलादिष्वत्'। ८।१।१०७। इत्यादेरुतोऽत्वम्। प्रा० १ पाद। ज्येष्ठायाम्, पञ्चा० ६ विव०। 'जा जस्स वा गरुगीयते, जा इत्थी जस्स साहुस्स। माउलदुहियादिया भव्वा सा गरुगी भण्णति। नि० चू० १ उ०।

गरुय-गुरुक-पुं०। 'गरुअ' शब्दार्थे, प्रा० १ पाद।

गरुयणिवइय-गुरुकनिपतित-न०। 'गरुअणिवइय' शब्दार्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

गरुयत्त-गुरुकत्व-न०। 'गरुअत्त' शब्दार्थे, भ० १ श० ९ उ०।

गरुवी-गुर्वी-स्त्री०। "तन्वीतुल्येषु" ८।२।११३। इति अन्त्यव्यञ्जनस्योकारः। प्रा० २ पाद। गुरुत्वविशिष्टायां, गर्भवत्याम्, वाच०।

गरुल-गरुड-पुं०। "डो लः" ।८।१।२०२। इति डस्य लः। प्रा० १ पाद। वेणुदेवापरनामके गरुडमनि पक्षिराजे, "पक्खीसु वा गरुले वेणुदेवे" सूत्र० १ श्रु० ६ अ०। पञ्चकूटशाल्मलीषु, पञ्च गरुडाः वेणुदेवाः स्था० १० ठा०। मानुषोत्तरपर्वतस्य "दक्खिणपुव्वेणं रयणकूडा गरुलस्स वेणुदेवस्स" द्वी०। गरुडलाञ्छनत्वात् सुपर्णकुमारे भवनपतिविशेषे, स० ५२ सम०। औ०। तं०। भ०। कल्प०। जं०। प्रश्न०। रा०। ज्ञा०। "गरुलायतउज्जुतुंगनासा"। गरुडस्येवायता दीर्घा ऋज्वी अकुटिला तुङ्गा उन्नता नासा नासिका येषां ते गरुडायतदीर्घतुङ्गनासाः। प्रज्ञा० २ पद। जी०। स्था०। 'महापउमरुक्खस्स' अधिष्ठातृदेवे, स्था० २ ठा० ३ उ०।

गरुलकेउ-गरुडकेतु-पुं०। गरुडध्वजे वासुदेवे, स०।

गरुलगोविंदवाइ(ण्)-गरुडगोविन्दवादिन्-पुं०। इन्द्रभूतिना समं वीरान्तिकं गते वादिभेदे, कल्प० ६ क्षण।

गरुलज्झय-गरुडध्वज-पुं०। गरुडालेख्यरूपविहङ्गोपेते ध्वजे, "अट्ठसयं गरुलज्झयाणं" रा०। वासुदेवे, आ० म० प्र०। सुपर्णकुमारे देवे, स०।

गरुलव्यूह-गरुडव्यूह-न०। गरुडाकृतिसैन्यरचनायाम्, जं० २ वक्ष०। प्रश्न०।

गरुलावास-गरुडावास-पुं०। देवकुरुषु गरुडजातीयस्य वेणुदेवाऽभिधानस्याऽऽवासे, स० ८ सम०।

गरुलासण-गरुडासन-न०। आसनभेदे, जी० ३ प्रति०। जं०। येषामासनानामधो गरुडा व्यवस्थिताः। रा०।

गरुलोववाय-गरुडोपपात-पुं०। अङ्गबाह्यश्रुतविशेषे, पा०। यत्परावर्तकस्य साधोर्गरुडो देव उपतिष्ठते। स्था० १० ठा०। व्य०।

गल-गल-पुं०। कण्ठे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। ज्ञा०। सर्जरसे, वाद्यभेदे, वाच०। बडिशे, न०। ज्ञा० १ श्रु० १० अ०। विपा०। प्र०। दश०। "गलकालकलोहदंमउरउदरवत्थिपट्ठीपरिपीलिया" तथा गल इव बडिशमिव घातकत्वेन यः स गलः, स चासौ कालकलोहदण्डश्च कालायसयष्टिः, तेन उरसि वक्षसि उदरे च जठरे वस्तौ च गुह्यदेशे पृष्ठौ च पृष्ठे परिपीडिता ये ते तथा। प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। "गलगवलावलणमारणाणि" गलस्य कण्ठस्य गवलस्य शृङ्गस्यावलनं च मोटनम्। अथवा-गलस्य बलादावलनं मारणं चेति तानि च। प्रश्न० १ आश्र० द्वार। नाशे, विघ्ने च। आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ०। विशे०। आ० म०।

गलई-गलकी-स्त्री० । अनन्तजीववनस्पतिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

गलंतणयण-गलन्नयन-न० । गलन्ती नयने यत्र तद् गलन्नयनम् । करुणयने, तं० ।

गलग-गलक-पुं० । कण्ठे,प्रश्न० १ आश्र०द्वार । मत्स्ये,वाच० ।

गलगवलुल्लंवण-गलकवलोल्लम्बन-न० । ७ त० । कण्ठे हठात् वृक्षशाखादावुद्बन्धने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

गलग्गह-गलग्रह-पुं० । गलहस्तदायके, कल्प० ३ क्षण ।

गलत्थ-क्षिप्-धा० । प्रेरणे, तुदा० सक०-अनिट् । "क्षिपेर्गलत्थाड्डक्ख-सोल्ल-पेल्ल-णोल्ल-छुह-हुल-परी-घत्ताः" । ८ । ४ । १४३ । इति क्षिपेर्गलत्थादेशः 'गलत्थइ, खिवइ' क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।

गलत्थलिअ-देशी-क्षिप्ते, दे० ना० २ वर्ग ।

गलरव-गलरव-पुं० । गलेनाव्यक्तशब्दरटने, आव० ४ अ० ।

गललग्गुक्खित्त-गललग्नोत्क्षिप्त-त्रि० । गलं बडिशं तत्र लग्नः कण्ठे विद्धत्वात्, उत्क्षिप्तो जलादुद्धृतः ततः कर्मधारयः । बडिशेन विद्धे जलादुन्नीते, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

गललाय-गललात-त्रि० । कण्ठेनात्ते, औ० । "गलं ललामं गललायवरभूसणाणं" औ० ।

गलि-गलि-त्रि० । गलत्येव केवलं न तु वहति गच्छति चेति गलिः । उत्त० १ अ० । दुर्विनीते, उत्त० १ अ० । खलुङ्के, स्था० ४ ठा० ३ उ० । आचा० ।

गलिअं-देशी-स्मृतौ, दे० ना० २ वर्ग ।

गलिगद्दह-गलिगर्दभ-पुं० । अविनीते रासभे, "जारिसा मम सीसाओ, तारिसा गलिगद्दहा । गलिगद्दहे चइत्ता णं, दढं पगिण्हए तवं" ॥ उत्त० २७ अ० ।

गलिय-गलित-त्रि० । द्रवीभूय क्षरिते, कल्प० ४ क्षण । वाच० ।

गलियस्स-गलिताश्व-पुं० । दुर्विनीततुरगे, उत्त० १ अ० ।

गलोई-गुडूची-स्त्री० । "उतो मुकुलादिष्वत्" । ८ । १ । १०७ । इत्यादेरुतोऽत् । प्रा० १ पाद । "ओत्कूष्माण्डी-तूणीर-कर्पूर-स्थूल-ताम्बूल-गुडूची-मूल्ये" । ८ । १ । १२४ । इति ऊकारस्य ओकारः । प्रा० १ पाद । वल्लीविशेषे, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

गल्लत्थल्ला-देशी-हस्तेन गलग्रहणे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

गल्लप्फोम-देशी-मस्तके, दे० ना० २ वर्ग ।

गल्लमसूरिया-गल्लमसूरिका-स्त्री० । लघुरूपे गल्लोपधाने,जीत० ।

गल्लोल्लपाणिय-न० । गमुकजले, "पुलिंदो पुण उवयारवज्जियं गल्लोल्लपाणियं राहवेति" । नि० चू० १ उ० ।

गव-गो-पुं० । स्त्री० । मृगादौ पशौ, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । बोले, को० ।

गवक्ख-गवाक्ष-पुं० । वातायने, जी० ३ प्रति० । प्रश्न० । गोमुख्याम्, इन्द्रवारुण्याम्, शाखोटे, अपराजितायाम्, "गवाक्षी शक्रवारुण्यां, गवाक्षो जालके कपौ । हे० । वाच० ।

गवक्खकरणाइ-गवाक्षकरणादि-न० । वातायनरचनाप्रभृतिके, पञ्चा० १३ विव० ।

गवक्खजाल-गवाक्षजाल-न० । गवाक्षाकृतिरत्नविशेषदामसमूहे, जी० ३ प्रति० । जं० । रा० । जालकोपेते गवाक्षे च । औ० ।

गवच्छ-गवच्छ-पुं० । आच्छादने, रा० ।

गवच्छिय-गवच्छित-त्रि० । गवच्छ आच्छादनम् । गवच्छाः संजाता एष्विति गवच्छिताः । आच्छादितेषु, रा० । जं० । "किण्ह सुत्तसिक्कगवच्छिया" । जी० ३ प्रति० ।

गवय-गवय-पुं० । गवाकृतौ, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । सू० । नि० चू० । वृत्तकण्ठे, अनु० । वनगवे, नं० । प्रश्न० । "गां दृष्ट्वा यमरण्येऽन्यं, गवयं वीक्षते यदा । भूयोऽवयवसामान्य-भाजं वर्तुलकण्ठकम् ।" स्था० ४ ठा० ३ उ० । प्रज्ञा० ।

गवल-गवल-न० । माहिषे शृङ्गे, औ० । उपा० । जी० । आ० म० । प्रज्ञा० । जं० । रा० । प्रश्न० । अन्त० । ज्ञा० । उत्त० ।

गवलगुलिया-गवलगुटिका-स्त्री० । माहिषशृङ्गस्य निबिडतरसारनिर्वर्तितायां गुटिकायाम्, जं० १ वक्ष० । जी० । रा० ।

गवालिय-गवालीक-न० । गोविषयेऽनृते, अल्पक्षीरां बहुक्षीरां बहुक्षीरां वा अल्पक्षीरामित्यादि वदति, ध० २ अधि० । प्रश्न० । आचा० । नि० चू० । उत्त० ।

गवास-गवाश्व-न० । गौश्च अश्वश्च "गवाश्वप्रभृतीनि च" । २ । ४ । ११ । इत्येकवद्भावस्तथारूपता च । गोघोटकयोः, सम्म० ३ काण्ड ।

गविट्ठ-गवेषित-त्रि० । गवेषणयाऽऽप्ते, व्य० ४ उ० ।

गवेधुआ-गवेधुका-स्त्री० । चारणगणस्य चतुर्थशाखायाम्, कल्प० ८ क्षण ।

गवेलग-गवेलक-पुं० । स्त्री० । गावश्चैलकाश्चोरणिका गवेलकाः । गवोरभ्रेषु, ऊरणिकेषु च । स्था० ७ ठा० । ज्ञा० । अनु० ।

गवेस-गवेष-धा० । अन्वेषणे, चुरा० । गवेषेर्ढुंढुल्ल-ढंढोल-गमेस-घत्ताः" । ८ । ४ । १८९ । गवेषेरेते चत्वार आदेशा वा भवन्ति । ढुंढुल्लइ, ढंढोलइ, गमेसइ, घत्तइ, गवेसइ । प्रा० ४ पाद ।

गवेसइत्ता-गवेसयितृ-त्रि० । अन्वेष्टरि, "सम्मं गवेसइत्ता भवइ" स्था० ४ ठा० २ उ० ।

गवेसग-गवेषक-त्रि० । अन्वेषके, उत्त० १४ अ० । "अवि तुट्ठो न विरुद्धो उत्तमट्ठगवेसओ" उत्तमार्थं गवेषकः मोक्षाऽभिलाषी । उत्त० २५ अ० ।

गवेसण-गवेषण-न० । गवेष्यते अनेनेति गवेषणम् । मार्गणादूर्ध्वं सद्भूतार्थविशेषाभिमुखे व्यतिरेकधर्मपरित्यागतोऽन्वयधर्माध्यासालोचने, नं० । ज्ञा० । पिं० । ओघ० । यथा स्थाण्वेव निश्चेतव्ये इह शिरःकण्डूयनादयः पुरुषधर्मा न घटन्ते । औ० ।

गवेसणया-गवेषणता-स्त्री० । गवेषणस्य भावो गवेषणता । ईहायाम्, नं० ।

गवेसणा-गवेषणा-स्त्री० । गवेषणं गवेषणा । पिं० । अनुपलभ्यमानस्य पदार्थस्य सर्वतः परिभावने, पिं० ।

११४

संप्रति गवेषणाया नामादीन् भेदानाह-

नामं ठवणा दविए, भावम्मि गवेसणा मुणेयव्वा ।
दव्वम्मि कुरंग गया, उग्गम उप्पायणा भावे ॥ ७९ ॥

(नामं ति) नामगवेषणा, स्थापनागवेषणा, एते च एषणे सप्रपञ्चं स्वयमेव भावनीये। द्रव्ये द्रव्यविषया,भावे भावविषया च। तत्र द्रव्यविषया आगम-नोआगमभेदात् द्विधा। तत्रागमतो गवेषणा शब्दार्थज्ञाता,"तत्र चानुपयुक्तः अनुपयोगो द्रव्यम" इति वचनात्। नोआगमतस्त्रिधा- ज्ञशरीर-भव्यशरीर-तद्व्यतिरिक्तभेदात्। तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीररूपे द्रव्यगवेषणे एषणे इव भावनीये। ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तगवेषणा सचित्तादिद्रव्यविषया। तत्र कुरङ्गगजा उदाहरणम्। तथा चाह- (दव्वम्मि कुरंगगया) द्रव्ये— द्रव्यविषयायां गवेषणायां कुरङ्गा मृगाः, गजा हस्तिनो दृष्टान्ताः । भावे भावविषया गवेषणा । (उग्गमउप्पायण त्ति) सूचनात्सूत्रमिति न्यायादुद्गमोत्पादनादोषविमुक्ताऽऽहारविषया ।

यदुक्तं-'दव्वम्मि कुरंगगया' इति तत्र कुरङ्गदृष्टान्तं गाथाद्विकेनाऽभिधित्सुराह—

जियसत्तु-देवि-चित्तस-भपविसणं कणगपिट्ठ-पासणया।
दोहल दुब्बल पुच्छा, कहणं आणा य पुरिसाणं ॥८०॥
सीवन्निसरिसमोयग-करणं सीवन्निरुक्खहेट्ठेसु ।
आगमण कुरंगाणं, पसत्थअपसत्थउवमाओ ॥८१॥

सुगमं, नवरं भावार्थः कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-क्षितिप्रतिष्ठितं नाम नगरं, तत्र राजा जितशत्रुः, तस्य भार्या पट्टमहाराज्ञी नाम्ना सुदर्शना, तस्याः कदाचिदापन्नसत्वायाः राज्ञा सह चित्रसभायां प्रविष्टायाश्चित्रलिखितान् कनकपृष्ठान् मृगानवलोक्य तन्मांसभक्षणे दोहदमजायत। दोहदे चासंपद्यमाने तस्याः खेदवशतः शरीरस्य दौर्बल्यमभवत्। तच्च दृष्ट्वा नृपतिः सखेदं तां पृष्टवान्। यथा-हा प्रिये ! किमतीव शरीरे तव दौर्बल्यमजायत?। ततः सा दोहदमचकथत। ततो राजा सत्वरं कनकपृष्ठकुरङ्गानयनाय पुरुषान् प्रेषितवान्। तेऽपि च पुरुषाः स्वचेतसि चिन्तयामासुः-इह यस्य यत् वल्लभं स तत्रासक्तस्सन् प्रमादभावं भजमानः सुखेनैव बध्यते, कनकपृष्ठानां च कुरङ्गाणामिष्टानि श्रीपर्णीफलानि, तानि च संप्रति न विद्यन्ते, ततस्तत्सदृशान् मोदकान् कृत्वा श्रीपर्णीवृक्षतलेषु च सर्वतः पुञ्जकपुञ्जकाकारेण क्षिप्त्वा तेषां समीपे पाशान् स्थापयामः, इति तथैव कृतम। ते च कनकपृष्ठा हरवो निजेन यूथाधिपतिना सह स्वेच्छया परिभ्रमन्तस्तत्रागताः। यूथाधिपतिश्च श्रीपर्णीफलाकारान् पुञ्जकपुञ्जकाकारेण स्थितान् मोदकानवलोक्य मृगानुक्तवान्। यथा-भो हरवः ! युष्माकं बन्धनार्थमिदं केनापि धूर्तेन कृतं कूटं वर्तते, यतो न संप्रति श्रीपर्णीफलानि भवन्ति, न च संभवन्त्यपि पुञ्जकाकारेण घटन्ते। अथ मन्येथास्तथाविधपरिभ्रमद्वातसंपर्कतः पुञ्जकपुञ्जकाकारेण घटन्ते, तदयुक्तम्, ननु पुराऽपि वाता वान्ति स्म, न तु तथा कदाचनाप्येवं पुञ्जकपुञ्जकाकारेण भवन्ति स्म ।

तथा चैतदेव निर्युक्तिकारः पठति-

विइयपेयं कुरंगाणं, जया सीवन्नि सीयइ ।
पुरा वि वाया वायंता, न उणं पुंजकपुंजका ॥

विदितं प्रतीतमेतत् कुरङ्गाणां यदा यस्मात् श्रीपर्णी सीदति, धातूनामनेकार्थत्वात् न फलति, तस्मादिदानीं फलानि संभवन्ति, संभवन्तु वा तथापि कथं पुञ्जकपुञ्जकाकारेण स्थितानि?। वातवशाद्,ननु पुराऽपि वाता वान्ति स्म,न पुनरेवं पुञ्जकपुञ्जकाः फलानामभवन्। तस्मात् कूटमिदमस्माकं बन्धनाय कृतं वर्तते, इति मा यूयमेतेषामुपकण्ठमगमत। एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नं ते दीर्घजीविनो वनेषु स्वेच्छाविहारसुखभागिनश्चाऽजायन्त, यैस्त्वाहारलम्पटतया तद्वचनं न प्रतिपन्नं,ते पाशबन्धादिदुःखभागिनोऽभवन्। इह यद् यूथाधिपतेः श्रीपर्णीफलसदृशमोदकद्रव्यसदोषत्वानिर्दोषत्वपर्यालोचनं सा द्रव्यगवेषणा। इह निर्युक्तिकारेण "पसत्थअपसत्थउवमाओ" इति प्रतिपादयता दार्ष्टान्तिकोऽप्यर्थः सूचितो द्रष्टव्यः। स चायम्-यूथाधिपतिस्थानीया आचार्याः, मृगयूथस्थानीयाश्च साधवः,तत्र ये गुरुनियोगत आधाकर्मादिदोषदुष्टाहारपरिहारिणस्ते प्रशस्तकुरङ्गोपमा द्रष्टव्याः, ये त्वाहारलाम्पट्यतो गुर्वाज्ञामपाकृत्याऽऽधाकर्मादिपरिभोगिनो बभूवुः, ते अप्रशस्तकुरङ्गसदृशा वेदितव्याः अत्रार्थे च कथानकमिदम्-हस्तो नाम संनिवेशः, तत्र यथागमं विहरन्तः सामिता नाम सूरयः समाययुः। तत्र च जिनदत्तो नाम श्रावक आसीत्। स च जिनवचनात्साधुभक्तिपरीतचेता दानशौण्डः कदाचित्साधुनिमित्तं भक्तमाधाकर्म कारितवान्। सूरयश्च सर्वमपि तं वृत्तान्तं कथञ्चित्परिज्ञातवन्तः। ततस्तैः साधवस्तत्र प्रविशन्तो निवारिताः। यथा-भोः साधवः! तत्र साधुनिमित्त आहारः कृतो वर्तते इति मा तत्र यूयं गच्छत। एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नम्, ते आधाकर्मपरिभोगजनितपापकर्मणा न बद्धा गुर्वाज्ञा च परिपालिता, ततः शुद्धशुद्धतरसंयमप्रवृत्तिभावतो मुक्तिसुखभागिनोऽभवन्। ये त्वाऽऽहारलाम्पट्यतो भावितं दोषमनवगणय्याऽऽधाकर्मणि झषा इव बडिशनिवेशिते मांसे प्रवृत्तास्ते कुगतिहेत्वाधाकर्मपरिभोगतो गुर्वाज्ञाभङ्गतश्च दीर्घतरसंसारभागिनो जाताः।

सांप्रतं गजदृष्टान्तमाह—

हत्थिग्गहणं गिम्हे, अरहट्टेहि भरणं व सरसीणं ।
अच्चुदएण नलवणा, आरूढा गयकुलाऽऽगमणं ॥

हस्तिग्रहणं मया कार्यमित्येवं राज्ञश्चिन्ता, ततस्तद्ग्रहणाय ग्रीष्मकालेऽपि पुरुषप्रेषणा, तैश्च सरसीनामरघट्टैर्भरणं कृतं, ततोऽत्युदकेन नलवनान्यतिशयेन प्ररूढानि, गजकुलस्यागमनमिति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-आनन्दं नाम पुरं, तत्र रिपुमर्दनो नाम राजा, तस्य भार्या धारिणी, तस्य च पुरस्य प्रत्यासन्नं गजकुलशतसहस्रसंकुलं विन्ध्यमरण्यम्, ततो राजा कदाचित् गजबलं महाबलमित्यवश्यं मया गजा ग्रहीतव्या इति परिभाव्य गजग्रहणाय सत्वरं पुरुषान् प्रेषयामास। ते च पुरुषाश्चिन्तितवन्तो यथा-गजानां नलचारिरभीष्टा, सा च संप्रति ग्रीष्मकाले न संभवति, किं तु वर्षासु। तत इदानीमरघट्टैः सरसीर्विभृमो, येन नलवनान्यतिप्ररूढानि भवन्ति। तथैव कृतम्। नलवनप्रत्यासन्नाश्च सर्वतः पाशा मण्डिताः। इतश्च परिभ्रमन्तो यूथाधिपतिसहिता हस्तिनः समाजग्मुः, यूथाधिपतिश्च तानि वनानि परिभाव्य गजान् प्रति उवाच-भोः स्तबेरमाः! नाऽमूनि न-

लवनानि स्वाभाविकानि, किं त्वस्माकं बन्धनाय केनापि धूर्तेन कृतानि कूटानि, यत एवं नलवनान्यतिप्ररूढानि सरस्यो वाऽतोवजलसंभृता वर्षासु संजायन्ते,नेदानीं ग्रीष्मकाले । अथ ब्रुवीरन्-प्रत्यासन्नविन्ध्यपर्वतनिर्झरणप्रवाहत एवं सरस्यो भृता नलवनानि चातिप्ररूढानि, ततो नामूनि कूटानि । तदयुक्तम् । अन्यदाऽपि हि खलु निर्झरणान्यासीरन्, नचैवं कदाचनाप्यतिजलभृताः सरस्योऽभूवन् ।

तथा च तदर्थसंग्राहिकामेव निर्युक्तिकारो गाथां पठति-

विइयमेयं गयकुलाणं, जयारोहंति नलवणा ।

अन्नया वि ज्झरंति दहा, न पण एवं बहूदगा ॥

विदितमेतत् गजकुलानां यदारोहन्ति अतिशयेन प्ररूढानि जायन्ति नलवनानि तस्मादमूनि स्वाभाविकानि । अथ निर्झरणवशादेवं प्ररूढानि । तत आह-अन्यदाऽपि ह्रदा क्षरन्ति, न त्वेवं कदाचनापि बहूदकाः सरस्योऽभवन्, तस्माद् धूर्तेन केनाप्यमूनि कृतानि कूटानीति माऽत्र यूयं यासिष्ट । एवमुक्ते यैस्तद्वचः प्रतिपन्नं ते दीर्घकालं वने स्वेच्छाविहारसुखभागिनो जाता ,यैस्तु न कृतं ते बन्धबुभुक्षादिदुःखभागिनः । इहापि गजयूथाधिपतेर्नलवनसदोषनिर्दोषरूपतया परिभाविता द्रव्यगवेषणा, दार्ष्टान्तिकयोजना तु पूर्ववत् स्वयमेव भावनीया । तदेवमुक्ता द्रव्यगवेषणा । सांप्रतं भावगवेषणा कर्तव्या, सा चोद्गमोत्पादनाग्रहणाऽऽहारविषया । पिं० । एषणागवेषणाशब्दावेकार्थौ । पञ्चा० १३ विव० । ओघ० । पं० चू० । व्यतिरेकधर्मालोचने, औ० ।

गव्व-गर्व-पुं० । अनुशये, अनु० । माने, प्रव० २१६ द्वार । शौण्डीर्ये, ज० १५ श० १ उ० । आचा० । तदात्मके गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० ।

गव्विय-गर्वित-त्रि० । अभिमानिनि, कल्प० ३ क्षण ।

अथगर्वितमाह-

पुरिसम्मि दुव्विणीए, विणयविहाणं न किंचि आइक्खे ।

न वि दिज्जइ आभरणं, पलियत्तियकन्नहत्थस्स ॥

इह यः श्रुतमधीयानः तदवलेपादेव च दुर्विनीतो भवन्नुपलभ्यते, तादृशे पुरुषे विनयविधानं कर्म विनयनोपाय आचारादिश्रुतजातं, किञ्चिदपि स्तोकमपि नाऽऽचक्षीत, यतो नापि नैव दीयते आभरणं कुण्डलकङ्कणादिकं परिकर्तितकर्णहस्तस्य पुरुषस्य । एवं श्रुताभरणमपि विनयविकलाङ्गस्य जिनवचनवेदिना न दातव्यम् ।

अथाऽस्यैव सविशेषमपात्रताख्यापनार्थमाह-

मद्दवकरणं नाणं, तेणेव उ जे मदं समुवहंति ।

ऊणगभायणसरिसा, अगदो वि विसायते तेसिं ॥

मार्दवं माननिग्रहस्तत्करणं तत्कारकं ज्ञानं तेनैव ज्ञानेन ये दुर्विदग्धा मदमहङ्कारं समुद्वहन्ति । कथंभूता ऊनकभाजनसदृशा असंपूर्णमृद्घटादिभाजनतुल्याः, यथा किल तत् जरूजरायते तथैतेऽपि दुरधीतविद्यावत्तया निजपाण्डित्यगर्वाध्माता यदपि तदपि लपन्तस्तिष्ठन्ति । तेषामगदोऽपि विषापहारमप्यौषधं विषायते विषरूपतया परिणमते । गतं गर्वितद्वारम् । बृ० १ उ० ।

गव्विर-गर्ववत्-त्रि० । "आल्विल्लोल्लाल-वन्त-मन्ते-त्तेर-मणा मतोः" । ८ । २ । १५९ । इति मतोः स्थाने इरादेशः । गर्वयुक्ते, प्रा० २ पाद ।

गस-ग्रस-धा० । अदने, "ग्रसेर्घिसः" । ८। ४ ।२०४। ग्रसेर्घिस इत्यादेशो वा भवति । 'घिसइ, गसइ' ग्रसति । प्रा० १ पाद ।

गह-ग्रह-पुं० । ग्रह अच् । अनुग्रहे, निर्बन्धे, आदाने, ग्रहणे, स्वीकारे, अने० । रणोद्यमे, मलबन्धे, वाच० । गीतस्य उत्क्षेपारम्भरसविशेषे, दश० २ अ० । गार्ध्ये, तात्पर्ये, आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । "गहाणुमेओ सरीरमिति" स्था० १ ठा० १ उ० । कर्मणो बन्धे, दश० ४ अ० । ज्योतिष्कभेदे राह्वादौ, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । स्था० । (ग्रहाणां सर्वोऽप्यधिकारो 'जोइसिय' शब्दे)(अङ्गारकादयो भावाः केतवन्ता अष्टाशीत्यन्ता महाग्रहाः स्वस्थाने)

गहकल्लोल-राहौ, दे० ना० २ वर्ग ।

गहगज्जिय-ग्रहगर्जित-न० । ग्रहसंचालनादौ गर्जितानि स्तनितानि ग्रहगर्जितानि । भ० ३ श० ६ उ० । ग्रहचारहेतुकेषु गर्जितेषु, जी० ३ प्रति० ।

गहगण-ग्रहगण-त्रि० । ग्रहसमूहे, "गहगणदिप्पंतरिक्खताराणाण मज्झे" कल्प० ३ क्षण ।

गहगणोरुणायग-ग्रहगणोरुनायक-पुं० । ग्रहगणस्य ग्रहसमूहस्योरु महान् नायको यः स तथा । सूर्ये, कल्प० ३ क्षण ।

गहचरिय-ग्रहचरित-न० । ज्योतिष्कं ज्योतिःशास्त्रे, व्य० ४ उ० । तत्पारिज्ञनि, स० ७३ सम० ।

गहजुद्ध-ग्रहयुद्ध-न० । अन्यस्य ग्रहस्य मध्येनैकस्य गमने, जी० ३ प्रति० । ग्रहयोरेकनक्षत्रे दक्षिणोत्तरेण समश्रेणितयाऽवस्थाने, भ० ३ श०६ उ०।

गहण-गहन-न० । गह-ल्युट् "कृच्छ्रगहनयोः कषः" । ७ । २ । २२ । इति (पाणि०) सूत्रनिर्देशात्, पृषो० वा ह्रस्वः । 'गह' गहने, ल्युट् वा । निर्जनप्रदेशे, अरण्यक्षेत्रे, आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० । धवादिवृक्षैः कटिसंस्थानीये, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । अतिशयेन गुपिले, नं० । आव० । स्था० । व्य० । वृक्षगह्वरे, विपा० । प्रश्न० । ओघ० । वननिकुञ्जे, दश० ८ अ० । वृक्षवल्लीलताविनानवीरुत्समुदाये, ज० १ श० ६ उ० । सूत्र० । गहनमिव गहनम् । परव्यामोहनाय वचनजाले, भ० १२ श० ५ उ० । तदात्मके गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० । गहनमिव गहनं दुर्लक्ष्यान्तस्तन्त्रत्वात् चिंशतितमे गौणालीके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

ग्रहण—न० । पुं० । गृह्यतेऽवगम्यते शब्दादिरर्थोऽनेनेति ग्रहणम् । दर्शने, स्था० २ ठा० १ उ० । गृह्यते इति ग्रहणम् । कृत् "बहुलम्" । ५ । १ । २ । इति (हैम० वचनात् कर्मण्यनट् । शब्दद्रव्यसमूहे, आ० म० प्र० । वाग्द्रव्यनिकुरम्बे, विशे० । गृह्यते अनेनेति ग्रहणम् । आक्षेपके,गृह्णाति इति ग्रहणम् । बहुलवचनात्कर्तरि ल्युट् । ग्राहके, गृह्यते इति ग्रहणम् । कर्मणि ल्युट् । ग्राह्ये, उत्त० ३२ अ० । "रूवस्स चक्खु गहणं वयंति" विशिष्टेन हि रूपेण चक्षुराक्षिप्यते तद्वदन्यभिदधाति तीर्थकृतः, अनेन रूपचक्षुषोर्ग्राह्यग्राहकभाव उक्तः । तथा च-न ग्राहकत्वं विना ग्राह्यत्वम्, नापि ग्राह्यत्वं विना ग्राहकत्वम् । उत्त० ३ अ० । 'ग्रह' भावे ल्युट् । आलोचने, विशे० । आत्मनो-

ऽवधारणे, उत्त० १ अ०। स्वीकरणे, पञ्चा० १० विव०। उपादाने, सूत्र० १ श्रु० १४ अ०। आ० म०। नि० चू०। पञ्चा०।

आदाणे गहणम्मि य, णिक्खेवो होंति दोन्नि वि चउक्को।

ग्रहणेऽपि नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपो द्रष्टव्यः। भावार्थोऽप्यादानपदस्येव द्रष्टव्यः, तत्पर्यायत्वादस्येति। एतच्च ग्रहणं नैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्राख्यनयाभिप्रायेणाऽऽदानपदेन सहालोच्यमानं शक्रेन्द्रादिवदेकार्थमभिन्नार्थं भवेत्। शब्दसमभिरूढैवंभूतशब्दनयाभिप्रायेण नानार्थं भवेत्। सूत्र० १ श्रु० १५ अ०। शास्त्रार्थोपादाने, ध० १ अधि०। गुरुसमीपे इत्वरं यावत्कालं वा व्रतप्रतिपत्तिः। ध०२ अधि०। गुरुमूले श्रुतधर्मेत्यादिविधिना सम्यक्त्वव्रतोपादाने, ध० २ अधि०।

गिण्हइ गुरूण मूले. इत्तरमियरं व कालमह ताइं ॥

गृह्णाति प्रतिपद्यते, गुरूणामाचार्यादीनां मूले समीपे, आनन्दवत्। आह-स श्रावको देशविरतिपरिणामे सति व्रतानि प्रतिपद्यते, असति वा ?। किञ्चाऽतः ?। यद्याद्यः पक्षः-किं गुरुसमीपगमनेन?, साध्यस्य सिद्धत्वात्। प्रतिपद्यापि व्रतानि देशविरतिपरिणाम एव साध्यः, स चास्य स्वत एव सिद्ध इति, गुरोरप्येवं परिश्रमयोगान्तरायदोषपरिहारः कृतः स्यादिति। द्वितीयश्चेत्तर्हि द्वयोरपि मृषावादप्रसङ्गात्परिणामाभावे पालनस्याप्यसंभवात्। तदेतत्सकलं परोपन्यस्तमचारु। उभयथाऽपि गुणोपलब्धेः। तथाहि-सत्यपि देशविरतिपरिणामे गुरुसमीपप्रतिपत्तौ तन्माहात्म्यान्मया सद्गुणस्य गुरोराज्ञाऽऽराधनीयेति। प्रतिज्ञानिश्चयाद् व्रतेषु दृढता जायते, जिनाज्ञा चाराधिता भवतीति। उक्तं च-

"गुरुसक्खिओ हु धम्मो, संपुन्नविही कयाहि य विसेसा ।,
तित्थयराण आणा, साहुसमीवम्मि वोसिरओ" ॥

गुरुदेशनाश्रवणोद्भूतकुशलतराध्यवसायात्कर्मणामधिकतरः क्षयोपशमः स्यात्तस्माच्चाल्पं व्रतं प्रतिपित्सोरपि बहुतमव्रतप्रतिपत्तिरुपजायते इत्यादयोऽनेके गुणा गुरोरन्तिके व्रतानि गृह्णतः संभवन्ति, तथाऽसत्यपि विरतिभावो गुरूपदेशश्रवणाभिप्रायसारपालनातो वाऽवश्यंभावी सरलहृदयस्येति, द्वयोरपि गुरुशिष्ययोर्मृषावादाभाव एव गुणलाभात्। शठाय पुनर्न देयान्येव गुरुणा व्रतानि, छद्मस्थतया पुनरलक्षितशाठ्यस्य शठस्यापि दाने गुरोः शुद्धपरिणामत्वाददोष एव। न चैतत् स्वमनीषिकयोच्यते। यदुक्तं श्रावकप्रज्ञप्तौ-

"संतम्मि विपरिणामे, गुरुमूलपवज्जणम्मि एस गुणो ।
दढया आणाकरणं, कम्मखओवसमवुड्ढी य ॥१॥
इह अहिए फलभावे, न होइ उभयपलिमंथदोसो वि ।
तय भावम्मि वि दुण्ह वि, न मुसावाओ वि गुणभावा ॥२॥
तग्गहणओ च्चिय तओ, जायइ कालेण असढभावस्स ।
इयरस्स न देयं चिय, सुद्धो छलिओ वि जइ असढो" ॥३॥

कृतं विस्तरेण। कथं गृह्णातीत्याह-इत्वरं चतुर्मासादिप्रमितमितरद् वा यावत्कथिकं वा कालं यावदर्थपरिज्ञानानन्तरं, तानीति प्रस्तुतव्रतानीति। ध० २०। एकेन्द्रियादीनामुपादानम्। आव० ४ अ०। (गृहीतानां च परिष्ठापनं 'परिट्ठावणा' शब्दे, गृहीतस्य पुनः परिष्ठापनं तु 'परिट्ठावणिया' शब्दे)

अन्यानि ग्रहणानि-

तिविहं च होइ गहणं, सच्चित्ताचित्त मीसगं चेव ।
एएसिं णाणत्तं, वोच्छामि अहाणुपुव्वीए ॥

त्रिविधं च भवति ग्रहणम्। तद्यथा-सचित्तग्रहणम्, अचित्तग्रहणं, मिश्रग्रहणं च। एतेषां त्रयाणामपि नानात्वं यथानुपूर्व्या वक्ष्यामि।

तत्र सचित्तग्रहणं तावदाह-

सच्चित्तं पुण दुविहं, पुरिसाणं चेव तह य इत्थीणं ।
एक्केक्कं पि य इत्तो, पंचविहं होइ नायव्वं ॥

सचित्तग्रहणं पुनर्द्विविधम्, तद्यथा-पुरुषाणां वाऽऽचार्यादीनां, स्त्रीणां प्रवर्तिनीप्रभृतीनाम्, एकैकमपि इतो मूलभेदापेक्षया पञ्चविधं वक्ष्यमाणनीत्या पञ्चप्रकारं भवति ज्ञातव्यम्।

कुतः पुनः तेषां पुरुषाणां स्त्रीणां वा ग्रहणं क्रियते इत्याह-

उदगागणितेणोमे, अद्धाण गिलाण सावय पदुट्ठे ।
तित्थाणुसज्जणाए, अइसेसगमुद्धरे विहिणा ॥

उदकवाहकेनाचार्यादयो नेतुमारब्धाः (अगणि त्ति) महानगरप्रदीपनके वा दाहस्तेषां समुपस्थितः (तेण त्ति) शरीरस्तेना आचार्यादीन् व्यापादयितुमिच्छन्ति, अवमं दुर्भिक्षं, तत्र भक्तपानलाभाभावात्प्राणसंशयस्तेषामुपतस्थे, अध्वानमच्छिन्नापातं महदरण्यं, तं प्रपन्नानामपान्तराले बुभुक्षापरिश्रमादिभिरग्रतो गन्तुमशक्नुवतां जीवितं संशयतुलामाधिरूढम्, (गिलाण त्ति) शूलविषविशूचिकादिकमागाढग्लानत्वमुपपादितम्। श्वापदाः सिंहव्याघ्रादयः, तैरुपद्रोतुमारब्धः, प्रद्विष्टः प्रद्वेषमापन्नो राजा साधूनां प्राणापहारं कर्तुमभिलषति। एतेषु आगाढकारणेषु तीर्थानुषज्जनाय तीर्थस्याव्यवच्छेदेनानुवर्तनाय योऽतिशायी विशिष्टपात्रभूतः प्रवचनाधारः पुरुषस्तं विधिना वक्ष्यमाणनीत्या समुद्धरेत्।

अथ यदुक्तमेकैकं पञ्चविधं ग्रहणं भवति, तत्र पुरुषविषयं तावदाह-

आयरिए अभिसेगे, भिक्खू खुड्डे तहेव थेरे य ।
गहणं तेसिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि ॥

आचार्यो गच्छाधिपतिः, अभिषेकः सूत्रार्थतदुभयोपेत आचार्यपदस्थापनार्हः, भिक्षुः प्रतीतः, क्षुल्लको बालः, स्थविरो वृद्धः, एतेषां पञ्चानामपि ग्रहणमनन्तरमेव वक्ष्यमाणं संयोगमसंयोगतो गमाः प्रकाराः यस्य तत्तथा वक्ष्यामि।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

सव्वे वि तारणिज्जा, संदेहाओ परक्कमे संते ।
एक्किक्कं अवणिज्जा, जाव गुरू तत्थिमो भेदो ॥

पराक्रमे शक्तौ सत्यां सर्वेऽप्याचार्यादयस्तादृशात् संदेहान्नद्युदकनिमज्जनलक्षणात्तारणीयाः, एकैकोऽपि यावद् गुरुरपनेतव्यः, किन्तु तत्रायं भेदो भवति।

तरुणो निप्फन्न परिवारे, सलद्धिए जो वि होति अब्भासे ।
अभिसेगम्मि य चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ॥

इह द्वावाचार्यौ, एकस्तरुणोऽपरः स्थविरो, यद्यस्ति शक्तिस्ततो द्वावपि तारणीयौ, अथ नास्ति, ततस्तरुणो निस्तारणीयः। अथ द्वावपि तरुणौ, ततो यस्तयोर्निष्पन्नः सम्यक्सूत्रार्थकुशलः स तारयितव्यः। अथ द्वावपि निष्पन्नावनिष्पन्नौ वा, ततो यः सपरिवारः स तारणीयः। अथ द्वावपि सपरिवारावपरिवारौ वा, ततो यस्तत्र सलब्धिको लब्धिसंपन्नस्तं तारयेत्। अथ

द्वावपि सलब्धिकावलब्धिकौ वा, ततो योऽभ्यासे अस्ति स्थितः स निस्तारणीयः। अत्रार्थे विशेषसंप्रदायः-द्वयोरभ्यासे स्थितयोर्यस्तरीतुमशक्तः स तारणीयः। एवमेते आचार्यस्य पञ्च गमा अभिहिताः,अभिषेकस्तु नियमादनिष्पन्नो भवति, अन्यथा तस्य तत आचार्यपदस्थापनयोग्यत्वानुपपत्तेः। ततस्तस्मिन्नभिषेके निष्पन्नानिष्पन्नगमाभावात् शेषाश्चत्वारो गमा एवमेव वक्तव्याः। शेषाणां भिक्षुक्षुल्लकस्थविराणां पञ्चापि गमा भवन्ति, ते चाचार्यवद्वक्तव्याः। न च बालस्य निष्पन्नता श्रीवज्रस्वामिन इव ज्ञातव्या, तरुणता तु प्रथमक्रमात्वे वर्तमानस्य, शेषस्य तु वृद्धता मन्तव्या। चयाणामपि च भिक्षुप्रभृतीनां परिवारो गुरुप्रदत्तो मातापितृभ्रातृभगिनीप्रभृतिप्रव्रजितस्वजनवर्गो वा द्रष्टव्यः।

अथ स्त्रीविषयं पञ्चविधग्रहणमुपदर्शयति-

पवित्तिणिऽभिसेगपत्ता, थेरी तह भिक्खुणी य खुड्डी य ।
गहणं तासिं इणमो, संजोगगमं तु वोच्छामि ॥

प्रवर्त्तिनी सकलसाध्वीनां नायिका, अभिषेकं प्राप्ता प्रवर्त्तिनीपदयोग्या, स्थविरा वृद्धा, भिक्षुणी प्रतीता, क्षुल्लिका बाला; एतासां पञ्चानामपि ग्रहणमिदमनन्तरमेव संयोगगमस्तं संयोगतोऽनेकप्रकारं वक्ष्यामि।

यथाप्रतिज्ञातमेवाह-

सव्वा वि तारणिज्जा, संदेहाओ परक्कमे संते ।
एक्केक्कं अवणिज्जा, जा गणिणी तत्थिमो भेदो ॥
तरुणी निप्फन्नपरिवारा,सलद्धिया जा य होइ अब्भासे।
अभिसेगाए चउरो, सेसाणं पंच चेव गमा ॥

इदं गाथाद्वयं साधुगतगाथाद्वयमिव व्याख्येयम्।

परः प्रेरयन्नाह-

बाला य वुड्ढा य अजंगमा य, लोगे वि एते अणुकंपणिज्जा ।
सव्वाणुकंपाएँ समुज्जएहिं, विपज्जओऽयं कहमीहितो भे ॥

बालाश्च वृद्धाश्च अजङ्गमाश्चेति लोकेऽपि तावदेते अनुकम्पनीया इष्यन्ते, अतः सर्वेषामपि निर्विशेषमनुकम्पायां समुद्यतैः कथमयं 'भे' भवद्भिर्विपर्ययो वैपरीत्यमीहितमङ्गीकृतं यदेवं बालस्थविरौ परित्यज्य आचार्यादीन्निस्तारयन्ति, वृद्धं वाऽजङ्गममाचार्यं विमुच्य तरुणस्तार्यते।

पर एवं प्रत्युत्तरमाशङ्क्य परिहरन्नाह-

जइ वुड्डो चिरजीवी, तरुणो थेरो य अप्पसेसाऊ ।
सोवक्कमम्मि देहे, एयं पि न जुज्जए वोत्तुं ॥

यदीत्ययशब्दार्थे,अथैवं भवतां बुद्धिः स्यात्-चिरजीवी प्रभूतवर्षजीवितस्तरुणः,स्थविरः पुनरल्पशेषायुः स्तोकशेषायुष्कः,अतः स्थविरं विमुच्य तरुणं तारयामः। एतदप्यसमीचीनम्। कुत इत्याह-सोपक्रमे अध्यवसानानिमित्तादिभिर्गतायुष्कापक्रमकारणैः सप्रत्यपाये देहे सति एतदपि चिरजीवितादिकं वक्तुं न युज्यते।

अवि य हु असहू थेरो, पयरत्तियरो कदाइ संदेहं ।
ओरालमिदं बलवं, जं घेप्पइ मुच्चई अबलो ॥

अपिचेत्यभ्युच्चये, दुर्निभये, स्थविरो वृद्धत्वादेवासहिष्णुर्न तरीतुं शक्नोति, इतरस्तु तरुणः समर्थतया कदाचित् स्वयमेव संदेहमुदकवाहकदरणरूपं प्राणसंदेहकारणं प्रतरेत्। अतोऽत्र उदारं स्थूरमिदं भवदीयं वचनं यद्बलवांस्तरुणो गृह्यते, अबलस्तु स्थविरो मुच्यते।

इत्थं परेणोक्ते सूरिराह-

आय परे उवगिएहइ, तरुणो थेरो य तत्थ जयणिज्जो ।
अणुवक्कमे वि थोवो, चिट्ठइ कालो उ थेरस्स ॥

तरुण आचार्यादिरपूर्वसूत्रार्थग्रहणतपःकर्मकरणादिना, वस्त्रपात्रादिसंपादसूत्रार्थप्रदानादिना चाऽऽत्मानं परांश्चोपगृह्णाति, स्थविरस्तु तत्राऽऽत्मपरोपग्रहकरणे भजनीयः, कदाचित्तं कर्तुं समर्थः, कदाचित्तं नेति भावः। तथा अनुपक्रमेऽपि आयुष उपक्रममन्तरेणापि स्थविरस्य स्तोक एव कालोऽवशेषस्तिष्ठति, तरुणस्य तु सोपक्रमायुषोऽपि स्तोको वा भवेद्, द्राघीयान् वा, ततो "सोवक्कमम्मि देहे" इत्यादि यदुक्तं तत्किं वदेत्?।

अथ यदुक्तं बालवृद्धादयो लोकेऽप्यनुकम्पनीया इति तत्परिहाराय लौकिकमेव दृष्टान्तमाह-

दुग्घासे खीरवती, गावी पुस्सइ कुडुंबभरणट्ठा ।
मोत्तु फलदं च रुक्खं, को मंदफला सक्किष्ठ पोसे ॥

दुर्ग्रासे दुर्भिक्षे तत्र यथा क्षीरवती, भूम्नि मतुप्प्रत्ययविधानात् बहुक्षीरा, गौः कुटुम्बभरणार्थं पोष्यते-चारिप्रदानादिना पुष्टिं नीयते, एवमस्माकमपि य आचार्यादिस्तरुणादिगुणोपेततया आत्मनः परेषां चोपग्रहं कर्तुं समर्थः स निस्तीर्यते, तस्य निस्तारणे हि बहूना बालवृद्धादीनामपि तदाश्रिता अनुकम्पा कृता, अथ तं परित्यज्य क्षुल्लकस्थविरादिस्तस्य आपदं स्तार्यते, ततो बहवो बालादयस्तदाश्रिताः परित्यक्ता भवन्ति। अपि च-फलनादिना पुष्टिदायिनं वृक्षं मुक्त्वा को नाम मन्दफलान् वा वृक्षान् पुष्णीयात्-सरणिसालेलसेचनादिना पुष्टिं प्रापयेत्?, न कोपीत्यर्थः। उपनययोजना प्राग्वत् द्रष्टव्या। उक्तं सचित्तग्रहणम्।

अथ मिश्रग्रहणमाह-

एमेव मीसए वी, नेयव्वं होइ आणुपुव्वीए ।
वोच्छेदे चउगुरुगा, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

एवमेव मिश्रविषयमपि ग्रहणमानुपूर्व्या आचार्यप्रवर्तिन्यादिपरिपाट्या ज्ञातव्यं भवति। अथ यथोक्तक्रममुल्लङ्घ्य विपर्यासेन पुरुषाणां स्त्रीणां चाग्रहणं करोति ततश्चतुर्गुरुकाः। तत्रापि चाज्ञादयो दोषा भवन्ति।

अथ मिश्रग्रहणं कीदृशं प्रतिपत्तव्यमित्युच्यते-

मीसगगहणं तत्थ उ, विनिवाओ जो सजंममत्ताणं ।
अहवा वि मीसयं खलु, उज्जओ पच्चक्खओ घोरो ॥

इह यः सभाण्डमात्राणां पात्रमात्रकाद्युपकरणसहितानां साध्वीनां वा विनिपात उदकवाहके निमज्जनं तत्र तद्विषयं यद् ग्रहणं तन्मिश्रग्रहणमुच्यते। अथ वा यदुभयोरपि साधुसाध्वीलक्षणयोः पक्षयोः घोरो रौद्रो युगपदुदकवाहकेनापहरणलक्षणोऽत्ययः प्रत्यपायस्ततो यद् ग्रहणं तन्मिश्रग्रहणमिति मन्तव्यम्।

अथामुमेव द्वितीयव्याख्यानपक्षमङ्गीकृत्य निर-
स्तरणविधिमाह–

सव्वत्थ वि आयरियो, नित्थीरइ तओ पवित्तिणी होइ।
तो अभिसेगं पत्तो, सेसेसु तु इत्थिआ पढमं ॥

द्वयोरपि पक्षयोरुदकेन ह्रियमाणयोर्यद्यस्ति शक्तिस्ततो युग-
पन्निस्तारणं कार्यम् । अथ नास्ति युगपन्निस्तारणसामर्थ्यं ततः
सर्वत्रापि प्रथममाचार्यो निस्तारणीयः । आचार्यानन्तरं प्रवर्तिनी
तारयितव्या भवति, ततः प्रवर्तिन्या अनन्तरमभिषेकपदं प्राप्तः,
ततः शेषेषु तु भिक्षुप्रभृतिषु पदेषु प्रथमं स्त्री निस्तारयितव्या,
ततः पुरुषः । तद्यथा हि भिक्षुभिक्षुण्योर्मध्ये प्रथमं भिक्षुणी, ततो
भिक्षुस्तारणीयः, क्षुल्लकक्षुल्लिकयोर्मध्ये प्रथमं क्षुल्लिका, ततः
क्षुल्लकः । स्थविरयोः प्रथमं स्थविरा, ततः स्थविर इति ।

अथ किमर्थं तेषु प्रथमं स्त्री निस्तार्यते–

अन्नस्स वि संदेहं, दट्ठुं कंपंति जा लयाओ व्व ।
अवलाओ पगइभया–लुगा तु रक्खा अतो इत्थी ॥

अन्यस्यापि पुरुषादेः संदेहमापदं दृष्ट्वा स्त्रियः पवनसंप-
र्कतो लता इव कम्पन्ते, याश्च अबलाः प्रकृत्या स्वभावेनैव
च भयालुका भयबहुला अतस्ताः स्त्रियः प्रथमं रक्षणीयाः ।

आह–साधुसाध्वीनां निस्तारणे किमेष एवाचार्यप्रव-
र्तिन्यादिके क्रम उतान्यथाऽप्यस्ति ?। उच्यते–
अस्तीति ब्रूमः । तथा चाह–

जं पुण संभावेमो, भाविणमहियममुकवत्थूओ ।
तत्थुक्कमं पि कुणिमो, छेओदइए वणियभूया य ॥

पुनः क्षुल्लकादिकमपि अमुकादाचार्यादेः वस्तुनः सकाशात्
प्रवचनप्रभावनादिभिर्गुणैरधिकं सातिशयं भाविनं भविष्यन्तं
संभावयामः । तत्र वयमुत्क्रममपि यथोक्तक्रमोल्लङ्घनमपि कुर्महे,
क्षुल्लकादिकमपि प्रथमं तारयाम इत्यर्थः । कथंभूता इत्याह–छे-
दश्च व्ययः, औदयिकश्च लाभः, छेदौदयिकम्; तत्र वणिग्भूताः
सन्तः । किमुक्तं भवति ?–यथा वणिगृदेयं प्रभूतलाभमल्पव्ययं
वस्तु, तस्य ग्रहणं करोति । एवं वयमपि यत्र विशिष्टप्रभूते
वस्तुनि गृहीते प्रवचनप्रभावनातीर्थाव्यवच्छेदादिको भूयान्
लाभः समुज्जृम्भते, स्वल्पश्चेतरपरित्यागलक्षणो व्ययः, तं क्षुल्ल-
कादिकमपि गृह्णीम इति । एवं तावदुदकविषयं ग्रहणमभिहितं,
तथैव एतेष्वपि सचित्तमिश्रभेदात् तद् द्विविधमपि वक्तव्यम् ।

अथाचित्तग्रहणमभिधित्सुराह–

अचित्तस्स उ गहणं, अभिनवगहणं पुराणगहणं च ।
ओघउवग्गहे गहणं, तह य उवट्ठाविए गहणं ॥

अचित्तं वस्त्रपात्रादिकमुपकरणं, तस्य ग्रहणं द्विधा–अभिनव-
ग्रहणं, पुराणग्रहणं च । तत्राभिनवं प्रथममेव यद् वस्त्रादेर्ग्रहणं
तदभिनवग्रहणं, पुराणस्य प्रागृहीतस्य चोलपट्टकादेः कूर्प-
रादिना ग्रहणं द्विधा–ओघोपधिविषयम्, उपस्थापनायां ग्रहो-
पस्थितौ तद्ग्रहणम् । तत्रोपस्थापनायां हस्तिदन्तोन्नताका-
रहस्तादिभिर्यद्रजोहरणादि गृह्यते तदुपस्थापनाग्रहणम् । उ-
पस्थापितस्य छेदोपस्थापनीयचारित्रं प्रापितस्य यदुपधेर्धा-
रणं, परिभोगो वा तदुपस्थापितग्रहणम् ।

एतामेव गाथां व्याख्यानयति–

ओहे उवग्गहम्मि य, अभिनवगहणं तु होइ अचित्ते ।
इयरस्स वि होइ दुहा, गहणं तु पुराणउवहिस्स ॥

अचित्तस्य वस्त्रपात्रादेरभिनवग्रहणं द्विधा–ओघोपधिविषयम्,
औपग्रहिकोपधिविषयं च । इतरस्यापि पुराणोपधिग्रहणं द्विधा–
उपस्थापनाग्रहणमुपस्थापितग्रहणं चेत्यर्थः ।

अथ वा अभिनवग्रहणमिदमनेकविधम्–

जायणनिमंतणुवस्सय–परियावन्ने परिट्ठविय नट्ठे ।
पम्हुट्ठ पडिय गहियं, अभिनवगहणं अणेगविहं ॥

याच्ञा अभिलषणं, निमन्त्रणा गृहस्थानामभ्यर्थना, तदुपस्सरं
यद्वस्त्रादेर्ग्रहणं, यच्चोपाश्रये पर्यापन्नस्य पथिकादिभिर्विस्मृत
परित्यक्तस्य वस्त्रादेर्ग्रहणं, यच्च परिष्ठापितस्य भूयः कारणे
ग्रहणम्, अथ नष्टं हारितं, ' पम्हुट्ठं ' विस्मृतं, पतितं हस्तात् प-
रिभ्रष्टं, गृहीतं प्रत्यनीकेन बलादाच्छिद्य स्वीकृतम्, एतेषां पुनर्ल-
ब्धानां यद् ग्रहणमेवमादिकमनेकविधमभिनवग्रहणं मन्तव्यम् ।

अथ याच्ञानिमन्त्रणाग्रहणयोर्विधिमतिदिशन्नाह–

जो चेव गमो हेट्ठा, उस्सग्गाईउ वत्थगहणे तु ।
दुविहोवहिम्मि सो चिय, कास त्ति य किं ति कीस त्ति ॥

य एव गमः प्रकारोऽधस्तात् पीठिकायां कायोत्सर्गादिके
वस्त्रग्रहणविषयो वर्णितः, स एवाऽत्र द्विविधोपधेरौघिकौपग्र-
हिकलक्षणस्य सत्कमेतद्वस्त्रपात्रादिकं पूर्वमासीद्, भविष्यति
वा, कस्माद्वा प्रयच्छसीति पृच्छाप्रयुक्तो द्रष्टव्यः । तथाश्रयप-
र्यापन्नवस्त्रादिग्रहणविषयस्तु विधिरिहैवोद्देशके पुरस्ताद–
भिधास्यते । परिष्ठापितादेस्तु यथा कारणतो भूयो ग्रहणं क्रियते
तथा व्यवहाराध्ययने भणिष्यते । गतमभिनवग्रहणम् । अथ
पुराणग्रहणम् । तच्च द्विधा–उपस्थापनाग्रहणम्, उपस्थापि-
तग्रहणं च ।

तत्राऽऽद्यं तावदाह–

कोप्परपट्टगगहणं, वामकरानामियाएँ मुहपोत्तिं ।
रयहरण हत्थिदंतु–न्नएहि हत्थेहुवट्ठवणं ॥

कूर्पराभ्यां चोलपट्टस्य ग्रहणं कृत्वा वामकरस्थया अना-
मिकया मुखपोतिकां गृहीत्वा राजोहरणं हस्तिदन्तोन्नताभ्यां
हस्ताभ्यामादाय उपस्थापनं कर्तव्यं शैक्षस्य व्रतस्थापनावि-
षये इत्यर्थः ।

अथोपस्थापितग्रहणमाह–

उवठावियस्स गहणं, अहभावे चेव तह य परिभोगे ।
एक्केक्कं पायादी, नेयव्वं आणुपुव्वीए ॥

उपस्थापितस्य यदुपकरणं तद् द्विधा–यथाभावः, परिभोग-
श्च । अनेन च द्विविधेनापि ग्रहणेन एकैकं पात्रादिकं आनुपू-
र्व्या परिपाट्या नेतव्यं ग्रहीतव्यम् ।

इदमेव भावयति–

पडिग्गहियं तु अत्थइ, पायाई एस होतऽहाभावो ।
सहव्व पाण भिक्खा–निल्लेवण पायपरिभोगो ॥

यत्पात्रादिकं प्रतिग्राहितं विवक्षितसाधुलक्षणेन स्वामिना

प्रगृहीतं सत् आस्ते तदिदानीं परिभुज्यते, एष यथाभावो भवति । तच्च परिग्रहो, धारणमित्यर्थः । परिभोगो नाम यत्पात्रादि यस्यां वेलायां परिभुज्यते, तच्च सत् शोभनमाचार्यादिप्रायोग्यं यद् द्रव्यं यत्र पानकं भैक्षं वाऽऽत्मनो योग्यं तत्पात्रे गृह्यते, निर्लेपनं च आचमनं, तेन विधीयते । एष पात्रस्य परिभोगः । इह च पात्रशब्देन प्रतिगृहीतमात्रकं वा गृहीतं तथा-

पाणिदयत्थं संथर, पमज्ज चिलिमिलि निसिज्ज कालगते ।
गेलन लज्ज असहू, छेयण सागारिए जोगो ॥

वर्षाकल्पादिके प्राणिदयार्थमप्कायादिजीवरक्षाया निमित्तं परिभोक्तव्यं कल्पत्रयं, शीतरक्षार्थं संस्तारकोत्तरपट्टकैः स्तरणमास्तृतं तदर्थम्, रजोहरणं च प्रमार्जनार्थं गृह्यते, चिलिमिलिका दवरिकादावुपयुज्यते रजोहरणस्य, निषद्याद्वयं निषदनार्थमादीयते । (कालगए त्ति) कालगतस्याऽऽच्छादनार्थमनन्तकादिकं गृह्यते, ग्लानत्वं वा कस्यापि संजातम्-अप्रावृतः सुखेनाऽऽस्तामिति कृत्वा तस्याग्रे चिलिमिलिका दीयते । (लज्ज त्ति) लज्जाऽपगमनार्थं चोलपट्टकोपरि युज्यते (असहु त्ति) राजादिप्रव्रजिता असहिष्णवस्ते कल्पादिकं प्रावृणीयुः (छेदण त्ति) नखहारीणिकापिप्पलकादिना नखप्रलम्बादीनां छेदनं क्रियते (सागारिए त्ति) शैक्षस्य संज्ञातकानां सागारिकं, ततः कल्पादिकं प्रावार्य प्रच्छन्ने स्थाप्यते । एवमादिकः सर्वोऽपि यथायोगमौघिकस्योपग्राहिकस्य चोपधेः परिभोगो मन्तव्यः । उक्तं पुराणग्रहणम् । तदुक्तौ च समर्थितमचित्तग्रहणम् ।

एवं क्षपकेण त्रिविधे ग्रहणे प्ररूपिते सति इतरः प्राह-

उवरिं काहासि हिट्ठा, ण याणसि वयणं न होइ एवं तु ।
चउरो गुरुगा पुच्छा, नासेहिसि तुं जहा वेज्जो ॥

यदुपरि कथयितुं योग्यं तत्त्वमधस्तात् पूर्वं कथयसि । इयमत्र भावना-यद्भवता प्रथममेवाऽऽचार्यादिविषयं पुराणसचित्तग्रहणमभिहितं तदशोभनम्, अभिनवसचित्तग्रहणप्ररूपणादूर्ध्वं प्ररूपयितुं योग्यमासीत्, अभिनवपुराणपर्याययोः पूर्वपश्चात्कालभावित्वेन भावात्, तस्य चाभिनवसचित्तग्रहणस्य भवता प्ररूपणैव न कृता, अत एव न जानासि ग्रहणस्वरूपं यथावद् वन्दित्वा विनयेन पृच्छ इत्येवमहंकारदूषितं वचनतयोक्तमेवमभिधीयमानं न भवति सतां पूजनीयमिति वाक्यशेषः । एवं कुर्वाणस्य भवतः चत्वारो गुरुकाः । क्षपकः पृच्छति-किमत्र मम दूषणमापतितं येनैवं प्रायश्चित्तं प्राप्नोमि ? । इतर आह-त्वं पल्लवग्राहितया सम्यक् सिद्धान्ताऽभिप्रायमविज्ञाय जल्पसि । एवं च प्रज्ञापयन् स्वमात्मना नष्टोऽन्यानपि नाशयिष्यसि, यथा स प्रथमोद्देशकभणितो वैद्यः-

" पूर्वाह्णे वमनं दद्या-दपराह्णे विरेचनम् ।
वातिकेष्वपि रोगेषु, पथ्यमाहुर्विशेषणम् " ॥ १ ॥

इतिश्लोकमात्रं गृहीत्वा चिकित्सां कुर्वन् विनष्टः, एवं भवानपीति चिरन्तनगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव किञ्चिद् विवृणोति-

वयणं खलु नत्थि कत्थई, गवभरियं कुसलेहि पूजियं ।
अहवा न वि पक्खलासिसमो, पगई एस अजाणए जणे ॥

इतरः क्षपकं प्रति ईदृशं मां वन्दित्वा विनयेन पृच्छ इत्येवंरूपं गर्वभरितमहङ्कारभारगुरुकं वचनं कुशलैर्विद्वद्भिर्न कुत्रापि पूजितं श्लाघितम्, अतो नैव भवता वक्तुं युज्यते । अथवा नात्र वयं रुष्यामो गर्वं कर्तुमर्हामः । कुत इत्याह-अज्ञे मूर्खे जने प्रकृतिरेषा, यत्तथाविधज्ञानविकलोऽप्येष औद्धत्यमुद्वहति ॥

क्षपकः प्राह-

मूलेण विणा हु केलिसे, तलु पवले य घणे य सोहइ ।
न य मूलविभिन्नए घडे, जलमादीणि धरेइ कण्हइ ॥

मूलेन विना तरुर्वृक्षः, चशब्दावपिशब्दार्थौ, प्रवरोऽपि प्रधानोऽपि, सहकारादिरपीत्यर्थः । घनोऽपि पत्रबहुलोऽपि, कीदृशः शोभते ?, न कीदृगपीति भावः । एवं विनयमूलविकलो धर्मोऽपि न शोभां बिभर्ति, तथा न च नैव मूले बुध्ने विभिन्नो घटो जलादीनि वस्तूनि क्वचिदपि धारयति । एवं धर्मघटोऽपि विनयमूलः संजातच्छिद्रो न किमपि ज्ञानादिजलं धारयितुमीष्टे, अतोऽहं विनयं कारयामीति प्रक्रमः ।

किं वा मए न नायं, दुविहे गहणम्मि जं जहिं कमती ।
जम्हइ अभिनवगहणं, सच्चित्तं ते न नायव्वं ॥

सचित्ताऽचित्तभेदात् द्विविधेऽपि ग्रहणे यद् यत्राऽभिनवं पुराणं वा क्रामति, तत् तत्र मया किं वा न ज्ञातं, येनैवं न जानासि ग्रहणस्वरूपमित्याद्यभिधीयते, इतरः प्रतिवचने भणति अत्रोत्तरम्-अभिनवं सचित्तग्रहणं त्वया न विज्ञातम् । तच्चेदम्-

अट्ठारस पुरिसेसुं, वीसं इत्थीसु दस नपुंसेसुं ।
पव्वावणा अणरिहा, अनलाए एत्तिया वुत्ता ॥
अडयालीसं एते, वज्जित्ता सेसगाण तिण्हं ति ।
अभिनवगहणं एयं, सच्चित्तं ते न विन्नायं ॥

पुरुषेषु पुरुषविषया "बालवुड्ढे नपुंसे य" इत्यादिगाथाद्वयोक्ता अष्टादश भेदाः, स्त्रीषु त एव गुर्विणीबालवत्सासहिता विंशतिभेदाः, नपुंसकेषु तु 'पंडए वाइए कीवे' इत्यादयो दश भेदाः प्रव्राजनाया अनर्हा अयोग्याः, अत एव एतावन्तो भेदा अनला इति निशीथाऽध्ययने उक्ताः । अलं भूषणपर्याप्तिवारणेषु इति धातुपाठादपर्याप्ताः, प्रव्रज्यापरिपालने असमर्था इत्यर्थः । एतान् सर्वसंख्यया अष्टाचत्वारिंशद्भेदान् वर्जयित्वा, शेषाणां त्रयाणामपि पुरुषस्त्रीनपुंसकानां प्रव्राजनं कर्तुं कल्पते । एतदभिनवग्रहणं सचित्तं ते त्वया न विज्ञातम् । एवं तेनोक्ते सति क्षपकः सती नोदनेत्यभिधाय प्रवृत्तस्तथैव यथा रत्नाधिको वस्त्रप्रदानं कर्तुमर्हति । बृ० ३ उ० । निस्तारणे, व्य० १ उ० ।
(राजद्विष्टे सीदतां निस्तारणं 'रायदुट्ठ' शब्दे)

निर्ग्रन्थीसमुद्धरणम्-

पंचहिं ठाणेहिं समणे निग्गंथे निग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ । तं जहा-निग्गंथिं च णं अन्नयरे पसुजाइए वा पक्खिजाइए वा ओहाएज्जा, तत्थ निग्गंथे निग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ ॥

(गिण्हमाणे त्ति) बाह्वादावङ्गे गृह्णन् अवलम्बमानः पतन्तीं बाह्वादौ गृहीत्वा धारयन्, अथ वा " सव्वंगियं तु गहणं, करेण अवलंबणं तु देसम्मि त्ति " नातिक्रामति स्वाचारमाज्ञां वा गीतार्थः, स्थविरो वा, निर्ग्रन्थिकां यथा कथञ्चित् पशुजातीयो हस्त्यश्वादिः, पक्षिजातीयो गृध्रादिः (ओहाएज्ज त्ति) उ-

पहन्त्यात्, तत्रेति उपहनने गृह्णन्नातिक्रामति,कारणिकत्वात्। निष्कारणत्वे तु दोषाः यदाह-"मिच्छत्ते उड्डाहो,विराहणा फासभावसंबंधो । पडिगमणाई दोसा, भुत्ताभुत्ते य नायव्वा" ॥१॥ स्था० ५ ठा० २ उ०।

निग्गंथे निग्गंथिं दुग्गंसि वा विसमंसि वा पव्वयंसि वा पक्खलमाणिं वा पवडमाणिं वा गिएहमाणे वा अवलंबमाणे वा नाइक्कमइ। निग्गंथे निग्गंथिं सेयंसि वा पंकंसि वा पणगंसि वा उकसमाणिं वा उदुज्झमाणिं वा गिएहमाणे वा अलंबमाणे वा नाइक्कमइ ॥ निग्गंथे निग्गंथिं नावं आरुहमाणिं वा० नाइक्कमइ ।

अस्य सूत्रत्रयस्य संबन्धमाह-

सो पुण दुग्गे लग्गे-ज्ज कंटओ लोयणम्मि वा अणुगं ।
इति दुग्गसुत्तजोगो, थला जलं चेयरे दुविहे ॥

यः पूर्वसूत्रे पादे प्रविष्टः कण्टको, लोचने वाऽणुकं प्रविष्टमुक्तं, स कण्टकस्तथाणुकं दुर्गे गच्छन् प्रायो लगेत, अतो दुर्गसूत्रमारभ्यते, इत्येष दुर्गसूत्रस्य योगः संबन्धः दुर्गं च स्थलं, ततः स्थलाज्जलं भवतीति कृत्वा दुर्गसूत्रानन्तरमितरस्मिन् द्विविधे पङ्कविषये नौविषये च सूत्रे आरम्भः क्रियते। अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-निग्रन्थो निर्ग्रन्थीं दुर्गे वा, विषमे वा, पर्वते वा (पक्खलमाणिं व त्ति) प्रकर्षेण स्खलनगत्या गच्छन्तीं भूमावसंप्राप्तां वा पतन्तीं पतितुकामामित्यर्थः। (पवडमाणिं व त्ति) प्रकर्षेण भूमौ सर्वैरपि गात्रैः पतन्तीं (गिएहमाणे व त्ति) बाह्वादावङ्गे गिह्णन् वा (अवलंबमाणे व त्ति) अवलम्बमानो बाह्वादौ गृहीत्वा धारयन्, अथ वा गृह्णन् सर्वाङ्गीणं धारयन्नवलम्बमानो देशतः करेण गृह्णन्, साहयन्नित्यर्थः। नातिक्रामति स्वाचारमाज्ञां वा इति प्रथमं सूत्रम्। द्वितीयसूत्रमप्येवमेव, नवरं पङ्को नाम पङ्के पनके वा सजले यत्र निमज्जते, यत्र वा पङ्कः कर्दमः,यत्र वा पनको नाम आगन्तुकप्रपतनहेतुभूतद्रवरूपकर्दम एव, तत्र वा, उदकं प्रतीतं, तत्र वा (उकसमाणिं व त्ति) अपकसन्तीं पङ्कपनकयोः परिह्रसन्तीं (उदुज्झमाणिं व त्ति) अपोह्यमानां वा उदकेन वा नीयमानां गृह्णन् अवलम्बमानो वा नातिक्रामति। तृतीयसूत्रे निर्ग्रन्थीनामेव नाम ह्रसन्तीं वा अवरोहन्तीं वा गृह्णन् वा अवलम्बमानो वा नातिक्रामतीति सूत्रत्रयार्थः।

सम्प्रति भाष्यकारो विषमपदानि व्याचष्टे-

तिविहं च होति दुग्गं, रुक्खे सावय मणुस्सदुग्गं वा ।
णिक्कारणम्मि गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

त्रिविधं च भवति दुर्गम्। तद्यथा-वृक्षदुर्गं, स्वापददुर्गं, मनुष्यदुर्गं च। यत्र वृक्षैरतीव गहनतया दुर्गमम, यत्र वा पथि वृक्षः पतितस्तद्वृक्षदुर्गम्। यत्र व्याघ्रसिंहादीनां भयं तत् श्वापददुर्गम्। यत्र म्लेच्छबोधिकादीनां मनुष्याणां भयं तन्मनुष्यदुर्गम्। एतेषु त्रिष्वपि दुर्गेषु यदि निष्कारणां निर्ग्रन्थीं गृह्णाति, अवलम्बते वा, चतुर्गुरु, आज्ञादयश्च दोषाः।

मिच्छत्ते सतिकरणं, विराहणा फासभावसंबंधो ।
पडिगमणादी दोसा, भुत्ताभुत्ते य णेयव्वा ॥

निर्ग्रन्थीं गृह्णन्तीं दृष्ट्वा कोऽपि मिथ्यात्वं गच्छेत्-अहो! मायाविनोऽमी अन्यद्वदन्ति अन्यच्च कुर्वन्ति, स्मृतिकरणं वा भुक्तभोगिनो भवति। अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलं,ततश्च संयमविराधना, स्पर्शतश्च भावसंबन्धो भवति। प्रतिगमनादयो दोषा भुक्तानामभुक्तानां वा साधुसाध्वीनां ज्ञातव्याः।

अथ विषमपदं व्याख्याति-

तिविहं च होति विसमं, भूमिं सावय मणुस्सविसमं वा ।
तंसि वि सो चेव गमो, णाणत्तं ते य जतणाए ॥

त्रिविधं च भवति विषमम्-भूमिविषमं, श्वापदविषमं, मनुष्यविषमं च। भूमिविषमं नाम गर्तपाषाणाद्याकुलो भूभागः श्वापदमनुष्यविषमे तु श्वापदमनुष्यदुर्गवन्मन्तव्ये । अत्र भूमिविषमेणाधिकारः, पर्वतपदं तु प्रतीतत्वात् न व्याख्यात, तस्मिन्नपि विषमे पर्वते वा निर्ग्रन्थीं गृह्णतश्चतुर्गुरुकप्रायश्चित्तादिरूपः स एव गमो भवति, यो दुर्गे भणितः। तथा नावुदके नौकादौ च वक्ष्यमाणस्वरूपे निर्ग्रन्थीं गृह्णतो निष्कारणे त एव दोषाः। (जयणाए त्ति) कारणे यतनया दुर्गादिषु गृह्णीयादवलम्बेत वा। यतना चाग्रतो वक्ष्यते ।

प्रस्खलनप्रपतनपदे व्याचष्टे-

भूमीए असंपत्तं, पत्तं वा हत्थजाणुगादीहिं ।
परिखलणं णायव्वं, पवडण भूमीए गत्तेहिं ॥

भूमावसंप्राप्तं हस्तजानुकादिभिः प्राप्तं वा प्रस्खलनं ज्ञातव्यम्, भूमौ प्राप्तं सर्वगात्रैश्च यत्तत्पतनम्।

अयवा वि दुग्ग विसमे, थद्धं भीतं व थेरो तु ।
सिचयंतरेतरं वा, गिएहंतो होति निद्दोसो ॥

अथवेति प्रकारान्तरद्योतकः,उक्तास्तावन्निर्ग्रन्थीं गृह्णतो दोषाः, परं द्वितीय एव दुर्गे विषमे वा तां स्तब्धां भीतां वा गीतार्थः स्थविरः, सिचयेन वस्त्रेणान्तरितामितरां वा गृह्णन् निर्दोषो भवति। व्याख्यातं प्रथमसूत्रम्।

संप्रति द्वितीयसूत्रं व्याख्याति-

पंको खलु चिक्खिल्लो, आगंतुपयणुओ दुओ पणओ ।
सो पुण सजलो सेओ, सीतिज्जति जत्थ दुविहे वी ॥

पङ्कः खलु 'चिक्खिल्ल' उच्यते,आगन्तुकप्रतनको द्रुतश्च पनको यत्र पुनर्द्विविधेऽपि पङ्के पनके वा 'सीइज्जति ' निमज्जते, स पुनः सजलः सेक उच्यते।

पंकपणएसु नियमा, उगसण उदुज्झणं सिया सेए ।
थिमियम्मि णिमज्जण भा, सजले सेए सिया दो वि ॥

पङ्कपनकयोर्नियमादपकसनं ह्रसनं भवति,सेके तु 'उदुज्झणं' अपोहनं पानीयेन हरणं स्यात्, स्तिमिते तु तत्र निमज्जनं भवेत्। सजले तु सेके द्वे अपोहननिमज्जने स्याताम्।

अथ तृतीयं सूत्रं व्याख्याति-

ओयारण उत्तारण, अत्थरण च दुग्गहे य सतिकारो ।
छेदो व दुवेगयरे, अतिपेल्लण भाव मिच्छत्तं ॥

कारणे निर्ग्रन्थीनामवतारयन्नारोपयेत,उत्तारयेद् च,यच्चास्तरणं च दुर्ग्रहे वा करोति, सदा स्मृतिकारो भुक्तभोगिनो भूयो भवति, छेदो वा नखादिभिर्द्वयोरेकतरस्य भवेत्। अतिप्रेरणा

च, भावो मैथुनाभिलाष उत्पद्येत, मिथ्यात्वं वा तत् दृष्ट्वा कश्चिद्गच्छेत्। एते नावुदके निर्ग्रन्थीं गृह्णतो दोषा उक्ताः।

अथ नावुदके लेपोपरि वा तारयतो दोषानाह-

अंतो जले वि एवं, गुज्झंगफास इच्छऽणिच्छंते।
मुच्चेज्ज व आवन्ना, जा होउ करेज्ज वा हावे॥

अन्तर्जले अपि जलाभ्यन्तरेऽपि गच्छन्तीं गृह्णत एवमेव दोषा मन्तव्याः, तथा गुह्याङ्गस्पर्शे मोह उदियात्। उदिते च मोहे यदीच्छति, नेच्छति वा तत उभयथा दोषाः। यद्वा स उदीर्णमोहः तां जलमध्ये मुञ्चेत्। आपन्ना यस्माद्भवेद्, करोतु वा हावान्मुखविकारानिति। कारणे तु नौवुदके लेपोपरि वा अवतारणम्, उत्तारणं वा कुर्वन् यतनया गृह्णीयादवलम्बेत।

अथ ग्रहणालम्बनपदे व्याख्याति-

सव्वंगियं तु गहणं, करेंति अवलंबणेगदेसम्मि।
जह सुत्तं तासु कयं, तहेव वतिणो वि वतिणीए॥

ग्रहणं नाम सर्वाङ्गीणं कराभ्यां यद् गृह्यते, अवलम्बनं तु तदुच्यते-यदेकस्मिन् देशे बाह्वादौ ग्रहणं क्रियते। तदेवं यथा तासु निर्ग्रन्थीषु सूत्रं सूत्रत्रयं कृतम्। किमुक्तं भवति?-यथा निर्ग्रन्थो निर्ग्रन्थ्याः कारणे ग्रहणमवलम्बनं वा कुर्वन्नाज्ञामतिक्रामतीति सूत्रत्रयेऽपि भणितं तथैवार्थत इदं द्रष्टव्यम्, व्रतिनोऽपि साधोरपि दुर्गादौ पङ्कादौ नावुदकादौ वा प्रपतन्त्या व्रतिन्याः कारणे ग्रहणमवलम्बनं वा कर्त्तव्यम्।

कया पुनर्यतनयेत्यत आह-

जुगलं गिलाणगं वा, असहुं असेण वा वि अतरंतं।
गोवालकंचुमादी, संरक्खण णालवद्धादी॥

युगलं नाम-बालो वृद्धश्च, तद्वा, अपरं ग्लानम्, अत एवासहिष्णुं दुर्गादिषु गन्तुमशक्नुवन्तम्; अन्येन ग्लानत्ववर्जनकारणेन अतरन्तमशक्तं, गोपालं कञ्चुकादिपरिधानपुरस्सरं, नालबद्धा, संयती, आदिग्रहणादनालबद्धाऽपि संरक्षति गृह्णाति, अवलम्बते वा इत्यर्थः। बृ० ६ उ०। नं०।

निग्गंथे निग्गंथिं णावं आरुहमाणे वा ओरुहमाणे वा णाइक्कमइ। खित्तइत्तं दित्तइत्तं जक्खाइट्ठं उम्मायपत्तं उवसग्गपत्तं साहिगरणं सपायच्छित्तं भत्तपाणपमियाइक्खित्तं अट्ठजायं निग्गंथे निग्गंथिं गिण्हमाणे वा अवलंबमाणे वा णाइक्कमइ।

(नावमारुहमाणे त्ति) आरोहयन् (ओरुहमाणे त्ति) अवरोहयन्नुत्तारयन्नित्यर्थो नातिक्रामतीति। तथा क्षिप्तं नष्टं रागभयापमानैश्चित्तं यस्याः सा। स्था० ५ ठा० २ उ०।

(क्षिप्तचित्तादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने) चन्द्रसूर्योपरागे, स्था० ४ ठा०। आ० चू०।

ता कहं ते राहुकम्मे आहिता ति वदेज्जा। तत्थ खलु इमाओ दोपडिवत्तीओ पण्णत्ताओ। तत्थेगे एवमाहंसु-ता अत्थि णं से राहुदेवे, जे णं चंदिमं सूरं च गेण्हति ?। एगे पुण एवमाहंसु-ता णत्थि णं से राहुदेवे, जे णं चंदं सूरं च गेण्हति। तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता अत्थि णं से राहुदेवे जे णं चंदं सूरं

च गिण्हति, ते एवमाहंसु-ता राहू णं देवे चंदं सूरं च गेण्हमाणे बुद्धंतेणं गिण्हित्ता बुद्धंतेणं मुयति, बुद्धंतेणं गिण्हित्ता मुद्धंतेणं मुयइ, मुद्धंतेणं गिण्हित्ता बुद्धंतेणं मुयइ, मुद्धंतेणं गिण्हित्ता मुद्धंतेणं मुयति, वामभुयंतेणं गेण्हित्ता वामभुयंतेणं मुयति, वामभुयंतेणं गिण्हित्ता दाहिणभुयंतेणं मुयति, दाहिणभुयंतेणं गेण्हित्ता वामभुयंतेणं मुयति, दाहिणभुयंतेणं गेण्हित्ता दाहिणभुयंतेणं मुयति। तत्थ जे ते एवमाहंसु-ता णत्थि णं से राहुदेवे जे णं चंदं सूरं च गेण्हति ते णं एवमाहंसु-तत्थ णं खलु इमे पण्णरस कसिणा पोग्गला पण्णत्ता। तं जहा-सिंघाडए १ जडिलए २ खतए ३ खरए ४ अंजणे ५ खंजणे ६ सीअलए ७ हिमसीअले ८ केलासे ९ अरुणाभे १० पणिज्जए ११ नभपुरए १२ कविलए १३ पिंगलए १४ राहुए १५। ता जता णं एए पण्णरस कसिणा पोग्गला सया चंदस्स वा सूरस्स वा लेसाणुबंधचारिणो भवंति, तया णं मणुस्सलोगे मणुस्सा वयंति-एवं खलु राहू चंदं वा सूरं वा गेण्हति।

कथं केन प्रकारेण भगवन्! त्वया राहुकर्म राहुक्रिया आख्याता इति वदेत्?। एवमुक्ते भगवान् तद्विषये द्वे परतीर्थिकप्रतिपत्ती, ते उपदर्शयति-(तत्थेत्यादि) तत्र राहुकर्मविषये खल्विमे द्वे प्रतिपत्ती प्रज्ञप्ते-"तत्थेगेत्यादि" तत्र तेषां द्वयानां परतीर्थिकानां मध्ये एके परतीर्थिका एवमाहुः-'ता' इति पूर्ववत्। अस्ति, णमिति वाक्यालंकारे। स राहुनामा देवो, यः चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णाति॥१॥ अत्रोपसंहारः (एगे पुण एवमाहंसु) एके पुनरेवमाहुस्ता इति पूर्ववत्। नास्ति स राहुनामा देवो यश्चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णाति। तदेवं प्रतिपत्तिद्वयमुपदर्श्य संप्रत्येतद्भावनार्थमाह-(तत्थेत्यादि) तत्र ये ते वादिन एवमाहुः-अस्ति स राहुनामा देवो यश्चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णातीति त एवमाहुः त एवं स्वमतभावनिकां कुर्वन्ति-(ता राहू णमित्यादि) ता इति पूर्ववत् राहुर्देवश्चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णन् कदाचित् बुध्नान्तेन गृहीत्वा बुध्नान्तेनैव मुञ्चति; अधोभागेन गृहीत्वा अधोभागेनैव मुञ्चतीति भावः। कदाचित् बुध्नान्तेन गृहीत्वा मूर्द्धान्तेन मुञ्चति, अधोभागेन गृहीत्वा उपरिभागेन मुञ्चतीत्यर्थः। अथ वा-कदाचित् मूर्द्धान्तेन गृहीत्वा बुध्नान्तेन मुञ्चति। यदि वा-मूर्द्धान्तेन गृहीत्वा मूर्द्धान्तेनैव मुञ्चति। भावार्थः प्राग्वत् भावनीयः। अथ वा-कदाचित् वामभुजान्तेन गृहीत्वा वामभुजान्तेन मुञ्चति। किमुक्तं भवति?-वामपार्श्वेन गृहीत्वा वामपार्श्वेनैव मुञ्चति। यदि वा-वामभुजान्तेन गृहीत्वा दक्षिणभुजान्तेन मुञ्चति। अथ वा-कदाचित् दक्षिणभुजान्तेन गृहीत्वा वामभुजान्तेन मुञ्चति, यद्वा-दक्षिणभुजान्तेन गृहीत्वा दक्षिणभुजान्तेन मुञ्चति इति। भावार्थः सुगमः। (तत्थ जे ते इत्यादि) तत्र तेषां द्वयानां परतीर्थिकानां मध्ये ये ते वादिन एवमाहुः-यथा नास्ति स राहुदेवो यः चन्द्रं सूर्यं वा गृह्णाति, ते एवमाहुः-"तत्थ णं" इत्यादि। तत्र जगति णमिति वाक्यालङ्कारे, इमे वक्ष्यमाणस्वरूपाः पञ्चदश भेदाः कृत्स्नाः पुद्गलाः प्रज्ञप्ताः। तद्यथेत्यादिना तानेव दर्शयति-एते यथा संप्रदायवैवि-

त्व्येन प्रतिपत्तव्याः-" ता जता णं " इत्यादि । ततस्तदा णमिति वाक्यालङ्कारे, एते अनन्तरोदिताः पञ्चदश भेदाः कृष्णाः समस्ताः पुद्गलाः (सया इति) सदा सातत्येन इत्यर्थः । चन्द्रस्य वा सूर्यस्य वा लेश्यानुबन्धचारिणः चन्द्रसूर्यबिम्बगतप्रभानुचारिणो भवन्ति । तदा मनुष्यलोके मनुष्या वदन्ति यथा एवं खलु राहुश्चन्द्रं वा सूर्यं वा गृह्णातीति । चं० प्र० २० पाहु० ।

रायगिहे० जाव एवं वयासी-बहुजणे णं भंते ! अप्पमप्पस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ-एवं खलु राहू चंदं गेएहइ एवं ख० २, से कहमेयं भंते ! एवं ?। गोयमा ! जणं से बहुजणे अप्पमप्पस्स० जाव मिच्छं ते एवमाहंसु। अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु राहुदेवे महिड्ढीए० जाव महेसक्खे वरवत्थधरे वरमल्लधरे वरगंधधरे वराभरणधारी, राहुस्स णं देवस्स णव णामधेज्जा पएणत्ता । तं जहा-सिंघाडए जडिलए खत्तए खरए दद्दुरे मगरे मच्छे कच्छभे कएहसप्पे । राहुस्स णं देवस्स पंच विमाणा पएणत्ता । तं जहा- कएहा नीला लोहिया हालिद्दा सुक्किल्ला । अत्थि कालए राहुविमाणे खंजणवण्णाभे पएणत्ते, अत्थि नीलए राहुविमाणे लाउयवण्णाभे पएणत्ते, अत्थि णं लोहिए राहुविमाणे मंजिट्ठवएणाभे पएणत्ते, अत्थि पीतए राहुविमाणे हालिद्दवण्णाभे पएणत्ते, अत्थि सुक्किल्लए राहुविमाणे भासरासिवण्णाभे पएणत्ते । जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेस्सं पुरच्छिमेणं आवरेत्ता णं पच्चच्छिमेणं वीईवयति, तदा णं पुरच्छिमेणं चंदे उवदंसेति, पच्चच्छिमे णं राहू, जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेस्सं पच्चच्छिमेणं आवरेत्ता णं पुरच्छिमेणं वीईवयइ, तदा णं पच्चच्छिमेणं चंदे उवदंसेति, पुरच्छिमेणं राहू । एवं जहा पुरच्छिमेणं पच्चच्छिमेण य दो आलावगा भणिया तहा दाहिणेण य उत्तरेण य दो आलावगा भाणियव्वा । एवं उत्तरपुरच्छिमेणं दाहिणपच्चच्छिमेण य दो आलावगा भाणियव्वा । एवं दाहिणपुरच्छिमेणं उत्तरपच्चच्छिमेण य दो आलावगा भाणियव्वा । एवं चेव० जाव तदा णं उत्तरपच्चच्छिमेणं चंदे उवदंसेति, दाहिणपुरच्छिमेणं राहू, जदा णं राहू आगच्छमाणे वा गच्छमाणे वा विउव्वमाणे वा परियारेमाणे वा चंदलेस्सं आवरमाणे २ चिट्ठइ, तदा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति एवं खलु राहू चंदं गेएहइ । एवं जदा णं राहू आगच्छमाणे वा० ४ चंदलेस्सं आवरेत्ता णं पासेणं वीईवयइ, तया णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति-एवं खलु चंदेणं राहुस्स कुच्छी भिन्ना । एवं जदा णं राहू आगच्छमाणे वा० ४ चंदलेस्सं आवरेत्ता णं पच्चोसक्कइ, तदा णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति-एवं खलु राहुस्स णं चंदे वंते, एवं जया णं राहू आगच्छमाणे वा० ४ जाव परियारेमाणे वा चंदलेस्स अहे सपक्खिं सपडिदिसिं आवरेत्ता णं चिट्ठइ, तया णं मणुस्सलोए मणुस्सा वदंति-एवं खलु राहुणा चंदे घत्थे, एवं खलु राहुणा चंदे घत्थे ।

(मिच्छं ते एवमाहंसु त्ति) इह तद्वचनमिथ्यात्वम, अप्रामाणिकत्वात्कुप्रवचनसंस्कारोपनीतत्वाच्च । ग्रहणं हि राहुचन्द्रयोर्विमानापेक्षं, न च विमानयोर्ग्रासकग्रसनीयसंभवोऽस्ति, आश्रयमात्रत्वात्परभावनानामिव । अथेदं गृहमनेन ग्रस्तमिति दृष्टस्तद्व्यवहारः, सत्यं, स बहुत्वाच्छाद्याच्छादकभावे सति, नान्यथा, आच्छादनमात्रेण च ग्रासविवक्षायामिहापि न विरोध इति । अथ यदत्र सम्यक् तद्दर्शयितुमाह—(अहं पुणेत्यादि) (खंजणवण्णाभे त्ति) खञ्जनं दीपमल्लिकामलस्तस्य यो वर्णस्तद्वदाभा यस्य तत्तथा (लाउयवण्णाभ त्ति) (लाउयं ति)तुम्बकं, तच्चेहापक्वावस्थं ग्राह्यमिति । (भासरासिवण्णाभे त्ति) भस्मराशिवर्णाभं, ततश्च किमित्याह-(जदा णमित्यादि) (आगच्छमाणे व त्ति) गत्वाऽतिचारेण ततः प्रतिनिवर्त्तमानः कृष्णवर्णादिना विमानेनेति शेषः । (गच्छमाणे व त्ति) स्वभावचारेण चरन्, एतेन च पदद्वयेन स्वाभाविकी गतिरुक्ता । (विउव्वमाणे व त्ति) विकुर्वणां कुर्वन् (परियारेमाणे व त्ति) परिचारयन् कामक्रीडां कुर्वन्, एतस्मिन् द्वयेऽतित्वरया प्रवर्त्तमानो विसंस्थुलचेष्टया स्वविमानमसमञ्जसं चलयति, एतच्च द्वयमस्वाभाविकविमानगतिग्रहणायोक्तमिति । (चंदलेस्सं पुरच्छिमेणं आवरेत्ता णं ति) स्वविमानेन चन्द्रविमानावरणे चन्द्रदीप्तेरावृतत्वाच्चन्द्रलेश्यां पुरस्तादावृत्य (पच्चच्छिमे णं वीईवयइ त्ति) चन्द्रापेक्षया परेण याति इत्यर्थः । (पुरच्छिमेणं चंदे उवदंसेइ,पच्चच्छिमेणं राहु त्ति) राहूपेक्षया पूर्वस्यां दिशि चन्द्र आत्मानमुपदर्शयति, चन्द्रापेक्षया च पश्चिमायां राहुरात्मानमुदर्शयतीत्यर्थः। एवंविधस्वभावतायां च राहोश्चन्द्रस्य यद्भवति तदाह-(जया णमित्यादि) "आवरेमाणे" इत्यत्र द्विवचनं तिष्ठतीति क्रियाविशेषणत्वात् । (चंदे णं राहुस्स कुच्छी भिन्न त्ति)राहोरंशस्य मध्येन चन्द्रो गत इति वाच्ये चन्द्रेण राहोः कुक्षिर्भिन्ना इति व्यपदिशन्तीति । (पच्चोसक्कइ त्ति) प्रत्यवसर्पति व्यावर्त्तते [वंते त्ति] वान्तः परित्यक्तः (सपक्खिं सपडिदिसं ति) सपक्षं समानदिक् यथा भवति, सप्रतिदिक् यथाभवतीत्येवं चन्द्रलेश्यामावृत्यावष्टभ्य तिष्ठतीत्येवं योगः । अत्र आवरणमात्रमेवेदं वैस्रसिकं चन्द्रस्य राहुणा ग्रसनम्, न तु कार्मणमिति ।

अथ राहोर्भेदमाह-

कतिविहे णं भंते ! राहू पएणत्ते?। गोयमा ! दुविहे राहू पएणत्ते । तं जहा-धुवराहू य,पव्वराहू य । तत्थ णं जे से धुवराहू,से णं बहुलस्स पक्खस्स पाडिवए पएणरसतिभागे णं पएणरसभागं चंदलेस्सं आवरेमाणे २ चिट्ठइ । तं जहा-पढमाए पढमं भागं, बितियाए बितियं भागं० जाव पएणरसेसु पएणरसमं भागं, चरमसमए चंदे रत्ते भवइ,अवसेसे समए चंदे

रत्ते वा विरत्ते वा भवइ । तामेव सुक्कपक्खस्स उवदंसे-माणे २ चिट्ठइ । तं जहा-पढमाए पढमं भागं० जाव पण्णरसेसु पण्णरसमं भागं चरमसमए चंदे रत्ते भवइ, अवसेसे समए चंदे रत्ते वा विरत्ते वा भवइ । तत्थ णं जे से पव्वराहू से जहमेणं छण्हं मासाणं उक्कोसेणं बायालीसाए मासाणं चंदस्स, अडयालीसाए संवच्छराणं सूरस्स ॥

[कइविहे णमित्यादि] यश्चन्द्रस्य सदैव सन्निहितः सञ्चरति स ध्रुवराहुः । आह च—" किण्हं राहुविमाणं, निच्चं चंदेण होइ अविरहियं । चउरंगुलमप्पत्तं, हेट्ठा चंदस्स तं चरइ त्ति " ॥ १ ॥ यस्तु पर्वणि पौर्णमास्यमावस्ययोश्चन्द्रादित्ययोरुपरागं करोति स पर्वराहुरिति ॥ [तत्थ णं जे से धुवराहू इत्यादि] [पाडिवए त्ति] प्रतिपद आरभ्येति शेषः। पञ्चदशभागेन स्वकीयेन करणभूतेन पञ्चदशभागम [चंदस्स लेस्सं ति] विभक्तिव्यत्ययाच्चन्द्रस्य लेश्यायाश्चन्द्रबिम्बसम्बन्धिनमित्यर्थः । आवृण्वन् २ प्रत्यहं तिष्ठति ॥ [पढमाए त्ति] प्रथमतिथौ [पण्णरसेसु त्ति] पञ्चदशसु दिनेषु अमावस्यायामित्यर्थः "पण्णरसमं भागं आवरित्ता णं चिट्ठइ त्ति" वाक्यशेषः एवं च यद्भवति तदाह-[चरिमेत्यादि] चरमसमये पञ्चदशभागोपेतस्य कृष्णपक्षस्यान्तिमे काले कालविशेषे वा चन्द्रो रक्तो भवति, राहुणोपरक्तो भवति, सर्वथाऽप्याच्छादित इत्यर्थः । अवशेषे समये प्रतिपदादिकाले चन्द्रो रक्तो वा, विरक्तो वा भवति; अंशेन राहुणापरक्तोऽशान्तरेण चानुपरक्तः, आच्छादितानाच्छादित इत्यर्थः [तामेव त्ति] तमेव चन्द्रलेश्यापञ्चदशभागं शुक्लपक्षस्य, प्रतिपदादिष्विति गम्यते, उपदर्शयन् २ पञ्चदशभागेन स्वयमपसरणतः प्रकटयंस्तिष्ठति । (चरिमसमये त्ति) पौर्णमास्यां चन्द्रो विरक्तो भवति, सर्वथैव शुक्लीभवतीत्यर्थः; सर्वथाऽनाच्छादितत्वादिति । इह चायं भावार्थः-षोडशभागीकृतस्य चन्द्रस्य षोडशो भागोऽवस्थित एवास्ते । ये चान्ये भागास्तत्र राहुः प्रतितिथ्येकैकं भागं कृष्णपक्षे आवृणोति, शुक्ले तु विमुञ्चतीति । उक्तञ्च ज्योतिष्करण्डके-" सोलसभागे काऊण, उडुवई हायएत्थ पण्णरस । तत्तियमेत्ते भागे, पुणो वि परिवड्ढई जाण्हं " ति ॥ १ ॥ इह तु षोडशभागकल्पना न कृता, व्यवहारिणां षोडशभागस्यावस्थितस्यानुपलक्षणादिति संभावयाम इति । ननु चन्द्रविमानस्य पञ्चैकषष्टिभागन्यूनयोजनप्रमाणत्वात् राहुविमानस्य च ग्रहविमानत्वेनार्धयोजनप्रमाणत्वात्कथं पञ्चदशे दिने चन्द्रविमानस्य महत्त्वेनेतरस्य च लघुत्वेन सर्वावरणं स्यात् ? इति । अत्रोच्यते-यदिदं ग्रहविमानानामर्द्धयोजनमिति प्रमाणं तत्प्रायिकम्, ततश्च राहोर्ग्रहस्योक्ताधिकप्रमाणमपि विमानं सम्भाव्यते । अन्ये पुनराहुः-लघीयसोऽपि राहुविमानस्य महता तमिस्ररश्मिजालेन तदाव्रियत इति । ननु कतिपयान् दिवसान् यावद् ध्रुवराहुविमानं वृत्तमुपलभ्यते ग्रहण इव कतिपयांश्च न तथेति किमत्र कारणम् ? । अत्रोच्यते-येषु दिवसेषु अत्यर्थं तमसाऽभिभूयते शशी, तेषु तद्विमानं वृत्तमाभाति, येषु पुनर्नाभिभूयतेऽसौ विशुद्ध्यमानत्वात्तेषु न वृत्तमाभाति । तथाचोक्तं विशेषणवत्याम्—" वट्टच्छेओ कइवय—दिवसे धुवराहुणो विमाणस्स । दीसइ परं न दीसइ, जह गहणे पव्वराहुस्स " ॥१॥ आचार्य आह-" अत्यर्थं न हि तमसा-ऽभिभूयते अं ससी विसुज्झंतो । तेण न वट्टच्छेओ, गहणे उ तमो तमोबहुलो त्ति " ॥१॥ (तत्थ णं जे से पव्वेत्यादि । बायालीसाए मासाणं) सार्द्धस्य वर्षत्रयोस्योपरि चन्द्रस्य लेश्यामावृत्य तिष्ठतीति गम्यं, सूर्यस्याप्येवमुत्कृष्टतयाऽष्टचत्वारिंशता संवत्सराणामिति । भ० १२ श० ६ उ० । स० । म० । " ससिणो वा रविणो वा, जइआ गहणं तु होइ एगस्स । तइआ तं सव्वोर्सि, ताणं नेयं मणुअलोए " ॥७०॥ मं० । निर्जनस्थाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गहणकप्प-ग्रहणकल्प-पुं० । सूत्रार्थोभयग्रहणप्रकारे, नि० चू० ।

इदाणिं गहणकप्पो-

सुतऽत्थतदुभयाणं, भत्ती बहुमाण विणयमच्छेरं ।
उक्कुडुणिसेज्जअंजलि,गहितागहिताणि य पणामो ।३८८।

"सुत्तं अत्थं उभयं वा गेण्हंते भत्ती बहुमाणा अब्भुट्ठाणाति, विणओ पउंजियव्वो (अच्छेरं ति) आश्चर्यं मन्यते-अहो ! इमेसु सुतत्थपदेसु परिसा अविकप्पा भावा णज्जंति । अह वा-आश्चर्यभूतं विनयं करोति तिव्वभावसंपण्णो भणेति पि संवेगं जणंतो अत्थे णियमा संणिसिज्जं करेति, सुत्ते वि करेति । वायणायरियइच्छाए वा सुणेति । उक्कुडुत्थित्ता रयहरणणिसेज्जाए वा कयंजली एवं पुच्छमाणे वि सुत्तं पुणं कयकच्छुभो पढंति । जया पुण आलावयं मग्गंति तदा कयंजली कयप्पणामो य । किं च-अंगं सुयखंधं अज्झयणं उद्देसगा अधिकृतिकारा सुत्तवक्के य गुरुणो दिण्णे समत्ते वा (गहिए त्ति) अवधारियव्व अवधारिते वा सिस्सेण पणामो कायव्वो" । नि० चू० १ उ० ।

गहणगुण-ग्रहणगुण-पुं० । ग्रहणमौदारिकशरीरादितया ग्राह्यता वा वर्णादिमत्वात् परस्परसम्बन्धलक्षणं वा तद्गुणो धर्मो यस्य स तथा । गुणतः पुद्गलास्तिकाये, " गुणओ गहणगुणे " स्था० ५ ठा० ३ उ० । भ० ।

गहणजाय-ग्रहणजात-न० । श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यमाणे भाषाद्रव्ये, आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० । ('जाय' शब्देऽस्य व्याख्या)

गहणदव्व-ग्रहणद्रव्य-न० । ग्रहणप्रायोग्यकर्मदलिके, क० प्र० ।

गहणता-ग्रहणता-स्त्री० । शिक्षणे, स्था० ८ ठा० ।

गहणप्पगार-ग्रहणप्रकार-पुं० । परिच्छेदे, " परिच्छेद त्ति वा गहणप्पगारे त्ति वा एगट्ठा" आ० चू० १ अ० ।

गहणवग्गणा-ग्रहणवर्गणा-स्त्री० । ग्रहणप्रायोग्यायां वर्गणायाम, पं० सं० ५ द्वार । ('वग्गणा' शब्देऽस्य व्याख्या)

गहणविदुग्ग-गहनविदुर्ग-पुं० । पर्वतैकदेशावस्थितवृक्षवल्लीसमुदाये, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । भ० । "एगो पव्वतो बहुएहिं पव्वतेहिं विदुग्गं " नि० चू० १ उ० । आचा० ।

गहणसिक्खा-ग्रहणशिक्षा-स्त्री० । "विशुद्धमुपधानेन, प्रासं कालक्रमेण च । योग्याय गुरुणा सूत्रं, सम्यग्देयं महात्मना " ॥ १ ॥ इत्युक्तलक्षणे, ('सिक्खा' शब्देऽस्य व्याख्या) ध० ३ अधि० ।

गहणी-ग्रहणी-स्त्री० । गुदाशये, तं० । औ० । जी० । हठहृतस्त्रियाम, दे० ना० २ वर्ग ।

गहणेसणा-ग्रहणैषणा-स्त्री० । आहारग्रहणरूपे एषणाभेदे, नि० चू० १ उ० । पिं० । ओघ० । पञ्चा० । (ग्रहणैषणा 'एसणा' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ७३ पृष्ठे द्रष्टव्या)

गहणोग्गह–ग्रहणावग्रह–पुं०। अपरिग्रहस्य साधोः पिण्डवसतिवस्त्रपात्रग्रहणपरिणामे, आचा० २ श्रु० ७ अ० १ उ०।

गहदंड–ग्रहदण्ड–पुं०। दण्डा इव दण्डास्तिर्यगायताः श्रेणयः, ग्रहाणां मङ्गलादीनां त्रिचतुरादीनां दण्डा ग्रहदण्डाः। भ० ३ श० ६ उ०। दण्डाकारव्यवस्थितेषु ग्रहेषु, जी० ३ प्रति०।

गहन–ग्रहण–न०। धारणे, पैशाच्यां णस्य नः। "कथं तापसे वेसगहनं कतं"। प्रा० ४ पाद।

गहभिन्न–ग्रहभिन्न–न०। ग्रहविदारिते नक्षत्रे, विशे०। आ० म०। यन्मध्यं ग्रहो विभिद्य निर्गच्छति। जीत०। "गहभिन्नं च वज्जये सत्त नक्खत्ते" द० प०। ग्रहभिन्ने शोणितोद्गारः। व्य० १ उ०। पं० व०।

गहमुसल–ग्रहमुशल–न०। मुशलाकारव्यवस्थितेषु ग्रहेषु, जी० ३ प्रति०। ग्रहाणामूर्ध्वायतासु श्रेणिषु च। भ० ३ श० ७ उ०।

गहर–देशी–गृध्रे, दे० ना० २ वर्ग।

गहवइ–गृहपति–पुं०। गृहस्वामिनि, वृ० १ उ०।

गहवई–देशी–ग्रामीणे, शशिनि च। दे० ना० २ वर्ग।

गहसिंघाडग–ग्रहशृङ्गाटक–न०। ग्रहाणां शृङ्गाटकफलाकारेणाऽवस्थाने, भ० ३ श० ७ उ०। ग्रहयुग्मे च। जी० ३ प्रति०।

गहसम–ग्रहसम–न०। प्रथमतो वंशतन्त्र्यादिभिर्यः स्वरो गृहीतस्तत्समं गीयमानं ग्रहसमम्। स्था० ७ ठा०। स्वरसाम्येन गाने, स्था० ७ ठा०।

गहाय–गृहीत्वा–अव्य०। आदायेत्यर्थे, दशा० ७ अ०। रा०। सूत्र०।

गहावसव्व–ग्रहाऽपसव्य–न०। ग्रहाणामपसव्यगमने,प्रतीपगमने, भ० ११ श० १ उ०।

गहिअ–देशी–वक्रिते, दे० ना० २ वर्ग।

गहिआ–देशी–काम्यमानायां स्त्रियाम्, दे० ना० २ वर्ग।

गहिय–गृद्ध–त्रि०। अभ्युपपन्ने, "आयाणसोयं गढिय बाले" आचा० १ श्रु० ४ अ० ४ उ०।

गृहीत–त्रि०। ग्रह क्त ईद्। "पानीयादिष्वित्" ।८।१।१०१। इतीकारस्य ह्रस्वः। प्रा० १ पाद। उपात्ते, आ०चू०१ अ०। आ० म०। भस्पर्शनत उपात्ते,भ० १३ श०७ उ०। राजपुरुषैर्बद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार। स्वीकृते, औ०। सूत्र०। प्र०। ज्ञाते, वाच०। "उवयारियं ति वा गहीतं ति वा आगमियं ति वा गहितं ति वा एगट्ठा" उत्त० २ अ०।

गहियट्ठ–गृहीतार्थ–त्रि०। गृहीतः स्वीकृतोऽर्थो मोक्षमार्गरूपो येन स गृहीतार्थः। सूत्र० २ श्रु० ७ अ०। पराभिप्रायग्रहणतः (ज्ञा० १ श्रु० १ अ०) अर्थावधारणात् (भ० २ श० ५ उ०। दशा०) अवधारिततत्त्वे, दर्श०।

गहियवक्क–गृहीतवाक्य–त्रि०। सर्वत्राऽस्खलिताऽऽज्ञे,ग० १ अधि०। आचा०। उपादेयवचने, प्रवचनकथनयोग्ये, तस्य हि स्वल्पमपि वचन महार्थमिव प्रतिभाति। प्रव० १ द्वार।

गहिया–गृहीत्वा–अव्य०। उपादायेत्यर्थे, "गहिया हु अजयएक्केवकुवालादिणो वहवे" सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ०।

गहियाउहप्पहरण–गृहीतायुधप्रहरण–त्रि०। गृहीतानि आयुधानि शस्त्राणि प्रहरणाय परेषां प्रहारकरणाय येन स तथा। अथ वाऽऽयुधान्युत्क्षेप्यशस्त्राणि खड्गादीनि, प्रहरणानि तु क्षेप्यशस्त्राणि नाराचादीनि, ततो गृहीतानि आयुधानि प्रहरणानि येन स तथा। सायुधप्रहरणे, भ० ७ श० ६ उ०।

गहिर–गभीर–त्रि०। 'पानीयादिष्वित्'।८।१।१०१। इति ह्रस्वः। प्रा० १ पाद। अलब्धमध्ये, प्रज्ञा० २ पद। "गहिरहसियगीयणच्चणरई" गंभीरेषु हसितनर्तनेषु रतिर्येषां ते। जी० ३ प्रति०।

गहीरिय–गाम्भीर्य–न०। "स्याद् भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात्" ८।२।१०७। इति संयुक्तस्य यात्पूर्व इत्। अलब्धस्ताघत्वे, प्रा० २ पाद।

गहेतुं–गृहीत्वा–अव्य०। उपादायेत्यर्थे, "व्रजंति णं पुव्वमरीसरोसं, समुगारे तेसुप्पले गहेतुं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

गा–गै–धा०। गते, "ध्यागोर्झागौ" ।८।४।६। इति गाऽऽदेशः। 'गाइ–गाअइ। गायति'। प्रा० ४ पाद।

गाइय–गीत–न०। कृते गाने, "सुट्ठु गाइयं सुट्ठु वाइयं सुट्ठु नच्चियं" आव० ४ अ०।

गाउच्छोलण–गात्रोत्क्षोलन–न०। अङ्गधावने, स्था० ४ ठा० ३ उ०।

गाउय–गव्यूत–न०। द्विधनुःसहस्रप्रमाणे क्षेत्रे, प्रज्ञा० १ पद। "चउहत्थं पुण धणुहं, दुन्नि सहस्साइं गाउयं तेसिं" प्रव० २५४ द्वार। जी०। भ०। अनु०। स्था०। क्रोशद्वये च, ओघ०।

गागर–गागर–पुं०। स्त्री०। परिधानविशेषे, जं० ३ वक्ष०। प्रश्न०। मत्स्यभेदे च। प्रज्ञा० १ पद।

गागलि–गागलि–पुं०। पिठरस्य यशोमतीकुक्षिसम्भूते पुत्रे, यो हि पृष्ठचम्पायां प्रव्रजद्भ्यां शालमहाशालाभ्यां राज्ये स्थापितो गौतमान्तिके प्रव्राजितः केवली भूत्वा सिद्धः। उत्त० १० अ०। आ० क०। आ० म०। आ० चू०। ती०। (इति 'अज्जवइर' शब्दे प्र० भागे २१६ पृष्ठे उक्तम्)

गागेज्ज–देशी–मथिते, दे० ना० २ वर्ग।

गागेज्जा–देशी–नवपरिणीते, दे० ना० २ वर्ग।

गाढ–गाढ–न०। गाह–क्तः। अतिशये, दृढे च। वाच०। अहिविषसूचिकादिषु, ग० २ अधि०। अत्यर्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। ओघ०। सूत्र०। अत्यर्थमुपनीते,सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। निविडे, नं०। बाढे, भ० १ श० २ उ०। अप्रीतिकरणे, व्य० २ उ०। बहुसस्थितिके, उत्त० १९ अ०। अत्यन्ते, कल्प० २ क्षण।

गाढगिलाण–गाढग्लान–त्रि०। सन्निपाताद्यभिभूततया तीव्रातुरे, पञ्चा० ७ विव०।

गाढतिक्खग्गणह–गाढतीक्ष्णाग्रनख–त्रि०। गाढमत्यन्तं तीक्ष्णानि अग्राणि येषामेवंविधा नखा यस्य स तथा। अतितीक्ष्णनखे, कल्प० २ क्षण।

गाढदुक्खा–गाढदुःखा–स्त्री० । गाढदुःखरूपायां वेदनायाम्, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

गाढपेल्लण–गाढप्रेरण–न० । अत्यर्थप्रेरणे,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गाढरुट्ठ–गाढरुष्ट–त्रि० । अत्यर्थक्रुद्धे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गाढालंबणलग्ग–गाढालम्बनलग्न–त्रि० । एकालम्बने स्थिरतया व्यवस्थिते, आव० ५ अ० ।

गाढीकय–गाढीकृत–त्रि० । शणसूत्रगाढबद्धसूचीकलापवत् आत्मप्रदेशैः सह गाढबद्धे कर्मणि, भ० ६ श० १ उ० ।

गाढोवणीय–गाढोपनीत–त्रि० । गाढमत्यर्थमुपनीतं ढौकितं दुष्कृतकर्मकारिणां यत्स्थानं तत् । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । "गाढोवणीयं अतिदुक्खधम्मं" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । इदैर्निधत्तनिकाचिकावस्थैः कर्मभिर्ढौकिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

गाण–गान–न० । गीते, जी० ३ प्रति० । "गीयं वितितं घणं झुसिरं अण्वे चउव्विहं गायंति" आ० चू० १ अ० ।

गाणंगणिय–गाणङ्गणिक–पुं० । गणाद्गणं षण्मासाभ्यन्तर एव सङ्क्रामतीति गाणङ्गणिक इत्यागमिकी परिभाषा । उत्त० १७ अ० । षण्मासाभ्यन्तर एव गणाद्गणान्तरं सङ्क्रामति, उत्त० १७ अ० ।

गाणङ्गणिकमत ऊर्द्ध वक्ष्ये, तमेवाह–

छम्मास अपूरित्ता, गुरुगा बारससमासु चउलहुगा ।
तेण परं मासलहू, गाणंगणि कारणे भइतं ।

उपसंपन्नः साधुः कारणाभावे षण्मासानपूरयित्वा यद्येकस्माद्गणादपरं गणं संक्रामति तदा तस्य चत्वारो गुरुकाः, षण्मासेभ्यः परतो यावत् द्वादश समा वर्षाणि, ता अपूरयित्वा गच्छतश्चतुर्लघुकाः, ततः परं द्वादशभ्यो वर्षेभ्य ऊर्द्धं निष्कारणं गणाद्गणं संक्रामतो मासलघु, "गाणंगणि त्ति" भावप्रधानो निर्देशः, ततो गणं गणिकत्वं, कारणे ज्ञानदर्शनचारित्राणामन्यतरस्मिन् पुष्टालम्बने समुत्पन्ने भाज्यं सेवनीयम् । किमुक्तं भवति?–कारणे मध्ये द्वादशमन्तः षण्मासं वा गणाद्गणं संक्रामन्नपि न प्रायश्चित्तभाग् भवतीति । गतं गाणङ्गणिकद्वारम् । बृ० १ उ० । नि० चू० ।

गाम–ग्राम–पुं० । गम्यो गमनीयोऽष्टादशानां शास्त्रे प्रसिद्धानां कराणामिति व्युत्पत्त्या, ग्रसते वा बुद्ध्यादीन् गुणानिति व्युत्पत्त्या वा पृषोदरादित्वान्निरुक्तविधिना ग्रामः । बृ० १ उ० । रा० । व्य० । जी० । प्रश्न० । दशा० । नि० चू० । आचा० । अनु० । उत्त० । पा० । प्राचुर्येण ग्रामधर्मोपेतत्वात् करादिगम्यो वा ग्रामः । आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० । करवति, कल्प० ४ क्षण । जनपदाध्यासिते, औ० । जननिवासलक्षणे, अष्ट० १८ अष्ट० । सन्निवेशविशेषे, प्रश्न ३ आश्र० द्वार । भ० । ज्ञा० । कण्टकवाटकावृते जनानां निवासे, उत्त० २ अ० । सूत्र० ।

ग्रामपदनिक्षेपमाह–

नामं ठवणा गामो, दव्वग्गामो अ भूतगामो य ।
आउज्जिंदियगामो, पिउगामो भावगामो य ॥

नामग्रामः, स्थापनाग्रामो, द्रव्यग्रामश्च, भूतग्रामश्च, आतोद्यग्रामः, इन्द्रियग्रामः, पितृग्रामो, भावग्रामश्चेति गाथासमुदयार्थः । अथावयवार्थमभिधित्सुर्नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यग्रामं व्याचष्टे–

जीवाजीवसमुदओ, गामो को वा नओ कहं इच्छे ।
आदिनयोऽणगविहो, तिविकप्पो अंतिम नओ उ ॥

जीवानां गोमहिषीमनुष्यादीनामजीवानां च गृहादीनां यः समुदयः स द्रव्यग्राम उच्यते । इह च सर्वत्रापि प्रवचने प्रायः सर्वमपि सूत्रमर्थश्च नयैर्विचार्यते । यत उक्तम्–" नत्थि नएहि विहूणं, सुत्तं अत्थो य जिणमए किंचि । आसज्ज उ सोयारं, नए नयविसारओ बूया" ॥१॥ अत एषोऽपि द्रव्यग्रामो नयैर्विचार्यते–को नाम नयः कं द्रव्यग्रामं कथमिच्छतीति ?। तत्र नयाः सामान्यतः सप्त, नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात् । इह तु समभिरूढैवंभूतयोः शब्दप्राधान्याभ्युपगमपरतया शब्दनये एवान्तर्भावो विवक्ष्यते, ततश्चादिनयो नैगमः, सोऽविशुद्धविशुद्धविशुद्धतरादिभेदादनेकविधः, अन्तिमनयस्तु शब्दः, स त्रिविधः, शब्दसमभिरूढैवंभूतभेदात् ।

तत्रानेकविधनैगमानामन्यान्यप्यपि पदानि यानि वक्तव्यानि तानि नामग्राहं संगृह्णन्नाह–

गावो तणाइ सीमा, आरामुदपाणचेइरुक्खाणि ।
आही य वाणमंतर, उग्गह तत्तो य आहिपती ॥

गावः १ तृणानि २ उपलक्षणत्वात्तृणाहारकादयः । सीमा ३ आरामम् ४ उदपानं कूपः ५ चैत्यरूपाणि ६ आहिहृतिः ७ वाणमन्तरं देवकुलम् ८ अवग्रहः ९ ततश्चाधिपतिः १० इति निर्युक्तिगाथाऽक्षरार्थः । अथ भावार्थ उच्यते–प्रथमं नैगमः प्राह–यावन्तं भूभागं गावश्चरितुं व्रजति तावान् सर्वोऽपि ग्राम इति व्यपदेशं लभते । ततो विशुद्धनैगमः प्रतिभणति–

गावो वयंति दूरं, पि जं तु तणकट्ठहारगादीया ।
सूरुट्ठिते गता एं–ति अत्थ संते ततो गामो ॥

परिस्थूलमपि परग्राममपि चरितुं व्रजन्ति, ततः किमेवं सोऽप्येक एव ग्रामो भवतु ?, अपि च एवं ब्रुवतो भवतो भूयसामपि परस्परमतिदवीयसां ग्रामाणामेकग्रामतैव प्रसज्जति, न चैतदुपपन्नं, तस्मान्नैतावान् ग्रामः, किं तु यत् यावन्मात्रं क्षेत्रं तृणाहारककाष्ठहारकादयः सूर्ये उत्थिते तृणाद्यर्थं गताः सन्तः सूर्ये अस्तमयति तृणादिभारकं बद्ध्वा पुनरायान्ति, एतावत् क्षेत्रं ग्रामः ॥

परसीमं पि वयंति हु, सुद्धतरो भणति जा ससीमा तु ।
उज्जाण अवत्ता वा, उक्कीलंता उ सुद्धयरो ॥

शुद्धतरो नैगमो भणति–यद्यपि गवां गोचरक्षेत्रादासन्नतरं भूभागं तृणकाष्ठहारका व्रजन्ति, तथापि ते कदाचित्परसीमानमपि व्रजन्ति, तस्मान्नैतावान् ग्राम उपपद्यते । अहं ब्रवीमि–यावत् स्वा आत्मीया सीमा एतावान् ग्रामः । ततोऽपि विशुद्धतरः प्राह–नैवम् । अतिप्रचुरं क्षेत्रं ग्राम इति वाच्यः, किं तु यावत्तस्यैव ग्रामस्य संबन्धी कूपः तावद् ग्राम इति । ततोऽपि विशु-

ष्टतरो ब्रूते-उद्यानमारामस्तावद् ग्राम इति भण्यते । विशुद्धतमः प्रतिभणति-एतदपि भूयस्तरं क्षेत्रं न ग्रामसंज्ञां लब्धुमर्हति, अहं भणामि-यावदुदपानं तस्यैव ग्रामस्य संबन्धी कूपः तावद्ग्राम इति । ततोऽपि विशुद्धतरो ब्रूते-इदमप्यतिप्रभूतं क्षेत्रम, अतो यावत् क्षेत्रं अर्भकाणि चेटरूपाणि रममाणानि गच्छन्ति तावद् ग्रामः । ततोऽपि विशुद्धतरः प्रतिवक्ति-एतदप्यतिरिक्ततया न समीचीनमाभाति, ततो यावन्तं भूभागमतिलघीयांसो बालका उत्कीरन्तो रिङ्खन्तः प्रयान्ति तावान् ग्राम इति ।

एव विसुद्धनिगम-स्स वइपरिक्खेवपरिवुडा गामो ।
ववहारस्स वि एवं, संगह जहिँ गामसमवाओ ॥

एवं विचित्राभिप्रायाणां पूर्वनैगमानां सर्वा अपि प्रतिपत्तीर्व्यपोह्य सर्वविशुद्धनैगमनयस्य यावान् वृतिपरिक्षेपपरिवृतो भूभागस्तावान् ग्राम उच्यते । अथ संग्रहं व्यतिक्रम्य लाघवार्थमत्रैव व्यवहारमतमतिदिशति-(ववहारस्स वि एवं ति) यथा नैगमस्यानेके प्रतिपत्तिप्रकाराः प्ररूपितास्तथा व्यवहारस्याप्येवमेव प्ररूपणीयाः, तस्य व्यवहाराभ्युपगमपरायणत्वात् । बालगोपालादिना च लोकेन सर्वेषामप्यनन्तरोक्तभेदानां यथावसरं ग्रामतया व्यवहरणीयत्वात् । संग्रहस्तु सामान्यग्राहित्वाद्यत्र ग्रामस्य ग्रामवास्तव्यलोकस्य समवाय एकत्र मीलनं भवति तद् वाणमन्तरदेवकुलादिकं ग्राम इति ब्रूते ।

इदमेव प्रकारान्तरेणाऽऽह—

जं वा पढमं काउं, सेसगगामो निवसइ स गामो ।
तं देउलं सभा वा, मज्झिमगोट्ठा पवा वा वि ॥

यद्वा प्रथमं कृत्वा निवेश्य, शेषः सर्वोऽपि ग्रामो निविशते, स संग्रहनयाभिप्रायेण ग्रामः । तच्च देवकुलं वा भवेत् , सभा वा, ग्राममध्यमवर्ती वा गोष्ठः, प्रपा वा ।

अथ व्यवहारवदं विवृण्वन् ऋजुसूत्रनयमतमाह-

उज्जुसुयस्स निओओ, पत्तेयघर तु होइ एकेकं ।
उड्डेति वसति व वसे-ण जस्स जइस्स सो गामो ॥

ऋजुसूत्रस्य स्वकीयार्थग्राहकत्वात् परकीयवसतोऽप्यनभ्युपगमात् यस्य यत्प्रत्येकमात्मीयायगृहरूपमेकैकं गृहं तत् नियोग इति प्रतिपत्तव्यम् । नियोग इति ग्राम इति चैकोऽर्थः । आह च विशेषचूर्णिकृत्-"गामो त्ति वा निओओ त्ति वा एगट्ठं ततो अ आहिवई" इति व्याख्यानयन् शब्दनयमतमाह-'उड्डेइ त्ति' इत्यादिशब्दस्य शब्दाख्यनयस्य कस्यापि वशेन ग्राम उत्तिष्ठते-उद्वसो भवति वा,वसति भूयोऽप्यधस्थानं करोति,स ग्रामस्याधिपतिर्ग्राम इति शब्दनुद्धोदुमर्हति,ये तु तत्र तदनुवर्तिनः शेषास्ते अशेषा अप्युपमर्जनीभूतत्वान्न ग्रामसंज्ञां लभन्त इति भावः । चिन्तितं नयमार्गणया ग्रामरूपम् ।

अथ ग्रामस्यैव नयैः संस्थानचिन्तां चिकीर्षुराह-

तस्सेव उ गामस्सा, को किं संठाणमिच्छति नओ उ ।
तस्स इमे संठाणा, हवंति खलु मल्लगादीया ॥

तस्यैव ग्रामस्य संस्थानं को नयः किमिच्छतीति चिन्त्यते, तत्र तावदिमानि मल्लकादीनि ग्रामस्य संस्थानानि भवन्ति ।

तान्येवाह-

उत्ताणग ओमंथिय, संपुडए खंडमल्लए तिविहे ।
भित्ती पडाल वलभी, अक्खाडग रुयग कासवए ॥

अस्ति ग्राम उत्तानकमल्लकाकारः, अस्ति ग्रामोऽवाङ्मुखमल्लकाकारः, एवं संपुटकमल्लकाकारः, खण्डमल्लकमपि त्रिविधं वाच्यम् । तद्यथा-उत्तानकखण्डमल्लकसंस्थितः, अवाङ्मुखखण्डमल्लकसंस्थितः,संपुटकखण्डमल्लकसंस्थितश्च । तथा भित्तीसंस्थितः, पडालिकासंस्थितः, वलभीसंस्थितः, अक्षपाटकसंस्थितः, रुचकसंस्थितः; काश्यपसंस्थितश्चेति ।

अथैषामेव संस्थानानां यथाक्रमं व्याख्यानमाह-

मज्झे गामस्सऽगडो, वुड्ढिच्छेदा ततो उ रज्जूओ ।
निक्खम्म मूलपादे, गिण्हंतीओ वइं पत्ता ॥

इह यस्य ग्रामस्य मध्यभागे अगमः कूपस्तस्य बुद्ध्या पूर्वादिषु दिक्षु च्छेदः परिकल्पते,ततश्च कूपस्याधस्तनतलाद् वुड्ढिच्छेदेन रज्जवो दिक्षु विदिक्षु च निष्काम्य गृहाणां मूलपादानुपरिकृत्वा गृहस्याधस्तिर्यक् तावद्विस्तार्यन्ते यावत्तद्ग्रामपर्यन्तवर्तिनीं वृतिं प्राप्ता भवन्ति, तत उपर्यभिमुखीभूय तावद्गतयो यावदुच्छ्रयेण हर्म्यतलानां सीमीभूतास्तत्र च पटहच्छेदनोपरताः, एष ईदृश उत्तानमल्लकसंस्थितो ग्राम उच्यते । ऊर्ध्वाननमुखस्य शरावस्यैवमेव वाच्यं,नवरं यस्य ग्रामस्य मध्ये देवकुलं वृक्षो वा उच्चैस्तरस्तस्य देवकुलादेः शिखरात् रज्जवोऽवतार्य तिर्यग् तावन्नीयन्ते यावद्वृतिं प्राप्ताः,ततो अधोमुखीभूय गृहाणां मूलपादान् गृहीत्वा पटहच्छेदेनोपरतः, एषोऽवाङ्मुखमल्लकसंस्थितो ग्रामः। तथा यस्य मध्यभागे कूपस्तस्य चोपर्युच्चतरो वृक्षस्ततः कूपस्याधस्तलात् रज्जवो विनिर्गत्य मूलपादानधोऽधस्तावद् गता यावद् वृतिं प्राप्ता ग्रामस्य, तत ऊर्ध्वाभिमुखीभूय गत्वा हर्म्यतलानां समश्रेणीभूताः वृक्षशिखरादप्यवतीर्य रज्जवस्तथैव तिर्यग्वृतिं प्राप्नुवन्ति, ततोऽधोमुखीभूय कूपसंबन्धिनीनां रज्जूनामग्रभागः समं संघटन्ते ।

अथैकसंपुटकमल्लकाकारो नाम ग्रामः-

जइ कूवाई पास-म्मि होंति तो खंडमल्लओ होई ।
पुव्वावररुक्खेहिं, गामो जेहिं भवे भित्ती ॥

यदि कूपादीनि वा वृक्षतदुभयानि पार्श्वे एकस्यां दिशि भवन्ति, ततः खण्डमल्लकाकारस्त्रिविधोऽपि ग्रामो यथाक्रमं मन्तव्यः । तत्र यस्य ग्रामस्य बहिरेकस्यां दिशि कूपस्तामेवैकां दिशं मुक्त्वा शेषासु सप्तसु दिक्षु रज्जवो निर्गत्य तिर्यक् वृतिं प्राप्योपरि हर्म्यतलान्यासाद्य पटहच्छेदेनापरमन्ते,एष उत्तानकखण्डमल्लकाकारः । अवाङ्मुखखण्डमल्लकाकारोऽप्येवमेव, नवरं यस्यैकस्यां दिशि देवकुलमुच्चैस्तरो वा वृक्षः । संपुटकखण्डमल्लकाकारस्तु यस्यैकस्यां दिशि कूपस्तदुपरिष्टाच्च वृक्षः, शेषं प्राग्वत् । 'पुव्वावर' इत्यादि । पूर्वस्यामपरस्यां च दिशि समश्रेणिव्यवस्थितैर्वृक्षैर्भित्तिसंस्थितो ग्रामो वा भवेत् ।

पासट्ठिए पमाली, वलभी चउकोणगेसु दीहा उ ।
चउकोणेसु जइ दुमा, हवंति अक्खाडतो तम्हा ॥

पडालिकासंस्थितोऽप्येवमेव,नवरम् एकस्मिन् पार्श्वे वृक्षयुगलं समश्रेण्या व्यवस्थितम् । तथा यस्य ग्रामस्य चतुर्ष्वपि कोणेषु ईषद्दीर्घा वृक्षा व्यवस्थिताः स वलभीसंस्थितः । अथ वा यद् मल्लानां युद्धाभ्यासस्थानम् । तद्यथा-समं चतुरस्रं भवति,एवं यदि ग्रामस्यापि चतुर्षु कोणेषु द्रुमा भवन्ति ततोऽसौ चतुर्दिग्वर्तिभिर्वृक्षैः समचतुरस्रतया परिच्छिद्यमानत्वादक्षवाटकसंस्थितः ।

वट्टागारठिएहिं, रुयगो पुण वेढितो तरुवरेहिं ।
तेकोणो कागवओ, छुरघरगं कासवं विंती ॥

यद्यपि ग्रामः स्वयं न समस्तथापि यदि रुचकतया शैलवत् वृत्ताकारव्यवस्थितैः वृक्षैर्वेष्टितस्तदा रुचकसंस्थितः । यस्तु ग्राम एव त्रिकोणतया निविष्टः, शृङ्गाटकवत् त्रयो यस्य बहिः व्यस्त्राः स्थिताः एकतो द्वौ, अन्यतस्त्वेक इत्यर्थः । एष तथाऽपि काश्यपसंस्थितः । काश्यपं पुनर्नापितस्य संबन्धि क्षुरगृहं भुवते । तद्यथा त्र्यस्त्रं भवत्येवमयमपि ग्रामः । इति भावितानि सर्वाण्यपि संस्थानानि ।

अथ को नयः किं संस्थानमिच्छति ? इति भण्यते-

पढमे सपडहच्छेदं, आकासव सम्म कोट्टिमं तइओ ।
नाणि अहिपतिं वा, सद्दनया तिन्नि इच्छंति ॥

प्रथमोऽत्र नैगमनयः सपटहच्छेदलक्षणं संस्थानं प्रतिपद्यते । संग्रहोऽप्येवमेव मन्यत इत्यत्रवान्तर्भाव्यते । व्यवहारस्तु भित्तिसंस्थानादारभ्य आकाश्यपसंस्थानं मन्यते । तृतीय ऋजुसूत्र शकटानां तृणच्छिमयानां, कुट्टिमानां वा पाषाणादिबद्धभूमिकानां यत् संस्थानं तन्मन्यते । त्रयस्तु शब्दनया ज्ञानिनमधिपतिं वा ग्रामसंस्थानं स्वामित्वेनेच्छन्ति ।

एतामेव निर्युक्तिगाथां व्यक्तीकुर्वन्नाह-

संगहियपसंगहिओ, निविहं खलु मह्लयं नियमा ।
भित्तादि जा कासवो, असंगहो नेति संठाणं ॥

नैगमो द्विधा सांग्रहिको, असांग्रहिकश्च । संग्रहणं संग्रहः, सामान्यमित्यर्थः । स प्रयोजनमस्येति सांग्रहिकः, सामान्याभ्युपगमपर इत्यर्थः । तद्विपरीतोऽसांग्रहिकः । तत्र यः सांग्रहिकः स नियमात्त्रिविधमुत्तानकाऽवाङ्मुखसंपुटकभेदभिन्नं सपूर्णं वा खण्डं वा मल्लकम् । तस्य यत्पटहच्छेदलक्षणं संस्थानं तन्मन्यते । असांग्रहिकस्तु भित्तिसंस्थानमादौ कृत्वा यावत्काश्यपसंस्थानमेतानि सर्वाण्यपि ब्रूते, प्रतिपद्यत इत्यर्थः । संग्रहव्यवहारौ तु सांग्रहिकयोरेव नैगमयोर्यथासंख्यमन्तर्भावनीयाविति न पृथक् प्रपञ्च्येते ।

निम्मा-घरवइ-थुभिए, तइओ दुहणा वि जाव पावंति ।
नाणिस्सा हवइस्स व, जं संठाणं तु सद्दस्स ।

तृतीयसूत्रकमप्रामाण्येन ऋजुसूत्रः । स (निम्म त्ति) मूलपादानां (घरवइ त्ति) गृहाणां, वृत्तेर्वा, स्तूपिकानां च, उपलक्षणत्वात् कटकानां, कुट्टिमानां वा यत्संस्थानं मन्येत वा, भूमिकादार्ढ्यसंपादनार्थमवकुट्यमाने दुघणा मुद्गरा ऊर्ध्वमुत्क्षिप्यमाना यावदाकाशतलं प्राप्नुवन्ति, तावन्मर्यादाकृत्य यत्संस्थानमेतत्सर्वमपि प्रत्येकं ऋजुसूत्रो मन्यते । तथा ज्ञानिनो ग्रामपदार्थस्य, ग्रामाधिपतेर्वा यत्संस्थानं तदेव शब्दनयस्य ग्रामसंस्थानतयाऽभिप्रेतमिति गतं द्रव्यग्रामद्वारम् ।

अथ भूतादिग्रामभेदान् भावयति-

चउदसविहो पुण भवे, भूतग्गामो तिहा उ आतोज्जा ।
सोतादिंदियगामो, तिविहा पुरिसा पिउग्गामो ॥

भूताः प्राणिनस्तेषां ग्रामः समूहो भूतग्रामः स चतुर्दशविधः ।

तथाचाह-

एगिंदिय सुहुमियरा, सन्नियर पणिंदिया सबि-ति-चऊ ।
पज्जत्ताऽपज्जत्ता-भेएणं चउदस ग्गामा ॥

एकेन्द्रिया द्विविधाः-सूक्ष्माः, बादराश्च । सूक्ष्मनामकर्मोदयवर्तिनः सूक्ष्माः, बादरनामकर्मोदयवर्तिनो बादराः । द्वीन्द्रियाः कृम्यादयः, त्रिन्द्रियाः-कुन्थुपिपीलिकादयः, चतुरिन्द्रियाः-भ्रमरादयः । पञ्चेन्द्रिया द्विविधाः-संज्ञिनः, असंज्ञिनश्च । संज्ञिनः-गर्भजतिर्यङ्मनुष्याः, देवनारकाश्च । असंज्ञिनः-संमूर्छिमास्तिर्यङ्मनुष्याः । एते च स्वयोग्यपर्याप्तिभिः पर्याप्ता वा स्युरपर्याप्ता वा । पर्याप्तिर्नाम शक्तिः सा चाहारशरीरेन्द्रियप्राणातिपातभाषामनःपर्याप्तिभेदात् षोढा । तत्र यथाशक्त्या करणभूतया भुक्तमाहारं खलु रूपरसतया करोति सा आहारपर्याप्तिः । यया तु रसीभूतमाहारं धातुरूपतया परिणमयति सा शरीरपर्याप्तिः । यया धातुरूपया परिणमितादाहारादीन्द्रियप्रायोग्यद्रव्याण्युपादायैकद्व्यादीन्द्रियरूपतया परिणमय्य स्पर्शादिविषयपरिज्ञानसमर्थो भवति सा इन्द्रियपर्याप्तिः । यया पुनरुच्छ्वासभाषामनःप्रायोग्याणि दलिकान्यादाय यथाक्रममुच्छ्वासरूपतया भाषात्वेन मनस्त्वेन वा परिणमय्याऽऽलम्ब्य च मुञ्चति सा क्रमेण प्राणापानपर्याप्तिः, भाषापर्याप्तिः, मनःपर्याप्तिः । एताश्च यथाक्रममेकेन्द्रियाणां चतस्रो, द्वीन्द्रियादीनां संमूर्छिमतिर्यग्मनुष्यान्तानां पञ्च, संज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां च षट् भवन्ति । एवं पूर्वोक्ताः सप्तापि भेदाः पर्याप्तापर्याप्तभेदाद् द्विधा भिद्यमानाश्चतुर्दशविधो भूतग्रामः ॥ आतोद्यग्रामस्तु त्रेधा-षड्जग्रामो मध्यमग्रामो, गान्धारग्रामश्च एतेषां च स्वरूपमनुयोगद्वारशास्त्रादवसेयम् । इन्द्रियग्रामः श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां समुदायः, स च पञ्चेन्द्रियाणां सम्पूर्णः, चतुरादीनामेकेन्द्रियाणां यथाक्रममेकद्वित्रिचतुःसंख्यैरिन्द्रियैर्न्यून इति ॥ पितृग्रामस्तु त्रिविधाः पुरुषाः । तद्यथा-तिर्यग्योनिकपुरुषा मनुष्यपुरुषा देवपुरुषाश्चेति ॥

तिरियामरनरइत्थी, माउग्गामं पि तिविहमिच्छंति ।
नाणाइतिगं भावे, जओ व तेसिं समुप्पत्ती ॥

तिर्यग्योनिकस्त्रियः, अमरा देवास्तेषां स्त्रियो, नरा मनुष्यास्तेषां च स्त्रिय इति मातृग्राममपि त्रिविधमिच्छन्ति पूर्वसूरयः । आह-किमर्थं स्त्रीपुरुषाणां मातृपितृग्रामसंज्ञा विधीयते ? । उच्यते-संज्ञासूत्रोपयोगार्थम् । तथा च आचारकल्पाध्ययने षष्ठोद्देशके सूत्रम्-" जे भिक्खू माउग्गामं मेहुणवडियाए विन्नवेइ " इत्यादि । तथा " जा भिक्खुणी पिउग्गामं विन्नवेइ " इत्यादि । भावग्रामतया ज्ञातव्याः । के पुनस्ते ? । उच्यते-

तित्थगरा जिण चउदस, भिन्ने संविग्ग तह असंविग्गे ।
सारूविय-वय-दंसण-पडिमाओ भावगामो उ ॥

तीर्थकरा अर्हन्तः सामान्यकेवलिनः अवधिमनःपर्यायजिना वा चतुर्दशपूर्विणो दशपूर्विणश्च प्रतीताः । (भिन्ने त्ति) असंपूर्णदशपूर्वधारिणः, संविग्ना उद्यतविहारिणः, असंविग्नास्तद्विपरीताः, सारूपिका नाम श्वेतवाससः क्षुरमुण्डितशिरसो भिक्षाटनोपजीविनः पश्चात्कृतविशेषाः, (वय त्ति) प्रतिपन्नाणुव्रताः श्रावकाः, (दंसण त्ति) दर्शनश्रावकाः, अविरतसम्यग्दृष्टय इत्यर्थः । प्रतिमा अर्हद्बिम्बानि, एष सर्वोऽपि भावग्रामः, एतेषां दर्शनादिना ज्ञानादिप्रसूतिसद्भावात् । अत्र परः प्राह-ननु युक्तं तीर्थकरादीनां ज्ञानादिरत्नत्रयसंपत्समन्वितानां भावग्रामत्वं, ये पुनरसंविग्नादयस्तेषां कथमिव भावग्रामत्वमुपपद्यते ?, नैष दोषः । तेषामपि यथावस्थितप्ररूपणाकारिणां पार्श्वतो यथोक्तं धर्ममाकर्ण्य सम्यग्दर्शनादिलाभ उदयते, अतस्तेषामपि भावग्रामत्वमुपपद्यत एवेति कृतं प्रसङ्गेन ।

तीर्थकरा इति पदं विशेषतो भावयति-

चरणकरणसंपन्ना, परीसहपराजगा महाजागा ।
तित्थगरा जगवंतो, भावेण उ एस गामविही ॥

चरणकरणसंपन्नाः परीषहपराजेतारो महाभागास्तीर्थकरा भगवन्तो दर्शनमात्रादेव भव्यानां सम्यग्दर्शनादिबोधिबीजप्रसूतिहेतवो भावग्रामतया प्रतिपत्तव्याः । एवं जिनादिष्वपि भावनीयम् । एष सर्वोऽपि भावग्रामविधिर्मन्तव्यः ।

प्रतिमा अधिकृत्य भावनामाह-

जा सम्मजावियाओ, पमिमा इयरा ण जावगामो ।
भावो जइ नत्थि तिहिं, णणु कारणकज्जओवयरो ॥

याः सम्यग्भाविताः सम्यग्दृष्टिपरिगृहीताः प्रतिमास्ताः भावग्राम उच्यते, नेतरा मिथ्यादृष्टिपरिगृहीताः। आह-सम्यग्भाविता अपि प्रतिमास्तावद् ज्ञानादिभावशून्यास्ततो यदि ज्ञानादिरूपो भावस्तत्र नास्ति, ततस्ताः कथं भावग्रामो भवितुमर्हन्ति ?। उच्यते-ता अपि दृष्ट्वा भव्यजीवस्याऽऽर्द्रककुमारादेरिव सम्यग्दर्शनाद्युदीयमानमुपलभ्यते, ततः कारणे कार्योपचार इति कृत्वा ता अपि भावग्रामो भण्यते ।

अत्र परः प्राह—

एवं खु जावगामो, णिएहवमाई वि जइ मयं तुज्भं ।
एममवच्चं को णु हु, अविवरीतो वदिज्जाहि ॥

यथा सम्यग्भावितप्रतिमानां कारणे कार्योपचाराद्भावग्रामत्वं युष्माकं मतमभिप्रेतम्, एवमेव निह्नवादयोऽपि भावग्राम एव भवतां प्राप्नुवन्ति, तेषामपि दर्शनेन कस्यचित्सम्यग्दर्शनोत्पादात् । सूरिराह-एतत्पदुक्तमवाच्यवचनं, सवन्तमसमञ्जसप्रलापितं विना को नु अविपरीतः सम्यग्वस्तुतत्त्ववेदी वदेत् ?, अपि तु नैवेत्यभिप्रायः।

कुत इति ?, आह-

जइ वि हु सम्मुप्पाओ, पासइ दट्टूण निएहए होज्जा ।
मिच्छत्तहयसईया, तहा वि ते वज्जणिज्जाओ ॥

यद्यपि हि निह्नवानपि दृष्ट्वा कस्यचित् सम्यग्दर्शनोत्पादो भवेत् तथाऽपि ते मिथ्यात्वमतत्त्वे तत्त्वाभिनिवेशः, तेन हता स्मृतिः सर्वज्ञवचनसंस्कारलक्षणा दुर्वातेन शस्यवत्येषां ते मिथ्यात्वहतस्मृतिकाः, एवंविधाश्च बह्वीभिरसद्भावोद्भावनाभिरन्यतां लोकचेतांसि विपरिणामयन्तः पूर्वलब्धमपि बीजमात्मनोऽपरेषां चोपघ्नन्तो दूरं दूरेण वर्जनीया इति यतश्चैवमतो नैते भावग्रामतया भवितुमर्हन्तीति प्रकृतम् ।

अथात्र कतरेण ग्रामेणाधिकार ?, उच्यते-

आहारउवहिसयणा-सणोवज्जोगेसु जो उ पाउग्गो ।
एवं वयंति गामं, जेणऽहिगारो इहं सुत्ते ॥

आहारोपधी प्रतीतौ, शयनं संस्तारकः, आसनं पीठादि, एतेषामुपभोगेषु यः प्रायोग्यः। किमुक्तं भवति ?-एतानि यत्र कल्प्यानि प्राप्यन्ते तमेतं ग्रामं वदन्ति प्ररूपयन्ति सूरयो यात्र सूत्रेऽधिकारः प्रकृतमिति व्याख्यातं ग्रामपदम् । बृ० १ उ० । एवं नगरादीनामपि निक्षेपपदानि व्याख्यातव्यानि। समूहे, आव० ४ अ० । औ० । जनसमूहे, अष्ट० ३ अष्ट० । दशाकुलसाहस्रिके, स्था० १ श्रु० १ अ०। इन्द्रियगणे च । उत्त० ३ अ० । "यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि ॥ तथा स्वराणां सन्दोहो, ग्राम इत्यभिधीयते ॥ १ ॥ " इत्युक्ते स्वरसङ्घभेदे, वाच० । "एएसि णं सत्तएहं सराणं तयो गामा पएणत्ता । तं जहा- सज्जगामे,मज्जिमगामे,गंधारगामे। सत्त सरा तओ गामा,मुच्छणा एगवीसती " । स्था० ७ ठा० । जनपदे च । वाच० ।

गामउम-देशी-ग्रामप्रधाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गामकूम-ग्रामकूट-पुं० । ग्राममहत्तरे, बृ० ३ उ० ।

गामंमे-देशी-छलेन ग्रामसंस्कारि, दे० ना० २ वर्ग ।

गामंतिय-ग्रामान्तिक-पुं० । ग्रामादिकमुपजीवन्तो ग्रामस्यान्ते समीपे वसन्तीति ग्रामान्तिकाः । दशा० १ अ० । ग्रामोपजीविनि तीर्थकविशेषे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । आचा० ।

गामकंटक-ग्रामकण्टक-पुं० । ग्राम इन्द्रियग्रामस्तस्य कण्टका इव ग्रामकण्टकाः । इन्द्रियवर्गप्रतिकूलशब्दादिषु, कण्टकत्वं चैषां दुःखोत्पादकत्वेन मुक्तिमार्गे प्रति विघ्नहेतुतया च । उत्त० ३ अ० । दशा० । औ० । ज्ञा० । नीचजनरूक्षालापेषु च । आचा० १ श्रु० ८ अ० ३ अ० ।

साधुः क्रूरसत्त्वैरभिद्रुतः संयमाद्भ्रश्यते, दुःसहत्वाद् ग्रामकण्टकानाम् । तानधिकृत्याह-

अप्पेगे पडिजासन्ति, पडिपंथियमागता ।
पडियारगता एते, जे एते एव जीविणो ॥ ९ ॥
अप्पेगे वइ जुंजंति, नगिणा पिंमोलगाऽहमा ।
मुंडा कंडूविणट्ठंगा, उज्जल्ला असमाहिता ॥ १० ॥
एवं विप्पमिवन्नेगे, अप्पणा उ अजाणगा ।
तमओ ते तमं जंति, मंदा मोहेण पाउमा ॥ ११ ॥

(अप्पेगे इत्यादि) अपिः संभावने । एके केचनाऽपुष्टधर्माणः अपुण्यकर्माणः प्रतिभाषन्ते ब्रुवते- प्रतिपन्थाः प्रतिकूलत्वं तेन चरन्ति प्रातिपन्थिकाः साधुविद्वेषिणः, तद्भावमागताः, कथञ्चित् प्रतिपथे वा दृष्टा अनार्या एतद् ब्रुवते- संभाव्यते एतदेवंविधानां तथथा प्रतीकारः पूर्वाचरितस्य कर्मणोऽनुभवस्तमेके गताः प्राप्ताः स्वकृतकर्मफलभोगिनो य एते यतय एवं जीवन्ति परगृहाण्यटन्तोऽन्तप्रान्तभोजिनो दत्तादाना लुञ्चितशिरसः सर्वभोगवञ्चिता दुःखितं जीवन्तीति । ॥ ९ ॥ किञ्च—(अप्पे इत्यादि) अप्येके केचन कुसृतिप्रसृता अनार्या वाचं युञ्जन्ति भाषन्ते—तद्यथैते जिनकल्पिकादयो नग्नाः, तथा (पिंमोलग त्ति) परपिण्डप्रार्थकाः, अधमाः मलाविलत्वात् जुगुप्सिताः, मुण्डा लुञ्चितशिरसः,तथा क्वचित्कण्डूकृतक्षतैः रेखाभिर्वा विनष्टाङ्गा विकृतशरीरा अप्रतिकर्मशरीरतया वा क्वचिद्रोगसंभवे सनत्कुमारवत् विनष्टाङ्गाः, तथोद्गतो जल्लः शुष्कप्रस्वेदो येषां ते उज्जल्लाः, तथा असमाहिता अशोभना बीभत्सा दुष्टा वा प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति ॥ १० ॥ सांप्रतमेतद्भाषकाणां विपाकदर्शनायाऽऽह-(एवमित्यादि) एवमनन्तरोक्तरीत्या एके अपुण्यकर्माणो विप्रतिपन्नाः साधुसन्मार्गद्वेषिण आत्मना स्वयमज्ञाः । तुशब्दादन्येषां च विवेकिनां वचनमकुर्वाणाः सन्तस्ते तमसोऽज्ञानरूपादुत्कृष्टं तमो यान्ति गच्छन्ति । यदि वा-अधस्तादप्यधस्तनीं गतिं गच्छन्ति । यतो

मन्दा ज्ञानावरणीयेनाऽवष्टधाः, तथा मोहेन मिथ्यादर्शनरूपेण प्रावृता आच्छादिताः सन्तः शिक्षुप्रायाः साधुविद्वेषतया कुमार्गगा भवन्ति । तथा चोक्तम्-"एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्तद्वद्भिरेव सह संवसति द्वितीयम् । एतद् द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध-स्तस्याऽपमार्गचलने खलु कोऽपराधः ? " ॥१॥ ॥ ११ ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

गामकंटकोपसग्ग-ग्रामकण्टकोपसर्ग-पुं० । इन्द्रियग्रामप्रतिकूलोपसर्गे, भ० ७ श० ३३ उ० ।

गामकुमारि-ग्रामकुमारि-स्त्री० । ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिका । ग्रामबालक्रीडायाम्, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ।

गामगोह-देशी-ग्रामप्रधाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गामघायग-ग्रामघातक-पुं० । ग्राममारके दुःपुरुषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गामट्ठाण-ग्रामस्थान-न० । उद्वसग्रामस्थाने, कल्प० ५ क्षण ।

गामणिद्धमण-ग्रामनिर्द्धमन-न० । ग्रामसम्बधिनि जलनिर्गमे 'खाल' इति लोके प्रसिद्धे, कल्प० ४ क्षण ।

गामणिमंतिय-ग्रामनिमन्त्रिक-पुं० । परतीर्थिकविशेषे, सूत्र० २ श्रु० ७ अ० ।

गामण-गामन-न० । भूमौ सर्पणे, भ० ११ श० ११ उ० ।

गामणि-ग्रामणी-पुं० । स्त्री० । ग्रामसमूहं नयति प्रेरयति स्वस्वकार्य्येषु नी-क्विप्-णत्वम् । वाच० । "क्विपः" ॥८।३।४३॥ इति ईकारस्य ह्रस्वो वा । प्रा० ३ पाद । प्रधाने, ग्रामाध्यक्षे, नापिते, पुं० । ग्रामं ग्रामधर्मं नयति भोगिके, ग्रामेण मैथुनव्यापारेण नयति कालम् । बहुजनभोग्यायां स्त्रियाम्, वेश्यायां नीलिकायां च । स्त्री० । विष्णौ, वाच० । ग्रामप्रधाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गामणी-ग्रामणी-पुं० । स्त्री० । 'गमणि' शब्दार्थे, प्रा० ३ पाद ।

गामणीसुअ-देशी-ग्रामप्रधाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गामधम्म-ग्रामधर्म-पुं० । ग्रामा इन्द्रियग्रामाः, तेषां धर्म्मः स्वभावः इन्द्रियाणां यथास्वं विषयेषु प्रवर्तने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । विषयोपभोगगते व्यापारे, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० । ग्राम इन्द्रियग्रामो रूढेस्तद्धर्म्मः विषयाभिलाषे, स्था० १० ठा० । शब्दादिषु कामगुणेषु, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । मैथुने, "उत्तरमणुयाण आहिया गामधम्मा इइ मे अणुस्सुयं" सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । आचा० । ग्रामा जनपदाश्रयास्तेषां तेषु वा धर्मः समाचारो व्यवस्थेति ग्रामधर्मः । लौकिकधर्मभेदे, स च प्रतिग्रामं भिन्न इति । स्था० १० ठा० । दश० ।

गामद्ध-ग्रामार्द्ध-पुं० । ग्रामे उत्तरापथानां ग्रामस्य ग्रामार्द्ध इति संज्ञा । आह चूर्णिकृत्-"गामद्धेसु त्ति देसणतीछचउरंगामेसु त्ति भणियं होइ उत्तरावहाणं, एसा भणिइ त्ति " वृ० १ उ० ।

गामपह-ग्रामपथ-पुं० । ग्राममार्गे, नि० चू० १२ उ० ।

गामपिंडोलग-ग्रामपिण्डोलक-पुं० । भिक्षयोदरभरणार्थं ग्राममाश्रिते क्षुद्रपरिमुजे, आचा० १ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

गामवह-ग्रामवध-पुं० । ६ त० । ग्रामावघाते, नि० चू० १ उ० ।

गाममारी-ग्राममारि-स्त्री० । ग्रामे युगपद् रोगविशेषादिना बहूनां कालधर्मप्राप्तौ, जं० ३ प्रति० ।

गामरक्खय-ग्रामरक्षक-पुं० । त्रिकचत्वरादिव्यवस्थितेषु ग्रामरक्षाकारिषु, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० ।

गामरोग-ग्रामरोग-पुं० ग्रामव्यापिनि रोगे, जं० २ वक्ष० ।

गामसंठिय-ग्रामसंस्थित-न० । ग्रामालम्बनत्वाद् ग्रामाकारे विप्रक्षज्ञाने, भ० ८ श० २ उ० ।

गामसंसारिय-ग्रामसंसारिक-न० । ग्रामे संसारणीये कथनीये, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० ।

गामहण-देशी-ग्रामस्थाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गामाग-ग्रामाक-पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र प्रतिमास्थितस्य वीरस्य बिभेलको नाम यक्षः पूजां कृतवान् । आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

गामागर-ग्रामाकर-पुं० । ग्रामाः करवन्तस्तेषु आकरा लोहाद्युत्पत्तिभूमयः । ग्रामस्थितलोहाद्युत्पत्तिभूमिषु, कल्प० ।

गामागर-नगर-खेड-कब्बड-मडंब-दोणमुह-पट्टणा-सम-संबाह-सन्निवेसे ॥

(गामेत्यादि) ग्रामाः करवन्तः, आकाराः लोहाद्युत्पत्तिभूमयः, नगराणि कररहितानि, खेटानि धूलिप्राकारोपेतानि, कर्बटानि कुनगराणि, मडंबानि सर्वतोऽर्धयोजनात्परतो अवस्थितग्रामाणि, द्रोणमुखानि यत्र जलस्थलपथावुभावपि भवतः, पत्तनानि जलस्थलमार्गयोरन्यतरेण मार्गेण युक्तानि, आश्रमस्तीर्थस्थानानि, तापसस्थानानि वा, संवाहाः समभूमौ कृषिं कृत्वा कृषीबला यत्र धान्यरक्षार्थं स्थापयन्ति, संनिवेशाः सार्थकटकादीनां उत्तरणस्थानानि; एतेषां द्वन्द्वः, तेषु तथा । कल्प० ४ क्षण ।

गामाणुगाम-ग्रामानुग्राम-न० । एकस्माद् ग्रामादवधिभूतादुत्तरग्रामाणामनतिक्रमो ग्रामानुग्रामम् । ग्रामपरम्परायाम्, एकग्रामाद्ग्रामान्तरम् । ग्रामश्च अनुग्रामश्च ग्रामानुग्रामम् । स्था० ४ ठा० ४ उ० । ग्रामादनन्तरे ग्रामे, ध० ३ अधि० । गच्छतोऽग्रेऽनुकूले ग्रामे च । नि० चू० ३ उ० । " गामाणुगामं दूइज्जमाणे " ग्रामानुग्रामं व्रजन् एकस्माद् ग्रामादनन्तरग्राममनुल्लङ्घयन्नित्यर्थः । रा० । आचा० । औ० । ज्ञा० । उत्त० । नि० । भ० । नि० चू० । "गामाणुगामं रीयंतं अणगारं अकिंचणं " ॥ उत्त० ३ अ० ।

गामायार-ग्रामाचार-पुं० । विषये, आ० म० प्र० । " गामायारा विसया " आ० म० प्र० ।

गामारण्णपयारणिरय-ग्रामारण्यप्रचारनिरत-त्रि० । ग्रामारण्ययोः प्रचारविषयनिरते, भ० ७ श० ६ उ० ।

गामाहिवई-ग्रामाधिपति-पुं० । भोगिके, वृ० ४ उ० ।

गामिय-ग्रामिक-त्रि० । ग्रामधर्माश्रिते, आचा० १ श्रु० ८ अ० २ उ० । ग्राममहत्तरे, नि० चू० २ उ० ।

गामिल्लय-ग्रामीण-त्रि० । ग्रामे भवः । "भिल्लडुल्लौ भवे" ॥ ८ । २ । १६३ ॥ इति नाम्नः पर इल्लप्रत्ययः । प्रा० २ पाद । ग्रामभवे मनुष्ये, " ते य गामिल्लए जणइ " आ० म० प्र० ।

गामेयग-ग्रामेयक-त्रि० । ग्रामजाते, ग्रामेयकास्तिर्यञ्चो द्विधा-कुत्सिता जुगुप्सिताश्च । बृ० १ उ० । (ग्रामेयकोदाहरणम् 'अणुओग ' शब्दे प्र० भागे २८६ पृष्ठे निरूपितम्)

गाय-गात्र-न० । शरीरे, उत्त० २ अ० । शरीरावयवे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । ज्ञा० । औ० । " गायस्सुव्वट्टणाणि य " गात्रस्य कायस्योद्वर्त्तनमेवानाचरितानि उद्वर्त्तनानि पङ्कापनयनलक्षणानि । दश० ३ अ० ।

गायगंठिभेय-गात्रग्रन्थिभेद-पुं० । गात्रान्मनुष्यशरीरावयवविशेषात् कट्यादेः सकाशात् ग्रन्थिं कार्षापणादिपोट्टलिकां भिन्दन्त्याच्छिन्दन्तीति गात्रग्रन्थिभेदकाः । ग्रन्थिच्छेदकतस्करेषु, औ० । ज्ञा० । शरीरविनाशकारिषु च । रा० ।

गायदाह-गात्रदाह-पुं० । नीरोगीकरणार्थं पशूनां गात्रदग्धताकरणे, तत्स्थाने च । " जराइरोगमरंताणं गोरूभाणं रोगपसवणत्थं जत्थ गाश्रा डज्झंति तं गायडाहं भण्णति " । नि० चू० ३ उ० ।

गायपच्छणण-गात्रप्रच्छादन-न० । शरीरस्य चीरणे, प्रश्न० ५ संब० द्वार ।

गायब्भंग-गात्राभ्यङ्ग-पुं० । तैलादिना गात्रस्याभ्यञ्जने, दश० ३ अ० ।

गायब्भंगण-गात्राभ्यञ्जन-न० । सहस्रपाकतैलादिभिः गात्रस्याभ्यङ्गे, आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

गायरी-देशी-गर्गर्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गायलट्ठि-गात्रयष्टि-स्त्री० । तनुलतायाम्, सम्म० २ काण्ड ।

गार-गार-पुं० । पाषाणशुक्तिकायाम् , बृ० ४ उ० । कर्करके, व्य० ४ उ० ।

अगार-न० । प्राकृतेऽकारलोपः । गृहे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । "गारभावसंतेहिं" अगारं गृहं तदाद्यकारलोपाद् गारमित्युच्यते । अगारजावसद्भिः सेवमानैः । आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

गारइल्ल-गौरववत्-त्रि० । गौरवाणि ऋद्धिरससातलक्षणानि विद्यन्ते यस्य स गौरववान् । गौरवान्विते, कर्म० १ कर्म० ।

गारत्थ-अगारस्थ-पुं० । गृहस्थे, नि० चू० १ उ० ।

गारत्थिय-अगाराश्रित-पुं० । अगारं गेहं तदाश्रयोऽगारस्थिताः । गृहिषु, स्था० ६ ठा० । बृ० । मरुकादिभिक्षाचरे, नि० चू० २ उ० ।

गारत्थियवयण-अगारस्थितवचन-न० । अगारस्थिता गृहिणस्तेषां वचनम् । बृ० १ उ० । मामकभागिनेयेत्यादिभणने, स्था० ६ ठा० ।

अथागारस्थितवचनमाह-

अरे ! हरे ! बंभण ! पुत्ता !, अव्वो ! वप्पो ! त्ति भाय ! माम ! त्ति ।
भट्टी ! य सामि ! गोमिय !, लहुओ लहुआ य गुरुआ य ॥

अरे ! इति वा हरे ! इति ब्राह्मण ! इति वा पुत्र ! इति वा यद्यामन्त्रणवचनं ब्रूते तदा मासलघु । 'अव्वो ! वप्पो ! ' भ्रातः ! मामक !, उपलक्षणत्वादम्ब ! भागिनेय ! इत्यादीन्यपि यदि वक्ति तदा चतुर्लघु । अथ भट्टिन् ! स्वामिन् ! भोगिन् ! इत्यादीनि गौरवगर्भाणि वचांसि ब्रूते तदा चतुर्गुरुका आज्ञादयश्च दोषाः ।

संथवमादी दोसा, हवंति धी मुंड ! को व तुह बंधू ?।
मिच्छत्तं दियवयणे, ओभावणता य सामि त्ति ॥

भ्रातृमामकादीनि वचनानि ब्रुवाणेन संस्तवः पूर्वसंस्तवादिरूपः कृतो भवति । ततश्च प्रतिबन्धादयो बहवो दोषा भवन्ति । अम्ब ! तात ! इत्यादि ब्रुवतः श्रुत्वा लोकाश्चिन्तयेत्-अहो ! एतेषामपि मातापित्रादयः पूजनीयाः, अविरतिकाश्च मन्त्रयन्तो भूयस्तरा दोषाः । यद्वा-सद्गृहस्थस्तेनासद्भूतसंबन्धोद्घाटनेन रुष्टो ब्रूयात्-धिग् मुण्ड ! कस्तवात्र बन्धुः स्वजनोऽस्ति ?। येनैवं प्रलपसि ?। उपलक्षणमिदम् अरे ! हरे ! इत्यादि ब्रुवतः परो ब्रूयात्-त्वं तावन्मां न जानीषे कोऽहमस्मि, ततः किमेवमरे इत्यादि जल्पसि ?। एवमसंखडादयो दोषाः । द्विजवचने च ब्राह्मण ! इत्येवमभिधाने मिथ्यात्वं भवति । स्वामिन् ! इत्याद्यभिधाने च प्रवचनस्यापभ्राजना भवति । गतमगारस्थितवचनम् । गृहस्थवचनं देशीभाषामाश्रित्य भणेत् । बृ० ६ उ० । (' अवयण ' शब्दे प्रथमभागे ७६६ पृष्ठे चतुर्गुरुकाः प्रायश्चित्तमुक्तम्)

अथार्यागृहस्थभाषाभाषणे दोषमाह-

जत्थ य गिहत्थभासा-हि भासए अज्जिआ सुरुट्ठा वि ।
तं गच्छं गुणसायर !, समणगुणविवज्जिअं जाण ॥११॥

यत्र च सुरुष्टाऽपि कथमपि कारणवशेन भृशं रोषं गताऽपि, किं पुनररुष्टा, आर्या गृहस्थभाषाभिः 'तव गृहं ज्वलतु' ' तव शवं कर्षयामि' 'तवाक्षिणी स्फुटिते' 'तव पादौ छिन्नौ स्तः' इत्यादि कठोरसावद्यरूपाभिर्भाषते, हे गुणसागर ! तं गच्छं श्रमणगुणविवर्जितं जानीहीति गाथाच्छन्दः । ग० २ अधि० ।

गारत्थी-अगारस्त्री-स्त्री० । अविरतिकायाम्, बृ० ३ उ० ।

गारव-गौरव-न० । गुरोर्भावः कर्म्म वेति गौरवम् । 'आच्च गौरवे' ।८। १ । १६३ । इत्यौत आत्वम् । प्रा० १ पाद । प्रतिबन्धे, अभिलाषे च । आ० चू० ४ अ० । तत्र द्रव्यभावभेदभिन्नं गौरवं वज्रादेः भावगौरवमभिमानलोभाभ्यामात्मनोऽशुभभावगौरवं संसारचक्रवालपरिभ्रमणहेतुकर्मनिदानमिति भावार्थः । आव० ४ अ० ।

तओ गारवा पन्नत्ता । तं जहा-इड्ढिगारवे, रसगारवे, सातागारवे ।

तत्र ऋद्ध्या नरेन्द्रादिपूजालक्षणया, आचार्यत्वादिलक्षणया वाऽभिमानादिद्वारेण गौरवं ऋद्धिगौरवम्, ऋद्धिप्राप्त्यऽभिमानप्राप्तिप्रार्थनाद्वारेणाऽऽत्मनोऽशुभो भावो भावगौरवमित्यर्थः । एवमन्यत्रापि, नवरं रसो रसनेन्द्रियार्थो मधुरादिः, सातं सुखमिति । अथ वा-ऋद्ध्यादिषु गौरवमादर इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

ऋद्ध्यादिगौरवे च दृष्टान्तः-

" मथुरामागमन्मङ्गु-राचार्यः श्रुतपारगः ।
धर्मोपदेशवान् लब्ध्या, भविकप्रतिबोधकः ॥ १ ॥
समृद्धाः श्रावका भक्त्या, भोज्यानि सरसानि च ।
सुखेनावस्थितिस्तत्र, तस्याभूत्सर्वकालिकी ॥ २ ॥

ऋद्धिरससातरूपं, ततोऽभूद्गौरवत्रयम् ।
नित्यवासी स तत्रासी-त्ततो लौल्याद्विशेषतः ॥ ३ ॥
आयुःक्षये स मृत्वाऽभूद्, यक्षो निर्धमने पुरः ।
ज्ञात्वा चाधः स्वं शिष्यान् स्वान्, संज्ञाभूमिमुपागतान् ॥४॥
दृष्ट्वा प्रासारयद्दीर्घां, जिह्वां बोधयितुं सुधीः ।
तेष्वेकः सात्त्विकः साधु-रूचे त्वं कोऽसि गुह्यक!? ॥ ५ ॥
स ऊचे वो गुरुर्मृत्वा, लौल्यादीदृक् सुरोऽभवम् ।
नित्यवासं ततो यूयं, परित्यज्य कृतोद्यमाः ॥ ६ ॥
विहरध्वं क्रियानिष्ठाः, लभध्वं मा स्म दुर्गतिम् ।
श्रुत्वा गुरुवचो दृष्ट-प्रत्यया गौरवेषु ते ॥ ७ ॥
तदैवाऽऽवेद्य भव्यानां, व्यहार्षुस्त्यक्तगौरवाः ” ॥
आ० क० आव० संथा० ध० । प्रश्न० । आतु० स० । सूत्र० ।
परिवारगौरवे, व्य० ।

परिवारइड्ढिधम्मक-हवादिखमगा तहेव नेमित्ती ।
विज्जा रायणिए गा-रवो इत्ति अट्ठहा होइ ॥

परिवारगौरवम् १ ऋद्धिगौरवम् २ धर्मकथकोऽहमिति गौरवम् ३ वाद्यऽहमिति गौरवम् ४ क्षपकोऽहमिति गौरवम् ५ नैमित्तिकोऽहमिति गौरवम् ६ विद्यागौरवम् ७ रत्नाधिकतागौरवम् ८ इत्येवममुना प्रकारेणाष्टधाऽष्टप्रकारं गौरवं भवति । व्य० ३ उ० । आदरे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । गर्वे, स्था० १० ठा० ।

गारवकारण-गौरवकारण-न० । गर्वनिबन्धने, सू० १ उ० ।

गारवट्ठ-गौरवार्थ-त्रि० । गौरवनिमित्ते, “पयाणि गारवट्ठा,कुणमाणे आभिओगियं बंधे ” पं० व० ४ द्वार ।

गारवदाण-गौरवदान-न० । गौरवेण गर्वेण यद्दीयते तद्गौरवदानम् । दानभेदे, “ नटनर्त्तमुष्टिकेभ्यो, दानं संबन्धिबन्धुमित्रेभ्यः । यद्दीयते यशोऽर्थं,गर्वेण तु तद्भवेद् दानम्” ॥१॥ स्था० १० ठा० ।

गारववंदण-गौरववन्दन-न० । चतुर्दशे वन्दनकदोषे, प्रव० ।

चतुर्दशदोषमाह-

“गारव सिक्खाविणीओऽहं” (१६०) (गारव त्ति) गौरवनिमित्तं वन्दनकमिति । कथं तदिति । आह-“सिक्खाविणीओहं ति” शिक्षा वन्दनकप्रदानादिसामाचारीविषया,तस्यां विनीतः कुशलोऽहमित्यवगच्छन्त्वमी सर्वेऽपि साधव इत्यभिप्रायवान् यथावदावर्त्ताद्याराधयन् यत्र वन्दते तद्गौरववन्दनकमित्यर्थः । प्रव० २ द्वार । आव० । आ० चू० । वृ० । ध० ।

गारवविसेसजोग-गौरवविशेषयोग-पुं० । गुरुत्वस्य पूजनीयत्वस्याऽधिकसम्बन्धे, षो० १३ विव० ।

गारविय-गौरवित-त्रि० । ऋद्ध्यादिगौरवं संजातमस्येति । ऋद्धिरससातानामन्यतमेन गौरवेण गुरुतरे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । सं० प्र० । ग० । ध० ॥

गारिहत्थिया-गार्हस्थी-स्त्री० । गृहस्थानामियं भाषा गार्हस्थी, पुत्र-मामक-भागिनेयेत्यादिः । तस्यां भाषायाम्, प्रव० २३५ द्वार ।

गारुल्ल-गारुम-न० । मन्त्रशास्त्रभेदे, स्था० ६ ठा० ।

गाल-नश्-धा० । अदर्शने, णिच् । तस्य “ नशेर्विउड-नासव-हारव-विप्पगाल-पलावाः ” । ८ । ४ । ३१ । इति गालादेशः । ‘ गालइ ’ नाशयति । प्रा० ४ पाद ।

गालण-गालन-न० । घनमसृणवस्त्रान्तेन शुद्धिकरणे, विध्वंसने च । नि० १ वर्ग । आचा० । गालने,प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

तच्च न कार्यम्-

जे भिक्खू वियडं गालेइ गालावेइ गालियमाहट्टु दिज्जमाणं पडिगाहेइ पडिग्गहंतं वा साइज्जइ ॥७॥

परिपूणगादीहिं गालेति, तस्स चउलहुं,आणादिया य दोसा ।

जे भिक्खू वियडंतं, गालिज्जा तिविहकरणजोगेणं ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ २२ ॥

अप्पणो गालेइ, अन्नेण वा गालावेइ, गालेंतमणुमोदेति । एतं वितहकरणे इमे दोसा, सेसं कंठं ।

इहरह वि ताव गंधो, किमु गालितम्मि जं च उज्झिया ।
खोल्लेसु पक्खम्मि य, पाणादिविराहणा एव ॥ २३ ॥

(इहरह त्ति) अगालिज्जंतस्स विगंधो, गालिज्जंते पुण सुठुतरं गंधो,खोलपक्खेसुं उज्झिज्जमाणेसु उज्झिमिता भवति । मज्जस्स हेट्ठाऽधो य गोमादिकिट्टिसं खोलेसु राए किमिमादि किट्टिसं पक्खसं अन्नं च खोलपक्खेसु छभिज्जमाणेसु मक्खिगपिपीलिगाविदारणा, मधुविंदोवक्खाण उभयप्राणिविदारणा ।

वितियपदं गेलण्णे, वेज्जुवएसे तहेव सिक्खाए ।
एतेहि कारणेहिं, जयणा इमा तत्थ कातव्वा ॥ २४ ॥

कारणे इमाए जयणाए गेण्हेज्ज-

पुव्वपरिगालियंत-स्स गवेसण पढमताएँ कायव्वा ।
पुव्वापरगालेय-स्सा तीतो अप्पणा गाले ॥ २५ ॥

रिजूरिति कण्ठ्या ।

सव्वेवियरूसुत्ता जहा णिद्दोसा सदोसा भवंति तहा आह-

कारणगहणे जयणा, दत्ती दूतिज्ज गालणं चेव ।
कीयादी पुण दप्पे, कज्जो वा जोगमकरेंतो ॥ २६ ॥

दत्तीसुत्तं,दूइज्जणसुत्तं, गालणासुत्तं च । एते सुत्ता कारणिया । एतेसु कारणेसु वियडं घेप्पइ, गहणे णिद्दोसा जयणं करेंतो, जयणं अकरेंतस्स दोसा भवंति । कीयगरूपामिच्चपरियट्टिअज्जादिया पुण सुत्ता दप्पतो पमिसिद्धा, दप्पतो गेण्हंति, सदोसा कज्जे अववादतो गेण्हंतो जति तिण्णि वारा सुद्धं सगणं पञ्चजंति, पणगपरिहाणी पठंजंति, ता सदोसो । नि० चू० १९ उ० ।

गालणा-गालना-स्त्री० । गर्भपातनप्रकारे, येन गर्भो द्रवीभूय क्षरति । विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

गाली-गाली-स्त्री० । चकारमकारादिकायामसद्वाचि, प्रव० ३८ द्वार । स्था० । “ ददतु ददतु गालीं गालिमन्तो भवन्तो, वयमिह तदभावा-न्नैव दाने समर्थाः ” ॥ उत्त० २ अ० ।

गालेमाण-गालयत्--त्रि० । अतिवाहयति, भ० ६ श० ३३ उ० ।

गावाण-ग्रावन्-पुं० । “पुंस्यन आणो राजवच्च” । ८ । ३ । ५६ । इत्यन्नन्तस्य आणादेशः । पाषाणे,प्रा० ३ पाद । गिरौ च । है० । वाच० ।

गावी-गो-स्त्री० । गव्याम्, रा० । आ० म० । (गोहष्टान्तः ‘अणणुओग’शब्दे प्रथमभागे ३८५ पृष्ठे उक्तः) “गावीयो हरि-

थाओ " आ०म० द्वि० । " खीरिणियाओ गावीओ " आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

गास-ग्रास-पुं० । ग्रसु अदने । ग्रसनं ग्रासः । कवलप्रक्षेपे, ग्रस्यत इति च ग्रासः । कवले, विशे० ।

गासेसणा-ग्रासैषणा-स्त्री० । " गासेसणाए संथमे निवतिए गेहाए " ग्रासार्थं कचिद्गसादौ निपतति, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

गाह-गाध-पुं० । उत्पेधे, स्था० १० ठा० । स्ताघे, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

ग्राह-पुं० । ग्राहो ग्रहणम् । गृहीतौ, नि० चू० १ उ० । आदाने, हस्तव्यापारे, वाच० । सर्पग्राहके गारुडिकादौ, सू० १ श्रु० । तन्तुकजीवे जलजन्तुभेदे, उत्त० ३६ अ० । प्रश्न० । तथा सूत्रम्-"से किं तं गाहा ? । गाहा पञ्चविहा पमत्ता । तं जहा-देली बदगा मद्दुया पुलगा सीमागारा । सेत्तं गाहा ।" प्रज्ञा० १ पद । जी० ।

गाहक-ग्राहक-पुं० । ग्रह एवुल् । श्येनपक्षिणि, विषवैद्ये च । ग्रहीतरि, त्रि० । ज्ञापके, लिङ्गेन्द्रियादौ, वाच० । आचार्ये, ग्राहयतीति व्युत्पत्तेः । शिष्ये च, गृह्णातीति व्युत्पत्तेः । व्य० ३ उ० । शिक्षयितरि गुरौ, उत्त० १ अ० । अर्थपरिच्छेदकारिणि, बृ० १ उ० । कथयितरि, आ० म० द्वि० ।

गाहगसुद्ध ग्राहकशुद्ध-न० । ग्राहकशुध्या शुद्धेऽशनादिदाने, यत्र ग्रहीता चारित्रगुणयुक्तः । विपा० २ श्रु० १ उ० ।

गाहगगिरा-ग्राहकगिर्-स्त्री० । ग्राहयतीति ग्राहिका, सा चासौ गीश्च ग्राहकगीः । आ० म० द्वि० । अर्थपरिच्छेदकारिण्यां भगवद्वाचि, बृ० १ उ० । आ० क० ।

गाहण-ग्राहण-न० । ग्राहयतीति ग्राहणम् । ग्राह्यते शिष्य एतदिति बाहुलकात्कर्मण्यनट्, ग्राहणम् । आचारादिसूत्रे, व्य० ३ उ० । प्रतिपाद्यस्य विवक्षितार्थप्रतीतिजनके वचसि, प्रश्न० २ संव० द्वार । आदापने, पं० भा० ।

गाहण तवचरितस्सा, गहणं चिय गाहणा होति ।
किह पुण चरित्तगहणं, होज्जहि जम्हति इमेहिं तु ॥
वेरग्गेणं अहवा, मिच्छत्तो होइ संमत्तं ।
संमत्ताउ चरित्तं, अहवा होज्जा इमेहिं गहणं तु ॥
सवणो णाणविणाणे, एमादी गाहणा चरित्ते य ।
अहवा वी उवएसो, एगट्ठं होति गाहणा य त्ति ।
तह उवदिसति जहत्तं, चारित्तं गेण्हती सो तु ॥
अविराहणम्मि य गुणो, दोसा य विराहणा चरित्तस्स ।
तह गाहिज्जति जहत्तं, ओगाढो होति चारित्ते ॥
णाणे य चेव तह दं-सणे य जाति गहणेण संजुया ।
एयाति गाहते, गाहणता वन्निता एसा ॥ पं० भा० ।

चारित्रप्रतिपत्तिः ग्राहणा इति । चारित्रं प्रतिपत्तिविशुद्धं, कथं वा चारित्रं भविष्यति ? । (वेरग्गेण) वैराग्यतया शुद्धिर्भवति । एवमित्यवधारणे । एताः प्रतिपत्तयः । प्रतिपत्तिरिति आकरणं, प्रकारो वा । पं० चू० । सूत्र० ।

गाहणाकुसल-ग्राहणाकुशल-पुं० । प्रतिपादनशक्तियुक्ते, ग० १ अधि० । स हि यद्वीभिर्युक्तिभिः शिष्यान् बोधयति । आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

गाहा-गाथा-स्त्री० । गाय अ-टाप् । संस्कृतेतरभाषानिबद्धायामार्यायाम्, जं० २ वक्ष० । तल्लक्षणञ्च-
"विषमाक्षरपादं वा, पादैरसमं दशधर्मवत् ।
तन्त्रेऽस्मिन्यदसिद्धं, गाथेति तत्पण्डितैर्ज्ञेयम् " ।
दशधर्मवदिति ।
"दश धर्मं न जानन्ति, धृतराष्ट्र ! निबोधत ॥
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः, श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ।
त्वरमाणश्च भीरुश्च, लुब्धः कामी च ते दश" ।
इति गृह्यते, उत्त० ३६ अ० । स्था० ।
" यच्छन्दो नोक्तमत्र, गाथेति तत्सूरिभिः प्रोक्तम् " इति च । ग० १ अधि० । भ० ।
" लक्ष्मैतत्सप्त गणा, गोपेता भवति नेह विषमे जः ।
षष्ठोऽयं न लघुर्वा, प्रथमेऽर्द्धे नियतमार्यायाः ॥
षष्ठे द्वितीयलात्परके न्ले, मुखलाच्च स यतिपदनियमः ।
चरमेऽर्द्धे पञ्चमके, तस्मादिह भवति षष्ठो लः " ॥ २ ॥
आर्यैव संस्कृतेतरभाषासु गाथासंज्ञेति ॥

निक्षेपः-

णाम ठवणा गाहा, दव्वगाहा य भावगाहा य ।
पोत्थग-पत्तग-लिहिया, सो होई दव्वगाहाओ ॥१३९॥'

(णामं ठवणेत्यादि) तत्र गाथायाः नामादिकश्चतुर्धा निक्षेपः । तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्य द्रव्यगाथामाह-(सू० १ श्रु० १६ अ० ।) आगमतो, नोआगमतश्च । तत्र आगमतो ज्ञाता, तत्र चानुपयुक्तोऽनुपयोगो द्रव्यमिति कृत्वा । नोआगमतस्तु त्रिधा-ज्ञशरीरद्रव्यगाथा, भव्यशरीरद्रव्यगाथा, ताभ्यां विनिर्मुक्ता च । "सत्तह गुरू विसमा, से हया ताण छट्ट णहजलया । गाहाए पच्छद्धे, भेओ छट्ठो त्ति इक्कलो" ॥१॥ इत्यादिलक्षणलक्षिता पत्रपुस्तकादिन्यस्तेति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता द्रव्यगाथा पत्रकपुस्तकादिन्यस्ता । तद्यथा-" जयति णवणलिणकुवलय-वियसियसयवत्तपत्तलदलच्छो । वीरो गयंदमयगल-सुललियगयविक्कमो भगवं" ॥ १ ॥ अथ चेयमेव गाथा षोडशाध्ययनरूपा पत्रकपुस्तकन्यस्ता द्रव्यगाथेति ।

भावगाथामधिकृत्याऽऽह—

होंति पुण भावगाहा, सागारुवओगभावणिप्पन्ना ।
महुराभिधाणजुत्ता, तेण गाहा ति णं बिंति ॥ ४० ॥

(होंति पुणेत्यादि) भावगाथा पुनरियं भवति । तद्यथा-योऽसौ साकारोपयोगः क्षायोपशमिकभावनिष्पन्नो गाथां प्रति व्यवस्थितः सा भावगाथेत्युच्यते, समस्तस्याऽपि च श्रुतस्य क्षायोपशमिकभावे व्यवस्थितत्वात् । तत्र चानाकारोपयोगस्याऽसंभवादेवमभिधीयते इति । पुनरपि तामेव विशिनष्टि-मधुरं श्रुतिपेशलमभिधानमुच्चारणं यस्याः सा मधुराभिधानयुक्ता, गाथाछन्दसोपनिबद्धस्य प्राकृतस्य मधुरत्वादित्यभिप्रायः । गीयते पठ्यते मधुराक्षरप्रवृत्त्या, गायति वा तामिति गाथा, यत एवमतस्तेन कारणेन गाथामिति तां ब्रुवते; णमिति वाक्यालङ्कारे; एनां वा गाथामिति ।

अन्यथा वा निरुक्तमधिकृत्याऽऽह-

गाहीकया व अत्था, अहवा सामुद्दएण छंदेणं ।
एएण होंति गाहा, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥ ४१ ॥

(गाहीकया व इत्यादि) गाथीकृताः पिण्डीकृता विक्षिप्ताः सन्त एकत्र मीलिता अर्था यस्यां सा गाथेति । अथ वा सामुद्रेण च्छन्दसा या निबद्धा सा गाथेत्युच्यते । तच्चेदम्-"अन्दोनिबद्धं च यल्लोके, गाथेति तत्पण्डितैः प्रोक्तम्" । एषोऽनन्तरोक्तो गाथाशब्दस्य पर्यायो निरुक्तस्तत्पर्यायो द्रष्टव्यः । तद्यथा-गीयतेऽसौ, गायति वा तामिति, गाथीकृता वाऽर्थाः सामुद्रेण वा च्छन्दसेति गाथेत्युच्यते । अन्यो वा स्वयमभ्यूह्य निरुक्तविधिना विधेय इति ।

पिण्डितार्थग्राहित्वमधिकृत्याऽऽह-

पन्नरससु अज्झयणे, पिंडितअत्थेसु जो अवि तह त्ति ।
पिंडियवयणेणऽत्थं, गेहे तम्हा ततो गाहा ॥ ४२ ॥

(पन्नरससु इत्यादि) पञ्चदशस्वप्यध्ययनेषु अनन्तरोक्तेषु पिण्डितार्थानि तेषु सर्वेष्वपि य एवं व्यवस्थितोऽर्थस्तमवितथं यथावस्थितपिण्डितार्थवचनेन यस्माद् ग्रथ्नात्येतदध्ययनं षोडशं ततः पिण्डितार्थग्रथनाद्गाथेत्युच्यत इति । सूत्र० १ श्रु० १६ अ० । विचित्रा गाथा यथा-"समगं नक्खत्ता योगं, जोयंति समगं उऊ परिणमंति । णच्चुण्ह णाइसीओ, बहूदओ होइ नक्खत्तो" ॥१॥ अस्यां च गाथायां पञ्चमाद्यमात्रांशकौ पञ्चकलावितीयं विचित्रेति छन्दोविद्भिरुपदिश्यते, बहुला विचित्रेति गाथालक्षणात् "पत्ति पंचकलो गणु" इति । स्था० ५ ठा० ३ उ० । "कइं च एक्काए गाहाए" एकया च गाथया लालित्यादिकाव्यधर्मोपेतया अनया कविं जानीयात् । तद्रचनारूपे कलाभेदे, स० । औ० । ज्ञा० । प्राक्तनपञ्चदशाध्ययनस्य गानाद्गाथा गाथा वा तत्प्रतिरूपत्वादिति । सूत्रकृतप्रथमश्रुतस्कन्धस्य षोडशेऽध्ययने, स० १६ सम० । प्रतिष्ठायाम्, "सेलपयाण य गाहा" इह गाथा प्रतिष्ठोच्यते, निश्चितिरित्यर्थः । 'गाधृ' प्रतिष्ठालिप्सयोश्च इति धातुवचनात् । आव० ४ अ० । गृहे, "गाहा घर गिहमिति एगट्ठा" व्य० ८ उ० ।

गाहाल-ग्राहाल-पुं० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० ।

गाहावइ-गृहपति-पुं० । गृहस्य पतिः स्वामी गृहपतिः । सूत्र०२ श्रु० ४ अ० । सू० । गृहस्थे, आचा०२ श्रु०१ अ०१ उ० । कोष्ठागारनियुक्ते, स्था० ७ ठा० । स० । ऋद्धिमाद्विशेषे, उत्त० १ अ० ।

गाथापति-पुं० । गृहस्थे, कल्प० ६ क्षण । भ० । स्वधर्मे चरतो निश्रास्थानम् । जं०२ वक्ष०। "नागे नामं गाहावई"। अन्त० ४ वर्ग । "मकाई नामं गाहावई" । अन्त० ७ वर्ग । आ० म० । शय्यादातरि च । स्था० ५ ठा० ३ उ० । कालोदाय्यादीनामन्यतमेऽन्ययूथिके, भ० ७ श० १० उ० । मन्दरस्य पूर्वेण सीतामहानद्या उत्तरेण अन्तर्नद्याम्, स्था० १० ठा० ।

गाहावइओग्गह-गृहपत्यवग्रह-पुं० । गृहपतिर्माण्डलिको राजा तस्याऽवग्रहः । प्रति० । गृहपतेर्ग्रामहत्तरादेर्ग्रामपाटकमवग्रहः आचा०२ श्रु०७ अ०१ उ० । नवग्रहभेदे, आचा०२ श्रु० ७ अ० ।

गाहावइकरंमग-गृहपतिकरण्डक-न० । श्रीमत्कौटुम्बिककरण्डके, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

गाहावइकुल-गृहपतिकुल-न० । गृहपतिर्गृहस्थस्तस्य कुलं गृहम् । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । नि० चू० । गृहिगृहे, भ० ८ श० ६ उ० ।

गाथापतिकुल-न० । गृहस्थगृहे, कल्प० ६ क्षण ।

गाहावइरयण-गृहपतिरत्न-न० । चक्रवर्तिनः कोष्ठागारनियुक्तानामुत्कृष्टे पुरुषे, स्था० ७ ठा० । गृहपतिश्चक्रवर्तिगृहसमुचितेतिकर्तव्यतापरः शाल्यादिसर्वधान्यानां समस्तस्वाद्वसहकारादिफलानां सकलशाकविशेषाणां निष्पादकश्च । प्रव० २१२ द्वार ।

गाहावई-ग्राहावती-स्त्री० । मन्दरस्य पूर्वतः शीतोदाया महानद्या उत्तरे (स्था०२ठा०४ उ०) सुकच्छविजये ऽन्तर्नद्याम्, जं० ।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे गाहावईकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते? गोयमा! सुकच्छस्स विजयस्स पुरच्छिमेणं महाकच्छस्स विजयस्स पच्चच्छिमेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणिल्ले णं ति, एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे गाहावइकुंडे णामं कुंडे पण्णत्ते । जहेव रोहिअंसाकुंडे तहेव जाव गाहावईदीवे भवणे, तस्स णं गाहावईकुंडस्स दाहिणिल्लेणं तोरणेणं गाहावई महाणई पव्वूढा समाणी सुकच्छमहाकच्छविजए दुहा वि भयमाणी दुहा वि भयमाणी अट्ठावीसाए सलिलासहस्सेहिं समग्गा दाहिणेणं सीआमहाणइं समुप्पेई । गाहावई णं महाणई पवहे अ मुहे अ सव्वत्थ समा, पणवीसं जोअणसयं विक्खंभेणं अड्ढाइं जोअणसयाइं उव्वेहेणं उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं अ वणसंडेहिं० जाव दुण्ह वि वण्णओ ॥

(कहि णं भंते! इत्यादि) क भदन्त! जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे वर्षे ग्राहावत्या अन्तर्नद्याः कुण्डं प्रभवस्थानं ग्राहावतीकुण्डं नाम कुण्डं प्रज्ञप्तम्? । गौतम! सुकच्छस्य विजयस्य पूर्वस्यां महाकच्छस्य विजयस्य पश्चिमायां नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दाक्षिणात्ये नितम्बे; अत्र सामीप्यिकेऽधिकरणे सप्तमी; तेन नितम्बसमीपे इत्यर्थः । अत्र जम्बूद्वीपे द्वीपे महाविदेहे वर्षे ग्राहावतीकुण्डं नाम कुण्डं प्रज्ञप्तम् । यथैव रोहितांशाकुण्डं तथेदमपि विंशतियोजनायामविष्कम्भमित्यादिरीत्या ज्ञेयम् । कियत्पर्यन्तमित्याह-यावद् ग्राहावतीद्वीपं भवनं चेति । उपलक्षणं चैतत्, तेनार्थसूत्रमपि भावनीयम् । तथाहि-"से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ गाहावईदीवे?। गोअमा! गाहावईदीवे णं बहूइं उप्पलाइं० जाव सहस्सपत्ताइं गाहावईदीवसमप्पभाइं समवण्णाइं" इत्यादि । अथास्माद् या नदी प्रवहति तामाह-(तस्स णमित्यादि) तस्य ग्राहावतीकुण्डस्य दाक्षिणात्येन तोरणेन ग्राहवती महानदी प्रव्यूढा सती सुकच्छमहाकच्छविजयौ द्विधा विभजमाना विभजमाना अष्टाविंशत्या नदीसहस्रैः समग्रा सहिता दक्षिणेन भागेन मेरोर्दक्षिणादिशि शीतां महानदीं समुपसर्पति । अथास्या विष्कम्भादिकमाह-(गाहावई णमित्यादि) ग्राहावतीमहानदीप्रवहे ग्राहावतीकुण्डनिर्गमे मुखे शीताप्रवेशे च सर्वत्र तुल्यप्रवहयोरन्यत्रापि स्थाने समासविस्तारौ द्वेधा । एतदेव दर्शयति-पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतं विष्कम्भेण, अर्द्धतृतीयानि योजनशतान्युद्वे-

श्चेन सपादशतयोजनानां पञ्चाशद्भाग एतावत एव लाभात, पृथुत्वं च प्राग्वत्। तथाहि-महाविदेहेषु कुरुमेरुभद्रशालविजयवक्षस्कारमुखवनव्यतिरेकेणान्यत्र सर्वत्रान्तर्नद्यः । तास्र पूर्वापरविस्तृतास्तुल्यविस्तारप्रमाणास्तत एतत् करणावकाशः। तत्र मेरुविष्कम्भपूर्वापरभद्रशालवनायामप्रमाणं चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि, विजय १६ पृथुत्वं पञ्चत्रिंशतिसहस्राणि चतुःशतानि षमुत्तराणि, वक्षस्कारपृथुत्वं चत्वारि सहस्राणि, मुखवनद्वय२पृथुत्वं ५८४४, सर्वमीलने नवतिसहस्राणि द्वे शते पञ्चाशदधिके, एतज्जम्बूद्वीपविष्कम्भलक्षाच्छोध्यते। शोधिते च जातं सप्त शतानि पञ्चाशदग्राणि। एतच्च दक्षिणे उत्तरे वा भागे अन्तर्नद्यः षट् सन्तीति षड्भिर्विभज्यते, लब्धः प्रत्येकमन्तर्नदीनामुक्तो विष्कम्भ इति। आयामस्तु विजयाऽऽयामप्रमाणः,विजयवक्षस्कारान्तर्नदीमुखवनानां समाऽऽयामकत्वात्। ननु "जावइया सलिलाओ, माणुसलोगम्मि सव्वम्मि २६। पणयालीस सहस्सा, आयामो होइ सव्वसरिआणं ॥१॥" इति वचनात् कथमिति संगच्छते? । उच्यते-इदं वचनं भरतगङ्गादिसाधारणं, तेन यथा तत्र नदीक्षेत्रस्याल्पत्वेनानुपपत्तावत्यर्थकोट्टाककरणमाश्रयणीयं, तथाऽत्रापि । अत्र श्रीमलयगिरिपादाः क्षेत्रसमासवृत्तौ जम्बूद्वीपाधिकारे "एताश्च ग्राहावतीप्रमुखा नद्यः सर्वा अपि सर्वत्र कुण्डाद्विनिर्गमे शीता शीतोदयोः प्रवेशे च तुल्यप्रमाणाविष्कम्भोद्वेधाः" इत्युक्त्वा यत्पुनर्धातकीखण्डपुष्करार्धाधिकारयोर्नदीनां द्वीपे२ द्विगुणविस्तारं व्याख्यानयन्तः प्रोचुः-"यथा जम्बूद्वीपे रोहितांशा-रोहिता-सुवर्णकूला-रूप्यकूलानां ग्राहावत्यादीनां च द्वादशानामन्तर्नदीनां सर्वाग्रेण षोडशानां नदीनां प्रवहे विष्कम्भो द्वादश योजनानि सार्द्धानि, उद्वेधः क्रोशमेकं, समुद्रप्रवेशे ग्राहावत्यादीनां च महानदीप्रवेशे विष्कम्भो योजन १२५, उद्वेधो योजन २ क्रोश २ इति। तत्र पूर्वापरविरोधो। यतस्तत्रैव तैरत्र लघुवृत्त्यभिप्रायेण प्रवहप्रवेशयोर्विशेषोऽभिहित इति कथनेन समाहितम्; एवमत्रापि लघुवृत्तिगतस्तत्राभिप्रायो दर्शितो वर्त्तते। उभयत्रापि तत्त्वं तु सर्वविदो विदन्ति। किं च-आसां सर्वत्र समविष्कम्भकत्वे आगमयुक्तिरप्यनुकूला। तथाहि-आसां विष्कम्भवैषम्ये उभयपार्श्ववर्त्तिनोर्विजययोरपि विष्कम्भवैषम्यं स्यात्; इष्यते च समविष्कम्भकत्वमिति। शेषं व्यक्तमिति। जं० ४ वक्ष०। "दो गाहावई" स्था० २ ठा० ३ उ०।

गाहावईकुंड-ग्राहावतीकुण्ड-न०। ग्राहावतीनिर्गमकुण्डे, जं० ४ वक्ष०।

गाहासुत्तधर-गाथासूत्रधर-पुं०। निशीथकल्पव्यवहारयोर्ये पीठे ते एव गाथासूत्रे, तद्धरन्तीति । निशीथादिपीठिकायाः सूत्रतो धारके, नि० चू० २ उ०।

गाहासोलसग-गाथाषोडशक-पुं० । गाथाख्यं षोडशमध्ययनं यस्मिन् श्रुतस्कन्धे स तथा । सूत्रकृताङ्गस्य प्रथमे श्रुतस्कन्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०।

सोलसयगाहा सोलसगा पण्णत्ता। तं जहा-समए,वेयालिए, उवसग्गपरिन्ना, इत्थीपरिन्ना, निरयविभत्ती, महावीरथुई, कुसीलपरिभासिए, वीरए,धम्मे, समाही,मग्गे, समोसरणे, आहातहिए, गंथे, जमइए, गाहा। स० १६ सम०।

सूत्रकृताङ्गस्य षोडशेऽध्ययने, तत्त्वभेदपर्यायैर्व्याख्येति कृत्वा सूत्रार्थमधिकृत्याऽऽह-

सोलसमे अज्झयणे, अणगारगुणाण वण्णणा भणिया।
गाहासोलस णामं, अज्झयणमिणं उवदिसंति ॥ ४३ ॥

(सोलसमे इत्यादि) षोडशाध्ययनेऽनगाराः साधवस्तेषां गुणाः क्षान्त्यादयस्तेषामनगारगुणानां पञ्चदशस्वप्यध्ययनेष्वभिहितानामिहाध्ययने पिण्डितार्थवचनेन यतो वर्णनाऽभिहिताऽतो गाथाषोडशाभिधानमध्ययनमिदं व्यपदिशन्ति प्रतिपादयन्ति ॥ सूत्र० १ श्रु १ अ० १ उ०। आ० चू०।

गाहिय-ग्राहित-असंयमं प्रति वर्त्तिते,सूत्र० १ श्रु० २ अ०१उ०।

गाहिया-ग्राहिका-स्त्री० । अक्लेशेनार्थबोधिकायां वाचिकायाम्, औ०।

गाहीकड-गाथीकृत-त्रि०। पिण्डीकृते, "गाहीकया व अत्था, अहवा सामुद्दएण छंदेण" सूत्र० १ श्रु० १६ अ०।

गिंठि-गृष्टि-स्त्री०। "इत्कृपादौ" ।८।१।१२८। इति ऋत इत्त्वम्। प्रा० १ पाद। "वक्रादावन्तः" ॥८।१।२६॥ इति अनुस्वारागमः सकृत्प्रसूतायां गवि, प्रा० १ पाद।

गिज्झ-गृध्-धा०। अभिकाङ्क्षायाम्,दिवा० पर० सक०सेट्। वाच०। "गृधलुभगृधक्षुधासिधमुहां ज्झः" ।८।४।२१७। इत्यन्त्यस्य ज्झः। 'गिज्झेइ' गृध्यति। प्रा०४ पाद। स०। प्राप्तस्यासन्तोषेणाप्राप्तस्याकाङ्क्षावन्तो भवन्तीति। स्था० ५ ठा० १ उ०। "कंसि वा एगे गिज्झे" एकः कथं गृध्ये तात्पर्यमासेवां वा विदितकर्म्मपरिणामो विदध्यात् युज्येत गार्ध्यं यदि तत् स्थानं प्राप्तपूर्वं नाभविष्यत्तच्चानेकशः प्राप्तिस्तल्लाभालाभयोर्नोत्कर्षोऽपकर्षौ विदध्यात्। आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ०।

ग्राह्य-त्रि०। हस्तादिना आदेये, स्था० ३ ठा०२ उ०। उत्त०।

गिज्झमाण-गृध्यत्-त्रि०। गार्ध्यं विदधति, आचा० ३ चू०। नि० चू०।

गिड्डिया-गिड्डिका-स्त्री० । कन्दुकक्षेपिण्यां वक्रयष्टिकायाम्, प्रव० ३८ द्वार।

गिण्हमाण-गृह्णत्-त्रि०। बाह्यादावन्ते आददाने, सू० ६ उ०।

गिण्हियव्व-ग्रहीतव्य-त्रि०। उपादेये,अनु०। आ० म०।

गिद्ध-गृद्ध-त्रि०। 'गृधु' अभिकाङ्क्षायाम्। क्तः।प्राप्ताहारादौ आसक्ते, असन्तुष्टत्वेन तदाकाङ्क्षावति. भ० १४ श० ७ उ०। आव०। स्था०। ज्ञा०। सूत्र०। ग्रथित,अध्युपपन्ने,दश० ६ अ०। आचा०। सूत्र०। प्राक् शब्दादिविषयलवसमास्वादाद् (आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०) लम्पटत्वं गते,तं०। विशे०। ग०। "विसएसु गिद्धा" विषयलोलुपाः। आ० चू० ३ अ०। मूर्च्छिते, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। उत्त०। दत्तावधाने रमणीरागमोहिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। गृद्धिमति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । "कम्मि गिद्धो तुमं" गृद्धस्त्वं मूढो मूर्खः। तं०।

गृध्र-पुं०। (गीध) पक्षिविशेषे, भ० ७ श० १ उ०। प्रश्न०।

गिद्धपिट्ठ-गृध्रस्पृष्ट-गृद्धस्पृष्ट-गृध्रपृष्ठ-न०। गृध्रैः पक्षिविशेषैर्गृद्धैर्वा मांसलुब्धैः शृगालादिभिः स्पृष्टस्य विदारितस्य करिकरभरासभादिशरीरान्तर्गतत्वेन यन्मरणं तद् गृध्रस्पृष्टं वा गृद्धस्पृष्ट

वा । गृध्रैर्वा भक्षितपृष्ठस्य यत्तद् गृध्रपृष्ठम् । ज०२श०१ उ०। गृध्रस्पृष्टं गृध्रैः स्पर्शनं कलेवराणां मध्ये निपत्य गृध्रैरात्मनो जक्षणमित्यर्थः । ज्ञा० १ श्रु०१६ अ०। गृध्रैः स्पृष्टं स्पर्शनं यस्मिन् तद् गृध्रस्पृष्टम् । यदि वा-गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च, तद्भक्ष्यं करिकरभादिशरीरानुप्रवेशेन महासत्त्वस्य मुमूर्षोर्यस्मिंस्तद् गृध्रपृष्ठमिति । मरणभेदे, स्था०२ठा०४उ० ।

गिद्धाइभक्खणं 'गि-द्धपिट्ठ' उब्बंधणाइ वेहासं ।

एए दोन्नि वि मरणा, कारणजाए अणुन्नाया ॥१०३०॥

गृध्रैः स्पृष्टं स्पर्शनं यस्मिन् तद् गृध्रस्पृष्टं, यदि वा गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वादुदरादि च मर्तुर्यतः तत् गृध्रपृष्ठम् । स ह्यलक्तपुटिकापुटप्रदानं यस्मिन् तद् गृद्धपृष्ठम् । यदि वा-गृध्राणां भक्ष्यं पृष्ठमुपलक्षणत्वात् प्रथमतः प्रतिपादन—मनन्तमहासत्त्वनिचयतया कर्म्मनिर्जरां प्रति प्राधान्यख्यापनार्थम् । प्रव० १५७ द्वार । " गिद्धेहिं पुट्ठं, गृध्रैर्भक्षितव्यमित्यर्थः । तं गोमाइकलेवरो अप्पाणं पक्खिविचा गिद्धेहिं अप्पाणं भक्खवेइ । अहवा-पेट्टोदरादिसु अलत्तपुडगे दाउं अप्पाणं गिद्धेहिं भक्खवेइ" । नि० चू० ११ उ० ।

गिद्धपिट्ठट्ठाण-गृध्रपृष्ठस्थान-न० । गृध्रपृष्ठमरणस्थाने, यत्र मुमूर्षवो गृध्रादिभक्षणार्थं रुधिरादिलिप्तदेहा निपत्य तिष्ठन्ति । आचा० १ श्रु० २ चू० ।

गिद्ध इव रिंखि-गृद्ध इव रिङ्खिन्-पुं० । प्रार्यावशगत्वेन गृद्ध इव रिङ्खणकर्तृत्वेन स्वनाम्ना ख्याते पुरुषविशेषे, पिं० । तथा क्वचित् ग्रामे कोऽपि पुरुषो भार्याऽऽदेशविधायी, अन्यदा च सा रसवत्यामासनमुपविष्टा वर्त्तते,सा च तेन भोजनमयाचि, तयोक्तम्-मम समीपे स्थालमादाय समागच्छ । सोऽपि यथैव तया समादिशति तस्मै प्रमाणमिति वदन् तस्याः समीपे गतः तया परिवेषितं भोजनं,तत उक्तम्-भोजनस्थाने गत्वा भुङ्क्ष्व । ततः स भोजनस्थानं गत्वा भोक्तुं प्रवृत्तः, ततः पुनरपि तेन तीमनं याचितम् । सा च प्रत्युवाच-स्थालमादाय समागच्छ । ततः स गृद्ध इव उत्कोटिं रिङ्खन् स्थालेन गृह्णाति, ततो भुङ्क्ते, एवं तक्रादिकमपि गृह्णाति । तत एतल्लोकेन ज्ञात्वा हासेन गृध्र इव रिङ्खतीति नाम कृतमेव गृध्र इव रिङ्खी । पिं० ।

गिद्धि—गृद्धि—स्त्री० । गृध्-क्तिन् "इत्कृपादौ" ८ । १ । १२८ । गार्ध्ये, तात्पर्ये, आसेवायाम्, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । विषयाभिकाङ्क्षायाम्, उत्त०६ अ० । स्था० । गार्ध्ये, ममत्वे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । स्था० । अविद्यमानपरिग्रहप्रतिबन्धे, ध० ३ अधि० । मूर्च्छा, गृद्धिः, परीषह इत्येकार्थाः । विशे० ।

गिम्भ—ग्रीष्म—पुं० । प्राकृते ष्मभागस्य म्हः । ततः " म्हो म्भो वा" । ८ । ४ । ४१२ । इति अपभ्रंशे म्हभागस्य मकाराकान्तो भकारः । उष्णे, प्रा० ४ पाद ।

गिम्ह—ग्रीष्म—पुं० । " पक्ष्म—श्म-ष्म-स्म-ह्मां म्हः " । ८ । २।७४। इति ष्मस्य म्हः । प्रा० २ पाद । वैशाखज्येष्ठात्मके, ज्ञा०१ श्रु० १ अ० । ज्येष्ठाषाढात्मके वा । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । षड्ऋतुरूपे, चं० १२ पाहु० । सू० प्र० । उष्णकाले, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । घर्म्मर्त्तौ, संथा० । जं० ।

गिम्हकाल-ग्रीष्मकाल-पुं० । उष्णकाले, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । सू० प्र० ।

गिम्हकालप्पारंभ-ग्रीष्मकालप्रारम्भ-पुं० । उष्णकालप्रारम्भे चैत्रशुक्लपक्षे, व्य० ७ उ० ।

गिम्हवासर-ग्रीष्मवासर-पुं० । " लघोः संयोगे सोऽग्रीष्मे " ॥८ । ४ । ४०॥ इति ग्रीष्मपर्युदासात् न सः । ग्रीष्मर्तुवासरेषु, प्रा० ४ पाद ।

गिरा-गिर्-स्त्री० । " रो रा " ॥ ८ । १ । १६ ॥ इत्यन्त्यस्य रा । प्रा० १ पाद । वाचि, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । कल्प० । ज्ञा० । "वक्कं वयणं च गिरा" दश० ७ अ० । "शक्रपूज्यं गिरामीशं, तीर्थेशं स्मृतिमानये" गीरामीशं वाचस्पतिमिति नास्तिकमतप्रवर्त्तयितुर्बृहस्पतेः सूचा । तथा-गिरां वाचामीं लक्ष्मीं शोभां श्यति यस्तं, परमार्थतः पदार्थप्रतिपादनं हि वाचां शोभा, तां च तासामपीहमात्रगोचरतामाचक्षाणस्ताथागतस्तनूकरोत्येवेति विशेषणाऽऽकूत्या सुगतोपक्षेपः । रत्ना० १ परि० । आचार्योपाध्यायदत्तां गिरं गृह्णाति । नि० चू० २० उ० ।

गिरि-गिरि-पुं० । गृणन्ति शब्दायन्ते जननिवासभूतत्वेन (ज्ञा० १ श्रु० १३ अ०) गोपाल-गिरि-चित्रकूट-प्रभृतिषु (जं० ७ श० ६ उ०) पर्वतेषु, विशे० । बालमूषिकायाम्, स्त्री० । वा ङीप् । नेत्ररोगे, गिरिणा काणः । गेन्दुके, पूज्ये, त्रि० । निगरणे, स्त्री० । "अथान्धकारं गिरिगह्वरस्थम्" । "गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैः" । मेघे, वाच० ।

गिरिकंदर-गिरिकन्दर-पुं० । गिरिगुहायाम्, प्रश्न०२ आश्र० द्वार । इय० । पर्वतगुहायाम्, कल्प० ४ क्षण ।

गिरिकडग-गिरिकटक-पुं० । पर्वतनितम्बे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ।

गिरिकण्णिया-गिरिकर्णिका-स्त्री० । वल्लीविशेषे, ध०२ अधि० । प्रव० । प्रज्ञा० ।

गिरिकुहर-गिरिकुहर-न० । पर्वतकुञ्जे, औ० ।

गिरिगिह-गिरिगृह-न० । पर्वतोपरि गृहे, स्था०४ ठा०१ उ० । भ० । आचा० ।

गिरिगुहा-गिरिगुहा-स्त्री० । कन्दरे, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । नि० चू० ।

गिरिजण्ण-गिरियज्ञ-पुं० । कोङ्कणदेशेषु सायाह्नकालभाविनि प्रकरणविशेषे, आह चूर्णिकृत्-गिरियज्ञः कोङ्कणादिषु भवति । विशेषचूर्णिकारः पुनराह-"गिरिजण्णो मत्तबालसंखडी भण्णइ, साकालविसए वरिसारत्ते भवइ त्ति " बृ० १ उ० ।

गिरिजत्ता-गिरियात्रा-स्त्री० । गिरिगमने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गिरिणई-गिरिनदी-पर्वततटिन्याम्, तं० ।

गिरिणगर-गिरिनगर-न० । स्वनामख्याते नगरे, यत्राविधिनाऽग्निपूजको वणिगासीत् । विशे० । आ० चू० ।

गिरिणाल-गिरिनाल-पुं० । उज्जयन्तशैले, ती० ३ कल्प । (' उज्जयंत ' शब्दे द्वितीयभागे ७३६ पृष्ठे कल्प उक्तः)

गिरितडाग-गिरितटाक-पुं० । स्वनामख्याते संनिवेशविशेषे, काम्पिल्यपुराच्चक्षत्रब्रह्मदत्तचक्री गतः । उत्त० १३ अ० ।

गिरिपक्खंदण-गिरिप्रस्कन्दन-न० । दूरतो धावित्वा गिरेः प्रपतनेन मरणे, नि० चू० ११ उ० ।

गिरिपक्खंदोलिय-गिरिपक्षान्दोलित-पुं० । गिरिपक्षे पर्वतपार्श्वे छिन्नकण्टकगिरावाऽऽत्मानमान्दोलयन्ति ये ते तथा । मरणविशेषेण मुमुक्षुषु, औ० ।

गिरिपडण-गिरिपतन-न० । यत्रारूढैरधः प्रपतनस्थानं दृश्यते तस्मात्पर्वतादुपत्याऽधःपतनेन मरणे, स्था० २ ठा० ४ उ० । नि० चू० । भ० ।

गिरिपडियक-गिरिपतितक-पुं० । गिरेः पर्वतात्पतिताः, गिरिर्वा महापाषाणः पतितो येषामुपरि ते तथा । गिरिपतनेन मरणधर्मकेषु, औ० ।

गिरिपडियग-गिरिपतितक-पुं० । 'गिरिपडियक' शब्दार्थे,औ० ।

गिरिपब्भार-गिरिप्राग्भार-न० । पर्वतनितम्बे, संथा० ।

गिरिमट्टिया-गिरिमृत्तिका-स्त्री० । भूधरमृत्तिकायाम्,अष्ट०४अष्ट० ।

गिरिमह-गिरिमह-पुं० । गिर्य्युत्सवे, आचा० २श्रु० १ अ० २ उ० ।

गिरिराय-गिरिराज-पुं० । सर्वेषामपि गिरीणामुच्चत्वेन तीर्थकरजन्माभिषेकाश्रयतया च राजा गिरिराजः । मेरौ, सू० प्र० ५ पाहु० । चं० प्र० ।

अथ मेरोः सनयप्रसिद्धानि षोडश नामानि प्रश्नयितुमाह-

मंदरस्स णं भंते ! पव्वयस्स कति णामधेज्जा पण्णत्ता ? । गोयमा ! सोलस नामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-"मंदर १ मेरु २ मणोरम ३, सुदंसण ४ सयंपभे य ५ गिरिराया ६ ॥ रयणोच्चए ७ सिलोच्चय ८,मज्झे लोगस्स ९ णाभी अ १०॥१॥ अत्थे ११ य सूरियावत्ते १२, सूरियावरणे १३ ति य । उत्तमे१४अ दिसादी अ १५,वडेंसेति १६ अ सोलस"॥२॥

(मंदरस्स णमित्यादि) मन्दरस्य पर्वतस्य भगवान् कति नामधेयानि नामानि प्रज्ञप्तानि ? । गौतम ! षोडश नामधेयानि प्रज्ञप्तानि । तद्यथा-" मन्दरे " इत्यादि गाथाद्वयम् । मन्दरदेवयोगात् मन्दरः, एवं मेरुदेवयोगान्मेरुरिति । नन्वेवं मेरोः स्वामिद्वयमापद्येतेति चेदुच्यते-एकस्यापि देवस्य नामद्वयं संभवतीति न काऽऽप्याशङ्का, निर्णीतिस्तु बहुश्रुतगम्येति । तथा मनांसि देवानामप्यतिसुरूपतया रमयतीति मनोरमः । तथा सुष्ठु शोभनं जाम्बूनदमयतया रत्नबहुलतया च मनोनिर्वृत्तिकरं दर्शनं यस्यासौ सुदर्शनः, तथा रत्नबहुलतया स्वयमादित्यादेरिव प्रभा प्रकाशो यस्यासौ स्वयंप्रभः । चः समुच्चये, तथा सर्वेषामपि गिरीणामुच्चत्वेन तीर्थकरजन्माभिषेकाश्रयतया च राजा गिरिराज इत्यादि षोडश । जं० ४ वक्ष० । (विस्तरस्त्वस्य ' मंदर ' शब्दे)

गिरिवर-गिरिवर-पुं० । पर्वभिर्मेखलाभिर्दण्डापर्वतैर्वा दुर्गो विषमः सामान्यजन्तूनां दुरारोहो गिरिवरः । पर्वतप्रधाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्रधानपर्वते, भ० ६ श० ३३ उ० । औ० । पर्वतराजे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गिरिविदारण-गिरिविदारण-पुं० । स्वनामख्याते कृष्णवासुदेवसदृशे यादवे,ती० २ कल्प । (स च मृत्वा रैवतगिरेः क्षेत्रपाल उपपन्न इति ' रेवय ' शब्दे वक्ष्यते)

गिरिविवरकुहर-गिरिविवरकुहर-न० । गिरीणां विवरकुहराणि । गुहासु, पर्वतान्तरेषु च । भ० ६ श० ३३ उ० । औ० ।

गिरिसरिउवल-गिरिसरिदुपल-पुं० । पर्वतनदीपाषाणे,विशे० ।

गिरिसेण-गिरिसेन-पुं० । चन्द्रोदरराजपुत्रे, ध० र० ।

गिला-ग्लानि-स्त्री० । ग्लानौ, " अगिलाए वेयावडियं " व्य० २ उ० । खेदे, स्था० ८ ठा० ।

गिलाण-ग्लान-त्रि० । ग्लायतीति ग्लानः नि० चू०१ उ० । ग्लेके-नः । "क्लात"।८।१।१०६। इति क्लात्पूर्वे इत् । प्रा०२पाद । मन्दे, आव० ४ अ० । क्षीणहर्षे, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । व्याध्यादिभिरशक्ते, स्था० ३ ठा० ४ उ० । भ० । भिक्षाटनादि कर्त्तुमसमर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । रोगिणि साधौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । ज्वरादिरोगाक्रान्ते, प्रव० ६६ द्वार । व्य० । ज्वरविप्रमुक्ते, नि० चू० ।

(१) ग्लानं प्रति गवेषणम्-

जे भिक्खू गिलाणं सोच्चा णच्चा ण गवेसइ, ण गवेसंतं वा साइज्जइ ॥ ४२ ॥

ज त्ति णिद्देसे, भिक्खू पुव्ववणिओ, 'ग्ले' हर्षक्खये । इमस्स रोगातंकेण वा सरीरखीणे, सरीरक्खए य हरिसक्खओ भवति, तं गिलाणं अप्पसमीवाओ सोच्चा सयं वा णातूण जो ण गवेसति तस्स चउगुरुं । जं सो गिलाणो अगविट्ठो पाविहिति, परितावादि तण्णिप्फण्णं पच्छित्तं पावति, तम्हा गवेसियव्वो ।

सग्गामे सउवस्सए, सग्गामे परउवस्सए चेव ।
खेत्तंतो अण्णगामे, खेत्तवहिं सगच्छपरगच्छे ॥
सोच्चा ण परममीवे, सयं व णाऊण जो गिलाणं तु ।
ण गवेसयती भिक्खु, सो पावति आणमादीणि ॥
असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, ण गवेसेज्जा वितियपदं ॥

नि० चू० १० उ० ।

(२) अथ ग्लानद्वारं विभावयिषुराह-

सग्गामे सउवस्सए, सग्गामे परउवस्सए चेव ।
खेत्तंतो अन्नगामे, खेत्तवहिं सगच्छपरगच्छे ॥
सोऊण ऊ गिलाणं, उम्मग्गं गच्छपडिपहं वा वि ।
मग्गाओ अण्णमग्गं, संकमई आणमाईणि ॥

स्वग्रामे स्वोपाश्रये तिष्ठता श्रुतं, यथा-अमुकत्र ग्लान इति । स्वग्रामे वा परेषां साधूनामुपाश्रये कुतोऽपि प्रयोजनादायातेन, यद्वा-क्षेत्रान्तः क्षेत्राभ्यन्तरे अन्यग्रामे भिक्षाचर्या गतेन, यदि वा-क्षेत्रबहिरन्यग्रामेष्वपि वा वर्त्तमानेन, एतेषु स्थानेषु स्वगच्छे वा परगच्छे वा ग्लानः श्रुतो भवेत्, श्रुत्वा च ग्लानं य उन्मार्गमटवीगामिनं पन्थानं प्रतिपथं वा येन पथा आयातस्तमेव पन्थानं गच्छति मार्गाद्वा विवक्षितपथादन्यं मार्गं संक्रामति स प्राप्नोति आज्ञादीनि दोषपदानि । आदिशब्दादनवस्थामिथ्यात्वविराधनापरिग्रहः । एवंकुर्वाणस्य वा यस्यान्ते ग्लानोऽप्रतिजागरितापनादिकं प्राप्नोति तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अत्र पथाह-

सोऊण ऊ गिलाणं, पंथे गामे य भिक्खवेलाए ।

जइ तुरियं नागच्छइ, लग्गइ गुरुए स चउमासे ॥

श्रुत्वा ग्लानं पथि वा गच्छन् ग्रामे वा प्रविष्टो भिक्षां वा पर्यटन् यत्किंचिदिति तत्क्षणादेव नागच्छति ततो लगति प्राप्नोति स चतुरो मासान् गुरुकान् ।

यत एवमतः-

जह भमरमहुयरिगणा, निवतंती कुसुमियम्मि चूयवणे ।

इय होइ निवइअव्वं, गेलन्ने कइवयजढेणं ॥

यथा भ्रमरमधुकरीगणाः कुसुमिते मुकुलिते चूतवने सहकारवनखण्डे मकरन्दपानलोलुपतया निपतन्ति, इत्यमुनैव प्रकारेण भगवदाज्ञामनुवर्तमानेन कर्मनिर्जरालाभलिप्सया ग्लाने समुत्पन्ने कैतवजमेन मायाविप्रमुक्तेन त्वरितं निपतितव्यमागन्तव्यं भवति । एवं कुर्वता साधर्मिकत्वं वात्सल्यं कृतं भवति, आत्मा च निर्जराद्वारे नियोजितो भवति ।

(३) तस्य ग्लानत्वस्य प्रतिबद्धामिमां द्वारगाथामाह-

सुद्धे सड्ढी इच्छकारे असत्त सुहिअ उमाण लुद्धे य ।

अणुवत्तणा गिलाणे, चालन संकामणा तत्तो ॥

प्रथमतः शुद्ध इति द्वारं वक्तव्यम् । ततः श्रद्धी श्रद्धावानिति द्वारम् । तत इच्छाकारद्वारम् । तदनन्तरमशक्तद्वारम् । ततः सुखितद्वारम् । तदा तु अपमानद्वारम् । ततोऽपि लुब्धद्वारम् । ततोऽनुवर्तना ग्लानस्य, उपलक्षणत्वाद् वैद्यस्य च वक्तव्या, ततश्चालना, संक्रमणा च ग्लानस्याभिधातव्येति द्वारगाथासमुदायार्थः ।

(४) अथावयवार्थं प्रतिद्वारं प्रचिकटयिषुः प्रथमतः शुद्धद्वारं भावयति-

सोऊण ऊ गिलाणं, जो उवयारेण आगतो सुद्धो ।

जो उ उवेहं कुज्जा, लग्गइ गुरुए सवित्थारे ॥

श्रुत्वा ग्लानं यः साधुर्गुरूपचारेण वक्ष्यमाणेन ग्लानसमीपमागतः, स शुद्धो, न प्रायश्चित्तभाक् । यस्तु उपेक्षां कुर्यात्, स लगति प्राप्नोति चतुरो गुरुकान् सविस्तरान् ग्लानारोपणासंयुक्तान् ।

उपचारपदं व्याचष्टे-

उवचरइ को णुऽतिओ, अहवा उवचारमित्तगं एइ ।

उवचरइ व कज्जत्थी, पच्छित्तं वा विसोहेइ ॥

यत्र ग्लानो वर्तते तत्र गत्वा पृच्छति-(को णुऽतिओ त्ति) द्वितीयार्थे प्रथमा । नुरिति प्रश्ने । युष्माकं मध्ये 'अतिगं' ग्लानं क उपचरति?, कः प्रतिजागर्ति? । यद्वा-धातूनामनेकार्थत्वादुपचरति को नु युष्माकं मध्ये 'अतिओ' ग्लानो येनाहं तं प्रतिजागर्मि । अथ वा-उपचारमात्रं लोकोपचारमेव केवलमनुवर्तयितुं ग्लानसमीपमेति आगच्छति । यदि वा-कार्यार्थी सन्नुपचरति । किमुक्तं भवति?-कार्यं किमपि ज्ञानदर्शनादिकं तत्सकाशादादीयमानः प्रतिजागर्ति, प्रायश्चित्तं वा मे भविष्यति यदि न गमिष्यामीति चिन्तयित्वाऽऽगत्य च प्रायश्चित्तं विशोधयति । एवं सर्वोऽप्युपचारो द्रष्टव्यः । बृ० १ उ० । श्रौ० ।

(५) तदकरणे प्रायश्चित्तम्-

जे भिक्खू गिलाणवेयावच्चे अब्भुट्ठियस्स गिलाणपाउग्गेण दव्वजाएणं अलब्भमाणे जो तं ण पमियाइक्खेइ, ण पमियाइक्खंतं वा साइज्जइ ॥ ४४ ॥ जे भिक्खू गिलाणवेयावच्चे अब्भुट्ठियस्स सएण लाभेणं असंथरमाणस्स जो तं ण पमितप्पइ, ण पमितप्पंतं वा साइज्जइ ॥४५॥

भिक्खू, गिलाणो य पुव्ववण्णिओ, जो साहू गिलाणस्स वेयावच्चकरणे अब्भुट्ठिते जाव गिलाणस्स ओसहं पाउग्गं वा भत्तपाणं वा उप्पाएति, सरीरगकितिकम्मं वा करेति, ताव वेलातिक्कमो, वेलातिक्कमे अभंतो णो पडियप्पति, एवं तस्स असंथरे अण्णो जो ण पडियप्पति भत्तपाणादिणा, तस्स चउ गुरुगा, परितावणादिणिप्फण्णं च, गिलाणो य सो परिचत्तो भवति, तम्हा तस्स पडितप्पियव्वं ।

(६) सीसो पुच्छति-गिलाणवेयावच्चे केरिसे साहू णिउज्जति ? । आचार्य आह-

खंतिखमं मद्दवियं, असढमलोलं च लद्धिसंपण्णं ।

दक्खं सुभरमसुविरं, हियग्गाहं अपरितंतं ॥१४७॥

कोहणिग्गहो खंती, अक्कममाणस्स वि जस्स खमाकरणे सामत्थमत्थि सो खंतीए खमो भण्णति । अहवा-खंतीक्षमः, आधार इत्यर्थः । माणणिग्गहकारी मद्दविओ । मायाणिग्गहकारी असढो । इंदियविसयणिग्गहकारी अलोलो, उक्कस्सं वा दट्ठुं वा जो रसणं ण पेल्लेति सो वा अलोलो, अलुब्ध इत्यर्थः । लद्धिसंपण्णो जहा घयवत्थं पुस्समित्ता गिलाणाऽऽणियं सिग्घं करोति । दक्खो अप्पेण अंतपंतेहिं वा जावेति त्ति । सुभरो कुव्वसेह इत्यर्थः । असुविरो अणिद्दालू । गिलाणस्स जो चित्तमणुयत्तति, अपत्थं च ण करेति, सो हियग्गाही, गिलाणस्स वा अणुप्पिओ जो, सुचिरं पि गिलाणस्स करेंतो जो ण भज्जति सो अपरितंतो ।

सुत्तत्थपडिबद्धं, णिज्जरपेही जियंदियं दंतं ।

कोउहलविप्पमुक्कं, अणासुकित्तिं सउच्छाहं ॥४७८॥

जो य सुत्तत्थेसु अपडिबद्धो, गृहीतसूत्रार्थ इत्यर्थः । णिज्जरापेही णो कयपडिकिंचि करेति, जिइंदितो जो इट्ठाणिट्ठेहिं विसएहिं रागदोसे ण जाति, सुकरदुक्करेसु महप्पकारीसु य जो अविकारेण भरं उव्वहति सो, जो इंदियणोइंदिसु वा दंतो ण डाति, कोउए सयं विप्पमुक्को, काउं जो थिरत्तणेण णो विकत्थति-को अण्णो एवं काउं समत्थो त्ति ? तुज्झ वा एरिसं तारिसं मए कयं ति, जो एवं ण कहयति सो अणाणुकित्ती । अणालस्सो सउच्छाहो । अहवा-अलब्भमाणे वि जो अविसण्णो भमति सो सउच्छाहो ।

आगाढमणागाढे, सद्दहगाणिसेवगं च सट्ठाणे ।

आउरवेयावच्चे, एरिसयं तू निउंजिज्जा ॥४७०॥

आगाढे रोगायंके, अणागाढे वा, आगाढे खिप्पं करणं, अणागाढे कमकरणं जो करेति । अहवा-आगाढजोगिणो अणागाढजोगिणो वा जहा किरिया कायव्वा जा वा जयणा, एवं सव्वं जो जाणति सो य उस्सग्गाववाए सद्दहति, ते य जो सट्ठाणे णिसेवति, उस्सग्गे उस्सग्गं, अववाए अववायं, अहवा-सट्ठाणं आयरियाति, तेसिं जं जत्थ जोग्गं तं तस्स उप्पायति, देति य, एरिसो गिलाणवेयावच्चे णिउज्जति ।

(७) विपरीतकरणे दोषमाह-

एयगुणविप्पहूणं, वेयावच्चम्मि जो उ ठावेज्जा ।

आयरिओ गिलाणस्सा, सो पावति आणमादीणि ।४६१।

वर्णितगुणविपरीतं जो गिलाणवेयावच्चे ठवेति सो आयरिओ आणादी दोसे पावति ।

एतेसिं परूवणता, तप्पडिपक्खे य पेसवेंतस्स ।
पच्छित्तविभासणता, विराहणा चेव जा जस्स ॥४९२॥

एतेसिं खंतिमातियाणं पयाणं यथार्थं प्ररूपणा कायव्वा । तप्पडिपक्खे खंतियक्खमस्स कोहिणो, मद्दविअस्स माणिणो, असढस्स माई पढमादियाण पच्छित्तविभासा कायव्वा, व्याख्या इत्यर्थः । अजोग्गे हि य वेयावच्चे णिउज्जंतेहिं जा गिलाणस्स विराहणा सा य वत्तव्वा पडिपक्खदोसला ।

इमं पच्छित्तं–

गव्विए कोहे विसए, दोसू लहुगा तु माइणो गुरुगो ।
लोभिंदियाण रागे, गुरुगा सेसेसु लहु जयणा ॥ ४९३ ॥

माणिस्स कोहिणो अजिइंदियस्स विसएसु दोसुकारिणो चउलहुगा पच्छित्तं, मायाविणो मासगुरुं, लोभिस्स अजिइंदियस्स य रागकारिणो चउगुरुगा, (सेसेसु त्ति) अलद्धिसंपण्णो अदक्खो दुब्भरो सुविरो हियपडिकूलो परितंतो सुत्तत्थापडिबुद्धो अणिज्जरपेही अदंतो कोतूहली अप्पच्चसंसी अणुच्चग्गाही आगाढअणागाढेसु विवरीयकारी असद्दहणगो परट्ठाणणिसेवी, एतेसु लहुमासो भयण त्ति । एते सव्वे पदा मासलहू पच्छित्तेण भयव्वा, योजयितव्या इत्यर्थः । अहवा–भयण त्ति आदेसंतरेण वा चउलहुगा । अहवा–भयण त्ति अंतराइकम्मोदएण अलद्धी भवति, सो य सुद्धो, जइ पुण सलद्धी अप्पाणं अलद्धिं ति दंसेति तो असमायारिणिप्फण्णं मासलहुं, एवं सेसेसु विउज्ज वत्तव्वं ।

एवं ता पच्छित्तं, तेसिं जो पुण ठवेज्ज ते उ गणे ।
आयरिय गिलाणट्ठा, गुरुगा सेसाण तिविहं तु ॥४९४॥

एवं पच्छित्तं पडिपक्खे जे कसाइया दोसा ता तेसिं भणिया, जो पुणो आयरियो एते गणे गिलाणादिवेयावच्चकरणे ठवेति, तस्स चउगुरुगा, सेसा जइ ठावेंति, तेसिं इमं तिविधं पच्छित्तं-उवज्झातो जइ ठवेति, तो चउलहुं, वसभस्स मासगुरुं, भिक्खुस्स मासलहुं । अहवा–उवज्झायस्स चउलहुं, गीयत्थस्स भिक्खुस्स मासगुरुं, अगीयत्थस्स मासलहुं, एवं वा तिविधं अखंतिक्खमातिएसु कलमातिकरेंतेसु गिलाणस्स गाढादिपरितावणादिया दोसा ।

इमे य भवंति–

इहलोइयाण परलो-इयाण लद्धीण फेडितो होति ।
जइ आउगपरिहीणा, देवा बलवत्तमा चेव ॥४९५॥

इहलोइया आमोसहिखेलोसहिमादी, परलोइया सग्गमोक्खा तेसिं फेडितो भवति । जहा आउगे पहुव्वंते बलवत्तमा देवा जाता, एवं गिलाणो विसमादी असट्टज्झाणी अणारोहगो भवति, तिरिआइकुगतीसु अ गच्छति, ण वा इहलोए आमोसहिमादीओ लद्धीओ उप्पाएति । जम्हा एते दोसा वेयावच्चकरो ण ठवेयव्वो ? ।

एयगुणसमग्गस्स तु, असतीए ठवेज्ज अप्पदोसतरं ।
वेयालणा उ इत्थं, गुणदोसाणं बहुविगप्पा ॥ ४९६ ॥

वणियगुणसमग्गाभावे अप्पदोसतरं ठवेति, अदोसं पच्छित्ताऽणुलोमओ जाणेज्जा, दोसवियालणेण य बहू विकप्पा उप्पज्जंति । जहा–कोहे माणो अत्थि, णत्थि वा । माणे पुण कोहो नियमा अत्थि, तम्हा कोहीओ माणी बहुदोसतरो, तम्हा कोहिं ठवेज्जा, णो माणिं । एवं सव्वपदेसु वियालणा कायव्वा ।

इयाणिं सुत्तत्थो–

जे भिक्खु गिलाणस्सा, वेयावच्चेण वावडं भिक्खू ।
लोभेण कुप्पएणं, असंथरंतं ण पडितप्पे ॥ ४९७ ॥

वावडो व्यापृतः प्राकृणिकः तस्य भिक्खुणो अण्णो भिक्खू जो ण पडितप्पति, तस्स चउगुरुं, परितावणादिणिप्फण्णं च ।

इमं च पावति–

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, तं पडितप्पे पयत्तेणं ॥ ४९८ ॥

तम्हा तस्स पडितप्पियव्वं सपयत्तेण ।

कारणे ण पडितप्पेज्ज वि–

बितियपयपदं अणवट्ठो, परिहारतवं तहेव य वहेंति ।
अत्तट्ठिय लोभी वा, सव्वहा वा अलब्भंते ॥ ४९९ ॥

अणवट्ठतवं जो वहति साहू, सो ण पडितप्पेज्जा, अणवत्थो वा कारणे गिलाणवेयावच्चेणं अब्भुट्ठितो, (गिलाणं पाओगेत्यादि) भिक्खू गिलाणो य पूर्ववत् । अब्भुट्ठितो वैयावृत्यकरणोद्यतः, पाउग्गं ओसहं भत्तं पाणं वा, तम्मि अलब्भंते जति सो वेयावच्चकरो अण्णेसिं साहूणं ण कहेति, आयरियस्स वा, तो चउगुरुगं, परितावणातिणिप्फण्णं च ।

आहारपाउगम्मी, दव्वे अलब्भंतेँ वावडो तत्थ ।
जो भिक्खू णातिक्खति, सो पावति आणमादीणि ॥५००॥

वावडो व्यापृतः नियुक्तः जति अण्णेसिं ण कहेति तो आणादिणो दोसा ।

(दव्वजाए त्ति) अस्य सूत्रस्य व्याख्या–

जायगहणे फासुं, रोगे वा जं तु पाउग्गं ।
तं पत्थं भोयणं वा, ओसहसंथारवत्थादी ॥ ५०१ ॥

कण्ठ्या ।

अलब्भमाणे अण्णेसिं साधूणं कहिज्जंते इमे दोसा–

परितावमहादुक्खे, मुच्छामुच्छे य किच्छपाणे य ।
किच्छुस्सासे य तहा, समोहते चेव कालगते ॥ ५०२ ॥

परितावणा दुविधा अणागाढगाढा परितावे जहसंखं गाढा । एते चेव गहिता एसु अट्ठसु पदेसु जहासंखं इमं पच्छित्तं–

चतुरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥ ५०३ ॥

जम्हा एते दोसा–

तम्हा आलोएज्जा, संभोइएँ असति अण्णसंभोए ।
जइऊण व ओसण्णे, सव्वेव लज्जिद्विहाणिहरा ॥५०४॥

आलोअणं णाम अण्णेसिं आख्यानं, तं च आख्यानं समत्थे, तेससति अण्णगच्छे संभोतियाणं, तेससति अण्णसंभोतियाणं, तेससति पणगपरिहाणीए जातितुं जाहे मासलहुं पत्तो ताहे सण्णी ण कहेति, ज एवं ण करेति तो सव्वेव इहलोयपरलोइयलद्धिहाणी दोसो भवति । इहरेति, अनाख्यायतस्येत्यर्थः । भवे कारणं, जेण अण्णेसिं ण कहेज्जा वि बितियपदम् ।

दो चेव अएणगामे, उदगादीहिं व संजमेगतरे ।
तस्स व अपत्थदव्वे, जायंते वा अकालम्मि ॥ ४०५ ॥

ते दो वि चेव जैणा एगो गिलाणो, एगो पडियरगो, सो पडियरगो अप्पाभावे कस्स कहेउ, अएणगामे वा अएणे साहुणो, कस्स कहेओ परिचरगो । उदगागणिहत्थिसीहबोहिगादी, एतेसिं संभममाणे एगतरे वट्टमाणे, अप्पं परिभूतेसु, दिसो दिसिं फुडितेसु कस्स साहओ जं वा दव्वं लब्भति तं गिलाणस्स अपत्थत्तेण अप्पेसि ण कहेति, गिलाणो वा अपत्थं दव्वं मग्गति, तेण वा णो कहेति भक्खेसि, अकाले वा जायते तेण ण साधयति, अहवा गरिहियविगिच्छितो मग्गति, ते य अप्पे अपरिणया ताहे ण साधयति मा विपरिणामस्संति, एवमादिहिं कारणेहिं असाहेंतो सुद्धो ॥ नि० चू० १० उ० ।

इहान्यदपि-

असणं वा पाणं वा भेसज्जं वा गिलाणस्स अइन्नाणुचरियं परिभुंजे पारंचियं, गिलाणेणं अपमिजागारिएणं भुंजे उवट्ठावणं, सव्वमविणयकतव्वं पारिविंचा णं गिलाणकतव्व न करेज्जा. अवंदे गिलाणकतव्वं मा विभाविऊण नियगकतव्वं पमाएज्जा, अवंदे गिलाणकप्पं ण उत्तारेज्जा, अट्ठमं गिलाणेणं सद्धिं एगसहेण गंतुं जमाइसे तं न कुज्जा पारंचिए. नवरं जइ णं से गिलाणे सद्दविते अहाणं सन्निवायादीहिं तुज्झा मियमाणं सेद्दाविज्जा, तओ जमेव गिलाणेण माइठं, तं न कायव्वं, ण करेज्जा संघवज्झो । महा० ७ अ० ।

(८) अथ श्रद्धावानिति द्वारमाह-

सोऊण ऊ गिलाणं, तरमाणो आगओ दवदवस्स ।
संदिसह किं करेमी, कम्मि व अट्ठे निउज्जामि ? ॥
पडियरिहामि गिलाणं, गेलण्णे वावडाण वा काहं ।
तित्थाणुसज्जणा खलु, भत्ती य कया हवइ एवं ॥

ग्लानं प्रति जाग्रदहं महतीं निर्जरामासादयिष्यामीत्येवंविधया धर्मश्रद्धया युक्तः श्रद्धावानुच्यते । स च श्रुत्वा ग्लानं त्वरमाणः श्रवणानन्तरं शेषकार्याणि विहाय पन्थानं प्रतिपन्नः सन् 'दवदवस्स त्ति' द्रुतमागच्छन् झगिति ग्लानसमीपमागतः, ततो ग्लानप्रतिचारकानाचार्यान् वा गत्वा भणाति-संदिशत भगवन्तः ! किं करोम्यहम्?। कस्मिन् वा अर्थे ग्लानप्रयोजने युष्माभिरहं नियोज्यः, अहं तावदनेनाभिप्रायेणाऽऽयतो, यथा-प्रतिजागरिष्यामि ग्लानं, ग्लानवैयावृत्त्ये वा व्यापृता ये साधवस्तेषां भक्तपानप्रदानविश्रामणादिना वैयावृत्यं करिष्यामि । एवं कुर्वता तीर्थस्यानुसज्जनाऽनुवर्त्तना कृता भवति, भक्तिश्च तीर्थकृतां कृता भवति; "जे गिलाणं पडियरइ, से ममं नाणेणं दंसणेणं चरित्तेणं पडिवज्जइ" इत्यादि भगवदाज्ञाराधनात् । इत्थं तेनोक्ते यदि स्वयमेव ग्लानवैयावृत्यं कुर्वन्ति कर्तुं प्रभवन्ति, ततो ब्रुवते आचार्याः-व्रजतु यथास्थानं भवान्, वयं ग्लानस्य सकलमपि वैयावृत्यं कुर्वाणाः स्म इति ।

अथ ते न प्रभवन्ति यदि वा स चैवंविधगुणोपेतो वर्त्तते-

संजोगदिट्ठपाठी, तेणुवलद्धा व दव्वसंजोगा ।
सत्थं व तेणऽधीयं, वेज्जो वा सो पुरा आसी ॥

संयोगा औषधद्रव्यमीलनप्रयोगास्तद्विषयो दृष्टः पाठश्चिकित्साशास्त्राध्ययनविशेषो येन स संयोगदृष्टपाठः । आर्षत्वाच्चाथायामिन्प्रत्ययः । यदि वा-तेन द्रव्यसंयोगाः कुतोऽपि सातिशयज्ञानविशेषादुपलब्धाः, शास्त्रं वा चरकसुश्रुतादिकं सर्वमपि तेनाधीतं, वैद्यो वा स पुरा पूर्वं गृहाश्रमे आसीत्, ततो न विसर्जनीयः ।

अत्थि य से जोगवाही, गेलन्नतिगिच्छणाएँ सो कुसलो ।
सीसे वावारेत्ता, तेगिच्छं तेण कायव्वं ॥

यदि तस्याऽऽगन्तुकस्य गच्छे योगवाहिनः सन्ति, स च स्वयं ग्लानचिकित्सायां कुशलः, ततः शिष्यान् सूत्रार्थपौरुषीप्रदानादौ व्यापार्य स्वयं तेन ग्लानस्य चैकित्स्यं चिकित्साकर्म कर्त्तव्यम् । उपलक्षणमिदम्-तेन कुलगणसङ्घप्रयोजनेषु गुरुकार्यप्रेषणे वस्त्रपात्राद्युत्पादने वा यो यत्र योग्यस्तं तत्र व्यापार्य सर्वप्रयत्नेन स्वयं ग्लानस्य चिकित्साकर्म कर्तव्यम् ।

(९) सूत्रार्थपौरुषीव्यापारणे विधिमाह—

दाऊणं वा गच्छइ, सीसेण व वाएँ अन्नहिं वाए ।
तत्थऽन्नत्थ व काले, सोहिए समुद्दिसइ हिट्ठे ॥

सूत्रार्थपौरुष्यौ दत्वा ग्लानस्य समीपं गच्छति, गत्वा च चिकित्सां करोति । अथ दूरे ग्लानस्य प्रतिश्रयः, ततः सूत्रपौरुषीं दत्वा अर्थपौरुषीं शिष्येण दापयति, अथ दवीयान् स प्रतिश्रयस्ततो द्वे अपि पौरुष्यौ शिष्येण दापयति, अथात्मीयः शिष्यो वाचनां दातुमशक्तस्ततो येषां वाचकानामाचार्याणां स ग्लानस्तैः सूत्रमर्थं वा स्वशिष्यान् वाचयति, अथ तेषामपि नास्ति वाचनाप्रदाने शक्तिस्ततो यदि ते अनागाढयोगवाहिनस्तदा तेषां योगो निक्षिप्यते । अथ गाढयोगवाहिनस्ततोऽयं विधिः-(तत्थऽन्नत्थ व इत्यादि) यत्र क्षेत्रे स ग्लानस्तत्र अन्यत्र वा क्षेत्रे स्थितास्ते अनागाढयोगवाहिन आचार्येण वक्तव्याः यथा-आर्याः! कालं शोधयत । ततस्तैर्यथावत् कालग्रहणं कृत्वा यावतो दिवसान् कालः शोधितस्तावतां दिवसानामुद्देशेन कालान् सर्वानप्याचार्यो ग्लाने हृष्टे प्रगुणीभूते सत्येकदिवसेनैवोद्दिशति, यावन्ति पुनर्दिनानि कालग्रहणे प्रमादः कृतो गृह्यमाणो वा कालेन शुद्धः तेषामुद्देशेन कालाः न उद्दिश्यन्ते ।

(१०) तत्र क्षेत्रे संस्तरणाभावे अन्यत्र गच्छतां विधिमाह-

निग्गमणे चउभंगो, अद्धा सव्वे वि निंति दोन्हं वि ।
भिक्खवसहीएँ असती, तस्साऽणुमए ठविज्जा उ ॥

ततः क्षेत्रान्निर्गमने चतुर्भङ्गी भवति । गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । वास्तव्याः संस्तरन्ति नागन्तुकाः, आगन्तुकाः संस्तरन्ति न वास्तव्याः, न वास्तव्या नचागन्तुकाः संस्तरन्ति, वास्तव्या अप्यागन्तुका अपि संस्तरन्ति । यत्र द्वयेऽपि संस्तरन्ति तत्र विधिः प्रागेवोक्तः । यत्र तु न संस्तरन्ति तत्रायं विधिः-प्रथमभङ्गे आगन्तुकानां, द्वितीयभङ्गे वास्तव्यानामर्द्धं वा यावन्तो वा न संस्तरन्ति तावन्तो निर्गच्छन्ति, तृतीयभङ्गे द्वयोरपि वर्गयोरर्द्धाः सर्वे वा ग्लानं सप्रतिचरकं मुक्त्वा निर्गच्छन्ति । एवं भिक्षाया वसतेश्चाऽसत्यभावे निर्गमनं द्रष्टव्यम् । ये च तस्य ग्लानस्य अनुमता अभिप्रेतास्तान् प्रतिचरकान् ग्लानस्य समीपे स्थापयेत्र गन्तव्यम् । श्रद्धावान् इति द्वारम् ॥

(११) अथेच्छाकारद्वारमाह-

अन्नणिव कोइ न इच्छइ, पच्चे थेरेहिँ हो उवालंभो ।

दिट्ठंतो महिड्डिए, सविित्थरारोवणं कुज्जा ॥

कोऽपि साधुर्वैयावृत्यकुशलः परम अन्येनाभणितः-"आर्य ! एहि इच्छाकारेण ग्लानस्य वैयावृत्त्यं कुरु" इत्युक्तः सन्नेच्छाति वैयावृत्यं कर्तुं, स च श्रुत्वाऽपि ग्लानं न तस्य समीपं गच्छति। कुलगणसङ्घस्थविराश्च ये कारणभूताः पुरुषाः, कुत्र सामाचार्यः सीदन्ति, कुत्र चोत्सर्पन्तीति प्रतिचरणाय गच्छान्तरेषु परिपृच्छन्ति, ते तत्र प्राप्ताः, तैश्च स पृष्ट आचार्यैः, उत्सर्पन्ति ते ज्ञानदर्शनचारित्राणि, सन्ति वा केचित्प्रत्यासन्नपरिसरे साधवः, ग्लानो वा कुत्रापि भवता श्रुत इति ?। स प्राह-इतः प्रत्यासन्ने एव ग्रामे सन्ति साधवः, तेषां चास्त्येको ग्लान इति । ततस्तैस्तस्योपालम्भः प्रदत्तः-यदि तेषां ग्लानो वर्त्तते ततस्त्वं तस्य प्रतिचरणाय किं न गतः ?।

स प्राह—

बहुसो पुच्छिज्जंता, इच्छाकारं न ते मम करिंति ।
पडिभुंजणया दुक्खं, दुक्खं च सलाहिउं अप्पा ॥

बहुशो भूयो भूयः पृच्छमाना अपि ते साधवः कदाऽपि ममेच्छाकारं न कुर्वन्ति। अन्यच्च-अहमनभ्यर्थितस्तत्र गतस्तैश्च प्रतिभुज्जितोऽपि निषिद्धः, यथा-पूर्णं भवता वैयावृत्यकरणेनेति । एवं प्रतिभुञ्जनया महन्मानसं दुःखमुत्पद्यते, यादृशं चाऽहं ग्लानस्य वैयावृत्यं करोमि ईदृशमन्यः कोऽपि न वेत्ति ?, एवमात्मानं श्लाघयितुं दुःखं दुष्करं भवति, अतः कथमनभ्यर्थितस्तत्र गच्छामीति ?। ततः स्थविरैस्तस्य पुरतो महर्द्धिको राजा तस्य दृष्टान्तः कृतः । यथा-"एगो राया कत्तियपुण्णिमाए मरुयाणं दाणं देइ, एगो मरुगो चारसविज्जाठाणपारगो भोइयाए भणिओ. तुमं सव्वमरुगाहिवो, वच्च रायासमीवं, उत्तमं ते दाणं दाहिइ त्ति । सो मरुओ भणाइ-एगं ताव रायकिब्बिसं गिण्हामि, बिइयं अणिमंतिओ गच्छामि । जइ से पितिपितामहस्स अणुग्गहेण पओअणं, तो मं आगंतुं तत्थ नहिइ, इह ठियस्स वा मे दाहिइ। भोयाए भणिओ-तस्स अत्थि बहू मरुगा तुज्झ सरिच्छा अणुभाइकारिणा, जइ अप्पणो तद्दविणेण कज्जं तो गच्छ । जहा सो मरुओ अब्भत्थणं मग्गंतो इहलोइयाणं कामभोगाणं अणाभागी जाओ, एवं तुमं पि अब्भत्थणं मग्गंतो निज्जरालाहस्स अणाभागी भविस्ससि ॥" इत्थमुपालभ्य चतुर्गुरुकारोपणां सविस्तरां परितापनादिप्रायश्चित्तविस्तरयुक्तां तस्य प्रयच्छन्ति। गतमिच्छाकारद्वारम् ॥

(१२) अथाऽशक्तद्वारमाह-

किं काहामि वराओ, अहं खु ओमाणकारओ होहं ।
एवं तत्य भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

कोऽपि साधुः कुलगणस्थविरैस्तथैव पृष्टः प्राह-क्षमाश्रमण ! लोके यः सर्वथा अशक्तः पङ्गुप्रायः स वराक उच्यते । सोऽहं वराकस्तद्देशं गतः किं करिष्यामि ?, नवरमहं तत्र प्राप्तोऽवमानकारको भविष्यामि । एवं तत्र स्थविराणां पुरतो भणतस्तस्य चतुर्मासा गुरवो भवन्ति ।

स च स्थविरैरित्थमभिधातव्यः-

उव्वत्त खेल संथा-र जग्गणे पेस भाणधारणया ।
तस्स पडिजग्गयाण य, पडिलेहेउं पि असत्तो ॥

आर्य ! ग्लानस्योद्वर्तनमपि कर्तुं न शक्नोषि, एवं खेलमल्लकस्य भस्मना भरणं, भस्मपरिष्ठापनं वा, संस्तारकस्य रचनं, जागरणं रात्रौ प्रहरकप्रदानं, पेषणमौषधीनां चूर्णनं, भाजनधारणं सपानभोजनानां धारणं, तस्य ग्लानस्य प्रतिजागरकाणां च साधूनामुपधिमपि प्रत्युपेक्षितुमशक्तः ?, येनेदं ब्रवीषि-किं करिष्यामि वराकोऽहमिति ?।

(१३) अथ सुखितद्वारमाह—

सुहिया मो त्ति य भणती, अत्थह वीमत्थया सुहं सव्वे ।
एवं तत्थ भणंते, पायच्छित्तं भवे तिविहं ॥

एकत्र क्षेत्रे मासकल्पस्थितैः साधुभिः श्रुतम्-अमुकत्र ग्लान इति। तत्र केऽपि साधवो भणन्ति-ग्लानं प्रति जागरका व्रजामो वयम्। इतरः कोऽपि भणति-सुखितानस्मान् मा दुःखितान् कुरुत, यूयमपि सर्वे विश्वस्ता निरुद्विग्नाः सुखं सुखेन तिष्ठत। तत्र गत्वा मुधैव दुःखस्यात्मानं प्रयच्छामः । किं युष्माकमयं श्लोको न कर्णकोटरमुपागमत् ?। यथा " सर्वस्य कार्यकारी, स्वार्थविघाती परस्य हितकारी । सर्वस्य च विश्वासी, मूर्खोऽयं नाम विज्ञेयः ॥ १ ॥ " एवं तत्राप्रशस्यं भणतस्त्रिविधं प्रायश्चित्तं भवति । तद्यथा—यद्याचार्य एवं ब्रवीति ततश्चतुर्गुरु, उपाध्यायो ब्रवीति चतुर्लघु, भिक्षुर्ब्रवीति मासगुरु ।

(१४) अथापमानद्वारमाह-

भत्तादिसंकिलेसो, अवस्स अम्हे वि तत्थ न तरामो ।
काहिंति केत्तियाणं, ते तेणेव तेसु अद्दत्ता ॥
अम्हेहिँ तहिँ गएहिं, ओमाणं उग्गमाइणो दोसा ।
एवं तत्थ भणंते, चाउम्मासा भवे गुरुगा ॥

तथैव ग्लानं श्रुत्वा केचिद् भणन्ति-व्रजामो ग्लानप्रतिजागरणार्थम् । अपरे ब्रुवते-तत्रान्येऽपि ग्लानं श्रुत्वा बहवः प्रतिचरकाः समायाता भविष्यन्ति, ततो महान् भक्तपानादिसंक्लेशो भविता, अवश्यमसंदिग्धं वयमपि तत्र गता न तरामो न निर्वहामो ग्लानप्रतिचरणार्थमागतानां कियतां ते वास्तव्यविश्रामणादिप्राघूर्णककर्म करिष्यन्ति ?, यतस्ते तेनैव ग्लानेन तेषु कार्येषु अद्दत्ता आकुलीभूताः । तथा अस्माभिरपि तत्र गतैर्नियमादवमानम्, अवश्यमुद्गमदोषाश्चाधाकर्ममिश्रजातप्रभृतयः । आदिशब्दादेषणादोषाश्च भविष्यन्ति । एवं तत्र तेषां भणतां चत्वारो मासा गुरुका भवेयुः ।

(१५) अथ लुब्धद्वारमाह-

अम्हे सो निज्जरट्ठी, अत्थह तुब्भे वयं से काहामो ।
अत्थि य अभाविया णं, ते वि य णाहिंति काउण ॥

मासकल्पस्थितैः साधुभिः श्रुतम्-यथाऽमुकत्र ग्रामे ग्लानः संजातोऽस्ति । तच्च क्षेत्रं वसतिपानकगोरसादिभिः सर्वैरपि गुणैरुपेतं, ततस्ते लोभाभिभूतचेतसश्चिन्तयन्ति-ग्लानमन्तरेण न शक्यते क्षेत्रमिदं प्रेरयितुम् । अथो गच्छामो वयमिति चिन्तयित्वा तत्र गत्वा भणन्ति-वयं निर्जरार्थिनो ग्लानवैयावृत्यकरणेन कर्मक्षयमभिलषमाणा इहायाताः स्म, अतो यूयं तिष्ठत, वयं 'से' तस्य ग्लानस्य वैयावृत्यं करिष्यामः। सन्ति च अस्माकमभाविताः शैक्षाः, तेऽपि चास्मान् वैयावृत्यं कुर्वतो दृष्ट्वा ज्ञास्यन्ति ।

एवं गिलाणलक्खे-ण संठिया पाहुणा चि उक्कोसं ।
मग्गंता चमढंती, तेसिं चारोवणा चउहा ॥

एवं ग्लानसंबन्धि यद्द्रव्यं भिषं तेन तत्र संस्थिताः सन्तः प्राघूर्णका इतिकृत्वा लोकादुत्कृष्टं स्निग्धमधुरद्रव्यं लभन्ते। अथ न स्वयं लोकः प्रयच्छति, ततो मार्गयन्तः प्राघूर्णका वयमिति मिषेण च संज्ञापयमानास्तान् क्षेत्रं चमढयन्ति। चमढिते च क्षेत्रे ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते, ततस्तेषामियं चतुर्विधा आरोपणा कर्तव्या। तद्यथा-द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च।

(१६) प्रायश्चित्तम्। तत्र द्रव्यतस्तावदाह-

फासुगमफासुगे वा, अचित्तचित्ते परित्तऽणंते य।
असिणेह सिणेहकए, अणहाराहार लहु गुरुगा॥

क्षेत्रोद्वेजनादोषेण ग्लानप्रायोग्यमलभमाना यदि प्राशुकमवभाषन्ते, परिवासयन्ति वा, ततश्चत्वारो लघुकाः, अप्राशुकमवभाषन्ते, परिवासयन्ति वा, ततश्चत्वारो गुरुकाः। इह च प्राशुकमेषणीयमप्राशुकमनेषणीयम्। आह च निशीथचूर्णिकृत्-"इह फासुगं एसणिज्जं"। अचित्ते अवभाष्यमाणे, परिवास्यमाने वा चतुर्लघु, सचित्ते चतुर्गुरु, एवं परीत्ते चतुर्लघु, अनन्तके चतुर्गुरु, अस्नेहे चतुर्लघु, सस्नेहे चतुर्गुरु, अनाहारे चतुर्लघु, आहारे चतुर्गुरु। उक्तं द्रव्यनिष्पन्नं प्रायश्चित्तम्।

अथ क्षेत्रनिष्पन्नमाह-

लुद्धस्सऽब्भंतरतो, चाउम्मासा हवंति उग्घाता।
बहिया य अणुग्घाया, दव्वालंभे पसज्जणया॥

उत्कृष्टद्रव्यलोभेन क्षेत्रमुद्वेजयतो लुब्धस्य क्षेत्राभ्यन्तरतो ग्लानप्रायोग्ये अलभ्यमाने चत्वारो मासा उद्धाताः। क्षेत्रस्य बहिरलभ्यमाने एवं चत्वारो मासा अनुद्धाता गुरवः। अत्र च ग्लानप्रायोग्यस्य द्रव्यस्यालाभे प्रसज्जना प्रायश्चित्तस्य वृद्धिः प्राप्नोति।

कथमित्याह-

खेत्तबहि अद्धजोअण, वुड्ढी दुगुणेण जाव बत्तीसा।
चउगुरुगादी चरिमं, खित्ते .... ॥

क्षेत्राद्बहिरर्द्धयोजनं गत्वा ततो यदि ग्लानप्रायोग्यं द्रव्यमानयति तदा चतुर्गुरवः। एवं योजनादानयति षट् लघवः। योजनद्वयादानयति षट् गुरवः। योजनचतुष्टयादानयति छेदः। योजनाष्टकादानयति तदा मूलम्। योजनषोडशकादानयति अनवस्थाप्यम्। द्वात्रिंशद्योजनानि गत्वा ग्लानप्रायोग्यमानयति पाराञ्चिकम्। अत एवाह-क्षेत्रबहिरर्द्धयोजनादारभ्य द्विगुणेन परिमाणेन क्षेत्रस्य वृद्धिस्तावत् कर्तव्या यावद् द्वात्रिंशद्योजनानि। एषु च चतुर्गुरुकादिकं चरमं पाराञ्चिकं यावत्प्रायश्चित्तम्। इत्थं क्षेत्रविषयं प्रायश्चित्तमुक्तम्॥ बृ० १ उ०।

(१७) सचित्ताऽचित्तचिकित्सा-

तिविहे तेगिच्छम्मी, उज्जुय वाउलणमाहणा चेव।
पन्नवणमणिच्छंते, दिट्ठंतो भंडिपोएहिं॥

त्रिविधे त्रिप्रकारे आचार्योपाध्यायभिक्षुलक्षणे चिकित्स्ये चिकित्स्यमाने, गीतार्थे इति गम्यते। ऋजुकं स्फुटमेव, व्यापृतनसाधना व्यापृतक्रियाकथनम्। इयमत्र भावना-आचार्याणामुपाध्यायानां गीतार्थानां च भिक्षूणां चिकित्स्यमानानां यदि शुद्धं प्राशुकमेषणीयं न लभ्यते, तदा न तत्र विचारः। अथ प्राशुकमेषणीयं न लभ्यते, अथवा अवश्यं चिकित्सा कर्तव्या, तदा अशुद्धमप्यानीयते, तथाभूतं चानीय दीयमानं स्फुटमेव कथनीयम्-इदमेवंभूतमिति गीतार्थत्वेनापरिणामदोषस्य चासंभवात्। अगीतार्थस्य पुनर्भिक्षोः शुद्धालाभे चिकित्सामशुद्धेन कुर्वन्तो मुनिवृषभा यतनया कुर्वन्ति, न चाऽऽशुद्धं कथयन्ति। यदि पुनः कथयन्ति, अयतनया वा, तदा सोऽपरिणामित्वात् अनिच्छन् अनागाढादिपरितापनमनुभवति, तन्निमित्तं प्रायश्चित्तमापतति मुनिवृषभाणाम्। यद्वा-अतिपरिणामतया सोऽतिप्रसङ्गं कुर्यात् तस्मान्न कथनीयं, नाप्ययतना कर्तव्या। अथ कथमपि तेनागीतार्थेन भिक्षुणा ज्ञातं भवति। यथा-अकल्पिकमानीय मह्यं दीयते, तदा तस्मिन्नेच्छति अगीतार्थे भिक्षौ प्रज्ञापना क्रियते। यथा-ग्लानार्थं यदकल्पिकमपि यतनया सेव्यते, तत्र शुद्धो ग्लानो यतनया प्रवृत्तेरलीयान् दोषोऽशुद्धग्रहणात् सोऽपि पश्चात्प्रायश्चित्तेन शोधयिष्यते। एवंरूपा च प्रज्ञापना क्रियते तरुणे दीर्घायुषि। यस्तु वृद्धस्तरुणो वाऽतिरोगग्रस्तो चिकित्सनीयः स भक्तप्रत्याख्यानं प्रति प्रोत्साह्यते। यदि पुनः प्रोत्साह्यमानोऽपि न प्रतिपद्यते, तदा भण्डीपोताभ्यां दृष्टान्तः कर्तव्यः।

संप्रति भण्डीपोतावेव दृष्टान्तावाह-

जा एगदेसे अदढा उ भंडी, सा लिप्पए सा उ करेइ कज्जं।
जा दुब्बला संठविया वि संती, न तं तु सीलंति विसन्नदारुं॥
जो एगदेसे अदढो उ पोतो, सो लिप्पते सो उ करेइ कज्जं।
जो दुब्बलो सो ठवितो वि संतो, न तं तु सीलंति विसन्नदारुं॥

वृत्तद्वयमपि कण्ठ्यम्।

एसेव गमो नियमा, समणीणं दुगविवज्जितो होइ।
आयरियादीण जहा, पवित्तिणिमादीण वि तहेव॥

यो गमोऽनन्तरमूलसूत्रादारभ्य श्रमणानामभिहितः, एष एव गमो नियमात् संयतीनामपि वक्तव्यः। किमविशेषेण?, नेत्याह-द्विकवर्जितः-पाराञ्चितानवस्थाप्यलक्षणद्विकवर्जितो भवति वक्तव्यः, तदापत्तावपि तासां तयोर्दानाभावात्। उपलक्षणमेतत्-परिहारतपः तासां न भवति। यथा च आचार्यादीनां त्रिविधो भेद उक्तस्तथा प्रवर्तिन्यादीनामपि त्रिविधो भेदोऽवसातव्यः। तद्यथा-प्रवर्तिनी, गणावच्छेदिनी, भिक्षुकी च। तत्राचार्यस्थानीया प्रवर्तिनी, उपाध्यायस्थानीया गणावच्छेदिनी, भिक्षुस्थानीया भिक्षुकी च। तदेवं मूलसूत्रादारभ्य यत् प्रकृतं तत् परिसमाप्तम्। व्य० १ उ०। नि० चू०॥

.... काले इमं होइ।

काले कालविषयमिदं वक्ष्यमाणं भवति।

तत्र तावत्प्रकारान्तरेण क्षेत्रनिष्पन्नमेवाह—

अंतो बहिं न लब्भइ, ठवणफासुग महयमुच्छकिच्छ कालगए।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च॥

क्षेत्रस्यान्तर्वा बहिर्वा ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते इतिकृत्वा प्राशुकस्य स्थापनां परिवासनां करोति चतुर्लघु, तेन परिवासितेन भक्तेन ग्लानो यद्यनागाढं परिताप्यते ततश्चतुर्गुरुकं, महतीं दुःखासिकामाप्नोति षड्लघु, मूर्छायां षड्गुरु, कृच्छ्रप्राणे छेदः, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलं, समवहते मारणान्तिकसमुद्घातं कुर्वाणे ग्लाने अनवस्थाप्यं, कालगते पाराञ्चिकम्।

अथ कालनिष्पन्नं प्रायश्चित्तमाह-

पढमं राइ ठविते, गुरुगा बिइयादिमत्तहिं चरिमं।

परितावणाइभावे, अप्पत्तियकूयणाईया ।

प्रथमां रात्रिं परिवासयतश्चतुर्गुरुकाः, द्वितीयां रात्रिमादौ कृत्वा सप्तमी रात्रिमभिश्चरमम् । तद्यथा-द्वितीयां रजनीं परिवासयति षट् लघवः,तृतीयस्यां षट् गुरवः,चतुर्थ्यां छेदः, पञ्चम्यां मूलं,षष्ठ्यामनवस्थाप्यम्,सप्तम्यां पाराञ्चिकम् । अथ भावनिष्पन्नमाह-"परितावणाइ" इत्यादि पश्चार्द्धम् । परितापनादिभावनिष्पन्नं मन्तव्यम् । तथा स परितापितः सन्नप्रीतिकं करोति चतुर्लघु, कूजनं सशब्दाक्रन्दनम, आदिग्रहणादनाथोऽहं, न किमप्यमी मह्यं प्रयच्छन्तीत्येवमुड्डाहं कुर्यात तत्रश्चतुर्गुरुकम् ।

अथ परितापनादिपदं व्याख्यानयति-

अंतो बहिं न लब्भइ,परितावणमहयमुच्छकिच्छकालगए ।

चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥

क्षेत्रस्यान्तर्बहिर्वा न लभ्यते इतिकृत्वा ग्लानस्यानागाढा परितापना भवति चतुर्लघु, आगाढपरितापनायां चतुर्गुरु, दुःखाद्दुःखे षड्लघु, मूर्च्छामूर्च्छे षड्गुरु, कृच्छ्रप्राणे छेदः, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलं, समवहते अनवस्थाप्यं, कालगते पाराञ्चिकम् । एवं तावदाहारविषयमुक्तम् ।

अथोपधिविषयमभिधीयते-

अंतो बहिं न लब्भइ, संथारगमहयमुच्छकिच्छकालगए ।

चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥

अतिचमढिते क्षेत्रे अन्तर्वा बहिर्वा संस्तारको न लभ्यते, ततो ग्लानस्यानागाढपरितापनादिषु चतुर्लघुकादिकं तथैव प्रायश्चित्तं द्रष्टव्यम् ।

अत्र परिष्ठापनापदं समुद्घातपदं च गाथायां साक्षान्नोक्तं ततो मा भून्मुग्धविनेयवर्गस्य व्यामोह इतिकृत्वा साक्षादभिधानार्थमिमां गाथामाह-

परितावमहादुक्खे, मुच्छामुच्छे य किच्छपाणगते ।

किच्छुस्सासे य तहा, समुघए चेव कालगते ॥

गतार्था । उक्तं लुब्धकद्वारम् । बृ० १ उ० । नि० चू० ।

(१८) अथानुवर्त्तनाद्वारमाह-

अणुयत्तणा गिलाणे, दव्वट्ठा खलु तहेव वेजट्ठा ।

असती इ अन्नओ वा, आणेउं दोहि वी कुज्जा ॥

ग्लानप्रायोग्यं यत् भक्तपानादि द्रव्यं, स एवार्थः प्रयोजनं द्रव्यार्थस्तमुत्पादयद्भिर्ग्लानस्यानुवर्त्तना कर्त्तव्या (तहेव वेजट्ठ त्ति) तथैव वैद्यस्यार्थमुत्पादयद्भिर्ग्लानस्यानुवर्त्तना विधेया । यदि स्वग्रामे द्रव्यवैद्ययोरभावस्ततोऽन्यग्रामादपि द्रव्यवैद्यावानीय द्वाभ्यामप्यनुवर्त्तनां कुर्यात् ।

अथैनामेव गाथां व्याचिख्यासुराह-

जायंते उ अपत्थं, भणंति जायाम तं न लब्भइ णे ।

विणियट्टणा अकाले, जा वेल न विंति उ न देमो ॥

ग्लानो यदपथ्यं द्रव्यं याचते ततः साधवो भणन्ति-वयं याचामः, परं किं कुर्महे नवतामभिप्रेतं भूयो भूयः पर्यटद्भिरपि न लभ्यते 'णे' अस्माभिः, इत्थं भणद्भिर्ग्लानोऽनुवर्तितो भवति । यद्वा ग्लानस्याग्रतः पात्रकाद्युद्ग्राह्य प्रतिश्रयान्निर्गत्यापान्तरालपथाद्विनिवर्त्तनं प्रत्यागमनं कुर्वन्ति, तस्य पुरतश्चेत्थं ब्रुवते-वयं गता अभूम परं न लब्धम्, अकाले वा गत्वा याचन्ते तेन न लभ्यते, अकाले च याचमानं ग्लानं ब्रुवते-यावद्वेला भवति तावत्प्रतीक्षस्व, ततो वयमानीय दास्याम इति । न पुनर्ब्रुवते-न दद्मः वयमिति ।

अथ क्षेत्रे ग्लानस्यानुवर्त्तनामाह-

तत्थेव अन्नगामे, वुच्छंतरऽसंथरंत जयणाए ।

संथरणेसणमादि, छन्नं कमजोगि गीयत्थे ॥

प्रथमतस्तत्रैव ग्रामे प्रायोग्यमन्वेषणीयम् , तत्र यदि न लभ्यते तदा अन्यग्रामेऽपि, अथासावन्यग्रामो दूरतरस्ततो (बुच्छंतर त्ति) अन्तराले अपान्तरालग्रामे उषित्वा द्वितीये दिने आनयन्ति, अथैवमप्यसंस्तरणं भवति, ततः (संथरंतजयणाए त्ति) अकारप्रश्लेषादसंस्तरतो ग्लानस्यार्थाय यतनया पञ्चकपरिहाण्या गृह्णन्ति । अथ ग्लानार्थे व्यापृतानां परिचारकाणां संस्तरणं तत (एसणमाइ त्ति) एषणादोषेषु, आदिशब्दादुद्गमादिदोषेषु च,पञ्चकपरिहाण्या यतितव्यम् । अथ प्रतिदिवसं ग्लानप्रायोग्यं न लभ्यते ततश्छन्नमप्रकटं कृतयोगी, गीतार्थो वा तत् प्रायोग्यं द्रव्यं परिवासयन्ति । यथाकल्पितच्छेदश्रुतार्थः प्रत्युच्चारणासमर्थः कृतयोगी, यस्तु च्छेदश्रुतार्थं श्रुत्वा प्रत्युच्चारयितुमीशः स गीतार्थ उच्यते । एष द्वारगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवरीषुराह—

पमिलेह पोरसीओ, वि अ कालं मग्गणा उ सग्गामे ।

खित्तंतो तद्दिवस, असइ विणासे व तत्थ वसे ॥

अपिशब्दः संभावनायाम, यदि सुलभं द्रव्यं ततः प्रत्युपेक्षणां, सूत्रार्थपौरुष्यौ च कृत्वा स्वग्रामे अनवभाषितस्य मार्गणा कर्त्तव्या, अथैवं न लभ्यतेऽतोऽर्थपौरुषीं हापयित्वा, यदेवमपि न लभ्यते, ततः सूत्रपौरुषीं परिहाप्योत्पादनीयम् । अथ तथापि न लभ्यते, दुर्लभं वा तत् द्रव्यं, ततः प्रत्युपेक्षणां, द्वे अपि च पौरुष्यौ अकृत्वा स्वग्रामे अनवभाषितं मार्गयन्ति, स्वग्रामे अनवभाषितं न लभ्यते, ततः क्षेत्रान्तः सक्रोशयोजनक्षेत्राभ्यन्तरे परग्रामे पौरुषीद्वयमपि कृत्वा अनवभाषितमुत्पादयन्ति;अथाप्यर्थपौरुष्यादिहापना तथैव द्रष्टव्या । अथ तत्राप्यनवभाषितं न लभ्यते, ततः स्वक्षेत्रस्वग्रामयोरवभाषितमुत्पाद्य तद्दिव समानयन्ति, अथ स्वक्षेत्रे तद्दिवसं न प्राप्यते, ततः परक्षेत्रादपि तद्दिवसमानेतव्यम् । अथ क्षेत्रबहिर्वर्त्तिनो यतो ग्रामादेरानीयते तत्र प्रत्यासन्नं, किं तु दूरतरं, न तद्दिवसं न प्राप्यते, ततः परक्षेत्रादपि तद्दिवसप्रानेतव्यम् । अथ क्षेत्रबहिर्वर्त्ति प्रत्यायातुं शक्यते, विनाशि वा तद् द्रव्यं दुग्धादिकं, ततः प्रत्यासन्नग्रामस्यासति, विनाशिनि वा द्रव्ये गृहीतव्ये अपराह्णे गत्वा तत्र रात्रौ वसेत्, उषित्वा च सूर्योदयवेलायां गृहीत्वा द्वितीये दिने तत्रानयन्ति । अथ दवीयतरं तत् क्षेत्रम्, अविनाशि द्रव्यं च, ततोऽपान्तरालग्रामे रजन्यामुषिताः सूर्योदये तत्र गत्वा तद् द्रव्यं गृहीत्वा भूयः समागच्छन्ति ।

एतदेवाह-

खित्तबहिया व आणे,विसोहिकोर्डिं च तिन्नितो काढे ।

पइदिवसमलब्भंते, कम्मं समइच्छिओ ठवए ॥

क्षेत्रबहिर्वा गत्वा प्रथममनवभाषितं ततोऽवभाषितं पूर्वे तद्दिवसे अनन्तरोक्तया नीत्या यथायोगमानयेत् । एष विधिरेषणी-

यत्रिविषयो भणितः। अथैषणीयेन नासौ ग्लानः संस्तरति ततः सक्रोशयोजनक्षेत्रस्यान्तः स्वग्रामपरग्रामयोः पञ्चकपरिहाण्या तदप्राप्तौ क्षेत्रबहिरपि पञ्चकपरिहाण्या तद्दिवसं ग्लानप्रायोग्यमुत्पादयन्ति। एवं यदा प्रायश्चित्तानुलोम्येन क्रीतकृताभ्यां हृतादिकां विशोधिकोटिमतिक्रान्तो भवति, तदा (काढे त्ति) ग्लानप्रायोग्यमौषधादिकमन्येन स्वयं वा यतनया क्वाथयेत्। एवं प्रतिदिवसमलभ्यमाने यदा आधाकर्मापि समतिक्रान्तः, तदपि तद्दिवसं न प्राप्यत इत्यर्थः। ततो विशुद्धमविशुद्धं वा ग्लानप्रायोग्यं द्रव्यमुत्पाद्य स्थापयेत् परिवासयेत्, ये तु ग्लानस्य प्रतिचरकास्ते यदि ग्लानकार्यव्यापृताः परक्षेत्रं वा व्रजन्तः स्वार्थमहिण्डमाना न संस्तरन्ति, तत एषणादिदोषेषु पञ्चकपरिहाणियतनया गृह्णन्ति।

यत्तु ग्लानार्थं परिवास्यते तत् कीदृशे स्थाने स्थाप्यते इति ?। आह–

अव्वरगस्स उ असती, चिलिमिलि उभयं च जह न नो पासे।
तस्सऽसइ पुराणादिसु, ठविंति तद्दिवस पडिलेहा ॥

कृतयोगिना, गीतार्थेन वा तदन्यस्मिन् गृहापवरके स्थापनीयम्। अथ नास्ति पृथगपवरकः, ततो वसतावेव योऽपरिभोग्यकोणकस्तत्र चिलिमिलिकया आवृत्य उभयं ग्लानागीतार्थलक्षणं यथा न पश्यति तथा स्थाप्यम्, यदि ग्लानस्तत्पश्यति तदा स यदा तदा तस्याभ्यवहारं कुर्यात्। अगीतार्थस्य तु तत् दृष्ट्वा विपरिणामप्रत्ययादयो दोषा भवेयुः। (तस्सऽसइ त्ति) तस्यापरिभोग्यस्थानस्याभावे पुराणः पश्चात्कृतः तस्य गृहे, आदिशब्दात् मातापितृसमानेषु स्थापयन्ति, तस्य च तद्दिवसं प्रत्युपेक्षणा कर्त्तव्या।

तद्दिवसं नाम प्रतिदिनम्। यदुक्तं देश्याम्–" तद्दिवसं अणुदिअहे इत्तिअए अण्णे उ दोहि वी कुज्जा। " इत्यस्य व्याख्यानमाह–

फासुगमफासुगेण च, अचित्तेतर परित्तऽणंतेणं।
आहार तद्दिणेतर, सिणेह इयरेण वा करणं ॥

प्रासुकेन, अप्रासुकेन वा, अचित्तेन, इतरेण वा सचित्तेन, अनन्तेन वा, आहारेण अनाहारेण वा तद्दैवसिकेन, इतरेण वा परिवासितेन, सस्नेहेन, इतरेण वा अस्नेहेन, ग्लानस्य चिकित्सायाः करणमनुज्ञातम्। गता ग्लानानुवर्त्तना। बृ० १ उ०। कल्प०। ओघ०। पं० चू०।

(१६) अथ वैद्यानुवर्त्तनामभिधित्सुः प्रस्तावनां रचयन्नाह–

विज्जं न चेव पुच्छह, जाणंता विंति तस्स उवदिट्ठं।
पिलगाइएसु च तहा अजाणगा पुच्छए विज्जं ॥

ग्लानो ब्रूयात् यूयं वैद्यं नैव पृच्छथ, आत्मच्छन्देनैव प्रतिकरणं कुरुथ। ततो यदि ते साधवो जानन्तः चिकित्सायां कुशलास्ततो ब्रुवन्ति–अस्माभिर्वैद्यः प्रागेव पृष्टस्तस्यैवायमुपदेश इति। यद्वा–प्रतिश्रयाद्विनिर्गत्य कियन्तमपि भूभागं गत्वा मुहूर्त्तमात्रं तत्र स्थित्वा समागत्य ब्रुवते अयं वैद्येनोपदेशो दत्त इति। पिलगं गण्डकः, आदिग्रहणेन शीतलिका, दुष्टवातो वेत्यादिपरिग्रहः। एतेष्वपि यदि ज्ञास्ततः स्वयमेव कुर्वन्ति, अथाऽज्ञास्ततो ' विज्जं ' वैद्यं पृच्छन्ति।

अत्र शिष्यः पृच्छति–

किह उप्पन्नो गिलाणो, अट्ठम उण्होदगाइया वुड्ढी।
किंचि वहु भागमद्धे, ओमे जुत्तं परिहरंते ॥

कथं केन हेतुना ग्लान उत्पन्न इति ?। सूरिराह–भूयांसः खलु रोगातङ्का यद्वशाद् ग्लानत्वमुपजायते, "तच्चुप्पत् त्रीणि शुष्यन्ति, चक्षूरोगो ज्वरो व्रणः" इति वचनात्। यदि ज्वरादिको विशेषेण साध्योऽन्यरोगतः ततो जघन्येनाप्यष्टमं कारयितव्यः। यच्च यस्य रोगस्य पथ्यं तत्तस्य कार्यम्। यथा–वातरोगिणो घृतादिपानं, पित्तरोगिणः शर्करादुग्धयोजनं, श्लेष्मरोगिणो नागरादिग्रहणमिति। (उण्होदगाइया वुड्ढि त्ति) उपवासं कर्तुमसहिष्णुर्यदि रोगेणामुक्तः पारयति, तत एष क्रमः–उष्णोदकं प्रक्षिप्य कूरसिक्थानि अमिलितानि, ईषन्मिलितानि वा सप्त दिनानि, एकं वा दिनं दीयन्ते, ततः किञ्चित् उष्णोदकेन मधुरोल्लवणं स्तोकं प्रक्षिप्य तेन सहौदनं द्वितीये द्वितीयसप्तके दिने वा दीयते, एवं तृतीये (बहु त्ति) बहुतरं मधुरोल्लवणं उष्णोदके प्रक्षिप्य दीयते। (भागे त्ति) चतुर्थे त्रिभागो मधुरोल्लवणस्य, द्वौ भागावुष्णोदकस्य (अद्धे त्ति) पञ्चमे अर्द्धं मधुरोल्लवणस्य, अर्द्धमुष्णोदकस्य। षष्ठे (ओमे) त्रिभाग उष्णोदकस्य, द्वौ भागौ मधुरोल्लवणस्य, सप्तमे सप्तके दिने वा युक्तं किञ्चिन्मात्रं उष्णोदकं, शेषं तु सर्वमपि मधुरोल्लवणमित्येवं दीयते। तदनन्तरं द्वितीयाङ्करपि सहापथ्यान्यवगाहिमादीनि परिहरन् समुद्दिशति यावत्पुरातनमाहारं परिणमयितुं समर्थः संपन्नः, एवं उष्णोदकादिवृद्धिर्द्रष्टव्या। इह च सर्वोऽप्येकं दिनं बृहद्भाष्याभिप्रायेण, दिनसप्तकं तु चूर्ण्यभिप्रायेणेति मन्तव्यम्।

अथ ' अट्ठम त्ति ' पदं व्याख्यानयन्नाह–

जाव न मुक्के ता अण–सणं तु मुक्के वि जा अभत्तट्ठो।
असहुस्स अट्ठ छट्ठं, नाऊण रुयं च जं जोग्गं ॥

यावदसौ ज्वरचक्षूरोगादिना रोगेण न मुक्तस्तावदनशनमभक्तार्थलक्षणं कर्त्तव्यं, मुक्तेनाऽपि चैकं दिवसमभक्तार्थो विधेयः। अथासावसहिष्णुस्ततोऽष्टमं वा षष्ठं करोति, ज्ञात्वा रुजं रोगविशेषं यदेव योग्यं शोषणमशोषणं वा तत्र कार्यम्, यद्येवं कुर्वाणेनासौ रोग उपशाम्यति ततः सुन्दरम्।

(२०) अथ नोपशाम्यति ततः को विधिरिति ?, आह–

एवं पि कीरमाणे, विज्जं पुच्छे अठायमाणम्मि।
विज्जाण अट्ठगं दो, अणिड्ढि इड्ढीअणिड्ढियरे ॥

एवमपि क्रियमाणे यदि रोगो न तिष्ठति नोपशाम्यति ततस्तस्मिन्नतिष्ठति वैद्यं पृच्छन्ति। अथ कियन्तो वैद्या भवन्तीति ?। आह–वैद्यानां एतच्चाष्टकं मन्तव्यं, तत्र द्वौ वैद्यौ नियमादनृद्धिकौ ऋद्धिरहितौ, इतरे षट् वैद्या ऋद्धिमन्तोऽनृद्धिमन्तो वा।

तदेव वैद्याष्टकं दर्शयति–

संविग्गमसंविग्गे, दिट्ठत्थे लिंगि सावए सण्णी।
अस्सण्णि इड्ढि गइरा–गई य कुसलेण तेगिच्छं ॥

संविग्न उद्यतविहारी १ असंविग्नस्तद्विपरीतः २, लिङ्गविशेषमात्रः ३, श्रावकः प्रतिपन्नाणुव्रतः ४, संज्ञी अविरतसम्यग्दृष्टिः ५, असंज्ञी मिथ्यादृष्टिः ६। स च त्रिधा–अन्येन गृहीतमि-

ग्यादृष्टिः ७, अभिग्रहीतमिथ्यादृष्टिः ८, परतीर्थिकश्चेति ९। (दिट्ठत्थे य त्ति) दृष्ट उपलब्धो अर्थः छेदश्रुताभिधेयरूपो येन स दृष्टार्थो, गीतार्थ इत्यर्थः। एतत्पदं सप्रतिपक्षमत्र सर्वत्र योजनीयम् । तद्यथा-यः संविग्नः स गीतार्थो वा स्यादगीतार्थो वा। एवमसंविग्नादिलिङ्गस्थश्रावकसाङ्क्षिष्वपि गीतार्थमगीतार्थत्वं च द्रष्टव्यम, तथा चूर्णिकृता व्याख्यातत्वात् । अनभिगृहीतादयस्तु त्रयोऽपि नियमादगीतार्थाः । (इड्ढि त्ति) संविग्नासंविग्नौ नियमादनृद्धिकौ, शेषास्तु ऋद्धिमन्तो वा अनृद्धिमन्तो वा भवेयुः। सर्वेऽपि चैते प्रत्येकं द्विधा-कुशला अकुशलाश्च, गत्यागतिर्विचारणिका, सा चामीषां कर्त्तव्या । तद्यथा-प्रथमं संविग्नगीतार्थेन चिकित्साकर्म कारयितव्यम, अथासौ न लभ्यते ततोऽसंविग्नगीतार्थेन, तदप्राप्तावसंविग्नागीतार्थेनाऽपि । एवं लिङ्गस्थादिष्वपि संज्ञिपर्यन्तेषु भावनीयम, तेषां संप्राप्तौ पूर्वमनभिगृहीतमिथ्यादृष्टिना,ततोऽभिगृहीतमिथ्यात्वेन, तदनन्तरं परतीर्थिकेनापि कारयितव्यम। एते च पूर्वमनृद्धिमन्तो गवेषणीयाः,न ऋद्धिमन्तः, तदीयगृहेषु प्रवेशतया बहुदोषसद्भावात् एवं ते च यदि चिकित्साकुशला भवन्ति तत इत्थं क्रमः प्रतिपत्तव्यः-संविग्नगीतार्थः सोऽकुशलो, यस्त्वसंविग्नगीतार्थः स कुशलः, ततः संविग्नगीतार्थं परित्यज्यासंविग्नगीतार्थेन कारणीयः एवं बहूष्वप्यपान्तराले परित्यज्य यः कुशलस्तेन चैकित्स्यं कारयितव्यम्। एषा गत्यागतिः प्रतिपत्तव्या। यद्वा-(इड्ढिगइरागइ त्ति) ऋद्धिमति गत्यागतौ कुर्वाणे महदधिकरणं भवति, अतोऽनृद्धिना कारयितव्यम । नचैतत् स्वमनीषिकाविजृम्भितम । यत आह विशेषचूर्णिकृत्-" अह वा गइरागइ त्ति, इड्ढिमंताण इंतजंताणं अहिगरणदोसा, तम्हा अणिड्ढिणा कारेयव्वं ति " ॥

अमुमेवार्थमपराचार्यपरिपाट्या दर्शयति-

संविग्गेतर लिंगी, वइअवइअणागाढआगाढे ।
परउत्थिय अट्ठमए, इड्ढी गइरागई कुसले ॥

संविग्नः१,इतरश्चासंविग्नः २, लिङ्गी चेति त्रयोऽपि प्राग्वत् ३, व्रती प्रतिपन्नाणुव्रतः ४, अव्रती अविरतसम्यग्दृष्टिः ५, अनागाढोऽनभिगृहीतदर्शनविशेषः ६, आगाढोऽभिगृहीतमिथ्यादर्शनः ७, परयूथिकः शाक्यपरिव्राजकादिरष्टमः ८।

"इड्ढीगइरागई कुसले त्ति" व्याख्यानार्थमनन्तरोक्तक्रमविपर्यासे प्रायश्चित्तमाह—

वोच्चत्थे चउ लहुगा, अगियत्थे चउरो मासऽणुग्घाया ।
चउरो य अणुग्घाया, एवमकुसलेण करणं तु ॥

संविग्नं गीतार्थं मुक्त्वा असंविग्नगीतार्थेन कारयति,एवमादिविपर्यस्तकरणे चत्वारो लघवः, गीतार्थं मुक्त्वा अगीतार्थेन कारयति चत्वारो मासा अनुद्घाताः, कुशलं विहायाऽकुशलेन कारयति चत्वारोऽनुद्घाता मासाः, यत एवमतः कुशलेन चिकित्साकारणमनुज्ञातम ।

(२१) अथ वैद्यसमीपं गच्छतां विधिमभिधित्सुराह-

चोयगपुच्छागमणे, पमाणउवगरणसउणवावारे ।
संगारो य गिहीणं, उवएसो चेव तुलणा य ॥

प्रथमतो नोदकपृच्छा वक्तव्या,ततो गमनं वैद्यसकाशे साधूनां, ततस्तेषामेव प्रमाणं,तत उपकरणं,ततः शकुनाः,तदनन्तरं वैद्यस्य व्यापारः प्रशस्ताप्रशस्तरूपः,ततः संगारः संकेतो गृहिणां पश्चात्कृतादीनां यथा कर्त्तव्यः, ततो वैद्येनौषधादिविषय उपदेशः, यथा दीयते, ततस्तमुपदेशं श्रुत्वा यथा स्वयं तुलना कर्त्तव्या। तदेतत्सर्वमपि वक्तव्यमिति द्वारगाथासमासार्थः।

अथ विस्तरार्थः प्रतिपाद्यते, तत्र प्रथमं नोदकपृच्छाद्वारं शिष्यः पृच्छति-किं ग्लानो वैद्यसमीपं नीयताम ?, अथ वैद्य एव ग्लानसकाशमानीयताम् ? । अत्र कश्चिदाचार्यदेशीयः प्रतिवचनमाह-

पाहुडिय त्ति य एगो, नेयव्वो गिलाणु एव विज्जघरं ।
एवं तत्थ भणंते,चाउम्मासा हवे गुरुगा ।

एकः कश्चिदाह-वैद्ये ग्लानान्तिकमानीयमाने प्राभृतिका वक्ष्यमाणलक्षणा भवति, अतो ग्लान एव वैद्यगृहं नेतव्यः। इत्थमाचार्यदेशीयेनोक्ते सूरिराह-एवं तत्र ग्लाननयनविषये भणतो भवतश्चत्वारो मासा गुरुका भवन्ति ।

केयं पुनः प्राभृतिकेति ?, अत आह-

रहहत्थिजाणतुरए, अतुरंगाईहि इत्ति कायवहो ।
आसण मट्टिय उदए, कुरुकुय सघरे उ परजोग्गो ॥

रथहस्तिनौ प्रतीतौ, यानं शिबिकादि, तुरगः प्रसिद्धः, अतुरङ्गा गन्त्री,एतैरादिशब्दादपरेण वा विकुर्देनायाति आगच्छति वैद्ये कायानां पृथिव्यादीनां वधो भवति। तथा समायातस्यासनं दातव्यं,ग्लानस्य च शरीरे परामृष्टे व्रणादिपाटने वा कृते कुरुकुचाकारापणे मृत्तिकाया उदकस्य च वधो भवति, स्वगृहे तु परयोगेण सर्वमपि भवति, न साधूनां किमप्यधिकरणं भवतीत्यर्थः ।

एषा प्राभृतिका वैद्ये ग्लानसमीपमानीयमाने यतो भवति
अतः किमिति ?, आह-

लिंगत्थमाइयाणं,छण्हं वेज्जाण गम्म उम्मूलं ।
संविग्गमसंविग्गे, उवस्सगं चेव आणेज्जा ॥

लिङ्गस्थादीनां षण्णामपि वैद्यानां गृहं ग्लानं गृहीत्वा गम्यताम, नैते उपाश्रयमानेतव्याः, अधिकरणदोषभयात् । संविग्नोऽसंविग्नश्च एतौ द्वावप्युपाश्रयमेवानयेत, दोषाभावात् ।

एवं परेणोक्ते सूरिराह-

वातातवपरितावण, मयपुच्छा सुण्ण किमु मरणकुमी ।
स चेव य पाहुडिया, उवस्सए फासुया सा उ ॥

ग्लानो वैद्यगृहं नीयमानो वातेनाऽऽतपेन च महतीं परितापनामनुभवति (मयपुच्छ त्ति)लोकः तं तथा नीयमानं दृष्ट्वा पृच्छति-किमेष मृतो यदेवं नीयते ?, (सुण्णे त्ति) स ग्लानो नीयमानोऽपान्तराले अपद्राणः, ततो वैद्येन यावत् मुखमुद्घाटितं तावत् शून्यं जीवरहितं शवं तिष्ठतीति विज्ञाय ब्रूयात् किं मदीयं गृहं श्मशानकुटी यदेनं मृतमानयत?। ततः स वैद्यः शवस्य स्पृष्टोऽहमिति कृत्वा सचेलः स्नायात् , फलहकाद्यन्तरे वा छगणपानीयं दापयेत, ततो न तु सैव प्राभृतिका समधिकतरा भवेत, उपाश्रये पुनः प्राशुकपानकादिना सा क्रियते तेनोत्का विराधना भवतीति । गतं नोदकपृच्छाद्वारम ।

(२२) अथ गमनद्वारमाह-

उग्गहधारणकुसले, दक्खे परिणामए य पियधम्मे ।

कालन्नू देसन्नू, तस्साणुमए अ पेसिज्जा ॥

वैद्येन दीयमानमुपदेशं ये झगित्येवावबुध्यन्ते,न चिरादपि विस्मारयन्ति,ते अवग्रहधारणाकुशलाः,तान्, तथा दक्षान् शीघ्रकारिणः, परिणामकान्यथास्थानमपवादपदपरिणमनशीलान् प्रियधर्म्मणो धर्मश्रद्धालून्, कालज्ञान् वैद्यान्तिके प्रविशतो यः कालः प्रस्तावस्तद्वेदिनो, देशज्ञान् यत्र प्रदेशे वैद्य उपविष्टस्तं प्रशस्तमप्रशस्तं वा ये जानते, तान्, तथा तस्य ग्लानस्य वैद्यस्य वा ये अनुमता अभिप्रेतास्तान् वैद्यसकाशं प्रेषयेत् ।

अत्रैव व्यतिरेकप्रायश्चित्तमाह–

एअगुणविप्पमुक्के, पेसिंतस्स चउरो अणुग्घाया ।
गीयत्थेहि य गमणं, गुरुगा य इमेहिँ ठाणेहिँ ॥

एते अवग्रहधारणाकुशलत्वादयो ये गुणास्तैर्विमुक्तान् प्रेषयत आचार्यस्य चत्वारो अनुद्घाताः प्रायश्चित्तम् । गीतार्थैश्च तत्रागमनं कर्त्तव्यं, चतुर्गुरुकाश्च प्रायश्चित्तमेभिर्वक्ष्यमाणैर्मन्तव्यम् ।

(२३) तान्येवाभिधित्सुः प्रमाणोपकरणद्वारद्वयमाह–

एकग दुगं चउक्कं, दंमो दूया तहेव नीहारी ।
किण्हे नीले मइले, चोल्ल रय निसज्ज मुहपत्ती ।

यद्येकः साधुर्वैद्यसमीपे प्रेष्यते ततः स वैद्यो यमदण्डोऽयमागत इति दुर्निमित्तं गृह्णीयात्, अथ द्वौ प्रेष्येते ततो यमदूताविवतौ मन्येत, अथ चत्वारः प्रेष्यन्ते,ततो नीहारिणः शवस्य स्कन्धदायिनो अमी इति मनुयात्,एतावतां च प्रेषणे चतुर्गुरुकम् । उपकरणद्वारे यदि कृष्णं नीलं मलिनं वा, उपकरणं चेह चोलपट्टको रजोहरणं निषद्याद्वयोपेतं मुखवस्त्रिका, उपकरणत्वादौर्णिकसौत्रिकौ च कल्पाविति मन्तव्यम, ततः शुक्लं श्वेतं चोपकरणं गृहीतव्यम् ।

(२४) अथ शकुनद्वारमाह—

मइल कुचेले अब्भं–गीयल्ल एसाण खुज्ज वडभे य ।
कासायवत्थ उद्धू–लिया य कज्जं न साहेंति ॥
नंदी तूरं पुण्ण–स्स दंसणं संखपमहसद्दो य ।
भिंगारछत्तचामर, एमादीइं पसत्थाइं ॥

अनयोर्व्याख्या प्राग्वत् ।

आवडणमाइएसुं, चाउम्मासा हवंतऽणुग्घाया ॥
एवं ता वच्चंते, पत्ते य इमे भवे दोसा ॥

आपतनं द्वारादौ शिरसो घट्टनम्, आदिशब्दात्प्रपतनं,प्रस्खलनं वा संजातम् । अपरेण वा वस्त्रादौ गृहीत्वा पश्चान्मुख आकृष्टः, कुत्र वा व्रजसीत्यादि भणितः, गच्छ त्वमेव वा केनापि कृतम् । एवमादिषु अपशकुनेषु संजातेषु यदि गच्छति तदा चत्वारो मासा अनुद्घाता भवन्ति, एवं तावद् व्रजतो मन्तव्यम् । अथ वैद्यगृहं प्राप्तस्तत इमे दोषाः परिहर्तव्या भवन्ति ।

(२५) तानेव प्रतिपादयन् व्यापारद्वारमाह–

साडऽब्भंग उव्वट्टण, लोय ठारुकुरुमें छिंदभिंदंतो ।
सुहआसणरोगविहिं, उवएसो वा वि आगमणं ॥

एकशाटकपरिधानो यदा वैद्यो भवति तदा प्रष्टव्यः, एवं तैलादिना अभ्यङ्गनं, कल्कलोध्रादिनोद्वर्तनं, लोचकर्म वा कूर्चमुण्डनादि कारयेत्, क्षारस्य भस्मनः, उत्कुरुटकस्य कचवरपुञ्जकस्य, उपलक्षणत्वाद् तुसादीनां वा समीपे स्थितः, स्फोटकादिना वा दूषितं कस्याप्यङ्गं छिन्दानो घटमलाबुकं वा भिन्दानः शिराया वा भेदं कुर्वाणो न प्रष्टव्यः । अथ ग्लानस्यापि किञ्चित् छेत्तव्यं,भेत्तव्यम्,ततः छेदनभेदनयोरपि प्रष्टव्यः । अथासौ शुभासने उपविष्टो रोगविधिं वैद्यशास्त्रपुस्तकं प्रसन्नमुखः प्रलोकयति,अथ वा रोगविधिः चिकित्सा, तां कस्यापि प्रयुञ्जान आस्ते, ततः प्रष्टव्यः । स च वैद्यः पृष्टः सन्नुपदेशं वा दद्यात्, ग्लानसमीपे वा आगमनं कुर्यात् ।

(२६) अथ सङ्गारश्च गृहिणामिति द्वारं व्याख्यानयति–

पच्छाकमे य सन्नी, दंसणहा भद्द दाणसड्ढे य ।
मिच्छद्दिट्ठी संबं–धिए अ परतित्थिए चेव ॥

पश्चात्कृतश्चारित्रं परित्यज्य गृहवासं प्रतिपन्नः, संज्ञी गृहीताणुव्रतः, दर्शनसंपन्नो अविरतसम्यग्दृष्टिः, तथा भद्रकः सम्यक्त्वरहितः परं सर्वज्ञशासने, साधुषु च बहुमानवान्, दानश्राद्धो दानरुचिः, मिथ्यादृष्टिः शाक्यादिशासनस्थः, संबन्धी स्वजनः परतीर्थिकः सरजस्कपरिव्राजकादिः, एतेषां संकेतः क्रियते । यथा-वैद्यस्य पार्श्वे वयं गच्छामो भवद्भिस्तत्र संनिहितैर्भवितव्यम् । यदसौ ब्रूयात् तद् युष्माभिः सर्वमपि प्रतिपत्तव्यम् ।

ये वैद्यसमीपे प्रस्थापितास्ते वैद्यस्येदं कथयन्ति–

वाहि नियाण विकारं, देसं कालं वयं च धातुं च ।
आहार अग्गि धिइबल, समुइं च कहिंति जा जस्स ॥

व्याधिं ज्वरादिरोगं, निदानं रोगोत्थानकारणं, विकारं प्रवर्द्धमानरोगविशेषं, देशं ग्लानत्वोत्पत्तिनिबन्धनप्रवातादिप्रवेशं, कालं रोगोत्थानसमयं पूर्वाह्णादिकं, वयश्च तारुण्यादिकं, धातुं च वातादीनां धातूनामन्यतमो य उत्कटस्तम्, आहारमल्पभोजित्वादिलक्षणम्, अग्निबलं जाठरो वह्निरस्य मन्दः प्रबलो वा, इत्येवं धृतिबलं सात्विकः, कातरो वा इत्येवं, तथा (समुइ त्ति) प्रकृतिः, सा च या यस्य जन्मतः प्रभृति, तां च कथयन्ति ।

(२७) वैद्यस्य उपदेशद्वारम्–

कलमोदणो उ खीरं, ससक्करं तूलियाइया दव्वे ।
भूमिघरेऽट्टग खेत्ते, काले अमुगीइ वेलाए ॥
इच्छाणुलोम भावे, न य तस्स हिया जहिं भवे विसया ।
अहव ण दित्तादीसुं, पडिलोमा जा जहिं किरिया ॥

अनन्तरोक्तव्याधिनिदानादि श्रुत्वा वैद्यः स्वगृहस्थित एव द्रव्यादिभेदाच्चतुर्विधमुपदेशं दद्यात् । तद्यथा-द्रव्यतः कलमशालेरोदनं, तथा क्षीरं च सशर्करमस्य दातव्यं, तथा तूलिकायां शाययितव्यः, आदिशब्दात् गोशीर्षचन्दनादिना विलेपनीय इत्यादि । क्षेत्रतो भूमिगृहे, पक्वेष्टकागृहे चाऽयं स्थापनीयः,कालतोऽमुकस्यां वेलायां प्रथमप्रहारादौ भोजनमयं कारणीयः; भावतो यदस्य स्वकीयाया इच्छाया अनुलोमनमनुकूलं तदेव कर्त्तव्यं, नास्याऽऽज्ञा कोपनीया । तथा यत्र तस्य ग्लानस्य विषया अहिताः अनिष्टाः क्रान्दितविलपितादिरूपा गीतवादित्रगोचरा वा शब्दादयो न भवन्ति, तत्र स्थापनीय इति शेषः । (अह व ण त्ति) अथ वा–दृप्तादिषु दृप्तचित्तप्रभृतिषु प्रतिलोमा क्रिया कर्त्तव्या, तत्र दृप्तचित्तस्यापमानना, यथा–अपमानादिभाऽ-

यक्षाविष्टचित्तस्य तस्य दर्पातिरेकज उन्मादः शाम्यति, संमानना यक्षाविष्टस्य तु यथायोगमपमानना वा विधेया, ज्वरादौ वा रोगविशेषणादिका क्रिया या यत्र विद्यते सा च तत्र विधत्तेति।

(२८) अथ तुलनाद्वारमाह-

अपमिइणंता सोउं, कयजोगाऽलंजितस्स किं देमो ।
जहविभवा तेगिच्छा, जा लंभो ताव जूहंति ॥

वैद्येन दीयमानमुपदेशमप्रतिभनन्तस्तद्वचनमविकुट्टयन्तः श्रुत्वा आत्मानं तोलयन्ति-किमेतत् कलमशाल्यादि लप्स्यामहे, नवेति ? । यदि विज्ञायते-ध्रुवं लप्स्यामहे ततो न किमपि भणन्ति। अथ न तस्य ध्रुवो लाभः, ततो भणन्ति-यथा युष्माभिरुपदेशा दत्तास्तथा वयं योगं करिष्यामः, परं यदि कृतेऽपि योगे न लभामहे, ततस्तस्य किं दद्मः ? । अपि च-वैद्यकशास्त्रे यथाविभवं यथाऽनुरूपं चिकित्सा भणिता, यस्य यादृशी विभूतिस्तस्य तदनुरूपैरौषधैः पथ्यैश्च चिकित्सा क्रियते इत्यर्थः । अतो यूयमपि जानीथ-यथाऽस्माकं सर्वमपि याचितं लभ्यते, नाऽयाचितम्; अतो यदा कलमशाल्यादि याच्यमानमपि न प्राप्यते, तदा किं दातव्यमिति ? , इत्येवं वैद्योपदेशमुपसर्पयन्तस्तावज्जूहन्ति आनयन्ति यावदस्य द्रव्यस्य कोद्रवकूरादेः क्षीरशर्करादेर्वा लाभो भवति ।

तुलनामेव प्रकारान्तरेणाह-

नियएहि ओसहेहिं, को इ भणेज्जा करेमहं किरियं ।
तस्सऽप्पणो य थामं, नाउं जावं च अणुमन्ना ॥

ग्लानस्य कोऽपि संज्ञातको वैद्यो भणेत्-निजकैरौषधैरहं ग्लानस्य करोमि क्रियां, प्रेषयत मदीये गृहे ग्लानमिति । ततो गुरुभिः पृष्टेन ग्लानेन तस्यात्मनश्च स्थाम वीर्यं तोलनीयम् । किमेष वैद्य औषधानि पूरयितुं समर्थो, न वा ? । अहमपि किं धृत्या बलवान् ?, आहोस्विदबलवान् । भावो नाम किमेष धर्महेतोश्चिकित्सां चिकीर्षुः स्वगृहे मामाकारयति, उताहो निष्काममपाभिप्रायेणेति । यद्यसौ गृहस्थ औषधपूरणे समर्थो, यदि च स्वयं धृत्या बलवान्, यदि च धर्महेतोः संज्ञातकस्तमाकारयति, तत एवं तस्यात्मनश्च वीर्यं भावं च ज्ञात्वा गुरूणामनुज्ञां गृहीत्वा तत्र गन्तव्यम् ।

अथ वैद्यो ब्रूयात्-

जारिसयं गेलन्नं, जा य अवत्था उ वट्टए तस्स ।
अद्दट्ठूण न सक्का, वोत्तुं तं वच्चिमो तत्थ ॥

यादृशं युष्माभिर्ग्लानत्वमाख्यातं, या च तादृशी तस्यावस्था वर्त्तते, तदेतददृष्ट्वा न शक्यते किमप्यौषधादि वक्तुं, उपदेष्टुं च, ततस्तत्रैव ग्लानसमीपे व्रजाम इति ।

(२६) एवं भणित्वा प्रतिश्रयमागतस्य यो विधिः कर्त्तव्यस्तमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह—

अब्भुट्ठाणे आसण, दंसण जदे जिती य आहारो ।
गिलाणस्स आहारे, नेयव्वो आणुपुव्वीए ॥

प्रथममभ्युत्थानविषयो विधिर्वक्तव्यः, तत आसनविषयः, ततो ग्लानस्य दर्शनं यथा क्रियते, ततो (भद्दे त्ति) भद्रको वैद्यो यथा चिकित्सामेवमेव करोति, इतरस्य तु भृतिर्मज्जनादिकं, चिकित्सावेतनम्, आहारश्च तथा दातव्यः, ग्लानस्य च तथा आहारे यतना कर्त्तव्या । एवं सर्वोऽपि विधिरानुपूर्व्या प्ररूप्यमाणो ज्ञातव्यः । इति समुदायार्थः ।

अवयवार्थं तु प्रतिद्वारमभिधित्सुराह-

अब्भुट्ठाणे गुरुगा, तत्थ वि आणादिणो दोसा ।
मिच्छत्त राइयाणं, तस्स कुलस्स व विराहणया ॥

अभ्युत्थाने गुरुकाः, तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवेयुः, तथा मिथ्यात्वं राजादयो व्रजेयुः, आदिग्रहणेन राजामात्यादिपरिग्रहः । ते हि चारपुरुषादिमुखाद्वाचार्यं वैद्यस्याभ्युत्थितं श्रुत्वा स्वयं वा दृष्ट्वा चिन्तयेयुः-"अमी श्रमणा अस्माकमभ्युत्थानं न कुर्वन्ति अस्मद्भृत्यस्य तु नीचतरस्येत्थमभ्युत्तिष्ठन्ते, अहो ! दुर्दृष्टधर्माणोऽमी" इति प्रतिविद्विष्टा वा यत्तस्यैवाचार्यस्य, यदि वा कुलस्य, सङ्घस्य वा विराधनां कुर्युः, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम् ।

अब्भुट्ठाणे गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो जवे दोसा ।
मिच्छत्त सो व अन्नो, गिलाणमादी विराहणया ॥

अथैतद्दोषभयादाचार्यो नोत्तिष्ठति, तथापि च गुरुकाः, तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवेयुः, स च वैद्योऽन्यो वा दृष्ट्वा मिथ्यात्वं गच्छेत्, यथा-अहो ! तपस्विनोऽपि गर्वमुद्वहन्ति, प्रद्विष्टो वा वैद्यो ग्लानस्य क्रियां न कुर्यात्, अपप्रयोगं वा कुर्यात्, एवं ग्लानविराधनाम्, आदिशब्दादाचार्यादेर्वा राजवल्लभतया विराधनां कुर्यात् । यद्वा-युष्माकं देहे अमुको व्याधिर्वर्त्तते तच्चिकित्सार्थममुकमौषधं दास्यत इति भणित्वा विरुद्धौषधप्रदानेनाचार्यं विराधयेत् । यत एते दोषा अतोऽयं विधिः कर्त्तव्यः-

गीयत्थे आणयणं, पुव्विं उट्ठित्तु होइ अभिलावो ।
गिलाणस्स दंसणं धो-वणं च चुन्नादि गंधे य ॥

गीतार्थैर्वैद्यस्य प्रतिश्रये आनयनं कर्त्तव्यं, यदि ते पञ्च जनास्ततः संघाटकप्रथमतः एवागच्छति । अथ त्रयस्तत एकस्तन्मध्यात्प्रथममागच्छति, आगत्य च गुरूणां कथयति-वैद्य आगच्छतीति । ततो गुरुयो द्वे आसने तत्र साधुभिः स्थापयन्ति । स्वयं तु चङ्क्रमणलक्ष्येण पूर्वं वैद्यागमनाभावात् प्रागेवोत्थायोर्ध्वे स्थिता आसते, गीतार्थैश्चाभिवेदायितव्यम्-एष वैद्य इति । आचार्यैश्च पूर्वमनालपतोऽपि वैद्यस्याभिलापः कर्त्तव्यः । पूर्वन्यस्तेन चासनेनोपनिमन्त्रणीयः । तत्र आचार्यो वैद्यश्च द्वावप्यासने उपविशतः, ततो ग्लानस्य दर्शना कार्या । कथमिति ? । आह—ग्लानस्य यदुपकरणे शरीरे वा अशुचिनोपलिप्तं तस्य धावनं प्रक्षालनं कर्त्तव्यं, चशब्दात् खेला कायिकीसंज्ञामात्रकाण्येकान्ते स्थापनीयानि, भूमिकाया उपलेपनं सम्मार्जनं च विधेयम् । तथापि यदि दुर्गन्धो भवति ततः पटवासादिचूर्णादि तत्र विकीर्यते, आदिशब्दात् कर्पूरादिभिः सुगन्धिद्रव्यैः अशुभो गन्धोऽपनीयते, ततः प्रावृतशुक्लवाससः शुचीभूतो ग्लानो वैद्यस्य दर्श्यते । यदि तस्य किञ्चिद्द्रोणादकं पाटयितव्यं तदा तस्मिन्पाटिते सति उष्णोदकादिप्राशुकं हस्ते दातव्यम् । अथोष्णोदकमसौ नेच्छति ततः पश्चात्कृतादयो मृत्तिकामुदकं वा प्रयच्छन्ति । गतमभ्युत्थानासनदर्शनाद्वारत्रयम् ।

(३०) अथ भद्रकद्वारमाह-

चउपादा य तिगिच्छा, को जेसज्जाइ दाहिई तुब्भं ।
तहियं च पुव्वपच्छा, भणंति पच्छाकमा अम्हे ॥

वैद्यो ब्रूयात्-चिकित्सा चतुष्पादा भवति । चत्वारः पादाश्चतुर्थांशरूपा यस्यां सा चतुष्पादा । तद्यथा-आतुरः, प्रतिचरको, वैद्यो, भेषजानि । अतः को नामास्य योग्यानि भेषजानि युष्माकं प्रदास्यति ? । ततस्तत्र दत्तसङ्केततया पूर्वप्राप्ताः पश्चात्कृतादयो

भणन्ति-वयं दास्याम इति। एवं तावद्भद्रको वैद्यः क्रियां करोति न चान्यत्किमपि स्पृहयति।

(३१) यस्तु प्रान्तस्तमुद्दिश्य भृतिद्वारमादारद्वारं चाह-

कोई मज्जणगविहिं, सयणं आहार उवहि केवमिए।
गीयत्थेहि य जयणा, अजयण गुरुगाइ आणाई ॥

कश्चिद्वैद्यो ब्रूयात्-मज्जनं स्नानं तस्य विधिः प्रकारो मज्जनविधिः, तैलाभ्यङ्गनादिप्रक्रियापुरस्सरं स्नानमित्यर्थः। शयनं पल्यङ्कादि, आहारो भोजनम्,उपधिर्वस्त्रादिरूपः (केवमिय त्ति) रूपकाः एतत्सर्वं मम को नाम दास्यतीति ?। ततः पश्चात्कृतादिभिरभ्युपगन्तव्यम्। यद्ययतनया अभ्युपगच्छन्ति, प्रेषयन्ति वा, ततश्चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः। एषा पुरातनी गाथा।

अथैनामेव विभावयिषुराह-

एयस्स नाम दाहिह, को मज्जणगाइ दाहिई मज्झं।
ते चेव णं भणंती, जं इच्छसि अम्हे तं सव्वं॥

एतस्य ग्लानस्य, नामेति संभावनायां, यद्यत्प्रायोग्यं भेषजादि, तत्सर्वं दास्यथ, मे स पुनर्मज्जनकादि को दास्यति ? इत्युक्ते त एव पश्चात्कृतादयो (णमिति) तं वैद्यं भणन्ति यद्यदिच्छसि तत्सर्वं वयं दास्याम इति।

जं एत्थ अम्हे सव्वं, पडिसेहे गुरुग आणादी।
एएसिं असईए, पमिसेहे गुरुग आणादी ॥

ये चैते पूर्वं पश्चात्कृतादयः प्रज्ञापितास्तैर्यदत्र ग्लानस्य युष्माकं चोपयुज्यते तत्सर्वं वयं दास्याम इत्युक्ते सति यः साधुस्तानधिकरणभयात्प्रतिषेधयति, तस्य चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः। अथ न सन्ति पश्चात्कृतादयस्तत एतेषां असत्यभावे यो वैद्यं प्रतिषेधयति, न वयं भवतो मज्जनादि दास्याम इति, तस्याऽपि चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः।

पश्चात्प्रतिषेध्यमानेषु यद्वैद्यश्चिन्तयति तदाह-

जुत्तं सयं न दाउं, अन्नि देंते वि ऊ निवारिंति।
न करिज्ज तस्स किरियं, अवप्पओगं व से दिज्जा ॥

युक्तममीषां स्वयमदातुम्,अपरिग्रहत्वात्, यच्च पुनरन्यान् ददतो निवारयन्ति,तन्न युज्यते, एवं प्रद्विष्टः सन् तस्य ग्लानस्य क्रियां न कुर्यात्, अपप्रयोगं वा विरुद्धौषधयोगं 'से' तस्य दद्यात् प्रयुञ्जीत; तस्मादन्यान्न निवारयेदिति।

दाहामो त्तिय गुरुगा, तत्थ वि आणाइणो भवे दोसा।
संका व सूयएहिं, हिएँ नट्ठे तेणए वा वि ॥

पश्चात्कृतादीनामभावे यदि साधवो भणन्ति-वयमवश्यं ते सर्वमपि दास्याम इति, तदा चत्वारो गुरुकाः, तथाऽऽज्ञादयो दोषा भवेयुः तथा कस्यापि हिरण्यादौ केनचित् हृतेऽन्यथा वा नष्टे सति शङ्का भवति-अहिरण्यसुवर्णा अप्यमी यद्दास्याम इति भणन्ति, तन्नूनमेतैरेव गृहीतमिति। यद्वा-सूचकैरारक्षकादिभिस्तत् श्रुत्वा राजकुले गत्वा सूच्यते। यथा—स्तेनका एते श्रमणा ये वैद्यस्य हिरण्यादिकं दातव्यतया प्रतिपद्यन्ते, ततो ग्रहणाकर्षणादयो दोषाः।

पमिसेह अजयणाए, दोसा जयणा इमेहि ठाणेहिं।
भिक्खण इड्ढि विइयपद, रहिए जं जाणिहिसि जुत्तं ॥

पश्चात्कृतादीनामभावे यद्ययतनया प्रतिषेधयन्ति-न तव भृतिं वा भक्तं वा दास्याम इति, ततश्चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः। तस्माद्यतना एभिः स्थानैः कर्तव्या (भिक्खण त्ति) भिक्षां कृत्वा वयं दास्यामः, (इड्ढि त्ति) ऋद्धिमता या निष्क्रामता यत् कापि निक्षिप्तं तद् गृहीत्वा दास्यामः, द्वितीयपदे वा कस्मिंश्चित्कारणे जाते सति तदर्थजातं गृहीतं तत इदं दास्यामहे (रहिए त्ति) पश्चात्कृतादिरहिते एवं भणन्ति-(जं जाणिहिसि जुत्तं ति) यत् त्वं भणिष्यसि तद्यथाशक्ति करिष्यामो,यद्वा अस्माकं युक्तमुचितं तद्विधास्याम इति।

अथासौ वैद्यो ब्रूयात्-

अहिरण्णग त्थ भगवं !, सक्खी ठावेह जे ममं देंति।
धंतं पि दुद्धकंखी, ण लभइ दुद्धं अधेणूतो ॥

भगवन् ! अहिरण्यकाः स्थ यूयमतः साक्षिणः स्थापयत, ये मम पश्चात्प्रयच्छन्ति। अमुमेवार्थं प्रतिवस्तूपमया द्रढयति-(धंतं पि त्ति) देशीवचनत्वादतिशयेनापि दुग्धकाङ्क्षी न लभते दुग्धमधेनोः सकाशात्।

एवं वैद्येनोक्तेन किं कर्तव्यमिति ?, आह-

पच्छाकमाइजयणा, दावणकज्जेण जा भणिय पुव्विं।
सच्चाविज्जवविहूणे, ते चिय इच्छंतगा सक्खी ॥

पश्चात्कृतादिविषया मज्जनकादिदापनकार्येण या पूर्वं यतना भणिता सैव इह मन्तव्या, नवरं ये पश्चात्कृतादयः श्रद्धया, विभवेन च विहीनास्त एव इच्छन्तः सन्त इह साक्षिणः स्थाप्यन्ते। यथा-वयं भिक्षाटनं कृत्वा यथालब्धमेतस्य दास्याम इति। अथ ते साक्षीभवितुं नेच्छन्ति ततो यः ऋद्धिमत्प्रव्राजितः स इदं ब्रूयात्-

पंचसयदाणगहणे, पलालखेलाण छड्डणं च जहा।
सहसं व सयसहस्सं, कोडी रज्जं व अमुगं वा ॥
एवं ता गिहिवासे, आसी व इयाणि किं भणिहामो।
जं तुब्भ मह य जुत्तं, तं उग्गाढम्मि काहामो ॥

यथा पलालखेलयोश्छर्दनं विधीयते तथा दीनानाथादिभ्यो वयं रूपकाणां पञ्चशतानि हेलयैव दानं दत्तवन्तः, उपार्जनामपि कुर्वाणाः पञ्चशतानां ग्रहणमेवमेव कृतवन्तः,एवं सहस्रं, शतसहस्रं, कोटी राज्यम्, अमुकम् अनिर्दिष्टसंख्यास्थानं, लीलयैव वयं दत्तवन्तः, स्वीकृतवन्तो वा, तदस्माकं गृहवासे विभूतिरासीत्, इदानीं पुनरकिञ्चनाः श्रमणाः सन्तः किं भणिष्यामः, किं करिष्याम इति भावः, परं तथाऽपि ग्लाने उद्गाढे प्रगुणीभूते सति यत्तवास्माकं च युक्तमनुरूपं तत्करिष्याम इति। एवं तावत् स्वग्रामे वैद्यविषया यतना भणिता। अथ स्वग्रामे वैद्यो न प्राप्यते ततः परग्रामादप्यानेतव्यः।

तत्र विधिमाह-

पाहिज्जे णाणत्तं, बाहिं तु भईएँ एस चेव गमो।
पच्छाकडाइएसुं, असहिएँ रहिए उ जो भणिओ ॥

पाथेयं नाम कण्टकमर्दनवेतनं यत्तस्य भक्तादि दीयते तत्र नानात्वं विशेषः,वास्तव्यवैद्यस्य स न संभवति,अस्य तु भवतीति भावः तत्र च बहिर्ग्रामादागतस्य भृतौ मज्जनादौ वेतने एष एव

गमो द्रष्टव्यः, पश्चात्कृतादिभिररहिते रहिते वा योऽनन्तरमेव भणितः ।

अथात्रैवं यतनाविशेषमाह-

मज्जणगादिच्छंते, वाहिं अब्भिंतरं च अणुसट्ठी ।
धम्मकहविज्जमंते, निमित्त तस्सट्ठ अन्नो वा ॥

मज्जनं स्नानम्, आदिशब्दादभ्यङ्गनोद्वर्त्तनादिकं, बहिर्ग्रामे आगाढ़न् अभ्यन्तरे प्राग् ग्लानसकाशे प्राप्ते यदीच्छति, ततः सर्वं तस्य पश्चात्कृतादयः कुर्वते। तेषामभावेऽनुशिष्टिः क्रियते। यथा-यतीनां न कल्पते गृहिणः स्नपनादि कर्तुं, भवतश्च मुधा कुर्वतो बहु फलं भवति। अथ तथाऽपि नोपरमति, ततो धर्मकथाः कर्त्तव्याः, तथाऽप्यप्रतिपद्यमाने विद्यामन्त्रनिमित्तानि तस्य वैद्यस्य आवर्जनार्थं प्रयुज्यन्ते, अन्यो वा तानि प्रयुज्य वशीक्रियते, ततस्तस्य वैद्यस्यासौ मज्जनादि कार्य्यते।

अथ धर्म्मकथापदं भावयति-

तह धम्म कहिंति जहा, होइ संजउ सन्नि दाणसड्ढो व ।
बाहिया उ अण्हायंते, करिंति खुड्डा इमं अंतो ॥

आक्षेपणीयप्रभृतिभिः तस्य तथा धर्मं कथयन्ति यथाऽसौ संयतो भवति, संज्ञी वा गृहीताणुव्रतो, अविरतसम्यग्दृष्टिर्वा, दानश्रद्धो मुधैव साधूनामारोग्यदानशीलो भवति । अथ धर्मकथालब्धिर्नास्ति ततो विद्यामन्त्रादयः प्रयुज्यन्ते, तेषामभावे तस्यामलका दीयन्ते, भण्यते चासौ-बहिर्गत्वा स्नानं कुरुत। अथ बहिः स्नातुं नेच्छति ततो बहिरस्नाति तस्मिन् क्षुल्लका इदं वक्ष्यमाणमन्तः प्रतिश्रयस्याभ्यन्तरे कुर्वन्ति ।

उसिणे संसट्ठे वा, भूमी फलगाइ भिक्ख वडुआइ ।
अणुसट्ठी धम्मकहा, विज्जनिमित्ते य बहि अंतो ॥

उष्णोकेन प्रतीतेन, संसृष्टेन गोरसरसभावितेन अपरेण वा प्राशुकेन, क्षुल्लकास्तं स्नपयन्ति, शयनमाश्रित्य भूमौ फलके, आदिशब्दात्पल्यङ्कादिषु वा स शाय्यते, भोजनं प्रतीत्य भैक्षं भिक्षा पर्यटनेन लभ्यमानीय तस्य दातव्यम्, (वडुआइ त्ति) वटुक मष्टकमयं भाजनम्, आदिग्रहणात्कांस्यपात्रादिपरिग्रहः, एतेषु भोजनमसौ कारयितव्यः; हिरण्यादिकं द्रविणजातं याचमानस्य अन्तरिति वास्तव्यवैद्यस्य, बहिरित्यागन्तुकवैद्यस्योभयस्याप्यनुशिष्टिः, धर्मकथाविद्यानिमित्तानि, प्रयोक्तव्यानीति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव भावयन्नाह-

तेलुव्वट्टणएहावण, खुड्डासति वसभ अन्नलिंगेणं ।
पट्टदुगादी भूमी, अणिच्छि जा तूलिपल्लंके ॥

क्षुल्लकास्तं वैद्यं तैलेनाभ्यज्य कल्केनोद्वर्त्योष्णोदकादिना प्राशुकेन एकान्ते स्नापयन्ति, अथ क्षुल्लका न सन्ति, स्नपयितुं वा न याचन्ते, ततो ये वृषभा गच्छस्य शुभाशुभकार्ये भारोद्वहनसमर्थास्तेऽन्यलिङ्गेन गृहस्थादिसंबन्धिना स्नानादिकं वैद्यस्य कुर्वन्ति, "पट्टदुगा" इत्यादि। स वैद्यः शयितुकामः प्रथमतो भूमौ संस्तारपट्टमुत्तरपट्टकं च प्रस्तार्य शाय्यते। अथ माऽसौ पट्टद्वये स्वप्तुमिच्छति, तत और्णिकसौत्रिकौ कल्पौ प्रस्तार्येते, तथापि यदि नेच्छति, ततः काष्ठफलके संस्तारोत्तरपट्टकावास्तीर्य शयनं कार्यते, तथाऽप्यनिच्छति उत्तरोत्तरं तावन्नेतव्यं यावत् तूलीपल्यङ्कावप्यानीय शाययितव्य इति ।

अथ भैक्षपदं भावयति-

समुदाणिओदणो म-त्तओ व णिच्छंति वीसु तवणा वा ।
एवं पि णिच्छमाणो, होइ अलंभे इमा जयणा ॥

समुदानं नामोच्चावचकुलेषु भिक्षाग्रहणं, तत्र भवः सामुदानिकः, "अध्यात्मादिभ्य इकण्" ।६।३।७६। इति (हैम०) इकण् प्रत्ययः। स चासावोदनश्च सामुदानिकौदनः, स प्रथमतो वैद्यस्य दातव्यः, अथासौ तं भोक्तु नेच्छति, ततो मात्रकं वर्त्तापनीयं, तत्र प्रायोग्यं तदर्थं गृहीतमिति भावः। अथ तथाऽपि नेच्छति ततो (वीसु त्ति) पृथगोदनं, व्यञ्जनमपि पृथग् ग्राह्यम्, अथ शीतलमिति कृत्वा तन्नेच्छति, तदा (तवण त्ति) तदेव यतनया तापयितव्यम्, एवमप्यनिच्छति अलभ्यमाने वा इयं यतना भवति।

तामेवाह—

तिगसंवच्छर तिगदुग-एगमणेगे य जोणिघाए य ।
संसट्ठमसंसट्ठे, फासुयमफासुए जयणा ॥

येषां शालिव्रीहिप्रभृतीनां संवत्सरत्रयादूर्द्धमागमे विध्वस्तयोनिकत्वमुक्तं तेषां ये त्रिवार्षिकास्तन्दुलास्ते (तिगदुगएग त्ति) प्रथमतस्त्रिश्छटिता गृहीतव्याः, तदभावे द्विश्छटिताः, तेषामलाभे एकश्छटिता अपि। अथ त्रिवार्षिका न प्राप्यन्ते ततो द्विवार्षिकाः, तेषामलाभे एकवार्षिका अपि व्युत्क्रान्तयोनिकाः सन्तस्त्रिद्व्येकच्छटिताः क्रमेण ग्राह्याः। तदलाभे (अणेगय त्ति) एषां धान्यानामनेकानि वर्षत्रयादूर्द्ध्वतराणि वर्षाणि स्थितिः प्रतिपादिता। यथा-तिलमुद्गमाषादीनां पञ्च वर्षाणि, अतसीकङ्गुकोद्रवप्रभृतीनां सप्त वर्षाणीत्यादि तेषामपि तन्दुलाः पञ्चवार्षिकाः त्रिद्व्येकच्छटिताः क्रमेण ग्राह्याः। अत्रापि वर्षपरिहाणिर्व्युत्क्रान्तयोनिकत्वं च तथैव द्रष्टव्यम् । इह च येषां यावती स्थितिरुक्ता ते तावतीं स्थितिं प्राप्ताः सन्तो नियमाद् व्युत्क्रान्तयोनिकाः, ये त्वद्यापि न परिणतास्ते तु व्युत्क्रान्तयोनिका अव्युत्क्रान्तयोनिका वा भवेयुः, इति (जोणिघाए त्ति) व्युत्क्रान्तयोनिकानामभावे अव्युत्क्रान्तयोनिका अपि, ये योनिघातेन गृहिभिः स्वार्थमचित्तीकृतास्तेऽप्येवमेव गृह्यन्ते। तथा दध्यादिभाजनधावनं संसृष्टपानकम्; उष्णोदकं, तन्दुलधावनादि वा असंसृष्टपानकम्, उभयमपि प्रथमतः प्राशुकं, तदभावे अप्राशुकमपि यतनया यत् त्रसविरहितं तत्तदर्थं गृहीतव्यम् ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां भावयति—

वक्कंतजोणिखड्डा, दुएकछडणे वि होइ एस गमो ।
एमेव जोणिघाए, तिगाइ इतरेण रहिए वा ॥

त्रिवार्षिकादयो ये व्युत्क्रान्तयोनिकास्ते त्रिच्छटिता ग्राह्याः, तेषामभावे द्व्येकच्छटितानामप्येष एव गमो, यस्तेऽपि व्युत्क्रान्तयोनिका गृह्यन्ते । एवमेव च योनिघाते स्वार्थं कृते (तिगाइ त्ति) त्रिद्व्येकच्छटिता गृहीतव्याः, तेषामभावे त्रिवार्षिकादयो यथाक्रमं कण्डापनीयाः। अथ नास्ति कोऽपि कण्डयिता, तत इतरेणाव्यक्तलिङ्गेन रहिते वा सागारिकवर्जिते प्रदेशे स्वयं कण्डयति । यद्वा—(रहिए त्ति) पश्चात्कृतादिभिर्गृहस्थैः रहिते एषा यतना कर्त्तव्या ।

ते च तन्दुलाः कथमुपस्कर्तव्या इति ?, आह-

पुव्वाउत्ते अवचु-ल्ल चुल्लि सुक्खघणमसुसिर अविद्धे ।
पुव्वकय असइ दाणे, उवणा लिंगे य कल्लाणे ॥

पूर्वं प्रथमं गृहिभिः काष्ठप्रक्षेपणादायुक्तः पूर्वायुक्तः, तस्मिन् पूर्वायुक्ते, पूर्वतप्ते अवचुल्लके प्रथमं तन्दुलानुपस्करोति, तदभावे पूर्वतप्तायां चुल्ल्याम, अथ चुल्ल्यपि पूर्वतप्ता न प्राप्यते, तत ईदृशानि दारूणि प्रक्षिप्योपस्करोति, तद्यथा-शुष्काणि नार्द्राणि, घनानि वंशवल रन्ध्रयुक्तानि, अशुषिराणि अस्फुटितानि, त्वचा रहितानि वा, अविद्धानि घुणैरकृतच्छिद्राणि, ईदृशानि दारूणि वक्ष्यमाणप्रमाणोपेतानि पूर्वकृतानि च ग्रहीतव्यानि । अथ पूर्वकृतानि न सन्ति ततः स्वयमपि तेषां प्रमाणोपेतत्वं कर्त्तव्यं,तथा याच्यमानस्य वैद्यस्य (दाणे त्ति) अर्थजातदानं कर्त्तव्यम । कथमिति ?, अत आह-(उवण त्ति) शैक्षेण प्रव्रजता यत्क्रिकुआदिषु द्रविणजातं स्थापितं तस्य दानं कर्त्तव्यम । (लिंगि त्ति) स्वलिङ्गेन परलिङ्गेन गृहलिङ्गेन वा अर्थजातमुत्पादनीयम् । (कल्लाणे त्ति) प्रगुणीभूतस्य ग्लानस्य तत्प्रतिचरकाणां च पञ्चकल्याणकं दातव्यम ।

अथ प्ररूप्यमाणदारूणां प्रमाणादिकमाह-

हत्थद्धमत्त दारुग, निच्छल्लिय अघुणिया अहाकडया ।
असई ३ सयंकरणं, अघट्टणोवक्खडमहाऊ ॥

हस्तार्द्धं द्वादशाङ्गुलानि, तन्मात्राणि तावत्प्रमाणदैर्ध्योपेतानि, निश्छल्लिकानि छल्लीरहितानि, अघुणितानि घुणैरविद्धानि, दारूणि भवन्ति । ईदृशानि च यथाकृतानि गृहीतव्यानि, यथाकृतानामसत्यभावे स्वयंकरणं आत्मनैव हस्तार्धप्रमाणानि क्रियन्ते,ताश्चिश्चापनीयते इत्यर्थः उपस्कृते च भक्ते उल्मुकानां घट्टना न कर्त्तव्या, किन्तु यथायुष्यमानुपाल्य स्वयमेव विध्यायते ।

अथ पानकयतनामाह-

कंजिएँ चाउलउदए, उसिणे संसट्ठमेतरे चेव ।
एहाणपियणाइ पाणग, पादासइ वोरँ दद्दरए ॥

पानीयं याचतो वैद्यस्य काञ्जिकं दातव्यं, यदि तन्नेच्छति ततः (चाउलउदकं) तन्दुलधावनं. तदप्यनिच्छति उष्णोदकं संसृष्टं प्रासुकं वा (इतरं ति) प्रासुकमनिच्छति अप्रासुकमपि, यावत्कर्पूरवासितम्। एवं स्नानपानादिषु कार्येषु पानस्य दातव्यं, तच्च प्रथमतः पात्रके स्थाप्यते । अथ नास्त्यतिरिक्तं पात्रकं, न चासौ तत्र स्थापयितुं तं ददाति ततो वारके स्थापयित्वा दर्दरयति,मुखे घनेन चीवरेण बध्नाति, येन कीटिकादयः सत्वा नाभिपतन्ति, भावितं भेकपदम ।

अथ 'धकुकादि त्ति' पदं भावयति—

थहुके सरावकंसिय-तंबकरयए सुवन्नमणिसेले ।
भोत्तुं सए व धोवइ, अणिच्छि किमि खुड्डवसभा वा ॥

थडुकं कमठकं, तत्रासौ भोजनं कारयति । अथ तत्र नेच्छति ततः शरावे, तत्रानिच्छति कांस्यभाजने, तत्राप्यनिच्छति ताम्रभाजने, तत्राप्यनिच्छति रजतस्थाले सुवर्णस्थाले मणिशैलमये भाजने भोजयितव्यः । भुक्त्वा चाऽसौ स्वयमेव तद्भाजनं धावति । अथ नेच्छति धावितुं ततः 'किडी' स्थविरश्राविका सा प्रक्षालयति, तस्या अभावे क्षुल्लकाः, क्षुल्लकाणामभावे वृषभाः ।

शिष्यः पृच्छति-कथमसंयतस्य संयुप्रभाजनं संयतः प्रक्षालयति ?, किं निमित्तं वा वैद्यस्य मज्जनादिकमियत्परिकर्म क्रियते ?। उच्यते-

पूयाईणि वि मग्गइ, जह विज्जो आउरस्स जोगट्ठी ।
तह विज्जे पडिकम्मं, करिंति वसभा वि मुक्खट्ठा ॥

यथा वैद्यो जोगार्थी आतुरस्य रोगिणः पूयं पकरक्तं, तदादीनि, आदिशब्दात शोणितप्रभृतीन्यथशुचिस्थानानि मार्जयति शोधयति, तथा वृषभा अपि मोक्षार्थं वैद्यस्य सर्वमपि प्रतिकर्म मज्जनादिकं कुर्वन्ति ।

यस्तु न कुर्यात्तस्य प्रायश्चित्तमाह—

तेइच्छियस्स इच्छा-णुलोमगं जो न कुज्ज सइ लाभे ।
अस्संजमस्स भीतो, अलस पमादी च गुरुगा से ॥

चिकित्सया चरति जीवति वा चैकित्सिको वैद्यः,तस्य या मज्जनादाविच्छा, तस्या अनुलोममनुकूलं प्रतिकर्म, सति लाभे लाभसंभवे (अस्संजमस्स भीओ त्ति) पञ्चम्यर्थे षष्ठी । असंयमादसंयतवैयावृत्यकरणलक्षणाद्भीतोऽलसः प्रमादी च यो न कुर्यात्, तस्य चत्वारो गुरुकाः ।

अथ ग्लानवैद्ययोर्वैयावृत्यकरणान्युपदर्शयति-

लोगविरुद्धं दुपरि चओ उ कयपडिकिई जिणाऽऽणा य ।
अतरंतकारणा जे, तदट्ट ते चेव विज्जम्मि ॥

ग्लानस्य यदि वैयावृत्यं न क्रियते, ततो लोकविरुद्धं भवति । लोको ब्रूयात्-धिगमीषां धर्मं,यत्रेदं मान्द्यसंभवेऽपि ईदृशमनाथत्वमिति । तथा परस्परमेकवचनप्रतिपत्त्या दिना यः कोऽपि लोकोत्तरकः संबन्धः, स दुःपरित्यजो दुःपरिहर इति ग्लानस्य वैयावृत्यं कार्यम । कृतप्रतिकृतिश्चैवं भवति, ग्लानेन पूर्वं ह्येन सता यदात्मनि उपकृतं तस्य प्रत्युपकारः कृतो भवतीति भावः । जिनानां या आज्ञा-अग्लान्या ग्लानस्य वैयावृत्यं कुर्यादित्यादिलक्षणा सा कृता भवति । एतानि अतरो ग्लानस्तस्य वैयावृत्यकरणानि, तदर्थं ग्लानार्थं यद्वैद्यस्य वैयावृत्यकरणं, तत्राऽपि तान्येव लोकविरुद्धपरिहारादीनि कारणानि द्रष्टव्यानि ।

अथ ग्लानस्य मज्जनादिविधिमतिदिशन्नाह-

एमेव गिलाणम्मी, विगमो उ खलु होइ मज्जणाईओ ।
सविसेसो कायव्वो, लिंगविवेगेण परिहीणो ॥

एष एव ग्लानेऽपि मज्जनादिको गमः प्रकारो भवति, यथा वैद्यविषय उक्तः, नवरं सविशेषो भक्तिबहुमानादिविशेषसहितो, लिङ्गविवेकेन परिहीणः सर्वोऽपि कर्त्तव्यः ।

अथ ग्लानवैद्ययोरनुवर्त्तनायां महार्थत्वं दर्शयन्नाह-

को वोच्छइ गेलन्ने, दुविहं अणुअत्तणं निरवसेसं ।
जह जायइ सो निरुश्रो, तह कुज्जा एस संखेवो ॥

ग्लाने सति द्विविधा अनुवर्त्तना-ग्लानविषया,वैद्यविषया च । तां निरवशेषां सम्पूर्णां को नाम शेषं वक्ष्यति ?, बहुवक्तव्यत्वान्न कोऽपीत्यभिप्रायः । अतो यथाऽसौ ग्लानो निरुग् जायते तथा कुर्यादेष संक्षेपः संग्रहः, उपदेशसर्वस्वमिति यावत् ।

अथ वैद्यस्य दानं दातव्यं, तत्र विधिमाह-

आगंतु पउणे जायए, धम्मावणे तत्थ कइयदिट्ठंतो ।
पासादे कूवादी, वत्थुकुरुमे तहा ओही ॥

ग्लाने प्रगुणे जाते सति आगन्तुकवैद्यो यदा दक्षिणां याचते तदा भण्यते-धर्म्मापणो धर्म्मव्यवहरणहट्टोऽयमस्माकमतो यदत्र संभवति तदेव प्रहीतव्यम् । कयिकदृष्टान्तश्च तत्रोच्यते-यथा केन चित् कयिकेण गान्धिकापणे रूपकान् निक्षिप्य भणितम्-ममैतैः किञ्चिद्द्रव्यजातं दद्याः, ततः सोऽन्यदा तत्रापणे मद्यं मार्गयितुं लग्नः। वणिजा प्रोक्तः-ममापणे गन्धपण्यमेव व्यवह्रियते,नास्ति मद्यम्,अतस्त्वं गन्धपण्यं गृहाणेति। एवमस्माकमपि धर्म्मापणाद् धर्मं गृह्णातु भवान्,नास्ति द्रविणजातमित्युक्ते यदि नोपरमति, ततः शैक्षेण प्रव्रजता यत्किञ्चित्कूपादिषु परिष्ठापितं तदानीय दीयते, तस्याभावे यद्दुत्सन्नस्वामिकं क्वापि प्रासादे, कूपे वा, आदिशब्दान्निर्गमनादिषु वा निधानं, तथा शटितपतितं यद्वास्तुगृहं तदुत्कटसामिवेतिकृत्वा वास्तुकुरुमुच्यते, तत्र वा यन्निधानं तदवधिज्ञानिनः, उपलक्षणत्वाद्दशपूर्विप्रभृतीनां वा पार्श्वे पृष्ट्वा, ततः प्रासादादिस्थानादानीय वैद्यस्य दातव्यम् ।

वास्तव्यवैद्यस्य दानविधिमाह-

वत्थव्व पउणे जायए, धम्मादाणं पुणो अणिच्छंते ।
सव्वा वि होइ जयणा, रहिए पासायमाईया ॥

प्रगुणीभूते ग्लाने वास्तव्यवैद्यो यदि याचनं कुरुते तनस्तस्याऽपि धर्मं पवादानं द्रव्यं तदा दातव्यं (पुणो अणिच्छन्ते त्ति) पुनः भूयो भूयः प्रज्ञाप्यमानोऽपि यदि धर्मादानं नेच्छति तदा पश्चात्कृतादिभिर्गृहस्थै रहिते सैव प्रासादादिका यतना कर्त्तव्या याऽनन्तरगाथायामभिहिता ।

द्वयोरप्यागन्तुकवास्तव्यवैद्ययोरुपधिं याचतोर्विधिमाह-

सवहिंमि पडग साडग, संथरणं वा वि अत्थरणगं वा ।
दुगभेदादाहिंडण, ऽणुसट्ठि परलिंग हिंसाई ॥

उपधौ उपकरणे.पटशाटकः परिधानं, संवरणं प्रच्छदपटः, आस्तरणं संस्तरणं,तूली वा,यद्येतानि मार्गयतः, ततस्तथैव धर्म्मापणदृष्टान्तः क्रियते। अथ नोपरमति,ततो द्विकं साधुयुगं तल्लक्षणो यो भेदः प्रकारः, तेनादिशब्दाद्वृन्देन विहिण्डित्वा पटशाटकादिकमुत्पाद्य वैद्यस्य प्रयच्छन्ति, अथ नावाप्यते ततोऽनुशिष्टिर्दातव्या, तथाऽप्यनुपरतस्य परलिङ्गं कृत्वा हिंसादिप्रयोगेणोत्पाद्य प्रयच्छन्ति ।

द्वितीयपदे न दद्यादपि, यत आह-

विइयपदे कालगए, देसुट्ठाणे व बोहिगाईसुं ।
असिवाई असई वा, ववहारऽपमाणअदसाई ॥

द्वितीयपदे वैद्ये ग्लाने वा कालगते सति,यद्वा-बोधिका म्लेच्छास्तेषाम्,आदिशब्दात्परचक्रेभ्यो वा भयेन देशस्योत्थाने उद्वशीभवने, अशिवे वा, आदिग्रहणाद् दुर्भिक्षे राजद्विष्टे वा संजाते सति,असति वा सर्वथैव यत्नानामभावे,व्यवहारः क्रियते,व्यवहारेण च निर्जितस्य तस्य न प्रयच्छन्ति,व्यवहारेण वा कारणिकैर्दीयमाने प्रमाणईदृशानि अदशाकानि वस्त्राणि दर्शयन्ति, अस्माकमीदृशान्येव स्वाधीनानि, अन्यानि न सन्ति ।

अथ द्रविणजातं मार्गयति वैद्ये विधिमाह-

कवड्डगमादी तंबे, रुप्पे ते तह य केत केवडिए ।
हिंडणअणुसिद्वादी, पूईयलिंगे विविहभेदो ॥

कपर्दादयो मार्गयित्वा तस्य दीयन्ते,ताम्रमयं वा नाणकं यद् व्यवह्रियते,तथा दक्षिणापथे काकिणीरूपं रूप्यमयं,तन्मयं वा नाणकं भवति। यथा भिल्लमाले 'द्रम्म'पीतं नाम सुवर्णं,तन्मयं वा नाणकं भवति। यथा पूर्वदेशे दीनारः केवडिको नाम। यथा तत्रैव पूर्वदेशे केतरानिधो नाणकविशेषः। एतेषामप्युत्पादनकं कुर्वता सङ्घाटकेन वृन्देन वा हिण्डनं तथैव कर्त्तव्यम्, अलब्धे अनुशिष्ट्यादीनि प्रयोक्तव्यानि । लिङ्गमितिपदं व्याख्यायते-पूजितमर्चितं यल्लिङ्गं तत्र विविधो भेदः कर्त्तव्यः । किमुक्तं भवति ?-तस्मिन् देशे यत् त्रयाणां स्वलिङ्गगृहलिङ्गकुलिङ्गानां मध्यात् पूजितं,तेन लिङ्गेन द्रविणजातमुत्पादयन्ति वैद्यं वा प्रज्ञापयन्ति ।

द्वितीयपदे द्रविणजातमपि न दद्यात्, कथमिति ?, आह-

विइयपदे कालगए, देसुट्ठाणे च बोहियादीसु ।
असिवादी असई वा, ववहारऽहिरण्णगा समणा ॥

द्वितीयपदे वैद्ये ग्लाने वा कालगते, देशस्य वा बोधिकादिभयेनोत्थाने उद्वासने, अशिवादौ वा संजाते, असत्यां वा सर्वथैवाऽलाभे अर्थजातं वैद्यस्य न दद्यात्, व्यवहारे च समुपस्थिते ब्रुवते-अहिरण्यकाः श्रमणा भवन्तीति तावत् सर्वत्रापि सुप्रतीतं, परं तथाप्येतेनास्माभिरस्मान्निर्द्रविणजातं गवेषयितुमारब्धं, ततो लोको अप्रीति-न वर्त्तते शासनं यतिभ्यो हिरण्यादि दातुम् । यत उक्तम्-"गृहस्थस्याऽप्रदानेन, वानप्रस्थस्य गोरसात् ॥ यतीनां च हिरण्येन, दाता स्वर्गं न न गच्छति" ॥ १ ॥ एवं व्यवहारो लभ्यते ।

अथ कल्याणकपदं व्याख्यानयति-

पउणम्मि य पच्छित्तं, दिज्जइ कल्लाणगं दुवण्हं पि ।
वूढे पायच्छित्ते, पविसंती मंडलिं दो वि ॥

ग्लाने प्रगुणीभूते सति द्वयोरपि ग्लानप्रतिचरकवर्गयोः कल्याणकं प्रायश्चित्तं दीयते,इहैवमविशेषेणोक्ते,ग्लानस्य पञ्चकल्याणकं, प्रतिचरकाणां त्वेककल्याणकं दातव्यम् । आदेशान्तरेण वा द्वयोरपि पञ्चकल्याणकं मन्तव्यं, ततो व्यूढे प्रायश्चित्ते द्वावपि ग्लानप्रतिचरकवर्गौ भोजनादिमण्डलीं प्रविशतः ।

अथोपसंहरन्नाह-

अणुयत्तणा उ एसा, दव्वे विज्जे य वण्णिया दुविहा ।
इत्तो चालणदारं, वुच्छं संकामणं चुभओ ॥

ग्लानप्रायोग्यद्रव्यविषया वैद्यविषया चैषा द्विविधाऽनुवर्त्तना वर्णिता ॥

(३२) इत ऊर्द्ध्वं चालनाद्वारं, संक्रामणाद्वारं च उभयतो ग्लानवैद्यद्वयविषयं वक्ष्ये-

विज्जस्स व दव्वस्स व, अट्ठा इच्छंते होइ उक्खेवो ।
पंथो य पुव्वदिट्ठो, आरक्खिउ पुव्वभणिओ य ॥

वैद्यस्य वा द्रव्यस्य वा औषधादिलक्षणस्य असति यदि ग्लान इच्छति ग्रामान्तरं गन्तुं तदा तस्योत्क्षेपचालना कर्त्तव्या, यदि रात्रौ भव्यं भवति तदा पन्थाः पूर्वमेव दृष्टः कर्त्तव्यः, आरक्षिकस्य पूर्वमेव वयं रात्रौ ग्लानं गृहीत्वा गमिष्यामो भवता चौराविशङ्कया न गृहीतव्या इति भणितिः कर्त्तव्या इति।

अथास्या एव निर्युक्तिगाथायाः पूर्वार्द्धं भावयति–

चउपायाहि तिगिच्छा, इह विज्जा नत्थि न वि य दव्वाइं।

अमुगत्थ अत्थि दोन्नि वि, जइ इच्छसि तत्थ वच्चामो ॥

कापि क्षेत्रे वैद्य औषधानि वा न सन्ति, ततो ग्लानं प्रतिचरका ब्रवीरन्–चिकित्सा चतुष्पादा भवति, परमिह वैद्या न सन्ति, नापि च द्रव्याणि औषधादीनि अत्र सन्ति, अमुकत्र ग्रामे नगरे वा द्वे अपि विद्येते, अतो यदि त्वमिच्छसि ततस्तत्र व्रजाम इति ग्लानः प्रतिभाणितः॥

किं काहिइ मे विज्जो, भत्ताइअकारयं इहं मज्झं।

तुब्भे वि किलेसेमि य, अमुगत्थमहं हरह खिप्पं॥

आर्य! यदि नाम अत्र वैद्यो भवति ततः किं ममासौ करिष्यति, यतो भक्तादीनां न कारको ममेह विद्यते, तस्मिश्चाकारके युष्मानपि मुधैव परिक्लेशयामि, ततो माममुकत्र ग्रामे नगरे वा क्षिप्रमपहरत नयत, येन मे तत्र भक्तादिकारकः स्यात्, एवं ब्रुवाणोऽसौ ग्रामान्तरं प्रति चालयितव्यः।

चालनायामेव कारणान्तरमाह–

साणुप्पगभिक्खट्ठा, खीरे दुद्धाइयाण वा अट्ठा।

अब्भिंतरेतरा पुण, गोरससिंभुदयपित्तट्ठा ॥

नागरं ग्लानं, सानुप्रगे प्रत्यूषवेलायां लभ्यते या भिक्षा सा सानुप्रगभिक्षा, तदर्थं ग्रामं नयन्ति, नगरे हि प्राय उत्सूरे भिक्षा लभ्यते, तावतीं च वेलां प्रतीक्षमानस्य ग्लानस्य कालातिक्रान्तभोजित्वेन जठराग्निमाद्यमुपजायते। अतः सानुप्रगे सवारमेव भिक्षा यद् ग्रामे लभ्यते तदर्थं ग्लानो ग्रामं नीयते। नगरे दुग्धादीनि दुर्लभद्रव्याणि क्षीणानि,अतस्तेषां समर्थाय आभ्यन्तरा नगरवास्तव्यसाधवो ग्लानमन्यत्र नयन्ति, इतरे पुनर्ग्रामीणग्लानप्रतिचरकाः ग्लानस्य गोरसेन, सिंभः श्लेष्मा, तस्योदयो जातः, पित्तं चाऽऽक्षुभितमिति परिभाव्य तदुपशामकद्रव्याणामुत्पादनार्थं ग्लानं नगरं नयन्ति।

अथ वा नागरग्लानचालनायामिदं कारणम्–

परिहीणं तं दव्वं, चमढिज्जंतं तु अन्नमन्नेहिं।

कालाइकंते उय, वाहीपरिवड्डिओ तस्स ॥

अन्यान्यग्लानसङ्घाटकैः स्थापनाकुलेषु चमढमानं सत्परिहीणं तद्द्रव्यं ग्लानप्रायोग्यम्, अथवा वैद्येन ग्लानस्योपदिष्टम्–सवारमेव भवता भोक्तव्यं, तदानीं च नगरे न लभ्यते, इतस्तेन कालातिक्रान्तेऽतरन्तस्य व्याधिः सुष्ठुतरं परिवर्धितः।

एवमादीनि कारणानि विज्ञाय ते परस्परं भणन्ति–

उक्खिप्पिउ गिलाणो, अन्नं गामं च तं तु नेहामो।

नेऊण अन्नगामं, सव्व पयत्तेण कायव्वं ॥

उत्क्षिप्यतां ग्लानो, यतस्तमन्यग्रामं नेष्याम इत्येकवाक्यतया निश्चित्य सवारमेव निर्गन्तव्यं, यतः प्रत्यूषसि शीतलायां वेलायां नीयमानो ग्लानो न परितापते। किञ्च–"प्रत्यूषसि हिता मार्गाः, परिहाससहिताः स्त्रियः। सद्बीजं हि हितं क्षेत्रं, हितं सैन्यं सनायकम्" ॥१॥ ततो नीत्वा ग्लानमन्यं ग्रामं सर्वं प्रयत्नेन प्रतिचरणं कर्तव्यमिति। गतं चालनाद्वारम्।

(३३) अथ संक्रमणाद्वारमाह–

सो निज्जइ गिलाणो, अंतरसंमेलणाएँ संछोभो।

नेऊण अन्नगामं, सव्व पयत्तेण कायव्वं ॥

एवमुत्क्षिप्य यं ग्रामं स नागरग्लानो नीयते, ततो ग्रामादन्यो ग्लानो नगरमानीयमानोऽस्ति, तेषामुभयेषामपि साधूनामन्तरा अपान्तराले संमिलनं, ततः परस्परं वन्दनं कृत्वा निराबाधं दृष्ट्वा ग्लानयोः 'संछोभं' संक्रामणं कुर्वन्ति–नागरा ग्रामीणग्लानं, ग्रामीणास्तु नागरग्लानमित्युक्तं भवति। नीत्वा चान्यं ग्रामं नगरं वा सर्वं प्रयत्नेन प्रतिचरणमुभयैरपि कर्तव्यम्।

किं पुनरभिधाय ते ग्लानसंक्रामणां कुर्वन्तीत्युच्यते–

जारिस दव्वे इच्छह, अम्हे मुत्तूण ता ण लब्भिहिह।

इयरे वि भणंतेवं, नियत्तिमो नेह अतरंतो ॥

नागरा ग्रामेयकान् ब्रुवते–यादृशानि तिक्तकटुकादीनि द्रव्याणि ग्लानार्थमिच्छथ, तानि तादृशानि अस्मान् मुक्त्वा विना न लप्स्यध्वे। इतरेऽपि ग्रामेयका नागरान् एवं भणन्ति–यूयमस्माभिर्विना दुग्धादीनि न लप्स्यध्वे। ततस्ते द्वये अपि परस्परमभिदधति–यद्येवं ततो निवर्तामहे, यूयममुमतरन्तं ग्लानं नयत, वयं युष्मदीयं नयाम इति।

एवं संक्रामणां कृत्वा तत्र च ग्रामे नगरे वा नीत्वा सर्वप्रयत्नेन प्रतिचारणा विधेया, न पुनर्निर्धर्मतयेत्थं चिन्तनीयं, भणनीयं वा–

देवा हु णे पसन्ना, जं मुक्का तस्स णे कयंतस्स।

सो हु अइतिक्खरोसो, अट्ठिगं वावारणासीलो ॥

तेणेव पीडिया मो, एयस्स वि जीवियम्मि संदेहो।

पउणो वि न एसऽम्हं, तं वि करिज्जा न व करेज्जा ॥

दुरवधारणे, नूनं (णे) अस्माकं देवाः प्रसन्नाः, यद् मुक्ता वयं तस्मात्कृतान्तात्। गाथायां पञ्चम्यर्थे षष्ठी। इह कृतान्तशब्देन कृतनिष्पादितं बह्वपि कार्यमन्तं नयतीति व्युत्पत्त्या कृतघ्न उच्यते। यद्वा–कृतान्तो यमः, तत्तुल्यत्वादसावपि कृतान्तः। अत एवाह–स हि अतितीक्ष्णरोषः पुनः पुना रोषणशीलो, दीर्घरोषी चेत्यर्थः। अधिकमत्यर्थं व्यापारणशीलः, कृताकृतेषु कार्येषु भूयो नियुङ्क्ते। यद्वा–तेनैव ग्लानेन पीडिताः खेदं प्रापिता वयमतो अस्य कर्तुं न शक्नुमः। अथ वा–एतस्यापि जीवने संदेहः, ततः किं निरर्थकमात्मानं परिक्लेशयामः। प्रगुणीभूतोऽपि चैष नाऽस्माकं भविष्यति, तदप्यन्यदीयस्य कुर्याद् वा, न वा, अतो वयमपि न कुर्महे। एवमादीनि ब्रुवाणानां तेषां निर्धर्माणामाचार्येण शिक्षा दातव्या, न तूपेक्षा विधेया।

यत आह–

जो उ उवेहं कुज्जा, आयरिओ केणई पमादेणं।

आरोवणा उ तस्सा, कायव्वा पुव्वनिद्दिट्ठा ॥

यस्तु यः पुनराचार्यः केनापि प्रमादेन प्रमत्तः सन्नुपेक्षां कुर्यात्, तस्यारोपणा निर्दिष्टा, कर्त्तव्याश्चत्वारो गुरव इत्यर्थः।

(३४) अथ चेयमारोपणा—

उवेहऽपीतियपरिता–वणमहयमुच्छकिच्छकालगए।

चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥

यो ग्लानस्योपेक्षां करोति तस्य चत्वारो गुरुकाः, उपेक्षायां कृतायां यदप्रीतिकं ग्लानस्य जायते ततोऽपि चत्वारो गुरवः, अनागाढपरितापे चतुर्लघु, आगाढपरितापे चतुर्गुरु, महादुःखे षड्लघु, मूर्च्छायां षड्गुरु, कृच्छ्रोच्छ्वासे मूलं, समवहते अनवस्थाप्यं, कालगते पाराञ्चिकम् ।

उवेहोभासणपरिता-वणमहयमुच्छकिच्छकालगए ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेओ मूलं तह दुगं च ॥

उपेक्षायां स ग्लानः स्वयमेव गत्वा गृहस्थानवभाषते चत्वारो लघवः, तस्य तत्र गच्छतः शीतवातातपैः परिश्रमेण वाऽनागाढपरितापनादीनि जायन्ते ततः प्रायश्चित्तमनन्तरगाथोक्तनीत्या द्रष्टव्यम् ।

उवेहोभासणठवणा-परितावणमहयमुच्छकिच्छकालगए ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥

उपेक्षायां ग्लानो भक्तपानमौषधं वा अवभाषणेनोत्पाद्य स्थापयति, न शक्नोम्यहं दिने दिने पर्यटितुं, ततश्चत्वारो गुरवः, तेन परिवासितेन शीतलत्वादनागाढपरितापनादीन्युपजायन्ते । प्रायश्चित्तयोजना प्राग्वत् ।

उवेहोभासणकरणे, परितावणमहयमुच्छकिच्छकालगए ।
चत्तारि छच्च लहु गुरु, छेदो मूलं तह दुगं च ॥

उपेक्षायां यदि ग्लानोऽवभाष्य स्वयमेवौषधादिकं करोति, गृहस्थैर्वा कारयति, तदा चत्वारो गुरवः; स्वयं कुर्वतः चिकित्साधनादिभिर्गृहस्थैर्वा कारयतोऽनागाढपरितापादीनि भवन्ति । शेषं प्राग्वत् ।

वेहासण ओहाणे, सलिंग पडिसेवणं निवारिंते ।
गुरुगा अनिवारिंते, चरिमं मूलं च जं जत्थ ॥

अप्रतिजागरतो ग्लानो यदि निर्वेदेन वैहायसं मरणमभ्युपगच्छति, ततस्तेषां सप्रतिजागरकाणां चरमं पाराञ्चिकम । अथावधावनं करोति ततो मूलं, स्वलिङ्गे स्थितो यः पृथक्कृत्य प्रतिसेवनां करोति, ततश्चतुर्गुरुकाः । यदि तं तथा प्रतिसेवमानं निवारयति तदा चतुर्गुरुकाः, अथ न निवारयति ततो यदप्राशुके अनेषणीयं वा गृह्यमाणे प्रायश्चित्तं तत्तत्र प्राप्नोति ।

अथ निर्धर्मा येषु स्थानेषु ग्लानं त्यजेत्तान्याह-

संविग्गा गीयत्था, संविग्गा खलु तहेवऽगीयत्था ।
संविग्गमसंविग्गा, नवरं पुण ते अगीयत्था ॥
संविग्ग संजईओ, गीयत्था खलु तहेवऽगीयत्था ।
संविग्गमसंविग्गा, नवरं पुण ता असंविग्गा ॥

संयताश्चतुर्द्धा-संविग्ना गीतार्थाः १ संविग्ना अगीतार्थाः २ असंविग्ना गीतार्थाः ३ असंविग्ना अगीतार्थाश्चेति ४ । संयत्योऽपि चतुर्विधाः-संविग्ना गीतार्थाः १ संविग्ना अगीतार्थाः २ असंविग्ना गीतार्थाः ३ असंविग्ना अगीतार्थाः ४ ।

एतेष्वष्टसु स्थानेषु ग्लानं परित्यजतः प्रायश्चित्तमाह-

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥

प्रथमे स्थाने ग्लानं परित्यजति चत्वारो लघुकाः, द्वितीये चत्वारो गुरुकाः, तृतीये षण्मासा लघवः, चतुर्थे षण्मासा गुरवः, पञ्चमे छेदः, षष्ठे मूलम, सप्तमे अनवस्थाप्यम । अष्टमे पाराञ्चिकं भवति ।

यदि वा-

संविग्ग नीयवासी, कुसील ओसन्न तह य पासत्था ।
संसत्ता विंटाया, अहछंदा चेव अट्ठमगा ॥

संविग्नाः १ नित्यवासिनः २ कुशीलाः ३ अवसन्नाः ४ पार्श्वस्थाः ५ संसक्ताः ६ विण्टकाः ७ यथाच्छन्दाश्चैव अष्टमाः ८ ।

एतेषु परित्यजतो यथासंख्यमिदं प्रायश्चित्तम्-

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥

चत्वारो लघुकाः १ चत्वारो गुरुकाः २ षण्मासा लघुकाः ३ षण्मासा गुरुकाः ४ छेदो ५ मूलं च ६, तथा अनवस्थाप्यश्च ७ पाराञ्चिकम ८ ।

अथ वा-

संविग्गा सिज्जातर, सावग तह दंसणे अहाभद्दे ।
दाणे सड्ढी तह पर-तित्थिग परतित्थगा चेव ॥

संविग्नाः-प्रतीताः १। शय्यातरः-प्रतिश्रयदाता २। श्रावको-प्रतीताणुव्रतः ३। दर्शनसंपन्नः-अविरतसम्यग्दृष्टिः ४। यथाभद्रकः-शासने बहुमानवान् ५ । दानश्राद्धिको-दानरुचिः ६ । परतीर्थिकः-शाक्यादिपुरुषः ७ । परतीर्थिकादिः-पाषण्डिनः ८ ।

एतेषु परित्यजतो यथाक्रममिदं प्रायश्चित्तम-

चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥

उक्ता गाथा ।

अथ क्षेत्रतः प्रायश्चित्तमाह-

उवस्सय निवेसण सा-ही गाममज्झे य गामदारे य ।
उज्जाणे सीमाए, सीममइक्कामइत्ता णं ॥
चउरो लहुगा गुरुगा, छम्मासा होंति लहुग गुरुगा य ।
छेदो मूलं च तहा, अणवट्ठप्पो य पारंची ॥

क्षेत्रान्तरं संक्रामितुमुपाश्रये ग्लानं परित्यज्य यदि गच्छति तदा चत्वारो लघुकाः, उपाश्रयाद्बहिष्कादय निवेशितं यावदानीय परिहरति चत्वारो गुरुकाः, साहिकायां षण्मासा लघवः । ग्राममध्ये षण्मासा गुरवः । ग्रामद्वारे छेदः, उद्याने मूलम् , ग्रामसीमनि परिष्ठापयति अनवस्थाप्यम् , स्वग्रामसीमानमतिक्रम्य परित्यजन् पाराञ्चिक इति । यत एवमतो न परित्यजनीयः ।

कियन्तं पुनः कालमवश्यं प्रतिचरणीयः ?; उच्यते-

छम्मासे आयरिओ, गिलाण परियट्टई पयत्तेणं ।
जाहे न संथरेज्जा, कुलस्स उ निवेदणं कुज्जा ॥

येन स ग्लानः प्रव्राजितो यस्य चोपसम्पदं प्रतिपन्नः स आचार्यः पौरुषीप्रमादमपि परिहृत्य प्रयत्नेन षण्मासान् ग्लानं परिवर्त्तयति प्रतिचरति । यदा षट्स्वपि मासेषु पूर्णेषु स ग्ला-

णो न संस्तरेत् प्रगुणीभवेत् । यद्वा-आचार्य एव स्वयमन्याभि-र्गणचिन्ताभिर्न संस्तरेत्, ततः कुलस्य निवेदनं कुर्यात्, कुलस-मवायं कृत्वा तस्य समर्पयेदित्यर्थः ।

ततः-

संवच्छराणि तिन्नि य, कुलं पि परियट्टई पयत्तेणं ।
जाहे न संथरिज्जा, गणस्स उ निवेदणं कुज्जा ॥

त्रीन् संवत्सरान् कुलमपि प्रायोग्यभक्तपानौषधादिभिः प्रयत्नेन परिवर्त्तयति,ततस्त्रिषु न यदा स संस्तरेत् तदा गणस्य निवेद-नं कुर्वीत ।

ततः—

संवच्छरं गणो वा, गिलाण परियट्टई पयत्तेणं ।
जाहे न संथरिज्जा, संघस्स निवेयणं कुज्जा ॥

एकं संवत्सरं यावत् गणोऽपि ग्लानं महता प्रयत्नेन परिवर्त्त-यति, ततो यदा न संस्तरेत् ततः सङ्घस्य निवेदनं कुर्यात्, ततः सङ्घो यावज्जीवं तं सर्वप्रयत्नेन परिवर्त्तयति ।

गाथात्रयोक्तमर्थमेकगाथायां संगृह्य प्रतिपादयति-

छम्मासे आयरिओ, कुलं तु संवच्छराइँ तिन्नि भवे ।
संवच्छरं गणो वी, जावज्जीवा य संघो उ ॥

व्याख्यातार्था । एतच्च यो भक्तविवेकं कर्तुं न शक्नोति तमुद्दिश्य द्रष्टव्यम् । यस्तु भक्तविवेकं कर्तुं शक्नोति तेनाष्टादश मासान् यावत् प्रथमतश्चिकित्सा कारयितव्या, विरतिसहितस्य जी-वितस्य पुनः संसारे दुरापत्वात् । ततः परं यदि न प्रगुणीभवति ततो भक्तविवेकः कर्त्तव्य इति । आगाढे कारणजाते सति वैयावृत्त्यं कुर्यादपि, परित्यजेद्वा ग्लानम् ।

(३४) किं पुनस्तत्कारणजातमिति ?, उच्यते-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने ।
एएहिं कारणेहिं, अहवा वि कुले गणे संघे ॥

अशिवे, अवमौदर्ये, राजद्विष्टे, भये वा शरीरस्तेनसमुत्थे, (गेलन्ने त्ति) सर्वो वा गच्छो ग्लानीभूतः कस्य कः प्रतिचरणं करोतु? । एतैः कारणैरथवा कुलस्य गणस्य सङ्घस्य वा समर्पिते ग्लाने स्वयं कुर्वन्नपि शुद्धः । परित्यजने त्वियं यतना-अशिवे समुत्पन्ने देशान्तरं क्रामन् ग्लानमन्येषां प्रतिबन्धस्थितानां साधूनां समर्पयति । तेषामभावे शय्यातरादीनां समीपे, साधर्मि-कस्थलीषु वा,देवकुलेषु वा निक्षिपति । एवमेवावमौदर्यभये च द्रष्टव्यम् । राजद्विष्टे यद्येकस्य गच्छस्य प्रद्वेषमापन्नो राजा ततो-ऽन्येषां साधूनां समर्पयति । अथ सर्वेषामपि प्रद्विष्टस्ततः श्राव-कादिषु निक्षिप्य व्रजति ।

अत्सर्गतः पुनरेतैरपि कारणैर्निक्षिपति । किं तु स्कन्धे त्वस्य वहन्तीति ? आह च—

एएहिं कारणेहिं, तह वि वहंती न चेव उज्झिंति ।
असहिष्णु उ चयंती, उवगरणं नेव उ गिलाणं ॥

एतैः कारणैर्यद्यपि ग्लानो निक्षेप्तुं कल्पते, तथापि वहन्ति, नैव परित्यजन्ति । अथासहिष्णवो वा वोढुमसमर्थाः,तत उपकरणं परित्यजन्ति, नैव ग्लानम् ।

अह वा वि सो भणेज्जा, छड्डेउ ममं तु गच्छहा तुब्भे ।
होउ त्ति भणिएँ गुरुगा, इणमन्ना आवई बिइया ॥

अथ वा स ग्लानो भणेत्-मां छर्दयित्वा यूयं गच्छत । एवमुक्ते यदि कोऽपि साधुर्भवत्वेवमिति भणति तदा तस्य चत्वारो गुरुकाः । इयं प्रकारान्तरेणान्या द्वितीया आपदुच्यते ।

तामेवाह-

पच्चंतमिलिक्खेसुं, बोहियतेणेसु वा वि पडिएसु ।
जणवयदेसविणासे, नगरविणासे य घोरम्मि ॥
बंधुजणविप्पओगे, अमाएँऽपुत्ते वि वट्टमाणम्मि ।
तह वि गिलाण सुविहिया, वच्चंति वहंतगा साहू ॥

प्रत्यन्ताः प्रत्यन्तदेशवासिनो ये म्लेच्छास्तेषु,तथा बोधिकस्तेना नाम ये मानुषाणि हरन्ति, तेषु सत्सु, यो जनपदस्य, देशस्य वा तदेकदेशभूतस्य विनाशो विध्वंसस्तस्मिन्, तथा नगर-विनाशे च, घोरे रौद्रे उपस्थिते, बन्धुजनानां स्वज्ञातिलोकानां मरणभयात्पलायमानानां यः परस्परं विप्रयोगस्तस्मिन्, कथं-भूते-अमातापुत्रे स्वस्वजीवितरक्षणार्त्तणिकतया यत्र माता पुत्रं न स्मरति,पुत्रोऽपि मातरं न स्मरति,तस्मिन्नपि वर्तमाने,ये सु-विहिताः शोभनविहितानुष्ठानास्ते, तथाऽपि ग्लान वहन्तो व्र-जन्ति, न पुनः परित्यजन्ति ।

ततोऽसौ ग्लानः प्राह-

तारेह ताव भंते ! , अप्पाणं किं मयल्लयं वहह ।
एगालंबणदोसे-ण मा हु सव्वे विणस्सिहिह ॥

तारयत तावद्भदन्त ! यूयमात्मानमस्मादपारादापत्पारावारात्, किं मां मृतमिव मृतम् अवश्यंभाविमृत्युसंभवतया शवप्रायं वहत, अपि च मदीयमेव यदेकमालम्बनं तदेव बहूनां विनाशकारण-तया दोषस्तेन मा यूयं सर्वे विनश्यथ ।

एवं च भणियमेत्ते, आयरिया नाणचरणसंपन्ना ।
अचवल मणलिय हितयं, संताणकरिं वइमुदाही ॥

एवं च ग्लाने भणितमात्रे सति आचार्या ज्ञानचरणसम्पन्नाः, संविग्नगीतार्था इति भावः । अचपलामत्वरितां, त्वराकारणस्य मरणभयस्याऽभावात्,अनलीकां सत्यां,ज्ञातसारत्वात्, हिताम-नुकूलां,परिणामसुन्दरत्वात्, संत्राणकरीम् आर्तजनपरित्राणका-रिणीं, वाचं समुदाहृतवन्तः ।

कथमिति ?, आह—

सव्वजगज्जीवहियं, साहुं न जहामो एस धम्मो णे ।
जति य जहामो साहुं, जीवियमित्तेण किं अम्हं ? ॥

सर्वस्मिन् जगति ये जीवास्त्रसस्थावरभेदभिन्नास्तेषामभय-दायकतया हितं सर्वजगज्जीवहितं साधुं न जहामो न परित्य-जामः, एषोऽस्माकं धर्मः सामाचारी,यदि च साधुं प्रजहामस्ततः किमस्माकं जीवितमात्रेण सदाचारजीवितविकलेन बहिः प्रा-णधारणमात्रेण, प्रयोजनं, न किञ्चिदित्यर्थः ।

तं वयणं हियमधुरं, आसासंकुरसमुब्भवं सयणो ।
समणवरगंधहत्थी, वेइ गिलाणं परिवहंतो ॥

तदेवंविधं वचनं हितं परिणामपथ्यं, मधुरं श्रोत्रमनसां प्रह्ला-दकं,तथा आश्वास एवाङ्कुरः प्ररोहस्तस्य समुद्भव उत्पत्तिर्यस्मात् तदाश्वासाङ्कुरसमुद्भवं,ग्लानस्याश्वासप्ररोहवीजमिति भावः ।

स्वजन इव स्वजनः,स आचार्यः श्रमणवरगन्धहस्ती,यथा गजकलभानां यूथाधिपत्यपदमुद्वहमानो गिरिकन्दरादिविषमदुर्गेष्वपि पतितो न परित्यागं करोति, एवमयमपि गणधरपदमनुपालयन् विषमदशायामपि श्रमणवरान्न परित्यजतीति श्रमणवरगन्धहस्तीत्युच्यते, स ग्लानं परिवहन् परिवर्तयन्नेवमनन्तरोक्तं ब्रवीति ।

तत इत्थं तदीयवचनं श्रुत्वा समीपवर्तिनामगारिणामित्थं स्थिरीकरणमुपजायते-

जइ संजमो जइ तवो, दढमित्तित्तं जहुत्तकारित्तं ।
जइ बंभं जइ सोयं, एएसु परं न अन्नेसुं ॥

यदि संयमः पञ्चाश्रवविरमणादिरूपो, यदि तपोऽनशनादिरूपं, दृढमैत्रीकत्वं निश्चलसौहृदं, यथोक्तकारित्वं भगवदाज्ञाराधकत्वं, यदि ब्रह्म अष्टादशभेदभिन्नं ब्रह्मचर्यं, यदि शौचं निरुपलेपता-सद्भावसारता, एतानि यदि परमेतेष्वेव साधुषु प्राप्यन्ते, नान्येषु शाक्यादिपरतीर्थिकेषु, तेषामेवंविधस्य ग्लानप्रतिचरणविधेरभावात्। इत्थं तावद्विषमायामपि दशायां ग्लानो न परित्यक्तव्य इत्युक्तम् ।

अथात्यन्तिके भये तमपरित्यजतां यदि सर्वेषामपि विनाश उपढौकते, ततः को विधिरिति?, आह-

अच्चागाढे व सिया, निक्खित्तो जइ वि होज्ज जयणाए ।
तह वि ल दोएह वि धम्मो, रिजुभावविचारिणा जेणं ॥

अत्यागाढे अत्यन्तम्लेच्छादिभये,वाशब्दः पातनायाम, स च प्रागेव कृता, स्यात् कदाचित् यतनया निष्प्रत्यूहप्रायप्रदेशे यद्यप्यसौ ग्लानो निक्षिप्तो भवेत् तथापि द्वयोरपि ग्लानप्रतिचरकवर्गयोर्धर्मो मन्तव्यः । कुत इत्याह-येन कारणेन द्वावपि तौ ऋजुरकुटिलो मोक्षं प्रति प्रगुणो यो भावः परिणामस्तत्र विचरितुं शीलमनयोरिति ऋजुभावविचारिणौ ।

ततश्च-

पत्तो जसो य विउलो, मिच्छत्त विराहणा य परिहरिया।
साहम्मियवच्छल्लं, उवसंते तं वि मग्गंति ॥

तैराचार्यैः साधुभिश्च तादृशेऽपि भये सहसैव ग्लानमपरित्यजद्भिर्विपुलं दिग्विदिक्प्रचारि यशः प्राप्तं, तथा मिथ्यात्वं परित्यागसमुत्थमन्येषां तस्य वा मिथ्यादर्शनगमनं, तत्परिहृतं, विराधना च ग्लानस्य सहायविरहितस्य संयमात्मविषया, सा च परिहृता,साधर्मिकवात्सल्यं चाऽनुपालितं भवति । यदा तदत्यागाढं भयमुपशान्तं भवति तदा तं ग्लानं मार्गयन्ति, शोधयन्तीत्यर्थः गतं ग्लानद्वारम् । बृ० १ उ० । (निर्ग्रन्थ्या निर्ग्रन्थेन वा ग्लान्येऽपि कश्चित्र परिष्वजनीय इति 'पलिस्सयण' शब्दे वक्ष्यते । ग्लान्ये निर्ग्रन्थ्युपाश्रये निर्ग्रन्थस्य गमने चिकित्सा 'वसई' शब्दे वक्ष्यते । अवधावितस्याचार्यस्य चिकित्सा 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३१८ पृष्ठ उक्ता । ग्लानार्थेषु प्रलम्बग्रहणं 'पलंब' शब्दे वक्ष्यते)

कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए (२०)

भिक्षणशीला भिक्षुर्ग्लानस्यापटोरपरस्य भिक्षोर्वैयावृत्त्यादिकं कुर्यात् । कथं कुर्यादेतदेव विशिनष्टि-स्वतोऽग्लानतया यथाशक्ति समाहितः समाधिं प्राप्त इति । इदमुक्तं भवतियथा यथाऽऽत्मनः समाधिरुत्पद्यते तथा पिण्डपातादिकं विधेयमिति । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

(३६ ग्लानार्थमशनम्-

भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु-समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे वा मणुष्णं भोयणजायं लभित्ता से भिक्खू गिलाइ से इंदह णं तस्साहरह. से य भिक्खू णो भुंजेज्जा, तुमं चेव णं भुंजेज्जासि, से एगतितो भोक्खामि त्तिकट्टु पलिउंचिय पलिउंचिय आलोएज्जा। तं जहाइमे पिंडे इमे लोए इमे तित्तए इमे कडुए इमे कसाए इमे अंबिले इमे महुरे णो खलु एत्तो किंचि गिलाणस्स सदति त्ति माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, तहेव तं आलोएज्जा जहा वि तं गिलाणस्स सदति तं तित्तियं तित्तए त्ति वा कडुयं कडुयं कसायं कसायं अंबिलं अंबिलं महुरं महुरं । भिक्खागा णामेगे एवमाहंसु-समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे व मणुष्णं भोयणजातं लभित्ता से य भिक्खू गिलाइ से इंदह णं तस्साहरह से य भिक्खू णो भुंजेज्जा आहारेज्जासि णं, णो खलु इमे अंतराए आहरिस्सामि इच्चेयाइं आयतणाइं उवातिकम्म माइट्ठाणं परिहरिय गिलाणस्सदिज्जा, आहरेज्जा वा ।

" भिक्खागा णामेगे " इत्यादि । भिक्षामटन्ति भिक्षाटाः, भिक्षणशीलाः साधव इत्यर्थः । नामशब्दः संभावनायां, वक्ष्यमाणमेषां संभाव्यते । एके केचन एवमाहुः साधुसमीपमागत्य वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः-तत्र साधवः समाना वा सांभोगिका भवेयुः, वाशब्दादसांभोगिका वा । तेऽपि वसन्तो वास्तव्याः अज्ञाता वा ग्रामादेः समागता भवेयुः । तेषु च कश्चित्साधुर्ग्लायति ग्लानमनुभवति, तत्कृते तान् सांभोगिकादींस्ते भिक्षाटाः मनोज्ञभोजनलाभे सत्येवमाहुरिति संबन्धः । (स इति) एतन्मनोज्ञमाहारजातं " इंदह " गृह्णीत यूयम् । ' णं ' इति वाक्यालंकारे । तस्य ग्लानस्याऽऽहरत, नयत, तस्मै प्रयच्छत इत्यर्थः । ग्लानश्चेन्न भुङ्क्ते ग्राहक एवाभिधीयते-त्वमेव भुङ्क्ष्वेति । स चभिक्षुर्भिक्षुभिर्दत्तात् ग्लानार्थं गृहीत्वाऽऽहारं तत्राध्युपपन्नः सन्नेक एवाहं भोक्ष्य इति कृत्वा तस्य ग्लानस्य (पलिउंचिय पलिउंचिय त्ति) मनोज्ञं २ गोपित्वा वातादिरोगमुद्दिश्य तस्यालोकयेत् दर्शयेत्,यथा अपथ्योऽयं पिण्डमिति बुद्धिरुत्पद्यते, तद्यथाऽसौ ढौकित्वा यदत्ययं पिण्डो भवदर्थं साधुना दत्तः, किं त्वयं (लोए त्ति) रूक्षः, तथा तिक्तः, कटुः, कषायोऽम्लो मधुरो वेत्यादिदोषयुक्तत्वान्नातःकिञ्चित् ग्लानस्य सदतीति,उपकारेण वर्तत इत्यर्थः। एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्र चैतत् कुर्यादिति । यथा च कुर्यात्तद्दर्शयति-तथाऽऽवस्थितमेव ग्लानस्यालोकयेद्यथाऽवस्थितमिति । एतदुक्तं भवति-मातृस्थानपरित्यागेन यथावस्थितमेव ब्रूयादिति। शेषं सुगमम् । तथा "भिक्खागेत्यादि" भिक्षाटाः साधवो मनोज्ञमाहारं लब्ध्वा समनोज्ञाँश्च वास्तव्यान् प्राघूर्णकान् वा ग्लानमुद्दिश्यैवमूचुः-एतन्मनोज्ञमाहारजातं गृह्णीत यूयं, ग्लानाय नयत, स चेत् न भुङ्क्ते, ततोऽस्मदन्तिकमेव ग्लानाद्यर्थमाहरेदानयेत्, स चैवमुक्तः सन्नेवं वदेद्यथा अन्तरायमन्तरेणाऽऽहरिष्यामीति प्रतिज्ञायाऽऽहारमादाय ग्लानान्तिकं गत्वा प्राक्तनान् भक्तादिदोषानुद्घाट्य ग्लानायाऽदत्त्वा स्वत एव लौल्याद् भुक्त्वा ततस्तस्य साधोर्निवेदयति । यथा-

मम शूलं वैयावृत्यकालपर्याप्त्यादिक्रमन्तरायिकमभूदतोऽहं तत् ग्लानभक्तं गृहीत्वा नायात इत्यादि मातृस्थानं संस्पृशेदेतद्वर्जयेत्, इत्येतानि पूर्वोक्तान्यायतनानि कर्मोपादानस्थानानि उपातिक्रम्य सम्यक् परिहृत्य मातृस्थानपरिहारेण ग्लानाय वा दद्यात्, दातृसाधुसमीपं वाऽऽहरेदिति। आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ०।

(निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां च ग्लान्ये मिथो वैयावृत्यं 'वेयावच्च' शब्दे वक्ष्यते)

विषयसूची-

(१) ग्लानं प्रति गवेषणम्।
(२) ग्लानद्वारे कुत्र कुत्र ग्लानान्वेषणं कर्तव्यमितिनिरूपणम्।
(३) ग्लानस्यप्रतिबद्धद्वारसंग्रहः।
(४) शुद्धद्वारे ग्लानसमीपगमनोपचारादयः।
(५) ग्लानस्योपचाराकरणे प्रायश्चित्तम्।
(६) ग्लानवैयावृत्ये कीदृशस्य साधोर्नियोजनम्।
(७) विपरीतकरणे दोषाः।
(८) श्रद्धाद्वारे ग्लानं प्रति निर्जरार्थिनः साधोर्झटिति गत्वा वैयावृत्यकरणयतना।
(९) सूत्रार्थपौरुषीव्यापारणे विधिः।
(१०) क्षेत्रे संस्तरणाभावेऽन्यत्र गच्छतां विधिः।
(११) इच्छाकारद्वारे महर्द्धिकदृष्टान्तः।
(१२) अशक्तद्वारेऽशक्तभुवां प्रति स्थविरोक्तिः।
(१३) सुखितद्वारे प्रमादेन ग्लानवैयावृत्याकरणे प्रायश्चित्तप्ररूपणम्।
(१४) अपमानद्वारेऽपमानमिषेण ग्लानं प्रत्यगच्छतां प्रायश्चित्तम्।
(१५) लुब्धद्वारे वैयावृत्यमिषेण मनोज्ञभोजनाभिलाषुकगमने क्रोधोद्वेजनरूपदोषप्रदर्शनम्।
(१६) तत्र द्रव्यक्षेत्रादिकमधिकृत्य प्रायश्चित्तम्।
(१७) ग्लानस्य सचित्ताचित्तचिकित्सायां नद्यमीपोतदृष्टान्तः।
(१८) अनुवर्तनाद्वारे ग्लानवैद्ययोरनुवर्तनाविस्तरः।
(१९) वैद्यानुवर्तनायां प्रस्तावना, कथं ग्लानो भवतीति-प्रश्नश्च।
(२०) नोपशाम्यति रोगे विधिर्वैद्याह्वकप्रदर्शनं च।
(२१) वैद्यसमीपं गच्छतां विधिः, प्राभृतिकाप्ररूपणं च।
(२२) गमनद्वारे कीदृशस्य पुरुषस्य वैद्यसमीपे प्रेषणं कर्तव्यमितिप्ररूपणम्।
(२३) ये न प्रेषणीयास्तेषां निरूपणम्।
(२४) शकुनद्वारे वैद्यसमीपे गच्छतः शकुनाशकुनविचारः।
(२५) वैद्यसमीपं प्राप्तस्य शकुनाशकुनविचारः।
(२६) संगारद्वारे वैद्यसमीपं प्रस्थितस्य साधोर्येषां सन्निधिरावश्यकी तेषां निरूपणम्, वैद्यसमीपे यत्कथनीयं तन्निरूपणं च।
(२७) वैद्यस्य उपदेशद्वारे द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण ग्लानानुवर्तना।
(२८) वैद्योपदिष्टैः साधुभिस्तुलना कर्तव्या।
(२९) प्रतिश्रयमागतस्य वैद्यस्य यो विधिः कर्तव्यस्तत्र द्वारसंग्रहः।
(३०) नक्कद्वारे वैद्यग्लानयोरनुवर्तनायां विस्तरः।
(३१) भूतिद्वाराऽऽहारद्वारयोः स्वीयान्यदीयग्लानभेदेन धर्मकथाऽऽदियतना।
(३२) चालनाद्वारे ग्लानचालनायां कारणानि।
(३३) संक्रामणाद्वारे नागरग्रामीणग्लानयोः संक्षोभः।
(३४) ग्लानस्योपेक्षायां त्यागे च प्रायश्चित्तं, कियन्तं कालं पुनः प्रतिचरणीयो ग्लान इत्यादिनिरूपणम्।
(३५) यैः कारणैर्ग्लानस्य त्यागस्तेषां निरूपणम्।
(३६) ग्लानार्थमेषणावक्तव्यता।

गिलाणभत्त-ग्लानभक्त-न०। ग्लानस्य नीरोगतार्थं भिक्षुकदानाय यत् कृतं भक्तं तद् ग्लानभक्तम्। भ० ५ श० ६ उ०। ग्लानः सन्नारोग्याय यद्ददाति तत्। औ०। ग्लानो रोगोपशान्तये यद्ददाति, ग्लानेभ्यो वा यद्दीयते। स्था० ६ ठा०। ग्लानस्य रोगोपशमनार्थमारोग्यशालायां ग्लानस्य वा दीयमाने भक्ते, नि० चू० ९ उ०।

गिलाणवेयावच्च-ग्लानवैयावृत्य-न०। ग्लानस्य भक्तपानादिभिरुपष्टम्भे, औ०। "कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए"। सूत्र० १ श्रु० ११ अ०। ध०।

गिलाणि-ग्लानि-स्त्री०। क्लमे, विशे०। अबहुमाने, स्था० ५ ठा० १ उ०। सूत्र०।

गिलायमाण-ग्लायत्-त्रि०। 'ग्लै' हर्षक्षये, इति धातुः। शरीरक्षयेण हर्षक्षयमनुभवति, बृ० ४ उ०। अशक्नुवति, अभिभूयमाने, स्था० ३ ठा० ३ उ०। ग्लानिमुपपन्ने. व्य० २ उ०। (परिहारकल्पस्थितस्य ग्लानस्य 'परिहार' शब्दे प्रतिपादितः)

गिलासि (ण्) ग्लासिन्-पुं०। भस्मके व्याधौ, स च वातपित्तोत्कटतया श्लेष्मन्यूनतया जायते। आचा० १ श्रु० ६ अ० १ उ०।

गिलिय-गिलित-त्रि०। प्रक्लिते, भक्षिते च। वाच०। आव०।

गिल्लि-गिल्लि-स्त्री०। मानुषं गिलतीव गिल्लिः। हस्तिन उपरि कोल्लरकपेऽर्थे, अनु०। ज्ञा०। भ०। जी०। रा०। पुरुषद्वयोत्क्षिप्तायां कोल्लिकायाम्, सूत्र० २ श्रु० २ अ०। पुरुषद्वयोत्क्षिप्तदोल्लिकायां वा। दशा० ६ अ०। जं०।

गिव्वाण-गीर्वाण-पुं०। इन्द्रयमकुबेरादिषु देवेषु, आ० म० प्र०।

गिह-गृह-न०। प्रासादे, ध० २ अधि०। गृहाणि प्रासादास्ते त्रिविधाः-खाता उच्छ्रिता उभयरूपाश्च। दशा० ६ अ०। सकुट्टिमं गृहम्, अकुट्टिमा शाला। नि० चू० ११ उ०। आवसथे, सूत्र० १ श्रु० १० अ०। अगारे, सूत्र० १ श्रु० २ अ०। "गिहगहणेण वा सव्वं खेत्तघरं घेप्पति"। नि० चू० ३ उ०। "गेह त्ति वा गिह त्ति वा एगट्ठा"। नि० चू० ३ उ०। (कीदृग् गृहं स्थापयेद्भावक इति 'धरघु' शब्दे वक्ष्यते) गृहस्थत्वे च, "गिहे दीवमपासंता" गृहे गृहस्थे दीपं भावदीपं श्रुतज्ञानमपश्यन्त इति वृत्तिः। सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। भवनभेदे, जी० ३ प्रति०।

गिहंतर-गृहान्तर-न०। गृहस्य गृहयोर्वाऽन्तराले, दशा० ३ अ०।

गिहंतरणिसिज्जा-गृहान्तरनिषद्या-स्त्री०। गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये निषद्या चाऽऽसनम्। सूत्र० १ श्रु० ९ अ०। गृहस्य गृहयोर्वा अपान्तराले उपवेशने, दशा० ३ अ०। "गोयरग्गपविट्ठस्स, णिसिज्जा जस्स कप्पइ"। दशा० ६ अ०।

गिहगमण-गृहगमन-न०। विजनवेश्मगमने, पञ्चा० २ विव०।

गिहत्थ-गृहस्थ-पुं०। गृहमगारं तत्र तिष्ठतीति गृहस्थः। सूत्र० २ श्रु० १ अ०। अगारिणि, पञ्चा० ७ विव०। "ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा"। द्वितीयाश्रमिणि, नि० चू० १ उ०। उत्त०। गृहीताणुव्रते, नि० चू० १ उ०। अप्रत्याख्यातसर्वसावद्यव्यापारे, दर्श०। गृहस्थनाथ एव श्रेयान्। पं० व० १ द्वार। ध०। अवधावित्वा गृहस्थो भवेत्। व्य० १ उ०। (तत्र कर्त्तव्यम् 'ओहावण' शब्दे तृतीयभागे १३० पृष्ठे उक्तम्) गृहे गृहलिङ्गे तिष्ठतीति गृहस्थः। पश्चात्कृतभेदे, व्य० ४ उ०। "असिहो ससिहो य गिहत्थो, रयहरणवगाउ होइ सारूवी"। व्य० ४ उ०। गृहस्थः पश्चात्कृतो द्विविधोऽशिखः सशिखश्च, तत्र यः केशान् धारयति स सशिखः। यस्तु मुण्डनेन तिष्ठति सोऽशिखो भवति, रजोहरणवर्जः, रजोहरणग्रहणं दण्डकपात्रादीनामुपलक्षणम्, ततोऽयमर्थः-यः शिरसो मुण्डनमात्रं कारयति, न च रजोहरणदण्डकपात्रादिकं धरते सोऽशिख इति। व्य० ४ उ०।

गिहत्थणिक्खेवग-गृहस्थनिक्षेपक-पुं०। गृहस्थानिक्षिपति, यथा अमुकोऽत्र नियुज्यताम्। नि० चू० १२ उ०।

गिहत्थभाव-गृहस्थभाव-पुं०। गृहस्थत्वे, पञ्चा० १० विव०।

गिहत्थभासा-गृहस्थभाषा-स्त्री०। मर्मोद्घाटनशापप्रदानजकारमकारादिवचने; ग० ३ अधि०। गृहस्थानां भाषाः "मम्मा भाई बाप भाई" इत्यादिकायां भाषायाम, गृहस्थैः सह सावद्यभाषायां वा, "तं गच्छं गच्छवए, गिहत्थभासा उ नो जत्थ" ग० ३ अधि०।

गिहत्थमुंड-गृहस्थमुण्ड-पुं०। क्षुरेण मुण्डे, व्य० ४ उ०।

गिहसंसट्ठ-गृहसंसृष्ट-न०। गृहस्थस्य भक्तदायकस्य संबन्धि संसृष्टं विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्तं यत्करोटिकादिभाजनं तद् गृहस्थसंसृष्टम्। गृहिणोपलिप्ते भाजने, पञ्चा० ५ विव०। विकृत्यादिद्रव्येणोपलिप्ते भक्तदायकस्य संबन्धिकरोटिकादिभाजने, ध० २ अधि०। ततोऽन्यत्र विकृतिः प्रत्याख्यायते विकृत्यादिसंसृष्टभाजनेन दीयमानं भक्तमकल्प्यद्रव्यावयवमिश्रं भवति न तद्भुञ्जानस्यापि भङ्ग इति भावः। पञ्चा० ५ विव०। गृहस्थैरोदनादिभिर्दध्यादिना स्वप्रयोजनाय संश्लेषिते, प्रव० ४ द्वार। आचा०। ध०।

गिहत्थसार-गृहस्थसार-पुं०। गृहिणां सार इव सारः, सर्वस्वमीप्सितार्थसाधकत्वात्। भाग्ययक्षे, पञ्चा० ८ विव०।

गिहदुवार-गृहद्वार-न०। गृहद्वारे, नि० चू० ३ उ०।

गिहधूम-गृहधूम-पुं०। गृहस्थे धूमे, नि० चू०।

जे भिक्खू गिहधूमं अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिसामावेइ, परिसाडंतं वा साइज्जइ ॥ ५६ ॥

(जे भिक्खू घरधूममित्यादि) आणादि, मासगुरुं च से पच्छित्तं। कम्हा घरधूमं स घेप्पति-

घरधूमोसहकज्जे, दद्दु किडिभे य कच्छु अगतादी।
घरधूमम्मि णिबंधो, तज्जातिअसूयणट्ठाए ॥२९४॥

दद्रू प्रसिद्धं, किडिभं जंघासु कालाभं रसियं वहति, कच्छुः पामा, अगतादिएसु वा छुब्भति, घरधूमे सुत्तणिबंधो तज्जाइयसूयणट्ठा कतो, तज्जातिगहणातो अन्ने वि रोगा सूतिता, तेसु जेसु सहातारे अण्णउत्थिएण गेण्हावेंतस्स पत्तेय पच्छित्ते, अधिवं तज्जाइयसूयणं वा अन्नेसु वि रोगेसु किरिया कायव्वा।

तं अन्नतित्थिएणं, अहव्व गारत्थिएण सामावे।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं पावे ॥२९५॥

हत्थेण अपावेंतो, पीढादिफले जिए सकाए वा।
भंडविराधण कणुए, अहि उंदुर पच्छकम्मे वा ॥२९६॥

पूर्ववत् गारत्थिअण्णउत्थिएसु इमे दोसा (हत्थेण गाहा) भूमिठितो हत्थेहिं अपावेंतो पीढादिफलं ठवेत्तु तत्थारोढुं गेण्हति, तम्मि फले णि वमंतो पिवीलियादिजिए विराहेज्जा, सकाए वा हत्थादि विराहेज्जा, भंडगाणि वा विराहेज्जा, अच्छीसु कणयं पडेज्जा, अहिं उंदुरेण वा खज्जेज्जा, गारत्थअण्णउत्थियाए पच्छाकम्मं करेज्जा तम्हा ण तेहिं गेण्हावे, अप्पणा चेव।

पुव्वपडिसामितस्सा, गवेसणा पढमताए कातव्वा।
पुव्वपरिसामितासति, तो पच्छा अप्पणा सामे ॥२९७॥

जति पुव्वपरिसाडियं ण लब्भति तेण पच्छा अप्पणा साडेति, अयणाए, जहा पुव्वभणिया दोसा ण भवंति।

कारणे पुण तेहिं सामावेति-

बितियपदे होज्जऽसहू, अहवा वि सहू परो व ण लभेज्जा।
अधवा वि लब्भमाणे, होज्जा दोसुब्भवो कोई ॥२९८॥

अप्पणा असहू घरे वा परे वा ण लब्भति, अगारी वा तस्स पविट्ठं उवसग्गेति, अन्नो वा कोति हियणट्ठादिएहिं दोसुब्भवो होज्ज, एवमादिकारणं उवेक्खइ।

कप्पति ताहे गारत्थि-एण अधवा वि अन्नतित्थीणं।
परिसामण काउं जे, धूमे जतणा य साहुस्स ॥२९९॥

(कप्पति ताहे गाहा) गारत्थिअण्णउत्थिएण घरधूमं सामावेउं कप्पति ॥ नि० चू० १ उ०।

गिहमेहि-गृहमेधिन्-पुं०। गृहस्थे, "या गतिः क्लेशदग्धानां, गृहेषु गृहमेधिनाम्। बिभ्रतां पुत्रदारांस्तु, तां गतिं व्रज पुत्रक!" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

गिहलिंगसिद्ध-गृहलिङ्गसिद्ध-पुं०। मरुदेवीप्रभृतिषु गृहलिङ्गे विद्यमान एव सिद्धेषु, स०। प्रज्ञा०। नं०।

गिहलिंगी-गृहलिङ्गिन्-पुं०। गृहमेव लिङ्गं येषां ते गृहलिङ्गिनः। राजामात्यप्रकृतिप्रभृतिषु, दर्श०।

गिहवइ-गृहपति-पुं०। माण्डलिके राजनि, भ० १६ श० २ उ०।

गिहवच्च-गृहवर्चस्-न०। गृहस्य समन्ततः स्थाने, "गिहवच्चं पेरंता, परोहडं वा वि जत्थ वा वच्चं"। नि० चू० ३ उ०। ल०।

गिहवच्छल-गृहवत्सल-त्रि०। तैस्तैश्चाटुवचनैरात्मानं गृहस्थस्य रोचयति, सू० १ उ०।

गिहवत्थ-गृहवस्त्र-न०। गृहस्थपरिहिते वस्त्रे, नि० चू० १२ उ०। स०।

जे भिक्खू गिहवत्थं परिहेइ, परिहंतं वा साइज्जइ ॥ १५ ॥

गिहिवत्थं पाडिहारियं भुज्जंतस्स चउलहुं, आणादिया य दोसा।

गिहिपित्ते जो उ गमो, नियमा सो चेव होति गिहवत्थे।
नायव्वो तु मतिमया, पुव्वे अवरम्मि य पदम्मि ॥ ७१ ॥
कंठा।

इमे विसेसदोसा-

कोट्टित छिण्णअछिण्णे, धयतिल्लिए अंकिते व अवियत्तं।
दुग्गंध जूय तावण, उप्फासण धोव धूवणता ॥ ७२ ॥
मूसगेण कुट्टितं पमाणातिरित्तं, छिण्णे दोसा, अच्छिण्णे सकज्जहाणी, घयतेल्लादिणा वा अंकियं, एमादिं कारणेहिं अवियत्तं जणति, साधूणं अण्हाण्ण परिमलेण वा दुग्गंधं जुगुंछंति, जूयति-उप्पया जयंति, डहेति वा, ताओ अगणिउण्हे वा तावेति, संजतेहिं परिभुत्तं उप्फोसति, धावति वा, दुग्गंधं वा धूवेति। नि० चू० १२ उ०।

गिहवास-गृहवास-पुं०। गृहस्थभावे,सूत्र०१ श्रु० ६ अ०। ध० र०।
गिहवासं पासं पि व, मन्नंतो वसइ दुक्खिओ तम्मि।
चारित्तमोहणिज्जं, निज्जिणिउं उज्जमं कुणइ ॥ ६५ ॥
गृहवासं गृहस्थतां पाशबन्धनविशेषमिव मन्यमानो नावयन् वसत्यवतिष्ठते दुःखितो दुःखवान् तस्मिन् गृहवासे,यथाहि किल पाशपतितो विहङ्गमो नोत्पतितुं शक्नोति, कष्टं च तत्रावस्थानं कलयति, एवं संसारभीरुरपि मातापित्रादिप्रतिबन्धेन दीक्षां गृहीतुमपारयन् शिवकुमार इव भावश्रावको गृहवासे दुःखेनावतिष्ठते। अत एव चारित्रमोहनीयं चरणावारकं कर्म निर्जेतुमपनयतुं प्रयत्नं करोति, तपःसंयमाद्यावितिशेषः।

शिवकुमारकथा त्वेवम्-

" अत्थि विदेहे मेहे, इव सुघणे पुक्खलावईविजए।
बहुवीयसोयलोया, वरनयरी वीयसोग त्ति ॥ १ ॥
सव्वयमहुयरपउमो, पउमरहो नाम नरवई तत्थ।
वरसीलहत्थिसाला, वणमाला तस्स पाणपिया ॥ २ ॥
ताणं अईव इट्ठो, विसिट्ठचिट्ठो सया वि धम्मिट्ठो।
पुत्तो य सिवकुमारो, सिरीससुकुमारकरचरणो ॥ ३ ॥
तत्थ य कामसमिद्धो, सत्थाहो मासखमणपारणए।
सागरचंदमुणिंदं, पडिलाहइ नाणतियकलियं ॥ ४ ॥
तस्स गिहे अह फारा, वसुहारा सुरगणेहि परिमुक्का।
तं निसमिय वुत्तंतं, सिवकुमरो हरिसिओ हियए ॥ ५ ॥
गंतुं तं मुणिवसहं, वंदिय उवविसइ उचियठाणम्मि।
तो सागरचंदगुरू, एवं से कयइ धम्मकहं ॥ ६ ॥
इह सयलाव पवित्ती, सुहेसिणो पाणिणो कुणंति सया।
तं च सिवम्मि तयं पुण, लब्भइ सुविसुद्धचरणेण ॥ ७ ॥
पाएण तयं सुद्धं, गिहवासठियस्स नेव संभवइ।
तो तव चइउ जुत्तं, घित्तुं अइनिम्मलं चरणं ॥ ८ ॥
इह सोउ सिवो पुच्छइ, भयवं! किं पुव्वभवभवो नेहो?।
जं पिच्छंतस्स तुमं, वड्ढइ अहियाहिओ हरिसो ॥ ९ ॥
तो ओहिणा मुणेउं, भणइ मुणिंदो पुरा सुगामम्मि।
मरहम्मि रट्ठकूम-स्स नंदणा रेवईपभवा ॥ १० ॥
भवदत्ताभिहभवदे-वनामया भाउणो दुवे आसि।
काऊण वयं सुइरं, पत्ता सोहम्मकप्पम्मि ॥ ११ ॥
भवदत्तजिओ अहयं, भवदेवजिओ तुमेस संजाओ।
तो पुव्वभवसिणेहा, मह विसए एस तुह हरिसो ॥ १२ ॥
तो गिहवासविरत्तो, सिवो पयंपइ मुणिंद! तुह पासे।
पुच्छिय अम्मापिउणो, पव्वज्जं संपवज्जिस्सं ॥ १३ ॥
इय भणिय नमिय गुरुणो, सो गंतु गिहम्मि पुच्छए पिउणो।
निबिडपडिबंधबंधुर-हियया ते बिंति हे वच्छ! ॥ १४ ॥
जइ भत्तो अम्हाणं, जइ अम्हे पुच्छिउं गहेसि वयं।
दिक्खानिसेहपवणा, तो णे रसणा सया होही ॥ १५ ॥
इय अभिमन्नंतेहिं, जणएहिं सिवो निसेहिउं सव्वं।
सावज्जं पमियज्जइ, जावज्जइत्तं तहिं चेव ॥ १६ ॥
पिउवव्वेयनिमित्तं, कयमोणो भुंजए वि नेव इमो।
हक्कारिय दढधम्मो, इब्भसुओ तो भिवेणुत्तो ॥ १७ ॥
पुत्त! सिवकुमारेणं पव्वज्जाभिलासिएण अम्हेहिं अविसज्जिएणं मोणं पडिवन्नं, संपयं भुत्तुं पि न इच्छइ, तं जहा जाणसि तहा णं भोयावेहि, एवं करंतेण अम्हं जीवियं दिन्नं ति मणे ठवेऊण पत्तसुविदिन्नभूमिभागो सिवं असंकियं उवसंपज्जसु त्ति। तओ सो व पणओ-सामि! करिस्सं जं जुत्तं ति, उवगओ सिवकुमारसमीवं,निस्सीहियं च काऊण इरियाइ पडिक्कंतो;बारसावत्तं किइकम्मं काऊण पमज्जिऊणं अणुजाणमित्ति आसीणो। सिवकुमारेण चिंतियं-एस इब्भपुत्तो अगारी साहुविणयं पउंजिऊण ठिओ, पुच्छामि ताव णं, तेण भणिओ, इब्भपुत्त! जो मया गुरुणो सागरदत्तस्स समीवे साहूहिं विणओ पउंजमाणो दिट्ठो सो तुमए पउत्तो, तो कहेहि कह न विरुज्झइ ?। दढधम्मेण भणिय-कुमार! आरहए पवयणे विणओ समणाणं सावगाणं च सामन्नो,जिणवयणं सच्चं ति जा दिट्ठी सा वि साहारणा, समणा पुण महव्वयधरा, अणुव्वइणो सावगा, जीवाजीवाहिगमबंधमुक्खविहाणं आगमु त्ति, साहवो समत्तसुयसागरपारगा तवे दुवालसविहं केइ विसेसंति त्ति।
ता कुमर! तुमं समना-वभावओ वंदणारिहोसि धुवं।
पुच्छामि किं तु एयं, किं चत्तं भोयणं पि तए ॥ १८ ॥
देहो य पुग्गलमओ, जं आहारेण विरहिओ न भवे।
तदभावे न य चरणं, चरणाभावे कओ सिद्धी ॥ १९ ॥

किं च-

निरवज्जं आहारं, देहाहारं मुणी वि गिण्हंति।
ता कम्मनिज्जरट्ठी, तुमं पि तं कुमर! गिण्हेसु ॥ २० ॥
आहारो निरवज्जो, संपज्जइ किह णु मज्झ गिहवासे ?।
तो वरमभोयणं इब्भपुत्त ! एवं सिवो आह ॥ २१ ॥
इब्भो भणेइ तं अ-ज्जपभिइ सुगुरू अहं च तुह सीसो।
संपाइस्सं सव्वं. जं इच्छसि तमिह निरवज्जं ॥ २२ ॥
पभणइ सिवो सिवत्थी, जइ एवं तो करिसु छट्ठतवं।
आयंबिलेण काहं, पारणयं असुहवारणयं ॥ २३ ॥
तो सम्मं दढधम्मो, अइदढधम्मस्स सिवकुमारस्स।
वेयावच्चं निरव-ज्जअसणमाईहि पकरेइ ॥ २४ ॥
पासं पि व गिहवासं, बंधुजणं बंधणं व मन्नंतो।
काउं बारस वरिसे, इरिसेण सिवो छट्ठतवं ॥ २५ ॥
जाओ य विज्जुमालि, त्ति तेयभरजासुरो सुरो बंभे।
दससागरोवमाऊ, तो चविउं रायगिहनयरे ॥ २६ ॥
इब्भस्स रिसहदत्त-स्स धारणिपणइणीइ संजाओ।
पुत्तो जंबू जंबुद्दीवाहिवजणियहरिसभरो ॥ २७ ॥
नवनवइ कणयकोडी, चइय सुरूवाउ अट्ठ कन्नाओ।
अम्मापिउणो पभव-प्पमुहजणं बोहिउं बहुयं ॥ २८ ॥
सिरिवीरजिणिंदपया-रविंदभसलस्स सयलसुयनिहिणो
पासे सुहम्मगुरुणो, स महप्पा गिण्हए दिक्खं ॥ २९ ॥

होऊण जुगप्पहाणो, चिरकालं सासणं पभावेउं ।
उप्पाडियवरनाणो, जंबू सामी सिवंपत्तो ॥ ३० ॥
इति शिव इव गेहवासपाशे
य इह दधीत विरागसङ्गमङ्ग ! ।
स हि यदि चरणं लभेत नात्र
भुवमसमं तदवाप्नुयादमुत्र " ॥ ३१ ॥ ध० र० ॥

गिहावट्ट-गिहावत्त-पुं० गृहमेव आवर्त्तो गृहावर्तः । गृहाश्रमे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

गिहि-गृहिन्-पुं० । गृहस्थे, पञ्चा० ४ विव० । प्रश्न० । " गिहिणो वेयावडियं " दश० ३ अ० । सूत्र० । (गृहियतिनोर्भेदोऽन्यत्र) यथाभद्रके, नि० चू० २ उ० ॥

गिहिकज्जचिंतग-गृहिकार्यचिन्तक-त्रि० । अगारिकृत्यकरणतत्परे, ग० ३ अधि० ।

गिहिजोग-गृहियोग-न० । मूर्च्छया गृहस्थसम्बन्धे, द्वा० २७ द्वा० । दश० ।

गिहिणिसेज्जा-गृहिनिषद्या-स्त्री० पर्यङ्कादौ गृहासने, नि० चू०

जे भिक्खू गिहिणिसेज्जं वाहेइ, वाहंतं वा साइज्जइ ।१६।

गिहिणिसेज्जा पलियंकादी, तत्थ णिसीदंतस्स चतुलहुं, आणादिया य दोसा ।

गोयरमगोयरं वा, जे भिक्खू निसेवए गिहिणिसेज्जं ।
आयारकहादोसा, अववायस्सावयातो य ॥ ७३ ॥

भिक्खायरियागतो, आगतो वा धम्मं वत्तुकामा आयारकहा, सत्थ जे दोसा भणिया ते गिहिणिसेज्जं वाहेंतस्स इह वत्तव्वा, अस्थाने अपवादापवादश्च कृतो भवति ।

किञ्चान्यत्—

बंभस्स होतऽगुत्ती, अणोण्णं पियवहो जणे अह वा ।
चरगादीपमियातो, गिहीण अचियत्तसंकादी ॥७४॥
खरए खरियासु एहा-गुच्छट्ठण सुरे जणे संका ।
रचणे अगिणिकाए, दार वती संकणा हरिते ॥ ७५ ॥

गिहिणिसेज्जं वाहितस्स बंभचेरअगुत्ती भवति, किमेसं जाताणि वहो चिठति त्ति अचियत्तं मेहुणासंका भवति, चरगादिसु य णटेसु स संजतो संकिज्जति, खेत्ते वा खए अगणिणा वा दड्ढे दारेण वा हरिते वती वा छेत्तुं हरिते साधू संकिज्जति, जम्हा एते दोसा तम्हा णो गिहिणिसेज्जं वाहेइ ।

इमेसिं पुण अणुण्णा-

उज्जुग्गसरीरे वा, दुब्बल तवसोसिओ व जो होज्जा ।
थेरे जुण्ण महल्ले, वीसंजणे वि स हतसंको ॥७६॥

वाजसत्तं अकरेंतो मलपंकियसरीरो जपति । रोगपीडिओ दुब्बलसरीरो, तवसोसियसरीरो वा जो थेर त्ति सट्ठिवरिसे विसेसेणं जुन्नसरीरे, 'महल्ले त्ति' सव्वेसिं वुड्ढतरो संविभागमधारी विसंभणे वि सो चेव हतसंको, अहवा तत्थ णिसन्नो संकिज्जति जो केणइ दोसेण सो हतसंको ।

अहवा ओसहहेतुं, संखे संवाडए व वासासु ।
वाघायम्मि व तत्या, जयणाए कप्पती ठातुं ॥ ७७ ॥

(अहव त्ति) अथवा कारणप्रदर्शने, ओसहहेतुं दातारं घरे असहीणं पडिच्छति, संखडीए वा वेलं पडिक्खति. भरियं भायणं जाव मुंचति ताव संघाडओ पडिच्छति, वासे वा पडंते अत्थति, थुरादिउव्वहणेण वरेच्छाए वाघातो, जहा पुव्वुत्ता दोसा ण भवंति, तहा जयणाए अत्थिओ कप्पति ।

एएहि कारणेहिं, अणुण्णवेऊण विरहिते देसे ।
अत्यंतऽववातेणं, अववायावायता चेव ॥ ७८ ॥

वीयसुयमंगादिविरहिते देसे गिहिवात्ति सामिं अणुण्णवेउं अत्थंतऽववाएण वज्झठिया । अववाए पुण अववाओ अववाओ भवति, तेण अववादेण णिसीदन्तीत्यर्थः । नि० चू० १२ उ० ।

गिहितिगिच्छा-गृहिचिकित्सा-स्त्री० । गृहस्थान्ययूथिके चिकित्सायाम्, नि० चू० ।

जे भिक्खू गिहितिगिच्छं करेइ, करंतं वा साइज्जइ ॥१७॥

इमे सुत्तफासे-

जे भिक्खू तेगिच्छं, कुज्जा गिहि अहव अण्णतित्थीणं ।
सुहुमतिगिच्छा मासो, सेसतिगिच्छाएँ लहु आणा ॥७९॥
विरए वा अविरए वा, विरताविरते व तिविह तेगिच्छं ।
जं जं जुंजति जोग्गं, तट्ठाणयसंधणं कुणतो ॥८०॥

तिगिच्छा णाम रोगप्रतीकारः वमनविरेचनअभ्यङ्गपानादिभिः । तं जो गिहीण अथवा अन्नतित्थियाणं करेति, तस्स सुहुमतिगिच्छाए मासलहुं, बायरए चउलहुं, आणादिया य दोसा । सुहुमतिगिच्छा णाम णाहं वेज्जो अट्ठापदं देति, अप्पणो वा किरितं कहेति, चतुप्पादं वा तिगिच्छं करेति, गिलाणो आणिज्जंतो णिज्जंतो जं विराहेति तंणिप्फण्णं पावति, किरियकरणे काले वा जं कंदमूलादि वहेति, पच्छा जोयणकरणे वा, अध वा सो रोगविमुक्को किसिकरणादिकज्जं जं जोगं करेति, स तेण तिगिच्छगो तम्मि जोगट्ठाणे संधितो भवति, अथवा स रोगी जं जोगकरी पुव्वं आसि से रोगकाले अव्वावारो तम्मि अत्थति, रोगविमुक्को पुण तट्ठाणसंधाणं करेति, व्याघ्रस्य सारमवत् सामर्थ्याद्बहुसत्त्वोपरोधी भवति, इत्यतो चिकित्सा न करणीया ।

वितियपदे करेज्जा वा-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए व गेलण्णे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणाए कप्पते कातुं ॥ ८१ ॥

गच्छे असिवादिकारणसमुप्पन्ने पञ्चोयणा जयणाए करिंता सुद्धा ।

इमा जयणा-

पासत्थमादियाणं, पुव्वं देसे ततो अविरइयं ।
सुहुमातिगिच्छमंते, पुरिसेत्थि अचित्तसचित्ते ॥ ८२ ॥

जाहे पणगपरिहाणीए चतुलहुं पत्तो ताहे पासत्थेसु पुव्वं पुरिसेसु पच्छा इत्थियासु तओ णपुंसेसु देसत्ति पच्छा दसविरतेसु एवं चेव, तनो अविरते, अप्पबहुचिंताए वा अत्थो उवउज्ज वत्तव्वो । नि० चू० १२ उ० । ध० ।

गिहिधम्म-गृहिधर्म-पुं० । गृहमस्यास्तीति गृही, तद्धर्मः नित्यनैमित्तिकानुष्ठानरूपे अगारिधर्मे, "सामान्यतो विशेषाच्च गृहिध-

र्मोऽप्ययं द्विधा ॥ "तत्र सामान्यतो नाम सर्वशिष्टजनसाधारणानुष्ठानरूपः, विशेषात् सम्यग्दर्शनाणुव्रतादिप्रतिपत्तिरूपः (ध०)

तत्राद्यं भेदं दशभिः श्लोकैर्दर्शयति-

तत्र सामान्यतो गृहि-धर्मो न्यायार्जितं धनम् ।
वैवाह्यमन्यगोत्रीयैः, कुलशीलसमैः समम् ॥ ५ ॥
शिष्टाचारप्रशंसारि-षड्वर्गत्यजनं तथा ।
इन्द्रियाणां जय उप-प्लुतस्थानविवर्जितः ॥ ६ ॥
सुप्रातिवेश्मिके स्थाने, नातिप्रकटगुप्तके ।
अनेकनिर्गमद्वारं, गृहस्य विनिवेशनम् ॥ ७ ॥
पापभीरुकता ख्यात-देशाचारप्रपालनम् ।
सर्वेष्वनपवादित्वं, नृपादिषु विशेषतः ॥ ८ ॥
आयोचितव्ययो वेषो, वित्ताद्यनुसारतः ।
मातापित्रर्चनं सङ्गः, सदाचारैः कृतज्ञता ॥ ९ ॥
अजीर्णेऽभोजनं काले, भुक्तिः साम्यादलौल्यतः ।
वृत्तस्थज्ञानवृद्धार्हा, गर्हितेष्वप्रवर्त्तनम् ॥ १० ॥
भर्त्तव्यभरणं दीर्घ-दृष्टिर्धर्मश्रुतिर्दया ।
अष्टबुद्धिगुणैर्योगः, पक्षपातो गुणेषु च ॥ ११ ॥
सदाऽनभिनिवेशश्च, विशेषज्ञानमन्वहम् ।
यथार्हमतिथौ साधौ, दीने च प्रतिपन्नता ॥ १२ ॥
अन्योन्यानुपघातेन, त्रिवर्गस्याऽपि साधनम् ।
अदेशाकालाऽचरणं, बलाऽबलविचारणम् ॥ १३ ॥
यथार्हलोकयात्रा च, परोपकृतिपाटवम् ।
ह्रीः सौम्यता चेति जिनैः, प्रज्ञप्तो हितकारिभिः ॥ १४ ॥

दशभिः कुलकम् । तत्र तयोः सामान्यविशेषरूपयोः गृहस्थधर्मयोर्यदुपक्रान्तयोर्मध्ये सामान्यतो गृहिधर्म इति अमुना प्रकारेण हितकारिभिः परोपकरणशीलैर्जिनैरर्हद्भिः प्रज्ञप्तः प्ररूपितः, इत्यनेन संबन्धः । (एषां व्याख्याऽन्यत्र) ध० १ अधि० ।

ननु तथापि धर्मसंग्रहिण्यां निश्चयनयमतेन शैलेशीचरमसमय एव धर्म उक्तः, तत्पूर्वसमयेषु तु तत्साधनस्यैव संभवः-" सो उ भवक्खयहेऊ, सेलेसीचरमसमयभावी जो । सेसो पुण निच्छयओ, तस्सेव पसाहगो भणिओ ॥ १ ॥ " त्ति वचनात् । अत्र तु निश्चयतो धर्मानुष्ठानसंभवश्चाप्रमत्तसंयतानामेवेति कथं न विरोध इति चेत् ? न । धर्मसंग्रहिण्यां धर्मस्यैवाभिधित्सितत्वेन तत्र धर्मपदव्युत्पत्तिनिमित्तग्राहकैवंभूतरूपनिश्चयनयस्य शैलेशीचरमसमय एव प्रवृत्तिसंभवात्, अत्र तु धर्मानुष्ठानपदव्युत्पत्तिनिमित्तग्राहकैवंभूतरूपनिश्चयनयस्याऽप्रमत्तसंयत एव प्रवृत्तिसंभवेन विरोधलेशस्याप्यनवकाशात् । हन्तैवं निरुपचरितो भावाभ्यासोऽप्रमत्तसंयतस्यैव प्रमत्तसंयतदेशविरताविरतसम्यग्दृशां त्वापेक्षिकत्वेनौपचारिक एव प्राप्त इत्यपुनर्बन्धकस्यैवौपचारिक इति कथं युज्यत इति चेत् ? । यथा पर्यवनयव्युत्क्रान्तार्थग्राही द्रव्योपयोगः परमाणोर्वाऽऽश्रिमविकल्पानिर्वचनः, तथा निश्चयनयव्युत्क्रान्तार्थग्राही व्यवहारनयोऽप्यपुनर्बन्धक एव तथेत्यभिप्रायादिति गृहाण ।

अत एव-
अपुनर्बन्धकस्यायं, व्यवहारेण तात्त्विकः ।
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥ ३६८ ॥

इत्युक्तं योगबिन्दौ । यत्त्वत्रापुनर्बन्धकस्याद्युपलक्षणत्वात्सम्यग्दृष्ट्यादीनामपि वृत्तौ ग्रहणं कृतं तदपेक्षयैवेति तत्त्वम् । तदयं परमार्थः-निश्चयेनानुपचरितं धर्मानुष्ठानमप्रमत्तसंयतानामेव, प्रमत्तसंयतादीनामपि त्वपेक्षया निश्चयव्यवहाराभ्याम्, अपुनर्बन्धकस्य तु व्यवहारेणैव, तेन सामान्यतो गृहिधर्मो व्यवहारेणाऽपुनर्बन्धकापेक्षयैवेति स्थितिमिति ॥ १४ ॥

सप्रभेदं सामान्यतो गृहिधर्ममभिधाय सांप्रतं तत्फलं दर्शयन्नाह-

एतद्युतं सुगार्हस्थ्यं, यः करोति नरः सुधीः ।
लोकद्वयेऽप्यसौ भूरि-सुखमाप्नोत्यनिन्दितम् ॥ १५ ॥

एतेनानन्तरोदितेन सामान्यगृहिधर्मेण संयुतं सहितं सुगार्हस्थ्यं शोभनगृहस्थभावं यः कश्चित्पुण्यसंपन्नः सुधीः प्रशस्तबुद्धिर्नरः पुमान् करोति विदधाति, असौ सुगार्हस्थ्यकर्ता लोकद्वयेऽपि इहलोकपरलोकरूपे, किं पुनरिहलोक एवेत्यपिशब्दार्थः, अनिन्दितं शुभानुबन्धितयाऽगर्हणीयं भूरि प्रचुरं सुखं शर्म आप्नोति लभते । इति प्रतिपादितं सामान्यतो गृहिधर्मफलम् ।

अथ एतद्गुणयुक्तस्य पुंसः सदृष्टान्तमुत्तरोत्तरगुणवृद्धियोग्यतां दर्शयति-

तस्मिन् प्रायः प्ररोहन्ति, धर्मबीजानि गेहिनि ।
विधिनोप्तानि बीजानि, विशुद्धायां यथा भुवि ॥ १६ ॥

प्रायो बाहुल्येन धर्मबीजानि लोकोत्तरधर्मकारणानि ।
तानि चामूनि ' योगदृष्टिसमुच्चये ' प्रतिपादितानि-
" जिनेषु कुशलं चित्तं, तन्नमस्कार एव च ।
प्रणामादि च संशुद्धं, योगबीजमनुत्तमम् ॥ १ ॥
उपादेयधियाऽत्यन्तं, संज्ञाविष्कम्भणान्वितम् ।
फलाभिसन्धिरहितं, संशुद्धं ह्येतदीदृशम् ॥ २ ॥
आचार्यादिष्वपि ह्येत-द्विशुद्धं भावयोगिषु ।
वैयावृत्यं च विधिव-च्छुद्धाशयविशेषतः ॥ ३ ॥
भवोद्वेगश्च सहजो, द्रव्याभिग्रहपालनम् ।
तथा सिद्धान्तमाश्रित्य, विधिना लेखनादि च ॥ ४ ॥
लेखनापूजनाभ्यां च, श्रवणं वाचनोद्ग्रहः ।
प्रकाशनाऽथ स्वाध्याय-श्चिन्तना भावनेति च ॥ ५ ॥
दुःखितेषु दयाऽत्यन्त-मद्वेषो गुणवत्सु च ।
औचित्या सेवनं चैव, सर्वत्रैवाऽविशेषतः " ॥ ६ ॥

इति तस्मिन् पूर्वोक्तगुणभाजने गेहिनि गृहस्थे प्ररोहन्ति प्रकर्षेण स्वफलावन्ध्यकारणत्वेन प्ररोहन्ति धर्मचिन्तादिलक्षणाङ्कुरादिमन्ति जायन्ते । उक्तञ्च-
" वपनं धर्मबीजस्य, सत्प्रशंसादि तद्गतम् ।
तच्चिन्ताद्यङ्कुरादि स्यात्, फलसिद्धिस्तु निर्वृतिः ॥ १ ॥
चिन्तासच्छ्रुत्यनुष्ठान-देवमानुषसंपदः ।
क्रमेणाङ्कुरसत्काण्ड-नालपुष्पसमा मताः " ॥ २ ॥

कीदृशानि सन्ति प्ररोहन्तीत्याह-विधिना देशनाऽर्हबालादिपुरुषौचित्यलक्षणेन उप्तानि निक्षिप्तानि, अतिक्रान्तेषु हितेषु कथमपि धर्मस्यानुदयात् । यत उपदेशपदे-" अकए बीजक्खेवे, जहा सुवासे वि न भवई सस्सी तह धम्मबीजविरहे न सुस्समाए

वि तस्सस्सं ॥ १ ॥" यथेति दृष्टान्तार्थः, बीजानि शाल्यादीनि विशुद्धानां अनुपहतानां भुवि पृथिव्यां विधिनोप्तानि सन्ति प्रायोग्रहणादकस्मादेव फलं तथा भव्यत्वे क्वचिन्मरुदेव्यादावन्यथाभावेऽपि न विरोध इति॥१६॥ धर्म० १ अधि०। सम्यक्त्वादिगृहिधर्मः। ध० १ अधि०।पर्वकृत्ये,साम्प्रतं तेषामेव पर्वादिकृत्यानि व्यक्त्या निदर्शयन्नाह-"एवं पर्वसु सर्वेषु,चतुर्मास्यां च हायने। जन्मन्यपि यथाशक्ति,स्वस्वसत्कर्मणां कृतिः॥५१॥" ध० २ अधि०। अथ जन्मादिकृत्यानि। यथा-" चेइअ १ पडिम २ पइट्ठा ३, सुआइपव्वावणा य ४ पयठवणा ५। पुत्थयलेहणवायण ६, पोसहसालाइ कारवणं ॥१॥ " धर्म० २ अधि०। श्राद्धविधौ तु गृहनिर्मापणादीन्यपि कर्माणि जन्मकृत्येषु न्यस्तानि, परं तानि सामान्यगृहिधर्माधिकारीयाणीति तत्रैव लिखितानि, व्रतादीन्यपि पूर्वं व्याख्यातत्वान्नात्र लिखितानि, प्रतिमानुष्ठानं च विशेषत उपयोगित्वात्स्वतन्त्रमेव मूले वक्ष्यते, इति नात्रोक्तमिति । धर्म० २ अधि० । गृहकृत्यकरणरूपे स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण । गृहस्थधर्म एव श्रेयानित्यभिसन्धेर्वर्णातिथिदानादिरूपगृहस्थधर्मानुगते, तदनुसारिणां च वचः-" गृहाश्रमसमो धर्मो, न भूतो न भविष्यति । तं पालयन्ति ये धीराः, क्लीबाः पाषण्डमाश्रिताः" ॥१॥ अनु० ।

गिहिभायण-गृहिभाजन-न० । गृहस्थसम्बन्धिस्थालतिलकादिकांस्यभाजनादिके, दश० ६ अ०। जीत० । व्य० ।

तत्र भोजनं निषिद्धम्-

कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो ।
भुंजंतोऽसणपाणाइं, आयारा परिभस्सई ॥ ५१ ॥

कंसेषु करोटकादिषु कंसपात्रेषु तिलकादिषु कुण्डमोदेषु हस्तिपादाकारेषु मृन्मयादिषु भुञ्जानोऽशनपानादि तदन्यदोषरहितमपि आचारात् श्रमणसंबन्धिनः परिभ्रश्यति अपैतीति सूत्रार्थः ॥ ५१ ॥

कथमिति ?, आह—

सीओदगसमारंभे, मत्तधोअणछड्डणे ।
जाइं छन्नंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥ ५२ ॥

अनन्तरोदितभाजनेषु श्रमणा भोक्ष्यन्ते इत्यतः तैर्गृहिभिरिति शीतोदकेन धावनं कुर्वन्ति, तदा शीतोदकसमारम्भे सचेतनोदकेन भाजनधावनारम्भे, तथा मात्रकधावनोज्झने कुण्डमोदादिषु क्षालनजलत्यागे, यानि क्षिप्यन्ते हिंस्यन्ते भूतान्यप्कायादीनि सोऽत्र गृहिभाजनभोजने दृष्ट उपलब्धः केवलज्ञानभास्वता असंयमस्तस्य भोक्तुरिति सूत्रार्थः ॥ ५२ ॥

किञ्च-

पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ न कप्पइ ।
एयमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे ॥ ५३ ॥

पश्चात्कर्म पुरःकर्म स्यात्तत्र कदाचित् भवेत् गृहिभाजनभोजने पश्चात्पुरःकर्मभावस्तु कथमित्येके । अन्ये तु भुञ्जन्तु तावत्साधवो वयं पश्चाद्भोक्ष्याम इति पश्चात् कर्मव्यत्ययेन तु पुरःकर्म व्याचक्षते । एतच्च न कल्पते धर्मचारिणां, यत एवमत एतदर्थं पश्चात्कर्मादिपरिहारार्थं न भुञ्जन्ते निर्ग्रन्थाः क्वेति? आह-गृहिभाजने अनन्तरोदिते इति सूत्रार्थः। उक्तो गृहिभाजनदोषः। तदभिधानाच्चतुर्दशस्थानविधिः। दश० ६ अ० ।

गिहिमत्त-गृहमत्र-न० । घटीकरकादिके, नि० चू० १२ उ० । गृहस्थभाजने दश० ३ अ०। कांस्यपात्रादौ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

अत्र प्रायश्चित्तम्-

जे भिक्खू गिहिमत्ते भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥ १४ ॥

गिहिमत्तो घटिकरगादि , तत्थ जो असणादि भुंजति, तस्स चउलहुं ।

जे भिक्खू गिहिमत्ते, तसथावरजीवदेहाणि ।
भुञ्जेज्जा असणादी, सो पावति आणमादीणि ॥ ६७ ॥

सो गिहमत्तो दुविधो-थावरजीवदेहनिप्पन्नो वा, तसजीवदेहनिप्पन्नो वा । सेसं कंठं ।

ते य इमे-

सव्वे वि लोहपादं, तेसिं केवलिय पक्कभोगे य ।
एते तसणिप्पन्ना, दारुगमनुवाइया इतरे ॥ ६८ ॥

सुवन्न-रयत-तंब-कंसादीया सव्वे लोहपादा हत्थिदंतमया, महिसादिसिंगे वा कयं केवलियादि वा पक्कभोगं, एतं सव्वं तसणिप्फण्णं (इतरं ति) थावरणिप्पण्णं तं दारुयतंबघडियं भरह, मणिमयं वा,एतेहिं जो भुंजति,तेसु चउलहुं,आणादिया इमे दोसा।

पुव्विं पच्छाकम्मे, उस्सुकणिमज्जणे य छक्काया ।
आणाणयणपवाहण, दरभुत्ते हरिए वोच्छेदो ॥ ६९ ॥

जे भइया गिही, ते पुव्वं चेव संजयट्ठा धोवेतुं उवज्जा, पच्छाकम्मं करेति, जाव संजयाण भोजणवेला वा भुंजामो त्ति उस्सुकणसुसेसु संजएसु भुंजीहामो त्ति, पुणो णिमज्जणा निमज्जणोवहणाणयणेसु छक्कायविराहणा आणिज्जंतं णिज्जंतं वा भिज्जेज्जा, अवहतं अन्नं पवहावेज्जा, साधूण वा दरभुत्ते मग्गति, तत्थ अदेंतस्स अंतरायदोसा, देंतस्स सकज्जहाणी, साधूहिं वा आणीतं हीरेज्जा पच्छजातणफलएसु अधहडेसु विराधणा वुत्ता सा इह गेहमत्ते भाणियव्वा, सकज्जहाणी,एसु रुट्ठो भणेज्ज मा पुणो संजयाणं देह त्ति वोच्छेदो,अम्हा एए दोसा तम्हा गिहिमत्ते ण भुंजियव्वं"॥ नि० चू० १२ उ० ।

गिहिय-गृहिक-पुं० । गृहस्थीभूते, व्य० २ उ० ।

गिहिलिंग-गृहिलिङ्ग-न० । गृहस्थानां वेषे, सू० १ उ० ।

गिहिवास-गृहिवास-पुं०। अगारवासे, "गिहिवासे पोक्खे परिआए " । दश० १ चू० ।

गिहिवासमज्झ-गृहिपाशमध्य-न० ।गृहिणां पाशकल्पानां पुत्रकलत्रादीनां मध्ये, "दुल्लहे खलु जोगी हीणधम्मे" दश०२ चू०।

गिहिसंकिलिट्ठ-गृहिसंक्लिष्ट-त्रि० । गृहिसंबन्धिनां द्विपदचतुष्पदधान्यादीनां तृप्तिकरणप्रवृत्ते, प्रव० २ द्वार ।

गिहुत्तम-गृहोत्तम-न०।गृहाणामुत्तमं गृहोत्तमम्।वरप्रासादे,स०।

गिहेलुय गृहैलुक-पुं० । उम्बरे, नि० चू० १३ उ० । आचा०।देहल्याम, वाच० ।

गीइ-गीति-स्त्री० । गै-क्तिन् । गाने, आर्याछन्दोभेदे च , वाच० । "ततो गीतिमिमां जगौ " । आव० १ अ० ।

गीतिजुत्तिख-गीतियुक्तिज्ञ-त्रि० । गीतिमर्मज्ञे, "गंधारे गीतिजुत्तिख-वज्जवितिकलाहियं "। स्था० ७ ठा० ।

गीतिया–गीतिका–स्त्री० । पूर्वार्द्धसदृशापरार्द्धलक्षणायामार्यायाम्, जं० २ वक्ष० । "ताहे इमो गीतियं पगिया–सुट्ठु गाइयं सुट्ठु वाइयं" । आव० ४ अ० । औ० । कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गीय–गीत–न० । गै भावे क्तः । गाने, जं० २ वक्ष० । प्रश्न० । औ० । उत्त० । ज्ञा० । कर्मणि क्तः । ध्रुवकादिच्छन्दोनिबद्धे, सू० १ उ० । नाट्यवर्जिते, औ० । तालच्छलिते, जीत० । गेये, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । गीतं पदस्वरतालावधानात्मकं गान्धर्वमिति भरतादिशास्त्रवचनात् । जं० । तं० । त्रिविधं गीतम्–तथा गीतकला, सा च निबन्धनमार्गश्चलिकमार्गभिन्नमार्गभेदात् त्रिधा । तत्र–"सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामाः, मूर्च्छना एकविंशतिः । ताना एकोनपञ्चाशत्, समासं स्वरमण्डलम्" ॥ १ ॥ इयञ्च विशाखिलशास्त्रादवसेयेति । स० ७२ सम० ।

स्वरप्रपूरणानन्तरम्–

सत्त स्सरा कओ वा, हवंति गीयस्स का हवइ जोणी ।
कइ समया ओसासा, कइ वा गीयस्स आगारा ? ॥१९॥
सत्त सरा नाभीओ, हवंति गीयं च रुइयजोणी उ ।
पायसमा ऊसासा, तिन्नि य गीतस्स आगारा ॥ २० ॥
आईमउयारभंती, समुव्वहंता य मज्झयारम्मि ।
अवसाणे उज्झुत्ता, तिन्नि वि गीयस्स आगारा ॥ २१ ॥

इदानीं तु तद्विनिर्गतेभ्यो भरतविशाखिलादिशास्त्रेभ्यो विज्ञेया इति । "सत्त स्सरा कओ गाहा" इह चत्वारः प्रश्नसूत्राः । कुतः इति कस्मात् स्थानात् सप्त स्वरा उत्पद्यन्ते, का योनिरिति का जातिः, तथा कति समया येषु ते कतिसमया उच्छ्वासाः किंपरिमाणकाला इत्यर्थः । तथा आकाराः आकृतयः, स्वरूपाणीत्यर्थः । उत्तरमाह–"सत्त सरा नाभीओ" इत्यादि गाथा स्पष्टा, नवरं रुदितं योनिः समानरूपतया जातिर्यस्य तदा रुदितयोनिकम्, (पायसमा उच्छ्वासा) यावद्भिः समयैर्वृत्तस्य पादः समाप्यते तावत्समया उच्छ्वासा गीतेर्भवन्तीत्यर्थः । आकारानाह–[आईगाहा] त्रयो गीतस्याकाराः स्वरूपविशेषलक्षणा भवन्ति इति पर्यन्ते संबन्धः । किं कुर्वाणा इति? आह–(आरभं त्ति) आरभमाणाः गीतमिति गम्यते, कथंभूतमित्यादि [आइमउ त्ति] आदौ प्रथमतो मृदु कोमलम् आदिमृदु, तथा समुद्वहन्तश्च कुर्वन्तश्च महता, गीतध्वनेरिति गम्यते । मध्याकारे मध्यभागे तथा अवसाने च क्षपयन्तो गीतध्वनिं मन्दीकुर्वन्ते इत्यर्थः । आदौ मृदु मध्ये तारं पर्यन्ते मन्दं गीतं कर्त्तव्यम्, अत एते मृदुतादयस्त्रयो गीतस्याकारा भवन्तीति तात्पर्यम् ।

किन्तु–

छद्दोसे अट्ठगुणे, तिन्नि अवित्ताइ दोइ भणिईओ ।
जो नाही सो गाहिइ, सुसिक्खिओ रंगमज्झम्मि ॥२२॥
भीअं दुअमुप्पित्थं, उत्तालं च कमसो मुणेअव्वं ।
कागस्सरमणुणासं, छद्दोसा होंति गेअस्स ॥२३॥

षड् दोषा वर्जनीयाः, तानाह–भीतमुत्त्रस्तमानसं यद् गीयते इत्येको दोषः १ द्रुतं त्वरितम् २ 'उप्पित्थं' श्वासयुक्तं, त्वरितं च । पाठान्तरेण "रहस्सं ति" ह्रस्वस्वरं, लघुशब्दमित्यर्थः । उत्तालमुत्प्राबल्यार्थे, अतितालमस्थानतालं चेत्यर्थः । तालघु कंसिकादिशब्दविशेषः ४ काकस्वरमश्लक्ष्णमश्राव्यस्वरम् ५, अनुनासं नासाकृतस्वरम् ६, एते षड् दोषा गीतस्य भवन्ति ।

अष्टौ गुणानाह–

पुण्णं रत्तं च अलं–किअं च वत्तं च तहेवमविघुट्ठं ।
महुरं समं सुललिअं, अट्ठ गुणा होंति गेअस्स ॥२४॥
उरकंठसिरविसुद्धं, च गीयते मउअरिभिअपदबद्धं ।
समतालपडुक्खेवं, सत्तस्सरसीभरं गेअं ॥२५॥
अक्खरसमं पदसमं, तालसमलयसमगहसमं चावि ।
नीससिओससिअसमं, संचारसमं सरा सत्त ॥२६॥

स्वरकलाभिः सर्वाभिरपि युक्तं कुर्वतः पूर्णम् १, गेयरागेण रक्तस्य भावितस्य रक्तम् २, अन्यान्यस्फुटशुभस्वरविशेषाणां करणादलङ्कृतम् ३, अक्षरस्वरस्फुटकरणाद्व्यक्तम् ४, विक्रोशनमिव यद्विस्वरं न भवति तदविघुष्टम् ५, मधुमत्तकोकिलारुतवत् मधुरस्वरम् ६, तालवंशस्वरादिसमनुगतं समम् ७, स्वरघोलनाप्रकारेण शब्दातिशयेन ललतीव यत् सुकुमालं तत् सुललितम् ८ । एते अष्टौ गुणा गीतस्य भवन्ति, एतद्विरहितं तु विडम्बनमात्रमेव तदिति । किञ्चोपलक्षणत्वादन्येऽपि गीतगुणा भवन्ति, तानाह–चकारो गेयगुणान्तरसमुच्चयार्थः । उरःकण्ठशिरोविशुद्धं च । अयमर्थः–यदुरसि स्वरो विशालस्तदुरोविशुद्धं, कण्ठे यदि स्वरो वर्तितोऽतिस्फुटश्च तदा कण्ठविशुद्धम्, शिरसि प्राप्तो यदि नाऽनुनासिकस्ततः शिरोविशुद्धम् । अथ वा उरःकण्ठशिरस्सु श्लेष्मणाऽव्याकुलेषु विशुद्धेषु प्रशस्तेषु यद्गीयते तदुरःकण्ठशिरोविशुद्धं, गीयते, गेयमिति संबध्यते । किंविशिष्टमित्याह–मृदुकं मृदुनाऽनिष्ठुरेण स्वरेण यद्गीयते तन्मृदुकं, यत्राक्षरेषु घोलनया संचरन् स्वरो भवतीति घोलनाबहुलं रिभितं, गेयपदैर्बद्धं विशिष्टनिरचनया रचितं पदं च द्वन्द्वः, ततश्च पदत्रयस्य कर्मधारयः । (समतालपडुक्खेवं ति) तालशब्देन हस्ततालसमुत्थः, उपचाराच्छब्दो विवक्षितः, मुरजकांसिकादिगीतोपकारकाऽऽतोद्यानां ध्वनिः प्रत्युत्क्षेपः, नर्त्तकीपदप्रक्षेपलक्षणो वा प्रत्युत्क्षेपः, समौ गीतस्वरेण तालप्रत्युत्क्षेपौ यत्र तत्समतालप्रत्युत्क्षेपम् । (सत्तसरसीभरं ति) अक्षरादिभिः समं यत्र तत्सप्तस्वरसीभरं गीतमिति । ते चामी सप्त स्वराः–(अक्खरसमं गाहा) यत्र दीर्घेऽक्षरे दीर्घो गीतस्वरः क्रियते, ह्रस्वे ह्रस्वः, प्लुते प्लुतः, सानुनासिके तु सानुनासिकः तदक्षरसमं, यद्गीतपदं यत्र स्वरे अनुपाति भवति तत्रैव गीते गीयते तत्पदसमं, यत्परस्पराभिहतहस्ततालस्वरानुसारेण गीयते तत्तालसमं, शृङ्गदारुदन्त्यन्यतरवस्तुमयेनाङ्गुलीकोशकेन समाहततन्त्रीस्वरप्रकारो लयः, तमनुसरता स्वरेण यद्गीयते तल्लयसमं, प्रथमतो वंशतन्त्र्यादिभिर्यः स्वरो गृहीतस्तत्समानस्वरेण गीयमानं ग्रहसमं, निःश्वसितोच्छ्वसितमानमनतिक्रमतो यद्गेयं तन्निःश्वसितोच्छ्वसितसमं, वंशतन्त्र्यादिष्वेवाङ्गुलिसंचारसमं यद्गीयते तत्संचारसमम् । एवमेते स्वराः सप्त भवन्ति । इदमुक्तं भवति–एकोऽपि गीतस्वरोऽक्षरपदादिभिः सप्तभिः स्थानैः सह सामस्त्यं प्रतिपद्यमानः सप्तधात्वमनुभवतीत्येते सप्त स्वरा अक्षरादिभिः समा दर्शिता भवन्तीति गीतत्रयः सूत्रबन्धः ।

सोऽष्टगुण एव कर्त्तव्य इत्याह–

निद्दोसं सारमंतं च, हेउजुत्तमलंकियं ।

उवणीअं सोवयारं च, मियं महुरमेव य ॥ २५ ॥
समं अद्धसमं चेव, सव्वत्थ विसमं च जं ।
तिन्नि वित्तपया होंति, चउत्थं नोवलब्भइ ॥ २६ ॥
सक्कया पायया चेव, भणिई होंति दोण्णि वा ।
सरमंडलम्मि गीयंते, पसत्था इसिभासिया ॥ २७ ॥
केसी गायइ महुरं, केसी गायइ खरं च रुक्खं च ।
केसी गायति चउरं, केसी अविलंबितं दुतं केसी ? ॥२८॥
गोरी गायति महुरं, सामा गायति खरं च रुक्खं च ।
काली गायति चउरं,काणा अविलंबिअं दुतं अंधा ॥२९॥

(निद्दोसमित्यादि) तत्र 'अलियमुवघायजणयमित्यादि' द्वात्रिंशत् सूत्रदोषरहितं निर्दोषम् १,विशिष्टार्थयुक्तं सारमन्तं २,गीतनिब द्धार्थगमकहेतुयुक्तया हेतुयुक्तम ३,उपमाद्यलङ्कारयुक्तमलङ्कृतम्४,उपसंहारोपनययुक्तमुपनीतम्५,अनिष्ठुराविरुद्धालज्जनीयार्थवाचकं सानुप्रासं वा सोपचारम्६,अनिवचनविस्तररहितं संक्षिप्ताक्षरं मितं ७,मधुरं अभ्यशब्दार्थं ८, गेयं भवनीति शेषः । "तिन्नि य वित्ताइं ति (?)" यदुक्तं तत्राह-(सममित्यादि) यत्र वृत्ते चतुर्ष्वपि पादेषु संख्यया समान्यक्षराणि भवन्ति तत् समं, यत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च पादयोरक्षरसंख्यासमत्वं तदर्धसमं, यत्तु सर्वत्र सर्वपादेष्वक्षरसंख्यावैषम्योपेतं तद्विषमम (जं ति) यस्माद्वृत्तं भवतीति शेषः। तस्मात् त्रय एव वृत्तप्रकारा भवन्ति, चतुर्थस्तु प्रकारो नोपलभ्यते, असत्त्वादित्यर्थः।एवमन्यथाऽप्यविरोधेन व्याख्येयमिदमिति।"दुण्णि य भणिओ त्ति' (?) यदुक्तं तत्राह-(सक्कयेत्यादि) भणितिर्भाषा,स्वरमण्डले षड्जादिस्वरसमूहे, शेषं कण्ठ्यम् । गीतविचारप्रस्तावादिदमपि पृच्छति-"केसी गायइ"इत्यादि प्रश्नगाथा सुगमं,नवरं (केस त्ति) कीदृशी, स्त्री इत्यर्थः । (खरंति) खरस्थानं, रूक्षं प्रतीतं,चतुरं दक्षमविलम्बितं परिमन्थरं,द्रुतं शीघ्रमिति ।"विस्सरं पुण केरिसि त्ति"गाथाद्विकमिदम् (?) अत्र क्रमेणोत्तरमाह-(गोरी गायइ महुरमित्यादि) अत्रापि "विस्सरं पुण पिंगल त्ति" गाथाद्विकमेव,(?) व्याख्या सुकरैव, नवरं पिङ्गला कपिला इत्यर्थः॥ समस्तस्वरमण्डलसंक्षेपाभिधाने, अनु० । जं० । जी० । आ० म० । "अप्पेगइया चउव्विहं गीयं गायंति-क्खित्तं पयत्तं मंदं रोइयावसाणं" आ० चू० १ अ० । रा०। गीयं विलवियं (इति वदति स्वयंबुद्धः) गीतं विलसितं (इति वदाति महाबलः) आ० म० प्र० । तत्परिज्ञानात्मके कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कल्प० । ध्वनिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । शब्दिते, षो० १० विव० । कथिते, षो० १ विव० । प्रसिद्धे, संथा० । विज्ञातकृत्याऽकृत्यलक्षणार्थे, प्रव० १०२ द्वार । सूत्रार्थोभयहिते, बृ० १ उ० । गीतार्थे, व्य० १ उ० ।

गीयजस-गीतयशस्-पुं० । गन्धर्वाणां द्वितीये इन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० । औ० । प्रज्ञा० । ('अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे अस्य अग्रमहिष्य उक्ताः) । चले, गन्धर्वानीकाधिपतौ च । स्था० ७ ठा० ।

गीयत्थ-गीतार्थ-पुं० । गीतो विज्ञातकृत्याकृत्यलक्षणोऽर्थो येन स गीतार्थः । बहुश्रुते, प्रव० १०२ द्वार । अधिगतनिशीथादिश्रुतसूत्रार्थे, ध० ३ अधि० । सूत्रार्थविदि, पञ्चा० १०विव० । द्वा० । पं० व० । दर्श० । नि० चू० । आव० । विशे० ।

अधुना गीतार्थस्य स्वरूपमाह-

उद्धावणापहावण-खेत्तोवहिमग्गणासु अविसादी ।
सुत्तत्थ तदुभयविऊ, गीयत्था एरिसा हुंति ॥

उत्प्राबल्येन धावनमुद्धावनं, प्राकृतत्वाच्च स्त्रीत्वनिर्देशः। किमुक्तं भवति ?-तथाविधे गच्छप्रयोजने समुत्पन्ने आचार्येण संदिष्टो असंदिष्टो वा आचार्यान् विज्ञप्य यदेतत्कार्यमहं करिष्यामीति तस्य कार्यस्यात्मानुग्रहबुद्ध्या करणं उद्धावनम्, शीघ्रं तस्य कार्यस्य निष्पादनं प्रधावनं, क्षेत्रमार्गणं क्षेत्रप्रत्युपेक्षणम्, उपधिरुत्पादना, एतासु येऽविषादिनो विषादं न गच्छन्ति, तथा सूत्रार्थतदुभयविदः, अन्यथा हेयोपादेयपरिज्ञानायोगात् । ते एतादृशा एवंविधाः, गीतार्थाः गणावच्छेदिन इत्यर्थः । व्य० १ उ० । "गीयत्थो य विहारो" । ग० १ अधि० ।

गीयं मुणितेगट्ठं, विदियत्थं खलु वयंति गीयत्थं ।
गीएण य अत्थेण य, गीयत्थो वा सुयं गीतं ॥

गीतं मुणितमिति चैकार्थम्, ततश्च विदितो मुणितः परिज्ञातोऽर्थः छेदसूत्रस्य येन तं विदितार्थं खलु वदन्ति गीतार्थम्, यद्वा-गीतेन च अर्थेन च यो युक्तः स गीतार्थो भण्यते,गीतार्थावस्य विद्येते इति अभ्रादित्वादप्रत्ययः। अथ गीतं किमुच्यते ?-अत आह-श्रुतं सूत्रं गीतमित्यभिधीयते ।

एतदेव भावयति-

गीएण होइ गीई, अत्थी अत्थेण होइ नायव्वो ।
गीएण य अत्थेण य, गीयत्थं तं विजाणाहि ॥

('विहार' शब्दे एतद् व्याख्यास्यते)ग० १ अधि० । पञ्चा० । बृ० । व्य० । ध० । प्रति० । पं०व० । प्रव० । पूर्वं चतुर्दशपूर्वी गीतार्थोऽभवत्, इदानीं प्रकल्पधारी भवति । व्य० ३ उ० ।

अथ गीतार्थोपदेशः सर्वोऽपि सुखावहो भवतीत्याह-

गीअत्थस्स वयणेणं, विसं हालाहलं पिबे ।
अविकप्पो अ भक्खिज्जा, तक्खणे जं समुद्दवे ॥ ४४ ॥
परमत्थओ विसं नो तं, अमयरसायणं खु तं ।
निव्विकप्पणसंसारे, मओ वि अमयस्समो ॥ ४५ ॥

गीतार्थस्य वचनेनोपदेशेन तद्विषं गरलं, किंभूतं ?— हालाहलं स्थावरविषभेदरूपं, निर्विकल्पो गतशङ्कः सन् सुधीः पिबेत्, भक्षयेच्च, तत्र-द्रवरूपं पिबेत्, अद्रवं तु भक्षेत् । तत्किम् ?-यद्विषं तत्क्षणे भक्षणक्षणे एव समुद्रावयेत्, मारयेत् इत्यर्थः । विषभक्षणहेतुमाह-परमार्थतस्तद् गीतार्थोपदिष्टं विषं न स्यात् 'खु' निश्चितं तद्विषम् अमृतरसायनममृतमेव रसायनं जराव्याधिजिदौषधम्, अमृतरसायनं, हितकारीत्यर्थः । यद्विषं निर्विघ्नं करोति तद्विषं न मारयति । यतः स मृतोऽपि मरणं प्राप्तोऽपि अमृतः, स जीवन्नेव भवतीत्यर्थः । गीतार्थोपदेशेन विषभक्षणस्याप्यायतौ शाश्वतसुखहेतुत्वादिति प्रसङ्गाद्गीतार्थसंविग्नयोरत्र चतुर्भङ्गी-"संविग्गए नाम एगे नो गीअत्था १, नो संविग्गा नाम एगे गीयत्था २,संविग्गा नाम एगे गीयत्था वि ३,नो संविग्गा नाम एगे नो गीयत्था वि ४। तत्थ न ताव पढमभंगिल्ला धम्मायरिया, जओ नाम किं तेण संविग्गेणं जो गीयत्थसाविराहिओ ।

"जओ सुयं पढमं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही, किं वा णाही छेयपावगं ? ॥ १ ॥
तहा-" जा हेउवायपक्खम्मि, हेउओ आगमे य आगमिओ ।

सो ससमयपरसमयओ, सिद्धंतविराहगो अन्नो ॥ १ ॥
उस्सग्गसुयं किंची, किंची अववाइयं भवे सुत्तं ।
तदुभयसुत्तं किंची, सुत्तस्स गमा मुणेयव्वा ॥ २ ॥
सावज्जणवज्जाणं, वयणाणं जो न जाणइ विसेसं ।
वुत्तुं पि तस्स न खमं, किमंग ! पुण देसणं काउं ? ॥ ३ ॥

"जे आगमरहस्सविगला वि होऊण गच्छं परियट्टंति ताहिं बहुस्सुयाणुगीइं कुव्वंता वि न ते नवंधकूवाओ जोयाणं उत्तारणाय अलं । किं बहुणा-छम्मासियाइदुक्करकिरियारओ वि अगीयत्थो गुरू विसं व विसहरु व्व खलसंगु व्व कुलडासंबंधु व्व भीमसाणं व दुस्सहियपिसाउ व्व डज्झमाणमहारन्नं व परिहरियव्व त्ति । एष प्रथमभङ्गः ॥ १ ॥ तहा अन्ने गीयत्था नो संविग्गा, तत्थ वि किं नाम तेण सुएण अत्थेण वा णाएण न जम्हा संवेगो आयारो वा पयट्टइ, केवलं गलतालुसोसणफलं । जओ-" जहा खरो चंदणभारवाही, भारस्स भागी न हु चंदणस्स । एवं खु नाणी चरणेण हीनो, नाणस्स भागी न हु सग्गईए " ॥१॥

तहा—

" आउज्जनट्टकुसला, वि नट्टिया तं जणं न तोसेइ ।
जोगं अजुंजमाणी, निंदं खिसं च सा लहइ ॥ १ ॥
इय लिंगनाणसहिओ, काइयजोगं न जुंजई जो उ ।
न लहइ स मुक्खसुक्खं, लहइ य निंदं सपक्खाओ ॥ २ ॥
जाणंतो वि य तरिउं, काइयजोगं न जुंजइ नईए ।
एसो वुड्डइ सोए, एवं नाणी चरणहीओ " ॥ ३ ॥

"जह साली महया परिस्समेण निप्फाइत्ता कुट्ठागारे छुभित्ता जइ तेहिं सालीहिं खज्जपिज्जाइओ उवभोगो न कीरइ, तो सालिसंगहो अफलो हवइ, अह तेहिं उवओगो कीरइ, तो सफलो भवइ, तो एवं नाणेण नाऊण हेयमुवादेयं च वत्थुं हेयं हिच्चा उवादेए पयट्टिज्जंति, अहवा इत्थ संविग्गपक्खवाई सुद्धपरूवगो वंदइ, न य वंदावेइ, इच्चाइगुणगणसंगओ भवइ, तओ आगामियत्ताए सुलभबोहियत्तेण आराहगो भवइ । एष द्वितीयो भङ्गः २ । जे ते संविग्गा गीयत्था, ते नाणसंपयासंपउत्तयाए चरणगुणप्पहाणयाए आराहगत्तेण धम्मायरियत्तं गुरू भणइ-सोम ! सुणसु वट्टमाणे काले जं नाणं वट्टइ, तस्स सुत्तत्थेहिं सुत्तत्थाओ गहियट्ठा पत्तट्ठा विनिच्छियट्ठा गीयत्था दूसमत्थे वट्टाईण मणुभावओ वीरियमगोवित्ता संविग्गा " ॥

जओ सुयं—

"को वा तहा समत्थो, जह तेहिं कयं तु धीरपुरिसेहिं ।
जहसत्ती पुण कीरइ, दढप्पइन्ना हवइ एवं ॥ १ ॥
कालोचियजयणाए, मच्छररहियाण उज्जमंताण ।
जणजत्तारहियाणं, होइ जइत्तं जइण सया " ॥ २ ॥

जं पुण जयंताणं वि पमायबहुलत्तयाए कह वि खलियं, न तेण चारित्तविराहणा । जओ-"कट्टयपहि व्व कखलणा, तुल्ला हुज्जा पमायखलणाओ । जयणाओ वि मुणिणो, चारित्तं कण सा हणइ" ॥ १ ॥ तहा-अववायपयालंबणे विसुद्धचरणे चेव जहा काउस्सगो उस्सग्गओ उद्धट्ठाणेण कायव्वो, अववाएण अतरंतो उ निसन्नो कारिज्जा, तह वि हु असहू निसन्नो उसंथाहुवस्सए वा कारणे सहू वि य निसन्नो " इत्यादि श्राद्धप्रतिक्रमणचूर्णिगतमिति । एष तृतीयो भङ्गः ३ । ये तु न संविग्ना न गीतार्था ज्ञानक्रियोभयविकलाः केवलं लिङ्गमात्रोपजीविनो धर्मस्यानाराधकत्वेन न ते धर्माचार्या इत्येष चतुर्थो भङ्गः ४ । अत्र तु तृतीयेनाधिकारः ॥ इति अनुष्टुब्विषमाक्षरेति गाथाच्छन्दसी ॥ ४४ । ४५ ॥ ग० २ अधि० । महा० ।

गीतार्थसमाचरणं प्रमाणम्–

अवलंबिऊण कज्जं, जं किंचि समायरंति गीयत्था ।
थोवावराह बहुगुण, सव्वेसिं तं पमाणं तु ॥ ७९ ॥

अवलम्ब्याऽऽश्रित्य कार्यं यत्किञ्चिदाचरन्ति सेवन्ति गीतार्था आगमविदः, स्तोकापराधं बहुगुणं मासकल्पाविहारवत् सर्वेषां जिनमतानुसारिणां तत्प्रमाणमेव, उत्सर्गापवादरूपत्वादागमस्येति गाथार्थः ।

ण य किंचि अणुन्नायं, पडिसिद्धं वावि जिणवरिंदेहिं ।
तित्थगराणं आणा, कज्जे सच्चेण होअव्वं ॥ ८० ॥

नैव किञ्चिदनुज्ञातमेकान्तेन प्रतिषिद्धं वापि जिनवरेन्द्रैर्भगवद्भिः, किन्तु तीर्थकराणामाज्ञा इयं यदुत कार्ये सत्येन भवितव्यं, न मातृस्थानतो यत्किञ्चिदवलम्बनीयमिति गाथार्थः ॥८०॥

किमित्येतदेवमित्याह–

दोसा जेण निरुंज्झ-ति जेण खिज्जंति पुव्वकम्माइं ।
सेसो मोक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं व ॥ ८१ ॥

दोषा रागादयो येन निरुध्यन्ते अनुष्ठानविशेषेण येन क्षीयन्ते पूर्वकर्माणि, शेषाणि ज्ञानावरणादीनि, एषोऽनुष्ठानविशेषो मोक्षोपायः । दृष्टान्तमाह-रोगावस्थासु शमनमिव औषधानुष्ठानमिति । उक्तं च भिषग्वरशास्त्रे-" उत्पद्येत हि साऽवस्था, देशकालामयान् प्रति । यस्यामकार्यं कार्यं स्यात्, कर्म कार्यं च वर्जयेत् " ॥१॥ इति गाथार्थः ॥८१॥ पं० व० २ द्वार । ध० र० । (गीतार्थः केवलितुल्य इति " गच्छसारणा " शब्देऽत्रैव भागे ८०६ पृष्ठे प्ररूपितम्) (गीतार्थस्यागीतार्थस्येव प्रायश्चित्तं 'पच्छित्तदाण' व्याख्यावसरे) सदनुष्ठायिनि, दर्श० । पूर्वसूरौ, जी० १ प्रति० । संथा० । नगरस्थितवृद्धलघुगीतार्थैः शाखापुरे शय्यातरगृहं कृतं, तत्रस्थगीतार्थैस्तद्गृहे आहारादिकं ग्राह्यं, न वा ? । तथा-शाखापुरस्थगीतार्थैर्नगरमध्ये शय्यातरगृहं कृतं भवति तदा तत्रस्थगीतार्थैस्तद्गृहे आहारादिकं ग्राह्यं, न वा ? । तथा-क्रोशत्रयावधि वृद्धगीतार्थैः शय्यातरगृहं कृतं तत्पालनीयं न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-नगरस्थितगीतार्थैः शाखापुरे शय्यातरगृहं कृतं भवति तदा तद्गृहे नगरस्थगीतार्थादिभिस्तत्रस्थगीतार्थादिभिस्तत्रस्थसाधुभिश्चाहारादिकं न ग्राह्यं, तथा शाखापुरस्थगीतार्थैर्नगरमध्ये शय्यातरगृहं कृतं भवति तदा तद्गृहे तत्रस्थसाधुभिः शाखापुरस्थसाधुभिश्चाहारादिकं न ग्राह्यं, परं परस्परं तद् गृहं ज्ञापनीयं, तथा—क्रोशत्रयावधि वृद्धकृतशय्यातरगृहं मुख्यवृत्त्या सर्वैरपि साधुभिः पालितं युज्यते, परमधुना स विधिः सत्यापयितुं न शक्यते, तथापि यदा ज्ञायते तदा सत्याप्यते इति परम्पराऽस्तीति । किं च-यत्रोषितास्ततः स्थानाद् यस्यां वेलायां निर्गता द्वितीयदिने तावत्या वेलायाः परतोऽशय्यातरो भवतीत्यावश्यकटिप्पनके इति ज्ञेयम् । ५३ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

गीयत्थणिस्सिय-गीतार्थनिश्रित-त्रि० । गीतार्थसंयुक्ते बहुश्रुतसमन्विते गीतार्थे, पञ्चा० ११ विव० । व्य० । प्रव० । पो०

गीयत्थपरिग्गह-गीतार्थपरिग्रह-पुं० । गीतार्थपरिगृहीते, व्य० ४ उ० ।

गीयमाण-गीतमान-न० । सङ्गीतशास्त्रपरिज्ञानात्मके कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

गीयरइ-गीतरति-स्त्री० । गीतेन क्रीमायाम्, औ० । गन्धर्वाणामिन्द्रे, भ० ३श०८उ०।स्था० । (गीतरतेरग्रमहिष्यः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे उक्ताः) । गन्धर्वानीकाधिपतौ, स्था०७ठा० । गीते रतिर्यस्य सः गीतप्रिये, जी० ३ प्रति० । गीतेन या रती रमणं क्रीडा सा प्रिया येषां, गीतरतयो वा लोका येषां ते तथा । औ० । "गीयरई गंधव्वनट्टकुसला" गीतरतिश्चासौ गन्धर्वनाट्यकुशला चेति समासः । गन्धर्वं नृत्तयुक्तं गीतं, नाट्यं तु नृत्तमेवेति । विपा० १ श्रु० २ अ० । गीते रतिर्येषां ते गीतरतयः, गन्धर्वं नाट्यादि, तत्र हर्षितमनसो गन्धर्वहर्षितमनसः, ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः, तेषाम् । जी० ४ प्रति० ।

गीयवाइय-गीतवादित-न० । गेयवाद्ये, "उचियमिह गीयवाइय-मुचियाण वयाइ पमिहि जं रम्मं" । पञ्चा० ६ विव० ।

गीयविहि-गीतविधि-पुं० । गीतं गानं तद्विधयः । कोकिलारुतानुकारित्वादिषु, काकस्वरानुविधायित्वादिषु च । उत्त०१ अ० ।

गीयसद्द-गीतशब्द-पुं० । पञ्चमरागादिहुङ्काररूपे गेये, उत्त० १६ अ० ।

गीयाणाकरण-गीताज्ञाकरण-न० । आगमज्ञवचनाऽऽसेवने, पञ्चा० ४ द्वार ।

गीवा-ग्रीवा-स्त्री० । कण्ठे, औ० । कन्धरायाम्, को० ।

गुंछ-गुच्छ-पुं० । 'वक्रादावन्तः' । ८ । १ । २६ । इत्यनुस्वारागमः । स्तवके, प्रा० १ पाद ।

गुंठा-देशी-विन्दौ, अधमे, श्मश्रुणि च । दे० ना० २ वर्ग ।

गुंज-हस-धा० स्वा० । हासे, "हसेर्गुञ्जः" । ८ । ४ । १९६ । इति हसेर्गुञ्जादेशः । 'गुञ्जइ,' 'हसइ,' हसति । प्रा० ४ पाद ।

गुंजइ-देशी-हास्यकर्तरि, दे० ना० २ वर्ग ।

गुंजंत-गुञ्जत्-त्रि० । शब्दविशेषं विदधाने, जं० १ वक्ष० । औ० । ज्ञा० । "गुंजंतवंसं कुहरोवगूढं" रा० ।

गुंजद्ध-गुञ्जार्द्ध-न० । गुञ्जाया अर्द्धं कृष्णभागादन्यद्भागार्द्धकणम् । गुञ्जाया रक्तभागे, कल्प० ३ क्षण ।

गुंजद्धराग-गुञ्जार्द्धराग-पुं० । गुञ्जाया हि अर्द्धमतिरक्तं भवति, अर्द्धमतिकृष्णं ततो गुञ्जार्द्धग्रहणम् । "गुंजद्धराग इति वा" । जी० ३ प्रति० । रा० ।

गुंजा-गुञ्जा-स्त्री० । गुञ्जने, रा० । "गुंजावंककुहरोवगूढं" । गुञ्जनं गुञ्जा प्रधानानि यानि अवक्राणि शब्दमार्गाप्रतिकूलानि कुहराणि तेषूपगूढं गुञ्जाऽवक्रकुहरोपगूढम् । किमुक्तं भवति ?-तेषां देवकुमाराणां देवकुमारिकाणां च तस्मिन् प्रेक्षागृहमण्डपे गायतां गीतं तेषु प्रेक्षागृहमण्डपसत्केषु च कुहरेषु स्वानिरूपाणि प्रतिशब्दसहस्राण्युत्थापयद्वर्तते इति । रा० । उम्भायाम्, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । घणोट्टियाख्ये, अनु० । रक्तकृष्णफलविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रज्ञा० । अनु० । धान्यमाषफलद्वयपरिच्छिन्ने, स्था० ८ ठा० । प्रतिमाने, स्था० ४ ठा० १ उ० । ज्यो० । "गुञ्जिका तु यवैस्त्रिभिः" तं० । कलध्वनौ, चर्चायाम्, वाच० ।

गुंजालिया-गुञ्जालिका-स्त्री० । वक्रसारण्याम्, प्रश्न०५ संव० द्वार । जं० । जी० । प्रज्ञा० । भ० । औ० । अनु० । "पुक्खरिणिओ वा मंडलिसंठियाओ अण्णोण्णकवाडसंजुत्ताओ गुंजालिआ भवंति" नि० चू० १२ उ० । गुञ्जालिका दीर्घा गम्भीराः कुटिलाः । आचा०२ श्रु० ३ अ० ३ उ० । वक्रनद्याम्, प्रज्ञा० ११ पद । रा० ।

गुंजावाय-गुञ्जावात-पुं० । गुञ्जा भम्भा तद्वद्गुञ्जन् यो वाति स गुञ्जावातः । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । शब्दं कुर्वन् वाति । वायुकायभेदे, जी० १ प्रति० । भ० । प्रज्ञा० ।

गुंजिय-गुञ्जित-न० । गुञ्जायद्गुञ्जमाने महाध्वनौ, आव० ४ अ० । नि० चू० । आ० चू० ।

गुंजेल्लिअ-देशी-पिण्डीकृते, दे० ना० २ वर्ग ।

गुंजोल्ल-उद्-लस-धा० । उत्कर्षेण लसने उल्लसने, "उल्लसेरूसलोसुंभ-णिल्लस-पुलआअ-गुंजोल्लारोआः" । ८ । ४ । २०२ । इति उल्लसेर्गुञ्जोल्लादेशः । 'गुञ्जोल्लइ' । ह्रस्वत्वे तु 'गुंजुल्लइ,' उल्लसति । प्रा० ४ पाद । दे० ना० ।

गुंठ-गुण्ठ-त्रि० । मायाविनि, व्य० ३ उ० । नि० चू० ।

गुंठसमाण-गुण्ठसमान-पुं० । दुर्व्यवहारिभेदे, व्य० ।

मरहट्ठलाडपुच्छा, केरिसया लाडगुंठ साहिस्सु ।
पावारगंठिछुहणं, दरिसिया गणणे पुणो दाणं ॥
गुंठाहि एवमादी-हि हरति मोहित्तु तं तु ववहारं ।

एको लाटो गन्त्रया किमपि नगरं व्रजति, अपान्तराले च पथि महाराष्ट्रिको मिलितः, तेन लाटस्य पृच्छा कृता । कीदृशाः खलु लाटाः गुण्ठा मायाविनो भवन्ति ? । स प्राह-पश्चात्साधयिष्यामि । मार्गे च गच्छतां शीतवेलाऽऽगता, ततो नष्टे शीते महाराष्ट्रिकेण प्रावारो गन्त्र्यां क्षिप्तः, तस्य च प्रावारस्य दशिका लाटेन गणिताः, ततो नगरप्राप्तौ महाराष्ट्रिकेण प्रावारो ग्रहीतुमारब्धः । लाटो ब्रूते-किं मदीयं प्रावारं गृह्णासि ? । एवं तयोः परस्परं विवादो जातः । महाराष्ट्रिकेण लाटो राजकुले कर्षितः । विवादे लाटो उवादीत्-पृच्छत महाराष्ट्रकं, यदि तत्र प्रावारस्तर्हि कथय-कति दशा अस्य सन्ति ? । महाराष्ट्रिकेण न कथिताः, तेन च कथिता लाटेन,इति महाराष्ट्रिको जितः ततो राजकुलादपसृत्य लाटेन महाराष्ट्रकमाकार्य प्रावारं च तस्मै दत्वा ब्रूते-वरमित्र ! यत्त्वया पृष्टम्-कीदृशा लाटा गुण्ठा भवन्तीति तत्रेदृशा लाटा गुण्ठा भवन्तीति । एवमादिभिर्गुण्ठाभिर्मायाभिर्मोहयित्वा तं प्रस्तुतं व्यवहारं हरति अपनयति स गुण्ठसमानः । व्य० ३ उ० ।

गुंभिय-गुम्भित-त्रि० । प्रावृते, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० । व्याप्ते, "सउणी जह पंसुगुंभिया" सूत्र० १ श्रु० २ अ० १ उ० । प्रेरिते, "वम्मदिवम्मगुंडिता" । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । "सचिसरयसा गुंडियं गेण्हंति ।" नि० चू० १ उ० ।

गुग्गुलु-गुग्गुलु-पुं० । 'गुग्गुलुभारं गहाय मरुयच्छं आगओ' । आव०४ अ० । "गुग्गुलुवयाकरीर्यालिवपंचगमसयणे" । सू०प्र० ।

गुच्छ–गुच्छ (त्स)–पुं० । गु-धा० संप० क्विप् । गुतं च्यति स्यति वा डो सो वा कः । वाच० । पल्लवसमूहे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । स्तवके, उत्त० । ९ अ० । "निच्चं थवइया निच्चं गुच्छिया" यद्यपि स्तवकगुच्छयोरविशेषो नामकोशेऽधीतस्तथापीह विशेषो भावनीयः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । वृन्ताकीकार्पासीजपाआढकीतुलसीकुस्तुम्भरीपिप्पलीनील्यादिषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । जी० । प्रज्ञा० । प्र० । औ० । रा० । ज्ञा० । गुलुञ्छपर्याये, हे० । सिंघाडगस्य गुच्छे, प्रज्ञा० ।

से किं तं गुच्छा ? । गुच्छा अणेगविहा पएणत्ता । तं जहा-
"वाइंगिणि सल्लइ पुण्डुई य तह कच्छुरी य जा सुमणा ।
रूवी आढइ णीली, तुलसी तह माउलिंगी य ॥ १ ॥
कुत्थुंभरि पिप्पलिया, अतसी वल्ली य कायमाईया ।
चुच्चपडोला कंदलिया, वाउया वत्थुले वदरे ॥ २ ॥
पत्त उरसी य उरए, हवइ तह जवासए य बोधव्वे ।
णिग्गुंभि अक्क तूवरि, आढई चेव तलओमा ॥ ३ ॥
सण पाण कासमद्दग, अग्घाडग साम सिंदुवारे य ।
करमद्द अट्ट रूसग, करीर एरावण महत्थे ॥ ४ ॥
जाउल तमाल परिली, गयमारि णिकुव्वकारिया भंमी ।
जावइ केयइ तह गं-ज पाडला दासि अंकोल्ले" ॥ ५ ॥
जे यावएणे तहप्पगारा । सेत्तं गुच्छा । प्रज्ञा० १ पद ।

गुच्छिय–गुच्छित–त्रि० । संजातगुच्छे, गुच्छश्च पत्रसमूहः । जं० १ वक्ष० । "निच्चं गुच्छिया" । रा० ।

गुज्जर–गुर्जर–पुं० । देशभेदे, कल्प० ७ क्षण । अनु० ।

गुज्झ–गुह्य–त्रि० । "साध्वस-ध्य-ह्यां ज्झः" । ८ । २ । २६ । इति ह्यस्य ज्झः । प्रा० २ पाद । रहस्ये, अनु० । प्रश्न० । गुह्यमिव गुह्यम् । लज्जनीयव्यवहारगोपनीये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । भ० । लिङ्गे, ध० २ अधि० । मृगीपदे, नि० चू० ४ उ० । गोपनीयत्वान्मैथुने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

गुज्झग–गुह्यक–पुं० । यक्षे, को० । "अपस्समाणो पस्सामि, देवे जक्खे य गुज्झगे" । स० ३० सम । "केलासभवणा एए, गुज्झगा समुवट्ठिया" स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

गुज्झणुचरिय–गुह्यानुचरित–न० । सुरसेविते, दश० ७ अ० ।

गुज्झदेस–गुह्यदेश–पुं० । लिङ्गे, "सुजायवरतुरगगुज्झदेसा" । प्रश्न०—द्वार ।

गुज्झभासण–गुह्यभाषण–न० । रहस्याभ्याख्याने, मृषावादातिचारे, ध० । गुह्यं गूहनीयं न सर्वस्मै यत्कथनीयं राजादिकार्यसंबद्धं, तस्यानधिकृतेनैवाकारेङ्गितादिभिर्ज्ञात्वाऽन्यस्मै प्रकाशनं गुह्यभाषणं,यथा-एतेहीदमिदं च राजविरुद्धादिकं मन्त्रयन्ते, अथ वा-गुह्यभाषणं पैशुन्यं, यथा द्वयोः प्रीतौ सत्यामेकस्याकारादिनोपलभ्याभिप्रायमितरस्य तथा कथयति यथा प्रीतिः प्रणश्यति । अस्याप्यतिचारत्वं रहस्याभ्याख्यानवत्स्यादिनैवेति तृतीयोऽतिचारः । ध० २ अधि० ।

गुज्झसाल–गुह्यशाल–न० । रहस्यशालायाम, नि० चू० ८ उ० ।

गुज्झहर–देशी-रहस्यभेदिनि, दे० ना० २ वर्ग ।

गुज्झाणुचरिय–गुह्यानुचरित–न० । यक्षविचरणे, आचा० २ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

गुज्झोकासिय–गुह्यावकाशिक–त्रि० । गुह्यभूता लज्जनीयत्वात् स्थगनीया अवकाशा देशाः, अवयवा इत्यर्थः । रहस्येषु, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार ।

गुट्ठमज्झ–गोष्ठमध्य–न० गोकुलान्तरशब्दार्थे, आव० ४ अ० ।

गुंठ–देशी-अधमहये, उच्छलयति च । दे० ना० २ वर्ग ।

गुंठि–देशी-नीरङ्ग्याम, दे० ना० २ वर्ग ।

गुड–गुम–पुं० । इक्षुरसक्वाथे, ध० २ अधि० । द्रवगुडपिण्डगुडादौ, स्था० ४ ठा० १ उ० । गुडो द्विभेदो द्रवगुडपिण्डगुडभेदेन । प्रव० ४ द्वार । तनुत्राणविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गुमदालिअ–देशी-विरमीकृते, दे० ना० २ वर्ग ।

गुमसत्थ–गुमशास्त्र–न० । पुरभेदे, यत्र आर्यखपुटैर्वृद्धकरो यक्षः प्रतिबोधितः । आ० क० ('विज्जासिद्ध' शब्दे वड्ढकरयक्षवक्तव्यता)

गुडिय–गुडित–त्रि० । गुडा महत्तनुत्राणविशेषः, सा सञ्जाता येषा ते गुडिताः । गुडेन सज्जितेषु, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

गुंड–देशी-मुस्तोद्भवलचकाख्यतृणे, दे० ना० २ वर्ग ।

गुण–पुं० न०–गुण–पुं० । गु-भावे कर्त्तरि वा अच् । "गुणाद्याः क्लीबे वा" ॥८।१।३४॥ इति वा क्लीबत्वम् । "विहवेहिं गुणाइ मग्गंति" प्रा० १ पाद । धनुषो मौर्व्याम, वाच० । सूत्रे, विपा० १ श्रु० २ अ० । शुभ्रे, अप्रधाने, हैम० । धर्मे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । विशे० । प्रशस्ततायास्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । यथाऽऽत्मनः जीवस्य स्मृतिजिज्ञासाचिकीर्षाजिगमिषाशंसीत्यादिज्ञानविशेषः । विशे० । ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा वा । उत्त० १६ अ० । आव० । आ० म० । क्षान्त्यादयः । अनु० । स० । आचा० । नं० । चारित्रविशेषाः "सत्तावीसं अणगारगुणा" स० १ सम० । प्रश्न० । "इक्कतीसं सिद्धाइगुणा" स० ३१ सम० । अष्ट० । गुणव्रतानि । स० । चारित्रवृद्ध्यादयः पं० व० ३ द्वार । मूलोत्तरगुणाः । सूत्र० २ श्रु० ६ अ० । ज० । "गुणपच्चक्खत्तणओ, गुणी वि जाओ घडो व्व पच्चक्खो" । स्था० १ ठा० १ उ० । प्रश्न० । नं० । अष्टादश शीलाङ्गसहस्राणि । सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । गुणहानिश्च कुशीलसंसर्गात्सद्गुरूणामपर्युपासनात् प्रतिदिनं प्रमादपदासेवनात् तथाविधचारित्रावरणकर्मोदयाच्च भवतीति । गुणवृद्धिस्त्वेतद्विपर्ययात् । ज्ञा० १ श्रु० १० अ० । महर्द्धिप्राप्त्यादयः स० । सौभाग्यादयः । भ० २ श० १ उ० । विपा० । मृदुत्वौदार्यादयः । नि० ३ वर्ग । विशिष्टर्द्धिप्राप्तिक्षान्त्यादयः । विशे० । "परोपकारैकरतिर्निरीहता, विनीतता सत्यमतुच्छचित्तता । विद्याविनोदोऽनुदिनं न दीनता, गुणा इमे सत्त्ववतां भवन्ति ॥ १ ॥" ध० र० । "नोदन्वानर्थितामेति, न चाम्भोभिर्न पूर्यते । आत्मा तु पात्रतां नेयः, पात्रमायान्ति सम्पदः ॥ १ ॥" नं० । विभवसुखदयो वा । औ० । पुरुषस्य गुणाः सौन्दर्यादयः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । कान्तिलक्षणाः पुरुषगुणाः । ज्ञा० १ श्रु०

१ अ० । शौर्यादिलक्षणा वा । आ० १ श्रु० १ अ० । व्यायामविक्रमधैर्यसत्त्वादिकाः । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

विषयसूची—

(१) सतां गुणानां नाशदीपनौ ।
(२) गुणस्य पञ्चदशधा निक्षेपः ।
(३) आवर्तरूपा गुणाः ।
(४) मूलस्थानरूपा गुणाः ।
(५) द्रव्यपर्यायार्थिकनयभेदेन गुणविचारः ।
(६) गुणलक्षणम् ।
(७) गुणपर्याययोर्भेदे विचारः ।
(८) द्रव्येण सह गुणपर्याययोर्भेदे विचारः ।
(९) व्यक्तिरूपयोर्गुणपर्याययोर्वर्णनम् ।
(१०) आर्हतसंमतगुणाः ।
(११) विशेषगुणानामाख्यानम् ।
(१२) स्वभावा एव गुणाः ।

(१) सतां गुणानां नाशनदीपनौ—

चउहिं ठाणेहिं संते गुणे णासेज्जा । तं जहा—कोहेणं, पडिनिवेसेणं, अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताहिणिवेसेणं । चउहिं ठाणेहिं संते गुणे दीवेज्जा । तं जहा—अब्भासवत्तियं, परच्छंदाणुवत्तियं, कज्जहेउं, कयपडिकइए इति वा ।

अनन्तरं क्रिया उक्तास्तद्वांश्च सदसद्भूतान् परगुणान्नाशयति, प्रकाशयति चेत्येवमर्थं सूत्रद्वयं, तच्च सुगमम्, नवरं सतो विद्यमानान् गुणान्नाशयेदपलपति । न मन्यते क्रोधेन रोषेण, तथा प्रतिनिवेशेनैष पूज्यते, अहं तु नेत्येवं परपूजाया असहनलक्षणेन, कृतमुपकारं परसंबन्धिनं न जानातीत्यकृतज्ञः, तद्भावस्तत्ता, तया, मिथ्यात्वाभिनिवेशेन बोधविपर्यासेनेति । उक्तं च—"रोसेण पडिनिवेसे-ण तह य अकयण्णुमिच्छभावेणं । संतगुणे नासित्ता, भासइ अगुणे असंते वा" ॥१॥ इति । असतोऽविद्यमानान् (क्वचित्संतेति पाठः) तत्र च सतो विद्यमानान् गुणान् दीपयेत्, वदेदित्यर्थः । अभ्यासो हेवाको वर्णनीयाऽऽसन्नता वा प्रत्ययो निमित्तं यत्र दीपने तदभ्यासप्रत्ययं, दृश्यते अभ्यासाच्चिर्विषयाऽपि निष्फलाऽपि च प्रवृत्तिः, संनिहितस्य च प्रायेण गुणानामेव ग्रहणमिति, तथा परच्छन्दस्य पराभिप्रायस्यानुवृत्तिरनुवर्त्तना यत्र तत्परच्छन्दानुवृत्तिकं दीपनमेव, तथा कार्यहेतोः, प्रयोजननिमित्तं चिकीर्षितकार्यं प्रत्यानुकूल्यकरणायेत्यर्थः । तथा कृते उपकृते प्रतिकृतं प्रत्युपकारः, तद्यस्यास्ति स कृतप्रतिकृतक इति वा, कृतप्रत्युपकर्त्तेति हेतोरित्यर्थः ॥ अथ वा-कृतप्रतिकृतये इति एकेनैकस्योपकृतं गुणा वोत्कीर्तिताः, स तस्यासतोऽपि गुणान् प्रत्युपकारार्थमुत्कीर्तयतीत्यर्थः । इती रूपप्रदर्शने, वा विकल्पे, इदं च गुणनाशनादि शरीरेण क्रियत इति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । (आत्मनो गुणाविकत्थनं दोषायेति 'जिणकप्पिय' शब्दे वक्ष्यते) ॥ उपकारे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । गुणाः साधनमुपकारकमित्यनर्थान्तरम् । उत्त० १ अ० । "जो तु गुणो दोसकरो, ण सो गुणो दोस एव सो होति । अगुणो वी होति गुणो, जो सुंदरिनिच्छओ होति ॥७६६॥" नि० चू० १६ उ० । गुण्यतेऽभिधत्तेऽन्विष्यते द्रव्यमिति गुणः । शब्दरूपरसगन्धस्पर्शादिके, आचा० ।

(२) तत्र गुणस्य पञ्चदशधा निक्षेपः—

दव्वे खेत्ते काले, फल पज्जव गणण करण अब्भासे ।
गुणअगुणे याऽगुणगुणे, भवसीलगुणे य भावगुणो ॥७७॥
दव्वगुणो दव्वं चिय, गुणाण जं तम्मि संभवो होइ ॥
सच्चित्ते अच्चित्ते, मीसम्मि य होइ दव्वम्मि ॥ ७८ ॥
संकोचिय वियसियत्तं, एसो जीवस्स होइ जीवगुणो ।
पूरेइ हंदि लोगं, बहूपएसत्तणगुणेणं ॥ ७९ ॥
देवकुरु ससमसुसमा, सिद्धी निब्भया दुगाइया चेव ।
कला जोगणुज्जुवंके, जीवमजीवे य भावम्मि ॥ ८० ॥

दव्वे खेत्ते गाहा" नामगुणः, स्थापनागुणः, द्रव्यगुणः, क्षेत्रगुणः, कालगुणः, फलगुणः, पर्यवगुणः, गणनागुणः, करणगुणः, अभ्यासगुणः, गुणवगुणः, अगुणगुणः, भवगुणः, शीलगुणः, भावगुणश्चेति गाथासमासार्थः । तदेवं सूत्रानुगमेन सूत्रे समुच्चारिते निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमेन तदवयवे निक्षिप्ते सत्युपोद्घातनिर्युक्तेरवसरः । सा च-'उद्देसे' इत्यादिना द्वारगाथाद्वयेनानुगन्तव्या ॥७७॥ साम्प्रतं सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्तेरवसरः, तत्रापि सुगमनामस्थापनाव्युदासेन द्रव्यादिकमाह-(दव्वगुणो गाहा) तत्र द्रव्यगुणो नाम द्रव्यमेव, किमिति, गुणानां यतो गुणिनि तादात्म्येन संभवात्, ननु च द्रव्यगुणयोर्लक्षणविधानभेदाद्भेदः । तथाहि-द्रव्यलक्षणम्—"गुणपर्यायवद्द्रव्यं" विधानमपि-'धर्माधर्माकाशजीवपुद्गलादिकमिति' । गुणलक्षणम्-'द्रव्याश्रयिणः सहवर्तिनो निर्गुणा गुणा इति' । विधानमपि-'ज्ञानेच्छाद्वेषरूपरसगन्धस्पर्शादयः स्वगतभेदभिन्ना इति' । नैष दोषो, यत् द्रव्ये सचित्ताऽचित्तमिश्रभेदभिन्ने स गुणस्तादात्म्येन स्थितः । तत्राचित्तद्रव्यं द्विधा-अरूपि, रूपि च । तत्रारूपि द्रव्यं त्रिधा-धर्माऽधर्माऽऽकाशभेदभिन्नम् । तच्च गतिस्थित्यवगाहदानलक्षणं, गुणोऽप्यस्यामूर्त्तत्वागुरुलघुपर्यायलक्षणः, तत्रामूर्त्तत्वं त्रयस्यापि स्वरूपं न भेदेन व्यवस्थितमगुरुलघुपर्यायोऽपि तत्पर्यायत्वादेव, मृदो मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलपर्यायवत्, रूपिद्रव्यमपि स्कन्धतद्देशप्रदेशपरमाणुभेदं, तस्य च रूपादयो गुणाः, अभेदेन व्यवस्थितभेदेनानुपलब्धेः संयोगविभागभावात् स्वात्मवत्, तथा सचित्तमप्युपयोगलक्षणलक्षितं जीवद्रव्यं, न च तस्माद्भिन्ना ज्ञानादयो गुणाः, तद्भेदे जीवस्याऽचेतनत्वप्रसंगात् । तत्संबन्धाज्ज्ञास्यतीति चेत्, अनुपासितगुरोरिदं वचः । यतो न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते, नह्यन्धः प्रदीपशतसंबन्धेऽपि रूपावलोकनायाऽलमित्यनयैव दिशा मिश्रद्रव्योपासकत्वसंयोजना स्वबुद्ध्या कार्येति गाथार्थः । तदेवं द्रव्यगुणयोरेकान्तेनैकत्वे प्रतिपादिते सत्याह शिष्यः-तत्किमिदानीमभेदोऽस्तु, न तदप्यस्ति, यतः सर्वथाऽभेदेऽभ्युपगम्यमाने वनस्पत्येकेनैवेन्द्रियेण गुणान्तरस्याप्युपलब्धेरपरेन्द्रियवैफल्यं स्यात् । तथाहि—चूतफलरूपादौ चक्षुराद्युपलभ्यमाने रूपाद्यात्मभूतावयविद्रव्याव्यतिरिक्तरसादेरप्युपलब्धिः स्याद्रूपादिस्वरूपवदेव ह्यभेदः स्यात्, यदि रूपादौ समुपलभ्यमानेऽन्येऽपि समुपलभ्येरन् । अन्यथा विरुद्धधर्माध्यासाद्भिद्येरन्, घटपटवदिति, तदेवं भेदाभेदोपपत्तिभिर्व्याकुलितमतिः शिष्यः पृच्छति-उभयथापि दोषापत्तिदर्शनात्कथं गृह्णीमः ? । आचार्य आह-अत एव भेदोऽस्तु तत्राभेदपक्षे, द्रव्यगुणभेदपक्षे तु भावो गुण । इति । तथाहि-गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः सामान्यविशेषयोरवयवावयविनोर्भेदाऽभेदव्यवस्था नो नैवात्मभावसद्भावात् ।

आह हि-

"दव्वं पज्जवविउयं, दव्वविउत्ता य पज्जवा णऽत्थि ।
उप्पायट्ठिइभंगा, हंदि दवियलक्खणं एयं" ॥

"नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः" ॥

इत्यादि स्वयूथ्यैर्बहु विजृम्भितमित्यलं विस्तरेण । एतदेव निर्युक्तिकारः समस्तद्रव्यप्रधाने जीवद्रव्ये गुणमभेदेन व्यवस्थितमाह-(संकुचियगाहा) जीवो हि सयोगिवीर्यसद्द्रव्यतया प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां आधारवशात्प्रदीपवत् संकुचति, विकसति च, एष जीवस्यात्मभूतो गुणो, भेदं विनाऽपि तस्योपलब्धेः । तद्यथा-राहोः शिरः, शिलापुत्रस्य शरीरमिति । तद्भव एव वा सप्तसमुद्घातवशात् संकुचति, विकसति च । सम्यग् समन्तत उत्प्राबल्येन हननमितश्चेतश्चात्मप्रदेशानां प्रक्षेपणं समुद्घातः । स च कषाय-वेदना-मारणान्तिक-वैक्रिय-तैजसा-ऽऽहारक-केवलिसमुद्घात-भेदात्सप्तधा । तत्र कषायसमुद्घातोऽनन्तानुबन्धी क्रोधाद्युपहतचेतस आत्मप्रदेशानामितश्चेतश्च प्रक्षेपः, इत्येवं तीव्रतरवेदनोपहतस्याऽपि वेदनासमुद्घातः । मारणान्तिकसमुद्घातो हि मुमूर्षोरसुमत आदित्सितोत्पत्तिप्रदेश आलोकान्ताद्वाऽऽत्मप्रदेशानां भूयो भूयः प्रक्षेपसंहाराविति । वैक्रियसमुद्घातो वैक्रियलब्धिमतो वैक्रियोत्पादनाय बहिरात्मप्रदेशप्रक्षेपः, तैजससमुद्घातस्तैजसशरीरनिमित्तं तेजोलेश्यालब्धिमतां तेजोलेश्याप्रक्षेपावसरे इति । आहारकसमुद्घातश्चतुर्दशपूर्वविदः आहारकलब्धिमतः क्वचित्सन्देहाऽपगमनाय तीर्थकरान्तिकगमनार्थमाहारकशरीरसमुपादातुं बहिरात्मप्रदेशप्रक्षेपः । केवलिसमुद्घातं तु समस्तलोकव्यापितयाऽन्तर्नीतान्यसमुद्घातं निर्युक्तिकारः स्वत एवाचष्टे-पूरयति व्याप्नोति, 'हन्दी'त्युपप्रदर्शने, किं, लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकमाकाशखण्डं, कुतो, बहुप्रदेशगुणत्वात् । तथा हि-अपवर्गादिव्यज्ञान आयुषोऽल्पत्वमवधार्य वेदनीयस्य च प्राचुर्याद्दण्डादिक्रमेण लोकप्रमाणत्वादात्मप्रदेशानां लोकमापूरयति । तदुक्तम्-'दण्डकवाडे मंथतरे य' इति गाथार्थः । गतो द्रव्यगुणः । क्षेत्रादिकमाह-[देवकुरुगाहा] क्षेत्रगुणः देवकुर्वादि, कालगुणे सुषमसुषमादि, फलगुणे सिद्धिः, पर्यवगुणे निर्भजना, गणनागुणे द्विकादि, करणगुणे कलाकौशल्यम्, अभ्यासगुणे भोजनादि, गुणागुणे ऋजुता, अगुणगुणे वक्रता, भवगुणशीलगुणयोर्भावगुणार्थमुपादानं जीवग्रहणेन गतार्थत्वाद्गाथायां पृथगनुपादानम् । भवगुणो जीवस्य नारकादिभवः, शीलगुणो जीव एव क्षान्त्याद्युपेतो, भवगुणे जीवाजीवयोरिति । एवं संयोज्यैकैको व्याख्यायते—तत्र देवकुरूत्तरकुरुहरिवर्षरम्यकहैमवतैरवतषट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाऽकर्मभूमीनामयं गुणो-यदुत तत्रत्यमनुजा देवकुमारोपमाः सदाऽवस्थितयौवना निरुपक्रमायुषो मनोज्ञशब्दादिविषयोपभोगिनः स्वभावमार्दवाऽऽर्जवप्रकृतिभद्रकगुणाः सन्तो देवलोकगतयश्च भवन्ति । कालगुणोऽपि भरतैरावतयोरेकान्तसुषमादिषु समासु स एव सदाऽवस्थितयौवनादिरिति, फलमेव गुणः फलगुणः, फलञ्च क्रियाया भवति, तस्याश्च क्रियायाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररहिताया ऐहिकामुष्मिकार्थं प्रवृत्तयोरनात्यन्तिकोऽनैकान्तिको भवन् फलगुणोऽप्यगुण एव भवति, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रक्रिया त्वैकान्तिकात्यन्तिकानाबाधसुखाऽस्याः सिद्धिः फलगुणोऽवाप्यते । एतदुक्तं भवति-सम्यग्दर्शनादिकैव क्रिया सिद्धिफलगुणेन फलवती, अपरा तु सांसारिकसुखफलाभास एव फलाध्यारोपाद्विफलेत्यर्थः । पर्यायगुणो नाम द्रव्यस्यावस्थाविशेषः । पर्यायः स एव गुणः पर्यायगुणः, गुणपर्याययोर्नयवादान्तरेणाभेदाभ्युपगमात्, स च निर्भजनारूपो, निश्चिता भजना निर्भजना, निश्चितो भाग इत्यर्थः । तथाहि-स्कन्धद्रव्यं देशप्रदेशेन भिद्यमानं परमाण्वन्तं भेदं ददाति, परमाणुरप्येकगुणकृष्णद्विगुणकृष्णादिना अनन्तशोऽपि भिद्यमानो भेदं ददातीति । गणनागुणो नाम द्विकादिकः, तेन च सुमहतोऽपि राशेर्गणनागुणेनेयत्ताऽवधार्यते । करणगुणो नाम कलाकौशलं, तथाहयुदकादौ करणपाटवार्थं गात्रोत्क्षेपादिकां क्रियां कुर्वन्ति । अभ्यासगुणो नाम भोजनादिविषयः । तद्यथा-तदहर्जातबालकोऽपि भवान्तराभ्यासात् स्तनादिकं मुख एव प्रक्षिपति, उपरतरुदितश्च भवति । यदि वा अभ्यासवशात्संतमसेऽपि, कवलादेर्मुखविवरे प्रक्षेपाद्याकुञ्चितचेतसोऽपि च तुदत्यात्मकण्डूयनमिति । गुणागुणो नाम-तत्र गुण एव कस्यचिदगुणत्वेन विपरिणमते । यथा-जीवोपेतस्य ऋजुत्वाख्यो गुणो मायाविनः प्रत्यगुणो भवति ।

उक्तं च-

"शाठ्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः श्रुतौ कैतवं,
शूरे निर्घृणता ऋजौ विमतिता दैन्यं प्रियाभाषिणि ।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे,
तत्को नाम गुणो भवेत् स विदुषां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः" ? ॥१॥

अगुणगुणो नामाऽगुण एव कस्यचित् गुणत्वेन विपरिणमते, स वक्रविषयो, यथा-गौर्गलिरसंजातकिणस्कन्धो गोगणस्य मध्ये सुखेनैवाऽऽस्ते । तथा च—

"गुणानामेव दौर्जन्याद्-धुरि धुर्यो नियुज्यते ।
असंजातकिणस्कन्धः, सुखं जीवति गौर्गलिः" ॥ १ ॥

भवगुणो नाम भवत्युत्पद्यते तेषु तेषु स्थानेष्विति नारकादिभवः, तत्र तस्य वा गुणो भवगुणः, स च जीवविषयः । तद्यथा-नारकास्तीव्रतरवेदनासहिष्णवस्तिलशश्छिन्नसन्धानिनो अवधिमन्तश्च भवगुणादेव भवन्ति, तिर्यञ्चश्च सदसद्विवेकविकला अपि सन्तो गगनगमनलब्धिमन्तो गवादीनां च तृणादिकमप्यशनं शुभानुभावेनापद्यते, मनुजानां वा शेषकर्मक्षयो, देवानां च सर्वशुभानुभावो भवगुणादेवेति । शीलगुणो नामाऽपरैराक्रुश्यमानोऽपि शीलगुणादेव न क्रोधवशो भवति । अथवा-शब्दादिके शोभने अशोभने वा स्वभावादेव विदितवेद्यवन्माध्यस्थमवलम्बते । भावगुणो नाम भावा औदयिकादयः, तेषां गुणो नाम भावगुणः, स च जीवाजीवविषयः, स च जीवविषयः औदयिकादिः षोढा । तत्रौदयिकः प्रशस्तश्च, तीर्थकराऽऽहारकशरीरादिप्रशस्तः, अप्रशस्तस्तु शब्दादिविषयोपभोगहास्यरतीत्यादि, औपशमिक उपशमश्रेण्यन्तर्गतायुष्कक्षयानुत्तरविमानप्राप्तिलक्षणः, तथा सत्कर्मानुदयलक्षणश्चेति । क्षायिकभावगुणश्चतुर्धा । तद्यथा-क्षीणसप्तकस्य पुनर्मिथ्यात्वागमनं क्षीणमोहनीयस्याऽवश्यंभाविशेषघातिकर्मक्षयः क्षीणघातिकर्मणोऽनावरणज्ञानदर्शनाविर्भावोपगताशेषकर्मणोऽपुनर्भवस्तथाऽऽत्यन्तिकैकान्तिकानाबाधपरमानन्दलक्षणः सुखावाप्तिश्चेति क्षायोपशमिकदर्शनावाप्तिरिति पारिणामिको भव्यत्वादिरिति सान्निपातिकस्त्वौदयिकादिपञ्चभावसमकालनिष्पादितः । तद्यथा-मनुष्यगत्युदयादौदयिकः संपूर्णपञ्चेन्द्रियत्वावाप्तेः क्षायोपशमिकः, दर्शनसप्तकक्षयात् क्षायिकः, चारित्रमोहनीयोपशमादौपशमिकः, भव्यत्वात्पारिणामिक इति । उक्तो जीवभावगुणः सांप्रतमजीव-

भावगुणः, स चौदयिकपारिणामिकयोरेव संभवति, नान्येषां, तत्रौदयिकस्तावत् उदये भव औदयिकः, स चाजीवाश्रयोऽनया विवक्षया यदुत काश्चित् प्रकृतयः पुद्गलविपाकिन्य एव भवन्ति। काः पुनस्ताः?। उच्यन्ते-औदारिकादीनि शरीराणि पञ्चषट् संस्थानानि त्रीण्यङ्गोपाङ्गानि षट्संहननानि वर्णपञ्चकं गन्धद्वयं पञ्च रसा अष्टौ स्पर्शा अगुरुलघु नाम उपघातो नाम पराघातो नाम उद्योतो नाम आतपो नाम निर्म्माणं नाम प्रत्येकं नाम साधारणं नाम,स्थिरं नाम अस्थिरं नाम शुभं नाम अशुभं नाम। एताः सर्वा अपि पुद्गलविपाकिन्यः, सत्यपि जीवसंबन्धित्वे पुद्गलविपाकित्वादासामिति पारिणामिकः, जीवगुणस्तु द्वेधाऽनादिपारिणामिकः, सादिपारिणामिकश्चेति। तत्रानादिपारिणामिको धर्माधर्माकाशानां गतिस्थित्यवगाहलक्षणः, सादिपारिणामिकस्त्वभ्रेन्द्रधनुरादीनां परमाणूनां च वर्णादिगुणान्तरोत्पत्तिरिति गाथातात्पर्यार्थः। उक्ता गुणाः। आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ०।

(३) आवर्तरूपा गुणाः—

जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति सुणमाणे सद्दाइं सुणेति उड्ढं अहं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति सद्देसु आवि।

यो गुणः स आवर्तः, आवर्तन्ते परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्तः संसारः। एकवचनोपन्यासात् पुरुषोऽत्र संबध्यते, यः शब्दादिगुणे वर्तते स आवर्ते वर्तते, यश्चावर्ते वर्तते स गुणे वर्तते इति। अथ य एते गुणाः संसारावर्तकारणभूताः शब्दादयः ते किं नियतदेशभाजः उत सर्वदिक्षु इत्यत आह—(उड्ढं अधमित्यादि) प्रज्ञापकदिगङ्गीकरणादूर्द्धदिग्व्यवस्थितं रूपगुणं पश्यति, प्रासादतलहर्म्यादिषु अधमित्यधस्तात् गिरिशिखरप्रासादादिरूढोऽधोव्यवस्थितं रूपगुणं पश्यति, अधःशब्दार्थे (अवामित्ययं?) वर्तते। गृहभित्यादिव्यवस्थितं रूपगुणं तिर्यक् पश्यति, तिर्यक्शब्देन चात्र दिशोऽनुदिशश्च परिगृह्यन्ते। ताश्चेमाः-प्राचीनमिति पूर्वादिक्,एतच्चोपलक्षणम्-अन्या अप्येतदाद्यास्तिर्यग्दिशो द्रष्टव्या इति। एतासु दिक्षु पश्यन् चक्षुर्ज्ञानपरिणतो रूपादिद्रव्याणि चक्षुर्ज्ञानतया परिणतानि पश्यत्युपलभत इत्यर्थः। तथा-तासु च शृण्वन् शृणोति शब्दानुपयुक्तः श्रोत्रेण,नान्यथेति। अत्रोपलब्धिमात्रं प्रतिपादितं,न चोपलब्धिमात्रात्संसारप्रपातः, किंतु यदि मूर्च्छां रूपादिषु करोति ततोऽस्य बन्धः इति दर्शयितुमाह-(उड्ढमित्यादि) पुनरूर्द्धादेर्मूर्च्छासम्बन्धनार्थमुपादानम्, मूर्च्छन्नरूपेषु मूर्च्छति; रागपरिणामं यान् रज्यते रूपादिष्वित्यर्थः। एवं शब्देष्वपि मूर्च्छति, अपिशब्दः सम्भावनायां, समुच्चये वा, रूपशब्दविषयग्रहणाच्च शेषा अपि गन्धस्पर्शा गृहीता भवन्ति। एकग्रहणात्तज्जातीयानां ग्रहणात्,आद्यन्तग्रहणाद्वा तन्मध्यग्रहणमवसेयमिति। आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ०।

(४) मूलस्थानरूपा गुणाः-

जे गुणे से मूलट्ठाणे जे मूलट्ठाणे से गुणे इति से गुणट्ठी महया परितावेणं वसे पमत्ते।

'जे गुणे से मूलट्ठाणे'। आदिसूत्रसम्बन्धस्तु-"सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं" किं तत् श्रुतं भवता,यद्भगवता आयुष्मताऽख्यातमित्युच्यते?। (जे गुणे से मूलट्ठाणे) य इति सर्वनामप्रथमान्तं मागधदेशीवचनत्वादेकारान्तं सामान्योद्देशार्थाभिधायीति। गुण्यते भिद्यते विशिष्यतेऽनेन द्रव्यमिति गुणः। स चेह शब्दरूपरसगन्धस्पर्शादिकः, स इति सर्वनामप्रथमान्तमुद्दिष्टनिर्देशार्थाभिधायीति। मूलमिति निष्पन्नं कारणं प्रत्यय इति पर्यायाः, तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं, मूलस्य स्थानं मूलस्थानम्, "व्यवच्छेदफलत्वाद्वाक्यानामिति" न्यायात्। य एव शब्दादिकः कामगुणः स एव संसारस्य नारकतिर्यङ्नराऽमरसंस्थितिलक्षणस्य यन्मूलं कारणं कषायास्तेषां स्थानमाश्रयो वर्तते, यस्मान्मनोज्ञेतरशब्दाद्युपलब्धौ कषायोदयस्ततोऽपि संसार इति। अथवा मूलमिति कारणं,तच्चाष्टप्रकारं कर्म्म, तस्य स्थानमाश्रयः कामगुण इति। अथवा-मूलं मोहनीयं तद्भेदो वा कामस्तस्य स्थानं शब्दादिको विषयगुणः। अथ वा-मूलं शब्दादिको विषयगुणस्तस्य स्थानमिष्टानिष्टविषयगुण इति। अथ वा-मूलं मोहनीयं तद्भेदो वा कामस्तस्य स्थानं शब्दादिव्यवस्थितो गुणरूपः संसार एव आत्मा वा शब्दाद्युपयोगानन्यत्वाद् गुणः। अथ वा मूलं संसारस्तस्य शब्दादयः स्थानं, कषाया वा, गुणोऽपि शब्दादिकः, कषायपरिणतो वाऽऽत्मेति। यदि वा-मूलं संसारस्य शब्दादिकषायपरिणतः सन्नात्मा,तस्य स्थानं शब्दादिकं,गुणोऽप्यसावेवेति। ततश्च सर्वथा य एव गुणः स एव मूलस्थानं वर्तते। ननु च वर्तनक्रियायाः सूत्रेऽप्यनुपादानात् कथं प्रक्षेप इति?। उच्यते-यत्र हि काचिद्विशेषक्रिया नैवोपादायि, तत्र सामान्यक्रिया-अस्ति, भवति, विद्यते, वर्तत इत्यादिकामुपादाय वाक्यं परिसमाप्यते। एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति। अथ वा-मूलमित्याद्यं प्रधानं वा स्थानमिति कारणं, मूलं च तत्कारणं चेति विगृह्य कर्मधारयः। ततश्च य एव शब्दादिको गुणः स एव मूलस्थानं संपाद्यं, प्रधानं वा कारणमिति; शेषं पूर्ववदिति। साम्प्रतमनयोरेव गुणमूलस्थानयोर्नियम्यनियामकभावं दर्शयंस्तदुपात्तानां विषयकषायादीनां बीजाङ्कुरन्यायेन परस्परतः कार्यकरणभावं सूत्रेणैव, ततश्च दर्शयति-(जे मूलट्ठाणे से गुणे त्ति) यदेव संसारमूलानां वा कषायाणां स्थानमाश्रयः शब्दादिको गुणोऽप्यसावेव। अथवा-कषायमूलानां शब्दादीनां यत् स्थानं कर्म संसारो वा तत् तत् स्वभावापत्तेर्गुणोऽप्यसावेवेति। अथवा-शब्दादिकषायपरिणाममूलस्य संसारस्य कर्मणो वा यत् स्थानं मोहनीयं कर्म शब्दादिकषायपरिणतो वाऽऽत्मेति तद्गुणावाप्तेर्गुणोऽप्यसावेव। यदि वा-संसारकषायमूलस्याऽऽत्मनो यत्स्थानं विषयाभिष्वङ्गोऽसावपि शब्दादिविषयत्वाद् गुणरूपं चेति। अत्र च विषयोपादानेन विषयिणोऽप्याक्षेपात् सूचनार्थत्वाच्च सूत्रस्येत्येवमपि द्रष्टव्यम्। यो गुणेषु वा वर्तते स मूलस्थाने,मूलस्थानेषु वा वर्तते; यो मूलस्थानादौ वर्तते स एव गुणादौ वर्तत इति। य एव जन्तुः शब्दादिके प्राग्व्यावर्णितस्वरूपे वर्तते स एव संसारमूलकषायादिस्थानादौ वर्तते। एतदेव द्वितीयसूत्रापेक्षया व्यत्ययेन प्राग्वद्योज्यम्, अनन्तगमपर्यायत्वात् सूत्रस्यैवमपि द्रष्टव्यम्। यो गुणस्स एव मूलं,स एव च स्थानं,यन्मूलं तदेव गुणः,स्थानमपि तदेव,यत् स्थानं तदेव गुणो, मूलमपि तदेवेति, यो गुणः शब्दादिकोऽसावेव संसारस्य कषायकारणत्वान्मूलं,स्थानमप्यसावेत्येवम्,एवमन्येष्वपि विकल्पेषु योज्यम्। विषयनिर्देशो च विषयिण्याक्षेपः, यो गुणे वर्तते स मूले स्थाने चेत्येवं सर्वत्र द्रष्टव्यम्। इह च सर्वज्ञप्रणीतत्वादनन्तार्थता सूत्रस्यावगन्तव्या। तथाहि-मूलमत्र कषायादिकमुप-

न्यक्तं, कषायाश्च क्रोधादयश्चत्वारः, क्रोधोऽप्यनन्तानुबन्ध्यादिभेदेन चतुर्द्धा-अनन्तानुबन्धिनोऽप्यसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि बन्धाध्यवसायस्थानि, अनन्ताश्च तत्पर्यायाः, तेषां च प्रत्येकं स्थानगुणनिरूपणमनन्तार्थता सूत्रस्य संपद्यते। सा च ज्ञस्थेन सर्वायुषाऽप्यविषयत्वाच्चाऽशक्या दर्शयितुम्। दिग्दर्शनं तु कृतमेवाऽतोऽनया दिशा कुशाग्रीयधीमुषा गुणमूलस्थानानां परस्परतः कार्यकारणभावः, संयोजना च कार्येति। तदेवं य एव गुणः स एव मूलस्थानं, यदेव मूलस्थानं स एव गुण इत्युक्तम्। ततः किमिति ?, अत आह—(इति से गुणट्ठी महया इत्यादि) इतिहेतोर्यस्माच्छब्दादिगुणपरीत आत्मा कषायमूलस्थाने संवर्त्तते, सर्वोऽपि च प्राणी गुणार्थी गुणप्रयोजनी गुणानुरागीत्यतस्तेषां गुणानामप्राप्तौ प्राप्तिनाशे वाऽऽकाङ्क्षाशोकाभ्यां स प्राणी महताऽपरिमितेन परि समन्ततो यः परितापस्तेन शारीरमानसस्वभावेन दुःखेनाभिभूतः सन् पौनःपुन्येन तेषु तेषु स्थानेषु वसेत्तिष्ठेदुत्पद्येत् । किंभूतः सन्-प्रमत्तः, प्रमादश्च रागद्वेषात्मको, द्वेषश्च प्रायो न रागमृते, रागोऽप्युत्पत्तेरारभ्यामातृपितृनावाश्यासात । आचा० १ श्रु०२ अ० १ उ०। सूत्र०। वैशेषिकसम्मतगुणाः-गुणाश्चतुर्विंशतिः । तद्यथा- "रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्यापरिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वाऽपरत्वे बुद्धिः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नश्च" इति सूत्रोक्ताः सप्तदश। चशब्दसमुच्चिताश्च सप्त-द्रवत्वं गुरुत्वं संस्कारः स्नेहो धर्माधर्मौ शब्दश्चेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः संस्कारस्य वेगभावनास्थितिस्थापकभेदात्त्रैविध्येऽपि संस्कारत्वजात्यपेक्षया एकत्वाच्छौर्यौदार्यादीनां चात्रैवान्तर्भावान्नाधिक्यम् । स्था० । आ० म० । आव० । आ० चू० । द्रव्यगुणानां परस्परमभेदः । सम्म० ३ काण्ड । नित्यस्य चाकारणत्वाच्च चतुःसङ्ख्यं परमाण्वात्मकं नित्यद्रव्यं सम्भवति (इत्यन्यत्र प्रत्यपादि) सम्म० ३ काण्ड ।

[५] न सन्ति गुणा इति द्रव्यार्थिकः-गुणाः खल्वौपचारिकत्वादसन्त एव,द्रव्यव्यतिरेकेण तेषामनुपलम्भात् । ततश्च न्यग्भूतगुणग्रामो जीव एव मुख्यवृत्त्या सामायिकं न तु पर्याया इति द्रव्यार्थिकनयो मन्यते । आह-ननु रूपादयो गुणा यदि न सन्ति, तर्हि कथं लोकस्य द्रव्ये तत्प्रतिपत्तिः ?। उच्यते-भ्रान्तैवेयम्, चित्रे निम्नोन्नतप्रतिपत्तिवदित्यस्य नयस्याऽभिप्रायः । स एव सामायिकादिगुणः पर्यायार्थिकनयस्य परमार्थतोऽस्ति, न तु जीवद्रव्यं, यस्माज्जीवस्यैव गुणो जीवगुण इति, तत्पुरुषोऽयं, स चोत्तरपदप्रधानः । यथा-तैलस्य धारा तैलधारेति, न चात्र धाराऽतिरिक्तं किमपि तैलमस्ति । एवं ज्ञानादिगुणातिरिक्तं जीवद्रव्यमपि नास्तीति पर्यायार्थिकनयाऽभिप्रायः । इति निर्युक्तिकाराशयः ।

अत्र भाष्यम्-

इच्छइ जं दव्वनओ, दव्वं तच्च मुवयारओ य गुणे ।
सामइयगुणविसिट्ठो, तो जीवो तस्स सामइयं ॥२६४४॥
पज्जाओ च्चिय वत्थुं, तत्थं दव्वं च तदुवयाराओ ।
पज्जवनयस्स जम्हा, सामइयं तेण पज्जाओ ॥२६४५॥

यदस्माद्द्रव्यार्थिकनयस्तथ्यं सत्यं द्रव्यमेवेच्छति, गुणांस्तूपचारत एव मन्यते,न तु सत्यान्, ततस्तस्मात्सामायिकगुणविशिष्ट उपसर्जनीभूतसामायिकादिगुणो मुख्यतया जीव एव, तस्य द्रव्यार्थिकनयस्य सामायिकमिति। यस्मात्पर्यायार्थिकनयस्य मतेन पर्याय एव तथ्यं निरुपचरितं वस्तु, द्रव्यं पुनस्तेष्वेव पूर्वापरीभूतपर्यायेषूपचारतो व्यवह्रियते, न तु परमार्थतस्तदस्ति, तेषु पर्यायेषु उपचारस्तदुपचारस्तस्मादिति समासः तेन तस्मात्कारणात्पर्याय एवाऽस्य मुख्यतया सामायिकम्, न तु जीवद्रव्यमिति ॥२६४५॥

इदमेव पर्यायार्थिकनयमतं युक्तितः समर्थयन्नाह-

पज्जायनयमयमिणं, पज्जायत्थंतरं कओ दव्वं ।
उवलंभव्ववहारा-भावाओ खरविसाणं व ॥२६४६॥
जह रूवाइविसिट्ठो, न घडो सव्वप्पमाणविरहाओ ।
तह नाणाइविसिट्ठो,को जीवो नामऽणक्खेओ ? ॥२६४७॥

पर्यायनयस्येदं मतम्-पर्यायेष्वेव पूर्वापरीभावतः सदैव सातत्येन प्रवृत्तेषु भ्रान्त्या द्रव्योपचारः क्रियते, न पुनः पर्यायेभ्योऽर्थान्तरं भिन्नं द्रव्यमस्ति। प्रयोगः-नास्ति परकल्पितं द्रव्यं, पर्यायेभ्योऽर्थान्तरत्वात्,खरविषाणवदिति। अथ वा- नास्ति परपरिकल्पितं द्रव्यं, पर्यायेभ्यो भेदेनानुपलभ्यमानत्वात्,व्यवहारेऽनुपयुज्यमानत्वात् वा खरविषाणवदिति । यथा वा-रूपरसगन्धस्पर्शेभ्यो विशिष्टो भिन्नो घटो नास्ति,सर्वप्रमाणाविरहात्, सर्वप्रमाणैः ग्रहणाभावादित्यर्थः,खरविषाणवदिति । तथा तेनैव प्रकारेणाऽनाख्येयः पर्यायविरहेण सर्वोपाख्यारहितो ज्ञानादिभ्यो विशिष्टो व्यतिरिक्तः को नाम जीवः ?, पूर्वोक्तेभ्यः एव हेतुभ्यस्तद्व्यतिरिक्तो नास्ति कश्चनाप्यसाविति भावः॥२६४६॥२६४७॥

अथेदमेव पर्यायार्थिकमतं निर्युक्तिकारोऽपि किञ्चित्समर्थयन्नाह-

उप्पज्जंति वियंति य, परिणामंति य गुणा न दव्वाइं ।
दव्वप्पभवा य गुणा, न गुणप्पभवाइँ दव्वाइं ॥२६४८॥

उत्पद्यन्ते व्ययन्ते च, तथा-अनेनोत्पादव्ययरूपेण परिणमन्ति गुणाः। चशब्द एवकारार्थः । तस्य चैवं प्रयोगः-गुणा एवोत्पादव्ययरूपेण परिणमन्ति,न तु द्रव्याणि,अतस्त एव सन्ति,उत्पादव्ययपरिणामवत्त्वात्,पत्रनीलरक्तादिवत्, तद्व्यतिरिक्तस्तु गुणी नास्त्येव,उत्पादव्ययपरिणामरहितत्वाद्वन्ध्यासुतादिवदिति। किञ्च (दव्वप्पभवा य गुणा न त्ति) द्रव्यात्प्रभवो येषां ते द्रव्यप्रभवा गुणा न भवन्ति, चशब्दोऽप्यर्थे । तस्य चैवं संबन्धः-नापि गुणेभ्यः प्रभवो येषां तानि गुणप्रभवानि द्रव्याणि भवन्ति, नकारस्योभयत्राऽपि संबन्धात् । ततश्च न कारणत्वं नापि कार्यत्वं द्रव्याणामतस्तेषामभावः सतः कार्यकारणरूपत्वादिति । अथ वा अन्यथा व्याख्यायते-द्रव्यप्रभवाश्च गुणा न भवन्ति, गुणप्रभवानि तु द्रव्याणि भवन्ति, पूर्वापरीभावेन प्रतीत्य समुत्पादसमुत्पन्नगुणसमुदाये द्रव्योपचारप्रवृत्तेः । तस्माद् गुण एव सामायिकमिति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ २६४८ ॥ विशे० ।

(६) गुणलक्षणम् -

गुणः सहभावी धर्मो, यथाऽऽत्मनि विज्ञानव्यक्तिशक्त्यादिरिति ॥ ७ ॥

सहभावित्वमत्र लक्षणं, यथेत्यादिकमुदाहरणं,विज्ञानव्यक्तिर्यत्किञ्चिद् ज्ञानं तदानीं विद्यमानं, विज्ञानशक्तिरुत्तरज्ञानपरिणामयोग्यता । आदिशब्दात् सुखपरिस्पन्दयौवनादयो गृह्यन्ते ॥७॥ रत्ना० ५ परि० ।

(७) गुणपर्याययोर्भेदे विचारः—ये सहभाविनः सुखज्ञानवीर्यपरिस्पन्दयौवनादयस्ते गुणाः, ये तु क्रमवृत्तयः सुखदुःखहर्षविषादादयस्ते पर्यायाः । नन्वेवं त एव गुणास्त एव पर्याया इति कथं तेषां भेद इति चेत् ?, मैवम्, कालाभेदवि-

भेदविवक्षया तद्भेदस्यानुभूयमानत्वात् । नचैवमेषां सर्वथा भेद इत्यपि मन्तव्यम्, कथञ्चिदभेदस्याप्यविरोधात् । न खल्वेषां स्तम्भकुम्भादिवद्भेदो, नापि स्वरूपवदभेदः, किन्तु धर्म्यपेक्षयाऽभेदः, स्वरूपापेक्षया तु भेद इति । रत्ना० ५ परि० । अनु० ।

सहभावी गुणो धर्मः, पर्यायः क्रमभाव्यथ ।
भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधाः, त्रिलक्षणयुता इमे ॥ २ ॥

(सहभावीति) द्रव्यस्य सहभावी यावद्द्रव्यभावी यो धर्मः स गुण उच्यते । यथा जीवद्रव्यस्योपयोगाख्यो गुणः, पुद्गलस्य ग्रहणं गुणः, धर्मास्तिकायस्य गतिहेतुत्वं गुणः, अधर्मास्तिकायस्य स्थितिहेतुत्वं गुणः, कालस्य वर्तनाहेतुत्वं गुणः, यदैव द्रव्यमुत्पद्यते तदैव समवेतास्तेन द्रव्येण गुणा उत्पद्यन्ते, पौर्वापर्यभाव एव नास्ति, गुणगुणिनोः समानसामग्रीकत्वात्, सव्येतरविषाणवत् इति । अनादिनिधनानां द्रव्यगुणानाम्, उत्पत्तिदर्शनं व्यवहारतः कृष्णादिघटवत् । अथ क्रमभावी अयावद्द्रव्यभावी पर्यायः । यथा-जीवस्य नरकादिपर्यायाः, पुद्गलस्य रूपरसस्पर्शादिपर्यायाः, धर्मस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ, अधर्मस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ, कालस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ, आकाशस्य व्यञ्जनार्थपर्यायौ । एवं द्रव्याणां संख्याकृतो भेदः, लक्षणादिकृतोऽभेदः । प्रदेशा विभागतः त्रिविधाः, उपचारेण नवविधाः, एकैकस्य त्रिकस्य त्रैविध्यात् । तथा त्रिलक्षणाः-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्ताः । इत्थं षमपि जैनप्रमाणप्रमितानि द्रव्याणि, इति द्रव्यगुणपर्यायाः प्रत्येकं परस्परं भिन्ना अभिन्नास्त्रिविधास्त्रिलक्षणयुताः सन्तीति व्याख्येयम् ॥ २ ॥

(८) अथ द्रव्येण सह गुणपर्याययोर्भेदं दर्शयन्नाह-

मुक्तान्यः श्वेततादिभ्यो, मुक्तादाम यथा पृथक् ।
गुणपर्याययोर्व्यक्ते-र्द्रव्यशक्तिस्तथाऽऽश्रिता ॥ ३ ॥
ऊर्ध्वतादिकसामान्यं, पूर्वापरगुणोदयम् ।
पिण्डमास्थ्यादिकसंस्थाना -ऽनुगेका मृद्यथा स्थिता ॥४॥

(मुक्तेति) यथा मुक्तान्यः मौक्तिकानां श्वेततादिभ्यश्च मौक्तिकमाला भिन्ना वर्तते, तथैव द्रव्यशक्तिर्गुणपर्यायव्यक्तिभ्यां भिन्नाऽस्ति । तथाऽत्र समाधिः-गुणपर्याययोर्व्यक्तेः सकाशात् पृथगपि द्रव्यशक्तिरेकप्रदेशसम्बन्धेनाभिन्ना अभिन्ना, अपृथक् इत्यर्थः । श्वेततादयो मौक्तिकानां गुणस्थानिनः, मौक्तिकाः पर्यायस्थानिनः । एतद् द्वयं भिन्नमपि द्रव्यस्थाने मुक्तादाम्नि संगतमभिन्नं सत् मुक्तादामेति व्यवहारो जायते । इति दृष्टान्तयोजना । अथ च-घटादिद्रव्यं प्रत्यक्षप्रमाणेन सामान्यविशेषरूपमनुभवन् सामान्योपयोगेन मृत्तिकादिसामान्यं भासते, विशेषोपयोगेन घटादिविशेषं च भासते, तत्र यत्सामान्यभानं तत् द्रव्यरूपं, यश्च विशेषः स गुणपर्यायरूपो ज्ञेयः ॥३॥ अथ सामान्यं द्विप्रकारं दर्शयन्नाह-पूर्वः प्रथमोऽपरोऽग्रेतनो यो गुणो विशेषस्तयोरुदयं कारणं पूर्वापरगुणोदयं पूर्वापरपर्याययोरनुगतमेकं द्रव्यं, त्रिकालानुयायी यो वस्त्वंशः तदूर्ध्वतासामान्यमित्यभिधीयते । निदर्शनमुत्तानमेव । यथा-पिण्डो मृत्पिण्डः-अस्थिः कुसूल इत्यादयोऽनेके संस्थाना आकृतयः, तासु अनुगता पूर्वापरसाधारणपरिणामद्रव्यरूपा मृत्तिका तथाऽकारा स्थिता, एतदूर्ध्वतासामान्यं कथ्यते । यदि च पिण्डकुसूलादिपर्यायेषु अनुगतमेकं मृद् द्रव्यं न कथ्यते तर्हि घटादिपर्यायेषु अनुगतं घटादिद्रव्यमपि न कथ्यते । तथा च-सर्वं विशेषरूपं भवति, क्षणिकवादिबौद्धमतमायाति । अथवा-सर्वद्रव्येषु एकमेव द्रव्यमागच्छति इति । ततः घटादिद्रव्ये । अथ च तदन्तर्वर्ति सामान्यमृदादिद्रव्ये चाऽनुभवानुसारेण परापरोर्ध्वतासामान्यमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । घटादिद्रव्याणि स्तोकपर्यायव्यापीनि, पुनर्मृदादिद्रव्याणि बहुपर्यायव्यापीनि सन्ति, इत्थं नरनारकादिद्रव्याणां विशेषो ज्ञातव्यः । एतत्सर्वमपि नैगमनयमतम् । तथा शुद्धसंग्रहनयमते तु सदद्वैतवादेन एकमेव द्रव्यमापद्येतेति दिक्षेयम् ॥४॥ द्रव्या० २ अध्या० । स० ।

(९) अथ च व्यक्ति-रूपौ गुणपर्यायौ वर्णयन्नाह-

स्वस्वजात्या हि भूयस्यो, गुणपर्यायव्यक्तयः ।
शक्तिरूपो गुणः केषां-चिन्मते तन्मृषाऽऽगमे ॥१०॥

(स्वेति) स्वस्वजात्या सहभाविक्रमभाविविकल्पनाकृभिजस्वभावेन वर्तमाना गुणपर्यायव्यक्तयो भूयस्यो बहुप्रकाराः सन्ति इति । अत्र कश्चिद्दिगम्बरानुसारी शक्तिरूपो गुण इति कथयन्नाह-यतो द्रव्यपर्यायकारणं द्रव्यम् । गुणपर्यायकारणं गुणः, द्रव्यपर्याययोर्द्रव्यस्याऽन्यथाभावः यथा-नरनारकादयो, यथा वा-द्व्यणुकत्र्यणुकादयः । पुनर्गुणपर्याययोर्गुणस्यान्यथाभावो, यथा-मतिश्रुतादिविशेषः । अथ वा-जवस्थासिद्धादिविशेषः । एतौ द्रव्यगुणौ स्वस्वजात्या शाश्वतौ, पर्यायेण चाशाश्वतौ, इत्थं संगिरन्ते । परमार्थतस्तु आगमयुक्त्या एतत्सर्वं मृषा असत्कल्पनमित्यवधार्य, प्रमाणाभावात् ॥ १० ॥

अथ गुणपर्याययोरैक्यं प्रदर्शयन्नाह-

पर्यायान्न गुणो भिन्नः, संमतिग्रन्थसंमतः ।
यस्य भेदो विवक्षातः, स कथं कथ्यते पृथक् ? ॥ ११ ॥

पर्यायात् गुणो भिन्नः पृथक् न, किं तु पर्याय एव गुण इत्यर्थः । कीदृशो गुणः ?-संमतिग्रन्थसंमतः संमतिग्रन्थे श्रीमत्सिद्धसेनैराचार्यैर्व्यक्तवाचा समुच्चारितः । तथा च तद्ग्रन्थः-

" परिगमणं पज्जाओ, अणेगकरणं गुण त्ति तुल्लट्ठा ।
तह वि न गुण त्ति भएणइ, पज्जवणयदेसणं जम्हा " ॥१०९॥

इति । तथा क्रमभावित्वं पर्यायलक्षणं, तथैवानेककरणमपि पर्यायस्य लक्षणान्तरमेवास्ति । द्रव्यं तु एकमेवास्ते, ज्ञानदर्शनादिभेदकार्यपि पर्याय एव, परं गुणो न कथ्यते । यस्मात् द्रव्यपर्याययोर्भगवतो देशना वर्त्तते, परं तु गुणपर्याययोर्देशना न विद्यते । अयं गाथार्थः ॥१०९॥ एवं सति गुणः पर्यायाद्भिन्नो न, तर्हि-द्रव्यं १ गुणः २ पर्याय ३ श्चेति नामत्रयं पृथक् कथं संकलितम्? इत्थं केचन व्याचक्षते । तानाह-यस्य गुणस्य विवक्षाकृतो भेदः तस्य नामान्तरमपि स्यात् । विवक्षा हि नयस्य कल्पना, यथा-तैलस्य धारा, अत्र तैलात् धारा भिन्ना प्रदर्शिता, तथाऽपि भिन्ना नास्ति, तथैव सहभावी गुणः, क्रमभावी पर्यायः, इति भिन्नत्वं विवक्षितं, परं परमार्थदृशा भिन्नत्वं नास्ति । तस्माद्यस्य भेद उपचरितो भवेत् स कथं भिन्नत्वेन व्यपदिश्यते ?। यथा उपचरितगुणे दृष्टान्तवचनं गौर्दोग्धि इत्यत्र गौर्न दोग्धि तद्वत्, उपचरितगुणोऽपि शक्तित्वं न धत्ते इति ॥११॥ द्रव्या० २ अध्या० । आ० म० ।

अथ ये च गुणः पर्यायाद्भिन्न इति प्रमाणयन्ति तान् दूषयन्नाह-

गुणो द्रव्यं तृतीयं चेत्, तृतीयोऽपि नयस्तदा ।

सिद्धान्ते द्रव्यपर्याया-र्थिकभेदान्नयद्वयम् ॥ १२ ॥

यदि गुणस्तृतीयः पदार्थो द्रव्यपर्यायात् भिन्नोऽन्यः पदार्थो भावो भवेत्, तर्हि तृतीयो नयोऽपि लभ्यते। सूत्रे तु द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक इति नयद्वयमेव कथितम्। नयान्तरं यदि अभाविष्यत्तदाऽवक्ष्यत्, अतो नयद्वयादपरो नय एव न।

उक्तं च संमतौ-

" दो ऊ णया भगवया, दव्वट्ठियपज्जवट्ठिया नियया।
जइ पुण गुणो वि हुंतो, गुणट्ठियणयो वि जुज्जंतो ॥ १०७ ॥
जं च पुण भगवया ते-सु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं।
पज्जवसण्णाणियया, वागरिया तेण पज्जाया " ॥ १०८ ॥

रूपादीनां गुणसंज्ञा सूत्रे न भाषिता परं तु " वण्णपज्जवा गंधपज्जवा " इत्यादिपाठः पर्यायशब्देन पठितः, तथाऽपि गुणो न कथ्यते। अन्यच्च-"एगगुणकालए " इत्यादिस्थानेष्वपि गुणशब्दो यश्च दृश्यते सोऽपि गणितशास्त्रप्रसिद्धपर्यायविशेषः संख्यावाचको ज्ञेयः, परं तु गुणाऽस्तिकनयविषयवाचको न। उक्तं च संमतिग्रन्थमध्ये-

"जंपंति अत्थिसमए, एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो।
रूवाईपरिणामो, भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ ११० ॥
गुणसद्दमंतरेण वि, तं तु पज्जवविसेससंखाणं।
सिज्झइ णवरं संखा, ण सत्थधम्मो ण य गुणो त्ति ॥१११॥
जह दससु दसगुणम्मि य, एगम्मि दसत्तणं समं चेव।
अहियम्मि गुणसद्दे, तहेव एयम्मि दट्ठव्वं " ॥ ११२ ॥

एवं गुणः पर्यायात् परमार्थदृशा भिन्नो नास्ति। तस्माद्द्रव्यमिव शक्तिरूपता कथं स्यादित्यभिप्रायः ॥ १२ ॥

अथ केचन पर्यायस्य दलं गुण इति वदन्तो गुणं शक्तिरूपमेव मन्वानाश्च विवदन्ते, तान् दूषयन्नाह-

पर्यायस्य दलं यर्हि, गुणो द्रव्येण किं तदा।
गुणपर्याय एवेयं, गुणपरिणामकल्पना ॥ १३ ॥

यर्हि गुणः पर्यायस्य दलम् उपादानकारणं भवति, तदा द्रव्येण किमिति किं प्रयोजनं?, द्रव्यप्रयोजनं गुणेनैव सिद्धमित्यर्थाद्गुणपर्यायावेव पदार्थौ उपदिश्यतां तृतीयस्याऽसंभवात् इति नियमः। पुनरत्र कश्चित्कथयिष्यति—द्रव्यपर्यायगुणपर्यायरूपे कार्ये भिन्ने स्तः। ततश्च द्रव्यगुणरूपकारणे अपि भिन्ने स्तः। इति कल्पनया वादी असत्यः। कथम्-कार्ये कारणोपचारात् कार्यमध्ये कारणशब्दप्रवेशो जायते। तथा-कारणभेदे कार्यभेदः सिद्ध्यति, अथ च कार्यभेदासिद्धौ कारणभेदासिद्धिरित्यन्योन्याश्रयनाम दूषणमुत्पद्यते। तस्मात् गुणपर्यायस्तु गुणपरिणामस्यैव पटान्तरभेदकल्पनारूपः; तत एव केवलं संभावना, परं तु परमार्थतो न हि। अथ च द्रव्यादिनामत्रयमपि भेदोपचारेणैव ज्ञेयम् ॥ १३ ॥ द्रव्या० २ अध्या०।

(१०) आर्हतसंमतगुणाः-

श्रीनाभेयजिनं नत्वा, गुणदेष्टृगुरुं तथा।
गुणभेदानहं वक्ष्ये, क्रमप्राप्तान् यथामति ॥ १ ॥

(श्रीनाभेयजिनमिति) नाभेरपत्यं नाभेयः, श्रीयुतो नाभेयः श्रीनाभेयः, स चासौ जिनश्च श्रीनाभेयजिनः, तं श्रीनाभेयजिनं श्रीऋषभनाथं, नत्वा नमस्कृत्य, तथा तेनैव प्रकारेण, गुणदेष्टृगुरुं गुणा वाणीगुणास्तानादिशतीति गुणदेष्टा, स चासौ गुरुश्च गुणदेष्टृगुरुः, तं नत्वा नमस्कृत्येति निर्विघ्नसमाप्तिकामाय मङ्गलमिति। अहं गुणभेदान् क्रमप्राप्तान् द्रव्यव्यावर्णनानन्तरं प्रस्तुतान् यथामति यथास्यात्तथा पूर्वप्रणेतॄणां विस्तारदुर्बोधत्वेन स्वमतिविषयो यथा स्यात्तथा वक्ष्ये कीर्त्तयिष्यामि इति ॥ १ ॥

अथात्र गुणभेदान् समानतन्त्रप्रक्रियया प्रतिपादयन्नाह—

तत्रास्तित्वं परिज्ञेयं, सद्भूतत्वगुणं पुनः।
वस्तुत्वं च तथा जाति-व्यक्तिरूपत्वमुच्यते ॥२॥

(तत्रेति) अस्तित्वं तत्र इदं परिज्ञेयं-सत्तातो यो गुणो भवति, तस्मात्सद्भूततया व्यवहारो जायते, स चास्तित्वगुणः १, वस्तुत्वं च जातिव्यक्तिरूपत्वम्। जातिः सामान्यम्। यथा-घटे घटत्वम्। व्यक्तिर्विशेषः। यथा-घटः सौवर्णः, पाटलिपुत्रिको, वासन्तिकः, कम्बुग्रीव इत्यादि। अत एव अवग्रहेण सर्वत्र सामान्यरूपं भासते, अपायेन विशेषरूपस्याऽऽभासो जायते। पूर्णोपयोगेण संपूर्णवस्तुग्रहो जायते। इत्थं वस्तुत्वं द्वितीयो गुणः ॥२॥

द्रव्यत्वं द्रव्यभावत्वं, पर्यायाधारतोन्वयः।
प्रमाणेन परिच्छेद्यं, प्रमेयं प्रणिगद्यते ॥ ३ ॥
अगुरुलघुता सूक्ष्मा, वाग्गोचरविवर्जिता।
प्रदेशत्वमविभागी, पुद्गलः स्वाश्रयावधि ॥ ४ ॥

अथ द्रव्यत्वं जातिरूपम्। द्रवति तांस्तान्पर्यायान् गच्छतीति द्रव्यं, तस्य भावस्तत्त्वम्। द्रव्यभावो हि पर्यायाधारताभिव्यङ्ग्यो जातिविशेषः। द्रव्यत्वं जातिरूपत्वात् गुणो न भवति। ईदृक्नैयायिकादिवासनया आशङ्का न कर्त्तव्या, यतः-सहभाविनो गुणाः, क्रमभुवः पर्यायाः, ईदृश्येव जैनशासने व्यवस्थाऽस्तीति। द्रव्यत्वं चेद्गुणः स्याद्रूपादिवदुत्कर्षापकर्षभागि स्यादिति तु कुचोद्यम्, एकत्वादिसंख्यायाः परमतेऽपि व्यभिचारेण तथा व्याप्त्यभावादेव निरसनीयम् ३। प्रमाणेन प्रत्यक्षादिना परिच्छेद्यं यद्रूपं प्रमाणविषयत्वं प्रमेयत्वं तदित्युच्यते। तदपि कथञ्चित् अनुगतसर्वसाधारणं गुणोऽस्ति, परम्परासंबन्धेन प्रमात्वज्ञानेनापि प्रमेयव्यवहारो जायते। ततः प्रमेयत्वं गुणस्वरूपादनुगतमस्तीति ४। ३। अगुरुलघुता अगुरुलघुर्नाम गुणः, सा कीदृशी?, सूक्ष्मा, आज्ञाग्राह्यत्वात्। यतः-"सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं, हेतुभिर्नैव हन्यते। आज्ञासिद्धं तु तद् ग्राह्यं, नान्यथावादिनो जिनाः" ॥१॥ पुनः कीदृशी?, वाग्गोचरविवर्जिता वचनद्वारा वक्तुमशक्या। यतः-'अगुरुलघुपर्यायाः सूक्ष्मा अवाग्गोचरा' इति। अगुरुलघुर्नाम्ना पञ्चमो गुणः, अगुरुलघुत्वमिति ध्येयम्। अथ (प्रदेशत्वमविभागी, पुद्गलः स्वाश्रयावधि इति) अविभागी पुद्गल इति यावत् क्षेत्रे तिष्ठतीति तावत् क्षेत्रव्यापित्वं प्रदेशत्वगुणः। यस्य विभागो न जायते विभक्तव्यवहारता न स्यात्, पुनर्यावत्क्षेत्रमास्थाय तिष्ठति स्थितौ, तावत्क्षेत्रावगाहित्वं प्रदेशत्वम्। पुनः कीदृशम्?, स्वाश्रयावधि-स्वशब्देन आत्मा पुद्गलात्मकः, तस्य य आधारः आश्रयः, स एवावधिर्मर्यादा यस्य तत् स्वाश्रयाऽवधि। एतावता तदेवार्थत्वं स्वेन यावत्क्षेत्रे स्थितं तावति क्षेत्रे आश्रयावधित्वमप्यस्ति इति ज्ञेयमिति षष्ठो गुणः ॥ ४ ॥

चेतनत्वमनुभूति-रचेतनमजीविता।
रूपादियुक्तमूर्तत्व-ममूर्तत्वं विपर्ययात् ॥ ५ ॥
सामान्येन समाख्याता, गुणा दश समुच्चिताः।
परस्परपरीहारात्, प्रत्येकमष्ट चाऽष्ट च ॥ ६ ॥

अथ चेतनत्वमात्मनोऽनुभूतिरिति अनुभवरूपगुणः कथ्यते, योऽहं

सुखदुःखादि चेतये-अहं सुखी अहं दुःखी, इति चेतनाव्यवहारः, ततो जातिवृद्धिजग्नक्षतसंरोहणादिजीवनधर्मा भवन्तीति चैतन्यं सप्तमो गुणः ७ । एतस्माद्विपरीतमचैतन्यम् अजीवमात्रम् अजीवता, जडत्वाच्चेतनावैकल्यमिति अचेतनत्वं गुणः ८ रूपादियुक्तं मूर्त्तत्वं मूर्तता गुणः, रूपादिसन्निवेशाभिव्यङ्ग्यपुद्गलद्रव्यमात्रवृत्तित्वम् ९ । अमूर्तत्वं गुणो मूर्तत्वाभावसमन्वितत्वमिति १० इति दशैव । अत्राचेतनत्वामूर्त्तत्वयोश्चेतनत्वमूर्त्तत्वाभावरूपत्वान्न गुणत्वमिति नाशङ्कनीयम्; अचेतनामूर्त्तद्रव्यवृत्तिकार्यजनकतावच्छेदकत्वेन व्यवहारविशेषनियामकत्वेन च तयोरपि पृथग्गुणत्वात्, नञः पर्युदासार्थकत्वात्तत्र गर्भपदवाच्यतायाश्चानुष्णाशीतस्पर्श इत्यादौ व्यभिचारेण परेषामप्यभावत्वानियामकत्वाद्भावान्तरम् । अभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया इति नयाश्रयणेन दोषाभावाच्चेति ॥ ५ ॥ एते दश गुणाः सामान्यगुणाः समुच्चिताः सर्वेषां द्रव्याणां समुच्चयेन कथिताः । तत्र मूर्तत्वममूर्तत्वं, चेतनत्वमचेतनत्वं चेति चत्वारो गुणाः परस्परपरिहारेण तिष्ठन्ति । तत एकैकस्मिन् द्रव्ये प्रत्येकं प्रत्येकमष्टौ प्राप्यन्ते । तत्कथम् ?, यत्र चेतनत्वं तत्राचेतनत्वं नास्ति, यत्र च मूर्तत्वं तत्र च अमूर्तत्वं नास्ति, एवं द्वयोरपसरणात् शेषमष्टकमेव तिष्ठति, तेन प्रतिद्रव्यमष्टैव गुणाः सामान्याः सन्तीति ध्येयम् ॥ ६ ॥

(११) अथ विशेषगुणान् व्याख्यातुमाह—

ज्ञानं दृष्टिः सुखं वीर्यं, स्पर्शगन्धौ रसेक्षणे ।
गतिस्थित्यवगाहत्व-वर्तनाहेतुतापराः ॥ ७ ॥
चैतन्यादिचतुर्भिस्तु, युक्ताः षोडशसंख्यया ।
विशेषेण गुणास्तत्रा-ऽऽद्यात्मनः पुद्गलस्य षट् ॥ ८ ॥
अन्येषां चैव द्रव्याणां, त्रीणि त्रीणि पृथक् पृथक् ।
स्वजात्या चेतनत्वाद्या-श्चत्वारोऽनुगता गुणाः ॥ ९ ॥
एत एव विशेषेण, गुणा अपि जिनेश्वरैः ।
परजातेरपेक्षाया, ग्रहणेन परस्परम् ॥ १० ॥
विशेषेण गुणाः सन्ति, बहुस्वभावकाश्रयाः ।
अर्थेन ते कथं गण्याः,स्थूलव्यवहृतिस्त्वियम् ॥ ११ ॥
स्वभावगुणतो भिन्ना, धर्ममात्रविवक्षया ।
स्वस्वरूपस्य मुख्यत्वं, गृहीत्वा समुदाहृताः ॥ १२ ॥

(ज्ञानमिति) ज्ञानगुणः, दृष्टिर्दर्शनगुणः, सुखमिति सुखगुणः, वीर्यमिति वीर्यगुणः, एते चत्वार आत्मनो विशेषगुणाः । पुनः स्पर्शगन्धौ स्पर्शगुणः, गन्धगुणः, रसेक्षणे रसगुणः,ईक्षणं वर्णगुणः, एते चत्वारः पुद्गलस्य विशेषगुणाः। शुद्धद्रव्ये अविकृतरूपा एते अविशिष्टास्तिष्ठन्ति, ततः एते गुणाः कथिताः, विकृतस्वरूपास्ते पर्यायेषु मिलन्ति, इत्येवं विशेषोऽत्र विज्ञेयः । तथा पुनः गत्यादयो गुणा हेतुतापराः, एतावता गतिहेतुता, स्थितिहेतुता, अवगाहहेतुता, वर्तनाहेतुता, एते चत्वारो गुणाः प्रत्येकं धर्मास्तिकायाऽधर्मास्तिकायाऽऽकाशास्तिकायकालद्रव्याणां क्रमेण सन्ति, विशेषगुणाश्चत्वारः ॥ ७ ॥ अथ एतेषां द्वादशगुणानां चैतन्यादिचतुर्भिर्युक्ताश्चेतनत्वाऽचेतनत्वमूर्तत्वामूर्तत्वादिभिश्चतुर्भिः सहिताः सन्तः षोडश गुणा भवन्ति । तेषु गुणेषु पुद्गलद्रव्यस्य वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-मूर्तत्वा-ऽचेतनत्वानि षट् सन्ति, आत्मद्रव्यस्य ज्ञानदर्शनसुखवीर्यामूर्तत्वचेतनत्वानि इति षट् गुणा भवन्ति । अथान्येषां द्रव्याणां समुदायेन त्रय एव गुणाः भवन्ति, एको निजगुणः, अचेतनत्वम्, अमूर्तत्वमित्यादि विमृश्य धार्यम् ॥८॥ (अन्येषामिति) अन्येषां द्रव्याणां पृथक् पृथक् त्रयः त्रयः गुणाः। यथा-धर्मास्तिकायस्य गतिहेतुता गुणः, अचेतनत्वं गुणः, अमूर्तत्वं गुणः। एवं त्रयोऽधर्मास्तिकायस्य स्थितिहेतुत्वाऽचेतनत्वाऽमूर्तत्वादयः, आकाशास्तिकायस्य अवगाहहेतुत्वाऽचेतनत्वाऽमूर्तत्वादयः, कालस्य वर्तनाहेतुत्वाऽचेतनत्वाऽमूर्तत्वादयः, इत्यादि ज्ञेयम् । अथ चेतनत्वाद्याश्चत्वारः सामान्यगुणाः, चेतनत्वाऽचेतनत्वमूर्त्तत्वाऽमूर्त्तत्वानि सामान्यगुणेषु अपि सन्ति, विशेषगुणेषु च सन्ति, तत्र किं कारणं चेतनत्वाद्याश्चत्वारः सामान्यगुणाः ?, स्वजात्यपेक्षया अनुगतव्यवहारकर्त्तारः सन्ति, तस्मात्सामान्यगुणाः कथ्यन्ते ॥ ९ ॥ परजात्यपेक्षया चेतनत्वादयः अचेतनत्वादिकेभ्यः स्वाश्रयव्यावृत्तिकराः सन्ति, ततो विशेषगुणाः परापरसामान्यवत्सामान्यविशेषगुणत्वमेषामिति भावः । एत एव विशेषणेति स्पष्टम् ॥ १० ॥ (विशेषेणेति) ज्ञानदर्शनसुखवीर्या एते आत्मनो विशेषगुणाः, स्पर्शरसगन्धवर्णाः एते पुद्गलस्य विशेषगुणाः, इत्येतद्यत् कथितं तदियं स्थूलव्यवहृतिः स्थूलव्यवहारः, यतश्च अष्टौ सिद्धगुणाः, एकत्रिंशत्सिद्धगुणाः, एकगुणाः कालकादयः, पुद्गला अनन्ता इत्यादि विचारणया विशेषगुणानामानन्त्योत्पत्तिः, सा च छद्मस्थज्ञानगोचरा नास्ति । अतोऽर्थेन ते कथं गण्याः, तस्माद्धर्मास्तिकायादीनां गतिस्थित्यवगाहनावर्त्तनाहेतुत्वोपयोगग्रहणाख्याः षडेवास्तित्वादयः । सामान्यगुणास्तु विवक्षयाऽपरिमिताः, इत्येवं न्याय्यम् । षण्णां लक्षणवतां लक्षणानि षडेवेति हि को न श्रद्धाति ? ॥

" नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य, एवं जीवस्स लक्खणं ॥ १ ॥
सद्धंधकारउज्जोया, पभाया वा तहेव य ।
वण्णरसगंधफासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं " ॥ २ ॥

इत्यादि तु स्वजातविभावलक्षणयोरन्योऽन्येनान्तरीयकत्वप्रतिपादनायेत्यादि पण्डितैर्विचारणीयम् ॥११॥ (स्वभावेति) स्वभावगुणतो निजत्वव्यवहारेण धर्ममात्रविवक्षया अनुवृत्तिव्यावृत्तिसंबन्धेन च एते भिन्नाः पृथक् पृथक् सन्ति,न कोऽपि कश्चिद्मिश्रीभवति; परं तु स्वस्वरूपस्य निजनिजरूपस्य मुख्यत्वं प्राधान्यं गृहीत्वा अनुवृत्तिसंबन्धमात्रमनुसृत्य समुदाहृताः यत्स्वभावाः सन्ति त एव गुणीकृत्य दर्शिताः । नत इदमत्र बोध्यम्-धर्मापेक्षया अत्र एते गुणात्मकाः पदार्थाः पृथक्स्वभावगुणतो भिन्ना उक्तास्तत्तु निजकीयनिजकीयरूपमुख्यतां गृहीत्वैव स्वभावगुणीकृत्य उपदिष्टा इत्यर्थः; तस्मादत्र गुणविभागं कथयित्वा अग्रे प्रतिपाद्यमानपद्ये स्वभावविभागयोः कथनमुदाहरिष्यतीति ध्येयम् ॥ १२ ॥

अस्तिस्वभाव एषोऽत्र, स्वरूपेणार्थरूपता ॥
स्वभावपरभावाभ्या-मस्तिनास्तित्वकीर्तनात् ॥ १३ ॥
न चेदित्थं तदा शून्यं, सर्वमेव भवेदिदम् ।
परभावेन सत्त्वे तु, सर्वमेकमयं भवेत् ॥ १४ ॥

(अस्तिस्वभाव इति) अत्रेति गुणप्रस्तावनायां प्रथममस्तिस्वभावस्तु एव स्वरूपेण निजकीयरूपेण अर्थरूपता द्रव्ययाथात्म्यं स्वद्रव्यस्वक्षेत्रस्वकालस्वभावैश्च भावरूपता एव ज्ञेया, कस्मात्?। (स्वभावपरभावाभ्यामस्तिनास्तित्वकीर्त्तनात्) यथा स्वभावेन अस्तित्वं स्वभावोऽस्ति, तथैव परभावेन नास्तित्वं स्वभावोऽप्यऽस्ति, ततोऽत्र अस्तिस्वभावः कारणी वर्त्तते, कथं तत्?, अस्तिस्वभावो हि तत्र निजरूपेण भावरूपताऽस्ति, यथा परस्वभावेन नास्तिस्वभावानुभवनं, तथा निजभावेन स्वभावानुभवनमपि जायते, अत उभयत्र कार्यरूपोऽस्तिस्वभाव इति ॥ १३ ॥ (न चेदिति) चेद्यदि अस्तिस्वभावो नाङ्गीक्रियते, परभावापेक्षया यथा नास्तित्वं, तथा स्वभावापेक्षयाऽपि नास्तित्वावलम्बने सति सर्वं जगदिदं प्रवर्त्तमानव्यतिकरमपि शून्यं भवेत्। तस्मात् स्वद्रव्याऽपेक्षया अस्तिस्वभावः सर्वथैवाङ्गीकरणीयः, परभावेन परद्रव्याद्यपेक्षयाऽपि नास्तित्वस्वभावोऽप्यवश्यमङ्गीकर्त्तव्य इत्यर्थः। तथा च परभावेनापि सतामस्तिस्वभावमङ्गीकुर्वतां सर्वस्वरूपेण अस्तित्वे जायमाने च जगदेकरूपं भवेत्; तत्तु सकलशास्त्रव्यवहारविरुद्धमस्ति, तस्मात्परापेक्षया नास्तिस्वभाव एव समस्ति [द्रव्या०]।

(१२) स्वभावा एव गुणाः–

अनुपचारिताः स्वीय–भावास्ते तु गुणाः खलु ।
एकद्रव्याश्रिता गुणाः, पर्याया उभयाश्रिताः ॥ १७ ॥
एवं स्वभावोपगता गुणास्तु,
भेदेन सम्यक् कथिताश्च योग्याः ।
अर्हत्क्रमाम्भोजसमाश्रितानां,
भव्यात्मनां ज्ञानगुणार्थमत्र ॥ १८ ॥

(अनुपचरितेति) अत्र दिगम्बरप्रस्तावना वर्त्तते, कुत्रापि स्वसमयेऽपि उपस्कृता वर्त्तते, परं तु अत्र किमपि विरूप्यं वर्त्तते, तेन तद् दूषणं निराचिकीर्षुराह–अनुपचरिता उपचारवर्जिता ये निजकीयस्वभावाः ते गुणाः, गुणानां हि सहभावित्वादुपचारो न विद्यते। निष्कर्षस्त्वयम्–स्वभावो हि गुणपर्यायाभ्यां भिन्नो न स्यात्, तस्मात् योऽनुपचरितो भावः स एव गुण इति, अथ यश्च उपचारितः सपर्यायः कथ्यते। अत एव द्रव्याश्रिता गुणाः, उभयाश्रिताः पर्यायाः। तथोक्तमुत्तराध्ययने गाथाद्वारा–"गुणाण-मासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा। लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे ॥६॥" (उत्त० २८ अ०) इति ॥१७॥ यदि च–स्वद्रव्यादिग्राहकेणास्तिस्वभावः, परद्रव्यादिग्राहकेण नास्तिस्वभावः, इत्यादिस्वभावोपगता गुणाः स्वभावसहिता इत्युपगम्यते। तदोभयोरपि द्रव्यार्थिकविषयत्वात् सप्तभङ्ग्यामाद्यद्वितीययोर्भङ्गयोः द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकाश्रयेण प्रक्रिया भज्येतेत्याद्यत्र बहु विचारणीयम्। एवमनया रीत्या स्वभावाः स्वभावयुक्ता गुणाश्च भेदेन प्रकारकथनेन सम्यक् शास्त्रोक्तरीत्या कथिताः प्रकाशिताः, श्रीमद्वाचकमुख्ययशोविजयपाठकमतल्लिकारचितप्राकृतपाठदृष्टा लिखिता इत्यर्थः। किमर्थमत्र कस्मै कार्याय कथिताः?, इति प्रयोजनपदं, ज्ञानगुणार्थं, केषाम्?, अर्हतां वीतरागाणां क्रमाश्चरणास्त एवाम्भोजानि कमलानि तत्र समाश्रितानां शरणीभूतानां भव्यात्मनां भव्यलोकानां ज्ञानगुणार्थं मया कथिता इत्यर्थः ॥१८॥ द्रव्या० १३ अध्या०। विविधार्थसम्वादरूपे प्रामाण्यहेतौ, सं०। गुण्यन्ते संख्यायन्ते इति गुणाः। पिण्डशुद्ध्यादिषु, विशे०। अंशे, अनु०। गुण्यते संख्यायते इति गुणः। अनु०। "गुणकारके त्ति गुणं पक्कारसं" पा०। (मूलगुणा उत्तरगुणाश्च लेशतः कपिलेन चौराणामुपदेशे दीयमाने 'कविल' शब्दे तृतीयभागे ३६० पृष्ठे दर्शिताः)

गुणओ–गुणतस्–अव्य०। कार्यत इत्यर्थे, भ० २ श० १० उ०।

गुणकर–गुणकर–त्रि०। कर्मनिर्जरालक्षणोपकारकरणे, पञ्चा० ५ विव०।

गुणकरण–गुणकरण–न०। योजनाकरणे, आ० चू० १ अ०। गुणानां प्राप्तौ, आ० म० द्वि०।

गुणकार–गुणकार–त्रि०। अभ्यासराशौ, स० ८४ सम०।

गुणकारय-गुणकारक-त्रि०। येन गुणकेन गुण्यते तस्मिन्, विशे०। नि० चू०।

गुणगणोघ–गुणगणौघ–पुं०। गुणनिकरप्रवाहे, षो० १५ विव०।

गुणग्गाहिय–गुणग्राहिक–त्रि०। गुणं गृह्णाति, गुण–ग्रह–णिनि–कप्रत्ययः। गुणग्रहणशीले, पा०। गुणानुरक्ते च। ध० ३ अधि०।

गुणचंद–गुणचन्द्र–पुं०। साकेतेश्वरचन्द्रावतंसकराजस्य प्रियदर्शनायां जाते पुत्रे, आ० म० द्वि०। "मुणिचंदो राया गुणचंदो युवराया" आ० चू० १ अ०। स्वनामख्याते मुनौ, पिं०। अन्योऽपि गुणचन्द्रनामा गणी वैक्रमीये ११३६ वर्षे वज्रशाखायां चान्द्रकुले सुमतिवाचकस्य शिष्य आसीत्, तेन च मागध्यां महावीरचरित्रं रचितम्। जै० इ०। सतमुक्तपुरे चन्द्रिकाभर्त्तरि श्रेष्ठिनि, सागरदत्तस्य श्रेष्ठिनः पुत्रे प्रियङ्गुलतिकापतौ, पिं०।

गुणजत्तिल्ल–गुणयत्नवत्–त्रि०। गुणेषु यतमाने, सू० १ श्रु०।

गुणजोग-गुणयोग-पुं०। क्षमादिगुणसंबन्धे, प्रश्न० १ सम्ब० द्वार।

गुणट्ठाण-गुणस्थान-न०। गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपाः जीवस्वभावविशेषाः, तिष्ठन्ति गुणा अस्मिन्निति स्थानम्। गुणानामेव शुद्ध्यशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदे, प्रव० ९० द्वार। कर्म०। परमपदप्रासादशिखरारोहणसोपानकल्पे, कर्म० ४ कर्म०। मिथ्यादृष्ट्यादिकेऽयोगिकेवलिपर्यवसाने जीवानां स्वरूपभेदे, आ० चू० ४ अ०। दर्श०। पं० सं०। कर्म०।

विषयसूची—

(१४) हीरविजयसूरिं प्रति विमलहर्षगणिकृतप्रश्नः ।

(१) इहोत्तरोत्तरगुणारूढानां जन्तूनामसंख्येयगुणनिर्जराभाक्त्वम्, उत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रममविशुद्ध्यपकर्षविशुद्धिप्रकर्षरूपाः सन्तो गुणस्थानकान्युच्यन्ते । कर्म० ५ कर्म० ।

(२) तानि चतुर्दश-

कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस गुणट्ठाणा पसत्ता । तं जहा-मिच्छदिट्ठी सासायणसम्मदिट्ठी सम्मामिच्छदिट्ठी अविरयसम्मदिट्ठी देसविरए, पमत्तसंजए, अप्पमत्तसंजए, नियट्टिअनियट्टिबायरे, सुहुमसंपराए, उवसंतमोहे वा, खीणमोहे, सजोगीकेवली, अजोगीकेवली । स० १४ सम० ।

मिच्छे सासण मीसे, अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमु-वसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ॥

(गुण त्ति) गुणस्थानानि, ततः "सूचनात्सूत्रमिति" न्यायात् पदैकदेशेऽपि पदसमुदायोपचाराद्वा इहैवं गुणस्थानकनिर्देशो द्रष्टव्यः । तद्यथा-मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् १ सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं २ सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानम् ३ अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानम्, ४ देशविरतिगुणस्थानम् ५ प्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ६ अप्रमत्तसंयतगुणस्थानम् ७ निवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानम्, ८ अनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानम्, ९ सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम् १० उपशान्तकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम् ११ क्षीणकषायवीतरागछद्मस्थगुणस्थानम् १२ सयोगिकेवलिगुणस्थानम् १३ अयोगिकेवलिगुणस्थानमिति १४ । तत्र गुणा ज्ञानदर्शनचारित्ररूपा जीवस्वभावविशेषाः, स्थानं पुनरत्र तेषां शुद्धिविशुद्धिप्रकर्षापकर्षकृतः स्वरूपभेदः, तिष्ठन्त्यस्मिन् गुणा इति कृत्वा । गुणानां स्थानं गुणस्थानम् ॥२॥ कर्म० २ कर्म० । चतुर्दशगुणस्थानकेषु समारोहन् जन्तुः किं क्रमेण, एकादिव्यवधानेन वा चतुर्दशं गुणस्थानं स्पृशतीति ? प्रश्ने, उत्तरम्-चतुर्दशगुणस्थानकेषु समारोहन् जन्तुः किं क्रमेण, एकादिव्यवधानेन वा चतुर्दशगुणस्थानं स्पृशतीति यत्पृष्टं, तत्र अनादिमिथ्यादृष्टिस्तावच्चतुर्थं गुणस्थानकं याति, न तु द्वितीयतृतीये, तदनु यदि उपशमश्रेणिमारभते तदैकादशं यावत्क्रमेण याति । यदि च-क्षपकस्तदैकादशं विहाय चतुर्दशं यावत्क्रमेणेति विज्ञायते । विशेषस्तु विशेषावबोधकशास्त्रगम्य इति । इति गुणविजयगणिकृतप्रश्नस्योत्तरम् । ह्री० ३ प्रका० ।

(३) अन्तरम्-इहोत्तरोत्तरगुणारूढानां जन्तूनामसंख्येयगुणनिर्जराभाक्त्वमुक्तमुत्तरोत्तरगुणाश्च यथाक्रममविशुद्ध्यपकर्षविशुद्धिप्रकर्षस्वरूपाः सन्तो गुणस्थानान्युच्यन्ते, अतस्तेषां गुणस्थानकानां जघन्यमुत्कृष्टं चान्तरालं प्रतिपादयन्नाह--

पलियासंखंसमुहू, सासण इयरगुण अंतरं हस्सं ।
गुरु मिच्छि वे छसट्ठी, इयरगुणे पुग्गलद्धंतो ॥ ८४ ॥

इह 'भामा सत्यभामेति' न्यायात्, पल्यः पल्योपमा संख्यांशोऽन्तर्मुहूर्तं च जघन्यमन्तरमिति योगः । केषामिति?, आह-सास्वादनाश्चेतरगुणाश्च अवशिष्टगुणस्थानकानि सास्वादनेतरगुणास्तेषाम् । प्राकृतत्वादत्र विभक्तिलोपः । अन्तरं विवक्षितगुणस्थानावाप्तेः प्रच्युतानां पुनस्तत्प्राप्तेर्व्यवधानमन्तरालमिति यावत् । ह्रस्वं जघन्यम् । तत्र सास्वादनगुणस्थानकस्य जघन्यमन्तरं पल्योपमासंख्येयभागः, इतरगुणस्थानकानां तु जघन्यमन्तर्मुहूर्तमित्यक्षरार्थः । भावार्थः पुनरयम्-योऽनादिमिथ्यादृष्टिरुद्वलितसम्यक्त्वमिश्रपुञ्जो वा मिथ्यादृष्टिः षड्विंशतिसत्कर्मा सन्नन्तरकरणादिना प्रकारेणोपलब्धौपशमिकसम्यक्त्वोऽनन्तानुबन्ध्युदयात्सास्वादनभावमासाद्य मिथ्यात्वं गतः सन् यदि तदेव सास्वादनत्वं पुनर्लभतेऽन्तरकरणप्रकारेणैव, तदा जघन्यतोऽपि पल्योपमासंख्येयभागोर्ध्वं लभते, नार्वाक् । किं कारणमिति चेत्?, उच्यते-यतः सास्वादनान्मिथ्यात्वं गतस्य प्रथमसमये सम्यक्त्वमिश्रपुञ्जौ सत्तायामवश्यं तिष्ठत एव । न च तयोः सत्तायां वर्त्तमानयोः पुनरौपशमिकसम्यक्त्वं लभते, तद्भावात्सास्वादनं दूरापास्तमेव । यदि पुञ्जद्वयसद्भावे औपशमिकसम्यक्त्वस्य न लाभस्तर्हि पल्योपमासंख्येयभागेऽप्यतिक्रान्ते कथं सास्वादनभाजः? इति चेत्, उच्यते-इह सम्यक्त्वमिश्रपुञ्जौ मिथ्यात्वं गतः प्रतिसमयमुद्वर्त्तयते, नद्दलिकं प्रतिसमयं मिथ्यात्वे प्रक्षिपतीत्यर्थः । अनेन च क्रमेणैतावुद्वर्त्यमानौ पल्योपमासंख्येयभागेन सर्वथोद्वर्त्तितौ निःसत्ताकं नीतौ भवतः, इत्थमेव कर्मप्रकृत्यादिष्वभिहितत्वात् । ततः पल्योपमासंख्येयभागेन मिश्रसम्यक्त्वपुञ्जयोरुद्वर्त्तितयोस्तदन्ते कश्चिज्जन्तुः पुनरप्यौपशमिकसम्यक्त्वमासाद्य सास्वादनत्वं गच्छतीत्येवं सास्वादनस्य पल्योपमासंख्येयभागोऽन्तरं भवतीति । नन्वेकदोपशमश्रेणेः प्रतिपतितः सास्वादनभावमनुभूय यदा पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तेनैतामेवोपशमश्रेणिं प्रतिपद्य ततः प्रतिपतितः सास्वादनभावं लभते, तदा जघन्यतोऽवयमेवान्तरं लभ्यते, तत्किमिति पल्योपमासंख्येयभागो जघन्यमन्तरमित्युक्तम्? । सत्यम्-उपशमश्रेणेः प्रतिपतितो यः सास्वादनत्वं गच्छति, स केवलं मनुजगतिभावित्वेनाल्पत्वान्नेह विवक्षित इतीतरस्यैव प्रभूतस्य चतुर्गतिवर्त्तित्वादन्तरालचिन्तेति । इतरगुणस्थानकेभ्यश्च मिथ्यादृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तोपशमश्रेणिगतापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहलक्षणेभ्यः परिभ्रष्टः पुनर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तेऽतिक्रान्ते तान्येव गुणस्थानकानि लभन्ते, इति तेषां जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेवान्तरालं भवति । तथाहि-कश्चिज्जीव उपशमश्रेण्यारूढः सन्नुपशान्तत्वमपि संप्राप्य प्रतिपतितो मिथ्यादृष्टित्वं यावदवाप्नोति, ततो भूयोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तेन तान्येवोपशान्तगुणस्थानान्तानि यदाऽऽरोहति, तदा शेषाणां सास्वादनमिश्रगुणस्थानकवर्जितानां गुणस्थानकानां प्रत्येकं जघन्यत आन्तर्मौहूर्त्तिकमन्तरं भवति; एकस्मिंश्च भवे वारद्वयमुपशमश्रेणिकरणं समनुज्ञातमेव । उक्तं च-"एगभवे दुक्खुत्तो, चरित्तमोहं उवसमिज्जा" । तत्र सास्वादनं प्रति जघन्यान्तरस्योक्तत्वात्, श्रेणिप्रतिपतितस्य च मिश्रगमनाभावात्तयोर्वर्जनमुक्तं, श्रेणिगमनाभावे तु मिश्रस्य सास्वादनवर्जशेषगुणस्थानकानां च मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्रमत्तान्तानां परावृत्य परावृत्य गमनत आन्तर्मौहूर्त्तिकमन्तरं प्राप्यते । क्षपकक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनां त्वन्तरचिन्ता नास्ति, तेषां प्रतिपातस्यैवाभावादिति । उक्तं जघन्यमन्तरं सर्वगुणस्थानकानाम् । इदानीमुत्कृष्टमन्तरमाह-"गुरु मिच्छि वे छसट्ठी" इत्यादि । गुरु उत्कृष्टमन्तरम् । (मिच्छि त्ति) मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकस्य द्वे षट्षष्टी षट्षष्टिद्वयम् । अयमत्र भावार्थः-यः कश्चिज्जन्तुर्विशुद्धिवशान्मिथ्यादृष्टित्वं परित्यज्य सम्यक्त्वं प्रतिपन्नस्ततः सागरोपमषट्षष्टिप्रमाणमुत्कृष्टं सम्यक्त्वकालं प्रतिपाल्यान्तर्मुहूर्त्तमेकं सम्यग्मिथ्यात्वं गच्छति; ततो भूयोऽपि सम्यक्त्वमासाद्य सागरोपमषट्षष्टिं यावत्तदनुपाल्य तत ऊर्ध्वं

यो न सिध्यति, सोऽवश्यं मिथ्यात्वं गच्छति । तत इत्थं सागरोपमपृथक्त्वस्थितिकमुत्कृष्टं सामर्थ्यतो मिश्रान्तर्मुहूर्तमभ्यधिकमुत्कृष्टं मिथ्यात्वस्यान्तरालं भवतीति । (इयरगुण त्ति) इतरगुणस्थानकविषये । कोऽर्थः ?–मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकापेक्षयाऽन्यगुणस्थानकेषु सास्वादनादिषूपशान्तमोहान्तेषु गुरु अन्तरमुत्कृष्टोऽन्तरालकालो भवति । कियदित्याह–(पुग्गलद्धन्त त्ति) सूत्रकत्वात्सूत्रस्य पुद्गलस्य पुद्गलपरावर्त्तस्यार्द्धं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं, तस्यान्तर्मध्यं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धान्तः किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धमित्यर्थः । इदमत्र तात्पर्यम्-सास्वादनादय उपशमश्रेणिगतापूर्वकरणाद्युपशान्तमोहान्ताश्च जीवा निजनिजगुणस्थानकावस्थितेर्यदा परिभ्रष्टास्तदोत्कृष्टतः किञ्चिदूनं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं यावदपारसंसारपारावारमध्यमध्यास्य पुनः तानि गुणस्थानकानि लभन्ते, नार्वाक्, तत ऊर्द्ध्वं च सम्यक्त्वादिगुणान् संप्राप्याऽवश्यं जीवाः सिध्यन्तीति । ततो देशोनार्द्धपुद्गलपरावर्त्तमानमेषामुत्कृष्टमन्तरं भवति । क्षपकक्षीणमोहादीनां चान्तरमेव नास्ति,प्रतिपाताभावादिति । कर्म० ५ कर्म० । पं० सं० । (गुणस्थानकेष्वेव वर्तमानानां जन्तूनामल्पबहुत्वम्–' अप्पाबहुय ' शब्दे प्रथमभागे ६३७ पृष्ठे उक्तम्) [गुणस्थानकेषु उदीरणा ' उदीरणा ' शब्दे द्वितीयभागे ६६५ पृष्ठे उक्ता]

(४) कायस्थितिः । सम्प्रत्येकस्मिन् जीवे गुणस्थानेषु विभागेन कालमानमाह–

होइ अणाइ अणंतो, अणाइ संतो य साइसंतो य ।
देसूणपोग्गलद्धं, अंतमुहुत्तं, चरिममिच्छो ॥३९॥

इह मिथ्यादृष्टिः कालतश्चिन्त्यमानस्त्रिधा प्राप्यते । तद्यथा–अनाद्यनन्तः,अनादिसान्तः,सादिसान्तश्च । तत्राभव्यो भव्यो वा कश्चित्तथाविधोऽप्राप्तव्यपरमपदोऽनाद्यनन्तः, तस्याऽनादिकालादारभ्याऽऽगामिनं सकलमपि कालं यावन्मिथ्यात्वापगमसंभवाभावात्, यस्तु भव्योऽनादिमिथ्यादृष्टिरवश्यमायत्यां सम्यक्त्वमवाप्स्यति स मिथ्यादृष्टिः कालमाश्रित्यानादिसान्तः,यस्तु तथाभव्यत्वपरिपाकवशादवाप्त सम्यक्त्वं,ततः केनापि कारणेन पुनः सम्यक्त्वात्परिभ्रष्टो मिथ्यात्वमनुभवति,स भूयः कालान्तरे नियमतः सम्यक्त्वमवाप्स्यति, ततः स मिथ्यादृष्टिः सादिसान्तः । तथाहि–सम्यक्त्वलाभानन्तरं मिथ्यात्वमासादितमिति सादिः, पुनरपि कालान्तरे नियमतो मिथ्यात्वमपगमिष्यतीति सान्तः । एष एव सादिसान्तो मिथ्यादृष्टिर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावद्भवति, सम्यक्त्वप्रतिपातानन्तरमन्तर्मुहूर्त्तेन कालेन भूयोऽपि सम्यक्त्वप्राप्तेः,उत्कर्षतो देशोनं किञ्चिन् न्यूनं पुद्गलपरावर्त्तार्द्धं प्रतिपतितसम्यग्दृष्टेः, देशोनपुद्गलपरावर्त्तार्द्धपर्यन्ते नियमतः सम्यक्त्वलाभसंभवात्, अत एव साद्यनन्तरूपो मिथ्यादृष्टिर्न भवति, सादितायां सत्यामुत्कर्षतः किञ्चिदूनपुद्गलपरावर्त्तार्द्धपर्यन्ते नियमतो मिथ्यात्वापगमसंभवात् ॥ पं० सं० २ द्वार ।

तदेवमुक्तमेव जीवस्य मिथ्यादृष्टिगुणस्थानककालमानम् । सम्प्रति सास्वादनमिश्रगुणस्थानकयोरौपशमिकसम्यक्त्वस्य, क्षायिकसम्यक्त्वस्य च कालमानमाह–

आवलियाणं छक्कं, समयादारब्भ सासणो होइ ।
मीसुवसम अंतमुहू, खाइयदिट्ठी अणंतद्धा ॥ ४० ॥

एकस्मात्समयादारभ्य यावदावलिकानां षट्कं, तावत्सास्वादनो भवति । इयमत्र भावना–एकः सास्वादनो जीवः पूर्वं गुणस्थानकविचारनिर्दिष्टन्यायेन प्राप्तसास्वादनभावः कश्चित्समयेकमवतिष्ठते, अन्यस्तु द्वौ समयौ, अपरस्तु त्रीन् समयान् । एवं यावत्कोऽपि षडावलिकाः,तत ऊर्द्ध्वमवश्यं मिथ्यात्वमुपगच्छति, तत एवमेकस्य जीवस्य सास्वादनगुणस्थानककालो जघन्यतः समयः प्राप्यते, उत्कर्षतः षडावलिकाः, तथा मिश्रोपशमौ मिश्रगुणस्थानकौपशमिकसम्यक्त्वे जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणम् । तथाहि–सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकं जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं सुप्रसिद्धम्, " सम्मामिच्छादिट्ठी, अंतो मुहुत्तं इत्यादि " वचनप्रामाण्यात् । केवलं जघन्यपदे तदन्तर्मुहूर्त्तं लघु द्रष्टव्यम्, उत्कृष्टपदे तु तदेव बृहत्तरमिति, औपशमिकसम्यक्त्वमपि प्राथमिकमुपशमश्रेणिसंभवं वा जघन्यत उत्कर्षतश्चान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं, तत्र प्राथमिकमन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणं प्रतीतम् । तथाहि–यदि तदानीं देशविरत्यादिकमपि स्पृशति, तथापि तस्याऽन्तर्मुहूर्त्तमेव कालं यावदवस्थानं, ततः परं क्षायोपशमिकसम्यक्त्वभावात्, देशविरत्यादिप्रतिपत्त्यभावे तु कोऽपि सास्वादनभावं गच्छति, कोऽपि क्षायोपशमिकं सम्यक्त्वम्, उपशमश्रेणिसंभवमप्यौपशमिकं सम्यक्त्वमान्तर्मौहूर्त्तिकमुपशमश्रेणेरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणत्वात् । तथा क्षायिकदृष्टिः क्षायिकसम्यग्दृष्टिरनन्ताद्धा अनन्तकालं यावद्भवति, क्षायिकं हि सम्यक्त्वं प्रादुर्भूतं न कदाचिदप्यपैति, जीवस्य तथास्वभावत्वात् । ततस्तत्सम्यक्त्ववान्सकलमपि पर्यवसितं कालं यावद्भवति ॥ ४० ॥

वेयग अविरयसम्मो, तेत्तीसयराइ साइरेगाइं ।
अंतमुहुत्ताओ पु–व्वकोडिदेसो उ देसूणा ॥ ४१ ॥

वेदकाऽविरतसम्यग्दृष्टिः क्षायोपशमिकाऽविरतसम्यग्दृष्टिः जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावद्भवति, ततोऽन्तर्मुहूर्त्तादारभ्य तावल्लभ्यन्ते यावदुत्कर्षतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि सातिरेकाणि भवन्ति, कथं सातिरेकाणि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि यावद्वेदकाऽविरतसम्यग्दृष्टिर्लभ्यते ? इति चेत् । उच्यते-इह कश्चिदितः स्थानादुत्कृष्टस्थितिष्वनुत्तरविमानेषूत्पन्नः, तत्र चाऽविरतसम्यग्दृष्टित्वेन त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि स्थितिः,ततस्तस्मात्स्थानात् च्युत्वा अत्रायातो यावदद्यापि सर्वविरत्यादिकं न प्रतिपद्यते, तावदविरत एवेत्येकस्य वेदकाविरतसम्यग्दृष्टेर्मनुष्यभवसंबद्ध इति कतिपयवर्षाधिकानि त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि प्राप्यन्ते । तथा (पुव्वकोडीदेसो उ देसूणा) देशसंयतः पुनः, तुर्वाक्यभेदे । उक्तं च–" तुः स्याद्भेदेऽवधारणे ।" जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी, तत्रान्तर्मुहूर्त्तभावना इयम्-कोऽप्यविरतादिरन्तर्मुहूर्त्तमेकं देशविरतिं प्रतिपद्य पुनरप्यविरतादित्वमेव प्रतिपद्यते । देशोनपूर्वकोटिभावना त्वेषा–इह कश्चित् कोऽपि पूर्वकोट्यायुष्को गर्भस्थो नवमासान्सातिरेकान् गमयति,जातोऽप्यष्टौ वर्षाणि यावद्देशविरतिं सर्वविरतिं वा न प्रतिपद्यते, वर्षाष्टकादधो वर्त्तमानस्य सर्वस्यापि तथास्वाभाव्यात् देशतः सर्वतो वा विरतिप्रतिपत्तेरभावात् । भगवद्वज्रस्वामिना व्यभिचार इति चेत् । तथाहि–भगवान्वज्रस्वामी षाण्मासिकोऽपि भावतः प्रतिपन्नसर्वसावद्यविरतिः श्रूयते । तथा च सूत्रम्-" छम्मासियं छसु जयं, माऊण समन्नियं वंदे " इति सत्यमेतत् । किं त्वियं शैशवेऽपि भगवद्वज्रस्वामिनो भावतश्चरणप्रतिपत्तिराश्चर्यभूता कादाचित्कीति न तया व्यभिचारः । अथ कथमवसीयते ?, येन

वज्रस्वामिनः शैशवेऽपि चरणप्रतिपत्तिः सा कादाचित्कीति । उच्यते-पूर्वसूरिकृतव्याख्यानात् । तथा च-पञ्चवस्तुके प्रव्रज्याप्रतिपत्तिकालनियमविचाराऽधिकारे गाथा-

" तयहो परिहवखेत्तं, न चरणभावो वि पायमेएसिं ।
आहच्च भावकहगं, सुत्तं पुण होइ नायव्वं " ॥

अस्या व्याख्या-तेषामष्टानां वर्षाणामधोवर्त्तमाना मनुष्याः परिभवक्षेत्रं भवन्ति, येन तेन वाऽपि शिशुत्वात्परिभूयन्ते, तथा चरणभावोऽपि चरणपरिणामोऽपि प्राय एतेषां वर्षाष्टकादधोवर्त्तमानानां न भवति । यत्पुनः सूत्रम्-" छम्मासियं छसु जयं, माऊण समन्नियं वंदे " इत्येवंरूपं तत् (आहच्चभावकहगं) कादाचित्कभावकथकं, ततो वर्षाष्टकादधः परिभवक्षेत्रत्वाच्चरणपरिणामाभावाच्च न दीक्ष्यन्ते इति ॥४१॥

सम्प्रति प्रमत्ताप्रमत्तसंयतगुणस्थानकयोरेकं जीवमधिकृत्य कालमानमाह—

समयाउ अंतमुहू , पमत्तअपमत्तयं भयंति मुणी ।
देसूणपुव्वकोडिं, अन्नोन्नं चिट्ठहि भयंता ॥ ४२ ॥

समयादेकस्मादारभ्य मुनयः प्रमत्ततामप्रमत्ततां वा तावद्भजन्ति यावदुत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं, ततः परमवश्यं प्रमत्तस्याप्रमत्ततादिभावात्,अप्रमत्तस्य च प्रमत्तताऽऽदिभावात् । इयमत्र भावना-प्रमत्तमुनयोऽप्रमत्तमुनयो वा जघन्यत एकं समयं भवन्ति, तदनन्तरं मरणभावेनाविरतत्वभावात्, उत्कर्षतस्त्वन्तर्मुहूर्त्तं, ततः परमवश्यं प्रमत्तभावो देशविरतत्वं वा, मरणं वा । अप्रमत्तस्याऽपि प्रमत्तताभवनादौ देशविरतत्वादिकं चेति । अथैतदेव कथमवसितमन्तर्मुहूर्त्तादूर्द्धं प्रमत्तस्याप्रमत्तादिभावोऽप्रमत्तस्य वा प्रमत्तादिभावो, यावता देशविरतादिवत् प्रभूतमपि कालं कस्मादेतौ न भवतः ? । उच्यते—इह येषु संक्लेशस्थानेषु वर्त्तमानो मुनिः प्रमत्तो भवति, येषु च विशोधिस्थानेषु वर्त्तमानोऽप्रमत्तस्तानि संक्लेशस्थानानि,विशोधिस्थानानि च प्रत्येकमसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । मुनिश्च यथावस्थितमुनिभावे वर्त्तमानो यावदुपशमश्रेणिं, क्षपकश्रेणिं वा नारोहति, तावदवश्यं तथास्वाभाव्यात्संक्लेशस्थानेष्वन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा विशोधिस्थानेषु गच्छति, विशोधिस्थानेष्वप्यन्तर्मुहूर्त्तं स्थित्वा भूयः संक्लेशस्थानेषु गच्छति, एवं निरन्तरं प्रमत्ताप्रमत्तयोः परावृत्तीः करोति, ततः प्रमत्ताप्रमत्तभावावुत्कर्षतोऽप्यन्तर्मुहूर्त्तं कालं यावल्लभ्येते, न परतः । तथा चोक्तं शतकबृहच्चूर्णौ-" इत्थं संकिलिस्सइ विसुज्झइ वा विरओ अंतमुहुत्तं० जाव कालं न परओ, तेण संकिलिस्संतो संकिलेसट्ठाणेसु अंतोमुहुत्तं कालं० जाव पमत्तसंजओ होइ,विसुज्झंतो विसोहिट्ठाणेसु अंतोमुहुत्तं कालं० जाव अप्पमत्तसंजओ होइ इति " । अथ प्रमत्ताप्रमत्तभावपरावृत्तीः कियन्तं कालं यावन्निरन्तरं करोतीत्यत आह-(देसूणेत्यादि) देशोनां पूर्वकोटिं यावत् इमौ प्रमत्ताऽप्रमत्तभावावन्योऽन्यं परस्परं भजन्तौ तिष्ठतः, प्रमत्तभावोऽन्तर्मुहूर्त्तानन्तरमप्रमत्तभावं भजत् अप्रमत्तभावोऽन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं प्रमत्तभावं भजत् निरन्तरं तावद्भवति यावद्देशोनां पूर्वकोटीमित्यर्थः । देशोनता च पूर्वकोट्या बालत्वभावविवर्षाष्टकापेक्षया द्रष्टव्या ॥ ४२ ॥

सम्प्रति शेषगुणस्थानकानामेकं जीवमधिकृत्य कालमानमाह-

समयाओ अंतमुहू, अपुव्वकरणाउ जाव उवसंतो ।
खीणाजोगीणंतो, देसस्सेव जोगिणो कालो ॥४३॥

अपूर्वकरणादारभ्य यावदुपशान्तः,किमुक्तं भवति ?-अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहाः प्रत्येकं समयादारभ्योत्कर्षतोऽन्तर्मुहूर्त्तं यावद्भवन्ति । तत्र समयमात्रभावना-कश्चिदुपशमश्रेण्यामपूर्वकरणत्वं समयमात्रमनुभूयाऽपरः कोऽपि अनिवृत्तिबादरसंपरायत्वं प्राप्य तत्समयमात्रमनुभूय, तदन्यः कोऽपि सूक्ष्मसंपरायत्वं संप्राप्य, तदपि समयमात्रमनुभूय, परः कोऽपि पुनरुपशान्तमोहत्वमवाप्य,तदपि समयमात्रमनुभूय,द्वितीय समयेऽनुत्तरसुरेषूत्पद्यते । तत्र चोत्पन्नानां प्रथमसमय एवाविरतत्वमित्यपूर्वकरणादीनां समयमात्रत्वम्, अन्तर्मुहूर्त्तभावना तु सुगमा; अपूर्वकरणादीनामन्तर्मुहूर्त्तानन्तरमवश्यं गुणस्थानकान्तरसंक्रमान्मरणाद्वा, क्षपकश्रेण्यां त्वपूर्वकरणादीनां प्रत्येकमजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमवसेयम् । क्षपकश्रेण्यामारूढस्याऽकृतसकलकर्मक्षयस्य मरणासंभवात् । तथा (खीणाजोगीणंतो इति) क्षीणानां क्षीणकषायाणामयोगिनां भवस्थाऽयोगिकेवलिनामजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानम् । तथाहि-क्षीणकषायाणां न मरणमन्तर्मुहूर्त्तानन्तरं च ज्ञानावरणादिघातिकर्मत्रयक्षयात्सयोगिकेवलिगुणस्थानके संक्रमः । भवस्थायोगिकेवलिनां तु ह्रस्वपञ्चाक्षरोच्चिरणमात्रकालावस्थायितया, परतः सिद्धत्वप्राप्तिः, अतो द्वयानामप्यजघन्योत्कृष्टमन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानम् । तथा (देसस्सेव जोगिणो कालो) देशस्येव देशविरतस्येव योगिनः सयोगिकेवलिनः कालो वेदितव्यो, जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तम्, उत्कर्षतो देशोना पूर्वकोटी इत्यर्थः, अत्राऽन्तर्मुहूर्त्तमन्तकृत्केवलिनो विज्ञेयम् । देशोना च पूर्वकोटिः सर्वोत्कृष्टा सप्तमासजातस्य वर्षाष्टकादूर्द्ध्वं चरणप्रतिपत्त्या शीघ्रमेवोत्पादितकेवलज्ञानस्य पूर्वकोट्यायुषो वेदितव्या । तदेवमुक्तं गुणस्थानकेषु विभागे कालमानम् । पं० सं० २ द्वार । प्रव० ॥

(५) सम्प्रति गुणस्थानकान्याह—

सुरनारएसु चत्ता-रि पंच तिरिएसु चोद्दस मणुसे ।
इगिविगलेसू जुयलं, सव्वाणि पणिंदिसु हवंति ॥ २८ ॥

सुरेषु नारकेषु च प्रत्येकं मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानकानि भवन्ति । तान्येव देशविरतिसहितानि पञ्च गुणस्थानकानि तिर्यक्षु भवन्ति, चतुर्दशाऽपि मनुष्ये,तत्र मिथ्यात्वाद्ययोगित्वपर्यन्तसर्वभावसंभवात् । तथा एकेन्द्रियेषु विकलेषु विकलेन्द्रियेषु द्वित्रिचतुरिन्द्रियरूपेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणं गुणस्थानकयुगलं भवति । सास्वादनत्वं लब्धिपर्याप्तानां करणापर्याप्तानां करणापर्याप्तावस्थायामवसेयं, तथा पञ्चेन्द्रियेषु पञ्चेन्द्रियद्वारे सर्वाणि चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति, मनुष्येषु सर्वभावसंभवात् ॥ २८ ॥

सव्वेसु वि मिच्छो वा-उतेउसुहुमतिगं पमोत्तूणं ।
सासायणो उ सम्मो, सन्निदुगे सेससन्निम्मि ॥ २९ ॥

सर्वेष्वपि त्रसेषु स्थावरेषु च मिथ्यादृष्टिलक्षणं गुणस्थानकमविशेषेणावसेयम्,तथाऽग्निवायुसूक्ष्मत्रिकं च सूक्ष्मलब्धपर्याप्तकसाधारणरूपं विमुच्य शेषेषु लब्धिपर्याप्तेषु करणैश्चाऽपर्याप्तेषु संज्ञिनि पर्याप्ते च सास्वादनः, सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं भवति, तुशब्दो लब्धिपर्याप्तेष्वित्याद्विविशेषणसूचकः । तथा [सम्मत्ति] अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानं सांज्ञिके पर्याप्तापर्याप्तलक्षणे,

शेषाणि पुनः सम्यग्मिथ्यादृष्टिदेशविरतादीन्येकादश गुणस्थानकानि संज्ञिनि पर्याप्ते द्रष्टव्यानि ॥ २९ ॥

जा बायर ता वेए-सु तिसु वि तह सव्वसंपराएसु ।
लोजम्मि जाव सुहुमे, छल्लेसा जाव सम्मो त्ति ॥ ३० ॥

यावत् बादरोऽनिवृत्तिबादरसंपरायत्वं तावज्जीवाः सर्वेऽपि त्रिषु वेदेषु स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणेषु, तथा त्रिष्वपि च संपरायेषु क्रोधमानमायारूपेषु द्रष्टव्याः। किमुक्तं भवति ?-त्रिषु वेदेषु, त्रिषु च क्रोधमानमायारूपेषु संपरायेषु मिथ्यादृष्ट्यादीन्यनिवृत्तिबादरसम्परायपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति। एवमन्यत्रापि भावना द्रष्टव्या। तथा लोभे यावत् सूक्ष्मः सूक्ष्मसंपरायस्तावत्सर्वेऽपि जीवा मिथ्यादृष्टिप्रभृतयो वेदितव्याः, तथा यावत् (सम्मो त्ति) अविरतसम्यग्दृष्टिस्तावत् षडपि लेश्या भवन्ति ॥३०॥

अपुव्वाइसु सुक्का, नत्थि अजोगिम्मि तिन्नि सेसाणं ।
मीसो एगो चउरो, असंजया संजया सेसा ॥ ३१ ॥

अपूर्वादिषु अपूर्वकरणादिषु गुणस्थानकेषु [सुक्का त्ति] एका शुक्ललेश्या भवति, न शेषा लेश्याः। तथा-अयोगिनि अयोगिकेवलिगुणस्थानके साऽपि शुक्ललेश्या नास्ति, अलेश्यत्वादयोगिकेवलिनः, तथा शेषाणां देशविरतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतानां तिस्रस्तेजःपद्मशुक्लरूपा लेश्या भवन्ति। सूत्रे तु ' तिन्नि त्ति ' नपुंसकनिर्देशः प्राकृतलक्षणात्। यदाह पाणिनिः स्वप्राकृतलक्षणे-“लिङ्गं व्यभिचार्यपि”। इदं च लेश्यात्रयं देशविरतादीनां देशविरत्यादिप्रतिपत्तिकाले द्रष्टव्यम्। अन्यथा षडपि लेश्याः। उक्तं च-सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकालेषु शुभलेश्यात्रयमेव,तदुत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्याः परावर्तन्तेऽपीति। तथा योगे मनोवाक्कायरूपेऽयोगिकेवलिवर्जानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानकानि मतिश्रुतावधिज्ञानेष्वविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि, मनःपर्यायज्ञाने प्रमत्तसंयतादीनि क्षीणमोहान्तानि सप्त गुणस्थानकानि,केवलज्ञानकेवलदर्शनयोः सयोग्ययोगिकेवलिलक्षणं गुणस्थानकद्विकं,मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्षणानि त्रीणि गुणस्थानकानि, चक्षुरचक्षुरवधिदर्शनेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि क्षीणमोहान्तानि द्वादश गुणस्थानकानीति सुधिया भावनीयम्। तथा मिश्रो व्यामिश्रः संयमं प्रत्येको देशविरत इत्यर्थः, चत्वारो मिथ्यादृष्ट्यादयोऽसंयताः, शेषाश्च संयताः, तत्र प्रमत्ताऽप्रमत्तसामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिकसंयमसंभविनः, अपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरौ सामायिकच्छेदोपस्थापनसंयमसंभविनौ, सूक्ष्मसंपराये सूक्ष्मसंपरायसंयमः, उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोग्ययोगिकेवलिनो यथाख्यातचारित्रिणः ॥ ३१ ॥

अभव्विएसु पढमं, सव्वाणियरेसु दो असन्नीसु ।
सन्नीसु बार केवलि, नो सन्नी नो असन्नी वि ॥ ३२ ॥

अभव्येषु प्रथमं मिथ्यादृष्टिलक्षणं गुणस्थानकम्, इतरेषु च भव्येषु सर्वाणि मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिकेवलिपर्यन्तानि चतुर्दशाऽपि गुणस्थानकानि भवन्ति। तथाऽसंज्ञिषु संज्ञिवर्जितेषु द्वे मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणे गुणस्थानके, तत्र सास्वादनसम्यग्दृष्टिगुणस्थानकं लब्धिपर्याप्तस्य करणापर्याप्ताऽवस्थायां वेदितव्यम्। तथा संज्ञिनि सयोग्ययोगिकेवलिवर्जानि शेषाणि द्वादश गुणस्थानकानि, ये तु सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानके ते तत्र न संभवतः,सयोग्ययोगिकेवलिनोः संज्ञित्वाऽयोगात्,तद्योगश्च मनोविज्ञानाभावात्। न चाप्येकान्तेन तयोरसंज्ञित्वं द्रष्टव्यम्, द्रव्यमनोऽपेक्षया संज्ञित्वस्याऽपि व्यवहारात्। तथा चाह-केवलिनौ न संज्ञिनौ, मनोविज्ञानाभावात्, नाप्यसंज्ञिनौ, द्रव्यमनःसंबन्धापेक्षया संज्ञित्वव्यवहारात्। उक्तं च सप्ततिकाचूर्णौ-“ मणकरणं केवलिणो वि अत्थि, तेण सन्निणो वुच्चंति, मणोविन्नाणं पडुच्च, ते सन्निणो न हवंति त्ति ” ॥ ३२ ॥

अपमत्तुवसम अजोगि, जाव सव्वे वि अविरयाईया ।
वेयगउवसमखाइय-दिट्ठी कमसो मुणेयव्वा ॥ ३३ ॥

इह यथासंख्येन पदयोजना कर्तव्या। सा चैवम् -अविरतादयोऽप्रमत्तान्ताः वेदकसम्यग्दृष्टयः, अविरताद्य उपशान्तमोहान्ता औपशमिकदृष्टयः, अविरताद्योऽयोगिपर्यन्ताः क्षायिकसम्यग्दृष्टयः,क्रमशः क्रमेण यथासंख्यरूपेणोक्तलक्षणेन मन्तव्याः।किमुक्तं भवति ?-वेदकसम्यक्त्वेऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादीन्यप्रमत्तपर्यन्तानि चत्वारि गुणस्थानकानि, औपशमिकसम्यक्त्वे त्वविरतादीन्युपशान्तमोहपर्यन्तानि अष्टौ गुणस्थानकानि, क्षायिकसम्यक्त्वे अविरतादीनि अयोगिपर्यन्तानि एकादश गुणस्थानकानि, मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रेषु पुनः स्वं स्वमेव गुणस्थानम्। एतच्चानुक्तमपि सामर्थ्यादवसीयते इति नोक्तम् ॥३३॥

आहारगेसु तेरस, पंच अणाहारगेसु वि भवंति ।
भणिया जोगुवयोगा-ण मग्गणा बंधगे भणिमो ॥३४॥

आहारकेष्वऽयोगिकेवलिवर्जानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानकानि, अनाहारकेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनाविरतसम्यग्दृष्टिसयोग्ययोगिकेवलिलक्षणानि पञ्च गुणस्थानकानि, तत्र सयोगिकेवलिगुणस्थानकमनाहारके समुद्घातावस्थायां, शेषाणि सुप्रतीतानि ॥ पं० सं० १ द्वार। प्रव०। कर्म० ।

(६) अथ जीवस्थानेषु गुणस्थानानि प्रचिकटयिषुराह-

बायरअसन्निविगले, अपज्ज पढमबिय सन्निअपजत्ते ।
अजयजुय सन्निपज्जे, सव्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥

ततो बादरश्च बादरैकेन्द्रियाः पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणाः, असंज्ञी च विशिष्टस्मरणादिरूपमनोविज्ञानविकलः, विकलाश्च विकलेन्द्रिया द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियाः 'द्वन्द्वे' बादरासंज्ञिविकलं, तस्मिन् बादरासंज्ञिविकले। किंविशिष्टे ?, (अपज्ज त्ति) अपर्याप्ते, कोऽर्थः ?, अपर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिषु,तथाऽपर्याप्ते संज्ञिनि, तथा विकलेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेष्वपर्याप्तेषु, किमिति ? आह -(पढमबिय त्ति) इह 'सव्वगुणा' इतिपदाद् गुणशब्दस्याकर्षणं, ततः प्रथमं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं,द्वितीयं सास्वादनगुणस्थानं भवति। अथ तेजोवायुवर्जनं किमर्थमिति चेत् ?, उच्यते-तेजोवायूनां मध्ये सम्यक्त्वलेशवतामप्युत्पादाभावात्, सम्यक्त्वं चासादयतां सास्वादनभावाभ्युपगमात्। नन्वेकेन्द्रियाणामागमे सास्वादनभावो, नेष्यते उभयाभावः, “पुढवाइएसु संमत्तलद्धीए” इति परममुनिप्रणीतवचनप्रामाण्यात्। अत एवागमे एकेन्द्रिया अज्ञानिन एवोक्ताः, द्वीन्द्रियादयश्च केचिदपर्याप्तावस्थायां सास्वादनभावाभ्युपगमात् ज्ञानिन उक्ताः, केचिच्च तदभावादज्ञानिनः, यदि पुनरेकेन्द्रियाणामपि सास्वादनभावः स्यात्, तर्हि तेऽपि द्वीन्द्रि-

यादिवत् उभयथाऽप्युच्येरन्, न चोच्यन्ते यदुक्तम्-"एगिंदिया णं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ? । गोयमा ! नो नाणी, नियमा अन्नाणी । तथा बेंदिया णं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ? । गोयमा ! नाणी वि, अन्नाणी वि " इत्यादि । तत्कथमिहापर्याप्तबादरैकेन्द्रियेषु पृथिव्यम्बुवनस्पतिलक्षणेषु सास्वादनगुणस्थानकभाव उक्तः ?। सत्यमेतत्, किं तु मा त्वरिष्ठाः, सर्वमेतदग्रे प्रतिविधास्याम इति । (सन्निअपज्जत्ते अजयजुय त्ति) संज्ञिन्यपर्याप्ते तदेव पूर्वोक्तं मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणगुणस्थानकद्वयमयतयुतं भवति। यमनं यतं,विरतिरित्यर्थः। न विद्यते यतं यस्य सोऽयतः,अविरतसम्यग्दृष्टिरित्यर्थः। तेन युतं संयुक्तमयतयुतम्। इदमुक्तं भवति-संज्ञिन्यपर्याप्ते त्रीणि मिथ्यादृष्टिसासादनाविरतिसम्यग्दृष्टिलक्षणानि गुणस्थानानि भवन्ति, न शेषाणि सम्यग्मिथ्यादृष्ट्यादीनि,तेषां पर्याप्तावस्थायामेव भावात्।(सन्निपज्जे सव्वगुण त्ति) संज्ञिनि पर्याप्ते सर्वाण्यपि मिथ्यादृष्ट्यादीन्ययोगिपर्यन्तानि गुणस्थानकानि भवन्ति;संज्ञिनः सर्वपरिणामसंभवात्। अथ कथं संज्ञिनः सयोग्ययोगिरूपगुणस्थानकद्वयसंभवः ?, तद्भावे तस्यामनस्कतया संज्ञित्वायोगात् ? । न । तदानीमपि हि तस्य द्रव्यमनःसंबन्धोऽस्ति, समनस्काश्चाविशेषेण संज्ञिनो व्यवह्रियन्ते, ततो न तस्य भगवतः संज्ञिताव्याघातः। यदुक्तं सप्ततिकाचूर्णौ-"मणकरणं केवलिणो वि अत्थि, तेण संन्निणो भण्णंति,मणोविन्नाणं पडुच्च ते सन्निणो न भवंति त्ति" (मिच्छ सेसेसु त्ति) मिथ्यात्वं शेषेषु भणितावशिष्टेषु पर्याप्ताऽपर्याप्तसूक्ष्मपर्याप्तबादरैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणेषु सप्तसु जीवस्थानेषु मिथ्यादृष्टिगुणस्थानमेव भवति, न सासादनमपि। यतः परभवाद् आगच्छतामेव घण्टालालान्यायेन सम्यक्त्वलेशमास्वादयतामुत्पत्तिकाल एवापर्याप्तावस्थायां जन्तूनां लभ्यते, न पर्याप्तावस्थायाम्, अतः पर्याप्तसूक्ष्मबादरद्वित्रिचतुरसंज्ञिपञ्चेन्द्रियाणां तदभावः । अपर्याप्तसूक्ष्मैकेन्द्रियेऽपि न सासादनसंभवः, सासादनस्य मनाक् शुभपरिणामरूपत्वात्, महासंक्लिष्टपरिणामस्य च सूक्ष्मैकेन्द्रियमध्ये उत्पादाभिधानात् इति॥३॥ तदेवं निरूपितानि जीवस्थानकेषु गुणस्थानकानि। कर्म० ४ कर्म० । [' परीसह ' शब्दे गुणस्थानकेषु परीषहाः]।

(७) गुणस्थानकेषु बन्धप्रकृतयः। अथ यथैतेष्वेव गुणस्थानेषु भगवता बन्धमुदयमुदीरणां सत्तां चाश्रित्य कर्माणि क्षपितानि तथा विभणिषुः प्रथमं तावद्बन्धमाश्रित्य क्व गुणस्थाने कियत्यः कर्मप्रकृतयो व्यवच्छिद्यन्ते इत्येतद्बन्धलक्षणकथनपूर्वकं प्रचिकटयिषुराह-

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीससयं ।
तित्थयराहारगदुग-वज्जं मिच्छम्मि सतरसयं ॥ ३ ॥

मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिरभिनवस्य नूतनस्य कर्मणो ज्ञानावरणादेर्ग्रहणमुपादानं बन्ध इत्युच्यते । ओघेन सामान्येन, नैकं किञ्चिद्गुणस्थानकमाश्रित्येत्यर्थः । (तत्थत्ति) तत्र बन्धे विंशं शतं विंशत्युत्तरशतं,कर्मप्रकृतीनां भवतीति शेषः। तथाहि-मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणम्, अवधिज्ञानावरणम्, मनःपर्यायज्ञानावरणं, केवलज्ञानावरणमिति पञ्चधा ज्ञानावरणम् । निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धिः, चक्षुर्दर्शनावरणम्, अचक्षुर्दर्शनावरणम्, अवधिदर्शनावरणं, केवलदर्शनावरणमिति नवविधं दर्शनावरणम् । वेदनीयं द्विधा-सातवेदनीयमसातवेदनीयं च । मोहनीयमष्टाविंशतिभेदम्। तद्यथा-मिथ्यात्वं,सम्यग्मिथ्यात्वं, सम्यक्त्वमिति दर्शनत्रिकम्, अनन्तानुबन्धी क्रोधो मानो माया लोभः, अप्रत्याख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभः, प्रत्याख्यानावरणः क्रोधो मानो माया लोभः, संज्वलनः क्रोधो मानो माया लोभ इति षोडश कषायाः । स्त्रीपुन्नपुंसकमिति वेदत्रयम् । हास्यं रतिः अरतिः शोको भयं जुगुप्सेति हास्यषट्कं मिलितं, नव नोकषायाः । आयुश्चतुर्द्धा-नरकायुस्तिर्यगायुः मनुष्यायुः देवायुरिति । अथ नामकर्म द्विचत्वारिंशद्विधम् ।तद्यथा-चतुर्दश पिण्डप्रकृतयः, अष्टौ प्रत्येकप्रकृतयः, त्रसदशकम् , स्थावरदशकं चेति। तत्र पिण्डप्रकृतय इमाः-गतिनाम जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम बन्धननाम संघातननाम संहनननाम संस्थाननाम वर्णनाम गन्धनाम रसनाम स्पर्शनाम आनुपूर्वीनाम विहायोगतिनामेति। आसां भेदाः प्रदर्श्यन्ते-नरकतिर्यग्मनुष्यदेवगतिनामभेदाच्चतुर्धा गतिनाम । एकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियजातिनामेति पञ्चधा जातिनाम । औदारिकवैक्रियाहारकतैजसकार्मण-शरीरनामेति पञ्चधा शरीरनामेति । औदारिकाङ्गोपाङ्गं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमाहारकाङ्गोपाङ्गं नामेति त्रिधाङ्गोपाङ्गनाम । बन्धननाम पञ्चधा-औदारिकबन्धनादि शरीरवत् । एवं संघातनमपि । संहनननाम षड्भेदम्-वज्रर्षभनाराचम्, ऋषभनाराचं, नाराचम्,अर्द्धनाराचं,कीलिका,सेवार्तं चेति। संस्थाननाम षड्विधम्-समचतुरस्रं,न्यग्रोधपरिमण्डलं,सादि,वामनं,कुब्जं,हुण्डं चेति । वर्णनाम पञ्चधा-कृष्णं नीलं लोहितं हारिद्रं शुक्लं चेति । गन्धनाम द्विधा-सुरभिगन्धनाम, दुरभिगन्धनामेति । रसनाम पञ्चधा-तिक्तं कटुकं कषायम् अम्लं मधुरं चेति। स्पर्शनामाष्टधा-कर्कशं मृदु लघु गुरु शीतम् उष्णं स्निग्धं रूक्षं च। आनुपूर्वी चतुर्धा-नरकानुपूर्वी तिर्यगानुपूर्वी मनुष्यानुपूर्वी देवानुपूर्वी चेति । विहायोगतिर्द्विधा-प्रशस्तविहायोगतिरप्रशस्तविहायोगतिरिति । आसां चतुर्दशपिण्डप्रकृतीनामुत्तरभेदा अमी पूर्वोक्ताः पञ्चषष्टिः । प्रत्येकप्रकृतयस्त्विमाः—पराघातनाम, उपघातनाम, उच्छ्वासनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, अगुरुलघुनाम, तीर्थंकरनाम, निर्माणनामेति । त्रसदशकमिदम्-त्रसनाम, बादरनाम, पर्याप्तनाम, प्रत्येकनाम, स्थिरनाम, शुभनाम, सुभगनाम, सुस्वरनाम, आदेयनाम, यशःकीर्त्तिनामेति । स्थावरदशकं पुनरिदम्-स्थावरनाम, सूक्ष्मनाम, अपर्याप्तनाम, साधारणनाम, अस्थिरनाम, अशुभनाम, दुर्भगनाम, दुःस्वरनाम, अनादेयनाम, अयशःकीर्तिनामेति । पिण्डप्रकृत्युत्तरभेदाः पञ्चषष्टिः-प्रत्येकप्रकृतयोऽष्टौ, त्रसदशकं, स्थावरदशकं च । सर्वमीलने त्रिनवतिः । गोत्रं द्विधा-उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रं च । अन्तरायं पञ्चधा-दानान्तरायं, लाभान्तरायं, भोगान्तरायम्, उपभोगान्तरायम्, वीर्यान्तरायं चेति । एवं च कृत्वा ज्ञानावरणे कर्मप्रकृतयः पञ्च, दर्शनावरणे नव, वेदनीये द्वे, मोहनीयेऽष्टाविंशतिः, आयुषि चतस्रः, नाम्नि त्रिनवतिः, गोत्रे द्वे, अन्तराये पञ्च, सर्वपिण्डेऽष्टाचत्वारिंशं शतं भवति । तेन च सत्तायामधिकारः । उदयोदीरणयोः पुनरौदारिकादिबन्धनानां पञ्चानामौदारिकादिसंघातनानां च पञ्चानां यथास्वमौदारिकादिषु पञ्चसु शरीरेष्वन्तर्भावः । वर्णरसगन्धस्पर्शानां यथासंख्यं पञ्चद्विपञ्चाष्टभेदानां तद्भेदकृतां विंशतिमपनीय तेषामेव चतुर्णामभिन्नानां ग्रहणे षोडशकमिदम् , बन्धनसंघातनसहितमष्टचत्वारिंशशतादपनीयते । शेषेण द्वाविंशेन शतेनाऽधिकारः । बन्धे तु सम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वयोः

संक्रमेणैव निष्पाद्यमानत्वाद्बन्धो न संभवतीति तयोर्द्वाविंशतिशताद्पनीतयोः शेषेण विंशत्युत्तरशतेनाधिकार इति प्रकृतिसमुत्कीर्तना कृता । प्रकृत्यर्थः स्वोपज्ञकर्मविपाकटीकायां विस्तरेण निरूपितस्तत एवावधार्य इत्यलंप्रसङ्गेन । प्रकृतं प्रस्तुमः-तत्र बन्धे सामान्येन विंशं शतं भवतीति प्रकृतम, तदेव च विंशं शतं तीर्थकराहारकद्विकवर्जं तीर्थकराहारकद्विकरहितं सप्तदशोत्तरं शतं (मिच्छम्मि त्ति) भीमसेनो भीम इत्यादिवत्पदवाच्यस्यार्थस्य पदैकदेशेनाप्यभिधानदर्शनात मिथ्यात्वे मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने इत्यर्थः । एवमुत्तरेष्वपि पदवाच्येषु पदैकदेशप्रयोगो द्रष्टव्यः ।[सतरसयं ति] सप्तदशाधिकं शतं सप्तदशशतं बन्धे भवतीति । अयमत्राभिप्रायः-तीर्थकरनाम तावत्सम्यक्त्वगुणनिमित्तमेव बध्यते । आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणमाहारकद्विकं त्वप्रमत्तयतिसंबन्धिना संयमनैव । यदुक्तं श्रीशिवशर्मसूरिपादैः शतके-"संमत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारमिति"। मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने एतत्प्रकृतित्रयवर्जनं कृतं, शेषं पुनः सप्तदशशतं मिथ्यात्वादिभिर्हेतुभिर्बध्यत इति मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तद्बन्धहति ॥ ३ ॥

नन्वेता मिथ्यादृष्टिप्रायोग्याः सप्तदशशतसंख्याः सर्वा अपि प्रकृतय उत्तरगुणस्थानेषु गच्छन्त्युत काश्चिदेवेत्याशङ्कयाह—

नरयतिग जाइथावर-चउ हुंमायवछिवट्ठनपुमिच्छं ।
सोलंतो इगहियसय, सासणि तिरियीणदुहगतिगं ॥४॥

नरकत्रिकम-नरकगतिनरकानुपूर्वी नरकायुर्लक्षणम, (जाइथावरचउ त्ति) चतुःशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात जातिचतुष्कं एकेन्द्रियजातिद्वीन्द्रियजातित्रीन्द्रियजातिचतुरिन्द्रियजातिस्वरूपं, स्थावरचतुष्कं स्थावरसूक्ष्मापर्याप्तसाधारणलक्षणं, हुण्डम आतपं छेदपृष्ठं (नपु त्ति) नपुंसकवेदः (मिच्छ त्ति) मिथ्यात्वमित्येतासाम (सोलंतो त्ति) षोडशानां प्रकृतीनां मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने 'तत्र भाव उत्तरत्राभावः' इत्येवंलक्षणोऽन्तो विनाशः क्षयो भेदो व्यवच्छेद उच्छेद इति पर्यायाः । इयमत्र भावना-एता हि षोडश प्रकृतयो मिथ्यादृष्टिगुणस्थान एव बन्धमायान्ति, मिथ्यात्वप्रत्ययत्वादेतासाम । नोत्तरत्र सास्वादनादिषु, मिथ्यात्वाभावादेव । यत एताः प्रायो नारकैकेन्द्रियविकलेन्द्रियप्रायोग्यत्वादत्यन्ताऽशुभत्वाच्च मिथ्यादृष्टिरेव बध्नातीति सप्तदशशतात्पूर्वोक्तादेतदपगमे शेषमेकोत्तरं प्रकृतिशतमेवाऽविरत्यादिहेतुभिः सास्वादने बन्धमायात्यत एवाह-(इगहियसयसासणि त्ति) एकाधिकशतं सास्वादने बध्यते । "इगहियसय" इत्यत्र विभक्तिलोपः प्राकृतत्वात्। एवमन्यत्रापि विभक्तिलोपः प्राकृतलक्षणवशाद्वसेयः। (तिरियीणदुहगतिगं ति) त्रिकशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। तिर्यक् त्रिकं-तिर्यग्गतिः, तिर्यगानुपूर्वी, तिर्यगायुर्लक्षणं, स्त्यानर्द्धित्रिकं-निद्रानिद्राप्रचलाप्रचलास्त्यानर्द्धिस्वरूपं, दुर्भगत्रिकं दुर्भगदुःस्वरानादेयस्वरूपमिति ॥ ४ ॥

अणमज्झाऽऽगिइसंघय-णचउनिउज्जोयकुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसंतो मीसे, चउसयरि दुआउय अबंधा ॥ ५ ॥

चतुःशब्दस्य प्रत्येकं योजनात् (अण त्ति) अनन्तानुबन्धिचतुष्कमनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभात्मकम। मध्या मध्यमा आद्यन्तवर्जा आकृतयः संस्थानानि मध्याकृतयः,तासां चतुष्कं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थानं सादिसंस्थानं वामनसंस्थानं कुब्जसंस्थानमिति। तथा काकाक्षिगोलकन्यायान्मध्यशब्दस्यात्रापि योगः, ततो मध्यानि मध्यमानि प्रथमान्तिमवर्जानि संहननानि अस्थिनिचयात्मकानि, तेषां चतुष्कं संहननचतुष्कम। ऋषभनाराचसंहननं नाराचसंहननम अर्द्धनाराचसंहननं कीलिकासंहननमिति। [निउ त्ति] नीचैर्गोत्रम्, उद्योतम् । कुखगतिः कुः कुत्सिताऽप्रशस्ता खगतिर्विहायोगतिः, अप्रशस्तविहायोगतिरित्यर्थः । [इत्थि त्ति] स्त्रीवेदः, इत्येतासां पञ्चविंशतिप्रकृतीनां सास्वादनेऽन्तोऽत्र बध्यन्ते, नोत्तरत्रेत्यर्थः । यतोऽनन्तानुबन्धिप्रत्ययो ह्यासां बन्धः, स चोत्तरत्र नास्तीति । ततश्चैकाधिकशतात्पञ्चविंशत्यपगमे (मीसि त्ति) मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने षट्सप्ततिर्बन्धे भवति । ततोऽपि [दुआउयअबंध त्ति] द्वयोर्मनुष्यायुर्देवायुषोरबन्धो द्व्यायुरबन्धस्तस्मात द्व्यायुरबन्धादितिहेतोश्चतुःसप्ततिर्भवति । इदमुक्तं भवति-इह नारकतिर्यगायुषी यथासंख्यं मिथ्यादृष्टिसास्वादनगुणस्थानयोर्व्यवच्छिन्ने, शेषं तु मनुष्यायुर्देवायुर्द्वयमवतिष्ठते, तदपि मिश्रो न बध्नाति, मिश्रस्य सर्वथा आयुर्बन्धप्रतिषेधात । उक्तं च-"सम्मामिच्छद्दिट्ठी, आउयबंधं पि न करेइ त्ति "। ततः षट्सप्ततेरायुर्द्वयाऽपगमे चतुःसप्ततिर्भवतीति ॥ ५ ॥

सम्मे सगसयरि जिणा-उबंधि वइरनरतिगबियकसाया ।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअकसायंतो ॥ ६ ॥ ॥

[संमि त्ति] अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थाने [सगसयरि त्ति] सप्तसप्ततिप्रकृतीनां बन्धो भवति। कथमिति चेत्? उच्यते-पूर्वोक्तैव चतुःसप्ततिः [जिणाउबंधि त्ति] तीर्थकरनाममनुष्यायुर्देवायुर्द्वयबन्धे सति सप्तसप्ततिर्भवति । एतदुक्तं भवति-तीर्थकरनाम तावत्सम्यक्त्वप्रत्ययादेवात्र बन्धमायाति, ये च तिर्यङ्मनुष्या अविरतसम्यग्दृशस्ते देवायुर्बध्नन्ति,ये तु नारकदेवास्ते मनुष्यायुर्बध्नन्ति, ततोऽत्रेयं प्रकृतित्रयी समधिका लभ्यते,सा च पूर्वोक्तायां चतुःसप्ततौ क्षिप्यते,जाता सप्तसप्ततिरिति । [वइर त्ति] वज्रर्षभनाराचसंहननम [नरतिग त्ति] नरत्रिकम् नरगतिनरानुपूर्वीनरायुर्लक्षणं,[बियकसाय त्ति]द्वितीयकषाया अप्रत्याख्यानावरणाः क्रोधमानमायालोभाः [उरलदुग त्ति]औदारिकद्विकमौदारिकशरीरौदारिकाङ्गोपाङ्गलक्षणमित्येतासां दशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टावन्तो भवति, एता अत्र बध्यन्ते, नोत्तरत्रेत्यर्थः। अयमत्राभिप्रायः-द्वितीयकषायांस्तावदुदयाभावान्न बध्नाति देशविरतादिः । कषाया ह्यनन्तानुबन्धिवर्जा वेद्यमाना एव बध्यन्ते "जे वेएइ ते बंधइ" इति वचनात्। अनन्तानुबन्धिनस्तु चतुर्विंशतिसत्कर्मानन्तवियोजको मिथ्यात्वं गतो बन्धावलिकामात्रं कालमनुदितान् बध्नाति । यदाहुः सप्ततिकाटीकायां मोहनीयचतुर्विंशतिकावसरे श्रीमलयगिरिपादाः-" इह सम्यग्दृष्टिना सता केनचित प्रथमतोऽनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिताः " एतावतैव स विश्रान्तो न मिथ्यात्वादिक्षपाय स उद्युक्तवान्, तथाविधसामग्र्यभावात् । ततः कालान्तरे मिथ्यात्वं गतः सन् मिथ्यात्वप्रत्ययतो भूयोऽप्यनन्तानुबन्धिनो बध्नाति। ततो बन्धावलिका यावन्नाद्याप्यतिक्रामति तावत्तेषामुदयं विना बन्ध इति। नरत्रिकं पुनरेकान्तेन मनुष्यवेद्यम् । औदारिकद्विकं वज्रऋषभनाराचसंहननं च मनुष्यतिर्यगेकान्तवेद्यम । देशविरतादिषु देवगतिवेद्यमेव बध्नाति, नान्यत्तेनाऽऽसां दशप्रकृतीनामविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानेऽन्तः। तत एतत्प्रकृतिदशकं पूर्वोक्तसप्तसप्ततेरपनीयते।

ततो [देसे सत्तट्ठि त्ति] देशे देशविरतगुणस्थाने सप्तषष्टिर्बध्यते, [तियकसायं तु त्ति] तृतीयकषायाणां प्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभानां देशविरतेऽन्तस्तदुत्तरेषु तेषामुदयाभावात् अनुदितानां चाबन्धात् " जे वेयइ ते बंधइ " इतिवचनादिति भावः । एतच प्रकृतिचतुष्कं पूर्वोक्तसप्तषष्टेरपनीयते ॥ ६ ॥

तेवट्ठि पमत्ते सो-ग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ॥ ७ ॥

(तेवट्ठि पमत्ति त्ति) त्रिषष्टिः प्रमत्ते बध्यते । शोकः अरतिः, [अथिरदुग त्ति] अस्थिरद्विकमस्थिराशुभरूपम् [अजस त्ति] अयशः कीर्त्तिनाम, असातमित्येताः षट् प्रकृतयः प्रमत्ते (वुच्छिज्ज त्ति) प्राकृतत्वादादेशस्य, व्यवच्छिद्यन्ते क्षीयन्ते, बन्धमाश्रित्येति भावः । यद्वा-सप्त वा व्यवच्छिद्यन्ते । कथमिति ?, आह-(नेइ सुराउं जया निट्ठं ति) यदा कश्चित्प्रमत्तः सन् सुरायुर्बन्धुमारभते, निष्ठां च नयति, सुरायुर्बन्धं समापयतीत्यर्थः । तदा पूर्वोक्ताः षट् सुरायुःसहिताः सप्त व्यवच्छिद्यन्ते इति ॥७॥

गुणसट्ठि अप्पमत्ते, सुराउ बंधंतु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावन्ना, जं आहारगदुगं बंधे ॥ ८ ॥

[गुणसट्ठि त्ति] एकोनषष्टिरप्रमत्ते, बध्यते इति शेषः । कथमिति ?, आह-सुरायुर्बध्नन् देवायुर्बन्धं कुर्वन्, यदि चेदिहाऽप्रमत्तगुणस्थाने आगच्छेत् । इयमत्र भावना-सुरायुर्बन्धं हि प्रमत्त एवारभते, नाऽप्रमत्तादिः, तस्यातिविशुद्धत्वात्, आयुष्कस्य तु घोलनापरिणामेनैव बन्धनात्, परं सुरायुर्बध्नन् प्रमत्ते किञ्चित्सावशेषे सुरायुर्बन्धेऽप्रमत्तेऽप्यागच्छेत् । अत्र च सावशेषं सुरायुर्निष्ठां नयति । तत एकोनषष्टिरप्रमत्ते भवति, "देवाउयं च इक्कं नायव्वं अप्पमत्तम्मि त्ति" वचनात् । [अन्नह अट्ठावन्न त्ति] अन्यथा यदि सुरायुर्बन्धः प्रमत्तेनारब्धः प्रमत्तेनैव निष्ठां नीतस्ततोऽष्टपञ्चाशदप्रमत्ते भवतीति । ननु यदि पूर्वोक्तत्रिषष्टेः शोकाऽरत्यस्थिरद्विकाऽयशोऽसातलक्षणं प्रकृतिषट्कमपनीयते, तर्हि सा सप्तपञ्चाशद्भवति, अथ सुरायुःसहितं पूर्वोक्तप्रकृतिषट्कमपनीयते तर्हि षट्पञ्चाशत्, ततः कथमुक्तमेकोनषष्टिरष्टपञ्चाशद्वाऽप्रमत्ते इत्याशङ्क्याह-(जं आहारगदुगं बंधे त्ति) यद्यस्मात् कारणादाहारकद्विकं बन्धे भवतीति शेषः । अयमत्राशयः-अप्रमत्तयतिसंबन्धिना संयमविशेषेणाहारकद्विकं बध्यते, तच्चेह लभ्यते इति पूर्वोपनीतमप्यत्र क्षिप्यते । ततः षट्पञ्चाशदाहारकद्विकक्षेपे अष्टापञ्चाशद्भवति, सप्तपञ्चाशत्पुनराहारकद्विकक्षेपे एकोनषष्टिरिति ॥ ८ ॥

अडवन्न अपुव्वाइ-म्मि निद्दुगंतो छपन्न पणभागे ।
सुरदुगपणिंदिसुखगइ, तसनव उरलविणु तणुवंगा ॥ ९ ॥
समचउरनिमिणजिणव-न्नअगुरु लहुचउ छलंसि तीसंतो ।
चरमे छवीसबंधो, हासरईकुच्छभयभेओ ॥१०॥

[अडवन्न अपुव्वाइम्मि त्ति] इह किलापूर्वकरणाद्धायाः सप्त भागाः क्रियन्ते । तत्रापूर्वस्याऽपूर्वकरणस्याऽऽदिमे प्रथमे सप्तभागेऽष्टापञ्चाशत् पूर्वोक्ता भवन्ति । तत्र चाद्ये सप्तभागे निद्राद्विकस्य निद्राप्रचलालक्षणस्याऽन्तो भवति, अत्र बध्यते, नोत्तरत्रापि, उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसायस्थानाभावात्, उत्तरेष्वप्येष हेतुरनुसरणीयः, ततः परं षट्पञ्चाशद्भवति । कथमिति ?, आह-(पणभागे त्ति) पञ्चानां भागानां समाहारः पञ्चभागं, तस्मिन् पञ्चभागे, पञ्चसु भागेष्वित्यर्थः । इदमुक्तं भवति-अपूर्वकरणाद्धायाः सप्तसु भागेषु विभक्तेषु प्रथमे सप्तभागेऽष्टपञ्चाशत्, तत्र च व्यवच्छिन्ननिद्राप्रचलाबन्धने षट्पञ्चाशत्, सा च द्वितीये सप्तभागे तृतीये सप्तभागे चतुर्थे सप्तभागे पञ्चमे सप्तभागे षष्ठे सप्तभागे भवतीत्यर्थः । अत्र च षष्ठे सप्तभागे आसां त्रिंशत्प्रकृतीनामन्तो भवतीत्याह-(सुरदुगेत्यादि) सुरद्विकं सुरगतिसुरानुपूर्वीरूपम् । (पणिंदि त्ति) पञ्चेन्द्रियजातिः, सुखगतिः प्रशस्तविहायोगतिः, (तसनव त्ति) त्रसनवकं त्रसबादरपर्याप्तप्रत्येकस्थिरशुभसुभगसुस्वरादेयलक्षणम् [उरलविणु त्ति] औदारिकशरीरं विना, औदारिकाङ्गोपाङ्गं च विनेत्यर्थः, (तणु त्ति) तनवः शरीराणि, [उवंग त्ति] उपाङ्गानि । इदमुक्तं भवति-वैक्रियशरीरमाहारकशरीरं तैजसशरीरं कार्मणशरीरं वैक्रियाङ्गोपाङ्गमाहारकाङ्गोपाङ्गं चेति । (समचउर त्ति) समचतुरस्रसंस्थानं [निमिण त्ति] निर्माणं [जिण त्ति] जिननाम, तीर्थकरनामेत्यर्थः [वन्नअगुरुलहुचउ त्ति] चतुःशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धाद्वर्णचतुष्कं वर्णगन्धरसस्पर्शरूपम्, अगुरुलघुचतुष्कम्-अगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासलक्षणमित्येतासां त्रिंशत्प्रकृतीनां [छलंसि त्ति] षष्ठोऽंशो भागः षडंशः, "मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । यथा-तृतीयो भागस्त्रिभाग इति । अत्र मकारस्य लकारः "ओ लः" । ८ । १ । २०२ । इति प्राकृतसूत्रेण । तस्मिन् षडंशे; ततः पूर्वोक्तषट्पञ्चाशत इमास्त्रिंशत्प्रकृतयोऽपनीयन्ते, शेषाः षड्विंशतिः प्रकृतयोऽपूर्वकरणस्य, [चरमि त्ति] चरमेऽन्तिमे सप्तमे सप्तभागे बन्धे, लभ्यन्ते इत्यर्थः । चरमे च सप्तभागे हास्यं च रतिश्च [कुच्छ त्ति] कुत्सा च जुगुप्सा भयं च हास्यरतिकुत्साभयानि, तेषां भेदो व्यवच्छेदो हास्यरतिकुत्साभयभेदो भवतीति । एताश्चतस्रः प्रकृतयः पूर्वोक्तषड्विंशतेरपनीयन्ते, शेषा द्वाविंशतिः, सा चानिवृत्तिबादरप्रथमभागे भवतीति ॥ ९ ॥ १० ॥

एतदेवाह-

अनियट्टिभागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहबंधो ।
पुमसंजलण चउण्हं, कमेण छेओ सतरसुहुमे ॥११॥

अनिवृत्तिभागपञ्चके, अनिवृत्तिबादराद्धायाः पञ्चसु भागेष्वित्यर्थः । स पूर्वोक्तो द्वाविंशतिबन्ध एकैकहीनो बोद्धव्यः, एकैकस्मिन् भागे एकैकस्याः प्रकृतेर्बन्धव्यवच्छेद इत्यर्थः । कथमिति ?, आह-[पुमसंजलण चउण्हं कमेण छेउ त्ति] क्रमेणानुपूर्व्या प्रथमे भागे पुंवेदस्य छेदः, तत एकविंशतेर्बन्धः, द्वितीये भागे संज्वलनक्रोधस्य छेदः, ततो विंशतेर्बन्धः, तृतीये भागे तु संज्वलनमानस्य छेदः, तत एकोनविंशतेर्बन्धः, चतुर्थे भागे संज्वलनमायायाः छेदः, ततोऽष्टादशानां बन्धः, पञ्चमभागे संज्वलनलोभस्य छेदः, उत्तरत्र तद्बन्धाध्यवसायस्थानाऽभावः छेदहेतुः, संज्वलनलोभस्य तु बादरसंपरायप्रत्ययो बन्धः, स चोत्तरत्र नास्तीत्यतश्छेदः, ततः सूक्ष्मसंपराये सप्तदशप्रकृतीनां बन्धो भवतीत्यत आह-[सत्तरसुहुमि त्ति] स्पष्टम् ॥ ११ ॥

चउदंसणुच्च जसना-णविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ ।
तिन्नु सायबन्ध छेओ, सजोगिबंधं तु णंतो अ ॥ १२ ॥

(चउदंसण त्ति) चतुर्णां दर्शनानां समाहारश्चतुर्दर्शनं, चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनाऽवधिदर्शनकेवलदर्शनरूपम्, [उच्च त्ति] उच्चै-

गोत्रम् [जस त्ति] यशः कीर्त्तिनाम, [नाणविग्घदसगं त्ति] ज्ञानावरणपञ्चकं विघ्नशब्दवाच्यमन्तरायपञ्चकम, उभयमीलने ज्ञानविघ्नदशकमिति, एतासां षोडशप्रकृतीनां सूक्ष्मसंपराये बन्धस्योच्छेदो भवति, एतद्बन्धस्य साम्परायिकत्वादुत्तरेषु च साम्परायिकस्य कषायोदयलक्षणस्याभावादिति। [तिसु सायबंध त्ति] त्रिषु उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिगुणस्थानेषु सातबन्धः, सातस्य केवलयोगप्रत्ययस्य द्विसामयिकस्य तृतीयसमयेऽवस्थानाभावादिति भावः, न साम्परायिकस्य, तस्य कषायप्रत्ययत्वात्। आह च भाष्यसुधाम्भोनिधिः-" उवसंतखीणमोहा, केवलिणो एगविहबंधा ॥ ते पुण दुसमयठिइय-स्स बंधगा न उण संपरायस्स"॥१॥ इति। [छेओ सजोगि त्ति] क्रमहकमाणिन्यायात्सातबन्धशब्दस्येह संबन्धः, ततः सयोगिकेवलिगुणस्थाने सातबन्धस्य छेदो व्यवच्छेदः। इह सातबन्धोऽस्ति, योगसद्भावात्। नोत्तरत्रायोगिकेवलिगुणस्थाने, योगाभावात्। ततोऽबन्धका अयोगिकेवलिनः। उक्तं च-"सेलेसिं पडिवन्ना अबंधगा हुंति नायव्वा" [बंधंतणंतो य त्ति] बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च बन्धशब्दस्याग्रे षष्ठीलोपः, प्राकृतत्वात्। तत इदमुक्तं भवति-यत्र हि गुणस्थाने यासां प्रकृतीनां बन्धहेतुव्यवच्छेदस्तत्र तासां बन्धस्यान्तः। यथा-मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने व्यवच्छिन्नबन्धानां षोडशानां प्रकृतीनां मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बन्धहेतवः, तेषु मिथ्यात्वं तत्रैव व्यवच्छिन्नं, ततश्च मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने तासां बन्धस्यान्तः, तत उत्तरेषु कारणवैकल्येन बन्धभावादितरासां बन्धस्यानन्तः। तत उत्तरेष्वपि तद्बन्धकारणसाकल्येन बन्धभावात्। इत्येवमन्येष्वपि गुणस्थानेषु प्रकृतीनां स्वस्वबन्धहेतुव्यवच्छेदाऽव्यवच्छेदाभ्यां साकल्यवैकल्यवशाद्बन्धस्यान्तोऽनन्तश्च भावनीय इति ॥१२॥ कर्म० २ कर्म०।

[८] गुणस्थानकेषु बन्धहेतवः। अधुना बन्धस्य मूलहेतून् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह—

इग चउ पण तिगुणेसुं, चउतिदुइगपच्चओ बंधो (५२)॥

[इग चउ पण तिगुणेसु इत्यादि] इहैवं पदघटना-एकस्मिन् मिथ्यादृष्टिलक्षणे गुणस्थानके चत्वारो मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्यया हेतवो यस्य स चतुःप्रत्ययो बन्धो भवति। अयमर्थः-मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिः प्रत्ययैर्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकवर्त्ती जन्तुर्ज्ञानावरणादि कर्म बध्नाति। तथा चतुर्षु गुणस्थानकेषु सास्वादनमिश्राविरतदेशविरतिलक्षणेषु त्रयो मिथ्यात्ववर्जिता अविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्यया यस्य स त्रिप्रत्ययो बन्धो भवतीति। अयमर्थः-सास्वादनादयश्चत्वारो मिथ्यात्वोदयाभावात्तद्वर्जैस्त्रिभिः प्रत्ययैः कर्म बध्नन्ति, देशविरतगुणस्थानके यद्यपि देशतः स्थूलप्राणातिपातविषया विरतिरस्ति, तथापि साऽल्पत्वान्नेह विवक्षिता, विरतिशब्देनेह सर्वविरतेरेव विवक्षितत्वादिति। तथा पञ्चसु गुणस्थानकेषु प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायलक्षणेषु द्वौ प्रत्ययौ कषाययोगाभिख्यौ यस्य स द्विप्रत्ययो बन्धो भवति। इदमुक्तं भवति-मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययद्वयस्यैतेष्वभावाच्छेषेण कषाययोगप्रत्ययद्वयेनाऽमी प्रमत्तादयः कर्म बध्नन्तीति। तथा त्रिषु उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु एक एव मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावात् योगलक्षणः प्रत्ययो यस्य स एकप्रत्ययो भवति। अयोगिकेवली भगवान् सर्वथाऽप्यबन्धक इति भाविता मूलबन्धहेतवो गुणस्थानकेषु ॥ ५२ ॥

संप्रत्येतानेव मूलबन्धहेतून् विनेयवर्गानुग्रहार्थमुत्तरप्रकृतीराश्रित्य चिन्तयन्नाह—

चउ मिच्छमिच्छअविरइ-पच्चइया सायसोलपणतीसा।
जोगे विणु तिपच्चइया-हारगजिणवज्ज सेसाओ ॥५३॥

प्रत्ययशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाच्चतुःप्रत्ययिका सातलक्षणा प्रकृतिः। मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः। मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिकाः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयः। योगं विना त्रिप्रत्ययिका मिथ्यात्वाविरतिकषायप्रत्ययिकाऽऽहारकद्विकजिनवर्जाः शेषाः प्रकृतय इति गाथाऽक्षरार्थः। भावार्थः पुनरयम्-सातलक्षणा प्रकृतिश्चत्वारः प्रत्यया मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा यस्याः सा चतुःप्रत्ययिका "अतोऽनेकस्वरात्।" ७।२।६। इति (हैम०) इकप्रत्ययः मिथ्यात्वादिभिश्चतुर्भिरपि प्रत्ययैः सातं बध्यत इत्यर्थः। तथाहि—सातं मिथ्यादृष्टौ बध्यत इति मिथ्यात्वप्रत्ययं शेषा अप्यविरत्यादयस्त्रयः प्रत्ययाः सन्ति, केवलं मिथ्यात्वस्यैवेह प्राधान्येन विवक्षितत्वात्, तेन तदन्तर्गतत्वेनैव विवक्षिताः, एवमुत्तरत्रापि। तदेव मिथ्यात्वाभावेऽप्यविरतिमत्सु सास्वादनादिषु बध्यत इति अविरतिप्रत्ययम्। तदेव कषाययोगवत्सु प्रमत्तादिषु सूक्ष्मसंपरायावसानेषु बध्यत इति कषायप्रत्ययम्। योगप्रत्ययस्तु पूर्ववत्तदन्तर्गतो विवक्ष्यते। तदेवोपशान्तादिषु केवलयोगवत्सु मिथ्यात्वाविरतिकषायाभावेऽपि बध्यत इति योगप्रत्ययम्। इत्येवं सातलक्षणा प्रकृतिश्चतुःप्रत्ययिका। तथा मिथ्यात्वप्रत्ययिकाः षोडश प्रकृतयः। इह यासां कर्मस्तवे-" नरयतिग जाइथावर चउ हुंडा य व छेवट्ठ, नपु मिच्छं सोलंतो " इतिगाथावयवेन नारकत्रिकादिषोडशप्रकृतीनां मिथ्यादृष्ट्यन्तः उक्तः, ता मिथ्यात्वप्रत्यया भवन्तीत्यर्थः। तद्भावे बध्यन्ते, तदभावे तूत्तरत्र सास्वादनादिषु न बध्यन्त इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां मिथ्यात्वमेवाऽऽसां प्रधानं कारणं, शेषप्रत्ययत्रयं तु गौणमिति। तथा-मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिकाः पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयः, तथा हि-"सासणि तिरि थीण दुहग तिगं। अण मज्झागिइ संघयण चउ निउज्जोय कुखगइत्थि" इति सूत्रावयवेन तिर्यक् त्रिकप्रभृतिपञ्चविंशतिप्रकृतीनां सास्वादने बन्धव्यवच्छेद उक्तः। तथा " वइरनरतियबियकसाया उरलदुगंतो " इति सूत्रावयवेन वज्रऋषभनाराचादीनां दशानां प्रकृतीनां देशविरते बन्धव्यवच्छेद उक्तः। एवं च पञ्चविंशतेर्दशानां च मीलने पञ्चत्रिंशत्प्रकृतयो मिथ्यात्वाविरतिप्रत्ययिका एताः, शेषप्रत्ययद्वयं तु गौणं, तद्भावेऽप्युत्तरत्र तद्बन्धाभावादिति भावः। भणितशेषा आहारकद्विकतीर्थकरनामवर्जाः सर्वा अपि प्रकृतयो योगवर्जत्रिकप्रत्ययिका भवन्ति, मिथ्यादृष्ट्यविरतेषु सकषायेषु च सर्वेषु सूक्ष्मसम्परायावसानेषु यथासंभवं बध्यन्त इति; मिथ्यात्वाविरतिकषायलक्षणप्रत्ययत्रयनिबन्धना भवन्तीत्यर्थः। उपशान्तमोहादिषु केवलयोगवत्सु योगसद्भावेऽप्येतासां बन्धो नास्तीति योगप्रत्ययवर्जनमन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्कार्यकारणभावस्येति हृदयम्। आहारकशरीराहारकाङ्गोपाङ्गलक्षणाहारकद्विकतीर्थकरनाम्नोस्तु प्रत्ययः, " संमत्तगुणनिमित्तं, तित्थयरं संजमेण आहारं " इति वचनात् संयमः सम्यक्त्वं चाभिहित इतीह तद्वर्जनमिति। उक्तं प्रासङ्गिकम्। कर्म० ४ कर्म०। पं० सं०।

इदानीमुत्तरबन्धभेदान् गुणस्थानकेषु चिन्तयन्नाह-

पणपन्न पन्नतियछहि-यचत्त गुणचत्त छचउदुगवीसा ।
सोलस दस नव नव स-त्त हेउणो न उ अजोगिम्मि ॥५४॥

मिथ्यादृष्टौ पञ्चपञ्चाशद्बन्धहेतवः। सासादने पञ्चाशद्बन्धहेतवः। चतुःशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् त्र्यधिकचत्वारिंशदित्यर्थः। बन्धहेतवो मिश्रगुणस्थानके, षडधिकचत्वारिंशद्बन्धहेतवोऽविरतगुणस्थानके, एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवो देशविरतगुणस्थानके, विंशतिशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धात् षड्विंशतिबन्धहेतवः प्रमत्तगुणस्थाने, चतुर्विंशतिबन्धहेतवोऽप्रमत्तगुणस्थानके, द्वाविंशतिबन्धहेतवोऽपूर्वकरणे, षोडश बन्धहेतवोऽनिवृत्तिबादरे, दश बन्धहेतवः सूक्ष्मसंपराये, नव बन्धहेतवः उपशान्तमोहे, नव बन्धहेतवः क्षीणमोहे, सप्त बन्धहेतवः सयोगिकेवलिगुणस्थाने, न तु नैवायोगिन्येकोऽपि बन्धहेतुरस्ति, बन्धाभावादेवेति ॥५४॥

अथाऽमूनेव बन्धहेतून् भावयन्नाह-

पणपन्न मिच्छि हारग-दुगूण सासाणि पन्न मिच्छविणा ।
मिस्सदुगकम्मअण विणु, तिचत्त मीसे अह छचत्ता ॥५५॥

मिथ्यादृष्टावाहारकाहारकमिश्रलक्षणद्विकोनाः पञ्चपञ्चाशद्बन्धहेतवो भवन्ति, आहारकद्विकवर्जनं तु "संयमवतां तदुदयो नान्यस्येति" वचनात् । सास्वादने मिथ्यात्वपञ्चकेन विना पञ्चाशद्बन्धहेतवो भवन्ति, पूर्वोक्तायाः पञ्चपञ्चाशतो मिथ्यात्वपञ्चकेऽपनीते पञ्चाशद्बन्धहेतवः सास्वादने भवन्ति। मिश्रे त्रिचत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति। कथमिति ?, आह-मिश्रद्विकमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणं, (कम्म त्ति) कार्मणशरीरम (अण त्ति) अनन्तानुबन्धिनश्चैतैर्विना। इयमत्र भावना- "न सम्ममिच्छो कुणइ कालमिति" वचनात्सम्यग्मिथ्यादृष्टेः परलोकगमनाभावात् औदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रद्विकं कार्मणं च न संभवति, अनन्तानुबन्ध्युदयस्य चास्य निषिद्धत्वादनन्तानुबन्धिचतुष्टयं च नास्ति, अत एतेषु सप्तसु पूर्वोक्तायाः पञ्चाशतोऽपनीतेषु शेषास्त्रिचत्वारिंशद्बन्धहेतवो मिश्रे भवन्ति। अथानन्तरं षट्चत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति ॥ ५५ ॥

सदुमिस्सकम्म अजए, अविरइकम्मुरलमीसविकसाए ।
मुत्तु गुणचत्त देसे, छवीस साहारदु पमेत्ते ॥५६॥

क इति ?, आह-अयते अविरते, कथमिति?, आह-[सदुमिस्सकम्म त्ति] द्वयोर्मिश्रयोः समाहारो द्विमिश्रं, द्विमिश्रं च कार्मणं च द्विमिश्रकार्मणं, सह द्विमिश्रकार्मणेन वर्त्तते या त्रिचत्वारिंशत्। इयमत्र भावना-अविरतसम्यग्दृष्टेः परलोकगमनसंभवात्पूर्वापनीतमौदारिकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणं द्विकं कार्मणं च पूर्वोक्तायां त्रिचत्वारिंशति पुनः प्रक्षिप्यते, ततोऽविरते षट्चत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति । तथा-देशे देशविरते एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवो भवन्ति। कथमिति ?, आह-अविरतिस्त्रसाऽसंयमरूपा कार्मणम्, औदारिकमिश्रं, द्वितीयकषायानप्रत्याख्यानावरणान् मुक्त्वा शेषा एकोनचत्वारिंशदिति । अत्रायमाशयः-विग्रहगत्यपर्याप्तकावस्थायां च देशविरतेरभावात्कार्मणौदारिकमिश्रद्वयं न संभवति, त्रसाऽसंयमाद्विरतत्वात्त्रसाविरतिर्न जायते। ननु त्रसासंयमात् संकल्पजादेवासौ विरतो, न त्वारम्भजादपि, तत्कथमसौ त्रसाविरतिः सर्वाऽप्यपनीयते ?। सत्यम्। किं तु गृहिणामशक्यपरिहारत्वेन सत्यप्यारम्भजा त्रसाविरतिर्न विवक्षितेत्यदोषः। एतच्च बृहच्छतकबृहच्चूर्णिमनुश्रित्य लिखितमिति न स्वमनीषिकया परिभावनीयम्। तथाऽप्रत्याख्यानावरणोदयस्यास्य निषिद्धत्वादित्यप्रत्याख्यानावरणचतुष्टयं न घटां प्राञ्चति, तत एते सप्त पूर्वोक्तायाः षट्चत्वारिंशतोऽपनीयन्ते, तत एकोनचत्वारिंशद्बन्धहेतवः शेषा देशविरते भवन्ति । तथा षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्ते भवन्ति। [साहारदु त्ति] सहाहारकद्विकेनाऽऽहारकाहारकमिश्रलक्षणेन वर्त्तते इति साहारकद्विका।

अविरइ इगार तिकसा-यवज्ज अपमत्ति मीसदुगरहिया ।
चउवीस अपुव्वे पुण, दुवीस अविउव्वियाहारे ॥५७॥

त्रसाविरतेर्देशविरतेऽपनयनाच्छेषा एकादशाऽविरतय इह गृह्यन्ते। तृतीयाः कषायास्त्रिकषायाः प्रत्याख्यानावरणाः, तद्वर्जास्तद्विरहिताः साहारकद्विका च सैवैकोनचत्वारिंशत्षड्विंशतिर्भवति । इदमत्र हृदयम्-प्रमत्तगुणस्थाने एकादशधाऽविरतिः प्रत्याख्यानावरणचतुष्टयं च न संभवति, आहारकद्विकं च संभवति, ततः पूर्वोक्ताया एकोनचत्वारिंशतः पञ्चदशकेऽपनीते, द्विके च तत्र प्रक्षिप्ते षड्विंशतिर्बन्धहेतवः प्रमत्ते भवन्तीति । तथा-अप्रमत्तस्य लब्ध्यऽनुपजीवनेनाहारकमिश्रवैक्रियमिश्रलक्षणमिश्रद्विकरहिता सैव षड्विंशतिश्चतुर्विंशतिर्बन्धहेतवोऽप्रमत्ते भवन्ति। अपूर्वे अपूर्वकरणे पुनः सैव चतुर्विंशतिर्वैक्रियाहारकरहिता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवो भवन्तीति ॥ ५७ ॥

अछहास सोल बायरि, सुहुमे दस वेयसंजलणति विणा ।
खीणुवसंति अलोभा, सजोगिपुव्वुत्तसगजोगा ॥ ५८ ॥

एते च पूर्वोक्ता द्वाविंशतिर्बन्धहेतवोऽच्छहासाहास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सालक्षणहास्यषट्करहिताः षोडश बन्धहेतवः [बायरि त्ति] अनिवृत्तिबादरसम्परायगुणस्थानके भवन्ति, हास्यादिषट्कस्यापूर्वकरणगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वादिति भावः। तथा त एव षोडश त्रिकशब्दस्य प्रत्येकं संबन्धाद्वेदत्रिकं स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणं, संज्वलनत्रिकं संज्वलनक्रोधमानमायारूपं, तेन विना दश बन्धहेतवः सूक्ष्मसम्पराये भवन्ति। वेदत्रयस्य संज्वलनक्रोधमानमायात्रिकस्य चाऽनिवृत्तिबादरसंपरायगुणस्थानक एव व्यवच्छिन्नत्वात् । त एव दश अलोभा लोभरहिताः सन्तो नव बन्धहेतवः क्षीणमोहे उपशान्तमोहे च भवन्ति, मनोयोगचतुष्कवाग्योगचतुष्कौदारिककाययोगलक्षणा नव बन्धहेतवः उपशान्तमोहे क्षीणमोहे च प्राप्यन्ते, न तु लोभः, तस्य सूक्ष्मसम्पराय एव व्यवच्छिन्नत्वात् । सयोगिकेवलिनि पूर्वोक्ताः सप्त योगाः । तथाहि-औदारिकमौदारिकमिश्रं कार्मणं प्रथमान्तिमौ मनोयोगौ, प्रथमान्तिमौ वाग्योगौ चेति । तत्रौदारिकं सयोग्यवस्थायामौदारिकमिश्रकार्मणकाययोगौ समुद्घाताऽवस्थायामेव वेदितव्यौ । "मिश्रौदारिकयोक्ता, सप्तमषष्ठद्वितीयेषु ॥ कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ॥१॥ " इति; प्रथमान्तिममनोयोगौ भगवतोऽनुत्तरसुरादिभिर्मनसा पृष्टस्य मनसैव देशनातः प्रथमान्तिमवाग्योगौ तु देशनादिकाले । अयोगिकेवलिनि न कश्चिद्बन्धहेतुर्योगस्यापि व्यवच्छिन्नत्वात् । उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धहेतवः ॥ ५८ ॥

सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव बन्धं निरूपयन्नाह-

अपमत्तंता सत्त-ट्ठ मीसअपुव्वबायरा सत्त ।

बंधइ छस्सुहुमो ए-गमुवरिमावंधगाऽजोगी ॥ ५९ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतयोऽप्रमत्तान्ताः सप्ताष्टौ वा कर्माणि बध्नन्ति, आयुर्बन्धकालेऽष्टौ,शेषकाले तु सप्त। (मीसअपुव्ववायरा इति) मिश्रापूर्वकरणानिवृत्तिबादराः सप्तैव बध्नन्ति, तेषामायुर्बन्धाभावात, तत्र मिश्रस्य तथास्वाभाव्यात्, इतरयोः पुनरतिविशुद्धत्वात,आयुर्बन्धस्य च घोलनापरिणामनिबन्धनत्वात् । (सुहुमु त्ति) सूक्ष्मसंपरायो मोहनीयायुर्वर्जानि षट् कर्माणि बध्नाति, मोहनीयबन्धस्य बादरकषायोदयनिमित्तत्वात्, तस्य च तदभावात्, आयुर्बन्धाभावस्त्वतिविशुद्धत्वादवसेयः। (एगमुवरिमि त्ति) एकं सातवेदनीयं कर्मोपरितनाः सूक्ष्मसंपरायादुपरिवर्त्तिन उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिनो बध्नन्ति, न शेषकर्माणि, तद्बन्धहेतुत्वाभावात् । अबन्धकः सर्वकर्मप्रबन्धरहितोऽयोगी चरमगुणस्थानकवर्त्ती, सर्वबन्धहेत्वभावादिति, उक्ता गुणस्थानकेषु बन्धस्थानयोजना ॥ ५९ ॥

साम्प्रतं गुणस्थानकेष्वेवोदयसत्तास्थानयोजनां निरूपयन्नाह-

आसुहुमं संतुदए, अट्ठ वि मोह विणु सत्त खीणम्मि ।
चउ चरिमदुगे अट्ठ उ, संते उवसंति सत्तुदए ॥ ६० ॥

सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकमभिव्याप्य सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्मप्रकृतयो भवन्ति । अयमर्थः-मिथ्यादृष्टिगुणस्थानकमारभ्य सूक्ष्मसम्परायं यावत्सत्तायामुदये चाष्टावपि कर्माणि प्राप्यन्ते; मोहं विना मोहनीयं वर्जयित्वा सप्त कर्मप्रकृतयो भवन्ति, क्षीणे क्षीणमोहगुणस्थानके सत्तायामुदये च, मोहनीयस्य क्षीणत्वात् । (चउचरिमदुगे त्ति) चरमद्विके सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानद्वये सत्तायामुदये च चतस्रो घातिकर्मप्रकृतयो भवन्ति, घातिकर्मचतुष्टयस्य क्षीणत्वात् । [अट्ठ उ संते उवसंति सत्तुदए त्ति] तुशब्दस्य व्यवहितसंबन्धादुपशान्तमोहगुणस्थानके पुनरष्टावपि कर्मप्रकृतयः सत्तायां प्राप्यन्ते, सप्तोदये मोहनीयोदयाभावादिति भावः। उक्ता सत्तोदयस्थानयोजना ॥ ६० ॥

(९) साम्प्रतमुदीरणास्थानानि गुणस्थानकेषु निरूपयितुमाह-

उइरंति पमत्तंता, सगऽट्ठ मीसऽट्ठ वेय आउ विणा ।
छग अपमत्ताइ तओ, छ पंच सुहुमो पणुवसंतो ॥ ६१ ॥

मिथ्यादृष्टिप्रभृतयः प्रमत्तान्ता यावदद्याप्यनुभूयमानभवायुरावलिकाशेषं न भवति, तावत् सर्वेऽप्यमी निरन्तरमष्टावपि कर्माण्युदीरयन्ति । आवलिकाऽवशेषे पुनरनुभूयमाने भवायुषि सप्त, आवलिकाऽवशेषस्य कर्मण उदीरणाया अभावात्, तथास्वाभाव्यात् । (मीसऽट्ठ त्ति) सम्यग्मिथ्यादृष्टिः पुनरष्टावेव कर्माण्युदीरयति, न तु कदाचनाऽपि सप्त, सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके वर्तमानस्य सत आयुष आवलिकावशेषत्वाभावात । स ह्यन्तर्मुहूर्तावशेषायुष्क एव तद्भावं परित्यज्य सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वा नियमात्प्रतिपद्यत इति । अप्रमत्तादयस्त्रयोऽप्रमत्तापूर्वकरणानिवृत्तिबादरलक्षणा वेद्यायुर्विना वेदनीयायुषी अन्तरेण षट् कर्माणि उदीरयन्ति, तेषामतिविशुद्धतया वेदनीयायुषोरुदीरणायोग्याध्यवसायस्थानाभावात । (छ पंच सुहुमो त्ति) तत्र षट् अनन्तरोक्तानि तानि च तावदुदीरयन्ति, यावन्मोहनीयमावलिकाऽवशेषं न भवति । आवलिकाऽवशेषे च मोहनीये तस्याप्युदीरणाया अभावात् । शेषाणि पञ्च कर्माण्युदीरयति सूक्ष्मः। (पणुवसंतु त्ति) उपशान्तमोहः पञ्च कर्माण्युदीरयति, न वेदनीयायुर्मोहनीयकर्माणि, तत्र वेदनीयायुषोः कारणं प्रागेवोक्तं, मोहनीयं तूदयाभावान्नोदीर्यते, " वेद्यमानमेवोदीर्यते " इतिवचनादिति ॥६१॥

पण दो खीण दु जोगी,
अणुदीरगऽजोगि थोव उवसंता । [६२]

क्षीणमोहोऽनन्तरोक्तानि पञ्च कर्माण्युदीरयति । तानि च तावदुदीरयति यावज्ज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायाण्यावलिकाप्रविष्टानि न भवन्ति, आवलिकाप्रविष्टेषु तेषु तेषामप्युदीरणाया अभावात् । द्वे एव नामगोत्रलक्षणे कर्मणी उदीरयति । (दु जोगि त्ति) द्वे कर्मणी नामगोत्राख्ये, योगा नाम मनोवाक्कायरूपा विद्यन्ते यस्य स योगी, सयोगिकेवल्युदीरयति, न शेषाणि । घातिकर्मचतुष्टय तु मूलत एव क्षीणमिति । न तस्योदीरणासंभवः, वेदनीयायुषोस्तूदीरणा पूर्वोक्तकारणादेव न भवति । (अणुदीरगऽजोगि त्ति) अयोगिकेवली न कस्याऽपि कर्मण उदीरकः, योगसव्यपेक्षत्वादुदीरणायाः, तस्य च योगाभावादिति । उक्ता गुणस्थानकेषूदीरणास्थानयोजना ।

(१०) गुणस्थानेषु भावाः । संप्रति जीवगुणभूतेषु गुणस्थानकेषु भावान् निरूपयितुराह-

सम्माइचउसु तिग चउ, भावा चउ पणुवसामगुवसंते ॥
चउ खीणापुव्वि तिन्नि, सेसगुणट्ठाणगेगजिए ॥ ७० ॥

[सम्माइ त्ति] सम्यग्दृष्ट्यादिष्वऽविरतसम्यग्दृष्टिप्रभृतिषु चतुर्षु चतुःसंख्येष्वविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्ताऽप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानकेष्विति वक्ष्यमाणपदस्यात्रापि संबन्धःकार्यः [तिग चउ भाव त्ति] त्रयश्चत्वारो वा भावाः, प्राप्यन्ते इति भावः । तत्र क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टेश्चतुर्ष्वपि गुणस्थानकेष्विमे त्रयोऽपि भावा लभ्यन्ते । तद्यथा-यथासंभवमौदयिकी गतिः, क्षायोपशमिकमिन्द्रियादिसम्यक्त्वादि पारिणामिकं जीवत्वमिति । क्षायिकसम्यग्दृष्टेरौपशमिकसम्यग्दृष्टेश्च चत्वारो भावा लभ्यन्ते, त्रयस्तावत्पूर्वोक्ता एव, चतुर्थस्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टेः क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणः, औपशमिकसम्यग्दृष्टेः पुनरौपशमिकसम्यक्त्वभाव इति । [चउ पणुवसामगुवसंते त्ति] चत्वारः पञ्च वा भावा द्वयोरप्युपशमकोपशान्तयोर्भवन्ति । किमुक्तं भवति?-अनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायगुणस्थानकद्वयवर्त्ती जन्तुरुपशमक उच्यते, तस्य चत्वारः पञ्च वा भावा भवन्ति । कथमिति चेत् ?. उच्यते-त्रयस्तावत्पूर्ववदेव, चतुर्थस्तु क्षीणदर्शनत्रिकस्य श्रेणिमारोहतः क्षायिकसम्यक्त्वलक्षणोऽन्यस्य पुनरौपशमिकस्वभाव इति । अमीषामेव चतुर्णां मध्येऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायगुणस्थानकद्वयवर्तिनोऽप्यौपशमिकचारित्रस्य शास्त्रान्तरेषु प्रतिपादनादौपशमिकचारित्रप्रक्षेपे पञ्चम इति, उपशान्त उपशान्तमोहगुणस्थानकवर्ती, तस्यापि चत्वारः पञ्च वा भावाः प्राप्यन्ते, ते चानन्तरोपशमकपदप्रदर्शिता एव [चउ खीणापुव्वि त्ति] चत्वारो भावाः क्षीणापूर्वयोः क्षीणमोहगुणस्थानकेऽपूर्वकरणगुणस्थानके चेत्यर्थः । तत्र क्षीणमोहे त्रयः पूर्ववत्, चतुर्थः क्षायिकसम्यक्त्वचारित्रलक्षणः, अपूर्वकरणे तु त्रयः पूर्ववत, चतुर्थः पुनः क्षायिकसम्यक्त्वस्वभाव औपशमिकसम्यक्त्वस्वभावो वेति [तिन्नि सेसगुणट्ठाणग त्ति] त्रयः त्रिसंख्या भावा भवन्ति, केष्वित्याह-विभक्तिलोपाच्छेषगुणस्थानकेषु मिथ्यादृष्टिसास्वादनसम्यग्मिथ्यादृष्टिसयोगिकेवल-

योगिकेवलिलक्षणेषु । तत्र मिथ्यादृष्ट्यादीनां त्रयाणामौदयिकी गतिः, क्षायोपशमिकानीन्द्रियाणि, पारिणामिकं जीवत्वमित्येते त्रयो भावाः प्रतीता एव । सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोः पुनरौदयिकी मनुजगतिः, क्षायिकं केवलज्ञानादि, पारिणामिकं जीवत्वमित्येवंरूपास्त्रय इति । आह-किममी त्रिप्रभृतयो भावा गुणस्थानकेषु चिन्त्यमानाः सर्वजीवाधारतया चिन्त्यन्ते ?, आहोस्विदेकजीवाधारतया ? इति, आह-(एगजिए त्ति) एकजीवाधारतयेत्थंभावविभागो मन्तव्यो, नानाजीवापेक्षया तु संभविनः सर्वेऽपि भावा भवन्तीति ॥ अधुनैतेषु गुणस्थानकेषु प्रत्येकं यस्य भावस्य संबन्धिनो यावन्त उत्तरभेदा यस्मिन् गुणस्थानके प्राप्यन्ते इत्येतत्सोपयोगित्वाद् ग्रन्थान्तराभिहितमभिधीयते । तद्यथा-क्षायोपशमिकभावभेदा मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोरन्तरायकर्मक्षयोपशमजदानादिलब्धिपञ्चकाज्ञानत्रयचक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनलक्षणा दश भवन्ति, सम्यग्मिथ्यादृष्टौ दानादिलब्धिपञ्चकज्ञानत्रयदर्शनत्रयमिश्ररूपसम्यक्त्वलक्षणा द्वादश भेदा भवन्ति, अविरतसम्यग्दृष्टौ मिश्रत्यागेन सम्यक्त्वप्रक्षेपे त एव द्वादश, विरतौ च द्वादशसु मध्ये देशविरतिप्रक्षेपे त्रयोदश, प्रमत्ताऽप्रमत्तयोश्च देशविरतिविरहितेषु पूर्वप्रदर्शितेषु द्वादशस्वेव सर्वविरतिमनःपर्यायज्ञानप्रक्षेपे चतुर्दश, अपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायेषु चतुर्दशभ्यः सम्यक्त्वापसारणे प्रत्येकं त्रयोदश, उपशान्तमोहक्षीणमोहयोस्त्रयोदशभ्यश्चारित्रापसारणे द्वादश क्षायोपशमिकभावभेदाः प्राप्यन्ते ॥ अथौदयिकभावभेदा भाव्यन्ते-मिथ्यादृष्टावज्ञानासिद्धत्वादय एकविंशतिरपि भेदा भवन्ति, सास्वादने एकविंशतेर्मिथ्यात्वापसारणे विंशतिः, मिश्राविरतयोर्विंशतेरज्ञानापगमे एकोनविंशतिः, देशविरते च देवनारकगत्यभावे सप्तदश, प्रमत्ते च तिर्यग्गत्यसंयमाऽभावे पञ्चदश, अप्रमत्ते च पञ्चदशभ्य आद्यलेश्यात्रिकाभावे द्वादश, अपूर्वकरणेऽनिवृत्तिबादरे च द्वादशभ्यस्तेजःपद्मलेश्ययोरभावे दश, सूक्ष्मसम्पराये संज्वलनलोभमनुजगतिशुक्ललेश्याऽसिद्धत्वलक्षणाश्चत्वार औदयिका भावाः, उपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिषु चतुर्भ्यः संज्वलनलोभाभावे त्रयः, अयोगिकेवलिनस्तु मनुजगत्यसिद्धत्वरूपमौदयिकभावभेदद्वयं प्राप्यते । औपशमिकभावभेदा उच्यन्ते-अविरतादारभ्योपशान्तं यावदौपशमिकसम्यक्त्वरूप औपशमिकभावभेदः प्राप्यते, औपशमिकचारित्रलक्षणस्त्वनिवृत्तेरारभ्योपशान्तं यावत् प्राप्यते । क्षायिकभावभेदश्च क्षायिकसम्यक्त्वरूपोऽविरतादारभ्योपशान्तं यावत्प्राप्यते, क्षीणमोहे क्षायिकं सम्यक्त्वं चारित्रं च प्राप्यते, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु नवाऽपि क्षायिकभावाः प्राप्यन्ते । पारिणामिकभावभेदा मिथ्यादृष्टौ त्रयोऽपि, सास्वादनादारभ्य च क्षीणमोहं यावदभव्यत्ववर्जौ द्वौ भवतः, सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिनोस्तु जीवत्वमेवेति, भव्यत्वस्य च प्रत्यासन्नसिद्धावस्थायामभावादधुनाऽपि तदपगतप्रायत्वादिना केनचित्कारणेन शास्त्रान्तरेषु नोक्तमिति नास्माभिरप्यत्रोच्यते । यस्य भावस्य भेदा यस्मिन् गुणस्थानके यावन्त उक्तास्तेषां संभवितावभेदानामेकत्र मीलने सति तावद्भेदनिष्पन्नः षष्ठः सान्निपातिकभावभेदस्तस्मिन् गुणस्थानके भवति । यथा-मिथ्यादृष्टावौदयिकभावभेदा एकविंशतिः, क्षायोपशमिकभावभेदा दश, पारिणामिकभावभेदास्त्रयः, सर्वे भेदाश्चतुस्त्रिंशत् । एवं सास्वादनादिष्वपि संभविभावभेदमीलने तावद्भेदनिष्पन्नः षष्ठः सान्निपातिकभावभेदो वाच्यः ।

एतदर्थसंग्राहिण्यश्चैता गाथा यथा-

" पण अंतराय अन्ना-ण तिन्नि अचक्खुचक्खु दस एए ।
मिच्छे सासाणे य, हवंति मीसए अंतराय पण ॥ १ ॥
नाणतिगदंसणतिगं, मीसग सम्मं च बारस हवंति ।
एवं च अविरयम्मि वि, नवरि तहिं दंसणं सुद्धं ॥ २ ॥
देसे य देसविरई, तेरसमा तह पमत्त अपमत्ते ।
मणपज्जवपक्खेवा, चउदस अपुव्वकरणं ज ॥ ३ ॥
वेयगसम्मेण विणा, तेरस जा सुहुमसंपराओ त्ति ।
ते च्चिय उवसमखीणे, चरित्तविरहेण बारस उ ॥ ४ ॥
खाओवसमिगभावा-ण कित्तणं गुणपए पडुच्च कया ।
उदइयभावे इण्हिं, ते चेव पडुच्च देसेमि ॥ ५ ॥
चउगइयाई इगवी-स मिच्छि साणेय हुंति वीसं च ।
मिच्छेण विणा मीसे, इगुणीसमनाणविरहेण ॥ ६ ॥
एमेव अविरयम्मी, सुरनारयगइ विओगओ देसे ।
सत्तरस हुंति ते च्चिय, तिरिगइ असंजमाभावा ॥ ७ ॥
पन्नरस पमत्तम्मी, अपमत्ते आइलेसतिगविरहे ।
ते च्चिय बारस सुक्के-गलेसओ दस अपुव्वम्मि ॥ ८ ॥
एवं अनियट्टिम्मि वि, सुहुमे संजलणलोभमणुयगई ।
अंतिमलेस असिद्ध-त्तभावओ जाण चउभावा ॥ ९ ॥
संजलणलोभविरहा, उवसंतखीणकेवलीण तिगं ।
लेसाभावा जाणसु, अजोगिणो भावदुगमेव ॥ १० ॥
अविरयसम्मा उवसं-तु जाव उवसमगखाइगा सम्मं ।
अनियट्टीओ उवसं-तु जाव उवसामियं चरणं ॥ ११ ॥
खीणम्मि खइयसम्मं, चरणं च दुगं पि जाण समकालं ।
नव नव खाइगभावा, जाण सजोगे अजोगे य ॥ १२ ॥
जीवत्तमभव्वत्तं, भव्वत्तं पि हु मुणेसु मिच्छम्मि ।
साणाई खीणंते, दोन्नि अभव्वत्तवज्जाऊ ॥ १३ ॥
सजोगिम्मि अजोगिम्मि य, जीवत्तं चेव मिच्छमाईणं ।
सममावमीसणाओ, भावं मुण सन्निवायं तु ॥ १४ ॥ "

व्याख्यातप्राया एवैताः, नवरमेकादश्यां गाथायां (उवसमगखाइगा सम्म त्ति) अनेनौपशमिकक्षायिकसम्यक्त्वरूपमौपशमिकक्षायिकभावभेदद्वयं युगपल्लाघवार्थं निरूपितम् । ततश्चाविरतादारभ्योपशान्तमोहं यावत्कस्यचिदौपशमिकसम्यक्त्वरूपौपशमिकभावभेदः प्राप्यते, कस्यचित्पुनः क्षायिकसम्यक्त्वरूपः क्षायिकभावभेदश्चेति ॥ ७० ॥ कर्म० ४ कर्म० ।

---

(११) मार्गणास्थानकेषु गुणस्थानकानि । अथ यथा प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयन्नाह-

पण तिरि चउ सुरनरए, नरसन्निपणिंदिभव्वतसि सव्वे ।
इग विगलभूदगवणे, दु दु एगं गइतसअभव्वे ॥ १९ ॥

पञ्च गुणस्थानकानि मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राविरतसम्यग्दृष्टिदेशविरतिलक्षणानि (तिरि त्ति) तिर्यग्गतौ भवन्ति । चतुःशब्दस्य प्रत्येकं योगात्सुरे सुरगतौ चत्वारि प्रथमगुणस्थानकानि, नरके नरकगतौ चत्वारि प्रथमगुणस्थानानि भवन्ति, न देशविरतादीनि, तेषु भवस्वभावतो देशतोऽपि विरतेरभावादिति

नरे नरगतौ, संज्ञिनि विशिष्टमनोविज्ञानभाजि, पञ्चेन्द्रिये, भव्ये, त्रसे त्रसकाये च, सर्वाण्यपि चतुर्दशापि गुणस्थानकानि भवन्ति, एतेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनामयोगिकेवल्यवसानानां सर्वेषामानामपि संभवात् । (इग त्ति) एकेन्द्रियेषु सामान्यतः, (विगल त्ति) विकलेन्द्रियेषु द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियेषु, भुवि पृथ्वीकाये, उदके अप्काये, वने वनस्पतिकाये (दु दु त्ति) द्वे द्वे आद्ये मिथ्यात्वसास्वादनलक्षणे भवतः । तत्र मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वेषु द्रष्टव्यं, सास्वादनं तु तेजोवायुवर्जबादरैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियपृथिव्यम्बुवनस्पतिषु लब्ध्या पर्याप्तकेषु, करणेन त्वपर्याप्तकेषु, न सर्वेष्विति । तथा एकं मिथ्यात्वलक्षणं गुणस्थानकं भवति-केषु इति ?,आह-गत्या गमने, त्रसाः, न तु नामकर्मोदयात् गतित्रसास्तेषु सास्वादनभावोपगतस्य तेषु मध्ये उत्पादाभावात् अभव्येषु चेति ॥ १६ ॥

वेय तिकसाय नव दस, लोभे चउ अजय दु ति अन्नाणतिगे ।
बारस अचक्खुचक्खुसु, पढमा अहृ खाइ चरम चउ ॥२०॥

वेदे वेदत्रये, त्रयाणां कषायाणां समाहारस्त्रिकषायं क्रोधमानमायालक्षणं, तस्मिँस्त्रिकषाये [पढमि त्ति] प्रथमानीति पदं डमरुकमणिन्यायेन सर्वत्र योज्यम्, ततो वेदे स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणे कषायत्रये च प्रथमानि मिथ्यादृष्ट्यादीनि अनिवृत्तिबादरपर्यन्तानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति, न शेषाणि, अनिवृत्तिबादरगुणस्थान एव वेदत्रिकस्य कषायत्रिकस्य चोपशान्तत्वेन क्षीणत्वेन वा शेषेषु गुणस्थानेषु तदसंभवात् । लोभे लोभकषाये दश गुणस्थानानि,तत्र नव पूर्वोक्तानि, दशमं तु सूक्ष्मसंपरायलक्षणं,तत्र किट्टीकृतसूक्ष्मलोभकषायदलिकस्य वेद्यमानत्वात् । चत्वारि प्रथमानि अयते,विरतिहीन इत्यर्थः,कोऽर्थः?-विरतिहीने मिथ्यात्वसास्वादनमिश्राविरतिसम्यग्दृष्टिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्तीति । [दु ति अन्नाणतिगे त्ति] अज्ञानत्रिके मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानलक्षणे,प्रथमे द्वे गुणस्थानके मिथ्यादृष्टिसास्वादनरूपे भवतः, न मिश्रमपि । यतो यद्यपि मिश्रगुणस्थानके यथास्थितवस्तुतत्त्वनिर्णयो नास्ति,तथापि न तान्यज्ञानान्येव सम्यग्ज्ञानलेशव्यामिश्रत्वात्,अत एव न मिश्रगुणस्थानकमभिधीयते । उक्तं च-" मिथ्यात्वाधिकस्य मिश्रादृष्टेरज्ञानबाहुल्यं, सम्यक्त्वाऽधिकस्य पुनः सम्यग् ज्ञानबाहुल्यमिति । " ज्ञानलेशसद्भावतो न मिश्रगुणस्थानकमज्ञानत्रिके लभ्यते इत्येके प्रतिपादयन्ति, तन्मतमधिकृत्यास्माभिरपि 'द्वे' इत्युक्तम् । अन्ये पुनराहुः-अज्ञानत्रिके त्रीणि गुणस्थानानि, तद्यथा-मिथ्यात्वं, सास्वादनं, सम्यग्दृष्टिश्च । यद्यपि " मिस्सम्मी वामिस्सा " इति वचनात् ज्ञानव्यामिश्राण्यज्ञानानि प्राप्यन्ते, न शुद्धाज्ञानानि, तथापि तान्यज्ञानान्येव,शुद्धसम्यक्त्वमूलत्वेनात्र ज्ञानस्य प्रसिद्धत्वात् । अन्यथा हि-यद्यशुद्धसम्यक्त्वस्यापि ज्ञानमभ्युपगम्यते तदा सास्वादनस्याऽपि ज्ञानाभ्युपगमः स्यात्,न चैतदस्ति,तस्याऽज्ञानित्वेनान्तरमेवेह प्रतिपादितत्वात्, तस्मादज्ञानत्रिके प्रथमं गुणस्थानकत्रयमवाप्यते इति " । तन्मतमाश्रित्याऽस्माभिरपि 'त्रिकम' इत्युक्तं,तत्त्वं तु केवलिनो, विशिष्टश्रुतविदो वा विदन्तीति । द्वादश प्रथमानि गुणस्थानकानि । अचक्षुर्दर्शने चक्षुर्दर्शने च भवन्ति, यतो मिथ्यादृष्टिप्रभृतिक्षीणमोहपर्यन्तेषु गुणस्थानेष्वचक्षुर्दर्शनचक्षुर्दर्शनसंभवात् । यथाख्याते चारित्रे चरमाण्यन्तिमानि चत्वारि उपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणानि चत्वारि गुणस्थानानि भवन्ति, एषु कषायाभावादिति ॥ २० ॥

मणनाणि सगजयाई, सामइयछेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलिदुगि दो चरमा-जयाइ नव मइसु ओहिदुगे ॥२१॥

मनोज्ञाने मनःपर्यवज्ञाने [सग त्ति] सप्तगुणस्थानकानि भवन्ति, कानीति ?, आह-यताऽऽदीनि, तत्र 'यमूं' उपरमे,यमनं यतं,सम्यक्सावद्याद्युपरमणमित्यर्थः, यतं विद्यते यस्य स यतः प्रमत्तयतिः, यत आदौ येषां तानि यताऽऽदीनि प्रमत्ताऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसंपरायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानीति । सामायिके छेदोपस्थापने च चत्वारि यताऽऽदीनि गुणस्थानानि, प्रमत्ताऽप्रमत्तनिवृत्तिबादराणीत्यर्थः । द्वे गुणस्थानके प्रमत्ताऽप्रमत्तरूपे,परिहारविशुद्धिकचारित्रे इत्यर्थः । नोत्तराणि, तस्मिन् चारित्रे वर्त्तमानस्य श्रेण्यारोहणप्रतिषेधात् । केवलद्विके केवलज्ञानकेवलदर्शनरूपे द्वे गुणस्थाने भवतः, के इति ?, आह-चरमेऽन्तिमे सयोगिकेवलिगुणस्थानकाऽयोगिकेवलिगुणस्थानके इति (अजयाइ नव मइसु ओहिदुगे त्ति) अयतो विरतः स आदौ येषां तान्ययतादीन्यविरतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणमोहपर्यवसानानि नव गुणस्थानकानि भवन्ति । मतौ मतिज्ञाने, श्रुते श्रुतज्ञाने, अवधिद्विके अवधिज्ञानाऽवधिदर्शनलक्षणे, न शेषाणि । तथाहि-न मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानानि मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रेषु भवन्ति,तद्भावे ज्ञानत्वस्यैवाऽयोगात् । यत्तु अवधिदर्शनं तत्कुतश्चिदभिप्रायाद्विशिष्टश्रुतविदो मिथ्यादृष्ट्यादीनां नेच्छन्ति,तन्मतमाश्रित्यास्माभिरपि तत्तेषां न भणितम् । अथ च सूत्रे मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्यवधिदर्शनं प्रतिपाद्यते, यदाह रभसवशविनम्रसुरासुरनरकिन्नरविद्याधरपरिवृढमाणिक्यमुकुटकोटीविटङ्कनिघृष्टचरणारविन्दयुगलः श्रीसुधर्मस्वामी पञ्चमाङ्गे-" ओहिदंसणअणगारोवउत्ताणं भंते ! किं नाणी, अन्नाणी ? । गोयमा ! नाणी वि । अन्नाणी वि,जइ नाणी ते अत्थेगइया तिनाणी, अत्थेगइया चउनाणी, जे तिनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी,जे चउनाणी ते आभिणिबोहियनाणी सुयनाणी ओहिनाणी मणपज्जवनाणी,जे अन्नाणी ते नियमा मइअन्नाणी सुयअन्नाणी विभंगनाणी इति । " अत्र हि ये अज्ञानिनस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति मिथ्यादृष्ट्यादीनामप्यवधिदर्शनं साक्षादत्र सूत्रे प्रतिपादितं, स एव विभङ्गज्ञानी यदा सास्वादनभावे मिश्रभावे वा वर्तते तत्राऽपि तदानीमवधिदर्शनं प्राप्यत इति । यत्पुनः सयोग्ययोगिकेवलिगुणस्थानकद्विकं, तत्र मतिज्ञानादि न संभवत्येव, तद्व्यवच्छेदेनैव केवलज्ञानस्य प्रादुर्भावात्, " नट्ठम्मि उ छाउमत्थिए नाणे " इति वचनप्रामाण्यादिति ॥ २१ ॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खइगे इक्कार मिच्छ तिगि देसे ।
सुहुमे य सगट्ठाणं, तेरस जोगे अहार सुक्काए ॥ २२ ॥

काकाक्षिगोलकन्यायादिहायतादीनि इति पदं सर्वत्र योज्यते, ततोऽयतादीन्युपशान्तमोहान्तानि अष्टौ गुणस्थानान्यौपशमिकसम्यक्त्वे भवन्ति । अयतादीन्यप्रमत्तान्तानि चत्वारि वेदके क्षायोपशमिकापरपर्याये गुणस्थानकानि भवन्ति । क्षायिकसम्यक्त्वे अयतादीन्ययोगिकेवलिपर्यवसानान्येकादश गुणस्थानकानि भवन्ति । तथा मिथ्यात्वत्रिके मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्रलक्षणे, देशे देशविरते, सूक्ष्मे सूक्ष्मसम्पराये, चः समुच्चये, स्वस्थानं निजस्थानम् । इदमुक्तं भवति-मिथ्यात्वमार्गणास्थाने मिथ्यादृष्टिगुणस्थानं, सास्वादनमार्गणास्थाने सास्वादनं गुणस्थानं, मिश्रमार्गणास्थाने मिश्रं गुणस्थानं, देशसंयममा-

र्गणास्थाने देशविरतगुणस्थानं, सूक्ष्मसम्परायसंयममार्गणास्थाने सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानम्। तथा-योगे मनोवाक्कायलक्षणे अयोगिकेवलिवर्जितानि शेषाणि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु यथायोगं योगत्रयस्यापि सम्भवात्। तथा-आहारकेषु आद्यानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, सर्वेष्वप्येतेषु ओजोलोमप्रक्षेपाहाराणामन्यतमस्याहारस्य यथायोगं सम्भवात्। तथा (सुक्काए त्ति) शुक्ललेश्यायां प्रथमानि त्रयोदश गुणस्थानानि भवन्ति, न त्वयोगिकेवलिगुणस्थानं, तस्य लेश्याऽतीतत्वादिति ॥ २२ ॥

अस्सन्निसु पढमदुगं, पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त।
पढमंतिम दुग अजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥

असंज्ञिषु संज्ञिव्यतिरिक्तेषु प्रथमं मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणं गुणस्थानकद्वयं भवति, तत्र मिथ्यात्वमविशेषेण सर्वत्र द्रष्टव्यम्, सास्वादनं तु लब्धिपर्याप्तकानां करणापर्याप्तावस्थायामिति। प्रथमासु तिसृषु लेश्यासु मिथ्यात्वादीनि प्रमत्तान्तानि षट् गुणस्थानानि भवन्ति। 'चः' समुच्चये, कृष्णनीलकापोतलेश्यानां हि प्रत्येकमसंख्येयलोकाऽऽकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि, ततो मन्दसंक्लेशेषु तदध्यवसायस्थानेषु तथाविधसम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनामपि सद्भावो न विरुध्यते। उक्तं च-"सम्यक्त्वदेशविरतिसर्वविरतीनां प्रतिपत्तिकाले शुभलेश्यात्रयमेव भवति, उत्तरकालं तु सर्वा अपि लेश्याः परावर्तन्तेऽपीति"। श्रीमदाराध्यपादा अप्याहुः-"सम्मत्तसुयं सव्वा-सु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्तं। पुव्वपडिवन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए" ॥१॥ श्रीभगवत्यामप्युक्तम्-"सामाइयसंजए णं भंते! कइ लेसासु हुज्जा?। गोयमा! छसु लेसासु होज्जा,एवं छेओवट्ठावणियसंजए वीत्यादि।"॥ तथा द्वयोस्तेजोलेश्यापद्मलेश्ययोः सप्त गुणस्थानानि भवन्ति, तत्र षट् पूर्वोक्तान्येव,सप्तमं त्वप्रमत्तगुणस्थानकम्, अप्रमत्तसंयताध्यवसायस्थानापेक्षया मिथ्यादृष्ट्यादीनां प्रमत्तान्तानां तेजोलेश्यापद्मलेश्यातारतम्येन जघन्याऽत्यन्ताविशुद्धिके द्रष्टव्ये। तथा-अनाहारके पञ्च गुणस्थानानि भवन्ति। कानीति?, आह-प्रथमान्तिमद्विकायतानीति। द्विकशब्दस्य प्रत्येकं योगात् प्रथमद्विकं मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणम्, अन्तिमद्विकं सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणम्। अयत इति, अविरतसम्यग्दृष्टिश्चेति। तत्र मिथ्यात्वसास्वादनाविरतसम्यग्दृष्टिलक्षणं गुणस्थानकत्रयमनाहारके विग्रहगतौ प्राप्यते, सयोगिकेवलिगुणस्थानकं त्वनाहारके समुद्घातावस्थायां तृतीयचतुर्थपञ्चमसमयेषु द्रष्टव्यम्। यदवादि-"चतुर्थतृतीयपञ्चमेष्वनाहारक इति"। अयोगिकेवल्यवस्थायां तु योगरहितत्वेनौदारिकादिशरीरपोषकपुद्गलग्रहणाभावादनाहारकत्वम्, "औदारिकवैक्रियाहारकशरीरपोषकपुद्गलोपादानमाहारः" इति प्रवचनोपनिषद्वेदिनः। एवं मार्गणास्थानेषु गत्यादिषु (गुण त्ति) गुणस्थानकानि अभिहितानि ॥ २३ ॥

(१२) गुणस्थानकेषु मार्गणास्थानानि। सम्प्रति गुणस्थानकेष्वेव योगान् व्याख्यानयन्नाह-

मिच्छदुग अजइ जोगा-हारदुगूणा अपुव्वपणगे उ।
मणवइ उरलं सविउ-व्व मीसि सविउव्व दुग देसे ॥४६॥

मिथ्यादृष्टिद्विकं मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणम्, तत्र अयते, अविरतसम्यग्दृष्टौ चेत्येवं गुणस्थानकत्रये संज्ञिपञ्चेन्द्रियोऽपि लभ्यते, तस्य च यथोक्ताऽऽहारकद्विकेनाहारककाययोगाऽऽहारकमिश्रकाययोगलक्षणेनोना रहितास्त्रयोदश योगाः संभवन्ति। यत्पुनराहारकद्विकं तच्चतुर्दशपूर्विण एव। यदभ्यधायि-"आहारदुगं जायइ चउदसपुव्विस्सेत्ति"। न च मिथ्यादृष्टिसास्वादनायतानां चतुर्दशपूर्वाधिगमसंभव इति। तथाऽपूर्वपञ्चकेऽपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणे नव योगा भवन्ति। तद्यथा-चतुर्विधो मनोयोगः, चतुर्विधो वाग्योगः, औदारिककाययोग इति, न शेषाः,अत्यन्तविशुद्धतया तेषां वैक्रियाहारकद्विकारम्भासंभवात,तत्र स्थितानां च स्वभावत एव श्रेण्यारोहाभावात्। औदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायां कार्मणं त्वपान्तरालगतौ। यच्चोभे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायां ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानकपञ्चके न संभवत इति। तथा-त एव पूर्वोक्ता नव योगाः सवैक्रियाः सन्तो दश योगा मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके भवन्ति। तथाहि-चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियलक्षणा दश योगा मिश्रे भवन्ति, न शेषाः। तद्यथा-आहारकद्विकस्यासंभवः पूर्वाधिगमाभावादेव, कार्मणशरीरं त्वपान्तरालगतौ संभवति, अस्य च मरणासंभवेनापान्तरालगत्यभावस्ततस्तस्याप्यसंभवः। अत एवौदारिकवैक्रियमिश्रे अपि न संभवतः, तयोरपर्याप्तावस्थाभावित्वात्। ननु मा भूद्देवनारकसंबन्धिवैक्रियमिश्रं, यत्पुनर्मनुष्यतिरश्चां सम्यग्मिथ्यादृशां वैक्रियलब्धिमतां वैक्रियकरणसंभवेन तदारम्भकाले वैक्रियमिश्रं भवति,तत्कस्मान्नाभ्युपगम्यते?। उच्यते-तेषां वैक्रियकरणासंभवादन्यतो वा यतः कुतश्चित्कारणात्पूर्वाचार्यैर्नाभ्युपगम्यते,तत्र सम्यगवगच्छामः,तथाविधसंप्रदायाभावात्, एतच्च प्रागेवोक्तमिति। तथा त एव पूर्वोक्ता नव योगाः सवैक्रियद्विका वैक्रियवैक्रियमिश्रसहिताः सन्त एकादश देशे देशविरते भवन्ति, अम्बडस्येव वैक्रियलब्धिमतो देशविरतस्य वैक्रियारम्भसंभवादिति ॥ ४६ ॥

साहारदुग पमत्ते, ते वि उ वाहार मीस विणु इयरे।
कम्मुरलदुगंताइम-मणवयणसजोगि न अजोगी ॥४७॥

पूर्वोक्ता एवैकादश योगाश्चतुर्विधमनोयोगचतुर्विधवाग्योगौदारिकवैक्रियद्विकलक्षणाः साहारकाद्विका आहारकाहारकमिश्रसहिताः सन्तस्त्रयोदश योगाः प्रमत्ते भवन्ति, औदारिकमिश्रकार्मणकाययोगाभावस्तु पूर्वोक्तयुक्तेरेवावसेय इति। त एव पूर्वोक्तास्त्रयोदश योगा वैक्रियमिश्राहारकमिश्रं विना एकादश योगा अप्रमत्ते। यत्तु वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च, तत्र संभवति, तद्वैक्रियस्याहारकस्य च प्रारम्भकाले भवति, तदानीं च लब्ध्युपजीवनादिनौत्सुक्यभावतः प्रमादभावः संभवतीति। तथौदारिकमिश्रमपर्याप्तावस्थायां, कार्मणं त्वपान्तरालगतौ, यद्वा-उभे अपि केवलिसमुद्घातावस्थायां, ततस्ते अप्यत्र गुणस्थानके न संभवत इति। तथा-कार्मणमौदारिकद्विकमौदारिकौदारिकमिश्रलक्षणमन्त्यादिममनसी सत्याऽसत्यामृषरूपौ मनोयोगौ,अन्त्यादिमवचने सत्याऽसत्यामृषरूपौ वाग्योगौ चेति सप्त योगाः सयोगिकेवलिनो भवन्ति,कार्मणौदारिकमिश्रे तु समुद्घातावस्थायामिति। न नैव पञ्चदशयोगमध्यादेकेनापि योगेन युक्तोऽयोगी अयोगिकेवली भवति, योगाभावनिबन्धनत्वादयोगित्वावस्थाया इति। उक्ता गुणस्थानकेषु योगाः ॥ ४७ ॥

[१३] अधुनैतेष्वेवोपयोगानभिधातुकाम आह-

तिअनाण दुदंसाइम, दुगे अजइ देसि नाणदंसतिगं।

ते मीसि मीसा समणा, जयाइ केवलिदुगंतदुगे ॥ ४८ ॥

आदिमद्विके मिथ्यादृष्टिसास्वादनलक्षणे प्रथमद्वितीयगुणस्थानकद्वये इत्यर्थः । [तियनाण दुदंस त्ति] त्रयाणामज्ञानानां समाहारस्त्र्यज्ञानं मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभङ्गज्ञानरूपं, दर्शनं दर्शो, द्वयोर्दर्शयोः समाहारो द्विदर्शं चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनरूपमित्येते पञ्चोपयोगा मिथ्यादृष्टिसास्वादनयोर्भवन्ति । त्रिकशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात् ज्ञानत्रिकं मतिज्ञानश्रुतज्ञानावधिज्ञानरूपम्, दर्शनत्रिकं चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनलक्षणमिति,न शेषाः, सर्वविरत्यभावात् । ते पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकरूपाः षडुपयोगा मिश्रे सम्यग्मिथ्यादृष्टिगुणस्थानके मिश्रा अज्ञानसहिता द्रष्टव्याः,तस्योभयदृष्टिपातित्वात्,केवलं कदाचित्सम्यक्त्वबाहुल्यतो ज्ञानबाहुल्यं, कदाचिच्च मिथ्यात्वबाहुल्यतोऽज्ञानबाहुल्यं, समकक्षतायां तूभयांशसमतेति । अस्मिंश्च गुणस्थानके यदवधिदर्शनमुक्तं तत्सैद्धान्तिकमतापेक्षया द्रष्टव्यमित्युक्तं प्राक् । [समणा जयाइ त्ति] 'यमूं' उपरमे, यमनं यतं, सर्वसावद्यविरतं, तद् विद्यते यस्य स यतः, "अभ्रादिभ्यः" ७ ।२। ४६ । इति (हैम०) अप्रत्ययः । प्रमत्तगुणस्थानकवर्ती साधुः, यत आदिर्येषां गुणस्थानकानां तानि यतादीनि, प्रमत्ताऽप्रमत्ताऽपूर्वकरणाऽनिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहलक्षणानि सप्त गुणस्थानकानि, तेषु पूर्वोक्ता ज्ञानत्रिकदर्शनत्रिकाख्याः षडुपयोगाः [समण त्ति] मनःपर्यायज्ञानसहिताः सप्त भवन्तीति,न शेषाः,मिथ्यात्वघातिकर्मक्षयाभावात् । केवलद्विकं केवलज्ञानकेवलदर्शनलक्षणोपयोगद्वयरूपमन्तद्विके सयोगिकेवल्ययोगिकेवलिलक्षणचरमगुणस्थानकद्वये भवति, न शेषा दश ज्ञानदर्शनलक्षणाः, तदुच्छेदेनैव केवलज्ञानकेवलदर्शनोत्पतेः " नट्ठम्मि उ छउमत्थिए नाणे " इतिवचनात् । तदेवमभिहिता गुणस्थानकेषूपयोगाः ॥ ४८ ॥

साम्प्रतं यदिह प्रकरणे सूत्राऽभिमतमपि कार्मग्रन्थिकाभिप्रायानुसरणतो नाधिकृतं तद्दर्शयन्नाह—

सासणभावे नाणं, विउव्वगाहारए उरलमिस्सं ।
नेगिंदिसु सासाणो, नेहाहिगयं सुयमयं पि ॥४९॥

सास्वादनभावे सास्वादनसम्यग्दृष्टित्वे सति ज्ञानं भवति, नाऽज्ञानमिति, श्रुतमतमपि सिद्धान्तसंमतमपि । तथाहि-"बेइंदिया णं भंते ! किं नाणी,अन्नाणी ? गोयमा ! नाणी वि,अन्नाणी वि, जे नाणी ते नियमा दुनाणी-आभिणिबोहियनाणी, सुयनाणी । जे अन्नाणी ते वि नियमा दुअन्नाणी । तं जहा-मइअन्नाणी,सुयअन्नाणी" इत्यादिसूत्रे द्वीन्द्रियादीनां ज्ञानित्वमभिहितम्; तच्च सास्वादनापेक्षयैव, न शेषसम्यक्त्वापेक्षया, असंभवात् । उक्तं च प्रज्ञापनाटीकायाम्-" बेइंदियस्स दो नाणा कहं लब्भंति ? । भण्णइ-सासायणं पडुच्च तस्सापज्जत्तयस्स दो नाणा लब्भंति " । ततः सासादनभावेऽपि ज्ञानं सूत्रसंमतमेव । तच्चेत्थं सूत्रसंमतमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतं,किं त्वज्ञानमेव, कर्मग्रन्थाभिप्रायस्यानुसरणात् । तदभिप्रायश्चायम्-सास्वादनस्य मिथ्यात्वाभिमुखतया तत्सम्यक्त्वस्य मलीमसत्वेन तन्निबन्धनस्य ज्ञानस्यापि मलीमसत्वादज्ञानरूपतेति । तथा-सूत्रे वैक्रिये आहारके चारभ्यमाणे तेन आरभ्यमाणेन सहौदारिकस्यापि मिश्रीभवनादौदारिकमिश्रमुक्तमिति । तथा चाह प्रज्ञापनाटीकाकारः-"यदा पुनरौदारिकशरीरी वैक्रियलब्धिसंपन्नो मनुष्यः, पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिको वा पर्याप्तबादरवायुकायिको वा वैक्रियं करोति तदौदारिकशरीरयोग एव वर्त्तमानः प्रदेशान् विक्षिप्य वैक्रियशरीरयोग्यान् पुद्गलानादाय यावद्वैक्रियशरीरपर्याप्त्या पर्याप्तिं न गच्छति तावद्वैक्रियेण मिश्रता,व्यपदेशश्च औदारिकस्य,प्रधानत्वात् । एवमाहारकेणापि सह मिश्रता द्रष्टव्या । आहारयति चैतेनैवेति तस्यैव व्यपदेशः" इति । परित्यागकाले वैक्रियस्याहारकस्य च यथाक्रमं वैक्रियमिश्रमाहारकमिश्रं च । उक्तं च श्रीप्रज्ञापनाटीकायाम्-' आहारकशरीरी भूत्वा कृतकार्यः पुनरप्यौदारिकं गृह्णाति,तदाहारकस्य प्रधानत्वादौदारिकप्रदेशं प्रति व्यापाराभावाच्च परित्यजति, यावत्सर्वथैवाहारकं तावदौदारिकेण मिश्रतेति आहारकमिश्रशरीरकाययोग " इति । नचैवम्-वैक्रियाहारकारम्भकाले औदारिकमिश्रं सूत्रेऽभिहितमपि नेह प्रकरणेऽधिकृतं, कार्मग्रन्थिकैर्गुणविशेषप्रत्ययसमुत्थलब्धिविशेषकारणतया प्रारम्भकाले परित्यागकाले च वैक्रियस्याहारकस्य च प्राधान्यविवक्षणेन वैक्रियमिश्रस्याहारकमिश्रस्य चैवाभिधानात्, तदभिप्रायस्य चेहानुसरणात् । तथा नैकेन्द्रियेषु [सासाणो त्ति] भावप्रधानोऽयं निर्देशः,सास्वादनभावः सूत्रे मतः, अन्यथा द्वीन्द्रियादीनामिवैकेन्द्रियाणामपि ज्ञानित्वमुच्येत,नचोच्यते,किन्तु विशेषतः प्रतिषिध्यते । तथाहि-"एगिंदिया णं भंते ! किं नाणी,अन्नाणी ? । गोयमा ! नो नाणी,नियमा अन्नाणी" इति । स चेत्थं सासादनभावप्रतिषेधः सूत्रे मतोऽपि केनचित्कारणेन कार्मग्रन्थिकैर्नाभ्युपगम्यते,इतीहापि प्रकरणे नाधिक्रियते, तदभिप्रायस्यैवेह प्रायोऽनुसरणादिति [नेहाहिगयं सुयमयं पि] इत्येतद्भिन्नक्रियापरिणामेन प्रतिपदं संबन्धनीयं, तथैव संबन्धितमिति ॥ ४९ ॥

अधुना गुणस्थानकेष्वेव लेश्या अभिधित्सुराह-

छसु सव्वा तेउतिगं, इगिछसु सुक्का अजोगि अल्लेसा ।
बंधस्स मिच्छ अविरइ,कसाय जोग त्ति चउ हेऊ ॥५०॥

षट्सु मिथ्यादृष्टिसास्वादनमिश्राऽविरतदेशविरतप्रमत्तलक्षणेषु गुणस्थानकेषु सर्वाः षडपि कृष्णनीलकापोततेजःपद्मशुक्ललेश्या भवन्ति । (तेउतिगं इगि त्ति) एकस्मिन्नप्रमत्तगुणस्थानके तेजस्त्रिकं तेजःपद्मशुक्ललेश्यात्रयं भवति, न पुनराद्यं लेश्यात्रयमित्यर्थाल्लभ्यम् । षट्स्वपूर्वकरणानिवृत्तिबादरसूक्ष्मसम्परायोपशान्तमोहक्षीणमोहसयोगिकेवलिलक्षणेषु गुणस्थानकेषु शुक्ललेश्या भवति,न शेषाः पञ्च । अयोगिनोऽयोगिकेवलिनो लेश्याः अपगतलेश्याः । इह लेश्यानां प्रत्येकमसंख्येयानि लोकाकाशप्रदेशप्रमाणान्यध्यवसायस्थानानि,ततो मन्दाध्यवसायस्थानापेक्षया शुक्ललेश्यादीनामपि मिथ्यादृष्ट्यादौ कृष्णलेश्यादीनामपि प्रमत्तगुणस्थानकेऽपि संभवो न विरुध्यत इति । तदेवमुक्ताः गुणस्थानकेषु लेश्याः । कर्म० ४ कर्म० । (गुणस्थानकेषु बन्धोदयसत्तास्थानानां स्वामित्वं 'कम्म ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३१२ पृष्ठे उक्तम् । बन्धोदयसत्तास्थानानां संवेधोऽपि अस्मिन्नेव भागे ' कम्म ' शब्दे ३०६ पृष्ठे दर्शितः)

[१४] श्रीहीरविजयसूरिं प्रति विमलहर्षगणिकृतप्रश्नः । यथा-पञ्चविंशतिभङ्गाश्रितानाम् "पश्चारिसे त्ति" गाथोक्तलक्षणोपेतानां च साधूनां षष्ठसप्तमगुणस्थानवर्त्तित्वम् ?,उत मतान्तरेण मुहूर्त्ताद्बहुकालस्थायिषष्ठगुणस्थानकवर्त्तित्वमिति प्रश्ने, उत्तरम्-" उभयमपि भवतु, अध्यवसायानां वैचित्र्यात्तथाविधव्यक्ताक्षरानुपपत्तिभावाच्च ॥ ३ ॥ ही० १ प्रका० । गुणास्पदे, पञ्चा० ८ विव० ।

गुणट्ठाणविभागकाल–गुणस्थानविभागकाल–पुं० । गुणस्थानेषु पार्थक्येन तद्भावापरित्यागार्थविषये काले,पं०सं० २ द्वार।

गुणट्ठाणसिद्धजणग–गुणस्थानसिद्धजनक–त्रि० । प्रमत्तताऽऽदिगुणविशेषनिर्मलताधायके, पञ्चा० १५ विव० ।

गुणण–गुणन–न० । परावर्तने,अभ्यासे, विशे० । स्था० । आ० म० । व्य० । दश० । गुणनिकाऽप्यत्र । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

गुणणाम–गुणनामन्–न० । गुणरूपे अर्थे, "से किं तं गुणनामे?, गुणनामे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा–वण्णनामे, गंधणामे,रसणामे, फासणामे, संठाणणामे, सेत्तं गुणणामे " अनु० ।

गुणणिप्फन्न–गुणनिष्पन्न–न० गुणप्रधाने,विपा० १ श्रु०२ अ० ।

गुणणिप्फण्णसणामा–गुणनिष्पन्नस्वनामा–स्त्री० । गुणैः कृत्वा निष्पन्नं स्वं स्वकीयं नाम यासां ताः गुणनिष्पन्नस्वनाम्न्यः । गौणनामिकासु, तथाहि–एकैकपरमाणवः परमाणुवर्गणाद्वयोः परमाण्वोर्वर्गणा द्विपरमाणुवर्गणा इत्येवं नाम्नां वर्गणा "गाणं गुणणिप्फण्णं नामधिज्जं करेति " क० प्र० ।

गुणणिहि–गुणनिधि–पुं० । संयमानुगता ये गुणास्तेषां निधिरिव तैः परिपूर्णो गुणनिधिः । ज्ञानादिगुणरत्ननिधाने, व्य० ३ उ० । पञ्चा० ।

गुणत्तयी–गुणत्रयी–स्त्री० । ज्ञानदर्शनचारित्रगुणत्रये, अष्ट० ८ अष्ट० ।

गुणत्थुइ–गुणस्तुति–स्त्री० । क्षान्त्यादिगुणश्लाघायाम्, जी० ।

अथ विशेषमाह–

रे जीव ! किं व जेसिं, तए सुयं इय मयं बहु पयारं ।
तेसिं पि गुणे सलहसु, मइ मज्झत्थं मणे धरसु ॥१॥

रे जीव ! भो आत्मन् ! किं वा परं, येषामनिर्दिष्टनाम्नां त्वया प्रवता श्रुतमाकर्णितमितीत्थं मतमभिप्रायो,बहुप्रकारं नानाभेदं, तेषामपि, न केवलमन्येषामित्यपिशब्दार्थः । गुणान् क्षान्त्यादीन्, श्लाघय प्रशंसय, यदि माध्यस्थ्यं रागाद्यभावो, मनसि चित्ते, धारयसि धत्सेः अन्यथा तन्मतदूषणेन मत्सर एव स्फुटः स्यादिति गाथार्थः ॥ १ ॥

सद्गुणश्लाघामेवाह–

धन्ना मुणीण किरियं, कुणंति धारिंति मलिणवत्थे उ ।
परिवज्जिअदव्वज्जण–ववहारा वारियारंभा ॥ २ ॥

धन्याः पुण्यभाजः एते प्रत्यक्षाः साधवो, वर्तन्त इति क्रियाध्याहारः । य किमित्याह–मुनीनां साधूनां क्रियामारम्भं प्रत्युपेक्षणादिकां कुर्वन्ति चेष्टन्ते, धारयन्ति पुनर्निदधाति मलिनवस्त्रान्,तुः पुनरर्थे योजित एव । परीति सामस्त्येन वर्जितस्त्यक्तो द्रव्यार्जनाय धनिणार्थं व्यवहारो वाणिज्यादिको यैस्ते,तथा वारितारम्भा निषिद्धगृहकरणादिपापक्रिया इति गाथार्थः ॥ २ ॥

सूत्रकृतसंबद्धां गाथामाह–

अन्नेसिं पि पसंससु, विमलगुणा जेण जीव ! तुह होइ ।
फलियं वुज्जलतरयं, पमोयकरणाउ सम्मत्तं ॥३॥

अन्येषामपि पूर्वव्यतिरिक्तानां प्रशंसय श्लाघय विमलगुणान् अतिशयान् यन जीव ! प्राणिन् ! तव भवतो भवति जायते स्फटिक इव रत्नविशेष इव, मकारः पूर्ववत्. उज्ज्वलतरकमतिशयनिर्मलं प्रमोदकरणाद्गुणवत्प्रीतेः सम्यक्त्वं दर्शनमिति गाथार्थः॥३॥

विमलगुणप्रशंसामेव गाथानवकेनाह–

जीवतु चिरं परो पा–वयणी परहिएक्कयचित्ता ।
जेहिं एगाहिं व आगम–सरस्स गाहत्तणं पत्तं ॥४॥
एसो सो धम्मकही, अणेयणिगमलालियं महुरवयणरसं ।
जस्स वयणारविंदे, भमर व्व पियंति भव्वजणा ॥५॥
एसो परवाइगइं–दकुंभनिद्दलणकेसरिकिसोरो ।
सलहिज्जइ सूरी दं–सणस्स तिलओ महाभागो ॥६॥
विप्फुरइ जस्स वयण–म्मि भारई नट्टिय व्व कव्वम्मि ।
ललियपयसारसिंगा–रसुंदरा भत्ति सो धन्नो ॥७॥
एगंतरोववासा–इगुरुयतवतवियतणुयदेहस्स ।
एयस्स चेव जम्मो, कम्ममहाधंतसूरस्स ॥ ८ ॥
परसमयाविहारूणत–कगंथपरमत्थकहयसोंडीरो ।
स कयत्थो जस्स मई, वन्निज्जइ विउसलोएहिं ॥ ९ ॥
एसो समत्थदंसण–पभावणागुणमईहिं संजुत्तो ।
रयणायरो व्व रेहइ, सययं अक्खलियमाहप्पो ॥१०॥
कप्पद्दुम व्व वियरति, जे उ संघस्स कप्पियच्छेअं ।
अणवरयं ते धन्ना, सुसावया दंसणुद्धरणा ॥११॥
किं बहुणा सव्वेसिं, जियाण सलहेसु गुणगणं जीव ! ।
तुज्झुवएसो एसो, जइ मज्झत्थं पियं तुज्झ ॥ १२ ॥

प्रकटार्थाः । नवरं प्रथमगाथया आगमधरगुणो वर्णितो, द्वितीयया धर्मकथकस्य,तृतीयया वादिनः, चतुर्थ्या कवेः, पञ्चम्या तपस्विनः,षष्ठ्या तर्कग्रन्थव्याख्यातुः, सप्तम्या समस्तगुणवताम, अष्टम्या श्रावकाणां, नवम्या समस्तजीवानां, नैमित्तिकविद्यासिद्धाः साम्प्रतं प्रायो न सन्तीति तद्गुणगाथा न कृता । जीवा० ३८ अधि० ।

गुणदोसविभावण–गुणदोषविभावन–न० । अर्थानर्थालोचने, पञ्चा० ६ विव० ।

गुणद्धि–गुणर्द्धि–स्त्री० । गुणश्रियाम, पञ्चा० ७ विव० ।

गुणद्धिजोग–गुणर्द्धियोग–पुं० गुणश्रीयुक्तत्वे, पञ्चा०७विव०।

गुणधारि–गुणधारिन्–त्रि० । अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । (अष्टादशशीलाङ्गसहस्रस्वरूपम 'गुरुकुलवास ' शब्दे द्रष्टव्यम्)

गुणपक्खवाय–गुणपक्षपात–पुं० । सौजन्यादिषु बहुमाने, गुणपक्षपातः–गुणेषु सौजन्यौदार्यधैर्यदाक्षिण्यस्थैर्यप्रियप्रथमाभिभाषणादिषु स्वपरयोरुपकारकारणेष्वात्मधर्मेषु पक्षपातो बहुमानं तत्प्रशंसासाहाय्यदानादिनाऽनुकूला प्रवृत्तिः । गुणपक्षपातिनो हि जीवा अवन्ध्यपुण्यबीजनिषेकेणेहामुत्र च गुणग्रामसंपदमारोहन्ति । ध० १ अधि० ।

गुणपगरिस–गुणप्रकर्ष–पुं० । गुणातिशये, पञ्चा० ८ विव० ।

गुणपडिवत्ति–गुणप्रतिपत्ति–स्त्री० । गुणाभ्युपपत्तौ, पञ्चा० ६ विव० ।

गुणपडिवस—गुणप्रतिपन्न—त्रि० । गुणाः मूलोत्तररूपास्तान्प्रतिपन्नः, गुणैः प्रतिपन्नः पात्रमिति कृत्वा गुणैराश्रितो गुणप्रतिपन्नः । मूलोत्तरगुणसम्पन्ने, नं० ।

गुणपुरिस—गुणपुरुष—पुं० । व्यायामविक्रमधैर्यसत्त्वादिप्रधाने पुरुषे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ।

गुणपेहि (ण्)—गुणप्रेक्षिन्—पुं० । गुणान् अप्रमादादीन्प्रेक्षते तच्छीलश्च यः । अप्रमत्तादौ, दश० ५ अ० २ उ० । यो यस्य यावन्तं गुणं पश्यति तस्य तमेव प्रेक्षते पुरस्करोति, दोषेषु सत्स्वप्युदास्ते । तस्मिन्, कर्म० २ कर्म० ।

गुणवल्लभ—गुणवल्लभ—पुं० । प्राकृतभाषानिबद्धनेमिनाथचरित्रकाव्यकृत्याचार्ये, जै० इ० ।

गुणमंत—गुणवत् -त्रि० । पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणोपेते, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

गुणमहंत—गुणमहत्—त्रि० । गुणैर्महति, आव० २ अ० ।

गुणरयण—गुणरत्न—त्रि० । गुणा एव रत्नानि यस्याऽसौ गुणरत्नः । रत्नस्वरूपगुणभृते, आ० म० प्र० । सोमतिलकसूरेस्तृतीये शिष्ये, पुं० । ग० ४ अधि० । तपागच्छीयदेवसुन्दरसूरिशिष्ये, स च विक्रमसंवत् १४५६ मिते विद्यमान आसीत्, षड्दर्शनसमुच्चयटीकां क्रियारत्नसमुच्चयनामानं च ग्रन्थं व्यरीरचत् । जै० इ० ।

गुणरयणणिहि—गुणरत्ननिधि—पुं० । ज्ञानादिमाणिक्यनिधाने, पञ्चा० ७ विव० ।

गुणरयणवियरण—गुणरत्नवितरण—न० । सम्यक्त्वबीजसम्यग्दर्शनादिलक्षणगुणमाणिक्यविश्राणने, पञ्चा० ७ विव० ।

गुणरयणसंवच्छर—गुणरत्नसंवत्सर—न० । तपोभेदे, भ० ।

इच्छामि णं भंते ! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाए समाणे गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए । अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह । तए णं से खंदए अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे० जाव नमंसित्ता गुणरयणं संवच्छरं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तं जहा—पढमं मासं चउत्थं चउत्थेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य, दोच्चं मासं छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेण य, एवं तच्चं मासं अट्ठमं अट्ठमेणं, चउत्थं मासं दसमं दसमेणं, पंचमं मासं बारसमं बारसमेणं, छट्ठं मासं चोद्दसमं चोद्दसमेणं, सत्तमं मासं सोलसमं सोलसमेणं, अट्ठमं मासं अट्ठारसमं अट्ठारसमेणं, नवमं मासं वीसइमं वीसइमेणं, दसमं मासं बावीसइमं बावीसइमेणं, एक्कारसमं मासं चउवीसइमं चउवीसइमेणं, बारसमं मासं छव्वीसइमं छव्वीसइमेणं, तेरसमं मासं अट्ठावीसइमं अट्ठावीसइमेणं, चोद्दसमं मासं तीसइमं तीसइमेणं, पन्नरसमं मासं बत्तीसइमं बत्तीसइमेणं, सोलसमं मासं चउत्तीसइमं चउत्तीसइमेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे रत्तिं वीरासणेणं अवाउडेणं ।

गुणानां निर्जराविशेषाणां रचनं करणं संवत्सरेण सत्रिभागवर्षेण यस्मिँस्तपसि तद्गुणरचनसंवत्सरम् । गुणा एव वा रत्नानि यत्र स तथा गुणरत्नः संवत्सरो यत्र तत् गुणरत्नसंवत्सरं तपः, इह च त्रयोदश मासाः सप्तदशदिनाधिकास्तपःकालः, त्रिसप्ततिश्च दिनानि पारणककाल इति । एवं चायम्—

" पण्णरस वीस चउवी- स चेव चउवीस पण्णवीसा य ।
चउवीस एक्कवीसा, चउवीसा सत्तवीसा य ॥ १ ॥
तीसा तेत्तीसा वि य, चउवीस छवीस अट्ठवीसा य ।
तीसा बत्तीसा वि य, सोलसमासेसु तवदिवसा ॥ २ ॥
पण्णरस दसऽट्ठ छ पं-च चउर पंचसु य तिण्णि तिण्णि त्ति ।
पंचसु दो दो य तहा, सोलस मासेसु पारणगा " ॥ ३ ॥

इह च यत्र मासे अष्टमादितपसो यावन्ति दिनानि न पूर्यन्ते, तावन्त्यग्रेतनमासादाकृष्य पूरणीयानि अधिकानि चाग्रेतनमासे क्षेप्तव्यानि । (चउत्थं चउत्थेणं ति) चतुर्थं भक्तं यावद्भक्तं त्यज्यते यत्र तच्चतुर्थम्, इयञ्चोपवासस्य संज्ञा, एवं षष्ठादिकमुपवासद्वयादेरिति । (अणिक्खित्तेणं ति) अविश्रान्तेन (दिय त्ति) दिवा, दिवस इत्यर्थः । (ठाणुक्कुडुए त्ति) स्थानमासनमुत्कुटुकमाधारे पुतालगनरूपं यस्याऽसौ स्थानोत्कुटुकः । (वीरासणेणं ति) सिंहासनोपविष्टस्य भून्यस्तपादस्यापनीतसिंहासनस्येव यदवस्थानं तद्वीरासनं, तेन । (अवाउडेण य त्ति) प्रावरणाभावेन च । भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० ।

गुणरयणसायर—गुणरत्नसागर—पुं० । गुणा महाव्रतादयस्त एव रत्नानि विशिष्टफलहेतुत्वात् सर्ववस्तुसारत्वाच्च गुणरत्नानि, तान्येव बहुत्वात् सागर इव सागरः समुद्रो गुणरत्नसागरः । पा० । रत्नकल्पप्रभूतगुणे, " जे अ इमं गुणरयणसायरमविराहिऊण तिण्णि संसारा " मूलगुणात्मनि, नि० चू० १ उ० । मूलगुणादिसंपन्ने च । प्रश्न० ५ संव० द्वार ।

गुणरहिय—गुणरहित—त्रि० । गुणविकले सदोषे, दर्श० ।

गुणराग—गुणराग—पुं० । वन्दनीयार्हदादिगतार्हत्त्वभगवत्त्वादिगुणबहुमाने, पञ्चा० ६ विव० ।

गुणरागि—गुणरागिन्—पुं० । गुणेषु गाम्भीर्यस्थैर्यप्रमुखेषु रज्यतीत्येवं शीलो गुणरागी । प्रव० २३८ द्वार । गुणिपक्षपातकृति दशगुणविशिष्टे श्रावके, स हि गुणपक्षपातित्वादेव सगुणान् बहु मन्यते निर्गुणांश्चोपेक्षते । ध० १ अधि० । पञ्चा० ।

इदानीं गुणरागिगुणमाह—

गुणरागी गुणवंते, बहु मन्नइ निग्गुणे उवेहेइ ।
गुणसंगहे पवत्तइ, संपत्तगुणं न मइलेइ ॥ १६ ॥

गुणेषु धार्मिकलोकभाविषु रज्यतीत्येवं शीलो गुणरागी, गुणभाजो यतिश्रावकादीन् बहु मन्यते मनःप्रीतिभाजनं करोति; यथा—अहो ! धन्या एते, सुलब्धमेतेषां मनुष्यजन्मेत्यादि । तर्हि निर्गुणान्निन्दतीत्याह—न, यथा—देवदत्तो दक्षिणेन चक्षुषा पश्यती-

त्युक्ते चामेन न पश्यतीत्यवसीयते। तथा चाहुरेके-" शत्रोरपि गुणा ग्राह्याः, दोषा वाच्या गुरोरपीति।" न चैतदेवं धार्मिकोचितमित्याह-निर्गुणानुपेक्षते असंक्लिष्टचित्ततया तेषामपि निन्दां न करोति। यतः स एवमालोचयति-

" सन्तोऽप्यसन्तोऽपि परस्य दोषाः,
नोक्ताः श्रुता वा गुणमावहन्ति।
वैराणि वक्तुः परिवर्द्धयन्ति,
श्रोतुश्च तन्वन्ति परां कुबुद्धिम् " ॥ १ ॥

तथा-

"कालम्मि अणाईए, अणाइदोसेहि वासिए जीवे।
जं पाविया गुणो वि हु, तं मन्नह भो महच्छरियं ॥ २ ॥
भूरिगुणो विरल च्चिय, एक्कगुणो वि हु जणो न सव्वत्थ।
निद्दोसाण वि भद्दं, पसंसिमो थोवदोसे वि" ॥ ३ ॥

इत्यादिसंसारस्वरूपमालोचयन्नसौ निर्गुणानपि न निन्दति, किं तूपेक्षते, मध्यस्थभावेमास्त इत्यर्थः। तथा गुणानां संग्रहे समुपादाने प्रवर्तते यतते, संप्राप्तमङ्गीकृतं सम्यग्दर्शनचिरत्यादिकं न मलिनयति सातिचारं करोति, पुरन्दरराजवत्। ध० र० ॥

गुणवई-गुणवती-स्त्री०। जम्बूद्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कलावतीविजये पुण्डरीकिणीनगरे वज्रसेनचक्रिणो राश्याम्, आ० म० प्र०। आ० चू०।

गुणवंत-गुणवत्-पुं०। पञ्चभिर्गुणैर्विशिष्टे श्रावके, ध० र०।

अधुना तृतीयभावश्रावकलक्षणं गुणवत्स्वरूपं निरूपयिषुः संबन्धगाथामाह-

जइ वि गुणा बहुरूवा, तहा वि पंचहि गुणेहिँ गुणवंतो।
इह मुणिवरेहिँ भणिओ, सरूवमेसिं निसामेहि ॥४१॥

यद्यपीत्यभ्युपगमे, अभ्युपगतमिदमस्माभिर्यदुत-गुणा बहुरूपा बहुप्रकारा औदार्यधैर्यगाम्भीर्यप्रियंवदत्वादयः, तथापि पञ्चभिर्गुणैर्गुणवानिह भावश्रावकविचारे मुनिवरैर्गीतार्थसूरिभिर्भणित उक्तः, स्वरूपं स्वतत्त्वमेषां गुणानां निशामयाऽऽकर्णयेति शिष्यप्रोत्साहनाय क्रियापदम्, प्रमादी शिष्यः प्रोत्साह्य श्रावणीय इति ज्ञापनार्थमिति ॥ ४१ ॥

स्वरूपमेवाऽऽह-

सज्झाए करणम्मि य, विणयम्मि य निच्चमेव उज्जुत्तो ॥
सव्वत्थ णऽभिनिवेसो, वहइ रुई सुट्ठु जिणवयणे ॥४२॥

शोभनमध्ययनं स्वेनाऽऽत्मना वाऽध्यायः, स्वध्यायः, स्वाध्यायो वा, तस्मिन्नित्यमुद्युक्तः इति योगः (१) तथा करणेऽनुष्ठाने (२) विनये गुर्वाद्यभ्युत्थानादिरूपे नित्यं सदैवोद्युक्तः प्रयत्नवान् भवतीति प्रत्येकमभिसंबन्धादिति गुणत्रयम् (३) तथा सर्वत्र सर्वप्रयोजनेष्वैहिकामुष्मिकेषु न विद्यतेऽभिनिवेशः कदाग्रहो यस्य सोऽनभिनिवेशः प्रज्ञापनीयो भवतीति चतुर्थो गुणः, तथा वहति धारयति रुचिमिच्छां, श्रद्धानमित्यर्थः। सुष्ठु बाढं जिनवचने पारगतगदित आगमे इति। ध० र०।

गुणवंतपारतंत-गुणवत्पारतन्त्र्य-न०। विद्यमानसम्यग्ज्ञानक्रियागुणानामधीनत्वे, द्वा० ११ अष्ट०।

गुणवज्जिय-गुणवर्जित-त्रि०। " जघयां यः "। ८। ४। २६२। इति मागध्यां जस्य यः। गुणरहिते, प्रा० ४ पाद।

गुणविजय-गुणविजय-पुं०। स्वनामख्याते जयसोमसूरिशिष्ये, येन खण्डप्रशस्तिदमयन्तीकथारघुवंशटीका वैराग्यशतकटीकासिंहासनद्वात्रिंशिकादयो ग्रन्था: कृताः, अयमाचार्यः विक्रम संवत् १५६० मित आसीत्। जै० इ०।

गुणविसेसासय-गुणविशेषाश्रय-पुं०। द्रव्यगुणकर्मसमुदाये, "व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिरिति"। अस्यार्थो वार्तिककारमतेन-विशिष्यत इति विशेषः, गुणेभ्यो विशेषो गुणविशेषः, कर्माभिधीयते। द्वितीयश्चात्र गुणविशेषशब्द एकशेषं कृत्वा निर्दिष्टः, तेन गुणपदार्थो गृह्यते। गुणाश्च ते विशेषाश्च गुणविशेषाः, विशेषग्रहणमाकृतिनिरासार्थं, तथा ह्याकृतिः संयोगविशेषस्वभावा, संयोगश्च गुणपदार्थान्तर्गतः। ततश्चासति विशेषग्रहणे आकृतेरपि ग्रहणं स्यात्। न च तस्या व्यक्तावन्तर्भाव इष्यते; पृथक्कृत्वशब्देन तस्या उपादानात्। आश्रयशब्देन द्रव्यमभिधीयते। तेषां गुणविशेषाणामाश्रयस्तदाश्रयो, द्रव्यमित्यर्थः। सूत्रे नच्छन्दलोपं कृत्वा निर्देशः कृतः। एवं च विग्रहः कर्त्तव्यः-गुणविशेषाश्च गुणविशेषाश्चेति गुणविशेषाः, तदाश्रयश्चेति गुणविशेषाश्रयः, समाहारद्वन्द्वश्चायम्। "लोकाश्रयत्वात् लिङ्गस्येति" नपुंसकलिङ्गनिर्देशः। तेनायमर्थो भवति-योऽयं गुणविशेषाश्रयः सा व्यक्तिश्चोच्यते, मूर्त्तिश्चेति। तत्र यदा द्रव्ये मूर्त्तिशब्दस्तदाऽधिकरणसाधनो द्रष्टव्यः-मूर्च्छन्त्यस्मिन्नवयवा इति मूर्त्तिः। यदा तु रूपादिषु तदा कर्तृसाधनः -मूर्च्छन्ति द्रव्ये समवयन्तीति रूपादयो मूर्त्तिः। व्यक्तिशब्दस्तु द्रव्ये कर्मसाधनो, रूपादिषु करणसाधनः। भाष्यकारमतेन तु यथाश्रुति सूत्रार्थः। गुणविशेषाणामाश्रयो द्रव्यमेव व्यक्तिर्मूर्त्तिश्चेति तस्येष्टम्। यथोक्तम्-"गुणविशेषाणां रूपरसगन्धस्पर्शानां गुरुत्व-द्रवत्व-घनत्व-संस्काराणामव्यापिनश्च परिमाणविशेषस्याऽऽश्रयो यथासंभवं तद्द्रव्यं मूर्त्तिर्मूर्च्छितावयत्वादिति"। आकृतिशब्देन प्राण्यऽवयवानां पाण्यादीनां, तदवयवानां चाङ्गुल्यादीनां संयोगोऽभिधीयते। सम० १ काण्ड।

गुणवुड्ढि-गुणवृद्धि-स्त्री०। कर्मनिर्जरायाम्, व्य० १० उ०। अनुपमानन्दरसदानदक्षेक्षुयष्टिपुष्टिप्राये स्वगतज्ञानादिगुणवर्द्धने, पञ्चा० १८ विव० ॥

गुणवेतण्ह-गुणवैतृष्ण्य-न०। विषयवैराग्ये, यदाहुर्योगाचार्याः-तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। ध० ४ अधि०।

गुणव्वय-गुणव्रत-न०। अणुव्रतानां गुणायोपकाराय व्रतानि। ध० र०। श्रावकधर्मतरोरूपचयलक्षणगुणनिबन्धनत्वेनात्मसत्ताविप्रतिपित्सुश्रावकव्रतेषु, पञ्चा० १ विव०। अणुव्रतानां परिपालनाय भावनाभूतानि गुणव्रतान्यभिधीयन्ते-तानि पुनस्त्रीणि भवन्ति। तद्यथा-दिक्परिमाणं, भोगोपभोगव्रतम्, अनर्थदण्डविरमणमिति। २७६। आ०। पञ्चा०। भ०। आव०। आ० चू०। ध०। [एषां त्रयाणां व्याख्या स्वस्वस्थाने] [अणुव्रतस्वरूपम् 'अणुव्वय' शब्दे ४१६ पृष्ठे गतम्]

गुणसंकम-गुणसङ्क्रम-पुं०। सङ्क्रमभेदे, पं० सं० ५ द्वार।

इदानीं गुणसंक्रमस्य लक्षणमाह-

गुणसंकमो इ बज्झं-तऽसुभप्पगईणऽपुव्वकरणाइ ॥१७५॥

अपूर्वकरणादयोऽपूर्वकरणप्रभृतयो अबध्यमानानामशुभप्रकृतीनां संबन्धि कर्मदलिकं प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया बध्यमानासु प्रकृतिषु यत् प्रक्षिपन्ति स गुणसंक्रमः। गुणेन प्रतिसमयमसंख्येयलक्षणेन गुणकारेण संक्रमो गुणसंक्रमः।

तथाहि-मिथ्यात्वानयनारकायुर्नर्जानां मिथ्यादृष्टियोग्यानां अयोदशानामनन्तानुबन्धितिर्यगायुरुद्योतवर्जानां च सास्वादनयोग्यानामेकोनविंशतिप्रकृतीनां यतो मिथ्यात्वमनन्तानुबन्धिनश्चापूर्वकरणादारत एवाविरतसम्यग्दृष्ट्यादयश्च क्षपयन्ति, आतपोद्योते च शुभे अशुभप्रकृतीनां च गुणसंक्रमः, आयुषां च परप्रकृतौ न संक्रमः, ततो मिथ्यात्वादिप्रकृतीनामिह वर्जनं, तथा अप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणकषायाष्टकास्थिराशुभाशुभयशःकीर्त्तिशोकारत्यसातवेदनीयानां सर्वसंख्यया षट्चत्वारिंशत्प्रकृतीनाम् , अशुभानां बध्यमानानामपूर्वकरणादारभ्य गुणसंक्रमो भवति, निद्राद्विकोपघाताशुभवर्णादिनवकहास्यरतिजुगुप्सानां त्वपूर्वकरणे स्वस्वबन्धव्यवच्छेदादारभ्य गुणसंक्रमो वेदितव्यः । अपरोऽर्थः-अपूर्वकरणाद्योऽपूर्वकरणसंज्ञाकरणवर्त्तिप्रभृतयोऽशुभप्रकृतीनां मध्यमानां दलिकमसंख्येयगुणनया श्रेण्या बध्यमानासु प्रकृतिषु यत् प्रक्षिप्यन्ते स गुणसंक्रमः । तेन क्षपणकालेऽनन्तानुबन्धिमिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वानामप्यपूर्वकरणादारभ्य गुणसंक्रमः प्रवर्त्तते । तदेवमुक्तं गुणसंक्रमस्य लक्षणम् । क० प्र० ।

गुणसंपन्न–गुणसम्पन्न–त्रि० । गुणसहिते, उत्त० २७ अ० ।

गुणसंपिणद्ध–गुणसंपिनद्ध–त्रि० । गुणपरिवृते, प्रश्न० ४ संब० द्वार ।

गुणसमिद्ध–गुणसमृद्ध–त्रि० । ज्ञानादिगुणर्द्धिमत्याचार्यादौ, पञ्चा० २ विव० ।

गुणसमिय–गुणसमित–त्रि० । गुणयुक्ते अप्रमत्तयतौ, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

गुणसमुदाय–गुणसमुदाय–पुं० । अनेकप्राणिस्थज्ञानादिगुणसमूहे, पञ्चा० ८ विव० ।

गुणसयकलिय–गुणशतकलित–त्रि० । औदार्य्यस्थैर्य्याद्यनेकगुणोपेते, ग० १ अधि० । आचा० ।

गुणसयसहस्सकलिय–गुणशतसहस्रकलित–त्रि० । अष्टादशशीलाङ्गसहस्रे अष्टादशशीलाङ्गसहस्रयुक्ते, "गुणसयसहस्सकलियं,गुणुत्तरं च सा अहिलसंताणं।" "गुणाणं सयं गुणसयं, गुणसयाणं सहस्सा,छंदोभंगभया सकारस्स हस्सता । ते य अट्ठारससीलंगसहस्सा, तेहिं कलियं जुत्तं, संखियं वा, किं तं ?, चारित्तं," नि० चू० ६ उ० ।

गुणसयागर–गुणशताकर–पुं० । गुणशतानामनेकेषां गुणनामाकरो निधानं गुणशताकरः। प्रभूतगुणाश्रये संघे।व्य० २ उ० । वृ० ।

गुणसागर–गुणसागर–पुं० । गुणसमुद्रे, "गुरुणा गुणसागराणं मेहावी" दश० ९ अ० ३ उ० । गंजपुरनगरवासिरत्नसञ्चितश्रेष्ठिपुत्रे, स च नवपरिणीत एव वधूर्विहाय धर्मध्यानं ध्यायन् केवलमवाप, पश्चात्ता अपि असेधिषुः । ध० र० । सागरचन्द्रशिष्ये सिद्धसेनदिवाकरकृतकल्याणमन्दिरस्तोत्रोपरि टीकाकारके मुनौ, जै० इ० ॥

गुणसागरमुणी–गुणसागरमुनि–पुं० । स्वनामख्याते मुनौ,यो हि पुरोहितपुत्रेण दत्तेन पृष्टः-तवैतस्य चैत्यागमने दोषो न वेति । ती० ४४ कल्प० ।

गुणसायर–गुणसागर–पुं० । 'गुणसागर' शब्दार्थे, दश० ९ अ० ३ उ० ।

गुणसिद्धि–गुणसिद्धि–स्त्री० । शब्दस्य यौगिकार्थप्रदर्शने, दश० १ अ० ।

गुणसिलय–गुणशिलक–न० । राजगृहनगरचैत्ये,अन्त० ७ वर्ग । "ते णं काले णं ते णं समए णं रायगिहे णामं णयरे होत्था।वण्णओ-तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए गुणसिलए णामं चेइए होत्था।" भ० १ श० १ उ० । नि० चू० । विशे० । आ० चू० । अनु० । उत्त० ।

गुणसुंदर–गुणसुन्दर–पुं० । सुहस्तिश्यामार्य्यान्तराले जाते दशपूर्वीणि स्थविरे, कल्प० १ क्षण ।

गुणसुट्ठियप्प–गुणसुस्थितात्मन्–त्रि० । संग्रहोपग्रहादिषु सुष्ठु भावसारं स्थित आत्मा येषां ते तथा । सङ्ग्रहोपग्रहकुशलेषु, दशा० ६ अ० १ उ० ।

गुणसेढि–गुणश्रेणि–स्त्री० । उपरितनस्थितेर्विशुद्धिवशादपवर्तनाकरणेऽवतारितस्य दलिकस्यान्तर्मुहूर्त्तप्रमाणमुदयक्षणादुपरि क्षिप्रतरक्षपणाय प्रतिक्षणमसंख्येयगुणवृद्ध्या विरचने, कर्म० २ कर्म० । दर्श० । पं० सं० । स्थापना-
अधुना श्रेणिगुणस्वरूपमाह-

गुणसेढीनिक्खेवो, समये समये असंखगुणणाए ।
अद्धादुगाइरित्तो, सेसे सेसे य निक्खेवो ॥ ३३० ॥

यत् स्थितिखण्डकं घातयन्ति तन्मध्यात् दलिकं गृहीत्वा उदयसमयादारभ्य प्रतिसमयमसंख्येयगुणतया परिक्षिपति। तद्यथा-उदयसमये स्तोकं,द्वितीयसमये असंख्येयगुणं, ततोऽपि तृतीयसमये "असंखगुणणाए अद्धा दुगाइरित्तो" एवं तावद्वाच्यं यावदन्तर्मुहूर्त्तचरमसमयं, तच्चान्तर्मुहूर्त्तं पूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालात् मनागपि रिक्तं वेदितव्यम् । अक्षरयोजना त्वियम्—गुणश्रेण्यां निक्षेपः समये समये असंख्येयगुणतया पूर्वमपूर्वसमयापेक्षया उत्तरोत्तरसमये वृद्ध्यात्मकः । सोऽपि च निक्षेपोऽद्धाद्विकातिरिक्तः-अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणकालाभ्यामभ्यधिकः । एष प्रथमसमये गृहीतदलिकनिक्षेपविधिः । एवं द्वितीयादिसमयगृहीतानामपि दलिकानां निक्षेपविधिर्द्रष्टव्यः । अन्यच्च-गुणश्रेणिरचनाप्रथमसमयदलिकं यत्र गृह्यते तत् स्तोकं, द्वितीयसमये असंख्येयगुणं, ततोऽपि तृतीयसमये असंख्येयगुणम् । एवं तावद्वाच्यं यावद् गुणश्रेणिदलिकनिक्षेपः शेषे शेषे भवति; उपरि च न वर्द्धते ॥ ३३० ॥

गुणसेण–गुणसेन–पुं० । येनाग्निशर्माणमुपहसता नवमभवानुषक्ति वैरं वर्द्धितमिति समरादित्यचरित्रादवसेयम् । प्राक्तनीये नवमभवे समरादित्यजीवे, आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० । गुणालयनगरस्थसागरदत्तश्रेष्ठिनो द्वितीये पुत्रे, पिं० ।

गुणसेलक–गुणशैलक–न० । राजगृहस्थचैत्ये, आ० क० ।

गुणसेहर–गुणशेखर–पुं० । सागरदत्तश्रेष्ठिपुत्रे, पिं० । चन्द्रसूरिशिष्ये सोमतिलकदेवेन्द्रसूरिणोर्गुरौ, अयमाचार्यः विक्रमसंवत् १४१० वर्षे विद्यमान आसीत । जै० इ० ।

गुणसोभग्गगणि–गुणसौभाग्यगणिन्–पुं० । स्वनामख्याते गणिनि, यतः प्राप्ततन्दुलवैचारिकज्ञानशिन धनमालाख्येन तन्दुलवैचारिकप्रकीर्णकावचूरिः सम्पूर्णा । तं० ।

गुणागर–गुणाकर–पुं० । गुणसमुद्रे, स्वनामख्याते आचार्ये. अयमाचार्यः विक्रमसंवत ११६० मित आसीत,येन नेमिचन्द्रसूरिकृ-

ताऽऽख्यानमणिकोशोपरि टीकाकरणे आम्रदेवसूरिणे साहाय्यं दत्तम । द्वितीयोऽप्येतन्नामा विक्रमसंवत् १२९६ मित विद्यमान आसीत् । जै० इ० ।

गुणाणुराइत्तण–गुणानुरागित्व–न० । गुणवत्प्रीतौ, "गुणाणुरागित्तणं धरसु" जी० ६ अधि० ।

गुणाणुराग–गुणानुराग–पुं० । गुणविषयकरागे भावश्रावकलिङ्गे, ध० र० ।

षष्ठं गुणानुरागमाह—

जायइ गुणेसु रागो, सुद्धचरित्तस्स नियमओ पवरो ।
परिहरइ तओ दोसे, गुणगणमालिन्नसंजणए ॥ १२० ॥

जायते संपद्यते गुणेषु—
" वय समण धम्म संजम, वेयावच्चं च बंभ गुत्तीओ ।
नाणाइतियं तव को–हनिग्गहाई य चरणमेयं ॥ १ ॥
पिंडविसोही समिई, भावण पडिमा उ इंदियनिरोहो ।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करणं तु " ॥ २ ॥

इत्यागमप्ररूपितेषु मूलगुणोत्तरगुणसंज्ञितेषु रागः प्रतिबन्धः शुद्धचारित्रस्य निष्कलङ्कसंयमस्य नियमतोऽवश्यंभावेन प्रवरः प्रधानो,न मिथ्या इति भावः परिहरति वर्जयति, ततस्तस्माद्गुणानुरागाद्दोषान् दुष्टव्यापारान्, किंविशिष्टान् ?, गुणगणमालिन्यसंजनकान् ज्ञानादीनामशुद्धिहेतून् भावसाधुरिति ॥१२०॥

गुणानुरागस्यैव लिङ्गमाह–

गुणलेसं पि पसंसइ, गुरुगुणबुद्धीइ परगयं एसो ।
दोसलवेण वि नियय, गुणनिवहं निग्गुणं गणइ ॥१२१॥

गुणलेशमपि,आस्तां महीयांसं गुणमित्यपेरर्थः प्रशंसति श्लाघते परगतमन्यसत्कमेष भावसाधुः, उत्तमप्रकृतित्वान्महतोऽपि दोषानुत्सृज्य स्वल्पमपि परगतं गुणं पश्यति । कुथितकृष्णसारमेयशरीरे सितदन्तपङ्क्तिं पुरुषोत्तमवत् । [गुणाऽनुरागविषये पुरुषोत्तमचरित्रम् ' पुरिसोत्तम ' शब्दे उदाहरिष्यते] तथा–दोषलवेनाप्यल्पप्रमादस्खलितेनापि निजकमात्मीयं गुणनिवहं गुणकलापं निर्गुणमसारं गणयति कल्पयति–धिग्मां प्रमादशीलमिति भावनया प्रकृतो भावयति, कर्णस्थापितविस्मृतशुण्ठीखण्डरूपश्चिमदशपूर्वधरश्रीवज्रस्वामिवदिति । [श्रीवज्रस्वामिचरित्रं सुप्रतीतत्वात् नेह प्रतन्यते] ध० र० ।

गुणानुरागस्यैव लिङ्गान्तरमाह–

पालइ संपत्तगुणं, गुणड्ढसंगे पमोयमुव्वहइ ।
उज्जमइ भावसारं, गुरुतरगुणरयणलाभत्थी ॥ १२२ ॥

पालयति रक्षति वर्द्धयति च जननीव प्रियपुत्रं संप्राप्तं सम्यक्कर्मक्षयोपशमोपलब्धं गुणं ज्ञानदर्शनचारित्रादिरूपं, तथा गुणैराढ्यानां सङ्गे मीलके. चिरप्रोषितस्निग्धबन्धुसंप्रयोग इव प्रमोदमानन्दमुत्प्राबल्येन वहति प्राप्नोति । तद्यथा—
"असतां सङ्गपङ्केन, यन्मनो मलिनीकृतम ।
तन्मेऽद्य निर्मलीभूतं, साधुसंबन्धवारिणा ॥ १ ॥
पूर्वपुण्यतरोरद्य, फलं प्राप्तं मयाऽनघम ।
सङ्गेनासङ्गचित्तानां, साधूनां गुणधारिणाम " ॥ २ ॥

तथा गुणानुरागादेवोद्यच्छति प्रयतते भावसारं सद्भावसुन्दरं यथा भवति ध्यानाध्ययनतपःप्रभृतिकृत्येष्विति गम्यते । किमिति ?, अत आह–गुरुतराणि क्षायिकभावभावित्वाद् यानि गुणरत्नानि क्षायिकज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषां यो लाभस्तदर्थी तदभिलाषवान् । तथाहि–भवत्येवोद्यमवतामपूर्वकरणक्षपकश्रेणिक्रमेण केवलज्ञानादिसंप्राप्तिः–सुप्रतीतमेतदिति ॥१२२॥

गुणानुरागस्यैव प्रकारान्तरेण लक्षणमाह–

सयणु त्ति व सीसु त्ति व,उवगारि त्ति व गणिव्वउ व्व त्ति ॥
पडिबंधस्स न हेऊ, नियमा एयस्स गुणहीणो ॥१२३॥

स्वकीयो जनः स्वजनः,इतिशब्दस्तद्भेदसूचको,वाशब्दः समुच्चये,ह्रस्वत्वं तु प्राकृतशैल्या । शिष्यो विनेयः, 'इति–वा' शब्दौ पूर्ववत् । उपकारी भक्तपानदानादिना पूर्वमुपकृतवान्, 'इतिवा' शब्दौ प्राग्वत् । (गणिव्वउ व्व त्ति) एकगच्छवासी, 'इतिवा'शब्दौ पूर्ववदेव, एतेषामेकैकोऽपि–प्रायः प्रतिबन्धकारणं भवत्येतस्य पुनर्गुणानुरागिणो नियमान्निश्चयेन, न नैव, हेतुर्निमित्तमेकोऽपि भवत्येतेषाम् । किंविशिष्टः सन्निति ?, आह–गुणहीनो निर्गुणः । "सीसो सज्झिलओ वा, गणिच्चओ वा न सोग्गइं नेइ । जे तत्थ नाणदंसण–चरणा ते सोग्गइं जाओ" ॥१॥ [इति कृत्वा] ॥

अथ चारित्रिणां तेषां स्वजनादीनां किं विधेयमिति आह–

करुणावसेण नवरं, अणुसासइ तं पि सुद्धमग्गम्मि ।
अच्चंताजोग्गं पुण, अरत्तदुट्ठो उवेहेइ ॥ १२४ ॥

करुणा परदुःखनिवारणबुद्धिः । उक्तं च–"परहितचिन्ता मैत्री, परदुःखनिवारिणी तथा करुणा ॥ परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा " ॥ १ ॥ तद्वशेन तद्रसिकतया, नवरं केवलं, रागद्वेषपरिहारेणानुशास्ति शिक्षयति, तमपि स्वजनादिकम्, अपिशब्दात्तदितरमपि, क्वेति ?, आह–शुद्धमार्गे यथावस्थितमोक्षाध्वविषये । तद्यथा–
"किं नारकातिर्यङ्नर–विबुधगतिविचित्रयोनिभेदेषु ॥
बत संसरन्न सततं, निर्विण्णो दुःखनरयेषु ॥ १ ॥
येन प्रमादमुद्धत–माश्रित्य महाधिहेतुमस्खलितम ।
संत्यज्य धर्मचित्तं, रतस्त्वमार्येतराचरणे ? ॥ २ ॥
यत्र प्रयान्ति जीवाः, स्वर्गे यत्र प्रयान्ति विनिपातम ।
तत्र निमित्तमनार्यः, प्रमाद इति निश्चितमिदं मे ॥ ३ ॥
किञ्च–
केवलं रिपुरनादिमानयं, सर्वदैव सहचारितामितः ।
यः प्रमाद इति विश्रुतः परा–मस्य विस्तशठतामकुण्ठिताम ॥४॥
यत्करोति विकथाः प्रथावती–र्यत् खलेषु विषयेषु हृष्यति ।
सुप्तमत्त इव यद्विचेष्टते, यन्न वेत्ति गुणदोषयोर्भिदाम् ॥ ५ ॥
क्रुध्यति स्वहितदेशनेऽपि यत्, यच्च सीदति हितं विदन्नपि ।
लोक एष निखिलं दुरात्मन–स्तत्प्रमादकुरिपोर्विजृम्भितम् ॥६॥
इत्यवेत्य परिपोष्य पौरुषं, दुर्जयोऽपि रिपुरेष जीयताम् ।
यत्सुखाय न भवन्त्युपेक्षिताः,व्याधयश्च रिपवश्च जातुचित्" ७॥

इत्यादिविविधवाचोयुक्तिभिरुत्पादितसंवेगं तं शुद्धधर्मे प्रवर्तयति । प्रज्ञापनीयश्चेदसौ स्यात्. अत्यन्तायोग्यं बाढमप्रज्ञापनीयम, पुनस्तमरक्तद्विष्टो रागद्वेषरहित उपेक्षते अवधीरयति, " उपेक्षा निर्गुणेष्विति " वाक्यमनुसृत्येति गाथार्थः ।१२४।

गुणानुरागस्यैव फलमाह–

उत्तमगुणाणुराया, कालाईदोसओ अपत्ता वि ।
गुणसंपया परत्थ वि, न दुल्लहा होइ भव्वाणं ॥१२५॥

उत्तमा उत्कृष्टा गुणा ज्ञानादयः, तेष्वनुरागः प्रीतिप्रकर्षः,तस्मा-

हेतोः कालो दुःषमारूपः, आदिशब्दात् संहननादिपरिग्रहः,त एव दोषा दूषणानि, विघ्नकारित्वात्, ततोऽप्राप्ताऽप्यास्तां ताव-त्प्राप्तेत्यपेरर्थः । गुणसंपत्परिपूर्णधर्मसामग्री,वर्तमानजन्मनीति गम्यते । परत्र भाविजन्मे, अपिः संभावने, संभवति एतजैव दु-र्लभा दुरापा भवति, भव्यानां मुक्तिगमनयोग्यानामिति । उक्तं गुणानुरागरूपं षष्ठं भावसाधोर्लिङ्गम् । ध० र० ।

गुणासाय–गुणास्वाद–पुं० । गुणेष्वास्वादो येषां ते गुणास्वादाः। विषयास्वादलोलुपेषु, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० ।

गुणाहिय–गुणाऽधिक–त्रि० । गुणैः स्वस्मिन् स्थितैर्विनयज्ञा-नादिभिरधिके, " गुणाहिए वंदणए, डउमत्थगुणा गुणे अयाण-न्तो । " उत्त० ३२ अ० ।

गुणि (ण्)–गुणिन्–त्रि० । गुणवति,ज्ञा० १२ ह्रा० । "शूरे त्या-गिनि विदुषि च, वसति जनः स च जनाद्गुणी भवति ॥ गुणव-ति धनं धनाच्छ्रीः, श्रीमत्या जायते राज्यम् " ॥ १ ॥ आ० म० द्वि० । आ० चू० ।

गुणिय–गुणित–न० । बहुशः परावर्तिते, व्य० ३ उ० ।

गुणुत्तर–गुणोत्तर–न० । गुणश्चासावुत्तरं च गुणोत्तरम्,अथवाऽन्ये पि गुणाः क्षान्तिक्षमादयः, तेषामुत्तरं गुणोत्तरम् । सरागचा-रित्रे, नि० चू० १६ उ० ।

गुणुप्पायण–गुणोत्पादन–न० । रसविशेषोत्पादने, भ० ७ श० १ उ० ।

गुणोववेय–गुणोपपेत–त्रि० । गुणा रम्यतादयः, तैरुपपेतं युक्तं यत् तथा । औ० । रम्यतादिगुणोपपेते, रा० । विपा० । प्रशस्त-त्वेनोपपेते, दक्षत्वप्रियंवदत्वादिभिरुपपेते च । रा० ।

गुण्ठ–उद्–धूल–धा० । रजआदिना वेष्टनप्रकारे, " उद्धूलेर्गुण्ठः " । ८ । ४ । २९ । उद्धूलेर्ण्यन्तस्य गुण्ठ इत्यादेशः । ' गुण्ठइ ' प-क्षे–' उद्धूलइ ' उद्धूलयति । प्रा० ४ पाद ।

गुत्त–गुप्त–त्रि० । " कगटडतदपशषस ✕क ✕पामूर्ध्वं लुक् " । ८ । २ । ७७ । इति पलुक् । प्रा० २ पाद । मनोवाक्कायकर्मभिः-(आचा० १ श्रु० ३ अ० ३ उ०) असंयमस्थानेभ्यो रक्षिते, उत्त० १५ अ० । सूत्र० । गुप्तित्रयेण स्थिते, उत्त० १२ अ० । ध० । गुप्तयोऽनवद्यप्रतीचाराप्रतीचाररूपाः । प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । वृत्तिकरणादिभिः (कल्प० ६ क्षण) गुप्ता बहिः प्राकारावृताः । ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । प्रज्ञा० । पराऽप्रवेश्ये, जी० ३ प्रति० । स्वामिभेदकारिणि, रा० ।

गुत्तकुमार–गुप्तकुमार–पुं० । गौतमगोत्रकाश्यपकानन्तरजाते गौतम-गोत्रीये स्थविरे, कल्प० ८ क्षण ।

गुत्तदुवार–गुप्तद्वार–त्रि० । कपाटद्वयोपेतद्वारेषु, सू० १ उ० । भ० । केषाञ्चिद् द्वाराणां स्थगितत्वात् (रा०) अन्तर्गुप्ते, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । स्था० ।

गुत्तपाण–देशी–पितृभ्यो जलाञ्जलिदाने, दे० ना० २ वर्ग ।

गुत्तपालिय–गुप्तपालिक–पुं० । गुप्ता प्रावेश्या पालिः सेतुर्येषां ते गुप्तपालिकाः । जी० ३ प्रति० । पुराप्रवेश्यबन्धावृते, रा० ।

गुत्तबंभयारि–[ण्]–गुप्तब्रह्मचारिन्–पुं० । औ० । गुप्तं नवभि-र्ब्रह्मचर्यगुप्तिभी रक्षितं, ब्रह्म मैथुनविरमणं चरतीति विग्रहः । स्था० ९ ठा० । गुप्तं सत्याऽऽदिभिर्नवगुप्तिविराजितम्, एवंविधं ब्रह्मचर्यं चरतीति । कल्प० ६ क्षण । ज्ञा० । ब्रह्मगुप्तियुक्ते ब्रह्मचरणशीले, भ० २ श० १ उ० ।

गुत्तसूरि–गुप्तसूरि–पुं० । त्रैराशिकनिह्नवमतप्रवर्तकरोहगुप्तगुरौ आचार्ये, आ० क० ।

गुत्तायरिय–गुप्ताचार्य–पुं० । श्रीगुप्तसूरौ, यच्छिष्येण रोहगुप्तेन त्रैराशिकदृष्टिः समुत्पादिता । कल्प० ८ क्षण ।

गुत्ति–गुप्ति–स्त्री० । गोपनं गुप्तिः,स्त्रियां क्तिप्रत्ययः। आगन्तुक-कचवरनिरोधे, आ० म० प्र० । संवरे, विशे० । आत्मसंरक्षणे मुमुक्षोरशुभयोगनिग्रहे, ध० ३ अधि० । ज्ञा० । कल्प० । उत्त० । स्था० । रा० ।

त्रिस्रो गुप्तयः–

तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती । संजयमणुस्साणं तओ गुत्तीओ पण्णत्ताओ । तं जहा–मण–वय–काए ।

गोपनं गुप्तिर्मनःप्रभृतीनां कुशलानां प्रवर्त्तनमकुशलानां च निवर्त्तनमिति । आह च–"मणगुत्तिकाइयाओ, गुत्तीओ तिन्नि समयकेऊहिं, परियारेयररूवा, निद्दिट्ठाओ जओ भणियं"॥१॥ स्था० ३ ठा० १ उ० । तिस्रो गुप्तयः प्रतीचाराप्रतीचाररूपाः । व्य० १ उ० । नि० चू० । "समिओ नियमा गुत्तो, गुत्तो समत्त-णम्मि भइयव्वो । कुसलवयमुईरंतो, जं वयगुत्तो वि समिओ वि त्ति " ॥२॥ एताश्चतुर्विंशतिदण्डके चिन्त्यमाना मनुष्याणामेव, तत्रापि संयतानां, न तु नारकादीनामित्यत आह–" संजयम-णुस्साणं " इत्यादि कण्ठ्यम् । उक्ता गुप्तयः । स्था० ३ ठा० १ उ० । स० । आ० म० । प्रव० । ओघ० । सूत्र० । आव० । [मनोगुप्त्यादि-दृष्टान्ताः स्वस्वस्थाने] संलीनतायाम्, पा० । " गुत्ति-ट्ठिओ पमायं रुंभइ " यदा किल गुप्तिषु मनोगुप्त्यादिषु स्थितो भवति तदा यो गुप्तिप्रत्ययः प्रमादस्तं निरुणद्धि, तन्निरोधाच्च तत्प्रत्ययं कर्मापि न बध्नाति । बृ० ३ उ० । गुप्तिप्रमादे मि-थ्याचारप्रतिक्रमणम् । जीत० । ध० । अयमाशातनां [?]-सायाम्, प्रश्न० १ संव० द्वार । आत्यन्तिक्यां रक्षायाम्, बृ० १ उ० । ज्ञा० । रक्षाप्राकारे, स्था० ६ ठा० ।

गुत्तिंदिय–गुप्तेन्द्रिय–त्रि० । नवब्रह्मचर्यगुप्त्युपेतब्रह्मचारिणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स्वविषयेषु रागादिनेन्द्रियाणामप्रवृत्ते, स्था० ६ ठा० । उत्त० ।

गुत्तिकर–गुप्तिकर–गुप्तिकरणशीलो गुप्तिकरः । "हेतुतच्छीला-नुकूलेऽशब्दश्लोककलहगाथावैरचाटुसूत्रमन्त्रपदात् " ॥ ५ । १ । १०३ ॥ इति (हैम०) टप्रत्ययः । गुप्तिकारके, आ० म० प्र० । संयमोऽपूर्वकर्मकचवरागमननिरोधेनोपकुरुते, तत्स्व-भावत्वात्, गृहशोधने पवनप्रेरितकचवरागमननिरोधाय वाता-यनादिस्थगनवत् । आ० म० प्र० ॥ रक्षाकारके, नि० चू० २ उ० ।

गुत्तिगुत्त–गुप्तिगुप्त–त्रि० । ब्रह्मचर्यगुप्तियुक्ते, गुप्तिभिर्मनोगु-प्त्यादिभिर्वसत्यादिभिर्वा नवभिर्ब्रह्मचर्यगुप्तिभिर्युक्तं वा यत्त-था । प्रश्न० ४ संव० द्वार ।

गुत्तिभेय–गुप्तिभेद–त्रि० । गुप्तेर्वचनगुप्तेर्भेदो भङ्गो यस्मात्स गुप्तिभेदम् । आर्यानाषकोद्घाटके वचने, ग० ३ अधि० ।

गुत्तिसंरक्खणहेउ-गुप्तिसंरक्षणहेतु-पुं० । गोपनीयद्रव्यसंरक्षणहेतौ, ज० १४ श० २ उ० ।

गुत्तिसेण-गुप्तिसेन-पुं० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रे जाते षोडशे जिने, स० ४ सम० ।

गुत्ती-देशी-बन्धने, इच्छायाम, वचने, लतायाम, शिरोमाल्ये-च । दे० ना० २ वर्ग ।

गुत्थंड-देशी- भासपक्षिणि, दे० ना० २ वर्ग ।

गुंदा-देशी-श्मश्रुणि, दे० ना० २ वर्ग ।

गुन-गुण-पुं० । "णो नः" । ८ । ४ । ३०६ । पैशाच्यां णकारस्य नो भवति । उपकारे, "गुनगनयुत्तो" । 'गुनेन' । प्रा० ४ पाद ।

गुप्प-गोप्य-त्रि० । रहसि, एकान्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० ।

गुप्पंत-गुप्यत्-त्रि० । " गुप्येर्विर-णमौ " । ८ । ४ १५० । इति विरणमादेशाऽभावे तथारूपम् । व्याकुलीभवति, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गुप्पमाण-गुप्यत्-त्रि० । व्याकुलीभवति, कल्प० ३ क्षण ।

गुप्पंत-देशी-शयनीये, संमूढे, गोपिते च । दे० ना० २ वर्ग ।

गुंपा-देशी-बिन्दौ, अधमे च । दे० ना० २ वर्ग ।

गुप्फ-गुल्फ-पुं० । "द्वितीयतुर्ययोरुपरि पूर्वः " । ८ । २ । ९० । इति फस्योपरि प्रथमः । प्रा० २ पाद । गुल्फके,जी० ३ प्रति० । औ० । जं० । पादग्रन्थौ, वाच० । गुल्फः गुदुः प्रपदः आप्रपदः खुरकः निस्नोदः पादशीर्षश्चेति पर्यायाः । है० ।

गुंफ-देशी-गुप्तौ, दे० ना० २ वर्ग ।

गुंफा-देशी-शतपद्याम, दे० ना० २ वर्ग ।

गुम-भ्रम-धा०-चलने, " भ्रमेष्टिरिटिल्ल-ढुण्ढुल्ल-ढण्ढल्ल-चक्कम्म-भम्मड-भमड-भमाड-तलअण्ट-झण्ट-झम्प-भुम-गुम-फुम-फुस-ढुम-ढुस-परी-पराः " । ८ । ४ । १६१ । इति भ्रमेर्गुमाऽऽदेशः । ' गुमइ ' । प्रा० ४ पाद ।

गुमइ-देशी भ्रमति, दे० ना० २ वर्ग ।

गुमगुमंत-गुमगुमायमान-त्रि० । शब्दविशेषं कुर्वाणे, औ० । जं० ।

गुमगुमाइय-गुमगुमायित-त्रि० । गुमगुमायन्ति स्म, अकर्म्मकत्वात्कर्त्तरि क्तप्रत्ययः । गुमगुमेतिशब्दं कुर्वन्ति, "महुकरिभमरगणगुमगुमाइयं" । रा० । औ० । मधुरं शब्दं कुर्वन्ति, कल्प० ३ क्षण ।

गुम्म-गुल्म-पुं० । न० । ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेते, जी० ३ प्रति० । लतासमूहे, विशे० । वनस्पतिभेदे, जी० ३ प्रति० । गुल्मानि तु नवमालिकावासन्तिकासेरयककोरियककोरिटकबन्धुजीवकयावरणकर्णिकारसिन्दुवारविचकिलजातियूथिकादयः । आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । ज्ञा० । औ० । प्रज्ञा० । भ० । जं० । रा० । जी० ।

एतदेव सूत्रकृदाह--

से किं तं गुम्मा ? । गुम्मा अणेगविहा पण्णत्ता । तं जहा-

"सेरियए णोमालिय, कोरंटय बंधुजीवग मणोज्जे ।

बीयय बाण कणवीर, कुज्जय तह सिंधुवारे य ॥ १ ॥

जाई मोग्गर तह जू-हिया य तह मल्लिया य वासंती ।

वत्थुल कत्थुल सेवा-लऽगत्थ मगदंतिया चेव ॥ २ ॥

चंपग जाई णवणी-इया य कुंदे तहा महाकुंदे ।

एवमणेगागारा, हवन्ति गुम्मा मुणेयव्वा" ॥ ३ ॥ सेत्तं गुम्मा । प्रज्ञा० १ पद ॥

सेरिकागुल्माः नवमालिकागुल्माः कोरण्टगुल्माः बन्धुजीवकगुल्माः मनोवद्यगुल्माः बीजकगुल्माः बाणगुल्माः कणवीरगुल्माः कुब्जकगुल्माः सिन्दुवारगुल्माः जातिगुल्माः मुद्गरगुल्माः यूथिकागुल्माः मल्लिकागुल्माः वासन्तिकगुल्माः वस्तुलगुल्माः कस्तुलगुल्माः सेवालगुल्माः, अगस्त्यगुल्माः मृगदन्तिकागुल्माः चम्पकगुल्माः जातिगुल्मा नवनीतिकागुल्माः कुन्दगुल्माः महाकुन्दगुल्माः। सेरिकादयो लोकतः प्रत्येतव्याः। गुल्मा नाम ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेताः,ततः सर्वत्र विशेषणसमासः। जी० ३ प्रति० । वृन्दे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

गुम्मइ-मुह-धा० । "मुहेर्गुम्म-गुम्मडौ" । ८ । ४ । २०७ । मुहेरेतावादेशौ वा भवतः। 'गुम्मइ'। 'गुम्मडइ'। मुज्झइ' मुह्यति । प्रा० ४ पाद । दे० ना० २ वर्ग ।

गुम्मागुम्मि-गुल्मागुल्मि-अव्य० । गुल्मं वृन्दमात्रम, गुल्मेन च गुल्मेन च भूत्वेत्यर्थे, औ० । "गुम्मागुम्मिं कुड्डाकुड्डिं अप्पेगइया वायंति" । गुल्मं गच्छैकदेशः । औ० ।

गुम्मिअ-देशी-मूलोत्खने, दे० ना० २ वर्ग ।

गुम्मिय-गौल्मिक-पुं० । गुल्मेन समुदायेन संचरन्तीति गौल्मिकाः । आरक्षिकाणामप्युपरि स्थायिनि, व्य० १ उ० । गौल्मिका नाम ये राज्ञः पुरुषस्थानकं बद्धा पन्थानं रक्षयन्ति । बृ० १ उ० ।

गुम्मिन-त्रि० । घूर्णिते, बृ० १ उ० ।

गुम्मी-गुल्मी-स्त्री० । त्रीन्द्रियजीवभेदे,उत्त० ३६ अ० । इच्छायाम, दे० ना० २ वर्ग ।

गुरह-गुह्य-न० । "ह्ये ह्योः" । ८ । २ । १२४ । हकारयकारयोर्विपर्ययः । गोप्ये, प्रा० २ पाद ।

गुरु-गुरु-पुं० । गृणाति यथावस्थितं शास्त्रार्थमिति गुरुः । धर्मोपदेशादिदातरि, आ० म० प्र० । सम्यग्ज्ञानक्रियायुक्ते सम्यग्धर्मशास्त्रार्थदेशके, यदाह-" धर्मज्ञो धर्मकर्ता च, सदा धर्मपरायणः । सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ-देशको गुरुरुच्यते " ॥ १ ॥ ध० २ अधि० । अष्ट० । पञ्चा० । गौरवार्हे, उत्त० १ अ० । धर्माचार्ये, पञ्चा० १ विव० । उत्त० । प्रव० । नि० चू० । सम्यगुरुचरणपर्युपासनाऽविकलतया यथावस्थिततत्त्ववेदितरि, पिं० । "गुर्वायत्ता यस्मात, शास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि । तस्माद्गुर्वाराधन-परेण हितकाङ्क्षिणा भाव्यम" ॥ १ ॥ आ० म० प्र० । अनु० । ध० र० । "माणुस्सं उत्तमो धम्मो, गुरुनाणाइसंजुओ" । ध० र० ।

गुरुगुणयुक्त एव गुरुः-

गुरुगुणरहिओ वि इहं, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो ।

ण उ गुणमेत्तविहीणो, त्ति चंमरुद्दो उदाहरणं ॥३०॥

गुरुगुणरहितोऽपि, अपिशब्दोऽत्र पुनःशब्दार्थः । ततश्च गुरुगुणरहितो गुरुर्न भवति । गुरुगुणरहितः पुनः, इह गुरुकु-

भवासप्रक्रमे स एव द्रष्टव्यो ज्ञातव्यः, मूलगुणवियुक्तो महाव्रतरहितः सम्यग्ज्ञानक्रियाविरहितो वा । यो न तु न पुनर्गुणमात्रविहीनो मूलगुणव्यतिरिक्तप्रतिरूपताविशिष्टोपशमादिगुणविकलः । इति हेतोः गुरुगुणरहितो द्रष्टव्य इति प्रक्रमः । उपप्रदर्शनार्थो वा इतिशब्दः । उक्तं चेहार्थे-" कालपरिहाणिदोसा, एत्तो इक्काइगुणविहीणेण । अन्नेण वि पव्वज्जा, दायव्वा सीलवंतेण "॥१॥ अत्रार्थे किं ज्ञापकमिति ?, आह-चण्डरुद्रश्चण्डरुद्राभिधानाचार्य उदाहरणं ज्ञापकम् । तत्प्रयोगश्चैवम्-गुणमात्रविहीनोऽपि गुरुरेव, मूलगुणयुक्तत्वात्, चण्डरुद्राचार्यवत् । तथाह्यसौ प्रकृतिरोषणोऽपि बहूनां संविग्नगीतार्थशिष्याणाममोचनीयः विशिष्टबहुमानविषयश्चाभूत् ।

तत् कथानकं चैवम्-

चण्डरुद्राभिधानोऽभू-दाचार्योऽतिबहुश्रुतः ।
ज्ञानादिपञ्चधाचार-रत्नरत्नाकरोपमः ॥ १ ॥
असमाचारसंक्षोभ-संज्वलत्कोपवाडवः ।
संक्लेशपरिहाराय, गच्छपार्श्वे स्म तिष्ठति ॥ २ ॥
विहरंश्च समायातः, उज्जयिन्यां कदाऽप्यसौ ।
विविक्तोद्यानदेशे च, तस्थौ गच्छस्य सन्निधौ ॥ ३ ॥
अथ श्रीमत्सुतः कोऽपि, सुरूपो नवयौवनः ।
प्रधानवस्त्रमाल्यादि-भूषितो मित्रवेष्टितः ॥ ४ ॥
विवाहानन्तरं क्रीड-न्नागतः साधुसन्निधौ ।
तन्मित्रैः केलिना प्रोक्ता-स्तं पुरस्कृत्य साधवः ॥ ५ ॥
अस्मत्सखममुं यूयं, हे भदन्ताः ! विरागिणम् ।
निर्विण्णं भवकान्तारात्, प्रव्राजयत सत्वरम् ॥ ६ ॥
साधवस्तु तकान् ज्ञात्वा, चसूरीकरणोद्यतान् ।
औषधं सूरिरेवैषा-मित्यालोच्य बभाषिरे ॥ ७ ॥
भो भद्राः ! गुरवोऽस्माकं, कुर्वते कार्यमीदृशम् ।
वयं तु नो ततो यात, गुरूणामन्तिकं लघु ॥ ८ ॥
केलिनैव ततो गत्वा, गुरुमूचुस्तथैव ते ।
सूरिणा भणितं तर्हि, भस्माऽऽनयत सत्वरम् ॥ ९ ॥
येनास्य लुञ्चनं कुर्मो, वयस्यैस्तु ततो लघु ।
तदानीतं ततः सूरिः, पञ्चमङ्गलपूर्वकम् ॥ १० ॥
लुञ्चनं कर्तुमारेभे, तद्वयस्यास्तु लज्जिताः ।
चिन्तितं चेभ्यपुत्रेण, कथं यास्याम्यहं गृहे ? ॥ ११ ॥
स्वयमाश्रितसाधुत्वः, स लुञ्चितशिरोमुखः ।
ततो विसृज्य मित्राणि, गुरुमेवमुवाच सः ॥ १२ ॥
भदन्त ! परिहासोऽपि, सद्भावोऽजनि मेऽधुना ।
रङ्कत्वेनापि तुष्टस्य, सौराज्यं मे समागतम् ॥ १३ ॥
ततः स्वजनराजाद्याः, यावन्नायान्ति मत्कृते ।
तावदन्यत्र गच्छामो, नोचेद्बाधा भविष्यति ॥ १४ ॥
गुरुर्बभाषे यद्येवं, ततो मार्गं निरूपय ।
तथैव कृतवानेष, वृत्तौ गन्तुं ततस्तकौ ॥ १५ ॥
आचार्यः पृष्ठतो याति, पुरतो याति शिष्यकः ।
रात्रौ वृद्धत्वतोऽपश्यन्, मार्गं प्रस्खलितो गुरुः ॥ १६ ॥
रे दुष्ट ! शैक्ष ! कीदृक्षो, मार्गः संवीक्षितस्त्वया ।
इति ब्रुवाणो दण्डेन, शीर्षे तं हतवान् क्रुधा ॥ १७ ॥
एवं स चण्डरोषत्वा-त्स्खलितः स्खलितः पथि ।
शिरस्यास्फाटयन् याति, तं शिष्यं क्षमिणां वरम् ॥ १८ ॥
शिष्यस्तु भावयामास, मन्दभाग्योऽस्म्यहं यतः ।
महाभागो महात्माऽयं, महाकष्टे नियोजितः ॥ १९ ॥
भगवानेष सौख्येन, स्वगच्छे निवसन्मया ।
अहो दशां महाकष्टां, प्रापितः पापिना मुधा ॥ २० ॥
एवं भावयतस्तस्य, प्रशस्तध्यानवह्निना ।
दग्धकर्मेन्धनत्वेन, केवलज्ञानमुद्गतम् ॥ २१ ॥
ततस्तं सद्बलेनाऽसौ, सम्यङ् नेतुं प्रवृत्तवान् ।
प्रभाते च स तं दृष्ट्वा, क्षरल्लोहितमस्तकम् ॥ २२ ॥
आत्मानं निन्दति स्मैव-मधन्योऽहमपुण्यवान् ।
यस्य मे सति रोषाग्नि-शममेघे बहुश्रुते ॥ २३ ॥
परोपदेशदक्षत्वे, बहुकाले च संयमे ।
न जातो गुणरत्नानां, प्रधानः क्षान्तिसद्गुणः ॥ २४ ॥
अयं तु शिष्यो धन्योऽत्र, गुणवानेष सत्तमः ।
यस्याद्य दीक्षितस्याऽपि, कोऽप्यपूर्वः क्षमागुणः ॥ २५ ॥
एवं सद्भावनायोगात्, वीर्योल्लासादपूर्वतः ।
आचार्यश्चण्डरुद्रोऽपि, संप्राप्तः केवलश्रियम् ॥ २६ ॥
इति गाथार्थः ॥ २३ ॥

गुरुगुणरहिओ उ गुरू,न गुरु विहिचायमो उ तस्सिट्ठो ।
अन्नत्थ संकमेणं, ण उ एगागित्तणेणं ति ॥ २४ ॥

गुरुगुणाः सज्ज्ञानसदनुष्ठानविशेषाः, तैः रहितो हीनो गुरुगुणरहितः । तुशब्दः पुनरर्थे । गुरुर्धर्माचार्यो, न गुरुर्न धर्माचार्यो भवति, सुवर्णगुणविकलं सुवर्णमिव । ततश्च (विहिचायमो उ त्ति) इह मकारोऽलाक्षणिकः । ततश्च विधित्यागः एवाऽऽगमिकन्यायेन परिहार एव । तस्य गुरोरिष्टोऽभिमतो जिनानाम् । स च न यथा कथञ्चिदत एवाह-अन्यत्र गुरुकुलान्तरे, संक्रमेण प्रवेशेन, न पुनरेकाकित्वेन एकाकिविहारितयेति । गुरुकुलान्तरसङ्क्रमणविधिश्च-" संदिट्ठो संदिट्ठ-स्स चेव संपज्जइ उ एमाई । चउभंगो एत्थं पुण, पढमो भंगो हवइ सुद्धो "॥१॥ इत्यादिरागमप्रसिद्ध इति । सर्वथा गुरुरहितेन न भाव्यमिति भावः । यदाह-" एसणमणेसणं वा, कह ते नाहिंति जिणवरमयं वा । कुरिणम्मि व पायाला, जे मुक्का पव्वइयमेत्ता "॥१॥ इतिशब्दः प्राग्वदिति गाथार्थः ॥ २४ ॥

ननु यदि गुरुकुल एव वस्तव्यं,तदा कथमुक्तं दशवैकालिके ?, यथा-" ण या लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा । एक्को वि पावाइँ विवज्जयंतो, विहरिज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥१०॥ " (दश० २ चू०) इत्येतदाशङ्कयाह-

जं पि य ण वा लभेज्जा, एक्को वीयादिणासियं सुत्ते ।
एयं विसेसविसयं, णायव्वं बुद्धिमंतेहिं ॥ २५ ॥

यदपि च यच्च न वा लभेतैकोऽपीत्यादि इत्येतत्पदद्वयं प्रागुक्तमेवोपलक्षणम् । भणितमुक्तं, सूत्रे दशवैकालिकाख्ये,एतदिदं सूत्रम्, विशेषविषयं विशिष्टपुरुषगोचरं,न पुरुषमात्रविषयम्, ज्ञातव्यमवसेयम्, बुद्धिमद्भिः प्रवचनगर्भार्थवेदिभिः, यतो " व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति " गाथार्थः ॥ २५ ॥ पञ्चा० ११ विव० । पं० व० । ('अणुओग' शब्दे प्रथमभागे ३५५ पृष्ठे तदर्हो गुरुरुक्तः)

षड्विधे उपक्रमे गुरुचित्तोपक्रमः । अत्र परः प्राह-

को वक्खाणाऽवसरे, गुरुचित्तोवक्कमाहिगारोऽयं ? ।
भण्णइ वक्खाणंगं, गुरुचित्तोवक्कमो पढमं ॥ ९३० ॥

नन्वावश्यकस्यानुयोगो व्याख्यानमिह प्रक्रान्तं, ततस्तदवसरे

प्रस्तुते, कोऽयमप्रस्तुतेन गुरुचित्तोपक्रमेणाऽधिकारः ? । अत्रोत्तरमाह-(भएाइत्यादि) जएयतेऽत्र प्रतिविधानम्-यद्व्याख्यानमिह प्रस्तुतं जवता गीयते, तद्गुरुचित्तायत्तमेव । ततश्च गुरुचित्तोपक्रमः प्रथममेव व्याख्यानस्याङ्गं कारणम्,कारणमन्तरेण च कार्यस्याजावात्, तस्मिन् प्रकृते तत्कारणस्याधिकाराजिधानं न किञ्चिदप्रस्तुतमिति ॥९३०॥

न केवलं गुरुचित्तोपक्रमः प्रथमं व्याख्यानाङ्गं, किन्तु यानि कानिचित्सामान्येन शास्त्राद्युपक्रमपुस्तकोपाश्रयाहारवस्त्रपात्रसहायादीनि व्याख्यानाङ्गानि तानि सर्वाण्यपि गुरुचित्तायत्तानि नियमतो वर्त्तन्ते, तस्माद्यथा गुरुचित्तं सुप्रसन्नं भवति तथा कार्यमिति दर्शयन्नाह-

गुरुचित्तायत्ताइं, वक्खाणंगाइँ जेण सव्वाइं ।
तो जेण सुप्पसन्नं, होइ तयं तं तहा कज्जं ॥९३१॥

गतार्थैव, नवरं गुरुचित्तं च तदा सुप्रसन्नं भवति यदा इङ्गिताकाराद्यभिज्ञः शिष्यस्तदुपक्रमानुकूल्येन प्रवर्त्तते । अतो न गुरुचित्तोपक्रमोऽत्राऽप्रस्तुत इति भावः ॥ ९३१ ॥

गुरुचित्तप्रसादनोपायानेवाह-

जो जेण पगारेणं, तुस्सइ करणविणयाणुवत्तीहिं ।
आराहणाएँ मग्गो, सो च्चिय अव्वाहओ तस्स ॥९३२॥
आगारिंगियकुसलं, जइ सेयं वायसं वए पुज्जा ।
तह वि य सिं न विकूडे, विरहम्मि य कारणं पुच्छे ॥९३३॥
निवपुच्छिएण गुरुणा, भणिओ गंगा कओमुही वहइ ।
संपाइयवं सीसो, जह तह सव्वत्थ कायव्वं ॥९३४॥

तिस्रोऽपि सुगमाः,नवरं प्रथमगाथायां 'करणेत्यादि'करणं गुर्वादिष्टस्य सम्पादनं,विनयोऽभिमुखगमनाऽऽसनप्रदानपर्युपास्त्यञ्जलिबन्धाऽनुव्रजनादिलक्षणः, अनुवृत्तिश्चित्ताङ्किताऽदिना गुरुचित्तं विहाय तदाऽऽनुकूल्ये प्रवृत्तिः, ताभिः । द्वितीयगाथायामाकारेङ्गितकुशलं शिष्यं प्रति यदि श्वेतं वायसं पूज्या गुरवो वदेयुस्तथापि [सिं ति] तेषां संबन्धि वचो न विकुट्टयेत्र प्रतिहन्यात् । विरहे च तद्विषयं कारणं पृच्छेदिति । नृपपृष्टेन गुरुणा जणितो 'गङ्गा केन मुखेन वहति ?,' ततो यथा सर्वमपि गुरुभणितं शिष्यः संपादितवांस्तथा सर्वत्र सर्वप्रयोजनेषु कार्यम । इति तृतीयगाथाक्षरार्थः। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। विशे०।[तच्च 'अइसेस' शब्दे प्रथमजागे १६ पृष्ठे गुरुवैयावृत्यप्रस्तावे उक्तम्]

तदेवं गुरुभावोपक्रमे युक्ततया अत्र व्यवस्थापिते सति परः प्राह-

जुत्तं गुरुमयगहणं, को सेसोवक्कमोवओगोऽत्थ ? ।
गुरुचित्तपसायत्थं, ते वि जहाजोगमाओज्जा ॥ ९३५ ॥

ननूक्तन्यायेन युक्तं तर्हि गुरुमतग्रहणं गुरुभावोपक्रमणं, शेषाणां तु नामस्थापनाद्रव्याद्युपक्रमाणां क इहोपयोगः ?, येन तेऽप्युपन्यस्ताः ?। अत्रोत्तरमाह-ननु गुरुचित्तप्रसादनार्थं तेऽपि शेषोपक्रमा यथायोगं यथाप्रस्तावमायोज्याः सप्रयोजनत्वेनाभ्यूह्या इति ॥९३५॥

तदेवं द्रव्याद्युपक्रमाणां गुरुचित्तप्रसादनोपयोगित्वमाह--

परिकम्मनासणाओ, देसे काले य जा जहा जोग्गा ।
ताओ दव्वाईणं, कज्जाऽऽहाराइकज्जेसु ॥९३६॥
उवहियजोग्गदव्वो, देसे काले परेण विणएणं ।
चित्तएणू अणुकूलो, सीसो सम्मं सुयं लहइ ॥९३७॥

याः कस्मिंश्चिद् देशे मरुमगधादौ, कस्मिंश्चिद् काले ग्रीष्मादौ,येन केनचित् प्रकारेण, योग्या उचिताः परिकर्मनाशनाः परिकर्मविनाशा भवन्ति, ता द्रव्यक्षेत्रकालानां गुरोराहारादिकार्येषु शिष्येण तच्चित्तप्रसादनार्थं कर्त्तव्याः । तत्र द्रव्यस्य दधिक्षीरनीरादेर्गुडशुएठ्युशीरमुस्तादिक्षेपेण परिकर्म भावनीयम्, क्षेत्रस्योपाश्रयादेरुपलेपनादिना, कालस्य मुहूर्त्तादेः शिक्षकदीक्षादौ घटिकादिनेति । विनाशोऽपि द्रव्यादीनां द्रव्यान्तरसंयोगादिना भावनीय इति । तत इत्थं गुरुचित्तं प्रसादयन् शिष्यः किमाप्नोति ?, इत्याह-[उवहियेत्यादि] उपाहितानि गुरोराहाराद्यर्थं ढौकितानि कृतपरिकर्माणि योग्यासनपानवस्त्रपात्रौषधादीनि द्रव्याणि येन, असौ उपहितयोग्यद्रव्यः शिष्यः । शेषं सुगमम ॥ ९३६ ॥ ९३७ ॥

समाधानान्तरमाह-

अहवोवक्कमसाम-न्नओ मया पगयनिरुवओगा वि ।
अन्नत्थ सोवओगा, एवं चिय सव्वनिक्खेवो ॥९३८॥

यदि वा प्रकृते प्रस्तुते निरुपयोगाः प्रकृतनिरुपयोगाः, एवंभूता अपि सन्तो नामस्थापनाद्रव्याद्युपक्रमाः उपक्रमसामान्यतोऽत्र मता उपन्यस्ताः । कुतः ?, इत्याह-अन्यत्र स्थानान्तरे सोपयोगा इतिकृत्वा, न केवलमत्रैवासौ न्यायः, किन्त्वन्यत्र शास्त्रे, अन्येषु वा शास्त्रेषु ये केचन बहुप्रकारा नामादिनिक्षेपास्तेषां सर्वेषामेप्यपरसमाधानाऽभावे इदमेव समाधानं वाच्यमिति । तदेवं नामादिभेदैर्दर्शितमुपक्रमस्य षड्विधत्वम ॥९३८॥

यदि वा अन्यथैवायमुपक्रमः षड्विध इति,दिदर्शयिषुः प्रस्तावनामाह-

गुरुभावोवक्कमणं, कयमज्झयणस्स उव्विहमियाणिं [९३९]

तदेवं नामादिभेदैः षड्विधे उपक्रमे विचार्यमाणे कृतं गुरुभावोपक्रमणम्, तत्करणे च दर्शितमेकेन प्रकारेणोपक्रमस्य षड्विधत्वम् । विशे० । गृणाति प्रवचनार्थतत्त्वमिति गुरुः । प्रवचनार्थप्रतिपादकतया पूज्ये, नं० । स्था० । तीर्थकरगणधरादौ, विशे० । सूत्र० । वाचनाऽऽचार्ये, आ०। विद्यादायिनि, स्था० १ ठा०। षो०। आ० म० । पितामहे, आव० ३ अ० । मातापितृप्रभृतौ पूज्ये, "माता पिता कलाचार्यः, एतेषां ज्ञातयस्तथा । वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः" ॥१॥ ध० २ अधि०। स्था० । अनु०। कल्याणमित्रे, पं० सू० ४ सू० । "गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंस्कृतम् ॥ अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम" ॥१॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ०। बृहति,स्था० १ ठा० । महति, पञ्चा० १० विव० । यदूर्ध्वं तिर्यग्वा प्रक्षिप्तमपि पुनर्निसर्गादधो निपतति तस्मिन् गुरुद्रव्ये, यथा—लेष्ट्वादि । विशे० । आ० म० । अधोगमनहेतौ अयोगोलकादिगते स्पर्शभेदे, स्था० १ ठा० १ उ० । कर्म० । (किं द्रव्यं गुरु, किं वा लघु ?, इति ' अगुरुलहुय ' शब्दे प्र० भागे १५७ पृष्ठे उक्तम) बृहस्पतौ देवाचार्ये, प्रभाकराख्ये मीमांसकभेदे, कपिकच्छूवृक्षे, " सानुस्वारो विसर्गान्तो, दीर्घो युक्तपरश्च यः । वा पदान्ते त्वसौ, " उक्ते दीर्घवर्णादौ, वाच० ।

गुरुआएस–गुर्वादेश–पुं० । गुरोः सविज्ञापने, ध० ३ अधि० ।

गुरुअणुणा–गुर्वनुज्ञा–स्त्री० । पित्रादिकुलपुरुषानुज्ञायाम, षो० ५ विव० ।

गुरुअब्भुट्ठाण–गुर्वभ्युत्थान–न० । गुरोरभ्युत्थानार्हस्याऽऽचार्यस्य, प्राघूर्णकस्य वा आगमनं प्रतीक्ष्याऽऽसनत्यजने, ध० १ अधि० ।

गुरुआणा-गुर्वाज्ञा-स्त्री०। रत्नाधिकाऽऽदेशे, पञ्चा० १२ विव०। रत्नाधिकाऽऽज्ञायाम, पञ्चा० ५ विव० ।

गुरुआणापरिसुद्ध-गुर्वाज्ञापरिशुद्ध–त्रि० । गुर्वाज्ञया परिशुद्धो निर्दोषस्तत्सम्पादनाय गुर्वाज्ञापरिशुद्धः । गुर्वाज्ञया निर्दोषे, पञ्चा० १८ विव० ।

गुरुआणाभंग-गुर्वाज्ञाभङ्ग-पुं० । धर्माचार्याऽऽदेशविराधनायाम, पञ्चा० ५ विव० ।

गुरुआणाराहण-गुर्वाज्ञाराधन-न० । भावसाधोः सप्तमे लिङ्गे, ध० र० ।

सम्प्रति गुर्वाज्ञाराधनरूपं सप्तमलिङ्गमाह–

गुरुपयसेवानिरओ, गुरुआणाराहणम्मि तल्लिच्छो ।
चरणभरधरणसत्तो, होइ जई नन्नहा नियमा ॥ १२६ ॥

अत्र कश्चिदाह–पूर्वाचार्यैश्चारित्रिणो लिङ्गषट्कमेवोक्तम । यदवाचि–" मग्गाणुसारि १ सद्धो २, पन्नवणिज्जो ३ कियावरो चेव ४॥ गुणरागी ५ सक्कारं-भसंगओ ६ तह य चारित्ती॥१॥" तत्कुत्रेदं सप्तमं गुर्वाज्ञाराधनरूपं भावसाधोर्लिङ्गं भणितम ?। उच्यते-चतुर्दशशतप्रकरणप्रासादसूत्रधारकल्पप्रभुश्रीहरिभद्रसूरिभिरुपदेशपदशास्त्रे भणितमेवेदमपि लिङ्गम । तथा चैतत् सूत्रम–"एयं च अत्थि लक्खण-मिमस्स नीसेसमेव धम्मस्स । तह गुरुआणासंपा-डणं च गमगं इहं लिंगं " ॥२॥ ध० र० ।

गुर्वाज्ञाकारिणो विशेषतः प्रशंसामाह–

ता धन्नो गुरुआणं, न मुयइ नाणाइगुणमणिनिहाणं ।
सुपसन्नमणो सययं,कयन्नुयं मणसि भावंतो ॥ १२७ ॥

यस्माद् गुर्वाज्ञा गरीयसे गुणाय तस्माद्धेतोर्धन्यो गुर्वाज्ञां न मुञ्चति,सुष्ठ्वतिशयेन प्रसन्नमना निर्मलमानसो निष्ठुरमपि शिक्षितो न कुप्यति कलुषयति न चान्तष्करणं, न वहति प्रद्वेषं स्मरन् कुलवधूदृष्टान्तमिति वचनम्-"जं मे बुद्धाऽणुसासंति,सीएण फरुसेण वा। मम लाहु त्ति पेहाए,पयओ तं पडिस्सुणे"॥१॥कथम्?,सततमनवरतं कृतज्ञतामुपकाराविस्मृतिरूपां मनसि हृदये भावयन् व्यवस्थापयन् । तद्यथा–"टोलु व्व दुलदुलंतो,अहयं विन्नाणनाणविन्नपत्तो। देउ व्व वंदणिज्जो,कओ म्हि गुरुसुत्तहारेण ॥१॥" इत्थं भूत एव धन्यो भवति, धर्मधनार्हत्वादिति । ध० र० ।

गुरुआणाहिओग–गुर्वाज्ञाभियोग–पुं० । परिहारप्रधाने आप्तोपदेशे, पञ्चा० १२ विव० ।

गुरुआयर-गुर्वादर-पुं० । गुरुबुद्धौ, "भावेह कुणइ गुरुआयरं च गुणपत्तेसु" कुरुत विदधीत गुर्वादरं गुरुबुद्धिं गुणवत्पात्रेषु कालिकालोचितयतनावत्स्विति ॥ दर्श० ।

गुरुई–गुर्वी–स्त्री० । लघुशरीरायाम, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

गुरुउग्गहोअट्ठाण-गुर्ववग्रहावस्थान–न० । प्रत्युपेक्षितोपधेर्निक्षेपे. पं० व० २ द्वार ।

गुरुकम्म–गुरुकर्मन्–त्रि० । पापोपहतचित्तवृत्तौ, दर्श० ।

गुरुकुल–गुरुकुल–न० । गुरोः सान्निध्ये, "न हि भवति निर्विगोपक-मनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम्।दर्शितपश्चाद्भावं,पश्यत नृत्यं मयूराणाम" ॥१॥ ध० २ अधि० ।

गुरुकुलवास–गुरुकुलवास–पुं० । धर्माचार्यान्ते निवसने, पञ्चा० ११ विव० । गुरुगृहनिवासे, पञ्चा० ११ विव० । आचा० ।

गुरुकुलवासे गुणाः, विपरीते च दोषाः–

अन्नो पडिबंधेणं, गुरुकुलवासं ण चेव आवसती ।
तेणं ण हिज्जती ऊ, के पुण पडिबंधिमे सुणसु ॥
सो गामो सावइओ, तं नइं नइओ जणो जत्थ ।
एताइँ संभरंता, गुरुकुलवासं न सेवंति ॥
सक्कारो सम्माणो, पूयइ मोहो इओ तहिँ गामे ।
आयरिओ महतरओ, एरिसआ जे तहिँ सड्ढा ॥
सच्छंदुट्ठाणणिव-ज्जणस्स सच्छंदगहितभिक्खस्स ।
सच्छंदजंपियस्स य, मा मा सत्तू वि एगागी ॥
एतेहि ऊ अभागी,सीताइ ण न देति भुउरं तु ।
तो ता हिज्जति सो ऊ, गुरुकुलवासं असेवंतो ॥
एतेहिँ न पडिवज्जे, अणुसट्ठिं तारिसं परिसमत्तं ।
का पुण सामायारी, जिणकप्पे होति मा सा तु ॥
खेत्ते काले चरित्ते, तित्थे परियागे आगमे वेदे ।
कप्पे लिंगे लेस्सा, गणणा झाणे यऽभिग्गहे ॥
पव्वावण मुंमावण, मणसा वधे वि से अणुग्घाता ।
कारणनिप्पडिकम्मे, भत्तं पप्पो भतति ताए ॥
एसो जिणकप्पो खलु, समासतो वण्णिओ सविभवेणं ॥
पं० भा० ।

अथ गुरुकुलवासमोचने दोषोपदर्शनेन तदाज्ञाया एव प्रकृष्टत्वसमर्थनायाऽऽह–

एयम्मि परिच्चत्ते, आणा खलु भगवतो परिच्चत्ता ॥
तीए य परिच्चागे, दोण्ह वि लोगाण चाउ त्ति ॥१४॥

एतस्मिन् गुरुकुले, परित्यक्ते विमुक्ते, आज्ञोपदेशः,खलुरवधारणार्थः । प्रयोगश्चास्य दर्शयिष्यते। भगवतो जिनस्य,परित्यक्तैव विमुक्तैव,तदत्यागरूपत्वात्तस्याः। ततः किमित्याह-तस्याश्च भगवदाज्ञायाः पुनः परित्यागे विमोचने सति,द्वयोरप्युभयोरप्यास्तामेकस्य, लोकयोर्भवयोरित्यर्थः।त्यागो भ्रंशो भवति, विशिष्टनियामकाभावेनोभयलोकविरुद्धप्रवृत्तेः। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थः ॥ १४ ॥

यस्मादेवं–

ता न चरणपरिणामे, एयं असमंजसं इहं होति ।
आसन्नसिद्धियाणं, जीवाण तहा य भणियमिणं ॥१५॥

तत्तस्माद्धेतोर्न नैव,चरणपरिणामे चारित्राध्यावसाये सति, एतद् गुरुकुलमोचनादिकम,असमञ्जसमसाधुकर्म, इह साधुधर्माधिकारे, भवति जायते। किं सर्वेषां न भवतीत्याशङ्कयाह-आसन्नसिद्धिकानामदूरवर्त्तिनिर्वृतीनां, जीवानां जन्तूनाम,उक्तार्थसंवादा-

ऽऽगमवचनप्रस्तावनाऽर्थमाह-तथा चेत्युपप्रदर्शनार्थो, भणितमुक्तमागमे, इदं वक्ष्यमाणगाथासूत्रमिति गाथार्थः ॥ १५ ॥

यदुक्तं तदेवाह-

णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसण चरित्ते य ।
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥ १६ ॥

ज्ञानस्य श्रुतज्ञानादेः,भवति स्याद्,भागी भाजनं,गुरुकुले वसन्निति प्रकृतं, प्रत्यहं वाचनादिभावात् । तथा स्थिरतरकः पूर्वप्रतिपन्नदर्शनोऽपि सम्नतिशयस्थिरो भवति, दर्शने सम्यक्त्वे, अन्वहं स्वसमयपरसमयतत्त्वश्रवणात् । तथा-चरित्रे चरणे स्थिरतरो भवति, अनुवेलं वारणादिभावात् । चशब्दः समुच्चये । यत एवं ततो धन्या धर्मधनं लब्धारः, यावत्कथं यावज्जीवं, गुरुकुलवासं गुरुगृहनिवसनं, न मुञ्चन्ति न त्यजन्तीति गाथाऽर्थः । तदेवं चरणपरिणामे सति गुरुकुलमोचनरूपमसमञ्जसं न भवतीति स्थापितम् ॥१६॥

अथ गुरुकुले तिष्ठतो यद्भवति तदाह—

तत्थ पुण संठिताणं, आणाआराहणा ससत्तीए ।
अविगलमेयं जायति, बज्झाभावे वि भावेणं ॥ १७ ॥

तत्र गुरुकुले, पुनःशब्दो विशेषणार्थः। तद्भावना चैवम्-चरणे सति गुरुकुलत्यागो न भवति,गुरुकुले पुनः संस्थितानां तिष्ठताम् । पाठान्तरेण-वसताम्,आज्ञाराधनादाप्तोपदेशपालनात्,स्वशक्त्या निजसामर्थ्येन, यथाशक्तीत्यर्थः। अविकलं परिपूर्णम्,एतच्चरणं, जायते संपद्यते, प्रागुक्तन्यायेन ज्ञानादिवृद्धिसद्भावात् । ननु गुरुकुले वसतोऽपि कदाचित् तदविकलं न दृश्यत इत्याशङ्क्याह-बाह्याभावेऽपि प्रत्युपेक्षणादिबाह्यसदनुष्ठानाऽसद्भावेऽपि ग्लानाद्यवस्थासु, अपिशब्दः परमतान्यनुज्ञानार्थः । कथमित्याह-भावेन परिणामेन, सद्गुरूपदेशश्रवणसंजनितसंवेगेनेत्यर्थः । इति गाथार्थः ॥१७॥

गुरुकुलवासमेव पुरस्कुर्वन्नाह-

कुलवहुणायादीया, एत्तो च्चिय एत्थ दंसिया बहुगा ।
एत्थेव सेवियाणं, खंतादीणं पि सिद्धि त्ति ॥ १८ ॥

कुलवधूज्ञातादयः कुलीनाङ्गनोदाहरणप्रभृतयः, शिष्यं प्रत्युपदेशा इति गम्यते । (एत्तो च्चिय त्ति) यतो गुरुकुले वसतां निर्वाणनगरगमनयानोपमानमविकलं चरणमुपजायते,इत एवास्मादेव कारणात्,अत्र गुरुकुलामोचने विषये,दर्शिता उक्ता आगमे, बहुका बहवः । तत्र कुलवधूज्ञानमेवम्-"ना कुलवधुनाएणं, कज्जे निब्भत्थिएहिं वि कहि चि ॥ एयस्स पायमूलं, आमरणंतं न मोत्तव्वं" ॥१॥ आदिशब्दात्कन्याज्ञानादिग्रहः। तथाहि-"जे माणिया सययं माणयंति,जत्तेण कन्नं व निवेसयंति ॥ ते माणए माणरिहे तवस्सी,जिइंदिए सच्चरए स पुज्जो" ॥५॥ ननु साधुधर्मे प्रक्रान्ते क्षमादीनामेवोत्कर्षेण युक्तं, तद्रूपत्वात्तस्य, किं गुरुकुलवासोत्कर्षेणाऽऽश्रयमात्रत्वात्तस्येत्याशङ्कयाह-अत्रैव गुरुकुले, नान्यत्र, संस्थितानां सम्यग्विनीततया स्थितानां, सतां यतीनां, क्षान्त्यादीनामपि क्षमाप्रभृतीनामपि,साधुधर्मतया सम्मतानां गुणानां, न केवलमैहलौकिकानामर्थानामित्यपिशब्दार्थः । सिद्धिर्निष्पत्तिः, प्रकर्षवृत्तिर्वा भवति, इतिशब्दः प्राग्वदिति गाथार्थः ॥१८॥

क्षान्त्यादीनामेवोपदर्शनायाऽऽह-

खंती य मद्दवऽज्जव, मुत्ती तव संजमे य बोधव्वे ।
सच्चं सोयं आकिं-चणं च बंभं च जतिधम्मो ॥ १९ ॥

क्षान्तिः क्रोधनिग्रहो, यतिधर्मो भवतीतियोगः। चशब्द उत्तरपदापेक्षया समुच्चयार्थः । मार्दवं मृदुता, मानविवेक इत्यर्थः । आर्जवमृजुता, मायाविवेक इत्यर्थः । मुक्तिर्लोभविवेकः, तपोऽनशनादिकं, संयमः पृथिव्यादिसंरक्षणलक्षणः, एतानि च मार्दवादिपदानि लुप्तप्रथमैकवचनानि, समाहारद्वन्द्वसमासवन्ति वा द्रष्टव्यानि । बोधव्यो ज्ञेयः । तथा-सत्यं प्रतीतं, शौचं भावतो निरुपलेपता, अचौर्यमित्यन्ये । आकिञ्चन्यं च कनकादिरहितता, ब्रह्म च ब्रह्मचर्यं, चशब्दाः समुच्चयार्थाः। यतिधर्मः साधुधर्मो बोद्धव्य इति गाथाऽर्थः ॥१९॥

गुरुकुले वसतां क्षान्त्यादिसिद्धिर्भवति, तद्विपर्यये पुनर्यद्भवति तद्दर्शयन्नाह-

गुरुकुलवासच्चाए, णेसाणं इंदि सुपरिसुद्धि त्ति ।
सम्मं णिरूवियव्वं, एयं सति णिउणबुद्धीए ॥ २० ॥

गुरुकुलवासत्यागे गुरुगृहनिवासत्यजने सति, न नैव, एतेषां क्षान्त्यादीनां श्रमणधर्मतया मतानां, इन्दीत्युपप्रदर्शने,सुपरिशुद्धिः सुष्ठु विशुद्धिर्भवति,इतिः प्राग्वत् । सम्यगविपर्यस्ततया बुद्ध्या, न पुनर्गुरुकुले वसतामितरेतरस्नेहरोषविषादादीनां भावादेषणायाश्च प्रायो बाधासंभवादपरिशुद्धिरेव क्षमादीनामित्येवं विपर्यस्ततया; विपर्यस्तत्वं चाऽस्या एकाकित्वे बहुतरदोषोक्तेः। यदाह-'एगस्स कओ धम्मो' इत्यादि । निरूपयितव्यमालोचनीयम् । एतत् क्षमादीनामपरिशुद्धत्वं, सकृत्सदा, निपुणबुद्ध्या सूक्ष्मधिया इति गाथार्थः ॥ २० ॥

न केवलं गुरुकुलवासत्यागिनः क्षमादीनामपरिशुद्धिः, तदभावोऽपि स्यादिति दर्शयन्नाह-

खंतादभावउ च्चिय, णियमेणं तस्स होति चाउ त्ति ।
बंभं ण गुत्तिविगमा, सेसाणि वि एव जोइज्जा ॥ २१ ॥

क्षान्त्याद्यभावत एव क्षमाप्रभृतिसाधुधर्मविशेषाभावादेव, कषायोदयादेवेति भावः । नियमेन सर्वथैव, यस्तु क्षमादिगुणयुक्तस्यापि पुष्टालम्बनेन गुरुकुलत्यागो भवत्यसौ कथञ्चिदत्याग एवेत्येतदर्थख्यापनार्थं नियमग्रहणम् । तस्य गुरुकुलस्य, भवति जायते, त्यागस्त्यजनं, सारणाद्यसहनात् । आह च-

" जह सागरम्मि मीणा, संखोभं सागरस्स असहंता ।
निंति तओ सुहकामी, निग्गयमेत्ता विणस्संति ॥ १ ॥
एवं गच्छसमुद्दे, सारणवीईहिं, चोइया संता ।
निंति तओ सुहकामी, मीणा व जहा विणस्संति ॥ २ ॥ "

इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । अनेन च गुरुकुलत्यागात्प्राकेषाञ्चित् क्षमादीनामभाव उक्तः । अथान्येषां तदनन्तरं तमाह-ब्रह्म ब्रह्मचर्यं न भवति, तत्यागे गुप्तिविगमात् ब्रह्मगुप्त्यभावात्, यतिजनसहायता हि ब्रह्मचर्यगुप्तिर्वर्तते । यदाह-" काउ मणो वि अकज्जं, न तरइ काऊण बहु मज्झे । " शेषवक्तव्यतां वार्त्तयाह-शेषाण्यपि ब्रह्मव्यतिरिक्तान्यपि, तपःसंयमादीनि, एवमनेनैव न्यायेन गुप्तिविगमलक्षणेन न संभवन्तीत्येवम्, योजयेत् संबन्धयेत्, असहायतायाः सामान्येन समस्तव्रतभङ्गहेतुत्वादिति गाथार्थः ॥ २१ ॥

गुरुकुले वसतां गुणान्तरोपदर्शनायाऽऽह-

गुरुवेयावच्चेणं, सदणुट्ठाणसहकारिभावाओ ।
विउलं फलमिब्भस्स व, विसोवगेणावि ववहारे ॥२२॥

गुरुवैयावृत्त्येन आचार्यविषयेण भक्तादिदानग्लानताप्रतिच-

रणादिलक्षणेन हेतुना, सदनुष्ठाने गुरुगते जिनप्रवचनार्थप्रकाशनगच्छपालनादौ, सहकारिभावो यः सहायकरणं, स तथा, तस्मात्सदनुष्ठानसहकारिभावतः किम ?, इत्याह-विपुलं महत्, फलं कर्मक्षयलक्षणं, गुरुकुलवासिनो भवति । कस्मिन्निवेत्याह-इभ्यस्येव सुवर्णलक्षादिमानमहाधनपतेरिव, सत्केन, विंशोपकेनाऽपि तदीयद्रव्यविंशतितमभागेनाऽपि, आस्तां सर्वेण । व्यवहारे वाणिज्ये क्रियमाणे सति । तथाहि-लक्षपतिसंबन्धिना लक्षविंशतिभागेनाऽपि, आस्तां सर्वेण सहस्रपञ्चकलक्षणेन व्यवहारतो वणिक्पुत्रस्य महान् लाभो भवति, एवं गुरोर्वैयावृत्त्यमात्रमपि कुर्वन् महत्फलमासादयति, गुरुविषयवैयावृत्त्यमात्रस्यापि महत्त्वादिति । अन्ये त्वाहुः-इभ्यस्य गृहागतस्य विंशोपकेनापि व्यवहारे सत्कारे वणिक्पुत्रो महत्फलमासादयति । इति गाथाऽर्थः ॥ २२ ॥

गुरुकुलवासाऽभावे च यत्स्यात्तदाह-

इहरा सदंतराया, दोसोऽविहिणा य विविहजोगेसुं ।
हंदि पयट्टंतस्सा, तदण्णदिक्खावसाणेसुं ॥ २३ ॥

इतरथा गुरुकुलवासत्यागे, सदा सर्वदा, अन्तरायात् वैयावृत्त्यतपोज्ञानचरणविशुद्ध्यादीनां गुरुसंसर्गसाध्यगुणानां व्याघातादिप्राप्तेः, सतां वा शोभनानां वा गुणानामन्तरायः सदन्तरायस्तस्मात्, दोषो दूषणं भवति । तस्य गुरुकुलवासिनः तथा अविधिना यो यत्र प्रव्रज्यादाने विधिस्तदभावेन, गुरोरनुपासनतः सर्वसंविग्नसामाचारीप्रावीण्याभावादन्यायेनेत्यर्थः । चशब्दः समुच्चयार्थः, विविधयोगेषु बहुविधव्यापारेषु, 'हंदि' इत्युपप्रदर्शने, प्रवर्त्तमानस्य व्याप्रियमाणस्य, गुरुकुलत्यागिनः । किंभूतेषु योगेष्विति ?, आह-तस्मात् गुरुकुलत्यागिनोऽन्येऽपरे तदन्ये, तेषां या दीक्षा प्रव्राजनं, साऽवसाने येषां सूत्रार्थग्रहणप्रत्युपेक्षणादिसामाचार्यनुपालनादीनां ते तथा, तेषु तदन्यदीक्षाऽवसानेषु । ज्ञानक्रियागुणेषु हि पूर्वं स्वयं निष्पद्यते, ततः पश्चाद्दीक्षादाने प्रवर्त्तते इति कृत्वोक्तम्-तदन्यदीक्षाऽवसानेष्विति । दोषश्चात्रैहिकपारलौकिकानर्थावाप्तिः, इत्यतः स्थितमेतत्-"एसा य परा आणा, पयमा जं गुरुकुलं न मोत्तव्वं" इति गाथार्थः ॥ २३ ॥ पञ्चा० ११ विव० ।

अथ यदुक्तं गुरुकुलं न मोक्तव्यमित्यत्र विषयविभागं दर्शयन्नाह-

गुरुकुलामोचकानेव पुरस्कुर्वन्नाह-

जे इह होंति सुपुरिसा, कयण्णुया ण खलु ते ऽवमन्नंति ।
कल्लाणभायणत्ते-ण गुरुजणं उभयलोगहियं ॥ ३६ ॥

ये केचन, इह मनुजलोके, भवन्ति स्युः, सुपुरुषा उत्तमनराः, पुरुषग्रहणं च नारीणामुपलक्षणम् । कृतज्ञकाः गुरुविहितोपकारज्ञाः, न खलु नैव, ते उक्तस्वरूपाः, अवमन्यन्ते अवज्ञयन्ति । केन हेतुनेत्याह-कल्याणभाजनत्वेन ऐहिकाद्यभ्युदयपात्रत्वेन । किंविधमित्याह-गुरुजनं धर्माचार्यम्, उभयलोकाहितं लोकद्वयेऽप्युपकारकमिति । उक्तं च-"निर्लग्नोऽपि जनोऽध्वनाऽऽक्रन्निरपि प्राज्ञोपहास्योऽपि हि, मूकोऽप्यप्रतिभोऽप्यसन्नपि जनानादेयवाक्योऽपि हि ॥ पादास्पृश्यतमोऽपि सज्जनजनैर्नम्यः शिरोभिर्भवेत्, यत्पादद्वितयप्रसादनविधेस्तेभ्यो गुरुभ्यो नमः" ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अथ गुरुकुलमोचकान्निन्दयन्नाह—

जे उ तह विवज्जत्था, सम्मं गुरुलाघवं अयाणंती ।
सग्गाहा किरियरया, पवयणखिंसावहा खुद्दा ॥ ३७ ॥
पायं अहण्णगंठी-तमाउ तह दुक्करं पि कुव्वंता ।
वज्झा व ण ते साहू, धंखाहरणेण विण्णेया ॥ ३८ ॥

ये तु ये पुनः, तथा तस्मादुक्तप्रकारात्, विपर्यस्ता विपरीताः कुपुरुषाः अकृतज्ञाः अकल्याणभाजनत्वेन गुरुजनमवमन्यन्त इत्यर्थः; तेन साधव इति योगः । कथं विपर्यस्ता इत्याह-सम्यक् यथावत्, गुरुलाघवं सारासारताविभागं, गुरुकुलवासैकाकिविहारयोरिति गम्यम् । अजानन्तोऽनवबुध्यमानाः । अयमभिप्रायः-यद्यपि ते गुरुकुलमनेकसाधुसंकीर्णतया संभवदनेषणापरस्परस्नेहरोषादिदोषतया बहुदोषम्, एकाकित्वं चैतद्दोषाभावादल्पदोषं कल्पयन्ति, तथाऽप्येतच्च तेषां मिथ्याज्ञानम्, आगमबाधितत्वादस्य, आगमबाधा च प्रागुपदर्शितेति । तथा स्वग्राहात् स्वकीयाभिनिवेशात्, आगमापारतन्त्र्यादित्यर्थः । क्रियारता भिक्षाशुद्ध्यप्रतिकर्मताप्रान्तोपधितातापनामासक्षपणाद्यनुष्ठाननिरताः, तथा-प्रवचनखिंसावहाः शासनाऽपभ्राजनाहेतवः, अनागमिकत्वेनैकाकित्वेन च प्रवचनगुप्तिरक्षायामसमर्थत्वात् । तथा-क्षुद्रास्तुच्छाः, आत्मनि बहुमानात्, गुरुषु चावज्ञापरत्वात् । कृपणा वा, तथाविधजनावर्जनपरत्वात् । क्रूरा वा, शेषसाधुषु पूजाविच्छेदाभिप्रायत्वादिति ॥ ३७ ॥ तथा-प्रायो बाहुल्येन, अभिन्नग्रन्थयः सकृदप्यनवाप्तसम्यग्दर्शनाः । अयमभिप्रायः-मिथ्यादृष्टयोऽपि भिन्नग्रन्थयः, तेनैवंविधाऽसमीक्षितकारिणो भवन्तीति । कथं तर्हि ते दुष्करतराणि तपांसि सेवन्त इत्याशङ्क्याह-तमसोऽज्ञानात्, तथा तत्प्रकारं मासक्षपणादि, दुष्करमपि प्रकृष्टमपि, आस्तामदुष्करम्, कुर्वन्तो विदधानाः, बाह्या इव कुतीर्थिका इव, न नैव, ते गुर्वाज्ञाकारिणः, साधवः संयताः, विज्ञेया ज्ञातव्याः, जिनाज्ञोत्तीर्णत्वात् । इहैवार्थे दृष्टान्तमाह-ध्वाङ्क्षोदाहरणेन काकज्ञातेन । प्रयोगश्चास्यैवमन्ये निर्गुणं वस्तु समाश्रिताः, न ते स्वार्थभाजो दृष्टाः, यथा मृगतृष्णासरःश्रयिणः काकाः, आश्रिताश्च निर्गुणं गच्छबहिर्भागं गच्छत्यागिन इति ।

काकज्ञातं चैवम्-

"सुस्वादु शीतलं स्वच्छं, पद्मरेणुसुगन्धि च ।
धारयन्ती जलं वापी, काचिदासीद् मनोहरा ॥ १ ॥
तस्यास्तटेऽभवन् काका-स्तेषु चाल्पे पिपासिताः ।
अन्विष्यन्तोऽपि पानीयं, नाश्रयन्ति स्म ते च ताम् ॥ २ ॥
ततो दृष्ट्वा पुरोवर्ति-मृगतृष्णासरांसि ते ।
तानि प्रतिप्रयान्ति स्म, वापीं हित्वा जलाऽर्थिनः ॥ ३ ॥
कश्चित्तु तानुवाचैव-मेषा भो मृगतृष्णिका ।
यदि वोऽस्ति जलार्थित्वं, तदाऽऽश्रयत वापिकाम् ॥ ४ ॥
ततः केचित्तदाकर्ण्य, वापीमेव समाश्रिताः ।
भूयांसस्त्ववधीर्यैत-न्मृगतृष्णां ययुः प्रति ॥ ५ ॥
ततो जलमनासाद्य, ते विनाशमुपागताः ।
वापीं समाश्रिता ये तु, बभूवुस्ते कृतार्थकाः ॥ ६ ॥
वापीतुल्योऽत्र विज्ञेयो, गुरुगच्छो गुणालयः ।
धर्मार्थिनस्तु काकाभा- श्चारित्रं जलसन्निभम् ॥ ७ ॥
मृगतृष्णासरस्तुल्या, गुरुगच्छाद् बहिः स्थितिः ।
तच्छिक्षादायको ज्ञेयो, गीतार्थस्तत्कृपापरः ॥ ८ ॥
चारित्रापात्रतां प्राप्ताः, काकवत् केऽपि कुग्रहात् ।
गुरुगच्छबहिर्वासं, संश्रिता ये तपस्विनः ॥ ९ ॥
अल्पास्तु केऽपि सद्बोधा-श्चारित्रे पात्रतां गताः ।

काका इवैव ये धन्याः गुरुगच्छमुपाश्रिताः " ॥ १० ॥ इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

अथ गुरुकुलत्यागिन एव कष्टविहारकारित्वेन ये बहु मन्यन्ते तान् शिक्षयितुमाह–

तेसिं बहुमाणेणं, उम्मग्गऽणुमोयणा अणिट्ठफला ।
तम्हा तित्थगराणा–ठिएसु जुत्तोऽत्थ बहुमाणो ॥ ३९॥

तेषां गुरुकुलत्यागिनाम्, बहुमानेन पक्षपातेन करणभूतेन, उन्मार्गानुमोदना अनागमिकाचारानुमतिः; किंफला ?, इति आह–अनिष्टफला अनभिमतफला, दुर्गतिप्रयोजनेत्यर्थः । आह च–"आणाएँ अवट्टंतं, जो उववूहेइ मोहदोसेण । सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे " ॥ १ ॥ (तम्ह त्ति) यस्मादेवं तस्मात्तीर्थकराज्ञास्थितेषु गुरुकुलवासादिजिनादेशाश्रितेषु साधुषु, युक्तः सङ्गतः, अत्र विचारे, बहुमानः पक्षपातो, नेतरेषु इति गाथार्थः ॥ ३९॥ पञ्चा० ११ विव० ।

कुलवधूदृष्टान्तेन गुरुकुलासेवनम्–

तुब्भेहिं पि न एसो, संसारामविमहाकडिल्लम्मि ।
सिद्धिपुरसत्थवाहो, जत्तेण खणं पि मोतव्वो ॥ ५४॥

युष्माभिरपि नैव गुरुः संसाराटवीमहाकडिल्ले गहने सिद्धिपुरसार्थवाहः, तन्नानपायेन नयनात्, यत्नेन क्षणमपि मोक्तव्यो नेति गाथाऽर्थः ॥ ५४ ॥

ण य पमिकूलेअव्वं, वयणं एअस्स नाणरासिस्स ।
एवं गिहवासचाओ, जं सफलो होइ तुम्हाणं ॥ ५५ ॥

न च प्रतिकूलयितव्यमशक्त्या वचनमेतस्य ज्ञानराशेः गुरोरेवं गृहवासत्यागः प्रव्रज्यया यत् सफलो भवति युष्माकमाज्ञाराधनेनेति गाथार्थः ॥ ५५ ॥

इहरा परमगुरूणं, आणाभंगो निसेविओ होइ ।
विहला य होंति तम्मी, निअमा इहलोअपरलोआ ॥५६॥

इतरथा तद्वचनप्रतिकूलनेन परमगुरूणां तीर्थकृतामाज्ञाभङ्गो निषेधितो भवति । निष्फलौ च भवतस्तस्मिन्नाज्ञाभङ्गे सति नियमादिहलोकपरलोकाविति गाथार्थः ॥ ५६ ॥

ता कुलवहुणाएणं, कज्जे निब्भत्थिएहिँ वि कहिंचि ।
एअस्स पायमूलं, आमरणंतं न मोत्तव्वं ॥५७॥

तत् कुलवधूज्ञातेनोदाहरणेन, कार्ये निर्भर्त्सितैरपि सद्भिः कथञ्चिदेतस्य गुरोः पादमूलं समीपमामरणान्तं न मोक्तव्यं सर्वकालमिति गाथार्थः ॥ ५७ ॥

गुणमाह–

णाणस्स होइ भागी, थिरयरओ दंसणे चरित्ते अ ।
धन्ना आवकहाए, गुरुकुलवासं ण मुंचंति ॥ ५८ ॥

ज्ञानस्य भवति भागी गुरुकुले वसन्, स्थिरतरो दर्शने, चरित्रे चाऽऽज्ञाराधनदर्शनादीनाम्, अतो धन्या यावत्कथं सर्वकालं गुरुकुलवासं न मुञ्चन्तीति गाथार्थः ॥ ५८ ॥ पं० व० ४ द्वार ।

"लज्जा दया संजम बंभचेर–कल्लाणभागिस्स विसोहिठाणं । जे मे गुरू सययं अणुसासयंति, ते हं गुरू सययं पूययामि " ॥१॥ इत्यादि । तथा गुर्वाज्ञाराधने गुर्वादेशसंपादने तल्लिप्सुस्तमेवादेशं लब्धुमिच्छुर्गुरोरादेशं प्रतीक्षमाणः समीपवर्त्येव स्यात् । इत्थंभूतश्चरणभरधरणे चारित्रभरोद्वहने शक्तः समर्थो भवति सुविहितो, नान्यथा भणितविपरीतो, नियमान्निश्चयेनेति । कथं पुनरेव निश्चयोऽवसीयत इति ?, आह–

सव्वगुणमूलभूओ, भणिओ आयारपढमसुत्ते जं ।
गुरुकुलवासोऽवस्सं, वसिज्ज तो तत्थ चरणत्थी ॥१२७॥

सर्वे गुणा अष्टादशशीलाङ्गसहस्ररूपाः, तदानयनोपायश्चैवम्–"जोए १ करणे २ सन्ना, ३ इंदिय ४ भोमाइ ५ समणधम्मे य ६ । सीलंगसहस्साणं, अट्ठारसगस्स निप्फत्ती " ॥ १ ॥

स्थापना शीलाङ्गरथस्येयम्–

ये न कुर्वन्ति ६०००	ये न कारयन्ति ६०००	ये नाऽनुमन्यन्ते ६०००							
मनसा २०००	वचसा २०००	कायेन २०००							
निर्जिताहारसंज्ञा ५००	निर्जितभयसंज्ञा ५००	निर्जितमैथुनसंज्ञा ५००	निर्जितपरिग्रहसंज्ञा ५००						
श्रोत्रेन्द्रिय १००	चक्षुरिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शेन्द्रिय १००					
पृथिवीकायारम्भ १०	अप्कायारम्भ १०	तेजस्कायारम्भ १०	वायुकायारम्भ १०	वनस्पतिकायारम्भ १०	द्वीन्द्रियारम्भ १०	त्रीन्द्रियारम्भ १०	चतुरिन्द्रियारम्भ १०	पञ्चेन्द्रियकायारम्भ १०	अजीवकायारम्भ १०
क्षान्तियुतान् मुनीन् वन्दे १	समार्दवान् मुनीन् वन्दे २	सार्जवान् मुनीन् वन्दे ३	मुक्तियुतान् मुनीन् वन्दे ४	तपोयुतान् मुनीन् वन्दे ५	संयमयुतान् मुनीन् वन्दे ६	सत्ययुतान् मुनीन् वन्दे ७	शौचयुतान् मुनीन् वन्दे ८	अकिञ्चनान् मुनीन् वन्दे ९	ब्रह्मयुतान् मुनीन् वन्दे १०

तेषां मूलभूतः प्रथमकारणं, भणित उक्तः, आचारः प्रथमअङ्गं, तस्य प्रथमसूत्रे "सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं" इति वचनरचनाप्रकारे, यद्यस्माद्गुरुकुलवासो गुरुपादपच्छायासेवनम् । अयमत्र भावार्थः-श्रीसुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं कथयति स्म-'श्रुतं मया वसता भगवतः समीपे तिष्ठता वक्ष्यमाणमर्थपदमिति'। कः पुनरस्य भावार्थः?, सर्वेण धर्मार्थिना गुरुसेवा विधेयेति । यस्मादेवं तस्मात्सेवितिष्ठेत्तत्र गुरुकुले चरणार्थी चारित्रकामी ।

तथा च गच्छे वसतो गुणाः-

"गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण निज्जरा विउला ।
विणयाउ तहा सारण-माईहिं न दोसपडिवत्ती ॥ १ ॥
जइ वि हु निग्गयभावो, तहा वि रक्खिज्जई स अन्नेहिं ।
वंसकडिल्ले छिन्नो, वि वेणुओ पावए न महिं" ॥ २ ॥

नन्वागमे यतेराहारशुद्धिरेव मुख्यश्चारित्रशुद्धिहेतुरुद्घुष्यते; यदुक्तम्-

"पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नऽत्थि ।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया" ॥ १ ॥

तथा—

"जिणसासणस्स मूलं, भिक्खायरिया जिणेहिँ पन्नत्ता ।
इत्थ परितप्पमाणं, तं जाणसु मंदसद्धीयं" ॥२॥

पिण्डविशुद्धिश्च बहूनां मध्ये वसतां दुष्करैव प्रतिभासते; इत्येकाकिनाऽपि भूत्वा सैव विधेया, किं ज्ञानादिलाभेन कार्यम्?, मूलभूतं चारित्रमेव पालनीयं, मूले सत्येव लाभचिन्ता ज्यायसीति, मैवं वोचः। यतो हन्त! गुरुपारतन्त्र्यवर्जितत्वात् द्वितीयसाध्वपेक्षाऽभावाल्लोभस्यातिदुर्जयतरत्वात् क्षणे क्षणे परिवर्तमानपरिणामेनैकाकिना पिण्डविशुद्धिरेव न पालयितुं शक्यते। तथा चोक्तम्-"एगागियस्स दोसा, इत्थी साणे तहेव पडिणीए। भिक्खविसोहिमहव्वय, तम्हा सबिइज्जए गमणं" ॥१॥ तथा "पिंडिज्जेसणमिक्को" इत्यादि। ततस्तदभावे कथं मूलभूतं चारित्रमेव पालनीयमित्याद्युक्तम्?। अथ कश्चिद् गाढदार्ढ्याशयः शुद्धोञ्छादिनाऽपि निर्वाहयेदात्मानं सोऽपि "सव्वजिणपडिकुट्ठं, अणवत्थाथेरकप्पभेओ य ॥ एगो य सुयाउत्तो, विहणइ तवसंजमं अइरा" ॥१॥ इति वचनात् त्रिभुवनगुर्वाज्ञाविराधकत्वान्न सुन्दरतामास्कन्दति ॥ १२७ ॥

तथा चाह सूत्रकारः-

एयस्स परिच्चाया, सुद्धुंछाइ वि न सुंदरं भणियं ।
कम्माइ वि परिसुद्धं, गुरुआणावत्तिणो बिंति ॥ १२८ ॥

एतस्य गुरुकुलवासस्य, परित्यागात्सर्वतो मोचनेन, शुद्धोञ्छादि शुद्धभैक्ष्यप्रमुखम्, आदिशब्दात् शुद्धोपाश्रयवस्त्रपात्रादिपरिग्रहः। न सुन्दरं शोभनं, भणितं निगदितमागमज्ञैरित्युपस्कारः।

तथात्र-जीवाऽनुशासने तदुक्तिः-

"सुद्धुंछाइसु जत्तो, गुरुकुलचागाइणेह विन्नेओ ।
सवरस्स सरक्खपिच्छ-त्थ घायपायाछिवणतुल्लो" ॥ १०० ॥

ध० र० ।

एवं गुरुबहुमाणो, कयन्नुया सयलगच्छगुणवुड्ढी ॥
अणवत्थापरिहारो, हुंति गुणा एवमाईया ॥ १३३ ॥

एवं मूलगुणसमन्वितं गुरुममुञ्चता, सन्मार्गोद्यमं च कारयता, गुरुबहुमानः कृतो भवति, कृतज्ञता चाराधिता भवति, सकलगच्छगुणवृद्धिः, अनवस्था (मर्यादा) परिहारः कृतो भवति। एवमादयो गुणा भवन्ति। ध० र०।

अथानुशासनम्-

गच्छं गुरुवयणं चिय, चइउं केई चरंति धम्मत्थी ।
तं पि न संगयमेयं, जम्हा सुत्ते इमं भणियं ॥ ९९ ॥

गच्छमाचार्यादिसमुदायं, गुरुवचश्च सूरिभणितं, 'चिय' शब्दः समुच्चयार्थः। त्यक्त्वा परिहृत्य, केऽपि केचन, चरन्ति पर्यटन्ति, धर्मार्थिनश्चारित्रप्रयोजनाः, तदपि गच्छत्यागादिकं, न केवलं पूर्वोक्तमित्यपिशब्दार्थः। न नैव, संगतं युक्तमेतद् गच्छत्यागादि यस्मात्सूत्रे उपदेशपदाख्ये, इदं पुरोवर्ति, भणितं उक्तमिति गाथार्थः ॥ ९९ ॥

सुद्धुंछाइसु जत्तो, गुरुकुलचागाइणेह विन्नेओ ।
सवरस्स सरक्खपिच्छ-त्थ घायपायाछिवणतुल्लो ॥ १०० ॥

शुद्धोञ्छादिषु यत्न उद्यमः, तत्र शुद्धमाधाकर्माद्यदूषितम्, उञ्छं तु भिक्षाऽऽदि, आदिग्रहणाच्छेषानुष्ठानग्रहः, गुरुकुलत्यागादिना गुरुकुलं गच्छः, तदुपशिक्षापरिहारेण, इह प्रवचने, विज्ञेयो बोद्धव्यः। किंविशिष्टः?, शबरनृपेण सरजस्कास्तापसविशेषाः, तेषां पिच्छानि मयूराङ्गरुहाणि, तदर्थं घातो विनाशः, तत्र पादानां चरणानां 'छिवणं ति' देशीभाषया स्पर्शनं, तदभावः, तेन तुल्यः सदृश इति गाथार्थः ॥ १०० ॥ भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-किलैकस्य नरपतेरश्वाः प्रदीपनके मनाक् दग्धाः, क्षतानि च तेषां जातानि, ततो नरपतिना वैद्यः पृष्टः-कथमेते भव्या भविष्यन्ति?। तेनोक्तम्-यदि मायूरपिच्छनिर्मापिततैलेन म्रक्ष्यन्ते, इत्युक्ते नराधिपेन समादिष्टास्तदानयनार्थं निजपुरुषाः, यावत्ते परिभ्रम्य समन्ततः, राज्ञः समीपे कथितं च तैः-देव! न कुत्रापि मयूराङ्गरुहाणि सन्ति मुक्त्वा युष्माकं गुरून्, ते हि तानि सर्वाङ्गेषु धारयन्ति, न च जीवन्तो मुञ्चन्ति, इदमेव तेषां व्रतम्। राज्ञोक्तम्-यद्येवं ततो घातयित्वा तान् समानयत पिच्छान्, परं पादैस्तेषां निजचरणा न लगनीयाः, यतोऽस्माकं ते गुरवः। तत्र ये जीवितव्यतुल्यान् मूलगुणान् नाशयन्ति, पादास्पर्शनसदृशोत्तरगुणरक्षार्थं गच्छाश्रितेत्य ते पर्यटन्ति, तस्मादुत्तरगुणसङ्गेऽपि शुद्धभक्ताभ्यवहारलक्षणे गच्छ एवाऽऽसितव्यमिति।

इदानीं गुरुवचनाऽकरणे सिद्धान्तगाथामाह-

छट्ठट्ठमदसमदुवा-लसेहिँ मासद्धमासखमणाहिं ।
अकरिंतो गुरुवयणं, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥ १०१ ॥

उत्तानार्था ॥ १०१ ॥

यदि पुनर्गच्छो गुरुश्च सर्वथा निजगुणविकलो भवति, तत आगमोक्तविधिना त्यजनीयः, परं कालापेक्षया योऽन्यो विशिष्टतरः, तस्योपसंपद् ग्राह्या, न पुनः स्वतन्त्रैः स्थातव्यमिति हृदयम्। यत एवमतो जीवानुशिष्टिमाह-

हेलाएँ विहामियदो-सपंजरे गच्छवासगुरुवयणे ।
जीव! तुमं थिरचित्तं, करेसु ता सिहरिसिहरं व ॥ १०२ ॥

हेलया लीलया "विहामियं ति" देशीभाषया विनाशितं, दोषा रागादयः, त एव जीवशकुनिनिरोधकत्वात्पञ्जरं, तेन तस्मिन् गच्छवासगुरुवचने उक्तलक्षणे, जीव! आत्मन्! त्वं भवान्, स्थिरं निश्चलम्, अनुस्वारोऽत्र प्राकृतत्वात् लुप्तः, चित्तं मानसं, कुरु विधेहि, तस्मात्, किमिव?, शिखरिशिखरमिव पर्वतशृङ्ग-

मिवेति गाथार्थः ॥ १०२ ॥ जीवा० १७—१८ अधि० ।

अत्र दृष्टान्तमाह–

जहा दियापोतमपत्तजातं,
सावासगा पविउं मन्नमाणं ।
तमचाइयं तरुणमपत्तजातं,
ढंकाइ अव्वत्तगमं हरेज्जा ॥ २ ॥

यथेति दृष्टान्तोपप्रदर्शनार्थः, यथा येन प्रकारेण, द्विजपोतः पक्षिशिशुरव्यक्तः। तमेव विशिनष्टि-पतन्ति गच्छन्ति येनेति पत्रं पक्षपुटं, न विद्यते पत्रजातं पक्षोद्भवो यस्यासावपत्रजातः। तत्र स्वकीयादावासकात् स्वनीडात् प्लवितुमुत्पतितुं, मन्यमानं तत्र तत्र पतन्तमुपलक्ष्य, तं द्विजपोतं (अचाइयं ति) पक्षाभावाद्गन्तुमसमर्थम्, अपत्रजातमिति कृत्वा मांसपेशीकल्पं, ढङ्कादयः क्षुद्रसत्त्वाः पिशिताशिनोऽव्यक्तगमं गमनाभावे गन्तुमसमर्थं, हरेयुश्चञ्च्वादिनोत्क्षिप्य नयेयुर्व्यापादयेयुरिति ॥ २ ॥

एवं दृष्टान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टान्तिकं प्रदर्शयितुमाह–

एवं तु सेहं पि अपुट्ठधम्मं,
निस्सारियं बुसिमं मन्नमाणा ॥
दियस्स छावं व अपत्तजायं,
हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे ॥ ३ ॥

" एवं तु सेहं " इत्यादि। एवमित्युक्तप्रकारेण, तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषं दर्शयति-पूर्वं ह्यसंजातपक्षत्वादव्यक्तता प्रतिपादिता, इह त्वपुष्टधर्मतयेति । अयं विशेषः-यथा द्विजपोतमसंजातपक्षं स्वनीडान्निर्गतं क्षुद्रसत्त्वा विनाशयन्ति,एवं शिष्यकमभिनवप्रव्रजितं सूत्रार्थानिष्पन्नमगीतार्थमपुष्टधर्माणं सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थं सन्तमनेकपापधर्माणः पाषण्डिकाः प्रतारयन्ति, प्रतार्य च गच्छमसुत्पाद्भिःसारयन्ति, निःसारितं च सन्तं विषयोन्मुखतामापादितमपगतपरलोकभयमस्माकं वश्यमित्येवं मन्यमानाः। यदि वा (बुसि त्ति)चारित्रं सदसदनुष्ठानतो निःसारं मन्यमानाः, अजातपक्षं द्विजशावकमिव पक्षिपोतमिव ढङ्कादयः पापधर्माणो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायकलुषितान्तरात्मानः कुतीर्थिकाः स्वजना राजादयो वाऽनेके बहवो हृतवन्तो,हरन्ति, हरिष्यन्ति चेति कालत्रयोपलक्षणार्थं भूतनिर्देश इति। तथाहि-पाषण्डिका एवमगीतार्थं प्रतारयन्ति । तद्यथा-युष्मद्दर्शनेनाग्निप्रज्वालनविषापहारशिखाच्छेदादिकाः प्रत्यया दृश्यन्ते, तथाऽणिमाद्यष्टगुणमैश्वर्यं च नास्ति, तथा न राजादिभिर्बहुभिराश्रितम, याऽप्यहिंसोच्यते भवदागमे, साऽपि जीवाकुलत्वाल्लोकस्य दुःसाध्या, नापि भवतां स्नानादिकं शौचमस्तीत्यादिकाभिः शठोक्तिभिरिन्द्रजालकल्पाभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति। स्वजनादयश्चैवं विप्रलम्भयन्ति । तद्यथा-न भवन्तमन्तरेणास्माकं कश्चिदस्ति पोषकः, पोष्यो वा, त्वमेवास्माकं सर्वस्वं, त्वया विना शून्यमाभाति, तथा शब्दादिविषयोपभोगामन्त्रणेन सद्धर्माच्च्यावयन्ति । एवं राजादयोऽपि द्रष्टव्याः। तदेवमपुष्टधर्माणमेकाकिनं बहुभिः प्रकारैः प्रतार्यापहरेयुरिति ॥ ३ ॥

तदेवमेकाकिनः साधोर्यतो बहवो दोषाः प्रादुर्भवन्त्यतः सदा गुरुपादमूले स्थातव्यमित्येतद्दर्शयितुमाह–

ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं,
अणोसिए णंतकरिं ति णच्चा ।
ओभासमाणे दवियस्स वित्तं,
ण णिक्कसे बहिया आसुपण्णो ॥ ४ ॥

"ओसाणमिच्छे" इत्यादि। अवसानं गुरोरन्तिके स्थानं,तथाभूतं सद्जीवं समाधिं सन्मार्गानुष्ठानरूपमिच्छेदभिलषेन्मनुजो मनुष्यः, साधुरित्यर्थः। स एव परमार्थतो मनुष्यो यो यथाप्रतिज्ञातं निर्वाहयति । तच्च सदा गुरोरन्तिके व्यवस्थितेन सदनुष्ठानरूपं समाधिमनुपालयता निर्वाह्यते, नान्यथेत्येतद्दर्शयति-गुरोरन्तिकेऽनुषितोऽव्यवस्थितः स्वच्छन्दविधायी समाधेः सदनुष्ठानरूपस्य कर्मणो यथाप्रतिज्ञातस्य वा नान्तरो भवतीति ज्ञात्वा सदा गुरुकुलवासोऽनुसर्तव्यः, तद्रहितस्य विज्ञानमुपहास्यप्रायं भवतीति । उक्तञ्च—" न हि भवति निर्विगोपकमनुपासितगुरुकुलस्य विज्ञानम् । प्रकटितपश्चाद्भागं, पश्यत नृत्यं मयूरस्य " ॥ १ ॥ तथा जाङ्गलविलम्भवाद्युक्तां पार्ष्णिप्रहारेण प्रगुणां दृष्ट्वाऽपरोऽनुपासितगुरुरश्वो राज्ञीं संजातगलगण्डां पार्ष्णिप्रहारेण व्यापादितवानित्यादयोऽनुपासितगुरोर्बहवो दोषाः संसारवर्धनाद्या भवन्तीत्यवगम्यानया मर्यादया गुरोरन्तिके स्थातव्यमिति दर्शयति-अवभासयन्नुद्भासयन् सम्यगनुतिष्ठन् द्रव्यस्य मुक्तिगमनयोग्यस्य सत्साधोः रागद्वेषरहितस्य सर्वज्ञस्य व्यावृत्तमनुष्ठानं तत्सदनुष्ठानतोऽवभासयेद्धर्मकथिकः कथनतो वोद्भासयेदिति । तदेवम्-यतो गुरुकुलवासो बहूनां गुणानामाधारो भवत्यतो न निष्कसेन्न निर्गच्छेत् गच्छाद्गुर्वन्तिकाद्वा बहिः स्वेच्छाचारी न भवेत्,आशुप्रज्ञ इति क्षिप्रप्रज्ञः, तदन्तिके निवसन् विषयकषायाभ्यामात्मानं ह्रियमाणं ज्ञात्वा क्षिप्रमेवाचार्योपदेशात्स्वत एव वा निवर्तयति सत्समाधौ व्यवस्थापयतीति ॥ ४ ॥ सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

गुरुकुलवासि (ण्) —गुरुकुलवासिन्–पुं० । गुरुकुलान्निर्गमनेन गुरुप्रतिबद्धे, पं० सू० ४ सू० ।

गुरुकुलवासचाय–गुरुकुलवासत्याग–पुं० । गुरुगृहनिवासत्यजने, पञ्चा० ११ विव० ।

गुरुग–गुरुक–पुं० । अष्टमादौ मासपरिमाणान्ते प्रायश्चित्ते, वृ० १ उ० । गुरुकं व्यवहारं मासपरिमाणेनाष्टमेन वहति, बृ० ५ उ० । प्रकरणनापूरणीये, ('सुत्त'शब्दे प्रसंगोपात्तमस्य स्वरूपम्) " गुरुगो य होइ मासो" गुरुको नाम व्यवहारो मासो मासपरिमाणः गुरुके व्यवहारे समापतिते मास एकः प्रायश्चित्तं दातव्यः । व्य० २ उ० ।

गुरुगइ-गुरुगति-स्त्री० । भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य गौरवेण ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गमनस्वभावतो गतिः सा गुरुगतिः। गतिभेदे,स्था० ८ठा०।

गुरुगच्छवुड्ढिसील–गुरुगच्छवृद्धिशील–त्रि० । आचार्यतच्छिष्यसमुदायोपचयकारणस्वभावे, जी० १ प्रति० ।

गुरुगतर–गुरुकतर–पुं० । चतुर्मासात्मके प्रायश्चित्ते, " गुरुगतरगो चउम्मासो" गुरुकतरको भवति चतुर्मासपरिकर्मा सपरिमाणः । व्य० २ उ० ।

गुरुगति–स्त्री० । 'गुरुगइ' शब्दार्थे, स्था० ८ ठा० ।

गुरुगदरिसण–गुरुकदर्शन–न०। गुरुकाणि च प्रौढानि पयोधरनितम्बादीनि स्थूलोच्चत्वात् सुन्दराणि च यानि दर्शनानि च आकृतयस्तेषु, तं० ।

गुरुगय-गुरुगत-त्रि० । भागवततापसशाक्याद्याश्रिते मिथ्यात्वे, दर्श० ।

गुरुगुणरहिय-गुरुगुणरहित-त्रि० । मूलगुणवियुक्ते "गुरुगुणरहिओ अहिअं, दट्ठव्वो मूलगुणविउत्तो जो" । ध० ३ अधि० । पञ्चा० ।

गुरुगुरु-गुरुगुरु-पुं० । पितामहस्थानीये गुरोः सम्बन्धिनि, बृ० ४ उ० ।

गुरुजण-गुरुजन-पुं० । गुणस्थसाधुवर्गे, आव० ३ अ० ।

गुरुजणपूया-गुरुजनपूजा-स्त्री० । गुरुजनस्य उचितप्रतिपत्तौ, ध० २ अधि० । गुरवश्च यद्यपि धर्माचार्या एवोच्यन्ते, तथाऽपीह मातापित्रादयोऽपि गृह्यन्ते । यदुक्तम्-"माता पिता कलाचार्यः, एतेषां ज्ञातयस्तथा ॥ वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः" ॥१॥ ध० २ अधि०। (विशेषस्त्वत्र 'गुरुपूया' शब्दे वक्ष्यते)

गुरुणिओग-गुरुनियोग-त्रि० । गुरवो धर्माचार्यास्तेषां नियोगो व्यापारणं गुरुनियोगः । उत्त० ४ अ० । पञ्चा० ।

गुरुणिओगविणयरहिय-गुरुनियोगविनयरहित-त्रि० । मातापित्रादिषु नियोगे अवश्यतया कर्त्तव्येन विनयेन रहिते, भ० ७ श० ६ उ० ।

गुरुणिग्गह-गुरुनिग्रह-पुं० । मातापितृपारवश्ये गुरूणां चैत्यसाधूनां प्रत्यनीककृतोपद्रवे, उत्त० २ अ० ।

अथ गुरुनिग्रहे कथा-

"भिक्षूपासकसूरेकः, श्राद्धपुत्रीमयाचत ।
न दत्ते श्रावकः सोऽथ, साधून् शाठ्येन सेवते ॥ १ ॥
भावश्राद्धः क्रमाज्जात-स्ततः सद्भावमूचिवान् ।
अतः श्राद्धेन पुत्री स्वा, दत्ता तां परिणीतवान् ॥ २ ॥
स्थितः पृथग्गृहं कृत्वा, कुरुते धर्ममार्हतम् ।
पितरौ तस्य भिक्षूणां, चक्रतुर्नैकमन्यदा ॥ ३ ॥
ऊचे ताभ्यामेकशोऽथ, वत्सेहि सौगतान्तिके ।
स ययौ भिक्षुणा तस्या-न्निमन्त्रितफलं ददे ॥ ४ ॥
व्यन्तराधिष्ठितः सोऽथ, गृहायातोऽवदत्प्रियाम् ।
भक्तं विधेहि भिक्षूणां, सा नैच्छत्प्रातिवेश्मिकैः ॥ ५ ॥
साऽथ कारितवान् सर्वं, सा गुरूणामचीकथत् ।
आर्पयद् गुरवस्तस्या-स्तद्विद्याछेदनौषधम् ॥ ६ ॥
अथ सा पयसा सार्द्धं, तदपीप्यत्सदैव च ।
नष्टा तद्व्यन्तरी दुष्टा, जातः स्वाभाविकोऽथ सः ॥ ७ ॥
किमेतदिति तत्पृष्टे, कथिते प्रिययाऽखिले ।
तत्प्रासुकान्नपानादि, साधुभ्यो दत्तवान् सुधीः" ॥ ८ ॥

आह-तद्दाने को दोषः ? । उच्यते-तेषां तद्भक्तानां च मिथ्यात्वस्थिरीकरणं, धर्मबुद्ध्या तद्दाने सम्यक्त्वलाञ्छनम्, आरम्भदोषश्च । अनुकम्पया दद्यादपि । उक्तं च-"सव्वेहिं पि जिणेहिं, दुज्जयजिअरागदोसमोहेहिं । सत्ताणुकंपणट्ठा, दाणं न कहिंचि पडिसिद्धं" ॥ १ ॥ स्वयमपि च भगवन्तः सांवत्सरिकदानमनुकम्पया ददुः । "संमत्तस्स समणोवासएणं इमे पंच अइयारा जाणिअव्वा, न समायरिअव्वा । तं जहा-संका, कंखा, विइगिच्छा, परपासंडपसंसा, परपासंडसंथवो । आ० क०" । (शङ्कादिषूदाहरणानि स्वस्वस्थाने)

गुरुणिवेयण-गुरुनिवेदन-न० । सर्वात्मना गुरोः प्रव्राजकस्याऽऽत्मसमर्पणे, ध० ३ अधि० ।

गुरुत्त-गुरुत्व-न० । सर्वत्र गौरवलाभे, यो० बिं० ।

गुरुदव्व-गुरुद्रव्य-न० । गुरुयतिसत्केषु मुखवस्त्रिकासनादिषु, ध० २ अधि० ।

गुरुदार-गुरुदार-पुं० । ब० व० । पितृव्यकलाग्राहकोपाध्यायादीनां पूज्यानां स्त्रियाम, अनु० ।

गुरुदेववेयावच्च-गुरुदेववैयावृत्य-न० । धर्मोपदेशकानामर्हतां च प्रतिपत्तिविश्रामणाभ्यर्थनादौ नियमे, ध० १ अधि० ।

गुरुदेवाइपूयण-गुरुदेवादिपूजन-न० । गुरुदेवादिपूजाविषये बहुमाने, यो० बिं० ।

गुरुदेवोग्गहभूमि-गुरुदेवावग्रहभूमि-स्त्री० । आचार्यदेवाश्रयभुवि, "गुरुदेवोग्गहभूमी-ए जत्तओ चेव होति परिभोगो ।" पञ्चा० १२ विव० ।

गुरुदोस-गुरुदोष-पुं० । गुरुर्महान् दोषोऽशुभकर्मबन्धादिरूपो यस्मिन्नसौ गुरुदोषः पापकृति, "वयभंगो गुरुदोसो, थोवस्स वि पालणा गुणकरी उ ।" पञ्चा० ५ विव० ।

गुरुदोसारंभिता-गुरुदोषारम्भिता-स्त्री० । गुरून् दोषान् प्रवचनोपघातकारिण आरब्धुं शीलमस्येति गुरुदोषारम्भी, तद्भावस्तत्ता । गुरुदोषकरणे, षो० १ विव० ।

गुरुपडिणीय-गुरुप्रत्यनीक-त्रि० । गुरुं प्रति ज्ञानाद्यवर्णवादभाषणादिना प्रतिकूले, आतु० ।

गुरुपडिवत्ति-गुरुप्रतिपत्ति-स्त्री० । मातापितृधर्माचार्यदेवताप्रभृतीनां गुरूणामुचितपूजायाम्, ध० ।

सा चेत्थं योगशास्त्रे-

"अभ्युत्थानं तदालोके-ऽभियानं च तदाऽऽगमे ।
शिरस्यञ्जलिसंश्लेषः, स्वयमासनढौकनम् ॥ १ ॥
आसनाभिग्रहो भक्त्या, वन्दना पर्युपासनम् ।
तद्यानेऽनुगमश्चेति, प्रतिपत्तिरियं गुरोः" ॥ २ ॥

दिनकृत्येऽपि-

"आसणेण निमंतेत्ता, तओ परिअणसंजुओ ।
वंदए मुणिणो ताहे, संताइगुणसंजुए" ॥ ध० २ अधि० । पञ्चा० ।

गुरुपयसेवा-गुरुपदसेवा-स्त्री० । षट्त्रिंशद्गुणसमन्विता गुरवस्तेषां पदानि चरणास्तेषां सेवा । गुरुचरणानां सम्यगाराधने, ध० र० ।

गुरुपरंपरागम-गुरुपरम्परागम-पुं० । तीर्थकृद्गणधराचार्यादिक्रमेण प्रवचनार्थागमे, अनु० ।

गुरुपरम्परागमवक्तव्यतेत्थम्-

तेणं अज्जसुहम्मसामिणा एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए जंबू एवं वयासी-कहं णं भंते ! गुरुपरंपरागमो भणइ ? । जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं तओ आगमा पण्णत्ता । तं जहा-अंतागमे, अणंतरागमे, परंपरागमे । अत्थओ अरहंताणं भगवंताणं अंतागमे । सुत्तओ गणहराणं अंतागमे । गणहरसीसाणं अणंतरागमे । तओ परं सव्वेसिं परंपरागमे । अनु० ।

गुरुपरतंत–गुरुपरतन्त्र–त्रि०। ज्ञानिनिश्रावति, द्वा० २७ द्वा०।

गुरुपरिवार–गुरुपरिवार–पुं०। साधुवर्गे. "गुरुपरिवारो गच्छो, तत्थ वसंताण णिज्जरा बहुला।" पं० व० ३ द्वार।

गुरुपारतंत–गुरुपारतन्त्र्य–न०। ज्ञानाधिकाचार्याऽऽयत्तत्वे, पञ्चा० ११ विव०। षो०। "तत्थ गुरुपारतंतं, विणओ सज्झायसारणा चेव।" पञ्चा० १८ विव०।

गुरुपुच्छा–गुरुपृच्छा–स्त्री०। रत्नाधिकप्रश्ने, "गुरुपुच्छाए णिओगकरणं" पञ्चा० १२ विव०।

गुरुपूयण–गुरुपूजन–न०। भक्तपानवस्त्रप्रणामादिभिरभ्यर्चने, हा० २४ अष्ट०।

गुरुपूया–गुरुपूजा–स्त्री०। वाचनाऽऽचार्यपूजायाम्, श्रा०।

आह गुरू पूयाए, कायवहो होइ जइ वि हु जिणाणं।
तह वि तई कायव्वा, परिणामविसुद्धिहेऊओ ॥३४६॥

आह गुरुरित्युक्तवानाचार्यः–पूजायां क्रियमाणायां कायवधः पृथिव्याद्युपमर्दो यद्यपि भवत्येव जिनानां रागादिजेतृणामित्यनेन तस्याः सम्यग्विषयमाह–तथाऽप्यसौ पूजा कर्त्तव्यैव। कुतः ?, परिणामविशुद्धिहेतुत्वादिति ॥३४६॥ श्रा०। गुरुपूजासत्कं सुवर्णादि द्रव्यं गुरुद्रव्यमुच्यते, नवा ? ॥ १० ॥ प्रागेवं पूजाविधानमस्ति, न वा ? ॥ ११ ॥ कुत्र चैतदुपयोगीति प्रसाद्यम् ? ॥ १२ ॥ इति प्रश्नत्रये उत्तरम्–गुरुपूजासत्कं सुवर्णादि गुरुद्रव्यं न भवति, स्वनिश्रायामकृतत्वात्। स्वनिश्राकृतं च रजोहरणाद्यं गुरुद्रव्यमुच्यते इति ज्ञायते ॥१०॥ हेमाचार्याणां कुमारपालराजेन सुवर्णकमलैः पूजा कृताऽस्ति, एतदक्षराणि कुमारपालप्रबन्धे सन्ति ॥११॥ "धर्मलाभ इति प्रोक्ते, दूरादुच्छ्रितपाणये। सूरये सिद्धसेनाय, ददौ कोटिं नराधिपः" ॥ १ ॥ ही० ३ प्रका०।

गुरुपूयाकरणरइ–गुरुपूजाकरणरति–त्रि०। गुरवः पूज्या लौकिका लोकोत्तराश्च। तत्र लौकिकाः पित्रादयो वृद्धाश्च, लोकोत्तरा धर्माचार्यादयः, तेषां पूजाकरणे रतिर्यस्य। गुरूणां यथोचितविनयादिविधौ शक्तिमति, दर्श०।

गुरुप्पवेस–गुरुप्रवेश–पुं०। गुरूणामुपदेशदानाय ग्रामादिप्रवेशे, ध०। तत्र गुरुप्रवेशोत्सवः सर्वाङ्गीणप्रौढाऽऽडम्बरचतुर्विधश्रीसङ्घसंमुखगमनश्रीगुर्वादिसङ्घसत्कारादिना यथाशक्ति कार्यः। यतः–"अभिगमणवंदणनमंसणेण" इत्यादि। ध० २ अधि०।

गुरुफासणाम–गुरुस्पर्शनामन्–न०। स्पर्शनामभेदे, यदुदयाज्जन्तुशरीरं वज्रादिवद् गुरु भवति। कर्म० १ कर्म०।

गुरुभत्त–गुरुभक्त–त्रि०। गुरवः पूज्याः, तेषु भक्तो गुरुभक्तः। गुरुबहुमानिनि, षो० १२ विव०।

गुरुभत्ति–गुरुभक्ति–स्त्री०। गृणाति शास्त्रार्थमिति गुरुः। आह च–"धर्मज्ञो धर्मकर्त्ता च, सदा धर्मपरायणः। सत्त्वेभ्यो धर्मशास्त्रार्थ–देशको गुरुरुच्यते" ॥१॥ तस्य भक्तिः। गुरुबहुमाने, हा० ३ अष्ट०। गुरवो मातापितृधर्माचार्यादयः, तेषां भक्तिः। मातापित्रादीनामात्मनादिप्रतिपत्तौ, कर्म० १ कर्म०। धर्माचार्यबहुमाने पञ्चा० २ विव०।

गुरुभाव–गुरुभाव–पुं०। गुरुरयं गुणात्मकत्वादित्येवंरूपेऽध्यवसाये, गुरुत्वे गौरवार्हत्वे च। स०।

गुरुमहत्तर–गुरुमहत्तर–पुं०। गुर्वोर्मातापित्रोर्महत्तराः पूज्याः, अथवा–गौरवार्हत्वेन गुरवो महत्तराश्च वयसा वृद्धत्वाद् ये ते गुरुमहत्तराः। गुर्वोर्गौरवार्हत्वेन वा महत्तरेषु, गुरुषु महत्तरेषु च। स्था० १० ठा०।

गुरुमुह–गुरुमुख–न०। सूरिवन्दने, "जत्ताविहाणमेयं, णाऊणं गुरुमुहाउ धीरेहिं।" पञ्चा० ११ विव०।

गुरुमूल–गुरुमूल–न०। गुरोराचार्यस्य मूलमन्तिकम्। ध० २ अधि०। पञ्चा०। कलाचार्यादेः समीपे, आ० म० प्र०। "गुरुमूले निवसंता, अणुकूला जे न हुंति उ गुरूणं ॥ एएसिं तु पयाणं, दूरं दूरेण ते हुंति" ॥५२॥ आव० ४ अ०।

गुरुय–गुरुक–न०। अधो गमनस्वभावे, वज्रादेरिव स्पर्शभेदे, विशे०। स्था०। "इड्ढिरससायगुरुए–णं भोगासंसगिद्धेणं।" स्था० २ ठा० २ उ०। गुरुकर्मणि, सूत्र० १ श्रु० ११ अ०।

गुरुयण–गुरुजन–पुं०। धर्माचार्ये, पञ्चा० ११ विव०।

गुरुयणपुया–गुरुजनपूजा–स्त्री०। मातापितृधर्माचार्यादिपूजने, पञ्चा० ५ विव०।

गुरुयलहुय–गुरुकलघुक–न०। तिर्यग्गामिवायुज्योतिष्कविमानादिके, गुरुलघूभयस्वभावे द्रव्ये, विशे०। आ० म०। भ०। स्था०। ('अगुरुलहुय' शब्दे प्रथमभागे १५७ पृष्ठे वक्तव्यता)

गुरुयसिरिमोहरायआणापरवस–गुरुकश्रीमोहराजाज्ञापरवश–त्रि०। महाज्ञाननृपतिशासनाऽऽयत्ते, जी० १ प्रति०।

गुरुलाघव–गुरुलाघव–न०। गुरु च सारं, लघु चासारं, तयोर्भावो गुरुलाघवम्। प्रव० ४ द्वार। सारेतरताविभागे, पञ्चा० ११ विव०।

गुरुलाघवचिंता–गुरुलाघवचिन्ता–स्त्री०। सारेतरालोचने, पञ्चा० १८ विव०।

गुरुल्लाव–गुरुल्लाप–पुं०। "ह्रस्वः संयोगे दीर्घस्य" ॥८।१।८४॥ इति मध्योकारस्य ह्रस्वः। गुरुसंबन्धिन्युल्लापे, प्रा० १ पाद।

गुरुवग्ग–गुरुवर्ग–पुं०। गौरववल्लोकसमुदाये, "माता पिता कलाचार्यः, एतेषां ज्ञातयस्तथा। वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः" ॥१॥ द्वा० १२ द्वा०। षो०। ध०।

गुरुवय–गुरुवचस्–न०। सूरिभणिते, जी० १ प्रति०।

गुरुवयण–गुरुवचन–न०। रत्नाधिकाज्ञायाम्, पञ्चा०।

गुरुआएसेणं वा, जोगंतरगं पि तदहिगं तमिह।
गुरुआणाजोगम्मि, सव्वेऽवत्था जओ भणितं ॥ ४५ ॥

गुर्वादेशेन रत्नाधिकाऽऽज्ञया। 'वा' शब्दो विकल्पार्थः। योगान्तरमपि स्वभूमिकासदृशयोगादर्थकथनादेरन्यो योगो व्यापारो ग्लानप्रतिजागरणादि योगान्तरम्, तदेव योगान्तरकम्, तदपि, आस्तां स्वभूमिकासदृशयोगम्। यः करोति तस्यानुबन्धनाविधिरिति प्रक्रमः। कस्मादेवमिति ?, अत आह–तस्मात्स्वभूमिकासदृशयोगादर्थकथनादेरधिकं प्रधानतरं तदधिकम्, पुष्टालम्बनवेदिभिर्गुरुभिरुपदिष्टत्वात्। तदिति योगान्तरं ग्लानप्रतिचरणादिः। इह प्रक्रमे। अथ स्वभूमिकोचित एव योगो वि–

धेयः, किं गुर्वादेशाद्यनेन कृतेनेति ?। अत्राह-गुर्वाज्ञाभङ्गे धर्माचार्यादेशविराधने, सर्वे समस्ताः, अनर्था अपाया भवन्ति । एतदेव कुत इति ?, आह-यतो यस्मात्कारणात्, भणितमुक्तमागमे, गुर्वाज्ञाभङ्गेऽनर्थप्रतिपादनपरं वचनम् । इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

तदेव वचनं दर्शयन्नाह-

छट्ठट्ठमदसमदुवा-लसेहिँ मासद्धमासखमणेहिं ।
अकरिंतो गुरुवयणं, अणंतसंसारिओ होति ॥४६॥

षष्ठाष्टमदशमद्वादशैः क्रमेणोपवासद्वयादिस्वरूपैः । तथा-मासार्द्धमासक्षपणैः प्रसिद्धैः । इह व्यक्त्यपेक्षं बहुवचनम् । इह च युक्तोऽपीति शेषो दृश्यः । अकुर्वन्ननाचरन् , गुरुवचनं रत्नाधिकाज्ञाम्,अनन्तसंसारिकोऽनन्तभवभ्रमणयुक्तो, भवति जायते । यतः-संविग्नगीतार्था गुरवो भवन्ति, ते चाऽऽप्तोपदिष्टमेवादिशन्ति, आभिनिवेशिकं च तदकरणं मिथ्यात्वोदयादेव, तदुदयाच्चानन्तसंसारिकत्वं,यदुत्कृष्टतपश्चरणवतोऽपि भवति तथाद्भुतम् । इति गाथार्थः ॥४६॥ पञ्चा० ५ विव० । जी० ।

गुरुवयणाणुसार-गुरुवचनानुसार-गुरवो जिनादयः, तेषामुपदेश आज्ञा, तस्यानुसार आनुरूप्यं गुरूपदेशानुसारः । आज्ञाकल्पे, पञ्चा० १३ विव० ।

गुरुवयणोवगय-गुरुवचनोपगत-त्रि० । गुरोः सकाशाद् वचनमुपयाते, विशे० । अनु० । गुरुप्रदत्तया वाचनया प्राप्ते, ग० २ अधि० ।

गुरुविणय-गुरुविनत--त्रि० । संसारोत्तरणोपायोपदेशकेषु प्रणते, पञ्चा० १७ विव० ।

गुरुविनय--पुं० । गुरोर्बहुमानादौ, षो० ।

गुरुविनयस्वरूपमाह-

औचित्याद् गुरुवृत्ति-र्बहुमानस्तत्कृतज्ञताचित्तम् ॥
आज्ञायोगस्तत्स-त्यकरणता चेति गुरुविनयः ॥१॥

औचित्यादौचित्येन पुरुषभूमिकापेक्षया गुरुवृत्तिर्गुरुषु वर्त्तनं वैयावृत्त्यद्वारेण बहुमान आन्तरः प्रीतिविशेषो भावप्रतिबन्धः सदन्तःकरणलक्षणो न मोहो,मोहो हि सङ्गप्रतिपत्तिरूपः शास्त्रे निवार्यते, गुरुषु गौतमस्नेहप्रतिबन्धन्यायेन तस्य मोक्षं प्रत्यनुपकारकत्वात् । मोक्षानुकूलस्य तु भावप्रतिबन्धस्यानिषेधात्ततः सकलकल्याणसिद्धेः यो हि गुरुकृतमुपकारमात्मविषयं विशिष्टविवेकसंपन्नतया जानाति । यथाऽस्मास्वनुग्रहप्रवृत्तैः स्वकीयक्लेशनिरपेक्षतया रात्रिन्दिवं महान् प्रयासः शास्त्राध्ययनपरिज्ञानविषयः प्रभूतं कालं यावत् कृत इति स कृतज्ञ उच्यते। अथवा-अल्पमप्युपकारं भूयासं मन्यते । अथवा-कृताकृतयोर्लोकप्रसिद्धयोर्विभागेन कृतस्य मतिपाटवाद्विशेषविषयं स्वरूपं परिच्छिनत्ति, न पुनर्जडतया कृतमपि साक्षात्प्रणालिकया वा न वेत्ति, ततस्तद्भावः कृतज्ञता, तेषु गुरुषु कृतज्ञतासहितं चित्तं तत्कृतज्ञताचित्तम् । आज्ञायोगः आज्ञानियोगः शासनम् । यथा राजाऽऽज्ञा राजशासनं, तस्या योग उत्साहस्तया वा आज्ञया योगः संबन्धः । आज्ञां दत्तां न विफलीकर्तुमिच्छति । तत्सत्यकरणता चेति तेषां गुरूणां सत्यकरणता यत् तैरुक्तं तत्तथैव तेषु विद्यमानेषु स्वभूयमानेषु वा संपादयत्येवं तद्वचः सत्यं कृतं भवति । इति गुरुविनयः। एवमेते सर्वेऽपि प्रकारा औचित्याद् गुरुवृत्त्यादयो गुरुविनयो भवति प्रागुक्तः । षो० १३ विव० ।

गुरुविनयस्य किं मूलम् इति ?, आह-

सिद्धान्तकथा सत्सङ्-गमश्च मृत्युपरिभावनं चैव ।
दुष्कृतसुकृतविपाका- लोचनमथ मूलमस्याऽपि ॥ १५ ॥

" सिद्धान्तेत्यादि " सिद्धान्तकथा स्वसमयकथा सत्सङ्गमश्च सत्पुरुषसंपर्कश्च, मृत्युपरिभावनं चैवावश्यंभावी मृत्युरिति । यथोक्तम्-"नरेन्द्रचन्द्रेन्द्रदिवाकरेषु,नियंक्मनुष्यामरनारकेषु । मुनीन्द्रविद्याधरकिंनरेषु, स्वच्छन्दलीलाचरितो हि मृत्युः " ॥१॥ इति । दुष्कृतानां पापानां,सुकृतानां च पुण्यानां, विपाकोऽनुभावः, तदालोचनं तद्विचारणं हेतुफलभावद्वारेण, अथाऽनन्तरं मूलं कारणमस्यापि गुरुविनयस्य सर्वमेतत्समुदितम् ॥ १५ ॥

अधुना गुरुविनयसहितस्य प्रतिपादितमूलस्याऽऽदेयतामुपदर्शयन्निदमाह-

एतस्मिन् खलु यत्नो, विदुषा सम्यक् सदैव कर्तव्यः ।
आमूलमिदं परमं, सर्वस्य हि योगमार्गस्य ॥ १६ ॥

"एतस्मिन्नित्यादि" एतस्मिन् खलु एतस्मिन्नेव प्रागुक्ते सिद्धान्तकथादौ, यत्न आदरो,विदुषा विचक्षणेन,सम्यक् संगतः सदैव सर्वकालमेव कर्त्तव्यो विधेयः। आमूलमभिव्याप्त्या कारणमिदं सिद्धान्तकथादि, परमं प्रधानं, सर्वस्य हि योगमार्गस्य सकलस्य योगवर्त्मनो यतो वर्तते ॥ १६ ॥ षो० १३ विव० ।

गुरुविनयफलं प्रतिपादयन् गुरुविनयमाह-

जो गिण्हइ गुरुवयणं, भन्नंतं भावओ पसन्नमणो ।
ओसहमिव पिज्जंतं, तं तस्स सुहावहं होइ ॥
पुन्नेहिँ चोइया पुर-कएहिँ सिरिभायणं भवियसत्ता ।
गुरुमागमेसि भद्दा, देवयमिव पज्जुवासंति ॥
बहुसोक्खसयसहस्सा-ण दायगा मोयगा दुहसयाणं ।
महा० ५ अ० ।

गुरुवी-गुर्वी-स्त्री० । " तन्वीतुल्येषु " ॥८ । २ । ११३॥ इत्यन्त्यव्यञ्जनस्योकारः । गुरुत्वविशिष्टे स्त्रीत्वविशिष्टेऽर्थे,गर्भवत्याम, प्रा० २ पाद ।

गुरुवेगकड-गुरुवेगकृत-त्रि० । मातापितृचित्तसन्तापकारिणि, हा० २५ अष्ट० ।

गुरुसइ-गुरुस्मृति-स्त्री० । धन्यास्ते ग्रामनगरजनपदादयो येषु मदीया धर्माचार्या विहरन्तीति । गुरुस्मरणे, ध० २ अधि० ।

गुरुसक्खिय-गुरुसाक्षिक-न० । गुरुं साक्षिणं कृत्वा कृते, ध० । त्रिविधं हि प्रत्याख्यानकरणम्-आत्मसाक्षिकम् १, गुरुसाक्षिकम् २, देवसाक्षिकम् ३ चेति। गुरोः पार्श्वे प्रत्याख्यानं कार्यमेव । उक्तं च-"प्रत्याख्यानं यदासीत्तत्करोति गुरुसाक्षिकम् । विशेषेणार्थ गृह्णाति,धर्मोऽसौ गुरुसाक्षिकम्"॥१॥ गुरुसाक्षिकत्वे हि दृढता भवति प्रत्याख्यानपरिणामस्य । "गुरुसक्खिओ हु धम्मो" धर्म २ अधि० ।

गुरुसज्झिल्लग-गुरुसहाध्यायिक-पुं० । गुरूणां सहाध्यायिनि पितृव्यस्थानीये, वृ० ४ उ० ।

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया–गुरुसाधर्मिकशुश्रूषणता–स्त्री० । तत्त्वोपदेष्टुः समानधर्मकर्तुश्च सेवायाम्, उत्त० २९ अ० । दीक्षाद्याचार्याणां साधर्मिकाणां च सामान्यसाधूनां शुश्रूषणतायाम्, ज० १ श० ९ उ० ।

गुरुशुश्रूषणताफलं प्रष्टुकामः शिष्य आह–

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ । विणयपडिवन्ने य णं जीवे अणच्चासायणसीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्सदेवदुग्गईओ निरुम्भइ, वण्णसंजलणभत्तिबहुमाणयाए मणुस्सदेवसुगईओ निबन्धइ, सिद्धिसुगइं च विसोहेइ, पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्वकज्जाइं साहेइ, अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ ॥ ४ ॥

हे भगवन् ! गुरूणामाचार्याणां साधर्मिकाणां एकधर्मवतां शुश्रूषया सेवनया जीवः किं जनयति ? । तदा गुरुराह–गुरुसाधर्मिकशुश्रूषया विनयप्रतिपत्तिं विनयधर्मस्याराधतां विनयाङ्गीकारत्वं जनयति । विनयं प्रतिपन्नः प्रतिपन्नविनयोऽङ्गीकृतविनयो जीवः अनत्याशातनाशीलः सन् आचार्यादीनाम् अभक्तिनिन्दाहीलाऽवर्णवादाद्याशातनानिवारकः सन् नरकतिर्यग्योनि, तथा मनुष्यदेवयोः कुगतिं च रुणद्धि निषेधयति, आचार्याणामत्याशातनानिवारको नरो नरकयोनौ नोत्पद्यते, तिर्यग्योनौ च नोत्पद्यते, मनुष्येषु कुयोनौ म्लेच्छादौ, देवेषु कुयोनौ किल्बिषिकादौ नोत्पद्यते । तथा पुनर्वर्णसंज्वलनभक्तिबहुमानतया मानवेषु उच्चैःकुलेषु सर्वसुखभाक् मनुष्यः स्यात्, वर्णः श्लाघा, तेन वर्णेन संज्वलनं गुणप्रकटीकरणं वर्णसंज्वलनं, भक्तिरभ्युत्थानादिका, बहुमानोऽभ्यन्तरप्रीतिविशेषः । वर्णसंज्वलनं च भक्तिश्च बहुमानश्च वर्णसंज्वलनबहुमानाः, तेषां भावो वर्णसंज्वलनबहुमानता, तया वर्णसंज्वलनबहुमानतया पुमान् भवेत्, यस्य गुणश्लाघाभक्तिप्रीतयः सर्वैः क्रियन्ते, तादृगुत्तमकुलप्रसूतो नरः स्यादित्यर्थः । देवोऽपि च महर्द्धिकः स्यात्, च पुनः, स सिद्धिं सद्गतिं च मोक्षरूपां समीचीनगतिं च विशेषेण शोधयति, प्रशस्तानि च विनयमूलानि श्रुतज्ञानादीनि सर्वाणि धर्मकार्याणि शोधयति । स च स्वयं विनयमूलं सर्वकार्यशोधकः सन् अन्यान् अपि बहून् जीवान् विनेता विनयग्राहयिता भवति । उत्त० २९ अ० । गुरूणां शुश्रूषणं पर्युपासनं, तेन विनयप्रतिपत्तिमुचितकर्तव्यकरणाङ्गीकाररूपां जनयति, "विनयपडिवण्णे" इति प्राग्वत् । प्रतिपन्नोऽङ्गीकृतो विनयो येन स तथा । चः पुनरर्थे, जीवः (अणच्चासायणासीले त्ति) अतीवायं सम्यक्त्वादिलाभं शातयति विनाशयतीत्याशातना, तस्याः शीलं तत्करणस्वभावात्मकस्येत्याशातनाशीलो, न तथाऽनत्याशातनाशीलः । कोऽर्थः?, गुरुपरिवादादिपरिहारकृदेवंविधश्च नैरयिकतिर्यग्योनिकमनुष्यदेवदुर्गतिरिति, नैरयिकाश्च तिर्यञ्चश्च नैरयिकतिर्यञ्चः, तेषां योनिः, स्वार्थिके कनि नैरयिकः । तिर्यग्योनिनैरयिके प्रतीते, मनुष्यदेवदुर्गती च म्लेच्छकिल्बिषिकत्वादिलक्षणे, निरुणद्धि निषेधति, तद्धेतोरत्याशातनाया अभावेन तत्रागमनात् । तथा वर्णः श्लाघा, तेन संज्वलनं गुणोद्भासनं वर्णसंज्वलनं, भक्तिरञ्जलिप्रग्रहादिका, बहुमानः आन्तरः प्रीतिविशेषः, एषां द्वन्द्वे भक्तिप्रत्यये च वर्णसंज्वलनभक्तिबहुमानता, तया प्रक्रमाद् गुरूणां विनयप्रतिपत्तिरूपया (माणुस्सदेवसुगइउ त्ति) मानुष्यदेवसुगती विशिष्टकुलैश्वर्येन्द्रत्वाद्युपलक्षिते निबध्नाति, तत्प्रायोग्यकर्मनिबन्धनेनेति भावः । (सिद्धिसुगइं च त्ति) सिद्धिसुगतिं च विशोधयति । तन्मार्गभूतसम्यग्दर्शनादिविशोधनेन प्रशस्तानि च प्रशंसाऽऽस्पदानि विनयमूलानि विनयहेतुकानि सर्वकार्याणीह श्रुतज्ञानादीनि परत्र च मुक्तिं साधयति निष्पादयति । तत् किमेवं स्वार्थसाधक एवासावित्याह-अन्यांश्च बहून् जीवान् विनेता विनयं ग्राहयिता, स्वयं सुस्थितस्योपादेयवचनत्वात् । तदुक्तम्–"ठिओ ठावए परं ति" । तथा च विनयमूलत्वादशेषश्रेयसां तत्प्रापणेन परार्थसाधकोऽप्यसौ भवत्येवेति भावः ॥ उत्त० २९ अ० । (पाईटीका)

गुरुसुस्सूसग–गुरुशुश्रूषक–पुं० । आराध्यवर्गस्य शुश्रूषां कुर्वति,

साम्प्रतं गुरुशुश्रूषक इति पञ्चमं भावश्रावकमाह–

सेवाइ कारणेण य, संपायण भावओ गुरुजणस्स ।
सुस्सूसणं कुणंतो, गुरुसुस्सूसो हवइ चउहा ॥ ४९ ॥

सेवया पर्युपासनेन १, कारणेन अन्यजनप्रवर्त्तनेन २, संपादनं गुरोरौषधादीनां प्रदानम् ३, भावश्चेतोबहुमानः ४, तावाश्रित्य संपादनभावतः गुरुजनस्याराध्यवर्गस्य, शुश्रूषां कुर्वन् गुरुशुश्रूषको भवतीति । (ध० र०) इह यद्यपि गुरवो मातापित्रादयोऽपि भण्यन्ते, तथाऽप्यत्र धर्मप्रस्तावादिह धर्माचार्यादय एव प्रस्तुता इति । ध० र० ।

सेवइ कालम्मि गुरुं, अकुणंतो झाणजोगवाघायं ॥ ५० ॥

सेवते पर्युपास्ते, कालेऽवसरे, गुरुं पूर्वोक्तस्वरूपं, कथमकुर्वन् ध्यानं धर्मध्यानादि, योगाः प्रत्युपेक्षणावश्यकादयः, तेषां व्याघातमन्तरायं, जीर्णश्रेष्ठिवत् । ध० र० (तत्कथा–'जिण्णसेट्ठि' शब्दे वक्ष्यते)

गुरुसुस्सूसण–गुरुशुश्रूषण–न० । मातापितृपरिचरणे, "प्रारब्धमङ्गलं ह्यस्या गुरुशुश्रूषणं परम् ।" हा० २५ अष्ट० ।

गुरुसुस्सूसा–गुरुशुश्रूषा–स्त्री० । गुरुपरिचर्यायाम्, दर्श० ।

गुरुशुश्रूषा पुनस्त्रिविधा–

"गुरुसुस्सूसा तिविहा, सेवासंपाडणेण नायव्वा ।
इहलोयगुरू पियरो, ताणं सुस्सूसणं कुणइ ॥
आहारवत्थपत्ता-इएसु उज्जमइ इच्छियारेसु ।
भावे उ ताणमवक्-लमवसरे जयइ किच्चेसु ॥
अहवा वि गुरू सम्म-त्तराइगा तेण होइ तिविहा वि ।
नवरं कालोनया, तिविहा वि सुहाणुबंधफला ॥
काले सुणेइ पुच्छइ, पढइ य विस्सामणाइ पकरेइ ।
वाहाविवज्जणट्ठा, साहूणं सव्वकालम्मि ॥
आहारवत्थपत्ता-इयाइ सइ एसणीयं निच्चं पि ।
होएइ मण हु चित्तो, विसेसओ पच्चकालम्मि ॥
इंताणं संमुहो जाइ, गच्छंताणमणुव्वए ।
गुरूणं पायमूलम्मि, चिट्ठई कयपंजली ॥" दर्श० ।

गुम्म–गुम–पुं० । इक्षुरसक्वाथे, आव० ६ अ० । प्रज्ञा० । गुमो द्विधा, द्रव्य-पिण्डभेदात् । स्था० ६ ठा० । औ० । "खंमगुम्ममच्छंमिमाईणं" अनु० । "वर्षासु लवणममृतं, शरदि जलं

गोपयश्च हेमन्ते ॥ शिशिरे चामलकरसो,घृतं वसन्ते गुडश्चान्ते" ॥ १ ॥ सूत्र० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । स्नुहीवृक्षे, स्त्री० । टाप् । वाच० ।

गुलकय–गुडकृत्–त्रि० । गुडसंस्कृते, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

गुलगुंछ–उद्–नमि–धा० । ऊर्ध्वं नयने, " उन्नमेरुत्थङ्घोल्लालगुल-गुञ्छोप्पेलाः" ॥ ८ । ४ । ३६ ॥ इति णयन्तस्योन्नमेर्गुलगुञ्छाऽऽदेशः । ' गुलगुञ्छइ ' उन्नमयति । प्रा० ४ पाद ।

गुलगुलाइय–गुलगुलायित–न० । गुलगुलेतिशब्दानुकरणम । ततः प्रत्ययः । हस्तिशब्दे, जं० ५ वक्ष० । अनु० ।

गुलपाणिय–गुडपानीय–न० । गुडाधारस्थे जले, स० १ सम० । " गुलो जीए कवल्लीए कड्डिज्जति, तत्थ जं पाणियं कयं तत्तम-तत्तं वा, तं गुलपाणियं भण्णति " नि० चू० २ उ० । तच्च गु-मानिर्विकृतिकम । ध० २ अधि० ।

गुलल–कृ–धा० । चाटुकरणे, " चाटौ गुललः " ॥ ८ । ४ । ७३ ॥ चाटुविषयस्य कृगो गुलल इत्यादेशः । गुललइ । चाटुकरो-तीत्यर्थः । प्रा० ४ पाद ।

गुलवावणिया–गुडलापनिका–स्त्री० । लोकप्रसिद्धायां (गुल-लापसी) गुडपर्पटिकायां, गुडधानेषु वा । सू० प्र० २० पाहु० । स्था० । भ० ।

गुलल्ल–देशी–चाटुकरोति, दे० ना० २ वर्ग ।

गुलि–देशी–चुम्बने, दे० ना० २ वर्ग ।

गुलिया–गुटिका–स्त्री० । वटिकायाम् , उत्त० ३ अ० । स्था० । आ० म० । अनु० । वर्णद्रव्यविशेषे, औ० । ज्ञा० । द्रव्यसंयोग-निष्पादितगोलिकायाम, ज्ञा० १ श्रु० १३ अ० । रा० । मुखप्रक्षेप-कस्य रूपपरावर्तादिकारिकायां गुटिकायाम, पिं० । उत्त० ।

गुलिका–गुटिका–स्त्री० । तुम्बवृन्तचूर्णगुटिकायाम् ,बृ० १ उ० । नासिकायाम, औ० । पीलिकायाम् , जी० ३ प्रति० ।

गुलुइय–गुल्मित–त्रि० । सञ्जातगुल्मके, गुल्मकं च लतासमू-हः । जं० १ वक्ष० । गुल्मवति, औ० । ज्ञा० । गुलगुलेत्यनुकर-णशब्दः, ततः प्रत्ययः । हस्तिशब्दे, रा० । जं० ।

गुलुगुंछिय–देशी–नृत्यन्तरिते, दे० ना० २ वर्ग ।

गुलुच्छ–देशी–भ्रमिते, दे० ना० २ वर्ग ।

गुवंत–गुप्यत्–त्रि० । व्याकुलीभवति, 'गुप्' व्याकुले इति वच-नात् । भ० १५ श० १ उ० ।

गुवलय–कुवलय–न० । नीलोत्पले, "मुद्दियगुवलयनिहाणं" नं० ।

गुविय–गुप्त–त्रि० । व्याकुलीभूते क्षुब्धे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

गुविल–गुपिल–त्रि० । गहने, नि० चू० २ उ० । गम्भीरे, बृ० ३ उ० । आ० म० ।

गुव्विणी–गुर्विणी–स्त्री० । सगर्भायाम, ध० ३ अधि० । आपन्नस-त्त्वायाम, पिं० । गर्भवत्याम, दशा० ५ अ० । "तस्स भद्दा भारि-या गुव्विणी " आ० म० द्वि० ।

गुहंधयारालोय–गुहान्धकारालोक–पुं० । तमोग्रन्थिभेदा–नन्दे, ल० ।

गुहा–गुहा–स्त्री० । पर्वतकन्दरायाम, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । जं० । स्था० । गुहास्तम्भिश्च गुहादयः नं० । सुरङ्गायाम,दशा० ७ अ० । सिंहपुच्छीलतायाम; शालपर्ण्याम, अकृत्रिमे देवखाते, हृदये, बुद्धौ, गुह–भावे भिदा अङ् । संवरणे, स्त्री० । वाच० ।

गूढ–गूढ–त्रि० । प्रच्छन्ने स० ३० सम० । गुप्ते, अनुपलक्ष्ये, नि० चू० १० उ० । औ० । विशे० । प्रकटवृत्त्याऽज्ञायमाने,प्रश्न० ४ द्वार । कथमप्युद्वेष्टयितुमशक्येऽपि प्रचयमापन्ने, विशे० । "प्रकाशयन्न लोके मे, गूढगर्भाऽभवत् प्रिया" आ० क० । "सु-सिलिट्ठगूढगोंफा" गूढौ मांसलत्वाद् अनुपलक्ष्याङ्गुल्यौ गुल्फौ घुण्टकौ येषां ते तथा । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

गूढचोर–गूढचोर–पुं० । प्रच्छन्नचौरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गूढत्थ–गूढार्थ–त्रि० । गूढो गुप्तोऽनवगम्यमानोऽर्थो यस्य तद् गूढार्थम । अप्रकाशपाठे, विशे० ।

गूढदंत–गूढदन्त–पुं० । विद्युन्मुखस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, प्रज्ञा० १ पद । नं० । प्रव० । उत्त० । स्था० । भरतवर्षे भविष्यति द्विती-यचक्रिणि, ती० २१ कल्प । श्रेणिकस्य धारिण्यां जाते पुत्रे, स च वीरजिनान्तिके प्रव्रजितः मृत्वा वैजयन्ते उत्पन्नः, इत्यनु-त्तरोपपातिकदशानां द्वितीयवर्गे चतुर्थाध्ययने सूचितम् । अनु० । (' अंतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ८६ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यतोक्ता)

गूढमुत्तोलि–गूढमूत्रावलि–स्त्री० । अपविश्रे रामाभगे, पुंश्चि-ह्ने च । तं० ।

गूढसिराग–गूढशिराक–त्रि० । अलक्ष्यमाणशिराविशेषे, प्रश्न० ४ द्वार । प्रज्ञा० ।

गूढहियय–गूढहृदय–त्रि० । अलक्ष्याभिप्राये, कर्म० । यो हि उदायिनृपमारकादिवत्तथाऽऽत्माभिप्रायं सर्वथैव निगूहति यथा नाऽपरः कश्चिद्वेत्ति । कर्म० १ कर्म० ।

गूढायार–गूढाचार–त्रि० । गूढो मायाग्रन्थिगुपिल आचारः प्रवृत्तिर्यस्य स गूढाचारः, गूढ आचारो येषां ते गूढाचाराः । ग-लकर्तकग्रन्थिच्छेदादिषु, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

गूढायारि(ण्)–गूढाचारिन्–त्रि० । प्रच्छन्नाऽऽचारवति, स० ३० सम० । "गूढायारी निगूहिज्जा" सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

गूढावत्त–गूढावर्त्त–पुं० । गूढश्चासावावर्त्तश्च गूढावर्त्तः । गेन्दुकट्ट-वरकस्य दारुग्रन्थादेर्वा आवर्त्तने, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

गूह–गूथ–न० । पुं० । गूथ–कः । अर्द्धर्चा० । विष्ठायाम, तं० ।

गूहण–गूहन–न० । स्वरूपस्य गोपायने मायाविशेषे, भ० १२ श० ५ उ० । तदात्मके मोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० ।

गूहमाण–गूहमान–त्रि० । गोपायति, आ० १ श्रु० १ अ० ।

गृण्ह–ग्रह्–धा० । उपादाने, "ग्रहेर्गृण्हः" ॥ ८ । ४ । ३९४ ॥ इ-त्यपभ्रंशे ग्रहेर्धातोर्गृण्ह इत्यादेशः । "पढ गृण्हप्पिणु व्रतु" प्रा० ४ पाद ।

गे–गै–पुं० । शब्दे, गीते च । गैः पुमान् शब्दगीतयोः । एकाo ।

गेंदुअ–कन्दुक–न० । " एच्छय्यादौ " ॥ ८ । १ । ५७ ॥ इति "आदेरस्यैत्वम (प्रा०) "मरकतमदकले गः कन्दुके त्वादेः" । ८ । १ । १८२ । इति कस्य गः । वस्त्रादिनिर्मिते गोलके "गेन्द" इति ख्याते, प्रा० १ पाद ।

गेज्झ-ग्राह्य-त्रि० । "पद् ग्राह्ये" ॥८।१।७८॥ ग्राह्यशब्दे आदेरात एद् भवति । 'गेज्झं' आदेये, प्रा० १ पाद ।

गेण्ह-ग्रह्-धा० । "ग्रहो वल-गेण्ह-हर-पङ्ग-निरुवाराहिपच्चु-आः" ॥८।४।२०९॥ इति ग्रहेर्गेण्हादेशः । 'गेण्हइ' गृह्णाति । प्रा० ४ पाद ।

गेण्हिअ-गृहीत्वा-अव्य० । "क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत्" ॥८।४।२१०॥ इति घेदादेशाभावे तथारूपम् । आदायेत्यर्थे,प्रा० १ पाद ।

गेय-गेय-न० । गानयोग्ये, स्था० ४ ठा० ४ उ० । स्वरसंचारेण गीतिप्रायं निबद्धम् । तद्यथा-कापिलीयमध्ययनम् " अधुवे असासयम्मी, संसारम्मि दुक्खपउराए।" इत्यादि । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । ' सरकरणं, सरे संचारो वा गेयं ' । नि० चू० १७ उ० ।

अधुना गेयमाह-

तंतिसमं तालसमं, वण्णसमं गहसमं लयसमं च ।
कव्वं तु होइ गेयं, पंचविहं गीयसन्नाए ॥ १७६ ॥

तन्त्रीसमं तालसमं वर्णसमं ग्रहसमं लयसमं च काव्यं तु भवति । तुशब्दोऽवधारणार्थे एव । गीयत इति गेयं पञ्चविधमुक्तैर्विधिभिर्गीतसंज्ञायां गेयाख्यायाम् । तत्र तन्त्रीसमं वीणादितन्त्रीशब्देन तुल्यं,मिलितं च । एवं तालादिष्वपि योजनीयम् । नवरं ताला हस्ततलाः, वर्णा निषादपञ्चमाऽऽदयः, ग्रहा उत्क्षेपाः, प्रारम्भरसविशेषा इत्यन्ये,लयास्तन्त्रीस्वनविशेषाः,"तत्थ किल कोणएणं तंती छिप्पति,तओ णहेहि अणुमज्जिज्जति,तत्थ अन्नारिसो सरो उट्ठेति,सो लयो त्ति " गाथार्थः॥ १७६ ॥ दश० नि० २ अ० । "अप्पेगइया देवा चउव्विहं गेयं गायंति । तं जहा-उक्खित्तायं पायत्तायं मंदं रोइयावसाणं । " रा० । " चउव्विहे गेये पण्णत्ते । तं जहा-उक्खित्तए पत्तए मंदए रोविंदए" स्था० ४ ठा० ४ उ० । (अष्टौ गुणा 'गीय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ९०१ पृष्ठे उक्ताः)

गेरिय-गैरिक-न० । गिरौ भवम्-ठञ् । वाच० । धातौ, दश० ५ अ० १ उ० । पृथ्वीकायभेदे, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । मणिभेदे,सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । प्रज्ञा० । धातुरक्तवस्त्रे त्रिदण्डिनि परिव्राजके, प्रव० ९४ द्वार । गैरिकरञ्जितवाससि श्रमणभेदे, पुं० । श्रमणभेदे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । आचा० । नं० । कापिले, पुं० । अचलस्य प्रजापतिपुत्रस्य प्रतिपक्षे, ति० ।

गेरुय-गैरिक-न० । 'गेरिय' शब्दार्थे,आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ० ।

गेलण्ण-ग्लान्य-न० । ग्लानत्वे ग्लानभावे, आव० ४ अ० "गेलण्णं रोगो वा भवे, आतंको वा " । नि० चू० १५ उ० । (आगाढाऽनागाढौ द्वौ भेदौ इति ' गिलाण ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ८७७ पृष्ठे उक्तौ)

गेविज्जग-ग्रैवेयक-न० । ग्रीवायां बद्धमलङ्करणम् " कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु" ॥४।२।९६॥ इति (पाणि०)ढकञ् । वाच० । ग्रीवाऽऽभरणे, औ० । रा० । जं० । प्रश्न० । ग्रीवाबन्धने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । ग्रीवेव ग्रीवा लोकपुरुषस्य त्रयोदशरज्ज्वुपरिवर्त्तिप्रदेशः, तन्निविष्टतयाऽतिभ्राजिष्णुतया च तदाभरणभूताद् ग्रैवेयका देशवासाः,तन्निवासिनो देवा अपि ग्रैवेयकाः । उत्त० ३६ अ० । विशे० । अनु० । आ० म० । कल्पातीतविमानेषु तदावासिषु कल्पातीतवैमानिकदेवभेदेषु, स० ३५ सम० । (' ठाण ' शब्दे चैषां स्थानानि वक्ष्यन्ते) उच्चत्वम्-" गेविज्जगाणं देवाणं दोरयणीओ उड्ढं उच्चत्तेणं पन्नत्ता " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

गेविज्जअंगुलिज्ज-ग्रैवेयकाङ्गुलीयक-न० । कण्ठकाद्यूर्मिकाद्येषु, तं० ।

गेविज्जविमाणपत्थड-ग्रैवेयकविमानप्रस्तट-पुं० । लोकपुरुषस्य ग्रीवाभवानि ग्रैवेयकानि, तानि च तानि विमानानि च,तेषां प्रस्तटाः । ग्रैवेयकविमानानां रचनाविशेषवत्सु समूहेषु, स्था० ।

तओ गेविज्जविमाणपत्थडा पण्णत्ता । तं जहा-हिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे । हेट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-हिट्ठिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे । मज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-मज्झिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे । उवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-उवरिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे । (स्था० ३ ठा० ४ उ०) नव गेविज्जविमाणपत्थडा पण्णत्ता । तं जहा-हिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे हिट्ठिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे मज्झिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमहिट्ठिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिममज्झिमगेविज्जविमाणपत्थडे उवरिमउवरिमगेविज्जविमाणपत्थडे । एएसि णं नवण्हं गेविज्जगाणं विमाणपत्थडाणं नव नामधेज्जा पण्णत्ता । तं जहा-भद्दे सुभद्दे सुजाए सोमणसे पियदंसणे सुदंसणे अमोहे य सुप्पबुद्धे जसोहरे । स्था० ९ ठा० ।

गेवेय-ग्रैवेय-न० । ग्रीवाऽऽभरणे,"अद्धहारं वा एगावलिं वा गेवेयं वा मउडं वा " ॥ आचा० २ श्रु० २ चू० ।

गेह-गेह-न० । वास्तुविद्याप्रसिद्धगृहे, सू० प्र० ४ पाहु० । चं० प्र० । गृहे,स्था० ३ ठा० ४ उ० । "गेहं ति वा गिहं ति वा एगट्ठं" नि० चू० २ उ० ।

गेहाकाररुक्खकयणिलय-गेहाकारवृक्षकृतनिलय-पुं० । गेहाकारेषु गृहसदृशेषु वृक्षेषु कल्पद्रुमेषु कृतो निष्पादितो निलय आवासो यैस्ते गेहाकारवृक्षकृतनिलयाः ॥ युगलिकमनुष्येषु,जं० २ वक्ष० । ("तीसे णं समाए तत्थ तत्थ बहवे गेहागारा णामं दुमगणा पण्णत्ता " इत्यादि नवमकल्पवृक्षस्वरूपप्रतिपादकं सर्वं सूत्रकदम्बकम् ' ओसप्पिणी ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्)

गेहागार-गेहाकार-पुं० । गेहं गृहं तद्वदाकारो येषां ते गेहाकाराः । भवनत्वेनोपकारिषु, सुषमसुषमायां नवमेषु कल्पवृक्षेषु, स्था० १० ठा० । स० । गेहस्यैवाऽऽकारो यस्य स गेहाकारः । गृहसंस्थानसंस्थिते,त्रि० । चं० प्र० । जं० । जी० । तं० (वर्णकस्त्वस्य 'ओसप्पिणी' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७ पृष्ठे उक्तः)

गेहायार-गेहाचार-पुं० । गृहकृत्याचरणरूपे कलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

गेहावण-गेहापण-पुं० । गृहयुक्ते आपणे, चं० प्र० ४ पाहु० ।

गेहि-गृद्धि-स्त्री० । गार्द्ध्ये, अभिलाषे, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । प्रासार्थेष्वासक्तौ, भ० १२ श० ५ उ० । ग्रामे, ग्राम्यसुखे, नि० चू० १ उ० । अभिष्वङ्गे, आव० ४ अ० । अभिकाङ्क्षायाम, उत्त० ७ अ० । "सव्वं गेहिं परिन्नाय, एस पणते महामुणी" सर्वां गृद्धिं भोगकाङ्क्षां दुःखरूपतया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत् । परित्यागे गुणमाह-'एस' इत्यादि । एष इति कामपिपासापरित्यागी, प्रकर्षेण नतः प्रह्वो, संयमे, कर्मधूननायां वा महामुनिर्भवति नापर इति । आचा० १ श्रु० ६ अ० २ उ० । "पुढोवमे धुणेइ विगयगेहिं" सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५२ सम० ।

गेहिअ-गेहिक-पुं० । भर्तरि, "गेहिओ हरिओ सरणागओ" उत्त० १ अ० ।

गेहिज्झाण-गृद्धिध्यान-न० । गेहिर्गृद्धिराहाराद्यत्यन्तमाकाङ्क्षा, तस्या ध्यानं गृद्धिध्यानं, मथुरामङ्गोरिव कण्डरीकस्य मुक्तव्रतस्येव वा दुर्ध्यानं, आतु० ।

गेहिधम्म-गेहिधर्मा-पुं० । गृहस्थधर्म एव श्रेयानिति अभिसंधाय तथोक्तकारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० ।

गेहिह्यव्व-गृहीतव्य-त्रि० । गृह्यते उपादीयते कार्यार्थिभिरिति गृहीतव्यः । कार्यसाधके, उत्त० १ अ० । उपादेये, आव० ६ अ० ।

गो-गो-पुं० । गच्छतीति गौः । विशे० । आ० म० । गोशब्दाद् गोधूमस्तत्रशक्तश्च । जै० गा० । खुरककुद्विषाणसास्नालाङ्गूलाद्यवयवसंपन्ने पशौ, जै० गा० । बलीवर्दे, स्था० २ ठा० १ उ० । रा० । "गोशब्दः पशुजुम्यप्सु, वाग्दिगर्थप्रयोगवान् । मन्दप्रयोगे दृष्टधरवु-वज्रस्वर्गाभिधायकः ॥१॥" इति । अनु० । स्था० । वाचि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । दशा० । आ० म० । रश्मौ, वज्रे, स्वर्गे, चन्द्रे, सूर्ये, ऋषभनामौषधे, करणे-डो-नेत्रे, कर्तरि-डोबाणे, वाचि, स्त्री० । दिशि, भुवि, जले, मातरि, पुलस्त्यभार्यायाम, स्त्री० । इन्द्रिये, पशुमात्रे, वृषराशौ, नवमसंख्यायाम, वाच० । आदितीर्थकृल्लाञ्छने, हैम० ।

गोअमज्जिया-गौतमार्यिका-स्त्री० । ऋषिगुप्तान्निर्गतस्य माणवगणस्य द्वितीयशाखायाम, कल्प० ८ क्षण ।

गोआरफली-गोआरफली-स्त्री० । गोआरफली चणकादिद्विदलस्य भर्जिका च द्विदलं स्यान्न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-द्विदलं भवतीति । १६१ प्र० सेन० २ उल्ला० ।

गोआवरी-गोदावरी-स्त्री० । नदीभेदे, गोदावरि ! सरस्वति ! इति जले तीर्थावाहनमन्त्रः । वाच० । प्रा० ।

गोउर-गोपुर-न० । गोभिः पूर्यते इति गोपुरम् । पुरद्वारे, जी० ३ प्रति० । नगरप्रतोल्याम्, ज० ५ श० ७ उ० । प्रतोलीद्वाराणां परस्परतोऽन्तरे,अनु० । प्राकारद्वारे, जी० ३ प्रति० । "दो बलाणगा पागारपमिथिबद्धा ताण अंतरं गोपुरं" नि० चू० ८ उ० । श्रेष्ठद्वारे, कैवर्तीमुस्तके, वाच० ।

गोउल-गोकुल-न० । व्रजे, गवां समूहे, गोष्ठे, आव० ३ अ० । "सामी गोउलगतो" आ० म० प्र० । "आउट्ठो गोउलाणि विउव्विता" आव० ३ अ० ।

गोकण्ण-गोकर्ण-पुं० । गौरिव कर्णौ यस्य । सर्पे, गौरिव कर्णोवस्य । अश्वतरे, मृगभेदे, वाच० । द्विखुरचतुष्पदविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । गोकर्णद्वीपवासिमनुष्ये च । स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रज्ञ० । प्रज्ञा० । उत्त० । गोकर्णमनुष्याणां गोकर्णद्वीपो नामा द्वीपः । जी० ३ प्रति० ।

गोकण्णदीव-गोकर्णद्वीप-पुं० । वैषाणिकस्य परतोऽन्तर्द्वीपे,नं० ।

गोकलिंज-गोकलिञ्ज-न० । गोचरणार्थं महावंशमयभाजनविशेषे, मल्लायाम्, भ० ७ श० ८ उ० । गोकलिंजं नाम यत्र गोभक्तं प्रक्षिप्यते । रा० ।

गोकुलिणी-गोकुलिनी-स्त्री० । गोपालिकायाम्, "तदानीं जिनदास्याश्च, गोकुलिन्याश्च चेतसा ॥ उपप्रयागं मेलोऽभूद्, गङ्गाजमुनयोरिव ॥ १ ॥" आ० क० ।

गोखीर-गोक्षीर-न० । धेनुदुग्धे,कल्प० ३ क्षण । ज्ञा० । औ० । गोक्षीरपाण्डुरं मांसशोणितमिति तृतीयोऽतिशयस्तीर्थकृताम् । स० ३४ सम० ।

गोखीराभ-गोक्षीराभ-त्रि० । गोक्षीरपाण्डुरे, "रुहिरं गोक्खीराभं निव्विसं पांडुरं मंसं" औ० ।

गोघयमंमण-गोघृतमण्मन-पुं० । गोघृतसारे, "गोघयमण्डणं" उपा० १ अ० ।

गोघायय-गोघातक-पुं० । गोघ्ने,गोघातके,पापजीविनि, 'कसाई' इतिप्रसिद्धे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

गोचोर-गोचोर-त्रि० । चोरविशेषे, यो हि धेनुं चोरयति । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गोच्छग-गोच्छक-पुं० । पात्रवस्त्रप्रमार्जनहेतुकम्बलशकलरूपे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । पात्रोपकरणे, तस्य प्रमाणम्-एका वितस्तिश्चत्वार्यङ्गुलानि चतुरस्रम । "होइ य मज्जणहेऊ, गोच्छको भाणवत्थाणं ।" एतदुक्तं भवति-गोच्छकेन पटलानि प्रमृज्यन्ते । औ० । कम्बलमयपात्रकोपरि दीयते । बृ० ३ उ० । पं० व० ।

गोच्छिय-गुच्छित-त्रि० । गुच्छवति, रा० । संजातगुच्छं, गुच्छश्च पत्रसमूहः । भ० १ श० १ उ० । ज्ञा० । औ० ।

गोजलोया-गोजलौका-स्त्री० । जलौकजन्तुविशेषे द्वीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा० १५ पद । जी० ॥

गोजूह-गोयूथ-पुं० । गोसमूहे, पूर्वं नन्दगोपादीनां गवां यूथाः कोटीबद्धा आसीरन्, इदानीं ते तथाभूता न सन्ति, किन्तु पञ्चदशादिसंख्याकाः । व्य० १० उ० ।

गोज्ज-गोज्ज-पुं० । गायके, " जाव गोज्जो माढवेइ " । नि० चू० १ उ० । "एगम्मि एएसे गोज्जो रम्मिओ" दश० १ अ० ।

गोज्झग-गुह्यक-पुं० । देवविशेषे, " केलासभवणाए एगो गुज्झगो समुवट्ठिओ " पि० ।

गोट्ठंगण-गोष्ठाङ्गण-पुं० । गोष्ठमध्ये, आव० ४ अ० ।

गोट्ठामाहिल-गोष्ठामाहिल-पुं० । आर्यरक्षितसूरीणां मातुले, तद्वक्तव्यता किञ्चिदत्र-

एवं विहियपुहत्ते-हिँ रक्खियज्जेहिँ पूसमित्तम्मि ।
ठविए गणम्मि किर गो-ट्ठमाहिलो पडिनिवेसेणं ।२२९६।
सो मिच्छत्तोदयओ, सत्तमओ निन्हवो समुप्पण्णो (२२९७)

एवमुक्तप्रकारेण विहितानुयोगपृथक्त्वैरार्यरक्षितसूरिभिर्दिवं यियासुभिर्घृततैलवल्लघटादिप्ररूपणां सकलगच्छसमक्षं विधाय दुर्बलिकापुष्पमित्रे गणिन्याचार्ये स्थापिते यो मथुरानगर्यामन्यतीर्थिकेन सह वचस्वीतिकृत्वा वाददानार्थं सूरिभिर्निजमातुलको गोष्ठामाहिलः प्रेषित आसीत, स यशःशेषेषु सूरिषु प्रतिवादिनं जित्वा समागतः सन् 'मामेवंभूतं वचस्विनं परित्यज्य अन्योऽयमृषिर्मूककल्पः सूरिभिराचार्य उपवेशितः, तत्पश्य कीदृशं तैः कृतम,"इत्याभिप्रायतः,तया तां च घृतघटादिप्ररूपणां श्रुत्वा प्रतिनिवेशेन गाढानुशयेन यो मिथ्यात्वोदयो जातः,ततः तस्मात्स गोष्ठामाहिलः सप्तमो निह्नवः समुत्पन्नः ।२२९६।२२९७। विशे०। आ०म०।

" पंच सया चुलसीया, तइया सिद्धिं गयस्स वीरस्स ।
आवद्धियआण दिट्ठी, दसउरनयरे समुप्पन्ना ॥ १ ॥
दसउरनगरुच्छुघरे, अज्जरक्खियपूसमित्ततिगयं च ।
गोट्ठामाहिलनवम-ट्ठमेसु पुच्छा य विंझस्स " ॥ २ ॥

नवरं विन्ध्योऽष्टमे कर्मप्रवादपूर्वे कर्म प्ररूपयति। यथा-जीवः प्रदेशैर्बद्धमात्रं कर्म तदेव विघटते,शुष्ककुड्यापतितचूर्णमुष्टिवत् । किञ्चित्स्पृष्टं कालान्तरेण विघटते, आर्द्रलेखकुड्ये सस्नेहचूर्णवत् । किञ्चिद्बद्धस्पृष्टं निकाचितं वह्न्ययःपिण्डन्यायेन जीवेन सहैकीभूतं चिरेणाऽपि वेद्यते । तत श्रुत्वा गोष्ठामाहिल आह-नैवं शास्त्रकृत्संमतम । आह-

पुट्ठो जहा अबद्धो, कंचुइणो कंचुअं समन्नेइ ।
एवं पुट्ठमबद्धं, जीवं कम्मं समन्नेइ ॥ १ ॥

यथा अबद्धः कञ्चुकिनं समन्वेति एवं स्पृष्टमबद्धं कर्म जीवं समन्वेति, जीवेन सहाविभागबद्धं कर्म न वियुज्यते । विन्ध्येनोक्तम-ममैवं गुरुभिराख्यातम । स ऊचे-त्वद्गुरुः किं विजानाति ?। तेन शङ्कितेन गुरुः पृष्टः-किमिदं मया न सम्यक् श्रुतम ?। गुरुराह-सम्यक् श्रुतम । इदमित्थमेव नान्यथा । तेन गोष्ठामाहिलोक्तं कथितम । गुरुराह-एतन्मिथ्या, यथा-अयःपिण्डं वह्निः सर्वात्मना संबध्यते, वियुज्यते च; एवं कर्माऽपि । इत्येतद् गुरोर्ज्ञात्वा विन्ध्येन स भणितः-इत्थमाचार्या भणन्ति । ततः स तूष्णीं स्थितः । अन्यदा नवमे पूर्वे साधूनां प्रत्याख्यानं वर्ण्यते । यथा-" पाणाइवायं पच्चक्खामि जावज्जीवाए " इत्यादि । गोष्ठामाहिलो वक्ति-नैवं, तर्हि कथमित्याह-

पच्चक्खाणं सेअं, अपरिमाणाइ होइ कायव्वं ।
जेसिं तु परीमाणं, तं दुट्ठं आससा होइ ॥ १ ॥

प्रत्याख्यानम अपरिमाणकृतं श्रेयः, कृतपरिमाणं दुष्टं, पूर्णेऽवधौ प्रत्याख्यातवस्तुन आशंसासंभवात् । आशंसाशब्दे सूत्रे प्राकृतत्वादनुस्वारलोपः ।

एवं वदन् गोष्ठामाहिलो विन्ध्येन निषिद्धः । तदा च नवमपूर्वस्य यदवशेषमनुसत्समाप्तम । तथाऽभिनिवेशाद् दुर्बलिकापुष्पाचार्येण सह गोष्ठामाहिलो वादार्थं ढुढौके । तत्र स्वपक्षं स्थापयन् आचार्येणोचे-अहो आर्य ! न हि साधूनां कालावधिप्रत्याख्यानं मृताः सेविष्याम इत्याशंसार्थं, किं तु देवभवे मा भूद्भङ्ग इत्यर्थः । एतच्चाश्रद्दधाने तस्मिन् सर्वसङ्घेन मिलित्वा कायोत्सर्गेण देवता आकृष्टा, सा आगता उवाच-आदिशतु सङ्घः । उक्ता सङ्घेन-गत्वा तीर्थङ्करं पृच्छ-यद् दुर्बलिकापुष्पमित्राचार्यप्रमुखः सङ्घो वक्ति तत् सत्यम ?,उत गोष्ठामाहिलोक्तम ?। तत्साहाय्याय च सङ्घः कायोत्सर्गेण स्थितः । सा तीर्थङ्करं पृष्ट्वा आगता उवाच-सङ्घः सम्यग्वादी, इतरो मिथ्यावादी निह्नवः । स तदपि न श्रद्दधे, मिथ्यावादिन्येषा, न तत्र गता । ततः सङ्घेन बाह्यः कृतः, अनालोचिताप्रतिक्रान्तश्च कालं गतः । आ० क० । आ० चू० । (गोष्ठामाहिलाबद्धिकानामुत्पत्तिः, तन्मतं च 'कम्म' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २५६ पृष्ठे उक्तम) गोष्ठामाहिलाः स्थविराः स्पृष्टमबद्धमेव प्ररूपयन्ति स्म । उत्त० ३ अ० । आ० म० ।

गोट्ठिदासी-गोष्ठिदासी-स्त्री० । जनसमुदायदासिकायाम, "सिहो विज्जुमतीए गोट्ठिदासीए" । आ० म० प्र० ॥

गोट्ठिधम्म-गोष्ठिधर्म-पुं० । गोष्ठिव्यवस्थायाम, इह च समवयसां समुदायो गोष्ठी, तद्व्यवस्था पुनर्वसन्तादाविदं कर्तव्यमित्यादिलक्षणा । दश० १ अ० ।

गोट्ठिल्ल-गोष्ठिवत्-त्रि० । गोष्ठीपतौ, अन्त० ७ वर्ग । विपा० । द्वाविंशतिगोष्ठीवत्पुरुषेषु, वंग० ।

"जत्तिजरनमिरसुरनर-सिरिसेहरकिरणरइयससिरियं ।
नमिउं सिरिवीरपयं, वुच्छं सुयहीलगुप्पत्तिं ॥ १ ॥
वीराउ वीसपे वरि-से सिरिसुहम्मस्सामिनिव्वाणं ।
तत्तो चूयालेसे, सिद्धो जंबू चरमनाणी ॥ २ ॥
तउ इक्कारसवरिसे, पभवस्सूरी गओ तियसभवणं ।
तेवीसाए सिज्जं-भवो य तत्तो गओ सग्गं ॥ ३ ॥
जसभद्दगुरू तत्तो, सीसो सिज्जंभवस्स समयन्नू ।
विहरंतोऽयं पत्तो, सावत्थीकुट्ठगुज्जाणं ॥ ४ ॥
सिरिभद्दबाहुसंभू-इविजयसीसा दुवालसंगधरा ।
पासट्ठिया य निच्चं, कुणंति सुस्सूसणं गुरुणो ॥ ५ ॥
अह भद्दबाहुसीसो, महिलाए अग्गिदत्तनामेणं ।
लच्छिमगे उज्जाणे, सो पमिमाइट्ठिओ तवं चरइ ॥ ६ ॥
इत्तो दुवीसपुरिसा, गोट्ठिल्ला मज्जमंसपरवसगा ।
कामलयाए रत्ता, वियरंति सया तदुज्जाणे ॥ ७ ॥
पासंती तं साहुं, मदंधा निग्घिणा अईपावा ।
अइतिक्खसत्यहत्था, धावंति वहाय समकालं ॥ ८ ॥
पमिया य अंधकूवे, सव्वे गहूण मच्चुणा गहिया ।

अन्नुन्नसत्थपहिया, चिंतेइ मुणी सकरुणाए ॥ ९ ॥
हा हा अकालसमए, वरायया जीवियाउ वुच्छिन्ना ।
जिणधम्मपकरहिया ते, कत्थ वि पत्ता मुणइ नाणी ॥१०॥
इय चिंतित्ता साहू, पारित्ता काउसग्ग तउ चलिओ ।
जत्थेव य गुरुगुरुणो, इरियाए समागओ तत्थ ॥११॥
काऊण य किइकम्मं, तस्स य गुरुणस्स भद्दबाहुस्स ।
संभूइविजयस्स वि, तह पुरो कयंजली पुच्छे" ॥१२॥

इत्थं पुच्छा-भयवं! ते दुवीसगा गोट्ठिल्ला पुरिसा अहम्मिआ अकालं कालधम्मेण पत्ता कहिं उववन्ना ?। कत्थइ वा जोणिमंडले कम्मणा परिब्भमिस्संति ?। ते दुवीसगा किं सुलहवोहित्तिणो,उयाहु दुल्लहवोहित्तिणो?, त्ति पासिय मम संसयं विहामेउ ?। तए णं से जसभद्दगुरू तुंगियायणसगुत्ते तिमवग्गोवगए दिट्ठिवायंतभावियंतकरणे सुउवओगं पउंजमाणे तेसिं दुवीसगोट्ठिल्लाणं पुरिसाणं गईओ उववायं कम्मणा जोणीमंडलपरिब्भमणं वोहिदुल्लहं नाऊण तं अग्गिदत्तसीसं एवं वयासी-अग्गिदत्ता ! ते गोट्ठिल्ला पुरिसा तुम वहयट्ठयाए पहावेमाणे मज्जपरवसगा अंधकूवम्मि पमिया समाणा परुप्परतिक्खसत्थेहिं छिन्नंगुवंगा अट्टदुहट्टवसा पुणो पुणो कामलयं गणियं कंखमाणा अंतमुहुत्ताए तदज्झवसाणेणं, तीसे णं कामलयाए गणियाए तेहिं गोट्ठिल्लपुरुसेहिं किमिजोणियत्ताए संकमाहिं अउल्ला दुरहियासा घणवेयणा पाउब्भूया। तीसे णं वेयणाए कामलया गणिया पीडिया समाणी अणेगाणं विज्जाणं चिगिच्छगाणं थणं उवदंसेमाणी बहुमंततंतओसेधभेसज्जेण पमियारं करेमाणी संचिट्ठति। तया णं अग्गिदत्ता ! एगए णं विज्जे सत्थकम्मेणं लद्धोववाए उरो य वियारणए ते दुवीसकिमिकीडगा वेइंदिया अट्ठियमंससोणियवद्धा साहरिय जलभरियभायणे पमुत्ता णं कामलयाए उवदंसेइ, पुणो वि थणमंसचम्मं संधिसुत्तेण मालेइ, संरोहणोसहेण समाहिज्जइ। तए णं अग्गिदत्ता ! सा कामलया तेहिं दुवीसकीमगेहिं थणमज्झकड्ढिएहिं उप्पन्नसमाहिया जयणी तं विज्जं विउल्लेण असणपाणखाइमसाइमवत्थमल्लालंकारेण य जीवियारिहपीइदाणेण य तोसइत्ता विसज्जेइ। तए णं सा कामलया गणिया तेसु किमिकीमगेसु पुव्वनेहाणुमया सकरुणं चिंतेइ-मा इमेसिं ववरोवणं मम हत्थाओ भविस्सइ त्ति गहाय महिहाए पुरीए खाइयमज्झवाडियदुग्गंधसुक्कसोणियकोट्ठगंमि उब्भयइ। तत्थ वि ते दुवीसकिमिकीमगा आयवउण्हातएहिं अभिभूया समाणा अंतमुहुत्तपहुत्तेहिं कालं गया। तओ णं अग्गिदत्ता ! साहारणवणेसु मुत्थाकंदएसु एगिंदियत्ताए उववज्जिस्संति । तीओ कालेहिं खणिज्जमाणे कट्टिज्जमाणे ते दुवीसकिमिसत्ता पुढवीदगागणिपवणवणस्सइएसु पंचसु एगिंदियेसु जहन्नमज्झिमगहिइं पूरिस्संति । ततो वि य अग्गिदत्ता ! ताणं दुवीसकिमिजीवाणं तीसे णं कामलयाए उयरंसि गंमोलयत्ताए उप्पत्ती भविस्साति । तओ चिगिच्छएणं दिन्नं विरेयणं, तेसिं दुवीसगंमोलगाणं अहिट्ठाणदारेणं पुरीसलित्तंगाणं पाडियाणं अंतमुहुत्ता विवन्नाणं तत्थेव पुरीसे तेइंदियत्ताए उप्पत्ती भविस्सति। ततो वि अंतमुहुत्ताउएणं ते दुवीसा तेइंदिया विवन्ना समाणा तमेव पुरीसे चोरिंदिया होहिंति । एवं च णं तीसे कामलयाए उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणवंतापित्तेसु मत्तवारं विगलिंदियत्तणं जहाकमं पाविहिंति । इत्थमेगूणतीसभववत्तव्वया । तओ पुणो अग्गिदत्ता ! ते दुवीसगोट्ठिल्लपुरिसा तीसइमे भवे तीसे गणियाए गेहे मोयगहणनिद्धमणे मंडुका समुप्पिस्संति । ततो दिणपुहुत्तेणं आउमइक्कम्म इगतीसिमे भवे मूसया गब्भुब्भवा तीसे कामलयाए गणियाए गेहे होहिंति । तओ य मासपहुत्ता आउक्खएणं दुतीसइमे भवे तीसे णं कामलयाए गणियाए गिहे सवद्दारदेसम्मि गता सूअरत्तं अणुहवइस्संति । तत्थ ते दुवीसगा सूयरा रुद्दा पयंडा पीणखंधा कामगिद्धा दाढाविलंवियवयणा कद्दमचिट्ठाविलित्तगत्ता तेणं चेवाहारेणं वित्तिं कप्पेमाणा परुप्परं रोद्दस्सरेणं गुंजमाणा वहूणं पाणीणं विमद्दणट्ठाए अप्पाणं सहरिसं मन्नमाणा वासपहुत्तट्ठिइखएणं कालं किच्चा सेलसरीरगावया तेत्तीसइमे भवे अवंतीजणवएसु सोवागकुलेसु उववज्जिस्संति । तत्थ णं ते दुवीसगा सोवागा वुड्ढिं पत्ता हुंडसंठाणे दीहदंता लंवोयरा नीलीयरा विसिन्ननासिका अदंसणिज्जा जणाणं दुगंछामुप्पायमाणा सकम्मकुसला अवि होहिंति । तए णं ते दुवीसकम्मकुसलत्तणेणं विण्णाणगुणेण य उवाएण कम्मुपायणेण वहुअतरदविणजायं एगओ मेलइस्संति । तद्दव्वजीवियट्ठाए उवभुंजेमाणा विहरंति । इत्थंतरम्मि अग्गिदत्ता ! सा कामलया गणिया वुड्ढिं पत्ता समाणी वहूणं अत्थणाण य मग्गणाण य भिक्खायरियाण य अत्थयमाणी परियरमाणी नियगसयणजणं आपुच्छित्ता परिव्वायगधम्मे परिवंधाणुरागा महिलानयरीओ निग्गच्छति। निग्गच्छित्ता कासीजणवयमज्झट्ठियसुरसरिउवकंठियाणं परिव्वायगाणं अंतिए आगआ सासणमूलं परिव्वायगधम्मं उवसंपज्जित्ता णं चिट्ठइ; तए णं सा कामलया गणिया सुद्धपरिव्वाइया भविस्सइ । अमयाइ सा कामलया परिव्वाइया कासीजणवयाओ वहिया सव्वतित्थाइनमंसणट्ठयाए नियगुरुं आपुच्छित्ता वहिया जणवयविहारं विहरमाणी तित्थाइनमंसमाणी अवंतिदेसट्ठियसिप्पासरी।देसु अणेगाहिं परिव्वाइगाहिं सद्धिं संपरिवु-

डा धाउरत्तवत्थपरिहिया तं दंडिकुट्टियं अंकुसवरमालपवित्तियहत्था समाणा आगमिस्सइ । तए णं सा कामलया परिव्वाइया सिप्पासरीतमेसु समागयं जाणित्ता अणेगे अवंतिजणवयमज्झिमल्ला सेट्ठिसेणावइमंतिणो वहवे उत्तमा य मज्झिमा य पुरिसा इत्थिआ य जत्ताए हव्वमागमिस्संति । तत्थ णं ते दुवीससोवागा तीसे णं जत्ताए आगमिस्संति । तीसे णं कामलया परिव्वाइया तेसिं सिट्ठी० जाव इत्थीणं पुरओ सोयमूलं परिव्वायगधम्मं परूवेइ । एवं खलु अम्हे सोयमूले धम्मे पन्नत्ते । से वि य सोए दुविहे पन्नत्ते । तं जहा- दव्वसोए १ भावसोए अ २ । दव्वओ उदयमट्टियाए य, भावओ दसेहि य मंतेहि य । जं णं अम्हं किंमिहि असुई भवइ, स य मट्टियाहिं लिंपिज्जइ, तओ सुद्धोदएणं पक्खालिज्जइ, तते णं सा असुई सुई हवइ, एवं खलु सत्ता जलाभिसेए सते परं पयं गच्छंति । तया णं ते दुवीससोवागा कामलयापरिव्वाइयावुत्तं सोयं धम्मं सोच्चा हट्ठतुट्ठा धम्मं अभिसद्दहमाणा रोहमाणा कामलयापरिव्वाइयाए अंतिए तिपयाहिणापुव्वं सोयमूलं धम्मं पडिवज्जिहिंति, पुणो वि कयपणामा सएसु गिहेसु पडिगमिस्संति, परिव्वायगधम्मपरमभत्ता होहिंति । अह ते दुवीससोवागा मिच्छादंसणधारिणो अण्णधम्मपडिणीया हुंता सेसाणं पंचदरिसणाणं, विसेसओ जिणमग्गपवन्नाणं संजयसड्ढाणं जिणवयणाणं अवण्णवाइणो पडिणीया निंदणीया होहिंति । तओ ते दुवीससोवागा परिव्वायगधम्माणुरत्ता जिणधम्मस्स अवण्णवायं उच्चारेमाणा अन्नया कयाइं आमंतणे अणेगाहिं गिहियं दाणं आहारेमाणे मरणमणवकंखमाणे पंचवासं परिव्वायगधम्मं परमभावपरियागं पाउणित्ता आउक्खयम्मि तत्थेव अवंतिदेसे चउतीसइमे भवे भंडसकुलेसु उववज्जिहिंति । तओ णं ते दुवीसभंडिया कमेण वुड्ढिं पत्ता दुट्ठा रुद्दा साहसिया वियालचारिणो अणेगसेट्ठिसेणावइअमच्चनरवइणो भंमचिट्ठे विहरमाणा विहरिस्संति । अन्नया कुमत्थलनयरम्मि वंजदीवरायापुरओ अणुसवेसविमंवियं अणुसदासपरिकीलियं वुड्ढचिंधं उवदंसमाणा एगं साहुजुगलं अट्ठमपारणंसि गोयरचरियाए विहरमाणं पासिस्संति । एयम्मि समए एगेणं तत्थ दुट्ठपुरोहिएणं कयसन्ना ते दुवीसभंडगा कलकलारवं करेमाणा पहाविस्संति, तं साहुजुगलं संघट्टइस्संति, परियावइस्संति, किलामइस्संति, हीलइस्संति, खिंसिस्संति, निंदिस्संति, पुरोहियपमुहाणं हासं जणइस्संति, तह वि हु त साहुजुयलं मोणावलंबियं दट्ठूण संता तत्ता समाणा सयमेव संसट्ठचिट्ठाइंमि मद्दवजावं पडिवन्ना तं साहूणं जुयलं वुहियं ति कट्टु विसज्जिहिंति । तए णं अग्गिदत्ता ! ते दुवीसभंडगा अकम्मा अकालविज्जुपाएण पज्जलियंगा भविस्संति । तीए णं पणतीसइमे भवे मज्झे विसएसु पुहो पुहो कुलेसु चउदसविज्जापारया दिया समुप्पज्जइस्संति । तते णं ते दुवीसदिया धाराउरे जन्नदत्तदियामंतणेणं जन्नवाडम्मि ठिया पिहियदुवारा दव्वेहिं घएहिं हवणं करेमाणा वज्झग्गिणा उट्ठिएण दड्ढा हुंता अट्टज्झाणोवगया पिवासासोसियकंठा सिप्पाणईए दहम्मि मच्छा होहिंति । एवं सत्तभववत्तव्वयाओ जलयराणं मज्झे, तओ णं नवभववत्तव्वया खयरजोणीसु, तओ य एक्कारसभववत्तव्वया थलयराणं मज्झे । एवं च णं अग्गिदत्ता ! दुसट्ठिभवग्गहणं णेयव्वं । तेसिं इत्थंतरम्मि दुसट्ठिमे भवे ते गोट्ठिल्लपुरिसजीवा मिया उप्पज्जिस्संति । तए णं ते दुवीसमिया वुड्ढिं पत्ता अपरिकम्मवणदवग्गिदड्ढा सेलपरिगावया तेसट्ठिमे भवे मज्झे विसएसु सावयवाणियकुलेसु पुहो पुहो समुप्पज्जिस्संति । तए णं ते दुवीसवाणियगा उम्मुक्कबालवत्था विसायपरिणयमित्ता वुड्ढा धिट्ठा कुसीला परवंचणा खलुंका पुव्वभवमिच्छत्तभावाओ जिणमग्गपडिणीया देवगुरुणिंदणया तहारूवाणं समणाणं माहणाणं पडिकुट्ठकारिणो जिणपसुत्तं तत्तं असद्दहमाणा अत्तपसंसिणं बहूणं नरनारीणं सहस्साणं पुरओ नियकप्पियं कुमग्गं आघेएमाणा पन्नवेमाणा परूवेमाणा जिणपडिमाणं भंजणया णं हीलंता खिंसंता निंदंता गरिहंता परिहवंता चेइयतित्थाणि साहुसाहुणी य उद्दावइस्संति । तया णं अग्गिदत्ता ! सा कामलया परिव्वाइया अट्ठुत्तरिवासाइं गिहवासं किच्चा दुतेरसवासाइं परिव्वायगधम्ममणुरत्ता चउरुत्तरं वाससयं सव्वाउयं पाउणित्ता सत्तअहोरत्तनिरसणट्ठिया कालं किच्चा वाणवितरस्स सुवत्थस्स दाहिणे दिसि देसूणपलिओवमाउया सुवत्था नामं देवी उप्पज्जिस्सति । सा सुवत्था वाणवितरी ओहिणा पुव्वबहुभवसंबंधिणो ते दुवीसवाणियगे पासित्ता हट्ठतुट्ठा ताणं दुवीसवाणियगाणं दुट्ठाणं० जाव परिहवंताणं पुव्वभवपत्तओ सहियाणं परमपिईए साहाएज्जं करिस्सति । तया णं अग्गिदत्ता ! ते दुवीसवाणियगा दुट्ठा० जाव परिहवंता तीसे णं सुवत्थावाणवंतरीए साहज्जेणं धणेणं धन्नेणं पुत्तकलित्तिआएणं पीईसक्कारसमुदाएणं वड्डिस्संति । तया णं ते दुवीसवाणियगा दुट्ठा० जाव परिहवंता धनेणं धन्नेणं० जाव समुदाएणं वड्ढिया समाणा बाहाहिं अप्पाणं अप्फोडिस्संति वि

वग्गिस्संति,बहूणं नरनारीसहस्साणं पुरओ एवं परूवइस्संति–जओ णं अम्हाणं एस धम्मे सव्वे अट्ठे परमट्ठे, सेसे अणट्ठो, हंजो माणुस्सा ! पासह–अम्हाणं किच्चफलं इहलोए वि पयर्क,किमंग ! पुण फलकट्टणं ति तुम्हे वि अम्ह धम्माणुट्ठाणपरा होह त्ति कट्टु आहियं नियगमइविगप्पियं सच्छंदबुद्धिमग्गं आइक्खइस्संति । एवं च णं अग्गिदत्ता ! ते दुवीसवाणियगा पव्वज्जसावयधम्मगा छण्हं दरिसणाणं मज्झे एगमवि दरिसणमसद्दहंता सकप्पियं पहं पहावेमाणा असंखकालं० जाव दुल्लहबोहियत्ताए कम्मं पकरिस्संति, सामिपरूवियस्स सुयस्स हीलणेणं जविस्सइ। तया णं सुयहीलणयाए समणाणं निग्गंथाणं नो उदए पूआ सक्कारे संमाणे जविस्सइ, अइदुक्करं धम्मपालणं भविस्सइ । तए णं अग्गिदत्ता ! दुवीसवाणियगा दुट्ठा० जाव परिहवंता पन्नरसवासाइं अहिकंच अणाणुपुव्वीए चउरंत नवनवइवासपरियागं पाउणित्ता सोलसरोगायंकाहिं परिजूया समाणा अट्टज्भाणोवगया कालं किच्चा धम्माइपुढवीए पढमपयरम्मि दसवाससहस्सट्ठिईए नेरइयत्ताए उववज्जिहिंति । तओ य लग्गिस्सइ धूमकेउग्गहो, तस्स ठिई तिन्नि सया तेत्तीसा एगरासिवरिसाणं, तम्मि य मीणपइट्ठो उ मिच्छजावं पडिवज्जणाउ णाणाविहजोणीसु कम्मणा तेसिं परियट्टणं हविस्सइ । एवं णं अग्गिदत्ता ! जीवा सावयत्तणमवि लद्धूण सुयहीलणाए दुल्लहबोहिणो हविस्संति ।

"अह अग्गिदत्तसाहू, पुणो वि पुव्वं गुरुकयपणामा ।
अज्ज! कया होही सुय–हीला अवि कया उदओ ॥१॥
भणइ जसभद्दसूरी, सुउवओगेण अग्गिदत्तमुणिं ।
सुणसु महाभाग! जहा, सुयहीलणमह जहा उदओ ॥२॥
मोक्खाउ वीरपहुणो, दुसएहिँ य एगनवइअहिएहिँ ।
वरिसाइ संपइनिवो, जिणपडिमाभावगो होही ॥ ३ ॥
तत्तो सोलसएहिं, नवनवइ पुणो जुएहि वरिसेहिं ।
ते दुट्ठा वाणियगा, अवन्नइस्संति सुयमेयं ॥ ४ ॥
तम्मि समएँ अग्गिदत्ता !, संघसुयजम्मरासिनक्खत्ते ।
अमतीसइमे दुट्ठो, लगइस्सइ धूमकेउगहो ॥ ५ ॥
तस्स ठिई तिन्नि सया, तेत्तीसा एगरासिवरिसाणं ॥
तम्मि य मीणपइट्ठो, संघस्स सुयस्स उदयत्थी ॥ ६ ॥
इय जसभद्दगुरूणं, वयणं सोच्चा मुणी सुवेरग्गो ॥
पायाहिणं कुणंतो, पुणो पुणो वंदणं कुणइ ॥ ७ ॥
आपुच्छिऊण सूरिं, सुगुरुं तह भद्दबाहुसंजूइं ।
संलेहणं पवन्नो, गओऽग्गिदत्तो पढमकप्पे ॥८॥
इय सुयहीलणुप्पायण–फलाफलं जाणिऊण अन्ने वि ।
जसभद्दे जिणवयणे, दढचित्तो होह पइदिवहं " ॥९॥

॥ इय वंगचूलियाए सुयहीलुप्पत्ती अज्झयण संमत्तं ॥

गोट्ठी–गोष्ठी–स्त्री० । गावोऽनेका वाचस्तिष्ठन्ति अत्र । स्था-घञर्थे कः। "अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्कङ्गुमञ्जिपुञ्जिपरमे बर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः" ॥८।३।९७॥ इति (पाणि०) षत्वम् । गौरा० ङीष् । वाच० । " कगटमतदपशषस ≈ क ≈ पामूर्ध्वं लुक् " । ॥८ । २ । ७७ ॥ इति षलुक् । प्रा० २ पाद । महत्तरादिपुरुषपञ्चकपरिगृहीते, वृ० २ उ० । जनसमुदायविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । परस्पराऽऽलापे, पोष्यवर्गे च । वाच० ।

गोड–गौड–पुं० । देशभेदे, कल्प० ७ क्षण । स च देशो वङ्गदेशाद्दक्षिणस्यां समुद्रान्तिके । (प्रश्न० १ आश्र० द्वार) अनार्यक्षेत्रेष्वन्तर्भवति । तद्वासिनि म्लेच्छजातीये मनुष्ये च । प्रव० २७४ द्वार । सू० प्र० ।

गोडवागरण–गौडव्याकरण–न० । विंशतिव्याकरणानां षोडशे, कल्प० १ क्षण ।

गोडी—गौडी–स्त्री० । गुडनिष्पन्नायां मदिरायाम्, बृ० २ उ० । " ओजःप्रकाशकैर्वर्णै-र्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥ समासबहुला गौडी, " इत्युक्तलक्षणे काव्यरीतिभेदे, वाच० ।

गोड्ड–गौड्य–न० । गौड्यरसोपेते मधुररसोपेते, भ० १८ श० ६ उ० ।

गोण–गो–पुं० । " गोणादयः " । ८ । २ ।१७४॥ इति गोशब्दस्य स्थाने निपातः। प्रा० २ पाद। बलीवर्दे,दश० ५ अ० १उ० । आचा० । उत्त० । ओ० । स्था०। प्रश्न० । जं० । प्रज्ञा० । "गोणं वियातं" । आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

गौण–न० । गुणैर्निर्वृत्तं गौणम् । उत्त० २९ अ० । गौणानि गौणनिष्पन्नानि । प्रश्न०१ आश्र० द्वार । गुणेभ्य आगतं गौणम् । कल्प० ४ क्षण । स्था० । "अव्यभिचारी मुख्यो-ऽविकलोऽसाधारणोऽन्तरङ्गश्च, विपरीतोऽर्थो गौणः " । स्था० ६ श्लोक । नि० चू० । " गोणं गुणणिप्पन्नं नामधेज्जं करिंति । " किमुक्तं भवति?, इत्याह–गौणशब्दोऽप्रधानेऽपि वर्त्तते इत्यत उक्तं गुणनिष्पन्नम् । औ० । सूत्र० । आचा० । ज्ञा० । विशे० । गुणप्रधाने, विपा०१ श्रु०२ अ० । नामनि, पिं० । ('नाम' शब्दे व्याख्या) ।

से किं तं गोणे ?। गोणे खमइ त्ति खमणो, तपइ त्ति तपणो, जलइ त्ति जलणो, पवइ त्ति पवणो । सेत्तं गोणे।

"से किं तं गोणे" इत्यादि,गुणैर्निष्पन्नं गौणं,यथार्थमित्यर्थः । तच्चानेकप्रकारं, तत्र क्षमत इति क्षमण इत्येतत् क्षमालक्षणेन गुणेन निष्पन्नं, तथा तपतीति तपन इत्येतत्तपनलक्षणेन गुणेन निर्वृत्तम्, एवं ज्वलतीति ज्वलन इतीदं ज्वलनगुणेन संभूतम् । इत्येवमन्यदपि भावनीयम् । अनु० ।

गोणंगुल–गोलाङ्गूल–पुं० । लङ्गूरे वानरे, भ० १२ श० ८ उ० ।

गोणंगुलवसभ–गोलाङ्गूलवृषभ–पुं०। गोलाङ्गूलानां वानराणां मध्ये महान् स एव वा विदग्धः, विदग्धपर्यायत्वात् वृषभशब्दस्य । विशिष्टवृषभे, भ० १२ श० ८ उ० ।

गोणणाम–गौणनामन्–न० । गुणैर्निष्पन्नं गौणं, तच्च नाम च गौणनाम । यौगिकनाम्नि, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

गोणपोत्तय-गोपुत्रक-पुं० । गोवत्से, उत्त० ५ अ० ।

गोणभोजूत-गौणगोभूत-त्रि० । बलीवर्दकल्पे, बृ० २ उ० ।

गोणलक्खण-गोलक्षण-न० । सास्नाविलरूद्यो मूषिकनयनाक्ष न शुभदा गाव इत्यादिके गोजातीयलक्षणे, जं० २ वक्ष० । द्वात्रिंशत्कलाभेदे, स० । ज्ञा० ।

गोणस-गोनश(स)-पुं० । निःफणाहिविशेषे,प्रश्न० १ आश्र० द्वार। जी० । प्रज्ञा० । सरीसृपभेदे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

गोणसखाइयाइ-गोनसखादितादि-पुं० । स्त्री० । "गोणसखइयाइ रुप्पुए वा वि" । (७) आव० ५ अ० । गोनससरीसृपप्रभृतौ,आदिशब्दात् गोधेरकादिपरिग्रहः । पञ्चा० १६ विव० ।

गोणागिति—गवाकृति—पुं० । गवये, नि० चू० १ उ० ।

गोणिय-गाविक-त्रि० । गोक्रयविक्रयकारिषु, व्य० ६ उ० ।

गोणिपाण-गोपान-न० । गवां यत्र पानं तस्मिन्, बृ० ३ उ० ।

गोणिवच्छ—गोवत्स—पुं० । धेनुवत्से, पिं० ।

गोणिसज्जा-गोनिषद्या-स्त्री० । गोरिवोपवेशने, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

गोणी-गो-स्त्री० । गवि, "गोणीणं संगेल्लं" गवां स्त्रीगवानां 'संगेल्लं' समुदायः । व्य० ४ उ० । आ० चू० । विशे० आ० म० । (आचार्यशिष्ययोग्यायोग्यत्वे गोदृष्टान्तोऽन्यत्र)

गोतित्थ-गोतीर्थ-न० । ६ त० । गवां तडागादाववतारमार्गे, गोतीर्थमिव गोतीर्थम् । लवणसमुद्रादेरवतारवत्यां भूमौ, स्था० १० ठा० । क्रमेण नीचतरे प्रवेशमार्गे, जी० ३ प्रति० । (लवणसमुद्रशब्देऽस्य व्याख्या)

गोतित्थविरहिय-गोतीर्थविरहित-पुं० । समभूमौ, द्वी० । "गोतित्थेहिं विरहियं, खेत्तं नलिणोदगसमुद्दे" ॥ १६ ॥ द्वी० । विषमेऽवतारभूमिर्भवति । स्था० १० ठा० ।

गोतिहाणी-गोत्रिहायनी-स्त्री० । त्रिवर्षजातायां गोवत्सिकायाम्, तं० ।

गोत्त-गोत्र-न० । 'गूङ्' शब्दे, गूयते संशब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तद् गोत्रम् । उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षणे पर्यायविशेषे, पं० सं० ३ द्वार । तथाविधैकपुरुषप्रभवे वंशे, ध० १ अधि० । यथार्थकुले, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

सत्त मूलगोत्ता पण्णत्ता । तं जहा-कासवा, गोयमा,वत्था, कोत्था, कोसिया, मंमवा, वसिट्ठा ।

'सत्त मूलगोत्ता' इत्यादिना ग्रन्थेन गोत्रविभागमाह । सुगमश्चायम्,नवरं गोत्राणि तथाविधैकैकपुरुषप्रभवा मनुष्यसन्ताना उत्तरगोत्रापेक्षया मूलभूतानि आदिभूतानि गोत्राणि मूलगोत्राणि, काशे भवः काश्यो रसस्तं पीतवानिति काश्यपः,तदपत्यानि काश्यपाः,यथा-मुनिसुव्रतनेमिवर्जा जिनाश्चक्रवर्त्यादयश्च क्षत्रियाः सप्तमगणधरादयो द्विजा जम्बूस्वाम्यादयो गृहपतयश्चेति । इह च गोत्रस्य गोत्रवद्भ्यो भेदादेवं निर्देशः, अन्यथा काश्यपमिति वाच्यं स्यात् । एवं सर्वत्र । तथा गोतमस्यापत्यानि गौतमाः क्षत्रियादयः । यथा-सुव्रतनेमिजिनौ नारायणपद्मवर्जवासुदेवबलदेवा इन्द्रभूत्यादिगणनाथत्रयं वैरस्वामी च । तथा वत्सस्यापत्यानि वत्साः-शय्यम्भवादयः । एवं कुत्साः-शिवभूत्यादयः, "कोच्छं सिवभूइमपि य" इति वचनात् । एवं कौशिकाः षडुलूकादयः। मण्डोरपत्यानि माण्डवाः । वसिष्ठस्यापत्यानि वासिष्ठाः-षष्ठगणधरार्यसुहस्त्यादयः । तथा ये काश्यपास्ते सप्तविधाः । एके काश्यपशब्दव्यपदेश्यत्वेन काश्यपा एव । अन्ये तु काश्यपगोत्रविशेषभूतशाण्डिल्यादिपुरुषापत्यरूपाः शाण्डिल्यादयोऽवगन्तव्याः । स्था० ७ ठा० । एते च प्रत्येकं सप्तसप्तेति सर्वसंकलनया एकोनपञ्चाशत् । स० । ज्ञा० । भ० । स्था० । नं० । नि० । तद्विपाकवेद्ये कर्मणि च । कारणे कार्योपचारात् कर्मण उपादानविवक्षया गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात् कर्मण उदयप्रागात्तद्गोत्रम् । पं० सं० ३ द्वार । कर्म० । दशा० । प्रव० । पूज्योऽपूज्योऽयमित्यादिव्यपदेश्यरूपां गां वाचं त्रायते इति गोत्रम् । स्था० २ ठा० ४ उ० । सप्तमे कर्मणि, उत्त० ३३ अ० । तच्च द्विधा -" गोत्ते कम्मे दुविहे पण्णत्ते । तं जहा—उच्चागोए चेव, णीयागोए चेव " । स्वरूपं चास्येदम्-" जह कुंभारो भण्डाइं कुणइ पुज्जेयराइ लोयस्स ॥ इय गोयं कुणइ जियं,लोए पुज्जेयरा वत्थुं " ॥ १ ॥ उच्चैर्गोत्रं पूज्यत्वनिबन्धनम्, इतरद्विपरीतम् । स्था० २ ठा० ४ उ० । प्रज्ञा० ।

सम्प्रति द्विभेदगोत्रकर्माभिधित्सुराह-

गोयं दुहुच्चनीयं, कुलाल इव सुघडभुंभलाईयं । (५२)

गोत्रं प्राग्वर्णितशब्दार्थं द्विधा द्विभेदम् । कथमित्याह-'उच्चनीचं' उच्चं च नीचं च उच्चनीचम्, उच्चैर्गोत्रं, नीचैर्गोत्रमित्यर्थः । एतच्च कुलाल इव कुम्भकारतुल्यं शोभनो घटः सुघटः पूर्णकलशः,'भुम्भलं' मद्यस्थानं सुघटभुम्भले आदौ यस्य तत्कृतोपकरणस्य तत्सुघटभुम्भलादि, करोतीति शेषः । अयमत्र भावः-यथा हि कुलालः पृथिव्यास्तादृशं पूर्णकलशादिरूपं करोति यादृशं लोकात् कुसुमचन्दनाक्षतादिभिः पूजां लभते, स एव भुम्भलादि तादृशं विदधाति यादृशमप्रक्षिप्तमद्यमपि लोकान्निन्दां लभते । कर्म० १ कर्म०॥ पं० सं० । कल्प० । आचा० । आ० । (अनुभागादयोऽस्य प्रथमभागे अनुभागादिशब्देषु तृतीयभागे २८८ पृष्ठे 'कम्म' शब्दे च संबन्ध उक्तः) गां वाचं त्रायतेऽर्थाविसंवादनतः पालयतीति गोत्रम् । समस्तागमाधारभूते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । पर्वते, संभावनीयबोधे, कानने, क्षेत्रे, मार्गे, छत्रे, सङ्घे, वृद्धौ, वित्ते, धने, वाच० । (गोत्राणां भेदाः कुलशब्दे)

गोत्तजोगि (ण्)-गोत्रयोगिन्-पुं० । गोत्रवन्तो योगिनो गोत्रयोगिनः । षो० १३ विव० । गोत्रमात्रेण योगिषु, द्वा० १६ द्वा० ।

गोत्तफुसिया-गोत्रस्पर्शिका-स्त्री० । वल्लीभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

गोत्तमय-गोत्रमद-पुं० । उच्चैर्गोत्रे इक्ष्वाकुवंशहरिवंशादिके संजातोऽहमित्येवमात्मके मदे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

गोत्तागार-गोत्राकार-पुं० । द्व० स० । नामाकृतिषु,चं० प्र० १० पाहु० ।

गोत्रागार-न० । कुलगृहे, चं० प्र० १० पाहु० । स्था० ।

गोत्तावगय-गोत्रापगत-त्रि० । गोत्रादेरपगते, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

गोत्तास-गोत्रास-पुं० । भीमस्य कूटग्राहस्य पुत्रे, स्था० । गावस्त्रासितवानिति गोत्रासः । अयं हि हस्तिनागपुरे भीमाभिधानकूटग्राहस्योत्पलाभिधानाया भार्यायाः पुत्रोऽभूत् , प्रस-

बकाले बालेन महापापसरवेनाराज्या गावस्त्रासिताः,यौवने चायं गोमांसान्यनेकधा भक्षितवान्, ततो नारको जातः, ततो वाणिजग्रामनगरे विजयसार्थवाहभद्राभार्ययोरुज्झितकाभिधानः पुत्रो जातः, स च कामध्वजगणिकार्थे राज्ञा तिलशो मांसच्छेदनेन तत्स्वादनेन च चतुष्पथे विडम्ब्य व्यापादितो नरकं जगामेति। स्था० १० ठा० । विपा० । (गोत्रासवक्तव्यताप्रतिबद्धं द्वितीयमध्ययनं सर्वं द्रष्टव्यम् । कर्मविपाकदशानां द्वितीयाऽध्ययनसूत्रम् "उज्झियय" शब्दे द्वितीयभागे ७४६ पृष्ठे उक्तम्)।

गोथुभ–कौस्तुभ–पुं० । मणिविशेषे, स० ।

गोस्तूप–पुं० । प्राच्यां लवणसमुद्रमध्यवर्त्तिनि प्रथमवेलन्धरनागराजनिवासभूतपर्वते, स०५२ सम०। स्था०।प्रथमवेलन्धरनागराजे, जी०३ प्रति० । स०। एकादशजिनस्य प्रथमशिष्ये, अस्य द्वितीयं नाम कृतार्थ इति । स० । ति० । मानुष्योत्तरपर्वतस्य स्वनामख्याते कूटे उत्तरदिक्स्थे, द्वी० ।

गोथूभ–कौस्तुभ–पुं० । ' गोथुभ ' शब्दार्थे, स० ।

गोथूभा–गोस्तूपा–स्त्री० । पाश्चात्यस्याञ्जनपर्वतस्य पाश्चात्यायां वाप्याम्,स्था०४ठा०३उ०। पूर्वदिग्भाव्यञ्जनपर्वतस्यापरस्यां नन्दापुष्करिण्याम्, जी०३ प्रति० । ती० ।दक्षिणपाश्चात्यरतिकरपर्वतस्य पश्चिमायां दिशि नवमिकानाम्न्या शक्राग्रमहिष्या राजधान्याम्, स्था०४ ठा० २ उ० । नि० ।

गोदास–गोदास–पुं० । भद्रबाहोः प्रथमशिष्ये, कल्प० ८ क्षण । तस्मान्निर्गते गणे च । कल्प० ८ क्षण । वीरजिनेन्द्रस्य नवानां गणानां प्रथमे, स्था० ६ ठा० ।

गोदेव–गोदेव–त्रि० । गोशब्देन खुरककुद्विषाणसास्नालाङ्गूलाद्यवयवसंपन्नः पशुरुच्यते,तत्र विधेयता लक्ष्यते। ततो गौरिव विधेयानि देवानीन्द्रियाणि यस्य स तथा। जितेन्द्रिये, गोभिर्भूतार्थगर्भाभिर्वाग्भिर्दीव्यति स्तौतीति । गोदेवप्रशंसके,जै० गा०।

गोदोहिया–गोदोहिका–स्त्री०। गोदोहनं गोदोहिका,तद्वद् याऽसौ गोदोहिका। दशा० ७ अ० । स्था० । गोदोहनप्रवृत्तस्येवाऽग्रपादतलाभ्यामवस्थानक्रियायाम्, पञ्चा० १८ विव० ।

गोदोहिकासनमाऽऽर्यिकाणां न कल्पते–

वीरासणगोदोहं, मुत्तुं सव्वे वि ताण कप्पंति ।
ते पुण पमुच्च चेट्ठं, मुत्ताउ अभिग्गहं पप्प ॥

अनन्तरोक्तासनानां मध्याद् वीरासनं, गोदोहिकासनं च मुक्त्वा शेषाण्यूर्ध्वस्थानादीनि सर्वाण्यपि तासां कल्पन्ते । आह-सूत्रे तान्यपि प्रतिषिद्धानि तत्कथमनुज्ञायन्ते इत्याह–तानि पुनः शेषाणि स्थानानि चेष्टां प्रतीत्य कल्पन्ते, न पुनरभिग्रहविशेषम् । सूत्राणि पुनरभिग्रहं प्राप्य प्रतीत्य प्रवृत्तानि, तत इदमुक्तं भवति-अभिग्रहविशेषादूर्ध्वस्थानानि संयतीनां न कल्पन्ते, सामान्यतः पुनरवश्यकादिवेलायां यानि क्रियन्ते तानि कल्पन्त एव । बृ० ५ उ० ।

गोध–गोध–पुं०। म्लेच्छदेशभेदे, तद्वासिनि जने च। प्रज्ञा०१ पद।

गोपुच्छसंठाणसंठिय–गोपुच्छसंस्थानसंस्थित–त्रि० । ऊर्ध्वीकृतगोपुच्छसंस्थानसंस्थिते, जी० ३ प्रति० । गोपुच्छो ह्यादौ स्थूलोऽन्ते सूक्ष्मस्तद्वत् । स्था० ५ ठा० २ उ० । रा० ।

गोपुट्ठय–गोपृष्ठक न०। गोपृष्ठात्पतिते पानके, भ०१५ श०१ उ०।

गोपुर–गोपुर–न० । गोभिः पूर्यते इति गोपुरम् । प्रतोलीद्वारे, उत्त० ६ अ० । प्रतोलीकपाटमित्यन्ये । प्रश्न० १ आश्र० द्वार। प्राकारद्वारे, रा० । ज्ञा० । पुरद्वारे, चं० प्र० ४ पाहु० । "पागारं कारइत्ता णं, गोपुरट्टालगाणि य" । (१८) उत्त० ६ अ० ।

गोप्पय–गोष्पद–न० । गोपदमिते क्षेत्रे, "जहा समुद्दो तहा गोप्पयं" अनु० ।

गोप्पलेहिया–गोप्रलेहा–स्त्री० । अल्पशाद्वलां सकारां वा यां भूमिं गावः प्रलिहन्ति तस्याम्, आचा० २ चू० ।

गोप्फणा–गोफणा–स्त्री० । चर्मदवारिकामयेऽर्थे ' गोफण ' इति प्रसिद्धे, स० ।

गोबहुल–गोबहुल–पुं० । शरवणसन्निवेशवासिनि स्वनामख्याते ब्राह्मणे, यस्य शालायां मङ्खलिपुत्रो गोशालो जातः । भ०१५श० १ उ० । स्था० । आ० म० ।

गोभत्तालंदय–गोभक्तालन्दक–पुं० । गोभक्तयुक्तोऽलन्दको गोभक्तालन्दकः। "गोभत्तालंदो विअ, बहुरूवगओ व्व पउगो चेव" यथा-अलिन्दगोभक्तं कुक्कुसा ओदननिस्सयमवश्रावणमित्यादि सर्वमेकत्र मिलितं भवति । व्य० १ उ० ।

गोभद्द–गोभद्र–पुं० । शालिभद्रस्य पितरि राजगृहवासिश्रेष्ठिनि, स्था० १० ठा० ।

गोभूमि–गोभूमि–स्त्री० । गोचरणभूमौ, आ० चू० १ अ० । " ततो विहरंता सामी गोभूमिं वच्चेति, तत्थ अडवीवणे सयगावीओ चरंति" आ० म० द्वि०। ततः स्वामी गोभूमिं गतः ततो राजगृहे अष्टमं वर्षावासम् । कल्प० ६ क्षण।

गोमंस–गोमांस–पुं०। गवां मांसे, गोमांसाऽभक्षणात्केचिद् मोक्षं वदन्ति । सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

गोमम–गोमृत–पुं० । गौश्चासौ मृतश्च । गोशवे, जी० ३ प्रति० । विपा० ।

गोमढदेव–गोमठदेव–पुं० । ऋषभदेवस्य बाहुबलेश्च प्रतिमाभेदे, उत्तरापथे कलिङ्गदेशे गोमठः श्रीऋषभः, दक्षिणापथे गोमठदेवः श्रीबाहुबलिः । ती० ४५ कल्प ।

गोमय–गोमय–पुं०। न०। गोः पुरीषम्-मयट्, अर्धर्चादिः । गोपुरीषे, वाच० । छगणे, भ० ५ श० ४ उ० । गोकरीषे, नि० चू० ।

गोमयप्रतिग्रहणे दोषाः–

जे भिक्खू दिया गोमयं पडिगाहेत्ता दिया गोमयं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ३९ ॥ जे भिक्खू दिया गोमयं पडिगाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४० ॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिगाहेत्ता दिया कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥ ४१ ॥ जे भिक्खू रत्तिं गोमयं पडिगाहेत्ता रत्तिं कायंसि वणं आलिंपेज्ज वा विलिंपेज्ज वा आलिंपंतं वा विलिंपंतं वा साइज्जइ ॥४२॥

चउक्कभंगसुत्तं उच्चारेयव्वं,कायः शरीरं,व्रणः क्षतं, तेण गोमयेन आलिंपइ सकृत्,विलिंपइ अनेकशः,अपरिवासिते मासलहुं,परिवासिते चउभंगे चउलहुं तत्कालचिसिट्ठो,आणादिया दोसा।

दिय रातो गोमएणं, चउक्कभयणा तु जा वणे वुत्ता ।
एत्तो एगतरेणं, मक्खेताऽऽणादिणो दोसा ॥ २१६ ॥

चउक्कभयणा चउभंगो, ततियउद्देसए जा वणे वुत्ता इहं पि सच्चेव ।

तच्चुप्पतितं दुक्खं, अभिभूतो वेयणाएँ तिव्वाए ।
अद्दाणो अवहितो, तं दुक्खहियासते सम्मं ॥ २१७ ॥
अव्वोच्छित्तिणिमित्तं, जीयट्ठाए समाहिहेउं वा ।
एतेहिँ कारणेहिं, जयणा आलिंपणं कुज्जा ॥ २१८ ॥

पूर्ववत् । गोमयगहणे इमा विही–

अभिणववोसट्ठाऽसति, इतरे उवयोगकाउ गहणं तु ।
माहिस असती गव्वं, अणातवत्थं व विसघाती ॥ २१९ ॥

वोसिरियमेत्तं घेत्तव्वं, तं बहुगुणं. तस्सासति इयरं चिरकालवोसिरियं, तं पि उवओगं करेतुं गहणं, दिणसंसत्तं पि माहिसं घेत्तव्वं, माहिसाऽसति गव्वं, तं पि अणातवत्थं, छायायामित्यर्थः । तं असुसिरं विसघाती भवति, आतवत्थं पुण सुसिरं, स ण गुणकारी । नि० चू० १२ उ० ।

गोमयकीमय–गोमयकीटक–पुं० । चतुरिन्द्रियजीवविशेषे, जी० १ प्रति० ।

गोमयणिस्सिय–गोमयनिश्रित–पुं० । कुन्थुपनकादिषु जीवेषु, आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

गोमाणसिया–गोमानसिका–स्त्री० । शय्यारूपे स्थानविशेषे, जी० ३ प्रति० । " गोमाणसिया च ताविया " तावन्मात्रा एकोनपञ्चाशत् । जी० ३ प्रति० । रा० ।

गोमाणसी–गोमा (पा) नसी–स्त्री० । शय्यारूपे स्थानविशेषे, जी० ३ प्रति० । जं० ।

गोमिअ–गौल्मिक–पुं० । गुल्मेन चरन्तीति गौल्मिकाः । स्थानरक्षपालेषु, बृ० ३ उ० । बद्धस्थानेषु, बृ० १ उ० । गुप्तिपालेषु, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । ये राज्ञः पुरुषाः स्थानकं बद्ध्वा रक्षयन्ति । बृ १ उ० ।

गोमिकभंभोवगरण–गौल्मिकभाण्डोपकरण–न० । गौल्मिकपरिच्छदविशेषे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

गोमिय–गोमत्–त्रि० । गावोऽस्य सन्तीति गोमान् । गोस्वामिनि, "गोहिं गोमिए" अनु० । "गोमिया सुक्किलिया कसिणवत्थमिसं तेहिं घेप्पंति " नि० चू० २ उ० ।

गोमुत्तिया–गोमूत्रिका–स्त्री० । गोर्बलीवर्दस्य मूत्रणं गोमूत्रिका । गोप्रश्रवणोत्सर्गे, तदाकारा गोचरभूमिरपि गोमूत्रिका । ग० २ अधि० । उत्त० । वक्रायां कुटिलायां गृहपङ्क्तौ, दशा० ७ अ० । पञ्चा० । वृ० । स्था० । अष्टानां गोचरभूमीनामन्यतमस्यां भूमौ, "आइओ सन्नियट्टइ गोमुत्तिया वंको ।" पं०व०२ द्वार । गोमूत्रिका च परस्पराभिमुखगृहपङ्क्त्योर्वामपङ्क्त्येकगृहं गत्वा दक्षिणपङ्क्त्येकगृहे यातीत्येवं क्रमेण श्रेणिद्वयसमाप्तिकरणे भवति । ध० २ अधि० ।

गोमुह–गोमुख–पुं० । आदिनाथस्य यक्षे, स च सुवर्णो गजवाहनश्चतुर्भुजो वरदाक्षमालिकायुतदक्षिणपाणिद्वयो मातुलिङ्गपाशकान्वितवामपाणिद्वयश्च । प्रव० २३ द्वार । आ० क० । गोमुखद्वीपवासिनि मनुष्ये च । स्था० ४ ठा० २ उ० । प्रज्ञा० । श्रीऋषभस्य अयोध्यास्थसङ्घरक्षके यक्षे, ती० १३ कल्प० ।

गोमुहदीव–गोमुखद्वीप–पुं० । शष्कुलिकर्णस्य परतोऽन्तर्द्वीपे, स्था० ४ ठा० २ उ० । (' अंतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे ९६ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यतोक्ता)

गोमुही–गोमुखी–स्त्री० । वाद्यभेदे, "सद्धं रवइ मुअंगो गोमुही" अनु० । सा गोमुखी लोकतोऽवसेया । रा० । आ० चू० ।

गोमेज्ज–गोमेद–पुं० । मणिभेदे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । "गोमेज्जरायरूपए" उत्त० २ अ० । रा० । प्रज्ञा० । "गोमेज्जमया इंदकीला" गोमेदकरत्नमयी इन्द्रकीला । रा० ।

गोमेह–गोमेध–पुं० । श्रीनेमिजिनस्य यक्षे, स च त्रिमुखः श्यामकान्तिः पुरुषवाहनः षड्भुजो मातुलिङ्गपरशुचक्रान्वितदक्षिणकरत्रयो नकुलशूलशक्तियुक्तो वामपाणित्रयश्च । प्रव० १ आश्र० द्वार ।

गोम्मिय–गौल्मिक–पुं० ' गोमिअ ' शब्दार्थे, बृ० ३ उ० ।

गोम्ही–गोम्ही–स्त्री० । कर्णशृगालाख्ये, व्य० ७ उ० । प्रज्ञा० । त्रीन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० । अनु० । नि० चू० । बृ० ।

गोय–गोद–पुं० । उदुम्बरादिफले, आव० ६ अ० । प्रज्ञा० ।
गोत्र–न० । उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षणे पर्यायविशेषे, पं०सं० ३ द्वार ।

गोयम–गोतम–पुं० । गोभिस्तमो ध्वस्तं यस्य । पृषो० । मुनिभेदे, वाच० । ह्रस्वे बलीवर्दे च । औ० । गोतमस्य ऋषेरपत्यं गौतमः । "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" । ४ । १ । ११४ । (पाणि०) इत्यण्प्रत्ययः । नं० । गौतमर्षेः सन्ताने, ते च क्षत्रियादयो यथा–सुव्रतनेमीजिनौ नारायणपद्मवर्जवासुदेवबलदेवा इन्द्रभूत्यादिगणनाथत्रयम् । स्था० "जे गोयमा ते सत्तविहा पण्णत्ता । तं जहा–ते गोयमा ते गग्गा ते भारद्दाया ते अंगिरसा ते सक्कराभा ते भक्खराभा ते उदत्ताभा ।" स्था० ७ ठा० । आ० चू० । आ० म० । " गोयमो य गोत्तेणं " गौतमो गोत्रेण, गोतमाह्वयवंशजात इत्यर्थः । जं० १ वक्ष० ।

गौतमस्वामिवर्णकः–

ते णं काले णं ते णं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूती णामं अणगारे गोयमगोत्ते णं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहणारायसंघयणे कणगपुलगणिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे उराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेउलेस्से चउद्दसपुव्वी चउणाणोवगए सव्वक्खरसण्णिवाती समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे झाणकोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

(तेणमित्यादि) तेन कालेन तेन समयेन श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य (जेट्ठे त्ति) प्रथमः [अंतेवासि त्ति] शिष्यः । अनेन पदद्वयेन तस्य सकलसङ्घनायकत्वमाह । [इंदभूइ त्ति] इन्द्रभूतिरिति मातृपितृकृतं नामधेयम् [नामं ति] विभक्तिविपरिणामात् नाम्नेत्यर्थः । अन्तेवासी किल विवक्षया श्रावकोऽपि स्यादित्यत आह–[अणगारे त्ति] नास्यागारं विद्यत इत्यन-

नगारः। अयं चावगीतगोत्रोऽपि स्यादित्यत आह-(गोयमगोत्ते णं ति) गौतमसगोत्र इत्यर्थः । अयञ्च तत्कालोचितदेहमानापेक्षया न्यूनाधिकदेहोऽपि स्यादित्यत आह-(सत्तुस्सेहे त्ति) सप्तहस्तोच्छ्रयः । अयं च लक्षणहीनोऽपि स्यादित्यत आह-[समचउरंससंठाणसंठिए त्ति] समं नाभेरुपरि अधश्च सकलपुरुषलक्षणोपेतावयवतया तुल्यं, तच्च तच्चतुरस्रं च प्रधानं समचतुरस्रम् । अथवा-समाः शरीरलक्षणोक्तप्रमाणाविसंवादिन्यश्चतस्रोऽस्रयो यस्य तत्समचतुरस्रम् । अस्रयस्त्विह चतुर्दिग्भागोपलक्षिताः शरीरावयवा इति । अन्ये त्वाहुः--समा अन्यूनाधिकाश्चतस्रोऽप्यस्रयो यत्र तत्समचतुरस्रम् । अस्रयश्च पर्यङ्कासनोपविष्टस्य जानुनोरन्तरम्, आसनस्य ललाटोपरिभागस्य चान्तरं, दक्षिणस्कन्धस्य वामजानुन अन्तरं, वामस्कन्धस्य दक्षिणजानुनश्चान्तरमिति । अन्ये त्वाहुः--विस्तारोत्सेधयोः समत्वात् समचतुरस्रं, तच्च तत् संस्थानञ्चाकारः समचतुरस्रसंस्थानं, तेन संस्थितो व्यवस्थितो यः स तथा । अयञ्च हीनसंहननोऽपि स्यादित्यत आह-(वज्जरिसहणारायसंघयणे त्ति) इह संहननम् अस्थिसंचयविशेषः । वज्रादीनां लक्षणमिदम् "रिसभो य होइ पट्टो, वज्जं पुण कीलयं वियाणाहि । उभओ मक्कडबंधो, णारायं तं वियाणाहि" ॥ १ ॥ तत्र वज्रं च तत्कीलिकाकीलितकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्ययुक्तत्वात्, ऋषभश्च लोहादिमयपट्टबद्धकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्यान्वितत्वाद्वज्रर्षभः। स चासौ नाराचश्च उभयतो मर्कटबन्धनिबद्धकाष्ठसम्पुटोपमसामर्थ्योपेतत्वात् वज्रर्षभनाराचः, स चासौ संहननमस्थिसंचयविशेषोऽनुत्तमसामर्थ्ययोगाद्यस्यासौ वज्रर्षभनाराचसंहननः । अन्ये तु-कीलिकादिमत्त्वमस्थ्नामेव वर्णयन्ति । अयञ्च निन्द्यवर्णोऽपि स्यादित्यत आह-(कणगपुलगनिघसपम्हगोरे) कनकस्य सुवर्णस्य (पुलग त्ति) यः पुलको लवस्तस्य यो निकषः कषपट्टके रेखालक्षणः, तथा । (पम्ह त्ति) पद्मपक्ष्माणि केसराणि तद्वद्गौरो यः स तथा । वृद्धव्याख्या तु-कनकस्य न लोहादेर्यः पुलकः सारो वर्णातिशयस्तत्प्रधानो यो निकषो रेखा तस्य यत्पक्ष्म बहलत्वं तद्वद्गौरो यः स तथा । अथवा-कनकस्य यः पुलकोऽद्रुतत्वे सति बिन्दुस्तस्य निकषो वर्णतः सदृशो यः स तथा । (पम्ह त्ति) पद्मं, तस्य चेह प्रस्तावात्केसराणि गृह्यन्ते, ततः पद्मवद्गौरो यः स तथा । ततः पदद्वयस्य कर्मधारयः । अयञ्च विशिष्टचरणरहितोऽपि स्यादित्यत आह-(उग्गतवे त्ति) उग्रमप्रधृष्यं तपोऽनशनादि यस्य स उग्रतपाः, यदन्येन प्राकृतपुंसा न शक्यते चिन्तयितुमपि तद्विधेन तपसा युक्त इत्यर्थः। (दित्ततवे त्ति) । दीप्तं जाज्वल्यमानदहन इव कर्म्मवनगहनदहनसमर्थतया ज्वलितं तपो धर्म्मध्यानादि यस्य स तथा । (तत्ततवे त्ति)। तप्तं तपो येनासौ तप्ततपाः। एवं हि तेन तत्तपस्तप्तं येन कर्माणि सन्ताप्यन्ते न तपसा स्वात्माऽपि तपोरूपः सन्तापितो यतोऽन्यस्यास्पृश्यमिव जातमिति (महातवे त्ति) आशंसादोषरहितत्वात् प्रशस्ततपाः । (उराले त्ति) भीम उग्रादिविशेषणविशिष्टतपःकरणात्पार्श्वस्थानामल्पसत्त्वानां भयानक इत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः-[उराले त्ति] उदारः प्रधानः [घोरे त्ति] घोरो निर्घृणः, परीषहेन्द्रियादिरिपुगणविनाशमाश्रित्य निर्दय इत्यर्थः । अन्ये त्वात्मनिरपेक्षं घोरमाहुः-(घोरगुणे त्ति) घोरा अन्यैर्दुरनुचरा गुणा मूलगुणादयो यस्य स तथा (घोरतवस्सि त्ति) घोरैस्तपोभिस्तपस्वीत्यर्थः । (घोरबंभचेरवासि त्ति) घोरं दारुणमल्पसत्त्वैर्दुरनुचरत्वाद्यद्ब्रह्मचर्यं तत्र वस्तुं शीलं यस्य स तथा । (उच्छूढसरीरे त्ति) उच्छूढम् उज्झितमिवोज्झितं शरीरं येन तत्संस्कारत्यागात्स तथा । (संखित्तविउलतेउलेस्से त्ति) संक्षिप्ता शरीरान्तर्लीनत्वेन ह्रस्वतां गता विपुला विस्तीर्णा अनेकयोजनप्रमाणक्षेत्राश्रितवस्तुदहनसमर्थत्वात्तेजोलेश्या विशिष्टतपोजन्यलब्धिविशेषप्रभवा तेजोज्वाला यस्य स तथा । मूलटीकाकृता तु-" उच्छूढसरीरसंखित्तविउलतेयलेसे त्ति " कर्मधारयं कृत्वा व्याख्यातमिति । (चउद्दसपुव्वि त्ति) चतुर्दशपूर्वाणि विद्यन्ते यस्य तेनैव तेषां रचितत्वादसौ चतुर्दशपूर्वी । अनेन तस्य श्रुतकेवलितामाह । स चावधिज्ञानादिविकलोऽपि स्यादत आह-(चउनाणोवगए त्ति) केवलज्ञानवर्जज्ञानचतुष्कसमन्वित इत्यर्थः । उक्तविशेषणद्वययुक्तोऽपि कश्चिन्न समग्रश्रुतविषयव्यापिज्ञानो भवति । चतुर्दशपूर्वविदां षट्स्थानकपतितत्वेन श्रवणादित्यत आह-(सव्वक्खरसंनिवाइ त्ति) सर्वे च ते अक्षरसन्निपाताश्च तत्संयोगाः सर्वेषां वाक्षराणां निसन्निपाताः सर्वाक्षरसन्निपातास्ते यस्य ज्ञेयतया सन्ति ससर्वाक्षरसन्निपाती, श्रव्याणि वा श्रवणसुखकारीणि अक्षराणि साकल्येन नितरां वदितुं शीलमस्येति श्रव्याक्षरसान्निवादी, स च एवंगुणविशिष्टो भगवान् विनयराशिरिव साक्षादितिकृत्वा शिष्याचारत्वाच्च (समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते) विहरति इति योगः । तत्र दूरं च विप्रकृष्टं सामन्तं च सन्निकृष्टं, तन्निषेधाददूरसामन्तं, तत्र नातिदूरे, नातिनिकट इत्यर्थः । किंविधः संस्तत्र विहरतीत्यत आह- (उड्ढं जाणु त्ति) ऊर्ध्वे जानुनी यस्यासावूर्ध्वजानुः, शुद्धपृथिव्यासनवर्जनादौपग्रहिकनिषद्याया अभवाच्चोत्कुटुकासन इत्यर्थः । (अहोसिरे त्ति) अधोमुखो नोर्ध्वं तिर्यग्वा विक्षिप्तदृष्टिः, किन्तु नियतभूभागनियमितदृष्टिरिति भावः । (झाणकोट्ठोवगए त्ति) ध्यानं धर्म्यं शुक्लं वा तदेव कोष्ठः कुसूलो ध्यानकोष्ठः, तमुपगतस्तत्र प्रविष्टो ध्यानकोष्ठोपगतः । यथाहि कोष्ठके धान्यं प्रक्षिप्तमविप्रसृतं भवत्येवं स भगवान् ध्यानतोऽविप्रकीर्णेन्द्रियान्तःकरणवृत्तिरिति (संजमेणं ति) संवरेण [तवसा त्ति] अनशनादिना, चशब्दः समुच्चयार्थो लुप्तोऽत्र द्रष्टव्यः । संयमतपोग्रहणं चानयोः प्रधानमोक्षाङ्गत्वख्यापनार्थम् । प्रधानत्वञ्च संयमस्य नवकर्मानुपादानहेतुत्वेन, तपसश्च पुराणकर्मनिर्जरणहेतुत्वेन भवति चाभिनवकर्मानुपादानात् पुराणकर्मक्षपणाच्च सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्ष इति (अप्पाणं भावेमाणे विहरइ त्ति) आत्मानं वासयंस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥

तए णं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसये संजायकोउहल्ले उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोउहल्ले संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोउहल्ले उट्ठाए उट्ठेति । उट्ठाए उट्ठेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ । करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासन्ने णातिदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी- ॥

(तए णं से त्ति) ततो ध्यानकोष्ठोपगतविहरणानन्तरं, णमिति वाक्यालङ्कारार्थः ' से ' इति प्रस्तुतपरामर्शार्थः । तस्य तु सामान्योक्तस्य विशेषावधारणार्थमाह-(भगवं गोयमे त्ति) कि-

मित्याह-(जायसड्ढे इत्यादि) जातश्रद्धादिविशेषणः सन्नुत्तिष्ठतीति योगः। तत्र जाता प्रवृत्ता श्रद्धा इच्छा वक्ष्यमाणार्थतत्त्वज्ञानं प्रति यस्यासौ जातश्रद्धः। तथा जातः संशयो यस्य स जातसंशयः। संशयस्त्वनवधारितार्थज्ञानम्। स चैवम्-तस्य भगवतो जातो भगवता हि महावीरेण "चलमाणे चलिए" इत्यादौ सूत्रे चलन्नर्थश्चलितो निर्दिष्टः, तत्र च य एव चलन् स एव चलित इत्युक्तः, ततश्चैकार्थविषयावेतौ निर्देशौ; चलन्निति वर्त्तमानकालविषयः, चलित इति चातीतकालविषयः; अतोऽत्र संशयः-कथं नाम यएवार्थो वर्त्तमानः स एवातीतो भवतीति ?, विरुद्धत्वादनयोः कालयोरिति । तथा [जायकोऊहल्ले त्ति] जातं कुतूहलं यस्य स जातकुतूहलो, जातौत्सुक्य इत्यर्थः । कथमेतान् पदार्थान् भगवान् प्रज्ञापयिष्यतीति ?। तथा-(उप्पन्नसड्ढे त्ति) उत्पन्ना प्रागभूता सती भूता श्रद्धा यस्य स उत्पन्नश्रद्धः। अथ जातश्रद्ध इत्येतावदेवास्तु किमर्थमुत्पन्नश्रद्ध इत्यभिधीयते, प्रवृत्तश्रद्धत्वेनैवोत्पन्नश्रद्धत्वस्य लब्धत्वात्,न ह्यनुत्पन्ना श्रद्धा प्रवर्त्तत इति?। अत्रोच्यते-हेतुत्वप्रदर्शनार्थम्। तथाहि-कथं प्रवृत्तश्रद्धः,उच्यते-यत उत्पन्नश्रद्ध इति हेतुत्वप्रदर्शनञ्चोचितमेव,वाक्यालङ्कारत्वात् तस्य,यदाहुः-"प्रवृत्तदीपामप्रवृत्तभास्करां, प्रकाशचन्द्रां बुबुधे विभावरीम्।" इह यद्यपि प्रवृत्तदीपत्वादेवाप्रवृत्तभास्करत्वमवगतं तथापि अप्रवृत्तभास्करत्वं प्रवृत्तदीपत्वादेर्हेतुतयोपन्यस्तमिति । "उप्पएणसंसए उप्पएणकोऊहल्ले त्ति" प्राग्वत्। तथा " संजायसड्ढे " इत्यादि पदषट्कं प्राग्वत्, नवरमिह समुशब्दः प्रकर्षादिवचनः । यथा-" सञ्जातकामो बलभिद्विभूत्यां, मानात् प्रजाभिः प्रतिमाननाच्च । " ऐन्द्रैश्वर्ये प्रकर्षेण जातेच्छः कार्तवीर्य इति । अन्ये तु-"जायसड्ढे" इत्यादि विशेषणद्वादशकमेवं व्याख्यान्ति-जाता श्रद्धा यस्य प्रष्टुं स जातश्रद्धः। किमिति जातश्रद्ध इत्यत आह-यस्माज्जातसंशयः इदं वस्त्वेवं स्यादेवं वेति ?। अथ जातसंशयोऽपि कथमित्यत आह-यस्माज्जातकुतूहलः कथं नामास्यार्थमवभोत्स्ये इत्यभिप्रायवानिति। एतच्च विशेषणत्रयमवग्रहापेक्षया द्रष्टव्यम्। एवमुत्पन्नसंजातसमुत्पन्नश्रद्धत्वादय ईहापायधारणाभेदेन वाच्याः। अन्ये त्वाहुः-जातश्रद्धत्वाद्यपेक्षयोत्पन्नश्रद्धत्वादयः समानार्था विवक्षितार्थस्य प्रकर्षप्रवृत्तिप्रतिपादनाय स्तुतिमुखेन ग्रन्थकृतोक्ताः, न चैवं पुनरुक्तदोषाय। यदाह-"वक्ता हर्षभयादिभि-राक्षिप्तमनाः स्तुवंस्तथा निन्दन्। यत्पदमसकृद् ब्रूते, तत्पुनरुक्तं न दोषाय" ॥ १ ॥ इति (उट्ठाए उट्ठेति) उत्थानमुत्था, ऊर्द्ध वर्त्तनं, तया उत्थया उत्तिष्ठति ऊर्द्धो भवति। 'उट्ठेइ' इत्युक्ते क्रियाऽऽरम्भमात्रमपि प्रतीयते, यथा वक्तुमुत्तिष्ठत इति । ततस्तद्व्यवच्छेदायोक्तमुत्थायेति । (उट्ठाए उट्ठेए त्ति) उपागच्छतीत्युत्तरक्रियापेक्षया उत्थानक्रियायाः पूर्वकालताभिधानाय उत्थायोत्थायेति क्त्वाप्रत्ययेन निर्दिशतीति। (जेणेवेत्यादि) इह प्राकृतप्रयोगादव्ययत्वाद्वा येनेति यस्मिन्नेव दिग्भागे श्रमणो भगवान् महावीरो वर्त्तते (तेणेव त्ति) तस्मिन्नेव दिग्भागे उपागच्छति, तत्कालापेक्षया वर्त्तमानत्वादागमनक्रियाया वर्त्तमानार्थभक्त्या निर्देशः कृतः, उपगतवानित्यर्थः। उपागम्य च श्रमणं भगवन्तं महावीरं कर्मतापन्नं (तिक्खुत्तो त्ति) त्रीन् वारान् त्रिःकृत्वः (आयाहिणपयाहिणं करेइ त्ति) आदक्षिणाद्दक्षिणहस्तादारभ्य प्रदक्षिणः परितो भ्राम्यतो दक्षिण एव पार्श्वेऽपि प्रदक्षिणोऽतस्तं करोतीति। (वंदइ त्ति) वन्दते वाचा स्तौति । (नमंसइ त्ति) नमस्यति, कायेन प्रणमति [नच्चासन्ने त्ति] न नैव अत्यासन्नोऽतिनिकटः, अवग्रहपरिहारान्नात्यासन्ने वा स्थाने, वर्तमान इति गम्यम् । [नाइदूरे त्ति] न नैवातिदूरोऽतिविप्रकृष्टोऽनौचित्यपरिहारात् नातिदूरे वा स्थाने [सुस्सूसमाणे त्ति] भगवद्वचनानि श्रोतुमिच्छन् [अभिमुहे त्ति] अभि भगवन्तं लक्षीकृत्य मुखमस्येत्यभिमुखः । तथा [विणएणं ति] विनयेन हेतुना [पंजलिउडे त्ति] प्रकृष्टः प्रधानो ललाटतटघटितत्वेन अञ्जलिर्हस्तन्यासविशेषः कृतो विहितो येन सोऽभ्याहितादिदर्शनात्प्राञ्जलिकृतः [पज्जुवासमाणे त्ति] पर्युपासीनः सेवमानोऽनेन च विशेषणकदम्बकेन श्रवणविधिरुपदर्शितः। आह च-" णिद्दाविगहापरिवज्जिएहि गुत्तेहिँ पंजलिउडेहिं। भत्तिबहुमाणपुव्वं,उवउत्तेहिं सुणेयव्वं"॥१॥ इति [एवं वयासि त्ति] एवं वक्ष्यमाणप्रकारं वस्तु अवादीदुक्तवान्। भ० १ श० १ उ० । विपा० । (यदवादीत् तत् 'कज्जकारणभाव' शब्देऽत्रैव भागे १६७ पृष्ठे निरूपितम्) श्रीवीरजिनेन्द्रस्येन्द्रभूतिर्वायुभूतिरग्निभूतिश्चेति त्रय आद्याः शिष्याः, तेषु इन्द्रभूतिरेवातिप्रसिद्धः, तत्प्रश्नप्रतिवचनरूपत्वादागमस्य । यदाह भगवान् वीरः-" चिरसंथुओसि गोयमा ! " पं० सं० २ द्वार । जं० । उपा० । विशे० ।

गौतमेत्यत्र भगवताऽऽत्मनस्तुल्यताऽदर्शि यथा-

रायगिहे० जाव परिसा पडिगया गोयमादि० । समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी-चिरसंसिट्ठो सि मे गोयमा !, चिरसंथुतो सि मे गोयमा !, चिरपरिचितोसि मे गोयमा !, चिरजुसिओसि मे गोयमा !, चिराणुगओसि मे गोयमा !, चिराणुवत्तीसि मे गोयमा !, अणंतरं देवलोए अणंतरं माणुस्सए भवे किं परं मरणकायस्स भेदा, इतो चुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्साए । भ० १४ श० ७ उ० ।

("तुल्ल" शब्दे व्याख्यास्यते) (गौतमस्वामिनः तुङ्गिकापुर्यां गोचरचर्यायै गमनं 'तव्वाय' शब्दे द्वितीयभागे ६७६ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) पञ्चदशशततापसानां गौतमस्वामिना परमान्नेन पारणा कारिता, तत्र लब्धिपरमान्नमदत्तमिति साधूनां कथं कल्पते इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्रैकोऽपि परमान्नपतद्ग्रहोऽक्षीणमहानसलब्धिप्रभावेणैव सर्वेषां प्राप्त इत्यत्रादत्तं किमपि ज्ञातं नास्तीति बोध्यमिति॥२-॥ ही० ३ प्रका० । निर्वाणगमनं चेत्थम्-स्वकीयनिर्वाणसमये देवशर्मणः प्रतिबोधनाय क्वापि ग्रामे स्वामिना प्रेषितः, श्रीगौतमः तं प्रतिबोध्य पश्चादागच्छन् श्रीवीरनिर्वाणं श्रुत्वा वज्राहत इव शून्यः क्षणं तस्थौ । बभाण च-

" प्रसरति मिथ्यात्वतमो, गर्जन्ति कुतीर्थिकौशिका अद्य ।
दुर्भिक्षमरवैरा-दिराक्षसाः प्रसरमेष्यन्ति ॥ १ ॥
राहुग्रस्तनिशाकर-मिव गगनं दीपहीनमिव भवनम् ।
भरतमिदं गतशोभं, त्वया विनाऽद्य प्रभो ! जज्ञे ॥ २ ॥
कस्यांह्रिपीठे प्रणतः पदार्थान् ,
पुनः पुनः प्रश्नपदीकरोमि ।
कं वा भदन्तेति वदामि को वा,
मां गौतमेत्याप्तगिराऽथ वक्ता " ? ॥ ३ ॥

हा हा हा वीर ! किं कृतं यदीदृशेऽवसरेऽहं दूरीकृतः, किं

भाएमकं मएमथित्वा बालवत्सवाञ्चलेऽलगिष्यम, किं केवलज्ञा-गममार्गयिष्यम, किं मुक्तौ संकीर्णमजविष्यत्, किं वा तव भा-रोऽजविष्यत् यदेवं मां विमुच्य गतः ?। एवं च वीर ! वीर ! इति कुर्वतो वी वी इति मुखे लग्नं गौतमस्य। तथा हुं ज्ञातं वी-तरागा निःस्नेहा भवन्ति, ममैवायमपराधो यन्मया तदा श्रु-तोपयोगो न दत्तः,धिग् इमम् एकपाक्षिकं स्नेहम, अलं स्नेहेन, एकोऽस्मि,नास्ति कश्चन मम, एवं सम्यक् साम्यं भावयतस्त-स्य केवलमुत्पेदे-" मुक्खमग्गपवन्नाणं, सिणेहो वज्जसिंखला । वीरे जीवन्तए जाओ,गोयमं जं न केवली " ॥१॥ प्रातःकाले इ-न्द्राद्यैर्महिमा कृतः। अत्र कविः-"अहंकारोऽपि बोधाय,रागोऽपि गुरुभक्तये। विषादः केवलायाभूत,चित्रं श्रीगौतमप्रभोः, "॥१॥ स च द्वादशवर्षाणि केवलिपर्यायं परिपाल्य दीर्घायुरितिकृत्वा सुधर्मस्वामिने गणं समर्प्य मोक्षं ययौ। सुधर्मस्वामिनोऽपि पश्चा-त्केवलोत्पत्तिः । सोऽप्यष्टौ वर्षाणि विहृत्य जम्बूस्वामिने गणं समर्प्य सिद्धिं गतः ।१२७। कल्प० ६ क्षण । "कुन्दोज्ज्वलकीर्ति-भरः, सुरभीकृतसकलविष्टपाभोगः । शतमखशतविनतपदः,श्री-गौतमगणधरः पातु" ॥१॥ कर्म० १ कर्म० । (सर्वैव गौतमगण-धरवक्तव्यता ' इंदभूइ ' शब्दे प्रथमभागे ५४० पृष्ठे अन्यत्र च निरूपिता । मगधेषु नन्दिग्रामे कणवृत्तिकगौतमस्य ' एसणास-मिई' शब्देऽत्रैव भागे ७३ पृष्ठे कथा)अन्धकवृष्णेः पुत्रे,अन्त०।

तस्स णं अंधगवण्हिस्स रण्णो धारणी नामं देवी होत्था। वण्णओ-तए णं सा धारणी देवी अण्णया कयाई तंसि तारि-सगंसि सयणिज्जंसि एवं जहा महब्बलो सुमिणं दंसणं क-हणा जंमं बालत्तणं कलाओ य जोव्वणं पाणिग्गहणं कण्णा पासादभोगा य णवरं गोयमकुमारे णामं अट्ठण्हं राय-वरकण्णाणं एगदिवसेणं पाणिं गेण्हावेंति अट्ठट्ठ उ दाउ, ते णं काले णं ते णं समए णं अरहा अरिट्ठनेमी आदिकरे० जाव विहरति। चउव्विहा देवा आगया,कण्हे विनिग्गते,तते णं काले णं तस्स गोतमस्स कुमारस्स जहा मेहे तथा णि-ग्गते धम्मं सोच्चा ४ जं णवरं देवाणुप्पिया ! अम्मापि-यरो आपुच्छामि देवाणुप्पियाणं एवं जहा मेहे कुमारे०जाव अणगारे जाए ईरियासमिते०जाव इणमेव णिग्गंथं पावयणं पुरतो काउं विहरति। तते णं से गोतमे अण्णया कयाती अर-हओ अरिट्ठनेमिस्स तहारूवाणं थेराणं अंतिए सामा-तियमादीयाइं एकारस अंगाई अहिज्जति, अहि-ज्जित्ता बहुहिं चउत्थ० जाव भावेमाणे विहरति । तं अरहा अरिट्ठनेमी अण्णया कयाती वारवतीतो णगरीतो णंदणवणातो पमिणिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता वहता जणवयविहारं विहरति,तते णं से गोतमअणगारे अण्णया क-ताई जेणेव अरहा अरिट्ठनेमी तेणेव उवागच्छति,उवागच्छित्ता अरिहं अरिट्ठनेमिं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं वंदति, नमं-सति,एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुज्झेहिं अब्भणुण्णाते म-माणे मासियभिक्खुपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरित्तए, एवं जहा खंदओ तहा वारस भिक्खुपडिमाओ फासेति,गुणरयणं पि तवोकम्मं तहेव फासेति णिरवसेसं, एवं जहा खंदओ तहा चिंतेति,तहा आपुच्छति,तहा थेरेहिं सद्धिं सेत्तुंजए पव्वए दुरुहति, मासियाए संलेहणाए वारस वरिसाइं परियाओ० जाव सिद्धे । अन्त० १ वर्ग । स्था० ।

गोतमो ह्रस्वो बलीवर्दः, तेन गृहीतपादपतनादिविचित्रशिक्षे-ण जनचित्ताक्षेपदक्षेण भिक्षामटति यः स गौतमः । औ० । ग० । लघुतराक्षमालाचर्चितविचित्रपादपतनादिशिक्षाकलापव-त्स्वनिवृषभकोपात्तकणभिक्षाग्राहिणि, श्रा० १ श्रु० १४ अ० । गोव्रतिके, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । अनु० । आचा० । पञ्चदशशत-तापसानां गौतमेन लब्धिपरमान्नेन पारणा कारिता, तत्परमान्नं वैक्रियमन्यद्वेति प्रश्ने, उत्तरम्-न तद्वैक्रियं किं त्वक्षीणमहान-सीलब्ध्यैव तत्परमान्नं तावज्जातमिति । २० प्र० सेन० ३ उल्ला० । गौतमपतद्ग्रहतपसि पतद्ग्रहे प्रथमं पक्वान्नकं मुच्यते त-त्राणकं ज्ञानस्यार्थे समायाति,अन्यथा वा,तत्तपःकरणं कुत्र ग्रन्थ-मध्ये प्रोक्तमस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्—गौतमपतद्ग्रहतप आ-चारदिनकरग्रन्थे प्रोक्तमस्ति,परं तत्र नाणकमोचनमुक्तं नास्ति, यदि क्वापि प्रसिद्धं नाणकमोचनं तदा तद् ज्ञानद्रव्यं न भव-ति, तेन यथायोगं ज्ञानार्थे यतीनां वैयावृत्त्यर्थे वा व्यापारणी-यमिति । ११० प्र० सेन० ४ उल्ला० ।

गोयमकेसिज्ज-गोतमकेशीय-न० । त्रयोविंशे उत्तराध्ययने, स० ३५ सम० ।

जिणे पासि त्ति नामेणं, अरहा लोगपूइए ।
संबुद्धप्पा य सव्वन्नू, धम्मतित्थयरे जिणे ॥ १ ॥

पार्श्व इति नाम अर्हन् अभूत् तीर्थकरोऽभूत् कीदृशः स जिनः परीषहोपसर्गजेता, रागद्वेषजेता वा, पुनः कीदृशः स पार्श्वजि-नः?,लोकपूजितः लोकेन त्रिजगता अर्चितः,पुनः कथम्भूतः सः?, [संबुद्धप्पा] संबुद्धात्मा तत्त्वावबोधयुक्तात्मा, पुनः कीदृशः स पार्श्वः?, सर्वज्ञः, पुनः कीदृशः पार्श्वः?, धर्मतीर्थकरः धर्म एव भवाम्बुधितरणहेतुत्वात्तीर्थं धर्मतीर्थं करोतीति धर्मतीर्थकरः, पुनः कीदृशः? जयति स सर्वकर्माणीति जिनः,द्वितीयजिनवि-शेषणे श्रीपार्श्वस्य मुक्तिगमनं सूचितं, तदा हि श्रीमहावीरः प्रत्यक्षं तीर्थकरो विहरति, श्रीपार्श्वनाथस्तु मुक्तिं जगामेति भा-वः ॥ १ ॥

तस्स लोगप्पईवस्स, आसी सीसे महायसे ।
केसीकुमारसमणे, विज्जाचरणपारगे ॥ २ ॥

तस्य लोकप्रदीपस्य श्रीपार्श्वनाथतीर्थकरस्य केशीकुमारः शिष्य आसीत्, कुमारो हि अपरिणीततया कुमारत्वेन एव श्रम-णः संगृहीतचारित्रः कुमारश्रमणः केशीकुमारश्रमणः। कथम्भू-तः सः?.महायशाः महाकीर्तिः,पुनः कीदृशो?,विद्याचरणपारगः ज्ञानचारित्रयोः पारगामी ॥ २ ॥

ओहिनाणसुए बुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीयंते, सावत्थिं नगरिमागए ॥ ३ ॥

स केशीकुमारश्रमणः श्रावस्त्यां नगर्याम् आगतः,किं कुर्वन् ? ग्रामानुग्रामं रीयन्ते इति ग्रामानुग्रामं विचरन्, कीदृशः?, [ओ-हिनाणसुए बुद्धे इति] अवधिज्ञानश्रुताभ्यां बुद्धोऽवगततत्त्वः

मतिश्रुतावधिज्ञानसहितः, पुनः कीदृशः ?, शिष्यसङ्घसमाकुलः शिष्यवर्गसहितः ॥ ३ ॥

तिंदुयं नाम उज्जाणं, तम्मी नयरमंडले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥ ४ ॥

स केशिकुमारश्रमणस्तत्र श्रावस्त्यां नगर्यां तस्याः श्रावस्त्याः नगरमण्डले पुरपरिसरे तिन्दुकं नाम उद्यानं वर्तते, तत्रोद्याने प्राशुके प्रदेशे जीवरहिते शय्यासंस्तारे वासम् उपागतः, शय्या वसतिः,तस्यां संस्तारः शय्यासंस्तारः, तस्मिन् समवसृत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे ।
भगवं वद्धमाणे त्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥ ५ ॥

अथशब्दो वाक्यान्तरोपन्यासे, तस्मिन् एव काले धर्मतीर्थकरो जिनो भगवान् श्रीवर्द्धमान इति सर्वलोके विश्रुतोऽभूत ॥५॥

तस्स लोगपईवस्स, आसि सीसे महायसे ।
भयवं गोयमे नामं, विज्जाचरणपारगे ॥ ६ ॥

तस्य श्रीवर्द्धमानस्वामिनो लोकप्रदीपस्य तीर्थंकरस्य गौतमनामा शिष्योऽभूत्, कथम्भूतो गौतमः ?, महायशाः महाकीर्तिः, पुनः कीदृशो गौतमः ?, विद्याचरणपारगः ज्ञानचारित्रधारी, पुनः कीदृशो गौतमः ?, भगवान् चतुर्ज्ञानी मतिश्रुत्यवधिमनःपर्यायज्ञानयुक् ॥ ६ ॥

बारसंगविऊ बुद्धे, सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीअंते, सो वि सावत्थिमागए ॥ ७ ॥

स गौतमोऽपि ग्रामानुग्रामं विहरन् श्रावस्त्यां नगर्यामागतः, कीदृशो गौतमः?, द्वादशाङ्गवित् एकादशाङ्गानि दृष्टिवादसहितानि येन गौतमेन सम्पूर्णानि, ज्ञातानीत्यर्थः । पुनः कीदृशो गौतमः?, बुद्धो ज्ञाततत्त्वः, पुनः कीदृशः?, शिष्यसङ्घसमाकुलः॥७॥

कोट्ठगं नाम उज्जाणं, तम्मी नगरमंडले ।
फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥८॥

तस्याः श्रावस्त्या नगर्या मण्डले परिसरे कोष्ठकं नाम उद्यानं वर्त्तते तत्र प्रासुके 'सिज्जसंथारे' वासम् अवस्थानम् उपागतः प्राप्तः ॥ ८ ॥

केसीकुमारसमणे, गोयमो य महायसे ।
उभओ वि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥९॥

केशिकुमारश्रमणश्च पुनर्गौतमः, एतौ उभौ अपि व्यवहार्षाम आगाताम्, कीदृशौ तौ उभौ ?, महायशसौ, पुनः कीदृशौ ?, अल्लीनौ मनोवाक्कायगुप्तिष्वाश्रितौ, पुनः कीदृशौ ?, सुसमाहितौ सम्यक् समाधियुक्तौ ॥ ९ ॥

उभओ सीससंघाणं, संजयाणं तवस्सिणं ।
तत्थ चिंता समुप्पन्ना, गुणवंताण ताइणं ॥१०॥

तत्र तस्यां श्रावस्त्यामुभयोः केशिगौतमयोः शिष्यसङ्घानां संयतानां तपस्विनां साधूनां गुणवतां ज्ञानदर्शनचारित्रवतां त्रायिणां षड्जीवरक्षाकारिणां परस्परावलोकनात् चिन्ता समुत्पन्ना विचारः समुत्पन्नः ॥१०॥

केरिसो वा इमो धम्मो,इमो धम्मो व केरिसो ?।
आयारधम्मपणिही, इमा वा सा व केरिसी ? ॥११॥

अयम् अस्मत्संबन्धी धर्मः, कीदृशः,वा इति विकल्पे,वाशब्दोऽथवार्थे वा, अथवा-ऽयं धर्मो दृश्यमानगणभृतशिष्यसम्बन्धी कीदृशः पुनरयम् ?, आचारधर्मप्रणधिरस्माकं कीदृशः, पुनरेतेषां वा आचारधर्मप्रणिधिः कीदृशः, प्राकृतत्वात् लिङ्गव्यत्ययः, आचारो वेषधारणादिको बाह्यः क्रियाकलापः,स एव धर्मः, तस्य प्रणधिर्व्यवस्थापनम् आचारधर्मप्रणधिः, पृथक् २ कथं सर्वज्ञोक्तस्य धर्मः, तत्साधनानां च भेदमनुज्ञातुमिच्छाम इति भावः ॥११॥

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥१२॥

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ॥१३॥ [युग्मम्]

यश्चायं चातुर्यामो धर्मः पार्श्वेन महामुनिना तीर्थकरेण दर्शितः, चत्वारश्च यमाश्च चतुर्यमाः, तत्र यश्चातुर्यामः चातुर्व्रातिको-अहिंसा-सत्य-चौर्यत्याग--परिग्रहत्याग--लक्षणो धर्मः प्रकाशितः । यश्च पुनरयं धर्मो वर्द्धमानेन पञ्चशिक्षिकः, पञ्चशिक्षितो वा, पञ्चभिर्महाव्रतैः शिक्षितः पञ्चशिक्षितः प्रकाशितः,पञ्चसु शिक्षासु भवः पञ्चशिक्षिकः, पञ्चमहाव्रतात्मः अहिंसासत्यचौर्यत्यागमैथुनपरिहारपरिग्रहत्यागलक्षणो धर्मः प्रकाशितः॥१२॥ पुनर्वर्द्धमानेन अचेलको धर्मः प्रकाशितः, अचेलं मानोपेतं धवलं जीर्णप्रायम् अल्पमूल्यं वस्त्रं धारणीयमिति वर्द्धमानस्वामिना प्रोक्तम्, असत इव चेलं यत्र सः अचेलः, अचेल एव अचेलकः, यत् वस्त्रं सदपि असत् इव तत् धार्यमित्यर्थः । पुनर्यो धर्मः पार्श्वेन स्वामिना सान्तरोत्तरः सह अन्तरेण उत्तरेण प्रधानबहुमूल्येन नानावर्णेन प्रलम्बेन वस्त्रेण च वर्त्तते यः स सान्तरोत्तरः-सचेलको धर्मः प्रकाशितः, एककार्ये मुक्तिरूपे कार्ये प्रवृत्तयोः श्रीवीरपार्श्वयोर्विशेषे किं नु कारणं को हेतुः,कारणभेदे हि कार्यभेदसम्भवः,कार्यं तु उभयोरेकमेव, कारणं च पृथक् २ कथमिति भावः?। किमिति प्रश्ने, नुरिति वितर्के ॥ १३ ॥

अह ते तत्थ सीसाणं, विन्नाय पवियक्कियं ।
समागमे कयमई, उभओ केसिगोयमा ॥ १४ ॥

अथानन्तरं तयोरुभयोस्तत्र श्रावस्त्याम् आगमनानन्तरं केशिगौतमौ तौ उभौ समागमे कृतमती अभूताम् । किं कृत्वा ?, शिष्याणां च सुल्लकानां प्रवितर्कितं विज्ञाय विकल्पं ज्ञात्वा ।१४।

गोयमो पडिरूवन्नू, सिस्ससंघसमाउले ।
जेट्ठं कुलमविक्खंतो, तिंदुअं वणमागओ ॥ १५ ॥

गौतमस्तिन्दुकं वनम् आगतः केशिकुमाराऽधिष्ठिते वने आगतः, कीदृशो गौतमः ?, प्रतिरूपज्ञः प्रतिरूपो यथोचितविनयः तं जानातीति प्रतिरूपज्ञः, पुनः कीदृशः ?, शिष्यसङ्घसमाकुलः शिष्यवृन्दसहितः, गौतमः किंकुर्वाणः ?, ज्येष्ठं कुलम् अपेक्षमाणः ज्येष्ठं वृद्धं प्रथमभवनात्पार्श्वनाथस्य,कुलं सन्तानं विचारयत इत्यर्थः॥ १५ ॥

केसीकुमारसमणे, गोयमं दिस्समागयं ।
पडिरूवं पडीवत्तिं, सम्मं च पडिवज्जइ ॥ १६ ॥

केशिकुमारश्रमणो गौतमम् आगतं दृष्ट्वा सम्यक् प्रतिरूपाम् आगतानां योग्यां, प्रतिपत्तिं सेवां, प्रतिपद्यते सम्यक् करोतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य ।
गोयमस्स निसिज्जाए, खिप्पं संपणामए ॥ १७ ॥

तत्र तिन्दुकोद्याने यत्र केशिकुमारश्रमणो गौतमस्य निषद्यायै गौतस्य उपवेशनार्थं प्रासुकं निर्बीजं चतुर्विधं पलालं,पञ्चमानि कुशतृणानि, चकारात् अन्यान्यपि साधुयोग्यानि तृणानि (संपणामए) समर्पयति । पञ्चमत्वं हि कुशतृणानां पलालभेदेन । चतुर्विधं पलालं यथा–" तणपणगं पन्नत्तं, जिणेहिं कम्मट्ठगंठमहणेहिं । साली १ वीही २ कोद्दव ३, रालग ४ रन्ने तणा ५ पञ्च ॥ १ ॥ " इति वचनात् चत्वारि पलालानि साधुप्रस्तरणयोग्यानि, पञ्चमं हि दर्भादिप्रासुकं तृणं वर्त्तते, तत् केशिकुमारश्रमणेन गौतमस्य प्रस्तारणार्थं प्रदत्तमिति भावः ॥ १७ ॥

केसीकुमारसमणो, गोयमे य महायसे ।
उभओ निसन्ना सोहंति, चंदसूरसमप्पभा ॥ १८ ॥

तदा केशिकुमारश्रमणश्च पुनर्गौतमो महायशाः, एतौ उभौ तत्र तिन्दुकोद्याने निषण्णौ उपविष्टौ, शोभेते विराजेते, कथम्भूतौ तौ ?, चन्द्रादित्यसमप्रभौ ॥ १८ ॥

समागया बहू तत्थ, पासण्डा कोउगा मिया ।
गिहत्थाणं अणेगाओ, साहस्सीओ समागया ॥ १९ ॥

तत्र तस्मिन् तिन्दुकोद्याने, बहवः पाखण्डा अन्यदर्शिनः परिव्राजकादयः समागताः,कीदृशास्ते पाखण्डाः?,कौतुकात् मृगाः आश्चर्याद् मृगा इव अज्ञानिनः, तु पुनः अनेकलोकानां सहस्रं समागतम्–अनेका प्रचुरा लोकानां सहस्र्यपि आर्षत्वात्, समागता तत्र संप्राप्ता ॥ १९ ॥

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा ।
अदिस्साणं च भूयाणं, आसी तत्थ समागमो ॥ २० ॥

तत्र तस्मिन् प्रदेशे देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसकिन्नराः, समागता इति शेषः च पुनस्तत्र अदृश्यानां भूतानां केलीकिलव्यन्तराणां समागमः सङ्गम आसीत् ॥ २० ॥

पुच्छामि ते महाभाग !, केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ २१ ॥

तयोर्जल्पमाह-तदा केशी गौतममब्रवीत् । किमब्रवीदित्याह-हे महाभाग ! ते त्वाम् अहं पृच्छामि । यदा केशिकुमारेण इत्युक्तं तदा केशिकुमारश्रमणं ब्रुवन्तं गोतम इदम् अब्रवीत् ॥ २१ ॥

पुच्छ भंते ! जहिच्छं ते, केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए, गोयमं इणमब्बवी ॥ २२ ॥

गौतमो वदति-हे भदन्त ! हे पूज्य ! ते तव यथेच्छं यत् तव चेतसि अवभासते तत् त्वं पृच्छ-मम प्रश्नं कुरु, इति केशिकुमारं प्रति गौतमोऽब्रवीत् 'गौतमम' इति प्राकृतत्वात् प्रथमास्थाने द्वितीया । ततो गौतमवाक्यादनन्तरं केशिकुमारो गौतमेन अनुज्ञातः सन् गौतमेन दत्ताज्ञः सन् गौतमं प्रति इदं वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥ २३ ॥
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ।
धम्मे दुविहे मेहावी !, कहं विप्पच्चओ न ते ? ॥ २४ ॥

हे गौतम ! पार्श्वेन मुनिना तीर्थकरेण यश्चातुर्यामश्चातुर्व्रतिकोऽयम् अस्माकं धर्मो उद्दिष्टः, पुनर्योऽयं धर्मो वर्द्धमानेन पञ्चशिक्षितः पञ्चव्रतात्मको दिष्टः कथितः ॥२३॥ एककार्ये मोक्षसाधनरूपे कार्ये प्रपन्नयोः श्रीपार्श्वमहावीरयोर्विशेषे भेदे किं कारणम् ?,हे मेधाविन् ! द्विविधे धर्मे तव कथं विप्रत्ययो न प्रभवति ? । यतो द्वौ अपि तीर्थकरौ द्वावपि मोक्षकार्यसाधने प्रवृत्तौ कथमनयोर्भेद इति हेतोस्तव मनसि कथं विप्रत्ययो न भवति सन्देहो न भवति ? ॥ २४ ॥

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ।
पन्ना समिक्खए धम्म–तत्तं तत्तविणिच्छयं ॥ २५ ॥

ततोऽनन्तरं केशिकुमारश्रमणं ब्रुवन्तं कथयन्तं गौतम इदम् अब्रवीत्–हे केशिकुमारश्रमण ! प्रज्ञा बुद्धिर्धर्मतत्त्वं धर्मस्य परमार्थं पश्यति, धर्मतत्त्वं बुद्ध्या एव विलोक्यते, " सूक्ष्मं धर्मं सुधीर्वेत्ति " इति वचनात् । कीदृशं धर्मतत्त्वम् ?, तत्त्वविनिश्चयं तत्त्वानां जीवादीनां विशेषेण निश्चयो यस्मिन् तत् तत्त्वविनिश्चयम्,केवलं धर्मतत्त्वस्य श्रवणमात्रेण निश्चयो न भवति, किन्तु प्रज्ञावशादेव धर्मतत्त्वस्य विनिश्चयः स्यादिति भावः ॥ २५ ॥

पुरिमा उज्जुजड्डाओ, वक्कजड्डा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपन्नाओ, तेण धम्मो दुहा कओ ॥ २६ ॥

केशिकुमारश्रमण ! पुरिमाः पूर्वे प्रथमतीर्थकृत्साधवः आदीश्वरस्य मुनय ऋजुजडाः ऋजवश्च ते जडाश्च ऋजुजडाः, बभूवुरिति शेषः । शिक्षाग्रहणतत्पराः ऋजवः, दुष्प्रतिपाद्यतया जडा मूर्खाः । तुशब्दो यस्मादर्थे । पश्चिमाः पश्चिमतीर्थकृत्साधवो महावीरस्य मुनयो वक्रजडाः-वक्राश्च ते जडाश्च वक्रजडाः, वक्राः प्रतिबोधसमये वक्रज्ञानाः, जडाः कदाग्रहपराः, तादृशा बभूवुः, तु पुनर्मध्यमाः मध्यमतीर्थङ्कराणां मुनयो द्वाविंशतितीर्थकृत्साधवः ऋजुप्राज्ञाः बभूवुः, ऋजवश्च प्राज्ञाश्च ऋजुप्राज्ञाः, ऋजवः शिक्षाग्रहणतत्पराः, पुनः प्राज्ञाः प्रकृष्टबुद्धयः, तेन कारणेन हे मुने ! धर्मो द्विधा कृतः ॥२६॥

पुरिमाणं दुव्विसोज्झो, चरिमाणं दुरणुपालओ चेव ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥ २७ ॥

[पुरिमाणं इति] प्रथमतीर्थकृत्साधूनां कल्पः साध्वाचारो दुर्विशोध्यः, दुःखेन निर्मलीकरणीयः, ऋजुजडाः कल्पनीयाः कल्पनीयज्ञानविकलाः, पुनश्चरमाणां चरमतीर्थकृत्साधूनां दुरनुपालकः–दुःखेन अनुपाल्यते इति दुरनुपालकः, महावीरस्य साधवो वक्रजडाः वक्रत्वाद्विकल्पबहुलत्वात् साध्वाचारं जानन्तोऽपि कर्तुमशक्ताः, तु पुनर्मध्यमगानां द्वाविंशतितीर्थकृत्साधूनाम्–अजितनाथादारभ्य पार्श्वनाथपर्यन्ततीर्थकरमुनीनां कल्पः साध्वाचारः सुविशोध्यः, सुपालकश्च, साध्वाचारसुखेन निर्मलीकर्त्तव्यः, पुनः सुखेन पाल्यः, द्वाविंशतितीर्थकृत्साधवो हि ऋजुप्राज्ञाः–स्तोकेनोक्तेन बहुज्ञाः तस्माच्चातुर्यामिको धर्म उद्दिष्टः । मैथुनं हि परिग्रहे एव गण्यते, आदीश्वरस्य साधूनां यदि पञ्च महाव्रतानि प्राणातिपातविरतिमृषावादविरतिमैथुनविरतिपरिग्रहविरतिरूपाणि पृथक् २ कथ्यन्ते

१ टीकाकारोक्तरीत्या " लोगाणं तु अणेगाओ " इति पाठोऽनुमीयते ।

तदा ते ऋजुजडाः पञ्चमहाव्रतानि पालयन्ति, नो चेत्से व्रतभङ्गं कुर्वन्ति, ते तु यावन्मात्रमाचारं शृण्वन्ति तावन्मात्रमेव कुर्वन्ति, अधिकं स्वबुद्ध्या किमपि न विदन्ति । महावीरस्य साधवोऽपि चेत्पञ्च महाव्रतानि शृण्वन्ति तदैव पालयन्ति, तेऽपि वक्रा जडाश्च, चेत् चत्वारि महाव्रतानि शृण्वन्ति तदा चत्वार्येव पालयन्ति, न तु पञ्चमं पालयन्ति । वक्रजडादिकदाग्रहग्रस्ताः अतीव हठधारिणः, द्वाविंशतितीर्थकृत्साधवः ऋजवः प्राज्ञाश्चत्वारि श्रुत्वा सुबुद्धित्वात् पञ्चापि व्रतानि पालयन्ति । तस्माच्चत्वारि व्रतानि प्रोक्तानि, तस्मात् धर्मो द्विविधः कृतः-चातुर्व्रतिकः, पञ्चव्रतात्मकश्च । स्वस्वारकपुरुषाणाम् अभिप्रायं विज्ञाय तीर्थकरैर्धर्म उपदिष्ट इति भावः ॥ २७ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमो ! ॥ २८ ॥

इति श्रुत्वा केशिकुमारः श्रमणो वदति-हे गौतम ! ते तव साधु प्रज्ञाऽस्ति सम्यक् बुद्धिरस्ति, मे मम अयं संशयस्त्वया छिन्नो दूरीकृतः । अन्योऽपि मम संशयोऽस्ति, तमिति तस्योत्तरं हे गौतम ! त्वं कथयस्व । इदं वचनं हि शिष्यापेक्षं, न तु तस्य केशिमुनेर्ज्ञानत्रयवत एवंविधः संशयसम्भवः ॥ २८ ॥

अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महायसा ॥२९॥
एककज्जपवन्नाणं, विसेसे किं नु कारणं ।
लिंगे दुविहे मेहावी !, कहं विप्पचओ न ते ? ॥ ३० ॥

वर्द्धमानेन चतुर्विंशतितमतीर्थकरेण यो धर्मोऽचेलकः-प्रमाणोपेतजीर्णप्रायो धवलवस्त्रधारणात्मकः साध्वाचारो दिष्टः, च पुनः पार्श्वेन महायशसा त्रयोविंशतितमतीर्थकरेण योऽयं धर्मः सान्तरुत्तरः पञ्चवर्णबहुमूल्यप्रमाणरहितवस्त्रधारणात्मकः साध्वाचारः प्रदर्शितः, हे मेधाविन् ! एककार्यप्रतिपन्नयोः श्रीवीरपार्श्वयोर्विशेषे भेदे किं कारणं को हेतुः ?, हे गौतम ! द्विविधे लिङ्गे द्विप्रकारके साधुवेषभेदे तव कथं विप्रत्ययो न उत्पद्यते कथं सन्देहो न जायते ?। उभौ अपि तीर्थकरौ मोक्षकार्यसाधकौ कथं ताभ्यां वेषभेदः प्रकाशितः ?, इति कथं तव अयं संशयो न भवति ? ॥ ३० ॥

केसिं एवं बुवंताणं, गोयमो इणमब्बवी ।
विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं ॥ ३१ ॥

गौतम एवं ब्रुवाणं केशिकुमारं मुनिम् इदम् अब्रवीत्-हे केशिमुने ! तीर्थकरैर्विज्ञानेन विशिष्टज्ञानेन केवलज्ञानेन समागम्य यत् यत् यस्य उचितं तत्तथैव ज्ञात्वा धर्मसाधनं धर्मोपकरणं वर्षाकल्पादि इदम् ऋजुप्राज्ञयोग्यम्, इदं वक्रजडयोग्यम् इति ईप्सितम् अनुमतम् इष्टं कथितमिति यावत्, यतो हि शिष्याणां रक्तवर्णादिवस्त्रानुज्ञाने वक्रजडत्वेन रञ्जनादिषु प्रवृत्तिर्दुर्निवारा एव स्यात्, पार्श्वनाथशिष्यास्तु ऋजुप्राज्ञत्वेन शरीराच्छादनमात्रेण प्रयोजनं जानन्ति, न च ते किञ्चित्कदाग्रहं कुर्वन्ति ॥ ३१ ॥

पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ॥ ३२ ॥

हे केशिमुने ! नानाविधं विकल्पनं नानाप्रकारोपकरणपरिकल्पनम् अनेकप्रकारोपकरणचतुर्दशोपकरणधारणं वर्षाकल्पादिकं च यत् पुनर्लोके लिङ्गस्य प्रयोजनं साधुवेषस्य प्रवर्त्तनं यत्तीर्थकरैरुक्तं तत् लोकस्य प्रत्ययार्थं लोकस्य गृहस्थस्य प्रत्ययाय, यतो हि साधुवेषं लुञ्चनाद्याचारं च दृष्ट्वा अमी व्रतिन इति प्रतीतिरुत्पद्यते । अन्यथा विडम्बकाः पाखण्डिनोऽपि पूजाद्यर्थं वयं व्रतिन इति ब्रवीरन्, ततश्च व्रतिषु अप्रतीतिः स्यात्, अतो नानाविधविकल्पनं, लिङ्गप्रयोजनं च पुनर्यात्रार्थं संयमनिर्वाहार्थं, यतो हि वर्षाकल्पादिकं विना वृष्ट्यादिना संयमनिर्वाहो न स्यात्, तेन वर्षाकल्पादिकं वर्षर्तुयोग्यः आचार उपकरणधारणं च दर्शितम्, पुनर्ग्रहणं ज्ञानं तदर्थम् इति ग्रहणार्थं, ज्ञानाय इत्यर्थः । यदि कदाचित् चित्तविप्लवोत्पत्तिः स्यात्, परीषहोत्पत्तौ संयमे अरतिरुत्पद्यते, तदा साधुवेषधारी मनसि एतादृशं ज्ञानं कुर्यात्-यतोऽहं साधोर्वेषधारी अस्मि, यतो "धम्मं रक्खइ वेसो" इत्युक्तत्वात् इत्यादिहेतोर्लिङ्गधारणं ज्ञेयम् ॥ ३२ ॥

अह भवे पइन्नाओ, मोक्खसब्भूयसाहणे ।
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ॥ ३३ ॥

पुनर्गौतमो वदति-हे केशिकुमारश्रमण ! निश्चयेन येन ये मोक्षसद्भूतसाधनानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि सत्यानि साधनानि निश्चयनये वर्तन्ते, अथ प्रतिज्ञा भवेत् श्रीपार्श्वनाथमहावीरयोः इयम् एका एव प्रतिज्ञा भवेत्, श्रीपार्श्वनाथस्यापि मोक्षस्य साधनानि ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव, श्रीवीरस्यापि मोक्षस्य साधनानि ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव; श्रीपार्श्ववीरयोरेषा प्रतिज्ञा भिन्ना नास्ति इत्यर्थः । वेषस्य अन्तरम् ऋजुजडवक्रजडाद्यर्थः, मोक्षस्य साधने वेषो व्यवहारनये ज्ञेयः, न तु निश्चयनये वेषः । निश्चये तु ज्ञानदर्शनचारित्राण्येव, तत्र ज्ञानं मतिज्ञानादिकम्, दर्शनं तत्त्वरुचिः, चारित्रं सर्वसावद्यविरतिरूपं, तस्मात् निश्चयव्यवहारनयौ ज्ञातव्यौ इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ३४ ॥

अस्या अर्थस्तु पूर्ववत्, नवरं प्रसङ्गतः शिष्याणां व्युत्पत्त्यर्थं जानन्नपि अपरमपि वस्तुतत्त्वं गौतमस्य स्तुतिद्वारेण पृच्छन्योऽपि संशयोत्पादी आह ॥ ३४ ॥

अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा ! ।
ते य ते अभिगच्छंति, कहं ते निज्जिया तुमे ? ॥ ३५ ॥

केशी वदति-हे गौतम ! अनेकेषां शत्रुसम्बन्धिनां सहस्राणां मध्ये त्वं तिष्ठसि, ते च अनेकसहस्रसंख्याः शत्रवस्ते इति त्वाम् अभिलक्षीकृत्य गच्छन्ति संमुखं धावन्ति, ते शत्रवस्त्वया कथं निर्जिताः ? ॥ ३५ ॥

अथ गौतम उत्तरं वदति-

एगे जिए जिया पंच, पंचे जिये जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामि हं ॥ ३६ ॥

हे केशिमुने ! एकस्मिन् शत्रौ जिते पञ्च शत्रवो जिताः, पञ्चसु जितेषु दश शत्रवो जिताः, दशैव वैरिणो वशीकृताः, दशप्रकारान् शत्रून् जित्वा सर्वशत्रून् जयाम्यहम् । यद्यपि चतुर्णां कषायाणाम् अवान्तरभेदेन षोडश संख्या भवति, नोकषायाणां नवानां मीलनात् पञ्चविंशतिभेदा भवन्ति, तथापि सहस्रसंख्या न भवति, परं तु तेषां दुर्जयत्वात् सहस्रसंख्या प्रोक्ता ॥ ३६ ॥

अथ कथं पृच्छति-

सत्तू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ३७ ॥

हे गौतम! शत्रवः के उक्ताः ?। केशिकुमारो मुनिर्गौतमम इदम् अब्रवीत, ततोऽनन्तरं केशिमुनिम् एवं ब्रुवन्तं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ३७ ॥

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इंदियाणि य ।

ते जिणित्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ! ॥ ३८ ॥

हे मुने! एक आत्मा चित्तं,तस्य अभेदोपचारात् आत्ममनसोरेकीभावे मनसः प्रवृत्तिः स्यात्, तस्मात् एक आत्मा अजितः शत्रुर्दुर्जयो रिपुः, अनेकदुःखहेतुत्वात्। एवं सर्वेऽप्येते उत्तरोत्तरभेदात् एकस्मिन् आत्मनि जिते चत्वारः कषायास्तेषां मीलनात् पञ्चपञ्चसु आत्मकषायेषु जितेषु इन्द्रियाणि पञ्च जितानि, तदा दश शत्रवो जिताः। आत्मा, कषायाश्चत्वारः, एवं पञ्च, पुनः पञ्चेन्द्रियाणि, एवं दशैव आत्मकषायाः, नोकषाया इन्द्रियाणि। एते सर्वे शत्रवोऽजिताः सन्ति, तान् सर्वान् शत्रून् यथान्यायं वीतरागोक्तवचसा जित्वा अहं विहरामि, तेषां मध्ये तिष्ठन्नपि अप्रतिबद्धविहारेण विचरामि। अत्र पूर्वं हि प्रश्नकाले अनेकेषां सहस्राणां अरीणां मध्ये तिष्ठसि इत्युक्तम्,उत्तरसमये तु कषायाणाम् अवान्तरभेदेन षोडशसंख्या भवति, नोकषायाणां नवानां मीलनाच्च पञ्चविंशतिभेदा भवन्ति, तथा आत्मेन्द्रियाणामपि सहस्रं संख्या न भवति, परं तु एतेषां दुर्जयत्वात् सहस्रसंख्या उक्तेति भावः ॥ ३८ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।

अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ३९ ॥

अस्यार्थस्तु पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

दीसंति बहवे लोए, पासबद्धा सरीरिणो ।

मुक्कपासो लहुब्भूओ, कहं तं विहरसी मुणी ! ॥ ४० ॥

पुनः केशी वदति-हे गौतम मुने! लोके संसारे बहवः शरीरिणः पाशबद्धाः दृश्यन्ते, त्वं मुक्तपाशः सन् लघुभूतः सन् कथं विचरसि हे मुने! ॥ ४० ॥

ते पासे सव्वसो छित्ता, निहंतूण उवायओ ।

मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ! ॥ ४१ ॥

तान् पाशान् सर्वान् छित्वा पुनः उपायेन बुद्ध्या निहत्य मुक्तपाशो लघुभूतोऽहं विहरामि ॥ ४१ ॥

पासा य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ।

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ४२ ॥

इति गौतमवाक्यादनन्तरं केशिश्रमणो गौतममब्रवीत्-हे गौतम! पाशाः के उक्ता बन्धनानि कानि उक्तानि?। तत इति पृच्छन्तं केशिकुमारमुनिं गौतम इदमुत्तरम् अब्रवीत् ॥ ४२ ॥

रागदोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा ।

ते छिंदित्तु जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥ ४३ ॥

हे केशिमुने! जीवानां रागद्वेषादयस्तीव्राः कठोराः छेत्तुमशक्याः स्नेहपाशा मोहपाशा उक्ताः। कीदृशास्ते स्नेहपाशाः?, भयंकराः भयं कुर्वन्तीति भयङ्कराः, रागद्वेषौ आदौ येषां ते रागद्वेषादयः,रागद्वेषमोहा एव जीवानां भयदाः,तान् स्नेहपाशान् यथान्यायं वीतरागोक्तोपदेशेन छित्वा,यथाक्रमं साध्वाचारानुक्रमेण, अहं विहरामि साधुमार्गे विचरामि ॥ ४३ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।

अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ४४ ॥

अस्यार्थस्तु पूर्ववत् ॥ ४४ ॥

अंतोहियंयसंभूया, लया चिट्ठइ गोयमा ! ।

फलेइ विसभक्खीणं, सा उ उद्धरिया कहं ? ॥ ४५ ॥

हे गौतम! सा लता सा वल्ली त्वया कथं केन प्रकारेण उद्धृता उत्पाटिता ?,सा का?,या लता अन्तर्हृदयसम्भूता सती तिष्ठति, अन्तर्हृदयं मन उच्यते, एतावता मनसि उत्पन्ना पुनर्या वल्ली विषभक्ष्याणि फलानि फलति-विषवद्भक्ष्याणि विषभक्ष्याणि विषफलानि उत्पादयति, पर्यन्तदारुणतया विषोपमानि फलानि यस्या लताया भवन्ति ॥ ४५ ॥

तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं ।

विहरामि जहानायं, मुक्को मि विसभक्खणा ॥ ४६ ॥

गौतमो वदति-हे मुने! तां लतां सर्वतः सर्वप्रकारेण छित्वा खण्डीकृत्य, पुनः समूलिकां मूलसहिताम् उद्धृत्य उत्पाट्य, यथान्यायं साधुमार्गे विहरामि, ततोऽहं विषभक्षणात् विषोपमफलाहारात् मुक्तोऽस्मि ॥ ४६ ॥

लया य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी ! ।

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ४७ ॥

हे गौतम ! लता इति का उक्ता?, इति पृष्टे सति इति ब्रुवन्तं केशिमुनिं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ४७ ॥

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया ।

तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी ! ॥ ४८ ॥

हे केशिमुने ! भवे संसारे तृष्णा लोभप्रकृतिर्लता वल्ली उक्ता, कीदृशी सा?,भीमा भयदायिनी,पुनः कीदृशी?, भीमफलोदया भीमो दुःखकारणानां फलानां दुष्टकर्मणाम् उदयो विपाको यस्याः सा भीमफलोदया दुःखदायककर्मफलहेतुभूता, " लोभमूलानि पापानि " इत्युक्तत्वात्। तां तृष्णावल्लीं यथान्यायम् उद्धृत्य अहं विहारं करोमि ॥ ४८ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।

अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ४९ ॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ४९ ॥

संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा ! ।

जे डहंति सरीरत्था, कहं विज्झाविया तुमे ? ॥ ५० ॥

हे गौतम ! संप्रज्वलिता जाज्वल्यमाना घोरा भीषणा अग्नयः संसारे तिष्ठन्ति, ये अग्नयः शरीरस्थान् अर्थात् प्राणिनो जीवान् दहन्ति ज्वालयन्ति, तेऽग्नयस्त्वया कथं विध्यापिताः?, कथं शमिता इत्यर्थः ? ॥ ५० ॥

महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं ।

सिंचामि सययं ते उ, सित्ता नेव डहंति मे ॥ ५१ ॥

हे केशिमुने ! महामेघप्रसूतात् महामेघसमुत्पन्नात् अर्थात् महानदीप्रवाहात् वारि पानीयं गृहीत्वा तान् अग्नीन् सततं निरन्तरं सिञ्चामि, ते अग्नयो जलेन सिक्ताः सन्तो मां नैव दहन्ति, कथम्भूतं तत् वारि?, " उत्तमं " जलेषु उत्तमं सर्वेषु जलेषु मेघोदकस्यैव उत्तमत्वात् ॥ ५१ ॥

अग्गी य इइ के वुत्ते, केसी गोयममव्ववी ।

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ॥ ५२ ॥

तदा केशिश्रमणो गौतमम् इदम् अब्रवीत्-हे गौतम ! ते अग्नय इति के उक्ताः ?, इति उक्तवन्तं केशिकुमारं मुनिं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ५२ ॥

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं ।

सुयधाराभिहया संता, भिन्ना हु न डहंति मे ॥ ५३ ॥

हे केशिमुने ! कषाया अग्नय उक्ताः, श्रुतं शीलं तपश्च जलं वर्तते, तत्र श्रुतं च श्रुतमध्योपदेशः महामेघस्तीर्थंकरः, महास्रोत आगमः, ते कषायाग्नयः श्रुतधाराभिहताः श्रुतस्य आगमवाक्यस्य, उपलक्षणत्वात् शीलतपसोऽपि, धारा इव धारास्ताभिरभिहता विध्यापिताः श्रुतधाराभिहताः सन्तो, भिन्नाः विध्यापिताः । 'हु' निश्चयेन, 'मे' इति मां न दहन्ति मां न ज्वलयन्ति ॥ ५३ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।

अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ५४ ॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ५४ ॥

अइसाहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।

जंसि गोयम ! मारूढो, कहं तेण न हीरसी ? ॥ ५५ ॥

हे गौतम ! अतिसाहसिको दुष्टाश्वः परिधावति, यस्मिन् दुष्टाश्वे हे गौतम ! त्वम् आरूढोऽसि, तेन दुष्टाश्वेन कथं न ह्रियसे कथम् उन्मार्गे न नीयसे ?, सहसा अविचार्य प्रवर्तते इति साहसिकः अविचारिताध्वगामी, पुनः कीदृशो दुष्टाश्वः ?, भीमो भयानकः ॥ ५५ ॥

पहावंतं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं ।

न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ॥ ५६ ॥

अथ गौतमो वदति-हे केशिमुने ! तं दुष्टाश्वं प्रधावन्तम् उन्मार्गे व्रजन्तम् अहं निगृह्णामि वशीकरोमि, कीदृशं तं दुष्टाश्वं ?, श्रुतरश्मिसमाहितं सिद्धान्तवल्गया बद्धं, ततः स मे मम दुष्टाश्वः उन्मार्गे न गच्छति, स दुष्टाश्वो मार्गं च प्रतिपद्यते अङ्गीकरोति ॥ ५६ ॥

अस्से य इइ के वुत्ते, केसी गोयममव्ववी ? ।

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ॥ ५७ ॥

केशी पृच्छति-हे गौतम ! अश्व इति क उक्तः ?, तत इति ब्रुवन्तं केशिमुनिं गौतम इदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई ।

तं च सम्मं निगिण्हामि, धम्मसिक्खऍ कंथगं ॥ ५८ ॥

हे केशिमुने ! मनो दुष्टाश्वः साहसिकः परिधावति इतस्ततः परिभ्रमति, तं मनोदुष्टाश्वं धर्मशिक्षायै धर्माभ्यासनिमित्तं कन्थकमिव जात्याश्वमिव, निगृह्णामि वशीकरोमि, यथा जात्याश्वो वशीक्रियते, तथा तं मनोदुष्टाश्वं वशीकरोमि ॥ ५८ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।

अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ५९ ॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ५९ ॥

कुप्पहा बहवो लोए, जेहिं नासंति जंतवो ।

अध्दाणे कह वट्टंतो, तं न नाससि गोयमा ! ? ॥ ६० ॥

हे गौतम ! लोके बहवः कुपथाः कुमार्गाः सन्ति, यैः कुमार्गैर्जन्तवो नश्यन्ति दुर्गतिवने व्रजन्तो विलीयन्ते, ते मार्गात् च्यवन्ते इत्यर्थः । हे गौतम ! त्वम् अध्वनि वर्तमानः सन् कथं न नश्यसि नाशं न प्राप्नोषि सत्पथात् त्वं न च्यवसे ? ॥ ६० ॥

जे य मग्गेण गच्छंति, जे य उम्मग्गपट्ठिया ।

ते सव्वे वेइया मज्झ, तो ण णस्सामि हं मुणी ! ॥ ६१ ॥

हे केशिमुने ! ये भव्यजना मार्गेण वीतरागोपदेशेन गच्छन्ति, च पुनर्येऽभव्याः उन्मार्गप्रस्थिताः भगवदुपदेशाद्विपरीतं प्रचलितास्ते सर्वे मया विदिताः, भव्याभव्ययोः सन्मार्गोन्मार्गयोर्ज्ञानं मम जातम् इति भावः । 'तो' इति, तस्मात्कारणात् अहं न नश्यामि अपथपरिज्ञानात् नाशं न प्राप्नोमि ॥ ६१ ॥

मग्गे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममव्ववी ।

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ? ॥ ६२ ॥

अस्यार्थः पूर्ववत् ॥ ६२ ॥

कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।

सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गेहि उत्तमे ॥ ६३ ॥

हे केशिमुने ! कुत्सितानि प्रवचनानि कुप्रवचनानि कुदर्शनानि, तेषु पाखण्डिनः कुप्रवचनपाखण्डिनः एकान्तवादिनः, ते सर्वे उन्मार्गप्रस्थिता उन्मार्गगामिनः सन्ति, सन्मार्गं तु पुनर्जिनाख्यातं विद्यते, एष जिनोक्तः सर्वमार्गेषु उत्तमः सर्वमार्गेभ्यः प्रधानो, दयाविनयमूलत्वात् इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।

अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ६४ ॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ६४ ॥

महाउदगवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।

सरणं गई पइट्ठा य, दीवं कं मन्नसी मुणी ! ? ॥ ६५ ॥

केशी गौतमं प्रति पृच्छति-हे गौतम मुने ! महोदकवेगेन महाजलप्रवाहेण बह्यमानानां प्रवतां प्राणिनां त्वं द्वीपं कं मन्यसे ? इति प्रश्नः; कीदृशं द्वीपम् ?, शरणं रक्षणक्षमम्, पुनः कीदृशम् ?, गतिम् आधारभूमिम्, पुनः कीदृशं प्रतिष्ठां स्थिरावस्थानहेतुम् । द्वीपं निवासस्थानं जलमध्यवर्ति ॥ ६५ ॥

अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ ।

महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जइ ॥ ६६ ॥

हे केशिमुने ! वारिमध्ये पानीयान्तरे महालयो विस्तीर्णः एको द्वीपोऽस्ति, द्विर्गता आपो यस्मिन् स द्वीपः, तत्र तस्मिन् द्वीपे महोदकवेगस्य गतिर्न विद्यते पातालकलशवातैः क्षुभितस्य जलवेगस्य गमनं नास्ति । अपरत्र द्वीपे प्रलयकाले समुद्रजलस्य गतिरस्ति, परं द्वीपे सति तत्र नास्ति ॥ ६६ ॥

दीवे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममव्ववी ।

तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ? ॥ ६७ ॥

केशी गौतमं पृच्छति-हे गौतम ! द्वीपम् इति किमुक्तम् ?, इत्युक्तवन्तं केशिश्रमणं प्रति गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ६७ ॥

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥६८॥

हे केशिमुने ! जरामरणजलप्रवाहेण ब्रुडतां च वहतां प्राणिनां संसारसमुद्रे श्रुतधर्मचारित्रधर्मरूपं द्वीपं वर्त्तते मुक्तिसुखहेतुधर्मोऽस्तीति भावः। कीदृशः स धर्मः?, प्रतिष्ठा निश्चलं स्थानम्, पुनः कीदृशो धर्मः?, गतिर्विवेकिनाम् आश्रयणीयः स धर्म उत्तमं प्रधानं स्थानं शरणमस्ति इति भावः ॥६८॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥६९॥

अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ६९ ॥

अन्नवंसि महोहंसि, नावा वि परिधावई ।
जंसि गोयम ! मारूढा, कहं पारं गमिस्ससि ? ॥७०॥

हे गौतम ! महौघे अर्णवे महाप्रवाहे समुद्रे [नावा इति] नौ परिधावति इतस्ततः परिभ्रमति, यस्यां नौकायां त्वम् आरूढः सन् कथं पारं गमिष्यसि कथं पारं प्राप्स्यसि ? ॥७०॥

जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा य निस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥

हे केशिमुने ! या नौः आस्राविणी छिद्रसहिताऽस्ति, आस्रवति आगच्छति पानीयं यस्यां सा आस्राविणी, सा नौः पारस्य गामिनी नास्ति, या निःस्राविणी निश्छिद्रा नौः, सा तु पारस्य गामिनी ॥ ७१ ॥

अथ केशी पृच्छति-

नावा य इइ का वुत्ता, केसी गोयममब्बवी ? ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ७२ ॥
सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अन्नवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥ ७३ ॥

नौ इति का उक्ता ?, केशी गौतमम् अब्रवीत्। ततः केशिं ब्रुवन्तं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ७२ ॥ हे केशिमुने ! शरीरं नौर्वर्त्तते, जीवो नाविकः नौखेटक उच्यते । संसारोऽर्णवः समुद्र उक्तः। यं संसारं समुद्रं महर्षयस्तरन्ति, एतावता महर्षयः स्वजीवं तपोऽनुष्ठानक्रियावन्तं नौवाहकं नाविकं कृत्वा चतुर्गतिभ्रमणरूपे भवार्णवे स्वशरीरं धर्माधारकत्वेन नावं कृत्वा पारं प्राप्नुवन्ति, मोक्षं व्रजन्तीति भावः ॥७३॥

साहु गोयम! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ७४ ॥

अर्थस्तु प्राग्वत् ॥ ७४ ॥

अंधकारे तमे घोरे, चिट्ठंति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ? ॥७५॥

अथ पुनः केशिश्रमणो गौतमं पृच्छति-हे गौतम! अन्धकारे तमसि प्रकाशाभावे बहवः प्राणिनस्तिष्ठन्ति, अन्धकारतमःशब्दयोर्यद्यप्येक एव अर्थस्तथाऽप्यत्र अन्धकारशब्दस्तमसो विशेषणत्वेन प्रतिपादितम्। कीदृशे तमसि?, अन्धकारे अन्धं करोति लोकमित्यन्धकारं तस्मिन् अन्धकारे, पुनः कीदृशे तमसि ?, घोरे रौद्रे भयोत्पादके, हे गौतम! एतादृशे सर्वस्मिन् लोके सर्वेषां प्राणिनां सर्वजीवानां कः पदार्थ उद्द्योतं करिष्यते प्रकाशं करिष्यति ?॥ ७५ ॥

उग्गओ विमलो भाणू, सव्वलोगप्पभंकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥ ७६ ॥

गौतमः प्राह-हे केशिमुने! सर्वलोकप्रभाकरो विमलो भानुरुद्गतः, स भानुः सर्वस्मिन् लोके सर्वेषां प्राणिनामुद्द्योतं करिष्यति, सर्वस्मिन् लोके प्रभां करोतीति सर्वलोकप्रभाकरः, सर्वलोकालोकप्रकाशको निर्मलो वार्दलादिना अनाच्छादितभानुरेव सर्वेषां प्राणिनां सर्वत्रोद्योतं करोति, नान्यः कोऽपि तेजस्वी पदार्थ इति भावः ॥ ७६ ॥

भाणू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ?।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ७७ ॥

तदा केशिमुनिर्गौतमं पृच्छति-हे गौतम ! भानुरिति क उक्तः?, केशिमुनिर्गौतमम् इत्यब्रवीत्, ततः केशिमुनिमिति ब्रुवन्तं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ७७ ॥

उग्गओ खीणसंसारो, सव्वन्नू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं, सव्वलोगम्मि पाणिणं ॥ ७८ ॥

हे केशिमुने ! क्षीणः संसारो भवभ्रमणं यस्य स क्षीणसंसारः क्षयीकृतसंसारः, सर्वज्ञः सर्वपदार्थवेत्ता, जिनो रागद्वेषयोर्विजेता, स भास्करः सूर्यः, सर्वस्मिन् लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मकलोके सर्वेषां प्राणिनामुद्द्योतं करिष्यति प्रकाशं करिष्यति ॥७८॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥ ७९ ॥

अर्थस्तु प्राग्वत् ॥ ७९ ॥

सारीरमाणसे दुक्खे, वज्झमाणाण पाणिणं ।
खेमं सिवं अणाबाहं, ठाणं किं मन्नसी मुणी ! ? ॥८०॥

अथ पुनः केशिश्रमणो गौतमं पृच्छति-हे गौतम मुने ! शारिरिकैः शरीरात् उत्पन्नैः, तथा मानसैः मनस उत्पन्नैर्दुःखैर्बाध्यमानानां पीड्यमानानां प्राणिनां त्वं क्षेमं व्याध्यादिरहितं, शिवं जरोपद्रवरहितम्, अनाबाधं शत्रुजनाभावात् स्वभावेन पीमाररहितम्, एतादृशं स्थानं किम् मन्यसे ?, मां वदेति शेषः ॥ ८० ॥

अत्थि एगं धुवट्ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥ ८१ ॥

हे केशिमुने ! लोकाग्रे लोकस्य चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य अग्रं लोकाग्रं तस्मिन् लोकाग्रे, एकं ध्रुवं निश्चलं स्थानम् अस्ति, कथम्भूतं तत्स्थानम्?, "दुरारुह" दुःखेन आरुह्यते यस्मिन् तत् दुरारोहं, दुष्प्राप्यमित्यर्थः। पुनर्यत्र यस्मिन् स्थाने जरामृत्यू न स्तः जरामरणे न विद्येते, पुनर्यस्मिन् व्याधयः, तथा वेदना वा, वातपित्तकफश्लेष्मादयो न विद्यन्ते ॥८१॥

ठाणे य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी ? ।
तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥ ८२ ॥

ततः केशिश्रमणो गौतमम् इदम् अब्रवीत्?, हे गौतम ! स्थानम् इति किमुक्तम् ?, ततः केशिकुमारमिति ब्रुवन्तं गौतम इदम् अब्रवीत् ॥ ८२ ॥

निव्वाणं ति अबाहं ति, सिद्धि लोगग्गमेव य ।
खेमं सिवमणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥ ८३ ॥

तं ठाणं सासयं वासं, लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जं संपत्ता ण सोयंति, जवोहंतकरा मुणी ! ।८४। (युग्मम्)

हे केशिमुने ! तं शाश्वतं सदातनं वासं स्थानं लोकाग्रे वर्तते, यत्स्थानं सम्प्राप्ताः सन्तो भवौघान्तकराः संसारप्रवाहविनाशका मुनयो न शोचन्ते शोकं न कुर्वन्ति । कीदृशं तत्स्थानम् ?, दुरारोहं दुःखेन तपःसंयमयोगेन आरुह्यते आसाद्यते इति दुरारोहं दुष्प्राप्यम् । इति द्वितीयगाथया संबन्धः । अथ प्रथमगाथार्थः-पुनः कीदृशं तत्स्थानम् ?, यत् स्थानम् एभिर्नामभिरुच्यते-कानि तानि नामानि ?, निर्वाणम् इति, अबाधम् इति, सिद्धिरिति, लोकाग्रम् एव च, पुनः क्षेमं, शिवम् इति नामानि । एतादृशैः सार्थकैरभिधानैर्यत् स्थानम् उच्यते । तेषां नाम्नामर्थो यथा-निर्वान्ति संतापस्य अभावात् शीतीभवन्ति जीवा यस्मिन् इति निर्वाणम् । न विद्यते बाधा यस्मिन् तत् अबाधं निर्भयम् । सिध्यन्ति समस्तकार्याणि भ्रमणाऽभावात् यस्याम् इति सिद्धिः । लोकस्य अग्रम् अग्रभूमिर्लोकाग्रम् । एवं क्षेमं क्षेमस्य शाश्वतसुखस्य कारकत्वात् क्षेमम्, शिवमुपद्रवाऽभावात् । पुनर्यत् स्थानं प्रति महर्षयोऽनाबाधं यथा स्यात्तथा चरन्ति व्रजन्ति सुखेन मुनयः प्राप्नुवन्ति, मुनयो हि चक्रवर्त्यधिकसुखभाजः सन्तो मोक्षं लभन्ते इति भावः ॥ ८४ ॥

साहु गोयम ! पन्ना ते, छिन्नो मे संसओ इमो ।
नमो ते संसयातीत !, सव्वसुत्तमहोदही ॥ ८५ ॥

अथ केशिकुमारो मुनिर्गौतमं स्तौति-हे गौतम ! ते तव प्रज्ञा साध्वी वर्तते, मे मम अयं संशयश्छिन्नः सन्देहो दूरीकृतः, हे संशयातीत ! हे सर्वसूत्रमहोदधे ! सकलसिद्धान्तसमुद्र ! तुभ्यं नमो नमस्कारोऽस्तु ॥ ८५ ॥

एवं तु संसए छिन्ने, केसी घोरपरक्कमे ।
अभिवंदित्ता सिरसा, गोयमं तु महायसं ॥ ८६ ॥
पंचमहव्वयं धम्मं, पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिमम्मि, मग्गे तत्थ सुहावहे ॥८७॥ (युग्मम्)

केशिकुमारश्रमणो भावतः श्रद्धातः (पुरिमस्स इति) प्रथमतीर्थकृतो मार्गे पश्चिमतीर्थंकरस्य मार्गे अर्थात् आदीश्वरमहावीरयोर्मार्गे तत्र तिन्दुके उद्याने पञ्चमहाव्रतरूपं धर्मं प्रतिपद्यते अङ्गीकरोति । किं कृत्वा?, गौतमं शिरसा मस्तकेन अभिवन्द्य नमस्कृत्य, क सति, एवम् अमुना प्रकारेण गौतमेन संशये छिन्ने सति, कीदृशं गौतमम् ?, महायशसम्, कीदृशः केशी मुनिः?, घोरपराक्रमः रौद्रपुरुषाकारयुक्तः, पूर्वं केशिकुमारश्रमणेन चत्वारि व्रतानि गृहीतान्यासन् तदा गौतमवाक्यात्पञ्च महाव्रतान्यङ्गीकृतानीति भावः ॥ ८७ ॥

केसीगोयमओ निच्चं, तम्मि आसि समागमो ।
सुयसीलसमुक्करिसो, महत्थत्थविणिच्छओ ॥ ८८ ॥

तत्र तस्यां नगर्यां केशिगौतमयोर्नित्यं समागम आसीत् । तयोः पुनः श्रुतशीलसमुत्कर्षः श्रुतज्ञानचारित्रयोः समुत्कर्षोऽतिशयोऽभूत्, पुनस्तयोरुभयोर्महान् अर्थविनिश्चयोऽभूत् शिक्षाव्रततत्त्वादीनां निर्णयोऽभूत् ॥ ८८ ॥

तोसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया ।
संथुया ते पसीयंतु, भगवं ! केसि ! गोयमा ! ।८९। इति बेमि ।

तदा सर्वा परिषत् तोषिता प्रीणिता, सम्यक् मार्गे सर्वा परिषत् समुपस्थिता सावधाना जाता, तौ भगवन्तौ ज्ञानवन्तौ केशिगोतमौ परिषदा संस्तुतौ प्रसीदतां प्रसन्नौ भवतां, सतामिति शेषः, इत्यहं ब्रवीमि । इति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनं प्राह ॥ ८९ ॥ इति केशिगौतमाऽध्ययनं संपूर्णम् । उत्त० २३ अ० ।

गोयमगोत्त-गौतमगोत्र-त्रि० । गौतमाह्वयगोत्रसमन्विते, चं० प्र० १ पाहु० । सू० प्र० ।

गोयमदीव-गौतमद्वीप-पुं० । लवणसमुद्रपश्चिमायां दिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य द्वादशसहस्रमाने सुस्थिताभिधानस्य लवणसमुद्राधिपतेर्भवनेनालङ्कृते स्वनामख्याते द्वीपभेदे, स० ६६ सम० । प्रज्ञा० । जी० ।

गोयमसगुत्त-गौतमसगोत्र-त्रि० । समानं गोत्रं येषां ते सगोत्राः, गौतमेन गोत्रेण सगोत्रा गौतमसगोत्राः । गौतमाभिधानगोत्रयुक्तेषु, आ० म० द्वि० ।

गोयर-गोचर-पुं० । गोरिव चरणं गोचरः । यथाऽसौ परिचितविशेषमपहायैव प्रवर्तते, तथा साधुरपि भिक्षार्थम् । उत्त० ३ अ० । पञ्चा० । आव० । गोरिव चरति यस्मिन्स गोचरः । उत्त० २ अ० । उत्तमाधममध्यमकुलेषु अरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटने, दश० ५ अ० १ उ० । भिक्षाग्रहणविधौ, स० । भ० । उत्त० । नं० । गोचरः सामयिकत्वाद् गोरिव चरणं गोचरः, अन्यथा गोचारः । तदर्थसूचकत्वाच्च द्रुमपुष्पिकाऽध्ययनविशेषो गोचरः । दशवैकालिकस्य प्रथमेऽध्ययने, यथा गौश्चरत्येवमविशेषतः साधुनाऽप्यटितव्यं, न विभवमङ्गीकृत्योत्तमाऽधममध्यमेषु कुलेष्विति वणिग्वत्सकदृष्टान्तेनेति । दश० १ अ० । अधिकरणे अच् । गवां चारिस्थाने, बृ० ३ उ० । चरणक्षेत्रे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । विषये, आ० म० द्वि० । स्था० । यो० विं० । आ० चू० । आचा० । आव० । विषयः प्राप्तिर्गोचर एकार्थाः । आ० चू० १ अ० ।

गोयरकाल-गोचरकाल-पुं० । गोचरचर्यावेलायाम्, कल्प० ६ क्षण ।

गोयरग्ग-न०-अग्रगोचर-पुं० । प्राकृतत्वाद् अग्रगोचरस्य परनिपातसाध्यं 'गोयरग्ग त्ति' । प्रधाने गोचरे, "अट्ठविहं गोयरग्गं तु " । उत्त० ३० अ० ।

गोचराग्र-न० । गोचरस्याग्रं प्रधानं यतोऽसावेषणायुक्तो गृह्णाति, न पुनर्गौरिव यथाकथञ्चित् । उत्त० १ अ० । अभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन (दश० ५ अ० १ उ०) प्रधानपिण्डग्रहणे, उत्त० २४ अ० ।

गोयरग्गगय-गोचराग्रगत-त्रि० । ग्रामान्तरं भिक्षार्थं प्रविष्टे, दश० ५ अ० १ उ० ।

गोयरग्गपविट्ठ-गोचराग्रप्रविष्ट-त्रि० । गोचराग्रं प्रधानापिण्डग्रहणं तन्निमित्तं प्रविष्टो गृहे प्रस्थितः । उत्त० २४ अ० । ग्रामान्तरं भिक्षाप्रविष्टे, दश० ५ अ० १ उ० । "गोयरग्गपविट्ठस्स, भिक्खुस्स कप्पइ" । दशा० ६ अ० ।

गोयरचरिया-गोचरचर्या-स्त्री० । गोश्चरणं गोचरः, चरणं चर्या, गोचर इव चर्या गोचरचर्या । भिक्षाचर्यायाम्, आ० चू० ४ अ० । ध० ।

विषयसूची—

(१) कथं गोचरचर्या कर्तव्या–

" जहा कवोतो य कपिंजलो य,गावो चरंती इव पागराओ । एवं मुणी गोयरियं चरेज्जा,नो हीलए नो वि य संथवेज्जा" ॥ " लाभालाभे सुहदुक्खे सोभणासोभणे भत्ते वा पाणे वा समणो तुरियक्को चरति " । आ० चू० ४ अ० ।

(२) गोचरचर्यानिरूपणम्–

"जधा वा सो वच्छओ दिवसनिसाए छुहाए य परिताविती बितीए अविरतियाए पंचविहविसयसंपउत्ते एतेणं पाणिए दिज्जमाणे तम्मि इन्द्रियम्मि न तुच्छं गच्छति,नवाऽन्नेसु चित्तं देति. किं तु चारियाणि एव एगग्गमणो सो आलोएति; एवं साधू वि पंचविहेसु विसएसु असज्जंतो भिक्खायरियाए उवउत्तो चरति, तेण गोचरातीते य गोचरचारियातीए गोचरचारियाए य भिक्खादिया निक्खेसणा " ॥ आ० चू० ४ अ० । स्था० । (' भिक्खाग ' शब्दे घुणदृष्टान्तेन भिक्षाप्ररूपणा)

(३) अथ भिक्षाद्वारमभिधित्सुराह–

तत्र गोचरचर्यायाः सर्वोऽधिकारोऽत्रैव प्रदर्श्यते, नवरमेषणोत्पादनोद्गमदोषाणां स्वस्वस्थाने व्याख्या, इह तु जिनकल्पिकानां स्थविरकल्पिकानां निर्ग्रन्थीनां च भिक्षणविधिरुपदर्श्यते–

जिणकप्पिअऽभिग्गहिए–सणाएँ पंचण्हमन्नतरियाए ।
गच्छे पुण सव्वाहिं, सावेक्खो जेण गच्छो उ ॥

जिनकल्पिकाः–अभिगृहीतया पञ्चानामुद्धृतादीनामन्यतरया एषणया भक्तम् एकधा पानकं गृह्णन्ति, गच्छे गच्छवासिनः पुनः सर्वाभिरप्यसंसृष्टादिभिरेषणाभिर्भक्तपानं गृह्णन्ति, कुत इत्याह–सापेक्षो बालवृद्धाद्यपेक्षायुक्तो येन कारणेन गच्छ इति ।

आह–किमिति गच्छवासिनः सर्वाभिरप्येषणाभिर्गृह्णन्ति, किं तेषां निर्जरया न कार्यम् ?, उच्यते–

बाले वुड्ढे सेहे, अगियत्थे नाणदंसणप्पेही ।
दुब्बलसंघयणम्मि उ, गच्छि पइस्सेसणा जणिया ॥

षष्ठीसप्तम्योरर्थं प्रत्यभेदाद् बालस्य वृद्धस्य शैक्षस्य अगीतार्थस्य ज्ञानदर्शनप्रेक्षिणो ज्ञानार्थिनो, दर्शनप्रभावकशास्त्रार्थिनश्चेत्यर्थः । दुर्बलसंहननस्य वा समर्थशरीरस्यानुग्रहार्थं गच्छे प्रकीर्णा अप्रतिनियता एषणा भणिता भगवद्भिरिति ।

अथैतान्येव पदानि गाथाद्वयेन भावयति-

तिक्खछुहाओ पीडा, उड्डाहं निवारणम्मि निक्खिवया ।
इय जुयलसिक्खगेसुं, पओस भेओ य एकतरो ॥
सुचिरेण वि गीयत्थो, न होहिई न वि सुयस्स आभागी ।
पग्गहिएसणचारी, किमहीउ धरेउ वा अबलो ? ॥

अभिगृहीतयैवैषणया भक्तपानग्रहणे प्रतिज्ञाते तया वा लब्धे स्तोके वा लब्धे सति बालवृद्धशैक्षकाणां तीक्ष्णया दुरधिसहया क्षुधा, उपलक्षणत्वात् तृषा च महती पीडा भवति, उड्डाहो वा भवेत्। स हि बालादिरित्थं लोकपुरतो ब्रूयात्-एते साधवो मां क्षुधा तृषा वा मारयन्तीति। तथा निवारणे विवक्षितामेकामेषणां विमुच्याऽन्यासां प्रतिषेधे विधीयमाने सति बालादयश्चिन्तयेयुः-अहो! निक्षिपत्यमीषां, ततः प्रद्वेषं गच्छेयुः, भेदो वा एकतरः ओघस्य चारित्रस्य वा विनाशोऽमीषां भवेत्, इति बालवृद्धयुगले शैक्षके वा नियन्त्र्यमाणे दोषा मन्तव्याः । तथा अगीतार्थः सुचिरेणापि कालेन गीतार्थो न भविष्यति, नापि श्रुतस्याचारादेः, उपलक्षणत्वाद्दर्शनप्रभावकशास्त्राणां वा, आभागी, कीदृश इत्याह-प्रगृहीतैषणाचारी प्रगृहीता अभिग्रहवती या एषणा तच्चारी तत्पर्यटनशीलधरो वा, अबलो दुर्बलसंहननः संप्रणीताहाराद्युपष्टम्भाभावे किं सूत्रमर्थं वा अधीता, धारयिता वा, अत एतेषामनुग्रहार्थं गच्छे प्रकीर्णा एषणा दृष्टा ॥ वृ० १ उ० ।

गोचरचर्यायां विधिः-

संपत्ते भिक्खकालम्मी, असंभंतो अमुच्छिओ ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥ १ ॥

(संपत्ते इति) संप्राप्ते शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते, भिक्षाकाले भिक्षासमये, अनेनासंप्राप्ते भक्तपानैषणाप्रतिषेधमाह, अलाभाज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टादृष्टविरोधादिति। असंभ्रान्तोऽनाकुलो यथावदुपयोगादि कृत्वा, नान्यथेत्यर्थः । अमूर्च्छितः पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो विहितानुष्ठानमिति कृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति । अनेन वक्ष्यमाणलक्षणेन क्रमयोगेन परिपाटीव्यापारेण, भक्तपानं यतियोग्यमोदनाऽऽरनालादि, गवेषयेत् अन्वेषयेदिति सूत्रार्थः ॥ १ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

अथास्या एव विधिमभिधित्सुर्द्वारगाथामाह-

पमाण काले आव-स्सए य संघाडगे अ उवगरणे ।
मत्तग काउस्सग्गो, जस्स य जोगो सपडिवक्खो ॥

प्रमाणं नाम कतिवारान् पिण्डपातार्थं गृहपतिकुलेषु प्रवेष्टव्यमिति । (काले त्ति) कस्यां वेलायां भिक्षार्थं निर्गन्तव्यम् । (आवस्सग त्ति) आवश्यकं संज्ञाकायिकीलक्षणं, तस्य शोधनं कृत्वा निर्गन्तव्यम्, (संघाडगे त्ति) संघाटकेन साधुयुग्मेन निर्गन्तव्यं नैकाकिना, (उवगरणे त्ति) सर्वोपकरणमादाय भिक्षायामवतरणीयम्, (मत्तग त्ति) मात्रकं गृहीतव्यम् (काउस्सग्गि त्ति) उपयोगनिमित्तं कायोत्सर्गः कर्तव्यः (जस्स य जोगो त्ति) यस्य च सचित्तस्य वा योगः संबन्धो भविष्यति, लाभ इत्यर्थः, तदप्यहं गृहीष्यामीति भणित्वा निर्गन्तव्यम् । (सपडिवक्खो त्ति) एष प्रमाणादिको द्वारकलापः सप्रतिपक्षस्यापवादो वक्तव्य इति द्वारगाथासमासार्थः ॥ वृ० १ उ० ।

(४) सम्प्रति भिक्षाटनविधिप्रदर्शनार्थमाह ।

तत्र यथा गवेषयेत्तदाह-

से गामे वा णगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी ।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥ २ ॥

(से इति) असंभ्रान्तोऽमूर्च्छितो ग्रामे वा नगरे वा, उपलक्षणत्वादस्य, कर्बटादौ वा, गोचराग्रगत इति। गोरिव चरणं गोचर उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्, अग्रः प्रधानोऽभ्याहृताधाकर्मादिपरित्यागेन तद्गतस्तद्वर्ती, मुनिर्भावसाधुश्चरेत् गच्छेत्, मन्दं शनैः शनैः, न द्रुतमित्यर्थः। अनुद्विग्नः प्रशान्तः परीषहादिभ्योऽबिभ्यत् अव्याक्षिप्तेन चेतसा वत्सवणिग्जायादृष्टान्तात् शब्दादिष्वगतेन चेतसा अन्तःकरणेन एषणोपयुक्तेनेति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

यथा चरेत् तथैवाह-

पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे ।
वज्जंतो बीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥ ३ ॥

पुरतोऽग्रतो युगमात्रया शरीरप्रमाणया शकटोर्द्धसंस्थितया, दृष्ट्येति वाक्यशेषः। प्रेक्षमाणः प्रकर्षेण पश्यन्, महीं भुवं चरेत् यायात्, केचिन्नेति योजयन्ति, न शेषदिगुपयोगेनेति गम्यते, न प्रेक्षमाण एव, अपि तु वर्जयन् परिहरन् बीजहरितानि, अनेनानेकभेदस्य वनस्पतेः परिहारमाह । तथा प्राणिनो द्वीन्द्रियादीन्, तथोदकम् अप्कायं, मृत्तिकां च पृथवीकायं, चशब्दात् तेजोवायुपरिग्रहः । दृष्टिमानं त्वत्र लघुतरयोपलब्धावपि प्रवृत्तितो रक्षणायोगात्, महत्तरया तु देशविप्रकर्षेणानुपलब्धेरिति सूत्रार्थः । उक्तः समयविराधनापरिहारः ॥ ३ ॥

अधुनाऽऽत्मसंयमविराधनापरिहारमाह-

ओवायं विसमं खाणुं, विज्जलं परिवज्जए ।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥ ४ ॥

अवपातं गर्तादिरूपं, विषमं निम्नोन्नतं, स्थाणुमूर्द्धकाष्ठं, विजलं विगतजलं कर्दमं परिवर्जयेत्, एतत्सर्वं परिहरेत् । तथा संक्रमेण जलगर्तपरिहाराय पाषाणकाष्ठरचितेन न गच्छेत्, आत्मसंयमविराधनासंभवात् । अपवादमाह-विद्यमाने पराक्रमे, अन्यमार्गे इत्यर्थः । असति तु तस्मिन् प्रयोजनमाश्रित्य यतनया गच्छेदिति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

अवपातादौ दोषमाह-

पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते व संजए ।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥ ५ ॥

प्रपतन् वा असौ तत्रावपातादौ गर्तादौ प्रस्खलन् वा संयतः साधुर्हिंस्यात् व्यापादयेत् प्राणिभूतानि, प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः, भूतान्येकेन्द्रियाः। एतदेवाह-त्रसानथवा स्थावरान् प्रपातेनाऽऽत्मानं चेत्येवमुभयविराधनेति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

तम्हा तेण न गच्छेज्जा, संजए सुसमाहिए ।
सइ अन्नेण मग्गेण, जयमेव परक्कमे ॥ ६ ॥

तस्मात्तेनावपातादिमार्गेण न गच्छेत् संयतः सुसमाहितो भगवदाज्ञावर्तीत्यर्थः । न गच्छेत् न यायात्, सत्यन्येनेत्यन्यस्मिन् समादौ मार्गेणेति मार्गे, छान्दसत्वात् सप्तम्यर्थे तृतीया, असति त्वन्यस्मिन् मार्गे तेनैवावपातादिना यतमेव पराक्रमेत्, यतमिति क्रियाविशेषणं, यतमात्मसंयमविराधनापरिहारेण यायादिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

क्षेत्रयतनामाह-

तहेवुच्चावया पाणा, भत्तट्ठाए समागया ।
तं उज्जुयं न गच्छिज्जा, जयमेव परक्कमे ॥ ७ ॥

तथैवोच्चावचाः शोभनाऽशोभनभेदेन नानाप्रकाराः, प्राणिनो भक्तार्थं समागताः बलिप्राभृतिकादिष्वागता भवन्ति, तदृजुकं तेषामभिमुखं न गच्छेत्,तत्संत्रासेनान्तरायाधिकरणादिदोषात् । किन्तु यतमेव पराक्रमेत् तदुद्वेगमनुत्पादयन्निति सूत्रार्थः ॥७॥

किञ्च-

गोयरग्गपविट्ठो य, न निसीइज्ज कत्थइ ।
कहं च न पबंधिज्जा, चिट्ठित्ता ण व संजए ॥८॥

गोचराग्रप्रविष्टस्तु भिक्षार्थं प्रविष्ट इत्यर्थः । न निषीदेत् नोपविशेत्; क्वचिद् गृहदेवकुलादौ, संयमोपघातादिप्रसङ्गात् । कथां च धर्मकथादिरूपां न प्रबध्नीयात् प्रबन्धेन न कुर्यात्, अनेनैकव्याकरणैकज्ञातानुज्ञामाह । अत एवाह-स्थित्वा कालपरिग्रहेण संयत इत्यनेषणाद्वेषादिदोषप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः । उक्ता क्षेत्रयतना । दश० ५ अ० २ उ० ।

भिक्खू मुयच्चे कयदिट्ठधम्मे,
गामं च णगरं च अणुप्पविस्सा ।
से एसणं जाणमणेसणं च,
अन्नस्स पाणस्स अणाणुगिद्धे ॥ १७ ॥

स एवं मदस्थानरहितो भिक्षणशीलो भिक्षुः । तं विशिनष्टि-मृते च स्नानविलेपनादिसंस्काराभावादर्चा तनुः शरीरं यस्य स मृतार्चः । यदि वा-मोदनं मुत्, तद्भूता शोभनाऽर्चा पद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदर्चः, प्रशस्तदर्शलेश्यः । तथा दृष्टोऽवगतो यथावस्थितो धर्मः श्रुतधर्मचारित्राख्यो येन स तथा चैवंभूतः क्वचिदवसरे ग्रामं नगरमन्यद्वा मठादिकमनुप्रविश्य भिक्षार्थमसावुत्तमधृतिसंहननोपपन्नः सन्नेषणां गवेषणग्रहणैषणादिकां जानन् सम्यगवगच्छन्ननेषणां चोद्गमदोषादिकां तत्परिहारं विपाकं च सम्यगवगच्छन्नन्नस्य पानस्य वा, अनागृद्धोऽनध्युपपन्नः सम्यग् विहरेत्।तथाहि-स्थविरकल्पिका द्विचत्वारिंशद्दोषरहितां भिक्षां गृह्णीयुर्जिनकल्पिकानां तु पञ्चस्वभिग्रहः । ताश्चेमाः-“ संसट्ठमसंसट्ठा, उद्धड तह होंति अप्पलेवा य । उग्गहिया पग्गहिया, उज्झियधम्मा य सत्तमिया ” ॥ १ ॥ अथवा-यो यस्याभिग्रहः स तस्यैषणा, अपरा त्वनेषणेत्येवमेषणाऽनेषणाभिज्ञः क्वचित्प्रविष्टः सन्नाहारादावमूर्च्छितः सम्यक् शुद्धां भिक्षां गृह्णीयादिति ॥ १७ ॥ सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । (आचार्य्योक्ता ‘ पज्जु (ओ) सवणाकप्प ’ शब्दे वक्ष्यते)

(५) वर्षासु दिशमापृच्छ्य गन्तव्यम्-

वासावासं पज्जोवसियाणं निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कप्पइ, अन्नयरिं दिसिं वा अणुदिसिं वा अवगिज्झिय भत्तं वा पाणं वा गवेसित्तए,से किमाहु भंते !?। उस्सन्नं समणा भगवंतो वासासु तवसंपउत्ता भवंति, तवस्सी दुब्बले किलंते मुच्छिज्ज वा पवडिज्ज वा,तमेव दिसिं वा अणुदिसिं वा समणा भगवंतो पडिजागरंति ॥ ६१ ॥

“ वासेत्यादितः पडिजागरंति त्ति ” यावत् । तत्र ‘ अन्नयरे ’ इत्यादि । अन्यतरां दिशं पूर्वादिकाम, अनुदिशम् आग्नेय्यादिकां विदिशम (अवगिज्झिय त्ति) अवगृह्य उद्दिश्य, अहमेनां दिशम आग्नेय्यां वा यास्यामीत्यन्यसाधुभ्यः कथयित्वा भक्तपानं गवेषयितुं कल्पते। “से किमित्यादि” तत्कुत इति शिष्यप्रश्ने,गुरुराह-(ओसन्नं ति) प्रायः श्रमणा भगवन्तो वर्षासु तपःसंप्रयुक्ताः प्रायश्चित्तवहनार्थं संयमार्थं स्निग्धकाले मोहजयार्थं वा षष्ठादितपश्चारिणो भवन्ति।ते च तपस्विनो दुर्बलास्तपसैव कृशाङ्गाश्च, अत एव क्लान्ताः सन्तः कदाचिन्मूर्च्छेयुः, पतेयुर्वा,ततः श्रमणास्तान् तत्रैव दिगादौ प्रतिजाग्रति गवेषयन्ति,अथाकथयित्वा गतांस्तु कुत्र गवेषयन्ति ? ॥ ६१ ॥

[६] गच्छतो धार्याधार्याणि कार्याकार्याणि च । अथावश्यकद्वारम्-यदाऽऽवश्यकमशोध्य निर्गच्छति तदा मासलघु, आज्ञादयो दोषाश्च, विराधना च प्रवचनादीनाम् । तद्यथा-भिक्षामटतः संज्ञा समागच्छेत्, ततो यद्युद्ग्राहितपात्रकः पानकं वा विना व्युत्सृजति तदा प्रवचनविराधना-“ अहो! अशुचयोऽमी ”। अथैतद्दोषभयात् न व्युत्सृजति तत आत्मविराधना । अथ प्रतिश्रयमागत्य पानकं गृहीत्वा संज्ञाभूमौ व्रजति ततो देशकाले स्फिटिते सति भिक्षामलभमान एषणां प्रेरयेत्, ततः संयमविराधना, यत एवमत आवश्यकं शोधयित्वा निर्गन्तव्यम् । गतमावश्यकद्वारम् । बृ० १ उ० । अनाभोगतो ग्लानादिषु कार्येषु व्यापृतः सन्नावश्यकमप्यशोध्य निर्गच्छेत् , निर्गच्छतश्च संज्ञया बाध्यमानो यदि प्रतिश्रयः प्रत्यासन्नस्ततो निवर्तते, अथ दूरे, ततो यदि कालो न पूर्यते, तदा तयोरेकः पात्रकाणि धारयति, इतरः संज्ञां व्युत्सृजति । अथ सागारिकास्तत्र पश्यन्ति, ततः समनोज्ञानां प्रतिश्रयं गत्वा व्युत्सृजति, तदभावे अमनोज्ञानां संविग्नानां, तेषामलाभे पार्श्वस्थादीनां, तेषामप्यभावे सारूपिकाणां, तदभावे सिद्धपुत्रकाणां, तेषामप्राप्तौ श्रावकाणां वैद्यस्य वा गृहे, एतेषामभावे राजमार्गे, गृहद्वयमध्यभागे वा,गृहस्थसत्के वा अवग्रहे कायिकीवर्जं व्युत्सृजति । ततो यद्यसौ गृहपतिस्तां संज्ञां त्याजयति तदा राजकुले व्यवहारो लभ्यते। यथा-“ त्रयः शल्या महाराज !, अस्मिन् देहे प्रतिष्ठिताः । वायुमूत्रपुरीषाणां, प्राप्तं वेगं न धारयेत् ” ॥ १ ॥ बृ० १ उ० ।

(७) अथोपकरणद्वारम्-सर्वमप्युपकरणमादाय भिक्षायामटितव्यम्, यदि सर्वोपकरणं न गृह्णाति तदा मासलघु, उपधिनिष्पन्नं वा, तथा तेषां भिक्षामटितुं गतानां स प्रतिश्रयस्थापित उपधिरग्निकायेन दह्येत, दण्डकक्षोभो वा भवेत्, स्तेनक्षोभो वा तेषां भिक्षामटतां सहसा समापतित इतिकृत्वा तत एव ते पलायिताः, ततो यदुपधिं विना तृणग्रहणादि कुर्युः, तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तमिति । गतमुपकरणद्वारम् । बृ० १ उ० ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावतिकुलं पविसिउकामे सव्वं भंडगमायाए गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खममाणे वा पविसमाणे वा सव्वं भंडगमायाए बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा । से भिक्खू वा

भिक्खुणी वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे सव्वं भंडगमायाए गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

स भिक्षुर्गच्छनिर्गतो जिनकल्पिकादिः गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सर्वं निरवशेषं भण्डकं धर्मोपकरणमादाय गृहीत्वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशेद्वा ततो निष्क्रामेद्वा, तस्य चोपकरणमनेकं भवति। तद्यथा-तत्र जिनकल्पिको द्विविधः। छिद्रपाणिरच्छिद्रपाणिश्च। तत्राच्छिद्रपाणेः शक्त्यनुरूपाभिग्रहविशेषाद् द्विविधमुपकरणम्। तद्यथा-रजोहरणं,मुखवस्त्रिका च। कस्यचित् त्वक्त्राणार्थं क्षौमपटपरिग्रहात् त्रिविधम्, अपरस्योदकबिन्दुपरितापादिरक्षणार्थमौर्णिकपटपरिग्रहाच्चतुर्धा। तथा सहिष्णुतरस्य द्वितीयक्षौमपटपरिग्रहात् पञ्चधेति छिद्रपाणेस्तु जिनकल्पिकस्य सप्तविधपात्रनिर्योगसमन्वितस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकादिग्रहणक्रमेण यथायोगं नवविधो दशविध एकादश द्वादशविधश्चोपधिर्भवति। पात्रनिर्योगश्च-" पत्तं पत्ताबंधो, पायठवणं च पायकेसरिया। पडलाइं रयत्ताणं, च गच्छओ पायणिज्जोगो "॥ १॥ अन्यत्रापि गच्छता सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गन्तव्यमित्याह-" से भिक्खू " इत्यादि। स भिक्षुर्ग्रामादेर्बहिर्विहारभूमिं वा स्वाध्यायभूमिं, तथा विचारभूमिं वा विष्ठोत्सर्गभूमिं सर्वमुपकरणमादाय प्रविशेन्निष्क्रामेद्वेति द्वितीयम्। एवं ग्रामान्तरेऽपि तृतीयं सूत्रम्।

साम्प्रतं गमनाभावे निमित्तमाह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अह पुण एवं जाणेज्जा तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणे पेहाए तिव्वदेसियं वा महियं सन्निवयमाणे पेहाए महावाएण वा रयं समुद्धुयं पेहाए तिरिच्छसंपातिमा वा तसा पाणा संथडा सन्निवयमाणा पेहाए से एवं णच्चा णो सव्वं भंडगमायाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा,णिक्खमेज्ज वा, बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा पविसेज्ज वा णिक्खमेज्ज वा गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ॥

(से भिक्खू इत्यादि) स भिक्षुरथ पुनरेवं विजानीयात्। तद्यथा—तीव्रं बृहद्धारोपेतं देशिकं बृहत्क्षेत्रव्यापि, तीव्रं च तद्देशिकं चेति समासः। बृहद्धारं महति क्षेत्रे वर्षन्तं प्रेक्ष्य, तथा तीव्रदेशिकां महति देशे अन्धकारोपेतां महिकां वा धूमिकां संनिपतन्तीं प्रेक्ष्योपलक्ष्य, तथा महावातेन वा समुद्धूतं रजः प्रेक्ष्य, तिरश्चीनं च संनिपततो गच्छतः प्राणिनः पतङ्गादीन् संस्कृतान् घनान् प्रेक्ष्य, स भिक्षुरेवं ज्ञात्वा गृहपतिकुलादौ उद्दिष्टं सर्वमादाय न गच्छेन्नापि निष्क्रामेद्वेति। इदमुक्तं भवति-सामाचारी एषा-यथा गच्छता साधुना गच्छनिर्गतेन तदन्तर्गतेन वा उपयोगो दातव्यः। तत्र यदि वर्षं महिकादिकं जानीयात्ततो जिनकल्पिको न गच्छत्येव, यतस्तस्य शक्तिरेषा-यथा षण्मासं यावत् पुरीषोत्सर्गनिषेधं विदध्यात्। इतरस्तु सति कारणे यदि गच्छेत्तदा सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गच्छेदिति तात्पर्यार्थः। आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ०। द्वितीयपदम्-यत्र श्वानगवादयो दुष्टा भवन्ति,तद् गृहं यद्यनाभोगतः प्रविष्टः,ततः कुड्यकनिश्रं याति,दण्डकेन वा तान् वारयति, यदि काचिदविरतिका तमुपसर्गयेत्, ततो धर्मकथा कर्त्तव्या, तथा यद्युपशाम्यति, ततः सुन्दरं, नो चेदभिधातव्यम्-एतानि व्रतानि गुरुसमीपे स्थापयित्वा समागच्छामीति, यदि प्रत्यनीकगृहमनाभोगतः प्रविष्टस्ततो महता शब्देन तथा बोलं करोति, यथा भूयान् लोको मिलति, त्रयाणां गृहाणां वा मध्यस्थितः सन्नुपयोगं कृत्वा भिक्षां गृह्णीयात्। पञ्चानामपि महाव्रतानामतिक्रमं महता प्रयत्नेन परिहरेत्, सर्वोपकरणमपि स्तेनप्रत्यनीकाद्युपद्रवभयाद् वृद्धत्वाद्धुनोत्थितग्लानत्वाद्वा न गृह्णीयात्। इयत्पुनरवश्यमेव प्रहीतव्यम्-पात्रनिर्योगकं,चोलपट्टको,रजोहरणं, मुखवस्त्रिका चेति। बृ० १ उ०। (स्थविरः किमुपकरणमादाय गोचरचर्यायै गच्छतीति ' अइमुत्तय ' शब्देऽपि प्रथम भागे ७ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) " कक्खपडिगह-रयहरणमायाए " कक्षायां प्रतिग्राहकं रजोहरणं चादायेत्यर्थः। प्र०५ श०४ उ०।

(८) कायोत्सर्गद्वारम्—

कायोत्सर्गमकृत्वा व्रजति मासलघु। दोषश्चात्र-कश्चित् योगप्रतिपन्नः, तस्य तद्दिवसमाचाम्लं, स चोपयोगकायोत्सर्गमकृत्वा गतो, दध्नः करम्बं गृहीत्वा समायातः, पश्चादपरैः साधुभिस्तस्याचाम्लं स्मारितं, ततः स यदि तं समुद्दिशति तदा योगविराधना। ततः कायोत्सर्गं कृत्वा निर्गच्छेत्। तत्र च कायोत्सर्गे चिन्तयेत्। यथा-अद्य किं मे आचाम्लम्, उत निर्विकृतिकम्, उताहो अभक्तार्थम्, आहोस्विदेकासनक इति इत्थमुपयोगं गत्वा प्रत्याख्यानानुगुणमेवाऽऽहारं गृह्णाति। बृ०१ उ०। द्वितीयपदम्। कायोत्सर्गादीन्यपि ग्लानादिकार्येषु त्वरमाणो न कुर्यात्। बृ० १ उ०।

(९) अथ कालद्वारम्-

कस्मिन् काले भिक्षार्थं निर्गन्तव्यम्। उच्यते-यः क्षपको बालो वृद्धो वा पर्युषितेन प्रथमालिकां कर्त्तुकामः स सूत्रपौरुषीं कृत्वा निर्गच्छति, अथ तावतीं वेलां न प्रतिपालयितुं समः, ततोऽर्द्धपौरुष्यां निर्गच्छति, यद्यतिप्रभाते पर्यटति तदा मासलघु, भद्रकप्रान्तकृताश्च दोषा भवन्ति। तत्र साधुरतिप्रभात एव कस्यापि गृहं गत्वा भिक्षां याचितवान्, स च गृहपतिर्भद्रकः सुप्तामविरतिकामुत्थापयेत्, ततस्तस्यामुत्थितायामधिकरणं भवेत्; यस्तु प्रान्तो भवति, स ब्रूयात्-" किमुन्मत्तो वर्तसे, यदेवमतिप्रभाते पर्यटसि, सुखरात्रिकं वा प्रष्टुं समायासीरिति"?। यद्वा-कोऽपि ग्रामान्तरं प्रस्थितः प्रथममेव तं साधुं दृष्ट्वाऽपशकुनं मन्यमानः प्रद्वेषं यायात्,प्रस्फिट्टश्चाहननादि कुर्यात्। अथैतद्दोषभयादतिक्रान्तायां वेलायामटति तदाऽपि मासलघु। "अकाले चरसी भिक्खू"(दश०५अ०) इत्यादि गाथोक्ताश्च दोषाः एवमुष्णस्यापि प्रकरस्याप्राप्तेऽतिक्रान्ते वा एत एव दोषा मन्तव्याः। बृ० १ उ०।

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता, काले कालं समायरे ॥ ४ ॥

(कालेनेति) यो यस्मिन् ग्रामादौ उचितो भिक्षाकालः,तेन करणभूतेन निष्क्रामेद्भिक्षुः वसतेर्भिक्षायै कालेन चोचितेनैव यावता स्वाध्यायादि निष्पद्यते तावता प्रतिक्रामेत् निवर्तेत। भणितं च-"खेत्तं, कालो, भायणं,तिन्नि वि एएहुप्पंति हिंमज्ज त्ति अट्ठ भंगा।"अकालं च वर्जयित्वा,येन स्वाध्यायादि न संभाव्यते सत्वल्पकालः, तमपास्य, काले कालं समाचरेदिति सर्वयोगोपसंग्रहार्थं निगमनम्। भिक्षावेलायां भिक्षां समाचरेत्, स्वाध्यायादि-

वेलायां स्वाध्यायादीनीति । उक्तं च-" जोगो जोगो जिणसासणम्मि " इत्यादि । इति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

अकालचरणे दोषमाह-

अकाले चरसी भिक्खू, कालं न पमिलेहिसि ।
अप्पाणं च किलामेसि, संनिवेसं च गरिहसि ॥ ५ ॥

अकालचारी कश्चित् साधुरलब्धभैक्षः, केनचित् साधुना प्राप्ता भिक्षा न वेत्यभिहितः सन्नेवं ब्रूयात्-कुतोऽत्र स्थण्डिलसंनिवेशे भिक्षा ?। स तेनोच्यते-अकाले चरसि भिक्षो ! प्रमादात्स्वाध्यायलोभाद्वा कालं न प्रत्युपेक्षसे-किमयं भिक्षाकालो, न वेति ?। अकालचरणेनाऽऽत्मानं च ग्लपयसि, दीर्घाटनन्यूनोदरभावेन संनिवेशं च निन्दसि गर्हसि, भगवदाज्ञालोपतो दैन्यं प्रतिपद्येति सूत्रार्थः ॥ ५ ॥

यस्मादयं दोषः संभाव्यते तस्मादकालाटनं न कुर्यादित्याह-

सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारिअं ।
अलाभु त्ति न सोएज्जा, तवु त्ति अहियासए ॥ ६ ॥

सति विद्यमाने काले भिक्षासमये चरेद्भिक्षुः । अन्ये तु व्याचक्षते-स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते । स्मर्यन्ते यत्र भिक्षुकाः स स्मृतिकालस्तस्मिन् चरेद्भिक्षुः भिक्षार्थं यायात्, कुर्यात् पुरुषकारं सति जङ्घाबले वीर्याचारं न लङ्घयेत् । तत्र चालाभेऽपि भिक्षाया अलाभ इति न शोचयेत् , वीर्याचाराराधनस्य निष्पन्नत्वात् । तदर्थं च भिक्षाटनं,नाहारार्थमेवातो न शोचेत, अपि तु तप इत्यधिसहेत्, अनशनं न्यूनोदरतालक्षणं तपो भविष्यतीति सम्यग्विचिन्तयेदिति सूत्रार्थः ॥ ६ ॥ भक्ताकालयतना । दश० ५ अ० २ उ० ।

(१०) नित्यभक्तिकादेः-

वासावासं पज्जोसवियाणं निच्चभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पति एगं गोअरकालं गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा, णण्णत्थायरियवेयावच्चेणं वा, एवं उवज्झायवेयावच्चेणं तवस्सिवेयावच्चेणं गिलाणवेयावच्चेणं खुड्डएण वा खुड्डियाए वा अवंजणजाएण वा ॥ २० ॥ वासावासं पज्जोसवियाणं चउत्थभत्तिअस्स भिक्खुस्स अयं एवइए विसेसे-जं से पाओ निक्खम्म पुव्वामेव वियडगं भुच्चा पिच्चा पमिग्गहगं संलिहिय संपमज्जिय से य संथरिज्जा, कप्पइ से तद्दिवसं तेणेव भत्तट्ठणं पज्जोसवित्तए-से य नो संथरिज्जा, एवं से कप्पइ दुच्चं पि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ २१ ॥ वासावासं पज्जोसवियाणं छट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति दो गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२२॥ वासावासं पज्जोसवियाणं अट्ठमभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति तओ गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥२३॥ वासावास पज्जोसवियाणं विगिट्ठभत्तियस्स भिक्खुस्स कप्पंति सव्वे वि गोयरकाला गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा पविसित्तए वा ॥ २४ ॥

वासावासमित्यादितः 'अवंजणजाएण वेति' यावत् । तत्र (निच्चभत्तियस्सेति) नित्यमेकाशनिनः साधोः (एगं गोअरकाल त्ति) एकस्मिन् गोचरचर्याकाले (गाहावइकुलमिति) गाथापतिगृहस्थस्तस्य कुलं गृहम् (भत्ताए त्ति) भक्तार्थम [पाणाए त्ति] पानार्थं निष्क्रमितुं प्रवेष्टुं कल्पते, न तु द्वितीयं वारम्, परं ["णऽण्णत्थेत्यादि"] णकारो वाक्यादौ अलङ्कारार्थः । अन्यत्र आचार्यादिवैयावृत्यकरेभ्यः, तान् वर्जयित्वेत्यर्थः । ते तु यदि एकं वारं भुक्ते च वैयावृत्यं कर्तुं न शक्नुवन्ति,तदा द्विरपि भुञ्जते, "तपसो हि वैयावृत्यं गरीयः" इति । [अवंजणजाएण त्ति] यावत् व्यञ्जनानि वस्तिकूर्चकक्षादिरोमाणि न जातानि तावत् क्षुल्लकक्षुल्लिकयोरपि द्विर्भुञ्जानयोर्न दोषः । यदा वैयावृत्यमस्यास्तीति वैयावृत्यी,वैयावृत्यकर इत्यर्थः। आचार्यश्च वैयावृत्यश्च आचार्यवैयावृत्यौ, एवं च उपाध्यायादिष्वपि, ततश्च आचार्योपाध्यायतपस्विग्लानक्षुल्लकानां तद्वैयावृत्यकराणां च द्विर्भोजनेऽपि न दोष इत्यर्थो जातः ॥२०॥ "वासावासं" इत्यादितः "पविसित्तए त्ति" यावत् । [चउत्थभत्तियस्स त्ति] एकान्तरोपवासिनः साधोः,अयमेतावान् विशेषः-[जं से पाओ निक्खम्म त्ति] यत् स प्रातर्निष्क्रम्य गोचरचर्यार्थम् [पुव्वामेव त्ति] प्रथममेव [वियडगं ति] विकटं प्रासुकाहारं भुक्त्वा [पिच्चा इति] तक्रादिकं पीत्वा [पडिग्गहं त्ति] पात्रम् [संलिहिय त्ति] संलिख्य निर्लेपीकृत्य, [संपमज्जिय त्ति] संप्रमृज्य प्रक्षाल्य [से अ संथरिज्ज त्ति] स यदि संस्तरेत् निर्वहेत् तर्हि तेनैव भोजनेन तस्मिन् दिने परिवसेत् । अथ यदि न संस्तरेत् स्तोकत्वात्, तदा द्वितीयवारमपि भिक्षेतेत्यर्थः ॥२१॥ "वासावासमित्यादि " सूत्रत्रयी सुगमा । नवरं, चतुर्मासकं स्थितस्य षष्ठभक्तिकस्य षष्ठभक्तिकारिणः भिक्षोः द्वौ गोचरकालौ, गृहस्थगृहे भक्तार्थं वा पानार्थं वा निष्क्रमितुं वा प्रवेष्टुं वा [२२] अष्टमभक्तिस्य चतुःपञ्चाद्युपवासकारिणः सर्वोऽपि गोचरकालः, यदा इच्छा भवति तदा भिक्षते न तु प्रातर्गृहीतमेव धारयेत् , संचयजीवसंसक्तिसर्पाघ्राणादिदोषसंभवात् । कल्प० ६ क्षण ।

(११) कालातिक्रान्तक्षेत्रातिक्रान्तपानभोजने-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पढमाए पोरिसीए पडिग्गाहित्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावित्तए नेव आहच्च उवाइणेविए सिया, तं णो अप्पणा भुंजिज्जा, नो अन्नेसिं अणुपएज्जा, एगंते बहुफासुए थंडिले पमिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयव्वे सिया,तं अप्पणा भुंजमाणे अन्नेसिं वा दलमाणे आवज्जइ चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥ नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं अद्धजोयणमेराए उवायणावित्तए नेव आहच्च उवाइणाविए सिया, तं णो अप्पणा भुंजेज्जा० जाव आवज्जइ, चाउम्मासियं परिहारट्ठाणं उग्घाइयं ॥

अस्य सूत्रद्वयस्य संबन्धमाह—

भावस्स उ अतियारो, मा होज्ज इती तु पत्थुते सुत्ते ।
कालस्स य खेत्तस्स य, दुवे उ सुत्ता अतीयारो ॥

भावस्य ब्रह्मव्रतस्य परिणामस्यातिचारः अतिक्रमो मा भूदित्यनन्तरप्रस्तुते सूत्रे प्रतिपादिते। अथ कालस्य च क्षेत्रस्य चातिचारोऽतिक्रमो मा भूदिति द्वे सूत्रे प्रारभ्येते। अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य सूत्रद्वयस्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अशनं वा पानं वा खादिमं स्वादिमं वा प्रथमायां पौरुष्यां प्रतिगृह्य पश्चिमां पौरुषीं (उवाइणावित्तए त्ति) उपानाययितुं संप्रापयितुमिति [नेव आहच्च] कदाचिदुपानाययितुं स्यात्, ततस्तदशनादिकं स्वयं नो भुञ्जीत, न वा अन्येषां साधूनामनुप्रदद्यात्;किं पुनस्तर्हि विधेयमित्याह-एकान्ते बहुप्रासुके स्थण्डिले प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य रजोहरणेन परिष्ठापयितव्यं स्यात्, तद्यात्मना भुञ्जानोऽन्येषां वा ददान आपद्यते चातुर्मासिकं परिहारस्थानमुद्घातिकम्। एवं क्षेत्रातिक्रान्तसूत्रमपि वक्तव्यं,नवरमर्द्धयोजनलक्षणाया मर्यादाया अतिक्रामयितुमशनादिकं न कल्पते स्यात्तदुपानायितं भवेत्ततो यः स्वयं तद्भुङ्क्ते अन्येषां वा ददाति, तस्य चतुर्लघुकमिति सूत्रद्वयार्थः ॥

अथ निर्युक्तिविस्तरः-

बितियाउ पढम पुव्विं, उवातिणे चउगुरुं च आणादी ।
दोसा संचएँ संस-त्त दीह साणो य गोणी य ॥१॥
अगणिगिलाणुत्तारे, अब्भुट्ठाणे य पाहुणाणिरोधे ।
मज्झायविणयकाइ य, पयलंतपलोट्टणे पाणा ॥२॥

आस्तां तावत् पश्चिमा चतुर्थी पौरुषी, किन्तु द्वितीयया: पौरुष्याः प्रथमाऽपि पूर्वा भण्यते। प्रथमायाश्च द्वितीया पाश्चात्या, एवं तृतीयाया द्वितीया पूर्वा,द्वितीयायाः पाश्चात्या चतुर्थ्यास्तृतीया पूर्वा, तृतीयस्याः चतुर्थी पश्चिमा। ततः प्रथमायाः पौरुष्या द्वितीयायामशनादिकमतिक्रामयतश्चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, तथा संचयो भवति, चिरं वाऽवतिष्ठमानं तदशनादिकं प्राणिभिः संसक्तं भवति, दीर्घजातीयो वा श्वा वा समागच्छेत्, ततः स भक्तभाजनव्यग्रहस्त उत्थातुमशक्नुवन् ताभ्यां खाद्येत, गौर्बलीवर्दस्तेन वा आहन्येत्, अत्राऽऽत्मविराधनानिष्पन्नं चतुर्गुरु, तद्भयेन वा इतस्ततः स्पन्दमानो भाजनं भिन्द्यात्, तत्र चतुर्लघु,तेन विनयपरिहाणिस्तन्निष्पन्नम् , अथैनेषां भयाग्निक्षिपति ततश्चतुर्लघु, (अगणि त्ति) अग्नावुत्थिते भारव्यापृतत्वेनाऽनिर्गच्छन् दह्येत, तत्प्रतिबन्धेन वा उपधेर्दाहो भवेत, तत उपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं, ग्लानस्य वैयावृत्यमुद्वर्त्तनादिकं भारव्यापृतो न करोति, अक्रियमाणे परितापनादिकं स प्राप्नुयात्,तन्निष्पन्नं चतुर्लघुकादि पाराञ्चिकान्तम्, ग्रन्थिं निक्षिप्य करोति ततो मासलघु,तेन गृहीतेन नाभ्युत्तिष्ठति प्रभ्रश्यमानस्य वा भोजनं भुञ्जीत तस्य च प्रस्फोटने पानकादिना प्लाव्यमानाः प्राणिनो विपद्यन्ते।

अथामूनेव संचयादिदोषान् व्याचष्टे-

निस्संचया उ समणा, संचयितु गिही व होति धारेंता ।
संसत्तेऽणुवभोगो, दुक्खं च विगिंचिउं होति ॥

निःसञ्चयाः श्रमणा उच्यन्ते, ततो यदि तेऽपि प्रहीत्वा धारन्ति तदा गृहिण इव संचयिनो भवन्ति, चिरं वाऽवतिष्ठमानं तद्भक्तपानं संसज्येत, संसक्तं च साधूनामुपभोक्तुं न कल्पते,विवेक्तुं च परिष्ठापयितुं तद् दुःखं भवति, यतस्तत्र परिष्ठाप्यमाने यैः प्राणिभिः संसक्तास्तं विनाशमाप्यते।

एमेव सेसएसु वि, एगतरविराहणा उभयतो वि ।
असमाहि विणयहाणी, तप्पच्चयणिज्जराए य ॥

एवमेव शेषेष्वपि दीर्घादिषु द्वारेषु भावना कर्त्तव्या, सा च प्रागेव कृता, न वा एकतरस्य साधोर्भाजनस्य वा विराधना दीर्घजातीयादिषु भवति,उभयमात्मा संयमश्चेति द्वयम्। तस्य विराधना उभयविराधना। [असमाहि त्ति] अग्निना दह्यमानस्यासमाधिमरणं, भारेणाक्रान्तस्य वा असमाधिदुःखेनावस्थानं भवेत् , गुरुप्रभृतीनां च विनयहानिं कुर्वतस्तत्प्रत्ययनिर्जराया अपि हानिर्भवति ॥

पच्छित्तपरूवणता, एतेसि उवेंतए य जे दोसा ।
गहितकरणे य दोसा, दोसा य परिट्ठवेंतस्स ॥

एतेषां संचयादीनां सर्वेषामपि प्रायश्चित्तप्ररूपणा कर्त्तव्या। सा च प्रागेव लेशतः कृता, स्थापयतो निक्षिपतश्च ये दोषाः, ये च गृहीतेन कार्याणि कुर्वतो भाजनभेदप्रभृतयो दोषाः,ये च परिष्ठापयतो दोषास्तेऽपि च वक्तव्या इति।

यत एतावन्तो दोषाः-

तम्हाउ जहिं गहितं, तहिँ भुंजाण वज्जिया भवे दोसा ।
एवं सोधिए वज्जति, गहणे वि य पावती बितियं ॥

तस्माद्यस्यामेव पौरुष्यां ग्रहीतं तस्यामेव भोक्तव्यम्, एवं कुर्वतो दोषाः पूर्वोक्ता वर्जिता भवन्ति। परः प्राह-नन्वेवं शोधिर्न विद्यते यतो [गहणे वि य त्ति] यावद्भिक्षां गृह्णाति तावदेव द्वितीयां पौरुषीं प्राप्नोति।

सूरिराह—

एवं ता जिणकप्पे, गच्छम्मि व उज्झियाइ जे दोसा ।
इतरासि किं ण होती, दव्वे सेसे पि जतणाए ॥

एवं तावज्जिनकल्पिकानामुक्तं यस्यामेव गृहीतं तस्यामेव भोक्तव्यम्, गच्छवासिनस्तु प्रथमायां गृहीत्वा यदि तदुद्धरितमतिक्रामयन्ति, तदा ये संचयादयो दोषा उक्तास्तान्प्राप्नुवन्ति, द्वयोरपि परः प्रेरयति-इतरयोर्द्वितीयतृतीययोः पौरुष्योरशनादि द्रव्यं धारयतां किमेते दोषा न भवन्ति ?। गुरुराह-भवन्ति, परं द्रव्ये भुक्तशेषे कारणे यतनया धार्यमाणा दोषा न भवन्ति।

कथं पुनस्तदुद्धरितं भवति ?, इत्याह-

पडिलाभणा बहुविहा, पढमाए विणासिमविणासी ।
तत्थ विणासिं भुंजे-ऽजिण्णपरिन्ने य इतरं पि ॥

अभिगतश्राद्धेन दानश्राद्धेन वा कश्चित् कारणैः प्रथमपौरुष्यां बहुविधाः प्रतिलाभनाः,ततो बहुभिर्भक्ष्यभोज्यद्रव्यैरित्यर्थः। तच्च द्रव्यं द्विधा-विनाशि, अविनाशि च। क्षीरादिकं विनाशि, अवगाहनादिकमविनाशि। तत्र यद्विनाशि द्रव्यं तन्नमस्कारपौरुषीप्रत्याख्यानं कुर्वतो भुञ्जते, शेषसाधूनां यद्यजीर्णं, यदि वा तैः परिज्ञानं, तस्या विकृतेः प्रत्याख्यानं कृतम्। अभक्तार्थो वा प्र-

स्याख्यातः, आत्मार्थिका वा ते, तत इतरदविनाशि द्रव्यं भुञ्जते ।

अमुमेवार्थं व्याचष्टे-

जइ पोरसिं पवन्ना, गमेंति तो सेसगाए ए विसज्जे ।
अगमेंताऽजिष्ठे वा, धरेंति ते मत्तगादीसुं ॥

यदि पौरुषीप्रत्याख्यानवन्तस्तद् द्रव्यं सर्वमपि गमयन्ति नि-र्वाहयितुं शक्नुवन्ति, ततः शेषाणां पूर्वार्द्धप्रत्याख्यानिनां न विसर्जयेयुर्न दद्युः । अथ ते सर्वमपि न गमयन्ति, ततः पूर्वार्द्ध-प्रत्याख्यानिनामपि दीयते । अथ तेषामप्यजीर्णं, ततो मात्रका-दिके धारयन्ति ।

अथवा अमुना कारणेन धारयेत्-

तं काउ कोइ न तरइ, गिलाणमाईण दाउमच्चुण्हे ।
नाउं व वहुं वियरइ, जहासमाहिं चरिमवज्जं ॥

तदशनादिकं कृत्वा भुक्त्वा कश्चित् ग्लानादीनां प्रायोग्यमादाय दातुमत्युष्णे अतीवाऽऽतपे चटिते न शक्नोति, एतेन कारणेन धारयेत् । यद्वा-वहु प्रभूतं भैक्षं लब्धं ततो न परिष्ठापयितव्यं भवेदिति ज्ञात्वा गुरवोऽशनादेर्धारणं वितरन्ति,अनुजानन्तीत्य-र्थः। (जहासमाहिं ति) प्रथमपौरुष्यां लब्धं परमथाप्यजीर्णं,ततो यावज्जीर्यते तावत् धारयेदपि, एवं यथा यथा समाधिर्भवति तथा तथा भुञ्जीत,परं चरमवर्जं चतुर्थी पौरुषीं नातिक्रमयेदि-ति भावः ।

तत्रावधार्यमाणा इयं यतना-

संसज्जिमेसु भुञ्जइ, गुलाइ लेवाडे इयरे लोणाइं ।
जं च गमिस्संति पुणो, एमेव य भुत्तसेसे वि ॥

(संसज्जिमेसु) संसक्तियोग्येषु लेपकृतेषु गोरसादिद्रव्येषु गुडादिकं प्रक्षिप्यते येन न संसज्यते, इतरथामत्रे लेपकृतं, त-द्यदि संसक्तियोग्यं,तदा लवणादिकं प्रक्षिपेत्,न गुडं, यच्च प्रथ-मपौरुष्यां द्वितीयपौरुष्यां वा भुक्त्वा पुनर्गमिष्यन्ति, कियतीम-पि वेलां प्रतीक्ष्य भूयो भोक्ष्यन्त इत्यर्थः । तत्रापि भुक्तशेषे धार्य-माणे एष एव गुडादिप्रक्षेपणरूपो विधिर्भवति ।

चोएइ धरिज्जंते, जइ दोसा गिण्हमाणि किं न भवे ? ।
उस्सग्ग वीसमंते, उब्भामादी उदिक्खंते ॥

नोदयति प्रेरयति-प्रागेव यद्येवं भक्तपाने धार्यमाणे दोषाः,ततो भक्तादौ गृह्यमाणे किमिति श्वानगवादयो दोषा न भवन्ति?,भ-वन्त्येव। तथा कायोत्सर्गं कुर्वतोऽपि त एव बहुपरितापनादयश्च दोषाः एवं विश्राम्यतोऽपि त एव दोषाः उद्भ्रामकभिक्षाचर्या ये गतास्तदादीनपि [उदिक्खंते त्ति]प्रतीक्षमाणस्य त एव दोषाः?।

पर एवं प्राह-

एवं अवातदंसी, थूले वि कहं ण पासह अवाए ? ।
हंदी गिरंतरोऽयं, भरितो लोगो अवायाणं ॥

यद्येवं यूयमपायदर्शिनः सूक्ष्मानपायानपि प्रेक्षध्वे, ततः स्थूला-नपि भिक्षाचर्यादिविषयानपायान् कथं न पश्यथ ?, 'हंदि' इत्युपदर्शने, पश्यन्तु भवन्तः-यदेवं निरन्तरोऽप्ययं लोकोऽ-पायानां भृतः । कथमिति चेत् ?, उच्यते-

भिक्खादिवियारगते, दोसा पमिणीयसाणमादीया ।
उप्पज्जंते जम्हा, ए हु लब्भा हिंडितुं तम्हा ॥

भिक्षाविचारादौ गतानां प्रत्यनीकश्वानगवादयो बहवो दोषा यस्मादुत्पद्यन्ते तस्मान्न हि नैव साधुना हिण्डितुं लभ्यम् ।

अहवा आहारादी, णेव णिययं हवंति घेत्तव्वा ।
णेवाऽऽहारेयव्वा, तो दोसा वज्जिया होंति ॥

अथवा-आहारादयो नियतं सर्वदा न गृहीतव्या भवन्ति, कि-न्तु चतुर्थषष्ठादिकं कृत्वा सर्वथैवाऽशक्तेनाऽऽहारो ग्राह्यः यद्वा-नैव कदाचिदप्याहारयितव्यम, एवं दोषा अपायाः सर्वेऽपि वर्जिता भवन्ति ।

एवं परेणोक्ते सूरिराह-

भणति सज्झमसज्झं, कज्जं सज्झं तु साहए मतिमं ।
अविसज्झं साधेंतो, केलिस्सति ए तं च साधेति ॥

भण्यते अत्र प्रतिवचनम्-कार्यं द्विविधम्-साध्यमसाध्यं च, तत्र मतिमान् साध्यमेव कार्यं साधयति, नासाध्यं, तुशब्द एवकारार्थः । यस्तु युष्मादृशोऽविसाध्यं साधयति, स केवलं क्लिश्यति; न च तत्कार्यं साधयति । यथा मृत्पिण्डेन पटादि-साधनाय प्रवर्तमानः पुरुष इति, असाध्यं चात्र भिक्षाचर्या-दावपर्यटनम् ।

कुत इति चेत् ?, उच्यते-

जति एयविप्पहूणा, न च णियमगुणा भवे निरवसेसा ।
आहारमादियाणं, को नाम कहं पि कुव्वेज्जा ? ॥

यद्येतैराहारादिभिर्विविधं प्रकर्षेण हीना रहितास्तपोनियमगु-णा निरवशेषा भवेयुः, तत आहारादीनां को नाम कथामपि कुर्यात्?, अत आहारग्रहणार्थं भिक्षामटनीयमिति प्रक्रमः, एतेन "अहवा आहारादी" इत्याद्यपि प्रत्युक्तं द्रष्टव्यम् ।

इदमेव सविशेषमाह—

मोक्खपसाहणहेऊ, णाणाती तप्पसाहणो देहो ।
देहट्ठा आहारो, तेण तु कालो अणुस्सातो ।

इह मोक्षप्रसाधनहेतवो ज्ञानादीनि ज्ञानदर्शनचारित्राणि, तेषां च प्रसाधनो देहो भवति, अतो देहार्थमाहार इष्यते, स च काले गृह्यमाणो धार्यमाणश्चारित्रस्यानुपघातको भवति, तेन कारणेन कालोऽनुज्ञातः ।

कथमित्याह-

काले अ अणुण्णाए, जति वि हु लग्गेज्ज तेहि दोसेहिं ।
सुद्धो उवादिणंतो, लग्गते उ वितजर्ए परेणं ॥

आद्यप्रहरत्रयलक्षणो द्वितीयादिपौरुषीत्रयात्मको वा कालो भक्तपानादेर्धारणे अनुज्ञातः, एवंविधे अनुज्ञाते काले यद्यपि तैः पूर्वोक्तैर्दोषैर्लग्येत स्पृश्येत, तथापि शुद्धः । अननुज्ञातकालात्परे-णातिक्रामयन् विपर्ययः, अविद्यमानेष्वपि दोषेषु स प्रायश्चित्ती मन्तव्यः ।

पढमाए घेत्तूणं, पच्छिमपोरिसि उवादिणति जो तु ।
ते चेव तत्थ दोसा, वितियाए जे भणिएं पुव्विं ॥

प्रथमायां पौरुष्यां गृहीत्वा पश्चिमां पौरुषीं योऽतिक्रामयति, तत्र ते दोषाः, ये पूर्वं प्रथमायां गृहीत्वा द्वितीयामतिक्रामय-तो जिनकल्पिकस्य भणिताः ।

अमूनि तानि वक्ष्यमाणकारणानि-

सज्झायलेवसीव्वण-भायणपरिकम्मसट्टरादीहिं ।
सहस अणाभोगेण व, उवादियं होज्ज जा चरिमा ॥

स्वाध्याये अतीवोपयोगाद्विस्मृतम्, एवं लेपपरिकर्मणं कुर्वतो, वस्त्रं वा सीव्यतो,भाजनं वा परिकर्मयतो, देशकथादिकं वा सट्टरमालजालं कुर्वतः, आदिशब्दः सट्टरस्यानेकभेदसूचकः । एतेषु यदन्यं तद्व्यग्रत्वं सहसाकारः, अनाभोगोऽत्यन्तविस्मृतिः । एवं सहसाकारेणानाभोगेन वा चरमां चतुर्थी यावदतिक्रमितं भवति ।

आइच्चुवाइणाविय, विगिंचण परिद्वाऽसंथरंतम्मि ।
भत्तस्स गेण्हणं भुं-जणं च असतीएँ तस्सेव ॥

एतैः कारणैराहृत्य कदाचिदतिक्रामितं भवेत्ततो विगिञ्च्य परित्यज्य परिष्ठा दिवसचरमं प्रत्याख्यानं कर्तव्यम् । अथ न संस्तरति, ततः काले पूर्यमाणे अन्यस्याशनादेर्ग्रहणं भोजनं च कर्तव्यम् । अथ कालो न पूर्यते, न वा तदानीं पर्याप्तं लभ्यते, ततो यतनया, यथा-अगीतार्थाः तदेवेदमशनादिकमिति न जानन्ति, तथा तस्यैव परिभोगः कर्तव्यः ।

बिइयपएण गिलाण-स्स कारणा अधव वातिणे ओमे ।
अद्धाण पविसमाणो, मज्झे अहवा वि उत्तिण्णे ॥

द्वितीयपदे ग्लानस्य कारणात्प्रायोग्यं भक्तादिकमतिरिक्तमपि कालं धारयेत्, ग्लानकृत्ये वा तावद् व्यापृतः यावच्चरमपौरुषी, अथवा अवमे पर्यटन् एव चतुर्थी संजाता, अध्वनि वा प्रविशन् सार्थवशगोऽतिक्रमयेत् । एवमध्वनो मध्ये वर्तमानः, ततो वा उत्तीर्णोऽसंस्तरन्नातिक्रमयेत् भुञ्जीत वा, न कश्चिद्दोषः । व्याख्यातं कालातिक्रान्तसूत्रम् ।

अथ क्षेत्रातिक्रान्तसूत्रं व्याख्यानयति-

परमद्धजोयणाओ,उज्जाणपरेण चउ गुरू होंति ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमाताए ॥

अर्धयोजनं द्विगव्यूतं, ततः परमशनादिकमतिक्रमयतश्चतुर्गुरुकाः स्युः । अथोद्यानादपि परेणातिक्रमयतश्चतुर्गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, संयमात्मनश्च विराधना ।

तामेवाह-

भारेण वेदणाए, ण पेहती खाणुमादि अभिघाओ ।
इरिया पगलिय तेणग, भायणभेदो य छक्काया ॥

भारेणाऽऽक्रान्तो वेदनाऽभिभूतः स्थाणुकण्टकादीनि न प्रेक्षते तैः कीलकादिभिर्वा अभिहन्यते । अथवा-(अभिघाओ त्ति)वटशाखादिना शिरसि घट्यते, ईर्यां वा न शोधयति, दूरनयनेन च भक्तपाने पतिते पृथिव्यादिविराधना, स्तेनैर्वा स समुद्देशो ह्रियेत, क्षुधापिपासाऽऽर्तस्य वा क्षीणबलस्य भाजनभेदो भवेत् । तत्र षट्कायविराधना, आत्मनः परस्य च, तेन विना परिहाणिः ।

परः प्राह-

उज्जाणआरएणं, तहिँ किं ते ण जायते दोसा ? ।
परिहरिया ते होज्जा, जंति वि तहिं खेत्तमारज्जे ॥

उद्यानादारतो ग्रामादेरानीयमाने भक्तपाने किं ते दोषा न जायन्ते, यदेवमुद्यानात्परत इत्यभिधीयते ?। सूरिराह-ते दोषास्तीर्थकरवचनप्रामाण्येन परिहृता भवन्ति, तथाऽप्यननुज्ञातक्षेत्रे तान् दोषानापद्यन्ते ।

पुनरपि परः प्रेरयति-

एवं सुत्तं अफलं, सुत्तनिवातो इमो तु जिणकप्पे ।
गच्छम्मि अद्धजोयण, केसिं ची कारणे तं पि ॥

ननु यद्युद्यानात् परतो नातिक्रामयितव्यं, ततो यत् " परमद्धजोयणे मेराउ त्ति " सूत्रं भणितं, तदफलं प्राप्नोति । आचार्यः प्राह-यदग्रोद्यानात्परतो नातिक्रमयितव्यमित्युच्यते स एष सूत्रार्थनिपातो जिनकल्पिकविषयो मन्तव्यः। यत्पुनरर्द्धयोजनात् परत इत्यादि सूत्रं,तद्गच्छवासिविषयम् । केषाञ्चिदाचार्याणामयमभिप्रायः-यथा गच्छवासिभिरप्युत्सर्गत उद्यानात्परतो नातिक्रामणीयम्, कारणात्तु तदप्यर्द्धयोजनं नेतव्यम् । एवमापन्नादिकं सूत्रम्-यथा "केसिंचि कारणे तं पि त्ति"। अन्यथा व्याख्यायते—केषाञ्चिदाचार्यबालवृद्धादीनां कारणे तदप्यर्धयोजनं गम्यते ।

इदमेव भावयति-

सखेत्ते जह ण लब्भति, भत्तो दूरे वि कारणे जतति ।
गिहिणो वि चिंतमाणा-ऽऽगतम्मि गच्छे किमंग ! पुण ? ॥

स्वक्षेत्रे स्वग्रामे यदा न लभते तदा दूरेऽप्याचार्यादीनां कारणे भक्तपानग्रहणार्थं यतते,अर्द्धयोजनमपि गच्छतीति भावः। अपि च-यद्यपि स्वग्रामे प्राचुर्येण लभ्यते,तथाऽप्युत्सर्गतस्तत्र न हिण्डनीयम् । कुतः?, इत्याह-यदि तावद् गृहिणोऽपि क्रयविक्रयसम्प्रयुक्ता अनागतं प्राघूर्णकाद्यर्थं घृतगुडलवणतन्दुलादीनां चिन्तां कुर्वन्ति, किमङ्ग ! पुनर्गच्छे सबालवृद्धे, येषां क्रयविक्रयः, संचयश्च नास्ति, तैः प्राघूर्णकाद्यर्थमनागतं न चिन्तनीयम् ? ।

ततः—

संघामेगे ठवणा-कुलेसु सेसेसु बालवुड्ढादी ॥
तरुणा बाहिरगामे, पुच्छा दिट्ठंतऽगारीए ॥

स्वग्रामे यानि दानश्राद्धादीनि स्थापनाकुलानि, तेषु गुरूणां संघाटक एकः प्रविशति, यानि स्वग्रामे शेषाणि कुलानि, तेषु बालवृद्धासहिष्णुप्रभृतयो हिण्डन्ते, ये तु तरुणास्ते बहिर्ग्रामे पर्यटन्ति । शिष्यः पृच्छति-किमादरेण क्षेत्रं प्रत्यपेक्षा रक्ष्यते ?। गुरुराह-अगार्या दृष्टान्तोऽत्र क्रियते-

परिमियभत्तपदाणे, णेहादवहराति थोव थोवं तु ।
पाहुण वियाल आगत, विसण्ण आसासणा दाणं ॥

"एगो किविणवणिओ, अगारीए अविस्ससंतो तंडुलघतलवणकट्ठभंमादियं दिवसपरिमायपरिमितं देति, आवणतो घरे ण किंचि तंडुला धारेति। अगारीए चिंता-जदि एयस्स अब्भरहितो, मित्तो वा,अण्णो वा पदोसादिअवेलाए आगामिस्सति,तो किं दाहं ?। तओ अप्पणो बुद्धिपुव्वगेण वणियस्स अजाणंतो णेहतंडुलादियाणं थोवथोवं फेमिति । कालेण बहु संपण्णं । अण्णया तस्स मित्तो पदोसकाले आगतो, आवणं आरक्खियभया गंतुं न सक्कति,वणियस्स चिंता जाया, विसण्णो,कहमेतस्स भत्तं दाहामीति?। अगारी वणियस्स मणोगतं भावं जाणित्ता भणाति-मा विसादं करेहि, सव्वं से करेमि। तीए अब्भंगादिणा एहावेउं विसिट्ठमाहारं भुंजाविओ, तुट्ठो मित्तो पच्छाए पुणो जेमेव गतो । वणिओ वि तुट्ठो भारियं भणइ-अहं ते परिमियं देमि, कतं ति?। तीए सव्वं कहियं। तुट्ठेण वाणिएण सा

घरचिंतिय त्ति सव्वो घरसारो समप्पिओ " अथाक्षरार्थः-परिमितभक्तप्रदाने सति स्नेहादेर्मध्यादगारी स्तोकस्तोकमपहरति, प्राघूर्णकस्य च विकाले आगमनं, ततो गृहपतिर्विषण्णः, तया तस्याऽऽश्वासना कृता, ततः प्राघूर्णकस्य भक्तपानदानमकारि ॥

एवं पीईवुड्डी, विवरीयऽन्नेण होइ दिट्ठंतो ।
लोगुत्तरे विसेसो, असंचया जेण समणाओ ॥

एवं क्रियमाणे तयोः सुहृदोः परस्परं प्रीतिवृद्धिरुपजायते,विपरीतश्चान्येन प्रकारेण दृष्टान्तो भवति । तत्र यदि परमितभक्तमध्यादगारी स्तोकस्तोकं नापहरति ततः सुहृदादेः प्राघूर्णकस्य स्नेहच्छेदो भवति, एवं यदि गृहस्था आगमनं चिन्तयन्ति,ततः कुक्षिशम्बलैः साधुभिः सुतरामनागतं चिन्तनीयम् । अपि च-लोकोत्तरे येन असंचयाः श्रमणास्तेन कारणेन विशेषतः क्षेत्रं रक्षणीयम ॥

जणलावो परगामे, हिंडमाणेंति वसहि इह गामे ।
देज्जह बालादीणं, कारणजाते य सुलभं तु ॥

जनस्याऽऽत्मीयगृहेषु ग्राममध्ये वा मिलितस्याऽऽलापः प्रवादो भवति-अमी साधवः परग्रामे हिण्डित्वा भिक्षामिहानयन्ति,ततः केवलं वसतिरेवेह ग्रामे अमीषाम् । एवं श्रुत्वा गृहपतयः स्वस्वमहेला आदिशन्ति-ये बालादयोऽत्र हिण्डन्ते, तेषामादरेण सविशेषं । प्रयच्छत एवंविधायां चिन्तायां, प्राघूर्णकादिकारणजाते च सुलभं तु, यदि देशकाले अदेशकाले वा हिण्डन्ते तदा सुलभं भवति ॥

पाहुणविसेसदाणे, णिज्जर कित्ती य इहर विवरीयं ।
पुव्विं चमढणसिग्गा, न देंति संतं पि कज्जेसु ॥

प्राघूर्णकस्य विशेषेणाऽऽदरेण भक्तपाने दीयमाने परलोके निर्जरा, इहलोके च कीर्त्तिर्भवति । चशब्दात्प्रीतिवृद्धिः, परस्परोपकारिता च भवति । इतरथा प्राघूर्णकस्याक्रियमाणे एतदेव विपरीतं भवति, निर्जरादिकं न भवतीत्यर्थः । कथं पुनस्तद्दानं न भवतीत्याह-पूर्वं चमढतया दिने २ प्रविशद्भिः साधुभिः 'सिग्गानि' परिश्रान्तानि क्षपनाकुलानि सदपि गृहे विद्यमानमपि घृतादिकं द्रव्यं प्राघूर्णकादिकार्येषु उत्पन्नेषु न प्रयच्छन्ति । एवं गुणदोषान् विज्ञाय क्षेत्रं प्रयत्नेन रक्षणीयमिति प्रक्रमः ।

अयं चापरस्तद्गुणो भवति-

बोरी इह दिट्ठंतो, गच्छे वायामो बहिं च पतिरिक्कं ।
केई पुण तत्थ भुंजण, आणेमाणे भणिय दोसा ॥

बहिर्ग्रामे भिक्षाटने क्रियमाणे प्राभृतं दुग्धदध्यादिकं प्रायोग्यं प्राप्यते । तथा चात्र बदरीदृष्टान्तो भवति । अपि च-गच्छे एषैव सामाचारी गणधरभणिता-यद्बहिर्ग्रामे तरुणैर्भिक्षायामटनीयं, व्यायामश्च मोहचिकित्सानिमित्तं तैः कृतो भवति । तत्र बहिर्ग्रामे, चशब्दादिह वा परग्रामे ' पइरिक्कं ' एकान्तं भवति मुत्कलमित्यर्थः । यद्वा [पतिरिक्कं ति] प्रचुरं भक्तपानं तत्रावाप्यते । केचित्पुनराचार्यदेशीया ब्रुवते-तत्रैव बहिर्ग्रामे भोजनं कर्त्तव्यं, यतो ये पूर्वमानयतो भारवेदनाऽऽदयो दोषा भणितास्ते एव परिहृता भवन्ति । (एतत्परमतमुत्तरत्र निराकरिष्ये)

अथ बदरीदृष्टान्तमाह-

गामब्भासे बदरी, नीसंद कडुप्फला य कुज्जा य ।
पक्कामालसचेडा, खायंतियरे गता दूरं ॥
सिग्घयरं ते आगा, तेसिऽण्णेसिं च दिंति सयमेव ।
खायंति एव इह इ, आयपरसुहावहा तरुणा ॥

कस्याऽपि ग्रामस्याभ्यासे प्रत्यासत्तौ बदरी,सा ग्रामनिस्यन्दपानीयेन संवर्द्धिता,ततः कटुकफला संवृत्ता । अन्यच्च-सा स्वभावत एव कुब्जा,तेन सुखारोहा, तस्यां च कानिचित् फलानि पक्वानि,कानिचित्कटुकानि । अथवा (पक्कमेति) मन्दपक्वानि,तत्र ये अलसाश्चेटका बालकाः, ते तां बदरीं सुखारोहामारुह्य कटुकान्यपि बदराणि भक्षयन्ति, तान्यपि स्वल्पतया न पर्याप्तानि भवन्ति, इतरे नाम अनलसा उत्साहवन्तश्चेटका बालकाः, ते दूरमटवीं गताः, तत्र महाबदरीवनेषु परिपक्वानि बदराणि यथेच्छं खादन्ति । ततो यावत्ते अलसास्तस्यां कटुकबदर्यां क्लिश्यमाना आसते, तावत्ते दूरगामिनो बालका आत्मनः पर्याप्तं कृत्वा बदरीपोट्टलकभाराऽऽक्रान्ताः शीघ्रतरमागताः,तेषामलसानामन्येषां च गृहे स्थितानां स्वजनानां बदराणि पर्याप्त्या ददति, स्वयमेव च भक्षयन्ति । एवमिहापि गच्छवासे तरुणा भिक्षवो वीर्यसंपन्ना उत्साहवन्तो बहिर्ग्रामे हिण्डमाना आत्मनः परेषां च बालवृद्धादीनां सुखावहा भवन्ति ।

कथम् ?, इति चेत् , उच्यते-

खीरदहिमादियाण य, लंभो सिग्घतर पढम पइरिक्के ।
उग्गमदोसा विजढा, भवंति अणुकंपिया वितरे ॥

यथा ते अलसाश्चेटकास्तथा बालवृद्धादयोऽपि कटुबदरीकल्पे तस्मिन् मूलग्रामे प्रत्यहमुपेज्यमानतया चिरमपि हिण्डमानाः कोद्रवकूरादिकमेव लभन्ते, तदपि न पर्याप्तं, ये तु तरुणा बहिर्ग्रामे गच्छन्ति, ते अनलसचेटककल्पाः, ततः क्षीरदध्यादीनां प्रायोग्यद्रव्याणां लाभस्तेषां बहिर्ग्रामे भवति, शीघ्रतरं च ते स्वग्रामे आगच्छन्ति, (पढम त्ति) प्रथमालिकां च स्वयं कुर्वन्ति, बालादिभ्यः प्रथमतरं वा समागच्छन्ति (पइरिक्कं ति) प्रचुरभक्तपानमुत्पादयन्ति, उद्गमदोषाश्च ' विजढा ' परित्यक्ता भवन्ति, इतरे च बालाऽऽदयो अनुकम्पिता भवन्ति ।

अमुमेवार्थं सविशेषमाह—

एवं उग्गमदोसा, विजढ पइरिक्कया अणोमाणं ।
मोहतिगिच्छा य कता, विरियायारो य अणुचिण्णो ॥

एवं बहिर्ग्रामं गच्छद्भिस्तैरुद्गमदोषा आधाकर्मादयः परित्यक्ता भवन्ति, (पइरिक्कय त्ति) प्रचुरस्य भक्तपानस्य लाभो भवति, अनपमानत्वं पक्वाग्रमानेन भवति । मोहचिकित्सा च परिश्रमाऽऽतपोवैयावृत्त्यादिभिर्मोहस्य निग्रहात्कृतो भवति । वीर्याचारश्चानुचीर्णोऽनुष्ठितो भवति ।

अथ परः प्राह-

लम्भायतो परेणं, उवातिणं तम्मि पुव्व जे भणिता ।
भारादीया दोसा, तच्चेव इहं तु सविसेसा ॥

ननु शोभनमिदं यदर्धयोजनं गम्यते, किन्तु तेषां भरितभाराणामाचार्यसकाशमागच्छतां ये पूर्वमुद्धातात्परेणातिक्रामयति भारादयो दोषा भणितास्त एवेह सविशेषा भवन्ति ।

ततः किं कर्तव्यमित्याह-

तम्हा च ण गंतव्वं, तहिँ भोत्तव्वं ण वा वि भोत्तव्वं ।
इतरा भे ते दोसा, इति उदिते चोदगं भणति ॥

तस्मादाचार्यसमीपे भक्तपानेन गृहीतेन न गन्तव्यं, किन्तु तत्रैव बहिर्ग्रामे भोक्तव्यम्, एवं भाराऽऽदयो दोषाः परिहृता भवन्ति। (न वा वि भोत्तव्वं ति) वाशब्दः पक्षान्तरद्योतकः। अथ भवतो भणिष्यन्ति-नैव बहिर्ग्रामे भोक्तव्यं तत एवम्। इतरथा (भे) भवतां त एव भारादयो दोषाः परिहृताः। एवमुदिते भणिते सति सूरिर्नोदकं भणति-यदि तत्र समुद्दिशन्ति ततो मासलघु, भवतोऽप्येवं भणितो मासलघु, तैश्च तत्र प्रायोग्यं समुद्दिशद्भिराचार्यादयः परित्यक्ताः, तेषां प्रायोग्यमन्तरेण परितापनादिसंभवात्।

आह-किमित्याचार्यमन्तरेण न सिध्यति यदेवं तदर्थं प्रायोग्यमानीयते ?, इत्याह-

जइ एयविप्पहूणा, तवनियमगुणा भवे निरवसेसा ।
आहारमाइयाणं, को नाम कहं पि कुव्वेज्जा ? ॥

यद्येतेनाऽऽचार्येण विप्रहीणाः, एनमन्तरेणेत्यर्थः। तपोनियमगुणा निरवशेषा भवेयुः, तत आचार्यप्रायोग्यानामाहारादीनामन्वेषणे को नाम कथमपि कुर्वीत ? , न कश्चित् । इदमत्र हृदयम्-सर्वोऽपि तपोनियमादिकः प्रयासोऽस्माकं संसारनिस्तरणार्थं, ते च तपःप्रभृतयो गुणा गुरूपदेशमन्तरेण न सम्यग् गम्यन्ते, न वा निरवशेषा अपि यथावदनुगन्तुं शक्यन्ते, अतः संसारनिस्तरणार्थमाचार्याणां प्रायोग्यनयनादि कर्त्तव्यमेव वैयावृत्यमिति।

अपि च-

जति ताव लोइयगुरू, से लहुय सागारिय पुढविमादी ।
आणयणे परिहरिया, पढमा आपुच्छ जतणाए ॥

यदि तावल्लौकिकोऽपि यो गुरुः पिता ज्येष्ठबन्धुर्वा कुटुम्बं धारयति तस्मिन्नभुक्ते न भुञ्जते, यच्चोत्कृष्टं शाल्योदनादिकं तत्तस्य प्रयच्छन्ति, ततः किं पुनर्यस्य प्रभावेन संसारो निस्तीर्यते तस्य प्रायोग्यमदत्त्वा एवमेव भुज्येत। यस्तु भुङ्क्ते, तस्य मासलघु। वसतेरभावात् तत्र भुञ्जानान् सागारिको यदि पश्यति तदा चतुर्लघु, आज्ञादयश्च दोषाः। अस्थण्डिले च समुद्दिशतां पृथिव्यादिविराधना, आनयने तु सर्वेऽप्येते दोषाः परिहृता भवन्ति, अतो गुरुसमीपमानेतव्याः। द्वितीयपदे प्रथमालिकां कुर्वन्तो गुरुमापृच्छ्य गच्छन्ति। यतनया च यथा संसृष्टं न भवति तथा प्रथमालिका कर्त्तव्या ॥

चोदगवयणं अप्पा-ऽणुकंपिओ ते य भे य परिचत्ता ।
आयरिए अणुकंपा, परलोए इह पसंसणया ॥

नोदकवचनं नाम-परः प्रेरयति-यावत्ते ततो ग्रामात्प्रत्यागच्छन्ति तावत् तृषाक्षुधाक्लान्ता अतीव परिताप्यन्ते, एवं प्रस्थापयद्भिर्भवद्भिरात्मा अनुकम्पितः, ते च साधवः परित्यक्ता भवन्ति। गुरुराह-ननु मुग्ध! त एवानुकम्पिताः। कथमित्याह-(आयरिए इत्यादि) ते यदाचार्यवैयावृत्यनियुक्ताः, एषा पारलौकिकी तेषामनुकम्पा, इहलोकेऽपि ते अनुकम्पिताः, यतो बहुभ्यः साधुश्राद्धजनेभ्यः प्रशंसामासादयन्ति।

परः प्राह-

एवं पि परिच्चत्ता, काले खमए असहुपुरिसे य ।
काले गिम्हे उ भवे, खमओ वा पढमबितिएहिं ॥

यतस्ते बुभुक्षिततृषिता भाराक्रान्ताः शीतलवातातपैरभिहताः पन्थानं वहन्ति यूयं तु शीतलच्छायायां तिष्ठत, एवमपि ते परित्यक्ताः। सूरिराह-तेषामपि कालं क्षपकमसहिष्णुपुरुषं च प्रतीत्य प्रथमालिकाकरणमनुज्ञातम्, तत्र कालो ग्रीष्मलक्षणस्तस्मिन् प्रथमालिकां कृत्वा पानकं पिबन्ति, क्षपको वा प्रथमद्वितीयपरीषहाभ्यामतीव बाधितः प्रथमालिकां कुर्यात्।

अत्र परः प्राह-

जइ एवं संसट्ठं, अप्पत्ते दोसियाइणं गहणं ।
लंबण भिक्खा दुविहा, जहण्णमुक्कोस तिय पणए ॥

यद्येवमसौ बहिरेव प्रथमालिकां करोति ततो भक्तः संसृष्टो भवति, संसृष्टे च गुर्वादीनां दीयमानेऽभक्तिः कृता भवति ?। गुरुराह-अप्राप्ते देशकाले दोषान्नादेर्ग्रहणं कृत्वा येषु वा कुलेषु प्रभाते चाल्लभ्ये पर्यटन्तः प्रथमालिकां कुर्वन्ति, भोजनस्य च कल्पं कुर्वन्ति। प्रथमालिकाप्रमाणं च द्विधा-लम्बनतो, भिक्षातश्च। तत्र जघन्येन त्रयो लम्बनाः कवलाः, तिस्रश्च भिक्षाः, उत्कर्षतः पञ्च लम्बनाः पञ्च वा भिक्षाः। शेषं सर्वमपि मध्यमप्रमाणम्।

अथ तैः कुत्र किं ग्रहीतव्यमिति निरूपयति-

एगत्थ होइ भत्तं, बितियम्मि पडिग्गहे दवं होति ।
गुरुमादी पाउग्गं, मत्तं बिइए उ संसत्तं ॥

साधुद्वयस्य द्वौ प्रतिग्रहौ, द्वौ च मात्रकौ भवतः, तत्रैकस्मिन् प्रतिग्रहे भक्तं प्रतिग्रहीतव्यं, द्वितीये द्रवं पानकं भवति। तथैकस्मिन् मात्रके आचार्यादीनां प्रायोग्यं गृह्यते, द्वितीये तु संसक्तं भक्तं वा पानकं वा प्रत्युपेक्षितो यदि शुद्धः ततः प्रतिग्रहे प्रक्षिप्यते।

जति रित्तो तो दवम-त्तगम्मि पढमालियाएँ गहणं तु ।
संसत्तगहण दवदु-ल्लभे य तत्थेव जं पंता ॥

यदि रिक्तोऽसौ द्रवमात्रकः, ततः तत्र प्रथमालिकाया ग्रहणं कर्त्तव्यम्, एवं संसृष्टं न भवति। अथवा-तस्मिन् द्रवमात्रके संसक्तं द्रवं गृहीतं, द्रवं वा तत्र क्षेत्रे दुर्लभं, ततस्तत्रैव भक्तप्रतिग्रहे यत्प्रान्तं, तदेकेन हस्तेनाकृष्यान्यस्मिन् हस्ते कृत्वा समुद्दिशति, एवं संसृष्टं न भवति।

बिइयपयं तत्थेव, सेसं अहवा वि होज्ज सव्वं पि ।
तम्हा तं गंतव्वं, संसट्ठं जति वि तहवि सुद्धो ॥

द्वितीयपदमत्रोच्यते-अतीव बुभुक्षितास्तत्रैवात्मनः सविभागं भुञ्जते, शेषं सर्वमप्यानयन्ति। अथवा-तत्रैव सर्वमात्मपरमं भागं भुञ्जते, यत एष एवंविधो विधिस्तस्माद्विधिना गन्तव्यम्, विधिना आनेतव्यं, विधिना वा तत्रैव भोक्तव्यम्। एवं सर्वत्र विधिं कुर्वन् यद्यपि दोषैः स्पृष्टो भवति तथाऽपि शुद्धः।

कथं पुनः सर्वं वा भिक्षाचर्यागतेन भोक्तव्यमित्याह-

अंतरपल्लीगहितं, पढमागहियं य भुंजए सव्वं ।
संखडिधुवलंभे वा, जं गहियं दोसिणं वा वि ।

यदन्तरपल्लिकायां गृहीतं, प्रथमपौरुषीगृहीतं वा, तत्सर्वमपि

भुङ्क्ते, यत्र वा जानन्ति संखड्यां भूयो लाभो भविता तत्र यत्पूर्वं गृहीतं तत्सर्वमपि भोक्तव्यम्, यद्वा दोषात्तं गृहीतं तदशेषमपि भोक्तव्यम् ।

दराहिंमिए व भाणं, भरियं भुत्तुं पुणो वि हिंमिज्जा ।
कालो वाऽतिक्कमई, भुंजेज्जा अंतरा सव्वं ॥

अथवा-दरहिण्डिते अर्द्धपर्यटिते एव भाजनं भृतं, ततोऽल्पसागारिके तत्पर्याप्तं भुक्त्वा पुनरपि हिण्डेत । अथवा-यावदाचार्यान्तिके आगच्छति तावत्कालोऽतिक्रामति-चतुर्थपौरुषी लगति, सूर्यो वाऽस्तमेतीत्यर्थः । ततः सर्वमप्यन्तरा तत्रैव भुञ्जीत ।

परमद्धजोयणातो, उज्जाणपरेण जे भणियदोसा ।
आहच्चुवातिणाविएँ, ते चेवोस्सग्गअववातो ॥

अथार्द्धयोजनात्परेणातिक्रामयति तदा ये उद्यानात्परतोऽतिक्रामणे दोषाः पूर्वं भणितास्त एव द्रष्टव्याः । अथवा—आहृत्य कदाचिदनाभोगादिना अतिक्रामन्ति ततस्तावेवोत्सर्गापवादौ । उत्सर्गतस्तत्र भोक्तव्यम्, अपवादतः पुनरसंस्तरणे भोक्तव्यमिति भावः । बृ० ४ उ० ।

जे भिक्खू पढमाए पोरिसीए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवाइणावेइ, उवाइणावंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥ नि० चू० १२ उ० ।
बितियाउ पढमपुव्विं,उवातिणे चउगुरू य आणादी ।बृ०४उ०।

" दिवसस्स पढमपोरिसीए भत्तं पाणं घेत्तुं चरिमति-चउत्थपोरिसी, तं जो संपावेति, तस्स चतुलहुं, आणादिया य दोसा " । नि० चू० १२ उ० ।

जे भिक्खू परं अद्धजोयणमेराओ परेण असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवाइणावेइ, उवाइणावंतं वा साइज्जइ ॥ ३८ ॥

परमद्धजोयणाओ, असणादी जे उवातिणे भिक्खू ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥१०७॥

दुगाउयं अद्धजोयणं, जो तओ खेत्तप्पमाणओ परेण असणाइ संकामेइ, तस्स चतुलहुं, आणादिया य दोसा । नि० चू० १२ उ० ।

अह भंते ! खेत्ताइक्कंतस्स कालाइक्कंतस्स मग्गाइक्कंतस्स पमाणाइक्कंतस्स पाणभोयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ? । गोयमा ! जे णं निग्गंथे वा फासुएसणिज्जं असणं पाणं खाइमं साइमं अणुग्गए सूरिए पडिग्गाहित्ता उग्गए सूरिए आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! खेत्ताइक्कंते पाणभोयणे । जे णं निग्गंथे वा० जाव साइमं पढमाए पोरिसीए पडिग्गहेत्ता पच्छिमं पोरिसिं उवायणावित्ता आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! कालाइक्कंते पाणभोयणे । जे णं निग्गंथे० जाव साइमं पडिग्गहित्ता परं अद्धजोयणमेराए वीइक्कमावइत्ता आहारमाहारेइ, एस णं गोयमा ! मग्गाइक्कंते पाणभोयणे । जे णं निग्गंथे वा फासुएसणिज्जे-

णं० जाव साइमं पडिग्गहित्ता परं बत्तीसाए कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ताणं कवलाणं आहारमाहारेइ एस णं गोयमा ! पमाणाइक्कंते पाणभोयणे । अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे । दुवालस कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे । अवड्ढोमोयरिया । सोलसकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे दुभागपत्ते । चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणे० जाव आहारमाणे ओमोदरिया । बत्तीसं कुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे पमाणपत्ते । एक्को एक्केण वि घासेण ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामरसभोइ त्ति वत्तव्वं सिया, एस णं गोयमा ! खेत्ताइक्कंतस्स कालाइक्कंतस्स मग्गाइक्कंतस्स पमाणाइक्कंतस्स पाणभोयणस्स अट्ठे पण्णत्ते । भ० ७ श० १ उ० । (मूलपाठस्य सुगमत्वात् टीका नात्र गृहीता)

अत्रैव दृष्टान्तमभिधित्सुराह-

दिट्ठंतोऽमच्चेणं, पासादे णं तु रायसंदिट्ठे ।
दव्वे खेत्ते काले, भावेण य संकिलेसेइ ॥

गाथाक्षरयोजना सुगमा । भावार्थस्त्वयम्-केनापि राज्ञा अमात्य आज्ञप्तः-शीघ्रं प्रासादाः कारयितव्याः । स चामात्यो द्रव्ये लुब्धस्तान् कर्मकरान् द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च संक्लेशयति ।

कथमित्याह—

अलोयणसक्कयं सुक्खं, नो पगामं च दव्वतो ।
खित्ते अणुचियं उण्हे, काले उस्सूरभोयणं ॥
भावे न देति विस्सामं, निट्ठुरेहिं च खिंसइ ।
जियं भित्तिं च नो देइ, नट्ठा अकएँ दंमणा ॥

द्रव्यतोऽलवणसंस्कृतं विशिष्टसंस्काररहितं,शुष्कं वातादिना शोषं नीतं, वल्लचणकादि, तदपि न प्रकामं न परिपूर्णं ददाति । क्षेत्रतो—यत्तस्मिन् क्षेत्रे अनुचितं भक्तं पानं वा तद् ददाति, तथा उष्णे कर्म कारयति, काले उत्सूरे भोजनं दापयति । भावतो-न ददाति विश्रामं, निष्ठुरैश्च वचनैः खिंसयति । जितमपि च कर्मकरणतो लभ्यमपि भृतिं मूल्यं न ददाति । एवं च सति ते कर्मकराः प्रासादमकृत्वाऽपि नष्टाः पलायिताः, स्थितः प्रासादोऽकृतः, राज्ञा चैतत् ज्ञातं, ततोऽमात्यस्य दण्डना कृता । अमात्यपदाच्च्यावयित्वा तस्य सर्वस्वापहरणं कृतमिति । एष दृष्टान्तः ।

साम्प्रतमुपनयमाह-

अकरणेँ पासायस्स उ, जह सोऽमच्चो उ दंमितो रन्ना ।
एमेव य आयरिए, उवणयणं होति कायव्वं ॥

यथा प्रासादस्याकरणेऽमात्यो राज्ञा दण्डितः, एवमेवाचार्ये उपनयनं भवति कर्त्तव्यम् । तथैव राजस्थानीयेन तीर्थकरेण अमात्यस्थानीयस्याऽऽचार्यस्य सिद्धिप्रासादसाधनार्थमादेशो दत्तः, स च कर्मकरस्थानीयानां साधूनां द्रव्यादिषु तत् करोति यथा ते सर्वे पालयन्ति ।

तथा चाह-

कज्जम्मि वि नो विगितिं, जत्तं पंतं न तं च पज्जत्तं ।
खेत्तं खलुखेत्तादी, कुवसहि उब्भामगे चेव ॥
तइयाएँ देति काले, ओमे वुस्सग्गवादितो निच्चं ।
संगह-उवग्गहे वि य, न कुणइ भावे पयढो य ॥

द्रव्यतः-कार्येऽपि समापतिते विकृतिं घृतादिकां न ददाति, भक्तमपि प्रान्तं दापयति, तदपि च न पर्याप्तम् । क्षेत्रतः-खलुक्षेत्रादीन् प्रेषयति,खलुक्षेत्रं नाम-यत्र तु किमपि न प्रायोग्यं लभ्यते, आदिशब्दात् यत्र स्वपक्षतः परपक्षतो वाऽपभ्राजना, तदादिपरिग्रहः । कुवसतौ वा स्थापयति,उद्भामके वा ग्रामे यदा तदा वा प्रेषयति । कालतः-सदैव तृतीयायां भोजनं ददाति । अवमेऽपि दुर्भिक्षेऽप्युत्सर्गवादिको नित्यम्, भावतः-संग्रहं ज्ञानादिभिः,उपग्रहं वस्त्रपात्रादिभिर्न करोति । प्रचण्डश्च प्रकोपनशीलः।

लोए लोउत्तरे चेव, दो वि एए असाहगा ।
विवरीयविचित्तिणो सिध्दी, अन्ने दो वि य साहगा ॥

लोके लोकोत्तरेऽपि च एतावनन्तरोक्तौ द्वावप्यसाधकौ द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य विपरीतवर्तिनः पुनरुभयथापि सिद्धिरिति कृत्वा अन्यौ द्वावपि द्रव्यतो भावतश्च प्रासादस्य साधकौ।

सिध्दीपासायवर्मि-सगस्स करणं चउव्विहं होइ ।
दव्वे खेत्ते काले, भावे य न संकिलेसेइ ॥

सिद्धिप्रासादावतंसकरणं चतुर्विधं भवति । तद्यथा-द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतो, भावतश्च । ततो गीतार्थो द्रव्यादिषु साधून् न सङ्क्लेशयति ।

एवं तु निम्मवंती, ते विय अचिरेण सिध्दिपासायं ।
तेसिं पि इमो उ विही, आहारेयव्वए होति ॥

एवं द्रव्यादिषु संक्लेशाकरणतस्ते साधवोऽचिरेण स्तोकेन कालेन सिद्धिप्रासादं निर्मापयन्ति, तेषामपि सिद्धिप्रासादनिर्मापकाणामाहारयितव्येऽयं वक्ष्यमाणो विधिः ।

तमेवाह-

अध्दमसणस्स सव्वं, जणस्स कुज्जा दवस्स दो भागे ।
वायपवियारणट्ठा, छब्भागं ऊणयं कुज्जा ॥

अर्द्धमुदरस्य दधितक्रतीमनादिसहितस्याशनस्य योग्यं कुर्यात्, द्वौ भागौ द्रवस्य पानीयस्य योग्यौ, षष्ठं तु भागं वातप्रविचरणार्थमूनकं कुर्यात् । इयमत्र भावना-उदरस्य षड् भागाः कल्प्यन्ते, तत्र त्रयो भागा अशनस्य सव्यञ्जनस्य, द्वौ भागौ पानीयस्य, षष्ठो वातप्रविचरणाय । एतच्च साधारणे, प्रावृट्काले चत्वारो भागाः सव्यञ्जनस्याशनस्य, पञ्चमः पानीयस्य, षष्ठो वातप्रविचाराय, उष्णकाले द्वौ भागावशनस्य सव्यञ्जनस्य, त्रयः पानीयस्य षष्ठो वातप्रविचारणायेति ।

एसो आहारविही, जह भणिता सव्वभावदंसीहिं ।
धम्मावस्सगजोगा, जेण न हायंति तं कुज्जा ॥

एष आहारविधिर्यथा सर्वभावदर्शिभिः सर्वज्ञैर्भणिता, येन तु प्रकारेण धर्मनिमित्ता अवश्यकर्त्तव्या योगा न हीयन्ते, तं कुर्यान्नान्यदिति ॥ व्य० ८ उ० । सूत्र० । औ० । दश० ।

" जे णं पढमाए पोरिसीए अणइक्कंताए तइयाए पोरिसीए अइक्कंताए भत्तं वा पाणं वा पडिगाहेज्ज वा,परिभुंजेज्ज वा, तस्स णं पुरिमड्ढं । " महा० ७ अ० ।

(१२) रात्रौ भिक्षा न ग्रहीतव्या-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा राए वा वियाले वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिग्गाहित्तए ।

अस्य संबन्धं दर्शयन्नाह-

वयअहिगारे पगए, राईवयभत्तपालणे इणमो ।
सुत्तं उदाहु थेरा, मा पीला होज्ज सव्वेसिं ॥

पूर्वसूत्रे द्वितीयावग्रहोऽनुज्ञानन्तरेण वस्त्रं न परिभोक्तव्यमिति तृतीयव्रतस्याधिकारः प्रकृतः, तस्मिंश्च प्रकृते रात्रिभक्तव्रतपालनार्थमिदं सूत्रं स्थविराः श्रीभद्रबाहुस्वामिन उदाहृतवन्तः । कुत इत्याह-मा तस्मिन् षष्ठव्रते भग्ने सर्वेषामपि महाव्रतानां पीडा विराधना भवेत् इति कृत्वा ।

प्रकारान्तरेण संबन्धमाह-

अहवा पिंडो भणिओ, न य भणिओ गहणकालं तु ।
तस्स गहणं खवाए, वारेइ अणंतरे सुत्ते ।

अथवा-" निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए " इत्यादिषु सूत्रेषु पिण्डो भणितः, न च तस्य पिण्डस्य ग्रहणकालो भणितः, कदा गृह्यते, कदा नेति । अतः पूर्वसूत्रेभ्यो यदपान्तरालमिदमेव सूत्रं, तत्र तस्य पिण्डस्य ग्रहणं क्षपायां रात्रौ निवारयतीत्यनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा रात्रौ वा विकाले वा अशनं वा ओदनादि, पानं वा अबादि, खादिमं वा फलादि, स्वादिमं वा शुण्ठ्यादि प्रतिग्रहीतुम् इति सूत्राक्षरार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः-

राते व वियाले वा संझा राई ओकिसिइ विकालो ।
चउरो य अणुग्घाया, चोदगपडिवाएँ आणादी ॥

रात्रौ वा विकाले वेति यदुक्तं सूत्रे, तत्र 'सन्ध्या रात्रिरुच्यते' इतिनिरुक्तिवशात् शेषा सर्वाऽपि रजनी, विगतः सन्ध्याकालोऽत्रेति विकाल उच्यते । केषाञ्चिदाचार्याणां दिवसलक्षणकालविगमात् सन्ध्या विकालः, शेषा तु रात्रिः, रज्यन्ति स्तेनपारदारिकादयो अत्रेति कृत्वा । एतयोः रात्रिविकालयोः सूत्रोक्तं चतुर्विधमाहारं गृह्णतो भुञ्जानस्य च चत्वारो अनुद्घाता मासाः प्रायश्चित्तम् । बृ० १ उ० ॥

(१३) कतिवारान् गच्छेत्-

अथ विस्तरार्थमभिधित्सुः प्रमाणद्वारं भावयति-

दोन्नि अणुन्नाया ऊ, तइया आवज्ज मासियं लहुयं ।
गुरुगो उ चउत्थीए, चाउम्मासो पुरेकम्मे ॥

चतुर्थभक्तिकस्य द्वौ वारौ गोचरचर्यामटितुमनुज्ञातौ,अथ तृतीयं वारमटति, तत आपद्यते मासिकं लघुकम्, अथ चतुर्थं वारं पर्यटति,तदा गुरुको मासः स्त्रीत्वं सर्वत्र प्राकृतत्वात् । अथ तृतीयादीन् वारान् भिक्षार्थं प्रविशति,ततो गृहिणः पुरः कर्म कुर्वन्ति, तत्र चत्वारो मासा लघव इति । एषा निर्युक्तिगाथा ।

अथैनामेव भाष्यकृद्विवृणोति-

सइमेव उ निग्गमणं, चउत्थजाविस्स दोन्नि वि अलब्भे ।
सव्वे गोयरकाला, विगिट्ठ छट्ठमे वि तिहिं ॥

सकृदेव एकवारमेव नित्यभक्तिकस्य भक्ताय वा पानाय वा निर्गमनं कल्पते, चतुर्थभक्तिकस्याप्युत्सर्गतः सकृदेव भिक्षामटितुं कल्पते । अथ तदानीं पर्यटताऽपि तेन परिपूर्णो भक्तार्थो न लब्धः,ततोऽलब्धे सति तस्य द्वावपि गोचरकालावनुज्ञातौ, यस्य विकृष्टभक्तिको दशमद्वादशमादिक्षपकः, तस्य सर्वेऽपि गोचरकालाः कल्पन्ते। (छट्ठमे वितिहिं ति) षष्ठभक्तिकस्य द्वयोर्गोचरकालयोः, अष्टमभक्तिकस्य तु त्रिषु गोचरकालेषु भिक्षामटितुं कल्पते ।

स्यान्मतिः किमर्थं षष्ठादिभक्तिकानां द्व्यादिगोचरकालानामनुज्ञा ?, उच्यते-

संखुन्ना जेणऽन्ता, दुगाइ छट्ठादिणं ततो कालो ।

भुत्तऽणुभुत्ते अ बलं, जायइ न य सीतलं होइ ॥

संक्षुण्णानि संकुचितानि येन कारणेन षष्ठादितपसा अन्त्राणि प्रतीतानि । ततः षष्ठादिभक्तिकानां द्विकादिको गोचरद्वयादिकः कालोऽनुज्ञातः। अपि च-प्रथममेकवारं भुक्तस्ततो द्वितीयादिकं वारमनुभुक्तस्तस्य भुक्तानुभुक्तस्य, द्व्यादीन् वारान् भुक्तवत इत्यर्थः । बलं भूयोऽपि षष्ठादिकरणे सामर्थ्यमुपजायते,न चेदं तद्भक्तं शीतलं भवति, सद्यो गृहीतत्वात्। यदि ह्येकमेकवारं पर्यटता यद् गृहीतं तन्मध्यात् किञ्चित् समुद्दिश्य द्वितीयादिवारं समुद्देशनार्थं शेषं स्थापयेत्, तदा तद् भवत्येव शीतलं,तच्च तस्य तपःक्षामदेहस्य कारकमिति कृत्वा द्व्यादयो गोचरकाला अनुज्ञाता इति ।

अत्र परः प्राह-यद्यसौ षष्ठादिभक्तिको यावन्ति भक्तानि छिनत्ति तावन्त्येकेनैव दिवसेन पूरयति, ततः को नाम गुणस्तस्य भक्तच्छेदनेन ?, उच्यते-

बहुदेवसिया भत्ता, एकदिणेणं तु जइ वि भुंजेज्जा ।

तह वि य चागतितिक्खा-एगग्गपभावणाईया ॥

बहुदैवसिकानि भक्तानि यद्यप्यसावेकदिनेनैव षष्ठादिभक्तिको भुञ्जीत, तथापि भक्तच्छेदने त्यागतितिक्षैकाग्र्यप्रभावनादयो गुणा भवन्ति। त्यागो नाम-द्व्यादीन् दिवसान् सर्वथैव भक्तार्थपरिहारः,तितिक्षा क्षुधापरीषहस्याधिसहनम, ऐकाग्र्यं तु सूत्रार्थपरावर्त्तनादौ चित्तस्यानन्योपयुक्तता, प्रभावना नाम-अहो! अमीषां शासनं विजयते यत्रेदृशास्तपस्विन इति । आदिशब्दादन्येषामपि तपःकर्मणि श्रद्धाजननं, गृहिणां वा तद्दर्शनात्प्रव्रज्याप्रतिपत्तिरित्यतः षष्ठादिभक्तिकस्य द्व्यादिगोचरकालानुज्ञानम्. नित्यभक्तिकस्तु यदि द्वितीयं वारं भिक्षार्थमवतरति मासलघु, तृतीयवारं मासगुरु, चतुर्थं वारं चतुर्लघु, पञ्चमं चतुर्गुरु, षष्ठं षड्लघु, सप्तमं षड्गुरु, अष्टमं छेदः, नवमं मूलं, दशममनवस्थाप्यम, एकादशं वारं पाराञ्चिकम् ।

चतुर्थभक्तिकादीनामतिदेशमाह-

जइ एस एत्थ वुड्ढी, ओअरमाणस्स दसहि सपदं च ।

सेसेसु वि जं जुज्जइ, तत्थ विवुड्ढी उ सोहीए ॥

यथा द्वितीयादिवारं भिक्षामवतरत एषा लघुमासादारभ्य प्रायश्चित्तस्य वृद्धिर्भणिता, दशभिश्च दशसंख्याकैः स्थानैः स्वपदं पाराञ्चिकं नित्यभक्तिकस्योक्तम् । तथा शेषेष्वपि चतुर्थभक्तिकादिषु यत् तृतीयवारादिकं प्रायश्चित्तस्थानं युज्यते, तत्र तदारभ्य शोधेः प्रायश्चित्तस्य विवृद्धिः कर्तव्या । तद्यथा-चतुर्थभक्तिकस्तृतीयं वारं भिक्षामवतरति मासलघु, चतुर्थं मासगुरु, पञ्चमं चतुर्लघु, षष्ठं चतुर्गुरु,सप्तमं षड्लघु, अष्टमं षड्गुरु, नवमं छेदः, दशमं मूलम , एकादशमनवस्थाप्यम, द्वादशं वारं पर्यटतः पाराञ्चिकम् । एवं षष्ठभक्तिकस्यापि द्वादशं वारमवतरतः पाराञ्चिकम् । यदाह चूर्णिकृत्-" छट्ठभत्तियस्स वि बारसहिं पावइ पारंचियं ति" । अष्टमभक्तिकस्य तु चतुर्थवारादारभ्य त्रयोदशं वारं यावत्पर्यटतो लघुमासादिकं पाराञ्चिकान्तमिति । गतं प्रमाणद्वारम् । बृ० १ उ० ।

द्वितीयवारं प्रविशति-

जे भिक्खू गाहावतिकुलं पिंमवायपमियाए पविट्ठे पडियाइक्खित्ते समाणे दोच्चं पि तमेव कुलं अणुप्पविसइ, अणुप्पविसंतं वा साइज्जइ ॥ १२ ॥

"जे भिक्खू गाहावतिकुलं पिंमवातपडियाए" इत्यादि । (पमियाइक्खिए ति) प्रत्याख्यातः, प्रतिस्थापिते त्ति भणियं भवति, दोच्चं पुनरपि तमेव प्रविशति, तस्स मासलहुं, आणाइणा य दोसा ।

णिज्जुत्तिगाहा—

जे भिक्खू गाहावति-कुलमतिगते पिंमवातपमियाए ।

पच्चक्खिते समाणे, तं चेव कुलं पुणो पविसे ॥ २७ ॥

जे त्ति णिद्देसे, भिक्खू पूर्ववत्, गिहस्स पती गिहपती, तस्स कुलं, गृहमित्यर्थः । अतिगतः प्रविष्टः, पिंमपातपमियाए पच्चक्खातो प्रतिषिद्धः प्रत्याख्यानेन, (समाणे त्ति) समः प्रत्याख्यानेत्यर्थः। अहवा-' समाणे त्ति ' पच्चक्खाउ त्ति होउं तमेव पुनः प्रविशेत् ।

गाहा—

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तथा दुविधं ।

पावति जम्हा तेणं, पच्चक्खाते तु ण प्पविसे ॥ २८ ॥

दुविहा विराहणा-आयाए, संजमे य । जम्हा एते दोसा पावति, तम्हा ण तं पुणो कुलं पविसे ।

अथ पविसति तो इमे दोसा-

दुपदचतुप्पयणासे, हरणोहविणे य मइए खणणे य ।

वारियकामी दोसा-दिएसु संका भवे तत्थ ॥ २९ ॥

तम्मि कुले दुपदं दुअक्खरियादि, चउप्पदं अस्सादि, णट्ठे, हरिते वा सो संकिज्जति, एवं उड्डविते, घरादिदाहे, क्खत्ते य क्खातिते भंडिउकामी अब्भामगो एह सादिभाए ताए वा दूइत्तणं करेइ, एवं संकिते णिस्संकिते वा जं तमावज्जे, साहूहिं घरं भरियं ति, रायकुले कहेज्ज, एवं गेण्हणादयो दोसा ।

कारणे तु पुण दोच्चं पि पविसति-

वितियपदमणाभोगे, अचियत्ते गेलण्ण पगत पाहुणए ।

रायदुट्ठे रोधगे, अद्धाणे वा वितितिविकप्पं ॥ ३० ॥

अणाभोगेण दोच्चं पि पविसे, तमणीओ खवियाओ जत्थ तं अवियं दाउं संचियादी, दुर्भिक्खं वा,गिलाणकारणेण वा भुज्जो पविसति, एवं पाहुणगातिएसु वि, अद्धाणे वा वितितिविकप्पेति आदी मज्झे अवसाणे य, अहवा गेलण्णादिएसु कज्जेसु एसणिज्जे अलब्भमाणे ति परियल्लविकप्पे पुणो तेसु चेव गहेसु दोच्चं वारं पविसति ।

गाहा-

एतं तं चेव घरं, अपुव्वघरसंकमेण वा मूढो ।

पुच्छा पुण सेसेसुं, कहेति कज्जं अपुच्छो वा ॥ ३१ ॥

अणाभोगपविट्ठो गिहीण सुणेताणं भणति-एयं तं चेव घरं ति। अहवा-अपुव्वघरसंकमेण वा पविट्ठो भणति-एयं तं चेव घरं ति। (सेसेसु त्ति) गिलाणादिसु कारणेसु गिहीसु पुच्छितो अपुच्छितो वा 'गिलाणट्ठा दोखं पि आगत' त्ति कज्जं कहेति।

गाहा-

भावितकुलाणि पविसति, अदेसकाले वि जेसु ते आसि।

सुण्णे पुणरागतेसुं, भद्दमसुण्णं च जं आसि ॥ ३२ ॥

अहवा-जे साहुसाहुणीहिं पविसंतेहिं भाविता कुला, तेसिं ण संकातिदोसा भवंति, तेसु दोखं पि कारणे पविसति। अदेसकाले वि जेसु कुलेसु आसी,तेसु पुणो देसकालेसु पविसति,जं भिक्खाकाले सुण्णं असिवेसु पुणो पविसति, भद्दकुलं वा असुण्णं जं आसि, तत्थ केणइ कारणेण भिक्खा ण दत्ता, तं पुणो पविसति। नि० चू० ३ उ०।

(१४) मात्रकं गृहीत्वा गन्तव्यम्। मात्रकद्वारम्-

अथ मात्रकद्वारं व्याख्यायते-मात्रकमगृहीत्वा निर्गच्छति मासलघु,आचार्यादीनां प्रायोग्यं मात्रकं विना कुत्र गृह्णातु?, यदि न गृह्णाति तदा, यदा ते अनागाढमागाढं वा परिताप्यन्ते, तन्निष्पन्नम्। अथ ते प्रान्तप्रान्तं समुद्दिशेयुः,ततो ग्लान्यादयो दोषाः। दुर्लभद्रव्यस्य वा घृतादेस्तद्दिवसं लाभो जातः, यदि मात्रकं नास्तीतिकृत्वा तत्तु न गृह्णाति तदा मासलघु,संसक्तभक्तपानं वा मात्रकं विना क शोधयतु?, यदि मात्रकमभविष्यत् ततस्तत्र शोधयित्वा परिष्ठापयेत्, प्रतिग्रहे परिक्षिपेद्वा, यत एवमतः कर्त्तव्यं मात्रकग्रहणम्। गतं मात्रकद्वारम्। बृ० १ उ०। द्वितीयपदे मात्रकमप्यनाभोगादिना न गृह्णीयात्। बृ० १ उ०। ध०। ओ०।

(१५) यस्य च योगद्वारम्—

यस्य वस्त्रपात्रशैक्षादेर्योगः संबन्धो भविष्यति तदपि गृहीष्यामीति यदि न भणति,तदाऽपि मासलघु, वस्त्रपात्रादिकं च ग्रहीतुं न कल्पते। बृ० १ उ०।

(१६) संघाटकं कृत्वा गन्तव्यम्। अथ संघाटकद्वारं भाष्यकृदेव व्याख्यानयति--

एगागियस्स दोसा, साणे इत्थी तहेव पडिणीए।

भिक्खऽविसोहि महव्वय, तम्हा सबिइज्जए गमणं ॥

यद्येकाकी पर्यटति तदा मासलघु,एते च दोषाः-स एकाकी यदि भिक्षां शोधयति,तदा पृष्ठतः श्वानः समागत्य तं दशेत्। अथ श्वानमवलोकते,तत एषणां न रक्षति, तमेकाकिनं दृष्ट्वा काचित्प्रोषितभर्तृका, विधवा वा स्त्री,बहिः प्रचारमलभमाना द्वारं पिधाय तं गृह्णीयात्, प्रत्यनीको वा तमेकाकिनं दृष्ट्वा प्रतापनादि कुर्यात्, भिक्षाविशोधिरिति एकाकी यदि त्रिषु गृहेषु भिक्षां दीयमानां गृह्णाति,तत एषणाया अशुद्धिर्भवति। अथैकस्मिन्नेव गृहे गृह्णाति, तत इतरयोर्दायकयोः प्रद्वेषो भवेत्। द्वयोस्तु निर्गतयोरेक एकत्र भिक्षामाददान एवोपयोगं ददाति। द्वितीयस्तु शेषगृहद्वयादानीयमानं भिक्षाद्वयमपि सम्यगुपयुङ्क्ते, महाव्रतानि वा एकाकी विराधयेत्। तथाहि-एकाकी निःशङ्कत्वादप्कायमप्यापिबेत् १, कुण्टलवेण्टलादि वा प्रयुञ्जीत २, हिरण्यादिकं वा विविक्तं गुरुकर्मतया स्तेनयेत् ३, अविरतिकां वा रूपवतीं दृष्ट्वा समुदीर्णमोहतया प्रतिसेवेत् ४, भैक्ष्येण वा समं पतितं सुवर्णादि गृह्णीयादिति। यत एते दोषास्तस्मात् सद्वितीयेन गमनं कर्त्तव्यम, संघाटकेनेत्यर्थः।

स पुनरेकाकी कैः कारणैः संघाटिकं न गृह्णाती-त्युच्यते-

गारविए काहीए, माइल्ले अलस लुद्ध निद्धम्मे।

दुल्लह अत्ताहिट्ठिय, अमणुन्ने वा असंघाडो ॥

गौरविको नाम लब्धिसंपन्नोऽहमित्येवंविधगर्वोपेतः। अत्र चेयं भावना-संघाटके यो रत्नाधिकः सोऽलब्धिमान्, अवमरत्नाधिकस्तु लब्धिसंपन्नः, ततोऽसावप्रणीकृत्य भिक्षामुत्पादयति, प्रतिश्रयमागतयोश्च तयोः रत्नाधिको भणकलीस्थविरेण भण्यते ज्येष्ठार्य-मुख्य प्रतिगृहं; ततोऽवमरत्नाधिकः स्वलब्धिगर्वितश्चिन्तयेत्-मया स्वलब्धिसामर्थ्येनेदं भक्तपानमुत्पादितम्, इदानीमस्य रत्नाधिकः प्रभुरभूत, येनास्य पार्श्वे प्रतिग्रहो याच्यते, इति कषायितः सन्नेकाकित्वं प्रतिपद्येत। (काहीए त्ति) कथाभिश्चरतीति काथिकः कथाकथनैकनिष्ठः, स गोचरं प्रविष्टः कथाः कथयन् द्वितीयेन साधुना गुर्वादिभिर्वा वार्यमाणोऽपि नोपरमते, तत एकाकी भवति। मायावान् भद्रकं २ भुक्त्वा शेषमानयन्नेकाकी जायते। अलसश्चिरगोचरचर्याभ्रमणभग्नः सन्नेकाकी पर्यटति। लुब्धस्तु दधिदुग्धादिका विकृतीः खलु याच्यमानः पृथगेव पर्यटति। निर्द्धर्मा पुनरनेषणीयं जिघृक्षुरेकत्वं प्रतिपद्यते। (दुल्लहं ति) दुर्लभभैक्षकाले एकत्वमुपसंपद्यते (अत्ताहिट्ठिय त्ति) आत्मार्थिक आत्मलब्धिकः, स स्वलब्धिसामर्थ्येनैवोत्पादितमहं गृह्णामीत्येकाकी भवति। अमनोज्ञो नाम-सर्वेषामप्यनिष्टः,कलहकारकत्वात्, असावप्येकाकी पर्यटतीत्येतैः कारणैरसंघाटः, संघाटको न भवति।

अथैतेषामेकाकित्वप्रत्ययं प्रायश्चित्तमाह-

लहुया य दोसु गुरुओ, अह तइए चउ गुरू य पंचमए।

सेसाण मासलहुओ, जं वा आवज्जई जत्थ ॥

द्वयोर्गौरविककाथिकयोश्चत्वारो लघवः, तृतीयकस्य मायावतो गुरुको मासः,पञ्चमस्य लुब्धस्य चत्वारो गुरवः, शेषाणामलसनिर्द्धर्मादीनां मासलघु। यद्वा-संयमविराधनादि यत्राऽऽपद्यते तन्निष्पन्नं तत्र प्रायश्चित्तम्। गतं संघाटकद्वारम्। बृ० १ उ०। तथा संघाटकं विनाऽपि निर्गच्छेत्। कथमिति चेत्?,उच्यते-यदि दुर्भिक्षे चिरमप्यटित्वा पर्याप्तं लभ्यते ततो द्वावेव पर्यटतो, न पुनरेकाकी। अथ द्वयोरप्येकैव भिक्षा लभ्यते, न च कालः पूर्यते, तत एकोऽपि पर्यटेत्। यदि सर्वेऽपि स्वगृहत्वादात्मलब्धिका भवन्ति, तदा प्रतिषेधितव्यः, अथ कोऽपि प्रियधर्मा मातृस्थानविरहित आत्मलब्धिकत्वं प्रतिपद्यते, ततः सोऽनुज्ञातव्यः। यः पुनरमनोज्ञः स अन्यान्यैः साधुभिः समं संयोज्य प्रेष्यते। यदि सर्वेऽपि नेच्छन्ति, ततः परित्यज्यनीयोऽसौ, अथ स एवैकः कलहकरणस्तस्य दोषः, अपरे निर्लोभत्वादयो बहवो गुणाः, एषणाद्धक्षो वाऽतीव दक्षः,ततो न परित्यक्तव्य इति। बृ० १ उ०।

(१७) उच्चावचकुलेषु चरेत् सामुदानिकः-

समुआणं चरे भिक्खू, कुलं उच्चावयं सया।

नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥ २५ ॥

समुदानं भावनैक्ष्यमाश्रित्य चरेद्भिक्षुः । केत्याह-कुलमुच्चावचं सदा, अगर्हितत्वे सति विभवापेक्षया प्रधानमप्रधानं च । यथा-परिपाट्येव चरेत्सदा सर्वकालम, नीचं कुलमतिक्रम्य निम्नधापेक्षया प्रभूततरलाभार्थमुच्छ्रितम् ऋद्धिमत्कुलं, नाभिधारयेत्र यायात्; अभिष्वङ्गलोकलाघवादिप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः ॥२५॥

किं च-

अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीएज्ज पंमिए ।

अमुच्छिओ नोयणम्मि, माइन्ने एसणारए ॥ २६ ॥

अदीनो द्रव्यदैन्यमङ्गीकृत्य न म्लानवदनः, वृत्तिर्वर्तनम, एषयेत् गवेषयेत्, न विषीदेत् अलाभे सति विषादं न कुर्यात्, पण्डितः साधुः, अमूर्च्छितः-अगृद्धो भोजने, लाभे सति मात्राज्ञः आहारमात्रं प्रति, एषणारतः उद्गमोत्पादनैषणापक्षपातीति सूत्रार्थः ॥ २६ ॥

एवं च भावयेत्-

बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं ।

न तत्थ पंमिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा ॥ २७ ॥

बहु प्रमाणतः प्रभूतं, परगृहे असंयतादिगृहे अस्ति, विविधमनेकप्रकारं, खाद्यं स्वाद्यम, एतच्चाशनाद्युपलक्षणम् । न तत्र पण्डितः कुप्येत् सदपि न ददातीति न रोषं कुर्यात्, किं तु इच्छा चेद्दद्यात् परो न वेति, इच्छा परस्य, न तत्रान्यत्किञ्चिदपि चिन्तयेदिति, सामायिकबाधनादिति सूत्रार्थः ॥ २७ ॥

एतदेव विशेषेणाह-

सयणासणवत्थं वा, भत्तं पाणं व संजए ।

अदिंतस्स न कुप्पेज्जा, पच्चक्खे वि य दिस्सओ ॥ २८ ॥

शयनाशनवस्त्रं चेत्येकवद्भावः, भक्तं पानं वा संयतः. अददतो न कुप्येत् तत्स्वामिनः, प्रत्यक्षेऽपि च दृश्यमाने, शयनासनादाविति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥ दश० ५ अ० २ उ० ।

(१८) मार्गे यथा गच्छति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि वा अग्गलपासगाणि वा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा, केवली बूया-आयाणमेयं से तत्थ परक्कममाणे पयलेज्ज वा, पवडेज्ज वा, से तत्थ पयलमाणे वा पवडमाणे वा तत्थ से काए उच्चारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणेण वा वंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएण वा उवलित्ते सिया तहप्पगारं कायं णो अणंतरहियाए पुढवीए णो ससणिद्धाए पुढवीए णो ससरक्खाए पुढवीए णो चित्तमंताए सिलाए णो चित्तमंताए लेलूए कोलावासंसि वा दारुए जीवपतिट्ठिए जंमे सपाणे० जाव ससंताणए णो आमज्जेज्ज वा, णो पमज्जेज्ज वा, संलिहेज्ज वा, णिल्लिहेज्ज वा, उव्वलेज्ज वा, आउट्टेज्ज वा, आयावेज्ज वा, पयावेज्ज वा । से पुव्वामेव अप्पं ससरक्खं तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा जाएज्जा, जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा २ अहे झामथंडिलंसि वा० जाव अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि वा पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव आमज्जेज्ज वा० जाव पयावेज्ज वा । से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, गोणं वियालं पडिपहे पेहाए, महिसं वियालं पडिपहे पेहाए, एवं मणुस्सं आसं हत्थिं सीहं वग्घं वगं दीवियं अच्छं तरच्छं परासरं सीयालं विरालं सुणयं कोलसुणयं कोकंतियं चेत्ताचिल्लडयं वियालं पडिपहे पेहाए, सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ॥

(से भिक्खू वेत्यादि) स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुलं पाटकं रथ्यां ग्रामादिकं वा प्रविष्टः सन्मार्गं प्रत्युपेक्षेत । तत्र यद्यन्तराऽन्तराले 'से' तस्य भिक्षोर्गच्छत एतानि स्युः । तद्यथा-वप्राः समुन्नता भूभागाः, ग्रामान्तरे वा केदाराः, तथा परिखा वा, प्राकारा वा गृहस्य पत्तनस्य वा, तथा तोरणानि वा, तथाऽर्गला वा, पाशका यत्रार्गलाग्राणि निक्षिपन्ते, एतानि चान्तराले ज्ञात्वा, प्रक्रम्यते अनेनेति प्रक्रमो मार्गस्तस्मिन्नन्यस्मिन् सति संयत एव तेन प्रक्रमेण गच्छेन् नैवर्जुना गच्छेत् । किमिति ?। यतः-केवली सर्वज्ञो ब्रूयात्-आदानं कर्मादानम्, एतत् संयमात्मविराधना, अतस्तामेव दर्शयति-स भिक्षुस्तत्र तस्मिन् वप्रादियुक्ते मार्गे पराक्रममाणो गच्छन् विषमत्वान्मार्गस्य कदाचित्प्रचलेत्कम्पेत, प्रस्खलेद्वा, तथा प्रपतेद्वा, स तत्र प्रस्खलन् प्रपतन् वा षण्णां कायानामन्यतमं विराधयेत् । तथा तत्र 'से' तस्य काय उच्चारेण वा प्रश्रवणेन वा श्लेष्मणा वा सिङ्घाणकेन वा वान्तेन वा पित्तेन वा पूयेन वा शुक्रेण वा शोणितेन वा उपलिप्तः स्यादित्यत एवंभूतेन पथा न गन्तव्यम । अथ मार्गान्तराभावात् तेनैव गतः प्रस्खलितः सन् कर्दमाद्युपलिप्तकायो नैवं कुर्यादिति दर्शयति-स यदि तथाप्रकारमशुचिकर्दमाद्युपलिप्तकायमनन्तर्हितयाऽव्यवहितया पृथिव्या, तथा सस्निग्धयाऽऽर्द्रया, एवं सरजस्कया वा, तथा चित्तवता, ढेलुना पृथिवीशकलेन, एवं कोला घुणास्तदावासभूते दारुणि, जीवप्रतिष्ठिते साण्डे सप्राणिनि, यावत्ससन्तानके, नो नैव सकृदामृज्याद्, नाऽपि पुनः पुनः प्रमृज्यात्, कर्दमादि शोधयेदित्यर्थः । तथा तत्रस्थ एव 'न संलिहेज्जा' न संलिखेत्, नोद्वर्तनादिनोद्वलेत्, नापि तदेवैषच्छुष्कमुद्वर्तयेत्, नाऽपि तत्रस्थ एव सकृदातापयेत्, पुनः पुनर्वा प्रतापयेत् । यत् कुर्यात् तदाह-स भिक्षुः पूर्वमेव तदनन्तरमेव अल्पं सरजस्कं तृणादि याचेत, तेन चैकान्तस्थण्डिले स्थितः सन् गात्रं प्रमृज्याच्छोषयेत्, शेषं सुगममिति । किं च-" से भिक्खू " इत्यादि । स भिक्षुः भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् पथ्युपयोगं कुर्यात्, तत्र च यदि पुनरेवं जानीयात्, यथाऽत्र किञ्चिद्गवादिकमास्ते इति तन्मार्गं रुन्धानं गां बलीवर्दं व्यालं दृप्तं दुष्टमित्यर्थः, पन्थाः प्रतिपथः, तस्मिन् स्थितं प्रत्युपेक्ष्य, शेषं सुगमं, यावत् सति पराक्रमे मार्गान्तरे ऋजुना पथा आत्मविराधनासंभवात् न गच्छेत्, नवरं (वग त्ति) वृकं, द्वीपिनं चित्रकम (अच्छं ति) ऋक्षं (परासरं त्ति) सरभं (कोलसुणयं) महाशूकरं (कोकंतिय त्ति) शृगालाकृतिः लोमटको रात्रौ कोको इत्येवं रारटीति, (चेत्ताचिल्लडयं ति) आरण्यो जीवविशेषः, तमिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

(१९) मार्गे स्थाणुकण्टकादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अंतरा से ओवाओ

वा खाणुं वा कंटए वा घसी वा भिलुगा वा विसमे वा विज्जले वा परियावज्जेज्जा सति परक्कमे संजयामेव परक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ॥

" से भिक्खू वेत्यादि " । स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन्मार्गोपयोगं दद्यात्तत्रान्तराले यद्येतत्पर्यापद्येत् स्यात् । तद्यथा-अवपातो गर्तः,स्थाणुर्वा,कण्टको वा,'घसी' नाम स्थलादधस्तादवतरणम्, (भिलुगं ति) स्फुटितकृष्णभूराजिः, विषम उन्नतं 'विज्जलं' कर्दमः, तत्राऽऽत्मसंयमविराधनासंभवात् । पराक्रमे मार्गान्तरे सति ऋजुना पथा न गच्छेदिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० । पं० भा० । पं० चू० ।

गृहपतिद्वारे कण्टकादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावतिकुलस्स दुवारबाहं कंटगबोंदियाए पडिपिहितं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुन्नवितं अपडिलेहियए अपमज्जिय णो अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा, तेसिं पुव्वमेव उग्गहं अणुन्नविय २ पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव अवगुणेज्ज वा, पविसेज्ज वा, णिक्खमेज्ज वा ॥

"से भिक्खू वेत्यादि"। स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् गृहपतिकुलस्य (दुवारबाहं ति) द्वारभागः, तं कण्टकशाखया पिहितं प्रेक्ष्य येषां तद् गृहं तेषामवग्रहं पूर्वमेवाननुज्ञाप्यायाचित्वा, तथा प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा अप्रमृज्य च रजोहरणादिना (णो अवगुणेज्ज त्ति) नैवोद्घाटयेद्, उद्घाट्य च न प्रविशेत्, नापि निष्क्रामेत्,दोषदर्शनात् । तथाहि-गृहपतिः प्रद्वेषं गच्छेत्, नष्टे च वस्तुनि साधुविषयाशङ्कोत्पद्येत, उद्घाटद्वारे चान्यत श्वादि प्रविशेदित्येवं च संयमात्मविराधने । सति कारणे अपवादमाह-स भिक्षुर्येषां तद् गृहं तेषां संबन्धिनमवग्रहमनुज्ञाप्य याचित्वा प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च गृहोद्घाटनादि कुर्यादिति । एतदुक्तं भवति-स्वतो द्वारमुद्घाट्य न प्रवेष्टव्यमेव, यदि पुनर्ग्लानाचार्यादिप्रायोग्यं तत्र लभ्यते,वैद्यो वा तत्रास्ते,दुर्लभं वा द्रव्यं तत्र भविष्यति, अवमौदर्ये सति एभिः कारणैरुपस्थितैः स्थगितद्वारि व्यवस्थितः सन् शब्दं कुर्यात्, स्वयं वा यथाविध्युद्घाट्य प्रवेष्टव्यमिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

तत्र प्रविष्टस्य विधिं दर्शयितुमाह-

(२०)षट्काययतना । अत्रैव विशेषतः पृथिवीकाययतनामाह--

इंगालछारिए रासिं, तुसरासिं च गोमयं ।
ससरक्खेहिँ पाएहिं, संजओ तं नऽइक्कमे ॥ ७ ॥

अङ्गाराणामयमाङ्गारः, तमाङ्गारं राशिम् । एवं क्षारराशिं, तुषराशिं, गोमयराशिं च । राशिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । सरजस्काभ्यां पद्भ्यां सचित्तपृथिवीरजोगुण्ठिताभ्यां पादाभ्यां, संयतः साधुः, तमनन्तरोदितं राशिं, नातिक्रमेत् मा भूत्पृथिवीरजोविराधनेति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

अत्रैवाप्कायादियतनामाह---

न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए पडंतिए ।
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाऽमेसु वा ॥ ८ ॥

न चरेद्वर्षे वर्षति भिक्षार्थं प्रविष्टो, वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत् । तथा मिहिकायां वा पतन्त्यां,सा च प्रायो गर्भमासेषु पतति । महावाते वा वाति सति, तदुत्खातरजोविराधनादोषात् । तिर्यक् संपतन्तीति तिर्यक्संपाताः पतङ्गादयः, तेषु वा सत्सु क्वचिद् ज्ञानिरूपेण न चरेदितिसूत्रार्थः ॥८॥ उक्ता प्रथमव्रतयतना ।

साम्प्रतं चतुर्थव्रतयतनोच्यते-

न चरेज्ज वेससामंते, बंभचेरवसाणुए ।
बंभयारिस्स दंतस्स, हुज्जा तत्थ विसुत्तिया ॥ ९ ॥

न चरेद्वेश्यासामन्ते न गच्छेद्गणिकागृहसमीपे, किंविशिष्टे इति?, आह-ब्रह्मचर्यवशानयने । ब्रह्मचर्यं मैथुनविरतिरूपं, वशमानयत्याऽऽत्मायत्तं करोति दर्शनाक्षेपादिनेति ब्रह्मचर्यवशानयनं तस्मिन् । दोषमाह-ब्रह्मचारिणः साधोर्दान्तस्य इन्द्रियनोइन्द्रियदमाभ्यां भवेत्तत्र वेश्यासामन्ते विस्रोतसिका-तद्रूपसंदर्शनस्मरणापध्यानकचवरनिरोधतः ज्ञानश्रद्धाजलोज्झनेन संयमस्य शोषफला चित्तविक्रियेति सूत्रार्थः । एष संक्रमणदोषो वेश्यासामन्तसङ्गत उक्तः ॥ ९ ॥

सांप्रतमिहान्यत्र वाऽसकृत्करणदोषमाह-

अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं ।
हुज्जा वयाणं पीडा उ, सामन्नम्मि य संसओ ॥१०॥

अनायतने अस्थाने वेश्यासामन्तादौ चरतो गच्छतः संसर्गेण संबन्धेन अभीक्ष्णं पुनः २, किमिति ? आह-भवेद्व्रतानां प्राणातिपातविरत्यादीनां पीडा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना, श्रामण्ये श्रमणभावे च द्रव्यतो रजोहरणादिसंधारणरूपे भूयो भावव्रतप्रधानहेतौ संशयः, कदाचिदभिनिष्क्रामत्येवेत्यर्थः । तथा च वृद्धव्याख्या-"वेसादिगयभावस्स मेहुणं पीडिज्जइ,अणुवओगेणं एसणाकरणे हिंसा,पडुप्पायणे अन्नपुच्छणअवलंवणाऽसच्चवयणं, अणणुन्ना य वेसाइदंसणे अदत्तादाणं, ममत्तकरणे परिग्गहो, एवं सव्ववयपीडा, दव्वसामण्णे पुण संसयो उप्पिक्खमणेण त्ति " सूत्रार्थः ॥ १० ॥

निगमयन्नाह-

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं ।
वज्जए वेससामंतं, मुणी एगंतमस्सिए ॥ ११ ॥

यस्मादेवं तस्मादेतत् विज्ञाय दोषमनन्तरोदितं दुर्गतिवर्द्धनं वर्जयेद्वेश्यासामन्तं मुनिरेकान्तं मोक्षमार्गमाश्रित इति सूत्रार्थः॥११॥

आह-प्रथमव्रतविराधनाऽनन्तरं चतुर्थव्रतविराधनोपन्यासः किमर्थम्?, उच्यते-प्राधान्यख्यापनार्थम्, अन्यव्रतविराधनाहेतुत्वेन प्राधान्यं, तच्च लेशतो दर्शितमेवेति । अत्रैव विशेषमाह-

साणं च सूइयं गाविं, दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं, दूरओ परिवज्जए ॥ १२ ॥

श्वानं लोकप्रतीतं, सूतां गाम्, अभिनवप्रसूतामित्यर्थः । दृप्तं च दर्पितम्, किमिति ?, आह-" गोणं हयं गजं " गोणो बलीवर्दः, हयोऽश्वो, गजो हस्ती । तथा किमिति ?, आह-(संडिब्भं) बालक्रीडास्थानं, कलहं वाक्प्रतिबद्धं,युद्धं खड्गादिभिः,एतद्दूरतो दूरेण परिवर्जयेत् , आत्मसंयमविराधनासंभवात् । श्वसूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना, डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमनपतन-

भऽमनप्रलुठनादिना संयमविराधना, सर्वत्र चाऽऽत्मपात्रभेदादिनोभयविराधनेति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

अत्रैव विधिमाह-

अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदियाइं जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ॥ १३ ॥

अनुन्नतो-द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्यतो-नाकाशदर्शी, भावतो-न जात्याद्यभिमानवान् । नावनतो द्रव्यभावाभ्यामेव, द्रव्यानवनतोऽनीचकायः, भावानवनतः-अलब्ध्यादिना अदीनः । अप्रहृष्टः अहसन्, अनाकुलः क्रोधादिरहितः, इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, यथाभागं यथाविषयं, दमयित्वा इष्टानिष्टेषु स्पर्शादिषु रागद्वेषरहितो मुनिः साधुश्चरेद्गच्छेत, विपर्यये प्रभूतदोषप्रसङ्गात् । तथाहि-द्रव्योन्नतो लोकहास्यः, भावोन्नत ईर्यां न रक्षति । द्रव्यावनतः वक इति संभाव्यते, भावावनतः क्षुद्रसत्त्व इति, प्रहृष्टो योषिद्दर्शनाद्युक्त इति लक्ष्यते, अदान्तः प्रव्रज्याऽनर्ह इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥

किं च-

दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे ।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ॥१४॥

द्रुतं द्रुतं, त्वरितमित्यर्थः । भाषमाणो वा गोचरे न गच्छेत् । तथा हसन्नाभिगच्छेत्, कुलमुच्चावचं सदा । उच्चं द्रव्यभावभेदाद् द्विधा-द्रव्योच्चं धवलगृहवासि, भावोच्चं जात्यादियुक्तम् । एवमवचमपि द्रव्यतः कुटीरकवासि, भावतो जात्यादिहीनमिति । दोषा उभयविराधनालोकोपघातादय इति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

अत्रैव विधिमाह-

आलोअं थिग्गलं दारं, संधिं दगभवणाणि य ।
चरंतो न विनिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ॥ १५ ॥

अवलोकं निर्यूहकादिरूपं, 'थिग्गलं' चितं द्वारादि, सन्धिश्चितं क्षेत्रम, दकभवनानि पानीयगृहाणि, चरन् भिक्षार्थम्, न विनिध्यायेत् न विशेषेण पश्येत्, शङ्कास्थानमेतदवलोकादि, अतो विवर्जयेत्, तथा च नष्टादौ तत्राशङ्कोपजायत इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

रन्नो गिहवईणं च, रहस्साऽऽरक्खियाण य ।
संकिलेसकरं ठाणं, दूरओ परिवज्जए ॥ १६ ॥

राज्ञश्चक्रवर्त्यादेः, गृहपतीनां श्रेष्ठिप्रभृतीनां, "रहस्स ठाणं" इति योगः । आरक्षकाणां च दण्डनायकादीनां, रहःस्थानं गुह्यापवरकमन्त्रगृहादि संक्लेशकरमसदभिप्रायवृत्त्या मन्त्रभेदे वाऽऽकर्षणादिनेति दूरतः परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

(२१) वृष्टिकाये निपतति-

वासावासं पज्जोसविसयस्स नो कप्पइ पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स कणगफुसियमित्तमवि वुट्ठिकायंसि निवयमाणंसि० जाव गाहावइकुलं पविसित्तए वा, निक्खमित्तए वा ॥ २८ ॥

"वासावासं" इत्यादितः "पविसित्तए त्ति" पर्यन्तम । तत्र (पाणिपडिग्गहिअस्स त्ति) पाणिपात्रस्य जिनकल्पिकादेः भिक्षोः, (कणगफुसिअमित्तमवि) फुसारमात्रम्, एतावत्यपि वृष्टिकाये निपतति सति गोचरचर्यायां गन्तुं न कल्पते ॥ २८ ॥

वासावासं पज्जोसवियस्स पाणिपडिग्गहियस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ अगिहंसि पिंडवायं पडिगाहित्ता पज्जोसवित्तए, पज्जोसवेमाणस्स सहसा वुट्ठिकाए निवइज्जा देसं भुच्चा देसमादाय से पाणिणा पाणिं परिपिहित्ता उरंसि वा णं निलिज्जिज्जा, कक्खंसि वा णं समाहडिज्जा, अहाछन्नाणि लेणाणि वा उवागच्छिज्जा, रुक्खमूलाणि वा उवागच्छिज्जा जहा से तत्थ पाणिंसि दए वा दगरए वा दगफुसिया वा णो परियावज्जइ ॥ २९ ॥

"वासावासं" इत्यादितः "परियावज्जइ त्ति" यावत् । तत्र जिनकल्पिकादेः पाणिपात्रस्य साधोः, (पिंडवायं ति) पिण्डपातं भिक्षां प्रतिगृह्य (अगिहंसि त्ति) अनाच्छादिते आकाशे (पज्जोसवित्तए त्ति) पर्युषितुं आहारयितुं न कल्पते (पज्जोसवेमाणस्स त्ति) कदाचित् आकाशे भुञ्जानस्य देशं यदि सहसा अर्द्धभुक्तेऽपि वृष्टिपातः स्यात्तदा पिण्डपातस्य भुक्त्वा देशं चादाय पाणिमाहारैकदेशसहितं हस्तं पाणिना द्वितीयहस्तेन परिपिधाय आच्छाद्य उरसि निलीयेत निक्षिपेद् वा । तं साहारं पाणिं कक्षायां वा समाहरेत अन्तर्हितं कुर्यात्, एवं च कृत्वा यथाछन्नानि गृहिभिः स्वनिमित्तमाच्छादितानि लयनानि गृहाणि उपागच्छेत् । वृक्षमूलानि वा यथा (से) तस्य पाणौ दकादीनि न पर्यापद्यन्ते, न विराध्यन्ते, न पतन्ति वा । तत्र दकं बहवो बिन्दवो, दकरजो बिन्दुमात्रम् (दगफुसिआ) फुसारम्, अवश्याय इत्यर्थः। यद्यपि जिनकल्पिकादेर्देशोनदशपूर्वधरत्वेन प्रागेव वर्षोपयोगो भवति, तथा चार्द्धभुक्ते गमनं न संभवति, तथाऽपि छद्मस्थत्वात् कदाचिदनुपयोगोऽपि भवति ॥ २९ ॥

उक्तमेवार्थं निगमयन्नाह-

वासावासं पज्जोसवियस्स पाणिपडिग्गहस्स भिक्खुस्स जं किंचि कणगफुसियमित्तं पि निवडेति, नो से कप्पइ गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ॥ ३० ॥

"वासावासं पज्जोसवियाणं" इत्यादितः "पविसित्तए त्ति" यावत् । तत्र (कणगफुसियमित्तं पि त्ति) कणो लेशः, तन्मात्रकं पानीयं कणकं, तस्य "फुसिआ" फुसारमात्रम्, तस्मिन्नपि निपतति जिनकल्पिकादेर्भिक्षार्थं गन्तुं न कल्पते ॥ ३० ॥ उक्तः पाणिपात्रविधिः ।

अथ पात्रधारिणो विधिमाह-

वासावासं पज्जोसवियस्स पडिग्गहधारिस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ वग्घारियवुट्ठिकायंसि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा, कप्पइ से अप्पवुट्ठिकायंसि संतरुत्तरंसि गाहावइकुलं भत्ताए वा पाणाए वा निक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा ॥ ३१ ॥

"वासावासं" इत्यादितः "पविसित्तए त्ति" यावत् । तत्र

(पडिग्गहधारिस्स त्ति) पात्रधारिणः स्थविरकल्पिकादेः (वग्घारियवुट्ठिकायंसि त्ति) अविच्छिन्नधारा वृष्टिः, यस्यां वर्षाकल्पो तीव्रं वा श्रवति, कल्पं वा भित्त्वाऽन्तःकायं आर्द्रयति या वृष्टिस्तत्र विहर्तुं न कल्पते । अपवादे तु तत्रापि तपस्विनः क्षुदसहाश्च भिक्षार्थं पूर्वपूर्वाभावे और्णिकेन औष्ट्रिकेण तार्णेन सौत्रेण वा कल्पेन, तथा तालपत्रेण पलाशच्छत्रेण वा प्रावृता विहरन्त्यपि । (संतरुत्तरंसि त्ति) अन्तरः सौत्रकल्पः, उत्तर और्णिकः, ताभ्यां प्रावृतस्याल्पवृष्टौ गन्तुं कल्पते ॥ ३१ ॥

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स निग्गंथीए वा गाहावइकुलं पिंडवायपडिआए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय निगिज्झिय वुट्ठिकाए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अहे वियडगिहंसि वा अहे रुक्खमूलंसि वा उवागच्छित्तए ॥ ३२ ॥

"वासावासं" इत्यादितः "उवागच्छित्तए त्ति" यावत्। तत्र "पिंडवायपडिआए त्ति" यावत् । तत्र (पिंडवायपडिआए त्ति) पिण्डपातो भिक्षालाभः, तत्प्रतिज्ञया अत्राहं लप्स्ये इति धिया अनुप्रविष्टस्य गोचरचर्यायां गतस्य साधोः [निगिज्झिय २ त्ति] स्थित्वा २, वर्षति घनः तदा (अहे आरामंसि त्ति) आरामस्य अधः (अहे उवस्सयंसि व त्ति) साम्भोगिकानाम् इतरेषां वा उपाश्रयस्याधः, तदभावे [अहे वियडगिहंसि त्ति] विकटगृहं मण्डपिका, यत्र ग्राम्यपर्षदुपविशति, तस्याधः [अहे रुक्खमूलंसि व त्ति] वृक्षमूलं वा निर्गतकरीरादिमूलं तस्य वा अधः (उवागच्छित्तए त्ति) तत्रोपागन्तुं कल्पते ॥३२॥ कल्प० ६ क्षण ।

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स निग्गंथीए वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठस्स निगिज्झिय २ वुट्ठिकाए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा० जाव रुक्खमूलंसि वा उवागच्छित्तए, नो से कप्पइ पुव्वगहिएणं भत्तपाणेणं वेलं उवायणावित्तए, कप्पइ से पुव्वामेव वियडगं भुच्चा पडिग्गहगं संलिहिय २ संपमज्जिय २ एगओ भंडगं कट्टु सावसेसे सूरिए जेणेव उवस्सए तेणेव उवागच्छित्तए, नो से कप्पइ तं रयणिं उवायणावित्तए ॥ ३६ ॥

"वासावासं" इत्यादितः " उवायणावित्तए त्ति " पर्यन्तम् । तत्र (वेलं उवायणावित्तए त्ति) वेलामतिक्रमयितुं न कल्पते। तर्हि किं कुर्यादिति ?, आह-आरामादिस्थितस्य साधोः यदि वर्षं नोपरमति तदा विकटम् । उद्गमादिशुद्धमशनादि भुक्त्वा पीत्वा च (एगओ भंडगं कट्टु त्ति) एकत्रायतं सुबद्धं भाण्डकं पात्राद्युपकरणं कृत्वा वपुषा सह प्रावृत्य वर्षत्यपि मेघे (सावसेसे सूरिए त्ति) सावशेषे अनस्तमिते सूर्ये (जेणेव उवस्सए त्ति) यत्रोपाश्रयस्तत्रागन्तुं कल्पते, परं न कल्पते तां रात्रिं वसतेर्बहिः (उवायणावित्तए) एकाकिनो हि बहिर्वसतः साधोः स्वपरसमुत्था बहवो दोषाः संभवेयुः, साधवो वा वसतिस्था अधृतिं कुर्युरिति ॥ ३६ ॥

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स निग्गंथीए वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठस्स निगिज्झिय २ वुट्ठिकाए निवइज्जा, कप्पइ से अहे आरामंसि वा० जाव उवागच्छित्तए ॥ ३७ ॥

(वासावासं पज्जोसवियस्स) चतुर्मासिकं स्थितस्य (निग्गंथस्स) साधोः (निग्गंथीए) साध्याश्च (गाहावइकुलं) गृहस्थगृहे (पिंडवायपडियाए) भिक्षाग्रहणार्थम (अणुप्पविट्ठस्स) अनुप्रविष्टस्य (निगिज्झिय-निगिज्झिय) स्थित्वा स्थित्वा (वुट्ठिकाए) वृष्टिकायः (निवइज्जा) निपतेत, तदा (कप्पइ) कल्पते (से) तस्य (आरामंसि वा) आरामस्याधो वा (जाव उवागच्छित्तए) यावत् उपागन्तुम् ॥ ३७ ॥

तत्थ नो से कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स एगाए णिग्गंथीए एगओ चिट्ठित्तए १, तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स दुण्हं निग्गंथीणं एगओ चिट्ठित्तए २, तत्थ नो कप्पइ दुण्हं निग्गंथाणं एगाए निग्गंथीए एगओ चिट्ठित्तए ३, तत्थ नो कप्पइ दुण्हं णिग्गंथाणं दुण्हं निग्गंथीणं एगओ चिट्ठित्तए ४, अत्थि य इत्थ केई पंचमे खुड्डए वा खुड्डिआ वा अन्नेसिं वा संलोए सपडिदुवारे एवं ण्हं कप्पइ एगओ चिट्ठित्तए ॥ ३८ ॥

अथ स्थित्वा २ वर्षे पतति यदि आरामादौ साधुस्तिष्ठति तदा केन विधिनेति ?। आह--"तत्थ नो से कप्पइ" इत्यादितः "एगओ चिट्ठित्तए त्ति" यावत्। शब्दार्थः सुगमः।भावार्थस्तु-न कल्पते एवम् एकस्य साधोर्द्वाभ्यां साध्वीभ्यां सह, द्वयोः साध्वोरेकया साध्व्या सह, द्वयोः साध्वोर्द्वाभ्यां साध्वीभ्यां सह स्थातुं न कल्पते । यदि चात्र पञ्चमः कोऽपि क्षुल्लकः क्षुल्लिका वा साक्षी स्यात्तदा कल्पते । अथवा-अन्येषां ध्रुवकर्मिकलोहकारादीनां वर्षत्यप्यमुक्तस्वकर्मणां संलोके तत्रापि (सपडिदुवारे त्ति) सप्रतिद्वारे सर्वतो द्वारे सर्वगृहाणां वा द्वारे [एवं ण्हंति] अत्र 'ण्हमिति' वाक्यालंकारे, तत एवं पञ्चमं विनाऽपि स्थातुं कल्पते ॥ ३८ ॥

वासावासं पज्जोसवियस्स निग्गंथस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए० जाव उवागच्छित्तए, तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स एगाए अगारीए एगओ चिट्ठित्तए, एवं चउभंगी, अत्थि णं इत्थ केई पंचमे थेरे वा थेरिया वा अन्नेसिं वा संलोए सपडिदुवारे एवं कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए-एवं चेव निग्गंथीए अगारस्स य भाणियव्वं ॥ ३९ ॥

चतुर्मासकं स्थितस्य साधोः गृहस्थगृहे भिक्षाग्रहणार्थं यावत् उपागन्तुम्, तत्र नो कल्पते एकस्य साधोः एकस्याः श्राविकाया एकत्र स्थातुम्, एवं चत्वारो भङ्गाः । यदि स्यात् अत्र कोऽपि पञ्चमः स्थविरः स्थविरा वा साक्षी भवति, तदा स्थातुं कल्पते,अन्येषां वा दृष्टिविषयः बहुद्वारसंहितं वा स्थानम्, एवं कल्पते एकत्र स्थातुम्,एवमेव साध्व्याः गृहस्थस्य च चतुर्भङ्गी वाच्या । तथा एकाकित्वं च साधोः साङ्घाटिके उपोषितेऽसुखिते वा कारणाद्भवति, अन्यथा हि उत्सर्गतस्तु साधुरात्मना द्वितीयः, साध्व्यस्तु त्र्यादयो विहरन्ति ॥३९॥ कल्प० ६ क्षण ।

सुत्ते जहा निबंधो, वग्घारिए भत्तपाणमग्गहणं ।
णाणट्ठि तवस्सी अण-हियासि वग्घारिए गहणं ॥८८४॥

"णो कप्पति णिग्गंथाणं वा णिग्गंथीणं वा वग्घारियवुट्ठिकायंसि गाहावतिकुलं वा भत्ताए वा पाणाए वा णिक्खमित्तए वा, पविसित्तए वा॥" वग्घारियं णाम तिमि-वासं पडति, जत्थ वा णिव्वं वासकप्पो वा गलति, जत्थ वा वासकप्पं भेत्तूणं अंतो कायं अल्लेति,एयं वग्घारियवासं वरिसे ण कप्पति भत्तपाणं घेत्तुं,सुत्ते जहा णिबंधो, तहा न कल्पतीत्यर्थः । अवग्घारिए पुण कप्पति भत्तपाणग्गहणं काउं, "कप्पति से अप्पवुट्ठिकायंसि संतरुत्तरंसि" संतरमिति अंतरकप्पो,उत्तरमिति वासाकप्पकंबली, इमेहिं कारणेहिं वितियपदे वग्घारियवुट्ठिकाए वि भत्तपाणगहणं कज्जति-(णाणट्ठी पच्छद्धं) 'णाणिट्ठि त्ति,' जहा कोपि साहू अज्झयणं, सुत्तं,खंधं, अंगं वा अहिज्जति,वग्घारियवासं पडति, ताहे सो वग्घारिए वि हिंमति । अहवा-छुहालू अणहियासो वग्घारिं हिंडइ,एते तिण्णि वग्घारिते संतरुत्तरा हिंमंति, संतरुत्तरस्य व्याख्या पूर्ववत् । अहवा-इह संतरं जहासत्तीए चउत्थमाई करेति, उत्तरमिति बालसुत्तादिएण भमंति च ।

संजमखेत्तचुयाणं, णाणट्ठि तवस्सि अणहियासी य ।
आसज्ज भिक्खकालं, उमूरकरणेण जतियव्वं॥ नि०चू० १० उ०।

(२२) प्रवेशः-

अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे ॥ २४ ॥

अतिभूमिं न गच्छेत् अननुज्ञातां गृहस्थैः, यत्र अन्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थः । गोचराग्रगतो मुनिः । अनेनान्यदा तद्गमनासंभवमाह-किं तर्हि ?, कुलस्य भूमिमुत्तमादिरूपामवस्थां ज्ञात्वा मितां भूमिं तैरनुज्ञातां पराक्रमेत्, यत्रैषामप्रीतिर्नोपजायत इति सूत्रार्थः ॥ २४ ॥

विधिशेषमाह-

तत्थेव पडिलेहिज्जा, भूमिभागं वियक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स, संलोगं परिवज्जए ॥ २५ ॥

तत्रैव तस्यामेव मितायां भूमौ प्रत्युपेक्षेत सूत्रोक्तेन विधिना भूमिभागमुचितं भूमिदेशं विचक्षणो विद्वान् ; अनेन केवलागीतार्थस्य भिक्षाटनप्रतिषेधमाह-तत्र च तिष्ठन् स्नानस्य, तथा वर्चसः विष्ठायाः संलोकं परिवर्जयेत् । एतदुक्तं भवति-स्नानभूमिकायिकादिभूमिसंदर्शनं परिहरेत्; प्रवचनलाघवप्रसङ्गात्, अप्रावृतस्त्र्यादिदर्शनाच्च रागादिभावादिति सूत्रार्थः ॥ २५ ॥

किञ्च-

दगमट्टियआयाणे, बीयाणि हरियाणि य ।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा, सव्विंदियसमाहिए ॥ २६ ॥

उदकमृत्तिकादानम्, आदीयतेऽनेनेत्यादानो मार्गः । उदकमृत्तिकानयनमार्गमित्यर्थः । बीजानि शाल्यादीनि च,हरितानि दूर्वादीनि, चशब्दादन्यानि च सचेतनानि, परिवर्जयंस्तिष्ठेदनन्तरोदिते देशे सर्वेन्द्रियसमाहितः शब्दादिभिरनाक्षिप्तचित्त इति सूत्रार्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

(२३) काकादीन् संनिपतितान् प्रेक्ष्य न गच्छेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा, रसेसिणो बहवे पाणा घासेसणाए संथडे संणिवतिए पेहाए । तं जहा-कुक्कुडजातियं वा सूयरजातियं वा अग्गपिंडंसि वा वायसा संथडा संणिवइया पेहाए सइ परक्कमे संजयामेव परिक्कमेज्जा, णो उज्जुयं गच्छेज्जा ॥

स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात् । तद्यथा-बहवः प्राणाः प्राणिनो रस्यत आस्वाद्यत इति रसः, तमेष्टुं शीलमेषां ते रसैषिणः,रसान्वेषिण इत्यर्थः । ते तदर्थिनः सन्तः पश्चात् ग्रासार्थं क्वचिद्रथ्यादौ संनिपतिताः, तांश्चाहारार्थं संस्कृतान् घनान् प्रेक्ष्य ततस्तदभिमुखं न गच्छेदिति संबन्धः, तांश्च प्राणिनः स्वनामग्राहमाह-कुक्कुटजातिकं चेत्यनेन च पक्षिजातिरुद्दिष्टा, शूकरजातिकमित्यनेन चतुष्पदजातिरिति । अग्रपिण्डे वा काकपिण्ड्यां वा बहिःक्षिप्तायां वायसाः संनिपतिता भवेयुः,तांश्च दृष्ट्वाऽप्रतस्ततः सति पराक्रमेऽन्यस्मिन्मार्गान्तरे संयतः सम्यगुपयुक्तः, संयतामन्त्रणं वा, ऋजु तदभिमुखं न गच्छेत् । यतः तत्र गच्छतोऽन्तरायं भवति, तेषां चान्यत्र संनिपतितानां वधोऽपि स्यादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

(२४) साम्प्रतं गृहपतिकुलं प्रविष्टस्य साधोर्विधिमाह-

गां दुह्यमानां दृष्ट्वा न गच्छेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइ० जाव पविसितुकामे सेज्जं पुण जाणेज्जा-खीरिणीओ गावीओ खीरिज्जमाणीओ पेहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडिज्जमाणं पेहाए पुरा अप्पजूहिए सेवं णच्चा णो गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए णिक्खमेज्ज वा, पविसेज्ज वा ।

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सन्नथ पुनरेवं विजानीयात् । यथा-क्षीरिण्यो गावोऽत्र दुह्यन्ते,ताश्च दुह्यमानाः प्रेक्ष्य,तथाऽशनादिकं चतुर्विधमप्याहारमुपसंस्क्रियमाणं प्रेक्ष्य, तथा (अप्पजूहिए त्ति) सिद्धेऽप्योदनादिके पुरा पूर्वमन्येषामदत्ते सति प्रवर्त्तनाधिकरणापेक्षी पूर्वत्र च प्रकृतिभद्रकादिः कश्चिद्यति दृष्ट्वा श्रद्धावान् बहुतरं दुग्धं ददामीति वत्सकपीडां कुर्यात्, त्रसेयुर्वा दुह्यमाना गावः,तत्र संयमात्मविराधना, अर्द्धपक्वौदने पाकार्थं त्वरयाऽधिकं यत्नं कुर्यात्, ततः संयमविराधना इति, तदेवं ज्ञात्वा स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया न प्रविशेन्नापि निष्क्रामेदिति ।

यच्च कुर्यात्तद्दर्शयितुमाह-

से तमायाए एगंतमवक्कमित्ता २ अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा । अह पुण एवं जाणेज्जा-खीरिणीओ गावीओ खीरियाओ पेहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा उवक्खडियं पेहाए पराए जूहिते,स एवं णच्चा तओ संजतामेव गाहावतिकुलं पिंडवायपडियाए पविसेज्ज वा, निक्खमेज्ज वा, भिक्खागाणामेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज्जमाणे-खुड्डाए खलु अयं गामे संणिरुद्धाए णो महालए,से हंता ! भयंतारो बाहिरगाणि गामाणि भिक्खायरियाए वयह, संति तत्थेगतियस्स भिक्खुस्स पुरे संथुया वा पच्छा संथुया वा परिवसंति, तं

जहा-गाहावती वा गाहावइणीओ वा गाहावतिपुत्ता वा गाहावइधूयाओ वा गाहावइसुण्हाओ वा धाईतो वा दासा वा दासीओ वा कम्मकरा वा कम्मकरीओ वा तहप्पगाराइं कुलाइं पुरे संथुयाणि वा पच्छा संथुयाणि वा पुव्वमेव भिक्खायरियाए अणुप्पविसिस्सामि, अवि य इत्थ लभिस्सामि पिंडं वा लोयं वा खीरं वा दधिं वा नवणीयं वा घयं वा गुलं वा तेल्लं वा महुं वा मज्जं वा मंसं वा संकुलिं वा फाणियं वा पूयं वा सिहरिणिं वा, तं पुव्वामेव भुच्चा पेच्चा पडिग्गहं संलिहिय संपमज्जिय तओ पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिस्सामि वा, निक्खमिस्सामि वा, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करेज्जा, से तत्थ भिक्खूहिं सद्धिं कालेण अणुपविसित्ता तत्थितरेयरेहिं कुलेहिं समुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहेत्ता आहारं आहारेज्जा, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

[से तमादायेत्यादि] स भिक्षुस्तमर्थं गोदोहनादिकमादाय गृहीत्वाऽवगम्येत्यर्थः । तत एकान्तमपक्रम्य च गृहस्थानामनापाते असंलोके च तिष्ठेत्, तत्र तिष्ठन्नथ पुनरेवं जानीयात् । यथा-क्षीरिण्यो गावो दुग्धा इत्यादि पूर्ववद् व्यत्ययेनालापका नेया यावन्निष्क्रामेत्प्रविशेद्वेति । पिण्डाधिकार एवेदमाह-"भिक्खागेत्यादि" । भिक्षणशीला भिक्षुका नामैके साधवः केचन एवमुक्तवन्तः । किंभूतास्ते इति ?, आह-समाना इति जङ्घाबलक्षीणतयैकस्मिन्नेव क्षेत्रे तिष्ठन्तः, तथा वसमाना मासकल्पविहारिणः, त एवंभूताः प्राघूर्णकान् समायातान् ग्रामानुग्रामं दूयमानान् गच्छत एवमूचुः । यथा-क्षुल्लकोऽयं ग्रामोऽल्पगृहभिक्षादो वा, तथा संनिरुद्धः सूतकादिना, नो महानिति पुनर्वचनमादरख्यापनार्थम्, अतिशयेन क्षुल्लक इत्यर्थः । ततो "हन्ता !" इत्यामन्त्रणं यूयं भवन्तः पूज्याः बहिर्ग्रामेषु भिक्षाचर्यार्थं व्रजतेत्येवं कुर्यात् । यदि वा तत्रैतस्य वास्तव्यस्य भिक्षोः पुरः संस्तुताः भ्रातृव्यादयः पश्चात् संस्तुताः श्वशुरकुलसंबद्धाः परिवसन्ति, तान् स्वनामग्राहमाह । तद्यथा-गृहपतिर्वेत्यादि सुगमम्, यावत्तथाप्रकाराणि कुलानि पुरःपश्चात्संस्तुतानि पूर्वमेव भिक्षाकालादहं तेषु भिक्षार्थं प्रवेक्ष्यामि, अपि चैतेषु स्वजनादिकुलेष्वभिप्रेतं लाभं लप्स्ये, तदेव दर्शयति-पिण्डं शाल्योदनादिकं, (लोयमिति) इन्द्रियानुकूलं रसाद्युपेतमुच्यते, तथा क्षीरं वेत्यादि सुगमं, यावत् "सिहरिणी वेति" नवरं मद्यमांसे छेदसूत्राभिप्रायेण व्याख्येये । अथवा-कश्चिदतिप्रमादावष्टब्धोऽत्यन्तगृध्नुतया मधुमांसाद्यप्याश्रीयादतस्तदुपादानम् । (फाणिय त्ति) उदकेन द्रवीकृतो गुडः, क्वथितो वा, शिखरिणी मर्जिता, तल्लब्धं पूर्वमेव भुक्त्वा, पेयं च पीत्वा पतद्ग्रहं संलिह्य निरवयवं कृत्वा, संमृज्य च वस्त्रादिनाऽऽर्द्रतामपनीय, ततः पश्चादुपागते भिक्षाकाले विकृतवदनः प्राघूर्णकभिक्षुभिः सार्द्धं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेक्ष्यामि, निष्क्रमिष्यामि वेत्यभिसन्धिना मातृस्थानं संस्पृशेदसावित्यतः प्रतिषिध्यते, नैवं कुर्यादिति । कथं च कुर्यादित्याह-(से तत्थेत्यादि) स भिक्षुस्तत्र ग्रामादौ प्राघूर्णकभिक्षुभिः सार्द्धं कालेन भिक्षाऽवसरेण प्राप्तेन गृहपतिकुलमनुप्रविश्य तत्रेतरेतरेभ्य उच्चावचेभ्यः सामुदानिकं भिक्षापिण्डमेषणीयमुद्गमादिदोषरहितं वैषिकं केवलवेषावाप्तं धात्रीदूतनिमित्तादिपिण्डदोषरहितं पिण्डपातं भैक्षं प्रतिगृह्य प्राघूर्णकादिभिः सह ग्रासैषणादिदोषरहितमाहारमाहारयेत्, तत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभाव इति । आचा० २ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

[२५] गृहावयवानालम्ब्य न तिष्ठेत्, नवाऽङ्गुल्यादि दर्शयेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे णो गाहावतिकुलस्स दुवारसाहं अवलंबिय अवलंबिय चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स दगच्छड्डणमत्तए चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स चंदणिउदयं पविट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स सिणाणस्स वा वच्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा, णो गाहावतिकुलस्स आलोयं वा थिग्गलं वा संधिं वा दगभवणं वाहाउ पगज्झिय पगज्झिय अंगुलियाए वा उद्दिसिय उद्दिसिय उण्णमिय उण्णमिय णिज्झाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए उद्दिसिय उद्दिसिय जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए चालिय चालिय जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए तज्जिए तज्जिए जाएज्जा, णो गाहावतिं अंगुलियाए उक्खुलुंपिय उक्खुलुंपिय जाएज्जा, णो गाहावइं वंदिय वंदिय जाएज्जा, णो वयणं फरुसं वदेज्जा ॥

"से भिक्खू वेत्यादि ।" स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नैतत् कुर्यात् । तद्यथा-नो गृहपतिकुलस्य द्वारशाखामवलम्ब्याऽवलम्ब्य पौनःपुन्येन भृशं वा अवलम्ब्य च तिष्ठेत् । यतः सा जीर्णत्वात्पतेत्, दुष्प्रतिष्ठितत्वाद्वा चलेत्, ततश्च संयमात्मविराधनेति । तथोदकप्रतिष्ठापनमात्रके उपकरणधावनोदकप्रक्षेपस्थाने प्रवचनजुगुप्साभयान्न तिष्ठेत् । तथा (चंदणिउदयं ति) आचमनोदकप्रवाहभूमौ न तिष्ठेत् । दोषः पूर्वोक्त एव । तथा स्नानवर्चःसंलोके, तत्प्रतिद्वारं वा, न तिष्ठेत् । एतदुक्तं भवति-यत्र स्थितैः स्नानवर्चःक्रिये कुर्वन् गृहस्थः समवलोक्यते, तत्र न तिष्ठेदिति । दोषश्चात्र दर्शनाऽऽशङ्कया निःशङ्कतत्क्रियाया अभावेन निरोधप्रद्वेषसंभव इति । तथा नैव गृहपतिकुलस्याऽऽलोकस्थानं गवाक्षादिकम् (थिग्गलं ति) प्रदेशपतितसंस्कृतम्, तथा (संधि त्ति) चौरखातं भित्तिसन्धिं वा, तथोदकभवनमुदकगृहं, सर्वाण्यप्येतानि भुजं परिगृह्य पौनःपुन्येन प्रसार्य, तथा अङ्गुल्योद्दिश्य, तथा कायमवनम्योन्नम्य च, न निध्यापयेन्न प्रलोकयेत्, नाप्यन्यस्मै प्रदर्शयेत् । सर्वत्र द्विर्वचनमादरख्यापनार्थम् । तथाहि-तत्र हि हृतनष्टादौ शङ्कोत्पद्येतेति । अपि च-"नो गाहावईत्यादि" । स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नैव गृहपतिमङ्गुल्याऽन्यार्थमुद्दिश्य तथा चालयित्वा, तथा तर्जयित्वा भयमुपदर्श्य, तथा कण्डूयनं कृत्वा, तथा गृहपतिं वन्दित्वा वाग्भिः स्तुत्वा प्रशंस्य, नो याचेत । अदत्ते च नैव तद्गृहपतिं परुषं वदेत् । यथा-यक्षस्त्वं परगृहरक्षकोऽसि, कुतस्ते दानवार्त्तैव ?, भद्रका भवतो न पुनरनुष्ठानम्, अपि च अक्षरद्वयमेतद्धि-नास्ति नास्ति यदुच्यते, तदिदं देहि देहीति विपरीतं भविष्यति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

अन्यच्च—

अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वा वि संजए ।

अवलंबिया न चिट्ठिज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ॥ ९ ॥

अर्गलं गोपाटादिसंबन्धिनं, परिघं नगरद्वारादिसंबन्धिनं, द्वारं शाखामयम्, कपाटं द्वारयन्त्रं वाऽपि संयतः, अवलम्ब्य न तिष्ठेत्, लाघवविराधनादोषात् । गोचराग्रगतो भिक्षाप्रविष्टः मुनिः संयत इति पर्यायौ, तदुपदेशाधिकारादनुवृत्तावेवेति सूत्रार्थः । उक्ता द्रव्ययतना ॥ ६ ॥

भावयतनामाह-

समणं माहणं वा वि, किविणं वा वणीमगं ।

उवसंकमंतं भत्तट्ठा, पाणट्ठा एव संजए ॥ १० ॥

श्रमणं निर्ग्रन्थादिरूपं, ब्राह्मणं धिग्वर्णं वाऽपि, कृपणं वा पिण्डोलकं, वनीपकं, पञ्चानामन्यतमम उपसंक्रामन्तं सामीप्येन गच्छन्तं गतं वा भक्तार्थं पानार्थं वा संयतः साधुरिति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

तमइक्कमित्तु न पविसे, न वि चिट्ठे चक्खुगोअरे ।

एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठिज्ज संजए ॥ ११ ॥

तं श्रमणादिमतिक्रम्योल्लङ्घ्य न प्रविशेत्, दीयमाने च समुदाने तेभ्यो न तिष्ठेच्चक्षुर्गोचरे । कस्तत्र विधिरिति ?, आह- एकान्तमवक्रम्य तत्र तिष्ठेत् संयत इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

अन्यथैते दोषा इत्याह-

वणीमगस्स वा तस्स, दायगस्सुभयस्स वा ।

अप्पत्तियं सिया होज्जा, लहुत्तं पवयणस्स वा ॥ १२ ॥

वनीपकस्येत्येतच्छ्रमणाद्युपलक्षणं, दातुर्वा, उभयोर्वा, अप्रीतिः कदाचित्स्यात्-अहो ! अलोकज्ञतैतेषामिति । लघुत्वं प्रवचनस्य वाऽन्तरायदोषश्चेति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

तस्मान्नैवं कुर्यात्, किं तु-

पडिसेहिए दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए ।

उवसंकमिज्ज भत्तट्ठा, पाणट्ठाए व संजए ॥ १३ ॥

प्रतिषिद्धे वा दत्ते वा ततः स्थानात्तस्मिन्वनीपकादौ निवर्त्तिते सति उपसंक्रामेद्भक्तार्थं पानार्थं वाऽपि संयत इति सूत्रार्थः ॥ १३ ॥ दश० ५ अ० २ उ० ।

(२६) अगार्या सह न तिष्ठेत्-

वासावासं पज्जोसवियाणं निग्गंथस्स गाहावइकुलं पिंडवायपडिआए० जाव उवागच्छित्तए, तत्थ नो कप्पइ एगस्स निग्गंथस्स एगाए अगारीए एगओ चिट्ठित्तए, एवं चउभंगी, अत्थि णं इत्थ केइ पंचमे थेरे वा थेरिया वा अन्नेसिं वा संलोए सपडिदुवारे, एवं से कप्पइ एगयओ चिट्ठित्तए, एवं चेव निग्गंथीए अगारस्स य भाणियव्वं ॥ ३९ ॥

चतुर्मासकं स्थितस्य साधोः गृहस्थगृहे भिक्षाग्रहणार्थं यावत् उपागन्तुं, तत्र नो कल्पते एकस्य साधोः एकस्याः श्राविकाया एकत्र स्थातुम्, एवं चत्वारो भङ्गाः, यदि स्यात् अत्र कोऽपि पञ्चमः स्थविरः स्थविरा वा साक्षीभवति, तदा स्थातुं कल्पते, अन्येषां वा दृष्टिविषयः, बहुद्वारसहितं वा स्थानम्, एवं कल्पते एकत्र स्थातुम्, एवमेव साध्व्याः गृहस्थस्य च चतुर्भङ्गी वाच्या, तथा एकाकित्वं च साधोः साध्व्यादिके उपोषिते असु- खिते वा कारणाद्भवति, अन्यथा हि उत्सर्गतस्तु साधुरात्मना द्वितीयः, साध्व्यस्तु त्र्यादयो विहरन्ति ॥ ३९ ॥ कल्प० ९ क्षण । (एलुको देहली, तस्मात्परतो न प्रवेष्टव्यमिति 'एलुग' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४ पृष्ठे उक्तम्)

(२७) माहनादिकं प्रविष्टं दृष्ट्वा तत्र न प्रविशेत्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा-समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा, केवली बूया-आयाणमेतं पुरा पेहाए तस्स ट्ठाए परो असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलएज्जा, अह भिक्खू णं पुव्वोवदिट्ठाए सपतिण्णाए सहेउए सकारणं एसो जं णो तेसिं संलोए सपडिदुवारे चिट्ठेज्जा, से तमाताए एगंतमवक्कमेज्जा, अवक्कम्म अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा २, से परो अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा० ४ आहट्टु दलएज्जा, सेवं वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! इमे भे असणं वा० ४ सव्वजणाए णिसट्ठे, तं भुंजह च णं, परिभाएह च णं, तवेमातिउ पडिगाहेत्ता तुसिणाओ उवेज्जा, अवियाइं एयं ममेव सिया, एवं माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, से तमाताए तत्थ गच्छेज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा, आउसंतो समणा ! इमे भे असणे वा० ४ सव्वजणाए णिसट्ठा, तं भुंजह च णं, परिभाएह च णं, सेवं वदंतं परो वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! तुमं चेव णं परिभाएहि, से तत्थ परिभाएमाणे णो अप्पणो खद्धं २ डायं २ ऊसढं २ रसियं २ मणुण्णं २ णिद्धं २ लुक्खं २, से तत्थ अमुच्छिए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववण्णे बहु सममेव परिभाएज्जा, से णं परिभाएमाणं परो वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! मा णं तुमं परिभाएहि, सव्वे वेगतिया भोक्खामो वा, पेहामो वा, से तत्थ भुंजमाणो णो अप्पणो खद्धं खद्धं० जाव लुक्खं, से तत्थ अमुच्छिए० ४ बहु सममेव भुंजेज्ज वा, पीएज्ज वा ॥

[से भिक्खू वेत्यादि] स भिक्षुर्ग्रामादौ भिक्षार्थं प्रविष्टो यदि पुनरेवं विजानीयात्-यथाऽत्र गृहे श्रमणादिः कश्चित्प्रविष्टः, तं च पूर्वप्रविष्टं प्रेक्ष्य दातृप्रतिग्राहिकासमाधानान्तरायभयाच्च तदालोके तिष्ठेत्, नापि तन्निर्गमद्वारं प्रतिदातृप्रतिग्राहकासमाधानान्तरायभयात्, किन्तु स भिक्षुस्तं श्रमणादिकं भिक्षार्थमुपस्थितमादायावगम्यैकान्तमपक्रामेत्, अपक्रम्य चान्येषां चानापाते विजने असंलोके च संतिष्ठेत । तत्र च तिष्ठतः स गृहस्थः (से) तस्य भिक्षोश्चतुर्विधमप्याहारमाहृत्य दद्यात्, प्रयच्छंश्चैतत् ब्रूयात् । यथा-यूयं बहवो भिक्षार्थमुपस्थिताः, अहं च व्याकुलत्वान्नाहारं विभजयितुमलम्, अतो हे आयुष्मन् ! श्रमणाय आहारश्चतुर्विधोऽपि ते युष्मभ्यं सर्वजनार्थं मया निसृष्टो दत्तः, तत्साम्प्रतं स्वरुच्या तमाहारमेकत्र वा भुङ्ग्ध्वं, परिभजध्वं वा, वि-

प्रज्य वा गृह्णीतेत्यर्थः । तदेवंविध आहार उन्मार्गतो न ग्राह्यो, दुर्भिक्षे वा अध्वानानिर्गतादौ वा द्वितीयपदे कारणे सति गृह्णीयात्, गृहीत्वा च नैवं कुर्यात् । तद्यथा-तमहारं गृहीत्वा तूष्णीका गच्छन्नैवमुत्प्रेक्षेत । यथा-ममैवायमेकस्य दत्तः, अपि चाऽयमल्पत्वान्ममैवैकस्य स्यात् । एवं च मातृस्थानं संस्पृशेदतो नैवं कुर्यादिति । यथा च कुर्यात्तथा दर्शयति-स भिक्षुस्तमाहारं गृहीत्वा तत्र श्रमणाद्यन्तिके गच्छेत् । गत्वा च स पूर्वमेवादावेव तेषामाहारमालोकयेद्दर्शयेत् । इदं च ब्रूयात् । यथा-भो आयुष्मन्तः श्रमणादयः ! अयमशनादिक आहारो युष्मभ्यं सर्वजनार्थमविभक्त एव गृहस्थेन निसृष्टो दत्तः । तत् यूयमेकत्र भुङ्ग्ध्वं वा, विभजध्वं वा, 'से' अथैनं साधुमेवं ब्रुवाणं कश्चिच्छ्रमणादिरेवं ब्रूयात्-यथा भो आयुष्मन् ! श्रमण ! त्वमेवास्माकं परिभाजय, नैवं तावत् कुर्यात् । अथ सति कारणे कुर्यात्, तत्रानेन विधिनेति दर्शयति-स भिक्षुर्विभाजयन् आत्मनः खद्धं खद्धं प्रचुरं प्रचुरं (डायं ति) शाकम (ऊसढं ति) उत्सृतं वर्णादिगुणोपेतम् । शेषं सुगमम् । यावद्रूक्षमिति न गृह्णीयादिति । अपि च-भिक्षुस्तत्राहारे अमूर्छितोऽगृद्धोऽनाहतोऽनध्युपपन्न इत्येतान्यादरख्यापनार्थमेकार्थिकान्युपात्तानि कथञ्चिद्भेदाद् व्याख्यातव्यानीति ! (बहुसममिति) सर्वमत्र समं किञ्चित्सिक्थादिना यद्यधिकं भवेदिति, तदेवं प्रभूतसमं परिभाजयेत् । तं च साधुं परिभाजयन्तं कश्चिदेवं ब्रूयात् । यथा-आयुष्मन् ! श्रमण ! मा त्वं परिभाजय, किं तु सर्व एव चैकत्र वयं भोक्ष्यामहे, पास्यामो वा, तत्र परतीर्थिकैः सार्द्धं न भोक्तव्यम्, स्वयूथ्यैश्च पार्श्वस्थादिभिः सह सांभोगिकैः सहोपालोचनां दत्त्वा भुञ्जानानामयं विधिः । तद्यथा-नो आत्मन इत्यादि सुगममिति ।

[२८] इहानन्तरसूत्रे बहिरालोकस्थानं निषिद्धं, सांप्रतं तत् प्रवेशप्रतिषेधार्थमाह-ग्रामपिण्डोलकादि प्रविष्टं दृष्ट्वा-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा-समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए णो तेओ वातिकम पविसेज्ज वा, भासेज्ज वा, से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, अणावायमसंलोए चिट्ठेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-पडिसेहिए वा दिन्ने वा ततो तम्मि णियट्टिते संजतामेव पविसेज्ज वा, ओभासेज्ज वा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

[से भिक्खू वेत्यादि] स भिक्षुर्भिक्षार्थं ग्रामादौ प्रविष्टः सन् यदा पुनरेवं विजानीयात् । तद्यथा-अत्र गृहपतिकुले श्रमणादिकः प्रविष्टः, तं च पूर्वं प्रविष्टं श्रमणादिकं प्रेक्ष्य, ततो न तान् श्रमणादीन् पूर्वप्रविष्टानतिक्रम्य प्रविशेत् नापि तत्रस्थ एवावभाषेत दातारं याचेत । अपि च-स तमादायावगम्यैकान्तमपक्रामेत्, अनापातासंलोके च तिष्ठेत्तावद्यावत् श्रमणादिके प्रतिषिद्धे पिण्डे वा तस्मै दत्ते, ततस्तस्मिन्निवृत्ते गृहान्निर्गते सति ततः संयत एव प्रविशेत्, अवभाषेत वेति, एवं च तस्य भिक्षोः सामग्र्यं संपूर्णो भिक्षुभाव इति । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

[संखडिगमननिषेधः ' संखडि ' शब्दे वक्ष्यते]

[२९] इदानीं परग्रामे हिण्डनविधिः-

पुरओ जुगमायाए, गंतूणं अन्नगामे बाहिठिओ ।
तरुणे मज्झिमे थेरे, एव पुच्छाओ जहा हिट्ठा ॥ ६२ ॥

पुरतो युगमात्रं निरीक्षमाणो गत्वा अन्यग्रामं संप्राप्य बहिर्व्यवस्थितः पृच्छति-विद्यते किं भिक्षावेलाऽत्र ग्रामे, उत न ? । कान् पृच्छति ?, अत आह-तरुणं मध्यमं स्थविरम् । एकैकस्य त्रैविध्यादत्र पृच्छाः कर्त्तव्याः, यथा अधस्तात् प्रतिपादिताः तथैवात्रापि न्यायः । अत्र तरुणं स्त्रीपुंनपुंसकम्, मध्यमं स्त्रीपुंनपुंसकं, स्थविरं स्त्रीपुंनपुंसकमिति ॥ ६२ ॥

एवं पृष्ट्वा यदि तत्र भिक्षावेला तत्क्षणमेव, ततः को विधिरिति ?, अत आह-

पायपमज्जण पडिले-हणा य भाणदुग देसकालम्मि ।
अप्पत्ते चिय पाए, पमज्ज पत्ते य पायजुगं ॥ ६३ ॥

तत्र हि ग्रामान्ते उपविश्य पादप्रमार्जनं करोति, किं कारणम् ?, तत्पादरजः कदाचित्सचित्तं कदाचिन्मिश्रं लग्नं भवेत्, ग्रामे च नियमादचित्तं रजः, अतः प्रमार्जयति, पुनश्च प्रत्युपेक्षणं करोति, पात्रद्वितयस्य-पतद्ग्रहस्य, मात्रकस्य च; एवं देशकाले भिक्षावेलायां प्राप्तायां करोति । अथाद्यापि न भवति भिक्षाकालः, ततः तस्मिन्नप्राप्ते भिक्षाकाले पादौ प्रमार्जयन् तावदास्ते, यावत् भिक्षाकालः प्राप्तः, ततस्तस्मिन् प्राप्ते सति तस्यां वेलायां पात्रद्वितयं प्रत्युपेक्षते । एवमसौ पात्रद्वितयं प्रत्युपेक्ष्य ग्रामे प्रविशन् कदाचित् श्रमणादीन् पश्यति, ततस्तान् पृच्छति ।

एतदेवाह-

समणं समणिं सावय, साविय गिहिअन्नतित्थि बहि पुच्छे ।
अत्थिह समणा सुविहिया, सिट्ठे ते सालयं गच्छे ॥ ६४ ॥

श्रमणं श्रमणीं श्रावकं श्राविकां गृहस्थम् अन्यतीर्थिकं वा बहिर्दृष्ट्वा पृच्छति, एतानन्तरोक्तान् सर्वान् दृष्ट्वाऽऽपृच्छ्य यत्र सन्ति श्रमणाः, किं विशिष्टाः ?, शोभनं विहितमेषामिति शोभनानुष्ठानाः, ततश्च एतेषामन्यतमेन कथिते सति ततस्तेषामेव श्रमणादीनामालयमावासं गच्छेत् ।

ततस्तेषामालयं प्राप्य किं करोति ?, इत्यत आह-

समणुन्नेसु पवेसो, बाहिं ठवेऊण अन्ने किइकम्मं ।
खग्गूडो संतेसुं, ठवणा उच्छोभ वंदणयं ॥ ६५ ॥

यदि हि तत्र समनोज्ञा एकसामाचारीप्रतिबद्धाः, ततस्तेषां मध्ये प्रविशति । अथान्ये अमनोज्ञा भवन्ति, ततो बाह्यत उपकरणं स्थापयित्वा प्रविश्य कृतिकर्म द्वादशावर्तं वन्दनं ददाति । अथ तेऽसंविग्नपाक्षिका अवमग्ना भवन्ति, ततो बहिर्व्यवस्थित एव वन्दनं कृत्वा अबाधां पृच्छति । अथ ते संविग्नपाक्षिका अवमग्ना भवन्ति, अथ ते अवमग्नाः खग्गूडप्रायाः *, ततो बहिरेवोपकरणं संस्थाप्य पुनश्च प्रविश्य तेषाम् उच्छोभं वन्दनं करोति ॥ ६५ ॥

गेलण्णाइअत्ताहं, पुच्छिय सयकारणं च दीवंतो ।
जयणाए ठवणकुले, पुच्छइ दोसा अजयणाए ॥ ६६ ॥

एवं सर्वेष्वेतेषु अनन्तरोदितेषु समनोज्ञादिषु प्रविश्य ग्लानाद्यबाधां पृष्ट्वा स्वकीयमागमने कारणं दीपयित्वा निवेद्य यतनया मधुरवाक्यलक्षणया स्थापनाकुलानि पृच्छति, अयतनया पृच्छति दोषो वक्ष्यमाणो यतोऽतो यतनया पृच्छति ।

एतानि तानि स्थापनाकुलानि-

दाणे अभिगमसड्ढे, सम्मत्ते खलु तहेव मिच्छत्ते ।
मामाए अवियत्ते, कुलाइँ जयणाएँ दाएंति ॥ ६७ ॥

* खग्गूडप्रायाः स्निग्धमधुराद्याहारलम्पटाः, स्वभावाद् चकाचारा निद्रालवो वा ।

दानश्राद्धकः, अभिगमनश्राद्धकः, यस्मिन् कारणे आपन्ने प्रविशन्ति तत्कुलम, सम्यक्त्वधरकुलं, मिथ्यात्वकुलं, मामकः-"मा मम समणा घरं आयंतु" तत्कुलं (अवियत्तं) अदानकुलमशीलकुलम । एतानि कुलानि, ते वास्तव्याः, साधोस्तस्य यतनया दर्शयन्ति ॥ ६७ ॥

तथा चैतानि कुलानि दर्शयन्ति-

सागारि वणिम सुणए, गोणे पुन्ने दुगंछियकुलाई ।
हिंसागं मामागं, सव्वपयत्तेण वज्जेज्जा ॥ ६८ ॥

सागारिकः शय्यातरः, तद्गृहं दर्शयन्ति, तथा "वणिमओ" दरिद्रः, तस्य गृहं च दर्शयन्ति, तत्र हि एतदर्थं न गृह्यते-स हि दरिद्रः असति भक्ते लज्जां करोति, यद्वा-यत्किञ्चिदस्ति तद्दत्वा पुनरात्मार्थं रन्धनं करोति, तथा-श्वा यत्र दुष्टो गृहे तत्र, गौर्वा यत्र दुष्टः तत्र, (पुन्ने त्ति) पुण्यार्थं यत्र बहु रन्धयित्वा श्रमणादीनां दीयते। अथवा-पूर्णयत् गृहस्थैर्बहुभिस्तच्च प्रदर्शयन्ति,जुगुप्सितं च लिम्पकादि,तच्च, हिंसाकं सौकरिकादिगृहं,तत्र, 'मामगं' चोक्तम। एतानि प्रदर्शितानि सर्वप्रयत्नेन परिहर्त्तव्यानि ॥ ६८ ॥ ओघ० । आचा० । सार्द्धचतुर्मासकमध्ये सार्द्धगव्यूतद्वयप्रमाणां नदीमुत्तीर्य भिक्षा गृह्यते । ही० ४ प्रका० । (परचक्रेणोपरोधे भिक्षा 'उपरोध' शब्दे द्वितीयभागे १०७ पृष्ठे द्रष्टव्या । समवसरणे भिक्षाद्वारं च तत्रैव ७१० पृष्ठे निरूपितम । क्षेत्रमतिलेखकानां मार्गे भिक्षाटनं 'मासकप्पविहार' वक्तव्यतायाम् । आचार्यो हिण्डितुं न याति इति 'अइसेस' शब्दे प्रथमभागे १८ पृष्ठे उक्तम) तीर्थकृत उत्पन्नकेवलज्ञानदर्शना भिक्षार्थं न पर्यटन्ति, यतस्तस्यामवस्थायां भिक्षाटनेन प्रवचनलाघवसंभवात् । उक्तं च-"देविंद चक्कवट्टी, मंडलिया ईसरा तलवरा य । अहिगच्छंति जिणिंदे, गोयरचरियं न सो अमइ" ॥ १ ॥ आ० म० द्वि० ।

(३०) आहारे क्षुधे गोचराटनम्-

सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो अ गोयरे ।
अजावयट्ठा भोच्चा णं, जइ तेणं न संथरे ॥ २ ॥

शय्यायां वसतौ, नैषेधिक्यां स्वाध्यायभूमौ, शय्यैव वाऽसमञ्जसनिषेधान्नैषेधिकी, तस्यां समापन्नो वा गोचरे क्षपकादिश्छात्रमठादौ, अयावदर्थं भुक्त्वा, न यावदर्थम्, अपरिसमाप्तमित्यर्थः । 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, यदि तेन भुक्तेन न संस्तरेत् न यापयितुं समर्थः, क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वेति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

तओ कारणमुप्पन्ने, भत्तपाणं गवेसए ।
विहिणा पुव्वउत्तेणं, इमेणं उत्तरेण य ॥ ३ ॥

ततः कारणे वेदनादावुत्पन्ने पुष्टालम्बनः सन् भक्तपानं गवेषयेत् अन्विष्येत् । अन्यथा सकृद्भुक्तमेव यतीनामिति, विधिना पूर्वोक्तेन संप्राप्ते भिक्षाकाले इत्यादिना अनेन च वक्ष्यमाणलक्षणेनोत्तरेण चेति गाथार्थः ॥ ३ ॥ दश० ५ अ० २ उ० ।

(३१) अथ ग्रहणविधिमाह-

तत्थ से चिट्ठमाणस्स, आहरे पाणभोयणं ।
अकप्पियं न गेण्हिज्जा, पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥ २७ ॥

तत्र कुलोचितभूमौ, (से) तस्य साधोस्तिष्ठतः सत आहरेदानयेत्पानभोजनं,गृहीति गम्यते । तत्रायं विधिः-अकल्पिकमनेषणीयं न गृह्णीयात, प्रतिगृह्णीयात् कल्पिकमेषणीयम,एतच्चार्थापन्नमपि कल्पिकग्रहणं द्रव्यतः शोभनमशोभनमप्येतदविशेषेण ग्राह्यमिति दर्शनार्थं साक्षादुक्तमिति सूत्रार्थः ॥२७॥

आहरंती सिया तत्थ, परिसाडिज्ज भोयणं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ २८ ॥

आहरन्ती आनयन्ती भिक्षाम्,अगारीति गम्यते, स्यात् कदाचित्तत्र देशे परिशाटयेत् इतश्चेतश्च विक्षिपेत् भोजनं वा पानं वा । ततः किमित्याह-ददतीं प्रत्याचक्षीत प्रतिषेधयेत्तामगारीम । स्त्र्येव प्रायो भिक्षां ददातीति स्त्रीग्रहणम । कथं प्रत्याचक्षीत?,इत्यत आह-न मम कल्पते तादृशं परिशाटनावत्,समयोक्तदोषप्रसङ्गात् । दोषांश्च भावं च ज्ञात्वा कथयेत् मधुबिन्दूदाहरणादिनेति सूत्रार्थः ॥ २८ ॥

किञ्च-

संमद्दमाणी पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य ।
असंजमकरिं नच्चा, तारिसिं परिवज्जए ॥ २९ ॥

संमर्दयन्ती पद्भ्यां समाक्रामन्ती, कानित्याह-प्राणिनो द्वीन्द्रियादीन्, बीजानि शाल्यादीनि, हरितानि दूर्वादीनि, असंयमकरीं साधुनिमित्तमसंयमकरणशीलां, ज्ञात्वा तादृशीं परिवर्जयेत् ददतीं प्रत्याचक्षीतेति सूत्रार्थः ॥ २९ ॥

तथा-

साहट्टु निक्खिवित्ता णं, सचित्तं घट्टियाणि य ।
तहेव समणट्ठाए, उदगं संपणुल्लिया ॥ ३० ॥

संहृत्यान्यस्मिन् भाजने ददाति, "तं फासुगमवि वज्जए, तत्थ फासुए फासुयं साहरइ, फासुए अफासुअं साहरइ, अफासुए फासुअं साहरइ, अफासुए अफासुअं साहरइ, तत्थ जं फासुअं फासुए साहरइ, तत्थ वि थेवे थेवं साहरइ, थेवे बहुयं साहरइ, बहुए थेवं साहरइ, बहुए बहुअं साहरइ," एवमादि यथा पिण्डनिर्युक्तौ तथा निक्षिप्य भाजनगतमदेयं षट्सु जीवनिकायेषु ददाति, सचित्तमलातपुष्पादि घट्टयित्वा संचाल्य च ददाति, तथैव श्रमणार्थं प्रव्रजितनिमित्तम, उदकं संप्रणुद्य भाजनस्थं प्रेर्य ददाति । इति सूत्रार्थः ॥ ३० ॥

आगहइत्ता चलइत्ता, आहारे पाणभोयणं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३१ ॥

तथा चावगाह्य उदकमेवात्माभिमुखमाकृष्य ददाति, वर्षासु गृहाङ्गणादिनिहितं जलं स्वाभिमुखं कृत्वा दत्ते । तथा चालयित्वा उदकमेव ददाति । उदके नियमादनन्तवनस्पतिरिति प्राधान्यख्यापनार्थं 'सचित्तं घट्टयित्वेत्युक्तेऽपि' भेदेनोपदानम । अस्ति चायं न्यायो यदुत "सामान्यग्रहणेऽपि प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनोपादानम" यथा-ब्राह्मणा आयाताः,वसिष्ठोऽप्यायात इति । ततश्चोदकं चालयित्वा आहरेदानीय दद्यादित्यर्थः। किं तदित्याह-पानभोजनमोदनारनालादि। तदित्थंभूतां ददतीं प्रत्याचक्षीत निराकुर्यात्,न मम कल्पते तादृशमिति पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥३१॥ दश० ५ अ० १ उ० । पं० व० ।

(३२) याच्यं वस्तु दृष्ट्वा याचेत, नाऽन्यथा-

वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थेगइयाणं एवं वुत्तपुव्वं

जवइ-अट्ठो जंते ! गिलाणस्स ?। से अ वएज्जा-अट्ठो। से अ पुच्छिअव्वे-केवइए णं अट्ठो ?। से वएज्जा-एवइए णं अट्ठो गिलाणस्स, जं से पमाणं वयइ, से य पमाणओ घित्तव्वे, से अ विन्नवेज्जा। से अ विन्नवेमाणे लभेज्जा, से अ पमाणपत्ते होउ अलाहि इय वत्तव्वं सिया। से किमाहु जंते !?। एवइएणं अट्ठो गिलाणस्स। सिया णं एवं वयंतं परो वइज्जा-पमिगाहेहि अज्जो !, पच्छा तुमं भक्खसि वा,पादिसि वा,एवं से कप्पइ पमिगाहित्तए,नो से कप्पइ गिलाणनीसाए पमिगाहित्तए॥१८॥ वासावासं पज्जोसवियाणं अत्थि णं थेराणं तहप्पगाराइं कुलाइं कडाइं, पत्तियाइं, थिज्जाइं, वेसासियाइं, संमयाइं, बहुमयाइं, अणुमयाइं जवंति, तत्थ से नो कप्पइ अदक्खु वइत्तए-"अत्थि ते आउसो ! इमं वा"। से किमाहु जंते !?,सड्ढी गिही गिण्हइ वा,तेणियं पि कुज्जा॥१९॥

"वासावासं" इत्यादितः "कुज्जे त्ति" यावत्। तत्र (अत्थि त्ति) अस्त्येतत् 'णमिति' प्राग्वत् (थेराणं ति) स्थविराणाम् (तहप्पगाराइं ति)तथाप्रकाराणि अजुगुप्सितानि, कुलानि गृहाणि। किंविशिष्टानि ?, (कमाइं ति) तैरन्यैर्वा आवर्जीकृतानि (पत्तियाइं ति) प्रीतिकराणि (थिज्जाइं ति) प्रीतौ दाने वा स्थैर्यवन्ति (वेसासियाइं ति) निश्चितमत्र लप्स्येऽहमिति विश्वासो येषु तानि वैश्वासिकानि, (संमयाइं ति) येषां यतिप्रवेशः संमतो जवति तानि सम्मतानि (बहुमयाइं ति) बहवोऽपि साधवः संमता येषाम्, अथवा बहूनां गृहमनुष्याणां साधवः संमता येषां तानि बहुमतानि। (अणुमताइं ति) अनुमतानि दातुमज्ञातानि, अथवा अणुरपि क्षुल्लकोऽपि मतो येषु सर्वसाधुसाधारणत्वात्, न तु मुखं दृष्ट्वा तिलकं कुर्वन्तीति अनुमतानि अणुमतानि वा जवन्ति। "तत्थ से इत्यादि" तत्र तेषु गृहेषु (से) तस्य साधोः (अदक्खुत्ति) याच्यं वस्तु अदृष्ट्वा इति वक्तुं न कल्पते। यथा-हे आयुष्मन् ! इदं २ वा वस्तु अस्ति, इत्यदृष्टं वस्तु प्रष्टुं न कल्पते इत्यर्थः। (से किमाहु भंते त्ति) तत् कुतो भगवन्! इति शिष्यप्रश्ने, गुरुराह-यतयस्तथाविधाः। (सड्ढि त्ति) श्रद्धावान् गृही मूल्येन गृह्णीत, यदि च मूल्येनापि न प्राप्नोति तदा स श्रद्धातिशयेन (तेणियं पि त्ति) चौर्यमपि कुर्यात्। कृपणगृहे तु अदृष्ट्वा पि याचने न दोषः॥ १९ ॥ कल्प० ९ क्षण।

(३३) वन्दमानं न याचेत-

इत्थियं पुरिसं वा वि, डहरं वा महल्लगं।
वंदमाणं न जाइज्जा, नो अ णं फरुसं वए॥ २९॥

स्त्रियं वा पुरुषं वाऽपि, अपिशब्दात्तथाविधं नपुंसकं वा, 'डहरं' तरुणं, महल्लकं वा वृद्धं वा, वाशब्दान्मध्यमं वा, वन्दमानं सन्तं भद्रकोऽयमिति न याचेत, विपरिणामदोषात्। अन्यायजावेन याचितादाने न चैनं परुषं ब्रूयात्-वृथा ते वन्दनमित्यादि। पाठान्तरं वा-वन्दमानो न याचेत, लक्षिण्याकरणेन, शेषं पूर्ववदिति सूत्रार्थः॥ २९ ॥

तथा।

जे न वंदे न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स, सामन्नमणुचिट्ठइ॥ ३०॥

यो न वन्दते कश्चिद् गृहस्थादिः न तस्मै कुप्येत्,तथा वन्दितः केनचित् नृपादिना न समुत्कर्षेत्। एवमुक्तेन प्रकारेणान्वेषमाणस्य भगवदाज्ञामनुपालयतः श्रामण्यमनुतिष्ठत्यखण्डमिति सूत्रार्थः॥ ३०॥

स्वपक्षस्तेयप्रतिषेधमाह-

सिया एगइओ लद्धुं, लोजेण विणिगूहइ।
मा मेयं दाइयं संतं, दट्ठूणं सयमायए॥ ३१॥

स्यात्कदाचिदेकः कश्चिदत्यन्तजघन्यो लब्ध्वोत्कृष्टमाहारं लोभेनाभिष्वङ्गेण विनिगूहते, 'अहमेव भोक्ष्ये' इत्यन्तप्रान्तादिना छादयति। किमित्यत आह-मा ममेदं भोजनजातं दर्शितं सत् दृष्ट्वा आचार्यादिः स्वयमादद्यादात्मनैव गृह्णीयादिति सूत्रार्थः॥३१॥

अस्य दोषमाह-

अत्तट्ठगुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वइ।
दुत्तोसओ अ से होइ, निव्वाणं च न गच्छइ॥ ३२॥

आत्मार्थ एव जघन्यो गुरुः पापप्रधानो यस्य स आत्मार्थगुरुः लुब्धः सन् क्षुद्रभोजने बहु प्रभूतं पापं करोति, मायया दारिद्र्यं कर्मेत्यर्थः। अयं परलोकदोषः। इहलोकदोषमाह-दुस्तोषश्च जवति, येन केनचिदाहारेणास्य क्षुद्रसत्त्वस्य तुष्टिः कर्तुं न शक्यते, अत एव निर्वाणं च न गच्छति, इहलोक एव धृतिं न लभते। अनन्तसंसारिकत्वाद्वा मोक्षं न गच्छतीति सूत्रार्थः॥ ३२॥ दश० ५ अ० २ उ०।

(३४) भुञ्जानाद् याचनम्-

अह तत्थ कंचि भुंजमाणं पेहाए। तं जहा-गाहावइं वा० जाव कम्मकरिं वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा। आउसो ! त्ति वा भइणि ! त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अन्नयरं भोयणजायं, से सेवं वदंतस्स परो हत्थं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीतोदकवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेज्ज वा, पधोएज्ज वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा। आउसो ! त्ति वा जगिणि ! त्ति वा मा एतं तुमं हत्थं वा दव्विं वा भायणं वा सीतोदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेहि वा, पधोएहि वा, अभिकंखसि मे दातुं, एमेव दलयाहि, से सेवं वदंतस्स परो हत्थं वा० ४ सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलेत्ता पधोइत्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारेणं पुरेकम्मकरेणं हत्थेण वा० ४ असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अफासुयं अणेसणिज्जं० जाव णो पडिगाहेज्जा॥

(अह तत्थेत्यादि) अथ भिक्षुस्तत्र गृहपतिकुले प्रविष्टः सन् कञ्चन गृहपत्यादिकं भुञ्जानं प्रेक्ष्य भिक्षुः पूर्वमेवालोचयेत्-यथाऽयं गृहपतिः तद्भार्या वा,यावत्कर्मकरी वा भुङ्क्ते। पर्यालोच्य च सनामग्राहमाह। तद्यथा-(आउसो त्ति) अमुक इति गृहपते भगिनीत्यामन्त्र्य 'दास्यसि मे अस्मादाहारजातादन्यतरद्भोजनजातम्' इत्येवं याचेत, तच्च न वर्त्तते, एवं कर्तुं कारणे वा सत्येवं वदेत्-मथ (से) तस्य भिक्षोरेवं वदतो

याचमानस्य परो गृहस्थः कदाचिदुदकार्द्रं मात्रं दर्वीभाजनं वा शीतोदकविकटेन अप्कायेन उष्णोदकविकटेनोष्णोदकेनाप्रासुकेन त्रिदण्डोद्वृत्तेन पश्चाद्वा सचित्तीभूतेन (उच्छोलेज्ज त्ति) सकृदुदकेन प्रक्षालनं कुर्यात् [पहोएज्ज त्ति] प्रकर्षेण वा हस्तादेर्धावनं कुर्यात, स भिक्षुर्हस्तादिकं पूर्वमेव प्रक्षाल्यमानमालोचयेत्, दत्तावधानो भवेदित्यर्थः । तच्च प्रक्षाल्यमानमालोच्य 'अमुक' इत्येवं स्वनामग्राहं निवारयेत, यथा-मैवं कृथास्त्वमिति । यदि पुनरसौ गृहस्थः हस्तादिकं सचित्तोदकेन प्रक्षाल्य दद्यात, तदप्रासुकमिति ज्ञात्वा न प्रतिगृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

किञ्च—

दोण्हं तु भुंजमाणाणं, एगो तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, छंदं से पडिलेहए ॥ ३७ ॥

द्वयोर्भुञ्जतोः पालनां कुर्वतोरेकस्य वस्तुनः स्वामिनोरित्यर्थः । एकस्तत्र निमन्त्रयेत् तद्दानं प्रत्यामन्त्रयेत,तद्दीयमानं नेच्छेद्भुक्तसंगतः, अपि तु छन्दमभिप्रायम् (से) तस्य द्वितीयस्य, प्रत्युपेक्षेत नेत्रवक्त्रादिविकारैः,किमस्येदमिष्टं दीयमानं नवेति?, इष्टं चेद्, गृह्णीयात, न चेन्नैवेति । एवं भुञ्जानयोरभ्यवहारोद्यतयोरपि योजनीयम, यतो ' भुजिः ' पालनेऽभ्यवहारे च वर्तत इति सूत्रार्थः ॥ ३७ ॥

ततः—

दोण्हं तु भुंजमाणाणं, दो वि तत्थ निमंतए ।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, जं तत्थेसणियं भवे ॥ ३८ ॥

द्वयोस्तु पूर्ववद् भुञ्जतोः भुञ्जानयोर्वा,द्वावपि तत्रातिप्रसादेन निमन्त्रयेयाताम् । तत्रायं विधिः-दीयमानं प्रतीच्छेत् गृह्णीयात, यत्तत्रैषणीयं भवेत्तदन्यदोषरहितमिति सूत्रार्थः ॥ ३८ ॥ दश० ५ अ० १ उ० ।

(३५) आहारवस्तूनामत्युष्णग्रहणे विधिः-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा—असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अच्चुसिणं वा अस्संजए भिक्खुपडियाए सुवेण वा विहुवणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पेहुणेण वा पेहुणहत्थेण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्थेण वा मुहेण वा फूमेज्ज वा, वीएज्ज वा, से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो ! त्ति वा भगिणि ! त्ति वा मा एतं तुमं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अच्चुसिणं सुप्पेण वा०जाव फूमाहि वा, वीयाहि वा, अभिकंखसि मे दातुं, एमेव दलयाहि,से सेवं वदंतस्स परो सुप्पेण वा० जाव वीयित्ता आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं असणं वा०४ अफासुयं०जाव णो पडिगाहेज्जा ॥

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात् । यथा-अत्युष्णमोदनादिकम असंयतो भिक्षुप्रतिज्ञया शीतीकरणार्थं सूर्पेण वा, वीजनेन वा, तालवृन्तेन वा,मयूरपिच्छकृतव्यजनेनेत्यर्थः । तथा-पत्रेण वा,शाखया,शाखाभङ्गेन,पल्लवेनेत्यर्थः तथा वर्हेण,वर्हकलापेन वा,तथा वस्त्रेण वा वस्त्रकर्णेन वा मुखेन वा तथाप्रकारेणान्येन वा केनचित् (फूमेज्ज वेति) मुखवायुना शीतीकुर्यात्, हस्तादिभिर्वा वीजयेत,स भिक्षुः पूर्वमेवालोचयेत् दत्तोपयोगो भवेत्, तथाकुर्वाणं च दृष्ट्वैतद्वदेत । तद्यथा-अमुक इति वा भगिनीति वेत्यामन्त्र्य मैवं कृथा यद्यभिकाङ्क्षसि मे दातुम,तत एवं स्थितमेव ददस्व, अथ पुनः स परो गृहस्थः (से) तस्य भिक्षोरेवं वदतोऽपि सूर्पेण च यावन्मुखेन वा वीजित्वा आहृत्य तथाप्रकारमशनादिकं दद्यात, स च साधुरनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । नि० चू० ।

[३६] आधाकर्मिकादिविचारः-

इह खलु पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा संतेगतिया सड्ढा भवंति गाहावती वा० जाव कम्मकरी वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवति-जे इमे भवंति समणा भगवंतो सीलमंता वयमंता गुणमंता संजया संवुडा बंभचारिणो उवरया मेहुणाओ धम्माओ, णो खलु एतेसिं कप्पति आधाकम्मिए असणे वा०४ भोत्तए वा, पायत्तए वा, सेज्जं पुण इमं अम्हं अप्पणो सअट्ठाए णिट्ठितं । तं जहा—असणं वा० ४ सव्वमेयं समणाणं णिसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा वि अप्पणो सअट्ठाए असणं वा० ४ चेतेस्सामो, एयप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म तहप्पगारं असणं वा० ४ अफासुयं अणेसणिज्जं०जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

[इहेत्यादि] इहेति वाक्योपन्यासे, प्रज्ञापकक्षेत्रे वा । खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, प्रज्ञापकाद्यपेक्षया प्राच्यादौ दिशि सन्ति विद्यन्ते पुरुषाः, तेषु च केचन श्रद्धालवो भवेयुः,ते च श्रावकाः प्रकृतिभद्रका वा, ते चामी गृहपतिर्यावत्कर्मकरी वेति, तेषां चेदमुक्तपूर्वं भवेत्-णमिति वाक्यालङ्कारे, य इमे श्रमणाः साधवो भगवन्तः शीलवन्तोऽष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिणो व्रतवन्तो रात्रिभोजनविरमणषष्ठपञ्चमहाव्रतधारिणो गुणवन्तः पिण्डविशुद्ध्याद्युत्तरगुणोपेताः संयता इन्द्रियनोइन्द्रियसंयमवन्तः संवृता पिहिताश्रवद्वारा ब्रह्मचारिणो नवविधब्रह्मगुप्तिगुप्ताः उपरता मैथुनधर्म्मात् अष्टादशविकल्पब्रह्मोपेताः, एतेषां च न कल्पते आधाकर्मिकमशनादि भोक्तुं, पातुं वा, अतो यदात्मार्थमस्माकं निष्ठितं सिद्धमशनादि० ४, तत्सर्वमेतेभ्यः श्रमणेभ्यो [णिसिरामो त्ति] प्रयच्छाम । अपि च-वयं पश्चादात्मार्थमशनाद्यन्यत् चेतयिष्यामः संकल्पयिष्यामो निवर्तयिष्याम इति यावत्, तदेवं साधुरेवं निर्घोषं ध्वनिं स्वत एव श्रुत्वाऽन्यतो वा कुतश्चिन्निशम्य ज्ञात्वा तथाप्रकारमशनादि पश्चात्कर्मभयादप्रासुकमनेषणीयं मत्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ९ उ० ।

(३७) आकरखन्यादौ-

जे भिक्खू णवगनिवेसे अयआगरंसि वा तंबागरंसि वा तउआगरंसि वा सीसागरंसि वा रयणागरंसि वा वइरागरंसि वा अणुप्पविसित्ता असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ ३७ ॥

अयं लोहं, तं जत्थ उप्पज्जति, सो अयागारो, तंबं, सीसगं, हिरण्णं रुप्पयं सुवण्णं, वइरं रत्नविशेषः पाषाणकं, तत्थ जो गेण्हति, तस्स मासलहुं, आणादिया य दोसा ।

अयमाइआगरा खलु, जत्तियमित्ता य आहिया सुत्ते ।
तेसू असणादीणं, गिएहंताऽणाइणो दोसा ॥ ११० ॥
मंगले अमंगले वा, पवत्तणणिवत्तणे य थिरमथिरे ।
दोसा णिब्विसमाणे, इमे य दोसा णिविट्ठम्मि ॥ १११ ॥
पुढवि ससरक्ख हरिते, सचित्ते मीसए हिए संका ।
सयमेव कोइ गिएहति, तम्मीसाए अहव अएणो ॥ ११२ ॥

णवगणिवेसे असत्थोवहतं सचित्ता पुढवी, अहवा धाउमट्टिताखनिताए हत्था खरंटिता ससरक्खेण वा हत्थेण देज्ज, णवगणिवेसे वा हारियसंभवो सचित्तमीसस्स, तत्थऽऐण सुवण्णातिते हरिते साहू संकिज्जति । अहवा कोइ संजतो लुद्धो तण्णिक्खमिउकामो सयमेव गेएहति । अहवा-साहुणिस्साते अएणो कोइ गेएहति, तत्थ आसंकाए गेएहणकड्डणातिया दोसा, जम्हा एते दोसा तम्हा णवगणिवेसेसु णो गेएहेज्ज ।

कारणे गेएहेज्जा वि-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए व गलएणे ।
अद्धाणरोहए वा, जतणा गहणं तु गीयत्थे ॥ ११३ ॥
पूर्ववत् ॥ नि० चू० ५ उ० ।

(३८) आरण्यकादीनाम्-

जे भिक्खू आरणयाणं वणड्डयाणं अडवीजत्ताए पट्ठियाणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पडिगाहेइ, पडिगाहंतं वा साइज्जइ ॥ १७ ॥

" जे आरणाणं वणट्ठाणं अडविजत्ताए पयट्ठिणं इत्यादि " अरएणं गच्छंतीति आरएणगा, वणं ठावंतीति वणट्ठा, आरएया वनार्थाय धावन्तीत्यर्थः । तेसिं जत्तापट्ठियाणं जो असणाती गेएहति, जत्तापडिणियत्ताणं असणादिसेसं, खउरादि वा, जो गेएहति, तस्स आणादी दोसा, चउलहुं च पच्छित्तं ।

तएकट्ठाऽऽहारगादी, आरएणं वणं च काउ विष्णेया ।
अडविं पविसंताणं, णियत्तमाणाण तत्तो य ॥ ३२१ ॥

आदिसद्दातो पुप्फफलमूलकंदादीणि, तेसिं वणट्ठाणं अडविं विसंताणं जं संबलं कतं, तओ णियत्ताणं जं किंचि चुएणादी, सेसं कंठं ।

तणकट्ठपुप्फफलमू-लकंदपत्तादिहारका चेव ।
पत्थयणं वचंता, करेंति पविसंत सेसं च ॥ ३२२ ॥

तणादिहारगा अडविं पविसंता अप्पणो पत्थयणं करेंति, सेसं तच्चरियं ।

अडविं पविसंताणं, अहवा पत्ते य पडिणियत्ताणं ।
जे भिक्खू असणादी, पडिच्छते आणमादीणि ॥ ३२३ ॥

इमो लो-

पच्छाकम्ममतीते, णियट्टमाणे य बंध वा तेसिं ।
अत्थिज्जा णु तदा सा, तइव्वे अएणदव्वे य ॥ ३२४ ॥

अडविं पविसंतेणं जं संबलं कयं, तं साधूणं दातुं पच्छा अप्पणो अरणं करेति, स णियट्टणे वि ण घेत्तव्वं, तेसिं बंध वा, तइव्वे अएणदव्वे वा कया, सा अत्थेज्जा, तद्दव्वं जं चेव घरातो णीतं, अएणदव्वं-जं अडवीए कंदचुएणादि उप्पज्जति ।

पत्थयणं दाउं इमं करेंति-

कम्मं कीतं पामि-च्चियं च अच्छेज्जऽगहणे विगिच्छं ।
कंदादीण व घातं, करेंति पंचिंदियाणं च ॥ ३२५ ॥

अप्पणो कम्मं ति अएणं करेंति, अप्पणो वा कीणाति, पामिच्चं ति उच्छिएहं गेएहंति, अएणेसिं वा अच्छिंदंति, अह ण गेएहंति पत्थयणं, तो विगिच्छंति छुहाए, जं अणागाढादि परितावज्जति । अहवा-भुक्खितो कंदादि गेएहति, तत्थ परित्ताणंतणिप्फएणं, अहवा-भुक्खितो जं आवगतित्तिरादि घातिस्सति, परितावणादिणिप्फएणं, तेसु चरिमं । आरएणातो णिगच्छेमाणाए जो गेएहति तस्स इमे दोसा-

गाहा-

चुएण खउरादि दाउं, कप्पट्ठग देइ कोव जइ गोणे ।
वइए अएणायणे, खउरादि वऽसंखडे भोई ॥ ३२६ ॥

चुएणो वदरादियाण, गोरखदिरमादियाण खउरो, जत्तसेसं वा साधूणं दाउं कप्पट्ठिएहिं पुत्तणत्तुभत्तिज्जगादिएहिं अएणेहि य तदासाए अत्थमाएणेहिं जातिज्जमाणो जे वणे कंदे मूले चुएणखउरभत्तसेसं वा । ते भणंति-दिएणा मेहिं साधूणं, एवं भएणंते ते परुएणा रुएणं करेंताणि, ताणि दट्ठूणं पदोसं गच्छेज्ज, जहा गावो पिंडणिउजुत्तीए, तेसु वा वइंतेसु अडवीओ अएणं वा आणेति, खउरादिजोइत्ति भारियातिए सह असंखडं भवति, अंतरायदोसा य, जम्हा एवमादि दोसा, तम्हा वणं पविसंताणं णेताण वा ण घेत्तव्वं भवे ।

कारणे तु-

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे जए व गेलएणे ।
अद्धाणरोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्थे ॥ ३२७ ॥

(जयण त्ति) पणगपरिहाणीए जाए चउलहुं पत्तो ताहे सावसेसं गेएहंति । नि० चू० १६ उ० ।

[३६] वस्सवेसु अर्द्धमासिकादिषु-

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अट्ठमिपोसहिएसु वा अद्धमासिएसु वा मासिएसु वा दोमासिएसु वा तेमासिएसु वा चाउम्मासिएसु वा पंचमासिएसु वा छम्मासिएसु वा उऊसु वा उऊसंधीसु वा उऊपरियट्टेसु वा बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगे एगातो उक्खातो परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए तिहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए चउहिं उक्खाहिं परिएसिज्जमाणे पेहाए कुंभीमुहातो वा कलोवातितो वा सणिहिसणिचयाओ वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अपुरिसंतरकडं ०जाव अणासेवितं अफासुयं अणेसणिज्जं० जाव णो पडिगाहेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा-पुरिसंतरकडं० जाव आसेवितं फासुयं० जाव पडिगाहेज्जा ॥

स भिक्षुर्यत्पुनरशनादिकमाहारमेवंभूतं जानीयात् । तद्यथा—अष्टम्यां पौषध उपवासादिकः अष्टमीपौषधः, स विद्यते येषां ते अष्टमीपौषधिका उत्सवाः । तथा अर्द्धमासिकादयश्च, ऋतुसंधिः ऋतोः पर्यवसानम्, ऋतुपरिवर्त्तः ऋत्वन्तरमित्यादिषु बहून् श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवनीपकानेकस्मात्पिठरगाद् गृहीत्वा कूरादिकं (परिएसिज्जमाणे त्ति) तद्दीयमानादारेण भोज्यमानान् प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, एवं द्विकादिकादपि पिठरकाद् गृहीत्वेत्यायोजनीयमिति । पिठरक एव संकटमुखः कुम्भी (कलोवातितो) पच्छीपिटकं वा तस्माद्वि. कस्मादिति, (संनि) संनिधिर्गोरसादेः सन्निचयः. तस्माद्वेति (परिएसिज्जमाणं पेहाए त्ति) एवंभूतं पिण्डं दीयमानं दृष्ट्वा अपुरुषान्तरकृतादिविशेषणमप्रासुकमनेषणीयमिति मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति । एतदेव सविशेषणं ग्राह्यमाह–"अहेत्यादि" अथ पुनः स भिक्षुरेवंभूतं जानीयात्ततो गृह्णीयादिति संबन्धः । तद्यथा–पुरुषान्तरकृतमित्यादि ।

साम्प्रतं येषु कुलेषु भिक्षार्थं प्रवेष्टव्यं, तान्यधिकृत्याह–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा–असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा समवाएसु वा पिंडणियरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा रुद्दमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूतमहेसु वा जक्खमहेसु वा णागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तमागमहेसु वा दहमहेसु वा णदीमहेसु वा सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अण्णतरेसु वा तहप्पगारेसु विरूवरूवेसु महामहेसु वट्टमाणेसु बहवे समणमाहणअतिथिकिवणवणीमएसु एगातो उक्खातो परिएसिज्जमाणे पेहाए दोहिं० जाव सण्णिहिसण्णिचयातो वा परिएसिज्जमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा० ४ अपुरिसंतरकडं वा० जाव णो पडिगाहेज्जा, अह पुण एवं जाणेज्जा–दिण्णं जं तेसिं दायव्वं, अह तत्थ भुंजमाणं पेहाए गाहावतिभारियं वा गाहावतिभगिणिं वा गाहावतिपुत्तं वा गाहावतिधूयं वा सुण्हं वा धातिं वा दासं वा दासिं वा कम्मकरं वा कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोएज्जा–आउसे त्ति वा भगिणि त्ति वा दाहिसि मे एत्तो अण्णयरं भोयणजायं, सेवं वदंतस्स परो असणं वा० ४ आहट्टु दलएज्जा, तहप्पगारं असणं वा० ४ सयं वा णं जाएज्जा, परो वा से देज्जा, फासुयं० जाव पडिगाहेज्जा ॥

तथा "से भिक्खू" इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारादिकं जानीयात तद्पुरुषान्तरकृतादिविशेषणम् । अप्रासुकमनेषणीयमिति मन्यमानो न गृह्णीयादिति सम्बन्धः । तत्र समवायो मेलकः संखच्छेदश्रेण्यादेः पिण्डनिकरः पितृपिण्डं मृतकभक्तमित्यर्थः । इन्द्रोत्सवः प्रतीतः, स्कन्दः स्वामिकार्तिकेयस्तस्य महिमा पूजा विशिष्टे काले क्रियते । रुद्रादयः प्रतीताः, नवरं मुकुन्दो बलदेवः, तदेवंभूतेषु नानाप्रकारेषु प्रकरणेषु सत्सु तेषु च यदि यः कश्चित् श्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवनीपकादिरापतति, तस्मै सर्वस्मै दीयत इति मन्यमानो पुरुषान्तर इति कृतादिविशेषणविशिष्टमाहारादिकं न गृह्णीयात् । अथापि सर्वस्मै न दीयते, तथापि जनाकीर्णमिति मन्यमान एवंभूते संखडिविशेषे न प्रविशेदिति । एतदेव सविशेषणं ग्राह्यमाह–" अहेत्यादि " अथ पुनरेवंभूतमाहारादिकं जानीयात् । तद्यथा–दत्तं यत्तेभ्यः श्रमणादिभ्यो दातव्यमथानन्तरं तत्र स्वत एव तान् गृहस्थान् भुञ्जानान् प्रेक्ष्य दृष्ट्वा आहारार्थी तत्र यायात् तान् गृहस्थान्, स्वनामग्राहमाह । तद्यथा-गृहपतिभार्यादिकं भुञ्जानं पूर्वमेवाऽऽलोकयेत् पश्येत प्रश्नं प्रश्नसंदिष्टं वा ब्रूयात् । तद्यथा-आयुष्मति! भगिनीत्यादि दास्यसि मह्यमन्यतरद्भोजनजातमित्येवं वदते साधवे परो गृहस्थ आहृत्याऽशनादिकं दद्यात् । अत्र च जनसंकुलत्वात् सति वाऽन्यस्मिन् कारणे स्वत एव साधुर्याचेत, अयाचितो वा गृहस्थो दद्यात्, तत्प्रासुकमेषणीयमिति मन्यमानो गृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ० ।

जे भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणेज्जा । तं जहा–उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइण्णकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खागकुलाणि वा हरिवंसकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसियकुलाणि वा गंडागकुलाणि वा कोट्टागकुलाणि वा गामरक्खकुलाणि वा वोक्कसालियकुलाणि वा अण्णयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगुंछिएसु वा अगरहितेसु वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा फासुयं एसणिज्जं० जाव पडिगाहेज्जा ।

" से भिक्खू " इत्यादि । स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रवेष्टुकामो यानि पुनरेवंभूतानि जानीयात्, तेषु प्रविशेदिति संबन्धः । तद्यथा–उग्रा आरक्षिका भोगा राज्ञः पूज्यस्थानीया राजन्याः सखिसंस्थानीयाः क्षत्रिया राष्ट्रकूटादय इक्ष्वाकव ऋषभस्वामिवंशिकाः हरिवंश्या हरिवंशजा अरिष्टनेमिवंशस्थानीयाः (एसिय त्ति] गोष्ठाः वैश्या वणिजः गण्डकाः नापिताः, ये हि ग्रामे उद्घोषयन्ति, कोट्टागाः काष्ठतक्षकाः, वर्द्धकिन इत्यर्थः । बोक्कशालियाः तन्तुवायाः, कियन्तो वा वक्ष्यन्ते ?, इत्युपसंहरति-अन्यतरेषु वा तथाप्रकारेष्वजुगुप्सितेषु कुलेषु नानादेशविनेयसुखप्रतिपत्त्यर्थं पर्यायान्तरेण दर्शयत्यगर्ह्येषु, यदि वा–जुगुप्सितानि चर्मकारकुलादीनि, गर्ह्याणि दास्यादिकुलानि, विपर्यभूतेषु कुलेषु लभ्यमानमाहारादिकं प्रासुकमेषणीयमिति मन्यमानो गृह्णीयादिति । आचा० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

(४०) इक्ष्वादिखण्डादि–

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा-अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुमेरगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा संबलिं वा संबलिथालगं वा अस्सिं खलु पडिग्गाहियंसि अप्पे सिया भोयणजाए बहु उज्झियधम्मिए तहप्पगारं अंतरुच्छुयं वा० जाव संबलिथालगं वा अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा ।

" से " इत्यादि । स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारजातं जा-

नीयात्। तद्यथा-(अंतरुच्छुयं व त्ति) इक्षुपर्वमध्यम। (उच्छुगंमियं त्ति) सपर्वेक्षुसकलम् (चोयगं) पीलितेक्षुच्छोदिकं [मेरुगं ति] अग्रम [सालगं ति] दीर्घशाखा [मालगं ति] शाखैकदेशः [संबलि त्ति] मुद्गादीनां विध्वस्तफलिः [संबलिथालगं ति] वल्लादिफलीनां पाकः । अत्रैवंभूते परिगृहीतेऽप्यन्तरिक्ष्वादिकल्पमशनीयं बहु परित्यजनधर्मकमिति मत्वा न गृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० १० उ० ।

परणीकादिप्रतिषेधाधिकारादिदमाह-

उप्पलं पउमं वा वि, कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए ॥ १४ ॥

उत्पलं नीलोत्पलादि, पद्ममरविन्दं वाऽपि, कुमुदं वा गर्दभकं वा, मगदन्तिकां मेत्तिकां, मल्लिकामित्यन्ये, तथा-अन्यद्वा पुष्पं सचित्तं शाल्मलीपुष्पादि, तच्च संलुञ्च्यापनीय छित्वा, दद्यादिति सूत्रार्थः ॥ १४ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १५ ॥
उप्पलं पउमं वावि, कुमुयं वा मगदंतियं ।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संमद्दिया दए ॥ १६ ॥
तं भवे भत्त पाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दिंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ १७ ॥

तादृशं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत-न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥ एवं तच्च संमृद्य दद्यात् । संमर्दनं नाम-पूर्वछिन्नानामेवापरिणतानां मर्दनम् । शेषं सूत्रद्वयेऽपि तुल्यम् । आह-एतत्पूर्वमप्युक्तमेव-" संमद्दमाणी पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य ।" इत्यत्र । उच्यते-सामान्येन विशेषाभिधानाददोषः ॥१७॥

तथा-

सालुयं वा विरालियं, कुमुयं उप्पलनालियं ।
मुणालियं सासवनालियं, उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥१८॥

सालूकं वा उत्पलकन्दं, विरालिकां पलासकन्दरूपां, पर्ववल्लिप्रतिपर्ववल्लिप्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये, कुमुदोत्पलनाली प्रतीतौ, तथा मृणालिकां पद्मिनीकन्दोत्थां, सर्षपनालिकां सिद्धार्थकमञ्जरीं, तथा इक्षुखण्डम, अनिर्वृतं सचित्तम । एतच्चानिर्वृतग्रहणं सर्वत्राभिसंबध्यत इति सूत्रार्थः ॥ १८ ॥

किं च-

तरुणगं वा पवालं, रुक्खस्स तणगस्स वा ।
अन्नस्स वा वि हरियस्स, आमगं परिवज्जए ॥ १९ ॥

तरुणं वा प्रवालं पल्लवं वृक्षस्य चिञ्चिणिकादेः, तृणस्य वा मधुरतृणादेः अन्यस्य वाऽपि हरितस्याऽऽर्द्रकादेः आमम अपरिणतं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ १९ ॥

तथा—

तरुणियं वा छिवाडिं, आमियं भज्जियं सइं ।
दिंतियं पडिआइक्खे,न मे कप्पइ तारिसं ॥२०॥

तरुणां वा असंजातां (छिवाडिमिति) मुद्गादिफलिम, आमामसिद्धां सचेतनां, तथा भर्जितां सकृदेकवारं ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मम कल्पते तादृशं भोजनमिति सूत्रार्थः ॥२०॥

तहा कोलमणुस्सिन्नं, वेणुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं, आमगं परिवज्जए ॥ २१ ॥

तथा कोलं बदरम अस्विन्नं वह्न्युदकयोगेनाऽनापादितविकारान्तरं, वेणुकं वंसकरिल्लं, कासवनालिकं श्रीपर्णीफलम, अस्विन्नमिति सर्वत्र योज्यम । तिलपर्पटं पिष्टतिलमयम,नीमं नीमफलम, आमं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ २१ ॥

तहेव चाउलं पिट्ठं, वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठ पूइपिन्नागं, आमगं परिवज्जए ॥ २२ ॥

तथैव तान्दुलं पिष्टं, लोट्टमित्यर्थः । विकटं वा शुद्धोदकं, तप्तनिर्वृतं क्वथितं सत् शीतीभूतं, तप्तानिर्वृतम वा अप्रवृत्तत्रिदण्डं, तिलपिष्टं तिललोट्टं, पूतिपिण्याकं सर्षपखलम, आमं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥ २२ ॥

कविट्ठं माउलिंगं च, मूलगं मूलवत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं, मणसा वि न पत्थए ॥ २३ ॥

कपित्थं कपित्थफलं, मातुलिङ्गं च बीजपूरकं, मूलकं सपत्रजालकं,मूलवर्त्तिकां मूलकन्दचक्कलिम्,आमाम्,अशस्त्रपरिणतां स्वकायशस्त्रादिनाऽविध्वस्ताम; अनन्तकायत्वात् गुरुत्वख्यापनार्थमुक्तम् । मनसाऽपि न प्रार्थयेदिति सूत्रार्थः ॥२३॥

तहेव फलमंथूणि, बीयमंथूणि जाणिय ।
विहेलगं पियालं च, आमगं परिवज्जए ॥ २४ ॥

तथैव फलमन्थून् बदरचूर्णान्,बीजमन्थून् यवादिचूर्णान्,ज्ञात्वा प्रवचनतो विभीतकं विभीतकफलं, प्रियालं वा प्रियालफलं च, आममपरिणतं परिवर्जयेदिति सूत्रार्थः ॥२४॥ दश०५ अ०२ उ०।

उन्मिश्रम्—

असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं, बीएसु हरिएसु वा ॥ ५७ ॥

अशनं पानकं वाऽपि खाद्यं स्वाद्यं तथा पुष्पैर्जातिपाटलादिभिर्भवेदुन्मिश्रं बीजैर्हरितैर्वेति सूत्रार्थः ॥ ५७ ॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥

तादृशं भक्तपानं तु संयतानामकल्पिकं, यतश्चैवमतो ददतीं प्रत्याचक्षीत, न मम कल्पते तादृशमिति सूत्रार्थः ॥५८॥ दश० ५ अ० १ उ० । (उद्गमोत्पादनादोषाः स्वस्वस्थाने निरूपिताः)

(४१) साम्प्रतमौषधिविषयं विधिमाह-

से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुपविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहिओ जाणेज्जा-कसिणाओ सासियाओ अविदलकडाओ अतिरिच्छच्छिण्णाओ अव्वोच्छिण्णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अणभिक्कंताभज्जितं पेहाए अफासुयं अणेसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

"से भिक्खू वेत्यादि।" स भावभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्याः पुनरौषधीः शालिबीजादिका एवंभूता जानीयात्। तद्यथा-(कसिणाओ त्ति) कृत्स्नाः संपूर्णा अनुपहताः। अत्र च द्रव्यभावाभ्यां चतुर्भङ्गिका-तत्र द्रव्यकृत्स्ना अशस्त्रोपहताः, भावकृत्स्नाः सचित्ताः, तत्र कृत्स्ना इत्यनेन चतुर्भङ्गकेषु आद्यं भङ्गत्रयमुपात्तम। (सासियाओ त्ति) जीवस्य स्व आत्मीय उत्पत्तिप्रत्ययो यासु ताः स्वाश्रयाः,अविनष्टयोनय इत्यर्थः। आगमे च कासांचिदौषधीनामविनष्टयोनिकालः पठ्यते। तदुक्तम्-"एतेसि णं भंते! सालीणं केवइयं कालं जोणी संचिट्ठइ?" इत्याद्यालापकाः। (अविदलकडाओ त्ति) न द्विदलकृता अद्विदलकृता अनूर्द्धपाटिता इत्यर्थः। (अतिरिच्छच्छिण्णाओ त्ति) तिरश्चीनं छिन्नाः कन्दलीकृताः,तत्प्रतिषेधादतिरश्चीनछिन्नाः। एताश्च द्रव्यतः कृत्स्नाः, भावतो नाउयाः (अव्वोच्छिन्नाओ त्ति) व्यवच्छिन्नजीवरहिताः, न व्यवच्छिन्ना अव्यवच्छिन्नाः,भावतः कृत्स्ना इत्यर्थः। तथा [तरुणियं वा छिवाडिं ति] तरुणीमपरिपक्काम [छिवाडि त्ति] मुद्गादेः फलिम। तामेव विशिनष्टि-[अणभिक्कंताभज्जियं ति] न अभिक्रान्ता जीवितादनभिक्रान्ता, सचेतनेत्यर्थः। इति अभञ्जितामभग्नाममर्दितामविराधितामित्यर्थः। इति प्रेक्ष्य दृष्ट्वा तदेवंभूतमाहारजातमप्रासुकमनेषणीयं वा मन्यमानः लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्।

साम्प्रतमेतदेव सूत्रं विपर्ययेणाऽऽह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणेज्जा-अकसिणाओ असासियाओ विदलकडाओ तिरिच्छच्छिण्णाओ अव्वोच्छिण्णाओ तरुणियं वा छिवाडिं अभिकंतभज्जियं पेहाए फासुयं एसणिज्जं ति मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

"से भिक्खू वा" इत्यादि। स एव भावभिक्षुर्याः पुनरौषधीरेवं जानीयात्। तद्यथा-अकृत्स्ना असंपूर्णा द्रव्यतो भावतश्च पूर्ववत्, अस्वाश्रयो विनष्टयोनयः, द्विदलकृता ऊर्द्धपाटिताः, तिरश्चीनछिन्नाः कन्दलीकृताः,तथा तरुणिकां वा फलीं, जीविताद्पक्रान्तां भग्नां चेति, तदेवंभूतमाहारजातं प्रासुकमेषणीयं च मन्यमानो लाभे सति कारणे गृह्णीयादिति।

ग्राह्याग्राह्याधिकार एवाऽऽहारविशेषमधिकृत्याऽऽह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविसमाणे से जाओ पुण जाणेज्जा-पिहुयं वा बहुरयं वा भज्जियं वा मंथुं वा चाउलं वा चाउलपलंबं वा सइं संभज्जियं अफासुयं अणेसणिज्जं मण्णमाणे लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ॥

"से भिक्खू वा" इत्यादि। स भावभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् इत्यादि पूर्ववद्यावत् (पिहुयं व त्ति) पृथुकं,जातावेकवचनम। नवस्य शालिव्रीह्यादेरग्निना ये लाजाः क्रियन्ते त इति, बहुरजस्तुषादिकं यस्मिंस्तद् बहुरजः। (भज्जियं ति) अग्न्यर्द्धपक्कं गोधूमादेः शीर्षकम्, अन्यद्वा तिलगोधूमादि, तथा गोधूमादेर्मन्थुं चूर्णं, तथा चाउलास्तण्डुलाः शालिव्रीह्यादेः, त एव चूर्णीकृतास्तत्कणिका वा (चाउलपलंबं ति) तदेवंभूतं पृथुकाद्याहारजातं सकृदेकवारम (संभज्जियं ति) आमर्दितं किञ्चिदग्निना किञ्चिदपरशस्त्रेणाप्रासुकमनेषणीयं मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्।

एतद्विपरीतं ग्राह्यमित्याह-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा-पिहुयं वा० जाव चाउलपलंबं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा भज्जियं तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्जं० जाव लाभे संते पडिगाहेज्जा ॥

"से भिक्खू वा" इत्यादि पूर्ववत्, नवरं यदसकृदनेकशोऽग्न्यादिना पक्वमामर्दितदुरभिपक्कादिदोषरहितं प्रासुकं मन्यमानो लाभे सति गृह्णीयादिति। आचा० २ श्रु० १ अ० २ उ०।

(४२) क्रीतप्रायादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अस्सपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं भूताइं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ ति तं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं वा बहिया नीहडं वा अणीहडं वा अत्तट्ठियं वा अणत्तट्ठियं वा परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा आसेवियं वा अणासेवियं वा अफासुयं वा० जाव णो पडिगाहेज्जा, एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ समुद्दिस्स चत्तारि आलावगा भाणियव्वा ॥

"से भिक्खू" इत्यादि। स भिक्षुर्यावत् गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नेवंभूतमाहारजातं नो प्रतिगृह्णीयादिति सम्बन्धः। (अस्सपडियाए त्ति) न विद्यते स्वं द्रव्यमस्य सोऽयमस्वः,निर्ग्रन्थ इत्यर्थः। तत्प्रतिज्ञया कश्चिद् गृहस्थः प्रकृतिभद्रक एकं साधर्मिकं साधुं समुद्दिश्य निस्वोऽयमित्यभिसंधाय प्राणिनो भूतानि जीवाः सत्त्वाश्चैतेषां किञ्चिद्भेदात् भेदः,तान् समारभ्येत्यनेन मध्यग्रहणात्संरम्भसमारम्भा गृहीताः, एतेषां च स्वरूपमिदम- "संकप्पो संरंभो, परियावकरो भवे समारंभो । आरंभो, उद्दवओ, सुद्धणयाणं तु सव्वेसिं ॥" इत्येवं समारम्भादि समुद्दिश्याधिकृत्य कर्म कुर्यादित्यनेन सर्वा विशुद्धिकोटिर्गृहीता। तथा क्रीतं मूल्यगृहीतं,(पामिच्चं) उच्छिन्नकम,आच्छेद्यं परस्माद्बलादाच्छिन्नम, (अणिसट्ठं ति) अनिसृष्टं तत् स्वामिना अनुत्संकलितं, चोलकादि अभ्याहृतं गृहस्थेनाऽऽनीतं, तदेवंभूतं क्रीताद्याहृत्य (चेएइ त्ति) ददात्यनेनापि समस्ता विशुद्धिकोटिर्गृहीता, तदाहारजातं चतुर्विधमपि तथाप्रकारमाधाकर्मादिदोषदुष्टं यो ददाति तस्मात् पुरुषादपरः पुरुषः पुरुषान्तरं, तत्कृतं वा,अपुरुषान्तरकृतं वा,तेनैव दात्रा कृतं,तथा-गृहान्निर्गतमनिर्गतं वा, तथा-तनैव दात्रा स्वीकृतमस्वीकृतं वा, तेनैव दात्रा तस्माद्भुक्तं परिभुक्तमपरिभुक्तं वा, तथा स्तोकस्वादितमनास्वादितं वा, तदेवमप्रासुकमनेषणीयं च मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादित्येतत् प्रथमचरमतीर्थकृतोरकल्पनीयम, मध्यतीर्थकराणां त्वन्यस्य कल्पत इति, एवं बहून् साधर्मिकान् समुद्दिश्य प्राग्वद् वाच्यम। तथा साध्वीसूत्रमप्येकत्वबहुत्वाभ्यां योजनीयमिति। आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ०।

(४३) नौकागमन-

जे भिक्खू णावाए णावागयस्स असणं वा पाणं वा

खाइमं वा साइमं वा पमिगाहेइ, पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥१९॥ जे भिक्खू णावाउ जलगयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥ २० ॥ जे भिक्खू णावाउ पंकगयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥२१॥ जे भिक्खू णावाउ थलगयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ,पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥२२॥ जे भिक्खू जलगओ णावागयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ,पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥२३॥ जे भिक्खू जलगओ जलगयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ, पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥२४॥ जे भिक्खू जलगओ पंकगयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू जलगओ थलगयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पडिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥२६॥ जे भिक्खू पंकगओ णावागयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥२७॥ जे भिक्खू पंकगओ पंकगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ, पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥ जे भिक्खू पंकगओ जलगयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ,पडिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥२९॥ जे भिक्खू पंकगओ थलगयस्स असणं वा०४ पडिगाहेइ,पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥ जे भिक्खू थलगओ णावागयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥३१॥ जे भिक्खू थलगओ जलगयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ, पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥ जे भिक्खू थलगओ पंकगयस्स असणं वा०४ पमिगाहेइ,पडिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥ जे भिक्खू थलगओ थलगयस्स असणं वा० ४ पमिगाहेइ, पमिगाहेंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

गाहा-

णावेँ जले पंकेँ थले, संजोगा तत्थ होंति णायव्वा ।
तत्थ गएणं एक्को, गमणाऽऽगमणेण बितिओ उ ॥२८॥

णावागतो भिक्खू णावागयस्सेव दायगस्स हत्थातो असणादीहिं पमिगाहेति, तस्स चउलहुं । अएणेसु तिसु भंगेसु भिक्खू णावागतो चेव, दायगा जलपंकथलगता, एतेसु चउरो भंगा। अन्नेसु चउभंगेसु भिक्खू जलगतो, दायगा णावाजलपंकथलगता। अन्नेसु चउसु भिक्खू पंकगओ, दायगा णावाजलपंकथलगता । अन्नेसु चउसु भिक्खू थलगतो, दायगा णावाजलपंकथलगता। एते सव्वे सोलससु वि पत्तेयं चउलहुं, णावगते दायगे पमिसेहो । एतेसु णावजलपंकथलपदेसु ठितो भिक्खू दायगस्स सट्ठाणपरट्ठाणसंजोगेण ठियस्स हत्थाओ गेएहंतस्स दुगसंजोगाऽभिलावं अमुंचतेण सोलस भंगा कायव्वा, पूर्ववत् । तत्थ कमं दरिसेइ-(तत्थ गएणं एक्को त्ति) णावारूढो णावागयस्स हत्थातो गेएहति, एस पढमभंगो, णावागतो जलगयस्स क्कद्रायगस्स आगच्छमाणस्स अवठियस्स हत्थातो गेएहति, एवं पंकथलेसु वि गमणागमणेण ततियचउत्थभंगा । एवं सेसभंगा वि बारस कायव्वा भाणियव्वा ।

गाहा —

एत्तो एगतरेणं, संजोगेणं तु जो उ पमिगाहे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥२९॥

कएठ्या । सोलसमभंगो-थलगओ थलगतस्स समुद्दस्स अंतरदीवे संभवति । सा पुढवी सचित्ता, मीसा वा, ससणिद्धा वा, तेण पमिसिज्झति ।

इमं वितियपदं—

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने ।
अद्धाणरोहए वा, जयणा गहणं तु गीयत्था ॥ ३० ॥

जयणा पणगपरिहाणी, मीसपरंपरठितादि वा जयणा, भाणियव्वा । नि० चू० १७ उ० ।

[४४] तएमुलप्रलम्बादि-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा-पिहुयं वा बहुरयं वा० जाव चाउलपलंबं वा असंजए भिक्खुपमियाए चित्तमंताए सिलाए० जाव मक्कडसंताणाए कोट्टेंसु वा, कोट्टेंति वा, कोट्टिस्संति वा, उप्पिणिंसु वा, उप्पिणिंति वा, उप्पिणिस्संति वा, तहप्पगारं पिहुं वा० जाव चाउलपलंबं वा अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा ।

"से भिक्खू वा " इत्यादि । स भिक्षुर्भिक्षार्थं गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात् । तद्यथा-पृथुकं शाल्यादिलाजान् (बहुरयं ति) बहुकम (चाउलपलंबं ति) अर्द्धपक्वशाल्यादिकणादिकमित्यचमादिकमसंयतो गृहस्थोऽभिक्षुप्रतिज्ञया भिक्षुमुद्दिश्य चित्तमत्यां शिलायां तथा सबीजायां सहरितायां साएरायां यावन्मर्कटसन्तानोपेतायामकुट्टिषुः कुट्टितवन्तः,तथा कुट्टन्ति, कुट्टिष्यन्ति वा । एकवचनाधिकारेऽपि च्छान्दसत्वात् तद्व्यत्ययेन बहुवचनं द्रष्टव्यम् । पूर्वत्र वा जातावेकवचनम्, तत्र पृथुकादिकं सचित्तं वाऽचित्तमत्यां शिलायां कुट्टयित्वा (उप्पिणिंसु त्ति) साध्वर्थं वा तावद्दत्तवन्तो, ददति, दास्यन्ति वा, तदेवं तथाप्रकारं पृथुकादि ज्ञात्वा लाभे सति नो प्रतिगृह्णीयादिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अगणिणिक्खित्तं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अफासुयं० जाव लाभे संते णो पडिगाहेज्जा, केवली बूया-आयाणमेतं असंजए भिक्खुपमियाए उस्सिंचमाणे वा निस्सिंचमाणे वा आमज्जमाणे वा पमज्जमाणे वा उत्तारेमाणे वा उप्पएणेमाणे वा अगणिजीवे हिंसेज्जा वा, अह भिक्खूणं पुव्वोवदिट्ठा एस पइएणा एस हेतू एस कारणं एसुवएसो जं तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा अगणिणिक्खित्तं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा ।

" से भिक्खू वेत्यादि ।" स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टश्चतुर्विधमप्याहारमग्न्युपरि निक्षिप्तं तथाप्रकारं ज्वालासंबद्धं लाभे

सति न प्रतिगृह्णीयात् । अत्रैव दोषमाह-केवली ब्रूयात्-आदानं कर्मादानमेतदिति । तथाहि-असंयतो गृहस्थः भिक्षुप्रतिज्ञया तत्राप्युपरि व्यवस्थितमाहारमुत्सिञ्चन् आक्षिपन्, निस्सिञ्चन् हस्तोद्धरितं प्रक्षिपन्,तथा मार्जयन् सकृत् हस्तादिना शोधयन्, तथा प्रकर्षेण मार्जयन् शोधयन्, तथाऽवतारयन्, तथा प्रवर्तयन् तिरश्चीनं कुर्वन् अग्निजीवान् हिंस्यादिति । अथानन्तरं भिक्षूणां साधूनां पूर्वोद्दिष्टा एषा प्रतिज्ञा, एष हेतुः, एतत्कारणम्,अयमुपदेशो,यत् तथाप्रकारमग्निसंबद्धमशनाद्यग्निनिक्षिप्तमप्रासुकमनेषणीयमिति ज्ञात्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

(४५) पर्युषिताहारो न ग्राह्यः-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पारिवासियस्स आहारस्स० जाव तयप्पमाणमित्तमवि भूमिप्पमाणमित्तमवि तोयबिंदुप्पमाणमित्तमवि आहारमाहारित्तए नऽन्नत्थ आगाढं सरोगायंकेसु ॥

अस्य संबन्धमाह-

उदिओऽयमणाहारो, इमं तु सुत्तं पडुच्च आहारं ।
अत्थे वा निसि मोयं, पिज्जति सेसं पि माए व ॥

अयं मोकलक्षणो अनाहारः पूर्वसूत्रे उदितो भणितः । इदं तु सूत्रमाहारं प्रतीत्याऽऽरभ्यते । अर्थतो वा निशि मोकं पीयत इत्युक्तम् । अतः शेषमप्याहारादिकमेवं रात्रौ आहारयेदिति प्रस्तुतं सूत्रमारभ्यते । अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां निर्ग्रन्थीनां वा परिवासितस्याऽऽहारस्य मध्यात् त्वक्प्रमाणमात्रमपि भूतिप्रमाणमात्रमपि तोयबिन्दुप्रमाणमात्रमपि यावदाहारमाहर्तुम् । त्वक्प्रमाणमात्रं नाम-तिलतुषत्रिभागमात्रं,तच्चाशनस्य घटते । भूमिप्रमाणमात्रम्-(एतदग्रेतनस्तु 'पारियासिय' शब्दे वक्ष्यते) [बृ०] [सेसं ति] शेषमाहारं तस्य परिवासितस्य यदि तिलतुषत्वङ्मात्रमप्याऽऽहरति,सक्तुकादीनां शुष्कचूर्णमेकस्यामङ्गुल्यौ यावती भूमिमात्रं लगति तावन्मात्रमपि पिबति, ततोऽस्य पानस्य बिन्दुमात्रमपि यद्यापिबति, तदा चतुर्गुरु, आज्ञा च तीर्थकृतां कोपिता भवति।

एते चापरे दोषाः-

मिच्छत्तमसंचइए, विराहणा सत्तुपाणजाईओ ।
संमुच्छणा य तक्कण, दवे य दोसो इमो होति ॥

अशनादि परिवास्यमानं दृष्ट्वा शैक्षोऽन्यो वा मिथ्यात्वं गच्छेत्, उड्डाहं वा कुर्यात्-कथमहो ! अमी असंचयिकाः?, परिवासिते तु संयमात्मविराधना भवति, सक्तुकादिषु धार्यमाणेषु ऊरणिकादयः प्राणिजातयः संमूर्च्छन्ति, पुपूलिकादिषु लालादिसंमूर्च्छना च भवति । उन्दुरो वा तत्तर्कणमभिलाषं कुर्वन् पार्श्वतः परिभ्रमन् मार्जारादिना भक्ष्यते,एवमादिका संयमाऽऽत्मविराधना, आत्मविराधना च तत्राशनादौ लालाविषः सर्पो लालां मुञ्चेत्, त्वग्विषो वा जिघ्रन् निःश्वासेन विषीकुर्यात्, उन्दुरो वा लालां मुञ्चेत्; द्रवे चाहारे एते वक्ष्यमाणा दोषा भवन्ति ।

तत्र " मिच्छत्तमसंचइए त्ति " पदं व्याख्याति-

सेह गिहिणा व दिट्ठे, मिच्छत्तं कहमसंचया समणा ? ।
संचयमिणं करिंती, अन्नत्थ वि नूण एमेव ॥

शैक्षेण गृहिणा वा केनापि तत्राशनादौ परिवासिते दृष्टे मिथ्यात्वं भवेत्-एवंविधं संचयं ये कुर्वन्ति कथं ते श्रमणा असंचया भवन्ति ?। यथा सर्वस्माद्रात्रिभोजनाद्विरमणमित्यभिग्रहं गृहीत्वा लुम्पन्ति, तथा नूनमिति वितर्कयाम्यहम्-अन्यत्रापि प्राणिवधादावेवमेव समाचरन्ति ।

अथ द्रवे दोषा अमी भवन्तीति पदं व्याचष्टे-

निद्धे दवे पणीए, आवज्जण पाणि तक्कणा पडणा ।
आहारे दिट्ठदोसा, कप्पइ तम्हा अणाहारे ॥

इह वक्ष्यमाणेऽन्त्यगतसूत्रे भणितं यत् गुडादिकं तैलवर्जितम् अद्रवं भवति तदेव स्निग्धमुच्यते । यत्तु सौवीरद्रवादिकम् अलेपकृतं, यच्च दुग्धतैलवशाद्द्रवघृतादिकं लेपकृतं, तदुभयमपि द्रवमित्युच्यते । तथा चाह-"तत्थ पणियं तु निद्धं,तं चिय अह सिया अनिल्लवसं । सोवीरगदुद्धादी,दवं अलेवाड लेवाडं ॥ " व्याख्यातार्था । प्रणीतं नाम-गूढस्नेहं घृतपूरादिकम् आर्द्रखाद्यकं, यद्वा-बहिः स्नेहेन म्रक्षितं मण्डकादि, अपरं वा स्नेहावगाढं कुरुणादि प्रणीतमुच्यते । तथा चाह-"गूढसिणेहं उल्लं, तु खज्जगं मक्खियं च जं बाहिं । नेहागाढं कुरुणं,तु एवमाई पणीयं तु ॥" गतार्था । एवंविधे द्रवे प्रणीते च रात्रौ स्थापिते कीटिकादयः प्राणिजातीया आपद्यन्ते, पतन्तीत्यर्थः । अत्र गृहकोकिलादितर्कणपरम्परा वक्तव्या । (पडण त्ति) स्पन्दमाने भाजने अधस्तात्प्राणिजातीयाः संपतन्ति । परः प्राह-तत्त्वतो दोषा आहारे दृष्टाः तस्मादनाहारं परिवासयितुं कल्पते ।

सूरिराह-

अणयरो वि न कप्पइ, दोसा ते चेव जे भणियपुव्वा ।
तद्दिवसं जयणाए, बिइए आगाढ संविग्गे ॥

अनाहारोऽपि न कल्पते स्थापयितुं, यदि स्थापयति ततश्चतुर्लघु, त एव च विराधनादयो दोषाः,ये पूर्वमाहारे भणिताः। तस्मादनाहारमपि न स्थापयेत्; यदा प्रयोजनं तदा तद्दिवसं वितीलकहरीतकादिकं मार्ग्यते, अथ न लभ्यते दिने दिने मार्गयतो वा गर्हितः, ततो यतनया यथा अगीतार्था न पश्यन्ति, तथा द्वितीयपदमाश्रित्य आगाढे कारणे संविग्नो गीतार्थः स्थापयति । घनचीरेण चर्मणा वा छर्दयति, पार्श्वतः क्षारेणावगुण्ठयति, उभयकालं प्रमार्जयति ॥

जइ कारणेऽणाहारो, कप्पइ तह भवेज्ज इयरो वि ।
वोच्छिन्नम्मि मडंबे, बिइयं अद्धाणमाईसु ॥

यथा कारणे अनाहारः स्थापयितुं कल्पते,तथेतरोऽप्याहारोऽपि कारणे कल्पते स्थापयितुम् । कथमित्याह-व्यवच्छिन्ने 'मडंबे' कारणे स्थिताः सन्तो द्वितीयपदं सेवन्ते । तथाहि-तत्र पिप्पल्यादिकं दुर्लभं, प्रत्यासन्नं ग्रामादिकं तत्र नास्ति, ततः परिवासयेदपि, यथा कारणे पिप्पल्यादिकं स्थापयन्ति,तथा द्वितीयपदे अशनाद्यपि स्थापयेत् । (अद्धाणमाईसु त्ति) अध्वप्रपन्ना अध्वकल्पं स्थापयेयुः, आदिशब्दात्प्रतिपन्नरूपार्थस्य ग्लानस्य वा योग्यं पानकादिकं स्थापयेत् ।

" वोच्छिन्नमडंबं " पदं व्याख्याति-

वुच्छिन्नम्मि मडंबे, सहसरुगुप्पायउवसमनिमित्तं ।
दिट्ठत्थाई तं चिय, गिण्हंती तिविह भेसज्जं ॥

व्यवच्छिन्ने मडम्बे वर्त्तमानानां सहसा शूलविशूचिकादिका रुगुत्पद्येत,तस्योपशमनिमित्तं दृष्टार्थो गीतार्थः,आदिशब्दात् संविग्नादिगुणयुक्तास्ते अनागतमेव तदेव द्रव्यं गृह्णन्ति, येनोपशमो भवति, तच्च भेषजं द्रव्यं त्रिविधं-वातपित्तश्लेष्मभेषजभेदात् त्रिप्रकारं ज्ञेयम्। बृ० ५ उ०।

जे भिक्खू पारियासिया पिप्पलिं वा पिप्पलिचुण्णं वा सिंगवेरचुण्णं वा० जाव पारियासियं बिलं वा लोणं, उब्भियं वा लोणं आहारेइ, आहारंतं वा साइज्जइ ॥ १९७ ॥

पारियासियं णाम-रातो पज्जुसियं, अभिष्ठा पिप्पली, सा एव सुहुमा भेदकता चुन्ना, एवं मिरीयसिंगवेराणं पि, सिंगवेरं सुंठी,जत्थ विसए लोणं णत्थि,तत्थ ज सो उप्पज्जति, तं बिललोणं भन्नति. उब्भियं पुण सयंरुहं,जहा-सामुद्दं सिंधवं वा, एवमादि परिवासितं आहारेतस्स आणादी दोसा, चउगुरुं च । नि० चू० ११ उ०।

(४६) बहिर्निर्हरणम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणेज्जा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परं समुद्दिस्स बहिया णीहडं तं परेहिं असमणुण्णायं अणिसिट्ठं अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा, तं परेहिं समणुण्णायं सम्मणिसिट्ठं फासुयं लाभे संते० जाव पडिगाहेज्जा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

स पुनर्यदेवंभूतमाहारजातं जानीयात् । तद्यथा-परं चारभटादिकमुद्दिश्य गृहान्निष्क्रान्तं यच्च परैर्यदि भवान् कस्मैचिद्ददाति तदा ददात्वित्येवमननुज्ञातं,न तु दातुर्वा स्वामित्वेनानिसृष्टं वा, तद्बहुदोषदुष्टत्वादप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न प्रतिगृह्णीयात्, विपरीतं तु प्रतिगृह्णीयादित्येतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति। आचा० २ श्रु० १ अ० ६ अ०।

(४७) भिलिङ्गसूपो न ग्राह्यः-

तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते चाउलोदणे पच्छाउत्ते भिलिंगसूवे कप्पइ,से चाउलोदणे पडिगाहित्तए,नो से कप्पइ भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए ॥ ३३ ॥ तत्थ से पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते भिलिंगसूवे पच्छाउत्ते चाउलोदणे, कप्पइ से भिलिंगसूवे पडिगाहित्तए, नो कप्पइ चाउलोदणे पडिगाहित्तए ॥३४॥ तत्थ से पुव्वागमणेणं दो वि पच्छाउत्ताइं, एवं नो से कप्पति दो वि पडिगाहित्तए, जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पुव्वाउत्ते से कप्पइ पडिगाहित्तए, जे से तत्थ पुव्वागमणेणं पच्छाउत्ते से नो कप्पइ पडिगाहित्तए ॥३५॥

"तत्थ" इत्यादितः "पडिगाहित्तए त्ति" यावत् सूत्रत्रयं सुगमम्। नवरम (तत्थे त्ति) तत्र विकटगृहे वृक्षमूलादौ स्थितस्य साधोः (पुव्वागमणेणं ति) आगमनात्पूर्वकालं पूर्वायुक्तस्तन्दुलोदनः कल्पते,पश्चादायुक्तः (भिलिंगसूवे त्ति) भिलिङ्गसूपो मसूरदालिर्माषदालिः, सस्नेहसूपो वा न कल्पते। अयमर्थः-तत्र यः पूर्वायुक्तः साध्वागमनात्पूर्वमेव स्वार्थं गृहस्थैः पक्तुमारब्धः, स कल्पते,दोषाभावात् । साध्वागमनानन्तरं च यः पक्तुमारब्धः स पश्चादायुक्तः सन् न कल्पते,उद्गमादिदोषसंभवात् । एवं शेषालापकद्वयमपि भाव्यम् । ३३। (३४)। (३५) कल्प० ६ क्षण। (पानकवक्तव्यता 'पानक' शब्दे । मांसशब्दे मांसविचारः)

(४८) लवणग्रहणम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा-बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं अस्संजए भिक्खुपडियाए चित्तमंताए सिलाए० जाव संताणाए भिंदिंसु वा,भिंदंति वा, भिंदिस्संति वा, रुचिंसु वा,रुचिंति वा, रुचिस्संति वा, बलिंसु वा लोणं उब्भियं वा लोणं अफासुयं० जाव णो पडिगाहेज्जा ।

"से भिक्खू वेत्यादि।" स भिक्षुर्यदि पुनरेवं विजानीयात्। तद्यथा-(बिलं इति) खनिविशेषोत्पन्नं लवणम,अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् सैन्धवसौवर्चलादिकमपि द्रष्टव्यम। तथोद्भिजमिति-समुद्रोपकण्ठक्षारोदकसंपर्कात् यदुद्भिद्यते लवणम,अस्याप्युपलक्षणार्थत्वात् क्षारोदकसेकात् यद् भवति रुमकादिकं तदपि ग्राह्यम, तदेवंभूतं लवणं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टायां शिलायामभेत्सुः कणिकाकारं कुर्युः,तथा साध्वर्थमेव भिन्दन्ति, भेत्स्यन्ति वा, तथा श्लक्ष्णतरार्थं (रुचिंसु व त्ति) पिष्टवन्तः, पिषन्ति, पेक्ष्यन्ति वा, तदपि लवणमेवं प्रकारं ज्ञात्वा नो गृह्णीयात्। आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ०।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे सिया से परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहंते बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं परिभाएत्ताए णीहट्टु दलएज्जा,तहप्पगारं पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं णो पडिगाहेज्जा, से आहच्च पडिगाहिते सिया, तं च णातिदूरगए जाणेज्जा, से तमायाए तत्थ गच्छेज्जा २, पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसो ! त्ति वा भइणीति वा इमं ते किं जाणता दिण्णं,उदाहु अजाणया? से य भणेज्जा-णो खलु मे जाणया दिण्णं, अजाणया कामं खलु। आउसो ! इदाणिं णिसिरामि, तं जहा-भुंजह च णं, परिभाएह च णं। तं परेहिं समणुण्णायं समणुसट्ठं ततो संजयामेव भुंजेज्ज वा, पीएज्ज वा, जं च णो संचाएति, भोत्तए वा पायए वा साहम्मिया, तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अणुप्पदायव्वं सिया,णो जत्थ साहम्मिया जहेव बहुपरियावण्णे कीरति,तहेव कायव्वं सिया,एवं खलु तस्स भिक्खुस्स वा भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

" से " इत्यादि । स भिक्षुर्गृहादौ प्रविष्टः, तस्य च स्यात्कदा-

चित्परो गृहस्थः (अभिहट्टु अंतो इति) अन्तः प्रविश्य, पतद्-ग्रहे काष्ठपट्टकादौ ग्लानाद्यर्थं खण्डादि याचमाने सति बिडं वा लवणं खनिविशेषोत्पन्नमुद्भिज्जं वा लवणमाकराद्युत्पन्नं (परिभाएत्त त्ति) दातव्यं विभाज्य, दातव्यद्रव्यात् कञ्चिदंशं गृहीत्वेत्यर्थः। ततो निःसृत्य दद्यात्तथाप्रकारं परहस्तादिगतमेव प्रतिषेधयेत्, तच्च (आहच्चेति) सहसा प्रतिगृहीतं भवेत, तं च दातारमदूरगतं ज्ञात्वा स भिक्षुस्तल्लवणादिकमादाय तत्समीपं गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेव तल्लवणादिकमालोकयेद्दर्शयेत्, एतच्च ब्रूयात्-अमुक ! इति वा, भगिनि ! इति वा, एतच्च लवणादिकं त्वया जानता दत्तमुताऽजानता ?। एवमुक्तः सन् पर एवं वदेत्। यथा-पूर्वं मया अजानता दत्तं, साम्प्रतं तु यदि भवता तेन प्रयोजनं, ततो दत्तमेतत्, परिभोगं कुरुध्वं, तदेवं परैः समनुज्ञातं समनुसृष्टं सत्प्रासुकं, कारणवशात् अप्रासुकं वा भुञ्जीत, पिबेद्वा। यच्च न शक्नोति भोक्तुं,पातुं वा, तत् साधर्मिकादिभ्यो दद्यात्, तदभावे बहुपर्यापन्नविधिं प्राक्तनवत् विदध्यात्, एतस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति । आचा० २ श्रु० १ अ० १० उ० । दश० ।

(४९) वनस्पतिप्रतिष्ठितम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा—असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वणस्सइकायपतिट्ठियं तहप्पगारं असणं वा० ४ वणस्सइकायपतिट्ठियं अफासुयं अणेसणिज्जं लाभे संते णो पडिगाहेज्जा, एवं तसकाए वि ॥

' से भिक्खू वा ' इत्यादि । स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेवं जानीयाद्वनस्पतिकायप्रतिष्ठितं तं चतुर्विधमप्याहारं न गृह्णीयादिति । एवं त्रसकायसूत्रमपि नेयमिति । अत्र च वनस्पतिकायप्रतिष्ठितमित्यादिना निक्षिप्ताख्य एषणादोषोऽभिहितः, एवमन्येऽप्येषणादोषा यथासंभवं सूत्रेष्वेवायोज्याः । आचा० २ श्रु० १ अ० ७ उ० । (वनीपकपिण्डोऽपि स्वस्थाने)

(५०) बह्वन्नग्रहणे तत्परिष्ठापनम्-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा बहुपरियावन्नं भोयणजायं पडिगाहेत्ता बहवे साहम्मिया तत्थ वसंति संभोइया समणुण्णा अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अणालोइया अणामंतिया परिट्ठवेति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, से तमादाय तत्थ गच्छेज्जा, से पुव्वामेव आलोएज्जा-आउसंतो ! समणा ! इमे मे असणे वा पाणे वा खाइमे वा साइमे वा बहुपरियावन्ने,तं भुंजह च णं,से सेवं वदंतं परो वदेज्जा-आउसंतो ! समणा ! आहारमेयं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा जावतियं २ परिसडइ, तावतियं २ भोक्खामो वा, पेहामो वा, सव्वमेयं परिसडइ, सव्वमेयं भोक्खामो वा, पेहामो वा ॥

'से' इत्यादि । स भिक्षुर्बह्वशनादिपर्यापन्नं लब्धं परिगृह्य बहुभिर्वा प्रकारैराचार्यग्लानप्राघूर्णकाद्यर्थं दुर्लभद्रव्यादिभिः पर्यापन्नमाहारजातं परिगृह्य तद्बहुत्वाद्भोक्तुमसमर्थः । तत्र च साधर्मिकाः सांभोगिकाः समनोज्ञा अपरिहारिका एकार्थाभ्यालापकाः। इत्येतेषु सत्सु अदूरगतेषु वा ताननापृच्छ्य प्रमादितया परिष्ठापयेत् परित्यजेत,एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्,नैवं कुर्यात्,यच्च कुर्यात्तद्दर्शयति-स भिक्षुस्तदधिकमाहारजातं परिगृह्य तत्समीपं गच्छेद्,गत्वा च पूर्वमेवालोकयेद्दर्शयेदेवं ब्रूयात्-आयुष्मन्! श्रमण! ममैतदशनादि बहु पर्यापन्नं,नाहं भोक्तुमलमतो यूयं किं भुङ्ध्वम् ?। तस्य चैवं वदतः स परो ब्रूयात्-यावन्मात्रं भोक्तुं शक्नुमस्तावन्मात्रं भोक्ष्यामहे,पास्यामो वा,सर्वं वा परिशटत्युपयुज्यते तत्सर्वं भोक्ष्यामहे पास्याम इति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० । ('संथव' शब्दे संस्तववक्तव्यता। संसक्तव्याख्या 'संसत्त' शब्दे)

(५१) सुरभिं गृह्णाति, असुरभिं परिष्ठापयति-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहेत्ता सुब्भिं सुब्भिं भोच्चा दुब्भिं दुब्भिं परिट्ठवेति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, सुब्भिं वा दुब्भिं वा सव्वं भुंजे, ण छड्डएज्जा। से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव समाणे अण्णयरं वा पाणगजायं पडिगाहेत्ता पुप्फं आविइत्ता कसायं परिट्ठवेति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा, पुप्फं पुप्फेति वा कसायं कसायेति वा सव्वमेयं भुंजेज्जा, णो किंचि वि परिट्ठवेज्जा ॥

"से" इत्यादि। स भिक्षुरन्यतरभोजनजातं परिगृह्य सुरभिं भक्षयेत्, दुर्गन्धं दुर्गन्धं वा परित्यजेद्। वीप्सायां द्विर्वचनम्। मातृस्थानं चैवं संस्पृशेत्, तच्च न कुर्यात्। यथा च कुर्यात्तद्दर्शयति-सुरभिं वा दुर्गन्धं वा सर्वं भुञ्जीत, न परित्यजेदिति ॥ एवं पानकसूत्रमपि, नवरं वर्णगन्धोपेतं पुष्पं,तद्विपरीतं कषायं,वीप्सायां द्विर्वचनम् । दोषश्चानन्तरसूत्रयोराहारगार्ध्यात् सूत्रार्थहानिः, कर्मबन्धश्चेति । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

जे भिक्खू अण्णयरं पाणगजायं पडिगाहित्ता पुप्फं २ आइयंति,कसाइयं २ परिट्ठावइ,परिट्ठावंतं वा साइज्जइ ४२॥

अन्यतरग्रहणात् अनेके पानकाः प्रदर्शिता भवन्ति । खण्डकपानगुलसक्करादालिमद्राक्षाचिञ्चादिपाने, जातग्रहणात् प्रासुकं,पडीत्युपसर्गे,ग्रह आदाने,विधिपूर्वकं गृहीत्वा, पुप्फं णाम-अच्छं वण्णगंधरसफासेहिं पधाणं, कसायं स्पर्शादिप्रतिलोममप्रधानं, कषायं बहुलं कलुषमित्यर्थः । स्वसमयसंज्ञाप्रतिबद्धमिदं सूत्रम् । एवं करेंतस्स मासलहुं। एस सुत्तत्थो।

अहुणा णिज्जुत्तिगाहा-

जं गंधरसोवेतं, अच्छं व दवं तु तं भवे पुप्फं ।
जं दुब्भिगंधमरसं, कलुसं वा तं भवे कलुसं ॥३१४॥ कंठा।

गाहा—

घित्तूण दोण्णि वि दवे, पत्तेयं अहव एकतो चेव ।
जे पुप्फमादिइत्ता, कुज्ज कसाए विगिंचणयं ॥ ३१५ ॥

दोण्णि वि-पुप्फं, कसायं च, एगम्मि वा भायणे, पत्तेयेसु वा भायणेसु पुप्फमाइत्ता, कसाए परिट्ठवणं करेज्ज,तस्स मासलहुं, इमे य दोसे पावेज्ज ।

गाहा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तहा दुविधं ।
पावति जम्हा तेणं, पुव्व कसाए-तरं पच्छा ॥ ३१६ ॥

आयसंजमविराहणा पुव्वं कसायं पिवे, इतरं पुष्फं पच्छा। जो पुष्फं पुव्वं पिवे, कसायं परिठवेति, तस्सिमे दोसा। गाहा-

तम्मि य गिद्धो अन्नं, गेच्छे अलभंतो एसणं पेल्ले।
परिठाविते य कूमे, तसाण संगामदिट्टंतो ॥ ३१७॥

अच्छुदवे गिद्धो अन्नं कसायं गेच्छति पातुं, तं कसायं परिठवेउं पुणो वि हिंमंतस्स सुत्तादिपलिमंथो, अच्छं अलभंतो वा एसणं पेल्लेज्ज, आयविराहणादिया य बहु दोसा। कलुसे य परिठविए कूमदोसा। जहा-कूडे पाणिणो बज्झंति, तहा तत्थ वि मच्छियादी पडिबज्झंति। अन्ने य तत्थ बहवे पयंगा णिपतंति, पिवीलिगादि य संसज्जति,एवं बहुतसघातो दीसति। एत्थ संगामदिट्टंतो-तत्थ कलुसे परिठविए मच्छियाओ लग्गंति, तेसिं घरकोइला धावंति,ताए वि मज्जारी,मज्जारीए सुणगो,सुणगस्स वि अन्नो सुणगो, सुणहणिमित्तं सुणहसामिणो कलहेति, एवं पक्खापक्खीए संगामो भवति। जम्हा एते दोसा तम्हा णो पुष्फं आदिए कसायं परिठवेति। इमा सामायारी-वसहिपाओ अत्थंतो भिक्खागयसाहू आगमणं णाउं गच्छमासन्नं एक्कं दो तिण्णि वा भायणे उग्गाहेति, तो जो जहा साधुसंघाडगो आगच्छति, तस्स तहा पाणभोयणाओ अच्छंतेसु भायणेसु परिभालेति, एवं अच्छं पुढो कज्जति, कलुसं पि पुढो कज्जति, तं कसायं पुच्छा वा अपुच्छा वा पुव्वं पिवंति,तम्मि णिट्ठिते पुच्छा पुष्फं पिवंति। पुच्छस्स इमे कारणा। गाहा-

आयरिएँ अभाविएँ वा-णागहता पादपोसधुवणट्ठा।
होति य सुहं विवेगो, सुह आयमणं व सागरी पच्छा ॥ ३१८॥

आयरियस्स पाणाए आयमणाए,एवं अभाविए सेहस्स वि उच्चारकाले पाणट्ठा,पायपोसं अपाणद्वारं, पतेसिं धुवणट्ठा,उच्चारियस्स य सुहं विवेगो कज्जति, ण कुडातिदोसा भवति। सागारिए य आयमणादि सुहं कज्जति।

गाहा-

भाणस्स कप्पकरणं, दट्ठूणं वहि आयमंतो वा।
ओभावणमग्गहणं, कुज्जा दुविधं च वोच्छेदं ॥ ३१९॥

अच्छं भायणकप्पकरणं भवति, बहले पुण इमे अद्दमतरा, असुचितरत्वात् अग्गहणं वा करेज्ज, सर्वलोकपापधर्मातीता होते अब्राह्मणाः, अणादरो वा अग्गहणं, दुविहं वोच्छेदं करेज्ज, तद्द्रव्यान्यद्रव्ययोः, तद्द्रव्यं पानकम्, अन्यद्द्रव्यं भक्तवस्त्रादि, अह वा तस्स साधो अन्नस्स वा साधो अवणायणं पुण परिठवेंतो वि सुद्धो।

अतो। गाहा-

वितियपदेँ दोण्हि वि बहू,पीसे व विगिंचणारिहं होइ।
अविगिंचणारिहे वा, भवणिज्जे गिलाणमायरिए ॥ ३२०॥

दो वि बहू-पुष्फं,कसायं च णज्जति,जहा अवस्सं कायं परिट्ठविज्जति, जइ वि तं पिज्जंति ताहे तं न पिवंति, पुष्फं पिवंति, एस एसेयगहियाणं विही,अह मीसं गहियं, तत्थ गालिए पुष्फं बहुयं, कसायं थोवं,ताहे तं परिट्ठविज्जति, पुष्फं पिवंति, अहवा-कसायं विगिंचणारिहं होज्जा, अपेसाणिज्जं ति, ताहे परिट्ठविज्जति, अहवा-अविगिंचणारिहं पि जं आयरियातीणं जावणिज्जं ण भवति, एवं परिट्ठावेंतो सुद्धो।

विगिंचणारिहस्स लक्खणं इमं। गाहा-

जं होति अप्पयं जं च-ऽणेसियं तं विगिंचणारिहं तु।
विसकत मंतकतं वा, दव्वविरुद्धं कतं वा वि ॥ ३२१॥

अपेयं मज्जमांसरसादि, अणेसणीयं तु उग्गमादिदोसजुत्तं, अहवा अपेयं इमं पच्छद्धेण-विससंजुत्तं, वसीकरणादिमंतेण वा अभिमंतियं, दव्वविरुद्धं जहा-खीरंबिलाणं।

जे भिक्खू अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहित्ता सुब्भिं सुब्भिं भुंजइ, दुब्भिं दुब्भिं परिट्ठवेइ, परिट्ठवेंतं वा साइज्जइ ॥ ४३॥

सुभं सुब्भी, असुभं दुब्भी, शेषं पूर्ववत्।

गाहा-

वण्णेण य गंधेण य, रसेण फासेण जं तु उववेता।
तं भोयणं तु सुब्भिं,तव्विवरीतं भवे दुब्भिं ॥ ३२ ॥

जं भोयणं वण्णगंधरसफासेहिं सुभेहिं उववेतं, तं सुब्भिं भण्णति, इतरं दुब्भिं।

अहवा गाहा-

रसालमवि दुग्गंधि, भोयणं तु न पूतियं।
सुगंधिमरसालं पि, पूइयं तेण सुब्भि तु ॥ ३२३ ॥

रसेण उववेयं पि भोयणं दुब्भिगंधं ण पूजितं, दुब्भमित्यर्थः॥ अरसालं पि भोयणं सुभगंधजुत्तं, पूजितमित्यर्थः।

गाहा-

घेत्तूण भोयणदुगं, पत्तेयं अहव एक्कतो चेव।
जे सुब्भिं भुंजित्ता, दुब्भिं तु विगिंचणं कुज्जा ॥ ३२४॥

सुब्भिं दुब्भिं च भोयणं एक्कतो पत्तेयं घेत्तुं जो साहू सुब्भिं भोत्ता दुब्भिं परिट्ठवेति, तस्स मासलहु, इमे य दोसा-

सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराधणं तधा दुविधं।
पावति जम्हा तेणं,दुब्भिं पुव्वेतरं पच्छा ॥ ३२५॥ कंठा॥

इमे य दोसा-

रसगेहि अधिक्खाए, अविधिमयंगालपक्कमे मायी।
लोभे एसण वाघा-तो दिट्ठंतो अज्जमंगूहिं ॥ ३२६ ॥

रसेसु गद्दी भवति, अण्णसाहूहिंतो अहियं खायति, भोयणपमाणातो अहियं खायति,एगओ गहियस्स अकरित्तु सुभं खायति, इतरं छड्डेति, कागसियालगलइयकारगगेही, एवं अविही भवति, इंगालदोसो य भवति, रसगिद्धो गच्छे अधिति अलभंतो गच्छाओ पक्कमति,अपक्रमतीत्यर्थः। मायी-मंमलीए रसालं अलभंतो भिक्खागओ रसालं भोत्तुमागच्छति, भद्दकं भद्दकं भोच्चा विवण्णं विरसमाहारनीयादिरसभोयणे लुद्धो एसणं पि पेल्लेति, एत्थ दिट्ठंतो अज्जमंगू। जहा-"अज्जमंगू आयरिया बहुस्सुया बहुपरियारा मधुरं आगता, तत्थ सड्ढेहिं धरिज्जंति, ता कालंतरेण ओसण्णा जाता, कालं काऊणं भवणवासी उववण्णो, साहुपडिबोहणट्ठा आगओ सरीरमहिमाए अद्धकवाए जीहं णिल्लालेति। पुच्छिओ-को भवं? भणाति-अज्जमंगू हं। साधू सड्ढा य भणुसासिउं गतो,एते दोसा। पडिपक्खे अज्जसमुद्दा, त रख

गेहीभीता एक्कतो सव्वं मेल्लेउं भुंजति, तं च अरसं विरसं वा वि सव्वं भुंजे, ण छुड्डुए, सुत्ताभिहितं च कृतं भवति ।

" रसगेहि त्ति " अस्य व्याख्या-

सुब्भीदङ्गगजीहो, णेच्छति छातो वि भुंजितुं इतरं ।
आवस्सएँ परिहाणी, गोयरेँ दीहो इ उज्झणिया ॥३२८॥

इतरं दुब्भि ति लभंतो वि सुब्भिलक्खणिमित्तं दीहं भिक्खायरियं अडति, सुत्तत्थमादिए सुत्तआवस्सएसु, परिहाणी भवति, दुब्भियस्स उज्झणिया परिट्ठावणिया ।

" अधिक्खाए त्ति " अस्य व्याख्या-

मणुण्णं भोयणज्जायं, भुंजताए तु एकतो ।
भुंजओ साहुणी सद्धिं, अधिक्खाए य वुच्चती ॥३२९॥

मनसो रुचितं मनोज्ञं भोअणं, जातमिति प्रकारवाचकः, साधुभिः सार्द्धं भुञ्जनः जो अधिकतरं खाए सो अधिक्खाओ भण्णए । जम्हा एते दोसा-

तम्हा विधीएँ भुंजे, दिसम्मि गुरूण सेस रातिणिते ।
भुयति करंबे ऊए, एवं समता तु सव्वेसिं ॥ ३२९ ॥

का पुण विही, जाए आयरियगिलाणबालवुड्ढआदेसमादियाणं उक्कड्ढियं, पत्तेयगहियं वा ट्ठियं, सेसं मंडलि रातिणिओ सुब्भिदुब्भिदव्वाविरोहेण, करंबे तु मंमलीए भुंजति, एवं सव्वेसिं समता भवति, एवं पुव्वुत्ता दोसा परिहारिया भवंति ।

कारणओ परिट्ठवेज्जा-

वितियपदेँ दोसि वि वहू, मीसे व विगिंचणारिहं होज्जा ।
अविगिंचणारिहे वा, जवणिज्ज गिलाणमायरिए ॥३३०॥

पूर्ववत् कंठं ।

जं होज्ज अभोज्जं जं, चऽणेसियं तं विगिंचणारिहं तु ।
विसकयमंतकयं वा, दव्वविरुद्धं कतं वा वि ॥ ३३१ ॥

पूर्ववत् ॥ ३३१ ॥ नि० चू० २ उ० ॥

(५२) अन्नगन्धः-

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा० जाव पविसमाणे से आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावतिकुलेसु वा परियावसहेसु वा अन्नगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगंधाणि वा अग्घाय से तत्थ आसायवडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववण्णे अहो गंधो अहो गंधो णो गंधमाघाएज्जा ॥

"से भिक्खू वा" इत्यादि । (आगंतारेसु वेति) पत्तनाद् बहिर्गृहेषु तेषु ह्यागत्यागत्य पथिकादयस्तिष्ठन्तीति, तथाऽऽरामगृहेषु वा, पर्यावसथेष्विति भिक्षुकादिमठेषु चेत्येवमादिष्वन्नपानगन्धान् सुरभीनाघ्राय स भिक्षुस्तेष्वास्वादनप्रतिज्ञया मूर्च्छितोऽध्युपपन्नः सन्नहो गन्धः, अहो गन्ध इत्येवमादरवान्न गन्धं जिघ्रेदिति । आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

[५३] आचार्यार्थं तु-

आयरिए य गिलाणे, पाहुणए दुल्लहे सहसदाणे ।
एवं होइ अजाया, इमा उ गहणे विही होइ ॥ ११३ ॥

कदाचित् कस्मिँश्चित् क्षेत्रे आचार्यप्रायोग्यं दुर्लभं भवति, ततश्च सर्वे एव सङ्घाटका आचार्यप्रायोग्यस्य ग्रहणं कुर्वन्ति । ततश्च तत् घृतादि कदाचित् सर्व एव लभन्ते, ततश्च तदुद्धरति, अन्येषां च साधूनां पर्याप्तम, एवमाचार्यार्थं गृहीतस्य शुक्रस्यापि परिष्ठापना भवतीति । तथा ग्लानार्थमप्येवं गृहीतं यदुद्धरति, प्राघूर्णकानामप्येवमेव, तथा दुर्लभलाभे सति सर्वैरेव सङ्घाटकैर्गृहीतमुद्धरतीति । तथा च-(सहसदाणे) अप्रतर्कितदाने सति प्रचुरमुद्धरति, ततश्चैवं भवति, अज्ञाताऽपरिष्ठापनिका, तत्र चाऽऽचार्यादीनां ग्रहणेऽयं विधिर्वक्ष्यमाणो भवतीति ॥ ११३ ॥

कश्चासाविति ? अत आह-

जइ तरुणो निरुवहओ, भुंजइ सो मंमलीएँ आयरिओ ।
असहुस्स वीसगहण, एमेव य होइ पाहुणए ॥ ११४ ॥

केचन एवं भणन्ति-यद्यसावाचार्यः तरुणो, निरुपहतपञ्चेन्द्रियश्च, ततः स्वल्पशो मण्डल्यामेव भुङ्क्ते सामान्यम । अथ 'असहू' असमर्थः, ततस्तस्य विष्वक् ग्रहणं प्रायोग्यस्य कर्त्तव्यम् । एवमेव प्राघूर्णकेऽपि विधिर्द्रष्टव्यः । यदि प्राघूर्णकः समर्थः, ततो नैव तत् प्रायोग्यस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम, अथासमर्थः, ततः क्रियते इति । केचित्पुनरेवं भणन्ति । यदुत-समर्थस्याप्याचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणं कर्त्तव्यम ॥ ११४ ॥

यदुत एते गुणा भवन्ति-

सुत्तत्थथिरीकरणं, विणओ गुरुपूयणं बहूमाणो ।
भवइ य सङ्घावुड्ढी, वुड्ढी बलवड्ढणं चेव ॥ ११५ ॥

आचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणेन सूत्रार्थयोः स्थिरीकरणं भवति, यतो मनोज्ञाहारेण सूत्रार्थयोः सुखेनैव चिन्तयति, वाचाऽसक्तस्य अत आचार्यस्य प्रायोग्यग्रहणं कर्त्तव्यम् । तथा विनयश्चानेन प्रकारेण प्रदर्शितो भवति, गुरुपूजा कृता भवति, सेहस्य च आचार्यकृते बहुमानः प्रदर्शितो भवतीति; अन्यथाऽसौ सेह इदं चिन्तयति-यदुत न कश्चिदत्र गुरुर्नाऽपि लघुरिति, अतो विपरिणामो भवति । तथा प्रायोग्यदानतश्च श्रद्धावृद्धिर्भवति, तथा बुद्धेर्बलस्य च वर्द्धनं कृतं भवति, तत्र महती निर्जरा भवतीति ॥ ११५ ॥

एएहिँ कारणेहिँ उ, केइ सहुस्स वि वयंति अणुकंपा ।
गुरुअणुकंपाए पुण, गच्छे तित्थे य अणुकंपा ॥ ११६ ॥

एभिः पूर्वोक्तकारणैः कश्चित्समर्थस्यापि आचार्यस्यानुकम्पा कर्त्तव्या इत्येवं वदन्ति । यतः गुरोरनुकम्पया गच्छे तीर्थे चानुकम्पा कृता भवति; यतश्चैवमतः प्रायोग्यग्रहणं गुरोः कर्त्तव्यमिति ॥ ११६ ॥

कीदृशं पुनराचार्यप्रायोग्यं ग्राह्यमिति ?, अत आह-

सइ लाभे पुण दव्वे, खेत्ते काले य भावओ चेव ।
गहणं तिसु उक्कोसं, भावे जं जस्स अणुकूलं ॥११७॥

सति विद्यमाने लाभे द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च उत्कृष्टं ग्राह्यम् । इदानीं नियुक्तिकारो व्याख्यानयन्नाह-(गहणं तिसु उक्कोसं) ग्रहणं त्रिषु द्रव्यक्षेत्रकालेषु उत्कृष्टं कर्त्तव्यम, भावे यद्वस्तु यस्यानुकूलं तत् गृह्यते ।

इदानीं भाष्यकृद्व्याख्यानयति-तत्र द्रव्योत्कृष्टतां प्रदर्शयन्नाह-

कलमोयणे तु पयसा, उक्कोसो हाणि कोद्दवबुसो तु ।
तत्थ वि मिउ तुप्पयरं, जत्थ व जं अच्चियं दोसु ॥११८॥

कलमशाल्योदनं पयसा सह द्रव्यत उत्कृष्टं ग्राह्यं,तदलाभे हान्या तावत् गृह्यते यावत् कोद्रवकूरम् । ' कोद्दवं चाउलयं ' । तत्राप्ययं विशेषः क्रियते-यदुत तदेव चाउलयं मृदु गृह्यते,तथा (तुप्पयरं ति) स्निग्धतरं तदेव चाउलयं गृह्यते, उक्तं द्रव्योत्कृष्टम् ।

इदानीं क्षेत्रकालोत्कृष्टप्रतिपादनायाऽऽह-

(जत्थ व जं अच्चियं दोसु) द्वयोः क्षेत्रकालयोः यद्वस्तु यत्र पूजितं तत् तत्र गृह्यते। एतदुक्तं भवति-यद्यत्र क्षेत्रे बहुमतं द्रव्यं तत् तत्र तस्मिन् क्षेत्रोत्कृष्टमुच्यते, तच्च ग्राह्यं, तथा यद्वस्तु यस्मिन् काले कालोत्कृष्टमुच्यते। भावोत्कृष्टं पुनः निर्युक्तिकारेणैव व्याख्यातम् । उक्तं प्रसंगागतम् ॥११८॥

इदानीं यदुक्तमाचार्यादीनां गृहीतं सद् यथोद्धरति, तथा प्रतिपादयन्नाह-

लाभे सइ संघाडो, गिराहइ एगो उ इयरहा सव्वे ।
तस्सऽप्पणो य पज्ज-त्तगेगहणे होइ अइरेगं ॥ ११९ ॥

यदि तस्मिन्क्षेत्रे घृतादीनां स्वभावेनैव लाभोऽस्ति, ततस्तस्मिन्काले सति आचार्यार्थमेक एव संघाटकः प्रायोग्यं गृह्णाति (इयरह त्ति) यदा तस्मिन् क्षेत्रे प्रायोवृत्त्या प्रायोग्यस्य लाभः, तदा सर्व एव संघाटकाः तस्याचार्यस्य आत्मनश्चार्थे, पर्याप्तग्रहणे सति अतिरिक्तं भवति, ततश्च तत् परिष्ठाप्यते इति ॥११६॥

इदानीं " गिलाण त्ति " व्याख्यानयन्नाह-

गेलन्नगहणनियमं, नाणत्तोहासियं पि तत्थ चवे ।
ओहासियमुव्वरियं, विगिंचए सेसगं भुंजे ॥१२०॥

ग्लानस्य यन्नियमेन प्रायोग्यग्रहणं,यदि परं नानात्वम् "ओभासितं पि" प्रार्थितमपि तत् ग्लाने भवति, ग्लानार्थे प्रायोग्यस्य प्रार्थनमपि क्रियते,ततश्च "ओभासितं" प्रार्थितं यत् ग्लानार्थं,पुनश्च यदुद्धरति,ततस्तद् विगिञ्च्यते परित्यज्यते,(सेसगं भुंजे त्ति) शेषं यदनवभासितम् अप्रार्थितम् उद्धरितं, तं भुञ्जीत कश्चित्साधुरिति,प्राघूर्णकोऽपि आचार्यवद्व्याख्यातो द्रष्टव्यः ॥१२०॥

इदानीं " दुल्लभे त्ति " व्याख्यानयन्नाह-

दुल्लहदव्वं व सिया, घयाइ घेत्तूण सेसमुस्संति ।
थोवं देमि व गेगहा-मि वेति सहसा जते अयरिं ॥१२१॥

दुर्लभद्रव्यं वा स्याद्भवेत् घृतादि, तद् गृहीत्वोपभुज्य च यच्छेषं तदुत्सृजति, एवं वा परिष्ठापनिका भवति । ('सहसदाणत्ति ' व्याख्या ' परिट्ठवणा ' शब्दे वक्ष्यते) ओघ० ।

(५४) ग्लानार्थं गृहीत्वा स्वयं नाश्नीयात्-

से एगतिओ साहारणं वा पिंडवायं पडिगाहेज्जा, ते साहम्मिए अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ , तस्स तस्स खद्धं खद्धं दलयति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा,से तमायाए तत्थ गच्छेज्जा,पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसंतो! समणा ! संति मम पुरे संथुया वा, तं जहा-आयरिए वा उवज्झाए वा पवत्ती वा थेरे वा गणी वा गणहरे वा गणावच्छेइया वा,अवियाइं एतेसिं खद्धं खद्धं दाहामि, सेणेवं वयंतं परो वइज्जा-कामं खलु आउसो! अहापज्जत्तं णिसराहि,जावइयं जावइयं परो वयइ,तावइयं तावइयं णिसिरेज्जा,सव्वमेयं परो वयति,सव्वमेयं णिसिरेज्जा । से एगतिओ मणुण्णं भोयणजायं पडिगाहेत्ता पन्तेणं भोयणेणं पलिच्छादेति, मा मेतं दातियं तं दट्ठूणं सयमातिए एवं आयरिए वा० जाव गणावच्छेइए वा णो खलु मे कस्स पि किंचि वि दायव्वं सिया,माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा । से तमायाए तत्थ गच्छेज्जा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे पडिग्गहं कट्टु इमं खलु त्ति २ आलोएज्जा,णो किंचि वि णिगूहेज्जा, से एगतिओ अण्णयरं भोयणजायं पडिगाहेज्जा, भद्दयं २ भोच्चा विवण्णं विरसमाहरति, माइट्ठाणं संफासे, णो एवं करेज्जा ।

" से " इत्यादि । स भिक्षुरेकतरः कश्चित्साधारणं बहूनां सामान्येन दत्तं, वाशब्दः पूर्वोत्तरापेक्षया पक्षान्तरद्योतकः पिण्डपातं परिगृह्य तान्साधर्मिकाननापृच्छ्य यस्मै रोचते तस्मै तस्मै स्वमनीषिकया [खद्धं खद्धं ति] प्रभूतं प्रभूतं प्रयच्छति, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्,तस्मान्नैवं कुर्यादिति । असाधारणपिण्डावाप्तावपि यद्विधेयं तद्दर्शयति-" से इत्यादि । " स भिक्षुस्तमेषणीयं केवलवेषावाप्तं पिण्डमादाय तत्राचार्याद्यन्तिके गच्छेत् । गत्वा चैवं वदेत्-यथा आयुष्मन्! श्रमण! सन्ति विद्यन्ते मम पुरः संस्तुता यदन्तिके प्रव्रजितास्तत्संबन्धिनः, पश्चात् संस्तुता वा यदन्तिके अधीतं श्रुतं वा, तत्संबन्धिनो वा अन्यत्रावासितास्तांश्च स्वनामग्राहम् । तद्यथा-आचार्योऽनुयोगधरः, उपाध्यायोऽध्यापकः, प्रवृत्तिर्यथायोगं वैयावृत्त्यादौ साधूनां प्रवर्तकः,संयमादौ सीदतां साधूनां स्थिरीकरणात् स्थविरः, गच्छाधिपो गणी,यस्त्वाचार्यदेशीयो गुर्वादेशात् साधुगणं गृहीत्वा पृथग्विहरति स गणधरः । गणावच्छेदकस्तु गच्छकार्यचिन्तकः (अवियाइं ति) एवमादीनुद्दिश्यैतद्वदेत् । यथा-अहमेतेभ्यो युष्मदनुज्ञया (खद्धं खद्धं ति) प्रभूतं प्रभूतं दास्यामि । तदेवं विज्ञप्तः सन् पर आचार्यादिर्यावन्मात्रमनुजानीते तावन्मात्रमेव निसृजेद्दद्यात्, सर्वानुज्ञया सर्वं वा दद्यादिति । किञ्च-"से"इत्यादि सुगमम्,यावन्नैवं कुर्यात् । यच्च कुर्यात्तद्दर्शयति-स भिक्षुस्तं पिण्डमादाय तत्राचार्याद्यन्तिकं गच्छेद्, गत्वा च सर्वं यथावस्थितमेव दर्शयेत्,न किञ्चिदवगूहेत् प्रच्छादयेदिति । साम्प्रतमटतो मातृस्थानप्रतिषेधमाह-"से इत्यादि ।"स भिक्षुरेकतरः कश्चिदन्यतरद्वर्णाद्युपेतं भोजनजातं परिगृह्याटन्नेव रसगृध्नुतया भद्रकं भद्रकं भुक्त्वा यद्विवर्णमन्तप्रान्तादिकं तत्प्रतिश्रये समाहरत्यानयति, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैवं कुर्यादिति ॥ आचा० २ श्रु० १ अ० १० उ० ।

णिग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केइ दोहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा-एगं आउसो! अप्पणा भुंजाहि, एगं थेराणं दलयाहि, से य तं पडिगाहेज्जा, थेरा य से अणुगवेसियव्वा सिया, जत्थेव अणुवगेसमाणे थेरे पासेज्जा, तत्थेव अणुप्पदायव्वे सिया,नो चेव णं अणुगवेसमाणे थेरे पासेज्जा, तं नो अप्पणा भुंजेज्जा, नो अण्णेसिं दावए, एगंते अणावाए अचित्ते बहुफासुए थंडिल्ले पडिलेहित्ता परिमज्जित्ता परिट्ठवियव्वे सिया । निग्गंथं च णं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए अणुप्पविट्ठं केइ तिहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा-एगं आउसो! अप्पणा भुंजाहि, दो थेराणं दलयाहि,से य ते पडिगाहेज्जा,थेरा य अणुग-

वेसमाणे सेनं तं चेव० जाव परिट्ठवियव्वे सिया । एवं० जाव दसहिं पिंडेहिं उवनिमंतेज्जा, णवरं एगं आउसो! अप्पणा भुंजाहि, नव थेराणं दलयाहि,सेसं तं चेव० जाव परिट्ठवियव्वे सिया । निग्गंथं च णं गाहावइकुलं० जाव केइ दोहिं पडिग्गहेहिं उवनिमंतेज्जा–एगं आउसो ! अप्पणा पडिभुंजाहि, एगं थेराणं दलयाहि, से य तं पडिग्गाहेज्जा तहेव० जाव तं नो अप्पणा परिभुंजेज्जा, नो अन्नेसिं दावए, सेसं तं चेव ०जाव परिट्ठवियव्वे सिया, एवं० जाव दसहिं पडिग्गहेहिं,एवं जहा पडिग्गहवत्तव्वया भणिया, एवं गोच्छगरयहरणचोलपट्टगकंबललट्ठीसंथारगवत्तव्वया भाणियव्वा० जाव दसहिं संथारएहिं उवनिमंतेज्जा० जाव परिट्ठवियव्वे सिया ।

निर्ग्रन्थः पुनर्गृहपतिकुलं गृहिगृहम [पिंडवायपडियाए त्ति] पिण्डस्य पातो भोजनस्य पात्रे गृहस्थाक्षिपतनं, तत्र प्रतिज्ञा ज्ञानं बुद्धिः, पिण्डपातप्रतिज्ञा, तया, पिण्डस्य पातो मम पात्रे भवत्विति बुद्धयेत्यर्थः । [उवनिमंतेज्ज त्ति] भिक्षो ! गृहाणेदं पिण्डद्वयमित्यभिदध्यादित्यर्थः । तत्र च "एगमित्यादि ।" [से य त्ति] स पुनर्निर्ग्रन्थः । [तं ति] स्थविरपिण्डम [थेरा य से त्ति] । स्थविराः पुनस्तस्य निर्ग्रन्थस्य [सिय त्ति] स्युर्भवन्तीत्यर्थः । [दावए त्ति] दद्याद्दापयेद्वा, अदत्तादानप्रसङ्गाद् गृहपतिना हि पिण्डोऽसौ विवक्षितस्थविरेभ्य एव दत्तो नान्यस्मै इति (एगंते त्ति) जनालोकवर्जिते (अणावाए त्ति) जनसम्पातवर्जिते (अचित्ते त्ति)अचेतनाऽचेतनमात्र एवेत्यत आह–(बहुफासुए त्ति) बहुधा प्रासुकं बहुप्रासुकं, तत्रानेन चाऽचिरकालकृते विस्तीर्णे दूरावगाढे त्रसप्राणबीजरहिते चेति संगृहीतं द्रष्टव्यमिति । (से य ते त्ति) स च निर्ग्रन्थस्तौ स्थविरपिण्डौ (पडिग्गाहेज्ज त्ति) प्रतिगृह्णीयादिति । निर्ग्रन्थप्रस्तावादिदमाह–" निग्गंथं च णं" इत्यादि । भ० ८ श० ६ उ० । (ग्लानं प्रति विशेषः ' गिलाण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ८६४ पृष्ठे गतः) (गोचरचर्यायामकृत्यं प्रतिसेव्याऽऽलोचना ' आलोयणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४२९ पृष्ठे, स आराधको विराधको वेति ' आराहग ' शब्दे द्वितीयभागे ३७७ पृष्ठे, आराधना च ' आराहणा ' शब्दे द्वितीयभागे ३८६ पृष्ठे द्रष्टव्या)

(५५) गोचरे भोजनविधिमाह–

सिया य गोयरग्गगओ, इच्छेज्जा परिभोत्तुअं ।
कोट्ठगं भित्तिमूलं वा, पडिलेहित्ताण फासुयं ॥ ८२ ॥

स्यात्कदाचिद्गोचराग्रगतो ग्रामान्तरं भिक्षां प्रविष्ट इच्छेत्परिभोक्तुं पानादिपिपासाद्यभिभूतः सन् , तत्र साधुवसत्यभावे कोष्ठकं शून्यवट्टमठादि, भित्तिमूलं वा कुड्यैकदेशादि, प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा, प्रमृज्य च रजोहरणेन, प्रासुकं बीजादिरहितं चेति सूत्रार्थः ॥ ८२ ॥

तत्र–

अणुन्नवित्तु मेहावी, पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता, तत्थ भुंजिज्ज संजए ॥ ८३ ॥

अनुज्ञाप्य सागारिकपरिहारतो विश्रमणव्याजेन तत्स्वामिनमवग्रहं, मेधावी साधुः, प्रतिच्छन्ने तत्र कोष्ठकादौ, संवृत उपयुक्तः सन्साधुः, ईर्याप्रतिक्रमणं कृत्वा, तदनु हस्तकं मुखवस्त्रिकारूपम्, आदायेति वाक्यशेषः । संप्रमृज्य विधिना तेन कायं, तत्र भुञ्जीत संयतः, रागद्वेषावपाकृत्येति सूत्रार्थः ॥ ८३ ॥

तत्थ से भुंजमाणस्स, अट्ठियं कंटओ सिया ।
तणकट्ठसक्करं वावि, अन्नं वा वि तहाविहं ॥ ८४ ॥

तत्र कोष्ठकादौ ' से ' तस्य साधोर्भुञ्जानस्य अस्थि, कण्टको वा स्यात्, कथञ्चित् गृहिणां प्रमाददोषात्, कारणगृहीते पुद्गल एवेत्यन्ये-, तृणकाष्ठशर्करादि वापि स्यात्, उचितभोजने अन्यद्वाऽपि तथाविधं बदरकर्कटकादीति सूत्रार्थः ॥ ८४ ॥

तं उक्खिवित्तु न निक्खिवे, आसएण न छड्डए ।
हत्थेण य गहेऊणं, तं एगंतमवक्कमे ॥ ८५ ॥

तदस्थ्यादि उत्क्षिप्य हस्तेन यत्र क्वचिन्न निक्षिपेत् , तथाऽऽस्येन मुखेन नोज्झेत् , अपि तु हस्तेन गृहीत्वा तदस्थ्यादि एकान्तमवक्रामेदिति सूत्रार्थः ॥ ८५ ॥

एगंतमवक्कमित्ता, अचित्तं पडिलेहिया ।
जयं परिट्ठवेज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥ ८६ ॥

एकान्तमवक्रम्य, अचित्तं प्रत्युपेक्ष्य यतं प्रतिष्ठापयेत्, प्रतिष्ठाप्य प्रतिक्रामेदिति, भावार्थः पूर्ववदेवेति सूत्रार्थः ॥ ८६ ॥

(५६) गोचरादागमनम् । वसतिमधिकृत्य भोजनविधिमाह–

सिया य भिक्खू इच्छेज्जा, सिज्जमागम्म भुत्तुयं ।
सपिंडपायमागम्म, उंडुयं से पडिलेहिया ॥ ८७ ॥

स्यात्कदाचित्तदन्यकारणाभावे सति भिक्षुरिच्छेत् शय्यां वसतिमागम्य परिभोक्तुम् । तत्राऽयं विधिः–सह पिण्डपातेन विशुद्धसमुदानेनाऽऽगम्य,वसतिमिति गम्यते,तत्र बहिरेवोन्दुकं स्थानं प्रत्युपेक्ष्य, विधिना तत्रस्थः पिण्डपातं शोधयेदिति सूत्रार्थः॥८७॥

तत उर्द्धम्–

विणएणं पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी ।
इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥८८॥

विशोध्य पिण्डं बहिर्विनयेन नैषेधिकी 'नमः क्षमाश्रमणेभ्यः' अञ्जलिकरणलक्षणेन, प्रविश्य, वसतिमिति गम्यते । सकाशे गुरोर्मुनिः, गुरुसमीपे इत्यर्थः । ईर्यापथिकीमादाय " इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए " इत्यादि पठित्वा सूत्रम । आगतश्च गुरुसमीपं प्रतिक्रामेत्, कायोत्सर्गं कुर्यादिति सूत्रार्थः ।

(५७) गोचरातिचारालोचनम्–

आभोइत्ताण निस्सेसं, अइयारं जहक्कमं ।
गमणागमणे चेव, भत्ते पाणे च संजए ॥ ८९ ॥

तत्र कायोत्सर्गे आभोगयित्वा ज्ञात्वा निःशेषमतिचारं यथाक्रमं परिपाट्या, केत्याह–गमनागमनयोश्चैव, गमने गच्छतः, आगमने आगच्छतो योऽतिचारः , तथा भक्तपानयोश्च , भक्ते पाने च योऽतिचारः , तं संयतः साधुः कायोत्सर्गस्थो हृदये स्थापयेदिति सूत्रार्थः ॥ ८६ ॥ दश० ५ अ०१उ० । (अत्र कीदृक् स्थापयेद् भुञ्जीत वेति बहुविचारः 'परिट्ठवणा' शब्दे वक्ष्यते)

वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा नि-

थीण वा अपरिन्नएणं अपरिन्नयस्स अट्ठाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा० जाव पमिगाहित्तए ॥ ४० ॥ से किमाहु भंते !?। इच्छा परो अपरिन्नए भुंजिज्जा, इच्छा परो न भुंजिज्जा ॥ ४१ ॥

"वासावासं" इत्यादितः "न भुंजिज्जे त्ति" यावत्सूत्रद्वयम्। तत्र "अपरिण्णएणं" इत्यादि। 'त्वं मम योग्यमशनम् आनयेः' इति अपरिज्ञेन अज्ञापितेन साधुना 'अहं तव योग्यम् अशनादि आनेष्ये' इत्यपरिज्ञातस्य अज्ञापितस्य साधोः (अट्ठाए त्ति) अर्थाय कृते अशनादि परिग्रहीतुं न कल्पते ॥ ४० ॥ अत्र शिष्यः पृच्छति-(से किमाहु भंते त्ति) तत्कुतो भदन्त ! ?। गुरुराह- "इच्छेत्यादि।" इच्छा चेदस्ति तदा परो यदर्थमानीतं स भुञ्जीत, इच्छा न चेत्तदा न भुञ्जीत, प्रत्युतैवं वदति-केनोक्तमासीत यत्त्वया आनीतम् ?। किं च-अनिच्छया दाक्षिण्यतश्चेद् भुङ्क्ते तदा अजीर्णादिना बाधा स्यात्, परिष्ठापने च वर्षासु स्थण्डिलदौर्लभ्यादोषः स्यात्, तस्मात्पृष्ट्वा आनेयम् ॥ ४१ ॥ कल्प० ६ क्षण।

उग्गम उप्पायणए-सणाएँ बायाल होंति अवराहा ।
सोहेउं समुदाणं, पमिक्कले वच्चमू वसहिं ॥ ७६५ ॥

एवं साधोरुद्गमोत्पादनैषणाभिर्द्विचत्वारिंशदपराधा भवन्ति। तैः समुदानं भिक्षां शोधयित्वा विविच्य ते ततः 'पडिक्कणे' लब्धे सति भक्तादौ वसतिं प्रयान्ति ॥ ७६५ ॥

इदानीं तद्भक्तं गृहीतं सत् शोधयित्वा वसतिं प्रविशति, केषु स्थानेष्वत आह-

अन्नघर देउले वा, असइ य ओवस्सगस्स वा दारे ।
संसत्तकंटगाई, सोहेउमुवस्सगं पविसे ॥ ७६६ ॥

गृहीत्वा भक्तमुपाश्रयाभिमुखो व्रजंस्तदन्यगृहे तत् भक्तं प्रत्युपेक्ष्य ततो वसतिं प्रविशति, तदभावे देवकुले वा, तदसति-यदि गृहादीनामभावस्ततोपाश्रयद्वारे संसक्तं भवेः, कण्टकैर्वा यद् व्याप्तं, तत् शोधयित्वा प्रोक्ष्य संसक्तादिभक्तं, तत उपाश्रयं प्रविशति ॥ ७६६ ॥

एवं तस्य प्रत्युपेक्षतः कदाचित् संसक्तं भवति, तत्र किं करोतीत्यत आह-

संसत्तं तत्तो च्चिय, परिट्ठवित्ता पुणो दगं गेण्हे ।
कारणे मत्तगगहियं, उग्गाहिएँ उड्ड पविसणया ॥ ७६७ ॥

यदि तत्र संसक्तं पानकं भवेत्, ततोऽस्मादेव स्थानात् प्रतिष्ठाप्य पुनरप्यन्यद् द्रवं गृह्णाति, तथा ग्लानादिकारणेन च मात्रके यद् गृहीतमासीत्तत् पतद्ग्रहे प्रक्षिप्य प्रविशति । ततस्तस्य साधुभिराख्यातम्-यदुत ग्लानस्यान्यद् लब्धिमतो निष्कारणं मात्रकोपयोगं परिहर, निष्कारणमात्रकोपयोगे च प्रमादा भवन्ति, एवमसौ परिशुद्धे सति भक्ते प्रविशति उपाश्रयम् ॥ ७६७ ॥

अथाशुद्धं भवति, ततः परिष्ठाप्य किं करोति?, इत्यत आह-

गामे य काले भाणे, पहुप्पमाणे हवंति भंगट्ठा ।
काले अ पहुप्पंति त-त्थ वट्टिए सेसए जयणा ॥ ७६८ ॥

यदा ग्रामं पर्याप्यते, कालश्च पर्याप्यते, भाजनं च पर्याप्यते, एवमस्मिन्नाश्रये पर्याप्यमाणे सति, पदत्रयनिष्पन्ना अष्टौ भङ्गका भवन्ति। तेषां च भङ्गकानां मध्ये यस्मिन् भङ्गके कालो न पर्याप्यते, तस्मिन् वर्जित एव शेषेषु चतुर्भङ्गकेषु भजनां विकल्पनां करोति ॥ ७६८ ॥

इदानीं भजनां दर्शयन्नाह-

अन्नं व वए गामं, अन्नं भाणं च गेण्हइ सइ काले ।
पढमे बिइए छट्ठे-चए य भएँ सेसएँ नियत्ते ॥ ७६९ ॥

अन्यं ग्रामं वा व्रजति काले पर्याप्यमाणे, अन्यच्च भाजनं गृह्णाति पर्याप्यमाणे काले सति, एवं प्रथमभङ्गके, द्वितीये च, षष्ठे पञ्चमे भङ्गके च भजनां सेवनां करोति काले सति, येषु भङ्गकेषु कालो न पर्याप्यते तेषु निवर्त्येत, तेषु न गन्तव्यं भिक्षाया इत्यर्थः । स च पर्याप्यमाणकालो द्विविधः-जघन्यः, उत्कृष्टश्च ॥ ७६९ ॥

तत्र जघन्यप्रतिपादनायाऽऽह-

वोसिज्ज मागयाणं, वमु धाविएँ मत्तए च भूमितिए ।
पमिलेहइ अणत्थमिए, सेसऽत्थमिए जहन्नो उ ॥ ७७० ॥

संज्ञां व्युत्सृज्य आगतानां, मात्रकं च, यस्मिँस्तोयं गृहीत्वा गत आसीत्प्रक्षेपनार्थं, तस्मिन् क्षालितशोषिते सति, भूमित्रिके च-कायिकभूमौ द्वादश स्थण्डिलानि, संज्ञाभूमौ द्वादश स्थण्डिलानि, कालभूमौ त्रीणि स्थण्डिलानि, एवमस्मिन् भूमित्रितये प्रत्युपेक्षिते सति, यदाऽनस्तमनं भवति अस्मिन् प्रदेशे,(सेसअत्थमिते त्ति) शेषोपधिम् अस्तमिते आदित्ये प्रत्युपेक्षिते, यदा अयमित्थंभूतः कालः इति स जघन्य इति ॥ ७७० ॥

इदानीमुत्कृष्टकालप्रतिपादनायाऽऽह-

भुत्ते वियारभूमिं, गयाऽऽगयाणं तु जइ य उग्गाहे ।
चरिमाएँ पोरिसीए, उक्कोसो सेसें मज्झिमओ ॥ ७७१ ॥

भुक्ते सति विचारभूमिं संज्ञाभूमिं गत्वा आगतानां यथा उद्ग्राहे आगच्छति चरमपौरुषी चतुर्थप्रहरः, अथ वा-चरमपौरुषी पादोनचतुर्थप्रहरो यथा आगच्छति, यस्यां वेलायाम्, अयमुत्कृष्टः कालः, शेषस्त्वन्यो मध्यमकाल इति ॥ ७७१ ॥

तेन च भिक्षामटित्वा विनिवृत्य प्रविशता किं कर्त्तव्यमत आह-

पायपमज्जण निस्सी-हीया तिन्नि उ करे पवेसम्मि ।
अंजलि ठाणविसोही, दंमग उवहिस्स निक्खेवो ॥ ७७२ ॥

बहिरेव वसतेः पादौ प्रमार्जयति, निषेधिकात्रितयं करोति प्रविशन्, पुनश्च गुरोः पुरस्तादञ्जलिना नमस्कारं करोति "नमो खमासमणमिति" तथा प्रविष्टश्च स्थानं विशोधयति, तत्र दण्डकस्योपधेश्च निक्षेपं करोति ॥ ७७२ ॥

इदानीमेनामेव गाथां भाष्यकारो व्याख्यानयन्नाह-

एवं पच्चुप्पन्ने, पविसउ तिन्नि य निसीहिया होंति ।
अग्गद्दारे मज्झे, पवेसें पाए असागारिए ॥ ७७३ ॥

एवं प्रत्युत्पन्ने लब्धे सति भक्ते प्रविशतस्तिस्रो निषेधिका भवन्ति। क्व?, अग्रद्वारे प्रथमा, तथा द्वितीया मध्यमदेशे वसतः, प्रवेशे च मूलद्वारस्य तृतीयां निषेधिकां करोति , पादौ च प्रमार्जयति, यदि कश्चित्सागारिको न भवति । अथ तत्र सागारिको भवति, ततः वरण्डकाभ्यन्तरे प्रमार्जनं करोति। अथ मध्यमेऽपि भवति-द्वितीयनिषेधिकास्थानेऽपि भवति सागारिकः, ततः मध्ये प्रविश्य प्रमार्जयति पादौ, अनेन कारणेन प-

आद्ध्याध्यकारेण पादप्रमार्जनं व्याख्यातम्,येन तदनियतं वर्त्तते, निर्षीधिकास्वकृतास्वपि कारणवशात् संभवतीति ॥ ७७३ ॥

इदानीमञ्जलयवयवं व्याख्यानयन्नाह-

हत्थुस्सेहो सीस-प्पणामणं वाइओ नमोकारो ।

गुरुजायणे य भाए, वायाएँ णमो न उस्सेहो ॥७७४॥

हस्तोच्छ्रयं नमस्कारार्थं करोति, शीर्षप्रणमनं करोति, वाचा च "नमो खमासमणाणं" इत्येवं नमस्कारं करोति । अथ तद्गुरुभिक्षाभाजनं भवति, मात्रकं च गुरु गृहीतमङ्गुलीभिः, ततश्चैवं गुरुणि भाजने सति शिरसा प्रणामं करोति, वाचा नमो इत्येवं ब्रूते, हस्तोच्छ्रयं न करोति, यतोऽसौ गुरोर्मात्रकस्याधो हस्तो हस्तः संधारणार्थं ततश्च नोच्छ्रयं करोति ॥७७४॥ ओघ० (गुरवे निवेदयेत् भुञ्जीत चेति 'भोयण' शब्दे वक्ष्यते)

(५८) गोचरातिचारे प्रायश्चित्तम्-

गोयमा ! जेणं भिक्खू पिंमेसणाभिहिपणं विहिणा अदीणमणसा वज्जंतो वीयहरियाई, पाणे य दगम- ट्टियं ओवायं विसमं खाणुं रन्नो गिहवईणं च संकट्ठाणं वि वज्जंतो पंचसमियतिगुत्तो गोयरचरियाए पाहुमियं न पमियरिया, तस्स णं चउत्थं पायच्छित्तं उवइ- सेज्जा । जइ णं नो अजत्तट्ठी ठवणकुलेसु पविसे, खवणं सहसा पमिवुत्थं पमिगाहियंतं तक्खणा ण परिट्ठवे, नि- रुवद्दवे थंडिले खवणं अकप्पं पमिगाहेज्जा,चउत्थाइ जहा- जोगं कप्पं वा पमिसेहेइ उवट्ठावणं, गोयरपविट्ठो कहं वा विकहं वा उजयकहं वा पत्यावेज्ज वा,उदीरेज्ज वा, कहेज्ज वा,निसामेज्ज वा,कई गोयरमागओ य,जत्तं वा पाणं वा जे- सज्जं वा,से जेणं चिंतियं,जं जहा य चित्ते,जं जहा य पमिग- हियं, तं तहा सव्वं आलोएज्जा पुरिमड्ढं,इरियाए अपडि- कंताए जत्तपाणाऽयं आलोएज्जा पुरिमड्ढं। महा० ७ अ० ॥

(गोचरातिचारप्रतिक्रमणं 'पडिक्कमण' शब्दे एव स्थविरकल्पिकस्य भिक्षाविधिरुक्तः । जिनकल्पिकस्य तु 'जिणकप्पिय' शब्दे)

(५९) निर्ग्रन्थीनां तु भिक्षाविधिरेवम्-

अथ भिक्षानिर्गमद्वारमभिधित्सुराह-

दो थेरि तरुणि थेरी, दोन्नि उ तरुणीउ एक्किया तरुणी।

चउरो अ अणुग्घाया, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

अत्र गुरुनियोगतः चूर्णिरेव लिख्यते-"जति दोन्नि थेरीओ निग्गच्छंति भिक्खस्स वा, तरुणी थेरी य जति वा, दो तरुणी उ निग्गच्छति वा,एगा थेरी जति निग्गच्छति वा,एक्किया तरुणी जति निग्गच्छति वा।" तत्राऽप्याज्ञादयो दोषाः ।

कुत इत्याह-

चउकम्मं नोज्जरहं, संका दोसा य थेरियाणं पि ।

कुट्टिणिसहिता वीए, ति सुत्त तरुण चउत्थीसु ॥

दोण्हं थेरीणं दोसो-दुवे अभिन्नरहस्सीउ होज्जा, संका, य,किं, मन्ने-केणइ पुत्तिकिच्चेण निउत्तिया उ असंकणिज्जाउ त्ति काउं, तरुणी थेरी य, लोगो भणेज्जा-कुट्टिणिसहिया हिंमति चितिए, तिएगारे निग्गमस्स-दो तरुणीओ धुत्तीओ संभाविज्जंति,एगा वि थेरी धुत्ती संभाविज्जति,एगा तरुणी तक्काणिज्जा"॥

यस्मादेते दोषाः तस्मादयं विधिः-

पुरतो य मग्गतो वा, थेरीउ मज्झें होंति तरुणीउ ।

अइगमणे निग्गमणे, एस विही होइ कायव्वा ॥

पुरतो मार्गतश्च स्थविरा भवन्ति, मध्यभागे तरुण्यः, एवं बह्वीनां संभूय पर्यटन्तीनामुक्तम्, जघन्येन तु तिस्रः सहैव पर्यटन्ति, तत्रैका स्थविरा पुरतो, द्वितीया स्थविरैव पृष्ठतः, तृतीया तरुणी तयोर्द्वयोरपि मध्ये, एवमतिगमने गृहपतिगृहप्रवेशे, निर्गमने च,तत एव निर्गम एव विधिः कर्त्तव्यो भवति ।

कुत इति चेदुच्यते-

निग्गमाद्ऽसंकणिज्जा, अतक्कणिज्जा य साण-तरुणाणं ।

अन्नोन्नरक्खणेसणा, वीसत्थ पवेसकिरियाए ॥

त्रिकादयः पर्यटन्त्योऽशङ्कनीया भवेयुः,श्वानतरुणानां च अतर्कणीया अनभिलषणीया भवन्ति। उपद्रवत्स्वपि च श्वानगवादिषु अन्योऽन्यं सुखेनैव रक्षणं कुर्वन्ति,एषणां च सम्यक् शोधयन्ति, विश्वस्ताश्च सत्यो गृहस्थकुलेषु प्रवेशनिर्गमादिक्रियाः कुर्वन्ति ।

यत्र कोष्ठको भवेत्तत्रायं विधिः-

थेरी कोट्ठगदारे, तरुणी पुण होइ तीएँ णो दूरे ।

विइय किढी बारबाहिं, पच्चत्थियरक्खणट्ठाए ॥

एका स्थविरा कोष्ठकस्यापवरकस्य द्वारे, तरुणी पुनस्तस्याः स्थविराया नातिदूरे प्रवेशे,या तु द्वितीया 'किढी' स्थविरा, सा द्वारस्य बहिस्तिष्ठति । किमर्थमित्याह-प्रत्यनीकः,तस्य रक्षणार्थं, यदि कोऽप्युपसर्गं कुर्यात्, तदा सुखेनैव बोलं कृत्वा स निवार्यते ।

जाणंति तव्विहकुलं, संबुद्धीए चरिज्ज अन्नोन्नं ।

ओराल निच्च लोयं, खुज्ज तवो आउले सहाया ॥

तद्विधानि तादृशानि संभावनीयोपद्रवाणि कुलानि सम्यग् जानन्ति, ज्ञात्वाऽथ प्रथमत एव परिहरन्ति। अन्योऽन्यं परस्परं संबुद्ध्या संमत्या चरेयुर्भिक्षाचर्यां पर्यटेयुः,मा स्वकसंमत्या पर्यटन परस्परमसंखडादयो दोषाः। या च उदारा रूपातिशययुक्ता संयती, सा नित्यमेव लोचमात्मना करोति (खुज्ज त्ति) तस्याः पृष्ठप्रदेशे कुब्जकरणी स्थापयितव्या, तपश्चतुर्थादि सा कारापणीया, आकुले जनाकीर्णे बह्वीभिश्च सहायाभिः सहिता सा भिक्षादौ हिण्डापनीया ।

अथ तासां वृन्देन भिक्षाटने कारणान्तरमाह-

तिप्पभिइ अडंताओ, गिण्हंतऽन्नन्नहिं चिमे तिन्नि ।

संजमदव्वविरुद्धं,देहविरुद्धं च जं दव्वं ॥

त्रिप्रभृतिवृन्दे भिक्षामटन्त्योऽन्यान्यस्मिन् पृथक् पृथग् भाजने, चशब्दः प्रागुक्तकारणापेक्षया कारणान्तरद्योतनार्थः । अमूनि त्रीणि द्रव्याणि सुखेनैव गृह्णन्ति । तद्यथा-संयमद्रव्यविरुद्धं, देहविरुद्धं च यत् द्रव्यम्।

एतान्येव प्रतिपादयति-

पालंकलट्टसागा, मुग्गकयं चामगोरसुम्मीसं ।

संसज्जती उ अचिरा, तं पि य नियमा दुदोसाय ॥

पालङ्कशाकं महाराष्ट्रादौ प्रसिद्धं,लट्टशाकं कौसुम्भशाकमकम्।

एते अन्योऽन्यं मिलिते सूक्ष्मजन्तुभिः संसृज्येते, यच्च मुद्गकृतम्, उपलक्षणत्वादन्यदपि द्विदलं, तदप्यामगोरसोन्मिश्रं सद्विचारादेव सूक्ष्मजन्तुभिः संसज्यते, संसक्तं च नियमात्, "एके द्वौ दोषौ समाहृतौ द्विदोषम्" तस्मै, द्विदोषाय भवति,संयमोपघाताऽऽत्मोपघातरूपं दोषद्वयं करोतीत्यर्थः ।

दहि तिल्लाई उभयं, पय सोवीरा य हुंति य विरुद्धा ।
देहस्स विरुद्धं पुण, सीउण्हाणं समाओगो ।

दधितैले, आदिशब्दादन्यदप्युभयं मिलितं सत्परस्परविरुद्धं, ये च पयःसौवीरे दुग्धकाञ्जिके परस्परं विरुद्धे, एतद् द्रव्यविरुद्धं मन्तव्यम्, देहस्य पुनर्विरुद्धं यः शीतोष्णयोर्द्रव्ययोः परस्परं समायोगः । एतानि पृथक् पृथक् भाजनेषु गृह्यमाणानि न संयमाद्युपघाताय जायन्ते ।

अपि च-

नत्थि य मामागाइं, माउग्गामो य तासिपच्चासे ।
सीउण्हगिण्हणाए, सारक्खणमेक्कमेक्कस्स ।

न सन्ति तासां मामकानि कुलानि-न हि कोऽपि स्त्रीजनं गृहे प्रविशन्तमीर्ष्यया निषेधयतीति भावः । मातृग्रामश्च नाम-समयपरिभाषया स्त्रीवर्गः, चशब्द एवकारार्थः । तत् किमुक्तं भवति?-स्त्रीवर्ग एव प्रायेण भिक्षादायकः, स च तासां संयतीनामभ्यासे स्त्रीत्वसंबन्धमधिकृत्य यस्मात्प्रत्यासन्नो वर्तते, अतस्त्रिप्रभृतीनामपि पर्यटन्तीनां सुखेनैव भक्तपानं पर्याप्तं भवति । शीतोष्णग्रहणेन च संरक्षणमेकैकस्याः परस्परं कृतं भवति ।

कथं पुनरिति ?, अत आह-

एगत्थ सीयमुसिणं, च एगहिं पाणगं च एगत्थ ।
दोसऽन्नस्स अगहणे, चिराडणे होज्जिमे दोसा ॥

एकत्र प्रतिगृहे शीतं पर्युषितं गृह्णन्ति, एकस्मिन्नुष्णम्, एकत्र च पानकम् । एतच्च तिसृणामटन्तीनां भवति । अथ द्वे पर्यटतस्तत एकत्र प्रतिग्रहे उष्णं, द्वितीयं तु पानकं, परं दोषान्नं कुत्र गृह्णन्तु ?। स्वार्थं परिभोक्तुं न कल्पते । अथोष्णमध्ये दोषान्नं गृह्णन्ति, तदा देहविरुद्धं भवति । अथ दोषान्नं न गृह्णन्ति, ततो दोषान्नस्याग्रहणे चिराटनम्, चिरं पर्यटन्तीनां तरुणादिकृतो मार्गे स्त्रीवेद उद्दीपेत ।

तथा चामुमेवार्थं दर्शयितुं वेदस्वरूपमाह

थी पुरिसो अ नपुंसो, वेदो तस्स उगमे पगारा उ ।
फुंफुम दवग्गिसरिसो, पुरदाहसमो भवे तइओ ॥

वेदस्त्रिधा--स्त्रीवेदः, पुरुषवेदो, नपुंसकवेदश्च । तस्य तु त्रिधाऽपि यथाक्रमं-त्रिविधस्यापि यथाक्रममर्मी प्रकाराः-स्त्रीवेदः फुंफुमाग्निसदृशः करीषाग्नितुल्यः । यथा-करीषाग्निरन्तर्धगधगन्नास्ते, न परिस्फुटं प्रज्वलति, न वा विध्यायति , चालितस्तु तत्क्षणादेवोद्दीप्यते, एवं स्त्रीवेदोऽपि । पुरुषवेदस्तु दवाग्निसदृशः । यथा-दवाग्निरिन्धनयोगतः सहसैव प्रज्वल्य विध्यापयति, एवं पुरुषवेदोऽपि । तृतीयो नपुंसकवेदः, स पुरदाहसमः । यथा-हि महानगरदाहे वह्निः प्रज्वलितः सन्नार्द्रे वा शुष्के वा सर्वत्र दीप्यते, एवमेव नपुंसकवेदोऽपि स्त्रियां पुरुषे वा सर्वत्र दीप्यते, न चोपशाम्यति, इत्थं वेदत्रयस्वरूपं द्रष्टव्यम् ।

प्रस्तुतयोजनामाह--

जह फुमा हसई सइ, घट्टिया एवमेव थीवेदो ।
दिप्पइ अतिक्किदियाण वि, आलिंगन-छेदणादीहिं ॥

यथा फुंफुकाग्निर्घट्टितः सन् (हसइ त्ति) देदीप्यते, एवमेव स्त्रीवेदोऽप्यालिङ्गनच्छेदनादिभिरुदीरितः स्थविराणामपि दीप्यते, किं पुनस्तरुणीनामित्यपिशब्दार्थः ।

आह-स्थविराणां कथं वेदोद्दीपनं भवतीत्युच्यते-

न वओ इत्थ पमाणं, न तवस्सित्तं सुयं न परियाओ ।
अवि क्खीणम्मि वेदे, थीलिंगं सव्वहा रक्खं ॥

न वयो वार्द्धकादिकमत्र विचारे प्रमाणं, न वा तपस्वित्वमनशनादितपःकर्मकारिता, न वा श्रुतमाचारादिकं सुबह्वप्यवगाहितं, न वा पर्यायो द्राघीयःप्रव्रज्याकाललक्षणः । एतेषु सत्स्वपि वेदोदयो भवेदित्यर्थः । अपि च-क्षीणेऽपि वेदे स्त्रीभिः स्त्रीलिङ्गं सर्वथा रक्ष्यम् । अत एव स्त्री केवलिपथोक्तामार्यिकोपकरणप्रावरणादियतनां करोतीति भावः ।

आह-यदि ताः स्नानादिपरिकर्मरहिताः, ततः किं-
कोऽपि तासु रागं व्रजति, येनेत्थं यतना क्रियते ?,
उच्यते--

कामं तवस्सिणीओ, एहाणुव्वट्टणविकारविरयाओ ।
तह वि य सुपाउआणं, अपेसणाणं चिमं होइ ॥

काममनुमतं यथा तपस्विन्यः स्नानोद्वर्तनविकारविरताः, तथापि सुप्रावृतानां नित्यमेव बहुभिरुपकरणैराच्छादितानाम्, अप्रेषणानां वा व्यापाराणाम् , इदमनन्तरमेव वक्ष्यमाणं शरीरसौन्दर्यं भवति ।

तदेवाह-

रूवं वन्नो सुकुमा-रया य निद्धच्छवी य अंगाणं ।
होंति किर सन्निरोहे, अज्जाण तवं चरंतीणं ॥

रूपमाकृतिः, वर्णो गौरत्वादिः, सुकुमारता कोमलस्पर्शता, स्निग्धता च कान्तिमती छविस्त्वक्, अङ्गानां शरीरावयवानामिति । नीरूपादीनि आर्यिकाणां संनिरोधे बहुप्रकारेण प्रावरणादिभ्रियमाणानां भवन्ति । ततो निर्युक्तियुक्ता पूर्वोक्तानां सा यतनेति । बृ० १ उ० ।

(६०) सर्वसंपत्कर्यादिभिक्षानिरूपणम्-

त्रिधा भिक्षाऽपि तत्राऽऽद्या, सर्वसंपत्करी मता ।
द्वितीया पौरुषघ्नी स्यात्, वृत्तिभिक्षा तथाऽन्तिमा ॥९॥

त्रिधेत्यादि व्यक्तः ॥ ९ ॥

सदाऽनारम्भहेतुर्या, सा भिक्षा प्रथमा स्मृता ।
एकबाल्ये द्रव्यमुनौ, सदाऽनारम्भिता पुनः ॥ १० ॥

(सदेति) सदा अनारम्भस्य हेतुर्या भिक्षा, सा प्रथमा, सर्वसंपत्करी स्मृता । तद्धेतुत्वं च सदाऽऽरम्भपरिहारेण, सदाऽनारम्भगुणानुकीर्तनाभिव्यङ्ग्यपरिणामविशेषाहितयतनया वा । सदाऽनारम्भिता तु-एकबाल्ये द्रव्यमुनौ संविग्नपाक्षिकरूपे न संभवति । इदमुपलक्षणम्-एकादशीं प्रतिमां प्रतिपन्नस्य श्रमणोपासकस्यापि प्रतिमाकालावधिकत्वादनारम्भकत्वस्य न तत्संभवः, न च तद्भिक्षायाः सर्वसंपत्करीकल्पत्वोक्त्यैव निस्तारः । इत्थं द्वि-
यथाकथञ्चित्सर्वसंपत्करीयमिति व्यवहारोपपादनेऽपि न

पौरुषघ्नीत्यादि,व्यवहारानुपपादनात् । तथा च--" यतिर्ध्यानादियुक्तो यो, गुर्वाज्ञायां व्यवस्थितः । सदाऽनारम्भिणस्तस्य, सर्वसंपत्करी मता" ॥ १ ॥ इत्याचार्याणामभिधानं संभवाभिप्रायेणैव, जिनकल्पिकादौ गुर्वाज्ञाव्यवस्थितत्वादेरिव सदाऽनारम्भित्वस्य फलत एव ग्रहणात् । अन्यथा-लक्षणानुगमापत्तेर्व्यसर्वसंपत्करीमुपेक्ष्य भावसर्वसम्पत्करीलक्षणमेव वा कृतमिदमिति यथातत्त्वं भावनीयम ॥ १० ॥

दीक्षाविरोधिनी भिक्षा, पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता ।

धर्मलाघवमेव स्यात्, तया पीनस्य जीवतः ॥ ११ ॥

(दीक्षेति) दीक्षाया विरोधिनी दीक्षावरणकर्मबन्धकारिणी भिक्षा पौरुषघ्नी प्रकीर्तिता, तया, जीवतः पीनस्य पुष्टाङ्गस्य धर्मलाघवमेव स्यात् । तथाहि-गृहीतव्रतः पृथिव्याद्युपमर्दनेन सुखोञ्छजीविगुणनिन्दया च भिक्षां गृह्णन् स्वस्य परेषां च धर्मस्य लघुतामेवापादयति । तथा गृहस्थोऽपि यः सदाऽनारम्भविहितायां भिक्षायां तदुचितमात्मानमाकलयन् मोदमाश्रयति, सोऽप्यनुचितकारित्वेऽसौ जलपाईलेत इति शासनावर्णवादेन धर्मलघुतामेवाऽऽपादयतीति । तदिदमुक्तम्-

" प्रव्रज्यां प्रतिपन्नो य-स्तद्विरोधेन वर्तते ।
असदारम्भिणस्तस्य, पौरुषघ्नीति कीर्तिता ॥ १ ॥
धर्मलाघवकृन्मूढो, भिक्षयोदरपूरणम् ।
करोति दैन्यात्पीनाङ्गः, पौरुषं हन्ति केवलम् ॥ २ ॥ "

अत्र प्रतिमाप्रतिपन्नभिक्षायां दीक्षाविरोधित्वाभावादेव नातिव्याप्तिरिति ध्येयम ॥ ११ ॥

क्रियान्तरासमर्थेतर-प्रयुक्ता वृत्तिसंज्ञिका ।

दीनान्धादिष्वियं सिद्ध-पुत्रादिष्वपि केषुचित् ॥ १२ ॥

(क्रियान्तरेति) क्रियान्तरासमर्थत्वेन प्रयुक्ता, न तु मोहेन, चारित्रशुद्धीच्छया वा, वृत्तिसंज्ञिका भिक्षा भवति; इयं च दीनान्धादिषु संभवति । यदाह--

" निःस्वान्धपङ्गवो ये तु, न शक्ता वै क्रियान्तरे ।
भिक्षामटन्ति वृत्त्यर्थं, वृत्तिभिक्षेयमुच्यते ॥ १ ॥
नातिदुष्टाऽपि चामीषा-मेषा स्यान्न ह्यमी तथा ।
अनुकम्पानिमित्तत्वाद्, धर्मलाघवकारिणः ॥ २ ॥ "

तथा सिद्धपुत्रादिष्वपि केषुचिद्वृत्तिभिक्षा संभवति । आदिना सारूपिकग्रहः, दीनादिपदाद्व्यपदेश्यत्वाच्चैषां पृथगुक्तिः । श्रूयन्ते चोत्प्रव्रजिता अमी जिनागमे भिक्षुकाः । यतो व्यवहारचूर्ण्यामुक्तम्-" जो अणुसासिओ ण पडिनियत्तो सो सारुवित्तणेण वा सिद्धपुत्तणेण वा अच्छउ कंचि कालं । सारुविओ णाम--सिरमुंडो सरजोहरणो अबाउयाहिं भिक्खं हिंडइ, अभज्जो अ । सिद्धपुत्तो णाम--सबालओ भिक्खं हिंडइ वा, ण वा, वरामपहिं वेटलिअं करेइ, इड्ढिं वा धरेति त्ति ।"केषुचिदित्यनेन ये तत्प्रव्रजितत्वेन क्रियान्तरासमर्थास्ते गृह्यन्ते । येषां पुनरत्यन्तावद्यभीरूणां संवेगातिशयेन प्रव्रज्यां प्रति प्रतिबद्धमेव मानसं, तेषामाद्यैव भिक्षा । एतद्व्यतिरिक्तानामसदारम्भाणां च पौरुषघ्न्येव "तत्त्वं पुनरिह केवलिनो विदन्ति" इत्यष्टकवृत्तिकृद्वचनं च तेषां नियतभावापरिज्ञानसूचकमित्यवधेयम ॥ १२ ॥

अव्याबाधेन सामग्र्यं, मुख्यया भिक्षयाऽलिवत् ।

गृह्णतः पिण्डमकृत-मकारितमकल्पितम् ॥ १३ ॥

[अव्येति] अन्येषां स्वव्यतिरिक्तानां दायकानामबाधेनाऽपीडनेन मुख्यया सर्वसम्पत्कर्या भिक्षया, अलिवद्भ्रमरवत्, अकृतमकारितमकल्पितं च पिण्डं गृह्णतः । सामग्र्यं चारित्रसमृद्ध्या पूर्णत्वं भवति । अलिवदित्यनेनाऽऽनयनप्रतिषेधः,तथासत्यभ्याहृतदोषप्रसङ्गात् । साधुवन्दनार्थमागच्छद्भिर्गृहस्थैः पिण्डानयनेनायं भविष्यति, तदागमनस्य वन्दनार्थत्वेन साध्वर्थपिण्डानयनस्य प्रासङ्गिकत्वादिति चेत्,नैवमपि मालापहृताभिधारणादिति वदन्ति ॥ १३ ॥

नन्वेवं सद्गृहस्थानां, गृहे भिक्षा न युज्यते ।

अनात्मम्भरयो यत्र, स्वपरार्थं हि कुर्वते ॥ १४ ॥

(नन्वेवमिति) ननु एवं संकल्पितपिण्डस्याऽप्यग्राह्यत्वे सद्गृहस्थानां शोभनब्राह्मणादागारिणां गृहे भिक्षा न युज्यते यतः,हि यतोऽनात्मम्भरयोऽनुदरम्भरयो यत्र पाकादिविषयं स्वपरार्थं कुर्वते । भिक्षाचरदानासंकल्पेन स्वार्थमेव पाकप्रयत्ने सद्गृहस्थस्वभङ्गप्रसङ्गात्, देवतापितृतिथिभर्त्तव्यपोषणशेषभोजनस्य गृहस्थधर्मत्वश्रवणात् । न च दानकालापूर्वं देयत्वबुध्या असंकल्पितं दातुं शक्यत इत्यपि द्रष्टव्यम ॥ १४ ॥

संकल्पभेदविरहो, विषयो यावदर्थिकम् ।

पुण्यार्थिकं च वदता, स्फुटमत्र हि दुर्वचः ॥ १५ ॥

(संकल्पेति) अत्र हि "असंकल्पितः पिण्डो यतेर्ग्राह्यः" इति वचने हि संकल्पभेदस्य यतिसंप्रदानकत्वप्रकारदानेच्छात्मकस्य विरहो दुर्वचः केनेति ?,आह-यावदर्थिकं यावदर्थिनिमित्तनिष्पादितम्,पुण्यार्थिकं पुण्यनिमित्तनिष्पादितं च, पिण्डं दुष्टं वदता अन्यथोक्तासंकल्पितत्वस्य यावदर्थिकपुण्यार्थिकयोः सत्त्वेन तयोर्ग्राह्यत्वाऽऽपत्तेः ।

तदाह-

"संकल्पनं विशेषेण, यत्रासौ दुष्ट इत्यपि ।
परिहारो न सम्यक् स्याद्, यावदर्थिकवादिनः ॥ १ ॥
विषयो वाऽस्य वक्तव्यः, पुण्यार्थं प्रकृतस्य च ।
असंभवाभिधानात् स्या-दाप्तस्यानाप्तताऽन्यथा " ॥ २ ॥

इति ॥ १५ ॥

उच्यते विषयोऽत्रायं, भिन्ने देये स्वभोग्यतः ।

संकल्पनं क्रियाकाले, दुष्टं पुष्टमियत्तया ॥ १६ ॥

(उच्यत इति) अत्रायं विषय उच्यते, यदुत क्रियाकाले पाकनिर्वर्तनसमये, स्वभोग्यादात्मीयभोगार्हात् ओदनादेर्भिन्नेऽतिरिक्ते देये ओदनादौ, इयत्तया "एतावदिह कुटुम्बाय एतावद्भिक्षुभ्यः पुण्यार्थं चेति" विषयतया, पुष्टं संवलितम, संकल्पनं दुष्टम, तदाह-"विभिन्नं देयमाश्रित्य, स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि । संकल्पनं क्रियाकाले, तद्दुष्टं विषयोऽनयोः" १ ॥१६॥ द्वा०६द्वा०।

अकृतोऽकारितश्चान्यै-रसंकल्पित एव च ।

यतेः पिण्डः समाख्यातो, विशुद्धः शुद्धिकारकः ॥१॥

अकृतः क्रयणहननपचनैर्भोज्यतया स्वयमनिर्वर्तितः, एवमेवाकारितश्चाविधापितः । चकारः समुच्चये, अन्यैः कर्मकरादिभिरसंकल्पित एव च क्रयणादिप्रकारैः साधवे इदं दास्यामीत्यनभिसंधितः,अन्यैरेव एवकारेणान्यथाविधपिण्डस्य साधोरग्राह्यतामाह । आह च-"पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती एत्थ संसओ नत्थि । चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ " चकार उ

कसमुच्चये, अकृतादिपदैश्च क्रयणक्रापणतदनुज्ञानहननघातनतदनुज्ञानपचनपाचनतदनुज्ञानलक्षणकोटीनवकशुद्धता पिण्डस्योक्तेति, यतः पृथिव्यादिसंरक्षणप्रयत्नवतः पिण्ड ओदनादिः, उपलक्षणत्वादस्य शय्योपकरणे च समाख्यातो विगतरागादिदोषसकलपदार्थसार्थस्वभावावभासनसहसंवेदनेन निर्वाणनगरगमनासनानमार्गायमाणचरणकरणविशुद्धिहेतुतयो - पलभ्यसम्यगभिहितस्तीर्थकरैरिति नान्तरायदोषः तेषाम, पुनः किंविधः पिण्ड इत्याह-विशुद्धः सकलदोषवियुक्तः, तथा विशुद्धत्वादेव शुद्धिकारकः कर्ममलकलङ्कविकलताकारीति । अथवा-कस्मादकृतादिगुणः पिण्डो यतेः समाख्यात इत्याह-विशुद्धो विशुद्ध एव कृतादिदोषरहित एव शुद्धिकारको भवति नान्यो, विशुद्ध्यर्थी च यतिर्भवप्रपञ्चोपचितकल्मषमलपटलस्येति ॥ १ ॥

असंकल्पित एव चेत्युक्तम, तस्य च परमतेनासंभवमुपदर्शयन्नाह-

यो न संकल्पितः पूर्वं, देयबुद्ध्या कथं तु तम् ? ।
ददाति कश्चिदेवं च, सविशुद्धो वृथोदितम् ॥ २ ॥

यः पिण्डो न नैव संकल्पितोऽभिसन्धितः पूर्वं दानकालात् देयबुद्ध्या दातव्योऽयं मया भिक्षुभ्य इत्येवंरूपया धिया, कथमिति क्षेपे, 'तु' इति वितर्के,केन प्रकारेणत, कथञ्चिदिति यावत्, तं पिण्डं ददाति भिक्षुभ्यः प्रयच्छति कश्चित्कोऽपि दायकः प्राणी, न कोपीत्यर्थः । दानार्थमसंकल्पितस्य असत्त्वेन दातुमशक्यत्वादिति भावः । एवं च अमुना प्रकारेणासंकल्पितस्य देयस्यासंभवे सति सोऽसंकल्पितपिण्डो विशुद्धो निरवद्य इति यदुक्तं प्राक्, तद्वृथा व्यर्थम्, असंभवादुदितं भणितमिति ॥२॥

असंकल्पित एव पिण्डो ग्राह्यो यतेरित्यतस्तत्रैवाऽभ्युपगमे दूषणान्तरमाह-

न चैवं सद्गृहस्थानां, भिक्षा ग्राह्या गृहेषु यत् ।
स्वपरार्थं तु ते यत्नं, कुर्वन्ति नान्यथा क्वचित् ॥ ३ ॥

न केवलमसंकल्पितपिण्डासंभवेन व्यर्थं तत्र प्रतिपादनं, भिक्षा च न ग्राह्या सद्गृहेषु भवतीति वाक्यार्थः । पदार्थस्त्वेवम्-नेति प्रतिषेधे, चशब्दो दूषणान्तरसमुच्चये एवमिति, असंकल्पितपिण्डाभ्युपगमे सति, सद्गृहस्थानां ब्राह्मणादिशोभनाऽगारिणां, गृहेषु वेश्मसु, भिक्षासमुदानं, ग्राह्या आदातव्या। कुत एतमेतदित्यत आह-यत् यस्मात्कारणात्, स्वपरार्थं तु आत्मभिक्षाचरनिमित्तमेव, ते सद्गृहस्थाः यत्नं पाकनिवर्तनप्रयासं, कुर्वते विदधति, नान्यथा भिक्षाचरदानासंकल्पेन, स्वार्थमेव क्वचित् कदाचनापि स्वनिमित्तमेव पाकप्रयत्नं सद्गृहस्थत्वायोगादिति। यस्मात् स्वकर्माजीवनकृत्यैः समानऋषिभिर्वैवाह्मम्, ऋतुगामित्वं, देवतापितृतिथिभर्तव्यपोषणं, शेषभोजनं चेति गृहस्थधर्मः । अतिथिश्च यतिरपि भवति, भोजनकालोपस्थायित्वात्तस्यापीत्यर्थः ॥ ३ ॥

पर एवाचार्यमतमाशङ्कमानमाह-

संकल्पं च विशेषेण, यत्राऽसौ दुष्ट इत्यपि ।
परिहारो न सम्यक् स्याद्, यावदर्थिकवादिनः ॥ ४ ॥

संकल्पनमभिसंधानं, विशेषेणामुष्मै साधवे मयेदं दातव्यमित्येवमसामान्यतः,यत्र पिण्डे,असौ स एव पिण्डो, दुष्टो दोषवानाऽन्यः, इत्यपि अयमनन्तरोदितोऽपि, न केवलमसंकल्पितपिण्डाभ्युपगमो न सम्यगित्यपि शब्दार्थः, परिहारः पूर्वपक्षवादयुक्तदूषणपरिहरणम्, 'न' नैव, सम्यक् संगतः, स्याद्भवेत् । कस्येत्याह-यावदर्थिकवादिनस्तव, तत्र यावन्तो यत् परिमाणास्ते च तेऽर्थिनश्च भिक्षुकादयो यावदर्थिनः. ते प्रयोजनं यस्य निष्पादने स यावदर्थिकः पिण्डः, तमपि परिहार्यतया यो वक्तीत्येवंशीलः स तथा, तस्य यावदर्थिकवादिनः, यावदर्थिनिमित्तनिष्पादितपिण्डपरिहारवादित्वाद्भवत इति भावः ।

यतोऽभिहितम्-

" यावंति य मुद्देसं, पासंडीणं भवे समुद्देसं ।
समणाणं आएसं, निग्गंथाणं समाएसं ॥ १ ॥ " इति ।

तथा-

" असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणिज्ज सुणेज्जा वा, दाणट्ठा पगमं इमं ॥ २ ॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं ।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३ ॥ " ॥ ४ ॥

पूर्वपक्षे बाधेवाह-

विषयो वाऽस्य वक्तव्यः, पुण्यार्थं प्रकृतस्य च ।
असंभवाभिधानात्स्या-दाप्तस्याऽनाप्तताऽन्यथा ॥ ५ ॥

यावदर्थिकपिण्डपरिहारवादिना भवता पूर्वोक्तपरिहारासम्यक्त्वमभ्युपगन्तव्यं, नो चेद्विषयो वा गोचरो वा, वाशब्दो विकल्पार्थः।अस्य यावदर्थिकपिण्डस्य वक्तव्यो वाच्यः,अमुमर्थिविशेषमाश्रित्य निवर्तितोऽयं परिहार्य इत्येवं गोचरान्तरपरिकल्पनयैवायं शक्यः परिहर्तुं, नान्यथा इति भावः। तथा न केवलं यावदर्थिकपिण्डस्य विषयो वक्तव्यः। पुण्यार्थं पुण्यनिमित्तं, प्रकृतस्य च निष्पादितस्यापि स वक्तव्यः, यतः पुण्यार्थं प्रकृतस्यापि पिण्डस्य परिहारोऽभ्युपगम्यते भवद्भिः । यदाह-" असणं पाणगं वा वि, खाइमं साइमं तहा ॥ जं जाणिज्ज सुणिज्जा वा, पुण्णट्ठा पगडं इमं"१इत्यादि। अशक्यपरिहारश्चायमपीति, तस्यापि विषयविशेषो वाच्य इति भावः। अथ किंविषयान्तराभिधानेनेत्याचार्यमतमाशङ्क्याह-अन्यथा यावदर्थिकपुण्यार्थप्रकृतपिण्डयोर्विषयविशेषाप्रतिपादने, आप्तस्य क्षीणरागद्वेषमोहदोषतयाऽव्यंसकवचनत्वेनैकान्तहितस्य शास्त्रप्रणेतुरनाप्तता अक्षीणदोषत्वेनाहितत्वं स्याद्भवेत्,कुत इत्याह-असंभवाभिधानात्, अविद्यमानः संभवो यस्य यावदर्थिकादिपिण्डपरिहारस्य सोऽसंभवः, तस्याभिधानं. तस्मात्, असंभवश्च तस्य स्वपरार्थं तु ते यत्नं कुर्वते, नान्यथेत्यनेन दर्शित एवेति पूर्वपक्षः ॥ ५ ॥

अत्रोत्तरमाह-

विभिन्नं देयमाश्रित्य, स्वभोग्याद्यत्र वस्तुनि ।
संकल्पनं क्रियाकाले, तद्दुष्टं विषयोऽनयोः ॥ ६ ॥

विभिन्नमतिरिक्तं, देयं दातव्यमोदनादि, आश्रित्याङ्गीकृत्य, कुतो विभिन्नमित्याह-स्वभोग्यात् विधाकर्तुर्भोग्योदनादिभोगाहर्हात्, यत्र यस्मिन्, वस्तुनि ओदनादिपदार्थे, संकल्पनमेतावदिह कुटुम्बायैतावच्चार्थिभ्यः पुण्यार्थं चेत्यभिसंधानं, क्रियाकाले पाकानवर्त्तनसमये, तदिति यदेतत्सङ्कल्पनं तद्दुष्टं दोषवद्विषयो गोचरोऽनयोः यावदर्थिकपुण्यार्थं प्रकृतयोरपि, एवंविधसंकल्पनवन्तावेतौ पिण्डविशेषौ परिहार्याविति भाव इति ॥ ६ ॥

सङ्कल्पनानन्तरं तु न दुष्टमित्येतदाह-

स्वोचिते तु यदारम्भे, तथा संकल्पनं क्वचित् ।
न दुष्टं शुभभावत्वात्, तच्छुद्धापरयोगवत् ॥ ७ ॥

स्वस्य शरीरकुटुम्बादेः, उचितो योग्यः स्वोचितः, तस्मिन्, तुशब्दः पुनःशब्दार्थः,यदिति संकल्पनम्. आरम्भे पाकादिरूपे सति, तथा तेन प्रकारेण स्वयोग्यातिरिक्तपाकशून्यतया, संकल्पनमिदं स्वार्थमुपकल्पितमन्नमतो मुनीनामुचितदानेनाऽऽत्मानमथ पूतपापमाधास्यामीति चिन्तनं, क्वचित् कस्मिंश्चिदेवारम्भे, न तु साध्वनुचितद्रव्यपाकरूपे,तदित्यस्येह दर्शनात् तत्संकल्पनं, न दुष्टम न दोषवत्,न तत् पिण्डदूषणकारणम,कुत इत्याह-शुभभावत्वात् चित्तविशुद्धिमात्रत्वात्, न हि तत् संकल्पनं साध्वाद्यर्थपृथिव्यादिजीवोपमर्दनिमित्तम, अपि तु दायकस्य शुभभावमात्रं तदिति भावः । किंवदित्याह-शुद्धापरयोगवत्, यः शुद्धः प्रशस्तोऽपरयोगः संकल्पनव्यतिरिक्तव्यापारो मुनिवन्दनादिः,तद्वत् । यथाहि मुनिविषयो नमनस्तवनादिरनवद्यो व्यापारो न पिण्डदूषणकारणमेवमेवंविधसंकल्पनमपीति भावनेति ॥ ७ ॥

यदुक्तमसंभविनोऽसंकल्पितस्याभिधानादाऽऽप्तस्यानाप्ततेति, तत् परिहरन्नाह-

दृष्टोऽसंकल्पितस्यापि, लाभ एवमसंभवः ।
नोक्त इत्याप्तासिद्धिः, यतिधर्मोऽतिदुष्करः ॥ ८ ॥

दृष्ट उपलब्धोऽसंकल्पितस्यापि यत्याद्यर्थमसंभावितस्यापि,न केवलं संकल्पितस्यैव लाभो भवतीत्यदृष्ट इत्यपिशब्दार्थः । लाभः प्राप्तिः, पिण्डस्येति गम्यते। यतो गृहस्था अविरतवोऽपि स्वगृहकान्तारादिषु, तथा भिक्षुणामभावेऽपि, तथा रात्र्यादौ भिक्षाऽनवसरेऽपि पाकं कुर्वन्ति, तथा कथञ्चिद्ददत्यपीति दृश्यते। आह च-"संभवइ य एसो वि हु,केसिंचि य सुयगाइभावे वि। अवि सेसुवलंभाओ,तत्थ वि तल्लाभलिद्धीओ॥१॥"एवं च यदुक्तम्-"यो न संकल्पित" इत्यादि, तथा-"न चैवं सद्गृहस्थानाम" इत्यादि च। तत् परिहृतम । गाथा चेह-" सक्कविय केइ इहं, विसेसओ धम्मसत्थकुसलमई । इय न कुणंति विधम्मं-मेवं भिक्खाइए च इमे ॥ १ ॥ " यद्यसंकल्पितस्यापि पिण्डस्य लाभो दृष्टस्ततः किमिति ?। आह- एवमिति-अनेनासंकल्पितप्रकारेण पिण्डलाभदर्शने सति, असंभवः-असंभावना, अप्राप्तिरसंकल्पितपिण्डस्य, नोक्तो नाभिहितः, आप्तेन । ततः किमिति ?,आह-इतिशब्दो हेत्वर्थः । तेन असंभविपिण्डस्यानभिधानाद्धेतोः,संभविन एवाभिधानादित्यर्थः । आप्तताया असंभविपिण्डाभिधानसंभाविताप्तताव्यतिरेकभूतायाः, सिद्धिः प्रतिष्ठा, आप्तासिद्धिः, शास्तुरिति गम्यते । अथवा-भवत्वसंकल्पितपिण्डस्य संभवः,तथापि तद्ग्रहे दुष्करत्वात् तत्प्रणेतुरनाप्ततैवेत्याह-यतिधर्मो मूलगुणोत्तरगुणसमुदायरूपः,अतिदुष्करोऽतीव दुष्परिपाल्य इति प्रसिद्धमेव, नानेनाऽऽप्तस्यानाप्तता भवति। अनन्योपायत्वान्मोक्षस्येति ।आह च-"दुक्करयं अह एयं,जइधम्मो दुक्करो च्चिय पसिद्धो।किं पुण एस पयत्तो,मोक्खफलत्तेण पयडत्थ"॥१॥ इति। ततो हे कुतीर्थिकाः! यदि यूयमात्मनो यतित्वेन सर्वसंपत्करीं भिक्षां मन्यध्वे,तदा अकृतादिगुणोपेतपिण्डपरिग्रहः कार्य इति प्रकरणगर्भार्थ इति ॥ ८ ॥ हा० ६ अष्ट० । पञ्चा० ।

पिण्डाद्यशोधने दोषः-

"पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि ।

चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ १ ॥
सिज्जं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि ।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ २ ॥
वत्थं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि ।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया ॥ ३ ॥
पत्तं असोहयंतो अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि ।
चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थीया " ॥ ४ ॥

इदं चोत्सर्गतः सति संस्तरणे ज्ञेयम, असंस्तरणे तु अशुद्धग्रहणेऽप्यदोषः । यदुक्तम्-" संथरणम्मि असुद्धं " इत्यादि । ध० ३ अधि० ।

[६१] भ्रमरदृष्टान्तेन भिक्षायां निर्दोषत्वसिद्धिः-

जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं ।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं ॥ २ ॥

अत्राह-अथ कस्माद्दशाध्ययननिरूपणायां प्रतिज्ञामभिहाय सूत्रकृता दृष्टान्त एवोक्त इति ?। उच्यते-"दृष्टान्तादेव हेतुप्रतिज्ञे अभ्यूह्ये" इति न्यायप्रदर्शनार्थम । कृतं प्रसङ्गेन, प्रकृतं प्रस्तुमः-तत्र-यथा येन प्रकारेण, द्रुमस्य प्राग्निरूपितशब्दार्थस्य, पुष्पेषु प्राग्निरूपितशब्दार्थेष्वेव, असमस्तपदाभिधानमनुमेये गृहिद्रुमाणामाहारादिषु पुष्पाण्यधिकृत्य विशिष्टसम्बन्धप्रतिपादनार्थमिति । तथा चान्यायोपार्जितवित्तदानेऽपि ग्रहणं प्रतिषिद्धमेव । भ्रमरश्चतुरिन्द्रियविशेषः । किम् ?, आपिबति मर्यादया पिबत्यपिबति । कम् ? , रस्यत इति रसस्तं, निर्यासं, मकरन्दमित्यर्थः । एष दृष्टान्तः । अयं च तद्देशोदाहरणमधिकृत्य वेदितव्य इति । एतच्च सूत्रस्पर्शिकनियुक्तौ दर्शयिष्यतो एकं च सूत्रस्पर्शे नियमस्येति । अधुना दृष्टान्तविशुद्धिमाह-न च नैव पुष्पं प्राग्निरूपितस्वरूपं, क्लामयति पीडयति, स च भ्रमरः, प्रीणाति तर्पयत्यात्मानमिति सूत्रसमुदायार्थः । अवयवार्थं तु निर्युक्तिकारो महता प्रपञ्चेन व्याख्यास्यति ।

तथा चाह-

जह भमरो त्ति य एत्थं, दिट्ठंतो होइ आहरणदेसे ।
चंदमुहिदारिगेयं, सोमत्तऽवहारणं ण सेसं ॥१००॥ नि०।

यथा भ्रमर इति चात्र प्रमाणे दृष्टान्तो भवत्युदाहरणदेशमधिकृत्य,यथा-चन्द्रमुखी दारिकेयमित्यत्र सौम्यत्वावधारणं गृह्यते, न शेषं कलङ्काङ्कितत्वाऽनवस्थितत्वादीति गाथार्थः ॥१००॥

एवं भमराहरणे, अणियतवित्तित्तणं न सेसाणं ।
गहणं दिट्ठंतविसु-द्धि सुत्ते भणिया इमा चऽन्ना॥१०१॥नि०।

एवं भ्रमरोदाहरणे अनियतवृत्तित्वं, गृह्यत इति शेषः । न शेषाणामविरत्यादीनां भ्रमरधर्माणां, ग्रहणं दृष्टान्त इति । यथा दृष्टान्तविशुद्धिः सूत्रे भणिता, इयं चान्या सूत्रस्पर्शिनिर्युक्ताविति गाथार्थः ॥ १०१ ॥ दश० १ अ० । पं० व० । (विशेषस्तत्र "धम्म" शब्दे । विहङ्गमदृष्टान्तः " विहंगम " शब्दे) (स्थापनाकुलव्याख्या "ठवणाकुल" शब्दे) यतिः श्राद्धगृहे गत्वोपविश्य भक्तादिकं गृह्णाति,न वेति प्रश्ने,यतिः श्राद्धगृहे कारणं विनोपविश्य भक्तादिकं न गृह्णाति.कारणे तु गृह्णाति"तिन्हमन्नयरागस्स,निसिज्जा जस्स कप्पइ । जराए अभिभूयस्स,गिलाणस्स तवस्सिणो"॥६०॥इति दशवैकालिकषष्ठाध्ययने प्रतिपादितत्वादिति । १२४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

गोयरणिसिज्जा-गोचरनिषद्या-स्त्री० । गोचरगतस्य निषदने, व्य० १० उ० ।

गोयरप्पवेस-गोचरप्रवेश-पुं० । गोचरार्थं प्रवेशे, दश० ५ अ० ।

गोयरभूमि-गोचरभूमि-स्त्री० । भिक्षाचर्यावीथ्याम्, भिक्षाचर्याविषये मार्गविशेषे, ध० ३ अधि० । ताश्च षडष्टौ वा—" उजिवहा गोयरचरिया पन्नत्ता । तं जहा- १ पेडा २ अद्धपेडा ३ गोमुत्तिया ४ पतंगवीहिया ५ संबुक्कावट्टा ६ गंतुं पच्चागया "। स्था० ६ ठा० । पं० व० ।

अष्ट चेमाः—

" उज्जुग गंतुं पच्चा-गई य गोमुत्तिआ पयंगविही ।
पेडा य अद्धपेडा, अब्भिंतर बाहि संबुक्का ॥ १ ॥ "

ऋज्वी १ गत्वा प्रत्यागतिः २ गोमूत्रिका ३ पतङ्गवीथिः ४ पेटा ५ अर्द्धपेटा ६ आभ्यन्तरशम्बूका ७ बहिःशम्बूका ८ चेति । तत्र ऋज्वी-स्ववसतेः ऋजुमार्गेण समश्रेणिव्यवस्थितगृहपङ्क्तौ भिक्षाग्रहणेन पङ्क्तिसमापने, ततो द्वितीयपङ्क्तौ पर्यासेऽपि भिक्षाग्रहणेन ऋजुगत्यैव निवर्तने च भवति १ ; गत्वा प्रत्यागतिस्तु-एकपङ्क्तौ गच्छतो द्वितीयपङ्क्तौ च प्रत्यावर्तमानस्य भिक्षणे २ ; गोमूत्रिका च-परस्पराभिमुखगृहपङ्क्त्योर्वामपङ्क्त्येकगृहे गत्वा दक्षिणपङ्क्त्येकगृहे यातीत्येवंक्रमेण श्रेणिद्वयसमाप्तिकरणे भवति ३ ; पतङ्गवीथिश्च-अनियतक्रमा ४ ; पेटा च-पेटाकारं चतुरस्रं क्षेत्रं विभज्य मध्यवर्तीनि गृहाणि मुक्त्वा चतसृष्वपि दिक्षु समश्रेण्या भिक्षणे भवति ५ ; अर्द्धपेटा च-प्राग्वत् क्षेत्रं विभज्य दिग्द्वयसंबद्धगृहश्रेण्योर्भिक्षणे ६ ; अन्तःशम्बूका च-मध्यभागात् शङ्खावर्तगत्या भिक्षमाणस्य बहिर्निस्सरणे भवति ७, बहिःशम्बूका तु-बहिर्भागात्तथैव भिक्षामटतो मध्यभागागमने भवतीति ८॥ ध० ३ अधि० । बृ० । पं० व० । नि० चू० ।

गोयरि-गोचरि-स्त्री० । चतुर्मासकमध्ये " सक्कोसं जोअणं भिक्खायरियाए गंतुं पडिनिअत्तए " इत्युक्तं श्रीकल्पसूत्रे, एतदनुसारेण चैत्यगुर्वादिवन्दनाद्यर्थं गन्तुं कल्पते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-" भिक्खायरियाए " इत्येतत्पदं चैत्यगुरुवन्दनाद्यर्थगमनस्योपलक्षणपरमवसीयते, आवश्यकहारिभद्र्यां छिक्रियनिहवस्य शरत्काले नद्युत्तरणपुरस्सरं गुरुवन्दनादिप्रवृत्तिर्नास्तीति ॥ ५६ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

गोयवग्ग-गोत्रवर्ग-पुं० । गोत्रप्रकृतिसमुदाये, कर्म० २ कर्म० ।

गोयसुद्द-गोत्रशुद्ध-न० । उच्चैर्गोत्रे, दश० १ अ० ।

गोयावरी-गोदावरी-स्त्री० । नासिकपुरसन्निधानिर्गते पूर्वसमुद्रसंगते नदीभेदे, " सच्चं भण गोयावरि !, पुव्वसमुद्देण साइया संती । " व्य० ३ उ० ।

गोयावाइ-गोत्रवादिन्-पुं० । ममोच्चैर्गोत्रं सर्वलोकमाननीयं नापरस्येत्येवं वादिनि, " एगे गोयावादी माणावादी " आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

गोयावाय-गोत्रवाद-पुं० । गोत्रोद्घाटनेन वादे, यथा-काश्यपसगोत्रो वसिष्ठसगोत्रो वेति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

गोर-गौर-त्रि० । अवदाते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । गौरवर्णयुक्ते वर्णभेदे, पुं० । वाच० । " खारं लवणं १ दहणं, हिमं च २ अग्गोदवियाहो रोगी ३ । परवससुणो अ सुणो, केवलगोरत्तणऽवगुणा " ॥१॥ कल्प० ७ क्षण । गोधूमे, बृ० १ उ० । नि० चू० ।

गोरक्खर-गौरखर-पुं० । गौरवर्णगर्दभे, स च जात्यन्तरमेव, कच्छारण्यादावुत्पद्यमानो 'गोरखलेति' भाषाप्रसिद्धः । प्रज्ञा० १ पद ।

गोरगिरि-गौरगिरि-पुं० । श्वेतपर्वते, " गोरगिरि नाम पव्वतो, तस्स सिहरे सिवो, तं च एगो बंभणो, पुलिंदो य अच्चति " । नि० चू० १ उ० ।

गोरमिग-गौरमृग-न० । गौरमृगचर्मनिष्पन्ने वस्त्रे, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

गोरव-गौरव-न० । महासामन्तादिकृताभ्युत्थानादिप्रतिपत्तौ, जं० ३ वक्ष० । गमने च । गौरवशब्दो गमनपर्यायः । स्था० ६ ठा० ।

गोरस-गोरस-पुं० । गवां रसो गोरसः, व्युत्पत्तिरेवम्, प्रवृत्तिस्त्वेवम्-गोमहिष्यादीनां दुग्धादिरूपे रसे, स्था० ४ ठा० १ उ० । तक्रे, बृ० १ उ० । स च शालनकेऽन्तर्भवति । प्रश्न० ५ संव० द्वार । सू० प्र० । व्य० । स्था० । 'आमगोरससंपृक्तद्विदलम्' इत्यत्र गोरसशब्देन किं व्याख्यातमस्तीति प्रश्ने, उत्तरम्-गोरसशब्देन दुग्धं, दधि, तक्रं च त्रयमपि परम्परयाऽभिधीयमानमस्ति, योगशास्त्रवृत्तौ गोरसशब्दार्थो व्याख्यातो नास्ति । २३० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

गोरसविगइ-गोरसविकृति-स्त्री० । गोरसे विकृतयः, शरीरमनसोः प्रायो विकारहेतुत्वात् । गोरसरूपासु विकृतिषु, " चत्तारि गोरसविगईओ पण्णत्ताओ । तं जहा-खीरं दहिं सप्पिं णवणीअं । " स्था० ४ ठा० १ उ० ।

गोरहग-गोरथक-पुं० । कलहोडके, बृ० १ उ० । आचा० । त्रिवर्षबलीवर्दे, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । दश० ।

गोरा-देशी-लाङ्गलपद्धतौ, चक्षुषि, ग्रीवायां च । दे० ना० २ वर्ग ।

गोरि-गौरी-स्त्री० । "स्वराणां स्वराः" ॥ ८ । ४ । २३८ ॥ प्रायोऽपभ्रंशे ह्रस्वत्यहस्वत्वम् । गौरवर्णायां स्त्रियाम्, प्रा० ४ पाद ।

गोरिहर-गौरीहर-न० । स० द्वन्द्वः । "दीर्घह्रस्वौ मिथो वृत्तौ" ॥ ८ । १ । ४ । इति दीर्घस्य ह्रस्वः । उमामहेश्वरे, प्रा० १ पाद ।

गोरी-गौरी-स्त्री० । गौर-ङीष् । प्रा० । गौरवर्णस्त्रियाम्, "गोरी गायइ महुरं" प्रा० ३ पाद । स्था० । अनु० । ज्ञा० । पार्वत्याम्, शिवपत्न्याम्, प्रा० । को० । बलमातरि, बलकोट्टराजार्यायाम्, उत्त० १२ अ० । कृष्णवासुदेवस्याष्टानामग्रमहिषीणां द्वितीयायाम्, सा चारिष्टनेमेरन्तिके प्रव्रज्य सिद्धेति । अन्त० ५ वर्ग । स्था० । कल्प० । महाविद्याभेदे, " गोरी मणुण्णा मणुन्नपुव्वगा । " आ० चू० १ अ० । कल्प० । बहुवचने " ईतः सेश्चाऽऽवा " ॥ ८ । ३ । २८ ॥ इति जश्शसोराकारः । 'गोरीआ' प्रा० ३ पाद ।

गोरेय-गौरेय-पुं० । वैताढ्यपर्वतदक्षिणविद्याधरश्रेणिव्यवस्थिते निकायभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

गोरोयणा-गोरोचना-स्त्री० । गोभ्यो जाता रोचना हरिद्रा । स्वनामख्याते गन्धद्रव्ये, वाच० । गोपित्तजातायाम्, प्रश्न० ४ विव० ।

गोरंफीमी-देशी-गोधायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गोल-गोल-पुं० । वृत्तपिण्डे, (पुरुषदृष्टान्तेन गोलप्ररूपणा 'पुरि-

सजाय' शब्दे वक्ष्यते) " जह अयगोलो धंतो" प्रश्न० १ पद । गोलो जतुगोलः। सूचकत्वात्तस्य जतुगोलाध्मातोपमया भिक्षाग्रहणप्रतिपादके द्रुमपुष्पिकाऽध्ययने, दश०१ ।

" जह जउगोलो अगणि-स्स णातिदूरे ण यावि आसन्ने ।
सक्कइ काऊण तहा, संजमगोलो गिहत्थाणं ॥
दूरे अणेसणाई, छयरम्मी तेण संकाई ।
तम्हा मियभूमीए, चिट्ठिज्जा गोयरग्गगओ ॥ " दश०१ अ० ।

कन्दुके,सूत्र०१ श्रु० ४ अ०२ उ०। क्षेत्रभेदे,मण्डले,मदनकवृक्षे, वाच० । "होल गोल वसुलि त्ति, पुरिसं नेवमालवे।"दश०७अ०। आचा०। 'गोलेति' देशविशेषापेक्षया कुत्सागर्भे पुरुषामन्त्रणम्। आ० १ श्रु० ६ अ० । दश० । देशीप्रसिद्धो नैष्ठुर्यवाचकः । दश० ७ अ० । काश्यपगोत्रविशेषभूते पुरुषापत्यरूपे शारिरुस्यादौ, स्था० ७ ठा० । सार्द्धिणि, दे० ना० २ वर्ग ।

गोलक्खण-गोलक्षण-न०। ६ त० । गोः शुभाशुभसूचके चिह्नभेदे,वाच० । तत्प्रतिपादकशास्त्रे च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

गोलग-गोलक-पुं० । वर्तुले पाषाणादिमये, अनु० । पिण्डे, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । औत्पत्तिक्यामुदाहरणम् । आ० म० द्वि० । मणिके, आलिञ्जरिके, गुडे च, गन्धरसे, कलाये, विधवायाः जारजे पुत्रे, वाच० ।

गोलगोलच्छाया-गोलगोलच्छाया-स्त्री० । गोलैर्बहुभिर्मिलित्वा निष्पादित एको गोलः, स गोलगोलः,तस्य छाया गोलगोलच्छाया, गोलैर्बहुभिर्मिलित्वा निष्पादितस्यैकस्य गोलस्य छायायाम्, चं० प्र० ६ पाहु० ।

गोलच्छाया-गोलच्छाया-गोलमात्रस्य छायायाम्, चं० प्र० ६ पाहु० । सू० प्र० ।

गोलपुंज-गोलपुञ्ज-पुं०। ६ त० । गोलोत्करे, सू०प्र० ६ पाहु० । चं० प्र० ।

गोलपुंजच्छाया-गोलपुञ्जच्छाया-स्त्री० । लोगोत्करच्छायायाम्, सू० प्र० ६ पाहु० । चं० प्र० ।

गोलवट्ट-गोलवृत्त-त्रि० । गोलवद्वृत्ते, रा० ।

गोलवट्टसमुग्गय-गोलवृत्तसमुद्गक-पुं० । गोलकाऽऽकारे वृत्तसमुद्गके, भ० १० श० ८ उ० ।

गोला-गोदावरी-स्त्री० । "गोणादयः" ॥८।२।१७४॥ इति निपातनाद्गोलादेशः । नदीविशेषे, प्रा० २ पाद । मषि,गोदावर्याम्, सामान्येन नद्याम्, सख्यायां च । दे० ना० २ वर्ग ।

गोलावलिच्छाया-गोलावलिच्छाया-स्त्री० । गोलानामवलिर्गोलावलिः, तस्य छाया गोलावलिच्छाया । गोलपङ्क्तिच्छायायाम्, सू० प्र० ६ पाहु० । चं० प्र० ।

गोलिय-गौलिक-पुं० । गुडकारके, व्य० ए उ० ।

गालिक-त्रि० । मथितविक्रयके, बृ० १ उ० ।

गोलिया-गुटिका-स्त्री० । वटिकायाम्, रा० । अनु० ।

गोलिका-स्त्री० । वृत्ताऽऽकृतौ बालक्रीडनोपकरणे, प्रश्न० ३८ द्वार । " तीए दासीए घडो गोलियाए भिन्नो, तं च अधिति करिंति दट्ठूण पुणराधत्ती जाया " दश० २ अ० ।

गोलियायण-गोलिकायन-पुं० । कौशिकगोत्रविशेषभूते पुरुषे, तदपत्येषु च । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

गोलियालिंग-गोलिकालिङ्ग-न० । अक्षेराश्रयविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

गाली-गौरी-स्त्री० । " रस्य लो वा " ॥ ८ । ४ । ३२६ ॥ इति चूलिकापैशाचिके रस्य स्थाने वा लः । पार्वत्याम्, " पनमथ पनय-पकुप्पित-गोलीचलनग्ग-लग्ग-पति-बिंबं ।" प्रा० ४ पाद । मन्थिन्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गोलेहणिया-गोलेहनिका-स्त्री० । गोभिर्लेह्यमानायामूषभूमौ, नि० चू० ३ उ० ।

गोलोम-गोलोम-पुं० । द्वीन्द्रियभेदे, जी० १ प्रति० ।

गोलोमप्पमाण-गोलोमप्रमाण-त्रि० । प्रमाणविशेषे, गोलोममात्रा अपि केशा न स्थापनीयाः । कल्प० ए क्षण ।

गोल्ल-गोल्ल-पुं० । देशभेदे, यत्र चणकग्रामे चाणक्यो ब्राह्मणो जातः । आ० म० द्वि० । आ० चू० । विम्बाफले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

गोल्लास-गोल्लास-पुं० । देशभेदे, यत्र चाणक्यो जातः । आ० क० ।

गोल्हा-गोल्हा-स्त्री० । बिम्बाफले, आ० म० प्र० । बिम्ब्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गोव-गोप-पुं०। स्त्री०। गां भूमिं वा पाति रक्षति । पा-कः। जातिभेदे, स्त्रियां ङीप् । ग्रामाधिकृते, भूरक्षके च । पुं० । गोष्ठाध्यक्षे च । वाच० । गोरक्षके, उपा० ७ अ० । आ० म० । आ० चू० । गोपायति, गुप्-अच् । रक्षके, स्त्रियां गौरा० ङीप् । " शालिगोप्यो जगुर्यशः " उपकारके, त्रि० । वाच० ।

गोवइ-गोपति-पुं०। ६ त०। "पो वः" ॥८।१।२३१॥ इति पस्य वः। प्रा० १ पाद । गवेन्द्रे, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० । गवां पशूनां पत्यौ शिवे, वृषे, भूमिपतौ, नृपे, श्रीकृष्णे, किरणपतौ सूर्ये, स्वर्गपतौ शक्रे, ऋषभनामौषधे, वाच० ।

गोवग्ग-गोवर्ग-त्रि०। गवां समूहे. "एगं च णं महं सेयं गोवग्गं पासित्ता णं पडिबुद्धे ॥४॥ " स्था० १० ठा० । आ० क० ।

गोवतिय-गोव्रतिक-गोव्रतं येषामस्ति ते गोव्रतिकाः । औ० । गोचर्यानुकारिणि तपस्विनि, अनु० । ते हि वयमपि किल तिर्यक्षु वसाम इति भावनां भावयन्तो गोभिर्निर्गच्छन्तीभिः सह निर्गच्छन्ति, स्थिताभिस्तिष्ठन्त्यासनाभिरुपविशन्ति, भुञ्जनाभिस्तद्वदेव तृणपत्रपुष्पफलादि भुञ्जन्ति । ततः— "तह ते गावीहि समं, निग्गमपवेसणाइ पकरंति । भुंजंति जहा गावी, तिरक्खवासं विभावंता ॥ १ ॥ " अनु० । औ० । ग० ।

गोवय-गोष्पद-न० । गोः पदम्, गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे वा । गोः पदजाते गर्ते, गोपदप्रमाणे च । गोभिः सेवितदेशे, तत्सेविते वनादौ च । प्रभासक्षेत्रस्थे तीर्थभेदे, वाच० । स्था० । गोपद-न० । गोपदप्रमाणे गर्ते, स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

गोवर-देशी- करीषे, दे० ना० २ वर्ग ।

गोवरग्गाम-गोवरग्राम-पुं० । मागधीये स्वनामख्याते ग्रामे, यत्रेन्द्रभूत्यादयो गणधरा उत्पन्नाः । गुव्वरग्राम इत्यपि । आ० क० । आ० चू० ।

गोवल्लायण-गोवलायन-पुं० । गोवलस्य गोत्रापत्ये, सू० प्र० १० पाहु० । चं० प्र० । जं० ।

गोवल्ल-गोवल्ल-पुं० । गोवल्लस्य गोत्रापत्ये, पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् । " गोवल्लायते " जं० ७ वक्ष० ।

गोवल्लायण-गोवल्लायन-पुं० । 'गोवलायणं ' शब्दार्थे, सू० प्र० १० पाहु० ।

गोवाड-गोवाट-न० । गोशालायाम, गोष्ठे, वाच० । स्था० । ति० ।

गोवाल-गोपाल-पुं० । । गां भूमिं पशुभेदं वा पालयति । पालि-अण्, उप० स० । नृपे, गोरक्षके, उत्त० २२ अ० । स्थविरसुस्थितप्रतिबुद्धे शिष्ये, कल्प० ८ क्षण । आ० म० । नृपप्रद्योतनपुत्रपालके, आ० चू० ४ अ० । " क्षत्रियाच्छूद्रकन्यायां, समुत्पन्नस्तु यः सुतः । स गोपाल इति ज्ञेयो, भोज्यो विप्रैर्न संशयः ॥ १ ॥ " इति पराशरोक्ते सङ्कीर्णजातिभेदे, वाच० ।

गोवालगिरि-गोपालगिरि-पुं० । गोवर्द्धनगिरौ, ती० ९ कल्प० ।

गोवालय-गोपालक-पुं० । गोपालयति-पालि-ण्वुल् । ६ त० । गोरक्षके, भूमिरक्षके च । वाच० । सूत्र० ।

गोवाली-गोपाली-स्त्री० । लताभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

गोविंद-गोपेन्द्र-पुं० । योगशास्त्रकृति, यो० विं० । स्वनामख्याते वाचकेन्द्रे, यो० विं० । ल० । पं० व० । " गोविंदाणं पि नमो, अणुओगविउलधारणिंदाणं । णिच्चं खंतिदयाणं, परूवणे दुल्लभिंदाणं ॥ १ ॥ " नं० ।

गोविन्द-पुं० । छन्दया प्रव्रज्यया प्रव्रजिते स्वनामख्याते शाक्यभक्ते प्राग्बौद्धे, स्था. १० ठा० । व्य० । तत् कथा चैवम्-कश्चिद् गोविन्दनामा शाक्यमतभक्तो जिनागमरहस्यग्रहणार्थं कपटेन यतीभूय आचार्याणां पार्श्वे सिद्धान्ताध्ययनं कुर्वाणस्तेनैवाधीयमानसूत्रेण परिणामविशुद्धिप्रादुर्भावात्सम्यक्त्वं प्राप्य साधुर्भूत्वा सूरिपदं प्राप्त इति तं० । व्य० । पं० भा० । कर्मस्तवटीकाकारके देवनागसूरिशिष्ये च । जै० इ० । सूर्यश्रियपुत्र्याः सूर्यश्रिया भर्त्तरि स्वनामख्याते ब्राह्मणे, महा० १ चू० । विष्णौ च । को० । स्था० । (' सुलढ ' शब्देऽस्य कथा)

गोविंदणिज्जुत्ति-गोविन्दनिर्युक्ति-स्त्री० । दर्शनप्रभावके स्वनामख्याते प्रमाणग्रन्थे, नि० चू० ११ उ० । बृ० । आ० चू० । तत्कृतिश्चैवम्-गोविन्दो नाम बौद्धभिक्षुः, स एकेन जैनाचार्येण अष्टादश वारान् वादे पराजितः चिन्तितवान्-यावदेषां सिद्धान्तस्वरूपं न जानामि तावन्न शक्नोमि जेतुमिति तस्यैवाचार्यस्यान्तिके सामायिकादिपठनच्छलेन सर्वं श्रुतं जग्राह, ततस्तत्प्रज्ञावाऽज्ञानावरणापगमे सम्यक्त्वपरिणतात्मा व्रतमाददे, पश्चाद् गोविन्दनिर्युक्तिनामकं दार्शनिकग्रन्थं चक्रे । नि० चू० ११ उ० ।

गोविंददत्त-गोपेन्द्रदत्त-पुं० । स्कन्दनाचार्यस्य सतीर्थ्ये, व्य० ३ उ० ।

गोविय-गोपित-त्रि० । रक्षिते, नि० ३ वर्ग । सूत्र० । ऐरवतवर्षे जाते कुलकरे, ति० ।

गोवी-देशी-बालायाम्, दे० ना० २ वर्ग ।

गोवीय-देशी-अजल्पाके, दे० ना० २ वर्ग ।

गोवीही-गोवीथी-स्त्री० । गोसंज्ञके चतुर्भिर्नक्षत्रैरुपलक्षिते शुक्रादिमहाग्रहचारक्षेत्रभागे, स्था० ६ ठा० ।

गोस-गोस-पुं० । प्रत्यूषसि, पं० व० २ द्वार । आव० । नि० चू० । प्रातःशब्दार्थे, व्य० ६ उ० । आ० । बोधे, उष्णकाले, वाच० । प्रभाते, दे० ना० २ वर्ग ।

गोसराए-देशी-मुखे, दे० ना० २ वर्ग ।

गोसंखी-गोसङ्खी-पुं० । मागधीयगोवरग्रामवास्तव्ये आभीराधिपतौ, आ० म० प्र० । आ० क० । आ० चू० । प्रव० ।

गोसंधिय-गोसन्धित-पुं० । गोपाले, आव० ६ अ० ।

गोसालग-गोशालक-पुं० । मङ्खलिसुभद्राभ्यां गोबहुलब्राह्मणगोशालायां जातत्वाद् गोशालकः । कल्प० २ क्षण । स्वनामख्याते मङ्खलिपुत्रे श्रीवीरशिष्ये, (स च प्राग्भवे ईश्वरमुनिरासीदिति "इस्सर" शब्दे द्वितीयभागे ६४५ पृष्ठे आवेदितम्)

तेणं कालेणं तेणं समएणं सावत्थी णामं णयरी होत्था । वण्णओ-तीसे णं सवत्थीए णयरीए उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए, तत्थ णं कोट्ठए णामं चेइए होत्था । वण्णओ-तत्थ णं सावत्थीए णयरीए हालाहला णामं कुंभकारी आजीवियउवासिया परिवसइ, अड्ढा० जाव अपरिभूया, आजीवियसमयंसि लद्धट्ठा गहियट्ठा पुच्छियट्ठा विणिच्छियट्ठा अट्ठिमिंजपेमाणुरागरत्ता अयमाउसो! आजीवियसमए अट्ठे, अयमट्ठे परमट्ठे, सेसे अणट्ठे त्ति आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणी विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं गोसाले मंखलिपुत्ते चउवीसवासपरियाए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥

"तेणं" इत्यादि । (मंखलिपुत्ते त्ति) मङ्खलल्यभिधानमङ्खपुत्रः । (चउवीसवासपरियाए ति) । चतुर्विंशतिवर्षप्रमाणप्रव्रज्यापर्यायः ।

तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अण्णया कयाइं इमे छ दिसाचरा अंतियं पाउब्भवित्था । तं जहा-साणे, कणंदे, कणियारे अच्छिंदे, अग्गिवेसायणे, अज्जुणे, गोमायुपुत्ते । तए णं ते छद्दिसाचरा अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं सएहिं मइदंसणेहिं णिज्जूहिंति । सएहिं मइदंसणेहिं णिज्जूहित्ता गोसालं मंखलिपुत्तं उवट्ठाइंसु । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तेणं अट्ठंगस्स महानिमित्तस्स केणइ उल्लोयमेत्तेणं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं इमाइं छ अणइक्कमणिज्जाइं वागरणाइं वागरइ । तं जहा-लाभं, अलाभं, सुहं, दुक्खं, जीवियं, मरणं । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तेणं अट्ठंगस्स महाणिमित्तस्स केणइ उल्लोयमेत्तेणं सावत्थीए णयरीए अजिणे जिणप्पलावी अणरहा अरहप्पलावी अकेवली केवलिप्पलावी असव्वण्णू सव्वण्णुप्पलावी अजिणे जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ । तए णं सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ-एवं खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले

मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ। से कहमेयं मणे एवं ?। तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे० जाव परिसा पडिगया। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारे गोयमगोत्तेणं० जाव छट्ठं छट्ठेणं एवं जहा बिइयसए णियंठुद्देसए० जाव अडमाणे बहुजणसद्दं णिसामेइ। बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० ४-"एवं खलु देवाणुप्पिया! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ, से कहमेयं मणे एवं"?। तए णं भगवं गोयमे बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म० जाव जायसड्ढे० जाव भत्तपाणं पडिदंसेइ,० जाव पज्जुवासमाणे एवं वयासी-एवं खलु अहं भंते! छट्ठं तं चेव० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ, से कहमेयं भंते! एवं?। इच्छामि णं भंते! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स उट्ठाणपरियाणियं परिकहियं?। गोयमादि समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं! एवं वयासी-जं णं गोयमा! से बहुजणे अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० ४-"एवं खलु गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ," तं णं मिच्छा। अहं पुण गोयमा! एवमाइक्खामि० जाव परूवेमि-एवं खलु एयस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मंखलि णामं मंखे पिता होत्था। तस्स णं मंखलिमंखस्स भद्दा णामं भारिया होत्था, सुकुमाल० जाव पडिरूवा। तए णं सा भद्दा भारिया अण्णया कयाइं गुव्विणी यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं सरवणे णामं सन्निवेसे होत्था, रिद्धत्थिमिए० जाव सणिणजप्पगासे पासादीए। तत्थ णं सरवणे सण्णिवेसे गोबहुले णामं माहणे परिवसइ, अड्ढे० जाव अपरिभूए रिउव्वेय० जाव सुपरिणिट्ठिए यावि होत्था। तस्स णं गोबहुलस्स माहणस्स गोसाला यावि होत्था। तए णं से मंखलिमंखणामं अण्णया कयाई भद्दाए भारियाए गुव्विणीए सद्धिं चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे जेणेव सरवणे सन्निवेसे जेणेव गोबहुलस्स माहणस्स गोसाले, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए एगदेसंसि भंडणिक्खेवं करेइ। करेइत्ता सरवणे सन्निवेसे उच्चणीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडमाणे वसही सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ। वसहीए सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणे अण्णत्थ वसहिं अलभमाणे तस्सेव गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए एगदेसंसि वासावासं उवागए। तए णं सा भद्दा भारिया णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणराइंदियाणं वीइक्कंताणं सुकुमाल० जाव पडिरूवं दारगं पयाता। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते० जाव बारसाहे दिवसे अयमेयारूवं गोणं गुणणिप्फण्णं णामधेज्जं करेंति-जम्हा णं अम्हं इमे दारए गोबहुलस्स माहणस्स गोसालाए जाते, तं होउ णं अम्हं इमस्स दारगस्स णामधेज्जं गोसाले त्ति। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेंति-गोसाले त्ति। तए णं से गोसाले दारए उम्मुक्कबालभावे विण्णायपरिणयमेत्ते जोव्वणगमणुप्पत्ते सयमेव पाडिएक्कं चित्तफलगं करेइ। करेइत्ता चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा! तीसं वासाइं अगारवासमज्झे वसित्ता अम्मापिऊहिं देवत्तं गएहिं एवं जहा भावणाए० जाव एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए॥

(दिसाचर त्ति) दिशां चरन्ति यान्ति मन्यन्ते भगवतो वयं शिष्या इति दिक्चराः, देशाटा वा दिक्चराः, भगवच्छिष्याः पार्श्वस्थीभूता इति टीकाकारः। "पासावच्चिज्ज त्ति" चूर्णिकारः। (अंतियं पाउब्भवित्थ त्ति) समीपमागताः। (अट्ठविहं पुव्वगयं मग्गदसमं ति) अष्टविधमष्टप्रकारं, निमित्तमिति शेषः। तच्चेदम्-दिव्यम्,उत्पातम्,आन्तरिक्षं,भौमम्,आङ्गं,स्वरं,लक्षणं,व्यञ्जनं चेति। पूर्वगतं पूर्वाभिधानश्रुतविशेषमध्यगतं, तथा मार्गौ गीतमार्गनृत्यमार्गलक्षणौ संभाव्येते। (दसमं ति) अत्र नवमशब्दस्य लुप्तस्य दर्शनान्नवमदशमाविति दृश्यम्। ततश्च मार्गौ नवमदशमौ यत्र तत्तथा। (सएहिं ति) स्वकैः स्वकीयैः (मइदंसणेहिं ति) मतेर्बुद्धेर्मत्या वा, दर्शनानि प्रमेयस्य परिच्छेदनानि मतिदर्शनानि, तैः। (निज्जूहिंति त्ति) निर्यूथयन्ति-पूर्वलक्षणश्रुतपर्यायपृथाभिरूद्धरयन्ति, उद्धरन्तीत्यर्थः। (उवट्ठाइंसु त्ति) उपस्थितवन्तः, आश्रितवन्त इत्यर्थः। (अट्ठंगस्स त्ति) अष्टभेदस्य (केणइ त्ति) केनचित् तथाविधजनाविदितस्वरूपेण (उल्लोयमेत्तेणं ति) उद्देशमात्रेण (इमाइं छ अणइक्कमणिज्जाइं ति) इमानि षट् अनतिक्रमणीयानि व्यभिचारयितुमशक्यानि (वागरणाइं ति) पृष्टेन सता यानि व्याक्रियन्ते अभिधीयन्ते तानि व्याकरणानि, पुरुषार्थोपयोगित्वाच्चैतानि षड् उक्तानि,अन्यथा नष्टमुष्टिचिन्तालूकाप्रभृतीन्यन्यान्यपि बहूनि निमित्तगोचरीभवन्तीति। (अजिणे जिणप्पलावि त्ति) अजिनोऽवीतरागः सन् जिनमात्मानं प्रकर्षेण लपतीत्येवं शीलो जिनप्रलापी। एवमन्यान्यपि पदानि वाच्यानि। नवरमर्हन् पूजार्हः केवली परिपूर्णज्ञानादिः। किमुक्तं भवति?-"अजिणे" इत्यादि। (एवं जहा बिइयसए नियंठुद्देसए त्ति) द्वितीयशतस्य पञ्चमोद्देशके (उट्ठाणपारियाणियं ति) पारियानं विविधव्यतिकरपरिगमनं, तदेव पारियानिकं चरितम्। उत्थानाज्जन्मन आरभ्य पारियानिकम् उत्थानपारियानिकम्,तत्परिकथितं, भगवद्भिरिति गम्यते। (मंखे त्ति) मङ्खः-चित्रफलकव्यग्रकरो भिक्षुकविशेषः। "सुकुमाल०" इह यावत्करणादेवं दृश्यम्-"सुकुमालपाणिपाया लक्खणवंजणगुणोववेया०" इत्यादि। "रि-

वरपविय०" इह यावत्करणादेवं दृश्यम्-" रिद्धत्थिमियसमिद्धे पमुइयजणजाणवए०" इत्यादि । व्याख्या तु पूर्ववत्। (चित्तफलगहत्थगए त्ति) चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य स तथा। (पाडिएक्कं ति) एकमात्मानं प्रति प्रत्येकं, पितुः फलकाद्भिन्नमित्यर्थः। (अगारवासमज्झे वसित्त त्ति)अगारवासं गृहवासमध्युष्याऽऽसेव्य। (एवं जहा भावणाए त्ति) आचारद्वितीयश्रुतस्कन्धस्य पञ्चदशे अध्ययने। अनेन चेदं सूचितम्-" समत्तपइण्णेनाहं समणो होहं अम्मापियरम्मि जीवंते त्ति " समाप्ताभिग्रह इत्यर्थः । "चिच्चा हिरण्णं चिच्चा सुवण्णं चिच्चा बलमित्यादीति ॥ " (भ०)

तए णं अहं गोयमा ! पढमं वासं अद्धमासं अद्धमासेणं खममाणे अट्ठियगामं णिस्साए पढमं अंतरावासं वासावासं उवागए। दोच्चं वासं मासं मासेणं खममाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव नालिंदा बाहिरिया जेणेव तंतुवायसाला, तेणेव उवागच्छइ।उवागच्छइत्ता अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हामि। अहापडिरूवं उग्गहं उगिण्हित्ता तंतुवायसालाए एगदेसंसि वासावासं उवागए। तए णं अहं गोयमा ! पढमं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते चित्तफलगहत्थगए मंखत्तणेणं अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे० जाव दूइज्जमाणे जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव णालिंदा बाहिरिया जेणेव तंतुवायसाला, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता तंतुवायसालाए एगदेसंसि भंडणिक्खेवं करेति। करेतित्ता रायगिहे णयरे उच्चणीय०जाव अण्णत्थ कत्थ वि वसहिं अलभमाणे तीसे य तंतुवायसालाए एगदेसंसि वासावासमुवागए, जत्थेव णं अहं गोयमा !। तए णं अहं गोयमा ! पढममासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाए पडिणिक्खमामि।तंतुवायसालाए पडिणिक्खमित्ता नालिंदा बाहिरियं मज्झं मज्झेणं जेणेव रायगिहे णयरे उच्चणीय० जाव अडमाणे विजयस्स गाहावइस्स गिहं अणुप्पविट्ठे।तए णं से विजए गाहावई ममं एज्जमाणं पासइ। पासइत्ता हट्ठतुट्ठ०खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेइ। अब्भुट्ठेइत्ता पादपीढाओ पच्चोरुहति।पच्चोरुहतित्ता पाउयाओ ओमुयइ।ओमुयइत्ता एगसाडियं उत्तरासंगं करेइ।करेइत्ता अंजलिमउलियहत्थे ममं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ।अणुगच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ । करेइत्ता ममं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता ममं विउलेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभिस्सामि त्ति तुट्ठे, पडिलाभेमाणे वि तुट्ठे, पडिलाभिते वि तुट्ठे। तए णं तस्स विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं पडिगाहसुद्धेणं तिविहेणं तिकरणसुद्धेणं दाणेणं मए पडिलाभिए समाणे देवाउयं णिबद्धे, संसारए परित्तीकए. गिहंसि य से इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं। तं जहा-वसुहारा वुट्ठा १ दसद्धवण्णे कुसुमे णिवातिते २ चेलुक्खेवे कए ३ आहयाओ देवदुंदुभीओ ४ अंतरा वि य णं आगासे अहो दाणे२ त्ति घुट्ठे ५। तए णं रायगिहे णयरे सिंघाडग० जाव पहेसु बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ-धण्णे णं देवाणुप्पिए ! विजए गाहावई, कयत्थे णं देवाणुप्पिए ! विजए गाहावई, कयपुण्णे णं देवाणुप्पिया ! विजए गाहावई, कयलक्खणे देवाणुप्पिया ! विजए गाहावई, कया णं लोया देवाणुप्पिया ! विजयस्स गाहावइस्स, सुलद्धे णं देवाणुप्पिए ! माणुस्सए जम्मजीवियफले विजयस्स गाहावइस्स, जस्स णं गिहंसि तहारूवे साधुसाधुरूवे पडिलाभिए समाणे इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूयाइं। तं जहा-वसुधारा वुट्ठा० जाव अहो दाणे२ घुट्ठे, धण्णे णं कयत्थे कयपुण्णे कयलक्खणे कया णं लोया सुलद्धे माणुस्सए जम्मजीवियफले विजयस्स गाहावइस्स जस्स० । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म समुप्पण्णसंसए समुप्पण्णकोउहल्ले जेणेव विजयस्स गाहावइस्स गिहे, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता विजयस्स गाहावइस्स गिहंसि वसुहारं वुट्ठं दसद्धवण्णं कुसुमं णिवडियं, ममं च णं विजयस्स गाहावइस्स गिहाओ पडिणिक्खममाणं पासइ । पासइत्ता हट्ठतुट्ठे जेणेव ममं अंतिए, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ । करेइत्ता ममं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता ममं एवं वयासी-तुब्भे णं भंते ! ममं धम्मायरिया, अहं णं तुब्भं धम्मंतेवासी । तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं णो आढामि, णो परिजाणामि, तुसिणीए संचिट्ठामि। तए णं अहं गोयमा! रायगिहाओ णयराओ पडिणिक्खमामि, पडिणिक्खमामित्ता णालिंदं बाहिरियं मज्झं मज्झेणं जेणेव तंतुवायसाला, तेणेव उवागच्छामि। उवागच्छामित्ता दोच्चं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तए णं अहं मासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमामि। पडिणिक्खमामित्ता णालिंदं बाहिरियं मज्झं मज्झेणं जेणेव रायगिहे णयरे० जाव अडमाणे आणंदस्स गाहावइस्स गिहं अणुप्पविट्ठे । तए णं से आणंदे गाहावई ममं एज्जमाणं पासइ। पासइत्ता एवं जहेव विजयस्स, णवरं ममं विउलाए खज्जगविहीए पडिलाभिस्सामीति तुट्ठे, सेसं तं चेव,० जाव तच्चं मासक्खमणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। तए णं अहं गोयमा ! तच्चं मासक्खमणं पारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमामि। पडिणिक्खमामित्ता तहेव० जाव अडमाणे सुदंसणस्स गाहावइस्स गिहं अणुप्पविट्ठे। तए णं से सुदंसणे गाहावई णवरं ममं सव्वकामगुणिएणं भोयणेणं पडिलाभेति। सेसं तं चेव,० जाव चउत्थं मासक्ख-

मणं उवसंपज्जित्ता णं विहरामि । तीसे णं णालिंदा बाहिरियाए अदूरसामंते एत्थ णं कोल्लाए णामं सणिवेसे होत्था। सण्णिवेसवस्स ओ-तत्थ णं कोल्लाए सण्णिवेसे बहुले णामं माहणे परिवसइ अड्ढे० जाव अपरिभूए रिउव्वेय० जाव सुपरिणिट्ठिए यावि होत्था । तए णं से बहुले माहणे कत्तियचाउम्मासियपाडिवयंसि विउलेणं महुघयसंजुत्तेणं परमण्णेणं माहणे आयामेत्था। तए णं अहं गोयमा! चउत्थमासक्खमणपारणगंसि तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमामि । पडिणिक्खमामित्ता णालिंदा बाहिरियं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छामि। णिग्गच्छामित्ता जेणेव कोल्लाए सणिवेसे उच्चणीय० जाव अडमाणे बहुलस्स माहणस्स गिहं अणुप्पविट्ठे। तए णं से बहुले माहणे ममं एज्जमाणं तहेव० जाव ममं विउलेणं महुघयसंजुत्तेणं परमण्णेणं पडिलाभिस्सामीति तुट्ठे, सेसं जहा विजयस्स० जाव बहुले माहणे बहु० । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं तंतुवायसालाए अपासमाणे रायगिहे णयरे सब्भिंतरबाहिरिए ममं सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ । ममं कत्थ वि सुइं वा खुइं वा पउत्तिं वा अलभमाणे जेणेव तंतुवायसाला, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य वाणहाओ य चित्तफलगं च माहणे आयामेइ । आयामेइत्ता सउत्तरोट्ठं मुंडं करेइ। करेइत्ता तंतुवायसालाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता णालिंदं बाहिरियं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ । णिग्गच्छइत्ता जेणेव कोल्लागसण्णिवेसे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता तए णं तस्स कोल्लागस्स सण्णिवेसस्स बहिया बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० जाव परूवेइ-"धण्णे णं देवाणुप्पिया ! बहुले माहणे,तं चेव० जाव जीवियफले बहुलस्स माणस्स बहु० " तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स बहुजणस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था। जारिसियाणं मम धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स इड्ढी जुत्ती जसे बले वीरिए पुरिसकारपरक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए णो खलु अत्थि तारिसियाणं अण्णस्स कस्स वि तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा इड्ढी जुत्ती० जाव परक्कमे लद्धे पत्ते अभिसमण्णागए। तं णिस्संदिद्धं णं एत्थं धम्मायरिए धम्मोवएसए समणे भगवं महावीरे भविस्सतीति कट्टु कोल्लागसण्णिवेसे सब्भिंतरबाहिरिए ममं सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेइ। ममं सव्वओ० जाव करेमाणे कोल्लागसण्णिवेसस्स बहिया पणियभूमीए मए सद्धिं अभिसमण्णागए। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते हट्ठतुट्ठे ममं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं० जाव णमंसित्ता एवं वयासी-तुब्भे णं भंते! ममं धम्मायरिया, अहं णं तुब्भं अंतेवासी। तए णं अहं गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं पडिसुणेमि। तए णं अहं गोयमा! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं पणियभूमीए छव्वासाइं लाभं अलाभं सुहं दुक्खं सक्कारमसक्कारं पच्चणुब्भवमाणे अणिच्चजागरियं विहरित्था । तए णं अहं गोयमा ! अण्णया कयाइं पढमसरयकालसमयंसि अप्पवुट्ठिकायंसि गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं सिद्धत्थगामाओ णयराओ कुम्मगामं णयरं संपट्ठिए विहाराए । तस्स णं सिद्धत्थगामस्स णयरस्स कुम्मगामस्स य णयरस्स य अंतरा एत्थ णं महं एगे तिलथंभए पत्तिए पुप्फिए हरियगरेरिज्जमाणे सिरीए अईव २ उवसोभेमाणे २ चिट्ठइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते तं तिलथंभं पासइ । पासइत्ता ममं वंदइ,णमंसइ,वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी-एस णं भंते ! तिलथंभए किं णिप्फज्जिस्सइ, णो णिप्फज्जिस्सइ?,एए य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता कहिं गच्छिहिंति,कहिं उववज्जिहिंति । तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी-गोसाला ! एस णं तिलथंभए णिप्फज्जिस्सइ, णो णो णिप्फज्जिस्सइ, एए य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता एयस्स चेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायातिस्संति । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं आइक्खमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहति,णो पत्तियति,णो रोएइ, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे ममं पणिहाय अयं णं मिच्छावादी भवउ त्ति कट्टु ममं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ । पच्चोसक्कइत्ता जेणेव से तिलथंभए तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता तं तिलथंभगं सलेट्ठुयायं चेव उप्पाडेइ । उप्पाडेइत्ता एगंते एडेइ। एडेइत्ता तक्खणमेत्तं च गोयमा ! दिव्वे अब्भवद्दलए पाउब्भूए। तए णं से दिव्वे अब्भवद्दलए खिप्पामेव पतणतणाए, खिप्पामेव विज्जुयाइ, खिप्पामेव णच्चोसगं णातिमट्टियं पविरलपप्फुसियं रयरेणुविणासणं दिव्वसलिलोदगं वासं वासइ । जेणं से तिलथंभए आसत्थपच्चायाए बद्धमूले तत्थेव पतिट्ठिए । ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता २ तस्सेव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाया ।

(पढमं वासं ति) विभक्तिपरिणामात्प्रव्रज्याप्रतिपत्तेः प्रथमे वर्षे (निस्साए त्ति) निश्राय निश्रां कृत्वा (पढमं अंतरावासं ति) विभक्तिपरिणामादेव प्रथमे अन्तरमवसरो वर्षस्य वृष्टेर्यत्रासावन्तरवर्षः । अथवाऽन्तरेऽपि जिगमिषितक्षेत्रमप्राप्यापि यत्र सति साधुभिरवश्यमावासो विधीयते सोऽन्तरावासो वर्षाकालः, तत्र (वासं ति) वर्षासु वासश्चातुर्मासिकमवस्थानं वर्षावासः, तमुपागत उपाश्रितः (दोच्चं वासं ति) द्वितीये

यत्र (तंतुवायसाल त्ति) कुविन्दशाला (अंजलिमउलियहत्थ त्ति) अञ्जलिना मुकुलितौ मुकुलाकारौ कृतौ हस्तौ येन स तथा । (दव्वसुद्धेणं ति) द्रव्यमोदनादिकं, शुद्धमुद्गमादिदोषरहितं यत्र दाने तत्तथा, तेन, (दायगसुद्धेणं ति) दायकः शुद्धो यत्राऽऽशंसादिदोषरहितत्वात् तत्तथा, तेन, एवमितरदपि (तिविहेणं ति) वक्ष्यमाणेन त्रिविधेन, अथवा त्रिविधेन कृतकारितानुमतिभेदेन, त्रिकरणशुद्धेन मनोवाक्कायशुद्धेन । (वसुहारा वुट्ठ त्ति) वसुधारा द्रव्यरूपा धारा वृष्टाः (अहो दाणं ति) 'अहो' शब्दो विस्मये, (कयत्थे णं ति) कृतार्थः कृतस्वप्रयोजनः । (कयलक्खणे त्ति) कृतफलवल्लक्षण इत्यर्थः । (कया णं लोय त्ति) कृतौ कृतशुभफलौ, अवयवे समुदायोपचाराल्लोकौ इहलोकपरलोकौ । (जम्मजीवियफले त्ति) जन्मनो जीवितव्यस्य च यत्फलं तत्तथा (तहारूवे साहुसाहुरूवे त्ति) तथारूपे तथाविधे, अविज्ञातव्रतविशेष इत्यर्थः । साधौ श्रमणे साधुरूपे साध्वाकारे (धम्मंतेवासि त्ति) शिल्पादिग्रहणार्थमपि शिष्या भवन्तीत्यत उच्यते-धर्मान्तेवासी । (खज्जगविहीए त्ति) खण्डखाद्यादिलक्षणभोजनप्रकारेण (सव्वकामगुणिएणं ति) सर्वे कामगुणा अभिलाषाविषयभूता रसादयः संजाता यत्र तत्सर्वकामगुणितं, तेन (परमन्नेणं ति) परमान्नेन हैरेय्या (आयामेत्थ त्ति) आचामितवान्, तद्भोजनदानद्वारेणोच्छिष्टतासम्पादनेन तच्छुध्यर्थमाचमनं कारितवान्, भोजितवानिति तात्पर्यम् (सब्भिंतरबाहिरिए त्ति) सहाभ्यन्तरेण विभागेन बाह्येन च यत्तत्तथा, तत्र (मग्गणगवेसणं ति) अन्वयतो मार्गणं, व्यतिरेकतो गवेषणं, ततश्च समाहारद्वन्द्वः । (सुइं व त्ति) श्रूयत इति श्रुतिः शब्दः, तां चक्षुषा किलादृश्यमानोऽर्थः शब्देन निश्चीयत इति श्रुतिग्रहणम् । (खुइं व त्ति) क्षवणं क्षुतिः, छीत्कृतं, ताम् । यथाऽप्यदृश्यमनुष्यादिगमिका भवतीति गृहीता (पउत्तिं व त्ति) प्रवृत्तिं वार्ताम् (साडियाओ त्ति) परिधानवस्त्राणि (पाडियाओ त्ति) उत्तरीयवस्त्राणि । क्वचित् "भंडियाओ त्ति" दृश्यते । तत्र भण्डिका रन्धनादिभाजनानि (माहणे आयामेइ त्ति) शाटकादीनर्थान् ब्राह्मणान् लम्भयति, शाटकादीनर्थान् ब्राह्मणेभ्यो ददातीत्यर्थः । (सउत्तरोट्ठं ति) सह उत्तरोष्ठेन सोत्तरोष्ठं सश्मश्रुकं यथाभवतीत्येवं (मुंडं ति) मुण्डनं कारयति नापितेन (पणियभूमीए त्ति) पणितभूमौ भाण्डविश्रामस्थाने, प्रणीतभूमौ वा मनोज्ञभूमौ (अभिसमन्नागए त्ति) मिलितः (पवमहं पडिसुणेमि त्ति) अभ्युपगच्छामि, यच्चैतस्याऽयोग्यस्याप्यभ्युपगमनं भगवतस्तदक्षीणरागतया परिचयेनेषत्स्नेहगर्भानुकम्पासद्भावात्, छद्मस्थतया वाऽनागतदोषानवगमादवश्यंभावित्वाच्चैतस्यार्थस्येति भावनीयमिति । (पणियभूमिए त्ति) पणितभूमेरारभ्य, प्रणीतभूमौ वा मनोज्ञभूमौ, विहृतवानिति योगः । (अणिच्चजागरियं ति) अनित्यचिन्तां, कुर्वन्निति वाक्यशेषः । (पढमसरयकालसमयंसि त्ति) समयभाषया मार्गशीर्षपौषौ शरदभिधीयते । तत्र प्रथमशरत्कालसमये मार्गशीर्षे (अप्पवुट्ठिकायंसि त्ति) अल्पशब्दस्याभाववचनत्वादविद्यमानवर्षे इत्यर्थः । अन्ये तु " अश्वयुक्कार्तिकौ शरत् " इत्याहुः । अल्पवृष्टिकायत्वाच्च तत्राऽपि विहरतां न दूषणमिति; एतच्चासङ्गतमिव, भगवतोऽप्यवश्यं पर्युषणाकर्त्तव्यत्वेन पर्युषणकल्पेऽभिहितत्वादिति । (हरियगरेरिज्जमाणे त्ति) हरितक इति कृत्वा (रेरिज्जमाणं त्ति) अतिशयेन राजमान इत्यर्थः । (तए णं अहं गोयमा ! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासि त्ति) इह यद्भगवतः पूर्वकालप्रतिपन्नमौनाभिग्रहस्यापि प्रत्युत्तरकालं तदेकादिकं वचनमुत्कलमित्येवमभिग्रहग्रहणस्य सम्भाव्यमानत्वेन न विरुद्धमिति (तिलसंगलियाए त्ति) तिलफलिकायाम् । (ममं पणिहाय त्ति) मां प्रणिधाय मामाश्रित्यायं मिथ्यावादी भवत्विति विकल्पं कृत्वा । (अब्भवद्दलए त्ति) अभ्ररूपं वारो जलस्य दलकं कारणमभ्रवार्दलकम् (पतणतणाए त्ति) प्रकर्षेण तणतणायते गर्जतीत्यर्थः । (नच्चोदगं ति) नात्युदकं यथा भवति (नातिमट्टियं ति) नातिकर्दमं यथा भवतीत्यर्थः । (पविरलपप्फुसियं ति) प्रविरलाः प्रस्पृशिका विप्रुषो यत्र तत्तथा (रयरेणुविणासणं ति) रजो वातोत्पाटितं व्योमवर्त्ति रेणवश्च भूमिस्थितपांशवस्तदुपशमकम् । (सलिलोदगवासं ति) सलिलाः शीतादिमहानद्यस्तासामिव यदुदकं रसादिगुणसाधर्म्यात् तस्य यः सलिलोदकवर्षोऽसस्तम । [बद्धमूले त्ति] बद्धमूलः सन् । [तत्थेव पतिट्ठिए त्ति] यत्र पतितस्तत्रैव प्रतिष्ठितः । [भ०]

तए णं अहं गोयमा ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं जेणेव कुम्मगामे णयरे तेणेव उवागच्छामि । तए णं तस्स कुम्मगामस्स णयरस्स बाहिया वेसियायणे णामं बालतवस्सी छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ सूराभिमुहे आयावणभूमीए आयावेमाणे विहरइ । आइच्चतेयतवियाओ से छप्पदीओ सव्वओ समंता अभिणिस्सवेंति पाणभूयजीवसत्तदयट्ठयाए, एयं णं पमियाओ २ तत्थेव भुज्जो भुज्जो पच्चोरुभइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं पासइ । पासइत्ता ममं अंतियाओ सणियं २ पच्चोसक्कइ । पच्चोसक्कइत्ता जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता वेसियायणं बालतवस्सिं एवं वयासी-किं भवं मुणी मुणिए, उदाहु जूयासेज्जायरए ? । तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं दोच्चं पि एवं वयासी-किं भवं मुणी मुणिए० जाव सेज्जायरए ? । तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमीओ पच्चोसक्कइ । पच्चोसक्कइत्ता तेयासमुग्घाएणं समोहणइ । समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ । पच्चोसक्कइत्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स वहाए सरीरगं तेयं णिसिरइ । तए णं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अणुकंपणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिणतेयलेस्सा तेयपडिसाहरणट्ठयाए, एत्थ णं अंतरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं णिसिरामि, जाए सा ममं सीयलियाए तेयलेस्साए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिणतेयलेस्सा पडिहया ।

तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी ममं सीयलियाए तेयल्ले-स्साए सा उसिणं तेयलेस्सं पमिहयं जाणित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरस्स किंचि आवाहं वा वावाहं वा छविच्छेदं वा अकीरमाणं पासित्ता सा उसिणं तेयलेस्सं पडिसाहरइ। पमिसाहरइत्ता ममं एवं वयासी-से गयमेयं जगवं!, गयगयमेयं भगवं!। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी–किं णं भंते ! एस जूयासिज्जातरए तुब्भे एवं वयासी–"से गयमेयं जगवं! गयगयमेयं भगवं!"। तए णं अहं गोयमा! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–तुमं णं गोसाला! वेसियायणं बालतवस्सिं पासइ। पासइत्ता ममं अंतियाओ सणियं २ पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता जेणेव वेसियायणे बालतवस्सी, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता वेसियायणं बालतवस्सिं एवं वयासी–"किं जवं मुणी मुणिए, उदाहु जूयासेज्जायरए?"। तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी तव एयमट्ठं णो आढाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ। तए णं तुमं गोसाला! वेसियायणं बालतवस्सिं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–"किं जवं मुणी० जाव जूयासेज्जायरए?"। तए णं से वेसियायणे बालतवस्सी तुमं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० जाव पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता तव वहाए सरीरगं तेयलेस्सं णिसिरइ। तए णं अहं गोसाला! तव अणुकंपणट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा य तेयपडिसाहरणट्ठयाए एत्थ णं अंतरा सीयलियं तेयलेस्सं णिसिरामि० जाव पडिहयं जाणित्ता तव सरीरगस्स किंचि आवाहं वा वावाहं वा उविच्छेदं वा अकीरमाणं पासित्ता सा उसिणं तेयलेस्सं पमिसाहरति। पडिसाहरतित्ता ममं एवं वयासी–"से गयमेयं जगवं!, गयगयमेयं जगवं!"। तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते ममं अंतियाओ एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीए० जाव संजायजए ममं एवं वयासी–कहि णं भंते! संखित्तविउलतेयलेस्से जवइ?। तए णं अहं गोयमा! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–जे णं गोसाला! एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियमासएणं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय० जाव विहरइ; से णं अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेउलेस्से जवइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एयमट्ठं सम्मं विणएणं पमिसुणेइ। तए णं अहं गोयमा! अन्नया कयाइ गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं सद्धिं कुम्मगामाओ णयराओ सिद्धत्थगामं णयरं संपट्ठिए विहाराए, जाहे य मो तं देसं हव्वमागया, जत्थ णं से तिलथंजए। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी–तुब्भे णं भंते! तदा ममं एवं आइक्खह,० जाव एवं परूवेह–"गोसाला! एस णं तिलथंभए णिप्फज्जिस्सइ, णो णिप्फज्जिस्सइ," तं चेव पच्चायाइस्संति, तं णं मिच्छा, इमं च णं पच्चक्खमेव दीसइ। एस णं तिलथंजए णो णिप्फण्णे अणिप्फण्णमेव, ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता णो एयस्स चेव तिलथंजगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता। तए णं अहं गोयमा! गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—तुमं णं गोसाला! तदा ममं एवं आइक्खमाणस्स० जाव एवं परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहसि, णो पत्तियसि, णो रोयसि, एयमट्ठं असद्दहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे ममं पणिहाय, अयं णं मिच्छावादी भवउ त्ति कट्टु ममं अंतियाओ सणियं सणियं पच्चोसक्कइ। पच्चोसक्कइत्ता जेणेव से तिलथंभए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता० जाव एगंतमंते एडेसि, तक्खणमेत्तं गोसाला! दिव्वे अब्भवद्दलए पाउब्भूए। तए णं से दिव्वे अब्भवद्दलए खिप्पामेव तं चेव० जाव तिलथंभगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता। तं एस णं गोसाला! से तिलथंजए णिप्फण्णे, णो अणिप्फण्णमेव। ते य सत्त तिलपुप्फजीवा उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता एयस्स चेव तिलथंजगस्स एगाए तिलसंगलियाए सत्त तिला पच्चायाता। एवं खलु गोसाला! वणस्सइकाइयाओ पउट्टपरिहारं परिहरंति। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवमाइक्खमाणस्स० जाव परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहति। णो सद्दहतित्ता एयमट्ठं असद्दहमाणे० जाव अरोएमाणे जेणेव से तिलथंजए तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता ताओ तिलथंजयाओ तं तिलसंगलियं खुड्डति। खुड्डित्ता करयलंसि सत्त तिले पप्फोडेइ। तए णं तस्स गोसालस्स ते सत्त तिले गणेमाणस्स अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था–एवं खलु सव्वजीवा वि पउट्टपरिहारं परिहरंति। एस णं गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स पउट्टे। एस णं गोयमा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स ममं अंतियाओ आयाए अवक्कमणे पण्णत्ते। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते एगाए सणहाए कुम्मासपिंडियाए एगेण य वियडासएणं छट्ठं छट्ठेणं उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय २ ० जाव विहरइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते अंतो छण्हं मासाणं संखित्तविउलतेयलेस्से जाए॥

(पाणभूयजीवसत्तदयट्ठयाए त्ति) प्राणादिषु सामान्येन या दया सैवार्थः प्राणादिदयार्थः, तद्भावस्तत्ता, तया, अथवा–बहुपदिका एव प्राणानामुच्छ्वासादीनां भावात्प्राणाः, जवनधर्मकत्वाद्भूताः, उपयोगलक्षणत्वाज्जीवाः, सत्त्वोपपेतत्वात्सत्त्वाः, ततः कर्मधारयः, तदर्थताये, चशब्दः पुनरर्थः। (तत्थेव त्ति) शिरःप्रभृतिके (किं भवं मुणी मुणिए त्ति) किं भवान् मुनिस्तपस्वी

ज्ञातः । (मुणिए त्ति) ज्ञाते तत्त्वे सति, ज्ञात्वा वा तत्त्वम् । अथवा-भवान् मुनी तपस्विनी (?)(मुणिए त्ति) मुनिकस्तपस्वीति, अथवा-भवान् मुनिर्यतिः, उत मुणिको ग्रहगृहीतः (उदाहु त्ति) 'उताहो' इति विकल्पार्थो निपातः (जूयासेज्जायरए त्ति) यूकानां स्थानदातेति।(सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ त्ति) प्रयत्नविशेषार्थः, मुरम्र इव प्रहारदानार्थमिति । (सा उसिणं तेयलेस्सं ति) स्वां स्वीयामुष्णां तेजोलेश्याम् । (से गयमेयं भगवं गयगयमेयं भगवं ति) अथ गतगतमेतन्मया हे भगवन् ! यथा भगवतः प्रसादादयं न दग्धः सम्भ्रमार्थत्वाच्च गतशब्दस्य पुनः पुनरुच्चारणम्। इह च यद्गोशालकस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्सरागत्वेन, दयैकरसत्वाद्भगवतः। यच्च सुनक्षत्रसर्वानुभूतिमुनिपुङ्गवयोर्न करिष्यति, तद्वीतरागत्वेन, लब्ध्यनुपजीवकत्वादवश्यभाविभावत्वाद्वेत्यवसेयमिति । (संखित्तविउलतेयलेस्से त्ति) सङ्क्षिप्ता अप्रयोगकाले अविपुला, प्रयोगकाले तेजोलेश्या लब्धिविशेषो यस्य स तथा (सणहाए त्ति) सनखया यस्यां पिंडिमकायां बध्यमानायामङ्गुलीनखा अङ्गुष्ठस्याधो गलन्ति सा सनखेत्युच्यते। (कुम्मासपिंडियाए त्ति) कुल्माषा अर्द्धस्विन्ना मुद्गादयः, माषा इत्यन्ये (वियडासएणं ति) विकटं जलं, तस्याशयः आश्रयो वा स्थानं विकटाशयो विकटाश्रयः । तेन अमुं च प्रस्तावाच्चुलुकमाहुर्वृद्धाः (जाहे य मो त्ति) यदा च स्मो भवामो वयम् । (अनिप्फन्नमेव त्ति) मकारस्याऽऽगमिकत्वाद्निष्पन्न एव (वणस्सइकाइयाओ पउट्टपरिहारं परिहरंति त्ति) परिवृत्य २ मृत्वा यस्तस्यैव वनस्पतिशरीरस्य परिहारः परिवर्तः, परिवर्तवाद इत्यर्थः । (आयाए अवक्कमणे त्ति) आत्मना आदावेवोपदेशमपक्रमणमपसरणम् । (भ०)

तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अण्णया कयाइं इमे छ दिसाचरा अंतियं पाउब्भविस्था । तं जहा-साणे तं चेव सव्वं० जाव अजिणे जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ । तं णो खलु गोयमा ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ ; गोसाले णं मंखलिपुत्ते अजिणे जिणप्पलावी० जाव पगासमाणे विहरइ । तए णं सा महई महालिया महच्चपरिसा जहा सिवे० जाव पमिगया। तए णं सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव बहुजणो अण्णमण्णस्स०जाव परूवेइ-जे णं देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी विहरइ, तं मिच्छा । समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ,० जाव परूवेइ। एवं खलु तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स मंखली णामं मंखे पिता होत्था। तए णं तस्स मंखस्स एवं तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव अजिणे जिणप्पलावी जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ। तं णो खलु गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव विहरइ; गोसाले णं मंखलिपुत्ते अजिणे जिणप्पलावी विहरइ। समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ। तए णं गोसाले मंखलिपुत्ते बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म आसुरुत्ते०जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमी। ओ पच्चोरुभइ।

पच्चोरुहइत्ता सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे,तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे महया अमरिसं वहमाणे एवं चावि विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे णामं थेरे पगइभद्दए० जाव विणीए छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं से आणंदे थेरे छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए एवं जहा गोयमसामी तहेव आपुच्छइ । तहेव० जाव उच्चणीयमज्झिम० जाव अममाणे हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स अदूरसामंते वीईवयइ। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आणंदं थेरं हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स अदूरसामंते वीईवयमाणं पासइ। पासइत्ता एवं वयासी-एहि ताव आणंदा ! इओ एगं महं उवमियं णिसामेह। तए णं से आणंदे थेरे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आणंदं थेरं एवं वयासी-एवं खलु आणंदा ! इतो चिरातीताए अद्धाए केई उच्चावया वणिया अत्थत्थी अत्थलुद्धा अत्थगवेसी अत्थकंखिया अत्थपिवासिया अत्थगवेसणयाए णाणाविहविउलपणियभंडमायाय सगडीसागडेणं सुबहुं भत्तपाणपत्थयणं गहाय एगं महं अगामियं अणोहियं छिण्णावायं दीहमद्धं अमविं अणुप्पविट्ठा। तए णं तेसिं वणियाणं तीसे अगामियाए अणोहियाए छिण्णावायाए दीहमद्धाए अडवीए किंचिदेसं अणुप्पत्ता णं समाणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुज्जमाणे २ खीणे। तए णं से वणिया खीणोदगा समाणा तण्हाए परिब्भवमाणा अण्णमण्णे सद्दावेंति । सद्दावेंतित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमीसे अगामियाए० जाव अडवीए किंचिदेसं अणुप्पत्ताणं समाणाणं से पुव्वगहिए उदए अणुपुव्वेणं परिभुंजमाणे परिभुंजमाणे खीणे, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमी से अगामियाए० जाव अडवीए उदगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेंति । पडिसुणेंतित्ता तीसे अगामियाए० जाव अडवीए उदगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेंति। उदगस्स सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणे एगं महं वणसंडं आसादेंति। किण्हं किण्होभासं० जाव णिकुरुंबभूयं पासादीयं० जाव पडिरूवं; तस्स णं वणसंडस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महेगं वम्मीयं आसादेंति । तस्स णं वम्मियस्स चत्ता-

रि वपुओ अब्भुग्गयाओ अभिणिसढाओ तिरियं सुसंपग्गहियाओ अहे पणगद्धरूवाओ पणगद्धसंठाणसंठियाओ पासादीयाओ० जाव पडिरूवाओ । तए णं से वणिया हट्ठतुट्ठा अण्णमण्णं० जाव सद्दावेंति । सद्दावेंतित्ता एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमीसे अगामियाए० जाव सव्वओ समंता मग्गणगवेसणं करेमाणेहिं इमे वणसंडे आसादिए, किण्हे किण्होभासे । इमस्स णं वणखंडस्स बहुमज्झदेसभाए इमे वम्मीए आसादीए। इमस्स णं वम्मीयस्स चत्तारि वपुओ अब्भुग्गयाओ० जाव पडिरूवाओ तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स पढमं वप्पिं भिंदित्तए, अवियाइ उरालं उदगरयणं अस्सादिस्सामो। तए णं ते वणिया अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति । पडिसुणेंतित्ता तस्स वम्मीयस्स पढमं वप्पिं भिंदेंति। तेणं तत्थ अच्छं पत्थं जच्चं तणुयं फालियवण्णाभं उरालं उदगरयणं आसादेंति। तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठा पाणियं पिबंति। पिबंतित्ता वाहणाइं पज्जेंति। पज्जेंतित्ता भायणाइं भरेंति। भरेंतित्ता दोच्चं पि अण्णमण्णं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हेहिं इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे अस्सादिए, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स दोच्चं पि वप्पं भिंदित्तए,एत्थ उरालं सुवण्णरयणं अस्सादेस्सामो । तए णं ते वणिया अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति। पडिसुणेंतित्ता तस्स वम्मीयस्स दोच्चं पि वप्पं भिंदेंति। तत्थ अच्छं जच्चं तावणिज्जं महत्थं महग्घं महरिहं उरालं सुवण्णरयणं अस्सादेंति । तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठा भायणाइं भरेंति । भरेंतित्ता पवहणाइं भरेंति । भरेंतित्ता तच्चं पि अण्णमण्णं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे अस्सादिए,दोच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले सुवण्णरयणे अस्सादिए। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! तच्चं पि वप्पं भिंदित्तए, अवियाइं इत्थ उरालं मणिरयणं अस्सादेस्सामो। तए णं ते वणिया अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति । पडिसुणेंतित्ता तस्स वम्मीयस्स तच्चं पि वप्पं भिंदंति। तेणं तत्थ विमलं णिम्मलं णित्तलं णिक्कलं महग्घं महत्थं महरिहं उरालं मणिरयणं अस्सादिंति । तए णं ते वणिया हट्ठतुट्ठा भायणाइं भरेंति । भरेंतित्ता पवहणाइं भरेंति । भरेंतित्ता चउत्थं पि अण्णमण्णं एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे अस्सादिए । दोच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले सुवण्णरयणे अस्सादिए । तच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले मणिरयणे अस्सादिए। तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं इमस्स वम्मीयस्स चउत्थं पि वप्पं भिंदित्तए, अवियाइं इत्थ उत्तमं महग्घं महत्थं महरिहं उरालं वइररयणं अस्सादेस्सामो । तए णं तेसिं वणियाणं एगे वणिए हियकामए सुहकामए पत्थकामए आणुकंपिए णिस्सेयसिए हियसुहणिस्सेसकामए ते वणिए एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हे इमस्स वम्मीयस्स पढमाए वप्पाए भिण्णाए उराले उदगरयणे० जाव तच्चाए वप्पाए भिण्णाए उराले मणिरयणे अस्सादिए। तं होउ अलाहि पज्जत्तं णे, एसा चउत्थी वप्पा मा भिज्जउ, चउत्थी णं वप्पा सउवसग्गा यावि होज्जा । तए णं ते वणिया तस्स वणियस्स हियकामगस्स सुहकामगस्स० जाव हियसुहणिस्सेसकामगस्स एवमाइक्खमाणस्स० जाव परूवेमाणस्स एयमट्ठं णो सद्दहंति० जाव णो रोयंति। एयमट्ठं असद्दहमाणा० जाव अरोएमाणा तस्स वम्मीयस्स चउत्थं पि वप्पं भिंदंति। तेणं तत्थ उग्गविसं चंडविसं घोरविसं महाविसं अतिकायमहाकायं मसिमूसाकालगं नयणविसरोसपुण्णं अंजणपुंजणिगरप्पगासं रत्तच्छं जमलजुयलचंचलचलंतजीहं धरणितलवेणिभूयं उक्कडफुडकुडिलजडुलकक्खडविकडफडाडोवकरणदच्छं लोहागरधम्ममाणधमधमेंतघोसं अणागलियचंडतिव्वरोसं समुहं तुरियं चवलं धमंतं दिट्ठिविसं सप्पं संघट्टेंति । तए णं से दिट्ठिविससप्पे तेहिं वणिएहिं संघट्टिए समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे सणियं सणियं उट्ठेइ । उट्ठेइत्ता सरसरसरस्स वम्मीयस्स सिहरतलं दुरूहइ । दुरूहइत्ता आदिच्चं निज्झाइ । निज्झाइत्ता ते वणिए अणिमिसाए दिट्ठीए सव्वओ समंता समभिलोएंति । तए णं ते वणिया दिट्ठिविसेणं सप्पेणं अणिमिसाए दिट्ठीए सव्वओ समंता समभिलोया समाणा खिप्पामेव सभंडमत्तोवगरणमायाए एगाहच्चं कूडाहच्चं भासिरासीकया यावि होत्था ॥

[जहा सिवे त्ति] शिवराजर्षिचरिते [महया अमरिसं ति] महान्तममर्षम् [एवं चावि त्ति] एवञ्चेति मयापकोपदृश्यमानकोपचिह्नम्, अपीति समुच्चये [मह उवमियं ति] मम संबन्धि, महद्वा विशिष्टमौपम्यमुपमादृष्टान्तमित्यर्थः। (चिरातीताए अद्धाए त्ति) चिरमतीते काले [उच्चावय त्ति] उच्चावचा असमानुसमाः । [अत्थत्थि त्ति] द्रव्यप्रयोजनाः । कुत एवमित्याह-[अत्थलुद्ध त्ति] द्रव्यलालसाः, अत एव [अत्थगवेसि त्ति] अर्थगवेषिणोऽपि। कुत इत्याह-[अत्थकंखिय त्ति] प्राप्तेऽप्यर्थेऽविच्छिन्नेच्छाः । (अत्थपिवासिय त्ति)। अप्राप्तार्थविषयसञ्जाततृष्णाः। यत एवमत एवाह-"अत्थगवेसणयाए" इत्यादि। (पणियभंडे त्ति) पणितं व्यवहारः, तदर्थं भाण्डं, पणितं वा क्रयाणकं, तद्रूपं भाण्डं, न तु भाजनमिति पणितभाण्डम्। (सगडीसागडेणं ति) शकट्यो गन्त्रिकाः,शकटानां मन्त्रीविशेषाणां

समूहः शाकटं, ततः समाहारद्वन्द्वोऽतस्तेन। [भत्तपाणपत्थयणं ति] भक्तपानरूपं यत्पथ्योदनं शम्बलं तत्तथा (अगामियं ति) अग्रामिकाम्, अकामिकां वा अनभिलाषविषयभूताम् (अणोहियं ति) अविद्यमानजलौघिकामतिगहनत्वेनाविद्यमानोहां वा। [छिन्नावायं ति] व्यवच्छिन्नसार्थघोषाद्यापातां (दीहमद्धं ति) दीर्घमार्गां दीर्घकालां वा । " किण्हं किण्होभासं० " इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"नीलं नीलोभासं हारियं हारिओभासं" ०इत्यादि "। व्याख्या चास्य प्राग्वत् [महेगं वम्मीयं ति] महान्तमेकं वल्मीकं [वपुओ त्ति] वपूंषि शरीराणि, शिखराणीत्यर्थः। [अब्भुग्गयाओ त्ति] अभ्युद्गतानि,अभ्रोन्नतानि वोच्चानीत्यर्थः। [अभिनिसढाओ त्ति] अभिविधिना निर्गताः सटास्तदवयवरूपाः केसरिस्कन्धसटावद्येषां तानि अभिनिःसटानि, इदं च तेषामूर्द्धगतं स्वरूपम्। अथ तिर्यगाह-[तिरियं सुसंपग्गहियाओ त्ति] सुसंप्रगृहीतानि सुसंवृतानि तानि, विस्तीर्णानीत्यर्थः । अधः किंभूतानीत्याह-[अहे पणगद्धरूवाओ त्ति] सर्पार्द्धरूपाणि यादृशं पन्नगस्योदरच्छिन्नस्य पुच्छत ऊर्ध्वीकृतमर्द्धमधोविस्तीर्णमुपर्युपरि चातिश्लक्ष्णं भवतीत्येवंरूपं येषां तानि तथा। पन्नगार्द्धरूपाणि च वर्णादिनाऽपि भवन्तीत्याह-(पणगद्धसंठाणसंठियाओ त्ति) भावितमेव (उरालं उदगरयणं आसाइस्सामो त्ति) अयमस्याभिप्रायः-एवंविधभूमिगर्त्ते क्लिन्नोदकं भवति, वल्मीके चाऽवश्यंभाविनो गर्त्ताः, अतः शिरभेदे गर्त्तः प्रकटो भविष्यति, तत्र च जलं भविष्यतीति। (अच्छं ति) निर्मलं [पत्थं ति] पथ्यं रोगोपशमहेतुः [जच्चं ति] जात्यं संस्कारहितम् [तणुयं ति। तनुकं, सुजरमित्यर्थः। [फालियवण्णाभं ति] स्फटिकवर्णवदाभा यस्य तत्तथा। अत एव (उरालं ति) प्रधानम् [उदगरयणं ति] उदकमेव रत्नं उदकरत्नम्, उदकजातौ तस्योत्कृष्टत्वात् [वाहणाइं पज्जेंति ति] बलीवर्दादिवाहनानि पाययन्ति [अच्छं ति] निर्मलं [जलं ति] अकुथितम् [तावणिज्जं ति] तापनीयं तापसहम्। [महत्थं ति] महाप्रयोजनं। [महग्घं ति] महामूल्यं महतां योग्यं [विमलं ति] विगतागन्तुकमलं [निम्मलं ति] स्वाभाविकमलरहितम् [नित्तलं ति] निस्तलम् अनिवृत्तमित्यर्थः। [निक्कलं ति] निष्कलं त्रासादिरत्नदोषरहितं [वइररयणं ति] वज्राभिधानरत्नं [हितकामए त्ति] इह हितमपायाभावः [सुहकामए त्ति] सुखमानन्दरूपः [पत्थकामए त्ति] पथ्यमिव पथ्यम् आनन्दकारणं वस्तु [अणुकंपिए त्ति]। अनुकम्पया चरतीत्यानुकम्पिकः [निस्सेयसिए त्ति] निःश्रेयसं विपत्मोक्षमिच्छतीति नैश्रेयसिकः । अधिकृतवाणिजस्यैकैरेव गुणैः कश्चिदुपयोगमाह [हियेत्यादि] (तं होउ अलाहि पज्जत्तं णे त्ति) तत्तस्माद्भवत्वलं पर्याप्तमित्येते शब्दाः प्रतिषेधवाचकत्वेनैकार्थाः आपातिकप्रतिषेधप्रतिपादनार्थमुक्ताः (णे) अस्माकम (सउवसग्गा यावि त्ति) इह चापीति सम्भावनार्थः (उग्गविसं ति) दुर्जरविषम् (चंडविसं त्ति) दष्टकनरकायस्य झगिति व्यापकविषं (घोरविसं ति) परम्परया पुरुषसहस्रस्यापि हननसमर्थविषम् (महाविसे ति) जम्बूद्वीपप्रमाणस्यापि शरीरस्य व्यापनसमर्थविषम् [अइकायमहाकायं ति)कायान् शेषाहीनामतिक्रान्तोऽतिकायोऽत एव महाकायः।ततः कर्मधारयोऽथवाऽतिकायानां मध्ये महाकायोऽतिकायमहाकायोऽतस्तम्(मसिमूसाकालगं ति) मषी कज्जलं,मूषा च सुवर्णादितापनभाजनविशेषः, ते इव कालको यः स तथा तं (नयणविसरोसपुण्णं ति) नयनविषेण दृष्टिविषेण रोषेण च पूर्णो यः स तथा तम्। (अंजनपुंजनिगरप्पगासं ति) अञ्जनपुञ्जानां निकरस्येव प्रकाशो दीप्तिर्यस्य स तथा तं, पूर्वं कालवर्णत्वमुक्तमिह तु दीप्तिरिति न पुनरुक्ततेति (रत्तच्छं ति) रक्ताक्षम् (जमलजुयलचंचलचलंतजीहं ति) जमलं सहवर्त्ति युगलं द्वयं चञ्चलं यथा भवत्येवं चलन्त्योरतिचपलयोर्जिह्वयोर्यस्य स तथा तं, प्राकृतत्वाच्चैवं समासः (धरणितलवेणिभूयं ति) धरणीतलस्य वेणीभूतो वनिताशिरसः केशबन्धविशेष इव यः कृष्णत्वदीर्घत्वश्लक्ष्णत्वपश्चाद्भागत्वादिसाधर्म्यात् स तथा तम्। [उक्कडफुडकुडिलजडुलकक्खडवियडफडाडोवकरणदच्छं ति] उत्कटो बलवतान्येनाध्वंसनीयत्वात्, स्फुटो व्यक्तप्रयत्नविहितत्वात्,कुटिलो वक्रः तत्स्वरूपत्वात्, जटिलः स्कन्धदेशे केसरिणामिवाहीनां केसरसद्भावात्, कर्कशो निष्ठुरो बलवत्वात्, विकटो विस्तीर्णो यः स्फटाटोपः फणासंरम्भः तत्करणे दक्षो यः स तथा, तम्। [लोहागरधम्ममाणधमधमेंतघोसं ति] लोहस्येवाकरे ध्मायमानस्याग्निना ताप्यमानस्य धमधमायमानो धमधमेति वर्णव्यक्तिमिवोत्पादयन् घोषः शब्दो यस्य स तथा तं [अणागलियचंडतिव्वरोसं ति] अनिर्गलितोऽनिवारितोऽनाकलितो वा अप्रमेयश्चण्डः तीव्र इत्यर्थः। तीव्रो रोषो यस्य स तथा तम् [समुहं तुरियं चवलं धमंतं ति] शुनो मुखः श्वमुखं, तस्य वा भरणं श्वमुखिकाकौलेयकस्येव भषणतः त्वरितचपलमतिचटुलतया धमन्तं शब्दायन्तं कुर्वन्तमित्यर्थः। [सरसरसरस्स त्ति] सर्पगतेरनुकरणम् [आइच्चं निज्झाइ त्ति] आदित्यं पश्यति दृष्टिलक्षणविषस्य तीव्रतार्थं [ससंभमत्तोवगरणमायाए त्ति] सह भाण्डमात्रया पणितपरिच्छदेन उपकरणमात्रया च ये ते तथा [एगाहच्चं ति] एकैव आहत्या आहननं प्रहारो यत्र प्रतीकारके तदेकाहत्यं, तत् यथा भवत्येवम्। कथमित्याह-[कूडाहच्चं ति] कूटस्येव पाषाणमयमारणमहायन्त्रस्येवाहत्या आहननं यत्र तत् कूटाहत्यम्, तत्तथा भवतीत्येवम्। भ०।

तत्थ णं जे से वणिए तेसिं वणियाणं हियकामए० जाव हियसुहणिस्सेसकामए,से णं अणुकंपियाए देवताए सभंडमत्तोवगरणमायाए णियगं णयरं साहिए। एवामेव आणंदा! तव वि धम्मायरिएणं धम्मोवएसएणं समणेणं णायपुत्तेणं उराले परियाए आसादिए। उराला कित्तिवण्णसद्दसिलोगा सदेवमणुयासुरलोए पुव्वंति, गुवंति, थुवंति, इति खलु समणे भगवं महावीरे इति २। तं जदि मे से अज्ज किंचि वदति, तं णं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेमि । जहा वा वालेणं ते वणिया। तुमं च णं आणंदा! सारक्खामि, संगोवामि, जहा वा से वणिए तेसिं वणियाणं हियकामए ०जाव णिस्सेसकामए अणुकंपियाए देवयाए सभंडमत्त०जाव साहिए । तं गच्छह णं तुमं आणंदा! धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स समणस्स णायपुत्तस्स एयमट्ठं परिकहेहि । तए णं से आणंदे थेरे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे भीए ०जाव संजायभए गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अंतिआओ हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता सिग्घं तुरियं सावत्थिं णयरिं मज्झंमज्झेणं णिग्गच्छइ। णिग्गच्छइत्ता जेणेव कोट्ठए

चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ। करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी-एवं खलु अहं भंते! छट्ठक्खमणपारणगंसि तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए समाणे सावत्थीए णयरीए उच्चणीय० जाव अडमाणे हालाहलाए कुंभकारीए० जाव वीईवयामि। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं हालाहलाए० जाव पासित्ता एवं वयासी-एहि ताव आणंदा! इओ एगं महं उवमियं णिसामेहि। तए णं अहं से गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं एवं वुत्ते समाणे जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते, तेणेव उवागच्छामि। तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते ममं एवं वयासी-एवं खलु आणंदा! इओ चिराईयाए अद्धाए केइ उच्चावया वणिया, 'एवं तं चेव सव्वं णिरवसेसं भाणियव्वं० जाव णियगं णयरं साहिए'। तं गच्छह णं तुमं आणंदा! धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स० जाव परिकहेहि। तं पभू णं भंते! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासिरासिं करेत्तए। विसए णं भंते! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स० जाव करेत्तए। समत्थे णं भंते! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं० जाव करेत्तए?। पभू णं आणंदा! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं० जाव करेत्तए, विसए णं आणंदा! गोसाले० जाव करेत्तए, समत्थे णं आणंदा! गोसाले० जाव करेत्तए। णो चेव णं अरहंते भगवंते परियावणियं पुण करेज्जा, जावइए णं आणंदा! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवतेए एत्तो अणंतगुणविसिट्ठयाए चेव तवतेए अणगाराणं भगवंतो खंतिखमा पुण अणगारा भगवंतो। जावइए णं आणंदा! अणगाराणं भगवंताणं तवतेए एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव तवतेए थेराणं भगवंताणं खंतिखमा पुण थेरा भगवंतो। जावइए णं आणंदा! थेराणं भगवंताणं तवतेए एत्तो अणंतगुणविसिट्ठतराए चेव तवतेए अरहंताणं भगवंताणं खंतिखमा पुण अरहंता भगवंतो। तं पभू णं आणंदा! गोसाले मंखलिपुत्ते तवेणं तेएणं० जाव करेत्तए, विसए णं आणंदा! ० जाव करेत्तए, समत्थे णं आणंदा! ० जाव करेत्तए, णो चेव णं अरहंते भगवंते परियावणियं पुण करेज्जा। तं गच्छह णं तुमं आणंदा! गोयमादीणं समणाणं णिग्गंथाणं एयमट्ठं परिकहेहि, मा णं अज्जो! तुब्भं के वि गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएउ, धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारेउ, धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेउ, गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ने। तए णं से आणंदे थेरे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, जेणेव गोयमादि! समणा णिग्गंथा तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता गोयमादि! समणे णिग्गंथे आमंतेइ। आमंतेइत्ता एवं वयासी-एवं खलु अज्जो! छट्ठक्खमणपारणगंसि समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे सावत्थीए णयरीए उच्चणीय० तं चेव सव्वं० जाव णायपुत्तस्स एयमट्ठं परिकहेहि। तं मा णं अज्जो! तुब्भं केइ गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएउ० जाव मिच्छं विप्पडिवन्ने, जावं च णं आणंदे थेरे गोयमाईणं समणाणं णिग्गंथाणं एयमट्ठं परिकहेहि, तावं च णं से गोसाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणाओ पडिणिक्खमइ! पडिणिक्खमइत्ता आजीवियसंघसंपरिवुडे महया अमरिसं वहमाणे सिग्घं तुरियं० जाव सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ। णिग्गच्छइत्ता जेणेव कोट्ठए चेइए जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते ठिच्चा समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-सुट्ठु णं आउसो! कासवा!, ममं एवं वयासी; साहु णं आउसो! कासवा! ममं एवं वयासी-गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी, गोसाले, 2 २। जे णं गोसाले मंखलिपुत्ते तव धम्मंतेवासी, से णं सुक्के सुक्काभिजाइए भवित्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववन्ने। अहं णं उदाई णामं कुंडियायणीए अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अणुप्पविसामि। अणुप्पविसामित्ता इमं सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि। जे वि याइं आउसो! कासवा! अम्हं समयंसि केइ सिज्झिसु वा, सिज्झंति वा, सिज्झिस्संति वा, सव्वे ते चउरासीइमहाकप्पसयसहस्साइं सत्त दिव्वे सत्त संजूहे सत्त सण्णिगब्भे सत्त पउट्टपरिहारे पंच कम्मणि सयसहस्साइं सट्ठिं च सहस्साइं छच्च सए तिण्णि य कम्मंसे अणुपुव्वेणं खवइत्ता तओ पच्छा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति, परिणिव्वाइंति, सव्वदुक्खाणमंतं करिंसु वा, करिंति वा, करिस्संति वा ॥

[परियाए त्ति] पर्यायोऽवस्था [कित्तिवण्णसद्दसिलोग त्ति] इह वृद्धव्याख्या-सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्त्तिः, एकदिग्व्यापी वर्णः, अर्द्धदिग्व्यापी शब्दः, तत्स्थान एव श्लोकः, श्लाघेति यावत् [सदेवमणुयासुरलोए त्ति] सह देवैः मनुजैरसुरैश्च यो लोको जीवलोकः स तथा तत्र [पुवंति त्ति] प्लवन्ते गच्छन्ति, "प्लुं" गताविति वचनात् [गुवंति त्ति] गुप्यन्ति व्याकुलीभवन्ति, "गुप" व्याकुलत्वे इति वचनात् [थुवंति त्ति] क्वचित्तत्र स्तूयन्ते अभिनन्द्यन्ते, क्वचित् परिभ्रमन्तीति दृश्यते, व्यक्तं चैतदिति। एतदेव दर्शयति- "इति खलिवित्यादि" इतिशब्दः प्रख्यातगुणानुवादार्थः। [तं ति] तस्मादिति निगमनम्। [तवेणं तेएणं ति] तपोजन्यं तेजस्तप एव, तेन तेजसा तेजोलेश्यया। [अहा

वा वालेणं ति] यथैव व्यालेन भुजगेन [सारक्खामि त्ति] संरक्षामि दाहभयात् । [संगोवामि त्ति] संगोपयामि क्षेम-स्थानप्रापणेन [पचू त्ति] प्रजविष्णुर्गोशालको भस्मराशिं कर्तुमित्येकः प्रश्नः। प्रभुत्वं च द्विधा-विषयमात्रापेक्षया,तत्करणतश्चेति। पुनः पृच्छति-"विसएणं"इत्यादि। अनेन च प्रथमो विकल्पः पृष्टः। "समत्थेणं" इत्यादिना तु द्वितीय इति [पारियावणियं ति] पारितापनिकीं क्रियां पुनः कुर्यादिति । [अणगाराणं ति] सामान्यसाधूनाम [खंतिखम त्ति] क्षान्त्या क्रोधनिग्रहेण क्षमन्त इति क्षान्तिक्षमाः [थेराणं ति] आचार्यादीनां वयःश्रुतपर्यायस्थविराणाम्। [पडिचोयणाए त्ति] तन्मतप्रतिकूला चोदना कर्त्तव्यप्रोत्साहना प्रतिचोदना,तया। (पडिसारणाए त्ति) तन्मतप्रतिकूलतया विस्मृतार्थस्मारणा प्रतिस्मारणा,तया। किमुक्तं भवति-"धम्मिएण" इत्यादि। (पडोयारेणं ति) प्रत्युपचारेण प्रत्युपकारेण वा।[पडोयारेउ त्ति] प्रत्युपचारयितुम्प्रत्युपचारङ्करोतु एवं प्रत्युपकारयतुं वा [मिच्छं विप्पडिवन्ने त्ति] मिथ्यात्वं म्लेच्छं वाऽनार्यत्वं विशेषतः प्रतिपन्न इत्यर्थः। [सुट्ठु णं ति] उपालम्भवचनम [आउसो त्ति] हे आयुष्मन् ! चिरप्रशस्तजीवित! (कासव त्ति) काश्यपगोत्र![सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि त्ति] सप्तमं शरीरान्तःप्रवेशं करोमीत्यर्थः । [जे वि याइं ति] येऽपि च । 'आइं ति' निपातः। "चउरासीइमहाकप्पसयसहस्साइं" इत्यादि । गोशालकसिद्धान्तार्थः स्थाप्यो, वृद्धैर्व्याख्यातत्वात् । आह च चूर्णिकारः- " संदिद्धत्ताओ तस्सिरूतस्स न लिखिज्जइ त्ति । " तथापि शब्दानुसारेण किञ्चिदुच्यते-चतुरशीतिं महाकल्पशतसहस्राणि क्षपयित्वेति योगः। तत्र कल्पाः कालविशेषाः,ते च लोकप्रसिद्धा अपि भवन्तीति तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तम्। महाकल्पा वक्ष्यमाणस्वरूपाः,तेषां यानि शतसहस्राणि लक्षाणि तानि तथा [सत्त दिव्वे त्ति] सप्त दिव्यान् देवभवान् [सत्त संजूहे त्ति] सप्त संयूथानि निकायविशेषान् [सत्त सन्निगब्भे त्ति] सञ्ज्ञिगर्भान् मनुष्यगर्भवसतीः। एते च तन्मतेन मोक्षगामिनां सप्त सान्तरा भवन्ति। वक्ष्यति चैवमेवैतान् स्वयमेवेति । [सत्त पउट्टपरिहारे त्ति] सप्त शरीरान्तरप्रवेशान्।एते च सप्तमसञ्ज्ञिगर्भानन्तरं क्रमेणावसेयाः तथा पञ्चेत्यादावित्थं सम्भाव्यते-[पंच कम्माणि सयसहस्साइं त्ति] कर्म्मणि कर्म्मविषये, कर्म्मणामित्यर्थः। पञ्च शतसहस्राणि लक्षाणि [तिन्नि य कम्मंसे त्ति] त्रींश्च कर्म्मभेदान् [खवइत्त त्ति] क्षपयित्वा अतिवाह्य । [भ०]।

से जहा वा गंगा महाणदी जओ पवूढा, जहिं वा पज्जुवत्थिया, एस णं अद्धा पंच जोअणसयाइं आयामेणं, अद्धजोअणं विक्खंभेणं, पंचधणुहसयाइं उव्वेहेणं, एएणं गंगापमाणेणं सत्त गंगाओ एगा महागंगा,सत्त महागंगाओ सा एगा सादीणगंगा, सत्त सादीणगंगाओ सा एगा मच्चुगंगा, सत्त मच्चुगंगाओ सा एगा लोहियगंगा, सत्त लोहियगंगाओ सा एगा अवंतीगंगा, सत्त अवंतीगंगाओ सा एगा परमावती। एवामेव सपुव्वावरेणं एगं गंगासयसहस्सं सत्तरसयसहस्सा छच्च गुणपन्नं गंगासया भवंतीति मक्खाया। तासिं दुविहे उद्धारे पण्णत्ते। तं जहा-सुहुमबोंदिकलेवरे चेव, बादरबोंदिकलेवरे चेव। तत्थ णं जे से सुहुमबोंदिकलेवरे से ठप्प, तत्थ णं जे से बादरबोंदिकलेवरे तओ णं वाससए गते एगमेगं गंगावालुयं अवहाय जावइएणं कालेणं से कोट्ठे खीणे णीरए णिल्लेवे णिट्ठिए भवइ, से तं सरे, एएणं सरप्पमाणेणं तिन्नि सरसयसाहस्सीओ से महाकप्पे, चउरासीतिमहाकप्पसयसहस्साइं से एगे महामाणसे, अणंताओ संजूहाओ जीवे चयं चइत्ता उवरिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जिहिति। से णं तत्थ दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरित्ता ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतरं चयं चइत्ता पढमे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मज्झिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जइ। से णं तत्थ दिव्वाइं भोगभोगाइं जाव विहरित्ता ताओ देवलोगाओ आउ० २ जाव चइत्ता दोच्चे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति, से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता हेट्ठिल्ले माणसे संजूहे देवे उववज्जइ । से णं तत्थ दिव्वाइं० जाव चइत्ता तच्चे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता उवरिल्ले माणसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जइ । से णं तत्थ दिव्वाइं भोगं चइत्ता चउत्थे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता मज्झिल्ले माणसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जइ। से णं तत्थ दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता, पंचमे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति। से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता हिट्ठिल्ले माणसुत्तरे संजूहे देवे उववज्जति। से णं तत्थ दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता,छट्ठेणं सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति,से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता बंभलोगे णामं से कप्पे पण्णत्ते। पाईणपडिणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे, जहा ठाणपदे० जाव पंच वडेंसगा पण्णत्ता। तं जहा-असोगवडेंसए० जाव पडिरूवा, से णं तत्थ देवे उववज्जइ, से णं तत्थ दससागरोवमाइं दिव्वाइं भोग० जाव चइत्ता, सत्तमे सण्णिगब्भे जीवे पच्चायाति, से णं तत्थ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्ठमाणं० जाव वीइक्कंताणं सुकुमालगभद्दलए मिउकुंडलकुंचियकेसए मट्ठगंडतलकण्णपीढए देवकुमारसमप्पभए दारए पयाते। से णं अहं कासवा ! तए णं अहं आउसो ! कासवा ! कोमारियाए पव्वज्जाए कोमारिएणं बंभचेरवासेणं अविद्धकण्णए चेव संखाणं पडिलभामि,सं० २ इमे सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि। तं जहा-एणेज्जस्स मल्लरामस्स मंडियस्स रोहस्स भारद्दाइस्स अज्जुणगस्स गोयमपुत्तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स;तत्थ णं जे से पढमे पउट्टपरिहारे, से णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया मंडिकुच्छिंसि चेइयंसि उदायणस्स कुंडियायणस्स सरीरं विप्पजहामि। विप्पजहामित्ता एणेज्जगस्स सरीरगं अणुप्पवि-

सामि । अणुप्पविसामित्ता बावीसं वासाइं पढमं पउट्टपरिहारं परिहरामि । तत्थ णं जे से दोच्चे पउट्टपरिहारे, से णं उदंडपुरस्स णयरस्स बहिया चंदोयरणंसि चेइयंसि एणेज्जगस्स सरीरगं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता मल्लरामस्स सरीरगं अणुप्पविसामि । अणुप्पविसामित्ता एगवीसं वासाइं दोच्चं पउट्टपरिहारं परिहरामि । तत्थ णं जे से तच्चे पउट्टपरिहारे, से णं चंपाए णयरीए बहिया अंगमंदिरम्मि चेइयंसि मल्लरामस्स सरीरं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता मंडियस्स सरीरगं अणुप्पविसामि । अणुप्पविसामित्ता वीसं वासाइं तच्चं पउट्टपरिहारं परिहरामि । तत्थ णं जे से चउत्थे पउट्टपरिहारे, से णं वाणारसीए णयरीए बहिया काममहावणंसि चेइयंसि मंडियस्स सरीरं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता रोहस्स सरीरं अणुप्पविस्सामि । रोहगस्स सरीरं अणुपविसामित्ता एगूणवीसं वासाइं चउत्थं पउट्टपरिहारं परिहरामि । तत्थ णं जे से पंचमे पउट्टपरिहारे, से णं आलंभियाए णयरीए बहिया पत्तकालगंसि चेइयंसि रोहस्स सरीरगं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता भारद्दाइस्स सरीरगं अणुप्पविसामि । अणुप्पविसामित्ता अट्ठारस वासाइं पंचमं पउट्टपरिहारं परिहरामि । तत्थ णं जे से छट्ठे पउट्टपरिहारे, से णं वेसालीए णयरीए बहिया कुंडियायणंसि चेइयंसि भारद्दाइस्स सरीरगं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं अणुप्पविसामि । अणुप्पविसामित्ता सत्तरस वासाइं छट्ठं पउट्टपरिहारं परिहरामि । तत्थ णं जे से सत्तमे पउट्टपरिहारे, से णं इहेव सावत्थीए णयरीए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अज्जुणस्स गोयमपुत्तस्स सरीरगं विप्पजहामि । विप्पजहामित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अलं थिरं धुवं धारणिज्जं सीयसहं उण्हसहं खुहासहं विविहदंसमसगपरीसहोवसग्गसहं थिरसंघयणं ति कट्टु तं अणुप्पविसामि । अणुप्पविसामित्ता तं सोलस वासाइं इमं सत्तमं पउट्टपरिहारं परिहरामि । एवामेव आउसो ! कासवा ! एगेणं तेत्तीसेणं वाससएणं सत्त पउट्टपरिहारा परिहरिया भवंतीति मक्खाया । तं सुट्ठु णं आउसो ! कासवा ! ममं एवं वयासी ।

"से जहा" इत्यादिना महाकल्पप्रमाणमाह-तत्र-(से जहा व त्ति) महाकल्पप्रमाणवाक्योपन्यासार्थः । (जाहे वा पज्जुवत्थिय त्ति) यत्र गत्वा परि सामस्त्येनोपस्थिता उपरता, समाप्तेत्यर्थः । (एस णं अद्धा त्ति] एष गङ्गाया मार्गः । [एएणं गंगापमाणेणं ति] गङ्गायास्तन्मार्गस्य चाभेदात् गङ्गाप्रमाणेनेत्युक्तम् [एवामेव त्ति) उक्तेनैव क्रमेण [सपुव्वावरेणं ति] सह पूर्वेण गङ्गादिना यदपरं महागङ्गादि तत्सपूर्वापरं, तेन, भावप्रत्ययलोपदर्शनात्सपूर्वापरतयेत्यर्थः । " तासिं दुविहे " इत्यादि । तासां गङ्गादिगतवालुकाकणादीनामित्यर्थः । द्विविधः उद्धारः, उद्धरणीयद्वैविध्यात् । (सुहुमबोंदिकलेवरे चेव त्ति) सूक्ष्मबोन्दीनि सूक्ष्माकाराणि कलेवराण्यसङ्ख्यातखण्डीकृतवालुकाकणरूपाणि यत्रोद्धारे स तथा [बायरबोंदिकलेवरे चेव त्ति) बादरबोन्दीनि बादराकाराणि कलेवराणि वालुकाकणरूपाणि यत्र स तथा (ठप्प त्ति) न व्याख्येयः, इतरस्तु व्याख्येय इत्यर्थः । (अवहाय त्ति) अपहाय त्यक्त्वा [से कोट्ठे त्ति]स कोष्ठो गङ्गासमुदायात्मकः (खीणे त्ति) क्षीणः, स चाविशेषसद्भावेऽप्युच्यते, यथा क्षीणधान्यं कोष्ठागारमत उच्यते । (णीरए त्ति) नीरजाः, स च तद्भूमिगतरजसामप्यभावे उच्यत इत्यादि (निल्लेवे त्ति) निर्लेपः भूमिभित्त्यादिसंश्लिष्टसिकतालेपाभावात् । किमुक्तं भवति ?-निष्ठितो निरवयवीकृत इति । (से तं सरे त्ति) अथ तत्तावत्कालखण्डं सरःसंज्ञं भवति, मानससंज्ञं सर इत्यर्थः (सरप्पमाणे त्ति) सर एवोक्तलक्षणं प्रमाणं वक्ष्यमाणमहाकल्पादेर्मानं सरःप्रमाणम् (महामाणसे त्ति) मानसोत्तरं यदुक्तं चतुरशीतिर्महाकल्पशतसहस्राणीति तत्प्ररूपितम् । अथ सप्तानां दिव्यादीनां प्ररूपणायाह-(अणंताओ संजूहाओ त्ति] अनन्तजीवसमुदायरूपान्निकायान् (चयं चइत्त त्ति) च्यवं च्युत्वा च्यवनं कृत्वा चयं वा देहम 'चइत्त त्ति' त्यक्त्वा [उवरिल्ले त्ति] उपरितनमध्यमाधस्तनानां मानसानां सद्भावात्तदन्यव्यवच्छेदाय उपरितने इत्युक्तम् (माणसे त्ति) गङ्गादिप्ररूपणतः प्रागुक्तस्वरूपे सरसि , सरःप्रमाणायुष्कयुक्ते इत्यर्थः । (संजूहे त्ति) निकायविशेषे (देवे उववज्जइ त्ति) प्रथमो दिव्यभवः साङ्केतिकमल्पसूत्रोक्तेव । एवं त्रिषु मानसेषु संयूथेषु आद्यसंयूथसहितेषु चत्वारि संयूथानि, त्रयश्च देवभवाः तथा । (मानसोत्तरे त्ति) महामानसे पूर्वोक्तमहाकल्पप्रतिमायुष्कवति , यत्र प्रागुक्तं चतुरशीतिमहाकल्पशतसहस्राणि क्षपयित्वेति तत् प्रथममहामानसापेक्षयेति द्रष्टव्यम् । अन्यथा त्रिषु महामानसेषु बहुतराणि तानि स्युरिति । एतेषु चोपरिमादिभेदात्त्रिषु मानसोत्तरेषु त्रीण्येव संयूथानि, त्रयश्च देवभवाः । आदितस्तु सप्त संयूथानि, षट् च देवभवाः । सप्तमदेवभवस्तु ब्रह्मलोके , स च संयूथं न भवति , सूत्रे संयूथत्वेनानभिहितत्वादिति । (पाईणपडिणायए उदीणदाहिणविच्छिन्ने त्ति] इहायामविष्कम्भयोः स्थापनामात्रत्वं मन्तव्यम् । तस्य प्रतिपूर्णचन्द्रसंस्थानसंस्थितत्वेन तयोस्तुल्यत्वादिति । [जहा ठाणपदे त्ति] ब्रह्मलोकस्वरूपं तथा वाच्यं यथा स्थानपदे प्रज्ञापनाद्वितीयप्रकरणे । तच्चैवम्-"पडिपुण्णचंदसंठाणसंठिए अच्चिमालीभासरासिप्पभे" इत्यादि । " असोगवडेंसए " इत्यत्र यावत्करणात्—" सत्तिवण्णवडेंसए चूयवडेंसए मज्झे य बंभलोयवडेंसए " इत्यादि दृश्यम् । [सुकुमालगभद्दलए त्ति] सुकुमारकश्चासौ भद्रश्च भद्रमूर्तिरिति समासे ककारलकारौ स्वार्थिकाविति । [मिउकुंडलकुंचियकेसए त्ति] मृदवः कुण्डलमिव दर्भादिकुण्डलकमिव कुञ्चिताश्च केशा यस्य स तथा [मट्ठगंडतलकण्णपीढए त्ति] मृष्टगण्डले कर्णपीठके कर्णाभरणविशेषौ यस्य स तथा । देवकुमारवत्सप्रभः देवकुमारसमानप्रभावो यः स तथा , कशब्दः स्वार्थिक इति । [कोमारियाए पव्वज्जाए त्ति] कुमारस्येयं कौमारी, सैव कौमारिकी , तस्यां प्रव्रज्यायां विषयभूतायां सद्ध्यानं बुद्धिं प्रतिलेभ इति योगः [अविद्धकण्णए चेव त्ति] कुश्रुतिशलाकया अविद्धकर्णो व्युत्पन्नमतिरित्यर्थः । [पढे तस्सेत्यादि] इहैणका-

चयः पञ्च नामतोऽभिहिताः, द्वौ पुनरन्त्यौ पितृनामसहिताविति । [अलं थिरं ति] अत्यर्थं स्थिरं, विवक्षितकालं यावदव्ययं स्थायित्वात् । [धुवं ति] ध्रुवं तद्गुणानां ध्रुवत्वादत एव धारणिज्जं ति] धारयितुं योग्यम् । एतदेव भावयितुमाह-[सीत्यादि] एवंभूतं च, तत्कुत इत्याह- [थिरसंघयणं ति] स्थिरघटमानसंहननमित्यर्थः । [त्ति कट्टु त्ति,] इतिकृत्वा इति तोऽस्त्वनुप्रविशामीति । (भ०)

साधु णं आउसो ! कासवा ! ममं एवं वयासी-गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी, गोसाले मंखलिपुत्ते ममं धम्मंतेवासी । तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी-गोसाला ! से जहाणामए तेणए सिया गामेल्लएहिं परिब्भवमाणे २ कत्थइ गत्तं वा दरिं वा दुग्गं वा णिण्णं वा पव्वयं वा विसमं वा अणस्सादेमाणे एगेणं महं उण्णालोमेण वा सणलोमेण वा कप्पासपम्हेण वा तणसूएण वा अत्ताणं आवरेत्ता णं चिट्ठेज्जा । से णं अणावरिए आवरियमिति अप्पाणं मण्णइ, अपच्छण्णे य पच्छण्णमिति अप्पाणं मण्णइ, अणिलुक्के लुक्कमिति अप्पाणं मण्णइ, अपलायए पलायमिति अप्पाणं मण्णइ, एवामेव तुमं पि गोसाला ! अणण्णे संते अण्णमिति उपलभसि, तं मा एवं गोसाला !, णारिहसि गोसाला !, सच्चेव ते सा छाया, णो अण्णा । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आउसणाहिं आउसइ । आउसइत्ता उच्चावयाहिं उद्धंसणाहिं उद्धंसेइ । उद्धंसेइत्ता उच्चावयाहिं णिब्भत्थणाहिं णिब्भत्थेइ । णिब्भत्थेइत्ता उच्चावयाहिं णिच्छोडणाहिं णिच्छोडेइ । णिच्छोडेइत्ता एवं वयासी-णट्ठेसि कदाइ, विणट्ठेसि कदाइ, भट्ठेसि कदाइ, णट्ठविणट्ठभट्ठेसि कदाइ, अज्ज ण भवसि, णाहि ते ममाहिंतो सुहमत्थि । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी पाईणजाणवए सव्वाणुभूई णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए, धम्मायरियाणुरागेणं एयमट्ठं असद्दहमाणे उट्ठाए उट्ठेइ । उट्ठेइत्ता जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी-जे वि ताव गोसाला ! तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतियं एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं णिसामेइ, से वि ताव तं वंदइ, णमंसइ०, जाव कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासइ । किमंग ! पुण तुमं गोसाला !-भगवया चेव पव्वाविए, भगवया चेव मुंडाविए, भगवया चेव सेहाविए, भगवया चेव सिक्खाविए, भगवया चेव बहुस्सुईकए, भगवओ चेव मिच्छं विप्पडिवण्णे, तं मा एवं गोसाला !, णारिहसि गोसाला !, सच्चेव ते सा छाया, णो अण्णा । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सव्वाणुभूई णामं अणगारे एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते सव्वाणुभूतिं अणगारं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेइ । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सव्वाणुभूतिं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूडाहच्चं भासरासिं करेत्ता दोच्चं पि समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आउसणाहिं आउसइ०, जाव सुहं णत्थि । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी कोसलजाणवए सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए धम्मायरियाणुरागेणं जहा सव्वाणुभूई तहेव० जाव सच्चेव ते सा छाया, णो अण्णा । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सुणक्खत्तेणं अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते सुणक्खत्तं अणगारं तवेणं तेएणं परितावेइ । तए णं से सुणक्खत्ते अणगारे गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं परिताविए समाणे जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो वंदइ, णमंसइ । णमंसइत्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहेइ । आरुहेइत्ता समणा य समणीओ य खामेइ । खामेइत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते आणुपुव्वीए कालगए । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सुणक्खत्तं अणगारं तवेणं तेएणं परितावेत्ता तच्चं पि समणं भगवं महावीरं उच्चावयाहिं आउसणाहिं आउसइ, सव्वं तं चेव० जाव सुहं णत्थि । तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी-जे वि ताव गोसाला ! तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा तं चेव० जाव पज्जुवासति, किमंग ! पुण गोसाला !, तुमं मए चेव पव्वाविए० जाव मए चेव बहुस्सुईकए, ममं चेव मिच्छं विप्पडिवण्णे, तं मा एवं गोसाला !, ० जाव णो अण्णा । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते तेयासमुग्घाएणं समोहणइ । समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्कइ । पच्चोसक्कइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स वहाए सरीरगंसि तेयं णिस्सरइ । से जहाणामए वाउक्कलियाइ वा वायमंडलियाइ वा सेलंसि वा कुडुंसि वा थंभंसि वा थूभंसि वा आवरिज्जमाणा वा णिवारिज्जमाणा वा, सा णं तत्थ णोकमइ, णोपक्कमइ, एवामेव गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवतेए समणस्स भगवओ महावीरस्स वहाए सरीरगं णिसिट्ठे समाणे, से णं तत्थ णोकमइ, णोपक्कमइ, अंचियंचियं करेइ । करेइत्ता आयाहिणं पयाहिणं करेइ । करेइत्ता उड्ढं वेहासं उप्पइ । ते से णं तओ पडिहए पडिणियत्तमाणे तस्सेव गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं अणुडहमाणे अणुडहमाणे अंतो २ अणुप्पविट्ठे । तए णं से

गोसाले मंखलिपुत्ते सएणं तेएणं अण्णाइट्ठे समाणे समणं भगवं महावीरं एवं वयासी–तुमं णं आउसो ! कासवा ! ममं तवेणं तेएणं अण्णाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतिए छउमत्थे चेव कालं करिस्सइ । तए णं समणे भगवं महावीरे गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी–णो खलु अहं गोसाला ! तव तवेणं तेएणं अण्णाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं० जाव कालं करिस्सामि । अहं णं अण्णाइं सोलस वासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि । तुम्हं णं गोसाला ! अप्पणा चेव सएणं तवेणं तेएणं अण्णाइट्ठे समाणे अंतो सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे० जाव छउमत्थे चेव कालं करिस्ससि । तए णं सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु बहुजणो अण्णमण्णस्स एवमाइक्खइ० जाव एवं परूवेइ–एवं खलु देवाणुप्पिया ! सावत्थीए णयरीए बहिया कोट्ठए चेइए दुवे जिणा संलवंति । एगे एवं वयासी–तुमं पुव्विं कालं करिस्ससि । एगे एवं वदंति–तुमं पुव्विं कालं करिस्ससि । तत्थ णं के सम्मावादी, के मिच्छावादी ? । तत्थ णं जे से अहप्पहाणे जणे, से वदंति–समणे भगवं महावीरे सम्मावादी; गोसाले मंखलिपुत्ते मिच्छावादी, अज्जो त्ति ! समणे भगवं महावीरे समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी–अज्जो ! से जहाणामए तणरासीति वा कट्ठरासीति वा पत्तरासीति वा तयारासीति वा तुसरासीति वा भुसरासीति वा गोमयरासीति वा अवकररासीति वा अगणिज्झामिए अगणिज्झूसिए अगणिपरिणामिए हयतेए गयतेए णट्ठतेए भट्ठतेए लुत्ततेए विणट्ठतेए० जाव एवामेव गोसाले मंखलिपुत्ते ममं वहाए सरीरगंसि तेयं णिसिरित्ता हयतेए गयतेए० जाव विणट्ठतेए, तं छंदेणं अज्जो ! तुब्भे गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएह, धम्मि०२ धम्मिए पडिसारणाए पडिसारेह, ध०२ धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारेह, ध०२ अट्ठेहि य हेऊहि य पसिणेहि य वागरणेहि य कारणेहि य णिप्पट्ठपसिणवागरणं करेह । तए णं ते समणा णिग्गंथा समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समाणा समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ । वंदित्ता णमंसित्ता जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएंति, ध० २ धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारेंति, ध०२ धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारंति, ध० २ अट्ठेहि य हेऊहि य कारणेहि य० जाव वागरणं करेंति । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते समणेहिं णिग्गंथेहिं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोइज्जमाणे० जाव णिप्पट्ठपसिणवागरणे कीरमाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे णो संचाएइ । समणाणं णिग्गंथाणं सरीरगस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा उप्पाएत्तए छविच्छेदं वा करेत्तए । तए णं ते आजीविया थेरा गोसालं मंखलिपुत्तं समणेहिं णिग्गंथेहिं धम्मियाए पडिचोयणाए पडिचोएज्जमाणं धम्मियाए पडिसारणाए पडिसारिज्जमाणं धम्मिएणं पडोयारेणं पडोयारिज्जमाणं अट्ठेहि य हेऊहि य०जाव कीरमाणं आसुरुत्तं० जाव मिसिमिसेमाणे समणाणं णिग्गंथाणं सरीरगस्स किंचि आबाहं वा वाबाहं वा छविच्छेदं वा अकरेमाणे पासइ । पासइत्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अंतियाओ आताए अवक्कमंति । अवक्कमंतित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छंति । उवागच्छंतित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेंति वंदंति, णमंसंति । वंदित्ता णमंसित्ता समणं भगवं महावीरं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । अत्थेगइया आजीवियथेरा गोसालं चेव मंखलिपुत्तं उवसंपज्जित्ता णं विहरंति । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते जस्सट्ठाए हव्वमागए, तमट्ठमसाहेमाणे रुंदाइं पलोएमाणे दीहुण्हाइं नीससमाणे दाढियाइं लोमाइं लुंचमाणे अवडुं कंडूयमाणे पुयलिं पप्फोडेमाणे हत्थे विणिद्धुणमाणे दोहिं वि पाएहिं भूमिं कोट्टेमाणे हा हा अहो हतोऽहमस्सीति कट्टु समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता जेणेव सावत्थी णयरी जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता हालाहलाहिं कुंभकारीहिं कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगए मज्जपाणगं पियमाणे अभिक्खणं गायमाणे अभिक्खणं णच्चमाणे अभिक्खणं हालाहलाए कुंभकारीए अंजलिकम्मं करेमाणे सीतलएणं मट्टियापाणएणं आयंचणिउदएणं गाताइं परिसिंचमाणे विहरइ । अज्जो त्ति ! समणे भगवं महावीरे समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी–जावइएणं अज्जो ! गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं ममं वहाए सरीरगंसि तेयं णिसट्ठे, से णं अलाहि पज्जत्ते सोलसण्हं जणवयाणं । तं जहा–अंगाणं वंगाणं मगहाणं मलयाणं मालवगाणं अच्छाणं वच्छाणं कोच्छाणं पाढाणं लाढाणं वज्जीणं मालीणं कासीणं कोसलगाणं अवाहाणं संभुत्तराणं घाताए वहाए उच्छादणट्ठयाए भासीकरणयाए जं पि य अज्ज ! गोसाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगए मज्जपाणं पियमाणे अभि०जाव अंजलिकम्मं करेमाणे विहरइ ।

(गत्तं व त्ति) गर्त्तं श्वभ्रम् , (दरिं त्ति) शृगालादिकृतभूविवरविशेषम , (दुग्गं त्ति) दुःखगम्यं, वनगहनादिति । (निन्नं

ति) निम्नं शुष्कसरःप्रभृति (पव्वयं व त्ति) प्रतीतम् . (विसमं ति) गर्त्तपाषाणादिव्याकुलम् , (एगेणं महं ति) एकेन महता (तणसूयए व त्ति) तृणसूकेन तृणाग्रेण (अणावरिए त्ति) अनावृतोऽसावावरकयाऽद्यत्वात् (उवदंसासि त्ति) उपलम्भयसि, दर्शयसीत्यर्थः । (तं मा एवं गोसाल त्ति) इह कुर्विति शेषः । (नारिहसि गोसाल त्ति) इह चैवं कर्तुमिति शेषः । (सच्चेव ते सा छाय त्ति) सैव ते छायाऽन्यथा दर्शयितुमिष्टा, छाया प्रकृतिः [उच्चावयाहिं ति] असमञ्जसाभिः [आउसणाहिं ति] मृतोऽसि त्वमित्यादिभिर्वचनैराक्रोशति शपति [उद्धंसणाहिं ति] दुष्कुलीनेत्यादिभिः कुलाद्यभिमानपातनार्थैर्वचनैः [उद्धंसेइ त्ति] कुलाद्यभिमानादधःपातयतीव [निब्भत्थणाहिं ति] न त्वया मम प्रयोजनमित्यादिभिः परुषवचनैः [निब्भत्थेइ त्ति] नितरां दुष्टमभिधत्ते [निच्छोडणाहिं ति] त्यजाऽस्मदीयांस्तीर्थकरालङ्कारानित्यादिभिः [निच्छोडेइ त्ति] प्राप्तमर्थं त्याजयतीति [नट्ठेसि कयाइ त्ति] नष्टः स्वाचाराद्भ्रष्टोऽसि भवसि त्वम् । [कयाइ त्ति] कदाचिदिति वितर्कार्थः । अहम् एवं मन्ये यदुत नष्टस्त्वमसीति [विणट्ठेसि त्ति] मृतोऽसि [भट्ठोसि त्ति] भ्रष्टोऽसि सम्पदा व्यपेतोऽसि त्वं, धर्मत्रयस्य यौगपद्येन योगात्रष्टविनष्टभ्रष्टोऽसीति [नाहित्ते त्ति] नैव ते [पाईणजाणवए त्ति] प्राचीनजानपदः, प्राच्य इत्यर्थः। [पव्वाविए त्ति] शिष्यत्वेनाभ्युपगतः " अब्भुवगमो पव्वज्ज त्ति " वचनात् । [मुंडाविए त्ति] मुण्डितस्य तस्य शिष्यत्वेनानुमननात् । [सेहाविए त्ति] व्रतित्वेन सेवितः , व्रतिसमाचारसेवायां तस्य भगवतो हेतुभूतत्वात् । [सिक्खाविए त्ति] शिक्षितः तेजोलेश्याद्युपदेशदानतः [बहुस्सुईकए त्ति] नियतिवादादिप्रतिपत्तिहेतुभूतत्वात् । [कोसलजाणवए त्ति] अयोध्यादेशोत्पन्नः । [वाउक्कलियाइ व त्ति] वातोत्कलिका, स्थित्वा स्थित्वा यो वातो वाति सा वातोत्कलिका [वायमंडलियाइ व त्ति] मण्डलिकाभिर्यो वाति । "सेलंसि वा" इत्यादौ तृतीयार्थे सप्तमी । [आवरिज्जमाणे त्ति] स्खल्यमाना [निवारिज्जमाणि त्ति] निवर्त्यमाना [नोक्कमइ त्ति] न क्रमते न प्रभवति । [नो पक्कमइ त्ति] प्रकर्षेण न क्रमते [अंचिअंचि त्ति] अञ्चिते सकृद्गते, अञ्चितेन सकृद्गतेन वा देशेनाञ्चिः पुनर्गमनमञ्चिताञ्चि । अथवा-अञ्चया गमनेन सह आञ्चिरागमनमञ्च्याञ्चिः,गमागम इत्यर्थः। तां करोति । [अभिहए त्ति] अन्वाविष्टोऽभिव्याप्तः [सुहत्थि त्ति] सुहस्तीव सुहस्ती [अहप्पहाणे जणे त्ति] यथाप्रधानो जनो, यो यः प्रधान इत्यर्थः । [अगणिझामिए त्ति] अग्निना ध्मातो दग्धो, ध्यामितो वा ईषद्दग्धः (अगणिझूसिए त्ति) अग्निना सेवितः, क्षपितो वा [अगणिपरिणामिए त्ति] अग्निना परिणमितः पूर्वस्वभावत्याजनेनाऽऽत्मभावं नीतः । ततश्च हततेजोघृष्ट्यादिना गततेजाः । क्वचित् स्वत एव नष्टतेजाः , कश्चिद्व्यक्तीभूततेजाः, भ्रष्टतेजाः. ध्यामतेजा इत्यर्थः। लुप्ततेजाः,कश्चिद्द्वैधीभूततेजाः, 'लुप्' छेदने, "छिदिर् द्वैधीभावे" इति वचनात् । किमुक्तं भवति ?-विनष्टतेजाः निःसत्ताकीभूततेजा एकार्थाश्चैते शब्दाः । (छंदेणं ति) स्वाभिप्रायेण यथेष्टमित्यर्थः । (निप्पट्ठपसिणवागरणं ति) निर्गतानि स्पृष्टानि प्रश्नव्याकरणानि यस्य स तथा तम् । [दीहुं पझोएमाणे त्ति] दीर्घां दृष्टिं दिक्षु प्रक्षिपन्नित्यर्थः । मानधनानां हतमानानां लक्षणमिदम् । [दीहुण्हाइं नीससमाणे त्ति] निःश्वासानीति गम्यते । [दाढियाइं लोमाइं ति] उत्तरौष्ठस्येव रोमाणि । [अवटुं ति] कृकाटिकायाम् [पुयलिं पप्फोडेमाणे त्ति] पुतलीं पुतप्रदेशं प्रस्फोटयन् । [विणिद्धुणमाणे त्ति] विनिर्धुन्वन् । [हा हा अहो हओऽहमस्सी ति कट्टु त्ति] हा हा अहो हतोऽहमस्मीति कृत्वा, इति भणित्वेत्यर्थः । [अंबकूणगहत्थगए त्ति] आम्रफलहस्तगतः स्वकीयतपस्तेजोजनितदाहोपशमनार्थमाम्रास्थिकं चूषन्निति भावः। गानादयस्तु मद्यपानकृता विकाराः समवसेयाः [मट्टियापाणएणं ति] मृत्तिकामिश्रजलेन, मृत्तिकाजलं सामान्यमप्यस्त्यत आह-[आयंचणिउदएणं ति । इह टीकाव्याख्या-आतञ्चनिकोदकं कुम्भकारस्य यद्भाजने स्थितं तेमनाय मृन्मिश्रं जलं तेन [अलाहि पज्जत्ते त्ति] अलमत्यर्थं पर्याप्तः शक्तो, घातायेति योगः (घाताए त्ति) हननाय तत्राश्रितवसापेक्षया [वहाए त्ति] वधार्थं, तत्र तदाश्रितस्थावरापेक्षया [उच्छादणट्टयाए त्ति] उच्छादनतायै सचेतनाचेतनतद्गतवस्तुच्छादनायेति, एतच्च प्रकारान्तरेणाऽपि भवतीत्यग्निपरिणामोपदर्शनायाह-[भासीकरणयाए त्ति] (भ०)

तस्स वि णं वज्जस्स पच्छादणट्ठयाए इमाइं अट्ठ चरमाइं पण्णवेइ । तं जहा-चरिमे पाणे,चरिमे गेए,चरिमे णट्टे, चरिमे अंजलिकम्मे,चरिमे पोक्खलस्स संवट्टए महामेहे,चरिमे सेयणए गंधहत्थी, चरिमे महासिलाकंटए संगामे । अहं च णं इमीसे ओसप्पिणीए चउवीसाए तित्थंकराणं चरिमे तित्थंकरे सिज्झिस्सइ,०जाव अंतं करेस्सं । जं पि य अज्जो ! गोसाले मंखलिपुत्ते सीयलएणं मट्टियापाणएणं आयंचणिउदएणं गाथाइं परिसिंचमाणे विहरइ, तस्स वि णं वज्जस्स पच्छादणट्ठाए इमाइं चत्तारि पाणगाइं चत्तारि अपाणगाइं पण्णवेइ । से किं तं पाणए ? पाणए चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-गोपुट्ठए हत्थमद्दियए आतवतत्तए सिलापब्भट्ठए, से तं पाणए । से किं तं अपाणए? अपाणए चउव्विहे पण्णत्ते। तं जहा-थालपाणए तयापाणए सिंबलिपाणए सुद्धपाणए । से किं तं थालपाणए ? थालपाणए जे णं दाथालगं वा दावारगं वा दाकुंभगं वा दाकलसं वा सीयलगं वा उल्लगहत्थेहिं परामुसइ, न य पाणियं पियइ,से तं थालपाणए । से किं तं तयापाणए ? जे णं अंबं वा अंबाडगं वा जहा पओगपदे० जाव बोरं वा तिंदुयं वा तरुणगं वा आमगं वा आसगंसि आविसलेइ वा, पवालेति वा, ण य पाणियं पियइ, से तं तयापाणए । से किं तं संबलिपाणए ? संबलिपाणए जे णं कलसंगलियं वा मुग्गसंगलियं वा माससंगलियं वा सिंबलिसंगलियं वा तरुणियं आमियं आसगंसि आविसलेइ वा, पवालेइ वा, ण य पाणियं पियइ, से तं संबलिपाणए । से किं तं सुद्धपाणए ? सुद्धपाणए जे णं छम्मासे सुद्धखाइमं खाइ, दोमासे पुढविसंथारोवगए दोमासे कट्ठसंथारोवगए दोमासे दब्भसंथारोवगए,तस्स णं बहुपडिपुण्णाणं छण्हं मासाणं अंतिमराइए इमे दो देवा महिड्ढिया० जाव महेसक्खा अंतियं पाउब्भवंति । तं जहा-पुण्णभद्दे य,माणि-

जहे य। तए णं से देवा सीयलिएहिं उल्लएहिं हत्थेहिं गायाइं परामुसंति । जे णं ते देवा साइज्जइ, से णं आसीविसत्ताए कम्मं पकरेइ । जे णं ते देवे णो साइज्जइ, तस्स णं संसि सरीरगंसि अगणिकायं संभवति, से णं सएणं तेएणं सरीरगं झामेइ । झामेइत्ता तओ पच्छा सिज्झंति,० जाव अंतं करेंति, से तं सुद्धापाणए । तत्थ णं सावत्थीए णयरीए अयंपुले णामं आजीवियउवासए परिवसइ, अड्ढे जहा हालाहला, आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तए णं तस्स अयंपुलस्स आजीवियउवासगस्स अण्णया कयाइ पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि कुडुंबजागरियं जागरमाणे अयमेयारूवे अज्झत्थिए०जाव समुप्पज्जित्था-किं संठिया हल्ला पण्णत्ता ?। तए णं तस्स य अयंपुलस्स आजीवियउवासगस्स दोच्चं पि अयमेयारूवे अज्झत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था । एवं खलु मम धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते उप्पन्नणाणदंसणधरे० जाव सव्वण्णू सव्वदरिसी इहेव सावत्थीए णयरीए हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि आजीवियसंघसंपरिवुडे आजीवियसमएणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ । तं सेयं खलु मे कल्लं० जाव जलंते गोसालं मंखलिपुत्तं वंदित्ता ०जाव पज्जुवासित्ता इमं एयाणुरूवं वागरणं वागरित्तए ति कट्टु एवं संपेहेइ । संपेहित्ता कल्लं०जाव जलंते ण्हाए कय०जाव अप्पमहग्घाभरणालंकियसरीरे साओ गिहाओ पडिणिक्खमइ । पडिणिक्खमइत्ता पादविहारचारेणं सावत्थिं नयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे,तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता पासइ। पासइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगयं०जाव अंजलिकम्मं करेमाणे सीयलियाए मट्टिया ०जाव गायाइं परिसिंचमाणं पासइ। पासइत्ता लज्जिए विलिए विड्डे सणियं २ पच्चोसक्कइ । तए णं ते आजीवियथेरा अयंपुलं आजीवियउवासगं लज्जियं० जाव पच्चोसक्कमाणं पासइ । पासइत्ता एवं वयासी-एहि ताव अयंपुला ! इतो । तए णं से अयंपुले आजीवियउवासए आजीवियथेरेहिं एवं वुत्ते समाणे जेणेव आजीवियथेरा, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता आजीवियथेरे वंदइ,णमंसइ। वंदित्ता णमंसित्ता णच्चासणे०जाव पज्जुवासति । अयंपुलाइ ! आजीवियथेरा अयंपुलं आजीवियउवासगं एवं वयासी-से णूणं ते अयंपुला ! पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि० जाव किं संठिया हल्ला पण्णत्ता । तए णं तव अयंपुला ! दोच्चं पि अयमेया तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव सावत्थिं णयरिं मज्झं मज्झेणं जेणेव हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणे जेणेव इहं, तेणेव हव्वमागए । से णूणं ते अयंपुला ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि। जं पि य अयंपुला ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणंसि अंबकूणगहत्थगए०जाव अंजलिं करेमाणे विहरइ । तत्थ वि णं भगवं इमाइं अट्ठ चरिमाइं पण्णवेइ। तं जहा-चरिमे पाणे० जाव अंतं करेस्सइ । जे वि य अयंपुला ! तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते सीयलयाएणं मट्टिया० जाव विहरंति, तत्थ वि णं भगवं इमाइं चत्तारि पाणगाइं, चत्तारि अपाणगाइं पण्णवेइ; से किं तं पाणए ?। पाणए० जाव तओ पच्छा सिज्झंति० जाव अंतं करेंति । तं गच्छह णं तुमं अयंपुला ! एवं चेव तव धम्मायरिए धम्मोवएसए गोसाले मंखलिपुत्ते इमं एयारूवं वागरणं वागरेहि। तए णं से अयंपुले आजीवियउवासए आजीवियसएहिं थेरेहिं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० उट्ठाए उट्ठेइ। उट्ठेइत्ता जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते तेणेव पहारेत्थगमणाए । तए णं ते आजीवियथेरा गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स अंबकूणगए भाववणट्ठयाए एगंतमंते संगारं कुव्वंति । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते आजीवियाणं थेराणं संगारं पडिच्छइ । पडिच्छइत्ता अंबकूणगं एगंतमंते एडेइ। तए णं से अयंपुले आजीवियउवासए जेणेव गोसाले मंखलिपुत्ते, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं तिक्खुत्तो० जाव पज्जुवासइ । अयंपुलाइ ! गोसाले मंखलिपुत्ते आजीवियउवासगं एवं वयासी-से णूणं अयंपुला! पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि० जाव जेणेव मम अंतियं, तेणेव हव्वमागए । से णूणं अयंपुला ! अट्ठे समट्ठे, हंता अत्थि । तं णो खलु एस अंबकूणए अंबचोयएणं एस । किं संठिया हल्ला पण्णत्ता ?। तं जहा-वंसीमूलसंठिया हल्ला पण्णत्ता,वीणं वाएहि रेवीरगा, वी० २ । तए णं से अयंपुले आजीवियउवासए गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं इमं एयारूवं वागरणं वागरिए समाणे हट्ठतुट्ठ०जाव हियए गोसालं मंखलिपुत्तं वंदइ, णमंसइ । वंदइत्ता णमंसइत्ता पसिणाइं पुच्छइ । पुच्छइत्ता अट्ठाइं परियादियइ । परियादियइत्ता उट्ठाए उट्ठेइ । उट्ठइत्ता गोसालं मंखलिपुत्तं वंदइ, णमंसइ । वंदइत्ता नमंसइत्ता०जाव पडिगए । तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते अप्पणो मरणं आभोएइ । आभोएइत्ता आजीवियथेरे सद्दावेइ । सद्दावेइत्ता एवं वयासी-तुब्भे णं देवाणुप्पिया ! ममं कालगयं जाणित्ता सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेह । सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेहइत्ता पम्हलसुकुमालए गंधकासाइए गायाइं लूहेह । गायाइं लूहेहइत्ता सरसेणं गोसीसेणं गायाइं अणुलिंपह । अणुलिंपहइत्ता महारिहं हंसलक्खणं पडसाडगं नियंसेह । नियंसेहइत्ता सव्वालंकारविभूसियं करेह । करेत्ता पुरिस-

सहस्सवाहिणी सीयं दुरूहेह । दुरूहइत्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु महया सद्देणं उग्घोसेमाणा २ एवं वदह–एवं खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी०जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरित्ता । इमी से ओसप्पिणीए चउवीसाए तित्थगराणं चरिमे तित्थगरे सिद्धे० जाव सव्वदुक्खप्पहीणे, इड्ढीसक्कारसमुदएणं ममं सरीरगस्स णीहरणं करेह । तए णं ते आजीविया थेरा गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेंति । तए णं तस्स गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सत्तरत्तंसि परिणममाणंसि पडिलद्धसम्मत्तस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था–णो खलु अहं जिणे जिणप्पलावी० जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ । अहं गोसाले मंखलिपुत्ते समणघायए समणमारए समणपडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए अवण्णकारए अकित्तिकारए बहूहिं असब्भावुब्भावणाहिं मिच्छत्ताभिनिवेसेहि य अप्पाणं वा परं वा तदुभयं वा वुग्गाहेमाणे वुप्पाएमाणे विहरित्ता, सएणं तेएणं अण्णाइट्ठे समाणे अंतो सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्सं । समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी०जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ, एवं संपेहेइ । संपेहेइत्ता आजीवियथेरे सद्दावेइ । सद्दावेइत्ता उच्चावयं सवहस्साविए पकरेइ । पकरेइत्ता एवं वयासी–णो खलु अहं जिणे जिणप्पलावी०जाव पगासमाणे विहरइ, अहं णं गोसाले मंखलिपुत्ते समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालं करेस्सं । समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी०जाव जिणसद्दं पगासमाणे विहरइ । तं तुब्भेणं देवाणुप्पिया ! ममं कालगयं जाणित्ता वामपाए सुंबेणं बंधह । बंधित्ता तिक्खुत्तो मुहे उट्ठुहइत्ति । उट्ठुहइत्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणे महया महया सद्देणं उग्घोसेमाणा २ एवं वदह–णो खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते जिणे जिणप्पलावी० जाव विहरइ । एस णं गोसाले चेव मंखलिपुत्ते समणघायए०जाव छउमत्थे चेव कालगए । समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी० जाव विहरइ । अणिड्ढी असक्कारसमुदएणं ममं सरीरगस्स नीहरणं करेज्जह । एवं वदित्ता कालगए ।

(वज्जस्स त्ति) अवद्यस्य, वज्रस्य वा, मद्यपानादिपापस्येत्यर्थः । (चरमे त्ति) न पुनरिदं भविष्यतीतिकृत्वा चरमम् । तत्र पानकादीनि चत्वारि स्वगतानि, चरमता चैषां स्वस्य निर्वाणगमनेन पुनरकरणात् । एतानि च किल निर्वाणकाले जिनस्यावश्यं भावीनीति नास्त्येतेषु दोष इत्यस्य, तथा नाहमेतानि दाहोपशमायोपसेवामीत्यस्य चार्थस्य, प्रकाशनार्थत्वादवद्यप्रच्छादनार्थानि भवन्ति । पुष्कलसंवर्त्तकादीनि तु त्रीणि बाह्यानि प्रकृतानुपयोगेऽपि चरमसामान्याज्जनचित्तरञ्जनाय चरमाण्युक्तानि, जनेन हि तेषां सातिशयत्वाच्चरमता श्रद्धीयते, ततस्तैः सहोक्तानामाम्रकूणकपानकादीनामपि सा सुश्रद्धेया भविष्यतीति बुद्ध्येति । (पाणगाइं ति) जलविशेषा व्रतियोग्याः (अपाणयाइं ति) पानकसदृशानि शीतलत्वेन दाहोपशमहेतवः । (गोपुट्ठए त्ति) गोपृष्ठाद्युत्पतितम । (हत्थमद्दियए त्ति) हस्तेन मर्दितं, मलितमित्यर्थः । यथैतदेव आतन्यानिकोदकम् । (थालपाणए त्ति) स्थालं वट्टं तत्पानकमिव दाहोपशमहेतुत्वात्स्थालपानकम् । उपलक्षणत्वादस्य भाजनान्तरग्रहोऽपि दृश्यः । एवमन्यान्यपि, नवरं त्वक्छल्लीशम्बलीकलायादिफलिका । (सुद्धपाणए त्ति) देवहस्तस्पर्श इति (दाथालयं ति) उदकार्द्रं स्थालकम् । (दावारगं ति) उदकवारकम् (दाकुंभग त्ति) इह कुम्भो महान् । (दाकलसं ति) कलशस्तु लघुतरः (जहापओगपए त्ति) षोडशपदे, तत्र चेदमेवमधीयते–" भव्वं वा फणसं वा दालिमं वा " इत्यादि । (तरुणगं ति) अभिनवम् । [आमगं ति] अपक्वम [आसगंसि त्ति] मुखे आपीमयेदीषत्प्रपीमयेत प्रकर्षत इह यदिति शेषः । [कल त्ति] कलायो धान्यविशेषः । (सिंवालि त्ति) वृक्षविशेषः । "पुढविसंथारोवगए" इत्यत्र, वर्तते इति शेषो दृश्यः । (जे णं ते देवे साइज्जइ त्ति) यस्तौ देवौ स्वदतेऽनुमन्यते (संसि त्ति) स्वके, स्वकीये इत्यर्थः । [हल्ल त्ति] गोवालिकातृणसमानाकारः कीटकविशेषः "जाव सव्वण्णू " इह यावत्करणादिदं दृश्यम– "जिणे अरहा केवलीति" 'वागरणं ति' प्रश्नः [वागरित्तए त्ति] प्रष्टुम [विलिए त्ति]व्यलीकितः सञ्जातव्यलीकः [वेमे त्ति]व्रीडा अस्यास्तीति व्रीडः, लज्जाप्रकर्षवानित्यर्थः । भूमार्थे अस्त्यर्थप्रत्ययोपादानात विजने भूविभागे यावदयंपुलो गोशालकान्तिकेनागच्छतीत्यर्थः । [संगारं ति] सङ्केतम अयंपुलो भवत्समीपे आगमिष्यति,ततो भवानाम्रकूणकं परित्यजतु,संवृतश्च भवत्येवं रूपमिति । [तं नो खलु एस अंबकूणए त्ति]तदिदं किलाम्रास्थिकं न भवति यद्भवतिनामकल्पं यद्भवताऽऽम्रास्थिकतया विकल्पितं, किं त्विदं यद्भवता दृष्टं तदाम्रत्वक् । एतदेवाह-[अंबचोयए णं एस त्ति] इयं च निर्वाणगमनकाले आश्रयणीयैव, त्वक्पानकत्वादस्येति । तथा हल्ला संस्थानं यत्पृष्टमासीत्तद्दर्शयन्नाह-[वंसीमूलसंठिय त्ति] इदं च वंशीमूलसंस्थितत्वं तृणगोवालिकाया लोकप्रतीतमेवेति । एतावत्युक्ते मदिरामदविह्वलितमनोवृत्तिरसावकस्मादाह-[वीणं वा एहिरिवीरगा] एतदेव द्विरावर्त्तयति; एतच्चोन्मादवचनं तस्योपासकस्य शृण्वतोऽपि न व्यलीककारणं जातं,यो हि सिद्धिं गच्छति, स चरमं गेयादि करोतीत्यादिवचनैर्विमोहितमतित्वादिति । (हंसलक्खणं ति) हंसस्वरूपम्, शुक्लमित्यर्थः; हंसचिह्नं वेति । [इड्ढीसक्कारसमुदएणं ति] ऋद्ध्या ये सत्काराः पूजाविशेषास्तेषां यः समुदायः स तथा, तेन । अथवा–ऋद्धिसत्कारसमुदायैरित्यर्थः । समुदायश्च जनानां सङ्घः । (समणघायए त्ति) श्रमणयोस्तेजोलेश्याक्षेपलक्षणघातदानात घातदो घातको वा, अत एव श्रमणमारक इति । (दाहवक्कंतीए त्ति) दाहोत्पत्त्या [सुंबेणं ति] वल्करज्ज्वा [उट्ठुभह त्ति]अवष्ठीव्यते निष्ठीव्यते, क्वचित् " उच्छुभत्ति " दृश्यते, तत्र चापसदं किञ्चित् क्षिपतेत्यर्थः । [आकड्ढविकड्ढिं ति] आकर्षविकर्षिकाम् । (भ०)

तए णं ते आजीविया थेरा गोसालं मंखलिपुत्तं कालगयं

जाणित्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स दुवाराइं पिहेंति। पिहेंतित्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स बहुमज्झदेसभाए सावत्थिं णयरिं आलिहंति। आलिहंतित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं वामे पादे सुंबेणं बंधंति। बंधंतित्ता तिक्खुत्तो मुहे उट्ठुभंति। उट्ठुभंतित्ता सावत्थीए णयरीए सिंघाडग जाव० पहेसु आकड्ढविकड्ढिं करेमाणे णीयं सद्देणं उग्घोसेमाणा उग्घोसेमाणा एवं वयासी-णो खलु देवाणुप्पिया ! गोसाले मंखलिपुत्ते अजिणे जिणप्पलावी०जाव विहरिए। एस णं गोसाले चेव मंखलिपुत्ते समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालगए, समणे भगवं महावीरे जिणे जिणप्पलावी० जाव विहरइ। सवहपडिमोक्खणगं करेंति। करेंतित्ता दोच्चं पि पूयासक्कारथिरीकरणट्ठयाए गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स वामाओ पादाओ सुंबेयंति। सुंबेयंतित्ता हालाहलाए कुंभकारीए कुंभकारावणस्स दुवारवयणाइं अवगुणंति। अवगुणंतित्ता गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगं सुरभिणा गंधोदएणं ण्हाणेंति। तं चेव० जाव महया महया इड्ढीसक्कारसमुदएणं गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स सरीरगस्स णीहरणं करेंति। तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइं सावत्थीओ णयरीओ कोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता बहिया जणवयविहारं विहरइ। तेणं कालेणं तेणं समएणं मिंढियगामे णामं णयरे होत्था। वण्णओ-तस्स णं मिंढियगामस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सालकोट्ठए नामं चेइए होत्था। वण्णओ-पुढवीसिलापट्टओ, तस्स णं सालकोट्ठगस्स चेइयस्स अदूरसामंते एत्थ णं महेगे मालुयाकच्छे यावि होत्था। किण्हे किण्होभासे०जाव निकुरुंबभूए पत्तिए पुप्फिए फलिए हरियगरेरिज्जमाणे सिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे उवसोभेमाणे चिट्ठइ। तत्थ णं मेंढियगामे णयरे रेवती णामं गाहावइणी परिवसइ, अड्ढा०जाव अपरिभूया। तए णं समणे भगवं महावीरे अन्नया कयाइं पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे०जाव जेणेव मिंढियगामे णयरे जेणेव सालकोट्ठए चेइए चेव०जाव परिसा पडिगया। तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले०जाव दुरहियासे पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए यावि विहरइ। अवियाइं लोहियवच्चाइं पि करेइ, चाउवण्णं वागरेइ।एवं खलु समणे भगवं महावीरे गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं पित्तज्जरपरिगयसरीरे दाहवक्कंतीए छउमत्थे चेव कालं करेस्संति। तेणं कालेणं तेणं समए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी सीहे णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए मालुयाकच्छगस्स

अदूरसामंते छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं २ उड्ढं बाहाओ० जाव विहरइ। तए णं तस्स सीहस्स अणगारस्स झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे०जाव समुप्पज्जित्था-एवं खलु मम धम्मायरियस्स धम्मोवएसगस्स समणस्स भगवओ महावीरस्स सरीरगंसि विउले रोगायंके पाउब्भूए उज्जले० जाव छउमत्थे चेव कालं करेस्सइ, वदिस्संति य णं अन्नउत्थिया-छउमत्थे चेव कालगए। इमेणं एयारूवेणं महया मणोमाणसिएणं दुक्खेणं अभिभूए समाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ। पच्चोरुभइत्ता जेणेव मालुयाकच्छए, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता मालुयाकच्छयं अंतो २ अणुप्पविसइ। अणुप्पविसइत्ता महया महया सद्देणं कुहुकुहुस्स परुण्णे अज्जो त्ति ! समणे भगवं महावीरे समणे णिग्गंथे आमंतेत्ता एवं वयासी-एवं खलु अज्जो ! ममंतेवासी सीहे णामं अणगारे पगइभद्दए तं चेव सव्वं भाणियव्वं० जाव परुण्णे, तं गच्छह णं अज्जो ! तुब्भे सीहं अणगारं सद्दह। तए णं ते समणा णिग्गंथा समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ता समणा समणं भगवं महावीरं वंदंति, णमंसंति। वंदित्ता णमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ सालकोट्ठयाओ चेइयाओ पडिणिक्खमंति। पडिणिक्खमंतित्ता जेणेव मालुयाकच्छए जेणेव सीहे अणगारे, तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता सीहं अणगारं एवं वयासी-सीहा ! तव धम्मायरिया सद्दावेइ। तए णं सीहे अणगारे समणेहिं णिग्गंथेहिं सद्धिं मालुयाकच्छयाओ पडिणिक्खमइ। पडिणिक्खमइत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ। उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं० जाव पज्जुवासइ। सीहादि ! समणे भगवं महावीरे सीहं अणगारं एवं वयासी-से णूणं सीहा झाणंतरियाए वट्टमाणस्स अयमेयारूवे०जाव परुण्णे, से णूणं ते सीहा ! अट्ठे समट्ठे हंता अत्थि। तं णो खलु सीहा ! गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स तवेणं तेएणं अणाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं मासाणं०जाव कालं करेस्सं। अहं णं अन्नाइं सोलस वासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि। तं गच्छह णं तुमं सीहा ! मिंढियगामं णयरं रेवतीए गाहावइणीए गिहे। तत्थ णं रेवतीए गाहावईए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया, तेहिं णो अट्ठो अत्थि। से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि, तेणं अट्ठो। तए णं सीहे अणगारे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठ० जाव हियए समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ। वंदइत्ता णमंसइत्ता अतुरियमचवलमसंभंतं मुहपोत्तियं पडिलेहेइ। पडिलेहेइत्ता जहा गोयमसामी०जाव जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ।

उवागच्छइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ । वंदित्ता णमंसित्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ सालकोट्ठयाओ चेइयाओ पमिणिक्खमइ । पमिणिक्खमइत्ता अतुरिय० जाव जेणेव मिंढियगामे णयरे, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता मिंढियगामं णयरं मज्झं मज्झेणं जेणेव रेवईए गाहावइणीए गिहे, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता रेवईए गाहावइणीए गिहे अणुप्पविट्ठे । तए णं सा रेवई गाहावइणी सीहं अणगारं एज्जमाणं पासइ । पासइत्ता हट्ठतुट्ठ० खिप्पामेव आसणाओ अब्भुट्ठेइ । अब्भुट्ठेइत्ता सीहं अणगारं सत्तट्ठपयाइं अणुगच्छइ । अणुगच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं वंदइ, णमंसइ । वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–संदिसंतु णं देवाणुप्पिया ! किमागमणप्पओयणं ?। तए णं से सीहे अणगारे रेवतिं गाहावइणिं एवं वयासी–एवं खलु तुम्हे देवाणुप्पिए ! समणस्स भगवओ महावीरस्स अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खमिया, तेहिं णो अट्ठो, अत्थि ते अण्णे पारियासिए मज्जारकमए कुक्कममंसए तमाहराहि, तेणं अट्ठो । तए णं सा रेवती गाहावइणी सीहं अणगारं एवं वयासी–केस णं सीहा ! सेणाणी वा तवस्सी वा, जेणं तव एस अट्ठे, मम ताव रहस्सकए हव्वमक्खाए ?, जओ णं तुमं जाणसि ?, एवं जहा खंदए० जाव जओ णं अहं जाणामि । तए णं सा रेवती गाहावइणी सीहस्स अणगारस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठा जेणेव भत्तघरे, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता पत्तगं मोएइ । जेणेव सीहे अणगारे तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता सीहस्स अणगारस्स पमिग्गहगंसि तं सव्वं सम्मं णिसिरइ । तए णं रेवतीए गाहावइणीए तेणं दव्वसुद्धेणं० जाव दाणेणं सीहे अणगारे पमिलाभिए समाणे देवाउए निबद्धे, जहा विजयस्स० जाव जम्मजीवियफले रेवईए गाहावइणीए रेव० २। तए णं सीहे अणगारे रेवतीए गाहावइणीए गिहाओ पमिणिक्खमइ । पमिणिक्खमइत्ता मिंढियगामं णयरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ । णिग्गच्छइत्ता जहा गोयमसामी० जाव भत्तपाणं पमिदंसेइ । पमिदंसेइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स पाणिंसि तं सव्वं णिसिरइ । तए णं समणे भगवं महावीरे अमुच्छिए० जाव अणज्झोववण्णे बिलमिव पण्णगभूएणं अप्पाणेणं तमाहारं सरीरकोट्ठंसि पक्खिवइ । तए णं समणस्स भगवओ महावीरस्स तमाहारं आहारियस्स समाणस्स विपुले रोगायंके खिप्पामेव उवसंते, हट्ठे जाए अरोगो बलियसरीरे तुट्ठा समणा, तुट्ठीओ समणीओ, तुट्ठा सावया, तुट्ठीओ सावियाओ, तुट्ठा देवा, तुट्ठीओ देवीओ, सदेवमणुयासुरे लोए हट्ठे जाए, समणे भगवं महावीरे हट्ठे २ भंते त्ति !। भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ । वंदइत्ता णमंसइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी पाईणजाणवए सव्वाणुभूई णामे अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए, से णं भंते ! तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं भासरासीकए समाणे कहिं गए, कहिं उववण्णे ?। एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी पाईणजाणवए सव्वाणुभूई णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए, से णं तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं भासरासीकरेमाणे उड्ढं चंदिमसूरिए० जाव बंभलंतगमहासुक्के कप्पे वीईवइत्ता सहस्सारे कप्पे देवत्ताए उववण्णे । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं अट्ठारससागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं सव्वाणुभूइस्स वि देवस्स अट्ठारस सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । से णं सव्वाणुभूईदेवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं ठिइक्खएणं० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति,० जाव अंतं करेहिति । एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कोसलजाणवए सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए, से णं भंते ! तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं परिताविए समाणे कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववण्णे ?। एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी सुणक्खत्ते णामं अणगारे पगइभद्दए० जाव विणीए, से णं तदा गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं तवेणं तेएणं परिताविए समाणे जेणेव ममं अंतिए, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता वंदइ, णमंसइ । वंदइत्ता णमंसइत्ता सयमेव पंच महव्वयाइं आरुहइ । आरुहइत्ता समणाओ समणीओ य खामेइ । आलोइयपमिक्कंते समाहिपत्ते कालमासे कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसूरिए० जाव आणयपाणयारणकप्पे वीईवइत्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं सुणक्खत्तस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं, सेसं जहा सव्वाणुभूइस्स० जाव अंतं काहिति । एवं खलु देवाणुप्पियाणं अंतेवासी कुसिस्से गोसाले णामं मंखलिपुत्ते, से णं भंते ! गोसाले मंखलिपुत्ते कालमासे कालं किच्चा कहिं गए, कहिं उववण्णे ?। एवं खलु गोयमा ! ममं अंतेवासी कुसिस्से गोसाले णामं मंखलिपुत्ते समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालं किच्चा उड्ढं चंदिमसूरिए० जाव अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववण्णे । तत्थ णं अत्थेगइयाणं देवाणं बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता । तत्थ णं गोसालस्स वि देवस्स बावीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता ॥

[पूयासक्कारथिरीकरणट्ठयाए त्ति] पूजासत्कारयोः पूर्वप्राप्तयोः स्थिरत्वहेतोः । यदि तु ते गोशालकशरीरस्य विशिष्टपूजां व

कुर्वन्ति, तदा लोको जानाति नायं जिनो बभूव, न चैत जिनशिष्या इत्येवमस्थिरौ पूजासत्कारौ स्यातामिति तयोः स्थिरीकरणार्थं (अवगुणंति त्ति) अपावृण्वन्ति. [सालकोट्ठए नामं चेइए होत्था वस्रओ त्ति] तद्वर्णको वाच्यः । स च "विराईए" इत्यादि० "जाव पुढविसिलापट्टउ त्ति" पृथिवीशिलापट्टकवर्णकं यावत् । स च "तस्स णं असोगवरपायवस्स हेट्ठा ईसिं खंधो समल्लीणे" इत्यादि [मालुयाकच्छए त्ति] मालुका नाम एकास्थिका वृक्षविशेषाः,तेषां यत्कक्षं गहनं तत्तथा । [विउले त्ति] शरीरव्यापकत्वात् । [रोगायंके त्ति] रोगः पीडाकारी, स चासावातङ्कश्च व्याधिरिति रोगातङ्कः । [उज्जले त्ति] उज्ज्वलः पीडाऽपोहलक्षणविपक्षलेशेनाप्यकलाङ्कितः । यावत्करणादिदं दृश्यम्- "तिउले" त्रीन् मनोवाक्कायलक्षणानर्थांस्तुलयति जयतीति त्रितुलः "पगाढे" प्रकर्षवान् "कक्कसे" कर्कशद्रव्यमिवानिष्ट इत्यर्थः । "कडुए" तथैव "चंडे" रौद्रः "तिव्वे" सामान्यस्य झगिति मरणहेतुः "दुक्खे त्ति" दुःखो दुःखहेतुत्वात् "दुग्गे त्ति" दुर्गमिव अनभिभवनीयत्वात् । किमुक्तं भवति?-(दुरहियासे त्ति) दुरधिसहः सोढुमशक्य इति । (दाहवक्कंतीए त्ति) दाहो व्युत्क्रान्त उत्पन्नो यस्य स स्वार्थिकप्रत्यये दाहव्युत्क्रान्तिकः । (अवियाई ति) अपि चेति अभ्युचये, 'आ' इति वाक्यालङ्कारे । (लोहियवच्चाइए त्ति) लोहितवर्चांस्यपि रुधिरात्मकपुरीषाण्यपि करोति, किमन्येन पीडावर्णनेनेति भावः । तानि हि किलात्यन्तवेदनोत्पादके रोगे सति भवन्ति । (चाउवण्णं ति) चातुर्वर्ण्यं ब्राह्मणादिलोकः । (झाणंतरियाए त्ति) एकस्य ध्यानस्य समाप्तिरन्यस्यानारम्भ इत्येषा ध्यानान्तरिका, तस्याम् । (मणोमाणसिएणं ति) मनस्येव न बहिर्वचनादिभिरप्रकाशितत्वात् यन्मानसिकं दुःखं तन्मनोमानसिकं, तेन "दुवे कवोया" इत्यादेः श्रूयमाणमेवार्थम् केचिन्मन्यन्ते, अन्ये त्वाहुः-कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद् द्वे फले वर्णसाधर्म्यात्, ते कपोते कूष्माण्डे, ह्रस्वे कपोते कपोतके,ते च ते शरीरे च वनस्पतिजीवदेहत्वात्कपोतकशरीरे । अथवा-कपोतकशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतकशरीरे कूष्माण्डफले एव ते उपस्कृते संस्कृते (तेहिं नो अट्ठो त्ति) बहुपापत्वात् । (पारियासिए त्ति) परिवासितं ह्यस्तनमित्यर्थः । "मज्जारकडए" इत्यादेरपि केचिच्छ्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते । अन्ये त्वाहुः-मार्जारो वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृतं संस्कृतं मार्जारकृतम् । अपरे त्वाहुः-मार्जारो विरालिकाऽभिधानो वनस्पतिविशेषः, तेन कृतं भावितं यत्तत्तथा । किं तदित्याह- कुक्कुटमांसकं बीजपूरककटाहम् । (आहराहि त्ति) निरवद्यत्वादिति । (पत्तगं मोएइ त्ति) पात्रकं पिठरिकाविशेषं मुञ्चति, सिक्कके उपरिकृतं सत्तस्मादवतारयतीत्यर्थः । (जहा विजयस्स त्ति) यथैहैव शते विजयस्य वसुधारादिकमेवमेतस्या अपि वाच्यमित्यर्थः । "विलमिवेत्यादि ।" विले इव रन्ध्रे इव पन्नगभूतेन सर्पकल्पेनाऽऽत्मना करणभूतेन तं तं पिहानगारोपनीतमाहारं शरीरकोष्ठके प्रक्षिपतीति । (हट्ठे त्ति) हृष्टो निर्व्याधिः (आरोगो त्ति) निष्पीडः । (तुट्ठहट्ठे जाए त्ति) तुष्टस्तोषवान्, हृष्टो विस्मितः, किमस्मादेवमित्याह-"समणे" इत्यादि (हट्ठे त्ति) नीरोगो जात इति ।(भ०)

से णं भंते ! गोसाले देवे ताओ देवलोगाओ आउक्खएणं० जाव कहिं उववज्जिहिति ?। गोयमा ! इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले पुंडेसु जणवएसु सतदुवारे णयरे सुमइस्स रण्णो भद्दाए भारियाए कुच्छिंसि पुत्तत्ताए पच्चायाहिति । से णं तत्थ णवण्हं मासाणं बहुपडिपुण्णाणं० जाव विइक्कंताणं० जाव सुरूवे दारए पच्चायाहिति । जं रयणिं च णं से दारए पयाहिति, तं रयणिं च णं सयदुवारे णयरे सब्भिंतरबाहिरए भारग्गसो य कुंभग्गसो य पउमवासे य रयणवासे य वासे वासिहिति । तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो एक्कारसमे दिवसे वीइक्कंते० जाव संपत्ते बारसाहदिवसे अयमेयारूवं गोणं गुणनिप्फन्नं णामधेज्जं काहिंति । जम्हा णं अम्हं इमंसि दारगंसि जायंसि समाणंसि सतदुवारे णयरे सब्भिंतरबाहिरए० जाव रयणवासे य वासे वुट्ठे, तं होऊणं अम्हं इमस्स दारगस्स णामधेज्जं महापउमे महा० २। तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो णामधेज्जं करेहिंति-महापउमे, महा०२। तए णं महापउमं दारगं अम्मापियरो सातिरेगट्ठवासजायगं जाणित्ता सोभणंसि तिहिकरणदिवसणक्खत्तमुहुत्तंसि महया महया रायाभिसेगेणं अभिसिंचेहिंति । से णं तत्थ राया भविस्सइ, महया हिमवंतवण्णओ० जाव विहरिस्सइ। तए णं तस्स महापउमस्स रण्णो अण्णया कयाइ दो देवा महिड्ढिया० जाव महेसक्खा सेणाकम्मं काहिंति । तं जहा-पुण्णभद्दे य, माणिभद्दे य । तए णं सतदुवारे णयरे बहवे राईसरतलवर०जाव सत्थवाहप्पभिईओ अण्णमण्णं सद्दावेहिंति । सद्दावेहितित्ता एवं वदेहिंति-जम्हा णं देवाणुप्पिया ! अम्हं महापउमस्स रण्णो दो देवा महिड्ढिया० जाव सेणाकम्मं करेंति । तं जहा-पुण्णभद्दे य, माणिभद्दे य, तं होऊणं देवाणुप्पिया ! अम्हं महापउमस्स रण्णो दोच्चे वि णामधेज्जे देवसेणेति २। तए णं तस्स महापउमस्स रण्णो दोच्चे वि णामधेज्जे भविस्सइ देवसेणेति । तए णं तस्स देवसेणस्स रण्णो अण्णया कयाइं से ते संखतलविमलसण्णिगासे चउदंते हत्थिरयणे समुप्पज्जिस्सइ । तए णं से देवसेणे राया सेयं संखतलविमलसण्णिगासं चउद्दंतहत्थिरयणं दुरूढे समाणे सतदुवारं णयरं मज्झंमज्झेणं अभिक्खणं अभिक्खणं अभिजाहिति य, णिज्जाहिंति य । तए णं सतदुवारे णयरे बहवे राईसर० जाव पभिताओ अण्णमण्णं सद्दावेहिंति-जम्हा णं देवाणुप्पिया ! अम्हं देवसेणस्स रण्णो से ते संखतलसण्णिगासे चउदंते हत्थिरयणे समुप्पण्णे, तं होऊणं देवाणुप्पिया ! अम्हं देवसेणस्स रण्णो तच्चे वि णामधेज्जे विमलवाहणेति,विमलवाहणे । तए णं तस्स देवसेणस्स रण्णो तच्चे वि णामधेज्जे विमलवाहणे ति । तए णं से विमलवाहणे राया अण्णया कयाइ समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवज्जेहिंति, अप्पेगइए आउसिहिति, अप्पेगइए उवहसिहिति,

अप्पेगइए णिच्छोडेहिति, अप्पेगइए णिब्भच्छेहिति, अप्पेगइए बंधेहिति, अप्पेगइए णिरुंभेहिति, अप्पेगइयाणं छविच्छेदं करेहिंति, अप्पेगइए पमारेहिंति, अप्पेगइयाणं उद्दवेहिति, अप्पेगइयाणं वत्थपडिग्गहकंबलपायपुच्छणं आच्छिंदिहिति, विच्छिंदिहिति, भिंदिहिति, अप्पेगइयाणं भत्तपाणं वोच्छिंदिहिति, अप्पेगइए णिण्णगरे करेहिति, अप्पेगइए णिव्विसए करेहिति। तए णं सतदुवारे णयरे बहवे राईसर० जाव वदिहिंति-एवं खलु देवाणुप्पिया ! विमलवाहणे राया समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ने अप्पेगइए आउसति० जाव णिव्विसए कारेति , तं णो खलु देवाणुप्पिया ! एयं अम्हं सेयं, णो खलु एयं विमलवाहणस्स रण्णो सेयं, णो खलु एयं रज्जस्स वा रट्ठस्स वा बलस्स वा वाहणस्स वा पुरस्स वा अंतेउरस्स वा जणवयस्स वा सेयं, जं णं विमलवाहणे राया समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ने, तं सेयं खलु देवाणुप्पिया ! अम्हं विमलवाहणं रायं एयमट्ठं विण्णवेत्तए त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतियं एयमट्ठं पडिसुणेंति । पडिसुणेंतित्ता जेणेव विमलवाहणे राया, तेणेव उवागच्छइ । उवागच्छइत्ता करयलपरिग्गहियं विमलवाहणं रायं जएणं विजएणं वद्धावेंति । वद्धावेंतित्ता एवं वदिस्सहिंति-एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ना अप्पेगइए आउसइ०, जाव अप्पेगइए निव्विसए कारेति, तं णो खलु एयं जं णं देवाणुप्पियाणं सेयं, णो खलु एयं अम्हं सेयं, णो खलु एयं रज्जस्स वा० जाव जणवयस्स वा सेयं, जं णं देवाणुप्पिया ! समणेहिं णिग्गंथेहिं मिच्छं विप्पडिवन्ना, तं विरमंतु णं देवाणुप्पिया ! एयमट्ठस्स अकरणयाए । तए णं से विमलवाहणे राया तेहिं बहूहिं राईसर० जाव सत्थवाहप्पभिईहिं एयमट्ठं विण्णत्ते समाणे णो धम्मो त्ति णो तवो त्ति मिच्छाविणएणं एयमट्ठं पडिसुणेहिं, तस्स णं सयदुवारस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए, एत्थ णं सुभूमिभागे उज्जाणे भविस्सइ; सव्वोउयवण्णओ ।

(भारग्गसो य त्ति) भारपरिमाणतः, भारश्च भारकः पुरुषोद्वहनीयो, विंशतिपलशतप्रमाणो वेति। (कुंभग्गसो य त्ति) कुम्भो जघन्य आढकानां षष्ट्या, मध्यमस्त्वशीत्या, उत्कृष्टः पुनः शतेनेति (पउमवासे य रयणवासे य वासे वासिहिति त्ति) वर्षो वृष्टिः वर्षिष्यति भविष्यति। किंविध इत्याह-पद्मवर्षः पद्मवर्षरूप एवं रत्नवर्ष इति [सेए त्ति] श्वेतः। कथंभूतः [संखतलविमलसन्निगासे त्ति] संखस्य यद्दलं खण्डं तलं वा रूपं विमलं तत्सन्निकाशः सदृशो यः स तथा, प्राकृतत्वाच्चैवं समासः । (आउसिहिइ त्ति) आक्रोशान् दास्यति (निच्छोभेहिइ त्ति) पुरुषान्तरसम्बन्धितहस्ताद्यवयवाकारणतो ये श्रमणास्तांस्ततो वियोजयिष्यति [निब्भच्छेहिइ त्ति] आक्रोशव्यतिरिक्तदुर्वचनानि दास्यति [पमारेहिइ त्ति] प्रमारं मरणक्रियाप्रारम्भं करिष्यति प्रमारयिष्यति [उद्दवेहि त्ति] अपद्रावयिष्यति, मारयिष्यति। (उवद्दवेहिइ त्ति) उपद्रवान् करिष्यति [आच्छिंदिहि त्ति] ईषच्छेत्स्यति [विच्छिंदिहिइ त्ति] विशेषेण विविधतया वा छेत्स्यति । [भिंदिहिइ त्ति] स्फोटयिष्यति पात्रापेक्षयमेतत् अपहरिष्यत्युद्दालयिष्यति । [निण्णगरे करेहिति त्ति] निर्नगरान् नगरनिष्क्रान्तान् करिष्यति (रज्जस्स व त्ति) राज्यस्य वा, राज्यं च राजादिपदार्थसमुदायः। आह च-"स्वाम्यमात्याश्च राष्ट्रं, कोशो दुर्गबलं सुहृत्। सप्ताङ्गमुच्यते राज्यं; बुद्धिसत्त्वसमाश्रयम्" ॥ १ ॥ राष्ट्रादयस्तु तद्विशेषाः , किन्तु राष्ट्रं जनपदैकदेशः। [विरमंतु णं देवाणुप्पिया ! एयस्स अट्ठस्स अकरणयाए त्ति] विरमणं किल वचनाद्यपेक्षयाऽपि स्यादत उच्यते , अकरणतया करणनिषेधरूपतया । भ० ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं विमलस्स अरहओ पउप्पए सुमंगले णामं अणगारे जाइसंपन्ने जहा धम्मघोसस्स वण्णओ० जाव संखित्तविउलतेयलेस्से तिण्णाणोवगए सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं० जाव आयावेमाणे विहरिस्सइ । तए णं से विमलवाहणे राया अण्णया कयाइ रहचरियं काउं णिज्जाहिति । तए णं से विमलवाहणे राया सुभूमिभागस्स उज्जाणस्स अदूरसामंते रहचरियं करेमाणे सुमंगलं अणगारं छट्ठं छट्ठेणं० जाव आयावेमाणे पासिहिति। पासहितित्ता आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे सुमंगलं अणगारं रहसिरेणं णोल्लावेहिति । तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रण्णा रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे सणियं सणियं उट्ठेहिति । उट्ठेहितित्ता दोच्चं पि उड्ढं बाहाओ पगिज्झिय पगिज्झिय० जाव आयावेमाणे विहरिस्सइ । तए णं से विमलवाहणे राया सुमंगलं अणगारं दोच्चं पि रहसिरेणं णोल्लावेहिति । तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रण्णा दोच्चं पि रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे सणियं सणियं उट्ठेहिति । उट्ठेहितित्ता ओहिं पउंजेहिति । ओहिं पउंजेहितित्ता विमलवाहणस्स रण्णो तीयद्धा आभोएहिति। ती० २ विमलवाहणं रायं एवं वदिहिति-णो खलु तुमं विमलवाहणे राया, णो खलु तुमं देवसेणे राया, णो खलु तुमं महापउमे राया, तुमं णं इओ तच्चे भवग्गहणे गोसाले णामं मंखलिपुत्ते होत्था समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालगए, तं जति ते तदा सव्वाणुभूइणा अणगारेणं पभूणा वि होऊणं सम्मं सहियं खमियं तितिक्खियं अहियासियं, जइ ते तदा सुणक्खत्तेणं अणगारेणं पभूणा वि होऊणं सम्मं सहियं खमियं० जाव अहियासियं, जइ ते तदा समणेणं भगवया महावीरेणं पभूणा वि० जाव अहियासियं, तं णो खलु अहं तहा सम्मं सहिस्सं० जाव अहियासिस्सं; अहं ते णवरं स-

हयं सरहं ससारहियं तवेणं तेएणं एगाहच्चं कूमाहच्चं भासरासिं करेज्जामि। तए णं से विमलवाहणे राया सुमंगलेणं अणगारेणं एवं वुत्ते समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे सुमंगलं अणगारं तच्चं पि रहसिरेणं णोल्लाविहिति। तए णं से सुमंगले अणगारे विमलवाहणेणं रएणा तच्चं पि रहसिरेणं णोल्लाविए समाणे आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे आयावणभूमीओ पच्चोरुभइ। पच्चोरुभइत्ता तेयासमुग्घाएणं समोहणहिति। समोहणहितित्ता सत्तट्ठपयाइं पच्चोसक्किहिति। पच्चोसक्किहितित्ता विमलवाहणं रायं सहयं सरहं ससारहियं तवेणं तेएणं०जाव भासरासिं करेहिति। सुमंगले णं भंते! अणगारे विमलवाहणं रायं सहयं० जाव भासरासिं करेत्ता कहिं गच्छिहिति,कहिं उववज्जिहिति?। गोयमा! सुमंगले णं अणगारे णं विमलवाहणं रायं सहयं०जाव भासरासिं करेत्ता बहूहिं छट्ठट्ठमदसमदुवालस० जाव विचित्तेहिं तवोकम्मेहिं अप्पाणं भावेमाणे बहूहिं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिहिति। बहूहिं वासाइं सामण्णपरियागं पाउणिहितित्ता मासियाए संलेहणाए सट्ठिं भत्ताइं अणसणाइं० जाव छेदेत्ता आलोइयपडिक्कंते समाहिपत्ते उड्ढं चंदिमसूरिए० जाव गेवेज्जगविमाणे ससयं वीईवइत्ता सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति। तत्थ णं देवाणं अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। तत्थ णं सुमंगलस्स वि देवस्स अजहण्णमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं ठिई पण्णत्ता। से णं भंते! सुमंगले देवे ताओ देवलोगाओ० जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०, जाव अंतं काहिति। विमलवाहणे णं भंते! राया सुमंगलेणं अणगारेणं सहयं० जाव भासरासीकए समाणे कहिं गच्छिहिति, कहिं उववज्जिहिति?। गोयमा! विमलवाहणे राया सुमंगलेणं अणगारेणं सहयं० जाव भासरासीकए समाणे अहे सत्तमाए पुढवीए उक्कोसं कालट्ठितियंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति; से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता मच्छेसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा दोच्चं पि अहे सत्तमाए उक्कोसकालट्ठितियंसि णरगंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति। से णं तओ अणंतरं उव्वट्टित्ता दोच्चं पि मच्छेसु उववज्जिहिति, तत्थ वि णं सत्थवज्झे०जाव किच्चा ?, छट्ठीए तमाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठिइयंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति। से णं तओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता इत्थियासु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे दाह० जाव दोच्चं पि छट्ठीए तमाए पुढवीए उक्कोसकाल० जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि इत्थियासु उववज्जिहिति २। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा पंचमाए धूमप्पभाए पुढवीए उक्कोसकाल० जाव उव्वट्टित्ता उरएसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे दोच्चं पि पंचमाए० जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि उरएसु उववज्जिहिति, ०जाव किच्चा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठिइयंसि० जाव उव्वट्टित्ता सीहेसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे तहेव कालं किच्चा दोच्चं पि चउत्थीए पंकप्पभाए०जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि सीहेसु उववज्जिहिति ०जाव किच्चा तच्चाए वालुयप्पभाए पुढवीए उक्कोसकाल० जाव उव्वट्टित्ता पक्खीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि वालुयप्पभाए० जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि पक्खीसु उववज्जिहिति० जाव किच्चा दोच्चाए सक्करप्पभाए० जाव उव्वट्टित्ता सरीसवेसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि दोच्चाए सक्कर० (६) जाव उव्वट्टित्ता दोच्चं पि सरीसवेसु उववज्जिहिति० जाव किच्चा इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए उक्कोसकालट्ठिइयंसि णरयंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति०, जाव उव्वट्टित्ता सण्णीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा असण्णीसु उववज्जिहिति। तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पलिओवमस्स असंखेज्जइभागट्ठिइयंसि णरगंसि णेरइयत्ताए उववज्जिहिति। से णं तओ० जाव उव्वट्टित्ता जाइं इमाइं खहचरविहाणाइं भवंति। तं जहा–चम्मपक्खीणं लोमपक्खीणं समुग्गपक्खीणं वियतपक्खीणं, तेसु अणेगसयसहस्सक्खुत्तो उद्दाइत्ता उद्दाइत्ता तत्थेव भुज्जो २ पच्चायाति। सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे दाहवक्कंतीए कालमासे कालं किच्चा जाइं इमाइं भुयपरिसप्पविहाणाइं भवंति। तं जहा–गोहाणं णउलाणं जहा पण्णवणापदे० जाव जाहगाणं चउप्पइयाणं तेसु अणेगसयसहस्सक्खुत्तो सेसं जहा–खहचराणं० जाव किच्चा जाइं इमाइं उरपरिसप्पविहाणाइं भवंति। तं जहा–एगखुराणं दुखुराणं गंडीपदाणं सणहपदाणं तेसु अणेगसयसहस्स०जाव किच्चा, जाइं इमाइं जलचरविहाणाइं भवंति। तं जहा–मच्छाणं कच्छभाणं०जाव सुंसुमाराणं तेसु अणेगसयसहस्स० जाव किच्चा जाइं इमाइं चउरिंदियविहाणाइं भवंति। तं जहा–अंधियाणं पोत्तियाणं जहा पण्णवणापदे० जाव गोमयकीडाणं, तेसु अणेगसय० जाव किच्चा जाइं इमाइं तेइंदियविहाणाइं भवंति। तं जहा–ओवचियाणं० जाव हत्थिसोंडाणं तेसु अणेग० जाव किच्चा जाइं इमाइं बेइंदियविहाणाइं भवंति। तं जहा–पुलाकिमियाणं० जाव समुद्दलिक्खाणं तेसु अणेगसय० जाव किच्चा जाइं इमाइं वणस्सइविहाणाइं भवंति। तं जहा–

रुक्खाणं गुच्छाणं० जाव कुहुणाणं तेसु अणेग० जाव पच्चायाइस्सइ । उस्सणं च णं कडुयरुक्खेसु कडुयवल्लीसु सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा जाइं इमाइं वाउक्काइयविहाणाइं भवंति । तं जहा–पाईणवाताणं० जाव सुद्धवाताणं तेसु अणेगसयसहस्स० जाव किच्चा, जाइं इमाइं तेउक्काइयविहाणाइं भवंति । तं जहा–इंगालाणं० जाव सूरियकंतमणिणिस्सियाणं तेसु अणेगसयसहस्स० जाव किच्चा, जाइं इमाइं आउक्काइयविहाणाइं भवंति । तं जहा–ओसाणं० जाव खातोदगाणं तेसु अणेग० जाव पच्चायातिस्सइ । उस्सण्णं च णं खारोदएसु खातोदएसु सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा इमाइं पुढविकाइयविहाणाइं भवंति । तं जहा–पुढवीणं सक्कराणं० जाव सूरिकंताणं, तेसु अणेगसय० जाव पच्चायाहिति । उस्सण्णं च णं खरबादरपुढविकाइएसु सव्वत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा, रायगिहे णयरे बाहिं खरियत्ताए उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा दोच्चं पि रायगिहे णयरे अंतोखरियत्ताए उववज्जिहिति । तत्थ वि णं सत्थवज्झे० जाव किच्चा इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले बिभेले सण्णिवेसे माहणकुलंसि दारियत्ताए पच्चायाहिति । तए णं तं दारियं अम्मापियरो उम्मुक्कबालभावं जोव्वणगमणुप्पत्तं पडिरूविएणं सुक्केणं पडिरूवएणं विणएणं पडिरूवियस्स भत्तारस्स भारियत्ताए दलइस्सइ । सा णं तस्स भारिया भविस्सइ, इट्ठा कंता० जाव अणुमया भंडकरंडगसमाणा तेल्लकेला इव सुसंगोविया चेलपेला इव सुसंपरिग्गहिया रयणकरंडगउं विव सुसारक्खिया सुसंगोविया माणं सीयं माणं उण्हं० जाव परिस्सहोवसग्गं फुसंतु । तए णं सा दारिया अण्णया कयाइ गुव्विणी ससुरकुलाओ कुलघरं णिज्जमाणी अंतरा दवग्गिजालाभिहया कालमासे कालं किच्चा दाहिणिल्लेसु अग्गिकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति । लभिहितित्ता केवलं बोहिं बुज्झिहिति । बोहिं बुज्झिहितित्ता केवलं मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइहिति । तत्थ वि य णं विराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा दाहिणिल्लेसु असुरकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो० जाव उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं तं चेव० जाव विराहियसामण्णे काल० जाव किच्चा दाहिणिल्लेसु णागकुमारेसु देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो अणंतरं उव्वट्टित्ता एवं एएणं अभिलावेणं दाहिणिल्लेसु विज्जुकुमारेसु एवं अग्गिकुमारेसु वज्जं० जाव दाहिणिल्लेसु थणियकुमारेसु से णं तओ० जाव उव्वट्टित्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति० जाव विराहियसामण्णे जोइसिएसु देवेसु उववज्जिहिति । से णं तओ अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति०, जाव अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो अणंतरं चयं चइत्ता माणुस्सं विग्गहं लभिहिति, केवलं बोहिं बुज्झिहिति । तत्थ वि णं अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सणंकुमारेणं कप्पे देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो एवं जहा सणंकुमारे तहा बंभलोए महासुक्के आणए आरणे, से णं तओ० जाव अविराहियसामण्णे कालमासे कालं किच्चा सव्वट्ठसिद्धे महाविमाणे देवत्ताए उववज्जिहिति । से णं तओहिंतो अणंतरं चइत्ता महाविदेहे वासे जाइं इमाइं कुलाइं भवंति अड्ढाइं० जाव अपरिभूयाइं तहप्पगारेसु कुलेसु पुत्तत्ताए पच्चायाहिति । एवं जहा उववाइए दढपइण्णवत्तव्वया, सा चेव वत्तव्वया णिरवसेसा भाणियव्वा० जाव केवलवरणाणदंसणे समुप्पज्जिहिति । तए णं दढपइण्णे केवली अप्पणो तीतद्धं आभोएइ । आभोएइत्ता समणे णिग्गंथे सद्दाविहिति । सद्दाविहितित्ता एवं वदिहिति–एवं खलु अहं अज्जो ! इओ चिरातीयाए अद्धाए गोसाले मंखलिपुत्ते होत्था, समणघायए० जाव छउमत्थे चेव कालगए, तं मूलगं च णं अहं अज्जो ! अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं अणुपरियट्टइ । तं मा णं अज्जो ! तुज्झं पि केइ भवतु आयरियपडिणीए उवज्झायपडिणीए आयरियउवज्झायाणं अयसकारए अवण्णकारए अकित्तिकारए, मा णं से वि एवं चेव अणादीयं अणवदग्गं० जाव संसारकंतारं अणुपरियट्टिहिति, जहा णं अहं । तए णं ते समणा णिग्गंथा दढपइण्णस्स केवलिस्स अंतियं एयमट्ठं सोच्चा णिसम्म भीया तत्था तसिया संसारभयुव्विग्गा दढपइण्णं केवलिं वंदिहिंति, णमंसिहिंति; तस्स ठाणस्स आलोइएहिंति, निंदिहिंति०, जाव पडिवज्जिहिंति । तए णं दढपइण्णे केवली बहूइं वासाइं केवलपरियागं पाउणिहिति । पाउणिहितित्ता अप्पाणं आउसेसं जाणित्ता भत्तं पच्चक्खाहिति, एवं जहा उववाइए० जाव सव्वदुक्खाणमंतं काहिति । सेवं भंते ! भंते ! त्ति० जाव विहरइ । तेयणिसग्गो सम्मत्तो अट्ठेणं ।

[विमलस्स त्ति] । विमलजिनः किलोत्सर्पिण्यामेकविंशतितमः समवाये दृश्यते, स चावसर्पिणीचतुर्थजिनस्थाने प्राप्नोति । तस्माच्चार्वाचीनजिनान्तरेषु बहवः सागरोपमकोट्योऽतिक्रान्ता लभ्यन्ते, अयञ्च महापद्मो द्वाविंशतेः सागरोपमाणामन्ते भविष्यतीति दुरवगममिदम् । अथवा यो द्वाविंशतेः सागरोपमाणामन्ते तीर्थकृदुत्सर्पिण्यां भाविष्यति, तस्यापि विमल इति नाम संभाव्यते, अनेकाभिधानाभिधेयत्वान्महापुरुषा-

चामिति। (पडप्पए त्ति) शिष्यसम्पाने, (जहा धम्मघोसस्स व-ष्णओ त्ति)। यथा धर्मघोषस्यैकादशशतिकादशोद्देशकाभिहितस्य वर्णकस्तथाऽस्य वाच्यः। स च "कुलसंपन्ने बलसंपन्ने" इत्यादिरिति। (रहचरियं ति)। रथचर्याम (नोल्लावेहिइ त्ति) नोदयिष्यति प्रेरयिष्यति, सहितमित्याद्य पदार्थाः [सत्थवज्झे त्ति) शस्त्रवध्यः सन् (दाहवक्कंतीए त्ति) दाहोत्पत्त्या कालं कृत्वेति योगः, दाहव्युत्क्रान्तिको वा भूत्वेति शेषः। इह च यथोक्तक्रमेणैवासंज्ञिप्रभृतयो रत्नप्रभादिषु यत उत्पद्यन्ते इत्यसौ तथैवोत्पादितः। आह च-"अस्सण्णी खलु पढमां, दोच्चं च सरीसिवा तइयं पक्खी। सीहा जंति चउत्थीं, उरगा पुण पंचमीं पुढवीं ॥१॥ छट्ठिं च इत्थियाओ, मच्छा मणुया य सत्तमीं पुढविं।" इति। [खहचरविहाणाइं ति] इह विधानानि भेदाः। (चम्मपक्खीणं ति) वल्गुलीप्रभृतीनां [लोमपक्खीणं ति] हंसादीनाम् (समुग्गपक्खीणं ति) समुद्गकाकारपक्षवतां मनुष्यक्षेत्रबहिर्वर्तिनाम् [वियययपक्खीणं ति] विस्तारितपक्षवतां समयक्षेत्रबहिर्वर्तिनामेवेति "अणेगसयसहस्सखुत्तो" इत्यादि तु यदुक्तम्, तत्सान्तरमवसेयम्, निरन्तरस्यापञ्चेन्द्रियस्यकालस्योत्कर्षतोऽप्यष्टभवप्रमाणस्यैव भावात्। यदाह-"पंचिंदियतिरियनरा, सत्तट्ठभवा भवग्गहणे" इति [जहा पण्णवणाए त्ति] प्रज्ञापनायाः प्रथमपदे। तत्र चैवमिदम्-"सरडाणं सप्पाणं" इत्यादि (एगखुराणं ति) अश्वादीनाम् (दुखुराणं ति) गवादीनाम् (गंडीपयाणं ति) हस्त्यादीनां [सणहपयाणं ति] सनखपदानां सिंहादिनखराणां कच्छभानाम्। इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"गाहाणं मगराणं ति"। "पोत्तियाणं" इत्यत्र [जहा पण्णवणाए त्ति] अनेन यत्सूचितं तदिदम्-"मच्छियाणं मसगाणमित्यादि" "उवचियाणं" इह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"रोहिणियाणं कुंथूणं पिपीलियाणमित्यादि"। "पुलाकिमियाणं" इत्यत्र यावत्करणादिदं दृश्यम्-"कुच्छिकिमियाणं गंडूयलगाणं गोलोमाणमित्यादि" [रुक्खाणं ति] वृक्षाणामेकास्थिकबहुबीजकभेदेन द्विविधानां, तत्रैकास्थिका निम्बाम्रादयः, बहुबीजाः अस्थिकतिन्दुकादयः। (गुच्छाणं ति) वृन्ताकीप्रभृतीनां, यावत्करणादिदं दृश्यम्-"गुम्माणं लयाणं वल्लीणं पव्वगाणं तणाणं वलयाणं हरियाणं ओसहीणं जलरुहाणं ति"। तत्र गुल्मानां नवमालिकाप्रभृतीनां लतानां पद्मलतादीनां वल्लीनां पुष्पफलीप्रभृतीनां पर्वकाणाम् इक्षुप्रभृतीनां तृणानां दर्भकुशादीनां वलयानां तालतमालादीनां हरितानाम् अध्यारोहकतन्दुलीयकादीनाम् औषधीनां शालिगोधूमप्रभृतीनां जलरुहाणां कुमुदादीनां [कुहुणाणं ति] कुहुणानाम् आयकायप्रभृतिभूमिस्फोटानाम् [असइं च त्ति] बाहुल्येन पुनः। (पाईणवायाणं ति) पूर्ववातानाम्। यावत्करणादिदं दृश्यम्-"पडीणवायाणं दाहिणवायाणमित्यादि" (सुद्धवायाणं ति) मन्दस्तिमितवायूनाम्। इङ्गालानामिह यावत्करणादिदं दृश्यम्-"जालाणं मुम्मुराणं अच्चीणमित्यादि" तत्र च ज्वालानामनलसंबद्धस्वरूपाणां मुर्मुराणां फुम्फुकादौ मसृणाग्निरूपाणाम्। अर्चिषामनलाप्रतिबद्धज्वालानामिति। (ओसाणं ति) रात्रिजलानाम्। इह यावत्करणात्-"हिमाणं महियाण ति" (खाओदयाणं ति) खातायां भूमौ यान्युदकानि तानि खातोदकानि, तेषाम्। (पुढवीणं ति) मृत्तिकानाम्। (सक्कराणं ति) घर्घरकाणाम्। यावत्करणादिदं दृश्यम्-"वालुयाणं उवलाणं ति।" (सूरिकंताणं ति) मणिविशेषाणाम् (बाहिं खरियत्ताए त्ति) नगरबहिर्वर्तिवेश्यात्वेन, ग्रामान्तर्वेश्यात्वेनेत्यन्ये। (अंतोखरियत्ताए त्ति) नगराभ्यन्तरवेश्यात्वेन, विशिष्टवेश्यात्वेनेत्यन्ये (पडिरूविएणं सुक्केणं ति) प्रतिरूपकेणोचितेन शुल्केन दानेन। (भंडकरंडगसमाणे त्ति) आभरणभाजनतुल्या आदेया इत्यर्थः। (तेल्लकेला इव सुसंगोविय त्ति) तैलकेला तैलाश्रयो भाजनविशेषः सौराष्ट्रप्रसिद्धः, सा च सुष्ठु सङ्गोप्या सङ्गोपनीया भवत्यन्यथा लुठति, ततश्च तैलहानिः स्यादिति। (चेलपेला इव सुसंपरिग्गहिय त्ति) चेलपेटावत् वस्त्रमञ्जूषेव सुष्ठु संपरिवृता निरुपद्रवे स्थाने निवेशिता (दाहिणिल्लेसु असुरकुमारेसु देवेसु देवत्ताए उववज्जिहिति) विराधितश्रामण्यत्वादन्यथाऽनगाराणां वैमानिकेष्वेवोत्पत्तिः स्यादिति। यच्चेह-"दाहिणिल्लेसु त्ति" प्रोच्यते, तत्तस्य क्रूरकर्मत्वेन दक्षिणदेवेष्वेवोत्पाद इति कृत्वा। (अविराहियसामण्णे त्ति) आराधितचरण इत्यर्थः। आराधना चेह चरणप्रतिपत्तिसमयादारभ्य मरणान्तं यावन्निरतिचारतया तस्य पालना। आह च-"आराहणा य एत्थं, चरणपडिवत्तिसमयओ पभिई। आमरणंतमजस्सं, संजमपरिपालणं विहिणा" ॥१॥ एवं चेह यद्यपि चारित्रप्रतिपत्तिभवा विराधना युक्ता अग्निकुमारवर्ज्यभवनपतिज्योतिष्कत्वहेतुभवसहिता दश, अविराधनाभवास्तु यथोक्तसौधर्मादिदेवलोकसर्वार्थसिद्ध्युत्पत्तिहेतवः सप्त, अष्टमश्च सिद्धिगमनभव इत्येवमष्टादश चारित्रभवा उक्ताः। श्रूयते चाष्टैव भवाश्चारित्रं भवति, तथाऽपि न विरोधः, अविराधनाभवानामेव ग्रहणादिति। अन्ये त्वाहुः-"अट्ठभवा उ चरित्ते" इत्यत्र सूत्रे आदानभवानां वृत्तिकृता व्याख्यानत्वाच्चारित्रप्रतिपत्तिविशेषितानि एव भवा ग्राह्या नाविराधनाविशेषणं कार्यम्, अन्यथा यद्भगवता श्रीमन्महावीरेण हालिकाय प्रव्रज्याबीजमिति दापिता तन्निरर्थकं स्यात्, सम्यक्त्वमात्रेणैव बीजमात्रस्य सिद्धत्वात्। यत्तु चारित्रदानं तस्य तदष्टमचारित्रे सिद्धिरेतस्य स्यादिति विकल्पादुपपन्नं स्यादिति। यच्च दशसु विराधनाभवेषु तस्य चारित्रमुपवर्णितं तद् द्रव्यतोऽपि स्यादिति न दोष इति। अन्ये त्वाहुः-न हि वृत्तिकारवचनमात्रावष्टम्भादेव अधिकृतसूत्रमन्यथा व्याख्येयं भवति, आवश्यकचूर्णिकारेणाऽऽराधनापक्षस्य समर्थितत्वादिति। "एवं जहा उववातिए॰" इत्यादि भावितमेवाम्मडपरिव्राजककथानक इति। भ॰ १५ श॰ १ उ॰। उपा॰। कल्प॰। आ॰ चू॰। स्था॰। ('वीर' शब्दे भगवतो गोशालकेन सह विचारो वक्ष्यते)

गोसाला–गोशाला–स्त्री॰। गवां शालायाम्, यत्र गावादयस्तिष्ठन्ति। नि॰ चू॰ ११ उ॰। आ॰ म॰। "विभाषा सेनाच्छायाशालानिशानाम्" ॥ २।४।२५। (पाणि॰) इति वा नपुंसकत्वम्। वाच॰।

गोसीस–गोशीर्ष–न॰। स्वनामख्याते चन्दनविशेषे, ज्ञा॰। "गोसीससरसरत्तचंदनदद्दरदिन्नपंचंगुलितलं" गोशीर्षस्य चन्दनविशेषस्य सरसस्य च रक्तचन्दनविशेषस्यैव दर्दरेण चपेटारूपेण दत्ता न्यस्ताः पञ्चाङ्गुलयस्तला हस्तका यस्मिन् कुड्यादिषु तत् तथा। ज्ञा॰ १ श्रु॰ १ अ॰। प्रश्न॰। रा॰। जी॰। आ॰ म॰। स॰। कल्प॰। प्रज्ञा॰। सू॰ प्र॰। "गोसीसचंदणं च गंधाणं" संथा॰। आ॰ म॰। गोशीर्षचन्दनमयी देवतापरिगृहीता कृष्णस्य भेर्यासीत्। विशे॰। हरिचन्दने, तं॰।

गोसीसावलि–गोशीर्षावलि–स्त्री॰। गोशीर्षपुद्गलानां दीर्घरूपायां श्रेणौ, जं॰ ७ वक्ष॰।

गोद–गोद्द–पुं० । ग्रामेयके, विशे०। "ततो गोहः प्रयात्ययम्"। आ० क०। ग्रामप्रधानार्थे, दे० ना० २ वर्ग।

गोहण–गोधन–न० । गवां धनं समूहः। गोसमूहे, गौरेव धनमस्य। गोरूपधनवति, त्रि०। वाच०। "गोहणं किमेत्थ सद्दंति।" पं० व० १ द्वार।

गोहा–गोधा–स्त्री० । सरीसृपभेदे, भ० ८ श० ३ उ०। सूत्र०।

गोहिया–गोधिका–स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति०। गोधाचर्माऽवनद्धे वाद्यविशेषे, अनु०। भाण्डानां कक्षाहस्तगताऽऽतोद्यविशेषे, आचा० २ श्रु० १ चू०।

गोहूम–गोधूम–पुं०। धान्यभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ०। नारङ्गे, है०। आचा०। प्रज्ञा०। आ० म०। जं०। स्था०।

गोंजी–देशी–मञ्जर्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

गोंठी–देशी–मञ्जर्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

गोंड–देशी–कानने, दे० ना० २ वर्ग।

गोंडी–देशी–मञ्जर्याम्, दे० ना० २ वर्ग।

गोंदीण–देशी–मयूरपिच्छे, दे० ना० २ वर्ग।

गोंहो–देशी–भटे, पुरुषे, दे० ना० २ वर्ग।

गिंन–संस्कृतशब्दः। वाक्यालङ्कारे, 'पुरुष एवेदं गिंन' वेदः। आ० म० द्वि०। विशे०।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–श्रीमद्भट्टारक–
जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचिते
अभिधानराजेन्द्रे गकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

घकार

घ-घ-घकारस्योच्चारणस्थानं जिह्वामूलम, " जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तः" इति शिक्षोक्तेः। 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' इत्युक्तिस्तु जिह्वामूलरूपकण्ठपरा। अस्योच्चारणे आभ्यन्तरः प्रयत्नः स्पर्शः, जिह्वामूलस्पर्शनेन तदुच्चारणात्। अत एवास्य स्पर्शवर्णत्वम्। बाह्यप्रयत्नास्तु घोषनादसम्वारमहाप्राणाः। वाच०। घटायाम, घर्घरशब्दे च। वाच०। मारणे, स्मरणे, घाते, घण्टायाम, किङ्किणीरवे, शक्तौ, भैरवे देवे, पुण्ये, प्रवाहे, पावने च। पुं०। घोरे घुरो रवे च। न०। ए० को०।

घइम्-अव्य०। " घइमादयोऽनर्थकाः " । ८ । ४ । ४२४ । इति अपभ्रंशे 'घइं' इत्यनर्थको निपातः प्रयुज्यते। " घइं विवरीरी बुद्धडी, होइ विणासहों कालि। " प्रा० ४ पाद।

घओद-घृतोद-पुं०। सद्यो विस्यन्दितगोघृतस्वादुतत्कालविकसितकर्णिकारपुष्पवर्णाभतोये घृतवरद्वीपस्य समन्ततो वर्तमाने समुद्रे, सू० प्र० २० पाहु०। जी०।

घअवरं णं दीवं घओदे णामं समुद्दे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते० जाव चिट्ठति समचक्क० तहेव दारा पदेसा जीवा य अट्ठो?। गोयमा! घओदस्स णं समुद्दस्स उदए जहा से सवग्गफुल्लसल्लइविमुकुलकण्णियारसरसवसुविसुद्धकोरंटदामपिंडितरसणिद्धगुणतेयदीवियनिरुवहतविसिट्ठसुंदरतरस्स सुजायदधिमथिततदिवसगहितणवणीयपडुप्पणावितमुक्कढिततउद्दावसज्जवीसंदितस्स अहियं पीवरसुरभिगंधमणहरमधुरपरिणामदरिसणिज्जपत्थणिम्मलसुहोवभोगस्स सरयकालम्मि होज्ज गोघयवरस्स मंदे भवे एतारूवे सिया?। नो इणट्ठे समट्ठे, गोयमा! घतोदस्स णं समुद्दे एत्तो इट्ठतरे० जाव अस्साएणं पण्णत्ते,कंते सुकंता य इत्य दो देवा महिड्डीया० जाव परिवसंति; सेसं तहेव० जाव ताराणणकोमिकोडीओ।

घृतवरं द्वीपं, घृतोदो नाम समुद्रो वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति। शेषं यथा घृतवरस्य द्वीपस्य यावज्जीवोपपातसूत्रम्। इदानीं नामनिमित्तमभिधित्सुराह-"से केणट्ठेणं" इत्यादि। अथ केनार्थेन भदन्त! एवमुच्यते-घृतोदः समुद्रः घृतोदः समुद्र इति?। भगवानाह-गौतम! घृतोदसमुद्रस्य उदकं स यथानाम सकललोकप्रसिद्धः शारदिकः शरत्कालभावी गोघृतवरस्य मण्डः घृतसंघातस्य एकदेशपरिभागे स्थितं घृतं स मण्ड इत्यभिधीयते, सार इत्यर्थः। तथा चाह मूलटीकाकारः-घृतमण्डो घृतसार इति सुकथितो यथोक्ताग्निपरितापतापितः इहरे स्थानान्तरे वाऽऽज्याद्यसंक्रमितः सद्यो विस्यन्दितः तत्कालनिष्पादितो विश्रान्त उपशान्तकचवरः सल्लकीकर्णिकारपुष्पवर्णाभो वर्णेनोपपेतो गन्धेन रसेन स्पर्शेनोपपेत आस्वादनीयो विस्वादनीयो दीपनीयो मदनीयो बृंहणीयः सर्वेन्द्रियगात्रप्रल्हादनीयः। एवमुक्ते गौतम आह-(भवे एयारूवे सिया) भवेत् घृतोदकस्य समुद्रस्योदकमेतद्रूपम्। भगवानाह-नायमर्थः समर्थः, घृतोदकस्य समुद्रस्य उदकमितो यथोक्तस्वरूपात् इष्टतरं यावन्मन आपतरमेव आस्वादेन प्रज्ञप्तम्। कान्तसुकान्तौ यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती, अत्र घृतोदे समुद्रे महर्द्धिकौ यावत् पल्योपमस्थिकौ परिवसतस्ततो घृतमिवोदकं यस्यासौ घृतोदः। तथा चाह-"से एएणट्ठेणं" इत्यादि सुगमम्। चन्द्रादिसंख्यासूत्रमपि सुगमम्। जी०३ प्रति०। स्था०। अनु०। दुःषमदुःषमान्तर्भाविनि घृतमेघापरनामके महामेघे, "पुक्खलसंवट्टा वि य, खारोदघतोदअमयमेहो य।" ति०। घृतमिव उदकं यासां ताः। घृतसमानोदकासु वापीषु, जी० ३ प्रति०। रा०।

घंघल-झकट-पुं०। " शीघ्रादीनां वहिल्लादयः " ॥ ८।४।४२२ ॥ इत्यपभ्रंशे झकटस्य घंघलादेशः। कलहे, प्रा० ४ पाद।

घंघसाला-घङ्घशाला-स्त्री०। बहुकार्पटिकसेवितायां शालायाम, उत्त०७ उ०। "जा अतिरित्ता वसही बहुकप्पडियसेविया सा घंघसाला" आव० ४ अ०। नि० चू०। स०। आचा०। वाततापनाविरहितायां वसतौ, आचा० १ श्रु०७ अ० २ उ०।

घंघो-देशी-गृहे, दे० ना० २ वर्ग।

घंघोरो-देशी-भ्रमणशीले, दे० ना० २ वर्ग।

घंट-घण्ट-न०। दृष्टिवादस्य सूत्रभेदे, स०।

घंटा-घण्टा-स्त्री०। " टो डः " ॥ ८। १।१९५॥ इत्यत्र स्वरादित्यधिकाराद्त्र न मादेशः। प्रा० १ पाद। 'घटि' शब्दकरणे घु० अच्। काकिण्यपेक्षया किञ्चिन्महति, रा०। कांस्यनिर्मिते वाद्यभेदे, वाच०।

घण्टावर्णकः-

तेसि णं घंटाणं इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते। तं जहा-जंबूणयामयाओ घंटातो वतिरामईओ लालातो णाणामणिमया घंटापासा तवणिज्जामईतो संकलातो रययामयातो रज्जूतो ताओ णं घंटाओ हंसस्सराओ मेहस्सराओ सीहस्सराओ दुंदुहिस्सराओ कोंचस्सराओ णंदिस्सराओ णंदियोसातो सीहस्सराओ सीहघोसातो मंजुस्सरातो मंजुघोसातो सुस्सरातो सुस्सरनिग्घोसातो उरालेणं मणुण्णेणं मणहरेणं कण्णमणणिव्वुइकरेणं सद्देणं ते पदेसे सव्वओ समंता आपूरेमाणीतो० जाव चिट्ठंति।

तासां च घण्टानामयमेतद्रूपो वर्णावासो वर्णकनिवेशः प्रज्ञप्तः तद्यथा-जाम्बूनदमय्यो घण्टा वज्रमय्यो लाला नानामणिमया घण्टापार्श्वाः, तपनीयमय्यः शृङ्खला यासु ता अवलम्बितास्तिष्ठन्ति, रजतमय्यो रज्जवः। "ताओ णं घंटाओ" इत्यादि। ताश्च घण्टाः (हंसस्सरा) हंसस्येव मधुरः स्वरो यासां ता हं-

स्वराः, मेघस्येवाति दीर्घः स्वरो यासां ता मेघस्वराः । सिंहस्येव प्रभूतो देशव्यापी स्वरो यासां ताः सिंहस्वराः। एवं दुन्दुभिस्वरा नन्दिस्वराः, द्वादशविधतूर्यसंघातो नन्दिः । नन्दिवत् घोषो ह्रादो यासां ता नन्दिघोषाः, मञ्जु प्रियः स्वरो यासां ता मञ्जुस्वराः, एवं मञ्जुघोषाः, किं बहुना ?–सुस्वराः सुस्वरघोषाः। "उरालेणं" इत्यादि प्राग्वत् । रा०। औ० । जी० ।

घंटाकरण–घण्टाकर्ण–पुं० । श्रीपर्वतस्थायां स्वनामख्यातायां श्रीमहावीरप्रतिमायाम्, ती० ४५ कल्प।

घंटाजाल–घण्टाजाल–न० । किङ्किण्यपेक्षया किञ्चिन्महतीनां घण्टानां दामसमूहे, रा० । जी० ।

घंटाजुयल–घण्टायुगल–न० । घण्टाद्वन्द्वे, रा० ।

घंटावलि–घण्टावलि–स्त्री० । घण्टापङ्क्तौ, रा० । औ० ।

घंटावलिचलिय–घण्टावलिचलित–न० । घण्टापङ्क्तिचलने, भ० ११ श० ११ उ० ।

घंटिय–घाण्टिक–पुं० । घण्टया चरन्ति तां वादयन्तीति घाण्टिकाः। 'रावलिया' इतिप्रसिद्धे घण्टावादनजीविके, कल्प० ५ क्षण । भ० ।

घंटियगण–घाण्टिकगण–पुं० । घण्टावादकसमुदाये, जं० ३ वक्ष० ।

घंटिया–घण्टिका–स्त्री० । आभरणविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । औ० । प्रश्न० । घुर्घुरिकायाम, जं० २ वक्ष० ।

घंटियाजाल–घण्टिकाजाल–न० । क्षुद्रघण्टिकासमूहे, आ० म० प्र० । रा० ।

घंसण–घर्षण–न० । 'घृस' भावे ल्युट् । वाच० । हस्ताभ्यां चन्दनस्येव पेषणे, आ० म० प्र० । आ० क० । विशे० । "घंसणमिति घंसणदारं गहियं । तत्थ परंपरे मणिआरा माणिए घंसंति अणुमेण वेधं काउं, आदिसद्दातो मोत्तिया, कट्ठादिसि चंदणकट्ठाओ घरिसादिसु घृष्यंति" । नि० चू० १ उ० । बृ० ।

घंसियग–घर्षितक–त्रि० । चन्दनवदन्यत्र पेषिते, औ० ।

घग्घरं–देशी-जघनस्थवस्त्रभेदे, दे० ना० २ वर्ग ।

घट्टण–घट्टन–न० । मिथः सजातीयादिना, हस्तस्पर्शनेन वा चालने, दश०४ अ० । ज्ञा० । घट्टनेति वा विचारणेति वा पृच्छेति वा विस्फालनेति वा एकार्थिकानि पदानि । बृ० ४ उ० ।

घट्टणग–घट्टनक–पुं० । पात्राणां घर्षलिसमात्रमसृणताकारके पाषाणे, बृ० ३ उ० ।

घट्टणया–घट्टनता–स्त्री० । घट्टनशब्दस्य भावे प्रवृत्तिनिमित्ते, प्रज्ञा० १६ पद । संघट्टने, आ० । स्था० ।

घट्टणा–घट्टना–स्त्री० । आहनने, ओघ० । कदर्थनायाम, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० । घट्टनातो आयमाने उपसर्गभेदे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० । आ० म० ।

घट्टिय–घट्टित–त्रि० । प्रेरिते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । परस्परसङ्घर्षयुक्ते, जं०१ वक्ष० । रा० । उत्क्षिप्य विक्षिप्य वा चलिते, आव० ४ अ० । " घट्टियाए फंदियाए खोभियाए " वीणायाम कम्बाधोगच्छता चन्दनसारकोणेन गाढतरं वीणादण्डकेन सह तन्त्र्याः स्पृष्टाया इत्यर्थः । जं० १ वक्ष० । रा० ।

घट्ठ–घृष्ट–त्रि० । प्राकृते तु घृष्टशब्दस्य प्रयोगो न भवति, आर्षे तु भवत्येव । प्रा०२ पाद । "अतोऽत्" ॥ ८ । १ । १२६ ॥ इत्यादेर्ऋकारस्याऽत्वम् । प्रा० १ पाद । घर्षे प्रापिते, घृष्टमिव घृष्टं खरशाणया, पाषाणप्रतिमावत् । जी० ३ प्रति० । आ० म० । भ० । औ० । स० । स्था० । रा० । जं० । सुधादिखरपिण्डेन, (आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ०) मसृणपाषाणादिना वा (बृ० ३ उ० । चं० प्र० । कल्प० । सू० प्र०) घट्टकेन घर्षिते,बृ० १ उ०। येषां जङ्घे श्लक्ष्णीकरणार्थं फेनादिना घृष्टे भवतस्ते अवयवावयविनोरभेदोपचारात् घृष्टाः। अनु० । ग० । जङ्घासु दत्तफेनकेषु, औ० । अश्वेषु, विषमभूमिभञ्जनात् । कल्प० ४ क्षण ।

घड्–घट्–धा० । चेष्टायाम्, भ्वा० आत्म० सक० सेट् घटादि० ततो णिच् । वाच०। "घटेः परिवाडः" ॥८ । ४ । ५०॥ इति घटेर्ण्यन्तस्य परिवाडादेशाभावपक्षे 'घडेइ' घटयति। प्रा०४ पाद । 'घडए' घटते । नि० चू० १ उ० ।

घड–घट–पुं० । घट्-अच् । "टो डः" ॥८।१।१९५॥ इति स्वरात्परस्यासंयुक्तस्यानादेः टस्य डः । प्रा० १ पाद । घटतेऽसौ घटनादू वा घटः । विशे० । सूत्र० । जलाद्याहरणार्थं क्रियमाणचेष्टमाने, विशे० । स्था० । आ० म० । आ० चू० । कुम्भोदरकपालात्मके पदार्थे, अनु० । "घडा चउव्विहा पन्नता । तं जहा-छिड्डकुडे, बोडकुडे,खंडकुडे,सगले त्ति । छिड्डो जो मूलछिड्डो,बोडो जस्स कट्ठा णत्थि,खंडो एगंसे उडपुंडं णच्छि, सगलो अव्वंगो चेव। छिड्डे जं छूढं तं गलति,बोमे तावतियं ण ठाति,खंडे तएण पासेण छुडिज्जइ जदि इच्छा थोवेण वि रुंभइ,खंडे एस विसेसो–खंडा वोरणं संपुण्णो सव्वं धरेति। एवं चेव सीसा चत्तारि समोतारेयव्वा, सव्वत्थ विराहणाचओ भाणियव्वा "। आ० चू० १ अ०।

घडकडितडच्छाय-घटकटिततटच्छाय-पुं० । इह शरीरस्य मध्यभागे कटिः, ततोऽन्यस्यापि मध्यभागः कटिरिव कटिरित्युच्यते, कटिरूपतटमिव कटितटम्, घटेन अन्योऽन्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशतो निबिडा कटितटे मध्यभागे छाया येषां ते तथा। मध्यभागे निबिडोत्तरच्छाये, रा० ।

घडकार–घटकार–पुं०। घटकारणक्रियाकर्त्तरि, विशे० । आ० म०।

घडग-घटक-पुं० । लघुघटे, जं० २ वक्ष० । अनु० । घटरूपोपमे, आ० चू० ४ अ० ।

घडण–घटन–न० । अप्राप्तसंयमयोगप्राप्तये यत्ने, प्रश्न० १ संव० द्वार । अनु० ।

घडणा–घटना–स्त्री० । मीलने, आ० म० द्वि० । संबन्धप्राप्तौ, सूत्र० १ श्रु०१ अ० १ उ० । परस्परादिसंघर्षणायाम, विशे० ।

घडणावा–घटनौ–स्त्री० । उडुपे, नि० चू० १२ उ० ।

घडदास-घटदास–पुं० । जलवाहके दासे, आचा० १ श्रु० २ अ० ३ उ० । जलवाहिन्याम्, स्त्री० । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० ।

घडमाण–घटमान–पुं० । पूज्यमाने, नि० चू० १ उ० ।

घडमुह-घटमुख–पुं० । कलशवदने, स० ।

घडय–घटक–पुं० । 'घडग' शब्दार्थे, जं० २ वक्ष० ।

घडा–घटा-स्त्री० । महत्तरादिगोष्ठीपुरुषसमवाये. बृ० ३ उ० । व्य० ।

घडाजोज्ज–घटाजोज्य–न० । महत्तरानुमहत्तरादिबाहिरवाले ज्जोज्ये, व्य० १० उ० ।

घडावित्ता-घटयित्वा-अव्य० । निर्माप्येत्यर्थे, आ० म० द्वि० ।

घमिअघडा-देशी-गोष्ठ्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

घमिमंतय-घटीमात्रक-न० । घटीसंस्थानमृण्मयभाजनविशेषे, बृ० ।

कप्पइ णिग्गंथीणं अंतोलित्तं घमिमंतयं ति धरित्तए वा परिहरित्तए वा ।

अस्य सूत्रस्य संबन्धमाह—

ओहाडिएँ चिलिमिलिए, दुक्खं बहुसो मइंति निंति विय।
आरंजो घमिमंते, निसिं च वुत्तं इमं तु दिवा ॥

चिलिमिलिकया, वपलकणस्त्रात्कटद्वयेन वा, अवघाटिते पिनद्धे सति द्वारे रजन्यां मात्रकमन्तरेण बहिः कायिक्यादिव्युत्सर्जनार्थं बहुशो निर्गमप्रवेशेषु दुःखमार्यिका निर्गच्छन्ति, प्रविशन्ति च ; अत्रायं घटीमात्रकसूत्रस्यारम्भः । यद्वा-निशायां रात्री मात्रके यथा कायिकी व्युत्सृज्यते, तथाऽनन्तरसूत्रेऽर्थतः प्रोक्तम्, इदं तु सूत्रं दिवा मात्रकमधिकृत्योच्यते इति। अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थीनामन्तलिप्तं घटीमात्रकं घटीसंस्थानं मृन्मयभाजनविशेषं धारयितुं वा परिहर्तुं वा। धारयितुं नाम-स्ववसत्यां स्थापयितुं, परिहर्तुं परिभोक्तुम्, एष सूत्रार्थः ।

अथ निर्युक्तिः—

घमिमंतऽतो लित्तं, निग्गंथीणं अगिण्हमाणीणं ।
चउगुरुगाऽऽयरियाई, तत्थ वि आणाइणो दोसा ॥

अन्तर्मध्ये लिप्तं लेपेनोपदिग्धं घटीमात्रकं निर्ग्रन्थीनामगृह्णतीनां चतुर्गुरुकाः (आयरियाइ त्ति) आचार्य एतत्सूत्रं प्रवर्तिन्या न कथयति चतुर्गुरु, प्रवर्तिनी आर्यिकाणां न कथयति चतुर्गुरु, आर्यिका न प्रतिशृण्वन्ति मासलघु, तत्रापि घटीमात्रकस्याग्रहणेऽकथनेऽप्रतिश्रवणे वाऽऽज्ञादयो दोषाः ।

आह-स घटीमात्रकः कीदृशो भवति ?, इत्याह-

अपरिस्साई मसिणो, पगासवइणो स मिम्मओ लहुओ ।
सुयसियदद्दरपिहुणो, चिट्ठइ अरहंसि वसहीए ॥

स इति घटीमात्रकः पानकेनात्यन्तभावितत्वादवश्यं न परिस्रवतीत्यपरिस्रावी, मसृणः सुकुमारः, प्रकाशः प्रकटं वदनं मुखमस्येति प्रकाशवदनः, मृन्मयो मृत्तिकानिष्पन्नो, लघुकः स्वल्पभारः, शुचि पवित्रं, चाक्षमित्यर्थः । सितं श्वेतं शुक्लवर्णोपेतं, दर्दरपिधानं वस्त्रमयं बन्धनं यस्य स शुचिसितदर्दरपिधानः, एवंविधः, अरहसि प्रकाशप्रदेशे वसत्यां तिष्ठति ।

नो कप्पइ निग्गंथाणं अंतोलित्तं घमिमंतं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।

अस्य व्याख्या प्राग्वत् ।

अत्र निर्युक्तिः—

साहू गिण्हइ लहुगा, आणाइ विराहणा अणुवहि त्ति ।
बिइयं गिलाणकारणेँ, साहूण वि सो अवादीसु ॥

यदि साधुर्घटीमात्रकं गृह्णाति तदा चत्वारो लघुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः, विराधना च संयमात्मविषया । तत्र (अणुवहि त्ति) साधूनामयमनुपधिर्न भवति। किमुक्तं भवति?-यत्किल साधूनामुपकारे न व्याप्रियते, तन्नोपकरणं, किं तु अधिकरणम्। " जं जुज्जइ उवयारे, उवगरणं तंसि होइ उवगरणं । अइरेगं अहिगरणं, " इति वचनात् । यः स्वाधिकरणं, तत्र परिस्फटितेऽपि संयमविराधनाऽऽत्मविराधनाव्यतिरिक्तोपधिभारवहनादनागाढपरितापनादिका (बिइयं ति) द्वितीयपदमत्र भवति। किं पुनस्तदित्याह-ग्लानकारणे समुत्पन्ने साधूनामपि घटीमात्रकग्रहणं युज्यते, तदपि शौचवादिषु शिष्येषु देशविशेषेषु वा, तदुत्तरत्र भावयिष्यते ।

अथ किमर्थमत्र चतुर्लघु प्रायश्चित्तमुक्तम् ? । अत्रोच्यते-

दुविहपमाणऽतिरेगे, सुत्तादेसेण तेण लहुगाओ ।
मज्झिमगं पुण उवहिं, पडुच्च मासो भवे लहुओ ॥

द्विविधं द्विप्रकारं गणनाप्रमाणभेदाद्यत्प्रमाणं, ततोऽतिरिक्ते उपधौ सूत्रादेशेन चतुर्लघुका भवन्ति । यत उक्तं निशीथसूत्रे-"जे भिक्खू गणणाइरित्तं वा पमाणाइरित्तं वा उवहिं धरेइ, से आवज्जइ चाउम्मासियं, परिहरणे ठाणं उग्घाइयं" इत्यतः सूत्रादेशेन चतुर्लघुकं यदातपविनिष्पन्नं चिन्त्यते तदा अयं घटीमात्रको मध्यमोपधिष्ववतरतीति कृत्वा मध्यमं पुनरुपधिं प्रतीत्य लघुको मासो भवति ॥

अथ धारयितुं परिहर्तुं चेति पदद्वयव्याख्यानमाह-

धारणयाउ अभोगो, परिहरणा तस्स होइ परिभोगो ।
दुविहेण वि सो कप्पइ, परिहारेणं तु परिजोत्तुं ॥

इह द्विधा परिहारः। तद्यथा-धारणा परिहरणा, अभोगोऽव्यापारणं, संयमोपबृंहणार्थं स्ववसत्यां स्थापनमित्यर्थः। परिहरणा नाम-तस्य घटीमात्रकादेरुपकरणस्य परिभोगो व्यापारणम्, एतेन द्विविधेनापि परिहारेण स घटीमात्रको निर्ग्रन्थीनां परिभोक्तुं कल्पते, स च दिवसं चेत्पानकपूर्णस्तिष्ठति ।

अथ किमर्थमयं गृह्यत इत्याह-

उड्डाहो वोसिरणे, गिलाणआरोवणा य धरणम्मि ।
बिइयपए असई वा, भिन्नो वा अच्छलित्तो वा ॥

संयतीभिरुत्सर्गतो द्रव्यप्रतिबद्धायां वसतौ स्थातव्यं, तत्र घटीमात्रकाग्रहणेऽगारिकाणां पश्यतां बहिः कायिकीव्युत्सर्जने उड्डाहः प्रवचनलाघवमुपजायते । अथ कायिक्या वेगं धारयन्ति, ततो धारणे ग्लानारोपणा, यत एवमतो गृहीतव्यो घटीमात्रकः संयतीभिः। द्वितीयपदम-असत्यविद्यमाने घटीमात्रके, यदि वा विद्यते घटीमात्रकः परं भिन्नो भग्नः, अर्द्धलिप्तो वा, अत एषोऽवा अव्याप्रियमाणा, ततो बहिर्गत्वा कायिकी यतना व्युत्सर्जनीया, निर्ग्रन्थाः पुनरप्रतिबद्धोपाश्रये तिष्ठन्ति, अतस्ते घटीमात्रकं न गृह्णन्ति ।

कारणे तु गृह्णन्त्यपि-

लाउएँ असइ सिणेहो, ठाइ तहिं पुव्वभाविएँ कमढे ।
सेहो व सोयवाई, धरंति देसं च वे पप्प ॥

अलाबुपात्रकस्याभावे ग्लानार्थं च स्नेहं ग्रहीतव्यं, पूर्वभावितं कटाहकं, घटीमात्रकं वा गृहीतव्यं, यतस्तत्र गृहीतः स्नेहः तिष्ठति, न परिश्रवति, शैक्षो वा कश्चित् साधूनां मध्ये अत्यन्तं शौचवादी, न शौचार्थं घटीमात्रकं गृह्णीयात्, देशं वा देशविशेषं शौचवादबहुलं प्राप्य घटीमात्रकं धारयन्ति यथा गौडविषये ॥

अथ तस्यैव ग्रहणे विधिमाह-

गहणं तु अहागडए, तस्सासइ होइ अप्पपरिकम्मं ।

तस्साभइ कुमिगादी , घेत्तुं नाला विउज्जंति ॥

प्रथमतो यथाकृतस्य घटीमात्रकस्य ग्रहणं कर्त्तव्यं, तस्यासति अल्पपरिकर्मयोग्यं गृहीतव्यं , तस्यासति कुम्भिकादि गृहीत्वा नालानि वियोज्यन्ते । बृ० १ उ० ।

घडिय-घटयित्वा-अव्य० । संचाल्येत्यर्थे,दशा० ५ अ० १ उ० ।

घडित-त्रि० । युक्ते, औ० ।

घडियव्व-घटितव्य-त्रि० । अप्राप्तानां संयमयोगानां प्राप्तये कार्यायां घटनायाम् , ज० ए श० ३३ उ० ।

घडिया-घटिका-स्त्री० । मृण्मयकुल्लुरिकायाम, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० । षट्पुदकपलमानायाम (सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ०) नलिकायाम् , तत्परिमिते काले च । आव० ४ अ० ।

घडुक्कय-घटोत्कच-पुं० । भीमसेनस्य हिडिम्बायां जनिते पुत्रे , " भीमसेणस्स पच्छादो हिंडिमाए हिडिंबाए घडुक्कसोके ण उवशमदि । " प्रा० ४ पाद ।

घण-घन-पुं० । ' हन ' मूर्त्तौ अप्-घनादेशश्च । वाच० । मेघे, औ० । प्रश्न० । रा० । आ० म० । स्था० । आव० । ध० । प्रावृट्कालभाविनि मेघे, जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० । लोहमुद्गरे , तं० । प्रश्न० । व्यासे, त्रि० । प्रज्ञा० १ पद । आचा० । दृढे, त्रि० । आव० ५ अ० । निचिते, त्रि० । जी० ३ प्रति० । पिण्डे , न० । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । अविरले, त्रि० । कल्प० २ क्षण । बहुलतरे, भ० । रा० । निश्छिद्रे, न० । रा० । बृ० । ज्ञा० । निबिडे, पुं० । रा० । जं० । औ० । तं० । कल्प० । बृ० । विशे० । ज्ञा० । निबिडप्रदेशोपचये, चं०प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । अतिशये, रा० । प्रश्न० । तालप्रभृतिके, जं० ५ वक्ष० । कांस्यतालादिके , जं० २ वक्ष० । जी० । भ० । स्था० । कांसिकादौ, रा० । आ० म० । जी० । तन्तुभिः समे , नि० चू० २ उ० । सान्द्रे , बृ० ३ उ० । संमर्दरूपे च वाद्ये, न० । सू० प्र० १२ पाहु० । आचा० । आ० चू० । हिमशिलावत् स्त्याने, पुं० । स्था० ३ ठा० ४ उ० । संस्त्याने , पुं० । विशे० । आव० । कर्म० । घनः सङ्ख्यानम् , यथा-"त्रयोघनोऽष्टौ समत्रिराशिहतिः इति वचनात्। स्था० १० ठा० । मुस्ते, समूहे, दार्ढ्ये , विस्तारे , शरीरे , कफे, अभ्रके, पूर्णे, सम्पुटे, त्रि० । मध्यमनृत्ये, न० । लौहे, न० । त्वचे, न० । " समत्रिघातश्च घनः प्रदिष्टः " इत्युक्ते समाङ्कत्रयवधे,वाच० । "घणकडियकडच्छाए त्ति" इह शरीरस्य मध्यभागः कटिः,ततोऽन्यस्यापि मध्यभागः कटिरिव कटिरित्युच्यते ,कटिस्तटमिव कटितटं, घनाऽन्योन्यशाखाप्रशाखानुप्रवेशिता निविडा कटितटे मध्यभागे छाया यस्य स घनकडितटच्छायः, मध्यभागनिबिडतरच्छाय इत्यर्थः। क्वचित्पाठः-"घनकडियकडच्छाए" इति । तत्रायमर्थः-कटः संजातोऽस्येति कटितः, कटान्तरेणाऽऽवृत इत्यर्थः। कटितश्चासौ कटश्च कटितकटः, घना निबिडा कटितकटस्येव अधोभूमौ छाया यस्य स घनकटितकटच्छायः। जी० ३ प्रति० ।

घणकवाड-घनकपाट-न० । निश्छिद्रकपाटे, प्रश्न०२ आश्र० द्वार ।

घणकोट्टिम-घनकुट्टिम-न० । घनकुट्टेन अयोघनताडनेन निर्वृत्ते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

घणघणाइय-घनघनायित-न० । रथवत् चीत्कुर्वति, जं० ५ वक्ष० । भद्र० ।

घणनिचय-घननिचय-त्रि० । अत्यर्थनिबिडे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । " घणनिचयवट्टपालिखंधे " घननिचितोऽत्यर्थं निबिडो दृढश्च वृत्तश्च वर्तुलः पालिवत् डागादिपालीवत् स्कन्धोंशदेशो यस्य स तथा । उपा० ७ अ० ।

घणनिचिय-घननिचित-त्रि० । घनो लोहमुद्गरस्तद्वन्निचितं निबिडम् । अतीव निबिडे , औ० । अतिशयनिबिडे, " घणनिचियवलियवट्टखंधे " घनमतिशयेन निचितो निबिडतरचयमापन्नो वलितावित्र वलितौ वृत्तौ स्कन्धौ यस्य स तथा । जी० ३ प्रति० । रा० । " घणनिचियसुबद्धलक्खणुन्नयकूडागारनिहपिंडियसिरा " घनमतिशयेन निचितं घननिचितं, सुष्ठु अतिशयेन बद्धानि अवस्थितानि लक्षणानि यत्र तत् सुबद्धलक्षणम्, उन्नतं मध्यभागे उच्चं यत् कूटं तस्याकारो मूर्त्तिस्तन्निभमुन्नतकूटाकारसदृशमिति भावः। पिण्डितं स्वकर्मणा संयोजितं शिरो येषां ते घननिचितसुबद्धलक्षणोन्नतकूटाकारनिभपिण्डितशिराः। जी० ३ प्रति० गाढनियोजने,"घणनिचियनिरंतरनिच्छिड्डाइं " घननिचितानि कपाटादिद्वारपिधानानां द्वारशाखादिषु गाढनियोजनेन तानि च तानि निरन्तरं कपाटादीनामन्तराभावेन निश्छिद्राणि च नीरन्ध्राणि घननिचितनिरन्तरनिश्छिद्राणि । भ० ७ श० ८ उ० ।

घणतव-घनतप-न० । चतुःषष्टिपदात्मके तपसि, उत्त० ३ अ० ।

घणदंत-घनदन्त-पुं० । स्वनामख्यातेऽन्तर्द्वीपे,तद्वासिनि मनुष्ये च । प्रज्ञा० १ पद । स्था० । उत्त० । (तद्वर्णको ' अंतरदीव ' शब्दे प्रथमभागे १७ पृष्ठे उक्तः)

घणपयर-घनप्रतर-पुं० । घनः प्रतर एव, घनं च प्रतरं च घनप्रतरम् । प्राकृतत्वाद्बिन्दुलोपः । सर्वत्र च प्रतरपूर्वक एव घनः प्ररूप्यते, इहापि तथैवोपदर्शयिष्यते, ततः प्रतरघन इति निर्देशः प्राप्तः, अल्पाक्षरत्वाद् घनशब्दस्य पूर्वनिपातः । ततश्चैकैकं परिमण्डलादि प्रतरं घनं च भवतीति गम्यते । उत्त० १ अ० ।

घणमिच्छत्त-घनमिथ्यात्व-न० । निबिडमिथ्यात्वे , " घणमिच्छत्तो कालो, एत्थ अकालो य होइ नायव्वो । कालो उ अपुणबंधग-पभिई धीरेहि निद्दिट्ठो ॥ " ध० १ अधि० ।

घणमुइंग-घनमुदङ्ग-पुं० । घनो घनाकारो ध्वनिसाधर्म्याद् यो मृदङ्गः । सू० प्र० १८ पाहु० । घनो मेघः तदाकारो यो मृदङ्गः ध्वनिगाम्भीर्यसाधर्म्यात् । स्था० ७ ठा० । मेघसमानगम्भीरध्वनिमर्दले , स्था० ८ ठा० । जी० । कल्प० । ज० । औ० ।

घणमुयंग-घनमृदङ्ग—पुं० । 'घणमुइंग 'शब्दार्थे, स्था०८ ठा० ।

घणरज्जु-घनरज्जु-स्त्री० । घनीकृतासु रज्जुषु , प्रव० ९ द्वार ।

तिन्नि सया तेयाला, रज्जूणं होंति सव्वलोगम्मि ।
चउरंसं होइ जयं, सत्ताएहघणेणिमा संखा ॥ ए१५ ॥

सर्वस्मिन्नपि चतुर्दशरज्ज्वात्मके लोके घनीकृते त्रिचत्वारिंशदुत्तराणि त्रीणि शतानि रज्जूनां भवन्ति । अथ घनीकरणे कीदृक्संस्थानो लोकः संपद्यते । तत्राह—(चउरंसं होइ जयं ति) चतुरस्रं सर्वतः समचतुरस्रं जगत् लोको भवति , संवर्तितं सदिति शेषः । इयं च त्रिचत्वारिंशदुत्तरशतत्रयलक्षणा रज्जुसंख्या, सप्तानां घनेन'समत्रिराशिहतिर्घनः'इति वचनात् अन्योन्यं त्रिस्ताडनेन जायते । एतदुक्तं भवति-संवर्तितलोकस्याऽऽ-

यामविष्कम्भबाहल्यानां प्रत्येकं सप्तरज्जुमानत्वात् सप्तकेन गुण्यन्ते, जाता एकोनपञ्चाशत्, साऽपि पुनः सप्तकेन गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि त्रिचत्वारिंशानीति । एतच्च व्यवहारमाश्रित्योक्तं, निश्चयतस्तु-एकोनचत्वारिंशदधिकद्विशतसंख्यानामेव घनरज्जूनां संभवात् । तथाहि-षट्पञ्चाशत्संख्यास्वपि पङ्क्तिषु "तिरियं चउरो दोसुं" इत्यादिगाथाकथितानि चतुरादीनि प्रतरखण्डकानि एकैकपङ्क्तिगतानि पृथक् पृथक् वर्ग्यन्ते, सदृशद्विराशिघातो वर्ग इति वचनाच्च चतुष्कादयोऽङ्काश्चतुष्कादिभिरेव गुण्यन्ते इत्यर्थः । जाताः षोडशादयोऽङ्काः, तेषां च सर्वमीलने च दश सहस्राः, षण्णवत्यधिके च द्वे शते खण्डकानां भवन्ति । अस्य च राशेर्घनरज्जुसमानयनाय चतुःषष्ट्या भागो ह्रियते, ततो जायते एकोनचत्वारिंशदधिका द्विशतसंख्या एव घनरज्जव इति । उक्तं च—

"उवरित्थहत्थउप्प-ग्गपयरपत्थक्कखंडिदुखंमाणं ।
घम्मं कुणह पिहुप्पिहु, संजोगे तिजय गणियपयं ॥
सहसेगारस दुसया, बत्तीसऽहिया अहम्मि खंमाणं ।
समदीहपिहुव्वेहा-णरज्जुचउरंसमाणेणं ॥
चत्तारि सहस्साइं, चउसट्ठिजुआइ उड्ढलोगम्मि ।
पनरह सहस्स तिरियं, चउरूणं जायमुभयंसि ॥
चउसट्ठीए विभत्तं, इगुयाला दोसया हविज्जेवं ।
लोए घणरज्जूणं, ।" प्रव० १४३ द्वार ।

घणवट्ट-घनवृत्त—न०। सर्वतः समे मोदकवद्घनवृत्ते, भ० २५ श० ३ उ० । उत्त० । (तच्च 'संजोग' शब्दे परमाणूनां संयोगप्ररूपणावसरे प्ररूपयिष्यते)

घणवलय—घनवलय—न० । नरकपृथिवीनां पार्श्ववर्तिनि वृत्ताकारतोयविशेषे, पिं० ।

घणवाउ—घनवायु—पुं० । रत्नप्रभाद्यधोवर्तिनि घनरूपे वायुविशेषे, उत्त० ३६ अ० ।

घणवाय—घनवात—पुं० । रत्नप्रभानां नरकपृथिवीनामाधारतया व्यवस्थितेऽधो वर्तिनि अत्यन्तघने पिण्डीभूते वातविशेषे, पिं०। जी० । आचा० । स्था० ।

घणवाही—देशी-इन्द्रे, दे० ना० २ वर्ग ।

घणविज्जुया—घनविद्युता—स्त्री० । दिक्कुमारीभेदे, स्था० ६ ठा० ।

घणवुट्ठि—घनवृष्टि—स्त्री० । पञ्चम्यां स्त्रीकलायाम् , कल्प० ७ क्षण ।

घणसंखाण—घनसंख्यान—न० । अष्टमे सङ्ख्यानभेदे, घनः सङ्ख्यानं यथा-द्वयोर्घनोऽष्टौ समत्रिराशिहतिरिति वचनात् । स्था० १० ठा० ।

घणसंताण-घनसंतान-पुं०। कोलिके, पं० व० २ द्वार । नि० चू० । ध० ।

घणसार- घनसार—पुं० । घनस्य मुस्तकस्य सारः। कर्पूरभेदे, 'शरदिन्दुकुन्दघनसारनीहारहारेत्यादि' घनो निविमः सारोऽस्य । दक्षिणावर्तपारदे, वृक्षभेदे, जले, श्रेष्ठवारिदे, वाच० । संथा० ।

घणिय—घनित—न० । गर्जिते, सू० प्र० २० पाहु० ।

घणोदहि—घनोदधि—पुं० । घनः स्त्यानो हिमशिलावत् उदधिर्जलनिचयः, स चासौ स चेति घनोदधिः । स्था० ३ ठा० ४ उ० । प्रत्यक्षत उपलभ्यमानाया रत्नप्रभायाः पृथिव्या अधो घनः स्त्यानीभूतोदक उदधिर्घनोदधिः । जी० ३ प्रति० । औ० । नरकपृथिवीनामाधारभूतेषु कठिनतोयेषु समुद्रेषु, पिं० । प्रज्ञा० । स०।

"सव्वे वि य णं घणोदहिवीसजोयणसहस्साइं" घनोदधयः सप्तमपृथिवीप्रतिष्ठानभूताः सामानिकाः इन्द्रसमानर्धयः साहस्र्यः विंशतिसहस्राणि । स० २० सम० । स्था० । "सत्तसु घणवाएसु सत्त घणोदहीए ठिया" स्था० ७ ठा० । प्रज्ञा० ।

घणोदहिवलय—घनोदधिवलय—न० । घनोदधिरेव वलयमिव वलयं कटकं घनोदधिवलयम् । वलयाकारे घनोदधौ, स्था० ३ ठा० ४ उ० । वलयाकारे पृथिवीपर्यन्तवेष्टके समुद्रे, प्रज्ञा० २ पद ।

घण्णो—देशी-उरसि, रक्ते च । दे० ना० २ वर्ग ।

घतमंम—घृतमण्ड—पुं० । घृतसारे, यो घृतसङ्घातस्योपरिभागे स्थितं घृतं स मण्ड इत्यभिधीयते, सार इत्यर्थः। तथा चाह जीवाभिगममूलटीकाकारः-'घृतमण्डो घृतसारः' इति । जी० ३ प्रति० ।

घतवर—घृतवर—न०। क्षीरोदस्य समुद्रस्य परितो द्वीपभेदे, जी०।

खीरोदं णं समुद्दं घतवरे णामं दीवे वट्टे वलयागारसंठाणसंठिते० जाव परिक्खिवित्ता णं चिट्ठति समचक्कवाले नो विसमचक्कवाले संखेज्जविक्खंभपरिक्खेवपदेसा० जाव अट्ठो ?। गोयमा ! घतवरे णामं दीवे तत्थ २ वहवे खुड्डा खुड्डिया वावीओ० जाव घतोदगपडहत्थाउ उप्पायपव्वयगा० जाव खमखडगा सव्वकंचणमया अच्छा० जाव पडिरूवा कणगकणगप्पभा इत्थ दो देवा महिड्ढिया चंदा संखेज्जा ।

क्षीरोदं णामिति पूर्ववत्, समुद्रं, घृतवरो नाम द्वीपो, वृत्तो वलयाकारसंस्थानसंस्थितः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्य तिष्ठति । अत्रापि चक्रवालविष्कम्भपरिक्षेपपद्मवरवेदिकावनखण्डद्वारान्तरप्रदेशजीवोपपातवक्तता पूर्ववत् । संप्रति नामनिमित्तमभिधित्सुराह-"से केणट्ठेणमित्यादि"। अथ केनार्थेन भगवन् ! एवमुच्यते-घृतवरो द्वीपो घृतवरद्वीप इति ?। भगवानाह-गौतम ! घृतवरद्वीपे "तत्थ तत्थ देसे तहिं तहिं" इत्यादि । अरुणवरद्वीपवत् सर्वं तावद्वक्तव्यं यावत् "वाणमंतरा देवा देवीओ य आसयंति सयंति, यावद्विहरंति" इति, नवरं वाप्यादयो घृतोदकपरिपूर्णा इति वक्तव्यं, तथा पर्वताः पर्वतेष्वासनानि, गृहकाणि गृहकेष्वासनानि, मण्डपका मण्डपकेषु पृथिवीशिलापट्टकाः सर्वात्मना कनकमया इति वक्तव्यं, कनककनकप्रभौ चात्र द्वौ देवौ यथाक्रमं पूर्वार्द्धापरार्द्धाधिपती महर्द्धिकौ, यावत् पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, ततो घृतोदवाप्यादियोगात्, घृतवर्णदेवस्वामिकत्वाच्च घृतवरो द्वीप इति । तथा चाह-"से एएणट्ठेणमित्यादि ।" चन्द्रादिसंख्यासूत्रं प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० । सू० प्र० । चं० प्र० । अनु० । स्था० ।

घत्त—क्षिप—धा० । प्रेरणे, उभ० सक० सेट् । वाच० । "क्षिपेर्गलत्थाडुक्खसोल्लपेल्लणोल्लछुहहुलपरीघत्ताः" ॥ ८ । ४ । १४३ ॥ इति क्षिपेर्घत्तादेशः । 'घत्तइ' क्षिपति । प्रा० ४ पाद ।
गवेष—धा० । अन्वेषणे, चुरा० आत्म० सेट् । वा च० । "गवेषेर्ढुंढुल्लढंढोल्लगमेसघत्ताः" ॥ ८ । ४ । १८९ ॥ इति गवेषेर्घत्तादेशः । 'घत्तइ, गवेसइ' गवेषयते । प्रा० ४ पाद । 'तह घत्तइति' तथा क्षेप्यते । तं० ।

घ त्ति घकारप्पविभत्ति—घ इति घकारप्रविभक्ति—स्त्री० । घकाराकृत्यभिनयात्मके नाट्यविशेषे, रा० ।

घतोद—घृतोद—पुं० । 'घओद' शब्दार्थे, सू० प्र० २० पाहु० ।

घतोय-घृतोद-पुं० । ' घतोद ' शब्दार्थे , सू० प्र० २० पाहु० ।

घत्थ-ग्रस्त-न० । अभिभूते , आव० ४ अ० ।

घम्म-घर्म-पुं० घरति अङ्गात् घृ-सेके, त्तरणे, कर्तरि मक् । नि० गुणः । वाच० । केषांचिदाचार्याणां मते चतुर्थस्य द्वितीयो न । प्रा० ४ पाद । अङ्गनिष्पन्दे स्वेदे , श्रमजवारिणि , घरत्यङ्गमनेनेति करणे मक् । आतपे, ग्रीष्मकाले, तयोरङ्गस्वेदसाधनत्वात्तथात्वम् । आतपयुक्ते दिवसे, वाच० । उष्णे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० ।

घम्मट्ठाण-घर्मस्थान-न० । उष्णप्रधाने स्थाने , सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आतपस्थाने, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

घम्मा-घर्मा-स्त्री० । सप्तसु नरकपृथिवीषु प्रथमायां नरकपृथिव्याम, "घम्मा णामेणं रयणप्पभागो तेणं" जी० ३ प्रति० । स्था० ।

घम्मोइ-देशी-गण्डरुलंज्ञे तृणे, दे० ना० २ वर्ग ।

घम्मोडी-देशी-मध्याह्ने, मशके, ग्रामीसंज्ञे तृणे च । दे० ना० २ वर्ग ।

घय-घृत-पुं० । न० । घृ-सेके क्तः । अर्द्धर्चादि० । वाच० । "ऋतोऽत्" । ८ । १ । १२६ । आदे ऋकारस्यात्वं भवति । घृतं,'घयं' । प्रा० १ पाद । दुग्धभवे, वाच० । " सर्पिर्विलीनमाज्यं तु, घनीभूतं घृतं भवेत्" । इत्युक्ते घनीभूते आज्ये, घृतगुणभेदादि उक्तम् । यथा-

" घृतमाज्यं हविः सर्पिः, कथ्यन्ते तद्गुणा अथ ।
घृतं रसायनं स्वादु, चक्षुष्यं वह्निदीपनम् ।
शीतं वीर्ये विषालक्ष्मी-पापपित्तानिलापहम् ।
अल्पाभिष्यन्दि कान्त्योज-स्तेजोलावण्यवृद्धिकृत् ॥
स्वरस्मृतिकरं मेध्य-मायुष्यं बलकृद्गुरु ।
उदावर्तज्वरोन्मादशूलानाहव्रणान् हरेत् ॥
स्निग्धं कफकरं रक्षःक्षयवीसर्परक्तनुत्" । वाच० । दर्श० । स्था० ।

घृतमपि चतुर्भेदं गवादिसंबन्धित्वेनैव । प्रव० ४ द्वार । "उद्दीणं दधि नत्थि, नवणीयं घयं पि ते णत्थि ।" आव० ६ अ० । आ० चू० । "घृतेन वर्धते मेधा" । बृ० ५ उ० । सूत्र० ।

घयआसव-घृताश्रव-पुं० । घृतमिव वचनमाश्रवन्तीति घृताश्रवाः । लब्धिमद्भेदे, आ० म० प्र० ।

घयकिट्ट-घृतकिट्ट-न० । घृतमले , तच्च घृतेन विकृतिः । ध० २ अधि० ।

घयकिट्टिया-घृतकिट्टिका-स्त्री० । घृतमले, प्रव० ४ द्वार ।

घयगुलपुण्ण-घृतगुडपूर्ण-स्त्री० । घृतगुडसमन्विते , पञ्चा० ८ विव० ।

घयघट्ट-घृतघट्ट-त्रि० । घृतसंबन्धिनि किट्टे, यो हि महियाउच्यमित्युच्यते । बृ० १ उ० । पं० व० ।

घयण-घतन-पुं० । भाण्डे , " घयणव्वच्छले णियच्छओ ।" पं० व० ४ द्वार । प्रव० । आ० क० । आ० म० ।

घयपक्कोसहि-घृतपक्कौषधि-स्त्री० । पक्कौषधोपरि तरिकारूपे सर्पिषि, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

घयपुण्ण-घृतपूर्ण-पुं० । अपूपे , (घेवर) " सद्यः प्राणकरा हृद्याः, घृतपूर्णाः कफापहाः " । सूत्र० १ श्रु० ८ अ० ।

घयपूसमित्त-घृतपुष्पमित्र-पुं० । आर्यरक्षितसूरेः शिष्ये, आ० चू० । "घयपूसमित्तस्स इमा लद्धी-दव्वतो-घतं उप्पाएतव्वं,खेत्तओ-जहा उज्जेणीए, काले तु-जेट्ठासाढमासेसु, भावओ-धिज्जातिणी पुत्थिणी, तीसे जत्तुणा दिवसेहि छहिं मासेहिं पंसाबीहिसि पिंडिओ वारं घट्टओ, घृतस्स वि ताए उववज्जिहिति त्ति, सा य कल्ले वा परे वा विहिति त्ति कातूणं तेण य जातितं, अण्णं णत्थि तह वि पेमितं,सा हट्ठतुट्ठमणसा देज्जा,परिमाणओ-जंतियं गच्छस्स उवउज्जति सो य णिंतो चेव पुच्छति-कस्स केत्तिएण घएण कज्जं ? । आ० चू० १ अ० । आ० म० । विशे० ।

घयमेह-घृतमेघ-पुं० । दुःषमदुःषमान्तभाविनि महामेघे , जं० ३ वक्ष० ।

घयविहिपरिणाम-घृतविधिपरिणाम-पुं० । " घयविहिपरिणामं करेइ " उपा० १ अ० ।

घयसागर-घृतसागर-पुं० । घृतोदे समुद्रे , द्वी० ।

घयसित्त-घृतसिक्त-पुं० । घृततर्पिते, " निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्त व्व पावए " । निर्वाणं निर्वृतिः, स्वास्थ्यमित्यर्थः । परमं प्रकृष्टं याति प्राप्नोतीत्यभिसंबन्धः । क इव (घयसित्ते व त्ति) इवस्य भिन्नक्रमत्वात्, घृतेन सिक्तो घृतासिक्तः, पुनातीति पावकोऽग्निर्लोकप्रसिद्ध्या, समयप्रसिद्ध्या तु पापहेतुत्वात्पावकः, तद्वत् सिञ्चनतया तृणादिभिर्दीप्यते, यथा घृतेनेत्यस्य घृतासिक्तस्य निर्वृतिरनुगीयते, ततः सविशेषणस्यास्य दृष्टान्तस्योनाभिधानमिति भावनीयम् । यद्वा-निर्वाणमिति जीवन्मुक्तिं याति, "निर्जितमदमदनानां, वाक्कायमनोविकाररहितानाम् । विनिवृत्तपराशाना-मिहैव मोक्षः सुविहितानाम्" ॥१॥ इति वचनात्, कथंभूतः सन् घृतसिक्तपावक इव तपस्तेजसा ज्वलितत्वेन घृततर्पिताग्निसमान इति । उत्त० ३ अ० ।

घर-गृह-पुं० । न० । गृह्यते धर्माचरणाय 'ग्रह'-गेहार्थे कः । वाच० । " गृहस्य घरोऽपतौ " ॥ ८ । २ । १४४ ॥ इति घरादेशः । प्रा० २ पाद । सामान्यजनानां सामान्ये (भ०५ श० ७ उ० । अनु०) अपवरकादिमात्रे, स्था० ५ ठा० १ उ० । कटकुड्यदेहलीपट्टादिसमुदायात्मके (अनु०) वेश्मनि, दर्श० । प्रश्न० ।

घरंतर-गृहान्तर-न० । गृहमेवान्तरं गृहान्तरम्, गृहद्वयाद्वयाद्वा परतो गृहे, नि० चू० ३ उ० ।

घरकुडी-गृहकुटी-स्त्री० । स्त्रीदेहे, तं० ।

घरकोइला-गृहकोकिला-स्त्री० । गृहगोधायाम, पिं० । सूत्र० ।

घरग-गृहक-न० । वासभवने, अत्र ककारः स्वार्थिकः । जं० १ वक्ष० ।

तस्स णं वणसंडस्स तत्थ तत्थ देसे देसे तहिं तहिं बहवे आलिघरा मालियाघरा कयलिघरगा लयाघरगा अत्थणघरगा पेच्छणघरगा मज्जणघरगा पसाहणघरगा गब्भघरगा मोहणघरगा सालयघरगा जालयघरगा कुसुमघरगा चित्तघरगा गंधव्वघरगा आयंसघरगा सव्वरयणामया अच्छा सण्हा लण्हा घट्ठा मट्ठा णीरया निम्मला णिप्पंका निक्कंकमच्छाया सप्पभासस्सिरीया सउज्जोया पासादीया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा ॥

" तस्स " णं इत्यादि । तस्य वनखण्डस्य मध्ये तत्र तत्र प्रदेशे तस्यैव देशस्य तत्र तत्र एकदेशे,बहूनि आलिगृहकाणि-आलिर्वनस्पतिविशेषः, तन्मयानि गृहकाणि आलिगृहकाणि, मालिन

रपि वनस्पतिविशेषः, तन्मयानि गृहकाणि मालिगृहकाणि, कदलीगृहकाणि, लतागृहकाणि च प्रतीतानि । (अत्थणघरगा इति) अवस्थानगृहकाणि-येषु यदा तदा वाऽऽगत्य बहवः सुखासिकया अवतिष्ठन्ते, प्रेक्षणकगृहकाणि-यत्रागत्य प्रेक्षणकानि विदधति, निरीक्षन्ते च, मज्जनकगृहकाणि-यत्रागत्य स्वेच्छया मज्जनकं कुर्वन्ति, प्रसाधनकगृहकाणि-यत्रागत्य स्वं परं च मण्डयन्ति, गर्भगृहकाणि-गर्भगृहाकाराणि (मोहणघरगा इति) मोहनं मैथुनासेवा, "रमियमोहणयाई" इति नाममालावचनात् । तत्प्रधानानि गृहकाणि मोहनगृहकाणि, वासभवनानीति भावः । शालागृहकाणि-पट्टशालाप्रधानानि गृहकाणि, जालकयुक्तानि गृहकाणि, कुसुमगृहकाणि-कुसुमप्रकरोपचितानि गृहकाणि, चित्रगृहकाणि-चित्रप्रधानानि गृहकाणि, गन्धर्वगृहकाणि-गीतनृत्याभ्यासयोग्यानि गृहकाणि, आदर्शगृहकाणि-आदर्शमयानीव गृहकाणि । एतानि च कथं भूतानीत्यत आह-" सव्वरयणामया " इत्यादिविशेषणकदम्बकं प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० ।

घरघरंत-घरघरत्-पुं० । कम्पमाने, पिं० । नि० चू० ।

घरघरग-घरघरक-पुं० । कण्ठाभरणविशेषे, जं० १ वक्ष० ।

घरघंटो-देशी-चटके, दे० ना० २ वर्ग ।

घरट्ट-अरघट्ट-पुं० । कूपप्रोते घटमालिकया जलाकर्षकयन्त्रविशेषे, नि० चू० १ उ० ।

घरणी-गृहिणी-स्त्री० । कलत्रे, दर्श० ।

घरपंति-गृहपङ्क्ति-स्त्री० । ' साही ' इति ख्यातेऽर्थे, नि० चू० ३ उ० । पिं० ।

घरयंदो-देशी-आदर्शे, दे० ना० २ वर्ग ।

घरस-गृहवास-पुं० । प्राकृतत्वाद् वाशब्दलोपः । गृहाश्रमे, सू० ३ उ० ।

घरसउणि-गृहशकुनि-पुं० । गृहावस्थिते शकुनौ, व्य० २ उ० ।

घरसमुदाण-गृहसमुदान-न० । गृहेषु समुदानं भिक्षाटनं गृहसमुदानम् । भैक्ष्ये, नि० ३ वर्ग । भ० ।

घरसमुदाणिय-गृहसमुदानिक-पुं० । गृहसमुदायं प्रति गृहं भिक्षा येषां ग्राह्याऽस्ति ते गृहसमुदानिकाः । अभिग्रहविशेषवत्सु आजीवकश्रमणेषु, औ० ।

घरसामिणी-गृहस्वामिनी-स्त्री० । जायायाम, आ० म० द्वि० ।

घरिल्ली-देशी-पल्ल्याम्, दे० ना० २ वर्ग ।

घरिस-घर्ष-पुं० । चन्दनस्येव घर्षणे, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

घरोइला-गृहकोकिला-स्त्री० । गृहगोधायाम, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । प्रज्ञा० । जी० ।

घरोल-देशी-गृहभोजनभेदे, दे० ना० २ वर्ग ।

घरोलिया-गृहकोकिला-स्त्री० । 'घरोइला' शब्दार्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

घरोली-देशी-गृहगोधिकायाम, दे० ना० २ वर्ग ।

घल्लो-देशी-अनुरक्ते, दे० ना० २ वर्ग ।

घसा-घसा-स्त्री० । सुषिरभूमिषु, दश० ६ अ० । बृहतीषु भूमिराजिषु, आचा० २ श्रु० १० अ० ।

घसिय-घर्षित-न० । करीषादिना घर्षिते, दशा ५ अ० । सूत्र० ।

घसिर-घासितृ-त्रि० । बहुभाषिणि, बृ० १ उ० ।

घसी-घसी-स्त्री० । भूमिराजौ, जी० ३ प्रति० । स्थलादधस्तादवतरणे च । आचा० २ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

घाअण-गायन-स्त्री० । 'गै' शिल्पिनि ल्युट् "गोणाद्यः" ॥८।२।१७४॥ इति निपातनाद् घाअणाऽऽदेशः । प्रा० २ पाद । गानोपजीविनि, त्रि० । वाच० ।

घाइआ-घातिका-स्त्री० । अन्येन घातयिष्याम, जं० २ वक्ष० ।

घातिता-स्त्री० । विनाशितायाम, ज्ञा० ८ अ० । विपा० ।

घाइकम्म घातिकर्मन्-न० । ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाख्यकर्मचतुष्टये, द्वा० ३० अष्ट० ।

घाएंत-घातयत्-पुं० । विनाशकारके, पं० व० ४ द्वार ।

घाय-घात-पुं० । वधे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

घाम-घाट-पुं० । संघाटे, सौहृदे, बृ० १ उ० । मस्तकावयवविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

घामिय-घाटिक-पुं० । घाटः सौहृदं विद्यतेऽस्येति घाटी, स एव घाटिकः । सहजातकादौ वयस्ये, बृ० १ उ० । मित्रे, बृ० १ उ० । ज्ञा० ।

घाण-घान-न० । तिलपीडनयन्त्रे, पिं० । तिलपीडनयन्त्रादौ सकृत्प्रक्षेप्ये वस्तुनि, प्रव० ४ द्वार ।

घ्राण-न० 'घ्रा' करणे ल्युट् । वाच० । नासिकायाम्, जं० १ वक्ष० । आचा० । रा० । प्रश्न० । विशे० "दो घाणा" प्रज्ञा० १५ पद । स्था० ।

घाणमणणिव्वुइकर-घ्राणमनोनिर्वृतिकर-त्रि० । नासासचिवचेतः सुखोत्पादके, जं० १ वक्ष० । रा० ।

घाणसहगय-घ्राणसहगत-त्रि० । घ्रायत इति घ्राणो गन्धगुणः, तेन सहगतास्तत्सहचरितास्तद्वन्तो घ्राणसहगताः । घ्राणेन्द्रियसहचरितेषु पुद्गलेषु, भ० १८ श० ७ उ० ।

घाणामय-घ्राणमय-त्रि० । घ्राणग्रहणरूपेऽर्थे, "घाणामओ सोक्खाओ अववरोवित्ता भवइ" घ्राणमयात्सौख्यात् गन्धोपादानरूपात् अव्यपरोपयिता अभ्रंशकना घ्राणमयेन गन्धोपादानाभावरूपेण दुःखेनासंयोजयिता भवति । स्था० ५ ठा० ।

घाणारिस-घ्राणार्श-न० । नासिकायां जायमानेऽर्शोरोगे, ओघ० ।

घाणि-घ्राणि-स्त्री० । तृप्तौ, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । स्था० । तृप्तिजनकशक्तौ, विशे० ।

घाणिंदिय-घ्राणेन्द्रिय-न० । नासिकेन्द्रिये, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । उत्त० । आ० म० । आ० चू० । प्रज्ञा० । ग० । प्रश्न० । (अस्य सोदाहरणव्याख्या ' इंदिय ' शब्दे द्वितीयभागे ५४८ पृष्ठे द्रष्टव्या)

घाणिंदियणिग्गह-घ्राणेन्द्रियनिग्रह-पुं० । स्वविषयाभिमुखमनुधावतो घ्राणेन्द्रियस्य नियमने, उत्त० ।

घाणिंदियनिग्गहे णं भंते! जीवे किं जणयइ ? । घाणिंदियनिग्गहेणं मणुण्णामणुण्णेसु गंधेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ, तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ , पुव्वबद्धं च णिज्जरेइ ।

हे भदन्त ! हे स्वामिन् ! घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण जीवः किं जनयति ? । गुरुर्वदति-हे शिष्य ! घ्राणेन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञाऽमनोज्ञेषु गन्धेषु रागद्वेषनिग्रहं जनयति । ततो रागद्वेषजयात् रागद्वेषोत्पन्नं कर्म न बध्नाति, पूर्वोपार्जितं कर्म च निर्जरयति । उत्त० २९ अ० ।

घाणिंदियमुंड–घ्राणेन्द्रियमुण्ड–पुं० । घ्राणेन्द्रियविषयासंसक्तमुण्डमनेदे, स्था० १० ठा० ।

घाय–घात–पुं० । घात्यन्ते व्यापाद्यन्ते नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राणिनः स घातः । संसारे, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० । सर्वदा परिणामपरिणतोऽनुपशान्तो हन्यते प्राणी स्वकृतकर्मविपाकेन यस्मिन् स घातः । नरके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । विनाशे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० । प्रहारे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० । मारणे, सूत्र० १ श्रु०११ अ० । प्रलये, विशे० दिएमादिभिस्ताडने, आ० म० प्र० । हनने च । प्रश्न० २ आश्र० द्वार । स्था० । ध० प्र० । निर्लुण्ठने, सू० १ उ० ।

घायग–घातक–पुं० । मारके, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । हिंसके,प्रश्न० १ आश्र० द्वार । अन्येन घातयितरि, जी० ३ प्रति० । प्राणिवधोपजीविनि, पञ्चा०६ विव० । " अनुमन्ता विशसिता, संहर्ता क्रयविक्रयी। संस्कर्ता चोपभोक्ता च, घातकश्चाष्ट घातकाः" ॥ इति मनुः । सूत्र० १ श्रु० १ अ० २ उ० ।

घायगता–घातकता–स्त्री० । मारकतायाम, भ० १२ श० ७ उ० ।

घायण–घातन–न० । मारणे , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

घायणा–घातना–स्त्री० । षष्ठ्यां गौणहिंसायाम, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

घायणो–देशी–गायने, दे० ना० २ वर्ग ।

घायमाण–घातयत्–त्रि० । परैर्व्यापादयति, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । आचा० ।

घारी–देशी–शकुनिकाख्ये पक्षिणि , दे० ना० २ वर्ग ।

घारो–देशी–प्राकारे, दे० ना० २ वर्ग ।

घारंतो–देशी–घृतपूरे , दे० ना० २ वर्ग ।

घास–ग्रास–पुं० । कवले, उत्त० २ अ० । आहारे च । सूत्र० २ श्रु० १ अ० ४ उ० । आचा० ।

घासेसणा–ग्रासैषणा–स्त्री० । ग्रासो भोजनं,तद्विषया एषणा शुद्धाशुद्धपर्यालोचनम्, भोजनविषयायां शुद्धाशुद्धपर्यालोचनायाम्, प्रव० ६३ द्वार । ध० । ओघ० । पिं० । (अस्य निक्षेपादिकम् 'एसणा' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५२ पृष्ठे द्रष्टव्यम् । दोषा अपि ६७ पृष्ठे द्रष्टव्याः)

घिअं–देशी–भर्त्सिते, दे० ना० २ वर्ग ।

घिंसु–ग्रीष्म–पुं० । ग्रसते रसान् 'ग्रस' मनिन् । वाच० । " ग्रसेर्घिसः " ८ । २ । २०४ । इति घिसादेशः। प्रा०४ पाद । ज्येष्ठाषाढमासद्वयात्मके ऋतुभेदे, वाच० । धर्मकाले, ज्य० ४ उ० । उष्णकाले, उत्त० २ अ० । उष्णाभितापे च । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

घिट्टो–देशी–कुब्जे, दे० ना० २ वर्ग ।

घिणा–घृणा–स्त्री० । " इत्कृपादौ " ८ । १ । १२८ । इति आदेः ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । दयायाम , आव० ४ अ० । संथा० ।

घित्तुं–गृहीतुं–अव्य० । ग्रहणं कर्तुमित्यर्थे , ज्यो० ४ पाहु० ।

घित्तूण–गृहीत्वा–अव्य० । ग्रहणं कृत्वेत्यर्थे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

घिसर–देशी–न० । मत्स्यबन्धनभेदे, विपा०१श्रु० १ अ० ।

घुंघुरो–देशी–उत्करे, दे० ना० २ वर्ग ।

घुंटिय–घुण्टयत्–त्रि० । पिबति, तं० ।

घुग्घ–घूत्क–पुं० । "हुहुरुघुग्घादयः शब्दचेष्टाऽनुकरणयोः" ।८।४। ४२३॥ इति चेष्टाऽनुकरणे घुग्घादेशः। 'घुग्घ' इत्याकारके चेष्टाऽनुकृते शब्दे, " तांजि । विरह गयक्खेर्दि मक्कड घुग्घिउ देइ " प्रा० ४ पाद ।

घुग्घुच्छणयं–देशी–खेदे, दे० ना० २ वर्ग ।

घुग्घुरी–देशी–मण्डूके, दे० ना० २ वर्ग ।

घुग्घुवंत–घुग्घुवत्–त्रि० । घूत्कारशब्दं कुर्वाणे , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

घुग्घुस्सुसयं–देशी–साशङ्कभणिते, दे० ना० २ वर्ग ।

घुग्घेर–स्त्री० । तलितकादौ, ल० प्र० । ध० ।

घुट्ठणिअं–देशी–गिरेर्गमे, पृथुशिलायां च । दे० ना० २ वर्ग ।

घुट्ठ-घुष्ट-स्त्री० । घुष् क्त-इमभावः । उच्चशब्देन प्रकटिताभिप्राये शब्दिते , वाक्यादौ न । वाच० । कथिते, तं० । घोषिते, व्य० ३ उ० । आ० म० ।

घुमुक्क–गर्ज–धा० । रवे, वाच० । "तडयादीनां गोज्झादयः" ॥८।४। ३६४॥ इत्यपभ्रंशे गर्जेर्घुमुक्कादेशः। "गगणि घुमुक्कइ मेह " गगने मेघो गर्जति । प्रा० दु० ४ पाद ।

घुण-घुण-पुं० । कोलाख्ये जन्तुविशेषे, तत्कृते छिद्रे च । आव० ४ अ० । आचा० । (घुणदृष्टान्तेन जिज्ञासकशब्दप्ररूपणा ' भिक्खाग ' शब्दे वक्ष्यते)

घुणंत–घूर्णमान–पुं० । जयविह्वलत्वाद्भ्राम्यति , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

घुत्तिअं–देशी–गवेषिते, दे० ना० २ वर्ग ।

घुम्म–घूर्ण–धा० । भ्रमणे, अक० उभ० सेट् । वाच० । " घूर्णेर्घुलघोलघुम्मपहल्लाः" ॥८।४।११७॥ इति घूर्णेर्घुम्मादेशः। 'घुम्मइ' घूर्णति , घूर्णते । प्रा० ४ पाद ।

घुम्मंत–घूर्णत्–त्रि० । भ्राम्यति, औ०

घुणघुणिआ–देशी–कर्णोपकर्णिकायाम, दे० ना० २ वर्ग ।

घुयग–घुट्टक–पुं० । लेपितपात्रमसृणताकारके पाषाणे, पिं० ।

घुरुघुरी–देशी–मण्डूके, दे० ना० २ वर्ग ।

घुल–घूर्ण–धा० । भ्रमणे, अक० उभ० सेट् । वाच० । " घूर्णेर्घुलघोलघुम्मपहल्लाः " ॥८।४।११७॥ इति घुलादेशः। 'घुलइ–घुम्मइ–घोलइ' घूर्णति, घूर्णते । प्रा० ४ पाद ।

घुह्वा–घुह्वा–स्त्री० । द्वीन्द्रियभेदे, प्रज्ञा०१ पद । जी० ।

घुसल–मन्थ–धा० । विलोडने, क्र्यादि० पर०द्विक०सेट् । वाच० । "मन्थेर्घुसलविरोलौ" ॥८।४।१२१॥ इति घुसलादेशः। 'घुसलइ' मथ्नाति । प्रा० ४ पाद ।

घुसिण–घुसृण–न० । घुषि (सि) वा ऋणक-पृषो० नलोपः। घुषेः पस्य सश्च । वाच० । " इत्कृपादौ " ॥८।१।१२८॥ इति ऋत इत्वम् । प्रा० १ पाद । कुङ्कुमे, त्रि० । " घुसृणेयत्र जलाशयोदरे " इति । वाच० ।

घुसिणिअ–देशी–गवेषिते, दे० ना० २ वर्ग ।

घुसिरसार–देशी–अवस्नाने,मसूरादीनां पिष्टे, दे० ना० २ वर्ग ।

घूघरी–स्त्री० । 'घुग्घरी' शब्दार्थे, ल० प्र० ।

घूणाग–घूणाक–न० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्रागतस्य श्रीवीरजिनस्य शुभलक्षणानि पुष्पेण सामुद्रिकेण दृष्टानि । आ० चू० १ अ० ।

घूय–घूक–पुं० । कौशिके, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । उलूके, प्रति० ।

घूयारि–घूकारि–पुं० । काके, तं० ।

घूरा–घूरा–स्त्री० । जङ्घायाम, अस्त्रकायां च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

घेतव्व–ग्रहीतव्य–त्रि० । "क्त्वा-तुम-तव्येषु घेत्" ॥८।४।२१०। इति ग्रहेर्घेदादेशः । प्राकृ, प्रा० ४ पाद ।

घेत्तुं–ग्रहीतुम्–अव्य० । "क्त्वा-तुम्-तव्येषु घेत्" ॥८।४।२१०॥ इति ग्रहेर्घेदादेशः । प्राकृ, प्रा० ४ पाद ।

घेत्तुआण–गृहीत्वा–अव्य० । "क्त्वा-तुम-तव्येषु घेत्" ॥८।४।२१०॥ इति ग्रहेर्घेदादेशः । ग्रहणं कृत्वेत्यर्थे, प्रा० ४ पाद । आर्षेऽन्यत्रापि 'घेच्छं' ग्रहीष्यामि । नि० चू० १ उ० ।

घेत्तूण–गृहीत्वा–अव्य० । "क्त्वा-तुम-तव्येषु घेत्" । ८।४।२१० । इति घेदादेशः । ग्रहणं कृत्वेत्यर्थे , प्रा० ४ पाद ।

घेप्प–ग्रह–धा० । हस्तव्यापारभेदे, स्वीकारे, ज्ञाने च । क्र्यादि० उभ० सक० सेट् । वाच० । "ग्रहेर्घेप्पः" ॥८।४।२५६॥ ग्रहेः कर्म्मभावे 'घेप्प' इत्यादेशो भवति, क्यलुक् च । 'घेप्पइ, गेण्हिज्जइ' । प्रा० ४ पाद । नि० चू० ।

घोट्ट–पा–धा० । पाने, भ्वादि० पर० सक० अनिट् । वाच० । "पिबेः पिज्जडल्लपट्टघोट्टाः" ॥८।४।१०॥ इति पिबतेर्घोट्टादेशः । 'घोट्टइ, पिअइ' । प्रा० ४ पाद ।

घोड–देशी–अश्वे, दे० ना० २ वर्ग ।

घोडग–घोटक–पुं० । अश्वजात्ये , ध० २ अधि० । चतुष्पदस्थलचरपञ्चेन्द्रियतैर्यग्योनिकैकखुरभेदे , प्रज्ञा० १ पद । तुरङ्गमे च । ग० ३ अधि० । प्रथमे उत्सर्गदोषे, "आसो व्व विसमपायं, आउंटावित्तु, ठाइ उस्सग्गे ।" प्रव० ५ द्वार । आकुञ्चितस्यैकपादस्य घोटकस्येव स्थानं घोटकदोषः । प्रव० ४ द्वार । आव० । प्रज्ञा० ।

घोडगकंडूइय–घोटककण्डूयित–न० । द्वयोः संयतयोर्घोटककण्डूयितमिव घोटककण्डूयितम्, यद् वारं वारं परस्परं प्रच्छन्नं तत्तयोः परस्परकण्डूयितमिव घोटककण्डूयितम् । परस्परं प्रच्छन्ने , व्य० ४ उ० ।

घोडयग्गीव–घोटकग्रीव–पुं० । अश्वग्रीवापरनामके त्रिपृष्ठपाक्यप्रथमवासुदेवप्रतिशत्रौ, आ० म० प्र० । आ० चू० ।

घोडयपुच्छ–घोटकपुच्छ–न० । अश्ववालधौ , "घोडयपुच्छं व तस्स मंसुइ ।" उपा० २ अ० ।

घोडयमुह–घोटकमुख–पुं० । घोटकस्येव मुखमस्य । किन्नरभेदे , वाच० । मिथ्याश्रुतविशेषे, अनु० ।

घोडयमुही–घोटकमुखी–स्त्री० । घोटकाकारमुखमनुष्यस्त्रियाम्, बृ० ६ उ० । जीत० । नि० चू० ।

घोडिय–घोटिक–पुं० । मित्रे , बृ० ५ उ० ।

घोर–घोर–त्रि० । घुर–अच् । रौद्रे , बृ० ३ उ० । आ० म० । आव० । व्य० तं० । पञ्चा० । उत्त० । दारुणे, रा० । ग० । आचा० । निर्घृणे, नि० १ वर्ग । औ० । रा० । जं० । सू० प्र० । विशे० । चं० प्र० । ज्ञा० । आत्मनिरपेक्षे, भ० १ श० १ उ० । हिंस्रे, भ० ३ श० २ उ० । भयदे, उत्त० १६ अ० । भयानके, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । दारुणक्रियाकारिणि, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । उत्त० । विशे० । नं० । वाच० । "घोरनिकुरंबकंदरचलंतबीभत्थभावाणं" घोरो रौद्रः प्राणनाशहेतुत्वात् निकुरम्बं घनम् , अगाधमित्यर्थः । यत्कमिति जलं , तस्य दरो भयं यस्मात् भावात्,साकेतपुराधिपदेवपतिराजस्येव,स निकुरम्बकन्दरः, कमिति अव्ययशब्द उदकवाचकः, चलन् पुरुषं पुरुषं प्रति भ्रमन् बीभत्सो भयङ्करः इह , परत्र महाभयोत्पादकत्वात् एवंविधो भाव आन्तरमायावक्रस्वभावो यासां ता घोरनिकुरम्बकन्दरचलद्बीभत्सभावाः, तासां स्त्रीणाम । तं० । "घोररूवदित्तधरं ति" घोरं यद्रूपं दीप्तं च हसं वा तद्धारयति यः स तथा तम । भ० १६ श० ६ उ० ।

घोरकट्ठ–घोरकष्ट–त्रि० । अतिकष्टे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

घोरगुण–घोरगुण–पुं० । घोरो निर्घृणः परीषहेन्द्रियकषायाख्यानां रिपूणां विनाशे कर्त्तव्ये, अन्ये त्वात्मनिरपेक्षं घोरमाहुः, 'घोरगुणो' घोरा अन्यैर्दुरनुचरा गुणाः मूलगुणादयो यस्य स तथा । अन्यैर्दुरनुचरगुणे , औ० । जं० । सू० प्र० । रा० । विपा० । भ० । चं० प्र० ।

घोरतव–घोरतपस्–न० । आजीविकतपसि, घोरमात्मनिरपेक्षं तपः । स्था० ४ ठा० ।

घोरतवस्सि–(ण्)–घोरतपस्विन्–पुं० । घोरैस्तपोभिस्तपस्वी घोरतपस्वी । दारुणतपःकर्तरि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । औ० । भ० । नि० । सू० प्र० । रा० । जं० ।

घोरधम्म–घोरधर्म–पुं० । घोरो भयानको धर्मः । सर्वाश्रवनिरोधाद्दुरनुचरे धर्मे , आचा० १ श्रु० ६ अ० ४ उ० ।

घोरपरक्कम–घोरपराक्रम–पुं० । घोरः पराक्रमः धर्मानुष्ठानविधिर्यस्य सः । उत्त० १४ अ० । रौद्रमनोबले , क्रोधादिचतुष्कषायाणां जये रौद्रसामर्थ्ये, उत्त १२ अ० ।

घोरबंभचेरवासि (ण्)–घोरब्रह्मचर्यवासिन्–पुं० । स्त्री० । घोरं च तद् ब्रह्मचर्यं चाल्पसत्त्वैर्दुःखेन यदनुचर्य्यते तस्मिन् घोरब्रह्मचर्ये वस्तुं शीलमस्येति घोरब्रह्मचर्यवासी । उत्कृष्टब्रह्मचारिणि, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । चं० प्र० । सू० प्र० । रा० । औ० । नि० ।

घोरविस–घोरविष–पुं० । परम्परया पुरुषसहस्रस्यापि हननसमर्थविषे सर्पे, भ० १५ श० ११ उ० । उत्त० । ज्ञा० ।

घोरव्वय–घोरव्रत–न० । पुं० । घोराण्यन्यैर्दुरनुचराणि व्रतानि महाव्रतेषु तानि सन्त्यस्य तथा । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । दुर्धरमहाव्रतधारिणि, उत्त० १ अ० ।

घोरागार–घोराकार–पुं० । हिंस्राकृतौ , भ० ३ श० २ उ० । "घोरागारं तवचरणं करइ" आ० म० द्वि० ।

घोरी–देशी–शलभविशेषे, दे० ना० २ वर्ग ।

घोरो–देशी–नाशिते, गृध्रे पक्षिणि च । दे० ना० २ वर्ग ।

घोल–घोल–पुं० । न० । घुड–कर्मणि घञ्, मस्य लः । वाच० । वस्त्रगालिते दध्नि, ध० २ अधि० । प्रव० । वाच० । तक्रे , मथितदध्नि,

"तत्तु सस्नेहमजलं, मथितं घोलमुच्यते ।
ससारं निर्जलं घोलं, वातपित्तहरं स्मृतम् ॥ १ ॥
मस्तुना रहितं गाल्यं, दधि शुभ्रतरे पटे ।
जीरसैन्धवसंमिश्रं, घोलं घनतरं स्मृतम् ॥ २ ॥
जीरसैन्धवसंयुक्तं, घोलं वातप्रणाशनम् ।
अतीसारे च मन्देऽग्नौ, हितं रुच्यं बलप्रदम्" ॥ ३ ॥
"हिङ्गुजीरयुतं घोलं, सैन्धवेन च संयुतम् ।
भवेदतीव वातघ्न-मर्शोऽतीसारहृत् परम् ॥ १ ॥
रुचिदं पुष्टिदं बल्यं, वस्तिशूलविनाशनम् ।
मूत्रकृच्छ्रे तु सगुडं, पाण्डुरोगे सचित्रकम्" ॥२॥ वाच० ।

घोलंत-घोलत्-त्रि० । दोलायमाने, औ० । आ० म० प्र० । रा० ।

घोलण-घोलन-न० । अङ्गुष्ठकाङ्गुलिगृहीतचाल्यमानयूकाया इव मर्दने, आ० क० । आ० म० । विशे० । महा० ।

घोलवडक-घोलवटक-न० । घोलयुक्ते वटके, प्रव० ४ द्वार । ध० ।

घोलिय-घोलित-पुं० । दधिघट इव पट इव वा घोलनां प्रापितेषु राजदपिमतपुरुषेषु, औ० । सूत्र० ।

घोलियं-देशी-शिलातले. छृतकृते च । दे० ना० २ वर्ग ।

घोस-घोष-पुं० । 'घुष' आधारे घञ् । वाच० । "शषो सः" ॥ ८ । १ । २६० ॥ इति षस्य सः । प्रा० १ पाद । आभीरपल्ल्याम्, तस्यां गोभिर्नादात्तथात्वम् । वाच० । गोकुले, बृ० १ उ० । " घोसो गोउलं वि य एगट्ठं " घोष इति गोकुलमिति चैकार्थम् । बृ० ४ उ० । गोष्ठे, स्था० २ ठा० ४ उ० । कर्तरि अच्-गोपाले, वाच० । शब्दे, ज्ञा० १ श्रु०१ अ० । सर्वदिव्यत्रुटितशब्दसन्निनादविशेषे, जी० ३ प्रति० । घण्टाऽनुप्रवृत्तरणितमिव यः शब्दः तस्मिन्, तं० । अनुनादे, ज० ६ श० १ उ० । उदात्तादिस्वरविशेषे, नं० । औ० । अनु० । ज० । "खयां यमाः खयः ⁐ क ⁐ पौ, विसर्गः शर एव च । एते श्वासानुप्रदानाः, अघोषाश्च विवृण्वते ॥१॥ कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः," इति शिक्षोक्ते वर्णोच्चारणबाह्यप्रयत्नभेदे, ध्वनौ, मेघशब्दे, कांस्ये, न० । मशके, घोषलतायाम्, स्त्री० । वाच० । कुमाराणामिन्द्रे, ज० ३ श० ८ उ० । स० । स्था० । चतुर्थदेवलोकस्थविमानभेदे, स० । (अस्य लोकपालादयो लोकपालादिशब्देषु वक्ष्यन्ते) " हैयङ्गवीनमादाय, घोषवृद्धानुपस्थितान् । " वाच० ।

घोसजुय-घोषयुत-न० । यथावस्थितैरुदात्तादिभिर्घोषैर्युक्ते, बृ० १ उ० ।

घोसण-घोषण-न० । घुष-भावे ल्युट् । ध्वनौ, नि० चू० १ उ० । भावे ल्युट् । उच्चशब्देन ज्ञापने व्यापारभेदे, वाच० । आ० म० । रा० । "घोसणे कोउहलदिन्नकन्नए एगग्गचित्तउवउत्तमाणसामिति " कौतुग्रामघोषणं भाविष्यतीत्येवं घोषणे कुतूहलेन दत्तौ कर्णौ यैस्ते घोषणकुतूहलदत्तकर्णाः, तथा एकाग्रं घोषणश्रवणैकविषयं चित्तं येषां ते एकाग्रचित्ताः, एकाग्रचित्तत्वेऽपि कदाचिदनुपयोगः स्यादत आह-उपयुक्तमानसाः । ततः पूर्वपदेन विशेषणसमासः । तेषां पटहेण घोषणां कारितवान् । रा० । आ० म० ।

घोसवती-घोषवती-स्त्री० । प्रद्योतनृपपुत्र्याः वासवदत्ताया दास्याम्, आ० क० । आ० चू० ।

घोसविसुद्धिकर-घोषविशुद्धिकर-पुं० । श्रुतसम्पद्भेदे, व्य० ।

घोषविशुद्धिमाह—

घोसा उदत्तमादी, तेहिँ विसुद्धं तु घोसपरिसुद्धं ।
एस सुत्तोवसंपय, सरीरउवसंपयं अतो वुच्छं ॥

घोषा उदात्तादयस्तैर्विशुद्धं घोषविशुद्धं, तत्करणशीलो घोषविशुद्धिकरः । एषा चतुर्थी श्रुतोपसंपत् । व्य० १० उ० ।

घोसविसुद्धिकारय-घोषविशुद्धिकारक-पुं० । श्रुतसम्पत्संपद्भेदे, दशा० । घोषविशुद्धिकारकः, घोषा उदात्तादयः तेषां शुद्धिर्घोषशुद्धिः, विशेषेण शुद्धिर्विशुद्धिः, तां करोतीति घोषविशुद्धिकारकः। यतः स्वयं घोषशुद्धिमान् अन्यानपि तथैव स्वरशुद्धिकारकः । दशा० ४ अ० ।

घोसविसुद्धिकरया-घोषविशुद्धिकरता-स्त्री० । श्रुतसम्पद्भेदे, उदात्तानुदात्तादिस्वरविशुद्धिविधायितायाम्, उत्त० १अ० । स्था० ।

घोससम-घोषसम-न० । उदात्तानुदात्तस्वरितकम्पितद्रुतविलम्बितविश्लिष्टापेक्षस्वरनियते, आ० चू० १ अ० । वाचनाचार्याभिहितोदात्तानुदात्तस्वरितलक्षणैर्घोषैः सदृशत्वेनैव गृहीते, विशे० । यथा गुरुणाऽभिहिता घोषाः तत्र तथा यत्र शिष्येणापि समुच्चार्यन्ते तद्घोषसमम् । आ० म० प्र० । ग० । अनु० ।

घोसहीण-घोषहीन-उदात्तादिघोषरहिते, आव० ४ अ० । ध० ।

घोसाडिया-घोषातकी-स्त्री० । घोषातकी पृषो० । कोषातकीलतायां, श्वेतघोषालतायाम्, वाच० । रा० । प्रव० । जं० । जी० । आ० म० । प्रज्ञा० । फले, न० । प्रज्ञा० १ पद ।

घोसाली-देशी-शरद्भवे वल्लिभेदे, दे० ना० २ वर्ग ।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय-कलिकालसर्वज्ञकल्प-श्रीमद्भट्टारक-
जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्रीविजयराजेन्द्रसूरिविरचिते
अभिधानराजेन्द्रे घकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम् ॥

चकार

च (य)-च-अव्य०। 'चि' मः। समुच्चये, ध० २ अधि०। विपा०। कर्म०। पं० सं०। नि० चू०। पञ्चा०। संघा०। स०। रा०। सामान्यसमुच्चये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। एकार्थिकसमुच्चये, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। अनुक्तसमुच्चये, जीत०। अप्यर्थे, षो० ६ विव०। पुनरर्थे, दर्श०। व्य०। प्रश्न०। पञ्चा०। हिशब्दार्थे, विशे०। अवधारणे, पं० सं० १३ द्वार। नि० चू०। दश०। स्तुतावुत्कर्षणे, दर्श०। लक्षणे, विशेषे, नि०चू० १ उ०। पञ्चा०। संघा०। पूरणे, नि० चू० १ उ०। आ० म०। पादपूरणे, नि० चू० १ उ०। अनुमतौ, नि० चू० १ उ०। भेदप्रदर्शने, नि० चू० १ उ०। अर्थानुकर्षणे, नि० चू० १ उ०। उपप्रदर्शने, औ०। अतिशयवचनप्रदर्शने, नि० चू० ४ उ०। आधिक्ये, आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ०। संक्षेपेण आख्याने, चशब्दात्कचित्केचित् संक्षेपेण आख्यायन्ते। सं०। "चः पुंसि चेतने चन्द्रे, चौरेऽहौ चारुदर्शने।" "चान्वाचयसमाहारे-तरेतरसमुच्चये। समासार्थेऽव्ययम्" एका०। पुं०। तुरुके, भरे, रुधिरे, त्रि०। विमलार्थे, अव्य० मिथोयोगे, एका०।

"चः पुंल्लिङ्गे निशानार्थे, तुरुके तस्करे भरे।
चा शोभायां स्त्रियामुक्ता, रुधिरे च नपुंसके॥
चशब्दस्त्रिषु लिङ्गेषु, विमलार्थेऽव्ययः स्मृतः।
समुच्चयान्वाचययोः, पक्षान्तरनिरूपणे॥
समासिके समाहारे, मिथो योगेऽप्युदाहृतः"। एका०। च-

एमेरो, कच्छपे, त्रि०। दुर्जने, निर्बीजे, अव्य०। तुलग्रस्वे हेतौ, विनियोगे, वाच०।

चइउं-त्यक्त्वा-अव्य०। त्यागं कृत्वेत्यर्थे, जीवा० १ अधि०।

चइऊण-च्युत्वा-त्यक्त्वा-अव्य०। च्यवनं कृत्वेत्यर्थे, उत्त० ६ अ०। त्यक्त्वा विहायेत्यर्थे, पञ्चा० १६ विव०। "चइऊण गारवासं,चरित्तिणो तस्स पालणाहेउं।" पं० व०१ द्वार। आचा०।

चइत्त-चैत्य-न०। चितायाः इदम् अण्। "अइर्दैत्यादौ च" ॥ ८।१।१५१॥ इति ऐतः 'अइ' इत्यादेशः एत्वापवादः। प्रा०१ पाद। "त्योऽचैत्ये" ॥८।२।१३॥ इह अचैत्य इति पर्युदासाच्च चः। प्रा० २ पाद। ग्रामादिप्रसिद्धे महावृक्षे, देवावासे वृक्षे, जनानां सभास्थतरौ, आयतने, चिताचिह्ने, जनसभायां, यज्ञस्थाने, जनानां विश्रामस्थाने, देवस्थाने च। वाच०।

चैत्र-पुं०। चित्रानक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी चैत्री, साऽस्मिन्मासे अण्। "वैरादौ वा" ॥ ८।१।१५२॥ इति एतो वा इत्यादेशः। प्रा० १ पाद। स्वनामख्याते शुक्लप्रतिपदादिदर्शान्तरूपे मासे, वाच०।

चइत्ता-च्युत्वा त्यक्त्वा-अव्य०। च्यवनं कृत्वेत्यर्थे, स्था०७ ठा०। कल्प०। भ०। त्यागं कृत्वेत्यर्थे, आचा०१ श्रु०६ अ०२ उ०। भ०। औ०।

चइत्ताण-त्यक्त्वा-अव्य०। त्यागं कृत्वेत्यर्थे, "कणकुण्डगं चइत्ताणं विट्ठं भुंजइ सूयरे (५)" उत्त० १ अ०।

चइत्तु-त्यक्त्वा-न०। अव्य०। त्यागं कृत्वेत्यर्थे, "स देवगंधव्वमणुस्सपूइये, चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं (४८)" उत्त० १ अ०।

चउकट्ठी-चतुष्काष्ठी-स्त्री०। चतुरस्राकारे काष्ठचतुष्टये, "चउकट्ठि काउं कोणे घडओ वज्झति" नि० चू० १ उ०।

चउकप्पसेगसित्त-चतुष्कल्पसेकसिक्त-त्रि०। चतुर्भिः सेकविषयैः कल्पैः सिक्ते ओदने, चत्वारश्च कल्पाः सेकविषया रसवतीशालाभिज्ञेभ्यो भावनीयाः। जी० ३ प्रति०।

चउकारणपरिसुद्ध-चतुष्कारणपरिशुद्ध-त्रि०। निर्णयहेतुचतुष्कनिर्णीतदोषाभावे, "चउकारणपरिसुद्धं, कसछेदतावतालणाए य। जं तं विसघातिरसा-यणादिगुणसंजुयं होइ" ॥३६॥ पञ्चा० १४ विव०।

चउकारणसंजुत्त-चतुष्कारणसंयुक्त-त्रि०। चतुर्भिः कारणैः संयुक्ते कारणचतुष्कसहिते, उत्त०।

"मोक्खमग्गगइं तच्चं, सुणेह जिणभासियं।
चउकारणसंजुत्तं, नाणदंसणलक्खणं" ॥ उत्त०।
"नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं" ॥

एष चतुष्कारणरूपो मोक्षमार्गो जिनैः केवलिभिस्तीर्थकरैश्च प्रज्ञप्तः। उत्त० २८ अ०।

चउक्क-चतुष्क-त्रि०। चत्वारि परिमाणमस्येति चतुष्कः। "संख्याडतेश्चाशत्तिष्टेः कः" ॥ ६। ४। १३०॥ इति (हैम०) कः प्रत्ययः। पिं०। "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" ॥ ५। १। २२॥ इति (पाणि०) कन्। उत्त० १ अ०। चतसृणां रथ्यानां समागमे, बृ० १ उ०। चतुष्पथयुक्ते स्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। यत्र रथ्या चतुष्टयं मिलति। कल्प० ४ क्षण। भ०। औ०। रा०। "चउक्कचच्चरं चउम्मुहं" औ०। स्था०। अनु०। जं०। ज्ञा०। आ० म०। "खिप्पामेव भो देवाणुप्पिया! विजयाए रायहाणीए संघाडगेसु पत्तिएसु य चउक्केसु य।" जी० १ प्रति०। स्थापना—+ "सीले चउक्क दव्वे, पाउरणाऽऽभरणभोयणादीसु। भावेउ ओदइसीलं, अभिक्ख-मासेवणा चेव॥" सूत्र० १ श्रु० ७ अ०। "चउक्को कम्ममासओ" इत्यादि। चतसृभिः काकिणीभिर्निष्पन्नत्वात्। चतुष्के, अनु०। चतुर्भिः स्तम्भैः कायति, कै-कः। चतुःस्तम्भयुक्ते मण्डपे, वाच०।

चउकनइय-चतुष्कनयिक-न०। नयचतुष्काभिप्रायतश्चिन्त्यमाने सूत्रे, स०।

चउकर-चतुष्कर-त्रि०। चत्वारः करा यस्येति चतुष्करः। चतुर्भुजे देवे, उत्त० ८ अ०।

चउक्कसाओवगय-चतुष्कषायोपगत-त्रि०। क्रोधाद्युदयवशगते, पा०।

चउक्कसायावगय-चतुष्कषायापगत-त्रि०। अपगतक्रोधादिक-

षायो यः सः । दश० ८ अ० १ उ० । क्रोधादिनिरोधकर्तरि, दश० ८ अ० १ उ० ।

चउक्काल-चतुष्काल-पुं० । दिवसरजनिप्रथमचरमयामेषु , आव० ४ अ० । " चउक्कालं सज्झायं करित्तए । " स्था० ४ ठा० १ उ० ।

चउक्कोण-चतुष्कोण-त्रि० । चतुरस्रे, " सव्वताराओ मणिसु-वण्णाओ चउक्कोणाओ " चत्वारः कोणा यासां ताश्चतुष्कोणाः । एतच्च विशेषणं वापीकूपान् प्रति द्रष्टव्यम् । रा० । जं० । जी० ।

चउगइय-चतुर्गतिक-त्रि० । चतसृणां गतीनामन्यतमस्यां गतौ विद्यमाने, पं० सं० ५ द्वार । कच्छपे, पुं० । स्त्री० । हेम० । वाच० ।

चउगाउय-चतुर्गव्यूत-न० । गव्यूतचतुष्टये , " चउगाउए जो-यणे पण्णत्ते । " स० ४ सम० ।

चउगुरुग-चतुर्गुरुक-पुं० । चत्वारश्च ते गुरुकाश्चतुर्गुरुकाः । "आयरियगिलाणवच्छल्लं ण करेति चउ गुरुगा, पत्तेयं खमगस्स पाहुणगस्स वच्छल्लं ण करेति चउलहुगा । " नि० चू० १ उ० ।

चउचलणपइट्ठाण-चतुश्चरणप्रतिष्ठान-त्रि० । चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठिते, "चउचलणपइट्ठाणा , गोहिया पंचमं सरं । आडंबरो य धेवययं,महाभेरी य सत्तमं ॥२॥" चतुर्भिश्चरणैः प्रतिष्ठानं भुवि यस्याः सा । स्था० ७ ठा० । अनु० ।

चउचामरवालवीइयंग-चतुश्चामरबालवीजिताङ्ग-त्रि० । चतुर्णां चामराणां बालैर्वीजितमङ्गं यस्य स तथा । चामरचतुष्ककेशैर्वीजितविग्रहे, भ० ७ श० ६ उ० ।

चउज्झाइया-चतुर्ध्यायिका-स्त्री० । घटकस्य रसमानविशेषस्य चतुर्थभागमात्रे मानविशेषे, भ० ७ श० ८ उ० ।

चउट्ठ-चतुर्थ-त्रि० । "स्त्यानचतुर्थार्थे वा" ॥ ८ । २ । ३३ । एषु संयुक्तस्य ठो वा भवति । प्रा० २ पाद । चतुर्णां पूरणः । येन चतुःसंख्या पूर्यते तादृशे तुरीये , वाच० ।

चउट्ठाणपरिणामपज्जत्त-चतुःस्थानपरिणामपर्याप्त-न० । चातुर-क्ये,जी० ३ प्रति० । ('चातुरक्कगोक्खीर' शब्दे व्याख्याऽस्य वक्ष्यते)

चउणउइ-चतुर्नवति-स्त्री० । चतुरधिकायां नवतिसंख्यायाम् , " चउणउइसहस्साइं,छप्पणहियं सयं कला । " स० ८३ सम० ।

चउणय-चतुर्नयक-न० । संग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दरूपनयचतु-ष्टयोपेते , संग्रहादिनयचतुष्टयेन चिन्त्यमाने, नं० ।

चउणाणोवगय-चतुर्ज्ञानोपगत-त्रि० । मतिश्रुतावधिमनःपर्याय-ज्ञानरूपज्ञानचतुष्टयसमन्विते, चं० प्र० १ पाहु० । रा० । केवलज्ञा-नवर्जज्ञानचतुष्कसमन्विते, भ० १ श० १ उ० ।

चउणारीओमिणण-चतुर्नार्यवमान-न० । चतुःसंख्या नार्यः स्त्रियः चतुर्नार्यः, ताभिर्मङ्गल्याभिः " ओमिणणं ति " अवमानं प्रोङ्खणकं लोकशास्त्रप्रसिद्धं चतुर्नार्यवमानं भवति । चतसृभिर्ना-रीभिः क्रियमाणे प्रोङ्खणके , पञ्चा० ८ विव० ।

चउणाम-चतुर्नामन्- न० । आगमादिचतुष्प्रकारैर्निष्पन्ने नाम्नि, अनु० ।

से किं तं चउणामे ?। चउणामे चउव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-आगमेणं लोवेणं पयईएणं विगारेणं । से किं तं आगमेणं ?। आगमेणं पद्मानि पयांसि कुण्डानि, से तं आगमेणं । से किं तं लोवेणं ?। लोवेणं ते अत्र,तेऽत्र,पटो अत्र पटोऽत्र,घटो अत्र, घटो-ऽत्र, से तं लोवेणं । से किं तं पगईए ?। पगईए अग्नी एतौ,पटू इमौ,शाले एते, माले इमे, से तं पगईए । से किं तं विगारेणं ?। विगारेणं दण्डस्य अग्रं-दण्डाग्रं, सा आगता-साऽऽगता, दधि इदम् , दधीदम्, नदी इह, नदीह,मधु उदकम्-मधूदकम्, वधू ऊह-वधूह । से तं विगारेणं । से तं चउणामे ॥

"से किं तं चउनामे" इत्यादि आगच्छतीत्यागमोऽन्यागमादिस्तेन निष्पन्नं नाम,यथा-"पद्मानीत्यादि" "धुट्स्वरादीसुः" । इत्यनेनात्र त्वागमस्य विधानात् । उपलक्षणमात्रं चेदम्-संस्कार उपस्कार इत्यादेरपि सुडाद्यागमनिष्पन्नत्वादिति । लोपो वर्णापगमरूप-स्तेन निष्पन्नं नाम-यथा तेऽत्रेत्यादि । "एदोत्परः पदान्ते" इत्यादि-ना अकारस्येह लुप्तत्वात् । नामत्वं चात्र तेन तेन रूपेण नमनात्ते इति व्युत्पत्तेरस्त्येवेतीत्थमन्यत्रापि वाच्यम् । उपलक्षणं चेदम्-मनस् ईषा-मनीषा बुद्धिः । भ्रमतीति भ्रूरित्यादेरपि सकारमका-रादिवर्णलोपेन निष्पन्नत्वादिति । प्रकृतिः स्वभावो वर्णलोपाद्य-भावः,तया निष्पन्नं नाम,यथा-अग्नी एतावित्यादि "द्विवचनमनौ" इत्यनेनात्र प्रकृतिभावस्य विधानात् । निदर्शनमात्रं चेदम्-सरसि-जं, कण्ठे कालः इत्यादीनामपि प्रकृतिनिष्पन्नत्वादिति । वर्णस्या-न्यथाभावापादनं विकारः, तेन निष्पन्नम्-दण्डस्याग्रं,दण्डाग्रमि-त्यादि । "समानः सवर्णे दीर्घो भवति" इत्यादिना दीर्घत्वलक्षणस्य वर्णविकारस्येह कृतत्वात्,उदाहरणमात्रं चैतत् , तस्करः षोडशे-त्यादेरपि वर्णविकारसिद्धत्वादिति । तदिह यदस्ति तेन सर्वेणापि नाम्ना आगमनिष्पन्नेन वा लोपनिष्पन्नेन वा प्रकृतिनिर्वृत्तेन वा विकारनिष्पन्नेन वा भवितव्यम्,मित्थादिनाम्नामपि सनिरुक्तत्वा-नामचतुर्थी "तुजमहित्यादि" वचनात् । ततश्चतुर्भिरप्येतैः सर्वस्य संग्रहाच्चतुर्नामेदमुच्यते, "से त्तं चउनामेति" निगमनम् । अनु० ।

चउतंतुय-चतुस्तन्तुक-न० । तन्तुचतुष्टये , पञ्चा० ८ विव० ।

चउतीस-चतुस्त्रिंशत्-स्त्री० । चतुरधिकायां त्रिंशत्संख्यायाम्, " चउतीसबुद्धवयणातिसेसपत्ते " चतुस्त्रिंशद्बुद्धानां जि-नानां (वयण त्ति) वचनप्रमुखः सर्वस्वभाषाऽनुगतं वचनं धर्मावबोधकरमित्यादिनोक्तस्वरूपा येऽतिशेषास्तान् प्राप्तो यः स तथा । औ० ।

चउत्थ-चतुर्थ-त्रि० । चतुःसंख्यापूरके चत्वरे, विपा० १ श्रु० ३ अ० ।

चउत्थभत्त-चतुर्थभक्त-न० । केवलमेकं पूर्वदिने, द्वे उपवासदिने, चतुर्थं पारणकादिने भक्तं भोजनं परिहरतो यत्र तपसि तच्च-तुर्थभक्तम् । प्रवृत्तिस्तु चतुर्थभक्तशब्दस्यैकोपवासे , स्था० ३ ठा० ३ उ० । पञ्चा० ।

तेषु चतुर्थभक्तं प्रायश्चित्तम्—

सहसाऽणाभोगेण व , जेसु पडिक्कमणमभिहियं तेसु ।
आभोगेण वि बहुसो, अइप्पमाणे य निव्विगई ॥ ४४ ॥
धावणडेवणसंघरि-सगमणकिड्डाकुहावणाईसु ।
उक्किट्ठगीयछेलिय-जीवरुआईसु य चउत्था ॥ ४५ ॥

सहसाऽनाभोगः प्रागुक्तस्वरूपः, सहसाऽनाभोगेन वा येषु चा-सितत्रिंचेषु स्थानकेषु प्रतिक्रमणादि प्रायश्चित्तमभिहितं,तेषु आ-

नकेषु मध्ये आभोगेनापि, कोऽर्थः?–जानन्नपि, बहुशः पुनर्यदा सेवते मतृप्यन्, अतिमात्रं वा तदेवासेवते, तत्र सर्वत्र निर्विकृतिकं प्रायश्चित्तम् अनन्तरगाथायां जानतः पौनःपुन्यासेवायां प्रायश्चित्तमुक्तम्, सा च शैक्षस्य दुर्दान्तस्य संभवति, दुर्दान्तश्च धावनादिकमपि कुर्यात् ॥ ४४ ॥ अतस्तदर्थमाह-(धावणे त्ति) धावनमतिवेगेन गमनं, मेघलं वरण्डाद्युल्लङ्घनं, सङ्घर्षगमनम्-आवयोः कः शीघ्रगतिरिति स्पर्द्धया गमनं समश्रेणिस्थितस्य वाऽयनं, क्रीडा सारिचतुरङ्गद्यूताद्याः (कुहावण त्ति) कुहकविस्मापनं, अदन्तस्य धुरादित्वादिनि "ईश्विपन्थ्यासिविदिभिदिकारितान्तेभ्यो युः।" इति युप्रत्ययः । कुहनादिविस्मयकारिणी , हस्तक्रिया इन्द्रजालगोलकखेलनाद्याः , आदिशब्दात् समस्याप्रहेलिकादयो गृह्यन्ते, उत्कृष्टिर्वेकारपूर्वकः कलकलः, गानं गानं, क्ष्वेलितं सिण्टितं तस्करसंज्ञा, जीवरुतं मयूरमार्जारशुकसारादिलपितम्, आदिशब्दादजीवरुतम् अरघट्टशकटपादुकादिशब्दरूपं, चः समुच्चये, एतेषु सर्वेषु ग्रहणे चतुर्थम् ॥ ४५ ॥ जीत० ।

चउत्थभत्तिय-चतुर्थभक्तिक-त्रि० । केवलमेकं पूर्वदिने द्वे उपवासदिने चतुर्थं पारणकदिने भक्तं भोजनं परिहरतो यत्र तपसि तच्चतुर्थभक्तं, तद्यस्यास्ति स चतुर्थभक्तिकः। प्रवृत्तिस्तु चतुर्थभक्तशब्दस्य एकाद्युपवासे इति । स्था० ३ ठा० ३ उ० । एकान्तरोपवासिनि साधौ, कल्प० ७ क्षण ।

चउत्थी-चतुर्थी-स्त्री० । चन्द्रस्य चतुर्थकलायाः प्रवेशनिर्गमनरूपक्रियाऽऽत्मकतिथौ, व्याकरणोक्तेषु 'ङे भ्याम् भ्यस्' इति प्रत्ययेषु च । वाच० । "बाउद्दसिं पन्नरसिं च, जिज्जा अट्ठमिं च नवमिं च । छट्ठिं च चउत्थिं च, बारसिं च दुण्हं पि पक्खाणं ।७। ग० प०८ प० । ज्यो० । विशे० । "चउत्थी संपयावणे" संप्रदाने चतुर्थी । अनु० । यथा-भिक्षवे भिक्षां दापयति ददाति वेति । संप्रदानस्योपलक्षणत्वादेवं- " नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च " ॥ २ । ३ । १६ ॥ इति चतुर्थी भवति । स्था० ७ ठा० । नमो देवेभ्यः स्वाहा, अग्नये, इत्यादिषु संप्रदाने चतुर्थी भवतीत्येके । अन्ये तु उपाध्यायाय गां ददाति इत्यादिष्वेव संप्रदाने चतुर्थीमिच्छन्ति । अनु० ।

चउदंत-चतुर्दन्त-पुं०। चत्वारो दन्ता अस्य। ऐरावते इन्द्रगजे, वाच० । स्था० । कल्प० ।

चउदंसण-चतुर्दर्शन-न० । चतुर्णां दर्शनानां चक्षुरादीनां समाहारे, दर्श० । चक्षुर्दर्शनाऽचक्षुर्दर्शनावधिदर्शनकेवलदर्शनरूपे, कर्म० २ कर्म० ।

चउदेवसेण-चतुर्देवसेन-पुं० । " अरहा देवा सेणं, पडियग्गीव पुव्वसंगइया । ताहे चउदेवसेणो, देवासुरपूजितो नामं " ॥४६॥ विमलवाहननाम्नि तीर्थकरे, ति० ।

चउदसपुव्वि-चतुर्दशपूर्विन्-पुं० । चतुर्दश पूर्वाणि विद्यन्ते यस्य, तेनैव तेषां रचितत्वात्, असौ चतुर्दशपूर्वी । श्रुतकेवलिनि, चं० प्र० १ पाहु० । जं० । चतुर्दशपूर्विणः षट्स्थानपतित्वम् । नि० चू० १५ उ० । विशे० ।

जं चोद्दसपुव्वधरा, छट्ठाणगया परोप्परं होंति ।
तेण उ अणंतभागो, पन्नवणिज्जाण जं सुत्तं ॥ १४२ ॥

यद्यस्मात्कारणाच्चतुर्दशपूर्वधराः षट्स्थानपतिताः परस्परं भवन्ति, हीनाधिक्येनेति शेषः । तथाहि-सकलाभिलाप्यवस्तुवेदितया य उत्कृष्टचतुर्दशपूर्वधरः, ततोऽन्यो हीन-हीनतरादिरागमे इत्थं प्रतिपादितः। तद्यथा-"अणंतभागहीणे वा , असंखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा, असंखेज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा।" यस्तु सर्वस्तोकाऽभिलाप्यवस्तुज्ञायकतया सर्वजघन्यः, ततोऽन्य उत्कृष्ट उत्कृष्टतरादिरप्येवं प्रोक्तः । तद्यथा-"अणंतभागब्भहिए वा, असंखेज्जभागब्भहिए वा संखेज्जभागब्भहिए वा संखेज्जगुणब्भहिए वा असंखेज्जगुणब्भहिए वा, अणंतगुणब्भहिए वा ।" तदेवं यतः परस्परं षट्स्थानपतिताश्चतुर्दशपूर्वविदः, तस्मात्कारणात् यत् सूत्रं चतुर्दशपूर्वलक्षणं, तत् प्रज्ञापनीयानां भावानामनन्तभाग एवेति । यदि पुनर्यावन्तः प्रज्ञापनीया भावास्तावन्तः सर्वेऽपि सूत्रे निबद्धा भवेयुः, तदा तद्वेदिनां तुल्यतैव स्यात्, न षट्स्थानपतितत्वमिति भावः , इति गाथार्थः ॥ १४२ ॥ विशे० ।

चतुर्दशपूर्विणो विकुर्वणा-

पभू णं भंते ! चोद्दसपुव्वी घडाओ घडसहस्सं पडाओ पडसहस्सं कडाओ कडसहस्सं रहाओ रहसहस्सं छत्ताओ छत्तसहस्सं दंडाओ दंडसहस्सं अभिनिव्वट्टेत्ता उवदंसेत्तए ?। हंता पभू । से केणट्ठेणं पभू चोद्दसपुव्वी० जाव उवदंसेत्तए ?। गोयमा ! चोद्दसपुव्विस्स णं अणंताइं दव्वाइं उक्कारियाभेएणं भिज्जमाणाइं लद्धाइं पत्ताइं अभिसमण्णागयाइं भवंति, से तेणट्ठेणं० जाव उवदंसित्तए, सेवं भंते भंते त्ति ॥

(घडाओ घडसहस्सं ति) घटादवधेर्घटनिश्रां कृत्वा घटसहस्रम (अभिनिव्वट्टित्ता) अभिनिर्वर्त्य विधाय श्रुतसमुत्थलब्धिविशेषेण उपदर्शयितुं प्रभुरिति प्रश्नः । (उक्कारियाभेएणं ति) इह पुद्गलानां भेदः पञ्चधा भवति, खण्डादिभेदात् । तत्र खण्डभेदः खण्डशो यो भवति लोष्ठादेरिव, प्रतरभेदोऽभ्रपटलानामिव, चूर्णिकाभेदस्तिलादिचूर्णवत्, अनुतटिकाभेदोऽवटतटभेदवत्, उत्कारिकाभेद एरण्डबीजानामिवेति, तत्रोत्कारिकाभेदेन भिद्यमानानि (लद्धाइं ति) लब्धिविशेषात् ग्रहणविषयतां गतानि । (पत्ताइं ति) तत एव गृहीतानि (अभिसमण्णागयाइं ति) घटादिरूपेण परिणमयितुमारब्धानि, ततस्तैर्घटसहस्रादि निर्वर्त्तयति, आहारकशरीरवन्निर्वर्त्य च दर्शयति जनानाम्, इह चोत्कारिकाभेदग्रहणं तद्भिन्नानामेव द्रव्याणां विवक्षितघटादिनिष्पादनसामर्थ्यमस्ति, नान्येषामिति कृत्वेति ॥ भ० ५ श० ४ उ० ।

चउद्दह-चतुर्दश-त्रि० । " संख्यागद्गदे रः " ॥ ८ । १ । २१९ ॥ संख्यावाचिनि गद्गदशब्दे च दस्य रो भवति । इह असंयुक्तस्येवेत्युक्तेर्नेह ! प्रा० १ पाद । चतुरधिकदशसंख्याभेदे, तत्संख्याते पदार्थे च । वाच० ।

चउद्दिस-चतुर्दिक्-न० । दिक्चतुष्टये, " माणुसुत्तरस्स णं पव्वयस्स चउद्दिसिं चत्तारि कूडा पण्णत्ता " चतसृणां दिशां समाहारश्चतुर्दिक्, तस्मिंश्चतुर्दिशि, अनुस्वारः प्राकृतत्वात् । स्था० १ ठा० १ उ० ।

चउद्धा-चतुर्द्धा-अव्य० । प्रकारे धा च । चतुष्प्रकारे, वाच० । पञ्चा० ।

चउधाउय-चतुर्धातुक-त्रि० । चतुर्भिर्धातुभिर्निष्पन्ने, सूत्र० ।

बौद्धाश्चतुर्धातुकमिदं जगदाहुरित्येतद्दर्शयितुमाह—

पुढवी आउ तेऊ य, तहा वाऊ य एगश्रो ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु आवरे ॥ १८ ॥

पृथिवीधातुरापश्च धातुस्तथा तेजो वायुश्चेति, धारकत्वात्पोषकत्वाच्च धातुत्वमेषाम् । (एगत्र त्ति) यदैते चत्वारोऽप्येकाकारपरिणतिं बिभ्रति कायाकारतया, तदा जीवव्यपदेशमश्नुवन्तः । तथा चोचुः-चतुर्धातुकमिदं शरीरं, न तद्व्यतिरिक्त आत्माऽस्तीति । (एवमाहंसु आवरे त्ति) अपरे बौद्धविशेषा एवमाहुरभिहितवन्त इति । क्वचित् "जाणगा" इति पाठः । तत्राप्ययमर्थः-जानका ज्ञानिनो वयं किलेत्यभिमानाग्निदग्धाः सन्त एवमाहुरिति संबन्धनीयम् । अफलवादित्वं चैतेषां क्रियाकर्तुः एव कर्तुः सर्वात्मना नष्टत्वात् क्रियाफलेन सम्बन्धाभावादवसेयम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । (अस्मिन्नेव भागे ७०५ पृष्ठ 'खणिय' शब्दे क्षणिकत्वं निराकृतम्) तदेवं क्षणिकस्य विचाराक्षमत्वात्परिणामानित्यपक्ष एव ज्यायानिति । एवं च सत्यात्मा परिणामी ज्ञानाधारो भवान्तरयायी भूतेभ्यः कथञ्चिदन्य एव शरीरेण सहायोऽन्योऽन्यानुवेधादनन्योऽपि । तथा सहेतुकोऽपि नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति,तयाऽऽत्मस्वरूपाप्रच्युतेर्नित्यत्वादहेतुकोऽपीति । आत्मनश्च शरीरव्यतिरिक्तस्य साधितत्वाच्चतुर्धातुकमात्रं शरीरमेवेदमित्येतदुन्मत्तप्रलपितमपकर्णयितव्यमित्यलं प्रसङ्गेनेति । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

चउपत्थ-चतुष्प्रस्थ-न० । चत्वारः प्रस्थाः समाहृताश्चतुष्प्रस्थम् । आढके, तोल्यत्वचिन्तायां पञ्चाशत्पलेषु, ज्यो० २ पाहु० ।

चउपाल-चतुष्पाल-न० । 'चउपालका'ऽभिधानप्रहरणकोशे। "सूरियाभस्स देवस्स चउपाले णामं पहरणकोसे ।" रा० ।

चउपुरिसपविभत्तगइ-चतुष्पुरुषप्रविभक्तगति-स्त्री० । चतुर्णां पुरुषाणां प्रविभक्तगतौ, प्रज्ञा० ।

से किं तं चउपुरिसपविभत्तगती ? । चउपुरिसपविभत्तगती से जहानामए चत्तारि पुरिसा समगं पज्जवट्ठिया समगं पट्ठिता, विसमं पट्ठिता विसमं पज्जवट्ठिया, सेत्तं चउपुरिसपविभत्तगती ।

चतुर्णां पुरुषाणां प्रविभक्तगतिः चतुष्पुरुषप्रविभक्तगतिः, तच्चतुर्धात्वम् "समगं पज्जवट्ठिया" इत्यादिना ज्ञेयम् । प्रज्ञा० १६ पद ।

चउप्पइया-चतुष्पादिका-स्त्री० । भुजपरिसर्पिणीभेदे, जी० २ प्रति० ।

चउपज्जाय-चतुष्पर्याय-त्रि० । चत्वारः पर्यायाः नामाकारद्रव्यभावलक्षणा यत्र तच्चतुष्पर्यायम् । नामादिचतुर्विधनिक्षेपनिक्षिप्ते, विशे० । ('निक्खेव' शब्देऽस्य व्याख्या द्रष्टव्या)

चउप्पडोयार-चतुष्प्रत्यवतार-त्रि० । चतुर्षु भेदलक्षणालम्बनानुप्रेक्षालक्षणेषु पदार्थेषु प्रत्यवतारः समवतारो विचारणीयत्वेन यस्य तच्चतुर्विधप्रत्यवतारम् । भ० २५ श० ७ उ० । ग० । स्था० । "चउपडोयारं नाम एक्केकं तत्थ चउव्विहं" नि० चू० ४ उ० ।

चउप्पद-चतुष्पद-पुं० । चत्वारि पदानि पादा येषां ते । स्था० १० ठा० । अश्वादौ, नि० चू० ३ उ० । चतुष्पदा दशधा-"गावी महिसी उट्टी, अय एलग आस आसतरगा य । घोडग गद्दभ हत्थी, चउप्पदा होंति दसधा उ ॥" नि० चू० २उ० । एते प्रतीता नवरमश्वा वाह्लीकादिदेशोत्पन्ना जात्या अश्वाः, अश्वतरा वेगसरा अजात्या घोटकाः । ध० २ अधि० । आचा० । स० । आ० चू० । सूत्र० । विशे० । दश० । आव० । अनु० ।

चतुष्पदमाह-

गावी महिसी उट्टी, अय एलग आस आसतरगा य ।
घोमग गद्दह हत्थी, चउप्पयं होइ दसहा उ ॥ ३३ ॥

गौर्महिषी उष्ट्री अजा एडका अश्वा अश्वतराश्च घोटका गर्दभा हस्तिनश्चतुष्पदं भवति दशधा तु । एते गवादयः प्रतीता एव,नवरमश्वा वाह्लिकादिदेशोत्पन्ना जात्याः, अश्वतरा वेगसरा अजात्या घोटका इति गाथार्थः । दश० ६ अ० ।

चउव्विहा चउप्पया पराणत्ता । तं जहा-एगखुरा दुखुरा गंमीपदा सणहृपदा ।

चतुष्पदाः स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चः, एकः खुरः पादे पादे येषां ते एकखुरा अश्वादयः, एवं द्वौ खुरौ येषां ते तथा ते च गवादयः, गण्मी सुवर्णकारादीनामधिकरणी गण्डिका, तद्वत्पदानि येषां ते तथा ते हस्त्यादयः (सणहृपय त्ति) सनखपदा नाखरा सिंहादयः। स्था० ४ ठा० ४ उ० । स० । बवादिषु करणेषु नवमे करणे, सूत्र०१ श्रु० १ अ० १ उ० । "अमावासाए दिवा चउप्पयं" अमावास्यायां दिवा चतुष्पदं करणम् । आ० म० प्र० । आ० चू० । विशे० ।

चउप्पयथलयरपंचिंदियतिरिक्खजोणिय-चतुष्पदस्थलचर-पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिक-पुं० । चत्वारि पदानि पादा येषां ते चतुष्पदास्ते च ते, स्थले चरन्तीति स्थलचराश्चेति चतुष्पदस्थलचरास्ते च ते पञ्चेन्द्रियाश्चेति विग्रहः, पुनस्तिर्यग्योनिकाश्चेति कर्मधारयः । स्थलचरपञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकभेदेषु, स्था० १० ठा० । सूत्र० । (एषामाहार 'आहार' शब्दे द्वितीयभागे ४७६ पृष्ठे उक्तः)

चउप्पयविहिपरिमाण-चतुष्पदविधिपरिमाण-त्रि० । चतुष्पदानामुपभोगपरिमाणे, उपा० १ अ० । ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रं दृष्टव्यम्)

चउप्पया-चतुष्पद्या-स्त्री० । पौषीपूर्णिमायाम्, चतुष्पद्या पौरुषी स्यात् । चतुर्भिः पदैर्गम्यमाने दिनप्रहरे, उत्त० २६ अ० ।

चउप्पदी-चतुष्पदी-स्त्री० । स्थलचरतिर्यक्स्त्रीभेदे, "से किं तं चउप्पदीओ ? । चउप्पदीओ चउव्विहाओ पण्णत्ताओ । तं जहा-एगखुरीओ० जाव सणप्फईओ ।" जी० २ प्रति० । चतुश्चरणात्मके पद्ये, वाच० ।

चउप्पुडय-चतुष्पुटक-न० । चतुर्भिः पुटकैरुपेते, "सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं ।" भ० ३ श० २ उ० ।

चउव्वग्ग-चतुर्वर्ग-पुं० । चतुर्णां वर्गे, आचा० २ श्रु० २ चू० । चतुर्णां धर्मार्थकाममोक्षाणां वर्गः समुदायः । धर्मार्थकाममोक्षेषु चतुर्षु पुरुषार्थेषु, वाच० ।

चउब्भाग–चतुर्भाग–पुं० । पादे, चतुर्थांशे, स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

चउब्भुय–चतुर्भुज–पुं० । चत्वारो भुजा हस्ता अस्य । नारायणे, वाच० । "दट्टूण तओ जणणी, चउब्भुयपुत्तमब्भुयमणग्घं" ॥ सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

चउभंग–पुं०–चतुर्भङ्ग–स्त्री० । न० । चत्वारो भङ्गाः समाहृताश्चतुर्भङ्गी, चतुर्भङ्गं वा, पुंल्लिङ्गता चात्र प्राकृतत्वात् । चतुर्षु भङ्गेषु "सुद्धे णामं एगे सुद्धे, सुद्धे णामं एगे असुद्धे, असुद्धे णामं एगे सुद्धे, असुद्धे णामं एगे असुद्धे चउभंगो" स्था० ४ ठा० १ उ० ।

चउभाइया–चतुर्भागिका–स्त्री० । माणिकायाश्चतुर्भागवर्तित्वात् चतुष्षष्टिपलमाना चतुर्भागिका । माणिकायाश्चतुर्भागवर्तिनि रसमानविशेषे, अनु० ।

चउमट्टिया–चतुर्मृत्तिका–स्त्री० । चैलेन कुट्टितायां मृत्तिकायाम्, "चेलेण सह मट्टिया कुट्टिया चउमट्टिया" । नि० चू० १७ उ० ।

चउमुट्ठिलोय–चतुर्मुष्टिलोच–पुं० । चतुर्मुष्टिकलोचे, कल्प० ।

असोगवरपायवस्स अहे० जाव सयमेव चउमुट्ठियं लोयं करेइ । करेइत्ता छट्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं आसाढाहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं उग्गाणं भोगाणं राइन्नाणं खत्तियाणं चउहिं सहस्सेहिं सद्धिं एगं देवदूसमादाय मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ॥ २११ ॥

अशोकवरवृक्षस्य अधः० यावत् आत्मनैव चतुर्मौष्टिकं लोचं करोति, चतसृभिर्मुष्टिभिर्लोचे कृते सति अवशिष्टाम् एकां मुष्टिं सुवर्णवर्णयोः स्कन्धयोरुपरि लुठन्तीं कनककलशोपरिविराजमानां नीलकमलमालामिव विलोक्य हृष्टचित्तस्य शक्रस्य आग्रहेण रक्षितवान् " छट्ठेणं " इत्यादि सुगमम् ॥२११॥ कल्प० ७ क्षण० ।

चउमुह–चतुर्मुख–पुं० । चत्वारि मुखान्यस्य । चतुरानने वेधसि, चतुर्द्वारे गृहे, न० । चतुर्षु मुखेषु, त्रि० । औषधभेदे, पुं० । वाच० । चतुर्मुखे पथि, यस्माच्चतसृष्वपि दिक्षु पन्थानो निस्सरन्ति । आ० म० प्र० । जी० । चतुर्द्वारे देवकुलादौ, औ० । भ० । कल्प० । स्था० । आचा० । अनु० । ज्ञा० । स्वनामख्याते पाटलिपुत्रस्य राज्ञि, " यं एयं च नयरं, पाडलिपुत्तं तु विस्सुयं लोए । एत्थं होई राया, चउम्मुहो नाम नामेणं ॥ " ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चउरह–चतुरह–न० । दिनचतुष्टये, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

चउर–चतुर्–त्रि० । ब० व० । चत् उरन् । चतुःसंख्यायाम्, चतुःसंख्यासमन्विते च ।

चतुरशब्दस्य निक्षेपः–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य गणण भावे य ।
निक्खेवो य चउण्हं, गणनासंखाएँ अहिगारो ॥ उत्त० ३ अ० ।

तत्र नामस्थापने सुगमे, द्रव्ये विचार्ये सचित्ताचित्तमिश्राणि द्रव्याणि चतुःसंख्यतया विवक्षितानि, क्षेत्रे चतुःसंख्यापरिच्छिन्ना आकाशदेशा यत्र वा चत्वारो विचार्यन्ते, काले च चत्वारः समयावलिकादयः कालभेदाः यदा चामी व्याख्यायन्ते गणनायां चत्वार एको द्वौ त्रयश्चत्वार इत्यादि, गणनाऽन्तःपातिनः, भावे चत्वारो मानुषत्वादयोऽभिधास्यमाना भावाः एषां मध्ये केनाधिकारः ?, उच्यते–गणनासंख्ययाऽधिकारः । किमुक्तं भवति ?–गणना चतुर्भिरधिकारस्तैरेव वक्ष्यमाणानामङ्गानां गण्यमानतया तेषामेवोपयोगित्वादिति गाथार्थः ॥ उत्त० ३ अ० । "चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसग्गीवा" चतुरङ्गुललक्षणं सुष्ठु प्रमाणं यस्याः सा तथाविधकम्बुवरसदृशी चान्नततया वलित्रययोगाच्च प्रधानशङ्खसदृशी ग्रीवा कण्ठो यस्य तथा । जी० ३ प्रति० । पुं० । वक्रगतौ, हस्तिशालायां च । कार्यदक्षे, आलस्यहीने, निपुणे च । त्रि० । नायकभेदे, पुं० । चतुर–अर्श० अच् । चतुःसंख्याविशिष्टे, त्रि० वाच० । " केसी गायइ मंहुर, केसी गायइ खरं च रुक्खं च । केसी गायइ चउरं, केसि विलंबं दुतं केसी ॥ " स्था० ७ ठा० ।

चउरंग–चतुरङ्ग–न० । चत्वारि चतुर्गुणितानि (उत्त० ३ अ०) अङ्गानि मनुष्यादिभावाङ्गानि, (उत्त० ४ अ०) तेषां समाहारः मानुष्यधर्मश्रुतिश्रद्धातपःसंयमवीर्यचतुष्टयरूपे, व्य० ३ उ० । मोक्षोपायसाधने, उत्त० ३२ अ० ।

नालेती अग्गीतो, चउरंगं सव्वलोयसारंगं ।
नट्ठम्मि य चउरंगे, न हु सुलहं होइ चउरंगं ॥

अगीतार्थो निर्यापकः, तस्य कृतभक्तप्रत्याख्यानस्य चतुरङ्गं चतुर्णामङ्गानां समाहारः चतुरङ्गम्, कथंभूतमित्याह–सर्वलोकसाराङ्गम् । अङ्गवरं प्रधानमित्यनर्थान्तरम्, सर्वेषामपि प्रयाणामपि लोकानां यानि अङ्गानि तेषां सारमिति । विशिष्टमङ्गं प्रधानं सर्वलोकसाराङ्गेण चतुरङ्गेन पुनः सुलभप्रायं भवति चतुरङ्गम्, किं तु चुल्लकादिदृष्टान्तैरतिशयेन दुष्प्राप्यं, ततोऽगीतस्य समीपे भक्तं न प्रत्याख्येयम् ॥

किं पुण तं चउरंगं, जं नट्ठं दुल्लहं पुणो होइ ।
माणुस्सं धम्मसुती, सद्धा तवसंजमे विरियं ॥

किं पुनस्तत् चतुरङ्गं यद् नष्टं सत् पुनर्दुर्लभं भवति । सूरिराह–मानुष्यं मानुषत्वं, धर्मश्रुतिः धर्मश्रवणं, श्रद्धा, तपसि संयमे च वीर्यमिति । व्य० १ उ० । अङ्ग० । आ० म० । उत्त० ।

चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो ।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं ॥ १ ॥

" चत्तारि " इत्यादि । चत्वारि चतुःसंख्यानि, परमाणि च तानि अत्यासन्नोपकारित्वेन अङ्गानि च मुक्तिकारणत्वेन परमाङ्गानि परमङ्गानि, दुर्लभानि दुःखेन लभ्यन्ते इति कृत्वा दुष्प्राप्याणि, इहास्मिन् संसारे, कस्य ?, जायत इति जन्तुस्तस्य, देहिन इत्यर्थः । पठ्यते च–देहिन इति । कानि पुनस्तानि ?, मनसि शेते मानुषोऽथवा मनोरपत्यमिति वाक्ये "मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च" ।४।१।१६१। इति अञ्प्रत्यये षुगागमे च मानुषत्वं मनुजत्वाद्यः, श्रवणं श्रुतिः, सा चार्थप्रकरणादिभ्यः सामान्यशब्दा अपि विशेषेऽवतिष्ठन्ते इति न्यायाद्धर्मविषया, श्रद्धाऽपि तत एव धर्मविषया, संयमे आश्रवविरमणात्मनि, चः समुच्चये, भिन्नक्रमः, ततो विशेषेणेरयति प्रवर्तयति आत्मानं तासु तासु क्रियास्विति वीर्यं च सामर्थ्यं विशेषम् इति सूत्रार्थः ॥ १ ॥

तत्र मानुषत्वं दुर्लभं तद्दर्शयितुमाह–

समावन्ना ण संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु ।

कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभिया पया ॥ २ ॥

समन्तादापन्नाः प्राप्ताः समापन्नाः। 'णं' इतिवाक्यालङ्कारे। केत्याह-संसारे, तत्रापि च, नानेत्यनेकार्थो,गोत्रशब्दश्च नामपर्यायः, ततो नानागोत्रास्वनेकाभिधानासु जायन्ते जन्तव आस्विति जातयः क्षत्रियाद्याः, तासु। अथवा-जननानि जातयः, ततो जातिषु क्षत्रियादिजन्मसु नानाहीनमध्यमोत्तमभेदेनानेकं गोत्रं यासु तास्तथा तासु। अत्र हेतुमाह-क्रियन्त इति कर्माणि,ज्ञानावरणादीनि, नानाविधानि अनेकप्रकाराणि, कृत्वा निर्वर्त्य. (पुढो त्ति) पृथक्करभेदेन। किमुक्तं भवति ?, एकैकशः(विस्संभिय त्ति) विशेरलाक्षणिकत्वात् विश्वं जगद् बिभ्रति पूरयन्ति क्वचित् कदाचित्ततुत्पत्त्या सर्वजगद्व्यापनेन विश्वभृतः। उक्तं च-"णत्थि किर सो पएसो, लोए वालग्गकोडिमत्तो वि। जम्मणमरणाबाहा, जत्थ जिएहिं न संपत्ता" ॥१॥ इदमुक्तं भवति-अवाप्यापि मानुषत्वं स्वकृतविचित्रकर्मानुभावतः पृथग्गतिभागिन्य एव भवन्ति, काः?, प्रजा जनसमूहरूपाः, तदनेन प्राप्तमनुष्यत्वानामपि कर्मवशाद्विविधगतिगमनं मनुष्यत्वं दुर्लभहेतुरुक्तः। यद्वा-संसारे कर्माणि नानाविधानि कृत्वा पृथगिति भिन्नासु नानागोत्रास्वनेककुलकोटयुपलक्षितासु जातिषु देवाद्युत्पत्तिरूपासु समापन्नाः संप्राप्ताः,वर्त्तन्त इति गम्यते। "णं" इति प्राग्वद्विश्वम्भिताः सञ्जातविश्रम्भाः सत्यः, प्रक्रमात्कर्मस्वेव तद्विपाकदारुणत्वापरिज्ञानात्। काः?-प्रजायन्ते इति प्रजाः प्राणिन इति सम्बन्धः। तदनेन प्राणिनां विविधदेवादिभवभ्रमणं मूलत एव मनुजत्वदुर्लभत्वे कारणमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

अमुमेवार्थं भावयितुमाह-

एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहिँ गच्छइ ॥ ३ ॥

(एकदेति) एकस्मिन् शुभकर्मानुभवकाले दीव्यन्ति देवाः, तेषां लोका उत्पत्तिस्थानानि देवगत्यादिपुण्यप्रकृत्युदयविषयतया लोक्यन्ते इति कृत्वा तेषु देवलोकेषु,नरान् कायन्ति योग्यतयाऽऽह्वयन्तीति नरकाः, तेषु रत्नप्रभादिषु नारकोत्पत्तिस्थानेषु, अपिशब्दस्य चार्थत्वात् तेषु चैकदा शुभानुभवकाले, तथैकदा तथाविधभावनाभावितान्तःकरणावसरे, असुराणामयमासुरस्तमसुरसम्बन्धिनं, चीयत इति कायः, निकायमित्यर्थः। बालतपःप्रभृतिरपि तत्प्राप्तिरिति दर्शनार्थं देवलोकोपादानेऽपि पुनरासुरकायग्रहणम्। अथवा-देवलोकशब्दस्य सौधर्मादिषु रूढत्वात्तदुपादानमुपरितनदेवोपलक्षणमिदं चाधस्त्यदेवोपलक्षणमिति न पौनरुक्त्यम (आहाकम्मेहिं ति)आधानमाधा करणमित्यर्थः। तदुपलक्षितानि कर्माण्याधाकर्माणि, तैः किमुक्तं भवति ?-स्वयं विहितैरेव सरागसंयममहारम्भासुरजावनादिभिर्देवनारकासुरगतिहेतुभिः क्रियाविशेषैर्यथाकर्मभिर्वा तत्तद्गत्यनुरूपचेष्टितैर्गच्छन्ति यान्ति। इति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

एगया खत्तिओ होइ, तओ चंडालबोक्कसो।
तओ कीडपयंगो य, तओ कुंथुपिपीलिया ॥ ४ ॥

(एकदेति) मनुष्यजन्मानुरूपकर्मप्रकृत्युदयकाले, (खत्तिय त्ति) 'क्षण' हिंसायाम्। क्षणनानि क्षतानि, तेभ्यस्त्रायत इति क्षत्रियो राजा भवति; तत इति तदनन्तरं तको वा प्राणी चण्डालः प्रतीतः। यदि वा-शूद्रेण ब्राह्मण्यां जातश्चण्डालः, "बोक्कसो" वर्णान्तरभेदः। तथा च वृद्धाः- "बंभणसुद्दीओ जाओ निसातो त्ति वुच्चति, बंभणेण वेसीए जाओ अंबट्ठो त्ति वुच्चति, तत्थ निसाएणं जो अंबट्ठीए जाओ सो बोक्कसो भवति।" इह च क्षत्रियग्रहणादुत्तमजातयः,चण्डालग्रहणान्नीचजातयः, "बोक्कस"ग्रहणाच्च सङ्कीर्णजातय उपलक्षिताः,ततः मानुषत्वादुद्वृत्येति शेषः, कीटः प्रतीतः,पतङ्गः शलभः चःसमुच्चये, ततस्तको वा (कुंथुपिपीलिक त्ति) चशब्दस्य लुप्तनिर्दिष्टत्वात्कुन्थुः पिपीलिका च, भवतीति सर्वत्र संबध्यते। शेषतिर्यग्भेदोपलक्षणं चैतदिति सूत्रार्थः ॥ ४ ॥

किमित्थं पर्यटन्तस्ते निर्विद्यन्ते, न वेत्याह-

एवमावट्टजोणीसु, पाणिणो कम्मकिब्बिसा।
न निविज्जंति संसारे, सव्वट्ठेसु य खत्तिया ॥ ५ ॥
कम्मसंगेहिँ संमूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मंति पाणिणो ॥ ६ ॥

एवममुनोक्तन्यायेन,आवर्त्तनमावर्त्तः परिवर्त्त इति योऽर्थो युवन्ति मिश्रीभवन्ति कार्मणशरीरिण औदारिकादिशरीरैरासु जन्तवो युवन्ते सेवन्ते ता इति वा योनय आवर्त्तोपलक्षिता योनयस्तासु,प्राणिनो जन्तवः, कर्मणोक्तरूपेण,किल्बिषा अधमाः कर्मकिल्बिषाः, प्राकृतत्वाद्वा पूर्वापरनिपातः। किल्बिषाणि क्लिष्टतया निकृष्टान्यशुभानुबन्धीनि कर्माणि येषां ते किल्बिषकर्माणो न निर्विद्यन्ते कदैतद्विमुक्तिरिति नोद्विजन्ते, क आवर्त्तयोनय इत्याह-संसारे भवे,केष्विव के न निर्विद्यन्ते इत्याह-सर्वे च तेऽर्थाश्च मनोज्ञशब्दादयो, धनकनकादयो वा सर्वार्थास्तेष्विव, क्षत्रिया राजानः। किमुक्तं भवति ?-यथा मनोज्ञान् शब्दादीन् भुञ्जानानां तेषां तदर्थोऽभिवर्धते, एवं तासु योनिषु पुनरुत्पत्त्या कलङ्कलीभावमनुभवतामपि भवाभिनन्दिनां प्राणिनामिति; कथमन्यथा न तत्प्रतिघातार्थमुद्यच्छेयुरिति भावः। पाठान्तरं वा-"सव्वट्ठ इव खत्तिय त्ति" इवो भिन्नक्रमः, ततः सर्वैः शयनादिभिरर्थैः प्रयोजनमस्येति सर्वार्थः, क्षत्रियः, स चार्थाद्भ्रष्टराज्यः, ततश्च यथाऽसौ न निर्विद्यते अर्थात्सर्वार्थान्प्रार्थयमानः, तथैतेऽपि प्राणिनः सुखान्यभिलषन्तः,अनिर्विद्यमानाश्च कर्मभिर्ज्ञानावरणादिभिः सङ्गाः सम्बन्धाः कर्मसंयोगास्तैः,यद्वा-कर्माण्युक्तरूपाणि, तत्क्रियाविशेषात्मकानि वा, तथा सज्यन्तेऽमीषु जन्तव इति सङ्गाः,शब्दादयोऽभिष्वङ्गविषयाः,त एव च कर्माणि च सङ्गाश्च कर्मसङ्गास्तैः, समिति भृशं,मूढाः वैचित्त्यमुपगताः संमूढा दुःखमसातात्मकं जातमेषामिति दुःखिताः। कःश्चित्तन्मानसमेव स्यादत आह- बहुवेदना वेदनाः शारीरव्यथा येषां ते तथा, मनुष्याणामिमा मानुष्याः, न तथाऽमानुष्यास्तासु नरकतिर्यगाभियोग्यादिदेवदुर्गतिसंबन्धिनीषु, योनिष्वभिहितरूपासु, विहन्यन्ते विशेषेण निपात्यन्तेऽर्थात् कर्मभिः कोऽर्थो न तत उत्तारं लभन्ते, प्राणिनो जन्तवः,तदनेन सत्यप्यावर्त्ते निर्वेदाभावात्कर्मसङ्गसंस्तवात् दुःखहेतुर्नरकादिगत्यनुसरणेन प्राणिनो मनुजत्वं न लभन्त इत्युक्तमिति सूत्रद्वयार्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

कथं तर्हि तदवाप्तिरित्याह-

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥ ७ ॥

कर्मणां मनुजगतिनिबन्धकानां, तुः पूर्वस्माद्विशेषद्योतकः,

ए त्ति प्रकृष्टं हानमपगमः प्रहाणं,तस्यायो लाभः प्रहाणायः, तस्मिन् । यद्वा-सूत्रत्वात्प्रहाणौ प्रहाण्या वा तद्विबन्धकानन्तानुबन्ध्यादिकर्म्मसु प्रहीणेषु कुतश्चिदीश्वरानुग्रहादेस्तदप्राप्तेः, अन्यथा हि तद्वैफल्यापत्तिः। अनेन-"अज्ञो जन्तुरनीशोऽय-मात्मनः सुखदुःखयोः। ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्,स्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा।" ॥१॥ इत्यपास्तं भवति। अथ कथं पुनस्तेषां प्रहाणिरित्याह-आनुपूर्व्या क्रमेण, न तु झगित्येव, तयाऽपि (कयाइ उ त्ति) तुशब्दस्यैवकारार्थत्वात्कदाचिदेव, न सर्वदा, जीवाः प्राणिनः-शुद्धिं क्लिष्टकर्मविगमात्मिकाम् 'अनु' तद्विघातिकर्म्मापगमस्य, पश्चात्प्राप्ताः, आददते स्वीकुर्वन्ति मनुष्यताम्। पाठान्तरतः (आजायंते मणुस्सयं ति) सुप्प्रत्ययात् मनुष्यतायां तदेव तन्निवर्तकमनुजगत्यादिकर्म्मोदयादिति भावः। अनेन मनुजत्वानिबन्धककर्मापगमस्य तथाविधकालादिसव्यपेक्षत्वेन दुरापतया मनुष्यत्वदुर्लभत्वमुक्तमिति सूत्रार्थः ॥ ७ ॥

कदाचिदेतदवाप्तौ श्रुतिः सुलभैव स्यादत आह-

माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति, तवं खंतिमहिंसयं ॥ ८ ॥

(माणुस्सं ति) सूत्रत्वान्मानुष्यकं मनुष्यसम्बन्धिनं विशेषणं गृह्यते,आत्मना कर्मपरतन्त्रेणेति विग्रहः। तं मनुजगत्याद्युपलक्षितमौदारिकशरीरम्,(लद्धुं ति) अपेर्गम्यमानत्वाल्लब्ध्वाऽपि श्रुतिराकर्णनं कस्य धारयति, दुर्गतौ निपततो जीवानिति धर्मः।

तथा च वाचकः-

"प्राप्लोकबिन्दुसारे, सर्वाक्षरसन्निपातपरिपठिता।
धृञ् धारणार्थो धातु-स्तदर्थयोगाद्भवति धर्मः ॥ १ ॥
दुर्गतिभयप्रपाते, पतन्तमजयकरदुर्लभप्राणे।
सम्यक्चरितो यस्माद्, धारयति ततः स्मृतो धर्मः ॥ २ ॥"

तस्यैवमन्वर्थनाम्नो धर्मस्य दुर्लभा दुरापा प्राणुक्ताऽऽलस्यादिहेतुतः। स च-"मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया,भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे। द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः"॥ इत्यादि सुगतादिकल्पितोऽपि स्यादतस्तदपोहायाऽऽह-यं धर्मं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते अङ्गीकुर्वन्ति तपोऽनशनादि द्वादशविधं, क्षान्तिं क्रोधजयलक्षणं मानादिजयोपलक्षणं चैषा अहिंसयति अहिंस्रतामहिंसनशीलतामनेन च प्रथमव्रतमुक्तमेतच्च शेषव्रतोपलक्षणम्,एतत्प्रधानत्वात्तेषाम्,एतत्तुल्यानि हि शेषव्रतान्येवं च तपसः क्षान्त्यादिचतुष्कस्य महाव्रतपञ्चकस्य चाभिधानाद्दशविधस्यापि यतिधर्मस्याभिधानमिह च यद्यपि श्रुतेः शाब्दं प्राधान्यं तथापि तत्त्वतो धर्म्म एव प्रधानं, तस्या अपि तदर्थत्वादिति,स एव यच्छब्देन परामृश्यते। अथ च काक्वा नीयते यच्छ्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते तपःप्रभृतिना श्रुत्वा "सोच्चा जाणति कल्लाणं, सोच्चा जाणति पावगं" इत्यागमात् तत एवमातिप्रहार्थतया दुरापेयमिति सूत्रार्थः ॥८॥

श्रुत्यवाप्तावपि श्रद्धादुर्लभतामाह-

आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई ॥ ९ ॥

(आहच्चेति) कदाचित् श्रवणं प्रक्रमाद्धर्म्माकर्णनम्, उपलक्षणत्वान्मनुष्यत्वं च,लब्ध्वेति,अपिशब्दस्य गम्यमानत्वात् लब्ध्वाऽप्यवाप्याऽपि,श्रद्धा रुचिरूपा, प्रक्रमाद्धर्मविषयैव, परमदुर्लभाऽतिशयदुरापा। कुतः पुनः परमदुर्लभत्वमस्या इत्याह-श्रुत्वाऽऽकर्ण्य, न्यायेन चरति प्रवर्तते नैयायिको, न्यायोपपन्न इत्यर्थः। एवं मार्गं सम्यग्दर्शनाद्यात्मकं मुक्तिपथं प्राप्तमपि, बहवो नैक एव, एरीति सर्वप्रकारम् (भस्सइ त्ति) भ्रश्यन्ति च्यवन्ते, प्रक्रमान्नैयायिकमार्गादेव, यथा यमालिप्रभृतयो, यच्च प्राप्तमप्यपैति तच्चिन्तामणिवत्परमदुर्लभमेवेति भावः। इहैव केचिन्निह्नववक्तव्यतां व्याख्यातवन्तः, उचितं चैतद्व्याख्ते इति सूत्रार्थः ॥ ९ ॥

एतत् त्रयावाप्तावपि संयमवीर्यदुर्लभत्वमाह-

सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि, नो य णं पडिवज्जए ॥१०॥

श्रुतिं, चशब्दान्मनुष्यत्वम्, (लद्धुं ति) प्राप्य लब्ध्वाऽपि, श्रद्धां च वीर्यं प्रक्रमात्संयमविषयं, पुनःशब्दस्य विशेषत्वात् विशेषेण दुर्लभम्, यतो बहवो नैक एव रोचमाना अपि न केवलं प्राप्तमनुष्यत्वाः शृण्वन्तो वेत्यपिशब्दार्थः। श्रद्दधाना अपि, (नो चेति) चशब्दस्यैवकारार्थत्वान्नैव, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे। अथवा-(णो य णं इति) सूत्रत्वात् (नोयणं पडिवज्जइ इति) तत एव प्रतिपद्यन्ते। चारित्रमोहनीयकर्मोदयतः सत्यकिश्रेणिकादिवच्च कर्तुमभ्युपगच्छन्ति इति सूत्रार्थः ॥ १० ॥

संप्रति दुर्लभस्यास्य चतुरङ्गस्य फलमाह-

माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं,संवुडे निद्धुणे रयं ॥ ११ ॥

मानुषत्वे मनुजत्वे आयात आगतः, किमुक्तं भवति ?-मानुषत्वं प्राप्तो य इत्यनिर्दिष्टस्वरूपो, य एव कश्चिद्धर्म्मं श्रुत्वा (सद्दहे त्ति)श्रद्धत्ते रोचते,(तवस्सि त्ति) दानादिविरहिततया प्रशस्यतपोऽन्वितः, कथं, वीर्यं संयमोद्योगं लब्ध्वा संवृतः स्थगितसमस्ताश्रवः। स किमित्याह-(निद्धुणे त्ति) निर्धुनोति नितरामपनयति, रज्यते स्वच्छस्फटिकवज्जन्तुरस्वभावोऽप्यात्माऽन्यथात्वमापद्यत इति रजःकर्म बध्यमानकं बद्धं च तदपनयाच्च मुक्तिमाप्नोति इति भावः। उभयत्र "लिप्स्यमानसिद्धौ च" ५।३।१०। इति(हैम०)वा सप्तमी। इह च श्रद्धानेन सम्यक्त्वमुक्तं, तेन च ज्ञानमाक्षिप्तं,दीपप्रकाशयोरिव युगपदुत्पादात्सयोः, तथा च "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इति न विरुध्यत इति सूत्रार्थः ॥ ११ ॥

इत्यमामुष्मिकं फलमुक्तमिदानीमिहैव फलमाह-

सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्त व्व पावए ॥ १२ ॥

शुद्धिः कषायकालुष्यापगमो, भवतीति गम्यते। ऋजुकभूतस्य चतुरङ्गप्राप्त्या मुक्तिं प्रति प्रगुणीभूतस्य, तथा च धर्म्मः क्षान्त्यादिः, शुद्धस्य शुद्धिं प्राप्तस्य तिष्ठत्यविचलिततयाऽऽस्ते इति। अशुद्धस्य तु कदाचित् कषायोदयात्तद्विचलनमपि स्यादित्याशयः,तदवस्थितौ च निर्वाणं निर्वृतिः,स्वास्थ्यमित्यर्थः। परमं प्रकृष्टम्, "एगमासपरियाए समणे वंतरियाणं तेयलेसं वीईवयति" इत्याद्यागमेनोक्तं नैवास्ते, राजराजस्य तत्सुखमित्यादिना च वाचकवचनेनानूदितं, याति प्राप्नोति, क इव [घयसित्ते व त्ति) इवस्य भिन्नक्रमत्वात्, घृतेन सिक्तो घृतसिक्तः,पुनातीति पावकोऽग्निर्लोकप्रसिद्ध्या,समयप्रसिद्ध्या तु पापहेतुत्वा-

त्पापकः तद्वत् स च न तथा तृणादिभिर्दीप्यते यथा घृतेनेति,अस्य घृतसिक्तस्य निर्वृतिरनुगीयते।ततः सविशेषणस्यास्य दृष्टान्तत्वेनाभिधानमिति भावनीयम्। यद्वा-निर्वाणमिति जीवन्मुक्तिं याति "निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानां विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानामिति" वचनात् । कथंभूतः सन् घृतसिक्तपावक इव तपस्तेजसोज्ज्वलितत्वेन घृततर्पिताग्निसमान इति सूत्रार्थः । पठन्ति च नागार्जुनीयाः-"चउक्कं संपयं लद्धुं, इहेव ताव भायते। तेयते तेजसंपन्ने, घयसित्ते व्व पावए त्ति"॥१॥ तत्र च-चतुष्कां चतुःप्रकारां संपदं संपत्तिं प्रक्रमान्मनुष्यत्वादिविषयां लब्ध्वा, इहैव लोके तावत्, आस्तां परत्र, भ्राजते ज्ञानश्रिया शोभते,तेजते दीप्यते तेजसा अर्थात्तपोजनितेन संपन्नो युक्तस्तेजः संपन्नःशेषं प्राग्वदिति सूत्रार्थः ॥ १२ ॥

इत्थमामुष्मिकमैहिकं च फलमुपदर्श्य शिष्योपदेशमाह-

विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए ।
पाढवं सरीरं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥ १३ ॥

(विगिंच त्ति) पृथक् कुरु, कर्मणः प्रस्तावात् मानुषत्वादिनिबन्धकस्य हेतुम् उपादानकारणं मिथ्यात्वाविरत्यादिकम् । तथा-यशोहेतुत्वाद्यशः संयमो विनयो वा यदुक्तम्-"एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो। जेण कित्तिसुयं सिग्घं, णीसेसं चाभिगच्छइ"इति । तत्संचिनु भृशमुपचितं कुरु,कया? क्षान्त्या उपलक्षणत्वान्मार्दवादिभिश्च, ततः किं स्यादित्याह-(पाढवंति) पार्थिवमिव पार्थिवं शीतोष्णादिपरीषहसहिष्णुतया समदुःखसुखतया च पृथिव्यामिव भवम् पृथिवी हि सर्वसहा कारणानुरूपं च कार्यमिति भावः । यदि वा-पृथिव्या विकारः पार्थिवः स चेह शैलः ततश्च शैलेशीप्राप्त्यपेक्षयाऽतिनिश्चलतया शैलोपमत्वात्तत्प्रसिद्ध्या वा पार्थिवं शरीरं तनुं हित्वा त्यक्त्वा ऊर्द्धदिशमिति सम्बन्धः प्रक्रामति प्रकर्षेण गच्छति । येन भवानित्युपस्कारः यद्वा-सोपस्कारत्वात् सूत्राणामेव नीयते एवं कुर्वन् भव्यजन्तुरूर्ध्वं दिशं प्रक्रामति । ततस्त्वमतिदृढचेता इत्थमित्थं च कुरु इत्युपदिश्यते । 'प्रक्रामतीति च' वर्तमानसामीप्येन निर्देश आसन्नफलप्राप्तिसूचक इति सूत्रार्थः॥१३॥

इत्थं येषां तद्भव एव मुक्त्यवाप्तिस्तान् प्रत्युक्तम् । येषां तु न तथा तान् प्रत्याह-

विसालसेहिँ सीलेहिं, जक्खा उत्तरउत्तरा ।
महासुक्का व दिप्पंता, मन्नंता अपुणच्चवं ॥ १४ ॥
अप्पिया देवकामाणं, कामरूवविउव्विणो ।
उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति, पुव्वावाससया बहू ॥ १५ ॥

मागधदेशीयभाषया विसदृशैश्च स्वचारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमापेक्षया विविधैः शीलैर्व्रतपालनात्मकैरनुष्ठानविशेषैः किं इज्यन्ते पूज्यन्त इति यक्षाः, यान्ति वा तथाविधर्द्धिसमुदयेऽपि क्षयमिति यक्षाः ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति इत्युत्तरेण सम्बन्धः। उत्तरोत्तरा उत्तरोत्तरविमानवासिनः उत्तरो वा उपरितनस्थानवर्त्युत्तरः प्रधानो येषु ते अमी उत्तरोत्तरा महाशुक्ला अतिशयोज्ज्वलतया चन्द्रादित्यादयः ते इव दीप्यमानाः प्रकाशमानाः अनेन च शरीरसंपदुक्ता । सुखसंपदमाह-मन्यमाना मनस्यवधारयन्तः शब्दादिविषयासक्तिसमुत्पन्नरतिसागरावगाढतया अतिदीर्घस्थिततया वा किं न पुनश्च्यवनम् अपुनश्च्यवः तमर्थे-तिर्यगादिषूत्पत्त्यभावम् । यदुक्तम्-"मन्यमाना अपुनश्च्यवनमिति"॥१४॥सूत्रोक्तमेव हेतुं सूत्रकृदाह-'अप्पिये'त्यादिना। अर्पिताः प्राकृतसुकृतेन ढौकिता इव केषां काम्यन्तेऽभिलष्यन्त इति कामाः देवानां कामाः देवकामा दिव्याङ्गनास्पर्शादयः। कामरूपम् (विउव्विणो त्ति) सूत्रत्वात् कामरूपविकरणा यथेष्टरूपाभिनिर्वर्तनशक्तिसमन्विताः । कुर्वन्ति हि ते उत्तरवैक्रियाणि समवसरणागमनादिषु तथा तथेति येऽपि प्रयोजनाभावान्न कुर्वन्ति तेषामपि शक्तिरस्त्येवेत्येवमुच्यते । ऊर्द्धं कल्पोपरिवर्तिषु ग्रैवेयकेषु अनुत्तरविमानेषु च कल्पेषु सौधर्मादिषु, यदि वा-ऊर्द्धं उपरि कल्पन्ते विशिष्टपुण्यभाजामवस्थितिविषयतयेति, सौधर्मादयो ग्रैवेयकादयश्च सर्वेऽपि कल्पा एव तेषु तिष्ठन्ति आयुःस्थितिमनुपालयन्ति पूर्वाणि वर्षसप्ततिकोटिलक्षषट्पञ्चाशत्कोटिसहस्रपरिमितानि बहूनि, जघन्यतोऽपि पल्योपमस्थितित्वात् तत्राऽपि च तेषामसंख्येयानामेव संभवात्। एवं वर्षशतान्यपि बहूनि पूर्ववर्षशतायुषामेव चरणयोग्यत्वेन विशेषतो देशनौचित्यमितिख्यापनार्थमित्थमुपन्यास इति सूत्रार्थः ॥ १५ ॥

तत्किमेषामेतावदेव फलमित्याशङ्क्य आह-

तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायए ॥१६॥

तत्र तेषु उक्तकल्पोत्पत्तिस्थानेषु स्थित्वेत्यासित्वा यथास्थानमिति यद् यस्य स्वानुरूपमिन्द्रादिपदं तस्मिन् यक्षा आयुःक्षये स्वस्वजीवितावसाने च्युताः भ्रष्टाः (उवेंति त्ति) उपयन्ति मानुषी-, णामियं मानुषी तां योनिमुत्पत्तिस्थानम् । तत्र च "से" इति स सावशेषकुशलकर्म्मा कश्चिज्जन्तुर्दशाङ्गानि भोगोपकरणानि वक्ष्यमाणान्यस्येति, दशाङ्गोऽभिजायते एकवचननिर्देशस्तु विविसदृशशीलतया कश्चिद्दशाङ्गः कश्चिन्नवाङ्गादिरपि जायत इति वैचित्र्यसूचनार्थः ॥ यद्वा-' से ' इति सूत्रत्वात् तेषां दशानामङ्गानां समाहारो दशाङ्गी प्राकृतत्वाच्च पुंसा निर्देशो जायते। उपभोग्यतयाऽभिमुख्येनोत्पद्यत इति सूत्रार्थः ॥ १६ ॥

कानि पुनर्दशाङ्गानि इति?, आह-

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पसवो दासपोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥ १७ ॥
मित्तवं नायवं होई, उच्चागोए य वण्णवं ।
अप्पायंके महापन्ने, अभिजाए जसो बले ॥ १८ ॥

'क्षि' निवासगत्योः,क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्निति क्षेत्रम् ग्रामारामादि सेतुकेतूभयात्मकं वा। तथा-वसन्त्यस्मिन्निति वास्तु खातोच्छ्रितोभयात्मकं वा। हिरण्यं सुवर्णम्। उपलक्षणत्वात् रूप्यादि च । पशवोऽश्वादयः। दास्यन्ते दीयते एभ्यः इति दासाः पोष्यवर्गरूपास्ते च । (पोरुसं इति) सूत्रत्वात् पौरुषेयं च पदातिसमूहः दासपौरुषेयं चत्वारः चतुःसंख्याः । अत्र हि क्षेत्रं वास्त्विति चैकः।हिरण्यमिति द्वितीयः। पशव इति तृतीयः। दासपौरुषेयमिति चतुर्थः। एते किमित्याह-काम्यत्वात्कामा मनोज्ञ शब्दादयः तद्धेतवः स्कन्धास्तत्तत्पुद्गलसमूहाः कामस्कन्धा यत्र भवन्ति इति गम्यते। प्राकृतत्वाच्च न निर्देशस्तत्र तेषु कुलेषु (से इति) स उत्पद्यते जायते अनेन चैकमङ्गमुक्तम्। शेषाणि तु नवाङ्गान्याह-मित्राणि सहपांशुक्रीडितादीनि सन्त्यस्येति मित्रवान्।ज्ञातयः स्वजनाः सन्त्यस्येति ज्ञातिमान् भवति। उच्चैर्गोत्रं यथादिक्रियेऽपि पूज्यतया गोत्रं कुलमस्येत्युच्चैर्गोत्रः चः समुच्चये। वर्णः

श्यामादिस्निग्धत्वादिगुणैः प्रशस्योति वर्णवान् । अल्पान्तकः आतङ्कविरहितो नीरोग इत्यर्थो महती प्रज्ञास्येति महाप्रज्ञः। पण्डितोऽभिजातो विनीतः । स हि सर्वजनाभिगमनीयो भवति । दुर्विनीतस्तु शेषगुणान्वितोऽपि न तथेति अत एव च-(जसो त्ति) यशस्वी तथा च सति-(बले त्ति) बली कार्यकरणं प्रति सामर्थ्यवान् उभयत्र सूत्रत्वान्मत्वर्थीयलोपः।एकैकोऽपि हि शिष्यवर्णादिगुणस्तत्कार्याभिनिर्वर्तनक्षमः किं पुनरमी समुदिताः शारीरसामर्थ्यवान्वेह बलीति ॥ १८ ॥

ताक्किमैर्वंविधगुणसंपत्समन्वितं मानुषत्वमेव तत्फलमित्याह–

भोच्चा माणुस्सए भोए, अप्पमिरूवे अहाउयं ।
पुव्वं विसुद्धसद्धम्मे, केवलं बोहिबुज्झिया ॥ १९ ॥

भुक्त्वा सेव्य मानुष्यकान्मनुष्यसम्बन्धिनो भुज्यन्त इति भोगा मनोज्ञशब्दादयस्तान् विद्यमानं प्रति प्ररूपयति प्रकर्षत्वेनाऽन्यत् तुल्यमेषामित्यप्रतिरूपास्तान् यथायुः आयुषोऽतिक्रमेण पूर्वे पूर्वजन्मसु विशुद्धो निदानादिरहितत्वेन सद्धर्मः शोभनधर्मोऽस्येति विशुद्धसद्धर्मः अकेवलत्वाच्च "धर्म्मादनिच्केवलात्" ५।४।१२४। इति,(पा०वि०) अनिच् न भवति । केवलामकलङ्कां बोधिं जिनप्रणीतधर्म्मप्राप्तिलक्षणां बुध्वा अनुभूय प्राप्येति यावत् ।

ततोऽपि किमिति ? आह–

चउरंगं दुल्लहं मत्ता, संजमं पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मंसे, सिद्धे हवइ सासए, त्तिबेमि ॥ २० ॥

चतुर्णामङ्गानां समाहारश्चतुरङ्गं तामभिहितस्वरूपां दुर्लभां दुष्प्रापां मत्वा ज्ञात्वा संयमं सर्वसावद्ययोगविरतिरूपं प्रतिपद्याऽऽसेव्य तपसा बाह्येनान्तरेण च [धुय] अपनीतम [कम्मंसे त्ति] कार्मग्रन्थिकपरिभाषया सत्कर्म्मानेनेति धुतकर्मांशः तदपनयनाच्च बन्धादीनामप्यर्थतोऽपनयनमुक्तमेव। यद्वा-धुताः कर्म्मणोंऽशा भागा येन स तथाविधः, किमित्याह–सिद्धो भवति स च किमाजीविकमतपरिकल्पितसिद्धवत्पुनरिहैति उतनेति ? अत आह–शाश्वतः शश्वद्भवनात् शश्वद्भवनं च पुनर्भवनिबन्धनकर्मबीजात्यन्तिकोच्छेदात् तथा चाह " दग्धबीजे यथाऽत्यन्तं,प्रादुर्भवति नाङ्कुरः। कर्मबीजे तथा दग्धे,न रोहति भवाङ्कुरः ॥१॥" इति । पुनस्तस्येहागमनकल्पनमतिमोहविलसितम् । तथा च स्तुतिकृत-" दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य , निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम् । मुक्तः स्वयं कृतभवश्च परार्थशूरः त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् " ॥ १ ॥ इति सूत्रार्थः ॥ २ ॥ इति परिसमाप्तौ ब्रवीमीति प्राग्वदित्युक्तोऽनुगमः। उत्त० ३ अ०।

चउरंगत–चतुरङ्गान्त–त्रि०। चतुरङ्गेषु नरकतिर्यङ्नरामरगतिरूपेष्वन्तः पर्यन्तो यस्य स तथा। चतुरन्ते संसारे, व्य० ३ उ०।

चउरंगवग्गुरापरिवुड–चतुरङ्गवागुरापरिवृत–त्रि० । " चउरंगिणी सेणा-हत्थी। अस्सा,रहा, पाइक्का, सा एव वग्गुरा" तया परिवृतः अहेमगा रुद्धेहिं " संमताद्वेष्टिते, नि० चू० १५ उ०।

चउरंगिणी–चतुरङ्गिणी–स्त्री० । चत्वारि गजाश्वरथपदातिलक्षणानि अङ्गानि विद्यन्ते यस्या यस्यां वा सा चतुरङ्गिणी। हस्त्यश्वादिसमुदितायां सेनायाम्, तं० । नि० चू० । " चउरंगिणीए सेणाए, रइयाए जहक्कमं । तुरियाणं संनिनाएणं,दिव्वेणं गगणं फुसे " ॥१२॥ उत्त० २२ अ०।

चउरंगीय–चतुरङ्गीय–न० । चतुरङ्गेभ्यः मानुष्यधर्मश्रुतिश्रद्धा तपःसंयमवीर्यचतुष्टयरूपेभ्यो हितं तत्स्वरूपवर्णनेन चतुरङ्गीयम् । उत्तराध्ययनानां तृतीये अध्ययने, उत्त० ३ उ०।

चउरंगुली–चतुरङ्गुली–स्त्री०। चत्वार्यङ्गुलानि सुष्ठु प्रमाणं यस्याः। चतुरङ्गुलमितेऽर्थे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । आरग्वधे चतुरङ्गुलमिते, स चतुरङ्गुलमेवोभयतोऽन्तत उपगूहति । वाच०।

चउरंत–चतुरन्त–न० । " अतः समृद्ध्यादौ वा " ८ । १ । ४४ । समृद्धि इत्येवमादिषु शब्देष्वादेरकारस्य दीर्घो भवति । समृद्ध्यादेराकृतिगणत्वात् । चतुरन्तम्-' चाउरन्तं ' । प्रा० १ पाद । चतुर्गतिके संसारे, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ०।

चउरंतमहंत–चतुरन्तमहान्त–त्रि०। चतुरन्तं चतुर्विभागं दिग्भेदगतिभेदाभ्यां महान्तं महायामं, यत् । तस्मिन्, " चउरंतमहंतमणवदग्गरुद्दसंसारसागरं " औ०।

चउरंस–चतुरश्र–त्रि०। चतस्रोऽश्रयोकोणा यत्र तत्समासान्तात् प्रत्यये चतुरश्रम्, अनु०। तालव्यमध्यस्यैव अच् प्रत्ययो निपात्यते । न तु दन्त्यमध्यस्य, दन्त्यमध्ये तु चतुस्त्रिरित्येव सुप्रातःसुश्वेति, तालव्यस्यैव ग्रहणात् । वाच० । " अक्खलगसमचउरंससंठाणसंठिया " स्था० ७ ठा०। अनु०। "एगे चउरंसे" स्था०७ ठा०। उत्त०। स०। रा०।"तेणं नरगा अन्तो वट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया " (प्रज्ञा० ।) " चउरंससंठाणपरिणया " चतुरश्रसंस्थानपरिणताः कुम्भिकादिवत् पुद्गलाः। प्रज्ञा० १ पद । चतुष्कोणे, ब्रह्मसन्ताने केतुभेदे, पुं०। अन्यूनातिरिक्ते । वाच०।

चउरंसपसत्थसमणिडाल–चतुरस्रप्रशस्तसमललाट–त्रि० । चतुरस्रं चतुष्कोणं प्रशस्तं प्रशस्तलक्षणोपेतं समम् ऊर्ध्वाधस्तया दक्षिणोत्तरतया च तुल्यप्रमाणं ललाटं यासां ताश्चतुरस्रसमललाटाः । सुलक्षणललाटे, जी० ३ प्रति०।

चउरासी–चतुरशीति–स्त्री०। चतुरधिका अशीतिः चतुरधिकाशीतिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च। वाच०। नन्द्यध्ययने, "सूयगडेणं असीइसयं किरियावाईणं चउरासी अकिरियावाईणं" ठा०।

चउरिंदिय–चतुरिन्द्रिय–पुं० । चत्वारि स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुर्लक्षणानि इन्द्रियाणि येषां ते चतुरिन्द्रियाः। भ्रमरमक्षिकामशकवृश्चिककीटपतङ्गादिषु संसारसमापन्नजीवभेदेषु, कर्म० ४ कर्म०। पं०सं०। जी०। पि०। प्रज्ञा०। आ० म०। आव०। स्था०।

संप्रति चतुरिन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापनामाह–

से किं तं ? चउरिंदियसंसारसमावन्नजीवपण्णवणा चउरिंदियसंसारसमावन्नजीवपण्णवणा अणेगविहा पण्णत्ता। तं जहा– " अंधिय पोत्तिय मच्छिय, मगसिरकीडे तहा पयंगे य । ढंकण कुक्कुड कुक्कुह, नंदावत्ते य सिंगिरिडे "। किण्हपत्ता नीलपत्ता लोहियपत्ता हालिद्दपत्ता सुक्किल्लपत्ता चित्तपक्खा विचित्तपक्खा ओहंजलिया जलचारिया गम्भीरा णीणिया तंतवा अच्छिरोडा अच्छिवेहा सारंगा नेउरा दोला भमरा भरिली जरुला तोट्टा विच्छुया पत्तविच्छुया छाणविच्छुया जलविच्छुया पियंगला कणगा गोमयकीडा जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते संमुच्छिमा नपुंसगा ते समासओ

दुविहा पसत्ता । तं जहा–पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य । एएसिं णं एवमाइयाणं चउरिंदियाणं पज्जत्ताऽपज्जत्ताणं नवजाइकुलकोडिजोणिप्पमुहसयसहस्साइं जवंतीति मक्खायं । सेत्तं चउरिंदियसंसारसमावसजीवपसवणा ॥

"से किं तमित्यादि"। एतेऽपि चतुरिन्द्रिया लोकतः प्रत्येतव्याः। एतेषां च पर्याप्ताऽपर्याप्तानां सर्वसंख्यया जातिकुलकोटीनां नव लक्षा भवन्ति। शेषाक्षरगमनिका प्राग्वत्। उपसंहारमाह-" सेत्तं " इत्यादि । उक्ता चतुरिन्द्रियसंसारसमापन्नजीवप्रज्ञापना । प्रज्ञा० १ पद । स्था० । आचा० । प्रश्न० । जी० । भ० । उत्त० ।

चतुरिन्द्रियवक्तव्यतामाह–

चउरिंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिया ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं जेए सुणेह मे ॥ १४६ ॥
अंधिया पोत्तिया चेव, मच्छिया मसगा तहा ।
भमरे कीमपयंगे य, ढिंकुणे कुंकणे तहा ॥ १४७ ॥
कुकुमे सिंगरीमीय, णंदावत्ते य विंछिए ।
डोले य भिंगरीमी य, विरली अच्छिवेहए ॥१४८ ॥
अच्छिले मागहे अच्छि, रोमए चित्तपत्तए ।
उहिंजलीय जलकारी, णीयया तंबगाइया ॥ १४९ ॥
इइ चउरिंदिया एए, णेगहा एवमाइया ।
लोगस्स एगदेसम्मि, ते सव्वे परिकित्तिया ॥१५० ॥
संतइं पप्पणाईया, अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच साईया, सपज्जवसिया वि य ॥१५१॥
छच्चेव य मासातो, उक्कोसेण वियाहिया ।
चउरिंदियआउठिई, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥ १५२ ॥
संखेज्जकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहणिणया ।
चउरिंदियकायठिई, तं कायं तु अमुंचओ ॥ १५३ ॥
अणंतकालमुक्कोसं, अंतोमुहुत्तं जहणियं ।
विजढम्मि सए काए, अंतरेयं वियाहियं ॥ १५४ ॥
एएसिं वण्णओ चेव, गंधतो रसफासओ ।
संठाणादेसओ वा वि, विहाणाइं सहस्ससो ॥१५५ ॥

सूत्रदशकम् इदमपि तथैव चतुरिन्द्रियाभिलाप एव विशेषः। एतद्भेदाश्च केचिदतिप्रतीता एव । अन्ये तु तत्तद्देशप्रसिद्धितो विशिष्टसंप्रदायाच्चाभिधेयाः तथा-षडेव मासानुत्कर्षेणां स्थितिरिति दशकार्थः । उत्त० ३६ अ० । स्था० । उत्त० । भ० । चतुरिन्द्रियाणां परिजोगं 'परिभोग' शब्दे वक्ष्यामि)

चउवग्ग-चतुर्वर्ग-पुं०। धर्मार्थकाममोक्षसमुदाये,वाच०।"चउवग्गे वि हु स अर्थं,परासंगतुमा उ वयंति। वेत्थवाओ असंथरे,मोत्तूण गिलाण संघामे"। चउवग्गो णाम–वत्थव्वा संजयासजतीतो वि। आगंतुगा संजया संजतीओ य। एते चउवग्गा । नि० चू०१५

चउविगप्प-चतुर्विकल्प-त्रि०। चतुष्प्रकारे, व्य० १ उ० ।

चउव्विह–चतुर्विध–त्रि० । चतस्रो विधा भेदा यस्य तत्तथा । चतुष्प्रकारे, स्था० ४ ठा० १ उ० । दश० ।

चउव्विहाहार–चतुर्विधाहार–पुं० । चतुर्विधाहारे, आद्यविधाऽशनादिचतुष्काधिकारे क्रियाः संभोगे चतुर्विधाहारो न ज्ञप्यते बालादीनामोघुद्विश्युम्मने तु जज्यते । द्विआहारे तदपि कल्पते। अत्र प्रथमं स्थाने मुखसङ्गमेऽपीति पदं नास्ति तर्हि पृच्छन्तां आद्वानामग्रे मुखसङ्गमे त्रिचतुर्विधआहारप्रत्याख्यानयोर्भङ्गोऽभङ्गो वेति प्रश्ने-उत्तरम् बालादीनामित्यत्रादिशब्दात् क्रिया अपि मुखसंगमे प्रज्यत इति ज्ञायते। २२४ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

चउवीस-चतुर्विंशति-स्त्री० । चतुर्भिरधिका विंशतिश्चतुर्विंशतिः । चतुर्भिरधिकायां विंशतिसंख्यायाम्, तत्संख्येये च । त्रि० । वाच० । आ० म० ।

तन्निक्षेपदर्शनार्थमाह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे य ।
चउवीसयस्स एसो, निक्खेवो छव्विहो होई ॥

(नामं) नामचतुर्विंशतिः, स्थापनाचतुर्विंशतिः, द्रव्यचतुर्विंशतिः, क्षेत्रचतुर्विंशतिर्जीवस्याजीवस्य वा यश्चतुर्विंशतिरिति नाम क्रियते। चतुर्विंशत्यक्षरावली वा स्थापनाचतुर्विंशतिः । चतुर्विंशतिशब्दस्य यथोऽनन्तरोदितो निक्षेपः षड्विधो भवति । तत्र नामचतुर्विंशतिः जीवस्य अजीवस्य वा । यत्र केषांचित् स्थापनाचतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिद्रव्याणि सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्नानि तत्र सचित्तानि द्विपदचतुष्पदापदभिन्नानि । अचित्तानि कार्षापणादीनि । मिश्राणि द्विपदादीनि एवं कटकादलङ्कृतानि क्षेत्रचतुर्विंशतिर्विवक्षया चतुर्विंशतिक्षेत्राणि भरतादीनि क्षेत्रप्रदेशा वा चतुर्विंशतिः क्षेत्रचतुर्विंशतिः । कालचतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः समयाः ? एतत्कालस्थितिर्वा द्रव्यं कालचतुर्विंशतिः । भावचतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिभावसंयोगाः चतुर्विंशतिगुणं कृष्णादिद्रव्यं वा स्या च चतुर्विंशतिः । इह सचित्तद्विपदमनुष्यचतुर्विंशत्यधिकार इति गाथार्थः । आ०म०द्वि० ।

चउवीसत्थय–चतुर्विंशतिस्तव–पुं० । चतुर्विंशतितीर्थकराणां नामोत्कीर्तनपूर्वकगुणकीर्तने, अ० म० ।

नामनिष्पन्ने निक्षेपे चतुर्विंशतिस्तवाध्ययनशब्दाः प्ररूपणीयाः ।

तथा चाह—

चउवीसगत्थयस्स उ, निक्खेवो होई नामनिप्फन्नो ।
चउवीसगस्स छक्को, थयस्स चउक्को होई ॥

चतुर्विंशतिस्तवस्य निक्षेपो नामनिष्पन्नो भवति। स चान्यथुनस्त्वाश्रयमेव, यदुत चतुर्विंशतिस्तव इति तुशब्दो वाक्यभेदोपदर्शनार्थः । वाक्यभेदश्च अध्ययनान्तरवक्तव्यताया उपक्षेपादिति । तत्र चतुर्विंशतिशब्दस्य निक्षेपः षड्विधः स्तवशब्दस्य चतुर्विधः तुशब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादध्ययनस्य च । एष गाथासमासार्थः । आ० म० द्वि० ।

तत्सूत्राणि—

लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे ।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउव्वीसं पि केवली ॥ १ ॥

अस्य व्याख्या-तल्लक्षणं चेदम्-" संहिता च पदं चैव, पदार्थः पदविग्रहः। चालना प्रत्यवस्थानं, व्याख्या सूत्रस्य षड्विधा" ॥१॥ तत्रास्खलितपदोच्चारणं संहिता । सा च प्रतीता । अधुना पदानि लोकस्य उद्योतकरान् धर्मतीर्थकरान् जिनान् अर्हतः

कीर्तयिष्यामि चतुर्विंशतिमपि केवलिन इति । अधुना पदार्थः- लोक्यते प्रमाणेन दृश्यते इति लोकः अयं चेह तावत्पञ्चास्तिकायात्मको गृह्यते तस्य लोकस्य उद्योतकरणशीला उद्योतकरास्तान् केवलालोकेन तत्पूर्वकवचनदीपेन वा सर्वलोकप्रकाशकरणशीलानित्यर्थः । तस्मात् दुर्गतौ प्रपतन्तमात्मानं धारयतीति धर्मः । उक्तञ्च-" दुर्गतिप्रसृतान् जन्तून्, तस्माद्धारयते यतः । धत्ते चैतान् शुभस्थाने, तस्माद्धर्म इति स्मृतः" ॥१॥ तीर्यते संसारसागरो अनेनेति तीर्थं धर्म्म एव, धर्मप्रधानं वा तीर्थं धर्मतीर्थं तत्करणशीलाः धर्मतीर्थकरास्तान् तथा रागद्वेषकषायेन्द्रियपरीषहोपसर्गाऽष्टप्रकारकर्मजेतृत्वाज्जिनास्तान् तथा अशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः तान् अर्हतः कीर्तयिष्यामि नामभिः स्तोष्ये । चतुर्विंशतिरिति संख्या अपिशब्दो भावतस्तदन्यसमुच्चयार्थः । केवलं ज्ञानमेषां विद्यते इति केवलिनः तान् केवलिनः, इतिपदार्थः । पदविग्रहोऽपि यानि समासभाञ्जि पदानि तेषु दर्शित एव । सांप्रतं चालनावसरः-तत्र तिष्ठतु तावत् । सूत्रस्पर्शिकानियुक्तिरेवोच्यते । स्वस्थानत्वात् । उक्तञ्च-" अक्खलियसंहियाइ, वक्खाणचउक्कए दरिसियम्मि । सुत्तप्फासियनिज्जुत्ति, वित्थरत्थो इमो होइ ॥ " चालनामपि वाऽत्रैव वक्ष्यामः तत्र लोकस्योद्योतकरानिति यदुक्तम् ॥१॥ आ० म० द्वि० ।

अधुना जिनादिप्रतिपादनार्थमाह—

जियकोहमाणमाया, जिअलोहा तेण जिणा होंति ।
अरिणो हन्ता रयं हंता, अरिहंता तेण वुच्चंति ॥

जितक्रोधमानमायाः जितलोभा येन कारणेन भगवन्तस्तेन कारणेन ते जिना भवन्ति । " अरिणो हंता " इत्यादि गाथादलं यथा नमस्कारनिर्युक्तौ व्याख्यातं तथैव द्रष्टव्यम् सांप्रतं कीर्तयिष्यामीत्यादिव्याचिख्यासुरिदमाह—(कित्त त्ति) प्राकृतत्वात् कीर्तयिष्यामि, नामभिर्गुणैश्च । किं भूतान् ? कीर्तनीयान् स्तवार्हानित्यर्थः । कस्येत्यत्राह—सदेवमनुजासुरस्य लोकस्य त्रैलोक्यस्येतिभावः । गुणानुपदर्शयति-दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षकारणानि तत्रैकवचनं समाहारत्वात्तथा तपोविनयोऽत्र दर्शितो येस्तत्र त एव कर्मविनयात्तपोनियमः ।

चउवीसं तित्थ संखा, उसभादीया य भणमाणा उ ।
अनिसद्दगहणाओ, एरवयमहाविदेहेसु ॥

चतुर्विंशतिरिति संख्याते च ऋषभादिका भण्यमाणा एव चतुःशब्द एवकारार्थः । अपिशब्दग्रहणात् पुनरैरावतमहाविदेहेषु ये भगवन्तस्तद्ग्रहोऽपि वेदितव्य इहसूत्रे " तात्स्थ्यात् तद्व्यपदेश" इति न्यायादैरावतमहाविदेहाश्रेयुक्तम् । (आ०म०) सांप्रतमत्रैव चालनाप्रत्यवस्थाने विशेषतो निदर्श्यते तत्र लोकस्योद्योतकरानित्युक्तम् अत्राह- अशोभनमिदं यदुक्तं लोकस्येति लोको हि चतुर्दशरज्ज्वात्मकत्वेन परिमितः केवलोद्योतस्यापरिमितो लोकालोकव्यापकत्वात् वक्ष्यति-"केवलियनाणलंभो लोगालोगं पगासेइ" । ततः सामान्यत उद्योतकरान् । यदि वा-लोकालोकयोरुद्योतकरानिति वाच्यं न तु लोकस्येति तदयुक्तमभिप्रायापरिज्ञानात् । इहलोकशब्देन पञ्चास्तिकाया एव गृह्यन्ते तत आकाशास्तिकायभेद एव । लोक इति नाथ युक्तः नचैतदनार्षं यत उक्तम्-"पंचत्थियकायमइओ लोगो" इत्यादि । अपरस्त्वाह-लोकस्योद्योतकरानित्येतावदेव साधु धर्मतीर्थकरानिति न वक्तव्यं गतार्थत्वात् । तथाहि-ये लोकस्योद्योतकरास्ते धर्मतीर्थकरा एवेति । उच्यते-इह लोकैकदेशेऽपि ग्रामैकदेशे ग्रामशब्दवत् लोकशब्दप्रवृत्तिदर्शनात् माभूत्तदुद्योतकरेष्ववधिविभङ्गज्ञानिष्वर्कचन्द्रादिषु वा कस्यसंप्रत्यय इति, तद्व्यपदेशार्थं धर्मतीर्थकरानित्युक्तम् । आह-यद्येवं धर्मतीर्थकरानित्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकरानिति न वाच्यम् ? उच्यते-इहलोके येऽपि नद्यादिविषमस्थानेषु सुखिकया धर्माधर्मावतरणतीर्थकरणशीलास्तेऽपि धर्मकरा भण्यन्ते । ततो माभूदिति मुग्धबुद्धीनां संप्रत्यय इति तदपनोदाय लोकस्योद्योतकरानित्याह-अपरस्त्वाह-जिनानित्यतिरिच्यते । तथाहि-यथोक्तप्रकारा जिना एव भवन्ति इति । उच्यते-"इह केषांचिदिदं दर्शनम् "ज्ञानिनो धर्मतीर्थस्य,कर्त्तारः परमं पदम् । गत्वा गच्छन्ति भूयोऽपि,भवं तीर्थनिकारतः"इत्यादि । ततस्तन्मतपरिकल्पितेषु यथोक्तप्रकारेषु माभूत्संप्रत्यय इति तद्व्यवच्छेदार्थमित्याह-जिनामता रागादिजेतारस्ते तनयपरिकल्पिता जिना न भवन्तीति तीर्थनिकारतः पुनरिह भवाङ्कुरोत्पादादन्यथा स न स्यात् । बीजाभावात् तथोक्तमन्यैरपि-

अज्ञानपांशुपिहितं, पुरातनं कर्मबीजमविनाशि ।
तृष्णाजलाभिषिक्तं, मुञ्चति जन्माङ्कुरं जन्तोः ॥ १ ॥
दग्धे बीजे यथात्यन्तं, प्रादुर्भवति नाङ्कुरः ।
कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः " ॥ २ ॥

आह-यद्येवं जिनानित्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकरानित्यादिव्यतिरिच्यते । उच्यते-इहप्रवचने सामान्यतो विशिष्टश्रुतधरादयोऽपि जिना उच्यन्ते । तद्यथा-श्रुतजिनाः अवधिजिनाः, मनःपर्यायज्ञानिजिनाः, छद्मस्थवीतरागाश्च । ततो माभूत्तेषु संप्रत्यय इति तदपनोदाय लोकस्योद्योतकरानित्याद्यप्यदुष्टम् । अपरस्त्वाह-अर्हत इति न वाच्यम् । खल्वनन्तरोदितस्वरूपा अर्हद्व्यतिरेकेणापरे संभवन्ति । उच्यते-अर्हतामेव विशेष्यत्वान्न दोषः । आह-यद्येवं तर्हि अर्हत इत्येतावदेवास्तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि पुनरप्यनर्थकम् । न तस्य विशेषणत्वात् विशेषणसाफल्यस्य च प्रतिपादितत्वादिति । अपरस्त्वाह- केवलिन इति न वाच्यम् यथोक्तस्वरूपाणामर्हतां केवलित्वव्यभिचाराभावात् । "सति च व्यभिचारसंभवे विशेषणोपादानं फलवत् " तथा चोक्तम्-"संभवे व्यभिचारविशेषणमर्थवद्भवति" । यथा नीलोत्पलमिति । व्यभिचाराभावे तु तदुपादीयमानमपि न कञ्चनार्थं पुष्णातीति । यथा-कृष्णो भ्रमरः शुक्ला बलाहका इति तस्मात् केवलिन इत्यतिरिच्यते नाभिप्रायापरिज्ञानात् इहकेवलिन एव यथोक्तस्वरूपा अर्हन्तो नान्ये इति नियमादर्थत्वेन स्वरूपज्ञानार्थमिदं विशेषणमित्यनवद्यम् न खल्वेकान्ततो व्यभिचारसंभवे एव विशेषणोपादानं फलवत्, उभयपदव्यभिचारे एकपदव्यभिचारे यथानीलोत्पलमिति । एकपदव्यभिचारे-अप्द्रव्यं पृथिवीद्रव्यमिति । स्वरूपज्ञापने यथा परमाणुरप्रदेश इत्यादि । तस्मात् केवलिन इत्यदुष्टम् आह-यद्येवं केवलिन इत्येवं सुन्दरम् । शेषं तु लोकस्योद्योतकरानित्यादि किमर्थमिति । उच्यते-इह श्रुतकेवलिप्रभृतयोऽपि केवलिनो विद्यन्ते तन्मा भूत्तेषु संप्रत्यय इति तत्प्रतिक्षेपार्थं लोकस्योद्योतकरानित्याद्युक्तम् । एवं व्यादिसंयोगापेक्षया विचित्रनयमताभिज्ञेन स्वधिया विशेषणसाफल्यं वाच्यमिति । (आ०म०द्वि०) संप्रति विमलः । विगतमलो विमलः ज्ञानादियोगाद्वा विमलः तत्र सर्वेऽपि भगवन्त इत्थंभूता इतो विशेषमाह-"विमलतणु ना-

हवइं गब्भगओ मातुए सरीरं उ। बुद्धी य अतिविमला, जाओ तेण विमलो त्ति"। इदानिं अणंतो-तत्रानन्तकर्म्मांशयाद्दनन्तः अनन्तानि वा ज्ञानादीन्यस्येति सर्वे हि "विव्ह अणंता कम्मं सालीया सव्वेसिं च अणंताणि णाणादीणि" "विरयणचित्तमणंतं दामं सुमिणे ततो णंतो" रत्न विचित्रं रत्नखचितं अनन्तमतिमहाप्रमाणं दाम स्वप्ने जनन्या दृष्टमतोऽनन्त इति। संप्रति धर्म्मः-दुर्गतौ प्रपतन्तं सर्वसंघातं धारयतीति धर्म्मः। तत्र सर्वेऽपि भगवन्त ईदृशास्ततो विशेषमाह-"गब्भगए जं जणणी, जायसुधम्मत्ति तेण धम्मजिणो"। जगवति गर्भगते येन कारणेन विशेषतो जननी धर्मे दानदयादिरूपशोभनधर्म्मपरायणा तेन नामतो धर्मजिनः। आ० म० द्वि०। (उसभमित्यादिति वोऽपि गाथाः व्याख्याताः ऋषभादि शब्देषु)-

उसभमजियं च वंदे, संभवमभिनंदणं च सुमइं च।
पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ २ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं, सीयलसिज्जं च वासुपुज्जं च।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ ३ ॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च।
वंदामिऽरिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च ॥ ४ ॥
एवं मए अभिथुआ, विहुयरयमला पहीणजरमरणा।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु ॥ ५ ॥
कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
आरुग्गबोहिलाभं समाहिवरमुत्तमं दितुं ॥ ६ ॥
चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।
सागरवरगंभीरा सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥ ७ ॥

आव० २ अ०। आ० चू०। आ० म०। ल०। ध०। (श्रावकस्यपि चतुर्विंशतिस्तवोऽस्ति इति आवेदितम्, 'आवस्सय' शब्दे द्वितीयभागे ४४७ पृष्ठे) जिनगुणोत्कीर्तनाधिकारवति अध्ययनविशेषे, पा०।

चउवीसदंडय-चतुर्विंशतिदण्डक-पुं०। स्था०। चतुर्विंशतिपदप्रतिबद्धो दण्डको वाक्यपद्धतिश्चतुर्विंशतिदण्डकः। स इह वाच्य इति शेषः। स चायम्-"नेरइया १ असुराई १०, पुढवाई ५ बेइन्दियादओ चेव ४। नर १ वंतर १ जोतिसिया १, वेमाणिय १ दंडओ एवं" ॥१॥ भवनपतयो दशधा "असुरा नागसुवन्ना, विज्जू अग्गी य दीव उदही य। दिसि पवणथणियनामा, दसहा एए भवणवासि ॥१॥ ति" एतदनुसारेण सूत्राणि वाच्यानि यावच्चतुर्विंशतितमम्। स्था० १ ठा० १ उ०।

चउवीसवासपरियाय-चतुर्विंशतिवर्षपर्याय-त्रि०। चतुर्विंशतिवर्षपरिमाणप्रव्रज्यापर्याये, भ० १५ श० १ उ०।

चउव्विह-चतुर्विध-त्रि०। चतस्रो विधा भेदा यस्य तत् चतुर्विधम्। स्था० ४ ठा० १ उ०। चतुःस्वभावे, भ० १५ श० ४ उ०। "चउव्विहं गेयं गायंति" रा०।

चउसट्ठि-चतुष्षष्टि-स्त्री०। चतुरधिकषष्टिसंख्यायाम्, "चउसट्ठी सट्ठी खलु, छच्च सहस्साओ असुरवज्जाणं" प्रज्ञा०२पद।

चउसट्ठिआ-चतुःषष्टिका-स्त्री०। मागेधा चतुःषष्टितमभागनिष्पन्ने चतुःपलप्रमाणे रसमानविशेषे, अनु०। भ०।

चउसट्ठिअट्ठिय-चतुःषष्टिअष्टिक-त्रि०। चतु षष्टिर्लष्टीनां शराणां यस्मिन्नसौ। शराणां चतुष्षष्ट्या युते, स० ६४ सम०।

चउसद्दहण-चतुःश्रद्धान-न०। चत्वारि श्रद्धानानि यत्र तच्चतुःश्रद्धानम्। श्रद्धानचतुष्टयान्विते सम्यक्त्वे, प्रव०१४९ द्वार। चतुर्विधे श्रद्धाने च। ध० २ अधि०।

चउसमयसिद्ध-चतुःसमयसिद्ध-पुं०। सिद्धत्वसमयाच्चतुर्थसमये सिद्धे परम्परासिद्धभेदे, प्रज्ञा० १ पद।

चउसरण-चतुःशरण-न०। प्रकीर्णकविशेषे, सेन०। चतुःशरणाध्ययनमुपासकानां कथं कार्यते यतीनां योगं विना तदध्यायः श्राद्धानां तु मनागपि पाठस्तत्र किं शास्त्रं बलीयः का वा गच्छसामाचारीति। प्रश्ने-उत्तरम्-चतुःशरणादीनि चत्वारि प्रकीर्णकानि आवश्यकवत्प्रतिक्रमणादिषु बहूपयोगित्वादुपयोगोद्वहनमन्तरेणापि परंपरयाऽभिधीयमानानि सन्ति सैव तत्र प्रमाणमिति। ४२८ प्र०। सेन० ३ उल्ला०। चतुःशरणप्रकीर्णकस्य गुणनं यतीनां श्राद्धानां च कालवेलायाम्। अस्वाध्यायदिने च युज्यति न वेतिप्रश्नः। उत्तरम्-चतुःशरणप्रकीर्णकगुणनं कालवेलायामपि कल्पते अस्वाध्यायदिनेषु कल्पत इति। ३२६ प्र०। सेन० ३ उल्ला०।

चउसरणगमन-चतुःशरणगमन-न०। चतुर्णामर्हत्सिद्धसाधुकेवलिप्रज्ञप्तधर्माणां शरणगमनम्। "चत्तारि सरणं पवज्जामि" इत्यादिरूपे प्रधानशरणोपगमे, पं० सू० ३ सू०। पञ्चा०।

चतुःशरणगमनं चैवम्-

"क्षीणरागादिदोषौघाः, सर्वज्ञाः विश्वपूजिताः।
यथार्थवादिनोऽर्हन्तः, शरण्याः शरणं मम ॥ १ ॥
ध्यानाग्निदग्धकर्माण,ः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः।
अनन्तसुखवीर्ये ह्वाः, सिद्धाश्च शरणं मम ॥ २ ॥
ज्ञानदर्शनचारित्र—युताः स्वपरतारकाः।
जगत्पूज्याः साधवश्च, भवन्तु शरणं मम ॥ ३ ॥
संसारदुःखसंहर्ता, कर्त्ता मोक्षसुखस्य च।
जिनप्रणीतधर्मश्च, सदैव शरणं मम ॥ ४ ॥

एवं श्रावकस्य चतुःशरणकरणं महते गुणाय यदाह-" चउरंगो जिणधम्मो, न कओ चउरंगसरणमवि न कयं। चउरंगजवच्छेओ, न कओ हा हारिओ जम्मो ॥ १ ॥ त्ति"

दुष्कृतगर्हणं च—

"जं मणवयकायेहिं, कयकारिअअणुमईहि आयरिअं।
धम्मविरुद्धमसुद्धं, सव्वं गरिहामि तं पावं" ॥ १ ॥ इत्यादि। ध० २ अधि०।

जावज्जीवं मे भगवंतो परमतिलोअनाहा अणुत्तरपुण्णसंभारा खीणरागदोसमोहा अचिंतचिंतामणी भवजलहिपोआ एगंतसरणा अरहंता सरणं, तहा-पहीणजरामरणा अवेयकम्मकलंका पणट्ठवाबाहा केवलनाणदंसणा सिद्धपुरनिवासी निरुवमसुहसंगया सव्वहा कयकिच्चा सिद्धा सरणं, तहा-पसंतगंभीरासया सावज्जजोगविरया पंचविहायारजाणगा परोवयारनिरया पउमाइनिदंसणा झाणज्झयणसंगया विसुज्झमाणभावा साहू सरणं, तहा-सुरासुरमणुअपूजिओ मोहतिमिरंसुमाली रागदोसविसपरममंतो हेऊ

सयलकल्लाणाणं कम्मवणविहावसू साहगो सिद्धभावस्स केवलिपन्नत्तो धम्मो जावज्जीवं मे भगवं सरणं ॥

" जावज्जीवं मे भगवंतो अरहंता सरणं" इति योगः । (जावज्जीवं मे) यावज्जीवितं मे मम भगवन्तः समग्रैश्वर्यादियुक्ताः अर्हन्तः शरणमिति योगः। अत्र यावज्जीवमिति कालपरिमाणं, परतो भङ्गभयात् पुनरवधित्वेन परतोऽप्यधिकृतशरणस्येष्टत्वात् । अत एव विशेष्यन्ते (परमतिलोअणाहा ।) परमाश्च ते दुर्गतिभयसंरक्षणेन त्रिलोकनाथाश्च । अत्र त्रिलोकवासिनो देवादयः परिगृह्यन्ते। यत एव विशेष्यन्ते । (अणुत्तरपुण्णसंभारा) अनुत्तरः सर्वोत्तमहेतूत्कर्षात्पुण्यसंभारः तीर्थङ्करनामकर्मलक्षणो येषां ते तथा । त एव विशेष्यन्ते (खीणरागदोसमोहा) क्षीणरागद्वेषमोहाः अभिष्वङ्गाप्रीत्यज्ञानलक्षणा येषां ते तथा। त एव विशेष्यन्ते । (अचिंतचिंतामणी) अचिन्त्यचिन्तामणयः चिन्तातिक्रान्तापवर्गविधायकत्वेन। त एव विशेष्यन्ते (भवजलहिपोआ) भवजलधिपोताः, तदुत्तारत्वेन त एव विशेष्यन्ते (एगंतसरणा) एकान्तशरण्याः सर्वाश्रितहितत्वेन, क एवं भूताः किं वा एत इत्याह-(अरहंता सरणं) अर्हन्तः शरणं तत्राशोकाद्यष्टमहाप्रातिहार्यलक्षणपूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः ते मम शरणमाश्रय इति । (तहा पहीणजरामरणा) सिद्धाः शरणम् इति योगः । तथा न केवलमर्हन्तः किं तु सिद्धाः शरणमिति क्रिया । किंविशिष्टास्ते इत्याह-प्रक्षीणजरामरणाः प्रक्षीणे सदाऽपुनर्भावित्वेन जरामरणे येषां ते तथा, जन्मादिबीजाभावात् । एत एव विशेष्यन्ते। (अवेयकम्मकलंका) अपेतकर्मकलङ्काः अपेतः कर्मकलङ्को येषां ते तथाविधाः, सर्वथा कर्मरहिता इत्यर्थः । एत एव विशेष्यन्ते-(पणट्ठवाबाहा) । प्रणष्टव्याबाधाः प्रकर्षेण नष्टा क्षीणा व्याबाधा येषां ते तथा, सर्वव्याबाधावर्जिता इति भावः । एत एव विशेष्यन्ते-(केवलणाणदंसणा) केवलज्ञानदर्शनाः केवले सम्पूर्णे ज्ञानदर्शने येषां ते तथाविधाः, सर्वज्ञाः सर्वदर्शिन इत्यर्थः । एत एव विशेष्यन्ते-(सिद्धिपुरनिवासी) सिद्धिपुरनिवासिनः सिद्धिपुरे लोकान्ते निवस्तुं शीलं येषां ते तथा, मुक्तिवासिन इति गर्भः । एत एव विशेष्यन्ते-(णिरुवमसुहसंगया) । निरुपमसुखसंगताः । निरुपमसुखेन विद्यमानापेक्षेण संगता इति समासः । असांयोगिकानन्दयुक्ता इत्यर्थः । एत एव विशेष्यन्ते-(सव्वहा कयकिच्चा) सर्वथा कृतकृत्याः । सर्वथा सर्वैः प्रकारैः कृतं कृत्यं यैस्ते तथा, निष्ठितार्था इति भावः । क एवंभूताः, किं वा एत इत्याह-(सिद्धा सरणं) सिद्धाः शरणं सिद्ध्यन्ति स्म सिद्धाः परमतत्त्वरूपास्ते मम शरणमाश्रय इति " तहा पसंतगंभीरासया साधू " शरणमिति योगः । तथा न केवलं सिद्धाः शरणं, किन्तु साधवः शरणमिति क्रिया । किं विशिष्टास्त इत्याह-प्रशान्ताः क्षान्तियोगात् गम्भीरोऽगाधतया आशयश्चित्तपरिणामो येषां ते प्रशान्तगम्भीराशयाः । एत एवं विशेष्यन्ते । (सावज्जजोगविरया) । सहावद्येन सावद्यः सपापो योगो व्यापारः कृतादिरूपः तस्माद्विरताः सावद्ययोगविरताः । त एव विशेष्यन्ते ॥ (पंचविहायारजाणगा) पञ्चविधमाचारं ज्ञानाचारादिभेदभिन्नं जानन्ते इति पञ्चविधाचारजानकाः । एत एव विशेष्यन्ते । (पउमाइणिदंसणा) पद्मादीनि पङ्कोत्पत्तिजलस्थितिभावेऽपि तदस्पर्शनेन कामभोगापेक्षयैवमेव भाव्य इति निदर्शनानि येषां ते पद्मादिनिदर्शनाः । आदिशब्दाच्छरत्सलिलादिग्रहः । एत एव विशेष्यन्ते [झाणज्झयणसंगया] ध्यानाध्ययनाभ्याम् एकाग्रचिन्तानिरोधस्वाध्यायलक्षणाभ्यां संगता ध्यानाध्ययनसंगताः एत एव विशेष्यन्ते। (विसुज्झमाणभावा) विशुध्यमानो विहितानुष्ठानेन भावो येषां ते विशुद्ध्यमानभावाः, क एवं भूताः। किं वा एत इत्याह-(साहू सरणं) तत्र सम्यग्दर्शनादिभिः सिद्धिं साधयन्तीति साधवः, मुनयः इत्यर्थः । ते मम शरणमाश्रयः इति । "तहा सुरासुरमणुअपूजिओ, केवलिपन्नत्तो धम्मो-यावज्जीवं मे भगवं सरणं" इति योगः । तथा न केवलं साधवः शरणं किं तु केवलिप्रज्ञप्तो धर्म इति संबन्धः । किंविशिष्ट इत्याह-(सुरासुरमनुअपूइओ) सुरासुरमनुजैः पूजितः सुरासुरमनुजपूजितः सुरा ज्योतिष्कवैमानिकाः, असुरा व्यन्तरभवनपतयः, मनुजाः पुरुषविद्याधराः। अयमेव विशेष्यते । (मोहतिमिरंसुमाली) मोहस्तिमिरमिव मोहतिमिरं सद्दर्शनवारकत्वेन तस्यांशुमालीवांशुमाली तदपनयनादादित्यकल्पः । अयमेव विशेष्यते । (रागदोसविसपरममंतो) रागद्वेषौ विषमिव रागद्वेषविषं तस्य परममन्त्रः तद्घातित्वेनेति भावः। अयमेव विशेष्यते। (हेऊ सयलकल्लाणाणं) हेतुः कारणं, प्रवर्तकत्वादिना सकलकल्याणानां सुदेवत्वादीनाम् । अयमेव विशेष्यते। (कम्मवणविहावसू) कर्मवनस्य ज्ञानावरणीयादिसमुदयरूपस्य विभावसुरिवाग्निरिव तद्दाहकत्वेन । अयमेव विशेष्यते । (साधगो सिद्धभावस्स) साधको निवर्तकः सिद्धभावस्य सिद्धत्वस्य तथा तथा तत्संपादकत्वेन कोऽयमेवं किं वेत्याह-(केवलिपण्णत्तो धम्मो) केवलिप्रज्ञप्तः केवलिप्ररूपितो धर्मः श्रुतादिरूपः । (जावज्जीवं मे भगवं सरणं) यावज्जीवमिति पूर्ववत् । मे मम भगवान् समग्रैश्वर्यादिगुणयुक्तः शरणमाश्रयः । एतच्चतुःशरणगमनम् । एकार्थसाधकत्वेन प्रचुराणामप्यविरुद्धमेव । एष एव परमार्थः । "चत्तारि सरणं पवज्जामि । अरहंते सरणं पवज्जामि। सिद्धे सरणं पवज्जामि। साहू सरणं पवज्जामि केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि त्ति" पं० सू० १ सू० ।

सावज्जजोगविरई-उक्कित्तणगुणवओपडिवत्ती ।
खलियस्स निंदणावण-तिगिच्छगुणधारणा चेव ॥ १ ॥
चारित्तस्स विसोही, कीरइ सामाइएण किल इह यं ।
सावज्जेयरजोगाऽऽणं-वज्जणा सेवणत्तणओ ॥ २ ॥
दंसणयारविसोही, चउवीसा पत्थएण किज्जइ य ।
अच्चब्भुअगुणकित्तण-रूवेणं जिणवरिंदाणं ॥ ३ ॥
नाणाइया उ गुणा, तस्स पन्नवत्तिकरणाओ ।
वंदणएणं विहिणा, कीरइ सोही उ तेसिं तु ॥ ४ ॥
खलियस्स य तेसि पुणो, विहिणा जं निंदणाइपडिकमणं ।
तेणं पडिकमणेणं, तेसिं पि य कीरए सोही ॥ ५ ॥
चरणाइयाईयाणं, जहक्कमं वणतिगिच्छरूवेणं ।
पडिक्कमणो सुद्धाणं, सोही तह काउसग्गेणं ॥ ६ ॥
गुणधारणरूवेणं, पच्चक्खाणेण तवऽइयारस्स ।
विरियायारस्स पुणो, सव्वेहिं वि कीरए सोही ॥ ७ ॥
गयवसहसीहअभिसे-य दामससिदिणयरं झयं कुंभं ।
पउमसरसागरविमा-णभवणरयणुच्चयसिहिं च ॥ ८ ॥
अमरिंदनरिंदमुणिं-दवंदियं वंदिउ महावीरं ।

कुसलाणुबंधुबंधुर-मज्झयणं कित्तइस्सामि ॥ ६ ॥
चउसरणगमणदुक्कड-गरिहासुकडाऽणुमोअणा चेव।
एस गणो अणवरयं, कायव्वो कुसलहेउ त्ति ॥ १० ॥
अरिहंतसिद्धसाहू-केवलिकहिओ सुहावहो धम्मो ।
एए चउरो चउगई-हरणा सरणं लहइ धन्नो ॥ ११ ॥
अह सो जिणभत्तिभरु-च्छरंतरोमंचकंचुअकरालो।
पहरिसपणउम्मीसं, सीसम्मि कयंजली भणइ ॥ १२ ॥
रागद्दोसअरीणं, हंता कम्मट्ठगाइँअरिहंता ।
विसयकसायारीणं, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १३ ॥
रायसिरिमवकसित्ता, तवचरणं दुक्करं अणुचरित्ता ।
केवलसिरिमरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १४ ॥
थुइवंदणमरिहंता, अमरिंदनरिंदपूअमरिहंता ।
सासयसुहमरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १५ ॥
परमणगयं मुणंता, जोइंदमहिंदझाणमरिहंता ।
धम्मकहं च कहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १६ ॥
सव्वजिआणमहिंसं, अरिहंता सच्चवयणमरिहंता ।
बंभव्वयमरिहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १७ ॥
ओसरणमवसरित्ता, चउतीसं अइसए निसेवित्ता ।
धम्मकहं च कहंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १८ ॥
एगाइगिराऽणेगे, संदेहे देहिणं समत्थंता ।
तिहुयगमणुसासंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ १९ ॥
वयणामएण भुवणं, निव्वावंता गुणेसु ठावंता ।
जिअलोअमुद्धरंता, अरिहंता हुंतु मे सरणं ॥ २० ॥
अच्चब्भुयगुणवंते, नियजस सहरपसाहि पंदंते ।
नियमणाइअणंते, पडिवज्जे सरणमरिहंते ॥ २१ ॥
उज्झियजरमरणाणं, सम्मत्तदुक्खत्तसत्तस्स सरणाणं ।
तिहुयणजणसुहयाणं, अरिहंताणं नमो ताणं ॥ २२ ॥
अरिहंतसरणमलसुद्धि, लद्धसुविसुद्धसिद्धबहुमाणा ।
पणयसिररइयकरकमल-सेहेरो सहरिसं भणइ ॥ २३ ॥
कम्मट्ठक्खयसिद्धा, साहावियनाणदंसणसमिद्धा ।
सव्वट्ठलद्धसिद्धा, ते सिद्धा हुंतु मे सरणं ॥ २४ ॥
तियलोयमच्छरत्था, परमपयत्था अचिंतसामत्था ।
मंगलसिद्धपयत्था, सिद्धा सरणं सुहपसत्था ॥ २५ ॥
मुक्खे य पडिवक्खा, अमूढलक्खा सजोगिपच्चक्खा ।
साहावियत्तसुक्खा, सिद्धा सरणं परमसुक्खा ॥ २६ ॥
पडिपिल्लियपडिणीया, समग्गझाणग्गिदड्ढभवबीया ।
जोईसरसरणीया, सिद्धा सरणं सुमरणीया ॥ २७ ॥
पावियपरमाणंदा, गुणनीसंदा विदिन्नभवकंदा ।
लहुईकयरविचंदा, सिद्धा सरणं खवियदंदा ॥ २८ ॥
उवलद्धपरमबंभा, दुल्लहलंभा विमुक्कसंरंभा ।
भुवणघरधरणखंभा, सिद्धा सरणं निरारंभा ॥ २९ ॥
सिद्धसरणेण नवबंभ-हेउ साहुगुणजणिअअणुराओ ।
मेइणिमिलंतसुपसत्थमत्थ उ तत्थिमं भणइ ॥ ३० ॥
जिअलोअबंधुणो कुसाई, सिंधुणो पारगा महाभागा ।
नाणाइएहिँ सिवसु-क्खसाहगा साहुणो सरणं ॥ ३१ ॥
केवलिणोपरमोही, विउलमई सुयहरा जिणमयम्मि ।
आयरियउवज्झाया, ते सव्वे साहुणो सरणं ॥ ३२ ॥
चउदसदसनवपुव्वी, दुवालसिक्कारसंगिणो जयई ।
जिणकप्पाऽहालंदिय-परिहारविसुद्धसाहू य ॥ ३३ ॥
खीरासवमहुआसव-संभिन्नसो अकुट्ठबुद्धी य ।
चारणवेउव्वियपया-णुसारिणो साहुणो सरणं ॥३४॥
उज्झियवइरविरोहा, निच्चमदोहापसंतसुहसोहा ।
अभिमयगुणसंदोहा, हयमोहा साहुणो सरणं ॥ ३५ ॥
खंडियसिणेहदामा, अकामधामा निकामसुहकामा ।
सुपुरिसमणाभिरामा, आयारामा मुनी सरणं ॥ ३६ ॥
मिल्हियविसयकसाया, उज्झियघरघरणिसंगसुहसाया ।
अकलियदरिसविसाया, साहू सरणं गयपमाया ॥ ३७ ॥
हिंसाइदोससुन्ना, कयकारुन्ना सयंभुरुप्पन्ना ।
अजयामरहरपुन्ना, साहू सरणं सुकयपुन्ना ॥ ३८ ॥
कामविडंबणचुक्का, कलिमलमुक्का विविहचोरिक्का ।
पावरयसुरयरिक्का, साहू गुणरयणचच्चिक्का ॥ ३९ ॥
साहू तासु ठिया जं, आयरियाई तउ अ साहू ।
साहूगहणेण गहिआ, ते तम्हा साहुणो सरणं ॥ ४० ॥
पडिवन्नसाहुसरणो, सरणं काउं पुणो वि जिणधम्मे ।
पहरिसरोमंच, पवंचकंचुअं चियतणू भणइ ॥४१॥
पवरसुकराहिपत्तं, पत्तेहिं वि नवरि केहिं वि न पत्तं ।
तं केवलिपन्नत्तं, धम्मं सरणं पवन्नो हं ॥ ४२ ॥
पत्तेण अपत्तेण य, पत्ताणि य जेण नरसुरसुहाई ।
मुक्खसुहं पुण पत्तेण, नवरि धम्मो स मे सरणं ॥४३॥
निद्दलियकलुसकम्मो-कदलसुहजम्मो खलीकयअहम्मो ।
पमुहपरिणामरम्मो, सरणं मे होउ जिणधम्मो ॥
कालंतरा वि न मयं, जम्मणजरमरणवाहिसयसमयं ।
अमयं च बहुमयं जिण-मयं च सरणं पवन्नो हं ॥४५॥
पसमियकामपमोहं-दिट्ठादिट्ठेसु न कलियविरोहं ।
सिवसुहफलयममोहं, धम्मं सरणं पवन्नो हं ॥ ४६ ॥
नरयगइगमणरोहं, गुणसंदोहं पवाइनिक्खोहं ।
निहणियवम्महजोहं, धम्मं सरणं पवन्नो हं ॥ ४७ ॥
भासुरसुवन्नसुंदर-रयणालंकारगारवं महयं ।
निहिमिव दोगच्चहरं, धम्मं जिणदेसियं वंदे ॥ ४८ ॥
चउसरणगमणसंचिय-सुचरियरोमंच अंचियसरीरो ।

कयदुक्कडगरिहा अस-हकम्मक्खयकंखिरो जणइ ॥४९॥
इह जवियमन्नभवियं, मिच्छत्तपवत्तणं जमहिगरणं ।
जिणपवयणपडिकुट्टं, दुट्ठं गरिहामि तं पावं ॥ ५० ॥
मिच्छत्ततमंधेणं, अरिहंताईसुं अवन्नयणं जं ।
अन्नाणेण विरइयं, इण्हिं गरिहामि तं पावं ॥ ५१ ॥
सुअधम्मसंघसाहु, सुपावपडिणीयआई जं रइअं ।
अन्नेसु अपावेसुं, इण्हिं गरिहामि तं पावं ॥ ५२ ॥
अन्नेसु अ जीवेसुं, मित्ती करूणाइगो अरेसु कयं ।
परियावणाइ दुक्खं, इण्हिं गरिहामि तं पावं ॥ ५३ ॥
जं मणवयकाएहिं, कयकारियअणुमइहिं आयरियं ।
धम्मविरुद्धमसुद्धं इण्हिं गरिहामि तं पावं ॥ ५४ ॥
अह सो दुक्कडगरिहा, दलिउक्कडदुक्कमो फुडं जणइ ।
सुकयाणुरायसमुइ-न्नपुन्नपुलयं करकरालो ॥ ५५ ॥
अरिहंतं अरिहंते-सु जं च सिद्धत्तणं च सिद्धेसु ।
आयारं आयरिए, उवज्झायं तं उवज्झाए ॥ ५६ ॥
साहूण साहुकिरियं, देसविरइं च सावयजणाणं ।
अणुमन्ने सव्वेसुं, सम्मत्तं सम्मदिट्ठीणं ॥ ५७ ॥
अहवा सव्वंचिय वी-यरायवयणाणुसारि जं सुकडं ।
कालत्तए वि तिविहं, अणुमोएमो तयं सव्वं ॥ ५८ ॥
सुहपरिणामो निच्चं, चउसरणगमाइआयारं ।
जीवो कुसलपयडीउ, बंधइ बंधाउ सुहाणुबंधीओ ॥५९॥
मंदणुभावा बद्धा तिव्वणुभावा कुणइ ता चेव ।
असुहाओ निरणुबंधा,उ कुणइ तिव्वाउ मंदा उ ॥६०॥
ता एयं कायव्वं, बुहेहिं निच्चं पि संकिलेसम्मि ।
होइ तिकालं सम्मं, असंकिलेसम्मि सुकयफलं ॥६१॥
चउरंगो जिणधम्मो, न कओ चउरंगसरणं वि ।
न कयं चउरंगो भव-च्छेओ न कओ हा हारिओ जम्मो ।६२।
इह जीवपमायमहारि,वीरभद्दं नमेवमज्झयणं ।
जासु एति संजयवं-झकारणं निव्वुइसुहाणं ॥६३॥ द०प०।

चउसिर-चतुश्शिरस्-नं० । चत्वारि शिरांसि यस्मिन् तच्चतुःशिरः । प्रथमप्रवेशे क्षमणाकाले शिष्याचार्य्ययोरवनतं यच्छिरोद्वयं निष्क्रम्य पुनः प्रवेशे तथैव शिरोद्वयम । शिरश्चतुष्टययोगिनि वन्दनके, ध० ३ अधि० । आव० । स० ।

चउहा-चतुर्द्धा-अव्य० । चतुःप्रकारे, 'चउहविवाग त्ति' चतुर्द्धा क्षेत्रजीवभवनपुद्गलविपाकाः प्रकृतीर्वदये । कर्म० ५ कर्म० ।

चउहार-चतुराहार-पुं० । चतुर्णामशनपानखादिमस्वादिमानां त्यागे, ल० प्र० ।

चओरग-चकोरक-पुं० । 'चक' तृप्तौ । ओरन् । स्वार्थे कन् । स्वनामख्याते पक्षिभेदे, पाच० । प्रश्न० ।

चओवचइय-चयोपचयिक-त्रि० । वृद्धिहान्यात्मके, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० ।

चंकमंत-चङ्क्रममाण-त्रि० । चलनस्वभावे, औ० । कल्प० ।
चङ्क्रम्यमाण-त्रि० । चलनस्वभावे, औ० । कल्प० ।

चंकमण-चङ्क्रमण-न० । उपाश्रयान्तरे शरीरश्रमव्यपोहार्थमितस्ततः संचरणे, स० ।

चङ्क्रमणगुणानुपदर्शयति—

वायाई सट्ठाणं, वयंति कुविया उ सन्निरोहेणं ।
लाघवमग्गिपडुत्तं, परिस्समजओ अ चङ्कमतो ॥

अनुयोगदानादिनिमित्तं यच्चिरमेकस्थानोपवेशनलक्षणः सन्निरोधस्तेन कुपिताः स्वस्थानाच्चालिता ये वातादयो धातवस्ते चङ्क्रमतो भूयः स्वस्थानं व्रजन्ति लाघवं शरीरे लघुभाव उपजायते । अग्निपटुत्वं जाठरानलपाटवं च भवति । यश्च व्याख्यानादिजनितः परिश्रमस्तस्य जयः कृतो भवति । एते चङ्क्रमतो गुणा भवन्ति । बृ० ३ उ० । नि० चू० । आव० । भ्रमणे, आ० १ श्रु० १ अ० ।

चंकमिय-चङ्क्रमित-न० । गतिविभ्रमे, " चंकमियं ठियं जंपियं च, विप्पक्खियं च सविलासं । आगारियबहुविधे, दट्ठुं इत्थियरे दोसा " ॥ ३७ ॥ नि० चू० १ उ० ।

चंकारअणुओग-चकारानुयोग-पुं० । समाहारेतरेतरयोगसमुच्चयान्वाचयाऽवधारणपादपूरणाधिकवचनादिषु, (स्था०) (चंकारे त्ति) अत्रानुस्वारोऽलाक्षणिकः, यथा—" सुके सणिचरे " इत्यादि । ततश्चकार इत्यर्थः । तस्य चानुयोगो यथा—चशब्दः समाहारेतरेतरयोगसमुच्चयान्वाचयावधारणपादपूरणाधिकवचनादिषु इति । तत्र-(इत्थीओ सयणाणि य त्ति) इहसूत्रे चकारः समुच्चयार्थः स्त्रीणां शयनानां चापरिभोग्यतातुल्यत्वप्रतिपादनार्थः । स्था० १० ठा० ।

चंगबेर-चंगबेर-पुं० । काष्ठपात्र्याम, "पीढए चंगबेरे य, नंगले मइयं सिया । जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिया व अलं सिया " ॥२८॥ दश० ७ अ० ।

चंगेरी-चङ्गेरी-स्त्री० । महत्यां काष्ठपात्र्यां, वृहत्पाटलिकायां च । प्रश्न० १ आश्र० द्वार । रा० । भ० म० । जी० । प्रज्ञा० ।

चंचत-चञ्चत्-त्रि० । मनोहारिणि, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

चंचपुड-चञ्चुपुट-पुं० । आघातविशेषे, "खुरचलणचंचपुडेहिं धरणितलं अभिहणमाणं" जं० ३ वक्ष० ।

चंचल-चञ्चल-त्रि० । लोले, स्था० ।

चञ्चलभेदाः-

गइठाणभासभावे, लहुओ मासो उ होइ एक्केक्को ।
आणाईणो य दोसा, विराहणा संजमायाए ॥

चञ्चलश्चतुर्द्धा तद्यथा-गतिचञ्चलः, स्थानचञ्चलः, भाषाचञ्चलः, भावचञ्चलश्च । एतेषामेकैकस्मिन् लघुको मासः प्रायश्चित्तम । आज्ञादयश्च दोषा विराधना संयमे आत्मनि च । तत्र संयमविराधना-गतिचञ्चलस्य त्वरितं गच्छतः पृथिव्यादीनां कायानामुपमर्दनम । आत्मविराधना-प्रपतनप्रस्खलनदेवतातुलनादिका । एवं स्थानचञ्चलादिष्वप्युपयुज्यात्मसंयमविराधना वक्तव्या ।

अथ गतिस्थानचञ्चलौ तावदाह-

दावद्दविओ गइचं-चलो य ठाणचंचलो इमो चिविहो ।

कुड्डाइ सइं फुसइ व, लसइ व पाए वा विच्छुभइ ॥

इह दुवशब्दो द्रुतार्थवाचकस्ततो द्रावद्गधिको नाम द्रुत-द्रुतगामी स गतिचञ्चलो जण्यते। स्थानचञ्चलः पुनरयं त्रिविधस्तद्यथा-असौ निषण्णः सन् पृष्ठबाहुकरचरणादिभिः कुड्यम् आदिशब्दात् स्तम्भादिकमसकृदनेकशः स्पृशति। वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः। यो वा निषण्ण एव इतस्ततो भ्राम्यति ।२। पादौ वा विक्षिपति पुनः पुनः संकोचयति प्रसारयति चेत्यर्थः ॥ ३ ॥

भाषाचपलमाह-

भासाचपलो चउहा, असंति अलियं असोहणं वा वि ।
असभाजोग्गमसब्भं, अणुहिउं तं उ असमिक्खं ॥

भाषाचपलश्चतुर्द्धा-असत्प्रलापी,असभ्यप्रलापी, असमीक्षितप्रलापी,अदेशकालप्रलापी च। तत्रासत्प्रलपितुं शीलमस्येत्यसत्प्रलापी,अथ असदिति कोऽर्थः इत्याह-असदितिशब्देनालीकमशोभनं वा अभिधीयते। तत्रालीकम्-साधुम् असाधुं मन्यीमीति असाधुं साधुमित्यादि, अशोभनं गर्वादिदूषित वचनम्-तथा-असभायोग्यमसभ्यमभिधीयते, इह सभा एकत्रोपविष्टशिष्टपुरुषसमुदायः, तथा चोक्तम्-"धम्मत्थसत्थकुसला,सभासया जत्थ सा सभा नाम। जा पुण अविहिपलुद्धा, बुहेहिं सा जणए मेहा" तस्याः सभाया योग्यं यद्वचनं तत् सभ्यम्। तद्विपरीतमसभ्यं तच्च दास चएमाल इत्यादिकम्। जकारमकारादिवाक्यरूपं वा, तत्प्रलपितुं शीलमस्येत्यसभ्यप्रलापी अनूहित्वा अविचार्य किमिदं पूर्वापरविरुद्धं किं वा इहपरलोकबाधकमित्याद्यविमृश्य यद्वदति तत् वचनमसमीक्षितमुच्यते। तत्प्रलपनशीलोऽसमीक्षितप्रलापी।

अथादेशकालप्रलापिनमाह-

कज्जविवत्तिं दट्ठुं, जणाइ पुव्वं मए उ विण्णायं ।
एवमिदं तु भविस्सति, अदेसकालप्पलावी उ ।

कार्यविपत्तिं कार्यस्य विनाशं दृष्ट्वा कश्चित् भणति यथा-मया पूर्वमेव विज्ञातमिदं कार्यमेवं भविष्यति । यथा केनाचित साधुना पात्रं लेपितं ततो बहु सत् कुतोऽपि प्रमादतो भग्नं ततः कश्चिदात्मनो दक्षत्वं ख्यापयन् ब्रवीति-यदैवेदं परिकर्मयितुमारब्धं तदैव मया ज्ञातं यथेदं निष्पन्नमपि भज्यन्ते। एष एवं विधोऽदेशकाले अनवसरे प्रलपनशीलोऽदेशकालप्रलापी। व्याख्यातश्चतुर्विधोऽपि भाषाचपलः।

अथ भावचपलमाह-

जं जं सुयमत्थो वा, उद्दिट्ठं तस्स पारमप्पत्तो ।
अन्नमसुयत्थमाणं, पल्लवगाही उ भावचवले ॥

यद् यदावश्यकदशवैकालिकादेर्ग्रन्थस्य श्रुतं सूत्रमर्थो वा उद्दिष्टं आरब्धं तस्येत्यत्रापि वीप्सा गम्यते । तस्य तस्य पारमप्राप्तः सन्नन्यान्यश्रुतद्रुमाणामाचारादिरूपपरापरशास्त्रतरूणां पल्लवान् तन्मध्यगतालापकश्लोकगाथारूपान् सूत्रार्थलवान् स्वकल्पया ग्रहीतुं शीलमस्येति पल्लवग्राही तुः पुनरर्थे य एवंविधः स पुनर्भावचपलो मन्तव्यः भवेत्कारणं येन वञ्चकत्वमपि कुर्यात्।

किं पुनस्तदित्याह—

तेणे सावय ओसह, खित्ताई वाइ सेहवोसिरणो ।

आयरियबालमाई, तदुभयछेए य विइयपयं ॥

स्तेनभयेन श्वापदभयेन वा द्रुतमपि गच्छेन्न दोषः। ग्लानो वा कश्चिदागाढस्तस्यौषधानयननिमित्तं शीघ्रमपि गच्छेत । न च प्रायश्चित्तमाप्नुयात् (खित्ताई इति) क्षिप्तचित्त आदिशब्दात् दृप्तचित्तो यक्षाविष्ट उन्मादप्राप्तश्च एते स्थानचञ्चलत्वमपि कुर्युः । न च प्रायश्चित्तमाप्नुयुः चशब्दात् (वाइ त्ति) वादिनो बुद्धिं परिभवितुमलीकमपि ब्रूयात्; यथारोहगुप्तेन पोट्टशालपरिव्राजकमतिव्यामोहनार्थं "जीवा अजीवा नोजीवाश्चेति" त्रयो राशयः स्थापिताः । तथा शैक्षस्य पण्डकादिव्युत्सर्जनविधेये तं निर्भर्त्सयन्नसभ्यमपि भणेत येनोद्वेजितः स्वयमेव गणाभिष्क्रम्य गच्छेत्। आचार्यो वा कुतश्चित्प्रमादस्वाप्नोपरमन्ते ततोऽदेशकालप्रलापित्वमपि कुर्यात्। यथा-क्षमाश्रमणा अमुकः संयतोऽमुकश्च श्रावको मम पुरत इदं जणति-यथा त्वदीया गुरवः पार्श्वस्था ज्ञवन्तः संभाव्यन्ते एतच्च मया पूर्वमपि विज्ञातमासीत् यथा क्षमाश्रमणानामेवमाचरतामपवादो भविष्यति । एवमुक्ते ते अश्लोकभयेनैवोपरमन्ते। बालो वा केलिकन्दर्पादिकुर्वाणोऽपि न निवर्तते ततोऽत्र हितमपि यदपि भाषित्वा निवारणीयः। आदिग्रहणात्प्रत्यनीकादयो वा खरपरुषादिभाषणैः उपशमयितव्यः ।तथा-तदुभयच्छेदे इति कस्याचार्यस्य पूर्वं सूत्रमर्थो वा विद्यते तस्योजयस्यापि तत्पार्श्वादनधीयमानस्य व्यवच्छेदो भवति। अतः पूर्वारब्धं शास्त्रमर्द्धपतितमपि मुक्त्वा ततस्तदुजयमध्येतव्यमिति। यथाक्रमं गतिस्थानभाषाभावचपलेषु द्वितीयपदमवसातव्यम्। एतच्चाथोक्तप्रकारेण कलापमन्तरेण ये गतिचपलादयस्तद्विपरीता ये गतिस्थानभाषाभावैश्चतुर्भिरप्यचपलास्तेऽस्य कल्पाध्ययनस्यानुयोगमर्हन्तीति । गतं चञ्चलद्वारम् । बृ०१ उ०। अनवस्थितचित्ते, विशे०। प्रज्ञा०। जी०। अतीवचटुले, औ०। विमुक्तस्थैर्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। चपले , औ० । भ० । नं० । प्रश्न० । " चंचलजीहे धरणीयलं चेति भूअं " उपा० २ अ० ।

चंचा—चञ्चा—स्त्री० । 'चञ्च' अच्। नडनिर्मिते कटभेदे, (चाँच) "चञ्चेव" इवार्थे कन् " लुप् मनुष्ये " ५।३।९८ इति तस्य (पाणि०) लुप्। तृणमयपुरुषे, वाच०। चमरचञ्चानाम्नि चमरस्य राजधान्याम्, स्त्री० । स्था० ।

चंचुचिय—चञ्चुरित—न० । प्राकृतत्वाच्चञ्चुरितमित्यस्य चंचुच्चियमिति । कुटिलगमने, औ० ।

चञ्चूचित—न० । चञ्चुश्शुकचञ्चुः तद्वद्वक्रतयेत्यर्थः उच्चितं उच्चताकारणं पादस्य उच्चितं वा उत्पाटनं पादस्यैवं चञ्चूच्चितम्। पादोत्थापने, " चंचुच्चियललियपुलियचलचवलचंचलगईणं " भा० ।

चंचुमालइय—त्रि० । देशी-रोमाञ्चिते, कल्प० १ क्षण । ज्ञा० ।

चंचुय—चञ्चुक—पुं० । अनार्यदेशविशेषे, तद्वास्तव्ये मनुष्ये च । प्रव० २७३ द्वार । सूत्र० ।

चंड—चण्ड—त्रि० । क्रोधने, उत्त० १ अ० । ज्ञा० । आव० । आ० क० । प्रवृद्धकोपसहिते, स० । क्रोधाभिध्मातचित्ते, उत्त० १० अ० । क्रोधने, चारभटवृत्त्याभयणकर्तरि, उत्त० १७ अ०। चण्डकोपने, परुषभाषिणि, उत्त० १० अ०। रोषणे, दश०८ अ० १ उ० । उत्कटरोषे, ज्ञा० १ श्रु० १८ अ०। रौद्रे, उत्त० २६ अ०। जी० । भ० । स० । औ० । ज्ञा० । तीव्रे, कल्प०२ क्षण । जं० ।

प्रश्न० । कर्कशे, स्था० ८ ठा० । तिन्तिणीवृक्षे, यमकिङ्करे, दैत्यभेदे च । पुं० । अत्यन्तकोपने, त्रि० । वाच० ।

चंमकम्मा–चण्मकर्मन्–त्रि० । चण्मं कोपोत्कटतया रौद्राभिधानरसविशेषप्रवर्तितत्वादतिरौद्रं कर्म समाचरणं येषां ते । रौद्रकर्मकर्तृषु, प्रव० २७३ द्वार ।

चंमकोशिय–चण्मकौशिक–पुं० । वीरस्य उपसर्गकारिणि कस्मिंश्चित्सर्पे, आ० क० । कल्प० । आ० म० । आ० चू० । स्था० । (तत्कथा 'वीर' शब्दे)

चंमज्झय–चण्मध्वज–पुं० । 'अरक्खुरीति' नामप्रत्यन्तनगरस्य माण्डलिकराज्ञि, आ० क० । आ० चू० ।

चंडदंम–चण्डदण्ड–त्रि० । रौद्रदण्डकर्तरि, "पावा पचंडदंमा, अणारिया णिग्घिणा णिरणुकंपा । धम्मोत्ति अक्खराई, जेसु ण णज्जंति सुविणे वि " सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

चंमपज्जोय–चण्डप्रद्योत–पुं० । मालवदेशभूपसेव्ये उज्जयिन्या नगर्याः स्वनामख्याते राज्ञि, विशे० । (उदयनेन पराजयः 'उदयन' शब्दे द्वितीयभागे ७८३ पृष्ठे उक्तः) उत्त० । तं० । स्था० । आ० म० । प्रश्न० । (काम्पिल्यराजेन द्विमुखेनास्य पराजयः अस्मै मदनमञ्जर्याः दानं च 'दुमुह' शब्दे)

चंडपिंगल–चण्मपिङ्गल–पुं० । स्वनामख्याते चौरे, स च राजगृहकारक इति राज्ञा मारितः। आ० म०। आ० चू०। (तस्यैव राज्ञः पुत्रो भूत्वा जातिस्मरणेन स्वयं संबुद्ध इति णमोक्कार–शब्दे उदाहरिष्यते) ।

चंममेह–चण्ममेघ–पुं० । अश्वग्रीवस्य प्रतिवासुदेवस्य स्वनामख्याते दूते, यः प्रजापतिसुतस्य त्रिपृष्ठवासुदेवस्य सभायामाधर्षितः । आ० म० प्र० । आ० चू० ।

चंमरुद्द–चण्मरुद्र–पुं० । प्रकृतिरोषणे स्वनामख्याते आचार्ये, तत्कथा चैवम्—

"उज्जयिन्यां चण्डरुद्रसूरिः समायातः स रोषणप्रकृतिः साधुभ्यः पृथक् एकान्तस्थाने आसनं चक्रे मा भूत्कोपोत्पत्तिरिति चित्ते विचारयति । इतश्च इभ्यसुतः कोऽपि नवपरिणीतः सुहृत्परिवृतस्तत्रागत्य साधून् वन्दते । कैश्चित्तन्मित्रैर्हास्येन प्रोक्तम् । अमुं प्रव्राजयत । साधुभिर्वैरमित्यभिधाय गुरुर्दर्शितः । तेऽपि गुरुसमीपे गताः तथैव तैरुक्तम् । गुरुभिर्भूतिमानयेति प्रोक्ते तेन नवपरिणीतेन हास्यादेव स्वयं भूतिरानीता गुरुभिर्बलादेव गृहीत्वा तल्लोचः कृतः । सुहृदः खिन्नास्तदा नष्टाः तस्य तु कृतलोचस्य लघुकर्मतया अतः परं मम प्रव्रज्यैवास्तु इति परिणामः सम्पन्नः । ततस्तेनोक्तं केलिः सत्यंभूतः । अथ अन्यत्र गम्यते । गुरुराह-अहो शिष्य ! साम्प्रतं रात्रिर्जाता अहं रात्रौ न पश्यामि । तेन स्वस्कन्धे गुरुरारोपितः उच्चनीचप्रदेशे मार्गे वहता तेन गुरोः खेद उत्पादितः खिन्नेन तेन गुरुणा अस्य शिरसि दण्डप्रहाराः दत्ताः । असौ मनसि एवं विचारयति–"अहो महात्मायं मयेदृशीमवस्थां प्रापितः" इति सम्यग्भावयतः तस्य केवलज्ञानमुत्पन्नं केवलज्ञानबलेन समप्रदेश एव वहन् गुरुभिरेष उक्तः–मार्गः सार इति । कीदृशः समो वहन्नसि तेनोक्तं युष्मत्प्रसादात् मे समं वहनम् । गुरुभिरुक्तं किम् अरे ज्ञानं समुत्पन्नं तव । तेनोक्तम्-ज्ञानमेव गुरुभिरुक्तं प्रतिपाति अप्रतिपाति,वा तेनोक्तम्-अप्रतिपाति । गुरवस्तु हा मया केवली आशातितः इत्युक्त्वा तच्छिरसि दण्डप्रहारोद्भूतरुधिरप्रवाहं पश्यतः पुनस्तत्क्षामणं कुर्वतः केवलज्ञानमापुरिति विनीतशिष्यैरीदृशैर्भाव्यम् । इति चण्मरुद्राचार्यस्य कथा । उत्त० १ अ० । आव० । आ० क० । आ० चू० । पञ्चा० । दश० । चण्डरुद्राचार्याः शिष्यस्य स्कन्धे उपविश्य चलिता इति सत्यं नवेति प्रश्नः । उत्तरम्-श्रीउत्तराध्ययनवृत्तिप्रमुखबहुग्रन्थानुसारेण चण्डरुद्राचार्येण शिष्यस्य कथितं त्वमग्रतो गमनं कुरु पश्चात्सोऽप्रतश्चलितश्चण्डरुद्राचार्यास्तु पृष्ठतश्चलिताः कस्मिंश्चिद्ग्रन्थे कथितमस्ति, यच्छिष्यस्य स्कन्धे भुजां दत्त्वा चलिता इति १३ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

चंडविस–चण्मविष–पुं० । चण्मं झगिति अल्पकालेनैव दष्टशरीरव्यापकं विषं यस्य सः झगिति दष्टशरीरव्यापकविषयुक्ते सर्पे ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । उत्त० । भ० ।

चंमा–चण्मा–स्त्री० । तथाविधमहत्त्वाभावेनेषत्कोपादिभावाच्चण्डा चमरादीनां देवेन्द्राणां मध्यमायां पर्षदि, । भ० ४ श० १ उ० । जी० । स्था० । गत्युत्कर्षयोगाद् रौद्रायां देवगतौ, भ० ६ श० १० उ० । दुर्गानायिकाभेदे, "उग्रचण्डा प्रचण्मा च, चण्डोग्रा चण्मनायिका । चण्डा चण्मवती चण्ड–नायिकाप्यतिचण्डिका " चोरनाम्नि गन्धद्रव्ये, शङ्खपुष्पीद्रुमे, लिङ्गिनीलतायाम्, कपिकच्छाम्, आखुपर्ण्याम्, श्वेतदूर्वायां च । नदीभेदे, एतासां चण्डवीर्यत्वात् तथात्वम् । कोपनायां स्त्रियाम्, च । वाच० । रुद्रायां तीव्रायामतिशायिन्याम् उत्कटायां वक्तुमशक्यायाम् , उत्त० १८ अ० । " विउला कक्कसा पगाढा चंमा दुहा तिव्वा दुरहिय त्ति " एकार्थाः । विपा० १ श्रु० १ अ० । विपुला तीव्रा चण्डा प्रगाढा कर्मी कर्कशा इत्येवं लक्षणा द्रष्टव्या । अंत० ४ वर्ग । प्रवरापरनामिकायां श्रीवासुपूज्यस्य जिनेन्द्रस्य शासनदेव्याम्, सा च श्यामवर्णा तुरगवाहना चतुर्भुजा वरदशक्तियुक्तदक्षिणकरयुगा पुष्पगदायुतवामकरद्वया च । प्रव० २६ द्वार ।

चंमानिल–चण्मानिल–पुं० । चण्डमारुते, जं० २ वक्ष० । "चंमानिलपहपतिक्खधाराणिवायपउर "–ज० ७ श० ६ उ० ।

चंमाधर–चण्माधर–त्रि० । चण्माधरोष्ठे, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

चंमाल–चण्डाल–पुं० । स्त्री० । चण्डेन अधमस्य चण्मेन वा कलितः स चातिक्रूरत्वाच्चण्डालः । उत्त० १ अ० । शूद्रेण ब्राह्मण्यामुत्पन्ने, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उत्त० । "माहणा खत्तिया वेस्सा, चंडाला अदुवोकसा । एसि पावेसिया सुद्दा,जे य आरम्भणिस्सिया " सूत्र० १ श्रु० ए अ० । " देवयसरमंताओ, हवंति दुहजीविणो । कुचेला य कुचीलिय, चोरा चंडालमुट्टीया" ॥१३॥ अनु० । क्रूरकर्मणि–वाच० ।

चंडालिय–चण्माडीक–न० । चण्डः क्रोधस्तद्वशादलीकम् । यद्वा–चण्माले, चण्डालजातौ भवं चण्डालीकम् । अनृतभाषणे-चण्डालकर्मणि, उत्त० १ अ० ।

चंमिक्क–चाण्डिक्य–न० । रौद्राकारकरणे, क्रोधकषायविशेषकार्ये, गौणमोहनीयकर्मणि, स० ५१ सम० । भ० ।

चंमिकिअ–चाण्मिकित–त्रि० । चाण्मिक्यं रौद्ररूपत्वं संजातमस्येति चाण्मिकितः संजातचाण्डिक्ये प्रकटितरौद्ररूपे, भ ७ श० ८ उ० । ज्ञा० । नि० चू० । विपा० । जं० । दारुणीभूते, विपा० १ श्रु० १ अ० । रोषणाभूते, नि० १ वर्ग । आसु

हत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किये मिसिमिसियमाणेत्ति " एकार्थाः । उत्त० २१ अ० ।

चंडिक्क–देशी–रोषे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंमिय–देशी–कृते, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंमिल–देशी–पोने, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंमीदेवग–चएमीदेवक–पुं० । चक्रधरप्राये चएडीजके, सूत्र० १ श्रु० ७ अ० ।

चंद (ड)–चन्द–पुं० । ' चदि ' आह्लादे । णिच् रक् । "स- र्वत्र लवरामचन्द्रे " ॥ ८ । २ । ७९ ॥ इत्यचन्द्रपर्युदासान्न रे- फस्य लुक् । 'चन्द' संस्कृतसमोऽयं प्राकृतशब्दः । अत्र "ड्रे रो न वा " ॥ ८ । २ । ८० ॥ इति विकल्पो न भवति । निषेधसा- मर्थ्यात् । संस्कृतसमे तु वा रलुक् ' चंदो चन्द्रो ' । प्रा० २ पाद । " वर्गेऽन्त्यो वा " ॥ ८ । १ । ३० । इति परसवर्णो वा । प्रा० १ पाद । ज्योतिष्काणामिन्द्रे, स्था० २ ठा० ३ उ० । भ० । स० । शशधरे, औ० । चन्द्रः शशी निशाकर उडुपतिः रजनी- कर इत्येवमादिचन्द्रपर्यायाः । आ० चू० १ अ० । आ० म० । प्रज्ञा० । स्था० । सूत्र० । प्रश्न० । भ० । प्रव० ।

तस्य पूर्वापरचर्त्तमानभववक्तव्यता–

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नगरे गुणसि- लए चेइए सेणिए राया, तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समो सढे । परिसा निग्गया, तेणं कालेणं तेणं समएणं चन्दो जोइसिंदे जोइसराया चंदवर्डिसए विमाणे सभाए सुह- म्माए चंदंसि सीहासणंसि चउहिं सामाणियसाहस्सी- हिं० जाव विहरति । इमं च णं केवलकप्पं जंबुद्दीवे दीवे वि- उलेणं ओहिणा आभोएमाणे पासति पासित्ता समणं भगवं महावीरं जहा सूरियाभे आभिओगिं सद्दावित्ता० जाव सुरिंदाभिगमणजोगं करेत्ता तमाणत्तियं पच्चप्पिणंति सुस्सरा घंटा० जाव विउव्वणा । नवरं जोयणसहस्सं विच्छिन्नं अद्धतेवट्ठिजोयणसमूसियं महिंदज्झओ पणवीसं जोय- णसमूसिते सेसं जहा सूरियाभस्स० जाव आगतो णट्टविही तहेव० जाव पडिगतो । नि० ३ वर्ग । स्था० ।

(चन्द्रस्य अग्रमहिष्यः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १७१ पृष्ठे उक्ताः) (अनुभावश्चन्द्रसूर्यादीनाम् ' जोइसिय ' शब्दे) (अमावास्यायोगः चन्द्रेणामावास्यापौर्णमासीयोगश्चान्द्रमा- सवक्तव्यता ' जोग ' शब्दे,) (अयनं चन्द्रस्य ' अयन ' शब्दे प्रथमभागे ७४१ पृष्ठे द्रष्टव्यम्) (अवभासनम् कति सूर्याः कति चन्द्राः सर्वलोकमवभासयन्ति इति ' जोइसिय ' शब्दे) " दो चंदा इह (जंबूद्वीपे) चत्तारि य सागरे लवणतोए धायइसंडे दीवे, बारस चंदा य सूरा य " स्था० २ ठा० ३ उ० । (चन्द्रसूर्यादीनां संख्यानं जम्बूद्वीपादिशब्देषु,) (चन्द्रसू- र्याणामावृत्तय 'आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे उक्ताः) (उच्चत्वम् ' जोइसिय ' शब्दे) (चन्द्रस्योद्योतादिचन्द्रिकादि च सूर्यस्येव ' सूर ' शब्दे ज्ञेयम्) (चन्द्रोपपातः ' उववाय ' शब्दे) (चन्द्रपुः द्वितीयभागे ' उउ ' शब्दे ९८२ पृष्ठे उक्तः)

(कामभोगौ ' जोइसिय ' शब्दे चन्द्रस्य) (चन्द्रस्य गति- परिमाणम् 'मंडल' शब्दे) (ज्योत्स्नावक्तव्यता 'दोसिणा' शब्दे)

चन्द्रस्य परिवारः–

एगमेगस्स णं भंते ! चंदस्स केवइआ महग्गहा परिवारा ?, केवइआ णक्खत्ता परिवारा ?, केवइआ तारागणकोडा- कोडीओ पण्णत्ताओ ?। गोअमा ! अट्ठासीइमहग्गहा परि- वारो । अट्ठावीसं णक्खत्ता परिवारो । छावट्ठिसहस्साइं णवसया तारागणकोडाकोडीणं पण्णत्ता ॥

एकैकस्य भदन्त ! चन्द्रस्य कियन्तो महाग्रहाः परिवारः ?। तथा कियन्ति नक्षत्राणि परिवारः ?। तथा कियन्त्यस्तारागणकोटाको- ट्यः परिवारभूताः प्रज्ञप्ताः ?। भगवानाह-गौतम ! अष्टाशीति- र्महाग्रहाः परिवारः। अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि परिवारः। षट्षष्टिस- हस्राणि नवशतानि । पञ्चसप्तशतानि पञ्चसप्तत्यधिकानि तारा- गणकोटाकोटीनां परिवारभूतानि प्रज्ञप्तानि । यद्यप्यत्र एते चन्द्र- स्यैव परिवारतयोक्तास्तथापि सूर्यस्यापीन्द्रत्वादेते एव परि- वारतयाऽवगन्तव्याः समवायाङ्गजीवाभिगमसूत्रवृत्त्यादौ तथाद- र्शनात् । जं० ७ वक्ष० । स० । (पर्वचन्द्रमसः पर्वविचारः ' पव्व ' शब्दे) [युगमध्ये चन्द्रसूर्याः ' जुग ' शब्दे]

वर्णकः—

ससिं च गोखीरफेणदगरयरययकलसपंडुरं । सुभं हि- अयनयणकंतं । पडिपुण्णं । तिमिरनिकरघणगुहिरवितिमि- रकरं । पमाणपक्खंतरायलेहं । कुमुअवणविबोहगं । निसा- सोहगं । सुपरिमट्ठदप्पणतलोवमं । हंसपडुवन्नं । जोइसमुहमं- मगं । तमरिपुं । मयणसरापूरगं । समुद्ददगपूरगं । दुम्मणं । जणं दइयवज्जिअं पाएहिं सोसयंतं । पुणो सोमचारुरूवं । पिच्छइ । सा गगणमंडलविसालसोमचंकम्ममाणतिलयं । रोहिणिमणहिअयवल्लहं । देवी पुन्नचंदं समुल्लसंतं ॥३७॥

"ससिं चेत्यादि" ततः पुनः सा त्रिशला देवी षष्ठे स्वप्ने शशि- नं पश्यति । अथ कीदृशम्-(गोखीरं ति) गोक्षीरं धेनुदुग्धं फेनं प्र- सिद्धं दकरजांसि जलकणाः (रययकलस त्ति) रजतकलशो रूप्यघटः तद्वत्पाण्डुरम् उज्ज्वलम् । पुनः किंविशिष्टम्-(सुभं ति) शुभम् । सौम्यम् । पुनः किंविशिष्टम्-(हिअयनयणकंतं) अत्र लोका- नाम् इति शेषः । ततश्च-लोकानां हृदयनयनयोः कान्तं वल्लभम् । पुनः किंविशिष्टम्-(पडिपुन्नं ति) प्रतिपूर्णं पूर्णमासीसत्कम् । पुनः किंविशिष्टम् " तिमिरनिकरेत्यादि " तिमिराणाम् अन्ध- काराणां निकरेण समूहेन (घण त्ति) घना निबिडा गम्भीरा ये वनगह्वरादयः तेषाम् अन्धकाराभावकरं वनगह्वरस्थितान्धका- रनाशकम् इत्यर्थः । यदुक्तम्-"विरम तिमिरसाहसादमुष्मा-यदि रविरस्तमितः स्वतस्ततः किम् । कलयसि न पुरो महोमहोर्मि- स्फुटतरकैरवितामितरिक्षमिन्दुम्" ॥१॥ पुनः किंविशिष्टम्-(पमा- णपक्खंतरायलेहं ति) प्रमाणपक्षौ वर्षमासादिमानकारिणौ यौ पक्षौ शुक्लकृष्णपक्षौ तयोः (अंत त्ति) अन्तर्मध्ये पूर्णिमायाम् इत्य- र्थः । तत्र (राय त्ति) राजन्त्यः शोभमानाः लेखाः कला यस्य स तथा तम् । पुनः किंविशिष्टं शशिनम्-(कुमुअवणविबोहगं) कुमु- दवनानां चन्द्रविकासिकमलवनानां विबोधकं विकाशकं यतः

" दिनकरतापव्याप-प्रपन्नमूर्छानि कुमुदगहनानि । उत्तस्थु-रमृतदीधिति-कान्तिसुधासेकतस्त्वरितम्" ॥१॥ पुनः किंविशिष्टम् शशिनम्-(निसासोहग त्ति) निशाशोभकं रात्रिशोभाकारकम् । पुनः किंविशिष्टम् शशिनम्-"सुपरिमट्ठे" त्यादि । सुपरिमृष्टं सम्यक् प्रकारेण रक्षादिना उज्ज्वलितं यत् दर्पणतलं तेन उपमा यस्य स तथा तम् । पुनः किंविशिष्टम्-(हंसपडुवण्णं) हंसवत् पटुवर्णम् उज्ज्वलवर्णमित्यर्थः । पुनः किंविशिष्टं शशिनम् (जोइसमुहमंडगं) ज्योतिषां मुखमण्डकम् । पुनः किं विशिष्टम्-(तमरिपुं] अन्धकारवैरिणम् । पुनः किं विशिष्टम्-(मयणसरापूरगं) मदनस्य कामस्य शरापूरमिव तूणीरमिव, अयमर्थः-यथा धनुर्धरः तूणीरं प्राप्य मुदितो निःशङ्कं मृगादिकं शरैर्विध्यति एवं मदनोऽपि चन्द्रोदयं प्राप्य निःशङ्को जनान् बाणैर्व्याकुलीकरोति । पुनः किं विशिष्टम्-" समुद्द " इत्यादि । समुद्रोदकपूरकं जलधिवेलावर्द्धकमित्यर्थः । पुनः किंविशिष्टम्-(दुम्मणं इति) दुर्मनस्कं व्यग्रम् । ईदृशम् (दइयवज्जियन्ति) दयितेन प्राणवल्लभेन रहितं जनं विरहिणीलोकम् इत्यर्थः । (पाएहिँ सोसयंतं) पादैः किरणैः शोषयन्तं वियोगिदुःखदम् इत्यर्थः । यतः-" रजनिनाथ ! निशाचर ! दुर्मते !, विरहिणां रुधिरं पिबसि ध्रुवम् । उदयतोऽरुणता कथमन्यथा, तव कथं च तके तनुताभृतः ॥ १ ॥ " (पुणो त्ति) पुनःशब्दो भूरि योजितः । पुनः किंविशिष्टम्-(सोमचारुरूवं ति) यः सौम्यः सन् चारुरूपो मनोहररूपः तम् । प्रेक्षत इति क्रियापदम् (सा) त्रिशला । पुनः किंविशिष्टम्-(गगणमंडल त्ति) गगनमण्डलस्य आकाशतलस्य (विसाले त्ति । विशालं विस्तीर्णम् । (सोम त्ति । सौम्यं सुन्दराकारं (चंकम्ममाण त्ति) चङ्क्रम्यमाणं चलनस्वभावं एवंविधं तिलकं तिलकमिव शोभाकरत्वात् । पुनः किंविशिष्टम्,-" रोहिणीमण " त्यादि । रोहिण्याश्चन्द्रवल्लभायाः (मण त्ति) मनश्चित्तं तस्य (हिअय त्ति) हितदो हितकारः । एकपाक्षिकप्रेमनिरासार्थं हितद इति विशेषणम् । ईदृशः । वल्लहं ति) वल्लभो यस्तम् इदं कविसमयापेक्षया । अन्यथा-रोहिणी किल नक्षत्रं नक्षत्रचन्द्रयोश्च स्वामिसेवकभाव एव सिद्धान्ते प्रसिद्धः । न तु स्त्रीभर्तृभावः । (देवी) त्रिशला पूर्णचन्द्रम्, इदं विशेष्यम् । (समुल्लसंतं) ज्योत्स्नया शोभमानम् ॥ ३७ ॥ कल्प० ३ क्षण ।

चन्द्रमसो वृद्धिः—

ता कहं ते चंदमसो वड्ढोवड्ढी आहितातिं वदेज्जा । ता अट्ठे पंचासीते मुहुत्तसते तीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहितातिवदेज्जा । ता दोसिणापक्खातो णं अंधकारपक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि बायाले मुहुत्तसते छायालीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइं चंदे रज्जति, तं जहा—पढमाते पढमं भागं जाव पण्णरसीते पण्णरसमं भागं चरिमे समए चंदे रत्ते भवति । अवसेसे समए चंदे रत्ते य विरत्ते य भवति । इयं णं अमावासं एत्थ णं पढमे पव्वे अमावासा । ता अंधारपक्खतो णं दोसिणापक्खं अयमाणे चंदे चत्तारि बायाले मुहुत्तसते छायालीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स जाइं चंदे विरज्जइ । तं जहा—पढमाए पढमं

भागं० जाव पण्णरसीए पण्णरसमं भागं । चरिमे समए चंदे विरत्ते भवति । अवसेसे समए चंदे रत्ते य विरत्ते य भवति । अयं णं पुण्णिमासिणी । तत्थ खलु इमातो बावट्ठिपुण्णिमातो बावट्ठि अमावासातो पण्णत्तातो । बावट्ठि एए कसिणा विरागा । एए चउव्वीसे पव्वसिते एए चउव्वीसे कसिणरागसए ता जावतियाणं पंचण्हं संवच्छराणं समया एएणं चउव्वीसेणं सतेणं ऊणगाए वति ताणं परित्ता असंखेज्जा देसरागविरागसता भवंतीति मक्खाता । ता अमावासातो णं पुण्णिमासिणी चत्तारि बायाले मुहुत्तसते छायालीसं बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहितातिवदेज्जा । ता अमावासातो णं अमावासा अट्ठपंचासीते मुहुत्तसते तीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहियाति वदेज्जा । ता पुण्णिमासिणीतो णं अमावासा चत्तारि बायाले मुहुत्तसते तं चेव ता पुण्णिमासिणीतो णं पुण्णिमासिणी अट्ठापंचासीते मुहुत्तसते तीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स आहितातिवदेज्जा । एस णं एवइए चंदे मासे मासे । एसणं एवतिए सगले जुगे ॥

" ता कहं ते " इत्यादि 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण त्वया भगवन् ! चन्द्रमसो वृद्ध्यपवृद्धी आख्याते इति वदेत ? । किमुक्तं भवति-कियन्तं कालं यावत् चन्द्रमसो वृद्धिः कियन्तं कालं यावदपवृद्धिस्त्वया भगवन् ! आख्याता इति वदेत । एवमुक्ते भगवानाह-"ता अट्ठे " इत्यादि ' ता' इति पूर्ववत् । अष्टौ मुहूर्त शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि । एकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशतं द्वाषष्टिभागान् यावद्वृद्ध्यपवृद्धी समुदायेन आख्याते इति वदेत् तथा ह्येकस्य चन्द्रमासस्य मध्ये एकस्मिन् पक्षे चन्द्रमसो वृद्धिरेकस्मिन् चापवृद्धिः, चन्द्रमासस्य च परिमाणमेकोनत्रिंशत्रात्रिन्दिवानि । एकस्य च रात्रिन्दिवस्य द्वात्रिंशद्द्वाषष्टिभागाः रात्रिन्दिवं च त्रिंशद्मुहूर्त्तकरणार्थमेकोनत्रिंशता गुण्यते जातान्यष्टौ शतानि सप्तत्यधिकानि ८७० मुहूर्त्तानाम् । येऽपि च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य तेऽपि मुहूर्त्तसत्का भागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि नवशतानि षष्ट्यधिकानि ९६० तेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते लब्धाः पञ्चदश मुहूर्ताः १५ ते मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातानि मुहूर्त्तानामष्टौ शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि [८८५] शेषाश्चोद्वरन्ति । त्रिंशद् द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य, एतदेव प्रतिविशेषावबोधार्थं वैविध्येण स्पष्टयति-"ता दोसिणापक्खातो णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । ज्योत्स्नाप्रधानः पक्षः ज्योत्स्नापक्षः शुक्लपक्ष इत्यर्थः । तस्मात् अन्धकारपक्षमयमानो गच्छन् चन्द्रः चत्वारि मुहूर्तशतानि द्वाचत्वारिंशदधिकानि, षट्चत्वारिंशतं च द्वाषष्टिभागान् मुहूर्तस्य यावदपवृद्धिं गच्छतीति वाक्यशेषः । यानि यथोक्तसंख्यानि मुहूर्त्तशतानि यावत् चन्द्रो राहुविमानप्रभया रज्यते कथं राज्यत इति । तमेव रागप्रकारं तद्यथेत्यादिना प्रकटयति प्रथमायां प्रतिपल्लक्षणायां तिथौ परिसमाप्नुवत्यां परिपूर्णं प्रथमं पञ्चदशं भागं यावत् रज्यते । द्वितीयायां परिसमाप्नुवत्यां तिथौ परिपूर्णं द्वितीयं पञ्चदशभागं यावत् । एवं यावत् पञ्चदश्यां तिथौ परिसमाप्नुवत्यां परिपूर्णं पञ्चदशभागं यावत् तस्याश्च पञ्चदश्याः तिथेश्चरमसमये चन्द्रः सर्वात्मना राहुविमानप्रभया रक्तो भवति

रोहितो भवतीति तात्पर्यार्थः । यस्तु षोडशो भागो द्वाषष्टिभागद्वयात्मकोऽनावृत्य तिष्ठति स स्तोकत्वाद्दृश्यत्वाच्च न गण्यते । " अवसेसे " इत्यादि पञ्चदश्यास्तिथेश्चरमसमयं मुक्त्वा शेषेषु सर्वेष्वपि समयेषु चन्द्रो रक्तो भवति । विरक्तश्च । कियान् स तस्य राहुणा आवृतो भवति कियांश्चानावृत इति भावः । अन्धकारपक्षवक्तव्यतोपसंहारमाह-"इयं णं" इत्यादि । इयमन्धकारपक्षे पञ्चदशीतिथिः 'णं' इति वाक्यालंकारे अमावस्यानाम्नी तत्र च युगे प्रथमे पर्वे अमावास्या, इह मुख्यवृत्त्या पर्वशब्दस्याभिधेयममावस्या पौर्णमासी च । उपचारात् पक्षे पर्वशब्दस्य प्रवृत्तिः तत् उक्तम्-"इत्थ णं पढमे पव्वे अमावासा " इति । अथ कथं चत्वारि मुहूर्त्तशतानि चत्वारिंशदधिकानि षट्चत्वारिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्त्तस्य ? उच्यते-इह शुक्लपक्षः कृष्णपक्षो वा चन्द्रमासस्यार्द्धं ततः पक्षस्य प्रमाणं चतुर्दश रात्रिन्दिवानि रात्रिन्दिवस्य सप्तचत्वारिंशत्द्वाषष्टिभागाः, रात्रिंदिवस्य परिमाणं त्रिंशत् मुहूर्त्ताः इति । चतुर्दश त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि मुहूर्त्तानां चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि ४२० येऽपि च सप्तचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागाः रात्रिन्दिवस्य तेऽपि मुहूर्त्तभागकरणार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातानि चतुर्दशशतानि दशोत्तराणि १४१० तेषां द्वाषष्ट्या भागो व्हियते लब्धाः द्वाविंशतिमुहूर्त्तास्ते मुहूर्त्तराशौ प्रक्षिप्यन्ते जातानि मुहूर्त्तानां चत्वारि शतानि द्विचत्वारिंशदधिकानि ४४२ शेषास्तिष्ठन्ति-षट्चत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागाः मुहूर्त्तस्य ४६ तदेवं यावन्तं कालं चन्द्रमसोऽपवृद्धिः तावत्कालप्रतिपादनं कृतम् । अथ यावन्तं कालं वृद्धिस्तावन्तमभिधित्सुराह-" ता अंधकारपक्खातो णं" इत्यादि । ता इति पूर्ववत् । अन्धकारपक्षात् 'णं' इति वाक्यालङ्कारे ज्योत्स्नापक्षं शुक्लपक्षमयमानश्चन्द्रः चत्वारि द्विचत्वारिंशदधिकानि मुहूर्त्तशतानि षट्चत्वारिंशतं च द्वाषष्टिभागान् मुहूर्त्तस्य यावत् वृद्धिमुपगच्छति इति वाक्यशेषः । यानि यथोक्तसंख्यानि मुहूर्त्तशतानि यावच्चन्द्रः तैर्विरज्यते राहुविमानेनानावृतो भवतीति । विरागप्रकारमेवाह-" तं जहे " इत्यादि । तद्यथेत्यादि । विरागप्रकारः प्रदर्श्यते-प्रथमायां प्रतिपल्लक्षणायां तिथौ-प्रथमं पञ्चदशभागं यावच्चन्द्रो विरज्यते । द्वितीयायां द्वितीयं पञ्चदशभागं यावत् । एवं यावत् पञ्चदश्यां पञ्चदशभागम् । तस्यां च पञ्चदश्यां तिथौ पौर्णमासीरूपायां चरमसमये चन्द्रो विरक्तो भवति; सर्वात्मना राहुविमानेनानावृतो भवतीति भावः । तं पञ्चदश्याश्चरमसमयं मुक्त्वा शुक्लपक्षप्रथमसमयादारभ्य शेषेषु समयेषु चन्द्रो रक्तश्च भवति विरक्तश्च भवति देशतो रक्तो भवति देशतो विरक्तश्चेति भावः । मुहूर्त्तसंख्या भावना च प्राग्वत् कर्तव्या । शुक्लपक्षवक्तव्यतोपसंहारमाह-"इयं णं" इत्यादि । इयमनन्तरोदिता पञ्चदशीतिथिः पौर्णमासीनाम्नी अत्र च "जुगे णं" पूर्ववत् । द्वितीयं पर्व पूर्णमासी अथैवंरूपा युगे कियन्तोऽमावास्याः कियन्त्यश्च पौर्णमास्य इति । युगे तद्गतसर्वसंख्यामाह-"तत्थ खलु" इत्यादि । तत्र युगे खल्विमा एवं स्वरूपा द्वाषष्टिः पौर्णिमास्यो द्वाषष्टिश्चामावास्याः प्रज्ञप्ताः । तथा युगे चन्द्रमस एते अनन्तरोदितस्वरूपाः कृत्स्नाः परिपूर्णा रागा द्वाषष्टिरमावास्यानां युगे द्वाषष्टिसंख्याप्रमाणत्वात् तास्वेव चन्द्रमसः परिपूर्णरागसंभवात् एते अनन्तरोदितस्वरूपा युगे चन्द्रमसः कृत्स्ना विरागाः सर्वात्मना रागाभावाद् द्वाषष्टिः युगे पौर्णमासीनां द्वाषष्टिसंख्यात्मकत्वात् तास्वेव चन्द्रमसः परिपूर्णविरागसंभवात् । तथा युगे सर्वसंख्यया एकं चतुर्विंशत्यधिकं पर्वशतम् । अमावास्यापौर्णमासीनामेव पर्वशब्दस्य वाच्यत्वात् तासां च पृथक् पृथक् द्वाषष्टिसंख्यानामेकत्र मीलने चतुर्विंशत्यधिकशतत्वात् एवमेव युगमध्ये सर्वसंकलनया चतुर्विंशत्यधिकं कृत्स्नरागविरागशतम् " ता आवइयाणं " इत्यादि । यावन्तं पञ्चानां चन्द्रचन्द्राभिवर्द्धितरूपाणां समयाः एकेन चतुर्विंशत्यधिकेन समयशतेन एतावन्तः परिमिताः असंख्याता देशरागविरागसमयाः एतेषु सर्वेष्वपि चन्द्रमसो देशतो रागविरागभावात् यत्तु चतुर्विंशत्यधिकं समयः शतं तत्र द्वाषष्टिसमयेषु, कृत्स्नो रागो द्वाषष्टिसमयेषु कृत्स्नो विरागस्तेन तद्वर्जनमित्याख्यातं मया इति गम्यते । भगवद्वचनमेतत् सम्यक् श्रद्धेयम् । संप्रति कियत्सु मुहूर्तेषु गतेषु अमावास्यातोऽनन्तरा पौर्णमासी ?। कियत्सु वा मुहूर्तेषु गतेषु पौर्णमास्या अनन्तरममावास्या इत्यादि निरूपयति-" ता अमावासातो णं " इत्यादि सुगमम् । नवरम् अमावास्याया अनन्तरं चन्द्रमासस्यार्द्धेन पौर्णमासी, पौर्णमास्या अनन्तरमर्द्धमासेन चन्द्रमासस्यामावास्या, अमावास्यायाश्च अमावास्या— परिपूर्णेन चन्द्रमासेन, पौर्णमास्या अपि पौर्णमासी परिपूर्णेन चन्द्रमासेन भवति । यथोक्ता मुहूर्त्तसंख्या । उपसंहारमाह- "एस णं" इत्यादि । एष अष्टौ मुहूर्त्तशतानि पञ्चाशीत्यधिकानि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा मुहूर्तस्येति एतावान् एतावत्प्रमाणश्चन्द्रमासः । तत एतावत्प्रमाणं शकलं खण्डरूपं युगं चन्द्रमासप्रमितं युगं सकलमेतदित्यर्थः । चं० प्र० १३ पाहु० । स०, (राहुभेदाः 'राहु' शब्दे) (राहु सकाशात्चन्द्रसूर्यग्रहणवक्तव्यता 'गहण' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ८६१ पृष्ठे गता) ।

चन्द्रवृद्ध्या जीवानां वृद्धिहान्यौ-

जति णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव-संपत्तेणं नवमस्स नायज्झयस्स अयमट्ठे पण्णत्ते दसमस्स णं भंते ! णायज्झयणस्स समणे णं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णामं णगरे होत्था तत्थ णं रायगिहे णयरे सेणिए णामं राया होत्था । तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए एत्थ णं गुणसेलए णामं चेइए होत्था तेणं कालेणं तेणं समएण समणे भगवं महावीरे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विहरमाणे जेणेव गुणसेलए चेइए तेणेव समोसढे परिसा णिग्गया सेणियो वि राया णिग्गओ धम्मं सोच्चा परिसा पडिगया तए णं गोयमे समणं भगवं महावीरं एवं वयासी-कह णं भंते ! जीवा वड्ढंति वा हायंति वा गोयमा ! से जहानामए बहुलपक्खस्स पाडिवयाचंदे पुण्णिमाचंदं पणिहाय हीणे वण्णेणं हीणे सोमयाए हीणे णिद्धयाए हीणे कंतीए हीणे एवं दित्तीए जुत्तीए छायाए पभाए ओयाए लेस्साए मंडलेणं तयाणंतरं च णं बीयाचंदो पाडिवयं चंदं पणिहाय हीणतराए वण्णेणं जाव मंडलेणं तयाणंतरं च णं तइयाचंदे बीइयाचंदं पणिहाय हीणतराए वण्णेणं० जाव मंडलेणं एवं खलु एएणं कमेणं परिहायमाणे परिहायमाणे० जाव अमावसाचं-

दे चाउद्दसिचंदं पणिहाय एहो वएणेणं० जाव णट्ठे मंमलेणं एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा० जाव पव्वतिए समाणे हीणे खंतीए एवं मुत्तीए गुत्तीए अज्जवेणं मद्दवेणं लाघवेणं सच्चेणं तवेणं चियाए अकिंचणयाए बंभचेरवासे णं तयाणंतरं च णं हीणतराए खंतीए जाव हीणतरा बंभचेरवासेणं एवं खलु एएणं कमेणं परिहीयमाणे परिहीयमाणे णट्ठे खंतीए० जाव नट्ठे बंभचेरवासे णं से जहा वा सुक्कपक्खस्स पाडिवयाचंदे अमावासाचंदं पणिहाय अहिए वएणेणं० जाव अहिए मंमलेणं तयाणंतरं च णं बीयाए चंदे पाडिवयाचंदं पणिहाय अहियतराए वएणेणं० जाव अहियतराए मंमलेणं एवं खलु एएणं कमेणं परिवड्ढेमाणे०२ जाव पुण्णिमाचंदे चाउद्दसिचंदं पणिहाय पडिपुण्णे वएणेणं० जाव पडिपुण्णे मंडलेणं एवामेव समणाउसो० ! जाव पव्वतिए समाणे अहिए खंतीए० जाव बंभचेरवासेणं तयाणंतरं च णं अहिययराए खंतीए० जाव बंभचेरवासे णं एवं खलु एएणं कमेणं परिवड्ढेमाणे० २ जाव पडिपुण्णे बंभचेरवासे णं एवं खलु जीवा वड्ढइ वा हायंति वा एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं दसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्तिबेमि ॥

अथ दशमं विव्रियते-अस्य चायं पूर्वेण सह संबन्धः । अनन्तराध्ययने विरतिवशवर्त्यवशवर्त्तिनोरनर्थेतराबुक्ताविह तु गुणहानिवृद्धिलक्षणावनर्थौ प्रमाद्यप्रमादिनोरभिधीयेते । इत्येवंसंबन्धमिदं सर्वं सुगमं नवरं जीवानां द्रव्यतोऽनन्तत्वेन प्रदेशतश्च प्रत्येकमसंख्यातप्रदेशत्वेनावस्थितपरिमाणत्वात् वर्द्धन्ते गुणैर्हीयन्ते च, तैरेव अनन्तरनिर्देशत्वेन हानिमेव तावदाह-"से अहेत्यादि" [पणिहाए त्ति] प्रणिधायाप्रेक्ष्य वर्णेन शुक्लतालक्षणेन सौम्यतया सुखदर्शनीयतया स्निग्धतया रूक्षतया कान्त्या कमनीयतया दीप्त्या दीपनेन वस्तुप्रकाशनेनेत्यर्थः [जुत्ती पत्ति) युक्त्या आकाशसंयोगेन खण्डेन हि मण्डलेनाल्पतराकारसंयुतेन पुनर्यावत्संपूर्णेनेति छायया जलादौ प्रतिबिम्बलक्षणया शोभया वा प्रभया वा उद्गमनसमये द्युतिस्फुरणतया [ओयाए त्ति]ओजसा दाहापनयनादिस्वकार्यकरणशक्त्या लेश्यया किरणरूपया मण्डलेन वृत्ततया कान्त्यादिगुणहानिश्च कुशीलसंसर्गात् गुरूणामपर्युपासनात्प्रतिदिनं प्रमादपदसेवनात्तथाविधचारित्रावरणकर्मोदयाच्च भवतीति । गुणवृद्धिस्त्वेतद्विपर्ययादिति । एवं च हीयमानानां जीवानां न वाञ्छितस्य निर्वाणसुखस्यावाप्तिरित्यनर्थः। आह च-"चंदो व्व कालपक्खे, परिहाए पए पए पमायपरो। तत्तो घरघरविग्घर निरंगणो वि न इच्छियं लहइ " त्ति । गुणैर्वर्द्धमानानां तु वाञ्छितार्थावाप्तेरर्थ इति । विशेषयोजना पुनरेवम्-

" जह चंदो तह साहू , राहुवरोहो जहा तह पमाओ ॥
वएणाइगुणगणो जह, तहा खमाईसमणधम्मो ॥ १ ॥
पुणो वि पइदिणं जह, हायंतो सव्वहा ससीनस्स ।
तह पुण चरित्तो विहु, कुसीलसंसग्गिमाईहिं ॥ २ ॥
जणियपमाओ साहू, हायंतो पइदिणं खमाईहिं ।
जायइ नट्ठचरित्तो, तत्तो दुक्खाइं पावाइ " ॥ ३ ॥
तथा-"हीणगुणो वि हु होउं, सुह गुरुजोगाइ जणियसंवेगो ।
पुष्पसुरूवो जायइ, विवड्ढमाणो ससहरो व्व ॥ ४ ॥ इति"

ज्ञा० १ श्रु० १० अ० । [संस्थाने 'जोइसिय' शब्दे] जिनदत्तस्य श्रावकस्य स्वनामख्याते पुत्रे, कल्प० १ क्षण । रुचकस्य पर्वतस्य दक्षिणतः सप्तमे कूटे, द्वी० । आल्हादजनकद्रव्यमात्रे, कर्पूरे, स्वर्णे, जले, काम्पिल्ये, पुं० । विसर्गवर्णे, 'चदि' दीप्तौ रक् कमनीये, त्रि० । मयूरपिच्छे, मेचके, हे० । शोणमुक्ताफले, मृगशिरोनक्षत्रे, एकाङ्के च । वाच० । दाक्षिणात्यानां ज्योतिष्काणामिन्द्रे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

चंदअ-चन्द्र-पुं० । " स्वार्थे कश्च वा " ॥ ८ । २ । १६४ ॥ इति स्वार्थे कः । शशिनि, प्रा० २ पाद ।

चंदइल्लो-देशी-मयूरे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंदउउ-चन्द्रर्तु-पुं०। चन्द्रसम्बन्धिनि ऋतौ,ज्यो० १४ पाहु० । ('उउ' शब्दे द्वितीयभागे ६८२ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

चंदकंत-चन्द्रकान्त-त्रि० । चन्द्रप्रभे, आ० म० प्र० । चतुर्थे, देवलोकस्थे, स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम० । वाच० ।

चंदकंता-चन्द्रकान्ता-स्त्री० । गान्धाराधिपतेः शतबलनामराजस्य कान्तायाम्, महाबलस्य मातरि, आ० क० । चक्षुष्मतो द्वितीयकुलकरस्य पत्न्याम्, आ० क० । आ० म० । स० । आ० चू० । ति० । स्वनामख्यातायां नगर्यां च । यत्र विजयसेनो नामराजा आसीत् । कल्प० १ क्षण ।

चंदकित्ति-चन्द्रकीर्ति-पुं० । सारस्वतटीकाकारके नागपुरीयतपागच्छाचार्ये राजरत्नसूरिशिष्ये, जै० इ० । विमलसूरिशिष्ये, धर्मघोषाचार्यस्योपशिष्ये , जै० इ० ।

चंदकुमार-चन्द्रकुमार-पुं० । अयोध्यापतेर्हरिसिंहस्य पृथ्वीचन्द्रनामके कुमारे, ध० र० ।

चंदकुल-चान्द्रकुल-न० । श्रीवज्रार्यशिष्यवज्रसेनसूरिशिष्यचन्द्रसूरिनिर्गतकुले, मूलचान्द्रकुलस्याजनि च ततश्चन्द्रसूरिः । ग० ४ अधि० । हा० । ती० ।

चंदकूम-चन्द्रकूट-न० । चतुर्थदेवलोकस्थे विमाने, स० ३ सम० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य पश्चिमेन रुचकवरे सप्तमे स्वनामख्याते कूटे , स्था० 0६ ठा० ।

चंदकेउ-चन्द्रकेतु-पुं० । अयोध्याधिपतौ स्वनामख्याते राज्ञि, दर्श० ।

चंदग-चन्द्रक-पुं० । चन्द्र इव कायति कै-क । मयूरपुच्छस्थे चन्द्राकारे पदार्थे, अमरः । नखे, मत्स्यभेदे, सितमरिचे, न० । शिग्रुबीजे, न० । वामदक्षिणावर्तभ्रमदष्टचक्रः समध्यनिर्गच्छदूर्ध्वमुखशरप्रायः। ततो भूस्थकुण्डिकागततैलान्तःप्रतिबिम्बितगगनस्थाधोमुखपुत्तलिकावामलोचने , तं० । सू० ।

चंदगणि-चन्द्रगणिन्-पुं० । स्वनामके सुमतिवाचकशिष्ये, येन विक्रमसम्वत् ११३६ श्रीवीरचरित्रनामा ग्रन्थः अभयदेवसूरिशिष्यैः प्रश्नचन्द्राचार्यैः विरचितः । जै० इ० ।

चंदगवेज्झ-चन्द्रकवेध्य-न० । चन्द्रकरूपं वेध्यं चन्द्रकवेध्यम् । आतु० । व्य० । राधावेधे, तद्वद् दुराराध्ये अनशने, च । नि० चू० ११ उ० । वृ० । स० । द० प० ।

चंदगुत्त-चन्द्रगुप्त-पुं० । मौर्यग्रामसंजाते चाणक्येन नन्दराज-

सिंहासनमारोहिते स्वनामख्याते पाटलिपुत्रराजनि, आ० चू० । तत्कथा चैवम्-नन्दराजकदर्थितश्चाणिक्यो नन्दावधं प्रत्यभिज्ञाय -

" मौर्यग्रामे स नान्दोगा-त्परिव्राजकवेषभाक् ।
तत्र ग्रामपतेः पुत्र्या-श्चन्द्रपानेऽस्ति दोहदः ॥ १३ ॥
पृष्टः परिव्राड् तत्पूर्त्यै, सोऽवक् चेद्दत्तमेऽर्भकम् ।
दोहदं पूरयाम्यस्या, स्तद्भ्यात्तैरमन्यत ॥ १४ ॥
तत्र राकादिने जाते, कारितः पटमण्डपः ।
भृत्वा स्थालं च दुग्धेन, रसवद् द्रव्ययोगिना ॥ १५ ॥
नभोमध्यगते चन्द्रे, तत्रानाय्यत सा सुता ।
छिद्रेण बिम्बितं चन्द्रं, क्षीरान्तर्वीक्ष्य सा पपौ ॥ १६ ॥
उपर्यारोपितश्च प्राक्, छिद्रमाच्छादयत्पुमान् ।
पूर्णेऽस्या दोहदे पुत्र-श्चन्द्रगुप्ताभिधोऽभवत् ॥ १७ ॥
ववृधे स क्रमात्स्वर्ण-सिद्धिं चाप चणिप्रसूः ।
चन्द्रगुप्तोऽन्यदा रेमे, राजनीत्याऽर्भकैः समम् ॥ १८ ॥
चाणिक्योऽप्यागतः प्रेक्ष्या-याचन् मे देहि किंचन ।
ऊचे गृहाण गा पता, हंता कोऽपि न-गृह्णतः ॥ १९ ॥
ऊचे किं तं न जानासि, वीरभोज्या वसुंधरा ।
तच्छ्रुत्वा चणिसूर्जज्ञौ, तेजोस्त्यस्य नृपोचितम् ॥ २० ॥
पृष्टं कस्यायमूचेऽर्भः, परिव्राट्सुनुरेषकः ।
यदि सोऽहं परिव्राड् भोः, कुर्वे त्वां सत्यभूभुजम् ॥ २१ ॥
चाणिक्यस्तं गृहीत्वाऽसौ, सैन्यं स्वर्णैरमेलयत् ।
करोध पाटलीपुत्रं, भग्नो नन्देन सोऽनशत् ॥ २२ ॥
दृष्ट्वाश्ववारमायान्तं, मौर्यं पद्मवनेऽक्षिपत् ।
स्वयं च रजको जातः, पृष्टस्तेनेदमूचिवान् ॥ २३ ॥
मौर्यः पद्मसरस्येष, तं दृष्ट्वोत्तीर्णवान् हयात् ।
चाणिक्यस्य समर्प्याश्वं, मुक्ताऽसिं मोचकेऽमुचत् ॥ २४ ॥
यावत् यावज्जले तावत्-चाणिक्येन हतोऽसिना ।
चन्द्रगुप्तमथाकार्या-धिरोप्याश्वं पलायितौ ॥ २५ ॥
पृष्टोऽसित्वं यदानेन, मयाशिष्टं तदा त्वया ।
किं दध्ये सोऽवदन्नून-मेवमार्यस्य शोभनम् ॥ २६ ॥
ज्ञातं तेनाथ योग्योऽयं, न मे व्यभिचरत्यसौ ।
मौर्ये क्षुधार्ते मुक्त्वाऽथ, चाणिक्योऽभ्याययौ ततः ॥ २७ ॥
मा ज्ञासीत्कोऽपि नो भुक्तं, विप्रस्य बहिरीयुषः ।
विपाट्योदरमादाय, दध्योदनमुपागतः ॥ २८ ॥
भोजयित्वा चन्द्रगुप्तं, ग्रामेऽन्यत्र गतो निशि ।
चाणिक्यो भिक्षितुमगाद्, वृद्धयाऽर्भे भोजने ॥ २९ ॥
विक्षेप्य क्षेप्यथैकेन, दग्धः क्षिप्तोऽन्तरे करः
अमूचे स्थविरा वत्स !, चाणिक्यशस्त्रोऽस्ति किम् ॥ ३० ॥
पृष्टाऽनेनावदत्पूर्वं, गृह्यते पार्श्वतस्ततः ।
कटे हिमवतः सोऽगात्, कृतश्च पर्वतः सुहृत् ॥ ३१ ॥
प्राप्नुमाताऽर्द्धमित्युक्त्वा, द्वौ नन्दौ क्ष्मां वजञ्जतुः ।
पपातिकं न दुर्गं तत्, प्रविष्टोऽन्तस्त्रिदण्डिकः ॥ ३२ ॥
विज्ञायेन्द्रकुमारीणां, प्रभावाश्च पतत्यदः ।
माययोत्थापितस्तेन, जगृहे तत्पुरं द्रुतम् ॥ ३३ ॥
रुद्धं द्वाभ्यां ततो विष्वक्, पाटलीपुत्रपत्तनम् ।
नन्दो यावद्धर्मद्वारं, चाणिक्योऽद्राजगाद च ॥ ३४ ॥
यन्मात्येकरथे तत्र त्वं, सर्वमादाय निःसर ।
नन्दः प्रियां सुतां स्वेकां, द्रव्यं चादाय निर्ययौ ॥ ३५ ॥
चन्द्रगुप्तं प्रविशन्तं, कन्याऽपश्यद्रुपा सताम् ।
ऊचे याहीति सोत्तीर्णः, चन्द्रगुप्तरथं ययौ ॥ ३६ ॥
भग्ना नव वारकास्तस्या-मारोहन्त्यां त्रिदण्डिवाक् ।
शकुनाःमौर्यवंशेऽमुष्मा-द्भावि राज्यं नवान्वयान् ॥ ३७ ॥
गत्वाऽन्तः सौधमीक्षित्वा, तं च मुक्त्वा चणिप्रसूः ।
कन्यकां विषकन्येति, ज्ञात्वाऽदात्पर्वतस्य ताम् ॥ ३८ ॥
स तस्यां करलग्नाया-मप्यभून्मरणातुरः ।
ऊचे वयस्य ! म्रियते, मौर्योऽवादीन्माणिमेलिः ॥ ३९ ॥
चाणिक्यो भ्रुकुटीं चक्रे, निवृत्तः सोऽथ तन्मृतौ ।
अभूद्राज्यद्वयस्वामी, चाणिक्यो राजवाहकः ॥ ४० ॥
कुर्वन्ति चौरिकां नान्दा-स्तदा रक्षन् विमार्गयन् ।
घ्नन्तं मत्कोटकान्पुष्प-जलक्षेपेण तद्बिले ॥ ४१ ॥
प्रेक्ष्याप्राक्षीत्कुविन्दं स, नलदानं करोषि किम् ।
स ऊचे मेऽदशन्सूनु-मेको घ्नन्नस्म्यमूंस्ततः ॥ ४२ ॥
रौद्रं ज्ञात्वाथ तं प्रात, राकार्याऽऽरक्षकं व्यधात् ।
विश्वास्याभन्त्र्य चौरान्, स सर्वानज्वालयद् गृहे ॥ ४३ ॥
भिक्षा नैकत्र लब्धाऽन्य-ग्रामे तं प्रत्यथाऽऽदिशत् ।
कार्यावंशावृत्तिशूले, स्तम्भमाज्ञी कृतेऽन्यथा ॥ ४४ ॥
विमृश्य पारिणामिक्या, धिया कोशविवृद्धये ।
दीनारैर्भाजनं भृत्वा, द्यूतं रेमे चणिप्रसूः ॥ ४५ ॥
कूटैः पाशैः समं पौरैः, स्थालं गृह्णात्वमुं जयी ।
दीनारं मे जयेदन्या-देवं कोशश्चिराद्भवेत् ॥ ४६ ॥
ध्यात्वोपायमथान्यं स, पौरान् व्योकस्यभोजयत् ।
मद्यं चापाययत्तेषु, मत्तेष्वथ ननर्त सः ॥ ४७ ॥
ऊचे द्वेधाऽनुरक्ते मे, वाससी स्वर्णकुण्डिकाम् ।
त्रिदण्डं च वशो राजा, होलां वादयतात्र भोः ॥ ४८ ॥
ऊचेऽन्यो मजतो मत्त-हस्तिनो लक्षयोजनम् ।
पदे पदे स्वर्णवृद्धिः, होलां वादयतात्र भोः ॥ ४९ ॥
ऊचे परास्तिका उक्ता, यावन्तः स्युस्तिलाढके ।
तावन्तः सन्ति मक्ता मे, होलां वादयताऽत्र भोः ॥ ५० ॥
ऊचेऽन्यो दीर्घवेगायाः, पूरं नद्यास्तपास्यथे ।
एकाहजातगौर्दुग्धे, होलां वादयताऽत्र भोः ॥ ५१ ॥
तद्दहर्जातजात्याश्व, किशोराणां परोऽवदत् ।
ज्ञादयाम्यंशकेशोथां, होलां वादयतात्र भोः ॥ ५२ ॥
ऊचेऽन्यः शालिरत्ने द्वे, छिन्ने छिन्ने प्ररोहितः ।
शालिप्रसूतिगर्दभ्यो, होलां वादयताऽत्र भोः ॥ ५३ ॥
शुक्लवासाः सुगन्धाङ्गो, निरुणोऽनुचयः प्रियः ।
अप्रवासी सहस्रेशो, होलां वादताऽत्र भोः ॥ ५४ ॥
एकयोजनमत्तेभ-गतिमित्यर्थलक्षकाः ।
तथैकतिलजातिल-मितान् शतसहस्रकान् ॥ ५५ ॥
एकाहमक्षणाज्यं वै-काहाश्वान्मासि मासि च ।
कोष्ठागारभृतः शाली-श्चाणिक्याय ददुश्च ते ॥ ५६ ॥

आ० क० । तं० । नं० । आ० चू० । आव० । आ० म० । कथा० । आव० । आ० म० । चन्द्रगुप्तस्य बिन्दुसारस्तस्याशोकश्रीस्तस्य सम्प्रतिराज इत्येवमुत्तरोत्तरं समृद्धिमन्त आसन् ततो ह्रासश्च । वृ० । विशे० । कल्प० । सिंहलद्वीपे रत्नज्योतिश्रीपुरनगरस्याधिपतौ राजनि, ती० १० कल्प ।

चंदचरिय-चन्द्रचरित-न० । चन्द्रस्य ग्रहपतेश्चरितं चन्द्रचरितम् । चन्द्रस्य वर्णसंस्थानप्रमाणगतिप्रयोगराहुग्रहादिके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

चंदचार-चन्द्रचार-पुं०। चन्द्रस्य मण्डलोपसंक्रमणे,(चं० प्र०) तत्र प्रथमचन्द्रचारपरिज्ञानार्थं तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कहं ते चंदचारा आहिया ति वएज्जा ?। ता पंचसंवच्छरिए णं जुगे अभिइणक्खत्ते सत्तसट्ठिचारे चंदेणं सद्धिं जोयं जोएइ, सवणे णक्खत्ते सत्तट्ठिचारे चंदेण सद्धिं जोगं जोएति,एवं० जाव च उत्तरासाढाणक्खत्ते सत्तट्ठिचारे चंदेण सद्धिं जोएइ ॥

"ता कहं ते"इत्यादि।'ता'इति प्राग्वत्। कथं केन प्रकारेण,कया संख्यया इत्यर्थः। ते त्वया भगवन्! चारा आख्याता इति वदेत्। भगवानाह-"ता पंच" इत्यादि। 'ता' इति पूर्ववत् पञ्चसांवत्सरिके चन्द्रादिपञ्चसंवत्सरप्रमाणे युगे युगमध्ये अभिजिन्नक्षत्रं सप्तषष्टिचारान् यावत् चन्द्रेण सार्द्धं योगं युनक्ति। किमुक्तं भवति?-चन्द्रोऽभिजिन्नक्षत्रेण सह संयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसंख्यान् चारान् चरतीति। कथमेतत्प्रत्येयमिति चेत् ?। उच्यते-इह योगमधिकृत्य सकलनक्षत्रमण्डलीपरिसमाप्तिरेकेन नक्षत्रेण मासेन भवति। नक्षत्रमासाश्च युगमध्ये सप्तषष्टिः,एतच्चाग्रे भावयिष्यते। ततः प्रतिनक्षत्रपर्यायमेकैकं चारमभिजिता नक्षत्रेण सह चन्द्रस्य योगसंभवादुपपद्यते चन्द्रोऽभिजिता नक्षत्रेण सह संयुक्तो युगमध्ये सप्तषष्टिसंख्यातं चरतीति। एवं च प्रति नक्षत्रं भावनीयम् । चं० प्र० १० पाहु० ।

चंदचूल-चन्द्रचूड-पुं०। खेचराधिपती, दर्श०। हरिश्चन्द्रमहीपतिसमये वनवराहरूपं विकृत्यायोध्यापरिसरस्थितशक्रावतारचैत्याश्रमभङ्कारि स्वनामख्याते राजनि, ती० ३८ कल्प।

चंदच्छाय-चन्द्रच्छाय-पुं०। मल्लिनाथेन सह प्रव्रजितेऽङ्गराजे, "चंदच्छाए अंगराया," ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। स्था०। चम्पायां चन्द्रच्छायराजः कदाचिदर्हन्नकाभिधानेन श्रावकेण पोतवणिजा चम्पावास्तव्येन यात्राप्रतिनिवृत्तेन दिव्ये कुण्डलयुग्मे कौशलिकतयोपनीते सति पप्रच्छ, यदुत-यूयं बहुशः समुद्रं लङ्घयथ, तत्र च किञ्चिदाश्चर्यमपश्यत ?। असावचोचत्-स्वामिन्! अस्यां यात्रायां समुद्रमध्येऽस्माकं धर्मचालनार्थं देवः कश्चिदुपसर्गं चकार, अविचलने चास्माकं तुष्टेन तेन कुण्डलयुगलद्वितयमदायि, तदेकं कुम्भकस्यास्माभिरुपनिन्ये, तेनाऽपि मल्लिकन्यायाः कर्णयोः स्वकरेण विन्यासि, सा च कन्या त्रिभुवनाश्चर्यभूता दृष्टेति। स्था० ७ ठा०। तं०।

चंदजसा-चन्द्रयशस्-स्त्री०। मित्रप्रभोः राज्ञो राजगृहस्थायां भार्यायाम्, आ० क०। पद्मिनीखण्डनगरराजस्य भार्यायाम्, आव० ४ अ०। आ० चू०। संथा०। प्रथमकुलकरस्य विमलवाहनस्य स्वनामख्यातायां चतुर्दशपत्न्याम्, ति०। स्था०। स०। आ० म०।

चंदज्झय-चन्द्रध्वज-पुं०। चतुर्थदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम०। 'अरुक्खुरीति' प्रस्थन्तनगरस्य माण्डलिके राज्ञि, आ० चू० ४ अ०।

चंदण-चन्दन-न०। स्वनामख्याते गन्धप्रधाने वृक्षविशेषे, आ० म० प्र०। प्रज्ञा०। आचा०। औ०। रा०। सूत्र०। ज्ञा०। रुचकपर्वतस्य पूर्वस्यां दिशि स्वनामख्याते कूटे, द्वी०१द्वा०। जं०।

चंदणकयचच्चाग-चन्दनकृतचर्चाक-त्रि०। चन्दनकृतोपरागे, ज० १ वक्ष०। रा०।

चंदणकलस-चन्दनकलश-पुं०। माङ्गल्यघटे, कल्प० ५ क्षण। जी०। औ०।

चंदणक्खत्तजोग-चन्द्रनक्षत्रयोग-पुं०। चन्द्रेण सह नक्षत्रस्य योगे, (ज्यो०)

पर्वसु चन्द्रनक्षत्रयोगः, तत्परिज्ञानार्थं करणमाह-

चउवीससयं काऊ-ण य पमाणं सत्तट्ठिमेव फलं ।
इच्छापव्वेहिं गुणं, काऊणं पज्जया लद्धा ॥ १ ॥
अट्ठारसहिँ सएहिं, तीसेहिं सेसगम्मि गुणियम्मि ।
तेरस छुउत्तरेहिं, सएहिँ अभिजिम्मि सुद्धम्मि ॥२॥
सत्तट्ठिछुसट्ठीणं, सव्वग्गेणं ततो उ जं सेसं ।
तं रिक्खं नायव्वं, जत्थ समत्तं हवइ पव्वं ॥३॥

त्रैराशिकविधौ चतुर्विंशत्यधिकं प्रमाणं प्रमाणराशिं कृत्वा सप्तषष्टिरूपं फलं फलराशिं कुर्यात्, कृत्वा च ईप्सितैः पर्वभिर्गुणं गुणकारं विदध्यात्, अनुविधाय चाऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागे हृते यल्लब्धं ते पर्याया ज्ञातव्याः। १। यत्पुनः शेषमवतिष्ठते तत् अष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः संगुण्यते, संगुणिते च तस्मिन् ततस्त्रयोदशभिः शतैः षडुत्तरैरभिजित् शोधनीयः।२। ततः तस्मिन् शोधिते सप्तषष्टिसंख्यायाः द्वाषष्ट्यः,तासां सर्वाग्रेण यच्छवति। किमुक्तं भवति-सप्तषष्ट्या द्वाषष्टौ गुणितायां यद्भवति,तेन भागे हृते लब्धं तावन्ति नक्षत्राणि शुद्धानि द्रष्टव्यानि,यत्पुनस्ततोऽपि भागहरणादपि शेषमवतिष्ठते तत् अशुद्धं नक्षत्रं ज्ञातव्यम्, यत्र विवक्षितं पर्व समाप्तमिति। एष करणगाथात्रयाक्षरार्थः।३। भावना त्वियम्-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तषष्टिपर्याया लभ्यन्ते,तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना।१२४।६७।१। अत्र चतुर्विंशत्यधिकपर्वशतरूपो राशिः प्रमाणभूतः सप्तषष्टिरूपः फलम्, तत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, जातस्तावानेव। तस्याऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन भागहरणम्, स च स्तोकत्वात् भागं न प्रयच्छति। ततो नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति गुणकारच्छेदराशिः, परार्द्धेनापवर्तना जातो गुणकारराशिः नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि ९१५, छेदराशिर्द्वाषष्टिः, तत्र सप्तषष्टिर्नवभिः त्रिःपञ्चदशोत्तरैर्गुण्यते, जातानि एकषष्टिसहस्राणि त्रीणि शतानि पञ्चोत्तराणि ६१३०५,एतस्मादभिजित् त्रयोदशशतानि षडुत्तराणि शुद्धानि स्थितानि। शेषाणि षष्टिसहस्राणि त्र्युत्तराणि ६०००३। तत्र छेदराशिर्द्वाषष्टिरूपः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातानि एकचत्वारिंशत्शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४। तैर्भागो ह्रियते, लब्धाश्चतुर्दश। तेन श्रवणादीनि पुष्यपर्यन्तानि चतुर्दश नक्षत्राणि तिष्ठन्ति अष्टादशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि १८४७, एतानि मुहूर्त्तानयनार्थं त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि पञ्चपञ्चाशत्सहस्राणि चत्वारि शतानि दशोत्तराणि ५५४१०,तेषां भागे हृते लब्धास्त्रयोदश मुहूर्त्ताः। शेषाणि तिष्ठन्ति चतुर्दशशतानि अष्टोत्तराणि १४०८। एतानि द्वाषष्टिभागानयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानीति। गुणकारच्छेदराश्योः द्वाषष्ट्याऽपवर्तना क्रियते, तत्र गुणकारराशिर्जात एककच्छेदराशिः सप्तषष्टिः, एकेन च गुणित उपरितनो राशिर्जातस्तावानेव, ततस्सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धा एकविंशतिः, पश्चादवतिष्ठते एकः सप्तषष्टिभागः, एकस्य च सप्तषष्टि-

भागस्य भागतं प्रथमं पर्व अश्लेषायास्त्रयोदश मुहूर्त्तान्, एकस्य च मुहूर्त्तस्य एकविंशतिद्वाषष्टिभागानेकस्य च द्वाषष्टिभागस्यैकं सप्तषष्टिभागं भुक्त्वा समाप्तमिति । तथा यदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तषष्टिपर्याया लभ्यन्ते, ततो द्वाभ्यां पर्वाभ्यां किं लभ्यते ?; राशित्रयस्थापना-१२४-६७-२। अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते, जातं चतुस्त्रिंशदधिकं शतम् १३४, तस्याऽऽद्येन राशिना चतुर्विंशत्यधिकशतरूपेण भागो ह्रियते,लब्ध एको नक्षत्रपर्यायः। स्थिताः शेषा दश । तत एतान् नक्षत्रानयनार्थमष्टादशभिः शतैस्त्रिंशदधिकैः सप्तषष्टिभागैर्गुणयिष्याम इति गुणकारच्छेदराश्योरर्द्धेनाऽपवर्तना,अपवर्तनाज्जातानि गुणकारराशिर्नवशतानि पञ्चदशोत्तराणि गुण्यन्ते, जातानि एकनवतिशतानि पञ्चाशदधिकानि ९१५०, तेभ्यस्त्रयोदशशतानि द्व्युत्तराणि अभिजितः शुद्धानि, स्थितानि पश्चादष्टसप्ततिशतानि अष्टचत्वारिंशदधिकानि ७८४८, तत्र द्वाषष्टिरूपच्छेदराशिः सप्तषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकचत्वारिंशच्छतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ४१५४, तैर्भागो ह्रियते, लब्धमेकं श्रवणरूपं नक्षत्रं, शेषाणि षट्त्रिंशच्छतानि चतुर्नवत्यधिकानि ३६९४, एतानि मुहूर्त्तानि यदर्थं त्रिंशता गुण्यन्ते जातमेकं लक्षं दश सहस्राणि अष्टौ शतानि विंशत्युत्तराणि ११०८२०, तेषां छेदराशिना भागे हृते लब्धाः षड्विंशतिर्मुहूर्ताः २६, शेषाणि तिष्ठन्ति अष्टाविंशशतानि षोडशोत्तराणि २०१६, एतानि द्वाषष्टिभागानयनार्थं द्वाषष्ट्या गुणयितव्यानि, तत्र गुणकारच्छेदराश्योर्द्वाषष्ट्याऽपवर्तना। तत्र गुणकारराशिरेककरूपो जातश्छेदराशिः सप्तषष्टिः, तत्र एकेन उपरितनो राशिर्गुणितो जातस्तावानेव । तस्य सप्तषष्ट्या भागे हृते लब्धाः द्वाचत्वारिंशत् द्वाषष्टिभागस्य द्वौ सप्तषष्टिभागौ, तत आगतं द्वितीयं पर्व धनिष्ठानक्षत्रस्य षड्विंशतिर्मुहूर्तान्, एकस्य च मुहूर्तस्य द्वाचत्वारिंशद्द्वाषष्टिभागाः, एकस्य च द्वाषष्टिभागा भुक्ताः समाप्तिं गच्छन्तीति । एवं शेषेष्वपि पर्वसु समाप्तिनक्षत्राणि भावनीयानि ।

संप्रति युगपूर्वार्द्धे तत्संग्रहिकाः पञ्च गाथाः पठति-

सप्प धणिट्ठा अज्जम, अभिवुड्डि चित्त आस तहिंदग्गी ।
रोहिणि जेट्ठा मगसिर, वीस अदिइ सवण पिउदेवा ॥
अज अज्जम अभिवुड्डी, चित्ता आसो तह विसाहा उ ।
रोहिणि मूलो अद्दा, वीसग पुस्सो तह धणिट्ठा य ॥
जग अज अज्जम पूसा, साई अग्गी य मित्तदेवा य ।
रोहिणि पुव्वासाढा, पुणव्वसू वीसदेवा य ॥
अहि वसु जगाऽभिवुड्डी,हत्थऽस्स विसाह कत्तिया जेट्ठा ।
सोमाउ रवी सवणा, पिउ वरुण भगाभिवुड्डिया चित्ता ॥
अस्स विसाहा अग्गी, मूलो अद्दा य विस्स पुस्सो य ।
एए जुगपुव्वद्धे, दुसट्ठिपव्वेसु णक्खत्ता ॥

प्रथमस्य पर्वणः समाप्तौ सर्पः सर्पदेवतोपलक्षितम् अश्लेषा नक्षत्रम् १। द्वितीयस्य धनिष्ठा २। तृतीयस्य अर्यमा,अर्यमादेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्यः ३। चतुर्थस्य अभिवृद्धिरभिवृद्धिदेवतोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा ४। पञ्चमस्य चित्रा ५। षष्ठस्य अश्वः, अश्वदेवतोपलक्षिता अश्विनी ६। सप्तमस्य इन्द्राग्निदेवोपलक्षिता विशाखा ७। अष्टमस्य रोहिणी ८। नवमस्य ज्येष्ठा ९। दशमस्य मृगशिरः १०। एकादशस्य विश्वग्देवतोपलक्षिता उत्तराषाढा ११। द्वादशस्यादितिरदितिदेवतोपलक्षिता पुनर्वसुः १२। त्रयोदशस्य श्रवणः १३। चतुर्दशस्य पितृदेवा मघाः १४। पञ्चदशस्य अजः,अजादेवतोपलक्षिता पूर्वभद्रपदा १५। षोडशस्यार्यमा, अर्यमादेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्यः १६। सप्तदशस्य अभिवृद्धिदेवतोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा १७। अष्टादशस्य चित्रा १८। एकोनविंशतितमस्याश्वोऽश्वदेवतोपलक्षिता अश्विनी १९। विंशतितमस्य विशाखा २०। एकविंशतितमस्य रोहिणी २१। द्वाविंशतितमस्य मूलम् २२। त्रयोविंशतितमस्य आर्द्रा २३। चतुर्विंशतितमस्य विश्वग्देवतोपलक्षिता उत्तराषाढा २४। पञ्चविंशतितमस्य पुष्यः २५। षड्विंशतितमस्य धनिष्ठा २६। सप्तविंशतितमस्य भगो, जगदेवतोपलक्षिता पूर्वफाल्गुनी २७। अष्टाविंशतितमस्याजोऽजदेवतोपलक्षिता पूर्वभद्रपदा २८। एकोनत्रिंशत्तमस्य अर्यमा, अर्यमादेवतोपलक्षिता उत्तरफाल्गुन्यः २९। त्रिंशत्तमस्य पूषा, पूषदेवतको रेवती ३०। एकत्रिंशत्तमस्य स्वातिः ३१। द्वात्रिंशत्तमस्याग्निरग्निदेवतोपलक्षिताः कृत्तिकाः ३२। त्रयस्त्रिंशत्तमस्य मित्रदेवा, मित्रनामा देवो यस्याः सा तथा, अनुराधा इत्यर्थः ३३। चतुस्त्रिंशत्तमस्य रोहिणी ३४। पञ्चत्रिंशत्तमस्य पूर्वाषाढा ३५। षट्त्रिंशत्तमस्य पुनर्वसुः ३६। सप्तत्रिंशत्तमस्य विश्वग्देवा, उत्तराषाढा इत्यर्थः ३७। अष्टात्रिंशत्तमस्य अहिरहिदेवतोपलक्षिता अश्लेषाः ३८। एकोनचत्वारिंशत्तमस्य वसुः, वसुनामदेवोपलक्षिता धनिष्ठा ३९। चत्वारिंशत्तमस्य भगो जगदेवोपलक्षिताः पूर्वफाल्गुन्यः ४०। एकचत्वारिंशत्तमस्य अभिवृद्धिरभिवृद्धिनामकदेवोपलक्षिता उत्तरभद्रपदा ४१। द्वाचत्वारिंशत्तमस्य हस्तः ४२। त्रिचत्वारिंशत्तमस्य अश्वः, अश्वदेवता अश्विनी ४३। चतुश्चत्वारिंशत्तमस्य विशाखा ४४। पञ्चचत्वारिंशत्तमस्य कृत्तिका ४५। षट्चत्वारिंशत्तमस्य ज्येष्ठा ४६। सप्तचत्वारिंशत्तमस्य सोमः,सोमदेवोपलक्षितं मृगशिरानक्षत्रम् ४७। अष्टाचत्वारिंशत्तमस्यायुरायुर्देवा पूर्वाषाढाः ४८। एकोनपञ्चाशत्तमस्य रविः, रविनामकदेवोपलक्षितं पुनर्वसुनक्षत्रम् ४९। पञ्चाशत्तमस्य श्रवणः ५०। एकपञ्चाशत्तमस्य पिता, पितृदेवाः मघाः ५१। द्विपञ्चाशत्तमस्य वरुणो, वरुणदेवोपलक्षितं शतभिषक्नक्षत्रम् ५२। त्रिपञ्चाशत्तमस्य भगो, जगदेवाः उत्तरफाल्गुन्यः ५३। चतुःपञ्चाशत्तमस्याभिवृद्धिरभिवृद्धिदेवा उत्तरभद्रपदा ५४। पञ्चपञ्चाशत्तमस्य चित्रा ५५। षट्पञ्चाशत्तमस्याश्वोऽश्वदेवाऽश्विनी ५६। सप्तपञ्चाशत्तमस्य विशाखाः ५७। अष्टपञ्चाशत्तमस्य अग्निरग्निदेवोपलक्षिताः कृत्तिकाः ५८। एकोनषष्टितमस्य मूलम् ५९। षष्टितमस्य आर्द्रा ६०। एकषष्टितमस्य विश्वग्देवा उत्तराषाढाः ६१। द्वाषष्टितमस्य पुष्यः ६२। एतदुपसंहारमाह-"एए" इत्यादि। एतानि नक्षत्राणि युगस्य पूर्वार्द्धे यानि द्वाषष्टिसंख्यानि पर्वाणि तेषु क्रमेण वेदितव्यानि । एवं प्रोक्तकरणवशात् युगस्योत्तरार्द्धमपि क्रमेण द्वाषष्टिसंख्येषु पर्वस्ववगन्तव्यानि । ज्यो० १९ पाहु० । द० प० ।

चंदणखोडि-चन्दनखोटि-स्त्री० । गोशीर्षचन्दनस्य खोटौ, व्य० ३ उ०। (चन्दनखोटिकदृष्टान्तेन प्रश्रस्याचार्यस्य प्ररूपणा 'आयरिय' शब्दे द्वितीयभागे ३२२ पृष्ठे उक्ता)

चंदणघड-चंदनघट-पुं०। चन्दनकलशे, "चंदणघडसुकयतोरण-

पइदारदेसभागा" चन्दनघटैश्चन्दनकलशैः सुकृतानि सुष्ठु कृतानि, शोभनानि इति तात्पर्यार्थः। यानि तोरणानि तानि चन्दनघटसुकृतानि प्रसिद्धानि, प्रतिद्वारे देशभागे यस्यां सा तथा। जी० ३ प्रति० ।

चंदणज्जा–चन्दनार्या–स्त्री० । वीरजिनस्य प्रथमशिष्यायाम, ति० । स० ।

चंदणपुड–चन्दनपुट–न० । चन्दनमुख्यगन्धद्रव्यपुटे,घुटपरिमिते चन्दनाख्यगन्धद्रव्ये, रा० ।

चंदणपेसिया–चन्दनपेषिका–स्त्री० । चन्दनपेषणकारिकायां, हरितालादिपेषिकायां च । भ० ११ श० ११ उ० ।

चंदणबाला–चन्दनबाला–स्त्री० । आर्यचन्दनायां श्रीमहावीरस्य प्रथमशिष्यायाम् , ती० १२ कल्प । "चन्दना सा कथं नाम, बालेति प्रोच्यते बुधैः ?। मोक्षमादत्त कुल्माषैर्-महावीरं प्रतार्य या ॥ १ ॥" कल्प० ६ क्षण ।

चंदणविलेवण–चन्दनविलेपन–न०। मलयजात्युपलेपने,पञ्चा० ८ विव० ।

चंदणसार–चन्दनसार–पुं०। चन्दनस्येव सारोऽस्य । वज्रभेदे, ६ त० । घृष्टचन्दनसारे, वाच० । " चंदणसारणिम्माविय " (जी० ३ प्रति०) " कोणपरिघट्टियाए " चन्दनसारो गर्भस्तेन निर्मापितो यः कोणो वादनदण्डस्तेन परिघट्टिता । जं० १ वक्ष० । जी० ।

चंदणा–चन्दना–स्त्री० । महावीरजिनस्य प्रथमशिष्यायाम, आ० क० । अन्त० । कल्प० । आ० म० । द्वीन्द्रियजीवभेदे , प्रज्ञा० १ पद ।

चंदणागरी–चन्दनागरी–स्त्री० । उत्तरवलिस्सहात्स्थविरान्निर्गतस्योत्तरवलिस्सहगणस्य चतुर्थ्यां शाखायाम, कल्प० ८ क्षण ।

चंदणुक्खित्तगायसरीर–चन्दनोत्क्षिप्तगात्रशरीर–त्रि० । चन्दनोपलिप्ताङ्गदेहे, भ० ९ श० ३३ उ० । रा० ।

चंदणोक्किण्णगायसरीर–चन्दनोत्कीर्णगात्रशरीर–त्रि० । चन्दनेन प्रतीतेन उत्कीर्णमिवोत्कीर्णं गात्राणि शरीरं यस्य स तथा । दशा० १० अ० । चन्दनेन श्रीचन्दनेनोत्कीर्णं चर्चितं गात्रं शरीरं येन स तथा । चन्दनचर्चितदेहे , तं० ।

चंददरिसणिया–चन्द्रदर्शनिका–स्त्री० । जातपुत्रस्य चन्द्रदर्शनेनोत्सवविशेषे, (कल्प०) तद्विधिश्चायम्-जन्मदिनाद्दिनद्वयातिक्रमे गृहस्थः गुर्वर्हत्प्रतिमाग्रे रूप्यमयीं चन्द्रमूर्त्तिं प्रतिष्ठाप्य अर्चित्वा विधिना स्थापयेत् । ततः स्नातां सुवस्त्राभरणां सपुत्रां मातरं चन्द्रोदये प्रत्यक्षचन्द्रसंमुखं नीत्वा " ॐ अर्हं चन्द्रोऽसि निशाकरोऽसि नक्षत्रपतिरसि सुधाकरोऽसि ओषधीगर्भोऽसि अस्य कुलस्य वृद्धिं कुरु २ स्वाहा" इत्यादि चन्द्रमन्त्रमुच्चार्यमाणश्चन्द्रं दर्शयेत् । सपुत्रा माता च गुरुं प्रणमति,गुरुश्चाशीर्वादं ददाति । स चायम्-"सर्वौषधीमिश्रमरीचिराजिः, सर्वापदां संहरणप्रवीणः । करोतु वृद्धिं सकलेऽपि वंशे, युष्माकमिन्दुः सततं प्रसन्नः " ॥ १ ॥ कल्प० २ क्षण ।

चंदद्दह–चन्द्रह्रद–पुं० । जम्बूद्वीपे उत्तरकुरुषु दशभिः काञ्चनकाभिधानैश्चन्द्रसमाननामदेवाधिवासैर्दशयोजनान्तरैः पूर्वापरव्यवस्थितैर्गिरिभिरुपेते महाह्रदे, स्था० ५ ठा० २ उ० । जी० ।

चंददिण–चन्द्रदिन–न० । प्रतिपदादिकायां तिथौ, " चंददिवेणं एगूणतीसं मुहुत्ते सातिरेगे मुहुत्तग्गेणं " पं० सं० ५ द्वार ।

चंददीव–चन्द्रद्वीप–पुं० । चन्द्राणां द्वीपे, (जी०)

संप्रति जम्बूद्वीपगतयोर्जम्बूद्वीपसत्कयोश्चन्द्रयोश्चन्द्र–
सत्कचन्द्रद्वीपप्रतिपादनार्थमाह–

कहि णं भंते! जंबुद्दीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं जंबुद्दीवगाणं चंदाणं चंददीवा नामं दीवा पण्णत्ता । जंबुद्दीवं तेणं अद्धेकूणणउतिं जोयणाति चत्तालीसं च पंचाणउतिभागे जोयणस्स ऊसिया जलंतातो लवणसमुद्दं तेणं दो कोसे ऊसिता जलंतातो बारसजोयणसहस्साति आयामविक्खंभेणं सेसं तं चेव जहा गोतमदीवस्स परिक्खेवो । पउमवरवेतिया पत्तेयं पत्तेयं वणसंडपरि० दोण्ह वि वण्णओ बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा० जाव जोइसिया देवा आसयंति । तेसि णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स पासायवडेंसका बावट्ठिं जोयणाइं बहुमज्झ० मणिपेढियाओ दो जोयणाओ० जाव सीहासणा सपरिवारा भाणियव्वा, तहेव अट्ठो । गोयमा ! बहुओ खुड्डिखुड्डियाओ बहूहिं चंदवण्णाभाइं चंदा य इत्थ देवा महिड्ढिया० जाव पलिओवमट्ठितीया परिवसंति । तेणं तत्थ पत्तेयं पत्तेयं चउण्हं सामाणियसहस्सीणं० जाव चंददीवाणं चंदाण य रायहाणीणं अन्नेसिं च बहूणं जोतिसियाणं देवाण य देवीण य आहेवच्चं० जाव विहरंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! चंददीवा० जाव णिच्चा ।

" कहि णं भंते ! " इत्यादि । क भदन्त ! जम्बूद्वीपगतयोर्जम्बूद्वीपसत्कयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ ?। भगवानाह–गौतम ! इत्यादि । सर्वं गौतमद्वीपवत् परिभावनीयं, नवरमत्र जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्यां दिशीति वक्तव्यम् । तथा प्रासादावतंसको वक्तव्यः। तस्य चायामादिप्रमाणं तथैव नामनिमित्तचिन्तायामपि यस्मात् क्षुल्लाक्षुल्लिकावाप्यादिषु बहूनि उत्पलानि यावत् सहस्रपत्राणि चन्द्रप्रभाणि चन्द्रवर्णानि चन्द्रौ च ज्योतिश्चन्द्रौ ज्योतिषराजौ महर्द्धिकौ यावत्पल्योपमस्थितिकौ परिवसतः, तौ च चन्द्रौ प्रत्येकं चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चतसृणामग्रमहिषीणां सपरिवाराणां तिसृणां पर्षदां सप्तानामनीकानां सप्तानामनीकाधिपतीनां षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां स्वस्य स्वस्य चन्द्रद्वीपस्य स्वस्याः स्वस्याः चन्द्राभिधायाः राजधान्याः, अन्येषां च बहूनां ज्योतिष्काणां देवानां देवीनां चाधिपत्यं यावद्विहरतः, ततस्तद्गतोत्पलादीनां चन्द्राकारत्वात् चन्द्रवर्णत्वात् चन्द्रदेवस्वामिकत्वाच्च तौ चन्द्रद्वीपाविति ।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवगाणं चंदगाणं चंदाणउ णाम रायहाणीओ पण्णत्ताओ ?। गोयमा ! चंददीवाणं पुरच्छिमेणं तिरियं०जाव अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे बारसजोयणसहस्साति

ओगाहित्ता तं चेव पमाणं० जाव महिड्ढिया चंदा देवा चंदा देवा। चन्द्राभिधे च राजधान्यौ, तयोश्चन्द्रद्वीपयोः पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् जम्बूद्वीपे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य विजयराजधानीसदृशो वक्तव्ये ।

सूर्याणामपीदैव—

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवगाणं सूराणं सूरदीवा णाम दीवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स पच्चत्थिमेणं लवणसमुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तं चेव उच्चत्तं आयामविक्खंभेण परिक्खेवो वेदियावणसंडा भूमिभागा० जाव आसयंति। पासायवडेंसगाणं त चेव पमाणं मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा अट्ठो उप्पलाइं सूरप्पभाइं सूरा य इत्थ देवा० जाव रायहाणीओ सकाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं अण्णम्मि जंबुद्दीवे दीवे सेसं तं चेव० जाव सूरा देवा ॥

एवं जम्बूद्वीपगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरं जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि एतमेव लवणसमुद्रमवगाह्य वक्तव्यं राजधान्यावपि स्वकद्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् जम्बूद्वीपे वक्तव्ये,शेषं सर्वं चन्द्रद्वीपवद्भावनीयं, नवरं चन्द्रस्थाने सूर्यग्रहणमिति ।

संप्रति लवणसमुद्रगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतामाह-

कहि णं भंते ! अब्भिंतरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा णाम दीवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबूमंदरपव्वयस्स पुरच्छिमेणं लवणसमुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं अब्भिंतरलावणगाणं चंदाणं चंददीवा णाम दीवा पण्णत्ता। जहा जंबुद्दीवगा चंदा तहा भाणियव्वा, णवरं रायहाणीओ अण्णम्मि लवणे सेसं तं चेव । एवं अब्भिंतरलावणगाणं सूराणं वि लवणसमुद्दं बारसजोयणसहस्साइं तं चेव सव्वं रायहाणीओ वि ।

"कहि णं भंते !" इत्यादि । लवणभवौ लावणिकौ अभ्यन्तरौ च तौ लावणिकौ च अभ्यन्तरलावणिकौ, शिखाया अर्वाक्चारिणावित्यर्थः । तयोः सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात् । शेषं सुगमम् । भगवानाह-गौतम ! जम्बूद्वीपस्य पूर्वस्यां दिशि एतमेव लवणसमुद्रं द्वादश योजनसहस्राण्यवगाह्याऽत्र एतस्मिन् अवकाशे अभ्यन्तरलावणिकयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ वक्तव्यावित्यादि जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपवन्निरवशेषं वक्तव्यम् । नवरमत्र राजधान्यौ स्वकयोर्द्वीपयोः पूर्वस्यां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वेदितव्ये , एवमभ्यन्तरलावणिकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरं जम्बूद्वीपस्य पश्चिमायां दिशि एतमेव लवणसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्यौ राजधान्यावपि स्वकयोर्द्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येति ।

कहि णं भंते ! बाहिरिल्लावणगाणं चंददीवा नाम देवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! लवणसमुद्दस्स पुरच्छिमिल्लातो वेदियंतातो लवणसमुद्दपच्चच्छिमेणं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं बाहिरिल्लावणगाणं चंददीवा पण्णत्ता धायतिसंडदीवंतेणं अद्धेकूणणउइजोयणाइं चत्तालीसं पंचाणउतिभागे जोयणस्स ऊसित्ता जलंतातो लवणं समुद्दं तेणं दो कोसे ऊसित्ता बारसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं पउमवरवेइयावणसंडे बहुसमरमणिज्जा भूमिभागा मणिपेढिया सीहासणा सपरिवारा सो चेव अट्ठो रायहाणीओ साणं दीवाणं पुरच्छिमे णं तिरियमसं० अण्णम्मि लवणे समुद्दे तहेव सव्वं ॥

"कहि णं भंते!" इत्यादि । क्व भदन्त ! बाह्यलावणिकयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ ?। बाह्यलावणिकौ नाम लवणसमुद्रे शिखाया बहिश्चारिणौ चन्द्रौ। भगवानाह-गौतम! लवणसमुद्रस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात् अर्वाक् लवणसमुद्रं पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्र बाह्यलावणिकयोश्चन्द्रयोश्चन्द्रद्वीपौ नाम द्वीपौ प्रज्ञप्तौ। तौ च धातकीखण्डद्वीपान्तेन धातकीखण्डद्वीपदिशि अर्द्धैकोननवतियोजनानि चत्वारिंशतं च पञ्चनवतिभागान् योजनस्योदकादूर्ध्वमुच्छ्रितौ लवणसमुद्रदिशि द्वौ क्रोशौ, शेषा वक्तव्यता अभ्यन्तरलावणिके चन्द्रद्वीपवद्वक्तव्या। अत्रापि राजधान्यौ स्वकयोः द्वीपयोः पूर्वस्यां तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् लवणसमुद्रे वक्तव्ये ।

कहि णं भंते ! बाहिरलावणगाणं सूराणं सूरदेवा नाम दीवा पण्णत्ता ?। लवणसमुद्दं पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंताओ लवणसमुद्दं पुरच्छिमेणं बारसजोयणसहस्साइं धायतिखंडदीवं तेणं अद्धेकूणणउतिं जोयणाइं चत्तालीसं च पंचाणउतिभागो जो लवणसमुद्दं तेणं दो कोसे ऊसिया सेसं तहेव० जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं तिरियमसंखेज्जलवणे चेव बारसजोयणं तहेव सव्वं भाणियव्वं ।

एवं बाह्यलावणिकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपावपि वक्तव्यौ, नवरमत्र लवणसमुद्रस्य पश्चिमात् वेदिकान्तात् लवणसमुद्रं पूर्वस्यां दिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येति वक्तव्यौ राजधान्यावपि स्वकयोर्द्वीपयोः पश्चिमायां दिशि अन्यस्मिन् लवणसमुद्रे इति ।

संप्रति धातकीखण्डगतचन्द्रादित्यद्वीपवक्तव्यतामभिधित्सुराह-

कहि णं भंते ! धायतिसंडे दीवगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता ?। गोयमा ! धायतिसंडस्स दीवस्स पुरच्छिमिल्लाओ वेदियंतातो कालोयणं समुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं धायतिसंडदीवगाणं चंदाणं चंददीवा णामं दीवा पण्णत्ता, सव्वतो समंता दो कोसा ऊसित्ता जलंतातो बारसजोयणसहस्साइं तहेव विक्खंभपरिक्खेवो भूमिभागो पासादवडेंसया मणिपेढिसीहासणा सपरिवारा अट्ठो तहेव रायहाणीओ सकाणं दीवाणं पुरच्छिमेणं

अब्भम्मि धायतिसंभे दीवे सेसं तहेव । एवं धायतिसंभगा वि सूरा । णवरं धायतिसंभस्स दीवस्स पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंताओ कालोयणसमुद्दं बारसजोयणं तहेव सव्वं० जाव रायहाणीओ सूराणं दीवाणं पच्चच्छिमेणं अब्भम्मि धायति खंडे दीवे सव्वं तहेव ।

" कहि णं भंते !" इत्यादि । क भदन्त ! धातकीखण्डद्वीपगतानां चन्द्राणां तत्र द्वादश चन्द्रा इति बहुवचनं चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः । भगवानाह-गौतम ! धातकीखण्डस्य पूर्वस्यां दिशि कालोदं समुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्र धातकीखण्डगतानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः । ते च जम्बूद्वीपगतचन्द्रसत्कचन्द्रद्वीपवद्वक्तव्याः। नवरं ते सर्वासु दिक्षु जलादूर्ध्वं द्वौ क्रोशौ उच्छ्रिता इति वक्तव्यं तत्र पानीयस्य सर्वत्रापि समत्वात् राजधान्योऽपि तेषां स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वतस्तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यास्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य विजयाराजधानीवद्वक्तव्या एवं धातकीखण्डगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपाः अपि वक्तव्याः। नवरं धातकीखण्डस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् कालोदसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्या राजधान्योऽपि स्वकीयानां सूर्यद्वीपानां पश्चिमदिशि अन्यस्मिन् धातकीखण्डे द्वीपे शेषं तथैव ।

संप्रति कालोदसमुद्रगतचन्द्रादित्यसत्कद्वीपवक्तव्यतां प्रतिपादयिषुराह—

कहि णं भंते ! कालोयणगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता ? गोयमा ! कालोयणस्स समुद्दस्स पुरच्छिमिल्लाओ वेतियंताओ कालोयणं समुद्दं पच्चच्छिमेणं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं कालोयणं चंदाणं चंददीवा सव्वतो समंता दो कोसा ऊसित्ता जलंतातो सेसं तहेव० जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पुरच्छिमेणं अब्भम्मि कालोयणं समुद्दे बारस जोयणं तहेव सव्वं० जाव चंदा देवा । एवं सूराण वि । णवरं चंदाणं कालोयणं पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंतातो कालोयणं समुद्दं पुरत्थिमेणं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तहेव रायहाणीओ सगाए दीवाणं पच्चच्छिमेणं अब्भम्मि कालोयणं समुद्दे तहेव सव्वं । एवं पुक्खरवरगाणं चंदाणं पुक्खरवरदीवस्स पच्चच्छिमिल्लातो वेतियंताओ पुक्खरवरसमुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता चंददीवा अब्भम्मि पुक्खरवरे दीवे रायहाणीओ तहेव । एवं सूराण वि दीवा पुक्खरवरदीवस्स पच्चत्थिमिल्लाओ वेइयंताओ पुक्खरोदं समुद्दं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तहेव सव्वं जाव रायहाणीओ दीविल्लगाणं समुद्दे समुद्दगाणं समुद्दे चेव एगाणं अब्भंतरपासे एगाणं बाहिरए पासे रायहाणीओ दीविल्लगाणं दीवेसु समुद्दगाणं समुद्देसु सरिसणामत्तेसु इमे णामा अणुगंतव्वा—जंबुद्दीवे लवण धायइ-कालोदपुक्खरे वरुणे खीरघयखोयणंदी अरुणवरे कुंमले रुयए आभरणवत्थगंधे उप्पलतिलयए पुढविणिहिरयणे वासधरदहणदीओ विजया वक्खारकप्पिंदा कुरुमंदिरमावासा कूंमा णक्खत्त चंदसूरा य । एवं भाणियव्वं ॥

" कहि णं भंते ! " इत्यादि । " कालोयगाणं " इत्यादि । क भदन्त ! कालोदकानां कालोदसत्कानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः ? । भगवानाह-गौतम ! कालोदसमुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् कालोदसमुद्रं पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्र कालोदगतचन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्ताः। ते च सर्वासु दिक्षु जलादूर्ध्वं द्वौ क्रोशावुच्छ्रिताः । शेषं तथैव राजधान्योऽपि स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यास्मिन् कालोदसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य विजया राजधानीवत् वक्तव्याः। एवं कालोदकसूर्यसत्कसूर्यद्वीपा अपि वक्तव्याः । नवरं कालोदसमुद्रस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् कालोदसमुद्रं पूर्वदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येति वक्तव्यम् । राजधान्योऽपि स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि अन्यस्मिन् कालोदसमुद्रे शेषं तथैव । एवं पुष्करवरद्वीपगतानां चन्द्राणां पुष्करवरद्वीपस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् पुष्करोदसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य द्वीपा वक्तव्याः राजधान्यः स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य पुष्करवरद्वीपगतसूर्याणां द्वीपाः पुष्करवरद्वीपस्य पश्चिमान्तवेदिकान्तात् पुष्करवरसमुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः । राजधान्यः पुनः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरद्वीपे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य पुष्करवरसमुद्रगतचन्द्रसत्कद्वीपाः । पुष्करवरसमुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्या राजधान्यः । स्वकीयानां द्वीपानां पूर्वदिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करवरसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्रेभ्यः परतः पुष्करवरसमुद्रगतसूर्यसत्कसूर्यद्वीपाः पुष्करवरसमुद्रस्य पश्चिमात् वेदिकान्तात् पूर्वतो द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य राजधान्यः। पुनः स्वकीयानां द्वीपानां पश्चिमदिशि तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यान्यस्मिन् पुष्करोदसमुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य प्रतिपत्तव्याः। एवं शेषद्वीपगतानामपि चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः स्वस्वद्वीपगतात् पूर्वस्मात् वेदिकान्तादनन्तरे समुद्रे द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य वक्तव्याः । सूर्याणां सूर्यद्वीपाः स्वस्वद्वीपगतात् पश्चिमात् वेदिकान्तात् अनन्तरे समुद्रे राजधान्यश्चन्द्राणामात्मीयचन्द्रद्वीपेभ्यः पूर्वदिशि अन्यस्मिन् सदृशनामके २ द्वीपे । सूर्याणामपि आत्मीयसूर्यद्वीपेभ्यः पश्चिमदिशि तस्मिन्नेव सदृशनामके अन्यस्मिन् द्वीपे द्वादशयोजनसहस्रेभ्यः परतः शेषसमुद्रगतानां तु चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः स्वस्वसमुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् पश्चिमदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य सूर्याणां तु स्वस्वसमुद्रस्य पश्चिमात् वेदिकान्तात् पूर्वदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य चन्द्राणां राजधान्यः स्वस्वद्वीपानां पूर्वदिशि अन्यस्मिन् सदृशनामके समुद्रे सूर्याणां राजधान्यः स्वस्वद्वीपानां पश्चिमदिशि केवलमग्रेतनशेषसमुद्रगतानां चन्द्रसूर्याणां राजधान्योऽन्यस्मिन् सदृशनामके द्वीपे समुद्रे वा अग्रेतने पश्चात्तने वा प्रतिपत्तव्याः

मभेतन पयान्यथाऽनवस्थाप्रसक्तेः। एतच्च देवद्वीपादर्वाक् सूर्यवरावभासं समुद्रं यावत्।

देवद्वीपादिषु तु राजधानीः प्रति विशेषस्तमभिधित्सुराह-

कहि णं भंते! देवदीवगाणं चंदाणं चंददीवाणामं दीवा पण्णत्ता। गोयमा! देवदीवस्स देवोदं समुदं बारसजोयणाइं ओगाहित्ता तेणेव कमेणं पुरत्थिमिल्लाओ वेतियंतातो० जाव रायहाणीओ सगाणं दीवाणं पुरत्थिमे णं देवोदं समुदं असंखेज्जाति जोयणसहस्साति उग्गाहित्ता एत्थ णं देवदीवगाणं चंदाणं चंदाओ नाम रायहाणीतो पण्णत्ताओ। सेसं तहेव देवदीवचंदा देवा२। एवं सूराण। वि णवरिं पच्चात्थिमिल्लातो वेदियंतातो पच्चत्थिमे णं च जाणियव्वो तम्मि चेव समुद्दे।

"कहि णं भंते!" इत्यादि। क्व भदन्त! देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः। भगवानाह-गौतम! देवद्वीपस्य पूर्वस्माद्वेदिकान्तात् देवोदं समुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्य अत्रान्तरे देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्ताः इत्यादि प्राग्वत् राजधान्यः स्वकीयानां चन्द्रद्वीपानां पश्चिमादिशि तमेव देवद्वीपमसंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे देवद्वीपगानां चन्द्राणां चन्द्रानामराजधान्यः प्रज्ञप्तास्ता अपि विजयाराजधानीवत् वक्तव्याः। "कहि णं भंते!" इत्यादि। क्व भदन्त! देवद्वीपगानां सूर्यद्वीपानामद्वीपा प्रज्ञप्ताः। भगवानाह-गौतम! देवद्वीपस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् देवोदं समुद्रं द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्येत्यादि राजधान्यः स्वकीयानां सूर्यद्वीपानां पूर्वस्यां दिशि तमेव देवद्वीपमसंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्येत्यादि।

कहि णं भंते! देवसमुद्दगाणं चंदाणं चंददीवा पण्णत्ता। गोयमा! देवोदगस्स समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लातो वेतियंतातो देवोदगं समुद्दं पच्चच्छिमे णं बारसजोयणसहस्साइं तेणेव कमेणं० जाव रायहाणीओ, सगाणं दीवाणं पच्चच्छिमेणं देवोदगं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साति उग्गाहित्ता एत्थ णं देवोदगस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेतियंतातो देवोदगं समुद्दं पुरत्थिमेणं बारसजोयणसहस्साति ओगाहित्ता रायहाणीओ सगाणं सगाणं पुरत्थिमे णं समुद्दं असंखेज्जाइं जोयणसहस्साइं।

"कहि णं भंते!" इत्यादि। क्व? भदन्त! देवसमुद्रगाणां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपानामद्वीपाः प्रज्ञप्ताः। गौतम! देवोदकस्य समुद्रस्य पूर्वस्मात् वेदिकान्तात् देवोदकं समुद्रं पश्चिमादिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे देवोदकसमुद्रगाणां चन्द्राणां चन्द्रद्वीपाः प्रज्ञप्तास्ते च प्राग्वत् राजधान्यः स्वकीयानां चन्द्रद्वीपानां पश्चिमदिशि देवोदकं समुद्रमसंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे वक्तव्याः। देवोदकसमुद्रगाणां सूर्याणां सूर्यद्वीपाः देवोदकस्य समुद्रस्य पश्चिमान्तात् वेदिकान्तात् देवोदकं समुद्रं पूर्वदिशि द्वादशयोजनसहस्राण्यवगाह्यात्रान्तरे वक्तव्या राजधान्योऽपि स्वकीयानां स्वकीयानां सूर्यद्वीपानां पूर्वदिशि देवोदकं समुद्रमसंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्य।

एवं णागे जक्खे भूते वि चउण्हं दीवसमुद्दाणं कहि णं भंते! सयंभुरमणदीवगाणं चंदाणं चंददीवाणामदीवा पण्णत्ता। गोयमा! सयंभुरमणस्स दीवस्स पुरत्थिमिल्लातो वेतियंतातो सयंभुरमणोदगं समुद्दं बारसजोयणसहस्साइं तहेव रायहाणीतो सगाणं सगाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं सयंभुरमणोदगं समुद्दे पुरत्थिमेणं असंखेज्जाइं जोयणाइं तहेव। एवं सूराण वि। सयंभुरमणस्स पच्चत्थिमिल्लातो वेतियंतातो रायहाणीओ सकाणं सकाणं दीवाणं पच्चत्थिमेणं सयंभुरमणोदगं समुद्दं असंखेज्जा। सेसं तहेव। कहि णं भंते! सयंभुरमणसमुद्दकाणं चंदाणं गोयमा! सयंभुरमणस्स समुद्दस्स पुरत्थिमिल्लाओ वेतियंतातो सयंभुरमणं समुद्दं पच्चत्थिमेणं बारसजोयणसहस्साइं ओगाहित्ता सेसं तं चेव एवं सूराण वि सयंभुरमणस्स पच्चत्थिमिल्लाओ सयंभुरमणोदसमुद्दं पुरत्थिमेणं बारसजोयणसहस्साइं उग्गाहित्ता-रायहाणीओ सगाणं सगाणं दीवाणं पुरत्थिमेणं॥

एवं नागयक्षभूतस्वयम्भूरमणद्वीपसमुद्रचन्द्रादित्यानामपि वक्तव्या द्वीपगतानां चन्द्रादित्यानां चन्द्रादित्यद्वीपा अनन्तरे समुद्रे। समुद्रगतानां तु चन्द्रादित्यानां स्वस्वसमुद्रे एव। आह च मूलटीकाकारोऽपि-एवं शेषद्वीपचन्द्रादित्यानामपि द्वीपा अनन्तरसमुद्रेष्ववगन्तव्याः राजधान्यश्च तेषां पूर्वपरतोऽसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् गत्वा ततोऽन्यस्मिन् सदृशनाम्नि द्वीपे भवन्ति अन्यानिमान् पञ्चद्वीपान् मुक्त्वा देवनागयक्षभूतस्वयम्भूरमणाख्यान् तेषु चन्द्रादित्यानां राजधान्योऽन्यस्मिन् द्वीपे तु तस्मिन्नेव पूर्वापरतो वेदिकान्तात् असंख्येयानि योजनसहस्राण्यवगाह्य भवन्ति इति इह बहुधा सूत्रेषु पाठभेदाः परमेतावानेव सर्वत्राप्यर्थो नार्थभेदान्तरमित्येतद्व्याख्यानुसारेण सर्वेष्वनुगन्तव्या न मोग्धव्यमिति। जी० ३ प्रति०।

चंदद्ध-चन्द्रार्द्ध-न०। अष्टमीचन्द्रे. (जी०) "चंदद्धसमणिडालाओ" चन्द्रार्द्धेन अष्टमीचन्द्रेण समं समानं ललाटं यासां ताः चन्द्रार्द्धसमललाटाः। जी० ३ प्रति०।

चंदद्धसम-चन्द्रार्द्धसम-त्रि०। शशधरसमप्रविभागसदृशे, "णिव्वणसमलट्ठमट्ठचंदद्धसमणिडाला" जी० ३ प्रति०।

चंदपडिमा-चन्द्रप्रतिमा-स्त्री०। चन्द्र इव कला वृद्धिहानिभ्यां या प्रतिमा सा चन्द्रप्रतिमा। प्रतिमाभेदे, शुक्लप्रतिपदि एकं कवलमभ्यवहृत्य ततः प्रतिदिनं कवलवृद्ध्या पञ्चदश पूर्णमास्यां कृष्णप्रतिपदि च पञ्चदश भुक्त्वा प्रतिदिनमेकहान्याऽमावस्यायामेकमेव यस्यां भुङ्क्ते। (स्था०) यस्यां तु कृष्णप्रतिपदि पञ्चदश भुक्त्वा एकैकहान्या अमावस्यायामेकं शुक्लप्रतिपदि चैकमेव ततः पुनरेकैकवृद्ध्या पूर्णिमायां पञ्चदश भुङ्क्ते सा वज्रस्येव मध्यं यस्यास्तन्विर्थः। सा वज्रमध्या चन्द्रप्रतिमेति (स्था०) एतदेवसूत्रकृदाह-" दो पडिमाओ पण्णत्ताओ तं जहा-जवमज्झे चेव चंदपडिमा वइरमज्झे चेव चंदपडिमा"। स्था० २ ठा० ३ उ०।

चंदपण्णत्ति-चन्द्रप्रज्ञप्ति-स्त्री०। चन्द्रचारप्रतिपादके ग्रन्थे, पा०। सा चाङ्गबाह्यप्रकीर्णकरूपा,। आ० ४ अ० १ उ०।

चंदपरिवेस–चन्द्रपरिवेस–पुं० । चन्द्रस्य परितो वलयाकारपरिणतौ, जी०३ प्रति० । अनु० ।

चंदपव्वय–चन्द्रपर्वत–पुं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पश्चिमे शीतोदाया महानद्या उत्तरे कूले, वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । जं० । "दो चंदपव्वया" । स्था०२ ठा०२ उ० ।

चंदपाणिलेह–चन्द्रपाणिरेख–त्रि० । चन्द्राकारा: पाणौ रेखा यस्य स तथा । औ० । जी० । प्रश्न० । चन्द्राकृतिहस्तरेखे, तं० ।

चंदप्पभ–चन्द्रप्रभ–पुं० । चन्द्रस्येव प्रभा ज्योत्स्ना सौम्यलेश्याविशेषोऽस्येति चन्द्रप्रभः । तथा देव्याश्चन्द्रपानदोहदोऽभूत चन्द्रसमवर्णश्च भगवान् इति चन्द्रप्रभः। ध० २ अधि० । अस्यामवसर्पिण्यां भरतवर्षे जातेऽष्टमे तीर्थकरे, स० । तत्र सर्वेऽपि तीर्थकृतश्चन्द्रवत् सौम्यलेश्याकास्ततो विशेष माह–" जणणीए चंदपियणम्मि, दोहलो तेण चंदाभो " येन कारणेन भगवति गर्भगते जनन्याश्चन्द्रपाने दौहृदमजायत चन्द्रसदृशवर्णश्च भगवान्, तेन चन्द्राभश्चन्द्रप्रभ इति विश्रुतः । आ० म० द्वि० । अनु० । प्रव० । (अन्तरम् । आयुः । उच्चत्वम् वर्णः । एवमादयः सर्वेऽधिकाराश्चन्द्रप्रभस्वामिनः 'तित्थयर' शब्दे वक्ष्यन्ते) (यस्मिन् समये भरते चन्द्रप्रभो जातस्तस्मिन्समये ऐरवते दीर्घसेनजिनः संजज्ञे) । चन्द्रकान्तमणौ, रा० । आ० म० । आ० चू० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । जी० । कल्प० । "तेसि णं" इत्यादि । तेषां तोरणानां पुरतो द्वे द्वे चामरे प्रज्ञप्ते तानि च चामराणि " चंदप्पभवइरवेरुलियनाणामणिरयणखचियदंडाउ इति " चंद्रप्रभः चन्द्रकान्तो वज्रं वैडूर्यं च प्रतीतं चन्द्रप्रभवज्रवैडूर्याणि शेषाणि च नानामणिरत्नानि खचितानि येषु दण्डेषु तथा एवं रूपाश्चित्रा नानाकारा दण्डा येषां चामराणां तानि तथा सूत्रे स्त्रीत्वं प्राकृतत्वात् । जी०३ प्रति० । चतुर्थदेवलोकस्थ विमानभेदे, न० । स०३ सम० । चन्द्रस्य ज्योतिष्केन्द्रस्य सिंहासने, न० । ज्ञा०२ श्रु०१ अ० । श्रीचन्द्रप्रभसूरिप्रमध्ये प्रजापुत्रेणाभिरत्नातिकामध्ये ऊरुपाचक्रे इत्युक्तमस्ति । तत्किमिति । तथा दुर्जयराजा तत्र गतस्तद्भवनं कथ्यते किं वा पातालगृहं तस्मात्स्त्री अपहृत्य गतस्तत्र नरका दर्शिताः पश्चाद्देवतया बहिर्मुक्तः सर्वाङ्गसुन्दर्याः पार्श्वे गतस्तत्र किं भवनपतिनिकाये किं व्यन्तरनिकाये वा तथा दुर्जयराजः कुत्र भवनमध्येऽस्ति सर्वाङ्गसुन्दरी च ततोऽधः कुत्रास्ति तथाऽष्टापदे गतस्तत्रेन्द्रेण वस्त्राणि समर्पितानि तानि किं वैक्रियाण्यौदारिकाणि वेति प्रश्ने–उत्तरम्–प्रजापुत्रेणाभिरत्नातिकामध्ये ऊरुपाद्वता फलं च दिव्यानुभावेन प्राप्तं तथा दुर्जयराजो वासस्थानं भूमिकाविवरमध्ये मनुष्यसंबन्धिन्यां राजधान्यामस्ति तथा सर्वाङ्गसुन्दरीव्यन्तरी तद्वासस्थानं व्यन्तरनिकायेऽस्ति तथास्ति अपहृत्यागत इत्यादि सर्वं तद्विलसितं ज्ञेयं तथाऽष्टापदे वस्त्राण्यर्पितानि तान्यौदारिकाणि ज्ञेयानीति ॥ ४६० प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

चंदप्पभविहार–चन्द्रप्रभविहार–पुं० । नासिक्यपुरे पत्तनमहोत्सवे प्रजापतिना कारिते चन्द्रप्रभस्वामिचैत्ये, ती०२८ कल्प ।

चंदप्पभसूरि–चन्द्रप्रभसूरि–पुं० । चन्द्रगच्छीये दर्शनशुद्धिमूलकर्तरि स्वनामख्याते आचार्ये, (दर्श०)

नामनिरुक्तिश्चैवम् संप्रति स्वयमेव वस्तुगृहीतनामधेयो भगवान् ग्रन्थकारः स्वनामव्युत्पत्त्या प्रकटयन् ग्रन्थस्वरूपं प्रयोजनं च दर्शयन्निदं गाथाद्वयमाह–

चंदादिपइवसूरि–पयनिवहपढमवन्नेहिं ।
जेसिं नामं तेहिं, परोवयारम्मि निरएहिं ॥ ५७ ॥
इयपायं पुव्वायरिय–रइयगाहाण संगहो एसो ।
विहिओ अणुग्गहत्थं, कुमग्गलग्गाण जीवाणं ॥५८॥

चन्द्रादीनां रिद्धिपर्यवसानपदानां प्रथमाक्षरैः प्रथमवर्णैः येषां नामाभिधानं तैश्चन्द्रप्रभसूरिभिरित्यर्थः। कथंभूतैः परोपकारनिरतैरिति निगदितप्रकारेण प्रायः पूर्वाचार्यरचितगाथाभिरेव सङ्ग्रहो विहितो निष्पादितोऽनुग्रहार्थं कुमार्गलग्नानां कुप्रवचनकुदेशनावासितान्तःकरणानां भव्यप्राणिनामिति गाथाद्वयार्थः (दर्श०) दर्शनशुद्धिटीका तु तच्छिष्यधर्मघोषप्रभूणां शिष्येण *विमलगणिना वैक्रमवत्सरे–११८१ कृतेति* समयोऽस्य मतिमद्भिस्स्वयमेवाभ्यूह्यः । दर्श० ।

चंदप्पभा–चन्द्रप्रभा–स्त्री० । चन्द्रस्येव प्रभा आकारो यस्याः सा । सुराविशेषे, जी० ३ प्रति० । चन्द्रस्य प्रथमायामग्रमहिष्याम्, ज्ञा० २ श्रु० १ अ० । जं० भ० । सू० प्र० । स्था० । दशमतीर्थकरस्य शीतलस्य चतुर्विंशस्य च वीरस्य निष्क्रमणशिबिकायाम्, स० । आ० म० द्वि० । ति० । कल्प० ।

संप्रति शिबिकाप्रमाणप्रदर्शनार्थमाह–

पंचासयआयामा, धणूणि विच्छिन्नपन्नवीसं तु ।
छत्तीसं उव्वेहा, सीया चंदप्पभा भणिया ॥

पञ्चाशत्मायामो दैर्घ्यं यस्याः सा पञ्चाशदायामा धनूंषि पञ्चविंशतिं विस्तीर्णा तथा षट्त्रिंशतं धनूंषि उद्वेधा तथा शिबिका चन्द्रप्रभाऽभिधाना गणधरैर्भणिता ॥

अनेन शास्त्राय पारतन्त्र्यमाह–

सीयाए मज्झयारे, दिव्वं मणिकणगरयणविंचइयं ।
सिंहासणं महरिहं, सपायपीठं जिणवरस्स ।

शिबिकाया मध्य एव मध्यकारस्तस्मिन् दिव्यसुरनिर्मितं मणयश्चन्द्रकान्तादयः कनकं देवकाञ्चनं रत्नानि मरकतेन्द्रनीलादीनि तैः 'विंचइयं' देशीपदमेतत् भूषितमित्यर्थः । सिंहप्रधानमासनं महार्हं भुवनगुरुमर्हतीति महार्हम् । सहपादपीठं यस्य येन वा तत्सपादपीठं जिनवरस्य कृतमिति वाक्यशेषः । आ० म० द्वि० ।

चन्दभागा–चन्द्रभागा–स्त्री० । सिन्धुमहानद्यां संगतायां जलसमर्पिकायाम् स्वनामख्यातायां नद्याम्, स्था०५ ठा०३ उ० ।

चंदमंडल–चन्द्रमण्डल–न० । चन्द्रविमाने, स० ६२ सम० ।

अथ चन्द्रमण्डलवक्तव्यताह—

तत्र सप्त अनुयोगद्वाराणि–मण्डलसंख्याप्ररूपणा, मण्डलक्षेत्रप्ररूपणा, प्रतिमण्डलमन्तरप्ररूपणा, मण्डलायामादिमानम्, मन्दरमधिकृत्य प्रथमादिमण्डलाबाधा, सर्वाभ्यन्तरादिमण्डलायामादि, मुहूर्तगतिः, ।

तत्रादौ मण्डलसंख्याप्ररूपणां पृच्छति–

कति णं भंते ! चंदमंडला पन्नत्ता । गोयमा ! पन्नरस चंदमंडला पन्नत्ता । जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइअं ओगाहित्ता केवइआ चंदमंडला पन्नत्ता ? । गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे

असीयं जोअणसयं ओगाहित्ता एत्थ णं पंच चंदमंडला पएणत्ता ।

"कति णं भंते!" इत्यादि । कति भदन्त ! चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि! भगवानाह--गौतम! पञ्चदश चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि। अथैषां मध्ये कति द्वीपे कति लवणे इतिव्यक्त्यर्थं पृच्छति-जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे कियदवगाह्य कियन्ति चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि । गौतम ! जम्बूद्वीपे द्वीपे अशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य पञ्च चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ।

लवणे णं भंते ! पुच्छा ? गोअमा ! लवणे णं समुद्दे तिणि तीसे जोअणसए ओगाहित्ता एत्थ णं दस चंदमंडला पएणत्ता । एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे लवणसमुद्दे पएणरस चंदमंडला भवंतीतिमक्खायं ।

अथ लवणसमुद्रे भदन्त ! प्रश्नः । गौतम ! लवणसमुद्रे त्रिंशदधिकानि त्रीणि योजनशतानि अवगाह्य अत्रान्तरे दशचन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि। एवमेव सपूर्वापरेण जम्बूद्वीपे द्वीपे लवणसमुद्रे पञ्चदश चन्द्रमण्डलानि भवन्तीति आख्यातमिति । ('चंदमग्ग' शब्दे अनुपदमेव एतानि व्याख्यास्यामि)

अथ मण्डलक्षेत्रप्ररूपणां प्रश्नयन्नाह—

सव्वब्भंतराओ णं भंते ! चंदमंडलाओ णं केवइआए-अबाहाए सव्वबाहिरए चंदमंडले पएणत्ते ?। गोअमा ! पंचदसुत्तरे जोअणसए अबाहाए सव्वबाहिरए चंदमंडले पएणत्ते ।

"सब्भंतराओ णं" इत्यादि । सर्वाभ्यन्तराद् भदन्त ! चन्द्रमण्डलात् कियत्या अबाधया सर्वबाह्यचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् । किमुक्तं भवति-चन्द्रमण्डलैः सर्वाभ्यन्तरादिभिः सर्वबाह्यान्तैर्यद्व्याप्तमाकाशं तन्मण्डलक्षेत्रं, तत्र च चक्रवालतया विष्कम्भः पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि अष्टचत्वारिंशच्च एकषष्टिभागा योजनस्य ५१०४८ इदं च व्याख्यातोऽधिकं बोध्यं तथाहि-चन्द्रस्य मण्डलानि पञ्चदश चन्द्रबिम्बस्य च विष्कम्भः एकषष्टिभागात्मकयोजनस्य षट्पञ्चाशद् भागास्तेन ते ५६ पञ्चदशभिर्गुण्यन्ते जातं ८४० तत एषां योजनानयनार्थम् ६१ एकषष्ट्या भागे हृते लब्धानि त्रयोदश योजनानि । शेषाः सप्तचत्वारिंशत् तथा पञ्चदशानां मण्डलानामन्तराणि चतुर्दश एकैकस्यान्तरस्य प्रमाणं पञ्चत्रिंशद्योजनानि पञ्चविंशच्च एकषष्टिभागा योजनस्य एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागाः, ततः पञ्चत्रिंशच्चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि योजनशतानि नवत्यधिकानि च। येऽपि च त्रिंशदेकषष्टिभागास्तेऽपि चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते जातानि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि ४२०। अयं च राशिरेकषष्टिभागात्मकस्तेन एकषष्ट्या भागो व्हियते लब्धानि षट्योजनशतानि एषु पूर्वराशौ प्रक्षिप्तेषु जाता नि ४६६ योजनानि, शेषाश्चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागास्तिष्ठन्ति , ये च एकस्यैकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्त भागास्तेऽपि चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते जाताः षट्पञ्चाशत्, तेषां सप्तभिर्भागे हृते लब्धा अष्टावेकषष्टिभागास्तेऽनन्तरोक्तचतुःपञ्चाशति प्रक्षिप्यन्ते जाता द्वाषष्टिः६२तत्रैकषष्टिभागैर्योजनं लब्धं तच्च योजनराशौ प्रक्षिप्यते, एकश्चैकषष्टिभागः शेषाः ४६७ योजनम् १ इदं च मण्डलान्तरक्षेत्रं योऽपि च बिम्बक्षेत्रराशिस्त्रयोदशयोजनसप्तचत्वारिंशदेकषष्टिभागात्मकः सोऽपि मण्डलान्तरराशौ प्रक्षिप्यते,जातं योजनानि ५१० यश्च पूर्वोद्धरित एकः एकषष्टिभागः सप्तचत्वारिंशति प्रक्षिप्यन्ते, जातम् ४८ एकषष्टिभागाः। ननु पञ्चदशसु मण्डलेषु च चतुर्दशान्तरालान्यभवाच्चतुर्दशभिर्भजनं युक्तिमत् । सप्तचत्वारो भागा इति कथं संगच्छते ?। उच्यते-मण्डलान्तरक्षेत्रराशिः ४६७ $\frac{१}{६१}$ मण्डलान्तरैश्चतुर्दशभिर्भजने लब्धानि ३५ योजनानि उद्धरितस्य योजनराशेरेकषष्ट्या गुणने मूलराशिसत्कैकषष्टिभागप्रक्षेपे च जातम् ४९० एषां चतुर्दशभिर्भजने भागतः सराशिः ३० शेषा अष्टौ तेषां चतुर्दशाभिर्भागाऽप्राप्तौ लाघवार्थं द्वाभ्यामपवर्तने जातं भाज्यभाजकराश्योः $\frac{४}{७}$ इति सुस्थम् । जं० ७ वक्ष० । (चन्द्रमण्डलाच्चन्द्रमण्डलं कियत्याऽबाधया स्थितमिति ' अन्तर ' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे गतम्)

संप्रति मण्डलायामादिमानद्वारम्—

चंदमंडले णं भंते ! केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं केवइअं बाहल्लेणं पएणत्ते। गोअमा ! छप्पणं एगसट्ठिभाए जोअणस्स आयामविक्खंभेणं तं तिगुणं सविसेसं परिक्खेवेणं अट्ठावीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स बाहल्लेणं ।

" चंदमंडले णं भंते ! केवइयं आयाम " इत्यादि । चन्द्रमण्डलं भगवन् ! कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण कियद्बाहल्येनोच्चैस्त्वेन प्रज्ञप्तम् । गौतम ! षट्पञ्चाशतमेकषष्टिभागान् योजनस्यायामविष्कम्भाभ्यां एकस्य योजनस्य एकषष्टिभागीकृतस्य यावत्प्रमाणा भागास्तावत्प्रमाणं षट्पञ्चाशद्भागप्रमाणमित्यर्थः । तत् त्रिगुणं सविशेषं साधिकं परिक्षेपेण करणरीत्या द्वे योजने पञ्चपञ्चाशद्भागाः, साधिका इत्यर्थः । अष्टाविंशतिमेकषष्टिभागान् योजनस्य बाहल्येन ।

अथ मन्दरमधिकृत्य प्रथमादिमण्डलाबाधाप्रश्नमाह-

जंबुद्दीवे दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए सव्वब्भंतरए चंदमंडले पएणत्ते ?। गोयमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य वीसे जोअणसए अबाहाए सव्वब्भंतरे चंदमंडले पएणत्ते ॥

"जंबुद्दीवे दीवे" इत्यादि । जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वाभ्यन्तरचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?। गौतम ! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्ट च विंशत्यधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वाभ्यन्तरं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तमिति। उपपत्तिस्तु प्राक् सूर्यवक्तव्यतायां दर्शिता ।

द्वितीयमण्डलाबाधाप्रश्नसूत्रमाह-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए अब्भंतराणंतरे चंदमंडले पएणत्ते ?। गोयमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य छप्पएणे जोअणसए पणवीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता चत्तारि चुएिणआभाए अबाहाए अब्भंतराणंतरे चंदमंडले पएणत्ते ।

"जंबुद्दीवे दीवे" इत्यादि । जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया अभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। गौतम! चतुश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राणि अष्टौ च षट्

पञ्चाशदधिकानि योजनशतानि पञ्चविंशतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्य, एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा चतुरश्चूर्णिकाभागानबाधया सर्वाभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। अत्रोपपत्तिः प्रागुक्तेऽभ्यन्तरमण्डलगतराशौ मण्डलान्तरक्षेत्रमण्डलविष्कम्भराश्योः प्रक्षेपे जायते। तथाहि ४४८२० रूपः पूर्वमण्डलयोजनराशिः अस्मिन् मण्डलान्तरक्षेत्रयोजनानि ३५ तथान्तरसत्कत्रिंशदेकषष्टिभागानां मण्डलविष्कम्भसत्कषट्पञ्चाशदेकषष्टिभागानां च परस्परमीलने जातम् ८६ एकषष्ट्या भागे भागतं योजनमेकं, तच्च पूर्वोक्तायां पञ्चत्रिंशत् प्रक्षिप्यते जाताः षट्त्रिंशद्योजनानां शेषाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागाः चत्वारश्चूर्णिका भागा इति।

अथ तृतीयाभ्यन्तरमण्डलाऽबाधां पृच्छन्नाह–

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अवाहाए अब्भंतरतच्चे मंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! चोआलीसं जोअणसहस्साइं अट्ठ य बाणउए जोअणसए एगावण्णं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता एगं चुण्णिआभागं अवाहाए अब्भंतरतच्चे चंदमंडले पण्णत्ते।

"जंबुद्दीवे दीवे" इत्यादि। प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। उत्तरसूत्रे द्वितीयमण्डलसत्कराशौ ३६ योजनानि २५ एक इत्यस्य प्रक्षेपे जातं यथोक्तम्।

अथाबाधाविषयं चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह–

एवं खलु एएणं उवाएणं णिक्खममाणे चंदे तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरमंडलं संकममाणे २ छत्तीसं छत्तीसं जोअणाइं पणवीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता चत्तारि चुण्णिआभाए एगमेगे मंडले अवाहाए वुड्ढिमभिवड्ढेमाणे २ सव्वबाहिरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ।

"एवं खलु" इत्यादि। एवमुक्तरीत्या मण्डलत्रयदर्शितयेत्यर्थः। एतेनोपायेन प्रत्यहोरात्रमेकैकमण्डलमोचनरूपेण निष्क्रामन् लवणाभिमुखमण्डलानि कुर्वन् चन्द्रस्तदनन्तराद्विवक्षितात्पूर्वस्मान्मण्डलाद्विवक्षितमुत्तरमण्डलं संक्रामन् २ षट्त्रिंशद्योजनानि, अत्र योजनसंख्यागतवीप्सा भागसंख्यापदेष्वतिव्याप्ता तेन पञ्चविंशतिम् पञ्चविंशतिम् एकषष्टिभागान् योजनस्य एकमेकं चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा चतुरश्चतुरश्चूर्णिकाभागान् एकैकस्मिन्मण्डले अबाधया वृद्धिं अभिवर्द्धयन् २ सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति।

अथ पश्चानुपूर्व्यापि व्याख्यानाङ्गमित्यन्त्यमण्डलाद्यमण्डलाबाधां पृच्छन्नाह--

जंबुद्दीवे णं दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए आबाहाए सव्वबाहिरे चंदमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं तिण्णि अ तीसे जोअणसए अबाहाए सव्वबाहिरए चंदमंडले पण्णत्ते।

"जंबुद्दीवे त्ति" जम्बूद्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वबाह्यचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। गौतम ! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि त्रीणि च त्रिंशदधिकानि योजनशतान्यबाधया सर्वबाह्यचन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। उपपत्तिस्तु प्राग्वत्।

अथ द्वितीयबाह्यमण्डलाबाधां पृच्छन्नाह–

जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए बाहिराणंतरे चंदमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तेणुए जोअणसए पणतीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता तिण्णि चुण्णिआभाए अबाहाए बाहिराणंतरे चंदमंडले पण्णत्ते।

जम्बूद्वीपे द्वीपे भगवन् ! मन्दरस्य पर्वतस्य कियत्या अबाधया सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम् ?। गौतम ! पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च त्रिनवत्यधिके योजनशते पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा त्रीश्चूर्णिकाभागानबाधया सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। सर्वबाह्यमण्डलराशेः षट्त्रिंशद्योजनानि पञ्चविंशतिश्च योजनैकषष्टिभागा एकस्यैकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः पात्यन्ते जायते यथोक्तो राशिः। जं० ७ वक्ष०। जी०।

चंदमंडले एगसट्ठि विभागविभाइए समंसे पण्णत्ते। एवं सूरस्स वि ॥ ६१ ॥

चन्द्रमण्डले चन्द्रविमानं 'णं' इत्यलंकृतौ (एगसट्ठि त्ति) योजनस्यैकषष्टिभागेन षट्पञ्चाशद्भागप्रमाणैर्विभाजितं विभागैर्व्यवस्थापिते समांशं समविभागं प्रज्ञप्तं विषमांशं योजनस्यैकषष्टिभागानां षट्पञ्चाशद्भागप्रमाणत्वात्तस्य च भागभागस्याविद्यमानत्वादिति। एवं सूर्यस्यापि मण्डलं वाच्यम्। अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागमात्रं हि तत्र चापरमंशान्तरं तस्याप्यस्तीति समांशतेति। स० ६१ सम०।

अथ तृतीयबाह्यमण्डलाबाधामाह—

जंबुद्दीवेणं भंते ! दीवे मंदरस्स पव्वयस्स केवइआए अबाहाए बाहिरतच्चे चंदमंडले पण्णत्ते ?। गोयमा ! पणयालीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ सत्तावण्णे जोअणसए णव य एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता छच्चुण्णिआभाए अबाहाए बाहिरतच्चे चंदमंडले पण्णत्ते ॥

"जंबुद्दीवे" इत्यादिप्रश्नसूत्रं सुगमम्। उत्तरसूत्रे पञ्चचत्वारिंशद्योजनसहस्राणि द्वे च सप्तपञ्चाशदधिके योजनशते नव च एकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा षट् चूर्णिभाकाभागान् अबाधया बाह्यतृतीयं चन्द्रमण्डलं प्रज्ञप्तम्। उपपत्तिस्तु बाह्यद्वितीयमण्डलराशेस्तमेव षट्त्रिंशद्योजनादिकं राशिं पातयित्वा यथोक्तं मानमानेतव्यम्। (जं०) ज्यो०।

अथाबाधाविषयमभ्यन्तरचतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह—

एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे चंदे तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरं मंडलं संकममाणे २ छत्तीसं छत्तीसं जोअणाइं पणवीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता चत्तारि चुण्णिआभाए एगमेगे मंडले अबाहा वुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ॥

"एवं खलु" इत्यादि व्यक्तं नवरम्। अबाधायाः वृद्धिं निवर्धयन् २ ह्रापयन् ह्रापयन्नित्यर्थः।

अथ सर्वाभ्यन्तरादिमण्डलायामाद्याह—

सव्वब्भंतरे णं भंते ! चंदमंडले केवइअं आयामविक्खंभे-णं केवइअं परिक्खेवेणं पत्रत्ते ?। गोयमा ! णवणउइं जोअणसहस्साइं छच्च चत्ताले जोअणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं पण्णरस जोअणसहस्साइं अउणाणउतिं च जोअणाइं किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं पन्नत्ते ।

"सव्वब्भंतरे णं" इत्यादि। सर्वाभ्यन्तरं भदन्त! चन्द्रमण्डलं कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्। गौतम ! नवनवतिं योजनसहस्राणि षट्चत्वारिंशदधिकानि योजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्यां त्रीणि च योजनलक्षाणि पञ्चदशयोजनसहस्राण्येकोननवतिं च योजनानि किंचिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्। उपपत्तिस्त्वत्राऽपि सूर्यमण्डलाधिकारे दर्शिता ।

अथ द्वितीयम्—

अब्भंतराणंतरे सा चेव पुच्छा ?। गोयमा ! णवणउइं जोअणसहस्साइं सत्त य बारसुत्तरे जोअणसए एगावण्णं च एगट्ठिभागे जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता एगं चुण्णिआभागं आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं तिण्णि अ एगूणवीसे जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं ॥

"अब्भंतराणंतरे" इत्यादि । अभ्यन्तरानन्तरे सैव पृच्छा या सर्वाभ्यन्तरे मण्डले उत्तरसूत्रे । गौतम ! नवनवतिं योजनसहस्राणि सप्त द्वादशोत्तराणि योजनशतानि एकपञ्चाशतम् एकषष्टिभागान् योजनस्य एकं चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्वा एकं चूर्णिकाभागमायामविष्कम्भाभ्यां तथाहि—एकश्चन्द्रमा द्वितीये मण्डले संक्रामन् षट्त्रिंशद्योजनानि पञ्चविंशतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकस्य एकस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्कान् चतुरो भागान् विमुच्य संक्रामति। अपरतोऽपि तावन्त्येव योजनानि विमुच्य संक्रामति उभयमीलने जातं द्वासप्ततियोजनानि एकपञ्चाशदेकषष्टिभागा योजनस्य एकस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्क एकोनभागो द्वितीयमण्डले विष्कम्भाऽऽयामचिन्तायामधिकत्वेन प्राप्यते इति। तच्च पूर्वमण्डलराशौ प्रक्षिप्यते जायते यथोक्तं द्वितीयं मण्डलाऽऽयामविष्कम्भमानं त्रीणि योजनशतसहस्राणि त्रीणि चैकोनविंशत्यधिकानि योजनशतानि किञ्चिद्विशेषाऽधिकानि परिक्षेपेण द्वितीयं मण्डलं प्रज्ञप्तम् । उपपत्तिस्तु प्रथममण्डलपरिरये द्वासप्तति योजनादीनां परिरये त्रिंशदधिकद्वियोजनशतरूपे प्रक्षिप्ते सति यथोक्तं मानम् ।

अथ तृतीयम्—

अब्भंतरतच्चे णं० जाव पन्नत्ता ?। गोयमा! णवणउइं जोअणसहस्साइं सत्त य पंचासीए जोअणसए इगतालीसं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता दोण्णि अ चुण्णिआभाए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं पण्णरसजोअणसहस्साइं पंच य इगुणापण्णे जोअणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं ।

"अब्भंतरतच्चे णं" इत्यादि । अभ्यन्तरतृतीये चन्द्रमण्डले यावत्पदात् "चंदमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं" इति ग्राह्यम् । उत्तरसूत्रे गौतम ! नवनवतियोजनसहस्राणि सप्त च पञ्चाशीत्यधिकानि योजनशतानि एकचत्वारिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च षष्टिभागं सप्तधा छित्वा द्वौ च चूर्णिकाभागावायामविष्कम्भाभ्याम्। अथ द्वितीयमण्डलगतराशौ द्वासप्ततिं योजनान्येकपञ्चाशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च चूर्णिकाभागं प्रक्षिप्य यथोक्तं मानमानेतव्यं त्रीणि योजनलक्षाणि पञ्चदशयोजनसहस्राणि पञ्च चैकोनपञ्चाशदधिकानि योजनशतानि किंचिद्विशेषाधिकानि परिक्षेपेण इह पूर्वमण्डलं परिरयराशौ द्वे योजनशते त्रिंशदधिके प्रक्षिप्योपपत्तिः कार्या । (जं०) ज्यो० ।

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह—

एवं खलु एएणं उवाएणं णिक्खममाणे चंदे० जाव संकममाणे संकममाणे बावत्तरिं बावत्तरिं जोअणाइं एगावण्णं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता एगं चुण्णिआभागं एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं अभिवुड्ढेमाणे २ दो दो तीसाइं जोअणसयाइं परिरयवुड्ढिं अभिवड्ढेमाणे २ सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ।

"एवं खलु" इत्यादि पूर्ववत् । निष्क्रामँश्चन्द्रो यावत्पदात् "तयाणंतराओ मंडलाओ तयाणंतरमंडलं" इति ग्राह्यम्। संक्रामन् संक्रामन् द्वासप्ततिं २ योजनानि । योजना-न संख्या पदगता वीप्सा भागसंख्यापदेष्वपि ग्राह्या तेनैकपञ्चाशतम् एकपञ्चाशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्वा एकमेकं चूर्णिकाभागमेकैकस्मिन्मण्डले विष्कम्भवृद्धिमभिवर्द्धयन् २ द्वे द्वे त्रिंशदधिके योजनशते परिरयवृद्धिमभिवर्द्धयन् २ सर्वबाह्यं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरतीति । (जं०) ज्यो० ।

संप्रति पश्चानुपूर्व्या पृच्छति—

सव्वबाहिरए णं भंते ! चंदमंडले केवइअं आयामविक्खंभेणं केवइअं परिक्खेवेणं पन्नत्ते। गोअमा ! एगं जोअणसयसहस्सं। छच्च सट्ठे जोअणसयसहस्सं। छच्च सट्ठे जोअणसए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं अट्ठारससहस्साइं तिण्णि अ पण्णरसुत्तरे, जोअणसए परिक्खेवेणं ॥

"सव्वबाहिरए णं" इत्यादि । सर्वबाह्यं भदन्त ! चन्द्रमण्डलं कियदायामविष्कम्भाभ्यां कियत्परिक्षेपेण प्रज्ञप्तम्। गौतम ! एकं योजनलक्षं षट्षष्टानि षट्षष्ट्यधिकानि योजनशतान्यायामविष्कम्भाभ्याम् उपपत्तिस्तु जम्बूद्वीपो लक्षम् उभयोः प्रत्येकं त्रीणि योजनशतानि त्रिंशदधिकानि उभयमीलने योजनानां षट्शतानि षष्ट्यधिकानीति । त्रीणि च योजनलक्षाणि अष्टादशसहस्राणि त्रीणि च पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि परिक्षेपेण । अत्रोपपत्तिः—जम्बूद्वीपपरिधौ षष्ट्यधिकषट्शतपरिधौ प्रक्षिप्ते भवति यथोक्तं मानम् ।

अथ द्वितीयम्—

बाहिराणंतरे णं पुच्छा ?। गोयमा ! एगं जोअणसयसहस्सं

पंचसत्तारीसं जोअणसए णव य एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता छ चुण्णिआभाए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं अट्ठारससहस्साइं पंचासीइं च जोअणाइं परिक्खेवेणं ॥

" बाहिराणं" इत्यादि । बाह्यानन्तरं द्वितीयं मण्डलमित्यर्थः । पृच्छेति प्रश्नालापकस्तथैव उत्तरसूत्रे गौतम ! एकयोजनलक्षं पञ्चसप्ताशीत्यधिकानि योजनशतानि नव चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं च एकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा षट् चूर्णिकाभागान् आयामविष्कम्भाभ्याम । अत्रोपपत्तिः-पूर्वराशेर्द्वासप्तति योजनान्येकं पञ्चाशत चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य एकं भागमपनीय कर्तव्या त्रीणि योजनलक्षाणि अष्टादश सहस्राणि पञ्चाशीतिं योजनानि परिक्षेपेण सर्वबाह्यमण्डलपरिधेः द्वे शते त्रिंशदधिके योजनानामपनयने यथोक्तं मानम् ।

अथ तृतीयम्-

बाहिरतच्चे णं भंते ! चंदमंडले पण्णत्ते। गोयमा ! एगं जोअणसयसहस्सं पंचदसुत्तरे जोअणसए एगूणवीसं च एगसट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता पंच चुण्णिआभाए आयामविक्खंभेणं तिण्णि अ जोअणसयसहस्साइं सत्तरससहस्साइं अट्ठ य पणपण्णे जोअणसए परिक्खेवेणं ॥

" बाहिरतच्चे णं " इत्यादि । बाह्यतृतीयं भदन्त ! चन्द्रमण्डलं यावच्छब्दात् सर्वं प्रश्नसूत्रं ज्ञेयम् उत्तरसूत्रे गौतम ! एकं योजनलक्षं पञ्चदशोत्तराणि योजनशतानि एकोनविंशतिं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकं चैकषष्टिभागं सप्तधा छित्त्वा पञ्च चूर्णिकाभागान् आयामविष्कम्भाभ्याम् । अत्र संगतिस्तु द्वितीयमण्डलराशेः द्वासप्ततियोजनादिकं राशिमपनीय कार्या त्रीणि योजनलक्षाणि सप्तदशसहस्राणि अष्ट च पञ्चपञ्चाशदधिकानि योजनशतानि परिक्षेपेण उपपत्तिस्तु पूर्वराशेर्द्वे शते त्रिंशदधिकेऽपनीय कार्या ।

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह-

एवं खलु एएणं उवाएणं पविसमाणे चंदे० जाव संकममाणे २ बावत्तरिं२जोअणाइं एगावण्णं च एगट्ठिभाए जोअणस्स एगट्ठिभागं च सत्तहा छेत्ता एगं चुण्णिआभागं एगमेगे मंडले विक्खंभवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे २ दो दो तीसाइं जोअणसयाइं परिरयवुड्ढिं णिवुड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ॥

" एवं खलु " इत्यादि पूर्ववत् । प्रविशँश्चन्द्रो यावत्पदात् "तयाणंतराओ मंडलाओ तयणंतरं मंडलमिति" ग्राह्यम् । संक्रामन् २ द्वासप्ततिं २ योजनानि एकं पञ्चाशतमेकपञ्चाशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य एकषष्टिभागं च सप्तधा छित्त्वा एकमेकं चूर्णिकाभागमेकैकस्मिन् मण्डले विष्कम्भवृद्धिं निवर्द्धयन् २ ह्रापयन् ह्रापयन्नित्यर्थः । द्वे द्वे त्रिंशदधिके योजनशते परिरयवृद्धिं निवर्द्धयन् २ ह्रापयन् ह्रापयन्नित्यर्थः। सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति ।

अथ मुहूर्तगतिप्ररूपणा—

जया णं भंते ! चंदे सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ ! गोयमा ! पंचजोअणसहस्साइं तेवत्तरिं च जोअणाइं सत्तत्तरिं च चोआले भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं सहस्सेहिं सत्तहिं अ पणवीसे छेत्ता ॥

" जया णं " इत्यादि पूर्ववत् । भदन्त ! चन्द्रः सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति । तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति । भगवानाह-गौतम ! पञ्चयोजनसहस्राणि त्रिसप्ततिं च योजनानि सप्तसप्ततिं च चत्वारिंशदधिकानि भागशतानि गच्छति । कस्य सत्का भागा इत्याह-मण्डलं प्रक्रमात् सर्वाभ्यन्तरं त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिश्च शतैः पञ्चविंशत्यधिकभागैः छित्त्वा विभज्यैतत् पञ्चसहस्रयोजनादिकं गतिपरिमाणमानेतव्यं तथाहि-प्रथमतः सर्वाभ्यन्तरमण्डलं परिधिः योजन ३१५०८९ रूपो द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम् ६६६३४६ ६९ अस्य राशेः त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि पञ्चयोजनसहस्राणि त्रिसप्तत्यधिकानि अंशाश्च सप्ततिशतानि चतुश्चत्वारिंशदधिकाः— ५०७३ ननु यदि मण्डलपरिधिः त्रयोदशसहस्रादिकेन राशिना भाज्यस्तर्हि किमित्येकविंशत्यधिकाभ्यां द्वाभ्यां ७७४४/१३७२५ शताभ्यां मण्डलपरिधिर्गुण्यते उच्यते चन्द्रस्य मण्डलपूरणकालाद् द्वाषष्टिमुहूर्ता एकस्य च मुहूर्तस्य सत्का त्रयोविंशतिरेकविंशत्यधिकशतद्वयभागाः । अस्य च प्रायणा चन्द्रस्य मुहूर्तभागगत्यवसरे विधास्यते मुहूर्तानां सवर्णनार्थमेकविंशत्यधिकशतद्वयेन गुणने त्रयोविंशत्यंशप्रक्षेपे च जातम् १३७२५ अतः समभागानयनार्थं मण्डलस्याप्येकविंशत्यधिकशतद्वयेन गुणनं संगतमेवेति। अयं भावः—यथा सूर्यः षष्ट्या मुहूर्तैर्मण्डलं समापयति शीघ्रगतित्वात् लघुविमानगामित्वाच्च । तथा चन्द्रो द्वाषष्ट्या मुहूर्तैस्त्रयोविंशत्यधिकशतद्वयभागैर्मण्डलं पूरयति। मन्दगतित्वाद् गुरुविमानगामित्वाच्च तेन मण्डलपूर्तिकालेन मण्डलपरिधिर्भक्तः सन् मुहूर्तगतिं प्रयच्छतीति सर्वसंमतमाह एकविंशत्यधिकशतद्वयभागकरणे किं बीजमिति चेदुच्यते-मण्डलकालानयने अस्यैव छेदराशेः समानयनात् मण्डलकालनिरूपणार्थमिदं त्रैराशिकं यदि सप्तदशशतैः अष्टषष्ट्यधिकैः सकलयुगवर्तिभिः अर्द्धमण्डलैरष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि रात्रिन्दिवानां लभ्यन्ते ततो द्वाभ्यामर्धमण्डलाभ्यामेकेन मण्डलेनेति भावः । कति रात्रिन्दिवानि लभ्यन्ते । राशित्रयस्थापना-१७६८। १८३० । २ । अत्रान्त्येन राशिना द्विकलक्षणेन मध्यस्य राशेः १८३० रूपस्य गुणने जातानि षट्त्रिंशच्छतानि षष्ट्यधिकानि ३६६० तेषामाद्येन राशिना १७६८ रूपेण भागे हृते लब्धे द्वे द्वे रात्रिन्दिवे । शेषं तिष्ठति-चतुर्विंशत्यधिकं शतम् १२४ तत एकस्मिन् त्रिंशन्मुहूर्ता इति तस्य त्रिंशता गुणने जातानि सप्तत्रिंशच्छतानि विंशत्यधिकानि ३७२० तेषां सप्तदशभिः शतैः अष्टषष्ट्यधिकैर्भागे हृते लब्धौ द्वौ मुहूर्तौ शेषाः १८४ अथ छेद्यछेदकराश्योरष्टकेनापवर्तने जाते छेद्यो राशिस्त्रयोविंशतिः छेदकराशिरेकविंशत्यधिकशतद्वयरूप इति । (जं०) ज्यो० ।

अथाऽस्य दृष्टिपथप्राप्ततामाह—

जया णं इहगयस्स मणूसस्स सीआलीसाए जोअणसह-

स्सेहिं दोहि अ तेवट्ठेहिं जोअणसएहिं एगवीसाए अ स-ट्ठिभाएहिं जोअणस्स चंदे चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ ॥

"तया णं इहगयस्स" इत्यादि। तदा इहगतानां मनुष्याणां सप्तचत्वारिंशता योजनसहस्रैर्द्वाभ्यां च त्रिषष्ट्यधिकाभ्यां योजनशताभ्यामेकविंशत्या च षष्टिभागैर्योजनस्य चन्द्रः चक्षुःस्पर्शं शीघ्रमागच्छति। अत्रोपपत्तिः सूर्याधिकारे दर्शिताऽपि किञ्चिद्विशेषाभिधानाय दर्श्यते-यथा सूर्यस्य सर्वाभ्यन्तरमण्डले जम्बूद्वीपचक्रवालपरिधिर्दशभागीकृतस्य दशत्रिभागान् यावत्तापक्षेत्रं तथाऽस्याऽपि प्रकाशक्षेत्रं तावदेव पूर्वतोऽपरतश्च तस्यार्द्धं चक्षुःपथप्राप्ततामायाति। यत्तु षष्टिभागीकृतयोजनस्यैकविंशतिभागाधिकत्वं तत्तु संप्रदायगम्यम्। अन्यथा चन्द्राधिकारे साधिकद्वाषष्टिमुहूर्त्तप्रमाणमण्डलपूर्तिकालस्य छेदराशित्वेन गणनात् सूर्याधिकारे षष्टिमुहूर्त्तप्रमाणमण्डलपूर्तिकालरूपस्य छेदराशेरनुपपद्यमानत्वात्।

अथ द्वितीयमण्डले मुहूर्त्तगतिमाह-

जया णं भंते! चंदे अब्भंतराणं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ० जाव केवइअं खेत्तं गच्छइ। गोयमा! पंचजोअणसहस्साइं सत्तत्तरिं च जोअणाइं छत्तीसं च चोअत्तरे भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं सहस्सेहिं० जाव छेत्ता।

"जया णं भंते!" इत्यादि। यदा भदन्त! चन्द्रः अभ्यन्तरानन्तरं द्वितीयं मण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। यावत्पदात् "तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं" इति गम्यते। कियत् क्षेत्रं गच्छति। गौतम! पञ्चयोजनसहस्राणि सप्तसप्ततिं च योजनानि षट्त्रिंशतं च चतुःसप्तत्यधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिः सहस्रैः। यावत्पदात् "सत्तहिं अपणवीसेहिं" इति ग्राह्यम्। छित्त्वा विभज्य एतत् सूत्रं प्राग्व्याख्यातार्थमिति नेह पुनरुच्यते। अत्रोपपत्तिः-द्वितीयचन्द्रमण्डले परिरयपरिमाणम् ३१५३१९ एतत् द्वाभ्यामेकविंशताभ्यां गुण्यते जातम् ६६६८५४६९ एषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि पञ्चयोजनसहस्राणि सप्तसप्तत्यधिकानि ५०७७ शेषं षट्त्रिंशच्छतानि चतुःसप्तत्यधिकानि भागानाम् ३६७४

१३७२५

अथ तृतीयं--

जया णं भंते! चंदे अब्भंतरतच्चं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ गोअमा! पंचजोअणसहस्साइं असीइं च जोअणाइं तेरस य भागसहस्साइं तिण्णि अ एगूणतीसे भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं० जाव छेत्ता।

"जया णं" इत्यादि। यदा भदन्त! चन्द्रः अभ्यन्तरतृतीयमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति। गौतम! पञ्चयोजनसहस्राणि अशीतिं च योजनानि त्रयोदश च भागसहस्राणि त्रीणि च एकोनत्रिंशदधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिः सहस्रैरित्यादि पूर्ववत्। अत्रोपपत्तिर्यथा-अत्र मण्डले परिरयः ३१५५४९ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम् ६६७३६३२९ एषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि पञ्चसहस्राण्यशीत्यधिकानि ५०८० शेषं त्रयोदशसहस्राणि त्रीणि शतान्येकोनत्रिंशदधिकानि भागानाम् १३३२९

१३७२५

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह-

एवं खलु एएणं उवाएणं निक्खममाणे चंदे तयाणंतराओ० जाव संकममाणे २ तिण्णि २ जोअणाइं छण्णउइं च पंचावण्णे भागसए एगमेगे मंडले मुहुत्तगई अभिवड्ढेमाणे २ सव्वबाहिरमंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ॥

"एवं खलु एएणं" इत्यादि पूर्ववत्। निष्क्रामन् चन्द्रस्तदनन्तरात् यावच्छब्दात् मण्डलात्तदनन्तरं मण्डलं संक्रामन् संक्रामन् त्रीणि २ योजनानि षण्णवतिं च पञ्चपञ्चाशदधिकानि भागशतान्येकैकस्मिन्मण्डले मुहूर्त्तगतिमभिवर्द्धयन्। सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। कथमेतदवसीयते इति चेदुच्यते-प्रतिचन्द्रमण्डले परिरयवृद्धि द्वे शते त्रिंशदधिके २३० अस्य च त्रयोदशसहस्राधिकेन राशिना भागे हृते लब्धानि त्रीणि योजनानि शेषं षण्णवतिपञ्चपञ्चाशदधिकानि भागशतानि। ३

९६५५
१३७२५

अथ पश्चानुपूर्व्या पृच्छति-

जया णं भंते! चंदे सव्वबाहिरे मंडले उवसंकमित्ता चारं चरइ, तया णं एगमेगेणं मुहुत्तेणं केवइअं खेत्तं गच्छइ। गोअमा! पंचजोअणसहस्साइं एगं च पणवीसं जोअणसयं अउणत्तरिं च णउए भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं भागसहस्सेहिं सत्तहिं अ० जाव छेत्ता।

"जया णं" इत्यादि। यदा भदन्त! चन्द्रः सर्वबाह्यमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति। तदा एकैकेन मुहूर्त्तेन कियत् क्षेत्रं गच्छति। गौतम! पञ्चयोजनसहस्राणि एकं च पञ्चविंशत्यधिकं योजनशतमेकोनसप्ततिं च नवत्यधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिर्भागसहस्रैः सप्तभिश्च यावच्छेदात् पञ्चविंशत्यधिकैः शतैर्विभज्य अत्रोपपत्तिः-अत्र मण्डले परिरयपरिमाणम्। ३१८३१५ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम् ७०३४७६१५ एषां त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैर्भागे हृते लब्धानि ५१२५ शेषं भागाः। ६९९०

१३७२५

अथास्य मण्डले दृष्टिपथप्राप्ततामाह-

तया णं इहगयस्स मणूसस्स एकतीसाए जोअणसहस्सेहिं अट्ठहिं अ एगतीसेहिं जोअणसएहिं चंदे चक्खुप्फासं हव्वमागच्छइ।

"तया णं" इति तदा सर्वबाह्यमण्डलचारकाले इहगतानां मनुष्याणामेकत्रिंशता योजनसहस्रैः अष्टभिश्चैकत्रिंशदधिकैर्योजनशतैश्चन्द्रश्चक्षुःस्पर्शं शीघ्रमागच्छति। अत्र सूर्याधिकारोक्तम्-"तीसाए सट्ठिभाए" इत्यधिकमन्तव्यम्। उपपत्तिस्तु प्राग्वत्।

अथ द्वितीयमण्डलम्-

जया णं भंते! बाहिराणंतरं पुच्छा?। गोअमा! पंचजोअणसहस्साइं एकं च एक्कवीसं जोअणसयं एक्कारस य सट्ठि भागसहस्से गच्छइ मंडलं तेरसहिं० जाव छेत्ता॥

"जया णं" इत्यादि । यदा भदन्त ! सर्वबाह्यानन्तरं द्वितीयमित्यादि प्रश्नः प्राग्वत् । गौतम ! पञ्चयोजनसहस्राणि एकं चैकविंशत्यधिकं योजनशतम् एकादश च षष्ट्यधिकानि भागसहस्राणि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिर्यावत्पदात् सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैः छित्वा । अत्रोपपत्तिः-अत्र मण्डले परिरयः ३१८०८५ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम्-७०२६६२८५ एषां १३७२५ एभिर्भागे हृते लब्धम् ५१२१ शेषम् । ११०६०/१३७२५

अथ तृतीयम्-

जया णं भंते ! बाहिरतच्चं पुच्छा । गोअमा ! पंचजोअणसहस्साइं एगं च अट्ठारसुत्तरं जोअणसयं चोद्दस य पंचुत्तरे भागसए गच्छइ मंडलं तेरसहिं सहस्सेहिं सत्तहिं पणवीसेहिं सएहिं छेत्ता ।

"जया णं" इत्यादि । यदा भदन्त ! सर्वबाह्यमण्डलमित्यादि प्रश्नः प्राग्वत् । गौतम ! पञ्चयोजनसहस्राण्येकं चाष्टादशाधिकं योजनशतं चतुर्दशपञ्चाधिकानि भागशतानि गच्छति मण्डलं त्रयोदशभिः सहस्रैः सप्तभिः शतैः पञ्चविंशत्यधिकैः छित्वा । अत्रोपपत्तिः-अत्र मण्डले परिरयपरिमाणम् ३१७८५५ एतद् द्वाभ्यामेकविंशत्यधिकाभ्यां शताभ्यां गुण्यते जातम् । ७०२४५९५५ एषां १३७२५ एभिर्भागे हृते लब्धम् ५११८ शेषं भागाः १४०५/१३७२५

अथ चतुर्थादिमण्डलेष्वतिदेशमाह-

एवं खलु एएणं उवाएणं० जाव संकममाणे २ तिण्णि २ जोअणाइं छण्णउतिं च पंचावन्ने भागसए एगमेगे मंडले मुहुत्तगइं णिवुड्ढेमाणे २ सव्वब्भंतरं मंडलं उवसंकमित्ता चारं चरइ ॥

"एवं खलु" इत्यादि । एतेनोपायेन यावच्छब्दात् "पविसमाणे चंदे तयणंतराओ मंडलाओ तयणंतरं मंडलं" इति ग्राह्यं संक्रामन् २ त्रीणि २ योजनानि षण्णवतिं च पञ्च पञ्चाशदधिकानि भागशतानि एकैकस्मिन्मण्डले मुहूर्तगतिं निवर्द्धयन् सर्वाभ्यन्तरमण्डलमुपसंक्रम्य चारं चरति । उपपत्तिः पूर्ववत् । अत्र सर्वाभ्यन्तरसर्वबाह्यचन्द्रमण्डलयोर्दृष्टिपथप्राप्तता दर्शिता शेषमण्डलेषु तु सा अत्र ग्रन्थे चन्द्रप्रज्ञप्तिबृहत्क्षेत्रसमासवृत्त्यादिषु च पूर्वैः क्वापि न दर्शिता तेनात्र न दर्श्यत इति । जं० ७ वक्ष० ।

चन्द्रार्द्धमासे चन्द्रमण्डलानि-

ता चंदे णं अद्धमासे णं चंदे कति मंडलाइं चरति ? । ता चोद्दस चउब्भागमंडलाइं चरति, एगं च चउवीससतभागं मंडलस्स आइच्चेणं अद्धमासेणं चंदे कति मंडलाइं चरति, ता सोलस मंडलाइं चरति, सोलसमंडलचारी तदा अवराइं खलु दुवे अट्ठकाइं । जाइं चंदे केणइ असामण्णकाइं सयमेव पविट्ठित्ता २ चारं चरति, कतराइं खलु दुवे अट्ठकाइं जाइं चंदे केणइ असामण्णकाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति । इमाइं खलु दुवे अट्ठगाइं जाइं चंदे केण य असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता २ चारं चरति । तं जहा-निक्खममाणे चेव अमावासांतेणं पविसमाणे चेव पुण्णिमासितेणं एताइं खलु दुवे अट्ठगाइं जाइं चंदे केणइं असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता २ चारं चरति । ता पढमायणगते चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे सत्त अद्धचंदमंडलाइं जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति । कतराइं खलु ताइं सत्त अद्धमंडलाइं से जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति । इमाइं खलु ताइं सत्तअद्धमंडलाइं जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति, तं बि दिए अद्धमंडले चउत्थे अद्धमंडले छट्ठे अद्धमंडले अट्ठमे अद्धमंडले दसमे अद्धमंडले बारसे अद्धमंडले चउदसमे अद्धमंडले एताइं खलु ताइं सत्तअद्धमंडलाइं जाइं चंदे दाहिणाते भागाते पविसमाणे चारं चरति, ता पढमायणगते चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे अद्धमंडलाइं तेरस य सत्तट्ठिभागाइं अद्धमंडलस्स जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति, कतराइं खलु ताइं अद्धमंडलाइं सत्तट्ठिभाइं अद्धमंडलस्स जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति । इमाइं खलु ताइं अद्धमंडलाइं तेरससत्तट्ठिभागाइं अद्धमंडलस्स जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति, तं जहा-ततिए अद्धमंडले पंचमे अद्धमंडले सत्तमे अद्धमंडले नवमे अद्धमंडले एकारसमे अद्धमंडले तेरसमे अद्धमंडले पन्नरसमे अद्धमंडलस्स तेरससत्तट्ठिभागाइं एताइं खलु ताइं अद्धमंडलाइं तेरसयसत्तट्ठिभागाइं अद्धमंडलस्स जाइं चंदे उत्तराते भागाते पविसमाणे चारं चरति । एतावता य पढमे चंदायणे सम्मत्ते भवति ॥१॥ ता नक्खत्ते अद्धमासे नो चंदे अद्धमासे चंदे अद्धमासे नो णक्खत्ते अद्धमासे ता नक्खत्ताओ अद्धमासातो चंदेणं अद्धमासेणं किमधियं चरति, ता एगं अद्धमंडलं चरति चत्तारि य सत्तट्ठिभागाइं अद्धमंडलस्स सत्तट्ठिभागं च एक्कतीसाए छेत्ता णवभागाइ ता दोच्चायणगते चंदे पुरच्छिमाते भागाते णिक्खममाणे सत्तचउपण्णाइं जाइं चंदे परस्स चिण्णं परिचरति । सत्ततेरसकाइं जाइं चंदे अप्पणो चिण्णं पामिचरति ता-दोच्चायणगते चंदे पच्चच्छिमाए भागाए निक्खममाणे-छचउप्पण्णाइं जाइं चंदे परस्स चिण्णं परिचरति, छत्तेरसगाइ चंदे अप्पणो चिण्णं परिचरति । अवराइं खलु दुवे तेरसगाइ जाइं चंदे केणइ असामन्नगाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति, कतराइं खलु ताइं दुवेतेरसगाइं जाइं चंदे केणइं असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति, इमाइं खलु ताइं दुवे तेरसगाइ जाइं चंदे केणइं असामण्णगाइं सयमेव पविट्ठित्ता २

चारं चरति । सव्वब्भंतरे चेव मंमले सव्वबाहिरे चेव मंमले एयाणि खलु ताणि डुवे तेरसगाइं चंदे केणइं जाव चारं चरइ, एतावता दोचे चंदायणे समत्ते नवति॥२॥ ता णक्खत्ते मासे नो चंदे मासे चंदे मासे णो णक्खत्ते मासे ता णक्खत्तातो मासाओ चंदेणं मासेण किमधियं चरति?, ता दो अच्छमंडलाइं चरति अह य सत्तहिनागाइं अच्छमंडलस्स सत्तहिनागं च एकतीसधा छेत्ता अट्ठारस नागाइं ता तच्चायणगते चंदे पच्चच्छिमाते नागाए पविसमाणे बाहिराहिणंतरस्स पच्चच्छिमिल्लस्स अच्छमंडलस्स इत्तालीसं सत्तहिभागाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स य चिणं पमिचरति,तेरससत्तहिनागाइं जाइं चंदे परस्स चिणं पमिचरति, तेरससत्तहिनागाइं चंदे अप्पणो परस्स चिणं पमिचरति, एतावया च बाहिराणंतरे पच्चच्छिमिल्ले अच्छमंडले समत्ते नवति तच्चायणगते चंदे पुरच्छिमाए भागाए पविसमाणे बाहिरतच्चस्स पुरच्छिमिल्लस्स अच्छमंमलस्स इत्तालीसं सत्तहिभागाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स चिणं पमिचरति तेरससत्तहिनागाइं जाइं चंदे परस्स चिणं पमिचरति तेरससत्तहिभागाइं जाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स य चिएणं परियरति,एतावता च बाहिरतचे पुरमिल्ले अच्छमंमले सम्मत्ते नवति ता तच्चायणगते चंदे पच्चच्छिमाते नागाते पविसमाणे ३। बाहिरचउत्थस्स पच्चच्छिमिल्लस्स अच्छमंमलस्स अहसत्तहिनागाइं सत्तहिनागं च एगतीसधा छेत्ता अट्ठारस नागाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स य चिणं पमिचरति एतावता च बाहिरचउत्थे पच्चच्छिमिल्ले अच्छमंमले संमत्ते नवइ। एवं खलु चंदेणं मासेणं चंदे तेरसचउप्पणगाइं डुवे तेरसगाइं जाइं चंदे परस्स चिणं पमिचरति तेरस तेरस गाइं जाइं चंदे अप्पणो-चिणं पमियरति दुवे इत्तालीसगाइं अहसत्तहिभागाइं सत्तहिभागं च एकतीसधा छेत्ता अट्ठारस भागाइं जाइं चंदे अप्पणो परस्स य चिणं पमिचरति अवराइं खलु दुवे-तेरसगाइं जाइं चंदे केणइं असामएणगाइं सयमेव पविट्ठित्ता चारं चरति । इच्चेसा चंदमसो णिगमणपविक्खमणवुड्डिणिवुड्डितअणवट्ठिसंठाणसंठितीति उच्चणगहिपत्तेसु वि चंदे देवे देवे आहितेति वदेज्जा ।

"ता चंदेणं अद्धमासेणं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्। चन्द्रेण अर्द्धमासेन प्रागुक्तस्वरूपेण चन्द्रः कति मण्डलानि चरति?। नगवानाह-"ता चोद्द" इत्यादि । चतुर्दश सचतुर्भागमण्डलानि चरति । एकं च चतुर्विंशतिमं भागं मण्डलस्य किमुक्तं भवति परिपूर्णानि चतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य मण्डलस्य चतुर्भागं चतुर्विंशत्यधिकशतैकत्रिंशद्भागप्रमाणमेकं च चतुर्विंशतानभागं मण्डलस्य सर्वसंख्यया द्वात्रिंशत् पञ्चदशस्य मण्डलस्य चतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरतीति । कथमेतदवसीयते इति चेत् । उच्यते-त्रैराशिकबलात् तथाहियदि चतुर्विंशत्यधिकेन पर्वशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते । तत एकेन पर्वणा किं लभ्यते?। राशित्रयस्थापना-१२४।१७६८।१। अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते स च तावानेव जातस्तथाद्येन राशिना भागहरणं लब्धाश्चतुर्दश १४। शेषास्तिष्ठन्ति द्वात्रिंशत् ३२। तत्र छेद्यछेदकराइयोर्द्विकेनापवर्तना क्रियते । तत इदमागतं चतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य मण्डलस्य षोडश द्वाषष्टिनागाः १४। १६। उक्तं चैतदन्यत्रापि । " चोद्दस य मंमलाइं १२४, वि सहि भागा य सोलस हविज्जा । मासद्धेण उडुवई, एत्तियमित्तं चरइ खित्तं" । ॥ १ ॥ "ता आइच्चेणं" इत्यादि । आदित्येनार्द्धमासेन चन्द्रः कति ६२ मण्डलानि चरति । भगवानाह-"ता सोलस" इत्यादि। षोडश मण्डलानि चरति षोडशमण्डलचारी च तदा अपरे खलु द्वे अष्टके चतुर्विंशत्यधिकशतसत्का नागाष्टकमानौ यकोऽप्येषः सामान्ये केनाप्यनाचीर्णपूर्वे चन्द्रः स्वयमेव प्रविश्य २ चारं चरति । "तं कयराइं खलु दुवे" इत्यादिप्रश्नसूत्रं सुगमम् । नगवानाह-"इमा खलु दुवे" इत्यादि। इमे खलु अष्टके ये केनाप्यनाचीर्णपूर्वे चन्द्रः स्वयमेव प्रविश्य चारं चरति । तद्यथा-सर्वाज्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्निष्क्रामन् नैवामावास्यान्ते एकमष्टकं केनाप्यनाचीर्णे चन्द्रः प्रविश्य चारं चरति । सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं प्रविशन्नेव पौर्णमास्यन्ते द्वैतीयमष्टकं केनाप्यनाचीर्णपूर्वे चन्द्रः प्रविश्य चारं चरति । "एयाइं खलु दुवे अट्ठगाइं " इत्यादि । उपसंहारवाक्यं सुगमम् । इह परमार्थतो द्वौ चन्द्रौ एकेन चन्द्रेणार्धमासेन चतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य च मण्डलस्य द्वात्रिंशतं चतुर्विंशत्याधिकशतभागान् क्रमणेन पृथक्तः परं लोकरूढ्या व्यक्तिभेदमनपेक्ष्य जातिभेदमेव केवलमाश्रित्य चन्द्रश्चतुर्दशमण्डलानि पञ्चदशस्य मण्डलस्य द्वात्रिंशतं चतुर्विंशत्यधिकशतभागान् चरति इत्युक्तम्।अधुना एकश्चन्द्रमा एकस्मिन्नयने कति अर्धमण्डलानि दक्षिणभागे कत्युत्तरभागे च समाक्रम्यापूरयतीति प्रतिपिपादयिषुर्भगवानाह-" ता पढमायणगए चंदे " इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । प्रथमायनगते प्रथमायनं प्रविष्टश्चन्द्रो दक्षिणस्माद्भागादभ्यन्तरं प्रविशति सप्त अर्द्धमण्डलानि भवन्ति । यानि चन्द्रो दक्षिणस्माद्भागादभ्यन्तरं प्रविशन्नाक्रम्य चारं चरति । " कतराइं खलु " इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । भगवानाह-" इमाइं खलु " इत्यादि । इमानि खलु सप्तार्द्धमण्डलानि यानि चन्द्रो दक्षिणाद्भागादभ्यन्तरं प्रविशन्नाक्रम्य चारं चरति । तद्यथा-द्वितीयमर्द्धमण्डलमित्यादि सुगमम् नवरमियमत्र भावना-सर्वबाह्ये पञ्चदशे मण्डले परिभ्रमणेन पूरणमधिकृत्य परिपूर्णपाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिर्भवति ततोऽपरयुगप्रथमायनप्रवृत्तौ प्रथमेऽहोरात्रे एकश्चन्द्रमा दक्षिणभागादभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीयं मण्डलमाक्रम्य चारं चरति । स पाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिदिवसे उत्तरस्यां दिशि चारं चरितवान् स वेदितव्यः ततः स तस्मात् द्वितीयान्मण्डलात् शनैःशनैरभ्यन्तरं प्रविशन् द्वितीये अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरं तृतीयमर्द्धमण्डलमाक्रम्य चारं चरति । तृतीये अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि चतुर्थमण्डलं चतुर्थे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि पञ्चममर्द्धमण्डलं पञ्चमे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि षष्ठमर्द्धमण्डलं षष्ठे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि सप्तममर्द्धमण्डलं सप्तमे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि अष्टममर्द्धमण्डलमष्टमेऽहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि

नवममर्द्धमण्डलं नवमे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि दशममर्द्धमण्डलं दशमे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि एकादशमर्द्धमण्डलमेकादशे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि द्वादशमर्द्धमण्डलं द्वादशे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि त्रयोदशमर्द्धमण्डलं त्रयोदशे अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि चतुर्दशमर्द्धमण्डलं चतुर्दशे अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि पञ्चदशस्यार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागानाक्रम्य चारं चरति । एतावता च कालेन चन्द्रस्याऽयनपरिसमाप्तिः चन्द्रायणं हि नक्षत्रमासप्रमाणं तेन नक्षत्रार्द्धमासेन चन्द्रचारे सामान्यतस्त्रयोदश मण्डलानि चतुर्दशस्य च मण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागा लभ्यन्ते । तथा हि-यदि चतुस्त्रिंशदधिकेनायनशतेन सप्तदशशतान्यष्टषष्टिसहितानि मण्डलानां लभ्यन्ते । तत एकेनायनेन किं लभामहे । राशित्रयस्थापना–१३४।१७६८।१। अत्रान्त्येन राशिना एकलक्षणेन मध्यराशिर्गुण्यते जातः स तावानेव ततस्तस्याद्येन राशिना चतुस्त्रिंशदधिकशतरूपेण भागहरणं लब्धास्त्रयोदश शेषास्तिष्ठन्ति षड्विंशतिः । तत्र छेद्यछेदकराश्योर्द्विकेनापवर्तना लब्धास्त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः उक्तं च "तेरस य मंडलाणि य, तेरस सत्तट्ठि चेव भागा य । अयणेण चरइ सोमो, नक्खत्तेणऽद्धमासेण" ॥१॥ एतच्च सामान्यत उक्तं विशेषचिन्तायां चैकस्य चन्द्रसो युगस्य प्रथमे अयने यथोक्तेन प्रकारेण दक्षिणभागादभ्यन्तरप्रवेशे द्वितीयादीन्येकान्तरितानि चतुर्दशपर्यन्तानि सप्तार्धमण्डलानि लभ्यन्ते उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशे तृतीयादीन्येकान्तरितानि त्रयोदशपर्यन्तानि षट्परिपूर्णान्यर्द्धमण्डलानि सप्तमस्य तु पञ्चदशमण्डलगतस्यार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः एतावता च यद्वक्ष्यति उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशचिन्तायाम् "छप्प अद्धमंडले" इत्यादिसूत्रं तदपि भावितमेव । संप्रति दक्षिणभागादभ्यन्तरप्रवेशे यानि सप्तार्द्धमण्डलान्युक्तानि तदुपसंहारमाह-"एयाइं" इत्यादि । सुगमम् अधुना तस्यैव चन्द्रमसस्तस्मिन्नेव प्रथमे अयने उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशे यावन्त्यर्द्धमण्डलानि भवन्ति तावन्ति विवक्षुराह- "ता पढमायणगए" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् प्रथमायनगते युगस्यादौ प्रथममयनं प्रविष्टे चन्द्रे उत्तरभागादभ्यन्तरं प्रविशति । षट् अर्द्धमण्डलानि भवन्ति । सप्तमस्य चार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागा यानि चन्द्र उत्तरभागादभ्यन्तरं प्रविशन् आक्रम्य चारं चरति । "कयराइं खलु" इत्यादि । प्रश्नसूत्रं सुगमम् । "इमाइं खलु" इत्यादिनिर्वचनसूत्रम् । एतच्च प्रागेव भावितम् । "एयाइं खलु" इत्यादि । निगमनवाक्यं निगदसिद्धम् । "एतावता" इत्यादि । एतावता कालेन प्रथमं चन्द्रस्यायनं समाप्तं भवति । एतदपि प्राग्भावितं तदेवं पाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिचरमदिवसे य उत्तरस्यां दिशि चारं चरितवान् तस्याऽभिनवयुगपक्षे प्रथमे अयने यावन्ति दक्षिणभागाभ्यन्तरप्रवेशेऽर्द्धमण्डलानि यावन्ति चोत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशे तावन्ति साक्षादुक्तानि एतदनुसारेण द्वितीयस्याऽपि चन्द्रमसस्तस्मिन्नेव प्रथमे चन्द्रायणेऽर्द्धमण्डलानि वक्तव्यानि तानि चैवं स पाश्चात्ययुगपरिसमाप्तिचरमदिवसे दक्षिणदिग्भागे सर्वबाह्ये मण्डले चारं चरित्वा अभिनवस्य युगस्य प्रथमे अयने प्रथमेऽहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि द्वितीयमर्द्धमण्डलं प्रविश्य चारं चरति । द्वितीये अहोरात्रे दक्षिणस्यां दिशि सर्वबाह्यतृतीयमर्द्धमण्डलं प्रविश्य चारं चरति । तृतीये अहोरात्रे उत्तरस्यां दिशि । चतुर्थमण्डलमित्यादि । प्रागुक्तानुसारेण सकलमपि वक्तव्यः । तदेवमस्य चन्द्रमसः प्रथमे अहोरात्रे उत्तरभागादभ्यन्तरप्रवेशचिन्तायां द्वितीयादीन्येकान्तरितानि चतुर्दशपर्यन्तानि सप्तार्द्धमण्डलानि भवन्ति । दक्षिणभागादभ्यन्तरप्रवेशचिन्तायां तृतीयादीन्येकान्तरितानि त्रयोदशपर्यन्तानि षट् अर्धमण्डलानि भवन्ति । पञ्चदश चार्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः । एवं च सति यावत् चन्द्रस्यार्धमासस्तावान्नक्षत्रस्यार्धमासो न भवति । किं तु ततो न्यून इति सामर्थ्यात्सत् द्रष्टव्यम् । तथा चाह-"ता नक्खत्तेणं" इत्यादि । यद्येवमेकस्मिन्नयने नक्षत्रार्धमासरूपे सान्यतश्चन्द्रमसस्त्रयोदश मण्डलानि चतुर्दशस्य च मण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागाः । 'ता' इति ततो नक्षत्रार्धमासश्चान्द्रोऽर्धमासो न भवति चान्द्रे अर्धे मासे चतुर्दशानां मण्डलानां पञ्चदशस्य चन्द्रमण्डलस्य द्वात्रिंशतश्चतुर्विंशत्यधिकशतभागानां प्राप्यमाणत्वात् । "इह नक्षत्रोऽर्धमासश्चान्द्रोऽर्धमासो न भवति" इत्युक्तौ नक्षत्रार्द्धमासः चान्द्रोऽर्द्धमासो न भवति । यस्तु चान्द्रोऽर्द्धमासः स कदाचिन्नक्षत्रोऽप्यर्द्धमासः स्यात् । यथा "परमाणुरप्रदेश" इत्युक्तौ परमाणुरप्रदेश एव यस्त्वप्रदेशः स परमाणुरपि भवति अपरमाणुश्च क्षेत्रप्रदेशादिरिति शङ्का स्यात् । ततस्तदपनोदार्थमाह-"चान्द्रोऽर्द्धमासो नक्षत्रोऽर्द्धमासो न भवति" एवमुक्तेन भगवान् गौतमो ! नक्षत्रार्द्धमासयोर्विशेषपरिज्ञानार्थमाह-"ता नक्खत्ताओ अद्धमासाओ" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । नक्षत्रात् अर्द्धमासात्ते तव मतेन भगवन् ! चन्द्रश्चान्द्रेणाऽर्द्धमासेन किमधिकं चरति । भगवानाह-"ता एगं" इत्यादि । एकमर्द्धमण्डलं द्वितीयस्य चार्द्धमण्डलस्य चतुःसप्तषष्टिभागानेकस्य च सप्तषष्टिभागस्य एकत्रिंशधाविभिन्नस्य सत्कान् नवभागानधिकं चरति । कथमेतदवसीयते इति चेत् ? उच्यते-त्रैराशिकबलात् तथाहि-यदि चतुर्विंशत्यधिकेन शतेन सप्तदशशतानि अष्टषष्ट्यधिकानि मण्डलानां लभ्यन्ते तत एकेन पर्वणा किं लभामहे ? । राशित्रयस्थापना–१२४ । १७६८ । १ । अत्रान्त्येन राशिना मध्यराशिर्गुण्यते जातः स तावानेव । तत आद्येन चतुर्विंशत्यधिकशतरूपेण राशिना भागहरणं छेद्यछेदकराश्योश्चतुष्केनापवर्तना, लब्धानि चतुर्दशमण्डलानि अष्टौ च एकत्रिंशद्भागा एतस्मान्नक्षत्रार्द्धमासगम्यं क्षेत्रं त्रयोदश मण्डलानि एकस्य च मण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागा इत्येवंप्रमाणः शोध्यते तत्र चतुर्दशभ्यस्त्रयोदश मण्डलानि शुद्धानि एकमवशिष्टं संप्रत्यष्टभ्य एकत्रिंशद्भागेभ्यस्त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः शोध्यास्तत्र सप्तषष्टिरष्टभिर्गुणितो जातानि पञ्चशतानि षट्त्रिंशदधिकानि ५३६ एकत्रिंशता त्रयोदश गुणिता जातानि चत्वारि शतानि त्र्युत्तराणि ४०३ एतानि पञ्चभ्य शतेभ्यः षट्त्रिंशदधिकेभ्यः शोध्यन्ते स्थितं शेषं त्रयस्त्रिंशदधिकं शतम् १३३ तत एतत् सप्तषष्टिभागानयनार्थं सप्तषष्ट्या गुण्यते जातानि नवाशीतिशतान्येकादशाधिकानि=८९११ छेदराशिमौल एकत्रिंशत्सप्तषष्ट्या गुण्यते जाते द्वे सहस्रे सप्तसप्तत्यधिके २०७७ ताभ्यां भागो ह्रियते लब्धाः चत्वारः सप्तषष्टिभागाः । शेषाणि तिष्ठन्ति षट्शतानि त्र्युत्तराणि ६०३ ततश्छेद्यछेदकराश्योः सप्तषष्ट्यापवर्तना जाता उपरि नव अधस्तादेकत्रिंशल्लब्धाः एकस्य सप्तषष्टिभागस्य नव एकत्रिंशच्छेदकृताः भागाः । उक्तं च-"एगं च मंडलं मं-डलस्स सत्तट्ठि भाग चत्तारि । नव चेव चुण्णिया उ, इगतीसकएण छेएण" ॥१॥ इह भावनां कुर्वता मण्डलं मण्डलमिति । यदुक्त तत् सामान्यतो ग्रन्थान्तरे या प्रसिद्धा भावना तदुपरोधादवसेयं परमार्थतः पुनरर्धमण्डलमवसातव्यम् ततो न कश्चित् सूत्रभावनि-

कयोर्विरोधः । तदेवमेकचन्द्रायणवक्तव्यतोक्ता ॥ १ ॥ संप्रति द्वितीयचन्द्रायणवक्तव्यताऽभिधीयते-तत्र यः प्रथमे चान्द्रायणे दक्षिणभागादभ्यन्तरं प्रविशन् सप्तार्द्धमण्डलानि उत्तरभागादभ्यन्तरं प्रविशन् षडर्द्धमण्डलानि सप्तमस्य चार्द्धमण्डलस्य त्रयोदशसप्तषष्टिभागान् चरितवान् तमधिकृत्य द्वितीयायनभावना क्रियते-तत्रायनस्य मण्डलं क्षेत्रपरिमाणं त्रयोदशार्द्धमण्डलानि चतुर्दश चार्द्धमण्डलस्य त्रयोदश सप्तषष्टिभागाः तत्र प्राक्तनमयनमुत्तरस्यां दिशि सर्वाभ्यन्तरे मण्डले त्रयोदशसप्तषष्टिभागपर्यन्ते परिसमाप्तम् । तदनन्तरं द्वितीयायनप्रवेशे चतुःपञ्चाशता सप्तषष्टिभागैः सर्वाभ्यन्तरमण्डलं परिसमाप्य ततो द्वितीये मण्डले चारं चरति । तत्र त्रयोदशभागपर्यन्त प्रथमर्द्धमण्डलं द्वितीयस्यायनस्य परिसमाप्तं द्वितीयमर्द्धमण्डलमुत्तरस्यां सर्वाभ्यन्तरा तृतीये अर्द्धमण्डलत्रयोदशभागपर्यन्ते तृतीयमर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि चतुर्थेऽर्द्धमण्डले चतुर्थमर्द्धमण्डमुत्तरस्यां दिशि पञ्चमेऽर्द्धमण्डले पञ्चमेऽर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि षष्ठेऽर्द्धमण्डले षष्ठमर्द्धमण्डलम् उत्तरास्यां दिशि सप्तमेऽर्द्धमण्डले सप्तममर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि अष्टमेऽर्द्धमण्डलेऽष्टममर्द्धमण्डलमुत्तरस्यां दिशि नवमेऽर्द्धमण्डले नवममर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि दशमेऽर्द्धमण्डले मण्डले दशममर्द्धमण्डलम् उत्तरस्यां दिशि एकादशेऽर्द्धमण्डले एकादशमर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि द्वादशेऽर्द्धमण्डले द्वादशमर्द्धमण्डलम् उत्तरस्यां दिशि त्रयोदशेऽर्द्धमण्डले त्रयोदशमर्द्धमण्डलं दक्षिणस्यां दिशि चतुर्दशेऽर्द्धमण्डले चतुर्दशमर्द्धमण्डलं तच्च त्रयोदशभागपर्यन्ते परिसमाप्तं तदनन्तरं त्रयोदशसप्तषष्टिभागान् अन्यान् चरति । एतावता द्वितीयमयनं परिसमाप्तम् ॥ चतुर्दशे च मण्डले संक्रान्तः सन् प्रथमक्षणादूर्द्धं सर्वबाह्यमण्डलाभिमुखं चारं चरति । ततः परमार्थतः कतिपयभागातिक्रमे पञ्चदश एव सर्वबाह्ये मण्डले वेदितव्यः तदेवमस्मिन्नयने पूर्वभागे द्वितीयादीन्येकान्तरितानि चतुर्दशपर्यन्तानि सप्तार्द्धमण्डलाचीर्णानि पश्चिमभागे च तृतीयादीन्येकान्तरितानि त्रयोदशपर्यन्तानि षट् अर्द्धमण्डलानि । तत्र पूर्वभागे पश्चिमभागे बाह्यप्रतिमण्डलं स्वयं चीर्णमन्यचीर्णं वा चरति तन्निरूपयति-" ता दोच्चायणगए " इत्यादि । ' ता ' इति पूर्ववत् । द्वितीयाऽयनगते चन्द्रः पौरस्त्याद्भागान्निष्क्रामति विमुक्तं भवति- पौरस्त्यभागे चारं चरति । सप्तचतुःपञ्चाशत्कानि भवन्ति यानि चन्द्रः परस्येति तृतीयार्थे षष्ठी । परेण सूर्यादिनाचीर्णानि प्रतिचरति सप्त च त्रयोदशकानि भवन्ति यानि चन्द्र आत्मनैव चीर्णानि प्रतिचरति । इयमत्र भावना-मेरोः पूर्वस्यां दिशि यो भागः स पूर्वभागो यश्चापरस्यां दिशि स पश्चिमभागः तत्र पूर्वभागे सप्तस्वा । द्वितीयादिष्वेकान्तरितेषु चतुर्दशपर्यन्तेषु सप्तषष्टिभागप्रविभक्तेषु प्रत्येकं चतुःपञ्चाशतम् २ सप्तषष्टिभागान् चन्द्रः परेण सूर्यादिना चीर्णान् प्रतिचरति । त्रयोदश २ सप्तषष्टिभागान् स्वयं चीर्णानिति । " ता दोच्चाणे गए " इत्यादि । तस्मिन्नेव चन्द्रमासि द्वितीयाऽयनगते पश्चिमभागान्निष्क्रामति पश्चिमे भागे चारं चरति । षट्चतुःपञ्चाशत्कानि भवन्ति यानि चन्द्रः परस्येति परेण सूर्यादिना चीर्णानि प्रतिचरति षट्त्रयोदशकानि यानि चन्द्रः स्वयं चीर्णानि प्रतिचरति । अत्रापीयं भावना-पश्चिमे भागे षट्स्वपि तृतीयादिष्वेकान्तरितेषु त्रयोदशपर्यन्तेषु अर्द्धमण्डलेषु सप्तषष्टिभागप्रविभक्तेषु प्रत्येकं चतुःपञ्चाशतं सप्तषष्टिभागान् परचीर्णान् चरति त्रयोदश सप्तषष्टिभागान् स्वयं चीर्णानिति । "अवराइं खलु दुवे" इत्यादि । अपरे खलु द्वे त्रयोदशके तस्मिन्नयने द्वितीये चन्द्रः केनाप्यनाचीर्णे पूर्वं स्वयमेव प्रविश्य चारं चरति । " कयराइं खलु" इत्यादि । प्रश्नसूत्रं सुगमम् । "इमाइं खलु" इत्यादि । निर्वचनवाक्यमेतदेतच्च प्रायो निगदसिद्धं नवरमेकं तत् त्रयोदशकं सर्वाभ्यन्तरे मण्डले तत्पाश्चात्यायनगतत्रयोदशकादूर्द्धं वेदितव्यम् । तस्यैव संभवास्पदत्वात् द्वितीये सर्वबाह्ये मण्डले तच्च पर्यन्तवर्ती प्रतिपत्तव्यम् "एयाइं खलु ताणि" इत्यादि । निगमनवाक्यं सुगमम् । तदेवमेकं चन्द्रमसमधिकृत्य द्वितीयायनवक्तव्यतोक्ता एतदनुसारेण च द्वितीयमपि चन्द्रमसमधिकृत्य द्वितीयायनवक्तव्यता भावनीया । परं तस्य पश्चिमभागे सप्तचतुःपञ्चाशत्कानि परचीर्णानि चरणीयानि सप्तत्रयोदशकानि स्वयं चीर्णाचरणीयानि वक्तव्यानि पूर्वभागे षट्चतुःपञ्चाशत्कानि परचीर्णाचरणीयानि षट्त्रयोदशकानि स्वयं चीर्णप्रतिचरणीयानि ॥ " एतावता " इत्यादि । एतावता कालेन द्वितीयं चन्द्रायनं समाप्तं भवति । " ता नक्खत्ते " इत्यादि । यद्येवं द्वितीयमप्ययनं एतावत्प्रमाणं ता इति ततो नक्षत्रो मासो न चान्द्रो मासो भवति, नापि चान्द्रो मासो नक्षत्रो मासः, संप्रति नक्षत्रमासात् कियता चन्द्रमासोऽधिकः इति जिज्ञासुः प्रश्नं करोति । "ता नक्खत्ताओ मासातो" इत्यादि । 'ता' इति तत्र नक्षत्रात् चन्द्रः चान्द्रेण मासेन किमधिकं चरति । एवं प्रश्ने कृते भगवानाह-"ता दो अद्धमंडलाइं" इत्यादि । द्वे अर्द्धमण्डले तृतीयस्यार्द्धमण्डलस्याष्टौ सप्तषष्टिभागान् । एकं च सप्तषष्टिभागमेकत्रिंशद्धा छित्त्वा तस्य सत्कानष्टादशभागानधिकं चरति ॥ एतच्च प्रागुक्तमेकायनाधिकमर्द्धमण्डलमित्यादि गुणं कृत्वा परिभावनीयम् ॥२॥ संप्रति यावता चन्द्रमासः परिपूर्णो भवति तावन्मात्रतृतीयायनवक्तव्यतामाह-" ता तच्चायणगए चंदे" इत्यादि । इह द्वितीयायनपर्यन्ते चतुर्दशे मण्डले षट्त्रिंशतिसंख्यसप्तषष्टिभागमात्रमाक्रान्तं तत्र परमार्थतः पञ्चदशमर्द्धमण्डले वेदितव्यम् बहु तदभिमुखं गतत्वात्तदनन्तरं नीलवत्पर्वतप्रदेशे साक्षात्पञ्चदशमर्द्धमण्डलं प्रविष्टस्तत्प्रविष्टश्च प्रथमक्षणादूर्द्धं सर्वबाह्यानन्तरार्वाक्तनद्वितीयमण्डलाभिमुखं चरति । तस्य तस्मिन्नेव सर्वबाह्यानन्तरेऽर्वाक्तने द्वितीये मण्डले चारं चरन् विवक्षितस्ततोऽधिकृतस्तत्रोपनिपातस्तृतीयायनगते चन्द्रे पश्चिमे भागे प्रविशति । बाह्यानन्तरस्यार्वाग्भागवर्तिनः पाश्चात्यस्यार्द्धमण्डलस्य एकचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागास्ते वर्तन्ते यानि चन्द्र आत्मना परेण चीर्णान् प्रतिचरति । त्रयोदश च सप्तषष्टिभागास्ते यान् चन्द्रः परेणैव चीर्णान् प्रतिचरति । अन्ये च त्रयोदशसप्तषष्टिभागास्ते वर्तन्ते यान् चन्द्रः स्वयं परेणाचीर्णान् प्रतिचरति । एतावता च परिभ्रमणेन बाह्यानन्तरमर्वाक्तनपाश्चात्यमर्द्धमण्डलं समाप्तं भवति । तदनन्तरं च तस्मिन्नेव तृतीयाऽयनगते चन्द्रे पौरस्त्यभागे प्रविशति सर्वबाह्यादर्वाक्तनस्य तृतीयस्य पौरस्त्यस्यार्द्धमण्डलस्य एकचत्वारिंशत्सप्तषष्टिभागान् यान् चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णान् प्रतिचरति । ततः परमन्ये ते त्रयोदश भागा यान् चन्द्रः परेणैव चीर्णान् प्रतिचरति । अन्ये च ते त्रयोदशभागा यान् चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णान् प्रतिचरति एतावता सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनं तृतीयं पौरस्त्यमर्द्धमण्डलं परिसमाप्तं भवति सप्तषष्टिरपि भागानां परिपूर्णतया जातत्वात् ' ता' इत्यादि । ततस्तस्मिन्नेव तृतीयायनगते चन्द्रे पश्चिमे भागे

प्रविशति सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तनस्य चतुर्थस्य पाश्चात्यस्यार्द्धमण्डलस्याष्टौ सप्तषष्टिभागा एकं च सप्तषष्टिभागमेकत्रिंशद्धा छित्त्वा तस्य सत्का अष्टादश भागास्ते वर्त्तन्ते यान् चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णान् प्रतिचरति, एतावता च परिभ्रमणेन चान्द्रो मासः परिपूर्णो जातः। संप्रति पूर्वोक्तमेव स्मारयन् चन्द्रमासगतमुपसंहारमाह-"एवं खलु चंदेणं मासेणं" इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेण खलु निश्चितं चान्द्रेण मासेन चान्द्रे त्रयोदश चतुःपञ्चाशत्कानि जातानि द्वे च त्रयोदशके,यानि चन्द्रः परेणैव चीर्णानि प्रतिचरति । वर्तमानकालनिर्देशः सकलकालयुगस्य प्रथमे चान्द्रे मासे एवमेव द्रष्टव्यमिति ज्ञापनार्थः । तत्र त्रयोदशाऽपि चतुःपञ्चाशत्कानि द्वितीय अयने तत्राऽपि सप्तचतुःपञ्चाशत्कानि पूर्वभागे षट्पाश्चात्यभागे ये च द्वे त्रयोदशके ते द्वितीयस्याऽयनस्योपरि चन्द्रमासावधेरर्वाक् द्रष्टव्ये, तत्रैकत्रयोदशकं सर्वबाह्यादर्वाक्तने द्वितीये पाश्चात्ये अर्द्धमण्डले द्वितीये पौरस्त्ये तृतीये अर्द्धमण्डले । तथा "तेरस" इत्यादि । त्रयोदश त्रयोदशकानि यानि चन्द्र आत्मनैव चीर्णानि प्रतिचरति तानि सर्वाण्यपि द्वितीये अयने वेदितव्यानि,तत्राऽपि सप्त पूर्वभागे, षट् पश्चिमभागे इत्यादि । तथा "दुवे" इत्यादि । द्वे एकचत्वारिंशत्के द्वे च त्रयोदशके अष्टौ सप्तषष्टिभागा एकं च सप्तषष्टिभागमेकत्रिंशद्धा छित्त्वा तस्य सत्का अष्टादश भागाः, यान्येतानि चन्द्र आत्मना परेण च चीर्णानि प्रतिचरति। तत्र एकमेकचत्वारिंशत एकमेकं च त्रयोदशकद्वितीयायनोपरि सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने द्वितीये पाश्चात्येऽर्द्धमण्डले द्वितीयमेकचत्वारिंशत्कं, द्वितीयं च त्रयोदशकं सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक्तने तृतीयं पौरस्त्ये शेषपाश्चात्ये सर्वबाह्यादर्वाक्तने चतुर्थार्द्धमण्डले। अधुनोपसंहारमाह-" इच्चेसा " इत्यादि । इत्येषा चन्द्रमसः, संस्थितिरिति योगः। किंविशिष्टेत्याह-अभिगमनिष्क्रमणवृद्धिनिर्वृद्ध्यनवस्थितसंस्थाना,अभिगमनं सर्वबाह्यान्मण्डलादभ्यन्तरप्रविशनं, निष्क्रमणं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद्बहिर्गमनम्, वृद्धिः चन्द्रमसः प्रकटतया उपचयो, निर्वृद्धिर्यथोक्तस्वरूपवृद्ध्यभावः, एताभिरनवस्थितं संस्थानम्,अभिगमननिष्क्रमणे अधिकृत्यावस्थानं वृद्धिनिर्वृद्धी अपेक्ष्य संस्थानमाकारो यस्याः सा तथारूपा संस्थितिः, तथा परे दृश्यमानचन्द्रविमानस्याधिष्ठाता विकुर्वणर्द्धिमाप्तो रूपी रूपवान्, अत्रातिशये मत्वर्थीयोऽतिशयरूपवान् चन्द्रो देव आख्यातो, न तु परिदृश्यमानविमानमात्रश्चन्द्रो देव इति वदेत्स्वशिष्येभ्यः । सू० प्र० १३ पाहु० । चं० प्र० ।

अथ चन्द्रवक्तव्यप्रश्नमाह-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे चंदिमा उदीणपाईणमुग्गच्छ पाईणदाहिणमागच्छंति, जहा सूरवत्तव्वया, जहा पंचमसयस्स दसमे उद्देसे० जाव अवट्ठिएणं तत्थ काले पण्णत्ते। समणाउसो ! इच्चेसा जंबुद्दीवपण्णत्ती चंदपण्णत्ती वत्थुसमासेणं सम्मत्ता भवइ ॥

"जंबुद्दीवे णं" इत्यादि । जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे चन्द्रावुदीचीनप्राचीनदिग्भागे उद्गत्य प्राचीनदक्षिणदिग्भागे आगच्छतः इत्यादि । यथा सूरवक्तव्यता तथा चन्द्रवक्तव्यता, यथा, वाशब्दोऽत्र गम्यः, पञ्चमशतस्य दशमे उद्देशके चन्द्रनाम्नि कियत्पर्यन्तं सूत्रं ग्राह्यमित्याह-यावदवस्थितस्तत्र कालः प्रज्ञप्तः । हे श्रमण ! हे आयुष्मन् ! अत्राप्युपसंजिहीर्षुराह-"इच्चेसा" इत्यादि । व्याख्यानं पूर्ववत्, परं सूर्यप्रज्ञप्तिस्थाने चन्द्रप्रज्ञप्तिर्वाच्या । जं० ७ वक्ष० ।

चंदमंडलणिभ-चन्द्रमण्डलनिभ-त्रि० । चन्द्रमण्डलाकारे, रा० ।

चंदमंडलसमप्पभ-चन्द्रमण्डलसमप्रभ-त्रि० । शशधरबिम्बवत्प्रभाते वृत्ततया शोभमाने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चंदमग्ग-चन्द्रमार्ग-पुं० । चन्द्रमण्डले, (सू० प्र०)

नक्षत्राद्यधिकृत्य चन्द्रमण्डलानि चन्द्रमार्गा अभिधीयन्ते-

ता कधं ते चंदमग्गा आहिता ति वदेज्जा ? । ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं अत्थि नक्खत्ता, जे णं सया चंदस्स दाहिणेणं जोअं जोएंति, अत्थि णक्खत्ता जे णं सत्ता चंदस्स उत्तरेणं जोअं जोएंति,अत्थि णक्खत्ता जे णं चंदस्स दाहिणेणं वि उत्तरेणं वि पमद्दं पि जोअं जोएंति, अत्थि णक्खत्ता जे णं चंदस्स सदा पमद्दं जोअं जोएंति। ता एतेसि णं अट्ठावीसाए नक्खत्ताणं कतरे नक्खत्ता, जे णं सदा चंदस्स दाहिणेणं जोयं जोएंति, तहेव० जाव कतरे नक्खत्ता जे णं सदा चंदस्स पमद्दं जोअं जोएंति ?, ता एतेसि णं अट्ठावीसाए णक्खत्ताणं जे णं णक्खत्ता सया चंदस्स दाहिणेणं जोयं जोएंति,ते णं छ,तं जहा-संठाणा अद्दा पुस्सो असेसा हत्थो मूलो, तत्थ जे ते णक्खत्ता जे णं सदा चंदस्स उत्तरेणं जोयं जोएंति, ते णं बारस । तं जहा-अभिई सवणो धणिट्ठा सतभिसया पुव्वभद्दवया उत्तरपोट्ठवया रेवती अस्सिणी भरणी पुव्वाफग्गुणी उत्तराफग्गुणी साती, तत्थ जे ते णक्खत्ता जे णं चंदस्स दाहिणेणं वि उत्तरेणं वि पमद्दं पि जोअं जोएंति, ते णं सत्त । तं जहा-कत्तिया रोहिणी पुणव्वसू महा चित्ता विसाहा अणुराहा, तत्थ जे ते णक्खत्ता जे णं चंदस्स दाहिणेणं वि पमद्दं पि जोअं जोएंति, ताओ य णं दो आसाढाओ सव्वबाहिरे मंडले जोयं जोगंसु वा, जोयंति वा, जोएस्संति वा, तत्थ जे ते णक्खत्ते जे णं सदा चंदस्स पमद्दं जोयं जोएंति, सा णं एगा जेट्ठा ।

" ता कहं ते" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । कथं केन प्रकारेण नक्षत्राणां दक्षिणत उत्तरतः प्रमर्दतो यदि वा सूर्यनक्षत्रैर्विरहिततया अविरहिततया च चन्द्रस्य मार्गाश्चन्द्रस्य मण्डलगत्या परिभ्रमणरूपा मण्डलरूपा वा मार्गा आख्याता इति वदेत् ? । भगवानाह-"ता एएसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्, एतेषामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये,अस्तीति, निपातत्वादार्षत्वाद्वा सन्ति तानि नक्षत्राणि, यानि, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, सदा चन्द्रस्य दक्षिणेन दक्षिणस्यां दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति कुर्वन्ति । तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि यानि सदा चन्द्रस्य उत्तरेण उत्तरस्यां दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति, तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि यानि चन्द्रस्य दक्षिणस्यामपि दिशि स्थितानि उत्तरस्यामपि दिशि स्थितानि योगं युञ्जन्ति,प्रमर्दमपि प्रमर्दरूपमपि योगं कुर्वन्ति, तथा सन्ति तानि नक्षत्राणि यानि

चन्द्रस्य दक्षिणस्यामपि दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति प्रमर्दरूपमपि योगं युञ्जन्ति, अस्ति तन्नक्षत्रं यत् सदा चन्द्रस्य प्रमर्दरूपं योगं युनक्ति । एवं सामान्येन भगवतोक्ते भगवान् गौतमो विशेषावगमनिमित्तं भूयः प्रश्नयति- "ता एएसि णं" इत्यादि सुगमम् । भगवानाह-" ता एएसि णं "इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषामन्तरोदितानामष्टाविंशतिनक्षत्राणां मध्ये यानि नक्षत्राणि सदा चन्द्रस्य दक्षिणस्यां दिशि व्यवस्थितानि योगं कुर्वन्ति तानि षट् । तद्यथा-मृगशिर आर्द्रा पुष्योऽश्लेषा हस्तो मूलश्च,एतानि सर्वाण्यपि पञ्चदशस्य चन्द्रमण्डलस्य बहिश्चारं चरन्ति । तथा चोक्तं करणविभावनायाम्-" ......पन्नरसमस्स चंद-मंडलस्स बाहिरओ । मगसिर अद्दा पुस्सो, असिलेहा हत्थ मूलो य" ॥१॥ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तावप्युक्तम्-" संठाण अद्द पुस्सो, सिलेस हत्थो तहेव मूलो य । बाहिरओ बाहिरमं-डलस्स छप्पेते नक्खत्ता " ॥ १ ॥ ततः सदैव दक्षिणदिग्व्यवस्थितान्येव तानि चन्द्रेण सह योगं युञ्जन्त्युपपद्यन्ते, नान्यथेति, तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि यानि सदा सर्वकालं चन्द्रस्योत्तरेण उत्तरस्यां दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति कुर्वन्ति तानि द्वादश । तद्यथा-"अभिई"इत्यादि । एतानि हि द्वादशाऽपि नक्षत्राणि सर्वाभ्यन्तरे चन्द्रमण्डले चारं चरन्ति । तथा चोक्तं करणविभावनायाम्-"ते पढमे सव्वब्भंतरे चंदमंडले नक्खत्ता इमे तं जहा-अभिई सवणो धणिट्ठा सतभिसया पुव्वभद्दवया उत्तरभद्दवया रेवई अस्सिणी भरणी पुव्वफग्गुणी उत्तरफग्गुणी साई"इति । यदा चैतैः सह चन्द्रस्य योगस्तदा स्वतावाच्चन्द्रः शेषेष्वेव मण्डलेषु वर्तते, ततः सदैवैतान्युत्तरदिग्व्यवस्थितान्येव चन्द्रमसा सह योगमुपयान्ति । तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यानि तानि नक्षत्राणि यानि चन्द्रस्य दक्षिणस्यामपि दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति, उत्तरस्यामपि दिशि व्यवस्थितानि योगं युञ्जन्ति, प्रमर्दरूपमपि योगं युञ्जन्ति, तानि सप्त । तद्यथा-कृत्तिका रोहिणी पुनर्वसू मघा चित्रा विशाखा अनुराधा,केचित्पुनर्ज्येष्ठानक्षत्रमपि दक्षिणोत्तरप्रमर्दयोगि मन्यन्ते । तथा चोक्तं लोकश्रियाम्-"पुणवसु,रोहिणि चित्ता,मह जेट्ठाणुराह कत्तिय विसाहा । चंदस्स उभयजोगीति" । अत्र उभययोगीति व्याख्यानयता टीकाकृतोक्तम्-एतानि नक्षत्राणि उभययोगीनि-चन्द्रस्योत्तरेण दक्षिणेन च युञ्जन्ते,कदाचित् भेदमप्युपयान्तीति,तच्च वक्ष्यमाणज्येष्ठासूत्रेण सह विरोधीति न प्रमाणं,तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये ये ते नक्षत्रे, 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, सदा चन्द्रस्य दक्षिणेनापि दक्षिणस्यामपि दिशि व्यवस्थिते योगं युक्तः. प्रमर्द च प्रमर्दरूपं च योगं युक्तः,ते,'णं' इति वाक्यालङ्कारे,द्वे आषाढे पूर्वाषाढोत्तराषाढरूपे,ते हि प्रत्येकं चतुस्तारे,तथा च प्रागेवोक्तम्-"पुव्वासाढे चउतारे पन्नत्ते त्ति" तत्र द्वे द्वे तारे सर्वबाह्यस्य पञ्चदशस्य मण्डलस्याभ्यन्तरतो द्वे द्वे बहिः । तथा चोक्तं करणविभावनायाम्-"पुव्वुत्तराणं आसाढाणं दो दो ताराओ अब्भिंतरओ, दो दो बाहिरओ सव्वबाहिरस्स मंडलस्स" इति । ततो ये द्वे द्वे तारे अभ्यन्तरतस्तयोर्मध्ये न चन्द्रो गच्छतीति तदपेक्षया प्रमर्दं योगं युक्त इत्युच्यते, ये तु द्वे द्वे तारे बहिस्ते चन्द्रस्य पञ्चदशेऽपि मण्डले चारं चरतः सदा दक्षिणदिग्व्यवस्थिते, ततस्तदपेक्षया दक्षिणेन योगं युक्त इत्युक्तम् । संप्रत्येतयोरेव प्रमर्दयोगभावनार्थं किञ्चिदाह-"ताओ य सव्वबाहिरे" इत्यादि । ते च पूर्वाषाढोत्तराषाढारूपे नक्षत्रे चन्द्रेण सह योगमयुङ्क्त, युङ्क्ते, योक्ष्यते वा सदा सर्वबाह्ये मण्डले व्यवस्थिते, ततो यदा पूर्वाषाढोत्तराषाढाभ्यां सह चन्द्रो योगमुपैति तदा नियमतोऽभ्यन्तरतारकाणां मध्ये, न गच्छतीति तदपेक्षया प्रमर्दमपि योगं युक्त इत्युक्तम्, तथा तत्र तेषामष्टाविंशतेर्नक्षत्राणां मध्ये यत्तन्नक्षत्रं यत्सदा चन्द्रस्य प्रमर्दं प्रमर्दरूपं योगं युनक्ति सा एका ज्येष्ठा, तदेवं मण्डलगत्या परिभ्रमणरूपाश्चन्द्रमार्गा उक्ताः । सू० प्र० ।

संप्रति मण्डलरूपान् चन्द्रमार्गान् अभिधित्सुः

प्रथमं तद्विषयं प्रश्नसूत्रमाह-

ता कति णं चंदमंडला पन्नत्ता ? । ता पन्नरस चंदमंडला पन्नत्ता । एतेसि णं पन्नरसण्हं चंदमंडलाणं अत्थि चंदमंडला जे ण सत्ता नक्खत्तेण अविरहिया, अत्थि चंदमंडला जे णं सत्ता णक्खत्तेहिं विरहिया, अत्थि चंदमंडला जे णं रविससिनक्खत्ताणं सामण्णा भवंति, अत्थि चंदमंडला जे णं सत्ता आदिच्चेहिं विरहिया, ता एतेसि णं पन्नरसण्हं चंदमंडलाणं कयरे चंदमंडला जे णं सत्ता नक्खत्तेहिं अविरहिया० जाव कयरे चंदमंडला जे णं सदा आदिच्चविरहिता, ता एतेसि णं पन्नरसण्हं चंदमंडलाणं तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं सदा णक्खत्तेहिं अविरहिता,ते णं अट्ठ,तं जहा-पढमे चंदमंडले ततिए चंदमंडले छट्ठे चंदमंडले सत्तमे चंदमंडले अट्ठमे चंदमंडले दसमे चंदमंडले एक्कादसे चंदमंडले पण्णरसमे चंदमंडले, तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं सदा णक्खत्तेहिं विरहिया ते णं सत्त,तं जहा-बितिए चंदमंडले चउत्थे चंदमंडले पंचमे चंदमंडले नवमे चंदमंडले बारसमे चंदमंडले तेरसमे चंदमंडले चउदसमे चंदमंडले, तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं ससिरविनक्खत्ताणं सामण्णा भवंति, ते णं चत्तारि । तं जहा-पढमे चंदमंडले बीए चंदमंडले इक्कारसमे चंदमंडले पन्नरसमे चंदमंडले, तत्थ जे ते चंदमंडला जे णं सदा आदिच्चविरहिता ते णं पंच,तं जहा-छट्ठे चंदमंडले सत्तमे चंदमंडले अट्ठमे चंदमंडले णवमे चंदमंडले दसमे चंदमंडले ।

"ता कइ णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत्, कति किंसंख्यानि 'णं' इति वाक्यालङ्कारे, चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि ? । भगवानाह-"ता पन्नरस " इत्यादि । 'ता' इति प्राग्वत् । पञ्चदश चन्द्रमण्डलानि प्रज्ञप्तानि, तत्र पञ्च चन्द्रमण्डलानि जम्बूद्वीपे, शेषाणि च दश मण्डलानि लवणसमुद्रे । तथाचोक्तं जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-" जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइयं ओगाहित्ता केवइया चंदमंडला पन्नत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे असीयं जोयणसयं ओगाहित्ता एत्थ णं पंच चंदमंडला पन्नत्ता । लवणे णं भंते ! समुद्दे केवइयं ओगाहित्ता केवइया चंदमंडला पन्नत्ता?। गोयमा! लवणे णं समुद्दे तिन्नि तीसे जोयणसयाइं ओगाहित्ता एत्थ णं दस चंदमंडला पन्नत्ता,एवामेव सपुव्वावरेणं जंबुद्दीवे लवणे य पन्नरस चंदमंडला भवंतीति अक्खायं " 'ता'इत्यादि । 'ता' इति । तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये (अत्थि त्ति) सन्ति चन्द्रमण्डलानि यानि सदा नक्षत्रैरविरहितानि, ततः सन्ति चन्द्रमण्डलानि यानि सदा नक्षत्रैर्विरहितानि , तथा स-

न्ति चन्द्रमण्डलानि यानि रविशशिनक्षत्राणां सामान्यानि साधारणानि । किमुक्तं भवति?–रविरपि तेषु मण्डलेषु गच्छति, शश्यपि,नक्षत्राण्यपीति,तथा सन्ति चन्द्रमण्डलानि यानि सदा आदित्याभ्यां,'सूत्रे द्वित्वेऽपि बहुवचनं प्राकृतत्वात्' विरहितानि, येषु न कदाचिदपि द्वयोः सूर्ययोर्मध्ये एकोऽपि सूर्यो गच्छतीति भावः । एवं भगवता सामान्येनोक्ते भगवान् गौतमो विशेषावगमनिमित्तं भूयः प्रश्नयति-"ता एएसि णं" इत्यादि, सुगमम् । भगवानाह -" ता एएसि णं" इत्यादि । 'ता' इति पूर्ववत् । एतेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि, यानि, 'णं' इति प्राग्वत् सदा नक्षत्रैरविरहितानि तान्यष्टौ । तद्यथा-"पढमे चंदमंडले" इत्यादि । तत्र प्रथमे चन्द्रमण्डले अभिजिदादीनि द्वादश नक्षत्राणि । तथा च तत्र संग्रहणिगाथा-"अभिइ सवण धणिट्ठा, सयभिसया दो य होंति भद्दवया । रेवइ अस्सिणि भरणी,दो फग्गुणि साइ पढमंसि "।१। तृतीये चन्द्रमण्डले पुनर्वसुमघे, षष्ठे चन्द्रमण्डले कृत्तिका,सप्तमे रोहिणीचित्रे,अष्टमे विशाखा,दशमे अनुराधा,एकादशे ज्येष्ठा,पञ्चदशे मृगशिर आर्द्रा पुष्योऽश्लेषा हस्तो मूलम् पूर्वाषाढा उत्तराषाढा च । तत्राद्यानि षट् नक्षत्राणि यद्यपि पञ्चदशस्य मण्डलस्य बहिश्चारं चरन्ति तथाऽपि तानि तस्य प्रत्यासन्नानीति तत्र गण्यन्ते, ततो न कश्चिद्विरोधः। तथा तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि, यानि सदा नक्षत्रैर्विरहितानि तानि सप्त । तद्यथा-द्वितीयं चन्द्रमण्डलमित्यादि । तथा तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि रविशशिनक्षत्राणां सामान्यानि भवन्ति तानि, 'णं' इति प्राग्वत् चत्वारि । तद्यथा-"पढमे चंदमंडले" इत्यादि । तथा तत्र तेषां पञ्चदशानां चन्द्रमण्डलानां मध्ये यानि तानि चन्द्रमण्डलानि,यानि सदा आदित्याभ्यां विरहितानि तानि पञ्च । तद्यथा-"छट्ठे चंदमंडले" इत्यादि सुगमम् । एतद्ग्रहणाच्च यान्यभ्यन्तराणि पञ्च चन्द्रमण्डलानि । तद्यथा-प्रथमं द्वितीयं तृतीयं चतुर्थं पञ्चमं, यानि च सर्वबाह्यानि पञ्चचन्द्रमण्डलानि, तद्यथा-एकादशं द्वादशं त्रयोदशं चतुर्दशं पञ्चदशमित्येतानि दश तानि सूर्यस्यापि साधारणानीति गम्यते । तथा चोक्तमन्यत्र-

"दस चेव मंडलाइं, अब्भिंतरबाहिरा रविससीणं ।
सामन्नाणि उ नियमा, पत्तेया होंति सेसाणि " ॥ १ ॥

अस्याक्षरगमनिका-पञ्चाभ्यन्तराणि,पञ्च बाह्यानि,सर्वसंख्यया दश मण्डलानि नियमाद् रविशशिनोः सामान्यानि साधारणानि,शेषाणि तु यानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि षष्ठादीनि दशपर्यन्तानि प्रत्येकान्यसाधारणानि चन्द्रस्य, तेषु चन्द्र एव गच्छति, न तु जातु कदाचिदपि सूर्य इति भावः ।

इह किं चन्द्रमण्डलं कियता भागेन सूर्यमण्डलेन स्पृश्यते, कियन्ति वा चन्द्रमण्डलस्यापान्तराले एव सूर्यमण्डलानि, कथं वा षष्ठादीनि दशपर्यन्तानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि सूर्येण न स्पृश्यन्ते,इति चिन्तायां विभागोपदर्शनं पूर्वाचार्यैः कृतम्, ततस्तद्विनेयजनानुग्रहायोपदर्श्यते-तत्र प्रथमत एतद्विभावनार्थं विकम्पक्षेत्रकाष्ठा निरूप्यते-इह सूर्यस्य विकम्पक्षेत्रकाष्ठा पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि । तथाहि-यदि सूर्यस्यैकेनाहोरात्रेण विकम्पो द्वे योजने,एकस्य च योजनस्याष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा लभ्यन्ते, ततस्त्र्यशीत्यधिकेनाहोरात्रशतेन किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१।२ ४८/६१।१८३। अत्र सवर्णनार्थं द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्यते, गुणयित्वा चोपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, एतत् अशीत्यधिकेन शतेनान्त्यराशिना गुण्यते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरम् ३१११०। तत एतस्य राशेर्योजनानयनार्थमेकषष्ट्या ६१ भागो ह्रियते,लब्धानि पञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि ५१०,एतावती सूर्यस्य विकम्पक्षेत्रकाष्ठा । चन्द्रमसः पुनर्विकम्पक्षेत्रकाष्ठा पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि, एकस्य च योजनस्य त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः । तथाहि-यदि चन्द्रमस एकेनाहोरात्रेण विकम्पः षट्त्रिंशद्योजनानि, एकस्य च योजनस्य पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्त भागा लभ्यन्ते, ततश्चतुर्दशभिरहोरात्रैः किं लभामहे ?। राशित्रयस्थापना-१ ३६ २५/६१ ४/७ अत्र सवर्णनार्थं प्रथमतः षट्त्रिंशत् एकषष्ट्या गुण्यते, गुणयित्वा चोपरितनाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि एकत्रिंशदधिकानि २२२१ । एतानि सप्तभिर्गुणयित्वा चोपरितनाश्चत्वारः सप्तभागास्तत्र प्रक्षिप्यन्ते. ततो जातानि पञ्चदशसहस्राणि पंचशतान्येकपञ्चाशदधिकानि १५५५१. ततो योजनानयनार्थम् ६१। ७ छेदराशिरप्येकषष्टिलक्षणः सप्तभिर्गुण्यते, जातानि चत्वारि शतानि सप्तविंशत्यधिकानि ४२७, तत उपरितनो राशिश्चतुर्दशभिरन्त्यराशिरूपैर्गुण्यते, ततो जाते द्वे लक्षे सप्तदश सहस्राणि सप्तशतानि चतुर्दशाधिकानि २१७७१४,ततश्छेद्यछेदकराश्योः सप्तभिरपवर्तना जाता, उपरितनो राशिरेकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरं ३११०२, छेदराशिरेकषष्टिः, ततस्तया भागे हृते लब्धानि पञ्चयोजनशतानि नवोत्तराणि, एकस्य च योजनस्य त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः ५०९।५३, एतावती चन्द्रमसो विकम्पक्षेत्रे काष्ठा, सूर्यमण्डलस्य च परस्परमन्तरं द्वे द्वे योजने, चन्द्रमण्डलस्य च परस्परम् अन्तरं पञ्चत्रिंशद्योजनानि, एकस्य च योजनस्य त्रिंशदेकषष्टि ३०। ६१ भागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्त भागाः । उक्तं च जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ-" सूरमंडलस्स णं भंते ! सूरमंडलस्स एस णं केवइअं अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ?। गोअमा ! दो जोअणाइं सूरमंडलस्स सूरमंडलस्स अबाहाए अंतरे पण्णत्ते, तथा चंदमंडलस्स णं भंते ! चंदमंडलस्स एस णं केवइए अबाहाए अंतरे पण्णत्ते ?। गोअमा ! पंचतीसं जोयणाइं तीसं च एगसट्ठिभागा जोअणस्स एगं च एगसट्ठिभागं सत्तहा छित्ता चत्तारि अ चुण्णिआ भागा, सेसा चंदमंडलस्स, चंदमंडलस्स अबाहाए अंतरे पण्णत्ते " इति । एतदेव च सूर्यमण्डलस्य चन्द्रमण्डलस्य च स्वस्वमण्डलविष्कम्भपरिमाणमुक्तं सूर्यस्य चन्द्रमसश्च विकम्पपरिमाणमवसेयम् । तथा चोक्तम्-

" सूरविकंपो एको, समंडला होइ मंडलंतरिया ।
चंदविकंपो य तहा, समंडला मंडलंतरिया ॥ १ ॥ "

अस्या गाथाया अक्षरगमनिका-एकः सूर्यविष्कम्भो भवति, (मंडलंतरिय त्ति) अन्तरमेव आन्तर्यं, भेषजादित्वात् स्वार्थे ष्यण्, ततः स्त्रीत्वविवक्षायां ङीप्प्रत्यये आन्तरी, आन्तर्येव आन्तरिका मण्डलस्य मण्डलान्तरिका (समंडल त्ति) इह मण्डलशब्देन मण्डलविष्कम्भ उच्यते, परिमाणे परिमाणवत उपचारात्, ततः सह मण्डलेन मण्डलविष्कम्भपरिमाणेन वर्तते इति समण्डला । किमुक्तं भवति ?-एकस्य सूर्यमण्डलान्तरस्य यत्परिमाणं योजनद्वयलक्षणं तदेव सूर्यमण्डलविष्कम्भपरिमाणेन अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागलक्षणेन सहितमेकस्य सूर्यवि-

कम्पस्य परिमाणमिति, तथा मण्डलान्तरिका चन्द्रमण्डलपरिमाणे पञ्चत्रिंशत् योजनानि, एकस्य च योजनस्य त्रिंशदेकषष्टिभागा एकस्य चैकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्त भागा इत्येवंरूपम। (सममंडल त्ति) मण्डलविष्कम्भपरिमाणेन सहित एकश्चन्द्रविकम्पो भवति।

यस्तु विकम्पक्षेत्रकाष्ठादर्शनतो विकम्पपरिमाणं ज्ञातुमिच्छति तं प्रतीयं पूर्वाचार्योपदर्शिता करणगाथा—

" सगमंडलेहि लद्धं, सगकट्ठाओ हवंति सविकंपा ।
जे सगविक्खंभजुया, हवंति सगमंडलंतरिया ॥ १॥"

अस्याक्षरगमनिका-ये चन्द्रमसः सूर्यस्य वा विकम्पाः, कथं भूतास्ते इत्याह-स्वकविष्कम्भयुताः स्वकमण्डलान्तरिकाः,स्वस्वमण्डलविष्कम्भपरिमाणसहितस्वस्वमण्डलान्तरिकारूपा इत्यर्थः। भवन्ति स्वकाष्ठातः स्वस्वविकम्पयोग्यक्षेत्रपरिमाणस्य स्वकमण्डलैः स्वस्वमण्डलसंख्यया भागे हृते यल्लब्धं तावत्परिमाणास्ते स्वविकम्पाः स्वस्वविकम्पा भवन्ति। क्षेत्रकाष्ठा-पञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि ५१०, तान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते,जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरं ३१११०, सूर्यस्य मण्डलानि विकम्पक्षेत्रे त्र्यशीत्यधिकं शतम १८३, ततो योजनानयनार्थं त्र्यशीत्यधिकं मण्डलशतमेकषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकादशसहस्राणि शतमेकं त्रिषष्ट्यधिकम ११६६३, एतेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते,लब्धे द्वे योजने, शेषमुपरिष्टादुद्वरति सप्ताशीतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ८७८४. ततः संप्रत्येकषष्टिभागा आनेतव्या इत्यधस्तात् छेदराशिः त्र्यशीत्यधिकं शतम् १८३, तेन भागे हृते लब्धा अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः४८।६१,एतावदेकैकस्य सूर्यविकम्पस्य परिमाणं।तथा चन्द्रस्य विकम्पक्षेत्रकाष्ठा-पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागा योजनस्य ५०९।५३,तत्र योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थम् एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि एकोनपञ्चाशदधिकानि ३१०४९, तत उपरितनास्त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते ६१, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरम् ३११०२, चन्द्रस्य तु विकम्पक्षेत्रमध्ये मण्डलानि चतुर्दश १४, ततो योजनार्थं चतुर्दश एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्यष्टौ शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ८५४,तैः पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धानि षट्त्रिंशद्योजनानि ३६, शेषाणि तिष्ठन्ति त्रीणि शतान्यष्टपञ्चाशदधिकानि ३५८, अत ऊर्ध्वम् एकषष्टिभागा आनेतव्याः, ततश्चतुर्दशरूपोऽधस्तात् छेदराशिः १४ तेन भागे हृते लब्धाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागाः २५।६१शेषास्तिष्ठन्त्यष्टौ ८। ते सप्तभागकरणार्थं सप्तभिर्गुण्यन्ते, जाताः षट्पञ्चाशत् ५६, तस्याश्चतुर्दशभिर्भागे हृते लब्धाश्चत्वारः सप्तभागाः,एतावत्परिमाण एकैकश्चन्द्रविकम्प इति,तदेवं चन्द्रस्य सूर्यस्य च विकम्पक्षेत्रकाष्ठा चन्द्रमण्डलानां सूर्यमण्डलानां च परस्परमन्तरमुक्तम्। संप्रति प्रस्तुतमभिधीयते-तत्र सर्वाभ्यन्तरे चन्द्रमण्डले सर्वाभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं सर्वात्मना प्रविष्टं, केवलमष्टावेकषष्टिभागाश्चन्द्रमण्डलस्य बहिः शेषा वर्तन्ते। चन्द्रमण्डलात् सूर्यमण्डलस्याष्टभिरेकषष्टिभागैर्हीनत्वात्ततो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागपान्तराले द्वादश सूर्यमार्गाः। तथाहि-द्वयोश्चन्द्रमण्डलयोरन्तरं पञ्चत्रिंशत् योजनानि, त्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते,गुणयित्वा चोपरितनास्त्रिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातान्येकविंशतिशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि २१६५,सूर्यस्य विकम्पो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य,तत्र द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशशतम् १२२, तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिकं शतं १७०, तेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धाः द्वादश, एतावन्तोऽपान्तराले सूर्यमार्गा भवन्ति, शेषं तिष्ठति पञ्चविंशशतं १२५, तत्र द्वाविंशेन शतेन द्वादशस्य सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने लब्धे,शेषास्तिष्ठन्ति त्रय एकषष्टिभागाः,येऽपि च प्रथमे चन्द्रमण्डले रविमण्डलात् शेषा अष्टावेकषष्टिभागास्तेऽप्यत्र प्रक्षिप्यन्ते इति जाता एकादश एकषष्टिभागाः, तत इदमागतं द्वादशात्सूर्यमार्गात्परतो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वाग् द्वे योजने, एकादश च एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र योजनद्वयानन्तरं सूर्यमण्डलमतो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्डलम, एकादशे एकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुरः सप्तभागान्,ततः परं षट्त्रिंशदेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयः सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं सूर्यमण्डलं चन्द्रमण्डलसंमिश्रं, ततः सूर्यमण्डलात्परतो बहिर्विनिर्गतं चन्द्रमण्डलमेकोनविंशतिमेकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य चतुरः सप्तभागान्, ततः परं भूयस्तृतीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वाग् यथोक्तपरिमाणमन्तरम्। तद्यथा-पञ्चत्रिंशत्योजनानि त्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, एतावति चान्तरे द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते,उपरि च द्वे योजने त्रयश्चैकषष्टिभागा योजनस्य,एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, ततोऽत्र प्रागुक्ता द्वितीयस्य चन्द्रमण्डलस्य सत्काः सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गता एकोनविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातास्त्रयोविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, तत इदमायातं द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयातिक्रमेण सूर्यमण्डलं, तच्च तृतीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टं, त्रयोविंशतिमेकषष्टिभागान् एकं च एकषष्टिभागसत्कं सप्तभागं, ततः शेषाश्चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागाः, एकषष्टिभागस्य षट् सप्तभागाः सूर्यमण्डलस्य तृतीयचन्द्रमण्डलसंमिश्राः, ततस्तृतीयं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतमेकत्रिंशतमेकषष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कमेकं सप्तभागं, ततो भूयोऽपि यथोक्तं चन्द्रमण्डलान्तरं, तस्मिंश्च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशस्य सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने त्रय एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, ततो येऽत्र तृतीयमण्डलसत्काः सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गता एकत्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य,एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्का एके सप्तभागाः, तेऽत्र प्रक्षिप्यन्ते, ततो जाताश्चतुस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तत इदं वस्तुतत्त्वं जातं-तृतीयाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादशसूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयमतिक्रम्य सूर्यमण्डलं, तच्चतुर्थाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अभ्यन्तरं प्रविष्टं चतुस्त्रिंशतमेकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्, ततः शेषाः सूर्यमण्डलस्य त्रयोदश एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ भागौ, इत्येतावच्चतुर्थचन्द्रमण्डलसंमिश्रं, चतुर्थस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद बहिर्विनिर्गतद्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागा एकषष्टिभा-

गस्य सत्काः पञ्च सप्त भागाः, ततः पुनरपि यथोदितपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने त्रय एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र च ये चतुर्थस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गता द्वाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तेऽत्र राशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जाताः षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, द्वौ च एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, तत एवं वस्तुस्वरूपमवगन्तव्यम्-चतुर्थाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयातिक्रमे सूर्यमण्डलं, तच्च पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाग् अभ्यन्तरं प्रविष्टं षट्चत्वारिंशतमेकषष्टिभागान्, द्वौ च एकस्यैकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, शेषं सूर्यमण्डलस्य एक एकषष्टिभागः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य पञ्च सप्तभागाः, इत्येतावत्परिमाणं पञ्चमं चन्द्रमण्डलं संमिश्रं, तस्य च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य द्वौ सप्तभागौ, तदेवं पञ्च सर्वाभ्यन्तराणि चन्द्रमण्डलानि सूर्यमण्डलसंमिश्राणि, चतुर्षु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश द्वादश सूर्यमार्गा इति जातम् । संप्रति षष्ठादीनि दशमपर्यन्तानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि सूर्यमण्डलासंस्पृष्टानि भाव्यन्ते-तत्र पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परतो भूयः षष्ठं चन्द्रमण्डलमधिकृत्यान्तरं, तच्च पञ्चत्रिंशत्योजनानि त्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र च पञ्चत्रिंशद्योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा चोपरितनास्त्रिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, ततो जातान्येकविंशतिशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि २१६५, येऽपि च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गताश्चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागा द्वौ च एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, ते अत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतान्येकोनविंशत्यधिकानि २२१९, सूर्यस्य विकम्पो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाधिके, तत्र द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशं शतमेकषष्टिभागानां, तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, तेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, शेषास्तिष्ठन्ति नव, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, तत इदमागतं पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्त्रयोदश सूर्यमार्गास्त्रयोदशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि षष्ठाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं नव एकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, ततः परतः षष्ठं चन्द्रमण्डलं, तच्च षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागात्मकं, ततः परतः सूर्यमण्डलादर्वागन्तरं षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य एकः सप्तभागः, तदनन्तरं सूर्यमण्डलं, तस्माच्च परत एकषष्टिभागानां चतुरुत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्केनैकेन सप्तभागेन हीनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं प्राप्यते, तस्मात्सूर्यमार्गात्परतोऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, ततः सर्वसंकलनया तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि सप्तमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरमेकविंशतिरेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रयः सप्तभागाः, ततः सप्तमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्च सप्तमाच्चन्द्रमण्डलात् परतः चतुश्चत्वारिंशता एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैश्चतुर्भिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं, ततो द्विनवतिसंख्यैरेकषष्टिभागैश्चतुर्भिश्च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कैः सप्तभागैर्न्यूनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, ततः परमस्तीत्यनेनापि द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, ततस्तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसङ्कलनया त्रयोदश सूर्यमार्गास्त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्य बहिरष्टमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाग् अन्तरं त्रयस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, ततोऽष्टमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्चाष्टमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्त्रयस्त्रिंशता एकषष्टिभागैः सूर्यमण्डलं, तत एकाशीतिसंख्यैरेकषष्टिभागैरूनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं पुरतो विद्यते इति ततः पुरतोऽन्येऽपि द्वादश सूर्यमार्गाः, ततस्तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसंकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः, त्रयोदशाच्च सूर्यमार्गात्परतो नवमाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरं, चतुश्चत्वारिंशदेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तभागाः, ततः परं नवमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्च नवमाच्चन्द्रमण्डलात्परत एकविंशत्या एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रिभिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं, तत एकोनसप्ततिसंख्यैरेकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रिभिः सप्तभागैः परिहीणं यथोक्तप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र चान्ये द्वादश सूर्यमार्गाः, एवं चास्मिन्नप्यन्तरे सर्वसंकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि दशमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य एकः सप्तभागः, ततो दशमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्च दशमाच्चन्द्रमण्डलात्परतो नवभिरेकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं, ततः सप्तपञ्चाशता एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैरूनं प्रागुक्तपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, ततो भूयोऽपि द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, इति तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसंकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः, ततस्त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि एकादशाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरं सप्तषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तदेवं पञ्च चन्द्रमण्डलानि षष्ठादीनि दशमपर्यन्तानि सूर्यसंमिश्राणि, षट्सु च चन्द्रमण्डलान्तरेषु त्रयोदश सूर्यमार्गा इति जातम्, सम्प्रत्येतदन्तरमुच्यते-तत्र एकादशे चन्द्रमण्डले चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतावत् सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्ट एक एकषष्टिभागः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य पञ्च सप्तभागाः, इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रम् एकादशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरमस्तीति द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, ततः परमेकोनाशीत्या एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काभ्यां द्वाभ्यां सप्तभागाभ्यां द्वादशं चन्द्रमण्डलं, तच्च द्वादशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं द्वाचत्वारिंशतमेकषष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्, शेषं च त्रयोदश एकषष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्च द्वादशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं चतुस्त्रिंशतमेकषष्टिभागान् योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्, तत एतावन्मात्रेण हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो नवतिसंख्यैरेकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैस्त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं, तच्च त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम् एक-

त्रिंशतमेव षष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कमेकं सप्तभागं, शेषं चतुर्विंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागा इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्च त्रयोदशाच्चन्द्रमण्डलाद्बहिः सूर्यमण्डलं विनिर्गतं त्रयोविंशतिमेकषष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कमेकं सप्तभागं, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परत एकषष्टिभागानां चतुरुत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैस्त्रिभिः सप्तभागैश्चतुर्दशं चन्द्रमण्डलं, तच्चतुर्दशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टमेकोनविंशतिमेकषष्टिभागानेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुरः सप्तभागान्, शेषं षट्त्रिंशदेकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयः सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्चतुर्दशाच्चन्द्रमण्डलाद्बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलमेकादश, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चतुरः सप्तभागान्, तत एतावता हीनं यथोक्तपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परत एकषष्टिभागानां चतुर्दशोत्तरेण शतेन पञ्चदशं चन्द्रमण्डलं सर्वस्मात्सूर्यमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टमष्टावेकषष्टिभागान्, शेषा अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः सूर्यमण्डलसंमिश्राः, तदेवमेतान्येकादशादीनि पञ्चदशपर्यन्तानि पञ्च चन्द्रमण्डलानि सूर्यमण्डलसंमिश्राणि भवन्ति, चतुर्षु च चरमेषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश द्वादश सूर्यमार्गाः, एवं तु यदन्यत्र चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमार्गप्रतिपादनमकारि, यथा–"चंदंतरेसु अट्ठसु, अभिंतरबाहिरेसु सूरस्स । बारस बारस मग्गा, छसु तेरस तेरस भवंति" ॥१॥ तदपि संवादि द्रष्टव्यम् । सू० प्र० ११ पाहु० ।

चंदमहत्तर–चन्द्रमहत्तर–पुं० । षष्ठकर्मग्रन्थस्य टीकाकारके गणिनि, जै० इ० ।

चंदमा–चन्द्रमस्–पुं० । चन्द्रे, सान्तोऽयं शब्दः प्रथमैकवचनान्त आदन्त उपलक्ष्यते । "णक्खत्ताणं च चंदमा" सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । चन्द्रदृष्टान्तप्रतिपादके दशमे ज्ञाताध्ययने, स० १६ सम० ।

चंदमालिया–चन्द्रमालिका–स्त्री० । चन्द्राकृतिमालायाम्, औ० ।

चंदमास–चान्द्रमास–पुं० । चन्द्रे भवश्चान्द्रः, स चासौ मासश्च । कृष्णपक्षप्रतिपद आरभ्य यावत्पूर्णमासीपरिसमाप्तिस्तावत्कालमाने मासभेदे, स च एकोनत्रिंशदहोरात्राणि द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा अहोरात्रस्य २ कर्ममास ऋतुमास इत्येकोऽर्थः । स त्रिंशद्दिवसप्रमाणः । बृ० १ उ० । स० । नि० चू० । सू० प्र० । ज्यो० । (चान्द्रो मासो यथा चन्द्रमण्डलैर्निष्पद्यते तथा " चंदमंडल " शब्देऽत्रैव भागे ७४ पृष्ठे समुक्तम्)

चंदरिसि–चन्द्रर्षि–पुं० । पञ्चसंग्रहकर्तरि, पं० सं० ५ द्वार ।

चंदलक्खण–चन्द्रलक्षण–न० । कलाभेदे, स० ।

चंदलेसा–चन्द्रलेश्या–स्त्री० । चन्द्रस्य लेश्या, लेश्या दीप्तिस्तत्कारणत्वान्मण्डलम् । चन्द्रमण्डले, स० १५ सम० । चतुर्थदेवलोकस्थे विमानभेदे, न० । स० ३ सम० ।

चंदलेहा–चन्द्रलेखा–स्त्री० । चन्द्रं चन्द्रकान्तिं लिखति, लिखअण् । उप० स० । "हाकुल" इति ख्याते लताभेदे, चन्द्ररेखायाम्, पञ्चदशाक्षरके छन्दोभेदे, वाच० । राजपुरनगरराजस्य समरकेतोः कन्यायाम्, दर्श० । "जंबुद्दीवे सिंहलदीवे रयणदीवासे रिपुरनयरे चंदगुत्तो राया, तस्स चंदलेहा भारिआ" जम्बूद्वीपस्थचन्द्रगुप्तस्य राज्ञो भार्यायाम्, ती० १० कल्प । "सिरिसालिवाहणरन्नो चंदलेहाभिहाणा महासई देवी" शालिवाहनराजस्य स्वनामख्यातायां महासत्यां स्त्रियाम्, ती० ५३ कल्प ।

चंदवर्डिसग–चन्द्रावतंसक–न० । चन्द्रस्य ज्योतिष्केन्द्रस्य विमान, च० प्र० १८ पाहु० । सू० प्र० । साकेतनगरस्याधिपतौ मुनिचन्द्राभिधानस्य मुनेः पितरि, उत्त० १३ अ० । आ० म० । आ० चू० ।

चंदवण्ण–चन्द्रवर्ण–न० । चतुर्थदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम० ।

चंदवयणा–चन्द्रवदना–स्त्री० । विश्वपुरराजपुत्रमहेन्द्रमित्रस्य मदनश्रेष्ठिपुत्रस्य भार्यायाम्, ग० ३ अधि० ।

चंदवागरण–चन्द्रव्याकरण–न० । विंशतिव्याकरणानां मध्ये चतुर्थे व्याकरणे, कल्प० १ क्षण ।

चंदविकंप–चन्द्रविकम्प–पुं० । चन्द्रस्य विकम्पक्षेत्रे, (ज्यो०)

परस्परं चन्द्रसूर्यविकम्पाः–

चंदंतरेसु अट्ठसु, अभिंतरबाहिरेसु सूरस्स ।
बारस बारस मग्गा, छसु तेरस तेरस भवंति ॥

इह चन्द्रमण्डलानामन्तराणि चतुर्दश । तथाहि–पञ्चदश चन्द्रमसो मण्डलानि पञ्चदशानां चान्तराणि चतुर्दश भवन्ति, नाधिकानि । तत्र सर्वाभ्यन्तरेषु चतुर्षु चन्द्रमण्डलान्तरेषु चतुर्षु च सर्वबाह्येषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु प्रत्येकं द्वादश सूर्यमार्गा भवन्ति, षट्सु च चन्द्रमण्डलान्तरेषु मध्यवर्तिषु त्रयोदश त्रयोदश मार्गा भवन्ति । अथ कथमेतदवसीयते–एकैकस्मिन् चन्द्रमण्डलान्तरे द्वादश त्रयोदश वा सूर्यमार्गा भवन्ति इति ?।

एतदर्थमेकैकस्मिन् चन्द्रविकम्पे यावन्तः सूर्यविकम्पा भवन्ति तावतः प्रतिपादयिषुः करणमाह–

चंदविकंपं एक्कं, सूरविकंपेण भायए नियमा ।
जावइ भागं लद्धं, सूरविकंपाउ ते होंति ॥

एकं चन्द्रविकम्पं षट्शतयोजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागा इत्येवंरूपे सूर्यविकम्पेन द्वे योजने अष्टचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य एकषष्टिरित्येवंप्रमाणेन नियमान्निश्चयेन भाजयेत्, विभक्ते च सति यावद् भागं लब्धं भवति तावत्प्रमाणास्ते सूर्यविकम्पा भवन्ति, तत एवं सूर्यविकम्पान् ज्ञात्वा यावन्तश्चन्द्रमण्डलान्तरे सूर्यमार्गा भवन्ति तावन्तः सुखं ज्ञातव्याः । तद्यथा–प्रथमे सर्वाभ्यन्तरे सूर्यमण्डले सूर्योपरि भ्रमति चन्द्रोऽपि, चन्द्रश्च द्वितीयदिने तन्मण्डलक्षेत्राद् बहिरन्तरं, पञ्चत्रिंशद् योजनानि त्रिंशतं चैकषष्टिभागान् योजनस्य, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्कान् चतुरो भागान् विकम्प्य चारं चरति, ततो विकम्पस्य परिमाणं षट्त्रिंशद्योजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागाः । अत्र योजनराशिरेकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकविंशतिशतानि षण्णवत्यधिकानि २१९६, ये च उपरितनाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागास्तेऽप्यत्र

प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि एकविंशत्यधिकानि २२२१, सूर्यविकम्पौ द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य, तत्र द्वे योजने एकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशत्यधिकं शतं १२२, तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, एतेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, एतावन्तः सूर्यविकम्पा एकस्मिन् चन्द्रविकम्पे भवन्ति, शेषे तिष्ठन्त्येकादश एकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागाः, द्वयोश्च चन्द्रमण्डलयोरपान्तराले द्वादश सूर्यमार्गा भवन्ति, एकस्य सूर्यमार्गस्य सर्वाभ्यन्तरे एव मण्डले भावात्। एवं शेषेष्वपि चन्द्रमण्डलान्तरेषु पूर्वपूर्वचन्द्रमण्डलान्तरोद्धरितभागपरिमीलनेन यथोक्तसूर्यमार्गप्रमाणं परिभावनीयम्। भावयिष्यते चायमर्थोऽग्रे स्वयमेव सूत्रकृतेति न प्रतिचन्द्रमण्डलान्तरभावना क्रियते, तदेवमुक्तं चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमार्गप्रतिपादनार्थं करणम्।

संप्रति सूर्यमण्डलान्तरपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरपरिमाणं च प्रतिपादयति-

वे जोयणाणि सूर-स्स मंडलाणं तु हवइ अंतरिया।
चंदस्स वि पणतीसं, साहीया होइ नायव्वा॥

सूर्यस्य सवितुः सत्कानां मण्डलानां परस्परमन्तरिका अन्तरमेवान्तर्यम्, ब्राह्मणादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः, ततः स्त्रीत्वविवक्षायां ङीप्प्रत्यये अन्तरी, अन्तर्येव आन्तरिका भवति द्वे योजने, चन्द्रस्य पुनरान्तरिका भवति ज्ञातव्या पञ्चत्रिंशत् योजनानि साधिकानि, पञ्चत्रिंशत्योजनानि पञ्चत्रिंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागा इत्यर्थः।

अधुना सूर्यविकम्पस्य चन्द्रविकम्पस्य च परिमाणमाह-

सूरविकंपो एक्को, सममंडला होइ मंडलंतरिया।
चंदविकंपो य तहा, सममंडला मंडलंतरिया॥

एकः सूर्यविकम्पो भवति मण्डलान्तरिका सममण्डला। किमुक्तं भवति?-एकस्य सूर्यमण्डलान्तरस्य यत्परिमाणमेकसूर्यमण्डलपरिमाणसहितं तदेकस्य सूर्यविकम्पस्य परिमाणमिति। "चंदविकंपो य" इत्यादि। तथा तेनैव प्रकारेण चन्द्रविकम्पश्च ज्ञातव्यो मण्डलान्तरिका समण्डला, एकस्य चन्द्रमण्डलान्तरस्य यत्परिमाणं तत् प्रागेवास्माभिरुक्तमिति।

साम्प्रतमेकेनायनेन चन्द्रः सूर्यो वा यावत्प्रमाणं क्षेत्रं तिर्यगाक्रामति तत्परिमाणमाह-

पंचेव जोयणसया, दसुत्तरा जत्थ मंडला होंति।
जं अक्कमेइ तिरियं, चंदो सूरो य अयणेणं॥

यत् क्षेत्रं चन्द्रः सूर्यो वा एकेनायनेन तिर्यगाक्रामति, यत्र चन्द्रमसः सूर्यस्य वा मण्डलानि भवन्ति, तस्य क्षेत्रस्य परिमाणं पञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि, नवरं चन्द्रमसमधिकृत्याष्टभिरेकषष्टिभागैर्न्यूनानि, तथाहि-एकस्मिन्नयने सूर्यविकम्पानामशीत्यधिकं शतं भवति। एकैकस्य सूर्यविकम्पस्य परिमाणमेकषष्टिभागरूपं सप्तत्यधिकं शतम् १७०, ततश्च त्र्यशीत्यधिकं शतमेकेन शतेन गुण्यते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरम् ३१११०, तत एतेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धानि पञ्च योजनशतानि ५००, एतावत् सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परत एकेनायनेन सूर्यस्तिर्यक्क्षेत्रमाक्रामति, तथा एकस्मिन्नयने चन्द्रविकम्पाश्चतुर्दश, एकस्य च चन्द्रविकम्पस्य परिमाणं पञ्चत्रिंशद्योजनानि पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य चत्वारो भागाः योजनराशिरेकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकविंशतिशतानि षण्णवत्यधिकानि २१९६, तत उपरितनाः पञ्चविंशतिरेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि एकविंशत्यधिकानि २२२१, चतुर्दश च सर्वसंख्यया चन्द्रमसो विकम्पाः, ततो द्वाविंशतिशतानि एकविंशत्यधिकानि चतुर्दशभिर्गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि चतुर्नवत्यधिकानि ३१०९४, येऽपि च एकस्य एकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागास्तेऽपि चतुर्भिर्गुण्यन्ते, जाताः षट्पञ्चाशत्, सप्तभिर्भागे हृते लब्धा अष्टौ, ते पूर्वराशौ प्रक्षिप्यन्ते, जातः पूर्वराशिरेकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरम् ३११०२, तेषां योजनानयनार्थमेकषष्ट्या भागो ह्रियते, लब्धानि पञ्चयोजनशतानि नवोत्तराणि त्रिपञ्चाशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य ५०९, $\frac{५३}{६१}$ पञ्चयोजनशतानि दशोत्तराणि अष्टभिरेकषष्टिभागैर्हीनानीत्यर्थः। एतावत्सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्परत एकेनाऽयनेन चन्द्रस्तिर्यक्क्षेत्रमाक्रामति, एवंरूपा च क्षेत्रकाष्ठा मूलटीकायामपि भाविता। तथा च तद्ग्रन्थः-" सूरस्स पंच जोयणसया दसाहिया कट्ठा, सच्चेव अट्ठहिं एकसट्ठिभागेहिं ऊणिया चंदकट्ठा हवइ त्ति "॥

संप्रति काष्ठादर्शनतो विकम्पानयनार्थं करणमाह-

सगमंडलेहिं हरियं, सगकट्ठाओ हवंति सविकंपा।
जे सगविक्खंभजुया, हवंति सगमंडलंतरिया॥

चन्द्रमसः सूर्यस्य वा विकम्पाः, कथम्भूता इत्याह-स्वकविष्कम्भयुताः स्वकमण्डलान्तरिकाः, स्वस्वमण्डलविष्कम्भसहितस्वस्वमण्डलान्तरिकरूपा इत्यर्थः। भवन्ति ते स्वकाष्ठातः, प्राकृतत्वात् षष्ठ्यर्थे पञ्चमी। स्वस्वविकम्पयोग्यक्षेत्रपरिमाणस्य स्वकमण्डलैः स्वस्वमण्डलसंख्यया भागे हृते यल्लब्धं तावत्प्रमाणाः स्वस्वविकम्पा भवन्ति। तथाहि-सूर्यस्य क्षेत्रकाष्ठा पञ्च योजनशतानि दशोत्तराणि ५१०, तान्येव षष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं दशोत्तरम् ३१११०, सूर्यस्य मण्डलानि त्र्यशीत्यधिकं शतम् १८३, ततो योजनानयनार्थं त्र्यशीत्यधिकं मण्डलं शतमेकषष्ट्या गुण्यते, जातान्येकादशसहस्राणि शतमेकं त्रिषष्ट्यधिकम् १११६३, एतेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धं द्वे योजने, शेषमुपरिष्टादुद्धरितसप्ताशीतिशतानि चतुरशीत्यधिकानि ८७८४, ततः संप्रत्येकषष्टिभागा आनेतव्या इति अधस्ताच्छेदराशिस्त्र्यशीत्यधिकं शतं ध्रियते १८३, तेन भागे हृते लब्धा अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एतावत्परिमाणमेकैकस्य सूर्यविकम्पस्य, तथा चन्द्रस्य तिर्यक्क्षेत्रकाष्ठा पञ्च योजनशतानि नवोत्तराणि त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागा योजनस्य ५०९। ५३, तत्र योजनान्येकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि एकोनपञ्चाशदधिकानि ३१०४९, तत उपरितनास्त्रिपञ्चाशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातान्येकत्रिंशत्सहस्राणि शतमेकं द्व्युत्तरम् ३११०२, चन्द्रस्य चन्द्रमण्डलानि सर्वबाह्यान्मण्डलादर्वाक् चतुर्दश १४, ततो योजनानयनार्थं चतुर्दश एकषष्ट्या गुण्यन्ते, जाता

अष्टौ शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि ८५४, तैः पूर्वराशेर्भागो व्हियते, लब्धानि षट्त्रिंशद्योजनानि ३६, शेषाणि तिष्ठन्ति त्रीणि शतान्यष्टापञ्चाशदधिकानि ३५८, अत ऊर्ध्वमेकषष्टिभागा आनेतव्याः, ततश्चतुर्दशभिर्भागे लब्धाश्चत्वारः सप्तभागाः, एतावत्परिमाण एकैकश्चन्द्रविकम्प इति, इह सर्वाभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं सर्वात्मना प्रविष्टं केवलमष्टापञ्चाशतशतं १५८, तत्र द्वाविंशेन शतेन द्वादशस्य सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने लब्धे, शेषास्तिष्ठन्ति तत्र एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्त भागाः, येऽपि च प्रथमे चन्द्रमण्डले रविमण्डलात् शेषा अष्टावेकषष्टिभागास्तेऽप्यत्र प्रक्षिप्यन्ते इति जाता एकादश एकादश एकषष्टिभागाः, द्वादशाच्च सूर्यमण्डलात्परतो योजनद्वयातिक्रमे सूर्यमण्डलमत आगत्य द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्डलमेकादश एकषष्टिभागा एकस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्काश्चत्वारो भागा इति ।

साम्प्रतं शेषेषु द्वितीयादिषु चन्द्रमण्डलेषु यावत्प्रमाणं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं तावत्परिमाणप्रतिपादनार्थं करणमाह-

इच्छामंडलरूवूण, गुणियमब्भंतरं तु सूरस्स ।
तस्सेसं सामण्णं, सामण्णविसेसियं ससिणो ॥

यस्मिन्मण्डलस्य चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टस्य ज्ञातुमिच्छा,तेन इच्छामण्डलेन रूपोनेन प्राक्तनमनन्तरोक्तमभ्यन्तरप्रविष्टं सूर्यमण्डलं परिमाणगुणितं क्रियते, गुणितं च सत् यावद् भवति तावत्प्रमाणे तस्मिन् मण्डले चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं सूर्यस्य मण्डलं प्रविष्टमवसेयम् । तद् यथा-तृतीये चन्द्रमण्डले किल ज्ञातुमिच्छा, ततस्त्रयो रूपोनाः क्रियन्ते, जातौ द्वौ, ताभ्यां प्रागुक्ता एकादश एकषष्टिभागा गुण्यन्ते,जाता द्वाविंशतिः,येऽपि च चत्वारः सप्तभागास्तेऽपि द्वाभ्यां गुण्यन्ते, जाता अष्टौ,सप्तभिरेक एकषष्टिभागो लब्धः,स पूर्वराशौ प्रक्षिप्यते, तत आगतं तृतीये चन्द्रमण्डले चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्डलं त्रयोविंशतिरेकषष्टिभागस्य सप्तधा छिन्नस्य सत्क एको भागः,एवं चतुर्थचन्द्रमण्डले चन्द्रमण्डलादभ्यन्तरं सूर्यमण्डलं प्रविष्टाश्चतुस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः,एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, पञ्चमे मण्डले षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, अस्य सप्तधा छिन्नस्य द्वितीयादिषु तु चन्द्रमण्डलेषु विशेषं वक्ष्यति । (तस्सेसं सामण्णं ति) तस्याभ्यन्तरप्रविष्टस्य सूर्यमण्डलस्य यत् शेषं सूर्यमण्डलसत्कं तत् सामान्यं साधारणं,चन्द्रमण्डलमपि प्रविष्टमित्यर्थः। यत् सामान्याद् विशेषितमतिरिक्तं चन्द्रमण्डलविष्कम्भस्य तत् शशिनोऽसाधारणं द्रष्टव्यम् । तद्यथा-द्वितीये चन्द्रमण्डले सूर्यमण्डलसाधारणाः षट्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य त्रयः सप्तभागाः । किमुक्तं भवति ?, एतावत्प्रमाणं द्वितीये चन्द्रमण्डले सूर्यमण्डलं प्रविष्टमिति चन्द्रमण्डलस्य च विष्कम्भः षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागा योजनस्य, ततः षट्पञ्चाशतः षट्त्रिंशत्येकषष्टिभागेषु त्रिषु चैकषष्टिभागस्य सप्तभागेष्वपनीतेषु शेषास्तिष्ठन्त्येकोनविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य चत्वारः सप्तभागाः, एतावत्प्रमाणं द्वितीयं चन्द्रमण्डलं क्षेत्रे सूर्यमण्डलवत् बहिर्विनिर्गतं चन्द्रमण्डलमिति। एवं सर्वेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम्,भावयिष्यते चाग्रेऽप्येतदाचार्य इति न संमोहः कार्यः ।

संप्रति षष्ठादिषु चन्द्रमण्डलेषु विशेषमाह-

छट्ठाइं रविसेसं, रविससिणो अंतरं तु नायव्वं ।
तं व ससि सुद्ध सूरं-तराहियं अंतरं बाहिं ॥

षष्ठादिषु चन्द्रमण्डलेषु प्रागुक्तकरणवशात् यल्लभ्यते तत्र रवेः सूर्यमण्डलात् शेषं वर्तते,तत् रविशशिनोरन्तरं ज्ञातव्यम् । " तं वेत्यादि " अत्र तं वेति प्रथमा सप्तम्यर्थे, शशिशुद्ध इत्यत्र प्रत्येकं विभक्तिलोप आर्षत्वात् । ततोऽयमर्थः-तस्मिन् रविशशिनोरन्तरं, वाशब्दो भिन्नक्रमः, स चैवं योजनीयः-शशिनि च सूर्यान्तरात् सूर्यान्तरपरिमाणात् योजनद्विकरूपात् यच्च द्वे शेषं यदधिकं सूर्यान्तरपरिमाणस्य वर्तते तत् शशिनो बहिः सूर्यमण्डलादर्वागन्तरमवसेयम् । यथा षष्ठे किल चन्द्रमण्डले अन्तरं ज्ञातुमिच्छा, ततः षड्रूपोनाः क्रियन्ते, जाताः पञ्च, तैरेकादश एकषष्टिभागाः,एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागा गुण्यन्ते, जाताः सप्तपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, तत्राष्टाचत्वारिंशतैकैरेकषष्टिभागैः सूर्यमण्डलं विशुद्धं , शेषा एकषष्टिभागाः , एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः तिष्ठन्ति । एतावन्मात्रप्रदेशे रविशशिनोरन्तरं,तत एतस्मिन् सूर्यान्तरपरिमाणात् द्वियोजनरूपात् परिशुद्धे चन्द्रमण्डलपरिमाणात् द्वियोजनरूपात् परिशुद्धे चन्द्रे मण्डलपरिमाणे च षट्पञ्चाशदेकषष्टिरूपे शुद्धे शेषमवतिष्ठन्ते षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, एतावत् षष्ठाच्चन्द्रमण्डलात्परतः सूर्यमण्डलादर्वागन्तरम्,एवं शेषेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम् ।

जत्थ न सुज्झइ सोमो, तं ससिणो तत्थ होइ पत्तेयं ।
तस्सेसं सामन्नं, सामन्नविसेसियं रविणो ॥

यत्र चन्द्रमण्डलक्षेत्रे अनन्तरोक्तकरणचिन्तायां सोमश्चन्द्रो न शुद्ध्यति। यथा एकादशे चतुर्दशे पञ्चदशे वा, तत्र तावत्प्रमाणं शशिनः प्रत्येकमसाधारणं ज्ञातव्यं, तस्माच्च परतो यत् शेषं चन्द्रमण्डलान्तर्गतं सूर्यमण्डलसत्कं तत् सामान्यमुभयसंमिश्रं ज्ञातव्यम् । तस्माच्च सामान्यात् परतो यद्विशेषितमसाधारणं वर्तते तत् रवेरवसेयम् । यथा किलैकादशे चन्द्रमण्डलेऽन्तरादि परिमाणं जिज्ञास्य तदेकादशरूपोनं क्रियते, जाता दश ते एकादश एकषष्टिभागा एकस्य च एकषष्टिभागस्य च सत्काश्चत्वारः सप्त भागा गुण्यन्ते, जातं पञ्चदशोत्तरमेकशतम् , एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः ११५ । ५, एतेषां मध्ये अष्टाचत्वारिंशतैकषष्टिभागं सूर्यमण्डलं शुद्धं, शेषाः सप्तषष्टिरेकषष्टिभागा एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागास्तिष्ठन्ति, एतत् सूर्यान्तरपरिमाणात् योजनद्वयरूपात् शोध्यन्ते, शेषं त्रिचतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागा द्वौ चैकस्यैकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, एतावता चन्द्रो न शुध्यति, चन्द्रमण्डलस्य षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागप्रमाणत्वात्,तत एतावत् सूर्यमण्डलादेकादशं चन्द्रमण्डलमभ्यन्तरं प्रविष्टमवसेयम् , शेषं त्वेकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागा इत्येतावत् प्रमाणं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्च परतः षट्चत्वारिंशतमेकषष्टिभागान् द्वौ चैकषष्टिभागस्य सप्त भागान् यावत् केवलं सूर्यमण्डलम्,एवं शेषेष्वपि द्वादशादिषु मण्डलेषु भावना कार्या । तदेवमुक्तं चन्द्रमण्डलान्तरेषु सूर्यमार्गपरिमाणं,चन्द्रसूर्यमण्डलान्तरपरिमाणं,चन्द्रमण्डलसूर्यमण्डलसाधारणं भागपरिमाणं च ।

साम्प्रतमुक्तमेवार्थं सुखग्रहणधारणनिमित्तं व्याख्याता संजिघृक्षुः प्रथमतः सर्वाभ्यन्तराणां पञ्चानां साधारणमण्डलानां गाथाद्वयेन भावनामाह—

अट्ठ बारस चउ छ-त्तीसा तिन्नि उ गुणवीस चत्तारि ।
तेवीसेगं चउवी-स छक्क इगतीस एक्कं च ॥
चउतीस पंच तेरस, दुगं च बायाल पंच भागाणि ।
छायाल दुगेगं पुण, चउपन्नं चेव दो भागा ॥

प्रथमे सर्वाभ्यन्तरे चन्द्रमण्डले क्षेत्रे सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतचन्द्रमण्डलमष्टावेकषष्टिभागान्, ततो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागपान्तराले द्वादश सूर्यमार्गाः। अत्रार्थे च भावना प्रागेव कृता। द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् द्वे योजने एकादश च एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः,तत्र योजनद्वयानन्तरं सूर्यमण्डलमतो द्वितीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टं सूर्यमण्डलमेकादशैकषष्टिभागान्, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुरः सप्तभागान्, ततः परं षट्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयः सप्तभागाः,इत्येतावत् परिमाणं सूर्यमण्डलसंमिश्रम्, एतावता किल शुद्धं सूर्यमण्डलं, ततः सूर्यमण्डलात्परतो बहिर्विनिर्गतं चन्द्रमण्डलमेकोनविंशतिमेकषष्टिभागान्, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्कान् चतुरः सप्तभागान्, ततः परं भूयः तृतीयाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् यथोक्तपरिमाणमन्तरम्। तद्यथा-पञ्चत्रिंशद् योजनानि त्रिंशदेकषष्टिभागा योजनस्य,एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः,एतावति चान्तरे द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, उपरि च द्वे योजने त्रयश्चैकषष्टिभागा योजनस्य, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, ततोऽत्र प्रागुक्तद्वितीयाद्यो ते द्वादशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने, त्रय एकषष्टिभागाः योजनस्य,एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागस्तत्र प्रक्षिप्यते। ततो जाताश्चतुस्त्रिंशदेकषष्टिभागस्य सप्तभागाः, तत इदं तृतीयाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयमतिक्रम्य सूर्यमण्डलं चतुर्थाच्चन्द्रमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टं चतुस्त्रिंशतिमेकषष्टिभागानेकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्कान् पञ्च सप्तभागान्,ततः शेषं सूर्यमण्डलस्य त्रयोदशैकसप्तषष्टिभागाः,एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतत् चतुर्थचन्द्रमण्डलसंमिश्रं चतुर्थस्य सूर्यमण्डलाद् बहिश्चन्द्रमण्डलस्य विनिर्गतद्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागा एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, ततः पुनरपि यथोदितं परिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि द्वे योजने, त्रय एकषष्टिभागा योजनस्य,एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत्र ये चतुर्थस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद् बहिर्निर्गता द्वाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तेऽत्र राशौ प्रक्षिप्यन्ते, ततो जाताः षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, द्वौ च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ, ततश्चतुर्थाच्चन्द्रमण्डलात्परतो द्वादशसूर्यमार्गात्परतो योजनद्वयमतिक्रम्य सूर्यमण्डलं, तच्च पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अभ्यन्तरं प्रविष्टं षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागान्,द्वौ चैकस्य सत्कौ सप्तभागौ, शेषं सूर्यमण्डलस्यैकषष्टिभाग एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं पञ्चमं चन्द्रमण्डलसंमिश्रं, तस्य च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद्बहिर्विनिर्गतं चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागाः,एकस्य चैकषष्टिभागस्य द्वौ सप्तभागौ, तदेवं पञ्च सर्वाभ्यन्तराणि चन्द्रमण्डलानि साधारणानि, चतुर्षु च चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश सूर्यमार्गा इत्येतद् भावितम्।

सम्प्रति पञ्च साधारणानि चन्द्रमण्डलानि विभावयितुमाह—

नव छप्पणेग एक्का-वीसं वा तिन्नि वा चत्ता ।
चत्तालीस तिगऽहिया, तेत्तीसा एगसीया य ॥
चउयाला उणवीसं, ति छप्पणं एग नव छक्कं ।

पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परतो भूयः षष्ठं चन्द्रमण्डलमधिकृत्यान्तरं, तच्च पञ्चत्रिंशद्योजनानि एकषष्टिभागकरणार्थमेकषष्ट्या गुण्यन्ते,गुणयित्वा चोपरितनास्त्रिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते,ततो जातानि एकविंशतिशतानि पञ्चषष्ट्यधिकानि २१६५, येऽपि च पञ्चमस्य चन्द्रमण्डलस्य सूर्यमण्डलाद्बहिर्विनिर्गताश्चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागा द्वौ च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कौ सप्तभागौ तत्र प्रक्षिप्यन्ते, जातानि द्वाविंशतिशतानि एकोनविंशत्यधिकानि, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः २२१९।६, सूर्यस्य विकम्पो द्वे योजने अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाधिके, तत्र द्वे योजने एकषष्ट्या गुण्येते, जातं द्वाविंशं शतमेकषष्टिभागानां,तत उपरितना अष्टाचत्वारिंशदेकषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातं सप्तत्यधिकं शतं १७०, तेन पूर्वराशेर्भागो ह्रियते, लब्धास्त्रयोदश, शेषास्तिष्ठन्ति नव, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः,तत इदमागतम्-पञ्चमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्त्रयोदश सूर्यमार्गाः,त्रयोदशस्य च सूर्यमार्गस्योपरि षष्ठाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरं नव, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, ततः परतः षष्ठं चन्द्रमण्डलं, तच्च षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागात्मकं, ततः परतः सूर्यमण्डलादर्वागन्तरं, (छप्पणेग त्ति) षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, तदनन्तरं सूर्यमण्डलं, तस्माच्च परत एकषष्टिभागानां चतुरुत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्केन सप्तभागेन हीनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं प्राप्यत इति एतस्मात् सूर्यमण्डलात्परतोऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गाः लभ्यन्ते, ततः सर्वसंकलनया तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि सप्तमाच्चन्द्रमण्डलादर्वागन्तरमेकविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य त्रयः सप्तभागाः, ततः सप्तमं चन्द्रमण्डलं,तस्माच्च सप्तमाच्चन्द्रमण्डलात्परतश्चतुश्चत्वारिंशता एकषष्टिभागैः एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैश्चतुर्भिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं, ततो द्विनवतिसंख्यैकषष्टिभागैः चतुर्भिश्च एकस्य एकषष्टिभागस्य सत्कैः सप्तभागैः न्यूनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, ततः परमस्तीत्यनेनाऽपि द्वादश सूर्यमार्गा भवन्तीति, तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, त्रयोदशस्य च सूर्यस्य बहिरष्टमाच्च चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं त्रयस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, ततोऽष्टमं चन्द्रमण्डलं, तस्माच्चाष्टमाच्चन्द्रमण्डलात्परतस्त्रयस्त्रिंशता एकषष्टिभागैः सूर्यमण्डलं, तत एकाशीतिसंख्यैरेकषष्टिभागैरूनं यथोदितप्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं पुरतो विद्यते इति,ततः पुरतोऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गाः,ततस्तस्मिन्नप्यन्तरे सर्वसंकलनया त्रयोदश सूर्यमार्गाः, त्रयोद-

शाच्च सूर्यान्नवमाच्च चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं चतुश्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः चत्वारः सप्तभागाः, ततः परं नवमं मण्डलं, तस्माच्च नवमाच्चन्द्रमण्डलात्परत एकविंशतिः एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः त्रिभिः सप्तभागैः परिहीनं यथोक्तं प्रमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र चाऽन्ये द्वादश सूर्यमार्गाः, एवं चाऽस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, तस्य च त्रयोदशस्य सूर्यस्योपरि दशमाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं षष्ठं, षष्ठात् चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं षट्पञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्यैकः सप्तभागः, ततो दशमं मण्डलं, दशमाच्चन्द्रमण्डलादेकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैः सूर्यमण्डलं ततः सप्तपञ्चाशता एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैरूनं प्रागुक्तपरिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, ततः सूर्येऽपि द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते इति। तस्मिन्नप्यन्तरे त्रयोदश सूर्यमार्गाः, त्रयोदशस्य सूर्यमार्गस्योपरि एकादशाच्चन्द्रमण्डलादर्वाक् अन्तरं सप्तषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च भागाः, तदेवं भावितानि मध्यमानि पञ्च साधारणानि मण्डलानि षट्सु च चन्द्रमण्डलान्तरेषु त्रयोदश सूर्यमार्गाः ।

सम्प्रति सर्वबाह्यानि पञ्च साधारणानि मण्डलानि, चतुर्षु च सर्वबाह्येषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश सूर्यमार्गान् विभावयिषुराह–

चउ ठप्पन्न दुगेगं, पन्नवयाली सं च दो चेव ।
बायाल पंच तेरस, दुगं च चोतीस पंच भागा य ॥
इगतीसेगं चउवी–स छक्क तेवीस एकं च ।
इगुणवीस चउ छत्ती–स तिन्नि एकारसेव चउरठ ।
दो दो तेत्तीसऽट्ठ य, नत्थि चउण्हं पि सत्तंसा ॥

एकादशस्य चन्द्रमण्डलस्य चतुःपञ्चाशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, इत्येतत् सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम एकषष्टिभागः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रम । अत्रार्थे च-"जत्थ न सुज्झइ सोमो" इत्यत्र प्रदेशे भावना कृतैवेति न भूयः क्रियते, तदनुसारेण चोत्तरत्राऽपि स्वयं भावना भावनीया। एकादशात् तु चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं षट्चत्वारिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागौ, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरमस्तीति द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते। ततः परत एकोनाशीत्या एकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काभ्यां सप्तभागाभ्यां द्वादशं चन्द्रमण्डलं, तत्र द्वादशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम् (बायाल पंच त्ति) द्विचत्वारिंशदेकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, शेषं च त्रयोदश एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कौ द्वौ सप्तभागावित्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्च द्वादशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलं चतुस्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः पञ्च सप्तभागाः, तत एतावन्मात्रेण हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गा लभ्यन्ते, द्वादशाच्च सूर्यात्परतो नवतिसंख्यैरेकषष्टिभागैरेकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैः षड्भिः सप्तभागैस्त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं, तत्र त्रयोदशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम, (इगतीसेगं त्ति) एकत्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काः षट् सप्तभागाः, इत्येतावन्मात्रं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्च त्रयोदशाच्चन्द्रमण्डलाद् बहिः सूर्यमण्डलाद्विनिर्गतं त्रयोविंशतिरेकषष्टिभागाः, एकस्य चैकषष्टिभागस्य सत्क एकः सप्तभागः, तत एतावता हीनं परतश्चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमार्गात्परत एकषष्टिभागानां चतुरुत्तरेण शतेन एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कैस्त्रिभिः सप्तभागैश्चतुर्दशं चन्द्रमण्डलं सूर्यमण्डलादभ्यन्तरं प्रविष्टम, (इगुणवीस चउ त्ति) एकोनविंशतिरेकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, शेषं षट्त्रिंशदेकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्कास्त्रयः सप्तभागा इत्येतावत्परिमाणं सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तस्माच्चतुर्दशात् सूर्यमण्डलाद् बहिर्विनिर्गतं सूर्यमण्डलम् एकादश एकषष्टिभागाः, एकस्य च एकषष्टिभागस्य सत्काश्चत्वारः सप्तभागाः, तत एतावता हीनं यथोक्तं परिमाणं चन्द्रमण्डलान्तरं, तत्र च द्वादश सूर्यमार्गाः, द्वादशाच्च सूर्यमण्डलात्परत एकषष्टिभागानां चतुर्दशोत्तरेण शतेन पञ्चदशं चन्द्रमण्डलं, तत्र पञ्चदशं चन्द्रमण्डलं सर्वानिमान् सूर्यमण्डलादर्वागभ्यन्तरं प्रविष्टमष्टावेकषष्टिभागाः, शेषा अष्टचत्वारिंशद्भागाः सूर्यमण्डलसंमिश्रं, तदेवं भावितानि सर्वबाह्यानि पञ्च साधारणानि मण्डलानि, चतुर्षु च सर्वबाह्येषु चन्द्रमण्डलान्तरेषु द्वादश सूर्यमार्गाः । संप्रति येषु प्रागुक्तेषु अंशेषु सप्तांशा भावास्तस्मात् मन्दमतीनां विशिष्टस्मरणायाऽधुना कथयति-" दो दो तेत्तीस" इत्यादि। ये द्वे अष्टमचन्द्रमण्डलचिन्तायां त्रयस्त्रिंशतावुक्ते, यौ च प्रथमपञ्चदशचन्द्रमण्डलयोरष्टकावुक्तौ, एतेषां चतुर्णामपि सप्तांशा न विद्यन्ते, किं तु परिपूर्णा एव ते एकषष्टिभागाः, तदेवं ततः सूर्यमण्डलानां चन्द्रमण्डलानां च परस्परं विभागभावना, एतेषु चन्द्रमण्डलेषु द्वौ सूर्यौ, द्वौ च चन्द्रमसौ चारं चरतः ।

सर्वाभ्यन्तरे मण्डले वर्त्तमानयोर्द्वयोः परस्परमन्तरपरिमाणमाह–

नवनउई य सहस्सा, छ च्चेव सया हवंति चत्ताला ।
सूराण उ आबाहा, अब्भिंतरमंडलच्छाया ॥

सूर्ययोः परस्परमाबाधा नवनवतिः सहस्राणि षट्शतानि चत्वारिंशदधिकानि योजनानां ९९६४०, तथाहि-एकोऽपि सूर्यो जम्बूद्वीपे अशीत्यधिकं योजनशतमवगाह्य सर्वाभ्यन्तरे मण्डले स्थितोऽपरोऽपि, ततोऽशीत्यधिकं शतं द्वाभ्यां गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि षष्ट्यधिकानि ३६०, एतेषु जम्बूद्वीपविभागयोजनलक्षप्रमाणादपनीतेषु शेषं यथोक्तपरिमाणं भवति, यदा तु सर्वाभ्यन्तराऽनन्तरे द्वितीये मण्डले उपसंक्रम्य सूर्यौ चारं चरतः, तदा तयोः परस्परमन्तरं नवतियोजनसहस्राणि षट्शतानि पञ्चचत्वारिंशदधिकानि, पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य ९९६४५-३५-६१, तथाहि-एकोऽपि सूर्यो द्वितीये मण्डले संक्रामन् द्वे योजने अष्टचत्वारिंशच्चैकषष्टिभागान् विमुच्य संक्रामति तथा द्वितीयोऽपि, सूर्यविकम्पस्य एतावत्प्रमाणत्वात्, तच्च प्रागेव भावितं, ततः पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य, द्वितीये मण्डले सूर्ययोः परस्परमन्तरचिन्तायामधिकत्वेन प्राप्यन्ते, एवमग्रेतनेष्वपि मण्डलेषु भावनीयम । यदा तु सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलात्तृतीये मण्डले सूर्यौ चारं चरतस्तदा तयोः परस्परमन्तरं नवनवतियोजनसहस्राणि षट् शतानि एकपञ्चाश-

द्विकानि,नव चैकषष्टिभागा योजनस्य ११६५१-६,एवं सर्वाभ्यन्तरान्मण्डलाद् बाह्येषु मण्डलेषु संक्रामतोः सूर्ययोः परस्परमन्तरचिन्तायां मण्डले मण्डले पञ्च योजनानि पञ्चत्रिंशच्चैकषष्टिभागा योजनस्य वृद्धिस्तावत् मन्तव्या यावत् सर्वबाह्यं मण्डलम्। ज्यो० १० पाहु० ।

चंदविमाण-चन्द्रविमान-न०। चन्द्रसत्कविमाने, जं० ७ वक्ष०। (चन्द्रविमानस्य संस्थानादि 'जोइसियविमाण'शब्दे) (अथैषामेव षोडश सहस्राणां व्यक्तिः 'विमाण' शब्दे वक्ष्यते) (अत्रत्यदेवस्थितिः 'ठिइ' शब्दे वक्ष्यते)

चंदविलासिणी-चन्द्रविलासिनी-स्त्री०। चन्द्रवन्मनोहरणशीलायाम्, रा०। जं०। औ०।

चंदसंवच्छर-चन्द्रसंवत्सर-पुं०। चान्द्रमासैर्निष्पन्ने प्रमाणसंवत्सरे, चं० प्र० १० पाहु०। सू० प्र०।

ता एएसि णं पंचण्हं संवच्छराणं दोचस्स चंदसंवच्छरस्स चंदे मासे तीसती मुहुत्तेणं गणिजमाणे केवतिए रातिंदियग्गेणं आहिते ति वदेज्जा ?। ता एगूणतीसं रातिंदियाई, वत्तीसं च बावट्ठिभागा रातिंदियस्स,रातिंदियग्गेणं आहितेति वदेज्जा। ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?। ता अट्ठ पंचासीए मुहुत्तसते तीसं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहिते ति वदेज्जा। ता एस णं अद्धा दुवालस खत्तकमा चंदे संवच्छरे, ता केणं केवतिए रातिंदियग्गेणं आहिताति वदेज्जा?। ता तिण्णि चउप्पण्णे रातिंदियसते दुवालसग्गा बावट्ठिभागा राइंदियस्स रातिंदियग्गेणं आहिते ति वदेज्जा। ता से णं केवतिए मुहुत्तग्गेणं आहितेति वदेज्जा ?। ता दस मुहुत्तसहस्साइं छच एगूणवीसं मुहुत्तसते पण्णासं च बावट्ठिभागे मुहुत्तस्स मुहुत्तग्गेणं आहिता ति वदेज्जा ॥

"ता एएसि णं" इत्यादि सुगमम्। भगवानाह-"ता एगूणतीसं"इत्यादि। एकोनत्रिंशत् रात्रिन्दिवानां,द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य,एतावत्परिमाणश्चान्द्रमासो रात्रिन्दिवाग्रेण आख्यात इति वदेत्। तथाहि-युगे द्वाषष्टिश्चन्द्रमासाः, एतच्च प्रागेव भावितं, ततो युगसत्कानामष्टादशानामहोरात्रशतानां त्रिंशदधिकानां द्वाषष्ट्या भागे हृते लब्धा एकोनत्रिंशदहोरात्राः, एकस्य चाहोरात्रस्य द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः २९ । ३२ । "ता से णं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम्। भगवानाह-- "ता अट्ठ" इत्यादि। अष्टौ मुहूर्तशतानि पञ्चाशीत्यधिकान्येकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः,एतावत्परिमाणश्चान्द्रमासो मुहूर्ताग्रेणाख्यात इति वदेत्। तथाहि-चान्द्रमासपरिमाणमेकोनत्रिंशदहोरात्राः, एकस्य च अहोरात्रस्य द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः,तत्र सवर्णनार्थमेकोनत्रिंशदप्यहोरात्रा द्वाषष्ट्या गुण्यन्ते, गुणयित्वा च उपरितनात् द्वात्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः प्रक्षिप्यन्ते, जातान्यष्टादशशतानि त्रिंशदधिकानि द्वाषष्टिभागानां १८३०, तत एतानि त्रिंशता गुण्यन्ते, जातानि चतुष्पञ्चाशत्सहस्राणि नवशतानि मुहूर्तगतद्वाषष्टिभागानाम्। ५४९००,तत एतेषां द्वाषष्ट्या भागो ह्रियते,लब्धान्यष्टौ शतानि पञ्चाशीत्यधिकानि मुहूर्तानामेकस्य च मुहूर्तस्य त्रिंशत् द्वाषष्टिभागाः ८८५।३० "ता एस णं अद्धा" इत्यादि प्राग्वद्भावनीयम्। चं० प्र० १२ पाहु०। (आदित्यचन्द्रसंवत्सराः 'संवच्छर' शब्दे वक्ष्यन्ते)

अत्र दिनमानम्-

चंदस्स णं संवच्छरस्स एगमेगे उऊ एगूणसट्ठिराइंदिआई राइंदियग्गेणं पण्णत्ता।

"चंदस्स णं" इत्यादि। संवत्सरो ह्यनेकविधः स्थानाङ्गादिषूक्तस्तत्र यश्चन्द्रगतिमङ्गीकृत्य संवत्सरो विवक्ष्यते स चन्द्र एव। तत्र च द्वादश मासाः षट् च ऋतवो भवन्ति। तत्र चैकैक ऋतुरेकोनषष्टिरात्रिंदिवाग्रेण भवति। कथम्?,एकोनत्रिंशच्च द्विषष्टिभागा अहोरात्रस्येत्येवं प्रमाणः कृष्णप्रतिपदमारभ्य पौर्णमासीपरिनिष्ठितचन्द्रमासो भवति, द्वाभ्यां च ताभ्यामृतुर्भवति। तत एकोनषष्टिरहोरात्राण्यसौ भवति। यच्चेह द्विषष्टिभागद्वयमधिकं तन्न विवक्षितम्। स०५९सम०। एकोनत्रिंशद्दिनानि द्वात्रिंशच्च द्विषष्टिभागा दिवसस्येत्येवं प्रमाणः२९।३२।६२, कृष्णप्रतिपदारब्धः पौर्णमासीपरिनिष्ठितचन्द्रमासः, तेन मासेन द्वादशमासपरिमाणश्चन्द्रसंवत्सरः,तस्य च प्रमाणमिदं त्रीणि शतान्यह्ना चतुःपञ्चाशदुत्तराणि द्वादश च द्विषष्टिभागाः ३५४। १२। ६२। स्था० ५ ठा० ३ उ०।

पुण्णिमपरियट्टा पुण, बारस संवच्छरो हवइ चंदो ।

द्वादशसंख्याः पौर्णमासीपरावर्ता एकश्चान्द्रसंवत्सरो भवति। एकश्च पौर्णमासीपरावर्तः एकश्चान्द्रो मासः, तस्मिंश्च चान्द्र मासे रात्रिन्दिवपरिमाणचिन्तायामेकोनत्रिंशत् रात्रिन्दिवानि, द्वात्रिंशच्च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य, एतद् द्वादशभिर्गुण्यते, जातानि त्रीणि शतानि चतुःपञ्चाशदधिकानि रात्रिन्दिवानां, द्वादश च द्वाषष्टिभागा रात्रिन्दिवस्य, एवंपरिमाणश्चान्द्रः संवत्सरः। ज्यो० २ पाहु०। ('संवच्छर' शब्दे चैतद् विवरिष्यते) ('आउट्टि' शब्दे द्वितीयभागे ३० पृष्ठे चन्द्रादित्यावृत्तय उक्ताः)

लक्षणमस्य-

ससि सगलपुण्णमासी, जोएइ विसमचारि णक्खत्ते ।
कडुओ बहूदओ या, तमाहु संवच्छरं चंदं ॥

(ससि त्ति) विभक्तिलोपात् शशिना चन्द्रेण सकलपौर्णमासी समस्तराका, यः संवत्सर इति गम्यते। अथवा-यत्र शशी सकलां पौर्णमासीं योजयति, आत्मना संबन्धयति, तथा विषमचारीणि यथा स्वतिथिष्ववर्तीनि नक्षत्राणि, यत्र सविषमचारि नक्षत्रं, तथा कटुकोऽतिशीतोष्णसद्भावात्, बहूदकश्च,दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्,तमेवंविधमाहुर्लक्षणतो ब्रुवते तद्विदः संवत्सरं चन्द्रं,चन्द्रचारलक्षणलक्षितत्वादिति। स्था०५ठा०३उ०।

चंदसाला-चन्द्रशाला-स्त्री०। प्रासादोपरितनशालायाम्. प्रश्न० १ आश्र० द्वार। जं०। ज्ञा०। शिरोगृहे, जी० ३ प्रति०।

चंदसिंग-चन्द्रशृङ्ग-न०। चतुर्थदेवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम०।

चंदसिट्ठ-चन्द्रशिष्ट-न०। चतुर्थे देवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० ३ सम०।

चंदसिरी-चन्द्रश्री-स्त्री०। द्वितीयकुलकरस्य चक्षुष्मतो मा-

तरि, आ० चू० १ अ० । पूर्वभवे चन्द्रस्याग्रमहिष्या मातरि, ज्ञा० २ श्रु० १ अ० ।

चंदसूरदंसावणिया–चन्द्रसूर्यदर्शनिका–स्त्री० । सद्यो जातस्य बालस्य तृतीये दिवसे क्रियमाणे चन्द्रसूर्यदर्शनाभिधे उत्सवविशेषे, भ० ११ श० ११ उ० । ज्ञा० । ('चंददरिसणिया' शब्दे १०७१ पृष्ठे तद्विधिः)

चंदसूरपासणिया–चन्द्रसूर्यदर्शनिका–स्त्री० । अन्वर्थानुसारिणि सद्यो बालस्य तृतीयदिवसोत्सवे, विपा०१ श्रु०२ अ० ।

चंदसूरि–चन्द्रसूरि–पुं० । आर्यवज्रस्वामिशिष्यश्रीवज्रसेनसूरीणां शिष्ये, यतश्चन्द्रकुलं विनिर्गतम् । "श्रीवज्रसेनसद्गुरुस्तत्पदपूर्वाद्रिचूलिकाऽऽदित्यः मूलं चान्द्रकुलस्या–जनि च ततश्चन्द्रसूरिगुरुः" ॥१॥ ग०४ अधि० । स च वैक्रमसंवत्सराणां द्वितीयशतकेऽभवदिति पट्टावलिकादर्शनात् प्रतीयते । निरयावलिकानां श्रुतस्कन्धस्य विवरणकर्तरि, स च " वसुलोचनरविवर्षे,श्रीमच्छ्रीचन्द्रसूरिभिर्दृब्धा । श्राद्धवसाकवसतौ,निरयावलिशास्त्रवृत्तिरियम् ॥१॥ " इति (नि० ५ वर्ग) १२२८ वैक्रमवर्षे आसीत् । निशीथाध्ययनस्य विंशतितमोद्देशसत्कसूत्राणां विशेषव्याख्याकृति श्रीशीलभद्रसूरीणां शिष्ये च । (स च " श्रीशीलभद्रसूरीणां, शिष्यैः श्रीचन्द्रसूरिभिः । विंशकोद्देशे व्याख्या, दृब्धा स्वपरहेतवे ॥ वेदाश्वरुद्रयुक्ते,विक्रमसंवत्सरे तु मृगशीर्षे । माघसितद्वादश्यां, समर्थितेयं रवौ वारे ॥२॥ " इति स्वोल्लेखात् वैक्रमसंवत् ११७४ वर्षे जज्ञे, इति निरयावलिकानिशीथाध्ययनयोरेक एव व्याख्याकृत् इति प्रतीयते , उभयत्र दृब्धेतिपदप्रयोगात्, चतुः पञ्चाशद् वर्षाण्यन्तरं दीर्घायुषः कथञ्चित्सम्भवत्येव ।) अयञ्च मलधारिभवदेवशिष्यहेमचन्द्रसूरिशिष्यविजयसिंहसूरिशिष्योऽभवदिति, तत्कृतसंग्रहणीरत्नग्रन्थोक्तेः, अनेनावश्यके प्रदेशव्याख्या नाम टिप्पनकमपि कृतमस्ति, विक्रमसंवत् १२२२ वर्षे तृतीयोऽपि चन्द्रसूरिः पाक्षिकसूत्रटीकाकारकस्य यशोदेवसूरेः शिष्य आसीत् । जै० इ० ।

चंदसूरोतरण–चन्द्रसूर्यावतरण–न० । समवसरणभूमौ श्रीवीरस्वामिवन्दनार्थं सविमानयोश्चन्द्रसूर्ययोरवतरणे,कल्प०४क्षण । विपा० । नि० । (तद्वक्तव्यता 'सूरचंद' शब्दयोरवसेया) ('उत्तरणं चंदसूराणं' 'अच्छेर' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठे आवेदितम्)

चंदसूरोवराग–चन्द्रसूर्योपराग–पुं० । ग्रहणे , " चंदसूरोवरागो गहणं भण्णति " नि० चू० ११ उ० ।

चंदसेण–चन्द्रसेन–पुं० । श्रीऋषभजिनेन्द्रस्य षट्चत्वारिंशे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण । स्वनामके सूरौ च, अयमाचार्यः विक्रम संवत् १२०७ मिते विद्यमान आसीत्, प्रद्युम्नसूरेरयं शिष्य उत्पादसिद्धिनाम्नो ग्रन्थस्य कर्ता । जै० इ० ।

चंदसेहर–चन्द्रशेखर–पुं० । हरिश्चन्द्रसमकालीने नृपे, यो हि क्षीणद्रव्यं हरिश्चन्द्रं याचमानेन कुलपतिना वसु लक्षं याचनीय इत्युक्तः । ती० ३८ कल्प० । श्रीसोमतिलकसूरीणां शिष्ये च , श्रीसोमप्रभसूरेः पट्टे श्रीसोमतिलकसूरीन्द्रास्तेषां च ये विनेयास्तत्र श्रीचन्द्रशेखरः प्रथमः । ग० ४ अधि० ।

चंदा–चन्द्रा–स्त्री० । चन्द्रद्वीपे चन्द्रदेवस्य राजधान्याम्, जी० ३ प्रति० । (तद्वक्तव्यता ' चंददीव ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे १०७१ पृष्ठे उक्ता)

चंदागमणपविभत्ति–चन्द्रागमनप्रविभक्ति–न० । वीरवन्दनार्थं समागतस्य चन्द्रस्याभिनयात्मके नाट्यभेदे, रा० ।

चंदागारोवम–चन्द्राकारोपम–त्रि० । चन्द्राकारश्चन्द्राकृतिः स उपमा येषां तानि तथा । चन्द्रमण्डलवद् वृत्ते , जी० ३ प्रति० । रा० ।

चंदाणण–चन्द्रानन–पुं० । जम्बूद्वीपे ऐरवतवर्षेऽस्यामवसर्पिण्यां जाते प्रथमतीर्थकरे, स० । ति० । प्राव० ।

चंदाणणा–चन्द्रानना–स्त्री० । चन्द्रवदाननं मुखं यासां ताः जी० ३ प्रति० । रा० । चन्द्रमुख्याम्, नेमिकुमारस्य राजीमत्याः प्रार्थयाः स्वनामख्यातायां सख्याम्, कल्प० ७ क्षण । स्वनामख्यातायां शाश्वतजिनप्रतिमायाम्, सा चोत्कर्षतः पञ्चधनुःशतानि जघन्यतः सप्तहस्ता । रा० ।

चंदाभ-चन्द्राभ-पुं० । अवसर्पिण्यामेकादशे कुलकरे, जं०२वक्ष० । भ० । " चंदाभो त्ति सामन्नं स चेव ताव सोमलेसा विसेसो चंदपियणम्मि दोहिलो चंदाभोयत्ति, " चन्द्रप्रभे तीर्थकरे, आ० चू० २ अ० । पञ्चमदेवलोकस्थे विमानभेदे, स० ६ सम० । अभ्यन्तरपश्चिमायाः कृष्णराजेरग्रे लोकान्तिकविमाने , यत्र गर्दतोया लोकान्तिकदेवा निवसन्ति । स्था० ८ ठा० ।

चंदायण–चान्द्रायण–न० । चन्द्रेण वृद्धिहाजा क्षयभाजा च सहायते गम्यते यत्तच्चान्द्रायणम् । चन्द्रप्रतिमायाम्, (द्वा०) ।

एकैकं वर्द्धयेद् ग्रासं, शुक्ले कृष्णे च ह्रापयेत् ।
भुञ्जीत नामावास्याया–मेष चान्द्रायणे विधिः ॥१८॥

(एकैकमिति) एकैकं वर्द्धयेत् ग्रासं कवलं शुक्ले पक्षे प्रतिपत्तिथेरारभ्य यावत् पौर्णमास्यां पञ्चदश कवलाः, कृष्णे च पक्षे ह्रापयेत् हीनं कुर्यादेकैकं कवलं,ततो भुञ्जीत न अमावास्यायां, तस्यां सकलकवलक्षयादेष चान्द्रायणश्चन्द्रेण वृद्धिहाजा क्षयहाजा च सहायते गम्यते यत् तत् चान्द्रायणं,तस्यायं विधिः करणप्रकार इति । द्वा० १२ द्वा० ।

इयं च चन्द्रायणप्रतिमा यवमध्या वज्रमध्या च, तत्राद्यां तावद्दर्शयन्नाह–

सुक्कम्मि पमिवयाओ, तहेव वुड्ढीए जाव पण्णरस ।
पंचदसपडिवयाहिं, तो हाणी किण्हपडिवक्खे ॥१९॥

शुक्ले शुक्लपक्षे प्रतिपदः प्रथमतिथेरारभ्य तथैव तेनैव प्रकारेण एकाद्येकोत्तरलक्षणेन वृद्ध्या प्रतिदिनं भिक्षाणां कवलानां च वर्द्धनेन यावत्पञ्चदश भिक्षाः कवलान्वा गृह्णाति (पंचदसपडिवयाहिं ति) पञ्चदश्यां पौर्णमास्यां प्रतिपदि च कृष्णपक्षप्रथमतिथौ (तो त्ति) ततोऽनन्तरम्–(हाणि त्ति) एकैकशोऽनुदिनं भिक्षादिहानिं करोति कृष्णप्रतिपक्षे, कृष्णस्वरूपे शुक्लपक्षापेक्षया द्वितीयपक्षे इत्यर्थः । तत्र चामावास्यायामेका भिक्षा कवलो वा स्यादिति गाथार्थः ॥ १९ ॥

अथ वज्रमध्या, तामाह–

किण्हे पमिवईए पणर–स पणह्राणीओ जाव इक्को उ ।
अमवस्सपडिवयाहिं , वुड्ढी पण्णरस पुन्नाए ॥ २० ॥

कृष्णे पक्षे प्रतिपदि प्रथमतिथौ पञ्चदश कवलादीन् गृह्णाति

तत (पगहाणीओ त्ति) एककवलादिहानिः प्रतिदिनं क्रियते, यावदेकस्तु एक एव कवलादिरमावास्याप्रतिपदोः प्रतीतयोस्ततो वृद्धिः कवलादीनामनुदिनं क्रियते, यावत्पञ्चदश कवलादयः पूर्णायां पूर्णमास्यां भवन्तीति गाथार्थः ॥ २० ॥

इह तपसि भिक्षाऽऽदि प्रागुक्तयोक्तमतस्तल्लक्षणमाह-

एत्ता भिक्खामाणं, एगा दत्ती विचित्तरूवा वि ।
कुक्कुडिअंडयमेत्तं, कवलस्स वि होइ विन्नेयं ॥२१॥

इता विवक्षिततपःस्वरूपाभिधानानन्तरं भिक्षामानं,वाच्यमिति शेषः । तच्चेदम्-एका असहाया, दत्तिर्भक्तप्रक्षेपरूपा, विचित्ररूपाऽपि बहल्पैकानेकद्रव्यस्वभावतया नानास्वभावाऽपि, न केवलमेकस्वभावेति । अथ कवलमानमाह-कुकुट्यण्डकमात्रं कवलस्याऽपि भवति विज्ञेयमिति प्रतीतं , नवरं मानमिति वर्तते इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

इहैव विशेषमाह-

एतं च कीरमाणं, सफलं परिसुद्धजोगभावस्स ।
णिरहिगरणस्स णेयं, इयरस्स ण तारिसं होइ ॥ २२ ॥

एतच्च एतत्पुनरनन्तरोक्तं तपः क्रियमाणं विधीयमानं सफलं मोक्षादिफलं, ज्ञेयमिति योगः ; परिशुद्धा निर्दोषा योगा व्यापारा भावश्चाध्यवसायो यस्य स तथा, तस्य, एतदेव स्पष्टतरमाह-निरधिकरणस्य गुरुतरारम्भवर्जितस्य निष्कलहस्य वा ज्ञेयं ज्ञातव्यम, इतरस्य साधिकरणस्य न नैवं तादृशं, यादृशं निरधिकरणस्य फलमिति गम्यते, भवति स्यादिति गाथार्थः । ॥२२॥ पञ्चा० १९ विव० । चन्द्रस्योत्तरतो दक्षिणतश्च षड्भिः षड्भिर्मासैर्गमने, ज्यो० ११ पाहु० । (तत्प्रमाणम् 'अयन' शब्दे प्रथमभागे ७२१ पृष्ठे उक्तम् । तथा ' चंदमंमल ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०७१ पृष्ठेऽप्युक्तम्)

चंदालग-चन्द्रालक-न० । देवतार्चनिकार्थं ताम्रमये मथुराप्रसिद्धे भाजने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

चंदावली-चन्द्रावली-स्त्री० । तडागादिषु जलमध्यप्रतिबिम्बितचन्द्रपङ्क्तौ, रा० । जी० । जं० । आ० म० ।

चंदावलीपविभत्ति-चन्द्रावलीप्रविभक्ति-न० । चन्द्रावलीप्रविभागाभिनयात्मके नाट्यभेदे, जी० ३ प्रति० । जं० ।

चंदाविज्झय-चन्द्रावेध्यक-न० । चन्द्रो यन्त्रपुत्तलिकाक्षिगोलको गृह्यते,तथा आ मर्यादया विध्यते ज्ञाते आवेध्यं, तदेवावेध्यकं,चन्द्रलक्षणमावेध्यकं चन्द्रावेध्यकम् । राधावेधे,तदुपमामरणाराधनप्रतिपादके ग्रन्थविशेषे च । तच्च प्रकीर्णकरूपम् उत्कालिकश्रुतभेदः । पा० । नं० ।

तच्चेदम्-

' नमिऊण नमोक्कारं, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संथारम्मि निबद्धं, गुणपरिवाडिं निसामेह ॥ १ ॥
एस किराराहणया, एस किर मणोरहो सुविहियाणं ।
एस किर पच्छिमंते, पडागहरणं सुविहियाणं ॥२॥
भूईगहणं जहा णं, कयाण अवमाणयं च अज्झाणं ।
मल्लाणं च पडागा, तह संथारो सुविहियाणं" ॥३॥

इत्याद्युपक्रम्य संस्तारकविधिरुक्तः । द० प० ३ प० ।

" इत्थ समप्पइ इणमो, पव्वज्जामरणकालसमयम्मि ।
जो हु न सज्जइ मरणे, साहू आराहओ भणिओ ॥१७३॥
विणयं आयरियगुणे, सीसगुणे विणयनिग्गहगुणे अ ।
नाणगुणे चरणगुणा, मरणगुणविहिं च सोऊणं ॥१७४॥
तह भित्तह काउज्जे, जह मुच्चह गब्भवासवसहीणं ।
मरणपुणब्भवजम्मण-दुग्गए विणिवायगमणाणं " ॥१७५॥

द० प० ४ प० ।

चंदिमा-चन्द्रिका-स्त्री० । "चन्द्रिकायां मः" ८ । १ । १८१ । चन्द्रिकाशब्दे कस्य मो भवति, इति मः प्रा० १ पाद । द० प० । चन्द्रज्योत्स्नायाम्, आ० १ श्रु० ८ अ० ।

चंदिमाइय-चान्द्रिक-पुं० । चन्द्रदृष्टान्तप्रतिपादके प्रथमश्रुतस्कन्धस्य ज्ञाताध्ययने, आव० ४ अ० । आ० चू० । प्रश्न० ।

चंदिलो-देशी-नापिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंदुत्तरवडिंसग-चन्द्रोत्तरावतंसक-न० । चतुर्थे देवलोकस्थे स्वनामख्याते विमाने, स० १ सम० ।

चंदेरी-चन्द्रेरी-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम, यत्राजितस्वामी प्रतिमारूपेण पूज्यते । ती० ४५ कल्प ।

चंदोज्झ-देशी- कुमुदे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चंदोत्तर-चन्द्रोत्तर-न० । कौशाम्ब्या नगर्या बहिः स्वनामख्याते उद्याने, विपा० १ श्रु० ५ अ० ।

चंदोयर-चन्द्रोदर-पुं० । चक्रपुराधिपस्य वज्रायुधस्याङ्गजे इन्द्रपुर्याधिपपद्मोत्तरनृपतिसुतायाः सलीलेहायाः पत्यौ वैताढ्यपर्वते मलयपुरे किरणवेगस्य नरपते राजसिंहासनेऽभिषिक्ते भानुसूरीणां शिष्ये, ध० र० ।

चंदोवग-चन्द्रोपक-न० । कुशालम्बननिमित्ते परिव्राजकोपकरणे, व्य० ४ उ० २ उ० ।

चंदोवराग-चन्द्रोपराग-पुं० । चन्द्रस्य चन्द्रविमानस्य उपरागो राहुविमानतेजसोपरञ्जनं चन्द्रोपरागः । स्था० १० ठा० । चन्द्रग्रहणे, प्र० ३ श० ६ उ० । अनु० ।

चंपग-चम्पक-पुं० । पुष्पप्रधाने स्वनामख्याते वृक्षविशेषे, स च सुवर्णचम्पकः काष्ठचम्पकश्चेति द्विविधः । जं० १ वक्ष० । दर्श० । रा० । स्था० । आ० म० । कल्प० । आचा० । आव० । म० । प्रज्ञा० । औ० । ज्ञा० । विंशतितमजिनस्य किंपुरुषाणां च चम्पकश्चैत्यवृक्षः। प्रश्न० २ आश्र०द्वार । स० । तत्पुष्पे,न० । तच्च स्वर्णवत्पीतं भवति। प्रश्न० २ आश्र०द्वार। जम्बूद्वीपस्य विजयद्वारसत्कविजयाभिधानराजधान्याः पश्चिमदिग्वर्तिचम्पकवनस्याधिपतौ देवे, पुं० । जी० ३ प्रति० ।

चंपगकुसुम-चम्पककुसुम-न० । सुवर्णचम्पकत्वचि, जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

चंपगगुम्म-चम्पकगुल्म-न० । ह्रस्वस्कन्धबहुकाण्डपत्रपुष्पफलोपेतेषु चम्पकवृक्षेषु, जं० २ वक्ष०।

चंपगछल्ली-चम्पकछल्ली-स्त्री० । सुवर्णचम्पकत्वचि, प्रज्ञा० १७ पद । जं० ।

चंपगपिय-चम्पकप्रिय-त्रि० । यस्य चम्पकपुष्पं प्रियं तस्मिन्, आव० ३ अ० ।

चंपगभेय-चम्पकभेद-पुं० । सुवर्णचम्पकच्छेदे, जी० ३ प्रति० ।

चंपगमाला–चम्पकमाला–स्त्री० । ६ त० । स्वर्णचम्पकैर्निर्मितायां मालायाम्, स्त्रीणां कण्ठाभरणे, द्वाशाक्षरपादके पङ्क्तिच्छन्दोभेदे च । वाच० । "असुइट्ठाणे पडिया, चंपगमाला न कीरई सीसे॥" आव० ३ अ०। ('किइकम्म'शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५१७ पृष्ठेऽस्या व्याख्या)

चंपगलया–चम्पकलता–स्त्री०। चम्पका द्रुमविशेषाः, लतास्तिर्यक्शाखाः, प्रचाराभावात्, चम्पकानां लतास्तनुकास्त एव । लताकृतिषु चम्पकवृक्षेषु, जं० १ वक्ष० । औ० ।

चंपगवर्डिसय–चम्पकावतंसक–पुं० । सौधर्मादिविमानानां मध्यदेशवर्तिनि अन्यतमेऽवतंसके, प्रज्ञा० २ पद । रा० ।

चंपरमणिज्ज–चम्पारमणीय–न० । कुमाराख्यसंनिवेशस्य बहिः स्वनामख्याते उद्याने, आ० चू० १ अ० । आ० म० ।

चंपा–चम्पा–स्त्री० । अङ्गाख्यजनपदराजधान्याम, आव० १ अ० । आ० म० । कल्प० । सूत्र० । ज्ञा० । स्था० । प्रज्ञा० । पञ्चा० । प्रव० । ती० । आ० क० । अन्त० । चम्पानगर्यां हि व्याख्या प्रज्ञप्तेः पञ्चमशतकस्य दशम उद्देश उक्ता । भ० ५ श० १ उ० । पञ्चा० ।

तत्कल्पश्चेत्थम्–

" कृतदुर्नयभङ्गाना–मङ्गानां जनपदस्य भूषायाः ।
चम्पापुर्याः कल्पं, जल्पामस्तीर्थपर्यायाः " ॥ १ ॥

अस्यां द्वादशमजिनेन्द्रस्य श्रीवासुपूज्यस्य त्रिभुवनजनपूज्यानि गर्भावतारजन्मप्रव्रज्याकेवलज्ञाननिर्वाणोपगमलक्षणानि पञ्च कल्याणकानि जज्ञिरे ।१। अस्यामेव श्रीवासुपूज्यजिनेन्द्रपुत्रमघवनृपतिपुत्री लक्ष्मीकुक्षिजाता रोहिणी नाम कन्याऽष्टानां पुत्राणामुपरि जज्ञे,सा च स्वयंवरे अशोकराजन्यकण्ठे वरमालां निक्षिप्य तं परिणीय पट्टराज्ञी जाता,क्रमेणाष्टौ पुत्रांश्चतस्रश्च पुत्रीरजीजनत् ।२। अन्यदा वासुपूज्यशिष्ययो रूप्यकुम्भस्वर्णकुम्भयोर्मुखाद्दृष्टदुःखस्योपशमहेतुं प्राग्जन्मचीर्णं रोहिणी तपः श्रुत्वा सोद्यापनविधिं प्राचीकटन्मुक्तिं सपरिच्छदाऽगच्छत् ।३। अस्यां करकण्डुनामधेयो भूमण्डलाखण्डलः पुराऽऽसीद्यः कादम्बर्यामटव्यां कलिगिरेरुपत्यकावर्तिनि कुण्डनाम्नि सरोवरे श्रीपार्श्वनाथं पद्मस्थावस्थायां विहरन्तं हस्तिव्यन्तरानुभावात्कलिकुण्डतीर्थतया प्रतिष्ठापितवान् ।४। अस्यां सुभद्रा महासती पाषाणमयविकटकपाटसंपुटपिहितास्तिस्रः प्रतोलीः शीलमाहात्म्यादामसूत्रतन्तुवेष्टितेन तितउना कूपाज्जलमाकृष्य तेनाभिषिच्य सप्रभावमुद्घाटयत्,एका तु तुरीया प्रतोली अद्यापिऽस्ति,या किल मत्सदृशी सुचरित्रा भवति, तयेयमुद्घाटनीयेति भणित्वा राजादिजनसमक्षं तथैव पिहितामेवास्थापयत् , सा च तद्दिनादारभ्य चिरकालं तथैव दृष्टा जनतया, क्रमेण विक्रमादित्यवर्षेषु षष्ट्यधिकत्रयोदशशतेष्वतिक्रान्तेषु १३६० लक्षणावतीहम्मीरश्रीसुरत्राणसमदीनः शङ्करपुरदुर्गोपयोगि पाषाणग्रहणार्थं प्रतोलीं पातयित्वा कपाटसंपुटमग्रहीत् ।५। अस्यां दधिवाहननृपतिमहिष्या पद्मावत्या सह नद्दोहदपूरणायैमनेकपाऽऽरूढः संचरन् स्मृतारण्यानीविहारेण करिणा तां प्रति व्रजता अपवाहितः स्वयं तरुशाखामालम्ब्य स्थितः, करिणि पुनः संचरिते व्यावृत्त्यैमामेव स्वपुरीमागमत्, देवी चामामपश्यां तदारूढैवाटव्यानीमगात् । तदवतीर्णा क्रमेण सुतं सुषुवे, स च करकण्डुर्नाम क्षितिपतिरजनि, कलिङ्गेषु पित्रा सार्धं युध्यमानः प्रतिषिध्य आर्यया जनन्या क्रमेण महावृषभस्य यौवनवार्धकदशादर्शनाज्जातः प्रत्येकबुद्धः , सिद्धिं चाससाद । ६ । अस्यां चन्दनबाला दधिवाहननृपतिनन्दना जन्म उपलेभे,या किल भगवतः श्रीमहावीरस्य कौशाम्ब्यां सूर्पकोणस्थकुल्माषैः पारणाकारणात् पञ्चदिनोनषण्मासावसाने द्रव्यक्षेत्रकालभावाभिग्रहानपूरयत् । ७ । अस्यां पृष्ठचम्पया सह श्रीवीरस्त्रीणि वर्षारात्रसमवसरणानि चक्रे । ८ । अस्यामेव परिसरे श्रीश्रेणिकसूनुरशोकचन्द्रो नरेन्द्रः कूणिकाऽपराख्यः श्रीराजगृहं जनकशोकाद्विहाय नवीनां राजधानीं चम्पामचीकरत् ।९। अस्यामेव पाण्डुकुलमण्डनो दानशौण्डेषु दृष्टान्तः श्रीकर्णनृपतिः साम्राज्यश्रियं चकार , दृश्यन्ते चाद्यापि तानि तानि तदवदानस्थानानि शृङ्गाटचतुष्कादीनि पुर्यामस्याम । १० । अस्यां सम्यग्दृशां निदर्शनं सुदर्शनश्रेष्ठी दधिवाहनभूपस्य राज्याऽभयाख्यया संभोगार्थमुपसर्ग्यमाणः क्षितिपतिवचसा वधार्थं नीतः स्वकीयनिष्कम्पशीलसंपत्प्रभावाकृष्टशासनदेवतासान्निध्यात् शूलं हैमसिंहासनतामनैषीत् , तरवारिं च निशितं सुरभिसुमनोदामानयत् । ११ । अस्यां च कामदेवः श्रेष्ठी श्रीवीरस्योपासकाग्रणीरष्टादशकनककोटिस्वामी गोदशसहस्रयुतषड्गोकुलाधिपतिर्भद्रापतिरभवत् , यः पोषधागारस्थितो मिथ्यादृग्देवेन पिशाचगजभुजगरूपैरुपसर्गितोऽपि न क्षोभमभजत् , श्लाघितश्च भगवताऽन्तःसमवसरणम् ॥ १२ ॥ अस्यां विहरन् श्रीशय्यम्भवसूरिश्चतुर्दशपूर्वधरः स्वतनयं मनकाभिधानं राजगृहागतं प्रव्राज्य तस्यायुः षण्मासावशेषं श्रुतज्ञानोपयोगेनाऽऽकलय्य तदध्ययनार्थं दशवैकालिकं पूर्वगतान्निर्व्यूढवान् , तत्रात्मप्रवादात् षड्जीवनिकां कर्मप्रवादात् पिण्डैषणां सत्यप्रवादाद्वाक्यशुद्धिम् अवशिष्टाध्ययनानि प्रत्याख्यानपूर्वतृतीयवस्तुन इति । १३ । अस्यां वास्तव्यः कुमारनन्दी सुवर्णकारः स्वविभववैभवाभिभूतधनमदोऽक्षशकृशानुप्रवेशात्पञ्चशैलाधिपत्यमधिगत्य प्राग्भवसुहृदच्युतविबुधबोधितचारुगोशीर्षचन्दनमयीं जीवन्तस्वामिनीं सालङ्कारां देवाधिदेवश्रीमहावीरप्रतिमां निर्ममे । १४ । अस्यां पूर्णभद्रे चैत्ये श्रीवीरो व्याकरोद्योऽष्टापदमारोहति स तद्भव एव सिद्ध्यतीति ॥१५॥ अस्यां पालितनामा श्रीवीरोपासको वणिक्, तस्य पुत्रः समुद्रयात्रायां समुद्रे प्रसूत इति समुद्रपालो वध्यं नीयमानं वीक्ष्य प्रतिबुद्धः,सिद्धिं च प्रापत् ।१६। अस्यां सुनन्दः श्राद्धः साधूनां मलदुर्गन्धं निन्दित्वा मृतः कौशाम्ब्यामिभ्यसुतोऽभूद् मतं चाऽग्रहीदुदीर्णः दुर्गन्धः कायोत्सर्गेण देवतामाकृष्य स्वाङ्गे सौगन्ध्यमकार्षीत् ।१७। अस्यां कौशिकार्यशिष्याङ्गर्षिरुद्रकाख्यानसंविधानकं सुजातप्रियङ्ग्वादिसंविधानकानि च जज्ञिरे । १८ । इत्यादिसंविधानकरत्नप्रकटनानाप्रातिनिधानामियं पुरी,अस्याश्च प्राकारभित्तिप्रियसखीव प्रतिक्षणमालिङ्गति पावनघनरसपूरितान्तरा सरिद्वरा प्रसृतवीचिभुजाभिः।१९।"उत्तमतमनरनारी-मुक्तामणिधोरणिप्रसवशुक्तिः । नगरीविविधाद्भुतव-स्तुशालिनी मालिनी जयति ॥ २० ॥ जन्मभूर्वासुपूज्यस्य , तद्भक्त्या श्रूयते बुधैः । चम्पायाः कल्पमित्याहुः, श्रीजिनप्रभसूरयः॥२१॥" ती० ३५ कल्प ।

चंपाकुसुम–चम्पककुसुम–न० । सुवर्णचम्पकपुष्पे, रा० । जी० ।

चंपिज्जिया–चम्पीया–स्त्री० । स्थविराद् भद्रयशसो निर्गतस्य ऋतुपातिकगणस्य प्रथमशाखायाम, कल्प० ८ क्षण ।

चक्कोर-चकोर-पुं० । एकपादे दीर्घग्रीवे जलचरपक्षिणि, नि० चू० १७ उ० । प्रश्न० ।

चक्क-चक्र-न० । "सर्वत्र लवरामवन्द्रे" ८ । २ । ७९ । इति रलोपः । प्रा० २पाद । नाभिप्रोतारबद्धे वृत्ताकृतौ पदार्थे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । यथा रथाङ्गमरघट्टाङ्गं वा । औ० । प्रश्न० । समस्तायुधातिशायिदुर्दमरिपुविजयकरे, प्रव० २१२ द्वार । रत्नभूतप्रहरणविशेषे, स्था० २ ठा० ४ उ० । ओघ० । आव० । पं०। स्त्र० । (मनुष्यभवदौर्लभ्ये चक्रदृष्टान्तो "मणुस्स" शब्दे वक्ष्यते)वासुदेवानां सुदर्शनाभिधानं चक्रम । उत्त० ११ अ० । चक्राकारे शिरोभूषणविशेषे, जं० २ वक्ष० । आभरणविशेषे, औ० । चक्रवाके, कल्प० ३ क्षण । पक्षिविशेषे, पुं० । जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । सैन्ये, राष्ट्रे, दम्भभेदे, जलावर्ते, ग्रामजाले, तगरपुष्पे, व्यूहभेदे, वाच० ।

चक्ककंत-चक्रकान्त-पुं० । अन्तिमसमुद्रस्याधिपतौ, दी० ।

चक्कजोहि (ण्)-चक्रयोधिन्-पुं० । चक्रेण युद्धकर्तरि वासुदेवे, आव० १ अ० ।

चक्कज्झय-चक्रध्वज-पुं० । स्त्री० । चक्रालेख्यरूपचिह्नोपेतायां ध्वजायाम्, जं० १ वक्ष० । पञ्चा० । रा० । जी० । तादृशध्वजयुक्ते च । त्रि० ।"चक्कज्झया य सव्वा, सव्वा वइरज्झया चेव।" द्वा० १ द्वा० ।

चक्कट्ठपइट्ठाण-चक्राष्टप्रतिष्ठान-त्रि० । चक्रेष्वष्टासु प्रतिष्ठानं प्रतिष्ठाऽवस्थानं यस्य तत्तथा । अष्टचक्रयुक्ते, स्था० ६ ठा० ।

चक्कणाभि-चक्रनाभि-पुं० । चक्रारप्रोतस्थाने, "भरहो रहेण समुद्दमवगाहिया चक्कणाभि० जाव ततो नामकं सरं विसज्जेइ" आव० १ अ० ।

चक्कतित्थ-चक्रतीर्थ-न० । मथुरास्थे तीर्थभेदे, ती० ६ कल्प ।

चक्कदेव-चक्रदेव-पुं० । स्वनामख्याते सार्थवाहपुत्रे, ध०१अधि०। (चक्रदेवचरित्रं तु प्रथमभागे 'असढ' शब्दे ८३५ पृष्ठे समुक्तम्)

चक्कपाणिलेह-चक्रपाणिरेख-त्रि० । चक्र इव पाणिरेखा येषां ते तथा । चक्राङ्कितहस्तरेखेषु, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चक्कपुरा-चक्रपुरा-स्त्री० । वल्गुविजयराजधान्याम,जं०४वक्ष०। आव० । " दो चक्कपुराओ " स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

चक्कवाल-चक्रवाल-न० । सर्वतः परिमण्डलरूपे, जं० २ वक्ष० । प्रश्न० । कल्प० । भ० । औ० । मण्डले, स्था० ३ ठा० ४ उ० । जलपरिमाण्डल्ये, स० १०० सम० । समूहे, आतु० । चक्रे, म० १ श० १ उ० । दशविधचक्रवालसामाचारीत्यत्र चक्रवालशब्देन किमुच्यते?, इति प्रश्ने,उत्तरम्-चक्रवाले नित्यकर्मणि सामाचारी चक्रवालसामाचारी, दशविधा दशप्रकारा चासौ चक्रवालसामाचारी च दशविधचक्रवालसामाचारीति चक्रवालशब्दोऽवश्यकार्यवाचीति पञ्चवस्तुवृत्तौ, तथा चक्रवाले चक्रवालविषया चक्रवत्प्रतिपदं भ्रमन्ती दशविधा सामाचारीत्यपि प्रवचनसारोद्धारवृत्तौ शततमद्वारे इति । ३२ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

चक्कवालपव्वय-चक्रवालपर्वत-पुं० । कुण्डलाभिधानैकादशद्वीपवर्तिनि पर्वते, स्था० १० ठा० ।

चक्कवालविक्खंभ-चक्रवालविष्कम्भ-पुं० । चक्रवालस्य विष्कम्भः । पृथुत्वे, स्था० २ ठा० ३ उ० ।

चक्कवालसामायारी-चक्रवालसामाचारी-स्त्री० । चक्रवत्प्रतिपदं भ्रमन्तीति चक्रवालविषया सामाचारी । ध० ३ अधि० । नित्यकर्मसामाचार्याम्, पं० व० ४ द्वार ।

सांप्रतं दशधा पदविभागसामाचारीस्वरूपप्रदर्शनायाऽऽह-

"इच्छा मिथ्या तथाकारा, गताऽऽवश्यनिषेधयोः ।
आपृच्छा प्रतिपृच्छा च, छन्दना च निमन्त्रणा ॥ ३३ ॥
उपसंपच्चेति जिनैः, प्रज्ञप्ता दशधाऽभिधा ।
भेदः पदविभागस्तु, स्यादुत्सर्गापवादयोः" ॥ ३४ ॥ (युग्मम्)

इति अमुना प्रकारेण जिनैर्दशधाऽभिधा दशधाख्या सामाचारी प्रज्ञप्ता प्ररूपिता । (ध०) चक्रवत्प्रतिपदं भ्रमन्तीति चक्रवालविषया दशधा सामाचारी,एतत्सेवकानां च महाफलम्, यतः-" एवं सामायारिं, जुंजुत्ता चरणकरणमाउत्ता । साहू खवेंति कम्मं, अणेगभवसंचिअमणंतं ॥१॥ " प्रवचनसारोद्धारे तु प्रकारान्तरेणापि दशधा चक्रवालसामाचारी प्रोक्ता । तथाहि- "पडिलेहणा पमज्जण, भिक्खायरिया अ भुंजणा चेव । पत्तंगधुवण विआ-रे थंडिल आवस्सयाईआ ॥१॥ " एतद्व्याख्यानं तु ओघसामाचार्यां गतप्रायमेवेति । ध० ३ अधि० ।

चक्कवाला-चक्रवाला-स्त्री० । वलयाकृतौ श्रेण्याम्, स्था०७ठा०।

चक्कय-चक्रक-पुं० । चक्रमिव कायति कै-कः । स्वापेक्षापेक्ष्यपेक्षित्वनिबन्धनेऽनिष्टप्रसङ्गरूपे तर्कभेदे, वाच० । यथा प्रामाण्यविचारे-न यावद्विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणो विशेषः सिद्ध्यति संवादार्थिना यावच्च न प्रवृत्तिर्न तावत् क्रियासंवादः, यावच्च संवादो न तावद्विज्ञानस्य यथावस्थितार्थपरिच्छेदकत्वसिद्धिरिति चक्रकप्रसङ्गः । अने०१अधि० । चक्राकारे,प्रज्ञा० १ पद ।

चक्करयण-चक्ररत्न-न० । चक्रजातौ वीर्यत उत्कृष्टे, चक्रवर्तिनामेकेन्द्रियरत्ने, स्था० ७ ठा० । स० । प्रज्ञा० । जं० । आ० म० । आ०चू० । (चक्रवर्तिनां चक्ररत्नं यथोत्पद्यते यथा च तद्देशितमार्गाश्चक्रिणो भारतवर्षविजयाय यान्ति तथा'भरह'शब्दे वक्ष्यते)

चक्कल-चक्कल-पुं० । पादानामधो वृत्ताकारेऽवयवविशेषे, आ० म० प्र० ।

चक्कलक्खण-चक्रलक्षण-न० । चक्रस्वरूपे, तत्प्रतिपादकशास्त्रे, तद्विज्ञाने च । सूत्र० २ श्रु० २ अ० । स० । चक्राकारचिह्नोपेते, स्था० ६ ठा० । औ० ।

चक्कलियाभिण्ण-चक्रलिकाभिन्न-त्रि० । वृत्तखण्डे, बृ० १ उ० ।

चक्कवट्टि (ण्)-चक्रवर्तिन्-पुं० । चक्रेण रत्नभूतेन प्रहरणविशेषेण वर्तितुं शीलमस्य चक्रवर्ती । स्था० २ ठा० ४ उ० । चक्रं प्रहरणं तेन विजयाधिपत्ये वर्तितुं शीलमस्येति । आव० ४ अ० । प्रश्न० । आ० म० । रा० । अनु० । षट्खण्डभरतेश्वरे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । उत्त० । आव० ।

अथ चक्रिणां सर्वोऽधिकारः-

"जंबुद्दीवे बारस चक्कवट्टी होत्था । तं जहा-
" भरहे सगरे मघवं, सणंकुमारो य रायसद्दूलो ।
संती कुंथू य अरो, हवइ सुभूमो य कोरव्वो ॥४६॥

नवमो य महापउमो, हरिसेणो चेव रायसद्दूलो ।
जयनामो य नरवई, बारसमो बंभदत्तो य " ॥ ४७ ॥ स० ।

(कस्मिन् जिनान्तरे कश्चक्रीति ' अंतर ' शब्दे प्रथमभागे ६६ पृष्ठे उक्तम् । चक्रवर्त्यवग्रहः ' अवग्गह ' शब्दे प्रथमभागे ६११ पृष्ठे उक्तः)

सांप्रतं चक्रवर्त्यायुष्कप्रतिपादनायाऽऽह–

" चउरासीई बाव-त्तरी य पुव्वाण सयसहस्साइं ॥
पंचेव य तिन्नि अ ए-गं च सयसहस्सा उ वासाणं ॥ ६२ ॥
पंचाणउइसहस्सा , चउरासीई अ अट्ठमे सट्ठी ॥
तीसा य दस य तिन्नि य, अपच्छिमो सत्त वाससया" ॥६३॥

गाथाद्वयं पठितसिद्धम् । आव० १ अ० ।

चक्रवर्तिनः कल्याणभोजनम्–

अत्र कल्याणभोजनसंप्रदाय एवम्–चक्रवर्तिसंबन्धिनीनां पुण्ड्रेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां गवां लक्षस्यार्द्धार्द्धक्रमेण पीतगोक्षीरस्य पर्यन्ते यावदेकस्याः गोः संबन्धि यत् क्षीरं तत्प्रायसकलमशालिपरमान्नरूपमनेकसंस्कारकद्रव्यसंमिश्रं कल्याणभोजनमिति प्रसिद्धं, चक्रिणं स्त्रीरत्नं च विना अन्यस्य भोक्तुर्दुर्जरं महदुन्मादकं चेति । जं० ३ वक्ष० ।

काकिणी–

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स अट्ठसोवण्णिए कागिणिरयणे छत्तले दुवालसंसिए अट्ठकण्णिए अहिकरणिसंठिए पण्णत्ते ।

एकैकस्य राज्ञश्चातुरन्तचक्रवर्तिन इत्यन्यान्यकालोत्पन्नानामपि तुल्यकाकिणीरत्नप्रतिपादनार्थमेकैकग्रहणं, निरुपचरितराजशब्दविषयज्ञापनार्थं राजग्रहणं, षट्खण्डभरतादिभोक्तृत्वप्रतिपादनार्थं चतुरन्तचक्रवर्तिग्रहणमिति, अष्टसौवर्णिकं काकिणीरत्नं, सुवर्णमानं तु–चत्वारि मधुरतृणफलान्येकः श्वेतसर्षपः, षोडश श्वेतसर्षपा एकं धान्यमाषफलं, द्वे धान्यमाषफले एका गुञ्जा, पञ्च गुञ्जा एकः कर्ममाषकः, षोडश कर्ममाषका एकः सुवर्णः, एतानि मधुरतृणफलादीनि भरतकालभावीनीति गृह्यन्ते, यतः सर्वचक्रवर्तिनां तुल्यमेव काकिणीरत्नमिति । षट्तलं द्वादशास्रि अष्टकर्णिकम् अधिकरणीसंस्थितं प्रज्ञप्तमिति । तत्र तलानि मध्यखण्डानि , अस्रयः कोटयः , कर्णिकाः कोणविभागाः , अधिकरणिः सुवर्णकारोपकरणं प्रतीतमेवेति । इदं च चतुरङ्गुलप्रमाणम् , " चउरंगुलप्पमाणा, सुवण्णवरकागिणी नेया ।" इति । स्था० ८ ठा० ।

साम्प्रतं चक्रिणां गतिप्रतिपादनायाऽऽह–

" अट्ठेव गया मुक्खं, सुहुमो बंभो अ सत्तमिं पुढविं ।
मघवं सणंकुमारो , सणंकुमारं गया कप्पं ॥ ६७ ॥ "

सूत्रसिद्धा । आव० १ अ० ।

ग्रामा एकैकस्य––

" एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स छण्णउइं छण्णउइं गामकोडीओ होत्था । " स० ६७ सम० । " दो चक्कवट्टी अपरिचत्तकामभोगा कालमासे कालं किच्चा अहे सत्तमाए पुढवीए अपइट्ठाणे नरके नेरइयत्ताए उववन्ना, सुभूमे चेव बंभदत्ते चेव"। स्था० २ ठा० ४ उ० । (चक्रिणां चक्ररत्नं यथोत्पद्यते यथा च तद्दर्शितमार्गा भरतं साधयन्ति तथा भरतचरिताधिकारे वक्ष्यते)

पर्यायः—

पर्यायः केषाञ्चित्प्रथमानुयोगतोऽवसेयः, केषाञ्चित्प्रव्रज्याप्रधान्य विदित एवेति । आव० १ अ० । भरतक्षेत्रचक्री प्रथमं कं खण्डं साधयतीति क्रमः प्रसाद इति प्रश्ने , उत्तरम्–भरतक्षेत्रचक्री प्रथमं कं खण्डं साधयतीत्यत्र चक्री मध्यमखण्डम् साधयित्वा सेनानीरत्नेन सिन्धुखण्डं साधयति , तदनु गुहाप्रवेशेन वैताढ्यमतिक्रम्य मध्यखण्डं साधयति, तेनैव तत्रत्यं सिन्धुखण्डं गङ्गाखण्डं च साधयित्वा अत्राऽऽगतो गङ्गाखण्डं तेनैव साधयित्वा राजधानीं समागच्छतीति क्रमः । ही० ३ प्रका० ।

पितरः—

जंबुद्दीवे णं भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए बारस चक्कवट्टिपियरो होत्था । तं जहा–

"उसभे सुमित्तविजए , समुद्दविजए य आससेणे य ।
विस्ससेणे य सूरे, सुदंसणे कत्तवीरिए चेव ॥ ४४ ॥
पउमुत्तरे महाहरी-विजए राया तहेव य ।
बंभे बारसमउत्ते , पिउनामा चक्कवट्टीणं " ॥ ४५ ॥ स० ।

इदानीं चक्रवर्तिपुरप्रतिपादनायाह—

" एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स बावत्तरिपुरवरसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । " स० ७२ सम० ।
"जम्मणविणी अउज्झा, सावत्थी पंच हत्थिणपुरम्मि ।
वाणारसि कंपिल्ले , रायगिहे चेव कंपिल्ले ॥ "

निगदसिद्धा । आव०१अ०। (चक्रवर्तिबलं 'बल' शब्दे वक्ष्यते)

सांप्रतं चक्रवर्तिनां मातृप्रतिपादनायाह–

" जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए बारस चक्कवट्टिमायरो होत्था । तं जहा-सुमंगला जसवती भद्दा सहदेवी अइरा सिरिदेवी तारा जाला मेरा वप्पा चुल्लणी अपच्छिमा ॥ " स० । आव० ।

चक्रवर्तिनां मुक्ताहारः–

सव्वस्स वि य णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स चउसट्ठिलट्ठीए महग्घे मुत्तामणिमए हारे पण्णत्ते ॥

सर्वाणि चतुःषष्टिरिति (चउसट्ठिलट्ठीए त्ति) चतुःषष्टिर्यष्टिकानां शराणां यस्मिन्नसौ चतुःषष्टियष्टिकः । (मुत्तामणिमये त्ति) मुक्ताश्च मुक्ताफलानि मणयश्चन्द्रकान्तादिरत्नविशेषाः , मुक्तारूपा वा मणयो रत्नानि मुक्तामणयः, तद्विकारो मुक्तामणिमयः । स० ६४ सम० ।

चक्रवर्तिनां रत्नानि–

एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त एगिंदियरयणा पण्णत्ता । तं जहा–चक्करयणे छत्तरयणे चम्मरयणे दंडरयणे असिरयणे मणिरयणे काकणिरयणे ।

"चक्करयणे" इत्यादि। "रत्नं निगद्यते तत्, जातौ जातौ यदुत्कृष्टम् " इति वचनात् । चक्रादिजातिषु यानि वीर्यत उत्कृष्टानि तानि चक्ररत्नादीनि मन्तव्यानि, तत्र चक्रादीनि सप्तैकेन्द्रियाणि पृथिवीरूपाणि । तेषां च प्रमाणम्–

" चक्कं छत्तं दंडो, तिन्नि वि एयाइँ वामतुल्लाइं ।
चम्मं दुहत्थदीहं, बत्तीसं अंगुलाइँ असी ।
चउरंगुलो मणी पुण, तस्सऽद्धं चेव होइ वित्थिन्नो ।
चउरंगुलप्पमाणा, सुवन्नवरकागणी नेया " ॥ स्था० ७ ठा० ।

" एगमेगस्स णं रन्नो चाउरंतचक्कवट्टिस्स सत्त पंचेंदियरयणा पन्नत्ता । तं जहा—सेणावइरयणे गाहावइरयणे वड्ढइरयणे पुरोहियरयणे इत्थिरयणे आसरयणे हत्थिरयणे " सेनापतिः सैन्यनायको, गृहपतिः कोष्ठागारनियुक्तः, वर्द्धकिः सूत्रधारः, पुरोहितः शान्तिकर्मकारीति चतुर्दशाप्येतानि प्रत्येकं यक्षसहस्राधिष्ठितानीति । स्था० ७ ठा० । अनु० ।

चक्रवर्तिनां वर्णादयः-

"सव्वे वि एगवन्ना, निम्मलकणगप्पहा मुणेयव्वा ।
उसभंमभरहसामी, तेसि य माणं अओ वुच्छं ॥ ८८ ॥
पंचसय अद्धपंचम, छायालीसा य अद्धधणुअं च ।
इगुआलधणुस्सऽद्धं, च चउत्थे पंचमे चत्ता ॥ ८९ ॥
पणतीसा तीसा पुण, अट्ठावीसा य वीस य धणूणि ।
पन्नरस बारसेव य, अपच्छिमो सत्त य धणूणि" । ९० । आ० म० प्र० अ० ।

चक्रवर्तिनां स्त्रियः-

एएसिं बारसण्हं, चक्कवट्टीणं बारस इत्थिरयणा होत्था । तं जहा-
"पढमा होइ सुभद्दा, भद्द सुणंदा जया य विजया य ॥
किण्हसिरी सूरसिरी, पउमसिरी वसुंधरा देवी ।
लच्छिमई कुरुमई, इत्थीरयणाण णामाइं" ॥ स० ।

चक्रवर्तिनां स्त्रीषु सन्तानः-

चक्री वैक्रियं रूपं त्यक्त्वा स्त्रियं भुनक्ति, तत्र सन्तानं स्यान्न वेति? प्रश्ने, उत्तरम्-चक्रिणो वैक्रियशरीरेण सन्तानोत्पत्तिर्न संभाव्यते, किं त्वौदारिकेणैव, केवलं ते वैक्रियशरान्तर्गता इति न गर्भाधानहेतव इति प्रज्ञापनावृत्तिवचनात् । या च शिलादीत्यादीनां । सूर्यादेरुत्पत्तिः श्रूयते, तत्रापि समाधानान्तरमस्ति, तच्चेदम्-"वैक्रियेभ्यः सुराङ्गेभ्यो, गर्भो यद्यपि नो भवेत् । तदा नीतौदारिकाङ्गधातुयोगात्तु संभवी" ।१। इत्यादिमल्लवादिप्रबन्धे । ही० २ प्रका० ।

चक्कवट्टी सुरनरवतिसक्कया सुरवर व्व देवलोए भरहनगणगरनिगमजणवयपुरवरदोणमुहखेडकब्बडमडंबसंवाहपट्टणसहस्समंडियं थिमियमेयणियं एगच्छत्तं ससागरं भुंजिऊण वसुहं नरसीहा नरवती नरिंदा नरवसहा मरुयवसभकप्पा अब्भहियं रायतेयलच्छीए दिप्पमाणा सोमा रायवंसतिलगा रविससिसंखवरचक्कसोत्थियपडागजवमच्छकुम्मरहवरभगभवणविमाणतुरंगतोरणगोपुरमणिरयणनंदियावत्तमुसलणंगलसुरइयवरकप्परुक्खमिगवतिभद्दासणसुरविधूवरमउडसरियकुंडलकुंजरवसभदीवमंदरगरुलज्झयइंदकेउदप्पणअट्ठावयचावबाणनक्खत्तमेहलवीणाजुगछत्तदामदामिणिकमंडलुकमलघंटावरपोतसुचीसागरकुमुदागरमगरहारगागरनेउरणगणगरवइरकिन्नरमयूरवररायहंससारसचकोरचक्कवागमिहुणचामरखेडगपव्वीसगविपंचिवरतालियंटसिरियाभिसेयमेयणिखग्गंकुसविमलकलसभिंगारवद्धमाणगपसत्थउत्तमविभत्तवरपुरुसलक्खणधरा, बत्तीसरायवरसहस्साणुजायमग्गा, चउसट्ठिसहस्सपवरजुवतीणयणकंता, रत्ताभा, पउमपम्हकोरंटगदामचंपगसुतत्तवरकणकनिघसवन्ना, सुजायसव्वंगसुंदरंगा, महग्घवरपट्टणग्गयविचित्तरागएणीपएणीनिम्मियदुगुल्लवरचीणपट्टकोसेज्जसोणीसुत्तकविभूसियंगा, वरसुरभिगंधवरचुन्नवासवरकुसुमभरियसिरया, कप्पियच्छेयायरियसुकयरइदमालकडगंगयतुडियवरभूसणपिणद्धदेहा, एकावलिकंठसुरइयवच्छ, पालंबपलंबमाणसुकयपडउत्तरिज्जमुद्दियापिंगलंगुलिया, उज्जलनेवत्थरइयचिल्लगविरायमाणा, तेएण दिवाकरो व्व दित्ता, सारयनवत्थणियमहुरगंभीरणिद्धघोसा उप्पन्नसमत्तरयणचक्करयणप्पहाणा, नवनिहिपइणा समिद्धकोसा, चाउरंता चाउराहिं सेणाहिं समणुजाइज्जमानमग्गा, तुरगपती गयपती रहपती नरपती विपुलकुलवीसुयजसा सारयससिसकलसोम्मवयणा, सूरतिल्लोकानिग्गयपभावलद्धसद्दा, समत्तभरहाहिवा, नरिंदा, ससेलवणकाणणं च हिमवंतसागरंतं धरा भोत्तूण भरहवासं जियसत्तू पवररायसिंहा पुव्वकडतवप्पभावा निविट्ठसंचियसुहा, अणेगवाससयमाउव्वंतो भज्जाहि य जणवयप्पहाणाहिं लालियंता, अतुलसद्दफरिसरसरूवगंधे य अणुभवित्ता ते वि उवणमंति मरणधम्मं अवितित्ता कामाणं।

चक्रवर्तिनः राजातिशयाः ससागरां भुक्त्वा वसुधां माण्डलिकत्वं च भुक्त्वा भरतवर्षे चक्रवर्तित्वे अतुलान् शब्दादींश्चानुभूयोपनमन्ति मरणधर्ममवितृप्ताः कामानामिति संबन्धः । किंविधास्ते इत्याह—सुरनरपतिभिः सुरेश्वरनरेश्वरैः सत्कृताः पूजिता ये ते तथा । के इवानुभूता इत्याह—सुरवरा इव देवप्रवरा इव, क्व?-देवलोके स्वर्गे तथा भरतस्य भारतवर्षस्य सम्बन्धिनां नगानां पर्वतानां नगराणां करविरहितस्थानानां सहस्रैर्निगमानां वणिक्जनप्रधानस्थानानां जनपदानां देशानां पुरवराणां राजधानीरूपाणां द्रोणमुखानां जलस्थलपथयुक्तानां खेटानां धूलीप्राकाराणां कर्बटानां कुनगराणां मडम्बानां दूरसंस्थितसन्निवेशान्तराणां संवाहानां रक्षार्थं धान्यादिसंवहन वितदुर्गविशेषरूपाणां पत्तनानां च जलपथस्थलपथयोरेकतरयुक्तानां मण्डिता या सा, तथा, तां स्तिमितमेदिनीकां निर्भयत्वेन स्थिरविश्वनराश्रितजनाम् एकमेव छत्रं यत्र एकराजत्वात् सा एकच्छत्रा ता ससागरा तां भुक्त्वा पालयित्वा वसुधां पृथिवीं भरताद्यादिरूपां, माण्डलिकत्वेन एतच्च पदद्वयमुत्तरत्र "हिमवंतं सागरंतं धीरा भोत्तूण भरहवासमिति " समस्तभरतक्षेत्रभोक्तृत्वापेक्षया भणनादवसीयते, नरसिंहाः शूरत्वात् नरपतयः तत्स्वामित्वात्, नरेन्द्राः तेषां मध्ये ईश्वरत्वात्, नरवृषभाः गुणैः प्रधानत्वात्, मरुवृषभकल्पा वा देवनाथभूताः मरुजवृषभकल्पा वा मरुदेशोत्पन्नगवभूता अङ्गीकृतकार्यभारनिर्वाहकत्वात्, अत्यधिकमत्यर्थं राजतेजोलक्ष्म्या देदीप्यमानाः, सौम्याः अदारुणा नीरुजा वा, राजवंशतिलकास्तन्मण्डनभूताः, तथा रविशश्यादीनि वरपुरुषलक्षणानि येषां ते तथा, रविशशी, शङ्खो वरचक्रं, स्वस्तिकं, पताका, यवो, मत्स्यश्च प्रतीताः, कूर्मः, कच्छपः, रथवरः प्रतीतो, भगो योनिः, भवनं भवनपतिदेवावासो, विमानं

वैमानिकनिवासः, तुरगस्तोरणं गोपुरं च प्रसिद्धानि, मणिः चन्द्रकान्तादिरत्नः, कर्केतनादि, नन्द्यावर्तो नवकोणः स्वस्तिकविशेषः, मुशलं लाङ्गलं च प्रसिद्धं, सुरचितः सुष्ठुकृतः सुरतिदो वा सुखकरो यो वरकल्पवृक्षः कल्पद्रुमः स तथा, मृगपतिः सिंहो, भद्रासनं सिंहासनं, सुरुचिः रुचिरम्या आभरणविशेष इति केचित्, स्तूपः प्रतीतः, वरमुकुटं प्रवरशेखरः, [सरिय त्ति] मुक्तावली,कुण्डलं कर्णाभरणं, कुञ्जरो वरवृषभश्च प्रतीतौ,द्वीपो जलवृतो भूदेशः,मन्दिरो मेरुः,मन्दरं वा गृहं, गरुडः सुपर्णः, ध्वजः केतुः,इन्द्रकेतुरिन्द्रयष्टिः, दर्पणः आदर्शः, अष्टापदं द्यूतफलकं, कैलाशं पर्वतविशेषो वा, चापं धनुः, बाणो मार्गणः, नक्षत्रं मेघश्च प्रतीतौ, मेखला काञ्ची, वीणाः प्रतीता, युगं यूपः, छत्रं प्रतीतं,दाममाला दामिनी लोकरूढिगम्या,कमण्डलुः कुण्डिका कमलं घण्टा च प्रतीते, वरपोतो बोहित्थः, सूची प्रतीता, सागरः समुद्रः, कुमुदाकरः कुमुदखण्डं, मकरो जलचरविशेषः, हारः प्रतीतः [गागर त्ति] स्त्रीपरिधानविशेषः, नूपुरं पादाभरणं, नगः पर्वतो,नगरं प्रतीतं,वैरं वज्रं,किन्नरो वाद्यविशेषो,देवविशेषो वा,मयूरवरराजहंससारसचकोरचक्रवाकमिथुनानि प्रसिद्धानि, चामरं प्रकीर्णकं, खेटकं फलकं,पव्वीसकं 'विपञ्ची' वाद्यविशेषो, वरतालवृन्त व्यजनविशेषः,श्रीकाभिषेको लक्ष्म्याभिषेचनं, मेदिनी पृथिवी,खड्गोऽसिः, अङ्कुशः सृणिः, विमलकलशो भृङ्गारश्च भाजनविशेषो, वर्द्धमानकं शरावं, पुरुषारूढपुरुषो वा, एतेषां द्वन्द्वः, तत एतानि प्रशस्तानि मङ्गल्यानि उत्तमानि प्रधानानि विभक्तानि विविक्तानि यानि वरपुरुषाणां लक्षणानि तानि धारयन्ते ये ते तथा, तथा द्वात्रिंशता राजवराणां सहस्रैरनुजातोऽनुगतो मार्गो येषां ते तथा, चतुःषष्टिसहस्राणि यासां तास्तथा ताश्च ताः प्रवरयुवतयश्च तरुण्य इति समासः, तासां नयनकान्ताः लोचनाभिरामाः, परिणयनभर्तारो वा, रक्ता लोहिता आभा प्रभा येषां ते रक्ताभाः,(पउमपम्ह त्ति) पद्मगर्भः कोरण्टकदाम कोरण्टकाऽभिधानपुष्पस्रक्, चम्पकः, कुसुमविशेषः, सुतप्तवरकनकस्य यो निकषो रेखा स तथा, तत एतेषामिव वर्णो येषां ते तथा,सुजातानि सुनिष्पन्नानि सर्वाण्यङ्गानि अवयवा यत्र तदेवंविधं सुन्दरमङ्गं येषां ते तथा, महार्घानि महामूल्यानि वरपत्तनोद्गतानि प्रवरक्षेत्रविशेषोत्पन्नानि विचित्ररागाणि विविधरागरञ्जितानि,एणी हारिणी,प्रैणी च तद्विशेष एव,तच्चर्मनिर्मितानि यानि वस्त्राणि तानि एणीप्रैणीनिर्मितान्युच्यन्ते, श्रूयन्ते च निशीथे-"कालमृगाणि नीलमृगाणि च" इत्यादिभिर्वचनैः मृगचर्मवस्त्राणीति, तथा दुकूलानीति दुकूलो वृक्षविशेषस्तस्य वल्कं गृहीत्वा उदूखलजलेन सह कुट्टयित्वा बुशीकृत्य सूत्रीकृत्य वूय्यन्ते यानि तानि दुकूलानि-वरचीनानीति दुकूलवृक्षवल्कवृक्षस्यैव यान्यभ्यन्तरं हीरेति निष्पाद्यन्ते सूक्ष्मतराणि भवन्ति तानि, चीनदेशोत्पन्नानि वा चीनान्युच्यन्ते, पट्टसूत्रमयानि पट्टानि कौशेयकानि कौशेयकरोद्भवानि वस्त्राणि,श्रोणीसूत्रकं कटिसूत्रकम्, एभिर्विभूषितान्यङ्गानि येषां ते तथा, वाचनान्तरे निर्मितस्थाने क्षौमिक इति पठ्यते-तत्र क्षौमिकाणि कार्पासिकानि वृक्षेभ्यो निर्गतानीत्यन्ये, अतसीमयानीत्यपरे, तथा वरसुरभिगन्धाः प्रधानमनोज्ञपुटपाकलक्षणा गन्धास्तथा वरचूर्णरूपा वासास्ताडिता इत्यर्थः । वरकुसुमानि च प्रतीतानि, तेषां भरितानि भृतानि शिरांसि मस्तकानि येषां ते तथा. कल्पितानि ईप्सितानि छेकाचार्येण निपुणशिल्पिना सुकृतानि सुष्ठु विहितानि रतिदानि सुखकारीणि, माला आभरणविशेषः, कटकानि कङ्कणानि, पाठान्तरेण कुण्डलानि प्रतीतानि, अङ्गदानि बाह्वाभरणविशेषाः, तुटिका बाहुरक्षिका, प्रवरभूषणानि च मुकुटादीनि,मालादीन्येव वा प्रवरभूषणानि,पिनद्धानि बद्धानि ये देहे येषां ते तथा,एकावलीविचित्रमणिका एकसरिकं कण्ठे गले सुरचिता वक्षसि हृदये येषां ते तथा, प्रलम्बो दीर्घप्रलम्बमानो लम्बमानः सुकृतः सुरचितः पटशाटकः उत्तरीयम् उपरि कायवस्त्रं यैस्ते तथा, मुद्रिकाभिरङ्गुलीयकैः पिङ्गलाः पिङ्गा अङ्गुल्यो येषां ते तथा, ततः कर्मधारयः,उज्ज्वलं नेपथ्यं वेषो रचितं रतिदं वा (चिल्लगं ति) दीप्तं दीप्यमानं वा विराजमानं शोभमानं येषां तेन वा विराजमानं वा ये ते तथा, तेजसा दिवाकर इव दीप्ता इति प्रतीतं, शारदं शरत्कालीनं यत् नवमुत्पद्यमानावस्थं स्तनितं मेघगर्जितं तद्वन्मधुरो गम्भीरः स्निग्धश्च घोषो येषां ते तथा। वाचनान्तरे-"सागरनवेत्यादि" दृश्यते। उत्पन्नसमस्तरत्नाश्च ते चक्ररत्नप्रधानाश्चेति विग्रहः। रत्नानि च तेषां चतुर्दश। तद्यथा-"सेणावइ १ माहावइ, २ पुरोहिय ३ तुरंग ४ वड्डइ ५ गय ६ इत्थी ७। चक्कं ८ छत्तं ९ चम्मं, १० मणि ११ कागिणि १२ खग्ग १३ दंडो य १४।" नवनिधिपतयः। निधयश्चैवम्-"नेसप्पे १ पंडु २ पिंगु ३ पिंगलय, सव्वरयणे ५ तहा महापउमे ६। काले ७ य महकाले, ८ माणवगमहानिही ९ संखे॥१॥" समृद्धकोशा इति प्रतीतं, चत्वारोऽन्ताः भूविभागाः पूर्वसमुद्रादिरूपा येषां ते तथा,त एव चातुरन्ता चतुर्भिरश्वैर्हस्त्यश्वरथपादातिलक्षणैरुपेता वा तुर्य्यैस्ताभिः समनुयायमानमार्गाः समनुगम्यमानपन्थाः,एतदेव दर्शयति तुरगपतय इत्यादि, विपुलकुलाश्च ते विश्रुतयशसश्च प्रतीतः स्यात् इति विग्रहः, शारदशशी यः सकलपूर्णस्तद्वत् सौम्यं वदनं येषां ते तथा, शूराश्च त्रैलोक्यनिर्गतप्रभावाश्च ते लब्धशब्दाश्च प्राप्तख्यातय इति विग्रहः, समस्तभरताधिपा नरेन्द्रा इति प्रतीतं, सह शैलैः पर्वतैर्वनैर्नगरविप्रकृष्टैः काननैश्च, नगरासनैर्यत्तत्तथा, हिमवत्सागरान्तं धीरा भुक्त्वा भरतवर्षं जितशत्रवः प्रवरराजसिंहाः पूर्वकृततपःप्रभावादिति प्रतीतं, निर्विष्टं परिसञ्चितं च पोषितं सुखं यैस्ते तथा, अनेकवर्षशतायुष्मतः भार्याभिश्च जनपदप्रधानाभिर्लाल्यमानाः विलास्यमानाः, अतुला निरुपमा ये शब्दस्पर्शरसरूपगन्धास्ते तथा स्तांश्चानुभूय तेऽपि आसताम् उपनमन्ति प्राप्नुवन्ति मरणधर्मं मृत्युलक्षणं जीवपर्यायं च अवितृप्ता अतृप्ता कामानामब्रह्माज्ञानाम्। प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

चम्पादिषु दश चक्रिणः प्रव्रजिताः-

एयासु णं दससु रायहाणीसु दस रायाणो, मुंडा भवित्ता० जाव पव्वइया। तं जहा-भरहे सगरे मघवं सणंकुमारे संती कुंथू अरे महापउमे हरिसेणे जयनामे ॥

"तकणा वेसित्थिविवा-हरायमाईसु होइ सइकरणं। आउज्जगीयसद्दे, इत्थीसद्दे य सवियारे" ॥१॥ (एतास्विति) अनन्तरोदितासु दशस्वायनगरीषु मध्येऽन्यतरासु कासुचिद्दश राजानश्चक्रवर्तिनः प्रव्रजिता इत्येवं दशस्थानकेऽवतारस्तेषां कृतः। द्वौ च सुभूमब्रह्मदत्ताभिधानौ न प्रव्रजितौ, नरकं च गताविति। तत्र भरतसगरौ प्रथमद्वितीयौ चक्रवर्तिराजौ साकेते नगरे विनीतायोध्यापर्याये जातौ,प्रव्रजितौ च। मघवान् श्रावस्त्याम्, सनत्कुमारादयश्चत्वारो हस्तिनागपुरे, महापद्मो वाराणस्याम्, हरिषेणः काम्पिल्ये, जयनामा राजगृहे इति। न चैतासु

नगरीषु क्रमेणैते राजानो व्याख्येयाः, ग्रन्थविरोधात् । उक्तं च—" जम्मणभूमी अउज्झा , सावत्थी पंच हत्थिणपुरम्मि । वाणारसि कंपिल्ले रायगिहे चेव कंपिल्ले त्ति " । १ । अप्रव्रजितचक्रवर्तिनौ तु हस्तिनागपुरकाम्पिल्ययोरुत्पन्नाविति, ये च यत्रोत्पन्नास्ते तत्रैव प्रव्रजिता इति इदमावश्यकाभिप्रायेण व्याख्यातम्, निशीथभाष्याभिप्रायेण तु दशस्वेतासु नगरीषु द्वादश चक्रिणो जातास्तत्र नवस्वेकैकः, एकस्यां तु त्रय इति ।

आह च-

"चंपा महुरा वाणा--रसी य सावत्थिमेव साकेयं ।
हत्थिणपुर कंपिल्लं, मिहिला कोसंबि रायगिहं ॥ १ ॥
संती कुंथू य अरो, तिन्नि वि जिण चक्कि एक्कएक्केहिं ।
जाया तेण दस होंति, केसवजाया जणाइन्नं " ॥ २ ॥

स्था० १० ठा० । (एकस्मिन्क्षेत्रे एकदा द्वौ चक्रवर्तिनौ न भवत इति 'डुवई' शब्दे वक्ष्यते)

उत्सर्पिण्यां भविष्यन्तश्चक्रिणः—

जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे आगमिस्साए उस्सप्पिणीए बारस चक्कवट्टिणो भविस्संति । तं जहा–

"भरहे य दीहदंते, गूढदंते य सुद्धदंते य ।
सिरिउत्ते सिरिभूई, सिरिसोमे य सत्तमे पउमे ॥ १ ॥
महापउमे य विमल-वाहणे विपुलवाहणे चेव ।
रिट्ठे बारसमे वुत्ते, आगामिभरहाहिवा उत्ता ॥ ॥२॥"

एएसि णं बारसण्हं चक्कवट्टीणं बारस पियरो भविस्संति, बारस मायरो भविस्संति,बारस इत्थीरयणा भविस्संति। स० ।

जम्बूद्वीपे चक्रवर्तिनः पृच्छा-

जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे केवइआ जहण्णपए वा उक्कोसपए वा चक्कवट्टी सव्वग्गेणं पण्णत्ता ?। गोअमा ! जहण्णपदे चत्तारि, उक्कोसपदे तीसं चक्कवट्टी सव्वग्गेणं पण्णत्ता , बलदेवा तत्तिआ चेव, जत्तिआ चक्कवट्टी वासुदेवा वि तत्तिआ चेव ।

जम्बूद्वीपे भदन्त ! द्वीपे कियन्तो जघन्यपदे वा उत्कृष्टपदे वा चक्रवर्तिनः प्रज्ञप्ताः?। भगवानाह–गौतम ! जघन्यपदे चत्वारः । उपपत्तिस्तु तीर्थकराणामिव , उत्कृष्टपदे त्रिंशच्चक्रवर्तिनः सर्वाग्रेण प्रज्ञप्ताः । कथमिति चेत् ? , उच्यते–द्वात्रिंशद्विजयेषु वासुदेवस्वामिकान्यतरविजयचतुष्कवर्जितविजयसत्काष्टाविंशतिः , भरतैरावतयोस्तु द्वाविति पूर्वापरमीलितास्त्रिंशत् । यदा महाविदेहे उत्कृष्टपदेऽष्टाविंशतिश्चक्रिणः प्राप्यन्ते , तदा नियमाच्चतुर्णामर्द्धचक्रिणां संभवेन तन्निरुद्धक्षेत्रेषु चक्रिणामसंभवात्, चक्रिणामर्द्धचक्रिणां च सहानवस्थानलक्षणविरोधादिति । अथात्र तथैव बलदेवार्द्धचक्रिणश्चाह-"बलदेवा तत्तिया" इत्यादि । बलदेवा अपि तावन्त एवोत्कृष्टपदे , जघन्यपदे च यावन्तश्चक्रवर्तिनः वासुदेवा अपि तावन्त एव, बलदेवसहचारित्वात् , कोऽर्थः?–यदा चक्रवर्तिन उत्कृष्टपदे त्रिंशत् अवश्यं बलदेववासुदेवौ जघन्यपदे चत्वारः, तेषां चतुर्णामवश्यंभावात् । यदा च बलदेवा वासुदेवा वा उत्कृष्टपदे त्रिंशत् , तदा चक्रिणो जघन्यपदे चत्वारः, तेषामपि चतुर्णामवश्यंभावात् । तेनैतेषां परस्परं सहानवस्थानलक्षणविरोधभावेनान्यतराश्रितक्षेत्रे तदन्यतरस्याभाव इति । जं० ७ वक्ष० । (कश्चक्रवर्ती कथं लभत इति 'अंतकिरिया ' आदिशब्देषु प्रथमभागे ५९ पृष्ठे उक्तम्)

देशविरतौ चक्रिपदबन्धो भवति नवेति प्रश्ने, उत्तरम्–अत्राप्येकान्तो ज्ञातो नास्तीति । ही० ६ प्रका० । चक्रवर्तिनस्तिमिस्रगुहाद्वारोद्घाटने ज्वाला निःसरन्ति , न वा यदि न , तर्हि कूणिकस्य कथं निस्ससारेति प्रश्ने , उत्तरम्–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यादिषूक्तमस्ति , यच्चक्रवर्तिनः सेनानीनरो द्वारमुद्घाटयति , ज्वाला च न निःसरति कूणिकस्य तु द्वाराणि नोद्घाटितानि , तर्हि ज्वाला कुतो निःसरेत् , स तु तमिस्रगुहाधिष्ठायकेन दण्डरत्नेन हतः सैन्यानि पश्चाद्वलितानीत्यक्षराणि आवश्यकद्वाविंशतिसहस्रीमध्ये सन्ति, द्वादशसहस्रीमध्ये तु ज्वालानिःसरणमप्युक्तमस्ति , सा तु कुमतिकृताऽस्ति । आवश्यकटिप्पनके तु कथितमस्ति , यज्ज्वालानिःसरणघोटकपश्चात्पादचलनप्रघोषसिद्धान्तविरुद्धो ज्ञेय इति । ४७४ प्र० सेन० ३ उल्ला० । चक्रवर्ती कियत्कालेन मोक्षं यातीति प्रश्ने , उत्तरम्–जघन्यतस्तद्भवे, उत्कृष्टतस्तु कश्चित्किञ्चिदूनार्द्धपुद्गलपरावर्तान्तरेणापि मोक्षं यातीति । ६७ प्र० सेन० ४ उल्ला० । सर्वचक्रवर्तिनां सर्वरत्नानि प्रमाणतस्तुल्यानि न्यूनाधिकानि वेति प्रश्ने, उत्तरम्–सर्वचक्रवर्तिनां काकिण्यादिरत्नानि कियन्ति केषाञ्चिन्मते प्रमाणाङ्गुलमाननिष्पन्नानि, कियन्ति तु तत्कालीनपुरुषादिमानोचितमानानि, केषाञ्चिन्मते तु सर्वाण्यपि तत्कालोचितमानानीति ४२० प्र० सेन ३ उल्ला० । चक्रवर्तिनो राज्याऽभिषेकादनु पुत्रो भवति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्–चक्रवर्तिनो राज्याभिषेकादनु पुत्रो भवतीति श्रीअजितचरित्रादौ विद्यते । ८५ प्र० सेन० १ उल्ला० । चक्रवर्तिनः स्कन्धावारो द्वादश योजनान्युत्तरति, चक्रवर्ती तु प्रत्येकं योजनमेकं चलति, ततो द्वादशयोजनप्रान्ते य उत्तरति स योजनमेकं चलति तदा द्वादशयोजनमध्ये कियन्ति दिनानि भवन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तौ योजनं योजनान्तरेण क्रमेण चक्रवर्ती चलति , तथा चक्रवर्तिसैन्यं द्वादश योजनान्युत्तरतीत्यनेकग्रन्थे कथितमस्ति , तस्मात्पूर्वापरविचारणाया यद्योजनान्तं कथितमस्ति तस्मात्पूर्वापरविचारणया योजनान्तरं कथितमस्ति तत्सैन्याग्रभागापेक्षया संभाव्यते , तथा चक्रिसैन्यस्यादौ मध्ये नैवोत्तरतीत्यक्षराणि व्यक्तानि शास्त्रे न दृष्टानि,आधुनिकठक्करास्तु दिवाले उत्तरतो,दृश्यन्ते,ततस्तत्काले यथोचितं भविष्यति तथोत्तरिष्यन्ति, तथाऽपि चक्रवर्तिनां दिव्यानुभावेन सैन्यप्रान्तोत्तीर्णास्तेऽपि शीघ्रं सुखेन मार्गमतिक्रमिष्यन्तीत्यत्र न काऽप्याशङ्का, यतो दिव्यशक्तिरचिन्त्याऽस्तीति । ६६ प्र० सेन० ४ उल्ला० । (व्यासेन तु भरतादिशब्देषु दृश्यम्) ।

चक्कवट्टिलद्धि–चक्रवर्तिलब्धि–स्त्री० । चक्रवर्तित्वप्राप्तिहेतौ लब्धिभेदे , प्रव० २७० द्वार । पा० ।

चक्कवट्टिविजय–चक्रवर्तिविजय–पुं० । चक्रवर्तिनो विजयन्ते येषु यान् वा ते चक्रवर्तिविजयाः । स्था० ८ ठा० । चक्रवर्तिविजेतव्ये क्षेत्रखण्डे , ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । स० ।

चक्रवर्तिविजयवक्तव्यतामाह—

जंबूमंदरपुरच्छिमेणं सीयाए महाणईए उत्तरेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पण्णत्ता । तं जहा–कच्छे सुकच्छे महाकच्छे कच्छगावई आवत्ते० जाव पुक्खलावई । जंबूमंदरपुरच्छि-

मेणं सीयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पमत्ता । तं जहा–वच्छे सुवच्छे० जाव मंगलावई । जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओयाए महाणईए दाहिणेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पमत्ता । तं जहा–पम्हे० जाव सलिलावई । जंबूमंदरपच्चच्छिमेणं सीओयामहानईए उत्तरेणं अट्ठ चक्कवट्टिविजया पमत्ता । तं जहा–वप्पे सुवप्पे० जाव गंधिलावई ।

" जाव पुक्खलावइ त्ति " भणनात् " मंगलावत्ते पुक्खले त्ति " द्रष्टव्यम् । ' जाव मंगलावइ त्ति ' करणात् " महावच्छे वच्छावइ रम्मे रम्मए रमणिज्जे " इति दृश्यम् । " जाव सलिलावइ त्ति " करणात् "सुपम्हे महापम्हावई संखे नलिणे कुमुए त्ति" दृश्यम् । "जाव गंधिलावइ त्ति" करणात् "पम्हे महावप्पे वप्पावई वग्गु सुवग्गु गंधिलेत्ति " दृश्यम् । स्था० ८ ठा० ।

चक्कवाग–चक्रवाक–पुं० । पक्षिविशेषे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । औ० । जी० । प्रश्न० । रा० ।

चक्कवूह–चक्रव्यूह–पुं० । चक्रमिव व्यूहः सैन्यस्थितिरचनाविशेषः । युद्धार्थे मण्डलाकारे सैन्यस्थापने, वाच० । तत्परिज्ञानात्मके कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । जं० । औ० ।

चक्कसाला–चक्रशाला–स्त्री० । तिलपीडनशालायाम्, व्य० १० उ० ।

चक्कसुह–चक्रमुख–पुं० । मानुषोत्तरपर्वतस्याधिपतौ देवे, द्वी० ।

चक्कसेण–चक्रसेन–पुं० । चक्रपुराधीश्वरे, दर्श० ।

चक्कहर–चक्रधर–पुं० । वासुदेवे, विशे० ।

चक्कहरगंमिया–चक्रधरगमिका–स्त्री० । चक्रधरवक्तव्यतार्थाधिकारानुगतायां वाक्यपद्धतौ, स० ।

चक्काअ–चक्रवाक–पुं० । सर्वत्र रलोपः अनादौ द्वित्वम् " कगचजतदपयवां प्रायो लुक् " ८ । १ । १७७ । इति वकयोर्लुक् । "से चक्काओ" पक्षिविशेषे, प्रा० १ पाद । ज्ञा० ।

चक्काउह–चक्रायुध–पुं० । षोडशतीर्थकरस्य प्रथमशिष्ये, स० । ति० ।

चक्काग–चक्राक–न० । चक्राकारे, " चक्कगं भज्जमाणस्स समो भंगो य दीसइ " प्रज्ञा० १ पद । आचा० ।

चक्कारवद्ध–चक्रारबद्ध–न० । गन्त्र्यादौ द्विपदे याने, दश० ५ अ० १ उ० ।

चक्कि (ण्)–चक्रिन्–पुं० । चक्रधरे, चक्रवर्तिनि, ही० ३ प्रका० ।

चक्किय–चाक्रिक–पुं० । चक्रं प्रहरणमेषामिति चाक्रिकाः चक्रप्रहरणेषु योद्धृषु, चक्रं वाऽस्ति येषां ते चाक्रिकाः कुम्भकारतैलिकादिषु चक्रं चोपदर्श्य याचन्ते ये ते चाक्रिकाः । चक्रधरेषु, ज्ञा० । १ श्रु० १ अ० । औ० । प्र० । जं० । कल्प० ।

चक्कियसाला–चाक्रिकशाला–स्त्री० । तैलविक्रयशालायाम्, व्य० ९ उ० ।

चक्की–चक्रिन्–पुं० । चक्रवर्तिषु, चक्रिणां चक्रादिसप्तरत्नान्येकजीवात्मकान्यसंख्यजीवात्मकानि वा ? तथैषामागतिरुक्ता सा एकजात्यपेक्षयानेकान वेति प्रश्ने, उत्तरम्–चक्रिणां चक्रादिसप्तरत्नान्यसंख्येयजीवरूपाणि दृश्यमानपृथ्वीपिण्डस्यासंख्येयजीवात्मकत्वात्तथा आगत्यप्यसंख्यतानाश्रित्येति संभाव्यत इति । ११८ प्र० सेन १ उल्ला० । देशविरतिचक्रित्वे देशविरत्या चक्रिपदं लभ्यते न वा । तथा चक्रिणां गार्हस्थ्ये देशविरतिः स्यान्न वा । यदि सा न स्यात्तत्र को हेतुरिति प्रश्ने, उत्तरम्–देशविरत्या चक्रवर्तिपदप्राप्तिर्भवति न भवति च इत्येकान्तो ज्ञातो नास्ति तथा चक्रिणां महापरिग्रहित्वाद्देशविरतेः प्राप्तिः स्यादिति । ७८ प्र० सेन २ उल्ला० । प्रत्यर्द्धचक्रिणोऽर्द्धचक्रिणो वा गङ्गासिन्धुकृतव्यवधानपूर्वापरखण्डयोः साधने तत्र गमने क उपायश्च रत्नाभावात्तयोरुत्तरणं कथं स्यादिति । तथा संप्रति भूपत्यादीनां त्रिखण्डाधिपत्यं वास्तवमुतोपमामात्रं वेति प्रश्ने, उत्तरम्–तेषां देवादिसान्निध्यात्सर्वं संभाव्यत इति १५४ प्र० सेन० २ उल्ला० । चक्रित्वं प्राप्य पुनश्चक्रित्वं कियता कालेन प्राप्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्–जघन्यतः साधिकसागरेणोत्कृष्टतोऽनन्तकालेन तत्प्राप्यते इति भगवती १५ शतके । ६७ प्र० सेन० ३ उल्ला० । चक्रवर्तिनो मागधादौ कत्यष्टमान् कुर्वन्तीति प्रश्ने, उत्तरम्–मागधस्तूप १ वरदामस्तूप २ प्रभातस्तूप ३ वैताढ्यदेवसाधन ४ तमिस्रादेवसाधन ५ नमिविनमिदेवसाधन ६ सिंधुदेवसाधन ७ क्षुल्लहिमवन्तसाधन ८ गङ्गादेवीसाधन ९ नवनिधानप्रकटीकरण–१० ऽयोध्यानगरीप्रवेशकरणार्थे चक्रिणो ११ ऽनुक्रमेणैकादशाष्टमान् कुर्वन्तीति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्रे तीर्थकृच्चक्रिणोऽष्टमान्न कुर्वन्तीत्यपि शान्तिचरित्रेऽस्तीति ज्ञेयम् । ६६ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

चक्केसर–चक्रेश्वर–पुं० । विक्रमसंवत् १२६० वर्षे विद्यमाने, अजयमेरुराजजयसिंहमान्यधर्मघोषसूरिशिष्ये, आवश्यकलघुवृत्तिकारके सूरौ, जै० इ० ।

चक्केसरी–चक्रेश्वरी–स्त्री० । ऋषभदेवस्य शासनदेवतायाम्, आ० क० । सा च मतान्तरेणाप्रतिचक्रा सुवर्णवर्णा गरुडवाहनाऽष्टकरा वरदबाणचक्रपाशयुक्तदक्षिणपाणिचतुष्टया धनुर्वज्रचक्राङ्कुशयुक्तवामपाणिचतुष्टया चेति । प्रव० २७ द्वार ।

चक्कोड्डा–देशी–अग्निप्रष्टे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चक्खिय–आस्वादित–त्रि० । "केनाप्फुण्णादयः" ८ । ४ । २५८ ॥ इति आस्वादितशब्दस्य ' चक्खिय ' आदेशः । ईषत्सत्यक्त वाऽऽस्वादिते, प्रा० ४ पाद ।

चक्खिंदिय–चक्षुरिन्द्रिय–न० । रूपग्राहके इन्द्रियभेदे, तच्च लब्ध्युपकरणभेदाद् द्विधा–तत्र लब्धीन्द्रियमेकद्वित्रिचतुरिन्द्रियाणामपि, उपकरणेन्द्रियं तु चक्षुरिन्द्रियस्यान्तर्मध्ये केवलिगम्या धान्यमसूराकारा काचिन्निर्वृत्तिरस्ति या रूपग्रहणोपकारे वर्त्तते, तं० । (अत्र विषयविभागादय ' इंदिय ' शब्दे द्वितीयभागे ५६५ पृष्ठे उक्ताः)

अथ चक्षुरिन्द्रिये उदाहरणम्–

नगरी मथुरा नाम, जितशत्रुर्नरेश्वरः ।
प्रकृत्या धार्मिकी राज्ञी, धारिणी चित्तहारिणी ॥ १ ॥
तत्रैकयक्षयात्रायां, राजा राज्ञी च नागराः ।
ययुः सर्वेऽपि, सर्वर्द्ध्या, विच्छर्दितमहीयसा ॥ २ ॥
तदैकेनेभ्यपुत्रेण, यान्त्या राज्ञ्या सुखासने ।
अरच्छदाद्बहिर्धूतो, दृष्टोऽङ्घ्रिर्नूपुरादिभृत् ॥ ३ ॥
दध्यावेवंविधो यस्या–श्चित्तहृच्चरणोऽपि हि ।
देवीतोऽप्यधिकं मन्ये, रूपमस्या भविष्यति ॥ ४ ॥

मया ऽनुरक्तकस्त्यां स, तद्वेदमासस्तमापणम् ।
गृहीत्वा ऽऽत्रजेयदार्की-वर्गे समर्प्यदानतः ॥ ५ ॥
अथैकदा च पप्रच्छ , चेटीर्गन्धपुटीरिमाः ।
कश्छोटयति ताः स्माहुः, स्वयं नः स्वामिनीस्यथ ॥ ६ ॥
कस्तूरिकाक्षरैर्लेखं , लिखित्वा जूर्जपत्रके ।
क्षिप्त्वैकस्या गन्धपुट्याः, मध्ये चेट्याः समार्पयत् ॥ ७ ॥

स चायम्--

काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य ,
मेघान्धकारासु च शर्वरीषु ।
मिथ्या न जल्पामि विशालनेत्रे !,
ते प्रत्ययार्थं प्रथमाक्षरेषु ॥ ८ ॥
छोटयित्वा पुटं मध्या-त्तं लेखं देव्यथावयत् ।
अचिन्तयच्च धिग्भोगान्, मसिलेखमयालिखत् ॥ ९ ॥

स चायम्--

नेहलोके सुखं किञ्चि-च्छादितस्यांहसा भृशम् ।
मितं च जीवितं लोके, तेन धर्मे मतिं कुरु ॥ १० ॥
पूर्ववत् प्रथमाक्षरैर्योत्तरम् ।
तदेव च तथा कृत्वा-ऽर्पयच्चेटीकरे पुटीम् ।
न बन्धुरा इमे गन्धाः, इत्युदित्वाऽर्पयेरिमाम् ॥ ११ ॥
अर्पितायां गन्धपुट्यां, चेट्याऽऽख्याते च वाणिके ।
पुटीमाच्छोट्य लेखस्थं, लेखार्थमवधार्य सः ॥१२॥
भग्नाशः खेदमेदस्वी, निर्ययौ संहृताऽऽपणः ।
तदाऽऽजिचिन्तोपायार्थी, भ्रमन् राज्यान्तरं गतः ॥ १३ ॥

एतं श्लोकं तत्राश्रौषीत्-

न शक्यं त्वरमाणेन, प्राप्तुमर्थान् सुदुर्लभान् ।
भार्या च रूपसंपन्नां, शत्रूणां च पराजयम् ॥ १४ ॥

अत्र च दृष्टान्तः-

वसन्तपुरमित्यास्ते, पुरं सुरपुराकृति ।
श्रावको जिनदत्तोऽत्र-त्य सार्थपतेः सुतः ॥ १५ ॥
पुर्यासीच्च चम्पाया-मीश्वरः सार्थपो धनः ।
अस्याश्चर्यद्वयं तस्य, यच्च नूनं न भावि च ॥ १६ ॥
चतुरब्धिसारभूता, विमला मुक्तावलीगुणैः कलिता ।
अकलितमूल्यविशेषा, सकलकलाकुशलमतिरपि च ॥ १७ ॥
हारप्रभा च कन्यास्ति, तद्रूपादिगुणस्तुतौ !
स्याद्वाग्मीशोऽप्यवाग्मीशः, स्वयं वाग्यपवागिव ॥ १८ ॥
जिनदत्तस्तदाकर्ण्या-ऽनुरक्तस्तामयाचत ।
श्रावकोऽयमिति ददौ, मिथ्यादृष्टिर्न तस्य सः ॥ १९ ॥
बद्धवेषः स्वयं चम्पा-मेकाकी संययौ ततः ।
एकस्तत्रास्त्युपाध्यायः, तं विद्यार्थ्युपस्थितः ॥ २० ॥
उपाध्यायोऽवदद्भद्र !, पाठयिष्याम्यहं परम् ।
मद्गृहे भोजनं नास्ति, दुर्भिक्षं चास्ति संप्रति ॥ २१ ॥
धनश्च दत्ते भौतानां, ततः सोऽगात्तदन्तिके ।
देहि विद्यार्थिनो मेऽन्नं , सोऽवदद्दास्यते पठ ॥ २२ ॥
तेनोद्दिष्टा सुताऽमुष्मै, दद्याया नित्यं भोजनम् ।
स दध्यौ चिन्तितं जातं, सकुम्भ्येऽलुठद् घृतम् ॥ २३ ॥
फलाद्युपाचरत्तस्याः, उपचारं न साऽग्रहीत् ।
अथावसरमासाद्य, सोऽस्मरत्तां वशेऽनयत् ॥ २४ ॥
अथ सा तद्गुणै रक्ता, तमुवाच पलाय्यते ।
तेनोक्तं नोचितमिदं, त्वमुन्मत्ताऽधुना भव ॥ २५ ॥

सा तथाऽभूत्ततः पित्रा-ऽऽहूता मान्त्रिकतान्त्रिकाः ।
सर्वोनतर्जयत्सोऽथ. तां तेऽसाध्येत्यथाऽत्यजन् ॥ २६ ॥
अथाधृतिः पिता मुग्धा, चट्टस्तं स्माह मा मुद् ।
क्रमागतास्ति मे विद्या, सर्वे सेत्स्यत्यदस्तया ॥ २७ ॥
दुष्करस्तूपचारोऽस्याः, श्रेष्ठ्यूचे सुकरो मम ।
आख्यच्चट्टोऽथ कार्येऽत्र, चत्वारो ब्रह्मचारिणः ॥ २८ ॥
आनेयास्ते कुशुद्धाश्चे-त्तदा कार्यं न सेत्स्यति ।
तेषां नवत्यनर्थश्च, तान् भौतर्षीनिवानयत् ॥ २९ ॥
आनायितास्तथा, योधाश्चत्वारः शब्दवेधिनः ।
दिक्पालाः स्थापितास्तेऽथ, लिखित्वा तत्र मण्डलम् ॥३०॥
वक्ताश्च ते मनाग् वेध्याः, शिवाशब्दो भवेद्यतः ।
भौताश्चोच्चयन्त कुर्याथं, हुं फट् कृते शिवारुतम् ॥ ३१॥
त्वं योधेषु भूतेनैव, तिष्ठेरुचे च कन्यका ।
कृते तथैव भूतास्ते, विद्धा नाभूत्पटुः सुता ॥ ३२ ॥
तदा धनस्य वैराग्य-मजायत तपस्विषु ।
चट्टेनोक्तं मयाऽज्ञापि, सिद्धिर्नाब्रह्मचारिभिः ॥ ३३ ॥
ऊचे धनोऽधुना कः स्या-दुपायश्चट्ट ऊचिवान् ।
श्रोच्या ब्रह्मभूतः क्वापि, शृणु तेषां च लक्षणम् ॥ ३४ ॥
भवन्त्येवंविधाः श्रेष्ठिन् !, मुनयो ब्रह्मचारिणः ।
ये च सत्यादिका गुप्तीः, पालयन्ति सदा नव ॥ ३५ ॥
अथ दर्शनिनः सर्वान्, श्रेष्ठी प्रश्नं स पृष्टवान् ।
ब्रह्मगुप्तीर्न कोऽप्याख्य-द्राख्यन् श्वेताम्बराः पुनः ॥ ३६ ॥
वसतिः कथासनाक्षे, कुड्यन्तरपुरा रते ।
प्रणीतात्यसने भूषा, नवैता ब्रह्मगुप्तयः ॥ ३७ ॥
श्रेष्ठी तानाह मे कार्यं, गृहेऽस्ति ब्रह्मचारिभिः ।
ऊचुस्ते गृहिणां कार्यं, विधातुं कल्पते न नः ॥ ३८ ॥
तद्धा ब्रह्मभूतश्चट्ट !, कार्यं नेच्छन्ति ते पुनः ।
सोऽप्यधार्दीदृशा एव, भवन्ति मुनयो धन ! ॥ ३९ ॥
विमुक्तलोकव्यापाराः, एषां नामापि सिद्धिकृत् ।
मण्डलं पुनरालिख्य, दिक्पाला विनिवेशिताः ॥ ४० ॥
न्यस्तानि साधुनामानि, चक्रे पूजां यथाविधि ।
न शिवाकूजितं जातं, जाता श्रेष्ठिसुता पटुः ॥ ४१ ॥
धनोऽथ साधुमाहात्म्य-ज्ञानात् सुश्रावकोऽभवत् ।
चट्टो धर्मोपकारीति, दत्ते द्वे अपि तस्य ते ॥ ४२ ॥
एवं स्थैर्यादुपायेन, प्राप रूपवतीं प्रियाम् ।
इति श्रुत्वेन्यसूर्देशे, तदुपायं च सोऽप्यगात् ॥ ४३ ॥
विद्यासिद्धा दण्डरक्षा-करास्तिष्ठन्ति तत्र च ।
तस्य ते सेवया तुष्टाः, स्माहुरस्तत्किमीहसे ? ॥ ४४ ॥
ऊचे मे घटयतां देवी, जगुस्ते घटयिष्यते !
तैलत्वयाथ समं राज्या, मेलोपायो व्यचिन्त्यसौ ॥ ४५ ॥
साऽपवादा नृपत्यक्ता, मिलत्येषाऽस्य नान्यथा ।
विकुर्विताऽथ तैर्मारि-र्मृतु लग्नो घनो जनः ॥ ४६ ॥
अथारक्षा नृपेणोक्ताः, मारिर्विज्ञाय कथ्यताम् ।
वासवेश्मनि तैर्देव्यो, विद्ययाऽथ विकुर्विताः ॥ ४७ ॥
मनुष्यहस्तपादांशाः, देव्यास्यं च सलोहितम् ।
तैरुक्तं देव ! गेहे स्वे-ऽन्वेष्या मारिः परत्र न ॥ ४८ ॥
राज्ञाऽन्विष्टा च दृष्टा सा-ऽऽदिष्टास्तेऽथ यथा रहः ।
स्वगृहे मण्डलं कृत्वा, नीत्वा तत्र निगृह्यताम् ॥ ४९ ॥
नीता तैरथ सा तत्र, रात्रावध्यास्य मण्डलम् ।
हन्तुं प्रचक्रमे याव-द्विन्यसूस्तावदाययौ ॥ ५० ॥

स ऊचे मार्यतेऽसौ किं, मारिरेषेति मार्यते ।
सोऽवदत् घटते नैत-ज्ञातोऽस्याः कोऽपि दुर्जनः ॥ ५१ ॥
हत मा मुञ्चतैतां तु, नेत्रकैरवकौमुदीम् ।
नैषुस्ते पुनरूचे च, गृह्णीध्वं कोट्यलंकृतिम् ॥ ५२ ॥
निगृह्णीध्वं च मा मैतां, मुञ्चध्वं वः कृतोऽञ्जलिः ।
तस्या अप्यभवत्प्रेम, तत्राकारणवत्सले ॥ ५३ ॥
ऊचुस्ते नेति निर्बन्धा-न्मुक्ताऽसौ त्वं च किं त्वतः ।
गत्वा देशान्तरे तिष्ठे-स्तामथादाय सोऽगमत् ॥ ५४ ॥
प्राणप्रदोऽयमित्यासी-त्तत्रातिप्रेमभागसौ ।
रतिसागरनिर्मग्ना, तेन सार्द्धमथास्ति सा ॥ ५५ ॥
दृष्टुं स्वान् साऽन्यदाऽचाली-त्प्रेम्णा गन्तुं न सा ददौ ।
हसितं तेन साऽप्राक्षी-न्निर्बन्धेऽकथयत्कथाम् ॥ ५६ ॥
निर्विण्णा साऽथ साध्वीनां, धर्मं श्रुत्वाऽग्रहीद् व्रतम् ।
इतरोऽगात्तु नरकं, चक्षुर्लौल्यकृतोदयात् ॥ ५७ ॥ आ० क० । आ० म० । आ० चू० । ग० । "चक्खिदियदुद्दंत-त्तणस्स अह-पत्तिओ भवति दोसो । जं जलणम्मि जलंते, पडइ पयंगो अबुद्धो ४ " ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

चक्खिदियणिग्गह-चक्षुरिन्द्रियनिग्रह-पुं० । चक्षुरिन्द्रियस्य विषयप्राप्त्यनिरोधे, (उत्त०)

तत्फलम्-

चक्खिदियनिग्गहेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। चक्खिदियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ । तप्पच्चइयं कम्मं न बंधइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥६३॥

हे भदन्त ! हे स्वामिन् ! चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण जीवः किं जनयति?। तदा गुरुराह-हे शिष्य ! चक्षुरिन्द्रियनिग्रहेण मनोज्ञाऽमनोज्ञेषु रूपेषु रागद्वेषजयं जनयति । ततश्च तत्प्रत्ययिकं रागद्वेषोत्पन्नं कर्म न बध्नाति । पूर्वबद्धं रागद्वेषोपार्जितं कर्म निर्जरयति क्षपयति ॥ ६३ ॥ उत्त० २९ अ० ।

चक्खु-चक्षुष्-न० । चक्ष्यतेऽनेनेति चक्षुः । " वाऽक्ष्यर्थवचनाद्याः" ८ । १ । ३३ । इति वा पुंस्त्वम् । लोचने, तत् द्रव्यतोऽक्षि, भावतो ज्ञानम् । स्था० २ ठा० ४ उ० । सूत्र० । इह चक्षुरिन्द्रियम्, तच्च द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च । द्रव्येन्द्रियं बाह्यनिर्वृतिसाधकम्, तत्करणरूपम् "निर्वृत्त्युपकारेण द्रव्येन्द्रियम्" इति वचनात् । भावेन्द्रियं तु क्षयोपशम उपयोगश्च "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" इति वचनात् । अत्र चक्षुर्विशिष्टमेवात्मधर्मरूपं तत्त्वावबोधने बन्धनश्रद्धास्वभावं गृह्यते । श्रद्धाविहीनस्याचक्षुष्मत इव रूपतत्त्वदर्शनायोगात् । न चेयं मार्गानुसारिणी सुखमवाप्यते । सत्यां चास्यां भवत्येव तन्नियोगतः कल्याणचक्षुषीव सद्रूपदर्शनं न ह्यत्र प्रतिबन्धो नियमेन ऋते कालादिति निपुणसमयविदः । अयं चाप्रतिबन्ध एव । तथा तद्भवनोपयोगित्वात् । तमन्तरेण तत्सिद्ध्यसिद्धेः, विशिष्टस्योपादानहेतोरेव तथापरिणतिस्वभावत्वात् तदेषाऽधर्म्यबीजभूता धर्मकल्पद्रुमस्येति परिभावनीयम् । इदं चेह चक्षुरिदं चोक्तं भगवद्भ्य इति । ल० । " चक्षुष्मन्त एवेह, ये श्रुतज्ञानचक्षुषा । सम्यक् तदैव पश्यन्ति, भावान् हेयेतरान्नराः" ॥१॥ भ० १ श० १ उ० । शुभाशुभार्थकारित्वात् श्रुतज्ञाने, स० । चक्षुरिव चक्षुः । केवलज्ञाने, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दर्शने, आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । विशिष्ट आत्मधर्मे, रा० । लोकस्य विविधकार्येषु प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयप्रदर्शके, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । रा० ।

तिविहे चक्खू पएणत्ते । तं जहा-एगचक्खू विचक्खू तिचक्खू । छउमत्थे णं मणुस्से एगचक्खू देवे विचक्खू तहारूवे समणे वा माहणे वा उप्पएणणाणदंसणधरे से णं तिचक्खु त्ति वत्तव्वं सिया ॥

प्रायः कण्ठ्यम् । चक्षुर्लोचनं तत् द्रव्यतोऽक्षि, भावतो ज्ञानम् । तद्यस्यास्तीति स तद्योगाच्चक्षुरेव चक्षुष्मानित्यर्थः । स च त्रिविधश्चक्षुः संख्याभेदात्, तत्रैकं चक्षुरस्येत्येकचक्षुः । एवमितरावपि । छादयतीति छद्म ज्ञानावरणादि तत्र तिष्ठतीति छद्मस्थः । स च यद्यप्यनुत्पन्नकेवलज्ञानः सर्वं एवोच्यते तथाऽपीहातिशयवद् श्रुतज्ञानादिविवर्जितो विवक्षित इति । एकचक्षुरिन्द्रियापेक्षया देवो द्विचक्षुश्चक्षुरिन्द्रियावधिभ्याम् उत्पन्नमावरणक्षयोपशमेनाज्ञानं च श्रुतावधिरूपं दर्शनं चावधिदर्शनरूपं यो धारयति वहति स तथा एवंभूतः सः त्रिचक्षुश्चक्षुरिन्द्रियपरमश्रुतावधिरिति वक्तव्यं स्यात् । स हि साक्षादेवावलोकयति हेयोपादेयानि समस्तवस्तूनि केवली त्विह न व्याख्यातः केवलज्ञानदर्शनलक्षणचक्षुर्द्वयकल्पनासंभवेऽपि चक्षुरिन्द्रियलक्षणचक्षुषः उपयोगाभावेनासत्कल्पनया तस्य चक्षुस्त्रयं न विद्यत इति कृत्वेति द्रव्येन्द्रियापेक्षया तु सोऽपि न विरुध्यत इति । स्था० ३ ठा० ४ उ० । "ते चक्खुलोगंसि इह णायगा उ, मग्गाणुसासंति हितं पयाणं" ते तीर्थकरगणधरादयोऽतिशयज्ञानिनोऽस्मिन् लोके चक्षुरिव चक्षुर्वर्तन्ते । यथा हि-चक्षुर्योग्यदेशावस्थितान् पदार्थान् परिच्छिनत्ति । एवं तेऽपि लोकस्य यथावस्थितपदार्थाविष्करणं कारयन्ति । यथाऽस्मिन् लोके ते नायकाः प्रधानाः । सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

चक्खुइंदियबल-चक्षुरिन्द्रियबल-न० । चक्षुरिन्द्रियस्य स्वसामर्थ्यग्रहणे, स्था० १० ठा० ।

चक्खुकंत-चक्षुष्कान्त-पुं० । कुण्डलोदसमुद्राधिपतौ देवे, जी० ३ प्रति० ।

चक्खुकंता-चक्षुष्कान्ता-स्त्री० । प्रसेनजितः कुलकरस्य भार्यायाम्, आ० म० प्र० । आ० क० । स० ।

चक्खुदंसण-चक्षुर्दर्शन-न० । चक्षुषा वस्तुसामान्यांशात्मके ग्रहणे, कर्म० ४ कर्म० । दर्शनभेदे, पं० सं० १ द्वार० । स्था० । चक्षुरिन्द्रियप्रीत्यर्थं दर्शनप्रतिज्ञायाम्, नि० चू० १२ उ० ।

चक्खुदंसणवडिया-चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञा-स्त्री० । चक्षुषा संदृष्टुं प्रतिज्ञायाम् , (आचा०) ।

चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया न गच्छेत्--

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा अह वेगयाइं रूवाइं पासइ । तं जहा-गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघाइमाणि वा कट्ठकम्माणि वा पोत्थकम्माणि वा चित्तकम्माणि वा मणिकम्माणि वा दंतकम्माणि वा मालकम्माणि वा पत्तच्छेज्जकम्माणि वा विविधाणि वा वेढिमाइं अण्णयराइं तहप्पगाराइं विरूवरूवाइं चक्खुदंसणपडियाए णो अभिसंधारेज्ज गमणाए एवं णेयव्वं जहा सद्दपडियाए सव्वा वाइत्तवज्जा रूवपडिया वि पंचमयं सत्तिक्कयं ।

" से " इत्यादि । स भावभिक्षुः क्वचित्पर्यटन्नथैकानि कानि

विधानाविधानि रूपाणि पश्यति । तद्यथा-ग्रथितानि ग्रथितपुष्पादिनिर्वर्तितस्वस्तिकादीनि, वेष्टिमानि वस्त्रादिनिर्वर्तितपुत्तलिकादीनि, (पूरिमाणि त्ति) यान्यन्तः पूरणादाकृतीनि भवन्ति, सङ्घातिमानि चोलकादीनि, काष्ठकर्माणि रथादीनि, पुस्तकर्माणि लेप्यकर्माणि, चित्रकर्माणि प्रतीतानि, मणिकर्माणि विचित्रमणिनिष्पादितस्वस्तिकादीनि, दन्तकर्माणि दन्तपुत्तलिकादीनि, तथा पत्रच्छेद्यकर्माणीत्येवमादीनि विरूपरूपाणि चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेद्गमनाय एतानि द्रष्टुं गमने मनो न विदध्यादित्यर्थः। एवं शब्दसप्तैकसूत्राणि चतुर्विधातोद्यरहितानि सर्वाण्यपीहायोज्यानि केवलं रूपप्रतिज्ञयेत्येवमभिलापो योज्यः, दोषाश्चात्र प्राग्वत्समायोज्या इति । आचा० २ चू० ।

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुदियाणं मुद्धाभिसित्ताणं अइगच्छमाणाण वा णिग्गच्छमाणाण वा पयमवि चक्खुदंसणवमियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारेंतं वा साइज्जइ ॥८॥

अतियानं प्रवेशः बहिर्निर्गमो निर्यानं चक्खुदंसणेण द्रष्टुं प्रतिज्ञा । अथवा-चक्षुषोर्दर्शयामीति प्रतिज्ञा एगपदं पिच्छति तस्स आणादिया दोसा ॥

जे भिक्खू रातिणा, णिग्गच्छंताण अह वितिन्ताणा ।
चक्खुपमियाए पदमवि, अभिधारे आणमादीणि ॥४४॥

अतिति प्रवसंति एगमवि पदं अभिधारेंतो आणादि दोसे-पावति ॥

संकप्पुट्ठियपदभि-दणे य दिट्ठेसु चेव सोहीओ ।
लहुओ गुरुओ मासो, चतु लहुगा चेव गुरुगा य ॥४५॥
मणउट्ठियपदभेदे, य दंसणे मासमादि चतु गुरुगा ।
लहुओ लहुया गुरुगा, दंसणवज्जेसु व पदेसु ॥ ४६ ॥
पमिपोग्गले अपमिपो-ग्गले य गमणं णियत्तणं वा वि ।
विजए पराजए वा, पडिसेहं वा वि वोच्छेदं ॥ ४७ ॥

रायाणं पासामित्ति मणसा चिंतेइ मासलहुं उट्ठिते मासगुरुं पदभेदे चउलहुं दिट्ठे चउगुरुं । अहवा-चिंतियादेसेण मणसा चिंतेति मासगुरुं उट्ठिते चउलहुं । पदभेदे चउगुरुं एगपदभेदे वि चउगुरुगा किमंग ! पुण दिट्ठे आणादिविराहणा भद्दपंता दोसा य जो भद्दतो सो य, जो भद्दतो सो। पडिपोग्गलोत्ति साधु दट्ठुं धुवा सिद्धिः अत्थिउकामो वि गच्छइ ताहे अधिकरणं भवति । जं च सो जुद्धादि करेस्सति । जति से जयो ताहे णिच्चमेव संजए पुरतो गच्छ । अपडिपोग्गलोत्ति इमेहिं सुत्तसिरेहिं विदिट्ठेहिं कुतो मे सिद्धी गंतुकामो णियत्तस्सति । अह कहं वि गतो पराजिओ ताहे पच्छागतो पदूसति पउट्ठो य जं काहिति भत्तो य करपज्जयंताण य पडिसेहं करेज्ज उवकरणवोच्छेदं वा करेज्ज अह परेत्यर्थः ।

अहवा इमे दोसा हवेज्ज-

दट्ठूण य रायत्थिं, परीसहपराति तत्थ केयं तु ।
आसंसं वा कुज्जा, पडिगमणादीणि व पदाणि ॥

जं काहिति भत्तो आसंसं णिदाणं कुज्जा । अह वा-तस्समीवे अलंकियविभूसियाओ इत्थीओ दट्ठुं पडिगमणं अण्णतित्थिणी सिरूवुरिंग संजती वा पडिसेवति हत्थकम्मं वा करेति । अहवा-कोइ ईसरपुत्तो कुमारो पव्वइतो सो तं रायाणं थीपरिवुडं दट्ठूणं चिंतेइ अहं जोइयं अम्हेहि परिसीणं णाणुभूतं ताहे पडिगच्छेज्जा भवे कारणं ।

वितियपदमणप्पज्झे, जाणंतो वा वि पुणो अप्पज्झे ।
गच्छंतो वा वि पुणो, कुलगणसंघातिकज्जेसु ॥ ४८ ॥

कुलादि वा कज्जे जइ राया पधावितो ताहे ण अच्छियंति मग्गतो गच्छति एवं पडियरिऊण जति ते पडिपुग्गलादयो दोसा ण भवंति तो जहिं ठिओ तहिं अच्छियंति ।

जे भिक्खू रण्णो खत्तियाणं मुद्धियाणं मुद्धाभिसित्ताणं इत्थीओ सव्वालंकारविभूसियाओ पयमवि चक्खुदंसणवमियाए अभिसंधारेइ गच्छइ गच्छंतं वा साइज्जइ ॥ ९ ॥

जे भिक्खू इत्थियाए, सव्वालंकारभूसियाए उ ।
चक्खुवमियाएँ पयमवि, अभिधारे आणमादीणि ॥५०॥
के इत्थ भुत्तभोगी, अभुत्तभोगी य केइ निक्खंता ।
रमणिज्जलोइयंतिय, अम्हे एयारिसं आसि ॥ ५१ ॥

पूर्ववत् "के इत्थ त्ति" । भुत्तभोगिणो सति विभवे णिक्खंता पुणो संभरंता वयंति ।

पडिगमण अण्णतित्थिय, सिद्धी संजति सलिंगहत्थे य ।
वेहाणस ओहाणे, एमेव अभुत्तभोगी वि ॥ ५२ ॥

पूर्ववत् । अभुत्तभोगी वि कप्पणकोहो उ पडिगमणादी पदे करेज्ज ।

किं चान्यत्--

रीयाति अणुवयोगी, इच्छी णाती सुहीणपवियत्तं ।
अजितिंदियउड्डाहो, आवडणे भेदवहणं च ॥ ५३ ॥

अणिरिक्खंतो रीयाए अणुवउत्तो भवति इत्थीए जे सयणा सयणायणो जे सुहिणो तेसिं अवियत्तं भवति । जहा से अणुरत्ता दिट्ठी लक्खिज्जति । तहा से अंतगओ विभावेण णज्जति अजिइंदिओ एवं उड्डाहं निरक्खंतो खाणगादिसु आवडेज्ज भायणं वा भिंदेज्ज सयं वा पडेज्ज हत्थं पादं वा लूसेज्ज आयविराहणा ।

वितियपदमणप्पज्झे, अभिधारविकोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, मोहतिगिच्छा तु कज्जेसु ॥ ५४ ॥

मोहतिगिच्छाए वसभेहिं समं अप्पसारिए ठितो णिरिक्खति साइमविधिमतिक्कंतो पासति ।

णिव्वीतिमायतीए, दिट्ठीकीवो असारिए पेहे ।
अट्ठाणाणि व गच्छति, संबाहणमादि गच्छंति ॥ ५५ ॥

णिव्वितियादियं जाहे अतीतो ताहे अप्पसारिए दिट्ठितो दिट्ठीए कीवो पासति । जइ से पोग्गलपरिसामो जीओ तो अहं अणुवसमंतेहिं सावात्रिए वा दच्छंति अट्ठाणं गच्छेज्ज तत्थ पदभेदे वि णत्थि पच्छित्तं । नि० चू० ६ उ० ।

जे भिक्खू वप्पाणि वा वराणि वा वावीणि वा पोक्खराणि वा पोक्खरीणि वा दीहाणि वा गुंजालियाणि वा सरा-

णि वा सरपंतियाणि वा सरसरपंतियाणि वा चक्खूदंसणपमियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ।

वप्पाई ठाणा खलु, जेत्तियमेत्ता य आहिया सुत्ते ।
चक्खूपडियाइठाणी, अभिवरितम्मि आणादी ॥१४३॥

वप्पो केदारो, परिहा खातिया णगरादिसु पगारो रत्तदुवारादिसु तोरणा, णगरदुवारादिसु अभाञ्चा तस्सेव पासगोरहसंठितो पासातो पव्वयसंठियं । उवरुवरिभूमियाहिं उव्वट्टमाणं कूडागारं कुंडेवागारं पव्वते कुट्टितमित्यर्थः । भूमिगिहं भूमिघरं रुक्खोवियगिहागारो रुक्खगिहं रुक्खो वा घरं कडं, पव्वतः प्रसिद्धः मगंवो वियरू स्तम्भः प्रसिद्धः पडिमागिहं चेतियं लोहारकुट्टी । आवेसणं लोगसमवायठाणं आयतणं देवकुलप्रसिद्धं सद्भयः स्थानं सभा गिम्हादिसु उदगपदाणं य वा जत्थ पंरू अच्छति तं पाणियगिहं जत्थ विक्काइ सा साला । अहवा-सकुड्डिगं गिहं अकुड्डा साला एवं जाणसालाओ वि जणो सेविगादि जत्थ णिक्खिता छुहा प्रसिद्धा एवं मज्झो पव्वगो वि मज्झसारिच्छो इंगाला जत्थ डज्झेति कच्छा जत्थ फट्टंति घडिजंति वा सयसयाणं सुसाणं गिरिगुहा कंदरं भसिवसमणठाणं सती सेलो पव्वतो गोसादिट्ठाणं भवणागारं वणरायमंमियं जवणं तं चेव वणविवज्जियं गिहं चक्षुरिन्द्रियप्रीत्यर्थं दर्शनप्रतिज्ञया गच्छन्ति ।

तत्थ गच्छंतस्स संजमविराहणा दिट्ठे य रागदोसादयो इमे दोसा-

कम्मपसत्थऽपसत्थे, रागं दोसं च कारए कुज्जा ।
सुकयं सुअज्जियं ति य, सुट्ठु वि विणओइयं दव्वं ॥१४४॥

कारको सिप्पी तेण सुपसत्थे कते रागं करेति अप्पसत्थे दोसं । अह वा भणंति-देवकुलादिसु कयं एत्थ अणुमती । अहवा-जेण कारवियं तं भणति सुट्ठु अज्जियं तेण दव्वं सुट्ठाणे वा णिवसं एवं अणुमती मित्थं तूववूहा ।

चक्केहि य सत्थेहि य, परलोयगता वि तेसु णज्जंति ।
निउणाऽनिउणत्त कई, कम्माण व कारगा सिप्पी ॥१४५॥

णिउणाण णिउणत्तं कम्मेण चक्केहिं णज्जति सिप्पियाणं सत्थेहिं णज्जइ विण्णछत्तुं दट्ठुं भणति ।

दुस्सिक्खियस्स कम्मं, धणियं अपरिक्खिओ य सो आसि ।
जेण सुहाविणियत्तं, सुनीयमिव ऊसरे मोत्ता ॥१४६॥

कारगे वा धम्माधम्मे सिप्पिसुए वा अपरिक्खगो आसि कहं अपरिक्खितो आसि ।

पच्छद्धं जणाति अंतरागयस्स वा इमे दोसा-

दुविहा तिविहा य तसा, भीया वा ऊसरणाणि कंखेज्जा ।
नोल्लतगं य अवधं, अंतराइयं च जं वधं ॥१४७॥

दुविधा-जलचरा थलचरा य । तिविहा जलथलखहचारिणो य ते भीता दुच्चियडयं देज्जा जलयरस्स जलं सरणं विलं डोगरं वा थलचरस्स खहचरस्स आगासं कंखेज्जा अभिलाससरणं वा मच्छतेत्यर्थः । तं वा साधुं अन्नं वा णोल्लेज्जा, तेसिं वा चरंताणं अंतराइयं करेति जं वणंति ते णस्स ता जं काहिंति ।

इयाणिं अववादो—

वितियपदमणप्पज्झे, अहिवरे अकोविते व अप्पज्झे ।
जाणंते वा वि पुणो, कज्जेसु बहुप्पगारेसु ॥१४८॥

कंठा ।

"कज्जेसु बहुप्पगारेसु त्ति" अस्य व्याख्या-

तत्थ गतो होज्ज पहू-ण विणा तेण वि य सज्जा ।
तं कज्जं संभम पडि-णीय भए उमसु गेलसे ॥१४९॥

पभू रायादि कुलगणसंघकज्जं अग्गिमादिसंभमे पमिणीयभया वा गच्छंति ओसन्नांति साधूणं तत्थ गमणं अविरुद्धं आइच्छंति साधवो तत्थेव आवासेंति गिलाणस्स वा पच्छा भायणादिणिमित्तं गच्छति ।

तत्थिमा जयणा—

तेसुं दिट्ठिपवंधं जो, गयं वा पमिसाहरे ।
परस्साणुवरोहेणं, देहं तो दो वि वज्जए ॥ १५० ॥

पधाणप्पधाणेसु दिट्ठिं ण बंधति सहसा वा गयदिट्ठिं पमिसाहरति । रायादि अणुयम्मि उज्जोयंतो दो वि रागदोसे वज्जेइ ।

जे भिक्खू कच्छाणि वा, गहणाणि वा णूमाणि वा वणाणि वा वणविदुग्गाणि वा पव्वयाणि वा पव्वयविदुग्गाणि वा चक्खूदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥

कच्छादी ठाणा खलु, जेत्ति य मेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
चक्खुपडियाए तेसुं, दोसा ते तं च वितियपदं ॥१५१॥

चक्खुदंसणपडियाए गच्छंतो चतुलहुं कच्छमादी कच्छा इक्खुवीयं णूमं भिन्नं एगजातीय अणेगजाईय रुक्खाउलं गहणविदुग्गं एगो पव्वतो बहुएहिं पव्वतेहिं विदुग्गं कूवो अगमो तडागदहा णदी पसिद्धा समवृत्ता वापी चातुरस्सा पुक्खरिणी पताव चेव दीहहियाओ दीहिया सारणी वा विपुक्खरणीओ वा मंडलिसंठियाओ अन्नोन्नकवाडसंजुत्ताओ गुंजालिया भन्नंति अन्ने भणंति णिक्का अणेगभेदगता गुंजालिया सप्पगती वा एगं महाप्रमाणं सरं ताणि चेव हूणियं ति ठियाणि पत्तेयं वा जुत्ताणि सरपंती ताणि चेव बहूणि अन्नोन्नकवाडसंजुत्ताणि सरसरपंती तेसु गच्छंतस्स ते चेव दोसा तं चेव होति वितियपदं ।

जे भिक्खू गामाणि वा णगराणि वा खेमाणि वा कव्वडाणि वा मडंबाणि वा दोणमुहाणि वा पट्टणाणि वा आगराणि वा संवाहाणि वा संनिवेसाणि वा चक्खूदंसणवमियाए अभिसंधारेइ अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

गामादी ठाणा खलु, जत्तियमेत्ता उ आहिया सुत्ते ।
चक्खुपमियाए तेसुं, दोसा ते तं वितियपदं ॥१५२॥

गच्छंतस्स दप्पे चतुलहुं करादियाण गम्मो गामो, ण करो जत्थ तं णकरं खेडं णाम धूलिपागारपरिक्खित्तं कुणगरो कब्बडं जोयणब्भन्तरे जस्स गामादि णत्थि तं मडंबादी जलथलादि आगारोपलक्खणं दुविहं जलेण जस्स भंडमागच्छति इतरं थलपट्टणं थलेण जस्स भंडमागच्छति इतरं थलपट्टणं दोण्णि मुहा जस्स तं दोणिमुहं जलेण वि थलेण वि भंडमागच्छति । आसमं णाम तावसमादीणं सत्था वासणत्था-

णं सण्णिवेसं, गामो वा पिंडितो संनिविट्ठो, अत्थागतो वा लोगो संनिविट्ठो तं सण्णिवेसं जणति, अण्णत्थ किसिं करेत्ता अन्नत्थ वोढुं वसंति, तं संवासं भण्णति । घोसं गोउलं, वणियवग्गो जत्थ वसति तं णेगमं, अंसिया गामततियभागादि भंडग्गा धणा जत्थ भिज्जंति तं पुडभेयं, जत्थ राया वसति सा रायहाणी ।

जे भिक्खू गाममहाणि वा० जाव सन्निवेसमहाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २३ ॥ जे भिक्खू गामवहाणि वा० जाव सन्निवेसवहाणि वा चक्खुदंसणपडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २४ ॥

जे भिक्खू गामपहाणि वा० जाव सन्निवेसपहाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभि० जाव साइज्जइ ॥ २५ ॥ जे भिक्खू गामदाहाणि वा० जाव सन्निवेसदाहाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २६ ॥

गामस्स पहो गाममार्ग इत्यर्थः ।

जे भिक्खू आसकरणाणि वा हत्थिकरणाणि वा० जाव सूकरकरणाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २७ ॥ जे भिक्खू आघायाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २८ ॥

आससिक्खावणं आसकरणं, एवं सेसाणि वि ।

जे भिक्खू आसजुद्धाणि वा० जाव सूकरजुद्धाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ २९ ॥

हयोऽश्वः तेषां परस्परतो युद्धम, एवमन्येषामपि, गजादयः प्रसिद्धाः, शरीरेण विमध्यमः करटः रक्तपादपः वट्टकः सिखी धूम्रवर्णः लावकः आडिमादि प्रसिद्धा अट्टियपच्छाडियादिकरणेहिं जुद्धं, सव्वसंधिविक्खोवणं णिजुद्धं, पुव्वं जुद्धेण जुज्झिओ पच्छा संधी विक्खोभिज्जति जत्थ तं जुद्धं णिजुद्धं ।

जे भिक्खू गाउजुहियट्ठाणाणि वा हयजुहियट्ठाणाणि वा गयजुहियट्ठाणाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३० ॥

उज्जूहिं गावा गावीओ उज्जूहित्ताओ अरुवी जुत्ती उज्जूहिकंति, अहवा गोसंखडी उज्जूहिगा भन्नति, गावीणं णिव्वेढणा परिभाविणिज्झाहिगा वधूवरपरियारंति मिथुजुहियवम्मिअणुरूपाहिं हएहिं बलदरिसणा हयाणीयं, गएहिं बलदरिसणा गयाणीयं, रहेहिं बलदरिसणा रहाणीयं, पाइक्कबलदरिसणा पायत्ताणीयं, चउसमवायो य अणियदरिसणं चोरादि वा वज्झं णीणिज्जमाणं पेहाए ।

जे भिक्खू अभिसेयट्ठाणाणि वा अक्खाइयट्ठाणाणि वा माणुम्माणियट्ठाणाणि वा पमाणियट्ठाणाणि वा महया हयणट्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियमुइंगपवाइयट्ठाणाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३१ ॥ जे भिक्खू डिंबाणि वा डमराणि वा खाराणि वा वेराणि वा महासंगामाणि वा कलहाणि वा बोलाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३२ ॥

अक्खाणगादि आघादियं एगस्स वज्झमाणं अन्नेण अणुमीयत इति, माणुम्माणियं जहा धन्न कंबलसबला अथवा माणपोतयो माणुम्माणियं विज्ञादिएहिं रुक्खादीण भिज्जंतीति णेमं, अथवा-णम्मं वट्टं सिक्खावज्जंतस्स अंगाणि णामिज्जंति गहितकट्ठा । अथवा-वत्थपुप्फचंमादि वा कप्पं रुक्खादिभंगो दव्वविभागे य कलहो वाहिगो जहा सिप्रवीणं रायादीणं जुग्गाहो, पासतादी जूया सभादिसु अणेगविहा जणवया ।

जे भिक्खू कट्ठकम्माणि वा चित्तकम्माणि वा पोत्थकम्माणि वा लेप्पकम्माणि वा मणिकम्माणि वा सेलकम्माणि वा गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संघायमाणि वा वेहमाणि वा विविहमाणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३३ ॥

कट्ठकम्मं कोट्टिमादि पुस्तकेषु च वत्थे वा पोत्थं, चित्तलेपा प्रसिद्धा, पूयादिसु पुप्फमालादिसु गंठिमं, जहा आणंदपुरे पुप्फपूरगादि वेढिमं प्रतिमापूरिमं सकंचुकादिसु कट्ठसंबंधीसु वा, संघाइमं महदाख्यानं वा महता हतं, अहवा-महता शब्देन वादित्रमाहतं, वाइता तंती, अन्यद्वा किंचित्, हत्थतालणं तालो, कडं वादित्रसमुदायो, त्रुटिः अस्स मुतिंगस्स घणं सहसारिच्छो सद्दो सो घणमुइंगो पडुणा सद्देण वाहतो सर्वएवेन्द्रियार्थः चक्षुः ।

जे भिक्खू विरूवरूवेसु महुस्सवेसु इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थिराणि वा मज्झिमाणि वा डहराणि वा अणलंकियाणि वा सुअलंकियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा णच्चंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा मोहंताणि वा विपुलं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परिभुंजंताणि वा चक्खुदंसणवडियाए अभिसंधारेइ, अभिसंधारंतं वा साइज्जइ ॥ ३४ ॥

आसयंते सत्थाणि अच्छंति । अहवा-आम्नायंति भुञ्जन्तीत्यर्थः । रममाणा गेंदुगादिसु रमंते मज्जपानअंदोलगादिसु ललंतो जलमध्ये क्रीडा नट्टनृत्तादिसु कंदणी मोहनोद्भवकारिका क्रिया मोहणा, सेवणंता सेसपदा प्रथप्रसिद्धाः । जे भिक्खू विरूवरूवाणि वा इत्यादि । अणेगरूवा विरूवरूवा महता महामहा जत्थ महेवहराया जहा भंसुरुलाए, अहवा-जत्थ महे बहू राया मिलंति, जहा सरक्खसो बहुरयो जन्नति तालायरबहुला बहुणमाला गत्तपुज्जेण गंभभगा य बहुराया अव्वत्तभासिणो, बहुगा जत्थ महे मिलंति सो बहुमिलक्खुमहो, ते य मिलक्खु दमिमादी ।

जे भिक्खू इहलोएसु वा रूवेसु दिट्ठेसु वा रूवेसु सुएसु वा रूवेसु असुएसु वा रूवेसु विण्णाएसु वा रूवेसु अविण्णाएसु वा रूवेसु सज्जइ रज्जइ गिज्झइ अज्झोववज्जइ, सज्जमाणं वा रज्जमाणं वा गिज्झमाणं वा अज्झोववज्जमाणं वा साइज्जइ ॥ ३५ ॥

इहलोइया मणुस्सा, परलोइया हयगयादी पुव्वं पच्चक्खं दिट्ठा अदिट्ठा देवादी मणुस्सा जे अणिट्ठा सद्दाणादी पदा एगट्ठिया । अहवा-आसेवणाभावे सज्जणता मणसा पीती गमणं रज्जणता सदोसुवलद्धे वि अविरमो गेधी अगमगमणासेवणा वि अज्झुववातो । नि० चू० १२ उ० ।

चक्खुदंसणावरण-चक्षुर्दर्शनावरण-न० । ६ त० । दर्शनावरणकर्मभेदे, यदुदयात् जीवानां चक्षुर्दर्शनं सामान्यग्राही बोधः (स्था० ६ ठा०) न भवति । स० ६ सम० ।

चक्खूदिट्ठि अचक्खू , सेसिंदिय ओहिकेवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं, तस्सावरणं तयं चउहा ॥ १० ॥

इह चक्षुर्दर्शनं नाम चक्षुषा रूपसामान्यग्रहणं तस्यावरणं चक्षुर्दर्शनावरणं, चक्षुःसामान्योपयोगावरणमिति यावत् (कर्म०) अत्र च चक्षुर्दर्शनावरणोदय एकद्वित्रीन्द्रियाणां मूलत एव चक्षुर्न भवति, चतुरिन्द्रियपञ्चेन्द्रियाणां तु भूतमपि चक्षुस्तथाविधे तदुदये विनश्यति, तिमिरादिना वाऽस्पष्टं भवति ॥ कर्म० १ कर्म० ।

चक्खुदय-चक्षुर्दय-पुं० । चक्षुरिव चक्षुः श्रुतज्ञानं, शुभाशुभार्थविभागकारित्वात्, तत् दयते इति चक्षुर्दयः । स० । चक्षुरिव चक्षुः विशिष्टः आत्मधर्मस्तत्त्वावबोधनिबन्धनश्रद्धास्वभावः , श्रद्धाविहीनस्याऽचक्षुष्मत इव रूपतत्त्वदर्शनायोगात्, कल्याणचक्षुषीव भवति वस्तुतत्त्वदर्शनं तद्दीयं धर्मकल्पद्रुमस्यावन्ध्यबीजभूतेभ्यो भगवद्भ्य एव । ध० २ अधि० । तद्ददतीति चक्षुर्दाः । रा० । न च मार्गानुसारिणी श्रद्धा सुखेनावाप्यते । चक्षुःसमानश्रुतज्ञानदायकेषु तीर्थकृत्सु , कल्प० १ क्षण ।

चक्खुपडिलेहा-चक्षुःप्रतिलेखा-स्त्री० । चक्षुषाऽवलोकने, नि० चू० १ उ० ।

चक्खुपह-चक्षुष्पथ-पुं० । लोचनमार्गे, सूत्र० १ श्रु० २ अ० ।

चक्खुपहट्ठिय-चक्षुष्पथस्थित-पुं० । लोकानां लोचनमार्गे भवस्थकेवल्यवस्थायां स्थिते लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावेन चक्षुर्भूते, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

चक्खुपम्हनिवाय-चक्षुःपक्ष्मनिपात-पुं० । उन्मेषनिमेषमात्रक्रियायाम् , भ० १ श० ३ उ० ।

चक्खुफास-चक्षुःस्पर्श-पुं० । चक्षुषोः दृष्टेः स्पर्श इव स्पर्शो, न तु स्पर्श एव, चक्षुषोरप्राप्यकारित्वात् इति चक्षुःस्पर्शः । भ० १ श० ६ उ० । दर्शने, औ० । दृष्टिगोचरे, उत्त० १ अ० ।

चक्खुविक्खेव-चक्षुर्विक्षेप-पुं० । चक्षुर्भ्रमे, भ० ३ श० २ उ० ।

चक्खुभीय-चक्षुर्भीत-त्रि० । चक्षुःशब्दोऽत्र दर्शनपर्यायः । दर्शनादेव भीते, आचा० १ श्रु० ८ अ० ५ उ० ।

चक्खुमंत-चक्षुष्मत्-पुं० । स्वनामख्यातेऽवसर्पिण्यां जाते द्वितीये कुलकरे, आ० म० प्र० । आ० क० । स० । जं० । स्था० । आ० चू० । लोचनयुक्ते, त्रि० । विशे० । ('कुलगर' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ५९३ पृष्ठेऽस्य वक्तव्यतोक्ता)

चक्खुम्मेल-चक्षुर्मेल-पुं० । एकस्य चक्षुष उन्मीलनेऽपरस्य निमीलने, व्य० १ उ० ।

चक्खुय-चाक्षुष-पुं० । चक्षुःस्पर्शे दृष्टिगोचरे घटेन्द्रियाणादौ, आ० म० द्वि० ।

चक्खुलोल-चक्षुर्लोल-पुं० । चक्षुषा लोलश्चञ्चलः , चक्षुर्वा लोलं यस्य स तथा । स्तूपादीनालोकयित्वा व्रजति, स्था० ४ ठा० ४ उ० । " चक्खुलोलए इरियावहियाए पालिमंथू " बृ० ६ उ० ।

अथ चक्षुर्लोलमाह-

आलोयणा य कहणा, परियट्टऽणुपेहणा अणाभोए ।
लहुगो य होंति मासो, आणादि विराहणा दुविहा ॥

स्तूपादीनां लोकनां कुर्वाणः, कथनां धर्मकथां, परिवर्तनां प्रेक्षां च कुर्वन् यद्यनाभोगेनानुपयुक्तो मार्गे व्रजति तदा लघुमासः, आज्ञादयश्च दोषाः, द्विविधा विराधना भवेत् ।

इदमेव भावयति-

आलोएंतो वच्चति, थूभादीणि व कहेति वा धम्मं ।
परियट्टणाणुपेहण, न यावि पंथं ति उवउत्तो ॥

स्तूपादीनि आलोकमानो , धर्मं वा कथयन् , परिवर्तनानुप्रेक्षां वा कुर्वाणो व्रजति । यद्वा-सामान्येन न च नैवोपयुक्तः पथि व्रजति , एष चक्षुर्लोल उच्यते ।

अस्यैते दोषाः-

छक्कायाण विराहण, संजमे आयाएँ कंटगादीया ।
आवडणे भाणभेदो, खद्धे उड्डाह परिहाणी ॥

अनुपयुक्तस्य गच्छतः संयमे षट्कायानां विराधना भवेत् , आत्मविराधनायां कण्टकादयः पादयोर्लगेयुः , विषमे वा प्रदेशे आपतनं भवेत्, तत्र भाजनभेदः । 'खद्धे च' प्रचुरे भक्तपाने भूमौ छर्दिते उड्डाहो भवेत्-अहो बहुभक्षका अमी इति । भाजने च भिन्ने परिहाणिः सूत्रार्थपरिमन्थो भाजनान्तरगवेषणे, तत्परिकर्मणायां च भवेति । गतश्चक्षुर्लोलः । बृ० ६ उ० ।

चक्खुल्लोयणलेस्स-चक्षुर्लोकनलेश्य-त्रि० । चक्षुःकर्तृकलोक(च)ने, अवलोकने लेश्यति च दर्शनीयत्वातिशयतः श्लिष्यतो वा यत्र तत्तथा । जी० ३ प्रति० । चक्षुःकर्तृकलोकने श्लिष्यतीव दर्शनीयत्वातिशयात् श्लेष्यतीव यत्र तत्तथा । तथाविधे सुरूपे, येन तत्पश्यच्चक्षुर्न विश्लिष्यति । रा० ।

चक्खुविच्चिहय-चक्षुर्विचिहत-त्रि० । दृष्टयाऽपरिचिते, व्य० ८ उ० ।

चक्खुस्सव-चक्षुःश्रवस्-पुं० । भुजङ्गे, स हि चक्षुषैव शृणोति । (सम्म०) श्रूयत एव चक्षुषा शब्दश्रवणं प्राणिविशेषाणाम् , "चक्षुःश्रवसो भुजङ्गाः" इति लोकप्रवादात् । मिथ्या स प्रवाद इति चेत्, नैतत् ,प्रवादबाधकस्याभावात्,कर्णच्छिद्रानुपलब्धेश्च । न च दन्दशूकचक्षुषोः आत्मन्तरत्वादिस्पृष्टरमशोपयोगि, मन्य-

अपि प्रकृष्टपुण्यसंभारजनितसर्वविश्वकुपि समानत्वात् । सम्म० १ काण्ड।

चक्खुहर–चक्षुर्ह(ध)र–त्रि०। दृष्ट्याक्षेपकत्वात्, अथवा प्रह्लादनीयाङ्गदर्शनात् चक्षुर्हरति धरति वा निर्वर्तयति यधूनत्वात्तथा। तथाविधेऽतिशीघ्रेऽजितये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

चच्चर–चत्वर–न०। "कृत्तिचत्वरे चः"।८।२।१२। इति तकारस्य चकारादेशः। प्रा० २ पाद। अनेकरथ्यासङ्गमस्थाने, कल्प० ४ क्षण। औ०। रा०। भ०। जं०। विपा०। प्रश्न०। स्था०। रथ्याष्टकमध्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। त्रिपथभेदिस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। औ०। "जणहं रत्थाण जहिं, पवहो तं चच्चरं विंति।" यत्र बहूनां रथ्यानां प्रवहो निर्गमस्तं चत्वरं ब्रुवते तीर्थकरगणधराः। बृ० १ उ०।

चर्जर–त्रि०। "चूलिकापैशाचिके तृतीय-तुर्ययोराद्य-द्वितीयौ"।८।४।३२५। इति तृतीयस्य स्थाने प्रथमः। जीर्णे, प्रा० ४ पाद।

चच्चरी–चर्चरी–स्त्री०। चर्च-अरन्। गौरा० ङीष्। गीतिभेदे, कुटिलकेशे, हर्षक्रीडायाम्, साटोपवाक्ये, छन्दोभेदे, वाच०। करध्वनौ, "रासे चच्चरीओ य" आव० १ अ०।

चच्चसा–चर्चसा–स्त्री०। वाद्यभेदे, "अट्ठसयं चच्चसाणं अट्ठसयं चच्चसावायगाणं"। रा०।

चच्चिक–न०। स्थासक–पुं०। "गोणाऽऽदयः"।८।२।१७४। इति स्थासक इत्यस्य 'चच्चिक' आदेशः। चाकचिक्ये, मिलये, च। प्र० ढुं० २ पाद।

चच्चुप्प–अर्प्पि–धा०। अर्पि-णिच्। समर्पणे, "अर्पेरल्लिवचच्चुप्प-पणामाः"॥८।४।३९॥ इत्यर्पेर्ण्यन्तस्य चच्चुप्पादेशः। 'चच्चुप्पइ' अर्पयति। प्रा० ४ पाद।

चच्छ–तक्ष्–धा०। तनूकरणे, (चाँछना) "तक्षेस्तच्छचच्छरम्परम्फाः"॥८।४।१९४॥ इति तक्षेः 'चच्छ' आदेशः। 'चच्छइ' तक्ष्णोति। संतनूकरोतीत्यर्थः। प्रा० ४ पाद।

चज्ज–दृश्–धा०। "दृशो निअच्छपेच्छावयच्छावयज्झवज्जसव्वदेक्खौअक्खावक्खावअक्खपुलोपपुलपनिअावआसपासाः"॥८।४।१८१॥ इति सूत्रेण दृशेश्चज्जादेशः। 'चज्जइ' पश्यति। प्रा० ४ पाद।

चट्टसाला–चट्टशाला–स्त्री०। ब्रह्मवटूनामध्ययनशालायाम्, बृ० १ उ०।

चड–आरुह्–धा०। "आरुहेश्चडवलग्गौ"।८।४।२०६। इति आङ्पूर्वस्य रुहधातोश्चडादेशः। 'चडइ' आरोहति। प्रा० ४ पाद०।

चडग–चटक–पुं०। कलविङ्के पक्षिविशेषे, (चिरकली) प्रज्ञा० १ पद। सूत्र०। प्रश्न०। आ० म०। कोशकारे, कोशकारभवं सूत्रं चटकसूत्रमिति लोके प्रतीतम्। अनु०। आ० म०।

चडगर–चटकर–पुं०। समुदाये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ०। विस्तरे, भ० ६ श० ३३ उ०। विपा०। आ० म०। विच्छर्दे, "महया भडचडगरविंदपरिक्खित्तं"। ज्ञा० १ श्रु० १ अ०।

चडगरत्तण–चटकरत्व–न०। अतिप्रपञ्चकथने, "महया चडगरत्तणेणं अप्पकहा हुणइ। (२०)" दशा० ३ अ०।

चडवेला–चटवेला–स्त्री०। चपेटायाम्, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

चडुयार–चटुकार–पुं०। मुखमङ्गलकरे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार।

चडुल–चटुल–त्रि०। चट-लच्। चञ्चले, चपले च, विद्युति, स्त्री०। वाच०। सूत्र०।

चडुलजाव–चटुलजाव–त्रि०। चटुलश्च विविधवस्तुषु क्षणे आकाङ्क्षादिप्रवृत्तेर्जीवश्चित्तं यस्य स तथा। विषयासक्तचञ्चलचित्ते, प्रश्न० २ आश्र० द्वार।

चडुलिया–चटुलिका–स्त्री०। पर्यन्तज्वलिततृणपूलिकायाम्, नं०।

चड्ड–पिष्–धा०। चूर्णने, "पिषेर्णिवहणिरिणासणिरिणज्जरोश्चड्डाः"।८।४।१८५। इति पिषेश्चड्डादेशः। 'चड्डइ' पिनष्टि। भुज–धा०। भक्षणे, खादने, "भुजो भुञ्जजिमजेमकम्माण्हसमाणचमढचड्डाः"।८।४।११०। इति भुजेः चड्डादेशः। 'चड्डइ' भुनक्ति। प्रा० ४ पाद। पात्रविशेषे, बृ० १ उ०।

चण–चण–पुं०। चणकधान्ये, जं० ३ वक्ष०।

चणइया–चणकिका–स्त्री०। मसूरधान्ये, स्था० ५ ठा० ३ उ०।

चणग–चणक–पुं०। समासवृत्तफलके सस्यभेदे, तत्फलरूपे धान्यभेदे च। (चना) आ० चू० ६ अ०।

चणगगाम–चणकग्राम–पुं०। गोल्लविषये स्वनामख्याते ग्रामे, यत्र चणिक्विजातमजश्चाणक्यो जज्ञे। आ० म० द्वि०। आ० चू०। आ० क०।

चणगपुर–चणकपुर–न०। चणकक्षेत्रं दृष्ट्वा निवासिते नगरे, यत्क्रमेण राजगृहं नाम नगरं जातम्। आ० क०। आव०। आ० चू०। ती०।

चणि–चणि–पुं०। चाणिक्याख्यस्य चन्द्रगुप्तमहाराजस्य मन्त्रिणो ब्राह्मणस्य पितरि, आ० क०। आ० चू०।

चत्त–चत्र–न०। तर्कौ, ध० २ अधि०। पञ्चा०।

त्यक्त–त्रि०। परिहृते, उत्त० ६ अ०। "त्यक्ते परिग्रहे साधोः, प्रयाति सकलं रजः।" अष्ट० २५ अष्ट०।

चत्तदेह–त्यक्तदेह–त्रि०। त्यक्तो निर्ममत्वेन परिचर्याभावेन अवगणितो देहो यैस्ते त्यक्तदेहाः। उत्त० १२ अ०। व्युत्सृष्टशरीरे, संथा०।

चत्तदोस–त्यक्तदोष–त्रि०। परिहृतरागादौ, ध० ३ अधि०।

चत्तालीस–चत्वारिंशत्–स्त्री०। चतुर्गुणितायां दशसंख्यायाम्, "तीसा चत्तालीसा" प्रज्ञा० २ पद।

चत्वारिंशत्क–त्रि०। चत्वारिंशद्वर्षजाते, "मोग्गायणीसगस्स य, चत्तालीसस्स विण्णाणं।" तं०।

चप्फल–मिथ्यावादिन्–त्रि०। गोणादित्वात्तथादेशः। असत्यभाषिणि, "रे रे चप्फलया!" रे रे मिथ्यावादिन्! "गोणादयः"।८।२।१७४। इति "चप्फल" इत्यादेशः "स्वार्थे कश्च वा"।८।२।१६४। इति कप्रत्ययः। अनेन वा दीर्घः। कगचज०।८।१।१७७। इति कलुक् "अवर्णो०"।८।१।१८०। अया० अता० सलुक्। "चप्फलया रे" प्रा० ढुं० १ पाद।

चमक्किरिया–चमत्क्रिया–स्त्री०। चमत्कारे, अष्ट० १४ अष्ट०।

चमढ–भुज्–धा०। पालनाऽभ्यवहारयोः, "भुजो भुञ्जजि-

मजेमकम्माएहसमाणचमढचड्डाः " । ८ । ४ । ११० । इति भुजधातोश्चमढादेशः । 'चमढइ' भुङ्क्ते । भुनक्ति । प्रा० ४ पाद।

चमढणा--चमढना--स्त्री० । कदर्थनायाम्, उद्वेगे, बृ०१ उ०। श्रो०।

चमढिअ--चमढित--त्रि० । विनाशिते , व्य० २ उ० ।

चमढिज्जंत--चमढायमान--त्रि० । कदर्थ्यमाने, श्रोघ० । उद्वेज्यमाने, बृ० १ उ० ।

चमर--चमर--पुं० । आरण्ये गवि०, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । रा० । जं० । प्रज्ञा० । भ० । औ० । ज्ञा० । सुमतिनाथस्य प्रथमशिष्ये, स० । प्रव० । दाक्षिणात्यानामसुरकुमाराणामिन्द्रे, प्रज्ञा० २ पद । स० ।

अथ चमरस्योपपातवक्तव्यता-

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे णयरे होत्था० जाव परिसा पज्जुवासइ, तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरे असुरिंदे असुरराया चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं० जाव नट्टविहं उवदंसेत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए, भंते त्ति । भ० ३ श० १ उ० ।

असुरकुमाराणां सर्वोऽधिकारः ' असुरकुमार ' शब्दे प्रथमभागे ८४१ पृष्ठे उक्तः)

यावदूर्द्ध्वमुपपातः-

एस वि य णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पइयपुव्वे० जाव सोहम्मे कप्पे ?। हंता गोयमा ! एस वि य णं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पइयपुव्वे० जाव सोहम्मे कप्पे । अहो णं भंते ! चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्ढीए महज्जुतीए० जाव कहिं पविट्ठा कूडागारसाला दिट्ठंतो भाणियव्वो । चमरेणं भंते ! असुरिंदेणं असुररण्णो सा दिव्वा देविड्ढी तं चेव किण्णा लद्धा० ३ ?। एवं खलु गोयमा ! तेणं कालेणं तेणं समएणं इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे विंझगिरिपायमूले वेभेले णामं संनिवेसे होत्था। वण्णओ-तत्थ णं वेभेलसण्णिवेसे पूरणे नामं गाहावई परिवसइ, अड्ढे दित्ते जहा तामलिस्स वत्तव्वया तहा नेयव्वा, णवरं चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहयं करेत्ता० जाव विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं० जाव सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहयं गहाय मुंडे भवित्ता दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइए, पव्वइए वि य णं समाणे तं चेव० जाव आयावणभूमीए पच्चोरुभित्ता सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहयं गहाय वेभेलसण्णिवेसे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडेत्ता जं मे पढमे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं पत्थियपहियाणं दलइत्तए, जं मे दोच्चे पुडए पडइ, कप्पइ मे कागसुणगाणं दलयित्तए, जं मे तच्चे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं मच्छकच्छभाणं दलइत्तए, जं मे चउत्थे पुडए पडइ, कप्पइ मे तं अप्पणा आहारं आहारेत्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता कल्लं पाउप्पभायाए रयणीए तं चेव निरवसेसं चउत्थे पुडए पडइ तं अप्पणा आहारं आहारेइ । तए णं से पूरणे बालतवस्सी तेणं उरालेणं विउलेणं पयत्तेणं पग्गहिएणं बालतवोकम्मेणं तं चेव० जाव वेभेलस्स सण्णिवेसस्स मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता पाउयकुंडियमादीयं उवगरणं चउप्पुडयं च दारुमयं पडिग्गहियं एगंतमंते एडेइ, एडेइत्ता वेभेलस्स सन्निवेसस्स दाहिणपुरच्छिमे दिसी भागे अद्धनियत्तणियं मंडलं आलिहित्ता संलेहणाझूसणाझूसिए भत्तपाणपडियाइक्खिए पाओवगमणं निवन्ने, तेणं कालेणं तेणं समएणं अहं गोयमा ! छउमत्थकालियाए एक्कारसवासपरियाए छट्ठं छट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे पुव्वाणुपुव्विं चरमाणे गामाणुग्गामं दूइज्जमाणे जेणेव सुंसुमारपुरे नगरे जेणेव असोयवणसंडे उज्जाणे जेणेव असोयवरपायवे जेणेव पुढवीसिलावट्टए तेणेव उवागच्छामि, उवागच्छामित्ता असोगवरपायवस्स हेट्ठे पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिण्हामि दो वि पाए साहट्टु वग्घारियपाणी एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठी अणिमिसनयणे ईसिं पब्भारगएणं काएणं अहापणिहिएहिं गत्तेहिं सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता विहरामि । भ० ३ श० २ उ०।

उपपातः-

तेणं कालेणं तेणं समएणं चमरचंचा रायहाणी अणिंदा अपुरोहिया यावि होत्था, तए णं से पूरणे बालतवस्सी बहुपडिपुण्णाइं दुवालसवासाइं परियागं पाउणित्ता मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसेत्ता सट्ठिं भत्ताइं अणसणाए छेदेत्ता कालमासे कालं किच्चा चमरचंचाए रायहाणीए उववायसभाए० जाव इंदत्ताए उववन्ने, तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया अहुणोववन्ने पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गच्छइ । तं जहा-आहारपज्जत्तीए० जाव भासामणपज्जत्तीए तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया पंचविहाए पज्जत्तीए पज्जत्तिभावं गए समाणे उड्ढं वीससाए ओहिणा आभोइए० जाव सोहम्मे कप्पे पासइ य, तत्थ सक्कं देविंदं देवरायं मघवं पागसासणं सयक्कउं सहस्सक्खं वज्जपाणिं पुरंदरं० जाव दसदिसाओ उज्जोवेमाणं पभासेमाणं सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसए विमाणे सभाए सुहम्माए सक्कंसि सीहासणंसि० जाव दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणं पासइ, पासइत्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए चिंतिए पत्थिए मणोगयसंकप्पे समुप्पज्जित्था, केस णं एस अप्पत्थियपत्थए दुरंतपंतलक्खणे हिरिसिरिपरिवज्जिए हीणपुण्णचाउद्दसे जं णं मम इमे एयारूवाए दिव्वाए दे-

विड्डिए० जाव दिव्वे देवाणुभावे लद्धे पत्ते अभिसमन्नागए उप्पिं अप्पुस्सुए दिव्वाइं भोगभोगाइं भुंजमाणे विहरइ, एवं संपेहेइ,संपेहेइत्ता सामाणियपरिसोववएणए देवे सद्दावेइ,सद्दावेइत्ता एवं वयासी-केस णं एस देवाणुप्पिया ! अपत्थियपत्थिए०जाव भुंजमाणे विहरइ ?। तए णं से सामाणियपरिसोववएणगा देवा चमरेणं असुरिंदेणं असुररएणो एवं वुत्ता समाणा हट्ठतुट्ठ० जाव हयहियया करयलपरिग्गहियं दसनहं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेंति, वद्धावेंतित्ता एवं वयासी-एस णं देवाणुप्पिया ! सक्के देविंदे देवराया०जाव विहरइ। भ० ३ श० २ उ०।

ऊर्द्धमुपपातः-

तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तेसिं सामाणियपरिसोववएणगाणं देवाणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते रुट्ठे कुविए चंडिक्किए मिसिमिसेमाणे ते सामाणियपरिसोववएणए देवे एवं वयासी-अन्ने खलु भो ! से सक्के देविंदे देवराया, अन्ने खलु भो ! से चमरे असुरिंदे असुरराया महिड्डिए खलु भो ! से सक्के देविंदे देवराया, अप्पिड्डिए खलु भो ! से चमरे असुरिंदे असुरराया, तं इच्छामि णं देवाणुप्पिया!सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासाइत्तए त्ति कट्टु उसिणे उसिणब्भूए जाए यावि होत्था। तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ओहिं पउंजइ,पउंजइत्ता ममं ओहिणा आभोएइ, आभोएइत्ता इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, एवं खलु समणे भगवं महावीरे जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे सुंसुमारपुरे नगरे असोगवणसंडे उज्जाणे असोगवरपायवस्स अहे पुढविसिलावट्टयंसि अट्ठमभत्तं पगिरिहत्ता एगराइयं महापडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ , तं सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासाइत्तए त्ति कट्टु एवं संपेहेइ, संपेहेइत्ता सयणिज्जाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्ठेइत्ता देवदूसं परिहेइ, परिहेइत्ता जेणेव सभा सुहम्मा जेणेव चोप्पाले पहरणकोसे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता फलिहरयणं परामुसइ, परामुसइत्ता एगे अबीए फलिहरयणमयाए महया अमरिसं वहमाणे चमरचंचाए रायहाणीए मज्झं मज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छइत्ता जेणेव तिगिच्छकूडे उप्पायपव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ,समोहणइत्ता० जाव उत्तरवेउव्वियरूवं विकुव्वइ, ताए उक्किट्ठाए० जाव जेणेव पुढविसिलावट्टए जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ०, जाव नमंसित्ता एवं वयासी-इच्छामि णं भंते ! तुब्भं नीसाए सक्कं देविंदं देवरायं सयमेव अच्चासाइत्तए त्ति कट्टु उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ, अवक्कमइत्ता वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणइत्ता० जाव दोच्चं पि वेउव्वियसमुग्घाएणं समोहणइ, समोहणइत्ता एगं महं घोरं घोरागारं भीमं भीमागारं भासुरं भयाणीयं गंभीरं उत्तासणयं कालड्डरत्तमासरासीसंकासं जोयणसयसाहस्सीयं महाबोंदिं विउव्वइ, विउव्वइत्ता अप्फोडेइ, अप्फोडेइत्ता वग्गइ, वग्गइत्ता गज्जइ,गज्जइत्ता हयहेसियं करेइ, करेइत्ता हत्थिगुलुगुलाइयं करेइ, करेइत्ता रहघणघणाइयं करेइ, करेइत्ता पायदद्दरगं करेइ, करेइत्ता भूमिचवेडं दलयइ,दलयइत्ता सीहनादं नदइ, नदइत्ता उच्छोलेइ,उच्छोलेइत्ता पच्छोलेइ,पच्छोलेइत्ता तिवतिं छिंदइ, तिवतिं छिंदइत्ता वामं भुयं ऊसवेइ, ऊसवेइत्ता दाहिणहत्थपएसिणीए अंगुट्ठनहेण य वि तिरिच्छं मुहं विडंबइ,विडंबइत्ता महया महया सद्देणं कलकलरवं करेइ, करेइत्ता एगे अबिइए फलिहरयणमयाए उड्ढं विहासं उप्पइए खोभंते चेव अहोलोयं कंपेमाणे व मेयणितलं सा कड्ढंते व तिरियलोयं फोडेमाणे व अंबरतलं कत्थइ गज्जइ, कत्थइ विज्जुयायंते, कत्थइ वासं वासेमाणे,कत्थइ रयुग्घायं पकरेमाणे, कत्थइ तमुक्कायं पकरेमाणे, वाणमंतरे देवे वित्तासेमाणे वित्तासेमाणे जोइसिए देवे दुहा विभयमाणे दुहा विभयमाणे आयरक्खदेवे वि पलायमाणे पलायमाणे फलिहरयणं अंबरतलंसि वियट्टमाणे वियट्टमाणे विउब्भाएमाणे विउब्भाएमाणे ताए उक्किट्ठाए० जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणे वीईवयमाणे जेणेव सोहम्मे कप्पे जेणेव सोहम्मवडिंसए विमाणे जेणेव सभा सुहम्मा तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता एगं पायं पउमवरवेइयाए करेइ, एगं पायं सभाए सुहम्माए करेइ, फलिहरयणेणं महया महया सद्देणं तिक्खुत्तो इंदकीलं आउडेइ, आउडेइत्ता एवं वयासी-कहि णं भो ! सक्के देविंदे देवराया,कहि णं ताओ चउरासीइसामाणियसाहस्सीओ० जाव कहि णं ताओ चत्तारि चउरासीओ आयरक्खदेवसाहस्सीओ, कहि णं ताओ अणेगाओ अच्छराकोडीओ, अज्ज हणामि, अज्ज वहेमि,अज्ज महेमि,अज्ज ममं अवसाओ अच्छराओ वसमुवणमंतु त्ति कट्टु तं अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं अमणुन्नं अमणामं फरुसं गिरं निसिरइ। तए णं से सक्के देविंदे देवराया तं अणिट्ठं० जाव अमणामं अस्सुयपुव्वं फरुसं गिरं सोच्चा निसम्म आसुरुत्ते० जाव मिसिमिसेमाणे तिवलियं भिउडिं निलाडे साहट्टु चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वयासी-हं भो ! चमरा असुरिंदा असुरराया अपत्थियपत्थिया०जाव हीणपुण्णचाउद्दसा अज्ज न भवसि नाहि ते सुहमत्थि त्ति कट्टु तत्थेव सीहासणवरगए

वज्जं परामुसइ,परामुसइत्ता तं जलंतं फुडंतं तडतडंतं उक्कासहस्साइं विणिमुयमाणं विणिमुयमाणं जालासहस्साइं मुयमाणं इंगालसयसहस्साइं पविक्खिरमाणं पविक्खिरमाणं फुलिंगजालामालासहस्सेहिं चक्खुविक्खेवदिट्ठिपडिघायं पि पकरेमाणं हुयवहअतिरेगतेयदिप्पंतं जइणवेगं फुल्लकिंसुयसमाणं महब्भयं जयंकरं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जं निसिरइ। तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया तं जलंतं० जाव जयंकरं वज्जमभिमुहं आवयमाणं पासइ,पासइत्ता झियाइ पिहाइ पिहाइ झियाइ झियाइत्ता पिहाइत्ता तहेव संभग्गमउडविडए सालंबहत्थाभरणे उड्ढं पाए अहोसिरे कक्खागयसेयं पि व विणिं मुयमाणे मुयमाणे ताए उक्किट्ठाए० जाव तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं वीईवयमाणे वीईवयमाणे जेणेव जंबुद्दीवे दीवे० जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता भीए भयगग्गरसरे भगवं सरणं मे त्ति वुयमाणे ममं दोण्हं वि पायाणं अंतरंसि झत्ति वेगेणं समोवडिए तए णं तस्स सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो इमेयारूवे अब्भत्थिए० जाव समुप्पज्जित्था, णो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया, णो खलु समत्थे चमरे असुरिंदे असुरराया, नो खलु विसए चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अप्पणो णिस्साए उड्ढं उप्पइत्ता०जाव सोहम्मे कप्पे,णण्णत्थ अरहंते वा अरहंतचेइयाणि वा अणगारे वा भावियप्पाणो णीसाए उड्ढं उप्पयइ० जाव सोहम्मे कप्पे, तं महादुक्खं खलु तहारूवाणं अरहंताणं भगवंताणं अणगाराण य अच्चासायणयाए त्ति कट्टु ओहिं पउंजइ,पउंजइत्ता ममं ओहिणा आभोएइ,आभोएइत्ता हा हा अहो हतो अहमंसि त्ति कट्टु ताए उक्किट्ठाए०जाव दिव्वाए देवगईए वज्जस्स वीहिं अणुगच्छमाणे अणुगच्छमाणे तिरियमसंखेज्जाणं दीवसमुद्दाणं मज्झं मज्झेणं० जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता ममं च णं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरइ, अवि या इमे गोयमा ! मुट्ठिवाएणं केसग्गे वीइत्था, तए णं से सक्के देविंदे देवराया वज्जं पडिसाहरित्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेइ,करेइत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता एवं वयासी-एवं खलु भंते ! अहं तुब्भं नीसाए चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णो सयमेव अच्चासाइए,तए णं मए कुविएणं समाणेणं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो वहाए वज्जे निसिट्ठे, तए णं मे इमेयारूवे अब्भत्थिए०जाव समुप्पज्जेत्था , णो खलु पभू चमरे असुरिंदे असुरराया तहेव०जाव ओहिं प० आभोएमि, देवाणुप्पिए ओहिणा आभोएमि, हा हा० जाव जेणेव देवाणुप्पिए तेणेव उवागच्छामि, देवाणुप्पियाणं चउरंगुलमसंपत्तं वज्जं पडिसाहरामि, वज्जपडिसाहरणट्ठयाए णं इहमागए, इह समोसढे, इह संपत्ते, इहेव अज्ज उवसंपज्जित्ता णं विहरामि, तं खामेमि णं देवाणुप्पिया ! खमंतु मं देवाणुप्पिया ! खंतुमरिहंतु णं देवाणुप्पिया ! नाइ भुज्जो २ एवं करणयाए त्ति कट्टु ममं वंदइ,नमंसइ,नमंसइत्ता उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ अवक्कमइत्ता वामेणं पादेणं तिक्खुत्तो भूमिं दालेइ, चमरं असुरिंदं असुररायं एवं वयासी-मुक्कोसि णं भो ! चमरा असुरिंदा असुरराया समणस्स भगवओ महावीरस्स पभावेणं नाहि ते दाणिं ममाओ भयमत्थि त्ति कट्टु जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए भंते त्ति ! भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ,नमंसइ,नमंसइत्ता एवं वयासी-देवे णं भंते ! महड्ढीए महज्जुइए०जाव महाणुभागे पुव्वामेव पोग्गलं खिवित्ता पभू तमेव अणुपरियट्टित्ता णं गिण्हित्तए?। हंता पभू ! से केणट्ठेणं भंते !० जाव गेण्हित्तए ?। गोयमा ! पोग्गले णं खिवित्ते समाणे पुव्वामेव सिग्घगई भवित्ता तओ पच्छा मंदगई भवइ, देवे णं महिड्ढीए पुव्विं पि पच्छा वि सीहे सीहगई चेव तुरिए तुरियगई चेव, से तेणट्ठेणं०जाव पभू गेण्हित्तए। जइ णं भंते ! देवे महिड्ढीए० जाव अणुपरियट्टित्ता णं गेण्हित्तए,कम्हा णं भंते ! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो खलु संचाएइ साहत्थिं गेण्हित्तए ?। गोयमा ! असुरकुमाराणं देवाणं अहेगइविसए सिग्घे चेव तुरिए चेव, उड्ढं गतिविसए अप्पे अप्पे चेव मंदे मंदे चेव,वेमाणियाणं देवाणं उड्ढं गतिविसए सीहे सीहे चेव तुरिए तुरिए चेव,अहेगतिविसए अप्पे अप्पे चेव मंदे मंदे चेव, जावइयं खित्तं सक्के देविंदे देवराया उड्ढं उप्पयइ एक्केणं समएणं तं वज्जे दोहिं, जं वज्जे दोहिं तं चमरे तिहिं, सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उड्ढलोयकंडए संखेज्जगुणे० जावइयं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया अहे उवयइ एक्केणं समएणं तं सक्के दोहिं जं सक्के दोहिं तं वज्जे तिहिं सव्वत्थोवे चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो अहोलोयकंडए उड्ढलोयकंडए संखेज्जगुणे एवं खलु गोयमा ! सक्केणं देविंदेणं देवरण्णा चमरे असुरिंदे असुरराया नो संचाएइ साहत्थिं गिण्हित्तए, सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो उड्ढं अहो तिरियं च गइविसयस्स कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे खेत्तं सक्के देविंदे देवराया अहे उवयइ, एक्केणं समएणं तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, उड्ढं संखे-

ज्जे भागे गच्छइ। चमरस्स णं भंते ! असुरिंदस्स असुररण्णो उड्ढं अहे तिरियं च गइविसयस्स कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवं खेत्तं चमरे असुरिंदे असुरराया उड्ढं उप्पयइ, एक्केणं समएणं तिरियं संखेज्जे भागे गच्छइ, अहे संखेज्जे भागे गच्छइ, सक्के देविंदे देवराया उड्ढं उप्पयइ, एक्केणं समएणं तं वज्जे दोहिं तं चमरे तिहिं वज्जं जहा सक्कस्स तहेव, नवरं विसेसाहियं कायव्वं,सक्कस्स णं भंते ! देविंदस्स देवरण्णो उवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा बहुए वा तुल्ले वा विसेसाहिए वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो उड्ढं उप्पयणकाले उवयणकाले संखेज्जगुणे, चमरस्स वि जहा सक्कस्स, णवरं सव्वत्थोवे उवयणकाले उप्पयणकाले संखेज्जगुणे। वज्जस्स पुच्छा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे उप्पयणकाले उवयणकाले विसेसाहिए। एयस्स णं भंते ! वज्जस्स वज्जाहिवइस्स चमरस्स य असुरिंदस्स असुररण्णो उवयणकालस्स य उप्पयणकालस्स य कयरे कयरेहिंतो अप्पे वा० ४ ?। गोयमा ! सक्कस्स य उप्पयणकाले चमरस्स उवयणकाले, एस णं दोण्ह वि तुल्ले सव्वत्थोवे सक्कस्स य उवयणकाले वज्जस्स य उप्पयणकाले एस णं दोण्हं वि तुल्ले संखेज्जगुणे, चमरस्स य उप्पयणकाले,वज्जस्स य उवयणकाले, एस णं दोण्ह वि तुल्ले विसेसाहिए, तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया वज्जभयविप्पमुक्के सक्केणं देविंदेणं देवरण्णो महया अवमाणेणं अवमाणिए समाणे चमरचंचाए रायहाणीए सभाए सुहम्माए चमरंसि सीहासणंसि उवहयमणसंकप्पे चिंतासोयसागरसंपविट्ठे करयलपल्हत्थमुहे अट्टज्झाणोवगए भूमिगयदिट्ठीए झियाइ, तए णं तं चमरं असुरिंदं असुररायं सामाणियपरिसोववण्णया देवा ओहयमणसंकप्पं० जाव झियायमाणं पासइ, पासइत्ता करयल० जाव एवं वयासी-किण्हं देवाणुप्पिया ! उवहयमणसंकप्पा० जाव झियायह ?। तए णं से चमरे असुरिंदे असुरराया ते सामाणियपरिसोववण्णए देवे एवं वयासी-एवं खलु देवाणुप्पिया ! मए समणं भगवं महावीरं नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासाइए, तए णं तेणं परिकुविएणं समाणेणं ममं वहाए वज्जे निसिट्ठे, तं भद्दं णं भवतु देवाणुप्पिया ! समणस्स भगवओ महावीरस्स, जस्सम्मि पभावेण अकिट्ठे अव्वहिए अपरिताविए इहमागए,इह समोसढे, इह संपत्ते, इहेव अज्ज उवसंपज्जित्ता णं विहरामि,तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया,समणं भगवं महावीरं वंदामो ! नमंसामो० जाव पज्जुवासामो त्ति कट्टु चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीहिं० जाव सव्विड्ढीए० जाव जेणेव असोगवरपायवे जेणेव ममं अंतिए तेणेव उवागच्छइ,उवागच्छइत्ता ममं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं० जाव नमंसित्ता एवं वयासी-एवं खलु भंते ! मए तुब्भं नीसाए सक्के देविंदे देवराया सयमेव अच्चासाइए० जाव तं भद्दं णं भवतु देवाणुप्पियाणं जस्सम्मि पभावेण अकिट्ठे० जाव विहरामि, तं खामेमि णं देवाणुप्पिया !० जाव उत्तरपुरच्छिमं दिसीभागं अवक्कमइ,अवक्कमइत्ता० जाव बत्तीसइबद्धं नट्टविहिं उवदंसेइ, उवदंसेइत्ता जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पडिगए,एवं खलु गोयमा ! चमरेणं असुरिंदेणं असुररण्णो सा दिव्वा देविड्ढी लद्धा पत्ता अभिसमण्णागया ठिई सागरोवमं महाविदेहे वासे सिज्झिहिइ०,जाव अंतं काहिइ। भ० ३ श० २ उ०।

(विकुर्वणावक्तव्यता 'विउव्वणा' शब्दे) (चमरस्याग्रमहिष्यः 'अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे उक्ताः) ('परिसा' शब्दे त्रिविधा पर्षत्) " चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररण्णो तिगिच्छिकूडे उप्पायपव्वए सत्तरसएक्कवीसाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पण्णत्ते।" स० १७ सम०। ('सामाणिय' शब्दे सामानिकदेवाः)

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो तिगिच्छकूडे उप्पायपव्वए मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं पण्णत्ते। चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सोमस्स महारण्णो सोमप्पभे उप्पायपव्वए दसजोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं दसगाउयसयाइं उव्वेहेणं मूले दसजोयणसयाइं विक्खंभेणं पण्णत्ते। स्था० १० ठा०।

चामर-न०। चमर्या इदम् अण्। "वाऽव्ययोत्खातादावदातः" ।८।१।६७। इत्याकारस्याकारः। चमरीपुच्छे, प्रा०१पाद।

चमरचंच-चमरचञ्च-पुं०। चमरस्यावासपर्वते, (भ०)

चमरे णं भंते ! असुरिंदे असुरराया चमरचंचे आवासे वसहिं उवेइ ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से केणं खाइअं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-चमरचंचे आवासे २ ?। गोयमा ! से जहा णामए इहेव मणुस्सलोगंसि उवगारियलेणाइ वा उज्जाणियलेणाइ वा णिज्जाणियलेणाइ वा धारवारियलेणाइ वा तत्थ णं बहवे मणुस्सा य मणुस्सीओ य आसयंति, सयंति जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव कल्लाणफलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, अण्णत्थ पुण वसहिं उवेंति, एवामेव गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचे आवासे केवलं किड्डारतिपत्तियं अण्णत्थ पुण वसहिं उवेंति, से तेणट्ठेणं० जाव आवासे ॥

(उवगारियलेणाइ व त्ति) औपकारिकलयनानि प्रासादादिपीठकल्पानि। (उज्जाणियलेणाइ व त्ति) उद्यानगतजनानामुपकारकगृहाणि नगरप्रवेशगृहाणि वा (णिज्जाणियलेणाइ व त्ति) नगरनिर्गमगृहाणि (धारवारियलेणाइ व त्ति) धारा-

प्रधानं वारि जलं येषु तानि धारावारिकाणि तानि च तानि लयनानि चेति वाक्यम् । (आसयंति त्ति) आश्रयन्ते ईषद्भजन्ते (सयंति त्ति) श्रयन्ते अनीषद्भजन्ते । अथवा-(आसयंति) ईषत्स्वपन्ति (सयंति) अनीषत्स्वपन्ति (जहा रायप्पसेणइज्जे त्ति) अनेन यत्सूचितं तदिदम्-" चिट्ठंति " ऊर्ध्वस्थानेन तेषु तिष्ठन्ति " निसीयंति " उपविशन्ति (तुयट्टंति) निषण्णा आसते ' हसंति ' परिहासं कुर्वन्ति ' रमंति ' अक्षादिना रतिं कुर्वन्ति । ' ललंति ' ईप्सितक्रियाविशेषान् कुर्वन्ति ' कीलंति ' कामक्रीडां कुर्वन्ति ' किट्टंति ' अन्तर्भूतकारितार्थत्वादन्यान् क्रीडयन्ति ' मोहयंति ' मोहनं निधुवनं विदधति " पुरा पोराणाणं सुचिन्नाणं सुपरक्कंताणं सुभाणं कडाणं कम्माणं " इति, व्याख्या चास्य प्रागुक्तेति । (वसहिं उवेंति त्ति) वासमुपयान्ति । "एवामेव" इत्यादि । एवमेव मनुष्याणामौपकारिकादिलयनवच्चमरस्य ३. चमरचञ्चावासो न निवासस्थानं केवलं किं तु (किड्डारतिपत्तियं ति) क्रीडायां रतिरानन्दः क्रीडारतिः । अथवा-क्रीडा च रतिश्च क्रीडारती, सा ते वा ; प्रत्ययो निमित्तं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययं , तत्रागच्छतीति शेषः । भ० १३ श० ६ उ० । दश० ।

चमरचंचा-चमरचञ्चा-स्त्री० । रत्नप्रभापृथिव्याः चमरस्यासुरराजस्य राजधान्याम्, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

कहि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो सभा सुहम्मा पण्णत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं तिरियमसंखेज्जदीवसमुद्दे वीईवइत्ता अरुणवरदीवस्स बाहिरिल्लाओ वेइयंताओ अरुणोदयं समुद्दं बायालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो तिगिच्छकूडे नामं उप्पायपव्वए पण्णत्ते, सत्तरसएक्कवीसे जोयणसए उड्ढं उच्चत्तेणं चत्तारि तीसे जोयणसए कोसं च उव्वेहेणं गोथूभस्स आवासपव्वयस्स पमाणेणं णेयव्वं, नवरं उवरिल्लं पमाणं मज्झे भाणियव्वं, मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं, मज्झे चत्तारि चउवीसे जोयणसए विक्खंभेणं, उवरिं सत्ततेवीसे जोयणसए विक्खंभेणं, मूले तिण्णि जोयणसहस्साइं, दोण्णि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं, मज्झे एगं जोयणसहस्सं तिण्णि य इगुयाले जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं, उवरिं दोण्णि य जोयणसहस्साइं दोण्णि य छलसीए जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं०, जाव मूले वित्थिण्णे मज्झे संखित्ते उप्पिं विसाले मज्झे वरवइरविग्गहिए महामउंदसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे० जाव पडिरूवे, से णं एगाए पउमवरवेइयाए वणखंडेण य सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते पउमवरवेइयाए वणखंडस्स य वण्णओ-तस्स णं तिगिच्छकूडस्स उप्पायपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, वण्णओ-तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पासायवडिंसए पण्णत्ते, अड्ढाइज्जाइं जोयणसयाइं उड्ढं उच्चत्तेणं, पणवीसं जोयणसयाइं विक्खंभेणं, पासायवण्णओ उल्लोयभूमिवण्णओ अट्ठजोयणाणि मणिपेढिया चमरस्स सीहासणं सपरिवारं भाणियव्वं , तस्स णं तिगिच्छकूडस्स दाहिणेणं छक्कोडिसए पणवण्णं च कोडीओ पणतीसं च सयसहस्साइं पण्णासं च सहस्साइं जोयणाइं अरुणोदए समुद्दे तिरियं वीईवइत्ता अहे रयणप्पभाए पुढवीए चत्तालीसं जोयणसहस्साइं ओगाहित्ता तत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचा नामं रायहाणी पण्णत्ता , एगं जोयणसयसहस्सं आयामविक्खंभेणं जंबूदीवप्पमाणा उवरियतलेणं सोलसजोयणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, पण्णासं जोयणसहस्साइं पंच य सत्ताणउयजोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं , सव्वप्पमाणं वेमाणियस्स पमाणस्स अद्धं नेयव्वं ।

" कहि णं " इत्यादि । (असुरिंदस्स त्ति) असुरेन्द्रस्य स चेश्वरतामात्रेणाऽपि स्यादित्याह-असुरराजस्य वशवर्त्यसुरनिकायस्येत्यर्थः [उप्पायपव्वए त्ति] तिर्यग्लोकगमनाय यत्रागत्योत्पतति स उत्पातपर्वत इति । " गोथूभस्स " इत्यादि । तत्र गोस्तूभो लवणसमुद्रमध्ये पूर्वस्यां दिशि नागराजावासपर्वतः , तस्य चादिमध्यान्तेषु विष्कम्भप्रमाणमिदम्-" कमसो विक्खंभो से, दसबावीसाइं जोयणसयाइं । सत्तसए तेवीसे, चत्तारि सए य चउवीसे " ॥१॥ इहैव विशेषमाह-"नवरं" इत्यादि । ततश्चेदमापन्नम्-" मूले दसबावीसे जोयणसए विक्खंभेणं मज्झे चत्तारि चउवीसे उवरिं सत्ततेवीसे मूले तिन्नि जोयणसहस्साइं दोन्नि य बत्तीसुत्तरे जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं मज्झे एगं जोयणसहस्सं तिण्णि य इगुयाले जोयणसए किंचि विसेसूणे परिक्खेवेणं उवरिं दोन्नि जोयणसहस्साइं दोन्नि य छलसीए जोयणसए किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं " पुस्तकान्तरे त्वेतत्सकलमस्त्येवेति । (वरवइरविग्गहिए त्ति) वरवज्रस्येव विग्रह आकृतिर्यस्य स स्वार्थिकप्रत्यये सति वरवज्रविग्रहिको मध्यक्षाम इत्यर्थः । एतदेवाह-"महामउंदे" इत्यादि । मुकुन्दो वाद्यविशेषः । (अच्छे त्ति) स्वच्छः आकाशस्फटिकवत् , यावत्करणादिदं दृश्यम्-"सण्हे" श्लक्ष्णः श्लक्ष्णपुद्गलनिर्वृत्तत्वात् 'लण्हे' मसृणः ' घट्ठे' घृष्ट इव घृष्टः खरशाणया प्रतिमेव ' मट्ठे ' मृष्ट इव मृष्टः सुकुमारशाणया प्रतिमेव प्रमार्जनिकयेव वा शोधितोऽत एव 'नीरए ' नीरजा रजोरहितः 'निम्मले' कठिनमलरहितः ' निप्पंके ' आर्द्रमलरहितः ' निक्कंकडच्छाए ' निरावरणदीप्तिः ' सप्पभे ' सप्रभावः ' समिरीइए ' सकिरणः ' सउज्जोए ' प्रत्यासन्नवस्तूद्योतकः , (पासाईए पउमवरवेइयाए वणसंडस्स य वण्णओ त्ति) । वेदिकावर्णको यथा-"सा णं पउमवरवेइया अद्धं जोयणं उड्ढं उच्चत्तेणं पंचधणुसयाइं विक्खंभेणं सव्वरयणामई तिगिच्छगकूडउवरितलपरिक्खेवसमा परिक्खेवेणं-तीसे णं पउमवरवेइयाए इमेयारूवे वण्णावासे पण्णत्ते" वर्णकव्यासो वर्णकविस्तरः "वइरामया नेमा" इत्यादि । (नेम त्ति)

स्तम्भानां मूलपादाः,नवरं वनखण्डवर्णकस्त्वेवम्-"से णं वणसंडे देसूणाई दो जोयणाई चक्कवालविक्खंभेणं पउमवरवेइयापरिक्खेवसमे परिक्खेवेणं किण्हे किण्होभासे" इत्यादि। (बहुसमरमणिज्जे त्ति) अत्यन्तसमो रमणीयश्चेत्यर्थः। [वण्णओ त्ति] वर्णकस्तस्य वाच्यः। स चायम्-"से जहानामए आलिंगपुक्खरेइ वा" आलिङ्गपुष्करं मुरजमुखं, तद्वत्सम इत्यर्थः। "मुइंगपुक्खरेइ वा सरतलेइ वा करतलेइ वा आयंसमंडलेइ वा चंदमंडलेइ वा" इत्यादि। [पासायवडिंसए त्ति] प्रासादोऽवतंसक इव शेखरक इव प्रधानत्वात्प्रासादावतंसकः। "पासायवण्णओ त्ति" प्रासादवर्णको वाच्यः। स चैवम्-"अब्भुग्गयमूसियपहसिए" अभ्युद्गतमत्योद्गतं वा यथा भवत्येवमुच्छ्रितः, अथवा-मकारस्यागमिकत्वात् अभ्युद्गतश्चासावुच्छ्रितश्चेत्यभ्युद्गतोच्छ्रितः, अत्यर्थमुच्च इत्यर्थः, प्रथमैकवचनलोपश्चात्र दृश्यः। तथा प्रहसित इव प्रभापटलपरिगततया प्रहसितः प्रभया वा सितः शुक्लः संबद्धो वा प्रभासित इति। (मणिकणगरयणभत्तिचित्ते) मणिकनकरत्नानां भक्तिभिर्विच्छित्तिभिश्च चित्रो विचित्रो यः स तथा इत्यादि। (उल्लोयभूमिवण्णओ त्ति) उल्लोचवर्णकः प्रासादस्योपरिभागवर्णकः। स चैवम्-"तस्स णं पासायवडिंसगस्स इमेयारूवे उल्लोए पन्नत्ते पउमलयभत्तिचित्ते० जाव सव्वतवणिज्जमए अच्छे० जाव पडिरूवे"। भूमिवर्णकस्त्वेवम्-"तस्स णं पासायवडिंसयस्स बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पन्नत्ते। तं जहा-आलिंगपुक्खरेइ वा" इत्यादि। (सपरिवारं ति) चमरसम्बन्धिपरिवारसिंहासनोपेतम्। तच्चैवम्-"तस्स णं सीहासणस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं चमरस्स चउसट्ठीए सामाणियसाहस्सीणं चउसट्ठी भद्दासणसाहस्सीओ पन्नत्ताओ, एवं पुरच्छिमेणं पंचण्हं अग्गमहिसीणं सपरिवाराणं पंचभद्दासणाइं सपरिवाराइं, दाहिणपुरच्छिमेणं अब्भिंतरियाए परिसाए चउव्वीसाए देवसाहस्सीणं चउव्वीसं भद्दासणसाहस्सीओ, एवं दाहिणेणं मज्झिमाए अट्ठावीसं भद्दासणसाहस्सीओ, दाहिणपच्चच्छिमेणं बाहिरियाए बत्तीसं पच्चच्छिमेणं सत्तण्हं अणियाहिवईणं सत्त भद्दासणाइं,चउद्दिसिं आयरक्खदेवाणं चत्तारि भद्दासणसहस्सचउसट्ठीओ त्ति"।"तेत्तीसं भोम त्ति"वाचनान्तरे दृश्यते, तत्र भौमानि विशिष्टस्थानानि,नगराकाराणीत्यन्ये। (उवरियतलेणं ति) गृहस्य पीठबन्धकल्पम् (सव्वप्पमाणं वेमाणियपमाणस्स अद्धं नेयव्वं त्ति) अयमर्थः-यस्त्यां राजधान्यां प्राकारप्रासादसभादि वस्तु तस्य सर्वस्योच्चत्वादिप्रमाणं सौधर्मवैमानिकविमानप्राकारप्रासादसभादिवस्तुगतप्रमाणस्यार्द्धं नेतव्यम्। तथाहि-सौधर्मवैमानिकानां विमानप्राकारो योजनानां त्रीणि शतान्युच्चत्वेन, एतस्यास्तु सार्द्धं शतं, तथा सौधर्मवैमानिकानां मूलप्रासादः पञ्च योजनानां शतानि, तदन्ये चत्वारस्तत्परिवारभूताः सार्द्धे द्वे शते, प्रत्येकं च तेषां चतुर्णामप्यन्ये परिवारभूताश्चत्वारः सपादं शतम्, एवमन्ये तत्परिवारभूताः सार्द्धा द्विषष्टिः, एवमन्ये सपादैकत्रिंशत्, इह तु मूलप्रासादः सार्द्धे द्वे योजनशते, एवमर्द्धार्द्धहीनास्तदपरे यावदन्तिमाः पञ्चदश योजनानि, पञ्च च योजनस्याष्टांशाः। एतदेव वाचनान्तरे उक्तम्-"चत्तारि परिवाडीओ पासायवडिंसगाणं अद्धद्धहीणाओ त्ति।" एतेषां च प्रासादानां चतसृष्वपि परिपाटीषु त्रीणि शतान्येकचत्वारिंशदधिकानि भवन्ति। एतेभ्यः प्रासादेभ्यः उत्तरपूर्वस्यां दिशि सभा,सुधर्म्मा,सिद्धायतनमुपपातसभा, हृदोऽभिषेकसभा, अलङ्कारसभा,व्यवसायसभा चेति। एतानि च सुधर्मसभादीनि सौधर्मवैमानिकसभादिभ्यः प्रमाणतोऽर्द्धप्रमाणानि, तत्रोच्चत्व इहैषां षट्त्रिंशद्योजनानि,पञ्चाशदायामो, विष्कम्भश्च पञ्चविंशतिरिति। एतेषां च विजयदेवसम्बन्धिनामिव "अणेगखंभसयसंनिविट्ठा अब्भुग्गयसुकयवइरवेइया" इत्यादि वर्णको वाच्यः। तथा "दाराणं उप्पिं बहवे अट्ठट्ठमंगलगा झया छत्ताइछत्ता" इत्यादिरलङ्कारश्च सभादीनां वाच्यः। सर्वं च जीवाभिगमोक्तं विजयदेवसम्बन्धि चमरस्य वाच्यं, यावदुपपातसभायां सङ्कल्पश्चाभिनवोत्पन्नस्य किं मम पूर्वं पश्चाद्वा कर्तुं श्रेय इत्यादिरूपः,अभिषेकश्चाभिषेकसभायां महर्द्ध्या सामानिकादिदेवकृतः, विभूषणा च वस्त्रालङ्कारकृता अलङ्कारसभायाम्, व्यवसायश्च व्यवसायसभायाम्, पुस्तकवाचनतोऽर्चनिका च सिद्धायतने सिद्धप्रतिमादीनां सुधर्मसभागमनं च सामानिकादिपरिवारोपेतस्य चमरस्य परिवारश्च सामानिकादि ऋद्धिमत्त्वं च "एवं महिड्ढिए" इत्यादिवचनैर्वाच्यमस्येति, एतच्च वाचनान्तरेऽर्थतः प्रायोऽवलोक्यत एव। भ० २ श० ८ उ०।

कहि णं भंते ! चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचा णामं आवासे पन्नत्ते ?। गोयमा ! जंबूदीवे दिवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं असंखेज्जे दीवसमुद्दे एवं जहा वितियसए सभाउद्देसए वत्तव्वया सच्चेव अपरिसेसा णेतव्वा, णवरं इमं णाणत्तं० जाव तेगिच्छिकूडस्स उप्पायपव्वयस्स चमरचंचा रायहाणी चमरचंचस्स आवासपव्वयस्स अण्णेसिं च बहूणं सेसं तं चेव० जाव तेरस य अंगुलाइं अद्धंगुलं किंचिविसेसाहिया परिक्खेवेणं तीसे णं चमरचंचाए रायहाणीए दाहिणपच्चच्छिमेणं छक्कोडिसए पणपन्नं च कोडीओ पणतीसं च सयसहस्सा पन्नासं च सहस्साइं अरुणोदगसमुद्दे तिरियं वीईवइत्ता एत्थ णं चमरस्स असुरिंदस्स असुररण्णो चमरचंचा णामं आवासे पन्नत्ते, चउरासीइं जोअणसहस्साइं आयामविक्खंभेणं दो जोअणसयसहस्सा पण्णट्ठिं च सहस्साइं छच्च बत्तीसे जोअणसए किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं; से णं एगाए पागारेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते से णं पागारे दिवड्ढं जोअणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं,एवं चमरचंचा रायहाणी वत्तव्वया भाणियव्वा सभाविहूणा० जाव चत्तारि पासायपंतीओ। चमरे णं भंते ! असुरिंदे असुरराया चमरचंचे आवासे वसहिं उवेइ ?। णो इणट्ठे समट्ठे। से केणं खाइयं अट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ चमरचंचे आवासे ?। चमरचंचे आवासे गोयमा ! से जहाणामए इहेव मणुस्सलोगंसि उवगारियलेणाइ वा उज्जाणियलेणाइ वा णिज्जाणियलेणाइ वा धारवारियलेणाइ वा तत्थ णं बहवे मणुस्सा य मणुस्सीओ य आसयंति, सयंति, जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव कल्लाणफलवित्तिविसेसं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति, अण्णत्थ पुण वसहिं उवेंति, एवामेव गोयमा ! चमरस्स असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचे आवासे केवलं किड्डारतिपत्तियं,

अण्णत्थ पुण वसहिं उवेंति, से तेणटेणं० जाव आवासे ॥

सुधर्म्मादयः पञ्चेह सभा न वास्याः, कियद्दूरं यावदियमिह चमरचञ्चाराजधानीवक्तव्यता भणितव्येत्याह- (जाव चत्तारि पासायपंतीओ त्ति) ताश्च प्राग्दर्शिता एवेति (उवगारियलेणाइ व त्ति) औपकारिकलयनानि प्रासादादिपीठकल्पानि (उज्जाणियलेणाति व त्ति) उद्यानगतजनानामुपकारकगृहाणि नगरप्रवेशगृहाणि वा (निज्जाणियलेणाति व त्ति) नगरनिर्गमगृहाणि । (धारवारियलेणाति व त्ति) धाराप्रधानं वारि जलं येषु तानि धारावारिकाणि तानि च तानि लयनानि चेति वाक्यम् । [आसयंति त्ति] आश्रयन्ते ईषद्भजन्ते (सयंति त्ति) श्रयन्ते अतीषद्भजन्ते । अथवा-(आसयंति त्ति) ईषत्स्वपन्ति (सयंति) अतीषत्स्वपन्ति (जहा रायप्पसेणइज्जे त्ति) अनेन यत्सूचितं तदिदम्-' चिट्ठंति ' ऊर्द्ध्वस्थानेन तेषु तिष्ठन्ति ' निसीयंति ' उपविशन्ति ' तुयट्टंति ' निषण्णा आसते ' हसंति ' परिहासं कुर्वन्ति ' रमंति ' अक्षादिना रतिं कुर्वन्ति (ललंति) ईप्सितक्रियाविशेषान् कुर्वन्ति ' कीलंति ' कामक्रीडां कुर्वन्ति । ' किट्टंति ' अन्तर्भूतकारितार्थत्वादन्यान् क्रीमयन्ति । ' मोहयंति ' मोहनं निधुवनं विदधाति " पुरा पोराणाणं सुचिन्नाणं सुपरकंताणं सुहाणं कडाणं कम्माणं ति " व्याख्या चास्य प्राग्वदिति । (वसहिं उवेंति त्ति) वासमुपयान्ति "एवामेव" इत्यादि । एवमेव मनुष्याणामौपकारिकादिलयनवच्चमरस्य चमरचञ्चावासो न निवासस्थानं केवलं, किन्तु (किड्डारतिपत्तियं ति) क्रीडायां रतिरानन्दः क्रीडारतिः। अथवा-क्रीडा च रतिश्च क्रीडारती, सा ते वा प्रत्ययो निमित्तं यत्र तत्क्रीडारतिप्रत्ययं, तत्रागच्छतीति शेषः । भ० १३ श० ६ उ० । द्वी० ।

तत्र सभाः-

चमरचंचाए णं रायहाणीए पंच सभाओ पन्नत्ता । तं जहा-सभा सुहम्मा उववायसभा अभिसेयसभा आलंकारियसभा ववसायसभा ।

चमरचञ्चारत्नप्रभापृथिव्यां चमरस्यासुरकुमारराजस्येति सुधर्मासभा यस्यां शय्या, उपपातसभा यस्यामुत्पद्यते, अभिषेकसभा यस्यां राज्याभिषेकेणाभिषिच्यते, अलङ्कारिका यस्यामलङ्क्रियते, व्यवसायसभा यत्र पुस्तकवाचनतो व्यवसायं तत्त्वनिश्चयं करोति, एताश्च यथाक्रममुत्तरपूर्वस्यां द्रष्टव्या इति । स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

चमरस्स णं असुरिंदस्स असुररन्नो चमरचंचाए रायहाणीए एक्कमेक्कवाराए तेत्तीसं २ भोमा पण्णत्ता ॥

(तेत्तीसं भोम त्ति) भौमानि नगराकाराणि, विशिष्टस्थानानीत्यन्ये । स० ३३ सम० ।

तत्रोपपातविरहः-

चमरचंचा णं रायहाणी उक्कोसेणं छम्मासा विरहिया उववाएणं ॥

" चमरचंचेत्यादि " चमरस्य दाक्षिणात्यस्यासुरनिकायनायकस्य, चञ्चा चञ्चाख्या नगरी चमरचञ्चा, या हि जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य दक्षिणेन तिर्यगसंख्येयान् द्वीपसमुद्रान् व्यतिव्रज्यारुणवरद्वीपस्य बाह्याद्वेदिकान्तादरुणोदं समुद्रं द्विचत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य चमरस्यासुरराजस्य तिगिच्छिकूटो नाम य उत्पातपर्वतोऽस्ति सप्तदशैकविंशत्युत्तराणि योजनशतान्युच्चः, तस्य दक्षिणेन षट्योजनकोटिशतानि साधिकान्यरुणोदे समुद्रे तिर्यग् व्यतिव्रज्याधो रत्नप्रभायाः पृथिव्याश्चत्वारिंशद्योजनसहस्राण्यवगाह्य व्यवस्थिता जम्बूद्वीपप्रमाणा च, सा चमरचञ्चा राजधानी उत्कृष्टेन षण्मासान् विरहिता वियुक्ता उपपातेन, इहोत्पद्यमानदेवानां षण्मासान् यावत् विरहो भवतीति भावः । स्था० ६ ठा० ।

चमरपच्छिमसरीर-चमरपश्चिमशरीर-न० । चमराणां गोविशेषाणां पश्चिमशरीरम् देहपश्चाद्भागः । चामरे, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चमरुप्पाय-चमरोत्पात-पुं० । चमरस्यासुरराजस्योत्पतने ऊर्द्ध्वगमने, स्था० १० ठा० । (स च ' अच्छेर ' शब्दे प्रथमभागे २०० पृष्ठे उक्तः । चमरशब्देऽस्मिन्नेव भागे ११११३ पृष्ठे चोक्तः)

चमस-चमस-पुं० । दर्विकायाम् , औ० ।

चमू-चमू-स्त्री० । सेनायाम्, आ० म० द्वि० । ज्ञा० ।

चम्म-चर्मन्-न० । कृतौ, धा० । सलोमकृत्स्नचर्मग्रहणम् ।(सू०)

नो कप्पइ निग्गंथीणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए ।

नो कल्पते निर्ग्रन्थीनां सलोमानि चर्माणि अधिष्ठातुं, निषदनादिना परिभोक्तुमिति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः-

चम्मम्मि सलोमम्मी, णिग्गंथीणं उवेसमाणीणं ।
चउगुरुगाऽऽयरियादी, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

सलोमनि चर्मणि निर्ग्रन्थीनामुपविशन्तीनां चतुर्गुरुकाः । अत एवाचार्य एतत्सूत्रं प्रवर्तिन्या न कथयति चतुर्गुरवः, प्रवर्तिनी श्रमणीनां न कथयति चतुर्गुरुकाः, श्रमण्यो न प्रतिशृण्वन्ति मासलघु, तत्राप्यकथने अश्रवणे सलोमचर्मोपवेशने वाऽऽज्ञादयो दोषाः ।

अथानन्तरोक्तमेव प्रायश्चित्तं विशेषयन्नाह—

गहणे चिट्ठे णिसीयणे, तुयट्टणे च गुरुगा सलोमम्मि ।
णिल्लोमे चउगुरुगा, समणीणारोवणा चम्मे ॥

सलोमचर्मणो ग्रहणं कुर्वन्ति चतुर्गुरु, कालेन च लघवः, गृहीत्वा तत्र स्थानरूपं कुर्वन्ति चतुर्गुरुकाः, तपसा लघवः, कालेन गुरवः, निषदनं कुर्वन्ति चतुर्गुरुकाः, तपसा गुरवः, कालेन लघवः, त्वग्वर्तनं कुर्वन्ति तपसा कालेन च गुरवः, निर्लोमचर्मणि तु चतुर्लघुकाः, एवमेव चतुर्षु स्थानेषु तपःकालविशेषिता एषा श्रमणीनां चर्मणि चर्मविषयाऽऽरोपणा मन्तव्या ।

अत्र दोषान् दर्शयति-

कुंथुपणगाइ संजमे, कंटगअहिविच्छुगाइ आयाए ।
जारो जय भुत्तियरे, पडिगमणाई सलोमम्मि ॥

सलोमचर्मणि कुन्थुपनकादयो वर्षासु संमूर्छयेयुः, तेषु स्थाननिषदनादिना विराध्यमानेषु संयमविराधना, कण्टकेन, अहिना, वृश्चिकादिना वा तत्रोपविष्टाः क्षुप्ता वा भद्रपघातमा-

प्नुवन्ति सा आत्मविराधना, मारश्च मार्गे गच्छन्तीनां तस्य महान् भवति, भयं च स्तेनादिभ्यस्तद्विषयं भवति भुक्तभोगिनीनां च स्मृतिकरणम्, इतरासां तु कौतुकमुपजायते, ततश्च प्रतिगमन भूयोऽपि गृहवासाश्रयणम्, आदिशब्दादन्यतीर्थिकगमनादि वा कुर्युः ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां व्याख्यानयति—

तसपाणविराहणया, चम्मसलोमे तु होति अहिकरणं ।
निल्लोमे तसपाणग, कुंथुयमाणे य करणं वा ॥

सलोमनि चर्मणि संसक्तानां कुन्थुप्रभृतीनां त्रसप्राणिनां विराधना भवति, तच्चातिरिक्तोपकरणत्वादधिकरणं भवति, निर्लोमन्यपि चर्मणि परिभुज्यमाने त्रसप्राणिनो विराध्यन्ते कुन्थुमति च तस्मिन् करणं पादकर्म संयती कुर्यात् ।

अविदिण्णोवधि पाणा, पडिलेहा वि य ण सुज्झति सलोमे ।
वासासु य संसज्जति, पतावमवतावणे दोसा ॥

तीर्थकरैरवितीर्णोऽदत्तोऽयं सलोमचर्मलक्षण उपधिः, शुषिरतया च तत्र रोमान्तरेषु प्राणिनः संमूर्छन्ति, प्रत्युपेक्षणाऽपि च न शुद्ध्यति, वर्षासु च कुन्थुपनकादिभिः तच्चर्म संसज्ज्यते, यदि संसज्जनभयात्प्रतापयति ततोऽग्निविराधना, अथ न प्रतापयति ततः त्रसप्राणिनः संसज्जन्ति, एवमुभयथाऽपि दोषा भवन्ति ।

आगंतुतब्भूया सत्ता, सुसिरे वि गिण्हिउं दुक्खं ।
अह उज्झति तो मरणं, सलोमणिल्लोमचम्मेऽयं ॥

आगन्तुकास्तदुद्भूताश्च कुन्थुपनकादयः सत्त्वाः अशुषिरेऽपि ग्रहीतुं दुःखेन शक्यन्ते, किं पुनः शुषिरे सलोमचर्मणि, ततो यत्तेषां भूयोभूयः संघट्यमानानां परितापनं तन्निष्पन्नं प्रायश्चित्तम्, अथ तद्भयवान् जन्तूनुज्झति ततस्तेषां मरणं भवेत् ततः सलोमचर्माश्रित्योक्तम् ।

अथ सलोमनिर्लोम्नोरुभयोरपि दोषा उच्यन्ते—

भारो भय परितावण, मारण अहिकरणमेव अविदिन्नं ।
तित्थयरगणहरेहिं, सतिकरणं भुत्तभोगीणं ॥

सलोम्ना निर्लोम्ना वा चर्मणा मार्गे गच्छन्तीनां भारो भयं चोत्पद्यते, परितापनं मारणं वा भवति । अथैतद्दोषभयात् परित्यजति, ततोऽसंयतैर्गृहीते अधिकरणम्, तीर्थकरगणधरैश्चावितीर्णोऽदत्तोऽयमुपधिः, सलोमनि च कुन्थुपनकादिजीवानां परिभुज्यमाने स्मृतिकरणं भुक्तभोगिनीनाम्, इतरासां कौतुकमुपजायते ।

कथमित्याह—

जइ ता अचेतणम्मि, अइणे फरिसो उ एरिसो होति ।
केरिस सचेयणम्मी, पुरिसे फरिसो उ गमणादी ॥

यदि तावदचेतने अजिने चर्मणि ईदृशः स्पर्शो भवति ततः किं पुनः सचेतनस्य पुरुषस्य स्पर्शो भवति, एवं विचिन्त्य काचिदार्यिका गमनमवधावनं कुर्यात्, आदिशब्दाद् विहायसमरणं वा प्रतिपद्यते ।

द्वितीयपदमाह—

बिइयपदे कारणम्मी, चम्मुव्वत्तणे तु होति निल्लोमं ।
आगाढकारणम्मी, चम्मसलोमम्मि जयणाए ॥

द्वितीयपदे कारणे चर्माऽपि गृह्णीयात्, कथमित्याह-उद्वर्तनमभ्यङ्गनं कस्याश्चिदार्यिकायाः कर्तव्यं, तदर्थं निर्लोम चर्म गृह्यते । अथागाढं कारणं, ततः सलोमचर्मणोऽपि यतनया परिभोगः कर्तव्य इति ।

अथैनामेव निर्युक्तिगाथां विवृणोति-

उक्कम्मि वायम्मि धणुग्गहे वा, अरिसासि सूले व विमोइतव्वे ।
एगंगमव्वंगगए व वाते, अब्भिंगिता चिट्ठति चम्मलोमे ॥

यस्याः संयत्याः प्राचुर्येणोर्ध्वो वात उच्छलति, धनुर्ग्रहोऽपि वातविशेषो, यः शरीरं कुब्जीकरोति, स वा यस्या अजनिष्ट, अर्शांसि वा संजातानि, शूलं वा अभीक्ष्णं मुद्भवति, पाणिपादाद्यङ्गं विमोचितं स्वस्थानाच्चलितम्, एकाङ्गतो वा सर्वाङ्गतो वा कस्याश्चिद् वातः समुत्पन्नः, सा निर्लोमचर्मणि अभ्यङ्गिता तिष्ठति ।

अथ सलोमविषयं विधिमाह-

तरच्छुचम्मं अणिलामयस्स, कमि व वेढेंति जहिं व वातो ।
एरंडऽणेरंड सुणेण मक्के, वेढेंति ठायंति व दीवि चम्मे ॥

अनिलमयीं वातरोगिणीं तरच्छुचर्मणा वेष्टयन्ति, यत्र वा हस्तादौ वातो भवति तं वेष्टयन्ति, एरण्डेन वा हमिक्कितेन वा अनेरण्डेन वा, शुनाऽऽदिदष्टानां वा चर्मणा वेष्टयन्ति, द्वीपिचर्मणि वा तान् स्थापयन्ति ।

पुया व घस्संति अणत्थरम्मि, पासा व घस्संति व थेरियाए ।
लोहारमादी दिवसोवभुत्ते, लोमाणि काउं अह संपिहंति ॥

स्थविरायाः संयत्या अनास्तृते प्रासादे उपविशन्त्याः पुतौ घृष्येते, सुप्ताया वा पार्श्वौ घृष्येते, ततः सलोमचर्मापि, यदि च सा लोहकारादिभिरुपविशद्भिरुपभुक्तं तत्प्रातिहारिकं दिने दिने मार्गेऽपि लोमान्यधः कृत्वा संपिदधति, परिभुञ्जते इत्यर्थः ।

दिवसे दिवसे य दुल्लभं, उवत्तं घेत्तुं तमाइणं ।
लोमेहि णं संविओअए, मउअट्ठा च न ते समुद्धरे ॥

अथ प्रातिहारिकं दिवसे दिवसे गवेष्यमाणं दुर्लभं, न लभ्यते इत्यर्थः । तत उप्तत्वेन 'णमिति' तदजिनं गृहीत्वा रोमभिः संवियोजयेत्, रोमाण्युच्छुभेदिति भावः । अथ तेषु स्थानेषु न तदजिनं परुषस्पर्शं भवति ततो मृद्वर्थं न तानि रोमाणि समुद्धरेत ॥ बृ० ३ उ० ॥

जे भिक्खु सलोमाइं चम्माइं धारेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥५॥

सह लोमेहिं सलोमं अहिट्ठेइ, नाम ममेमं ति जो गिण्हइ, तस्स चउलहुं ।

चम्मम्मि सलोमम्मी, ठाणाणिसीयणतुयट्टणादीणि ।
जे भिक्खू तेगिच्छा, सो पावति आणमादीणि ॥२१॥

सलोमे चम्मे जो ठाणं चेव त्ति करे णिसीयइ तुयट्टइ वा, सो आणादिदोसे पावति, इमं च से पच्छित्तं । नि० चू० १२ उ० ॥

कप्पइ निग्गंथाणं सलोमाइं चम्माइं अहिट्ठित्तए, से वि परिभुत्ते, नो चेव णं अपरिभुत्ते, से वि य परिहारिए, नो चेव णं अपरिहारिए, से वि य एगराइए, नो चेव णं अणेगराइए ॥

कल्पते निर्ग्रन्थानां सलोमानि चर्माणि अधिष्ठातुं परिभोक्तुं, तत्रापि यत् चर्म परिभोक्तुं तदेव ग्राह्यं नोऽपरिभुक्तं, तदपि च प्रातिहारिकं, नोऽप्रातिहारिकं, तदपि चैकरात्रिकं, नैवानेकरात्रिकमिति सूत्रार्थः । एतन्निर्ग्रन्थानामपवादसूत्रम् ।

अथ शिष्यः प्राह-निर्ग्रन्थानां किं कारणं न कल्पते ? । सूरिराह-

दोसा उ जे होंति तवस्सिणीणं,
लोमाइणे ते ण जतीण तम्मि ।
तं कप्पती तेसि सुतोवदोसा,
जं कप्पती तासि ण तं जतीणं ॥

ये दोषाः स्मृतिकरणादयस्तपस्विनीनां लोमयुक्ते अजिने चर्मणि भवन्ति, ते यतीनां तस्मिन् सलोमचर्मणि न भवन्ति । अतस्तत्कल्पते तेषां श्रुतोपदेशात्प्रस्तुतसूत्रवचनात्, यच्च निर्लोम चर्म तासां कल्पते, न तद्यतीनां, स्मृतिकरणादिदोषप्रसङ्गादिति, सलोमापि चर्म निर्ग्रन्थानामुत्सर्गतो न कल्पते ।

यत आह-

निग्गंथाण सलोमं, ण कप्पती सुसिर तं तु पंचविहं ।
पोत्थग तण दूसं तं, दुविहं चम्मं पि पणगं च ॥

सलोमचर्म निर्ग्रन्थानां न कल्पते शुषिरं जीवाश्रयस्थानमिति कृत्वा । बृ० ३ उ० ।

अत्र परः प्राह-

दिट्ठा सलोमे दोसा, णिल्लोमं णाम कप्पती घेत्तुं ।
गेण्हाणे गुरुगा पडिले-हपणगतसपाणसतिकरणं ॥

सलोमचर्मणि यतो दोषा दृष्टा अतो निर्ग्रन्थानां निर्लोमचर्म नामेति संजानीयामः कल्पते ग्रहीतुम् । सूरिराह-यदि निर्लोमचर्मणो ग्रहणं करोति ततश्चतुर्गुरुकाः, यत्सूत्रप्रत्युपेक्षणा न शुद्ध्यति, पनकत्रसप्राणिनो वा संमूर्च्छन्ति, सुकुमारतया भुक्तभोगिनां स्मृतिकरणं भवति, अभुक्तभोगिनस्तु कौतुकम् ।

इदमेव स्पष्टयति-

भुत्तस्स सतीकरणं, सरिसं इत्थीण एय फासेणं ।
जाति ता अचेयणम्मि, फासो किमु चेयणे इतरे ॥

भुक्तभोगिनः स्मृतिकरणं भवति-अहो ! स्त्रीणां संबन्धी यः स्पर्शोऽस्माभिरनुभूतपूर्वः तेन सदृशमेतच्चर्माप्येतादृशसुखस्पर्शोऽनुभूयते । किं पुनः सचेतने इतरस्मिन् स्त्रीशरीरे भविता, एवं विचिन्त्य प्रतिगमनादीनि कुर्युः, यत एते दोषा अतो निर्लोम गृहीतुं न कल्पते, तर्हि मा कल्पतां, यत्तु सलोमकं तत्तावदेतत्सूत्रेणानुज्ञातं, भवद्भिस्तु तदपि प्रतिषिद्धं, तदेतत् कथमिति ? ।

अत्रोच्यते-

सुत्तनिवाओ वुड्ढे, गिलाण तद्दिवसभुत्त जतणाए ।
आगाढे च गिलाणे, मक्खण घट्टे भिन्ने अरिसीओ ॥

सूत्रनिपातो वृद्धे ग्लाने वा भवति, वृद्धस्य ग्लानस्य वा स्वरस्पर्शमसहिष्णोरास्तरणार्थं सलोम चर्म ग्राह्यमिति भावः । तच्च तद्दिवसभुक्तं, कुम्भकारादिभिस्तस्मिन्नेव दिवसे परिभुक्तम्, तत्र हि त्रसादयः प्राणिनो न भवन्ति, तच्च गृहीत्वा यतनया रोमाण्युपरिकृत्वा परिभोक्तव्यम्, आगाढे च ग्लानत्वे यत्नेन म्रक्षणं तदर्थं, यस्य वा गुदादिपार्श्वाणि घृष्टानि, यो वा साधुर्भिन्नकुष्ठी, यस्य वा अर्शांसि समुद्भूतानि तदर्थं वा निर्लोम चर्म ग्रहीतव्यमिति संग्रहगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव विवृणोति—

संथारट्ठ गिलाणे, अनिलादी चम्म घेप्पति सलोमं ।
वुड्ढाऽसहबालाण व, अत्थरणट्ठा वि एमेव ॥

ग्लानस्य संस्तारकार्थम् अनिलादिसंबन्धि सलोम चर्म गृह्यते, वृद्धाऽसहिष्णुबालानामप्यास्तरणार्थमेवमेव सलोम चर्म ग्राह्यम् ।

तच्च कीदृशमित्याह-

कुंभारलोहकारे-हिं दिवसमालिय भुत्तं तसविहूणं ।
उवरिं लोमे काउं, सोत्तुं गोसे तमप्पेंति ॥

कुम्भकारलोहकारादिभिः स्वस्वकर्मकुर्वाणैर्यद्दिवसतो मलितं परिभुक्तं तत् त्रसविहीनं भवति । अतः संध्यासमये तेषां तत्प्रातिहारिकं गृहीत्वा लोमान्युपरि कृत्वा रात्रौ तत्र सुप्त्वा 'गोसे' प्रभाते प्रत्यर्पयन्ति ।

अवताणगादि णिल्लो-म तेल्ल चमढ़ घेप्पती चम्मं ।
घट्ठा व जस्स पासा, गलंतकोढेऽरिसासुं वा ॥

अवयाणादितैलेन वा ग्लानस्याभ्यङ्गे विधातव्ये निर्लोम चर्म ग्रहीतव्यम्, अध्वानादौ वा चर्मार्थम्, यस्य वा पार्श्वाणि घृष्टानि तस्यास्तरणार्थं, यो वा गलत्कुष्ठः साधुस्तस्य परिधानार्थमास्तरणार्थं वा, अर्शांसि वा यस्य समुत्पन्नानि तस्योपवेशनार्थं निर्लोम चर्म गृह्यते ।

सोणिय पूयालित्ते, दुक्खं धुवणा दिणे चीरे ।
कच्छुल्ले किमिभिल्ले, उप्पतिगिल्ले व णिल्लोमं ॥

शोणितेन पूयेन वा आलिप्तस्य चीवरस्य दिने धुवना दुष्करा, अतः कच्छुवतः किट्टिभवतश्च निर्लोम चर्म कल्पते । कच्छूः पामा, किटिभं शरीरैकदेशभावी कुष्ठभेदः, तथा यस्य षट्पदिका प्राचुर्येण संमूर्च्छति स षट्पदिकावान् निर्लोम चर्म परिधानं गृह्णाति ।

जह कारणे निल्लोमं, तु कप्पती तह भवेज्ज इयरं पि ।
आगाढि सलोमं आ-दि काउ जा पोत्थए गहणं ॥

यथा कारणे निर्लोम चर्म कल्पते तथा इतरदपि शुषिरमपि ग्रहीतुं कल्पते । किं बहुना ? आगाढे कारणे सलोम चर्म आदौ कृत्वा पश्चानुपूर्व्या तावन्नेतव्यं यावत्पुस्तकस्याऽपि ग्रहणं कर्तव्यम् ।

एतदेव स्पष्टयति-

भत्तपरिन्नगिलाणे, कुसमादि खराऽसती तु झुसिरा वि ।
अप्पडिलेहिय दूसा-ऽसती तु पच्छा तणा होंति ॥

भक्तपरिज्ञावतः प्रतिपन्नानशनस्य, तथा ग्लानस्यास्तरणार्थं कुशादीन्यशुषिरतृणानि गृह्यन्ते, अथ तानि खराणि कर्कशानि न वा निप्राप्यन्ते, ततः शुषिराण्यपि तृणानि गृहीतव्यानि । अथाभक्तप्रत्याख्यानिनो ग्लानस्य वा सुखशयनार्थं प्रथमतोऽप्रत्युपेक्ष्य दूष्यम् उपधानं तूलादि ग्रहीतव्यं, तदभावे यथाक्रम-

शुषिराणि पश्चात् तृणानि भवन्ति, तानि प्रस्तीर्यन्त इत्यर्थः।

कुप्पलेहिय दूसे, अद्धाणादी विवित्त गेण्हंती ।
घेप्पति पोत्थगपणगं, कालियणिज्जुत्ति कोसट्ठा ॥

अध्वादौ विविक्तमुषिताः सन्तो यथोक्तमुपधिमलभमाना कुप्यत्युपेद्य दूष्याणि केऽपि प्रावारप्रभृतीनि गृह्णन्ति, तथा मतिमेधादिपरिहाणिं विज्ञाय कालिकश्रुतस्य, बपञ्चकणत्वादुत्कालिकश्रुतस्य वा, निर्युक्तीनां वा आवश्यकादिप्रतिबद्धानां दानग्रहणादौ कोश इव भाण्डागारमिवेदं भविष्यतीत्येवमर्थं पुस्तकपञ्चकमपि गृह्यते ।

कृत्स्नचर्मग्रहणम्-

नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा कसिणाइं चम्माइं धराइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ।

अस्य संबन्धमाह-

चम्मं चेवाहिकयं, तस्स पमाणमिह मिस्सिए सुत्ते ।
अपमाणं पडिसिज्झति, ण उ गहणं एस संबंधो ॥

इह पूर्वसूत्रे चर्मैव तावदधिकृतमतस्तस्य चर्मणः प्रमाणमिह मिश्रिते निर्ग्रन्थनिर्ग्रन्थीप्रतिबद्धे सूत्रे प्ररूप्य ततोऽप्रमाणं प्रमाणातिरिक्तं तत्प्रतिषिध्यते न तु पुनः सर्वथा चर्मणो ग्रहणम्। एष संबन्धः ।

अहवा अत्थरणट्ठा, तं वुत्तमिदं तु पादरक्खट्ठा ।
तस्स वि य वन्नगादी, पमिसेहंती इहं सुत्ते ॥

अथवा-तत्पूर्वसूत्रोक्तं चर्म आस्तरणार्थमुक्तम्, इदं तु प्रस्तुतसूत्रं पादरक्षार्थमुच्यते, तस्यापि च चर्मणो ये वर्णादयो गुणास्तद्युक्तमिह सूत्रे प्रतिषेधयति । अनेन संबन्धेनायातस्यास्य व्याख्या-नो कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा कृत्स्नानि प्रमाणादिभिः प्रतिपूर्णानि चर्माणि धारयितुं वा, परिहर्तुं वेति सूत्रार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः-

सगलप्पमाणवन्ने, बंधणकसिणे य होइ नायव्वो ।
अकसिणमट्ठारसगं, दोसु वि पासेसु खंडाइं ॥

कृत्स्नं चतुर्द्धा-सकलकृत्स्नं, प्रमाणकृत्स्नं, वर्णकृत्स्नं, बन्धनकृत्स्नं चैव भवति ज्ञातव्यम् । एतच्चतुर्विधमपि न कल्पते प्रतिग्रहीतुम् । परः प्राह-यद्येवं ततो यदकृत्स्नं चर्म तद्दशकमष्टादशभिः खण्डैः कर्तव्यमित्यर्थः । तानि च खण्डानि द्वयोरपि पार्श्वयोः परिधातव्यानि इति संग्रहगाथासमासार्थः।

अथैनामेव विवरीषुराह-

एगपुड सकलकसिणं, दुपुमादीयं पमाणतो कसिणं ।
खल्ल खओसा वग्गुरि, कोसग जंघऽद्धजंघा य ॥

एकपुटमेकतरं चर्म सकलकृत्स्नमुच्यते । द्विपुटादिकं द्वित्रिप्रभृतितलं तु प्रमाणतः कृत्स्नम्, तथा खल्लका द्विधा-अर्द्धखल्लका,समस्तखल्लका च । या पदार्धं छादयति साऽर्द्धखल्लका । या पुनरुपानत् संपूर्णं पदं स्थगयति सा समस्तखल्लका, या तु घुण्टकं पिदधाति सा खपुसा, या पुनरङ्गुलीश्छादयित्वा पादावप्युपरि छादयति सा वागुरा । यत्र तु पाषाणादिषु प्रतिस्फलिताः पादा नखा वा न भज्यन्तामिति बुद्ध्या अङ्गुल्यो-ऽङ्गुष्ठौ वा प्रक्षिप्यन्ते स कोशकः, या तु संपूर्णां जङ्घां पिदधाति सा जङ्घा, जङ्घार्द्धपिधायिनी सैवार्द्धजङ्घा, एतान्यपि प्रमाणकृत्स्नानि ।

अथैतदेव स्पष्टयति-

पायस्स जं पमाणं, तेण पमाणेण जा भवे कमणी ।
मज्झे तत्थ अखंडा, अन्नत्थ व सकलकसिणं तु ॥

पादस्य यत्प्रमाणं तेन प्रमाणेन या युक्ता क्रमणिका मध्यप्रदेशे अन्यत्र वाऽखण्डा भवति तदेव सकलकृत्स्नमुच्यते।

दुपुमादि अद्धखल्ला, समत्तखल्ला य वग्गुरी खपुसा ।
अद्धजंघा समत्था, पमाणकसिणं मुणेयव्वं ॥ ४ ॥

द्विपुटादिका द्वित्रिप्रभृतितलोपेता या उपानत्, या चार्द्धखल्ला समस्तखल्ला वागुरा खपुसा अर्द्धजङ्घा चेति सर्वमप्येतत् प्रमाणकृत्स्नं ज्ञातव्यम् ।

तत्रैव कानिचिद्विषमपदानि व्याचष्टे-

उवरिं तु अंगुलीओ, जाया एसा तु वग्गुरी होति ।
खपुसय खल्लगमेत्तं, अद्धं सव्वं व दो इयरे ॥

या पादयोरङ्गुलीः छादयित्वा उपर्यपि छादयति सा वागुरा भवति। खल्लको घुण्टकस्तन्मात्रं यावदाच्छादयति सा खपुसा, इतरे तु द्वे जङ्घार्द्धजङ्घालक्षणे अर्द्धां सर्वां वा जङ्घां यथास्वं छादयति। गतं प्रमाणकृत्स्नम् ।

अथ वर्णकृत्स्नबन्धकृत्स्ने प्रतिपादयति-

वण्णड्ढं वण्णकसिणं, तं पंचविहं तु होइ नायव्वं ।
बहु बंधणकसिणं पुण, परेण जं तिण्ह बंधाणं ॥

यत् चर्म वर्णेनाढ्यम्, उज्ज्वलमित्यर्थः, तद्वर्णकृत्स्नम्, तच्च कृष्णादिवर्णभेदात्पञ्चविधं ज्ञातव्यं, यत्तु त्रयाणां बन्धानां परतो बहुबन्धैर्बद्धं तद् बन्धनकृत्स्नमुच्यते ।

अथैतेष्वेव प्रायश्चित्तमाह-

लहुओ लहुगा दुपुमा-दिएसु गुरुगादि खल्लगादीसु ।
आणादिणो य दोसा, विराहणा संजमादाए ॥

सकलकृत्स्नं गृण्हतां लघुमासः,द्विपुटादिषु चत्वारो लघवः, खल्लकादिषु समस्तार्द्धखल्लकाखपुसावागुराजङ्घार्द्धजङ्घासु, चत्वारो गुरुकाः, आज्ञादयश्च दोषाः,विराधना च संयमात्मविषया भवति । तत्र क्रमणिकादिभिः पिनद्धाभिः कीटिकादिव्यपरोपणात् संयमविराधना,आत्मविराधना तु बन्धे छिन्ने सति प्रस्खलनं भवेत्, प्रमत्तं वा देवता छलयेत् । अर्द्धखल्लकायामुपानहि चतुर्गुरु, तपसा कालेन च लघुकं, समस्तखल्लकायां कालगुरुकं, वागुरिकायामन्यतरेण तपसा कालेन वा गुरुकं, खपुसायां तपोगुरुकम्, अर्द्धजङ्घायां समस्तजङ्घायां च तपसा कालेन च गुरुकम् ।

किञ्च-

जत्तियमित्ता वारा, तु बंधते मुंचते व जति वारा ।
सट्ठाणं ततिवारे, होती वुड्ढी य पच्छित्ते ॥

यावन्मात्रान् वारानङ्गुलीकोशसकलकृत्स्नादिकं बध्नाति मुञ्चति वा, यदि तावन्तो वाराः स्वस्थानं नाम यदत्र पञ्च-

कादिचतुर्गुरुकान्तं प्रायश्चित्तमुक्तं, तथा आज्ञाभङ्गे चतुर्गुरु, अनवस्थायां चतुर्लघु, मिथ्यात्वे चतुर्लघु, आत्मविराधनायां चतुर्गुरु, संयमविराधनायां कायनिष्पन्नमेवमाज्ञादिभिः पदैरभीक्ष्णं सेवानिष्पन्ना वा प्रायश्चित्तस्य वृद्धिर्भवति। बृ० ३ उ०।

जे भिक्खू कसिणाणि चम्माइं धरेइ, धरंतं वा साइज्जइ ॥ २१ ॥ जे भिक्खू कसिणाति चम्माति धरेति, धरंतं वा सातिज्जति ॥ २२ ॥

कसिणमात्रं प्रधानभावे गृह्यते। नि० चू० २ उ०।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा अकसिणाइं चम्माइं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ॥

कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा अकृत्स्नानि चर्माणि धारयितुं वा परिहर्तुं वा इति सूत्रार्थः।

अथ भाष्यम्—

अकसिणचम्मग्गहणे, लहुओ मासो उ दोस आणादी।
बितियपदे घेप्पमाणे, अट्ठारस जाव उक्कोसा ॥

यद्यपि सूत्रे अनुज्ञातं तथाऽपि न कल्पते अकृत्स्नं चर्म प्रतिगृहीतुं, यदि गृह्णाति ततो लघुमासः प्रायश्चित्तम्, आज्ञादयश्च दोषाः। द्वितीयपदे तु पूर्वोक्तैरध्वादिभिः कारणैरकृत्स्ने गृह्यमाणे विधिरभिधीयते। तत्र नोदकः प्राह-यद्यकृत्स्नं गृहीतुं कल्पते ततो द्वयोरुपानहोरुत्कर्षतोऽष्टादश खण्डानि यावत् कर्त्तव्यानि।

इदमेव व्याचष्टे—

अकसिणमट्ठारसगं, एगपुड विवन्न एगबंधं च।
तं कारणम्मि कप्पति, णिक्कारणधारणे लहुओ ॥

अकृत्स्नं नाम अष्टादशभिः खण्डैः कृतं, तदप्येकपुटमेकतलं, विवर्णं विवर्णीकृतम्, एकबन्धं च तद् यदि बन्धनोपेतम्, एभिः चतुर्भिः पदैर्यथाक्रमं सकलप्रमाणवर्णबन्धनैः कृत्स्नता परिहृता, तदेवंविधमकृत्स्नं कारणे धारयितुं कल्पते, अथ निष्कारणे धारयति ततो लघुमासः। एषा पुरातनी गाथा।

अथैनां व्याख्याति--

जइ अकसिणस्स गहणं, भाए कातिं कमेण अट्ठदस।
एगपुडविवन्नेहि य, जहिँ तहिँ बंधते कज्जे ॥

यद्यकृत्स्नस्य चर्मणो ग्रहणं कर्त्तव्यं तत उपानहावष्टादशभागान् वक्ष्यमाणक्रमेण कृत्वा तैः खण्डैरेकपुटैः विवर्णैश्च शब्दादेकबन्धैश्च यत्र यत्र पादप्रदेशे आबाधा, तत्र तत्र कार्ये समुत्पन्ने बध्नीयात्।

कथं पुनरष्टादश खण्डानि भवन्तीत्युच्यते-

पंचंगुल पत्तेयं, अंगुट्ठमहे य छट्ठखंमं तु।
सत्तममग्गतलं वा, मज्झऽट्ठं पण्हिया णवमं ॥

इहैकस्य पादस्य पञ्चानामङ्गुलीनां बन्धनाय प्रत्येकमेकैकं खण्डं कर्त्तव्यम्, अङ्गुष्ठस्याधः षष्ठं खण्डम्, अग्रतले सप्तमं, मध्यतले अष्टमम्, पार्ष्णिकायां नवमम्। एवं द्वितीयस्या अप्युपानहो नव खण्डानि, सर्वाण्यप्येवमष्टादश खण्डानि भवन्ति।

एवं परेणोक्ते सति सूरिराह-

एवइयाणं गहणे, मासो मुच्चंति होति पलिमंथो।
बितियपए घेप्पमाणे, दो खंडा मज्झपमिवंधा ॥

एतावतां खण्डानां ग्रहणे मासलघु प्रायश्चित्तम्, असमाचारीनिष्पन्नमित्यर्थः। मुच्यमानेषु चैतावत्सु खण्डेषु महान् सूत्रार्थयोः परिमन्थो भवति। आह-यद्येवं ततः कियन्ति खण्डानि क्रियन्ते इत्याह—द्वितीयपदे यदा चर्म गृह्यते तदा मध्यप्रतिबद्धे खण्डे कर्त्तव्ये मध्यभागौ त्रोटयित्वा खण्डद्वयं विधाय मध्ये वध्र्यादिना बन्धनीय इत्यर्थः। अथ पूर्वार्द्धस्य इदं पाठान्तरम्-"मुंचंते पलिमंथो, जत्तियमिच्छं तु तात्तिए गहणं।" अष्टादशखण्डानि मुञ्चति साधौ महान्पलिमन्थः, ततो यावन्मात्रम् अपरिमन्थाय भवति तावन्मात्रं ग्रहीतव्यम्। उत्तरार्द्धं प्राग्वत्।

अथाष्टादशानां खण्डानां करणे कीदृशः परिमन्थो-
भवति?, इत्याह--

पडिलेहापलिमंथो, णदिमादुदए य मुंच बंधंते।
सत्थफिडणेण तेणा, अंतरविंधे च गंकणता ॥

यावदष्टादश खण्डानि द्विसंध्यं प्रत्युपेक्षते तावत् सूत्रार्थयोः परिमन्थो भवति। नद्यादुदकमेव तितीर्षुश्च यावदष्टादश खण्डानि मुञ्चति, उत्तीर्णश्च यावत्तानि भूयोऽपि बध्नाति, तावत्सार्थात् स्फिटति, स्फिटितश्च स्तेनानां गम्यो भवति। बध्नतां खण्डानामन्तरेषु च कण्टकैर्विधेन बहुबन्धघर्षेण वा पादयोः गड्डो भवेत्, यत एवमतः पूर्वोक्तनीत्या खण्डद्वयं विधेयम्।

कथं पुनस्तद् बन्धनीयमित्याह-

तज्जायमतज्जायं, दुविहं तिविहं व बंधणं तस्स।
तज्जायम्मि वि लहुओ, तत्थ वि आणादिणो दोसा ॥

तस्य चर्मखण्डद्वयस्य तज्जातम् अतज्जातं वा बन्धनं भवति, तज्जातं नाम-तस्मिन् चर्मणि जातं, वध्र्यादिबन्धनमित्यर्थः। तद्विपरीतं दवरकादि अतज्जातम्। एतच्च द्विविधं त्रिविधं वा भवति, द्वौ वा त्रयो वा बन्धा दातव्या इति भावः। अत्र प्रथममतज्जातेन दवरकादिना बन्धनाय यदि तज्जातेन वध्र्यादिना बध्नाति ततो मासलघु, तत्राप्याज्ञादयो दोषा भवन्ति। बृ० ३ उ०। पं० भा०। अङ्गुष्ठाङ्गुल्योराच्छादनरूपे स्फुरके, जी० १ प्रति०। भ०। (मानुष्यदौर्लभ्ये चर्मदृष्टान्तः 'माणुसत्त' शब्दे वक्ष्यते)

चम्मकम्म (ण्)-चर्मकर्मन्-न०। चर्मनिर्माणपरिज्ञानात्मिकायां वंष्टिकलायाम्, कल्प० ७ क्षण। स०।

चम्मकरग-चर्मकरक-न०। गालनोपकरणे, "गालिति तयं तु करगेणं"। प्रासुकं द्रव्यं पानकं च चर्मकरकेण गालयन्ति। नि० चू० २ उ०।

चम्मकिड-चर्मकिट-न०। चर्मव्यूते खट्वादिके, भ० १३ श० ९ उ०।

चम्मकोस-चर्मकोश-पुं०। छविकोशे, तं०। पार्ष्णिकायां खल्लुकायाम्, आचा० २ श्रु० २ अ० ३ उ०।

अंगुट्ठ अवरफाणु, नहकोसगच्छेयणं तु जे वक्का।
ते छिन्नसंधणट्ठा, दुखंडसंधाणहेतुं वा ॥

चर्ममयः कोशः चर्मकोशः, सोऽङ्गुष्ठस्य, यदि वा 'अवरफाणु' पार्ष्णिका, तस्याः परिरक्षणाय ध्रियते। अथवा-नखरदनादेरौपग्रहिकोपकरणविशेषस्य चर्ममयः कोशश्चर्मकोशः, ये तु बन्धास्ते चर्मपरिच्छेदनकमित्युच्यन्ते, ते च छिन्नसंधानार्थमथवा द्विखण्डसंधानहेतोर्ध्रियन्ते। बृ० ७ उ०।

चम्मकोसिया–चर्मकोशिका–स्त्री० । शस्त्रक्षेपणकोत्थके, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

चम्मखंडिय–चर्मखण्डिक–पुं० । चर्मपरिधाने, चर्ममयं सर्वमेवोपकरणं यस्य स चर्मखण्डिकः । सर्वचर्मोपकरणे, अनु० । ग० । ज्ञा० ।

चम्मखेड–चर्मखेट–न० । कलाभेदे, स० ७२ सम० ।

चम्मग–चर्मक–न० । पादुकादौ, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । पं० भा० । आचा० ।

चम्मचक्खु–चर्मचक्षुष्–त्रि० । चर्मचक्षुर्भूते, अष्ट० २४ अष्ट० ।

चम्मच्छेयणग–चर्मच्छेदनक–न० । वर्ध्रपट्टिकायाम, पिप्पलकादौ च । ध० ३ अधि० । आचा० ।

चम्मट्ठिल–चर्माष्ठिल–पुं० । चर्मचटके, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चम्मतिग–चर्मत्रिक–न० । वर्ध्रतल्लिकाकृतिरूपे चर्मत्रये , ध० ३ अधि० ।

चम्मपक्खि (ण्)–चर्मपक्षिण्–पुं० । चर्ममयपक्षाः पक्षिणः चर्मपक्षिणः । वल्गुलीप्रभृतिषु पक्षिभेदेषु, स्था० ४ ठा० ४ उ० । सूत्र० । " से किं तं चम्मपक्खी ? । चम्मपक्खी अणेगविधा पण्णत्ता । तं जहा-वग्गुली जलोया अडिला भारंडपक्खी जीवंजीवा समुद्दवायसा कण्णत्तिया पक्खिविराली, जे यावण्णे तहप्पगारा, सेत्तं चम्मपक्खी । " जी० १ प्रति० ।

चम्मपट्ट–चर्मपट्ट–पुं० । वर्ध्रे, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

चम्मपणग–चर्मपञ्चक–न० । अजादिचर्मपञ्चके , (प्रव०)

अयएलगाविमहिसी–मिगाणमजिणं च पंचमं होइ ।
तलिगा खल्लग वद्धे, कोसग कित्ती अ वीअं तु ॥

अजाश्छगलिकाः, एडका अजविशेषाः, गावो महिष्यश्च प्रतीताः, मृगा हरिणाः, एतेषां संबन्धीनि पञ्च अजिनानि चर्माणि भवन्ति । अथवा-द्वितीयादेशेन इदं चर्मपञ्चकम् । यथा-(तलिग त्ति) उपानहस्ताश्च एकतलिकाः, तदभावे यावच्चतुस्तलिका अपि गृह्यन्ते, अचक्षुर्विषये रात्रौ गम्यमाने सार्थवशाद् दिवापि मार्गं मुक्त्वा उन्मार्गेण गम्यमाने स्तेनस्वापदादिभयेन त्वरितं गम्यमाने कण्टकादिसंरक्षणार्थमेताः पादयोः क्रियन्ते । यद्वा-कश्चित् सुकुमारपादत्वाक्रन्तुमसमर्थो भवति ततः सोऽपि गृह्णाति, तथा खल्लकानि पादत्राणानि, यस्य हि पादौ विचर्चिकात्वेन स्फटितौ भवतः, स मार्गं गच्छन् तृणादिभिर्दूयते । यद्वा-कस्यचित्सुकुमारपादत्वात् शीतेन पाण्योर्दिप्रदेशेषु विपादिकाः स्फुटन्ति , ततस्तद्रक्षणार्थं तानि पादयोः परिधीयन्ते । तथा (वद्ध त्ति) वर्ध्रास्ते च त्रुटितोपानहादिसंधानार्थं गृह्यन्ते । तथा कोशकश्चर्ममय उपकरणविशेषः, यदि हि कस्यचित्पादनखाः पाषाणादिषु प्रतिस्फलिताः भिद्यन्ते तदा तेषु कोशके स्वङ्गुल्योऽङ्गुष्ठौ वा क्षिप्यन्ते । अथवा-नखरदनिकाद्याधारः कोशकः, तथा कृत्तिर्मार्गादावनलभयात्कच्छन् यच्चर्म ध्रियते , यत्र वा प्रचुरः सचित्तः पृथिवीकायो भवति तत्र पृथिवीकाययतनार्थं कृत्तिमास्तीर्य अवस्थानादि क्रियते । यद्वा-कदाचित्तस्करमुषिता भवेयुस्ततोऽन्यप्रावरणाभावे तामपि प्रावृण्वन्तीत्येवं द्वितीयं यतिजनयोग्यं चर्मपञ्चकं भवति । प्रव० ८३ द्वार । पा० । आव० । बृ० । जीत० ।

चम्मपरिच्छेयणग–चर्मपरिच्छेदनक–न० । वर्ध्रे, तद्विच्छिन्नसंधानार्थम् अथवा-छिन्नखण्डसन्तानहेतोर्ध्रियते । व्य० ८ उ० ।

चम्मपाणि–चर्मपाणि–पुं० । चर्म अङ्गुष्ठाङ्गुल्योराच्छादनरूपं यस्य तस्य तथा । स्फुरकहस्ते, रा० । भ० ।

चम्मपाय–चर्मपात्र–न० । चर्मनिर्मिते पात्रे, आचा० २ श्रु० ६ अ० १ उ० ।

चम्मरयण–चर्मरत्न–न० । चर्मजातौ यद् वीर्यत उत्कृष्टं तच्चर्मरत्नम् । चक्रवर्तिनामेकेन्द्रियरत्नभेदे, स्था० ७ ठा० । स० । आ० चू० । चर्मरत्नं छत्रस्याधस्ताच्चक्रवर्तिहस्तस्पर्शप्रभावसंजातद्वादशयोजनायामविस्तारं प्रातरुप्ताऽपराह्णसंपन्नोपभोग्यशाल्यादिसंपत्तिकरम । प्रव० २१२ द्वार । (भरतचक्रिणोऽधिकारे एतत्स्वरूपं वक्ष्यते)

चम्मरुक्ख–चर्मवृक्ष–पुं० । वृक्षभेदे, भ० ८ श० ३ उ० ।

चम्मलक्खण–चर्मलक्षण–न० । कलाभेदे, औ० ।

चम्मेट्ठगा–चर्मेष्टिका–स्त्री० । चर्मनद्धपाषाणे, प्रश्न ३ आश्र० द्वार । इष्टिकाशकलादिभृतचर्मकुतुपे , यदाकर्षणेन धनुर्धरा व्यायामं कुर्वन्ति । उपा० ७ अ० । लोहमये लोहादिकुट्टनप्रयोजने लोहकाराद्युपकरणविशेषे, भ० १६ श० १ उ० " चम्मेट्ठगदुहणमोट्ठिय–समाहयनिचितगायकाए त्ति । " चर्मेष्टका इष्टिकाशकलादिभृतचर्मकुतुपरूपा, यदाकर्षणेन धनुर्धरा व्यायामं कुर्वन्ति, द्रुघणको मुद्गरो, मौष्टिको मुष्टिप्रमाणः प्रोतचर्मरज्जुकः पाषाणगोलकस्तैः समाहतानि व्यायामकरणे प्रवृत्तौ सत्यां ताडितानि निचितानि गात्राण्यङ्गानि यत्र स तथा एवंविधः कायो यस्य स तथा । अनेनाभ्यासजनितं सामर्थ्यमुक्तम । उपा० ७ अ० । रा० । जी० ।

चय–त्यज्–धा० । हानौ, त्यजेश्चयादेशः 'चयइ' त्यजति । शक्–स० धा० । " शकेश्चयतरतीरपाराः " । ८ । ४ । ८६ । इति शकेश्चयादेशः । ' चयइ ' शक्नोति । प्रा० ४ पाद ।

जत्थ एगे विसीयंति, ण चयंति जावित्तए । [१]

इहोपसर्गपरिज्ञाध्ययने उपसर्गाः प्रतिपादिताः, ते चानुकूलाः प्रतिकूलाश्च । तत्र प्रथमोद्देशके प्रतिकूलाः प्रतिपादिताः, इह त्वनुकूलाः प्रतिपाद्यन्ते । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ० ।

चय–पुं० । चयनं चयः । पिण्डीभवने, अनु० । वृद्धौ, आचा० १ श्रु० १ अ० ५ उ० । आ० म० । परमाणूपचयाश्चयः । संघाते, ओघ० । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० । शरीरे, आव० ५ अ० । विपा० । देवभवसंबन्धिनि देहे, विपा० २ श्रु० १ अ० ।

च्यव–पुं० । च्यवने , स्था० ८ ठा० । ज्ञा० । भ० । नि० ।

चयंत–शक्नुवत्–त्रि० । सामर्थ्यं भजमाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

चयण–चयन–न० । कुशलकर्मण उपचयकरणे, प्रव० २ द्वार । भ० । कषायादिपरिणतस्य कर्मपुद्गलोपादानमात्रे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । विशे० ।

च्यवन–न० । च्युतिश्च्यवनम् । वैमानिकज्योतिष्काणां मरणे, " एगे चयणे " च्यवनमेकजीवापेक्षया नानाजीवापेक्षया च

पूर्ववदिति । स्था० १ ठा० १ ७० । " दोरहं चयणे पसत्ते । तं जहा-जोइसियाणं चेव वेमाणियाणं," इच्युतिश्च्यवनं, मरणमित्यर्थः । तच्च ज्योतिष्कवैमानिकानामेव व्यपदिश्यते । स्था० २ ठा० ३ उ० ।

इच्चेएहिं तिहिं ठाणेहिं दो देवे चइस्सामीति जाणइ विमाणाभरणाइं णिप्पभाइं पासित्ता कप्परुक्खगं मिलायमाणं पासित्ता अप्पणो तेयलेस्सं परिहायमाणं जाणित्ता ॥

विमानाभरणानां निष्प्रभत्वमौत्पातिकं, तच्चक्षुर्विभ्रमरूपं वा (कप्परुक्खगं ति) चैत्यवृक्षम (तेयलेस्सं ति) शरीरदीप्तिं,सुखासिकां वा, "इच्चेएहिं" इत्यादि निगमनम्। भवन्ति च एवंविधानि लिङ्गानि देवानां च्यवनकाले। उक्तं च-"माल्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीह्रीनाशो वाससां चोपरागः। दैन्यं तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गौ, दृष्टिभ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च "॥ १ ॥ इति । स्था० ३ ठा० ३ ७० ।

देवे णं भंते ! महड्ढिए महज्जुइए महब्बले महाजसे महेसक्खे महाणुभावे अविउक्कंतियं चयमाणे किंचि कालं हिरिवत्तियं दुगुंछावत्तियं परिसहवत्तियं आहारं नो आहारेइ, अहे णं आहारेइ आहारिज्जमाणे आहारिए परिणामिज्जमाणे परिणामिए पहीणे य आउए भवइ जत्थ उववज्जइ तमाउयं पडिसंवेएइ तं तिरिक्खजोणियाउयं वा मणुस्साउयं वा ?। हंता गोयमा ! देवे णं महड्ढिए० जाव मणुस्साउयं वा ॥

(महड्ढिए त्ति) महर्द्धिको विमानपरिवाराद्यपेक्षया (महज्जुइए त्ति) महाद्युतिकः शरीराभरणाद्यपेक्षया (महब्बले त्ति) महाबलः शारीरप्राणापेक्षया (महाजस त्ति) महायशाः बृहत्प्रख्यातिः (महेसक्खे त्ति) महेशो महेश्वर इत्याख्याऽभिधानं यस्यासौ महेशाख्यः।"महासोक्खे त्ति" क्वचित्। (महाणुभावे त्ति) महानुभावो विशिष्टवैक्रियादिकरणाचिन्त्यसामर्थ्यः (अविउक्कंतियं चयमाणे त्ति) च्यवमानता किलोत्पत्तिसमयेऽप्युच्यते इत्यत आह-व्युत्क्रान्तिरुत्पत्तिस्तन्निषेधादव्युत्क्रान्तिकम , अथवा-व्यवक्रान्तिर्मरणं तन्निषेधादव्यवक्रान्तिकम्, तद्यथा भवत्येवं च्यवमानो जीवन्नेव मरणकाल इत्यर्थः। " अविउक्कंतियं चयं चयमाणे त्ति " क्वचिद् दृश्यते । तत्र चयं शरीरम् ' चयमाणे त्ति ' त्यजन् (किंचिकालं ति) कियन्तमपि कालं, यावन्नाहारयेदिति योगः । कुत इत्याह-ह्रीप्रत्ययं लज्जानिमित्तम् , स हि च्यवनसमयेऽनुपक्रान्त एव पश्यत्युत्पत्तिस्थानमात्मनो दृष्ट्वा च तदेव भवविसदृशं पुरुषपरिभुज्यमानस्त्रीगर्भाशयरूपं जिह्रेति, ह्रिया च नाहारयतीति । तथा जुगुप्साप्रत्ययं कुत्सानिमित्तम्, शुक्रादेरुत्पत्तिकारणस्य कुत्साहेतुत्वात् । (परिसहवत्तियं ति) इह प्रक्रमात्परीषहशब्देनारतिपरीषहो ग्राह्यः, ततश्चारतिपरीषहनिमित्तं, दृश्यते चारतिप्रत्ययाल्लोकेऽप्याहारग्रहणवैमुख्यमिति । आहारं मनसा तथाविधपुद्गलोपादानरूपम् । (अहे णं ति) अथ लज्जादिक्षणानन्तरमाहारयति, बुभुक्षावेदनीयस्य चिरं सोढुमशक्यत्वादिति । " आहारिज्जमाणे आहारिए " इत्यादौ भावार्थः प्रथमसूत्रवत्, अनेन च क्रियाकालनिष्ठाकालयोरभेदाभिधानेन तदीयाहारकालस्याल्पतोक्ता, तदनन्तरं (पहीणे य आउए भवइ त्ति) चः समुच्चये, प्रक्षीणं प्रहीणं वा आयुर्भवति, ततश्च यत्रोत्पद्यते मनुजत्वादौ (तमाउय त्ति) तस्य मनुजत्वादेरायुस्तदायुः, प्रतिसंवेदयत्यनुभवतीति । " तिरिक्खजोणियाउयं च " इत्यादौ देवनारकायुषोः प्रतिषेधो, देवस्य तत्रानुत्पादादिति। भ० १ श० ७ उ० । हस्तपादादेर्दैशक्षये, तं० । व्याख्यानान्तरेण कवने, स्था० २ ठा० १ उ० । चं० प्र० ।

चयणकप्प-च्यवनकल्प-पुं० । च्यवनं चारित्रात् प्रतिपतनं, तस्य कल्पः प्रकारश्च्यवनकल्पः । पार्श्वस्थादिविहारे, ग० १ अधि० ।

पार्श्वस्थादिषु गच्छतः सामाचार्याम्-

संखेवसमुद्दिट्ठं, एत्तो वोच्छं चयणकप्पं ॥
आहारोवहिसेज्जा, तिकरणसोहीएँ जाहेँ परितंतो ।
पग्गहितविहारातो, तो चवती विसयपडिबद्धो ॥
कोति विसेसं बुज्झति, पसत्थठाणा अहं परिब्भट्ठो ।
अंधत्तेणं कोती, ण बुज्झए मंदधम्मत्तं ॥
दव्वे भावे अंधो, दव्वे चक्खूहिँ भावेँ ओसण्णो ।
संविग्गत्तं ण रोयति, णितियाइ पहाणमिच्छंतो ॥
जत्तो चुओ विहारा, तं चेव पसंसते सुलभबोही ।
ओसण्णविहारं पुण, पसंसए दीहसंसारी ॥
आहारोवहिसेज्जा, णीयावासो वि तिकरणविसोही।
तह भावंधा केई-मं तु पहाणं ति घोसंती ॥
णीया वि विहारम्मि वि,जदि कुणती णिग्गहं कसायाणं ।
तस्स हु भवते सिद्धी, अवितह सुत्ते भणियमेयं ॥
बहुमोहे वि हु पुव्विं, विहरित्ता संवुडे कुणति कालं ।
सो सिज्झति अचिरइए, पुरिसज्जाता भवे चउरो ॥
णाणेणं संपण्णो,णो तु चरित्तेण एत्थ चउभंगो ।
तेणेसेव पहाणो, एवं भासंति णिद्धम्मा ॥
तम्हा तु न एताइं, कुज्जा आलंबणाइ मतिमं तु ।
कुज्जा हि पसत्थाइं, इमाइँ आलंबणाइं तु ॥
तित्थगराण चरित्तं, कसिणं वा गणधराणं च ।
जो जाणति सद्दहती, ओसण्णं सो ण रोएति ॥
धुवसिज्झितव्वगम्मि वि,तित्थगरो जदि तवम्मि उज्जमति।
किं पुण तवेँ उज्जोगो, अवसेसेहिं न कायव्वो ?॥
चोद्दसपुव्वी कसिणं-गपारगा तेसि जो उ उज्जोगो ।
तं जो जाणति सो खलु, संविग्गविहार सद्दहते ॥
पमादी आलंबण, काउं संविग्गगं तु रोएति ।
को पुण ओसण्णत्तं, रोएती भण्णते इमं तु ॥
सुत्तत्थतदुभए कम-जोगी ओसण्णरोयओ होज्जा ।
अहवा दुग्गहियत्थो, अहवा वी मंदधम्मत्ता ॥
असमाणी कडजोगी, दुग्गहियत्थो तु जेण अववादो ।

गाहिओ ण वि उस्सग्गो, गाहितो वा मंदधम्मो तु ॥
सो रोए ओसरणं, इति एसो वरिणओ चयणकप्पो ।
पं० भा० ॥

इयाणिं चयणकप्पो । गाहा-(आहारोवहिं) जो आहारोवहिं नियत्तइ सेजाए ताणाहाराईणि जाहे उग्गमाइसु सो हेउ परितंतो भवइ ताहे तओ पग्गहियविहाराओ, पग्गहिओ नाम-गीयत्थसंविग्गविहारो, ताओ चयमाणो पासत्थाइसु गच्छइ जिब्भाइविसयपडिबद्धो । गाहा-(कोइ विसेसं) कोइ पुण पासत्थाइसु गंतुं पि विसेसं जाणइ, जहाऽहं मंदपुत्तो जाओ इहलोगपडिबद्धो परलोगनिप्पिवासो किंपागफलोवमेसु विसएसु अहिलासं करोमि, साहुणो परिक्कमंति, एस पसंसिओ, कोइ पुण अन्नाणभावंधत्तेण ण बुज्झइ, मंदधम्मयाए वा-किं वा ते अब्भहियं करेंति गीयत्थसंविग्गा । गाहा-(जत्तो चुओ) चुओ नाम प्रभ्रष्ट इत्यर्थः । संविग्गविहाराओ तं चेव पसंसए सुलभबोहीओ, जो पुण दीहसंसारी सो ओसन्नमेव पसंसइ । गाहा-(आहारोवहिसेज्जा-णीयावासो तिकरणविसोहि त्ति) उग्गमसुप्पायणेसणाइसु जा तिकरणविसोही भणाइ करणं तहेव दुरणुचरं अचयंतो अणुपालेउं इमं चेव पहाणं ति घोसइ, नवरि कसाया न कायव्वा तं मूलिया सोही असोही वा भणंति च वहुमोहे वि य पुव्विं विहरित्ता नाणसंपन्ने नामेगे नो चरणे, जहा अट्ठमे सए, नो एवमालंबणं कायव्वं । किं पुण कायव्वं?। गाहा-(तित्थगराण चरित्तं) जहा भगवया अवस्ससिज्झियव्वे वि तवे उज्जमियं, किं पुण अवसेसएहिं साहूहिं सपच्चवाए माणुस्से,तहा कसिणं गणधराणं चरियं चोद्दसपुव्वीणं, जो एएसिं विहारं सद्दहइ सो ओसन्नविहारं ण रोएइ, गाहा-(सुत्तत्थ) को पुण ओसन्नविहारं रोएति ?, जो सुत्तत्थे तदुभएसु च कडओगी, अकृ इत्यर्थः । सो ओसन्नं रोएज्जा, कुगहियत्थो नाम-जेण अववायपयाणि गहियाणि न उस्सग्गो पयइए, मंदधम्मो वा सो रोएज्जा, एस चयणकप्पो । पं० चू० ।

चयणमुह-च्यवनमुख-त्रि० । मरणमुखे, तं० ।

चयणोववाय-च्यवनोपपात-पुं० । च्यवने उपपाते, चं० प्र० १५ पाहु० । (चन्द्रसूर्य्ययोश्च्यवनोपपातौ 'ओइसिय' शब्दे वक्ष्यते)

चयावचइय-चयापचयिक-न० । इष्टाहारोपभोगतया धृत्युपष्टम्भादौदारिकवर्गणापरमाणूपचयाच्चयः, तदभावेन तद्विघट्टनादपचयः । चयापचयौ विद्येते यस्य तच्चयापचयिकम् । तथाविधे शरीरे, " एयं असासयं चयोवचइयं विपरिणामधम्मं पासह" । आचा० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

चयोवचय-चयोपचय-पुं० । अधिकत्वेन वृद्धौ, हीनत्वेनापकृष्टौ च । सू० प्र० १ पाहु० ।

चर-चर-पुं० । चरणे, दर्श० । आ० चू० । स्था० । आ० म० । आचा० ।

चरंत-चरत्-त्रि० । विहरति, उत्त० २ अ० । अटति, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । विश्वं व्याप्नुवति, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चरंती-चरन्ती-स्त्री० । यस्यां दिशि भगवानर्हन् विहरति तस्याम, (व्य०) तथा तिस्रो दिशः प्रशस्ता आशाः । तद्यथा-पूर्वा, उत्तरा, चरन्ती । चरन्ती नाम-यस्यां भगवानर्हन्विहरति सामान्यतः केवलज्ञानी मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी चतुर्दशपूर्वी त्रयोदशपूर्वी यावन्नपूर्वी । यदि वा-यो यस्मिन् युगे प्रधान आचार्यः स प्रतिदारिकान् यथा विहरति । व्य० १ उ० ।

चरग-चरक-पुं० । धाटिभिक्षाचरे, ज्ञा० १ श्रु० १५ अ० । परिव्राजकविशेषे, दश० १ अ० । व्य० । संघाटिवाहकाः सन्तो ये भिक्षां चरन्ति ये भुञ्जानाश्चरन्ति । ग० २ अधि० । ये धावितभैक्षोपजीविनः । अथ वा कच्छोटकादयः । प्रज्ञा० २० पद । दंशमशकादौ च । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । चरगतिभक्षणयोः । भावे-ल्युट् । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० ।

चरण-चरण-न० । गमने, ग० १ अधि० । प्रव० । आ० म० । स्था० । आव० । अतिशयगमने, नं० । विहरणे,सूत्र० १ श्रु० १० अ० २ उ० । अवस्थाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ० । संयमानुष्ठाने, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । सेवने, जी० ३ प्रति० ।

चरणनिक्षेपमाह-

चरणे छक्को दव्वे, गइए चेव भक्खणे चरणं ।
खित्ते काले जम्मि व, भावे उ गुणाण आयरणं ॥

चरणविषयः षट्परिमाणम षट्करूपो निक्षेपः,तत्र नामस्थापने गतार्थे, द्रव्ये गतिरूपं चरणं, चरगतिभक्षणयोरिति । तथा (खेत्ते काले जम्मि त्ति) यस्मिन् क्षेत्रे काले वा चरणं चर्य्यते व्यावर्ण्यते वा तत् क्षेत्रचरणं,कालचरणं चेति प्रक्रमः। भावे तु गुणानां मूलोत्तरगुणरूपाणामाचरणमासेवनमिति गाथार्थः । उत्त० १५ अ० । चरणं नामादिभेदात् षोढा, तत्र द्रव्यचरणं त्रिधा भवति, गतिभक्षणगुणभेदात् । तत्र गतिचरणं गमनमेव, आहारचरणं मोदकादेः । गुणचरणं द्विधा-लौकिकं, लोकोत्तरं च । लौकिकं यत् द्रव्यार्थं हस्तिशिक्षादिकं वैद्यकादिकं वा शिक्षन्ते, लोकोत्तरं साधूनामनुपयुक्तचरणमुदायिनृपमारकादेर्वा, क्षेत्रचरणं यस्मिन् क्षेत्रे गत्याहारादि चर्य्यते व्याख्यायते वा शब्दसामान्यान्तर्भावाद्वा शालिक्षेत्रादिचरणमिति । कालेऽप्येवमेव, भावे भावचरणमपि गत्याहारगुणभेदात् त्रिधा, तत्र गतिचरणं-साधोरुपयुक्तस्य युगमात्रदत्तदृष्टेर्गच्छतः, भक्षणचरणमपि शुद्धं पिण्डमुपभुञ्जानस्य, गुणचरणमप्रशस्तं मिथ्यादृष्टिसम्यग्दृष्टीनामपि सनिदानं प्रशस्तं तेषामेव कर्मोद्वेष्टनार्थं मूलोत्तरगुणकलापविषयम । आचा० १ श्रु० १ अ०१ उ० । भक्षणे, वाच० । चर्य्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते इति चरणम । अथवा-चर्य्यते गम्यते प्राप्यते भवोदधेः परं कूलमनेनेति चरणम । व्रतश्रमणधर्मादिषु मूलगुणेषु, विशे० । ज्ञा० । आव० । आ० चू० । सूत्र० । नं० । आ० म० । म० । ओघ० ।

" चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।
चरणकरणस्स सारं, णिच्छयसुद्धं न याणंति " ॥

चरणं श्रमणधर्मः ।

" वयसमणधम्मसंयम, वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ ।
णाणाइतियं तवकोहनिग्गहाई चरणमेयं ॥ " इति ।

सम्म० ३ काण्ड । आ० म० । ज्ञा० । " सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं १, सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं २, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ वेरमणं ३, सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ४, स-

ण्हाओ परिग्गहाओ वेरमणं ५" इति व्रतानि। "दसविधे समणधम्मे पण्णत्ते। तं जहा-खंती १ मुत्ती २ अज्जवे ३ मद्दवे ४ लाघवे ५ सच्चे ६ संजमे ७ तवे ८ चियाए ९ बंभचेरवासे १०।" क्रोधजयः १, निर्लोभता २ मायात्यागः ३ अहंकारत्यागः ४ परिग्रहत्यागः ५ सत्यं ६ प्राणातिपातविरमणरूपः ७ तपः ८ त्यागः सुविहितेभ्यो वस्त्रादिदानरूपः ९ ब्रह्मचर्यम् १० इति श्रमणधर्मः। पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाणां पालनान्नव भेदाः ९, अजीवसंयमः पुस्तकचर्मपञ्चकादीनामनुपभोगो यतनया परिभोगो वा हिरण्यादित्यागो वा १० प्रेक्षासंयमः स्थानादि यत्र चिकीर्षेत् तत्र चक्षुषा प्रेक्षां कुर्यात् ११ उपेक्षासंयमो व्यापारविषयतया द्वेधा तत्र सदनुष्ठाने सीदतः साधूनुपेक्षेत, प्रेरयेदित्यर्थः। गृहिणस्तु आरम्भे सीदतः उपेक्षेत,न व्यापारयेत् १२ प्रमार्जनासंयमः पथि पादयोर्वसत्यादेश्च विधिना प्रमार्जनं १३ परिष्ठापनासंयमः अविशुद्धभक्तोपकरणादेर्विधिना त्यागः १४ मनोवाक्कायसंयमाः अकुशलानां मनोवाक्कायानां निरोधाः १५ श्रीउमास्वातिवाचकपादैस्तु संयमभेदाः प्रशमरतावेवमुक्ताः "पञ्चाश्रवाद्विरमणं, पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजयः। दण्डत्रयविरतिश्चे-ति संयमः सप्तदशभेदः ॥१॥" इति संयमः। "दसविधे वेयावच्चे पण्णत्ते। तं जहा-आयरियावच्चे १ उवज्झाय २ थेर ३ तवस्सि ४ गिलाण ५ सेह ६ कुल ७ गण ८ संघ ९ वेयावच्चे साहम्मियवेयावच्चे १०॥" इति वैयावृत्यम्। "नव बंभचेरगुत्तीओ पण्णत्ताओ। तं जहा-विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवति, नो इत्थिसंसत्ताइं नो पसुसंसत्ताइं नो पंडगसंसत्ताइं १ नो इत्थीणं कहं कहेत्ता हवइ।" नो स्त्रीणां केवलानां कथां धर्मदेशनादिलक्षणवाक्यप्रतिबन्धरूपाम् २ "नो इत्थिठाणाइं सेवेत्ता भवति। ठाणं निषद्या ३, णो इत्थीणं मणोहराइं मणोरमाइं इंदियाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ ४, णो पणीयरसभोई ५, णो पाणभोयणस्स अइमायमाहारए सया भवति ६, णो पुव्वरयं पुव्वकीलियं सरित्ता भवइ ७, णो सद्दाणुवाती णो रूवाणुवाई णो सिलोगाणुवाई ८, णो सायासोक्खपडिबद्धे यावि भवइ ९ इति ब्रह्मगुप्तयः। ज्ञानदर्शनचारित्रलक्षणं ज्ञानादित्रिकं तपो द्वादशधा पूर्वोक्तम् १२, क्रोधमानमायालोभत्यागः ४ क्रोधादिनिग्रह इति चरणम्। ग० १ अधि०। सप्ततिसंख्याश्चरणस्य चारित्रस्य भेदा भवन्तीति, चरणसप्ततिसंज्ञा इत्यर्थः। अत्रायं विनेकः—चतुर्थव्रतान्तर्गतत्वेऽपि नवब्रह्मगुप्तीनां पृथगुपादानं तुर्यव्रतस्य निरपवादत्वसूचनार्थम्। यत उक्तमागमे-" न य किंचि अणुण्णायं, पडिसिद्धं वा वि जिणवरिंदेहिं। मुत्तुं मेहुणभावं, न विणा तं रागदोसेहिं ॥१॥" तथा व्रतग्रहणेन चारित्रस्य गतार्थत्वेऽपि ज्ञानादित्रिके चारित्रग्रहणं शेषचतुर्विधचारित्रसंग्रहार्थं, व्रतशब्देन सामायिकादिपञ्चविधचारित्रस्यैकांशरूपसामायिकाभिधेयत्वेन शेषचतुर्विधचारित्राग्रहणात् तथा श्रमणधर्मान्तर्भूतत्वेऽपि संयमतपसोः पृथगुपन्यासस्तयोर्मोक्षाङ्गं प्रति प्राधान्यख्यापनार्थम्। दृष्टश्चायं न्यायः-यथा ब्राह्मणा आयाता वसिष्ठोऽप्यायात इत्यादि। प्राधान्यं च तयोः क्रमेणापूर्वकर्माश्रवनिरोधहेतुत्वेनानशनादिभ्योऽतिशायित्वोपदर्शनार्थं, तथा श्रमणधर्मग्रहणेन गृहिणामपि क्रोधनिग्रहादीनां पृथगुपादानम्, उदयप्राप्तक्रोधादीनां निष्फलीकरणं क्रोधादिनिग्रह इति व्याख्यानात्, क्षान्त्यादीनां तु उदीर्णक्रोधाद्यनुदयरूपत्वात्। अथवा-क्षान्त्यादयो ग्राह्याः, क्रोधादयो हेय इति भेदात् इत्युक्ता मूलगुणाः। ध० ३ अधि०। दश०। चर्यते इति चरणम्। चारित्रे, उत्त० १ अ०। सूत्र०। नं०। सर्वतो देशतश्च चारित्रे, विशे०। चारित्रक्रियायाम्, अनु०। सूत्र०। आचा०। विशे०। उत्त०। दर्श०। विरतिपरिणामे, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०। दर्श०। समग्रविरतिरूपे चारित्रे, दश० ३ अ०। सकलयतिसमाचाराचरणे, दर्श०। चरणं त्रिविधं त्रिप्रकारम्। तद्यथा-क्षायिकम्, औपशमिकम्, क्षायोपशमिकं च। तत्र क्षायिकं सम्यक्त्वं क्षायिकसम्यग्दृष्टेः,औपशमिकमुपशमश्रेण्यां शेषकालं क्षायोपशमिकं चरणमपि क्षायिकं, क्षपकनिर्ग्रन्थस्य औपशमिकमौपशमिकश्रेण्यामन्यदा क्षायोपशमिकम्। व्य० २ उ०। विशे०।

तस्स वि सारो चरणं,सारो चरणस्स निव्वाणं ॥११२९॥

तस्याऽपि श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणं,सारशब्दोऽत्र फलवचनः प्रधानवचनश्च मन्तव्यः, तस्य फलं चरणम्। यदि वा-तस्मादपि श्रुतज्ञानाच्चरणं प्रधानम्, न तु चरणं नाम संवररूपा क्रिया, क्रिया च ज्ञानाभावे हता "हया अन्नाणओ किरिया" इतिवचनात्, ततो ज्ञानक्रियाभ्यां समुदिताभ्यामेव मोक्ष इति समानत्वमेवोभयोः,कथं ज्ञानस्य सारश्चरणमिति ?। उच्यते-इह यद्यपि 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इति समानं ज्ञानचरणयोर्निर्वाणहेतुत्वमुपन्यस्तं, तथाऽपि गुणप्रधानभावोऽस्ति। तथा ज्ञानं प्रकाशकमेव, "नाणं पयासयमिति" वचनात्, चरणं त्वभिनवकर्मादाननिरोधफलं, प्रागुपात्तकर्मनिर्जराफलं च, ततो यद्यपि ज्ञानमपि प्रकाशकतयोपकारीति ज्ञानचरणरूपद्विकाधीनो मोक्षस्तथापि प्रकाशकतयैव व्याप्रियते ज्ञानं, कर्ममलशोधकतयाऽनुचरणमिति प्रधानगुणभावाच्चरणं ज्ञानस्य सारः। उक्तं च-" नाणं पयासयं वी, गुत्तिविसुद्धिफलं च जं चरणं। मोक्खो य दुगाहीणो, चरणं नाणस्स तो सारो ॥११३०॥" अपिशब्दात्सम्यक्त्वस्यापि सारश्चरणम्। अथवा अपिशब्दस्य व्यवहितः संबन्धः,तस्य श्रुतज्ञानस्य सारश्चरणमपि, अपिशब्दान्निर्वाणमपीत्यर्थः। अन्यथा ज्ञानस्य निर्वाणहेतुता न स्यात्, किं तु चरणस्यैव, अनिष्टं चैतत्, 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'। तथा-" नाणकिरियाहिं मोक्खो " इत्यादिवचनात्केवलं सा ज्ञानस्य निर्वाणहेतुता गौणतया प्रतिपत्तव्या, मुख्यतया तु चरणस्य, यतः केवलज्ञानलाभेऽपि न तत्क्षणमेव मुक्तिरुपजायते, किं तु शैलेश्यवस्थाचरमसमयभाविचरणप्रतिपत्त्यनन्तरमतो मुख्यं कारणं निर्वाणस्य चरणम्। तथा चोक्तम्-"जं सव्वनाणलंभा-नंतरमहवा न मुक्खपसओ। मुच्चइ य सव्वसंवर-लाभे तो सो पहाणयरो" ॥ तत उक्तं तस्य सारश्चरणमिति। तथा " सारो चरणस्स निव्वाणं" इत्यत्र सारशब्दः फलवचनः,चरणस्य संयमतपोरूपस्य सारः फलं निर्वाणम्। इहापि शैलेश्यवस्थाभाविसर्वसंवररूपचारित्रमन्तरेण निर्वाणस्य भावात्तद्भावे चावश्यं भावादिति प्रधानभावमधिकृत्य उपन्यस्तम्,अन्यथा शैलेश्यवस्थायामपि क्षायिकज्ञानदर्शने स्त इति सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयस्य समुदितस्यैव निर्वाणहेतुत्वमिति।

तथा चाह नियुक्तिकारः-

सुयनाणम्मि वि जीवो,वट्टंतो सो न पाउणइ मोक्खं।
जो तवसंजममइए, जोगे न चएइ वोढुं जे ॥ ११४१ ॥

श्रुतज्ञाने, अपिशब्दान्मत्यादिष्वपि ज्ञानेषु, जीवो वर्तमानः सन्न प्राप्नोति मोक्षमित्यनेन प्रतिज्ञार्थः सूचितः । यः किंविशिष्ट इत्याह-यस्तपःसंयममयान् तपःसंयमात्मकान् योगान्न शक्नोति वोढुमित्यनेन हेत्वर्थः । " जे " इति पादपूरणे, " इजेराः पादपूरणे । " । ८ । ३ । २१७ । इति वचनात् । दृष्टान्तस्तु स्वयमभ्यूह्यः। वक्ष्यति वा प्रयोगः-न ज्ञानमेवेप्सितार्थप्रापकं, सत्क्रियाविरहात्, स्वदेशप्राप्त्यभिलषितगमनक्रियाशून्यमार्गज्ञज्ञानवत् । सौत्रो वा दृष्टान्तः-मार्गज्ञनिर्यामकाधिष्ठितोप्सितादिक्संप्रापकपवनक्रियाशून्यपोतवत् ।

तथा चाह—

जह छेयलद्धनिज्जा-मगो वि वाणियगइच्छियं भूमिं ।
वाएण विणा पोतो, न चएइ महण्णवं तरिउं ॥११४५॥
तह नाणलद्धनिज्जा-मगो वि सिद्धिवसहिं न पाउणइ।
निउणो वि जीवपोओ,तवसंजममारुयविहूणो ॥११४६॥

यथा येन प्रकारेण छेको दक्षो लब्धः प्राप्तो निर्यामको येन पोतेन स तथाविधः, अपिशब्दात् सुकर्णधाराद्यधिष्ठितोऽपि, वणिज इष्टा वणिगिष्टा, तां भूमिं, महार्णवं तीर्त्वा वातेन विना पोतो न शक्नोति, प्राप्तुमिति वाक्यशेषः । उपनयमाह-तथा श्रुतज्ञानमेव लब्धो निर्यामको येन जीवपोतेन स तथाविधः, अपिशब्दात् सनिपुणमतिकर्णधाराद्यधिष्ठितोऽपि संयमतपोनियमरूपेण मारुतेन विहीनो निपुणोऽपि जीवपोतो भवार्णवं तीर्त्वा सन्मनोरथवणिजोऽभिप्रेतां सिद्धिवसतिं न प्राप्नोति, तस्मात्तपःसंयमानुष्ठाने खल्वप्रमादवता भवितव्यम् ।

तथा चार्थौपदेशिकमेव गाथासूत्रमाह-

संसारसागराओ, उच्चूढो मा पुणो निबुड्डेज्जा ।
चरणगुणविप्पहीणो, वुड्डइ सुबहुं पि जाणंतो ॥११४७॥

अस्याः पदार्थो दृष्टान्ताऽभिधानद्वारेण प्रोच्यते । यथा नाम कश्चित्कच्छपः प्रचुरतृणपत्रपटलानिविडतमशैवलाच्छादितोदकान्धकारमहाह्रदान्तर्गतो विविधानेकजलचरक्षोभादिव्यसनपरम्पराव्यथितमानसः सर्वतः परिभ्रमन् कथमपि शैवालरन्ध्रमासाद्य तेनैव च तत उपरि विनिर्गत्य शरदि पार्वणचन्द्रचन्द्रिकास्पर्शसुखमनुभूय भूयोऽपि स्वबन्धुस्नेहाकृष्टचेतोवृत्तिस्तेषामपि तपस्विनामदृष्टकल्याणानामहमिदं सुरलोककल्पं किमपि दर्शयामीत्यवधार्य तस्मिन्नेव ह्रदमध्ये निमग्नः, ततः समासादितबन्धुवर्गः तद्दर्शननिमित्तं विवक्षितरन्ध्रोपलब्धये पर्यटन् अपश्यंश्च कष्टतरं व्यसनमनुभवति स्म, एवमयमपि जीवकच्छपोऽनादिकर्मपटलसन्तानाच्छादितान्मिथ्यादर्शनादितमोगुणाद् विविधशिरोनेत्रकर्णवेदनाज्वरकुष्ठभगन्दरादिशरीरेष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगादिमानसदुःखजलचरसमूहानुगतात्, संसरणं संसारो, भावे घञ्प्रत्ययः, स एव सागरस्तस्मात् परिभ्रमन् कथञ्चिदेव मनुष्यभवप्राप्तियोग्यकर्मोदयलक्षणं रन्ध्रमासाद्य मनुष्यत्वप्राप्त्या उन्मग्नः सन् जिनचन्द्रवचनकिरणावबोधमसाद्य दुष्प्रापोऽयं जिनवचनबोधिलाभ इत्येवंजानानः स्वजनस्नेहविषयातुरचिन्तया मा पुनः कूर्मवत् तत्रैव निमज्जेत् । आह-अज्ञानी कूर्मोऽतो निमज्जति, इतरस्तु हिताहितप्राप्तिपरिहारज्ञो ज्ञानी, ततः कथं निमज्जति ? । तत आह—चरणगुणैर्विविधमनेकप्रकारं प्रकर्षेण हीनश्चरणगुणविप्रहीणस्ततः सुबह्वपि जानन् निमज्जति । आ० म० प्र० । आ० चू० । विशे० । पादे, वेदैकदेशशाखारूपे ग्रन्थे, तदध्येतरि जने, गोत्रे, वाच० । केनापि यजमानेन वेदान्तर्गतग्रन्थविशेषाध्ययननिमित्तं चरणशब्दवाच्येभ्यश्चतुर्भ्यो ब्राह्मणेभ्यः । विशे० । चतुर्णां चरणानां चतुर्वेदब्राह्मणानामिति । बृ० १ उ० ।

चरणकरणपरिहीण-चरणकरणपरिहीन-त्रि० । व्रतादिना पिण्डविशुद्ध्यादिना च परिहीनः । मूलोत्तरगुणहीने, बृ० ३ उ० ।

चरणकरणपारविअ-चरणकरणपारवित्-त्रि० । चर्यते इति चरणं मूलगुणाः, क्रियत इति करणमुत्तरगुणाः, तेषां पारं तीरं पर्यन्तगमनं, तद्वेत्तीति चरणकरणवित् । मूलोत्तरगुणपारज्ञे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० । चरणकरणयोरनुयोगश्चरणकरणानुयोगः । द्रव्या० २ अध्या० ।

चरणकरणाणुओग-चरणकरणानुयोग-पुं० । द्विचत्वारिंशद्दूषणरहितपिण्डग्रहणादौ, द्रव्या० ।

शुद्धान्नादिस्तनुर्योगो, महान द्रव्यानुयोगजः ।
इत्थं धोमशकाद् ज्ञात्वा, विदधीत शुभादरम् ॥ ३ ॥

शुद्धान्नादिः शुद्धाहारग्रहणस्य, अर्थाच्चरणकरणानुयोगाख्यो योगो द्विचत्वारिंशद्दूषणरहितपिण्डग्रहणो योगस्तनुर्लघुः कथितः, तथा द्रव्यानुयोगः स्वसमयपरसमयपरिज्ञानं, तदाख्यो योगो द्रव्यानुयोगजो योगो महान् महत्तरः कथितः ॥ ३ ॥ द्रव्या० १ अध्या० ।

चरणकरणप्पहाणा, ससमयपरसमयमुक्कवावारा ।
चरणकरणस्स सारं, णिच्छियसुद्धं न याणंति ॥ १६४॥

चरणकरणयोश्चारित्रात्मकत्वात् द्रव्यपर्यायात्मकजीवादितत्त्वावगमस्वभावरुच्यभावेऽभावादथ चरणकरणयोः सारं निश्चयेन शुद्धं सम्यग्दर्शनं ते न जानन्ति । न हि यथावस्थितवस्तुतत्त्वावबोधमन्तरेण तद्रुचिः न च स्वसमयपरसमयतात्पर्यार्थानवगमे तदवगमे तदवबोधो घोटिकादिरिव संभवी । अथ जीवादिद्रव्यार्थपर्यायार्थापरिज्ञानेऽपि यदर्हद्भिरुक्तं तदेवैकं सत्यमित्येतावतैव सम्यग्दर्शनसद्भावः । " मन्नइ तमेव सच्चं, णिस्संकं जं जिणेहि पन्नत्तं । " इत्याद्यागमप्रामाण्याच्च स्वसमयपरसमयपरमार्थानभिज्ञैर्निरावरणज्ञानदर्शनात्मकजिनस्वरूपाज्ञानवद्भिस्तदभिहितभावानां सामान्यरूपतयाऽप्यनवच्छेदेन सत्यस्वरूपत्वेन ज्ञातुमशक्यत्वात्, न त्वेवमागमविरोधः, सामायिकमात्रपदविदो माषतुषादेर्यथोक्ताचारिणस्तत्र मुक्तिप्रतिपादनात् सकलशास्त्रार्थज्ञता, विकलमतस्य व्रताद्याचरणमैरर्थक्यापत्तिश्च, तत्साध्यफलानवाप्तेः । न च यथोपवर्णितचरणकरणसम्यग्विकल्पे भवतो ज्ञानादितृतीयस्यापि तत्र पाठात् येन यथोदितचरणकरणप्ररूपणासेवनद्वारेण प्राधान्यादध्वार्याः स्वसमयपरसमयमुक्तव्यापारा न भवन्तीति नञोऽत्र संबन्धात् चरणकरणस्य सारं निश्चयशुद्धं जानन्त्येव, गुर्वाज्ञायाः प्रवृत्तेः चरणगुणस्थितस्य साधोः सर्वनयविशुद्धत्वाभ्युपगमात् । "तं सव्वणयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू ।" इत्याद्यागमप्रामाण्यात्, अगीतार्थस्तु स्वतन्त्रचरणप्रवृत्तेः व्रताद्यनुष्ठानस्य वैफल्यमभ्युपगम्यत एव, "गीयत्थो य विहारो, बीओ गीयत्थमीसओ भणिओ । " इत्यागमप्रामाण्यात् । सम्म० ३ काण्ड ।

चरणकरणाभिलासि (ण्)-चरणकरणाभिलाषिन्-त्रि० । योऽत्रसन्न आत्मन उद्यतचरणो भविष्यामीत्यभिलाषिणि, नि० चू० १५ उ० ।

चरणकुसील-चरणकुशील-त्रि० । चरणमालिन्यजननं कुर्वाणे, प्रव० २ द्वार ।

चरणगुण-चरणगुण-पुं० । चरणं चारित्रं पञ्चमहाव्रतरूपं, तस्य गुणाः । पिण्डविशुद्ध्यादिषु करणचरणसप्ततिरूपेषु, " नाणिस्स दंसणिस्स य, नाणेण विणा ण होंति चरणगुणा । अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥ " अनु० ।

चरणगुणट्ठिय-चरणगुणस्थित-त्रि० । चर्यत इति चरणं चारित्रं, गुणः साधनमुपकारकमित्यनर्थान्तरम् । तच्चासौ गुणश्च निर्वाणात्यन्तोपकारितया चरणगुणः । तस्मिन्, उत्त० १ अ० । आचा० । चारित्रलक्षणगुणेषु व्यवस्थिते, पञ्चा० ११ विव० । ज्ञाननयव्यवस्थिते, विशे० । चरणं चारित्रं क्रिया, गुणोऽत्र ज्ञानं, तयोः स्थितः । ज्ञानक्रियाऽऽभ्यां द्वाभ्यामपि युक्ते, विशे० ।

चरणग्ग-चरणाग्र-त्रि० । चरणेनाग्रः प्रधानश्चरणाग्रः । निश्चयनयमतापेक्षया क्षीणकषायादिके अकषायचारित्रे, पिं० ।

चरणणय-चरणनय-पुं० । नयभेदे क्रियानये, स च चरणस्य प्राधान्यमभिदधाति । आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । (तदभिधानं च 'किरिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५५४ पृष्ठे समुक्तम्)

चरणपडिवत्ति-चरणप्रतिपत्ति-स्त्री० । चर्यते इति चरणं व्रतादि, तस्य प्रतिपत्तिः चरणप्रतिपत्तिः । ओघ० । सर्वविरत्यभ्युपगमे चारित्राभ्युपगमस्वभावे, त्रि० । पञ्चा० ६ विव० ।

चरणपडिवत्तिसमय-चरणप्रतिपत्तिसमय-पुं० । चारित्राभ्युपगमकाले, पञ्चा० ७ विव० ।

चरणपरिणाम-चरणपरिणाम-पुं० । चारित्राध्यवसाये, पञ्चा० ११ विव० ।

चरणपुरिस-चरणपुरुष-पुं० । मूलोत्तरगुणरूपे पुरुषोपमितेऽर्थे, "मूलुत्तरगुणरूव-स्स ताइणो परमचरणपुरिसस्स । अवराहसल्लपजवो, भावव्वणो होइ नायव्वो ॥ १ ॥" आव० ५ अ० ।

चरणमोह-चरणमोह-न० । चरणं चारित्रं, तं मोहयतीति चरणमोहमिति । कर्म० १ कर्म० । चारित्रमोहनीयकर्मणि, आ० ।

चरणय-चरणक-न० । कन्यापरिधाने, आ० म० द्वि० ।

चरणरय-चरणरत-त्रि० । चरणप्रतिबद्धे, दश० ३ अ० ।

चरणविगम-चरणविगम-पुं० । चरणाभावे, पञ्चा० १६ विव० ।

चरणविगमसंकेस-चरणविगमसंक्लेश-पुं० । चारित्राभावहेतुदुष्टाध्यवसाये, पञ्चा० १६ विव० ।

चरणविघाय-चरणविघात-पुं० । चारित्राभावे, पञ्चा० ११ विव० ।

चरणविप्पहूण-चरणविप्रहीण-त्रि० । क्रियारहिते, " सुबहुं पि सुयमधीतं, किं काही चरणविप्पहूणस्स ? । अंधस्स जह पलित्ता, दीवसतसहस्सकोडी वि ॥ " इतिक्रियापूर्वकाक्रियाविकलत्वात्तस्येति भावः । आचा० १ श्रु० १ अ० ४ उ० ।

चरणविहि-चरणविधि-पुं० । चरणं चारित्रं, तस्य विधिर्यत्र वर्ण्यते ग्रन्थे स चरणविधिः । नं० । चरणं व्रतादि तत्प्रतिपादकमध्ययनं चरणविधिः । पा० । उत्कालिकश्रुतविशेषे, १ त० । चारित्रविधौ, चारित्रस्य विधाने, उत्त० ३० अ० ।

चरणविधिशब्दनिक्षेपायाऽऽह निर्युक्तिकृत-

निक्खेवो चरणम्मी, चउव्विहो य होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, नो आगमतो य सो तिविहो ॥४८॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य भक्खणाईसु ।
आचरणा आचरणं, भावे चरण तु नायव्वं ॥ ४९ ॥
निक्खेवो उ विहीए, चउव्विहो दुविह होइ दव्वम्मि ।
आगम नोआगमतो, आगमतो होइ सो तिविहो ॥ ५० ॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य इंदियत्थेसु ।
भावविही पुण दुविहा, संजमजोगा तवो चेव ॥ ५१ ॥

गाथाचतुष्टयं स्पष्टमेव, नवरं (तव्वइरित्ते य त्ति) तद्व्यतिरिक्तं च गतिभक्षादिषु, गतिर्गमनं, जहा भक्षणं, पठ्यते हि-'चर' गतिभक्षणयोरिति । आदिशब्दादासेवापरिग्रहः । उक्तं हि-चरतिरासेवायामपि वर्त्तते इति । तत एतेषु सत्सु प्रक्रमाद् द्रव्यमेव, सुव्यत्ययेन गत्यादयो वा, भावचरणं कार्याकरणत्वेन, तद्व्यतिरिक्तं द्रव्यचरणं, तथा चरणे प्रस्तावात् ज्ञानाद्याचारे आचरणमनुष्ठानं सिद्धमित्यभिहितं, भावे विचार्ये चरणं तु विशेषेण ज्ञातव्यमिति । तथा (इंदियत्थेसु त्ति) इन्द्रियाणि स्पर्शनादीनि, तेषामर्थाः स्पर्शादयः, तेषु प्रक्रमाद्यो विधिरनुष्ठानरूपं चरणासेवनं स च भावविधिः, स चैवंविध एवेति गाथाचतुष्टयार्थः ।

संप्रति येनेह प्रकृतं तदुपदर्शयन्नुपदेशमाह-

एगयं तु भावचरणे, भावविहीए य होइ नायव्वं ।
चइऊण अचरणविहिं, चरणविहीए उ जइयव्वं ॥५२॥

गाथा निगदसिद्धा, नवरं भावचरणेन प्रस्तावाच्चारित्रानुष्ठानेन अचरणविधिमनाचारानुष्ठानं त्यक्त्वा चरणविधावुक्तरूपे यतितव्यं, यत्नो विधेय इति गाथार्थः । उक्तो नामनिष्पन्ननिक्षेपः ॥ ५२ ॥

संप्रति सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयम् । तच्चेदम्-

चरणविहिं पवक्खामि, जीवस्स उ सुहावहं ।
जं चरित्ता बहू जीवा, तिण्णा संसारसागरं ॥ १ ॥

चरणस्य विधिरागमोक्तन्यायश्चरणविधिस्तं प्रवक्ष्यामि जीवस्य, तुरवधारणे भिन्नक्रमस्ततः (सुहावहं ति) सुखावहमेव वा यथा चैतदेवं तथा फलोपदर्शनद्वारेण आह-यं चरित्वाऽऽसेव्य बहवो जीवास्तीर्णा अतिक्रान्ताः, संसारसागरं भवसमुद्रं, मुक्तिमवापुरित्यभिप्राय इति सूत्रार्थः ।

यथाप्रतिज्ञातमेवाह-

एगओ विरइं कुज्जा, एगतो य पवत्तणं ।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं ॥ २ ॥
रागदोसे य दो पावे, पावकम्मपवत्तणे ।
जे भिक्खू रुंभए निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ३ ॥
दिव्वे य जे उवसग्गे, तहा तेरिच्छमाणुसे ।
जे भिक्खू सहई सम्मं, से न अच्छइ मंडले ॥ ४ ॥
दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं ।

जे भिक्खू रुंजए निच्चं, से ण अच्छइ मंमले ॥ ५ ॥
विगहाकसायसन्नाणं, झाणाणं वदुयं तहा ।
जे भिक्खू वज्जए निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ६ ॥
वएसु इंदिअत्थेसु, समिईसु किरियासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंमले ॥ ७ ॥
लेसासु उसु काएसु, उक्के आहारकारणे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंमले ॥ ८ ॥
पिंडुग्गहपमिमासु, भयट्ठाणेसु सत्तसु ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ ९ ॥
मंदेसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मम्मि दसविहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंमले ॥ १० ॥
उवासगाणं पमिमासु, भिक्खूणं पमिमासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ ११ ॥
किरियासु भूयगामेसु, परमाहम्मिएसु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंमले ॥ १२ ॥
गाहासोलसएहिं, तहा असंजमम्मि य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥ १३ ॥
बंभम्मि नायज्झयणेसु, ठाणेसु य समाहिए ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १४ ॥
एगवीसाएँ सबले, बावीसाए परीसहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंमले ॥ १५ ॥
तेवीसाए सूयगमे, रूवाहिएसु सुरेसु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंमले ॥ १६ ॥
पणवीसभावणेहिं, उद्देसेसु दसाइणं ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंमले ॥ १७ ॥
अणगारगुणेहिं च, पकप्पम्मि तहेव य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंमले ॥ १८ ॥
पावेसु य पसंगेसु, मोहट्ठाणेसु चेव य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंडले ॥ १९ ॥
सिद्धाइगुणजोगेसु, तेत्तीसासायणासु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से ण अच्छइ मंमले ॥ २० ॥

इत्यादि एकोनविंशतिः सूत्राणि । उत्त० ३१ अ० । (विरत्या-दीनामर्थोऽन्यत्रान्यत्र)

अध्ययनार्थं निगमयितुमाह-

इय एएसु ठाणेसु, जे भिक्खू जयई सया ।
खिप्पं सो सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंमिओ ॥ २१ ॥

इत्यनेन प्रकारेणैतेष्वनन्तरोक्तरूपेषु स्थानेषु असंयमादिषु यो भिक्षुर्यतते उक्तन्यायेन यत्नवान् भवति सदा क्षिप्रं स संसाराद्विप्रमुच्यते पण्डित इति सूत्रार्थः । उत्त० ३१ अ० । एकत्रिंशे उत्तराध्ययने, स० ३६ सम० ।

चरणसंपन्न-चरणसंपन्न-त्रि० । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपःसम्पन्ने, पं० चू० ।

चरणहीण-चरणहीन-त्रि० । सर्वथा चारित्रसत्ताधिकले द्रव्यचरणहीने, ध० ३ अधि० । प्रव० । आव० ।

चरणाराहणाणिमित्त-चरणाराधनानिमित्त-न० । अस्खलितचारित्रपालनार्थे, पञ्चा० २ विव० ।

चरणोरिया-चरणेर्या-स्त्री० । 'अत्र-चञ्च-मञ्च-चर' गत्यर्थाः । चरतेर्भावे ल्युट् चरणं, तद्रूपेर्या चरणेर्या । श्रमणस्य केनापि प्रकारेण भावरूपे गमने, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ० । ('इरिया' शब्दे द्वितीयभागे ६२६ पृष्ठे विस्तरतः प्रतिपादितम्)

चरम-चरम-त्रि० । अवसानवृत्तौ, षो० ३ विव० । पर्यन्तवर्तिनि, प्रज्ञा० ५ पद । भ० ।

विषयसूची—

(१) अथ केयं चरमाचरमपरिभाषा ? । तत्रोच्यते-चरमं नाम प्रान्तं पर्यन्तवर्ति, आपेक्षिकं च चरमत्वं, यदुक्तम्-अन्यद्रव्यापेक्षया इदं चरमं द्रव्यमिति, यथा पूर्वशरीरापेक्षया चरमं शरीरमिति । तथा अचरमं नाम अप्रान्तं मध्यवर्ति, आपेक्षिकं चाचरमत्वम्, यदुक्तम्-अन्यद्रव्यापेक्षया इदमचरमं द्रव्यं, यथाऽन्यशरीरापेक्षया मध्यशरीरमिति । भ० ८ श० ३ उ० ।

(२) अथ चरमाचरमलक्षणाभिधानायाऽऽह-

जो जं पाविहिति पुणो, भावं सो तेण अचरिमो होइ ।
अच्चंतविजोगो ज-स्स तेण भावेण सो चरिमो ॥

(जो जं पाविहिति त्ति) यो जीवो नारकादिर्यं जीवत्वनारकत्वादिकमप्रतिपतितं प्रतिपतितं वा प्राप्स्यति लप्स्यते पुनः पुनरपि भावं धर्मं, स तेन भावेन, तद्भावापेक्षयेत्यर्थः; अचरमो भवति । तथा अत्यन्तवियोगः सर्वथाविरहो यस्य जीवादेर्येन भावेन स तेनेति शेषश्चरमो भवतीति । भ० १६ श० १ उ० ।

(३) रत्नप्रभादीनां नैरयिकादीनां च चरमाचरमविभागमाह-

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं चरमा, अचरमा, चरमाइं, अचरमाइं, चरमंतपदेसा, अचरमंतपदेसा ? । गोयमा ! इमा णं रयणप्पभापुढवी नो चरमा, नो अचरमा, नो चरमाइं, नो अचरमाइं, नो चरमंतपदेसा, नो अचरमंतपदेसा, नियमा अचरमं चरमाइ य चरमंतपदेसा य, अचरमंतपदेसा य, एवं० जाव अहे सत्तमा पुढवी सोहम्मादी० जाव अनुत्तर-

विमाणाणं एवं चेव, ईसीपब्भाराए एवं चेव, लोगे वि एवं चेव, एवं अलोगे वि ।

" इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं चरमा " इत्यादि पृच्छा ? । अथ केयं चरमाचरमपरिभाषा ? । उच्यते-चरमं नाम पर्यन्तवर्ति, तच्चरमत्वमापेक्षिकमन्यापेक्षया तस्य भावात् । यथा पूर्वशरीरापेक्षया चरमं शरीरमिति, अचरममप्रान्तं मध्यवर्ति इति यावत्, तदपि चापेक्षिकं, तस्य चरमापेक्षया भावात् । यथा तथाविधान्यशरीरापेक्षया मध्यशरीरमचरमशरीरं तदेव चरमाचरमेत्येकवचनान्तः प्रश्नः कृतः । सम्प्रति बहुवचनान्तमाह-(चरमाइं अचरमाइं ति) एतानि चत्वारि प्रश्नसूत्राणि तथाविधैकत्वपरिणामविशिष्टद्रव्यविषयाणि कृतानि । संप्रति प्रदेशानाधिकृत्य प्रश्नसूत्रद्वयमाह-(चरमंतपएसा य इति) चरमाएयवान्तर्वर्तित्वात् अन्ताश्चरमान्तप्रदेशाः । अचरममेव कस्याप्यपेक्षयाऽनन्तवर्तित्वादन्तोऽचरमान्तप्रदेशाः । तदेवं षट्सु प्रश्नेषु कृतेषु भगवानाह-गौतम ! सा रत्नप्रभा पृथिवी नो चरमा, चरमत्वं ह्यापेक्षिकमित्युक्तं, न चात्रान्यदपेक्षणीयमस्ति, केवलाया एव तदन्यनिरपेक्षायाः स्पृष्टत्वात्, नाप्यचरमा, तत एव हेतोः, तथा ह्यचरमत्वमपि आपेक्षिकं, न चात्रान्यदपेक्षणीयमस्तीति । किमुक्तं भवति ?-इयं रत्नप्रभा पृथिवी न पश्चिमा, नापि मध्यमा, तदन्यस्यापेक्षणीयस्याविवक्षणादिति । अत एव न चरमाणि,चरमत्वव्यपदेशस्यैवाऽसम्भवः,तद्विषयबहुवचनासम्भवात् । तथाहि-यदा तस्याश्चरमत्वव्यपदेश एवोक्तयुक्तेर्नोपपद्यते, तदा कथं तद्विषयं बहुवचनमुपपत्तुमर्हतीति, एवंमचरमाण्यपि प्रतिषेधनीयानि,प्रागुक्तयुक्तेरचरमत्वव्यपदेशस्यासंभवात्,न चरमान्तप्रदेशा नाप्यचरमान्तप्रदेशाः,उक्तयुक्त्या चरमत्वस्याचरमत्वस्य चाऽसम्भवतस्तत्प्रदेशकल्पनाया अप्यसम्भवात् । यद्येवं तर्हि किंस्वरूपा सेत्यत्र आह-नियमान्नियमेनाचरमं चरमाणि च । किमुक्तं भवति ?-यदीयमखण्डरूपा विवक्षितत्वात् पृच्छ्यते तदा यथोक्तानामेकेनापि भङ्गेन व्यपदेशो न भवति, यदा त्वसंख्येयप्रदेशावगाढेत्यनेकावयवविभागात्मिका विवक्ष्यते तदा यथोक्तनिर्वचनविषया भवति । तथाहि-रत्नप्रभापृथिव्या यानि प्रान्तेष्ववस्थितानि खण्डानि प्रत्येकं तथाविधविशिष्टैकत्वपरिणामपरिणतानि चरमाणि १, यत्पुनर्मध्ये महद्रत्नप्रभायाः खण्डं तत्तथाविधैकत्वपरिणामयुक्तत्वादेकत्वेन विवक्षितमित्यचरमम् २,उभयसमुदायरूपा चेयम्, अन्यथा तदभावप्रसङ्गात् । तदेवमवयवावयविरूपतया चिन्तायामचरमंचरमाणि चेत्यकमेकनिर्वचनविषया प्रतिपादिता, यदा पुनः प्रदेशचिन्ता क्रियते तदैवं निर्वचनम्, चरमान्तप्रदेशाश्च,अचरमान्तप्रदेशाश्च । तथाहि-ये बाह्यखण्डेषु गताः प्रदेशास्ते चरमान्तप्रदेशाः, ये पुनर्मध्यैकखण्डगताः प्रदेशास्तेऽचरमान्तप्रदेशाः । अन्ये तु व्याचक्षते-चरमाणि नाम तथाविधप्रविष्टेतरप्रान्तैकप्रादेशिकीश्रेणिपटलरूपाणि मध्यभागोऽचरम इति । तदपि समीचीनम्, दोषाभावात् । चरमान्तप्रदेशा यथोक्तरूपप्रान्तैकप्रादेशिकश्रेणिपटलगताः प्रदेशा अचरमान्तप्रदेशा मध्यभागगताः प्रदेशाः । अनेन निर्वचनसूत्रेण एकान्तदुर्नयप्रधानेन अवयवावयविरूपं रत्नप्रभादिकं वस्तु, तयोश्चावयवावयविनोर्भेदाभेद इत्यावेदितं, तथा चावयवावयविरूपतायां परोक्तदूषणावकाशः । तथा धर्मसंग्रहणीटीकायां बाह्यवस्तुप्रतिष्ठावसरे प्रतिपादितमिति ततोऽवधार्यम् । एवं " जाव अहे सत्तमाए पुढवीए " इत्यादि । यथा रत्नप्रभा पृथिवी प्रश्ननिर्वचनाभ्यामुक्ता, एवं शर्कराद्या अपि पृथिव्यः, सौधर्मादीनि च विमानानि अनुत्तरविमानपर्यवसानानि, ईषत्प्राग्भाराल्लोकश्च वक्तव्यः, सूत्रपाठोऽपि सुगमत्वात् स्वयं परिभावनीयः । स चैवं-"सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवी किं चरमा , अचरमा, चरमाणि, अचरमाणि" इत्यादि । (एवमलोके वि इति) एवमुक्तेन प्रकारेणालोकोऽपि वक्तव्यः । स चैवम्-" अलोए णं भंते ! किं चरमे अचरमे " इत्यादि प्रश्नसूत्रं तथैव । निर्वचनसूत्रं-" गोयमा ! अचरमे चरमाणि य चरमंतपएसा य अचरमंतपएसा य " । तत्र चरमाणि यानि लोकनिष्कुटेषु प्रविष्टानि, शेषमन्यत्सर्वमचरमं, चरमखण्डगताः प्रदेशाश्चरमान्तप्रदेशाः, अचरमखण्डगताः प्रदेशा अचरमप्रदेशाः । प्रज्ञा० १ पद । भ० ।

(४) सम्प्रत्येतेषु रत्नप्रभादिषु प्रत्येकं चरमाचरमादिगतमल्पबहुत्वमभिधित्सुरिदमाह-

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचरमं चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए चरमंतपदेसा अचरमंतपदेसा, अचरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे, इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचरमं चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं चरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा अचरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया एवं० जाव अहे सत्तमा सोहम्मस्स० जाव लोगस्स य एवं चेव ।

"इमी से णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए अचरमस्स य चरमाणं" इत्यादि प्रश्नसूत्रं सुगमम् । निर्वचनसूत्रे सर्वस्तोकं द्रव्यार्थतया अस्या रत्नप्रभायाः पृथिव्या अचरमखण्डम् । कस्मादिति चेदत आह-एके 'निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां विभक्तीनां प्रायोदर्शनम्' इति न्यायादत्र हेतौ प्रथमा । ततोऽयमर्थः-यस्मात्तथाविधैकस्कन्धपरिणामपरिणतत्वादेकं ततः स्तोकं,तस्मात् यानि चरमाणि खण्डानि तान्यसंख्येयगुणानि, तेषामसंख्यातत्वात्, अथाचरमं चरमाणि समुदितानि चरमाणां तुल्यानि विशेषाधिकानि चेति शङ्कायामाह-अचरमं चरमाणि च समुदितानि विशेषाधिकानि । तथाहि-यदचरमद्रव्यं तच्चरमद्रव्येषु प्रक्षिप्ते ततश्चरमेभ्य एकोनाधिकत्वाद्विशेषाधिकसमुदायो भवति, प्रदेशार्थत्वाचिन्तायां सर्वस्तोकाश्चरमान्तप्रदेशाः, यतश्चरमखण्डानि मध्यखण्डापेक्षयाऽतिसूक्ष्माणि, ततस्तेषामसंख्येयानामपि ये प्रदेशास्ते मध्यखण्डगतप्रदेशापेक्षया सर्वस्तोकाः, तेभ्यो अचरमप्रदेशा असंख्येयगुणाः, अचरमखण्ड-

स्यैकस्यापि चरमखण्डसमुदायापेक्षया क्षेत्रतोऽसंख्येयगुणत्वात्, चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशाश्च द्वयेऽपि समुदिता अचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिकाः कथमिति चेत् ?, उच्यते-चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशापेक्षया असंख्येयभागप्रमाणाः, ततोऽचरमान्तप्रदेशेषु चरमान्तप्रदेशप्रक्षेपेऽपि ते अचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिका एव भवन्ति द्रव्यार्थप्रदेशार्थचिन्तायाम्, (अचरमं चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं चरमंतपएसा असंखेज्जगुणा इति) अचरमचरमसमुदायाच्चरमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणाः। कथम्?, उच्यते-इह यदचरमखण्डं तदसंख्येयप्रदेशावगाढमपि द्रव्यार्थतया एकं चरमेषु पुनः खण्डेषु प्रत्येकमसंख्येयाः प्रदेशास्ततो भवन्ति चरमाचरमद्रव्यसमुदायादसंख्येयगुणाश्चरमान्तप्रदेशास्तेभ्योऽप्यचरमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणास्तेभ्योऽपि चरमाचरमप्रदेशाः समुदिता विशेषाधिका इति पूर्ववत्।

अलोगस्स णं भंते ! अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे,कयरेहिंतो अप्पा वा०४ ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे अलोगस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचरमंचरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा; अलोगस्स चरमंतपदेसा अचरमंतपदेसा अणंतगुणा चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे; अलोगस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे चरमाइं असंखेज्जगुणाइं अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं चरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा अचरमंतपदेसा अणंतगुणा चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया।

प्रदेशार्थचिन्तायां सर्वस्तोका अलोकस्य चरमान्तप्रदेशाः,लोकनिष्कुटेष्वेवान्तस्तेषां भावात्, तेभ्योऽचरमान्तप्रदेशा अनन्तगुणाः, अलोकस्यानन्तत्वात्। चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशाश्च समुदिता विशेषाधिकाः, चरमान्तप्रदेशा ह्यचरमान्तप्रदेशापेक्षया अनन्तभागकल्पाः, ततस्तेषामचरमान्तप्रदेशराशौ प्रक्षेपेऽपि तेऽचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिका एव भवन्ति ।

(५) सम्प्रति लोकालोकविषयं प्रश्नसूत्रमाह-

लोगालोगस्स णं भंते ! अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ?। गोयमा ! सव्वत्थोवे लोगालोगस्स दव्वट्ठयाए एगमेगे अचरमे, लोगस्स चरमाइं असंखेज्जगुणाइं,अलोगस्स चरमाइं विसेसाहियाइं, लोगस्स अलोगस्स य अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा, लोगस्स चरमंतपदेसा, अलोगस्स चरमंतपदेसा विसेसाहिया, लोगस्स अचरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा,अलोगस्स अचरमंतपदेसा अणंतगुणा, लोगस्स य अलोगस्स य चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे, लोगालोगस्स दव्वट्ठयाए एगमेगे अचरमे,लोगस्स चरमाइं असंखेज्जगुणाइं, अलोगस्स चरमाइं विसेसाहियाइं, लोगस्स य अलोगस्स य अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, लोगस्स चरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा, अलोगस्स चरमंतपदेसा विसेसाहिया, लोगस्स अचरमंतपदेसा असंखेज्जगुणा, अलोगस्स अचरमंतपदेसा अणंतगुणा, लोगस्स य अलोगस्स य चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया सव्वदव्वा विसेसाहिया सव्वपदेसा अणंतगुणा सव्वपज्जवा अणंतगुणा।

प्रश्नसूत्रं सुगमम्। निर्वचनमाह--"गोयमा" इत्यादि। गौतम ! लोकस्य अलोकस्य च यत् एकैकं अचरमखण्डं तत् स्तोकमेकत्वात्, तेभ्यो लोकस्य चरमखण्डद्रव्याण्यसंख्येयगुणानि तेषामसंख्यत्वात्, तेभ्योऽप्यलोकस्य चरमखण्डानि विशेषाधिकानि। कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह यद्यपि लोकस्य चरमखण्डानि तत्त्वतोऽसंख्येयानि तथापि प्रागुपदर्शितपृथ्वीन्यासपरिकल्पनया तान्यष्टौ परिकल्प्यन्ते। तद्यथा-एकैकं चतसृषु दिक्षु एकैकं च विदिक्ष्विति अलोकचरमखण्डानि च तन्न्यासपरिकल्पनया परिगण्यमानानि द्वादश। तद्यथा-एकैकं चतसृषु दिक्षु द्वे द्वे विदिक्ष्विति द्वादश चाष्टभ्यो न द्विगुणानि त्रिगुणानि च,किं तु विशेषाधिकानि, तेभ्योऽलोकस्य चरमखण्डेभ्यो लोकस्य चरमाचरमखण्डानि, अलोकस्य चरमाचरमखण्डानि समुदितानि विशेषाधिकानि। तथाहि-लोकस्य चरमखण्डानि प्रागुक्तपरिकल्पनया अष्टावेकमचरममित्युभयमीलनेन नव अलोकस्यापि चरमाचरमखण्डानि समुदितानि त्रयोदश, उभयेषामेकत्र मीलनेन द्वाविंशतिः, सा च द्वादशभ्यो न द्विगुणा नापि त्रिगुणा, किं तु विशेषाधिकेति, अलोकस्य चरमखण्डेभ्यो लोकालोकचरमाचरमखण्डानि समुदितानि विशेषाधिकानि, प्रदेशार्थताचिन्तायां सर्वस्तोका लोकस्य चरमान्तप्रदेशाः, अष्टखण्डमात्रकाणामेव प्रदेशानां भावात्। तेभ्योऽलोकस्य चरमान्तप्रदेशा विशेषाधिकाः, तेभ्योऽलोकस्याचरमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणाः, क्षेत्रस्यातिप्रभूततया तत्प्रदेशानामप्यतिप्रभूतत्वाभावात्। तेभ्योऽप्यलोकस्याचरमान्तप्रदेशा अनन्तगुणाः, क्षेत्रस्यानन्तगुणत्वात्, तेभ्योऽपि लोकस्य चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशा अलोकस्यापि चरमान्तप्रदेशा अचरमान्तप्रदेशाः समुदिता विशेषाधिकाः। कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह अलोकस्याचरमान्तप्रदेशराशौ लोकस्य चरमाचरमान्तप्रदेशा अलोकस्य चरमान्तप्रदेशाश्च प्रक्षिप्यन्ते, ते च सर्वसंख्ययाऽप्यसंख्येयाश्चानन्तराश्यपेक्षयाऽतिस्तोका इति प्रक्षेपेऽपि ते अलोकस्याचरमान्तप्रदेशेभ्यो विशेषाधिका एव। एतदनुसारेण द्रव्यार्थप्रदेशार्थचिन्तासूत्रमपि स्वयं परिभावनीयम्, नवरं लोकालोकचरमाचरमखण्डेभ्यो लोकस्य चरमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणा इति लोकस्य किल चरमाणि खण्डान्यष्टौ एकैकस्मिंश्च खण्डदेशे खण्डप्रदेशा असंख्येयलोकालोकचरमाचरमखण्डानि च समुदितानि द्वाविंशतिः, ततो घटन्ते लोकालोकचरमाचरमखण्डेभ्यो लोकस्य चरमान्तप्रदेशा असंख्येयगुणाः। शेषपदभावना प्राग्वत् (सव्वदव्वा

विसेसाहिया इति) लोकालोकचरमाचरमान्तप्रदेशेभ्यः सर्वद्रव्याणि विशेषाधिकानि , अनन्तानन्तसंख्यानां जीवानां तथा परमाण्वादीनामनन्तपरमाण्वात्मकस्कन्धपर्यन्तानां प्रत्येकानामनन्तसंख्यानां पृथक् २ द्रव्यत्वात् तेभ्योऽपि सर्वप्रदेशा अनन्तगुणाः , तेभ्योऽपि सर्वपर्याया अनन्तगुणाः , प्रतिप्रदेशं स्वपरभेदभिन्नानां पर्यायाणामानन्त्यात् ।

(६) इदानीं परमाण्वादिकं चिन्तयन्नाह—

परमाणुपोग्गलाणं भंते ! किं चरमे अचरमे अवत्तव्वए चरमाइं अचरमाइं अवत्तव्वयाइं ६ उदाहु चरमे य अचरमे य ७ उदाहु चरमे य अचरमाइं ८ उदाहु चरमाइं अचरमे य ९ उदाहु चरमाइं च अचरमाइं च १० पढमा चउभंगी । उदाहु चरमे य अवत्तव्वए य ११ उदाहु चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२, उदाहु चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ उदाहु चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ बीया चउब्भंगी । उदाहु अचरमे य अवत्तव्वए य १५ उदाहु अचरमस्स य अवत्तव्वयाइं च १६ उदाहु अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ उदाहु अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ तइया चउब्भंगी । उदाहु चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ उदाहु चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० उदाहु चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ उदाहु चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ उदाहु चरमाइं अचरमे य अवत्तव्वए य २३ उदाहु चरमाइं अचरमे य अवत्तव्वयाइं २४ उदाहु चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ उदाहु चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ एवं छव्वीसभंगा ? । गोयमा ! परमाणुपोग्गले नो चरमे नो अचरमे नियमा अवत्तव्वए, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ।

तत्र प्रश्नसूत्रे षड्विंशतिभङ्गाः, यतस्त्रीणि पदानि चरमाचरमावक्तव्यलक्षणानि, तेषां चैकैकसंयोगे प्रत्येकमेकवचनात्त्रयो भङ्गाः। तद्यथा-चरमः १ अचरमः २ अवक्तव्यकः ३। त्रयो बहुवचनेन। तद्यथा-चरमाणि १ अचरमाणि २ अवक्तव्यानि ३। सर्वसंख्यया षट्; द्विकसंयोगास्त्रयः। तद्यथा-चरमाचरमपदयोरेकः,चरमाऽवक्तव्यकपदयोर्द्वितीयः, अचरमाऽवक्तव्यकपदयोस्तृतीयः। एकैकस्मिंश्चत्वारो भङ्गाः, तत्र प्रथमे द्विकसंयोगे एवं चरमश्चाऽचरमश्च १ चरमश्चाऽचरमाश्च २ चरमाश्चाचरमश्च ३ चरमाश्चाचरमाश्च ४। एवमेव चतुर्भङ्गी चरमावक्तव्यपदयोः, एवमेव चाचरमावक्तव्यपदयोः, सर्वसंख्यया द्विकसंयोगे द्वादश भङ्गाः, त्रिकसंयोगे एकवचनबहुवचनाभ्यामष्टौ, सर्वसङ्कलनया षड्विंशतिः। अत्र निर्वचनमाह-" गोयमा ! परमाणुपोग्गले नो चरमे" इत्यादि। परमाणुपुद्गलश्चरमो न भवति, चरमत्वं ह्यन्यापेक्षं, न चान्यदपेक्षणीयमस्ति, तथाविधक्षणाच्च सांशः परमाणुर्येनांशापेक्षया चरमत्वं प्रकल्पते, निरवयवत्वात्तस्माच्च चरमो नाप्यचरमो निरवयवतया मध्यत्वायोगात्, किं त्ववक्तव्यः, चरमाचरमव्यपदेशकारणतः शून्यतया चरमशब्देनाऽचरमशब्देन वा व्यपदेष्टुमशक्यत्वात्, वक्तुं शक्यं हि वक्तव्यं, यत्तु चरमशब्देन अचरमशब्देन वा व्यपदेशनिमित्तशून्यतया वक्तुमशक्यं तदवक्तव्यमिति, शेषास्तु भङ्गाः प्रतिषेध्याः,परमाणौ तेषामसंभवात्। वक्ष्यति च-"परमाणुम्मि य तइओ" अस्यायमर्थः-परमाणौ परमाणुचिन्तायां तृतीयो भङ्गः परिग्राह्यः, शेषा निरवयवत्वेन प्रतिषेध्याः। प्रज्ञा० १ पद।

परमाणुपोग्गले णं भंते ! । किं चरिमे अचरिमे ? । गोयमा ! दव्वादेसेणं णो चरिमे अचरिमे, खेत्तादेसेणं सिय चरिमे सिय अचरिमे, कालादेसेणं सिय चरिमे , सिय अचरिमे, भावादेसेणं सिय चरिमे सिय अचरिमे ॥

"परमाणु" इत्यादि। (चरमे त्ति) यः परमाणुर्यस्माद्विवक्षितभावाच्च्युतः सन् पुनस्तं भावं न प्राप्स्यति स तद्भावापेक्षया चरमः , एतद्विपरीतस्त्वचरम इति , तत्र (दव्वादेसेणं ति) आदेशः प्रकारो द्रव्यरूप आदेशो द्रव्यादेशस्तेन नो चरमः, स हि द्रव्यतः परमाणुत्वाच्च्युतः संघातमवाप्यापि ततश्च्युतः, परमाणुत्वलक्षणं द्रव्यत्वमवाप्स्यति इति (खेत्तादेसेणं ति) क्षेत्रविशेषितत्वलक्षणप्रकारेण स्यात्कदाचिच्चरमः। कथम् ?, यत्र क्षेत्रे केवली समुद्घातं गतस्तत्र क्षेत्रे यः परमाणुरवगाढोऽसौ तत्र क्षेत्रे तेन केवलिना समुद्घातगतेन विशेषितो न कदाचनाप्यवगाहं लप्स्यते , केवलिनो निर्वाणगमनादित्येवं क्षेत्रतश्चरमोऽसाविति। निर्विशेषणक्षेत्रापेक्षया त्वचरमस्तत्क्षेत्रावगाहस्य तेन लप्स्यमानत्वादिति। (कालादेसेणं ति) कालविशेषितत्वलक्षणप्रकारेण (सिय चरिमे त्ति) कथञ्चिच्चरमः , कथम् ?, यत्र काले पूर्वाह्णादौ केवलिना समुद्घातः कृतस्तत्रैव यः परमाणुः परमाणुतया संवृत्तः स तं कालविशेषं केवलिसमुद्घातविशेषितं न कदाचनापि प्राप्स्यति, तस्य केवलिनः सिद्धिगमनेन पुनः समुद्घाताभावादिति तदपेक्षया कालतश्चरमोऽसाविति निर्विशेषणकालापेक्षया त्वचरम इति। (भावादेसेणं ति) भावो वर्णादिविशेषः, तद्विशेषणलक्षणप्रकारेण स्याच्चरमः, कथम् ? . विवक्षितकेवलिसमुद्घातावसरे यः पुद्गलो वर्णादिभावविशेषं परिणतः स विवक्षितकेवलिसमुद्घातविशेषितवर्णपरिणामापेक्षया चरमो यस्मात् तत्केवलिनिर्वाणे पुनस्तं परिणाममसौ न प्राप्स्यतीति , इदं च व्याख्यानं चूर्णिकारमतमुपजीव्य कृतमिति। भ० १४ श० ४ उ०।

दुपदेसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? । गोयमा ! दुपदेसिए खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ॥

" दुपएसिए णं भंते ! " इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनमाह-" गोयमा ! सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए " इत्यादि। द्विप्रदेशकः स्कन्धः स्यात् कदाचित् चरमः। कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह यदा द्विप्रदेशकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोरवगाढो भवति समश्रेण्या व्यवस्थितया,तदा एकोऽपि परमाणुरपरपरमाण्वपेक्षया चरमोऽपरोऽप्यपरपरमाण्वपेक्षया चरम इति चरमः , अचरमस्तु न भवति , सर्वद्रव्याणामपि केवलाचरमत्वस्यायोगात्। यदा तु स एव द्विप्रदेशिकः स्कन्धः एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे अवगाहते , तदा स तथाविधैकत्वपरिणामपरिणततया परमाणुवत् चरमाचरमव्यपदेशकारणशून्यत्वान्न चरमशब्देन व्यपदेष्टुं शक्यते , नाप्यचरम-

शब्देनेति अवक्तव्यः , शेषास्तु भङ्गाः प्रतिषेध्याः । तथा च वक्ष्यति-" पढमो तइओ य होइ दुपएसे । " अस्यायमर्थः-द्विप्रदेशके स्कन्धे प्रथमो भङ्गश्चरम इति तृतीयोऽवक्तव्य इति भवति । शेषास्तु प्रतिषेध्याः , असम्भवात् , स चासम्भवः सुप्रतीत एव ।

तिपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? । गोयमा ! तिपदेसिए खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए नो चरमाइं, नो अचरमाइं नो अवत्तव्वयाइं, नो चरमे य अचरमे य, नो चरमे य अचरमाइं, सिय चरमाइं च अचरमे य, नो चरमाइं च अचरमाइं च, सिय चरमे य अवत्तव्वए य, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ॥

" तिपएसिए णं भंते ! खंधे" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्-"गोयमा ! सिय चरमे" इत्यादि । इह यदा त्रिप्रदेशिकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेवमवगाढो भवति तदाऽसौ चरमः, सा चरमाचरमत्वभावना द्विप्रदेशिकस्कन्धवद्भावनीया, अचरमप्रतिषेधः प्राग्वत्, स्यादवक्तव्य इति, यदा स एव त्रिप्रदेशिकः स्कन्ध एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा परमाणुवत् चरमाचरमव्यपदेशकारणशून्यतया चरमाऽचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमशक्यत्वादवक्तव्यः, चतुर्थादयोऽष्टमपर्यन्ताः प्रतिषेध्याः, असंभवात्, असंभवस्तु प्रतीतत्वात् स्वयमुपयुज्य वक्तव्यः,नवमस्तु ग्राह्यः, तथा चाह—(सिय चरमाइं य अचरमे य) प्राकृते द्वित्वेऽपि बहुवचनम्, ततोऽयमर्थः-स्यात्कदाचिदयं भङ्गश्चरमोऽचरमश्च, तत्र यदा स त्रिप्रदेशिकः स्कन्धः त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते तदाऽऽदिमान्तिमौ द्वौ परमाणुपर्यन्तवर्तित्वाच्चरमौ, मध्यमस्तु मध्यवर्तित्वादचरम इति, दशमस्तु प्रतिषेध्यस्कन्धस्य त्रिप्रदेशिकतया चरमाचरमशब्दयोः बहुवचननिमित्तासंभवात्, एकादशस्तु ग्राह्यः, तथा चाह-(सिय चरमे य अवत्तव्वए य) स्यात्कदाचिदयं भङ्गश्चावक्तव्यश्च, तत्र यदा स त्रिप्रदेशिकः समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते तदा द्वौ परमाणू समश्रेण्या व्यवस्थिताविति द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशिकस्कन्धवच्चरमव्यपदेशकारणभावतः चरम एकश्च परमाणुर्विश्रेणिस्थश्चरमाचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमशक्य इत्यवक्तव्यः, शेषास्तु भङ्गाः सर्वेऽपि प्रतिषेध्याः । वक्ष्यति च-" पढमो तइओ नवमो, एक्कारसमो य तिपएसे । " अस्यायमर्थः-त्रिप्रदेशे स्कन्धे प्रथमो भङ्गश्चरम इति, तृतीयोऽवक्तव्य इति, नवमश्चरमौ चाऽचरमश्च, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यश्चेति भवति, शेषा भङ्गा न घटन्ते ।

चउप्पएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? । गोयमा ! चउप्पएसिए णं खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए नो चरमाइं,नो अचरमाइं नो अवत्तव्वयाइं, नो चरमे य अचरमे य, नो चरमे य अचरमाइं च, सिय चरमाइं अचरमे य, सिय चरमाइं च अचरमाइं च, सिय चरमे य अवत्तव्वए य, सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो चरमाइं च अवत्तव्वए य, नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च,नो अचरमे य अवत्तव्वए य, नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य, सेसा भंगा पडिसेहेयव्वा ॥

"चउप्पएसिए णं भंते ! खंधे" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनमाह-" गोयमा ! सिय चरमे " इत्यादि । अत्र प्रथमतृतीयनवमदशमैकादशद्वादशत्रयोविंशतितमरूपाः सप्त भङ्गाः ग्राह्याः,शेषाः प्रतिषेध्याः, तत्र प्रथमभङ्गो यः स्याच्चरम इति, इह यदा चतुःप्रदेशिकस्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेवमवगाहते तदा चरमः, सा च चरमत्वभावना समश्रेण्या व्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशस्कन्धवद्भावनीया, तृतीयो भङ्गः स्यादवक्तव्य इति,स चैवम् -यदा स एव चतुष्प्रदेशकः स्कन्ध एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा परमाणुवत् अवक्तव्यः,नवमः स्याच्चरमौ चाचरमश्च,स चैवम्-यदा स चतुःप्रदेशात्मकस्कन्धस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते तदा आद्यन्तप्रदेशावगाढौ चरमौ, मध्यप्रदेशावगाढस्त्वचरमः, दशमः स्याच्चरमौ चाचरमौ च, तत्र यदा स चतुःप्रदेशात्मकः स्कन्धः समश्रेण्या व्यवस्थितेषु चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते तदा आद्यन्तद्विप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू चरमौ, द्वयोस्तु मध्यमयोराकाशप्रदेशयोरवगाढौ द्वौ परमाणू अचरमाविति, एकादशः स्याच्चरमश्चावक्तव्यः, स चैवम्-यदा स चतुःप्रदेशकः स्कन्धः त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या चैवमवगाहते तदा समश्रेणिव्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढास्त्रयः परमाणवो द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवत् चरम एकश्च विश्रेणिस्थः परमाणुरिव चरमाचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमशक्यत्वादवक्तव्य इति, द्वादशः स्याच्चरमश्चावक्तव्यौ च, स चैवम्-यदा स चतुःप्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू द्वयोः समश्रेण्यावस्थितयोराकाशप्रदेशयोर्द्वौ च परमाणू द्वयोः विश्रेण्या व्यवस्थितयोः तदा द्वौ परमाणू समश्रेण्या व्यवस्थितौ द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरमः, द्वौ च परमाणू विश्रेणिव्यवस्थितौ केवलपरमाणुवच्चरमाचरमशब्दाभ्यां व्यपदेष्टुमशक्यावित्यवक्तव्यौ । त्रयोविंशतितमः स्याच्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यश्च, कथमिति चेत् ?, उच्यते-इह यदा स चतुःप्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते त्रयः परमाणवस्त्रिषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वाकाशप्रदेशेष्वेको विश्रेणिस्थप्रदेशे तदा त्रिषु परमाणुषु समश्रेणिव्यवस्थितेषु मध्ये आद्यन्तौ परमाणुपर्यन्तवर्तित्वाच्चरमौ, मध्यस्त्वचरमो, विश्रेणिस्थस्त्ववक्तव्य इति । वक्ष्यति च-" पढमो तइओ नवमो, दसमो एक्कारसो य बारसमो । भंगा चउप्पएसे, तेवीसइमो य बोधव्वो ॥ १ ॥ " गतार्था ।

पंचपदेसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा ? । गोयमा ! पंचपदेसिए खंधे सिय चरमे नो अचरमे, सिय अवत्तव्वए नो चरमाइं नो अचरमाइं नो अवत्तव्वयाइं,सिय चरमे य अचरमे य, नो चरमे य अचरमाइं च, सिय चरमाइं च अचरमे य, सिय चरमाइं च अचरमाइं च, सिय चरमे य अवत्तव्वए

य, सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च, सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, नो अचरमे य अवत्तव्वए य, नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च, सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य, सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वयाइं च, सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य, नो चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च ।

"पंचपएसिए णं भंते!" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनमाह-"गोयमा! सिय चरमे" इत्यादि । इह प्रथमतृतीयसप्तमनवमदशमैकादशद्वादशत्रयोदशत्रयोविंशतितमचतुर्विंशतितमपञ्चविंशतितमरूपा एकादश भङ्गाः ग्राह्याः, शेषाः प्रतिषेध्याः । वक्ष्यति च-" पढमो तइओ सत्तम, नव दस एक्कार बार तेरसमो । तेवीस चउव्वीसो, पणवीसइमो य पंचमए" ॥ १ ॥ तत्रायं प्रथमो भङ्गः-स्यात् चरम इति, इह यदा पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेवमवगाहते त्रयः परमाणव एकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वौ द्वितीये तदा द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरमः, तृतीयोऽवक्तव्यः । स चैवम्-यदा स पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्ध एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा स परमाणुवदवक्तव्यः, सप्तमः स्याच्चरमश्चाचरमश्च, स चैवम्-यदा पञ्चप्रदेशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते तदा ये चरमाश्चत्वारः परमाणवस्तेषामेकसम्बन्धिपरिणामपरिणतत्वादेकवर्णत्वादेकगन्धत्वादेकरसत्वादेकस्पर्शत्वाच्चैकत्वव्यपदेशे चरम इति व्यपदेशो, मध्यस्तु परमाणुर्मध्यवर्तित्वादचरम इति, नवमश्चरमौ चाचरमश्च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशकस्कन्धस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू आद्ये आकाशप्रदेशे द्वावन्ते एको मध्ये तदा आद्यप्रदेशावगाढौ द्वौ चरमौ द्वावन्त्यप्रदेशावगाढौ चरम इति चरमौ मध्यस्तु मध्यवर्तित्वादचरमः, दशमश्चरमौ चाचरमौ च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते त्रयः परमाणवः त्रिष्वाकाशप्रदेशेष्वेकस्मिन् द्वाविति, तदा आद्यप्रदेशवर्ती परमाणुश्चरमौ द्वौ चान्त्यप्रदेशवर्तिनौ चरम इति चरमौ द्वौ च मध्यवर्तित्वादचरमौ, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यः, कथमिति चेत् ?, उच्यते-यदा स पञ्चप्रदेशस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ २ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेको विश्रेणिस्थः तदा चत्वारः परमाणवो द्विप्रदेशावगाहित्वात् द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरम एकश्च विश्रेणिस्थः परमाणुर्वक्तव्यः, द्वादशश्चरमश्चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणू, द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरेको विश्रेणिस्थो द्वौ चान्यस्मिन् विश्रेणिस्थे तदा द्वौ परमाणू समश्रेणिव्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढौ द्विप्रदेशावगाढद्विप्रदेशस्कन्धवच्चरमः, द्वौ च विश्रेणिस्थौ पृथगेकैकाकाशप्रदेशावगाढौ चावक्तव्यौ, त्रयोदशश्चरमौ चावक्तव्यश्च, तत्र यदा स पञ्चप्रदेशावगाढपञ्चस्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू उपरि द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोरवगाढौ द्वौ च द्वयोस्तथैवाधः एकपर्यन्तमध्यसमे तदा द्वावप्युपरितनौ द्विप्रदेशावगाढद्व्यणुकस्कन्धवच्चरमौ द्वौ चाधस्तनौ चरम इति चरमौ एकश्च केवलः परमाणुरिवावक्तव्य इति, त्रयोविंशतितमः चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यश्च । यदा पञ्चप्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वाद्येऽपि विश्रेणिस्थ एकः तदा त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु मध्ये आद्यन्तप्रदेशावगाढौ चरमौ, मध्यप्रदेशवर्ती तु द्व्यणुको मध्यवर्तित्वादचरमो विश्रेणिस्थश्चावक्तव्य इति । चतुर्विंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यौ च । कथमिति चेदुच्यते-स एव यदा पञ्चप्रदेशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते त्रयः परमाणवस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेणिव्यवस्थितेषु द्वौ च द्वयोः परमाण्वोर्विश्रेणिस्थयोः तदा त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु मध्ये द्वावाद्यन्तप्रदेशवर्तिनौ चरमौ मध्यश्चाचरमौ द्वौ च विश्रेणिस्थावक्तव्यौ, पञ्चविंशतितमश्चरमौ चाचरमौ चावक्तव्यश्च, स चैवम्-यदा स पञ्चप्रदेशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते चत्वारश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेणिव्यवस्थितेष्वेको विश्रेणिस्थः तदा चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु मध्ये द्वावाद्यन्तप्रदेशवर्तिनौ चरमौ द्वौ च मध्यमवर्तिनावचरमावेको विश्रेणिस्थोऽवक्तव्यः ।

छप्पएसिए णं भंते ! पुच्छा ? । गोयमा ! छप्पएसिए णं खंधे सिय चरमे १ नो अचरमे २ सिय अवत्तव्वए ३ नो चरमाइं ४ नो अचरमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६ सिय चरमे य अचरमे य ७ सिय चरमे य अचरमाइं च ८ सिय चरमाइं च अचरमे य ९ सिय चरमाइं च अचरमाइं च १० सिय चरमे य अवत्तव्वए य ११ सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२ सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ नो अचरमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ नो चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य २३ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २४ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ ॥

"छप्पएसिए णं भंते !" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत् । निर्वचनम्-"गोयमा ! सिय चरमे" इत्यादि । इह द्वितीयचतुर्थपञ्चमषष्ठपञ्चदशषोडशसप्तदशाष्टादशविंशतितमैकविंशतितमद्वाविंशतितमरूपा एकादश भङ्गाः प्रतिषेध्याः वक्ष्यति च-"बि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरट्ठारं । वीसेक्कवीसगं च,...... वज्जेज्ज छट्ठम्मि ॥" शेषास्त्वेकादयः परिग्राह्याः, घटमानत्वात्तत्र यथा द्व्यादयो न घटन्ते, एकादयस्तु घटन्ते, तथा भाव्यते-इह यदा षट्प्रदेशकः स्कन्धो द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या

व्यवस्थितयोरेवमवगाहते, एकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे त्रयः परमाणवोऽपरस्मिन्नपि त्रय इति, तदा द्विप्रदेशावगाढो द्विप्रदेशकस्कन्धवच्चरमः, अचरमलक्षणस्तु द्वितीयो भङ्गो न घटते, चरमरहितस्य केवलस्याऽचरमस्याऽसम्भवात्, न खलु प्रान्ताभावे मध्यं भवतीति भावनीयमेतत्, तृतीयोऽवक्तव्यलक्षणः, स चैवम्-यदा षट्प्रदेशात्मकः स्कन्ध एतस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते तदा परमाणुवच्चरमाचरमशब्देन व्यपदेष्टुमशक्यत्वादवक्तव्यः, चतुर्थश्चरमाणीति, पञ्चमोऽचरमाणीति, षष्ठोऽवक्तव्यानि इति, पञ्चदशोऽचरमश्चावक्तव्यश्च, षोडशोऽचरमश्चावक्तव्यानि च, सप्तदशोऽचरमाणि चावक्तव्यश्चाष्टादशोऽचरमाणि चावक्तव्यानि चेत्येते सप्त भङ्गा ओघत एव न संभवन्ति, तथाप्रकाराणां द्रव्याणामेवासम्भवात्। न हि एवं जगति केवलानि चरमादीनि द्रव्याणि सम्भवन्ति, अमस्तनवश्च प्रागुक्तभावनानुसारेण सुगमत्वात् स्वयं भावनीयः, सप्तमश्चरमश्चाचरमश्चेत्येवंरूपः, एवं यदा स षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेष्वेकपरिक्षेपेण व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते द्वौ परमाणू मध्यमप्रदेशे एकैकः शेषेषु तदा तेषां चतुर्णां परमाणूनामेकसम्बन्धिपरिणामपरिणतत्वादेकवर्णत्वादेकगन्धत्वादेकरसत्वादेकस्पर्शत्वात् चैकत्वव्यपदेशः, एकत्वव्यपदेशवच्चरम इति व्यपदेशो, यौ तु द्वौ परमाणू मध्ये तावेकत्वपरिणामपरिणतावित्यचरमः, अष्टमश्चरमश्चाचरमौ च, तत्र यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः षट्सु प्रदेशेषु एकपरिक्षेपेणैकाधिकमेवमवगाहते तदा पर्यन्तवर्तिनः परिक्षेपेणावस्थिताश्चत्वारः परमाणवः प्रागुक्तयुक्तेरेकश्चरमो द्वौ च मध्यवर्तिनावचरमाविति, अन्ये त्वभिदधति-चतुर्णां परमाणूनां क्षेत्रप्रदेशान्तरव्यवहिताधिकत्वपरिणामो न भवति, तदभावाच्च नैष भङ्ग उपपद्यते, प्रतिषिद्धश्च सूत्रे, यतो वक्ष्यति-"वि चउत्थ पंचछटुं" इति प्राकृतशैल्या "छट्ठऽट्ठ" इत्येतयोः पदयोर्निर्देशः। ततोऽयमर्थः-षष्ठमष्टमं च वर्जयित्वेति, अथ नाम्नैवंरूपोऽपि भङ्गो भवति तदेवं गम्यते-य एकवेष्टकाव्यवधानेन चत्वारः परमाणवः ते तथाविधैकत्वपरिणामपरिणतत्वाच्चरमः तस्मादधिकोऽपि समश्रेण्यैव प्रतिबद्धत्वान्न तदतिरिक्त इति सोऽपि तस्मिन्नेव चरमे गण्यते इत्येकं चरमं, पुनश्च योऽधिकमध्ये व्यवस्थित इति स मध्यवर्तित्वादनेकपरिणामित्वाच्च वस्तुनोऽचरमोऽपि, ततोऽचरमावित्यपि भवति, अत्रापि न कश्चिद्विरोधः, तत्त्वं पुनः केवलिनो विदन्ति, नवमश्चरमौ चाचरमश्च, यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धः त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते एकैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वौ २ परमाणू इति तदाऽऽद्यप्रदेशवर्तिनौ द्वौ २ परमाणू चरमौ द्वावन्त्यप्रदेशवर्तिनौ चरम इति, चरमौ द्वौ तु मध्यप्रदेशवर्तिनावेकोऽचरम इति, दशमश्चरमौ चाऽचरमौ च। स चैवम्-यदा षट्प्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वेवमवगाहते द्वौ चाद्ये प्रदेशे द्वौ द्वितीये एकस्तृतीये एकश्चतुर्थे तदा द्वौ परमाणू प्रथमप्रदेशवर्तिनावेकश्चरम एकोऽन्त्यप्रदेशवर्ती चरम इति चरमौ द्वौ परमाणू द्वितीयप्रदेशवर्तिनावेकोऽचरम एकस्तृतीयप्रदेशवर्ती अचरम इत्यचरमावपि द्वौ, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यश्च। स चैवम्-यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धस्त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वावाद्ये प्रदेशे द्वौ समश्रेण्या व्यवस्थिते द्वितीयप्रदेशे द्वौ विश्रेणिस्थे तृतीयप्रदेशे तदा द्वितीयप्रदेशावगाढाश्चत्वारः परमाणवः समश्रेणिव्यवस्थितद्विप्रदेशावगाढद्व्यणुकस्कन्धवदेकश्चरमौ द्वौ च विश्रेणिस्थप्रदेशावगाढौ परमाणुवदेकोऽवक्तव्यः, द्वादशश्चरमश्चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणू प्रथमप्रदेशे द्वौ समश्रेणिव्यवस्थिते द्वितीये प्रदेशे एकस्ततः परमुपरि तृतीयप्रदेशे एकस्याधश्चतुर्थे इति तदा चत्वारः परमाणवो, द्विप्रदेशावगाढः पूर्ववदेकश्चरमो, द्वौ च विश्रेणिस्थप्रदेशद्वयावगाढावक्तव्याविति, त्रयोदशश्चरमौ चावक्तव्यश्च यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेणिव्यवस्थितयोः द्वौ तयोरेवाधः समश्रेणिव्यवस्थितयोराकाशप्रदेशयोः श्रेणिद्वयमध्यभागसमश्रेणिस्थे चैकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वाविति तदा द्विप्रदेशावगाढद्व्यणुकस्कन्धवदुपरितनद्विप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू एकश्चरमो द्वावधःस्तनाविति चरमौ द्वावेकप्रदेशावगाढौ परमाणुवदेकोऽवक्तव्यः, चतुर्दशश्चरमौ चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धः षट्स्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते द्वौ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोः समश्रेण्या व्यवस्थितयोः द्वौ तयोरेवाधः समश्रेणिव्यवस्थितयोराकाशप्रदेशयोरेको विश्रेणिद्वयमध्यभागसमश्रेणिस्थे प्रदेशे एक उपरितनयोः द्वयोः विश्रेणिस्थे तदा द्वावुपरितनावेकश्चरमौ द्वावधस्तनाविति चरमौ द्वौ चावक्तव्याविति, एकोनविंशतितमश्चरमश्चाचरमश्चावक्तव्यश्च, स चैवम्-यदा स षट्प्रदेशकः स्कन्धः षट्स्वाकाशप्रदेशेषु एकपरिक्षेपेण विश्रेणिस्थैकाधिकमवगाहते तदा एकवेष्टकाश्चत्वारः परमाणवः, प्रागुक्तयुक्तेरेकश्चरम एकोऽचरमो मध्यवर्ती एकोऽवक्तव्यो, यश्च विंशतितमश्चरमश्चाऽचरमश्चावक्तव्यौ च स सप्तप्रदेशस्यैवोपपद्यते, न षट्प्रदेशकस्य, योऽप्येकविंशतितमश्चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यश्च सोऽपि सप्तप्रदेशस्यैवोपपद्यते न षट्प्रदेशकस्य, यस्तु द्वाविंशतितमः चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यौ च सोऽष्टप्रदेशकस्यैवेति त्रयोऽप्येकोनविंशत्यादयोऽत्र प्रतिषिद्धाः, यश्च त्रयोविंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यः स च एव, यदा स एव षट्प्रदेशकः स्कन्धश्चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेष्वेवमवगाहते द्वौ २ परमाणू द्वयोराकाशप्रदेशयोरेकस्तयोरेव समश्रेणिस्थे तृतीये आकाशप्रदेशे एको विश्रेणिस्थे इति तदा आद्यप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू चरमस्तृतीयप्रदेशावगाढश्चरमो द्वितीयप्रदेशावगाढौ द्वौ परमाणू चरमौ विश्रेणिस्थोऽवक्तव्यः, चतुर्विंशतितमः चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यौ च, तत्र यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः पञ्चस्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते त्रिष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या व्यवस्थितेष्वाद्ये एको द्वितीये एकस्तृतीये द्वौ द्वयोर्विश्रेणिस्थयोरेकैक इति तदा आद्यन्तप्रदेशावगाढौ चरमौ मध्यावगाढौ अचरमौ विश्रेणिस्थौ प्रदेशद्वयावगाढौ अवक्तव्यौ, पञ्चविंशतितमश्चरमौ चाऽचरमौ चावक्तव्यश्च, यदा स एव षट्प्रदेशात्मकः स्कन्धः पञ्चसु प्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते चतुर्ष्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेणिव्यवस्थितेष्वाद्यप्रदेशत्रये एकैकश्चतुर्थे द्वौ पञ्चमे विश्रेणिस्थे एकः तदा आद्यन्तप्रदेशवर्तिनौ चरमौ मध्यप्रदेशद्वयवर्तिनौ द्वावचरमौ विश्रेणिप्रदेशस्थ एकोऽवक्तव्यः षड्विंशतितमः चरमौ चाऽचरमौ चावक्तव्यौ, स

विषम–यदा स षट्प्रदेशकः स्कन्धः षट्स्वाकाशप्रदेशेषु समश्रेण्या विश्रेण्या चैवमवगाहते तदा आद्यन्तप्रदेशावगाढौ द्वौ चरमौ, द्वौ मध्यप्रदेशावगाढावचरमौ, द्वौ च विश्रेणिस्थप्रदेशद्वयावगाढावचक्तव्याविति ।

सत्तपदेसिए णं भंते! खंधे पुच्छा ?। गोयमा! सत्तपएसिए णं खंधे सिय चरमे १ नो अचरमे २ सिय अवत्तव्वए ३ नो चरमाइं ४ नो अचरमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६ सिय चरमे य अचरमे य ७ सिय चरमे य अचरमाइं च ८ सिय चरमाइं च अचरमे य ९ सिय चरमाइं च अचरमाइं च १० सिय चरमे य अवत्तव्वए य ११ सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२ सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ नो अचरमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० सिय चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ नो चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य २३ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २४ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६॥

"सत्तपएसिए णं भंते! खंधे" इत्यादि प्रश्नसूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनमाह–"गोयमा! सत्तपएसिए णं खंधे सिय चरमे नो अचरमे" इत्यादि। इह द्वितीयचतुर्थपञ्चमषष्ठपञ्चदशषोडशसप्तदशाष्टादशद्वाविंशतितमरूपा नव भङ्गाः प्रतिषेध्याः, शेषा उपादेयाः, वक्ष्यति च-"बि चउक्क पंच छट्ठं, पएणर सोलं च सत्तरट्ठारं। वज्जिय बावीसइमं, सेसा भंगा उ सत्तमए" ॥ १॥ तत्र द्वयादीनामष्टादशपर्यन्तानां प्रतिषेधकारणं प्रागुक्तमनुसर्तव्यं न केवलमत्र किं तु सर्वेष्वनुत्तरेषु स्कन्धेषु यस्तु द्वाविंशतितमः सोऽष्टप्रदेशकस्यैव घटते, न सप्तप्रदेशकस्येत्युक्तं प्राक्, तत इह प्रतिषेधः, शेषास्तु प्रथमादयः षड्विंशतितमपर्यन्ताः सप्तदश भङ्गाः षट्प्रदेशकस्कन्धस्यैव भावनीयाः, केवलं विनेयजनानुग्रहाय स्थापनामात्रेणोपदर्श्यन्ते, प्रथमो भङ्गश्चरमभङ्गः, तृतीयोऽवक्तव्यः, सप्तमश्चरमश्चाचरमश्च, अष्टमश्चरमश्चाचरमौ च, नवमश्चरमौ चाचरमश्च, दशमश्चरमौ चाचरमौ च, एकादशश्चरमश्चावक्तव्यश्च, द्वादशश्चरमश्चावक्तव्यौ च, त्रयोदशश्चरमौ चावक्तव्यश्च, चतुर्दशश्चरमौ चावक्तव्यौ च, एकोनविंशतितमश्चरमश्चाचरमश्चावक्तव्यश्च, विंशतितमश्चरमश्चाचरमश्चावक्तव्यौ च, एकविंशतितमश्चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यश्च, त्रयोविंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यश्च, चतुर्विंशतितमश्चरमौ चाचरमश्चावक्तव्यौ च, पञ्चविंशतितमश्चरमौ चाचरमौ चावक्तव्यश्च, षड्विंशतितमश्चरमौ चाचरमौ चावक्तव्यौ। इह यस्मात् सप्तप्रदेशिकः स्कन्धः एकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहते द्वयोरपि त्रिष्वपि यावत्सप्तस्वपि, तत एवं भङ्गाः सम्भवन्ति ।

अट्ठपएसिए णं भंते! खंधे पुच्छा ?। गोयमा! अट्ठपएसिए खंधे सिय चरमे १ नो अचरमे २ सिय अवत्तव्वए ३ नो चरमाइं ४ नो अचरमाइं ५ नो अवत्तव्वयाइं ६ सिय चरमे य अचरमे य ७ सिय चरमे य अचरमाइं च ८ सिय चरमाइं च अचरमे य ९ सिय चरमाइं च अचरमाइं च १० सिय चरमे य अवत्तव्वए य ११ सिय चरमे य अवत्तव्वयाइं च १२ सिय चरमाइं च अवत्तव्वए य १३ सिय चरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १४ नो अचरमे य अवत्तव्वए य १५ नो अचरमे य अवत्तव्वयाइं च १६ नो अचरमाइं च अवत्तव्वए य १७ नो अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च १८ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वए य १९ सिय चरमे य अचरमे य अवत्तव्वयाइं च २० सिय चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वए य २१ सिय चरमे य अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २२ सिय चरमाइं च अचरमे य अवत्तव्वए य २३ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २४ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वए य २५ सिय चरमाइं च अचरमाइं च अवत्तव्वयाइं च २६ संखेज्जपदेसिए असंखेज्जपदेसिए अणंतपदेसिए खंधे जहेव अट्ठपदेसिए तहेव पत्तेयं जाणियव्वा।

"अट्ठपएसिए णं भंते! खंधे" इत्यादि पृच्छासूत्रं प्राग्वत्। निर्वचनसूत्रम्–"अट्ठपएसिए णं खंधे सिय चरमे" इत्यादि। अत्र द्वितीयचतुर्थपञ्चमाऽष्टपञ्चदशषोडशसप्तदशाऽष्टादशरूपा अष्टौ भङ्गाः प्रतिषेध्याः, शेषास्तु ग्राह्याः। वक्ष्यति च-"बिचउक्क पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरट्ठारं। एए वज्जियभंगा, सेसा सेसेसु खंधेसु ॥ १॥" सुगमा, नवरं "सेसा सेसेसु खंधेसु इति" शेषा भङ्गाः शेषेषु सप्तप्रदेशकात् स्कन्धादितरेषु अष्टप्रदेशादिकेषु सर्वेषु स्कन्धेषु द्रष्टव्याः। अन्ये त्वेवमुत्तरार्द्धं पठन्ति-"एए वज्जिय भंगा, तेण परमवट्ठिया भंगा। सेसा" सुगमम्, ते च प्रथमादयो भङ्गाः षड्विंशतिपर्यन्ता अष्टादशभावनात् स्थापनातश्च प्राग्वद्भावनीयाः, नवरं चरमश्चाचरमौ चावक्तव्यौ चेत्येवंरूपो द्वाविंशतितमो भङ्गः, तत एवम्, अथ द्विप्रदेशकादिषु स्कन्धेष्ववक्तव्याविति एवंरूपं षष्ठो भङ्गः कस्मात्प्रतिषिध्यते, तस्याऽपि युक्तितः सम्भवभावात्। तथाहि–यदा एकः परमाणुरेकस्मिन्नाकाशप्रदेशे द्वितीयो विश्रेणिस्थे प्रदेशे तदा एकोऽप्यवक्तव्यो द्वितीयोऽप्यवक्तव्य इति भवत्यवक्तव्याविति भङ्गस्त्रिप्रदेशकचिन्तायामेकस्मिन्नेकपरमाणुरपरस्मिन् द्वौ, चतुःप्रदेशकचिन्तायां प्रत्येकं द्वौ २ परमाणू इत्यादि। सत्यमेतत्, केवलमेवंरूपं जगति द्रव्यमेव नास्ति। कथमेतदवसितमिति चेत् ?, उच्यते–अत एव प्रतिषेधवचनात्, यदि हि तथारूपं द्रव्यं सम्भवेन्नायं प्रतिषेधं कुर्यादिति, यदि वा सम्भवेऽपि जातिपरनिर्देशात् तृतीयभङ्गक एवान्तर्भावो वेदितव्यः, यथा चाष्टप्रदेशकं स्कन्धे भङ्गाः प्रतिषेध्या विधेयाश्चोक्तास्तथा संख्यातप्रदेशकेऽसंख्यातप्रदेशके च प्रत्येकं वक्तव्याः। तथा चाह–"संखेज्जपएसिए असंखेज्जपएसिए" इत्यादि पाठसिद्धं, नवरम् इयं सर्वत्र भावना, यस्मादेकादिष्वपि आकाशप्रदेशेष्वष्टप्रदेशकादीनां स्कन्धानामवगाहो भवति तथा घटन्ते, यथोक्ताः सर्वेऽपि भङ्गाः। नन्वसंख्यातप्रदेशात्मकस्यानन्तप्रदेशात्मकस्य च स्कन्धस्य कथमेकस्मिन्नाकाशप्रदेशेऽवगाहः ?। उच्यते-तथा तथा माहात्म्यात्, न

चेदनुपपन्नं,युक्तितः संभाव्यमानत्वात् । तथाहि-अनन्तानन्ता द्विप्रदेशकाः स्कन्धाः,यावदनन्तानन्ताः सङ्ख्येयप्रदेशात्मकाः स्कन्धाः, अनन्तानन्ता असङ्ख्येयप्रदेशात्मकाः स्कन्धाः,अनन्तानन्ता अनन्तप्रदेशात्मकाः,लोकश्च सर्वात्मनाऽप्यसङ्ख्येयप्रदेशात्मकः,ते च सर्वेऽपि लोक एवावगाढाना लोके ततोऽवसीयते, सन्त्येकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशेऽवगाढा बहवः परमाणवो,बहवो द्विप्रदेशकाः स्कन्धाः,यावद् बहवोऽनन्तप्रदेशात्मकाः स्कन्धाः। तथा चात्र पूर्वसूरयः प्रदीपदृष्टान्तमुपवर्णयन्ति-यथैकस्य प्रदीपस्य गृहमध्ये प्रज्वालितस्य प्रभापरमाणवः सर्वमेव गृहं प्राप्नुवन्ति, तथा प्रत्येकं प्रदीपसहस्रस्यापि, न च प्रतिप्रदीपप्रभापरमाणवो न भिन्नाः, प्रतिप्रदीपे पुरुषस्य मध्यस्थितस्य छायाभेददर्शनात्,ततो यथेति स्थूला अपि प्रदीपप्रभापरमाणव एकस्मिन्नप्याकाशप्रदेशे बहवो मान्ति, तथा परमाण्वादयोऽपि, इति न कश्चिद्दोषः, आकाशस्य तथा तथाऽवकाशदानस्वभावत्वात्तथा वस्तूनां च विचित्रपरिणमनस्वभावतया विरोधाभावात् ।

परमाणुम्मि य तइओ, पढमो तइओ य होइ दुपदेसे ।
पढमो तइओ नवमो, एक्कारसमो य तिपदेसे ॥ १ ॥
पढमो तइओ नवमो, दसमो एक्कार बारसमो ।
भंगा चउप्पदेसे, तेवीसइमो य बोद्धव्वो ॥ २ ॥
पढमो तइओ सत्तम, णव दस एक्कार बार तेरसमो ।
तेवीस चउव्वीसम, पणवीसइमो य पंचमए ॥ ३ ॥
वि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
वीसेक्कवीस बावी-सगं च वज्जेज्ज छट्ठम्मि ॥ ४ ॥
वि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
बावीसइमविहूणा, सत्तपदेसम्मि खंधम्मि ॥ ५ ॥
वि चउत्थ पंच छट्ठं, पन्नर सोलं च सत्तरऽट्ठारं ।
एते वज्जिय भंगा, सेसा सेसेसु खंधेसु ॥ ६ ॥

" परमाणुम्मि य तइओ " इत्यादि पाठसिद्धम् , भावितार्थत्वात् । नवरं षट्प्रदेशादिचिन्तायां प्रतिषेध्या भङ्गाः स्तोका इति, लाघवार्थं त एव संगृहीताः । इदानन्तरं स्कन्धानां चरमाचरमादिवक्तव्यतोक्ता, स्कन्धाश्च यथायोगं परिमण्डलादिसंस्थाने च भवन्ति । (प्रज्ञा०)

परिमंडले णं भंते ! संठाणे संखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे,अचरमे, चरमाइं, अचरमाइं, चरमंतपदेसा, अचरमंतपदेसा ? । गोयमा ! परिमंडले णं संठाणे संखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे नो चरमे,नो अचरमे,नो चरमाइं, नो अचरमाइं, नो चरमंतपदेसा, नो अचरमंतपदेसा, नियमा अचरमं चरमाणि य १, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य २, एवं० जाव आयते ॥ परिमंडले णं भंते ! संठाणे असंखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे पुच्छा ? । गोयमा ! असंखेज्जपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे जहा संखेज्जपदेसिए एवं० जाव आयए ॥ परिमंडले णं भंते ! संठाणे असंखेज्जपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे पुच्छा ? । गोयमा ! असंखेज्जपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे नो चरमे, जहा संखेज्जपदेसोगाढे एवं० जाव आयए ॥ परिमंडले णं भंते ! संठाणे अणंतपदेसिए संखेज्जपदेसोगाढे किं चरमे पुच्छा ? । गोयमा ! तहेव० जाव आयते ॥ अणंतपदेसिए असंखेज्जपदेसोगाढे जहा संखेज्जपदेसोगाढे एवं० जाव आयते ॥

संख्यातप्रदेशासंख्यातप्रदेशानन्तप्रदेशपरिमण्डलादिसंस्थानचरमाचरमादिचिन्तायां निर्वचनसूत्राणि रत्नप्रभाया इव प्रत्येतव्यानि, अनेकावयवविभागात्मकत्वाविवक्षायामचरमं च चरमाणि चेति निर्वचनं प्रदेशविवक्षायां चरमान्तप्रदेशाश्चाचरमान्तप्रदेशाश्च ।

सम्प्रति संख्यातप्रदेशस्य संख्यातप्रदेशावगाढस्य परिमण्डलादेश्चरमाचरमादिविषयमल्पबहुत्वमभिधित्सुराह-

परिमंडलस्स णं भंते ! संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा बहुया वा तुल्ला वा विसेसाहिया वा ? । गोयमा ! सव्वत्थोवे परिमंडलस्स संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे, चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा,परिमंडलस्स संठाणस्स संखिज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स चरिमंतपदेसा अचरिमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा दो वि विसेसाहिया,दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे, परिमंडलस्स संठाणस्स संखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे , चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, चरमंतपदेसा संखेज्जगुणा अचरमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया ॥ एवं वट्टतंसचउरंसआयएसु वि जोएयव्वं ॥ परिमंडलस्स णं भंते ! संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स अचरमस्स य चरमाण य चरमंतपदेसाण य अचरमंतपदेसाण य दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे, कयरेहिंतो अप्पा वा० ४ ? । गोयमा ! सव्वत्थोवे परिमंडलस्स संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अचरमे, चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, पदेसट्ठयाए सव्वत्थोवा,परिमंडलस्स संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स चरमंतपदेसा अचरमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया, दव्वट्ठपदेसट्ठयाए सव्वत्थोवे,परिमंडलस्स संठाणस्स असंखेज्जपदेसियस्स संखेज्जपदेसोगाढस्स दव्वट्ठयाए एगे अच-

रमे चरमाइं संखेज्जगुणाइं, अचरमं च चरमाणि य दो वि विसेसाहियाइं, चरमंतपदेसा अचरमंतपदेसा संखेज्जगुणा, चरमंतपदेसा य अचरमंतपदेसा य दो वि विसेसाहिया वा। एवं० जाव आयते ।

" परिमंमलस्स णं जंते ! " इत्यादि सुगमं, नवरं द्रव्यार्थताचिन्तायां चरमाणि । (संखेज्जगुणाइं इति) सर्वात्मना परिमण्डलसंस्थानस्य संख्यातप्रदेशात्मकत्वात् , असंख्यातप्रदेशस्याऽसंख्यातप्रदेशावगाढस्य अल्पबहुत्वं रत्नप्रभाया इव भावनीयम , अनन्तप्रदेशकस्याऽप्यसंख्यातप्रदेशाऽवगाढस्य नवरं संक्रमे अनन्तगुणा इति , क्षेत्रचिन्तातो यदा द्रव्यचिन्तां प्रति संक्रमणं तदा तानि चरमाण्यनन्तगुणानि वक्तव्यानि। तद्यथा- "सव्वत्थोवे एगे अचरमे चरमाइं, खेत्तओ असंखेज्जगुणाइं,दव्वओ अणंतगुणाइं अचरमं चरमाणि य दोवि विसेसाहियाइं" इति,तदेवं संस्थानान्यपि चरमाचरमादिविभागेन चिन्तितानि।

(७) संप्रति जीवादीन् चरमाचरमविभागेन गतिं चिन्तयति-

जीवे णं जंते ! गतिचरमेणं किं चरमे, अचरमे ?। गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे ।

गतिपर्य्यायरूपं चरमं गतिचरमं, तेन जीवो भदन्त ! चिन्त्यमानः किं चरमोऽचरमः ?। भगवानाह-गौतम ! स्याच्चरमः, स्यादचरमः, कश्चिच्चरमः कश्चिदचरम इत्यर्थः। तत्र यः पृच्छासमये सामर्थ्यान्मनुष्यगतिरूपे पर्याये वर्तमानानन्तरं न किमपि गतिपर्यायमवाप्स्यति किं तु मुक्तौ एव भविता, स गतिचरमः, शेषस्त्वगतिचरम इति ।

नेरइए णं भंते ! गतिचरमेणं किं चरमे, अचरमे ?। गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया । नेरइया णं जंते ! गतिचरमेणं किं चरमा, किं अचरमा ?। गोयमा! चरमा वि अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया ॥

" नेरइए णं जंते ! गइचरमे " इत्यादि । नैरयिको भदन्त ! गतिचरमेण सामर्थ्यान्नरकगतिपर्यायरूपेण चरमेण चिन्त्यमानः किं चरमोऽचरमो वा ? । भगवानाह- गौतम ! स्याच्चरमः स्यादचरमो, नरकगतिपर्यायादुद्वृत्तो न भूयोऽपि नरकगतिपर्यायमनुभविष्यति स चरमः, शेषस्त्वचरमः। एवं चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरन्तरं तावद्वक्तव्यं यावद्वैमानिकसूत्रम । बहुवचनदण्डकसूत्रे निर्वचनम-(चरमा वि अचरमा वि इति) पृच्छासमये केचन नैरयिकास्तेषां मध्येऽवश्यं केचन नैरयिकगतिपर्यायेण चरमाः, इतरे त्वचरमास्तत एकमेवेदमत्र निर्वचनम्-चरमा अपि अचरमा अपि, एवं सर्वस्थानेष्वपि तां तां गतिमाधिकृत्य भावनीयम । प्रज्ञा० १० पद । भ० । स्था० ।

(८) स्थितिचरमे-

नेरइए णं भंते ! ठितिचरमेणं किं चरमे, अचरमे ?। गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे। एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइया णं भंते ! ठितिचरमेणं किं चरमा , अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया । नेरइए णं जंते ! जवचरमेणं किं चरमे, किं अचरमे ?। गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइया णं भंते ! जवचरमेणं किं चरमा, अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि अचरमा वि , एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया ॥

" नेरइए णं जंते ! ठिइचरमेणं " इत्यादि। नैरयिको भदन्त ! तत्रैव नरकेषु चरमसमये स्थितिपर्यायरूपे चरमेण चिन्त्यमानः किं चरमोऽचरमो वा? । भगवानाह-स्याच्चरमः, स्यादचरमः । किमुक्तं भवति ?-यो भूयोऽपि नरकमागत्य स्थितिचरमसमयं प्राप्स्यति सोऽचरमः, शेषस्तु चरमः। एवं निरन्तरं यावद्वैमानिकः। बहुत्वदण्डकचिन्तायाम-(चरमा वि अचरमा वि इति) इह यः पृच्छासमये स्थितिचरमसमयं प्राप्स्यति सोऽचरमः, शेषस्तु चरमः,एवं निरन्तरं यावद्वैमानिकः। बहुत्वदण्डकचिन्तायाम-(चरमा वि अचरमा वि इति) इह ये पृच्छासमये स्थितिचरमसमये वर्तन्ते ते चिन्त्यन्ते, इत्येतन्न, अन्यथा उद्वर्तनाया विरहस्यापि सम्भवात्, एकादीनामपि चोद्वर्तनाया भावात्. "चरमा वि अचरमा वि" इत्युभयथाऽप्यवस्थाभाविनां बहुवचनेन निर्वचनं नोपपद्येत, किं तु ये पृच्छासमये वर्तन्ते ते क्रमेण स्वस्वस्थितिचरमसमयं प्राप्ताः सन्तस्तेन रूपेण चरमा अचरमा वा इत्येतच्चिन्तनेन उपपद्यते, यथोक्तं निर्वचनमिति भवचरमसूत्रगतिचरमसूत्रवत् । प्रज्ञा० १० पद ।

भाषोच्छ्वासः-

नेरइए णं जंते ! जासाचरमेणं किं चरमे, अचरमे ?। गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं०जाव वेमाणिया। नेइया णं जंते ! भासाचरमेणं किं चरमा, अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि अचरमा वि, एवं एगिंदियवज्जं० जाव वेमाणिया । नेरइए णं भंते ! आणापाणुचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए। नेरइया णं भंते ! आणापाणुचरमेणं किं चरमा, अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया । नेरइए णं भंते ! आहारचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं०जाव वेमाणिए । नेरइए णं जंते ! आहारचरमेणं किं चरमा, अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं०जाव वेमाणिया । नेरइए णं भंते ! भावचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए । नेरइया णं जंते ! जावचरमेणं किं चरमा, अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया। नेरइए णं जंते ! वन्नचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे , एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए । नेरइया णं भंते ! वन्नचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? । गोयमा ! चरमा वि , अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव

वेमाणिया । नेरइए णं भंते ! गंधचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए । नेरइया णं भंते ! गंधचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? । गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया । नेरइए णं भंते ! रसचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए । नेरइया णं भंते ! रसचरमेणं किं चरमा, अचरमा ?। गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिया । नेरइए णं भंते ! फासचरमेणं किं चरमे, अचरमे ? । गोयमा ! सिय चरमे, सिय अचरमे, एवं निरंतरं० जाव वेमाणिए । नेरइया णं भंते ! फासचरमेणं किं चरमा, अचरमा ? । गोयमा ! चरमा वि, अचरमा वि, एवं० जाव वेमाणिया । संगहणीगाहा-" गति ठिति भवे य भासा, आणापाणु चरमे य बोधव्वा । आहारभावचरमे, वन्नरसे गंधफासे य " ॥ १ ॥

भाषाचरमं चरमा भाषा, ततोऽयमर्थः-नैरयिको भदन्त ! चरमयाऽचरमया भाषया किं चरमोऽचरमो वा ?। शेषं सुगमम् । बहुवचनसूत्रे प्रश्नभावार्थः-ये पृच्छासमये नारकास्ते स्वकालक्रमेण चरमां भाषां प्राप्ताः सन्तः तया चरमया भाषया चरमा अचरमा वा इति । ततो निर्वचनसूत्रमप्युपपन्नम् । एवमुच्छ्वासाहारसूत्रे अपि भावनीये, भाव औदयिकः, शेषं सुगमम् । प्रज्ञा० १० पद ।

(५) जीवादयो जीवभावेन चरमा अचरमा वेत्याहारादिविशेषणेन प्रश्नाः-

जीवे णं भंते ! जीवभावेणं किं चरिमे, अचरिमे ? । गोयमा ! णो चरिमे अचरिमे। णेरइए णं भंते ! णेरइयभावेणं पुच्छा ? । गोयमा ! सिय चरिमे, सिय अचरिमे, एवं० जाव वेमाणिए, सिद्धे जहा जीवे। जीवाणं पुच्छा ? गोयमा ! जीवा णो चरिमा, अचरिमा, णेरयइया चरिमा वि, अचरिमा वि, एवं० जाव वेमाणिया सिद्धा जहा जीवा । आहारए सव्वत्थ एगत्तेणं सिय चरिमे, सिय अचरिमे, पुहत्तेणं चरिमा वि अचरिमा वि, अणाहारओ जीवो सिद्धो एगत्तेणं वि पोहत्तेणं वि णो चरिमो, अचरिमो, सेसट्ठाणेसु एगत्तपुहत्तेणं आहारओ भवसिद्धीओ जीवपदे एगत्तपोहत्तेणं चरिमे, णो अचरिमे, सेसट्ठाणेसु जहा आहारओ, अभवसिद्धीओ सव्वत्थ एगत्तपुहत्तेणं णो चरिमे, अचरिमे, णो भवसिद्धी य, णो अभवसिद्धी य, जीवा सिद्धा य एगत्तपुहत्तेणं जहा अभवसिद्धीओ, सण्णी जहा आहारओ एवं असण्णी वि, णो सण्णी णो असण्णी जीवपदे सिद्धपदे य अचरिमो, मणुस्सपदे चरिमो, एगत्तपुहत्तेणं सलेस्सो० जाव सुक्कलेस्सा, जहा आहारओ, णवरं जस्स जा अत्थि अलेस्सा, जहा णो सण्णी णो असण्णी सम्मदिट्ठी, जहा अणाहारओ मिच्छदिट्ठी, आहारओ, सम्मामिच्छदिट्ठी एगिंदियविगलिंदियवज्जं सिय चरिमे, सिय अचरिमे। पुहत्तेणं चरिमो वि, अचरिमो वि, संजओ जीवो मणुस्सो जहा आहारओ, असंजओ वि तहेव । संजयासंजओ वि तहेव, णवरं जस्स जं अत्थि, णो संजया णो असंजया णो संजयासंजया जहा णो भवसिद्धी य णो अभवसिद्धीओ सकसाई० जाव लोभकसायी सव्वट्ठाणेसु जहा आहारओ, अकसायी जीवपदे सिद्धपदे य णो चरिमो, अचरिमो, मणुस्सपदे सिय चरिमो, सिय अचरिमो, णाणी जहा सम्मदिट्ठी सव्वत्थ आभिणिबोहियणाणी० जाव मणपज्जवणाणी जहा आहारओ, णवरं जस्स जं अत्थि, केवलणाणी जहा णो सण्णी णो असण्णी, अण्णाणी० जाव विभंगणाणी जहा आहारओ। सजोगी० जाव कायजोगी जहा आहारओ जस्स जो जोगो अत्थि, अजोगी जहा णो सण्णी णो असण्णी । सागारोवउत्तो अणागारोवउत्ते य जहा अणाहारओ। सवेदो० जाव णपुंसगवेदओ जहा आहारओ, अवेदओ जहा अकसायी, ससरीरी० जाव कम्मगसरीरी जहा आहारओ, णवरं जस्स जं अत्थि, असरीरी जहा णो भवसिद्धी य णो अभवसिद्धी य पंचहिं पज्जत्तीहिं पंचहिं अपज्जत्तीहिं जहा आहारओ सव्वत्थ एगत्तपुहत्तेणं दंडगा भाणियव्वा ।

" जीवे णं " इत्यादि । जीवो भदन्त ! जीवभावेन जीवत्वपर्यायेण किं चरमः, किं जीवत्वस्य प्राप्तव्यचरमभागः, किं जीवत्वं मोक्ष्यतीत्यर्थः । (अचरमे त्ति) अविद्यमानजीवत्वचरमसमयो जीवत्वमत्यन्तं न मोक्ष्यतीत्यर्थः । इह प्रश्ने आह-नो नैव चरमः प्राप्तव्यजीवत्वावसानो, जीवत्वस्याव्यवच्छेदादिति । " नेरइए णं " इत्यादि । (सिय चरिमे सिय अचरिमे त्ति) यो नारको नारकत्वादुद्वृत्तः सन् पुनः नरकगतिं न यास्यति सिद्धिगमनात् स चरमोऽन्यस्त्वऽचरमः । एवं यावद्वैमानिकः (सिद्धे जहा जीवे त्ति) अचरम इत्यर्थः । न हि सिद्धः सिद्धतया विनङ्क्ष्यतीति । " जीवा णं " इत्यादि पृथक्त्वदण्डकः तथाविध एवेति । आहारकद्वारे-(आहारए सव्वत्थ त्ति) सर्वेषु जीवादिपदेषु (सिय चरमे सिय अचरमे त्ति) कश्चिच्चरमो यो निर्वास्यति, अन्यस्त्वचरम इति। अनाहारकपदे अनाहारकत्वेन जीवः सिद्धश्चाऽचरमो वाच्योऽनाहारकत्वस्य तदीयस्यापर्यवसितत्वाज्जीवश्चेह सिद्धावस्थ एवेति । एतदेवाह-" अणाहारओ " इत्यादि । (सेसट्ठाणेसु त्ति) नारकादिषु पदेषु (जहा आहारओ त्ति) स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः । यो नारकादित्वेनाऽनाहारकत्वं पुनर्न लप्स्यते स चरमो, यस्तु तल्लप्स्यतेऽसावचरम इति । भव्यद्वारे-"भवसिद्धिओ " इत्यादि । भव्यो जीवो भव्यत्वेन चरमः, सिद्धिगमनेन भव्यत्वस्य चरमत्वप्राप्तेः, एतच्च 'सर्वेऽपि भवसिद्धिका जीवाः सेत्स्यन्ती'ति'वचनप्रामाण्यादभिहितमिति । (अभवसिद्धिओ सव्वत्थ त्ति) सर्वेषु जीवादिपदेषु । (नो चरमे त्ति) अभव्य-

स्य भव्यत्वेनाभावात् । " नो भवे " इत्यादि । उभयनिषेधवान् जीवपदे सिद्धपदे वा भवसिद्धिकवदचरमः,तस्य सिद्धत्वासिद्धत्वस्य च सिद्धत्वपर्यायानपगमादिति । संज्ञिद्वारे-(सएणी जहा आहारओ त्ति) संज्ञित्वेन स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः। एवमसंज्ञ्यपि, उभयनिषेधवाँश्च जीवः सिद्धश्चाचरमो, मनुष्यस्तु चरमः. उभयनिषेधवतो मनुष्यस्य केवलित्वेन पुनर्मनुष्यत्वस्यालाभादिति । लेश्याद्वारे-" सलेसा " इत्यादि । (जहा आहारओ त्ति) स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः । तत्र ये निर्वास्यन्ति ते सलेश्यत्वस्य चरमाः,अन्ये त्वचरमा इति। दृष्टिद्वारे-(सम्मद्दिट्ठी जहा अणाहारओ त्ति) जीवः सिद्धश्च सम्यग्दृष्टिरचरमः, यतो जीवस्य सम्यक्त्वं प्रतिपतितमप्यवश्यंभावि, सिद्धस्य तु न प्रतिपतत्येव, मनुष्यस्तु अकषायितोपेतं मनुष्यत्वं यः पुनर्न लप्स्यते स चरमो, यस्तु लप्स्यते सोऽचरम इति । ज्ञानद्वारे-(नाणी जहा सम्मद्दिट्ठी) अयमिह सम्यग्दृष्टिदृष्टान्तलब्धोऽर्थः-जीवः सिद्धश्चाऽचरमो, जीवो हि ज्ञानस्य सतः प्रतिपातेऽप्यवश्यं पुनर्भावेनाचरमः,सिद्धस्त्वक्षीणज्ञानभाव एव भवतीत्यचरमः। शेषास्तु ज्ञानोपेतनारकत्वादीनां पुनर्लाभासंभवे चरमाः, अन्यथा त्वऽचरमा इति (सव्वत्थ त्ति) सर्वेषु जीवादिषु सिद्धान्तेषु पदेष्वेकेन्द्रियवर्जितेष्विति गम्यम् । ज्ञानभेदापेक्षयाऽऽह-"आभिणिबोहिय" इत्यादि । "जहा आहारओ त्ति" करणात् स्याच्चरमः, स्यादचरम इति द्वयम् । तत्राभिनिबोधिकादिज्ञानं यः केवलज्ञानप्राप्त्या पुनरपि न लप्स्यते स चरमोऽन्यस्त्वचरमः । (जस्स जं अत्थि त्ति) यस्य जीवनारकादेर्यत्राभिनिबोधिकाद्यस्ति तस्य तद्वाच्यं. तच्च प्रतीतमेव, केवलज्ञान्यऽचरमो वाच्य इति भावः । "अन्नाणी" इत्यादि । अज्ञानी सभेदः स्याच्चरमः, स्यादचरम इत्यर्थः । यो ह्यज्ञानं पुनर्न लप्स्यते स चरमो, यस्तु अभव्यो ज्ञानं न लप्स्यत एवासावचरम इति । एवं यत्र यत्राहारकातिदेशः तत्र तत्र स्याच्चरमः स्यादचरम इति व्याख्येयम् । शेषमप्यनयैव दिशाऽभ्यूह्यमिति । भ० १८ श० १ उ० । ('गोसालग' शब्देऽत्रैव भागे १०२६पृष्ठे तत्प्ररूपितान्यष्टचरमाण्युक्तानि) चरमाण्यचरमाणीति प्रश्नमुद्दिश्य प्रवृत्ते दशमे प्रज्ञापनापदे, प्रज्ञा० १ पद ।

(१०) अल्पस्थितौ—

अत्थि णं भंते ! चरिमा वि णेरइया, परमा वि णेरइया ?। हंता ! अत्थि । से णूणं चरिमेहिंतो णेरइएहिंतो परमा णेरइया महाकम्मतराए चेव महाकिरियतराए चेव महासवतराए चेव महावेयणतराए चेव परमेहिंतो वा णेरइएहिंतो चरमा णेरइया अप्पकम्मतरा चेव अप्पकिरियतरा चेव अप्पासवतरा चेव अप्पवेयणतरा चेव ?। गोयमा ! चरमेहिंतो णेरइएहिंतो परमा० जाव महावेयणतरा चेव परमेहिंतो णेरइएहिंतो चरमा णेरइया० जाव अप्पवेयणतरा चेव । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ० जाव अप्पवेयणतरा चेव ?। गोयमा ! ठितिं पडुच्च,से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ० जाव अप्पवेयणतरा चेव । अत्थि णं भंते ! चरमा वि असुरकुमारा, परमा वि असुरकुमारा ?। एवं चेव, णवरं विवरीयं जाणियव्वं, परमा अप्पकम्मा, चरमा महाकम्मा, सेसं तं चेव० जाव थणियकुमारा ताव एमेव । पुढवीकाइया० जाव मणुस्सा, एए जहा णेरइया वाणमंतरजोइसियवेमाणिया जहा असुरकुमारा ।

" अत्थि णं" इत्यादि (चरमा वि त्ति) अल्पस्थितयोऽपि। (परमा वि त्ति) महास्थितयोऽपि । (ठिइं पडुच्च त्ति) येषां नरकाणां महती स्थितिस्ते इतरेभ्यो महाकर्मतरादयोऽशुभकर्म्मापेक्षया भवन्ति , येषां त्वल्पा स्थितिस्ते इतरेभ्योऽल्पकर्मतरादयो भवन्तीति भावः । असुरसूत्रे-(नवरं विवरीयं ति) पूर्वोक्तापेक्षया विपरीतं वाच्यम् । तच्चैवम्-"से णूणं भंते ! चरमेहिंतो असुरकुमारेहिंतो परमा असुरकुमारा अप्पकम्मतरा चेव अप्पकिरियतरा चेव" इत्यादि । अल्पकर्मत्वं च तेषामसाताद्यशुभकर्मापेक्षम्, अल्पक्रियत्वं च तथाविधकायिक्यादिकष्टक्रियापेक्षम्,अल्पास्रवत्वं तु तथाविधकष्टक्रियाजन्यकर्मबन्धापेक्षम् । अल्पवेदनत्वं च पीडाभावापेक्षमवसेयमिति । भ० १ श० ५ उ० । चरमोऽनन्तरभावी भवो यस्याऽसौ चरमः । " अभ्रादिभ्यः " ॥७।२।४६॥ इति मत्वर्थोऽप्रत्ययः । यस्य नारकादिभवक्रमः पुनस्तेनैव नोत्पत्स्यते सिद्धिगमनादिति तादृशे नैरयिकादौ वैमानिकपर्यन्ते, दर्शितं चैतदधुनैव । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

चरमजहापवित्तिकरण–चरमयथाप्रवृत्तिकरण–न० । अन्तिमयथाप्रवृत्तिकरणे, तच्च परमार्थतोऽपूर्वकरणमेवेति योगविन्दौ व्यवस्थापितम् । तथा च, तद्ग्रन्थः-" अपूर्वासन्नभावेन, व्यभिचारवियोगतः । तत्त्वतोऽपूर्वमेवेद-मिति योगविदो विदुः " ॥ १ ॥ ध० १ अधि० ।

चरमंत–चरमान्त–पुं० । इह च विवक्षयाऽऽदिरप्यन्तो भवति तद्व्यवच्छेदार्थं चरमग्रहणम् । चरमः पर्यन्तवर्ती अन्तो न पुनरादिभूत इति पर्यन्तवर्तिनोऽन्ते, विशे० । "लोगस्स य चरिमंतो, चरिमंतो होइ भासाए । " विशे० । (लोकचरमान्तो 'लोक' शब्दे एव व्याख्यास्यते)

सर्वेषां चरमान्तानां वक्तव्यता—

इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए पुरच्छिमिल्ले चरिमंते किं जीवा पुच्छा ?। गोयमा ! णो जीवा, एवं जहेव लोगस्स तहेव चत्तारि वि चरिमंता० जाव उवरिल्ले, जहा दसमसए विमला दिसा तहेव णिरवसेसं हेट्ठिल्ले चरिमंते, जहेव लोगस्स हेट्ठिल्ले चरिमंते तहेव णवरं देसे पंचिंदिएसु भंगो,सेसं तं चेव, एवं जहा रयणप्पभाए चत्तारि चरिमंता भणिया एवं सक्करप्पभाए वि, उवरिमहेट्ठिल्ला जहा रयणप्पभाए हेट्ठिल्ला, एवं०जाव अहे सत्तमाए, एवं सोहम्मस्स वि० जाव अच्चुयस्स, गेवेज्जगविमाणाणं एवं चेव, णवरं उवरिमहेट्ठिल्लेसु चरिमंतेसु देसेसु पंचिंदियाण वि मज्झिल्लविरहिओ, सेसं तहेव, एवं जहा गेवेज्जगविमाणा तहा अणुत्तरविमाणा वि,ईसिप्पब्भारा वि। परमाणुपोग्गले णं भंते ! लोगस्स पुरच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पच्चच्छिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ, पच्चच्छिमिल्लाओ चरिमंताओ पुरच्छिमिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ, दाहिणिल्लाओ चरिमंताओ उत्तरिल्लं० जाव गच्छइ, उत्तरिल्लाओ दाहि-

णिद्धं० जाव गच्छइ, उवरिल्लाम्रो चरिमंताम्रो हेट्ठिल्लं चरिमंतं एग० जाव गच्छइ, हेट्ठिल्लाम्रो चरिमंताओ उवरिल्लं चरिमंतं एगसमएणं गच्छइ। हंता गोयमा ! परमाणुपोग्गलेणं लोगस्स पुरच्छिमिल्लं तं चेव० जाव उवरिल्लं चरिमंतं गच्छइ ॥

" इमीसे णं " इत्यादि । (उवरिल्ले जहा दसमसए विमला दिसा तहेव निरवसेसं ति) दशमशते यथा विमला दिगुक्ता तथैव रत्नप्रभोपरितनचरमान्तो वाच्यो निरवशेषं यथा भवतीति । स चैवम्-"इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए उवरिल्ले चरिमंते किं जीवा०?। गोयमा ! नो जीवा"। एकप्रदेशिकप्रतरात्मकत्वेन तत्र तेषामनवस्थानात् । " जीवदेसा वि, जे जीवदेसा ते नियमा एगिंदियदेसा " सर्वत्र तेषां भावात् । "अहवा एगिंदियदेसा य बेइन्दियस्स य देसे, अहवा एगिंदियदेसा य बेइंदियस्स य देसा, अहवा एगिंदियदेसा य बेंदियाण य देसा ३। " रत्नप्रभा हि द्वीन्द्रियाणामाश्रयः, ते चैकेन्द्रियापेक्षयाऽतिस्तोकाः, ततश्च तदुपरितनचरमान्ते तेषां कदाचिद्देशः स्याद्देशा वेति, एवं त्रीन्द्रियादिष्वप्यनिन्द्रियान्तेषु तथा-"जे जीवप्पएसा ते नियमा एगिंदियपएसा, अहवा एगिंदियपएसा वि बेंदियस्स य पएसा १ , अहवा-एगिंदियपएसा य बेंदियाण य पएसा २। " एवं त्रीन्द्रियादिष्वप्यनिन्द्रियान्तेषु तथा, "जे अजीवा ते दुविहा पन्नत्ता । तं जहा-रूविअजीवा य अरूविअजीवा य । जे रूविअजीवा ते चउव्विहा पन्नत्ता । तं जहा-खंधा जीवा परमाणुपोग्गला। जे अरूविअजीवा ते सत्तविहा पन्नत्ता । तं जहा-नो धम्मत्थिकाए धम्मत्थिकायस्स देसे धम्मत्थिकायप्पएसा, एवं अधम्मत्थिकायस्स वि, आगासत्थिकायस्स वि, अद्धासमए त्ति " अद्धासमयो हि मनुष्यक्षेत्रान्तर्वर्तिनि रत्नप्रभोपरितनचरमान्तेऽस्त्येवेति । " हिट्ठिल्ले चरिमंते " इत्यादि । यथाऽधश्चरमान्तो लोकस्योक्त एवं रत्नप्रभापृथिव्याः, स चानन्तरोक्त एव । विशेषस्त्वयम्-लोकाधस्तनचरमान्ते द्वीन्द्रियादीनां देशभङ्गकत्रयं मध्यमरहितमुक्तमिह तु रत्नप्रभाधस्तनचरमान्ते पञ्चेन्द्रियाणां परिपूर्णमेव तद्वाच्यं, शेषाणां तु द्वीन्द्रियादीनां मध्यमरहितमेव, यतो रत्नप्रभाऽधस्तनचरमान्ते पञ्चेन्द्रियाणां गमागमद्वारेण देशो देशाश्च संभवन्त्यतः पञ्चेन्द्रियाणां तत्तत्र परिपूर्णमेव भवति, द्वीन्द्रियादीनां तु रत्नप्रभाऽधस्तनचरमान्ते मारणान्तिकसमुद्घातेन गतानामपि तत्र देश एव सम्भवति, न देशाः, तस्यैकप्रतररूपत्वेन देशानेकत्वाऽहेतुत्वादिति, तेषां तत्तत्र मध्यमरहितमेवेति । अत एवाह-" नवरं देसे " इत्यादि । (चत्तारि चरिमंत त्ति) पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तररूपाः (उवरिमहिट्ठिल्ला जहा रयणप्पभाए हेट्ठिल्ले त्ति) शर्करप्रभाया उपरितनाधस्तनचरमान्तौ रत्नप्रभाऽधस्तनचरमान्तवद्वाच्यौ, द्वीन्द्रियादिषु पूर्वोक्तयुक्तेर्मध्यमभङ्गरहितं, पञ्चेन्द्रियेषु तु परिपूर्णं देशभङ्गत्रयं ,प्रदेशचिन्तायां तु द्वीन्द्रियादिषु सर्वेष्वाद्यभङ्गकरहितत्वेन शेषभङ्गकद्वयम्, अजीवचिन्तायां तु रूपिणां चतुष्कम्, अरूपिणां त्वद्धासमयस्य तत्राभावेन षट्कं वाच्यमिति भावः । भ० १६ श० ८ उ० ।

चरमकाल-चरमकाल-पुं० । मरणसमये , पं० व० ४ द्वार।

चरमणिदाहसमय-चरमनिदाघसमय-पुं० । जेष्ठमासपर्यन्ते, जी० ३ प्रति० ।

चरमतित्थयर-चरमतीर्थकर-पुं० । अन्तिमतीर्थकरे, यथाऽवसर्पिण्यां महावीरः । स्था० ६ ठा० ३ उ० ।

चरमजव-चरमभव-त्रि० । चरम एव भवो यस्य प्रासक्तिस्तत्र, देवभवो वा चरमो यस्य सः , चरमभवो भविष्यति यस्य सः। अन्तिमभवे, प्रति० ।

चरमवस्स-चरमवर्ण-पुं० । अधमवर्णे, यथा ब्राह्मणेन क्षत्रियायां जातः क्षत्रियो भवति इति चरमवर्णव्यपदेशः । आचा० २ श्रु० १ अ० ।

चरमसमय-चरमसमय-पुं० । सयोग्यवस्थान्तिमसमये , नं० ।

चरमसमयजवत्थ-चरमसमयभवस्थ-पुं० । चरमसमये भवस्य जीवितस्य तिष्ठति यः स तथा । आयुषश्चरमसमये स्थिते, भ० ७ श० १ उ० ।

चरमाण-चरत्-त्रि० । सेवमाने, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

चरवलय-चरपलक-पुं० । श्रावकरजोहरणरूपे, तत्स्वरूपमागमे न क्वाप्युपलब्धमिति न दर्शितम । (राजेन्द्रसूरिः)

चरिऊण-चरित्वा-अव्य० । आसेव्येत्यर्थे, आ० म० प्र० ।

चरिगा-चरिका-स्त्री० । परिव्राजिकायाम्, ओघ० । आ० म० ।

चरित्त-च (चा) रित्र-न० । 'चर' गतिभक्षणयोरित्यस्य "अर्तिलूधूसूखनसहचरइत्रः" । ३।२।१८४। इति इत्रप्रत्ययान्तं चरित्रमिति भवति । चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चरित्रम् । चारित्रमोहनीयक्षयोपशमे,दश०१ अ०। आव०। व्य०। 'चर' गतिभक्षणयोः,चरन्ति गच्छन्ति अनिन्दितमनेनेति चरित्रम् । "खनसहलूधूचर्त्तेः" इति (५।२।८७) इत्रप्रत्ययः। चरित्रमेव चारित्रं,किमुक्तं भवति ?, अन्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसञ्चयापचयाय चरणं, सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिरूपं चारित्रमिति । आ० म० प्र०। चरन्त्यनिन्दितमनेनेति चारित्रम्, अष्टविधकर्मचयरिक्तीकरणाद् वा चारित्रम् । सर्वविरतिक्रियायाम्, विशे० । चर्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते तदिति, चर्यते वा गम्यते अनेन निर्वृताविति चारित्रम्, अथवा-चयस्य कर्मणां रिक्तीकरणाच्चरित्रं,निरुक्तन्यायादिति। (स्था०) चारित्रमोहनीयक्षयाद्याविर्भूते आत्मनो विरतिरूपे परिणामे, (स्था०) " एगे चरित्ते " तदेकं वक्ष्यमाणानां सामायिकादितद्भेदानां विरतिसामान्यान्तर्भावादेकस्य चैकदा भावाद्वेति, एतेषां च ज्ञानादीनामयमेव क्रमो, यतो नाऽज्ञातं श्रद्धीयते, नाश्रद्धितं सम्यगनुष्ठीयत इति । स्था०१० ठा०। सूत्र०। चर्यते आसेव्यते अनेन वा, चर्यते गम्यते मोक्ष इति चारित्रम् । मूलोत्तरगुणकलापे, स्था० २ ठा० १ उ० । आश्रवनिरोधे, व्य० १ उ० । अनुष्ठाने, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । स्था० । अज्ञानोपचितस्य कर्मचयस्य रिक्तीकरणे, नि० चू०१ उ० । सर्वसंवरे, सूत्र० २ श्रु० १ अ० । चारित्रमोहनीयक्षयक्षयोपशमजे जीवपरिणामे, भ० ८ श० २ उ० । सावद्ययोगनिवृत्तौ, प्रश्न० ३ संव० द्वार । बाह्यसदनुष्ठाने, रा० । क्रियाचेष्टादिके, उत्त० २८ अ० ।

कुम्भदृष्टान्तेन चत्वारि चरित्राणि-

चत्तारि कुंभा पन्नत्ता । तं जहा-भिन्ने, जज्जरिए, परि-

स्साई, अपरिस्साई । एवामेव चउव्विहे चरित्ते पन्नत्ते । तं जहा-भिन्ने० जाव अपरिस्साई ।

तथा भिन्नः स्फुटितो, जर्जरितो राजीयुक्तः, परिश्रावी दुष्पक्वत्वात् करकः, अपरिश्रावी कठिनत्वादिति । चारित्रं तु भिन्नं मूलप्रायश्चित्तापत्त्या, जर्जरितं छेदादिप्राप्त्या. परिश्रावि सूक्ष्मातिचारतया, अपरिश्रावि निरतिचारतयेति । इह च पुरुषाधिकारेऽपि यच्चारित्रलक्षणं पुरुषधर्मभणनं तद्धर्मधर्म्मिणोः कथञ्चिदभेदादनवद्यमवगन्तव्यमिति । स्था० ४ ठा० ४ उ० । (सामायिकादिशब्देषु पृथग्व्याख्यानम्)

सामायिकादि पञ्चविधं चारित्रम्-

सामाइयऽत्थ पढमं, छेओवट्ठावणं भवे बीयं ।
परिहारविसुद्धीअं, सुहुमं तह संपरायं च ॥ १२६० ॥
तत्तो य अहक्खायं, खायं सव्वम्मि जीवलोगम्मि ।
जं चरिऊण सुविहिया, वच्चंतऽयरामरं ठाणं ॥१२६१॥

(एषां पदानां व्याख्या स्वस्वस्थाने)

विस्तरार्थं तु भाष्यकृदाह-

सव्वमिणं सामइयं, छेयाइविसेसओ पुणो भिन्नं ।
अविसेसियमाइमयं, ठियमिह सामण्णसन्नाए ॥१२६२॥
सावज्जजोगविरइ, त्ति तत्थ सामाइयं दुहा तं च ।
इत्तरमावकहं ति य, पढमं पढमंतिमजिणाणं ॥१२६३॥
तित्थेसुमणारोविय-वयस्स सेहस्स थोवकालीयं ।
सेसाणमावकहियं, तित्थेसु विदेहयाणं च ॥ १२६४ ॥

सर्वमपीदं चारित्रमविशेषतः सामायिकमेव, एतदेव च छेदादिविशेषैर्विशिष्यमाणमर्थतः संज्ञातश्च नानात्वं प्रतिपद्यते, तत्राद्यं विशेषणाभावात्सामान्यसंज्ञायामेवावतिष्ठते सामायिकमिति । तत्र सावद्ययोगविरतिस्वरूपमेतत्सामायिकम् । तच्च द्विधा-इत्वरं, यावत्कथितं च । तत्रेत्वरं स्वल्पकालीनं भरतैरावताद्यचरमतीर्थकरतीर्थयोरेवानारोपितमहाव्रतस्य शिष्यकस्य द्रष्टव्यम् । यावत्कथिकं यावज्जीविकं भरतैरावतप्रथमचरमवर्जशेषतीर्थकरतीर्थसाधूनां महाविदेहजानां च साधूनामवसेयमिति ॥ १२६४ ॥

अथ प्रेरकः प्राह-

णणु जावज्जीवाए, इत्तरियं पि गहियं मुयंतस्स ।
होइ पइन्नालोवो, जहाऽऽवकहियं मुयंतस्स ॥ १२६५ ॥

आह-ननु करोमि भदन्त ! सामायिकं यावज्जीवमित्येवं व्रतग्रहणकाले इत्वरमपि सामायिकं गृहीतमुपस्थापनायां मुञ्चतः प्रतिज्ञालोपः प्राप्नोति, यावत्कथितपरित्याग इव ।

अत्रोत्तरमाह-

णणु भणियं सव्वं चिय,सामाइयमिणं विसुद्धिओ भिन्नं ।
सावज्जविरइमइयं, को वयलोवो विसुद्धीए ॥ १२६६ ॥

ननूक्तं सर्वमेवेदं चारित्रमविशेषतः सावद्ययोगविरतिसामान्यात् सामायिकमेव छेदादिविशुद्धिविशेषैर्विशिष्यमाणमन्यथात्वं प्रतिपद्यते, ततः को नाम विशिष्टतरायां विशुद्धौ प्रतिपद्यमानायां व्रतलोपः ? , न कश्चिदित्यर्थः ॥ १२६६ ॥

कुत इत्याह-

उन्निक्खमओ भंगो, जो पुण तं चिय करेइ सुद्धयरं ।
सन्नामित्तविसिट्ठं, सुहुमं पि व तस्स को भंगो॥१२६७॥

उन्निष्क्रामतः प्रव्रज्यात्यागमेव कुर्वतो व्रतभङ्गो भवति , यः पुनस्तदेव प्राक् गृहीतं चारित्रं विशुद्धतरं संपादयति, संज्ञामात्रेण तु चारित्रं विशिष्टं भिन्नं,तस्य भङ्गो न भवति, किं तु सुतरामेव व्रतनैर्मल्यं संपद्यते, यथा सामायिकसंयतस्य (सुहुमं ति) सूक्ष्मसंपरायं प्रतिपद्यमानस्य, छेदोपस्थापनीयस्य वा परिहारविशुद्धिकमङ्गीकुर्वतो व्रतनिर्मलत्वमिति ॥ १२६७ ॥

छेदोपस्थापनीयस्य व्याख्यानमाह-

परियायस्स य छेओ, जत्थोवट्ठावणं वएसु च ।
छेओवट्ठावणमिह, तमणइआरेयरं दुविहं ॥ १२६८ ॥
सेहस्स निरइयारं, तित्थंतरसंकमे च तं होज्जा ।
मूलगुणघाइणो सा-इयारमुभयं च ठियकप्पे ॥ १२६९ ॥

(जत्थ त्ति) यत्र चारित्रे पूर्वपर्यायस्य छेदो व्रतेषु चोपस्थापनं विधीयते , तदिह छेदोपस्थापनं , तच्च द्विधा-सातिचारमनतिचारं च । तत्र शिष्यकस्योपस्थापनायां, तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा यदारोप्यते तन्निरतिचारं भवेत् , यत्तु मूलगुणघातिनः पुनरपि समारोप्यते तत्सातिचारम् । एतच्चोभयमपि स्थितकल्प एव भवति, न स्थितास्थितकल्पे , तत्र भरतैरावतप्रथमचरमतीर्थकरसाधूनां स्थितकल्पः । विशे० । प्रव० । आतु० । सूत्र० । पं० भा० । आ० म० । ('सामाइय' आदिशब्दे पृथक् २ व्याख्यानम्) (केषां कषायाणामुदये चारित्रमतिचर्यते इति 'अइयार' शब्दे प्रथमभागे ८ पृष्ठे उक्तम्)

अथ तत्क्षयोपशमादिभ्यश्चारित्रप्राप्तिमभिधित्सुराह-

वारसविहे कसाए , खविए उवसामिए व जोगेहिं ।
लब्भइ चरित्तलंभो, तस्स विसेसा इमे पंच ॥ १२५४॥

द्वादशविधे द्वादशप्रकारेऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदभिन्ने, कषाये, जातावेकवचनं, क्रोधादिलक्षणे, क्षपिते विध्याताग्नितुल्यतां नीते, उपशमिते भस्मच्छन्नदहनकल्पतां प्रापिते , वाशब्दात् क्षयोपशमे चार्धविध्यातज्वलनसमतामुपकल्पिते, योगैर्मनोवाक्कायरूपैः प्रशस्तैर्हेतुभिर्लभ्यते चारित्रलाभः, तस्य च सामान्येन चारित्रस्य विशेषा भेदा एते वक्ष्यमाणाः पञ्च । इति निर्युक्तिगाथार्थः ॥ १२५४ ॥

भाष्यम्—

खविए उवसमिए वा, वासद्देणं खओवसमिए वा ।
वारसविहे कसाए, पसत्थझाणाइजोगेहिं ॥ १२५५ ॥

गतार्था, नवरं प्रशस्तध्यानं प्रशस्तं मनः ॥ १२५५ ॥

क्षीणादिकषायस्वरूपमाह-

खीणा निव्वायहुया-सणो व छारपिहिय व्व उवसंता ।
दरविज्झायविहाडिय-जलणोवम्मा खओवसमा १२५६

व्याख्यातार्था, नवरम् अर्द्धविध्यातविघट्टितज्वलनोपमाः क्षायोपशमिककषायाः, क्षयोपशमावस्थेषु हि कषायेषु दलिकस्य वेदनमप्यस्ति, तच्च विघट्टितवह्निकल्पमिति ॥ १२५६ ॥

अथ कस्य चारित्रस्य कथं लाभ इत्याह-

खयओ वा समओ वा, खओवसमओ व तिन्नि लब्भंति ।

सुहुम अहक्खायाइं, खयओ समओ व नप्पत्तो ॥ १२५७॥

सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकलक्षणान्याद्यानि त्रीणि चारित्राणि श्रेणिद्वयादन्यत्र कषायक्षयोपशमात् पूर्वप्रतिपन्नानि प्रतिपाद्यमानानि च लभ्यन्ते, अनिवृत्तिबादरस्य पुनरुपशमश्रेणौ तदुपशमात्पूर्वप्रतिपन्नानां तेषां लाभः, क्षपकश्रेणौ तु क्षयादिति । सूक्ष्मसंपरायथाख्यातचारित्रे तूपशमश्रेण्यौ कषायोपशमात्, क्षपकश्रेण्यौ तु तत्क्षयाल्लभ्येते, नान्यतः, क्षयोपशमान्न प्राप्यत इत्यर्थः ॥ १२५७ ॥

आह-ननु " तस्स विसेसा इमे पंच " (१२५४) इत्यत्र किं सामान्यं चारित्रमात्रं तच्छब्दस्य वाच्यम, अहोस्वित् द्वादशानां कषायाणां क्षयादिभ्यो यदनन्तरमेवोक्तं तदेवेत्याशङ्क्याह-

लब्भइ चरित्तलाभो, खयाइओ वारसएह नियमोऽयं ।
न उ पंचविहनियमएं, पंच विसेस त्ति सामएणं ।१२५८।

द्वादशानां कषायाणां क्षयादितः क्षयक्षयोपशमोपशमेभ्य एव लाभश्चारित्रस्य, नान्यथा इत्येवमेवेह नियमो दृष्टव्यो, न तु पञ्चविधनियमनं, द्वादशकषायाणामेव क्षयादितो लब्धस्य चारित्रस्य पञ्चैते विशेषा इत्येवंभूतो नियमोऽत्र न कर्तव्य इत्यर्थः । किं तर्हि ?, द्वादशानामधिकानां वा कषायाणां क्षयादितो लब्धस्य तस्य सामान्येनैव चारित्रस्यैते वक्ष्यमाणाः पञ्च विशेषा इत्येवं सामान्यं चारित्रमात्रं तच्छब्दस्य संबध्यत इति ॥ १२५८ ॥

अथ कस्माद्द्वादश कषायाणामेव क्षयादितो लब्धस्य चारित्रस्य पञ्चैते विशेषा इत्येवंभूतो नियमोऽत्र न क्रियते इत्याह-

जं तिन्नि वारसएएं, लब्भंति खयाइओ कसायाणं ।
सुहुमं पन्नरसएहं, चरिमं पुण सोलसएहं पि ॥१२५९॥

यतः सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धिकलक्षणानि त्रीण्येव चारित्राणि द्वादशकषायाणां क्षयादितो लभ्यन्ते, इति कथं तत्क्षयादिलभ्यस्य चारित्रस्य पञ्चविधत्वं स्यात् ?। सूक्ष्मसंपरायचारित्रं तु संज्वलनलोभवर्जितानां शेषपञ्चदशकषायाणां क्षयादुपशमाद्वा लभ्यते । चरमं तु यथाख्यातचारित्रं षोडशानामपि कषायाणां क्षयात्, उपशमाद् वा प्राप्यते । एवं च सति सामान्यस्यैव चारित्रस्य पञ्च विशेषा भवन्ति । इति गाथापञ्चकार्थः ॥ १२५९ ॥ (चारित्रादेव मोक्ष इति ' किरिया णय ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ५५४ पृष्ठे उपपादितम्) चारित्ररहितं ज्ञानं दर्शनं वा न स्वातन्त्र्येण मोक्षसाधनम् । आव० ३ अ० ।

साम्प्रतमसहायदर्शनपक्षे दोषा उच्यन्ते । यदुक्तं-" न सेणिओ आसि" इत्यादि । तन्न । तस्वत एवासौ नरकमगमत्, असहायदर्शनयुक्तत्वात्, अन्येऽप्येवंविधा दसारसिंहादयो नरकमेव गता इत्याह—

दसारसीहस्स य सेणिअस्स, पेढालपुत्तस्स य सच्चइस्स ।
अणुत्तरा दंसणसंपया तया, विणा चरित्तेण हराऽगइं गया ६४

दसारसिंहस्य अरिष्टनेमिपितृव्यपुत्रस्य, श्रेणिकस्य च प्रसेनजितपुत्रस्य, पेढालपुत्रस्य च सत्यकिनः, अनुत्तरा प्रधाना, क्षायिकीत्युक्तं भवति, का ?, दर्शनसंपत्, तदा तस्मिन् काले, तथापि विना चारित्रेण अधरागतिं गता नरकगतिं गताः, नरकगतिं प्राप्ता इति वृत्तार्थः ॥ ६४ ॥

किं च—

सव्वाओ विगईओ, अविरहिआ नाणदंसणधरेहिं ।
ता मा कासि पमायं, नाणेण चरित्तरहिएणं ॥ ९५ ॥

सर्वा अपि नारकतिर्यङ्नरामरगतयः अविरहिता अवियुक्ताः, कैः ?, ज्ञानदर्शनधरैः, यतः सर्वास्वेव सम्यक्त्वश्रुतसामायिकद्वयमस्त्येव, न च नरकगतिव्यतिरेकेण अन्यासु मुक्तिः, चारित्राभावात्, तस्माच्चारित्रमेव प्रधानं मुक्तिकारणं, तद्भावभावित्वादिति, यस्मादेवं (ता मा कासि पमायं ति) तत्तस्मान्मा कार्षीः प्रमादं ज्ञानेन चारित्रम्, एतेन तस्येष्टफलासाधकत्वात् । ज्ञानग्रहणं च दर्शनोपलक्षणार्थमिति गाथार्थः ॥ ६५ ॥

इतश्चारित्रमेव प्रधानं, नियमेन चारित्रयुक्ते एव सम्यक्त्वसद्भावादाह च—

सम्मत्तं अचरित्त-स्स हुज्ज भयणाइ निअमसो नत्थि ।
जो पुण चरित्तजुत्तो, तस्स उ निअमेण सम्मत्तं ॥९६॥

सम्यक्त्वं प्राङ्निरूपितस्वरूपम्, अचारित्रस्य चारित्ररहितस्य प्राणिनः, भवेत् भजनया विकल्पनया, कदाचिद् भवति कदाचिन्नेति नियमशो नास्ति नियमेन न विद्यते, प्रभूतानां चारित्ररहितानां मिथ्यादृष्टित्वात्, यः पुनश्चारित्रयुक्तः सत्वस्तस्यैव, तुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् नियमेनावश्यंतया सम्यक्त्वमतः सम्यक्त्वस्यापि नियमतश्चारित्रयुक्त एव भावात्प्राधान्यमिति गाथार्थः ॥ ६६ ॥

किञ्च—

जिणवयणबाहिरा जा-वणाहि उव्वट्टणं अयाणंता ।
नेरइअतिरिअएगिं-दिएहि जह सिज्झई जीवो ॥९७॥

जिनवचनबाह्या यथावस्थितागमपरिज्ञानरहिताः, प्रत्येकं ज्ञानदर्शननयाऽवलम्बिनः (भावणाहिं ति) उक्तेन न्यायेन ज्ञानदर्शनभावनाभ्यां सकाशान्मोक्षमिच्छतीति वाक्यशेषः उद्वर्तनामजानानां नारकतीर्यगेकेन्द्रियेभ्यो यथा सिद्ध्यति जीवस्तथोद्वर्तनामजानाना इति योगः । इयमत्र भावना-ज्ञानदर्शनाभावेऽपि न नारकादिभ्योऽनन्तरमनुष्यभावमप्राप्य सिद्ध्यति कश्चित्, चरणाभावात्. तेन तयोः केवलयोरहेतुत्वमोक्षं पतितेभ्य एवैकेन्द्रियेभ्यश्च ज्ञानादिरहितेभ्योऽप्युद्वृत्तो मनुष्यत्वमपि प्राप्य चारित्रपरिणाम एव सिद्ध्यति, नायुक्तो अकर्मभूमिकादिरत इयमुद्वर्तना कारणविकल्पं सूचयतीति गाथार्थः ॥ ६७ ॥

पुनरपि चारित्रमेव पक्षं समर्थयन्नाह-

सुटु वि सम्मद्दिट्ठी, न सिज्झई चरणकरणपरिहीणा ।
जं चेव सिद्धिमूलं, मूढो तं चेव नासेइ ॥ ९८ ॥

सुष्ठ्वतिशयेनाऽपि, सम्यग्दृष्टिर्न सिद्ध्यति, किंभूतः ?, चरणकरणपरिहीनः, तद्वादमेव च समर्थयति, किमिति ?, यदेव सिद्धिमूलं तदेव मोक्षकारणं सम्यक्त्वं, मूढस्तदेव नाशयति, केवलं तद्वादसमर्थनेन "एक्कं पि असद्दहंतो, मिच्छत्तं" इति वचनात् । अथवा-सुष्ठ्वपि सम्यग्दृष्टिः, क्षायिकसम्यग्दृष्टिरपीत्यर्थः । न सिद्ध्यति चरणकरणपरिहीनः, श्रेणिकादिवत्, किमिति ?, यदेव सिद्धिमूलचरणकरणमूढस्तदेव नाशयति, अनासेवयेति गाथार्थः ॥ ९८ ॥

किं चायं केवलदर्शनपक्षो न भवत्येवागमविदः सुसाधोः, कस्य तर्हि भवत्यत आह-

दंसणपक्खो सावए, चरित्तभट्ठे अ मंदधम्मे अ ।
दंसणचरित्तपक्खो, समणे परलोअकंखम्मि ॥ ९९ ॥

दर्शनपक्षः श्रावकेऽप्रत्याख्यानकषायोदयवर्त्तिनि, चारित्रभ्रष्टे च कस्मिंश्चिद्व्यवस्थितपुराणे, मन्दधर्मे च पार्श्वस्थादौ दर्शनचारित्रपक्षः श्रमणे भवति, किंभूते?, परलोककाङ्क्षिणि, सुसाधावित्यर्थः । प्राकृतशैल्या चेह सप्तमी षष्ठ्यर्थे एव द्रष्टव्या,दर्शनग्रहणाच्च ज्ञानमपि गृहीतमेव द्रष्टव्यमतो दर्शनादिपक्षत्रिरूपो वेदितव्य इति गाथार्थः ॥ ९९ ॥

अपरस्त्वाह-यद्येवं बह्वीभिरुपपत्तिभिश्चारित्रं प्रधानमुपवर्ण्यते भवता,ततश्च ते देवास्त्वलं ज्ञानदर्शनाभ्यामिति न तस्यैव, तद्व्यतिरेकेणासंभवात् ।

आह च-

पारंपरप्पसिद्धी, दंसणनाणेहिँ होइ चरणस्स ।
पारंपरप्पसिद्धी, जह होइ तहऽन्नपाणेहिँ ॥ १०० ॥
जम्हा दंसणनाणा, संपुन्नफलं न दिंति पत्तेअं ।
चारित्तजुआ दिंति उ, विसिस्सए तेण चारित्तं ॥१०१॥

पारम्पर्येण प्रसिद्धिः पारम्पर्यप्रसिद्धिः स्वरूपसत्ता, एतदुक्तं भवति-दर्शनं ज्ञानं, चारित्रम् , एवं पारम्पर्येण चरणस्वरूपसत्ता , सा दर्शनज्ञानाभ्यां सकाशाद्भवति चरणस्यातस्तद्भावभावित्वाच्चरणस्य त्रितयमप्यस्तु । लौकिकन्यायमाह-पारम्पर्यप्रसिद्धिर्यथा भवति तथाऽन्नपानयोर्लोकेऽपि प्रतीतैवेति क्रिया, तथा चान्नार्थी स्थालीन्धनाद्यपि गृह्णाति, गमनार्थी च दातव्याऽऽद्यतस्त्रितयमपि प्रधानमिति गाथार्थः ॥१००॥ आह-यद्येवमतस्तुल्यबलत्वे सति ज्ञानादीना किमित्यस्यानपक्षपातमाश्रित्य चारित्रं प्रशस्यते भवतेत्यत्रोच्यते-यस्माद् दर्शनज्ञाने संपूर्णफलं मोक्षलक्षणं न दत्तः न प्रयच्छतः प्रत्येकं, चारित्रयुक्ते दत्त एव, विशेष्यते तेन चारित्रं,तस्मिन् सति फलभावात्, इति गाथार्थः ॥ १०१ ॥

आह-विशिष्यतां चारित्रं किं तु—

उज्जममाणस्स गुणा, जइ होंति ससत्तिओ तवसुएसु ।
एमेव जहासत्ती, संजममाणे कहं न गुणा ? ॥ १०२ ॥

'उज्जमाणस्स' उद्यच्छत उद्यमं कुर्वतः,क्व?,तपःश्रुतयोरिति योगः। गुणास्तपोज्ञानाद्यासेनिर्जरादयो यथा भवन्ति स्वशक्तितः स्वशक्त्युद्यमवत एवमेव यथाशक्ति, शक्त्यनुरूपमित्यर्थः। (संजममाणे कहं ण गुण त्ति) संयममाने संयमं पृथिव्यादिसंरक्षणादिलक्षणं कुर्वति सति साधौ,कथं न गुणाः?, गुणा एवेत्यर्थः। अथवा-कथं गुणा येनाविकलसंयमानुष्ठानरहितो विराधकः प्रतिपद्यते इत्यत्रोच्यते-

अणिगूहंतो विरिअं, न विराहेइ चरणं तवसुएसु ।
जइ संजमे वि विरिअं, न निगूहिज्जा न हाविज्जा ॥१०३॥
संजमजोगेसु सया, जे पुण संतविरिआ विसीअंति ।
कह ते विसुद्धचरणा, बाहिरकरणालसा हुंति ॥ १०४ ॥

अनिगूहन् वीर्यं प्रकटयन् सामर्थ्यं यथाशक्त्या, क्व?, तपःश्रुतयोरिति योगः, किं?, न विराधयति चरणं न खण्डयति चारित्रं,यदि संयमेऽपि पृथिव्यादिसंरक्षणादिलक्षणे, वीर्यं सामर्थ्यं, तपयोगादिरूपतया न निगूहयेत् न प्रच्छादयेत्,मातृस्थानेन (न हावेज त्ति) ततो न हापयेदिति संयमं न खण्डयेत्, स्यादेवं संयमगुण इति गाथार्थः । संयमयोगेषु पृथिव्यादिसंरक्षणादिव्यापारेषु, सदा सर्वकालं, ये पुनः प्राणिनः(संतविरिया विसीयंति त्ति) विद्यमानसामर्थ्या अपि नोत्सहन्ते, कथं ते विशुद्धचरणा भवन्ति ? इति, योगेनैवेत्यर्थः । बाह्यकरणालसाः सन्तः, प्रत्युपेक्षणादिबाह्यचेष्टारहिता इति गाथार्थः ॥ १०४ ॥

आह-ये पुनरालम्बनमाश्रित्य बाह्यकरणालसा भवन्ति तेषु का वार्तेति ?, उच्यते—

आलंबणेण केणइ, जे मन्ने संजमं पमायंति ।
न हु तं होइ पमाणं, भूअत्थगवेसणं कुज्जा ॥१०५॥

आलम्बत इत्यालम्बनं प्रपततां साधारणस्थानं , तेनालम्बनेन केनचित् , अव्यवस्थित्यादिना ये प्राणिनः , मन्ये इत्येवमहं मन्ये, संयमम् उक्तलक्षणं, प्रमादयन्ति परित्यजन्ति (न हु तं होइ पमाणं) नैव तदालम्बनमात्रं भवति प्रमाणम् आश्रेयं , किं तु भूतार्थगवेषणं कुर्यात्सत्यार्थान्वेषणं कुर्यात् । किमिदं पुष्टमालम्बनमाहोस्विन्नेति, यद्यपुष्टमविशुद्धचरणा एव ते, अथ पुष्टं विशुद्धचरणा इति गाथार्थः । आव० ३ अ० । ध० ।

एवममुना प्रकारेण चारित्रे विद्यते शोधिः, तदादद्वतः कुर्वतश्च शोधिमेवमुक्तप्रकारेण दृश्यते , यदपि चोक्तं दर्शनज्ञानाभ्यां तीर्थं याति तद्-प्ययुक्तं यथा भवति तथा शृणुत।

अयुक्ततामेव कथयति—

एवं तु जणंतेणं, सेणियमादी वि थाविया समणा ।
समणस्स य जुत्तस्स य, नत्थी नरएसु उववातो ॥

यदि नाम ज्ञानदर्शनाभ्यां तीर्थं, तर्हि प्रवचनं , तच्च श्रमणेषु व्यवस्थितं, तत एवं भणता त्वया श्रेणिकादयोऽपि श्रमणा व्यवस्थापिताः , तेषामपि ज्ञानदर्शनभावात् , न चैतद्युपपन्नम् , यतः श्रमणस्य, श्रमणगुणैर्युक्तस्य च नास्ति नरकेषूपपातः । तस्य न श्रेणिकादीनामसंभवात् ।

जंपिज्ज हु एकवीसं, वाससहस्साणि होहि तित्थं तु ।
तं मिच्छा सिद्धी वि य, सव्वगतीसुं च होज्जाहि ॥

यदपि सूत्रे च भणितम्-एकविंशतिवर्षसहस्राणि तीर्थमनुवर्तमानं भविष्यति इति, तदपि त्वन्मतेन मिथ्या प्राप्नोति , यदस्वपि समासु ज्ञानदर्शनभाविनश्चिरकालमपि तीर्थानुषङ्गप्रसक्तेः । यथा सर्वास्वपि च गतिषु सिद्धिरप्येवमनिवारितप्रसरा भवेत् । सम्यग्दर्शनज्ञानयुक्तानां चारित्ररहितानां सर्वगतिष्वपि जीवानां भावात् , ये चानुत्तरोपपातिनो देवास्ते नियमतस्तद्भवसिद्धिगामिनो भवेयुः , तेषामनुत्तरज्ञानदर्शनोपेतत्वात् , न चैतदिष्टम् , तस्मादिदमागतम्-" पच्छित्तम्मि असंतम्मि, तित्थे नो सचरित्तया।" असति अविद्यमाने प्रायश्चित्ते चारित्रं न तिष्ठति , प्रायश्चित्तमन्तरेण चारित्रस्य शुद्धिर्न भवेत् , चारित्रे चासति तीर्थस्य न सचरित्रता ।

अचरित्तयाएँ तित्थस्स, निव्वाणम्मि न गच्छइ ।

निव्वाणम्मि असंतम्मि, सव्वा दिक्खा निरत्थया ॥

तीर्थस्याचारित्रतायां साधुर्निर्वाणं न गच्छति । असति च निर्वाणे सर्वा दीक्षा निरर्थका । व्य० १० उ० । पञ्चा० । ('उवसम' शब्दे द्वितीयभागे १०२८ पृष्ठे चारित्रमोहनीयस्योपशमताऽभिहिता) "नाणेण होइ करणं, करणं नाणेण फासियं होइ । दुण्हं पि समाओगे, होइ विसोही चरित्तस्स ॥" द० प० । केषाञ्चित्कषायाणामुदये चारित्रस्य लाभ एव न भवति, केषाञ्चित् पुनर्लब्धमपि अतिचरति प्रतिपतति च । आ० चू० १ अ० । वीतरागाणां चरित्रं न वर्द्धते, नापि हानिमुपगच्छति, कषायाणामभावात्, किन्त्ववस्थितमेकमेव परमप्रकर्षप्राप्तं संयमस्थानमिति, सरागसंयतानां तु केषाञ्चिद् वर्धते, केषाञ्चित्क्षीयते । व्य० १० उ० । व्यवहारनयमते देशभङ्गेऽपि सर्वभङ्गाभावः चारित्रमवतिष्ठत एव । व्य० १ उ० । वस्तुतो योगस्थैर्यरूपं चारित्रं महाजाध्यस्वरससिद्धमिति महता प्रबन्धेनोपपादितमध्यात्ममतपरीक्षायाम् । प्रति० । "चारित्रमात्मचरणाद्, ज्ञानं वा दर्शनं मुनेः शुद्धज्ञाननये साध्य-क्रियालाभात् क्रियानयः ॥३॥" अष्ट० १३ अष्ट० । "सम्मत्तं आचरित-स्स हुज्ज भयणाए नियमसो नत्थि । जो पुण चरित्तजुत्तो, तस्स हु नियमेण सम्मत्तं ॥१॥" संथा० । सम्मत्तम्मि उ अद्धे, पलियपुहत्तेण सावओ होज्जा । चरणोवसमखयाणं, सायरसंखंतरा हुंति ॥" आ० ।

आधिक्यस्थैर्यसिद्ध्यर्थं, चक्रभ्रामकदण्डवत् ।
असौ व्यञ्जकताऽप्यस्य, तद्बलोपनतिक्रिया ॥ २९ ॥

आधिक्यं सजातीयपरिणामप्राचुर्यं, स्थैर्यं च पतनप्रतिबन्धः, तत्सिद्ध्यर्थं चक्रभ्रामकदण्डवत्साधूपदेश उपयुज्यते । यथाहि दण्डो भ्रमतश्चक्रस्य दृढभ्रम्यर्थं, भ्रमभ्रमैर्वा भ्रम्याधानार्थमुपयुज्यते, न तूचितभ्रमवत्येव,तत्र तथोपदेशोऽपि गुणप्रारम्भाय, तत्प्रतिबन्धाय चोपयुज्यते, न तु स्थितिपरिणामं प्रतीति । तदुक्तमुपदेशपदे-"वयपसो वि हु सफलो, गुणठाणारंभगाण जीवाणं । परिवडमाणाण तहा, पायं न उ तट्ठियाणं पि" ॥१॥ व्यञ्जकताऽप्यस्योपदेशस्य तद्बलेन परिणामबलेनोपनतिक्रिया सन्निधानलक्षणा, अन्यथा घटादौ दण्डादेरपि व्यञ्जकत्वापत्तेरिति भावः । २६ । द्वा० १७ द्वा० । द्रव्यस्तवं निर्दूषणं प्रसाध्य-"अलमित्थपसंगेणं, एवं खलु होइ भावचरणं तु । परिसुज्झिस्सतंऽखे, भावे जिअकम्मजोएणं ॥" इत्यादि । अथवाऽत्र द्रव्यचरणम्-"भावचरणमुणाविहा-रणा य द-व्वथयं तु जिणपूजा । पढमा जइ ण दुन्नि वि, जइ णं पढमं चिय पसत्था ॥१॥ कंचणमणिस्सुवाणमिए सुवण्णतले जो कारवेज्ज जिणहरं, तओ वि संजमतवो अणंतगुणो, तवसंजमेण वहुभवसमज्जिअपावकम्ममलपवहं निट्ठविऊणं अइसासयसुक्खं वए मुक्खं काउं जिणायणेहिं मंडिअं सयलमेइणीवट्टं दाणाइचोक्केण वि सुट्ठु वि गच्छिज्ज इम चूयं न परओ त्ति ।" प्रति० । (चारित्रस्य निन्दा प्रशंसा च 'अवुसराइय' शब्दे प्रथमभागे ७११ पृष्ठे उक्ता) (चारित्रस्यावर्णं वदतीति 'अवण्णवाय' शब्दे ७६३ पृष्ठे व्याख्यातम्)

न चरित्रं विराधयेत्-

जया विसए उदिज्जंति, पमणाऽसणविसं पि वा ।
काळं चंधिऊण मरियव्वं, नो चरित्तं विराहए ॥

अह एयाइं न सक्केज्जा, तो गुरुणो लिंगं समप्पिय ।
विदेसे जत्थ नागच्छे, पउत्ती तत्थ गंतूणं ॥
अणुव्वयं तु पालिज्जा णो भविया णिद्धम्मो । महा० ९ अ० ।

"विइयचरिमञ्चयाई, पई चरित्तमिह सव्वदव्वेसु" इति 'सामाइय' शब्दे प्रपञ्चयिष्यते) आहारशुद्धिरेव मुख्यश्चारित्रहेतुरुद्घुष्यते । यदुक्तम्-" पिंडं असोहयंतो, अचरित्ती इत्थ संसओ नत्थि । चारित्तम्मि असंते, सव्वा दिक्खा निरत्थिया ॥" ध० र० । इदानीमप्यस्ति चारित्रं पञ्चयामचातुर्यामचिन्तां कृत्वा, ननु तर्हि द्वाविंशतिजिनयतीनां ऋजुप्राज्ञानां भवतु धर्मः, परं प्रथमजिनयतीनां ऋजुजडानां कुतो धर्मः ?, अनवबोधात्, तथा च वक्रजडानां वीरयतीनां तु सर्वथा धर्मस्य अभाव एव, मैवम्, ऋजुजडानां प्रथमजिनयतीनां जडत्वेन स्खलनासद्भावेऽपि भावस्य विशुद्धत्वाद् भवति धर्मः, तथा वक्रजडानामपि वीरजिनयतीनां ऋजुप्राज्ञापेक्षया अविशुद्धो भवति, परं सर्वथा धर्मो न भवति इति न वक्तव्यम्, तथावचने हि महान् दोषः । यदुक्तम्-" जो भणइ नत्थि धम्मो, न य सामइयं न चेव य वयाइं । सो समणसंघवज्झो, कायव्वो समणसंघेण " ॥ १ ॥ कल्प० १ क्षण । दर्श० । पञ्चा० । एष पत्रार्थः पुष्करिण्यादिदृष्टान्तेन भावनीयः । यथा-पूर्वकाले पुष्करिण्यादयो महापरिमाणा आसन्, इदानीं तु न तथा, तथापि पुष्करिण्य एवेत्येवमिदानीं हीनमपि चारित्रत्वं न विजहाति, किन्तु यावत्प्रायश्चित्तं तावत्प्रायश्चित्तम् ।

न विणा तित्थ नियंठे-हि नियंठा वा अतित्थगा चेव ।
छक्कायसंजमो जा-व ताव अणुसज्जणा दोण्हं ।

निर्ग्रन्थैर्विना तीर्थं न भवति,तेनापि विना निर्ग्रन्था अतीर्थकास्तीर्थरहिता भवन्ति, परस्परऽव्यवच्छिन्नतया एकस्याऽपरस्य भावात्, निर्ग्रन्थग्रहणं संयतानामुपलक्षणं, तदेतदपि द्रष्टव्यमसंयतैर्विना न तीर्थं,नापि तीर्थमन्तरेण संयता निर्ग्रन्थाः,संयताश्च प्रथमभवनेन चतुर्दशपूर्वधरव्यवच्छेदेऽपि विद्यन्ते, यतो यावत् षट्कायसंयमस्तावत् द्वयानामनुषञ्जनाऽनुवर्त्तमाना समस्ति, षट्कायसंयमश्च प्रत्यक्षतोऽद्याप्युपलक्ष्यते, ततः सन्ति निर्ग्रन्थाः, सन्ति संयता इति प्रतिपत्तव्यं,तत्सत्त्वं प्रतिपत्तव्यं, तत्सत्त्वप्रतिपत्तौ च तीर्थं सचारित्रमित्यपि, प्रत्येकभव्यं चारित्रे सति प्रायश्चित्तमस्त्येव ॥

सव्वण्णूहिं परूविय, छक्काय महव्वया य समितीओ ।
स चेव य पन्नवणा, संपतिकाले वि साहूणं ॥
तेनोववन्न तित्थं, दंसणनाणेहिं एव सिद्धं तु ।
निज्जवगा वोच्छिन्ना, जं पि य जणियं तु तन्न तहा ॥

पूर्वसाधूनां सर्वज्ञैश्चारित्रस्य प्रतिपत्तये रक्षणाय च षट्कायानां महाव्रतानि समितयश्च प्ररूपिताः, सैव च प्रतिज्ञापना सम्यगाराध्यतया संप्रतिकालेऽपि साधूनामस्ति, तत उपपन्नं सम्प्रत्यपि चारित्रमस्ति, एवं च सिद्धं न तीर्थं ज्ञानदर्शनाभ्यां व्रजति, किं तु ज्ञानदर्शनचारित्रैरिति । व्य० १० उ० ।

तच्चाकल्किराजपर्यन्तम्-

"से भयवं ! उड्ढं पुच्छा ? । गोयमा ! तओ परेणं उड्ढं हीयमाणे कालसमये, तत्थ णं जे केइ छक्कायसमारंजविवज्जी से णं धन्ने

पुत्ते वंदे पूए नमंसणिज्जे जीवियं सुजीवियं तेसिं"॥ महा० ५ अ०।

" अह दूसमारसेसे, होहा नामेण दुप्पसह समणो ।
अणगारो गुणगारो, धम्मागारो तवोऽगारो ॥ १३ ॥
सो किर आयारधरो, अपच्छिमो होइ ताव भरहवासे ।
तेण समं आयारो, नस्सिहि सम्मं चरित्तेणं ॥ १४ ॥ " ति०।

(मूलगुणोत्तरगुणयोरेकस्य नाशे द्वयोरपि नाश इति 'अइयार' शब्दे प्रथमभागे ६ पृष्ठे उक्तम्) अत्र चोदक आह-यदि मूलगुणानां नाशे उत्तरगुणानामपि नाशः, उत्तरगुणानां नाशे मूलगुणानामपि स्यात् ततो न खलु नैव मूलगुणाः सन्ति, नाप्युत्तरगुणाः,यस्मान्नास्ति स संयतो यो मूलोत्तरगुणानामन्यतमं गुणं न प्रतिसेवते । अन्यतमगुणप्रतिसेवने च द्वयानामपि मूलोत्तरगुणानामभावः, तेषामभावे सामायिकादिसंयमाभावः, तदभावे बकुशादिनिर्ग्रन्थानामभावः, ततः प्राप्तं तीर्थमचारित्रमिति ।

सूरिराह—

चोयग ! छक्कायाणं, तु संजमं जाऽणुधावए ताव ।
मूलगुण उत्तरगुणा, दोन्नि वि अणुधावए ताव ॥

चोदक ! यावत् षट्जीवनिकायेषु संयमोऽनुधावति अनुगच्छति प्रबन्धेन वर्तते तावत् मूलगुणा उत्तरगुणाश्च द्वयेऽप्येते अनुधावन्ति प्रबन्धेन वर्तन्ते ।

इत्तरसामइयच्छे-यसंजमा तह दुवे नियंठा य ।
बउसु पडिसेवणा ता, अणुसज्जंते य जा तित्थं ।

यावन्मूलगुणा उत्तरगुणाश्चानुधावन्ति तावदित्वरसामायिकच्छेदसंयमावनुधावतः , यावच्चेत्वरसामायिकच्छेदोपस्थानसंयमौ तावत् द्वौ निर्ग्रन्थावनुधावतः । तद्यथा-बकुशः, प्रतिसेवकश्च । तथाहि-यावद् मूलगुणप्रतिसेवना तावत्प्रतिसेवको, यावदुत्तरगुणप्रतिसेवना तावद्बकुशः, ततो यावत्तीर्थं तावद्बकुशाः, प्रतिसेवकाश्च अनुसज्जन्ति अनुवर्तन्ते, ततो नाचारित्रं प्रसक्तं प्रवचनमिति । अथ मूलगुणप्रतिसेवनायामुत्तरगुणप्रतिसेवनायां वा चारित्रभ्रंशे अस्ति कश्चिद्विशेषः, उत नास्ति ?। अस्ति इति ब्रूमः ।

कोऽसावित्याह-

मूलगुणे दइयसगमे, उत्तरगुणे मंमवे सरिसवाई ।
छक्कायरक्खणट्ठा, दोसु विसुद्धेसु चरणसुद्धी ॥

मूलगुणेषु दृष्टान्तो दृतिः, शकटं च । केवलमुत्तरगुणा अपि तत्र दर्शयितव्याः, उत्तरगुणेषु दृष्टान्तो मण्डपं, सर्षपादि, आदिशब्दात् शिलादिपरिग्रहः, तत्राऽपि मूलगुणा अपि दर्शयितव्याः। इयमत्र भावना-एकेनापि मूलगुणप्रतिसेवनेन तत्क्षणादेव चारित्रभ्रंश उपजायते, उत्तरगुणप्रतिसेवनायां पुनः कालेन, अत्र दृष्टान्तो दृतिकः। तथाहि-यथा दृतिक उदकभृतः पञ्चमहाद्वारः,तेषां महाद्वाराणामेकस्मिन्नपि द्वारे मुत्कलीभूते तत्क्षणादेव रिक्तो भवति, सुचिरेण तु कालेन पूर्यते, एवं महाव्रतानामेकस्मिन्नपि महाव्रते अतिचर्यमाणे तत्क्षणादेव समस्तचारित्रभ्रंशो भवति ; एकमूलगुणघाते सर्वमूलगुणानां घातात् । तथा च गुरवो व्याचक्षते—एकव्रतभङ्गे सर्वव्रतभङ्ग इति । एतन्निश्चयनयमतं, व्यवहारतः पुनरेकव्रतभङ्गे तदेवैकं भग्नं प्रतिपत्तव्यम् , शेषाणां तु भङ्गः क्रमेण, यदि प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नानुसंधत्ते इति । अन्ये पुनराहुः-चतुर्थमहाव्रतप्रतिसेवने तत्कालमेव सकलचारित्रभ्रंशः, शेषेषु पुनर्महाव्रतेष्वभीक्ष्णप्रतिसेवनया महत्यतिचरणे वा वेदितव्यः, उत्तरगुणप्रतिसेवनायां पुनः कालेन चरणभ्रंशो, यदि पुनः प्रायश्चित्तप्रतिपत्त्या नोज्ज्वालयति । एतदेव कुतोऽवसेयमिति चेत् ?, उच्यते-शकटदृष्टान्तात् । तथाहि-शकटस्य मूलगुणा द्वे चक्रे, उद्धी, अक्षश्च, उत्तरगुणा वध्रकीलकलोहपट्टादयः। एतैर्मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च सुसंप्रयुक्तं सत् शकटं यथा भारवहनक्षमं भवति, मार्गे च सुखं भवति, तथा साधुरपि मूलगुणैरुत्तरगुणैश्च सुसंप्रयुक्तः सन् अष्टादशशीलाङ्गसहस्रभारवहनक्षमो भवति, विशिष्ट उत्तरोत्तरसंयमाध्यवसायस्थानपथे च सुखं वहति । अथ शकटस्य मूलाङ्गानामेकमपि मूलाङ्गं भग्नं भवति तदा न भारवहनक्षमं, नापि मार्गे प्रवर्तते, उत्तराङ्गेषु कैश्चिद् विनाऽपि शकटं कियत्कालं भारक्षमं भवति , प्रवहति च मार्गे, कालेन पुनर्गच्छताऽन्यान्यपरिशटनादयोग्यमेव तदुपजायते । एवमिहापि मूलगुणानामेकस्मिन्नपि मूलगुणे हते न साधूनामष्टादशशीलाङ्गसहस्रभारवहनक्षमता, नापि संयमश्रेणिपथे प्रवहणम्, उत्तरगुणेषु कैश्चित्प्रतिसेवितैरपि भवति कियन्तं कालं चरणभारवहनक्षमता , संयमश्रेणिपथे प्रवर्तनं च, कालेन पुनर्गच्छता तत्राऽप्यन्यान्यगुणप्रतिसेवनातो भवति समस्तचारित्रभ्रंशः, ततः शकटदृष्टान्तादुपपद्यते मूलगुणानामेकस्यापि मूलगुणस्य नाशे तत्कालं चारित्रभ्रंशः, उत्तरगुणनाशे कालक्रमेणेति । इतश्चैतदेवं मण्डपसर्षपादिदृष्टान्तात् । तथाहि-एरण्डादिमण्डपे यद्येको द्वौ बहवो वा सर्षपाः, उपलक्षणमेतत्, तिलतण्डुलादयो वा प्रक्षिप्यन्ते, तथाऽपि न मण्डपो भङ्गमापद्यते , अतिप्रभूतैश्चाढकादिसंख्याकैर्भज्यते । अथ तत्र महती शिला प्रक्षिप्यते, तदा तयैकयाऽपि तत्क्षणादेव ध्वंसमुपयाति । एवं चारित्रमण्डपोऽप्येकद्वित्र्यादिभिरुत्तरगुणैरतिचर्यमाणैर्न भङ्गमुपयाति , बहुभिस्तु कालक्रमेणातिचर्यमाणैर्भज्यते , शिलाकल्पेन पुनरेकस्यापि मूलगुणस्यातिचारे तत्कालं ध्वंसमुपगच्छतीति, तदेवं यस्मान्मूलगुणातिचरणे क्षिप्रमुत्तरगुणातिचरणे कालेन चारित्रभ्रंशो भवति तस्मान्मूलगुणा उत्तरगुणाश्च निरतिचाराः स्युरिति षट्कायरक्षणार्थं सम्यक् प्रयतितव्यम्, षट्कायरक्षणे हि मूलगुणा उत्तरगुणाश्च शुद्धा भवन्ति, तेषु च द्वयेष्वपि शुद्धेषु, (अत्र गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात्, प्राकृते हि वचनव्यत्ययोऽपि भवतीति) चरणशुद्धिः चारित्रशुद्धिः । व्य० १ उ० । नि० चू० । दर्श० ।

चारित्रफलम्-

इह भविए भंते ! चरित्ते, परभविए चरित्ते ?। गोयमा ! इह भविए चरित्ते, णो परभविए चरित्ते, णो तदुभयभविए चरित्ते, एवं तवे, संजमे ।

चारित्रसूत्रे निर्वचने विशेषः। तथाहि-चारित्रमैहभविकमेव,न हि चारित्रवानिह भूत्वा तेनैव चारित्रेण पुनश्चारित्री भवति,यावज्जीवताऽवधिकत्वात्तस्य । किञ्च-चारित्रिणः संसारे सर्वविरतस्य देशविरतस्य च देवेष्वेवोत्पादात्,तत्र च विरतेरत्यन्तमभावान्मोक्षगतावपि चारित्रसम्भवाभावात् । चारित्रं हि कर्मक्षपणायानुष्ठीयते, मोक्षे च तस्याऽकिञ्चित्करत्वात्, यावज्जीवमिति प्रतिज्ञासमाप्तेस्तदन्यस्याग्रहणात्, अनुष्ठानरूपत्वाच्च चारित्रस्य,शरीराभावे च तदयोगात् । अत एवोच्यते-"सिद्धो न च-

रित्ती वो अचरित्ती " नो अचारित्रीति च अविरतेरभावादिति । अनन्तरं चारित्रमुक्तम् । तच द्विधा-तपःसंयमभेदादिति तयोर्निरूपणायातिदेशमाह-(एवं तवे संजमे त्ति) प्रश्ननिर्वचनाभ्यां चारित्रवत्तपःसंयमौ वाच्यौ, चारित्ररूपत्वात्तयोरिति । भ० १ श० १ उ० ।

अष्टादश चारित्रभवाः-

" आराहणा य एत्थं, चरणपडिवत्तिसमयओ पभिई । आमरणंतमजस्सं, संजमपरिपालणं विहिणा " ॥ १ ॥ इति । एवं चेह यद्यपि चारित्रप्रतिपत्तिभवा विराधनायुक्ता अग्निकुमारवर्जभवनपतिज्योतिष्कत्वहेतुभवसहिता दश, अविराधनाभवास्तु यथोक्तसौधर्मादिदेवलोकसवार्थसिद्धयुत्पत्तिहेतवः सप्त, अष्टमश्च सिद्धिगमनभव इत्येवमष्टादश चारित्रभवा उक्ताः । श्रूयते चाष्टैव भवाँश्चारित्रं भवति । भ० १५ श० १ उ० । व्यवसायभेदे, चारित्रमपि समभावलक्षणो व्यवसाय एव, बोधस्वभावस्याऽऽत्मनः परिणतिविशेषत्वात् । स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

चरित्तगुणप्पमाण-च (चा) रित्रगुणप्रमाण-न० । चरत्यनिन्दितमनेनेति चरित्रं, तदेव चारित्रं, चारित्रमेव गुणः सावद्ययोगविरतिरूपे गुणप्रमाणभेदे; तच्च पञ्चविधम्-"चारित्तगुणप्पमाणे पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-सामाइअचरित्तगुणप्पमाणे, छेओवट्ठावणचारित्तगुणप्पमाणे, परिहारविसुद्धिअचरित्तगुणप्पमाणे, सुहुमसंपरायचारित्तगुणप्पमाणे, अहक्खायचरित्तगुणप्पमाणे " । अनु० ।

चरित्तकप्प-चरित्रकल्प-पुं० । चारित्रप्रतिपादके शास्त्रे, पं०भा० ।

……………, एत्तो वोच्छं चरित्तकप्पं तु ।
जे तु विहाणचरित्ते, वतेसु गुरुलाघवं चेव ॥
पंचविहम्मि चरित्त-म्मि वण्णिता जे जहिं अणुण्णागा ।
एसो चरित्तकप्पो, जहक्कयं होति विण्णेओ ॥
सामाइयाहि पंचहिं, सव्वो वि जवे बहुत्तरं कंठा ।
सव्वगुरुगा अहिंसा, तीसे सारक्खणट्ठ सेसाणि ॥
मेहुणवयं च तत्तो, ततो अदत्तं मुसं तत्तो ।
सव्वलहुओ परिग्गह, सव्वावत्थाएँ रागनिग्गहणं ॥
लोगे पुण गरुगतरो, सव्वेसु भवे मुसावादो ।
काऊण वि संधरणं, मुयवज्जाणं तु सव्वभंगे वि ॥
जे न पावंति धम्मं, मुएसु अह मिच्छगे ते उ ।
सोतुं मिच्छवतारा, विणयं काऊण हिंडए आह ॥
अज्जप्पजिई अम्हं, वुड्ढो सड्ढा वते देह ।
मुसवज्जा वाएमो, धारेमो गिण्हितुं वते तेणा ॥
बीसत्थमित्तगाणं, मुसितविहारं समोढत्ता ।
मिच्छत्त वेंति तेणे, घेत्तुं सिक्खावयाणि मा अज्जो ॥
भंजह लंबंति जहा, तेणा ऊ वज्जसमणेसु ।
सद्धम्मो गुरुलाघव-वक्खाणं सोहिकारणाजिहितं ॥
पत्तम्मि कारणम्मि तु, लहुयतरं पुव्व सेवेज्जा ।
काणि पुण कारणाणी, जेसुं पत्तेसु जयणपभिसेवा ॥
भण्णइ ताण इमाइं, कित्तेऽहं जे समासेणं ।
गच्छाणुकंपयाए, आयरिय गिलाणे आवतीए य ॥
पभिसेवा खलु भणिता, एते खलु कारणा ते उ ।
तेहि य तेणादीसुं, गच्छस्स हाणसेवणा होति ॥
आयरियाण न अद्धा, विभासवित्थारदुएँ एत्थं ।
णातुं तवं विणासं, अरगा साहारणेण एवं तु ॥
आयरियस्स विणासे, गच्छविणासो धुवं एत्थं ।
आगाढे गेलण्णे, कंदातिविजास आवती वसुजा ॥
देव्वावति तह लोगा, वतीवगओ तह भागओ चेव ।
एतेहि कारणेहिं, अप्पचेहि जो तु सेवेज्ज ॥
मुइसीलयाएँ जो ऊ, आवज्जति ण वि य मुज्झती सो उ ।
जो पुण पत्ते कारणे, जयणा आसेवणं करेज्जा इ ॥
तस्स सेवणा वि जा सा, लोगे सव्वे जिणेहि तं इणमो ।
गच्छाणुकंपयाए, आयरियगिलाण आवदि वि दिन्ने ॥
जत्थेव य पभिसेहो, सचरित्ताऽऽसेवणा तत्थ ।
पुरिमस्स पच्छिमस्स य, मज्झिमगाणं तु जिणवरिंदाणं ॥
आसेवणा य सचरि-त्तया य अत्थेण अणुगम्मा ।
वयभंगं पि करेंतो, जह सचरित्ती कहं तु अत्थेणं ॥
अणुगंतव्वं एयं, भन्नाति आगाढकारणतो ।
जे के अवराहपदा, कण्हा मुक्का जवे पवयणम्मि ॥
णिघरिसपरिच्छणाए, दुगठाणेणं मुणेयव्वो ।
पभिसेहे अणुण्णा वा, पायच्छित्ते य ओह णिच्छइए ॥
ओहेण उ सद्दाणं, अत्थविरेगेण वोगमियं ।
हिंसादवराहपदा, किण्हे अणुयाति सुकिंझा लहुगा ॥
णिप्परिसपरिच्छण्णे, जह कणगं ताव णिहसेसु ।
एवं परिच्छिऊणं, आयवयं गच्छमावती जं तु ॥
णित्थारयम्मि पत्ते, जयणाए णिसेव सचरित्ती ।
दुहाणा मूलुत्तर-दप्पे भजए य होति पडिसेहो ॥
कप्पे जयणाऽणुण्णा, जो पुण निकारणाऽऽसेवे ।
पायच्छित्ते पावति, तं दुविहं ओहियं च णेच्छइयं ॥
ओहं च जमावण्णं,-तं दिज्जति तम्मि सद्दाणं ।
णेच्छइयं अत्थेणं, वीमंसेसा तु देज्जती तं तु ॥
एयं अत्थविरेगं, वोगमियं छव्विहं इणमो ।
कस्स कहं व कहिंतं, वोकमिया कम्मि किव्वे वा ॥
उहाणपदावित्तं, अत्थपदं होति वोगमियं ।
कस्स त्ति गीतगीत-स्स वा विकह जयणऽजयणाए ॥
कह अच्छाण वसंतो, दिया णु सुभिक्खदुब्भिक्खे ।
अहवा दिव राओ वा, कम्मि त्ती कारणे व इतरे वा ॥
कम्मि च पुरिसज्जाते, आयारादीण अन्नतरे ।
केचिर कतिवारे खलु, केवइकालं च सेवियं होज्जा ॥
एवं उट्ठाणेहिं, सुष्कामुक्के असुच्छितरो ।
संघयणधितिजुताणं, सद्दाणअरुहं तु दिज्जए तत्थ ॥

असढू अथिरादीणं, दिज्जति वाएति जं वोढुं ।
सोत्तूण कप्पियपदं, करेति आलंबणं मतिविहूणो ॥
रहसं च अणरहस्सं, करेति मतिसूयओ पुरिसो ।
माइट्ठाणविमुक्कं, अकप्पियं जो तु सेवते भिक्खू ॥
तं तस्स कप्पति पदं, मायासहिते चरणभेदो । पं० भा० ।

इयाणिं चरित्तकप्पो, गाहा-(पंचविहम्मि) तं पुण चरित्तं पंचविहं सामाइअमाई, अणुभागो नाम सामाइओ दुविहो-इत्तरिओ, आवकहिओ, छेओवट्ठावणिओ घेत्तूण परियागं परिहारविसुद्धिए निव्विसमाणे निव्विट्ठो य, एवं सव्वे वि भाणियव्वा, जो जस्स अणुभागो तम्मि पुण चरित्ते गुरुलाघवं नायव्वं, पंचसु वि एएसु कयरं भारियतरं वा ?। उच्यते-सव्वगुरुइया अहिंसा, तस्स सारक्खणत्थं सेसाणि, तयणंतरं मेहुणं, ततश्चादत्तं, ततो मोसं, सव्वलहुओ परिग्गहो, सव्वावत्थासु रागदोसाणि अवणेऊणं तु, न विणा रागेण लोए पुण मुसावाओ भणिओ, जहा दव्वत्ति य सव्वेहिं कवडेण मुसावायवज्जाणि सिक्खापयाणि घेत्तूण विहारो विलओ लिओ, एसा पुण गुरुलाघवा विसोही कारणे कीरइ। पढमं जं लहुयं तं सेविज्जइ। त पुणो कत्थ सेविज्जइ ?। गाहा-(गच्छाणुकंपयाए) ओदियाइसु बालवुड्ढाओ ण गच्छकुलाइकज्जे वा, आयरियाणं गिलाणाइअज्जाइकज्जेसु वा दव्वखेत्तकालभावावइसु वा एएसु गच्छाणुकंपयाइसु कारणेसु अयत्तेसु सुहसीलयाए वयाणि पेल्लेइ, सो भावज्जइ तट्ठाणपच्छित्तं। गाहा-(गच्छाणुकंप) सो पुण एएसु गच्छाणुकंपाइसु कारणेसु पत्तेसु गुरुलाघवविसोहीय वयाणि पेल्लेइ, जाणि चेव पमिसेवियाणि चेव पमिसेवेइ सो सुद्धो। गाहा-(पुरिमस्स) एवं पुरिमपच्छिममज्झिमाणं तित्थगराणं कारणे पत्तेयाऽऽसेवणाइ भवइ, पडिसेवियपयाणं सचरित्तया य। कहं पुण, अत्यओ अणुगामित्ता। गाहा-(जे के अवराहपया) हिंसादयो किंवइ त्ति गुरुया, लुक्कित्ति लहुया सुवन्नं निघसमिव परिच्छियव्वा, अवधारणीयमिति कट्टु के य जयणपुरिसकारो तुल्लासमो नाणदरिसणचरित्तट्ठी, दुयट्ठाणं नाम मूलगुणा उत्तरगुणा य, ते कप्पंति। एवं सव्वत्थ वि पमिसेहे भुज्जो अणुण्णा कया। गाहा-(पडिसेहे अणुण्णा) पायच्छित्तं पुण दुविहं-ओहियं निच्छइयं च। ओहेण जं चेव आवन्नो तं चेव दिज्जइ, निच्छयओ पुण अत्थेण विरेत्तूण विणिच्छयणं ति भणियं होइ, तो दिज्जइ, विरेगो पुण छव्विहो, तत्थ गाहा-(कस्स कहं) कस्स वा ?, गीयत्थस्स वा, गीयत्था आयरिया, उवज्झाया, भिक्खू वा, आयरियउवज्झाया नियमा गीयत्था, ते पुणो कयकरणा वा, कयकरणाणं तदाणुरूवं दिज्जइ, भिक्खू अभिगयं अणभिगयं थिराथिरकयकरणा य भयणीओ कहंति, जयणाए अजयणाए वा पडिसेवियं करेंति, अद्धाणे वा जणवए वा पमिसेवियं। कइया ?, सुभिक्खे, दुब्भिक्खे वा, दिया, राओ। कम्मि ?। कारणे अकारणे वा। केच्चिरं कइवारे कालं वा, एवं जहिं ठाणेहिं थोकमे जं ण दिज्जइ, तत्थ जइ सुद्धेण सुद्धा चेव सुद्ध त्ति, कारणे सुद्धा अकारणे सेवियं अगीयत्थासु वा असुद्धं, तस्स पुण सद्धु असद्धु त्ति विज्जइ, स दओ थिरसंजमो जेण। गाहा-(सोत्तूण कप्पियपयं) कप्पियपदमिति अववाओ, सव्वत्थ एवं कायव्वं ति मण्णइ मइविहूणो त्ति। मइविहूणत्तणेण आलंबणेण करेइ, रहस्साणि अरहस्साणि करेइ। मइसूयगो नाम सो पावो। गाहा-(माइट्ठाणविमुक्कं) गाहा सिद्धमेव। एष चारित्तकल्पो। पं० चू०।

चरित्तट्ठया-चारित्रार्थता-स्त्री०। सदनुष्ठानरूपेऽर्थे, स्था० ५ ठा० २ उ०। वर्षास्वपि अन्यत्र गच्छेत्-"चारित्तट्ठयाए" चारित्रार्थतया तु तस्य क्षेत्रस्यानेषणा स्त्र्यादिदोषदुष्टतया तद्रक्षणार्थम्। स्था० ५ ठा० २ उ०।

चरित्तट्ठवणा-चारित्रस्थापना-स्त्री०। ६ त०। चारित्रास्यानिर्वाह्यत्वेन न्यासे, यथा-" सज्झायरकप्पट्ठी चरित्तट्ठवणा " शय्यातरस्य कल्पस्थिकायामाचार्येण चारित्रस्य स्थापना कृता प्रतिसेवते इति भावः। बृ० ४ उ०।

चरित्तधम्म-चारित्रधर्म-पुं०। चरित्रं क्षयोपशमरूपं, तस्य भावश्चारित्रमशेषकर्मक्षयाय चेष्टेत्यर्थः। ततश्चारित्रमेव धर्मश्चारित्रधर्म इति। श्रमणधर्मे, " चरित्तधम्मो समणधम्मो त्ति " वचनात्। दश० १ अ०। स्था०। स च क्षान्त्यादिरूपो दशधा। नं०। चारित्रं मूलोत्तरगुणकलापः, तदेव धर्मश्चारित्रधर्मः। स्था० २ ठा० १ उ०। क्षान्त्यादिश्रमणधर्मः। अयं च द्विविधोऽपि द्रव्यभावभेदे धर्मे भावधर्म उक्तः। यदाह-" दुविहो उ भावधम्मो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य। सुयधम्मो सज्झाओ, चरित्तधम्मो समणधम्मो ॥१॥ त्ति" स्था० २ ठा० १ उ०। प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपे धर्मभेदे, दश० ४ अ०। " दुविहे चरित्तधम्मे " द्विविधं देशसर्वचारित्रभेदात् द्विप्रकारं, चर्यते मुमुक्षुभिरासेव्यते तदिति, चर्यते वा गम्यतेऽनेन निर्वृत्ताविति चारित्रम्। अथवा-चयस्य कर्मणां रिक्तीकरणाच्चारित्रं, निरुक्त्यायादिति। चारित्रमोहनीयक्षयाद्याविर्भूत आत्मनो विरतिरूपः परिणामस्तल्लक्षणो धर्मः श्रेयश्चारित्रधर्मस्तम्। पा०। चारित्रं मूलोत्तरगुणकलापस्तदेव धर्मश्चारित्रधर्मः। स्था०।

चरित्तधम्मे दुविहे पन्नत्ते। तं जहा-अगारचरित्तधम्मे चेव, अणगारचरित्तधम्मे चेव। अणगारचरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सरागसंजमे चेव, वीयरागसंजमे चेव। सरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-सुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव, बादरसंपरायसरागसंजमे चेव। सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-पढमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव, अपढमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे चेव। अहवा चरमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे, अचरमसमयसुहुमसंपरायसरागसंजमे। अहवा-सुहुमसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-संकिलेसमाणए चेव, विसुज्झमाणए चेव। बादरसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-पढमसमयबादरसंपरायसरागसंजमे, अपढमसमयबादरसंपरायसरागसंजमे। अहवा-चरमसमयबादरसंपरायसरागसंजमे, अचरमसमयबादरसंपरायसरागसंजमे। अहवा-बायरसंपरायसरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-पडिवातिए चेव, अपडिवातिए चेव। वीयरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-उवसंतकसायवीयरागसंजमे चेव, खीणकसायवीयरागसंजमे चेव। उवसंतकसायवीयरागसंजमे दुविहे पण्णत्ते। तं जहा-पढमसमयउवसंतकसायवीयरागसंजमे चेव, अपढमसमयउवसंतकसायवीयरागसंजमे चेव। अहवा-चरमसमय-

उवसंतकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयउवसंतकसायवीयरायसंजमे । खीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पएणत्ते । तं जहा-छउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे चेव, केवलिखीणकसायवीयरायसंजमे चेव । छउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पएणत्ते । तं जहा-सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे । सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पएणत्ते । तं जहा-पढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे चेव । अहवा-चरमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीयरागसंजमे । बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरागसंजमे दुविहे पएणत्ते । तं जहा-पढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरागसंजमे । अहवा-चरमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीयरायसंजमे । केवलि-खीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पएणत्ते । तं जहा-सजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे । सजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पएणत्ते । तं जहा-पढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसंजमे । अहवा-चरमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरागसंजमे, अचरमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे। अजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे दुविहे पएणत्ते । तं जहा-पढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे । अहवा-चरमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे, अचरमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीयरायसंजमे ॥

"चरित्तेत्यादि"। अगारं गृहं, तद्योगादागारा गृहिणस्तेषां यश्चारित्रधर्म्मः सम्यक्त्वमूलाणुव्रतादिपालनरूपः स तथा । एवमितरोऽपि,नवरमगारं नास्ति येषां तेऽनगाराः साधव इति। चारित्रधर्मश्च संयमोऽतस्तमेवाह-"दुविहे" इत्यादि । सह रागेण अभिष्वङ्गेण मायादिरूपेण यः स सरागः, स चासौ संयमश्च, सरागस्य वा संयम इति वाक्यम् । वीतो विगतो रागो यस्मात्, स चासौ संयमश्च, वीतरागस्य वा संयम इति वाक्यम् । "सराग" इत्यादि । सूक्ष्मोऽसंख्यातांकिट्टिकावेदनतः सम्परायः कषायः, सम्परैति संसरति संसारं जन्तुरनेनेति व्युत्पादनात्। आह च-"कोहाइसंपराओ, तेण जओ संपरीइ संसारं।" स च लोभकषायरूप औपशमिकस्य क्षपकस्य वा यस्य सः सूक्ष्मसंपरायः साधुस्तस्य सरागसंयमविशेषणसमासो वा भणनीय इति । बादराः स्थूलाः सम्परायाः कषायाः यस्य साधोर्यस्मिन् वा संयमे स तथा, सूक्ष्मसम्परायप्राचीनगुणस्थानकेषु, शेषं प्राग्वदिति । "सुहुमे" इत्यादि । सूत्रद्वये प्रथमसमयादिविभागः केवलज्ञानवदिति । "अहवा" इत्यादि । संक्लिश्यमानकः संयम उपशमश्रेण्याः प्रतिपततो विशुद्ध्यमानस्तामुपशमश्रेणिं, क्षपकश्रेणिं वा समारोहत इति। बादरेत्यादिसूत्रद्वयम्, बादरसंपरायसरागसंयमस्य प्रथमाप्रथमसमयता संयमप्रतिपत्तिकालापेक्षया, चरमाचरमसमयता तु यदनन्तरं सूक्ष्मसम्परायता; असंयतत्वं वा भविष्यति तदपेक्षयेति । "अहवा" इत्यादि । प्रतिपाती उपशमकस्यान्यस्य वा, अप्रतिपाती क्षपकस्येति सरागसंयम उक्तः । अतो वीतरागसंयममाह-"वीयराय" इत्यादि । उपशान्ताः प्रदेशतोऽप्यवेद्यमानाः कषाया यस्य यस्मिन् वा स तथा, साधुः संयमो वेति एकादशगुणस्थानवर्तीति,क्षीणकषायो द्वादशगुणस्थानवर्तीति।"उवसंत" इत्यादि सूत्रद्वयं प्राग्वत् । "खीणे" इत्यादि। छादयत्यात्मस्वरूपं यत्तच्छद्म,ज्ञानावरणादि घातिकर्म्म, तत्र तिष्ठति इति छद्मस्थोऽकेवली, शेषं तथैव, केवलमुक्तरूपं ज्ञानं च दर्शनं चास्यास्तीति केवलीति। "छउमत्थ" इत्यादि । स्वयम्बुद्धादिस्वरूपं प्राग्वदेवेति "सयंबुद्ध" इत्यादि नव सूत्राणि गतार्थान्येवेति । स्था० २ ठा० १ उ०। चरति मोक्षं प्रति याति येन तच्चरित्रं, तच्च तद्धर्मश्चेति चरित्रधर्मः, चारित्रशब्देन श्रुतस्य व्यवच्छेदः । प्रत्याख्याने, "पच्चक्खाणं नियमो, चरित्तधम्मो य होंति एगट्ठा ॥" पञ्चा० ५ विव० ।

चरित्तधम्मआराहणा-चारित्रधर्माराधना-स्त्री० । आराधनाभेदे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या 'आराहणा' शब्दे द्वितीयभागे ३७४ पृष्ठे उक्ता)

चरित्तपडिवत्ति-चारित्रप्रतिपत्ति-स्त्री० । चारित्रस्य वैराग्यतया शुद्धौ, पं० चू० ।

चरित्तपरिणाम-चारित्रपरिणाम-पुं० । चारित्रमेव परिणामः। परिणामभेदे, प्रज्ञा० १२ पद । स्था०।

चरित्तपायच्छित्त-चारित्रप्रायश्चित्त-न० । प्रायश्चित्तभेदे, स्था० ३ ठा० ४ उ० । ('पच्छित्त' शब्देऽस्य व्याख्या)

चरित्तपुरिस-चारित्रपुरुष-पुं० । तद्वति, स्था० ३ ठा० १ उ०। (व्याख्या 'णाणपुरिस' शब्दे द्रष्टव्या)।

चरित्तबल-चारित्रबल-न० । चारित्रानुपालनसामर्थ्ये, यद् दुष्करमपि सकलसङ्गवियोगं करोत्यात्मा, यच्चानन्तमबाधमैकान्तिकमात्यन्तिकमात्मायत्तमानन्दमाप्नोति । स्था० १० ठा० । दृढचरित्रे, प्रश्न० ६ पद ।

चरित्तभावणाय-चारित्रभावनाक-त्रि० । चारित्रेण सामायिकादिना भावना वासना यस्य स चारित्रभावनाकः । चारित्रवासनायुक्ते, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

चरित्तभेइणी-चारित्रभेदिनी-स्त्री० । चारित्रभेदकारिण्यां विकथायाम्, (स्था०) न सम्भवन्तीदानीं महाव्रतानि साधूनां प्रमादबहुलत्वादतिचारप्रचुरत्वादतिचारशोधकाचार्यतत्कारकसाधुशुद्धीनामभावादिति ज्ञानदर्शनाभ्यां तीर्थं प्रवर्तत इति ज्ञानदर्शनकर्त्तव्येष्वेव यत्नो विधेय इति । भणितं च-"सोही य नत्थि न वि दिं-तकरेंता न वि य केइ दीसंति। तित्थं च णा-

णदंसण-निह्नवगो चेव बोधिकुण त्ति ॥ १ ॥ " इत्यादि । अनया हि प्रतिपन्नचारित्रस्यापि तद्वैमुख्यमुपजायते, किं पुनस्तदभिमुखस्येति चारित्रभेदिनीति । स्था० ७ ठा० ।

चरित्तमोहणिज्ज-चारित्रमोहनीय-न०। मोहनीयकर्मभेदे,कर्म० १ कर्म० । (षोडश कषाया नव नोकषायाश्चेति द्विविधमेतत् ' मोहनीय ' शब्दे वक्ष्यते)

चरित्तरक्खणट्ठ-चारित्ररक्षणार्थ-न० । पञ्चप्रकारं चारित्रं सामायिकाद्यमथाख्यातपर्यवसानं, तस्य रक्षणार्थम् । चारित्रक्रायाः परिपालनार्थे , पं० चू० । " चारित्तरक्खणट्ठा, सुयगमस्सुवरि ठविताइं ॥ " पं० भा० ।

चरित्तलंभ-चारित्रलाभ-पुं० । चारित्रस्याऽन्यजन्मोपात्ताष्टविधकर्मसंचयापचयाय सर्वसावद्ययोगनिवृत्तिरूपस्य लाभे, आ० म० प्र० ।

चरित्तविणय-चारित्रविनय-पुं० । चारित्राद् विनयश्चारित्रविनयः । चारित्रेण विनीतकर्मतायाम, (दश०)

चारित्रविनयमाह-

अट्ठविहं कम्मचयं, जम्हा रित्तीकरेइ जयमाणो ।
नवमन्नं च न बंधइ, चरित्तविणीओ हवइ तम्हा ॥८५॥

अष्टविधमष्टप्रकारं कर्मचयं कर्मसङ्घातं प्रागुक्तं यस्माद्रिक्तं करोति तुच्छताऽऽपादनेनापनयति यतमानः क्रियायां यत्नपरः, तथा नवमन्यं च कर्मचयं न बध्नाति यस्माच्चारित्रविनय इति, चारित्राद्विनयश्चारित्रविनयश्चारित्रेण विनीतकर्म्मा भवति तस्मादिति गाथार्थः ॥ ८५ ॥ दश० नि० ६ अ० १ उ० । औ० ।

चरित्तविराहणा-चारित्रविराधना-स्त्री०। चारित्रं सामायिकादीनि, तेषां विराधना खण्डना । स०३ सम० । व्रतादिखण्डने, भ० ३ अधि० ।

चरित्तवीरिय-चारित्रवीर्य-न० । अशेषकर्मविदारणसामर्थ्ये, क्षीरादिलब्ध्युत्पादनसामर्थ्ये च । नि० चू० १ उ० ।

चरित्तसंपण्णया-चारित्रसंपन्नता-स्त्री० । यथाख्यातचारित्रयुक्तत्वे, उत्त० १० अ० ।

तत्फलम्-

चरित्तसंपन्नयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभावं जणयइ, सेलेसिपडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलकम्मं से खवेइ, तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥ ६१ ॥

हे स्वामिन् ! चारित्रसम्पन्नतया चारित्रेण यथाख्यातचारित्रेण सम्पन्नता, तया यथाख्यातचारित्रसहितत्वेन जीवः किं जनयति ? । तदा गुरुराह-हे शिष्य ! चारित्रसम्पन्नयथाख्यातचारित्रसहितत्वेन शैलेशीभावं जनयति, शैलानां पर्वतानां ईशः शैलेशो मेरुस्तस्येयं अवस्था शैलेशी, तस्या भवनं शैलेशीभावः, तमुत्पादयति मेरुपर्वतस्य स्थैर्यं प्राप्नोति, शैलेश्यवस्थां प्रतिपन्नोऽनगारश्चतुरः कर्मांशान् क्षपयति, अंशशब्दः सत्तार्थवाचकः चतुर्दशगुणस्थानं भजते, ततः पश्चात्सिध्यति सकलकर्माणि क्षपयित्वा सिद्धिं प्राप्नोति, बुध्यति तत्त्वज्ञो भवति, मुच्यते कर्मभ्यो मुक्तो भवति, परिनिर्वाति कषायाग्न्युपशमाच्छीतलो भवति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥६१॥ उत्त० २९ अ० ।

चरित्तसुद्धि-चारित्रशुद्धि-स्त्री० । चरणविशुद्धतायाम, पं० । (तस्या बाह्यमान्तरं च कारणद्वयम ' उग्गम ' शब्दे द्वितीयभागे ६७ पृष्ठे दर्शितम)

चरित्ताचरित्त-चारित्राचारित्र-न० । चारित्रं तदचारित्रं चेति चरित्राचारित्रम । संयमाऽसंयमे, भ० ८ श० २ उ० ।

चरित्तायार-चारित्राचार-पुं० । चारित्रिणां समित्यादिपालनात्मके व्यवहारे, स० १०० सम० ।

इयाणिं चरित्तायारो भण्णति-

पणिधाणजोगजुत्तो,पंचहिँ समितीहिँ तिहि य गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होति णायव्वो ॥ ३५ ॥

पणिहाणं ति वा अज्झवसाणं ति वा चित्तं ति वा एगट्ठा । जोगा मणवइकाया परिहाणजोगेहिं पसत्थेहिं जुत्तो पणिहाणजोगजुत्तो, तस्स य पणिहाणजोगजुत्तस्स पंच समितीओ, तिण्णि गुत्तीओ भवंति,ताओ समितिगुत्तीओ इमा-इरियासमिई, भासासमिई, एसणासमिती, आयाणसमिई, भंडमत्तणिक्खेवणासमिई, परिट्ठावणियासमिई, मणगुत्ती, वयगुत्ती, कायगुत्ती । जीवसंरक्खणट्ठजुगमेत्तंतरदिट्ठस्स अप्पमादिणो संजमोवकरणुप्पायणणिमित्तं जा गमणकिरिया सा इरितासमिती,कक्कसाणिट्ठुरकडुयफरुसअसंबद्धबहुप्पलावदोसवज्जिता हियमणवज्जमिता संदेहणभिद्दोहधम्मणो भासासमिती, सुत्ताणुसारेण रयहरणवत्थपादासणपाणाणिलओलहणेसणं एसणासमिती, जं घत्थपायसंथारकफलगपीठकारणट्ठगहणिक्खेवकरणं पडिलेहिय पमज्जिय सा आदाणणिक्खेवणासमिती, जं मुत्तमलसिंघेलपुरीसमुक्काण जं वा वि वेगाकहाणं संसत्ताणं भत्तपाणादीण अंतुविरहिए थंमिले विहिणा विवेगकरणं सा परिट्ठावणसमिती ५, कलुसकिलिट्ठमप्पसंतसावज्जमणकिरियसंकप्पणगोवणं मणगुत्ती, चावल्लफरुसपिसुणसावज्जप्पवत्तणणिग्गहकरणं मणे वा सा वयगुत्ती, गमणागमणपवसणादाणासणप्फंदणादिकिरियाण गोवणं कायगुत्ती समितिगुत्तीणं विसेसो भण्णति-

" समितो णियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि भतियव्वो ।
कुसलवइ उदीरेंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि ॥
तणुगतिकिरियासमिती, तणुकिरियागोवणं तु तणुगुत्ती ।
वागोवण वागुत्ती, समितिपयारो वि तस्सेव ॥
संकप्पकिरियगोवण, मणगुत्ती भवति समितिसु पयारो ।
भणिता अट्ठ व माता, पवयणयतफलं ण तया तो " ॥

गाहापच्छद्धं कंठं ॥

समितीण य गुत्तीण य, एसो ते दो तु होइ णायव्वो ।
समिती पयाररूवा, गुत्ती पुण उभयरूवा वि ॥ ३६ ॥
समितो नियमा गुत्तो, गुत्तो समियत्तणम्मि तइयव्वो ।
कुसलवति उदीरेंतो, जं वइगुत्तो वि समिओ वि ॥३७॥
समिती पयाररूवा, गुत्ती पुण होति नयरूवा ।
कुसलवति उदीरेंतो, तेणं गुत्तो वि समिओ वि ॥ ३८ ॥
गुत्तो पुण जो साधू, अप्पवियाराएँ णाम गुत्तीए ।

सो ण समिओ त्ति वुच्चति, तीसे तु वियाररूवत्ता॥३७॥ नि० चू० १ उ० । स्था० ।

(चारित्रातिचारे प्रायश्चित्तं 'पच्छित्त' शब्दे वक्ष्यते)

चरित्ताराहणा-चारित्राराधना-स्त्री० । " तिविहा चरित्ताराहणा पण्णत्ता । तं जहा-उक्कोसा, मज्झिमा, जहन्ना । " स्था० ३ ठा० ४ उ० ।

चरित्तारिय-चारित्रार्य-पुं० । चारित्रेणार्ये, (प्रज्ञा०)

तद्भेदाः—

से किं तं चरित्तारिया ?। चरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सरागचरित्तारिया, वीतरागचरित्तारिया । से किं तं सरागचरित्तारिया ? । सरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य, बायरसंपरायसरागचरित्तारिया य । से किं तं सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया ? । सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया, अपढमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया, अचरिमसमयसुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संकिलिस्समाणा य, विसुज्झमाणा य । सेत्तं सुहुमसंपरायसरागचरित्तारिया ॥ से किं तं बायरसंपरायसरागचरित्तारिया ?। बायरसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया, अपढमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया अचरिमसमयबायरसंपरायसरागचरित्तारिया य । अहवा-बायरसंपरायसरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पडिवाई य, अपडिवाई य । सेत्तं बायरसंपरायचरित्तारिया । सेत्तं सरागचरित्तारिया ॥ से किं तं वीतरागचरित्तारिया ?। वीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया, खीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । से किं तं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया ? । उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया, अचरिमसमयउवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं उवसंतकसायवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? । खीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-छउमत्थखीणकसायवीतरायचरित्तारिया, केवलिखीणकसायवीयरागचरित्तारिया य । से किं तं छउमत्थखीणकसायवीयरागचरित्तारिया ? । छउमत्थखीणकसायवीयरायचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरायचरित्तारिया य । से किं तं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? । सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयसयंबुद्धखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अचरिमसमयसयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं सयंबुद्धछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? । बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अचरिमसमयबुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं बुद्धबोहियछउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं छउमत्थखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? । केवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । से किं तं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ? । सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया, अपढमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य, अचरिमसमयसजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । सेत्तं सजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ॥ से किं तं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया ?। अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-पढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य, अपढमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य । अहवा-चरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया य, अचरिमसमयअजोगिकेवलिखीणकसायवीतरायचरित्तारिया य । सेत्तं अजोगिकेवलिखीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं केवलिखीणकसायवीतरागचरि-

त्तारिया । सेत्तं खीणकसायवीतरागचरित्तारिया । सेत्तं वीतरागचरित्तारिया ॥ अहवा-चरित्तारिया पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा-सामाइयचरित्तारिया, छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया, परिहारविसुद्धिचरित्तारिया, सुहुमसंपरायचरित्तारिया, अहक्खायचरित्तारिया य । से किं तं सामाइयचारित्तारिया ? । सामाइयचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-इत्तरियसामाइयचरित्तारिया, आवकहियसामाइयचरित्तारिया य । सेत्तं सामाइयचरित्तारिया ॥ से किं तं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया ? । छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-साइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया, निरइयारा छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया । सेत्तं छेओवट्ठावणीयचरित्तारिया ॥ से किं तं परिहारविसुद्धियचरित्तारिया ? । परिहारविसुद्धियचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-निव्विस्समाणपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया, निव्विट्ठकाइयपरिहारविसुद्धियचरित्तारिया य । सेत्तं परिहारविसुद्धिअचरित्तारिया ॥ से किं तं सुहुमसंपरायचरित्तारिया ? । सुहुमसंपरायचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-संकिलिस्समाणसुहुमसंपरायचरित्तारिया, विसुज्झमाणसुहुमसंपरायचरित्तारिया य । सेत्तं सुहुमसंपरायचरित्तारिया ॥ से किं तं अहक्खायचरित्तारिया ? । अहक्खायचरित्तारिया दुविहा पण्णत्ता । तं जहा-छउमत्थअहक्खायचरित्तारिया, केवलिअहक्खायचरित्तारिया य । सेत्तं अहक्खायचरित्तारिया । सेत्तं चरित्तारिया । प्रज्ञा० १ पद ।

चरित्ति (ण्)-चारित्रिन्-त्रि० । संयते, पं० व० १ द्वार । अनु० ।

चरित्तिंद-चारित्रेन्द्र-पुं० । यथाख्यातचारित्रे, स्था० ३ ठा० १ उ० । (व्याख्या 'इंद' शब्दे द्वितीयभागे ५३४ पृष्ठे उक्ता)

चरित्तोवघाय-चारित्रोपघात-पुं० । समितिभङ्गादिभिश्चारित्रस्योपघाते, स्था० १० ठा० ।

चरिमपच्चक्खाण-चरमप्रत्याख्यान-न० । अन्तिमप्रत्याख्याने, चरमं चरिमोऽन्तिमो भागः । स च दिवसस्य, भवस्य चेति द्विधा । तद्विषयं प्रत्याख्यानमपि चरमं, तच्च प्रत्याख्यानं च । इह भवचरमं यावज्जीवं, तत्र द्विविधेऽपि चत्वार आकारा भवन्ति । यत्सूत्रम्-"दिवसचरिमं भवचरिमं वा पच्चक्खाइ चउव्विहं पि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं अन्नत्थाऽणाभोगेणं सहसागारेणं महत्तरागारेणं सव्वसमाहिवत्तिआगारेणं वोसिरइ ।" ननु दिवसचरमप्रत्याख्यानं निष्फलम्, एकाशनादिप्रत्याख्यानेनैव गतार्थत्वात् । नैवम्-एकाशनादिकं ह्यष्टाद्याकारमेव, एतच्च चतुराकारमतः आकाराणां संक्षेपकरणात् सफलमेव, अत एवैकाशनादिकं दैवसिकमेव भवति; रात्रिभोजनस्य त्रिविधत्रिविधेन यावज्जीवं प्रत्याख्यातत्वात्; गृहस्थापेक्षया पुनरिदमादित्योद्गमान्तं दिवसस्याहोरात्रमिति पर्यायतयाऽपि दर्शनात् । तत्र च येषां रात्रिभोजनं नियमोऽस्ति तेषामपि इदं सार्थकमनुवादत्वेन स्मारकत्वात् । भवचरमं तु द्व्याकारमपि भवति, यदा जानाति महत्तरसर्वसमाधिप्रत्ययरूपाभ्यामाकाराभ्यां न प्रयोजनं, तदा अनाभोगसहसाकाराकारौ भवतः, अङ्गुल्यादेरनाभोगेन सहसाकारेण वा मुखप्रक्षेपसंभवात् । अत एवेदमनाकारमप्युच्यते, आकारद्वयस्यापि परिहार्यत्वात् । ध० २ अधि० । पंचा० । आव० ।

चरिमसगलसुयणाणि-चरमसकलश्रुतज्ञानिन्-त्रि० । चरमम पश्चिममित्यर्थः । सकलं कृत्स्नं, निरवशेषमित्यर्थः । पं० चू० । ज्ञानं यस्य सः । भद्रबाहुस्वामिनि, पं० भा० ।

चरिय-चरित-त्रि० । सेविते, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । चेष्टिते, पं० व० ३ द्वार । प्रश्न० । सत्ये उदाहरणे, तत् चरितमभिधीयते यद्वृत्तं, तेन कस्यचिद्दार्ष्टान्तिकार्थप्रतिपत्तिर्जन्यते । तद्यथा-दुःखाय निदानं यथा ब्रह्मदत्तस्य । दश० १ अ० । नं० ।

चरियव्व-चरितव्य-त्रि० । आसेवितव्ये, भ० ६ श० ३३ उ० । आ० म० ।

चरिया-चरिका-स्त्री० । नगरप्राकारयोरन्तरेऽष्टहस्तप्रमाणे मार्गे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० । जी० । रा० । स० । अनु० । बृ० औ० । गृहप्राकारान्तरे हस्त्यादिप्रचारमार्गे, भ० ५ श० ७ उ० ।

चर्या-स्त्री० । 'चर' गतिभक्षणयोः । "गदमदचरयमश्चानुपसर्गे" ॥३।१।१००॥ (पाणि०) इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत्प्रत्ययः । चर्यते चरणं वा चर्या । आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । आव० । आ० चू० । गमने, साधुना हि सति प्रयोजने युगमात्रदृष्टिना गन्तव्यम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० ४ उ० । ग्रामादिष्वनियतविहारित्वे, स० २२ सम० । भिक्षादिके, सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । चर्या द्रव्यतो ग्रामानुग्रामविहरणात्मिका, भावतस्त्वेकस्थानमधितिष्ठतोऽप्यप्रतिबद्धता । प्रव० ८६ द्वार । वाहने, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

चरियापरीसह-चर्यापरीषह-पुं० । चरणं चर्या ग्रामानुग्रामविहरणात्मिका, सैव परीषहश्चर्यापरीषहः । उत्त० २ अ० । प्रश्न० । वर्जितालस्यो ग्रामनगरकुलादिषु अनियतवसतिर्निर्ममत्वः प्रतिमासं चर्यामाचरेदिति । आव० ४ अ० । इत्येवंरीत्या ग्रामान्तरादिष्वप्रतिबद्धतया सञ्चरणकरणे, भ० ८ श० ८ उ० ।

"ग्रामाद्यनियतस्थायी, स्थानाबन्धविवर्जितः ।
चर्यामेकोऽपि कुर्वीत, विविधाभिग्रहैर्युतः ॥" ध० ३ अधि० ।
"ग्रामाद्यनियतस्थायी, सदा चाऽनियतालयः ।
विविधाभिग्रहैर्युक्त-श्चर्यामेकोऽप्यधिश्रयेत् ॥" आ० म० द्वि० ।

एतदेव सूत्रकृदाह-

एग एव चरे लाढे, अभिभूय परीसहे ।
गामे वा नगरे वा वि, निगमे वा रायहाणिए ॥ १८ ॥

एक एव रागद्वेषविरहितश्चरेदप्रतिबद्धविहारेण विहरेत्सहायवैकल्यतो वैकस्तथाविधगीतार्थः । यथोक्तम्-"ण वा लभिज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा । एक्को वि पावाइँ विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥" (लाढे त्ति) लाढयति प्रासुकैषणीयाहारेण साधुगुणैर्वा आत्मानं यापयतीति लाढः । प्रशंसाभिधायि वा देशीपदमेतत् पठ्यते (एग एव चरे लाढे त्ति) तत्र चैकोऽसहायः प्रतिमाप्रतिपन्नादिः, स चैको रागादिवैकल्यादभिभूय निर्जित्य परीषहान् । क्व पुनश्चरेत्?, इत्याह-

ग्रामे चोककरूपे, नगरे वा करविरहितसन्निवेसे, अपिः पूरणे, निगमे वा वणिग्निवासे, राजधान्यां वा प्रसिद्धायामुभयत्र वा-शब्दानुवृत्तेः, मडम्बाद्युपलक्षणं चैतत्, अाग्रहाभावं चानेनाहेति सूत्रार्थः ।

पुनः प्रस्तुतमेवाह-

असमाणो चरे भिक्खू, नेय कुज्जा परिग्गहं ।
असंसत्तो गिहत्थेहिं, अणिकेओ परिव्वए ॥

न विद्यते समानोऽस्य गृहिष्वाश्रयामूर्च्छिनत्वेनान्यतीर्थिकेषु चानियतविहारादित्वेनासमानोऽसदृशो, यद्वा-समानः साहङ्कारो, न तथेत्यसमानः । अथ वा-"समाणो त्ति" प्राकृतत्वादसन्निवासन् यत्राऽऽस्ते तत्राप्यसन्निहित इति हृदयम् । सन्निहितो हि सर्वः स्वाश्रयस्योदन्तमावहत्ययं तु न तथेत्येवंविधः संश्रयेदप्रतिबद्धविहारितया विहरेद् भिक्षुर्यतिः । कथमेतत्र स्यादित्याह-नैव कुर्यात्परिग्रहं ग्रामादिषु ममत्वबुद्ध्यात्मकम्, अत्राह च-"गामे कुले वा नगरे च देसे, ममं ति भावं न कहिंचि कुज्जा।" इति । इदमपि यथा स्यात्तथाऽऽह-असंसक्तोऽसंबद्धो गृहस्थैर्गृहिभिरनिकेतोऽविद्यमानगृहो नैकत्र बद्धास्पदः परिव्रजेत्, सर्वतो विहरेत्, न नियतदेशादौ, गृहिसंपर्के एकत्र बद्धास्पदत्वे, नियतदेशादिविहारितायां वा स्यादपि ममत्वबुद्धिः, तदभावे तु निरवकाशैवेयमिति भाव इति सूत्रार्थः ।

अत्र च शिष्यद्वारमनुसरन् " असमाणो चरे "
इत्यादिसूत्रसूचितमुदाहरणमाह-

कोल्लइरे वत्थव्वो, दत्तो सीसो य हिंडतो तस्स ।
उवहरइ धाइ पिंमं, अंगुलिजलणा य सा दिव्वं ॥
उत्त० नि० १ खण्ड ।

(कोलइरे) 'कोल्लइर ' नाम्नि नगरे वास्तव्यः, आचार्य इति शेषः । दत्तः शिष्यश्च हिण्डकः, तस्य उपहरति धात्री पिण्डम्, अङ्गुलिज्वलनाच्च सा दैव्यमिति गाथाऽक्षरार्थः । भावार्थस्तु वृद्धसंप्रदायादवगन्तव्यः । स चायम्-कोल्लागपुरे सङ्गमस्थविरा बहुश्रुता यथास्थितोत्सर्गापवादनिपुणाः दुर्भिक्षे गणं देशान्तरे प्रेष्य स्वयं नगरं नवभागीकृत्य व्यवस्थिताः, नगरदेवता च तेषां गुणैः रञ्जिता, अन्यदा तत्र गुरुवन्दनार्थं दत्तनामा शिष्यः समायातः, तद्रक्षणार्थं गुरवः सपात्रं तं सार्धं नीत्वा भिक्षायां गताः, एकस्येभ्यस्य भद्रप्रकृतेर्गृहे बालो व्यन्तरेण गृहीतः सदा रोदिति, उपायशतसहस्रकरणेऽपि व्यन्तरदोषोपशान्तिर्न जाता, गुरवस्तद्गृहे गताः, चप्पुटिकाकरणपूर्वं मा रुद बालेत्युक्तम्, आचार्यतपस्तेजसा व्यन्तरो नष्टः, तुष्टास्तन्मातृपितृप्रभृतिस्वजनास्तेभ्यो मोदकादिकमाहारं गाढाऽऽग्रहेण दत्तवन्तः, ते मोदकास्तस्यैव शिष्यस्य गुरुभिर्दत्ताः, स्वयं तु अन्तप्रान्तमाहारं विहृत्य भुक्तवन्तः, प्रतिक्रमणाऽवसरे तस्य शिष्यस्य पिण्डदोषमालोचयेति गुरुभिरुक्तम् । शिष्यः चिन्तयति-असौ धात्रीपिण्डं सदा भुङ्क्ते मम त्वेवं कथयतीति चिन्तनसमये एव तद्भावनार्थं देवतयाऽन्धकारं विकुर्वितं, स भृशं बिभेति । गुरुं प्रति वक्ति-अहमत्र दूरस्थो बिभेमि, गुरवः प्राहुः-एहि मत्समीपे । स वक्ति-अस्मिन् घोरान्धकारे नाहमागन्तुं शक्नोमि । गुरुभिः थूत्कृतक्षिप्ता स्वाङ्गुली दर्शिता, तदुद्द्योतेन सोऽत्रायातः, परं चिन्तयति-गुरवो दीपकं रक्षयन्ति, एवं चिन्तयन्नेवासौ देवतया चपेटाभिस्तर्जितः । ज्ञातस्वरूपैर्गुरुभिस्तस्य क्षेत्रनवभागीकरणादिकं स्वस्वरूपं प्रकाशितम् । यथा सङ्गमस्थविरैर्विहारक्रमापरपर्यायचर्यापरीषहोऽध्यासितः, तथा ग्लानत्वाऽवस्थायामपि क्षेत्रनवभागीकरणेनाऽपि चर्यापरीषहोऽन्यैरध्यासितव्यः । उत्त० २ अ० । ('परीसह' शब्देऽन्यद् द्रष्टव्यम्)

चरियापरीसहविजय-चर्यापरीषहविजय-पुं० । अधिगतबन्धमोक्षतत्त्वस्य पवनवन्निःसङ्गतामादधानस्य देशकालप्रमाणोपेतसंयमविरोधिमार्गगमनं प्रति मासकल्पमागमानुसारेण चर्यामाचरतः परुषशर्कराकण्टकादिविधजातचरणखेदस्यापि सतः पूर्वसेवितयानवाहनादिगमनास्मरणे, पं० सं० ४ द्वार ।

चरियापविट्ठ-चरिकाप्रविष्ट-त्रि० । अभिनिचारिकानिमित्तं ब्रजिकादिषु प्रविष्टे, (व्य०)

बहवे साहम्मिया इच्छेज्जा एगयओ अभिणिचारियं चारए, णो एहं कप्पइ थेरे अणापुच्छित्ता एगयतो अभिनिचारियं चारए० जाव एहं थेरे आपुच्छित्ता एगयतो अभिणिचारियं चारए, से अंतरा छेए वा परिहारे वा ॥ १८ ॥ व्य० सू० ।

बहवस्त्रिप्रभृतिकाः साधर्मिकाः साम्भोगिकाः, इच्छेयुरेकतः सहिता इत्यर्थः । अभिनिचारिकाः-आभिमुख्येन नियता चरिका सूत्रोपदेशेन बहुवर्जिकासु दुर्बलानामध्यायनिमित्तं पूर्वाह्णे काले समुत्कृष्टं समुदानं लब्धुं गमनं अभिनिचारिका, तां, चरितुं समाचरितुं, कर्तुमित्यर्थः । एवमेतेषामिच्छतां कल्पते नो " एहं " इति वाक्यालङ्कारे, स्थविरान् आचार्याननापृच्छ्य एकतः संहतानामभिनिचारिकां चरितुं, यदि पुनः स्थविरान् अनापृच्छ्य व्रजन्ति ततः प्रायश्चित्तं मासलघु, स्वच्छन्दचारित्वात् । यावद्ग्रहणादेवं परिपूर्णपाठो द्रष्टव्यः-" कप्पति एहं थेरे आपुच्छित्ता एगतो अभिनिचारियं चारए, थेरा य से वियरेज्जा, एवं एहं कप्पइ एगतो अभिनिचारियं चारए, थेरा य से नो वियरेज्जा, एवं एहं नो कप्पइ एगतो अभिनिचारियं चारए, जं तत्थ थेरेहिं अवितिण्णे एगतो अभिनिचारियं चरंति, से अंतरा छेदे वा, परिहारे वा । " अस्य व्याख्या-यत एवं स्वच्छन्दचारितायां मासलघु तस्मात् कल्पते "एहं" इति पूर्ववत् स्थविरानापृच्छ्य एकतोऽभिनिचारिकां चरितुम्, आपृच्छायामपि कृतायां यदि स्थविरा वितरेयुरनुजानीयुः, "एवं एहं" इति प्राग्वत् । कल्पते अभिनिचारिकां चरितुं, स्थविराश्च न वितरेयुर्नानुजानीयुः प्रत्यपायं पश्यन्तः, प्रयोजनाभावतो वा, ततो न कल्पते एकतोऽभिनिचारिकां चरितुं, यत्पुनस्तत्र स्थविरैरवितीर्णे अननुज्ञाते एकतोऽभिनिचारिकां चरन्ति, तन्निमित्तं 'से' तेषां प्रत्येकमन्तरात्, अन्तरं नाम तस्मात्स्थानादप्रतिक्रमणं तस्मात् छेदः, परिहारो वा, उपलक्षणमतदन्यद्वा तपः प्रायश्चित्तमिति । व्य० ४ उ० ।

चरियापविट्ठे भिक्खू० जाव चउरायाए पंचरायातो थेरा पासेज्जा, से चेव आलोयणा, से चेव पडिक्कमणा, से चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठति अहालंदमवि जाव उग्गहे ॥ १७ ॥

"चरियापविट्ठे भिक्खू" इत्यादि । चरिकानिमित्तं ये व्रजिका-

दिषु प्रविष्टास्तेषामेकतमं परिगृह्येदमुच्यते-चरिकाप्रविष्टो भिक्षुर्यावत्परिमाणावधारणे । ततोऽयमर्थः-एकरात्रं द्विरात्रं त्रिरात्रं चतूरात्रं पञ्चरात्रं यावत् व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरिति द्वितीयं तृतीयमपि पञ्चाहं यावदिति द्रष्टव्यम्, स्थविरान् पश्येत् । कुत्र पश्येदिति चेत्?, उच्यते-अभिनिचारिकां गन्तुमुत्कलोऽपि तेनाचार्येण यत्र संदेशको दत्तः, तत्स्थविरैः सह मिलितानां सैवालोचना तिष्ठति, या अन्यस्मात् गणादागतेनोपसंपद्यमानेन वितीर्णा, तदेव च प्रतिक्रमणं, यदवसन्नादागत्य तस्मिन् गच्छे उपसंपन्नेन तस्मात् स्थानात्प्रतिक्रान्तं, सैव चावग्रहणस्य पूर्वाऽनुज्ञापना तिष्ठति, या अन्यस्मात् गणादागतेनोपसंपद्यमानेन साधर्मिकावग्रहस्यानुज्ञापना कृता यथालन्दम् । अपिशब्दोऽत्र संभावने, न केवलं यथाकालं, किन्तु चिरमपि यथाकालं यावत् ततो गच्छात्तस्य भावो न विपरिणमति, तावदवग्रहः, अवग्रहस्य सैव पूर्वाऽनुज्ञापना तिष्ठति । एतच्चान्तर्दीपकमतो यथालन्दमप्यालोचना प्रतिक्रमणं च द्रष्टव्यम् । व्य० ४ उ० ।

चरियापविट्ठे भिक्खू परं चउराया पंचरायाओ थेरे पासेज्जा, पुणो आलोएज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो य परिहारस्स उवट्ठाएज्जा, भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि उग्गहे अणुन्नवेयव्वे सिया, कप्पइ से एवं वदित्तए अणुजाणह भंते ! मितोग्गहं अहालंदं धुवं णियतं णेच्छइयं विउट्टियं ततो पच्छा कायसंफासं, एवं नियट्टे वि दो गमा ॥२०॥

चरिकां प्रविष्टो भिक्षुः परं चतूरात्राद्वा । अत्रापि व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिस्तत इदं द्रष्टव्यम्-यदि तस्य भावो विपरिणतो यथा कोऽत्र स्थास्यति इति, ततश्चतूरात्रात् पञ्चरात्राद्वा आरतः परतो वा स्थविरान् पश्येत्, पुनरपि च तस्य भावो जातो-यथा तिष्ठाम्यत्र तत्रैवोपसंपदा, तथा प्रथमोपसंपदीव पुनरालोचयेत् पुनः प्रतिक्रामेत, पुनश्छेदस्य परिहारस्य वा उपतिष्ठेत् । किमुक्तं भवति-विपरिणते अविपरिणते वा भावे यत् किञ्चित् आपन्नं प्रायश्चित्तस्थानं तस्मिन् आलोचिते य आचार्येण छेदः परिहारो वा निर्दिष्टस्तस्य भग्यकृश्चरायत्तस्य कारणार्थमभ्युत्तिष्ठेत्, भिक्षुरुपपातस्य आज्ञाया अर्थाय, पाठान्तरं-भिक्षुभावस्य भिक्षुत्वस्यार्थाय, मे यथावस्थितं भिक्षुत्वं भूयादित्येवमर्थः द्वितीयमपि वारमवग्रहोऽनुज्ञातव्यः स्यात् । कथमित्याह-अनुजानीत भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् मितमवग्रहं, अवग्रहग्रहणं गमनादीनामुपलक्षणं, मितं गमनं मितमवस्थानं मितं स्थाननिषीदनत्वग्वर्त्तनादि अनुजानीत, यथालन्दं यथाकालं ध्रुवं यदवश्यं कर्त्तव्यं नियतं यावन्नावधावामि तावदवश्यमहापनीयं, नियतं यावत्सहायान्न लभे तावदवश्यमनुष्ठेयम्; तथा व्यावृत्तम् । किमुक्तं भवति-व्यावृत्य यद्गृह्णाति उपपातप्रतिच्छन्नं तत् अनुजानीत, ततो गुरुणा अभ्युपगते कायस्य क्रमयुगलक्षणस्य शिरसा संस्पर्शं करोति । अथवा-कृतिकर्मादिष्वागमने निर्गमने च यः कायसंस्पर्शस्तमप्यनुजानीत, "एवं नियट्टे वि दो गमा" इति । एवमनुना प्रकारेण यथा चरिकाप्रविष्टे गमावुक्तौ द्वे सूत्रे अभिहिते, तथा चरिकानिवृत्तेऽपि द्वौ गमौ वक्तव्यौ ।

तौ चैवम्—

चरियानियट्टे भिक्खू० जाव चउरायपंचरायातो थेरे पासेज्जा, स चेव आलोयणा, स चेव पडिक्कमणा, स चेव उग्गहस्स पुव्वाणुण्णवणा चिट्ठति अहालंदमवि उग्गहे ॥ चरियानियट्टे भिक्खू परं चउरायपंचरायातो थेरे पासेज्जा पुणो आलोइज्जा, पुणो पडिक्कमेज्जा, पुणो छेयस्स परिहारस्स वा उवट्ठाएज्ज, भिक्खुभावस्स अट्ठाए दोच्चं पि उग्गहे अणुण्णवेयव्वे सिया, अनुजाणह भंते ! मितोग्गहं अहालंदं धुवं नियय निच्छइयं विउट्टियं ततो पच्छा कायसंफासामिति ॥

अस्य च सूत्रद्वयस्याप्यर्थः स एव यश्चरिकाप्रविष्टसूत्रद्वयस्य, यद्येवं किमर्थमनयोरुपादानं, चरिकाप्रविष्टसूत्राभ्यामेव गतार्थत्वात् । तथाहि-यैव चरिकाप्रविष्टानां सामाचारी सैव चरिकातो निवृत्तानामपीति । सत्यमेतत्, केवलमनुच्चारिते निवृत्तसूत्रद्वये यैव चरिकाप्रविष्टानां सामाचारी सैव चरिकातो निवृत्तानामपीति न लभ्यते, सूत्रेऽनुपात्तत्वात्, किं त्वन्यत्किमपि कल्पेत, ततः कल्पनान्तरं मा भूदिति निवृत्तसूत्रद्वयमपि, सूत्रपञ्चकसंक्षेपार्थः ।

संप्रति भाष्यकृद्विषमपदविवरणं चिकीर्षुः प्रथमतो यच्चरिकाप्रविष्टाद्यसूत्रेऽभिहितं " जाव चउरायपंचरायतो थेरे पासेज्जा" इति तद्व्याख्यानार्थमाह-

पंचाहग्गहणं पुण, बलकरणं होइ पंचहि दिणेहिं ।
एगदुगतिगणपणगा, आसज्ज बलं विभासाए ॥

सूत्रे " जाव चउरायपंचरायाओ " इत्यत्र यत् पञ्चाहग्रहणं पुनर्विशेषतः कृतमाचार्येण, पुनःशब्दो विशेषे, ततः पञ्चभिर्दिनैर्बलकरणं भवतीति ज्ञापनार्थम् । उक्तं च-"एगपणगऊमासं, सट्ठीसुणमणुयगोणहत्थीणं । " अथ पञ्चभिर्दिनैः कथमपि बलं न भवतीति ततो द्वितीयमपि पञ्चाहं यावत् । तथाचाह-एकद्वित्रिपञ्चकदिवसानां बलमाश्रित्य विषयविकल्पेन एकं वा द्वौ वा त्रीन् वा यावदित्येवंरूपेण, सूत्रे चैवं पञ्चरात्रग्रहणमुपलक्षणं व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिरतो न भाष्यसूत्रयोर्विरोधः ।

संप्रति " स चेव आलोयणे " इत्यादिपदव्याख्यानार्थमाह—

उपसंपज्जमाणेन, जा दत्ताऽऽलोयणा पुरा ।
अवसन्नेहि आगम्म, पडिक्कंतो उ भावतो ॥
जा याणुण्णवणा पुव्वं, कया साहम्मिउग्गहे ।
संभावणाएँ साऽऽलंदं, जा भावो अणुवत्तती ॥

याऽन्यस्माद्गणादागतेनोपसंपद्यमानेनाऽऽलोचना पुरा दत्ता च तिष्ठति, यच्च पूर्वमवसन्नेभ्य आगम्य भावतः प्रतिक्रान्तस्तदेव प्रतिक्रमणं तिष्ठति, या च पूर्वमन्यस्मात् गणादागतेन साधर्मिकावग्रहस्यानुज्ञापना कृता सैव तिष्ठति । " अहालंदमवि " इत्यत्र योऽपिशब्दः तस्यार्थः—सा च एषा न केवलं तावन्तं कालं किं तु चिरमपि कालं, यावज्जीवाऽधिकृतगच्छस्थापितयाऽनुवर्तते तावत् सैवावग्रहस्यानुज्ञापना तिष्ठति । यथालन्दमपि सैवालोचना, तदेव च प्रतिक्रमणमपि द्रष्टव्यम् ।

अधुना द्वितीये चरिकाप्रविष्टसूत्रे यदुक्तम्-" परं चउरायपंचरायातो " इत्यादि, तद्व्याख्यानार्थमाह-

परं परिणते भावे, परिभूतो उ सो पुणो ।
न चोवसंपयाए व, तत्थाऽऽलोए पडिक्कमे ॥

" एवं चउरायपंचरायातो " इत्यत्र परमिति व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः । ततोऽयमर्थः-परिणते गच्छान्मया निष्क्रमितव्यमित्येवं परिणते भावे, अत एव गच्छात्परिभूतः सन् चतूरात्रात्पञ्चरात्राद्वा परत आरतो वा स्थविरान् पश्येत्, भावश्च पुनर्गच्छावस्थायितया यदि प्रत्यावृत्तोऽजायत ततः स पुनर्भूयो न चोपसंपदीव तत्प्रथमतयोपसंपदीव तत्र तेषु स्थविरेषु पार्श्वे आलोचयेत्, प्रतिक्रामेच्च ।

जइ पुण किंचावन्नो, तस्स उ आलोइउं उवट्ठाति ।
विप्परिणयम्मि भावे, एमेव अविप्परिणयम्मि ॥

विपरिणते भावे यदि किञ्चित् प्रायश्चित्तस्थानमापन्नः, तस्य प्रथमत आलोचयितुमालोचनां दातुमाचार्याणामुपतिष्ठते,एवमेव अविपरिणतेऽपि द्रष्टव्यम् । किमुक्तं भवति ?-अविपरिणतेऽपि भावे यदि किञ्चिदापन्नः प्रायश्चित्तस्थानं ततः सूत्रान्यालोचयति, स्वमाचार्याणामुपतिष्ठते, ततो विपरिणते अविपरिणते वा भावे प्रायश्चित्तस्थानापन्नावालोचितायामाचार्यैः य छेदं परिहारं वा प्रयच्छन्ति । तस्य श्रद्धापूर्वकं कारणायाभ्युत्तिष्ठति ।

" भिक्खुनावस्स अट्ठाए" इत्यत्र पाठान्तरम्-"भिक्खू उववायस्स अट्ठाए " इति । तत्रोपपातशब्दव्याख्यानार्थमाह-

उववाओ निद्देसो, आणा विणओ य होंति एगट्ठा ।
तस्सट्ठाए पुणरवि, मितोग्गहोवासगाऽणुण्णा ॥

उपपातो निर्देश आज्ञा विनय इत्येतानि भवन्त्येकार्थानि, ततोऽयमर्थः-भिक्षुस्तस्योपपातस्य आज्ञाया अर्थाय करणीयं पुनरपि द्वितीयमपि वारं मितावग्रहानुज्ञा । किमुक्तं भवति ?-मिता चासावनुज्ञा, एतेन मितावग्रहपदव्याख्यानं कृतम् ।

मितावग्रहणं सूत्रे मितगमनादीनामुपलक्षणमतस्तदुपदर्शयति-

मितगमणचेट्ठणातो, मियभासं मियं च भोयणं भंते ! ।
मज्झ धुवं अणुजाणह, जा य धुवा गच्छमज्जाया ॥

मितं गमनं,प्रयोजनवशतः तथा करणात् मितम. (चिट्ठणं त्ति) अवस्थानं से तस्य यत् प्रवृत्ततया विश्रामनिमित्तं, तस्य कियत्कालं भावात्, मितं भाषितं, कार्ये समापतिते तस्यावसरभावात्,मितं भोजनम्,एककुक्षिपूरणमात्रस्य भगवताऽनुज्ञानात् । भदन्त ! परमकल्याणयोगिन् ! मम ध्रुवमनुजानीत, या च ध्रुवा गच्छमर्यादा,तामप्यनुजानीत,इह ध्रुवं नियतं नैत्यिकमिति त्रयोऽप्येकार्थाः, तथाऽप्यर्थभेदोऽस्ति, तत्र या ध्रुवा गच्छमर्यादेत्यनेन ध्रुवशब्दार्थो व्याख्यातो, ध्रुवमवश्यकरणीयमिति ।

संप्रति नियतनैत्यिकशब्दव्याख्यानार्थमाह-

नियर्य च न हाविस्सं, अहमवि ओहाणियाए जा मेरा ।
निच्चं जाव सहाए, न लभामि इहावसे ताव ॥

यावदवधावनिका मर्यादा तावदहमपि नियतं न हापयिष्याम्यवश्यकरणीयम् । किमुक्तं भवति ?-नियतमवधावनमर्यादातोऽवश्यमहापनीयमिति । तथा नित्यमिति कोऽर्थः-यावत्सहायान् लभे तावदिहावसामीति, सहायलाभमर्यादाकमावसनं यावदवश्यमनुष्ठेयं , नित्यमित्यर्थः ।

अधुना " वेउट्टियं " इत्यस्य भावार्थं कथयति-

दिवसे दिवसे वेउ-ट्टिया उ पक्खे य वंदणादीसु ।
पट्ठवणमादिएसुं, उववायपडिच्छणा बहुधा ॥

दिवसे दिवसे, प्रतिदिवसमित्यर्थः । पक्षे पाक्षिकदिने, चशब्दाच्चातुर्मासिकदिने, सांवत्सरिकदिने च,वन्दनादिषु,आदिशब्दात् क्षामणकादिपरिग्रहः । तथा प्रस्थापनादिषु स्वाध्यायप्रस्थापनादिषु, अत्रादिशब्दात् उद्देशसमुद्देशादिपरिग्रहः । यद्बहुधा अनेकप्रकारमुपपातप्रतिच्छन्नं तदनुजानीत ।

सम्प्रति " कायसंफासं " इति व्याख्यानार्थमाह-

अब्भुवगए उ गुरुणा, सिरेण संफुसति तस्स कमजुयलं ।
कितिकम्ममादिएसु य, निंतमनिंते य जे फासा ॥

अनुज्ञापनायां कृतायां गुरुणाऽभ्युपगते हृष्टः सन् तस्य गुरोः क्रमयुगलमात्मीयेन शिरसा संस्पृशति, प्रणमतीत्यर्थः । तदेवं ततःपश्चात्कायसंस्पर्शं कुरुते इति व्याख्येयम् । अथवाऽयमर्थः-ततः पश्चात्कायसंस्पर्शमनुज्ञापयति । तथा चाह-कृतिकर्म्मादिषु, कृतिकर्म्म वन्दनकं, विश्रामणादिकं वा, आदिशब्दात्क्षामणादिपरिग्रहः, तेषु कर्त्तव्येष्वागच्छति गच्छति वा ये स्पर्शाः कायस्पर्शाः, तान्, अनुजानीतेति वाक्यशेषः ।

सम्प्रति यत्पाठान्तरं "भिक्खुभावस्सेति" तद्व्याख्यानार्थमाह-

भिक्खूभावो सारण-वारणपडिचोयणा जहा पुव्विं ।
तह चेव इयाणिं पी, भिक्खुभो भुत्तकाले-सा ॥

भिक्षुभावो नाम सारणा, वारणा, प्रतिचोदना । अत्र प्रतिचोदनाग्रहणं चोदनाया उपलक्षणं, तत्र विस्मृतेऽर्थे स्मारणा, अनाचारस्य प्रतिषेधनं वारणा, स्खलितस्य पुनः शिक्षणं चोदना, पुनः पुनः स्खलितस्य निष्ठुरं शिक्षापणं प्रतिचोदना । एताभिर्यथावस्थितो भिक्षुभाव उपजायते, ततः कारणे कार्योपचारादेता एव भिक्षुभाव इत्युक्तं तदर्शयति । किमुक्तं भवति ?-यथा पूर्वमेताः स्मारणादय आसीरन् तथा इदानीमपि स्युरित्येवमर्थः, तदेवं कृता विषमपदव्याख्या भाष्यकृता, साम्प्रतमेषा वक्ष्यमाणा सूत्रस्य स्पर्शिका निर्युक्तिः ।

तामेव प्रथमसाधर्मिकसूत्रविषयामाह—

आकिण्णो सो गच्छो, सुहदुक्खपडिच्छएहिं सीसेहिं ।
दुब्बलखमगगिलाणे, निग्गमसंदेसकहणे य ॥

बहवः साधर्मिका इच्छेयुरेकतो अभिनिचारिकां चरितुमित्युक्तम् । तत्र पर आह-केन कारणेन तेषां निर्गमेच्छा ?। निर्युक्तिकृदाह-सुखदुःखप्रतीच्छिकैः सुखदुःखार्थमुपसंपन्नैः प्रतीच्छिकैः शिष्यैश्च स गच्छ आकीर्णः समाकुलः, आकीर्णत्वेनैव स नगरे स्थितोऽन्यत्र स्थितानामेषणीयभक्तपानासंभवात्, तत्र च तृतीयस्यां पौरुष्यां भिक्षावेला, चिरं च हिण्डितव्यं, धान्याम्लक्षारादिकं च तत्र भैक्षं, ततः केचित्साधवो दुर्बला जाताः, क्षपका अपि पारणके प्रायोग्यालाभतो दुर्बला अभवन्, ग्लाना अप्यधुनोत्थिताः सीदन्ति,एतैः कारणैर्निर्गन्तुमिच्छन्ति । इच्छा चाचार्यं पृच्छन्ति, ते चाचार्येण तान् दुर्बलान् ज्ञात्वा मुत्कलनीयाः,ये पुनर्निष्कारणं गन्तुकामा आपृच्छन्ति ते न मुत्कलनीयाः, ये चानुज्ञाता व्रजन्तीति तेषामाचार्यः संदेशं कथयति ।

कथमित्याह–

अहमवि एहामो वा, अम्रुत्थ इहेव मं मिलिज्जाह ।
अतिदुब्बले य नाउं, विसज्जणा नत्थि इतरेसिं ॥

यत्र यूयं गमिष्यथ अहमपि इतः स्थानात् तत्र एष्यामि आगमिष्यामि । अथवा–अन्यत्र मम सकाशे आगन्तव्यम्, यदि वा-अत्रैव मां यूयं मिलेयुर्यथा वा यैः संदिश्यते तथा तैः कर्त्तव्यम्, आचार्येणाप्यतिदुर्बलान् तान् ज्ञात्वा तेषां विसर्जना मुत्कलेन कर्त्तव्या, इतरेषां निष्कारणं गन्तुमनसां विसर्जना नास्ति । एतेन वितरणमवितरणं च सूत्रोपात्तं व्याख्यातम् ।

तं चेव पुव्वभणियं, आपुच्छणे मास दोच्चऽणापुच्छा ।
उवओगे तहिं सुणणा, साहूसण्णीगिहत्थेसु ॥

यदि निर्गन्तुमनसोऽनापृच्छया व्रजन्ति तदा प्रायश्चित्तं मासलघु, पृच्छायामपि कृतायां यदेव पूर्वभणितं तदेवाधिकृत्य गमनकाले द्वितीयं वारमापृच्छा कर्त्तव्या । यदि पुनर्द्वितीयं वारं नापृच्छन्ति तदाऽपि प्रायश्चित्तं मासलघु, किं कारणं द्वितीयमपि वारमापृच्छा कर्त्तव्येति चेत्?,अत आह-"उवओगे"इत्यादि। यदा पूर्वमापृष्टं तदाऽऽचार्योऽनुपयुक्त आसीत्, पश्चादुपयुक्तो जातः, उपयुक्तेन च तत्राशिवादयो दोषा ज्ञाताः । अथवा–(सुणण त्ति) पश्चादाचार्येण विचारादिनिमित्तं बहिर्निर्गतेन श्रुतं, यथा–तत्र बहवो दोषा इति, यदि वा साधुना केनापि संज्ञिना श्रावकेण गृहस्थेन वा,केन वा मिथ्यादृष्टिना भद्रकेण कथितमाचार्याणाम्, यथा–तत्र बहवो दोषा इति, तस्मात् द्वितीयवारमवश्यं प्रष्टव्यं, पृच्छायां च कृतायां यद्यपि तत्र न केचनापि दोषा आचार्येण विज्ञातास्तथाऽपि तत्र क्षेत्रप्रत्युपेक्षकाः पूर्वं प्रेषणीयाः ।

तथा चाह—

नाऊण य निग्गमणं, पमिलेहण सुलभ दुल्लभं जिक्खं ।
जे अ गुणा आपुच्छा, जे वि य दोसा अणापुच्छा ॥

तेषां साधूनां निर्गमनं ज्ञात्वाऽऽचार्येण साधुभिस्तस्य क्षेत्रस्य प्रतिलेखनं कारयितव्यं, येन सुलभं दुर्लभं वा भैक्षं ज्ञायते । किंच ये गुणा द्वितीयवारमापृच्छायां भवन्ति ते प्रतिलेखनेऽपि द्रष्टव्याः, येऽपि च दोषा द्वितीयवारमनापृच्छायां, ते दोषा अप्रत्युपेक्षणेऽपि ।

के ते ?, इत्याह—

पच्चंत सावयाइं, तेणा दुब्भिक्ख तावसीतो य ।
नियगपविट्ठुच्छाणा, पप्फुडणा हरियपण्णी य ॥

प्रत्यन्ताः सीमावर्त्तिनो म्लेच्छा लोकानामुपप्लवोत्पादनायोत्थिता वर्त्तन्ते, श्वापदानि व्याघ्रादीन्यपान्तराले सन्ति, स्तेना वा शरीरापहारिण उपध्यपहारिणो वा समन्ततः उत्थिताः, दुर्भिक्षं वा तत्र जातं, तापस्यो वा प्रचुरास्तत्र भूयस्यो ब्रह्मचर्योपद्रवाय प्रभवन्ति, निजका वा अभिनवप्रव्रजितं साधुमुत्प्रव्राजयेयुः, प्रविष्टो वा तत्र कश्चिदुपस्थितः, (उच्छाण त्ति) उच्छसितो वा स कदाचित् दोषो भवेत् (पप्फुडण त्ति) तत्र या वसतिः प्रागासीत् सा केनचिदपनीता स्यात्, (हरितपण्णी य त्ति) तत्र दुर्भिक्षप्रायमतः शाकादिहरितं बाहुल्येन भक्ष्यते, तच्च साधूनामकल्पम् । अथवा–" हरितपर्णी ति " नाम-तत्र देशे केषुचित् गृहेषु राज्ञा दापं दत्त्वा देवतायै बल्यर्थं पुरुषो मार्यते, स च प्रव्रजितादिर्भिक्षाप्रविष्टः सन् " तत्र गृहस्योपरि आर्द्रवृक्षशाखाचिह्नं क्रियते, " तत्रागृहीतसंकेतो विनश्यतीति ।

संप्रति चरिकाप्रविष्टादिसूत्राणां चतुर्णामपि सामान्यतो निर्युक्तिमाह–

अण्णत्थ तत्थ विप्परि–णते य गेलण्णे होइ चउभंगो ।
फिमियागतागतेसु य, पुण्णा–पुण्णेसु वा दोसं ॥

अन्यत्र चरिकाप्रवेशे तत्र चरिकातो निवृत्तौ विपरिणते विपरिणामे जाते यदाऽऽभवति यच्च न भवति, तेषां तद्वक्तव्यमिति शेषः। तथा ग्लान्ये ग्लानत्वे भवति चतुर्भङ्गी, तस्यां च चतुर्भङ्ग्यामगवेषणादौ यदाऽऽभवति प्रायश्चित्तं, तद्वाच्यमित्युपस्कारः । तथा स्फिटिताः विपरिणताः,तेषां गतागतेषु आचार्यस्य समीपमागता इत्येवंरूपेषु यावत्तं कालमधिकृताः, तस्मिन् अपूर्णे पूर्णे वा यदि द्वितीयमपि वारम् अवग्रहमनुज्ञापयति ततो यद्विपरिणतैर्लब्धं तदाचार्यो न लभते, किं तु यदा तेषां तथारूपं चित्तमजायत, यथा-द्वितीयमपि वारमवग्रहमनुज्ञापयामः, ततः प्रभृति यल्लब्धं तदाचार्यस्याऽऽभवति । एष गाथार्थः ।

साम्प्रतमन्यत्र तत्र वा विपरिणते यत् आभाव्यं तदुपदर्शयति-

अवरोपरस्स निस्सं, जइ खलु सुहदुक्खिया करेज्जाहि ।
ओहव्वंतर सेहं, लभति गुरू पुणो न लभई य ॥

यदि चरिकाप्रविष्टा यदि चरिकातो निवृत्ता विपरिणामे किमस्माकमाचार्येण वयमेव परस्परं सुखदुःखनिश्रां कुर्म इत्येवंरूपे जाते अपरस्परस्य परस्परं सुखदुःखितां खलु निश्रां कुर्युः, तदा यावानवधिः कृतस्तस्याभ्यन्तरे तस्मिन्नपूर्णे पूर्णे वा यत् शैक्षं, शैक्षग्रहणमुपलक्षणं शैक्षप्रभृतिकं सचित्तादिकमुत्पादयन्ति तत्तेषामेव भवति,गुरुराचार्यः पुनर्न लभते,चशब्दस्तूचितमर्थं " हट्ठेण " इत्यादिना व्याख्यास्यति । तदेवं तत्रान्यत्र विपरिणते इति भावितम् ।

इदानीं " गेलण्णे होइ चउभंगो " इति भावयति–

गेलण्णे चउभंगो, तेसिं अहवा वि होज्ज आयरिए ।
दोण्हं पी होज्जाही, अहव न होज्जाहि दोण्हं पि ॥

ग्लान्ये ग्लानित्वे चतुर्भङ्गी भवति । तद्यथा–तेषां विपरिणतानां ग्लानो, नाचार्यस्य इति प्रथमो भङ्गः । अथवा-आचार्ये आचार्यस्य भवति ग्लानो, न तेषामिति द्वितीयः। "दोण्हं पि होज्जाहीति" द्वयानां विपरिणतानामाचार्यस्य भवति ग्लान इति तृतीयः । अथ द्वयानामपि न भवति ग्लान इति चतुर्थः ।

अत्र प्रायश्चित्तविधिमाह––

आयरिए अपेसेंते, लहुओ अकरेंते चउ गुरू होंति ।
परितावणादिदोसा, तेसिं अप्पेसणे एवं ॥

प्रथमभङ्गे तेषां ग्लानो नाचार्यस्येत्येवंरूपे,यद्याचार्यो गवेषणया न कमपि साधुसंघाटं प्रेषयति प्रायश्चित्तं लघुको मासः । अथ प्रेषणे कृते तैर्वा कथिते यदि ग्लानकृत्यं न किमपि करोति तदा तस्मिन्नकुर्वति चत्वारो गुरुका भवन्ति । येऽपि चानागाढपरितापनादयो दोषास्तन्निमित्तमपि च गुरुलघ्वादि चरमपर्यन्तं तस्य प्रायश्चित्तमापद्यते । द्वितीये भङ्गे आचार्यस्य ग्लानो, न तेषामित्येवंरूपे, तैरपि ग्लानस्य गवेषणाय साधुप्रेषणा–

दि कर्त्तव्यम,यदि पुनर्न कुर्वन्ति तदा तेषामप्यप्रेषणे,उपलक्षणमेतदकरणेन एवमुक्तप्रकारेण प्रायश्चित्तमवसातव्यम् । तथाहि-यदि ते गवेषणाय साधुसंघाटं न प्रेषयन्ति तदा मासलघु, अथ कृतेऽपि प्रेषणे आचार्येण वा ज्ञापिते यदि ग्लानकृत्यं न कुर्वन्ति तदा चत्वारो गुरुकाः प्रायश्चित्तम् ।

अहवा दोएह वि हुज्जा, संथरमाणेहि तह वि गवेसणया ।
तं चेव य पच्छित्तं, असंथरंता नवे सुद्धा ॥

अथवा द्वयानामपि आचार्यस्य तेषां च, प्रत्येकं ग्लानो भवेत्, तथाऽपि यदि संस्तरन्ति ततः संस्तरद्भिः परस्परं ग्लानस्य गवेषणा कर्त्तव्या । अथ न कुर्वन्ति तदा तदेव प्रायश्चित्तं यदनन्तरमुक्तम् । तथाहि-परस्परमप्रेषणे मासलघु,ग्लानकृत्याकरणे चतुर्गुरुकम् । अथ द्वयेऽपि प्रत्येकं न संस्तरन्ति,द्वयानामपि च प्रत्येकं ग्लानस्तत आह-असंस्तरंतो गवेषणामकुर्वन्तोऽपि भवन्ति शुद्धा न प्रायश्चित्तविषयाः ।

सम्प्रति " गुरुपुवणेण लभते च " इत्यत्र चशब्दसूचितमर्थमुपदर्शयति-

दुट्ठेणं न गविट्ठा, अतरंतो ण ते य विप्परिणयाओ ।
तत्थ वि न लहइ सेहे, लभइ य कज्जे विपरिणया वि ॥

ते सुखदुःखोपसंपन्नकाश्चरिकागता अतरन्तो यदि कथमप्याचार्येण द्विष्टेन नीरोगेण,प्रयोजनान्तराव्याकुलितेन च सता,न गवेषिताः,अतरन्तो न च ते विपरिणताः-यथा वयमतरन्तो वर्तामहे तथाऽप्याचार्येण न गवेषितास्ततः किमस्माकमाचार्येणेति,तत्रापि द्विष्टेनागवेषणेऽपि,आस्तां परस्परनिश्रयामित्यपिशब्दार्थः, न लभते गुरुः शैक्षात्, किमुक्तं भवति-ते तथा विपरिणताः सन्तो यत्सचित्तादिकमुत्पादयन्ति तदाचार्यो न लभते । अथ कार्ये कस्मिन्नपि व्याकुलीभवनेन आचार्येण तेऽतरन्तो न गवेषितास्तर्हि यद्यपि ते विपरिणता अपि यत्ते सचित्तादिकमुत्पादयन्ति, तत्ते न लभन्ते, किं तु लभते आचार्यः ।

लद्धं अविप्परिणते, कहिंति जावम्मि विप्परियणाम्मि ।
इति मायाए गुरुओ, सच्चित्तादेसगुरुया वा ॥

यदि अविपरिणते भावे सचित्तादि लब्ध्वा विपरिणस्य कथयन्ति-इदं विपरिणते भावेऽस्माभिर्लब्धमिति तदा 'मायाए' उपसंपदं लोपयन्तीति मायानिष्पन्नं प्रायश्चित्तं गुरुको मासः । अचित्ते समुत्पादिते तत्प्रत्ययमुपधिनिष्पन्नं प्रायश्चित्तं, सचित्ते समुत्पादिते तत्प्रत्ययं चतुर्गुरुकमादेशान्तरेण प्रायश्चित्तमनवस्थाप्यम् । तथा आचार्यो निष्कारणं यदि तान् गवेषयति तदा तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु ।

सुहदुक्खिया गविट्ठा, सो चेव य उग्गहो य सीसा य ।
विप्परिणमंतु मा वा, अगविट्ठेसुं तु सो न लभे ॥

ते सुखदुःखिताः सुखदुःखोपसंपन्नका आचार्येण गवेषिताः, स एवावग्रहो वर्त्तते,अद्यापि विपरिणामाकथनात्, ते शिष्याः यदि विपरिणमन्तु यदि वा मा विपरिणमन्तु तथापि यत्तैरुत्पादितं सचित्तादि तदाचार्यो लभते, न पुनस्तत्तेषामिति । अथ न गवेषिता आचार्येण विपरिणताश्च ते जातास्ततस्तैरगवेषितैर्विपरिणतैश्च यल्लब्धं सचित्तादि तत्स आचार्यो न लभते, किं तु तत्तेषामेव ।

विप्परिणयम्मि भावे, लद्धं अम्हेहिं बेंति जइ पुट्ठा ।
पच्छा पुणो वि जातो, लभंति दोच्चं अणुस्सवणा ॥

यदि पुनस्ते पृष्टाः सन्तो ब्रुवते-एतद्विपरिणते भावेऽस्माभिर्लब्धं, तत्तेषामेव, नाचार्यस्य, अथ पश्चात्पुनरपि भावो जातो द्वितीयमपि वारमवग्रहस्यानुज्ञापना कर्त्तव्या, तदा तथारूपाद्भावात् ज्ञातादारतो यत्ते लभन्ते तदाऽऽचार्यस्य भवति, न तेषामिति ।

आगयमणागयाणं, उउवद्धे सो विही उ जो भणितो ।
अद्धाण सीसगम्मि त्ति, एस विही पट्ठिएँ विदेसं ॥

य एषोऽनन्तरमुक्तो विधिः स एव ऋतुबद्धे काले आगतानां चरिकातो निवृत्तानामनागतानां चरिकाप्रविष्टानामवसेयः एष पुनर्वक्ष्यमाणो विधिर्विदेशं प्रस्थिते, उपलक्षणमेतत् स्वदेशेऽपि दूरं गन्तुकामे अध्वशीर्षके ग्रामे स्थिते वेदितव्यः ।

तमेवाह-

सत्थेणं सालंबं, गयागयाए इह मग्गणा होइ ।
तत्थऽन्नत्थ गिलाणे, लहु गुरु लहुगा चरिम जाव ।

सार्थेन सह विदेशेऽपि वा दूरं गन्तुकामा सालम्बं गता यथा-यदि अध्वशीर्षके ग्रामे परतो गमनाय सार्थं लप्स्यामहे ततो यास्यामः, अथ न लप्स्यामः,उदन्तं च परस्परं वक्ष्यामः। एवं ये सार्थेन सहाध्वशीर्षके ग्रामे गताः,ये च न गतास्तेषामिह आगतानामभवति सचित्तादौ विषये मार्गणा वक्ष्यमाणा भवति, तथा तत्रान्यत्र च ग्लाने चतुर्भङ्गी भवति । तद्यथा-अध्वशीर्षके ग्रामे स्थितानां ग्लानो न तत्र१ आचार्यपार्श्वे न तेषामिति द्वितीयः। द्वयानामपि पार्श्वे ग्लान इति तृतीयः। न द्वयानामपीति चतुर्थः। तत्र यद्याचार्यस्तेषां गवेषणं न करोति मासलघु, अथ ज्ञाते ग्लाने तस्य कृत्यकरणाय न यत्नमाधत्ते ततश्चतुर्गुरुकं, यच्चानागाढपरितापनादिनिमित्तं चतुर्लघ्वादि यावच्चरमं पाराञ्चितं तदपि प्राप्नोति । तदेवं प्रथमभङ्गे प्रागभिहितमपि प्रायश्चित्तं विनेयजनानुग्रहाय भूय उक्तम्, एवं द्वितीये तृतीयेऽपि भङ्गे वाच्यम् ।

संप्रत्याभवत्यनाभवति च सचित्तादौ विषये मार्गणां चिकीर्षुराह-

पुच्छे व अपुच्छे वा, विपरिणएसु जा हो अणुन्नवणा ।
गुरुणा वि हु कायव्वा, संका लद्धे विपरिणते उ ॥

यतो विदेशेऽपि वा दूरं गन्तुकामाः सङ्केतं कृतवन्तो,यदि वयमेतावद्भिर्दिवसैर्न प्रत्यागच्छामस्तदा ज्ञातव्यं गता इति, अन्यथा नेति,तस्मिन्नवधौ पूर्णे अपूर्णे वा यदि ते विपरिणता जातास्ततः पुनरपि तैरवग्रहस्य द्वितीयं वारमनुज्ञापना कर्त्तव्या गुरुणाऽपि,या तेषु तथा विपरिणतेष्वनुज्ञापना भवति सा प्रतिपत्तव्या, यदि पुनरपूर्णेऽवधौ तेषां शैक्षः प्रत्युत्पन्नस्ततो जाता शङ्का,यद्यपूर्णेऽवधावेष समुत्पन्न इति कथयिष्यते तत्र आचार्यस्य भविष्यति,तस्मादाचार्यस्य मा भूदिति प्रत्यागतास्ते आलोचयन्ति, पूर्णे संकेतकाले लब्धोऽयमस्माभिः शैक्ष इति तदा तेषां प्रायश्चित्तं मासगुरु,तस्मात्सत्यसूतेन भावेनाऽऽलोचयितव्यम्, तथा पूर्णेऽवधौ शैक्षे लब्धे प्रत्यागत्य तथैवालोचयति, गुरुणाऽपि शङ्का न कर्त्तव्या, यथा अपरिपूर्णेऽप्यवधौ लब्धे शैक्षे शैक्षलोभेन विपरिणत इति सत्यभावेनालोचनात् तच्च परभावोपलक्षकैरेकांशेन ज्ञातव्यमिति तदेवमुपसंपन्नानां यत्कर्त्तव्यं तदुक्तम् ।

इदानीमुपसंपद्यमानानधिकृत्याह--

पारिच्छनिमित्तं वा, सब्भावेणं व वेति तु पडिच्छे ।
उवसंपज्जितुकामे, मज्झं तु अकारकं इहइं ।
अण्ण गवेसह खेत्तं, पाउग्गं जं च होइ सव्वेसिं ।
बालागिलाणादीणं, सुहसंथरणं महगणस्स ॥

परीक्षानिमित्तं वा, सद्भावेन वा प्रतीच्छिकानुपसंपत्तुकामान् गुरुर्ब्रूते-आर्याः ! इहास्मिन् क्षेत्रे मम अकारकं भक्तपानादि, तस्मादन्यत् क्षेत्रं मम प्रायोग्यं यत्र भवति सर्वेषां वा ग्लानादीनां प्रायोग्यं यत्र महतो गणस्य सुखसंस्तरणं सुखेन निस्तारहेतुस्तत् गवेषयथ प्रतिलेखयथ ।

कयसज्झाया एते, पुव्वं गहियं पि णासते अम्हं ।
खेत्तस्स अपडिलेहा, अकारगा तो विसज्जेइ ॥

एवं संदिष्टाः सन्तो यदि ते भाषन्ते-एते युष्माकं शिष्याः कृतस्वाध्यायास्ततस्मादेतान्प्रेषयथ, अस्माकं पुनः क्षेत्रप्रत्युपेक्षणार्थं गतानां पूर्वगृहीतमपि नश्यति । एवमुक्ता यदि ते क्षेत्रस्य प्रत्युपेक्षका अप्रत्युपेक्षका विनयवैयावृत्यादेरकारकाश्च ततस्तान्विसर्जयति ।

सव्वं करिस्सामो समत्तिजुत्तं,
इच्छेवमिच्छंते पडिच्छिकाणं ।
निव्वेसबुद्धीएँ न यावि भुंजे,
तं चागिली पूरति तेसि इच्छं ॥

ये पुनः संदिष्टाः सन्त एवं ब्रुवते-यथा सर्वं स्वशक्तियुक्तं स्वशक्त्युचितं करिष्यामः, तान् एवमिच्छतः प्रतीच्छेत् । प्रतीच्छ्य च तान्,न चापि नैव, निर्वेशबुद्ध्या-कर्म्म मया पुरा कृतमेवं वेदयितव्यमिति बुद्ध्या, भुङ्क्ते परिभोगं नयति, किं तु स्वपरयोर्निर्जराबुद्ध्या यया वेच्छया ते उपसंपद्यन्ते तां चेच्छां तेषामागिलया निर्जराबुद्ध्या पूरयति, न परोपरोधात् चित्तनिरोधेन । अथ तेषां प्रतीच्छिकानां कियन्तं कालं प्रतीच्छको भवति ? ।

तत्राह—

निट्ठिय महल्ल भिक्खे, कारण उवसग्गऽगारिपडिबंधो ।
पढमचरिमाइ मोत्तुं, निग्गम सेसेसु ववहारो ॥

निष्ठितं नाम, येन कारणेनोपसंपन्नस्तत्र सूत्रार्थलक्षणं कारणं निष्ठितं समाप्तं ततो निर्गच्छति,(महल्ल त्ति) महती सूत्रमण्डली, भक्तमण्डली वा, तत्र सूत्रमण्डल्यां चिरेणालापक आगच्छति, भक्तमण्डल्यां महत्यां आगतं, तत्र यथा अन्ये साधवोऽध्यासते तथा तेनाऽप्यध्यासितव्यम, अनध्यासितश्च निर्गच्छति,तथा दुर्लभं तत्र क्षेत्रे भैक्षं, तत्र यथाऽन्ये साधवो यापयन्ति तथा तेनापि प्रतीच्छितेन यापनीयं, यापनां चासहमानः कोऽपि निर्गच्छति, कारणमशिवादिकं, तस्मिन् समुत्पन्ने सर्वैरेव निर्गन्तव्यम् । उपसर्गा द्विविधाः-दंशमशकादयः,स्वजनादयश्च । तत्र दंशमशकादिषु सर्वैर्निर्गन्तव्यम,स्वजनादिकृतेषु तूपसर्गेषु गच्छसाधवो निर्गच्छन्ति वा, न वा, प्रतीच्छितेन पुनरवश्यं निर्गन्तव्यम्, आगारीप्रतिबन्धो नाम-यत्रागार्या विषये आत्मपरोभयसमुत्था दोषास्तत्रावश्यं तेन निर्गन्तव्यम, अत्र प्रथमं चरमं कारणं मुक्त्वा शेषेषु कारणेषु निर्गमे आभवद्व्यवहारश्च स यथा भवति तावद्वक्ष्ये ।

एतदेव व्याचिख्यासुराह-

सम्मत्तम्मि निग्गमो, तस्स होति इच्छाए ।
मंडलि महल्ल भिक्खे, जह अन्ने तह जावए ॥

यस्य श्रुतस्यार्थेनोपसंपन्नस्तस्मिन् समाप्ते श्रुते तस्य निर्गम इच्छया भवति; यदि प्रतिभासते तर्हि तिष्ठति नो चेन्निर्गच्छति । तथा महत्यां भक्तमण्डल्यां, दुर्लभे च भैक्ष्ये यथाऽन्ये साधवो यापयन्ति तथा सोऽपि यापयेत् । यापनां चासहमानः कोऽपि गच्छेत्, सूत्रमण्डल्यामपि चारणालापमागच्छन्तमनवेक्षमाणस्त्वरया कोऽपि निर्गच्छति ।

कारणे असिवादिम्मि, सव्वेसिं होइ निग्गमो ।
दंसमादी उवसग्गे, सव्वेसिं एवमेव उ ॥

अशिवादौ कारणे समुत्थिते सर्वेषां भवति निर्गमः । एवमेव अनेनैव प्रकारेण दंशादिके दंशमशकादिके उपसर्गे समुपस्थिते सर्वेषां भवति निर्गमः ।

नीयल्लएहि उवसग्गे, जइ गच्छंति नेतरे ।
निग्गच्छति ततो एगो, पडिबंधो वि जावतो ॥

निजकैरपि स्वजनैरप्युपसर्गे क्रियमाणे यदि इतरे गच्छसाधवो न गच्छन्ति ततः स एक एकाकी प्रतीच्छिको निर्गच्छति । यदि वा—भावतः स्वजनेषु महान्प्रतिबन्धः, ततो निर्गच्छति ।

आयपरोभयदोसे-हिँ जत्थऽगारीएँ होज्ज पडिबंधो ।
तत्थ न संचिट्ठेज्जा, नियमेण उ निग्गमो तत्थ ॥

यत्रात्मपरोभयदोषैरगार्या उपरि प्रवेत् प्रतिबन्धस्तत्र न संतिष्ठेत । किन्तु नियमतस्तत्थेति प्राकृतत्वात्तस्मादित्यर्थे । तस्मात्स्थानान्निर्गमः ।

पढमचरिमेसुऽणुण्णा, निग्गम सेसेसु होइ ववहारो ।
पढमचरमाण निग्गमे, इमा उ जयणा तहिं होइ ।

प्रथमे चरमे च कारणे नियमेन निर्गमे अनुज्ञा भवति,शेषेषु तु कारणेष्वनाभोगतो निर्गमे भवत्याभवद्व्यवहारश्च, तत्र प्रथमचरमाणां प्रथमचरमकारणोपेतानां निर्गमे इयं वक्ष्यमाणा तत्र यतना भवति ।

तामेवाऽऽह-

सरमाणे लज्जए वा, काउस्सग्गं तु काउ वच्चेज्जा ।
पम्हुट्ठो दोण्ह वि ऊ, आसन्नातो नियट्टेज्जा ॥

प्रथमे चरमे च कारणे समुपजाते उभयस्मिन्नप्याचार्ये प्रतीच्छिके च विधि स्मरति,द्विधा संप्रत्युपसंपदिति ज्ञापनार्थं कायोत्सर्गं कृत्वा स प्रतीच्छिको व्रजेत । अथ प्रतीच्छिकस्य विस्मृतं तत आचार्येण सारयितव्यं, यथा कुरु च्छिन्नोपसंपन्निमित्तं कायोत्सर्गमिति । अथाऽनाभोगतो द्वयोरपि (पम्हुट्ठमिति) एकान्तेन विस्मृतं, ततो द्वयोरप्येकान्तेन विस्मृतावकृते कायोत्सर्गे संप्रस्थितो यथाऽऽसन्ने प्रदेशे स्मरति तत आसन्नात् प्रदेशान्निवर्तेत , निवृत्य च कायोत्सर्गो विधेयः ।

दूरगएण उ सरिए, साहम्मि दट्टु तस्सगासम्मि ।
काउस्सग्गं काउं, लद्धं जं तं च पेसेइ ॥

अथ दूरं गत्वा स्मृतवान् , ततो दूरगतेन स्मृते साधर्म्मिकं

दृष्ट्वा तस्य सकाशे समीपे कायोत्सर्गः करणीयः, संदेशश्च प्रेषणीय आचार्यस्य, यथा-तदानीं युष्मत्समीपे कायोत्सर्गकरणं विस्मृतमिदानीममुकस्य साधर्मिकस्य समीपे कृतः कायोत्सर्ग इति, कायोत्सर्गं च कृत्वा यदकृते कायोत्सर्गे सचित्तादिकमुत्पन्नं तत्प्रेषयति ।

पढमचरमाण एसो, निग्गमणविही समासतो भणितो ।
एत्तो मज्झिमाणं, ववहारविहिं तु वुच्छामि ॥

प्रथमचरमाणा प्रथमचरमकारणोपेतानामेष निर्गमनविधिः समासतो भणितः । इत ऊर्ध्वं मध्यमानां मध्यमकारणोपेतानां व्यवहारविधिं प्रायश्चित्तव्यवहारविधिं च वक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

सज्झायभूमिं वोलंते, जोए छम्मासपाहुमे ।
सज्झायभूमि दुविहा, आगाढा चेवऽणागाढा ॥

स्वाध्यायभूमिं प्रतिपन्नः सन् तामनिक्षिप्य यो व्यतिक्रामति तस्मिन् आभवद्व्यवहार उच्यते । अथ स्वाध्यायभूमिरिति किमभिधीयते?, उच्यते-प्राभृतं नाम यदिष्टः श्रुतस्कन्धस्तस्मिन् ये योगाः सा स्वाध्यायभूमिः, सा चागाढयोगमधिकृत्योत्कर्षतः षण्मासाः । एतदेव द्वैविध्येनाह-स्वाध्यायभूमिर्द्विविधा, योगो द्विविध इत्यर्थः । आगाढा अनागाढा च ।

जहणेण तिन्नि दिवसा, अणगाढुक्कोस होइ बारसओ ।
एसा दिट्ठीवाए, महकप्पसुयम्मि वारसमा ॥

अनागाढा स्वाध्यायभूमिर्जघन्येन त्रयो दिवसाः, यथा-नन्द्यादिकस्याध्ययनस्य, उत्कर्षतो भवति द्वादश वर्षाणि, एषा द्वादशवर्षप्रमाणा उत्कृष्टा स्वाध्यायभूमिर्दृष्टिवादे, साऽपि दुर्मेधसः संप्रतिपत्तव्या, प्राज्ञस्य तु वर्षम् । उक्तं च-" अणागाढो जहण्णेणं तिन्नि दिवसा, उक्कोसेण वरिसं,जहा दिट्ठिवायस्स वारस वरिसाणि दुम्मेहस्सेति । " महाकल्पश्रुते द्वादश वर्षाण्युत्कृष्टा स्वाध्यायभूमिः।

अत्राभवद्व्यवहारमाह-

संकंता पवहंतो, काउस्सग्गं तु छिन्न उवसंपा ।
अकयम्मी उस्सग्गे, जा पढती तं सुयक्खंधं ॥

योगं वहन् गणान्तरमन्यत्र संक्रामन् छिन्नमुपसंपदिदानीमिति प्रतिपत्त्यर्थं कायोत्सर्गं कृत्वा व्रजेत् । अथ कथमपि तस्य विस्मृतं भवति, तत आचार्येण स्मारयितव्यः-यथा कुरु कायोत्सर्गम्, अथ द्वयोरपि विस्मरणतः सोऽकृतकायोत्सर्गो याति तर्हि यावत्सोऽन्यत्र गतोऽपि तं श्रुतस्कन्धं पठति ।

ता लाभो उद्दिसणा-यरियस्स जइ वहइ वट्टमाणि से ।
अवहंतम्मि व लहुगा, एस विही होइ अणगाढे ॥

तावत् यत्किमपि स लभते सचित्तादिकं स समस्तोऽपि लाभ उद्देशनाचार्यस्य-येनोद्दिष्टः स श्रुतस्कन्धस्तस्य पूर्वाचार्यस्याऽऽभवति, केवलं यदि स पूर्वतन उद्देशनाचार्यः ' से ' तस्यान्यत्र गतस्य सतो वर्तमानां सारां वहति । अथ स तस्याकृतकायोत्सर्गस्य सतोऽन्यत्र गतस्य सारां न वहति ततस्तस्मिन् सारामवहत्युद्देशनाचार्ये प्रायश्चित्तं चत्वारो लघुकाः, यच्च सचित्तादिकं स प्रतीच्छिको लभते तदपि तस्याऽऽभवति, एषोऽनन्तरोदितो विधिरनवस्थानागाढे योगे ।

संप्रत्यागाढे विधिमभिधित्सुरिदमाह—

आगाढो वि जहन्नो, कप्पियऽकप्पादि तिन्नऽहोरत्ता ।
उक्कोसो छम्मासे, वियाहपन्नत्ति आगाढे ॥

आगाढोऽपि योगो जघन्यतस्त्रयोऽहोरात्राः, यथा कल्पिकाकल्पिकादेरुत्कर्षत आगाढ आगाढयोगः षण्मासान् यथा विवाहप्रज्ञप्तेः पञ्चमाङ्गस्य ।

अत्राभवद्व्यवहारमाह-

तत्थ वि काउस्सग्गं, आयरियविसज्जियम्मि छिन्नाओ ।
संसरमसंसरं वा, अकए लभंते तु सूरीए ॥

तत्राप्यागाढयोगे पूर्णे अपूर्णे वा आचार्येण यस्य सकाशे योगः प्रतिपन्नस्तेन सूरिणा विसर्जिते विसर्जने कृते छिन्ना उपसंपदिति ज्ञापनार्थं संस्मरन् कायोत्सर्गं कुर्यात्, असंस्मरन् वा आचार्येण स्मारयितव्यः । तत्र भूमौ स्वाध्यायभूमावागाढे योगे अपरिपूर्णे आचार्येण विसर्जितः । कृते कायोत्सर्गे यदि व्रजति तर्हि स व्रजन् यत्किमपि लभते सचित्तादिकं तत्तस्यैवाऽऽभवति, नोद्देशनाचार्यस्य, अथाऽकृते कायोत्सर्गे व्रजति, तर्हि यावदन्यत्र गतोऽपि तं श्रुतस्कन्धं पठति, सारां चोद्देशनाचार्यस्तस्य करोति, तावद् यत् किमपि सचित्तादिकमुत्पादयति, तत्सर्वमुद्देशनाचार्यो लभते ।

पुनरितरः-

तीरिएँ अकए उ गते, जा अभं न पढए उ ता पुरिमे ।
आसन्नाउ नियत्तइ, दूरगतो वा वि अप्पाहे ॥

तीरिते समाप्तिं नीते आगाढयोगे श्रुतस्कन्धे च भक्तिपुरस्सरमाचार्यादिक्रमणया तोषिते यदि कथमपि गमनवेलायामनाभोगतोऽकृते कायोत्सर्गे याति तर्हि स गतः सन् यावदन्यत्र पठितुमारभ्यते तावद्यत्किमपि लभते तत्पूर्वस्याचार्यस्याभवति, न तस्य, तस्य चास्मरणतोऽकृते कायोत्सर्गे गतस्येयं सामाचारी, यदि आसन्ने प्रदेशे गत्वा स्मृतं तत आसन्नान्निवर्तते । अथ दूरं गतेन स्मृतं तर्हि तत्र यं साधर्मिकं पश्यति तस्य समीपे कायोत्सर्गं तु कृत्वा 'अप्पाहे ति' संदेशं कथयति यथा मया कृतोऽमुकस्य समीपे कायोत्सर्ग इति ।

अवितोसिते पाहुमिते, छेद पडिच्छे चऊ गुरुया ।
जो वि य तस्स उ लाभो, तं पि य न लभे पडिच्छंतो ।

प्राभृते श्रुतस्कन्धे, अतोषिते समाप्त्यनन्तरं भक्तिबहुमानादिपुरस्सरमाचार्यादिक्रमणया तोषमनीते, यदि निर्गच्छति तर्हि तस्मिन् प्रायश्चित्तं छेदः। प्रायश्चित्तं पाठयितुं प्रतीच्छति, तस्मिन् प्रतीच्छके प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, योऽपि च तस्य निर्गतस्यान्यप्रविष्टस्य लाभस्तमपि न लभते प्रतीच्छकः, किमुक्तं भवति-? स तथा निर्गतो यत्किमप्युत्पादयति सचित्तादिकं तत्पूर्वतनस्याचार्यस्याऽऽभवति, न तु तस्य, नापि यस्तं पाठयति तस्य, प्रतीच्छत इति, तदेवं गच्छान्निर्गतानां विधिरुक्तः ।

संप्रत्यनिर्गतानां तमभिधित्सुराह—

तत्थ वि य अत्थमाणे, गुरुलहुया सव्वभंग जोगस्स ।
आगाढमणागाढे, देसे भंगे छ गुरुलहुओ ॥

तत्रापि गच्छे तिष्ठन् यदि योगं वक्ष्यमाणप्रकारेण भनक्ति

देशतः सर्वतो वा,तदा तस्मिन् योगस्यागाढस्य सर्वतो भङ्गे प्रायश्चित्तं चत्वारो गुरुकाः, अनागाढस्य सर्वतो भङ्गे चत्वारो लघुकाः। तथा आगाढे आगाढस्य देशतो भङ्गे गुरुकः, सर्वतो भङ्गे लघुकः।

अथ कथं देशतः सर्वतो वा योगस्य भङ्गस्तत आह–

आयंबिलं न कुव्वइ, भुंजति विगतीउ सव्वभंगो उ।
चत्तारि पगारा पुण, होंति इमे देसभंगम्मि ॥

आचामाम्लं परिपाट्या समापतितं न करोति विकृतीर्वा भुङ्क्ते, एष योगस्य सर्वभङ्गः, देशभङ्गे पुनरिमे वक्ष्यमाणाश्चत्वारः प्रकाराः । तानेवाह–

न करेति भुंजिऊणं, करेइ काउं सयं च भुंजति तु ।
वीसज्जेह ममं ति य, गुरु लहु मासो विसिट्ठो उ ॥

आचार्येण संदिष्टो विकृतिग्रहणाय-कायोत्सर्गं कृत्वा विकृतीः भोक्तुम् , तत्रैकोऽकृते कायोत्सर्गे विकृतीर्भुङ्क्ते, न च भुक्त्वाऽपि करोति कायोत्सर्गं, तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु , तपसा कालेन चतुर्गुरुकं, तत्र तपसा अष्टमादिना, कालेन ग्रीष्मादिना,अन्यस्तथा संदिष्टः सन् विकृतीर्भुक्त्वा विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्गं करोति , तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु । (काउं सयं च भुंजति उ) तृतीयस्तथा संदिष्टः सन् स्वयं कायोत्सर्गं कृत्वा विकृतीर्भुङ्क्ते, तस्य प्रायश्चित्तं मासलघु, तच्च तपसा लघु, चतुर्थादिना तस्य करणात्, कालेन वा गुरु , वसन्तादौ तस्य वहनाभ्यनुज्ञानात् , चतुर्थो विकृतिं लब्ध्वा भूरिन् ब्रूते-संदिशत कायोत्सर्गं कृत्वा विकृतिं भुञ्जेऽहमिति, तस्य मासलघु तपःकालाभ्यां लघु । तथा चाह-चतुर्ष्वपि लघुमासो , गुरु पुनर्यथायोगं तपःकालाभ्यां विशिष्टः सन्, एवमनागाढे योगे देशभङ्गः । आगाढे पुनर्नीत्यपरिपूर्णेऽनुज्ञा विसर्जनस्य , न केवलमेतेषु चतुर्षु प्रकारेषु यथोक्त प्रायश्चित्तं, किं त्वाज्ञादयोऽपि दोषाः ।

तथा चाह–

एक्केके आणादी, विराहणा होइ संजमाऽऽयाए ।
अहवा कज्जे उ इमे, दट्ठुं जोगं विसज्जेज्जा ॥

एकैकस्मिन्प्रकारे आज्ञादय आज्ञाऽनवस्थाप्यमिथ्यात्वविराधनारूपा दोषाः, तथा ग्लानत्वे भावतो देवताछलनतो वा संयमस्यात्मनश्च विराधना भवति । अथवा इमानि वक्ष्यमाणानि ग्लानत्वादीनि कार्याणि दृष्ट्वा योगं विसर्जयेत् , नास्ति तत्र देशतः सर्वतो वा भङ्गः ।

तान्येव कारणान्याह–

दट्ठु विसज्जण जोगे, गेलण्ण चए महद्धाणे ।
आगाढे नवगवज्जण, निकारणे कारणे विगती ॥

दृष्ट्वा ग्लानमतरन्तं त्यजति अजिकायां विकृतिलाभं ,तथा महामहानिन्द्रमहादीन् अध्वानं छिन्नाध्वानमुपलक्षणमेतत् अवमौदर्यं राजप्रद्विष्टं च दृष्ट्वा योगो योगस्य विसर्जनं कर्त्तव्यं , तथा आगाढे विकृतिनवकस्य वर्जनं , दशमायाः पक्वरूपाया भजना । तथा निष्कारणे योगं निक्षिप्य विकृतयो न कल्पन्ते , कारणे तु कल्पन्ते । एष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

संप्रत्येषा विवरीतव्या, तत्र प्रथमं ग्लानमधिकृत्याह–

जोगे गेलण्णम्मि य, आगाढियरे य होति चउभंगो ।
पढमो उभयागाढो, बितिओ तइओ य एक्केणं ॥

योगे ग्लानत्वे च प्रत्येकमागाढेनाभवति चतुर्भङ्गी, गाथायां पुंस्त्वनिर्देशः प्राकृतत्वात् । सा चैवम्-आगाढो योग आगाढं ग्लानत्वम् १, आगाढो योगोऽनागाढं ग्लानत्वम् २, अनागाढो योग आगाढं ग्लानत्वम् ३, अनागाढो योगोऽनागाढं ग्लानत्वम् ४। तथा चाह-प्रथमे भङ्गे उभयागाढ उभयमागाढं यस्मिन् स तथा । द्वितीय आगाढ आगाढयोगेन । तृतीय आगाढ आगाढग्लानत्वेनेत्यर्थः । चतुर्थ उभयस्याप्यागाढस्याभावे ॥

तत्र प्रथमभङ्गमधिकृत्याह–

उभयम्मि वि आगाढे, दध्दे पक्कएहिँ तिण्णि दिणे ।
मक्खंते अतायंते, पच्छंते धेरे दिणा तिण्णि ॥

उभयास्मिन्नपि योगे ग्लानत्वे चागाढे तं प्रतिपन्नागाढग्लानं दग्धेन पक्केन वा तैलेन । यदि वा-पक्केन शतपाकादिना तैलेन त्रीणि दिनानि म्रक्षयन्ति तथाऽप्यतिष्ठति ग्लानत्वे यत्र पच्यते पक्वान्नं तत्र त्रीणि दिनानि यावत् नीत्वा पर्यन्ते ध्रियते, येन तद्गन्धपुद्गलाघ्राणत आप्यायितो भवति ।

जत्तियमेत्ते दिवसे, विगइं सेवइ न उद्दिसे तेसु ।
तह वि य अतायमाणे, निक्खिवणं सव्वहा जोगे ॥

यावन्मात्रां विकृतिमुक्तप्रकारेण सेवते तेषु तावन्मात्रेषु दिवसेषु सूत्रं नोद्दिशेत, तथापि च दिनत्रयपर्यन्तधारणेमाप्यतिष्ठत्यनिवर्तमाने ग्लानत्वे सर्वथा प्रायोग्यस्य निक्षेपणं कर्त्तव्यम् ।

जइ निक्खिप्पइ दिवसे, भूमीए तत्तिए उवरि वड्ढे ।
अपरिमियं उद्देसो, भूमीएँ ततो परं कमसो ॥

यदि यावत्प्रमाणान् मत्वा योगो निक्षिप्यते तावन्मात्रान् दिवसान् भूमेः स्वाध्यायभूमेरुपरि वर्द्धयेत । किमुक्तं भवति ?– यावति पठिते स्थितः स्वाध्यायः स्वाध्यायभूमिसूत्रं यावतो दिवसान् चेद्धो योगो निक्षिप्यते तावतो दिवसान् भूयोऽपि योगमुत्क्षिप्य योगोद्वहनेन स्वाध्यायभूमेरुपर्येवमेवातिवाहयेत् । अथ यस्मिन् दिने योगः प्रथममुत्क्षिप्तस्तस्य विस्मृतेर्दिवसपरिमाणं प्रतिनियतं कर्त्तुं न शक्यते, तत आह-परिमितं यदि दिवसपरिमाणं तत उद्देशो ग्राह्यः,स स्वाध्यायभूमेरुपर्येव योगवहनेनातिवाह्यते तावन्मात्रदिवसातिवाहनतः, परं क्रमशः, सूत्रपाठानुसारेण वहेत् । गतः प्रथमभङ्गः ।

संप्रति द्वितीयभङ्गमधिकृत्याह-

गेलण्णमणागाढे, रसवति नेहोव्वरे असति पक्का ।
तह वि य अतायमाणे, आगाढतरं तु निक्खिवणा ॥

ग्लानत्वे अनागाढे रसवत्यां शालनकादौ यः स्नेह उद्धरितः स म्रक्षणाय प्रदीयते, तथाप्यसत्यतिष्ठति ग्लानत्वे यानि शतपाकादिना पक्वानि घृततैलानि तानि म्रक्षणाय दातव्यानि , तथाऽप्यतिष्ठति ग्लानत्वे ग्लानमागाढतरं ज्ञात्वा योगस्य सर्वथा निक्षेपणं कर्तव्यम् । गतो द्वितीयो भङ्गः ।

संप्रति तृतीयमाह–

तिण्णि तिगेगंतरिए, गेलण्णागाढ निक्खिव परेणं ।
तिण्णि तिगा अंतरिया, चउत्थ भंगे य निक्खिवणा ॥

अनागाढे योगे ग्लानत्वे त्रीन् दिवसानां त्रिकान् एकान्तरिकान् कारयेत् , तथाप्यतिष्ठति ततः परेण योगस्य निक्षेपः कर्त्तव्यः । इयमत्र भावना-एकस्मिन् दिवसे विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्गः

कृतो द्वितीयेऽपि दिवसे पुनः कृतः कायोत्सर्गः, एवं तृतीयेऽपि। चतुर्थे दिवसे कृतं निर्विकृतिकम्। पुनः पञ्चमषष्ठसप्तमेषु कायोत्सर्गः, ततो भूयोऽष्टमे दिवसे निर्विकृतिकं,नवमे दिवसे कायोत्सर्गः, एवं कृतेऽपि यदि न स्थितं ग्लानत्वं, ततो दशमे दिवसे योगनिक्षेपः। गतस्तृतीयोऽपि भङ्गः।

संप्रति चतुर्थमाह—

"तिन्नि तिगा" इत्यादि। अयमिका न दिवसा इत्यर्थः। अन्तरिता एकान्तरितावचतुर्थे भङ्गे कर्तव्याः,तथाप्यतिष्ठति ग्लानत्वे योगस्य निक्षेपणम्। अत्रापीयं भावना-एकस्मिन् दिवसे कायोत्सर्गो, द्वितीयदिवसे निर्विकृतिकं, तृतीयदिवसे कायोत्सर्गः, चतुर्थे निर्विकृतिकम्। एवमेकान्तरिते कायोत्सर्गनिर्विकृतिकेन नव दिवसान् यावत्कारयेत्तथाप्यतिष्ठति ग्लानत्वे दशमे दिवसे योगो निक्षिप्यते, तत्रापि प्रतिदिवसं ग्लानप्रायोग्यस्यालाभे तत्परिवासयितव्यं भवति तत्रापि योगो निक्षिप्यते। अथ कदाचित् क्षीरादिभिर्ग्लानस्य प्रयोजनमजायत तदा स्वग्रामे तन्मार्गयितव्यम्, असति स्वक्षेत्रे परग्रामादप्यानेतव्यं, तथाऽप्यसति क्षेत्राद् बहिरपि गत्वा समानेतव्यम्। अथ कदाचित्तत्राप्यलाभस्तर्हि व्रजिकामपि ग्लानं गमयेत्, पतितं द्वितीयं व्रजिकाद्वारम्।

तत्रेयं यतना-

वइया अजोगि जोगी, व अदढ अतरंतगस्स दिज्जंते।
निव्विगियं आहारो, अंतर विगतीएँ निक्खिवणं ॥

व्रजिकायां गोकुले गन्तुकामस्य (अतरंतगस्स त्ति) ग्लानस्य वा ग्लानत्वेन विना दुर्बलस्य द्वितीया दीयन्ते अयोगवाहिनः,तदभावे योगवाहिनो वा, तत्राहारो निर्विकृतिकमन्तरा च कायोत्सर्गतः। अथ लभ्यते प्रतिदिवसं विकृतिस्तदा योगस्य निक्षेपणम्। अत्रेयं भावना-ग्लानस्य दृढस्य वा व्रजिकागन्तुकस्य द्वितीया दीयन्ते अयोगवाहिनः। अथ ते न सन्ति तदा अनागाढयोगवाहिनो दातव्याः, तत्र गता विकृतीः परिहरन्ति निर्विकृतिकमाहारमाहारयन्ति। अथ न लभ्यते दिने दिने निर्विकृतिकं तदाऽन्तराऽन्तरा विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्गं कुर्वन्ति। अथ दिने दिने विकृतिरेव प्रायो लभ्यते नान्यत्तदा योगस्तेषां निक्षिप्यते।

संप्रति निर्विकृतिकमाहारमाहारयतां विधिमाह-

आयंबिलस्सऽलंभे, चउत्थमेगंगियं च तक्कादी।
असतेयरमागाढे, निक्खेवणुद्देस तहि चेव ॥

यद्याचाम्लके आचाम्लप्रायोग्यं न लभ्यते तदा चतुर्थभक्तार्थं कुर्वन्ति। अथ न शक्नुवन्त्यभक्तार्थं कर्तुं तदा एकाङ्गिकं तक्रमाहारयन्ति, तक्राचामाम्लं कुर्वन्तीत्यर्थः। आदिशब्दात् एकाङ्गिकं काष्ठमूलमाहारयन्तीति द्रष्टव्यम्। अथ न सन्त्यनागाढयोगवाहिनो द्वितीयास्तत इतरे आगाढयोगवाहिनो द्वितीया दीयन्ते, तत्र यदि तेषां प्रायोग्यं लभ्यते ततः सुन्दरम्, अथ न लभ्यते केवलं तत्र क्षीरादीनि लभ्यन्ते तदा योगो निक्षिप्यते, निक्षेपानन्तरं च पुनरुद्देशस्तथैव यथाऽधस्तादुक्तिम्।

जति निक्खिप्पइ दिवसे, भूमीए तत्तिए उवरिवट्टे।
अपरिमियं तुद्देसो, भूमीए तउ परं कमसो ॥

गतं व्रजिकाद्वारम्।

इदानीं महामहद्वारमाह-

सक्कमहादीसुं वा, पमत्त मा णं सुरा छले उवणा।
पिण्णिज्जंतु व अदढा, इतरे न दिसंति न पढंति ॥

महामहाः शक्रमहादयः,आदिशब्दात्सुग्रीष्मकमहादिपरिग्रहः। तेषु (उवण त्ति) अनागाढयोगप्रतिपन्नाः, तेषां योगो निक्षिप्यते, किं कारणमिति चेत्? अत आह-मा तं प्रथमतः सन्तं काचित् मिथ्यादृष्टिर्देवता छलयेत्। अन्यच्च तेषु दिवसेषु विकृतयो लभ्यन्ते, ततो ये अदढा दुर्बलाः सन्ति तैर्विकृतिपरिभोगत आप्यायन्तामिति योगनिक्षेपणम्, ये पुनरितरे आगाढयोगवाहिनस्तेषां योगो न निक्षिप्यते, केवलमन्यत् नो दिशन्ति नापि पठन्ति। गतं महामहद्वारम्।

इदानीमध्वाऽऽवमराजद्विष्टलक्षणं द्वारत्रयमाह-

अद्धाणे जोगीणं, एसियं तु सेसगाण पणगादी।
असतीएँ अणागाढे, निक्खिवणमत्रासती इयरे ॥

अध्वनि ग्रामानुग्रामिके योगं वहति, अथ भिक्षाचरकं तदा यत एषितं, प्रासुकमित्यर्थः। ततो योगिनां योगवाहिनां दीयते, शेषाणां पञ्चकादि दातव्यम्। किमुक्तं भवति-शेषाः पञ्चकपरिहाण्या पञ्चकादिषु यतन्ते। अथ सर्वे योगवाहिनो न संस्तरन्ति ते प्रासुकेन, तत आह-असति सर्वेषां तेषां योगवाहिनां प्रासुके अनागाढे योगवाहिनां योगस्य निक्षेपः करणीयः। अथ सर्वथा तत्र प्रासुकं न लभ्यते। तत आह-सर्वेषां प्रासुकस्यासत्यभावे इतरेऽप्यागाढयोगवाहिनो निक्षिप्यन्ते। एवमवमौदर्यराजद्विष्टेऽपि च भावनीयम्।

साम्प्रतमागाढे नवकवर्जनमिति व्याख्यानार्थमाह-

आगाढम्मि उ जोगे, विगतीउ नव विवज्जणीओ य।
दसमाएँ होइ जयणा, सेसग जयणा वि इयरम्मि ॥

आगाढयोगे पक्वविकृतिव्यतिरेकेण शेषा नवापि विकृतयो विवर्जनीयाः, दशम्याः पुनः पक्वविकृतेर्भवति भजना विकल्पना आगाढं ग्लानत्वमधिकृत्य पूर्वप्रकारेण तस्याः सेवना भवति, शेषकाले नेति भावः। इतरस्मिन्नागाढयोगे शेषकाणामपि क्षीरादीनां विकृतीनां भजना विकल्पना, आगाढग्लानस्यानागाढग्लानस्य चेतरा विकृतिग्रहणाय कायोत्सर्गस्याधिकरणाद्यनुज्ञानात्।

संप्रति "निक्कारणेँ कारणे विगती" इति व्याख्यानयति-

निक्कारणे न कप्पंति, विगतीतो जोगवाहिणो।
कप्पंति कारणे भोत्तुं, अणुण्णाया गुरूहिँ उ ॥

योगवाहिन आगाढयोगवाहिनो वा निष्कारणे ग्लानत्वादिकारणाभावे विकृतयः पूर्वप्रकारेण भोक्तुं न कल्पन्ते, कारणे पुनरनुज्ञाता गुरुभिर्भोक्तुं कल्पन्ते, नवकारणे योगनिक्षेपेऽपि दोषः।

तथा चाह—

विगतीकएण जोगं, निक्खिवए दढवुव्वले।
से भावतो अनिक्खित्ते, निक्खित्ते वि य तम्मि उ ॥

यः संहननेन दृढोऽपि सन् शरीरेण दुर्बल इति कृत्वा विकृतिकृतेन विकृतिपरिभोगाय योगं निक्षिपति। 'से' तस्य निक्षिप्तेऽपि तस्मिन् योगे भावतः स योगोऽनिक्षिप्त एव, गुर्वाज्ञया निक्षेपणात्।

विगतीकएण जो भोगं, निक्खिवे अददे बले।

से भावतो अनिक्खित्ते, उववाएण गुरूण उ ॥

यो बद्धो बलवानपि संहननेनादृढ इति कृत्वा विकृतिकृतेन योगं निक्षिपति स योगस्तस्य भावतोऽनिक्षिप्त एव । कुत इत्याह-गुरूणामुपपातेन आज्ञया "उववातो निद्देसो, आणा विणओ य होंति एगट्ठा " इति वचनात् निक्षेपणादिति वाक्यशेषः । न च तया योगनिक्षेपणे योगस्य सर्वथा भङ्गः ।

यत आह—

सालंबो विगतिं जो उ, आपुच्छित्ताण सेवए ।
स जोगे देसभंगो उ, सव्वभंगो विपज्जए ॥

सालम्बो विकृतिभिः प्राणितः सन् क्षिप्रं ज्ञानादि ग्रहीष्यामीत्यालम्बनसहितो यो गुरुमापृच्छ्य विकृतीः सेवते परिभुङ्क्ते, स योगे योगस्य देशभङ्गो भवति, न सर्वभङ्गः, विपर्यये आलम्बनाभावे गुर्वनापृच्छायां च सर्वभङ्गः ।

अथ साक्षाद्योगं निक्षिपति न च सर्वभङ्ग इति
का वाचोयुक्तिः ? आह-

जह कारणे असुद्धं, भुंजंतो न उ असंजतो होइ ।
तह कारणम्मि जोगं, न खलु अजोगी ठवेंतो वि ॥

यथा कारणे भिक्षाचकादावशुद्धमपि भुञ्जानो न तु नैवासंयतो भवति, तथा कारणे दुर्बलत्वादिलक्षणे सति योगं स्थापयन्नपि खलु नैवायोगी भवति ततो न सर्वभङ्गः ।

अन्नो इमो पगारो, पमिच्छयस्स उ अहिज्जमाणस्स ।
मायानियमीजुत्ते, ववहारो सचित्तमादिम्मि ॥

प्रतीच्छकस्याधीयानस्यायं वक्ष्यमाणः प्रकारः । तमेवोपदर्शयति-सचित्तादिके सचित्तादिकविषये यो मायानिकृतियुक्तो माया वञ्चनाऽभिप्रायो निकृतिस्तदनुरूपं बहिराकाराच्छादनं ताभ्यां युक्तस्तस्मिन् व्यवहार आभवद्व्यवहारः प्रायश्चित्तव्यवहारश्च भणनीयः ।

तमेवाभिधित्सुराह-

उप्पन्ने उप्पन्ने, सचित्ते जो उ निक्खिवइ जोगं ।
सव्वेसि गुरुकुलाणं, उपसंपज्ज लोविया तेण ॥

उत्पन्ने उत्पन्ने सचित्ते, उपलक्षणमेतदचित्ते वा, यो योगं निक्षिपति । किमुक्तं भवति-यदा यदा तस्य सचित्तादिकमुत्पन्नं भवति तदा तदा गुरुं विज्ञपयति-अस्ति किञ्चित्प्रयोजनं साधयितव्यमतो निक्षिपामि योगमिति, एवं मायाबहुलतया योगं निक्षिपति । तेन पापीयसा सर्वेषां गुरुकुलानां श्रुतोपसंपल्लोपिता ।

वहिया य अणापुच्छा, विहीएँ आपुच्छणाएँ मायाए ।
गुरुवयणे पच्छकमो, अब्भुवगमेँ तस्स इच्छाए ॥

बहिरुद्ग्रामकभिक्षाचर्यां गतो, यत् सचित्तादिकमुत्पन्नं, यस्य सकाशेऽधीते तमनापृच्छ्य निजाचार्याणां प्रेषयति, तेनापि सर्वगुरुकुलानां श्रुतोपसंपल्लोऽपि " विहीए आपुच्छणाए मायाए " इति यदा सचित्तादिकमुत्पन्नं तदैतच्चिन्तयति-मा ममैतद् गुरवो हरिष्यन्ति ततो मायया विधिना गुरूनापृच्छति-स्वजनवर्गं वन्दापयितुं व्रजामि, तेनापि सर्वगुरुकुलानां श्रुतोपसंपल्लोपिता, अमीषां च त्रयाणामपि मायानिष्पन्नं प्रायश्चित्तं मासगुरु, सचित्तविषयं जघन्यमध्यमोत्कृष्टोपधिनिष्पन्नं (गुरुवयणे पच्छकडो त्ति) ये त्रिभिः प्रकारैरपहृताः शिष्यास्ते कदाचित्स्नानादिषु समवसरणादौ मिलन्ति गुरुणा च पृष्टाः सन्तो यथावन्निवेदयन्ति, ततो व्यवहारे जाते स आचार्यवचनेन पश्चात् क्रियते पराजीयते, तस्य सत्कं सर्वमाचार्यस्याऽऽभवतीत्यर्थः (अब्भुवगमे तस्स इच्छाए त्ति) यदि पुनस्तेन पराजितेनाभ्युगमः क्रियते-यथा न सर्वं मया सुन्दरं कृतं मिथ्या दुष्कृतं ममेति तदा तस्यैवमभ्युपगमे इच्छया करोतु मा वा तदुत्पादितसचित्ताद्यपहरणमिति ।

साम्प्रतमेतदेव गाथाद्वयोक्तं व्याख्यानयति—

अहिज्जमाणे सच्चित्तं. उप्पन्नं तु जया भवे ।
जोगो निक्खिप्पतं भंते !, कज्जं मे किंचि वेति उ ॥

अधीयाने अधीयानस्य सतो यदा यदा सचित्तमुत्पन्नं भवति तदा तदा गुरुसमीपं गत्वा ब्रूते-भदन्त ! मम किञ्चित्कार्यं प्रयोजनमस्ति प्रोः ! निक्षिप्यतां योग इति ।

अधुना " वहिया य अणापुच्छा " इति व्याख्यानयन्नाह-

वहिया य अणापुच्छा, उब्भामे लभिय सेहमादिं तु ।
नेइ सयं पेसति वा, आसन्नठियाण उ गुरूणं ॥

बहिरुद्ग्रामे उद्भ्रामकभिक्षायां गतः शैक्षकादि लब्ध्वा यस्य सकाशेऽधीते तमनापृच्छ्य आसन्नस्थितानामनन्तरक्षेत्रस्थितानां गुरूणां निजाचार्याणां स्वयं नयति, अन्यैर्वा स्वगुरुकुलसत्कैः प्रेषयन्ति ।

" विहीएँ आपुच्छणाएँ मायाए " इति व्याख्यानार्थमाह-

अहवुप्पन्ने सचित्ते, मा मेतं वा गुरूहिँ अच्छित्ती ।
मायाए आपुच्छइ, नायविहिं गंतुमिच्छामि ॥

अथवेति मायायाः प्रकारान्तरोपदर्शने, उत्पन्ने सचित्तादिके चिन्तयति-मा ममेदं सचित्तादिकमुत्पन्नमेतैर्गुरुभिः (अच्छित्ती इति) अपह्रियतामिति मायया आपृच्छति-ज्ञातिविधिं स्वजनवर्गं वन्दापयितुं गन्तुमिच्छामि ।

पव्वावेउं तहियं, नालमनाले य पत्थवे गुरुणो ।
आगंतुं च निवेयण. लद्धं मे नालबद्धं ति ॥

तत्र गत्वा नालबद्धान् नालसंबद्धान् अनालबद्धान् वा प्रव्राज्य गुरोः स्वाचार्यस्य प्रेषयति । प्रेष्य च पुनरध्यापयितुः समीपे समागच्छति, समागत्य च निवेदयति-यथा मया लब्धा नालबद्धा इति तत्र प्रेषिताः ॥

एहाणादिसु इहरा वा, दट्ठुं पुच्छा कयासि पव्वइआ ।
अमुएण अमुयकाले, इह पेसविया निया वा वि ॥

ये ते त्रिभिः प्रकारैरपहृताः शिष्यास्तान् जिनस्नानादिषु समवसरणे इतरथा वा अन्यत्र वा मिलित्वा दृष्ट्वा आचार्येण पृच्छा-यथा कदा कथं वा प्रव्राजिता अभवन् । ततस्ते तत क्षेत्रं च कालं च पुरुषं कथयन्ति-यथा अमुकेनामुके काले इह अस्मिन् क्षेत्रे प्रव्राजितास्तथा एवमन्यैः सह प्रेषिताः, स्वयं वा तत्र नीताः, एवं निवेदिते व्यवहारो जातः, तस्मिंश्च व्यवहारे स पराजितः ।

तत आचार्येण यत्कर्त्तव्यं तदाह-

सो उ पसंगणवत्था-निवारणट्ठाएँ मा हु अन्नो वि ।
काहिति एवं होउं, गुरुयं आरोवणं देइ ॥

स आचार्यो मा एवं भूत्वा अन्योऽप्येवं कार्षीदिति प्रसङ्गानवस्थानिवारणार्थं गुरुकमारोपणं मासगुरुप्रभृतिकं पूर्वोक्तं ददाति ।

अधुना " अब्भुवगमेॅ तस्स इच्छाए " इति-व्याख्यानयति-

अब्भुवगयस्स सम्मं, तस्स उ पणिवइयवच्छलो कोइ ।
वियरति ते च्चिय सेहे, एमेव य वत्थपत्तादी ॥

त्वं मयाऽसुन्दरं कृतं तस्मान्मिथ्या मे दुष्कृतमिति सम्यगभ्युपगतस्य प्रतिपन्नस्य तस्य कोऽप्याचार्यः प्रणिपतितवत्सलो ये शैक्षास्तेन दीक्षितास्तानेव वितरति प्रयच्छति, एवमेव वस्त्रपात्रादिकमपि तदुत्पादितं तस्यैव प्रयच्छति ।

उपसंहारमाह-

एवं तु अहिज्जंते, ववहारो अभिहितो समासेण ।
अभिधारंते इणमो, ववहारविहिं पवक्खामि ॥

एवमनेन प्रकारेण, तुर्भिन्नक्रमः, स चाग्रे योक्ष्यते, अधीयाने व्यवहारः समासेन संक्षेपेणाभिहितः । इमं पुनर्व्यवहारविधिमभिधारयति प्रवक्ष्यामि ।

प्रतिज्ञातमेव निर्वाहयति-

जं होति नालबद्धं, घमियनाती व जो व तह लंभो ।
एहिंति विमग्गंतो, चिंधं सेसेसु आयरिओ ॥
वल्ली संतरणंतर, अणंतरा छज्जणा इमे हुंति ।
माया पिया य भाया, भगिणी पुत्तो य धूया य ॥

बद्धवति नालबद्धं,वल्लीबद्धमित्यर्थः। सा च वल्ली द्विधा-अनन्तरा, सान्तरा च । तत्रानन्तरा इमे षड्जनाः । तद्यथा-माता पिता भ्राता भगिनी पुत्रो दुहिता च । सान्तरा पुनरियम्-मातुर्माता १ पिता २ भ्राता ३ भगिनी च ४, तथा पितुः पिता १ माता २ भ्राता ३ भगिनी च ४, तथा भ्रातुरपत्यं भ्रात्रिव्यो, भ्रात्रिव्या वा, भगिन्या वा अपत्यं भागिनेयो भागिनेयी वा, पुत्रस्यापत्यं पौत्रः, पौत्री वा, दुहितुरपत्यं दौहित्रो, दौहित्री वा । उक्तं च-" माउस्साया य पिया, भाया भगिणि-दें य एव पिउणो वि । भाउभगिणीणऽवचा, धूयापुत्ता-ण वि तहेव ॥ " परम्परवल्लिका एषा । अन्ये त्वाहुः-प्रपौत्रपौत्री इत्यादिरपि परम्परवल्ली यावत्स्वाजन्यस्वीकारः । (घमियनाती व त्ति) यो वा घटितज्ञातिः, इहाभिलषित इत्यर्थः । यो वा तत्र नालबद्धे घमितज्ञातौ वा लाभः । एतेनैते अनन्तरोदितावल्लिं विमार्गयन्तः सन्तोऽभिधारयन्ति । अभिधारयत आभाव्या भवन्ति, शेषेषु पुनरनभिधारयत्स्वाचार्यः श्रुतगुरुस्वामी भवति, शेषा अनभिधारयन्तः श्रुतगुरोराभाव्या भवन्ति इत्यर्थः । उक्तं च— " जइ ते अभिधारंती, पमिच्छते वा पमिच्छगस्सेव । अह नो अभिधारंती, सुयगुरुणो तो उ आभव्वा ॥ " इयमत्र भावना-ये नालबद्धा एव घटितज्ञातयो, ये वा ते दीक्षितास्तैः सह संकेतः पूर्वं कृतो, यथा-यूयममुकस्याचार्यस्य पार्श्वे अजताऽहं पुनरागमिष्यामि, एवं संकेतं कृत्वा ते पूर्वमुपस्थितास्ते चाभिधारयन्तो वर्त्तन्ते-यथाऽनुकोऽमुककाले समागमिष्यति, सोऽपि च पश्चादागतः सन् तथैव निवेदयति । चिह्नान्यपि च सर्वाण्यपि मिलन्ति, तदा पूर्वमुपस्थापितस्य सर्वे । उक्तं च-" संगारो पुव्वकतो, पच्छा पाडिच्छओ उ सो जातो । तेणं निवेदयव्वं, उवट्ठिया पुव्वसेहा से ॥ " यदि पुनः कालतश्चिह्नैश्च विसंवादस्तदा गुरोराभाव्या इति ।

एतदेव व्याख्यानयन्नाह-

उवसंपज्जए जत्थ, तत्थ पुच्छा भणाति तु ।
वयं चिंधेहिँ संगार, वप्प सीए यऽणंतरं ॥

यत्रोपसंपद्यते स पश्चात्तत्र तैः पृच्छ्यते-केन कारणेन त्वमागतोऽसि ? । स प्राह-सूत्रार्थानामर्थायोपसंपत्तुमेवमुक्त्वा तेन सद्भावः कथनीयो यथा उपसंपद्ये इति । परिणामात्पूर्वकालमपि युष्माकं पार्श्वे ये नालबद्धा घटितज्ञातयस्ते दीक्षिता वा पूर्वमुपस्थितास्तेषां मया संकेतः कृतो यथाऽहं पश्चात् शीते शीतकाले, चशब्दादन्यस्मिन्वा काले उपसंपत्स्ये, तेषां चैतावद्वय एवंभूतस्य शरीरस्य वर्णः,इत्थंभूतं च शीतकालप्रायोग्यमनन्तकं वस्त्रमेव वयसा चिह्नैश्च संकेतं स्पष्टयति । उक्तं च-" एवइयहि दिणेहिं, तुब्भ सगासं अवस्स एहामो ॥ संगारो एव कतो, चिंधाणि य तेसि चिंधेइ ॥ "

अत्राभाव्यविधिमाह-

नालबद्धा उ छन्नंते, जया तमभिधारए ।
जे यावि चिंधकालेहिं, संवयंति उ घट्टिया ॥

यदा तमुपसंपत्स्यमानमभिधारयन्ति नालबद्धाः पूर्वोपस्थिता यथा सोऽत्र सत्वरमुपसंपत्स्यते, तदा ते नालबद्धास्तेन लभ्यन्ते, ये चाऽपि घटितज्ञातयो नालबद्धादिदीक्षिताः चिह्नैः कालेन च, तेऽपि तस्याभवन्ति,विसंवदन्तस्तु गुरोः,अथ चिह्नैः संवादोऽस्ति न कालतः । तथाहि-यस्मिन्काले पूर्वमुपस्थिताः कथिता न ते तस्मिन् काले आयाताः किन्तु कालान्तरे, सोऽपि च संकेतदिवसे नायातस्ततः स ते वा पृच्छ्यन्ते, तत्र यदि केनाऽपि कारणेन ग्लानत्वादिना स ते वा नायातास्तदाऽस्ति तत्वतः कालसंवाद इति ते तस्याभाव्याः ।

एतदेवाह-

अन्नकाले वि आयाया, कारणेण उ केण वि ।
ते वि तस्साभवंती उ, विवरीयायरियस्स उ ॥

ये कारणेन ग्लानत्वादिना केनचित्पूर्वमुपस्थिता अन्यकालेऽपि यस्तेनोपसंपद्यमानेन कालो निर्दिष्टस्तस्मादन्यस्मिन्नपि काले आयातास्तेऽपि तस्याभवन्ति । विपरीतास्तु कारणमन्तरेण कालविसंवादिन आचार्यस्याभाव्याः । एवमकारणमेतत्-सोऽपि यदि कारणेन विनिर्दिष्टकालादन्यस्मिन्काले समायातस्तथापि तस्याभवन्ति,विपरीतास्तु कारणमन्तरेणोपसंपद्यमानकालविसंवादभाज आचार्यस्याभाव्याः ।

विप्परिणयम्मि भावे, जइ भावो सिं पुणो वि उप्पण्णो ।
ते होंताऽऽयरियस्स उ, अहिज्जमाणे य जो लाभो ॥

संकेतकरणादनन्तरं यदि तेषां पूर्वमुपस्थितानां भावो विपरिणतो यथा नामाऽमुकस्य पार्श्वे उपसंपत्तव्यं,तस्मिन्विपरिणते

भावे पश्चात् पुनरपि केनापि कारणेन उपसंपद्यमानस्याभिप्राय उत्पन्नस्तदा ते पूर्वमुपस्थिता भवन्त्याचार्यस्य, अधीयानेषु तेषु, गाथायामेकवचनं प्राकृतत्वात् "प्राकृते हि वचनव्यत्ययोऽप्यस्ति," यो लाभः सोऽप्याचार्यस्य, उपलक्षणत्वादेतदपि द्रष्टव्यम्-संकेतकरणादूर्द्ध यदि तस्य पश्चादुपसंपद्यमानस्य भावो विपरिणतः पश्चात्पुनरपि कालान्तरेण जातस्तदा ते पूर्वोपस्थिता गुरोराभाव्याः, यश्च तेषां लाभः सोऽपि गुरोः तथा च पश्चादुपसंपद्यमानमधिकृत्य पञ्चकल्पेऽभिहितम्—

"कालेण य चिंधेहि य, अविसंवादीहिँ तस्स गुरुणिहरा ।
कालम्मि विसंवदिए, पुच्छिज्जइ किं नु आतो त्ति ।
संगारयदिवसेहिं, जइ गेलएणादिदीवए तो उ ।
तस्स च क अह भावो, विपरिणतो पच्छ पुण जातो ॥
तो होइ गुरुस्सेव उ, एवं सुयसंपदाए उ ।
जे यावि वत्थपायादी-चिंधेहिँ संवयंति उ ॥
आभवंति उ ते तस्सा, विवरीयाऽऽयरियस्स उ ॥"

यान्यपि च वस्त्रपात्रादीनि चिह्नैः संवदन्ति,यथा-अमुकस्य पार्श्वेऽमुकस्येदृशाकृति वस्त्रं पात्रं यावदभून्मदीयमित्यादि, तान्यपि, गाथायां पुंस्त्वं प्राकृतत्वात्, तस्याभवन्ति, विपरीतानि तु चिह्नविसंवादभाञ्जि आचार्यस्य ।

आभवंताहिगारे उ , वट्टंते तप्पसंगया ।
आभवंता इमे अण्णे, सुहसीलादि आहिआ ॥

आभवदधिकारे वर्तमाने तत्प्रसङ्गादाभवदधिकारप्रसङ्गादिमे वक्ष्यमाणा अन्ये आभवन्तः सुखशीलादयः सुखशीलादिप्रयुक्ता आख्याताः ।

तानेव द्वारगाथया संगृह्यन्न आह—

सुहसीलऽणुकंपाऽऽय-ट्ठिए य संबंधि खमग गेलणे ।
सचित्ते-ससिहाओ, पकट्टए धारए दिसाउ ॥

सुखशीलेन, भावप्रधानोऽयं निर्देशः,सुखशीलतया, अनुकम्पया, आत्मस्थितस्य संबन्धिनः स्वज्ञातेः, क्षपकस्य ग्लानस्य वा ये प्रेषिताश्च सचित्तेष्वशिखाकोऽन्यस्य प्रेषित एतान् स्वकुलसंबन्धी स्वगणसंबन्धी वा प्रकर्षयति, आकर्षयतीत्यर्थः, धारयति च दिशात आत्मीये इत्येष द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

साम्प्रतमेनामेव विवरीषुः प्रथमतः सुखशीलद्वारमाह-

सुहसीलयाएँ पेसे-इ कोइ दुक्खं खु सारवेउं जो ।
देइ व आयट्ठीणं, सुहसीलो दुहसीलो त्ति ॥

दुःखं खलु साधून् सारयितुमिति मन्यमानः कोऽपि सुखशीलतया कमपि साधुमन्यस्य प्रेषयति। यदि वा-कोऽपि सुखशील आत्माश्रितानां दुःखशीलोऽयमिति प्रकाश्य ददाति ।

तणुगं पि नेच्छए दुक्खं, सुहमाकंखए सया ।
सुहसीलतए वात्ती, सायागारवनिस्सितो ॥

तनुकमपि स्तोकमपि नेच्छत्यात्मनो दुःखं, किं तु केवलं सदा सुखमाकाङ्क्षति । ततः सुखशीलतया सातगौरवनिश्रितः स्वयं साधुना दत्ते सर्वे ते भवन्त्याचार्यस्याभाव्याः । गतं सुखशीलद्वारम् ।

साम्प्रतमनुकम्पाद्वारमाह—

एमेव य असहाय-स्स देति कोइ अणुकंपयाए उ ।
नेच्छइ परमायट्ठी, गच्छा निग्गंतुकामो वा ॥
पेसेइ सो उ अन्नत्थ, सिणेहा नायगस्स वा ।
खमए वेजवच्चट्ठा, देज्ज ता तहि कोइ तु ॥

स्वसंबन्धित्वादिकारणव्यतिरेकेणापि, असहायस्य सतः कोऽप्यनुकम्पया ददाति । गतमनुकम्पाद्वारम् । आत्मस्थितद्वारमाह-आत्मार्थी आत्माश्रितार्थी सन् परं नेच्छति, ततः कमप्यास्थितं करोति। यदि वा-गच्छान्निर्गन्तुकामः स आत्मार्थी अन्यत्र यस्य यास्यति तत्र कमपि साधुं प्रेषयति । गतमास्थितद्वारम् । संबन्धिद्वारमाह-स्नेहात् ज्ञातस्य वा स्वजनस्य वा सोऽन्यत्र प्रेषयति । क्षपकद्वारमाह-तत्रान्यत्र वा प्रसिद्धे क्षपके कोऽपि वैयावृत्यार्थं कमपि साधुं दद्यात् ।

संप्रति ग्लानद्वारं सशिखाकद्वारं चाह-

पेसेति गिलाणस्स व, अहव गिलाणो सयं अचायंतो ।
पेसंतस्स असीहो, ससिहो पुण पेसितो जस्स ॥

ग्लानस्य वा कोऽपि वैयावृत्त्यकरणाय प्रेषयति साधुम् । अथवा-स्वयं ग्लानः सन्नशक्नुवन् करोति । सर्वेऽप्येते आचार्यस्याभाव्याः । तथा यदि सशिखाकः परस्मै प्रेष्यते तर्हि स यस्य प्रेषितस्तस्यैवाभवति । अथाशिखाकः परस्मै प्रेषितस्तर्हि प्रेषयितुरेवाभाव्यो, न परस्य । तथा चाह-"पेसंतस्स असीहो, ससिहो पुण पेसितो जस्स" ।

अत्र परः प्रश्नमाह—

चोदेती कप्पम्मी, पुव्वं भणियं च होति पेसितो जस्स ।
ससिहो वा असिहो वा, असंथरे सो उ तस्सेव ॥

चोदकति प्रश्नं करोति-ननु पूर्वं कल्पे भणितं यस्य सशिखो वा अशिखो वा प्रेषितः स तस्यैवासंस्तरे असंस्तरणे सति भवति । ततः कथमत्राशिखाकः प्रेषयितुराभाव्योऽभिहित इति ।

अत्रोत्तरमाह—

जधइ पुव्वुत्तातो, पच्छा वुत्तो विही भवे बलवं ।
कामं कप्पेऽभिहियं, इह असिहं दाउ न लभति तु ॥

प्रणयते अत्रोत्तरं दीयते-पूर्वोक्तात् विधेः पश्चादुक्तो विधिर्बलवान् भवति, ततो यद्यपि कामं कल्पेऽभिहितं तथापीहाशिखं दातुं न लभते।

अन्यच्च—

संविग्गाण विही एसो, असंविग्गे न दिज्जए ।
कुलिच्चो वा गणिच्चो वा, दिण्णं पी तं तु कड्डए ॥

एष दानविधिः संविग्नानां भणितः। असंविग्नस्य पुनः सर्वथा न दीयते न दातव्यः । अथ कथमपि केनापि दत्तो भवति तर्हि तं दत्तमपि कुलसत्को वा गणसत्को वा कर्षयति ।

खेत्ताती आउरे भीते, अदिसत्थी व जं दए ।
सचित्तादि कुलादी तु, भुज्जो तं परिकट्टए ॥

क्षितादिः,आदिशब्दात् दत्तयक्षाविष्टादिपरिग्रहः, आतुरो मरणचिह्नान्युपलभ्यात्याकुलो, भीतः किमपि मे राजप्रद्विष्टादिकं करिष्यति न विद्म इति भयाकुलो, अतिगीतार्थो वाऽधिकृतां दिशं यद्ददाति परस्मै सचित्तादिकं तत् भूयः कुलादिः,आदिशब्दात् गणपरिग्रहः, परिकर्षयति । तदेतत्प्रतीच्छिकानधिकृत्योक्तम् ।

अधुना शिष्यानधिकृत्याह—

नालबद्धे अनाले वा, सीसम्मि उ नत्थि मग्गणा ।
दोक्खरखरदिट्ठंता, सव्वं आयरियस्स उ ॥

शिष्ये स्वदीक्षिते अयं नालबद्धोऽनालबद्ध इति विषयविभागेन नास्ति मार्गणा, किं तु यस्ते शिष्या लभन्ते सचित्तादि, तत्सर्वमाचार्यस्याऽऽभवति । केन दृष्टान्तेनेत्याह–द्व्यक्षरखरदृष्टान्तेन, तत्र द्व्यक्षरो दासः खरो गर्दभस्तद्दृष्टान्तात्, दासेन मे खरः क्रीतो, दासोऽपि मे, खरोऽपि मे, इत्येवं लक्षणात्सूत्रम् । व्य० ४ उ० ।

चरियारय–चर्यारत–त्रि० । भिक्षारते, आचा० २ श्रु० २ अ० २ उ० ।

चरु–चरु–पुं० । हव्यान्ने होमार्थं पाच्यान्ने, " अनवस्रावितान्तरूष्मपाक ओदनश्चरुः" इति याज्ञिकाः । वाच० । स्थालीविशेषे, औ० । तत्र पच्यमानं द्रव्यमपि चरुरेव । बलौ, नि० ३ वर्ग । आ० म० ।

चल–चल–त्रि० । अस्थिरे, भ० ५ श० ४ उ० । स्था० । भङ्गुरे, स्था० ५ ठा० ३ उ० । श्लथे, स्था० ४ ठा० २ उ० । नि० चू० । अनियते, विशे० । चपले, नि० चू० ४ उ० । अनियतविहारिणि, आचा० १ श्रु० ६ अ० ५ उ० ।

चलइत्ता–चलयित्वा–अव्य० । स्थानात् स्थानान्तरं नीत्वेत्यर्थे, " चलइत्ता आहरे पाणभोयणे " चलयित्वाऽऽहरेदानीय दद्यादित्यर्थः । दश० ५ अ० १ उ० ।

चलंत–चलत्–त्रि० । पतति, भ्रश्यति, अनु० । " चलंतघुम्मंतअंगलसमूहं " औ० । ईषत्कम्पमाने, जं० १ वक्ष० ।

चलचल–चलचल–पुं० । घृते निष्कास्यमानेषु त्रिषु घाणेषु, " ताव पढमं जं घयं खित्तं तत्थ अप्पं अपक्खिवंती आदिमे जे तिन्नि घाणा ते चलचलेति " नि० चू० ४ उ० ।

चलचवल–चलचपल–त्रि० । अतिशयेन चपले, "चलचवलचित्तकीमनदवप्पिया " चलचपलमतिशयेन चपलं यच्चित्रं नानाप्रकारं क्रीमनं यश्च चित्रो नानाप्रकारो द्रवः परिहासस्तौ प्रियौ येषां ते चलचपलाचित्रक्रीमनद्रवप्रियाः । जी० ३ प्रति० । स० ।

चलचित्त–चलचित्त–त्रि० । वानरवच्चपलाभिप्राये, तं० । नि० चू० ।

अथ चलचित्तद्वारमतिदेशेनैवाह–

चलचित्तो भावचलो, उस्सग्गऽववायतो तु जो पुव्विं ।
भणितो सो चेव इहं, गाणंगणियं अतो वोच्छं ॥

चलचित्त इह भावचलोऽपरापरशास्त्रपल्लवग्राही गृह्यते, स च उत्सर्गतोऽपवादतश्च यः पूर्वमचञ्चलद्वारे भणितः स एवेहापि भणितव्यः । बृ० १ उ० । " रस्य लो वा " ॥ ८ । ४ । ३२६ ॥ इति चूलिकापैशाचिकेऽपि रस्य लः । प्रा० ४ पाद ।

चलण–चरण–पुं० । " हरिद्रादौ लः " ॥ ८ । १ । २५४ ॥ इति रस्य लः । प्रा० १ पाद । जं० । औ० । ज्ञा० । व्रतश्रमणधर्मेत्यादिसप्ततिस्थानरूपे चरणे, प्रव० ४० द्वार ।

चलन–न० । कर्मणः संचरणे, विशे० । " चलमाणे चलिए " इत्याद्यर्थनिर्णयार्थे चलनविषये व्याख्याप्रज्ञप्तेः प्रथमोद्देशके, भ० १ श० १ उ० । हस्तशरीरयोश्चालने, ध० ३ अधि० ।

चलणकम्मगइ–चलनकर्मगति–स्त्री० । चलनं स्पन्दनं, तेन कर्मगतिर्विशिष्यते । चलनाख्यायां कर्मगतौ, दश० १ अ० । ('गइ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ७७५ पृष्ठे व्याख्योक्ता)

चलणगइ–चलनगति–स्त्री० । चलिरियं परिस्पन्दने वर्तते । चलनं स्पन्दनमित्येकोऽर्थः । चलनं च तद्गतिश्च सा चलनगतिः । गमनक्रियायाम्, दश० १ अ० ।

चलणमालिया–चरणमालिका–स्त्री० । पादाभरणभेदे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार ।

चलणा–चलना–स्त्री० । स्फुटतरस्वभावायामेजनायाम्, (भ०)

कइविहा णं भंते ! चलणा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा चलणा पण्णत्ता । तं जहा–सरीरचलणा, इंदियचलणा, जोगचलणा । सरीरचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा–ओरालियसरीरचलणा०जाव कम्मगसरीरचलणा । इंदियचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! पंचविहा पण्णत्ता । तं जहा–सोइंदियचलणा०जाव फासिंदियचलणा । जोगचलणा णं भंते ! कइविहा पण्णत्ता ?। गोयमा ! तिविहा पण्णत्ता । तं जहा–मणजोगचलणा, वइजोगचलणा, कायजोगचलणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–ओरालियसरीरचलणा, ओरालियसरीरचलणा ?। गोयमा ! जं णं जीवा ओरालियसरीरे वट्टमाणा ओरालियसरीरप्पाओग्गाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए परिणामेमाणे ओरालियसरीरचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा । से तेणट्ठेणं०जाव ओरालियसरीरचलणा, ओरालियसरीरचलणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–वेउव्वियसरीरचलणा, वेउव्वियसरीरचलणा ?। एवं चेव, णवरं वेउव्वियसरीरे वट्टमाणे एवं०जाव कम्मगसरीरचलणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–सोइंदियचलणा, सोइंदियचलणा ?। गोयमा ! जं णं जीवा सोइंदिए वट्टमाणा सोइंदियप्पाओग्गाइं दव्वाइं सोइंदियत्ताए परिणामेमाणे सोइंदियचलणं चलिंसु वा, चलिंति वा, चलिस्संति वा, से तेणट्ठेणं०जाव सोइंदियचलणा, सोइंदियचलणा एवं०जाव फासिंदियचलणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ–मणजोगचलणा, मणजोगचलणा ?। गोयमा ! जं णं जीवा मणजोए वट्टमाणा मणजोगप्पाओग्गाइं दव्वाइं मणजोगत्ताए परिणामेमाणा मणचलणं चलिंसु वा, चलंति वा, चलिस्संति वा, से तेणट्ठेणं० जाव मणजोगचलणा मणजोगचलणा । एवं वयजोगचलणा, एवं कायजोगचलणा वि । भ० १७ श० ७ उ० ।

चलणिया-चलनिका-स्त्री० । साध्वीनां कट्युपकरणभेदे, "जाणुप्पमाण चलणी, असिव्विया लंखियाए व्व ।" चलनिकाऽपि अर्धोरुकवत्, नवरमधोजानुप्रमाणाऽस्यूतलङ्खिकापरिधानवत् वंशाग्रनर्तकीचलनकवन्मन्तव्या । बृ० ३ उ० । नि० चू० । ध० ।

चलणी-चलनी-स्त्री० । चलनमात्रस्पर्शिनि कर्दमे, जी० ३ प्रति० । चलनप्रमाणः कर्दमश्चलनीत्युच्यते । भ० ७ श० ६ उ० ।

चलणोववायकारिया-चलनोपपातकारिका-स्त्री० । पादसेवाविधायिन्यां दास्याम्, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

चलमण-चलमनस्-त्रि० । चलितचित्ते, ज्ञा० १ श्रु० ६ अ० ।

चलमाण-चलत्-त्रि० । स्थितिक्षयादुदयमागच्छति विपाकाभिमुखीभवति कर्मणि, "चलमाणे चलिए" भ० १ श० १ उ० । ("चलमाणे चलिए त्ति" 'कज्जकारणभाव' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १७७ पृष्ठे व्याख्यातः)

चलसत्त-चलसत्त्व-त्रि० । चलमस्थिरं परीषहादिसम्पाते ध्वंसात्सत्त्वं यस्य स चलसत्त्वः । अस्थिरसत्त्वे, स्था० ४ ठा० ३ उ० । भङ्गुरसत्त्वे पुरुषजाते, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

चलसब्भाव-चलस्वभाव-त्रि० । चञ्चलस्वाभिप्राये, "समुद्दवीची विव चलसभावाओ ।" तं० । भ० ।

चलाचल-चलाचल-त्रि० । स्थूणादौ, आचा० २ श्रु० ५ अ० १ उ० । अप्रतिष्ठितेऽस्थिरे, दशा० ५ अ० १ उ० ।

चलिंदिय-चलेन्द्रिय-त्रि० । इन्द्रियविषयनिग्रहे रूपापातं प्राप्याऽसमर्थे, आ० चू० १ अ० ।

चलिय-चलित-त्रि० । ईषत्कम्पमाने, रा० । कम्पिते, आ० म० प्र० । स्वस्थानगमनापन्ने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । गन्तुं प्रवृत्ते, औ० । "जं एतेसिं चेव ठाणाणं जहासंभवं चलियचित्तो पासत्तो पिढतो वा जुज्झति, तं छट्ठं चलियं णाम ठाणं" नि० चू० २० उ० ।

चलियरस-चलितरस-त्रि० । चलितो विनष्टो रसः स्वादः, उपलक्षणत्वाद् वर्णादिर्यस्य तच्चलितरसम् । कुथितान्नपर्युषितद्विदलपूपिकादौ, केवलजलराद्धकूरादावनेकजन्तुसंसक्तत्वात् पुष्पितोदनपक्वान्नादिदिनद्वयातीतदध्यादौ च । ध० २ अधि० ।

चलुय-चलुक-पुं० । स्तनाग्रभागे, प्रति० ।

चलेमाण-चलत्-त्रि० । गच्छति, आचा० १ श्रु० ८ अ० १ उ० ।

चलोवगरणट्ठया-चलोपकरणार्थता-स्त्री० । चलोपकरणलक्षणो योऽर्थस्तद्भावश्चलोपकरणता । तस्याम्, भ० ५ श० ४ उ० ।

चल्ल-चल-धा० । संचलने, "स्फुटिचलेः ॥ ८ । ४ । २३१ ॥ इति लस्य द्वित्वम् । 'चल्लइ' चलति । प्रा० ४ पाद ।

चव-च्यु-धा० । च्यवने, "उवर्णस्याऽवः" ॥ ८ । ४ । २३३ ॥ इत्युवर्णस्यावादेशः । 'चवइ' च्यवते । प्रा० ४ पाद ।

चव-पुं० । च्यवने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चवण-च्यवन-न० । चारित्रात्प्रतिपतने, बृ० १ उ० ।

चवणकप्प-च्यवनकल्प-पुं० । च्यवनं चारित्रात्प्रतिपतनं तस्य कल्पः प्रकारश्च्यवनकल्पः । पार्श्वस्थादिविहारे, बृ० १ उ० ।

चवल-चपल-त्रि० । आकुले, आ० म० प्र० । कायचपलोपेततया (भ० ३ श० १ उ०) मनोवाक्कायास्थैर्यात् (स०) स्वरूपतो वा (औ०) संभ्रमवशादेव (आ० म० प्र०) आकुले, आ० म० प्र० । औ० । अनवस्थितचित्ते, प्रज्ञा० २ पद । इतस्ततः कम्पमाने, कल्प० १ क्षण । यत्किञ्चनकारिणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० । चञ्चले, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । उत्त० । प्रश्न० । ध० । उत्सुकतयाऽसमीक्षिते, प्रश्न० २ सम्ब० द्वार । हस्तग्रीवादिरूपकायचलनवति, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार । पारदे, मीने, विकले, दुर्विनीते च । त्रि० । वाच० ।

चवल-पुं० । धान्यभेदे, जं० ३ वक्ष० । स्था० । "चवलचंचलुच्चायप्पमाणकल्लोललोलंततोयं" अतिचपला इति यावत्, तथा उच्चमात्मप्रमाणं येषामेवंविधा ये कल्लोलास्तैः लोलत् पुनरेकीभूय पृथक् भवत् एवंविधं तोयं पानीयं यस्य सः । कल्प० ३ क्षण ।

चवलक्ख-चपलाक्ष-पुं० । चक्षुरिन्द्रियलोले, चक्षुरिन्द्रियविपाके, ग० २ अधि० ।

चवला-चपला-स्त्री० । विद्युति, लक्ष्म्याम्, पुंश्चल्याम्, पिप्पल्याम्, विजयायाम्, जिह्वायाम्, आर्य्याभेदे च । वाच० । दे० ना० । चपलेव चपला क्रोधविशिष्टस्येव भ्रमाऽसंवेदात्, जी० ३ प्रति० । रा० । कायचापल्यवत्यां देवगतौ, कल्प० २ क्षण । भ० ।

चविडा-चपेटा-स्त्री० । "पत इद् वा वेदनाचपेटादेवरकेसरे ॥" ८ । १ । १४६ ॥ इत्येकारस्य वेत्वम् । विस्तृताङ्गुलिके हस्ते, प्रतले च । प्रा० १ पाद ।

चावेयव्व-च्योतव्य-न० । च्यवनीये, कर्त्तव्ये च्यवने, "चविव्वं भविस्सइ" स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

चविया-चविका-स्त्री० । वनस्पतिविशेषे, प्रज्ञा० १७ पद ।

चविला-चपेटा-स्त्री० । "चपेटापाटौ वा" ॥ ८ । १ । १६८ ॥ इति टस्य वा लः । प्रा० १ पाद । "पत इद्वा वेदनाचपेटादेवरकेसरे" ॥ ८ । १ । १४६ ॥ इतीत्वम् । प्रा० १ पाद । करतलघाते, उत्त० १ अ० ।

चवेमी-देशी-करसंपुटे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चवेणं-देशी-वचनीये, दे० ना० ३ वर्ग ।

चव्वाइ (ण्)-चार्वाकिन्-त्रि० । चर्वणाशीले, "रोमंथयते कक्खं, चव्वागी नीरसं च विसने त्ति ।" यथा वृषनेत्रं वृषसागारिकं नीरसमपरो वृषभश्चर्वयति, एवं यः कार्यं रोमन्थायमानो निष्फलं रचयन् तिष्ठेत, चर्वणाशीलश्चार्वाकी दुर्व्यवहारी । व्य० ३ उ० ।

चव्वाग-चार्वाक-पुं० । लौकायतिके, (सूत्र०) चार्वाकास्त्वेवमभिहितवन्तः । यथा-नास्ति कश्चित्परलोकयायी भूतपञ्चकाद्व्यतिरिक्तः पदार्थो, नाऽपि पुण्यपापे स्त इत्यादि, एवं चाङ्गीकृत्यैते लोकायतिकाः मानवाः पुरुषाः सक्ताः गृद्धा अभ्युपपन्नाः कामेष्विच्छामदनरूपेषु । तथा चोचुः-

"एतावानेव पुरुषो, यावानिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे ! वृकपदं पश्य, यद्वदन्त्यबहुश्रुताः ॥ १ ॥
पिब खाद च साधु शोभने !,

यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।
न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते,
समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥ २ ॥ " सूत्र० १श्रु० १अ० १उ०।

प्रमाणं चात्र प्रत्यक्षमेव, नानुमानादिकम्-

संति पंच महब्भूया, इह मेगेसिमाहिया ।
पुढवी आउ तेऊ वा, वाउ आगास पंचमा ॥ ७ ॥

सन्ति विद्यन्ते महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, सर्वलोकव्यापित्वान्महत्त्वविशेषणम्, अनेन च भूताभाववादिनिराकरणं द्रष्टव्यम् । इहास्मिन् लोके एकेषां भूतवादिनामाख्यातानि प्रतिपादितानि तत्तीर्थकृता तैर्वा भूतवादिभिर्बार्हस्पत्यमतानुसारिभिराख्यातानि स्वयमङ्गीकृत्यान्येषां च प्रतिपादितानि । तानि चामूनि-(सूत्र० टी०)-पृथ्वी १ आपो जलं २ तेजो वह्निः ३ वायुः ४ आकाशं पञ्चमं येषां तानि । ननु सांख्यादिभिरपि भूतानि मन्यन्त एव तत् कथं चार्वाकमतापेक्ष्यैव भूतोपन्यास इति चेत् ?, उच्यते-साङ्ख्यादिभिर्हि प्रधानाहङ्कारादिकं तथा कालदिगात्मादिकं चान्यदपि वस्तुजातमङ्गीक्रियते । चार्वाकैस्तु भूतव्यतिरिक्तं नात्मादि किञ्चिन्मन्यत इति तन्मताश्रयणेनैवायं सूत्रोपन्यास इति । (सूत्र० टी०)।

यथा चैतत् तथा दर्शयितुमाह-

एए पंच महब्भूया, तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह तेसिं विणासेणं, विणासो होइ देहिणो ॥

" एए पंच महब्भूया " इत्यादि । एतान्यनन्तरोक्तानि पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि यानि तेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्य एकः कश्चिच्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्त आत्मा भवति, न भूतेभ्यो व्यतिरिक्तोऽपरः कश्चित्परपरिकल्पितः परलोकानुयायी सुखदुःखभोक्ता जीवाख्यः पदार्थोऽस्तीत्येवमाख्यातवन्तस्ते । तथाहि एवं प्रमाणयन्ति-न पृथिव्यादिव्यतिरिक्त आत्माऽस्ति, तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । आचा० । ('आता' शब्दे द्वितीयभागे १८० पृष्ठे चैतद्वात्मनः साम्परायिकत्वसिद्धिर्न्यक्षेणोपपादि)

चव्वागि (ण्)-चार्वाकिन्-त्रि०। 'चव्वाइण्' शब्दार्थे,व्य०३उ०।

चसग-चषक-पुं० । सुरापानपात्रे, जं० ५ वक्ष० ।

चाइ (ण्)-त्यागिन्-त्रि० । सङ्गत्यागवति, भ० २ श० १ उ०। पं० व० । आजीविकादिभयप्रव्रजितः संक्लिष्टचित्तो द्रव्यक्रियां कुर्वन्नप्यश्रमण एवाऽत्याग्येव , कथम् ?, यत आह सूत्रकारः-

वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य ।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥ २ ॥

वस्त्रगन्धालङ्कारानित्यत्र वस्त्राणि चीनांशुकादीनि, गन्धाः कोष्टपुटादयः, अलङ्काराः कटकादयोऽनुस्वारोऽलाक्षणिकः, स्त्रियोऽनेकप्रकाराः, शयनानि पर्यङ्कादीनि, चशब्द आसनाद्यनुक्तसमुच्चयार्थः । एतानि वस्त्रादीनि किम् ?, अच्छन्दा अस्ववशाः, ये केचन , न भुञ्जते नासेवन्ते । बहुवचनोद्देशेऽप्येकवचननिर्देशः । विचित्रत्वात्सूत्रगतेः, विपर्ययश्च भवत्येवेति कृत्वा आह-नाऽसौ त्यागीत्युच्यते सुबन्धुवन्नासौ श्रमण इति सूत्रार्थः। कः पुनः सुबन्धुरित्यत्र कथानकम्-"जया णंदो चंदगुत्तेण णिच्छूढो, तया तस्स दारेण निगाच्छंतस्स दुहिया चंदगुत्ते दिट्ठिं बंधइ । एयं अक्खाणयं जहा आवस्सए-जाव बिंदुसारो राया जाओ, णंदसंतिओ य सुबंधू णाम अमच्चो। से चाणक्कस्स पट्ठे समावण्णो छिद्दाणि मग्गति । अण्णया रायाणं विन्नवेइ-जदि वि तुम्हे अम्हं वित्तं ण देह, तहा वि अम्हेहिं तुम्ह हियं वत्तव्वं । भणियं च-तुम्ह माया चाणक्केण मारिया । रन्ना धाती पुच्छिया । आमं ति । कारणं ण पुच्छियं । केण वि कारणेणं रन्नो य सगासं चाणक्को आगओ, जाव दिट्ठिं णो देति ताव चाणिक्को चिंतेति-रुट्ठो एस राया । अहं गताउ त्ति काउं दव्वं पुत्तपउत्ताणं दाऊणं संगोवित्ता य गंधा संजोइया, पत्तयं च लिहिऊण सो वि जोगो समुग्गे छूढो । समुग्गो य चउसु मंजूसासु छूढो, तासु छुभित्ता पुणो गंधो वरए छूढो,तं बहूहिं कीलियाहिं सुघडियं करेत्ता दव्वजायं णातवग्गं च धम्मे णिउंजइत्ता अडवीए गोकुलट्ठाणे इंगिणिमरणं अब्भुवगओ । रण्णा य पुच्छियं-चाणक्को किं करेइ ?। धाती य से सव्वं जहावत्तं परिकहेइ । गहियपरमत्थेण य भणियं-अहो ! मया असमिक्खियं कतं, सव्वंतेउरजोहबलसमग्गो खामेउं णिग्गतो, दिट्ठो अणेण करीसब्भट्ठिओ, खामियं सबहुमाणं, भणिओ अणेण-णगरं वच्चामो । भणति-मए सव्वपरिच्चाओ कओ त्ति, तओ सुबंधुणा राया विण्णविओ, अहं से पूयं करेमि अणुजाणह, अणुण्णाए धूवं डहिऊणं तम्मि चेव पएसे करीसस्सोवरि ते अंगारे परिट्ठवेति । सो य करीसो पलित्तो, दड्ढो चाणक्को । ताहे सुबंधुणा राया विण्णविओ-चाणक्कस्स संतियं घरं ममं अणुजाणह, अणुण्णाए गओ पच्चुविक्खमाणेण य घरं दिट्ठो, अपवरको घट्टिओ । सुबंधू चिंतेइ-किमवि अच्छति । कवाडे भंजित्ता उग्घाडिउ मंजूसं पासइ । सा वि उग्घाडिया जाव समुग्गं पासइ । मघमघंतगंधयं पत्तयं पेच्छति । तं पत्तयं वाएति । तस्स य पत्तयस्स एसो अत्थो-जो एयं चुन्नयं अग्घाएति-सो जइ एहाइ वा,समालभइ वा, अलंकारेइ सीओदगं च पिवति महतीए सिज्जाए सुवति जाणेण गच्छइ गंधव्वं वा सुणेइ, एवमादी अन्ने वा इट्ठे विसए सेवेति । जहा साहुणो अच्छंति तह सो जदि ण अच्छेइ तो मरति । ताहे सुबंधुणा विणासणत्थं अण्णो पुरिसो अग्घावित्ता सद्दाइणो विसए भुंजाविओ,मओ य, तओ सुबंधू जीवियट्ठी, अकामो साहू जहा अत्थंतो वि ण साहू । " एवमधिकृतसाधुरपि न साधुरतो न त्यागीत्युच्यते, अभिधेयाऽर्थाभावात् ।

यथा चोच्यते तथा अभिधातुकाम आह—

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठि कुव्वइ ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ ।। ३ ॥

चशब्दस्य अवधारणार्थत्वात् य एव कान्तान् कमनीयान्, शोभनानित्यर्थः। प्रियानिष्टान्,इह कान्तमपि किञ्चित् कस्यचित् कुतश्चिन्निमित्तान्तरादप्रियं भवति । यथोक्तम्-"चउहिं ठाणेहिं संते गुणे णासेज्जा । तं जहा-रोसेणं,पडिनिवेसेणं,अकयण्णुयाए, मिच्छत्ताभिनिवेसेणं । " अतो विशेषणं प्रियानिति, भोगान् शब्दादीन्विषयान्, लब्धान् प्राप्तान्, उपनतानिति यावत् । (विपिट्ठि कुव्वइ त्ति) विविधमनेकैः प्रकारैः शुभभावनादिभिः, पृष्ठतः करोति, परित्यजतीत्यर्थः। स च न बन्धनबद्धः प्रोषितो वा, किं तु स्वाधीनोऽपरायत्तः, स्वाधीनानेव त्यजति भोगान् । पुनस्त्यागग्रहणं प्रतिसमयं त्यागपरिणामवृद्धिसंसूचनार्थम् । भोगग्रहणं तु संपूर्णभोगग्रहणार्थं, त्यक्तोपनतभोगसूचनार्थं वा । तत्रश्च य ईदृशः, हुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्, स एव त्यागीत्युच्यते, भरतादिवदिति । अत्राह-"जदि भरहजंबुनामादिणो संपुण्णे जे संते

भोगे परिच्चयंति,ते परिच्चाइणो,एवं ते भणंतस्स अयं दोसो भवति-जे केइ अत्थसारहीणा दमगाइणो पव्वइऊण भावओ अहिंसादिगुणजुत्ते सामण्णे अब्भुज्जुया, ते किं अपरिच्चाइणो हवंति?। आयरिओ आह-ते वि तिण्णि रयणकोडीओ परिच्चइऊण भावओ पव्वइया-अग्गी, उदयं, महिला, तिण्णि रयणाणि लोगसाराणि परिच्चइऊण पव्वइया। दिट्ठंतो-एगो धम्मिपुरिसो सुधम्मसामिणो सगासे कट्ठहारओ पव्वइओ, भिक्खं हिंडतो लोगेण भण्णति-एसो सो कट्ठहारओ पव्वइओ,सो सेहत्तेण आयरियं भणति-ममं अन्नत्थ णेह, अहं न सक्केमि अहियासित्तए। आयरिएहिं अभओ आपुच्छिओ-वच्चामो त्ति। अभओ भणति-मासकप्पपाउग्गं खित्तं किं एयं न भवति, जेण अच्छक्के अन्नत्थ वच्चह?। आयरिएहिं भणियं-जहा सेहनिमित्तं। अभओ भणति-अत्थह वीसत्था, अहमेयं लोगं उवाएण निवारेमि। ठिओ आयरिओ। बितिए दिवसे तिन्नि रयणकोडीओ ठवियाओ, उग्घोसावियं नयरे-जहा अभओ दाणं देति । लोगो आगतो। भणियं च णेण-तस्साइं एयाओ तिन्नि कोडीओ देमि, जो एयाइं तिन्नि परिहरइ-अग्गी, पाणियं, महिलियं य। लोगो भणति-एतेहिं विणा किं सुवन्नकोडीहिं। अभओ भणति-तो किं भणह-दमओ त्ति पव्वइओ। जो वि णिरत्थओ पव्वइओ तेण वि एयाओ तिन्नि सुवन्नकोडीओ परिच्चत्ताओ। सच्चं सामि! ठिओ लोगो पत्तीओ। तम्हा अत्थपरिहीणो वि संजमे ठिओ तिन्नि लोगसाराणि-अग्गी उदयं महिलाओ य परिच्चयंतो चाइ त्ति लब्भति।" कृतं प्रसङ्गेति सूत्रार्थः। दश० २ अ०। अष्ट०।

चाउंमा-चामुंमा-स्त्री०। "यमुनाचामुण्डाकामुकातिमुक्तके मोऽनुनासिकश्च" ॥ ८।१।१७८॥ इति मस्य स्थानेऽनुनासिकः। चण्डमुण्डविघातिन्याम्, प्रा० १ पाद।

चाउक्कोण-चतुष्कोण-त्रि०। चत्वारः कोणा अश्रयो यस्य सः। चतुरस्रे, जी० ३ प्रति०।

चाउघंट-चतुर्घण्ट-त्रि० । चतस्रो घण्टाः पृष्ठतोऽग्रतः पार्श्वतश्चालम्बमाना यस्य सः। नि० १ वर्ग। जं०। ज्ञा०। चतुर्घण्टोपेते, भ० ६ श० ३३ उ०।

चाउज्जाम-चातुर्याम-न०। चतुर्णां परिग्रहविरत्यन्तर्भूतब्रह्मचर्यत्वेन चतुःसङ्ख्यानां यामानां समाहारश्चातुर्यामम्। पञ्चा० १७ विव०। पं० भा०। स्था०। तदेव चातुर्यामम्। प्रव० ७७ द्वार। नि० चू०। चतुर्महाव्रत्याम्, स्था०।

भरहेरवएसु णं वासेसु पुरिमपच्छिमवज्जा मज्झिमगा बावीसं अरहंता भगवंता चाउज्जामं धम्मं पण्णविंति। तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं,एवं मुसावायाओ, अदिन्नादाणाओ, सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं, सव्वेसु णं महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति। तं जहा-सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं० जाव सव्वाओ बहिद्धादाणाओ वेरमणं॥

द्वाविंशतिरिति। चत्वारो यमा एव यामा निवृत्तयो यस्मिन् स तथा। (बहिद्धादाणाओ त्ति) बहिद्धा मैथुनं, परिग्रहविशेषः, आदानं च परिग्रहः,तयोर्द्वन्द्वैकत्वम्। अथवा-आदीयत इत्यादानं परिग्राह्यं वस्तु,तच्च धर्मोपकरणमपि भवतीत्यत आह-बहिस्ताद्धर्मोपकरणाद्बहिर्यदिति, इह च मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिगृहीता योषित् भुज्यत इति। प्रत्याख्येयस्य प्राणातिपातादेश्चतुर्विधत्वाच्चतुर्यामता धर्मस्येति। इयं चेह भावना-मध्यमतीर्थकराणां वैदेहिकानां च चतुर्यामकधर्मस्य पूर्वपश्चिमतीर्थकरयोश्च पञ्चयामधर्मस्य प्ररूपणा शिष्यापेक्षया। परमार्थतस्तु पञ्चयामस्यैवोभयेषामप्यसौ,यतः प्रथमपश्चिमतीर्थकरतीर्थसाधव ऋजुजडाः, वक्रजडाश्चेति, ततस्तदेव परिग्रहो वर्जनीय इत्युपदिष्टे मैथुनवर्जनमवबोद्धुं पालयितुं च न क्षमाः, मध्यमविदेहजतीर्थकरतीर्थसाधवस्तु ऋजुप्राज्ञास्तद्बोद्धुं वर्जयितुं च क्षमा इति।

प्रचतश्चात्र श्लोकौ-

"पुरिमा उज्जुजडाओ, वंकजडाओ य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्नाओ, तेण धम्मे दुहा कए॥ १॥
पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ, चरिमा दुरणुपालए।
कप्पे मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झे सुपालए त्ति॥ २॥" स्था० ४ ठा० १ उ०। "अज्जा वि णं सुपासा पासावच्चेज्जा आगमेस्साए उस्सप्पिणीए चाउज्जामं धम्मं पन्नवित्ता सिज्झिहिंति० जाव अंतं काहिंति" ॥ स्था० ६ ठा०। पञ्चयामचतुर्यामधर्मविचारः केशिनं प्रति गौतमेनोद्भावितः। उत्त० २३ अ०। 'कप्पट्ठिइ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे २३३ पृष्ठे 'अकप्पट्ठिइ' शब्दे च प्रथमभागे ११७ पृष्ठे चातुर्यामिकपञ्चयामिकानां कल्पाऽकल्पविधिरुक्तः)

चाउत्थिय-चातुर्थिक-पुं०। चतुर्थे चतुर्थेऽह्नि जायमाने रोगभेदे, जी० ३ प्रति०।

चाउद्दसी-चातुर्दशी-स्त्री०। प्रतिपद आरभ्य चतुर्दशेऽहोरात्रे, ज्यो० ३ पाहु०। द० प०। "चाउद्दसिं पन्नरसिं, वज्जेज्जा अट्ठमिं च नवमिं च।" विशे०।

चाउम्मास-चातुर्मास-पुं०। चत्वारो मासाः समाहृताश्चतुर्मासं, तदेव चातुर्मासम्। मासचतुष्के, यथा आषाढ्याः कार्त्तिकीं यावत् उत्कृष्टः पर्युषणाकल्पः। पञ्चा०१७ विव०। प्रव०। चतुर्षु मासे भवे, पञ्चा० १५ विव०। चतुर्मासकत्रयाद्या आश्विका कुत उपविशतीति प्रश्ने, उत्तरम्-सप्तमीतः उपविशति, परं पूर्णिमावासरे सुपर्वतिथित्वादात्मन इति। १५५ प्र० सेन० ४ उल्ला०। अथ वटपल्लीयपन्यासपद्मविजयगणिकृतप्रश्नास्तदुत्तराणि च यथा--सामाचार्यां चत्वारि पञ्च वा योजनानि गन्तुमागन्तुं च कल्पते इत्युक्तमस्ति, तद्गमनागमनमाश्रित्य, किं वा गमनमाश्रित्यैवेति प्रश्ने, उत्तरम्--चतुर्मासकमध्ये ग्लानौषधादिकारणे चत्वारि पञ्च वा योजनानि गच्छति, तान्येवागच्छति, न तु ग्लानौषधादिकार्ये संपूर्णे सति क्षणमात्रमपि तत्र तिष्ठति, तथा यत्सक्रोशं योजनमस्ति तद्गमनागमनाभ्यां ज्ञेयमिति। ३५७ प्र० सेन० ३ उल्ला०।

चाउम्मासिय-चातुर्मासिक-पुं०। कृत्यविशेषे, पाक्षिकचातुर्मासिकादितपः कियता कालेन प्राप्यते इति प्रश्ने, उत्तरम्-यथा शक्त्या तत्तपः त्वरितमेव पूर्णीभवति तथा विधीयते,कालनियमस्तु ग्रन्थे ज्ञातो नास्तीति। ३४ प्र० सेन० ४ उल्ला०।

चाउम्मासी-चातुर्मासी-स्त्री०। चातुर्मास्ये, ध०। ('पज्जुसणा' शब्दे साधूनां सामाचारी वक्ष्यते) श्रावकाणां तु चातुर्मासीकृत्यानि यथा--पूर्वप्रतिपन्नव्रतेन प्रतिचतुर्मा-

सकं तन्नियमाः संक्षेप्याः, अप्रतिपन्ननियमेन तु यथास्वं प्रति चतुर्मासकं नियमा ग्राह्याः, वर्षाचतुर्मास्यां पुनर्ये नित्यनियमाः सम्यक्त्वाधिकारे प्रागुक्तास्ते विशिष्य ग्राह्याः । तथाहि-त्रिर्द्विर्वा देवपूजाऽष्टभेदादिका संपूर्णदेववन्दनं चैत्ये सर्वबिम्बानामर्चनं वन्दनं वा स्नात्रमहोमहापूजाप्रभावनादि गुरोर्बृहद्वन्दनम, अङ्गपूजनप्रभावा स्वस्तिकरचनादिपूर्वं व्याख्यानश्रवणं विश्रामणा अपूर्वज्ञानपाठाद्यनेकविधस्वाध्यायकरणं प्रासुकनीरपानं सचित्तत्यागस्तदशक्तावनुपयोगिनस्त्यागः गृहहट्टभित्तिस्तम्भखट्वाकपाटपट्टपट्टिकासिक्ककघृततैलजलादिभाजनेन्धनधान्यादिसर्ववस्तूनां पनकादिसंसक्तिरक्षार्थं चूर्णकरक्षादिखरण्टनमलापनयनातपमोचनशीतलस्थापनादिना जलस्य द्वित्रिर्गालनादिना स्नेहगुडतक्रजलादीनां सम्यग्स्थगनादिनाऽवश्रावणं स्नानजलादीनां पनकाद्यसंसक्तरजोबहुलभूमौ पृथक् पृथक् त्यागेन चुल्लीदीपादेरनुद्घाटमोचनेन पेषणकण्डनवस्त्रभाजनादिक्षालनादौ सम्यक् प्रत्युपेक्षणेन चैत्यशालादेरपि विलोचमानसमारचनेन गृहे च व्यापारणस्थानचन्द्रोदयबन्धनेन यथार्ह यतना अन्याय्यानपैशुन्यपरुषवचननिरर्थकमृषावर्जनं कूटतुलादिनाऽव्यवहरणं ब्रह्मचर्यपालनं तथा शक्तौ पर्वतिथिपालनं शेषदिनेषु दिवाऽब्रह्मत्यागो रात्रौ परिमाणकरणं च इच्छापरिग्रहपरिमाणसंक्षेपतरः सर्वदिग्गमननिषेधस्तदशक्तावनुपयोगिदिग्गमननियमः यथाशक्ति स्नानशिरोगुम्फनदन्तकाष्ठोपानहादित्यागः भूखननवस्त्रादिरञ्जनशकटखेटनादिनिषेधः वार्दलाब्दवृष्ट्यादिना शलिकादिपाते राजादनाम्रत्यागादि च पर्युषितद्विदलपूपिकादिपर्पटवटिकादिशुष्कशाकतन्दुलीयकादिपत्रशाकनागवल्लीदलतुम्बरकखर्जूरद्राक्षाखण्डशुण्ठ्यादीनां फुल्लिकुन्थ्वलिकादिसंसक्तिसंभवात् त्यागः, औषधादिशेषकार्ये तु सम्यग् शोधनादियतनतयैव तेषां ग्रहणं खरकर्मव्यापारवर्जनं जलक्रीडादिनियमनं स्नानोद्वर्तनरन्धनादिपरिमाणकरणं देशावकाशिकसामायिकपौषधव्रतानां विशेषतः पर्वसु करणं नित्यं पारणे वाऽतिथिसंविभागः यथाशक्त्युपधानमासादिप्रतिमाकषायेन्द्रियसंसारतारणाष्टाह्निकापत्तक्षपणमासक्षपणादिविशेषतपोविधानं रात्रौ चतुर्विधाहारस्य त्रिविधाहारस्य वा प्रत्याख्यानं दीनानाथाद्युद्धरणमित्यादीनि । एतदर्थसंवादिन्यश्चतुर्मास्यनियमप्रतिपादिकाः पूर्वाचार्यप्रणीता गाथाः श्राद्धविधिवृत्तौ । तथाहि-

" चाउम्मासिअभिग्गह, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ ।
तवविरिआयारम्मि अ, दव्वाइ अणेगहा हुंति ॥ १ ॥
परिवाडीसज्भाओ, देसणसवणं च चिंतणं चेव ।
सत्तीए कायव्वं, सिअपंचमि-नाणपूआ य ॥ २ ॥
संमज्जणोवलेवण-गूहलियामंमणं चइयभवणे ।
चेइअपूआवंदण-निम्मलकरणं च बिंबाणं ॥ ३ ॥
चारित्तम्मि जलूआ, जूआगंडोलपाडणं चेव ।
वणकीमखारदाणं, इंधणजलणऽन्नतसरक्खा ॥ ४ ॥
वज्जइ अब्भक्खाणं, अक्कोसं तह य रुक्खवयणं च ।
देवगुरुसवहकरणं, पेसुन्नं परपरीवायं ॥ ५ ॥
पिइमाइदिट्ठिवंचण-जयणं निहि सुंकपमिअविसयम्मि ।
दिणे बंभरयणिवेला-परनरसेवाइपरिहारो ॥ ६ ॥
धणधन्नाईनवविह-इच्छामाणम्मि निअमसंखेवो ।
परपेसणसंदेसय, अह गमणाईए दिसि माणे ॥ ७ ॥
न्हाणंगरायधूवण-विलेवणाहरणफुल्लतंबोलं ।
घणसारागुरुकुंकुम-पोट्टिसमयनाहिपरिमाणं ॥ ८ ॥
मंजिट्ठलक्खकोसुं-भगुलियरागाण वत्थपरिमाणं ।
रयणं वज्जे मणिकणग-रुप्पमुत्ताइपरिमाणं ॥ ९ ॥
जंबीरजंबजंबुअ-नारिंगबीजपूराणं ।
कक्कडिअक्खोमबायम-कविट्ठटिंबरुअबिल्लाणं ॥ १० ॥
खज्जूरदक्खदाडिम-उत्तत्तिअनालिकेरकेलाइं ।
चिंचिणिअबोरबिल्लुअ-फलचिब्भडचिब्भडीणं च ॥ ११ ॥
कयरकरमंदयाणं, भोरडनिंबूअअंबिलीणं च ।
अत्थाणं अंकुरिअ-नाणाविहफुल्लपत्ताणं ॥ १२ ॥
सच्चित्तं बहुबीअं, अणंतकायं च वज्जए कमसो ।
विगई विगइगयाणं, दव्वाणं कुणइ परिमाणं ॥ १३ ॥
अंसुअधोअणलिंपण-खत्तक्खणणं च न्हाणदाणं च ।
जूआकड्ढणमन्न-स्स खित्तकज्जं च बहुभेअं ॥ १४ ॥
खंमणपीसणमाई-ण कूरसक्खाइ कुणइ संखेवं ।
जलजिल्लणरंधण-उव्वट्टणमाइआणं च ॥ १५ ॥
देसावगासिअवए, पुढवीखणणे जलस्स आणयणे ।
तह चीरधोअणे न्हा-णपिअणजलणस्स जालणए ॥ १६ ॥
तह दीववोहणे वा-यवीअणे हरिअछिंदणे चेव ।
अणिवद्धजंपणे गुरु-जणेण य अदत्तए गहणे ॥ १७ ॥
पुरिसासणसयणाए, तह संनासणपलोयणाईसु ।
ववहारे परिमाणं, दिसि माणं भोगपरिभोगे ॥ १८ ॥
तह सव्वणत्थदंमे, सामाइअपोसहे तिहि विभागे ।
सव्वेसु वि संखेवं, काउं पइदिवसपरिमाणं ॥ १९ ॥
खंडणपीसणरंधण-भुंजणविक्खणवत्थरयणं च ।
कत्तणपिंजणलोढण-धवलणलिंपणयसोहणए ॥ २० ॥
वाहणरोहणलिक्खा-इजोअणे वाणपरिभोगे ।
निंदणलूणणखंडण-रंधणदलणाइकम्मे अ ॥ २१ ॥
संवरणं कायव्वं, जहसंभवमणुदिणं तहा पढणे ।
जिणभवणदंसणे सुण-णगुणणजिणभवणकिच्चे अ ॥ २२ ॥
अट्ठमिचउद्दसीसुं, कल्लाणतिहीसु तवविसेसेसु ।
काहामि उज्जमइं, धम्मत्थं वरिसमज्झम्मि ॥ २३ ॥
धम्मत्थं मुहपोत्ती-जलछाणण ओसहाइदाणं च ।
साहम्मिअवच्छल्लं, जहसत्ति गुरूण विणओ अ ॥ २४ ॥
मासे मासे सामा-इअं च वरिसम्मि पोसहं तु तहा ।
काहाम ससत्तीए, अतिहीणं संविभागं च " ॥ २५ ॥

इति चतुर्मासीकृत्यानि । ध० २ अधि० । श्राद्ध० । ('पडिक्कमण' शब्दे चातुर्मासिकप्रतिक्रमणम)

चाउरंगिज्ज-चातुरङ्गीय-न० । उत्तराध्ययनेषु चतुर्थेऽध्ययने, तत्र हि मानुष्यं १ श्रुतिः २ धर्मः ३ श्रद्धा ४ चेति चत्वारि परमाङ्गाणि दुर्लभत्वेनोक्तानि । स० ५१ सम० । अनु० ।

चाउरंत-चातुरन्त-त्रि० । चत्वारोऽन्ताः पर्यन्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमसमुद्रहिमवल्लक्षणा यस्याः पृथिव्याः सा चतुरन्ता, तस्या अयं स्वामित्वेनेति चातुरन्तः । स्था० ४ ठा० १ उ० । चत्वारोऽन्ता भूमिभागाः पूर्वसमुद्रादिरूपा यस्य स तथा, स एव चातुरन्तः । चक्रवर्तिनि, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चतुरन्त-न० । चतसृणां गतीनां नारकतिर्यङ्नरामरलक्षणानामन्तो यस्यास्तच्चतुरन्तम्, सम्भृत्यादित्वादास्वम । ध० २ अधि० । चत्वारोऽन्ता गतयो यस्य स तथा । चतुर्गतिके, सूत्र० २ श्रु० २

अ० २ उ० । प्रश्न० । दिग्भेदगतिभेदाभ्यां चतुर्विभागे, प्रश्न० २ आश्र० द्वार ।

चाउरंतचक्कवट्टि (ण्)–चातुरन्तचक्रवर्त्तिन्–पुं० । चत्वारोऽन्ताः समुद्रत्रयहिमवल्लक्षणा यस्याः सा चतुरन्ता पृथ्वी , तस्या अयं स्वामी चातुरन्तः, स चासौ चक्रवर्त्ती चेति । स्था० ५ ठा० । चतुर्षु पूर्वापरदक्षिणोत्तररूपेषु अन्तेषु वर्तितुं शीलमस्येति । रा० । जी० । चतुरन्ताया भरतादिपृथिव्या एते स्वामिन इति चातुरन्ताः , चक्रेण वर्त्तनशीलत्वाच्च चक्रवर्त्तिनः, ततः कर्मधारयः । चतुरन्तग्रहणेन च वासुदेवादीनां व्युदा- । भ० १२ श० ७ उ० । चतुरन्तायाः पृथिव्या ईश्वरेषु चक्रवर्त्तिषु चतुर्भिर्हयगजरथपदातिभिः सेनाङ्गैरन्तोऽरीणां विनाशो यस्य सः , चतुरन्त एव चातुरन्तः । आसमुद्रमा हिमालयं विविधविद्याधरवृन्दगीतकीर्तिनया एकच्छत्रषट्खण्डराज्यपालके, उत्त० ११ अ० ।

चाउरंतसंसारकंतार–चातुरन्तसंसारकान्तार–पुं० । चतुरन्तं चतुर्विभागं नरकत्वादिभेदेन, तदेव चातुरन्तं, तच्च तत्संसारकान्तारं चेति । चतुर्गतिके संसाराऽरण्ये, स्था० । " तिहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अणाईयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीईवएज्जा । तं जहा–अणिदाणयाए, दिट्ठिसंपन्नयाए, जोगवाहियाए । " स्था० ३ ठा० ३ उ० ।

चाउरक्कगोखीर–चातुरक्यगोक्षीर–न० । चतुःस्थानपरिणामपर्यन्ते गोक्षीरे, (जी०) तच्चैवम्–गवां पुण्ड्रदेशोद्भवेक्षुचारिणीनामनातङ्कानां कृष्णानां यत् क्षीरं तदन्याभ्यः कृष्णगोभ्य एव यथोक्तगुणाभ्यः पानं दीयते तत्क्षीरमप्येवंभूताभ्योऽन्याभ्यस्तत्क्षीरमप्यन्याभ्य इति चतुःस्थानपरिणामपर्यन्तम्, एवंभूतं यत् चातुरक्यं गोक्षीरम । जी० ३ प्रति० । आ० म० ।

चाउल–तण्डुल–पुं० । शालिव्रीह्यादेस्तण्डुले, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । दे० ना० ३ वर्ग ।

चाउलपलंब–तण्डुलप्रलम्ब–न० । ' चाउलाः ' तण्डुलाः शालिव्रीह्यादेस्त एव चूर्णीकृतास्तत्कणिका वा । आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० । अर्द्धपक्वशाल्यादिकणिकादिके, आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० । भग्नशाल्यादितण्डुलेषु, आचा० २ श्रु० १ अ० ११ उ० ।

चाउलपिट्ठ–तण्डुलपिष्ट–न० । तण्डुलसत्कपिष्टे, आचा० २ श्रु० १ अ० ८ उ० ।

चाउलोदग–तण्डुलोदक–न० । अट्टिकरके, " तंडुलोदगं अबुणा धोयं च वज्जए " दश० ५ अ० । व्र० । तण्डुलधावनोदके (ग०) " चाउलउदगं बहुपसन्नं " चाउलोदकं तण्डुलोदकमबहुप्रसन्नं नातिस्वच्छीभूतं, मिश्रमित्यर्थः । अबहुप्रसन्नमित्यत्रादावकारलोपः, आर्षत्वात् ।

आदेशत्रिकमेव दर्शयति–

भंडगपासगलग्गा, उत्तेडा बुब्बुया य न समेंति ।
जा ताव मीसगं तं–डुला य रज्झंति जावऽन्ने ॥२१॥

तण्डुलोदके तण्डुलप्रक्षालनभाण्डादन्यस्मिन् भाण्डे प्रक्षिप्यमाणे ये त्रुटिता भाण्डकस्य पार्श्वेषु 'उत्तेडा' बिन्दवो लग्नास्ते यावन्न शाम्यन्ति विध्वंसमुपयान्ति तावत् तत् तण्डुलोदकं मिश्रमित्येके । अपरे पुनराहुः–तण्डुलोदके तन्दुलप्रक्षालनभाण्डकादपरस्मिन् भाण्डके प्रक्षिप्यमाणे ये तन्दुलोदकस्योपरि समुद्भूता बुद्बुदास्ते यावदद्यापि न शाम्यन्ति न विनाशमियूति तावत् तन्दुलोदकं मिश्रमिति । अन्ये पुनरेवमाहुः–तन्दुलप्रक्षालनानन्तरं तन्दुला रन्धुमारब्धास्ततस्ते यावन्न राध्यन्ति, यावन्नाद्यापि सिध्यन्तीति भावः । तावत् तन्दुलोदकं मिश्रमिति ।

एषां त्रयाणामप्यादेशानां दूषणान्याह–

एए उ अणाएसा, तिन्नि वि कालनियमस्सऽसंभवओ ।
लुक्खेयरभंडगपवण–एसंभवासंभवाईहिं ॥२२॥

एते त्रयोऽप्यनादेशा एव, तुशब्द एवकारार्थो भिन्नक्रमश्च, कुतोऽनादेशा इत्याह–कालनियमस्यासंभवात्, न खलु बिन्दुपगमे, बुद्बुदापगमे, तण्डुलपाकनिष्पत्तौ वा, सदा सर्वत्र प्रतिनियत एव कालो, येन प्रतिनियतकालसंभविनो मिश्रत्वादूर्द्ध्वमचित्तत्वस्याप्यभिधीयमानस्य न व्यभिचारसंभवः । कथं प्रतिनियतः कालो न घटते ? इति कालनियमासंभवमाह–" लुक्खेयर " इत्यादि । रूक्षेतरभाण्डपवनसंभवासंभवादिभिः । अत्रादिशब्दात् चिरकालसलिलभिन्नत्वादिपरिग्रहः । इयमत्र भावना–इह यदा पाकतः प्रथममानीतं, चिरानीतं वा स्नेहजलादिना न भिन्नं भाण्डं तत् रूक्षमुच्यते, स्नेहादिना तु भिन्नं स्निग्धं, तत्र रूक्षे भाण्डे तण्डुलोदके प्रक्षिप्यमाणे ये बिन्दवः पार्श्वेषु लग्नास्ते भाण्डस्य रूक्षतया झटित्येव शोषमुपयान्ति, स्निग्धे तु भाण्डे भाण्डस्य स्निग्धतया चिरकालम् । ततः प्रथमादेशवादिनां मते रूक्षे भाण्डे बिन्दूनामपगमे परमार्थतो मिश्रस्याप्यचित्तत्वसंभावनया ग्रहणप्रसंगः । स्निग्धे तु भाण्डे परमार्थतोऽचित्तस्यापि बिन्दूनामपगमे मिश्रत्वेन संभावनया न ग्रहणमिति । तथा बुद्बुदा अपि प्रचुरखरपवनसंपर्कतो झटिति विनाशमुपगच्छन्ति , प्रचुरखरपवनसंपर्काभावे तु चिरमप्यवतिष्ठन्ते, ततो द्वितीयादेशवादिनामपि मते यदा खरप्रचुरपवनसंपर्कात् झटिति विनाशमेयरुर्बुद्बुदास्तदा परमार्थतो मिश्रस्याऽपि तन्दुलादेकस्याचित्तत्वेन संभावनया ग्रहणप्रसङ्गः । यदा तु खरप्रचुरपवनसंपर्काभावे चिरकालमप्यवतिष्ठन्ते बुद्बुदास्तदा परमार्थतोऽचित्तभूतस्यापि तन्दुलोदकस्य बुद्बुददर्शनतो मिश्रत्वशङ्कायां न ग्रहणमिति । येऽपि तृतीयादेशवादिनस्तेऽपि न परमार्थं पर्यालोचितवन्तः; तन्दुलानां चिरकालपानीयभिन्नाभिन्नत्वेन पाकस्य नियतकालत्वात् । तथाहि–ये चिरकालसलिलभिन्नास्तन्दुला न च नवीना इन्धनादिसामग्री च परिपूर्णा ते सत्वरमेव निष्पद्यन्ते, शेषास्तु मन्दं, ततस्तेषामपि मतेन कदाचिन्मिश्रस्याप्यचित्तत्वसंभावनया ग्रहणप्रसङ्गः कदाचित्पुनरचित्तीभूतस्यापि मिश्रत्वशङ्कासंभवादग्रहणमिति त्रयोऽप्यनादेशाः ।

संप्रति यः प्रवचनाविरोधी आदेशः प्रागुपदिष्टस्तं बिभावयिषुराह–

जाव न बहु प्पसन्नं, ता मीसं एस इत्थ आएसो ।
होइ पमाणमचित्तं, बहुप्पसन्नं तु नायव्वं ॥ २३ ॥

यावत्तन्दुलोदकं न बहु प्रसन्नं नातिस्वच्छीभूतं तावन्मिश्र–

मवगन्तव्यम् । एषोऽत्र मिश्रविचारप्रक्रमे त्वमत्यादेशः प्रमाणं, न शेषं, यत्तु बहुप्रसन्नमतिस्वच्छीभूतं तदचित्तं ज्ञातव्यम् । ततोऽचित्तत्वेन तस्य ग्रहणे न कश्चिद्दोषः । पिं० । कल्प० । आचा० । चू० ।

चाउल्लग-देशी-न० । पुरुषपुत्तलके, नि० चू० १ उ० ।

चाउव्वएण-चातुर्वर्ण्य-न० । चत्वारो वर्णाः प्रकाराः श्रमणादयो यस्मिन् स तथा। स एव स्वार्थिकाण् विधानाच्चातुर्वर्ण्यम् । स्था० ५ ठा० २ उ० । श्रमणश्रमणीश्रावकश्राविकाचतुष्टयरूपे सङ्घे, स्था० ५ ठा० २ ब० । ब्राह्मणादिलोके, भ० १५ श० १ उ० ।

चाउव्वएणाइण्ण-चातुर्वर्णाकीर्ण-त्रि० । चत्वारो वर्णाः श्रमणादयः समाहृता इति चतुर्वर्णं, तदेव चातुर्वर्ण्यम् । तेनाकीर्णं आकुलश्चातुर्वर्णाकीर्णः । अथवा-चत्वारो वर्णाः प्रकारा यस्मिन्स तथा, दीर्घत्वं प्राकृतत्वात्, चतुर्वर्णश्चासावाकीर्णश्च क्षमाज्ञानादिभिर्महागुणैरिति चतुर्वर्णाकीर्णः । तथाविधे सङ्घे, "समणस्स भगवओ महावीरस्स चाउव्वन्नाइन्ने संघे । तं जहा-समणा, समणीओ, सावगा, साविगाओ ।" स्था० १० ठा० । भ० ।

चाउव्वेज्ज-चातुर्वेद्य-न० । चतुर्णां विद्यानां समाहारे, स्था० १ श्लो० ।

चाग-त्याग-पुं० । प्रोज्झने, पं० व० ।

त्यागशब्दार्थं व्याचिख्यासुराह-

चागो इमेसि सम्मं, मणवयकाएहिँ अप्पवित्तीओ ।
एसा खलु पव्वज्जा, मुक्खफला होइ नियमेणं ॥८॥

त्यागः प्रोज्झनम्, अनयोरारम्भपरिग्रहयोः, सम्यक् प्रवचनोक्तेन विधिना मनोवाक्कायैः त्रिभिरप्यप्रवृत्तिरेव, आरम्भे परिग्रहे च मनसा वाचा कायेन प्रवर्तनमिति भावः। एषा खल्विति । एषैव प्रव्रज्या यथोक्तस्वरूपा मोक्षफला भवति, मोक्षः फलं यस्याः सा मोक्षफला भवति नियमेनावश्यंतया, भावमन्तरेणारम्भादौ मनःप्रवृत्त्यसंभवादिति गाथार्थः ॥ ८ ॥

अधुनैतत्पर्यायानाह-

पव्वज्जा निक्खमणं, समया चाओ तहेव वेरग्गं ।
धम्मचरणं अहिंसा, दिक्खा एगट्ठियाइं तु ॥९॥

प्रव्रज्या निरूपितशब्दार्था, निष्क्रमणं द्रव्यभावसङ्गात्, समता सत्त्वेष्विष्टानिष्टेषु, त्यागो बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्य, तथैव वैराग्यं विषयेषु, धर्मचरणं क्षान्त्याद्यासेवनम्, अहिंसा प्राणिघातवर्जनं, दीक्षा सर्वसत्त्वाभयप्रदानेन सत्त्वम् । एकार्थिकानि तु एतानि प्रव्रज्याया एकार्थिकानि, तुर्विशेषणार्थः शब्दनयाभिप्रायेण, समभिरूढनयाऽभिप्रायेण तु नानार्थान्येव, अभिन्नप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्सर्वशब्दानामिति गाथार्थः । पं० व० १ द्वार ।

अथ त्यागाष्टकम्-

"संयतात्मा श्रयेच्छुद्धो-पयोगं पितरं निजम् ।
धृतिमम्बां च पितरौ, तन्मां विसृजत ध्रुवम् ॥ १ ॥
युष्माकं संगमोऽनादि-र्बन्धवो नियतात्मनाम् ।
ध्रुवैकरूपान् शीलादि-बन्धूनित्यधुना श्रयेत् ॥ २ ॥
कान्ता मे समता चैका, ज्ञातयो मे समक्रियाः ।
बाह्यवर्गमिति त्यक्त्वा, धर्मसंन्यासवान् भवेत् ॥ ३ ॥
धर्मास्त्याज्याः सुसङ्गोत्थाः, क्षायोपशमिका अपि ।
प्राप्य चन्दनगन्धाभं, धर्मसंन्यासमुत्तमम् ॥ ४ ॥
गुरुत्वं स्वस्य नोदेति, शिक्षा स्वात्म्येन यावता ।
आत्मतत्त्वप्रकाशेन, तावत् सेव्यो गुरूत्तमः ॥ ५ ॥
ज्ञानाचारादयोऽपीष्टाः, शुद्धस्वस्वपदावधि ।
निर्विकल्पे पुनस्त्यागे, न विकल्पो न वा क्रिया ॥ ६ ॥
योगसंन्यासतस्त्यागी, योगानप्यखिलाँस्त्यजेत् ।
इत्येवं निर्गुणं ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥ ७ ॥
वस्तुतस्तु गुणैः पूर्ण-मनन्तैर्भासते स्वतः ।
रूपं त्यक्ताऽऽत्मनः साधो-र्निरभ्रस्य विधोरिव " ॥ ८ ॥
इतित्यागाष्टकम् । अष्ट० ८ अष्ट० । परिहारे, पञ्चा० २ विव० ।

चागाणुरूव-त्यागानुरूप-त्रि० । परिहारोचिते, द्वा० १८ द्वा० ।

चाटुकर-चाटुकर-त्रि० । प्रियवादिनि, औ० । प्रियम्वदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । प्रश्न० ।

चाडो-देशी-मायाविनि, दे० ना० ३ वर्ग ।

चाणक्क-चाण (णि) क्य-पुं० । चणकग्रामे जातः, चणकस्य द्विजस्यापत्यं वा चाणक्यश्चाणिक्यो वा ।

तदुत्पत्तिश्चैवम्-

"गोल्लासदेशेऽस्ति चणक-ग्रामस्तत्र चणी द्विजः ।
श्रावकः स च तद्गेहे, वियन्ते साधवः स्थिताः ॥ १ ॥
सदन्तोऽस्य सुतो जातः, सूरिपादेषु पातितः ।
तैरूचेऽसौ नृपो भावी, स दध्यौ पापकृन्नृपः ॥ २ ॥
घृष्टा तस्य रदा बालस्य, गुरूणां तेऽभ्यधुः पुनः ।
भविष्यति तथाऽप्येष, बिम्बान्तरितराज्यकृत् ॥ ३ ॥
विद्यास्थानानि सोऽध्यापि, पाठयोग्यश्चतुर्दश ।
व्यवाहि च सुतां वैर्यां, पिताऽथ प्राप पञ्चताम् ॥ ४ ॥
चाणिक्यस्य प्रियाऽथागाद्, बन्धूद्वाहे पितुर्गृहम् ।
स्वसारोऽन्याः पुनस्तस्याः, अलङ्कृतविभूषिताः ॥ ५ ॥
आयाता गौरवं प्राप्ताः, सा पुनः कर्मकारिका ।
खिन्ना सा स्वगृहेऽथागात्, पत्या पृष्टाऽऽदराज्जगौ ॥ ६ ॥
स दध्यौ निःस्वभार्येत्य-भिभूता तैः स्वपुत्र्यपि ।
ददाति पाटलीपुत्रे, नन्दस्तत्राथ सोऽगमत् ॥ ७ ॥
ततः कार्तिकराकायां, प्रगे न्यस्तान्युपाविशत् ।
नन्दाऽर्थे चास्ति तन्न्यस्तं, निमित्ती नन्दमूचिवान् ॥ ८ ॥
द्विजोऽयं नन्दवंशस्य, छायामाक्रम्य तस्थिवान् ।
दास्यूचेऽत्राऽऽस्यतां विप्र!, सोऽमुचत्तत्र कुण्डिकाम् ॥ ९ ॥
तृतीये दण्डिकां न्यस्था-च्चतुर्थे जपमालिकाम् ।
धृष्टोऽयमिति विज्ञाय, क्रुष्टो धृत्वा पदेऽथ सः ॥ १० ॥
सोऽथ क्रुद्धो विप्रोऽवादीत्-
कोशैश्च भृत्यैश्च निबद्धमूलं,
पुत्रैश्च मित्रैश्च विवृद्धशाखम् ।
उत्पाट्य नन्दं परिवर्तयामि,
महाद्रुमं वायुरिवोग्रवेगः ॥ ११ ॥
दध्यौ गुरुभिरुक्तोऽस्मि, बिम्बान्तरितराज्यकृत् ।
राज्ययोग्यस्य कस्यापि, प्रेक्षार्थं सोऽथ निर्ययौ "॥१२॥ आ० क० । आ० म० । नं० । आचा० । संथा० । आ० म० । आ० चू० । व्य० । विशे० । ती० । सूत्र० । आव० । (नन्दं वञ्चयित्वा चन्द्रगुप्तं राज्ये प्रतिष्ठापितवान् इति ' चंदगुत्त ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १०६८ पृष्ठे समुक्तम्)

चाणिक्क-चाणक्य-पुं० 'चाणक्क' शब्दार्थे, आ० क०।

चामर-चामर-न०। चमरपुच्छे, ज्ञा० १६ अ०। प्रकीर्णके, स० ३४ सम०। ज्ञा०। औ०। रा०।

चामरज्झय-चामरध्वज-पुं०। चामरयुक्तध्वजायाम, औ०।

चामरधारपडिमा-चामरधारप्रतिमा-स्त्री०। चामरधारिण्यां प्रतिमायाम्, जिनप्रतिमानां प्रत्येकमुभयोः पार्श्वयोर्द्वे द्वे चामरधारप्रतिमे प्रज्ञप्ते। जी० ३ प्रति०। रा०।

चामरा-चामरा-स्त्री०। चमरीपुच्छे, भ० "णाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमियमहियफेणपुंजसन्निगासाओ धवलाओ चामराओ गहाय सलीलं वीयमाणीओ २ चिट्ठंति" यद्यपि चामरशब्दो नपुंसकलिङ्गे रूढस्तथापीह स्त्रीलिङ्गतया निर्दिष्टः, तथैव क्वचिद्रूढत्वादिति। भ० ९ श० ३३ उ०। जी०॥

चामीकर-चामीकर-न०। कनके, दर्श०। आ० म०।

चामीकररइय-चामीकररचित-त्रि०। सुवर्णरचिते सुवर्णमये, कल्प० २ क्षण।

चामुंडराय-चामुण्डराज-पुं०। ९०० शके वर्त्तमाने जिनसेनभट्टारकशिष्ये दिगम्बराचार्ये, जै० इ०।

चामुंडा-चामुण्डा-स्त्री०। निहतचण्डमुण्डायां भगवत्याम्, विशे०। आ० म०।

चायंत-शक्नुवत्-त्रि०। समर्थे, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० १ उ०।

चार-चार-पुं०। चरणं चारः। अनुष्ठाने, आचा० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। नि० चू०। प्रश्न०। संचरणे, औ०। चरन्ति भ्रमन्ति ज्योतिष्कविमानानि यत्र स चारः। समस्ते ज्योतिष्कक्षेत्रे, व्युत्पत्त्यर्थमात्रानपेक्षणेन शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताश्रयणात्। स्था० २ ठा० २ उ०। परिभ्रमणे, स० १२ सम०। मण्डलगत्या परिभ्रमणे, सू० प्र० १० पाहु० ('जोइसिय' शब्देऽस्य विस्तरः)

चारो चरिया चरणं, एगट्ठं वंजणे तहिं छक्कं।
दव्वं तु दारुसंकम-जलथलचारादियं बहुहा ॥४५॥

(चार इति) 'चर' गतिभक्षणयोः, भावे घञ् (चर्येति) "गदमदचरयमश्चानुपसर्गे" ॥३।१।१००॥ इत्यनेन कर्म्मणि भावे वा यत्, (चरणमिति) भावे ल्युट्, एकोऽभिन्नोऽर्थोऽस्येत्येकार्थम्, किं तत्? व्यञ्जनं-व्यज्यते आविष्क्रियते अर्थोऽनेनेति व्यञ्जनं शब्दः, इत्येतत् पूर्वोक्तं शब्दत्रयमेकार्थम्, एकार्थत्वाच्च न प्रथमनिक्षेपः, तत्र चारनिक्षेपे षट्कं चारस्य, षट्प्रकारो निक्षेप इत्यर्थः। तद्यथा-नामस्थापनेत्यादि। तत्र सुगमत्वात् नामस्थापने अनादृत्य ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यचारं गाथाशकलेन दर्शयति-(दव्वं तु त्ति) तुशब्दः पुनःशब्दार्थे, द्रव्यं पुनरेवंभूतं भवति-दारुसंक्रमश्च जलस्थलचारश्च दारुसंक्रमजलस्थलचारौ, तावादी यस्य तद्दारुसंक्रमजलस्थलचारादिकं, बहुधा अनेकधा, तत्र दारुसंक्रमो जले सेत्वादिः क्रियते, स्थले वा गर्त्तालङ्घनादिकः, जलचारो नावादिना, स्थलचारो रथादिना, आदिग्रहणात्प्रासादादौ सोपानपङ्क्त्यादिरिति, यच्चान्ने सेत्वादिना देशान्तरावाप्तये द्रव्यं स द्रव्यचार इति गाथार्थः ॥४५॥

सम्प्रति क्षेत्रादिकमाह-

खेत्तं तु जम्मि खित्ते, कालो काले जहिं जो चारो।
भावम्मि नाणदंसण-चरणं तु पसत्थमपसत्थं ॥४६॥

क्षेत्रं पुनर्यस्मिन्क्षेत्रे चारः क्रियते, यावद्वा क्षेत्रं चर्यते, स क्षेत्रचारः, कालस्तु यस्मिन्काले चरति, यावन्तं वा कालं, स कालचारः, भावे तु द्विधा चरणं-प्रशस्तमप्रशस्तं च। तत्र प्रशस्तं ज्ञानदर्शनचरणान्यतोऽन्यदप्रशस्तं गृहस्थान्यतीर्थिकाणामिति गाथार्थः ॥४६॥

तदेवं सामान्यतो द्रव्यादिकं चारं प्रदर्श्य प्रकृतोपयोगितायाः यतेर्भावचारं प्रशस्तं प्रश्नद्वारेण दर्शयितुमाह-

लोगे चउव्विहम्मी, समणस्स चउव्विहो कहं चारो?।
होइ धिती तहिगारो, विसेसओ खित्तकालेसु ॥४७॥

लोके चतुर्विधे द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपे श्रमणस्य श्रोष्यतीति श्रमणो यतिस्तस्य, कथंभूतो द्रव्यादिश्चतुर्विधश्चारः स्यादिति प्रश्ननिर्वचनमाह-भवति धृतिरित्येषोऽधिकारः, द्रव्ये तावद्रसविरसप्रान्तरूक्षादिके धृतिर्भावयितव्या, क्षेत्रेऽपि कुतीर्थिकभाविते प्रकृत्यनूके वा नोद्वेगः कार्यः, कालेऽपि दुष्कालादौ यथालाभसन्तोषिणा भाव्यं, भावेऽप्याक्रोशोपहसनादौ नोद्दीपितव्यम्, विशेषतस्तु क्षेत्रकालयोरवमयोरपि धृतिर्भाव्या, द्रव्यभावयोरपि प्रायशस्तन्निमित्तत्वात् ॥४७॥

पुनरपि द्रव्यादिकविशेषतो यतेश्चारमाह-

पावोवरए अपरि-ग्गहे य गुरुकुलनिसेवए जुत्ते।
उम्मग्गवज्जए रा-गदोसविरए य से विहरे ॥४८॥

पापोपरतः पापात् पापहेतोः सावद्यानुष्ठानात् हिंसाऽनृताऽदत्ताऽऽदानाऽब्रह्मरूपादुपरतः पापोपरतः, तथा न विद्यते परिग्रहो अस्येत्यपरिग्रहः। पापोपरतोऽपरिग्रहश्चेति द्रव्यचारः। क्षेत्रचारमाह-गुरोः कुलं गुरुसान्निध्यं, तत्सेवने युक्तः समन्वितो यावज्जीवं गुरूपदेशादिनेत्यनेन कालचारः प्रदर्शितः। सर्वकालं गुरूपदेशविधायित्वोपदेशाद्भावचारमाह-उत्कृतो मार्गादुन्मार्गोऽकार्याचरणं तद्वर्जकः, तथा रागद्वेषविरतः स साधुर्विहरेत् संयमानुष्ठानं कुर्यादिति गता निर्युक्तिः। आचा० १ श्रु० ५ अ० १ उ०। कलाभेदे, जं० २ वक्ष०। वृक्षविशेषे, येषु चारकुतिका उत्पद्यते। अनु०। तत्फले, न०। प्रज्ञा० १६ पद।

चारग-चारक-न०। बन्दिप्रभृतीनामवस्थापनार्थे गृहविशेषे, दशा० ६ अ०। कल्प०। कारागृहे, आव० १ अ०। गुप्तिगृहे, स्था० ७ ठा०। व्य०। भरतस्य साम्राज्यानुभवनकाले चतुर्विधा दण्डनीतिरभूत्, तत्र तृतीया चारकलक्षणा भरतेन माणवकनिधि परिभाव्य प्रवर्तिता, सा गुरुतरापराधविषया। आ० म० प्र०। गुप्तौ, औ०। आ० म०।

चारगपरिसोहण-चारकपरिशोधन-न०। चारकशब्देन कारागृहमुच्यते, तस्य शोधनं शुद्धिः। बन्दिविमोचने, भ० ११ श० ११ उ०। कल्प०।

चारगपाल-चारकपाल-पुं०। गुप्तिरक्षके, विपा० १ श्रु० ६ अ०।

चारट्ठिइय-चारस्थितिक-पुं०। चारे ज्योतिश्चक्रे क्षेत्रे स्थितिरेव येषां ते चारस्थितिकाः। समयक्षेत्रबहिर्वर्तिषु घण्टाकृतिषु ज्योतिष्केषु, स्था० २ ठा० २ उ०। भ०। चारस्य यथोक्तस्वरू-

चस्य स्थितिरजावो येषां ते चारस्थितिकाः । अपगतचारेषु, सू० प्र० १६ पाहु० । जी० ।

चारण-चारण-पुं० । चरणं गमनं तद् विद्यते येषां ते चारणाः "ज्योत्स्नादिभ्योऽण्" ॥ ७ । २ । ३४ ॥ इति मत्वर्थीयोऽण् प्रत्ययः । तत्र गमनमन्येषामप्यस्ति ततो विशेषणान्यथाऽनुपपत्त्या चरणमिह विशिष्टम आकाशे गमनमागमनं चाऽभिगृह्यतेऽत एवातिशयितो मत्वर्थीयोऽयम, यथा रूपवती कन्येत्यत्र । अतिशयितगमनागमनलब्धिसम्पन्नेषु, आ० म० प्र० । आव० । नं० । आ० चू० । प्र० । साधुविशेषेषु , विशे० । औ० ।

कइविहा णं भंते ! चारणा पम्पत्ता ? । गोयमा ! दुविहा चारणा पम्पत्ता । तं जहा-विज्जाचारणा य, जंघाचारणा य । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-विज्जाचारणा, वि० २ ? । गोयमा ! तस्स णं छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तओकम्मेणं विज्जाएसु उत्तरगुणलद्धिखममाणस्स विज्जाचारणलद्धी णामं लद्धी समुप्पज्जइ,से तेणट्ठेणं० जाव विज्जाचारणा, वि० २ । विज्जाचारणस्स णं भंते ! कहं सीहागई, कहं सीहे गइविसए पम्पत्ते ? । गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे० जाव किंचि विसेसाहिए परिक्खेवेणं देवेणं महिड्ढीए० जाव महेसक्खे० जाव इणामेव त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छराणिवाएहिं तिक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा । विज्जाचारणस्स णं तहा सीहागई तहा सीहे गइविसए पम्पत्ते । विज्जाचारणस्स णं भंते ! तिरियं केवइयं गतिविसए पम्पत्ते ? । गोयमा ! से णं एगेणं उप्पाएणं माणुसुत्तरे पव्वए समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता बितिएणं उप्पाएणं णंदिस्सरवरदीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पमिणियत्तइ, पमिणियत्तइत्ता इहमागच्छइ, मागच्छइत्ता इहं चेइयाइं वंदइ,विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवइए गतिविसए पम्पत्ते । विज्जाचारणस्स णं भंते! उड्ढं केवइए गतिविसए पम्पत्ते ?। गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं णंदणवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता बितिएणं उप्पाएणं पंमगवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पमिणियत्तइ, पमिणियत्तइत्ता इहमागच्छइ, मागच्छइत्ता इहं चेइयाइं वंदइ, विज्जाचारस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवइयं गइविसए पम्पत्ते । से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेइ, णत्थि तस्स आराहणा । से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपमिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-जंघाचारणा, जं०२ । गोयमा ! तस्स णं अट्ठमं अट्ठमेणं अणिक्खित्तेणं तओकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स जंघाचारणलद्धी णामं लद्धी समुप्पज्जइ, से तेणट्ठेणं० जाव जंघाचारणा, जंघा० २ । जंघाचारणस्स णं भंते ! कहं सीहागती, कहं सीहे गतिविसए पम्पत्ते ? । गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे एवं जहेव विज्जाचारणस्स, णवरं तिसत्तक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ता णं हव्वमागच्छेज्जा, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तहा सीहागई तहा सीहे गतिविसए पम्पत्ते, सेसं तं चेव । जंघाचारणस्स णं भंते ! तिरियं केवइए गतिविसए पम्पत्ते ?। गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं रुयगवरे दीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पमिणियत्तमाणे बितिएणं उप्पाएणं णंदीसरवरे दीवे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता इहं हव्वमागच्छइ, इहं चेइयाइं वंदइ, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवइए गइविसए पम्पत्ते । जंघाचारणस्स णं भंते ! उड्ढं केवइए गतिविसए पम्पत्ते ? । गोयमा ! से णं इओ एगेणं पंमगवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता तओ पमिणियत्तमाणे बितिएणं उप्पाएणं णंदणवणे समोसरणं करेइ, करेइत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, वंदइत्ता इहमागच्छइ, मागच्छइत्ता इह चेइयाइं वंदइ, जंघाचारणस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवइए गतिविसए पम्पत्ते । से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपमिक्कंते कालं करेइ,णत्थि तस्स आराहणा । से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपमिक्कंते कालं करेइ, अत्थि तस्स आराहणा । सेवं भंते ! भंते त्ति॥

ते च द्विभेदाः-जङ्घाचारणाः, विद्याचारणाश्च । तत्र ये चारित्रतपोविशेषप्रभावतः समुद्भूतगमनागमनविषयलब्धिसंपन्नास्ते जङ्घाचारणाः । ये पुनर्विद्यावशतः समुत्पन्नगमनागमनलब्धयस्ते विद्याचारणाः । जङ्घाचारणाश्च रुचकवरद्वीपं यावत् गन्तुं समर्थाः, विद्याचारणा नन्दीश्वरं, तत्र जङ्घाचारणा यत्र कुत्रापि गन्तुमिच्छवस्तत्र रविकरानपि निश्रीकृत्य गच्छन्ति, विद्याचारणास्त्वेवमेव । जङ्घाचारणश्च रुचकवरद्वीपं गच्छन् एकेनैवोत्पातेन गच्छति, प्रतिनिवर्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन नन्दीश्वरमायाति, द्वितीयेन स्वस्थानं, यदि पुनर्मेरुशिखरं जिगमिषुस्तर्हि प्रथमेनैवोत्पातेन पण्डकवनमधिरोहति, प्रतिनिवर्तमानस्त्वेकेनेति । प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनमागच्छति, द्वितीयेन स्वस्थानमिति, जङ्घाचारणो हि चारित्रातिशयप्रभावतो भवति, ततो लब्ध्युपजीवेन औत्सुक्यभावतः प्रमादसंभवात् चारित्रातिशयनिबन्धना लब्धिरपि ह्रीयते, ततः प्रतिनिवर्तमानो द्वाभ्यामुत्पाताभ्यां स्वस्थानमायाति, विद्याचारणः पुनः प्रथमेनोत्पातेन मानुषोत्तरं पर्वतं गच्छति, द्वितीयेन तु नन्दीश्वरं, तत्र च गत्वा चैत्यानि वन्दते, ततः प्रतिनिवर्त्तमानस्त्वेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति । तथा मेरुं गच्छन् प्रथमेनोत्पातेन नन्दनवनं गच्छति, द्वितीयेन पण्डकवनं, तत्रैव चैत्यानि वन्दित्वा ततः प्रतिनिवर्तमान एकेनैवोत्पातेन स्वस्थानमायाति । विद्याचारणो हि विद्यावशाद्भवति, विद्या च परिशील्यमाना स्फुटा स्फुटतरोपजायते । ततः प्रतिनिवर्त्तमानस्य शक्त्यतिशयसंभवादेकेनैवोत्पातेन स्वस्थानागमनमिति ।

उक्तं च-

"अइसयचरणसमत्था, जंघाविज्जाहि चारणा मुणयो ।
जंघाहि जाइ पढमो, नीसं काउं रविकरे वि ॥
एगुप्पाएण गतो, रुयगवरम्मितो ततो पडिनियत्तो ।
बिइएणं नंदिस्सर-मिहं ततो एइ तइएणं ॥
पढमेण पंडगवणं, बिइउप्पाएण नंदणं एइ ।
तइउप्पाएण ततो, इह जंघाचारणो होइ ॥
पढमेण माणुसोत्तर-नगम्मि नंदिस्सरं तु बिइएणं ।
एइ तओ तइएणं, कयचेइयवंदणो इहइं ॥
पढमेण नंदणवणे, बीउप्पाएण पंडगवणम्मि ।
एइ इहं तइएणं, जो विज्जाचारणो होइ " ॥ आ० म० प्र० । विशे० । प्रज्ञा० । जी० । पा० । स्था० । आ० चू० ।

अन्येऽपि बहुभेदाश्चारणा भवन्ति । तद्यथा-आकाशगामिनः पर्यङ्कासनावस्थानिषण्णाः कायोत्सर्गशरीरपादोत्-क्षेपनिक्षेपक्रमादिना व्योमचारिणः, केचित्तु जलजङ्घाफलपुष्पपत्रश्रेण्यग्निशिखाधूमनीहारावश्यायमेघवारिधारामर्कटकतन्तुज्योतीरश्मिपवनाद्यालम्बनगतिपरिणामकुशलाः । तथाहि-जलमुपेत्य वापीनिम्नगासमुद्रादिष्वप्कायिकजीवानविराधयन्तो जले भूमाविव पादोत्क्षेपकुशलाः जलचारणाः १, भुव उपरि चतुरङ्गुलप्रमिते आकाशे जङ्घानिक्षेपोत्क्षेपनिपुणाः जङ्घाचारणाः २, नानाद्रुमफलान्युपादाय फलाश्रयप्राण्यविरोधेन फलतले पादोत्क्षेपनिक्षेपकुशलाः फलचारणाः ३, नानाद्रुमलतागुल्मपुष्पाण्युपादाय पुष्पसूक्ष्मजीवानविराधयन्तः कुसुमतलदलावलम्बनसंसर्गतया पुष्पचारणाः ४, नानावृक्षगुल्मवल्लीलतावितानप्रवालतरुणपल्लवालम्बनेन पर्णसूक्ष्मजीवानविराधयन्तः चरणोत्क्षेपनिक्षेपपटवः पत्रचारणाः ५, चतुर्योजनशतोच्छ्रितस्य निषधस्य नीलस्य वाऽद्रेष्टङ्कच्छिन्नां श्रेणिमुपादायोपर्यधो वा पादनिक्षेपोत्क्षेपपूर्वकमुत्तरणावतरणनिपुणाः श्रेणिचारणाः ६, अग्निशिखामुपादाय तेजःकायिकानविराधयन्तः स्वयमदह्यमानाः पादविहारनिपुणा अग्निशिखाचारणाः ७, धूमवर्ति तिरश्चीनामूर्द्धगां वा आलम्ब्यास्खलितगमनास्पन्दिनो धूमचारणाः ८, नीहारमवष्टभ्याप्कायिकपीडामजनयन्तो गतिमसङ्गामश्नुवाना नीहारचारणाः ९, अवश्यायमाश्रित्य तदाश्रयजीवानुपरोधेन यान्तोऽवश्यायचारणाः १०, नभोवर्त्मनि प्रविततजलधरपटलपटास्तरणे जीवानुपघातिचङ्क्रमणप्रभवा मेघचारणाः ११, प्रावृषेण्यादिजलधरादेर्विनिर्गतवारिधाराऽवलम्बनेन प्राणिपीडामन्तरेण यान्तो वारिधाराचारणाः १२, कुब्जवृक्षान्तरालप्रात्तिनभःप्रदेशेषु कुब्जवृक्षादिसंबद्धमर्कटतन्त्वालम्बनपादोद्धरणनिक्षेपावदाना मर्कटतन्तूनच्छिन्दयन्तो मर्कटकतन्तुचारणाः १३, चन्द्रार्कग्रहनक्षत्राद्यन्यतमज्योतीरश्मिसंबन्धेन भुवीव पादविहारकुशला ज्योतीरश्मिचारणाः १४, पवनेऽनेकदिग्मुखोन्मुखेषु प्रतिलोमानुलोमवर्तिषु तत्प्रदेशावलीमुपादाय गतिमस्खलितचरणविन्यासा नभसि यान्तो वायुचारणाः १५ । इति चारणाश्च सातिरेकाणि सप्तदशयोजनसहस्राणि ऊर्द्धमुत्पत्य पश्चात्तिर्यगागच्छन्ति । उक्तं च समवायाङ्गे—" इमीसे णं रयणप्पभाए पुढवीए बहुसमरमणिज्जाओ भूमिभागाओ साइरेगाइं सत्तरस जोअणसहस्साइं उड्ढं उप्पइत्ता तओ पच्छा चारणाणं तिरियं गती य वत्तति त्ति " ग० २ अधि० ।

चारणगण-चारणगण-पुं० । श्रीगुप्ताचार्यान्निर्गते स्वनामख्याते वीरतीर्थीयानामेकक्रियावाचनानां साधूनां समुदाये, स्था० ९ ठा० ।

थेरेहिंतो णं सिरिगुत्तेहिंतो हारियसगोत्तेहिंतो इत्थ णं चारणगणे नामं गणे निग्गए । तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, सत्त य कुलाइं एवमाहिज्जंति । से किं तं साहाओ ? । एवमाहिज्जंति । तं जहा-हारिअमालागारी १, संकासिआ २, गवेधुआ ३, वज्जनागरी ४ । सेत्तं साहाओ । से किं तं कुलाइं ? । एवमाहिज्जंति । तं जहा-

"पढमित्थ वच्छलिज्जं, बीअं पुण पीइधम्मिअं होइ ।
तइअं पुण हालिज्जं, चउत्थयं पूसमित्तिज्जं ॥ १ ॥
पंचमगं मालिज्जं, छट्ठं पुण अज्जवेरयं होइ ।
सत्तमगं कण्हसहं, सत्त कुला चारणगणस्स ॥ २ ॥" कल्प० ८ क्षण ।

चारणपुंगव-चारणपुङ्गव-पुं० । चारणप्रधाने, प्रति० ।

चारणभावणा-चारणभावना-स्त्री० । ब० व० । चारणशब्दे चारणस्योक्तं स्वरूपम्, चारणस्वरूपं भाव्यते सविस्तरं प्रतिपाद्यते यासु ताश्चारणभावनाः । अङ्गबाह्यकालिकश्रुतभेदे, पा० । ताश्च षोडशवर्षपर्यायस्य दीयन्ते । पं० व० ४ द्वार ।

चारणलद्धि-चारणलब्धि-स्त्री० । लब्धिभेदे, यद्वशाच्चारणलब्धिर्विद्याधरलब्धिश्च जायते । आ० चू० १ अ० । प्रव० ।

चारणसमण-चारणश्रमण-पुं० । बहुविधैश्वर्यभूतलब्धिकलापोपेते महातपस्विनि, सूत्र० २ श्रु० ४ अ० । तथा योगशास्त्रवृत्तिगतवसुराजाधिकारे चारणश्रमणानां निशि गमनागमनं दृश्यतेऽतो निशि चारणश्रमणा व्योम्नि गमनागमनं कुर्वन्ति न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-चारणश्रमणा निशि व्योम्नि गमनागमनं कुर्वन्ति, श्रीपार्श्वनाथचरित्रादावपि तथैव दर्शनादिति । ६५ प्र० सेन० १ उल्ला० ।

चारपुरिस-चारपुरुष-पुं० । गुप्तिरक्षकेषु, आ० म० प्र० ।

चारभड-चारभट-पुं० । राजपुरुषे, सू० १ उ० । प्रश्न० । नि० चू० । चौरग्राहे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । आ० क० ।

चारि-चारि-स्त्री० । भोजनसंपत्तौ, ध० ३ अधि० । विशे० । नं० ।

चारिचरकसंजीव-न्यचरकचारणविधानतश्चरमे ।
सर्वत्र हिता वृत्ति-र्गाम्भीर्यात्समरसापत्त्या ॥ ११ ॥

चारिश्चरको भक्षयिता, संजीवन्या ओषधेश्चरकोऽनुपभोक्ता, तस्य चारणमभ्यवहरणं, तस्य विधानं संपादनं, तस्माच्चारिचरकसंजीवन्यचरकचारणविधानतः, चरमे भावनामयज्ञाने सति, सर्वत्र सर्वेषु जीवेषु हिता वृत्तिः हितहेतुः प्रवृत्तिः, न कस्यचिदहिता । गाम्भीर्यादाशयविशेषात् समरसापत्त्या सर्वानुग्रहरूपया, कयाचित् स्त्रिया कस्यचित् पुरुषस्य वशीकरणार्थं परिव्राजिकोक्ता-यथेमं मम वशवर्तिनं वृषभं कुरु, तया च किल कुतश्चित्सामर्थ्यात् स वृषभः कृतस्तं चारयन्ती पाययन्ती चास्ते, अन्यदा च वटवृक्षस्याऽधस्ताद्विश्रमे तस्मिन् पुरुषगवे विद्याधरीयुग्ममाकाशमागमत् । तत्रैकयोक्तम्-अयं स्वाभाविको न गौः ।

द्वितीययोक्तम्-कथमयं स्वाभाविको भवति ?। तत्राद्ययोक्तम्-अस्य वटस्याधस्तात् संजीवनी नामौषधिरस्ति, यदि तां चरति तदाऽयं स्वाभाविकः पुरुषो जायते। तच्च विद्याधरीवचनं तया स्त्रिया समाकर्णितं, तया चौषधि विशेषतो अजानानया सर्वामेव चारिं तत्प्रदेशवर्तिनीं सामान्येनैव चारितः, यावत्संजीवनीमुपभुक्तवान्, तदुपभोगानन्तरमेवासौ पुरुषः संवृत्तः। एवमिदं लौकिकमाख्यानकं श्रूयते। यथा तस्याः स्त्रियास्तस्मिन् पुरुषगवे हिता प्रवृत्तिः, एवं भावनाज्ञानसमन्वितस्यापि सर्वज्ञ भव्यसमुदाये अनुग्रहप्रवृत्तस्य हितैव प्रवृत्तिरिति ॥ षो० ११ विव० ।

चारिसंजीवनीचार-न्याय एष सतां मतः ।

नान्यथाऽत्रेष्टसिद्धिः स्यात्, विशेषेणाऽऽदिकर्मणाम् ।११९।

चारेः प्रतीतरूपाया मध्ये संजीवन्यौषधिविशेषश्चारिसंजीवनी, तस्याश्चारश्चरणं, स एव न्यायो दृष्टान्तश्चारिसंजीवनीचारन्यायः, एषोऽविशेषेण देवतानमस्करणीयतोपदेशः सतां शिष्टानां मतोऽभिप्रेतः ॥ ११९ ॥ यो० विं० ॥

चारित्त-चारित्र-न० । श्रमणत्वे, संथा० । अष्टादशशीलाङ्गसहस्रनिष्प्रतिपत्तौ, पं० चू० । पं० व० । स्थूलसूक्ष्मप्राणातिपातादिविरमणपरिणामाऽऽत्मके, आ० म० द्वि० । आचा० । क्रियारूपेऽर्थे, आव० ६ अ० । सर्वसावद्ययोगपरिहारनिरवद्ययोगसमाचाररूपेऽर्थे, ध० ३ अधि० । बाह्ये सदनुष्ठाने, आ० १ श्रु० १ अ० । निष्कारणं सदोषभुजां जघन्यतोऽपि चारित्रं स्यान्न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-" जं किंचि वि पूइकडं, सड्ढीमागंतु ईहितं । सहस्संतरिअं भुंजे, दुपक्खं चेव सेवई ॥१॥" इत्यादिश्रीसूत्रकृदङ्गादिवचनप्रामाण्यान्मुख्यतस्तदभावः, परं सशूकनिःशूकादिपरिणामभेदेन गूढागूढालम्बननिरालम्बनत्वेन केषाञ्चित्कथमपि स्यादपि, न स्यादपि केषाञ्चिदत एव पार्श्वस्थादिष्वपि देशसर्वभेदेन भूयानधिकारः सिद्धान्ते प्रोक्तोऽस्तीति । १०१ । प्र० सेन० २ उल्ला० । तथैकेन केनचिच्चारित्रं ब्रह्मचर्यादिव्रतं गृहीतं पश्चात्कर्मवशाद्भग्नम्, अपरेण तु तद्भङ्गभयादेव न गृहीतं, तयोर्मध्ये को गुरुः कश्च लघुरिति साक्षरं प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-येन व्रतग्रहणवेलायां शुभाध्यवसायेन यत्कर्मार्जितं बोधिलाभस्वर्गायुर्बध्नाति तदर्जितमेव गौतमप्रतिबोधितहालिकवत् कर्मवशाच्च तद्भङ्गेऽपि निन्दागर्हाऽऽदिना नन्दिषेणादिवत् शुद्धोऽपि स्यात्तदपेक्षया स लघुकर्मा, येन तु तद् भङ्गभयादेव न गृहीतं स गुरुकर्मा, तद्ग्रहणलाभाभावादिति, अन्यथा तु "वयभंगे गुरुदोसो, थेरस्स वि पालणा गुणकरी अगुरुलाघवं च नेअं" ९७ प्र० सेन० ३ उल्ला० ।

चारित्तगिरिपज्जिया-चारित्रगिरिपद्धिका-स्त्री० । चारित्रं सर्वसावद्ययोगपरिहारनिरवद्ययोगसमाचाररूपं, तदेव गिरिः पर्वतस्तस्य पद्धिकेव पद्धिका । गृहिधर्मे, ध० । पद्यारोहेण पुमान् यथा सुखेन महाशैलमारोहति तथा निष्कलङ्कानुपालितश्रमणोपासकाचारः सर्वविरतिं सुखेनावगाहत इति भावः । ध० २ अधि० ।

चारित्तट्ठ-चारित्रार्थ्य-न० । तपसि द्वादशविधे संयमे सप्तदशविधे सम्यगनुष्ठाने, सूत्र० २ श्रु० ।

चारित्तपज्जव-चारित्रपर्यव-पुं० । ६ त० । सर्वविरतिरूपपरिणामस्य बुद्धिकृते अविभागपलिच्छेदाविषयकृते वा पर्याये, भ० २५ श० ६ उ० ।

चारित्तपरिणाम-चारित्रपरिणाम-पुं० । सर्वविरतिपरिणतौ, पञ्चा० २ विव० । प्रव्रज्यास्थतत्त्वे, पं० व० ४ द्वार ।

चारित्तपालण-चारित्रपालन-न० । चयरिक्तीकरणं चारित्रं तस्य पालनं यत्तत्तथा । सकलसमितिगुप्तिप्रत्युपेक्षणाद्यनुष्ठानकरणे, दर्श० ।

चारित्तब्भंस-चारित्रभ्रंश-पुं० । भ्रष्टचारित्रत्वे, (ग०)

अथ वाङ्मात्रेणापि भ्रष्टचारित्रस्य दण्डप्रतिपादनद्वारेण प्रस्तुतमेवाह-

वायामित्तेण वि ज-त्थ भट्ठचारित्तस्स निग्गहं विहिणा ।

बहुलद्धिजुअस्सावी, कीरइ गुरुणा तयं गच्छं ॥३१॥

वाङ्मात्रेणापि, किं पुनः कायेनेत्यपिशब्दार्थः । यत्र गच्छे भ्रष्टचरितस्य क्षपितचारित्रस्य साधोः (निग्गहं ति) नपुंसकत्वं प्राकृतत्वात् निग्रहो दण्डो विधिनाऽऽगमोक्तप्रकारेण, कथंभूतस्य बहुलब्धियुतस्यापि अनेकलब्धिसमन्वितस्यापि, क्रियते विधीयते, गुरुणाऽऽचार्येण, क्षुल्लकस्येव पित्रा, स गच्छः स्यादिति । ग० २ अधि० ।

चारित्तभाव-चारित्रभाव-पुं० । चरणपरिणामे, पञ्चा० १७ विव० ।

चारित्तभावणा-चारित्रभावना-स्त्री० । चारित्रस्य फलपर्यालोचनायाम, आव० ४ अ० । (" नवकम्माणायाणं, पोराणविणिज्जरं सुभादाणं । चारित्तस्स व णाए, झायमयत्तेण य समेइ ॥३२॥" इति ' झाण ' शब्दे व्याख्यास्यते)

चारित्तभेइणी-चारित्रभेदिनी-स्त्री० । कुतीर्थकज्ञानादिरूपायां विकथायाम, न संभवन्तीदानीं महाव्रतानि साधूनां, प्रमादबहुलत्वादतिचारशोधकाचार्यतत्कारकशुद्धीनामभावादित्यादिरूपा । ध० ३ अधि० । ग० ।

चारित्तरसायण-चारित्ररसायन-न० । चरणशरीरस्य पुष्टिकरणात् रसायनोपमिते, पञ्चा० १० विव० ।

चारित्तवंत-चारित्रवत्-त्रि० । साधौ, षो० १ विव० ।

चारित्तविणय-चारित्रविनय-पुं० । चारित्रमेव विनयः, चारित्रस्य वा श्रद्धानादिरूपो विनयश्चारित्रविनयः । विनयभेदे, "सामाइयादि चरण-स्स सद्दहणया तहेव कायेणं । संफासणं परूवण-मह परओ भव्वसत्ताणं ।" स्था० ७ ठा० । "से किं तं चारित्तविणए ?। चारित्तविणए पंचविहे पण्णत्ते । तं जहा-सामाइअचारित्तविणए छेदोवट्ठावणिअचारित्तविणए परिहारविसुद्धिचारित्तविणए सुहुमसंपरायचारित्तविणए अहक्खायचारित्तविणए, से त्तं चारित्तविणए" ॥ औ० ॥

चारित्तविसोहि-चारित्रविशोधि-स्त्री० । चारित्रस्याचारपरिपालनतो विशुद्धौ, स्था० १० ठा० ।

चारित्तसंका-चारित्रशङ्का-स्त्री० । पद्मचरिते अनन्या जैनरथकर्षणाभिग्रहप्रासनूननिर्गततापसाश्रमावस्थितजनमेजयनृपसुतामदनावल्यनुरागादिसकलचरित्रं हरिषेणचक्रिणः प्रोक्तं, श्रीउत्तराध्ययनवृत्तिभावविजयादौ च महापद्मचक्रिचरित्रमिति कथमेतेषां संगतिर्विचारणीया, तत्कारितप्रासादस्य दर्शनेन हरिषेणसांनिध्यमेव संगतिमङ्गति, परमन्यपक्षे बहुग्रन्थ-

सम्मतिरिति यद्वाऽऽरेका समुत्पद्यत इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र मतान्तरमवसीयत इति ॥ ए० प्र० सेन० १ उल्ला० ।

चारित्तसमाहि–चारित्रसमाधि–पुं०। अभ्युद्यतविहारमरणयोः, चारित्रसमाधावपि विषयसुखनिस्पृहतया निष्किञ्चनोऽपि परं समाधिमाप्नोति । तथा चोक्तम्-" तणसंथारनिसरणो, वि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो। जं पावइ मुत्तिसुहं, कत्तो तं चक्कवट्टी वि ॥ " सूत्र० १ श्रु० १० अ० ।

चारित्तायार–चारित्राचार–पुं० । समितिगुप्तिरूपे आचारभेदे, स्था० २ ठा० ३ उ० । पञ्चा० । ध० । नं० ।

पणिहाणजोगजुत्तो,पंचहिँ समिईहिँ||तिहिँ च गुत्तीहिं ।
एस चरित्तायारो, अट्ठविहो होइ नायव्वो ॥ १ए१॥

प्रणिधानं चेतःस्वास्थ्यं तत्प्रधाना योगा व्यापाराः तैर्युक्तः समन्वितः प्रणिधानयोगयुक्तः । अयं चौघतोऽविरतसम्यग्दृष्टिरपि भवति । अत आह-पञ्चभिः समितिभिस्तिसृभिश्च गुप्तिभिर्यः प्रणिधानयोगयुक्तः एतद्योगयुक्त एतद्योगवानेव । अथवा-पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिष्वस्मिन् विषये एता आश्रित्य प्रणिधानयोगयुक्तो यः, एष चारित्राचारः, आचाराचारवतोः कथञ्चिदव्यतिरेकात् अष्टविधो भवति ज्ञातव्यः, समितिगुप्तिभेदात् । समितिगुप्तिरूपं च गुप्तप्रवीचाराप्रवीचाररूपं यथा प्रतिक्रमणे इति गाथार्थः । उक्तश्चारित्राचारः ॥१६१॥ दश० ३ अ० ।

चारित्ति(ण्)–चारित्रिन्–पुं० । शीलवति,पं० व० १द्वार । निरतिचारचारित्रवति, ध० २ अधि० ।

चारित्रिणः स्वरूपत आह–

मग्गणुसारी सद्धो, पन्नवणिज्जो कियापरो चेव ।
गुणरागी सक्कारं–भसंगओ तह य चारित्ती ॥६॥

मार्गं, तत्त्वपथमनुसरत्यनुयातीत्येवंशीलो मार्गानुसारी-निसर्गतस्तत्त्वानुकूलप्रवृत्तिः, चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमात् । एतच्च तत्त्वावाप्तिं प्रत्यवन्ध्यकारणं, कान्तारगतविवक्षितपुरप्राप्तिसद्योग्यतायुक्तस्येव, तथा श्राद्धः-तत्त्वं प्रति श्रद्धावान्, तत्प्रत्यनीकक्लेशह्रासातिशयाद्वासव्यमहानिधानतद्ग्रहणविधानोपदेशश्रद्धालुनरवत् विहितानुष्ठानरुचिर्वा तथा, अत एव कारणद्वयात् प्रज्ञापनीयः-कथञ्चिदनाभोगादन्यथाप्रवृत्तौ तथाविधगीतार्थेन संबोधयितुं शक्यः,तथाविधकर्मक्षयोपशमादविद्यमानासदभिनिवेशः प्राप्तव्यमहानिधितद्ग्रहणादन्यथाप्रवृत्तसुकरसंबोधननरवत्तथा,अत एव कारणात्क्रियापरः-चारित्रमोहनीयकर्मक्षयोपशमान्मुक्तिसाधनानुष्ठानकरणपरायणः तथाविधनिधानग्राहकवत् , चशब्दः समुच्चये,एवशब्दोऽवधारणे, एवं चानयोः प्रयोगः-क्रियापर एव नाक्रियापरोऽपि सत्क्रियारूपत्वाच्चारित्रस्य, तथा गुणरागी-विशुद्धाध्यवसायतया स्वगतेषु परगतेषु वा गुणेषु ज्ञानादिषु रागः प्रमोदो यस्यास्त्यसौ गुणरागी, निर्मत्सर इत्यर्थः । तथा शक्यारम्भसङ्गतः-कर्तुं शकनीयानुष्ठानयुक्तो, न शक्ये प्रमाद्यति , न चाशक्यमारभत इति भावः। तथा चेति समुच्चयार्थः । ततश्च मार्गानुसारितादिगुणयुक्तः शक्यारम्भसंगतश्चेति स्यात् चारित्री, सर्वतो देशतो वा चारित्रयुक्तो भवतीति गम्यमिति गाथार्थः॥६॥ पञ्चा०२ विव०।

चारिय–चारिक–पुं० । हैरिके, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । सू० । मापिमके, नि० चू० १ उ० ।

चारु–चारु–त्रि० । शोभने, सू० प्र० २० पाहु० । उपा० । षो० । औ० । चारु शोभनमुल्लपितं च मन्मनभाषितादि, तत्सहगतमुखादिविकारोपलक्षणमेतत्, प्रेक्षितं चार्द्धकटाक्षवीक्षितादि,उल्लपितप्रेक्षितम । उत्त० १६ अ० । औ० । चं० प्र० । विशिष्टचक्रिमोपेते , रा० । तृतीयतीर्थंकरस्य प्रथमशिष्ये , स० । नि० । प्रहरणविशेषे , जी० ३ प्रति० ।

चारुणिया–चारुणिका–स्त्री० । चारुणदेशोत्पन्नायां दास्याम, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चारुदत्त–चारुदत्त–पुं० । कुक्कुटेश्वरतीर्थकारकस्य ईश्वरनृपस्य जीवे, ती० ५५ कल्प । ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना परिणीतायाः कात्यायनीनाम्न्याः कन्यायाः पितरि, उत्त० १३ अ० ।

चारुदत्तदृष्टान्तश्चायम्–

अत्थिऽत्थ पवरनयरी, चंपा कुंपागलोगपरिभुत्ता ।
तत्थ य सिट्ठी भाणू, भाणू इव भुयणकमलाणं ॥ १ ॥
तस्स सुभद्दा गिहिणी, अइनिम्मलसीलधम्मवरधरणी ।
पुत्तो य चारुदत्तो, सुदंतिदंतु व्व विमलगुणो ॥ २ ॥
मित्तेहिँ सह रमंतो, पयाणुसारेण खयरमिहुणस्स ।
स कयावि कयलिगेहे, पत्तो पिच्छेइ असिफलगं ॥ ३ ॥
तत्थ दुमेणं सद्धिं, दट्ठुं सव्वंगकीलियं खयरं ।
तस्सासिकोसमज्झे, ओसहितियगं तहा तेण ॥ ४ ॥
निस्सल्लो रूढवणो, सचेयणो ताहिँ ओसहीहिँ कओ ।
सो जंपइ वेयड्ढे, गिरिम्मि सिवमंदिरपुरम्मि ॥ ५ ॥
पुत्तो माहिंदविक्कम-नरवइणोऽमियगइ त्ति खयरोऽहं ।
धूमसिहवयस्सेणं, जुत्तो सेच्छाएँ कीलंतो ॥ ६ ॥
हरिमंतपव्वयगओ, हिरण्णरोमस्स माउलस्स सुयं ।
सुकुमालियं ति दट्ठुं, मयणत्तो लो गओ सपुरं ॥ ७ ॥
मित्ताउ तयं नाउं, पिउणा परिणाविओ य तस्स सुयं ।
अह धूमसिहो तीए, अहिलासी सो मए नाओ ॥ ८ ॥
सुकुमालियाएँ तेण य, समम्मिओ तह य आगओ इहयं ।
सो मं पमत्तयं की-लिऊण हरिउं गओ जज्जं ॥ ९ ॥
तुमए त्ति मोइओ ते-ण तुज्झ नाहं भवामि रिणमुक्को ।
इय भणिय गओ खयरो, सिट्ठिसुओ नियगिहं पत्तो ॥ १० ॥
सव्वट्ठमाउलसुयं, पिउणा उव्वाहिओ स मित्तवई ।
तह वि हु नीरागमणो, खित्तो दुल्ललियगोट्ठीए ॥ ११ ॥
पत्तो गणियाएँ गिहे, वसंतसेणाएँ तीएँ आसत्तो ।
सोलससुवन्नकोडी, बारसवरिसेहिँ सो देइ ॥ १२ ॥
अक्काएँ निद्धणु त्ति य, गिहाउ निस्सारिओ गओ सगिहं ।
नाउं पिऊण मरणं, गाढयरं दूमिओ चित्ते ॥ १३ ॥
भज्जाएँ भूसणेहिं, माउलसहिओ गओ वणिज्जेणं ।
नयरे उसीरवत्ते, कप्पासो तत्थ बहु किणिओ ॥ १४ ॥
जंतस्स तामलित्तिं, मग्गे दड्ढो दवेण सो सयलो ।
निब्भग्गसेहरो त्त य, माउलएणावि सो चत्तो ॥ १५ ॥
आसारूढो गच्छइ, पच्छिमदिसि तयणु से मओ तुरगो ।
छुहतण्हपरिकिलंतो, तत्तो पत्तो पियंगुपुरं ॥ १६ ॥
सिट्ठी सुरिंददत्तो, पिउमित्तो तत्थ तस्सगासाओ ।
वुड्ढीएँ दव्वलक्खं, गहिउं सो पोयमारूढो ॥ १७ ॥

पत्तो जमुणादीवं, तस्स पुरेसुं गमागमेणं च ।
अज्जेइ चारुदत्तो, कहमवि कणगट्ठकोडीओ ॥ १८ ॥
अह तस्स नियपदेसा-भिमुहं इंतस्स पवहणं फुट्टं ।
तो फलगगओ सत्तहिँ, दिणेहिँ किच्छेण उत्तिण्णो ॥ १९ ॥
उव्वरवइश्वेलतमे, पत्तो रायपुरबाहिरुज्जाणे ।
तत्थ तिदंमी दिणकर-पहनामो तस्स सांमिलिओ ॥ २० ॥
तेणं सह सो पत्तो, रसहेउं पव्वयस्स कूवीए ।
मंचीएँ निओ तुंबय-सहिओ रज्जूएँ ओइओ ॥ २१ ॥
ता केण वि भणियमियं, को सि तुमं तयणु तेण इय वुत्तं ।
वणिओ मि चारुदत्तो, तिदंडिपणित्थ पक्खित्तो ॥ २२ ॥
सो भणइ पुणो वणिओ, इमिणा खित्तिओ पि इत्थ मे देहो ।
अद्धो रसेण खद्धो, तुमं पि ता इत्थ मा विससु ॥ २३ ॥
इय भणिऊणं तेणं, समप्पियं तस्स भरियरसतुंबं ।
रज्जूएँ कड्ढियाए, तिदंडिणा कड्ढिओ सो उ ॥ २४ ॥
मग्गइ रसतुंबं तं, नो तरइ तेण तो रसो चत्तो ।
अह लिंगिणा स खित्तो, पडिओ रसकूवियाएँ तमे ॥ २५ ॥
तो वणिणा सो वुत्तो, गोहापुच्छेण उत्तरिज्जासु ।
एवमिमो उत्तरिओ, सुमिरंतो पंचनवकारं ॥ २६ ॥
जा गिरिकुहराउ बहिं, निक्खंतो ताव धाविओ महिसो ।
तो सो सिलाएँ उवरिं, आरूढो जाव चिट्ठेइ ॥ २७ ॥
ता निग्गओ अयगरो, तेसिं जुज्झंतयाण सो नट्ठो ।
मिलिओ माउलपुत्तो, अहसया रुद्ददत्तो सो ॥ २८ ॥
भंडं अलत्तयाइं, घित्तुं चलिया सुवन्नभूमुवरिं ।
तरिउं वेगवइनइं, गिरिकूडे ते गया दो वि ॥ २९ ॥
तो वित्तवणे तत्तो, टंकणदेसम्मि तत्थ दो मेसा ।
किणिउं तेसुं चडिउं, पंथो अइलंघिओ बहुओ ॥ ३० ॥
रुद्देण तओ वुत्तं, अओ परं नत्थि भूमि चारु त्ति ।
तो मेसे मारेउं, वच्छ्लेउं च पविसामो ॥ ३१ ॥
तो पक्खब्भंतीए, भारुंडविहंगमेहिँ नक्खित्ता ।
वच्चिस्सामो अम्हे, सुवन्नभूमिं सुहेणावि ॥ ३२ ॥
अह तेणुत्तो रुद्दो, जेहिं उत्तारिया विसमभूमिं ।
ते मेसे कह हणिमो, हियजणए परमबंधु व्व ? ॥ ३३ ॥
रुद्दो भणइ न एसिं, तं सामी तेण मारिओ मेसो ।
निहओ बीओ य पुणो, तरलच्छो नियइ जाणुसुयं ॥ ३४ ॥
तो वुत्तो तेण इमं, ताडमसत्तो तुमं किमु करेमि ? ।
जिणधम्मं पडिवज्जसु, सरणं विहुरे वि बंधुसमं ॥ ३५ ॥
दिन्नो नवकारो त-स्स चारुदत्तेण, अह हओ छगलो ।
रुद्देण, तओ दुन्नि वि, तब्भत्थासुं पविट्ठा ते ॥ ३६ ॥
झुरियाहत्था विहगे-हिँ उड्डिआ एगआमिसत्थीणं ।
तेसिं जुज्झंताणं, जाणुसुओ सरवरे पडिओ ॥ ३७ ॥
छुरियाएँ छित्तु भत्थं, निस्सरिऊणं गओ नगं एगं ।
दिट्ठो तत्थुस्सग्गो, ठिओ मुणी वंदिओ तेण ॥ ३८ ॥
पारियकाउस्सग्गो, भणइ मुणी धम्मलाभ मह दाउं ।
कहमित्थ भूमिगोयर-अविसयसेले तुमं पत्तो ? ॥ ३९ ॥
खयरोऽहं अमियगई, तइया तुमए वि मोइओ पत्तो ।
अट्ठावयगिरिपासे, मं दट्ठुं सो अरी नट्ठो ॥ ४० ॥
ता हं नियभज्जं गि-ण्हिऊण सिवमंदिरम्मि संपत्तो ।
रज्जे मं ठविऊणं, मज्झ पिया गिण्हए दिक्खं ॥ ४१ ॥
पुत्तो मे सीहजसो, पत्तीएँ मणोरमाएँ संजाओ ।
बीओ वराहगीवो, मम तुल्ला विक्कमबलेहिं ॥ ४२ ॥
गंधव्वसेणधूया, तह जाया विजयसेणपत्तीए ।
रज्जं जुवरज्जमहं, दाउं पुत्ताण पव्वइओ ॥ ४३ ॥
कक्कोमगसेलोऽयं, लवणजले कुंभकंठगे दीवे ।
अहमित्थ तवेमि तवं, तुमं पि साहसु नियमबंधं ॥ ४४ ॥
सिट्ठसुएण वि सव्वो, नियवुत्तंतो मुणिस्स तो कहिओ ।
अह साहुसुया ते दो, पत्ता तेहिं मुणी नमिओ ॥ ४५ ॥
भणिया ते वरमुणिणा, पुत्ता सो एस चारुदत्तु त्ति ।
इत्थंतरे महिड्ढी, तत्थेगो आगओ तियसो ॥ ४६ ॥
तेण नओ सो पढमं, पच्छा साहू तओ य खयरेहिं ।
पुट्ठो साहइ देवो, हेउं वंदणविवज्जासे ॥ ४७ ॥

तथाहि-

सुलसा तह य सुभद्दा, ससाउ चरियाउ आसि कासीसु ।
वेयंगपारगाओ, तीहिं जिया वाइणो बहवे ॥ ४८ ॥
अह जण्णवायपरिवा-यगेण सुलसा जिया कया दासी ।
बहुसो संसग्गीए, तेण य तीए सुओ जाओ ॥ ४९ ॥
लोगोवहाससीया-णि ताणि तं मुत्तु पिप्पलस्स अहे ।
नट्ठाणि सुभद्दाए, दिट्ठो मुहपक्खियापिंथो सो ॥ ५० ॥
कयपिप्पलायननामो, तीए संवड्ढिओ गहियविज्जो ।
पियमायमेहएमुहे, जन्ने पसुविय ते हणइ ॥ ५१ ॥
तस्स विणेओ वक्कलि-नामाऽहं पसुवहाइ बहु जन्ने ।
काउं नरयम्मि गओ, पंचभवे तो पसू जाओ ॥ ५२ ॥
हणिओ दिएहिँ जन्ने, छट्ठभवेऽणेण दिन्नणवकारो ।
सोहम्मे उववन्नो, तो पुव्वमिमो मए नमिओ ॥ ५३ ॥
इय भणिए चारुदत्तं, नमिउं च गओ सुरो सट्ठाणम्मि ।
खयरेहि तेहि सो पुण, नीओ सिवमंदिरे नयरे ॥ ५४ ॥
सक्कारिओ य संमा-णिओ य अइगरुयगउरवेण तहिं ।
खयरेहि तेहि सद्धिं, जा चलिओ नियपुरीसमुहं ॥ ५५ ॥
ता तत्थ सुरवरो सो, पत्तो तव्विहियनरविमाणम्मि ।
आरूढो सिट्ठिसुओ, समागओ झत्ति चंपाए ॥ ५६ ॥
बहुयाउ कणयकोडी-उ दाउमह सो सुरो गओ सग्गं ।
नमिऊण चारुदत्तं, खयरा वि गया सट्ठाणम्मि ॥ ५७ ॥
सव्वट्ठमाउलो तह, मित्तवई सा वसंतसेणा य ।
सव्वे वि तस्स मिलिया, फुरिया विमला तहा कित्ती ॥ ५८ ॥
अह सो अत्थमणत्थि-क्कमंदिरं जाणिउं विसुद्धमणो ।
परिगहपरिमाणजुअं, गुरुमूले लेइ गिहिधम्मं ॥ ५९ ॥
जहजुग्गं नियदव्वं, सव्वं वविऊण सत्तखित्तेसु ।
मुच्छामच्छरचत्तो, स चारुदत्तो गओ सुगइं ॥ ६० ॥
एवं ज्ञात्वा चारुदत्तस्य वृत्तं,
नित्यं शिष्टाः ! सुष्ठु संतुष्टिपुष्टैः ।
अर्थेऽनर्थक्लेशसंबन्धबद्धे,
धर्मक्षोभं मा स्म धत्त प्रलोभम् ॥ ६१ ॥ ध० र० ।

चारुपाणि-चारुपाणि-त्रि० । चारु प्रहरणविशेषः पाणौ येषां ते चारुपाणयः । करेण चारुनामकप्रहरणधारके, जी० १ प्रति० । रा० ।

चारुपेहिणी-चारुप्रेक्षणी-स्त्री० । चारु प्रेक्षितुमवलोकितुं शीलमस्याश्चारुप्रेक्षिणी । अधोदृष्टितादिदोषादुष्टायाम्, उत्त० १ अ० । सुन्दरावलोकनायां, सुन्दरनयनायां वा । उत्त० २२ अ० ।

चारुरूव-चारुरूप-त्रि० । मनोहररूपे, कल्प० ३ क्षण ।

चारुवण्ण-चारुवर्ण-त्रि० । सत्कीर्तौ, शौर्यादिशरीरवर्णयुक्ते, औ० ।

चारुवेस–चारुवेष–त्रि० । चारुर्वेषो नेपथ्यं सत्प्रज्ञा वा यस्य सः। औ० ३ प्रति० । मनोहरनेपथ्ये , जं० १ वक्ष० ।

चारोवग–चारोपग–पुं० । चारमक्के ज्योतिष्के , सू० प्र० १६ पाहु० ।

चारोववराग–चारोपपन्नक–पुं० । चारो मण्डलगत्या परिभ्रमणं, तमुपपन्नाश्चारोपपन्नाः । चारमाश्रितवत्सु ज्योतिष्केषु, जी० ३ प्रति० । जं० । स्था० ।

चालण–चालन–न० । स्थानात्स्थानान्तरनयने , आ० १ श्रु० ३ अ० ।

चालणा–चालना स्त्री० । गोचरमर्कगोचरं वा तूपमं चाल्यते आक्षिप्यते यया वचनपरूत्या सा चालना । सू०१ उ० । सूत्रस्यार्थस्य वाऽनुपपत्त्युद्भावने , एषैव चालनाऽऽवश्यके सामायिकव्याख्याऽवसरे स्वस्थाने विस्तरवती द्रष्टव्या । अनु० । स्था० । विशे० । अधिकृतानुपपत्तिचोदनायाम्, यथा आस्त्विति प्रार्थना न युज्यते, तन्मात्रादिष्टासिद्धेः । ल० ।

चालणी–चालनी–स्त्री० । (चालनी) तितऊ, आ० क० । आ० म० । विशे० ।

चालणीपडिवक्ख–चालनीप्रतिपक्ष–न० । चालनीप्रतिपक्षभूते वंशदलनिर्मापिते तापसभाजने, ततो हि बिन्दुमात्रमपि न प्रस्रवति । उक्तं च–"तावसखउरकढिणयं, चालणिपडिवक्ख न सवइ दव्वं पि ॥" आ० म० प्र० ।

चालित्तए–चालयितुम्–अव्य० । भङ्गकान्तरं कर्तुमित्यर्थे, उपा० २ अ० ।

चालेमाण–चालयत्–त्रि० । शरीरस्य मध्यभागे संचरति , जी० ३ प्रति० ।

चाव–चाप–पुं० । धनुषि, औ० । आ० म० । जं० । उपा० । जी० । म० । ज्ञा० । प्रश्न० ।

चावपाणि–चापपाणि–त्रि० । चापं पाणौ येषां ते चापपाणयः। धनुर्हस्तेषु, जी० ३ प्रति० । रा० ।

चावल्ल–चापल्य–न० । आत्मपरिणतीनां स्वस्वकार्याकरणे परजावोन्मुखप्रवर्त्तनरूपे अस्थैर्ये, अष्ट० ३ अष्ट० ।

चावाली–चावाला–स्त्री० । स्वनामख्याते ग्रामे , सा चोत्तरदक्षिणभेदाद् द्विधा–"सामी दाहिणचावालीओ उत्तरचावालिं वच्चति" । आ० म० द्वि० । आ० चू० । आ० क० ।

चाविअ–च्यावित–त्रि० । परिभ्रंसिते, अनु० ।

चावेडी–चापेटी–स्त्री० । विद्याभेदे, ययाऽन्यस्य चपेटायां दीयमानायामातुरः स्वस्थीभवति । व्य० ५ उ० ।

चास–चाष–पुं० । किकीदिविनि, प्रश्न०१ आश्र० द्वार । पक्षिविशेषे , रा० । जी० । प्रव० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । उत्त० ।

चासपिच्छ–चापपिच्छ–न० । चापपत्रे, रा० ।

चि अ–अव्य० । "एव-चेअ-चिअ-च अवधारणे" । ८ । २ । १८४ । इति अवधारणे चिअशब्दः । अवधारणे, प्रा० २ पाद । "सेवादौ वा" । ८ । २ । ९९ । इति वा द्वित्वम् । 'तं चेअ' 'तच्चअ' । प्रा० २ पाद ।

चित–त्रि० । व्याप्ते, अनु० ।

चिआग–त्याग–पुं० । संयतेभ्यो वस्त्रादिदाने आव० ४ अ० ।

चिइ–चिति–स्त्री० । 'चिञ्' चयने इत्यस्य क्रियां क्तिन् । कुशलकर्मणा उपचयकरणे, प्रव० २ द्वार । कारणे कार्योपचारात्, रजोहरणाद्युपधिसत्ता, चीयतेऽसाविति वा व्युत्पत्तेः । आव० ३ अ० । इष्टकादिचये, उत्त० ९ अ० ।

चिइकम्म (ण्)–चितिकर्मन्–न० । कृतिकर्मणि वन्दनके, आव० ३ अ० । चितिकर्मापि द्विधैव–द्रव्यतो, भावतश्च । द्रव्यतस्तापसादिलिङ्गग्रहकर्म, अनुपयुक्तसम्यग्दृष्टे रजोहरणादिकर्म च, भावतः सम्यग्दृष्टयुपयुक्तरजोहरणाद्युपधिक्रियेति । (अत्र क्षुल्लकदृष्टान्तः 'किइकम्म' शब्देऽत्रैव भागे ५०७ पृष्ठे उक्तः)

चिइच्छा–चिकित्सा–स्त्री० । "स्वरादनतो वा" ।८ । ४ । २४०॥ इत्यनवः पर्युदासात् ह्रस्वः । प्रा० ४ पाद । "ह्रस्वात् थ्य-श्च-त्स-प्सामनिश्चले" । ८ । २ । २१ । इति त्सभागस्य छः । रोगप्रतिकारे, प्रा० २ पाद ।

चिइवंदणा–चैत्यवन्दना–स्त्री० । पूजापुरःसरमर्हद्बिम्बवन्दने , पञ्चा० १ विव० । ध० ।

चिउर–चिकुर–पुं० । पीतरागद्रव्यविशेषे, जं० १ वक्ष० । आ० म० । प्रज्ञा० । रा० । गन्धद्रव्यविशेषे , रा० । प्रज्ञा० । 'चि' इत्यव्यक्तं शब्दं कुरुति कुर–कः । केशे, वृक्षभेदे, पर्वते, सरीसृपे , चपले , तरले , चञ्चले च । त्रि० । वाच० ।

चिउरंगराग–चिकुराङ्गराग–पुं० । चिकुरसंयोगनिमित्ते वस्त्रादौ रागे , रा० । आ० म० ।

चिउरबंध–चिकुरबन्ध–पुं० । केशबन्धपरिज्ञानलक्षणे स्त्रीकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

चिउरराग–चिकुरराग–पुं० । पीतद्रव्यविशेषनिष्पादिते वस्त्रादौ रागे , प्रज्ञा० १७ पद ।

चिंचइओ–देशी–मण्डिते, चलिते , दे० ना० ३ वर्ग ।

चिंचा–चिञ्चा–स्त्री० । अम्लिकायाम् , सू० १ उ० । व्य० । प्र० प्र० । पं० व० ।

चिंतग– चिन्तक–पुं० । अप्रमादेन ध्यातरि, आव० ४ अ० ।

चिंतण–चिन्तन–न० । अनुस्मरणे, पर्यालोचने, आव० ४ अ० । चेतसि स्मरणे , परिभावने , उत्त० ३२ अ० ।

चिंतणिया–चिन्तनिका–स्त्री० । अनुप्रेक्षायाम्, स्था०५ठा०३उ० ।

चिंतयंत–चिन्तयत्–त्रि० । स्मरति, संथा० । मन्यमाने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० ।

चिंता–चिन्ता–स्त्री० । चिन्तनं चिन्ता । नं० । मनश्चेष्टायाम् आव० ४ अ० । विचारे, उत्त० २३ अ० । पर्यालोचने, सूत्र० १ श्रु० १२ अ० । दश० । स्वरूपपर्यालोचनरूपायां कथायाम् , आव० ४ अ० ।

चिंताजोग–चिन्तायोग–पुं० । अतिसूक्ष्मसंयुक्तिचिन्तनसंबन्धे, षो० ११ विव० ।

चिंताणाण–चिन्ताज्ञान–न० । क्षीररसास्वादतुल्ये, षो०११विव० ।

चिंतामणि–चिन्तामणि–पुं० । चिन्तामात्रेणैवार्थप्रदे मणिभेदे, मन्त्रभेदे, षो० २ विव० ।

चिंतामय–चिन्तामय–त्रि० । चिन्तानिर्वृत्ते, षो० १२ विव० ।

चिंतावग–चिन्तापक–त्रि० । अनुभावके, श्रा० म० द्वि० ।

चिंतासोगसागरप्पविट्ठा–चिन्ताशोकसागरप्रविष्टा–स्त्री० । चिन्तैव शोकसागरश्चिन्ताप्रधानो वा शोकसागरश्चिन्ताशोकसागरस्तं प्रविष्टः । शोकाधिनिमग्ने, सूत्र० २ श्रु० १ अ० ।

चिंतिय-चिन्तित-न० । स्मरणे, भ० ६ श० ३३ उ० । नि० । औ० । नि० चू० । भ० । विपा० । चिन्ता सञ्जाताऽस्मिन्निति चिन्तितः । चिन्ताऽऽत्मके, जी० ३ प्रति० । रा० । औ० । विपा० । सूत्र० । परेण हृदि स्थापिते, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चिंतियव्व–चिन्तितव्य–त्रि० । मनसा विकल्पनीये, तं० । परिभावनीये, पञ्चा० २ विव० ।

चिंतिउं–चिन्तयित्वा–अव्य० । स्मृत्वेत्यर्थे, पं० व० २ द्वार ।

चिंध–चिह्न–न० । चिह्नयते ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नम् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० ७ उ० । "चिह्ने न्धो वा" ॥ ८ । २ । ५० ॥ चिह्ने संयुक्तस्य न्धो वा भवति । बहाऽपवादः, पक्षे सोऽपि । 'चिन्धं' चिण्हं, लाञ्छने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । लिङ्गे, पञ्चा० १ विव० ।

चिंधगय–चिह्नगत–त्रि० । चिह्नानि लक्षणानि गतः । औ० । चिह्नप्राप्ते, औ० ।

चिंधज्झय–चिह्नध्वज–पुं० । चिह्नभूतगरुडसिंहवराहाङ्कितध्वजादौ, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० ।

चिंधज्झयपडाग-चिह्नध्वजपताक-त्रि० । चिह्नध्वजा गरुडादिचिह्नयुक्ताः केतवः पताका यस्य स तथा । चिह्नयुक्तध्वजपताकोपेते, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

चिंधणिप्पन्न-चिह्ननिष्पन्न–त्रि० । लाञ्छिते, " लिंगियं ति वा चिंधणिप्पण्णं ति वा करणणिप्पण्णं ति वा णिमित्तियणिप्पण्णं ति वा पगट्ठा " आ० चू० ६ अ० ।

चिंधपट्ट–चिह्नपट्ट-पुं० । ६ त० । वीरतासूचके नेत्रादिवस्त्रमयपट्टोपेते, औ० ।

चिंधपुरिस–चिह्नपुरुष–पुं० । पुरुषचिह्नैः श्मश्रुप्रभृतिभिरुपलक्षिते नपुंसके पुरुषवेदे, तेन चिह्नयते पुरुष इति कृत्वेति पुरुषवेषधारिणि स्त्र्यादौ । आह च–" पुरिसाकिई नपुंसो, वेओ वा पुरुसवेओ वा " । स्था० ३ ठा० १ उ० । विशे० ।

चिंधित्थी–चिह्नस्त्री–स्त्री० । चिह्नयते ज्ञायतेऽनेनेति चिह्नं, स्तननेपथ्यादिकम् । सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० । चिह्नमात्रेण स्त्रियाम्, ('इत्थी' शब्दे द्वितीयभागे ५९५ पृष्ठे चैतदुक्तम्)

चिंफुल्लणी–देशी–स्त्रीणामर्धोरुकवस्त्रे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिक्कण–चिक्कण–त्रि० । श्लक्ष्णस्कन्धनिष्पन्ने, भ० १७ श० १ उ० । पिच्छिले, तं० । दुर्विमोचे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । आश्लेषवति, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । दारुणे, "कम्म संघेइ चिक्कणं" दशा० ६ अ० ।

चिक्कणंग–चिक्कणाङ्ग–न० । चिगचिगायमाने शरीरे, तं० ।

चिक्कणीकय–चिक्कणीकृत-त्रि० । तथाविधमृत्पिण्डवत् सूक्ष्मकर्मस्कन्धानां सरसतया परस्परं गाढसंबन्धकरणतो दुर्भेदीकृते कर्मणि, भ० ६ श० १ उ० ।

चिक्खल्ल-चिक्खल्ल-न० । चिक्क करोति लाति च भवति चिक्खल्लम् । अनु० । प्रबलकर्दमे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । वृ० । स्था० । आव० । प्रज्ञा० ।

चिक्खल्लय-चिक्खल्लक-न० । उज्जयन्तशैले स्वनामख्याते नगरे, "चिक्खल्लयम्मि नयरे, मउयहरं अत्थि सेलगं दिव्वं । तस्स य मज्झम्मि ठिओ, गणहररस्स कुरूओ चयारि ॥ " ती० २ कल्प ।

चिक्खिल्ल-चिक्खिल्ल-न० । कर्दमे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । स० । औ० ।

चिच-चिंचय-चिंचिल्ल-मण्ड–धा० । चुरादि० भूषायाम् । भूषायाम्, "मण्डेश्चिञ्चचिञ्चअचिञ्चिल्लरीडटिविडिक्काः " ॥ ८ । ४ । ११५ ॥ इति मण्डेश्चिञ्चाद्यादेशाः ॥ " चिञ्चइ, चिञ्चयइ, चिञ्चिल्लइ " मण्डयति । प्रा० ४ पाद ।

चिचणा–देशी–घरट्टिकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिचरो–देशी–चिपिटनासायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिच्चा–त्यक्त्वा–अव्य० । हित्वेत्यर्थे, उत्त० १८ अ० । सूत्र० ।

चिच्चि–चिच्चि–अव्य० । चीत्कारे, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

चिच्चो–देशी–चिपिटनासायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिच्छं–देशी–रमणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिट्ठ–स्था–धा० । ऊर्ध्वस्थानेनापेवशेने , " स्थष्ठाथक्कचिट्ठनिरप्पाः " ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति तिष्ठतेरादेशः । प्रा० ४ पाद । " तिष्ठश्चिष्ठः " ॥ ८ । ४ । २९८ । इति मागध्यां तिष्ठतेश्चिष्ठादेशः । ' चिष्ठइ '–तिष्ठति । प्रा० ४ पाद । ऊर्ध्वस्थानेन, (भ० ११ श० ११ उ०) तिष्ठति, ' चिट्ठइत्ता भवति' स्थाता भवति । दशा० ३ अ० ।

चिट्ठणा–स्त्री०–स्थान–न० । अवस्थाने, "पत्तिट्ठा ठावणा ठाणं, ववत्था संठिती ठिती । अवट्ठाणं अवत्था य, एगट्ठा चिट्ठणा वि य ॥ " वृ० ६ उ० । (उदकतीरे स्थाननिषेधः "दगतीर" शब्दे वक्ष्यते)

चिट्ठमाण-चेष्टमान–त्रि० । अनुष्ठानं विदधति, पञ्चा० १ विव० । तिष्ठत्–त्रि० । अवस्थाने , वाच० ।

चिट्ठा–चेष्टा–स्त्री० । कायव्यापारे, आचा० २ श्रु० २ चू० । नि० चू० । वृ० । देहावस्थायाम्, आव० ४ अ० ।

चिट्ठिउ–स्थित्वा–अव्य० । "स्थष्ठाथक्कचिट्ठनिरप्पाः" ॥ ८ । ४ । १६ ॥ इति स्थाधातोश्चिट्ठादेशः । प्रा० ४ पाद । ऊर्ध्वस्थानेनोपविश्येत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० ।

चिट्ठित्ता–स्थित्वा–अव्य० । 'चिट्ठिउ' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

चिट्ठिय–चेष्टित–न० । भावे क्तः । सकामप्रत्यङ्गावयवप्रदर्शनपुरःसरे प्रियस्य पुरतोऽवस्थाने, तं० प्र० २० पाहु० । सू० प्र० । हस्तन्यासादौ , प्रश्न० ४ संव० द्वार । कृतचेष्टोपेते , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चिट्ठिंसु–क्रिया–स्थितवति, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० ।

चिट्ठियव्व–स्थातव्य–न० । निष्क्रमप्रवेशादिवर्जितस्थाने संयमात्मप्रवचनबाधापरिहारेणोर्ध्वस्थानेनोपवेष्टव्ये, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चिणंसु--क्रिया--अतीतकाले चिन्वति , स्था० २ ठा० ४ उ० । गृहीतवति, स्था० ६ ठा० ।

चिणिज्जंत--चीयमान--त्रि० । 'चिव्वंत' शब्दार्थे, प्रा० ४ पाद ।

चिण्ण--चीर्ण--त्रि० । चर-क्त-इट् । चीर्णे, प्रोषितव्रतमित्यादिकृदितः साधुत्वम् । अन्यथा चरितमिति युक्तम् । उत्त० १३ अ० । पञ्चा० । अङ्गीकृते, निषेविते, उत्त० ३१ अ० । हारिते, भ० १७ श० ३ उ० । सू० प्र० । पञ्चा० । " सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं, " सुचीर्णं सम्यक् प्रकारेण कृतं संयमतपःप्रमुखं सर्वम् । उत्त० १३ अ० ।

चित्त--चित्र--त्रि० । आश्चर्यभूते, विपा०१ श्रु०६अ० । नानाप्रकारे, प्रव० ४ द्वार । जी० । अनेकविधे, स्था० १० ठा० । ज्ञा० । प्रज्ञा० । स० । औ० । विशे० । उत्त० । दर्श० । रा० । आश्चर्यकारिणि, कल्प० ३ क्षण । अतिरम्यतयाऽद्भुते, औ० । शोभयाऽद्भुतभूते, तं० । अनेकरूपवति, सू० प्र० १८ पाहु० । विचित्रे , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । चित्रकारिणि, कल्प० १ क्षण । चित्रवति , उत्त० १७ अ० । प्र० । ज्ञा० । मिथ्यादिश्लेष्ये, " चित्रमेव हि संसारो, रागादिक्लेशवासितम् " । ज्ञा० ३१ ज्ञा० । विशे० । औ० । कर्बुरे, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । आलेखने, रा० । आ० म० । वेणुदेववेणुदारिणोः प्रथमे लोकपाले , स्था० ४ ठा० १ उ० । ज० । शङ्खराजस्य भागिनेये, आ० म० द्वि० । प्रदेशिराजदूते, श्वेतव्यां नगर्यां चित्रनामा दूतः प्रदेशिराज्ञा प्रेषितः श्रावस्त्यां नगर्यां जितशत्रुसमीपे स्वगृहान्निर्गत्य गतः । नि० १ वर्ग । काम्पिल्यनगरे ब्रह्मदत्तचक्रिपूर्वभवजीवस्य सम्भूतस्य चाण्डालयोनेर्भ्रातरि, उत्त०१३ अ० । (स च यतिर्भूत्वाऽनिदान एव मृतः पुरिमतालनगरे श्रेष्ठिकुले उत्पन्नः प्रवव्राजेति ' बंभदत्त ' शब्दे वक्ष्यते) ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्तिनो राजमहिष्योः विद्युन्मालाविद्युन्मत्योः पितरि, उत्त० १३ अ० ।

चित्त--न० । अन्तःकरणे, आव० ४ अ० । आचा० । चित्तं मनो विज्ञानमिति पर्यायाः । अनु० । भ० । मानसे, औ० । आतु० । भावे, पञ्चा० २ विव० । चेतनास्वभावे, षो० १३ विव० । चेतयति येन तत् चित्तम् । ज्ञाने, आचा० १ श्रु० २ अ० ५ उ० । मतौ, आव० ४ अ० । आचार्याभिप्राये, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० । सामान्योपयोगे, अनु० । चित्तं चेतना संज्ञानमुपयोगोऽवधानमिति पर्यायाः । आव० ६ अ० । गत्यागतिस्थितिसकलव्यवहारनिबन्धनस्य बुद्धेराधारे, दर्श० । चित्तमुपयोगो ज्ञानम् । सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । दृढाऽध्यवसाये , बृ० ।

तत्र त्रिविधम्—

कायादितिहिक्किकं, चित्तं तिव्वं मउयं च मज्झं च ।
जह सीहस्स गतीओ, मंदा य पुता दुया चेव ॥

पुनर्दृढाध्यवसायात्मकं चित्तं त्रिधा-कायिकं , वाचिकं , मानसिकं च । कायिकं नाम-यत्कायव्यापारेणोपयुक्तो भङ्गकचारणिकां करोति,कूर्मवद्वा संलीनाङ्गोपाङ्गस्तिष्ठति । वाचिकं तु-मयेदृशी निरवद्या भाषा भाषितव्या, नेदृशी सावद्येति विमर्शपुरस्सरं यद्भाषते । यद्वा-विकथादिव्युदासेन श्रुतपरावर्त्तनादिकमुपयुक्तः करोति तद्वाचिकम् । मानसं त्वेकस्मिन् वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता । पुनरेकैकं त्रिविधम्-तीव्रं, मृदुकं च, मध्यं च । तत्र तीव्रमुत्कटं, मृदुकं च मन्दं, मध्यं च-नातितीव्रं नातिमृदुकमित्यर्थः । यथा सिंहस्य गतयस्तिस्रो भवन्ति । तद्यथा-मन्दा च, प्लुता च, द्रुता च । तत्र मन्दा-विलम्बिता, प्लुता-नातिमन्दा नातित्वरिता, द्रुता चातिशीघ्रवेगा स्यात् । बृ० १ उ० । आव० । (जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलं तयं चित्तं । तं हुज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता ॥ " इति ध्यानाच्चित्तस्य भेदो ' झाण ' शब्दे वक्ष्यते)

चित्तउत्त--चित्रगुप्त--पुं० । षोमशे भविष्यज्जिने, स० । ती० । प्रव० । यमभेदे, चित्रगुप्ताय वै नम इति तर्पणमन्त्रः । वाच० ।

चित्तंग--चित्राङ्ग--पुं० । चित्रस्यानेकविधस्य, चित्रङ्गावाः प्राधान्यात्, माल्यस्य कारणत्वाच्चित्राङ्गाः । स्था० ७ ठा० । सुषमसुषमायां कर्मभूमिषु सदा चाकर्मभूमिषु युगलिमनुष्यसमये जायमानेषु कल्पद्रुमभेदेषु, आ० म० प्र० । स० । जी० । " चित्तंगेसु य मल्लं" चित्राङ्गेषु माल्यमनेकप्रकारसरससुरभिनानावर्णकुसुमदामरूपं भवति । तं० । श्रीऋषभदेवस्याष्टमे पुत्रे, कल्प० ७ क्षण ।

चित्तंतरलेस्सा--चित्रान्तरलेश्या--पुं० । चित्रमन्तरं लेश्या च येषां ते तथा । तथाविधेषु ज्योतिष्केषु, यथा चित्रमन्तरं सूर्याणां, चन्द्रान्तरितत्वात् , चित्रलेश्या चन्द्रमसां शीतरश्मित्वात् , सूर्याणामुष्णरश्मित्वात् । जं० ७ वक्ष० । सू० प्र० ।

चित्तकट्टर--चित्रकट्टर--न० । चित्रशब्देन कलिङ्गादिकं वस्तु किञ्चिदुच्यते । तस्य कट्टरः खण्डः । चित्रखण्डे, अनु० ।

चित्तकणगा--चित्रकनका--स्त्री० । द्वितीयायां विद्युत्कुमारीमहत्तरिकायाम, जं० ५ वक्ष० । स्था० । विदिग्रुचकाद्रिवासिन्यां दिक्कुमारिकायाम् , द्वी० । आ० क० । ति० ।

चित्तकम्म (ण)--चित्रकर्मन्--न० । चित्रलिखितरूपके, अनु० । ग० । आचा० ।

चित्तकर--चित्रकर--पुं० । चित्रकारे शिल्पिनि , आव० ४ अ० । अनु० । परिनिष्ठितश्चित्रकारोऽभाव्यापि रेखादिकं प्रमाणयुक्तं चित्रं करोति, तावन्मात्रं वा वर्णकं गृह्णाति यावन्मात्रेण समाप्यते । आ० म० द्वि० ।

चित्तकह--चित्रकथ--त्रि० । नानाकथाकथके, उत्त० ३ अ० ।

चित्तकूड--चित्रकूट--पुं० । चित्राणि चित्ररूपाणि कूटानि यस्य सः । नं० । जम्बूद्वीपे मन्दरस्य पर्वतस्य सीताया महानद्या उत्तरकूले वक्षस्कारपर्वते, स्था० ४ ठा० २ उ० । स० । ' दो चित्तकूडा ' स्था० २ ठा० ३ उ० ।

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे चित्तकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते ?। गोयमा ! सीआए महाणईए उत्तरेणं णीलवंतस्स वासहरपव्वयस्स दाहिणेणं कच्छविजयस्स पुरच्छिमेणं सुकच्छविजयस्स पच्चच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे महाविदेहे वासे चित्तकूडे णामं वक्खारपव्वए पण्णत्ते । उत्तरदाहिणायए पाईणपडीणविच्छिन्ने सोलस जोअणसहस्साइं पंच य बाणउए जोअणसए दुण्णि

अ पणुवीसइभाए जोअणस्स आयामेणं पंच जोअणस-याइं विक्खंभेणं नीलवंतवासहरपव्वयं तेणं चत्तारि जो-अणसयाइं उद्धं उच्चत्तेणं चत्तारि गाउअसयाइं उव्वेहेणं तयाऽणंतरं च णं मायाए २ उस्सेहोव्वेहपरिवुड्डीए परि-वुड्डमाणे २ सीआमहाणईअंतेणं पंच जोअणसयाइं उद्धं उच्चत्तेणं पंच गाउअसयाइं उव्वेहेणं आसखंधसंठाणसंठिए सव्वरयणामए अच्छे सण्हे० जाव पडिरूवे उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहि अ वणसंडेहिं संपरिक्खित्ते वण्णओ दुण्हं, वि चित्तकूमस्स णं वक्खारपव्वयस्स उप्पिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते० जाव आसयंति । चि-त्तकूमे णं भंते ! वक्खारपव्वए कति कूमा पण्णत्ता ? । गोयमा ! चत्तारि कूमा पण्णत्ता । तं जहा-सिद्धाययणकूडे १ चित्तकूडे २, कच्छकूमे ३, सुकच्छकूमे ४, समा उत्तरदाहिणेणं परुप्परं पढमं सीआए उत्तरेणं चउत्थयं नीलवंतस्स वासहरपव्व-यस्स दाहिणेणं एत्थ णं चित्तकूमे णामं देवे महिड्डिए० जाव रायहाणी ॥

अथ यतोऽयं पश्चिमायामुक्तस्तं चित्रकूटवक्षस्कारं लक्षयन्नाह-'कहि णं' इत्यादि सुलभम्, नवरम् आयामे षोमशसहस्रयोजना-दिरूपो विजयसमान एव, विजयानां विजयवक्षस्काराणां चतु-ल्ययामत्वात् तेन तत्करणं प्राग्वदेव, विष्कम्भेन पञ्च योजनानीति विशेषस्तेन तानि कथमित्युच्यते-जम्बूद्वीपपरिमाणविष्कम्भात् षण्णवतिसहस्रेषु शोधितेषु अवशिष्टानि चत्वारि सहस्राणि एक-स्मिन् दाक्षिणे भागे उत्तरे वाऽष्टौ वक्षस्कारगिरयः, ततोऽष्टाभिर्वि-भज्यन्ते ततः सम्पद्यते वक्षस्काराणां प्रत्येकं पूर्वोक्तो विष्कम्भः, इह हि विदेहेषु विजयान्तर्नदीमुखवनमेर्वादिव्यतिरेकेणान्यत्र सर्वत्र वक्षस्कारगिरयस्ते पूर्वापरविस्तृताः सर्वत्र तुल्यविस्ताराः, ततोऽस्य करणस्यावकाशः, तत्र विजयषोमशकपृथुत्वं पञ्चत्रिं-शत्सहस्राणि चत्वारि शतानि षडुत्तराणि ३५४०६ । अन्तरन-दीषट्पृथुत्वं सप्तशतानि पञ्चाशदधिकानि ७५० । मेरुविष्क-म्भपूर्वापरभद्रशालवनायामपरिमाणं चतुःपञ्चाशत्सहस्राणि ५४००० । मुखवनद्वयपृथुत्वमष्टापञ्चाशच्छतानि चतुश्चत्वारिं-शदधिकानि ५८४४ । सर्वमीलने जातानि षण्णवतिसहस्रा-णि ९६००० । इति तथा नीलवद्वर्षधरपर्वतसमीपे चत्वारि योजनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन चत्वारि गव्यूतशतानि उद्वेधेन, तद-नन्तरं च मात्रया २ क्रमेण २ उत्सेधोद्वेधपरिवर्द्धमानः २ यत्र यावदुच्चत्वं तत्र तच्चतुर्थभाग उद्वेध इति द्वाभ्यां प्रकाराभ्यामधिकतरो भवतीत्यर्थः । शीतामहानद्यन्ते पञ्चयो-जनशतान्यूर्ध्वोच्चत्वेन पञ्चगव्यूतशतान्यूर्ध्वोद्वेधेन, अत एव च स्कन्धसंस्थानः प्रथमतोऽग्रे तुङ्गत्वात्, क्रमेणान्ते तुङ्गत्वात् सर्वरत्नमयः, शेषं प्राग्वत् । अथास्य शिखरसौभाग्यमावेदयन्ति-" चित्तकूडस्स णं " इत्यादि व्यक्तम् ॥ अथात्र कूटलक्षणार्थं पृच्छति-" चित्तकूमे " इत्यादि ॥ पदयोजना सुलभा । भावार्थ-स्त्वयम्-परस्परमेतानि चत्वार्यपि कूटानि उत्तरदक्षिणभावे-न समानि, तुल्यानीत्यर्थः । तथाहि-प्रथमं सिद्धायतनकूटं द्वि-तीयस्य चित्रकूटस्य दक्षिणस्यां, चित्रकूटं सिद्धायतनकूट-

स्योत्तरस्याम् । एवं प्राक्तनं प्राक्तनमग्रेतनादग्रेतनाद्दक्षिणस्याम्, अग्रेतनमग्रेतनं प्राक्तनात् प्राक्तनादुत्तरस्यां ज्ञेयं, तर्हि शीतानील-वतोः कस्यां दिशि इमानीत्याह-प्रथमकं शीताया उत्तरतः, चतुर्थकं नीलवतो वर्षधरपर्वतस्य दक्षिण इति सूत्रपाठोक्तक्र-मवशात् द्वितीयं चित्रनामकं प्रथमानन्तरं ज्ञेयं, तृतीयं कच्छ-नामकं चतुर्थादर्वाग् ज्ञेयमिति । चित्रकूटादिषु वक्षस्कारेष्वे-वं कूटनामनिवेशे पूर्वेषां संप्रदायः-सर्वत्राद्यं सिद्धायतनकूटं, महानदीसमीपतो गण्यमानत्वात्, द्वितीयं स्वस्ववक्षस्कारना-मकं, तृतीयं पाश्चात्यविजयनामकं, चतुर्थं प्राच्यविजयनामक-मिति । अथास्य नामार्थं प्ररूपयति-" एत्थ णं " इत्यादि । अत्र चित्रकूटनामा देवः परिवसति, तद्योगात् चित्रकूट इति नाम अस्य राजधानी मेरोरुत्तरतः शीताया उत्तरदिग्भाविवक्षस्का-राधिपतित्वात् । एवमग्रेतनेष्वपि वक्षस्कारेषु यथासंभवं वाच्य-मिति गतः प्रथमो वक्षस्कारः । जं० ४ वक्ष० ।

देवकुरुषु चित्रविचित्रकूटौ नामकौ द्वौ पर्वतौ स्थानतः पृच्छति-

कहि णं भंते ! देवकुराए चित्तविचित्तकूडा णामं दुवे पव्वया पण्णत्ता ? । गोयमा ! णिसहस्स वासहरपव्वयस्स उत्तरिल्लाओ चरिमंताओ अट्ठचोत्तीसे जोअणसए चत्ता-रि अ सत्तभाए जोअणस्स अबाहाए सीआए महाणईए पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं उभओ कूले एत्थ णं चित्तविचित्तकूमा णामं दुवे पण्णत्ता, एवं जच्चेव जमगपव्वयाणं सच्चेव एएसिं रायहाणीओ दक्खिणेणं ॥

" कहि णं भंते ! देवकुराए चित्तविचित्तकूमा " इत्यादि व्यक्तं, नवरम् एवमुक्तन्यायेन चैव यमकपर्वतयोः,वक्तव्यता इति शेषः, सैवैतयोश्चित्रविचित्रकूटयोः, एतदधिपतिचित्रदेवयोः राजधान्यो दक्षिणेनेति । जं० ४ वक्ष० ।

चित्तकोकिल-चित्रकोकिल-पुं० । नानारूपे कोकिलपक्षिणि, "चित्रोऽन्यः कोकिलो यत्तद्, द्वादशाङ्गीं प्रवक्ष्यसि" । इत्युत्पलं प्रति वीरजिनः । आ० क० ।

चित्तगुत्ता-चित्रगुप्ता-स्त्री० । रुचकपर्वते विहरणशीलायां दिक्कु-मारीमहत्तरिकायाम्, द्वी० । ज० । आ० क० । आ० म० । स्था० । चमरस्यासुरेन्द्रस्यासुरकुमारराजस्य सोमस्य महाराजस्याग्रम-हिष्याम्, भ० १० श० ५ उ० । स्था० ।

चित्तघरग-चित्रगृहक-न० । चित्रप्रधाने गृहके, जं० ७ वक्ष० । रा० । जी० ।

चित्तचमक्कय-चित्तचमत्कृत-न० । मनआश्चर्यावगाहित्वे, " जायइ चित्तचमक्कं, देविंदाणं पि तं गच्छं । " महा० ५ अ० ।

चित्तणिबंधणसमुज्जल-चित्रनिबन्धनसमुज्ज्वल-त्रि० । नानाप्रका-रकरणादुत्पन्ने, पं० व० १ द्वार ।

चित्तण्णास-चित्तन्यास-पुं० । मनोनिक्षेपे, पञ्चा० २ विव० ।

चित्तणिवाइ (ण्)-चित्तनिपातिन्-पुं० । चित्तमाचार्याभिप्रा-यः, तेन निपतितुं क्रियायां प्रवर्त्तितुं शीलमस्येति चित्तनिपाती । गुरुच्छन्दानुवर्तिनि, आचा० १ श्रु० ५ अ० ४ उ० ।

चित्तदोस-चित्तदोष-पुं० । खेदादिषु चित्तं दूषयत्सु, (षो०)

" खेदोद्वेगक्षेपो--त्थानभ्रान्त्यन्यमुद्रासङ्गैः । युक्तानि हि चित्तानि, प्रबन्धतो वर्जयेन्मतिमान् ॥ १ ॥ " षो० १३ विव० ।

चित्तधणप्पभूय-चित्तधनप्रभूत-त्रि० । प्रभूतं बहु चित्रमाश्चर्यमनेकप्रकारं वा धनमस्मिन्निति प्रभूतचित्रधनम् । प्राकृतत्वात्प्रभूतशब्दस्य परनिपातः । उत्त० । नानाप्रकारचित्रधनशालिनि, " इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं । " उत्त० १३ अ० ।

चित्तपक्ख-चित्रपक्ष-पुं० । चतुरिन्द्रियजीवभेदे, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० । सुवर्णकुमाराणामिन्द्रयोर्वेणुदेववेणुदारिणोस्तृतीये लोकपाले, भ० ३ श० ८ उ० । स्था० ।

चित्तप्पभव-चित्तप्रभव-त्रि० । प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः, चित्तं हेतुकावाचित्तं, चित्तं चासौ प्रभवश्च चित्तप्रभवः । तथाविधे धर्मे, "धर्मश्चित्तप्रभवो, यतः क्रियाकारणाश्रयं कार्यम्" । षो० ३ विव० ।

चित्तपयजुय-चित्रपदयुत-त्रि० । नानाविधार्थप्रतिपादकाभिधानयुक्ते, पञ्चा० ११ विव० ।

चित्तपरिच्छेय-चित्तपरिच्छेक-पुं० । लघौ, "चित्तपरिच्छेयपच्छाए, " चित्रपरिच्छेको लघुः प्रच्छदो वस्त्रविशेषो यस्य स तथा । भ० ७ श० ६ उ० । औ० ।

चित्तफलग-चित्रफलक-न० । चित्रयुक्ते फलके, "चित्तफलगहत्थगए " चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य । भ० १५ श० १ उ० ।

चित्तबहुल-चैत्रबहुल-पुं० । चैत्रमासस्यान्धकारपक्षे, जं० २वक्ष० ।

चित्तभित्ति-चित्रभित्ति-स्त्री० । चित्रगतायां स्त्रियाम्, दश० ८ अ० ।

चित्तभेय-चित्रभेद-पुं० । बहुप्रकारे, पञ्चा० ३ विव० ।

चित्तमंत-चित्तवत्-त्रि० । चित्तं जीवलक्षणं तदस्यास्तीति चित्तवत् । सजीवे, दश० ४ अ० । सचेतने, दश० ४ अ० । पा० । आव० । आचा० ।

चित्तमाणंदिय-चित्तानन्दित-त्रि० । चित्तेनानन्दितः । ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । चित्तमानन्दितं स्फीतीभूतं ('टु नदि' समृद्धाविति वचनात्) यस्य स चित्तानन्दितः । न्यायदिदर्शनात्पाक्षिको निष्ठान्तस्य परनिपातः । मकारः प्राकृतत्वादलाक्षणिकः । चेतसा प्रहृष्टे, जी० ३ प्रति० ।

चित्तय-चित्रक-पुं० । (चीता) श्वापदभेदे, आ० म० प्र० । रोमाणि चित्रका उच्यन्ते । आचा० । अशोकवृक्षे, एरण्डवृक्षे, कुष्ठभेदे, वाच० ।

चित्तरयण-चित्तरत्न-न० । चित्तं मनस्तद्रत्नमिव चित्तरत्नं, निर्मलस्वभावत्वोपाधिजनितविकारत्वादिसाधर्म्यात् । हा० २४ अष्ट० । प्रकाशस्वभावसाधर्म्यान्मनोमाणिक्ये, पञ्चा० २ विव० ।

चित्तरस-चित्ररस-पुं० । चित्रा विचित्रा रसा मधुरादयो मनोहारिणो येभ्यः सकाशात्संपद्यन्ते ते चित्ररसाः । स्था० ७ ठा० । भोजनाङ्गेषु, स्था० १० ठा० । विशिष्टदलिककलमशालिसालनकपक्वान्नप्रभृतिभ्योऽपि चापरिमितस्वादुतादिगुणोपेतेन्द्रियबलपुष्टिहेतुस्वादुभाजनपदार्थपरिपूर्णैः फलमयैर्विराजमानेषु (तं०) भोजनदायिषु, स० १० सम० । अनेकबहुविधसा परिजनेन भोजनविधिनोपपेतेषु, जी० ३ प्रति० । युगलिकमनुष्योपभोग्यकल्पवृक्षेषु, आ० म० प्र० ।

चित्तराग-चित्रराग-पुं० । विविधरागरञ्जिते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

चित्तल-चित्रल-त्रि० । शबले, आव० ४ अ० । ज्य० । आरण्ये जीवविशेषे, जी० १ प्रति० ।

चित्तलय-चित्रलक-त्रि० । कः प्रत्ययः स्वार्थिकः, प्राकृतलक्षणवशात् । विचित्रे पञ्चवर्ण (मुक्तादि) रचनोपेते रजोहरणे, ग० ३ अधि० । हरिणाकृतौ द्विखुरविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चित्तलि (ण्)-चित्रलिन्-पुं० । मुकुलिसर्पभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

चित्तवल्लि-चित्रवल्लि-स्त्री० । गन्धप्रधाने वल्लीभेदे, कल्प० ७ क्षण ।

चित्तविचित्तजमगपव्वय-चित्रविचित्रयमकपर्वत-पुं० । देवकुरुषु शीतोदाया उभयपार्श्वतश्चित्रकूटश्च पर्वतः, तथा उत्तरकुरुषु शीतायाश्चावा नद्या उभयतो यमकाभिधानौ पर्वतौ स्तः । तेषु, भ० १४ श० ८ उ० ।

चित्तविणास-चित्तविनाश-पुं० । चित्तभेदे, चित्तकालुष्ये, षो० ७ विव० ।

चित्तविन्नास-चित्तविन्यास-पुं० । मानसावेशने, पञ्चा० ३ विव० ।

चित्तविब्भम-चित्तविभ्रम-पुं० । चित्तभ्रमकारणे, तं० आ० म० । चित्तस्य विभ्रमो विशेषेण भ्रमणमनवस्थानं यस्मात् । उन्मादरोगे, वाच० ।

चित्तविप्पुइ-चित्तविप्लुति-स्त्री० । चित्तविप्लवे, चित्तविप्लुतेरकार्यप्रवृत्तिरिति चित्तविप्लुत्या प्रेरितः स्त्रीसेवादौ प्रवर्तते । दर्श० ।

चित्तवीणा-चित्रवीणा-स्त्री० । आकारविशेषवत्यां वीणायाम्, रा० ।

चित्तसंभूइय-चित्रसंभूतीय-न० । चित्रसम्भूतयोश्चाण्डालयोर्निजातयोराख्यानकप्रतिबद्धे उत्तराध्ययनानां त्रयोदशेऽध्ययने, (उत्त०) चित्रसंभूतीयमिति नाम, अतश्चित्रसंभूतनिक्षेपाभिधानायाऽऽह निर्युक्तिकृत्-

चित्ते संभूयम्मि य, निक्खेवो चउक्कओ दुहा दव्वे ।
आगम-नोआगमतो, नोआगमतो य सो तिविहो ॥ ६४॥
जाणगसरीरभविए, तव्वइरित्ते य मो पुणो तिविहो ।
एगभवियबद्धाउय-अभिमुहओ नामगोए य ॥ ६५ ॥

"चित्ते संभूतीओ, वेदन्तो भावओ उ नायव्वो । तेसुं इति च" पाठे तयोः समुत्थितमिति नयं चित्रसंभूतीयम् । "वृद्धाच्छः" ॥ ४ । २ । ११४ ॥ इति (पाणि०) छप्रत्ययः, वृद्धसंज्ञा तु-" वा नामधेयस्य" इति वचनात् ।

साम्प्रतिकाविमौ चित्रसंभूतौ, केन चानयोरधिकार इत्याशङ्कयाऽऽह-

साएए चंदवडिं-सयस्स पुत्तो उ आसि मुणिचंदो ।
सो वि य सागरचंद-स्स अंतिए पव्वए समणो ॥ ६६॥

तएहालुहाकिलंतं, समणं दट्टूण असवितिहुयंतं।
पमिलाभणा य बोही, पत्तो गोवालपुत्तेहिं ॥ ६७ ॥
तत्तो दुन्नि दुगंछं, काउं दासा दसन्ने आयाया।
दोन्नि य उसुयारपुरे, अहिगारो बंभदत्तेण ॥ ६८ ॥

गाथात्रयस्याप्यक्षरार्थः स्पष्ट एव, नवरम् (पव्वइए समण- त्ति) प्राव्राजीत्, समानं मनोऽस्येति समनाः, सर्वत्रारक्तद्विष्टचित्तः सन्। यद्वा-श्राम्यतीति श्रमणः तपस्वी सन्, निश्चयनयापेक्षं चैतत्, "नेरइए नेरइएसु उववज्जइ" इत्यादिवत्। तथा (असविनिहुयंतं ति) अटवीनिःसृतमरण्यादिष्क्रान्तमित्यर्थः। भावार्थस्तु कथानकगम्यः। तच्चेदम्-अस्ति कोशलाऽलङ्कारभूतं साकेतं नाम नगरं, तत्र चाधिगतजीवाजीवादितत्त्वश्चन्द्रावतंसको नाम राजा, तस्य च धारिणी देवी, तदङ्गजो मुनिचन्द्रः, स च राजा अन्यदा समुत्पन्नसंवेगस्तमेव सुतं राज्येऽभिषिच्य प्रव्रज्यामशिश्रियत्, प्रतिपाल्य च प्रव्रज्यामपगतमलकलङ्कोऽपवर्गमगमत्। अन्यदा च सागरचन्द्राचार्या बहुशिष्यपरिवृतास्तत्रागताः, निर्गतश्च चन्द्रनृपतिस्तद्वन्दनाय, दृष्टाश्चानेन सूरयः, स्तुत्वा च तानुपविष्टस्तदान्तिके, श्रुतश्च तत्कथितो विशुद्धो धर्मः, समुत्पन्नश्चास्य तत्करणाभिलाषः, ततः स्वसुतं राज्ये निवेश्य प्रतिपन्नोऽसौ श्रामण्यं, गृहीता चानेन ग्रहणासेवनोभयलक्षणा शिक्षा, प्रवृत्ताश्चान्यदा सुसार्थेन सगच्छाः सागरचन्द्रसूरयोऽध्वानम्, मुनिचन्द्रमुनिश्च तैः समं व्रजन् गुरुनियोगादेकाक्येव भक्तपाननिमित्तं कञ्चित्प्रत्यन्तग्रामे प्राविशत्, प्रविष्टे चास्मिन् प्रवृत्तः सार्थो गन्तुं, प्रचलिताः सहानेन सूरयः, विस्मृतश्चायमेषाम्, प्रस्थितश्च क्षणान्तरेण गृहीतभक्तपानस्तदनुकारिणीं विन्ध्याटवीम्, तत्र चासौ परिभ्रमन् गिरिकन्दराण्यतिक्रामन्नतिनिम्नोन्नतभूभागान् पश्यन् भयानकानेकक्रीडितरभुभल्लादिश्वापदानुत्तीर्णः, तृतीयदिने तदा च क्षुत्क्षामकुक्षिः शुष्कोष्ठकण्ठतालुरेकत्र वृक्षच्छायायां मूर्छावशनष्टचेष्टो दृष्टश्चतुर्भिर्गोपालदारकैः, उत्पन्नाऽमीषामनुकम्पा, ते त्वरितमागत्य गोरसोन्मिश्रद्रतिजलेन पायितोऽसौ, तदैव समाश्वस्तश्च नीतो गोकुलं, प्रति जागरितः तत्कालोचितकृत्येन, प्रतिलाभितः प्रासुकाशनादिना, कथितस्तेषामनेन जिनप्रणीतधर्मो, गृहीतश्चायमेतैर्भावगर्भे, गतश्चासौ विवक्षितस्थानं, तं च मलसंदिग्धदेहमवलोक्य द्वयोः समजनि जुगुप्सा, तदनुकम्पातः सम्यक्त्वानुभावतश्च निर्वर्तितं चतुर्भिरपि देवायुः, जग्मुश्च देवलोकं, ततश्च्युतौ चाकृतजुगुप्सौ कतिचिद्भवान्तरितौ इषुकारपुरे द्विजकुले जातौ, (तद्वक्तव्यता च इषुकारीयनाम्न्यनन्तराध्ययनेऽभिधास्यते) यौ च द्वौ जुगुप्सकौ तौ दशार्णजनपदे ब्राह्मणकुले दासतयोत्पन्नौ, तयोश्च य इह ब्रह्मदत्तो भविष्यति, तेनाऽधिकारो, निदानस्यैवात्र वक्तुमुपक्रान्तत्वात्, तेनैव च तद्विधानाद्, द्वितीयस्य तु प्रसङ्गत एवाभिधीयमानत्वात्, इह च नामनिष्पन्ननिक्षेपेऽपि प्रस्तुते प्रसङ्गतोऽर्थाधिकारोऽप्युक्त इति गाथात्रयभावार्थः। उत्त० १२ अ०। स०। (ब्रह्मदत्तकथानकं 'बंभदत्त' शब्दे वक्ष्यते)।

चित्तसंविआ-चित्तसंवित्-स्त्री०। ६ त०। स्वपरचित्तगतरागादिज्ञाने, "हृदये चित्तसंवित्"। हृदये शरीरप्रदेशविशेषेऽधोमुखस्वल्पपुण्डरीकाकारे संयमाच्चेतसः संवित् स्वपरचित्तगतवासनारागादिज्ञानं भवति। द्वा० २६ द्वा०।

चित्तसभा-चित्रसभा-स्त्री०। चित्रकर्मवन्मण्डपे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार। आव०। ज्ञा०।

चित्तसमाहिट्ठाण-चित्तसमाधिस्थान-न०। ६ त०। मनसः समाधिपदेषु, (दशा०) येषु सत्सु चित्तस्य प्रशस्तपरिणतिर्जायते।

तानि दश-

सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिट्ठाणा पन्नत्ता, कतराइं खलु ताइं थेरेहिं भगवंतेहिं दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं पन्नत्ताइं ?। इमाइं खलु थेरेहिं दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं पन्नत्ताइं। तं जहा-तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णगरे होत्था; एवं नगरवण्णओ भाणियव्वो। तस्स णं वाणियगामस्स नगरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए दूतिपलासए नामं चेइए होत्था; चेइयवण्णओ भाणियव्वो। जितसत्तू राया, तस्स णं धारिणी देवी, एवं समोसरणं भाणियव्वं० जाव पुढविसिलावट्टए सामी समोसढो, परिसा निग्गया, धम्मो कहितो, परिसा पडिगता, अज्जो ! इति समणे भगवं महावीरे समणा निग्गंथा य निग्गंथी य आमंतेत्ता एवं वयासी-इह खलु अज्जो ! णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा इरियासमिताणं भासासमिताणं एसणासमिताणं आदाणभंडमत्तणिक्खेवणासमिताणं उच्चारपासवणखेलसिंघाणजल्लपारिट्ठावणियासमिताणं मणसमिताणं वयसमिताणं कायसमिताणं मणगुत्ताणं वइगुत्ताणं कायगुत्ताणं गुत्तिंदियाणं गुत्तबंभयारीणं आयट्ठीणं आयहिताणं आयजुतीणं आयपरक्कमाणं पक्खियपोसहिएसु समाहिपत्ताणं झियायमाणाणं इमाइं दस चित्तसमाहिट्ठाणाइं असमुप्पन्नपुव्वाइं समुप्पज्जिज्जा। तं जहा-धम्मचिंता वा से असमुप्पन्नपुव्वा समुप्पज्जेज्जा सव्वं धम्मं जाणित्तए १, सुविणदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहातच्चं सुविणं पासित्ते जाइसरणेण वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अप्पणो पोराणि य जाइं सुमरित्तए अह सरामि २, देवदंसणे वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुज्जेज्जा ३, दिव्वं देवड्ढिं दिव्वं देवजुइं दिव्वं देवाणुभावं पासित्तए ४, ओहिणाणे वा से असमुप्पन्नपुव्वे समुप्पज्जेज्जा ओहिणा लोयं जाणित्तए ५, ओहिदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा ओहिणा लोयं पासित्तए ६, मणपज्जवणाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा अंतो मणुस्सखित्ते सु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु सन्नीणं पंचिंदियाणं पज्जत्तगाणं मणोगते भावे जाणित्तए ७, केवलनाणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा केवलकप्पं लोयालोयं जाणित्तए ८, केवलदंसणे वा से असमुप्पण्णपुव्वे समुप्पज्जेज्जा केवलकप्पं लोयालोयं पासित्तए ९, केवलमरणे वा से अ-

समुप्पएणपुव्वे समुप्पज्जेज्जा सव्वदुक्खप्पहीणाए १० ।
ओयं चित्तं समादाय, झाणं समणुपस्सति ।
धम्मट्ठितो अविमणे, निव्वाणमाभिगच्छति ॥ १ ॥
ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायति ।
अप्पणो उत्तमं ठाणं, सएणी णाणेण जाणति ॥ २ ॥
जहा तच्चं तु सुविणं, खिप्पं पासति संवुडे ।
सव्वं च ओहं तरती, दुक्खादो य विमुच्चति ॥ ३ ॥
पंताइं भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं ।
अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसेंति तातिणो ॥ ४ ॥
सव्वकामविरत्तस्स , खमंतो भयभेरवं ।
तओ से ओही भवति, संजतस्स तवस्सिणो ॥ ५ ॥
तवसा अवहट्टलेस्स, दंसणा परिसुज्झति ।
उड्ढमहयं तिरियं च, सव्वं समणुपस्साति ॥ ६ ॥
सुसमाहितलेसस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो ।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणति पज्जवे ॥ ७ ॥
जदा से णाणावरणं, सव्वं होति खतं गतं ।
तदा लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥ ८ ॥
जया से दरिसणावरणे, सव्वं होइ खयं गयं ।
तओ लोगमलोगं च, जिणो पासइ केवली ॥ ९ ॥
पडिमाए विसुज्झाए , मोहणिज्जे खयं गते ।
आसेसं लोगमलोगं च, पासंति सुसमाहिते ॥ १० ॥
जहा य मत्थयसूयीए, हत्थाए हम्मती तले ।
एवं कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥ ११ ॥
सेणावतिम्मि णिहते, जहा सेणा पणस्सति ।
एवं कम्मा पणस्संति, मोहणिज्जे खयं गते ॥ १२ ॥
धूमहीणो जहा अग्गी, खीयती से निरंधणे ।
एवं कम्माणि खीयंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥ १३॥
सुक्कमूले जधा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा न रोहंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥ १४ ॥
जहा दड्ढाण बीयाणं, ण जायंते पुण अंकुरा ।
कम्मबीएसु दड्ढेसु, ण जायंति भवंकुरा ॥ १५ ॥
चिच्चा उरालियं बोंदिं, नाम गोत्तं च केवली ।
आउयं वेयणिज्जं च, छित्ता भवति णीरये ॥ १६ ॥
एवं अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो ।
सेणिसोधिमुवागम्म,आता सोधिमुवागइ'त्ति बेमि'॥१७॥

" सुयं मे " इत्यादि प्राग्वत् , ननु कृत एव मङ्गलोपचारस्तर्हि किमर्थं भूयोऽपि तदुपादानं पौनरुक्त्याद् इति चेत् ? , उच्यते-" यावच्छक्यं तदाचरेत् " इति वाक्यात् पुनर्नमस्कारेण न पुनरुक्तताऽऽशङ्कनीया इति, नवरं चित्तस्य मनसः समाधिस्थानानि, समाधिपदानीति यावत्। तद्यथा-" ते णं काले णं ते णं समए णं" इत्यादि । ननु स्थविरैरेवामूनि दश चित्तसमाधिस्थानान्युक्तानि इति पूर्वमुक्तं, किमर्थं तर्हि भूयोऽपि भगवद्वचनानुवादपूर्वकम् "ते णं काले णं" इत्यादि सूत्रम्? उच्यते-स्वमनीषिकापरिहारायेदमुक्तम् । यद्वा-स्वयमेव स्थविरैरेवाऽमून्युक्तानि भविष्यन्ति न पुनस्तीर्थकरैरित्यविश्वासपिशाचीनिराकरणायेदं सूत्रम्। तत्र यस्यां नगर्यां यस्मिन्नुद्याने यथा भगवांस्त्रिलोकीपतिर्दश चित्तसमाधिस्थानानि व्यागृणाति स्म, तथोपदिदर्शयिषुः प्रथमतो नगर्युद्यानाभिधानपुरस्सरं सकलवक्तव्यतोपक्षेपं चकुकाम इदमाह-"ते णं काले णं" इत्यादि । 'ते' इति प्राकृतशैलीवशात्तस्मिन्निति, यस्मिन् समये भगवान् प्रस्तुतां चित्तसमाधिस्थानवक्तव्यतामचकथत् तस्मिन् समये, वाणिजग्राम इति नाम्ना नगरमभवत्। नन्विदानीमपि तन्नगरं वर्त्तते, ततः कथमुक्तमभवदिति? उच्यते-वक्ष्यमाणवर्णकग्रन्थोक्तविभूतिसमन्वितं तदैवाभवत्। ननु विवक्षितग्रन्थविधानकाले, एतदपि कथमवसेयमिति चेत् ?। उच्यते-अयं कालोऽवसर्पिणी, अवसर्पिण्यां च प्रतिक्षणशुभभावादीनि हानिमुपगच्छन्ति । एतच्च सुप्रतीतं जिनवचनवेदिनामतोऽभवदित्युच्यमानं न विरोधभाक्। "एत्थ" इत्यत्र नगरवर्णको ज्ञेयः । स चायम्-"रिद्धित्थिमियसमिद्धे पमुइयजणजाणवए " इत्यादि औपपातिकग्रन्थप्रतिपादितः समस्तोऽपि वर्णको वाच्यः; स चेह ग्रन्थगौरवभयान्न लिख्यते, केवलं तत एवौपपातिकादवसेयः। "तस्स णं" इत्यादि। तस्य वाणिजग्रामनगरस्य बहिरुत्तरपौरस्त्यां दिगुत्तरपूर्वो रूपो दिग्विभागः, ईशानकोण इत्यर्थः। एकारो मागधभाषाऽनुरोधतः प्रथमैकवचनप्रभवः। यथा-"कयरे आगच्छइ दित्तरूवे" इत्यादौ। दूतीपलाशमिति नाम चैत्यमभवत् । चितेर्लेप्यादिचयनस्य वा भावः कर्म वा चैत्यम् । तच्च संज्ञाशब्दत्वाद् देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धः । ततस्तदाश्रयभूतं यद्देवस्य गृहं तदप्युपचाराच्चैत्यम् । " चैत्यमायतनं तुल्ये। " तच्चेह व्यन्तरायतनं द्रष्टव्यं, न तु भगवतामर्हतामायतनम्। ' होत्था ' इत्यभवत्, (चेइयवण्णओ भाणियव्वो त्ति) चैत्यवर्णको भणितव्यः; सोऽप्यौपपातिकग्रन्थादवसेयः । (जियसत्तू राया, तस्स त्ति) तस्य जितशत्रुराज्ञो धारिणी नाम्नी देवी समस्तान्तःपुरप्रधाना भार्या (एवं समोसरणं भाणियव्वं ति) एवमित्यमुनौपपातिकग्रन्थानुसारेण सर्वं निरवशेषं समवसरणं भगवदागमनपरिषन्मिलनधर्मकथादिरूपं भणनीयम् "जाव पुढविसिलावट्टए समोसढे" "जाव त्ति" यावत्करणात्-" जेणेव वाणियग्रामे नगरे जेणेव दूतिपलासए चेइए जेणेव पुढविसिलावट्टए तेणेव उवागच्छइ" इत्यादि औपपातिकोक्तं पाठसिद्धं सर्वमवसेयम्। संज्ञामात्रमत्रैव दर्शयति-पृथिवीशिलापट्टके स्वामी समवसृतः, पर्षन्निर्गता (धम्मो कहिओ त्ति) स्वामिना पर्षदग्रे, "अत्थि लोए" इत्यादिभावप्रदर्शनरूपो धर्मः कथितः। साम्प्रतं विवक्षितं प्रदर्शयति-(अज्जो ! इति) हे आर्याः ! इत्यामन्त्रणवचनं श्रमणो भगवान् महावीरः श्रमणान् निर्ग्रन्थान् निर्ग्रन्थ्यश्च आमन्त्रयित्वा एवमवादीत्-"इह खलु" इत्यादि । इह खलु इति निपातो इति। इह लोके, प्रवचने वा। खल्ववधारणे। निर्ग्रन्थानामिति। निर्ग्रन्था निर्गतान्तरान्मिथ्यात्वादेर्बाह्याच्च धर्मोपकरणवर्ज्जाद्धनादेर्निर्ग्रन्थाः, तेषां निर्ग्रन्थानाम, एवं निर्ग्रन्थीनाम् । कथंभूतानामित्याह-(इरियाणं ति) समेकीभावेनेति निश्चेष्टा समितिः। ईर्यायां विषये समितिः, शकटादिवाहनाक्रान्तेषु सूर्यरश्मिप्रतापितेषु प्रासुकविविक्तेषु युगमात्रदृष्टिभिर्यानिभिर्गमनं कर्त्तव्यं, तद्युक्ताः,तेषाम् । एवं भाषासमितासंदिग्धतैषणासमितिभिर्गोचर-

गतैः साधुभिः सम्यगुपयुक्तैर्नवकोटीविशुद्धं ग्राह्यम्। (आयाणे इत्यादि) आदानं ग्रहणं, निक्षेपणा मोचनं, भाण्डमात्रं सर्वोपकरणं, मध्ये स्थितो भाण्डमात्रशब्दः काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्रापि संबध्यते, ततश्च भाण्डमात्राद्यादाने निक्षेपणायां च समितिः प्रेक्षणप्रमार्जनपूर्विका सुन्दरचेष्टा, तया युक्तानाम्, उच्चारादीनां परिष्ठापना पुनर्ग्रहणतयोपन्यासः, तत्र भवा पारिष्ठापनिका, सा चासौ समितिश्च प्रत्युपेक्षणादिपूर्वा चेष्टा, तया समितानां, तत्रोच्चारः पुरीषं, प्रस्रवणं मूत्रं, खेलो निष्ठीवनं, सिङ्घाणं नासिकाश्लेष्मा, जल्लो मलं, तेषां परिष्ठापने समितिः, श्रीउत्तराध्ययनोक्तदशगुणं स्थण्डिलं, तथा (मणसमिताणं ति) मनसा समितानाम्। एवं वाचा, कायेनेति च स्यात्, तथा समितानां गवेषणे (मणगुत्ताणं ति) गोपनं गुप्तिः, तया गुप्तानाम्, एवं वचसा, कायेन, अतएव गुप्तेन्द्रियाणां गुप्तब्रह्मचारिणां, भूयः कथंभूतानामित्याह-आयतो दीर्घकालावस्थितिकत्वान्मोक्षस्तस्यार्थिनस्तेषाम्, आत्महिता-आत्मनो हितमिव हितम् आत्महितं, हिताहितं च शरीरे आत्मनि च भवति, तत्र शरीरे हिताहितं पथ्यापथ्याहारादिकम्, आत्मनि तु हिंसादिप्रवृत्तिनिवृत्ती। अथवा-आत्मनो हितानि त्रीणि त्रिषष्ठानि पाखण्डिकशतानि, तदपनयनं, तदस्ति येषां ते आत्महिताः, तेषाम् (आयजोगीणं ति) आत्मायत्ताः स्ववशे वर्त्तमानाः योगा मनोवाक्कायलक्षणा येषां ते आत्मयोगिनः, आप्तयोगिनो वा, तेषां, तथा येषां ते आत्मपराक्रमास्तेषां, तथा (पक्खियपोसहिए सुसमाहिपत्ताणं ति) पक्षे भवं पाक्षिकम् अर्द्धमासिकं पर्व, तत्र पोषधः पाक्षिकपोषधः, सोऽस्ति येषां ते पाक्षिकपोषधिकाः। यतश्चूर्णिः-"पक्खियं पक्खियमेव, पक्खिए पोसहो पक्खियपोसहो चाउद्दसिअट्ठमीसु वा"। अत्रापि स एवार्थः यथा पक्षे अर्द्धमासे भवं पाक्षिकं, तत्र पाक्षिके पोषधः पाक्षिकपोषधः, अत्र च नियतः पोषध उपवासरूपः। यतः श्रीउत्तराध्ययनबृहद्वृत्तौ-"सर्वेष्वपि तपोयोगः, प्रशस्तः कालपर्वसु। अष्टम्यां पञ्चदश्यां च, नियतः पोषधं वसेत्" ॥ १ ॥ तथा श्रीआवश्यकचूर्णौ-"सव्वेसु कालपव्वे-सु पसत्थो जिणमते तवो जोगी। अट्ठमिपन्नरसीसुं, नियमेण हविज्ज पोसहिओ ॥१॥" इति वचनात् पाक्षिकेऽवश्यं तपः कार्यम्। उपलक्षणं चैतच्चतुर्दश्यष्टम्योः, तत्रापि तपः कार्यम् इति। अतएवोक्तं चूर्णिकृता-"चाउद्दसिअट्ठमीसुं वा।" अत्र वाशब्दः समुच्चयार्थे अनुक्तपर्वसंग्राहको व्याख्यातश्चूर्णिकृता, तत्र तपोविशेषश्चतुर्थादिरूपस्तेन युक्तानां साधूनां मध्ये (समाहिपत्ताणं ति) समाधिप्राप्तानां ज्ञानदर्शनचारित्ररूपसमाधिमतां (झियायमाणाणं ति) धर्मशुक्लं ध्यानं ध्यायमानानाम् (इमाइं ति) इमानि अनन्तरवक्ष्यमाणस्वरूपाणि दश चित्तसमाधिस्थानानि (असमुप्पन्नपुव्वाइं ति) असमुत्पन्नपूर्वाणि, कदाऽप्यतीतकाले न समुत्पन्नपूर्वाणि इत्यर्थः। समुत्पद्येरन्निति शेषः। तद्यथा-(धम्मेत्यादि) 'से त्ति' निर्देशे, तस्य एवंगुणजातीयस्य निर्ग्रन्थस्य निर्ग्रन्थ्या वा (धम्मचिंत त्ति) धर्मो नाम स्वभावः जीवद्रव्याणामजीवद्रव्याणां च, तद्विषया चिन्ता, कथंरूपा?-अमी नित्या उतानित्याः, रूपिण उतारूपिण इत्यादिरूपा (असमुप्पन्नपुव्व त्ति) प्राग्वत्, सत्यं धर्मं ज्ञातुम्। अथवा धर्मचिन्ता-यथा सर्वे कुसमया अशोभना अनिर्वाहकाः पूर्वापरविरुद्धा अतः सर्वधर्मेषु शोभनतरोऽयं धर्मो जिनप्रणीत एवंरूप इत्येकम् १ (सन्नीत्यादि) सं सम्यग्जानातीति संज्ञः, तस्य यत् ज्ञानं संज्ञानं, यथा-पूर्वाह्ने गां दृष्ट्वा पुनरपराह्ने प्रत्यभिजानीते-असौ गौरिति। "असमुप्पन्ने" इत्यादि प्राग्वत्। (अहं सरामीति) अहं स्मरामीति-अमुकोऽहं पूर्वभवे आसं, सुदर्शनादिवत् इति २। (सुमिणेत्यादि) स्वप्नदर्शनं यथा-भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः प्रकृष्टं प्रतिपादितं स्वप्नफलं तथा, अथ स्त्री पुरुषो वा एकां महतीं हयपङ्क्तिम् (अहातच्चं ति) यथातथ्यं फलं स्वप्नदृष्टुर्जातिस्मरणम्, आत्मनः पौराणिकीं जातिं स्मर्तुं चिन्ता उत्पद्यते ३। तत्र (देवदंसणे व त्ति) तं यथासावितिकृत्वा देवाः 'से' तस्य आत्मानं दर्शयन्ति दिव्यां देवर्द्धिं दिव्यां देवद्युतिं दिव्यं देवानुभावं द्रष्टुम् ४। (ओहिनाणे वा से त्ति) अवधिज्ञानं ५, शेषवक्तव्यता देवावधिदर्शनं ६, मनःपर्यवज्ञानम् (अंतो त्ति) अन्तर्मध्ये मनुष्यक्षेत्रस्य अर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेषु जम्बूद्वीपधातकीखण्डपुष्करार्द्धेषु संज्ञिनां मनोलब्धिमताम्, एवंविधानां पञ्चेन्द्रियाणां पर्याप्तकानां पर्याप्तिषट्कसमेतानां मनसि गतान् मनोगतान् भावान् परिणामस्वरूपान् ज्ञातुमिति ७। 'केवलनाणे' इत्यादि व्यक्तम्, नवरं केवलकल्पमिति केवलं ज्ञानवत् परिपूर्णं सकलस्वांशसंपूर्णं लोकालोकं ज्ञातुम् ८। एवं केवलदर्शनम् ९। (केवलमरणमिति) केवलज्ञानेन यत् मरणं केवलमरणम् (सव्वदुक्खप्पहीणाए त्ति) सर्वदुःखप्रहाणार्थम् १०॥ साम्प्रतं गद्योक्तमेवार्थं श्लोकैर्दर्शयति-(ओयं ति) ओजं नाम रागद्वेषरहितं चित्तं उच्यते, ध्रुवम् एकमेव सम्यक् आदाय गृहीत्वा (झाणं ति) ध्यानं धर्मं पश्यति करोति, धातूनामनेकार्थत्वात्, सम्यक् यथा भवति तथा भवति, तथा अन्यैर्दृष्टम् अनु पश्चात्पश्यति, पुनःपुनर्वा पश्यति करोति समनुपश्यति, पुनः कथंभूतः?-(धम्मट्ठिउ त्ति) धर्मे स्थितः-धर्मे यथार्थोपलम्भके ज्ञानक्रियारूपे स्थितो धर्मस्थितः। पुनःकथंभूतः?-(अविमणो) अविमनाः-परसमयेषु मनो यस्य न याति सोऽविमनाः। अथ वा-शङ्कादि जिनवचने न करोतीत्यविमनाः, स एवं पूर्वोक्तगुणविशिष्टो निर्वाणं कषायदाहोपशमलक्षणं, मोक्षं च अभिगच्छति। य एव गत्यर्थास्त एव ज्ञानार्था इति वचनात् याति इति गाथार्थः ॥१॥ (ण इमं ति) न इति प्रतिषेधे, (इमं ति) एतत् चित्तं ज्ञानं, सम्यक् आदाय गृहीत्वा, किं तत् ज्ञानम्?। उच्यते-जातिस्मरणादि, भूयो भूयः लोके संसारे जायते उत्पद्यते, आत्मनः (उत्तमं ति) प्रधानं स्थानं यो हि परभवे-"आसम् अमुकत्रैवं रूपम्"। अथवा-उत्तमः संयमो मोक्षो वा, एतो ज्ञातं कर्म वा न विद्यते। अथवा-उत्तमं श्रेष्ठं निर्वाहकं हितं वा आत्मनः, तज्जानीते ॥२॥ "जहातच्चं तु" यथातथ्यम्-अविसंवादिफलं यत्तत् यथातथ्यमित्युच्यते, यथा चरमतीर्थकृता दश स्वप्ना दृष्टाः, क्षिप्रं च फलमजनि, तथा क्षिप्रफलं पश्यति, संवृतात्मा निरुद्धाश्रवद्वारः, सर्वं निरवशेषं, चशब्दः स्वगतानेकभेदसूचकः। 'ओहं' सततं प्रसृतप्रवाहं संसारसमुद्रमिव समुद्रम्, अप्राप्य पारम्। एवंविधं तरति-न पुनः संसारी भवति, (दुक्खादो य त्ति) दुःखात् दुःखोत्पादककर्मणः शारीरमानसिकाद्वा दुःखात्, सांसारिकाद्वा विविधादनेकप्रकाराद्मुच्यते इति गाथार्थः ॥३॥ (पंताइं ति) प्रान्तानि कल्प्यामूल्यानि जीर्णानि भजमानस्य सेवमानस्य (विवित्तं सयणासणं ति) विविक्तं रहस्यभूतं स्त्रीपशुपण्डकसंसर्गरहितम्। अथवा-(विवित्तं) 'विचिर्' पृथग्भावे, पृथिव्यादिजीवेभ्यः पृथग्भूतानि, तदपि सेवमानस्येति संबन्धनीयम्। पुनः कथंभूतस्य?-अल्पाहारस्य ब्रह्मचर्यगुप्तिरक्षणार्थं स्वल्पाहारिणः, दान्तस्येन्द्रियदमनतत्परस्य, एवंगुणविशिष्टस्य साधोः, देवाः वैमानिका आत्मानं दर्शयन्ति-यथास्थितं देवस्वरू-

एयुक्तम् (ताणिणो त्ति) आत्मत्राता, परत्राता, उभयत्राता, तस्य ॥४॥ (सव्व त्ति) सर्वे च ते कामाश्च सर्वकामाः शब्दादयः,तेभ्यो विरक्तः,सर्वकामविरक्तस्तस्य नयेन भैरवं रौद्रं भयभैरवं, सिंहव्याघ्रपिशाचशिवादिकृतं, समतः सहतः, ततस्तस्यैवंगुणजातीयस्य (ओही ति) अवधिर्भवति,पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात् अवधिज्ञानं भवति । कथंभूतस्य ?-संयमवतः (तवस्सिणो त्ति) तपस्विन इति गाथार्थः ॥ ५ ॥ (तवस त्ति) तपसा द्वादशप्रकारेण अपहृतकृष्णादिलेश्यात्रयस्यावधिदर्शनं परिशुद्ध्यति विशुद्धतरं भवति । आह-तेन किं पश्यति ?। उच्यते-ऊर्द्धमधस्तिर्यक् सर्वं सम्यग् अनुपश्यति । तत्र-ऊर्द्धमित्यूर्द्धलोकम, अधोलोकं च, तथा तिर्यगसंख्येयद्वीपसमुद्रात्मकं लोकं पश्यति । कोऽर्थः- ये तत्र भावाः जीवादयः कर्माणि वा, यैर्वा भावैर्यत्र गम्यते पुद्गलालोके यथापरिणामस्तथा सर्वं सर्वात्मना सर्वासु च दिक्षु ॥ ६ ॥ "सुसमाहित" इत्यादि । सुष्ठुतिशयेन समाहिताः स्वचेतसि स्थापिता लेश्यास्तेजःपद्माः शुक्लाख्या येन स सुसमाहितलेश्यः, तस्य सुसमाहितलेश्यस्य (अवितक्कस्स त्ति) वितर्को नाम-ऊहो विमर्श इति पर्यायः। सोऽस्ति विद्यते यस्य स वितर्कः;न विद्यते वितर्कोऽभक्तानक्रियाफलदेहरूपो यस्य सोऽवितर्कः, तस्य (भिक्खुणो त्ति) भिक्षणशीलो भिक्षुः, तस्य भिक्षोः (सव्वतो त्ति) सर्वतः सर्वबाह्यान्यन्तरभेदभिन्नपरिग्रहाद्,विविधैर्ज्ञातभावनादिभिः प्रकारैः,प्रकर्षेण परीषहादिसहिष्णुतया मुक्तस्य, एवंविधस्य साधोरात्मा जीवो, ज्ञानेन मनःपर्यायलक्षणेन,पर्यायान् जीवस्य मनोगतान्, जानीते ॥७॥ अथ कीदृशं केवलज्ञानं भवति ?, तदाह-"जदा से" इत्यादि । यदा यस्मिन्नवसरे,सेत्यनिर्दिष्टनाम्नो जीवस्य ज्ञानावरणे विशेषावबोधरूपप्रस्तावात् केवलज्ञानावरणं, सर्वं निरवशेषं क्षयं गतं भवति । ननु केवलज्ञानं तदेवोत्पद्यते यदा सर्वावरणविगमो भवतीत्यर्थादागते किमर्थं सर्वग्रहणमित्याशङ्का ?। तत्रोच्यते-सर्वग्रहणं ज्ञानान्तरभेदसूचकं ज्ञेयं, यावदावरणविगमे ज्ञानान्तरव्यपदेशो दर्शितः ततो न निरर्थकता आशङ्कनीया, (तदा इति) तदा लोकं चतुर्दशरज्ज्वात्मकम, अलोकं चानन्तं, जिनो जानाति केवली लोकालोकं च सर्वं, नान्यतरमित्यर्थः ॥ ८ ॥ "जया" इत्यादि व्यक्तं, नवरं दर्शनं सामान्यावबोधरूपम् ॥ ९ ॥ "पडिमाए" इत्यादि । प्रतिमायाम् "सप्तम्यर्थे तृतीया" । विशुद्धायाम्, प्रतिमा तु द्वादशभिक्षुप्रतिमारूपा । अथवा-इयमेव रजोहरणतद्ग्रहणधारणरूपा । अथवा-मोहनीयकर्मविवर्जित आत्मा च वसति, सैव प्रतिमाप्रतिरूपता । अथवा-इहलोकपरलोकानाश्रितत्वेन विशुद्धा प्रतिज्ञा, मोहनीये च कर्मणि क्षयं गते सति, शेषं व्यक्तं, नवरम्-(सुसमाहिय त्ति) सुष्ठुतिशयेन समाधिनः समाधिमन्तः ॥ १० ॥ "जहा" इत्यादि । यथा मस्तकसूची हन्यते करतलेन, तदा करतलोऽपि हतो भवति, एवं कर्माणि हन्यन्ते, 'हन' हिंसागत्योः । ततो हन्यन्ते घातमाप्नुवन्ति, क सति ?, मोहनीये कर्मणि क्षयं गते सति इति गाथार्थः ॥ ११ ॥ (सेणावतिम्मि) सेनापतौ कटकनायके (हते त्ति) यथा सेना प्रणश्यति, एवं कर्माणीति, सर्वं सुगमम् ॥ १२ ॥ "धूम" इत्यादि । धूमहीनो यथाऽग्निः क्षीयते स निरन्धनो नाम-इन्धनरहितः, एवं व्यक्तम् ॥ १३ ॥ (सुक्कमूले त्ति) शुष्कमूलो यथा वृक्षः सिच्यमानो न रोहति-न वृद्धिमाप्नोति, एवं व्यक्तम ॥ १४ ॥ "जह" इत्यादि । यथा-दग्धेषु बीजेषु न जायन्ते नोत्पद्यन्ते पुनरङ्कुराः, तथा कर्मबीजेषु इति व्यक्तम ॥ १५ ॥ "चिच्चा" इत्यादि । त्यक्त्वा औदारिकं बोन्दि शरीरं, तत्र औदारिकं नाम उदारं, प्राधान्यं चास्य तीर्थकरगणधरशरीरापेक्षया, ततोऽन्यस्यानुत्तरसुरशरीरस्याप्यनन्तगुणहीनत्वात् । अथवा-'उरालं' नाम-विस्तरवत्, विस्तरवत्ता चास्यावस्थितस्वभावस्य सातिरेकयोजनसहस्रमानत्वात् । चशब्दात् तैजसं,कार्मणं च । उक्तं च-"ओरालियतेयाकम्मायाइं सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ति" च पुनर्नामगोत्रं, तत्र नामयति गत्यादिपर्यायानुभवनं प्रति प्रवणयति जीवमिति नाम, तथा गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैर्यत् तद् गोत्रम-उच्चनीचकुलोत्पत्तिलक्षणः पर्यायविशेषः, तद्विपाकवेद्यं कर्मापि गोत्रं, कार्ये कारणोपचारात् । यद्वा-कर्मणोऽपादानविवक्षा-गूयते शब्द्यते उच्चावचैः शब्दैरात्मा यस्मात्कर्मण उदयात्तद्गोत्रं चेत्युसरेण सह संटङ्कः। केवलीति केवलज्ञानवान्, तथा-(आउयमिति) एति आगच्छति च प्रतिबन्धकतां स्वकृतकर्मवाह्यनरकादिकुगतेर्निष्क्रमितुमनसो जन्तोरित्यायुः । अथवा-आ समन्तादधिगच्छति भवाद्भवान्तरसंक्रान्तौ विपाकोदयमित्यायुः, उभयत्राप्यौणादिक उस्प्रत्ययः। तथा (वेयणिज्जं च त्ति) चकारोऽत्र क्रमदर्शकः, वेद्यते आह्लादादिरूपेण यदनुभूयते तद्वेदनीयमत्र कर्मण्यनीयः। यद्यपि च सर्वं कर्म वेद्यते तथापि पङ्कजादिशब्दवत् वेदनीयशब्दस्य रूढिविषयत्वात्, छित्त्वेति आत्मप्रदेशेभ्यः कर्मदलिकान् पातयित्वा (भवति णीरए त्ति) भवति नीरजाः कर्मरजोरहितः ॥१६॥ "एवं" इत्यादि । एवमवधारणे, अभिराभिमुख्ये, समेकीभावे,'आङ्' मर्यादाभिविध्योः । 'गम्लृ' 'सिपृ' गतौ, सर्व एव गत्यर्था ज्ञानार्था ज्ञेयाः । अभिसमागत्य आभिमुख्यं सम्यग् ज्ञात्वेत्यर्थः । किं कर्तव्यमित्याह-(चित्तमादाय त्ति) चित्तशब्देन ज्ञानम, आदाय गृहीत्वा,एतावता रागादिकालुष्यवर्जितं ज्ञानं प्रगृह्य (आउसो ति) आयुष्मन्नित्यामन्त्रणे । एतानि च दश चित्तसमाधिस्थानानि समादाय, किं कर्तव्यम् ?। उच्यते-(सेणिसोधिमुवागम्म त्ति) श्रेणिशोधिं उपागम्य । श्रेणिर्द्विधा-द्रव्यश्रेणिर्भावश्रेणिश्च ! द्रव्यश्रेणिः-प्रासादानां श्रेणिर्नाम सोपानपङ्क्तिरुच्यते यया आरुह्यते । भावश्रेणिरपि द्विधा-विशुद्धा,अविशुद्धा च । संसाराय अविशुद्धा,मोक्षाय विशुद्धा,तस्याः शोधिरिति शुद्धिः, कर्मणां शुद्धिर्येन भवति सा शुद्धिरित्यभिधीयते । शोधिग्रहणात् संयमश्रेणिर्गृहीता भवति । उक्तं च-" अकलेवरसेणिमुस्सिआइ त्ति " उपागम्य ज्ञात्वा, उप सामीप्ये आगम्य प्राप्य, किं भवति ?। उच्यते-आत्मनः शोधिरात्मशोधिस्तां, तपसा (उवेइ त्ति) पश्यति, य एवं करोति ॥१७॥ दशा० ५ अ० । स्था० ।

चित्तसमाहिय-चित्तसमाहित-त्रि० । चित्तेनातिप्रसन्ने, दश० १० अ० ।

चित्तसहाव-चित्रस्वभाव-त्रि० । नानास्वभावे, पं० व० १द्वार।

चित्तसाहु-चित्रसाधु-पुं० । भवान्तरे चाण्डालपुत्रः चित्राख्यो भूत्वा सार्थवाहपुत्रीभूय प्रव्रजिते ब्रह्मदत्तचक्रिणो मित्रसाधौ, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

चित्तसेणग-चित्रसेनक-पुं० । ब्रह्मदत्तचक्रिराज्याः भद्रायाः पितरि, उत्त० १३ अ० ।

चित्ता-चित्रा-स्त्री० । नक्षत्रभेदे, अं० ७ वक्ष० । सू० प्र० । ज्यो० । विशे० । अनु० । स्था० । " दो चित्ताओ " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

स्त्री० । विदिग्रुचकाद्रिवासिन्यां विद्युत्कुमारीमहत्तरिकायाम्, ति० । स्था० । आ० म० । आ० क० । जं० । शक्रस्य देवेन्द्रस्य देवराजस्य सोममहाराजस्याग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० १ उ० । भ० ।

चित्ताणुय-चित्तानुग-त्रि० । आचार्यचित्तानुगामिनि, उत्त० २ अ० ।

चिति-चिति-स्त्री० । मिथ्यादेश्ययने, मृतकदहनार्थं दारुविन्यासे च । प्रश्न० ११ आश्र० द्वार ।

चित्तिया-चित्रिका-स्त्री० । व्याघ्रविशेषस्त्रियाम्, प्रज्ञा० ११ पद ।

चित्ति (ण्)-चित्रिन्-पुं० । चित्रं चित्रकर्म तत् कर्त्तव्यतया विद्यते यस्य स चित्री । चित्रकरे, कर्म० १ कर्म० ।

चित्तिसम-चित्रिसम-न० । चित्री चित्रकरस्तेन समं सदृशं चित्रिसमम् । चित्रकारोपमिते नामकर्मणि, यथा हि-चित्री चित्रं चित्रप्रकारं विविधवर्णयुक्तं करोति, तथा नामकर्मापि-जीवं नारकोऽयं तिर्यग्योनिकोऽयमेकेन्द्रियोऽयं द्वीन्द्रियोऽयमित्यादिव्यपदेशैरनेकधा करोति चित्रिसममिदमिति । कर्म० १ कर्म० ।

चित्तुस्साह-चित्तोत्साह-पुं० । मनःसमुत्साहे, षो० ६ विव० ।

चिद्-चित्-स्त्री० । चित्-सम्प०-क्विप् । ज्ञाने, वाच० । चैतन्यशक्तौ, स्था० । प्राकृते एतादृशः शब्दो न प्रयुज्यते व्यस्तः । " चिदानन्दघनस्य " चिद् ज्ञानमानन्दः सुखं, तद्घनः तत्सन्दोहरूपस्तस्य । अष्ट० १८ अष्ट० । " चिदाणंदमकरंदमहुव्वए " ज्ञानानन्दस्य मकरन्दं रहस्यं तस्य मधुव्रतो रसास्वादी । अष्ट० २१ अष्ट० । " चिदाणंदसुहालिहे, " चिज्ज्ञानं तस्यानन्दः स एव सुधाऽमृतं तां लेढीति । अष्ट० ३० अष्ट० ।

चिदप्पण-चिद्दर्पण-पुं० । चिद् ज्ञानं सर्वपदार्थपरिच्छेदकं, तदेव दर्पणः । ज्ञानादर्शे, अष्ट० ४ अष्ट० ।

चिद्दविओ-देशी-निर्नाशिते, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिद्दीव-चिद्दीप-पुं० । ज्ञानप्रदीपे, अष्ट० ३२ अष्ट० ।

चिप्पिडय-चिप्पिटक-पुं० । चपलसदृशे धान्यभेदे, दशा० ६ अ० । स्था० ।

चिप्पिण-चिप्पिन-पुं० । केदारवति तटवति वा देशे, केदारे च । भ० ५ श० ७ उ० ।

चिब्भडियामच्छ-चिर्भटिकामत्स्य-पुं० । मत्स्यभेदे, जी० १ प्रति० ।

चिमिढ-चिपिट-पुं० । निम्ने, " चीणचिमिढणासाओ । " आ० १ श्रु० ८ अ० ।

चिमिणो-देशी-रोमशे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिम्मंत-चीयमान-त्रि० । चि-कर्मणि भावे वा यकि शानच् । " म्मश्चेः " ८ । ४ । २ । २४३ ॥ इति धातोः कर्मणि भावे चान्त्ये वा म्माऽऽदेशः । चयं नीयमाने, प्रा० ४ पाद ।

चिम्मत्त-चिन्मात्र-न० । ज्ञानमात्रे, अष्ट० २ अष्ट० ।

चिय-चित-त्रि० । शरीरे, चयं गते, प्र० १ श० १ उ० । उपचिते, स्था० ४ ठा० ४ उ० । इष्टकादिरचिते प्रासादपीठादौ, अनु० ।

चिय-अव्य० । एवकारार्थे, स्था० २ ठा० १ उ० । पञ्चा० ।

चियत्त-त्यक्त-त्रि० । प्रीत्या दत्ते, पा० । अप्रीत्यकरणे, स्था० ३ ठा० । प्रीतिकरे, औ० । रा० । अभिमते, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० ।

चियत्तंतेउरघरप्पवेस-त्यक्तान्तःपुरगृहप्रवेश-पुं० । " चियत्तंतेउरघरप्पवेसा चियत्तो त्ति " लोकानां प्रीतिकर एवान्तःपुरे वा गृहे वा प्रवेशो येषां ते तथा, अतिधार्मिकतया सर्वत्रानाशङ्कनीयास्त इत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः-(चियत्तो त्ति) नाप्रीतिकरोऽन्तःपुरगृहयोः प्रवेशः शिष्टजनप्रवेशनं येषां ते तथा, अनीर्ष्यालुताप्रतिपादनपरं चेत्थं विशेषणमिति । अथवा-(चियत्तो त्ति) त्यक्तः अन्तःपुरगृहयोः परकीययोर्यथाकथञ्चित् प्रवेशो यैस्ते तथा । भ० २ श० ५ उ० । तथाविधे अतिधार्मिके, तथा सर्वत्रानाशङ्कनीये श्रावके, दशा० १० अ० ।

चियत्तकिच्च-त्यक्तकृत्य-त्रि० । त्यक्तानि कृत्यानि दशविधचक्रवालसामाचारीरूपाणि सर्वाणि येन सः । जीत० । कृत्यं करणीयं, त्यक्तं कृत्यं येन सः । त्यक्तचारित्रे, नि० चू० १ उ० । पं० चू० ।

चियत्तदेह-त्यक्तदेह-त्रि० । त्यक्तो वधबन्धाद्यवारणात्, अथवा चियत्तः सम्मतः प्रीतिविषयो, धर्मसाधनेषु प्रधानत्वाद्देहस्येति । व्र० १० श० २ उ० । परीषहसहनात् वा देहो यस्य । अभिग्रहविशेषयुक्ते, कल्प० ६ क्षण । व्य० ।

संप्रति " चियत्तदेहे त्ति " व्याख्यायते । तत्र त्यक्तं द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यत आह—

जुज्झपराजिय अट्टण, फलहियमल्ले निरुत्तपरिकम्मे ।
गूहण मच्छियमल्ले, तइयदिणे दव्वतो चत्तो ॥

इदं कथानकं प्रबन्धेनावश्यकटीकायामुक्तम्, इह तु ग्रन्थगौरवतया न लिख्यते, ततस्तस्मादवधारणीयम् । अक्षरयोजना त्वेवम्-अट्टनो नाम मल्ल उज्जयिनीवास्तव्यः सोपारे पत्तने वृद्धतया युद्धे पराजितः, तेनान्यः फलहीमल्लो नाम मल्लो मार्गितः । स सोपारके मात्सिकमल्लेन सह युद्धं दत्तवान् । तत्र फलहीमल्ले निरुक्तं निरवशेषं, परिकर्म क्रियते । इतरस्तु मात्सिकमल्लो गर्वाध्मातस्तथा शरीरपीडां गूहयन् न किमपि परिकर्म कारितवान् । ततः परिकर्माकरणतः तृतीयदिने मारितस्तेन, परिकर्माकरणतो यस्त्यक्तो देहः स द्रव्यतस्त्यक्तः ।

भावतस्त्यक्तमाह-

बंधेज्ज व रुंभेज्ज व, कोई व हणेज्ज अहव मारेज्ज ।
वारेइ न सो जयंतं, वि चत्तदेहो अपडिबद्धो ॥

स प्रतिमाप्रतिपन्नो भगवान्, शरीरेऽप्यप्रतिबद्धो यदि कोऽपि बध्नीयात्, अथवा रुन्ध्यात्, यदि वा हन्यात्, मारयेद्वा, तथापि तं न निवारयति । एष भावतस्त्यक्तदेहः । व्य० १० उ० ।

चियमंससोणियत्त-चितमांसशोणितत्व-न० । धातुप्रेक्षे, पं० व० ३ द्वार ।

चियलोहिय-चितलोहित-त्रि० । चितमुपचयं प्राप्तं लोहितं शोणितमस्येति चितलोहितः । लोहितमिति शेषधातूपलक्षणम् । उद्रिक्तधातौ, उत्त० ७ अ० ।

चिया-चिता-स्त्री० । शवदाहार्थे चितेन्धनानामौ, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

चियाग-त्याग-पुं० । त्यजनं त्यागः। संविग्नैकसंभोगिकानां भक्तादिदाने, स्था० ४ ठा० १ उ० । श्रमणधर्मे, स्था० १ ठा० १ उ०। त्यागो द्विधा-द्रव्यत्यागो, भावत्यागश्च। द्रव्यत्यागो नाम-आहारोपधिशय्यादीनामप्रायोग्याणां परित्यागः, प्रायोग्याणां यतिजनेभ्यो दानम्। भावत्यागः-क्रोधादीनां विवेको, ज्ञानादीनां यतिजनेभ्यो वितरणम् । आ० म० प्र० । प्रव० ।

चियायमंत-त्यागवत्-त्रि० । दानशीले, स च स्तोकादपि स्तोकं ददानो गणस्य बहुमानभाग्भवति इति स गच्छोपग्रहयोग्यः। व्य० ३ उ० ।

चिर-चिर-न० । दीर्घकाले, व्य० १ उ० । प्रभूतकाले, आतु०। सूत्र० । आव० ।

चिरंजीविय-चिरंजीवित-न० । दीर्घे आयुषि, स्था० १० ठा०।

चिरंतण-चिरन्तन-त्रि० । पुराणे, आव० ४ अ० ।

चिरजुसिय-चिरजुषित-त्रि० । चिरसेविते, 'जुषी' प्रीतिसेवनयोरिति वचनात् । भ० १४ श० ७ उ० ।

चिरट्ठितिय-चिरस्थितिक-त्रि० । चिरं प्रभूतकालं स्थितिरवस्थानं येषां ते तथा । सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । प्रभूतकालस्थितिकेषु, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० ३ उ०। पल्यादिसागरोपमस्थितिकेषु, स्था० ८ ठा०। तथाहि-उत्कृष्टतस्त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि, जघन्यतो दशवर्षसहस्राणि तिष्ठन्ति देवा नारकाश्च । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० । दशा० । "पयाइ फासाइँ फुसंति बालं, निरंतरं तत्थ चिरट्ठितीयं।" सूत्र० १ श्रु० ५ अ० २ उ० ।

चिरदिक्खिय-चिरदीक्षित-त्रि० । प्रभूतकाले प्रव्रजिते, व्य० ४ उ० ।

संप्रति चिरप्रव्राजितद्वारमाह—

चिरपव्वइओ तिविहो, जहन्नओ मज्झिमो य उक्कोसो ।
तिवरिस पंचम मज्झो, वीसतिवरिसो य उक्कोसो ॥

चिरप्रव्रजितस्त्रिविधः । तद्यथा-जघन्यो मध्यम उत्कृष्टः । तत्र त्रिवर्षप्रव्रजितो जघन्यश्चिरप्रव्रजितः, पञ्चवर्षप्रव्रजितो मध्यमो, विंशतिवर्षप्रव्रजित उत्कृष्टः॥

अथ केन बहुश्रुतेन चिरप्रव्रजितेन चाधिकार इत्यत आह-

बहुसुयचिरपव्वइओ, एत्थ मज्झेसु होति अहिगारो ।
एत्थ उ कमे विजासा, कम्हाउ बहुस्सुओ पढमं ॥

अत्र बहुश्रुतचिरप्रव्रजितयोर्मध्ये ताभ्यामधिकारः, गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे । अत्र क्रमे क्रमविषये, विज्ञासा कर्तव्या । सा चैवम्-कस्मात् प्रथमं बहुश्रुत उक्तः ?, यतः प्रथमं प्रव्रज्या भवति,ततः श्रुतं,ततः प्रथमं चिरप्रव्रजितस्योपादानं युज्यते ?। नैष दोषः-नियमविशेषप्रदर्शनार्थं ह्येवमुपादानं, यो बहुश्रुतः स नियमाच्चिरप्रव्रजितो, येन त्रिवर्षप्रव्रजितस्य निशीथमुद्दिश्यते, पञ्चवर्षप्रव्रजितस्य कल्पव्यवहारौ, विंशतिवर्षप्रव्रजितस्य दृष्टिवादस्तेन न दोष इति । बृ० १ उ० ।

चिरपरिचिय-चिरपरिचित-त्रि० । पुनःपुनर्दर्शनतः परिचिते, भ० १४ श० ७ उ० ।

चिरपोराण-चिरपुराण-त्रि० । चिरप्रतिष्ठितत्वेन पुराणे, भ० ३ श० ७ उ० ।

चिरपव्वइय-चिरप्रव्रजित-पुं०। चिरदीक्षिते, बृ० १ उ०।

चिरप्पवास-चिरप्रवास-पुं० । चिरवियोगे, पं० चू० ।

चिरया-देशी-कुट्याम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिरसंथुत-चिरसंस्तुत-त्रि० । चिरं बहुकालमतीतं यावत्संस्तुतः । चिरस्नेहात्प्रशंसिते, भ० १४ श० ७ उ० ।

चिरसंसिट्ठ-चिरसंसृष्ट-त्रि० । चिरं बहुकालं यावत् चिरे वाऽतीते प्रभूते काले संश्लिष्टः । चिरस्नेहात्संबद्धे, भ० १४ श० ७ उ० ।

चिराइय-चिरादिक-त्रि० । चिरश्चिरकाल आदिर्निवेशो यस्य तच्चिरादिकम् । नि० ५ वर्ग । औ० । ज्ञा० । चिरकालिके, विपा० १ श्रु० १ अ० ।

चिराणुगय-चिरानुगत-त्रि० । भवानुगतिकारित्वात् चिरमनुगते, भ० १४ श० ७ उ० ।

चिराणुवत्ति-चिरानुवृत्ति-त्रि० । चिरमनुवृत्तिरनुकूलवर्तिता यस्यासौ चिरानुवृत्तिः । प्रभूतकालमनुकूलतया संजाते, " चिरपरिचितो सि मे गोयमा !, चिरजुसिओ सि मे गोयमा!, चिराणुगओ सि मे गोयमा !, चिराणुवत्ती सि मे गोयमा ! " भ० १४ श० ७ उ० ।

चिराइण-चिरंतन-त्रि० । प्राचीने आचार्यपरम्परागते, बृ० ३ उ० ।

चिरिचरा-देशी-जलधारायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिरिंचिरा-देशी०-जलधारायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिरिट्ठिहिल्ली-देशी-दध्नि, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिरोववण्णग-चिरोपपन्नक-त्रि० । चिरजाते, आव० ४ अ० ।

चिलाइया-किरातिका-स्त्री०। किराताख्यानार्यदेशोत्पन्नायां दास्याम्, नि० १ वर्ग । रा० । आ० चू० । दशा० । भ० ।

चिलाई-किराती-स्त्री० । किराताख्यानार्यदेशोत्पन्नायां चेट्याम्, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

चिलाईपुत्त-किरातीपुत्र-पुं० । धनश्रेष्ठिदास्याः किरात्याः पुत्रे, आ० क० ।

" विद्वन्मानी द्विजन्मैको, जिनशासनहीलकः ।
वादेऽधिसमाचार्यैर्जित्वा शिष्यीकृतो बलात् ॥ १ ॥
शिरोऽनुदेवतावाक्याद्, जुगुप्सां तु मुमोच न ।
भार्यात्वात्कार्मणं प्रेम्णा, मृतस्तेन दिवं गतः ॥ २ ॥
तन्निर्वेदेन साऽप्यात्त-व्रताऽनालोच्य तन्मृता ।
दिवं ययौ स पूर्णायु-र्द्विजदेवस्ततश्च्युतः ॥ ३ ॥
पुरे राजगृहे श्रेष्ठी, धनश्रेष्ठी चिलातिका ।
तस्याः स्तनंधयो नाम्ना, चिलातीपुत्र इत्यभूत् ॥ ४ ॥
तत्प्राग्जन्मप्रियाऽप्यस्यैः, कियद्भिः सुंसुमाऽभिधा ।
सपरिच्छदा पञ्चपुत्र्याः , धनस्यैव सुताऽभवत् ॥ ५ ॥
स बालो धारकस्तस्या-श्चेटोऽथ श्रेष्ठिनाऽन्यदा ।
तच्चिह्ने विक्रियां कुर्वन्, दृष्ट्वा निःसारितो गृहात् ॥ ६ ॥
गतः सिंहगुहापल्ली-मिषः पल्लीपतेरभूत् ।
गुणैः कैश्चित् ततस्तं स, मुमूर्षुः स्वपदेऽकरोत् ॥ ७ ॥

सोऽवक् चौरान् राजगृहे, धनसार्थपतेर्गृहम् ।
मुष्णीमोऽभ्येत्य वो द्रव्यं, तत्पुत्री सुंसुमा मम ॥ ८ ॥
हत्वाऽथ रक्षिणं प्राप्तो, मुषितुं धनवेश्म तत् ।
धनो नष्टः सपुत्रोऽपि, सोऽगादादाय सुंसुमाम ॥ ९ ॥
धनेनोक्तास्तलारक्षाः, निवर्तयत मे सुताम् ।
धनं वो मे सुता तेऽथा-ऽधावन् भग्नाश्च तस्कराः ॥ १० ॥
निवृत्तास्ते गृहीत्वा स्वं, श्रेष्ठी पञ्चसुतान्वितः ।
नयन्तं सुंसुमां चेट-मन्वधावत् कृतान्तवत् ॥ ११ ॥
चेटोऽप्यशक्तस्तां वोढुं, गृहीत्वा तच्छिरोऽव्रजत् ।
तस्थौ श्रेष्ठी सपुत्रोऽथ, शोकार्तोऽथ क्षुधार्दितः ॥ १२ ॥
हत्वा मां खादतेत्यूचे, पुत्रान् यातार्थ पत्तनम् ।
तन्नैषुः किं तु तेऽप्याहुः, श्रेष्ठिवत्सर्वं एव हि ॥ १३ ॥
श्रेष्ठ्युवाच पुनः पुत्रान्, सर्वेषां मृत्युरस्तु मा ।
एतदेव वपुः पुत्र्याः, खादित्वा गम्यते पुरे ॥ १४ ॥
तदेतैः कारणे गाढे , पुत्रीमांसादनं कृतम् ।
एवं साधुभिराहारो, ग्राह्यो महति कारणे ॥ १५ ॥
तेनाहारेण ते जाताः , संजाता भोगभोगिनः ।
स्यादेवं कारणाहारात् , साधुवर्गोऽपि सिद्धिभाक् ॥ १६ ॥
स च शीर्षासिभृद्रच्छन्, साधुमातापमाप्तम् ।
दृष्ट्वाऽवद समासेन, धर्ममाख्याहि मेऽधुना ॥ १७ ॥
नो चेदपि शिरश्छेत्स्ये , साधुर्धर्मोऽयामित्यवक् ।
समासाद्यो उपशमो, विवेकः संवरस्तथा ॥ १८ ॥
एकान्तेऽस्थात्प्रतिमया, सोऽपि तां त्रिपदीं स्मरन् ।
जज्ञावुपशमः स्याद्-क्रोधस्येत्यत्यजत् क्रुधम् ॥ १९ ॥
विवेकः स्यादसङ्गस्य, खङ्गशीर्षे ततोऽमुचत् ।
संवृतेन्द्रियचित्तस्य, संवरत्वं तथाऽकरोत् ॥ २० ॥
तदा लोहितगन्धेन , वज्रतुण्डाः पिपीलिकाः ।
शैलं निश्चैतिस्थिताश्चक्रु-श्चालनीमिव तद्वपुः ॥ २१ ॥
दुष्कर्मनिर्गमे द्वार-कारकाः कीटिका इमे ।
उपकर्त्र्यो ममेत्येवं, तासु ध्यानं बबन्ध सः ॥२२॥ आ० क०।

एतदेव सप्रपञ्चं सूत्रकृदाह—

जइ णं भंते ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं सत्तरसमस्स णं णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते, अट्ठारसमस्स णं भंते! णायज्झयणस्स समणेणं भगवया महावीरेणं के अट्ठे पण्णत्ते ? । एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नामं नयरे होत्था, वण्णओ, तस्स णं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं गुणसिलए णामं चेइए होत्था,वण्णओ रिद्धित्थिए समिद्धे, तत्थ णं धण्णे नामं सत्थवाहे परिवसइ , भद्दा नामं भारिया, तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स पुत्ता भद्दाए अत्तया पंच सत्थवाहदारगा होत्था । तं जहा-धणे,धणपाले, धणदेवे , धणगोवे , धणरक्खिए । तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स धूआ भद्दाए अत्तया पंचण्हं पुत्ताणं अणुमग्गं जाइया सुंसुमा नामं दारिया होत्था सुकुमालपाणिपाया। तस्स णं धण्णस्स सत्थवाहस्स चिलाए नामं दासचेडए होत्था अहीणपंचिंदिअसरीरे मंसोवचिए बालकीलावणकुसले यावि होत्था सुकुमालपाणिपाया। तए णं से चिलाए दासचेडए सुंसुमाए दारियाए बालग्गाहे जाए यावि होत्था, सुंसुमं दारियं कडीए गेण्हइ, गेण्हइत्ता बहुहिं दारएहि य दारियाहि य डिंभएहि य डिंभियाहि य कुमारएहि य कुमारियाहि य सद्धिं अभिरममाणे २ विहरइ। तए णं से चिलाए दासचेडए तेसिं बहूणं दारयाण य ६ अप्पेगइआणं खुल्लए अवहरइ, एवं वट्टए अंमोलीयाओ त्ति तूसए त्ति पोत्तुल्लए साडोल्लए अप्पेगइयाणं आभरणमल्लालंकारं अवहरइ, अप्पेगइया णं आउसइ, एवं अवहसइ, निच्छोडेइ,निब्भत्थेइ,तज्जेइ, तालेइ। तए णं ते बहवे दारगा य ६ रोयमाणा य कंदमाणा य विलवमाणा य साणं २ अम्मापिऊणं णिवेयंति । तए णं तेसिं बहूणं दारगाण य ६ अम्मापियरो जेणेव धण्णे सत्थवाहे, तेणेव उवागच्छंति,उवागच्छंतित्ता धण्णं सत्थवाहं बहुहिं खिज्जणाहि य रुंटणाहि य उवलंभणाहि य खिज्जमाणा य रुंटमाणा य उवलंभमाणा य धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं णिवेयंति । तए णं से धण्णे सत्थवाहे चिलायं दासचेडयं एयमट्ठं भुज्जो २ निवारेइ, नो चेव णं चिलाए दासचेडे उवरमइ। तए णं से चिलाए दासचेडए तेसिं बहूणं दारगाण य ६ अप्पेगतियाणं खुल्लए अवहराति० जाव तालेइ । तए णं ते बहवे दारगा य ६ रोयमाणा य० जाव अम्मापिऊणं निवेएंति। तए णं ते आसुरत्ता० ५ जेणेव धण्णे सत्थवाहे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता बहुहिं खिज्जणाहि य०जाव एयमट्ठं णिवेयंति। तए णं से धण्णे सत्थवाहे बहूणं दारगाणं० ६ अम्मापिऊणं अंतिए एयमट्ठं सोच्चा आसुरत्ते० ५ चिलायं दासचेडयं उच्चावयाहिं आओसणाहिं आउसइ, उद्धंसेइ, णिब्भत्थेइ, निच्छोडेइ, तज्जेति, उच्चावयाहिं तालणाहिं तालेति, साओ गिहाओ णिच्छुभइ । तए णं से चिलाए दासचेडए साओ गिहाओ णिच्छूढे समाणे रायगिहे णयरे सिंघाडग० जाव पहेसु देवकुलेसु य सभासु य पवासु य जयखलएसु य वेसाघरएसु य पाणघरएसु य सुहं सुहेणं परिवड्ढइ । तए णं से चिलाए दासचेडए अणोहट्टिए अणिवारिए सच्छंदमई सइरप्पयारी मज्जप्पसंगी चोरप्पसंगी मंसप्पसंगी जूयप्पसंगी वेसप्पसंगी परदारप्पसंगी जाए यावि होत्था। तए णं रायगिहस्स नगरस्स अदूरसामंते दाहिणपुरच्छिमे दिसिभाए एत्थ णं सीहगुहा णामं चोरपल्ली होत्था— विसमगिरिकडगकोडंबसंनिविट्ठा वंसीकलंगपागारपरिक्खित्ता छिन्नसेलगविसमप्पवायफलिहोवगूढा एकदुवारा अनेकखंडी विदितजणनिग्गमप्पवेसा अब्भिंतरपाणिया सु-

दुल्लजजलपेरंता सुबहुस्स वि कुवियस्स बलस्स आगयस्स दुप्पवेसा वि होत्था । तत्थ णं सीहगुहाए चोरपल्लीए विजए नामं चोरसेणाहिवई परिवसइ, अहम्मिए अहम्मक्खाई अधम्मिट्ठे अधम्माणुए अहम्मपलोई अहम्मसीलसमुदारे० जाव अहम्मकेउसमुट्ठिए बहुणगरनिग्गयजसे सूरे दढप्पहारी साहसिए सद्दवेही, से णं तत्थ सीहगुहाए चोरपल्लीए पंचण्हं चोरसयाणं आहेवच्चं० जाव विहरइ। तए णं से विजयतक्करे चोरसेणावई बहूणं चोराण य पारदारगाण य खत्तखणगाण य गंठिभिंदगाण य संधिच्छेदगाण य रायावराहाण य अणधारगाण य सुणजंजगाण य वालधायगाण य वीसंभघायगाण य जूयकाराण य खंडरक्खाण य अन्नेसिं च बहूणं छिन्नभिन्नबाहिराहयाणं कुडंगे यावि होत्था । तए णं से विजयतक्करे चोरसेणाहिवई रायगिहस्स णयरस्स दाहिणपुरच्छिमं जणवयं बहूहिं गामघाएहि य नगरघाएहि य गोग्गहणेहि य बंदिग्गहणेहि य पंथकुट्टणाहि य खत्तखणणेहि य उवीलेमाणे २ विद्धंसेमाणे नित्थाणं निद्धणं करेमाणे विहरइ। तए णं से चिलाए दासचेमए रायगिहे णयरे बहुहिं अत्थाभिसंकीहि य चोरियाभिसंकीहि य दाराभिसंकीहि य धणिएहि य जूयकरेहि य परिभवमाणा २ रायगिहाओ णयराओ णिग्गच्छति, णिग्गच्छतित्ता जेणेव सीहगुहा चोरपल्ली तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता विजयं चोरसेणाहिवइं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तए णं से चिलाए दासचेमए विजयस्स चोरसेणाहिवइस्स अग्गअसिलट्ठिग्गाहे जाए यावि होत्था । जाहे वि य णं से विजए चोरसेणाहिवई गामघायं वा० जाव पंथकोट्टं वा काउं वयंति, ताहे वि य णं से चिलाए दासचेमे सुबहुं पि य कुवियबलं हयमहिय० जाव पडिसेहइ, पुणरवि लद्धट्ठे कयकज्जे अणहसमग्गे सीहगुहं चोरपल्लिं हव्वमागच्छइ। तए णं से विजए चोरसेणाहिवई चिलायं तक्करं बहुओ चोरविज्जाओ य चोरमंते य चोरपाउयाओ य चोरमायाओ य चोरणिगमीओ य सिक्खावेइ। तए णं से विजयचोरसेणाहिवई अन्नया कयाइं कालधम्मुणा संजुत्ते यावि होत्था । तए णं से ताइं पंचचोरसयाइं विजयस्स चोरसेणाहिवइस्स महया २ इड्ढीसक्कारसमुदएणं णीहरणं करेति, करेतित्ता बहुइं लोइयाइं मयकिच्चाइं करेइ, काले णं० जाव विगयसोया जाया यावि होत्था। तते णं ताइं पंचचोरसयाइं अन्नमन्नं सद्दावेइ,सद्दावेइत्ता एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! विजए चोरसेणाहिवई कालधम्मुणा संजुत्ते, अयं च णं चिलाए तक्करे विजएणं चोरसेणावइणा बहुओ चोरविज्जाओ० जाव सिक्खाविये, तं सेयं खलु अम्हं देवाणुप्पिया ! चिलायं तक्करं सीहगुहाओ चोरपल्लीओ चोरसेणाहिवइत्ताए अभिसिंचित्तइए त्ति कट्टु अन्नमन्नस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, चिलायं सीहगुहाए चोरपल्लीए चोरसेणाहिवइत्ताए अभिसिंचंति। तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई जाए अहम्मिए० जाव विहरति। तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई चोरणायगे० जाव कुडंगे यावि होत्था। से णं तत्थ सीहगुहाए चोरपल्लीए पंचण्ह य चोरसयाण य एवं जहा विजओ तहेव सव्वं० जाव रायगिहस्स णं णगरस्स दाहिणपुरच्छिमिल्लं जणवयं० जाव निद्धणं करेमाणे विहरइ । तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई अन्नया कयाइं विउलं असणं० ४ उवक्खडावेति, ताए पंचचोरसए आमंतेइ, तओ पच्छा ण्हाए० जाव भोयणमंडवंसि तेहिं पंचहि चोरसएहिं सद्धिं विउलं असणं० ४ सुरं च० जाव पसन्नं च आसाएमाणे विहरइ । जिमियभुत्तुत्तरागए ते पंचचोरसए विउलेणं धूवगंधमल्लालंकारेणं सक्कारेइ, संमाणेइ, एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! रायगिहे णयरे धण्णे नामं सत्थवाहे अड्ढे, तस्स णं धूआ भद्दाए अत्तया पंचण्हं पुत्ताणं अणुमग्गं जाइया सुंसुमा नामं दारिया होत्था अहीणा० जाव सुरूवा । तं गच्छामो णं देवाणुप्पिया ! धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं विलुंपामो, तुब्भं विपुलेणं धणकणग० जाव सिलप्पवाले, मम सुंसुमा दारिया। तए णं ते पंच चोरसया चिलायस्स एयमट्ठं पडिसुणेंति, तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई तेहिं पंचचोरसएहिं सद्धिं अल्लचम्मं दुरूहइ, पुव्वावरण्हकालसमयंसि पंचचोरसएहिं सद्धिं सन्नद्ध० जाव गहिआउहपहरणे माइयगोमुहएहिं फलएहिं निकट्ठाहिं असिलट्ठाहिं आसगएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणुएहिं समुक्खित्तेहिं सरेहिं समुल्लालियाहिं दाहाहिं ओसारियाहिं जलघंटियाहिं ऊरूघंटियाहिं छिप्पतूरेहिं वज्जमाणाहिं महया २ उक्किट्ठसीहणायचोरकलकलरवं० जाव समुद्दरवभूयं करेमाणा पुव्वावरण्हकालसमयंसि सीहगुहाओ चोरपल्लीओ पडिणिक्खमाति, पडिणिक्खमइत्ता जेणेव रायगिहे णयरे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता रायगिहस्स णयरस्स अदूरसामंते एगं महं गहणं अणुप्पविसंति, अणुप्पविसंतित्ता दिवसं खवेमाणा२ चिट्ठंति, तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई अद्धरत्तकालसमयंसि णिसंतपडिणिसंतम्मि पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं माइयगोमुहेहिं फलएहिं० जाव मुइयाहिं ऊरूघंटियाहिं जेणेव रायगिहे णगरे पुरच्छिमिल्ले दुवारे तेणेव उवागच्छति, उवागच्छतित्ता उदगवत्थिं परामुसइ, परामुसइत्ता

आयंते ३ तालुग्घाडणिं विज्जं आवाहइ , आवाहइत्ता रायगिहस्स पयरस्स दुवारकवाडे उदएण अच्छोडेइ, अच्छोडेइत्ता कवाडं विहाडेइ,विहाडेइत्ता रायगिहं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता महया २ सद्देण उग्घोसेमाणे उग्घोसेमाणे एवं वयासी–एवं खलु अहं देवाणुप्पिया ! चिलाए नामं चोरसेणावई पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं सीहगुहाओ चोरपल्लीओ इहं हव्वमागए धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं घाउकामे, तं जो णं णवियाए माउयाए दुद्धं पाउकामे, से णं णिग्गच्छउ इति कट्टु जेणेव धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहे तेणेव उवागच्छति , उवागच्छतित्ता धण्णस्स गिहं विहाडेइ, तए णं से धण्णे सत्थवाहे चिलाएणं चोरसेणाहिवइणा पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं गिहं घाइज्जमाणं पासइ, पासइत्ता भीए तत्थेव पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं एगंते अवक्कमइ। तए णं से चिलाए चोरसेणाहिवई धण्णस्स सत्थवाहस्स गिहं घाएइ , घाएइत्ता सुबहुं णं धणकणगं० जाव सावएज्जं सुंसुमं च दारियं गिण्हति, गिण्हतित्ता रायगिहाओ पमिणिक्खमति , पमिणिक्खमातित्ता जेणेव सीहगुहा पल्ली तेणेव उवागच्छति पहारेत्थगमणाए, तए णं से धण्णे सत्थवाहे जेणेव सए गिहे, तेणेव उवागच्छति , उवागच्छतित्ता सुबहुं धणकणगं, सुसुमं च दारियं अवहरियं च जाणित्ता महत्थं० जाव पाहुडं गहाय जेणेव नगरगुत्तिया, तेणेव उवागच्छाति, उवागच्छतित्ता तं महत्थं० जाव पाहुडं उवणेति, एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया ! चिलाए चोरसेणाहिवई सीहगुहातो चोरपल्लीतो इहं हव्वमागम्म पंचहिं चोरसएहिं सद्धिं मम गिहं घाएत्ता सुबहुं धणकणगं, सुसुमं च दारियं गहाय० जाव पमिगए, तं इच्छामो णं देवाणुप्पिया ! सुंसुमाए दारियाए कूवं गमित्तए तुब्भ णं देवाणुप्पिया ! से विउले धणकणगं , मम सुसुमा दारिया । तए णं ते नगरगुत्तिया धण्णस्स सत्थवाहस्स एयमट्ठं पमिसुणंति सण्णद्धबद्धा० जाव गहियाउहप्पहरणा महया २ उक्किट्ठसीहणायं करेमाणा समुद्दरवभूयं पि व करेमाणा रायगिहाओ नगराओ निक्खमंति, निक्खमंतित्ता जेणेव चिलाए चोरसेणाहिवई, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता चिलाएणं चोरसेणावतिणा सद्धिं संपलग्गा यावि होत्था। तते णं ते नगरगुत्तिया चिलायं चोरसेणावइं हतमहिय०जाव पडिसेहेति। तते णं ते पंच चोरसया नगरगुत्तिएहिं हतमहिय० जाव पमिसेहिया समाणा तं विपुलं धणकणगं विच्छड्डेमाणा य विप्पकिरमाणा य सव्वओ समंता वि पलाइत्था। तते णं ते नगरगुत्तिया तं विपुलं धणकणगं गिण्हंति, गिण्हंतित्ता जेणेव रायगिहे नगरे , तेणेव उवागच्छंति। तते णं से चिलाए तं चोरसेणं तेहिं नगरगुत्तिएहिं हयमहियपवरवीते तत्थे सुंसुमं दारियं गहाय एगं महं आगामियं दीहमद्धं अडविं अणुप्पविट्ठे। तते णं से धण्णे सत्थवाहे सुंसुमं दारियं चिलाएणं अडविमुहं अवहीरमाणिं पासित्ता पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे सण्णद्धबद्धचिलायस्स पदमग्गविहिं अणुगच्छमाणे अभिगज्जंते अणुगिज्झमाणे हक्कारेमाणे पुक्कारेमाणे अभितज्जेमाणे अभित्तासेमाणे पिट्ठओ अणुगच्छंति। तते णं ते चिलाए तं धण्णं सत्थवाहं पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठं सण्णद्धबद्धसमणुगम्ममाणं पासति, पासतित्ता अत्थामे अबले० ४ जाहे नो संचाएइ सुसुमं दारियं निव्वाहेत्तए, ताहे संते तंते परितंते नीलुप्पलमसिं परामुसति, परामुसतित्ता सुंसुमाए दारियाए उत्तमंगं छिंदति, छिंदतित्ता तं गहाय आगामियं अडविं अणुपविट्ठे। तते णं से चिलाए तीसे आगामियाए तण्हाए अभिभूते समाणे पम्हुट्ठदिसाभाए सीहगुहं चोरपल्लिं असंपत्ते अंतरा चेव कालगए , एवामेव समणाउसो० ! जाव पव्वइए समाणे इमस्स उरालियस्स सरीरस्स वंतासवस्स० जाव विद्धंसणधम्मस्स वण्णहेउं वा० जाव आहारं आहारेइ, से णं इहलोए चेव बहूणं समणाणं ४ हीलणिज्जे० जाव अणुपरियट्टिस्सइ, जहा वा से चिलाए तक्करे, तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठे चिलायं तीसे आगामियाए सव्वओ समंता परिधाडेमाणे २ संते तंते परितंते नो संचाएइ चिलायं चोरसेणावइं साहत्थिं गिण्हित्तए, से णं तओ पमिनियत्तए जेणेव सुंसुमा दारिया चिलाएणं जीवियाओ ववरोविआ तेणेव उवागच्छति , उवागच्छतित्ता सुंसुमं दारियं चिलाएणं जीवियाओ ववरोवियं पासति, (पासतित्ता) परसुणियत्तेव चंपगपायवे, तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं सद्धिं अप्पछट्ठे आसत्थे कूयमाणे कंदमाणे विलवमाणे महया महया सद्देणं कुहुकुहस्स परुण्णे सुचिरं कालं वाहमोक्खं करेति। तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचहिं पुत्तेहिं अप्पछट्ठे चिलायं तीसे आगामियाए सव्वतो समंता परिधावेमाणे २ तण्हाए छुहाए य पराभूए समाणे तीसे आगामियाए अडवीए सव्वतो समंता उदगस्स मग्गणगवेसणं करेति, संते तंते परितंते निव्विण्णे तीसे आगामियाए अडवीए उदगस्स मग्गणगवेसणं करेमाणे णो चेव णं उदगं आसाएइ। तए णं उदगं अणासाएमाणे जेणेव सुंसमा दारिया जीवियाओ ववरोविया , तेणेव उवागच्छति। तए णं से धण्णे सत्थवाहे जेट्ठं पुत्तं सद्दावेति, सद्दावेतित्ता एवं वयासी–एवं खलु पुत्ता ! सुंसुमाए दारियाए अट्ठाए चिलायं तक्करं सव्वतो समंता परिधाडेमाणे

तएहाए छुहाए अभिभूआ समाणा इमीसे आगामिआए अगवीए उदगस्स मग्गणगवेसणं करेमाणा नो चेव णं उदगं आसादेमो, तए णं उदगं अणासाएमाणा णो संचाएमो रायगिहं संपाविसए। तए णं तुब्भे णं ममं देवाणुप्पिया ! जीवियाओ ववरोवेह, ममं मंसं च सोणियं च आहारेह, तेणं आहारेणं अवथद्धा समाणा ततो पच्छा इमं आगामियं अडविं नित्थरिहेह, रायगिहं च संपाविहिह, मित्तणाइणियगं अभिसमागच्छिहिह, अत्थस्स य धम्मस्स य पुस्स य आभागी भविस्सह। तते णं से जेट्ठपुत्ते धण्णेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ते समाणे धण्णं सत्थवाहं एवं वयासी-तुब्भे णं ताओ अम्हं पिआ गुरुजणा य देवयभूया ठवका पतिट्ठवका संरक्खगा संगोवगा, तं कहं णं अम्हे ताओ तुब्भे जीवियातो ववरोवेमो, तुब्भे णं मंसं च सोणियं च आहारेमो, तं तुब्भे णं ताओ ममं जीवियातो ववरोवेह, मंसं च सोणियं च आहारेह, आगामियं अडविं नित्थरह, तं चेव सव्वं भणति०जाव अत्थस्स ३ आभागी भविस्सह। तते णं धण्णं सत्थवाहं दोच्चे पुत्ते एवं वयासी-मा णं ताओ अम्हं जेट्ठभायरं गुरुदेवयं जीवियाओ ववरोवेमो, तुब्भे णं ताओ ममं जीवियाओ ववरोवेह०जाव आभागी भवस्सह, एवं०जाव पंचमे पुत्ते। तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचपुत्ताणं हियइच्छियं जाणित्ता ते पंचपुत्ते एवं वयासी-मा णं अम्हे पुत्ता एगमवि जीवितातो ववरोवेमो, एस णं सुंसुमाए दारियाए सरीरे निप्पाणे०जाव जीवआओ विप्पजढे, तं सेयं खलु पुत्ता ! अम्हे सुंसुमाए दारियाए मंसं च सोणियं च आहरित्तए। तते णं अम्हे तेणं आहारेणं अवथद्धा समाणा रायगिहं णयरं संपाउणियस्सामो। तए णं ते पंच पुत्ता धण्णेणं सत्थवाहेणं एवं वुत्ता समाणा एयमट्ठं पडिसुणंति। तते णं से धण्णे सत्थवाहे पंचपुत्तेहिं सद्धिं अरणिं करेति, अरणिं करेतित्ता सरगं करेति, सरएणं अरणिं महेति, महेतित्ता अग्गिं पाडेति, अग्गिं पाडेतित्ता अग्गिसंधुक्कं करेति, करेतित्ता दारुयाइ पक्खिवइ, पक्खिवइत्ता अग्गिं पज्जालेति, अग्गिं पज्जालेतित्ता सुंसुमाए दारियाए मंसं च सोणियं च आहारेति, तेणं आहारेणं अवथद्धा समाणा रायगिहं नगरं संपत्ता मित्तनातिं अभिसमन्नागया, तस्स य विपुलस्स धणकणगरयण० जाव आभागी जाया। तते णं धण्णे सत्थवाहे सुंसुमाए दारियाए बहुइं लोइयाइं० जाव विगयसोए जाए यावि होत्था। तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जेणेव गुणसिलए चेइए, तेणेव समोसढे, सेणिओ वि राया णिग्गओ। तए णं से धण्णे सत्थवाहे धम्मं सोच्चा० जाव पव्वइया, एकारसंगविऊ मासियाए संलेहणाए०जाव कालमासे कालं किच्चा सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववण्णे, ताओ देवलोगाओ महाविदेहे वासे सिज्झिहिति०, जाव अंतं करेहिति, जहा वि य ण जंबू ! धण्णे सत्थवाहे णो वण्णहेउं वा नो रूवहेउं वा नो बलहेउं वा नो विसयहेउं वा सुंसुमाए दारियाए मंसं सोणियं च आहारिए, नन्नत्थ एगाए रायगिहं संपावणट्ठयाए, एवामेव समणाउसो ! जो अम्हं निग्गंथो वा निग्गंथी वा इमस्स ओरालियसरीरस्स वंतासवस्स पित्तासवस्स सुक्कासवस्स सोणियासवस्स०जाव अवस्सविप्पजहियव्वस्स नो वन्नहेउं वा नो रूवहेउं वा नो बलहेउं वा नो विसयहेउं वा आहारं आहारेति, नन्नत्थ एगाए सिद्धिगमणसंपावणट्ठयाए, से णं इह भवे चेव बहूणं समणाणं० ४ अच्चणिज्जे० जाव वीईवइस्सइ, एवं खलु जंबू ! समणेणं भगवया महावीरेणं० जाव संपत्तेणं अट्ठारसमस्स णायज्झयणस्स अयमट्ठे पण्णत्ते त्ति बेमि। ज्ञा० १ श्रु० १८ अ० ॥

आसी चिलाइपुत्तो, मुइंगलियाहिँ चालणि व्व कओ।
सो वि तह खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ ८४ ॥

आसीच्चिलातिपुत्रः सुंसुमाज्ञाते प्रसिद्धः (मुइंगलियाहिं ति) कीटिकाभिः, पद्भ्यां शोणितगन्धेन प्रसृताभिर्भक्ष्यन्तीभिः शिरो यावच्चालनीव कृतः, सोऽपि ताभिस्तथा भक्ष्यमाणः प्रतिपन्न उत्तमार्थम्। संथा०।

तथा चामुमेवार्थं प्रतिपिपादयिषुराह-

जो तिहि पएहि सम्मं, समभिगओ संजमं समभिरूढो।
उवसमविवेगसंवर-चिलाइपुत्तं नमंसामि ॥ २१० ॥

यस्त्रिभिः पदैः सम्यक्त्वं समभिगतः प्राप्तः, तथा संयमं समारूढः, कानि पदानि?-उपशमविवेकसंवराः, उपशमः क्रोधादिनिग्रहः, विवेकः स्वजनसुवर्णादित्यागः, सम्बर इन्द्रियनोइन्द्रियगुप्तिरिति। तमित्थंभूतम् उपशमविवेकसम्बरचिलातिपुत्रं नमस्ये, उपशमादिगुणा अनन्यत्वाच्चिलातिपुत्रे एवोपशमविवेकसम्बर इति, स चासौ चिलातिपुत्रश्चेति समानाधिकरण इति गाथार्थः। आव ४ अ०। संथा०।

अहिसरिआ पाएहिं, सोणिअगंधेण जस्स कीडीओ।
खायंति उत्तमंगं, तदुक्करकारयं वंदे ॥ २११ ॥

अभिसृताः पादाभ्यां शोणितगन्धेन कीटिकाः यस्य अविचलिताध्यवसायस्य खादयन्त्युत्तमाङ्गं पद्भ्यां शिरो वेधगता इत्यर्थः। तं दुष्करकारकं वन्दे इति गाथार्थः।

धीरो चिलाइपुत्तो, मुइंगलिआहि चालिणि व्व कओ।
जो तहवि खज्जमाणो, पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥ २१२ ॥

धीरसत्त्वसंपन्नश्चिलातिपुत्रः (मुइंगलियाहि) कीटिकाभिर्भक्ष्यमाणश्चालनीव कृतस्तथापि खाद्यमानः प्रतिपन्नः उत्तमार्थम्, शुभपरिणामापरित्यागादिति हृदयम् ॥

अड्डाइज्जेहि राइं-दिएहिँ पत्तं चिलाइपुत्तेणं ।
देविंदामरभवणं, अच्छरगणसंकुलं रम्मं ॥ ९१३ ॥

अर्द्धतृतीयैः रात्रिन्दिवैः प्राप्तं चिलातिपुत्रेण देवेन्द्रस्येव अमरभवनम्, अप्सरोगणसंकुलं रम्यमिति गाथार्थः । आव० २ अ० । आ० म० ।

चिलाय-किरात-पुं० । सिन्धुमहानदस्य पश्चिमायामविदूरे 'बलूचिस्तान इति ख्याते' म्लेच्छदेशभेदे, तज्जे मनुष्यजातौ च । ये हि भरतेन महाराजेन आपाता नाम किराताः पराजिताः । प्रश्न० १ पद । जं० । स्था० । कोटीवर्षस्याधिपतौ राजनि, आव० ४ अ० । आ० क० । आ० चू० । (मूलगुणप्रत्याख्याने कथा)

चिलायपुत्त-किरातपुत्र-पुं० । किरातीपुत्रे, व्य० १ उ० ।

चिल्लिच्चिल्लं-देशी-आर्द्रे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिलिमिली-चिलिमिलि-स्त्री० । जवनिकायाम्, व्य० ८ उ० । आचा० । प्रच्छादनपट्याम् , सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा चेलचिलिमिलियं धारित्तए वा ।

अस्य संबन्धमाह--

सागारिपच्चयट्ठा, जह घडिमत्तो तहा चिलिमिली वि ।
रत्तिं च हेट्ठऽणंतर, इमाउ जयणा उभयकाले ॥

सागारिको गृहस्थः, तत्प्रत्ययार्थं यथा घटीमात्रकः, तथा चिलिमिलिकाऽपि धारयितव्या, तदधस्तात् सूत्रं, ततोऽनन्तरं तस्मिन्नपावृतद्वारोपाश्रयसूत्रे रात्रौ चिलिमिलिकादिप्रदानयतना भणिता, इयं तु उभयकाले-रात्रौ दिवा च कर्त्तव्या इति । अनेन संबन्धेनाऽऽयातस्यास्य व्याख्या-कल्पते निर्ग्रन्थानां वा निर्ग्रन्थीनां वा चेलचिलिमिलिकां धारयितुं वा । एष सूत्राक्षरार्थः ।

अथ भाष्यविस्तरः-

धारणया उ अजोगो, परिहरणा तस्स होइ परिजोगो ।
चेल उ पहाणतर तो, गहणं तस्सेव नऽन्नासिं ॥

धारणता तु अभोगो अव्यापारणं, परिहरणा तु-तस्य चिलिमिलिकाख्यस्योपकरणस्य परिभोगो व्यापारणमुच्यते । आह-सूत्ररज्जुवल्कदण्डकटकमयभेदात् पञ्चविधा चिलिमिलिका वक्ष्यते, तत्कथं सूत्रे चेलचिलिमिलिकाया एव ग्रहणमिति ? । आह-चेलं तु वस्त्रं रज्ज्वादीनां मध्ये बहुतरोपयोगित्वात् प्रधानतरं, ततस्तस्यैव सूत्रे ग्रहणं कृतं, नान्यासां रज्जुचिलिमिलिकादीनाम् ।

अथ चिलिमिलिकाया एव भेदादिनिरूपणाय द्वारगाथामाह-

भेदो य परूवणया, दुविह पमाणं च चिलिमिलीणं तु ।
उवजोगो उ दुपक्खे, अगहणऽधरणे य लहु दोसा ॥

प्रथमतः चिलिमिलिकाभेदो वक्तव्यः, ततस्तासामेव प्ररूपणा कर्त्तव्या, ततो द्विविधं प्रमाणं गणनाप्रमाणभेदात् चिलिमिलिकानामभिधातव्यम्, चिलिमिलिकाविषय उपभोगो द्विपक्षे संयतीपक्षद्वयस्य वक्तव्यः, चिलिमिलिकाया अग्रहणे अधारणे च चतुर्लघुकाः प्रायश्चित्तं, दोषाश्चाज्ञादयो भवन्ति । एतद्द्वारगाथासंक्षेपार्थः ।

अथैनामेव प्रतिद्वारं विवरीषुराह-

सुत्तमई रज्जुमई, वग्गमई दंडकडगमई य ।
पंचविह चिलिमिली पुण, उवग्गहकरी भवे गच्छे ॥

सूत्रमयी रज्जुमयी वल्कमयी दण्डमयी कटकमयी चेति पञ्चविधा चिलिमिली, एषा पुनर्गच्छे गच्छवासिनामुपग्रहकरी भवति । उक्तो भेदः । अथ सूत्रप्ररूपणा क्रियते-सूत्रस्य विकारः सूत्रमयी, सा च वस्त्रमयी वा, कम्बलमयी वा प्रतिपत्तव्या, रज्जोर्विकारो रज्जुमयी, ऊर्णादिमयो दवरक इत्यर्थः । वल्कं नाम-शणादित्वक्त्वग्रूपं, तेन निर्वृत्ता वल्कमयी, दण्डको वंशवेत्रादिमयी यष्टिस्तेन निर्वृत्ता दण्डकमयी, कटो वंशकटादिस्तन्निष्पन्ना कटकमयी । गता प्ररूपणा ।

अथास्याः पञ्चविध्या अपि चिलिमिलिकाया-
यथाक्रमं गाथात्रयेण द्विविधं प्रमाणमाह-

हत्थपणगं उ दीहा, तिहत्थ रुंदो भियाणऽसइ खोमा ।
एतप्पमाण गणणे-क्कमेक्क गच्छं व जा वेढे ॥

प्रमाणगणनाभेदाद् द्विविधं प्रमाणं, तत्र प्रमाणमाश्रित्य सूत्रमयी चिलिमिलिका हस्तपञ्चकं दीर्घा, त्रीन् हस्तान् रुन्दा-विस्तीर्णा भवति । एष चोत्सर्गतस्तावदौर्णिकी, और्णिकया असत्यलाभे क्षौमिकी ग्रहीतव्या । वल्कचिलिमिलिकाया अप्येतदेव प्रमाणम् । गणनाप्रमाणं पुनरधिकृत्य एकैकस्य साधोः, एकैकस्यां यावन्त्यो वा गच्छं वेष्टयन्त्यो भवन्ति, या वा प्रातिहारिकी गच्छं सकलमपि वेष्टयति सा गणनयैका, प्रमाणेन च नियता ।

असतोऽपि खोमरज्जू, एक्क पमाणेण जा उ वेढेइ ।
कडहूवगादीहिं, पोत्तेऽसइ भए व वग्गमई ॥

रज्जुचिलिमिलिका पूर्वमौर्णिकदवरकरूपा, तस्या अभावे क्षौमिकदवरिका, सैकाऽपि कर्त्तव्या, सा च सर्वेषामपि साधूनां प्रत्येकं गणनयैकैका, प्रमाणेन तु हस्तपञ्चकदीर्घा भवति, गणावच्छेदिकहस्ते वा एक एव दवरको भवति, यः सकलमपि गच्छं शातादिरक्षार्थं वेष्टयति । कमड्डु नाम-वृक्षविशेषः, तस्य यद्वल्कम्, आदिशब्दात्पालाशीशणादिसबन्धि, वल्केन निर्वृत्ता वल्कमयी, सा च (पोत्तेऽसइ त्ति) वस्त्रचिलिमिलिकाया अभावे, भये वा स्तेनादिसमुत्थे गृह्यते ।

देहाधिओ गणणेक्को, दुवारगुत्ती भए व दंडमयी ।
संचारिम चतुरो वा, भय माणे कममसंचारं ।

तस्य प्रमाणादधिको यो दण्डः स देहाधिकः, स च गच्छपरिभाषया देहाच्चतुरङ्गुलाधिकप्रमाणा नालिका भण्यते, एतावता प्रमाणमुक्तम् । स च देहाधिको दण्डको गणनयैकैकस्याधारकैको भवति, तैश्च दण्डकैः श्वापदादिभये द्वारगुप्तिः-द्वारस्य स्थगनं क्रियते । एष दण्डमयो रूपव्यः । एताश्चादिमाश्चतस्रश्चिलिमिलिका यत्तद्वसतिक्षेत्राद् क्षेत्रं संचरन्तीति संचारिमा उच्यन्ते, कटकमयी तु असंचारिमा, माने च प्रमाणे द्विविधे तां कटकमयीं चिलिमिलीं भज विकल्पय, अनियतप्रमाणेत्यर्थः । तत्र प्रमाणमङ्गीकृत्य यावत्या वक्ष्यमाणं कार्यं पूर्यते तावत्प्रमाणा कटकचिलिमिली, गणनया तु यद्येकः कटः कार्यं न प्रतिपूरयति ततो द्व्यादयोऽपि तावत्संख्याकाः ग्रहीतव्या यावद्भिस्तत्कार्यं पूर्यते । गतं द्विविधं प्रमाणम् ।

अथोपभोगो द्विपक्षे इति पदं विवृणोति-

सागारिएँ सज्झाए, पाणदएँ गिलाणे सावयभए वा ।

अद्धाणमरणवासा-सु चेव सा कप्पए गच्छे ॥

सागारिके पश्यति, स्वाध्याये विधातव्ये, प्राणदयायां विधेयायां, ग्लानार्थे, श्वापदभये वा उत्पन्ने, अध्वनि, मरणे, वर्षासु चैव, सा चिलिमिलिका कल्पते, गच्छे गच्छवासिनां साधूनां परिभोक्तुम् । एष निर्युक्तिगाथासमासार्थः ।

अथैनामेव प्रतिपदं विवृणोति-

पडिलेहोज्जयमंमलि, इत्थीसागारियए सागरिए ।

घाणालोगज्झाए, मच्छियमोसाइपाणेसु ॥

प्रतिलेखनां कुर्वतो द्वारे चिलिमिलिकां कुर्वतो मा सागारिका उत्कृष्टोपधिं द्राक्षुः, मा वा उत्सुकान् कार्षुरिति कृत्वा, (उज्जयमंडलि त्ति) समुद्देशनमण्डल्यां स्वाध्यायमण्डल्यां चोद्यतरक्षणार्थं, स्त्रीरूपप्रतिबद्धायां च वसतौ स्त्रीसागारिकाणामालोको मा स्तादिति एतदर्थं चिलिमिली दीयते (सागारिए त्ति) सागारिकद्वारे चिन्त्यमाने एतत्कारणजातं चिलिमिलिकाग्रहणे द्रष्टव्यम् । (घाणालोगज्झाए त्ति) यत्र मूत्रपुरीषादेरशुभा घ्राणिरागच्छति, शोणितचर्चिकाणां वा यत्रालोकः, चेटरूपाणि वा यत्र कुतूहलेनालोकन्ते तत्र चिलिमिलीं दत्त्वा स्वाध्यायः क्रियते, मक्षिकामोलादयो वा प्राणिनो यत्र बहवः प्रविशन्ति मोलास्तिका उच्यन्ते, तत्र प्राणदयार्थमेतासामेव चिलिमिलिकानामुपभोगः कर्तव्य इति ।

उच्चओसहकज्जे वा, देसे वीसत्थमाइ गेलन्ने ।

अद्धाणे उव्वासइ, उवट्ठीए सावए तेणे ॥

उभयं संज्ञाकायिकीलक्षणं चिलिमिलिकया आवृतो ग्लानः सुखं व्युत्सृजति, औषधकार्ये वा औषधं तस्य प्रच्छन्ने दातव्यं, मा मृगा अवलोकन्तामिति कृत्वा, अतः चिलिमिलिका दातव्या। एवं (देसे त्ति) यत्र देशे शाकिन्या उपद्रवाः संभवन्ति तत्र ग्लानः प्रच्छन्ने धारयितव्यः, विश्वस्तो ग्लानः प्रच्छन्ने सुखमपावृतस्तिष्ठति । आदिशब्दात् दुग्धादिकं ग्लानार्थमेव गीतार्थेन स्थापितं, तच्च दृष्ट्वा ग्लानो यदा तदा वा अभ्यवहरेदिति कृत्वा तत्रान्तरे चिलिमिलिका दीयते, यथाऽसौ तन्न पश्येत्, एवमादिके ग्लानत्वे चिलिमिलिकानामुपभोगः । अध्वनि प्रच्छन्नस्थानस्याभावे चिलिमिलिकां दत्त्वा समुद्दिशन्ति वा, सारोपधिं वा प्रत्युपेक्षन्ते । श्वापदेभ्यो वा यत्र भयं, स्तेनेभ्यो वा यत्रोपधेरपहरणशङ्का, तत्र दारुमयचिलिमिलिकया कटकचिलिमिलिकया वा दृढं द्वारं विधाय स्थीयते (बृ०)

तथा--

बंभव्वयस्स गुत्ती, दुहत्थसंघाडिए सुहं जोगो ।

वीसत्थचिट्ठणादी, दुराहिगमा दुविह रक्खा य ॥

उपाश्रये वर्तमाना आर्यिका चिलिमिलिकया नित्यकृतया तिष्ठति, यतो ब्रह्मव्रतस्य गुप्तिरेवं कृता भवति । द्विहस्तविस्तरायाश्च अपि सङ्घाटिकायाः सुखं योगो भवति, प्रतिश्रये हि तिष्ठन्त्यो द्विहस्तविस्तरामेव सङ्घाटिकां प्रावृण्वते, न त्रिहस्तां न वा चतुर्हस्ताम् । ततः चिलिमिलिकया बहिर्बद्धया यतनयापि प्रावृतया विश्वस्ता निःशङ्काः सत्यः सुखं स्थाननिषदनत्वग्वर्तनादिकाः क्रियाः कुर्वन्ति, दुराधिगमाश्च दुःशीलानामगम्या भवन्ति, द्विधा च रक्षा कृता भवति ; संयम आत्मा च रक्षितो भवतीति भावः । बृ० १ उ० । पं० भा० । पं० चू० । नि० चू० ।

जे भिक्खू सोत्तियं वा रज्जुयं वा चिलिमिलिं वा सयमेव करेइ, करेंतं वा साइज्जइ ॥१७॥

जे भिक्खू सोत्तियेत्यादि सभाष्यं पूर्ववत् । नि० चू० ३ उ० ।

चिलीण-चिलीन-त्रि० । मनसः कलिमलपरिणामहेतौ, जी० ३ प्रति० ।

चिल्ल-चिल्ल-पुं० । (चीड) वृक्षविशेषे, प्रज्ञा० १६ पद ।

चिल्लग-चिल्लक-त्रि० । देदीप्यमाने, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । चं० प्र० । ज्ञा० । श्वापदभेदे, प्रज्ञा० ११ पद । शिष्ये, "एगस्स आयरियस्स चिल्लओ अविणीओ " आ० म० द्वि० ।

चिल्लम-चित्रक-पुं० । व्याघ्रे, आचा० २ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

चिल्लणा-चिल्लणा-स्त्री० । वैशालिकपुराधिपतेश्चेटकराजस्य कन्यायां श्रेणिकमहाराजस्य जायायाम्, आ० क० । अन्त० । आ० म० । नि० । ज्ञा० । (तत्परिणयश्च 'सेणिय' शब्दे वक्ष्यते)

चिल्लल-चिल्लल-न० । चिक्खल्लमिश्रोदके जलाशयविशेषे, भ०५ श०७ उ० । प्रज्ञा० । ज्ञा० । आरण्यके पशुविशेषे, जी० ३ प्रति० । स्वरविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार । ज्ञा० । जं० ।

चिल्ललिया-चिल्ललिका-स्त्री० । चिल्ललाख्यपशुजातीयस्त्रियाम्, प्रज्ञा० ११ पद ।

चिल्ला-देशी- शकुनिकाख्ये, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिल्लिय-देशी-देदीप्यमाने, जी० ३ प्रति० । कल्प० । भ० । जं० । लीने, दीप्ते च । औ० ।

चिल्लिरी-देशी-मशके, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिल्लूरं-देशी-मुसले, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिल्लो-देशी-बाले, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिमट्टी-देशी-तृणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

चिव्वंत-चीयमान-त्रि० । चि-कर्मणि भावे वा यक् । "न वा कर्मभावे व्वः क्यस्य च लुक् " ॥ ८ । ४ । २४२ ॥ इति चिधातोः कर्मणि भावे वा द्विरुक्तो वकारः । उपचीयमाने, प्रा० ४ पाद ।

चिहुर-चिकुर-पुं० । " निकषस्फटिकचिकुरे हः " ॥८।१।१८६॥ इति ककारस्य हकारः । प्रा० १ पाद । रागद्रव्यविशेषे, जी० ३ प्रति० ।

चिहुरंगराय-चिकुराङ्गराग-पुं० । चिकुरसंयोगनिमित्ते वस्त्रादौ रागे, जी० ३ प्रति० ।

चीम-चीम-पुं० । गन्धप्रधाने वृक्षभेदे, ल० प्र० ।

चीण-चीन-पुं० । श्रीऋषभजिनस्य द्वादशे सुते, तद्राज्ये च । कल्प० ७ क्षण । म्लेच्छदेशविशेषे, प्रव० २७४ द्वार । सूत्र० । प्रश्न० । बृ० । प्रज्ञा० । ह्रस्वे, त्रि० । 'चीणचिमिढवंकभग्गणासं' चीना ह्रस्वा (चिमिढ त्ति) चिपिटा निम्ना वंका वक्रा भग्नेव भग्ना, अयोघनकुट्टितेवेत्यर्थः, नासिका यस्य स तथा । ज्ञा० १ श्रु० ८ अ० । कङ्गुतुल्यव्रीहिभेदे, मृगभेदे च । पताकायां, सीसके च । न० । वाच० ।

चीणंसुय-चीनांशुक-न० । स्वनामख्यातः कोशिकारः तज्जे, चीन-

विषये निष्पन्ने वस्त्रभेदे च । चीनांशुको नाम कोशिकारोऽप्यस्ति, तस्माज्जातं चीनांशुकम् । यद्वा-चीनो नाम जनपदस्तत्र यः श्लक्ष्णतरः पट्टस्तस्माज्जातं चीनांशुकम । बृ० १ उ० । कल्प० । स्था० । आ० म० । चीनांशुकानि नानादेशेषु प्रसिद्धानि दुकूलविशेषरूपाणि, पूर्वोक्तस्यैव वल्कस्य यान्यन्तरहीरैर्निष्पाद्यन्ते सूक्ष्मतराणि च भवन्ति तानि चीनांशुकानि । जं० २ वक्ष० । नि० चू० । चीनदेशे आमिषपुञ्जाः क्रियन्ते, तदर्थिनः कीटीरागत्य लालां मुञ्चन्ति, तत्सूत्रं भवति, तन्निष्पन्नं वस्त्रं चीनांशुकमित्युच्यते इति वृद्धाः । अनु० ।

चीणपिट्ठ-चीनपिष्ट-पु० । लोहितवर्णे वस्तुविशेषे (रा०) लोकप्रसिद्धे, प्रज्ञा० १७ पद । चीनदेशजं सिन्दूरमिति प्रतीयते । वाच० ।

चीमूय-जीमूत-पुं० । ' चूलिकापैशाचिके तृतीयतुर्ययोराद्यद्वितीयौ ॥ ८ । ४ । ३२५ ॥ इति जस्य चः । मेघे, पा० ।

चीरकंडूसगपट्ट-चीरकण्डूसकपट्ट-पुं० । रजोहरणबन्धभेदे, " चीरकंडूसगबंधो णाम-जाहे रयहरणं तिभागपएसे खोमिएण ओणिएण वा चीरेणं वेढयं भवति, ताहे उण्णिदोरेण तिपासियं करेति, तं चीरकंडूसगपट्टओ भण्णति " नि० चू० ५ उ० ।

चीरग-चीरक-पुं० । रथ्यापतितचीवरपरिधाने लिङ्गिनि, ग० २ अधि० ।

चीरत्थल-चीरस्थल-न० । मथुरास्थे स्थलभेदे, ती० ७ कल्प ।

चीरल्ल-चीरल्ल-पुं० । पक्षिविशेषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चीरिय-चीरिक-पुं० । रथ्यापतितचीवरपरिधाने, चीरोपकरणे वा पारिक्षिमसाधौ, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । अनु० ।

चीवंदण-चैत्यवन्दन-न० । 'चेइयवंदण' इति प्राप्ते आर्षत्वात्तथारूपम् । विधिपूर्वं देववन्दने, प्रा० १ पाद ।

चीवर-चीवर-न० । वस्त्रे, आ० ५ ठा० २ उ० । उत्त० ।

चीवरधारि (ण्)-चीवरधारिन्-त्रि० । वस्त्रधारिणि, कल्प० ८ क्षण ।

चुअ-च्युत-त्रि० । विनष्टे, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उच्छ्वासनिश्वासजीवितादिदशविधप्राणेभ्यः परिभ्रष्टे, अनु० । देवलोकादवतीर्णे, कल्प० १ क्षण ।

चुइ-च्युति-स्त्री० । च्यवने, वैमानिकज्योतिष्काणां मरणे, स्था० १ ठा० १ उ० ।

चुइसमय-च्युतिसमय-पुं० । इहभवपरभवशरीरायुःपुद्गलपूर्वपरिशाटसमये, आ० म० द्वि० । (अस्मिन् समये किम् इह भवः, किं वा परभवः ? इति विवेचितं 'करण' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६२ पृष्ठे)

चुंचुण-चुञ्चुन-पुं० । इभ्यजातिभेदे, स्था० ६ ठा० । प्रज्ञा० ।

चुंचुय-चुञ्चुक-पुं० । म्लेच्छजातिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चुंबण-चुम्बन-न० । वक्त्रसंयोगे, प्रव० १६७ द्वार । चुम्बनाविकल्पः सम्प्राप्तकामभेदः । दश० ६ अ० ।

चुक्क-भ्रंश-धा० । अधःपतने, दिवा०-पर०-अनिट् । " भ्रंशेः फिडफिट्टफुडफुट्टचुक्कभुल्लाः " ॥ ८ । ४ । १७७ ॥ इति भ्रंशेश्चुक्कादेशः । ' चुक्कइ ' भ्रश्यति । प्रा० ४ पाद । आव० । विस्मृते, बृ० ४ उ० । मुष्टौ, दे० ना० ३ वर्ग ।

भ्रष्ट-त्रि० । पतिते, "गिहत्थधम्माउ चुक्कंति ।" गृहस्थधर्मादर्थाद्यतिधर्मोऽसंविग्नपाक्षिकपथाच्चुक्कति, भ्रष्टः संसारपथप्रयान्तर्वर्तीत्यर्थः । ग० १ अधि० ।

चुक्क-न० । चक-रक्-अत उत्वं च । अम्लवेतसे, चुक्रपालङ्कशाकभेदे, शुक्रभेदे च । स्वार्थे कन् (आमरुल) शाके, तिन्तिण्यां च । स्त्री० । वाच० ।

चुक्कखलित-भ्रष्टस्खलित-न० । अनाभोगे, " अणाभोगो चुक्कखलितो भण्णति " नि० चू० २० उ० ।

चुक्खजुत्त-चोक्षयुक्त-त्रि० । शुचिसमाचारे, बृ० १ उ० ।

चुच्चुय-चूचुक-न० । स्तनाग्रभागे, रा० । प्रश्न० ।

चुच्छ-तुच्छ-त्रि० । " तुच्छे तश्चछौ वा " ॥ ८ । १ । २०४ ॥ इति तकारस्य चकारः । हीने, अल्पे च । प्रा० १ पाद ।

चुडल-चुडल-न० । जीर्णतायाम्, पिं० ।

चुडली-चुटली-स्त्री० । प्रदीप्ततृणपूलिकायाम्, भ० १ श० ५ उ० । तं० । वन्दनदोषभेदे, " चुडलि व्व गिण्हिऊणं, रयहरणं होइ चुडलि तु" । चुटली नाम-उल्का, उल्कामिवालातमिव पर्यन्ते रजोहरणं गृहीत्वा भ्रामयन् यत्र वन्दते तच्चुटलिकम् । द्वात्रिंशत्तमे वन्दनदोषे, प्रव० २ द्वार । ध० । आ० चू० । बृ० । आव० । (स च दोषः ' कुण्डपिंड ' शब्दे वक्ष्यते)

चुण्ण-चूर्ण-पुं० । न० । " ह्रस्वः संयोगे " ॥ ८ । १ । ८४ ॥ प्रा० १ पाद । यवादीनाम् (आचा०२ श्रु०२ अ०१ उ०) बदरादिकानाम् (नि० चू० १६ उ०) मोदकादिखाद्यकचूर्णे, बृ० १ उ० । आचा० । प्रज्ञा० । गन्धद्रव्यसम्बन्धिनि रजसि, भ० ३ श० ७ उ० । वशीकरणादिफले द्रव्यसंयोगे, बृ० १ उ० । अन्तर्धानादिफले नयनाञ्जनादौ, ध० ३ अधि० । ग० ।

जे भिक्खू अंगादाणं कक्केण वा लोद्देण वा पउमचुण्णेण वा ण्हाणेण वा चुण्णेहिं वा वण्णेहिं वा उव्वट्टेइ वा, परिवट्टेइ वा, उव्वट्टंतं वा परिवट्टंतं वा साइज्जइ ॥ ७ ॥

कक्कं उव्वलणयं, द्रव्यसंयोगेन वा कक्कं क्रियते, किंचिल्लोद्दं इट्टद्रव्यं, तेण वा उव्वट्टेति, पद्मचूर्णेन वा ण्हाणं-ण्हाणमेव, अहवा उव्वण्हाणयं भण्णति । तं पुण माषचूर्णादि सिणाणं गंधिवावणे अंगाघसणयं वुच्चति । चुण्णओ जो सुगंधो, चंदणादि चूर्णानि, जहा वट्टमाणचुण्णो पडवासादिवासनिमित्ते तहेव उव्वट्टेति, पक्खिस्सि परिवट्टेति पुणो पुणो । नि० चू० १ उ० ।

चौर्ण-न० । पदभेदे, (दश०)

चौर्णं पदमाह-

अत्थबहुलं महत्थं, हेउनिवाओवसग्गगंभीरं ।
बहुपायमवोच्छिन्नं, गमणयसुद्धं तु चुण्णपयं ॥ १७० ॥

अर्थो बहुलो यस्मिन् तदर्थबहुलम् । "क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्र-

भूतिः, कचिद्विभाषा कचिदन्यदेव । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥१॥" ततश्चैभिः प्रकारैः बह्वर्थम् । महान् प्रधानो हेयोपादेयप्रतिपादकत्वेनार्थो यस्मिन् तन्महार्थम् । हेतुनिपातोपसर्गैः गम्भीरम् । तत्राऽन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणो हेतुः । यथा मदीयोऽयमश्वो, विशिष्टचिह्नोपलक्षितत्वात् । चवाखल्वादयो निपाताः । पर्युतसमवादय उपसर्गाः । एभिरगाधम् । बहुपादम्-अपरिमितपादम् । अव्यवच्छिन्नं-श्लोकवद्विरामरहितम् । गमनयैः शुद्धम, गमास्तदक्षरोच्चारणप्रवणा भिन्नार्थाः । यथा "इह खलु छज्जीवणिया ; कयरा खलु सा छज्जीवणिया?" इत्यादि । नयाः नैगमादयः प्रतीताः, तुरवधारणे, गमनयशुद्धमेव चौर्णं पदं ब्रह्मचर्याध्ययनपदवदिति गाथार्थः । दश० २ अ० ।

चुसकोसग-चूर्णकोशक-न० । चूर्णभृते कोशकाकृतौ भक्ष्यभेदे, प्रश्न०५ संव० द्वार ।

चुसपोसि (ए्)-चूर्णपेषिन्-त्रि० । ताम्बूलचूर्णस्य गन्धद्रव्यचूर्णस्य वा पेषणकारके, भ० ११ श० ११ उ० ।

चुसगुंमियगाय-चूर्णगुण्ठितगात्र-त्रि० । गैरिकक्षोदावगुण्ठितशरीरे, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

चुसजुत्ति-चूर्णयुक्ति-स्त्री० । कोष्ठादिसुरभिद्रव्येषु चूर्णीकृतेषु तदुचितद्रव्यमेलने, जं० २ वक्ष० । पञ्चादि स्त्रीकलाभेदः । कल्प० ३ क्षण । ज्ञा० । औ० ।

चुसजोग-चूर्णयोग-पुं० । स्तम्भनादिकर्मकारिणि द्रव्यचूर्णानां योगे, ज्ञा० १ श्रु० १४ अ० । अदर्शीकरणाद्यञ्जने मोहनचूर्णयोगेनाहारग्रहणरूपे चतुर्दशे उत्पादनदोषे, उत्त० २४ अ० ।

चुसपिंम-चूर्णपिएम-पुं० । चूर्णमञ्जनादि, तत्प्रयोगेण लब्धः पिण्डः । जी० १ प्रति० । वशीकरणाद्यर्थे द्रव्यचूर्णादवाप्ते पिण्डे, आचा० २ श्रु० १ अ० ९ उ० । पञ्चा० ।

अस्य स्वरूपं सोदाहरणम्-

चुन्ने अंतद्धाणे, चाणक्के पायलेवणाजोगे ।
मूले विवाहे दो दं-डणीउ आधाणपरिसाडे ॥

चूर्णे अन्तर्द्धाने लोकदृष्टिपथतिरोधानकारके दृष्टान्तौ-चाणक्यविदितौ द्वौ क्षुल्लकौ । पादे पादलेपनरूपे योगे दृष्टान्ताः-समितसूरयः । तथा मूले मूलकर्मणि अक्षतयोनेः क्षतयोनिकरणरूपे युवतिद्वयं दृष्टान्तः । विवाहविषये मूलकर्मणि युवतिद्वयमुदाहरणम् । तथा गर्भाधानपरिसाटरूपे मूलकर्मणि द्वे दण्डिन्यौ नृपपत्न्यावुदाहरणम् ।

तत्र " चुन्ने अंतद्धाणे चाणक्के " इत्यवयवं भाष्यकृत् गाथात्रयेण व्याख्यानयति-

जंघाहीणा ओमे, कुसुमपुरे सिस्सजोगे रहकरणं ।
खुड्डागंऽजणसुणणा , गमणं देसंतरे सरणं ॥
पेक्खं परिवाहं तो, थेराणं देसे ओमे-ऽदंताण ।
सहभुंज चंदगुत्ते, ओमोयरिएण दोब्बल्लं ॥
चाणक पुच्छ एट्टा-लचुन्न दारं पिहित्तु धूमे य ।
दट्ठुं कुच्छ पसंसा, थेरसमीवे उपालंभो ॥

कुसुमपुरे नगरे चन्द्रगुप्तो नाम राजा, तस्य मन्त्री चाणक्यः, तत्र च जङ्घाबलपरिहीनाः सुस्थिताभिधाः सूरयः । अन्यदा च तत्र दुर्भिक्षमपतत् । ततः सूरिभिश्चिन्तितम्-अमुं समृद्धाभिधानं शिष्यं सूरिपदे स्थापयित्वा सकलगच्छसमेतं सुभिक्षे क्वापि प्रेषयामि, ततस्तस्मै योनिप्राभृतमेकान्ते व्याख्यातुमारब्धे, तत्र च क्षुल्लकद्वयेन कथमप्यदृश्यीकरणनिबन्धनमञ्जनं व्याख्याने शुश्रुवे, यथा-अनेनाञ्जनेनाञ्जितचक्षुर्न केनापि दृश्यते, इति योनिप्राभृतव्याख्यानसमर्थनानन्तरं समृद्धाभिधोऽन्तेवासी सूरिपदे स्थापितः, मुत्कलितश्च सकलगच्छसमेतो देशान्तरे, स्वयमेकाकिनस्तत्रैवावतस्थिरे सूरयः; कतिपयदिनानन्तरं चाचार्यस्नेहतस्तत् क्षुल्लकद्वयमाचार्यसमीपे समाजगाम । आचार्या अपि यत्किमपि भिक्षया लभन्ते तत् समं विविच्य क्षुल्लकद्वयेन सह भुञ्जते, तत आहाराऽपरिपूर्णतया सूरीणां दौर्बल्यमभवत् । चिन्तितं क्षुल्लकद्वयेन-अवमोदरता सूरीणाम्, ततो वयं पूर्वश्रुतमञ्जनं कृत्वा चन्द्रगुप्तेन सह भुञ्जावहे, इति तथैव कृतम् । ततश्चन्द्रगुप्तस्याहारस्तोकतया भूमा शरीरे कृशता । चाणक्येन पृष्टम्-किं ते शरीरदौर्बल्यम्? । स प्राह-परिपूर्णाहारालाभतः । ततश्चाणक्येन चिन्तितम्-एतावत्याहारे परिवेष्यमाणे कथमाहारस्यापरिपूर्णता ?, तन्नूनमञ्जनसिद्धः कोऽपि समागत्य राज्ञा सह भुङ्क्ते । ततस्तेनाञ्जनसिद्धग्रहणाय भोजनमण्डपेऽतीवश्लक्ष्णेष्टकाचूर्णं विकीर्णं दृष्टानि मनुष्यपदानि । ततो निश्चिक्ये-नूनं द्वौ पुरुषावञ्जनासिद्धावायातः । ततो द्वारं पिधाय मध्येऽतिबहुलो धूमो निष्पादितः । धूमबाधितनयनयोश्च तयोरञ्जनं नयनाम्बुभिः सह विगलितम् । ततो बभूवतुः प्रत्यक्षौ क्षुल्लकौ, कृता चन्द्रगुप्तेनात्मनि जुगुप्सा-अहो ! विटालितोऽहमाभ्यामिति । ततश्चाणक्येन तस्य समाधाननिमित्तं, प्रवचनमालिन्यरक्षार्थं च प्रशंसितो राजा । यथा-धन्यस्त्वमसि यो बालब्रह्मचारिभिः यतिभिः पवित्रीकृत इति । ततो वन्दित्वा मुत्कलितौ द्वावपि क्षुल्लकौ । चाणक्येन रजन्यां वसतावागत्याऽऽसूरय उपालब्धाः-यदेतौ युष्मत्क्षुल्लकावुड्डाहं कुरुतः । ततः स एवोपालब्धः । य एवात्र विद्यायामञ्जनोक्ता दोषास्त एव वशीकरणादिचूर्णेष्वपि द्रष्टव्याः । सूत्रे चात्र तृतीया सप्तम्यर्थे । तथा चूर्णे प्रयुज्यमाने एकस्य चूर्णस्य प्रयोक्तुरनेकेषां वा साधूनामुपरि द्वेषं कुर्यात्, ततस्तत्र भिक्षालाभासंभवः । "पत्थारओ वा पि " नाशो वा भवेत् । तदेवं " चुन्ने अंतद्धाणे चाणक्के " इति व्याख्यातं, तद्व्याख्यानाच्च चूर्णे इति द्वारं समर्थितम् ।

जे भिक्खू चुम्मपिंमं भुंजइ, भुंजंतं वा साइज्जइ ॥७२॥

"जे चुम्मपिंमं" इत्यादि । वसीकरणादिया चुन्ना, तेहिं जो पिंमं उप्पादेति तस्स आणादिया दोसा, चउलहुं च से पच्छित्तं ।

जे भिक्खु चुम्मपिंमं, भुंजेज्ज सयं तु अहव सातिज्जे ।
सो आणा अणवत्थं, मिच्छत्तविराहणं पावे ॥ १६७ ॥

कंठा । जे विज्जामंतेहिं दोसा, ते चेव वसीकरणमादिएहिं चुन्नेहिं दोसा, रागारागपदोसपत्थारदोसा य ; असिवादिकारणेहिं वा वसीकरणमादिचुन्नेहिं पिंडं उप्पादेज्जा । नि० चू १३ उ० ।

चुसपमोला-चूर्णपटोला-स्त्री० । शस्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

चुसभेय-चूर्णभेद-पुं० । चूर्णभेदे, स्था० १० ठा० ।

चुण्णय-चूर्णक-न० । सन्त्रस्ते, विपा० १ श्रु० २ अ० ।

चुण्णवास-चूर्णवास-पुं० । चूर्णलक्षणे वासे, ज्ञा० १ श्रु० ए अ० । " अमयवासं च चुण्णवासं च " आचा० २ श्रु० ३ चू० ।

चुण्णिय-चूर्णयित्वा-अव्य० । चूर्णनं कृत्वेत्यर्थे, प्र०१श०८ उ० ।

चुण्णियाभेद-चूर्णिकाभेद-पुं० । तिलादिचूर्णवद्द्रव्यभेदे, भ० ५ श० ४ उ० । " से किं तं चुण्णियाभेदे ? । चुण्णियाभेदे जण्णं तिलचुण्णाण वा मुग्गचुण्णाण वा मासचुण्णाण वा पिप्पलीचुण्णाण वा मरियचुण्णाण वा सिंगवेरचुण्णाण वा चुण्णियाए भेदे भवति सेत्तं चुण्णियाभेदे । " प्रज्ञा० ११ पद ।

चुम्ब-चुम्ब-धा० । ' चुबि ' वक्त्रसंयोगे, अन्ते " व्यञ्जनाददन्ते" ॥ ८ । ४ । २३६ । इति अकारः । ' चुम्बइ ' चुम्बति । प्रा० ४ पाद ।

चुंबित्ति-चुम्बित्वा-अव्य० । 'चुब्' चुम्बने । "क्त्व इ इअ इविअवयः" ॥ ८ । ४ । ४३६ ॥ इति इव्यादेशः क्त्वाप्रत्ययस्थाने । चुम्बितं कृत्वेत्यर्थे, " रक्खइ सा विसहारिणी, ते करचुम्बिवि जीउ । " प्रा० ४ पाद ।

चुय-च्युत-त्रि० । कुतोऽप्यनाचारात्स्वपदात्पतिते, ज्ञा० १ श्रु० ३ अ० । परिभ्रष्टे, आ० म० प्र० । जन्मान्तरं गते, सूत्र० १ श्रु० १० अ० । स० । कालान्तरेण च्युते, स० ।

चुयधम्म (ण्)-च्युतधर्मन्-त्रि० । धर्मात्प्रभ्रष्टे, व्य० १० उ० ।

चुयसामि-च्युतस्वामिन्-त्रि० । उत्सन्नस्वामिके, व्य० २ उ० ।

चुलणी-चुलनी-स्त्री० । काम्पिल्यपुरे ब्रह्मदत्तचक्रवर्त्तिनो मातरि, उत्त० १३ अ० । द्रुपदमहाराजस्य स्त्रियाम् , ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । तं० । आव० । स० ।

चुलणीपिया-चुलनीपितृ-पुं० । वाराणसीवास्तव्ये स्वनामख्याते गृहपतौ, चुलनीपितृनामा गृहपतिर्वाराणसीनिवासी तथैव प्रतिबद्धः प्रतिपन्नप्रतिमो विमर्शकदेवेन मातरं त्रिखण्डी क्रियमाणां दृष्ट्वा क्षुभितस्खलितप्रतिज्ञो देवनिग्रहार्थमुद्धाय, पुनः कृतालोचनस्तथैव दिवं गत इति वक्तव्यताप्रतिबद्धे तृतीये उपासकदशानामध्ययने, दशा० १० अ० ।

एतदेव सूत्रकृदाह-

उक्खेवो तइयस्स-एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसी णामं नयरी,कोट्ठए चेइए, जियसत्तू राया वइत्थिए, तत्थ णं वाणारसीए चुलणीपिया णामं गाहावई परिवसइ अड्ढे० जाव अपरिभूए, सोमा भारिया, अट्ठहिरण्णकोडीओ णिहाणपउत्ताओ वुड्ढिपवित्थरपउत्ताओ अट्ठव्वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं जहा आणंदो ईसर० जाव सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था,सामी समोसढे, परिसा निग्गया, चुलणीपिया वि जहा आणंदो तहा निग्गओ, तहेव गिहिधम्मं पडिवज्जइ । गोयमपुच्छा तहेव सेसं जहा कामदेवस्स० जाव पोसहसालाए । पोसहिए बंभचारी समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मपण्णत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ । तए णं तस्स चुलणीपियस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमए एगे देवे अंतियं पाउब्भूए । तए णं से देवे एगं नीलुप्पल० जाव असिं गहाय चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! जहा कामदेवे० जाव न भंजसि तओ अहं अज्ज जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ णीणेमि १, तव अग्गओ घाएमि २, तओ मंससोल्ले करेमि, करेमित्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि तव गातं मंसेण य सोणिएण य आइंचामि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्टवसट्टे अकाले जीवियाओ ववरोवेज्जसि । तओ चुलणीपिया समणो० तेणं देवेणं एवं वुत्ते अभीए० जाव विहरइ । तं से देवे चुलणीपियं समणो अभीयं०जाव पासइ, पासइत्ता दोच्चं पि तच्चं पि चुलणीपियं एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! तं चेव भणइ सो ० जाव विहरइ । तं से देवे चुलणीपियं अभीयं० जाव पासित्ता आसुरुत्ते० ४ चुलणीपियस्स समणोवासयस्स जेट्ठपुत्तं गिहाओ णीणेइ, णीणेइत्ता अग्गओ घाएइ, अग्गओ घाएइत्ता तओ मंससोल्लिते करेइ, करेइत्ता आदाणभरियंसि कडाहंसि अद्दहइ, अद्दहइत्ता चुलणीपियस्स समणोवासयस्स गायं मंसेण य सोणिएण य आइंचइ । तए णं से चुलणीपिया समणो० तं उज्जलं० जाव अहियासेइ । तए णं से देवे चुलणीपियं अभीयं० जाव पासइ, पासइत्ता दोच्चं पि तच्चं पि चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! अपत्थियपत्थिया० जाव ण भंजसि तओ अहं अज्ज मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ णीणेमि, णीणेमित्ता तव अग्गओ घाएमि जहा जेट्ठपुत्तं तहेव भणइ, तहेव करेइ, एवं कणीयसं पि० जाव अहियासेइ । तं से देवे चुलणीपियं अभीयं० जाव पासइ । चउत्थं० जाव चुलणीपियं समणोवासयं स एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! अपत्थियपत्थिया०४ जइ णं तुमं० जाव न भंजसि तओ अहं अज्ज जा इमा माता भद्दा सत्थवाही देवयं गुरुं जणणिं दुक्करदुक्करकारियं तं से साओ गिहाओ णीणेमि, णीणेमित्ता तव अग्गओ घाएमि, घाएमित्ता तओ मंससोल्लए करेमि, करेमित्ता आदाणभरियंसि कडाहयंसि अद्दहेमि,तव गातं मंसेण य सोणिएण य आइंचामि, जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट० अकाले चेव ववरोविज्जसि । तए णं से चुलणीपिया सावया तेणं देवेणं एवं वुत्ते अभीए० जाव विहरइ । तए णं से देवे चुलणीए अभीयं० जाव विहरमाणं पासइ । चुलणीपियं दोच्चं पि एवं वयासी-हंभो चुलणीपिया ! तहेव० जाव ववरोविज्जसि । तए णं तस्स चुलणीपियस्स तेणं देवेणं दोच्चं पि एवं वुत्ते समाणस्स इमेयारूवे० जाव अब्भत्थिए०४, अहो णं इमे पुरिसे अणारिए

अणारियबुद्धी अणारियाइं पावाइं कम्माइं समाचरए, जेण ममं जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ णीणेमि, मम अग्गओ घाएइ, घाएइत्ता जहा कयं तहा वि चिंतेइ० जाव गायं आइंचइ, जेणेव मम मज्झिमं पुत्तं साओ गिहाओ० जाव सोणियं आइंचइ, जेणेव मम कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ तहेव० जाव आइंचइ, जा वि य णं इमं मम माता भद्दा सत्थवाही देवतं गुरुं जणणिं दुक्करकारियं तं पि य णं इच्छइ, साओ गिहाओ णीणेत्ता ममं अग्गओ घाइत्तए, तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हेत्तए त्ति कट्टु उट्ठाति, ते से वि य आगासिए उप्पतिए तेण य खंभे आसादिए महया महया सद्देणं कोलाहले कए, तए णं सा भद्दा सत्थवाही तं कोलाहलसद्दं सोच्चा निसम्म जेणेव चुलणीपिया समणोवासया तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता चुलणीपियं एवं वयासी–किं णं पुत्ता ! तुमे महया महया सद्देणं कोलाहले कए ?। तए णं से चुलणीपिया अम्मयं भद्दं सत्थिवाहिं एवं वयासी–एवं खलु अम्मो ! न जाणामि के वि पुरिसे आसुरुत्ते०५ एगं महं नीलुप्प०असिं गहाय ममं एवं वयासी–हंजो चुलणीपिया ! अपत्थियपत्थिया० ४ वज्जिया जइ णं तुमं० जाव ववरोविज्जसि,तए णं अहं तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए०जाव विहरामि। तए णं से देवे मम अभीयं०जाव विहरमाणं पासइ, पासइत्ता ममं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–हंभो चुलणीपिया ! तहेव गायं आइंचइ,तए णं अहं तं उज्जलं० जाव अहियासेमि,एवं तहेव उच्चारेयव्वं सव्वं०जाव कणीयसं० जाव आइंचइ,अहं तं उज्जलं०जाव अहियासेमि। तए णं से देवे ममं अभीयं०जाव पासइ, पासइत्ता ममं चउत्थं पि एवं वयासी–हंजो चुलणीपिया ! अपत्थियपत्थिया०जाव न भंजसि तओ ते अज्ज जा इमा माता गुरु० जाव ववरोविज्जसि, तए णं अहं तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए० जाव विहरामि। तए णं से देवे दोच्चं पि तच्चं पि ममं एवं वयासी–हंजो चुलणीपिया ! अज्ज०जाव ववरोविज्जसि, तए णं अहं तेणं देवेणं एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अभत्थिए अहो णं इमे पुरिसे अणारिए० जाव समायरए जेणं ममं जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ तहेव०जाव कणीयसं० जाव आइंचइ, तुब्भे वि य णं इच्छइ साओ गिहाओ० जाव णीणेत्ता, मम अग्गओ घाएत्तए तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उट्ठाति, ते से वि य आगासे उप्पतिते ममए वि य खंभे आसादिते महया महया सद्देणं कोलाहले कए, तए णं सा भद्दा चुलणीपियं समणोवासयं एवं वयासी–नो खलु केइ पुरिसे तव० जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ णीणेइ, णीणेइत्ता तव अग्गओ घाएइ । एस णं केइ पुरिसे तव उवसग्गं करेइ, एस णं तुमे वि दरिसणे दिट्ठे, तए णं तुमं इयाणिं भगवया भग्गव्वए भग्गनियमे भग्गपोसहे विहरसि, तेणं तुमं पुत्ता ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि०जाव पडिवज्जेहि। तए णं से चुलणीपिया समणोवासया अम्माए भद्दाए स० तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेइत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ० जाव पडिवज्जेइ। तए णं से चुलणिपिया स०पढमं उवासगपडिमं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। पढमं उवासगपडिमं अहासुत्तं जहा आणंदो०जाव एक्कारस वि तए णं से चु० तेणं उरालेणं जहा कामदेवे० जाव सोहम्मे कप्पे सोहम्मवडिंसयस्स महाविमाणस्स उत्तरपुरच्छिमेणं अरुणप्पभे णामं विमाणे देवत्ताए उववण्णे चत्तारि पलिओवमाइं ठिई महाविदेहे वासे सिज्झिहिति० ५ । उपा० ३ अ० ॥

चुलसीइ–चतुरशीति–स्त्री० । चतुरधिकायामशीतौ, अं० १ वक्ष० । स० । प्रज्ञा० । प्रश्न० ।

चुलसीइसमज्जिय–चतुरशीतिसमर्जित–त्रि० । एकत्र समये समुत्पद्यमानानां येषां राशिः चतुरशीतिसमर्जितः स्यात् तेषु नैरयिकादिषु, भ० २० श० १० उ० । उपा० (' ववाय ' शब्दे द्वितीयभागे ९१५ पृष्ठे उक्तं चैतत्)

चुलसीय–चतुरशीत–त्रि० । चतुरशीत्यधिके, " चुलसीयं मंडलसतं चरति " सू० प्र० १ पाहु० ।

चुलुक्क–चुलुक्य–पुं० । क्षत्रियकुलविशेषे, यस्मिन् सिद्धराजादय आसन्, कुमारपालराज आसीत् । " अहो चौलुक्यपुत्रीणां, साहसं जगतोऽधिकम् । पत्युर्मृत्यौ विशन्त्यग्निं, याः प्रेमरहिता अपि" ॥१॥ स्था० ४ ठा० २ उ० ।

चुलचुल–स्पन्द्–धा० । किञ्चिच्चलने, " स्पन्देश्चुलचुलः " ॥ ८ । ४ । १२७ ॥ इति स्पन्देश्चुलचुलादेशः । "चुलचुलइ" स्पन्दते। प्रा० ४ पाद ।

चुल्ल–क्षुद्र–त्रि० । महदपेक्षया लघौ, स्था० २ ठा० ४ उ० ।

चुल्लकप्पसुय–क्षुद्रकल्पश्रुत–न० । अल्पग्रन्थे, अल्पार्थे च स्थविरादिकल्पप्रतिपादके उत्कालिकश्रुते, नं० ।

चुल्लग–देशी–भोजने, मनुष्यत्वलाभे चुल्लग (भोजन) दृष्टान्तः। आ० क० ।

चुल्लपिउ–क्षुद्रपितृ–पुं० । लघुपितरि, विपा० १ श्रु० ३ अ० । "अज्जए पज्जए वा वि, बप्पो चुल्लपिउ त्ति य" । दश०७ अ०।

चुल्लमाउया–क्षुद्रमातृका–स्त्री० । लघुमातरि, नि० १ वर्ग । " कूणियस्स रण्णो चुल्लमाउया " अन्त० ८ वर्ग । ज्ञा० ।

चुल्लसयय–क्षुद्रशतक–पुं० । महाशतकापेक्षया लघुः शतकक्षुल्लशतकः । स्वनामख्याते गृहपतौ, स आलम्भिकाभिधाननगरनिवासिदेवेनोपसर्गकारिणा कथमुपाहियमाणमुपलभ्य चलितप्रतिज्ञः पुनर्निरतिचारः सन् दिवमगमदिति यथा तथा यत्राभिधीयते तस्मिन् उपासकदशानां चतुर्थेऽध्ययने, स्था० १० ठा० ।

एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणारसीए णयरीए कोट्ठए चेइए, जियसत्तू राया, सुरादेवगाहावई अड्ढे दित्ते छ हिरएणकोडीओ णिहाणपत्ताओ० जाव छव्वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं,धरणा भारिया,सामी समोसढो, जहा आणंदो तहेव पडिवज्जइ गिहिधम्मं,जहा कामदेवो० जाव समणस्स भगवओ महावीरस्स पएणत्तिं उवसंपज्जित्ता णं विहरइ। तए णं तस्स सुरादेवस्स समणोवासयस्स पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था। से देवे एगं महं नीलुप्पल० जाव असिं गहाय सुरादेवं समणोवासयं एवं वयासी–हंभो सुरादेवा! अपत्थियपत्थिया ४ जइ णं तुमं सीलाइ० जाव न भंजसि तओ जेट्ठपुत्तं साओ गिहाओ णीणेमि, तव अग्गओ घाएमि, एवं मंससोल्लए करेमि। आयाणभरियंसि कडाहगंसि अद्दहेमि, अद्दहेमित्ता तव गायं मंसेण य सोणिएण य आइंचामि, जहा णं तुमं अकाले० जाव ववरोविज्जसि। एवं मज्झिमयं कणीयसं एक्केके पंच सोल्लया तहेव करेइ जहा चुलणीपियस्स, नवरं एक्केके पंच सोल्लया। तए णं से देवे सुरादेवं चउत्थं पि एवं वयासी–हंभो सुरा०! अपत्थियपत्थिया० जाव न परिभंजसि तओ ते अज्ज सरीरस्स जमगसमगमेव सोलसरोगायंके पक्खिवामि। तं जहा–सासे कासे० जाव कोढे, जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट० जाव ववरोविज्जसि। तओ से सुरा० जाव विहरइ, एवं देवो दोच्चं पि तच्चं पि भणइ० जाव ववरोविज्जसि। तए णं तस्स सुरादेवस्स तेणं देवेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्तस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झ० ४ अहो णं इमे पुरिसे अणारिए० जाव समायरइ जेणं ममं जेट्ठपुत्तं० जाव कणीयसं० जाव आइंचइ,जे वि य मे सोलस रोगायंका ते वि य इच्छइ मम सरीरगंसि पक्खिवित्तए; तं सेयं खलु ममं एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाएइ,से वि य आगासे उप्पतिते तेण य खंभे आसाइए,महया महया सद्देणं कोलाहले कए,तए णं सा धणा भारिया कोलाहलं सुच्चा निसम्म जेणेव सुरादेवे समणोवासए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता एवं वयासी-किं णं देवाणुप्पिया! तुब्भे णं महया सद्देणं कोलाहले कए?। तए णं से सुरादेवे धणं भारियं एवं वयासी–एवं खलु देवाणुप्पिया! के वि पुरिसे तहेव कहइ जहा चुलणिप्पिया धणा वि पडिभणइ० जाव कणीयसं णो खलु देवा०! तुब्भं केइ पुरिसे सरीरंसि जमगसमगं सोलसरोगायंके पक्खिवइ, एस णं के वि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ' सेसं जहा चुलणीपियस्स भद्दा भणइ णिरवसेसं० जाव सोहम्मे कप्पे अरुणकंते विमाणे चत्तारि पलिओवमाइं ठिई महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति ५ (उपा० ४ अ०) एवं खलु जंबू ! तेणं कालेणं तेणं समएणं आलभिया णयरी, संखवणे उज्जाणे, जियसत्तू राया, चुल्लसयए गाहावई अड्ढे० जाव छ हिरएणकोडीओ० जाव छव्वया दसगोसाहस्सिएणं वएणं, बहुला भारिया, सामी समोसढो, जहा आणंदो तहा गिहिधम्मं पडिवज्जइ, सेसं जहा कामदेवे० जाव धम्मपएणत्तिं उवसंपज्जित्ता विहरइ, तए णं तस्स चुल्लसयगस्स पुव्वरत्तावरत्तकाले एगे देवे अंतियं० जाव असिं गहाय एवं वयासी-हं भो चुल्लस०! जाव ण भंजसि तओ अज्ज जेट्ठपुत्तं गिहाओ णीणेमि एवं जहा चुलणीपियं; णवरं एक्केकसत्तमंससोल्लया० जाव कणीयसं० जाव आइंचामि ; तए णं से चुल्ल० जाव विहरइ। तए णं से देवे चुल्लस्स चउत्थं पि एवं वयासी–हंभो चुल्ल०! जाव न भंजसि तो ते अज्ज इमाओ छ हिरएणकोडीओ णिहाणपत्ताओ छ वड्ढि० छ पवित्थरपत्ताओ ताओ साओ गिहाओ णीणेमि, णीणेमित्ता आलभियाए णयरीए सिंघाडग० जाव पहेसु सव्वओ समंता विप्पइरामि,जहा णं तुमं अट्टदुहट्ट० अकाले जीवियाओ ववरोविज्जसि। तए णं से चुल्लसए तेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे अभीए० जाव विहरइ। तए णं से देवे चुल्लस० अभीयं० जाव पासित्ता दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्ते तहेव० जाव ववरोविज्जसि। तए णं तस्स चुल्लसएणं देवेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वुत्तस्स अयमेयारूवे अब्भत्थिए ४ अहो णं इमे पुरिसे अणारिए, जहा चुलणीपिया तहा चिंतेइ० जाव कणीयसं० जाव आइंचइ। जाओ वि य णं इमाओ ममं छ हिरएणकोडीणिहाणपत्ताओ वड्ढि० पवित्थरपत्ताओ ताओ वि य णं इच्छेइ ममं साओ गिहाओ णीणित्ता आलभियाए णयरीए सिंघाडग० जाव विप्पइरित्तए ; तं सेयं खलु मम एयं पुरिसं गिण्हित्तए त्ति कट्टु उद्धाइए जहा सुरादेवे तहेव भारिया पुच्छइ, तहेव कहेइ, सेसं जहा चुलणीपियस्स० जाव सोहम्मे कप्पे अरुणसिट्ठे विमाणे उ० ठिइसेसं ताव जाव महाविदेहे वासे सिज्झिहिंति। उपा० ५ अ०।

चुल्लहिमवंत–क्षुद्रहिमवत्–त्रि०। महदपेक्षया लघुर्हिमवान् चुल्लहिमवान्। स्था० २ ठा० ३ उ०। वर्षधरपर्वतभेदे, स्था० ७ ठा०। स०।

स च क्व कियन्मान इत्यादि–

कहि णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे चुल्लहिमवंते णामं वासहरपव्वए पएणत्ते?। गोयमा! हेमवयस्स वासस्स दाहिणेणं भरहस्स वासस्स उत्तरेणं पुरच्छिमलवणसमुद्दस्स पच्चच्छिमेणं पच्चच्छिमलवणसमुद्दस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं जंबुद्दीवे दीवे

चुल्लहिमवंते णामं वासहरपव्वए पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे दुहा लवणसमुद्दं पुट्ठे पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे पच्चच्छिमिल्लाए कोडीए पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठे एगं जोअणसयं उड्ढं उच्चत्तेणं पणवीसं जोअणाइं उव्वेहेणं एगं जोअणसहस्सं बावण्णं च जोअणाइं दुवालस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स विक्खंभेणं ति तस्स तस्स बाहा पुरच्छिमपच्चच्छिमेणं पंच जोअणसहस्साइं तिण्णि अ पण्णासे जोअणसए पण्णरस य एगूणवीसइभाए जोअणस्स अद्धभागं च आयामेणं तस्स जीवा उत्तरेणं पाईणपडीणायए० जाव पच्चच्छिमिल्लाए कोडीए पच्चच्छिमिल्लं लवणसमुद्दं पुट्ठा चउव्वीसं जोअणसहस्साइं णव य बत्तीसए जोअणसए अद्धभागं च किंचि विसेसूणा आयामेणं पण्णत्ता ॥

क्व भदन्त ! जम्बूद्वीपे द्वीपे क्षुल्लः क्षुद्रो वा महाहिमवदपेक्षया लघुर्हिमवान् क्षुल्लहिमवान् नाम नाम्ना वर्षधरपर्वतः प्रज्ञप्तः । वर्षे उभयपार्श्वस्थिते द्वे क्षेत्रे धरतीति वर्षधरः, क्षेत्रद्वयसीमाकारी गिरिरित्यर्थः । स चासौ पर्वतश्च वर्षधरपर्वतः, आख्यातस्तीर्थकृद्भिरिति, शेषं सुगमं, नवरमेकयोजनशतमूर्द्ध्वोच्चत्वेन पञ्चविंशतियोजनानि उद्वेधेन भूगतत्वेन, उच्चत्वचतुर्थभागस्यैव भूगतत्वात्, एकं योजनसहस्रं, द्विपञ्चाशच्च योजनानि, द्वादश चैकोनविंशतिभागान् योजनस्य विष्कम्भेण । अस्योपपत्तिस्तु-द्विगुणितजम्बूद्वीपव्याससंख्यं, तस्य नवत्यधिकशतेन भागहरणेन भवति, क्षुद्रहिमवतो भरताद् द्विगुणत्वात् । अत्र च करणविधिर्भरतवर्षविष्कम्भ इव ज्ञेयः । अथास्य बाहे आह-" तस्स बाहा " इत्यादि । तस्य क्षुद्रहिमवतो बाहे प्रत्येकं पूर्वपश्चिमयोः पञ्च योजनसहस्राणि, त्रीणि च योजनशतानि पञ्चाशदधिकानि, पञ्चदशयोजनस्यैकोनविंशतिभागान् एकस्य योजनस्यैकोनविंशतितमभागस्यार्द्धं च यावदायामे प्रज्ञप्ते । सूत्रे च वचनव्यत्ययः प्राकृतत्वात् । स्थापना यथा-योजन ५३५० कला १५ । ½ । अस्य व्याख्यानं वैताढ्याधिकारसूत्रतो ज्ञेयम्, प्रायःसमसूत्रत्वात् । अथैतस्य जीवामाह-" तस्स जीवा " इत्यादि । तस्य क्षुद्रहिमवतो जीवा उत्तरतो प्राचीनप्रतीचीनायता " जाव पच्चच्छिमिल्लाए " इत्यादि प्राग्वत्, यावत्पदात्-"पुरच्छिमिल्लाए कोडीए पुरच्छिमिल्लंलवणसमुद्दं पुट्ठाइ त्ति " ग्राह्यम् । आयामेन चतुर्विंशतियोजनसहस्राणि नवद्वात्रिंशदधिकानि योजनशतानि अर्द्धभागं च कलार्द्धं प्रज्ञप्ता, किञ्चिद्विशेषोना किञ्चिदूना इत्यर्थः । किञ्चिदूनत्वं चास्या आनयनाय वर्गमूले कृते शेषोपरितनराश्यपेक्षया द्रष्टव्यम् ।

अथास्याः परिधिमाह—

तीसे धणुपिट्ठे दाहिणेणं पणवीसं जोअणसहस्साइं दोण्णि अ तिसजोअणसए चत्तारि अ एगूणवीसइभाए जोअणस्स परिक्खेवेणं पण्णत्ते ॥

" तीसे " इत्यादि । तस्याः क्षुद्रहिमवज्जीवायाः धनुःपृष्ठं दक्षिणतो दक्षिणपार्श्वे पञ्चविंशतियोजनसहस्राणि, द्वे च त्रिंशदधिके योजनशते, चतुरश्च एकोनविंशतिभागान् योजनस्य परिक्षेपेण परिधिना प्रज्ञप्तम् । यच्चात्र " तीसे " इति शब्देन जीवानिर्देशस्तत् स्वस्वजीवापेक्षया स्वस्वधनुःपृष्ठस्य यथोक्तमानतोपपत्त्यर्थम्, अन्यथा न्यूनाधिकमानसंभवात् ।

अथ पर्वतं विशेषणैर्विशिनष्टि-

रुअगसंठाणसंठिए सव्वकणगामए अच्छे सण्हे लण्हे तहेव० जाव पडिरूवे उभओ पासिं दोहिं पउमवरवेइआहिं दोहिं अ वणसंडेहिं संपरिक्खित्त दुण्ह वि माणं वण्णगो त्ति ।

" रुअग " इत्यादि । रुचकसंस्थानसंस्थितः सर्वकनकमय इत्यादि प्राग्वत्, नवरं द्वयोरपि पद्मवरवेदिकावनखण्डयोः प्रमाणं वर्णकश्च ज्ञातव्य इति शेषः ।

अथास्य शिखरस्वरूपमाह-

चुल्लहिमवंतस्स वासहरपव्वयस्स उवरिं बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते; से जहाणामए आलिंगपुक्खरेइ वा० जाव बहवे वाणमंतरा देवा य देवीओ अ आसयंति० जाव विहरंति ॥

"चुल्लहिमवंत" इत्यादि प्राग् व्याख्यातार्थं, नवरं बहुसमत्वं चात्र नदीस्थानादन्यत्र ज्ञेयम् । अन्यथा नदीस्रोतसा संसरणमेव न स्यात् ।

अथैतन्मध्यवर्त्तिह्रदस्वरूपनिरूपणमाह-

तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए, इत्थ णं इक्के महं पउमद्दहे णामं दहे पण्णत्ते, पाईणपडीणायए उदीणदाहिणविच्छिण्णे इक्कं जोअणसहस्सं आयामेणं पंच जोअणसयाइं विक्खंभेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं अच्छे सण्हे रययामयकूले० जाव पासाइए० जाव पडिरूवे० ४ ।

" तस्स णं " इत्यादि । तस्य क्षुद्रहिमवतो बहुसमरमणीयस्य भूमिभागस्य बहुमध्यदेशभागे अत्राऽवकाशे एको महान् पद्मद्रहो नाम द्रहः पद्मह्रदो नाम ह्रदो वा प्रज्ञप्तः, पूर्वापरायत उत्तरदक्षिणविस्तीर्ण एकं योजनसहस्रमायामेन पञ्च योजनशतानि विष्कम्भेण दश योजनान्युद्वेधेन उच्चत्वेन, अच्छोऽनाविलजलत्वात्, श्लक्ष्णः सारवज्रादिमयत्वात्, रजतमयकूल इति व्यक्तम् । जं० ४ वक्ष० । पं० व० ।

से णं एगाए पउमवरवेइआए एगेण य वणसंडेण य सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते वेइआवणसंडवण्णओ भाणिअव्वो, तस्स णं पउमद्दहस्स चउद्दिसिं चत्तारीति सोवाणपडिरूवगा पण्णत्ता, वण्णावासो भाणिअव्वो, तेसि णं ति सोवाणपडिरूवगाणं पुरओ अ पत्तेअं पत्तेअं तोरणा पण्णत्ता, तेणं तोरणा णाणामणिमया, तस्स णं पउमद्दहस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे पउमे पण्णत्ते, जोअणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोअणं बाहल्लेणं दस जोअणाइं उव्वेहेणं दो कोस ऊसिए जलंताओ साइरेगाइं दस जोअणाइं सव्वग्गो णं पण्णत्ता ॥

" से णं " इत्यादि । स पद्मद्रह एवं यावत् पद्मद्रहवरवेदिकाया एकेन च वनखण्डेन सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तः, वेदिकावनख-

एमवर्णको भणितव्यः, प्राग्वदित्यर्थः । " तस्स णं " इत्यादि व्यक्तम् । " तेसि णं " इत्यादि सर्वं प्राग्वत्, नवरं (णाणामणिमये त्ति) वर्णकैकदेशेन पूर्णस्तोरणवर्णको ग्राह्यः । अथात्र पद्मस्वरूपमाह-" तस्स णं " इत्यादि । तस्य पद्मह्रदस्य बहुमध्यदेशभागे अत्रान्तरे महदेकं पद्मं प्रज्ञप्तम्, एकं योजनमायामतो, विष्कम्भतश्च अर्द्धयोजनं, बाहल्येन पिण्डेन दश योजनान्युद्वेधेन जलावगाहेन द्वौ क्रोशावुच्छ्रितं जलान्ताज्जलपर्यन्तात् एवं सातिरेकाणि दश योजनानि सर्वाग्रेण प्रज्ञप्तानि, जलावगाहोपरितनभागसत्कक्रमसमानमीलने एतावतामेव संभवात् ।

से णं एगाए जगईए सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते जंबुद्दीवजगइप्पमाणा गवक्खकडए वि तह चेव पमाणेणं ॥

' से णं ' इत्यादि । तत्पद्ममेकया जगत्या प्राकारकल्पया सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तं, सा च जगती जम्बूद्वीपजगतीप्रमाणा वेदितव्या, एतच्च प्रमाणं जलादुपरिष्टाद् ज्ञेयं, दशयोजनात्मकजलावगाहप्रमाणस्याऽविवक्षितत्वात् । गवाक्षकटकोऽपि जालकसमूहोऽपि तथैव प्रमाणेनोच्चत्वेनार्द्धयोजनपञ्चधनुःशतानि विष्कम्भेणेत्यर्थः ।

अथ पद्मवर्णकमाह-

तस्स णं पउमस्स अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा-वइरामया मूला, रिट्ठामए कंदे, वेरुलिआमए णाले, वेरुलियामया बाहिरपत्ता, जंबूणयमया अब्भिंतरपत्ता, तवणिज्जमया केसरा, णाणामणिमया पोक्खरत्थिभया, कणगमई कण्णिगा, सा णं अद्धजोअणं आयामविक्खंभेणं, कोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामई अच्छा, तीसे णं कण्णिआए उप्पिं बहुसमरमणिज्जभूमिभागे पण्णत्ते, से जहा णामए आलिंग० तस्स णं बहुसमरमणिज्जस्स भूमिभागस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थ णं महं एगे भवणे पण्णत्ते, कोसं आयामेणं, अद्धकोसं विक्खंभेणं, देसूणगं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगखंभसयसण्णिविट्ठे० जाव पासाईदरसणिज्जे ४ तस्स णं भवणस्स तिदिसिं तओ दारा पण्णत्ता, ते णं दारा पंचधणुसयाइं उड्ढं, अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं विक्खंभेणं, तावतिअं चेव पवेसेणं, से आवरकणगथूभिअंगा० जाव वणमालाओ णेअव्वाओ, तस्स णं भवणस्स अंतो बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे पण्णत्ते, से जहाणामए आलिंग० तस्स णं बहुमज्झदेसभाए एत्थं महईए गामणिपेढिआ पण्णत्ता, सा णं मणिपेढिआ पंचधणुसयाइं आयामविक्खंभेणं अड्ढाइज्जाइं धणुसयाइं बाहल्लेणं सव्वमणिमई अच्छा, तीसे णं मणिपेढिआए उप्पिं एत्थ णं महं एगे सयणिज्जे पण्णत्ते, सयणिज्जवण्णओ भाणिअव्वो ॥

(तस्स त्ति) तस्य पद्मस्यायमेतद्रूपो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-वज्रमयानि मूलानि कन्दादधस्तिर्यग्निर्गतजटासमूहावयवरूपाणि, अरिष्टरत्नमयः कन्दो मूलनालमध्यवर्त्ती ग्रन्थिः, वैडूर्यमयं नालं कन्दोपरि मध्यवर्त्यवयवः, वैडूर्यमयानि बाह्यपत्राणि । अत्राऽयं विशेषो बृहत्क्षेत्रविचारवृत्त्यादौ-बाह्यानि चत्वारि पत्राणि वैडूर्यमयाणि, शेषाणि रक्तसुवर्णमयानि जाम्बूनदमीषद्रक्तस्वर्णं, तन्मयानि अभ्यन्तरपत्राणि, सिरिनिलयमितिक्षेत्रविचारवृत्तौ तु-पीतस्वर्णमयान्युक्तानि, तपनीयमयानि रक्तस्वर्णमयानि, केसरकर्णिकायाः परितोऽवयवाः नानामणिमयाः पुष्करास्थिभागाः कमलबीजविभागाः, कनकमया कर्णिका बीजकोशः । अथ कर्णिकामानाद्याह-" सा णं " इत्यादि । सा कर्णिका अर्द्धयोजनमायामेन, विष्कम्भेण च क्रोशं, बाहल्येन पिण्डेन सर्वात्मना कनकमयी, अत एव कनकमयानि पूर्वापरविशेषणान्यवयवविभागेऽपि कनकमयत्वं स्यादित्याशङ्का निरस्ता । " अच्छा " इत्येकदेशेन " सण्हाइ " इत्यादि पदान्यपि ज्ञेयानि । तेषां व्याख्या च प्राग्वत् । "तीसे णं" इत्यादि । एतानि सर्वाण्यपि निगदसिद्धानि । शयनीयवर्णकश्चायं जीवाभिगमोक्तः-"तस्स णं देवसयणिज्जस्स अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा-णाणामणिपडिपाया सोवण्णिआ पाया णाणामणिमयाइं पायसीसगाइं जंबूणयमयाइं गत्ताइं वइरामया संधी णाणामणिमए विच्चे रययामई तूली लोहिअक्खमयाइं बिव्वोअणाइं तवणिज्जमई गंडोवहाणियाउ इति से णं सयणिज्जे सालिंगणवट्टिए उभओ बिव्वोअणे उभओ उण्णए मज्झे णए गंभीरे गंगापुलिणवालुआउद्दालसालिसए उअविअखोमदुगुल्लपट्टपडिच्छयणे आईणगरूअबूरणवणीयतूलफासे सुविरइअरयत्ताणे रत्तंसुअसंवुडे सुरम्मे पासाईए कए त्ति"। अत्र व्याख्या-तस्य देवशयनीयस्यायमेतद्रूपो वर्णव्यासः प्रज्ञप्तः । तद्यथा-नानामणिमयाः प्रतिपादाः, मूलपादानां प्रति विशिष्टोपष्टम्भकरणाय पादाः प्रतिपादाः, सौवर्णिकाः सुवर्णमयाः पादा मूलपादाः, जाम्बूनदमयानि गात्राणि ईषादीनि, वज्रमया वज्ररत्नपूरिताः सन्धयः, (नानामणिमए विच्चे इति) विच्चं नाम व्यूतं, विशिष्टं वानमित्यर्थः । रजतमयी तूली, लोहिताक्षमयानि (बिव्वोअणाइ त्ति) उपधानकानि, उच्छीर्षकाणीति यावत्, तपनीयमय्यो गण्डोपधानिकाः, गल्लमसूरकाणीत्यर्थः । तपनीयं सह आलिङ्गनवर्त्या शरीरप्रमाणेनोपधानेन यत् तत्तथा । उभयत उभौ शिरोऽन्तपादान्तावाश्रित्य "बिव्वोअणे" उपधाने यत्र तत्तथा, उभयत उन्नतं मध्ये नतं च तत् नम्रत्वात् गम्भीरं च महत्त्वात् तत्तथा, गङ्गापुलिनवालुकाया अवदालो विदलनं पादादिन्यासे अधोगमनमिति तेन सा (सालिसए त्ति) सदृशकं तथा (उअविअ त्ति) विशिष्टं परिकर्मितं क्षौमं कार्पासिकं दुकूलं वस्त्रं, तदेव पट्टः, स प्रतिच्छादनमाच्छादनं यस्य तत्तथा। "आईणग" इत्यादि प्राग्वत् । सुविरचितं रजस्त्राणमाच्छादनविशेषोऽपरिभोगावस्थायां यत्र तत्तथा, रक्तांशुकेन मशकदंशादिनिवारणार्थकमशकगृहाभिधानवस्त्रविशेषेण संवृतमत एव सुरम्यम्, "पासाईए" इत्यादि पदचतुष्कं प्राग्वत् ।

अथास्य प्रथमपरिक्षेपमाह—

से णं पउमे अण्णेणं अट्ठसएणं पउमाणं तदद्धुच्चत्तप्पमाणमित्ताणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते । ते णं पउमा अद्धजोअणं आयामविक्खंभेणं, कोसं बाहल्लेणं, दस जोअणाइं उव्वेहेणं, कोसं ऊसिआ जलंताओ साइरेगाइं दस जोअणाइं उच्चत्तेणं, तेसि णं पउमाणं अयमेआरूवे वण्णावासे पण्णत्ते । तं जहा-वइरामया मूला० जाव कणगामई क-

णिएआ, सा णं कण्णिआ कोसं आयामेणं, अद्धकोसं बाहल्लेणं सव्वकणगामई अच्छा, तीसे णं कणिआए उप्पिं बहुसमरमणिज्जे० जाव मणीहिं उवसोभिए। तस्स णं पउमस्स अवरुत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं एत्थ णं सिरीए देवीए चउएहं सामाणिअसाहस्सीणं चत्तारि पउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ । तस्स णं पउमस्स पुरच्छिमेणं एत्थ णं सिरीए देवीए चउएहं महत्तरिआणं चत्तारि पउमा पएणत्ता । तस्स णं पउमस्स दाहिणपुरच्छिमेणं एत्थ णं सिरीए देवीए अब्भिंतरिआए परिसाए अट्ठएहं देवसाहस्सीणं अट्ठपउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। दाहिणेणं मज्झिमपरिसाए दसएहं देवसाहस्सीणं दस पउमसाहस्सिओ पण्णत्ताओ, दाहिणपच्चच्छिमेणं बाहिरिआए परिसाए बारसएहं देवसाहस्सीणं बारसए पउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। पच्चच्छिमेणं सत्तएहं अणिआहिवईणं सत्त पउमा पण्णत्ता । तस्स णं पउमस्स चउद्दिसिं सव्वओ समंता इत्थ णं सिरीए देवीए सोलसएहं आयरक्खदेवसाहस्सीणं सोलस पउमसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। से णं पउमत्तरपरिक्खेवेहिं सव्वओ समंता परिक्खित्ते। तं जहा--अब्भिंतरकेणं मज्झिमएणं बाहिरएणं अब्भिंतरपउमपरिक्खेवे बत्तीसं पउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ, मज्झिमए पउमपरिक्खेवे चत्तालीसं पउमसयसाहस्सीओ पण्णत्ताओ। बाहिरए पउमपरिक्खेवे अडयालीसं पउमसयसाहस्सीओ पएणत्ताओ। एवामेव सपुव्वावरेणं तिहिं पउमपरिक्खेवेहिं एगा पउमकोडी वीसं च पउमसयसाहस्सीओ भवंतीति अक्खायं ॥

"से णं" इत्यादि । तत् पद्ममन्येनाष्टशतेन पद्मानां तदर्धोच्चत्वप्रमाणमात्राणां तस्य मूलपद्मप्रमाणस्यार्द्धमर्द्धरूपा उच्चत्वे उच्चत्वोच्छ्रये प्रमाणे चायामविस्तारबाहल्यरूपे मात्रं प्रमाणं येषां तानि तथा, तेषां, सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्तम्। अत्र जलोपरितनभागे उच्चत्वस्य व्यवहारप्राप्तस्य विवक्षणादर्द्धप्रमाणं संभवत्यन्यथा जलावगाहसहितोच्चत्वविवक्षायामुत्तरसूत्रे सातिरेकं पञ्चयोजनानि इति वक्तव्यं स्यात्, सामान्यत उक्तमेव मानं व्यनक्ति-"तेणं" इत्यादि प्राग्युक्तप्रायम्। एषां वर्णकमाह-"तेसि णं" इत्यादि व्यक्तम् ।"सा णं" इत्यादि इदमपि व्यक्तम । "तीसे णं" इत्यादि व्यक्तम् । एषु च श्रीदेव्या भूषणादिवस्तूनि तिष्ठन्ति इति सूत्रानुक्तोऽपि विशेषो बोध्यः ॥ अथ द्वितीयपद्मपरिक्षेपमाह-"तस्स णं" इत्यादि । तस्य मूलपद्मस्यापरोत्तरस्यां वायव्यकोणे, उत्तरस्याः, उत्तरपूर्वस्यामीशानकोणे च, सर्वसंकलनया तिसृषु दिक्षु, अत्रान्तरे श्रिया देव्याश्चतुर्णां सामानिकसहस्राणां चत्वारि पद्मसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। तस्य पद्मस्य पूर्वस्यां दिशि, अत्र श्रियाश्चतसृणां महत्तरिकाणां चत्वारि पद्मानि प्रज्ञप्तानि। अत्र प्राग्व्यावर्णितविजयदेवसिंहासनपरिवारानुसारेण पार्षद्यादिपद्मसूत्राणि वक्तव्यानि, सुगमत्वाच्च न विव्रियन्ते, यावत्पश्चिमायां सप्तानीकाधिपतीनां सप्त पद्मानि॥ अथ तृतीयपद्मपरिक्षेपसमयः-"तस्स णं" इत्यादि। तस्य मुख्यपद्मस्य, चतसृणां दिशां समाहारश्चतुर्दिक्, तस्मिन् चतुर्दिशि, सर्वतः समन्तात्, अत्रान्तरे श्रिया देव्याः षोडशानामात्मरक्षकदेवसहस्राणां षोडश पद्मसहस्राणि। तथाहि-चत्वारि पूर्वस्यां, चत्वारि दक्षिणस्याम्, एवं पश्चिमोत्तरयोः । अथोक्तव्यतिरिक्ता अन्येऽपि त्रयः परिक्षेपाः सन्तीत्याह-"से णं पउमे" इत्यादि। तत्पद्मं त्रिभिरुक्तव्यतिरिक्तैः पद्मपरिक्षेपैः समन्तात् संपरिक्षिप्तम् । तद्यथा-अभ्यन्तरकेणाभ्यन्तरभवेन, मध्यमकेन मध्यभवेन, बाहिरकेण बहिर्भवेन, एतदेव व्यनक्ति-अभ्यन्तरपद्मपरिक्षेपे द्वात्रिंशत्पद्मानां शतसहस्राणि लक्षाणि, मध्यमके चत्वारिंशत्पद्मलक्षाणि, बाह्येऽष्टचत्वारिंशत्पद्मलक्षाणि प्रज्ञप्तानि । इदं च पद्मपरिक्षेपत्रिकम् आभियोगिकदेवसंबन्धि बोध्यम्, अत एव भिन्नत्रिकख्यापनपरं सूत्रं निर्दिष्टम् । अन्यथा सूत्रकृत् चतुर्थपञ्चमषष्ठपरिक्षेपा इत्येवाऽकथयिष्यत। ननु तर्हि आभियोगिकजातानामेक एवात्मरक्षकाणामिव वाच्यम् । उच्यते-उत्तममध्यमनीचकार्यनियोज्यत्वेनाभियोगिकानां त्रित्वेन परिक्षेपस्यापि भिन्नत्वात् । अथ परिक्षेपत्रिकस्य पद्मसर्वाग्रमाह-"एवामेव" इत्यादि । एवमेवोक्तन्यायेन सपूर्वापरेण पूर्वापरसमुदायेन त्रिभिः पद्मपरिक्षेपैरेका पद्मकोटी विंशतिश्च पद्मलक्षाणि भवन्तीत्याख्यातं मयाऽन्यैश्च तीर्थकृद्भिः। संख्यानयनं च स्वयमभ्यूह्यम्, षण्णां पद्मपरिक्षेपाणां मुख्यपद्मेन सह मीलने सैव संख्या पञ्चाशत्सहस्रैकशतविंशत्यधिका ज्ञातव्या। स्थापना यथा-५०१२०। ननु कमलानि कमलिन्याः पुष्परूपाणि भवन्ति, मूलं कन्दश्च कमलिन्या एव भवतः, न तु कमलस्य तत् कथमत्र मूलकन्दावुक्तौ ?। उच्यते-कमलान्यत्र न वनस्पतिपरिणामानि, किं तु पृथ्वीकायपरिणामरूपाणि, कमलाकारवृक्षाणामेतेषामिमौ न विरुद्धाविति, अत्राद्यपरिक्षेपपद्मानां मूलपद्मादर्द्धमानं सूत्रकृता साक्षादुक्तम्, उत्तरोत्तरपरिक्षेपपद्मानां तु पूर्वपूर्वपरिक्षेपपद्मेभ्योऽर्द्धार्द्धमानता युक्तितः संगच्छते, देवप्रासादपङ्क्तेरिव, अन्यथाऽल्पर्द्धिकमहर्द्धिकदेवानामाश्रयतारतम्यं, चतुर्थादिमहापरिक्षेपपद्मानामवकाशः, शोभमानस्थितिकत्वं च न संभवेयुः। अर्द्धार्द्धमानता चैवम्-मूलपद्मं योजनप्रमाणम्, आद्ये परिक्षेपे पद्मानि द्विक्रोशमानानि, द्वितीये क्रोशमानानि, तृतीयेऽर्द्धक्रोशमानानि, चतुर्थे पञ्चधनुःशतमानानि, पञ्चमे सार्द्धद्विशतधनुर्मानानि, षष्ठे सपादशतधनुर्मानानि। तथा मूलपद्मापेक्षया सर्वपरिक्षेपेषु जलादुच्छ्रयभागोऽप्यर्द्धार्द्धक्रमेण ज्ञेयः। यथा मूलपद्मे जलात् क्रोशद्वयमुच्छ्रय आद्ये परिक्षेपे क्रोश उच्छ्रयः, द्वितीये क्रोशार्द्धं, तृतीये क्रोशचतुर्थांशः, चतुर्थे क्रोशाष्टांशः, पञ्चमे क्रोशषोडशांशः, षष्ठे क्रोशद्वात्रिंशांश इति। एवमेव मूलपद्मापेक्षया पद्मानां बाहल्यमप्यर्द्धार्द्धक्रमेण वाच्यं, ननु षट्परिक्षेपा इति विचार्ये, योजनात्मना सहस्रत्रयात्मकस्य धनुरात्मना द्विकोटिद्विचत्वारिंशल्लक्षप्रमाणस्य ह्रदपरमपरिधेः षष्ठपरिक्षेपपद्मानां षष्टिकोटिधनुःक्षेत्रमायतानाम् एकधा पङ्क्तिधा कथमवकाशः संभवति ?, एवं प्रथमपरिक्षेपवर्जे शेषपरिक्षेपाणामपि तत्तत्परिधिमाने पद्ममानं परिभाव्य वाच्यम्। उच्यते-षट्परिक्षेपा इत्यत्र षड्जातीयाः परिक्षेपा इति ग्राह्यम् । आद्या मूलपद्मार्द्धमाना जातिः, द्वितीया तत्पादमाना, तृतीया तदष्टमभागमाना, चतुर्थी तत्षोडशभागमाना, पञ्चमी तद्द्वात्रिंशत्तमभागमाना, षष्ठी तच्चतुःषष्टितमभागमाना । ततश्च तत्परिधिक्षेत्रपरिक्षेपपद्मसंख्यापद्मविस्तारान् परिभाव्य-यत्र यावत्यः पङ्क्तयः संभवन्ति गणितकेन करणयोस्तत्र तावतीभिः पङ्क्तिभिरेक एव परि-

क्षेपो ज्ञेयः, पद्मानामेकजातीयत्वात्। किमुक्तं भवति ?-महापरिक्षेप एकया पङ्क्त्या न समाति,हृदपरिधिक्षेत्रस्याल्पत्वात्,पद्मानां च बहुत्वात्, ततः पङ्क्तिभिः पद्मानि पूरणीयानि, एवं परिक्षेपः पूर्णो भवति, हृदपरिधेश्च प्रतिपरिक्षेपं भिद्यमानकत्वात् स पद्मपरिक्षेपो भिन्न एव लक्ष्यते इति । न च द्रहक्षेत्रस्याल्पमिति वाच्यम्,अत्र गणितपदक्षेत्रस्य पञ्चलक्षयोजनप्रमाणत्वात्, सहस्रयोजनप्रमाणायामस्य पञ्चशतयोजनविष्कम्भेण गुणने एतावतामेव लाभात् , पद्मावगाढक्षेत्रं तु सर्वसंख्यया विंशतिः सहस्राणि पञ्चाधिकानि योजनानां,षोडशभागीकृतस्यैकस्य योजनस्य त्रयोदश भागाः २००५ $\frac{13}{16}$। तथाहि-मूलपद्मावगाहो योजनमेकं, जगती च द्वादशयोजनानि मूले पृथुरिति जगती पूर्वापरभागसत्कमूलव्यासपद्मव्यासयोर्मीलनेन पञ्चविंशतिर्योजनानीति । तथा तत्परिधौ प्रथमः परिक्षेपोऽष्टोत्तरशतपद्मानां तदवगाढक्षेत्रं सप्तविंशतिर्योजनानि , अर्द्धयोजनप्रमाणत्वेन तेषामेकस्मिन् योजने चतुर्णामवकाशाच्चतुर्भिरष्टोत्तरशतैर्भक्ते एतावतामेव लाभात्। ननु योजनार्द्धमानवतां तावतां चतुःपञ्चाशद्योजनानि संभवेयुरिति ?। सत्यम्-क्षेत्रबहुत्वादेकपङ्क्त्याऽव्यवस्थितत्वेन प्रत्येकं योजनचतुर्थांशावगाहकत्वे च तत्संख्यैव समुचिता; अत्र पद्मरुद्धक्षेत्रस्यैव गणनादिति, तथा द्वितीयः परिक्षेप एकादशाधिकचतुस्त्रिंशत्सहस्राणां तदवगाढक्षेत्रं द्वे सहस्रे पञ्चविंशत्यधिकं शतं च योजनानां, एकादश च भागा योजनस्य षोडशभागीकृतस्य २१२५ $\frac{11}{16}$ । उपपत्तिस्तु-योजनपादप्रमाणत्वादिमानि षोडशमानानीति ३४० ।११। इत्ययं परिक्षेपपद्मराशिः १६ षोडशभिर्भज्यते आगच्छत्यनन्तरोक्तो राशिः । अस्यां च परिक्षेपजातौ पङ्क्तयः सूत्रोक्तस्वस्वदिशि निवेशनीयपद्मनिवेशनेन विषमवृत्ताः संभाव्यन्ते,पद्मानां विषमसंख्याकत्वादिति । अथ तृतीयपरिक्षेपः-षोडशसहस्रपद्मानां तदवगाहक्षेत्रं द्वे शते पञ्चाशदधिके योजनानाम् २५० । उपपत्तिस्तु-अमूनि योजनाष्टमभागप्रमाणत्वाद्योजने चतुःषष्टि मान्तीति चतुःषष्ट्याः १६००० प्रमाणः पद्मराशिर्भज्यते, उपतिष्ठते चायं राशिः। अत्र च पङ्क्तयः समवृत्ता एव निवेशनीयाः,यथेच्छं चतुर्दिक्षु पद्मानां निवेशनादिति। अथ चतुर्थः परिक्षेपः-द्वात्रिंशल्लक्षपद्मानां तदवगाहक्षेत्रं द्वादश सहस्राणि पञ्चशताधिकानि योजनानाम् १२५००, आनयनोपायस्तु-एषां योजनषोडशभागप्रमाणत्वाद्योजने २५६ मान्तीति षट्पञ्चाशदधिकशतद्वयेन ३२०००००इत्ययं पद्मराशिर्भज्यते,ततो यथोक्तो राशिरायातीति । तथा पञ्चमपरिक्षेपः-चत्वारिंशल्लक्षपद्मानां तदवगाहक्षेत्रं त्रीणि सहस्राणि नवशतानि च षडधिकानि योजनानां चत्वारश्च षोडश भागा योजनस्य ३९०६-$\frac{4}{16}$ । उपपत्तिस्तु-एषां योजनद्वात्रिंशत्तमांशप्रमाणत्वादमूनि योजने १०२४ मान्तीति चतुर्विंशत्यधिकसहस्रेण ४०००००० रूपस्य पद्मराशेर्भागहरणेन प्राप्यते यथोक्तराशिरिति । अष्टषष्ठपरिक्षेपोऽष्टचत्वारिंशल्लक्षपद्मानां तदवगाहक्षेत्रम् एकादशशतानि एकसप्तत्यधिकानि योजनानां, चतुर्दश च षोडशभागा योजनस्य ११७१ $\frac{14}{16}$, उपपत्तिश्चात्राऽमीषां योजनचतुःषष्टितमांशप्रमाणत्वाद्योजने ४०९६ मान्तीति षण्णवत्यधिकचतुःसहस्रैः ४८००००० इत्यस्य पद्मराशेर्भागहरणात् यथोक्तो राशिरुपपद्यते इति पूर्वापरपद्मक्षेत्रयोजनमीलनेन च पूर्वोक्तं सर्वाग्रं संपद्यते, परिक्षेपाश्चात्र वृत्ताकारेण बाह्याः क्षेत्रस्य बहुत्वात् संभवन्तीति, पङ्क्तयश्चात्र हृदक्षेत्रस्यायतचतुरस्रत्वेन आयामविस्तारयोर्विषमत्वेऽपि पञ्चशतयोजनमर्यादयैव कर्त्तव्याः, ततः परं व्याससत्कपञ्चशतयोजनानां पर्यवसितत्वात् शोभमानाश्चोक्तरीत्यैव भवन्तीति । किं चेमानि पद्मानि शाश्वतानि पार्थिवपरिणामरूपत्वात्,वानस्पत्यान्यपि बहूनि तत्रोत्पद्यन्ते । यदाहुः श्रीउमास्वातिवाचकपादाः स्वोपज्ञजम्बूद्वीपसमासप्रकरणे-नीलोत्पलपुण्डरीकशतपत्रसौगन्धिकादिपुष्पार्चित इति । अन्यथा श्रीवज्रस्वामिपादाः श्रीदेवतासमर्पितानुपमे महापद्मानयनेन पुरिकापुर्यां कथं जिनप्रवचनप्रभावनामकार्षुरिति ?, एतानि च शाश्वतानि, तत्रत्यश्रीदेवतादिभिरवचीयमानत्वात् । यदूचुः श्रीहेमचन्द्रसूरयः स्वोपज्ञपरिशिष्टपर्वणि-"तदा च देवपूजार्थ-मवचित्यैकमम्बुजम् । श्रीदेव्या देवतागारं,यान्त्या वज्रर्षिरैक्ष्यत" ॥१॥ इति । नन्वयमनन्तरोक्तार्थः कथं प्रत्येतव्यः?। उच्यते-इदमेव द्वितीयपरिक्षेपसूत्रं प्रत्यायकम्। तथाहि-अत्रैकादशाधिकचतुस्त्रिंशत्सहस्रकमलानि उक्तदिशमापन्नितव्यानि, तानि च क्रोशमानानि एकपङ्क्त्या च तदाऽवकाशं लभेरन्, यदा द्वितीयपद्मपरिधिरेकादशाधिकचतुस्त्रिंशत्सहस्रक्रोशप्रमाणः स्यात् । स च तदा स्याद्यदा मूलक्षेत्रायामव्यासौ साधिकषड्विंशतिशतप्रमाणौ स्यातां, तौ प्रस्तुते न स्तः, तेन यथासंभवं पङ्क्तिभिर्द्वितीयपरिक्षेपपद्मजातिः पूरणीयेति तात्पर्यम् । एवमन्यपरिक्षेपेष्वपि यथासंभवं भावना कार्येति । अथ कथमयमर्थः सिद्धान्ततां प्रापित इति ?। उच्यते-अन्यथानुपपत्त्या, न हि यथाऽक्षरमात्रसंनिवेशं सूरयः सूत्रव्याख्यानपरा भवन्ति, किं तु प्राक्परार्थाऽविरोधेन । यदुक्तम्—" जं जह सुत्ते भणिअं , तहेव तं जइ विआरणा नत्थि । किं कालिआणुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहि ॥ १ ॥ " अलं प्रसङ्गेनेति । जं० ४ वक्ष० । (गङ्गासिन्धुवक्तव्यता स्वस्वस्थाने द्रष्टव्या)

अथास्य नामान्वर्थं व्याचिख्यासुराह—

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ-चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए ?। गोयमा ! महाहिमवंतवासहरपव्वयं पणिहाय आयामुच्चत्तुव्वेहविक्खंभपरिक्खेवं पडुच्च ईसिं खुड्डतराए चेव हस्सतराए चेव णीअतराए चेव चुल्लहिमवंते अ इत्थ देवे महिड्ढीए० जाव पलिओवमट्ठिईए परिवसइ , से एएणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ-चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए चुल्लहिमवंते वासहरपव्वए, अदुत्तरं च णं गोयमा! सासए णामधेज्जे पण्णत्ते ॥

"से केणट्ठेणं" इत्यादि । अथ केनार्थेन भदन्त ! एवमुच्यते-क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वतः क्षुल्लहिमवद्वर्षधरपर्वतः ?। गौतम ! महाहिमवद्वर्षधरपर्वतं प्रणिधाय प्रतीत्याश्रित्येत्यर्थः । आयामोच्चत्वोद्वेधविष्कम्भपरिक्षेपम् । अत्र समाहारद्वन्द्वः, तेन सूत्रे एकवचनम् , प्रतीत्य प्रेक्ष्य ईषत्क्षुद्रतरक एव लघुतरक एव यथासंभवं योजनाया विधेयत्वेनायामाद्यपेक्षया ह्रस्वतरक एवोद्वेधापेक्षया नीचतरक एवोच्चत्वापेक्षया, अन्यच्च क्षुल्लहिमवांश्चात्र देवो महर्द्धिको यावत्पल्योपमस्थितिकः परिवसति । शेषं प्राग्वत् । जं० ४ वक्ष० । क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतदेवे च । " दो चुल्लहिमवंता " स्था० २ ठा० ३ उ० ।

चुल्लहिमवंतकूड-क्षुद्रहिमवत्कूट-न० । क्षुद्रहिमवतो भरतकूटस्य पूर्वे सिद्धायतनकूटस्य पश्चिमे कूटभेदे , तदधिपे देवे

च । जं० ४ वक्ष० । स्था० । ("कूम ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१७ पृष्ठे वक्तव्यतोक्ता)

चुल्लहिमवंतगिरिकुमार-क्षुद्रहिमवद्गिरिकुमार-पुं० । क्षुद्रहिमवद्वर्षधरपर्वतकूटदेवे, तस्य क्षुद्रहिमवती नाम राजधानी। जं०४ वक्ष०। (सा च 'कूम' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६१७ पृष्ठे दर्शिता) भरतविजयाधिकारे, " तओ चुल्लहिमवंतगिरिकुमारं देवं उववेइ, तत्थ बावत्तरिजोयणाइं सरो उवरिं हुत्तो बच्चासि।" आ० म० प्र० । आ० चू० ।

चुल्लि-चुल्लि-(ल्ली)-स्त्री० । चुल्ल-इन् वा ङीप् । पाकार्थमग्निस्थापनस्थाने, (चूल्हा) " चुल्ली चिरं रोदिति " इत्युद्भटः । अच् चुल्लाऽप्यत्र । वाच० । आचा०।

चुल्ली-चुल्लि (ल्ली)-स्त्री० । ' चुल्लि ' शब्दार्थे , आचा० २ श्रु० १ चू० ।

चुल्लो-देशी-शिशौ , दासे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

चूचूसाय-चूचूशाक-पुं०। लोकप्रसिद्धे शाकभेदे, उपा०१ अ०।

चूय-चूत-पुं०। आम्रे, विशे०। स्था०। सहकारे, औ०। जं०। नि० चू० । आचा० । " जइ फुल्ला कणियारआ, चूयग! अहिमासगम्मि घुट्ठम्मि । तुह न खमं फुल्लेउं, जइ पच्चंता करंति डमराइं " ॥ १ ॥ चूत एव चूतकः , संज्ञायां कन्, तस्यामन्त्रणं हे चूतक !। आव० ४ अ० । विजयराजधान्यां चूतवनखण्डस्वामिनि देवे, जी० ३ प्रति० ।

चूयमंजरी-चूतमञ्जरी-स्त्री० । आम्रमञ्जर्याम्, जं० ३ वक्ष० ।

चूयवर्डिसग-चूतावतंसक-न० । विमानमध्यगानां पञ्चानामवतंसकानामन्यतमे , रा० । ती० ।

चूयवडिंसगा-चूतावतंसिका-स्त्री० । स्वनामख्यातायां शक्राग्रमहिष्याम्, जी० ३ प्रति० । ती० ।

चूयवण-चूतवन-न० । चूतप्रधाने वने, रा० ।

चूया-चूता-स्त्री० । स्वनामख्यातायां शक्राग्रमहिष्याम्, स्था० ४ ठा० २ उ० । ती० ।

चूला-चूडा-स्त्री० । शिखरे, नं०। (' दिट्ठिवाय ' शब्दे तच्चूलिकाः)

चूडानिक्षेपः-तत्र चूडाशब्दार्थमेवाभिधातुकाम आह-

दव्वे खेत्ते काले, भावम्मि अ चूलिआएँ निक्खेवो ।
तं पुण उत्तरतंतं, सुअगहियत्थं तु संगहणी ॥ २६ ॥

नामस्थापने क्षुण्णत्वादनादृत्याह-द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च द्रव्यादिविषयः चूडायाः निक्षेपो न्यास इति । तत्पुनश्चूडाद्वयमुत्तरतन्त्रमुत्तरसूत्रम् , दशवैकालिकस्याचारपञ्चचूडावत् । उत्तरतन्त्रं श्रुतगृहीतार्थमेव-दशवैकालिकाख्यश्रुतेन गृहीतोऽर्थोऽस्येति विग्रहः। यद्येवमपार्थकमिदम् ?, नेत्याह-संग्रहणी तदुक्तानुक्तार्थसंक्षेप इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

द्रव्यचूडादिव्याचिख्यासयाऽऽह-

दव्वे सचित्ताई, कुक्कुडचूडामणीमऊराइ ।
खेत्तम्मि लोगनिक्कुड-मंदरचूडा अ कूडाइ ॥ २७ ॥

(द्रव्य इति) द्रव्यचूडा आगमनोआगमज्ञशरीरेतरादिव्यतिरिक्ता त्रिविधा सचित्ताद्या । सचित्ता अचित्ता मिश्रा च । यथासंख्यमाह-कुक्कुटचूडा सचित्ता,मणिचूडा अचित्ता, मयूरशिखा मिश्रा (क्षेत्र इति) क्षेत्रचूडा लोकनिष्कुटा उपरिवर्तिनः, मन्दरचूडा च पाण्डुकम्बला, चूडादयश्च तदन्यपर्वतानां क्षेत्रप्राधान्यात् । आदिशब्दादधोलोकस्य सीमन्तकः, तिर्यग्लोकस्य मन्दरः, ऊर्द्धलोकस्येषत्प्राग्भार इति गाथार्थः ॥ २७ ॥

अइरित्त अहिगमासा, अहिगा संवच्छरा अ कालम्मि ।
भावे खओवसमिए, इमा उ चूडा मुणेयव्वा ॥ २८ ॥

अतिरिक्ता उचितकालात्समधिका, अधिकमासकाः प्रतीताः, अधिकाः संवत्सराश्च षष्ट्यब्दाद्यपेक्षया, काल इति कालचूडा, भाव इति भावचूडा, क्षायोपशमिके भावे इयमेव द्विप्रकारा चूडा, मन्तव्या विज्ञेया, क्षायोपशमिकत्वाच्छ्रुतस्येति गाथार्थः ॥२८॥ दश० १ चू० । आचा० । नि० चू० ।

इयाणिं चूले त्ति दारं-

णामं ठवणा चूला, दव्वे खेत्ते य काले भावे य ।
एसो खलु चूलाए, णिक्खेवो छव्विहो होइ ॥ ६३ ॥

णिक्खेवगाहा कंठा । णामठवणाओ गयाओ, दव्वचूला दुविहा-आगमतो णोआगमतो य । आगमओ जाणए अणुवउत्ते, णोआगमतो जाणयभव्वसरीरं, जाणयभव्वसरीरवइरित्ता ।

तिविधा य दव्वचूला, सचित्ता मीसगा य अचित्ता ।
कुक्कुडसिहमोरसिहा, चूलामणि अग्गकुंतादी ॥ ६४ ॥

पुव्वद्धं कंठं । पढमो चसद्दोऽवधारणे, बितिओ समुच्चये, पच्छद्धे जहासंखम्मि उदाहरणा, सचित्तचूडा-कुक्कुडचूला सीमंसपेसी चेव केवला लोकप्रतीता, मीसा-मोरसिहा, तस्स मंसपेसीए रोमाणि भवंति । अचित्ता-चूलामणी, कुंतग्गं वा, आदिसद्दाओ सीहकपासादथूभअग्गाणि । दव्वचूला गया ।

इदाणिं खेत्तचूला, सा तिविहा-

अहतिरियउड्ढलोगा-ण चूलिया होंति-मा उ खेत्तम्मि ।
सीमंत मंदरे वी, ईसीपब्भारणामा य ॥ ६५ ॥

अह इति अधोलोकः, तिरिय इति तिरियलोकः, उड्ढ इति उड्ढलोकः, लोगस्स सद्दो पत्तेगं,चूला इति सिहा, होंति भवंति। इमा इति प्रत्यक्षः, तुशब्दः क्षेत्रावधारणे, अहोलोगादीण पच्छद्धेण जहासंखं उदाहरणं-सीमंतग इति, सीमंतगो णरगो रयणप्पभाए पुढवीए पढमो, से अहलोगस्स चूला। मंदरो मेरू,सो तिरियलोगस्स चूला,तिरियलोगे चूला तिरियलोगातिक्रान्तत्वात्, अहवा-तिरियलोगपतिट्ठियस्स मेरोरुवरि चत्तालीसं जोयणा चूला, सा तिरियलोगचूला। चसद्दो समुच्चये, पायपूरणे वा । ईसि त्ति अप्पभावे, प इति प्रायोवृत्त्या,भार इति भारक्कंतस्स पुरिसस्स गायं पायसो ईसि णयं भवति, जा य एवं ठिता सा पुढवी ईसिप्पब्भारा, णाम इति एतमभिहाणं तस्स , सा य सव्वट्ठसिद्धिविमाणाओ उवरिं बारसेहिं जोयणेहिं भवति,तेण सा उड्ढलोगचूला भवति । गता खेत्तचूला ।

इयाणिं कालभावचूलाओ दो वि एगगाहाए भण्णति-

अहिमासओ तु काले, भावे चूला तु होइ-मा चेव ।
चूला विभूसणं ति य, सिहरं ति य होंति एगट्ठा ॥६६॥

धारसमासपमाणवरिसाओ अहिओ मासो अहिमासो अहिवच्छियवरिसे भवति । सो य अधिकत्वात् कालचूला भवति । तुसद्दोऽर्थप्पदरिसणे, ण केवलं अधिको कालो कालचूला भवति अंतो वि वट्टमाणो कालो कालचूलाए भवति । एवं जहा ओसप्पिणीए अंते अंतिदूसमाए सा उस्सप्पिणी कालस्स चूला भवति । कालचूला गता । इयाणिं भावचूला-भवणं भावः, पर्याय इत्यर्थः । तस्स चूला भावचूला । सा य दुविहा-आगमओ य, नो आगमओ य । आगमओ जाणए उवउत्ते; णो आगमओ य इमा चेव । तुसद्दो खओवसमभावविसेणे दट्ठव्वो । इमा इति पकण्णज्झवणा चूला । एगसद्दोऽवधारणे, चूलेगट्ठिती । चूलं ति वा विभूसणं ति वा सिहरं ति वा पते एगट्ठा । चूल त्ति दारं गयं । नि० चू० १ उ० । उक्तशेषानुवादिन्यां ग्रन्थपद्धतौ, आचा० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

चूलाकम्म-चूडाकर्मन्-न० । बालानां चूलके मुण्डने, आ० म० प्र० ।

चूलामणि-चूडामणि-पुं० । सकलपार्थिवरत्नसर्वसारे देवेन्द्रमूर्धकृतनिवासे निःशेषापमङ्गलाऽशान्तिरोगप्रमुखदोषापहारकारिणि प्रवरलक्षणोपेते परममङ्गलभूते आभरणविशेषे, रा० । जं० । आ० म० । उत्त० । औ० । " चूलामणिमउड-रयणभूसणा " चूडामणिर्नाम मुकुटरत्नं चिह्नभूतं येषां ते तथा, असुरकुमारभवनवासिनश्चूडामणिमुकुटरत्नाः । प्रज्ञा० २ पद ।

चूलियंग-चूलिकाङ्ग-न० । चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते प्रयुते, अनु० । जी० । स्था० ।

चूलिया-चूलिका-स्त्री० । चतुरशीत्या लक्षैर्गुणिते चूलिकाङ्गे, जी० ३ प्रति० । भ० । अनु० । जं० । स्था० । उक्तानुक्तार्थसंग्राहिकायां ग्रन्थपद्धतौ, नं० । यथा दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वगतानुयोगोक्तार्थानुक्तासंग्रहपरा ग्रन्थपद्धतयः । स० । ('आयार' 'दिट्ठिवाय' प्रभृतिशब्देषु तत्संख्या)

चूलियावत्थु-चूलिकावस्तु-न० । चूलारूपे आचाराङ्गाऽध्ययनकल्पे परिच्छेदविशेषे, यथा-उत्पादपूर्वस्य चत्वारि चूलिकावस्तूनि । स्था० ४ ठा० ४ उ० ।

चेअ-अव्य० । अवधारणे, " णइ चेअ चिअ च अवधारणे " ॥ ८ । २ । १८४ ॥ इति सूत्रात् निपातम् । प्रा० २ पाद ।

चेइय-चैत्य (त्य)-न० । चितिः पत्रपुष्पफलादीनामुपचयः । चित्या साधु चित्यं, चित्यमेव चैत्यम् । उद्याने, " मिहिलाए चेइए वच्छे, सीअच्छाए मणोरमे । " उत्त० ३ अ० । चित्तमन्तःकरणं, तस्य भावे कर्मणि वा " वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् " ॥ ५ । १ । १२३ ॥ (पाणि०) इति ष्यञ् । आव० १ अ० । ध० । प्रति० । " स्याद्भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात् " ॥ ८ । २ । १०७ ॥ इति यात् पूर्व इत् । प्रा० १ पाद । प्रशस्तमनस्त्वे, तद्धेतुत्वात् जिनबिम्बे, कारणे कार्योपचारात् ।

(१) चैत्यशब्दस्यार्थाः ।
(२) चैत्यभेदपुरस्सरं प्रतिमासिद्धिः ।
(३) भावैकनिक्षेपवादिन उपहासं विधाय भावाचार्यनिष्पत्तिः ।
(४) ब्राह्मीं लिपिमाश्रित्य नामस्थापनाभ्यां प्रतिमायाः सिद्धिः ।
(५) चारणकृतवन्दनां निरूप्य तत एवास्या दृढतरं प्रामाण्यम् ।
(६) चैत्यशब्दस्य ज्ञानार्थकतानिराकरणम् ।
(७) देवकृतवन्दनाधिकारः ।
(८) वन्दनादौ मौनेन भगवदनुमतिकरणं दृढतरयुक्त्युपपत्तिभिः प्रतिपाद्यानुमोदने हिंसाया अभावप्रतिपादनम् ।
(९) साधोर्द्रव्यपूजादावनधिकारः ।
(१०) द्रव्यस्तवे गुणाः ।
(११) महानिशीथप्रामाण्यपूर्वकं द्रव्यस्तवस्थापनम् ।
(१२) जिनपूजां तद्वैयावृत्यं चोपपाद्य चैत्यपूजायामपि जिनवैयावृत्यम् ।
(१३) जिनपूजायां हिंसादोषवादिनां निराकरणम् ।
(१४) आरम्भविचारं निरूप्य सच्छ्रावकस्याधिकारविचारः ।
(१५) द्रव्यस्तवे सिंहावलोकितेन हिंसाऽस्तीत्येतन्निरस्य कूपनिदर्शनेन हिंसाऽभावप्रतिपादनम् ।
(१६) पूजायां हिंसासंभवोक्तिविकल्पदूषणम् ।
(१७) अर्थदण्डत्वविचारः ।
(१८) प्रतिमापूजायां द्रौपदीभद्रासार्थवाहीसिद्धार्थराज्ञामुदाहरणानि ।
(१९) ऊर्ध्वलोकादिषु जिनप्रतिमायाः स्थितिः ।
(२०) प्रतिमायाः फलवत्त्वम् ।
(२१) चैत्यानां पूजासत्कारादिस्तुतयः ।
(२२) द्रव्यस्तवे मिश्रपक्षत्वविचारः ।
(२३) प्रतिमायाः प्रामाण्यनिरूपणम् ।
(२४) जिनभवनकारणविधिं निरूप्य जीर्णोद्धारकारणफलवर्णनम् ।
(२५) बिम्बकारणविधिः ।
(२६) जिनबिम्बप्रतिष्ठाविधिः ।
(२७) जिनपूजाविधिस्तत्फलनिरूपणं च ।
(२८) चैत्यविषये हीरविजयसूरिपूज्यपादकृतोत्तराणि ।
(२९) चतुर्विंशतिकापट्टविचारः ।
(३०) जिनचैत्ये व्यन्तरायतनविधानम् ।

(१) चैत्यशब्दस्यार्थाः—

चितेर्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यं, संज्ञाशब्दत्वाद् देवताप्रतिबिम्बे, 'चिती' संज्ञाने काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा संज्ञानमुत्पद्यते इति । अर्हत्प्रतिमायां देवबिम्बे , संथा० १ प्रस्ता० । आ० चू० । ल० । ज्ञा० । बृ० । इष्टदेवताप्रतिमायाम्, औ० । आव० । " कल्लाणं मंगलं चेइयं पज्जुवासेत्ता " दीर्घायुर्भवति । स्था० ३ ठा० १ उ० । " कल्लाणं मंगलं चेइयं पज्जुवासामो " चैत्यमिवेष्टदेवताप्रतिमामिव पर्युपासे । औ० । कर्म० । चैत्यमिष्टदेवप्रतिमा, चैत्यमिव चैत्यं पर्युपासयामः । भ० २ श० १ उ० । उपा० । अर्हत्प्रतिमायाम् , आव० ५ अ० । जं० ।

(२) चैत्यभेदपुरस्सरं प्रतिमासिद्धिः—

भत्ती-मंगल-चेइय, निस्सकमेऽणिस्स-चेइए वा वि ।
सासय चेइय पंचम-मुवइट्ठं जिनवरिंदेहिं ॥६६६॥
गिहजिणपडिमाए भ-त्तिचेइयं उत्तरंगघडियम्मि ।
जिणबिंबे मंगलचे-इयं ति समयन्नुणो बिंति ॥ ६६७॥
निस्सकमं जं गच्छ-स्स संतियं तादियरं अनिस्सकमं ।

सिद्धाययणं च इमं, चेइयपणगं विणिद्दिट्ठं ॥ ६६८ ॥

(भत्तीति) चैत्यशब्दस्य प्रत्येकमभिसंबन्धात भक्तिचैत्यम्, मङ्गलचैत्यम्, निश्राकृतं चैत्यम्, अनिश्राकृतं चैत्यम्, शाश्वतचैत्यं च पञ्चममुद्दिष्टं नामतः कथितं जिनवरेन्द्रैरिति ॥६६६॥ एतान्येव व्याचष्टे-"गिहजिण" इत्यादिगाथाद्वयम्। गृहे जिनप्रतिमायां यथोक्तलक्षणाद्युपेतायां प्रतिदिनं त्रिकालपूजावन्दनाद्यर्थं कारितायां भक्तिचैत्यम्। तथा उत्तराङ्गस्य गृहद्वारोपरिवर्त्तितिर्यक्काष्ठस्य मध्यभागे घटिते निष्पादिते जिनबिम्बे मङ्गलचैत्यमिति समयज्ञाः सिद्धान्तवेदिनो ब्रुवते वदन्ति। मथुरायां हि नगर्यां गृहे कृते मङ्गलनिमित्तमुत्तराङ्गेषु प्रथममर्हत्प्रतिमाः प्रतिष्ठाप्यन्ते, अन्यथा तद् गृहं पतति। तथा चाथोचामः स्तुतिषु-"जम्मि सिरिपासपडिमं, संतिकए करेइ पडिगिहदुवारे। अज्ज वि जणो विपूरित-महुरमधम्मा न पस्संति ॥" तथा निश्राकृतं यद्गच्छस्य कस्यापि सत्कं, स एव गच्छस्तत्र प्रतिष्ठादिप्रयोजनेष्वधिक्रियते, अन्यः पुनस्तत्र किञ्चित्प्रतिष्ठादिकं कर्तुं न लभते इत्यर्थः। तथा-(तदियरं ति) तस्मान्निश्राकृतात् इतरदिति अनिश्राकृतम्। यत्र सर्वेऽपि गच्छाः प्रतिष्ठाप्रव्राजनकमालारोपणादीनि प्रयोजनानि कुर्वते इति। तथा सिद्धायतनं च शाश्वतजिनायतनं च, इदं चैत्यपञ्चकं विनिर्दिष्टं विशेषेण कथितमिति ॥ ६६८ ॥

अथवा-अन्येन प्रकारेण पञ्च चैत्यानि भवन्ति। तत्राह-

नीयाई सुरलोए, भत्तिकयाइं च भरहमाईहिं ।
निस्साऽनिस्सकयाई, मंगलकयमुत्तरंगम्मि ॥ ६६९ ॥
वारत्तयस्स पुत्तो, पडिमं कासी य चेइए रम्मे ।
तत्थ य थली अहेसी, साहम्मियचेइयं तं तु ॥ ६७० ॥

"नीया" इत्यादिगाथाद्वयम्। नित्यानि शाश्वतानि चैत्यानि, तानि च सुरलोके देवभूमौ, उपलक्षणत्वान्मेरुशिखरे कूटनन्दीश्वररुचकवरादिषु च भवन्ति। तथा भक्तिकृतानि भरतादिभिः कारितानि, मकारोऽयमलाक्षणिकः। तानि निश्राकृतानि अनिश्राकृतानि चेति द्विधा। तथा-मङ्गलार्थं कृतं मङ्गलकृतं चैत्यं मथुरादिपुरीषु उत्तराङ्गप्रतिष्ठापितम् ॥६६६॥ तथा वारत्तकमुनेः पुत्रो रम्ये रमणीये चैत्ये देवगृहे प्रतिमां तस्यैव वारत्तकमुनेः प्रतिकृतिमकार्षीत्। तत्र च स्थलीति रूढिरभूत्। तत्तु साधर्मिकचैत्यमिति। भावार्थस्तु कथानकादवसेयः। तच्चेदम्-वारत्तकं नगरम्, अभयसेनो राजा, तस्य च वारत्तको नाम मन्त्री। एकदा च धर्मघोषनामा मुनिर्भिक्षार्थं तस्य गेहं प्रविष्टः, तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय दान्तखण्डसंमिश्रपायसपरिपूर्णं पात्रमुत्पाटितवती, अत्रान्तरे च कथमपि तत्खण्डसंमिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ पतितः, ततः स महात्मा धर्मघोषमुनिर्भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानविहितोद्यमश्छर्दितदोषदुष्टेयं भिक्षा, तस्मान्न कल्पते ममेति मनसि विचिन्त्य भिक्षामगृहीत्वा गृहान्निर्जगाम। वारत्तकमन्त्रिणा च मत्तवारणोपविष्टेन दृष्टो भगवान्निर्गच्छन्, चिन्तितं च-किमनेन मुनिना मदीया भिक्षा न गृहीतेति?। एवं च यावच्चिन्तयति तावत्तं भूमौ निपतितं खण्डयुक्तं घृतबिन्दुं मक्षिकाः समेत्याशिश्रियन्, तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका, तस्या अपि वधाय प्रधावितः सरटः, तस्याऽपि च भक्षणाय प्रधावति स्म मार्जारी, तस्या अपि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णकः श्वा, तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितो वास्तव्यः श्वा, ततो द्वयोरपि तयोः शुनोरभूदन्योऽन्यं युद्धम्; निजनिजशुनकपराभवपीडया च प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वामिनोरभूत्परस्परं लकुटालकुटि महायुद्धं, दृष्टं चैतत् सर्वमपि वारत्तकमन्त्रिणा, परिभावितं च-घृतादेर्बिन्दुमात्रेऽपि भूमौ पतिते यत एवंविधाऽधिकरणप्रवृत्तिरत एवाधिकरणभीरुर्भगवान् भिक्षां न गृहीतवान्। अहो ! शुद्धो भगवतो धर्मः। को हि तं भगवन्तं वीतरागमन्तरेणैवमनपायधर्ममुपदेष्टुमलंभविष्णुः, ततो ममापि स एव देवता, तदुक्तमेवानुष्ठानमनुष्ठातुमुचितमिति विचिन्त्य संसारसुखविमुखः शुभध्यानोपगतसंजातजातिस्मरणो देवतार्पितसाधुलिङ्गो दीर्घकालं संयममनुपाल्य केवलज्ञानमासादितवान्। कालक्रमेण च सिद्धः। ततस्तत्पुत्रेण स्नेहात्परीतमानसेन देवगृहं कारयित्वा रजोहरणमुखपोत्तिकापरिग्रहधारिणी पितृप्रतिमा तत्र स्थापिता, सत्रशाला च तत्र प्रवर्तिता। सा च साधर्मिकस्थलीति सिद्धान्ते भण्यते। प्रव० ७९ द्वार।

अथैनामेव विवरीषुः प्रथमतश्चैत्यस्वरूपं व्याख्याति-

साहम्मियाण अट्ठा, चतुव्विहे लिंगं तु जह कुटुंबी।
मंगल सासय भत्ती-ए जं कयं तत्थ आदेसो ॥

चैत्यानि चतुर्विधानि। तद्यथा-साधर्मिकचैत्यानि, मङ्गलचैत्यानि, शाश्वतचैत्यानि, भक्तिचैत्यानि चेति। तत्र साधर्मिकाणामर्थाय यत् कृतं तत् साधर्मिकचैत्यम्। साधर्मिकश्च द्विधा-लिङ्गतः, प्रवचनतश्च। तत्रेह लिङ्गतो गृह्यते। स च यथा कुटुम्बी। कुटुम्बी नाम प्रभूतपरिवारकलोकपरिवृतो रजोहरणमुखपोत्तिकादिलिङ्गधारी वारत्रकप्रतिच्छन्दः। तथा मथुरापुर्यां गृहेषु कृतेषु मङ्गलनिमित्तं यन्निवेश्यते तन्मङ्गलचैत्यं, सुरलोकादौ नित्यस्थायि शाश्वतं चैत्यम्। यत्तु भक्त्या मनुष्यैः पूजावन्दनाद्यर्थं कृतं, कारितमित्यर्थः, तद्भक्तिचैत्यम्। तेन च भक्तिचैत्येनादेशोऽधिकारः, अनुयानादिमहोत्सवस्य तत्रैव संभवादित्येषा निर्युक्तिगाथा।

अथैनामेव विभावयिषुः साधर्मिकचैत्यं भावेदाह-

वारत्तगस्स पुत्तो, पडिमं कासी य चेइयघरम्मि ।
तत्थ य थली अहेसी, साहम्मियचेइयं तं तु ॥

इहावश्यके योगसङ्ग्रहेषु "वारत्तपुरे अभयसेणवारत्ते" इत्यत्र प्रदेशे प्रतिपादितचरितो यो वारत्तक इति नाम्ना महर्षिः, तस्य पुत्रः स्वपितरि भक्तिभरापूरिततया चैत्यगृहं कारितवान्, ततो रजोहरणमुखवस्त्रिकाप्रतिग्रहधारिणीं पितुः प्रतिमामस्थापयत्। तत्र च स्थली सत्रशाला तेन प्रवर्त्तिता आसीत्, तदेतत् साधर्मिकचैत्यम्। अन्यस्य त्वर्थाय कृतमस्माकं कल्पते।

अथ मङ्गलचैत्यमाह-

अरहंत पइट्ठाए, महुरानगरीएँ मंगलाइं तु ।
गेहेसु चच्चरेसु य, छन्नउईगामअद्धेसुं ॥

मथुरानगर्यां गृहे कृते मङ्गलनिमित्तमुत्तराङ्गेषु प्रथममर्हत्प्रतिमाः प्रतिष्ठाप्यन्ते, अन्यथा तद् गृहं पतति। मङ्गलचैत्यानि तानि च तस्यां नगर्यां गेहेषु चत्वरेषु च भवन्ति, तानि न केवलं तस्यामेव किं तु तत्पुरप्रतिबद्धा ये षण्णवतिसंख्याका ग्रामार्द्धाः, तेष्वपि भवन्ति। इहोत्तरापथानां ग्रामस्य ग्रामार्द्ध इति

संज्ञा । आह चूर्णिकृत्-"गामद्धेसु त्ति देसण त्ति भन्नइ गामेसु त्ति भणियं होइ, उत्तरावहाणं एसा भणिइ त्ति ।"

शाश्वतचैत्यभक्तिचैत्यानि दर्शयति—

निच्चाइं सुरलोए, भत्तिकयाइं तु भरहमाईहिं ।
निस्सानिस्सकयाइं, जहिँ आएसो चयसु निस्सं ॥

नित्यानि शाश्वतचैत्यानि सुरलोके भवनपतिव्यन्तरज्योतिष्कवैमानिकदेवानां भवननगरविमानेषु, उपलक्षणत्वात् मेरुशिखरवैताढ्यादिकूटनन्दीश्वररुचकादिष्वपि भवन्तीति, तथा भक्त्या भरतादिभिर्यानि कारितानि तानि, अन्तर्भूतण्यर्थत्वाद्भक्तिकृतानि। अत्र च (जहिं आएसो त्ति) येन भक्तिचैत्येनादेशः प्रकृतं, तद् द्विधा-निश्राकृतं गच्छप्रतिबद्धम्, अनिश्राकृतं तद्विपरीतं, (चयसु निस्स त्ति) निश्राकृतं तत् त्यज परिहर, अनिश्राकृतं तु कल्पते । गतं चैत्यद्वारम् । बृ० १ उ० ।

अथार्हत्प्रतिमाया आगमोपपत्तिभ्यां युक्तता प्रदर्श्यते । तत्रेदं प्रतिमाविषयाशङ्कानिकारणस्य चिकीर्षितार्थत्वात् प्रतिमास्तुतिरूपमिष्टबीजप्रणिधानपुरस्सरमाद्यपद्यमाह—

ऐन्द्रश्रेणिनता प्रतापभवनं भव्याङ्गिनेत्रामृतं,
सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरैः प्रीत्या प्रमाणीकृता ।
मूर्तिः स्फूर्तिमती सदा विजयते जैनेश्वरी विस्फुर-
न्मोहोन्मादघनप्रमादमदिरामत्तैरनालोकिता ॥ १ ॥

जैनेश्वरी मूर्त्तिः सदा विजयते इत्यन्वयः । जिनेश्वराणामियं जैनेश्वरी, मूर्त्तिः प्रतिमा, सदा शक्त्या प्रवाहतश्च निरन्तरं, विजयते सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते, अत्र जयतेरर्थ उत्कर्षः, "पराभवे तथोत्कर्षे, जयत्यन्ते त्वकर्मक " इत्याख्यातचन्द्रिकावचनात् । सर्वाधिकत्वं च वेरुपसर्गस्येति बोध्यम् । मूर्त्तिः कीदृशी ?, (ऐन्द्र इति) इन्द्राणामियमैन्द्री, सा चासौ श्रेणिश्चेति कर्मधारयः । तया नता नमिकर्मीकृता, एतेनैतदपलापकारिणो भगवत्प्रतापमैन्द्रः शापो ध्रुव इति व्यज्यते । पुनः कीदृशी ?, प्रतापस्य कोशदण्डस्य तेजसो भवनं गृहम्, उक्ततेजः स्थाप्यगतं स्थापनायामुपचर्य व्याख्येयम्, तेनैतदपलापकारिणो भगवत्प्रतापदहनेनैवापहता भविष्यन्ति इति व्यज्यते । पुनः कीदृशी ?, भव्याङ्गिनाम्-आसन्नसिद्धिकप्राणिनां, नेत्रयोरमृतं पीयूषं, सकलनेत्ररोगापनयनात्परमानन्दजननाच्च । एतेनैतद्दर्शनात् येषां नयनयोर्नानन्दस्तेऽभव्या दुरभव्या इत्यभिव्यज्यते । पुनः कीदृशी ?, प्रमाणीकृता प्रमाणत्वेनाभ्युपगता । कैः?, सिद्धान्तोपनिषद्विचारचतुरैः-सिद्धान्तानामुपनिषद्रहस्यं तद्विचारे ये चतुरास्तैः, कया ?, प्रीत्या स्वरसेन, न तु बलाभियोगादिना, एतेन सिद्धान्तप्रतिमाप्रामाण्याभ्युपगमयोर्नान्तरीयकत्वात्स्वरसतः प्रतिमाप्रामाण्याभ्युपगन्तैव शिष्टो नान्य इत्यादि सूचितं भवति, तदनभ्युपगन्ता च सिद्धान्तानभिज्ञ इति । पुनः कीदृशी ?, स्फूर्तिमती-स्फूर्त्तिः प्रतिक्षणं प्रवर्द्धमानकान्तिः, संनिहितप्रातिहार्यत्वं वा, तद्वती । एतेन तदाराधकानामेव बुद्धिस्फूर्त्तिर्भवति, नान्यस्येति सूच्यते । पुनः कीदृशी ?, अनालोकिता, सादरमवीक्षितेत्यर्थः अनालोकितपदस्य सादरमनालोकितत्वेऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वात्, अन्यथा चक्षुष्मतः पुरःस्थितवस्तुनोऽनालोकितत्वानुपपत्तेः । कैः ?, विस्फुरद् विविधं परिणमन्, यो मोहोन्मादो घनप्रमादश्च, तावेव ये मदिरे, ताभ्यां ये मत्तास्तैः । न च प्रमादस्य मोहेनैव गतार्थत्वादाधिक्यम्, अनाभोगमतिभ्रंशादिरूपस्य ग्रहणात् । न चान्वयपरिसमाप्तावस्य विशेषणस्योपादानात्समाप्तपुनरात्तदोषदुष्टत्वमत्रेति शङ्कनीयम्, सर्वोत्कृष्टत्वेन सर्वादरणीयत्वे लब्धे यदि सर्वैराद्रियते कथं न लुम्पकैरित्याशङ्कानिवारणायैतद्विशेषणम् । ते हि मोहप्रमादोन्मत्ता इति तदनादरेऽपि सर्वप्रेक्षावदादरणीयत्वाक्षतिरित्युक्तदोषाभावात्, प्रकृतानुपपादविशेषणस्य पुनरुपादान एव तद्दोषव्यवस्थितेः । अत एव-" दीधितिमधिचिन्तामणि, तनुते तार्किकशिरोमणिः श्रीमान् ।" इत्यत्र श्रीमद्विशेषणेन न समाप्तपुनरात्तत्वम्, श्रीर्विस्तरानुगुणज्ञानसमृद्धिरित्यस्य प्रकृतोपपादकत्वादिति समाहितं तार्किकैः । का सेत्यध्याहृत्य वाक्ये, यैर्यैः सा नेक्षिता ते मन्दभाग्या इति ध्वनिः, आनन्त्यं तु नानुपपत्तिलेशोऽपीति ध्येयम् । इत्येवमाद्यपद्ये प्रतिमाया निखिलप्रेक्षावदादरणीयत्वमुक्तम् ।

(२) भावैकनिक्षेपवादिन उपहासं विधाय भावाचार्यनिष्पत्तिः-

नामादित्रयमेव भावभगवत्ताद्रूप्यधीकारणं,
शास्त्रात्स्वानुभवाच्च शुद्धहृदयैरिष्टं च दृष्टं मुहुः ।
तेनार्हत्प्रतिमामनादृतवतां भावं पुरस्कुर्वता-
मन्धानामिव दर्पणे निजमुखालोकार्थिनां का मतिः ? ॥ २ ॥

(नामादित्रयमित्यादि) त्रयमेव, नामादिपदस्य नामादिनिक्षेपपरत्वात् कृदभिहितन्यायान्निक्षिप्यमाणं नामादित्रयमेवेत्यर्थः । भावभगवतो निक्षेप्यमाणभावार्हतस्ताद्रूप्यधियोऽभेदबुद्धेः कारणं, शास्त्रादागमप्रमाणात्, स्वानुभवात् स्वगतप्रातिभप्रमाणाच्च, मुहुर्वारं वारमिष्टं च दृष्टं च, शास्त्रादिष्टम्, अनुभवाच्च दृष्टमित्यर्थः । मुहुरिष्टया मननं, मुहुर्दृष्टया च ध्यानमुपनिबद्धं, तेन तत्त्वप्रतिपत्त्युपायसामग्र्यमावेदितम् । तदाह-"आगमेनानुमानेन, ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां, लभते तत्त्वमुत्तमम् " ॥ १ ॥ इति । तेन भावनिक्षेपाध्यात्मोपनायकत्वेन नामादिनिक्षेपत्रयस्यार्हत्प्रतिमास्थापनानिक्षेपस्वरूपत्वेनानादृतवतां भावं भावनिक्षेपं पुरस्कुर्वतां वाङ्मात्रेण प्रमाणयतां दर्पणे निजमुखालोकार्थिनामन्धानामिव का मतिः ?, न काचिदित्यर्थः । निक्षेपत्रयानादरे भावोल्लासस्यैव कर्तुमशक्यत्वात्, शास्त्र इव नामादित्रये हृदयस्थिते सति भगवान् पुर इव परिस्फुरति, हृदयमिवानुप्रविशति, मधुरालापमिवानुवदति, सर्वाङ्गीणमिवानुभवति, तन्मयीभावमिवापद्यते, तेन सर्वकल्याणसिद्धिः ।

तदाह-

" अस्मिन् हृदयस्थे सति, हृदयस्थस्तत्त्वतो मुनीन्द्र इति ।
हृदयस्थिते च तस्मि-न्नियमात्सर्वार्थसंसिद्धिः ॥
चिन्तामणिः परोऽसौ , तेनेयं भवति समरसापत्तिः ।
सैवेह योगमाता , निर्वाणफलप्रदा प्रोक्ता ॥ " इति ।

तत्कथंनिक्षेपत्रयादरं विना भावनिक्षेपादरः , भावोल्लासस्य तदधीनत्वात् । न च नैसर्गिक एव भावोल्लास इत्येकान्तोऽस्ति जैनमते, तथा सति सर्वव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गादिति स्मर्तव्यम् । अत्र निरुक्तविशेषणविशिष्टेषु लुम्पकेषु निरुक्तविशेषणविशिष्टान्धरूपोत्प्रेक्षा , कल्पितोपमानमादायोपमा वेति यथौचित्येन योजनीयं तत्तदलङ्कारग्रन्थनिपुणैः । स्यादेतत् । भावार्हद्दर्शनं यथा भव्यानां स्वगतफलं प्रत्यव्यभिचारि, तथा न निक्षेपत्रयप्रतिपत्तिरिति तदनादर इति । मैवम् । स्वगतफले स्वव्यति-

रिक्तभावनिक्षेपस्याप्यव्यभिचारित्वाभावात् । न हि भावार्हतं दृष्ट्वा भव्या अभव्या वा प्रतिबुध्यन्त इति । स्वगतभावोल्लासनिमित्तभावस्तु निक्षेपचतुष्टयेऽपि तुल्य इति । एतेन स्वगताध्यात्मोपनायकतागुणेन वन्द्यत्वमपि चतुष्टयविशिष्टमित्युक्तं भवति । शिरश्चरणसंयोगरूपं हि वन्दनं भावभगवतोऽपि शरीर एव संभवति, न तु भावभगवत्स्वरूपे, आकाश इव तदसंभवात् । भावसंबन्धाच्छरीरसंबद्धं वन्दनं भावस्यैवायातीति तत एव नामादिसंबद्धमपि भावस्य किं न प्राप्नोतीति परिभावय ?। कश्चिदाह कुमतिव्युद्ग्राहितः-किमेताभिर्युक्तिभिः ?, महानिशीथ एव भावाचार्यस्य तीर्थकृत्तुल्यत्वमुक्तं, निक्षेपत्रयस्य चाकिञ्चित्करत्वमिति भावनिक्षेपमपि पुरस्कुर्वतां क इवापराधः ?। तथा चोक्तं तत्र पञ्चमाध्ययने-"से भयवं ! किं तित्थयरसंतियं आणं नाइक्कमिज्जा, उयाहु आयरियसंतियं ?। गोयमा ! चउव्विहा आयरिया पएणत्ता । तं जहा-नामायरिया, ठवणायरिया, दव्वायरिया, भावायरिया । तत्थ णं जे ते भावायरिया, ते तित्थयरसमा चेव दट्ठव्वा, तेसिं संतियं आणं नाइक्कमिज्जा । से भयवं ! कयरे णं ते भावायरिया भण्णंति ?। गोयमा ! जे अज्जपव्वइए वि आगमविहीए पए पए २ अणुसंचरंति ते भावायरिए, जे उ वाससयदिक्खिए वि हुत्ता णं वायामित्तेणं पि आगमओ बाहिं करिंति, ते णामठवणाहिं णिउइयव्वेति ।" अत्र ब्रूमः-परमगुरुभावग्राहिकनिश्चयनयस्यैवायं विषयः, यन्मते एकस्यापि गुणस्य त्यागे मिथ्यादृष्टित्वमिष्यते । तदाहुः-" जो जह वायं न कुणइ, मिच्छादिट्ठी तओ हु को अन्नो ?" त्ति । तन्मते निक्षेपान्तरानादरेऽपि नैगमादिनयवृन्देन नामादिनिक्षेपानां प्रामाण्याभ्युपगमात्क इव व्यामोहो भवतः, सर्वनयसंमतस्यैव शास्त्रार्थत्वात्, अन्यथा सम्यक्त्वचारित्रैक्यग्राहिणा निश्चयनयेनाप्रमत्तसंयत एव सम्यक्त्वस्वाम्युक्तो, न प्रमत्तान्त इति श्रेणिकादीनां बहूनां प्रसिद्धं सम्यक्त्वं न स्वीकरणीयं स्याद्देवानां प्रियेण । उक्तार्थप्रतिपादकं त्विदं सूत्रमाचाराङ्गे पञ्चमाध्ययने तृतीयोद्देशके-" जं सम्मं ति पासहा तं मोणं ति पासहा, जं मोणं ति पासहा तं सम्मं ति पासहा " (प्रति०) अथवा-यावत्या निर्वृत्या भावाचार्यनिर्वृतिस्तावत्या द्रव्याचार्यसंपत्तिः, सा च सापेक्षत्वे भावयोग्यतयेति भावाचार्यनामस्थापनावत् प्राशस्त्येनातिक्रामति, अन्त्यविकल्पं विना द्रव्यभावसङ्करस्याविश्रामात् प्रशस्तनामस्थापनावत् । अप्रशस्तभावस्याङ्गारमर्दकादेर्द्रव्यं तु तन्नामस्थापनावदप्रशस्तमेवेति प्रागुक्तमहानिशीथसूत्रे नियोजनीयार्थः ।

तदवदाम गुरुतत्त्वनिश्चये-

" नत्थि य एगो एसो, जं दव्वं होइ सुहभावस्स ।
तब्भामागिइतुल्लं, तं सुहमियरं तु विवरीयं ॥ १ ॥
जह गोयमाइआणं, णामाइ तिन्नि हुंति पावहरा ।
अंगारमद्दगस्स वि, णामाई तिन्नि पावयरा ॥ २ ॥ "

इति प्रशस्तभावसंबन्धिनां सर्वेषां निक्षेपाणां तु प्रशस्तमेवेति निर्व्यूढम् । अपि च-" जो जिणदिट्ठे भावे, चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव । सयमेव न अह त्ति य, स निसग्गरुई त्ति णायव्वो ॥१॥" इति उत्तराध्ययनवचनाच्चतुर्विधशब्दस्य नामस्थापनाद्रव्यभावभेदभिन्नत्वेन व्याख्यानिक्षेपचतुष्टयस्यापि यथौचित्येनाराध्यत्वमविरुद्धम् । अत एवाप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवानिति शास्त्रस्य मर्यादा । किं च-नामनिक्षेपस्याराध्यत्वं तावत् " चोवीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ " इति सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययनोपदर्शितचतुर्विंशतिस्तवाराध्यतयैव सिद्धं, तत्रोत्कीर्तनस्यार्थाधिकारित्वात्तेन च दर्शनाराधनस्योक्तत्वात्, " महाफलं खलु तहारूवाणं भगवंताणं णामगोत्तस्स वि सवणयाए एवं खलु तहारूवाणं भगवंताणं णामगोत्तस्स वि सवणयाए " इत्यादिना भगवत्यादौ महापुरुषनामश्रवणस्य महाफलत्वोक्तेश्च । नामस्थापनानिक्षेपस्याराध्यता च-" थयथुइमंगलेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?। थयथुइमंगलेणं भंते ! नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं जणयइ । नाणदंसणचरित्तबोहिलाभं संपत्ते णं भंते ! जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तिअं आराहणं आराहेइ " इति वचनेनैव सिद्धा । अत्र स्तवः स्तवनं स्तुतिः स्तुतित्रयं प्रसिद्धं, तत्र द्वितीया स्तुतिः स्थापनार्हतः पुरतः क्रियते । चैत्यवन्दनावसरतया च ज्ञानदर्शनचारित्रबोधिलाभतो निरर्गलस्वर्गापवर्गसुखलाभ इति शेषाक्षराण्यपि स्फुटीभविष्यन्त्यनुपदमेव । द्रव्यनिक्षेपाराध्यता च सूत्रयुक्त्या स्फुटैव प्रतीयते । तथाहि-श्रीआदिनाथवारके साधूनामावश्यकक्रियायां कुर्वतां चतुर्विंशतिस्तवाराधने त्रयोविंशतिर्द्रव्यजिना एवाराध्यतामास्कन्दयेयुरिति । न च ऋषभजिनादिकाले एकस्तवादिस्तवादिप्रक्रियाऽपि कर्तुं शक्या, शाश्वताध्ययनपाठस्य लेशेनापि परावृत्त्या कृतान्तकोपस्य वज्रलेपत्वात् । न च नामोत्कीर्त्तनमात्रे तात्पर्यादविरोधोऽर्थोपयोगरहितस्योत्कीर्त्तनस्य राजविद्विष्टसमत्वेन योगिकुलजन्मबाधकत्वात्, अत एव द्रव्यावश्यकस्य निषेधः सूत्रे, "अनुपयोगश्च द्रव्यम्" इति शतश उद्घोषितमनुयोगद्वारादौ । अर्थोपयोगे तु वाक्यार्थतयैव सिद्धा द्रव्यजिनाराध्यतेति, एतेन द्रव्यजिनस्याराध्यत्वे करतलपरिकलितजलचुलुकवर्त्तिजीवानामप्याराध्यत्वापत्तिः, तेषामपि कदाचिज्जिनपदवीप्राप्तिसंभवादिति शासनविडम्बकस्य लुम्पकस्योपहासः । " तिरक्खो, " द्रव्यजिनत्वनियामकपर्यायस्य तत्रापरिज्ञानात् । मरीचिस्तु स्वाध्यायध्यानपरायणो महात्मा भगवतो नाभिनन्दनस्य चन्दनप्रतिमया गिरा परिकलिततादृशपर्यायपुलकितगात्रेण भक्तिपात्रेण भरतचक्रवर्त्तिना वन्दित एवेति प्रसिद्धमावश्यकनिर्युक्तौ, पुरस्कार च वन्दननिमित्तं द्रव्यजिनपर्यायं, न त्वौदयिकभावम् । तथाहि-"ण वि ते पारे चक्कं, वंदामि अहं ण ते इहं जम्मं । जह होहिसि तित्थयरो, अपच्छिमो तेण वंदामि ।" इति पापिष्ठत्वाद्धक्तमिदं निर्युक्तौ, परं न सूत्र इति निर्युक्तिकमेवेति तस्य दुष्टस्य शिरसि ऋषभादिवारके चतुर्विंशतिस्तवसूत्रपाठानुपपत्तिरेव प्रहारः । यदि द्रव्यजिनतां पुरस्कृत्य 'भरतेन मरीचिवत्' वन्द्या कथं न साधुभिरित्यत्र तु विशेष्य वन्दने तद्व्यवहारानुपपत्तिरेव समाधानम् । सामान्यतस्तु-" जे अईआ सिद्धा " इत्यादिना गतमेव । अथ द्रव्यत्वस्य द्रव्यसंख्याद्यधिकारेऽनुयोगद्वारादिषु एकद्विकबद्धायुष्काभिमुखनामगोत्रभेदभिन्नस्यैवोपदेशाद्भावजिनादति--व्यवहितपर्यायस्य मरीचेर्द्रव्यजिनत्वमेव कथं युक्तमिति चेत् ?, सत्यम् । आयुष्कर्मघटितस्य द्रव्यत्वस्यैकभविकादिभेदनियतत्वेऽपि फलीभूतभावार्हत्पदनमनयोग्यतारूपस्य प्रस्थकादिदृष्टान्तेन दूरेऽपि नैगमनयाभिप्रायेणाश्रयणात्, योग्यताविशेषे च ज्ञानिवचनादिनाऽवगते दोषमुपेक्ष्यापि तेषां वन्दनवैयावृत्त्यादिव्यवहारः संगच्छत एवाऽतिमुक्तकार्षे वीरवचनाज्ज्ञातविभद्रतामवगम्य स्थविरैर्मतस्खलितमुपेक्ष्याऽग्लान्या वैयावृत्यं निर्ममे । किं च-"नमो सुअस्स" इत्यादिनाऽपि द्रव्यनिक्षेपस्या-

राध्यत्वं सुप्रतीतम् । अक्षरादिश्रुतभेदेषु संज्ञाव्यञ्जनाक्षरादीनां भावश्रुतकारणत्वेन द्रव्यश्रुतत्वात्, पत्रकपुस्तकादिलिखितस्य "तं द-व्वसुयं जं पत्तयपोत्थयलिहिअं" इत्यागमेन द्रव्यश्रुतत्वप्रसिद्धेः। भावश्रुतस्यैव वन्द्यत्वे तत्पर्यायजिनवागपि न नमनीया स्यात्, केवलज्ञानेन दृष्टानामर्थानां जिनवाग्योगेन सृष्टायास्तस्याः श्रोतृषु भावश्रुतकारणत्वेन द्रव्यश्रुतत्वात् । तदार्षम्-"केवलनाणेण-त्थे, णाउं जे तत्थ पण्णवणजोगा। ते भासइ तित्थयरो, वयजो-गो सुअं हवइ सेसं ॥" इति । वाग्योगः श्रुतं भवति शेषम-प्रधानं, द्रव्यभूतमिति तुरीयपादार्थः । भगवन्मुखोत्सृष्टैव वाणी वन्दनीया नान्येति वदन् स्वमुखेनैव व्याहन्यते, केवलायास्त-स्याः श्रवणायोग्यत्वेन श्रोतृषु भावश्रुताजननात् द्रव्यश्रुतरूप-ताया अप्यनुपपत्तेः, मिश्रायाः श्रवणेऽपि वक्त्रिणि स्थिता ए-वागात् । पराघातवासितायाः ग्रहणे च जिनवागप्रयोज्याया अन्याया अपि यथास्थितवाच आराध्यत्वाकृतेः । एतेन सि-द्धाचलादेराराध्यत्वमपि व्याख्यातं, ज्ञानदर्शनचारित्ररूपभाव-तीर्थहेतुत्वेनास्य द्रव्यतीर्थत्वादनन्तकोटिसिद्धस्थानत्वस्यान्यत्र विशेषेऽपि स्फुटप्रतीयमानतद्भावेन तीर्थस्थापनयैवात्र विशेषात्, अनुभवादिना तथासिद्धौ श्रुतपरिभाषाज्ञावस्य तन्त्रत्वात् । अ-न्यथा चतुर्वर्णश्रमणसङ्घे तीर्थत्वं, तीर्थकरे तु तद्भासत्वमित्यपि विचारकोटिं नाटीकेत, व्यवहारविशेषाय यथा परिभाषणमपरि-भाषणं च न व्यामोहाय विपश्चितामिति स्थितम्। भावनिक्षेपे तु न विप्रतिपत्तिरिति चतुर्णामपि सिद्धमाराध्यत्वम् ॥२॥ (प्रति०)

(४) ब्राह्मी लीपिरिव प्रतिमा सूत्रन्यायेन वन्द्येति तदपह्न-
वकारिणां मूढतामाविष्करोति-

लुप्तं मोहविषेण किं किमु हृतं मिथ्यात्वदम्भोलिना,
मग्नं किं कुनयावटे किमु मनो लीनं नु दोषाकरे ।
यत्सौ प्रथमं नतां लिपिमपि ब्राह्मीमनालोकयन्,
वन्द्याऽर्हत्प्रतिमा न साधुभिरिति ब्रूते यदुन्मादवान् ॥३॥

(लुप्तमिति) यत्सौ प्रथममादौ वचने नतां सुधर्मस्वामि-ना ब्राह्मीं लिपिमनालोकयन्नवधारणाबुद्ध्याऽपरिकलयन् "अ-र्हत्प्रतिमा साधुभिर्न वन्द्या" इति यदुन्मादवान् मोहपरवशो ब्रूते, तत्किं तस्य मनो मोहविषेण लुप्तं व्याकुलितम् ?। किमु मिथ्यात्वदम्भोलिना मिथ्यात्ववज्रेण हृतं चूर्णितम् ?। अथवा-किं कुनयावटे दुर्नयकूपे मग्नम् ?। यद्वा नु इति उ-त्प्रेक्षायां, दोषसमूहाश्रिते दोषाकरे लीनम् ?। "छायाच्छलेन म-नश्चन्द्रं विशति" इति श्रुतेर्मृतमित्यर्थः । अत्र "लिम्पतीव तमो-ऽङ्गानि" इत्यादौ लेपनादिना व्यापनादेरिव विषकर्तृकलुप्तत्वा-दिना लुम्पकमनोमूढताया अध्यवसानात् स्वरूपोत्प्रेक्षायाः कि-मादिर्द्योतकः "संभावनमथोत्प्रेक्षा, प्रकृतस्य समेन यत्" इति काव्यप्रकाशकारः। अन्यधर्मसमानेवादिद्योत्योत्प्रेक्षेति हेमचन्द्रा-चार्याः ॥ अयं भावः-"नमो बंभीए लिवीए" इति पदं यद् व्या-ख्याप्रज्ञप्तेरादावुपन्यस्तं, तत्र ब्राह्मी लिपिरक्षरविन्यासः, सा यदि श्रुतज्ञानस्याऽऽकारस्थापना तदा तद्वन्द्यत्वे साकारस्थापनाया भगवत्प्रतिमायाः स्पष्टमेव साधूनां वन्द्यत्वम्, तुल्यन्यायादिति । तत्प्रद्वेषे प्रकृतप्रद्वेष एव । यत्तु प्रतिमाप्रद्वेषसाधनाऽन्धकारित-हृदयेन धर्मशृगालेन प्रलपितम्-ब्राह्मी लिपिरिति प्रस्थकदृष्टान्त-प्रसिद्धनैगमनयभेदेन तदादिप्रणेता नाभेयदेव एवेति, तस्यैवायं नमस्कार इति । तन्महामोहविलसितम् । ऋषभनमस्कारस्य 'न-मोऽर्हद्भ्यः' इत्यत एव सिद्धेः, प्रतिव्यक्ति ऋषभादिनमस्कारस्य

त्वविवक्षितत्वात् , अन्यथा चतुर्विंशतिनामोपन्यासप्रसङ्गात् । श्रुतदेवतानमस्कारानन्तरमृषभनमस्कारोपन्यासानौचित्यात् । शुद्धनैगमनये ब्राह्म्या लिपेः कर्तुः लेखकस्य नमस्कारप्राप्तेश्चेति न किञ्चिदेतत् । एतेनाकारप्रद्वेषादलिप्यै लेपरहितायै ब्राह्म्यै जिनवाण्यै नम इत्यादि तत्कल्पनाऽपि परास्ता, वाणीनमस्का-रस्य 'नमः श्रुतदेवतायै' इत्यनेनैव गतार्थत्वात्, वक्रमार्गेण पुन-रुक्तौ बीजाभावात् । "बंभीए णं लिवीए अट्ठारसविहे लिविवि-हाणे पण्णत्ते" इति समवायाङ्गप्रसिद्धं प्रकृतपदस्य मौलमर्थमुल्ल-ङ्घ्य विपरीतार्थकरणतोत्सूत्रप्ररूपणव्यसनं विना किमन्यत्कारणं धर्मशृगालस्येति वयं न जानीमः?। केचित्तु पापिष्ठा नेदं सूत्र-स्थं पदं, "रायगिहनयरे" इत्यत एवारभ्य भगवतीसूत्रप्रवृत्तेः, किन्त्वन्यैरेवोपन्यस्तमित्याचक्षते; तदपि तुच्छम् । नमस्कारादी-नामेव सर्वसूत्राणां व्यवस्थितेरेतस्य मध्यपदत्वात् । प्रति०। (नम-स्कारस्य स्वस्थाने युक्तता) एवं च नमस्कारादौ प्रज्ञप्तिसूत्रे स्थि-तम्-" नमो बंभीए लिवीए " इति पदं प्रतिमास्थापनायास्त्य-न्तोपयुक्तमेवेति मन्तव्यम् ।

" हित्वा लुम्पकगच्छसूरिपदवीं गार्हस्थ्यलीलोपमां,
प्रोद्यद्बोधिरतः पदादभजत श्रीहीरसूरीशान्तिकम् ।
आगस्त्यागपुनर्व्रतप्रदपरो यो भाग्यसौभाग्यभूः,
स श्रीमेघमुनिर्न कैः सहृदयैर्धर्मार्थिषु श्लाघ्यते? ॥ १ ॥
एकस्मादपि समये पदादनेके,
संबुद्धा वरपरमार्थरत्नलाभात् ॥
अम्भोधौ पतितपरस्तु तत्र मूढो,
निर्मुक्तप्रकरणसंप्रदायपोतः ॥ २ ॥" ३ ॥

अथ नामप्रतिमावन्द्यां स्थापनां स्थापयति-

किं नामस्मरणेन न प्रतिमया किं वा भिदा काऽनयोः,
संबन्धः प्रतियोगिना न सदृशो भावेन किं वा द्वयोः? ॥
तद्वन्द्यं द्वयमेव वा जनमते ! त्याज्यं द्वयं वा त्वया,
स्यात्तर्कादत एव लुम्पकमुखे दत्तो मषीकूर्चकः ॥ ४ ॥

"किं नाम" इत्यादि । किं नामस्मरणेन चतुर्विंशतिस्तवादिन-मामानुचिन्तनेन?, नाम्नः पुद्गलात्मकत्वेनात्मानुपकारित्वान्नाम्नः स्मरणेन नामिस्मरणे तद्गुणसमापत्त्या फलमिति चेदत्राह-प्रतिमया किं वा न स्यात्?, प्रमुदितगुणसमुद्भूतलोकोत्तरमुद्राल-ङ्कृतभगवत्प्रतिमादर्शनादपि सकलातिशायिभगवद्गुणध्या-नस्य सुतरां संभवात् ।

तदुक्तम्- .

" प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं,
वदनकमलमङ्कः कामिनीसङ्गशून्यः ।
करयुगमपि यत्ते शस्त्रसंबन्धवन्ध्यं,
तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव " ॥ १ ॥ इति ।

बोध्युदयोऽपि प्रतिमादर्शनाद् बहूनां सिद्ध एव। तदुक्तं दशवैका-लिकनिर्युक्तौ-"सिज्जंभवं गणहरं, जिणपडिमादंसणेण पडिबु-द्धं । मणगपिअरं दसका-लिअस्स णिज्जूहगं वंदे" ।१। इत्यादि-निर्युक्तिश्च सूत्राद्नातिभिद्यत इति व्यक्तमेव। विवेचयिष्यते चेदमु-परिष्टात् । नाम्नो नामिना सह वाच्यवाचकभावसंबन्धोऽस्ति, न स्थापनाया इत्यस्ति विशेष इति चेत्, अत्राह-प्रतियोगिनेतरनिः-क्षेपानिरूपकेन भावनिक्षेपेण सह, द्वयोर्नामस्थापनयोः, संबन्धः किं सदृशो न?, सदृशवचने न मिथः किञ्चिद्वैषम्यमित्यर्थः। एकत्र

बाधकभावस्यान्यत्र स्थापकभावस्य संबन्धस्यापि विशेषात्, तादात्म्यस्य तु रूप्यादन्यत्रासंभवात्; अनया प्रतिबन्द्या दुर्वादिनमाक्षिपति-तस्मात्कारणात् हे जडमते ! त्वया द्वयमेव नामस्थापनालक्षणमविशेषेण वन्द्यम्, द्वयोरपि भगवदध्यात्मोपनायकत्वाविशेषात्। अन्तरङ्गप्रत्यासत्त्यभावाडुपेक्ष्यत्वे तु द्वयमेव त्वया त्याज्यं स्यात्, तच्चानिष्टम्, नाम्नः परेणाप्यङ्गीकरणात्, अत एव तर्कात् सुरूपकमुखे मषीकूर्चको दत्तः स्यात्, मालिन्यापादनादिति भावः। अत्र मषीकूर्चकत्वेन मौनदानविवक्षायां 'कमलमनम्भसि' इत्यादाविव रूपकगर्भा यथाश्रुतविवक्षायां त्वसंबन्धे संबन्धरूपाऽतिशयोक्तिः। अथात्र स्थापना यद्यवन्द्या स्यात्तदा नामाप्यवन्द्यं स्यादित्येतस्य न तर्कत्वम्, आपाद्यापादकयोर्भिन्नाश्रयत्वादिति चेत्, आपाद्यापादकान्यथानुपपत्तिमर्यादयैव विपर्ययपर्यवसायकत्वेनात्र तर्कोक्तेः। अत एव यद्ययं ब्राह्मणो न स्यात्तदा तत्पिता ब्राह्मणो न स्यात्, उपरि सविता न स्याद् भूमेरालोकवत्त्वं न स्यादित्यादयस्तर्काः सुप्रसिद्धाः। विपर्ययपर्यवसानं च परेषामनुमितिरूपमस्माकं स्वतन्त्रप्रमितिरूपमित्यन्यदेतत्। भावनिक्षेपो यद्यवन्द्यस्थापनानिक्षेपप्रतियोगी स्यादवन्द्यनामनिक्षेपप्रतियोग्यपि स्यादित्येवं तर्कस्य व्यधिकरणत्वं निरसनीयम्, अनिष्टप्रसङ्गरूपत्वात्, प्रतिबन्द्यै चात्र स्वातन्त्र्येण तर्क इति विभावनीयं तर्कनिष्णातैः।

प्रतिवादीनेव भक्त्याऽऽक्षिपंस्तदाराधकानभिष्टौति-

(५) चारणकृतवन्दनाधिकारः। चारणदेववन्दितत्वम्-

स्वान्तं ध्वान्तमयं मुखं विषमयं दृग् धूमधारामयी,
तेषां यैर्न नता स्तुता न भगवन्मूर्तिर्न वा प्रेक्षिता ।
देवैश्चारणपुङ्गवैः सहृदयैरानन्दितैर्वन्दिता ।
ये त्वेनां समुपासते कृतधियस्तेषां पवित्रं जनुः ॥ ५ ॥

" स्वान्तमित्यादि "। यैर्भगवन्मूर्तिर्न नता तेषां स्वान्तं हृदयं ध्वान्तमयमन्धकारप्रचुरं, हृदये नमनप्रयोजकालोकाभावादेवानमनोपपत्तेः, यैर्भगवन्मूर्तिर्न स्तुता तेषां मुखं विषमयं, स्तुतिसूक्तपीयूषाभावस्य तत्र विषमयत्व एवोपपत्तेः, यैर्भगवन्मूर्तिः, वा अथवा, न प्रेक्षिता तेषां दृग् धूमधारामयी, जगद्दृशाममृतसेचनकतत्प्रेक्षणाभावस्य धूमधारावृतनेत्रत एवोपपत्तेः, ध्वान्तत्वादिना दोषविशेषा एवाध्यवसीयन्ते इत्यतिशयोक्तिः, सा चोक्तदिशा काव्यलिङ्गानुप्राणिताऽवसेया। ये तु कृतधियः पण्डिता एनां भगवन्मूर्तिं समुपासते तेषां जनुः जन्म पवित्रं, नित्यं मिथ्यात्वमलपरित्यागात्। कीदृशी ?, देवैः सुरासुरव्यन्तरज्योतिष्कैः, चारणपुङ्गवैः चारणप्रधानैः जङ्घाचारणविद्याचारणैः, सहृदयैर्ज्ञानवद्भिरानन्दितैर्जातानन्दैर्वन्दिता, हेतुगर्भं चेदं विशेषणम्, देवादिवन्दितत्वेन शिष्टाचारात्तत्समुपासनं जनानां पावित्र्यायेति भावः। (प्रति०) (अत्र 'चारण' शब्दो द्रष्टव्योऽस्मिन्नेव भागे ११७३ पृष्ठे)

उक्तमेव स्वीकारयंस्तत्र कुमतिकल्पिताशङ्कां निरस्यन्नाह-

भङ्क्त्वौ प्रतिमानतिर्न विदिता किं चारणैर्निर्मिता,
तेषां लब्ध्युपजीवनाद्विकटनाभावाच्चनाराधना ।
सा कृत्याकरणादकृत्यकरणाद्भग्नव्रतत्वं भवे-
दित्येता विलसन्ति सन्नयसुधासारा बुधानां गिरः ॥६॥

(भङ्क्त्वाविति) भगवतीसूत्रे किं चारणैः जङ्घाचारणविद्याचारणश्रमणैर्निर्मिता प्रतिमानतिः न विदिता न प्रसिद्धा ?; अपि तु प्रसिद्धैव। सुधर्मस्वामिना कण्ठरवेणोक्तस्य तत्र तरणिप्रकाशतुल्यस्य कुमतिकौशिकवाङ्मात्रेणापह्नोतुमशक्यत्वात्। ननु यदुक्तं तद्युक्तमेव, परं चैत्यवन्दननिमित्तालोचनाभावे नाराधकत्वमुक्तमिति तेषां चैत्यनतिं स्वारसिकीं नाभ्युपगच्छाम इत्याशङ्कायामाह-(तेषामिति) तेषां जङ्घाचारणविद्याचारणानां लब्ध्युपजीवनात्, तस्य प्रमादरूपत्वात्तु पुनर्विकटनाभावादालोचनाभावात् " आलोयणा वियडणेति " निर्युक्तिवचनाद्विकटनाशब्दस्यालोचनाऽर्थः। अनाराधना, तदन्यतो निमित्तात्तदाह-साऽनाराधना कृत्यस्य प्रमादालोचनस्याकरणात्, अकृत्यकरणं चैत्यवन्दने मिथ्यात्वकरणं, तत् पुरस्कृत्यानाराधनायामुच्यमानायां भग्नव्रतत्वं भवेत्, मिथ्यात्वसहचारिणामनन्तानुबन्धिनामुदयेन चारित्रस्य मूलत एवोच्छेदात्, " मूलच्छेज्जं पुण होइ बारसण्हं कसायाणं" इति वचनात्। तच्च नालोचनामात्रतोऽपि शोधयितुं शक्यमित्ययं भारो मिथ्याकल्पकस्य शिरस्यस्त्वित्येताः, सन्नयः समीचीननयः, स एव मिथ्याकल्पनाविषविकारनिरासत्वात्सुधा पीयूषं, तेन साराः, बुधानां सिद्धान्तपारदृश्वनां गिरः वाचः ॥ ६ ॥ प्रति०।

ननु चारणानां यावान् गतेर्गोचर उक्तस्तावद्देशगमनपरीक्षायामेव मुख्य उद्देशः, तेभ्यः क्रियमाणा या तत्तच्चैत्यानामपूर्वाणां दर्शनाद्विस्मयोद्बोधेन तन्नतिर्न तु स्वरसत इति, तदाचरणं न शिष्टाचार इति सर्वेषां साधूनां न तद्वन्द्यता तद्दृष्टान्तेनेति कुमतिमतमाशङ्क्य निषेधति-

तेषां न प्रतिमानतिः स्वरसतो लीलानुषङ्गात्तु सा,
लब्ध्याप्तादितिकालकूटकवलोद्गारा गिरः पाप्मनाम् ।
हन्तैवं न कथं नगादिषु नतिर्व्यक्ता कथं चेह सा,
चैत्यानामिति तर्ककर्कशगिरा स्यात्तन्मुखं मुद्रितम् ॥ ७॥

(तेषामिति) तेषां जङ्घाचारणविद्याचारणानां प्रतिमानतिः स्वरसतो न, स्वरसः श्रद्धाभक्तिसंवलितः परिणामः। तु पुनः, लब्ध्याप्तात् लब्धिप्राप्तात् लीलानुषङ्गात्, लब्धिप्राप्तलीलां दिदृक्षया प्रवृत्तानां तत्रापूर्वदर्शनीसंनिधिकदर्शनतयेत्यर्थः। न तु अस्वारसिकनत्या काऽपि क्षतिः, स्वारसिककृत्यकरणस्यैव दोषत्वात्, इत्येताः पाप्मनां लुम्पाकदुर्गतानां गिरः कालकूटकवलोद्गाराः, उद्गीर्यमाणकालकूटकवला इत्यर्थः। भक्षितमिथ्यात्वकालकूटानामीदृशानामिवोद्गाराणां संभवात्। तत्रोत्तरम्-हन्तेति निर्देशे, एवं लीलाप्राप्तस्य विस्मयेन साधूनां वन्दनसंभवे कथं नगादिषु मानुषोत्तरनन्दीश्वररुचकमेरुतदारामादिविषये न चारणानां नतिः, तत्राप्यपूर्वदर्शनजनितविस्मयेन तत्संभवात्। कथं चेह भरतविदेहादौ ततः प्रतिनिवृत्तानां चैत्यानां प्रतिमानां सा नतिः इत्येवंभूता या तर्ककर्कशा गीस्तया तन्मुखं पाप्मवदनं मुद्रितम्, अनया गिरा ते प्रतिवक्तुं न शक्नुयुरित्यर्थः। कर्कशपदं तर्कस्य निबिडमुद्राहेतुत्वमभिव्यनक्ति। अत्र यथा गोचरचर्योद्देशेनापि निर्गतेन साधुनाऽन्तरोपनताः साधवः स्वरसत एव वन्दनीयाः, तथाऽऽगमगोचरदर्शनायामपि, एवं चारणैर्नन्दीश्वरादिप्रतिमानतिः स्वरसत एव अनङ्गोपनतपीयूषवृष्टिवत्परमप्रमोदहेतुत्वादित्युक्तं भवति ॥ ७ ॥

(६) अथोक्तालापके-" तहिं चेइयाइं वंदइ " इत्यस्यायमर्थः-यथा भगवद्भिरुक्तं, तथैव नन्दीश्वरा-

दि दृष्टमिति, अहो ! तथ्यमिदं भगवज्ज्ञानमित्यनुमोदते इत्यर्थः, चैत्यपदस्य ज्ञानार्थत्वादिति मुग्धपर्षदि मूर्धानमाधूय व्याख्यातुरुपहसन्नाह—

ज्ञानं चैत्यपदार्थमाह न पुनर्मूर्त्तिं प्रभोर्यो द्विषन् ,
वन्द्यं तत्तदपूर्ववस्तुकलनाद् दृष्टार्थसंचार्यपि ।
धातुप्रत्ययरूढिवाक्यवचनव्याख्यामजानन्नसौ ,
प्रज्ञावत्सु जनः श्रियं न लभते काको मरालेष्विव ॥ ८॥

यो द्विषन् जिनशासने द्वेषं कुर्वन्,प्रकृते चैत्यपदार्थे ज्ञानमाह,न पुनः प्रभोर्मूर्त्तिं,किंभूतं ज्ञानम् ?, तस्य तस्यापूर्वस्य वस्तुनः कलनात्परिच्छेदाद्, वन्द्यमनुमोद्यमिति योगः। किंभूतमपि ?, दृष्टार्थसंचार्यपि, इह लोके चैत्यवन्दनसंचरिष्णुजविष्णुशब्दार्थमपि, अपूर्वदर्शनेन विस्मयोत्पादकत्वाद् भगवज्ज्ञानस्य वन्द्यत्वे " इह चेइआई वंदइ " इत्यस्यानुपपत्तिः, इहापूर्वादर्शनात् , अपिना निपातेनानौचित्यं दर्शयति-असौ जनः,प्रज्ञावत्सु प्रेक्षावतां मध्ये,श्रियं सद्भुतरस्फूर्तिसमृद्धिं न लभते, केषु क इव, मरालेषु राजहंसेषु काक इव इत्युपमा। किं कुर्वन्?,अजानन्,कां?,धात्वादिव्याख्याम् । तथाहि-चैत्यानीत्यत्र ' चिती ' संज्ञाने इति धातुः, कर्मप्रत्ययः। तथा चार्हत्प्रतिमा पवार्थः । ' चिती ' संज्ञाने संज्ञानमुत्पद्यते काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा-' जहा एसा अरिहंतपडिम त्ति ' चूर्णिस्वरसादिति प्रकृते ज्ञानमर्थं वदन् प्रकृतिप्रत्ययानभिज्ञ एव । तथा रूढेरप्यनभिज्ञ एव, चैत्यशब्दस्य जिनगृहादावेव रूढत्वात् । " चैत्यं जिनौकस्तद्बिम्बं , चैत्यो जिनसभातरुः " इति कोशात् । एतेन विपरीतव्युत्पन्नानामभेदप्रत्यययोगार्थोऽपि निरस्तः , योगाद् रूढेर्बलवत्त्वात् । अन्यथा पङ्कजशैवालादिबोधप्रसंगात् । वाक्यस्यापि । वाक्यं साकाङ्क्षपदसमुदायः-" इह चेइआइं वंदइ " इति । अत्रस्थानि चैत्यानि वन्दते इति हि वाक्यार्थः । स च चैत्यपदस्य ज्ञानार्थत्वे न घटते , भगवज्ज्ञानस्य नन्दीश्वरादिवृत्तित्वाभावात्, जगद्वृत्तित्वस्यान्यसाधारण्येनाविस्मापकत्वात्, तेन नन्दीश्वरादेः प्रतिमावाचकतयाः प्रामाण्यानिर्णये च प्राग् भगवद्वचनाविश्वासेन मिथ्यादृष्टित्वप्रसंगादिति । वचनस्य । ज्ञानस्यैकत्वात् ज्ञानार्थे चैत्यशब्दस्यापीष्टबहुवचनस्य कुत्राप्यननुशासनात्सिद्धान्तेऽपि तथा परिभाषणस्याभावात् । अन्यथा " केवलनाणं " इत्यत्र स्थले " चेइआइं ति " प्रयोगापत्तेः, यदि वा पूर्वभगवदुक्तार्थदर्शनस्थलेऽपीदृक् प्रयोगः स्यादिति कल्पते तदा गर्भगृहस्थमहाव्याधितमृगपुत्रस्य यथोक्तस्य दर्शिनो गौतमस्याधिकारेऽपि तथा प्रयोगः स्यादिति किमसंबद्धवादिना पामरेण सह विचारणया । " तस्स ठाणस्स " इत्यत्र तच्छब्दाव्यवहितपूर्ववर्त्तिपदार्थपरामर्शकत्वान्नन्दीश्वरादिचैत्यवन्दननिमित्तकाऽऽलोचनाप्रयुक्ताया एवानाराधनाया अभिधानाद्विगीतमेतदिति । मैवम् । तच्छब्देन व्यवहितस्याप्युत्पतनगमनस्यैवालोचनानिमित्तकालोचनानिमित्तस्य परामर्शात्,यतनयाऽऽहितेन नभोगमनेनाऽपि दोषाभावात्,अत एव च यतनया ग्रामानुग्रामं विहरता गौतमस्वामिनाऽष्टापदरोहणाय जङ्घाचारणलब्धिं प्रयुज्य तच्चैत्यवन्दने निर्दोषता , तद्वन्दनं चोक्तमुत्तराध्ययननिर्युक्तौ-

"चरमसरीरो साहू, आरुहती णगवरं ण अन्नो त्ति ।
एयं तु उदाहरणं, कासी य तहिं जिणवरिंदो ॥ २५ ॥
सोऊण तं भगवओ, गच्छति तहिँ गोयमो पहितकित्ती ।
आरुज्झ तं णगवरं, पडिमाओ वंदइ जिणाणं " ॥ २६ ॥ त्ति ॥

उत्त० नि० १० अ० । " भगवं च गोयमो जंघाचारणलद्धीए लूतातंतुम्मि णिस्साए उड्ढं उप्पइओ त्ति " चूर्णिः । न च लब्धिप्रयोगमात्रं प्रमादमगलान्या धर्मदेशनादिना तीर्थकृल्लब्धिप्रयोगेऽपि तत्प्रसंगात् , किं तु तत्कालीनमौत्सुक्यमिति, निरुत्सुकस्य नभोगमनेनापि चैत्यवन्दने न दोष इति दृढतरमनुसंधेयम् । अत एव भगवत्यां तृतीयशतके पञ्चमोद्देशके सङ्कृत्ये साधोर्वैक्रियकरणस्य विषयमात्रमुक्तम् । अनगारपूर्वमभियोगे चानालोचनायामभियोगेषु गतिरुक्ता प्रशस्तव्यापारेषु न किञ्चिदेतत् । (तथा च तत्पाठः-"अणगारे णं भंते ! भाविअप्पा बाहिरए पोग्गले",इत्यादि ' अणगार' शब्दे प्रथमभागे २७४ पृष्ठे उक्तः) (प्रति०)

(७) अथ देववन्द्यतामाधिकृत्य देवानां शरणीकरणीयां भगवन्मूर्त्तिमभिष्टौति-

अर्हच्चैत्यमुनीन्द्रनिश्रिततया शक्रासनक्ष्मावधि ,
प्रज्ञप्तौ भगवान् जगाद चमरस्योत्पातशक्तिं ध्रुवम् ।
जैनीं मूर्तिमतो न योऽत्र जिनवज्जानाति जानातु क-
स्तं मर्त्यं बत शृङ्गपुच्छरहितं स्पष्टं पशुं पण्डितः ॥९॥

(अर्हदिति) अर्हन्तस्तीर्थकराः, चैत्यानि तत्प्रतिमाः, मुनीन्द्राः परमसौम्यभावनातः साधुचन्द्राः, तन्निश्रिततया तन्निश्राकरणेन हेतुना, भगवान् ज्ञातनन्दनः,चमरस्यासुरकुमारराजस्य, शक्रस्य चासनक्ष्माऽऽसनपृथ्वी,साऽवधिर्यत्र यस्यां क्रियायां तथा, चमरस्योत्पातस्य शक्तिं ध्रुवं निश्चितं, जगाद, अतः-अर्हदनगारमध्ये चैत्यपाठात्,योऽत्र जिनशासने, जैनीं मूर्तिं जिनवत् जिनतुल्यां न जानाति तं मर्त्यं मनुष्यं कः पण्डितः मोक्षानुगतप्रज्ञावान् जानाति ?, न कोऽपीत्यर्थः । सर्वेषामपि प्रेक्षावतां स मनुष्यमध्ये न गणनीय इति तात्पर्यम् । कीदृशं तम् ?, अविवेकितया स्पष्टं प्रत्यक्षं पशुम् । कीदृशं पशुम् ?,शृङ्गपुच्छाभ्यां रहितं, शृङ्गपुच्छाभावमात्रेण तस्य पशोर्वैधर्म्यं , नान्यदित्यर्थः । व्यतिरेकालङ्कारगर्भोऽत्राक्षेपः । प्रति० । (' असुरकुमार ' शब्दे प्रथमभागे ८५२ पृष्ठे, ' चमर ' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ११११२ पृष्ठे च तत्कृतवन्दनकपाठ उक्तः) अत्र लुम्पकः-" अरहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा " इति पदद्वयस्याऽर्थः, " समणं वा माहणं वा " इति पदद्वयस्यैव । अन्यथा-" तं महादुक्खं खलु"इत्यादौ अर्हतां भगवतामनगाराणं च भगवत्याशातनया महादुःखमित्याशातनाद्वयस्यैवोपनयाद्धुपक्रमोपसंहारविरोधापत्तेरित्याह । तत्तुच्छम् । उक्तपदद्वयस्योपक्रमे एकार्थत्वे,उपसंहारेऽपि तव गले पादिकया पदद्वयपाठप्रसङ्गात् , अन्यथा शैलीभङ्गदोषस्य वज्रलेपतानुपपत्तेः। कस्तर्हि विरोधपरिहारोपाय इति चेत्,आकर्णय कर्णामृतं सकर्णमन्य,अकर्णो मा भूः। उपक्रमे त्रयाणां शरणीकरणीयत्वे तुल्यत्वे विवक्षासु प्रकृतिलब्धस्य शक्रस्योपहारे चाऽर्हच्चैत्याशातनया अर्हदाशातनायामेवान्तर्भावाद् विवक्षितानां त्रयाणामेव परिगणनादविरोध इति । यद्यपि भावार्हतां भावसाधूनां च ग्रहणान्मध्ये चैत्यग्रहणमयुक्तमिति कल्पते, तदपि सिद्धान्तापरिज्ञानविजृम्भितं, छद्मस्थकालिकस्य भगवतो द्रव्यार्हत एवासुरकुमारराजेन शरणीकरणात्, द्रव्यार्हतः शरणीकरणे स्थापनार्हतः शरणकरणस्य न्यायप्राप्तत्वात्, चैत्यशरणीकरणीयत्वे स्वस्थानादौ त-

स्तस्वान्महावीरः शरणमस्त्विति प्रयोजनं स्यादित्युत्फुल्लकएठव-चनं तु महाविदेहे भावार्हतामपि सत्त्वात्तानतिक्रम्य द्रव्यार्हच्छरणीकरणं कथमित्याशङ्कयैव निर्लोञ्छनीयम्, एतेनात्र चैत्यशब्दस्य ज्ञानमर्थ इति मूढकल्पितार्थोऽपि निरस्तः। द्रव्यार्हतः केवलज्ञानाभावात्, अर्हतः पृथक् तद्ज्ञानस्य ग्रहे साधुभ्यः पृथगपि तद्ग्रहापत्तेः। तथा च-" अरिहंते वा अरिहंतचेइआणि वा भाविअप्पणो अणगारा अणगारचेइआणि वा " इति पाठापत्तेरिति न किञ्चिदेतत्, उपसंहारे चैत्यपदाविस्मृतेः। संभ्रमाद् न्यूनत्वं न दोषः। 'मा मा संस्पृश' इत्यादिनाऽलङ्कारानुयायिनः महावीरस्यैवाशातनाया उत्कटकोटिकसंशयरूपसंभावनामभिप्रेत्याशातनाद्वयस्यैव समावेशतात्पर्यं अदोष इत्यन्ये।

अथानाशातनाविनयेन देवैर्वन्दिता भगवन्मूर्त्तिः
कस्य सचेतसो न वन्द्येत्याशयेनाह-

मूर्त्तीनां त्रिदशैस्तथा भगवतां सक्थां सदाशातना-
त्यागो यत्र विधीयते जगति सा ख्याता सुधर्मा सभा ।
इत्यन्वर्थविचारणाऽपि हरते निद्रां दृशोर्दुर्नय-
ध्वान्तच्छेदरविप्रभा जडधियं घूकं विना कस्य न ? ।१०।

(मूर्त्तीनामिति) यत्र मूर्त्तीनां सदाशातनात्यागो विधीयते सा सभा सुधर्मेति ख्यातेत्यन्वर्थविचारणाऽपि सुधर्मापदव्युत्पत्तिभावनाऽपि जडधियं लुम्पकं घूकमुलुकं विना कस्य दृशोर्निद्रां न हरते ?, अपि तु सर्वस्यैव दृशोर्निद्रां हरत इत्यर्थः। कीदृशी ?, दुर्नया एव ध्वान्तानि, तेषां छेदे रविप्रभा तरणिकान्तिः, रविसदृशीति न तु व्याख्येयं, तत्सदृशात् तत्कार्यानुपपत्तेः। अत्र विनोक्तिरूपककाव्यलिङ्गान्यलङ्काराः। (प्रति०) ('अग्गमहिसी' शब्दे प्रथमभागे १६६ पृष्ठे सभासु इन्द्रा मैथुनं कर्तुं न शक्नुवन्ति, स्तम्भितजिनशक्तिप्रभावादित्युक्तं दशमशते पञ्चमोद्देशके) एवं षष्ठे सूर्याभातिदेशेन शक्रसुधर्माधिकारोऽपि प्रतिमापूजाप्रतिपादनाद् भावनीयः। तथा हि-"कहि णं भंते ! सक्कस्स देविंदस्स देवरण्णो सभा सुहम्मा पणत्ता ?। गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे मंदरस्स० दाहिणेणं इमीसे रयणप्पभाए पुढ० एवं जहा रायप्पसेणइज्जे० जाव पंचवडिंसया पणत्ता । तं जहा-असोगवडिंसए० जाव मज्झे सोहम्मवडिंसए, महाविमाणे अद्धतेरसजोयणसयसहस्साइं आयामविक्खंभेणं, एवं जहा सूरियाभे तहेव उववाओ। सक्कसिद्धायतणं पुरच्छिमिल्लेणं दारेणं अणुप्पविसइ, जेणेव जिणपडिमा तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, लोमहत्थगं गिण्हइ, जिणपडिमं लोमहत्थएणं पमज्जइ, जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएणं निहाइ त्ति० जाव आयरक्ख त्ति।" अर्चनिकायाः परो ग्रन्थस्तावद्वाच्यो यावद्धारक्काः। स चैवं लेशतः-"तते णं से सक्के देविंदे देवराया सभं सुहम्मं अणुपविसइ, सीहासणे पुरत्थाभिमुहे निसीयइ, तते णं सक्कस्स देविंदस्स देवरायस्स अवरुत्तरेणं उत्तरेणं उत्तरपुरच्छिमेणं चोरासीसामाणिअसाहस्सीओ णिसीयंति, पुरच्छिमेणं अग्गमहिसीओ, दाहिणपुरच्छिमेणं अब्भिंतरिआए परिसाए बारसदेवसाहस्सीओ णिसीअंति, दाहिणेणं मज्झिमाए परिसाए चोद्दस देवसाहस्सीओ, दाहिणपच्चच्छिमेणं बाहिरियाए परिसाए सोलसदेवसाहस्सीओ णिसीयंति । " इत्यादि । (प्रति०)

अथ सूर्याभाधिकारेण प्रतिमारीणां शासनार्थं स्तेनानां
कान्दिशीकतां प्रदर्शयंस्ता अभिनौति-

प्राक् पश्चाच्च हितार्थितां हृदि विदन् तैस्तैरुपायैर्यथा,
मूर्तीः पूजितवान् मुदा भगवतां सूर्याभनामाऽसुरः ।
याति प्रच्युतवर्णकर्णकुहरे, तप्तत्रपुत्वं नृप-
प्रश्नोपाङ्गसमर्थिता हतधियां व्यक्ता तथा पद्धतिः ॥११॥

" प्रागित्यादि "। प्रागादौ, पश्चाच्चोत्तरं, तद्भावभवान्तरसंबन्धिन्यामायत्यां हितार्थितां श्रेयोऽभिलाषितां, हृदि स्वान्ते, विद्न् जानन्, तैस्तैर्वक्ष्यमाणैरुपायैर्भक्तिसाधनप्रकारैः, यथा सूर्याभनामाऽसुरः भगवतां मूर्तीः पूजितवान्, तथा व्यक्ता प्रकटा, नृपप्रश्नोपाङ्गे राजप्रश्नीयोपाङ्गे, समर्थिता सहेतुकं निर्णीता, पद्धतिः प्रक्रिया, हतधियां मूलोच्छिन्नबुद्धीनां, लुम्पकमतिवासितानां, प्रच्युतवर्णे प्रच्युतो वर्णो यस्मात्तादृशे, निरक्षरे इत्यर्थः। तेनाक्षरशक्तिप्रतिबन्धाभावात्तदाहसंभवो व्यज्यते। कर्णकुहरे श्रोत्रविले, नात्र संस्कृतत्वं व्यज्यते। तप्तत्रपुत्वं याति। तान्यक्षराणि दुर्मतिकर्णे तप्तत्रपुवत्स्वगतदोषादेव दाहं जनयन्तीत्यर्थः। आह च-"गुरुवचनममलमपि स्खलदुपजनयति श्रवणस्थितं शूलमभव्यस्येति "। अत्र तप्तत्रपुत्वं यातीति निदर्शना, "अभवद्वस्तुसंबन्ध उपमां परिकल्पयः निदर्शनेति" मम्मटवचनात्। असंबन्धे संबन्धरूपाऽतिशयोक्तिरित्यपरे। (उक्तार्थं आलापकस्तु ' सूरियाभ ' शब्दे वक्ष्यमाणतच्चरितादवसेयः) प्रति०। रा०।

नन्वत्र प्राक् पश्चाच्च हितार्थिता देवभवापेक्षयैव पर्यवस्यति, तथा चैहिकाभ्युदयमात्रं प्रतिमापूजनादिफलं
सूर्याभस्य न मोक्षार्थिनामादरणीयं, देवस्थितेर्दे-
वानामेवाश्रयणीयत्वादित्याशङ्क्य तन्निराक-
रणपूर्वं तादृशं कारणमाक्षिपन्नाह-

नात्र प्रेत्य हितार्थितोच्यत इति व्यक्ता जिनार्चा स्थितिः,
देवानां न तु धर्महेतुरिति ये पूत्कुर्वते दुर्धियः ॥
प्राक् पश्चादिव रम्यतां परभवश्रेयोऽर्थितासंगतां,
प्राक्पश्चाच्च हितार्थितां श्रुतमतां पश्यन्त्यहो ते न किम् ? ।१२।

(नात्रेति) नात्राधिकृते सूर्याभकृत्ये प्रेत्य हितार्थितोच्यते। "एयं मे पेच्चाहिआए" इत्यादिवचनात्। " पच्छा पुरा हिआए " इति वचन उपवचनकर्णस्थलेऽप्युक्तत्वादिति जिनार्चा व्यक्ता प्रकटा, देवानां स्थितिः स्थितिमात्रं, न तु धर्मसाधनम् इति दुर्धियो दुष्टबुद्धयः पूत्कुर्वते शिरसि रजः क्षिपन्त इव बाढं प्रलपन्ति, ते श्रुतमतां प्राक् पश्चाद्रम्यतामिव प्राक् पश्चाच्च हितार्थितां परभवश्रेयोऽर्थितायां सङ्गतां सहिताम्, उभयलोकार्थितापरिणामीत्यर्थः। किं न पश्यन्ति ?, तथाऽदर्शने तेषां महाप्रमाद इत्यर्थः। प्राक्पश्चाद्रम्यतावचनं चेदं राजप्रश्नीये-" तए णं केसीकुमारसमणे पएसिं एवं वयासी-मा णं तुमं पएसी पुव्विं रमणिज्जे पच्छा अरमणिज्जे भवेज्जासि " (इत्यादि 'पएसी' शब्दे केशीकुमारसंवादे स्फुटीभविष्यति) प्रति०। रा०। अत्र यदेव भावजिनवन्दने फलं तदेव जिनप्रतिमावन्दनेऽप्युक्तम्। न चैतत्सूर्याभदेवस्य सामानिकदेववचनं न सम्यग् भविष्यति इत्याशङ्कनीयम्, सम्यग्दृशां देवानामप्युत्सूत्रभाषित्वाऽसंभवात्, तर्हि क्वाऽप्यागमे-" किं पुव्विं

करणिज्जं " इत्यादिके सम्यग्दृष्टिना पृष्टोऽप्यैहिकसुखमात्रनिमित्तं प्रणिपातादिकं " हिआए सुहाए " इत्यादिरूपेण केनाऽपि प्रत्युत्तरविषयीकृतं दृष्टम् । श्रुते चाऽपि वन्दनाधिकारेऽपि क्वचित् " पेच्चा हियाए " इत्यादेवोक्तम् । क्वचिच्च-" एअं णं इह भवे वा आणुगामियत्ताए भविस्सइ " त्ति नोक्तपाठत्रैपस्यकदर्थनाऽपि । किं च-" पच्छा कडुअ विवागा " इत्यत्र यथा पश्चाच्छब्दस्य परभवविषयत्वं तथा प्रकृतेऽपीति किं न विभावयसि? । एवम्-" जस्स नत्थि पुरा मज्झे, तस्स कओ सिया " इत्यत्राऽपि पुरा पश्चादिति वाक्यस्य त्रिकालविषयत्वं व्यक्तमिति प्रकृतेऽपि तद् योजनीयम् ॥ १२ ॥

स्थितिविषयाशङ्कामेव समानधर्मदर्शनेन

उपसंहरन्नाह—

वाप्यादेरिव पूजना त्रिदिवसदां मूर्तेर्जिनानां स्थितिः,
सादृश्यादिति ये वदन्ति कुधियः पश्यन्ति भेदं तु न ।
एकत्वं यदि ते वदन्ति निजयोः स्त्रीत्वेन जायाऽम्बयो-
स्तत्को वा यततामसंवृततरं वक्त्रं पिधातुं बुधः ? ॥ १३ ॥

(वाप्यादेरिति) वाप्यादेर्नन्दापुष्करिण्यादेरिव, आदिशब्दतो महेन्द्रध्वजतोरणसभाशालभञ्जिकादिपरिग्रहः । त्रिदिवसदां देवानां, जिनानां मूर्तेः पूजना, स्थितिः स्थितिमात्रं, सादृश्यात् अर्चनशब्दाभिधानसाम्यादिति ये कुधियः कुत्सितबुद्धयो, वदन्ति, भेदं तु वक्ष्यमाणं न पश्यन्ति, ते यदि स्त्रीत्वेन स्त्रीलिङ्गमात्रेण निजयोः स्वकीययोर्जायाऽम्बयोः कान्ताजनन्योर्वदन्ति एकत्वं, तर्हि को वा को नाम, वक्त्रं मुखमर्थात्तदीयम्, असंवृततरम् अतिशयेनोद्घाटं,बुधः पण्डितः, पिधातुमाच्छादयितुं, यततां पराक्रमताम्,अशक्येऽर्थे पण्डितस्य प्रवृत्तिकरणायोगात्, न कोऽपि यततामिति भावः । प्रतिवस्तूपमया दृष्टान्तरेऽपि यत्किञ्चित्साम्येन साम्यतामुपहासो व्यज्यते ।

तदुक्तम्-

" काके कार्ष्ण्यमलौकिकं, धवलिमा हंसे निसर्गस्थितो,
गाम्भीर्ये महदन्तरं, वचसि यो भेदः स किं कथ्यते ?॥
एतावत्सु विशेषणेष्वपि पुनर्यैर्नेदमालोक्यते,
के काकाः सखि ! के च हंसशिशवो देशाय तस्मै नमः " ॥ १३ ॥

भेदहेतुनैवोपदर्शयंस्तददर्शिनमाक्षिपन्नाह-

सद्धर्मव्यवसायपूर्वकतया शक्रस्तवप्रक्रिया-
भावप्राजितहृद्यपद्यरचनाऽऽलोकप्रणामैरपि ।
ईक्षन्तेऽतिशयं न चेद्भगवतां मूर्त्यर्चने स्वःसदां,
बालास्तत्पथि लौकिकेऽपि शपथप्रत्यायनीया न किम् ? ॥ १४ ॥

(सद्धर्मेत्यादि) सद्धर्मव्यवसायपूर्वकत्वमेकं जिनप्रतिमाऽर्चनस्यानुषङ्गिकस्थायर्चनतो भेदकं,व्यवसायनतासंभवे क्षयोपशमादिहेतुत्वात्तज्जिनशासने नासिद्धम् । तदुक्तम्-" उदयक्खओवसमिओ,ववसायं च कम्मुणा भणिओ । दव्वं खित्तं कालं, भावं च भवं च संपप्प " ॥ १ ॥ इति जीवाभिगमवृत्तौ विजयदेवाधिकारे प्रकृतस्थले विवृतमास्ते, तदालापकश्च प्रकृतालापकादावीदृश इति न पृथग् लिखितः । अत्र पापिष्ठाः-ननु " धम्मियं ववसायं गिण्हइ "

इत्यत्र धार्मिको व्यवसायः कुलस्थितिरूपधर्मविषय एव युक्तोऽत एव पुस्तके धर्म्यं शास्त्रमित्यत्रापि धर्मशब्दार्थः कुलस्थितिधर्म एव । भुक्तव्यवसायस्तु देवानामसंभव्येव । " तिविहे ववसाए पण्णत्ते-धम्मिए ववसाए, अधम्मिए ववसाए, धम्माधम्मिए ववसाए " इति तृतीये स्थानके व्यवसायिनां धार्मिकाधार्मिकधार्मिकाधार्मिकाणां संयतासंयतसंयतासंयतलक्षणानां संबन्धित्वाद्भेदेनोच्यमानास्त्रियो भवन्तीति व्याख्यानाच्चारित्रिणामेव धार्मिकव्यवसायसंभवादिति प्राह । स प्रष्टव्यः-अरे दुष्ट ! किमेवं देशसंयतानां सामायिकाध्यवसायोऽपि न धार्मिकाध्यवसाय इति स्थापयितुमुद्यतोऽसि, तर्हि विषयभेदात् त्रैविध्यं व्याख्यास्यामोऽत एव संयमासंयमदेशसंयमलक्षणभेदाद्वेति पक्षान्तरेण वृत्तौ व्याख्यातमिति चेत्, एतदपि नैगमनयाश्रितपरिभाषाविशेषेणैव युज्यते, अन्यथाऽविरतसम्यग्दृष्टीनां सम्यक्त्वाध्यवसायः कुत्रान्तर्भवेदिति नेत्रे निमील्य विचारयन्तु देवानां प्रियाः । एकान्ताविरतादविरतसम्यग्दृष्टेर्विलक्षणत्वात्,तद्व्यवसायः कदाचिदपेक्षया तृतीयेऽन्तर्भावयिष्यत इति चेत्तर्ह्येकान्तेन त्रैराशिकमतप्रवेशापत्तिभिया पक्षत्रयस्य पक्षद्वय एवान्तर्भावविवक्षया जिनपूजादिसम्यग्दृष्टिदेवकृत्यं धर्म एवेति वदतां का बाधा ?। अन्यथा त्वया देवानां जिनवन्दनाद्यपि कथं वक्तव्यं स्यात् ?। सर्वविरत्यादियोगक्षेमप्रयोजकान् व्यापारानेव धर्मादिशब्दवाच्यान् स्वीकुर्म इति चेत् । न । यदेतत्सैवं परिभाषन्ताम्,अनुगतो धर्मव्यवहारस्तु पुष्टिशुद्धिमच्चित्तानुगतक्रिये चतुर्थगुणस्थानक्रियाऽनुरोधाद्दर्शनाचाररूपत्वाद्दर्शनव्यवसायात्मकं जिनार्चादि सिद्धान्ते चोक्तम् । तदुक्तं स्थानाङ्गे-" सामाइयववसाए तिविहे पण्णत्ते । तं जहा-नाणववसाए, दंसणववसाए, चरित्तववसाए त्ति " ॥ द्वितीयभेदस्त्वं शक्रस्तवप्रक्रियाप्रसिद्धप्रणिपातदण्डकपाठः । न हि वाप्यादिकं पूजयता वाप्यादेः पुरतः शक्रस्तवः पठितोऽस्ति, किन्त्वर्हत्प्रतिमानां सकलसंपद्भावान्वितस्थितिमात्रत्वेऽन्यथाऽप्य पठिष्यत । न च तारणस्त्वं तारकस्त्वमित्यादयो भावजिनप्रतिमातोऽन्यत्राजिनेतु शक्यते, न च जिनयात्रादिव्यापारं विना शान्तरसास्वाद इति यत्र यदुचितं तत्रैव तत्प्रयोज्यं सहृदयैः । तथा भावैः पापनिवेदनप्रणिधानादयैर्भाजितानि यानि हृद्यानि पद्यान्यष्टोत्तरशतसङ्ख्यानि,तेषां स्वनामप्रतिमानां पुरस्तादपि तृतीयं भेदकं भावस्तुतिमङ्गलानां महोदयहेतुत्वेन सूत्रेऽभिधानात्तस्य धर्माक्षेपकत्वात् नहि वाप्यादेरग्रे कृतम् । तथा चतुर्थभेदकम्-आलोकप्रणामः, यत्र जिनप्रतिमास्तत्र " आलोए पणामं करेइ " इति पाठोऽन्यत्र तु नेति विनयविशेषोऽपि धर्माक्षेपकः । एवं तैरपि, स्वःसदां देवानां,'भगवतां मूर्त्यर्चने इति । चेत् यदि, अतिशयं विशेषं नेक्षन्ते तर्हि बाला विशेषदर्शनहेतुशक्तिविकला लुम्पकाः, लौकिकेऽपि पथि भोजनादौ,शपथेन कोशपानादिना,प्रत्यायनीयाः विश्वासनीयाः किं न भवन्ति ?, अपि तु तथैव भवन्ति । कामिनीकरकमलोपरि स्थिते शिष्यानीते वा भोजने किमिदं पुरीषमन्नं वेति संशयात्ते न विरमेयुरित्यर्थः । न चायं वस्तुनोऽपराधः,किं तु पुरुषस्य, नह्ययं स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीति । कियदेषां महामोहदौर्गत्यप्रवर्तितमात्यन्तिकमिथ्यात्ववर्णनीयमिति दिग् ॥ १४ ॥

अथ स्थितिमभ्युपगम्याप्याह-

भव्योऽल्पभ्रमबोधिरल्पभवभाक् सद्दृष्टिराराधको,
यश्चोक्तश्चरमोऽर्हता स्थितिरहो सूर्याजनाम्नोऽस्य या ।

सा कल्पस्थितिवन्न धर्मपरतामन्वेति भावान्वयात् ,
मा कार्षुर्भ्रममत्र केऽपि पिशुनैः शब्दान्तरैर्वञ्चिताः ॥ १५ ॥

(भव्य इत्यादि) भव्यो भवसिद्धिकः, अत्यासन्नबोधिः समीपगतबोधिः, सुलभबोधिक इति यावत् । अल्पभवं भजतीत्यल्पभवभाक् , परिमितसंसारिक इत्यर्थः । सती समीचीना दृष्टिर्यस्याऽसौ सद्दृष्टिः,सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः । आराधको ज्ञानाद्याराधनकर्ता, च पुनर्यः चरमोऽपश्चिमभवोऽर्हता महावीरेणोक्तः, अहो ! इत्याश्चर्ये,अस्य सूर्याभनाम्नो देवस्य या स्थितिः, सा कल्पस्थितिवन्न धर्मपरतां न धर्मव्यवहारविषयतामन्वेति अतिक्रामति । कस्माद्? भावान्वयात् शुभभावसंबन्धात् । अत्राधिकृते पिशुनैर्नीचैः शब्दान्तरैः स्थित्यादिशब्दैर्वञ्चिता व्यामोहं प्रापिता भ्रमं मा कार्षुः, न धर्मोऽयं किं तु स्थितिरित्यादिभ्रमभाजो मा भूवन्नित्यर्थः । सूर्याभस्य भव्यत्वादिनिश्चायक आलापको यथा-" अह णं भंते ! सूरियाभदेवे किं भवसिद्धिए, अभवसिद्धिए, सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, परित्तसंसारिए, अणंतसंसारिए, सुलभबोहिए, दुल्लभबोहिए, आराहए, विराहए, चरमे, अचरमे ? । समणे भगवं महावीरे सूरियाभं देवं एवं वयासी-सूरियाभा ! तुमं णं भवसिद्धिए णो अभवसिद्धिए० जाव चरमे णो अचरमे त्ति । " (भवसिद्धिए त्ति) भवे सिद्धिर्यस्यासौ भवसिद्धिक इत्यर्थः । तद्विपरीतोऽभवसिद्धिकोऽभव्य इत्यर्थः । भव्योऽपि कश्चिन्मिथ्यादृष्टिर्भवति, कश्चित्सम्यग्दृष्टिस्तत आत्मनः सम्यग्दृष्टित्वनिश्चयार्थं पृच्छति । सम्यग्दृष्टिरपि कश्चित् परिमितसंसारो भवति, कश्चिदपरिमितसंसारः । उपशमश्रेणिशिरःप्राप्तानामपि केषाञ्चिदनन्तसंसारभावादतः पृच्छति-परिमितसंसारिको वाऽनन्तसंसारिको वाऽनन्तसंसारभावात् । परिमितः स चासौ संसारः परिमितसंसारः, सोऽस्यास्तीति परिमितसंसारिकः, "अतोऽनेकस्वरात् । ७ । २ । ६ । इतीकप्रत्ययः । एवमनन्तश्चासौ संसारश्चानन्तसंसारः, सोऽस्यास्तीत्यनन्तसंसारिकः । परिमितसंसारिकोऽपि कश्चित् सुलभबोधिको भवति । यथा-शालिभद्रादिकः । कश्चिद् दुर्लभबोधिकः । यथा-पुरोहितपुत्रजीवोऽतः पृच्छति । सुलभा बोधिर्भवान्तरे जिनधर्मप्राप्तिर्यस्यासौ सुलभबोधिकः एवं दुर्लभबोधिकः । सुलभबोधिकोऽपि कश्चिद्बोधिं लब्ध्वा विराधयति ततः पृच्छति । आराधयति सम्यक् पालयति विधिमित्याराधकः ; इतरो विराधकः । आराधकोऽपि कश्चित्तद्भवमोक्षगामी न भवति, ततः पृच्छति । चरमोऽनन्तरभावी भवो यस्याऽसौ चरमः, " अभ्रादिभ्यः " । ७ । २ । ४६ । इति च मत्वर्थीयोऽप्रत्ययः । तद्विपरीतोऽचरमः । एवमुक्ते सूर्याभदेवे श्रमणो भगवान्वीरस्तं सूर्याभं देवमेवमवादीत्-भोः सूर्याभ ! त्वं भवसिद्धिकः यावच्चरम इति वृत्तिः । कल्पस्थितिसूत्राणि च-" छव्विहे कप्पट्ठिई पण्णत्ता । तं जहा-सामाइअसंजयकप्पट्ठिई , असंजयकप्पट्ठिई, छेओवट्ठावणिअसंजयकप्पट्ठिई, णिव्विसमाणकप्पट्ठिई, णिव्विट्ठकायअसंजयकप्पट्ठिई,जिणकप्पट्ठिई थेरे कप्पट्ठिई" इत्यादीनि तस्मादर्हत्प्रतिमार्चनं सूर्याभादीनां स्थितिरित्युच्यमानेऽपि सम्यग्दृष्टिस्थितित्वेन धर्मत्वमव्याहतमिति निर्व्यूढम् । यत्तु सूर्याभस्य तावत्सम्यग्दृष्टित्वं निश्चितं,परमग्राह्निकादयो बहवो देवा जिनार्चनाद्युत्सवं कुर्वन्तीति जीवाभिगमेऽपि प्रसिद्धम्,तत्र च मिथ्यादृक्परिग्रहार्थं बहुशब्द इति सर्वदेवकृत्यत्वेन तत्स्थितिरिति चेत् । मैवम् । तत्रैकैकविमानस्थसंख्यातासंख्यातसम्यग्दृश एव जिनप्रतिमापूजादिपरायणा इति ज्ञापनार्थं बहुशब्दप्रयोगसाफल्यात् । अन्यथा-"सव्वेसिं देवाणं" इत्यादिपाठप्रसंगात् । अधिकृतजीवाभिगमसूत्रं चेदम्-"तत्थ देसे उत्तरिल्ले अंजणपव्वए तस्स णं चउद्दिसिं चत्तारि णंदापोक्खरिणीओ पण्णत्ताओ । तं जहा-विजया,विजयंती,जयंती,अपराजिआ,सेसं तहेव० जाव सिद्धायतणा सव्वा चेइयघरवण्णणा णेयव्वा । तत्थ णं बहवे भवणवइवाणमंतरजोइसियवेमाणिआ देवा चाउम्मासियपडिवएसु य संवच्छरेसु य अण्णेसु बहुजणनिक्खमणनाणुप्पायपरिनिव्वायणमाइएसु देवकज्जेसु देवसमुदएसु देवसमितीसु अ देवसमवाएसु अ देवपओअणेसु एगंतओ साहिया समुवागया समाणा पमुइयपक्कीलिया अट्ठाहियाओ महामहिमाओ करेमाणा सुहं सुहेणं विहरंतीति चेइयघरवण्णणा " इत्यत्र चैत्यगृहं जिनप्रतिमागृहमेव द्रष्टव्यम्, अर्हत्साधोस्तत्रासंभवादित्यर्थमपि लुम्पकस्यैव शिरसि प्रहारः । यद्यप्यभव्यानां चारित्राद्यनुष्ठानमिव मिथ्यादृशामपि जिनप्रतिमापूजादिकं संभवति, तथापि बहूनां देवानां देवीनां चार्चनीया वन्दनीयाः पूजनीया इत्यादिप्रकारेण जिनप्रतिमावर्णनं मिथ्यादृगपेक्षया न युज्यते, नियमेन सम्यग्धर्मबुध्या जिनप्रतिमापूजावन्दनादेर्मिथ्यादृगादेर्बहिर्भूतत्वात् मातृस्थानादिं विना मिथ्यात्वलेशस्याऽप्ययोगात्, चक्रिणां देशसाधनाद्यर्थं पौषधस्यैवैहिकफलस्याप्यश्रवणात्, विघ्नविनायकाद्युपशमस्य तेषां स्वतः सिद्धत्वात्, अन्यथा मिथ्यादृग्देवानां पुर इव यागभागादिवर्णनप्रसङ्गादिति दिक् । ननु यदा विमानाधिपतित्वेन मिथ्यादृष्टिरेव देवतयोत्पद्यते, तदाऽऽत्मीयबुद्ध्या जिनप्रतिमां पूजयति, देवस्थितौ च शक्रस्तवं पठति, आशातनां च त्याजयति, तत्प्रकृतेऽपि स्यादिति चेत् । मैवम् । मिथ्यादृशां विमानाधिपतित्वेनोत्पादासंभवाद्, विमानाधिपतिः मिथ्यादृगपि स्यादित्यादिवचनस्य क्वाप्यागमेऽनुपलम्भात् , ये च ज्योतिष्केन्द्राश्चन्द्रसूर्या अप्यसंख्यातास्तेऽपि सम्यग्दृश एव स्युरिति । ॥ १५ ॥ प्रति० । (वैमानिकानां सम्यग्दृष्टित्वचिन्ताऽन्यत्र)

(७) नन्वधार्मिका एव देवा उच्यन्ते, तत्कृत्यं न प्रमाणमित्याशङ्कां निराचिकीर्षुराह-

सद्भक्त्यादिगुणान्वितानपि सुरान् सम्यग्दृशो ये ध्रुवं,
मन्यन्ते स्म विधर्मणो गुरुकुलभ्रष्टा जिनार्चाद्विषः ।
देवाशातनयाऽनया जिनमताद् मातङ्गवल्लेभिरे,
स्थानाङ्गप्रतिषिद्धया विहितया ते सर्वतो बाह्यताम् ॥ १६ ॥

(सद्भक्त्यादीति) सतां चातुर्वर्णनीयस्थितानां भक्तिर्बाह्यप्रतिपत्त्यादिर्येषां बहुमानवैयावृत्त्यादीनां ते च ते गुणाश्च, तैरन्वितान् संयुतान् सम्यग्दृशः सुरानपि ये गुरुकुलाद्भ्रष्टास्त्यक्तगुरुकुलवासा यथाच्छन्दा यथाच्छन्दविहारिणो जिनार्चाद्विषो जिनप्रतिमापूजादौ धृतद्वेषाः, लुम्पाकाः श्वपाकाः,विधर्मणः विगतो धर्मो येभ्यस्ते विधर्माणः,तादृशान् मन्यन्ते स्म,तेऽनयाऽवर्णवादरूपयाऽऽशातनया स्थानाङ्गप्रतिषिद्धयाऽकर्तव्यत्वेनोक्तया,विहितया प्रसह्य कृतया, मातङ्गवच्चाण्डालवत्, सर्वतः सर्वस्माद् बाह्यतां लेभिरे । अनया तैः कर्मचाण्डालत्वं प्राप्तमिति व्यङ्ग्यप्रतीतेः पर्यायोक्तम्, 'व्यङ्ग्यस्योक्तिः पर्यायोक्तं' इति हेमवचनात् । देवाशातनयेत्यनन्तरमित्रशब्दोल्लेखे तेषां सर्वतो बाह्यतायां हेतोरुत्प्रेक्षणात् गम्योत्प्रे-

ज्ञा चेति ध्येयम्। प्रति०। ("अवस्थाय" शब्दे प्रथमभागे ७६२ पृष्ठे सर्वेषामवर्ण उक्तः) देववर्णवादो यथा—" देवाण अहो सीलं, विसयविसविमोहिआ वि जिणभवणे । अच्छरसाहिं पि समं, हासाई जेण न करिंति ॥ १ ॥ " इति । स्था०४ ठा०। " वृत्तौ सविशेषण " इत्यादिन्यायात्प्रागभवनीयतपस्संयमयोरेव देववर्णनविधौ तात्पर्यमिति निरस्तम, एकविधेरन्यतः सिद्धत्वेन चमरेन्द्रेशानेन्द्राद्यावृत्तिप्रसङ्गेन च विशिष्टविधावेव तात्पर्यात् तस्माद् येऽधार्मिका देवा इति वदन्ति,तैस्तद्वर्णवादस्य मूलत उपहासितत्वात् स्वकरेण स्वशिरसि रजः क्षिप्यते इति ज्ञेयम्। अत एव सत्यप्यसंयतत्वे निष्ठुरभाषाभयाद्योऽसंयतत्वमागमे तेषां परिभाषितं, नो धर्मेण इति तु कुमतिग्रस्तैः प्रक्रियमाणं न क्वापि श्रूयते, धर्मसामान्याभावप्रसङ्गेन तथा वक्तुमशक्यत्वात्। उपपादितं चैतन्महता प्रबन्धेन "धर्मपरीक्षायाम" इत्यस्माभिरुपरम्यते ॥ १६ ॥

अथ देवेषु धर्मस्थापकान् गुणानेव दर्शयन् परानाक्षिपति-

शक्रेऽवग्रहदावृता व्रतभृतां निष्पापवाग्भाषिता,
सच्छर्माद्यभिलाषिता च गदिता भङ्गासिसूत्रे स्फुटम् ।
इत्युच्चैरतिदेशपेशलमतिः सम्यग्दृशां स्वःसदां,
धर्मित्वप्रतिभूः खलस्खलनकृद्धर्मस्थितिं जानताम्॥ १७॥

(शक इत्यादि) शक्रे सौधर्मेन्द्रे व्रतभृतां साधूनामवग्रहदावृताऽवग्रहदानगुणः, तथा निष्पापवाग्भाषिता निरवद्यवाग्भाषकत्वगुणः,सतां साध्वादीनां शर्माद्यभिलाषिता अविनश्वरसुखादिकारित्वगुणः,चः समुच्चये, भङ्गसिसूत्रे भगवत्यां,स्फुटं प्रकटं,गदिता,एते गुणा व्यक्तं प्रतिपादिता इत्यर्थः। इति अमुना प्रकारेण,उच्चैरत्यर्थम्, अतिदेशेन सादृश्यग्राहकवचनेन, पेशला रमणीया मतिः,सम्यग्दृशां सम्यग्दृष्टीनां, स्वःसदां देवानां, तत्संबन्धिनीत्यर्थः। धर्मस्थितिं,धर्मव्यवस्थां,जानतां सहृदयानां, धर्मित्वप्रतिभूः धर्मित्वस्थापनाया प्रहे तु साक्षिणी, कीदृग्?, खलस्खलनकृत् दुर्जेयदुर्जनप्रतिवादिपराजयकृदित्यर्थः। अयं भावः–सम्यग्दृष्टिदेवेष्वेव नवग्रहदानादयो वन्दनवैयावृत्यादयश्चोभयसिद्धा गुणा दर्शनाचारस्य धर्मत्वेन विख्यातभूताः प्रकृतिधार्मिकातिरितिन्यायेन धर्मतयाऽकामेनाप्यभ्युपेयाः, तत्कथं तद्वन्तोऽप्यधर्मिण इति वदतां जिह्वा न परिशटते?। अथ भगवद्वन्दनमेव तेषां धर्मो, नार्वादिकमिति स्वार्द्धजरतीयग्रहणे विनाऽनन्तानुबन्धिनं हठाग्रहमन्यत्कारणं पश्यामः। भक्तरादि चात्र-" तए णं से सक्के देविंदे देवराया समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठ० समणं भगवं महावीरं वंदइ, वंदइत्ता एवं वयासी–कइविहे णं भंते! उग्गहे" (इत्यादि "उग्गह" शब्दे द्वितीयभागे ६६६ पृष्ठे शक्रागमनावसरे पाठ उक्तः) ॥ १७ ॥ प्रति० ।

(८) मौनेन भगवदनुमतिः। यद्यननुमोद्यं देवानां भक्तिकृत्यं, तेन न धर्म इति मूढाशयस्य शङ्कामसिद्ध्या निराकुर्वन्नाह–

देवानां ननु भक्तिकृत्यमपि न श्लाघ्यं यतीनां यतः,
सूर्याभःकृतनृत्यदर्शनरुचिप्रश्नोऽर्हताऽनादृतः ।
हन्तेयं जड! चातुरी गुरुकुले कुत्र त्वया शिक्षिता,
सर्वत्राऽपि हि पण्डितैरनुमतं येनानिषिद्धं स्मृतम् ॥१८॥

(देवानामित्यादि) ननु देवानां भक्तिकृत्यमपि प्रतिमाऽर्चनादि, यतीनां न श्लाघ्यं नानुमोद्यं, ततश्च न धर्मो वन्दनादि, श्लाघ्यत्वात् धर्म एव। अत एव "पोराणमेयं सूरियाभ" इत्यादि प्रतिज्ञाय चतुर्विधा देवा अर्हतो भगवतो वन्दित्वा नमस्कृत्य स्वस्वनामगोत्राणि श्रावयन्तीत्येवं नियमनमिति कृष्ट्यम। इदमित्थमेव। यतः सूर्याभःकृतो नृत्यविधिर्नृत्यकरणप्रश्नो येन स तथाऽर्हता श्रीमहावीरेण नादृतः तन्नृत्यकरणप्रश्नं नादृतवानित्यर्थः। तथा च सूत्रम्-" तते णं से सूरियाभे देवे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए धम्मं सोच्चा णिसम्म हट्ठतुट्ठ० जाव हियया उट्ठेइ, उट्ठेइत्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वयासी-अहं णं भंते! सूरियाभे देवे किं भवसिद्धिए० जाव अचरमे। तते णं से सूरियाभे देवे समणेणं एवं वुत्ते समाणे हट्ठतुट्ठचित्तमाणंदिए परमसोमणस्से समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ,णमंसइत्ता एवं वयासी–तुब्भे णं भंते! सव्वं जाणह सव्वं पासह सव्वं कालं जाणह पासह सव्वे जाणह पासह जाणंति णं देवाणुप्पिया! ताव तं इच्छामि णं० जाव उवदंसित्तए। तते णं समणे भगवं महावीरे सूरियाभेणं देवेणं एवं वुत्ते समाणे सूरियाभस्स देवस्स एयमट्ठं सोच्चा णो आढाइ, णो परिजाणइ, तुसिणीए संचिट्ठइ। तते णं से सूरियाभे देवे समणं भगवं महावीरं दोच्चं पि तच्चं पि एवं वयासी–तुब्भे णं भंते! सव्वं जाणह० जाव उवदंसित्तए त्ति कट्टु समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ " इत्यादि । प्रति० । रा० । अत्रोत्तरम–हन्त इति खेदे, इयं चातुरी त्वया गुरुकुले कुत्र शिक्षिता, यत् मौनं निषेधमेव व्यञ्जयतीति, येन कारणेन सर्वत्रापि सर्वस्मिन्नपि संप्रदायैः पण्डितैः अनिषिद्धमनुमतं स्मृतम्, अत एव स्वार्थमाहारादि निष्पादयन् गृही अप्रतिषेधानुमतिप्रसंगभयादेव निषिध्यते, अनिषेधस्यानुमत्याक्षेपकत्वातिप्रसङ्गादिति। सोऽनुपदमेव निराकरिष्यते ॥ १८ ॥

तूष्णींभावे भगवद्भिरपि किं बीजं वाच्यमित्याशङ्कायामाह—

इच्छा स्वस्य न नृत्यदर्शनविधौ स्वाध्यायभङ्गः पुनः,
साधूनां त्रिदशस्य चातिशयनी भक्तिर्भवध्वंसिनी ।
तुल्यायव्ययतामिति प्रतियता तूष्णीं स्थितं स्वामिना,
बाह्यस्तत्प्रतिषेधको न कलयेत्तद्वंशजानां स्थितिम् ॥१९॥

(इच्छेति) स्वदर्शनविधौ नेच्छा, वीतरागत्वात्, साधूनां गौतमादीनां पुनर्नृत्यदर्शने स्वाध्यायभङ्गः, स चानिष्टः। तेषां त्रिदशस्य सूर्याभस्य च भक्तिः भवध्वंसिनी, नृत्यप्रदर्शने समुदायापेक्षया तुल्यायव्ययतां समानहानिवृद्धिकरत्वं,प्रतियता केवलज्ञानालोकेन कलयता स्वामिना श्रीवर्द्धमानस्वामिना तूष्णीं मौनेन स्थितं, प्रत्येकं तु यस्य यो भावो बलीयांस्तदपेक्षया तस्य विधेर्निषेधस्य वानिष्टानुबन्धस्याबलत्वाद्यथाविशेषेण तदभावाद्वा तस्याप्राज्यात्। अन्यथाऽऽहारविरोधादिविधायिगतेः वाभिधेये तु संप्रदायक्रमनियामक इति तद्वंशजानां स्वामिवंशोत्पन्नानां स्थितिर्मर्यादा तां, बाह्यः, शासनबहिर्भूतो,न कलयेन्न जानीयात्,न ह्यन्यत्कुलमर्यादां तद्बहिर्वर्ती जानातीत्युक्तिः ॥१९॥

वाक्क्रमवैचित्र्यमेवोपदर्शयति। वह्निमिव सावद्यं नानुमन्यते भगवान्-

सावद्यं व्यवहारतोऽपि भगवान् साक्षात्किमानादिशन्,

यद्यादि प्रतिमार्चनादि गुणकृन्मौनेन संमन्यते ।
नत्यादि द्युसदां तदा चरणतः कर्त्तव्यमाह स्फुटं,
योगेच्छामनुगृह्य वा व्रतभृतश्चित्रो विभोर्वाक्क्रमः ॥२०॥

(सावद्यमिति) यत्किल बल्यादि प्रतिमार्चनादि च व्यवहारतोऽपि स्थूलव्यवहारेणाऽपि सावद्यं सावद्यत्वव्यपदेशविषयः, तत्साक्षात् कण्ठरवेण अनादिशन् भगवान्मौनेन गुणकृत् संमन्यते, मौनाक्षिप्तविधिना तत्र प्रवर्तयतीत्यर्थः । अप्रमादसारो हि भगवदुपदेशोऽपुनर्बन्धकादौ स्वस्वौचित्येन विशेषे विश्राम्यतीति, तदाऽयं चातिशयविजृम्भितम् । अत एव-"सव्वे पाणा सव्वे भूया" इत्याद्युपदेशात् तदीयात् केचिच्चारित्रं केचिद्देशविरतिं केचित्केवलसम्यक्त्वं, केचिन्मद्यमांसादिविरतिं प्रतिपन्नवन्तः ते ह्यप्रमादविधिशेषीभूतात् स्वस्वौचितविधानमायाप्रतिज्ञयाद्वा प्रतिसंधाय तत्तदर्थेऽप्रमादमेव पुरस्कुर्वते, तथा प्रवर्तते चेत्यर्थः। सिद्धमुपदेशपदे, द्युसदां देवानां, नत्यादि वन्दनादि, तदा चरणतः चरणमाश्रित्य स्फुटं कर्तव्यमाह । अत एवाऽऽह-"सूर्याभो देवानुप्रियं वन्दे" इत्याद्युक्तौ "पोराणमेयं" इत्याद्युक्तेर्भगवता पुर एव नाट्यकरणादिपर्युपासनाया अप्युपदेशः । अन्यथा-" जाव पज्जुवासामि " इत्यस्योत्तराभावेन न्यूनतापत्तेः । न च नामगोत्रश्रावणविधिः स्वतन्त्र एव, तस्य सुखदान्यतरत्वाभावेन फलविधित्वाजायात्, नाऽपि साधनविधिः, पर्युपासनाया एव साधनत्वात्, समकृतया नामगोत्रश्रावणस्य साधनत्वासिद्धेः, किं तु चिकीर्षितसाधनानुकूलप्रतिज्ञाविधिशेषतया तस्योपयोगः, शेषेण आक्षेपः सुकर एवेति व्युत्पन्नानां न कश्चिदत्र व्यामोहः, व्रतं चारित्रं, स्फुटं प्रकटं, प्रवृत्तयोगिनं प्रत्याह-" एवं देवाणुप्पिया गंतव्वं " इत्यादिना इच्छायोगिनं प्रति च योगेच्छामनुगृह्य चाह-" अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह " इतीच्छानुलोमभाषयाऽऽहेत्यर्थः, वाकारो व्यवस्थायाम् । एवं विभोर्भगवतो, वाक्क्रमो वचनरचनानुक्रमः, चित्रो नानाप्रकारः । मौनमपि च विनीतमभिज्ञं पुरुषं प्रतीच्छानुलोमादिव्यञ्जकमेवेति तत्तात्पर्यप्रतिसंधानेनैव प्रेक्षावत्प्रवृत्तिः सुघटा । अत एव मौने स्वव्यवहारानुरोधेन कृतेऽपि पारिणामिकया बुद्ध्या स्वकृतिसाध्यत्वेष्टसाधनत्वाद्यनुसंधाय नाट्यकरणमारब्धं सूर्याभेण देवेन । तदुक्तं राजप्रश्नीयवृत्तौ-"तए णं" इत्यादि । ततः पारिणामिकया बुद्ध्या तत्त्वगम्यमौनमेव भगवत उचितं, न पुनः किमपि वक्तुं, केवलं मया भक्तिरात्मीयोपदर्शनीयेति प्रमोदातिशयतो जातपुलकः सन् सूर्याभदेवः श्रमणं भगवं महावीरं वन्दते, स्तौति, नमस्यति कायेन वन्दित्वा नमस्कृत्य, "उत्तरपुरच्छिमं" इत्यादि सुगममिति ॥२०॥

एकाधिकारिकतुल्यायव्ययत्वादेव भक्तिकर्मणि विभोर्मौनमुचितमिति मतं निषेधयति--

दानादाविव भक्तिकर्मणि विभुर्दोषान्निषेधे विधौ,
मौनी स्यादिति गीर्मृषैव कुधियां दुष्टे निषेधस्थितेः ।
अन्यत्र प्रतिबन्धतोऽनभिमतस्यार्थानुपस्थापनात्,
प्रज्ञाप्ये विनयान्विते विफलताद्वेषोदयासंभवात् ॥२१॥

(दानादाविति) दानशालादिषु भक्तस्थानेषु दीयमाने दानादाविव भक्तिकर्मणि नाट्यजिनार्चादौ विभुर्निषेधे विधौ च दोषाद्भयतः पाशरज्जुस्थानी स्यात् । तथाहि-दानादिनिषेधेऽन्तराय भयं, तद्विधाने च प्राणिघातानुमतिरिति तत्र साधूनां मौनमेव युक्तम् ।

" जे उ दाणं पसंसंति, वहमिच्छंति पाणिणं ।
जे अ णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेअं करंति ते ॥
दुहओ वि ते ण भासंति, अत्थि वा नत्थि वा पुणो ।
आयं रयस्स हिच्चा णं, निव्वाणं पाउणंति ते " ॥

इति सूत्रकृद्वचनात् । तथा भक्तिकर्मण्यपि निषेधे भक्तिव्याघातभयं, विधौ च बहुप्राणिव्यापत्तिभयादिति मौनमेवोचितमिति भावः। इतीयं गीः कुधियां कुबुद्धीनां मृषैव । कुतः?, दुष्टे दोषवति, निषेधस्थितेः निषेधव्यवस्थानात् । एतदपि कुतः?, प्रतिबन्धतः प्रतिबन्धो व्याप्तिस्ततः। प्रतिबन्धाकारश्चायम्-यद्यत्र येन दोषवत्ता ज्ञायते तत्तत्र तेन निषेध्यमिति निषेधार्थः। पापजनकत्वमनिष्टजन्यशोभनत्वं तावत् यदि दोषवति न स्यात् तर्हि स्वप्रतिव्याघातदण्डे विपक्षबाधकतर्केण तद्ग्रहः । अथ दुष्टमशुद्धाहारदानं, तच्च व्याख्यानशक्त्यभावेऽनुकूलप्रत्यनीकेन निषिद्ध्यत इति व्यभिचारः, तत्राह-अन्यत्र तेनानभिमतो यस्यार्थस्तस्यानुपस्थापनमुपस्थापनानुकूलशक्त्यभावस्ततः । तदुक्तमाचारे सप्तमस्य द्वितीये-"ते फासे पुट्ठो धीरो अहियासए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे तक्किया णमणेलिसं अदुवा वयगुत्तीए गोयमस्स" इत्यादि तर्कयित्वा पुरुषं, कोऽयं पुरुष इत्यनन्यसदृशमाचक्षीत, विकलेनानुवाग्गुप्तिर्विधेयेत्याह-"अदुवा" इत्याद्यर्थः। तथा च-यद् दुष्टं तच्छक्तित्वे निषिद्ध्यतेति नियमो लभ्यते, तेन एकान्तदुष्टस्य निर्बलेन वादिनो निषेधेऽपि वाग्गुप्तिसमाध्यप्रतिरोधान्न दोषः। तदुक्तं तत्रैव-"अदुवा वायाओ विउज्जंति । तं जहाअत्थि लोए, णत्थि लोए, धुवे लोए, अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए, सपज्जवसिए लोए, अपज्जवसिए लोए, सुकडे त्ति वा दुक्कडे त्ति वा कल्लाणे त्ति वा पावि त्ति वा सारे त्ति वा असारे त्ति वा सिद्धि त्ति वा असिद्धि त्ति वा निरए त्ति वा अनिरए त्ति वा जमणं विप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा एत्थ वि जाणह" अकस्मात् "एवं तेसिं णो सुअक्खाए णो सुपन्नत्ते धम्मे भवति। से जहेयं भगवया पवेइयं आसुपन्नेण जाणया पासया अदुवा गुत्तीए गोयमस्स त्ति बेमि। " अस्तिनास्तिध्रुवाध्रुवाद्येकान्तवादमौलिकानां त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां प्रावादुकशतानां वादे लब्धिमतां प्रतिज्ञादेतुदृष्टान्तोपन्यासेन तत्पराजयापादनतः सम्यगुत्तरं देयम् । अथवा-गुप्तिर्वाग्गोचरस्य विधेये तदहं ब्रवीमीति फलितार्थः। तथा प्रज्ञाप्ये प्रज्ञापनीये, विनयान्विते पुरुष इत्यपि विशेषणीयम्, कुतः?, निषेधस्य विफलतायाः श्रोतुर्द्वेषोदयस्य चासंभवात् । तेन जमालिना विहारकर्त्तव्यतां पृष्टो भगवांस्तद्दुष्टतां जानानोऽपि यन्न निषिद्धवान्, किं तु मौनमास्थितवाँस्तत् न दोषः। अविनीते हि सत्यवचः प्रयोगेऽपि फलतोऽसत्य एव । तदाह-"अविणीयमाणवं तो, किलिस्सई भासई मुसं चेव। घंटालोहं णाउं, को कमकरणे पवत्तिज्जा ॥" त्ति । तत्प्रज्ञाप्ये विनीते सूर्याभे नाट्यकर्त्तव्यतां पृच्छति भगवतो मौनमनुमतिमेव व्यञ्जयतीति स्थितम् । यस्तु भक्तिनिषेधे 'जे तु दाणं' इत्यादिना प्रशंसाया अपि निषेधाद् दाननिषेधः सुतरामिति पापिष्ठेन दृष्टान्ततयोक्तः, सोऽप्ययुक्तः, 'जे तु दानं' इत्यादिसूत्रस्य दातृपात्रयोः दशाविशेषगोचरत्वात्, अपुष्टाऽऽलम्बनगोचरत्वादिति यावत् । पुष्टालम्बनं तु द्विजन्मने भगवद्वस्त्रदानवत् सुहस्तिनो रङ्कदानवत्साधूनामपि गृहिणामनुकम्पादानं श्रूयते "गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा" इत्यादिना

तन्निषेधस्याप्युत्सर्गपरत्वात्। भवति हि तेन मिथ्यादृष्टेरप्यप्रमत्तसंयतगुणस्थानादिनिबन्धनाविरतसम्यग्दृष्ट्यादिगुणस्थानप्राप्तिलक्षणो गुणः प्राप्तदृढतरगुणस्थैर्यार्थम। अपि च तदनुज्ञायते- "उस्संनस्स गिहस्स व, जिणपवयणनिच्चभावियमइस्स । कीरइ जं अणवज्जं, दढसम्मत्तस्सऽवत्थासु ॥ " इत्यादिना स्वनिष्ठं तु फलं ज्ञानिनां तीर्थकृत इव तथाविधौचित्यप्रवृत्तिहेतुशुभकर्मनिर्जरणमेव । (प्रति०)

अनिषेधात्तु संमतिमेव सदृष्टान्तमुपपादयति-

ज्ञातैः शल्यविषादिभिर्नु भरतादीनां निषिद्धा यथा,
कामा नो जिनसद्मकारणविधिर्व्यक्तं निषिद्धस्तथा ॥
तीर्थेशानुमते परानुमतेर्द्रव्यस्तवे किं ततो,
नेष्टा चेज्ज्वरिणां ततः किमु सिता माधुर्यमुन्मुञ्चति ? २२

(ज्ञातैरिति) ' नु ' इति निश्चये, शल्यविषादिभिर्ज्ञातैर्दृष्टान्तैः, यथा भरतादीनां कामा निषिद्धाः, तथा जिनसद्मकारणविधिर्व्यक्तं न निषिद्धः। श्रूयते चागमे-"थूभसंयाउआणं,अठासीयं च जिणवरे कासी।" इत्यादिना च यदि स दुष्टः स्यात्तदा कामादेरिव निषिध्येत, न च तथा निषिद्धः, इत्यनुमत इत्येवानुमीयते। आह च-"ताए अणुमउ च्चिय अप्पमिसेहाओ तं जुत्ती ए त्ति।" तथा "ओसरणे बलिमाई,भरहाईण न निवारिनं तेण। जह तेसिं चिय कामा, सल्लविसाईहिँ णाएहिं ॥ " तीर्थेशानुमते द्रव्यस्तवे परानुमतेर्द्वेषाननुमोदनात् किं स्यात्?, न किञ्चिदित्यर्थः। इदमेव प्रतिवस्तूपमया दृढयति-चेद्यदि ज्वरिणां सिता शर्करा,नेष्टा नाभिमता, ततः किं माधुर्यं स्वभावसिद्धमधुरतागुणमुन्मुञ्चति?, नैवोन्मुञ्चति। तद्भगवदनुमतस्य द्रव्यस्तवस्यान्यद्वेषमात्रेण नासुन्दरत्वमिति गतार्थः ॥ २२॥

(५) अनुमोद्यत्वमेव द्रव्यस्तवस्य सूत्रनीत्या स्थापयन् परमाक्षिपति-

साधूनां वचनं च चैत्यनमनश्लाघार्चनोद्देशतः,
कायोत्सर्गविधायकं ह्यनुमतिं द्रव्यस्तवस्याह यत् ।
तत्किं लुम्पक ! लुम्पतस्तव भयं दुःखौघहालाहल-
ज्वालाजालमये भवाहिवदने पातेन नोत्पद्यते ?॥ २३ ॥

(साधूनामित्यादि) साधूनां परमार्थतश्चारित्रवतां, चैत्यनमनश्लाघार्चनोद्देशतश्चैत्यवन्दनाद्युपदेशेन, कायोत्सर्गविधायकं कायोत्सर्गकरणप्रतिज्ञाप्रतिपादकं, हि निश्चितं, वचनं द्रव्यस्तवस्य यत् अनुमतिमनुमोदनमाह, हे लुम्पक ! तद्वचनं, लुम्पतस्तव भवाऽहिवदने संसारभुजङ्गवक्त्रकोटरे,पातेन कृत्वा भयं नोत्पद्यते?, अयुक्तमेतत् तवेति व्यङ्ग्यम् । भवाऽहिवदने किंभूते?, दुःखौघ एव हालाहलं तस्य यत् ज्वालाजालं तन्मये । सूत्रे चेदं स्पष्टमेव-" अरिहंतचेइआणं " इत्यादि । अस्यार्थः-अर्हतां भावार्हतां चैत्यानि चित्तसमाधिजनकानि प्रतिमालक्षणानि अर्हच्चैत्यानि, तेषां वन्दनानिमित्तं कायोत्सर्गं करोमीति संबन्धः। कायोत्सर्गः स्थानमौनत्यागं विनाऽभ्यन्तरत्यागः,तं करोमि । किं निमित्तमित्याह-"वंदणवत्तियाए " इत्यादि । वन्दनं प्रशस्तमनोवाक्कायप्रवृत्तिः, तत्प्रत्ययं तन्निमित्तं, यादृक् वन्दनात् पुण्यं स्यात्तादृक्कायोत्सर्गादपि भवत्वित्यर्थः । ' वत्तिआए त्ति ' आर्षत्वात्सिद्धम्, 'पूअणवत्तिआए ' पूजनं गन्धमाल्यादिभिरभ्यर्चनं, तत्प्रत्ययम् 'सक्कारवत्तिआए' सत्कारो वस्त्राभरणादिभिस्तत्प्रत्ययम। नन्वेतौ पूजासत्कारौ द्रव्यस्तवत्वात् साधोः " छज्जीवकायसंजमो " इत्यादिवचनप्रामाण्यात्कथं नानुचितौ ?, श्रावकस्य तु साक्षात् कुर्वतः कायोत्सर्गद्वारेण तत्प्रार्थने कथं न नैरर्थक्यम ? । उच्यते-साधोर्द्रव्यस्तवनिषेधः स्वयं करणमाश्रित्य न तु कारणानुमतिरप्यस्ति । यदुक्तम्-"सुव्वइ अ वयररिसिणा,कारवणं पि य अणुट्ठियमिमस्स। .... कामगंधे, सुअं गथा देसणा चेव"। श्रावकस्य त्वेतौ संपादयतो भक्त्यतिशयादाधिक्यसंपादनार्थं प्रार्थयमानस्य न नैरर्थक्यम । एते भगवन्तोऽत्यादरेण वन्द्यमानाः पूज्यमाना अप्यनन्तगुणत्वात्सुवन्दितपूजिताः स्युः । अत्र दशार्णभद्रो दृष्टान्तः। तदेवं पूजासत्कारौ भावस्तवहेतुत्वाद्गणनीयावेवेति। "सम्माणवत्तिआए" संमानः स्तवादिभिर्गुणोत्कीर्तनं, तत्प्रत्ययं अद्वैतभाववन्दनाद्यम, तत् किमर्थमित्याह-"बोहिलाभवत्तियाए त्ति" बोधिलाभः प्रेत्य जिनधर्मप्राप्तिः,तत्प्रत्ययम्। एषोऽपि किं निमित्तम ?-"निरुवसग्गवत्तियाए त्ति" निरुपसर्गो जन्माद्युपसर्गरहितो मोक्षः,तत्प्रत्ययम। अयं च कायोत्सर्गः श्रद्धादिरहितैः क्रियमाणोऽपि नेष्टसाधक इत्यत आह-" सद्धाए " इत्यादि। श्रद्धया स्वाभिप्रायेण, न बलाभियोगादिना, 'मेधया' हेयोपादेयपरिज्ञानरूपया, न जडत्वेन मर्यादावर्तितया वा नासमञ्जसेन तद्वैकल्येन वर्द्धमानयेति प्रत्येकं श्रद्धादिभिः संबध्यते । एवमेतैर्हेतुभिस्तिष्ठामि करोमि कायोत्सर्गमिति वृत्तिः, द्रव्यस्तवानुमोदनादिति भावः। इति भावस्तवस्यैवोपचयाय कायोत्सर्गद्वारा तदाश्रयणं युक्तम, अनुमोद्यनिमित्तलोकोपचारविनयोपकर्षत्वाच्च तदत्यन्तोपयोगः दुर्गतरत्नाकरस्थलाभतुल्यत्वाद्वा यतीनां कृतप्रयत्नस्येति भावनीयं सुधीभिः ॥ २३ ॥ प्रति० ।

तन्त्रयुक्त्या द्रव्यस्तवे साधोरनुमोदनमस्तीत्येतदेव दर्शयन्नाह-

तंतम्मि वंदणाए, पूयणसक्कारहेउ उस्सग्गो ।
जतिणो वि हु णिद्दिट्ठो, ते पुण दव्वत्थयसरूवे ॥२९॥

तन्त्रे शास्त्रे, किंनामके ?, वन्दनायां चैत्यवन्दनाऽभिधाने,पूजनसत्कारहेतु पूजासत्कृतिनिमित्तम, उत्सर्गः कायोत्सर्गः, यतेरपि भावस्तवारूढसाधोरपि , न केवलं गृहिणः, हुशब्दस्तथैव, निर्दिष्टोऽभिहितस्तीर्थकरादिभिः। यतस्तन्त्रसूत्रम्-"अरहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं वंदणवत्तियाए पूयणवत्तियाए सक्कारवत्तियाए" इत्यादि। यद्येवं तदा प्रस्तुते किमायातम?, इत्याह-(ते पुण त्ति) तौ पुनः पूजनसत्कारौ, (दव्वत्थयसरूवे त्ति) प्राकृतत्वात् द्रव्यस्तवस्वरूपौ द्रव्यस्तवस्वभावौ भवतः। द्रव्यस्तवस्वरूपे वा एतौ वर्तेते। इदमुक्तं भवति-द्रव्यस्तवस्वरूपपूजादिप्रत्ययकायोत्सर्गप्रतिपादनात्साधोर्द्रव्यस्तवेऽनुमोदनमनुज्ञातं सूत्रे । इति गाथार्थः ॥ २९ ॥

अथ पूजनसत्कारयोर्द्रव्यस्तवताऽभिधानायाऽऽह-

मल्लाइएहिँ पूजा, सक्कारो पवरवत्थमादीहिं ।
अण्णे विवज्जओ इह, दुहा वि दव्वत्थओ एत्थ ॥३०॥

माल्यायां साधूनि माल्यानि ग्रथितकुसुमानि, तदादिभिः आदिशब्दादग्रथितकुसुमग्रहः। पूजा पूजनं भवति सत्कारः सत्कृतिर्भवति,प्रवरवस्त्रादिभिः प्रधानवसनप्रभृतिभिः,इह च मकारः प्रा-

कृतप्रभवः । आदिशब्दश्च कनकादिपरिग्रहार्थः । इत्येकीयं मतम् । अन्येऽपरे सूरयः, विपर्ययो व्यत्यासः, पूजा प्रवरवस्त्रादिभिः, सत्कारो माल्यादिभिरित्येवं लक्षणः । इहेति पूजासत्कारलक्षणे, इति मन्यन्ते इति वाक्यशेषः । प्रस्तुतयोजनार्थमाह-द्विधाऽपि द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां, व्याख्यानद्वयेऽपीत्यर्थः। द्रव्यस्तवोऽस्ति, अत्रेति पूजासत्कारयोः। इति गाथार्थः॥३०॥

एवं तावत्तन्त्रतो द्रव्यस्तवे साधोरनुमोदनं दर्शितमथोपपत्तितस्तदेव दर्शयन्नाह-

ओसरणे बलिमादी, ण चेह जं भगवया वि पडिसिद्धं ।
ता एस अणुण्णाओ, उचियाणं गम्मती तेण ॥ ३१ ॥

अवसरणे समवसरणे, देवसंस्कृतभगवद्व्याख्यानभूमौ, बल्याद्युपहारप्रभृति, आदिशब्दाद्गन्धमाल्यगीतवाद्यपरिग्रहः । न नैव, चशब्दो द्रव्यस्तवाऽनुमोदनस्य समर्थने कारणान्तरसमुच्चयार्थः । इहागमे, लोके वा, यद्यस्मात्कारणात्, भगवता जिनेनाऽपि । तेन हि किल तन्निरतिचारचारित्रतया निषेधनीयं स्यादित्यपिशब्दार्थः । प्रतिषिद्धं निवारितम् । (ता इति) तस्मात्कारणात्, एष द्रव्यस्तवः बल्यादिविधानस्य द्रव्यस्तवत्वात्, अनुज्ञातोऽनुमतः, इति गम्यतेऽवसीयते, " अप्रतिषिद्धमनुमतं " इतिवचनात्, उचितानां तद्योग्यानां गृहस्थानां, राजादीनामित्यर्थः । तेन भगवता जिनेनेति । आह च-

" राया व रायमच्चो, तस्सासइ पउरजणवओ वा वि ।
दुब्बलिखंडियकुट्टिय-तंदूलाणाढगं कलमा ॥ १ ॥
भाइअपुप्फणियाणं, अखंमफुमिगाण फलगसरिसाण ।
कीरइ बली सुरा वि हु, तत्थेव छुहंति गंधाई ॥ २ ॥ "

इत्यादि । इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अथ भवतु भगवतोऽनुमतोऽयं तदन्येषां तदनुमतिर्न युक्ता, अमुक्तत्वादित्याशङ्क्याऽऽह-

ण य भगवं अणुजाणति, जोगं मुक्खविगुणं कदाचिदवि ।
ण य तयणुगुणो वि तओ, ण बहुमतो होति अण्णेसिं ॥ ३२ ॥

न च नैव, भगवानर्हन्, अनुजानाति अनुमन्यते, योगं व्यापारम् । किंविधम् ?, मोक्षविगुणं निर्वाणाननुगुणम्, कदाचिदपि कस्मिन्नपि काले, पारमार्थिकपरोपकारकरणस्वरूपत्वाद्भगवतः । ततः किमित्याह-न च न पुनः, तदनुगुणोऽपि मोक्षानुकूलोऽपि, मोक्षविगुण एवाऽबहुमतो भवति इति सूचनार्थोऽपिशब्दः । तको योगः, न बहुमतो नानुमतो, बहुमत एव, भवति जायते, अन्येषां भगवतोऽपरेषां साधूनाम् । इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

ननु भगवतोऽपि चारित्रित्वात् द्रव्यस्तवानुमतिर्न युक्तेत्याशङ्क्याह-

जो चेव भावलेसो, सो चेव य भगवतो बहुमतो उ ।
ण तओ वि णेयरेसिं, ति अत्थओ सो वि एमेव ॥ ३३ ॥

य एव भावलेशो भगवद्बहुमानरूपः, द्रव्यस्तवाद्भवतीति शेषः । (सो चेव य त्ति) स एवासावेव, नेतरः । चशब्द इदमपरं युक्त्यन्तरमिति सूचनार्थः। भगवतो जिनस्य, बहुमतोऽनुमतो, मुख्यवृत्त्या भगवतस्तथास्वभावत्वात्। तुः पूरणे। केवलं न नैव, तकोऽसौ भावलेशोऽपि, नेतरेण द्रव्यस्तवं विना भवति, इति हेतोः, अर्थतः सामर्थ्यात्, सोऽपि द्रव्यस्तवोऽपि, न केवलं भावलेश एव । एवमेव भावलेशवदेव, बहुमत एव । इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

भावलेशं बहु मन्यमानेन द्रव्यस्तवो बहुमत एवेति समर्थयन्नाह-

कज्जं इच्छंतेणं, अणंतरं कारणं पि इट्ठं तु ।
जह आहारजतित्तिं, इच्छंतेणेह आहारो ॥ ३४ ॥

कार्यं साध्यं भावलेशादिकम्, इच्छता अनुमन्यमानेन, अनन्तरमव्यवहितं, न तु व्यवहितं कृष्यादिकं, तथैवानुभूतेः । कारणमपि हेतुरपि द्रव्यस्तवादिकः, न केवलं कार्यमेवेत्यपिशब्दार्थः । इष्टं त्वभिमतमेव, कारणाविनाभूतत्वात्कार्यस्य । किमिवेत्याह-यथा यद्वत्, आहारजतृप्तिं भोजनजनितबुभुक्षोपशमम्, इच्छता वाञ्छता, इह लोके, आहारो भोजनम्, इष्ट इति प्रक्रमः । इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

अथ बल्यादौ भवत्वनुमतिर्जिनस्य, जिनभवनादौ तु सा तस्य न भविष्यतीत्याशङ्कायामाह-

जिणभवणकारणाइ वि, भरहादीणं ण वारितं तेण ।
जह तेसिं चिय कामा, सल्लविसादीहिँ णाएहिं ॥ ३५ ॥

जिनभवनकारणाद्यपि अर्हदायतनविधापनप्रभृतिकमपि, न केवलं समवसरणे बल्यादि, आदिशब्दात् जिनबिम्बपूजादिग्रहः। भरतादीनां भरतचक्रवर्त्तिप्रभृतीनाम्, न वारितं न निषिद्धम्, तेन भगवताऽऽदिदेवेन । कथमित्याह-यथा यद्वत्, तेषामेव भरतादीनाम्, कामाः शब्दादिभोगाः, शल्यविषादिभिः शल्यविषप्रभृतिभिः, ज्ञातैर्निदर्शनैः, निषिद्धा इति प्रक्रमः। ज्ञातानि पुनरेवम्-"सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा। कामे य पत्थेमाणे तु, अकामा जंति दुग्गई " ॥ १ ॥ अयमभिप्रायः-यदि जिनभवनविधापनादिकमननुमतमभविष्यद्भगवतस्तदा कामवन्निषिद्धमभविष्यत् । इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

यदि तत्तेन तेषां न वारितं, ततः किमित्याह-

ता तं पि अणुमयं चिय, अप्पडिसेहाउ तंतजुत्तीए ।
इय सेसाण वि एत्थं, अणुमोयणमादि अविरुद्धं ॥ ३६ ॥

यतो जिनभवनादि न वारितं, तत्तस्मात्तदपि जिनभवनाद्यपि, अपिशब्दाद्बल्याद्यपि । अनुमतमेव बहुमतमेव, भगवतः । कुत एतदवसितमित्याह—अप्रतिषेधादनिवारणात् । अथ कथमप्रतिषेधमात्रादिदमवसितमित्याह-तन्त्रयुक्त्या शास्त्रीयोपपत्त्या, यदि तस्य तदननुमतमभविष्यत्तदा कामानामिव तन्निषेधमकरिष्यत्, न चाऽसौ कृतस्तेन, अतस्तस्य तदनुमतमित्येवं लक्षणया । यदि भगवतस्तदनुमतं तदाऽन्येषां किमित्याह-इत्येवं भगवन्न्यायेन, शेषाणामपि भगवतोऽपरेषामपि साधूनां, न केवलं भगवत एव । अत्र जिनभवनविधापनादिद्रव्यस्तवे, अनुमोदनादिकं जिनबिम्बादिदर्शनसमुल्लसितप्रमोदतस्तत्कारकोपबृंहणतश्च याऽनुमतिस्तत्प्रभृतिकम्। आदिशब्दात्तदुपबृंहणेन तत्फलदेशनेन च बिम्बादिविधापनोत्साहसंपादनतस्तद्विधापनस्य परिग्रहः । अविरुद्धं संगतम्, मोक्षसाधनस्यैव, भावलेशस्य तत्र मुख्यवृत्त्योपादेयत्वादिति च प्राग् दर्शितम् । इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥ पञ्चा० ६ विव० । पं० व० ।

तदेवम्-" जइणो वि हु दव्वत्थय-भेओ अणुमोयणेणऽत्थि " त्ति यदुक्तं, तत्समर्थितम् । अथ तदेव प्रकारान्तरेण समर्थयन्नाह-

जं च चउद्धा भणिओ, विणओ उवयारिओ उ जो तत्थ ।

सो तित्थगरे णियमा, ण होइ दव्वत्थयादण्णो ॥ ३७ ॥

यद्यस्मात्कारणात्, चशब्द उपपत्त्यन्तरसमुच्चयार्थः । चतुर्द्धा चतुर्भिः प्रकारैर्ज्ञानदर्शनचारित्रोपचारलक्षणैः । भणितः साधूनां विधेयतया वर्णितो विनयसमाध्यध्ययनादौ । विनयः कर्मविनयनसमर्थोऽनुष्ठानविशेषः । (तत्थ त्ति) तत्र तेषु चतुर्षु विनयेषु मध्ये, उपचारो लोकव्यवहारः, पूजा वा, प्रयोजनमस्येत्यौपचारिको भक्तिरूपः । तुशब्दः पुनरर्थः । य इति विनयः, स इत्यसौ, तीर्थकरे अर्हद्विषये, नियमादवश्यंभावेन, न भवति न वर्त्तते, द्रव्यस्तवात्पूजादेः, अन्योऽपरः, द्रव्यस्तव एवासाविति भावः । तस्मात् द्रव्यस्तवानुविद्धो भावस्तव इति प्रकृतम् । औपचारिकविनयस्वरूपं चेदम्-

"तित्थयरसिद्धकुलगण-संघकिरियधम्मनाणनाणीणं ।
आयरियथेरुवज्झा-यगणीणं तेरस पयाणि ॥ १ ॥
अणसायणा य भत्ती, बहुमाणो तह य वण्णसंजलणा ।
तित्थयरादी तेरस, चउग्गुणा होंति बावण्णा " ॥ २ ॥
इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

यदि द्रव्यस्तवादन्यो नासौ, ततः किमित्याह-

एअस्स उ संपाडण-हेउं तह चेव वंदणाए उ ।
पूअणमाइुच्चारण-मुववण्णं होइ जइणो त्ति ॥ ३८ ॥

एतस्य तु एतस्यैव द्रव्यस्तवरूपौपचारिकविनयस्य संपादनहेतुं संपादनार्थम्, (तह चेव त्ति) तथैव तेनैव प्रकारेण, कायोत्सर्गकरणलक्षणेन, वन्दनायां चैत्यवन्दनायाम्, तुशब्दः पादपूरणे । पूजनाद्युच्चारणं पूजाप्रभृतिपदाभिधानम् । आदिशब्दात्सत्कारादिपरिग्रहः । उपपन्नं सङ्गतम्, भवति वर्त्तते, यतेरपि भावस्तववतोऽपि, न केवलं गृहिण एव । इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

उक्तविपर्यये बाधकमुपदर्शयन् प्रकृतनिगमनायाऽऽह-

इहरा अणत्थगं तं, ण य तयणुच्चारणेण सा भणिता ।
ता अहिसंधारणओ, संपाडणमिट्ठमेयस्स ॥ ३९ ॥

इतरथाऽन्यथा द्रव्यस्तवसंपादनार्थं यदि पूजाद्युच्चारणं न भवति तदा, अनर्थकं निष्प्रयोजनम्, तत्पूजाद्युच्चारणं, पूजादीनामनिष्टत्वात् । न च निरर्थकं वाक्यमुच्चारयन्ति सन्तः, तस्य क्षतिप्रसङ्गात् । अथ न कुर्वन्त्येव वन्दनायां पूजासत्काराद्युच्चारणमित्याशङ्क्याह-न च नैव, तदनुच्चारणेन पूजासत्काराद्यनुच्चारणेन, सा वन्दना, भणिता अभिहिताऽऽगमे विधेयतया । (ता इति) यस्मादेवं तस्मात्, अभिसंधारणात्, कायोत्सर्गकरणद्वारेण पूजादिसंपादनाभिसंधेः । संपादनं करणम्, इष्टमभिमतम्, एतस्य द्रव्यस्तवस्य, इति गाथार्थः ॥ ३९ ॥ पञ्चा० ६ विव० ।

हिंसाविचारः-

किं हिंसाऽनुमतिर्न संयमवतां द्रव्यस्तवश्लाघये-
त्येतल्लुम्पकलुब्धकस्य वचनं मुग्धे मृगे वागुरा ।
हृद्याधाय सरागसंयम इव त्यक्ताऽऽश्रवांशाः स्थिता-
भावाङ्गांशमदूषणा इति पुनस्तच्छेदशस्त्रं वचः ॥ २४ ॥

(किमिति) संयमवतां चारित्रिणां, द्रव्यस्तवश्लाघया द्रव्यार्चानुमोदनया, किं न हिंसानुमतिर्भवति ?; अपि तु भवत्येव, पश्यन्तु दयारसिका इति भावः । एतद्वचनं, लुम्पकलुब्धकस्य लुम्पकमृगयोः, मुग्ध आपाततः श्रुतबाह्यधर्माचारे, मृगे, वागुरा बन्धपाशः, इति व्यस्तरूपकं मुग्धपदमनभिरूपाऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यमिति । य एतद्वचनं शृणुयात् स मृगवद्बध्येदिति व्यङ्ग्यम् । इति पुनस्तस्य पाशस्य छेदशस्त्रं वचोऽस्मत्सांप्रदायिकानाम् । इतीति किम्?, इह प्रक्रान्ते द्रव्यस्तवे द्रव्यभावोभयात्मके, भाव एवाङ्गभूतो योऽशस्तं हृदि चित्ते, आधाय स्थापयित्वा, सरागसंयम इव त्यक्त उपेक्षितः, आश्रवांशः आश्रवभागो यैस्ते तथा, अदूषणा दोषरहिता वयं स्थिताः स्मः । अयं भावः-सरागसंयमेऽनुमोद्यमाने यथा रागो नानुमोद्यताकुक्षौ प्रविशति, तथा द्रव्यस्तवेऽनुमोद्यमाने हिंसांशोऽपि । संयमत्वेनानुमोद्यत्वे रागांशो नोपतिष्ठत एवेति, द्रव्यस्तवत्वेनानुमोद्यत्वे तु सुतरां हिंसानुमतेः स्थितिः । द्रव्यस्तवत्वशिरस्याऽप्यघटकत्वात्तस्याः इत्थमेव श्रीनेमिना गजसुकुमारस्य श्मशानप्रतिमापरिशीलनानुज्ञाते तदर्थिना भावितच्छिरोज्वलनमनुज्ञातमित्युपपादयितुं शक्यते, द्रव्यस्तवे परप्राणव्यापादनानुकूलव्यापारत्वाद्विशेष इति चेत्, तथापि द्रव्यस्तवत्वं न हिंसात्वमिति न क्षतिः, वस्तुतो विहारादावतिव्याप्तिवारणाय प्रमादप्रयुक्तप्राणव्यपरोपणत्वं हिंसात्वं वाच्यं, न प्रकृतिरिति न दोषः । एवं सति सविशेष इत्यादिना यावत् प्रमादाप्रमादयोरेव हिंसारूपत्वात् बन्धमोक्षहेतुत्वे विशेष्यभागानुपादानं स्यादिति चेत् । सत्यम् । प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा, प्रमादायोगात् प्राणव्यपरोपणमहिंसेति लक्षणयोर्व्यवहारार्थमेवाचार्यैरनुशासनाद्बन्धमोक्षहेतुतायाश्च निश्चयतः प्रमादत्वाप्रमादत्वाभ्यामेव व्यवस्थितेः, बाह्यहेतूत्कर्षादपि फलोत्कर्षाभिमानिना व्यवहारनयेन तु विशेष्यभागोऽप्याद्रियत इति सर्वमवदातज्ञानम् ॥ २४ ॥

अनुपदेश्यत्वादननुमोद्यत्वं द्रव्यस्तवस्येत्यत्राऽऽह-

मिश्रस्यानुपदेश्यता यदि तदा श्राद्धस्य धर्मस्तथा,
सर्वः स्यात्सदृशी नु दोषघटना सौत्रक्रमोल्लङ्घनात् ।
तत्सम्यग्विधिभक्तिपूर्वमुचितद्रव्यस्तवस्थापने,
विद्मो नापरमत्र लुम्पकमुखम्लानिं विना दूषणम् ॥ २५ ॥

(मिश्रस्येति) 'मिश्रस्येति' हेतुगर्भविशेषणम्, मिश्रत्वादिति यावत् । यदि अनुपदेश्यता साधूनामुपदेशाविषयता द्रव्यस्तवस्य त्वया प्रतिज्ञायते, तदा श्राद्धस्य धर्मः सर्वस्तथाऽनुपदेश्यः स्यात्, तस्य मिश्रतायाः कण्ठरवेण सूत्रकृताऽभिधानात्, इष्टापत्तिरत्र । सर्वविरतिरूपस्यैव धर्मस्य शास्त्रेऽभिधानादंशे स्वकृत्यसाध्यताप्रतिसंधाने स एव तस्यार्थः, सिद्धदेशरूपविरतित्वात् । "जं सक्कइ तं कीरइ" इत्यादिव्युत्पत्तिमतां तत्र प्रवृत्तिसंभवादिति चेत् । न । द्वादशव्रतादिविभागस्य विशेषविधिं विना उपपत्तेरिति देशेन स्वेच्छया ग्रहणे श्रमणभिक्षुस्यापि श्राद्धेन ग्रहणप्रसङ्गात् । दृश्यत एव केषाञ्चित् श्राद्धानां भिक्षाग्रहणादिकं यतिव्रतमपि देशप्राप्तमिति चेत्, दृश्यते तदद्रव्यमुखानां, न तु मार्गवर्त्तिनाम्, अनुचितप्रवृत्तेर्महामोहबन्धहेतुत्वाद्भिक्षुशब्दप्रवृत्तिनिबन्धनस्य आकानुपपत्तेरानन्दादिभिरनादरणात्, अम्बडस्य तु परिवादलिङ्गत्वेन भिक्षायाम् अनौचित्याभावात्, ततः श्राद्धधर्मवद् द्रव्यस्तवस्य नानुपदेश्यता, अप्रतिषेधानुमत्याक्षेपपरिहारयोरुभयत्र तुल्ययोगक्षेमत्वात्, यतिधर्माभिधानात् प्रागनभिधानस्याप्युभ-

यत्र तथात्वात्, यतिधर्मस्य प्रागभिधाने श्रोतुस्तद्शक्तत्वाचेन प्रतिश्राद्धधर्मप्ररूपणं यथाऽवसरसङ्गत्या, तथा भावस्तवस्य प्रागभिधाने तदशक्तिप्रकाशकं प्रत्येव द्रव्यस्तवाभिधानमिति क्रमस्यैव रूढत्वात्। अत एव गृहपतित्वं वन्दिग्रहविमोक्षणन्यायः सूत्रसिद्धः। तदिदमाह-सौत्रस्य सूत्रसिद्धस्य क्रमस्योल्लङ्घनाद्भङ्गनमाश्रित्य, नु इति निश्चये, दोषघटना दोषसङ्गतिः, सदृशी तुल्या, क्रमप्राप्तेरुपदेशे न तु कोऽपि दोष इति अव्युत्पन्नं प्रति क्रमविरुद्धोपदेशे सुकरत्वेऽस्कदत्वेनाप्रतिषेधानुमतिः प्रसङ्गदोषावहा, सम्यग्दृष्टिं प्रति तु यथायोग्योपदेशेऽपि न दोष इत्यनुश्यवदाराद्रिग्रन्थार्णवसंप्लवव्यसनिनां प्रसिद्धः पन्थाः। तत्तस्मात्कारणात्, सम्यगवैपरीत्येन, विधिभक्तिपूर्वमुचितस्य द्रव्यस्तवस्य स्थापने उपदेशे, जातप्रतिज्ञाऽऽस्यनिग्रहस्थानस्य लुम्पकस्य मुखमश्नानि बिना परं दूषणं वयं न विद्मो न जानीमः। विनोक्तिरलङ्कारः ॥ २५ ॥ प्रति०।

मिश्रस्यानुपदेश्यताऽऽशङ्का-

नाशंसाऽनुमतिर्दयापरिणतिस्थैर्यार्थमुद्यच्छतां,
संवासानुमतिस्त्वनायतनतो दूरस्थितानां कथम् ?॥
हिंसाया अनिषेधनानुमतिरप्याज्ञास्थितानां न यत्,
साधूनां निरवद्यमेव तदिदं द्रव्यस्तवश्लाघनम् ॥ २६ ॥

द्रव्यस्तवे हिंसाऽनुमतेर्यत्न विशेषाभावात् सामान्याभाव इत्यनुशास्ति भगवत्पूजादर्शनाद्बहवो जीवाः सम्यग्दर्शननैर्मल्यमासाद्य चारित्रप्राप्त्या सिद्धिसौधमध्यासतामिति भावनया पूजा कर्तव्येति दयापरिणतेः स्थैर्यार्थमुद्यच्छताम् उद्यमं कुर्वाणानां साधूनां नाशंसाऽनुमतिर्भवति, उपदेशफलेच्छाया हिंसाया अविषयत्वात्, संवासानुमतिस्तु अनायतनतो हिंसायतनाद् दूरस्थितानां कथं भवति ?। पुष्पाद्यायतनमेवानायतनमिति चेत्, तर्हि समवसरणस्थितानामनायतनवर्तित्वप्रसङ्गः। न च देवगृहेऽपि स्तुतित्रयकर्षणात्परतोऽवस्थानमनुज्ञातं साधूनामिति विधिवन्दनाद्यर्थमवस्थाने नोक्तदोषः। आज्ञास्थितानां क्रमाद्विरुद्धोपदेशाद्याज्ञावर्तिनां हिंसाया अनिषेधनानुमतिरपि यद्यस्माच्च भवति, तत्तस्मात्कारणादिदं द्रव्यस्तवस्य श्लाघनं माहात्म्यप्रकाशनं साधूनां निरवद्यमेव शुभानुबन्धित्वादिति निष्कर्षः ॥ २६ ॥

कश्चिदाह-स्वातन्त्र्येण साधवः किं न कुर्वन्ति, द्रव्यस्तवो यदि साधूनामनुमोद्यस्तदा तेषां कर्तव्यः स्यादिति चेत्किमिदं स्वतन्त्रं,साधने प्रसङ्गापादनं वा ?। नाद्यः साधुकर्त्तव्यः, तस्यानाश्रितत्वेनासाधनत्वादन्त्य एवाह—

साधूनामनुमोद्यमित्यथ न किं कर्त्तव्यमर्चादिकं,
सत्यं केवलसाहचर्यकलनान्नेष्टानुमानप्रथा ।
व्याप्तिः काऽपि गता स्वरूपनिरवद्याचाराद्युपाधेस्तत्र,
क्लीबस्येव वृथा वधूनिधुवने तद्बालतर्के रतिः ॥ २७ ॥

साधूनामप्यनुमोद्यमिति हेतोः साधूनामर्चादि किं न कर्तव्यम्, यदनुमोद्यं स्यात्कर्तव्यं स्यात्, न च कर्त्तव्यमस्ति, अतो नानुमोद्यमिति विपर्ययपर्यवसानम्। तथा चैतत्तर्कसहकृतान्मिश्रत्वादिहेतोरननुमोद्यत्वसिद्धेरित्यर्थः। अत्रोत्तरम्-सत्यम्; यत्त्वयाऽऽपाततः प्रसञ्जनं कृतं, परं केवलस्य साहचर्यस्य कलनात् पुरस्करणादनुमानप्रथा प्रसङ्गापादानानिष्टा, नेष्टा,न हि साहचर्यमात्रं व्याप्तिः, पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरपि तत्प्रसंगात्। तथा च तर्कमूलव्याप्त्यसिद्धेर्मूलशैथिल्यदोष इत्यर्थः। यद्यदनुमोद्यं तत्तत् कर्तव्यम, नियतसाहचर्याद् व्याप्तिरस्त्येवेत्यत्राह-व्याप्तिः कापि गता दूरे नष्टा,कस्मात्?, स्वरूपनिरवद्याचारात् स्वरूपनिरवद्याचाराद्युपाधेः, यत्र साधु कर्तव्यत्वं तत्र स्वरूपतो निरवद्यत्वं, यत्र च तदनुमोद्यं तत्र स्वरूपतो निरवद्यत्वमिति नास्ति कारणे विहितानां वर्षाविहारादीनां नद्युत्तारादीनां संयत्यवलम्बनादीनां चानुमोद्यत्वेऽपि स्वरूपत्वनिरवद्यत्वात्। तथा चानौपाधिकसहचाररूपव्याप्त्यभावान्मूलशैथिल्यं वज्रलेप इति भावः। एवं च शुष्क एव बलीवर्दस्य तर्के मुखं प्रवेशयत उपहासमाह-तत्तस्मात्कारणात् हे बाल ! अविवेकिन् ! तव तर्के रतिः वृथा,त्वद्गतशक्त्यभावात्, कस्य ?, क्लीबस्य वधूनिधुवन इव कान्तारसंमर्द इव। न च विद्यामुखचुम्बनमात्राद् भोगसौभाग्यमाविर्भवति। यतस्तूक्तम्-" वेश्यानामिव विद्यानां, मुखं कैः कैर्न चुम्बितम् । हृदयग्राहिणस्तासां, द्वित्राः सन्ति न सन्ति वा" ॥ १ ॥ इति। किं च-अचेलकादीनामेकचेलाद्याचारस्यानुमोद्यत्वेऽपि तदकर्तव्यत्वात् सूत्रनीत्या व्यक्त एव दोषः। यदार्षम्-" जो विडुच्चइ तत्था, एगेण अचेलगो व संथरइ। तेण हु हीलंति परं, सव्वे वि अ ते जिणाणाए ॥" त्ति। प्रति०। दर्श०।

अत्र हरिभद्रसूरिः। यदि नाम यतिना संधारणतो द्रव्यस्तवः संपाद्यते, तदा साक्षादेव कस्मात् न क्रियते ?, इत्याशङ्क्याह-

सक्खा उ कसिणसंजम-दव्वाभावेहिँ णो अयं इट्ठो ।
गम्मइ तंतठितीए, भावपहाणा हि मुणउ त्ति ॥ ४० ॥

साक्षात्तु स्वयं करणतः पुनः, कृत्स्नसंयमश्च सर्वथा प्राणवधविरतिः, द्रव्याभावश्च निष्परिग्रहत्वेनार्थासत्ता, कृत्स्नसंयमद्रव्याभावौ ताभ्याम्। पाठान्तरेण-' कृत्स्नसंयमद्रव्यभावाभ्याम् ' तत्र द्रव्यभावोऽप्रधानत्वं द्रव्यस्तवस्येति। नो नैव, अयं द्रव्यस्तवः, इष्टोऽभिमतो, यतीनां विधेयतया इति। गम्यतेऽवसीयते। कथम् ?, तन्त्रस्थित्या आगमनीत्या। तन्त्रं हि साधूनां स्नानादिपरिहारप्रतिपादनपरं, निर्ग्रन्थताऽभिधायकं च। युज्यते च स्वयमकरणं द्रव्यस्तवस्येति। आह च-भावप्रधाना भावपूजापराः, न द्रव्यप्रधानाः, हिर्यस्मादर्थः। मुनयो यतयो, भवन्तीत्यतो भावत एव पूजा तेषां युक्ता, तदभिसंधारणं पुनर्भाव एव। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। इति गाथार्थः ॥ ४० ॥

केषां तर्हि द्रव्यस्तवस्य साक्षात्करणमिष्टमित्यत्राह-

एएहिं तो अन्ने, जे धम्महिगारिणो उ तेसिं तु ।
सक्खं चिय विन्नेओ, भावंगतया जतो भणितं ॥ ४१ ॥

एतेभ्यो मुनिभ्योऽन्येऽपरे, ये इत्यत्रोत्तरस्य पुनरर्थस्य तुशब्दस्य संबन्धाद् ये पुनः, धर्माधिकारिणो धार्म्मिकाः, तेषां तु तेषामेव, साक्षादेव च स्वयंकरणतोऽपि, विज्ञेयो विधेयतया ज्ञातव्यः। द्रव्यस्तव इति प्रकृतः। कथमित्याह-भावाङ्गतया शुभभावकारणतया, भावस्तवाङ्गतया वा, इहार्थे शास्त्रप्रमाणतयोपदिशन्नाह-यतो यस्मात्कारणाद्, भणितमभिहितं निर्युक्तौ इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

यद्भणितं तद्दर्शयन्नाह—

अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।

संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ ४२ ॥

अकृत्स्नसंयमपरिपूर्णं, संयमं प्रवर्त्तयन्ति विदधति ये ते अकृत्स्नप्रवर्तकाः, तेषाम् । अत एव विरताश्च ते निवृत्ताः स्थूलादिविशेषणेभ्यः प्राणातिपातादिभ्यः, अविरताश्चानिवृत्ताः सूक्ष्मादिविशेषणेभ्यस्तेभ्य एवेति विरताविरताः, तेषाम् । एष द्रव्यस्तवः । खलुरवधारणे भिन्नक्रमश्च । युक्त एव संगत एव । किंफलोऽयमित्याह-संसारं प्रतनुमल्पं करोतीति संसारप्रतनुकरणः । इह च विशेषणस्य परनिपातः सिद्धसेनाचार्य इत्यादाविव न दुष्टः । सुप्तभावप्रत्ययाद्वा संसारप्रतनुताकरणः इति हृदयम् । ननु कथञ्चित्सावद्यतया सदोषत्वेनानाश्रयणीयत्वादस्य कथं संसारप्रतनुकारित्वमित्याशङ्कयाऽऽह-द्रव्यस्तवे आश्रयणीयतया साधयितुमिष्टे, कूपदृष्टान्तोऽवटखननज्ञातमस्तीति । तत्प्रयोगश्चैवम्-सदोषमपि स्वरूपेण यद् गुरुतरगुणान्तरकारणं तदाश्रयणीयं, यथा कूपखननं, तथा च द्रव्यस्तव इति हृदयम् । दृष्टान्तद्वारेण भावना तु प्राग्वत् । इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

अथ "अकसिणपवत्तयाणं" इत्यत्र गाथायां पुष्पादिरेव द्रव्यस्तवोऽभिहितः, इह च प्रकरणे जिनभवनादिरसावुक्तः, तत्कथमियमिदत्वसंवादाय स्यादित्येतदाशङ्क्य परिहरन्नाह--

सो खलु पुप्फाईओ, तत्थुत्तो न जिणभवणमाई वि ।
आईसद्दावुत्तो, तयभावे कस्स पुप्फाई ॥ ४३ ॥

स द्रव्यस्तवः, खलुरवधारणे, तस्य च प्रयोगो दर्शयिष्यते, पुष्पादिक एव कुसुमधूपदीपप्रभृतिरेव, तत्र "अकसिणपवत्तगाणं" इत्यत्र चतुर्विंशतिस्तवनिर्युक्तिगाथायाम्, उक्तोऽभितः, "दव्वत्थउ पुप्फादी, संतगुणुक्कित्तणा भावे ।" इति प्रक्रमपतितत्वादस्याः । न नैव, जिनभवनाद्यपि जिनभवनकरणप्रभृतिरपि । इह मकारः प्राकृतशैलीप्रभवः । अपिशब्दः समुच्चयार्थस्तेनोक्त इति क्रियाभिसंबन्धार्थः । इहाक्षेपे समाधिमाह-आदिशब्दात् "दव्वत्थउ पुप्फाई" इत्यत्रोपन्यस्तादुक्तो भणितः, जिनभवनादिर्द्रव्यस्तव इति प्रक्रमः । विपर्यये बाधकमाह-आदिशब्देन जिनभवनादीनामनभिधानं चेत्, तदा तेषामद्रव्यस्तवत्वेनाकरणप्रसङ्गात् । अभावे जिनभवनबिम्बाद्यभावे कस्य ?, न कस्यापि । पुष्पादिः कुसुमवल्ल्यादिर्द्रव्यस्तवः स्यान्निर्विषयत्वादिति भावना । इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

ननु जिनभवनादिर्द्रव्यस्तवो भवतु, किं त्वसावागमे यतेर्निषिद्धस्तत्कथं भावस्तवो द्रव्यस्तवानुगतः ?, इत्याशङ्क्य परिहरन्नाह-

णणु तत्थेव य मुणिणो, पुप्फाइनिवारणं फुडं अत्थि ।
अत्थि तयं सयकरणं, पमुच्च नऽणुमोयणाई वि ॥ ४४ ॥

नन्विति परमताशङ्कायाम्, तत्रैव च ग्रन्थे, यत्र विरतानां द्रव्यस्तवस्य साक्षात्करणमुपदिष्टम् । मुनेः साधोः, पुष्पादिनिवारणं कुसुमवल्ल्यादिनिषेधनम्, स्फुटं व्यक्तम्, अस्ति विद्यते । यतस्तत्रोक्तम्-"छज्जीवकायसंजमे, दव्वत्थए सो विरुज्झए कसिणो । तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईयं न इच्छंति ॥ १ ॥" अतः कथं पूजादिद्रव्यस्तवानुमोदनविधापने भवदनुमते साधोः सङ्गते इति परमतम् । समाधिश्चैवम्-अस्ति विद्यते, तद् मुनेः पुष्पादिनिवारणम्, केवलं स्वयंकरणम् आत्मना पूजा-

२०६

दिविधानम्, प्रतीत्याश्रित्य, न पुनरनुमोदनाद्यपि पुष्पपूजादेरनुमतिविधापनप्रभृतिकमपि प्रतीत्य, अपिशब्दः समुच्चयार्थः । इह यच्छ्वाचार्येणाऽपि विशेषेण द्रव्यस्तवं प्रति साधोर्विधापनमनभ्युपगतं तथाऽपि द्रव्यस्तवफलस्वरूपप्ररूपणद्वारेण तद्विधिरिष्यते, न पुनः साक्षात्कारेण । यथा-त्वं जिनभवनं कुरु, तदर्थं च भूमिं खन, मृत्तिकां वह, जलमानय, इत्यादि विभाषा । नह्येवं स्वयंकरणस्य कारणस्य च महान् विशेषोऽस्ति । इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

अथ द्रव्यस्तवस्यानुमोदनं साधोर्युक्तं, ज्ञापकैस्तस्य समर्थितत्वात् । कारणं त्वयुक्तं, ज्ञापकाभावात्, इत्याशङ्क्याह-

सुव्वइ य वइररिसिणा, कारवणं पि हु अणुट्ठियमिमस्स ।
वायगगंथेसु तहा, एयगया देसणा चेव ॥ ४५ ॥

श्रूयते समाकर्ण्यते आवश्यकनिर्युक्तौ, चशब्दो युक्त्यन्तरसमुच्चयार्थः, वैरर्षिणा वैराभिधानमुनिपतिना, कारापणमपि देवैर्विधापनमपि, न केवलमनुमोदनं, यद्भवतामनभिमतं कारापणं, तदपीत्यर्थः । हुर्वाक्यालङ्कारे । अनुष्ठितमासेवितम्, अस्य पुष्पादिद्रव्यस्तवस्य । यतस्तत्रोक्तम्-"माहेसरीउ सेसा, पुरिं पनीया हुयासणगिहाओ । गयणयलमइवइत्ता, वइरेण महाणुभावेण ॥ १ ॥" किलैकदा भगवान् वैरस्वामी पुरिकाभिधानायां नगर्यां विहरति स्म । तत्र च तदा श्रमणोपासकैर्बौद्धोपासकैश्च परस्परस्पर्द्धया स्वकीयदेवानां माल्यारोपणानि विधीयन्ते स्म । सर्वत्र च बौद्धोपासकाः पराजीयन्ते स्म । राजा च तेषामनुकूलः, ततस्तैर्नृपोऽभ्यर्थितः, तेन च श्रमणोपासकानां कुसुमानि निषेधितानि । पर्युषणादिने च तदभावात् श्रावका विषण्णाः । सबालवृद्धाश्च ते वैरस्वामिनमुपस्थिताः, भणितवन्तश्च-"यदि युष्माभिर्नाथैः प्रवचनमपभ्राज्यते, तदन्यया यूयमेव यद्भवति तज्जानीथेति" । ततश्च समुत्पत्य माहेश्वरीं नगरीं भगवन्तो गतवान्, तत्र च हुताशनं नाम व्यन्तरगृहम्, तदारामे प्रतिदिनं पुष्पाणां कुम्भः उत्पद्यते । तत्र च वैरस्वामिनः पितृसुहृन्मालिकोऽभवत्, स च भगवन्तमुपलभ्य ससंभ्रममवादीत्-किमागमनप्रयोजनम् ?। ततो भगवानुवाच-पुष्पैः प्रयोजनमस्ति । ततोऽसावुवाच-अनुग्रहो नो गृह्यतामेतानि । भगवानप्यवादीत्-यच्छ एतानि तावद् यूयं यावदहमागच्छामि, ततः समुत्पत्य हिमवन्महागिरौ श्रीदेवतायाः समीपे जगाम । श्रिया च चैत्यार्चनाय तदा पद्मं चिच्छिदे । ततो वन्दित्वा तया तेन निमन्त्रितः । तद् गृहीत्वा हुताशनगृहमाजगाम । तत्र च तेन विमानं विरचितम् । तत्र पुष्पकुम्भं क्षिप्त्वा जृम्भकदेवगणपरिवृतो दिव्येन गन्धर्वगीतनिनादेनाम्बरतलमापूरयन्माहेश्वर्याः पुरीमागतवान् । तृतीयवर्णिकाश्च जृम्भकनिकायाकीर्णमाकाशमवलोक्य वितर्कयामासुः-अस्माकमिदं प्रातिहार्यं देवा विदधति, इत्यर्घमादाय स्वकीयायतनेभ्यस्तदभिमुखं निर्गतवन्तः । भगवाँस्तु देवसमुदायपरिवृतो जिनायतनमगमत् । तत्र च देवा महान्तं महिमानमकार्षुः । जिनशासनं प्रति च लोकस्यातीव बहुमानः समजनि । राजाऽपि चावर्जितः श्रमणोपासको बभूवेति । तथा वाचकग्रन्थेषु वाचकः पूर्वधरोऽभिधीयते । स च श्रीमानुमास्वातिनामा महातार्किकः प्रकरणपञ्चशतीकर्ताऽऽचार्यः सुप्रसिद्धोऽभवत्, तस्य प्रकरणेषु, तथेति वाक्योपक्षेपे । स च

वाक्यस्यादौ द्रष्टव्यः । एतदुक्ता द्रव्यस्तवविषया देशना प्ररूपणा । तथा हि—

"यस्तृणमयीमपि कुटीं, कुर्याद्दद्यात्तथैकपुष्पमपि ।
भक्त्या परमगुरुभ्यः, पुण्योन्मानं कुतस्तस्य ? ॥ १ ॥"

तथा—

"जिनभवनं जिनबिम्बं, जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात् ।
तस्य नरामरशिवसुख-फलानि करपल्लवस्थानि ॥१॥" इति ।

अनया हि देशनया श्रोता द्रव्यस्तवं कारितो भवति । ततो वाचकमुख्यस्यापि द्रव्यस्तवकारणमस्तीति भावः । चैवेति समुच्चयार्थः। सदेवं स्वयंकरणमेवाश्रित्य पुष्पादिनिषेधनं साधोः, न पुनरनुमोदनाद्यपीति प्रकृतमिति। इह च वृद्धप्राचार्येण वैरोदाहरणतो द्रव्यस्तवकारणं साधोरविशेषेण विधेयतया दर्शितम्, तथाऽष्टापदादिकमप्येवमित्यवसेयम्, वन्दनकनिर्युक्त्यां तस्य भव्यशुभपरिणामालम्बनतयोपदिष्टत्वात् ।

तथाहि—

"नीया वासविहारं, चेइयभत्तिं च अज्जियालाभं ।
विगईसु य पडिबंधं, निद्दोसं चोइया बेंति" ॥ १ ॥

तत्र चैत्यभक्तिं प्रत्युक्तम्—

"चेइयकुलगणसंघे, अन्नं वा किं पि काउ निस्साणं ।
अहवा वि अज्जवइरं, तो सेवंती अकरणिज्जं ॥ १ ॥
चेइयपूआ किं वइर-स्सामिणा मुणियपुव्वसारेणं ।
न कया पुरियाइ ततो, मोक्खंगं सा वि साहूणं ॥ २ ॥"

इह चायं समाधिस्तत्रैवोक्तः—

"श्रोभावणं परेसिं, सतित्थउब्भावणं च वच्छल्लं ।
न गणेंति गणेमाणा, पुव्वुच्छियपुप्फमहिमं च ॥ १ ॥"

(गणेमाण त्ति) आलम्बनानि गणयन्तः । अपवादतस्तु स्वयंकरणं कारणं चानुमतमेव । यतः कल्प उक्तम्—

"सीलेह मंखफलए, इयरे चोयंति तंतुमाईसु ।
अह जोइंति सचित्तेसु, अणिच्छफेडिंति दीसंता ॥ १ ॥"

(मंखफलए त्ति) मङ्खफलकानीव मङ्खफलकानि निर्वाहहेतुचैत्यानि । तथा—

"अन्नाभावे अयणा-एँ मग्गनासो हवेज्ज मा तेण ।
पुव्वकया य यणाई, ईसिं गुणसंभवे इयरा ॥ १ ॥
चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयण सुए य ।
सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजममुज्जमंतेणं" ॥ २ ॥ इति ।

तथा वाचकमुख्यस्यापि द्रव्यस्तवफलाद्यभिधानायैव देशना; फलार्थिनस्तु स्वत एव तत्र प्रवर्तन्ते; यदि पुनः साक्षात् परप्रवर्तनाय सा स्यात्तदा साक्षादेव तत्र तत्प्रवर्तनमपि विधेयं स्यात् । तथा च-वैरस्वामिचरितावलम्बनस्य पुष्टत्वमेव स्याद्, अपुष्टत्वं च तस्यावेदितमिति । द्रव्यस्तवादिश्रावकधर्मप्ररूपणं च यतिधर्मासमर्थस्यैव शिष्यस्य विधेयम्, अन्यथा आरम्भेषु प्रवर्तनदोषसंभवात् ।

आह च—

"जइधम्मम्मिऽसमत्थे, जुज्जइ तद्देसणं पि साहूणं ।
तदहिगदोसनिवित्ती-फलं ति कायाणुकंपट्ठा ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥ पञ्चा० ६ विव० । भ० ।

ननु यदि द्रव्यस्तवानुमतिर्भावस्तवोपचयायापेक्ष्यते तदा द्रव्यार्चैव कथं नापेक्ष्यते ?। तत्राह—

दुग्धं सर्पिरपेक्षते न तु तृणं साक्षात्तदुत्पत्तये,
द्रव्यार्चानुमतिप्रभृत्यपि तथा भावस्तवो न त्विमाम् ।
इत्येवं शुचिशास्त्रतत्त्वमविदन् यत्किञ्चिदापादयन्,
किं मत्तोऽसि पिशाचकी किमथवा किं वातकी पातकी ?॥२८॥

(दुग्धमिति) सर्पिर्घृतमथोत्पत्तये दुग्धं क्षीरमपेक्षते, क्षीरादेवाव्यवधानेन सर्पिष उत्पद्यमानस्योपलम्भात्, न तु तृणम्, गवाभ्यवहारेण तथापरिणम्यमानमपि व्यवधानात् । तथा भावस्तव उपचितावयविस्थानीयो, द्रव्यार्चानुमतिप्रभृत्यपि स्वावयवभूतं कारणमुक्ततयाऽपेक्षते, न त्विमां द्रव्यार्चां, व्यवधानात् । अत एव द्रव्याग्निकारिकाव्युदासेन भावाग्निकारिकैवानुज्ञाता साधूनाम् । प्रति० ।

द्रव्यार्चा—

द्रव्यार्चामवलम्बते न हि मुनिस्तर्तुं समर्थो जलं,
बाहुभ्यामिव काष्ठमत्र विषमं नैतावता श्रावकः ।
बाहुभ्यां भववारि तर्तुमपटुः काष्ठोपमां नाश्रयेद्,
द्रव्यार्चामपि विप्रतारकगिरा भ्रान्तीरनासादयन् ?॥२९॥

(द्रव्यार्चामिति) अत्र जगति बाहुभ्यां जलं तर्तुं समर्थः विषमं सकण्टकं काष्ठमिव मुनिर्भुजेन भवजलतरणक्षमः, तर्हि नैव द्रव्यार्चामवलम्बते, स्वरूपतः सावद्यायास्तस्याः सकण्टककाष्ठस्थानीयाया अवलम्बनायोगात् । नैतावता कुश्रुतादिदोषेण स्वौचित्यमविदन् श्रावकः बाहुभ्यां भववारि संसारसमुद्रं तर्तुमपटुः सन् काष्ठोपमां विषमकाष्ठतुल्यां द्रव्यार्चामाश्रयेत ?, किं कुर्वन्, प्रतारकस्य गिराऽपि भ्रान्तीः विपर्ययान् अनासादयन् अप्राप्नुवन्, तदा ननु स्वौचित्यापरिज्ञाने स्यादेव तदनाश्रयणं मुग्धस्येति भावः ॥ २९ ॥

अक्षीणाविरतिज्वरा हि गृहिणो द्रव्यस्तवं सर्वदा,
सेवन्ते कटुकौषधेन सदृशं नानीदृशाः साधवः ।
इत्युच्चैरधिकारिभेदमविदन् बालो वृथा खिद्यते,
नैतस्य प्रतिमाद्विषो व्रतशतैर्मुक्तिः परं विद्यते ॥ ३० ॥

"अक्षीणेत्यादि"। हि निश्चितम्, अक्षीणोऽविरतिरेव ज्वरो येषां ते तथा, गृहिणः, ज्वरापहारिणा कटुकौषधेन सदृशद्रव्यस्तवं सर्वदा सेवन्ते, अनीदृशा क्षीणाविरतिज्वराः साधवो न सेवन्ते, न हि नीरोगवैद्योक्तम् औषधं रोगवानिव सेवत इति लोकेऽपि सिद्धमिति । इत्युच्चैरतिशयेनाधिकारिभेदं मलिनारम्भतदितराधिकारिविशेषमविदन् बालोऽज्ञानी वृथा खिद्यते मुधा खेदं कुरुते । एतस्य प्रतिमाद्विषः प्रतिमाशत्रोः परं केवलं मुक्तिर्न विद्यते, प्रवचनार्थेन एकत्राश्रद्धानवतो योगशतस्य निष्फलत्वम् । तदुक्तमाचारे-"वितिगिच्छसमावन्नेणं अप्पाणेणं णो लभइ समाहिं" ति । अत्र प्रत्यवतिष्ठन्ते-ननु यतिरत्र कस्मान्नाधिकारी, यतः कर्मलक्षणो व्याधिरेको द्वयोरपि यतिगृहस्थयोः, अतस्तच्चिकित्साऽपि पूजादिलक्षणा समैव भवति, ततो यतेस्तत्राधिकारस्ततः कथं पुनस्तत् प्रतिषिद्धम् ?-"स्नानमुद्वर्तनाभ्यङ्ग-नखकेशादिसंस्क्रियाम् । गन्धं माल्यं च धूपं च, त्यजन्ति ब्रह्मचारिणः ॥१॥" इति वचनान्मुनेः स्नानपूर्वकत्वाद्देवार्चनस्य तत्रिषेधाधिकारः । नैवम्, भूतार्थस्यैव तस्य निषेधात् । यदि यतिः सावद्यभीरुस्ततः को दोषो यत् स्नानं कृत्वा देवतार्चनं न करोति ? यदि हि स्नानपूर्वकदेवार्चने सावद्ययोगः स्यात् तदाऽसौ

गृहस्थस्यापि तुल्य इति तेनाऽपि तत्र कर्त्तव्यं स्यात्। अथ गृहस्थः कुटुम्बाद्यर्थे सावद्ये प्रवृत्तस्तेन तत्रापि प्रवर्त्तनम्, यतिस्तु तत्राप्रवृत्तत्वात्कथं स्नानादौ प्रवर्तते इति ?। ननु यद्यपि कुटुम्बाद्यर्थं गृही सावद्ये प्रवर्त्तते, तथाऽपि तेन धर्मार्थं तत्र न प्रवृत्तिः, तर्ह्येकं पापमाचरितमित्यन्यदप्याचरितव्यम्। अथ कूपोदाहरणात् स्नानादि युक्तम्, एवं यतेरपि तद् युक्तमेव, एवं च कथं स्नानादौ यतिर्नाधिकारीति ?। अत्रोच्यते-यतयः सर्वथा सावद्यव्यापारान्निवृत्ताः, ततश्च कूपोदाहरणेनापि तत्र प्रवर्त्तमानानां तेषामवद्यमेव चित्ते स्फुरति, न धर्मस्तत्र सदैव शुभध्यानादिप्रवृत्तत्वात्। गृहस्थास्तु सावद्ये स्वभावतः सततमेव प्रवृत्ता न पुनर्जिनार्चनादिद्वारेण स्वपरोपकारात्मकधर्मे, तेन तेषां स एव चित्ते लगति निरवद्य इति कर्तृपरिणामवशादधिकारीतरौ मन्तव्याविति स्नानादौ गृहस्थ एवाधिकारी, न यतिरित्यष्टकवृत्तिकृतः। अत्र द्रव्यस्तवे प्रवृत्तिकाले स्फुरणं साधोः किमवद्यसद्भावात्, अग्रिमकालेऽवद्यस्य स्वशोध्यत्वज्ञानात्, स्वप्रतिज्ञोचितधर्मविरुद्धत्वज्ञानात्, आहार्यारोपाद् वा ?। नाद्यद्वितीयौ। गृहिमुनियोगक्षेमत्वादुभयासिद्धेः। न तृतीयः। गृहिणाऽपि योगादिनिषेधाय धर्मार्थं हिंसा न कर्त्तव्येति प्रतिज्ञातकरणाद्विरुद्धत्वज्ञाने स्फुरितावद्यत्वेन द्रव्यस्तवाकरणप्रसङ्गात्। अध्यात्मानयनेन द्रव्यस्तवीयहिंसाया अहिंसीकरणेनाविरोधस्याप्युभयोस्तौल्यात्। नापि तुर्यः। अवद्याहार्यारोपस्येतरेणापि कर्तुं शक्यत्वात्; तेन द्रव्यस्तवत्यागस्यापि प्रसङ्गादिति। मलिनारम्भस्याधिकारिविशेषस्याभावादेव न साधोर्देवपूजायां प्रवृत्तिः; मलिनारम्भी हि तन्निवृत्तिफलायां तत्राधिक्रियते दुरितवानिव तन्निवृत्तिफले प्रायश्चित्ते। तदाह हरिभद्रः-"असदारंभपवित्ता, जं गिहिणो तेण तेसि विन्नेया। निन्वित्तिफला एसा, तहा परिभावइयव्वमिणं ॥ १ ॥" अत एव स्नानेऽपि साधोर्नाधिकारः, तस्य देवपूजाङ्गत्वात्। प्रधानाधिकारिण एव चाङ्गेऽधिकारो, नान्यस्य, स्वतन्त्रोपगतजङ्गप्रसङ्गादिति युक्तं पश्यामः। असदारम्भनिवृत्तिफलत्वं च द्रव्यस्तवस्य चारित्रमोहक्षयोपशमजननद्वारा फलतः शुभयोगरूपतया स्वरूपतश्चेति एव ततो नारम्भिकी क्रिया शुभयोगे प्रमत्तसंयतस्यानारम्भकतायाः प्रज्ञप्तौ दर्शितत्वात्, अर्थेनातिदेशेन देशविरतेष्वितरालाभात्। प्रति०। ('किरिया' शब्देऽस्मिन्नेव भागे५४४पृष्ठे क्रियाऽधिकार उक्तः) (अविज्ञोपचितादि चतुर्विधं कर्म नोपचीयते इति 'कम्म' शब्देऽस्मिन्नेव भागे २५६ पृष्ठे समुक्तम्) तन्निष्कर्षस्त्वेवम्-"यतनातो न च हिंसा, यस्मादेषैव तन्निवृत्तिफला। तदधिकनिवृत्तिभावाद्, विहितमतो दुष्टमेतदिति" ॥१॥ इति मूल एव विस्तरेणाभिधास्यते चैतदुपरिष्टादित्यलं प्रसङ्गेन।

" इयं प्रोक्ता सम्यक् य इह समये वाचकवरैः,
क्रियाया निष्कर्षे कलयति कृती शान्तमनसा।
यशःश्रीस्तस्योच्चैरुपचलति भव्यस्य गुणिनो,
गुणानां वाग्भ्यात्परमरसिकेव प्रणयिनी " ॥ १ ॥ ३० ॥

(१०) द्रव्यस्तवे गुणानुपदर्शयति-

वैतृष्ण्यादपरिग्रहस्य दृढता दानेन धर्मोन्नतिः,
सङ्कल्पव्यवसायतश्च मलिनारम्भानुबन्धच्छिदा।
चैत्यानत्युपनम्रसाधुवचसामाकर्णनात्कर्णयो-
रक्ष्णोश्चामृतमज्जनं जिनमुखज्योत्स्नासमालोकनात् ॥३१॥

(वैतृष्ण्यादिति) वैतृष्ण्याद् धनतृष्णाविच्छेदादपरिग्रहस्यापरिग्रहव्रतस्य दृढता भवति। तथा दानेन कृत्वा धर्मोन्नतिर्भवति। विहितं च तद्भिवभवनकारणे पूर्वाङ्गम्-"अन्नासन्नो विजनः, संबन्ध्यपि दानमानसत्कारैः। कुशलाशयवान् कार्यो, नियमाद् बोध्यङ्गमयमस्य" ॥ १ ॥ इत्यादिना। तथा मलिनारम्भानुबन्धस्य छिदा प्रासादादिकर्त्तव्यताऽनुसंधाने सदारम्भाध्यवसायस्यैव प्राधान्यादितरस्यानुषङ्गिकत्वात्, तत्प्रवाहप्रवृत्त्यैव वंशतरणोपपत्तेः। आह च-"अक्षयनीत्या ह्येवं, हेयमिदं वंशतरकारणम्" इति। तथा चैत्यानत्यर्थमुपनम्रा उपनमनशीला ये साधवस्तेषामेकदेशे देशनाधिनां यानि वचांसि तेषामाकर्णनात् कर्णयोरमृतमज्जनम्। तथा-जिनमुखस्य भगवत्प्रतिमावन्दनादौ ज्योत्स्नाया लावण्यसमालोकनादक्ष्णोर्नयनयोश्चामृतमज्जनम्, विगलितवेद्यान्तरोऽभयानन्दात्मा शान्तरसोद्बोध इति यावत् ॥ ३१ ॥

नानासङ्गसमागमात् सुकृतवत्सगन्धहस्तिव्रज-
स्वास्तिप्रश्नपरम्परापरिचयादप्यद्भुतोद्भावना।
वीणावेणुमृदङ्गसंगमचमत्काराच्च नृत्योत्सव-
स्फाराऽर्हद्गुणलीनताऽभिनयनाद् भेदभ्रमप्लावना ॥३२॥

(नानेति) नानाप्रकाराः स्वदेशीयान्यदेशीया ये सङ्घास्तेषां समागमात्सुकृतवन्तो ये सन्त एव गन्धहस्तिनो गन्धमात्रेण परवादिगजभञ्जकत्वात्, तेषां व्रजः समूहः, तत्र या स्वस्तिप्रश्नस्य परम्परा, तस्याः परिचयादप्यद्भुतरसस्योद्भावनोद्बोधः, ततश्च सद्योगवञ्चकादिक्रमेण परमः समाधिलाभ इति। च पुनः, वीणावेणुमृदङ्गसङ्गमेन तौर्यत्रिकसंपत्त्या यश्चमत्कारः, ततो नृत्योत्सवे स्फारा येऽर्हद्गुणास्तल्लीनता भिन्नायानुभावीभूतं यदभिनयनं तस्माद्भेदभ्रमस्य भेदविपर्ययस्य प्लावना परिगलनम्। तथा च समापत्त्यादिभेदेनार्हद्दर्शनं स्यादिति भावः। समापत्तिलक्षणमिदम्-"मणेरिवाऽभिजात्यस्य, क्षीणवृत्तेरसंशयम्। तात्स्थ्यात्तदञ्जनत्वाच्च समापत्तिः प्रकीर्तिता ॥१॥" इति। आपत्तिस्तीर्थकृन्नामकर्मबन्धः; संपत्तिस्तद्भावाभिमुख्यमिति योगग्रन्थे प्रसिद्धम् ॥ ३२ ॥

पूजापूजकपूज्यसंगतगुणध्यानावधानक्षणे,
मैत्री सत्त्वगणेष्वनेन विधिना भव्यः सुखी स्तादिति।
वैरव्याधिविरोधमत्सरमदक्रोधैश्च नोपप्लवः,
तत्को नाम गुणो न दोषदलनो द्रव्यस्तवोपक्रमे ? ॥३३॥

(पूजेति) पूजापूजकपूज्यसंगतास्त्रयाम्वयिनो गुणाः, तेषां यद्दृढ्ष्टेष्टसमापत्तिसमाधिफलं ध्यानं, ततो यद् अवधानमनुप्रेक्षा, तत्क्षणे तदवसरे, अनेन विधिना द्रव्यस्तवविधिना भव्यः सर्वोऽपि सुखी स्तादिति सत्त्वगणेषु प्राणिसमूहेषु मैत्री भवति। अत एवाल्पबाधया बहुप्रकारादनुकम्पोपपत्तिरिति पञ्चलिङ्गीकारः। तथा वैरं च व्याधिश्च विरोधश्च मत्सरश्च मदश्च क्रोधश्च तैः कृत्वोपप्लव उपद्रवो न भवति, तत्तस्मात्कारणात्, द्रव्यस्तवोपक्रमे-उपक्रम्यमाणे द्रव्यस्तवे, दोषदलनो दोषोच्छेदकारी को नाम गुणो न भवति ?। अपि तु भूयानेव भवतीति भावः ॥ ३३ ॥

उक्तदोषमाह-भावयज्ञोऽयं द्रव्यस्तवो नाऽत्र हिंसादोषः-
सतन्त्रोक्तादशत्रिकादिकविधौ सूत्रार्थमुद्राक्रिया-

योगेषु प्रणिधानतो व्रतभृतां स्याद्भावयज्ञो ह्ययम् ।
भावापद्विनिवारणोचितगुणा ह्यत्र हिंसामति-
र्मूढानां महती शिला खलु गले जन्मोदधौ मज्जताम् ॥ ३४ ॥

(सत्तन्त्रेति) सत्तन्त्रे सच्छास्त्रे उक्तः पूजापूर्वापराङ्गीभूतो " दहतिगअहिगमपणगं " इत्यादिनाऽभिहितो दशत्रिकादिकविधिस्तस्मिन्विषये, सूत्रं च अर्थश्च मुद्रा च क्रिया च तल्लक्षणेषु योगेषु, प्रणिधानतो, हि निश्चितम्, अयं द्रव्यस्तवः भावयज्ञः स्यात्, अभ्युदयनिश्चयहेतुयज्ञरूपत्वात्तदाह-एतदिह भावयज्ञः सद्गृहिणो जन्मफलमिदं परममभ्युदयाविच्छित्त्या नियमादपवर्गतरुबीजमिति । हि निश्चितमत्र द्रव्यस्तवे, जिनविरहप्रयुक्ततद्विनयासंपत्तिरूपाया भावापद्विनिवारणोचितो गुणो यत्र तादृशाऽपि हिंसामतिः, सा खलु मूढानां विपर्यस्तानां जन्मोदधौ संसारसमुद्रे मज्जतां गले महती शिला । मज्जतां हि पापानां गले शिलारोप उचित एवेति सममलङ्कारः। "समं योग्यतया द्योगो,यदि संभावितः क्वचित् ।" इति काव्यप्रकाशकारः। इदं पुनरत्र विचारणीयम्-भावोपपदः स्तवशब्द इव भावोपपदो यज्ञशब्दश्चारित्रमेवाचष्ट इति कथं द्रव्यस्तवे भावयज्ञपदप्रवृत्तिः?, द्रव्यस्तवशब्दस्यैव प्रवृत्तेरौचित्यात् । यज्ञशब्दो लौकिकयोगे प्रसिद्ध इति व्यावर्त्तनेन भावपदयोगः प्रकृते प्रवर्त्तयिष्यते, तर्हि स्तवशब्दोऽपि स्तुतिमात्रे प्रवृत्तो भावशब्दयोगेन प्रकृते प्रवर्त्तताम्, "संतगुणकित्तणाभावे" त्ति निर्युक्तिस्वारस्यात् । गुणवत्तया ज्ञानजनकव्यापारमात्रे शक्तस्तवपदं भावपदयोग आज्ञाप्रतिपत्तिरूपे विशेष एव पर्यवसाययतीति तत्कारणे द्रव्यस्तवपदप्रवृत्तिरेव युक्तेति चेत्, तर्हि-"महाजसं जयइ जन्नसिट्ठं" इत्यागमात् भावयज्ञपदस्यागमे चारित्र एव प्रसिद्धेर्द्रव्यस्तवपदप्रवृत्तेरेवौचित्यमिति देवतोद्देशकत्यागे योगशब्दस्य प्रयोगः प्राप्नुयात् । भावपदोपसंधानेन वीतरागदेवतापूजया तत्प्रवृत्तिपर्यवसानमिति तु युक्तम् । आह च-"देवोद्देशेनैतद्-गृहिणां कर्त्तव्यमित्यलं शुद्धः । अनिदानः खलु भावः, स्वाशय इति गीयते तद्ज्ञैः॥" इति देवतोद्देशेन त्यागत्वनिश्चयतश्चात्मोद्देशेनैव,देवतात्वं वीतरागत्वमिति रागास्समर्पितस्य स्वात्मन्युपनयनात्॥ योगास्तु देवतात्वं मन्त्रकरणकहविर्निष्ठफलभागित्वेनोद्देश्यत्वम्,अतश्चतुर्थी विनाऽपीन्द्रादेर्देवतात्वं,हविर्निष्ठफलं स्वर्गतमतो न यागजन्यस्वर्गरूपफलाश्रयकर्त्तर्यव्याप्तिः। न च मन्त्रं विनेन्द्राय स्वाहेत्यनेन त्यागे देवतात्वं न स्यादिति वाच्यम्,मन्त्रकरणकत्यागान्तरमादाय देवतात्वात्, स्वाहास्वधाऽन्यतरस्यैव प्रकृते मन्त्रत्वात् । पित्रादीनां स्वधया त्यागे देवतात्वम्,न तु प्रेतस्य,नमःपदेनैव तदा त्यागाद्गुरुत्वात्, अपि तु देवतात्वं च ब्राह्मणपठितस्वमन्त्रात् ब्राह्मणाय स्वाहेत्यनेन ब्राह्मणाय त्यागेऽपि स्वाहेत्यस्य न ब्राह्मणस्वत्वहेतुत्वं, तद्विनाऽपि प्रतिग्रहमात्रादेव तत्स्वत्वसंभवात् । अदृष्टजनकत्वेन वा त्यागो विशेषणीयः, स्वाहेत्यनेन ब्राह्मणाय त्यागो नादृष्टहेतुः, पामरेण मन्त्रं विनाऽपीश्वराय त्यागे ईश्वरस्य देवतात्वं,मन्त्रकरणकत्यागान्तरमत एव उद्देश्यत्वं उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नोपलक्षकं, केवलमैन्द्र्या देवतात्ववारणाय विशिष्टत्वेनोद्देश्यत्वाद्विशिष्टस्यैव देवतात्वादित्याहुः । तद्वासत्यापक्षमात्रम् । योगिनामुपासनीयाया वीतरागदेवताया एव प्रसिद्धेरहङ्कारममकारात्मकसत्त्वस्य तत्रिकल्पितस्य कुतोऽपि कश्चिद्यादानासंभवात्, सरागेश्वरदेवतायाश्च रागाविद्धमिततैरेवाभ्युपगन्तुमर्हत्वात् । वीतरागोद्देशेन कृतात्समन्त्रात्कर्मणोऽध्यवसायानुरोधिफलाभ्युपगमे तु मन्त्रकरणकोपासनेतिकर्त्तव्यतासम्बन्धत्वमेव देवतात्वमिति युक्तम् । संसारिदेवत्वं च देवगतिनामकर्मोदयवत्त्वं, संसारिषु संसारगामिनामितरेषु चेतरेषां भक्तिः स्वरससिद्धेति तु योगतन्त्रप्रसिद्धम् । तदुक्तं योगदृष्टिसमुच्चये-"संसारिषु हि देवेषु, भक्तिस्तत्कायगामिनाम् । तदतीते पुनस्तत्त्वे, तदतीतार्थयायिनाम् ॥ १ ॥" इति स्वाहास्वधान्यतरस्यैव मन्त्रत्वमित्ययमपि नैकान्तः;मन्त्रन्यासे नमःपदस्यापि तत्रश्रवणात् । तदुक्तम्-"मन्त्रन्यासस्तु तथा,प्रणवनमःपूर्वकं च तन्नाम । मन्त्रः परमो ज्ञेयो,मननात् त्राणे ह्यतो नियमात् ।१।" इति । मीमांसकस्तु इन्द्रादिश्चेतनस्य सतोऽपि न देवतात्वं,तद्धि देशनादेशितचतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्वम् । ब्राह्मणाय दद्यादित्यादौ ब्राह्मणादेर्देवतात्ववारणाय देशनादेशितेति । देशना वेदः, तेन यत्र यागे हविषि वा चतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यतया यो बोधितः स तत्र देवता । ऐन्द्रं दधि भवतीत्यादौ देवतातद्धितविधानादिन्द्रोऽस्य देवतेत्यर्थः । देवतात्वमत्र चतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्वमेवेति नान्योऽन्याश्रयः । इन्द्राय स्वाहेत्यादौ तु चतुर्थ्या देशनादेशितचतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्वमर्थः । इन्द्रपदं स्वपरतादृशनिर्देश्यत्ववदिन्द्रपदकस्त्याग इति वाक्यार्थः । अत एव ब्राह्मणाय स्वाहेत्यादि न प्रयोगः, स्वाहादिपदयोगे देवताचतुर्थ्या एव साधुत्वेन ब्राह्मणादेर्निरुक्तदेवतात्वाभावात् । तत्र हि संप्रदानत्वबोधकचतुर्थ्येव । एवं पृथक् सूत्रप्रणयनमेव, आकाशाय स्वाहेत्यादिसंप्रदानचतुर्थ्यभावेऽपि "नमःस्वस्ति" ॥ २ । ३ । १६ ॥ इत्याद्युपपदचतुर्थीसंभवः । मन्त्रलिङ्गादिना च यत्र देवतावगमः तत्र ततस्तथाश्रुत्युन्नयनाद्देशनादेशितत्वम् । इत्थमेवेन्द्राय स्वाहेत्येव प्रयोगो, न तु शक्राय स्वाहेति पर्यायान्तरेऽपीत्यनेन चेतनैव देवतात्वम्,अग्नये प्रजापतये चेत्यादौ देवताद्वयकल्पने गौरवाद्वाक्यभेदप्रसङ्गाच्च चकारबलाच्च विशिष्टस्यैव देवतात्वम्, अग्निप्रजापतिभ्यां स्वाहेत्येव प्रयोगात् । धृतिहोमे 'धृतिर्वो देवता स्कायै' चतुर्थ्यन्तेति चतुर्थ्यन्तेत्यर्थकं धृतिः स्वाहेत्यादौ प्रथमाया एव चतुर्थीविधानात् । अथ देवतोद्देशेन क्रियमाणत्वात् ब्राह्मणोद्देशकत्यागवत् घृतोद्देशेन क्रियमाणे दध्नि व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् । तत्परिशेषात् स्वामित्वादिति सिद्धं देवता चैतन्यमिति चेत् । न । अप्रयोजकत्वात् । तन्निष्ठकिञ्चिदुद्देशेनायं क्रियताम् न त्वस्योपाधित्वाच्च । न हि हविस्त्यागो देवतानिष्ठकिञ्चिदुद्देशेन क्रियते, किं तु स्वनिष्ठफलोद्देशेन । शिवाय गां दद्यादित्यादौ तूद्देश्यत्वेनोक्ता चतुर्थी,ददातिस्त्यागमात्रपर इति नानुपपत्तिरित्याह । तदसत् । चतुर्थ्यन्तपदस्य देवतात्वे भावाभावात्, चतुर्थी विनाऽपीन्द्रो देवतेति व्यवहारात्, अग्नये कव्यवहायेत्यादौ देवताद्वयप्रसङ्गात् । "इन्द्रः सहस्राक्षः" इत्यर्थवादस्य इन्द्रमुपासीतेति विशेष्यतया स्वर्गार्थवादवत् प्रामाण्यात्, इन्द्रायेत्यादौ श्रुतपदेनेव त्यागस्य फलहेतुताया वचनसिद्धत्वात्, "तिर्यक्पङ्गुतिरश्चां देवदेवतानामधिकारः" इति जैमिनिसूत्रस्यैव देवताचैतन्यसाधकत्वाच्च अचैतन्येऽधिकाराप्रसक्त्या तन्निषेध्यानौचित्यात् । सूत्रार्थश्चैवम्-तिरश्चां विशिष्टान्तःसंज्ञाविरहात्, पङ्गोः प्रचरणाभावात्, तिस्रो हविश्रुतिर्वाच आर्षेया ऋत्विग्योग्याश्चिसुरूपा येषामन्धबधिरमूकानां दर्शनश्रवणोच्चारणासमर्थानां तिसृणामार्षेयाणामिति त्रिप्रवराणामेवाधिकारो, न त्वेकद्विचतुःप्रवरादीनां देवतानामनधिकारित्वाभेदेन संप्रदानत्वायोगादिति । एतेन देशनादेशितचतुर्थ्यन्तपदनिर्देश्यत्वस्य

तादृशपदबोध्यत्वरूपस्येन्द्रादिपदे संभवात्, तादृशपदविशिष्ट इन्द्रादिश्चेतन एव देवता, विशेषणस्येन्द्रादिपदस्वेन्द्रादेश्चेतन एव देवतात्वे नानाभावात् तत्तद्वीजाक्षराणामानन्त्येन तेषां चतुर्थ्यन्तत्वाभावेन देवतात्वायोगात् । न च तथाऽपि देवताशरीराणामानन्त्यम्, बालादिना भिन्नशरीरेषु चैत्रत्वादिवदिति वाच्यम्, चैतन्यसिद्धे देवतात्वे इन्द्रत्वजातेरदृष्टविशेषोपग्रहीतत्वस्य चानुगतत्वात् । ईश्वरे च देवतात्वे मानाभावात्, ईशनादेः कर्मफलं भोक्तुं जीवभूतस्यैव देवतात्वात्, ईश्वरीयाहुतिश्रुतेरपीशानपरत्वात्, आकाशाहुतिश्रुतिरपि तदधिष्ठातृदेवपरेति न्यायमालायाम् । अदृष्टविशेषोपग्रहो देवगतिनामकर्मोदयो देवताव्यवहारप्रयोजकः, तीर्थकरनामकर्मोदयश्च देवाधिदेवव्यवहारप्रयोजकः, उपासनाफलप्रयोजकश्च मन्त्रमयदेवता, नयश्च समभिरूढनयभेदः, तदुपजीव्युपचारोपायमादाय संयतानामपि देवतानमस्कारौचित्यमित्ययं संप्रदायाविरुद्धोऽस्माकं मनीषोन्मेषः । तत्सिद्धमेतत्-वीतरागोद्देशेन द्रव्यस्तवोऽपि भावयज्ञ एवेति ॥ ३४ ॥

नावापह्निनिवारणगुणेन कृतां स्थापनामेव द्रढयति-

सम्यग्दृष्टिरयोगतो भगवतां सर्वत्र भावापदं,
भेत्तुं तद्भवने तदर्चनविधिं कुर्वन्नदुष्टो भवेत् ।
वाहिन्युत्तरणोद्यतो मुनिरिव द्रव्यापदं निस्तरन्,
वैषम्यं किमिहेति हेतुविकलः शून्यं परं पश्यतु ? ॥ ३५ ॥

सम्यग्दृष्टिः भगवतां तीर्थकृताम्, अयोगतो विरहात्, सर्वत्र सर्वस्थाने भावापदं भेत्तुं तद्भवने भगवदायतने च तदर्चनविधिं विहितां भगवत्पूजां कुर्वन्नदुष्टो न दोषवान् भवेत्, क इव ?, द्रव्यापदमन्यतो विहारायोगरूपां निस्तरन्निस्तरणकामः,वाहिन्यां नद्यां तत्तदधिकारौचित्ये च तुल्यत्वादेकत्र नित्यत्वं, कारणनित्यत्वात्,अन्यत्र नैमित्तिकत्वं च,निमित्तमात्रापेक्षणादित्यस्योपपत्तेरिति । इतिः पर्यनुयोगे, हेतुविकलः प्रत्युत्तरदानासमर्थः, परं केवलं, शून्यं पश्यतु, दिग्मूढस्तिष्ठत्वित्यर्थः ॥ ३५ ॥

वैषम्यहेतुमाशङ्क्य निराकरोति-

नो नद्युत्तरणे मुनेर्नियमनाद् वैषम्यमिष्टं यतः,
पुष्टालम्बनकं न तन्नियमितं किं तु श्रुते रागजम् ।
अस्मिन् सत्त्ववधे वदन्ति किल येऽशक्यप्रतीकारतां,
तैर्निन्दामि पिबामि चाम्भ इति हि न्यायः कृतार्थः कृतः ।३६।

मुनेः नद्युत्तरणे नियमनात् संख्यानियमाभिधानात् श्राद्धस्य पूजायां तदभावाद्वैषम्यमिष्टमिति नो नैव वाच्यं, यतः तन्नद्युत्तरणं पुष्टालम्बनकं ज्ञानादिलाभकारणं, न नियमितं, किं तु श्रुते सिद्धान्ते, रागजं रागप्राप्तम् इत्थमेव, नखनिर्दलनप्रासावघातनिषेधार्थप्रोक्तलविधेरिव रागप्राप्तनद्युत्तरणनिषेधार्थं, प्रकृतस्य नियमविधित्वोपपत्तेः। द्रव्यस्तवविधिस्तु गृहिणोऽपूर्व एवेति सामान्यायोगात्, पुष्टालम्बनं तु वर्षास्वपि ग्रामानुग्रामं विहारकरणमप्यनुज्ञातमिति कस्तत्र संख्यानियमः ?। तथा च स्थानाङ्गसूत्रम्-"वासावासं पज्जोसवियाणं नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा गामाणुगामं दूइज्जित्तए। पंचहिं ठाणेहिं कप्पइ। तं जहा-णाणट्ठयाए दंसणट्ठयाए चारित्तट्ठयाए आयरिअउवज्झायवासे वीसमेज्जा आयरियउवज्झायाणं वा बाहिया वेयावच्चकरणयाए त्ति"। तत्र च मालवादावेकदिनमध्येऽपि बहुशो नद्युत्तरणं संभवतीति अशक्यपरिहारसमाधिमाश्रित्याऽऽह-अस्मिन्नद्युत्तरणे, सत्त्ववधे जलादिघाते येऽशक्यप्रतीकारतां वदन्ति तैः अम्भो जलं निन्दामि पिबामि चेति न्यायः कृतार्थः कृतः,सत्त्ववधमात्रस्य निन्दनाद्युत्तरणसंभविनश्च तस्याश्रयणात् । शक्यं ह्येवं प्रतिमार्चनेऽपि वक्तुम् । भक्तिसाधनीभूतपुष्पादिसत्त्ववधस्य शक्यपरिहारत्वात्तत्करणे तत्परिहारः शक्य इति चेत्,नद्युत्तरणे तज्जीववधपरिहारः शक्य इति तुल्यम् । साधुना कुलाद्यप्रतिबद्धेन विहारस्तावदवश्यं कर्तव्यः, स च नद्युत्तरणं विना न संभवतीत्यनन्यगत्यैव नद्युत्तरणमिति चेत्, साधुधर्माशक्तस्य श्राद्धस्याऽवश्यं कर्तव्या भगवद्भक्तिः प्रतिमाऽर्चनं विना न संभवतीत्यत्राप्यनन्यगतिः तुल्या । एतेनैकस्यैव प्रतिक्रमणस्यासाधकत्वात् "नइसंतरणे पडिक्कमइ" इत्यागमे तत्सिद्धेः । यदि स्वधिकाराज्ञानिरपेक्षेर्यापथिकयैव नदीप्राणवधशोधिकारी स्यात्तदा साधुदानोद्यतः श्राद्धोऽनाभोगादिना सचित्तस्पर्शमात्रेणाऽऽश्राद्धोऽपि तां प्रतिक्रम्य शुद्धः स्यात् । यथा प्रत्याख्यातस्य सर्वसावद्यानां साधूनां पानादिगतानेकजलादिजन्तुघातोत्पन्नं पातकमपाक्रियते, तथा गृहिणोऽनाभोगतः सचित्तस्पर्शमात्रजन्यपातकापाकरणमीषत्करमेवेति, संख्यानियमोऽपि न कल्पते । द्विवारादिनिषेधे एकशब्दस्तारविधायिनः षड्जीववधपातकस्य वा परिहार्यत्वात्, शबलत्वनिषेधाय तदादरणस्याप्याज्ञामात्रशरणत्वात् । संख्यानियमेनैव पातकित्वे च सांवत्सरिकप्रतिक्रमणेऽतिप्रसंगः । किं चलुम्पकाभिमते शास्त्रे क्वापीर्यापथिकी नद्युत्तारे नोक्ता, किं तु"इत्थसयादागंतु" इत्यादिनिर्युक्तिगाथयेति किमनेनाविधानेनाज्ञजालकल्पेन ?। अथ भगवतामेव नद्युत्तारे ईर्याप्रतिक्रान्तिर्न द्रव्यस्तवे इत्यत्र को हेतुरिति पृच्छामीति चेत्, यदि वक्तोऽसि तर्हि व्रतभङ्गजमहापातकशोधकस्याप्रतिपन्नशोधनेऽशक्तत्वान्महातरून्मूलकस्य तृणाग्रोन्मूल इवेत्युत्तरमाकलय । वस्तुत ईर्यां प्रतिक्रम्यैव तद्विधानात् तत्र वर्तमानः श्रावकः साधुर्वा सचित्तादिसंघट्टे चर्यातोऽतिरिक्तामीर्यां प्रतिक्रामेत्, द्विविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यानलक्षणस्य सामायिकपौषधादेस्त्रिविधं त्रिविधेन प्रत्याख्यानलक्षणस्य सामायिकच्छेदोपस्थापनीयादिचारित्रस्यातिचारलक्षणं मालिन्यं मा भूदित्यभिप्रायादित्यर्थः । तथेर्यापथिकस्य सामायिकादिव्रतान्येव न पुनरानुषङ्गिकं पृथिव्याद्यारम्भवद्धर्मानुष्ठानमानम्, अन्यथाऽभिगमनादावपि तदभिधानप्रसंगात् । अत एव कृतसामायिको मुनिरिव श्रावकः पुष्पादिभिर्जिनपूजां न करोतीति जिनाज्ञा, न पुनरितरोऽपि, कृतसामायिकस्य तदवाप्तपूर्तिकालं यावत्सचित्तादिस्पर्शरहितस्यैव व्रतपालकत्वात्, जिनपूजां चिकीर्षुस्तु सचित्तपुष्पादिवस्तून्युपादायैव तां करोति, तद्विना पूजाया एवाऽसंभवात् । प्रति कार्यं कारणस्य भिन्नत्वादिति बोध्यम् । लोकेऽपि यथा गृहप्रवेशेऽभ्युपगमलक्षणं नापणप्रवेशे, तथा लोकोत्तरेऽपि सामायिकेऽर्येऽजानाति यावदासावावितिभावः। "अपडिक्कंताए इरियावहियं न कप्पइ चेव किंचि काउं" इत्यत्र न किञ्चिदिति विशेषः, "परमेव चेइवंदणसज्झाए" इत्यग्रिमपदेनैव तदभिव्यक्तेरिति बोध्यम् ॥ ३६ ॥

दृष्टान्तीकृते नद्युत्तरणे दुष्टत्वं न्यायेन साधयति-

यन्नद्युत्तरणं प्रवृत्तिविषयो ज्ञानादिलाभार्थिनां,

दुष्टं तद् यदि तत्र कः खलु विधिव्यापारसारस्तदा ।
तस्मादीदृशकर्मणीहितगुणाऽधिक्येन निर्दोषतां,
ज्ञात्वाऽपि प्रतिमार्चनात् पशुरिव त्रस्तोऽसि किं दुर्मते! ।३७।

(यदिति) यद् ज्ञानादिलाभार्थिनां प्रवृत्तिविषयो नद्युत्तरणं, तद् यदि दुष्टं स्यात्तदा तत्र, खल्विति निश्चये, विधिव्यापारस्य विध्यंशस्य सारः कः तात्पर्यं किम् ?, विध्यर्थो हि बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वे सति कृतिसाध्यत्वं, पापे च बलवदनिष्टे जायमाने तत्र विध्यर्थबाधक एव स्यादित्यर्थः । तस्मादीदृशे अधिकार्युचिते, नद्युत्तारादिकर्मणि, ईहितस्येष्टस्य गुणस्याधिक्येन निर्दोषतां स्वरूपतः सावद्यत्वेऽपि बलवदनिष्टाननुबन्धितां विहितत्वेनैव ज्ञात्वाऽपि तद्दृष्टान्तेनैव चेतःशुद्धिसंभवात् । हे दुर्मते दुष्टबुद्धे ! प्रतिमार्चनात् पशुरिव किं त्रस्तोऽसि भयं प्राप्तोऽसि ?, विशेषदर्शितत्रासप्रयोजककुमतिनिरासस्यायं नाश इति भावः । प्रति० । (उत्सर्गापवादसूत्रं पञ्चमहार्णवसूत्रं 'णईसंतार' शब्दे वक्ष्यते) अत्र हि संख्यानियमोऽपोद्धतस्य यतनया करणाशातनाप्रयोजकत्वमिति यावत्, परतस्त्वाज्ञाभङ्गानवस्थाद्यां यतनयाऽपि न तथात्वमिति बोध्यम् । तदेवं पुष्टालम्बनेनापवादेऽपि शास्त्रौचित्यमिति स्थितम् ॥ ३७ ॥ प्रति० ।

दृष्टान्तान्तरेण समर्थनमाह-

गर्त्तादङ्गविघर्षणैरपि सुतं मातुर्यथाऽहेर्मुखात्,
कर्षन्त्या न हि दूषणं ननु तथा दुःखानलार्चिर्भृतात् ।
संसारादपि कर्षतो बहुजनान् द्रव्यस्तवोद्योगिन-
स्तीर्थस्फातिकृतो न किञ्चन मतं हिंसांशतो दूषणम् ॥३८॥

(गर्त्तादिति) यथा गर्त्ताद्विवरादतित्वरयाऽङ्गस्य विघर्षणैरपि कृत्वाऽहेर्मुखात्सर्पस्य वदनात्सुतं कर्षन्त्याः मातुर्न हि नैव, दूषणं, ननु निश्चये, तथा दुःखानलार्चिर्भृतादसुखानिलज्वालापूरितात् संसारादपि बहुजनान् बीजाधानद्वारेण कर्षतो द्रव्यस्तवे उद्योगिन उद्यमवतस्तीर्थस्फातिकृतो जिनशासनोन्नतिकारिणः हिंसांशतोऽपि हिंसांशेन न किञ्चन दूषणं मतं, स्वरूपहिंसाया दोषस्याबलत्वादुद्देश्यफलसाधनतयाऽनुबन्धतो दोषतावच्छेद्यात् ॥ ३८ ॥

एतत्समर्थितदृष्टान्तन्यायं प्रकृते योजयितुमाह-

एतेनैव समर्थिता जिनपतेः श्रीनाभिभूपान्वय-
व्योमेन्दोः सुतनीवृतां विभजना शिल्पादिशिक्षाऽपि च ॥
अंशोऽस्यां बहुदोषवारणमतिश्रेष्ठो हि नेष्टोऽपरो,
न्यायोऽसावपि दुर्मतद्रुमवनप्रोद्दामदावानलः ॥ ३९ ॥

(एतेनैवेति) एतेनोपदर्शितेन सुतकर्षणदृष्टान्तेनैव श्रीनाभिभूपस्य योऽन्वयो वंशस्तदेव व्योमाऽतिविशालत्वात्तत्रेन्दुः परमसौम्यलेश्यत्वाज्जगन्नेत्रासेचनकत्वात् च तस्य विशेषणेनैव झटित्युपस्थितेर्विशेष्यानुपादानान्न न्यूनत्वम् । जिनपतेस्तीर्थंकरस्य, श्रीऋषभदेवस्येत्यर्थः। सुतनीवृतां सुतदेशानां विभजना विभज्य दानं, शिल्पादीनां शिक्षाऽपि च, प्रजानामिति शेषः । समर्थिता निर्दोषतयोपदर्शिता, नीवृदन्वितस्य सुतपदस्य शिक्षायां पृथगन्वये सुतेभ्य इत्यध्याहारावश्यकत्वेऽन्यथा विधेयाविमर्शदोषानुद्धारे सुष्ठु शोभना ता लक्ष्मीर्यत्रेति नीवृत्समानाधिकरणविशेषणमेव व्याख्येयम् । अस्यां सुतनीवृद्विभजनायां शिल्पादिशिक्षायां च बहुदोषस्येतरथा मात्स्यन्यायेनान्यायप्रवृत्तिलक्षणस्य वारणमतिश्रेष्ठोऽधिकारिणा भगवता अत्यन्तमभिप्रेतः, हि निश्चितमपरोऽन्योंऽशोऽनुषङ्गहिंसारूपो नेष्टः, उपेक्षित इति यावत् । तस्य स्वापेक्षयाऽबलवद्दोषत्वाज्ञानेन प्रवृत्त्यघातकत्वाद् सावपि न्यायो निर्देशलक्षणः दुर्मते द्रव्यस्तवानभ्युपगमे द्रुमवने वृक्षसमूहे प्रोद्दामः प्रबलतरो दावानलो दावाग्निः, एतन्न्यायोपस्थितौ प्रतीतस्यापि दुर्मतस्य त्वरितमेव भस्मीभावात्, द्रव्यस्तवेऽप्यधिकारिणो गृहिणो भक्त्युद्रेकेण बोधिलाभहेतुत्वस्यैवांशस्यैवेष्टत्वादितरस्योपेक्षणीयत्वादिति भावः । प्रति० ।

(११) महानिशीथाक्षराणि तत्प्रामाण्यज्ञापनपूर्वं दर्शयति-

किं योग्यत्वमकृत्स्नसंयमवतां पूजासु पूज्या जगुः ,
श्राद्धानां न महानिशीथसमये भक्त्या त्रिलोकीगुरोः ।
नन्दीदर्शितसूत्रवृन्दविदितप्रामाण्यमुद्राजुषो ,
निद्राणेषु पतन्ति भिण्डिमसमुत्कास इवैता गिरः ॥४०॥

(किं योग्यत्वमिति) किमकृत्स्नसंयमवतां देशविरतानां श्राद्धानां भक्त्याऽतिशयेन रागेण त्रिलोकीगुरोस्त्रिभुवनधर्माचार्यस्य पूजासु पुष्पादिनाऽर्चनेषु पूज्या गणधरा महानिशीथसमये महासिद्धान्ते योग्यत्वं न जगुः?, अपि तु जगुरेव । प्रति० ।

दव्वत्थवा उ जाव-त्थवं तु दव्वत्थउ बहुगुणो भवउ ।
तम्हा बुहजणबुद्धी-हिँ छकायहियं तु गोयमाऽणुट्ठे ॥
अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
जे कसिणसंजमविऊ, पुप्फादीयं न कप्पए तेसिं ॥
किं मन्ने गोयम! ए-सा वित्ती सदाणुट्ठिए जम्हा ।
तम्हा उजयं पि अणु-ट्ठिजेत्थं न बुज्जसी विणओ ॥
गामावंतं तेसिं, जावत्थवऽसंभवो तह य ।
भावच्चणा य उत्तम, दसन्नभद्देणुयाहरणं ॥
तह चेव चक्कहरभा-णुससिदत्तदमगादिहि विणिदेसो ।
पुच्छं ते गोयम ! ता-व जं सुरिंदेहिँ भत्तीओ ॥
सव्विड्ढिए अणण्णसा-मपूयासक्कारए कए ।
ता किं तं सव्वसावज्जं, तिविहं विरएहिँ ऽणुट्ठियं ॥
उआहु सव्वथामेसु, सव्वहाऽविरएसु उ ।
भयवं ! सुरवरिंदेहिं, सव्वथामेसु सव्वहा ॥
अविरइएहि सुजत्तीए, पूयासक्कारए कए ।
जइ एवं तओ बुज्झ, ! गोयमा ! पनिसेसयं ॥
देसविरयऽविरयाणं, विणिओगमुभयत्थविसयमेव ।
सव्वतित्थंकरेहिं, जं गोयम ! संसमायरियं ॥
कसिणट्ठकम्मखयका-रियं तु जावत्थयमणुचिट्ठे ।
जवती उ गमागमजं,तु फरिसणाइ पमद्दणं तत्थ ॥
सपरहिओवरयाणं, ण मणं पि पवत्तए तत्थ ।
ता सपरहिओवरएहिं सव्वहा एसियव्वं विसेसं ॥
जं परमसारजूयं, विसेसवंतं च अणुट्ठेयं ।
ता परमसारजूयं, विसेसवंतं * च साहुवग्गस्स ॥
एगंतहियं पत्थं, सुहावहं पय परमत्थं ।

* 'अणुग्गवग्गस्स' इत्यपि पाठः ।

तं जह मेरुतुगे, मणिमंमएँ कंचणमएँ परमरम्मे ॥
नयणमणाणंदकरे, पभूयविन्नाणसाइसए ।
सुसिलिट्ठविसिट्ठसुल-च्छंदसुविभत्तए मुणीवेसे ॥
बहुसिंहग्गतघंटा-द्धयाउले पवरतोरणसणाहे ।
सुविसाले सुवित्थिन्ने, पए पए पिच्छियव्वएँ सिरीए ॥
मघमघंतडज्झं-तअगरुकप्पूरचंदणामोए ।
बहुविहविचित्तबहुपु-प्फमाइपूयारिहे सुपूए य ॥
णच्चपरिचरणाउय-सयाउले महुरमुखसद्दाले ।
कुट्टंतरासजणसय-समाउले जिणकहाखितचित्ते ॥
पकहंतकहगणच्चं, तत्थगतं भव्वनिग्घोसे ।
एमादिगुणोवेए, पए पए सव्वमेइणीवट्टे ॥
नियभुयनिविट्ठपुन्न-त्थिएण नायागएण अत्थेणं ।
कंचणमणिसोपाणे, थंभसहस्सूसिए सुवन्नतले ॥
जे कारवेज्ज जिणहरे, तओ वि तवसंजमो अणंतगुणो ।
तवसंजमेण बहुभव-समज्जियं पावकम्ममललेवं ॥
निट्ठविऊणं अइरा, अणंतसोक्खं वए मोक्खं ।
काउं जिणायणेहिं, सुमंमियं सव्वमेइणीवट्टं ॥
दाणाइचउक्केणं, सुट्ठु वि गच्छेज्ज अच्चुयं न परं । महा० ३ अ०।

वभयत्र-द्रव्यस्तवे भावस्तवे चेत्यर्थः । नन्द्यां नन्दीसूत्रे, दर्शितं यत् सूत्रवृन्दं, तन्मध्ये विदिता प्रसिद्धा या प्रामाण्यमुद्रा महानिशीथप्रमाणतार्थ्यं, तद्विभ्रति यादृश्यः, एताः संप्रदायसार्वभौमानां गिरः, निद्राणेषु सुप्तप्रमत्तेषु, डिण्डिमस्य पटहस्य, मत्कारा इव पतन्ति । यथा-गाढसुप्ताः परिमोषिण आकस्मिकभयङ्करभेरीभाङ्कारशब्दश्रवणेन सर्वस्वनाशोपस्थित्या कान्दिशीका भवन्ति, तथोक्तमहानिशीथशब्दश्रवणेन लुम्पका अपीति । न च वाङ्मात्रेण महानिशीथमप्रमाणमित्यपि तैर्वक्तुं शक्यम, यत्र सूत्रे आचारादीनि प्रमाणतया दर्शितानि तत्रैव महानिशीथस्यापि दर्शनात्; अतो विरोधस्य च बहुषु स्थानेषु दर्शनाद्विवेकिनः समाधिसौकर्यस्य च सर्वत्र तुल्यत्वादिति ॥४०॥

अभ्युच्चयमाह-

यद्दानादिचतुष्कतुल्यफलतासंकीर्तनं या पुन-
र्द्वौ श्राद्धस्य परो मुनेः स्तव इति व्यक्ता विभागप्रथा ।
यच्च स्वर्णजिनौकसः समधिकौ प्रोक्तौ तपःसंयमौ,
तत्सर्वं प्रतिमाऽर्चनस्य किमु न प्राग्धर्मताख्यापकम् ॥४१॥

यत् दानादिचतुष्कस्य दानादिचतुष्टयस्य, तुल्यफलतायाः संकीर्तनं, या पुनः द्वौ द्रव्यस्तवभावस्तवौ, श्राद्धस्योचितौ, परो भावस्तव एक एव मुनेः साधोरिति व्यक्ता विभागस्य प्रथा विस्तारः । यत् स्वर्णजिनौकसः सुवर्णजिनभवनकारणोत्कृष्टद्रव्यस्तवादपि, तपःसंयमौ समधिकौ प्रोक्तौ, तत्सर्वं प्रतिमार्चनस्य किमु प्राग् धर्मतायाः भावस्तवेनानुचीयमानधर्मतायाः, ख्यापकं सूचकं न?, अपि तु ख्यापकमेव । उत्कृष्टतमावधेरुत्कृष्टतरस्यैव युक्तत्वात् हीनावधिकोत्कर्षोक्तेरस्तुतित्वात्, नहि सामान्यजनादाधिक्यवर्णनं चक्रवर्तिनः स्तुतिः, अपि तु महानरपतेरिति । अक्षराणि च-" भावच्चणमुग्गविहा-रणा य दव्वच्चणं तु जिणपूजा ।
पढमा जइ ण दुण्णि वि, गइणं पढमं चिय पसत्था ॥
कंचणमणिसोपाणे, थंभसहस्सूसिए सुवण्णतले ।
जो कारवेज्ज जिणहरे, तओ वि संजमतओ अणंतगुणो ॥
तवसंजमेण बहुभव-समज्जिअं पावकम्ममलपवहं ।
निट्ठविऊणं अइरा, सासयसुक्खं वए मुक्खं ॥
काउं जिणायणेहिं, सुमंडिअं सयलमेइणीवट्टं ।
दाणाइचउक्केणं, सुट्ठु वि गच्छिज्ज अच्चुयं न परं " ॥
न च प्रथमाया एव प्रशस्तत्वाभिधानेनाद्याया अप्रशस्तत्वादनादरणीयत्वम, एवं सति "सारो चरणस्स निव्वाणं" इत्यभिधानान्मोक्षस्यैव स्वरसत्वाभिधानाच्चारित्रस्याप्यनादरणीयताऽऽपत्तेः सारोपायत्वेन सारत्वं तत्राविरुद्धमिति चेत्, प्रशस्तभावार्चोपायत्वेन द्रव्यार्चाया अपि प्राशस्त्यादादरणीयत्वाक्षतेः ॥४१॥

महानिशीथेऽसदुक्ताऽप्रामाण्याऽभ्युपगमं क्रमनिनो दूषयन्नाह-

प्रामाण्यं च महानिशीथसमये प्राचामपीत्यप्रियं,
यत्तुर्याध्ययने न तत्परिमितैः केषाञ्चिदालापकैः ।
वृद्धास्त्वाहुरिदं न सातिशयमित्याशङ्कनीयं क्वचित्,
तत्किं पाप! तवापदः परगिरां प्रामाण्यतो नोदिताः? ॥४२॥

(प्रामाण्यमिति) महानिशीथसमये प्राचामपि प्राचीनद्रव्यस्त्संप्रदायिकानां प्रामाण्यम इति वचः अप्रियमरमणीयं, यद् यस्मात्तुर्याध्ययने केषाञ्चिदाचार्याणां परिमितैर्द्वित्रैरालापकैस्तत्प्रामाण्यं नास्ति : वृद्धास्त्वाहुः-इदं महानिशीथं सातिशयं, अतिप्रभावमतिगम्भीरार्थं चेति क्वचिदपि स्थले नाशङ्कनीयम, तस्मात्कारणात् हे पाप! परगिरामुत्कृष्टवाचामस्मत्संप्रदायवृद्धानां प्रामाण्यतः प्रामाण्याभ्युपगमे तवापदो नोदिताः?, अपि तूदिता एव । अभ्युपगमसिद्धान्तस्वीकारे च तन्त्रसिद्धान्तभङ्गभ-सङ्गादजां निष्काशयतः क्रमेलकागमन्यायापातात् । तथा चोक्तं चतुर्थाध्ययनप्रान्ते-अत्र चतुर्थाध्ययने बहवः सैद्धान्तिकाः केचिदालापकान्न सम्यग् श्रद्दधत्येवं तैरश्रद्दधानैरस्माकमपि न सम्यक् श्रद्धानमित्याह हरिभद्रसूरिः, न पुनः सर्वमेवेदं चतुर्थाध्ययनम्, अन्यानि वाऽध्ययनानि, अस्यैव कतिपयैः परिमितैरालापकैरश्रद्धानमित्यर्थः । यतः स्थानसमवायजीवाभिगमप्रज्ञापनादिषु किञ्चिदेवमाख्यातं यथा प्रतिसंतापस्थलमस्ति, तद्गुहावासिनश्च मनुजास्तत्र च परमाधार्मिकाणां पुनः पुनः सप्ताष्टवारान् यावदुपपातः, तेषां च तैर्दारुणैर्वज्रशिलाघरट्टसंपुटैर्गिलितानां परिपीड्यमानानामपि संवत्सरं यावत्प्राणव्यापत्तिर्न भवतीति । वृद्धवादस्तु पुनर्यथा-तावदिदमार्षं सूत्रं, विकृतिर्न तावदत्र प्रविष्टा, प्रभूताश्चात्र श्रुतस्कन्धेऽर्थाः सुष्ठ्वतिशयेन सातिशयानि गणधरोक्तानि चैव वचनानि, तदेवं स्थिते न किञ्चिदाशङ्कनीयमिति । विरोधमानं च वेदनीयस्य जघन्या स्थितिरन्तर्मुहूर्त्तमुत्तराध्ययनेषूक्ता, प्रज्ञापनायां तु द्वादश मुहूर्त्ता इत्यादौ संभवन्त्येव " हेऊदाहरणासंभवे वि " इत्यादिना प्रामाण्याभ्युपगमोऽप्युभयत्र तुल्य इति दिग् ॥ ४२ ॥

महानिशीथ एवाऽन्यथा वचनमाशङ्कते-

भ्रष्टैश्चैत्यकृतेऽर्थितः कुवलयाचार्यो जिनेन्द्रालये,
यद्यप्यस्ति तथाऽप्यदः सतप इत्युक्त्वा भवं तीर्णवान् ;
एतत्किं नवनीतसारवचनं नो मानमायुष्मतां,
यत् कुर्वन्ति महानिशीथवचसो द्रव्यस्तवस्थापनम्? ॥४३॥

भ्रष्टैर्लिङ्गमात्रोपजीविभिः, चैत्यकृते स्वाभिमतचैत्यालयसंपाद-

नाय अर्थितः कुवलयाचार्यः,'पदैकदेशे पदसमुदायोपचारात्'कुवलयप्रभाचार्यः-यद्यप्येतच्चैत्यालये वक्तव्यमस्ति तथाऽपि सतमः सपापम् , इत्युक्त्वा, भवं संसारार्णवं, तीर्णवान् , एतत् किं नवनीतसाराध्ययनवचनम्, आयुष्मतां प्रशस्तायुषां भवतां, नो मानं न प्रमाणं?, यन्महानिशीथबलतः महानिशीथमवष्टभ्य, द्रव्यस्तवस्थापनं कुर्वन्त्यायुष्मन्तः। यत्र हि वाङ्मात्रेणापि द्रव्यस्तवप्रशंसनं निषिद्धं, तत्र कथं तत्करणकारणादि विहितं भाविष्यतीति ॥ ४३ ॥

उत्तरयति—

भ्रान्त ! भ्रान्तधिया किमेतदुदितं पूर्वापरानिश्चयात् ,
येन स्वश्रमक्लृप्तचैत्यममता मूढात्मनां लिङ्गिनाम् ।
उन्मार्गस्थिरता न्यषेधि न पुनश्चैत्यस्थितिः सूरिणा ,
वाग्भङ्गी किमु यद्यपीति न मुखं वक्रं विधत्ते तव ? ॥४४॥

हे भ्रान्त! विपर्ययाभिभूत! पूर्वापरग्रन्थतात्पर्यानिश्चयात् भ्रान्तधिया हीनबुद्ध्या, त्वयैतत्किमुदितं कुत्सितमुक्तम् ?। येनोक्तवचनेन, स्वश्रमक्लृप्तानि यानि चैत्यानि तेषु या ममता तत्र मूढ आत्मा येषां ते तथा, तादृशां लिङ्गिनां, सूरिणा कुवलयाचार्येण, मनसि निश्चितचैत्यकर्त्तव्यतागोचरतत्प्रतिज्ञां गलहस्तयता उन्मार्गस्थिरता अनायतनप्रवृत्तिदार्ढ्यं न्यषेधि, न पुनश्चैत्यस्थितिः सम्यग्भाविचैत्यप्रवृत्तिव्यवस्था, इहार्थे यद्यपीति वाग्भङ्गी वचनरचना, किमु तव मुखं वक्रं न विधत्ते ?, अपि तु विधत्त एव। अप्राकरणिकस्य संबोध्यमुखवक्रीकरणस्य कार्यस्याभिधानेन प्रकृतवक्रोक्त्यभिधानादप्रशंसालङ्कारः। "अप्रस्तुतप्रशंसा तु, या सैव प्रस्तुताश्रया ॥" इति लक्षणम्। तथा च–"जइ वि जिणालयं तह वि सावज्जमिणं।" न स्वभावतश्चैत्यस्थितेर्दुष्टत्वमाह, किंतु सर्वप्रवृत्त्युपाधिनेत्येव श्रद्धेयम्, न हि यद्यपि पायसं तथाऽपि न भक्ष्यमिति वचनं विषमिश्रताद्युपाधिसमावेशं विनोपपद्यत इति भावनीयं सूरिभिः ॥ ४४ ॥

एवं व्याख्यातमेवान्यत्रापि सूत्रस्य निःशङ्कितत्वकरणेन प्रव्रज्यासार्थकतोपपत्तिरित्यनुशास्ति—

यत्कर्मापरदोषमिश्रिततया शास्त्रे विगीतं भवेत् ,
स्वाभीष्टार्थलवेन शुद्धमपि तल्लुम्पन्ति दुष्टाशयाः ।
मध्यस्थास्तु पदे पदे धृतधियः संबन्ध्य सर्वं बुधाः ,
शुद्धाशुद्धविवेकतः स्वसमयं निःशल्यमातन्वते ॥४५॥

(यत्कर्मेति) यत्कर्म स्वरूपतः शुद्धमपि अपरदोषेण मिश्रिततया शास्त्रे विगीतं निषिद्धं भवेत् तत् स्वाभीष्टार्थलवेन स्वाभिमतार्थलेशप्राप्त्या शुद्धमपि दुष्टाशया लुम्पन्ति, छिद्रान्वेषिणामीदृशो बलस्य सुलभत्वात्, यथा वेदोद्वेगादिदोषमिश्रितमावश्यकादि निषिद्धमिति दुष्पालत्वादावश्यकमेवेदंयुगीनानामकर्तव्यमित्याध्यात्मिकादयो वदन्ति । विधिभक्तिविकलो द्रव्यस्तवो निष्फलः स्यात्तदाह–" जं पुण पयविकलं, एगंतेणेव भावसुन्नं ति। तं वि समयम्मि णितओ, भावत्थवहेउओ णेयं" ॥ १ ॥ यदनुष्ठानम्, एतदौचित्यं भावे बहुमानविषयेऽपि वीतरागेऽपि विधीयमानं तको द्रव्यस्तवः, तथा प्रकृतेऽपि मठमिश्रितदेवकुलादिकं नाचार्येणानुमतम् इत्यादिकं पुरस्कृत्य द्रव्यस्तव एव न कार्यमिति लुम्पका वदन्ति । मध्यस्थास्तु गीतार्थाः, पदे पदे स्थाने स्थाने, धृतधियः संमुखीकृतविमर्शाः, सर्वं ग्रन्थं, शनैः शनैः मन्दं मन्दं, श्रोत्रे प्रज्ञाऽनुसारेण संबन्ध्य शुद्धाशुद्धयोर्विवेको विनिश्चयः, ततः स्वसमयं स्वसिद्धान्तं निःशल्यं शल्यरहितमातन्वते तात्पर्यविवेचनेन सूत्रं प्रमाणयन्ति, न तु शङ्कोद्भावनेन मिथ्यात्वं वर्द्धयन्तीति भावः ॥ ४५ ॥

एतेन प्रदेशान्तरविरोधोऽपि परिहृत इत्याह–

तेनाकोविदकल्पितश्चरणभृद्यात्रानिषेधोद्यत–
श्रीवज्रार्यनिदर्शनेन सुमुनेर्यात्रानिषेधो हतः ।
स्वाच्छन्द्येन निवारिता खलु यतश्चन्द्रप्रभस्याऽऽनतिः,
प्रत्यज्ञायि महोत्तरं पुनरियं सा तैः स्वशिष्यैः सह ॥४६॥

(तेनेति) तेनोक्तहेतुना कोविदेन तात्पर्यज्ञेन कल्पितश्चरणभृतां यात्रानिषेधे उद्यता ये श्रीवज्राचार्याः श्रीवज्रसूरयस्तेषां निदर्शनेन दृष्टान्तेन सुमुनेः सुसाधोः यात्रानिषेधो हतो निराकृतः; यतस्तत्र ग्रन्थे स्वाच्छन्द्येनाज्ञारहिततया गुरुभिः चन्द्रप्रभस्य चन्द्रप्रभस्वामिन आनतिर्निषिद्धा, महोत्तरं सङ्घयात्रोत्सवनिवृत्त्यनन्तरं, पुनरियं चन्द्रप्रभयात्रा तैराचार्यैः, स्वशिष्यैः सह, प्रत्यज्ञायि कर्त्तव्येति प्रतिज्ञाविषयी कृता । अत्राऽविधियात्रानिषेधमेवोपश्रुत्य यात्रामात्रं मूढैर्निषिद्धं तद् दूषितं तात्पर्यज्ञैरिति बोध्यम् । प्रति०। (अत्र सावद्याचार्यवज्राचार्यसंबन्धौ श्रोतॄणामुपकाराय महानिशीथगतावभिधास्येते 'सावज्जायरिअ' शब्दे)
" कुवलयप्रभवज्रमुनीशयो—श्चरितयुग्ममिदं विनिशम्य भोः ।
कुमतिभिर्जनितं मतिविभ्रमं , त्यजत युक्तमयुक्तविभावकाः ॥ १ ॥ " प्रथमे ह्यनधिकारिकर्तृकत्वाविशिष्टचैत्यप्रवृत्त्यनुमोदने तात्पर्यं, द्वितीये चाविधियात्रानिषेध इति । न च यात्रायामेवासंयमाभिधानात्तन्मात्रनिषेधे स्वस्थानावधिकतीर्थप्राप्तिफलकव्यापाररूपायास्तस्या निषेधे संयतसार्थेन तन्निषेधापत्त्या संयतसार्थेन तन्निषेधस्यैव फलितत्वात्, अत एव साधूनामवधानभृतां कदालम्बनीभूतैव चैत्यभक्तिश्चैत्यवासिनामावश्यकेऽपि निषिद्धा ।
" नीया वासविहारं, चेइअभत्तिं च अज्जियालाभं ।
विगइसु अप्पमिबंधं, निद्दोसं चोइआ विंति ॥
चेइअकुलगणसंघं, अन्नं वा किंचि काउ निस्साणं ।
अहवा वि अज्जवइरं, तो सेवंती अकरणिज्जं " ॥ इत्यादि ।
तस्मादावश्यकमहानिशीथाद्येकवाक्यतया साधुलिङ्गस्यैव चैत्यभक्तिर्निषिद्धा, श्राद्धानां तु शतशो विहितैवेति श्रद्धेयम् ॥ ४६ ॥

सिंहावलोकितेन बिम्बनमनानुकूलव्यापारे यात्रापदार्थबोधमाशङ्क्य परिहरति–

नो यात्रा प्रतिमानतिर्व्रतभृतां साक्षादनादेशनात् ,
तत्प्रश्नोत्तरवाक्य इत्यपि वचो मोहज्वरावेशजम् ।
मुख्यार्थैः प्रथिता यतो व्यवहृतिः शेषान् गुणान् लक्षयेत्,
सामर्थ्येण हि यावताऽस्ति यतना यात्रा स्मृता तावता ।४७।

(नो इति) प्रतिमानतिः यात्रा न भवति । केषाम् ?, व्रतभृतां चारित्रिणाम् । कुतः?, तत्प्रश्नोत्तरवाक्ये शुकसोमिलादिकृतयात्रापदार्थप्रश्नानां थावच्चापुत्रभगवदादिउत्तरवाक्ये साक्षात्कण्ठपाठेनाऽनादेशनात् बिम्बप्रणतेरनुपदेशात्, इत्यपि वचः, कुमतीनां मोहरूपो यो ज्वरस्तदावेशस्तत्पारवश्यप्रलापजनितम्, यतः मुख्यार्थैः प्रथिता प्रसिद्धा, व्यवहृतिः शब्दप्रयोगरूपा, शेषान् उक्तावशिष्टान् गुणान् लक्षयेत् । हि यतः, यावता सामर्थ्येण

यावत्या सामग्र्या, यतना भवति तावता यात्रा स्मृता । तथा च-"किं ते भंते ! जत्तासु आगमे तवणियमसंजमसज्झायज्झाणावस्सयमाइसु जयणा " इत्यत्रादिपदस्वरसात् यत्यावश्योचितयोगमात्रयतनायां यात्रापदार्थो लभ्यते । यथा " परेषां यज्ञेन" इत्यादिसूत्रं शतपथविहितकर्मवृन्दोपलक्षकम, अत एव सोमिलप्रश्नोत्तरे यथाश्रुतार्थबोधे फलोपलक्षकत्वं व्याख्यातम । तथा चात्र भगवतीवृत्तिः-एतेषु च यद्यपि भगवतो न तदानीं किञ्चिदस्ति तथाऽपि तत्फलसद्भावात्तदस्तीत्यवगन्तव्यमिति । अयं च एवंभूतनयार्थः, प्रागुक्तस्तु शब्दसमभिरूढयोरिति विवेकः ॥ ४७ ॥

साक्षादादेशगतिमप्याह-

वैयावृत्यतया तपो भगवतां भक्तिः समग्राऽपि वा,
वैयावृत्यमुदाहृतं हि दशमे चैत्यार्थमङ्गे स्फुटम् ।
नैतत् स्यादशनादिनैव भजनाद्वाराऽपि किं त्वन्यथा,
सङ्घादेस्तदुदीरणे बत कथं न व्याकुलः स्यात्परः ? ॥४८॥

वा अथवा, समग्राऽपि सर्वाऽपि, भगवतां भक्तिः कृतकारितानुमतिरूपा,स्वाधिकारौचित्येन तप एव, तथा च तपःपदेन यात्रायाः साक्षादुपदेश एवेति भावः। वैयावृत्यत्वमस्याः कुतः सिद्धमत आह-हि निश्चितं, दशमेऽङ्गे प्रश्नव्याकरणाख्ये, स्फुटं प्रकटं, चैत्यार्थं वैयावृत्यमुदाहृतम । तथा च तत्पाठः-"अह केरिसए पुणाऽऽइं आराहए वयमिणं ? जे से उवहिभत्तपाणदाणसंगहणकुसले अच्चंतबालदुब्बलगिलाणवुड्ढखवगपवित्तिआयरियउवज्झायसेहसाहम्मियतवस्सिकुलगणसंघचेइयट्ठो णिज्जरट्ठी वेयावच्चं अणिस्सियं दसविहं बहुविहं पकरेइ त्ति "। (अह केरिसए त्ति) अथ परिप्रश्नार्थः, कीदृशः पुनः "आइं ति" अलंकारे, आराधयति व्रतमिदम ? इह प्रश्ने उत्तरमाह-"जे से" इत्यादि। योऽसावुपधिभक्तपानानां दानं च संग्रहणं च, तयोः कुशलो विधिज्ञेयः, स तथा,बालश्चेत्यादेः समाहारद्वन्द्वः। ततोऽत्यन्तं यद् बालग्लानवृद्धक्षपकं तत्तथा । तत्र विषये वैयावृत्यं करोतीति योगः। तथा प्रवृत्त्याचार्योपाध्याये, इह द्वन्द्वैकत्वात्प्रवृत्यादिषु, तत्र प्रवृत्तिलक्षणमिदम-"तवसंजमजोगेसुं, जो जुग्गो तत्थ तं पवत्तेइ। असहू य णियत्तेई,गणतत्तिल्लो पवित्ती तो"।१। व्य०१ उ०। इतरौ प्रतीतौ,तथा 'सेहे' शैक्षेऽभिनवप्रव्रजिते, साधर्मिके समानधर्मिके लिङ्गप्रवचनाभ्यां, तपस्विनि चतुर्थभक्तादिकारिणि, तथा कुलं गणसमुदायरूपं चान्द्रादिकं, गणः कुलसमुदायः कोटिकादिकः, सङ्घस्तत्समुदायरूपः, चैत्यानि जिनप्रतिमाः, एतासां योऽर्थः प्रयोजनं स तथा । तत्र निर्जरार्थी कर्मक्षयकामः, वैयावृत्यं व्यावृतकर्मरूपमुपष्टम्भनमित्यर्थः । अनिश्रितं कीर्त्यादिनिरपेक्षं, दशविधं दशप्रकारम । आह-

" वेयावच्चं वावड-भावो इह धम्मसाहणणिमित्तं ।
अन्नाइआण विहिणा, संपायणमेस भावत्थो ॥
आयरियउवज्झाए, थेरतवस्सीगिलाणसेहाणं ।
साहम्मियकुलगणसं-घसंगयं तदिहायव्वं " ॥

बहुविधं भक्तपानादिदानभेदेनानेकप्रकारं करोतीति वृत्तिः । ननु चैत्यानि जिनप्रतिमा इत्यत्र वृत्तिकृतोक्तं,परं विचार्यमाणं न युक्तम्,अशनादिसंपादनस्यैव वैयावृत्यस्योक्तत्वेन प्रतिमासु तदर्थायोग्यत्वात् । अत आह-न एतद्वैयावृत्यम्, अशनादिनैवाशनादिसंपादनेनैव स्यादिति तर्हि किं तु भजनाद्वाराऽपि भक्तिद्वारेणाऽपि प्रत्यनीकनिवारणरूपे भक्तिव्यापारेऽपि "जक्खाहु वेयावडियं करेंति, तम्हा हु एए निहया कुमारा। " इत्यादौ वैयावृत्यवादप्रयोगस्य सूत्रे दर्शनात्र वादिपदग्राह्यं पानादिकमेव, किं तु भक्त्यादिकमपि । अत एव तपस्व्यादीनां तपोयोगप्रभृतिकालेऽशनादिसंपादनस्यायोगाद्भक्त्याद्युचितनित्यव्यापारसंपादनसंभवाभिप्रायेण योगविभागात्समासः, बालादीनां शैक्षसाधर्मिकयोश्च कथञ्चित्तुल्यतयेति भावनीयम् । एतदेवाहअन्यथोक्तवैपरीत्ये, सङ्घादेस्तदुदीरणे वैयावृत्योच्चारे,परः कुमतिः, कथं न व्याकुलो व्यग्रः स्यात, कुलगणसङ्घादीनां सर्वेण सर्वदा सामस्त्येनाशनादिसंपादनस्य कर्तुमशक्यत्, यावदूषाधं प्रामाण्यं तूभयत्र वक्तुं शक्यमिति दिक् ॥ ४८ ॥

अर्थान्तरवादमधिकृत्याह-

ज्ञानं चैत्यपदार्थमत्र वदतः प्रत्यक्षबाधैकतो,
धर्मिद्वारतया मुनावधिकृते त्वाधिक्यधीरन्यतः ।
दोषायेति परः परःशतगुणप्रच्छादनात्पातकी,
दग्धां गच्छतु पृष्ठतश्च पुरतः कां कान्दिशीको दिशम् ? ४९

(ज्ञानमिति) अत्र प्रश्नव्याकरणप्रतीके, चैत्यपदार्थं ज्ञानं वदतो लुम्पकस्यैकस्मिन्पक्षे प्रत्यक्षबाधा प्रत्यक्षप्रमाणबाधः, परिदृश्यविश्रामणादिवैयावृत्यस्य ज्ञानेऽनुपपत्तेः । धर्मिद्वारतया धर्मिणि धर्मोपचाराभिप्रायेण, मुनौ साधौ, अवधिकृते वत्साग्रहीते तु, अन्यतः पक्षान्तरे,आधिक्यधीर्दोषाय, मुनेर्बालादिपदैर्गृहीतत्वाच्चैत्यपदस्य पौनरुक्त्यमित्यर्थः । चैत्यपदेनोपचारस्याप्ययोगात्,एवं सति चैत्यार्थपदस्य चैत्यप्रयोजनममुना चार्थान्तरसंक्रामितवाच्यतया एव युक्तत्वात् । "चेइयकुलगणसंघे, आयरियाणं च पवयणसुए अ । सव्वेसु वि तेण कयं, तवसंजममुज्जमंतेण" ।१। इत्यादिना तपःसंजमयोः चैत्यप्रयोजनप्रयोजकत्वस्य सिद्धान्तसिद्धत्वात् बालादिपदैकवाक्यतया चैत्यपदस्यैककार्यत्वसङ्गत्यैव ग्रहणौचित्यात् । उपसंहरति-इत्येवं, परः कुमतिः,परःशतानां गुणानां चैत्यशब्दनिर्देशप्रयुक्तानां, प्रच्छादनाभिद्रवात्पातकी दुरितवान्, कान्दिशीको भयद्रुतः सन्, पृष्ठतः पुरतश्च दग्धां कां दिशं गच्छतु मिथ्याभिशङ्की ?, न कुत्राऽपि गच्छतीति भावः। अत्र दग्धादिगत्वेन पूर्वोत्तरपक्षद्वयाध्यवसानादतिशयोक्तिः ॥ ४९ ॥

(१२) निश्चितार्थेऽनुपपत्तिमाशङ्क्यनिराकरोति-

वैयावृत्यमथैवमापतति वस्तुर्ये गुणस्थानके,
यस्माद्भक्तिरभङ्गुरा भगवतां तत्रापि पूजाविधौ ।
सत्यं दर्शनलक्षणेऽत्र विदितेऽनन्तानुबन्धिव्ययात् ,
नो हानिं त्वयि निर्मलां धियमिव प्रेक्षामहे कामपि ॥५०॥

(वैयावृत्यमित्यादि) अथैवं चैत्यभक्तेर्वैयावृत्यत्वेन, वः युष्माकं,तुर्ये चतुर्थे गुणस्थानके,वैयावृत्यमापतति प्रसज्यते,यस्मात्तत्र भगवतामर्हतां,पूजाविधौ विहितार्चनेऽभङ्गुराऽव्याप्या भक्तिर्वर्तते । सत्यमित्यर्द्धाङ्गीकारे, अत्र चतुर्थगुणस्थानके,दर्शनलक्षणे सम्यक्त्वलक्षणीभूते वैयावृत्ये विदिते "सुस्सूसधम्मराओ, गुरुदेवाणं जहा समाहीए। वेयावच्चे णियमो, वा पडिवत्ती अभयणाओ"।१। इत्यादिप्रसिद्धेऽनन्तानुबन्धिनां व्ययात् क्षयोपशमाच्च कामपि हानिं प्रेक्षामहे । कुत्र कामिव, त्वयि निर्मलां निःशङ्कितां धियमिव बुद्धिमिव, यथा त्वयि निर्मलां धियं न प्रेक्षामहे,

तथाऽसत्कुकार्ये न हानिं प्रेक्षामहे इत्युपमा । चारित्रमोहनीयभेदादनन्तानुबन्धिक्षयजायमानस्य वैयावृत्त्यगुणस्याविरतसम्यग्दृशामपि संभवे बाधकाभावादित्यर्थः ॥ ५० ॥

तथा सति तेषां चारित्रलेशसंभवेऽविरतत्वानुपपत्तिरेव बाधिकेत्यत्राह—

श्राद्धानां तपसः परं गुणतया सम्यक्त्वमुख्यत्वतः ,
सम्यक्त्वाङ्गमियं तपस्विनि मुनौ प्राधान्यमेषाऽश्नुते ।
धीर्लीलाङ्गतयोपसर्जनविधां धत्ते यथा शैशवे ,
तारुण्ये व्यवसायसंभृततया सा मुख्यतामञ्चति ॥५१॥

श्राद्धानां दर्शनश्रावकाणां, परं केवलं, तपसो गुणतया मनुष्यतया, इयं भक्तिः, सम्यक्त्वाङ्गं सम्यक्त्वप्रधानस्याङ्गीभूता, सम्यक्त्वफलेनैव फलवतीत्यर्थः । फलवत्संनिधावफलं तदङ्गमिति न्यायात्, तथा च तावता नाविरतत्वहानिः, कार्षापणमात्रधनेन धनवानेकगोमात्रेण गोमानिति पञ्चाशकवृत्तावभयदेवसूरयः। कषायविशेषव्यय एवाविरतत्वहानिप्रयोजको,न तु प्रथमानुदयमात्रं , तेनापेक्षिकोपशमादीनां सम्यक्त्वगुणानामेव जनकत्वादिति निष्कर्षः । आह-" पढमाणुदयाभावो , पढमस्स जओ भवे कसायाणं । ता कह एसो एवं , भण्णइ य तज्जियसवेरवाइ त्ति " ॥ १ ॥ प्रधानीभूतास्तूपशमादयोऽपि चारित्रिण एव घटन्ते । तदाह-"णिच्छयसम्मत्तं चा-गिद्दिस्स सुत्तभणियतिउणरूवं तु। एवंविहो णिओगो, होइ इमेहिं तव्वन्नु त्ति" ॥१॥ इति विंशिकायाम् । एतदेवाभिप्रेत्याह-तपस्विनि प्रधानतपोयुक्ते, मुनौ चारित्रिणि, एषा भक्तिः प्राधान्यं प्राप्नोति । अत्र दृष्टान्तमाह-यथा शैशवे बाल्ये धीर्बुद्धिः लीलायाः प्रधानीभूतायाः क्रीडायाः अङ्गतया उपसर्जनविधां गौणभावं धत्ते, तारुण्ये यौवनकाले च सा बुद्धिः, व्यवसायसंभृततया बलपराक्रमसध्रीचीनतया, मुख्यतां मुख्यभावमञ्चति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

अत्र सूत्रनीत्या हिंसामाशङ्क्योद्वेगमभिनयति परः—

अर्थं काममपेक्ष्य धर्ममथवा निघ्नन्ति ये प्राणिनः ,
प्रश्नव्याकरणे हि मन्दमतयस्ते दर्शितास्तत्कथम् ।
पुष्पाम्भोदहनादिजीववधतो निष्पाद्यमानां जनैः ,
पूजां धर्मतया प्रसह्य वदतां जिह्वा न नः कम्पताम् ॥५२॥

(अर्थमिति) अर्थम् , कामम् । अथवा-धर्ममपेक्ष्य ये प्राणिनो निघ्नन्ति, ते प्रश्नव्याकरणे,हि निश्चितं, मन्दमतयो दर्शिताः, तत्कथं स्यात् ?, पुष्पाम्भोदहनादिजीवानां यो वधस्ततो, जनैः, केवलितत्त्वज्ञैरित्यर्थः । निष्पाद्यमानां कार्यमाणां,पूजां प्रसह्य हठात्,धर्मत्वेन वदतां नः-अस्माकं जिह्वा कथं न कम्पताम्?, अपि तु कम्पताम् । धर्मिणां जिह्वैव मृषा भाषितुं कम्पत इत्युक्तिः ॥५२॥

(१३) अत्रोत्तरदातुः स्वस्य वैद्यताभिनयाभिव्यक्तये भेषजमुपदर्शयति-
(धर्माङ्गहिंसा न दोषाय)

भोः पापाः ! भवतां भविष्यति जगद्वैद्योक्तिशङ्काभृतां,
किं मिथ्यात्वमरुत्प्रकोपवशतः सर्वाङ्गकम्पोऽपि न ।
यो धर्माङ्गतया वधः कुसमये दृष्टोऽत्र धर्मार्थिका ,
सा हिंसा न तु सत्क्रियास्थितिरिति श्रद्धैव सद्भेषजम् ॥५३॥

(भो इति) भोः पापाः ! पापान्वेषिणः कुमतयः! भवतां जगद्वैद्यस्य भगवतः,उक्तौ शङ्काभृतां, मिथ्यात्वरूपो यो मरुद्वायुस्तस्य प्रकोपवशतः किं सर्वाङ्गकम्पोऽपि न भविष्यति?। तत्र प्रकम्पे प्रतीकारकवैद्यवचनविचिकित्सकस्य रोगिणो ब्रह्मणा प्रतिकर्तुमशक्यत्वात् । न सुवैद्योक्तिविचिकित्सावन्तो भविष्याम उक्तरोगौषधमुपदिश्यतामिति विवक्षायामाह-यो वधः कुसमये कुशास्त्रे धर्माङ्गतया धर्मकारणतया दृष्टः, अत्र परीक्ष्यलोके, सा धर्मार्थिका हिंसा न तु सत्क्रियास्थितिरप्रमत्तयोगेन हिंसायामुपरमात्, इतीयं श्रद्धैव सत् समीचीनं भेषजम् । अन्यथा स श्रुतभावाभिगमनार्थैकोनपञ्चाशता दिनैः परिपाकशोध्यादुदकरत्नं कृतवान् तथा राज्ञा कारितश्च सुबुद्धिर्महाहिंसको मन्दबुद्धिश्च स्यात् । तथा च सूत्रम्-"तते णं सुबुद्धिस्स इमेयारूवे अब्भत्थिए समुप्पज्जित्था, अहो णं जियसत्तू तवे तहिए अवितहे सब्भूए जिणपण्णत्ते भावेणोवलंभितं सेयं खलु ममं जियसत्तुस्स रण्णो सताणं तच्चाणं तहियाणं अवितहाणं सब्भूयाणं जिणपण्णत्ताणं भावाणं अभिगमणट्ठयाए समट्ठं उवयणाविणए एवं संपेहेइ । संपेहेइत्ता पंचसएहिं पुरिसेहिं सद्धिं अंतरावणाओ नवए घडे गिण्हइ । गिण्हइत्ता संझाकालसमयंसि पविरलमणुस्संसि णिसंतपडिणिसंतंसि जेणेव परिहोदए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तं परिहोदगं गेण्हावेति, नवएसु घडेसु गालावेति, नवएसु घडेसु पक्खिवावेति, सज्जखारं पक्खियावेइ, पक्खियावेइत्ता लंछियमुद्दिए करावेइ, करावेइत्ता तं परिसावेति, परिसावेतित्ता तच्चं पि नवएसु घडेसु० जाव संवसावेति,अंतरा गालावेमाणा २ अंतरा पक्खिवावेमाणा २ अंतरा वसावेमाणा २ सत्त सत्त राइंदियाइं परिसावेइ. परिसावेइत्ता ततेणं से परिहोदए सत्तमंसि सत्तयंसि परिणममाणंसि उदगरयणे जाए आवि हुत्था" । तथा वायुकायादिविराधनाया अवर्जनीयत्वादकरणपरिहारस्य च तदुक्तरीत्यैव संभवात् । एतेन " एवमादी संते सत्त परिवज्जिया उवहणंति, अवसाहणंति, दढमूढदारुणमई कोहा माणा माया लोभा हासरती सोयवेदत्थजीयकायत्थधम्महेउं सवसा अवसा अट्ठा अणट्ठा य तसपाणा थावरे य हिंसंति, मंदबुद्धी सवसा हणंति, अवसा हणंति,सवसा अवसा दुहओ हणंति, अट्ठा हणंति, अणट्ठा हणंति, अट्ठा अणट्ठा दुहओ हणंति, हस्सा हणंति, वेरा हणंति, रतीए हणंति, हस्सा वेरा रती हणंति, कुद्धा हणंति, मुद्धा हणंति, लुद्धा हणंति, कुद्धा मुद्धा लुद्धा हणंति, अत्था हणंति, धम्मा हणंति, कामा हणंति, अत्था धम्मा कामा हणंति । " इति प्रश्नसूत्रमपि व्याख्यातक्रोधादिकारणैर्हन्तॄणां स्ववश्याद्यर्थे प्रदर्शितानां मन्दबुद्धितयोक्तत्वेऽपि, स्वाम्यधिकारे-" कयरे ते, जे सोयरियमच्छबंधा साउणेया वाहा कूरकम्मा " इत्याद्युपक्रम्य "सण्णी य असण्णी पो पज्जत्ता असुभलेसस्स परिणामा एते अण्णे य एवमादी करेंति पाणाइवायकरणं " इत्यतिदेशाभिधानेन अशुभलेश्यानामेव प्राणातिपातकर्तृत्वोपदेशाद्, भक्तिरागोपबृंहितसम्यग्दर्शनोल्लासेन प्रशस्तलेश्याकानां देवपूजाकर्तॄणां हिंसालेशस्याप्यनुपदेशात्, कथं च शृङ्गग्राहिकयाऽतिदेशेनैव तेषां हिंसकानुक्तावपि तथा प्रलापकारिणां नानन्तसंसारित्वं, शासनोच्छेदकारिणामनन्तानुबन्धिनीमायाविसदृशप्रलापस्यासंभवात् । तदुक्तम्-" जइ वि य ण गिणे " इत्यादि । किं च-येऽर्थाय कामाय धर्माय घ्नन्ति मन्दबुद्धय इति पराऽभिमत उद्देश्यविधेयभावोऽप्ययुक्तः, अर्थाय घ्नतामानन्दादीनामपि मन्दबुद्धित्वप्रसङ्गात् । किं तु ये मन्दबुद्धय उक्तकारणैः घ्नन्ति, ते प्राणा-

तिपातफलं दुस्तरं प्राप्नुवन्तीति मन्दबुद्धित्वमुद्देश्यतावच्छेदके प्रवेश्ये प्रयोगो युक्त इति विवेके न चाशङ्का, न चोत्तरमिति श्रद्धेयम् ॥ ५३ ॥

एतदेव षोडशके हरिभद्रसूरिः।
स्नानादिषु जीवकायवधमाशङ्क्याह—

स्नानादौ कायवधो, न चोपकारो जिनस्य कश्चिदपि ।
कृतकृत्यश्च स भगवान्, व्यर्था पूजेति मुग्धमतिः ॥१३॥

[स्नानादावित्यादि] स्नानादौ स्नानविलेपनसुगन्धिपुष्पादौ पूर्वोक्ते, कायवधो जलवनस्पत्यादिवधः परिदृष्टरूप एव, न चोपकारः सुखानुभवरूपस्तदनुभोगेन, जिनस्य वीतरागस्य मुक्तिव्यवस्थितस्य, कश्चिदपि कोऽपि, कृतकृत्यश्च निष्ठितार्थश्च, स भगवान्, न किञ्चित् तस्य करणीयमस्त्यपरैरेवं व्यर्था पूजा निरर्थिका पूजेत्येवं मुग्धमतिरव्युत्पन्नमतिर्मूढमतिर्वा पर्यनुयुङ्क्ते॥१३॥ षो० ६ विव०। पञ्चवस्तुके चैत्यहिंसाया अदुष्यत्वं, वैदिकहिंसाया दूष्यत्वं विस्तरतोऽप्युक्तमरम्यत्वादत्रोपेक्षितम्। प्रति०। पं० व०।

यागधर्माङ्गतयेत्याद्युक्तमेवोपपादयति—

यागीयो वध एव धर्मजनकः प्रोक्तः परैः स्वागमे,
नास्मिन्नोघनिषेधदर्शितफलं कार्यान्तरार्थाश्रिते ?।
दाहे क्वापि यथा सुवैद्यकबुधैरुत्सर्गतो वारिते,
धर्मत्वेन धृतोऽप्यधर्मफलको धर्मार्थकोऽयं वधः ॥ ५४ ॥

"यागीय इत्यादि"। यागीयो यागस्थलीयो वध एव हि, परैर्वैदिकैः स्वागमे धर्मजनकः प्रोक्तः, "भूतिकामः पशुमालभेत" इत्यादिवचनात्। अस्मिन् ओघनिषेधेन सामान्यनिषेधेन, दर्शितफलं निषेध्यप्रयोजनं दुर्गतिगमनलक्षणम्। न इति न, कीदृशेऽस्मिन्कार्यान्तरम् ओघनियुक्तमुक्तरूपफलभिन्नं, कार्यं च न प्रासिलक्षणं, तदर्थमाश्रिते। तदाह-उत्सर्गनिषेधानुगुणं दुःखरूपं फलं न भवतीति न। अयं धर्मार्थको वधः धर्मत्वेन धृतोऽपि भ्रान्तिविषयीकृतोऽपि, अधर्मफलकोऽधर्महेतुः। आह च-" मिथ्यादृष्टिभिराम्नातो, हिंसाद्यैः कलुषीकृतः। स धर्म इति वित्तोऽपि, भवभ्रमणकारणम् ॥१॥" इति। तस्मात् धर्मार्थं हिंसा यागादावेव, न तु जिनप्रतिमापूजायामिति श्रद्धेयम् ॥ ५४ ॥

ननु भवतामपि सामान्यतो निषिद्धाया हिंसायाः फलं
कथं न पूजास्थलीयहिंसायामित्याह—

अस्माकं त्वपवादभाकलयतां दोषोऽपि दोषान्तरो-
च्छेदी तुच्छफलेच्छया विरहितश्चोत्सर्गरक्षाकृते ।
यागादावपि सत्त्वशुद्धिफलतो नेयं स्थितिर्दुष्टतः,
श्येनादेरिव सत्त्वशुद्ध्यनुदयात्तत्संभवादन्यतः ॥ ५५ ॥

अस्माकं त्वपवादमाकलयताम्, उत्सर्गिकाधिकारिकमपवादं निम्नोन्नतन्यायेन तुल्यसंख्याकमभ्युपगच्छतामित्यर्थः। दोषोऽपि द्रव्यस्तवेऽधिकारिविशेषणीभूतोऽयमिति नारम्भस्तत्कालीनः सदारम्भो वा, दोषान्तरस्यानुबन्धहिंसारूपस्योच्छेदी, तुच्छफलस्य भूत्यादिलक्षणस्येच्छया विरहितश्चोत्सर्गरक्षाकृत एवोत्सर्गरक्षार्थमेव प्रवर्तत इति विरोधः। परेषां तु सामान्यनिषेध उत्सर्गो मुमुक्षोरपवादश्च यागीयहिंसाविधिलक्षणो भूतिकामस्येति भिन्नविषयत्वादुत्सर्गापवादभावानुपपत्तिरेव। तदुक्तं हेमसूरिभिः-"नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च" इति। ननु यागादौ प्रतिपदोक्तफलकामनया मा भूदेवमुत्सर्गापवादभावः, "तमेवं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यादिश्रुतेः प्रतिपदोक्तफलत्यागेन शतपथविहितकर्मवृन्दस्य विविदिषायां सत्त्वशुद्धिद्वारा संभविसमुच्चयेनोपयोगो भविष्यतीत्यत आह-"यागादावपीति" यागादावपि सत्त्वशुद्धिफलमाश्रित्य, नेयमस्मदुक्तजातीया, स्थितिर्मर्यादा, कुतः?, दुष्टतः स्वरूपतो दुष्टात् श्येनादेरिव श्येनयागादेरिव, सत्त्वशुद्ध्यनुदयात् मनःशुद्धेः कर्तुमशक्यत्वात्, ये हि प्रतिपदोक्तफलत्यागेन वेदोक्तमिति कृत्वा ज्योतिष्टोमादि सत्त्वशुद्ध्यर्थमाद्रियन्ते, तैः श्येनयागोऽप्यतिचारफलत्यागेन सत्त्वशुद्ध्यर्थमादरणीय इति भावः। अवदाम च ज्ञानसागरप्रकरणे-"वेदोक्तत्वान्मनःशुद्ध्या, कर्मयज्ञोपयोगिनः। ब्रह्मयज्ञा इतीत्थं नः, श्येनयागं त्यजन्ति किम्"॥१॥ इति। तथाऽन्यतो गायत्रीजपादेः, सत्त्वप्रधात्सत्त्वशुद्धिसंभवान्नेयं स्थितिरित्यवधेयः। अस्माकं त्वनन्यगत्याऽऽयव्ययतुलनया यादाश्रयणे सत्त्वशुद्धेर्नासंभवः ॥ ५५ ॥

अनन्यगतिकत्वे पूजादावन्यथासिद्धिं शङ्कते-

नन्वेवं किमु पूजयाऽपि भवतां सिद्ध्यत्यवद्योज्झिता-
द्भावापद्विनिवारणोचितगुणः सामायिकादेरपि ।
सत्यं योऽधिकरोति दर्शनगुणोल्लासाय वित्तव्यये,
तस्येयं महते गुणाय विफलो हेतुर्न हेत्वन्तरात् ॥ ५६ ॥

ननु एवं सत्त्वशुद्धेरन्यतः संभवे, भवतां स्वरूपतः सावद्यया पूजयाऽपि किं जैनैरिहप्रयुक्तया, भावापद्विनिवारणे जिन उचितो गुणः अवद्योज्झितात् पापरहितात् सामायिकादेरपि सिद्ध्यति, तस्य पारमार्थिकविनयरूपत्वात्। आह च-"पुष्पामिषस्तुतिप्रतिपत्तीनां यथोत्तरं प्रामाण्यम्" इति। उत्तरमाह-(सत्यमिति) सत्यमित्यर्द्धाङ्गीकारे, यो दर्शनगुणोल्लासाय सम्यक्त्वगुणवृद्ध्यर्थं वित्तव्यये कृते धनव्ययायाऽधि करोति अधिकारभाग्भवति, तस्येयं पूजा महते गुणाय भवति, अधिकारिविशेषेण कारणविशेषात् फलविशेषस्य न्याय्यत्वाद् भूम्ना तत्प्रवृत्तेश्चात एव द्रव्यस्तवः श्राद्धानां शरीरे हस्ततुल्यः, भावस्तवश्च तेषां किञ्चित्कालीनसामायिकादिरूपस्तदङ्गुलितुल्य इति तत्र तत्र स्थितम्। तुल्यफलत्वेऽप्याह-हेत्वन्तराद्धेतुर्विफलो न। तथा च दानादीनां सामायिकादीनां देवपूजायाश्च श्राद्धोचितफले "तृणारणिमणि" न्यायेन कारणत्वान्न दोषः। अत एव श्रमणमधिकृत्याप्युक्तम्-" संवरनिर्जररूपो, बहुप्रकारस्तपोविधिः सूत्रे। रोगचिकित्साविधिरिव, कस्याऽपि कथञ्चिदुपकारी "॥ १ ॥ ५६ ॥

आरम्भशङ्कायामत्र दोषानाह-

अन्यारम्भवतो जिनार्चनविधावारम्भशङ्काभृतो,
मोहः शासननिन्दनं च विलयो बोधेश्च दोषाः स्मृताः ।
सङ्काशादिवदिष्यते गुणनिधिर्धर्मार्थमृद्ध्यर्जनं,
शुद्धालम्बनपक्षपातनिरतः कुर्वन्नुपेत्यापि हि ॥ ५७॥

(अन्यारम्भ इति) अन्यारम्भो जिनगृहातिरिक्ताऽऽरम्भस्तद्वतो जिनार्चनविधौ विहितजिनपूजायामारम्भशङ्कां बिभर्तीत्यारम्भशङ्काभृत्तस्य मोहोऽनाभोगः स्वार्थभ्रंशात् शासननिन्दने च-कीदृशा एतेषां शासने धर्मो ये स्वेष्टदेवतामपि श-

ङ्कितकलुषिता नाराधयन्तीति, ततो बोधेर्विलयश्च, अनुचितप्रवृत्त्या शासनमालिन्यापादनस्य तत्फलत्वात्। आह च-"यः शासनस्य मालिन्ये-ऽनाभोगेनाऽपि वर्तते । बध्नाति स तु मिथ्यात्वं,महानर्थनिबन्धनम्"।१। इति। एते दोषाः स्मृताः। नन्वेवमन्यारम्भप्रवृत्तः पूजार्थमारम्भे प्रवर्ततामित्यर्थादागतम्। तथा च-"धर्मार्थं यस्य वित्तेहा,तस्यानीहा गरीयसी। प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य,दूरादस्पर्शनं वरम्॥१॥" इत्यनेन विरोध इति चेत्। न। सर्वविरतापेक्षयाऽस्य श्लोकस्याधीतत्वेनाविरोधात्,गृहस्थापेक्षया तु सावद्यप्रवृत्तिविशेषस्य कूपदृष्टान्तत्वेनानुज्ञातत्वाच्च केवलं तस्य पूजाङ्गीभूतपुष्पावचयादारम्भप्रवृत्तिरिष्टा, अपि तु वाणिज्यादिसावद्यप्रवृत्तिरपि, कस्यचिद्विषयविशेषपक्षपातरूपत्वेन पापक्षयगुणबीजलाभहेतुत्वात् । तदिदमाह-संकाशादिवत् संकाशश्रावकादिरिव धर्मार्थम्, अर्थार्जनं वित्तोपार्जनम्, उपेत्यापि अङ्गीकृत्याऽपि, हि निश्चितम्, कुर्वन्, शुद्धालम्बने यः पक्षपातस्तत्र निरत इति हेतोर्गुणनिधिर्गुणनिधानमिष्यते । संकाशश्रावको हि प्रमादाद्भक्षितः चैत्यद्रव्यनिबद्धलाभान्तरायादिक्लिष्टकर्मा चिरपर्यटितदुरन्तसंसारकान्तारोऽनन्तकालाल्लब्धमनुष्यजन्मा दुर्गतनरशिरःशेखररूपः पारगतसमीपोपलब्धस्वकीयपूर्वभववृत्तान्तः पारगतोपदेशतो दुर्गतत्वनिबन्धनकर्मक्षपणाय यदहमुपार्जयिष्यामि द्रव्यं ग्रासाच्छादनवर्जं सर्वं जिनायतनादिषु नियोजयिष्यामि, कालेन च निर्वाणमवाप्तवानिति । अथैतदित्थं संकाशस्यैव युक्तं,तथैव तत्कर्मक्षयोपपत्तेः, न पुनरन्यस्येत्यादिग्रहणमफलमन्यथा शुद्धागमैर्यथालाभमित्याद्यभिधानानुपपत्तेरिति चेत्। न। व्युत्पन्नाशयविशेषभेदेनान्यस्याप्यादिना ग्रहणौचित्यात्, अन्यथा-"सुव्वइ दुग्गयनारी" इत्यादिवचनव्याघातापत्तेः, न हि तदा यथालाभं न्यायोपात्तवित्तेन वा तानि गृहीतानि, तथा चैत्यसंबन्धितया ग्रामादिप्रतिपादनानुपपत्तेश्च ।

दृश्यते च तत्प्रतिपादनं कल्पभाष्यादौ-

"चोइए चेइयाणं, रुप्पसुवण्णाइ गामगोवाइ ।
लग्गंतस्स हु मुणिणो, तिगरणसुद्धी कहं णु भवे ॥
भण्णइ इत्थ विभासा, जो एयाइ सयं वि मग्गिज्जा ।
न हु होज्ज तस्स सुद्धी, अह होई रुज्जणाधारे ॥
सव्वत्थामेण तहिं, संघेण य होइ लग्गियव्वं तु ।
सचरित्तचरित्तीण, एयं सव्वेसि कज्जं तु" ॥

शुद्धागमैर्यथालाभमित्यादि तु न स्वयं पुष्पत्रोटननिषेधनपरं, किं तु पूजाकालोपस्थिते मालिके दर्शनप्रभावनाहेतोर्वणिग्कलानप्रोक्तव्ययस्यार्थस्य व्याख्यापनपरमित्यदोष इति ॥ ५७ ॥

(१४) नन्वेवं मलिनारम्भो नाधिकारिविशेषणं, किं तु सदारम्भोऽप्येवेति (सच्छ्राद्धस्य नाधिकारः) यतेरप्यधिकारः स्यादत आह-

यः श्राद्धोऽपि यतिक्रियारतमतिः सावद्यसंक्षेपकृत्,
भीरुः स्थावरमर्दनाच्च यतनायुक्तः प्रकृत्यैव च ।
तस्यात्रानधिकारितां वयमपि ब्रूमो वरं दूरतः,
पङ्कास्पर्शनमेव तत्कृतमलप्रक्षालनापेक्षया ॥ ५८ ॥

(य इति) यः श्राद्धोऽपि यतिक्रियायां रता कर्तव्यत्वेनोत्सुका मतिर्यस्य स तथा । सावद्यसंक्षेपकृत् सर्वसावद्यवर्जनार्थं, स्थावराणां पृथिव्यादीनां मर्दनाद्भीरुः, प्रकृत्यैव स्वभावेनैव च यतनायुक्तः, तस्यात्र पूजायामनधिकारितां वयमपि ब्रूमः, अमलिनारम्भस्य माध्यस्थ्यस्य भावादनारम्भफलस्य च चारित्रेच्छायोगत एवोपपत्तेः । तत्कृतः पङ्कस्पर्शकृतो यो मलस्तस्य प्रक्षालनापेक्षया हि दूरतः पङ्कास्पर्शनमेव वरं, तस्मात्सदारम्भेच्छो मलिनारम्भश्चेत्युभयमेवाधिकारिविशेषणं प्रत्येतव्यमित्यर्थः । उक्तं च द्वितीयाष्टकवृत्तौ-गृहिणोऽपि प्रकृत्या पृथिव्याद्युपमर्दनभीरोर्यतनावतः सावद्यसंक्षेपरुचेर्यतिक्रियानुरागिणो न धर्मार्थं सावद्यारम्भप्रवृत्तिर्युक्तेति । इत्येवं सति क्रियाभ्यासेन श्रमणोपासकत्वमिदानींतनानां कुमतीनामनुमतं स्यात्तदा न स्वस्य स्वमतिविकल्पितत्वेनाबहुमतत्वान्निरपेक्षस्य संयतस्यैव भवितुमुचितत्वात्। आह-"णिरविक्खस्स उ जुत्तो, संपुण्णो संजमो चेव" त्ति। द्रव्यस्तवभावस्तवोभयभ्रष्टस्य दुर्लभबोधित्वात्। तदुक्तं धर्मदासगणिक्षमाश्रमणैः-"जो पुण निरच्चणुवि य,सरीरसुहकज्जमित्ततल्लीलो। तस्स ण य बोहिलाभो, ण सुग्गई णेव परलोगो ॥१॥" त्ति। कस्तर्हि सावद्यसंक्षेपकृच्छ्राद्धः "एवं वि अयं चित्तो, सावगधम्मो बहुप्पगारो।" इत्यादिवचनादित्येवाह। इच्छया तु धर्मसंकरे क्रियमाणे न किञ्चित्फलमित्युक्तमेव ॥५८॥ प्रति० ॥ द्वा० ।

अत एव यतियोगापेक्षयाऽस्य तुच्छतामेव दर्शयन्नाह-

सव्वत्थ निरभिसंग-त्तणेण जइजोगओ महं होइ ।
एसो उ अभिस्संगा, कत्थइ तुच्छे वि तुच्छे उ ॥ १८ ॥

सर्वत्र समस्तेषु द्रव्यक्षेत्रादिषु, निरभिष्वङ्गत्वेन साधूनां सङ्गरहिततया, यतियोगः स्वाध्यायादिसाधुव्यापारः, मकारः पूर्ववत् । महान् गुरुर्द्रव्यस्तवापेक्षया भवति । एष तु अयं पुनर्द्रव्यस्तवः, अभिष्वङ्गात् द्रव्यस्तवकारिणां प्रति बन्धात् । क्वचित्कुत्रचित् देहगेहपुत्रमित्रकलत्रादौ, तुच्छेऽप्यसारेऽपि, परलोकानुपकारित्वात् । अपिशब्दः तुच्छे सङ्गकरणस्यानुचितत्वद्योतनार्थः । तुच्छस्त्वसार एव यतियोगापेक्षया न महानिति गाथार्थः ॥ १८ ॥

अथ कथमभिष्वङ्गादपि तुच्छत्वं द्रव्यस्तवस्येत्यत्राह-

जम्हा उ अभिस्संगो, जीवं दूसेइ णियमतो चेव ।
तद्दूसियस्स जोगो, विसघारियजोगतुल्लो त्ति ॥ १९ ॥

यस्मात्,तुशब्दो भावनार्थः। येन हि कारणेन,अभिष्वङ्गः तथाविधवस्तुसङ्गः, जीवं प्राणिनम्, स्वभावतः स्फटिकोपलशकलधवलमपि, दूषयति कलुषयति, नियमतश्चैव नियमादेव, ततः किमित्याह-तद्दूषितस्याभिष्वङ्गकलुषितस्य, योगो व्यापारः, विषघारितयोगतुल्यो हालाहलव्याप्तपुरुषव्यापारसदृशोऽस्पष्टचेतनत्वादल्प इत्यर्थः । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ १९ ॥

इहैवार्थे व्यतिरेकमाह-

जइणो अदूसियस्सा, हेयाओ सव्वहा णियत्तस्स ।
सुद्धो उ उवादेए, अकलंको सव्वहा सो उ ॥ २० ॥

यतेः साधोः, अदूषितस्याभिष्वङ्गेणाकलुषितस्य, अत एव हेयात् परिहर्तव्यात् हिंसादेः, सर्वथा सर्वप्रकारैः करणकारणादिभिर्निवृत्तस्य । किमित्याह-शुद्धस्तु शुद्ध एवाभिष्वङ्गादूषित एव भवति, योग इति प्रक्रमः । उपादेयवस्तुनि महाव्रतादौ विषये आज्ञाप्रवृत्तेः । अतोऽकलङ्कोऽपेतदोषकलङ्कः, सर्वथा सर्वप्रकारैः, स तु स एव, यतियोग एव जवती-

स्ततो विचित्रयतियोगतुल्यस्थानावेन न द्रव्यस्तवो भावस्तव एवेति स्थितम्। इति गाथार्थः॥ २०॥

अथ दृष्टान्तेन द्रव्यस्तवभावस्तवयोर्विशेषमाह--

असुहतरंमुत्तरण-प्पाओ दव्वत्थओऽसमत्तो य ।
णइमाइसु इयरो पुण, समत्तबाहुत्तरणकप्पो ॥ २१॥

अशुभमशोभनं, कण्टकादियोगादसुखं वा, तत एव दुःखहेतुत्वात्। तच्च तत्तरण्डं च काष्ठादि, तेन यदुत्तरणं पारगमनं, तत्प्रायस्तत्कल्पो, यः स तथा. मनागवद्यसंकीर्णत्वात् । कोऽसावित्याह-द्रव्यस्तवः प्रतीतः। तथा असमाप्तः-अपर्याप्तश्च, तत एव सिद्ध्यसिद्धेः । केषु यत्तरणमोत्तरणमित्याह-नद्यादिषु नदीह्रदप्रभृतिषु तरणीयेषु,इतरो भावस्तवः, पुनरिति विशेषद्योतनार्थः। समाप्तः पर्याप्तः स चासौ बाहूत्तरणकल्पश्च भुजपारगमनतुल्यः,समाप्तबाहूत्तरणकल्पः। तत्र समाप्तत्वं भावस्तवस्य द्रव्यस्तवानपेक्षस्याऽपि संसारसागरपारप्रापणप्रवणत्वात् बाहूत्तरणकल्पत्वं चात्मपरिणामरूपत्वेन बाह्यानपेक्षत्वात् । इति गाथार्थः ॥ २१ ॥

अत्रैव दृष्टान्तान्तरमाह-

कडुगोसहाइजोगा, मंथररोगसमसण्णिहो वा वि ।
पढमो विणोसहेणं, तक्खयतुल्लो य बिइओ उ ॥ २२॥

कटुकौषधादियोगान्नागराद्यौषधसंबन्धात् , आदिशब्दात् क्षारशरीरवेधादिग्रहः। मन्थरो विलम्बितो दीर्घकालभावी, यो रोगशमो व्याधिशमनमात्रं, न तु सर्वथा क्षयः, तत्संनिभस्तत्तुल्यो यः स तथा। वाऽपीति प्रागुक्तदृष्टान्तापेक्षया समुच्चयार्थः। कोऽसावेवंविध इत्याह--प्रथमो द्रव्यस्तवः, प्रथमत्वं चास्य सूत्रक्रमप्रामाण्याद्, आदितः प्रायःप्राप्तेर्वा, इह चावद्यलेशयुक्ततया कर्मरोगोपशमहेतुतया च यद्यपि द्रव्यस्तवः कटुकौषधादितुल्यो मन्थररोगोपशमतुल्यः पुनर्दीर्घकालभाविद्रव्यस्तवजन्यः कर्मशमस्तथापि कर्मशमस्य द्रव्यस्तवव्यपदेशतः कार्ये कारणोपचारान्मन्थररोगशमसन्निभो द्रव्यस्तव इत्युक्तम्। तथा विनौषधेन औषधं कटुकमधुरादिरूपं, तेन विनैव, तत्क्षयतुल्यश्च रोगात्यन्तिकनाशतुल्य एव, चशब्दोऽवधारणे, द्वितीयस्तु भावस्तवः पुनः। अयमभिप्रायः-भावस्तव आत्मपरिणामरूप एव,न तु द्रव्यस्तववद् बाह्यद्रव्यसव्यपेक्षः,तथा भावस्तवादेवात्यन्तिकः कर्मक्षयो भवतीति कृत्वा विनौषधेन तत्क्षयतुल्य इत्युक्तम् । तथा यद्यपीह कटुकौषधाभावकल्पो भावस्तवो, रोगक्षयतुल्यश्च भावस्तवसाध्यः कर्मक्षयः, तथाऽपि कर्मक्षयस्य भावस्तवव्यपदेशतः 'कार्ये कारणोपचारात्' क्षयतुल्यो भावस्तव इत्युक्तम् । इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

अथैतयोरेव हेतुफलभावतो भेदमाह—

पढमाओ कुसलबंधो, तस्स विवागेण सुगइमाईया ।
तत्तो परंपराए, बिइओ वि हु होइ कालेणं ॥२३॥

प्रथमादिति द्रव्यस्तवात्, कुशलबन्धः पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्मबन्धनं भवति। तस्य कुशलस्य कर्मणः, विपाकेनोदयेन, सुगत्यादयः सुदेवत्वसुमानुषत्वलक्षणसद्गतिप्रभृतयो भवन्ति । आदिशब्दात् शुभसत्त्वसंहननौदार्यसंपदादिग्रहः। ततः सुगत्याद्यनन्तरम्, परम्परया विच्छिन्नसंतानया सुगत्यादीनामेव। द्वितीयो भावस्तवोऽपि, न केवलं सुगत्यादय एव। हुशब्दोऽलङ्कारे। भवति जायते, कालेन समयेन, कियताऽप्यतिक्रान्तेन, कालस्य तथाभव्यत्वपरिपाकहेतुत्वादेवमभिधानम्। इति गाथार्थः॥२३॥

द्वितीयोऽपि भवति कालेनेत्युक्तमथ तस्यैव द्वितीयस्य स्वरूपप्रतिपादनायाऽऽह—

चरणपडिवत्तिरूवो, थोयव्वोचियपवित्तिओ गुरुओ ।
संपुण्णाऽऽणाकरणं, कयकिच्चे हंदि उचियं तु ॥२४॥

चरणप्रतिपत्तिरूपः चारित्राभ्युपगमस्वभावः, भावस्तव इति प्रकृतम्। स्तोतव्ये पूजनीये भगवति वीतरागे विषयभूते या उचिता सङ्गता प्रवृत्तिः प्रवर्त्तनं सा स्तोतव्योचितप्रवृत्तिः, तस्याः स्तोतव्योचितप्रवृत्तेर्हेतोः, गुरुको गरीयान्, द्रव्यस्तवापेक्षया । अथोचितप्रवृत्तितो द्रव्यस्तवोऽपि गुरुकोऽस्तु । नैवम् । यतः-संपूर्णं सर्वविरतिप्रतिपत्तितोऽखण्डं यदाज्ञाकरणमाप्तवचनानुपालनं, तत्संपूर्णाज्ञाकरणं, तदेव। कृतकृत्ये विहितनिखिलकर्त्तव्ये सिद्धप्रयोजने भगवति वीतरागे, हन्दीत्युपप्रदर्शने। उचितं संगतम्, पुष्पादीनां तु द्रव्यस्तवाङ्गानां कृतकृत्यत्वेन तस्यानुपयोगित्वात् । तुशब्दोऽवधारणार्थो योजितश्च। इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

सम्पूर्णाज्ञाकरणं च साधोरेव भवति, नेतरस्येति दर्शयन्नाह-

णेयं च भावसाहुं, विहाय अण्णो चएइ काउं जे ।
सम्मं तग्गुणणाणा-भावा तह कम्मदोसा य ॥२५॥

न नैव, इदं संपूर्णाज्ञाकरणम्, चशब्दः पुनरर्थः। भावसाधुं पारमार्थिकयतिं, विहाय विमुच्य, अन्योऽपरः, (चएइ त्ति) शक्नोति, कर्त्तुं विधातुम् । 'जे' इति पादपूरणे निपातः । कुत एतदेवमित्याह-सम्यक् यथावत्, तद्गुणज्ञानाभावात् आज्ञाकरणगुणोपलम्भाभावात्। न हि यथा भावयतिराज्ञाकरणगुणान् वेत्ति, तथाऽन्यः, तस्यैव तत्र विशेषाधिकारित्वात् । तथा कर्मदोषाच्च कथञ्चिदाज्ञाकरणगुणपरिज्ञानेऽपि चारित्रमोहनीयकर्मविपाकाच्चेति, अतो भावसाधोरेव कर्तुं शक्यत्वेन संपूर्णाज्ञाकरणरूपो भावस्तवो गुरुकः । इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

भावस्तवस्याचार्यान्तरैरपि गुरुत्वमिष्टमित्यावेदयन्नाह-

एत्तो च्चिय फुल्लामिस-थुइपडिवत्तिपूयमज्झम्मि ।
चरिमा गरुई इट्ठा, अण्णेहि वि णिच्चभावाओ ॥ २६ ॥

इत एव संपूर्णाज्ञाकरणस्य भावसाधुसाध्यत्वादेव। (फुल्लामिसथुइपडिवत्तिपूयमज्झम्मि त्ति) पुष्पाणि जात्यादिकुसुमानि, उपलक्षणत्वाद्वस्त्ररत्नादीनामिहैवान्तर्भावो वेदितव्यः। आमिषमाहारः, इहाऽपि तथैव फलादिसकलनैवेद्यपरिग्रहो द्रष्टव्यः। स्तुतिर्गुणोत्कीर्तनम्, प्रतिपत्तिश्चरणाभ्युपगमः, एता एव पूजाः,तासां मध्यमबहिर्भावः,पुष्पामिषस्तुतिप्रतिपत्तिपूजामध्यं, तत्र। चरमा प्रतिपत्तिपूजा, गुर्वी ज्येष्ठा, इष्टा मता, अन्यैरपि ग्रन्थकारैः। इहार्थे साधनमाह-नित्यभावात्सर्वदा सद्भावात्तस्याः, सा हि यावज्जीविकी, शेषास्तु कादाचित्क्यः। इति गाथार्थः॥ २६॥

एवं भिन्नावपि परस्परानुगतरूपावेताविति दर्शयन्नाह-

दव्वत्थयभावत्थय-रूवं एयमिह होति दट्ठव्वं ।
अण्णोण्णसमणुविद्धं, णिच्छयतो भणियविसयं तु ॥ २७ ॥

द्रव्यस्तवभावस्तवयोः रूपं स्वभावो द्रव्यस्तवभावस्तवरूपम्,

एतदित्यत्रोत्तरतुशब्दयोगादेतत्तु एतत्पुनः, प्रागुपदर्शितं जिनभवनादिविधानं चरणप्रतिपत्तिलक्षणम्, इह स्तवाधिकारे, भवति वर्त्तते, द्रष्टव्यं बोद्धव्यम्। किंभूतमित्याह-अन्योऽन्यसनुविद्धं परस्परानुगतम्, निश्चयतः परमार्थतः, भणितः प्रागभिहितो, विषयो गोचरः, प्रायो गृहिसाधुलक्षणो यस्य तत्तथा। तुशब्दो व्याख्यात एव। इति गाथार्थः॥ २७॥

तत्र भावस्तवरूपं द्रव्यस्तवेन समनुविद्धमिति तावद्दर्शयन्नाह-

जइणो वि हु दव्वत्थय-भेदो अणुमोयणेण अत्थि त्ति।
एयं च एत्थ णेयं, इय सुद्धं तंतजुत्तीए॥ २८॥

यतेरपि भावस्तवारूढसाधोरपि,न केवलं गृहिण एव। हुशब्दोऽलङ्कृतौ। द्रव्यस्तवभेदो द्रव्यस्तवविशेषः। अनुमोदनेन जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणयाऽनुमत्या, अस्ति विद्यते। इतिशब्दो वाक्यसमाप्तौ। अथ साधोर्द्रव्यस्तवे अनुमोदनमसिद्धमित्याशङ्क्याह-एतच्चैतत पुनरनुमोदनम्, अत्र द्रव्यस्तवे, ज्ञेयं ज्ञातव्यम्, इयनया वक्ष्यमाणया, शुद्धमनवद्यम्, तन्त्रयुक्त्या शास्त्रगर्भोपपत्त्या। इति गाथार्थः॥ २८॥ पञ्चा० ६ विव०। दर्श०।

तं नत्थि भुवणमज्झे, पूयाकम्मं न जं कयं तस्स।
जेणेह परमआणा, न खंडिया परमदेवस्स॥ १२॥

तत्किमपि नास्ति न विद्यते, भुवनमध्ये त्रिभुवनेऽपि, पूजाकर्म पूजाविधानं, यन्न कृतं यन्न निष्पादितं, येन केनचिदनिर्दिष्टनाम्ना, इहेति पूजाविधानविचारे, परमोत्कृष्टाज्ञा परमाऽऽज्ञा, परमत्वं चाऽस्याः सकलकल्मषनिर्मूलनत्वेन सकलसुखविधायित्वात्; किं,न खण्डिता नोल्लङ्घिता। कस्येत्याह-परमदेवस्य वीतरागस्येत्यर्थः। अयमत्राभिप्रायः-यद्यपि साधुः पुष्पपूजादौ न प्रवर्त्तते तथाऽपि समस्तप्रतिपत्तिमूलसर्वज्ञाऽऽज्ञायाः परिपालनात्पूजादिविषये चोचितदेशनादौ प्रवर्तनादनुमोदनाच्च दर्शनशुद्धिर्भवत्येवेति। प्रयोगश्चात्र-पुष्पपूजादिव्यतिरेकेणापि सर्वसम्वरवत्साधुसमाजानां दर्शनशुद्धिरुपजायते, भावस्तवहेतुकत्वात्पुष्पादिपूजायाः, घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डवत्। न चास्य हेतोर्भावस्तवोत्पत्तिहेतुत्वेऽपि दर्शनशुद्धावसिद्धतोद्भावनीयेति; भावस्तवस्य दर्शनशुद्धिव्यतिरेकेणात्यन्तासद्भावात्। अथ चेत्तं प्रयुज्यते तस्या हि भगवतः समस्तजगतीतलविख्यातकीर्त्तेः सकलातिशयसंपन्नस्य त्रिभुवनोदरविवरमासुरसकलसुरासुरकिन्नरनरखचरशेखरपरमपूजनीयस्य सर्वमपि यात्रास्नात्रविलेपाभरणगीतनृत्यपुष्पाद्यारोहणादिकं पूजाकर्म कृतमेव, तदविकलाज्ञाकरणतः सर्वसम्वरारूढैः साधुभिरपि सकलकलङ्कविकलकेवलज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् प्रसन्नचन्द्रमहामुनिभरतेश्वरचक्रवर्तिवदिति गाथार्थः॥ १२॥

कष्टेतरसाध्ययोर्भावस्तवद्रव्यस्तवयोस्तयोरन्तरं फलं च प्रतिपादयन् गाथाद्वयमाह—

मेरुस्स सरिसवस्स य, जत्तियमेत्तं तु अंतरं होइ।
भावत्थयदव्वथया-ण अंतरं तत्तियं नेयं॥ १३॥
उक्कोसं दव्वथयं, आराहिय जाइ अच्चुयं जाव।
भावत्थएण पावइ, अंतमुहुत्तेण निव्वाणं॥ १४॥

तत्र मेरोः समस्तलोकनाभिभूतलक्षयोजनप्रमाणस्य, सर्षपस्य च राजिकामात्रस्य, यावन्मात्रं यावत्प्रमाणमन्तरं व्यवधानं, भवतीति गम्यते। उपलक्षणं चैतत् समुद्रबिन्द्वाद्युदाहरणानाम्, तावन्मात्रं ज्ञेयम्; किम् ?, भावस्तवद्रव्यस्तवयोरन्तरमिति। यत उत्कृष्टमिति प्राकृतवशात्, यत उत्कृष्टतोऽपि द्रव्यस्तवमाराध्य, याति गच्छति, अच्युतं द्वादशमं देवलोकं यावत्। भावस्तवेन, तुशब्दस्य लुप्तस्येह दर्शनात् पुनः प्राप्नोति लभते, अन्तर्मुहूर्तेन, निर्वाणं मोक्षमिति गाथार्थः॥१४॥

अतः किम्-

मोत्तूणं भावथयं, जो दव्वत्थएँ पयट्टए मूढो।
सो साहू वत्तव्वो, गोयम! अजओ अविरओ य॥१५॥

यो मौढ्यादिविषयग्राम्यपथ्याद्वा महामोहग्रस्तबहुजनप्रवृत्तिदर्शनाद्वा, मुक्त्वा परित्यज्य, भावस्तवं सर्वसावद्यनिवृत्तिलक्षणं, द्रव्यस्तवे सर्वसावद्यनिबन्धनरूपे, प्रवर्तते, मूढः परमार्थमजानानः, स साधुर्वक्तव्यो भणनीयो, गौतम ! इन्द्रभूते ! अयतोऽविरतश्च। चशब्दात् एतदपि द्रष्टव्यम्-असंयताविरताऽप्रतिहतपापकर्मा देवार्चक इति वा देवभोजक इति। अयमाशयः-यो हि भवपरम्पराभिरनेकाभिर्दुरापमक्षेपेण मोक्षसुखसाधकं सर्वसम्वरस्वभावं संयमं प्राप्यापि मोहात्तस्य परित्यागेन पुष्पपूजादौ प्रवर्तते, स उभयत्र भ्रष्टतयाऽकिञ्चित्कर एवेति गाथार्थः॥१५॥

अन्यच्च तस्यातिमूर्खत्वप्रतिपादनायाऽऽह-

मंसनिवित्तिं काउं, सेवति दंतिक्कयंति धणिभेआ।
इय चइऊणाऽऽरंभं, परववएसा कुणइ बालो॥ १६॥

मांसं पिशितं, तस्यापि पापहेतुत्वाद् निवृत्तिं विरतिं कृत्वा विधाय। पश्चाज्जिह्वादोषात्सेवते भजते, तदपि खादतीत्यर्थः। लोकलज्जया ध्वनिभेदं शब्दमात्रभेदं विधाय,केनोल्लेखेन? (दंतिक्कयं ति त्ति) दन्तिकमिदं नेदं मांसमिति, इत्यनेन हेतुना स्वयमात्मना समस्तजनप्रत्यक्षं त्यक्त्वा आरम्भं भूतोपमर्दनं, तृतीयार्थे पञ्चमी। ततोऽपरव्यपदेशेन तीर्थकृतां भगवतामहं भक्त इति करोति विधत्ते, बालोऽज्ञ इति गाथार्थः॥ १६॥

ननु कथमसौ बालः?, स हि धर्म्मार्थितया तीर्थकरानुद्दिश्य प्रवर्त्ततेऽतो युक्तमिवेति यो मन्यते, तं प्रत्याह-

तित्थयरुद्देसेण वि, सिढिलिज्ज न संजमं सुगइमूलं।
तित्थगरेण वि जम्हा, समयम्मि इमं विणिद्दिट्ठं॥ १७॥

तीर्थङ्करोद्देशेनापि,न केवलमन्योद्देशेनेत्यपिशब्दार्थः। शिथिलयेत् शिथिलं विदध्यात्, न नैव, कमित्याह-संयमं सर्वविरतिं सुगतिमूलं मोक्षस्यैकान्तप्रापकं, तीर्थकरेणापि यदुद्देशेन सावद्यानुष्ठाने प्रवृत्तिर्विधीयते तेनापीत्यपिशब्दार्थः। यस्मात्समये सिद्धान्ते, इदं विनिर्दिष्टं प्रतिपादितमिति गाथार्थः॥१७॥

तदेवाह-

सव्वरयणामएहिं, विभूसियं जिणहरेहि महिवलयं।
जो कारेज्ज समग्गं, तओ वि चरणं महिड्ढीयं॥ १८॥

सर्वाणि च तानि रत्नानि, यद्वा-सर्वतो रत्नानि, सर्वरत्नैर्निष्पन्नानि सर्वरत्नमयानि, तैः सर्वरत्नमयैः, सर्वतो महामाणिक्यशिलासंचयचितैरित्यर्थः। न केवलं सामान्यपाषाणेष्टका-

दिविनिर्मितं विभूषितं मणिमतं,जिनगृहैरर्हदायतनैर्महीवलयं समस्तधरणीतलं, यः कश्चिदतिशयमहापुण्यप्राग्भारश्चक्रवर्त्यादिः, कारयेत्समग्रं परिपूर्णं, ततोऽपि तस्मादपि, सर्वोत्तमद्रव्यं यावदपीत्यर्थः । चरणं चारित्रं सर्वविरतिस्वभावं,महर्द्धिकं विशिष्टतरतमं, यतस्तेऽपि तादृग्विधसर्वोत्तमद्रव्यस्तवविधायिनोऽपि सर्वसम्वरवन्त एव शिवसुखसाधका भवन्तीति गाथार्थः ॥ १८ ॥ दर्श० ३ तत्त्व ।

(१५) सिंहावलोकितेन हिंसाऽस्तीति तामेव द्रव्यस्तवे निरस्यति —

धर्मार्थं सृजतां क्रियां बहुविधां हिंसा न धर्मार्थिका,
हिंसांशे न यतः सदाशयजुषां वाञ्छा क्रियांशे परम् ।
न द्व्याश्रवतश्च बाधनमपि स्वाध्यात्मभावोन्नते-
रारम्भादिकमिष्यते हि समये योगस्थितिव्यापकम् ॥५९॥

(धर्मार्थमिति) धर्मार्थं बहुविधां बहुप्रकारां, क्रियां पूजादिरूपां, सृजतां तदर्थिका धर्मार्था हिंसा न, यतः सदाशयभृतां शुभभावानां. हिंसांशे वाञ्छा न,परं केवलं क्रियांशे वाञ्छा,तथा चानुबन्धहिंसानिरासः, सदाशयश्च यतनोपबृंहितो ग्राह्य इति हेतुहिंसाऽपि निरस्तैव, तथा च स्वरूपहिंसैवास्ति । तत्राह-द्रव्याश्रवतश्च स्वस्य योऽध्यात्मभावस्तदुन्नतेः बाधनमपि "अब्भत्थे चेव बंधप्पमोक्खे" इत्याचारवचनात् । इदमेव कथमत्राह-हि यतः,समये सिद्धान्ते,योगस्थितिव्यापकं, यावत् योगास्तिष्ठन्ति तावदित्यर्थः । इष्यते मन्यते, " जावं च णं एयइ वेयइ, तावं च णं आरंभइ संरंभइ समारंभइ" इत्यादिवचनात् आरम्भाद्यन्यतरत्वेन योगव्यापकतालाभात् । यदि च द्रव्याश्रवमात्राद् बन्धः स्यात्तदा त्रयोदशगुणस्थानेऽपि स्यात्, न चैवमस्ति, समितगुप्तस्य द्रव्याश्रवसत्त्वेपूपादानकारणानुसारितवैव बन्धवैचित्र्यस्याचारवृत्तिचूर्ण्यादौ व्यवस्थितत्वात् । न च द्रव्यतया परिणतिरपि सूक्ष्मैकेन्द्रियादेरिव बन्धजननीति धर्मार्णवमतमपि युक्तम् । एकेन्द्रियादीनामपि सूक्ष्मबन्धस्योपादानसूक्ष्मताऽपेक्षित्वादप्रमत्तसाधोर्द्रव्याश्रवसंपन्नस्य तन्निमित्तस्य परमाणुमात्रस्यापि बन्धनिषेधात् " ण हु तस्स तण्णिमित्तो, बंधो सुहुमो वि देसिओ समए । " इत्यागमात्, प्रपञ्चितं चेदं धर्मपरीक्षायां महता ग्रन्थेन ॥ ५९ ॥

एवं व्यवस्थिते कूपनिदर्शनचिन्त्यतामाविर्भावयति-

पूजायां खलु भावकारणतया हिंसा न बन्धावहा,
गौणीत्थं व्यवहारपद्धतिरियं हिंसा वृथा निश्चये ।
भावः केवलमेक एव फलदो बन्धो विरत्यंशज-
स्त्वन्यः कूपनिदर्शनं तत इहाशङ्कापदं कस्यचित् ॥६०॥
अत्रास्माकमिदं हृदि स्फुरति यद् द्रव्यस्तवे दूषणं,
वैगुण्येन विधेस्तदप्युपहतं भक्त्येति हि ज्ञापनम् ।
कूपज्ञातफलं यतो विधियुताऽप्युक्तक्रिया मोक्षदा,
भक्त्यैव व्यवधानतः श्रुतधराः शिष्टाः प्रमाणं पुनः ॥६१॥

(पूजायामिति) पूजायां, खल्विति निश्चये, भावस्य द्रव्यस्तवकारणाध्यवसायरूपस्य, कारणतया हिंसा बन्धावहा न भवति । एवा स्थापयति हि स्नानादिसामग्री द्रव्यस्तवेऽधिकारिणम्, न च सा हिंसा कर्मणा बध्यते, दुर्गतनार्या देवलोकगमनानुपपत्तेः । बन्धावहा चेत्पुण्यबन्धावहे चोक्तभावेन प्रशस्तीकरणात् प्रशस्तरागवत् पुष्पादिसंघट्टनादिरूपोऽसंयमस्तत्र हेतुरुक्त इति चेत्, सोऽपि पर्युदासेन संयमयोगविरुद्धयोगरूप एव स्यात् । तस्यापि च भावेन प्रशस्तीकरणे किं हीयते ?, उत्तरकालिक एव भावः प्रशस्तीकर्तुं समर्थः,न पौर्वकालिक इति चेत् । न । दुर्गतनारीदृष्टान्तेन विहितोत्तरत्वात् । कश्चायं मन्त्रो यः पूर्वापरभावेन न्यूनाधिकभावं नियमयतीति सूक्ष्मेक्षिकायां प्रशस्तहिंसा पुण्यावहाऽपि न स्यादिति चेत् । इदमित्थम्,इयं व्यवहारपद्धतिर्व्यवहारनयसरणिर्गौणी, प्रशस्तपुण्यबन्धहेतुत्वस्याऽपि " घृतं दहतीति" न्यायेनेष्टत्वात्, निश्चये निश्चयनये तु विचार्यमाणे,हिंसा वृथैव, अन्यतरबन्धस्याप्यहेतुत्वात् । केवलम् एक एव भावः फलदः, प्रशस्तोऽप्रशस्तो वा, प्रशस्तमप्रशस्तं वा फलं जनयितुं समर्थ इत्यर्थः । अत एव कामभोगानाश्रित्योत्तराध्ययनेषूक्तम्-" न कामभोगा समयं उवेंति, ण यावि भोगा विगई उवेंति । जो तप्पओसी य परिग्गही य, समो य जो तेसु स वीअरागो ॥१०१॥ " त्ति । उत्त० ३२ अ० । अत एव च विषयेष्वपि सतत्त्वचिन्तयाऽभिसमन्वागमनबन्धकारणमुक्तमाचारे । एवंविधः समाधिः पूर्वभूमिकायां न भवत्येवेति चेत् । न । सर्वथाऽभावस्य वक्तुमशक्यत्वात् । सम्यग्दर्शनसत्क्रियोगकाल एव प्रशमलक्षणलिङ्गसिद्धेरनुकम्पादीनामिच्छाद्यनुभवत्वात् ।

तदुक्तं विंशिकायाम्-

" अणुकंपा णिव्वेओ, संवेगो तह य होइ पसमुत्ती ।
एएसिं अणुभावा, इच्छाईणं जहासंखं ॥ १ ॥ " इति ।

अणुभावाः कार्याणि, इच्छादीनां इच्छाप्रवृत्तिस्थिरसिद्धियोगानां, समाधिजनितश्च भावोऽव्युत्थानकालेऽपि संस्कारशेषतया मैत्र्याद्युपबृंहितोऽनुवर्तत एव, अन्यथा क्रियासाफल्यासिद्धेः, "भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा" इति वचनात् । एवं विविक्तविवेके विरतसम्यग्दृष्टेरपि पूजायां न बन्धः, विरत्यंशजस्तु बन्धोऽन्यः पूजायोगाप्रयुक्तः, अन्यथा जिनवन्दनादावपि तदापत्तिः। तत इह कूपनिदर्शनं कूपज्ञातं कस्यचित् यथा श्रुतज्ञस्याऽऽशङ्कापदं आशङ्कास्थानम् । एवं हि तदावश्यके द्रव्यस्तवीयप्रसङ्गसमाधानस्थले व्यवस्थितम् । प्रति० । षो० । आव० ।

" अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो ।
संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ ४२ ॥ "

अकृत्स्नं प्रवर्त्तयन्तीति,संयममिति सामर्थ्याद् गम्यते, अकृत्स्नप्रवर्त्तकाः, तेषां, विरताविरतानामिति श्रावकाणाम्, एष खलु युक्तः-एष द्रव्यस्तवः, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् युक्त एव । किंभूतोऽयमित्यत आह-संसारप्रतनुकरणः संसारक्षयकारक इत्यर्थः । द्रव्यस्तवः हेयः प्रकृत्यैवासुन्दरः, स कथं श्रावकाणामपि युक्त इत्यत्र कूपदृष्टान्त इति । "जहा नवनवनगरादिसंनिवेसे केइ पभूअजलाभावतो तण्हातिपरिगता तदपनोदार्थं कूवं खणंति, तेसिं च जइ वि तण्हादिया वि्ठंति, मट्टिआ कद्दमाइ भिज्जंति, तहा वि तदुब्भवेणं चेव पाणिएणं ति सिंचते, एहाइआ सो य मलो पुव्वगो य फिट्टंति, सेसकालं च तदन्ने य लोगा सुभयाइणो भवंति, एवं दव्वत्थए जइ विसंजमो तहा वि तओ चेव सा परिणामसुद्धी भवति, जातं असंजमोपज्जियं अन्नं च निरवसेसं खवेति त्ति, तमाह-विरयाविरएहिं एस दव्वत्थवो कायव्वो सहाणुवंधी य पभूतणिज्जराफलो य

त्ति काऊणं " इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ अथ कीर्त्याद्यर्थमपि द्रव्यस्तवे प्रवृत्त्या शुभाध्यवसायस्याभिचारश्चारित्रक्रियायामपि तुल्यः, शुभाध्यवसायस्यैव तथात्वाच्च कारणत्वेन पुण्याद्यभ्यर्चने त्वेवं चारित्रभावेन तत्क्रियायास्तयात्वापत्तिभावान्नैकान्तम् । नित्यस्मृत्यादिना भावनयोत्पादाप्रतिपादगुणवृद्ध्यादिकमपि व्रतग्रहणादिक्रियया तुल्यम्, "एसा ठिई उ इत्थं. ण उ गहणादेव जायई णियमा । गहणोवायं पि जायइ, जाओ वि अ वेइकम्मुदया ॥ तम्हा णिस्संचइए," इत्यादिवचनात् । उपरितनानुपादेयत्वमपि तथैव, प्रमत्तस्थविरकल्पिकादेः क्रियाया अप्रमत्तजिनकल्पिकादिनाऽनुपादेयत्वात्, द्रव्यस्तवजनितपरिणामशुद्ध्या द्रव्यस्तवस्थलीयासंयमोपार्जितस्यान्यस्य च निरवशेषस्य कर्मणः क्षपणाभिधानमपि चारित्रक्रियाजनितपरिणामशुद्ध्या तदतिचारजनितान्यनिरवशेषकर्मक्षपणाभिधानतुल्यं, सर्वस्या अपि प्रव्रज्याया भवद्वयकृतकर्मप्रायश्चित्तरूपतायास्तत्र तत्र व्यवस्थितत्वात्, जिनशासनविहितेत्यत्रापि शुभयोगे तदतिदेशात् " जोगे जोगे जिणसा-सणम्मि दुक्खक्खया पउंजंता । इक्कक्कम्मि अणंता, वट्टंता केवली जाया । " इत्युक्तवचनात् द्रव्यस्तवे क्रियमाण एव च भावशुद्ध्या नागकेतुप्रभृतीनां कैवल्योत्पादश्रवणात् शुभानुबन्धिप्रभूततरनिर्जराफलत्वोपदर्शनमेव द्रव्यस्तवेऽल्पस्यापि पापस्थानं न सहन्त इति शुद्धभावस्य निर्विषयः कूपदृष्टान्तः । तत्र पुष्पाद्यभ्यर्चनवेलायां शुभभावसंभवेन निश्चयनयेन तस्य व्यवहारनयेन च तदन्वितक्रियाया विशिष्टफलहेतुत्वेऽपि ततः पूर्वं तद्विषयसंभव इति वाच्यम्, प्रस्थकन्यायेन पूर्वपूर्वतरक्रियायामपि शुभभावान्वयतत्फलोपपत्तेः । नैगमनयाभिप्रायेणात एव पूजार्थं स्नानादिक्रियायामपि यतनया अधिकारसंपत्त्या शुभभावान्वय उपदर्शितश्चतुर्थपञ्चाशके । तथाऽऽह--

" एहाणाइ वि जयणाए, आरंभवओ गुणाय णियमेणं ।
सुहभावहेउओ खलु, विण्णेयं कूवनाएणं " ॥ १० ॥ त्ति ।

स्नानाद्यपि देहशौचप्रभृतिकमपि, आस्तां तद्वर्जनं, पूजा वा । आदिशब्दाद्विलेपनादिग्रहः । गुणायेति योगः । यतनया रक्षयितुं शक्यजीवरक्षणरूपतया, तत्किं साधोरपीत्याशङ्कयाह–आरम्भवतः स्वजनधनगेहादिनिमित्तं कृष्यादिकर्मभिः पृथिव्यादिजीवोपमर्दनयुक्तस्य, गृहिण इत्यर्थः । न पुनः साधोः, तस्य सर्वसावद्ययोगविरतत्वाद्भावस्तवारूढत्वात् । भावस्तवारूढस्य हि स्नानादिपूर्वकद्रव्यस्तवोऽनादेय एव, भावस्तवार्थमेव तस्याश्रयणीयत्वात्, तस्य च स्वत एव सिद्धत्वात् । इमं चार्थं प्रकरणान्तरे स्वयमेव वक्ष्यतीति । गुणाय पुण्यबन्धलक्षणोपकाराय, नियमेनावश्यंभावेन । अथ कथं स्वरूपेण सदोषमप्यारम्भिणां गुणायेत्याह-(सुभभावहेउओ त्ति) शुभभावप्रत्ययत्वेन निर्दोषस्य शुभभावहेतुत्वात्प्रशस्तभावनिबन्धनत्वाज्जिनपूजार्थस्नानादेरनुभवन्ति च केचित् स्नानपूर्वकं जिनार्चनं विदधानाः शुभभावमिति । खलुर्वाक्यालङ्कारे । विज्ञेयं ज्ञातव्यम् । अथ गुणकरत्वमस्य शुभभावहेतुत्वात्कथमिव ज्ञेयमित्याह-कूपज्ञातेनावटोदाहरणेन । इह चैवं साधनप्रयोगः–गुणकरमधिकारिणः किञ्चित्सदोषमपि स्नानादि, विशिष्टशुभभावहेतुत्वात्, विशिष्टशुभभावहेतुभूतं यत्तद्गुणकरं दृष्टम् । यथा कूपखननम् । विशिष्टशुभभावहेतुश्च यतनया स्नानादि, ततो गुणकरमिति । कूपखननपक्षे शुभभावः तृष्णादिव्युदासेनानन्दाद्यवाप्तिरिति । इदमुक्तं भवति–यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्तावनन्तरोक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय किल भवतीत्येवं स्नानादिकमप्यारम्भदोषमपोह्य शुभाध्यवसायस्योत्पादनेन विशिष्टाशुभकर्मनिर्जरणपुण्यबन्धकारणं भवतीति । इह केचिन्मन्यन्ते-पूजार्थं स्नानादिकरणकालेऽपि निर्मलजलकल्पशुभाध्यवसायस्य विद्यमानत्वेन कर्दमलेपादिकल्पपापाभावाद्विषममिदमित्थमुदाहरणम् । तत्किलेदमित्थं योजनीयम्-यथा कूपखननं स्वपरोपकाराय भवत्येवं स्नानपूजादिकं करणानुमोदनद्वारेण स्वपरयोः पुण्यकारणं स्यादिति । न चैतदागमानुपाति । यतो धर्मार्थप्रवृत्तावप्यारम्भजनितस्याल्पस्य पापस्येष्टत्वात्, कथमन्यथा भगवत्यामुक्तम्–"तहारूवं समणं वा माहणं वा पडिहयपच्चक्खायपावकम्मं अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभेमाणे भंते ! किं कज्जइ ?। गोयमा ! अप्पे पावे कम्मे बहुतरिआ से णिज्जरा कज्जइ"। तथा ग्लानप्रतिचारणानन्तरं पञ्चकल्याणकप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरपि कथं स्यादित्यत्रं प्रसङ्गेनेति समासार्थः ॥१०॥

यतनया विहितस्य स्नानादेः शुभभावहेतुत्वं प्रागुक्तम् । अथ यतनां स्नानगतां शुभभावहेतुतां च यतनाकृतां स्नानस्य दर्शयन्नाह-

" भूमीपेहणजलछा-णणाइ जयणा उ होइ ण्हाणाओ ।
एत्तो विसुद्धभावो, अणुहवसिद्धो च्चिय बुहाणं ॥ ११ ॥ "

भूमेः प्रेक्षणं च स्नानभुवः प्राणिरक्षार्थं चक्षुषा निरीक्षणं, जलच्छाणणं च पूतरकपरिहारार्थं नीरगालनम्, आदिः प्रमुखं यस्य व्यापारवृन्दस्य तद्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणणादि । आदिशब्दात् मक्षिकारक्षणादिग्रहः । तत्किमित्याह-यतना प्रयत्नविशेषः । तुशब्दः पुनरर्थः । तद्भावना चैवम्-स्नानादि यतनया गुणकरं भवति । यतना पुनर्भूमिप्रेक्षणजलगालनादिः, भवति वर्तते, क्वेत्याह-स्नानादावधिकृते देहशौचविलेपनजिनार्चनप्रभृतिनि च, इह प्राकृते औकारश्रुतेरभावात् "एहाणाओ" इत्येवं पठ्यते इति । (एत्तो त्ति) इतः पुनर्यतनाविहितस्नानादेर्विशुद्धभावः शुभाध्यवसायोऽनुभवसिद्ध एव स्वसंवेदनप्रतिष्ठित एव, बुधानां बुद्धिमतामनेन च शुभभावहेतुत्वादित्यस्य पूर्वोक्तहेतोरसिद्धताऽऽशङ्का परिहृतेति गाथार्थः ॥११॥ अत्राभयदेवसूरिव्याख्याने धर्मार्थप्रवृत्तावप्यारम्भजनितदोषस्याल्पस्य यदिष्टत्वमुक्तम्, तद् ग्रन्थकर्तुः क्व सरसासिद्धं ?, षोडशके-"यतनातो न च हिंसा" इत्याद्यभिधानात् यतनया भावशुद्धिमतः पूजायां कायवधासंभवस्यैव दर्शितत्वात्, पूजापञ्चाशकेऽपि कायवधात्कथं पूजा परिशुद्धेति प्रश्नोत्तरे-"भण्णइ जिणपूयाए, कायवहो जइ वि होइ उ कहिं वि । तह वि तई परिसुद्धा, गिहीण कूवाहरणजोगा ॥ ४२ ॥ " इत्यत्र कथञ्चित् केनचित् प्रकारेण यतनाविशेषेण प्रवर्तमानस्य सर्वथा न भवतीति प्रदर्शनार्थं कथञ्चिद् ग्रहणमिति तपस्विनां स्वयमेव व्याख्यानात्, "देहादिणिमित्तं पि हु, जे कायवहंमि तह पयट्टंति । जिणपूआकायवह-म्मि तेसिमपवत्तणं मोहो ॥४५॥" इति ग्रन्थेनाग्रे ग्रन्थकृतैवाधिकारिणो जिनपूजा कायवधम् उपेत्य प्रवृत्तेर्दर्शितेन हिंसास्वरूपस्य च यतनयैव त्याजनाभिप्रायात् समाधियोगेनेत्यादिलक्षणासिद्धेः । न च पुण्यजनकाध्यवसायेन योगेन चाल्पस्यापि पापस्य बन्धसंभवः, अध्यवसायानां योगानां वा शुभाशुभैकरूपाणामेवोक्तत्वात्, तृतीयराशेरागमे प्रसिद्धेरेतदुपपादयिष्यत उपरिष्टात् भाष्यसंमत्या, भगवत्यां सुपात्रे शुद्धदानेऽल्पपापबहुतरनिर्जराभिधानं च निर्जराविशेषमुपलक्षयति । स च शुद्धदानफलावधिकापकर्षात्मकः, प्रकृते च चारित्रफलावधिकापकर्षात्मको दानादिचतुष्कफलसमशीलः सोऽधिक्रियत

इति कथङ्कारमशुद्धदानेन शुद्धपूजायां तुल्यत्वमुपनीयमानं विपश्चितश्चमत्कारसारं चेतो रमयितुं प्रत्यलम् ?। अशुद्धदानं हि अतिथिसंविभागव्रतस्याऽतिचारभूतं, शुद्धपूजा च समग्रश्राद्धधर्मस्य तिलकीभूतोत्तरगुणरूपेति च। आह वाचकचक्रवर्त्ती-"चैत्यायतनप्रस्था-पनानि कृत्वा च शक्तितः प्रयतः। पूजाश्च गन्धमाल्या-धिवासधूपप्रदीपाद्याः"॥ इत्यादि। अथ शुद्धदानविधिरुत्सर्गः, अशुद्धदानविधिश्चापवादः,उत्सर्गापवादौ च स्वस्थाने द्वावपि बलवन्तावित्यपवादविधिविषयीभूताशुद्धदानतुल्यत्वं देवपूजायामुच्यमानं न दोषायेत्यभिप्रायः, तर्ह्यशुद्धपददानं कस्य बिभीषिकायै,स्वरूपतोऽशुद्धतायाः स्वरूपत आरम्भवत्तायाश्चानतिदोषत्वात्। वस्तुतोऽप्रासुकदानदृष्टान्तो लुब्धकदृष्टान्तभाविसदानापेक्षयैव भावितो भगवतीवृत्ताविति, परव्युत्पन्नकृतजिनपूजायां विपरीतव्युत्पन्नकृतदानतुल्यत्वमभिधीयमानं कथं घटेत ?,ग्लानप्रतिचारणानन्तरं पञ्चकल्याणकप्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरपि गीतार्थाद्यन्यतरपदवैकल्या एवेति। सर्वपदसाकल्ये प्रायश्चित्तकरणं कल्पमात्रस्वरूपतः सदोषतयैतददुष्टम्, तावद्दृग्मेन जिनपूजां कृत्वाऽपि प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यं स्यात्, तच्च नैर्यापथिकीमात्रमप्युक्तम्, अशुद्धदानेऽपि श्राद्धजीतकल्पादावुक्तमिति वृथा वल्गनमेतदभिन्नसूत्राभिमानिनामतिचारजनकक्लिष्टभावशोधनमपि तुल्याधिकशुद्धाध्यवसायेनैव, अन्यथा ग्राहयादीनां स्वल्पमायया अशुभविपाके प्रमत्तसाधूनामिदानीं चारित्रं कथं निर्वहेदित्यर्थः। पञ्चाशकेन प्रपञ्चितं पञ्चवस्तुक एवेति यतनाऽभावशुद्धस्याधिकारिणः क इवासोपलेप इति केषाञ्चिन्मतं नानागमिकमाभाति,पूजेतिकर्त्तव्यतासंपत्तिरेव च तन्मते कूपोत्पत्तिः तत्प्राक्कालीन एवारम्भः। प्रतिपन्नगृहस्थधर्मप्राणपदद्रव्यस्तवस्य कूपखननस्थानीयः, तत्कालार्जितद्रव्येणैव द्रव्यस्तवसंभवात्त्रिवर्गविरोधिनस्ततः प्रथमवर्गस्याऽपि सिद्धे सदारम्भार्जितकर्मनिर्जरणमेव च द्रव्यस्तवसंभाविनी भावनेति, अन्योक्तपूर्वपक्षे "अस्माकमिदं यदि स्फुरति यत् द्रव्यस्तवे दूषणं" तद्विधिवैगुण्येन भक्तिमात्रैकतानतासंभविविधिवैकल्येन प्राक्कालसंभवव्याप्यारम्भदोषस्य फलेन समारोपेण तच्छोधने तथाऽपि कूपदृष्टान्ताभिधानापत्तिरिति प्राचीनपक्षे स्वरसः स्नानाद्यारम्भश्चित्ते लगतीत्याभिमानिक आरम्भदोषस्त्वनधिकारिणो न संगतः। अभिधानस्य भावदोषत्वादल्पदोषस्य च विरूपस्यैवेष्टत्वादभिधानस्य विपर्ययस्य विपर्ययरूपदोषस्याल्पस्य वक्तुमशक्यत्वादुपरितनानां तत्र दोषत्वाभिमानस्तु न विपर्ययाद्, स्याद्वादमार्गे वस्तुन आपेक्षिकत्वात्। स्थविरकल्पकस्य यो मार्गः स जिनकल्पिकापेक्षया न मार्ग इति तदुपपत्तेः, तदपि विधिवैकल्यप्रयुक्तं, द्रव्यस्तवदूषणमपि भक्त्याऽधिकतरभक्तिभावेनोपहतं भवति, इति हि ज्ञानं कूपज्ञानस्य फलरूपज्ञानेनैतद् ज्ञाप्यते इत्यर्थः। पूजाविधिवैगुण्यस्थलीयेऽप्युपलेपे भक्तिप्राबल्यस्य प्रतिबन्धकत्वम्,कूपे खन्यमाने कर्दमोपलेपादाविव मन्त्रविशेषस्येति भावः। यतोऽविधियुताऽपि क्रिया व्यवधानेनातिपारम्पर्येण भक्त्यैव कृत्वा मोक्षदोक्ता, शिष्टा पुनरत्रार्थे शिष्टैकवाक्यतयाऽनूद्य स्वकपोलकल्पितत्वमात्रमिति भावः। इत्थं चाऽभयदेवसूरिवचनानामुक्तानां शेषाणां च भक्तिमात्रप्रयुक्तपूजैव विषय इति सर्वोऽपि प्राचीननवीनपन्थास्तिरस्कृतो भवति। इत्थं विवेचका एव सुज्ञानाः सुप्रकल्पकाः शङ्कितार्थे पुनः सूत्रे व्याख्याने भविकाः। उक्तं च सम्मतौ गन्धहस्तिना-" ण उ सासणभत्तीमित्तएण सिद्धंतजाणगो होइ। ण वि जाणगो वि समए, पण्णवणा णिच्छिओ णेओ " त्ति न परीक्षां विना स्थेयं, प्राचीनप्रणयात्परमविमृश्यरुचिस्तत्र निरस्ता गन्धहस्तिना। तथाहि-

" अयं जनोऽन्यस्य मृतः पुरातनः,
पुरातनैरेव समो भविष्यति।
पुरातनेष्वित्यनवस्थितेषु कः,
पुरातनोक्तान्यविमृश्य रोचयेत् ॥ १ ॥"

प्राचीनं स्वनवीनमप्यनेकान्तगर्भितं तत्तात्पर्यभेदेन तन्त्रेनातिप्रसञ्जकं कूपदृष्टान्तं विशदीकरणेऽधिकमादरात् प्रपञ्चेनोक्तमस्माभिस्तदवधार्यताम् ॥ ६१ ॥

(१६) पूजायां हिंसासंभवोक्तिविकल्पं दूषयन्नाह-

धर्मार्थैः प्रतिमार्चनं यदि वधः स्यादर्थदण्डस्तदा,
तत्किं सूत्रकृते न तत्र पठितो नूताहियक्षार्थवत्।
या हिंसा खलु जैनमार्गविहिता सा स्यान्निषेध्या स्फुटं,
नाधाकर्मिकवन्निहन्तुमिह किं दोषं प्रसङ्गोद्भवम् ? ॥ ६२ ॥

(धर्मार्थमिति) यदि पूजायां हिंसा कुमतिना वाच्या, तदा किमनर्थदण्डरूपा वा स्यादर्थदण्डरूपा वा ?। नाद्यः पक्षः क्षोदक्षमः, प्रयोजनराहित्यासिद्धेः। अन्त्ये त्वाह-यदि प्रतिमार्चनं धर्मार्थो वधः स्यात्तदाऽर्थदण्डः स्यादर्थदण्डत्वेन व्यवहार्यः स्यात्। इष्टापत्तावाह-तदर्थदण्डश्चेत्तदा सूत्रकृतेऽर्थदण्डाधिकारे किं न पठितः। किंवत्? नूताहियक्षार्थो यथा दण्डः पठितस्तद्वत्। इदं हि तत्सूत्रम्-"पढमे दंडसमादाणे अट्ठादंडवत्तिए त्ति आहिज्जइ,से जहा नामए केइ पुरिसे आयहेउं वा आगारहेउं वा मित्तहेउं वा णागहेउं वा भूयहेउं वा जक्खहेउं वा दंडतसथावरेहिं सयमेव णिस्सरइ, अन्नेहि वा णिसिरावेइ, अन्नं वा णिसिरंतं समणुजाणइ, एवं खलु तस्स तप्पत्तिअं सावज्जं ति आहिज्जइ त्ति"। यदि हि जिनप्रतिमापूजार्थोऽपि वधोऽत्राधिकृतः स्यात्तदा-" जिणपडिमाहेउं जिणहेउं च " इत्यप्यभणिष्यत् सूत्रकारः। न च सर्वोऽपि दण्डो गृहस्थानामगारार्थ इत्यगारविषयकेच्छाप्रयोज्येच्छाया हेतोरुक्तशेषे संभवान्न न्यूनत्वमिति रामदासादिपामरोक्तं श्रद्धेयम्। एवं सति-" परिवारहेउं " इत्यादेराधिक्यापत्तेः, परिवाराद्यर्थस्यापि तत्त्वतो गृहार्थत्वादिति यत्किञ्चिदेतत्। अथ विवक्षात एव तत्पाठ इत्यत आह-या खलु जैनमार्गविहिता हिंसा सा किं प्रसङ्गोद्भवं दोषं निहन्तुं वारयितुं स्फुटं नामग्राहं निषेध्या न स्यात् ?, अपि तु स्यादेव। ननु प्रतिलोममेतत्, एवं सत्यर्थदण्डाधिकारे पूजार्थवधस्याधाकर्मिकस्येव पाठोपपत्तेरिति चेत्। सत्यम्, तर्हि भगवत्याद्याधाकर्मिकस्येव तस्य स्फुटं निषेधौचित्यमन्यत्र प्रपञ्चितनिरूपितस्यैवात्रोपलक्षणसंभवादित्यत्र तात्पर्यात्, तत्त्वे तदाशिक्षितोपालम्भमात्रम्। " तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया-इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणापूअणाए दुक्खपडिघातहेउं " इत्याचारे प्रथमाध्ययने जातिमरणमोचनार्थं प्राणातिपातस्य दर्शितत्वात्, तस्य च कटुतरविपाकोपदर्शनाज्जिनपूजादेरपि भगवदभ्युपगमेन मुक्त्यर्थं प्रसिद्धेरर्थदण्डतया साक्षान्निषेधादिति चेत्। न। एतद्व्याख्यानपर्यालोचनायां त्वन्मनोरथस्य लेशेनाप्यसिद्धेः। तथाहि-तत्र कर्मणि भगवता परिज्ञानं परिज्ञा प्रत्याख्यानं च प्रवेदिता, अथ किमर्थमसौ कटुकविपाकेषु कर्माश्रवभूतेषु क्रियाविशेषेषु प्रवर्त्तनेत्याह-" इमस्सेत्यादि "।

(१७) अथैदम्पर्यविचारः-

आनन्दस्य हि सप्तमाङ्गवचसा हित्वा परिव्राड्वर-
श्राद्धस्य प्रथितौपपातिकगिरा चैत्यान्तरोपासनाम् ।
अर्हच्चैत्यनतिं विशिष्य विहितां श्रुत्वा न यो दुर्मतिं,
स्वान्तान्मुञ्चति नाश्रितप्रियतया कर्माणि मुञ्चन्ति तम् ॥६३॥

(आनन्दमिति) हि निश्चितम्, आनन्दस्य आनन्दश्रमणोपासकस्य, सप्तमाङ्गवचसा उपासकदशाङ्गवचनेन, तथा परिव्राड्वरः प्रधानो यः श्राद्धः अम्बडः श्रमणोपासकः, तस्य, प्रथिता प्रसिद्धा औपपातिकगिरौपपातिकोपाङ्गवाक्, तया, चैत्यान्तरोपासनाम्-अन्यतीर्थिकचैत्यतत्परिगृहीतार्हच्चैत्योपासनां, हित्वा त्यक्त्वा, स्थितस्येति शेषः, "मत्प्रसूतिमनाराध्य" इत्यत्रेव, अन्यथा भिन्नकर्तृकक्त्वाप्रत्ययानुपपत्तेः अथवाऽन्तर्भूतण्यर्थत्वाद् हित्वेत्यस्य हापयित्वेत्यर्थः। एवं ह्यभिमतानभिमतविधानहापनयोरेककर्तृत्वे न क्त्वाप्रत्ययानुपपत्तिः अर्हच्चैत्यानामर्हत्प्रतिमानां,नतिं विशिष्य नामग्राहं विहितां कर्तव्यत्वेनोक्तां श्रुत्वा यो दुर्मतिं प्रतिमाऽनाराध्येति दुष्टमतिं न त्यजति, तम्, आश्रितस्यातिप्रियतयाऽत्यन्ताभीष्टतया, इवेत्यस्य गम्यमानत्वादुपमोत्प्रेक्षे। आश्रिताः प्रिया यस्य तत्तयेति व्याख्याने गुडप्रिय इत्यादाविव विशेषणपरनिपातः। कर्माणि ज्ञानावरणीयादीनि न मुञ्चन्ति। तत्र सप्तमाङ्गालापको यथा-" तते णं से आणंदे गाहावती समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वयस्स सत्त सिक्खावयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जइ,समणं भगवं महावीरं वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता एवं वदासी-नो खलु मे भंते! कप्पइ अज्जप्पभिइ अण्णउत्थिया वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहियाइ वा अरिहंतचेइआइं वंदित्तए वा णमंसित्तए वा"। प्रति० । ('सम्मत्त' शब्दे तद्ग्रहणप्रस्तावे व्याख्या) ('आणंद' शब्दे द्वितीयभागे १०६ पृष्ठे सूत्रमुक्तम्) अत्रान्ययूथिकपरिगृहीतचैत्यनिषेधे मिश्रितार्हच्चैत्यवन्दनादिविधिः स्फुट एव। न चात्र चैत्यशब्दार्थे ज्ञानं मूर्खोक्तं घटते। अर्हद्ज्ञानस्यान्यतीर्थिकपरिगृहीतत्वानुपपत्तेः, नापि साधुः, श्रुतवत् तस्यान्यपरिगृहीतत्वासिद्धेः। सिद्धौ वा स्वतीर्थिक एव सः। अन्यागमस्याप्यन्यपरिग्रहेणैव व्यवस्थितेः भृशं स दुर्बुद्धिपरिग्रहाद् भ्रमः। "तदन्यागममप्रमाणम्" इति वचनात्। अथ-"अण्णउत्थिया वा" इत्यादिपदत्रयमेकार्थमेव "समणं वा माहणं वा" इति पदद्वयवत्। अन्यथा " तेसिं असरणं च " इत्याद्यनुपपत्तेः। तत्पदस्याव्यवहितपूर्वोक्तपदार्थपरामर्शकत्वात् चैत्यानामेव वाच्यव्यवहितपूर्वोक्तत्वात्तेषां दानाद्यप्रसङ्गेन तन्निषेधानुपपत्तेरिति चेत्। न। प्रकृतानां त्रयाणां नत्यादेरवश्यनिषेध्यत्वात्पदत्रयस्यैकार्थतायाः वक्तुमशक्यत्वात्, तेन तदा यावदुक्तपरामर्शस्यैव युक्तत्वाच्च वस्तुतोऽव्यवहितप्राक्कालीनशाब्दबोधानुकूलव्यापारविषयत्वं वाच्यम्। तथा च-पूर्वमनालपितेनेत्यत्रान्यतीर्थिकैरित्यध्याहारस्यावश्यकत्वात् तेषामिति तत्पदेन त्वव्यवहितपूर्वोक्तान्यतीर्थिकपरामर्शो युक्त इति मदुत्प्रेक्षां प्रमाणयन्तु प्रामाणिकाः। औपपातिकालापको यथा-"अम्मडस्स णं णो कप्पइ अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थियपरिग्गहिआणि य अरिहंतचेइआणि वा वंदित्तए वा णमंसित्तए वा० जाव पज्जुवासित्तए वा णण्णत्थ अरिहंतेहिं वा अरिहंतचेइआणि वा वंदित्तए।" तद्वृत्तिर्यथा-"अण्णउत्थिए त्ति" अन्ययूथिका आर्हतसमयापेक्षयाऽन्ये शाक्यादयः। " चेइआइं ति " अर्हच्चैत्यानि जिनप्रतिमाः, "नन्नत्थ अरहंतेहिं व त्ति " न कल्पते, इह योऽयं नेति प्रतिषेधः, सोऽन्यत्रार्हद्भ्यः, अर्हतो वर्जयित्वेत्यर्थः। न हि किल परिव्राजकवेषधारकोऽतोऽन्ययूथिकदेवतावन्दनादिनिषेधेऽर्हतामपि वन्दनादिनिषेधो मा भूदितिकृत्वा " नन्नत्थ " इत्यधीतम्, इति। अत्रार्हच्चैत्येऽम्बडस्य "कण्ठ एव विहिता" इति न्यायाद्यनभिज्ञस्यापि सुज्ञानम्। इत्थं च सम्यक्त्वालापक एवार्हच्चैत्यानां वन्दननमस्करणयोर्विहितत्वात्पूजाद्यप्यधिकारिणां सिद्धमिति सिद्धान्ते स्फुटमर्हच्चैत्यपूजाविधानं न पश्यामः। सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययने स्फुटं फलानभिधानादिति लुम्पकमतं निरस्तम्। न पश्याम इत्यस्य स्वापराधत्वात्। न ह्ययं स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यतीति। सम्यक्त्वालापक एव सूक्ष्मदृष्ट्या दर्शनात्सम्यक्त्वपराक्रमाध्ययनेऽपि गुरुसाधर्मिकशुश्रूषाफलाभिधानेनैव पूजाफलाभिधानादिति भावनीयं सूरिभिः ॥६३॥

सुवर्णगुलिका। आह च—

प्रश्नव्याकरणे सुवर्णगुलिकासंबन्धनिर्द्धारणे,
शस्ते कर्मणि दिग्द्वयग्रहरहःख्यातौ तृतीयाङ्गतः।
सम्यग्न्यावितचैत्यसाक्षिकमपि स्वालोचनाज्ञाश्रुतौ,
सूत्राच्च व्यवहारतो भवति नः प्रीतिर्जिनेन्द्रे स्थिरा ॥६४॥

प्रश्नव्याकरणे सुवर्णगुलिकायाः संबन्धनिर्द्धारणे सत्यसंबद्धस्यानभिधेयत्वात्संबन्धाभिधानस्यावश्यकत्वे वृत्तिस्थस्य तस्य सौत्रत्वादिति भावः। तथा तृतीयाङ्गतः स्थानाङ्गतः, शस्ते प्रशस्ते कर्मणि दिग्द्वयस्य पूर्वोत्तरादिग्रूपस्य, यो ग्रहः पुरस्कारः, तस्य यो रहःख्यातिस्तात्पर्यप्रतिपत्तिः, तस्यां, च पुनः; व्यवहारतः सूत्रात्सम्यग्भावितान्ययतनारूपवर्जनया सद्भावं प्रापितानि यानि चैत्यानि तानि साक्षीणि यत्र यस्यां क्रियायां, तथा स्वालोचना सुष्ठु समीचीना याऽऽलोचना, तस्याः श्रुतौ विधिश्रवणे सति, नः अस्माकं, प्रीतिर्जिनेन्द्रे स्थापनाजिने स्थिराऽप्रतिपातिनी भवति, स्थापनाजिनस्य जिनेन्द्रत्वं भावजिनवत्सद्यःसमुपासनाफलदानसमर्थतयाऽव्यभिचारेणाध्यात्मिकभावाक्षेपकत्वादवसेयम्। तत्र तुर्याश्रवद्वारि-" सुवन्नगुलिआए त्ति " प्रतीके वृत्तिः-यथा सुवर्णगुलिकायाः कृते संग्रामोऽभूत्। तथाहि-सिन्धुसौवीरेषु जनपदेषु विदर्भकनगरे उदायनस्य राज्ञः प्रभावत्या देव्याः सकाशे देवदत्ताभिधाना दास्यभूत्। सा च देवनिर्मितां गोशीर्षचन्दनमयीं श्रीमन्महावीरप्रतिमां राजमन्दिरान्तर्वर्तिचैत्यभवनव्यवस्थितां प्रतिचरति स्म, तद्वन्दनार्थं च श्रावकः कोऽपि देशात् संचरन् समायातः, तत्र चागतोऽसौ रोगेणाऽपटुशरीरो जातः,तया च सम्यक् प्रतिचरितः। तुष्टेन च तेन सर्वकामिकमाराधितदेवतावितीर्णगुलिकाशतमदायि। तयाऽनया कुब्जा विरूपा,सुरूपा भूयासमिति मनसि विभाव्य एका गुटिका भक्षिता, तत्प्रभावात् सा सुवर्णवर्णा जातेति सुवर्णगुलिका नाम्ना प्रसिद्धिमुपगता। ततोऽसौ चिन्तितवती-जाता मे रूपसंपद्, एतया च किं भर्तृविहीनया,तत्र तावदयं राजा पितृतुल्यो न कामयितव्यः, शेषस्तु पुरुषमात्रमतः किं तैः?,तत उज्जयिन्याः पतिं चण्डप्रद्योतराजं मनस्याधाय गुटिका भक्षिता, ततोऽसौ देववचनात्तां विज्ञाय तदानयनाय हस्तिरत्नमारुह्य तत्रायातः। आकारिता च तेन सा,तयोक्तम्-आगच्छामि यदि प्रतिमां नयसि, ते-

नोक्तम्-तामहं श्वो नेष्यामि । ततोऽसौ स्वनगरीं गत्वा तद्रूपां प्रतिमां कारयित्वा रचित्वा तामादाय तत्रैव रात्रावायातः, स्वकीयप्रतिमां देवतानिर्मितप्रतिमास्थाने विमुच्य तां सुवर्णगुलिकां च गृहीत्वाऽऽगतः । प्रभाते च चण्डप्रद्योतगन्धहस्तिविमुक्तमूत्रपुरीषगन्धेन विमदान् स्वहस्तिनो विज्ञाय ज्ञातचण्डप्रद्योतागमोऽपगतप्रतिमासुवर्णगुलिकानयनोऽसावुदायनराजः परं कोपमुपगतो दशभिर्महाबलैः राजभिः सहोज्जयिनीं प्रति प्रस्थितः। अन्तरा पिपासाबाधितसैन्यस्त्रिपुष्करकरणेन देवतया निस्तारितसैन्योऽक्षेपेणोज्जयिन्या बहिः प्राप्तः, रथारूढश्च धनुर्वेदकुशलतया सन्नद्धहस्तिरत्नारूढं चण्डप्रद्योतं प्रासादीषुमण्डलेन भ्रमन्तं चरणतलशरव्यथितहस्तिनो भुवि निपातनेन वशीकृतवान् दासीपतिरिति ललाटपट्टे मयूरपिच्छेनाङ्कितवानिति । प्रति० । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार । दिग्द्वयोर्निग्रहे स्थानाङ्गालापको द्वितीयस्थाने प्रथमोद्देशके यथा-" दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा पव्वावित्तए पाईणं चेव उदीणं चेव एवं मुंडावित्तए सिक्खावित्तए उवट्ठावित्तए संभुंजित्तए संवासित्तए सज्झायं उद्दिसित्तए सज्झायं समुद्दिसित्तए सज्झायं अणुजाणित्तए आलोइत्तए पडिक्कमित्तए णिंदित्तए गरहित्तए विउट्टित्तए विसोहित्तए अकरणयाए अब्भुट्ठित्तए अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जित्तए,दो दिसाओ अभिगिज्झ कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसियाणं भत्तपाणपडिआइक्खियाणं पाओवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए तं पाईणं चेव उदीणं चेव त्ति"। प्रति०। स्था०। अत्र हि दिग्द्वयाभिमुखीकरणमर्हच्चैत्यानां पुरस्तादभिमुखीकरणायैवेति तद्विनयसर्वकर्मपूर्वाङ्गत्वाद् गृहस्थस्याधिकारिणो लोकोपचारतद्विनयात्मकपूजायाः प्रधानवस्तूचितमेवेति तात्पर्यम्। प्रति०। उक्तं च-"पुव्वाभिमुहो ठिच्चा, दिज्जा अहवा पडिच्छिज्जा। जाए जिणादओ वा, जिणिंदवरचेइयाइं वा" ॥१॥ प्रति० । व्यवहारालापको यथा आलोचनासूत्रे-" जत्थेव समं भावियाइं पासेज्जा० जाव पडिक्कमिज्जा, णो चेव सम्मं भावियाइं बहिया गामस्स० जाव सन्निवेसस्स पाईणाभिमुहे वा उदीणाभिमुहे वा करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वदिज्जा-एवइआ मे अवराहा एवइक्खुत्तो अहं अवरद्धो अरहंताण सिद्धाणं अंतिए आलोइज्जा पडिक्कमेज्जा निंदिज्जा पायच्छित्तं पडिवज्जिज्ज त्ति बेमि । " प्रति० । अथाऽग्रेतनस्याप्यभावे यत्रैव सम्यग्भावितानि जिनवचनवासितान्तःकरणानि दैवतानि पश्यति, तत्र गत्वा तेषामन्तिके आलोचयेत् , दैवतानि हि भृगुकच्छगुणशिलादौ भगवत्समवसरणे एकशो विधीयमानानि शोधिकरणानि दृष्ट्वा विशोधिदानसमर्थानि भवन्ति, महाविदेहेषु गत्वा तीर्थङ्करानापृच्छ्य वाचाऽष्टमेनाकम्प्य पुरत आलोचयेत्। तासामपि देवतानामभावेऽर्हत्प्रतिमानां पुरतः स्वप्रापितदानपरिज्ञाकुशलमालोचयति,ततः स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्तम्, तासामप्यभावे ग्रामादेर्बहिः प्राचीनादिदिगभिमुखः, करतलाभ्यां परिगृहीतं तथा शिरसाऽऽवर्त्तो यस्य तम् । अलुक्समासः । अञ्जलिं कृत्वा एवं वदेत्-एतावन्तो मेऽपराधाः, एतावत् कृत्वाऽहमपराद्धः एवमर्हतां सिद्धानामन्तिके आलोचयेत् । प्रायश्चित्तदानविधिं विद्वानालोच्य च स्वयमेव प्रतिपद्यते प्रायश्चित्तं, स च तथा प्रतिपद्यमानः शुद्ध एव, सूत्रोक्तविधिना प्रवृत्तेः। यदपि च विराधितं तत्रापि शुद्धः, प्रायश्चित्तप्रतिपत्तेरिति । अत्र " सम्मं भाविआइं " इति विशेषणेनैव देवतानां चैत्यानां च "अहं च भोयरायस्स" इत्यत्र 'पुज्याम्'इत्याक्षेपात् विशेषणद्वयानुरोधेनावृत्तिं कृत्वा व्याख्येयम् । सम्यग्भावितप्रतिमापुरस्कारश्च मनःशुद्धेर्विशेषायैव दिग्द्वयपरिग्रह इवेति न्यायोपेतमेव। यत्तूच्यते कुमतिभिः-सम्यग्भावितपदेनाविरतसम्यग्दृष्टेरेव पारिशेष्येण ग्रहान्न प्रतिमास्पर्श इति। तदस्पृश्यास्पर्शस्य भूषणत्वान्न दूषणम्, आलोचनादानार्हस्य गीतार्थे संभवेऽध्यात्मशुद्धये प्रतिमाश्रयणस्यैव शास्त्रार्थत्वात् । अर्हत्सिद्धपुरस्कारस्य कथमिदमुत्सर्गतामवलम्बतामिति चेत्, सद्भावाभ्यामत्रापि विशेषं विभावय। एतेन पर्यन्तोक्तत्वाज्जघन्यं प्रतिमाश्रयणमित्यपि दुर्वचनं निरस्तम्, ततोऽप्यग्रेऽर्हत्सिद्धपुरस्कारस्योक्तेरिति किमिति पल्लवितेन ॥ ६४ ॥

(१७) द्रौपद्यधिकारः । प्रतिमापूजायां द्रौपदीभद्रासार्थवाहीसिद्धार्थराजानामुदाहरणानि—

तीर्थेशप्रतिमार्चनं कृतवती सूर्याभवद्भक्तितो,
यत् कृष्णा परदर्पमाथि सुदिदं षष्ठाङ्गविस्फूर्जितम् ।
सच्चक्रे खलु या न नारदमृषिं मत्वाऽव्रतासंयतं,
मूढानामुपजायते कथमसौ न श्राविकेति भ्रमः ? ॥६५॥

कृष्णा द्रौपदी, सूर्याभवत् राजप्रश्नीयोपाङ्गाभिहितव्यतिकरसूर्याभदेववत्, भक्तितो भक्त्या, तीर्थेशानां भगवतां,प्रतिमार्चनं प्रतिमापूजनं,कृतवती,तदिदं तदेव तदर्थाभिधायकम्,न परं,षष्ठाङ्गस्य ज्ञाताधर्मकथाध्ययनाङ्गस्य, विस्फूर्जितं सम्यग्व्याख्यानविलसितं,परेषां कुवादिनां,दर्पमहङ्कारं मथ्नातीत्येवंशीलम्, ते हि वदन्ति-पञ्चमगुणस्थानवृत्त्या पूजा कृतेति सूत्रे कुत्राऽपि व्यक्ताक्षरं नोपलभ्यते, गते प्रसिद्धे षष्ठाङ्ग एव च तदक्षरोपलब्धेरिति कथं नोत्तानदृशो दर्पप्रतिघातः। ननु द्रौपद्याऽर्हत्प्रतिमापूजा कृतेति षष्ठाङ्गेऽभिहितमिति वयमपि नापह्नुमः, तस्याः पञ्चमगुणस्थानं नास्तीत्येवं तु ब्रूम इति चेत्,अत्राह-या तं नारदमृषिं अव्रतासंयतं मत्वा न सच्चक्रे न सत्कृतवती, असौ श्राविका नेति भ्रमः कथमुपजायते ? , न युक्तोऽयं भ्रमः । एवमापद्याचाम्लान्तरितषष्ठादिकरणमपि श्राविकात्वमेवार्थापयतीति द्रष्टव्यम् । अत्रालापका ज्ञातावृत्तौ-" तए णं सा दोवई रायवरकन्नगा जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता मज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसइत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउयमंगलपायच्छित्ता सुद्धप्पावेसाइं मंगलाइं वत्थाइं पवरपरिहिया मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ, पडिनिक्खमइत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुपविसइ, जिणपडिमाणं आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता वंदइ, नमंसइ, नमंसइत्ता लोमहत्थेणं परामुसति, परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाभो जिणपडिमाओ अच्चेति तहेव भाणियव्वं० जाव धूवं डहति, डहतित्ता वामं जाणुं अंचेइ, दाहिणं जाणुं धरणितलंसि साहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ, निवेसेइत्ता ईसिं पच्चुन्नमइ, करयल० जाव कट्टु एवं वयासी-णमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं० जाव संपत्ताणं वंदइ, णमंसइ, नमंसइत्ता जिणघराओ पडिनिक्खमइ, जेणेव अंतेउरे तेणेव उवागच्छइ "। ज्ञा० १६ अ० । अत्र यावत्करणात् अर्थतो दृश्यं, लोमहस्तकेन जिनप्रतिमाः प्रमार्ष्टि, सुरभिगन्धोदकेन स्नपयति, गोशीर्षचन्दनेनानुलिम्पति, वस्त्रा-

णि निवासयति, ततः पुष्पाणां माल्यानां, ग्रथितानामित्यर्थः। गन्धानां चूर्णानां वस्त्राणामाभरणानां चारोपणं करोति स्म। माल्यकलापावलम्बनं पुष्पप्रकरं तन्दुलैर्दर्पणाद्यष्टमङ्गलकाले रचनं करोति। (वामं जाणुं अंचेइ त्ति) उत्क्षिपतीत्यर्थः (दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु) निहत्य, स्थापयित्वेत्यर्थः। (तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि णिवेसेइ त्ति) निवेशयतीत्यर्थः। (ईसिं पच्चुन्नमति २ करतलपरिग्गहियं अंजलिं मत्थए कट्टु एवं वयासी-नमोऽत्थु णं अरिहंताणं॰ जाव संपत्ताणं वंदति, णमंसति, णमंसित्ता पडिनिक्खमइ त्ति) तत्र वन्दते चैत्यवन्दनाविधिना प्रसिद्धेन, नमस्यति पश्चात्प्रणिधानयोगेनेति वृद्धाः, न च द्रौपद्याः प्रणिपातदण्डकमात्रं चैत्यवन्दनमभिहितं सूत्रे इति सूत्रमात्रप्रामाण्यादन्यस्यापि श्रावकादेस्तावदेतद् मन्तव्यम्।अन्यथा सूर्याभादिदेववक्तव्यतायां बहूनां शस्त्रादिवस्तूनामर्चनं श्रूयते इति, तदपि विधेयं स्यात्,किञ्चाविरतानां प्रणिपातदण्डकमात्रमपि चैत्यवन्दनं संभाव्यते, यतो वन्दते नमस्यतीति पदद्वयस्य वृत्त्यन्तरव्याख्यानमेवमुपदर्शितं जीवाभिगमवृत्तिकृता-अविरतिमतामेव प्रसिद्धचैत्यवन्दनाविधिर्भवति , अन्येषां तथाऽभ्युपगमपुरस्सरं कायोत्सर्गासिद्धेः, ततो वन्दते सामान्येन, नमस्करोति आशयवृद्धेरभ्युत्थानरूपनमस्कारेणेति। किं च-" समणेण सावपण य, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा । अंतो अहो णिसियस्स य, तम्हा आवस्सयं णाम ॥ १ ॥ " तथा "-जं णं समणो वा समणी वा सावओ वा साविया वा तच्चित्ते तम्मणे तल्लेसे उभओ कालं आवस्सएण चिट्ठंति, तं लोयउत्तरियं भावावस्सयं " इत्यादिरनुयोगद्वारवचनात् । तथा सम्यग्दर्शनं संपन्नः प्रवचनभक्तिमान् षड्विधावश्यकनिरतः षट्स्थानयुक्तश्च श्रावको भवतीत्युमास्वातिवाचकवचनात् श्रावकस्य षड्विधावश्यकस्य सिद्धावावश्यकाऽन्तर्गतं प्रसिद्धं चैत्यवन्दनं सिद्धमेव भवतीति वृत्तौ। यच्च " जिणपडिमाणं अच्चणं करेइ " त्ति एकस्यां वाचनायामेतावदेव दृश्यते इति वृत्तावेवं प्रागुक्तं, तत्रापि वृद्धाशयात्सम्पूर्णो विधिरिष्यत एव, जिनप्रतिमार्चनस्य प्रणिधानस्तवेनैव विरतिमतां निर्वाहात् । यदपि " जाव संपत्ताणं ति"असंपूर्णदण्डकदर्शनाश्वास इति प्रतिमाऽरिणोच्यते । तदपि स्तम्भतीर्थचिरकालीनतामपत्रीयपुस्तकसंपूर्णदण्डकप्रदर्शनेन बहुशो निराकृतमस्माभिः । सम्पूर्णचैत्यवन्दनविधौ चापुनर्बन्धकादयोऽधिकारिणः स्थाणोरर्थालम्बनतदन्ययोगपरा इति सिद्धमेव । योगग्रन्थे तु श्राविका तु द्रौपद्यानन्दादिवत्प्रत्याख्याता अन्यतीर्थिकादिरूपत्वादिव सिद्धा । तथाहि ज्ञातावृत्तौ-" तए णं पंच पंडवा दोवईदेवीए सद्धिं कल्लाकल्लिं वारं वारेणं उरालाइं भोगभोगाइं॰जाव विहरंति। तते णं से पंडुराया अन्नया कयाइं पंचपंडवेहिं कुंतीए देवीए दोवइए देवीए सद्धिं अंतेउरपरियालसद्धिं संपरिवुडे सीहासणवरगए यावि विहरति।इमं च णं कच्छुल्लनारए दंसणेणं अइभद्दए विणीए अंतो य कलुसहियए मज्झत्थोवत्थिए अल्लीणसोमपियदंसणे सुरूवे अमइलसगलपरिहिए कालमियचम्मउत्तरासंगरइअवत्थे दंडकमंडलुहत्थे जडामउडदित्तसिरए जन्नोवइअगणेत्ति अमुंजमेहलवलगलधरे हत्थकयकच्छभीए पियगंधव्वे धरणिगोअरप्पहाणे संवरणावरणउवयणुप्पयणिलेसिणीसु य संकामणिआभिओगिपण्णत्तिगमणीथंभणीसु य बहुसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे इट्ठे रामस्स य केसवस्स य पज्जुन्नपईवसंबअनिरुद्धनिसढउस्सुयसारणगयसुमुहदुम्मुहाईणं जायवाणं अद्भुट्ठाण य कुमारकोडीणं हिययदइए संथवए कलहयुद्धकोलाहलप्पिए भंडणाभिलासी बहुसुयसमसुयसंपराए सुदंसणए समंतओ कलहं सदक्खिणं अणुगवेसमाणे असमाहिकरे दसारवरवीरपुरिसतेलुक्कबलवगाणं आमंतेऊणं तं भगवतिं पक्कमणिं गयणगमणदत्थं उप्पइओ गगणतलमभिलंघयंतो गामागरनगरखेडकब्बडमडंबदोणमुहपट्टणसंबाहसहस्समंडियं थिमियमेइणीतलं सुइं ओलोयंतो रम्मं हत्थिणाउरं नयरं उवागए पंडुरायभवणंसि अइवेगेणं समोवयइ, तए णं से पंडुराया कच्छुल्लनारयं एज्जमाणं पासइ, पासइत्ता पंचहिं पंडवेहिं कुंतीए देवीए सद्धिं आसणाओ अब्भुट्ठेइ, कच्छुल्लनारयं सत्तट्ठपयाइं पच्चुग्गच्छइ, पच्चुग्गच्छइत्ता तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करेइत्ता वंदइ, णमंसइ, णमंसइत्ता महरिहेणं आसणेणं उवनिमंतेइ । तते णं से कच्छुल्लनारए उदगपरिचरफासियाए दब्भोवरिए वत्थआए भिसिआए निसीयइ, निसीयइत्ता पंडुरायं रज्जे अ॰ जाव अंतेउरे य कुसलोदंतं पुच्छति । तते णं से पंडुराया कुंती देवी पंच पंडवा कच्छुल्लनारयं आढंति॰ जाव पज्जुवासंति ; तते णं सा दोवती कच्छुल्लनारयं अस्संजयं अविरयअप्पडिहयअपच्चक्खायपावकम्म त्ति कट्टु नो आढाइ॰ जाव णो पज्जुवासति त्ति "। प्रति॰ । ज्ञा॰।

भद्रा सार्थवाही-

"तते णं से भद्दा सत्थवाही धणेणं सत्थवाहेणं अब्भणुण्णाया समाणी हट्ठतुट्ठ॰ जाव हियया विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ, उवक्खडावेइत्ता सुबहुपुप्फवत्थगंधमल्लालंकारे गेण्हति, रसयाउ गिहाणि गच्छइ, रायगिहं नगरं मज्झं मज्झेणं णिग्गच्छइ, णिग्गच्छइत्ता जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता पुक्खरिणीए तीरेसु बहुपुप्फ॰ जाव मल्लालंकारं ठवेइ, ठवेइत्ता पुक्खरिणिं ओगाहइ, ओगाहइत्ता जलमज्जणं करेइ, करेइत्ता जलकीडं करेइ, जलकीडं करेइत्ता ण्हाया कयबलिकम्मा उल्लपडसाडिगा जाइं तत्थ उप्पलाइं॰ जाव सहस्सपत्ताइं गिण्हइ, गिण्हइत्ता पुक्खरिणीओ पच्चोरुहइ, पच्चोरुहइत्ता तं पुप्फवत्थगंधमल्लं गेण्हइ, गेण्हइत्ता जेणेव नागघरए॰ जाव वेसमणघरए य तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छइत्ता तत्थ णं नागपडिमाण य॰ जाव वेसमणपडिमाण य आलोए पणामं करेइ, करेइत्ता पच्चुन्नमइ,पच्चुन्नमइत्ता लोमहत्थगं परामुसइ,नागपडिमाओ॰ जाव वेसमणपडिमाओ य लोमहत्थएणं पमज्जइ, उदगधाराए अब्भुक्खेइ, अब्भुक्खेइत्ता पम्हलसुकुमालाए गंधकासाईए गायाइं लूहेइ, महरिहं वत्थारुहणं च गंधारुहणं च मल्लारुहणं च करेइ, करेइत्ता धूवं डहइ, रज्जन्नु पायपडिया एवं वयासी--जइ णं अहं दारगं वा दारियं वा पयामित्तो णं अहं जायं च॰ जाव अणुवड्ढेमि त्ति कए ओवाइयं करेइ, जेणेव पुक्खरिणी तेणेव उवागच्छइ, विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं आसाएमाणा॰ जाव विहरति । " न च द्रौपद्या जिनप्रतिमार्चनकालवदेवपयाचितं कृतं श्रूयते, प्रत्युत " जिणाणं जावयाणं" इत्यादिना भगवद्गुणप्रणिधानमेव कृतमस्तीति कथं विशेषं न पश्यति सचेताः। इत्थं प्रणिधानेनैव च महापूजा, अन्यथा तु पूजामात्रमिति शास्त्रगतार्थः । तदाह-"देवगुणप्रणिधाना-त्तद्भावानुगतमुत्तमं विधिना। स्यादादरादियुक्तं, यत्तद्देवार्चनं चेष्टम् "॥ १ ॥ इति। प्रति॰ । आचा॰ । कल्प॰ ।

(सिद्धार्थराजस्य) आह च-

एतेनैव समर्थिताऽभ्युदयिकी धर्म्या च कल्पोदिता,

श्रीसिद्धार्थनृपस्य यागकरणप्रौढिर्दशाहोत्सवे ।

श्राद्धः खल्वयमादिमाङ्गविदितो यागं जिनार्चां विना,

कुर्यान्नान्यमुदाहृता व्रतभृतां त्याज्या कुशास्त्रस्थितिः॥६६॥

(एतेनेति) एतेनैव द्रौपदीचरितसमर्थनेनैव, आभ्युदयिकी अभ्युदयनिर्वृत्ता, धर्म्या च धर्मादनपेता च, कल्पोदिता कल्पसूत्रप्रोक्ता, श्रीसिद्धार्थनृपस्य श्रीसिद्धार्थनाम्नो राज्ञो भगवत्पितुः, दशाहोत्सवे दशदिवसमहे, यागकरणस्य प्रौढिः प्रौढता समर्थिता उपपादिता । न च यागशब्दार्थोऽन्यः स्यादिति तत्राह-खलु निश्चितं, अयं सिद्धार्थराज आदिमाङ्गविदितः आचाराङ्गप्रसिद्धः, श्राद्धः श्रीपार्श्वपत्यीयश्रमणोपासकः, जिनार्चां विनाऽन्यं लोकप्रसिद्धं यागं, न कुर्यात् । यतः व्रतभृतां कुशास्त्रस्थितिस्त्याज्या । अन्यच्च यागः कुशास्त्रीयः। कल्पसूत्रपाठो यथा-" तए णं सिद्धत्थे राया दसाहियाए ठिइवडियाए वट्टमाणीए सइए अ साहस्सिए अ सयसाहस्सिए अ......लंभेमाणे य पडिच्छमाणे य पडिच्छावेमाणे य एवं च णं विहरइ।" व्याख्या-(दसाहिए त्ति) दशाहिकायां दशदिवसमानायां, स्थितौ कुलमर्यादायां, पतितायां गतायां, पुत्रजन्मोत्सवप्रक्रियायां तस्यां प्रवर्त्तमानायां, शतिकान् शतपरिमाणान् साहस्रिकान् सहस्रप्रमाणान् शतसाहस्रिकान् लक्षप्रमाणान् यागान् देवपूजाः दानान्यर्चदिवसादौ दानादीन् भागान् ददत् दापयन् लाभयन् प्रतीच्छन् गृह्णन् प्रतिग्राहयन् विहरन्नस्ति । एवं श्रीसिद्धार्थनृपेण परमश्राद्धेन देवपूजा कृता चेदन्येषां कथं न कर्तव्या ? । तस्य श्रमणोपासकत्वे आचारालापकश्चायम्-" समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासया आवि हुत्था । तेणं बहूइं वासाइं समणोवासगपरिआयं पालइत्ता छण्हं जीवनिकायाणं सारक्खणनिमित्तं आलोइत्ता णिंदित्ता गरहित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्तं पडिवज्जित्ता कुससंथारं दुरूहित्ता भत्तं पच्चक्खाइंति, पच्चक्खाइत्ता अपच्छिमाए मारणंतियाए सरीरसंलेहणाए झूसियसरीरा कालमासे कालं किच्चा तं सरीरं विप्पजहेत्ता अच्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना । तओ णं आउक्खएणं चइत्ता महाविदेहे वासे चरिमेणं ऊसासेणं सिज्झिस्संति, परिनिव्वाइस्संति, सव्वदुक्खाणमंतं करिस्संति " त्ति । यथा च सिद्धार्थराजव्यतिकरे यागशब्देन पूजा कृतेति समर्थितं, तथा महाबलादिव्यतिकरेऽपि द्रष्टव्यम् । अपि च-शाश्वताशाश्वततीर्थान्याचार्यादींश्च प्रत्यभिगमनसङ्घपूजनादिना सम्यक्त्वनैर्मल्यं स्यादित्युक्तमाचारनिर्युक्तौ ।

तथाहि-

" तित्थयराण भगवओ-पवयणपावयणिअइसयड्डीणं ।
अहिगमणनमणदरिसण-कित्तणसंपूअणत्थुणणा ॥ १ ॥
जम्माभिसेयनिक्खम-णचरणनाणुप्पयाणनिव्वाणे ।
दियलोअभवणमंदर-नंदीसरभोमनगरेसु ॥ २ ॥
अट्ठावयमुज्जिंते-गयग्गपयधम्मचक्के य ।
पासरहावत्तं चिय, चमरुप्पायं च वंदामि ॥ ३ ॥ "

वृत्तिर्यथा-दर्शनभावनार्थमाह-'तित्थयरगाहा'। तीर्थकृतां भगवतां,प्रवचनस्य द्वादशाङ्गस्य गणिपिटकस्य, तथा प्रावचनिकानामाचार्यादीनां युगप्रधानानाम् , तथाऽतिशयिनामृद्धिमतां केवलिमनःपर्यायावधिमच्चतुर्दशपूर्वविदां,तथाऽऽमर्षौषध्यादिमाप्तर्द्धीनां, यदभिमुखगमनं, गत्वा च नमनं, नत्वा च दर्शनं, तथा गुणोत्कीर्त्तनं,संपूजनं गन्धादिना, स्तोत्रैः स्तवनमित्यादिका दर्शनभावना, तया हि दर्शनभावनया दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥ १ ॥ किं च-"जम्माभिसेयगाहा" " अट्ठावयगाहा " तीर्थकृतां जन्माभिषेकभूमिषु तथा निष्क्रमणचरणज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणभूमिषु, तथा देवलोकभवनेषु मन्दरेषु नन्दीश्वरद्वीपादौ भौमेषु पातालभवनेषु यानि शाश्वतानि चैत्यानि तानि वन्देऽहमिति द्वितीयगाथान्ते क्रिया । इत्येवमष्टापदे, तथा श्रीमदुज्जयन्तगिरौ, गजाग्रपदे दशार्णकूटवर्त्तिनि,तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे, तथाऽहिच्छत्रायां श्रीपार्श्वनाथस्य धरणेन्द्रमहिमास्थाने, एवं रथावर्त्तपर्वते वैरस्वामिना यत्र पादपोपगमनं कृतम्, यत्र च श्रीवर्द्धमानस्वामिनमाश्रित्य चमरेन्द्रेणोत्पतनं कृतम् । एतेषु यथासंभवमभिगमनवन्दनपूजनोत्कीर्त्तनादिकाः क्रियाः कुर्वतो दर्शनशुद्धिर्भवतीति ।

तथा—

" अरिहंतसिद्धचेइय—गुरुसुअधम्मे य साहुवग्गे य ।
आयरिए उवज्झाए, पवयणए सव्वसंघे य ॥ १ ॥
एएसु भत्तिजुत्ता, पूअंता अहारिहं अणण्णमणा ।
सासणमणुसरंता, परित्त-संसारिआ भणिआ" ॥२॥ इ० प०।

इति मरणसमाधिप्रकीर्णके, तथा भावनमस्कारं प्रतिपादयमानो दर्शनमोहनीयादिक्षयोपशमेन अर्हत्, अर्हत्प्रतिमा, अर्हन्तः, चार्हत्प्रतिमाः, साधुरर्हत्प्रतिमा चेति युगद्वयम्, साधुर्जिनप्रतिमाश्च, साधवो जिनप्रतिमा च, साधवो जिनप्रतिमाश्च, इत्यष्टस्वपि भङ्गेषु लभ्यते । उक्तम्-" नाणावरणिज्जस्स उ, दंसणमोहस्स तह खओवसमे । जीवमजीवे अट्ठसु, भंगेसु अ होइ सव्वत्थ " ॥ १ ॥ इति गाथया नमस्कारनिर्युक्तौ-" तित्थयरा जिणचउदस, संविग्गा चाभसंविग्गा । सारूवियवयदंसण-पडिमाओ भावगामा उ " ॥१॥ इति कल्पभाष्येण च, जिनप्रतिमादर्शनाद्भावेऽपि केषाञ्चित्सम्यक्त्वलाभदर्शनाद्व्यभिचार इति नाशङ्कनीयम्,चित्रभव्यत्वपरिपाकयोग्यतया प्रतिजन्तु सम्यक्त्वहेतूनां वैचित्र्यात्, तथात्वे कस्यचित् तीर्थकृत्,कस्यचिद्गणधरः,कस्यचित्साधुः,कस्यचिज्जिनप्रतिमादिकमित्येवं वैचित्र्यात् स्वजनभव्यत्वपरिपाकद्वारेण व्यभिचाराभावात् । अन्यथा तीर्थकृतोऽपि सम्यक्त्वहेतवो न भवेयुः, तीर्थकरमन्तरेणापि गौतमादिबोधितानां बहूनां सम्यक्त्वलाभप्रतीतेरन्वयव्यतिरेकसिद्धश्चायमर्थः । अत एव सम्यग्दृष्टिपरिगृहीताः सम्यग्भाविता अपि दृष्टा भव्यजीवस्यार्द्रकुमारादेरिव सम्यग्दर्शनाद्युदयमानमुपलभ्यते । ततः "कारणे कार्योपचारः" इति कृत्वा ता अपि भावग्रामा भण्यन्ते इति,तथा षडावश्यकान्तर्गतश्रावकप्रतिक्रमणसूत्रे साक्षादेव चैत्याराधनमुक्तम्-" जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरियलोए अ । सव्वाइं ताइं वंदे,इह संतो तत्थ संताइं" ॥४४॥ इति चतुश्चत्वारिंशत्तमगाथया । एतच्चूर्णिर्यथा-" एवं चउवीसाए जिणाणं वंदणं काउं संपइ सम्मत्तविसुद्धिनिमित्तं तिलोअगयाणं सासयासासयाणं वंदणं भणइ-(जावंति) " ॥ प्रति० ।

(११) ऊर्द्ध्वलोकादिषु जिनप्रतिमास्थितिः-

" इत्थ लोओ तिविहो-उड्ढलोओ, अहोलोओ, तिरियलोओ अ । तत्थ उड्ढलोगो सोहम्मीसाणाइया दुवालसदेवलोगा;

हिट्ठिमाइआ नवगेविज्जा विजयाईणि पंचाणुत्तरमाईणि ।

एएसु विमाणाणि पत्तेयं—

"बत्तीसऽट्ठावीसा, बारसऽट्ठ चउरो य सयसहस्सा ।
आरेण बंभलोगा, विमाणसंखा भवे एसा ॥
पंचासचत्तछच्चे-व सहस्सा लंतसुक्कसहसारे ।
सयचउरो आणयपा-णएसु तिन्नारणच्चुयए ॥
सत्तारसत्तरं हि-ट्ठिमेसु सत्तुत्तरं च मज्झिमए ।
सयमेगं उवरिमए, पंचेव य अणुत्तरविमाणा ॥
सव्वग्गचुलसिसयसह-ससत्ताणउई भवे सहस्साइं ।
तेवीसं च विमाणा, विमाणसंखा भवे एसा" ॥

तहा अहोलोए मेरुस्स उत्तरदाहिणओ असुराइआ दस निकाया । तेसु वि भवणसंखा—

"सत्तेव य कोडीओ, हवंति बावत्तरि सयसहस्सं ।
जावंति विमाणाइं, सिद्धायतणाइ तावंति" ॥

तहा तिरियलोगो, तत्थ जिनायतनानि–

"नंदिसरे बावन्ना, जिणहरा सुरगिरीसु तह असीई ।
कुंडलनगमणुसुत्तर-रुअगवरेसु चउ चउरो ॥
उसुयारेसु चत्तारि, असीइ वक्खारपव्वयेसु तहा ।
वेअड्ढे सत्तरिसय, तीसं वासहरसेलेसु ॥
वीसं गयदंतेसु, दसजिणभवणाइ कुरुनगवरेसु ।
एवं च तिरियलोए, अडवण्णा हुंति सयचउरो ॥
वंतरजोइसिआणं, असंखसंखा जिनालयाइं वा ।
गामागरनगराइं, एएसु कया बहू संति ॥
एयं च सासयासा–सयाइँ वंदामि चेइआइं ति ।
इत्थ पएसम्मि ठिओ, संता तत्थ प्पएसम्मि" ॥

इति समस्तद्रव्यार्हद्वन्दनादिवेदकगाथासमासार्थः । अत्र जिनप्रतिमानां यद् द्रव्यार्हत्वमुक्तं, तद्भावाऽर्हत्परिज्ञानहेतुमतामधिकृत्य,अन्यथा तासां स्थापनाजिनत्वात् । कश्चिदाह–एतत् श्रावकप्रतिक्रमणसूत्रं न गणधरकृतं,किं तु श्रावककृतम्। तत्रापि "तस्स धम्मस्स" इत्यादिगाथादशकं केनचिदर्वाचीनेन क्षिप्तमित्यादि निर्बीजम्, सहसाऽज्ञातकथने तीर्थकरादीनां महाशातनाप्रसङ्गात् । न हि क्वाप्येतत्सूचकं प्रवचनमुपलभामहे । न चाविच्छिन्नपरम्परागतवृद्धवचनमीदृक् केनचित् श्रुतम्,किं तु यस्य सूत्रादेः कर्तृनाम न ज्ञायते, प्रवचने च सर्वसंमतं यत्तत्कर्त्ता सुधर्मस्वाम्येवेति वृद्धवादः। भणितं च तथा विचारामृतसंग्रहेऽपि-"नियदव्वेण कयासुं,जिणिंदभवणबिंबवरपइट्ठासु। वियरइ पसत्थपुत्थय-सुतित्थतित्थयरपूजासु"॥१॥इति। भक्तप्रकीर्णके-"संवच्छरचाउम्मा-सिएसु अट्ठाहिआसु अ विहीसुं। अव्वायरेण लग्गइ, जिणिंदपूआ तवगुणेसु॥" इत्यादि। किं बहुना-उपदेशमालायाम्-"वाक्येनावगृहीतसंगतनृणां वाच्यार्थवैशिष्ट्यतः,

सद्बोधं प्रतिमाः सृजन्ति तदिमा ज्ञेयाः प्रमाणं स्वतः ।
तत्तत्कर्मनियोगभृत्परिकरैः सेव्याः परोपस्करै-
रेता एव हि राजलक्षणभृतो राजन्ति नाकेष्वपि ॥१॥" प्रति० ।

तथा च–

तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणमित्ताणं संनिक्खित्तं चिट्ठति, तासि णं जिणपडिमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पन्नत्ते । तं जहा–तवणिज्जमया हत्थतला पायतला अंकामयाइं नखाइं अंतो लोहियक्खपडिसेयाइं कणगामया पाया कणगामया गोफा कणगामईओ जंघाओ कणगामया जाणू कणगामया ऊरू कणगामईओ गायलट्ठीओ तवणिज्जमईओ नाभीओ रिट्ठमईओ रोमराजीओ तवणिज्जमया चूचुआ तवणिज्जमया सिरिवच्छा कणगामईओ गीवाओ कणगामईओ बाहाओ रिट्ठामए मंसू सिलप्पवालमया ओट्ठा फलिहमया दंता तवणिज्जमईओ जीहाओ तवणिज्जमया तालुआ कणगमईओ नासाओ अंतो लोहियक्खपडिसेयाओ अंकामयाइं अच्छीणि अंतो लोहियक्खपरिसेइआइं पुलकमईओ दिट्ठीओ रिट्ठामईओ तारगाओ रिट्ठामयाइं अच्छिपत्ताइं रिट्ठामईओ भमुहाओ कणगामया कवोला कणगामया सवणा कणगामया णिडाला वइरामईओ सीसघडीओ तवणिज्जमईओ केसंतकेसभूमीओ रिट्ठामया उवरि मुद्धया, तासि णं जिणपडिमाणं पच्छिओ पत्तेयं पत्तेयं छत्तधारगपडिमाओ पण्णत्ताओ,ताओ णं छत्तधारपडिमाओ हिमरययकुंदेंदुप्पगासाइं कोरिंटमल्लदामाइं धवलाइं आतपत्ताइं सलीलं ओहारेमाणीओ ओहारेमाणीओ चिट्ठंति, तासि णं जिणपडिमाणं उभओ पासिं पत्तेयं पत्तेयं चामरधारगपडिमाओ पण्णत्ताओ, ताओ णं चामरधारगपडिमाओ चंदप्पहवेरुलियनाणामणिकणगरयणविमलमहरिहतवणिज्जुज्जलविचित्तदंडाओ चिल्लियाओ संखंककुंददगरयअमयमहितफेणपुंजसंनिकासाओ सुहुमरययदीहवालाओ धवलाओ चामराओ सलीलं ओहारेमाणीओ २ चिट्ठंति । तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ दो दो नागपडिमाओ जक्खपडिमाओ भूतपडिमाओ कुंडधारपडिमाओ विणओणयाओ पंजलिपुडाओ (पायवडियाओ) सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति। सव्वरयणामईओ अच्छाओ सण्हाओ लण्हाओ घट्ठाओ मट्ठाओ नीरयाओ णिप्पंकाओ० जाव पडिरूवाओ, तासि णं जिणपडिमाणं पुरओ अट्ठसयं घंटाणं अट्ठसयं चंदणकलसाणं अट्ठसयं भिंगारगाणं थालाणं पायंसगाणं पातीणं सुपइट्ठगाणं मणगुलियाणं वायकरगाणं चित्तारयणकरंडगाणं हयकंठाणं० जाव उसभकंठगाणं पुप्फचंगेरीणं० जाव लोमहत्थचंगेरीणं पुप्फपडलगाणं अट्ठसयं तेल्लसमुग्गाणं० जाव धूवकडुच्छुगाणं संनिक्खित्तं चिट्ठंति। जी० ३ प्रति०।

तत्थ णं जे से उवरिमविडिमग्गसाले एत्थ णं एगे महं सिद्धायतणे पण्णत्ते–कोसं आयामेणं, अद्धकोसं विक्खंभेणं, देसूणं कोसं उड्ढं उच्चत्तेणं अणेगसतसन्निविट्ठे, तस्स णं तिदिसिं तओ दारा पंचधणुसता अड्ढाइज्जधणुसयं विक्खंभेणं मणिपेढिया पंचधणुमतिया देवच्छंदओ पंचधणुसतविक्खंभो सातिरेगं पंचधणुसयं उड्ढं उच्चत्तेणं,तत्थ णं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाणाणं एवं

सव्वसिद्धायययणवत्तव्वया जाणियव्वा० जाव धूवकडुच्छु-याउ त्ति पागारा सोलसविहेहिं रयणेहिं उवेए तहेव ॥

(जी० ३ प्रति०) अष्टशतं ध्वजानामित्यादि । एवंविधराजचिह्नयुक्तोचितव्यापारनियुक्तनागादिप्रतिमासेव्यमानाः चङ्गेर्यादिपूजोपकरणसमन्विताश्च प्रतिमाः शाश्वतभावेन स्वत एवात्मनो जगत्पूज्यत्वं ख्यापयन्ति, अन्यथा तथाविधचिह्नानुपेतत्वासंभवात् । एवंविधव्यतिकरमाकर्ण्याऽपि ये जिनप्रतिमामाराध्यत्वेन नाङ्गीकुर्वते ते क्लिष्टकर्मोदयवन्तो मन्तव्याः । न चैवं परिवारोपेताः शाश्वतप्रतिमाः भवन्तीति नान्या इति वाच्यम् । अष्टापदाऽद्रौ भरतकारितानामृषभादिवर्द्धमानान्तानां चतुर्विंशतेरपि जिनप्रतिमानां तथा परिवारोपेतत्वात्, जीवाजिगमोक्तात् 'परिवारयुक्ताः' इति वचनात् । किं च-देवलोकादावपि " जेणेव देवछंदए " इत्यागमाज्जिनप्रतिमानां त एव शाश्वतभावेन देवशब्दवाच्याः सन्ति, न तथाऽन्यतीर्थिकाभिमतशब्दवाच्याः, तेषां देवानामतथात्वात् ।

"देवाधिदेवप्रतिमाः प्रभुत्वं, स्वतः प्रतिष्ठोपममाश्रयन्ति ।
शङ्कामतिस्थाप्य गतो विशेषो,न स्थापनायाः किमु निर्विपक्षः"॥
अथ स्तवपरिज्ञया प्रथमदेशनादेशितो,
गुरोर्गिरमिसारया स्तवविधिः परिष्कूयते ।
इदं खलु समीहितं सरसदृष्टिवादादितः,
श्रुतेर्गिरतमुत्तमं समयवेदिभिर्भण्यते" ॥ २ ॥ प्रति० ।

(अत्र स्तवपरिज्ञा टीकाकृता दर्शिता,तामहमन्ते दर्शयिष्यामि)

सर्वलुम्पकमतमुपसंहरन्नाह-

इत्येवं शुचिसूत्रवृन्दविदिता निर्युक्तिभाष्यादिभिः,
सन्न्यायेन समर्थिता च भगवन्मूर्तिः प्रमाणं सताम् ।
युक्तिस्त्वन्धपरम्पराश्रयहता मा जाघटीदुर्धिया-
मेतद्दर्शनवञ्चिता दृगपि किं शून्येव न भ्राम्यति ? ॥६७॥

इत्येवं उक्तरीत्या, शुचिना निर्दोषेण, सूत्रवृन्देन विदिता, निर्युक्तिभाष्यादिभिः, आदिना चूर्णिवृत्तिसर्वोत्तमप्रकरणपरिग्रहः । सन्न्यायेन सद्युक्त्या च, समर्थिता निष्कलङ्कनिश्चयविषयीकृता, भगवन्मूर्तिः, सतां शिष्टानां प्रमाणमाराध्यत्वादिना, युक्तिस्तु दुष्टबुद्धीनामन्धपरम्पराऽऽश्रयणीयेत्यभ्युपगमरूपा, तया हता सती, मा जाघटीत् मा सुतरां घटिष्ट, युक्तिनिरासपरम्परायां युक्तिग्रहणस्यानुपपत्तित्वात् । एतद्दर्शनेन भगवन्मूर्तिदर्शनेन, वञ्चिता दृगपि दृष्टिरपि, किं शून्येव न भ्राम्यति ?, अपि तु भ्राम्यतीति ।

" तिलकयुतललाटभ्राजमाना स्वभाग्या-
ङ्कुरमिव समुदीतं दर्शयन्ते जनानाम् ।
स्फुरदगुरुसुमालासौरभोद्गारसाराः,
कृतजिनवरपूजा देवरूपा महेभ्याः ॥ १ ॥
आनन्दमान्तरमुदारमुदाहरन्ती,
रोमाञ्चिते वपुषि सस्पृहमुल्लसन्ती ।
पुंसां प्रकाशयति पुण्यरमासमाधि-
सौभाग्यमर्चनकृतां निभृता दृगेव ॥ २ ॥
स्पृशति तिलकशून्यं नैव लक्ष्मीर्ललाटं,
मृतसुकृतमिव श्रीः शौचसंस्कारहीनम् ।
अकलितभजनानां वल्कताल्येव वस्त्रा-
ण्यपि च शिरसि शुक्लं छत्रमप्युग्रभारः ॥ ३ ॥
अकृतार्हत्प्रपूजस्य, तस्करस्येव लोचने ।
शोचनेनैव संस्पृष्टे. गुप्तपातकशङ्किते ॥ ४ ॥ "

(२०) अनुपकारे कथं फलदत्वं प्रतिमायाः-

प्राप्या नूनमुपक्रिया प्रतिमया नो काऽपि पूजाकृता,
चैतन्येन विहीनया तत इयं व्यर्थेति मिथ्यामतिः ।
पूजा भावत एव देवमणिवत् सा पूजिता शर्मदे-
त्येतच्चन्मतगर्वपर्वतभिदावज्रं बुधानां वचः ॥ ६८ ॥

" प्राप्या नूनमुपक्रिया " इत्यादि सर्वमवगतार्थम् ।

" एवं युक्त्या शास्त्रभक्त्या सूत्रे व्यक्ता लुम्पाका-
श्चित्तोद्भिका मायासिक्ताः फलसारिक्ताः किम्पाकाः ।
एतत्पुण्यं शिष्टैर्गुण्यं निर्वैगुण्यं सद्बोधै-
स्तत्त्वं बोध्यं नीत्या शोध्यं नैवायोध्यं निःक्रोधैः ॥ १ ॥
आत्मारामे शुक्लाश्यामे हृद्विश्रामे विश्रान्ता-
स्त्रुट्यद्बन्धाः श्रेयःसन्धाश्चित्संबन्धाद्भ्रान्ताः ।
अर्हद्भक्ता युक्तौ रक्ता विद्याऽऽसक्ता येऽधीता-
निष्ठा तेषामुच्चैरेषा तर्कोद्दिष्टा निर्णीता ॥२॥"प्रति०।द्वा०।यो०।

(नमस्कारशब्दे फलप्रयोजनोपदर्शनाऽवसरे व्याख्यास्यते)

अविधिकृतत्वेऽपि लुम्पादन्वदनुसारिणो मतमुपन्यस्य दूषयति-

वन्द्याऽस्तु प्रतिमा तथापि विधिना सा कारिता मृग्यते,
स प्रायो विरलस्तथा च सकलं स्यादिन्द्रजालोपमम् ।
हन्तैवं यतिधर्मपौषधमुखश्राद्धक्रियादेर्विधे-
र्दौर्लभ्येन तदस्ति किं तव न यत् स्यादिन्द्रजालोपमम्।६६।

ननु प्रतिमा वन्द्याऽस्तु, उक्ताक्षरशतैस्तथाव्यवस्थितेः, तथापि सा विधिना कारिता मृग्यते, सम्यग्भावितानामेव प्रतिमानां भावप्रामत्वेनाभिधानात्स विधिः प्रायो विरलः, ऐदंयुगीनानां प्रायोऽविधिप्रवृत्तत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । तथा च सकलं प्रतिमागतं पूजाप्रतिष्ठावन्दनादिकम्, इन्द्रजालोपमं स्यात्, महतोऽप्याडम्बरस्यासत्यालम्बनत्वात् । हन्तेति प्रत्यवधारणे । एवं प्रतिमावदेव, यतिधर्मश्चारित्राचारः, पौषधः श्राद्धानां पर्वदिनानुष्ठानं, तन्मुखा तदादिर्या श्राद्धक्रिया, तदादेर्यो विधिः, आदिनाऽपुनर्बन्धकाद्युचिताचारपरिग्रहः। तस्य,दुःषमायां दुर्लभत्वेन तत्किमस्ति यच्चेन्द्रजालोपमं न स्यात् ?, न्यायस्य समानत्वात् । न चेयं प्रतिबन्दिः,सा च कर्त्रनुकूलपरिवारसम्पत्त्याराधनात्मनैव समानसौलभ्यस्य विवक्षितत्वात्॥६६॥

तदाह-

योगाराधनशंसनैरथ विधेर्दोषः क्रियायां न चेत्,
तत् किं न प्रतिमास्थलेऽपि सदृशं प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते ।
किं चोक्ता गुरुकारितादिविषयं त्यक्त्वाऽऽग्रहं भक्तितः,
सर्वत्राऽप्यविशेषतः कृतिवरैः पूज्याऽऽकृतेः पूज्यता ॥७०॥

(योगेत्यादि) योगो विधिः कर्त्रनुकूलपरिवारसंपत्तिः, आराधनमात्मनैव निर्वाहः, शंसनं च बहुमानमुपलक्षणत्वाद् द्वेषश्च, तैः, विधेः, अथ क्रियायां चेद् न दोषः, तत्किं योगादिनाऽदुष्टत्वं प्रतिमास्थलेऽपि सदृशं नोद्वीक्ष्यते ?, वद्धीकुर्णायमिदमपि । तदुक्तम्-

" विहिसारं चिय सेवइ, सद्धालुसत्तिमं अणुट्ठाणं ।
दव्वाइदोसनिहओ, विपक्खवायं वहइ तम्मि ॥ १ ॥

धन्नाणं विहिजोगो, विहिपक्खाराहगा सया धन्ना ।
विहिबहुमाणी धन्ना, विहिपक्खअदूसगा धन्ना ॥ २ ॥
भवसिद्धिआए विहिणा, परिणामो होइ समकालं ।
विहिचाओऽविहिभत्ती, अभव्वजियदूरभव्वाणं ॥ ३ ॥"

सर्वत्र सम्यग्विधिर्ज्ञेयः कार्यश्च सर्वशक्त्या पूजादिपुण्यक्रियायां, प्रान्ते च सर्वत्राविध्याशातनानिमित्तं मिथ्यादुष्कृतं दातव्यमिति श्राद्धविधौ विधिभक्त्युपयोगादिसाचिव्ये, देवपूजादिकममृतानुष्ठानमेव, ततो विध्यद्वेषस्यापि सत्त्वे प्रथमयोगाङ्गसंपत्त्यनुबन्धतो विधिरागसाम्राज्ये-"एतद्रागादिदं हेतुश्रेष्ठं योगविदो विदुः" इति च तद्धेत्वनुष्ठानरूपं, तत्त्रयमपि चादेयं भवति, विषगरानुष्ठानानामेव हेयत्वादित्यध्यात्मचिन्तात्मकाः। अत एव भोगानाभोगाभ्यां द्रव्यस्तवस्य यद्वैविध्यमुक्तं तान्त्रिकैस्तदुपपद्यते । यदाहुः-

" देवगुणपरिन्नाणा, तब्भावाणुगयमुत्तमं विहिणा ।
आयरसाइं जिणपू-अणेण आभोगदव्वथओ ॥ १ ॥
एत्तो चरित्तलाभो, होइ लहू सयलकम्मणिद्दलणो ।
ता एत्थ सम्ममेव हि, पयट्टिअव्वं सुदिट्ठीहिं ॥ २ ॥
पूआविहिविरहाओ, अपरिन्नाणाउ जिणगयगुणाणं ।
सुहपरिणामकयत्ता, एसोऽणाभोगदव्वथओ ॥ ३ ॥
गुणठाणठाणगत्ता, एसो एवं पि गुणकरो चेव ।
सुहसुहयरभावाओ, विसुद्धिहेऊ उ बोहीओ ॥ ४ ॥
असुहक्खएण धणियं, धन्नाणं आगमे सि भद्दाणं ।
अमुणिय गुणे वि तूणं, विसएऽपीई समुच्छलइ ॥ ५ ॥
यथा शुकमिथुनस्यार्हद्विम्बे ।
होइ पओसो विसए-ऽगुरुकम्माणं भवाभिणंदीणं ।
पत्थम्मि आउराण व, उवट्ठिए निच्छिए मरणे ॥ ६ ॥
एत्तो चिय धम्मन्नू , जिणबिंबे जिणवरिंदधम्मे वा ।
असुहब्भासभयाओ, पओसलेसं पि वज्जंति" ॥ ७ ॥

पराजिनद्वेषे शकुन्तलाज्ञातम । अभ्युदयमाह-किं च गुरुकारितादिविषयम् आग्रहं त्यक्त्वा भक्तितो भक्तिमात्रेण, सर्वत्राऽपि चैत्येऽविशेषतो विशेषौदासीन्येन कृतवैरमुख्यपरिकृतैः पूज्याकृतेः भगवत्प्रतिमायाः, पूज्यतोक्ता, कालाद्यालम्बनेनेत्थमेव बोधिसौलभ्योपपत्तेः । तथा च श्राद्धविधिपाठे प्रतिमाश्च विविधाः, तत्पूजाविधौ सम्यक्त्वप्रकरणे इत्युक्तम्-

" गुरुकारियाएँ केई, अन्ने सयकारियाएँ तं विंति ।
विहिकारियाएँ अन्ने, पडिमाए पूअणविहाणं " ॥ १ ॥

व्याख्या-गुरवो मातृपितृपितामहाऽर्हदादयस्तैः कारितायाः केचित्, अन्ये स्वयं कारितायाः, विधिकारितायास्त्वन्ये प्रतिमायाः, तत्पूर्वाभिहितं पूजाविधानं ब्रुवन्ति । कर्त्तव्यमिति शेषः । अथवाऽवस्थितपक्षस्तु-गुर्वादिकृतस्यानुपयोगित्वाग्रहरहितेन सर्वप्रतिमा अविशेषेण पूजनीयाः, सर्वत्र तीर्थकृताकारोपलम्भनबुद्धेरुपजायमानत्वात् । अन्यथा हि स्वाग्रहवशादर्हद्बिम्बेऽप्यवज्ञामाचरतो दुरन्तसंसारपरिभ्रमणलक्षणो बलाद् दण्डः समाढौकते । न चैवम्, अविधिकृतामपि पूजयतस्तदनुमतिद्वारेणाज्ञाभङ्गलक्षणदोषोपपत्तिः, आगमप्रामाण्यात् । तथाहि श्रीकल्पभाष्ये-

" निस्सकडमनिस्सकडे, अ चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि ।
वेलं च चेइआइँ य, णाउं इक्किक्कया वावि ॥ १ ॥ "

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे,अनिश्राकृते च तद्विपरीते चैत्ये, सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते । तत्र प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति । अत्रावस्थितपक्षो यद्यप्युत्सर्गतो विधिकारितत्वमेव,गुरुकारितस्वयंकारितयोर्द्वयोरपि तद्विशेषरूपयोरेवोपन्यासात्। अत एव विषयविशेषे पक्षपातोऽप्यसद्धीर्थवृद्धिहेतुभूततया तदन्यथात्वे त्रयाणामपि पक्षाणां पूजनीयत्वमुक्तं विंशतिकाप्रकरणे हरिभद्रसूरिभिः। तथाहि-"रंगाइ सोवओआ, साहरणाणं च हड्डफला। किंचि विसेसेणित्ते ,सव्वे चिय ते विभइयव्वा" ।१। त्ति । विधिकारितसंपन्नापवादस्त्वाकारसौष्ठवमवलम्ब्य मनःप्रसत्तिरापादनीया, न चैवमविध्यनुमतिः,अपवादालम्बनेन तन्निरासात्, क्रमदेशनायां स्थावरहिंसाननुमतिवत् भक्तिव्यापारप्रदर्शने दोषोपस्थितिप्रतिरोधाद्वा काव्यव्यक्तिप्रदर्शनेन शास्त्रस्थितिः । अत एवोक्तं व्यवहारभाष्ये-"लक्खणजुत्ता पडिमा,पासाइठिआ सरस्सतंकारा । पल्हायइ जह य मणं, तह णिज्जरमो विआणाहि ॥१॥" त्ति ॥ ७० ॥

चैत्यानां पूजासत्कारादिस्तुतयः-

इज्यादेर्न च तस्या-उपकारः कश्चिदत्र मुख्य इति ।
तदतत्त्वकल्पनैषा, बालक्रीडासमा भवति ॥ ७ ॥

इज्या पूजा, तदादेः सत्काराभरणस्नात्रादेः, न च नैव, तस्या देवतायाः प्रस्तुतायाः, उपकारः सुखानुभवसंपादनलक्षणः, कश्चिदत्र मुख्य इति । न कश्चिन्निरुपचरितो मुख्यदेवताया उपकारः संभवति । तत्तस्मादतत्त्वकल्पनैषाऽपरमार्थकल्पनैषा मुक्तिगतदेवतोपकारविषया, बालक्रीडासमा भवति बालक्रीडया तुल्येयं वर्त्तते । यथा बालो नानाविधैरुपायैः क्रीडासुखमनुभवति तथा तदुपकारार्थमिष्यमाणैः पूजासत्कारादिभिर्देवताविशेषोऽपि परितोषमनुभवतीति । बालक्रीडातुल्यत्वमुपकारपक्षे दोषः, ये त्वात्मश्रेयोऽर्थं कुर्वते पूजासत्कारादि, न तेषामयं दोषो भवतीति भावः ॥ ७ ॥ षो० ८ विव० ।

एतत्सर्वं मनसिकृत्याह-

चैत्यानां खलु निश्रितेतरतया भेदोऽपि तन्त्रे स्मृतः,
प्रत्येकं लघुवृद्धवन्दनविधिः साम्ये तु यत्सांप्रतम् ।
इच्छाकल्पितदूषणेन भजनासङ्कोचनं सर्वतः,
स्वाऽभीष्टस्य च वन्दनं तदपि किं शास्त्रार्थबोधोचितम् ॥ ७१ ॥

(चैत्यानामिति) खल्विति निश्चये, चैत्यानां निश्रितेतरतया निश्रितानिश्रितत्वात् भेदोऽपि तन्त्रे शास्त्रे प्रत्येकं लघुवृद्धवन्दनविधिः स्मृतः, साम्ये तु प्रायस्तुल्यत्वे यत् सांप्रतं विषमदुःषमाकाले, इच्छाकल्पितं यद् दूषणमन्यगच्छीयत्वादिकं, तेन भजनायाः सेवायाः,संकोचनं संक्षेपणं, बहुभिरंशैर्लुम्पकसमाने, नापर्यवसायि, स्वाभीष्टस्य स्वेच्छामात्रविषयस्य च, वन्दनम्, तदपि किं शास्त्रार्थबोधस्योचितम् ?, नैवोचितम्, कतिपयमुग्धवणिग्धनमात्रफलत्वादिति भावः ॥ ७१ ॥

उक्तार्थं काकुव्यङ्ग्यमेव कण्ठेन स्पष्टीकर्तुमाह—

चैत्यानां न हि लिङ्गिनामिव नतिर्गच्छान्तरस्योचिते-
त्येतावद्वचसैव मोहयति यो मुग्धान् जनानाग्रही ।
तेनावश्यकमेव किं न ददृशे वैषम्यनिर्णायकं,
लिङ्गे च प्रतिमासु दोषगुणयोः सत्त्वादसत्त्वात्तथा ॥ ७२ ॥

(चैत्यानां न हीति) गच्छान्तरस्य चैत्यानां नतिर्नोचिता, केषामिव ?, लिङ्गिनामिव, गच्छान्तरस्येति संबध्यते । अवयवद्वयप्रदर्शनादत्र पञ्चावयवप्रयोग एवं कर्त्तव्यः—गच्छान्तरीया प्रतिमा न वन्दनीया, गच्छान्तरपरिगृहीतत्वात्, यो यो गच्छान्तरपरिगृहीतः स स अवन्दनीयः, यथा अन्यगच्छसाधुरिति । एतद्वचसैव यः मुग्धान् जनान् मोहयति विपर्यासयति-प्रमाणपाठिभिरस्मद्गुरुभिर्यदुक्तं तत् सत्यमिति । यः कीदृशः ?, आग्रही अभिनिवेशमिथ्यात्ववान्, तेन किमावश्यकनिर्युक्त्यादयमाद्यमेव न ददृशे न दृष्टम्, कीदृशं तत् ?, लिङ्गे च दोषगुणयोः सत्त्वात् तथा प्रतिमासु तयोरसत्त्वाद्वैषम्यनिश्चायकं वैसदृश्यनिर्णयकारि. लिङ्ग इत्यत्र व्यञ्जकत्वाख्यविषयत्वे सप्तमी । अत्राह—मोक्षोपसमाधानग्रन्थ आवश्यके एवमुपपद्यते, तद्विहारिगते विधौ प्रतिपादिते सत्याह चोदकः—किमनेन पर्यायान्वेषणेन, सर्वथा भावशुद्ध्या कर्मापनयनाय जिनप्रणीतलिङ्गमेव युक्तं, तद्गतगुणविचारस्य निष्फलत्वात् । न हि तद्गतगुणप्रभावान्नमस्कर्तुर्निर्जरा, अपि त्वात्मीयाध्यात्मशुद्धिप्रभवा । प्रति० । (तथाहि "तित्थयरगुणा पडिमा" (४८) आव० ३ अ० । इत्यादि 'किइकम्म' शब्देऽत्रैव भागे ५१६ पृष्ठे व्याख्यातम्)

उक्तमेव विवेचयन् वादिनो मुग्धतां दर्शयति—

लिङ्गे स्वप्रतिबद्धबुद्धिकलनात्ख्यात्या भवेद्वन्द्यता,
सैकान्तात् प्रतिमासु भावभगवद्भूयोगुणोद्बोधनात् ।
तुल्ये वस्तुनि पापकर्मरहिते भावोऽपि चारोप्यते,
कूटद्रव्यतया धृतेऽत्र न पुनर्मोहस्ततः कः सताम् ?॥७३॥

(लिङ्ग इति) लिङ्गे स्वप्रतिबद्धः स्वसंबन्धी यो धर्मः तद्बुद्धिकलनात् तद्धीस्मरणात् "एकसंबन्धिज्ञानेऽपरसंबन्धिज्ञानस्य स्मारकत्वादिति सद्धर्मोपस्थितौ तदालम्बनतया विन्द्यतेत्यर्थः, तथाऽसद्धर्मोपस्थितौ च तदालम्बनतया निन्द्यतेत्यर्थः । प्रतिमासु सा सावद्यता एकान्तात्, कस्मात् ?, भावभगवत्संबन्धिनो ये भूयांसो गुणास्तेषामुद्बोधनात्, एकेन्द्रियदलनिष्पन्नत्वादेश्च वन्द्यगतस्य भगवत्कायगतौदारिकवर्गणानिष्पन्नत्वादेरिवानुद्भूतदोषस्याप्रयोजकत्वाद्गच्छान्तरीयसाधुवत्तादृशप्रतिमाया अवन्द्यत्वमित्यप्ययुक्तम्, तदध्यारोपविषयसद्भावात् । तदाह—तुल्ये वस्तुन्युभयाभावेनाकारसाम्यवति, पापकर्मरहिते सावद्यचेष्टारहिते, भावोऽपि गुणोऽप्यवाप्यते । अत्र वस्तुनि कूटद्रव्यतया धृते चारोप्यतेऽङ्गारमर्दक इव भावाचार्यगुणः, तत्र कः सतां शिष्टानां मोहो, यदुत स्वगच्छीयैव प्रतिमा वन्द्येति, नान्या, अन्यसाधुवदिति । द्रव्ये हि कतिपयगुणवत्यपि संपूर्णगुणवदध्यारोपो युक्तः, प्रतिमायां स्वाकारसाम्येनेत्यागोपालाङ्गनाप्रतीतत्वात् ॥ ७३ ॥

एवं सति प्रतिष्ठावैयर्थ्यमित्याशङ्क्य समाधत्ते—

नन्वेवं प्रतिमैकतां प्रवदतामिष्टा प्रतिष्ठाऽपि का,
सत्यं साऽऽत्मगतैव देवविषयोद्देशेन मुख्योदिता ।
यस्याः सा वचनानलेन परमा स्थाप्ये समापत्तितो,
दग्धे कर्ममले भवेत्कनकता जीवायसः सिद्धता ॥७४॥

(नन्वेवमित्यादि) ननु एवमाकारमात्रेण प्रतिमाया एकतां वन्द्यताप्रयोजिकां प्रवदतां युष्माकं प्रतिष्ठाऽपि का इष्टा ?, न काचिदिति, तद्विधिवैयर्थ्यं स्यादिति । अत्रोत्तरम्—सत्यं, सा प्रतिष्ठा, देवविषयोद्देशेन आत्मगतैवाऽऽत्मनिष्ठैव, मुख्या उदिता प्रतिपादिता, विधिना जनितस्यात्मगतातिशयस्यादृष्टांशस्य पूजाफलप्रयोजकत्वात्, प्रतिष्ठाध्वंसेनैव तदन्यथासिद्धौ संस्कारध्वंसेनानुभवस्य ज्ञानादिध्वंसः । न चादृष्टस्य तदापत्तेर्देवतासान्निध्यमपि न फलम्, अहङ्कारममकारान्यतररूपस्य सान्निध्यस्य वीतरागदेवतानयेऽसंभवात् । न च चाण्डालादिस्पर्शनाश्या प्रतिष्ठाजनिता प्रतिमागता शक्तिरेव कल्पनीयेति, आत्मनिष्ठफलोद्देशेन क्रियमाणस्यात्मगतकिञ्चिदतिशयजनकत्वकल्पनाया एवौचित्यात् । अत एवाऽऽत्मगतातिशयस्य समानाधिकरणपापान्तिकमुक्तिफलकत्वमप्युपपद्यते । तदा यस्याः प्रतिष्ठाया सकाशात्परमा सा प्रतिष्ठा, भवेत्स्यात्, किंस्वरूपा ?, जीवायसो जीवरूपलोहस्य, सिद्धतारूपा कनकता, कस्याः ?, स्थाप्ये परमात्मनि समापत्तितः समापत्तिमासाद्य, कस्मिन् सति ?, कर्ममले दग्धे सति, केन ?, वचनानलेन नियोगवाक्यहुताशनेन ॥ ७४ ॥

नन्वेवमात्मनः प्रतिष्ठितत्वेऽपि प्रतिमाया अप्रतिष्ठितत्वं स्यात्, प्रतिष्ठाकर्तृगतादृष्टक्षये प्रतिमायाः पूज्यताऽनापत्तिश्चेत्यत आह—

बिम्बेऽसावुपचारतो निजहृदो भावस्य संकीर्त्यते,
पूजा स्याद्विहिता विशिष्टफलदा द्राक् प्रत्यभिज्ञाय या ।
तेनास्यामधिकारिता गुणवतां शुद्धाऽऽशयस्फूर्तये,
वैगुण्ये तु ततः स्वतोऽप्युपनतादिष्टं प्रतिष्ठाफलम् ॥७५॥

बिम्बेऽसौ प्रतिष्ठा, निजहृदो निजहृदयसंबन्धिनो, भावस्याध्यवसायस्य, उपचारात्संकीर्त्यते प्रतिष्ठाजनिताऽऽत्मगता समापत्तिरेव स्वनिरूपकस्थाप्यालम्बनाध्यवसायसंबन्धेन प्रतिष्ठितत्वव्यवहारजननीत्यर्थः । या द्राक् शीघ्रं प्रत्यभिज्ञाय पूजा विहिता विशिष्टफलदा स्यात्, विशिष्टं फलमाकारमात्रालम्बनाध्यवसायफलातिशायि, तथा च प्रतिष्ठितविषयकं यथार्थं प्रत्यभिज्ञानमेव पूजाफलप्रयोजकमिति । तेनास्यां प्रतिष्ठायां, गुणवतां प्रशस्तगुणवतामधिकारिता, शुद्धस्य विशिष्टस्याशयस्य स्फूर्तये उपस्थितये, विशिष्टगुणवत्प्रतिष्ठितेयमिति प्रत्यभिज्ञाने विशिष्टाध्यवसायस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । वैगुण्ये तु प्रतिष्ठाविधिसामग्र्यसंपत्तौ तु, प्रत्यभिज्ञानात् स्वतोऽपि उपनताद् बाह्यसामग्रीं विना मनसोऽप्युपस्थितात् प्रतिष्ठाफलम् इष्टम् । तदुक्तं विंशिकायाम्—

" थंमिल्ले चि हु एसा, मणवयणाए पसंसिया चेव ।
आगासगोमयाइहिं, पत्थवणाईहि सामग्गी " ॥

स्थापना मनसि स्थापनं, यदुक्तं न्यायसमये-"यत् तु सम्यक्सिद्धानुस्मरणपूर्वकमलङ्कम । उक्तं तत्स्थापनमिव, कर्त्तव्यं स्थापनं मनसि" ॥ इति, इत्थं च बाह्यकरणानुपपत्तौ, प्रतिष्ठाकर्तुर्गुणानां प्रायो दुर्लभत्वे वा, कटुकादिगम्बरप्रतिष्ठितद्रव्यलिङ्गद्रव्यनिष्पन्नव्यतिरिक्ताः सर्वा अपि प्रतिमा वन्दनीया इति वचनकलापस्य हेतुत्वान्यायविदस्थानादरोऽपि कर्तृगतोत्कटदोषशब्दाशयापरिस्कृतेः । अत एव साधुवासक्षेपाद्वन्दनीयास्तिस्रोऽपि वन्दनीयतां नातिक्रामन्तीति सूरिचक्रवर्तिनां श्रीहीरनामधेयानामाज्ञातः शुद्धाशयस्फूर्तेरप्रतिहतत्वादिति दिग् ॥ ७५ ॥

एतेनैव शङ्काशेषोऽपि निरस्त एवेत्याह—

चैत्येऽनायतनत्वमुक्तमथ यत्तीर्थान्तरीयग्रहात्,

नर्त्कि तन्ननु दुर्मतिग्रहवशात् दुष्टं श्रयामीति चेत् ।
साम्राज्ये घटमानमेतदखिलं चारित्रराजां भवेत् ,
पार्श्वस्थस्त्वसती सतीचरितवन्नो वक्तुमेतत् प्रभुः ॥७६॥

(चैत्येनेति) अथ यत् यस्मात्कारणात्, तीर्थान्तरीस्य ग्रहः परिग्रहः, तस्मात्, अनायतनत्वमुक्तम्, "नो कप्पइ अन्नउत्थियपरिग्गहिआइं अरिहंतचेइआइं वा" इत्यादिना । तत्तर्हि, नन्वित्याक्षेपे, दुर्मतीनां दुर्बुद्धीनां पार्श्वस्थादीनां, यो ग्रहः परिग्रहस्तद्वशात् दुष्टं दोषवत् चैत्यं किं श्रयामि ?। अन्यतीर्थिकपरिग्रहवद्भ्रष्टाचारपरिग्रहस्याप्यनायतनत्वहेतुत्वादिति भावः। इति चेत एतदखिलं त्वयोच्यमानं, चारित्रराजां साम्राज्ये सम्राड्भावे प्रवर्त्तमाने, घटमानं युक्तं भवेत् । सद्दोषतविधिभिरिति तर्जितसकलभयैराचार्यादिः पुरुषैः शुद्धाशुद्धाविवेके क्रियमाणे विधिगुणपक्षपातस्य सर्वेषामसुकरत्वेन भावोल्लासस्यावश्यकत्वात् । आह-" जो जो उत्तममग्गो, पहओ सो दुक्करो न सेसाणं । आयरिअम्मि जयंते, तयणुचरा के णु सीअंति " ॥१॥ इत्यादि । पार्श्वस्थस्य तु भावोल्लासस्यावश्यकत्वादाह-पार्श्वस्थस्तु भवान् पार्श्वस्थमध्यवर्त्ती , एतत् निर्दिष्टम , असती सतीचरितवत् सतीचरित्रवत्, नो वक्तुं प्रभुः , अशक्यस्य स्वकृतिसाध्यतोक्तावसतीयत्वप्रसङ्गात्, प्रायस्तुल्यत्वे एकतरपक्षपातेनेतरभक्तिसंकोचप्रद्वेषाग्निना महापातकप्रसङ्गात् ॥ ७६ ॥

उपसंहरति-

सर्वासु प्रतिमासु चाग्रहकृतं वैषम्यमीक्षामहे,
पूर्वाचार्यपरम्परागतगिरा शास्त्रीययुक्त्याऽपि च ।
इत्थं चाविधिदोषतापदलनं शक्ता विधातुं विधि-
स्वैरोज्जागररागसागरविधुज्योत्स्नेव भक्तिप्रथा ॥ ७७ ॥

सर्वासु निश्रितानिश्रितादिभेदभिन्नासु प्रतिमासु , आग्रहकृतं स्वमत्योत्प्रेक्षितं, वैषम्यं विषमत्वम् , ईक्षामहे प्रमाणयामः । तथा च सर्वत्र साम्यमेव प्रमाणयाम इति पर्यायोक्तम । कया ?, पूर्वाचार्यपरम्परागतया गिरा, परम्परागमेनेत्यर्थः । शास्त्रीया या युक्तिस्तयाऽपि, चशब्देन तदुपजीविनाऽनुमानादिप्रमाणेनेत्यर्थः । भक्त्युल्लासप्राधान्येन चात्र विध्यनुमतिरनुत्थानोपहतेत्याह-इत्थं च एवं व्यवस्थिते चाविधिदोषतापस्य परितापकारिणो विध्यनुमोदनप्रसङ्गस्य, दलनं, विधातुं कर्त्तुं, विधौ विधाने, स्वैरोज्जागरो यथेच्छप्रवृत्तिमान् , राग एव सागरः, तत्र विधुज्योत्स्नेव चन्द्रचन्द्रिकेव, भक्तिप्रथा शक्ता समर्था ॥ ७८ ॥

उपस्थितया भक्त्या प्रभुम् इव भगवत्प्रतिमामेवाभिष्टौति-

उत्फुल्लामिव मालतीं मधुकरो रेवामिवेभः प्रियां,
माकन्दद्रुममञ्जरीमिव पिकः सौंदर्यभाजं मधौ ।
नन्दच्चन्दनचारुनन्दनवनीभूमीमिव द्योःपति-
स्तीर्थेशप्रतिमां न हि क्षणमपि स्वान्ताद्विमुञ्चाम्यहम् ।७८।

(उत्फुल्लामिति) अहं तीर्थेशप्रतिमां क्षणमपि स्वान्तात् न विमुञ्चामि न त्यजामि, किं तु विषयान्तरसंचारविरहेण सदा ध्यायामीति ध्वन्यते । कां का इव ?, उत्फुल्लां मालतीं मधुकर इव, भ्रमर एव हि मालतीगुणज्ञः, तदसंपत्तावपि तत्पक्षपातं न परित्यजति, तथा प्रियां मनोहारिणीं रेवामिवेभो हस्ती , तस्य तत्क्रीडमयैव रत्युत्पत्तेः । तथा माकन्दद्रुममञ्जरीं सहकारतरुमञ्जरीं, कीदृशीम् ?, मधौ वसन्ते सौन्दर्यं भजतीत्येवंशीलां, तां, पिक इव कोकिल इव, सहकारमञ्जरीकषायकण्ठः कलकाकलीकलकलैर्मदयति च यूनां मन इति । तथा द्योः पतिरिन्द्रः, नन्दच्चन्दनैश्चार्वीं नन्दनवनीभूमिमिव , स हि प्रियाविरहतापं तच्चारित्रचमत्कारदर्शनाद्विस्मरतीति । अत्र रसनोपमाऽलङ्कारः ॥ ७८ ॥

जैनी मूर्तिरुपास्यताम्-

मोहोद्दामदवानलप्रशमने पाथोदवृष्टिः शम-
स्रोतोनिर्झरणी समीहितविधौ कल्पद्रुवल्लिः सताम् ।
संसारप्रबलान्धकारमथने मार्त्तण्डचण्डद्युति-
र्जैनी मूर्तिरुपास्यतां शिवसुखे भव्याः ! पिपासाऽस्ति चेत् ७९

(मोहोद्दामेति) मोह एव य उद्दामो दवानलः , तस्य प्रशमने शान्तिकर्मणि, पाथोदवृष्टिः वारिदधारासंपातः , सकलप्लोषकशमनत्वात् । तथा शमतारूपप्रवाहस्य निर्झरणी नदी , एवं समीहितस्य वाञ्छितस्य , विधौ विधाने, सतां शिष्टानां, कल्पद्रुवल्लिः सुरतरुलता, अविलम्बेन सर्वसिद्धिकरत्वात् । तथा संसार एव यः प्रबलान्धकार उत्कटं तमः, तस्य मथनेऽपनयने, मार्त्तण्डस्य सूर्यस्य, चण्डद्युतिस्तीव्रप्रभा, विवेकवासरतारुण्ये मोहच्छायाया अप्यनुपलम्भात् । एतादृशी जैनी जिनसंबन्धिनी मूर्तिः, उपास्यतां सेव्यतां, भो भव्याः ! शिवसुखे मुक्तिशर्मणि , यदि वः युष्माकं, पिपासोत्कटेच्छाऽस्ति । रूपकमलङ्कारः ॥ ७९ ॥

(२२) द्रव्यस्तवे मिश्रपक्षत्वविचारः । एवं वृत्तद्वयेन भगवन्मूर्तिं स्तुत्वा वादान्तरमारभते-

श्राद्धेन स्वजनुःफले जिनमतात्सारं गृहित्वाऽखिलं ,
त्रैलोक्याधिपपूजने कलुषता मोक्षार्थिना मुच्यताम् ।
धृत्वा धर्मधियं विशुद्धमनसा द्रव्यस्तवे त्यज्यतां,
मिश्रोऽसाविति लम्बितः पथि परैः पाशोऽपि चाशोभनः।८०।

(श्राद्धेनेति) श्राद्धेन श्रद्धावता, जिनमतात् जैनप्रवचनात्, सारं तात्पर्यमखिलं गृहीत्वा त्रैलोक्याधिपस्य त्रिजगतोऽधिकरक्षितुः, अत एव सर्वाराध्यत्वात् पूजने, कीदृशे ?, स्वजनुषो मनुजावतारस्य फले, मोक्षार्थिना सता, कलुषता कल्मषता, मुच्यतां त्यज्यतां , तथा द्रव्यस्तवे धर्मधियं धर्मत्वबुद्धिं धृत्वा, विशुद्धेन मनसा, मिश्रो धर्माधर्मोभयरूपोऽसौ द्रव्यस्तव इति परैरन्यमतिभिः, पथि मार्गे, लम्बितोऽशोभनः पाशोऽपि त्यज्यतां, पाशचन्द्राभ्युपगमस्य पाशत्वेनाध्यवसानं मुग्धजनमृगपातनद्रव्यमभिव्यनक्ति ॥८०॥

भावेन क्रियया तयोर्न तु तयोर्मिश्रत्ववादे चतु-
र्भङ्ग्यां नादिम एकदाऽनभिमतं येनोपयोगद्वयम् ।
भावो धर्मगतः क्रियेतरगतेत्यल्पो द्वितीयः पुन-
र्भावादेव शुभात् क्रियागतरजोहेतुस्वरूपक्षयात् ॥८१ ॥

उक्तमिश्रत्ववादे चतुर्भङ्ग्यां भङ्गीचतुष्टये, आदिमः पक्षो, भावेन भावस्य मिश्रत्वाकारो न घटते, कुतः ?, येन एकदा उपयोगद्वयम् अनभिमतम् अनिष्टम्, द्रव्यस्तवारम्भोपयोगयोर्यौगपद्याभावाश्च भावयोर्मिश्रत्वम । अनारम्भे हि यत्नारम्भे उपयुज्यते, स्थैर्यातिचारयोरप्येकदाऽभावादिति सूक्ष्मदृष्ट्या

भावनीयम्। भावो धर्मगतः,क्रियेतरगताऽधर्मगता,इत्यपि द्वितीयः पुनर्भङ्गोऽल्पः, अकोदकम इत्यर्थः। कुतः ?, शुभाद्भावादेव, क्रियागतं यद्रजोहेतुस्वरूपं अशुभभावद्वारकत्वं, तस्य भयात्। क्रिया ह्यशुभभावद्वाराऽधर्मस्य, शुभभावद्वारा धर्मस्य कारणम, न च स्वरूपतः॥ ८१ ॥

द्वितीयपक्षाभ्युपगम एव वादिनामिष्टापत्तिमाह–

वाहिन्युत्तरणादिके परपदे चारित्रिणामन्यथा,
स्यान्मिश्रत्वमपापभावमिलितां पापक्रियां तन्वताम्।
किञ्चाऽऽकेवलिनं विचार्य समये द्रव्याश्रयं भाषितं,
शुद्धं धर्ममपश्यतस्तनुधियः शोकः कथं गच्छति ?॥८२॥

(वाहिनीत्यादि) अन्यथोक्तानभ्युपगमस्वरूपत एवाभवत्वाभिमतस्याधर्मे चोक्त्यैक्यादिति,उत्तरणादिके नद्युत्तारप्रमुखे, परपदेऽपवादमार्गे, चारित्रिणां भावसाधूनाम, अपापो धर्मैकस्वभावो यो भावः पुष्टालम्बनाध्यवसायः, तेन मिलितां पापक्रियां नद्युत्तारादिरूपां, तन्वतां कुर्वतां, मिश्रत्वं मिश्रपक्षाश्रयणं, स्यात्, न चेष्टं परस्यापि, साधूनां धर्मैकपक्षाभ्युपगतत्वात्, तस्माद् धर्मभावे स्वरूपतः सावद्यक्रियाया मिश्रणं द्रव्यस्तव इत्यर्थः। अभ्युच्चयमाह–किञ्च,आकेवलिनं केवलिपर्यन्तं, समये सिद्धान्ते, " जावं च णं एस जीवे एयइ वेयइ तावं च णं आरभइ " इत्यादिना द्रव्याश्रयं भाषितं विचार्य, तदेव शुद्धं धर्ममपश्यतस्तदनुचिते ऐदम्पर्यानालोचने तनुबुद्धेः शोको धर्मपक्षस्थानोच्छेदजनितवैक्लव्यलक्षणः, कथं गच्छतु ?, न कथञ्चित्। अत एव सुन्दरर्षिः–"अयोगिकेवलिन्येव, सर्वतः संवरो मतः।" इति।

नदीतरणादौ वादिप्रसङ्गं समाधत्ते–

वाहिन्युत्तरणादिकेऽपि यतनाभागे विधिर्न क्रिया–
भागेऽप्राप्तविधेयता हि गदिता तन्त्रेऽखिलैस्तान्त्रिकैः।
हिंसा न व्यवहारतश्च गृहिवत्साधोरितीष्टं तु नो,
मिश्रत्वं ननु नो मते किमिह तद्दोषस्य संकीर्त्तनम्॥८३॥

(वाहिन्युत्तरणादिकेऽपीति) वाहिन्युत्तरणादिके कर्मणि, यतनाभागे विधिः, अप्राप्तत्वात्, न तु क्रियाभागेऽपि, यतः, अखिलैस्तान्त्रिकैरप्राप्तविधेयता गदिता,'अप्राप्तप्रापणं विधिः',अनधिगतार्थाधिगन्तृ प्रमाणम,इत्यनादिमीमांसाव्यवस्थितेः, अयं च न्यायोऽस्माभिराश्रीयते। अत्र हि यतनाभाग इति यतना न तेन मिश्रिता, अन्येनैव मिश्रणसंभवात्, तर्हि नद्युत्तारादिक्रिययैव मिश्रता स्यात्, तत्राह–गृहिवत् साधोर्व्यवहारतो व्यवहारतया नद्युत्तारादिक्रियायै हिंसा न, गृहिसाध्वोर्यतनाऽयतनाभ्यामेव व्यवहारविशेषादिति, ततो हिंसा मिश्राऽभावा, नो तु नैव,मिश्रत्वम इष्टम, नन्वित्याक्षेपे,नोऽस्माकं मते किमिह तद्दोषस्य कीर्त्तनं, भवतां द्रव्यस्तवे तु साधुयतनाऽभावाद्वर्जनीयैव हिंसेति मिश्रपक्षो दुष्परिहर इति भावः॥ ८३ ॥

एतद् दूषयति–

हिंसा सद्व्यवहारतो विधिकृतः श्राद्धस्य साधोश्च नो,
सा लोकव्यवहारतस्तु विदिता बाधाकरी नोभयोः।
इच्छाकल्पनयाऽभ्युपेत्य विहिते तथ्या तदुत्पादनो–
त्पत्तिभ्यां तु भिदा न कापि नियतव्यापारके कर्मणि॥८४॥

(हिंसेति) विधिकृतः श्राद्धस्य साधोश्च सद्व्यवहारतः सिद्धान्तव्युत्पन्नजनव्यवहारेण,हिंसा नैव भवति,प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणस्यैव तन्मते हिंसात्वात्, स्वगुणस्थानोचितयतनया प्रमादपरिहारस्य चोभयोरविशेषादुपरितनेनाधःप्रमादपर्यवसायकतायाश्चातिप्रसक्तत्वात् अधिकारिभेदेन न्यूनाधिकभावस्याप्युक्तिसंभवात्। अन्यथा संपूर्णाचारश्चतुर्दशोपकरणधरः स्थविरकल्पिको जिनकल्पिकमपेक्ष्य यतो न्यूनश्च स्यात्,न चैवमस्ति,रत्नाकरदृष्टान्तेन द्वयोस्तुल्यताप्रतिपादनात्। तस्मात्तत्त्वविषये गृहिणः साधोश्च धर्मकर्मणि हिंसा नास्त्येवेति।लोकव्यवहारतस्तु बाह्यलोकव्यवहारापेक्षया, सा परप्राणव्यपरोपणरूपा हिंसा,उभयोर्गृहिसाध्वोर्बाधाकरी न,मिश्रपक्षप्रवेशकरा न, व्यधिकरणतया मिश्रणासंभवात्। स्वानुकूलव्यापारसंबन्धे तस्याः सामानाधिकरण्यस्य च योगमादाय केवलिमतेऽप्रमत्तभावस्थले वक्तुमशक्यत्वात् सद्व्यवहारपर्यवसानाच्चेति, न किञ्चिदेतत्। प्राणयुपमर्दनस्तावत्कर्मकर्मण्यपि हिंसैव,प्रहीतुं तां करोति,साधोस्तु सा कथञ्चिद्भवतीत्यस्ति विशेष इत्यत्राऽऽह–इच्छाकल्पनया स्वरसपूर्वयेच्छयाऽभ्युपेत्य विहिते नियतव्यापारके वर्जनीयहिंसासंबन्धे कर्मणि तदुत्पादनोत्पत्तिभ्यां भिदा काऽपि तथ्या न, अपि तु स्वकल्पनया मुग्धमनोविनोदमात्रमिति भावः। तथाहि–हिंसाऽनुषक्तधर्मव्यापारे साध्यत्वाख्यविषयहिंसाऽनुकूलकृतिमत्त्वं गृहिणश्चेत्,साधोः न कथम?,यतनया परिहारश्चोभयत्र समानाकृतौ हिंसात्वावच्छिन्नसाध्यत्वाख्यविषयताभावोऽप्युभयोस्तुल्यः, अशक्यपरिहारोऽपि प्रसक्ताकरणप्रत्यवायभिया द्वयोः शास्त्रीय इति सूक्ष्ममीक्षणीयम॥ ८४ ॥

अपवादप्राये कर्मणि न विधिः, किं तु यतनाभाग एव,
स्वच्छन्दप्राप्तया तत्र मिश्रत्वं स्यादत्राऽऽह–

पूर्णेऽर्थेऽपि विधेयता वचनतः सिद्धा लिङर्थात्मिका,
भागे बुद्धिकृता यतः प्रतिजनं भिन्ना स्मृता साऽऽकरे।
नो चेज्जैनवचः क्रियानयविधिः सर्वश्च मिश्रो भवे–
दित्थं भेदमयं न किं तव मतं मिश्राद्द्वयं लुम्पति ?॥८५॥

(पूर्णे इति) पूर्णेऽर्थेऽपि विधीयमाने यतनाविशिष्टे कर्मणि लिङर्थात्मिका लिङर्थस्वरूपा विधेयता, वचनतः श्रुतिमात्रेण सिद्धा, प्रवर्त्तनाया एव तदर्थत्वात्,तस्याश्च प्रवृत्तिहेतुधर्मात्मकत्वात्, "प्रवृत्तिहेतुं धर्मं तु,प्रवदन्ति प्रवर्त्तनाम्" इत्यभियुक्तोक्तेस्तस्य तत्त्वात् इष्टसाधनत्वरूपत्वात्। तथा च प्रवृत्तिहेत्विच्छाविषयतापर्याप्त्यधिकरणधर्मत्वं यद्धर्मावच्छिन्ने बोध्यते, तद्धर्मावच्छिन्नस्य विधेयत्वमिति प्रकृते यतनाविशिष्टद्रव्यस्तवस्य विधेयत्वमबाधितमेव, ततो विनिगमनाविरहेणाऽपि तथासिद्धे लिङर्थत्रयस्यैव विनिगमकत्वम्। बुद्धिकृता विधेयता विषयताविशेषरूपा, सा भागे भवतु, न तावता क्षतिः। यतः सा प्रतिजनं प्रतिप्राणि भिन्ना, आकारे स्याद्वादरत्नाकरे, स्थिता व्यवस्थिता, "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्" इत्यत्र विशेषणविशेष्यान्यतराप्रसिद्धौ तदन्यभागस्य विधेयत्वाप्रसिद्ध्या उभयस्यैव विधेयत्वमिति तत्रोक्तेः। रक्तं पटं वय, ब्राह्मणं स्नातं भोजयेत्यादावेकविधे द्विविधे त्रिविधे च दर्शनात्। नो चेद् यतनाक्रियाभ्यामेव च मिश्रत्वे, तदा तत्प्रतिपादकं जैनवचः क्रियानयविधिश्च सर्वोऽपि मिश्रो भवेत्,इत्थं च धर्मपक्षोऽपि ताभ्यां भागाभ्यां मिश्रो भवे-

दिति मिथ्यात्वयं स्यात् , इतरद्वयलोपेन एकशेषात् तन्मिथ्यात्वयं तव मतं भेदमयं पक्षत्रयप्रतिपादकं कथं न लुम्पति ?, "स्वशस्त्रं सोपघाताय" इति न्यायस्तवापन्न इति भावः ॥ ८५ ॥

तृतीयपक्षमधिकृत्याह-नदीतरणादौ वादिप्रसङ्गं समाधत्ते-

भावो धर्मगतः क्रियेतरगतेत्यत्रापि भङ्गे कथं ,
मिश्रत्वं तदधर्ममेव मुनयो भावानुरोधाद्विदुः ।
भक्त्याऽर्हत्प्रतिमाऽर्चनं कृतवतां न स्पृश्यमानः पुन-
र्भावश्चित्तमिवाग्रहाविलधियां पापेन संलक्ष्यते ॥ ८६॥

भावो धर्मगतः क्रियेतरगता इत्यत्रापि तृतीयाख्ये भङ्गे मिश्रत्वं कथम्?,यतः-भावानुरोधात्तमधर्ममेव मुनयो विदुः,दुष्टभावपूर्विकाया विहितक्रियाया अपि प्रत्यवायबहुलत्वेनाधर्मत्वात्,अत एव निह्नवादीनां निर्ग्रन्थरूपस्य दुरन्तसंसारहेतुत्वेनाधर्मत्वम् । "इच्चेयाइं दिट्ठीओ, जाइजरामरणगब्भवसहीणं । मूलं संसारस्स उ, वहंति निग्गंथरूवेण"॥१॥इत्यादिनाऽभ्यवस्थापितदृष्टीनां नियतोत्सूत्रप्ररूपकाणामेव तत्फलं,निर्ग्रन्थरूपेण इत्यत्रोपलक्षणे तृतीयेति नाशङ्कनीयम्,चरमग्रैवेयकपर्यन्तफलहेतोर्निह्नवश्रद्धामुपगताचारस्यैवात्र इष्टिपदार्थत्वात् , निर्ग्रन्थरूपेणेत्यत्र धान्येन धनमितिवदभेदार्थाश्रयणात् विपराद्यनुष्ठानानामधर्मत्वेनैव बहुशो निषेधादिति दिक् । न च मिश्रणीयो धर्मगतो भावः प्रकृतस्थले संभवतीत्यत्राह-भक्त्येति।भक्त्या,उपलक्षणाद्विधिना च,अर्हत्प्रतिमार्चनं कृतवतां भावः,पापेन स्पृश्यमानः संलक्ष्यते।व्यतिरेकदृष्टान्तमाह-किमिव?,आग्रहाविलधियाम् अभिनिवेशमलीमसबुद्धीनां चित्तमिव;तद्यथा पापेन स्पृश्यमानं संलक्ष्यते,तथा न भक्तिकृतां भाव इति योजना। अथ पुष्पाद्युपमर्दयामि ततः प्रतिमां पूजयामि इति भावः पापस्पृष्टो लक्ष्यत एवेति चेत्तर्हि, नदीजलजीवाद्युपमर्दयामि ततो नद्यामुत्तीर्य विहारं कुर्वे, इति साधोरपि तुल्यः स्यात् । कृताऽनुषङ्गिकेनोद्देश्यत्वाख्यविषयतासाध्यत्वाख्यविषयता यतमानस्य न निषिद्धरूपाऽवस्थितेति चेत् , तुल्यमेतदुभयोरपीति किमाम्रेडितेन ? ॥ ८६ ॥

तुरीयं विकल्पमपाकुर्वन्नाह-

धर्माधर्मगते क्रिये च युगपद्वृत्तौ विरोधं मिथो ,
नाऽप्येते प्रकृतस्थले क्वचिदतस्तुर्योऽपि भङ्गो वृथा ।
शुद्धाशुद्ध उदाहृतो ह्यविधिना योगोऽर्चनाद्याश्रयः ,
सोऽप्येको व्यवहारदर्शनमतो नैव द्वयोर्मिश्रणात् ॥ ८७ ॥

(धर्माधर्मगते इति) धर्माधर्मगते च क्रिये युगपद्विरोधतः भिन्नविषयक्रियाद्वयस्यैककालावच्छेदेनैकत्रानवस्थाननियमात्। "भिन्नाविसयं निसिद्धं, किरियादुगमेगसंगाणे" इति वचनात्। प्रकृतेऽसिद्धिश्चेदित्यत्राह-नाप्येते धर्माधर्मगते क्रिये,प्रकृतस्थले द्रव्यस्तवस्थाने,क्वचिदतः कारणात् तुर्योऽपि भङ्गो वृथा मिश्रपक्षसमर्थनाय मृषोपन्यासः। शुद्धाशुद्धो योगः शास्त्रोक्त एवेति, तत्र तुर्यभङ्गावकाशः किं न स्यादित्यत्राह-शुद्धाशुद्ध इति । अविधिना जिनार्चनाद्याश्रयः, हि निश्चितं,शुद्धाशुद्धो योग उदाहृतः,सोऽपि व्यवहारदर्शनमतः, एकः , अंशे भ्रमप्रमादरूपे एकज्ञानवदंशे शुद्धाशुद्धविषयमनुबद्धयोः शुद्धाशुद्धयोर्योगयोर्मिश्रणात्तयोर्विरोधादेवेति दत्तो मिश्रपक्षस्य जलाञ्जलिः, शुद्धाशुद्धविषयत्वं च योगाभिव्यापारानुबन्धिविषयतानयेन , स्वतो योगस्य निर्विषयत्वादिति सर्वं ध्यम ॥ ८७ ॥

निश्चयतस्तु शुद्धाशुद्धयोगो नाऽस्त्येवेत्याह-

भावद्रव्यतया द्विधा परिणतिप्रस्पन्दरूपा स्मृताः ,
योगास्तत्र तृतीयराश्यकथनादाद्येषु नो मिश्रता ।
नैवान्त्येष्वपि निश्चयादिति विषोद्गारः कथं ते भ्रमो ,
निष्पीता किमु न क्षमाश्रमणगीः सद्भाष्यसिन्धोः सुधा ॥८८

(भावेत्यादि)परिणतिप्रस्पन्दलक्षणा योगा भावद्रव्यतया द्विधा स्मृताः,तत्राद्येषु भावयोगेषु,नो नैव,मिश्रता भवति,कस्मात्?,तृतीयराशेरकथनात्,शुभान्यशुभानीति द्विविधान्येवाध्यवसायस्थानान्युक्तानि,न तु तृतीयोऽपि राशिरिति। अन्त्येषु द्रव्ययोगेष्वपि निश्चयात् नैव मिश्रता, तन्मते द्रव्ययोगे मिश्राणामभावात् । तदंशप्राधान्ये शुभाशुभान्यतरस्यैव पर्यवसानान्मिश्रयोगव्यवहारेणापि तथा व्यवहरणात् । अत एवाशोकप्रधानं वनमशोकवनमिति विवक्षया मिश्रभाषापत्तिः। कथं तर्हि श्रुतभावभाषायां तृतीयभेदस्यापरिगणनं, द्रव्यभावभाषायां तु नेति चेत्, एकत्र निश्चयनयेन धर्मिणोऽर्पणादन्यत्र व्यवहारनयेनेति गृहाण। सर्वत्र निश्चयनयेन धर्म्यर्पणे तु भाषायां द्वावेव भेदौ, न चत्वारः । इदमेव भाषारहस्ये-"सा चउविह त्ति ववहा-रनयाउ सुअम्मि पत्ताणं। सच्चामुस त्ति भासा,दुविह च्चिय हंदि निच्छयओ"॥१॥ त्ति। एवं विशदीकृतेऽर्थे भ्रान्तोक्त्या कथं व्यामोहः कार्य इत्याह-इत्येवं, ते तव,कथं भ्रमो भ्रान्तप्रयोगो विषोद्गारः, किं तु सद्भाष्यं यद्विशेषावश्यकं, तदेव सिन्धुः समुद्रस्तस्य सुधाऽमृतं क्षमाश्रमणगीः-जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणवाणी, न निष्पीता?,अन्यथा भ्रमो विषोद्गारो न स्यादेव,अमृतस्यात्युद्गारस्य, किं तु कुमतिपरिगृहीतभुताऽऽभासविषयः, तस्यैवेदं विलसितमिति संभावयामः॥८८॥

किं च संकीर्णकर्मरूपफलाभावादपि संकीर्णयोगो नास्तीति द्रव्यस्तवे मिश्रपक्षोक्तिप्रौढिः अलताविस्तार इत्याह-

मिश्रत्वे खलु योगभावविषया कुत्रापि कृत्ये भवे-
न्मिश्रं कर्म न बध्यते च शबलं तत्संक्रमात्स्यात्परम् ।
तत् द्रव्यस्तवमिश्रतां प्रवदता किं तस्य वाच्यं फलं ,
स्वव्युद्ग्राहितमूढपर्षदि मदान्मूर्द्धानमाधुन्वता ॥ ८९ ॥

(मिश्रत्वे इति) खल्विति निश्चये , कुत्रापि कृत्ये योगभावविषया मिश्रत्वेऽङ्गीक्रियमाणे,फलत्वेनाङ्गीक्रियमाणं मिश्रं कर्म भवेत्; तत्तु बन्धतो नास्ति इत्याह-न बध्यते च शबलमिति, शबलं मिश्रं कर्म न बध्यते। कथं तर्हि मिश्रमोहनीयं प्रसिद्धं, तत्राह-परं केवलं, तत् मिश्रं, संक्रमात्स्यात्,तस्माद् तत् द्रव्यस्तवमिश्रतां प्रवदता तस्य द्रव्यस्तवस्य फलं बध्यमानं कर्म शुभं भावबन्ध भवति, अननुरूपत्वात्, मिश्रं च बध्यमानमभ्युपगच्छता कृतान्तः कुप्येदित्यत्र तूष्णीमेव स्थेयं त्वया, कीदृशेन ?, स्वेन व्युद्ग्राहिता ये मूढाः , तेषां पर्षदि मदाद् बुद्धिगौरवान्मूर्द्धानं शिरसमाधुन्वता कम्पयता, अनुभावो मदस्य व्याधेरेव पर्यवसान इति जानीहि ।

अत्रेयमुक्तभाष्यवाणी, कुमतपाशकृपाणी प्रगल्भते-

" न य साहारणरूवं, कम्मं तक्कारणाभावा । "

न च साधारणरूपं संकीर्णस्वभावं पुण्यपापात्मकमेकं कर्मास्ति, तस्यैवंभूतस्य कर्मणः कारणाभावात् । अत्र प्रयोगः-नास्ति संकीर्णोभयरूपं कर्म, असंभाव्यमानैवंविधिकारणत्वात्, बन्ध्यासुतवदिति ।

हेतोरसिद्धतां परिहरन्नाह—

" कम्मं जोग णिमित्तं, सुभोऽसुभो वा स एगसमयम्मि ।

होज्ज ण उ उभयरूवो, कम्मं पि तओ तयणुरूवं " ॥१९३४॥
मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव इति पर्यन्ते योगाभिधात् सर्वत्र कर्मबन्धहेतुत्वस्य योगाविनाभावात्, योगानामेव बन्धहेतुत्वमिति कर्मयोगनिमित्तमित्युच्यते । स च मनोवाक्कायात्मको योग एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवेत्, न तूभयरूपोऽतः कारणानुरूपत्वात् कार्यस्य कर्माऽपि तदनुरूपं शुभं पुण्यरूपं, अशुभं वा पापरूपं बध्यते, न तु संकीर्णस्वभावमुभयरूपमेकदैव बध्यत इति ॥१६३५॥

प्रेरकः प्राह–

"ननु मणवइकाउगा, सुभासुभा वि समयम्मि दीसंति ।
दव्वम्मि मीसभावो, हवेज्ज ण उ भावकरणम्मि" ॥१९३६॥

ननु मनोवाक्काययोगाः शुभा अशुभाश्च, मिश्रा इत्यर्थः । एकस्मिन्समये दृश्यन्ते, तत्कथमुच्यते–" सुहो असुहो वा स एगसमयम्मि त्ति " ? । तथाहि–किञ्चिदविधिना दानादिकं वितरणं चिन्तयतः शुभाशुभो मनोयोगः, तथा किमप्यविधिनैव दानादिधर्ममुपदिशतः शुभाशुभो वाग्योगः, तथा किमप्यविधिनैव जिनपूजावन्दनादिकायचेष्टां कुर्वतः शुभाशुभः काययोग इति । तदेतदयुक्तम् । कुत इत्याह–"दव्वम्मि" इत्यादि। इदमुक्तं भवति–इह द्विविधो योगो–द्रव्यतो भावतश्च । तत्र मनोवाक्काययोगप्रवर्तकानि द्रव्याणि, मनोवाक्कायपरिस्पन्दात्मको योगश्च द्रव्ययोगः,यस्त्वेतदुभयरूपयोगहेतुरध्यवसायः स भावयोगः, तत्र शुभाशुभरूपाणां यथोक्तचिन्तादेशनाकायचेष्टानां प्रवर्तके द्रव्ययोगे द्विविधेऽपि व्यवहारनयदर्शनाविवक्षामात्रेण भवेदपि शुभाशुभत्वलक्षणो मिश्रभावः, न तु मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे भावकरणे भावात्मके योगे,अयमभिप्रायः–द्रव्ययोगो व्यवहारनयदर्शनेन शुभाशुभरूपोऽपि इष्यते, निश्चयनयेन तु सोऽपि शुभोऽशुभो वा केवलः समस्ति, यथोक्तचिन्तादेशनादिप्रवर्तकद्रव्ययोगानामपि शुभाशुभरूपमिश्राणां तन्मतेनाभावात् , मनोवाक्काययोगनिबन्धनाध्यवसायरूपे तु भावकरणे भावयोगे, शुभाशुभरूपो मिश्रभावो नास्ति, निश्चयनयदर्शनस्यैवागमेऽत्र विवक्षितत्वात् । न हि शुभान्यशुभानि वाऽध्यवसायस्थानानि मुक्त्वा शुभाशुभाध्यवसायस्थानरूपस्तृतीयो राशिरागमे क्वचिदपीष्यते, येनाध्यवसायरूपेषु भावयोगेषु शुभाशुभत्वं स्यादिति भावः । तस्माद्भावयोगे एकस्मिन्समये शुभोऽशुभो वा भवति, न तु मिश्रः । ततः कर्मापि तत्प्रत्ययं पृथक् पुण्यरूपं पापरूपं वा बध्यते, न तु मिश्ररूपमिति स्थितम् ॥ १६३६ ॥

एतदेव समर्थयन्नाह–

" झाणं सुभमसुभं वा, न उ मीसं जं च झाणविरमम्मि ।
लेसा सुहाऽसुहा वा, सुहमसुहं वा तओ कम्मं " ॥१९३७॥

ध्यानं यस्मादागमे एकदा धर्मशुक्लध्यानात्मकं शुभम्, आर्त्तरौद्रात्मकमशुभं वा निर्दिष्टं, न तु शुभाशुभात्मकं, यस्माच्च ध्यानोपरमेऽपि लेश्या तैजसीप्रमुखा शुभा, कापोतीप्रमुखा च अशुभा एकदा प्रोक्ता, न तु शुभाशुभरूपाः ध्यानलेश्यात्मकाश्च भावयोगाः, ततस्तेऽप्येकदा शुभा अशुभा वा भवन्ति, न तु मिश्राः । ततो भावयोगनिमित्तं कर्माऽप्येकदा पुण्यात्मकं शुभं बध्यते, पापात्मकमशुभं वा बध्यते, न तु मिश्रमपि ॥१९३७॥

अपिच–

" पुव्वगहियं च कम्मं, परिणामवसेण मीसयं नेज्जा ।

इयरेयरभावं वा, सम्मामिच्छाइँ न उ गहणे " ॥१६३८॥

वेति अथ वा, एतदद्यापि संभाव्यते, यत्पूर्वं गृहीतं पूर्वं बद्धं मिथ्यात्वलक्षणं कर्म परिणामवशात् पुञ्जत्रयं कुर्वन्मिश्रतां सम्यग्मिथ्यात्वपुञ्जरूपतां नयेत्प्रापयेदिति, इतरेतरभावं वा नयेत् सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं वेति । इदमुक्तं भवति–पूर्वबद्धान् मिथ्यात्वपुद्गलान् विशुद्धपरिणामः संशोधयित्वा सम्यक्त्वरूपतां नयेत्, अविशुद्धपरिणामस्तु रसमुत्कर्षं नीत्वा सम्यक्त्वपुद्गलान्मिथ्यात्वपुञ्जे संक्रमय्य मिथ्यात्वरूपतां नयेदिति पूर्वगृहीतस्य सत्तावर्तिनः कर्मण इदं कुर्यात् । ग्रहणकाले पुनर्न मिश्रं पुण्यपापरूपतया संकीर्णस्वभावं कर्म बध्नाति,नापीतरदितररूपतां नयतीति ॥१९३८॥

सम्यक्त्वं मिथ्यात्वे संक्रमय्य मिथ्यात्वरूपतां नयतीत्युक्तम्, ततः संक्रमविधिमेव संक्षेपतो दर्शयति–

"मोत्तूण आउयं खलु, दंसणमोहं चरित्तमोहं च ।
सेसाणं पयडीणं, उत्तरविहिसंकमो भज्जो" ॥१६३९॥

इह ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतीनामन्योन्यं संक्रमः कदापि न भवत्येव, उत्तरप्रकृतीनां तु निजनिजमूलप्रकृत्यभिन्नानां परस्परं संक्रमो भवति। तत्र चायं विधिः–" मोत्तूण आउयं " इत्यादि। " आउयं " इति जातिप्रधानो निर्देश इति बहुवचनमत्र द्रष्टव्यम्,चत्वार्यायूंषि मुक्त्वेति । एकस्या आयुर्लक्षणाया निजमूलप्रकृतेरभिन्नानामपि चतुर्णामायुषामन्योऽन्यं संक्रमो न भवतीति तद्वर्जनम् । तथा दर्शनमोहं चारित्रमोहं च मुक्त्वा, एकस्या मोहनीयलक्षणायाः स्वमूलप्रकृतेरभिन्नयोरपि दर्शनमोहचारित्रमोहयोरन्योऽन्यं संक्रमो न भवतीत्यर्थः । उक्तशेषाणां तु प्रकृतीनां,कथम्भूतानामित्याह–"उत्तरविहि त्ति" । विधयो भेदाः,उत्तरे च ते विधयश्चोत्तरविधय उत्तरभेदाः,तद्भूतानाम् उत्तरप्रकृतिरूपाणामिति तात्पर्यम् । किमित्याह–संक्रमो भाज्यो भजनीयः। भजना चैवं द्रष्टव्या–याः किल ज्ञानावरणपञ्चकदर्शनावरणनवककषायषोडशकमिथ्यात्वभयजुगुप्सातैजसकार्मणवर्णादिचतुष्कागुरुलघूपघातनिर्माणान्तरायपञ्चकलक्षणाः सप्तचत्वारिंशत् ध्रुवबन्धिन्य उत्तरप्रकृतयः,तासां निजैकमूलप्रकृत्यभिन्नानामन्योन्यं संक्रमः सदैव भवति। तद्यथा–ज्ञानावरणपञ्चकान्तर्वर्तिनि मतिज्ञानावरणे श्रुतज्ञानावरणादीनि,तेष्वपि मतिज्ञानावरणं संक्रामतीत्यादि । यास्तु शेषा अध्रुवबन्धिन्यस्तासां निजैकमूलप्रकृत्यभेदवर्तिनीनामपि बध्यमानायामबध्यमानाः संक्रामन्ति, न त्वबध्यमानायां बध्यमाना यथा साते बध्यमानेऽसातमबध्यमानं संक्रामति, न तु बध्यमानमबध्यमाने, इत्यादि वाच्यमित्येष प्रकृतिसंक्रमे विधिः, शेषस्तु प्रदेशादिसंक्रमविधिः "मूलप्रकृत्यभिन्नासु, वेद्यमानासु संक्रमः । भवति" इत्यादिना स्थानान्तरादवसेयमित्यलं प्रसङ्गेनेति ॥१९३९॥

ननु मिश्रयोगाध्यवसायाभावाद् मा भून्मिश्रप्रकृतिबन्धापत्तिः, तथाऽपि द्रव्याश्रवादनन्तो ध्रुवबन्धि पापमपि फलमवर्जनीयमिति चेत् । न। ध्रुवबन्धित्वादेव तस्यातत्प्रत्ययत्वात् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गात् ग्रहणसमय एव गुणाश्रयाभ्यां कर्मणि शुभत्वस्याशुभत्वस्य रसाद्यपेक्षया जननात् ।

तदाह–

"अविसिट्ठं चिय तं सो, परिणामासयसभावओ खिप्पं ।
कुरुते सुभमसुभं वा,गहणे जीवो जहाहारं" ॥ १६४३ ॥

परिणामो जीवस्याध्यवसायस्तद्वशाज्जीवो ग्रहणसमये कर्मणः

शुभत्वमशुभत्वं वा जनयति, आश्रवः कर्मणो जीवः, तस्य स कोऽपि स्वभावो येन शुभान्यतः परत्वेन परिणमयन्नेव कर्म गृह्णाति, तथा शुभाशुभत्वयोः कर्म, तस्यापि स कोऽपि स्वभावः येन शुभाशुभपरिणामान्वितेन जीवेन गृह्यमाणमेव तद्रूपतया परिणमयति । उपलक्षणमेतत्-प्रदेशाल्पबहुभागवैचित्र्यादेः ।

उक्तं च कर्मप्रकृतिसंग्रहिण्याम-

"गहणसमयम्मि जीवो, उप्पाएई गुणे सपच्चयओ ।
सव्वजिआनंतगुणे, कम्मपएसेसु सव्वेसु " ॥
आउयभागो थोवो" इत्यादि ॥१६४३॥
"परिणामासयवसओ, धेणूए जह पओ विसमाहिस्स ।
तुल्लो वि तदाहारो, तह पुण्णापुण्णपरिणामो ॥ १६४४ ॥
जह वेगसरीरम्मि वि, सारासारपरिणामयामेति ।
अविसिट्ठो आहारो, तह कम्मसुहासुहविवागो " ॥१६४५॥

ननु न्यायस्तावन्मुग्धानां कूटपाशप्राय इत्यभिमसूत्रादेशेन श्राद्धानां मिश्रपक्षोऽस्त्येवेति पश्यतस्तदधिकृतद्रव्यस्तवस्य मिश्रत्वं रोचयाम इति चेत्, अहो दुराशयसिद्धान्ततात्पर्यपरिज्ञानमनुपासितगुरुकुलस्य तव कथंकारं संभवति ? । तथाहि-व्यवहारनयादेशेन बन्धानौपयिकं पक्षत्रयोपवर्णनं कृतं, संग्रहनयादेशेन तु फलापेक्षया द्वैविध्यमेवेति पूजापोषधयोः को वा विशेषः ? ॥ ८६ ॥

श्राद्धानां मिश्रपक्षस्य भेदोऽस्त्येतदभिप्रायवानाह—

सिद्धान्ते परिभाषितो हि गृहिणो मिश्रत्वपक्षस्ततो,
बन्धानौपयिको विरत्यविरतिस्थानात्तदुत्प्रेक्षया ।
अन्तर्भावित एव सोऽपि पुरतो धर्मे फलापेक्षया,
पूजापोषधतुल्यताऽस्य किमु न व्यक्ता विशेषेक्षिणाम्? ॥ ९० ॥

(सिद्धान्त इति) सिद्धान्ते सूत्रकृताख्ये, हि निश्चितं, ततो मिश्रत्वपक्षो बन्धानौपयिकः बन्धाननुगुणः विरत्यविरतिस्थानात् योऽनुगमस्तदुत्प्रेक्षया, स्वरूपमात्रेणेति यावत् । परिभाषितः संकेतितः, सोऽपि परिभाषितमिश्रपक्षोऽपि, पुरतोऽग्रे, फलापेक्षया धर्मेऽन्तर्भावितः, ततोऽस्य गृहिणः, विशेषेक्षिणां विशेषदर्शिनां, पूजापोषधयोस्तुल्यता, किमु न व्यक्ता ?, अपि तु व्यक्ता । वाग्व्यवहारतो मिश्रपक्षस्य, निश्चयतश्च धर्मत्वस्य, सूत्रकृते हि पक्षत्रयव्याख्यानावसरे-"अदुत्तरं च णं पुरिसविजयं विभंगमाइक्खिस्सामि, इह खलु नाणापन्नाणं नाणाछंदाणं नाणासीलाणं नाणादिट्ठीणं नाणारुईणं णाणारंभाणं नाणाज्झवसायसंजुत्ताणं नाणाविहपावसुअज्झयणं एवं भवति । तं जहा-भोमं उप्पायं ।" इत्यादिना पापश्रुताध्ययनाद्यर्थं तत्प्रयोगेण सुरकिल्बिषादिभावनया तल्लोकोत्पादितश्रुतस्येममूकादिभावोत्पादेन गृहिणां चात्मस्वजनाद्यर्थं चतुर्दशभिरसदनुष्ठानैः ; तथाहि-कश्चिदकार्याध्यवसायेनानुगच्छतीत्यनुगामिको भवति, तं गच्छन्तमनुगच्छतीत्यर्थः । अथवा-तस्यापकारावसरापेक्ष्युपचारको भवति, अथवा तस्य प्रातिपथिको भवति, प्रतिपथं संमुखीनमागच्छतीति । अथवा स्वजनाद्यर्थं संधिच्छेदको भवति, खात्रखननादिकर्त्ता भवतीत्यर्थः । अथवा घुर्घुरादिना ग्रन्थिच्छेदकभावं प्रतिपद्यते, अथ सौरभ्रैर्मेषैश्चरतीति सौरभ्रिकः, अथवा शौकरिको भवति, अथवा शकुनिभिश्चरति शाकुनिकः, अथवा वागुरया मृगादिबन्धनरज्ज्वा चरति वागुरिकः, अथवा मत्स्यैश्चरति मात्स्यिकः, अथवा गोपालकभावं प्रतिपद्यते, अथवा गरघातकः स्यात्, अथवा श्वभिश्चरति, सोऽवनिशुनां परिपालको भवतीत्यर्थः । अथवा 'सोवणिअंतए' श्वभिः पापर्द्धिं कुर्वन्मृगादीनामन्तं करोतीत्यर्थः । इति अन्यहननतया सापराधगृहपतिदानादिना तत्संबन्धियुष्ट्रजङ्घाच्छेदादिना तच्छालादाहादिना तत्संबन्धिकुण्डलाद्यपहारेण वा पाषण्डिकोपरि क्रोधेन तदुपकरणापहारतदाहारदाननिषेधादिना निर्मितमेव गृहपतिकेभ्यं दानादिनाऽभिग्रहिकमिथ्यादृष्टितयाऽपशकुनधिया श्रमणानां दर्शनोपघातापसरणेन तदृष्टावसरास्फालनेन च, स्फटिकादानेनेत्यर्थः । परुषवचनप्रहारैः परेषां शोकाद्युत्पादनादिना महारम्भादिना भोगभवाश्लाघया चैश्वर्यात्, अत्र भवे महातृष्णावतामधर्मपक्ष उक्तः । उपसंहृतश्च-"एसट्ठाणे अणारिए अकेवले अपमिपुन्ने असंसुद्धे अणेयाउए असल्लगत्तणे असिद्धिमग्गे अमुत्तिमग्गे अणिव्वाणमग्गे अणिज्झाणमग्गे असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू एस खलु पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए त्ति" ॥ अदः स्थानमनार्यमनाचीर्णत्वात्, नास्ति केवलं यत्रेत्यकेवलमशुद्धमित्यर्थः । अपरिपूर्णं सद्गुणविरहात्, इत्थमनैयायिकमसन्न्यायवृत्तिकमसल्लगत्वमिन्द्रियासंवरणरूपम्, 'रगि लगि संवरणे' इति धातोः शोभनो लगः सल्लगस्तद्भावस्तत्त्वं, नास्ति स यत्रेति व्युत्पत्तेः । यद्वा-शल्यं गायति कथयतीति शल्यगः, तद्भावस्तत्त्वं, नास्ति तद् यत्र तदशल्यगत्वम्, सिद्धिः स्थानविशेषो, मुक्तिरशेषकर्मक्षयः, निर्वाणं निःशेषतया भवपरित्यागेन यानं, निर्याणमात्मस्थानापत्तिः, सर्वदुःखस्य प्रक्षीणं प्रत्यक्षः, तन्मार्गाभावादसिद्धिमार्गादिपदानि व्याख्येयानि । कुत एवमित्यत्र "आहरणं च" इत्यादि एकान्तेनैव तत्स्थानं, यतो मिथ्याभूतं मिथ्यात्वोपहतबुद्धिस्वामिकत्वात् अन्तरसाध्वसवृत्तित्वात् । तदयं प्रथमस्य स्थानस्याधर्मपाक्षिकस्य पापोपादानभूतस्य विभङ्गो विशेषः, स्वरूपमिति यावत्, एवमाहृत एवमुपदर्शितः । धर्मपक्षस्त्वेवमतिदिष्टः-"अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा पडीणं वा० संतेगइआ मणुस्सा भवंति । तं जहा-आरिआ वेगे अणारिया वेगे उच्चागोआ वेगे, नीआगोआ वेगे, कायमंता वेगे, हस्समंता वेगे, सुवण्णा वेगे, दुवण्णा वेगे, सुरूवा वेगे, दुरूवा वेगे । तेसिं च खेत्तवत्थूणि परिगहिआइ भवंति । एसो आलावगो जहा पुंडरीए तहा णेयव्वो, तेणेव अभिलावेणं० जाव सव्वोवसंता सव्वत्ताए परिनिव्वुम त्ति बेमि । एसट्ठाणे आरिए केवले० जाव सव्वदुक्खपहीणमग्गे एगंतसम्मे साहु दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए त्ति । " तृतीयं स्थानमधिकृत्य एवं सूत्रं प्रवृत्तम्-"अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ, जे इमे भवंति-आरण्णिया आवसहिया गामणिअंतिया कण्हुई रहस्सिया० जाव ते तओ विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए पच्चायंति, एस ठाणे अणारिए अकेवले० जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे असाहू एस खलु तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिए त्ति । " साम्प्रतं धर्माधर्मयुक्तं तृतीयस्थानमाश्रित्याह-"अहावरे" इत्यादि । अथाऽपरस्तृतीयस्थानस्य मिश्रकाख्यस्य विभङ्गो विभागः स्वरूपमाख्यायते । अत्र चाधर्मपक्षेण युक्तो धर्मपक्षो मिश्र इत्युच्यते, तत्राधर्मस्येह भूयस्त्वादधर्मपक्ष एवायं द्रष्टव्यः । एतदुक्तं भवति-यद्यपि मिथ्यादृष्टयः काञ्चित्तथाप्रकारां प्राणातिपातादिनिवृत्तिं विदधति, तथाऽप्याशयाशुद्धत्वादभिनवेऽपि तदन्ये सति शर्करामिश्रक्षी-

रपांनवद्खरप्रदेशवृष्टिवदिति तीर्थासाधकत्वान्निरर्थकत्वमाशयाशुद्धत्वादभिनवेऽपि ते तथा मिथ्यात्वानुभावात् मिश्रपक्षोऽप्यधर्मपक्ष एवावगन्तव्यः, इत्येतदेव दर्शयितुमाह-" जे इमे भवंतीत्यादि "। ये इमे अनन्तरमुच्यमाना आरण्यिकाः कन्दमूलफलाशिनस्तापसादयो, ये चावसथिका आवसथो गृहं, तेन चरन्तीत्यावसथिका गृहिणस्तु कुताश्चित्पापस्थानान्निवृत्ता अपि प्रबलमिथ्यात्वोपहतबुद्धयस्ते यद्युपवासादिना महता कायक्लेशेन देवगतयः केचन भवन्ति, तथाऽपि ते आसुरीयेषु स्थानेषु किल्बिषिकेपूत्पद्यन्ते इत्यादि सर्वे पूर्वोक्तं भणनीयम्, यावदेकान्तमिथ्याभूतं सर्वथैतदसाध्विति तृतीयस्थानस्य मिश्रकस्यायं विभङ्गो विभागः स्वरूपमाख्यातमिति। उक्तान्यधर्ममिश्रस्थानानि। साम्प्रतं तेनाश्रिताः स्थानिनोऽभिधीयन्ते। यदि वा प्रकृतमेवान्येन प्रकारेण विशेषतरमुच्यते इति संगत्याऽग्रिममालापकत्रयं योजितम्-" अहावरे पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा०संतेगइआ मणुस्सा भवंति-गिहत्था महिच्छा महारम्भा महापरिग्गहा अधम्मिया अधम्माणुआ अधम्मिट्ठा अधम्मक्खाई अधम्मपलोई अधम्मपावजीविणो अधम्मपलज्जणा अधम्मसीलसमुदायारा अधम्मेणं चेव वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति । हण छिंद भिंद विगत्तगा लोहिअपाणी चंडा रुद्दा खुद्दा साहस्सिआ उक्कंचणवंचणमायाणियडिकूडकवडसाइसंपओगबहुला दुस्सीला दुव्वया दुप्पडिआणंदा असाहु सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वओ कोहाओ० जाव मिच्छादंसणसल्लाओ अप्पडिविरया सव्वओ ण्हाणुम्मद्दणवण्णगंधविलेवणसद्दफरिसरसरूवगंधमल्लालंकाराओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ सगडरहजाणजुग्गगिल्लिथिल्लिसिआ संदमाणिया सयणासणजाणवाहणभोगभोअणपवित्थरविहीओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए०जाव सव्वाओ कूडतुलकूडमाणाओ अप्पडिविरया०सव्वाओ आरंभसमारंभाओ अप्पडिविरया०सव्वाओ करणकारणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ पयणपायणाओ अप्पडिविरया०सव्वाओ कुट्टणपिट्टणतज्जणतालणवहबंधणपरिकिलेसाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए जे आवन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिआ कम्मंता परपाणपरिआवणकरा जे अणारिएहिं कज्जंति तओ वि अप्पडिविरया जावज्जीवाए, से जहाणामए केइ पुरिसे कलमसूर० जाव एवमेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गढिआ अज्झोववण्णा० जाव वासाइं चउपंचमाइं वा छद्दसमाइं वा अप्पतरो वा भुज्जतरो वा कालं भुंजित्तु भोगभोगाइं पविसुइत्ता वेरायतणाइं संचिणित्ता बहूइं पावाइं कम्माइं उस्सण्णाइं संभारकडेण कम्मुणा से जहाणामए अयगोलए वा सेलगोलए वा उदगंसि पक्खित्ते समाणे उदगतलमइवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवति । एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाते वज्जबहुले धूतबहुले० जाव अयसबहुले उस्सण्णतसपाणघाई कालमासे कालं किच्चा धरणितलमइवइत्ता अहे णरगतलपइट्ठाणे भवति । तेणं णरगा अंतोवट्टा बाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणसंठिया णिच्चंधयारतमसा ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसप्पहा मेदवसामंसरुहिरपूयपडलचिक्खल्ललित्ताणुलेवणतला असुई वीसा परमदुब्भिगंधा० जाव असुभा णरगा असुभा णरएसु वेदणाओ। नो चेव णं णरगेसु नेरइआ णिद्दाइंति य पलायंति वा सूतिं वा रतिं वा धितिं वा मतिं वा उवलभंते, तेणं तत्थ उज्जलं विउलं पगाढं कडुअं कक्कसं चंडं दुक्खं दुग्गं तिव्वं दुरहिआसं णेरइआ वेयणं पच्चणुब्भवमाणा विहरंति। से जहाणामए रुक्खसिया पव्वयग्गे जाए मूले छिन्ने अग्गे गरुए जओ णिन्नं जतो विसमं जतो दुग्गं ततो पवडंति, एवमेव तहप्पगारे पुरिसजाए गब्भाओ गब्भं जम्माओ जम्मं माराओ मारं णरगाओ णरगं दुक्खाओ दुक्खं दाहिणगामिए णेरइए कण्हपक्खिए आगमिस्साणं दुल्लहबोहिए आवि भवइ, एसठाणे अणारिए अकेवले० जाव असव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतमिच्छे असाहू पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए। अहावरे दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ-इह खलु पाईणं वा० संतेगइआ मणुस्सा भवंति। तं जहा-अणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणुगा धम्मट्ठा० जाव जे आवन्ने तहप्पगारा सावज्जा अबोहिआ कम्मंता परपाणपरियावणकरा कज्जंति,तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए,से जहाणामए अणगारा भगवंतो इरिआसमिआ भासासमिआ अणगारवण्णओ० जाव सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्का चिट्ठंति । तते णं एएणं विहारेणं विहरमाणा बहुइं वासाइं सामण्णपरिआगं पाउणंति बहु २ आबाहंसि वा उप्पण्णंसि वा अणुप्पण्णंसि वा बहुइं भत्ताइं पच्चक्खित्ता बहुइं भत्ताइं अणसणाहिं छेदंति २ जस्सट्ठाए कीरइ णग्गभावे मुंडभावे अण्हाणभावे अदंतवणगे अछत्तए अणुवाहणए भूमिसेज्जाफलगसेज्जा० जाव केसलोए बंभचेरवासे परघरप्पवेसे लद्धा अलद्धामाणावमाणणाओ हीलणाओ णिंदणाओ गरहणाओ खिंसणाओ तज्जणाओ तालणाओ उच्चावया गामकंटया बावीसं परीसहोवसग्गा अहिआसिज्जंति तमट्ठमाराहेंति, तमट्ठमाराहेत्ता चरमेहिं उस्सासनीसासेहिं अणंतं अणुत्तरं निव्वाघायं निरावरणं कसिणं पडिपुण्णं केवलवरनाणदंसणं समुप्पाडेंति, समुप्पाडेत्ता तओ पच्छा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिनिव्वायंति०जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेंति,एगच्चाए पुणएगे भयंतारो भवंति अवरे०पुव्वकम्मावसेसेणं कालमासे कालं किच्चा अणुत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति, तं जहा-महड्डिएसु०जाव महिड्डीया महज्जुइआ०जाव महासुक्खाहारविराइअवत्था कडगतुडिअथंभिअभुया पयकुंडलमट्ठगंडयलकण्णपीठधारी विचित्तवत्थाभरणा विचित्तमालामउलिमउडा कल्लाणगंधपवरवत्थपरिहिआ कल्लाणगपवरमल्लाणुलेवणधरा भासुरबोंदीपलंबवणमालधरा दिव्वेणं रूवेणं दिव्वेणं वण्णेणं दिव्वेणं फासेणं दिव्वेणं संघाएणं दिव्वेणं संठाणेणं दिव्वाए इड्डिए दिव्वाए जुईए दिव्वाए पभाए दिव्वाए छायाए दिव्वाए अच्चाए दिव्वेणं तेएणं दिव्वाए लेसाए दसदिसाओ उज्जोवेमाणा पभासेमाणा गतिकल्लाणा ठितिकल्लाणा आगमेसिं भद्दया वि भवंति, एसट्ठाणे आरिए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू दोच्चस्स ठाणस्स धम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिए। अहावरे तच्चस्स ठाणस्स मीसगस्स विभंगे एवमाहिज्जइ,इह खलु पाईणं वा०संतेगइआ मणुस्सा भवंति। तं जहा-अप्पेच्छा०जाव सुपडिआणंदा साहु०जाव परपाणपरितावणकरा कज्जंति, तओ वि एगच्चाओ अप्पडिविरया से जहाणामए समणोवासगा भवंति। अभिगयजीवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा० जाव अप्पाणं भावेमाणा विहरंति । तेणं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा बहुइं वासाइं समणोवासगपरिआयं पाउणेंति, पाउणेत्ता आबाहंसि उप्प-

मंसि वा अणुप्पमंसि वा बहुइं भत्ताइं अणसणाए पच्चक्खाएंति, पच्चक्खाएंतित्ता बहुइं अणसणाइं छेदेंति, छेदेंतित्ता आलोइअपडिकंता समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा अन्नयरेसु देवलोएसु उववत्तारो भवंति । तं जहा-महड्डिएसु महज्जुइएसु० जाव महासुखेसु सेसं तहेव० जाव एसट्ठाणे आयरिए० जाव एगंतसम्मे साहू तच्चस्स ठाणस्स मिस्सगस्स विभंगे एवमाहिए" त्ति । अथ स्थानत्रयमुपसंहारद्वारेण संक्षेपतो विभणिषुराह-"अविरइं पडुच्च बाले आहिज्जइ, विरइं पडुच्च पंडिए आहिज्जइ, विरयाविरतिं पडुच्च बालपंडिए आहिज्जइ, तत्थ णं जा सा सव्वतो अविरतिए एसट्ठाणे आरंभठाणे अणारिए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, तत्थ णं जा सा सव्वतो विरताविरती एसठाणे आरंभाणारंभठाणे एसठाणे आरिए० जाव सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे एगंतसम्मे साहू, एवामेव समणुगम्ममाणा इमेहिं चेव दोहिं ठाणेहिं समो अवतरंति । तं जहा-धम्मे चेव अधम्मे चेव उवसंते चेव अणुवसंते चेव ।" (सूत्र० २ श्रु० २ अ०) आह च-मिश्रपक्षो मिथ्यादृशामधर्मपक्ष एव, सम्यग्दृशां श्राद्धानामपि स धर्मपक्ष एवेति व्यक्तं फलतः प्रतीयते, साधुश्राद्धमार्गयोः सर्वदुःखप्रक्षीणमार्गत्वात् । यथा च मिथ्यादृष्टेः द्रव्यतो विरतिरपि सम्यक्त्वाभावादविरतिरेव बालशब्दव्यपदेशनिबन्धनं स्यात्, तथा सम्यग्दृष्टेः धर्मकर्मणि द्रव्यतोऽविरतिरपि विरतिकार्यांशिकपाणिमत्यव्यपदेशप्रतिबन्धिका न स्यात्, द्रव्यतयैव निष्फलत्वादिति सूक्ष्ममीक्षणीयम । अविरतिविषयाणामष्टदशानामपि स्थानानामेकतरांशस्य सत्त्वेऽपि तत्प्रतिपक्षस्य धर्मांशस्योत्कटत्वे धर्मपक्ष एव विजयते; अन्यथाऽविरतिसम्यग्दृष्टिकस्याऽपि पक्षस्य स्थानं न स्यात् । ततश्च यन्निष्कृष्योक्तम्-"तत्थ णं जे से पढमस्स ठाणस्स अहम्मपक्खस्स विभंगे एवमाहिज्जइ तस्स णं इमाइं तिन्नि तेवट्ठाइं पावाओ असयाइं भवंति त्ति अक्खाइयं । जहा-किरियावाईणं, अणाणियवाईणं, वेणइअवाईणं ति " तद्विमर्शे परस्य गगनमालोकनीयं स्यात् । न हि तीर्थंकरदृष्टानुगत आचारो धर्मः स्वसमयानुगतश्च धर्मः प्रतीयते इति ॥ ए० ॥

एतत्सर्वमभिप्रेत्य भक्तिरागप्रतिबन्धाद् द्रव्यस्तवे धर्मपक्षबलात्परमङ्गीकारयन्नाह-

हिंसांशो यदि दोषकृत्तव जड ! द्रव्यस्तवे केन त-
न्मिश्रत्वं यदि दर्शनेन किमु तद्भोगादिकालेऽपि न ।
भक्त्या चेत् न तु साऽपि का यदि मतो रागो भवाङ्गं तदा-
हिंसायामपि शस्तता तु सदृशीत्यत्रोत्तरं मृग्यते ॥ए१॥

(हिंसांश इति) हे जड ! यदि द्रव्यस्तवे हिंसांशो दोषकृन्मिश्रत्वकृत, तदा केन तन्मिश्रत्वं कृतं स्यात् ?। चेत् यदि-भक्त्या मिश्रत्वं त्वयोच्यते तर्हि साऽपि भक्तिरपि रागो मतस्तदा भवाङ्गम्, रागद्वेषयोरेव संसारमूलत्वात्तदाऽऽभ्यां संसारान्तर्गताभ्यां धर्मपक्षश्चोत्कटः स्यादिति को मिश्रावकाशः?, प्रशस्तरागत्वाद्भक्तिर्भवाङ्गमिति चेत्, तर्हि द्रव्यस्तवानुगतहिंसायामपि शस्तता सदृशी; अत्र तव किमुत्तरमिति मृग्यते?, अत्र च सम्यगुत्तरं वर्षसहस्रेणापि न परेण दातुं शक्यमिति मोक्षार्थिभिरस्मदुक्त एव पन्थाः श्रद्धेयः । एतेन षट्पुरुषीप्रदर्शनेन श्रमणोपासकानां न द्रव्यस्तवाधिकार इति कापुरुषस्य पार्श्वस्थस्य मतं निरस्तम् । एवं हि तत्-सर्वतो विरतः१, अविरतः २, विरताविरतः ३, सर्वतो विरताविरतः ४, श्रमणोपासको देशविरतः ५, सर्वविरतश्च ६ इति तावत् षट् पुरुषा भवन्ति । तत्र सर्वतो विरतः स उच्यते, यः कुगुरुकुदेवकुधर्मश्रद्धावान् सम्यक्त्वलेशेनाऽप्युत्सृष्टमनाः, यमुद्दिश्य-" इह खलु पाइणं वा० ४ संतेगइआ मणुआ भवंति । तं जहा महिच्छा महारंभा " इत्यादि सूत्रं वृत्तम ।१। अविरतस्तु स उच्यते, यः सम्यक्त्वालङ्कृतोऽपि मूलोत्तरभेदभिन्नो विरतिं पालयितुमसमर्थो जिनप्रतिमामुनिवैयावृत्यकरणाशातनापरिहारादिना भूयः प्रकटितभक्तिरागः ।२। विरताविरतश्च स उच्यते, यः पूर्णसम्यक्त्वाभाववानपि स्वोपचितान् सर्वव्रतनियमान् बिभर्ति । ३ । सर्वतो विरताविरतश्च स उच्यते, यस्य मनसि " तमेव निस्संकं णीसंकं, जं जिणेहिं पवेइअं ।" इति परिणामः स्थिरो भवति, परं मनसः प्रमादपारतन्त्र्याद् भूम्ना साधुसङ्गमाभावात्परिपूर्णं जिनभाषितं न जानीते, कुलक्रमागतां च विरतिं पालयति, पूर्वं संयमज्ञानाभावादारम्भेन जिनपूजां करोति भक्तिरागपारवश्यात् , तत एव संयमवानयमिति वा यावता कृत्स्नेन संयमः पालयितुं न शक्यते तावानेवाविरतिभागः श्रुते भणित इति । यमुद्दिश्येदं सूत्रम्-" इह खलु पाइणं वा संतेगइआ मणुआ भवंति । तं जहा-अप्पिच्छा अप्पारंभा " इत्यादि । चतुर्थभङ्गस्त्वविरत्यपेक्षया स्तोकस्याविरत्या तृतीयो भङ्ग इति विवेकः ॥ ४ ॥ श्रमणोपासको देशविरतश्च स उच्यते, यः श्रमणोपासनमहिम्ना प्रतिदिनप्रवर्द्धमानसंवेगो यावज्जीवं सूक्ष्मबादरादिभेदपरिज्ञानवान् तत एवास्थिमज्जप्रेमानुरागरक्तचित्तो देशविरतिं गृहीत्वा पालयति सम्यक्त्वसहितव्रतप्रहोत्तमभङ्गरङ्गभोजयकालमावश्यकं कुरुते, स एव संयमं जानीते । उक्तं चानुयोगद्वारसूत्रे-" समणेण सावएण य, अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा । अंतो अहोणिसीए, तम्हा आवस्सयं नाम" ॥१॥ दशवैकालिके च-" जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणइ । जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु णाहिइ संजमं॥" एनमेवोद्दिश्य"-से जहाणामए समणोवासगा भगवंता अभिगयजीवाजीवा" इत्यादि सूत्रं प्रवर्त्तते । अयमेव शुद्धजिनप्रतिमानुचितं संयममाद्रियते, हिंसां परिहृत्य जिनविरहे जिनप्रतिमां पूजयति, संयमज्ञो ह्यसौ षड्जीवहिंसां परिहरति । अत एवोक्तं महानिशीथे-" अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । जे कसिणसंयमविऊ, पुप्फाईअं न कप्पए तेसिं ॥१॥" आवश्यकनिर्युक्तावपि-"जे कसिणसंयमविऊ, पुप्फाईअं ण इच्छंति ।" इत्यत्र साधुश्रावकयोर्द्वयोरविशेषेण कृत्स्नसंयमज्ञत्वपुष्पादिपरिहारेण पूजाधिकारे तावदवस्थयमुक्तम, तत्रैकतरपक्षपातो न श्रेयान्, किं चात्र कारणमिति विचारणीयम । यदीन्द्राभिषेकक्षणे सुपर्वाणोऽहमहमिकमौदारिकजलपुष्पसिद्धार्थादीनि गृह्णन्ति, जिनपूजां तु तेनोपचारेण कुर्वन्तीति सुरपुष्पेष्वत्र संभवोऽज्ञानत्वं च हेतुश्चेद्, हिंसापरिहार एवायं धर्माभ्युदयाय प्रगल्भा, समवसरणे च वैक्रियाण्येव पुष्पाणि देवाः प्रभोरग्रे देशनावसरे व्याकिरन्ति, मण्यादिरचनाप्यचित्तैवोक्ता राजप्रश्नीयोपाङ्गे-"पुप्फवद्दलयं विउव्वंति" इत्यादि नवकमलरचनाप्यचित्तैव ज्ञेया तथामाना, वन्दनाद्यधिकारे पञ्चविधाभिगमविधौ सचित्तद्रव्योज्झनमुक्तमस्ति, जिनभवनप्रवेशेऽपि चैत्यवन्दनभाष्यादावयं विधिरुक्तोऽस्तीति, ततो निरवद्यपूजैव देशविरतस्य संभवतीति श्रद्धेयम । सर्वविरतश्च स उच्यते-यो गृहीतपञ्चमहाव्रतः

समितिगुप्तिसंपन्नो घोरपरीषहोपसर्गसहनदृढशक्तिमान् संन्यस्तसर्वारम्भपरिग्रहः सदानिरवद्योपदेशदाता वाङ्मात्रेणाऽपि सावद्यतन्मिश्रानुमोदकः परमगम्भीरचेताः संप्राप्तभवपार इति। एतद् हताशस्य मतम् । संमूर्च्छिताऽन्येङ्गितघातयतोः सर्वविरताविरतयोरत्यन्तभेदाभावाद् बालत्वव्यपदेशनिबन्धनाविरतेरुभयत्राऽविशेषात् पापस्थानत्वविभाजकोपाधिव्याप्यविषयताका विरतिः सर्वतोऽप्यविरतत्वे द्रव्यतो हिंसादिव्यावृत्तमिथ्यादृष्टिष्वव्याप्तेः, सम्यक्त्वाभावस्यैव सर्वतोऽविरतत्वपरिभाषणे च सम्यग्दृष्टिव्यावृत्तान्यैकभेदानुगुणयाभावात्फलासिद्धेः । किं चैवं सम्यग्दृष्टिरपि मिथ्यादर्शनविरत्यविरतिभ्यां मिश्रपक्षपातः। इष्टापत्तिरत्र-"एगच्चाओ मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरयाए०जाव अप्पडिविरयाए जाओ अप्पडिविरया" इति पाठस्वरसादिति चेत् । न । तस्याकारानाकारादिविषयत्वेन मूलगुणविरत्यभावापेक्षयैवाविरतेर्व्यवस्थापितत्वात्, सम्यक्त्वाभावेन विरतिरेवेति तु कृतमेव भाषितं,का तवाऽऽहोपुरुषिका ?। एतेन तृतीयभङ्गोऽपि विलूनशीर्षः, संपूर्णश्रद्धाने चाविरतेरेवैकस्याः साम्राज्यात् । यत्किञ्चिदर्थश्रद्धाने तु " एकस्मिन्नप्यर्थे संदिग्धेऽर्हति तु निश्चयो नष्टः " इति न्यायात् संपूर्णश्रद्धानाभावान्मिथ्यात्वस्यैवावस्थितेः । चतुर्थे भङ्गे तु सैव मिथ्यादिसंक्षेपरुचिसम्यक्त्वाभावाद्देशतो विरत्या देशविरतिः संपन्नेति कथं वाचोयुक्तिर्यदुत सर्वतो विरताविरतिः ?। ननु देशविरतिविशेषपरिज्ञानाभावेऽपि तादृशसम्यक्त्वेन माषतुषादीनां सर्वविरतिरप्यखण्डा प्रसिद्धेति किमपराद्धं देशविरत्या ?,येनास्य तद्वता न भवेत् । एवं वदतश्च सिद्धान्तलेशमपि नाघ्रातवान् हताशः । तथा चोक्तं भगवत्याम्-" से नूणं भंते ! 'तमेव सच्चं णीसंकं,जं जिणेहिं पवेइअं' ?। हंता गोयमा ! तमेव सच्चं । से नूणं भंते ! एवं मणे धारेमाणे एवं पकरेमाणे आणाए आराहए भवति ?। हंता गोयमा ! तं चेव" त्ति । जीवविशेषपरिज्ञानाभावेन मूलतः सम्यक्त्वाभावोक्तौ षट्कायपरिज्ञानवतोऽपि स्याद्वादसाधनानभिज्ञस्य न सम्यक्त्वमित्युपरितनोद्दिष्टं तव सर्वमिन्द्रजालायते । तदुक्तं सम्मतौ-"छज्जीवनिकाए स-द्दहमाणो न सद्दहइ भावा। हंदी अपज्जवेसुं, सद्दहणा होइ अविभत्ता"।१। प्रकरणोक्तिरियमिति चेत्, किमुत्तराद्धावपि नाराधितां स्पृशति । तदुक्तम्-"दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा। सव्वाहि णयविहीहिं, वित्थररुइ य त्ति णायव्वो" ॥१॥ त्ति । विशेषाभावेऽपि सामान्यास्तिभावयोस्तुल्या । एवं "ए इमं सक्कमागारमावसंतेहिं" इत्यादिनाऽपि न व्यामोहः कार्यः। सूत्रस्य नयगम्भीरत्वाभ्यगतेश्च विचित्रत्वात् । इह तु तव दुस्तरवारिधिबुडनभयं स्यात् । यदेतत् भक्तिरागेण देवपूजाप्रवृत्तावारम्भात् संयमक्षत्या कथं देशविरतित्वेन भक्तिरागेण संजमापरिगणनाद्विरत्याविरतिरेव न देशविरतिरिति, तत्तु महामोहाभिनिवेशेनागणितपरलोकभयस्य तवैव दुस्तरवारिकृताय, असदारम्भपरित्यागेन सदारम्भप्रवृत्तौ शुभयोगः, संयमक्षतिभयाभावात् , भक्तिरागस्य प्रशस्तत्वे दोषाभावात्तस्यैव च दोषत्वेन विदुषोऽपि बलात्प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न हि विद्वानपि रागोत्कट्यादसंयमे न प्रवर्त्तते, श्रमणोपासकानां देशविरतानां पृथग्गुणवर्णनाद्विरताविरतेभ्यस्तेऽतिरच्यन्ते इति चेत्,अहो बालिश ! केनेदं शिक्षितम् ?। किं करुणया विप्रलब्धोऽसि, स्वकर्मणा वा ?। सूत्रे हि-"एगच्चाओ पाणाइवायाओ अपडिविरया जावज्जीवाए"

"एगच्चाओ अप्पडिविरया" इत्यन्वयः। "से जहानामए समणोवासगा भवंति " श्रमणोपासकगुणवतो विरताविरतगुणवद्बोधकत्वस्यैव लाभाद्वस्तुतः श्रमणोपासकपदेन विरताविरतपरिवरणाद् गुणस्थानविशेषावच्छिन्ने शक्तिग्रहतात्पर्यं श्रमणोपासकपदाद् बुद्धिविशेषानुगतैर्गुणविशेषैरेव बोधे विरतपदादपि व्युत्पत्तिविशेषात्तथैव बोधः समभिरूढनयाश्रयणेन विरताविरतश्रमणोपासकपदार्थभेदस्त्वया ऽभ्युपगम्यते चेदेवं घटकुम्भादिपदार्थभेदोऽपि किं नाभ्युपगम्यत एव, परविभाजकोपाधिभेदाप्रयुक्तत्वेन विभागानुकूल इति चेत्, प्रकृतेऽपि दीयतां दृष्टिः, " अकसिणपवत्तगाणं " इत्यादिमहानिशीथप्रवचनाद् द्रव्यस्तवाधिकारिणो विरताविरताः, न देशविरताः इति चेत्, महानिशीथध्वान्तविलसितमेतद्देवानांप्रियस्य । तत्र हि विशिष्य देशविरतकृत्यमेतद्दानादिचतुष्कं तुल्यफलं चेति व्यक्तमुपदर्शितमेवाधस्तात् । यत्तु कृत्स्नसंयमविदां पुष्पाद्यर्चने नाधिकारात् श्रमणोपासका अपि न तदधिकारिण इति तदधिकारित्वेनोक्ता विरताविरता एवेति चेत्, अहो भवान् पामरादपि पामरोऽस्ति, यः कृत्स्नसंयमविद इत्यस्य वृत्तिकृदुक्तमर्थमपि न जानाति । कृत्स्नसंयमाश्च ते विद्वांसो विद्वांस इत्येव हि वृत्तिकृता विवृतमिति । यदि च श्रमणोपासकमहिमलब्धकृत्स्नसंयमपरिज्ञानेन देशविरताः पुष्पाद्यर्चनेनाधिकुर्युः, तदा देवा अपि कृतजिनादिसेवाः पुस्तकरत्नवाचनोपलब्धधर्मव्यवसायाः सम्यक्त्वोपबृंहितनिर्मलावधिज्ञानेनागम्यव्यवहारप्रियाः कथं तत्राऽपि कुर्युः ?। अत एवार्चितपुष्पादिभिरेव ते जिनपूजां कुर्वन्तीति चेत्, अहो लुम्पकमातृष्वसः ! केनेदं तव कर्णे सूचितं, यन्नदीपुष्करिणीकमलादीन्यचित्तान्येवेति सचित्तपुष्पादिना पूजाध्यवसाये द्रव्यतः पापाभ्युपगमेऽचित्तपुष्पादिना ततो भावतः पापस्य दुर्निवारत्वात् महिषव्यापादन इव शौकरिकस्य किमिति मुग्धबन्धनार्थं कृत्रिमपुष्पादिना पूजां व्यवस्थापयसि । एवं हि स्नानजलादिनैवाभिषेकोऽपि वाच्यः, मूलत एव निषेधे किं न भाषसे दुरन्तसंसारकारणं धर्मारम्भशङ्काम ?। तदाहुः श्रीहरिभद्रसूरयः-"असत्थारंभवओ, धम्मेणारंभओ अणाभोगा । लोए पवयणखसा, अबोहिबीयं ति दोसाय ॥ १ ॥ " इन्द्राभिषेके जलादिग्रहणं जिनपूजार्थं तु तत्रत्यस्यैवेत्यत्र तु कारणं मङ्गलार्थत्वनित्यभक्त्यर्थत्वादीनि, मा विप्रियं कुरु, अभिगमवचनं तु योग्यतया भोगाङ्गं सचित्तपरिहारविषयं, यथा घटमाहरेत्यत्र घटपदं योग्यतया छिद्रेतरविषयम् । अन्यथा सबालकस्त्रियो मुनिवन्दने नाभिगच्छेयुः । चैत्यवन्दनभाष्यादौ चाभिगमेऽचित्तद्रव्योज्झनं श्राद्धानां पुष्पादिना पूजाविधानं चोक्तमिति किमुपजीव्य विरोधेनाभिगम इति खड्गच्छत्रोपानत्प्रभृति चिह्नद्रव्यं ध्वजादिरपरित्याज्यं स्यात्, प्रवचनशोभानुगुणाचित्तद्रव्योपादानमेव द्वितीयार्थ इति चेत्, पूजाद्यवसरे तदनुपयोगिसचित्तद्रव्योज्झनमेव प्रथमार्थ इति किं न दीयते दृष्टिः, येन शाकिनीव वाकुवलमेधामन्वेषयसि, पुष्पवद्दलविकुर्वणमपि विकरणमात्रसंपादनार्थम्, अधोवृत्तजलस्थलजपुष्पविकरणस्यैव पाठसिद्धत्वात्पूजाङ्गे सचित्तशङ्का तद्दृष्टान्तेनानेया। एतेन यदुत्प्रेक्षितं जातिसङ्करवता पूजायामादौ पुष्पाद्युपमर्दादधर्म एव, तदनन्तरं शुभभावसंपत्त्या तु धर्म इति धर्माधर्मसंकर एवेति । तन्निरस्तम् । एवं हि यागे हिंसया प्रागधर्ममुत्तराङ्गदानदक्षिणादिना त्वनन्तरं धर्मं वदतः सब्रह्मचारिता-

पातात्, यत्तत्कालीनासंयमोज्झनं शुभभावेनोक्तं तद्विधिभक्त्यन्यतरवैगुण्य एव। अन्यथा स्वरूपासंयमस्य द्रव्यस्तवातिरेकेणोज्झितुमशक्यत्वादनुबन्धिसंयमस्य चाभुद्धवोपहतत्वाद्, द्रव्यस्तवस्याप्रधानत्वमपि स्वरूपत एव विधिभक्तिवशाद्, गुणोपबृंहितभावप्रवृत्तौ भावस्तवस्यैव साम्राज्यात्।

इत्थमेव महाबुद्धिशालिना हरिभद्राचार्येणाऽभिहितं,
तथाऽपि यस्य स्थूलबुद्धेर्मनसि नायाति तद-
नुकम्पार्थं तद्ग्रन्थपङ्क्तिरत्र लिख्यते-

"दव्वथओ भावथओ, दव्वथओ बहुगुणो त्ति बुद्धि सिया।
अनिउणमइवयणमिणं, छज्जीवहिअं जिणा बिंति" ॥१॥

द्रव्यस्तवो भावस्तव इत्यत्र द्रव्यस्तवो बहुगुणः प्रभूततरगुण इति एवं बुद्धिः स्यात्, एवं चेन्मन्यसे इत्यर्थः। तथाहि– किलास्मिन् क्रियमाणे वित्तपरित्यागात् शुभ एवाध्यवसायः, तीर्थस्योन्नतिकरणं दृष्ट्वा तं च क्रियमाणमन्येऽपि प्रतिबुध्यन्ते इति स्वपरानुग्रहः, सर्वमिदं सप्रतिपक्षमिति चेतसि निधाय द्रव्यस्तवो बहुगुण इत्यस्यासारताख्यापनायाह-अनिपुणमतिवचनमिदमिति । अनिपुणमतेर्वचनमनिपुणमतिवचनम्, इदमिति द्रव्यस्तवो बहुगुणमिति गम्यते। किं च-षड्जीवहितमित्यत आह-षड्जीवहितं जिना ब्रुवते षण्णां पृथिवीकायादीनां जीवानां हितं,जिनास्तीर्थकरा ब्रुवते। प्रधानं मोक्षसाधनमिति गम्यते।

किं च षड्जीवहितमित्यत आह-

" छजीवकायसंजमें, दव्वत्थए सो विरुज्झए कसिणो।
तो कसिणसंजमविऊ, पुप्फाईआ ण इच्छंति " ॥१॥

षड्जीवकायसंयम इति, षण्णां जीवनिकायानां पृथिव्यादिलक्षणानां, संयमः संघट्टनादिपरित्यागः षड्जीवकायसंयमः। असौ हि यदि नामैवं ततः किमित्यत आह-द्रव्यस्तवे पुष्पादिसमभ्यर्चनलक्षणे, षड्जीवकायसंयमः,किम्?, विरुध्यते न सम्यक्संपद्यते, कृत्स्नः संपूर्ण इति, पुष्पादिसंलुञ्चनसंघट्टनादिना कृत्स्नसंयमानुपपत्तेः। ततश्चैवं न स्यात्, कृत्स्नसंयमविद्वांस इति, कृत्स्नसंयमप्रधाना विद्वांसस्ततः साधव उच्यन्ते। कृत्स्नसंयमग्रहणमकृत्स्नसंयमविदुषां श्रावकाणां व्यपोहार्थम्। ते किम्?, अत आह-पुष्पादिकं द्रव्यस्तवं नेच्छन्ति, यदुक्तं द्रव्यस्तवे क्रियमाणे सचित्तपरित्यागात् शुभ एवाध्यवसाय इत्यादि, तदपि यत्किञ्चिद्व्यभिचारात् कस्यचिदल्पसत्त्वस्याविवेकिनो वा शुभाध्यवसायानुपपत्तेः। दृश्यते च कीर्त्याद्यर्थमपि सत्त्वानां द्रव्यस्तवे प्रवृत्तिरिति शुभाध्यवसायभावेऽपि तस्यैव भावस्तवत्वादितरस्य च तत्कारणत्वेनाप्रधानत्वमेव, "फलप्रधानाः समारम्भाः" इति न्यायात्। भावस्तवत एव तस्य सम्यक्त्वादिति पूज्यत्वात्तमेव दृष्ट्वा क्रियमाणमन्येऽपि सुतरां प्रतिबुध्यन्ते शैक्षा इति स्वपरानुग्रहोऽपीहैवेति गाथार्थः।

आह-यद्येवं किमयं द्रव्यस्तव एकान्तत एव हेयो वर्तते,
अहोस्विदुपादेयोऽपि। उच्यते-साधुना हेय एव,श्रा-
वकेणोपादेयोऽपि। तथा चाह भाष्यकारः-

" अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो।
संसारपयणुकरणो, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो " ॥ ४२ ॥

अकृत्स्नं प्रवर्तयन्तीति, संयममिति सामर्थ्याद् गम्यते, अकृत्स्नप्रवर्तकाः, तेषां विरताविरतानामिति श्रावकाणामेष खलु युक्तः, एष द्रव्यस्तवः, खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात् युक्त एव। किंभूतोऽयमित्यत आह-संसारप्रतनुकरणः, संसारक्षयकारक इत्यर्थः। द्रव्यस्तवो हेयः प्रकृत्यैवासुन्दरः, स कथं श्रावकाणामपि युक्त इत्यत्र कूपदृष्टान्त इति। " जहा णवणगराइसन्निवेसे केइ पभूयजलाभावतो तण्हाविपरिगता तदपनोदार्थं कूपं खणंति, तेसिं जइ वि तण्हादिया वड्ढति, मट्टिकाकद्दमाईहिं अ मलिणिज्जंति, तहा वि तदुब्भवेणं चेव पाणिएणं तेसिं तण्हाईनां सो अ मलो पुव्वगो य फिट्टइ त्ति, सेसकालं च ते तदन्ने य लोगा सुहभागिणो भवंति, एवं दव्वत्थए जइ वि असंजमो तहा वि तओ चेव सा परिणामसुद्धी भवति। जा तं असंजमोवज्जियं अन्नं च णिरवसेसं खवेति त्ति, तम्हा विरताविरतेहिं एस दव्वत्थओ कायव्वो सुभाणुबंधी पभूतणिज्जराफलो अतिकाऊणम्" इति गाथार्थः।

अत्र हि द्रव्यस्तवभावस्तवक्रिययोः स्वजन्यपरिणामशुद्धिद्वारा तुल्यवन्मोक्षकारणत्वमास्तां तत्फलकालव्यवधानाद्यर्थां तु विशेषः क्रियायाः सत्त्वशुद्धिकारणतावच्छेदकोटौ च प्रणिधानादिना तत्पूर्वकत्वं निवेश्यते "भावोऽयमनेन विना, चेष्टा द्रव्यक्रिया तुच्छा" इति वचनात्। ऋजुसूत्रादेशेनापि क्रियायामतिशयाधानभावेनैवेति या द्रव्यक्रिया तुच्छेति शुभानुबन्धे प्रभूतनिर्जरां जनयेत् सा कथमसंयममिति विचारणीयम्। न चैकत्वात् प्रदीपरूपप्रकाशकार्यद्वयवदुत्पत्तिकारणान्तराननुप्रवेशात् न हि पापपुण्योपादानकारणशुभाशुभाध्यवसायस्थानयौगपद्यं संभवति, तस्मात्कथञ्चित्पद्योत्थयतनासमावेशादेव तत्रासंयमोपपत्तिस्तच्छोधनमपि परिणामशुद्ध्या भवतीति सम्यग्मनस्यनियतं, यथा द्रव्यस्तवस्य गृहाश्रमरूपधर्माधिकारितावच्छेदकासदारम्भकर्मापनयनसदारम्भक्रियाव्यक्तिरिति कूपदृष्टान्तोपादानमत्र, नापवादपदादौ मुनयः,प्रधानाधिकारिण एवाङ्गेऽधिकारादिति तत्त्वम्।

" अयमिति विशदो विचारमार्गः,
स्फुरति हृदि प्रतिभावतां मुनीनाम्।
जडमतिवचनैस्तु विप्रलब्धाः,
कति न भ्रमास्तदहो कलिर्बलीयान् ॥ १ ॥
निजमतिरचितप्रकल्पितेऽर्थे,
विबुधजनोक्तितिरस्क्रियापराणाम्।
श्रुतलवमतिदर्पपामराणां,
स्फुरितमतं समुदीक्ष्य विस्मिताः स्मः ॥ २ ॥
विधिवदनुपदं विमृण्वते ऽपि,
नयगमभङ्गगभीरमाप्तवाक्यम्।
कथमिव मलिनाद्विनिश्चितार्थे,
तदिदमहो न पुनर्जनैर्गृहीतम्? ॥ ३ ॥
शिष्ये मूढे गुरौ मूढे, श्रुतं मूढमिवाखिलम्।
इति शङ्कापिशाचिन्यः, सुखं खेलन्तु वाक्शिशैः ॥ ४ ॥
स्फुटोदर्के तर्के स्फुटमभिनवे स्फूर्जति सता-
मियं प्राचां वाचां न गतिरिति मूढः प्रलपति।
न जानीते चित्रां नयपरिणतिं नापि रचनां,
वृथागर्वग्रस्तभ्रमलमाक्षिप्तमन्वेति विदुषाम् ॥ ५ ॥
शोभते न विदुषां प्रगल्भता,
पल्लवग्रजडसंक्षिपर्षदि।
पञ्जरे बहुबकाकसंकुले,
संगता न हि मरालबालिका ॥ ६ ॥
कृष्णतासिततयोः स्फुटेऽन्तरे,
गीर्गभीरिमगुणे च भेदिनि।

यस्य हंसशिशुकाकशङ्किता,
तं धिगस्तु जननीं च तस्य धिक् ॥७॥
अस्तु वस्तु नयतो यथा तथा,
परिणताय जिनवाग्विदे नमः ।
शासनं सकलपापनाशनं,
यद्वशं जयति पारमेश्वरम् " ॥ ८ ॥ ६१ ॥

(२३) प्रतिमायाः प्रामाण्यनिरूपणम् । अत्रातिदेशेन कुमतशेषं निराकुर्वन्नाह-

एतेनेदमपि व्यपास्तमपरे यत्प्राहुरज्ञाः परे,
पुण्यं कर्म जिनार्चनादि न पुनश्चारित्रवद् धर्मकृत् ।
तद्वत्तस्य सरागतां कलयतः पुण्यार्जनद्वारतो,
धर्मत्वं व्यवहारतो हि जननान्मोक्षस्य नो हीयते॥ ६२ ॥

एतेन शुद्धजिनपूजाया धर्मत्वव्यवस्थापनेन, इदमपि व्यपास्तं निराकृतं, यत् परे अज्ञा अनधिगतसूत्रतात्पर्याः प्राहुः । किं प्राहुः ?, जिनार्चनादि पुण्यं कर्म न पुनश्चारित्रवद् धर्मकृत् धर्मकारणम्; व्यापासनहेतुमतिदेशप्राप्तं स्फुटयति-हि यतः, तस्य जिनार्चनादिकर्मणः, तद्वत् चारित्रवत्, सरागतां रागवत्तां कलयतो रागसहितस्य पुण्यार्जनद्वारतः शुभाश्रवव्यापारकत्वेन मोक्षस्य जननाद् व्यवहारतो धर्मत्वं न हीयते । अयं भावः-जिनार्चनादिकं पुण्यं कर्म स्वर्गादिकामनया करणादिति साधनं न युक्तम्, भ्रान्तकरणे व्यभिचारात् । अभ्रान्तोरिति विशेषणे च विशेष्यासिद्धिः,न हि तादृशा जिनार्चनादिकं स्वर्गाय कुर्वन्ति, किं तु मोक्षायैवेति । अयं च मोक्षायैव तु घटते विशिष्टमतिरुत्तमः पुरुष इति स्वर्गार्थितया विहितत्वादिति हेतुरिति साधिकारिणो विवेकिनः, सर्वत्र मोक्षार्थिन एवार्थसिद्धेः, क्वचित्साधारण्येनैव फलोपदेशाच्च, आह वाचकः-
" जिनभवनं जिनबिम्बं, जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात् ।
तस्य नरामरशिवसुख-फलानि करपल्लवस्थानि ॥१॥ " इति । एतेषामभ्युदयैकफलकत्वं हेतुरप्यस्ति असिद्धेः रागानुप्रवेशेन तत्त्वस्य च चारित्रेऽपि सत्त्वात्, स्वरूपतस्तत्त्वस्य चोभयत्रासिद्धेः; निरवच्छिन्नयत्कर्मावच्छेदेनाभ्युदयजनकता तत्कर्मावच्छेदेत्वर्थचारित्रस्य सरागत्वेनाभ्युदयजनकता, न स्वरूपत इति न दोष इति चेत् । न । द्रव्यस्तवत्वेनापि चारित्रजनकताघटितरूपेणाभ्युदयजनकत्वात्;विजातीययोगत्वेनैव द्रव्यस्तवस्य स्वर्गजनकतेति चारित्रस्यापि तथैव तत्त्वमिति तत्तुल्यतया पुण्यत्वे काक्षतिः । अथ शिवहेतवो न भवहेतवो,हेतुसङ्करप्रसङ्गादिति निश्चयनयपर्यालोचनायां सरागचारित्रकालीना योगा एव स्वर्गहेतवः, तच्चारित्रे घृतस्य दाहकत्वं तद्व्यवहारनयेनैव चारित्रस्वर्गजनकत्वोक्तेरित्यस्ति विशेष इति चेत् । न । द्रव्यस्तवस्थलेऽपि निश्चयतो योगानामेव स्वर्गहेतुत्वं, न मोक्षहेतोर्द्रव्यस्तवस्येति वक्तुं शक्यत्वाद्दानादिक्रियास्वपि सम्यक्त्वानुगमाजिनातिशयेन मुक्तिहेतुत्वात् । तदुक्तं विंशतिकायाम्-"दाणाइआउ एअ-म्मि चेव सुद्धा न हुंति किरिया उ । एयाओ विहु जम्हा, मोक्खफलाओ पराओ य ॥ १ ॥ " अन्यथा च तत्रापि योगानामेव निश्चयतः स्वर्गहेतुत्वमवशिष्यत इति चारित्रं शुद्धोपयोगरूपं योगेभ्यो भिन्नमित्यनुक्तनिश्चयविवेकोपपत्तिः, पूजादानादिकं तु न योगभिन्नमिति तदनुपपत्तिरिति चेत् । न । भावतया पूजादानादेरपीच्छाद्युपयोगरूपत्वात् । अत एव पूजादानादिकं ज्ञानसप्रत्यक्षगम्यो जातिविशेष इति परेऽपि सङ्गिरन्ते । वस्तुतो योगस्थैर्यरूपं चारित्रं महाभाष्यस्वरससिद्धमिति महता प्रबन्धेनोपपादितमध्यात्ममतपरीक्षायामस्माभिः । तथा च स्थिरयोगरूपस्य चारित्रस्य मोक्षहेतुत्वं, तदवान्तरजातीयस्य च स्वर्गहेतुत्वं वैजात्यद्वारा कल्पनीयं तत्पूजादावपि तुल्यमिति ॥ ६२ ॥

आचार्य अप्येनां शंसति । लोकोत्तरलौकिकत्वाभ्यां धर्मपुण्यरूपत्वं तु पूजायामिष्यते इत्याह-

या ज्ञानाद्युपकारिका विधियुता शुद्धोपयोगोज्ज्वला,
सा पूजा खलु धर्म एव गदिता लोकोत्तरत्वं श्रिता ।
श्राद्धस्याऽपि सुपात्रदानवदितस्त्वन्यादृशी लौकिकी-
माचार्या अपि दानभेदवदिमां जल्पन्ति पुण्याय नः॥६३॥

या ज्ञानादेः, आदिना सम्यक्त्वादिग्रहः; उपकारिका पुष्टिकारिणी,विधियुता विधिसहिता, तथा शुद्धोपयोगेन'इमां भवतरणे नाविकरूपां भगवत्पूजां दृष्ट्वा बहवः प्रतिबुध्यन्तां,षट्कायरक्षकाश्च भवन्त्वि'त्यबाधाकारेणोज्ज्वला,सा पूजा खलु भावपूर्विका असंमोहपूर्विका चेति धर्म एव गदिता, यतः लोकोत्तरत्वं श्रिता, एतादृशगुणप्रणिधानात् पूजाया आगमैकविहितत्वात्, कस्याऽपि?, श्राद्धस्याऽपि,किंवत्?,सुपात्रदानवत् । इतस्त्वन्यादृशीं लौकिकीं सामान्यधर्मवचनप्राप्तां , नः अस्माकं, दानभेदवद्दानविशेषवत्, पुण्या जल्पन्ति, इच्छन्ति ।

तदुक्तं बिम्बसाधनमाश्रित्य षोडशप्रकरणे-
" एवंविधेन यद्वि-म्ब कारणं तद्वदन्ति समयविदः ।
लोकोत्तरमन्यदतो, लौकिकमभ्युदयसारं च ॥ १४ ॥
लोकोत्तरं तु निर्वा-णसाधकं परमफलमिहाश्रित्य ।
अभ्युदयोऽपि हि परमो, भवति त्वत्रानुषङ्गेण ॥ १५ ॥
कृषिकरण इव पलालं, नियमादत्रानुषङ्गिकोऽभ्युदयः ।
फलमिह धान्यावाप्तिः, परमं निर्वाणमिव बिम्बात् ॥ १६ ॥ "
(षो० ७ विव०)

एतच्चावाधकं, क्षमाऽऽदिभेदानामप्यलौकिकानामेवोत्तमक्षमणादेवेति सूत्रेण धर्ममध्ये ग्रहणादन्येषामर्थतः पुण्यत्वसिद्धेः लौकिकत्वाभिधानादेवेत्यमुपपन्नम् । आह-" उवगारवगारिविवा-गवयणधम्मुत्तरा भवे खंती । साविक्खं अहरेगं , लोगिगमिहरं तुगं जइणो ॥१॥ " दानविशेषस्य पुण्यत्वं चानुकम्पादानादौ अल्पतरपापबहुतरनिर्जराकारणत्वेन सूत्रोपदिष्टस्य बादादिपुण्यमध्ये प्रोक्तं धर्ममध्येऽपि, तद्वत्पूजाऽपि स्यादिति परमार्थः ॥ ६३ ॥

ननु पूजादानप्रवचनवात्सल्यादिकं सरागकृत्यं,तपश्चारित्रादिकं तु वीतरागकृत्यमिति विविक्तविभागः, तत्राद्यं पुण्यम्, अन्त्यं धर्मः स्यात्,अत एव धर्मपदार्थो द्विविधः,एकः संज्ञानयोगलक्षणो,अन्यः पुण्यलक्षण इति शास्त्रवार्तासमुच्चये हरिभद्रसूरिभिरुक्तं, ततो वाग्भौमिकस्य देवपूजादिकर्मणः कथं धर्मत्वं रोचयामः ?,

तत्राह-

पुण्यं कर्म सरागमप्युदितं धर्माय शास्त्रेष्विति,
श्रुत्वा शुद्धनयं न चात्र सुधियामेकान्तधीर्युज्यते ।
तस्माच्छुद्धतरं चतुर्दशगुणस्थाने हि धर्मं नयः,

किं ब्रूते न तदङ्गतां त्वधिकृतेऽप्यभ्रान्तमीक्षामहे ॥६४॥

(पुण्यं कर्मेति) पुण्यं सरागकर्म,अन्यद्रागकर्म, शास्त्रेषु धर्मापोदितं परिभाषितम्, इति शुद्धनयार्थं श्रुत्वा, न चात्र एवार्थो भिन्नक्रमश्च, नात्रैवेत्यर्थः। सुधियां पण्डितानाम्, एकान्तधीरेकान्ताभिनिवेशो युज्यते, एकनयाभिनिवेशस्य मिथ्यात्वरूपत्वादन्यनयविचारेण तस्य मूलोक्तवचनाच्च "धम्मकंखिए पुण्णकंखिए" इत्यादि धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः, पुण्यं तत्फलभूतं शुभं कर्मेति विवृण्वता वृत्तिकृता साधकफलेच्छाभेदेन भेदेऽपि श्रुतचारित्रभावान्यतरानुगतक्रियाणां धर्मत्वेनैव निश्चययोगव्यवहारनयेनाभ्युपगमत्वात्, शुभजिह्विकया स्वर्गादीच्छाया अप्युपेयमोक्षेच्छाव्याघातकत्वेनाऽदोषत्वात्। प्रयाणभङ्गाभावेन शाश्वतसुखसमो हि सम्यग्दृशां स्वर्गलाभ इति योगमर्मविदः। यद्वोक्तम्-निश्चय एव रुचिः,साऽपि न युक्ता। हि यतः,तस्मादुक्तावान्तरनिश्चयात् (शुद्धतरामिति) शुद्धो नयो निश्चयः, चतुर्दशगुणस्थाने तच्चरमसमये इत्यर्थः। किं धर्मं न ब्रूते, तथा चैकान्ताभिनिवेशो ततोऽर्वाग् सर्वत्राप्यधर्मः स्यात्। स चातिष्टुस्तत्राऽपीति भावः। शुभः निश्चयाऽभिमतधर्माङ्गभावेन प्रागपि धर्मं व्यवहारनयेनाऽभ्युपगतो "उभयक्खयहेऊओ, सेलेसीचरमसमयभावी जो। सेसो पुण णिच्छयओ, तस्सेव य साहगो भणिओ" ॥१॥ इति धर्मसंग्रहणीप्रतीकपर्यालोचनादिति चेत्, तर्हि त्यक्तस्त्वया एकान्ताभिनिवेशः, आयातोऽसि मार्गेण, प्रत्यपायस्य द्रव्यस्तवेऽपि निश्चयधर्मप्रसाधकतया व्यवहारधर्मत्वं,मा भूत्तव भ्रान्तिकृद्दूरासन्नत्वादिति भावः। प्रस्थकादिभावः प्रस्थकादिदृष्टान्तभावितविचित्रनैगमनयप्रवृत्तेश्चासद्धेतुत्वात्। तदाह-तदङ्गतां तु शुद्धनिश्चयाभिमतधर्माङ्गतां तु,अधिकृते द्रव्यस्तवेऽपि,अभ्रान्तं भ्रान्तिरहितमीक्षामहेऽतो विशेषदर्शितामस्माकं वचनेनैव त्वयैतत् तत्त्वं ध्येयमित्युपदेशो तात्पर्यम्। अयं च निश्चयनयः परिणतिरूपभावग्राहककाष्ठाप्राप्तैवंभूतरूपः, येन शैलेशीचरमक्षणे शुद्धो धर्म उच्यते, अर्वाक् तु तदङ्गतया व्यवहारान् कुर्वद्रूपत्वेन हेतुताऽभ्युपगमश्चास्यर्जुसूत्रतरुप्रशाखारूपत्वात्। आह गन्धहस्ती-"मूलनिमेणं पज्जव-णयस्स उज्जसुअवयणविच्छेदो। तस्स उ सद्दाईआ साहपसाहासुहुमभेया" ॥ १ ॥ उपयोगरूपं भावग्राहकनिश्चयनयस्तु द्रव्यस्तवकाविशुद्धं धर्मस्वातन्त्र्येणैवाभ्युपैति, रागाद्यकलुषस्य वीतरागगुणक्षयात्मकस्य धर्मस्य तदाप्यानुभविकत्वात्, तन्मते हि शुद्धोपयोगो धर्मः,शुभाशुभौ पुण्यपापात्मकाविति। यैरप्यात्मस्वभावो धर्म इत्युच्यते,तेषां यदि घटादिस्वभावो घटत्वादिधर्म इति मतं तदाऽनादित्वेनापुरुषार्थत्वापत्तिः। यदि तु स्वकीयो नागन्तुकोऽनुपाधिर्भावो धर्म इति, तदा वर्त्तमानः स्वकीयः शुभः परिणाम ऋजुसूत्रविषयः स जिनपूजायामप्यक्षत इति कथं न तत्र निश्चयशुद्धो धर्मः?, शब्दनयेन सामायिकवद्देशविरतानां धर्मो नेष्यत इति चेत्,किं तावता समभिरूढेन षष्ठगुणस्थानेऽप्यनभ्युपगमाद्बहिःपरिणतोऽयःपिण्डो वह्निरिति तद्भावपरिणत आत्मैव धर्मः, स्वभावपदप्रवृत्तिरपि तत्रैव स्वो भावः पदार्थ इति व्युत्पत्तेः। आह च-" परिणमविनेण दव्वं, तक्कालं तम्मयं ति पण्णत्तं। तम्हा धम्मपरिणओ, आदो धम्मो मुणेअव्वो "॥१॥ इति। एतदप्यधिकृते संबन्धमेव इदं तु वितन्यते, आत्मनो धर्मिणो द्रव्यस्य निर्देशे धर्मद्वारा धर्मत्वम्, अन्यथाऽऽराध्यत्वमितिसंकरः कथं वारणीयः, प्रशान्तवाहिताख्यस्य पर्यायप्रवचनस्यैव निवेशे तु प्रागुक्तो भेदधर्मः किं द्रव्यं पर्यायो वेति जिज्ञासायामित्थमुच्यते इति चेल्लक्षणाधिकारि नेदमुपयोगि, न चिन्ताधिकारि, नयद्वयनिर्देश एव युक्तैकनयनिर्देशः तूभयनिग्रहस्थानप्रसङ्गात्। यथोक्तं भगवता भद्रबाहुस्वामिना सामायिकमधिकृत्य-" किं द्दारे जीवो गुण-पमिवन्नो णयस्स दव्वट्ठियस्स। सामाइअ सो चेव पज्जवणयट्ठियस्स एस गुणो ॥" त्ति। एतदर्थप्रपञ्चोऽकृतानेकान्तव्यवस्थायाम्, एकनयेनैव धर्मलक्षणे चाभिधातव्ये व्यवहारनयेन तत्प्रणयनमुचितं, निश्चयनयाभ्यां प्रत्ययपरिणामैकान्तपरिणामकत्वेन दुष्टत्वात्। अत एव मूढ " तइअं कालियं " इत्याद्युक्तं, सर्वाशङ्कानिराकरणाय च नयद्वयेन तत्प्रणयनं न्याय्यं,यथा प्रमादयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसेति तत्त्वार्थशास्त्रे हिंसालक्षणमभिहितम्, इत्थं विचार्यमाणे च क्रियाहेतुः पुष्टिशुद्धिमच्चित्तं धर्म इति हरिभद्रोक्तं लक्षणमतिव्याप्त्यादिदोषाकलङ्कितं सर्वत्रानुगतं निरवद्यं संगच्छते,अधर्मश्चित्तप्रभव इत्यादि षोमशकं, तद्वृत्तिश्चास्मत्प्रणीता योगदीपिकानाम्नी अनुसरणीया, यावानुपाधिविगमस्तावान् धर्म इत्यप्युभयोपाधिविगमो, नोभयनयानुगतं सर्वत्र सङ्क्रम्यमानं रमणीयमेव। " सेवंतो कोहं च माणं च मायां च लोभं च एस नासगस्स दंसणं" इत्यादिसूत्रमप्यत्र प्रमाणमेव।

" द्रव्यस्तवे तदिह भक्तिविधिप्रणीते,
पुण्यं न धर्म इति दुर्मतिनां कुबुद्धिः।
तत्तद्नयैस्तु सुधियां विविधोपदेशः,
संक्लेशभाग् यदि जडस्य किमत्र चित्रम् ?॥१॥
अधर्मः पूजेति प्रलपति स लुम्पाकमुखरः,
अयन्मिश्रं पक्षं तमनुहरते पाशकुमतिः।
विधिभ्रान्तः पुण्यं वदति तपगच्छोत्तमबुधः,
सुधासारां वाणीमभिदधति धर्मो ह्ययमिति ॥ २ ॥ " ॥ ६४ ॥

गम्भीरविचारे गुरुपारतन्त्र्येणैव फलवत्तां दर्शयन्नुपदेशसर्वस्वमाह-

इत्येवं नयभङ्गहेतुगहने मार्गे मनीषोन्मिषेद्,
मुग्धानां करुणां विना न सुगुरोरुद्यच्छतां स्वेच्छया।
तस्मात्सद्गुरुपादपद्ममधुपः स्वं संविदानो बलं,
सेवां तीर्थकृतां करोतु सुकृती द्रव्येण भावेन वा ॥९५॥

इत्येवममुना प्रकारेण,नया नैगमादयो, भङ्गाः संयोगाः, हेतवश्च उत्कृष्टाद्यपेक्षया दशपञ्चाद्येकावयववाक्यानि, तैर्गहने गम्भीरे, मार्गे स्वेच्छया स्वोत्प्रेक्षया, उद्यच्छतामुद्यमं कुर्वतां मुग्धानां,मनीषा बुद्धिः,सुगुरोः करुणां विना नोन्मिषेदत्र निराकाङ्क्षतया विश्रामे च तस्मात्सद्गुरुपादपद्मे मधुपः सन्, गुर्वाज्ञामात्रवर्त्ती सन्नित्यर्थः। स्वं बलं योग्यतारूपं संविदानो जानन्। परस्मैपदिनः प्रत्ययस्य रूपमिदम्,पराभिसन्धिमसंविदानरत्येत्रेवेति बोध्यम्। द्रव्येण गृही भावेन सुकृती साधुस्तीर्थकृतां सेवां करोतु, यथाधिकारं भगवदाज्ञाकरणस्यैव परमधर्मत्वात् ॥ ९५ ॥

एतत्सर्वं प्रतिमाविषये भ्रान्तमिव दूषणं पुर इव परिस्फुरन्तं हृदयमिवानुप्रविशन्तं सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्तं समापत्त्यैकताभिवोपगतं श्रीशङ्खेश्वरपुराधिष्ठितं पार्श्वपरमेश्वरं संबोध्याभिमुखीकृत्यैव यत्रापि वादी संबोध्यस्तत्राप्यार्थिकी भगवत्संबुद्धिर्मयैवं तन्मतामृतबाह्यो दूष्यत इति स्फुरितैयं पर्यवसन्नेति तत्रैव नयभेदमुपदर्शयति-

सेयं ते व्यवहारजक्तिरुचिता शङ्खेश्वराधीश ! यद् ,
दुर्वादिव्रजदूषणेन पयसा शङ्कामलक्षालनम् ॥
स्वात्माऽऽरामसमाधिबाधितभवैर्नोस्माभिरुन्नीयते,
दूष्यं दूषकदूषणस्थितिरपि प्राप्तैर्नयं निश्चयम् ॥ ७६ ॥

हे श्रीशङ्खेश्वराधीश ! सेयं ते तव उचिता व्यवहारजक्तिः व्यवहारनयोचिता भक्तिः, कृता इत्यर्थः । विधेयप्राधान्यानुरोधात् स्त्रीत्वनिर्देशः । यद् दुर्वादिनां व्रजः समूहस्तद्दूषणरूपेण, पयसा नीरेण, शङ्कारूपमलस्य क्षालनं व्यवहरन्तीति शिष्टाः , परसमयदूषणपूर्वं स्वसमयस्थापनस्य भगवद्यथार्थवचनगुणस्तुत्योपासनं च । तदाहुः श्रीहेमसूरयः-" अयं जनो नाथ ! तव स्तवाय , गुणान्तरेभ्यः स्पृहयालुरेव । विगाहतां किन्तु यथार्थवाद-मेकं परीक्षाविधिदुर्विदग्धः " ॥ १ ॥ उदयनोऽपि सर्वप्रसिद्धमीश्वरमुद्दिश्य उपासनात्वेनैव करणीयतामाह । तदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलौ-तदेवं जातिगोत्रप्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं प्रसिद्धानुभवे भगवति किं निरूपणीयम् ?, तथाऽपि " न्यायचर्चेयमीशस्य, मननव्यपदेशभाक् । उपासनैव क्रियते, श्रवणानन्तरागता "॥ ३॥ यदीयं व्यवहारजक्तिस्तदा निश्चयभक्तिः का ?, उच्यताम्, इत्याकाङ्क्षायामाह-स्वात्मेति । स्वात्मैवाऽऽरामोऽत्यन्तसुखहेतुत्वान्नन्दनवनसदृशः, स्वात्मानमारामयति समन्तात् क्रीमयति तादृशो वा यः समाधिः शुद्धोपयोगरूपः संप्रज्ञातः , अपश्चिमविकल्पनिर्वचनरूपार्थिकोपयोगजनितलेशतो वा संप्रज्ञातो क्षयरूपः, तेन बाधितो बाधितानुवृत्त्या स्थापितः , संसारो यैः, कुतस्तदुन्नियानुगतो वादग्रन्थ इति ध्यानदशायां निश्चयभक्तिस्थितानामस्माकं सर्वत्र समत्वे च परिणामो, व्युत्थाने व्यवहारजक्तौ तु परपक्षदूषणमसंभावनाविपरीतभावनानिरासायैव, एतेन रागद्वेषकालुष्यमित्युचितत्वमात्रं वेदितं भवति ॥ ७६ ॥

अथ साक्षात् स्तुतिमेवाह कतिपयैः-

दर्शं दर्शमवापमव्ययमुदं विद्योतमाना लस-
द्विश्वासं प्रतिमामकेन रहित ! स्वान्ते सदानन्द ! याम् ।
सा धत्ते स्वरसप्रवृत्तवरगुणस्थानोचितामानमद्-
विश्वा संप्रति मामके नरहित ! स्वान्ते सदानं दयाम् ॥७७॥

(दर्शं दर्शमिति) अकेन रहित सर्वदुःखविप्रमुक्त , अत एव सदानन्द ! संप्रति योग्यानन्द, ! ते तव प्रतिमां मूर्तिम् । कीदृशीम्, सद्भावस्थापनामित्यर्थः । यां दर्शं दर्शं दृष्ट्वा २ प्रतिप्रवर्द्धमानशुभपरिणामोऽहम्, अव्ययमुदं विगलितवेद्यान्तरपरब्रह्माऽऽस्वादसोदरशीतरसास्वादमवापं प्रापम्, कुत्र ?, स्वान्ते हृदये , कथम् ?, लसद्विश्वासं लसन् विश्वासो यत्र यस्यां क्रियायाम्, अविश्वस्तस्य रमणीयदर्शनेनापि सुखानवाप्तेर्धर्मेऽपि सविचिकित्सस्य समाध्यलाभात् । तथा परमार्षम्-" विचिकित्सासमावन्नेणं अप्पाणेणं "न लभते समाधिरिति । हे नरहित ! मनुष्यहितकारिन्, ! सा तव प्रतिमा, संप्रति दर्शनजन्यभावनाप्रकर्षकाले, मयि सदानं दयां धत्ते, अभयदानसहितं दयावृत्तिं पोषयति,ज्ञानोत्कर्षस्य निश्चयचारित्रस्य परमेश्वरानुग्रहजनितस्य तदुभयस्वरूपत्वात्,ज्ञानोत्कर्षस्चातिशयिता भावनैवेति । दयां कीदृशीम् ?, स्वरसप्रवृत्तं मनुष्यादिप्रवर्त्तमानं, यद्गुणस्थानं, तदुचितां तदनुरूपाम्, अनुग्राह्यानुग्राहकयोर्ग्ययोर्द्वयोस्तुल्यवृत्तित्वात् । अत एव "अनियोगपरोऽप्यागमः"इति योगाचार्याः। यन्मतपक्षप्रवृत्तौ निश्चयतश्चारित्रवान्, तेन चारित्रं लभ्यते इत्यर्थः । सा कीदृशी ? , आनमद्विश्वा नमन् विश्वो यस्यां सा तथा, अत एव विद्योतमाना विशेषेण भ्राजमाना । यमकालङ्कारः ॥ ७७ ॥

त्वद्बिम्बे विधृते हृदि स्फुरति न प्रागेव रूपान्तरं,
त्वद्रूपे तु ततः स्मृते भुवि जवेन्नो रूपमात्रप्रथा ।
तस्मात् त्वन्मदभेदबुद्ध्युदयतो नो युष्मदस्मत्पदो-
ल्लेखः किञ्चिदगोचरं तु लसति ज्योतिः परं चिन्मयम् ।७८।

त्वद्बिम्बे हृदि विशेषेण धृते सति, प्रागेव सुतरां रूपान्तरमाकारान्तरं,न स्फुरति न स्मृतिकोटिमाटीकते, सदृशादर्शनविधावस्मारके त्वद्बिम्बे तदन्यस्य स्मृतिपथारोहायोगात् , त्वद्बिम्बमेव च तादृशं प्रकृतिरमणीयं, येनान्यबिम्बमेव दृक्पथं नागन्तुं दीयते, कुतस्तरां तदाकारिणि देवत्वम् , उपनीतदोषेणापि प्रावात् ।

अवदानाष्टसहस्रीविवरणे—

" यदेवैतद्रूपं प्रथममिह सालम्बनतया ,
तदेव ध्यानस्थं घटयति निरालम्बनसुखम् ।
रमागौरीगङ्गाबलयशरकुन्तासिकलितं ,
कथं लीलारूपं स्फुटयतु निराकारपदवीम् ॥ १ ॥
अतर्क्या लीलाऽस्येत्यपि कपिकुलाधीतचपल-
स्वभावोद्भ्रान्तत्वं विदधति परीक्षां हि सुधियः ।
न यद् ध्यानस्याङ्गं तदिह भगवद्रूपमपि किं,
जगल्लीलाहेतुर्बहुविधमदृष्टं जनयति ? ॥ २ ॥ " इति

ततस्त्वद्बिम्बालम्बनध्यानानन्तररूपे ध्याते सति भुवि रूपमात्रप्रधानं भवेत्, सर्वेषां रूपाणां ततो निकृष्टत्वात्, सर्वोत्कृष्टत्वेनैव भगवद्रूपस्य ध्येयत्वात् ।

तदाहुः-

"सर्वजगद्धितमतिशय-संदोहसमृद्धिसंयुक्तम् ।
ध्येयं जिनेन्द्ररूपं, सदसि गदनतत्परं चैव ॥ १ ॥
सिंहासने निविष्टं, छत्रत्रयकल्पपादपस्याधः ।
सत्त्वार्थसंप्रवृत्तं, देशनया कान्तमत्यर्थम् ॥ २ ॥
आधीनां परमौषध-मव्याहतमखिलसंपदां बीजम् ।
चक्रादिलक्षणयुतं, सर्वोत्तमपुण्यनिर्माणम् ॥ ३ ॥
निर्वाणसाधनं भुवि , भव्यानामतुलमाहात्म्यम् ।
सुरसिद्धयोगिवन्द्यं, वरेण्यशब्दाभिधेयं च" ॥ ४ ॥ इति

तस्मात् त्वद्रूपध्यानाद् यद् द्रव्यगुणपर्यायसादृश्यं तेन यतस्त्वन्मदभेदबुद्ध्युदयः स्यात् । तदुक्तम्-"जो जाणदि अरहंते"इत्यादि । ततः,युष्मदस्मत्पदोल्लेखो न भवति, ध्यातृध्यानध्येयानां त्रयाणामेकत्वप्राप्तेः । ततः किञ्चिदगोचरं,चिन्मयं ज्योतिः, परमनुपमं, लसति,तद्ध्याने च क्षीणकिल्विषत्वाश्रैश्रयिकद्रव्यगुणपर्यायसाम्यपर्यालोचनायां त्वमहं च लिख्येते, ततश्च भिन्नत्वेन ज्ञातयोरभेदस्यायोग्यत्वाज्ज्ञानयुष्मदस्मत्पदयोर्वेदान्तरीत्याऽखण्डब्रह्मणि जहदजहल्लक्षणायामतुलं यद् निर्विकल्पकसाक्षात्काररूपज्ञानमाविर्भवति, भेदतया, अर्थव्युत्क्रान्ताभेदग्राहिरूपार्थोपयोगेन वा, सोऽयमनालम्बनयोगश्चरमावञ्चकयोगप्राप्तिमाहिम्नि यद्दर्शनाद् भवति,सा भगवत्प्रतिमा परमोपकारिणी,तद्गुणवर्णने योगीन्द्रा अपि न क्षमाः, इत्यावेदितं भवति । ननु कथमर्वाग्दृशां भगवत्प्रतिमादर्शनाज्जातप्रमोदानां प्राणिनां संभवति,इत्यु-

पातज्ञानेन केवलज्ञानादर्वाग् तदभिधानात् । उक्तं च-"प्रागस्मात्तद्दर्शन-मिषुपातमात्रतो ज्ञेयम् । एतद्धि केवलं तद्, ज्ञानं यत्तत्परं ज्योतिः" ॥१॥ इति । सत्यम् । तत्त्वतस्तदानीमेव संभवेऽपि योग्यतया प्रागप्युक्तौ बाधकाभावात् । शुक्लध्यानवत्, योगानुभवश्चात्र साक्षीति किं वृथाऽऽडम्बरेण ॥ ९८ ॥

उक्तमेव भावयन्नभिष्टौति-

किं ब्रह्मैकमयी किमुत्सवमयी श्रेयोमयी किं किमु ,
ज्ञानानन्दमयी किमुन्नतिमयी किं सर्वशोभामयी ।
इत्थं किं किमिति प्रकल्पनपरैस्त्वन्मूर्तिरुद्वीक्षिता,
किं सर्वाविगमेव दर्शयति सद्ध्यानप्रसादान्महः ॥९९॥

किं ब्रह्मैकमयी ब्रह्मैव एकं प्रचुरं यस्यां सा, ब्रह्मणैकमयी ब्रह्मैकमयी, स्वरूपोत्प्रेक्षेयम् । एवमग्रेऽपि किमुत्सवमयीत्यादौ वत्सवादयोऽपि ब्रह्मविवर्ता एव उत्प्रेक्षिताः, तेन नाक्रमदोषः, उत्प्रेक्षिते क्रमस्यातन्त्रत्वात् । यथा मनोराज्यमेव तत्र क्रमप्रवृत्तेः,'ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत्प्रमोदम्' इत्यादाविति बोध्यम् । इत्यमनेन प्रकारेण, किं किमिति प्रकल्पनपरैः कविभिः,त्वन्मूर्तिरुद्वीक्षिता सती, ज्ञानानिवर्तकस्य रूपस्य कुत्राप्यलाभात्, सद्ध्यानप्रसादान्निर्विकल्पकलयाऽधिगमात् किंशब्दमवगच्छति यत्तादृशं महः स्वप्रकाशज्ञानं दर्शयति । उक्तं च सिद्धस्वरूपं परमार्षे-"सव्वे सरा णियट्टंति तक्का जत्थ णावि एज्ज एयइ तत्थ एगाहिश्राश्रो एअप्पइट्ठाणस्स से यन्नेसेण सद्देण रूवेण" इत्यादि स्वतःसिद्धता, तत्र च जिज्ञासेति सकलप्रयोजनमौलिभूतपरब्रह्मास्वादप्रदत्वाद् भगवन्मूर्तिदर्शनं भव्यानां परमहितमिति द्योत्यते ॥ ९९ ॥

प्रार्थगर्भां स्तुतिमाह-

त्वद्रूपं परिवर्तता हृदि मम ज्योतिःस्वरूपं प्रभो ! ,
तावद्यावदरूपमुत्तमपदं निष्पापमाविर्भवेत् ।
यत्रानन्दघने सुरासुरसुखं संपिण्डितं सर्वतो ,
भागेऽनन्ततमेऽपि नैति घटनां कालत्रयीसंभवि ॥१००॥
स्वान्तं शुष्यति दह्यते च नयनं भस्मीभवत्याननं,
दृष्ट्वा त्वत्प्रतिमामपीह कुधियामित्याप्तलुप्तात्मनाम् ।
अस्माकं त्वनिमेषविस्मितदृशां रागादिमां पश्यतां ,
सान्द्रानन्दसुधानिमज्जनसुखं व्यक्तीभवत्यन्वहम् ॥१०१॥
मन्दारद्रुमचारुपुष्पनिकरैर्वृन्दारकैरर्चितां ,
सद्वृन्दाभिनतस्य निर्वृतिलताकन्दायमानस्य ते ।
निस्यन्दात् स्नपनामृतस्य जगतीं पान्तीममन्दामया-
वस्कन्दात्प्रतिमां जिनेन्द्र ! परमानन्दाय वन्दामहे ॥१०२॥

(त्वद्रूपमिति) हे प्रभो ! मम हृदि त्वद्रूपं तव रूपं परिवर्ततामनेकधा येन केन प्रकारेण परिणमतु, कियत् ?, यावद् क्षीणक्लिष्टविषमरूपं रूपरहितं, उत्तमपदं फलीभूतं साधनीभूतमप्रतिपाति, ध्याने नाविर्भवेत्तावत्, उत्तमपदमभिष्टौति-यत्र यस्मिन्नानन्दघने आनन्दैकरसे,कालत्रयीसंभवि सर्वतः संपिण्डितमेकराशीकृतं सुरासुरसुखमनन्ततमेऽपि भागे घटनां नैति,अनन्तानन्तमित्यर्थः। यदार्षम्-"सुरासुरसुहसमत्तं,सव्वद्धा पिंडियं अनंतगुणं । ण वि पावे मुत्तिसुहं-ऽणंतेहि विवेगवग्गेहिं "॥१॥ तथा-"सिद्धस्स सुहो रासी, सव्वद्धापिंडिश्रो जह हविज्जा। सोऽणंतवग्गभइश्रो, सव्वागासेण माइज्जा"॥ अत्र सर्वाद्धासंपिण्डनमनन्तवर्गभजनं, सर्वाऽऽकाशमानं चानन्तानन्तरूपप्रदर्शनार्थं, व्याबाधाक्षयसंजातसुखलवानामत्र मेलनाभावाद्वास्तवस्य निरतिशयसिद्धसुखस्य कालेन भेदस्य कर्तुमशक्यत्वात्,न हि न्यासीकृतधनकोटिसत्ता धनिनः कालभेदेन भिद्यते ।

तदाहुर्यौगिकाः-

" बाबाहक्खयसंजा-यसुहलवभावमेलिज्जा ।
तत्तो अणंतरुत्तर-खयभावो वा तहा पयो ॥ १ ॥
ए उ तह भिन्नाणं चिय, सुहलवाणं तु एस समुदाश्रो ।
ते तह भिन्ना संभा-व खउवसम जाव जं हुंति ॥ २ ॥
ए य तस्स इमो भावो, ण हु सुहं पि हु परं तहा होइ ।
बहुविसलवसंजुत्तो, अमयं पि न केवलं अमयं ॥ ३ ॥
सव्वद्धासंपिंडण-मणंतवग्गभयणं जइत्थ सव्वगो ।
सव्वागासेण माणं, अणंतगुणदंसणत्थं तु ॥ ४ ॥
तिन्नि चिय एस रासी, एगाणं तु ठाविया हुंति ।
हंदि विसेसेण तहा, अणंतयाऽणंतया सम्मं ॥ ५ ॥
तुल्लं च सव्वहेयं, सव्वेसिं होइ कालभेएण ।
जह तं कोडीसत्तं, तह तं णाइसइ सुहुमाणं ॥ ६ ॥
सव्वं पि कोडिकप्पिय-मसमइठवणाइ जं भवे ठवियं ।
तत्तो तस्सुइसामी-ण होइ इह भेअश्रो कालो ॥ ७ ॥
जइ तत्तो अहिगं खलु, होइ सरूवेण किं वि तो भेश्रो ।
ण हु अज्ज वासकोडी, समयाण ा पि सो होइ" ॥८॥

फलस्यानन्दघनत्वेन साधनस्यापि तथात्वं बोध्यम्, इत्थं चारूपध्यानरूपनिरालम्बनयोगायैव रूपस्तुतिरित्यावेदितं भवति । तथा च-"प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनाम्" इत्यादिदर्शनेनाऽपि न व्यामोहः कार्यः, निरालम्बनयोगादर्वाक् स्वल्पबुद्धीनामित्यादि तदधिकारसिद्धेः, सालम्बनयोगसंपादकत्वेनैव तस्याश्चरितार्थत्वात् । अन्यथा केवलज्ञानकालाननुयायि श्रुतज्ञानमप्यनुपजीव्यं स्याद् देवानां प्रियस्येति न किञ्चिदेतदित्यर्थः ॥ १०२ ॥ प्रति० ॥

इति दर्शितं जिनप्रतिमाया आगमोपपत्तिभ्यां युक्तत्वम् ।

(२४) तत्र जिनभवनकारणविधिः-

नमिऊण वद्धमाणं, वोच्छं जिणभवणकारणविहाणं ।
संखेवश्रो महत्थं, गुरूवएसाणुसारेणं ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, वर्द्धमानं महावीरम्, वक्ष्ये भणिष्यामि, जिनभवनकारणविधानमर्हदायतनविधापनविधिम् , संक्षेपतः समासेन,न पुनर्विस्तरतः पूर्वसूरिवत्, महार्थं बृहदभिधेयं,न तु संक्षिप्तत्वेनाल्पसूत्रतयाऽल्पार्थम्, गुरूपदेशानुसारेण आचार्योपदेशानुरूप्येण, न तु स्वोत्प्रेक्षिततया,व्यभिचारित्वाशङ्कया तस्यानादेयताप्रसंगादिति गाथार्थः ॥ १ ॥

'जिनभवनकारणविधानं वक्ष्ये' इत्युक्तं, जिनभवनं च येन कारयितव्यं, तमादौ तावन्निरूपयन्नाह-

अहिगारिणा इमं खलु, कारेयव्वं विवज्जए दोसो ।
आणाभंगाउ च्चिय, धम्मो आणाएँ पडिबद्धो ॥ २ ॥

अधिकारिणा तत्कारणयोग्यतावतैव, इदं जिनभवनम्, खलुरवधारणे । तस्य च प्रयोगः प्रागुपदर्शित एव । कारयितव्यं विधापयितव्यम् । अथ किमित्यधिकारिणैवेत्युच्यते ?, इत्याह-

विपर्यये विपरीतत्वे, अनधिकारिकारण इत्यर्थः । दोषो दूषणमशुभकर्मबन्धलक्षणम् । ननु संसारसरित्तरणतरकाण्डकल्पद्रव्यस्तवविधावपि कथं दोष इत्याह-आज्ञाभङ्गादेव आप्तवचनोल्लङ्घनादेव; आज्ञा चैवं द्रव्यस्तवं प्रति व्यवस्थिता- "अकसिणपवत्तगाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ १ ॥" अथाज्ञाभङ्गेऽपि कथं दोष इत्याह-धर्मो द्रव्यस्तवादिरूपः, आज्ञायामाप्तवचने, प्रतिबद्धो नियतो वर्त्तते यतोऽतस्तद्भङ्गे दोष एव, धर्माभावलक्षण इति गाथार्थः ॥ २ ॥

आज्ञाप्रतिबद्धत्वमेव धर्मस्य दर्शयन्नाह-

आराहणाएँ तीए, पुन्नं पावं विराहणाए उ ।
एयं धम्मरहस्सं, विन्नेयं बुद्धिमंतेहिं ॥ ३ ॥

आराधनया पालनया, पञ्चमीसप्तम्योरेकवचनं व्याख्येयम् । तस्या आज्ञायाः, पुण्यं शुभकर्म भवति । पुण्यं च धर्म एव, तद्धेतुकत्वात् पुण्यस्य । पापमशुभं कर्म भवति । विराधनया तु बाधया पुनः, आज्ञाया एव धर्मनिमित्ततां प्रति पुरस्करणायाऽऽह-एतदनन्तरोक्तमाराधनाविराधनारूपं विधिनिषेधद्वारेण, धर्मरहस्यं कुशलकर्मगुह्यम्, विज्ञेयं ज्ञातव्यम्, बुद्धिमद्भिः पण्डितैः, यतः पारलौकिकेषु विधिष्वाज्ञात एव प्रवृत्तिनिवृत्ती भवतः, प्रत्यक्षादीनां तत्राप्रवृत्तेः, अनाप्तवचनस्य च व्यभिचारित्वादिति । आह च-"यस्मात्प्रवर्त्तकं भुवि, निवर्त्तकं चान्तराऽऽत्मनो वचनम् । धर्मश्चैतत्संस्थो, मौनीन्द्रं चैतदिह परमम् ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ३ ॥

तदेवं जिनभवनकारणविधानाधिकारिणं प्रस्ताव्य तमेव गाथायुग्मेन निदर्शयन्नाह—

अहिगारी उ गिहत्थो, सुहसयणो वित्तसंजुओ कुलजो ।
अक्खुद्दो धिइबलिओ, मइमं तह धम्मरागी य ॥ ४ ॥
गुरुपूयाकरणरई, सुस्सूसाइगुणसंगओ चेव ।
णायाऽहिगयविहाण-स्स धणियमाणप्पहाणो य ॥ ५ ॥

अधिकारी तु योग्यः पुनर्जिनभवनविधौ गृहस्थोऽगारी, न तु साधुः, विशेषप्रतिज्ञारूढत्वात्तस्य । सोऽपि न सामान्यः, इत आह-शुभस्वजनोऽसंक्लिष्टबान्धवः । अशुभस्वजनो हि स्वजनानां लोकधर्मविरुद्धचारित्वेन न शुभभावबृद्धिमवाप्नोति, न च प्रवचनं प्रभावयितुमलम् । एतद् द्वयार्थमेव हि जिनभवनारम्भो विवेकिनामिति । सोऽपि वित्तसंयुतो द्रव्यपतिः; अनीदृशस्य हि तदारब्धमपि न सिद्ध्यति, तदसिद्धौ च खेदभाजनं भवति, पराभ्यर्थनाद्वारेण तत्साधयन्नपि जनहास्यो भवति- "अहो जिनभवनकारणव्याजेनायं कुटुम्बं पुष्णाति" इतिसंभावनाहेतुत्वादिति । सोऽपि कुलजः प्रशस्यकुलजातोऽनिन्द्यकुलजातो वा । अन्यथाविधेन हि विहितं तन्नात्यन्तं लोकादेयं स्यादिति । सोऽप्यक्षुद्रोऽकृपणः, कृपणो ह्यौचित्येन द्रव्यव्ययकरणाशक्तत्वान्न तत्साधनाय, शासनप्रभावनाय चालम् । अथवाऽक्षुद्रोऽक्रूरः । क्रूरेण हि परोपतापित्वाज्जनद्वेष्येण कृतं तदायतनं, तन्मत्सरेण जनद्वेष्यं स्यादिति । सोऽपि धृतिबलिकः चित्तसमाधानलक्षणसामर्थ्ययुक्तः । धृतिबलविहीनो हि द्रव्यव्यये पश्चात्तापान्न पुण्यभाजनं भवति । सोऽपि मतिमान् बुद्धियुक्तः, मतिविहीनो ह्यनुपायप्रवृत्तेर्न दृष्टादृष्टफलभाक् भवति । तथेति समुच्चये । सोऽपि धर्मरागी श्रुतचारित्रलक्षणधर्मानुरक्तः, धर्माननुरागी ह्युक्तगुणकलापोपेतो न जिनभवनविधाने प्रवर्त्तते, प्रवृत्तावपि नाभिप्रेतफलसिद्धिभागिति नासावधिकारी । चशब्दः समुच्चयार्थ एवेति ॥ तथा गुरवः पूज्याः, लौकिका लोकोत्तराश्च । लौकिकाः पित्रादयो वयोवृद्धाश्च, लोकोत्तरास्तु धर्माचार्यादयः । तेषां पूजाकरणे यथोचितविनयाद्यर्चाविधौ, रतिरासक्तिर्यस्य स तथा, गुरुपूजाकरणरतो वा, एवंविधो हि जनप्रियत्वेन ससहायतया समारब्धसाधनसमर्थो भवति । तथा शुश्रूषादिगुणसङ्गत एव च, शुश्रूषा श्रोतुमिच्छा, तदादयोऽष्टौ गुणाः । तद्यथा-"शुश्रूषा श्रवणं चैव, ग्रहणं धारणं तथा । ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं तु धीगुणाः ॥ १ ॥" तैः समन्वित एव च । चैवशब्दौ समुच्चयावधारणार्थौ नियोजितावेव । एवंविधो हि शास्त्रसंस्कृतबुद्धित्वेनोपायज्ञतयेप्सितार्थसाधको भवति । अस्यैव विशेषमाह--ज्ञाता विद्वान्, कस्येत्याह--अधिकृतविधानस्य जिनभवनकारणविधेः; एवंविधेन हि क्रियमाणं तद्विवक्षितार्थसाधकं भवति । तथा धनिकमत्यर्थम्, आज्ञाप्रधानश्चागमपरतन्त्रश्च; एतेन हि तत्कारितं लोकोत्तरक्रियत्वेन निर्वाणाङ्गं भवति । चशब्दः समुच्चयार्थः । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ५ ॥

अथ कस्मादस्यैवं गुणगणो मृग्यत इत्याह—

एसो गुणड्ढिजोगा, अणेगसत्ताण तीएँ विणिओगा ।
गुणरयणवियरणेणं, तं कारिंतो हियं कुणइ ॥ ६ ॥

एषोऽनन्तरोक्तो जिनभवनविधानाधिकारी, गुणर्द्धियोगादनन्तरोक्तगुणश्रीयुक्तत्वात्, अत एव तस्या गुणर्द्धेर्विनियोगात् स्वकीये स्वकीये कार्ये व्यापारणाद्, अत एव गुणरत्नवितरणेन सम्यक्त्वबीजसम्यग्दर्शनादिलक्षणगुणमाणिक्यवितरणेन अनेकसत्त्वानामिति संबन्धनीयम् । तज्जिनभवनं, कारयन् विधापयन्, हितं श्रेयः, करोति विदधाति, अनेकसत्त्वानामात्मनो वेति । अतो हितहेतुत्वाद् गुणगणोऽन्विष्यते । इति गाथार्थः ॥ ६ ॥

गुणरत्नवितरणेनेत्युक्तं तत्पुनरस्य यथा स्यात्तथा दर्शयन्नाह-

तं तह पवत्तमाणं, दट्ठुं केइ गुणरागिणो मग्गं ।
अन्ने उ तस्स बीयं, सुहभावाओ पवज्जंति ॥ ७ ॥

तं जिनभवनकारणाधिकारिणम्, तथा तेन प्रकारेणोक्तगुणानुरूपलक्षणेन, प्रवर्त्तमानं जिनभवनविधौ घटमानम्, दृष्ट्वा उपलभ्य, केचिदेकतमे जीवाः । किंविधाः ?, गुणरागिणो गुणपक्षपातिनः, तदन्येषां मार्गादिप्रतिपत्तेरसंभवात् मार्गं सम्यग्दर्शनादिकं मोक्षपथम्, प्रतिपद्यन्त इति योगः । अन्ये तु मार्गप्रतिपत्तृभ्योऽपरे पुनः, तस्य मार्गस्य, बीजं हेतुप्रवचनप्रशंसादिकम् । कुत इत्याह—शुभभावात् शोभनपरिणामाद् गुणानुरागरूपात्, प्रतिपद्यन्ते समाश्रयन्ति, इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

शुभभावाद् बीजं प्रतिपद्यन्त इति यदुक्तं तत्समर्थनार्थमाह—

जो च्चिय सुहभावो खलु, सव्वन्नुमयम्मि होइ परिसुद्धो ।
सो च्चिय जायइ बीयं, बोहीए तेणणाएणं ॥ ८ ॥

य एव जघन्यादिरूपतयाऽसामान्यः, शुभभावः प्रशस्तपरि-

णामः प्रशंसादिरूपः, खलुर्वाक्यालङ्कारे, सर्वज्ञमते सर्ववेदिप्रवचनविषये, तदन्यविषयस्यातथाविधत्वात् । भवति जायते, परिशुद्धः, न पुनः परानुवृत्त्यादिदूषणोपेतत्वेनापरिशुद्धः, स एवासावेव, परिशुद्धः शुभभाव एव, जायते संपद्यते, बीजमिव बीजं कारणम्, बोधेः सम्यग्दर्शनस्य; अयं चार्थः कथं समर्थनीय इत्याह-स्तेनज्ञातेन चौरोदाहरणेन । तच्चेदम्—

"इहाभूतां नरौ कौ चि-दन्योऽन्यं दृढसौहृदौ ।
युवानौ साहसोपेतौ, चौरौ स्वबलगर्वितौ ॥ १ ॥
भोगलुब्धौ समस्तेच्छा-पूरकद्रव्यवर्जितौ ।
तौ च चौर्यं व्यधासिष्टां, भोगवाञ्छाविमोहितौ ॥ २ ॥
दण्डपाशिकलोकेन, संप्राप्तावन्यदा तकौ ।
नीयमानौ च तौ तेन, वध्यस्थानं तपस्विनौ ॥ ३ ॥
दृष्टवन्तौ मुनीन् मान्यान्, मानिमानवसंहतेः ।
साधूनां सत्क्रियां दृष्ट्वा, तयोरेको व्यचिन्तयत् ॥ ४ ॥
अहो धन्यतमा एते, मुनयो विमलक्रियाः ।
स्वकीयगुणसंदोहात्, जगतां पूज्यतां गताः ॥ ५ ॥
वयं पुनरधन्यानाम-धन्या धनकाङ्क्षया ।
विदधाना विरुद्धानि, वध्यतां प्रापिता जनैः ॥ ६ ॥
धिक्कारोपहतात्मानो, यास्यामः कां गतिं मृताः ।
हीं जाता दुःस्वभावेन, लोकद्वयविराधकाः ॥ ७ ॥
तदेवं साधु साधूनां, वृत्तं वारितकल्मषम् ।
विपरीतो मतोऽस्माक-मस्मात् कल्याणकं कुतः ? ॥ ८ ॥
अन्यः पुनरुदासीनो, भवति स्म मुनीनपि ।
गुणरागादवापैको, बोधिबीजं न चापरः ॥ ९ ॥
ततस्तनुकषायत्वा-द्दानशीलतया च तौ ।
नरजन्मोचितं कर्म्म, बद्धवन्तावनिन्दितम् ॥ १० ॥
मृत्वा च तौ समुत्पन्नौ, कौशाम्ब्यां पुरि वाणिजौ ।
जातौ चानिन्दिताचारौ, वणिग्धर्मपरायणौ ॥ ११ ॥
जन्मान्तरीयसंस्कारा-दाबाल्यात्तयोरभूत् ।
अत्यन्तमित्रताभावो, लोकाश्चर्यविधायकः ॥ १२ ॥
रोचते च यदेकस्य, तदन्यस्यापि रोचते ।
ततो लोके गतौ ख्याति-मेकचित्ताविमाविति ॥ १३ ॥
ततः कुलोचितं कर्म, कुर्वतोर्यान्ति वासराः ।
अन्यदा भुवनानन्दी प्राप्तस्तत्र जिनेश्वरः ॥ १४ ॥
भगवान् श्रीमहावीरः, इक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।
वाग्नीरैर्जनसंताप-शमनेऽम्भोदसन्निभः ॥ १५ ॥
विदधुस्तस्य गीर्वाणाः, व्याख्याभूमिं मनोहराम् ।
तत्राऽसौ धर्ममाचख्यौ, सनरामरपर्षदि ॥ १६ ॥
तमागतं समाकर्ण्य, कौशाम्बीवासिनो जनाः ।
राजादयः समाजग्मु-र्वन्दितुं तत्पदाम्बुजम् ॥ १७ ॥
तावपि श्रेष्ठिसत्सूनू, कुतूहलपरायणौ ।
जनेन सार्द्धमायातौ, जिननायकसन्निधौ ॥ १८ ॥
जिनस्तु देशयामास, मोक्षमार्गं सनातनम् ।
सत्त्वानां सर्वकल्याण-कारणं करुणापरः ॥ १९ ॥
ततस्तयोर्वणिक्सून्वो-रेकस्य तज्जिनोदितम् ।
श्रवणमार्गमायाति, भाव्यतेऽथ स मानसे ॥ २० ॥
स्फाराक्षो मस्तकं धुन्वन्, कर्णपर्णपुटार्पितम् ।
रोमाञ्चितः पिबत्युच्चै-र्जिनवाक्यं यथाऽमृतम् ॥ २१ ॥
तदन्यस्य तदाभाति, बालुकाकवलोपमम् ।
अन्योऽन्यस्य च तौ भावं, लक्षयामासतुस्तराम् ॥ २२ ॥
व्याख्यान्तुवः समुत्थाय, जग्मतुर्भवनं निजम् ।
तत्रैको व्याजहारैवं, यातस्त्वं भावितः किल ॥ २३ ॥
जैनवाचा न चाऽहं भोः !, तदत्र किमु कारणम् ? ।
एकचित्ततयाऽख्याता-वावां लोक इयच्चिरम् ॥ २४ ॥
इदानीमत्र संजातं, विभिन्नं चित्तमावयोः ।
तदत्र कारणं किं स्या-दन्यो वक्ति स्म विस्मितः ॥ २५ ॥
सत्यमेवं ममाप्यत्र, विकल्पः संप्रवर्त्तते ।
केवलं केवली नूनं, निश्चयं नः करिष्यति ॥ २६ ॥
स एव प्रश्नितोऽत्रार्थे, तद्यातास्वस्तदन्तिके ।
एवं तौ निश्चयं कृत्वा, प्रातर्यातौ तदन्तिकम् ॥ २७ ॥
पप्रच्छतुस्तमाराध्यं, विनयेन स्वसंशयम् ।
सोऽप्युवाच पुरैकेन, साधवो वां प्रशंसिताः ॥ २८ ॥
न चान्येन तदेकस्य, जातं बीजस्य तत्फलम् ।
तद्बोधरूपमन्यस्य, बीजत्वेन न चाभवत् ॥ २९ ॥
एवं पूर्वभवायेवां, जिनेनोक्तां सविस्तराम् ।
निशम्यैकस्य संजातं, जातेः संस्मरणं क्षणात् ॥ ३० ॥
ततोऽसौ प्रत्यये जाते, जातः संवेगभावितः ।
भावतश्च जिनोद्दिष्टं, प्रपेदे शासनं शुभम् ॥ ३१ ॥
तत्प्रतिपत्तिसामर्थ्यात्, शुभकर्मानुबन्धतः ।
सिद्धिं यास्यत्यसौ काले, परः संसारमेव हि ॥ ३२ ॥
ततः स्थापितमेतेन, भावो जैनमताश्रयः ।
स्वल्पोऽपि जायते बीजं, निर्वाणसुखसंपदाम् ॥ ३३ ॥
इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

एवं जिनभवनकारणाधिकारी सप्रसङ्गोऽभिहितोऽथाधिकृतमेव जिनभवनविधिमुपदर्शयन्नाह—

जिणभवणकारणविही, सुद्धा भूमी दलं च कट्ठाई ।
भियगाणइसंधाणं, सासयवुड्ढी य जयणा य ॥ ९ ॥

जिनभवनकारणविधिरुक्तशब्दार्थः, किंविध इत्याह-शुद्धा निर्दोषा, काऽसौ ?, भूमिः क्षेत्रं, तथा दलं चोपादानकारणं, किंभूतम् ?, काष्ठादि दारुपाषाणप्रभृति, शुद्धमिति प्रक्रमः । तथा भृतकानां कर्मकराणामनतिसन्धानमवञ्चनं भृतकानतिसन्धानम् । तथा स्वाशयस्य शोभनाध्यवसायस्य, स्वकीयाध्यवसायस्य वा, वृद्धिर्वर्द्धनं स्वाशयवृद्धिः, सा च । तथा यतना च यथाशक्ति गुरुदोषत्यागेतरदोषाश्रयणम्, सा च । चशब्दाः समुच्चयार्थाः । इह भूम्यादीनि जिनभवनविधेरङ्गानीत्यङ्गाङ्गिनोरभेदोपचारात् जिनभवनविधिर्भूम्यादीनीति समानाधिकरणेनोक्तम् । इति द्वारगाथासमासार्थः । पञ्चा० ७ विव० । षो० । ध० । द्वा० ।

शुद्धा भूमिरित्युक्तमतस्तां दर्शयन्नाह—

दव्वे भावे य तहा, सुद्धा भूमी पएसऽकीला य ।
दव्वेऽपीतिगरहिया, अन्नेसिं होइ भावे उ ॥ १० ॥

द्रव्ये द्रव्यमाश्रित्य, भावे भावमाश्रित्य, चशब्दः समुच्चये । तथा तेन वक्ष्यमाणप्रकारेण विशिष्टप्रदेशादिलक्षणेन, किमित्याह-शुद्धा भूमिर्निर्दोषा जिनभवनोचितभूः, द्विविधा भवति । तत्राऽऽद्यां तावदाह-प्रदेशे विशिष्टजनोचितभूभागे, तथा अकीला च शङ्कुरहिता । उपलक्षणत्वादस्थ्यादिशल्यरहिता च,

द्रव्ये द्रव्यतः, शुद्धा भूमिर्भवतीति प्रकृतम् । अथ द्वितीयामाह-अप्रीतिकरहिता अप्रीतिवर्जिता । इहाप्रीतिकशब्दस्यान्येषामित्येतत्पदसापेक्षस्यापि समासः, तथा दर्शनादिति । अन्येषां परेषाम्, भवति वर्तते, भावे तु भावतः पुनः, शुद्धा भूमिरिति प्रस्तुतमेवेति गाथार्थः ॥ १० ॥

विशिष्टजनाऽऽकीर्णप्रदेशे जिनभवनभूमिर्द्रव्यतः शुद्धा भवतीत्युक्तमन्यत्र पुनरशुद्धा भवति, दोषसंभवात् ।

अथैतद्दर्शयन्नाह-

अपदेसम्मि ण वुड्ढी, कारवणे जिणघरस्स ण य पूजा ।
साहूणमणणुवाओ, किरियाणासो उ अववाए ॥ ११ ॥

अप्रदेशे, नञः कुत्सार्थत्वादलाक्षणिकत्वेनाशिष्टजनाकीर्णत्वेन वा कुत्सिते प्रदेशे, (कारवणे त्ति) कारणे विधापने, जिनगृहस्याऽर्हन्निवासस्य, न वृद्धिर्नानुदिनं स्फातिर्भवति, अपलक्षणसामर्थ्याद्सज्जनसामर्थ्याच्च । अत एव न च नैव, पूजा अर्चा तस्य भवति । जिनबिम्बपूजाऽपि जिनभवनपूजा विवक्षिता, बिम्बानां तदाश्रितत्वेनोपचारादिति । तथा साधूनां संयतानाम्, अननुपातोऽनागमनं, चैत्यवन्दनाद्यर्थं वेश्यापिङ्गादिभ्यो धर्मभ्रंशभयात्, अथापतन्ति ते तत्र तदा यद्भवति तदाह्-क्रियानाशः स्वाचारभ्रंशो विटचेष्टादर्शनवचनश्रवणादिभिः साधूनां भवति । तुशब्दः पुनरर्थो भिन्नक्रमश्च । अवपाते तु तत्राऽऽगमने पुनः । इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

तथा-

सासणगरिहा लोए, अहिगरणं कुच्छियाण संपाए ।
आणादीया दोसा, संसारणिबंधणा घोरा ॥ १२ ॥

शासनगर्हा प्रवचननिन्दा,"एवंप्राया एव ह्येते जैनाः, ये वेश्यापाटकमद्यापणपाटकद्यूतखलकमत्स्यबन्धादिपाटकादिषु जिनायतनं विधापयन्ति" इत्येवंरूपा । लोके जनमध्ये,तथाऽधिकरणं कलहो भवति, कुत्सितानां निन्द्यानां मद्यपप्रभृतीनां, संपाते समागमे सति । ते हि निवार्यमाणाः कलहायोत्तिष्ठन्ते । तथा अत्रैवाऽऽज्ञादयः, आज्ञाभङ्गानवस्थाप्यमिथ्यात्वविराधना दोषा भवन्ति । किंभूताः?, संसारनिबन्धनाः भवहेतवः, घोरा दारुणाः । इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

अकीला चेत्युक्तं, तत्र सकीलायां दोषमाह-

कीलादिसल्लजोगा, होंति अणिव्वाणमादिया दोसा ।
एएसि वज्जणट्ठा, जइज्ज इह सुत्तविहिणा उ ॥ १३ ॥

कीलादिशल्ययोगात् शिवकाङ्गारास्थिकप्रभृतिशल्यसंबन्धाद्, भवन्ति जायन्ते, अनिर्वाणादयोऽनिवृत्त्यर्थहान्यर्थासिद्धिप्रभृतयः, दोषा दूषणानि, यस्मादेवं तस्मात्, एतेषामानिवृत्त्यादीनामुक्तदोषाणां, वर्जनार्थं परिहारार्थम्, यत्नं कुर्यात् । इह जिनभवनं प्रति द्रव्यतो भूमिशुद्धौ, सूत्रविधिना तु आगमनीत्यैवोक्तलक्षणयेति गाथार्थः ॥ १३ ॥

द्रव्यतो भूमिशुद्धिरुक्ता, अथ भावतस्तामाश्रित्य यदुक्तमप्रीतिकरहितेति तत्र कारणमाह-

धम्मत्थमुज्जएणं, सव्वस्सापत्तियं ण कायव्वं ।
इय संजमोऽवि सेओ, एत्थ य भयवं उदाहरणं ॥ १४ ॥

धर्मार्थं जिनभवनोद्देशेन कर्मक्षयनिमित्तम्, उद्यतेनोद्यमं कुर्वता, सर्वस्य समस्तस्य जघन्यादिजनस्य, अप्रीतिकमप्रेम, न कर्तव्यं न विधातव्यं, धर्मविरुद्धत्वादस्याप्रीतिनियोगाच्च जिनभवनविधातादिप्रवृत्तौ दीर्घसंसारभाजनं भवन्तीत्यतोऽप्रीतिकरहिता भावतः शुद्धा भवति भूमिरिति हृदयम् । न केवलं जिनभवनविधिरूपं धर्ममिच्छता पराप्रीतिकं न कार्यं, किं तु इत्येवमप्रीतिवर्जनेन, संयमोऽप्याश्रवनिरोधोऽपि, आस्तां जिनभवनम्, श्रेयान् प्रशस्यः, अथ कथमयमर्थः सिद्ध इत्याह-अत्र च इह पुनः, पराप्रीतिपरिहारेण संयमस्य श्रेयस्त्वे प्रत्येतव्ये, भगवान् महावीरः, उदाहरणं ज्ञातम् । उदाहरणप्रयोगश्चैवम्-ये संयमार्थिनस्ते पराप्रीतिकं न कुर्वन्ति, संयमार्थित्वादेव, यथा भगवान् । इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह-

सो तावसासमाओ, तेसिं अप्पत्तियं मुणेऊणं ।
परमं अबोहिबीयं, तओ गओ हंतऽकाले वि ॥ १५ ॥

स भगवान्, यः पूर्वगाथायामुदाहरणतयोक्तः,तापसाश्रमात्पाखण्डिकविशेषनिवासात्, तेषां तापसानाम्, अप्रीतिकमप्रीतिम्, (मुणेऊणं ति) ज्ञात्वा, परममात्यन्तिकम्, अबोधिबीजं सम्यग्दर्शनाभावहेतुम्, ततस्तस्मात्तत्र तापसाश्रमे वर्षावासः कर्तुमारब्धः, गतो निर्गतः, "हंतेति" कोमलामन्त्रणे, प्रत्यवधारणे वा । अकालेऽपि साधूनां विहारासमयेऽपि, प्रावृषीत्यर्थः । विहारकालश्चासौ, यदाह-" नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा पढमपाउसंसि गामाणुग्गामं दूइज्जित्तए । " तथा-" दगवाहल्लत्तणाओ, हरियतणाणं च बीहियाईसु । आयाविराहणाओ, न जई वासासु विहरंति ॥१॥" काल एव किल गच्छन्ति साधव इत्यर्थसंसूचकोऽपिशब्दः, इत्यक्षरार्थः । भावार्थः कथानकगम्यः । तच्चेदम्-

" जिनः श्रीमान् महावीरो, वारितान्तरशात्रवः ।
प्राज्यं राज्यं परित्यज्य, प्रव्रज्यां प्रतिपद्य च ॥ १ ॥
निःसङ्गोऽतिमहासत्त्वः, सत्त्वानां रक्षणोद्यतः ।
ग्रामादिसंकुलां पृथ्वीं, उग्रस्थो विहरन्नसौ ॥ २ ॥
मथुराकाभिधं ग्रामं, संप्राप्तस्तत्र चाश्रयः ।
दूयमानाभिधानानां, पाखण्डिगृहिणामभूत् ॥ ३ ॥
तेषां कुलपतिर्मित्र—मासीद्भगवतः पितुः ।
महावीरमसौ दृष्ट्वा, संभ्रमेण समुत्थितः ॥ ४ ॥
स्नेहादालिङ्गनार्थाय , श्रीजिनस्य ततो जिनः ।
बाहुं प्रसारयामास, तं प्रति प्राक् प्रयोगतः ॥ ५ ॥
सोऽवोचत्सन्ति वेश्मानि, योग्यान्यत्राश्रमे तव ।
ततः कुमार ! तिष्ठ त्व-मत्राथ जिननायकः ॥ ६ ॥
एकां तत्र स्थितो रात्रि-मन्यत्र गतवाँस्ततः ।
गच्छन्तं च जिनं स्नेहा-दवोचत्तापसाधिपः ॥ ७ ॥
यद्यत्र रोचते तुभ्यं, तदागत्य विधीयताम् ।
वर्षावासो जनस्यास्या—नुग्रहार्थं त्वया मुने ! ॥ ८ ॥
मासानष्टौ विहृत्याथ, तं ग्राममगमज्जिनः ।
उपागतासु वर्षासु, मठं चैकमुपाश्रितः ॥ ९ ॥
प्रारम्भे प्रावृषस्तत्र, प्राप्नुवन्ति नवं तृणम् ।
गोरूपाणि मठानां तत्, प्रचखादुः पुरातनम् ॥ १० ॥
तापसा वारयन्ति स्म, तानि ते दण्डपाणयः ।

भट्टारकः पुनस्तानि, निःसङ्गत्वादुपेक्षते ॥ ११ ॥
ततस्ते तापसाः स्वस्य, नायकस्य न्यवेदयन् ।
यथैष भवतामिष्टो, गोभ्यो नावति नो मठम् ॥ १२ ॥
ततः कुलपतिर्गत्वा, बभाण श्रीजिनं प्रति ।
कुमार भो ! न युक्तं ते, मठस्योपेक्षणं यतः ॥ १३ ॥
शकुन्तोऽपि निजं नीडं, रक्षत्येव यथाबलम् ।
ततो गावो निवार्यास्ते, नाशयन्त्यो मठं तकम् ॥ १४ ॥
इत्येवं शिक्षयामास, सपिपासमसौ जिनम् ।
ततः स्वामी तदप्रीतिं, ज्ञात्वा निर्गतवांस्ततः ॥ १५ ॥
प्रावृषोऽतिगते पक्षे, अस्थिकग्राममाययौ ।
अप्रीतिपरिहाराय, यतेतैवं यथा जिनः ॥ १६ ॥ इति गाथार्थः ॥ १५ ॥

इदमेव निदर्शनमङ्गीकृत्योपदिशन्नाह-

इय सव्वेण वि सम्मं, सक्कं अप्पत्तियं सइ जणस्स ।
णियमा परिहरियव्वं, इयरम्मि सतत्तचिंता उ ॥ १६ ॥

इत्येवं, भगवतेवेत्यर्थः । सर्वेणाऽपि समस्तेनाऽपि, जिनभवनादिविधानार्थिना संयमार्थिना च, न केवलमेकतरेणैवेत्यपिशब्दार्थः । अप्रीतिकं परिहर्त्तव्यमिति योगः । कथं?, सम्यग् भावशुद्ध्या । किंभूतं तदित्याह-शक्यं शक्यपरिहारत्वेन शकनीयं, नाशकनीयमपि, तस्य परिहर्त्तुमशक्यत्वादेव, (अप्पत्तियं ति) अप्रीतिरेवाप्रीतिकं, सकृत्सदा, जनस्य लोकस्य, नियमादवश्यंतया, परिहर्त्तव्यं वर्जनीयम् , इतरस्मिन्नशक्यपरिहारेऽप्रीतिके, स्वतत्त्वचिन्ता तु स्वस्वभावपर्यालोचनमेव विधेयम् ।

तथाहि-

"ममैवाऽयं दोषो यदपरभवे नार्जितमहो,
शुभं यस्माल्लोको भवति मयि कुप्रीतिहृदयः ।
अपापस्यैवं मे कथमपरथा मत्सरमयं,
जनो याति स्वार्थं प्रति विमुखतामेत्य सहसा" ॥ १ ॥

इति गाथार्थः ॥१६॥ व्याख्यातं शुद्धा भूमिरिति द्वारम् । पञ्चा० ७ विव० । द्वा० । षो० ।

अथ दलद्वारमधिकृत्याऽऽह-

कट्ठादी वि दलं इह, सुद्धं जं देवताउववणाओ ।
णो अविहिणोवणीयं, सयं च काराविअं जं णो ॥ १७ ॥

काष्ठादि दारुपाषाणप्रभृतिकम्, अपि शब्दस्योत्तरत्र संबन्धः। दलमपि जिनभवनोपादानद्रव्यम्, अपिशब्दो भूम्यपेक्षया समुच्चयार्थः।(इहेति)जिनभवनविधौ,शुद्धमनवद्यम्,किंविधमित्याह-यदिति दलम्,(देवयाउववणाउ त्ति) इहादिशब्दस्यान्यत्र दर्शनाद्देवतोपवनादेरिति द्रष्टव्यम् । तेन देवतोपवनाद् व्यन्तरकाननात्, आदिशब्दात्तद्भवनादिपरिग्रहः,तदानयने हि तस्याः प्रद्वेषसंभवात्, जिनायतनस्य तत्कारकादीनां व्याघातसंभवादिति । नो नैव, उपनीतमुपहितम्, तथाऽविधिना द्विपदचतुष्पदानां शरीरादिसंतापजननद्वारेण, तथा स्वयं आत्मना च, कारितं कृकच्छेदप्रकाण्डनादिभिर्विधापितम्, यद्दलम्,नो नैव,तत् शुद्धमिति । उक्तं च-"दलमिष्टकादि तदपि च, शुद्धं तत्कारिवर्गतः क्रीतम् । उचितक्रयेण यत्स्या-दानीतं चैव विधिना तु" ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

अथ दलस्यैव शुद्धाशुद्धत्वपरिज्ञानोपायं दर्शयन्नाह-

तस्स वि य इमो णेओ, सुद्धासुद्धपरिजाणणोवाओ ।
तक्कहगहणादिम्मी, सउणेयरसण्णिवातो जो ॥ १८ ॥

तस्य दलस्यापि, चेतिशब्दात् भूमेश्च, अयमेव वक्ष्यमाणः, ज्ञेयः ज्ञातव्यः, शुद्धाऽशुद्धपरिज्ञानोपायो निर्दोषसदोषत्वाधिगमहेतुः, तयोर्दलभूम्योः कथा च ग्रहणाय पर्यालोचो, ग्रहणं च परतः स्वीकरणं. तदादिर्यस्यानयनादेस्तत्तथा तत्र तत्कथाग्रहणादौ, शकुनेतरसन्निपातः साधकासाधकस्वीकृतादिनिमित्तः संबन्धो, यः, स उपाय इति प्रकृतम् । इति गाथार्थः ॥१८॥

शकुनाशकुनयोरेव स्वरूपोद्देशमाह-

णंदादि सुहो सद्दो, भरिओ कलसोऽत्थ सुंदरा पुरिसा ।
सुहजोगाइ य सउणो, कंदियसद्दादि इतरो उ ॥ १९ ॥

नन्द्यादिर्नन्दीप्रभृतिः,तत्र नन्दी द्वादशतूर्यनिर्घोषः । तद्यथा-
"भंभा मउंद मद्दल, कलंब झल्लरि हुडुक्क कंसाला ।
वीणा वंसो पणवो, संखो पणवो य बारसमो" ॥ १ ॥
आदिशब्दात् घण्टाशब्दादिपरिग्रहः । शुभः प्रशस्तः, स्वतन्त्र एव वा सिद्ध इन्द्र इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धः । तथाहि-" सिद्धे इंदे चंदे,सूरनरिंदे तहेव गोविंदे । सेलसमुद्दे गयवस-ह सीह तह मेहसद्दे य" ॥ १ ॥ शब्दो ध्वनिः, तथा भृतो जलपरिपूर्णः कलशो घटः, अत्र व्यतिकरे, सुन्दराः प्रशस्ताकारनेपथ्याः, पुरुषा नराः, शुभयोगादि प्रशस्तचेष्टाप्रभृति, शुभचन्द्रनक्षत्रादि, संबन्धादि वा, चशब्दः समुच्चये । शकुनो विवक्षितार्थसिद्धिसूचकं निमित्तम्, क्रन्दितशब्दादि आक्रन्दध्वनिप्रतिषेधवचनप्रभृति, तु पुनः, इतरोऽशकुन इत्यर्थः । तुशब्दः पुनरर्थः । स च संबन्धित एवेति गाथार्थः ॥ १९ ॥

दलगतमेव विधिशेषमाह-

सुद्धस्स वि गहियस्स, पसत्थदियहम्मि सुहमुहुत्तेणं ।
संकामणम्मि वि पुणो, विसेया सउणमादीया ॥ २० ॥

शुद्धस्याऽपि शकुनसन्निपातेन निश्चितानवद्यत्वस्याऽपि, अशुद्धस्य ग्रहणमेव नास्तीति प्रतिपादनपरोऽपिशब्दः । गृहीतस्य स्वीकृतस्य, दलस्येति प्रकृतम् । कदा गृहीतस्येत्याह-प्रशस्तदिवसे नन्दादिकायां तिथौ, शुभमुहूर्त्तेन भद्राऽऽदिना शुभकालविशेषेण करणभूतेन, संक्रामणेऽपि गृहस्थानात् स्थानान्तरनयनेऽपि, न केवलं ग्रहण एव । पुनरपि भूयोऽपीत्यर्थः । विज्ञेया ज्ञातव्याः, निरूपणीया इत्यर्थः । शकुनादयः शकुनप्रभृतयः, आदिशब्दात शुभदिनादिपरिग्रहः । इति गाथार्थः ॥ २० ॥ गतं दलद्वारम् । पञ्चा० ७ विव० । दर्श० । द्वा० । षो० ।

अथ भृतकानतिसंधानद्वारं प्रतिपादयन्नाह-

कारवणे वि य तस्सिह, भितगाणतिसंधणं ण कायव्वं ।
अवि याहिगप्पदाणं, दिट्ठादिट्ठप्फलं एयं ॥ २१ ॥

कारापणे विधापने, अपि चैत्यस्य समुच्चयार्थत्वाद् दलग्रहणानयनादावपि चेति व्याख्येयम् । तस्य जिनभवनस्य, इह द्रव्यस्तवाधिकारे, भृतकानां कर्मकराणां सूत्रधारादीनाम्, अतिसंधानं वञ्चनं देयद्रव्यापेक्षया, न कर्त्तव्यं नैव विधेयम्, अपि चेति विशेषप्रतिपादनार्थः । अधिकप्रदानं प्रतिपन्नवेतनापेक्षया

समगलतरद्रव्यवितरणम, कर्त्तव्यमिति प्रक्रमः । यतो दृष्टादृष्टफलमुपलक्ष्य प्रयोजनम, एतदधिकप्रदानमिति गाथार्थः ॥ २१ ॥

दृष्टफलप्रतिपादनायाऽऽह-

ते तुच्छगा वराया, अहिगेण दढं उविंति परितोसं ।
तुट्ठा य तत्थ कम्मं, तत्तो अहिगं पकुव्वंति ॥२२॥

ते भृतकाः, तुच्छका अगम्भीराः, वराकास्तपस्विनः, यतोऽतः, अधिकेन प्रतिपन्नवेतनापेक्षया समर्गलेन द्रव्येण, दत्तेनेति गम्यम । दृढमत्यर्थम, उपयान्त्युपगच्छन्ति, परितोषमानन्दम । ततः किमित्याह-तुष्टाश्च हृष्टाः पुनः, तत्र चिकीर्षितजिनभवने, कर्म भृतकोचितव्यापारं, ततोऽधिकदानानन्तरम्, अधिकदानं विना वा कृतं यत्कर्म ततस्तस्मात्सकाशात । अधिकं समर्गलं, प्रकुर्वन्ति विदधति, इति गाथार्थः ॥ २२ ॥

एवं तावदधिकदानस्य दृष्टसाधकतां प्रतिपाद्यादृष्टफलसाधकतां प्रतिपादनायाऽऽह-

धम्मपसंसाएँ तहा, केइ णिबंधंति वोहिबीयाइं ।
अन्ने उ लहुयकम्मा, एत्तो चिय संपवुज्झंति ॥ २३ ॥

धर्मप्रशंसया जिनशासनश्लाघया, तयेत्याधिकदानोद्भवसंतोषप्रभवया, केचिदेके भृतकाः, तदन्ये वा भृतकविषयाधिकदानदर्शनाऽऽवर्जितहृदयाः, निबध्नन्त्युपार्जयन्ति, बोधिबीजानि सम्यग्दर्शनकारणानि, अन्ये तु बोधिबीजबन्धकेभ्योऽपरे पुनर्भृतकाः, तद्दानदर्शिनो वा, लघुकर्माणो बोधिबीजबन्धकापेक्षया अल्पावरणाः, इत एवाधिकदानात, संप्रबुध्यन्ते सम्यग्बोधमुपयान्तीति गाथार्थः ॥ २३ ॥

लोगे य साहुवाओ, अतुच्छभावेण सोहणो धम्मो ।
पुरिसुत्तमप्पणीतो, पभावणा चेव तित्थस्स ॥ २४ ॥

लोके शिष्टजने, चशब्दो गुणान्तरसमुच्चये । साधुवादो वर्णवादो भवति । केनेत्याह-अतुच्छभावेनोदाराशयेन जिनभवनकारयितृगतेन करणभूतेन । किंभूतः साधुवाद इत्याह-शोभनः प्रधानः, उदारत्वाज्जैनानाम । धर्मो जिनप्रवचनरूपः, पुरुषोत्तमप्रणीत उत्तमपुरुषगादितः, तथा प्रभावना उद्भावना, चः समुच्चये । एवमनेन न्यायेन, अनुस्वाराश्रवणं चेह गाथाऽनुलोम्यात । तीर्थस्य जिनप्रवचनस्य भवति । इति गाथार्थः ॥२४॥ उक्तं भृतकानतिसंधानद्वारम ।

अथ स्वाशयवृद्धिद्वारमाह-

सासयवुड्ढी वि इहं, भुवनगुरुजिणिंदगुणपरिण्णाए ।
तब्बिंबठावणत्थं, सुद्धपवित्तीएँ णियमेण ॥ २५ ॥

स्वाशयवृद्धिरपि कुशलपरिणामवर्द्धनमपि, न केवलं भृतकानतिसंधानमित्यपिशब्दार्थः । इह जिनभवनविधाने, भवतीति गम्यम । कथमित्याह-भुवनगुरुजिनेन्द्रगुणपरिज्ञया त्रिलोकगौरवजिनेश्वरसर्वज्ञत्वसंसारकान्तारोत्तारणसामर्थ्यादिगुणपरिज्ञानेन करणभूतेन, तद्बिम्बस्थापनार्थं जिनेन्द्रप्रतिमाप्रतिष्ठानिमित्तं, या शुद्धप्रवृत्तिर्निरवद्यक्रिया, तस्याः शुद्धप्रवृत्तेः सकाशात, नियमेन नियोगेन, इति गाथार्थः ॥ २५ ॥

तथा-

पेच्छिस्सं इत्थमहं, वंदणगणिमित्तमागए साहू ।
कयपुण्णे भगवंते, गुणरयणणिही महासत्ते ॥ २६ ॥

प्रेक्षिष्ये द्रक्ष्यामि, अत्र जिनभवने, अहमित्यात्मनिर्देशो, वन्दनकनिमित्तं चैत्यवन्दनार्थम्, आगतानायातान, स्थानान्तरेभ्यः । साधून मुनीन, कृतपुण्यानुपार्जितशुभकर्मणः, भगवतः परमेश्वरान, गुणरत्ननिधीन ज्ञानादिमाणिक्यनिधानानि, महासत्त्वान सत्त्वाधिकान, इति गाथार्थः ॥ २६ ॥

तथा-

पडिवुज्झिस्संति इत्तं, दट्ठूण जिणिंदबिंबमकलंकं ।
अन्ने वि भव्वसत्ता, काहिंति ततो परं धम्मं ॥ २७ ॥

प्रतिभोत्स्यन्ते बोधिं लप्स्यन्ते, इह जिनभवने, दृष्ट्वाऽवलोक्य, जिनेन्द्रबिम्बं वीतरागप्रतिमाम, अकलङ्कं शस्त्रस्त्र्यादिकलङ्करहितम, अन्येऽप्यस्मत्तोऽपरे, अहं तु प्रतिबुद्ध एवेत्यपिशब्दार्थः । भव्यसत्त्वाः मुक्तियोग्यजीवाः, करिष्यन्ति विधास्यन्ति, ततः परं प्रतिबोधकालात परतः, धर्मं कुशलानुष्ठानमिति गाथार्थः ॥ २७ ॥

ततः किमित्याह-

ता एयं मे वित्तं, जमेत्थमुवओगमेति अणवरयं ।
इय चिंताऽपतिवडिया, सासयवुड्ढी उ मोक्खफला ॥२८॥

यस्मादिह जिनभवने सति तद्बिम्बस्थापनं साधुदर्शनं भव्यप्रतिबोधश्च भविष्यति, तत्तस्माद्धेतोः, एतदिदमेव, अवधारणं च काकुपाठात । मे मदीयम, वित्तं द्रव्यम, अन्यत्परमार्थतः परकीयमेव । यत्किंविधमित्याह-यदत्र जिनभवने, उपयोगं विनियोगम, प्रति याति, अनवरतं सततम, इत्येवं प्रकारा, चिन्ता विकल्पः, अप्रतिपतिता अविच्छिन्ना । किमित्याह-स्वाशयवृद्धिः कुशलपरिणामवर्द्धनम, भवतीति गम्यम । तुशब्द एवकारार्थः, उत्तरत्र च संबन्धोऽस्य । सा च मोक्षफला सिद्धिप्रयोजनैव । इति गाथार्थः ॥ २८ ॥ उक्तं स्वाशयवृद्धिद्वारम् ।

अथ यतनाद्वारमाह-

जयणा य पयत्तेणं, कायव्वा एत्थ सव्वजोगेसु ।
जयणा उ धम्मसारो, जं भणिया वीयरागेहिं ॥२९॥

यतना च जलगालनादिजीवरक्षणोपायविशेषलक्षणा, चशब्दः स्वाशयवृद्ध्यपेक्षया समुच्चयार्थः । प्रयत्नेनात्यादरेण, कर्त्तव्या विधेया, अत्र जिनभवनविधौ, सर्वयोगेषु समस्तव्यापारेषु दलानयनभूशोधनभित्तिचयनादिषु, कस्मादेवमित्याह-यतना तु यथाशक्तिजीवरक्षैव, धर्मसारो धर्मोत्कर्षः, यद्यस्माद्भणिता वीतरागैरर्हद्भिः, इति गाथार्थः ॥ २९ ॥

अथ यतनाया धर्मसारतामेव समर्थयन्नाह -

जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव ।
तव्वुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा ॥ ३० ॥

यतना तु यथाशक्ति जन्तुरक्षणोपाय एव, धर्मजननी कुशलमाता, तथा यतनैव धर्मस्य पालनी, जनितस्य सतः पुनरस्यैवापायेभ्यो रक्षिका, चशब्दः समुच्चयार्थः, एवशब्दोऽवधारणार्थः, तस्य च संबन्धः प्रागेव दर्शितः । तद्वृद्धिकरी धर्मोपचयकरणशीला, यतना, मातेव पुत्रस्य । किं बहुनोक्तेन ?, एकान्तेन सर्वथैव, सुखावहा शर्मप्रापिका, एकान्तसुखाव-

हा, एकान्तसुखं वा सिद्धिसुखं, तदावहा। यतनोक्तलक्षणा, इह च यतनाशब्दस्य पुनः पुनरुपादानं न दुष्टम्, आदरकृतत्वात्। आह च-"वक्ता हर्षभयादिभि-राक्षिप्तमनाः स्तुवँस्तथा निन्दन्। यत्पदमसकृद् ब्रूया-त्तत्पुनरुक्तं न दोषाय ॥ १ ॥" इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

तथा-

जयणाएँ वट्टमाणो, जीवो सम्मत्तणाणचरणाणं ।
सद्धाबोहासेवण-भावेणाराहगो भणितो ॥ ३१ ॥

यतनया करणभूतया, वर्त्तमानो व्याप्रियमाणो, विधियोगेषु यतनायां वा वर्त्तमानः, जीवो जन्तुः, सम्यक्त्वज्ञानचरणानां मोक्षपथानाम, क्रमेण श्रद्धाबोधासेवनानां रुच्यवगमानुष्ठानानां, यो भावः सद्भावः स तथा, तेन यतनायाः श्रद्धाभावेन सम्यक्त्वस्य, बोधभावेन ज्ञानस्य, आसेवनभावेन चरणस्य, आराधकः साधकः, भणितोऽभिहितः, जिनैरिति गम्यते। इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

नन्वस्याः कथञ्चिदारम्भरूपत्वात्कथमनया वर्तमानस्य चरणाराधकत्वं निवृत्तिरूपत्वाच्चरणस्येत्याशङ्क्याऽऽह-

एसा य होइ णियमा, तदहिगदोसविणिवारणी जयणा।
तेण णिवित्तिपहाणा, विसेया बुद्धिमंतेहिं ॥ ३२ ॥

एषा च इयं पुनर्यतना, भवति जायते, नियमादवश्यंतया, तदधिकदोषविनिवारिणी तस्माद्यतनागतारम्भदोषादधिको बहुतरो यो दोष आरम्भान्तररूपस्तं विनिवारयति इति तदधिकदोषविनिवारिणी । येन यस्मात्कारणात्तेन तस्मात्कारणात, निवृत्तिप्रधाना आरम्भान्तरनिवर्त्तनसारा, विज्ञेया ज्ञातव्या इति । बुद्धिमद्भिः पण्डितैः, एषा। इति गाथार्थः ॥३२॥

तामेव स्वरूपेण दर्शयन्नाह-

सा इह परिणयजलदल-विसुद्धिरूवा उ होइ णायव्वा ।
अप्पारंभणिवित्ती-एँ अप्पणाऽहिट्ठणं चेवं ॥ ३३ ॥

सा पुनर्यतना, इह जिनभवनविधाने, अन्यत्र पुनरनीदृश्यपि परिणतं प्रासुकं यज्जलं पानीयं दलं च दार्वादि, तयोर्या विशुद्धिरनवद्यता त्रसरहितत्वादिलक्षणा, सैव रूपं स्वभावो यस्याः सा परिणतजलदलविशुद्धिरूपा । तुशब्दः पुनरर्थः । सा तु सा पुनरित्येवं संबन्धित एव, अवधारणार्थो वाऽयं, तेन एवंविधैव सामान्यरूपा, भवति वर्त्तते, ज्ञातव्या ज्ञेया । तथा अल्पारम्भनिवृत्त्या कृष्याद्यारम्भत्यागेन, आत्मना स्वयमेव, अधिष्ठानं जिनभवनारम्भाणामध्यासनम्, एवं चैषा यतना, भवति ज्ञातव्येति प्रकृतम् । जिनभवनारम्भाणां हि स्वयमधिष्ठायकत्वं प्रतिपन्नो यथोचितं जीवान् रक्षयन् कर्मकराँस्तदारम्भेषु प्रवर्त्तयति, निरधिष्ठायकास्तु ते यथाकथञ्चित्तेषु प्रवर्त्तन्ते, इत्यात्माऽधिष्ठायकत्वं यतना । इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

निवृत्तिप्रधाना यतनेति यदुक्तं, तदेव समर्थयन्नाह-

एवं च होइ एसा, पवित्तिरूवा वि भावतो णवरं ।
अकुसलणिवित्तिरूपा, अप्पबहुविसेसभावेणं ॥ ३४ ॥

एवं चानेन पुनः प्रकारेण परिणतजलाद्याश्रयणाजिनभवनारम्भाधिष्ठायकत्वलक्षणेन, भवति जायते, एषा यतना, प्रवृत्तिरूपाऽपि सती, आस्तामप्रवृत्तिरूपा, भावतः परमार्थेन, नवरं केवलम्, अकुशलनिवृत्तिरूपा सपापारम्भोपरमणस्वभावा। ननु यतनायामपि अल्पीयसां पृथिव्याद्यारम्भाणां विद्यमानत्वात्कथमकुशलारम्भनिवृत्तिरूपाऽसावित्याह-(अप्पबहुविसेसभावेणं ति) इह भावप्रत्ययस्य लुप्तस्य दर्शनादल्पत्वबहुत्वलक्षणौ यौ विशेषौ परस्परभेदौ जिनभवनविषयाणां यतनारम्भाणां तदन्यारम्भाणां च तयोर्यो भावः सद्भावः स तथा, तेनाल्पबहुविशेषभावेन। इदमुक्तं भवति-जिनभवनारम्भाणामल्पदोषाणामाश्रयणेन तदन्येषां बहुदोषाणां त्यागादकुशलनिवृत्तिरूपा यतना भवतीति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

नन्वादिदेवस्य सकललोकव्यवहारप्रवर्त्तनमयुक्तं, भूतोपघातरूपत्वादित्येवं पूर्वपक्षं जिनभवनयतनाद्वारप्रसङ्गेन परिहरन्नाह-

एत्तो चिय णिद्दोसं, सिप्पादिविहाणमो जिणिंदस्स ।
लेसेण सदोसं पि हु, बहुदोसणिवारणत्तेण ॥ ३५ ॥

(एत्तो च्चिय त्ति) यतोऽल्पबहुत्वविशेषभावेनाकुशलनिवृत्तिरूपा जिनायतना भवति, अत एव कारणात् । निर्दोषं निरवद्यम्, शिल्पादिविधानं शिल्पकलाराजनीतिप्रभृतिपदार्थोपदर्शनम्, 'ओ' इति निपातः । जिनेन्द्रस्य नाभिनन्दनस्य, किंभूतं तदित्याह—लेशेन मात्रया, सदोषमपि सावद्यमपि, निर्दोषमेवेत्यपिशब्दार्थः । हुशब्दोऽलङ्कृतौ । केन कारणेनेत्याह-बहुदोषनिवारणत्वेनाऽन्योऽन्यहननधनहरणाद्यनेकविधाऽनर्थनिषेधकतया, इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

भगवतः शिल्पादिविधाने निर्दोषतामेव समर्थयन्नाह-

वरबोहिलाभओ सो, सव्वुत्तमपुण्णसंजुओ भयवं।
एगंतपरहियरतो, विसुद्धजोगो महासत्तो ॥ ३६ ॥
जं बहुगुणं पयाणं, तं णाऊणं तहेव दंसेइ।
ते रक्खंतस्स ततो, जहोचितं कह भवे दोसो ॥ ३७ ॥

वरः प्रधानोऽप्रतिपातित्वाद्बोधिलाभः सम्यग्दर्शनावाप्तिर्यस्य स वरबोधिलाभको, वरबोधिलाभाद्वा हेतोः स जिनः । किमित्याह-सर्वोत्तमपुण्यसंयुतः अत्यन्तप्रकृष्टतीर्थकरनामादिलक्षणशुभकर्मसंयुक्तः, तथा भगवान् परमेश्वरः, तथैकान्तपरहितरतः सर्वथा परोपकारनिरतः, तथा विशुद्धयोगो निरवद्यमनोवाक्कायव्यापारः, तथा महासत्त्व उत्तमसत्त्व इति । ततः किमित्याह-यच्छिल्पादि, बहुगुणं प्रभूतोपकारं, किञ्चिद् दुष्टमपि, प्रजानां लोकानां, तच्छिल्पादिकम्, ज्ञात्वाऽवगम्य, तथैव यथा लोकोपकारम्, दर्शयति प्रकाशयति, (ते त्ति) तान् प्रजाशब्दपर्यायान् लोकान्, रक्षतो बहुतराऽनर्थेभ्यः पालयतः, ततः शिल्पादिप्रकाशनात्, यथोचितमौचित्येन, उचितं चावश्यवेद्यशुभवेदनीयचारित्रमोहादिकर्मोदये वर्त्तमानस्य कलादिदर्शनत एव प्राणिसंरक्षणम्, ततः विरतिप्रतिपत्तौ तु संयमः,ज्ञानोत्पत्तौ च तीर्थप्रवर्त्तनादेवेति । कथं केन प्रकारेण ?, भवेज्जायेत, दोषो दूषणम, न कथञ्चिदित्यर्थः । इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

ननु शिल्पादिविधानेऽप्यारम्भदोषो दृष्टप्रवास्त्यतः कथं तत्र न दोष इत्याशङ्क्याऽऽह-

तस्स पहाणो अंसो, बहुदोसणिवारणाउ जगगुरुणो ।
णागादिरक्खणे जह, कड्डणदोसे वि सुहजोगो ॥ ३८ ॥

तत्र शिल्पादिविधाने, प्रधानः प्रवरः, अपेक्षणीय इत्यर्थः । अंशोऽवयवः, किंरूपः, बहुदोषनिवारणात् अन्योऽन्यवधादिलक्षणप्रभूतदूषणनिषेधनेनैव, जगद्गुरोर्भुवननायकस्य; स्यात् आरम्भदोषेऽपि भगवतः शुभ एव योग इति हृदयम् । एनमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति-नागादिरक्षणे सर्पादिभ्यः पुत्रादेरवने, यथा यद्वत्, कर्षणं पुत्रादेराकर्षणं तदेव तस्मिन् वा दोषो दूषणं शरीरघर्षणादिः कर्षणदोषः, तत्र कर्षणदोषेऽपि सति, आस्तां दोषाभावे, शुभयोगो मात्रादेः शोभन एव व्यापारः । इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

नागादिरक्षणज्ञातमेवाह—

खड्डातडम्मि विसमे, इट्ठसुयं पेच्छिऊण कीलंतं ।
तप्पच्चवायभीया, तदाणणट्ठा गया जणणी ॥ ३९ ॥
दिट्ठो य तीए णागो, तं पति एंतो दुतो उ खड्डाए ।
तो कड्ढितो तगो तह, पीमाएँ विसुद्धभावाए ॥ ४० ॥

गर्तातटे श्वभ्रतट्याम्, किंविधे ?, विषमे निम्नोन्नतादिरूपे, इष्टसुतं वल्लभपुत्रम्, प्रेक्ष्य दृष्ट्वा, क्रीडन्तं रममाणम्, तत्प्रत्यपायभीता गर्तप्रपातरूपसुतानर्थचकिता, तदानयनार्थं पुत्रानयनार्थम्, गता प्रस्थिता, जननी मातेति । ततो दृष्टोऽवलोकितः, चः समुच्चये, तया जनन्या, नागो भुजगः, तं प्रति पुत्रं प्रति, (एंतो त्ति) आयन्नागच्छन्, द्रुतस्तु शीघ्रगतिरेव, (खड्डाए त्ति) गर्ताश्वभ्रात्, (तो त्ति) ततो नागदर्शनान्तरम्, (कड्ढिओ त्ति) कृष्ट आकृष्टः, तकः पुत्रकः, तथा पीडायामपि आकर्षणजनितदेहसमुत्थवेदनायामपि संभवन्त्याम्, पीडासंभवेनाऽकर्षणीयतासूचनार्थोऽपिशब्दः । शुद्धभावया उपकारकरणाध्यवसायोपेतया, इति गाथाद्वयार्थः ॥ ३९ ॥ ४० ॥

दृष्टान्तार्थस्यैव निरवद्यतां दर्शयन्नाह—

एयं च एत्थ जुत्तं, इहराऽहिगदोसभावतोऽणत्थो ।
तप्परिहारेऽणत्थो, अत्थो च्चिय तत्तओ णेओ ॥ ४१ ॥

एतच्च एतत्पुनः पीडयाऽपि पुत्राकर्षणम्, अत्र जननीज्ञाते, युक्तं संगतम्, इतरथा पुत्रस्याकृष्यमाणस्य पीडा भविष्यतीत्यनाकर्षणे, अधिकदोषभावतः आकर्षणजन्यपीडापेक्षया समर्गलतरस्य सर्पभक्षणजन्यपीडालक्षणस्य दूषणस्य सद्भावात्, अनर्थः सुतमरणलक्षणोऽपायः, तस्याऽनर्थस्य सुतमरणलक्षणस्य परिहारो वर्जनं तत्परिहारस्तत्र, योऽनर्थो घर्षणेन पीडोत्पत्तिलक्षणः, सोऽर्थ एव गुण एव, तत्त्वतः परमार्थतो मरणलक्षणमहादोषरक्षणतः, ज्ञेयो ज्ञातव्यः । अथवा दार्ष्टान्तिकमर्थमाश्रित्यैवं गाथा व्याख्येया । तत्र 'एयं च' इति भगवतः शिल्पादिविधानम्, शेषं तथैव । इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

अथ यतनाद्वारं निगमयन्नाह—

एव निविसिपहाणा, विन्नेया भावओ अहिंसेयं ।
जयणावओ उ विहिणा, पूजादिगया वि एमेव ॥ ४२ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेणानन्तरोक्तदृष्टान्तलक्षणेन, निवृत्तिप्रधाना बहुतरसत्त्वघातनिवर्त्तनसारा, यतो विज्ञेया ज्ञातव्या, भावतः परमार्थतः, अहिंसा अहिंसानिवृत्तिरिति, इयमिति प्रक्रमाज्जिनभवनविषया प्रवृत्तिः, किं सर्वस्यैव ?, नेत्याह-यतनावत-

स्तु यतनावत एव, नान्यस्य । तथा विधिना भूमिशुद्ध्यादिलक्षणेन, नान्यथा । अथ किं जिनभवनविषयप्रवृत्तिरेव बहुतरसत्त्वघातनिवृत्तिप्रधानत्वादहिंसेति ज्ञेया, उताऽन्यापीत्याशङ्क्याह-पूजादिगताऽपि जिनार्चनयात्राप्रभृतिविषयाऽपि, न केवलं जिनभवनविषया, प्रवृत्तिरिति गम्यम् । एवमेव एवंप्रकारैवाहिंसैवेत्यर्थः । अथवा-पूर्वार्द्धेन भगवतः शिल्पादिषु प्रवृत्तेरहिंसात्वमुक्तम्, उत्तरार्द्धेन तु जिनभवनप्रवृत्तेः, पूजादीत्यादिग्रहणेन जिनभवनग्रहणात्,- इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥ उक्तं यतनाद्वारम् । उक्तश्च जिनभवनकारणविधिः । पञ्चा० ७ विव० । षो० । पं० व० ।

अथ तदुत्तरविधिमाह—

णिप्फाइऊण एवं, जिणभवणं सुंदरं तहिं विंबं ।
विहिकारियमह विहिणा, पइट्ठवेज्जा लहुं चेव ॥ ४३ ॥

निष्पाद्य निर्माप्य, एवमनन्तरोक्तविधिना, जिनभवनं प्रतीतम्, ततः सुन्दरं शोभनम्, तत्र जिनभवने, बिम्बं प्रतिमां, प्रक्रमाज्जिनस्यैव । विधिकारितं शास्त्रनीतिविधापितम् । अथानन्तरम्, विधिना शास्त्रनीत्या, प्रतिष्ठापयेल्लघु शीघ्रमेव । यदुक्तम्-"निष्पन्नस्यैवं खलु, जिनबिम्बस्योदिता प्रतिष्ठा तु । दशदिवसाभ्यन्तरतः, तद्भवनं स्फातिमद् भवति ॥१॥" इति । चैवेत्यवधारणार्थः । इति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अथ जिनभवनकारणविधेः फलोपदर्शनार्थमाह—

एयस्स फलं भणियं, इय आणाकारिणो उ सड्ढस्स ।
चित्तं सुहाणुबंधं, णिव्वाणंतं जिणिंदेहिं ॥ ४४ ॥

एतस्य समस्तस्य जिनभवनविधानस्य, फलं प्रयोजनम्, भणितमुक्तम्, इत्येवमुक्तनीत्या, आज्ञाकारिणस्तु आप्तोपदेशविधायिन एव, श्राद्धस्य श्रद्धावतः, श्रावकस्येत्यर्थः । चित्रं विचित्रं देवमनुजजन्मसु तथाविधाभ्युदयरूपम्, शुभानुबन्धमविच्छिन्नकल्याणसन्तानम्, निर्वाणान्तं मुक्तिपर्यवसानम्, जिनेन्द्रैः सर्वज्ञैः, इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

एतदेव विभागेनाह—

जिणबिंबपइट्ठावण-भावज्जियकम्मपरिणतिवसेणं ।
सुगतीइ पइट्ठावण-मणहं सदि अप्पणो चेव ॥ ४५ ॥

जिनबिम्बप्रतिष्ठापनमर्हत्प्रतिमास्थापनं, तस्मिन् यो भावः स्वाशयवृत्तिरूपः, "सासयवुड्ढी वि इहं, भुवणगुरुजिणिंदगुणपरिणाए । तब्बिंबठावणत्थं, सुरूपवित्तीएँ नियमेणं ॥ १ ॥" इति प्रागुक्तगाथाभिहितः, तेन यदर्जितमुपात्तं कर्म पुण्यानुबन्धिपुण्यरूपं, तस्य या परिणतिर्विपाकः, तस्या यो वशः सामर्थ्यं, स तथा तेन जिनबिम्बप्रतिष्ठापनभावार्जितकर्मपरिणतिवशेन, किमित्याह-सुगतौ देवगत्यादौ, प्रतिष्ठापनं व्यवस्थापनम्, अनघमनवद्यं, तत्कालीनदोषाऽऽगामिदोषागोचरत्वात् । असकृत्सदा । कस्येत्याह-आत्मन एव स्वजीवस्यैव । भवति, इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

तथा—

तत्थ वि य साहुदंसण-भावज्जियकम्मतो उ गुणरागो ।
काले य साहुदंसण-महक्कमेणं गुणकरं तु ॥ ४६ ॥

तत्रापि च तस्य सुगतिप्रतिष्ठापनेऽपि च पूर्वकाले, गुणराग

आसीदेवेत्यपिशब्दार्थः। साधुदर्शने मुनिजनावलोकने, यो भावोऽध्यवसायः स्वाशयवृद्धिरूप एव, " पेच्छिस्सं एत्थ अहं, वंदणगनिमित्तमागए साहू । कयपुन्ने भगवंते, गुणरयणनिही महासत्ते ॥१॥" इति प्रागुक्तगाथोक्तः, तेन यदुपार्जितं कर्म पुण्यरूपं तत्तथा तस्मात्साधुदर्शनभावार्जितकर्मतः , तुशब्दः पुनरर्थः , गुणरागो गुणपक्षपातो, भवति स्वरूपेणैव । ततः काले चावसरे पुनः । साधुदर्शनं मुनिपुङ्गवावलोकनम् , तत एव जायते । किंभूतम् ?, यथाक्रमेण यथापरिपाटि । अथवा-अथाऽनन्तरं, क्रमेण परिपाट्या , गुणकरं तु गुणकरणशीलमेव , इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

पडिबुज्झिस्संतन्ने, भावज्जियकम्मओ य पडिवत्ती ।
भावचरणस्स जायति, एगंतसुहावहा णियमा ॥ ४७ ॥

प्रतिभोत्स्यन्ते बोधिं लप्स्यन्ते, अन्ये जिनभवनविधायकापेक्षयाऽपरे , इत्यादिरूपो यो भावोऽध्यवसायः स्वाशयवृद्धिरूप एव, "पडिबुज्झिस्संति इहं,दट्ठूण जिणिंदबिंबमकलंकं। अन्ने वि भव्वसत्ता, काहिंति तओ परं धम्मं ॥१॥" इति प्रागुक्तगाथोक्तः, तस्माद्यदार्जितं कर्म कुशलानुबन्धिपुण्यस्वरूपं तत्तथा तस्मात्प्रतिभोत्स्यन्तेऽन्ये भावार्जितकर्मतः सकाशात्, चशब्दः पुनरर्थः , प्रतिपत्तिरभ्युपगमः , भावचरणस्य पारमार्थिकचारित्रस्य , जायते भवति, एकान्तसुखावहा मोक्षशर्मावहा, अव्यभिचारतो वा सुखावहा, नियमादवश्यंतया, इति गाथार्थः ॥४७॥

अपतिवडियसुहचिंता-भावज्जियकम्मपरिणतीए उ ।
गच्छति इमीइ अंतं, ततो य आराहणं लहइ ॥ ४८ ॥

अप्रतिपतिता स्थिरा या शुभचिन्ता प्रशस्तानुचिन्तनं स्वाशयवृद्धिरूपा, "ता एयं मे वित्तं, जमेत्थमुवओगमेइ अणवरयं । इय चिंतापरिवडिया, सासयवुड्ढीउ मोक्खफला ॥१॥" इति प्रागुक्तगाथाऽभिहिता, तल्लक्षणो यो भावः, तेनार्जितं यत्कर्म कुशलरूपं, तस्य या परिणतिः सा तथा, तस्या अप्रतिपतितशुभचिन्ताभावार्जितकर्मपरिणतेः सकाशात, तुशब्दः पुनरर्थः। गच्छति याति, अस्याश्चरणप्रतिपत्तेः , अन्तमवसानम, अप्रतिपतितां पालयतीत्यर्थः। ततश्चरणप्रतिपत्त्यन्तगमनात्पुनः , आराधनां चरणाराधकत्वम , लभते प्राप्नोति , विशुद्धचरणाराधको भवतीत्यर्थः। अप्रतिपतितचरणस्यैव हि चरणाराधना भवति , इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह-

णिच्छयणया जमेसा, चरणपडिवत्तिसमयतो पभिति ।
आमरणंतमजस्सं, संजमपरिपालणं विहिणा ॥ ४९ ॥

निश्चयनयाश्रयविशेषमतेन, व्यवहारनयात्तु मरणावसरचरणासेवनमात्रमाराधनेत्यभिप्रायेण निश्चयनयात इत्युक्तम् । यद्यस्मात्, एषा प्रागुक्ताऽऽराधना भवति । कुतः कथं तदित्याह-चरणप्रतिपत्तिसमयतः चारित्राभ्युपगमकालात, प्रभृति तदादितः , आमरणान्तं मृत्युलक्षणावसानं यावत, न पुनस्तदारात् । अजस्रमनवरतं, संयमपरिपालनमहिंसाद्याराधनम , विधिनाऽऽगमोक्तन्यायेन । अतस्तदन्त आराधनां लभते इति युक्तम् । इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

यद्याराधनां लभते ततः किं स्यादित्याह-

आराहगो य जीवो, सत्तट्ठभवेहिँ पावती णियमा ।
जम्मादिदोसविरहा, सासयसोक्खं तु णिव्वाणं ॥५० ॥

आराधकश्च ज्ञानाद्याराधनावान्, चशब्दः पुनरर्थः । जीवः प्राणी, सप्ताष्टभवैः सप्तभिरष्टाभिर्जन्मभिरित्यर्थः । इदं च जघन्याराधनामाश्रित्योक्तम, अन्यथा तद्भव एव कश्चित्सिद्ध्यतीति । एते च सप्ताष्टौ वा भवा आराधनायुक्ता द्रष्टव्याः । इतरथा तु सप्तैव प्राप्नुवन्तीत्याराधकस्य मनुष्येष्वनुत्पादादिति । प्राप्नोति लभते, नियमादवश्यंतया, कुतः किंविधं किमित्याह-जन्मादिदोषविरहाज्जातिजरामरणप्रभृतिदूषणवियोगात , एतच्च पदं शाश्वतसौख्यमित्यनेन प्राप्नोतीत्यनेन वा संबन्धनीयम । शाश्वतसौख्यं तु नित्यसुखमेव, न तु स्वास्थ्यमात्रम , निर्वाणं निर्वृतिम , इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ उक्तो जिनभवनविधिः । पञ्चा० ७ विव० ।

जीर्णोद्धारे त्वेवं विशिष्योपक्रम्यम्; यतः-

" नवीनजिनगेहस्य, विधाने यत्फलं भवेत ।
तस्मादष्टगुणं पुण्यं, जीर्णोद्धारेण जायते ॥ १ ॥
जीर्णे समुद्धृते यावत, तावत्पुण्यं न नूतने ।
उपमर्दो महांस्तत्र, स्वचैत्यख्यातिधीरपि " ॥ २ ॥

तथा-

"राया अमच्च सिट्ठी, कोडुंबीए वि देसणं काउं ।
जिण्णे पुव्वाययणे, जिण-कप्पी वा वि कारवए ॥ १ ॥
जिणभवणाइं जे उ-द्धरंति भत्तीइ सडियपडिआइं ।
ते उद्धरंति अप्पं, भीमाओ भवसमुद्दाओ ॥ २ ॥ "

जीर्णचैत्योद्धारकारणपूर्वकमेव च नव्यचैत्यकारापणमुचितम्, तत एव संप्रतिनृपतिना एकोननवतिसहस्रा जीर्णोद्धाराः कारिताः, नवचैत्यानि तु षट्त्रिंशत्सहस्रा एव । एवं कुमारपालवस्तुपालाद्यैरपि नव्यचैत्येभ्यो जीर्णोद्धारा एव बहवो व्यधाप्यन्त इति । चैत्ये च कुण्डिकाकलशो रसप्रदीपादिसर्वाङ्गीणोपस्करणकारणं यथाशक्ति कोशदेवदायवाटिकादियुक्तिकरणं च, राजादेस्तु विधापयितुः प्रचुरतरकोशग्रामगोकुलादिदानं, यथाऽविच्छिन्ना पूजा प्रवर्त्तते इति द्वारम् । इत्थं च चैत्ये निष्पन्ने शीघ्रमेव प्रतिमां स्थापयेत् । यदाह षोडशके श्रीहरिभद्रसूरिः-"जिनभवने जिनबिम्बं, कारयितव्यं द्रुतं तु बुद्धिमता । साधिष्ठानं ह्येवं तद्भवनं वृद्धिमद्भवति ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० ।

(२५) जिनबिम्बकारणविधिः-जिनभवनं च जिनबिम्बाध्यासितमेव भवतीति तद्बिम्बप्रतिष्ठाविधिं प्रतिपिपादयिषुर्मङ्गलादिप्रतिपादनायाऽऽह-

नमिऊण देवदेवं, वीरं सम्मं समासओ वोच्छं ।
जिणबिंबपइट्ठाए, विहिमागमलोयणीतीए ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य , देवदेवं पुरन्दरादिदेवानामाराध्यम् , वीरं वर्द्धमानस्वामिनम , सम्यग्भावशुद्ध्या, वक्ष्ये इत्येतत्क्रियाया वेदं विशेषणम । ततश्च सम्यगवैपरीत्येन, समासतः संक्षेपेण, वक्ष्ये अभिधास्ये , जिनबिम्बप्रतिष्ठायाः प्रतीतायाः , विधिं विधानम , आगमलोकनीत्यो जिनप्रवचनन्यायेन, लौकिकन्यायेन चेत्यर्थः । लोकग्रहणेन चेदं दर्शयति-लोकनीतिरपि कचिज्जिनमताविरुद्धाश्रयणीया, अत एव प्रासादादिलक्षणं तदुक्तमप्याश्रीयते , इति गाथार्थः ॥ १ ॥

जिनबिम्बस्याकारितस्य प्रतिष्ठा न भवतीति तत्कारणविधिमभिधित्सुस्तत्प्रस्तावनायाऽऽह-

जिणबिंबस्स पइट्ठा, पायं काराविंयस्स जं तेण ।
तक्कारवणम्मि विहिं, पढमं चिय वणिमो ताव ॥ २ ॥

जिनबिम्बस्य जिनप्रतिमायाः, प्रतिष्ठा प्रतिष्ठापना, प्रायः प्रायेण, प्रायोग्रहणं चाकारितस्याऽपि स्वयंकृतस्य क्रीतस्य च प्रतिष्ठा भवतीति प्रतिपादनार्थम् । यदिति यस्माद्धेतोः, तेन तस्मात्, (तक्कारवणम्मि त्ति) जिनबिम्बविधापने, विधिं कल्पम्, प्रथममेव पूर्वमेव, प्रतिष्ठाभिधानात्, वर्णयामो भणामः, तावदिति प्रक्रमार्थः । इति गाथार्थः ॥ २ ॥

अथ बिम्बकारणविधिमेवाभिधित्सुस्तत्प्रवर्तकशुद्धबुद्धिस्वरूपं तावद्गाथाचतुष्केणाऽऽह—

सोउं णाऊण गुणे, जिणाण जायाएँ सुद्धबुद्धीए ।
किञ्चमिणं मणुयाणं, जम्मफलं एत्तियं चेव ॥ ३ ॥
गुणपगरिसो जिणा खलु, तेसिं बिंबस्स दंसणं पि सुहं ।
कारावणेण तस्स उ, अणुग्गहो अत्तणो परमो ॥ ४ ॥
मोक्खपहसामियाणं, मोक्खत्थं उज्जएण कुसलेणं ।
तग्गुणबहुमाणादिसु, जइयव्वं सव्वजत्तेणं ॥ ५ ॥
तग्गुणबहुमाणाओ, तह सुहभावेण बज्झती णियमा ।
कम्मं सुहाणुबंधं, तस्सुदया सव्वसिद्धि त्ति ॥ ६ ॥

श्रुत्वा गुरुणाऽभिधीयमानानाकर्ण्य, तथा ज्ञात्वाऽवगम्य, कान् ?, गुणान् रागादिवैरिवारविदारणप्रवचनप्रवर्तनादीन्, केषाम् ?, जिनानामर्हताम्, जातायां प्रासायां सत्यां भूतायामित्यत्र पुनर्व्याख्याने एककर्तृकत्वाभावात् क्त्वाप्रत्ययस्यानुपपत्तिः स्यादिति प्राप्तायामिति व्याख्यातम् । अथवा-गुणगुणिनोर्बुद्धिजीवयोरभेदात् श्रवणज्ञानक्रियाऽपेक्षया बुद्धिजननक्रियाया एककर्तृकत्वमेवेति, ततो जातायामुत्पन्नायाम्, शुद्धबुद्धौ निर्मलबोधे, किमित्याह-कृत्यं विधेयम, इदं जिनबिम्बम, मनुजानां नृणाम्, तथा जन्मफलं जननसाध्यम्, एतावदेव नाधिकम, अत्र मनुष्यभवे ॥ ३ ॥ तथा-गुणप्रकर्षो गुणातिशयः, जिना एवार्हन्त एव, धर्मधर्मिणोरभेदाच्च गुणप्रकर्षो जिना इत्युक्तम् । अन्यथा गुणप्रकर्षो जिनानामिति वक्तव्यं स्यादिति । खलुरवधारणे । अत एव तेषां जिनानां, बिम्बस्य प्रतिमायाः, दर्शनमप्यवलोकनमपि, आस्तां तद्वन्दनादि । सुखं शुभं वा वर्तते, तद्धेतुत्वात् । ततः किमित्याह-कारणेन विधापनेन, तस्य बिम्बस्य, तुशब्दः पुनरर्थः, अनुग्रह उपकारो भवति, आत्मनः स्वकीयस्य, परम उत्कृष्टः ॥ ४ ॥ ततश्च मोक्षपथस्वामिकानां सिद्धिमार्गप्रभूणां, तदुपदर्शकत्वाज्जिनानां, मोक्षार्थं सिद्धिनिमित्तम्, उद्यतेन प्रयत्नपरेण, कुशलेन निपुणेन, स एव मोक्षो गुणः फलं येषां बहुमानादीनां ते तद्गुणाः, ते च ते बहुमानादयश्च । अथवा-ते च ते असाधारणा गुणाश्च तद्गुणास्तेषु बहुमानादयः प्रीतिपूजाप्रभृतयः तद्गुणबहुमानादयः । अथवा-ते च ते गुणा बहुमानादयश्चेति समासोऽतस्तेषु, तेषां मोक्षपथस्वामिकानां गुणबहुमानादय इति तु न व्याख्यातम्, तच्छब्दस्य गतार्थत्वात्तत्संस्पर्शनीयस्य साक्षादेवोक्तत्वात् । अथवा--तदिति लुप्तषष्ठीबहुवचनान्तं, तेन तेषां जिनानामिति व्याख्येयमिति । यतितव्यं प्रवृत्तिर्विधेया, सर्वयत्नेन समस्तादरेण ॥ ५ ॥ अथ कस्मादेवमित्याह— तद्गुणबहुमानात् मोक्षपथस्वामिगुणपक्षपातात्, तथा तत्प्रकारेण मोक्षपथस्वामिगुणबहुमानोद्भवेन, शुभभावेन शोभनपरिणामेन, बध्यते उपादीयते, नियमादवश्यंतया, कर्मादृष्टं, शुभानुबन्धं कुशलानुबन्धि । ततश्च तस्य शुभानुबन्धिकर्मण उदयाद्विपाकात्, सर्वसिद्धिः समस्तेप्सितकार्यनिष्पत्तिर्भवति । इतिशब्दः शुद्धबुद्धिस्वरूपोक्तिसमाप्तिसूचनार्थः । इति गाथाचतुष्कार्थः ॥ ६ ॥ चतुर्भिः कलापकम् ।

अथ जिनबिम्बकारणविधिमाह-

इय सुद्धबुद्धिजोगा, काले संपूइऊण कत्तारं ।
विभवोचियमप्पेज्जा, मोल्लं अणहस्स सुहभावो ॥ ७ ॥

इति शुद्धबुद्धियोगादेवमनन्तरगाथाचतुष्कोक्तनिर्मलबोधसंबन्धात्, काले तदुचितावसरे, संपूज्य संमानयित्वा, कर्तारं जिनबिम्बविधायकं, सूत्रधारकमित्यर्थः । विभवोचितं स्वसमृद्ध्यनुरूपम्, अर्पयेत् समर्पयेत्, मूल्यं वेतनम्, अनघस्य निर्दोषस्य, अनौचित्येन द्रव्यविनाशकत्वात् । शुभभाव उदारतया प्रवर्द्धमानप्रशस्ताध्यवसायः, कारयिता । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

अनघशिल्पिनोऽसद्भावे यद्विधेयं तदाह-

तारिसयस्साभावे, तस्सेव हि तत्थ मुज्जुओ णवरं ।
णियमेज्ज बिंबमोल्लं, जं उचियं कालमासज्ज ॥ ८ ॥

तादृशकस्यानघस्येत्यर्थः, कर्तुरिति प्रक्रमः । अभावे अप्राप्तौ, तस्यैव कर्तुरेव, हितार्थं श्रेयोनिमित्तम्, बिम्बार्थकल्पितद्रव्यभक्षणतो यत्तस्य संसारगर्तपतनं, तद्रक्षणद्वारेण उद्यतः प्रयतः, नवरं केवलम् । नियमयेन्नियन्त्रयेत्, बिम्बमूल्यं प्रतिमावेतनम्, यथेयता द्रव्येण यद् बिम्बं विधातव्यं भवता यथाबहुशो मूल्यं च दास्यामीति । यदिति मूल्यम्, उचितं योग्यं प्रतिमाऽपेक्षया, कालमवसरम्, आश्रित्य प्रतीत्य, यतः कचित्काले लघावपि बिम्बे मूल्यं प्रचुरं स्यात्कदाचिदल्पम् । इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

यदि पुनरनघस्यैवेतरस्यापि मूल्यमर्पयति, ततः को दोषः स्यादित्यत आह-

देवस्सपरीभोगो, अणेगजम्मेसु दारुणविवागो ।
तम्मि स होइ णिउत्तो, पावो जो कारुओ इहरा ॥ ९ ॥

देवस्वस्य जिनबिम्बनिर्मापणार्थं कल्पितत्वेन जिनदेवद्रव्यस्य, परीभोगो भक्षणं, देवस्वपरीभोगः । उपचारात्तद्धेतुकं कर्म देवस्वपरीभोग उक्तः । स चानेकजन्मस्वनन्तभवेषु, दारुणविपाको नरकादिदुःखकारणत्वेन घोरोदयो भवति, ततश्च तस्मिन् देवस्वपरीभोगे, स इति कारुकः, भवति स्यात्, नियुक्तो व्यापारितः, पापः सदोषो, यः कारुकः शिल्पी, इतरथाऽन्यथा, बिम्बमूल्यनियमनाभावे इत्यर्थः । न च परोपकारकरणप्रवणान्तःकरणानां सतां दारुणविपाके कर्मणि परव्यापारणं युक्तम् । इति गाथार्थः ॥ ९ ॥

अथ देवस्वपरीभोगो दारुणविपाको यदि कारुकस्य भविष्यति, ततः किमस्माकमित्यभिप्रायवन्तं शिक्षयितुमाह-

जं जायइ परिणामे, असुहं सव्वस्स तं न कायव्वं ।

सम्मं णिरूविऊणं, गाढगिलाणस्स वाऽपत्थं ॥ १० ॥

यदनुष्ठानम्, जायते संपद्यते, परिणामे आयत्याम्, असुखम्, असुखहेतुत्वात्, असौख्यमशुभं वा, सर्वस्य समस्तस्याऽऽत्मनः परस्य वा, न पुनरात्मन एव । सतां परोपकारकरणप्रवणान्तःकरणत्वात् । आह च-"जयन्तु ते सदा सन्तः, सर्वीयाः सद्गुणान्विताः । ये कृतार्थाः स्वयं सन्तः, परार्थे विहितश्रमाः ॥१॥" तदित्यनुष्ठानम्, न कर्तव्यं न विधेयम्, सम्यगविपरीततया, निरूप्यालोच्य, सम्यग्निरूपणाभावे हि परिणामस्य दुरवसेयत्वं स्यादिति । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह-गाढग्लानस्य सन्निपाताद्यभिभूततया तीव्रातुरस्य, वाशब्द इवशब्दार्थः, अपथ्यमयोग्यभोजनम्, अपथ्यदानेन हि गाढग्लानो विनाशितो भवति, इति गाथार्थः ॥ १० ॥

ननु यद्यनवधकारुकस्याविशेषेण मूल्यार्पणे सदोषस्य वा तन्नियमनेऽपि देवद्रव्यक्षतिः स्यात्तदा का वार्तेत्याशङ्क्याऽऽह-

आणागारी आरा-हणेण तीए ण दोसवं होति ।
वत्थुविवज्जासम्मि वि, छउमत्थो सुद्धपरिणामो ॥ ११ ॥

आज्ञाकारी आप्तोपदेशवर्ती,यथोक्तजिनबिम्बमूल्यविधिविधायीत्यर्थः । किमित्याह-आराधनेन बिम्बमूल्यनियमनादिद्वारेण पालनया, तस्या आज्ञायाः, न नैव, दोषवान्दुर्विपाकदारुणदेवस्वपरिभोगप्रवर्त्तकलक्षणदूषणयुक्तः, भवति जायते, वस्तुनो यथोक्तमूल्यार्पणविधानेन देवद्रव्यरक्षणलक्षणस्य, विपर्यासः स्वभाववैपरीत्यं, वस्तुविपर्यासस्तस्मिन्नपि, देवद्रव्यस्य कारुकेण भक्षणेऽपीत्यर्थः, अविपर्यासे निर्दोष एवेत्यपिशब्दार्थः । छद्मस्थो निरतिशयज्ञानः, अनेन च वस्तुविपर्यासस्य बीजमुक्तं, तस्यैव मोहसंभवात् । अथ कथमसावाज्ञाकारी न दोषवानित्याह-यतः शुद्धपरिणामो निरवद्याध्यवसायः कर्ता । इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

अथ कथं वस्तुविपर्यासेऽप्याज्ञाकारिणः शुद्धपरिणामो भवतीत्यत आह-

आणापवित्तिओ चिय, सुद्धो एसो ण अण्णहा णियमा ।
तित्थगरे बहुमाणा, तदभावाओ य णायव्वो ॥ १२ ॥

आज्ञाप्रवृत्तित एवाऽऽप्तोपदेशपरतन्त्रप्रवर्त्तनादेव, शुद्धो विशुद्धः, एष परिणामो बिम्बविधायको वा, ज्ञेय इति योगः । न नैव, अन्यथा अपरथा, आज्ञया अपारतन्त्र्यप्रवृत्तेरित्यर्थः । नियमादवश्यंतया, शुद्धो ज्ञेयो भवतीति प्रकृतमेव । अथ कुत एतदपि द्वयमित्याह-तीर्थंकरे जिने बहुमानात्पक्षपातात् आज्ञाप्रवृत्तिकः शुद्धः । तदभावात्तीर्थंकरे बहुमानाभावात् अनाज्ञाप्रवृत्तिकस्त्वशुद्धः, चशब्दः समुच्चयार्थः, ज्ञातव्यो ज्ञेय इति संबन्धितमेव, इति गाथार्थः ॥ १२ ॥

अथ किमेवमाज्ञायाः प्राधान्यमुद्घुष्यते इत्याह-

समतिपवित्ती सव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव ।
तित्थगरुद्देसेण वि, ण तत्तओ सा तदुद्देसा ॥ १३ ॥

स्वमतिप्रवृत्तिः आत्मबुद्धिपूर्विका चेष्टा, सर्वा समस्ता द्रव्यस्तवभावस्तवविषया, आज्ञाबाह्या आप्तोपदेशशून्या, इति हेतोः, भवफलैव संसारनिबन्धनमेव, आज्ञाया एव भवोत्तारहेतुषु प्रमाणत्वादिति । ननु या तीर्थंकरानुद्देशवती सा भवफला युक्ता, न त्वितरा, जिनपक्षपातस्य महाफलत्वादित्याशङ्क्याह-तीर्थंकरोद्देशेनाऽपि जिनालम्बनेनापि, आस्तां ततोऽन्यत्र स्वमतिप्रवृत्तिर्भवफलैवेति प्रकृतम् । कुत एवम्?-यतो न तत्त्वतो न परमार्थेन, सा तीर्थंकरोद्देशवती स्वमतिप्रवृत्तिः, तस्मिंस्तीर्थंकरे उद्देशः प्रणिधानं यस्यां सा तदुद्देशा, य एवाज्ञया प्रवर्तते स एव हि जिनमुद्दिश्य प्रवर्त्तत इत्यभिधीयते, नापर इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

आज्ञोल्लङ्घनेन जिनमुद्दिश्य जिनभवनबिम्बतत्पूजाऽऽदिप्रवृत्तान् बहुनुपलभ्योपालम्भयन्नाह-

मूढा अणादिमोहा, तहा तहा एत्थ संपयट्टंता ।
तं चेव य मण्णंता, अवमण्णंता ण याणंति ॥ १४ ॥

मूढा मूर्खाः, कुत इत्याह-अनादिमोहात् आदिरहिताज्ञानात्, अनादिर्वा मोहो येषां ते तथा । तथा तथा तेन तेन प्रकारेणाऽऽज्ञोल्लङ्घनतो बिम्बपूजादिलक्षणेन, अत्र तीर्थंकरविषये,संप्रवर्त्तमाना व्याप्रियमाणाः, (तं चेव य त्ति) तमेव च तीर्थंकरं, मन्यमानास्तत्पूजादिकरणत आराध्यतयाऽभ्युपगच्छन्तः, अवमन्यमानास्तमेव परिभवन्त आज्ञोल्लङ्घनेन, न जानन्ति नावगच्छन्ति, अनादिमोहमूढत्वादिति हृदयम् । इति गाथार्थः ॥ १४ ॥

प्रस्तुतमेवार्थं निगमयन्नाह-

मोक्खत्थिणा तओ इह, आणाए चेव सव्वजत्तेणं ।
सव्वत्थ वि जइयव्वं, संमं ति कयं पसंगेण ॥ १५ ॥

मोक्षार्थिना सिद्धिकामेन, (तओ त्ति) यतः स्वमतिप्रवृत्तिः भवफला ततो हेतोः, इह प्रक्रमे,आज्ञयैवाप्तोपदेशेनैव, सर्वयत्नेन सर्वादरेण, सर्वत्रापि समस्तेऽपि परलोकसाधनविधौ, आस्तामेकत्र ; यतितव्यं चेष्टितव्यं, सम्यग् भावशुद्ध्या, इतिशब्दः परिसमाप्तौ, कृतमलम्, प्रसङ्गेन प्रसङ्गापन्नभणितेन ; इति गाथार्थः । । १५ ॥ पञ्चा० ८ विव० ।

जिनभवने तद्बिम्बं, कारयितव्यं द्रुतं तु बुद्धिमता ।
साधिष्ठानं ह्येवं, तद्भवनं वृद्धिमद्भवति ॥ १ ॥

जिनभवने जिनायतने, तद्बिम्बं जिनबिम्बं, कारयितव्यं कारणीयं, द्रुतं तु शीघ्रमेव, बुद्धिमता बुद्धिसंपन्नेन, किमिति द्रुतं कारयितव्यमित्याह-हि यस्मात्साधिष्ठानं साधिष्ठातृकमेव, जिनबिम्बेनैव, तद्भवनं प्रस्तुतं वृद्धिमद्भवति वृद्धिभाग् भवति ॥ १ ॥

तद्बिम्बकारणविधिमाह-

जिनबिम्बकारणविधिः, काले पूजापुरस्सरं कर्तुः ।
विभवोचितमूल्यार्पण-मनघस्य शुभेन भावेन ॥ २ ॥

जिनबिम्बकारणविधिः, अभिधीयते इति वाक्यशेषः । काले अवसरे, पूजापुरस्सरं भोजनपत्रपुष्पफलपूजापूर्वकं, कर्तुः शिल्पिनः विज्ञानिकस्य, विभवोचितस्य मूल्यस्य धनस्यार्पणं समर्पणमनघस्याव्यसनस्य, शुभेन प्रशस्तेन भावेनान्तःकरणेन ॥२॥

अनघस्येत्युक्तं तद्व्यतिरेकेणाह-

नार्पणमितरस्य तथा, युक्त्या वक्तव्यमेव मूल्यमिति ।
काले च दानमुचितं, शुभभावेनैव विधिपूर्वम् ॥ ३ ॥

(नार्पणमित्यादि) इतरस्य श्रीमद्यद्यूतादिव्यसनवतो, नार्पणं तथा क्रियते यथा अनवस्य, युक्त्या लोकन्यायेन, वक्तव्यमेव मूल्यमिति इति एवंस्वरूपं मूल्यमिदं वक्तव्यं, काले च प्रस्तावे च दानमुचितं, मूल्यस्येति गम्यते । शुभभावेनैव न अशुभभावेन, विधिपूर्वमविधिपरिहारेण ॥ ३ ॥

सव्यसनं प्रति किमेवमुपदिश्यत इत्याह-

चित्तविनाशो नैवं, प्रायः संजायते द्वयोरपि हि ।

अस्मिन् व्यतिकर एष, प्रतिषिद्धो धर्मतत्त्वज्ञैः ॥ ४ ॥

चित्तविनाशः चित्तकालुष्यं, नैवम् उक्तनीत्या, प्रायो बाहुल्येन, संजायते,द्वयोरपि हि कारयितृवैज्ञानिकयोः,अस्मिन् प्रस्तुते, व्यतिकरे संबन्धे, एष चित्तविनाशश्चित्तभेदः, प्रतिषिद्धो निराकृतो, धर्मतत्त्वज्ञैर्धर्मस्वरूपवेदिभिः ॥ ४ ॥

अस्मिन् व्यतिकर इत्युक्तं तमेवाश्रित्याह-

एष द्वयोरपि महान् , विशिष्टकार्यप्रसाधकत्वेन ।

संबन्धमिह क्षुण्णं, न मिथः सन्तः प्रशंसन्ति ॥ ५ ॥

(एष इत्यादि) एष योगो, द्वयोरपि पूर्वोक्तयोर्महान् गुरुर्विशिष्टकार्यप्रसाधकत्वेन जिनबिम्बनिर्वर्तकत्वेन, इह संबन्धं, क्षुण्णं वैकल्यं, न मिथः परस्परं, सन्तः सत्पुरुषाः, प्रशंसन्ति स्तुवन्ति ॥ ५ ॥

जिनबिम्बकारणे भावप्राधान्यमुररीकृत्याऽऽह-

यावन्तः परितोषाः, कारयितुस्तत्समुद्भवाः केचित् ।

तद्बिम्बकारणानी-ह तस्य तावन्ति तत्त्वेन ॥ ६ ॥

(यावन्त इत्यादि) यावन्तो यत्परिमाणाः, परितोषाः प्रीतिविशेषाः, कारयितुरधिकृतस्य, तस्य समुद्भवा बिम्बसमुद्भवाः, केचित्केऽपि, चिच्छन्दोऽप्यर्थे, तद्बिम्बकारणानि जिनबिम्बनिर्वर्तनानीह प्रक्रमे, तस्य कारयितुः तावन्ति तत्परिमाणानि, तत्त्वेन परमार्थेन ॥ ६ ॥

चित्तविनाशोऽत्र प्रतिषिद्ध इत्युक्तं, तमाश्रित्याह-

अप्रीतिरपि च तस्मिन् , भगवति परमार्थनीतितो ज्ञेया ।

सर्वापायनिमित्तं, ह्येषा पापा न कर्तव्या ॥ ७ ॥

(अप्रीतिरित्यादि) अप्रीतिरपि च चित्तविनाशरूपा, तस्मिन् शिल्पिनि क्रियमाणा, भगवति जिने, परमार्थनीतितः परमार्थन्यायेन, कारयितुर्ज्ञेया सर्वापायनिमित्तं, हि यतः, सर्वेषामपायानां प्रत्यवायानां निमित्तमप्रीतिः, तस्मादेषा पापाऽप्रीतिः, न कर्तव्या न विधेया ॥ ७ ॥

कथं पुनः तत्कारयितव्यमित्याह-

अधिकगुणस्थैर्नियमात् , कारयितव्यं स्वदौर्हृदैर्युक्तम् ।

न्यायार्जितवित्तेन तु, जिनबिम्बं भावशुद्धेन ॥८॥

(अधिकेत्यादि) अधिकगुणस्थैरधिकगुणवर्तिभिः, प्राक्तनकालापेक्षया, नियमाद् नियमेन, कारयितव्यं कारणीयं, स्वदौर्हृदैः स्वमनोरथैः, शिल्पिगतैः, युक्तं सहितं, न्यायार्जितवित्तेन तु न्यायोपात्तद्रविणेन तु करणभूतेन, जिनबिम्बं जिनप्रतिमारूपं, भावशुद्धेन भावेन सदन्तःकरणलक्षणेन शुद्धं यन्न्यायार्जितवित्तं तेन ॥ ८ ॥

स्वदौर्हृदैर्युक्तमित्युक्तं तद्विवरीषुराह-

अत्रावस्थात्रयगा-मिनो बुधैर्दौर्हृदाः समाख्याताः ।

बालाद्याश्चैता य- त्तत्क्रीडनकादि देयमिति ॥ ९ ॥

(अत्रेत्यादि) अत्र जिनबिम्बकारणे, अवस्थात्रयगामिनो बालकुमारयुवलक्षणावस्थात्रयगामिनो, बुधैर्विद्वद्भिर्दौर्हृदा मनोरथाः, समाख्याताः कथिताः, बालाद्याश्चैता यत् चित्ते भवाश्चेत्ताः शिल्पिचित्तगताः, यद्यस्मात् वर्तन्ते तत्तस्माच्चैत्तबालाद्यवस्थात्रयमनोरथसंपत्तये, क्रीडनकादि क्रीडनकं विस्मयकारि भोगोपकारणजातं,देयमुपढौकनीयम्,इति एवंप्रकारम् । इदमुक्तं भवति-शिल्पी बालो युवा मध्यमवया वा प्रतिमानिर्माणे व्याप्रियते, तस्य तदवस्थात्रयमनादृत्य प्रतिमागतावस्थात्रयदर्शिनश्चैत्ता ये दौर्हृदाः समुत्पद्यन्ते, तत्परिपूर्णाय यतितव्यम् ॥९॥

भावशुद्धेनेत्युक्तं, तदुपदर्शनायाऽऽह-

यद्यस्य सत्कमनुचित-मिह वित्ते तस्य तज्जमिह पुण्यम् ।

भवतु शुभाशयकरणा-दित्येतद्भावशुद्धं स्यात् ॥१०॥

यत् स्वरूपेण यन्मात्रं, यस्य सत्कं यस्य संबन्धि, वित्तमिति गम्यते, अनुचितमयोग्यम्, इह वित्ते मदीये कथञ्चिदनुप्रविष्टं,तस्य पुरुषस्य, तस्माज्जातं तज्जम्, इह बिम्बकरणे, पुण्यं पुण्यकर्म, भवतु अस्तु, शुभाशयकरणात् शुभपरिणामकरणात्, इत्येवमुक्तनीत्या, एतत् न्यायार्जितं वित्तं पूर्वोक्तं भावशुद्धं, स्यात् । परकीयवित्तेन स्ववित्तानुप्रविष्टेन पुण्यकारणाभिलाषाद्भावेनान्तःकरणेन शुद्धं भवेत् ॥ १० ॥

जिनबिम्बकारणविधिरभिधीयत इत्युक्तं, तद्गतमेव विशेषमाह-

मन्त्रन्यासश्च तथा, प्रणवनमःपूर्वकं च तन्नाम ।

मन्त्रः परमो ज्ञेयो, मननत्राणे ह्यतो नियमात् ॥ ११ ॥

मन्त्रन्यासश्च तथा जिनबिम्बे कारयितव्यतयाऽभिप्रेते मन्त्रस्य न्यासो विधेयः । कः पुनः स्वरूपेण मन्त्र इत्याह-'प्रणवनमःपूर्वकं च तन्नाम । मन्त्रः परमो ज्ञेयः' प्रणव ओङ्कारो,नमःशब्दश्च, तौ पूर्ववादी यस्य तत्प्रणवनमःपूर्वकं, तस्य विवक्षितस्य ऋषभादेर्नाम तन्नाम,मन्त्रः,परमः प्रधानो, ज्ञेयो वेदितव्यः । किमित्याह-'मननत्राणे ह्यतो नियमात्' हिर्यस्मादतः प्रणवनमःपूर्वकान्नाम्नः मकाशात् ज्ञानरक्षणे नियमाद्भवत इति कृत्वा मन्त्र उच्यते तन्नामैवेति ॥ ११ ॥

ननु च रत्नकनकादिभिः सुरूपमहाबिम्बकरणैर्विशिष्टं फलमाहोस्वित्परिणामविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह-

बिम्बं महत्सुरूपं, कनकादिमयं च यः खलु विशेषः ।

नास्मात्फलं विशिष्टं, भवति तु तदिहाशयविशेषात् ॥१२॥

बिम्बं प्रतिमारूपं, महत्प्रमाणतः, सुरूपं विशिष्टाङ्गावयवसन्निवेशसौन्दर्यं, कनकादिमयं च चतुर्वर्णरत्नादिमयं च, यः खलु विशेषो बाह्यवस्तुगतः, नास्मात्फलं विशिष्टमस्मादेव विशेषान्न फलविशेषो न फलमधिकं, नैतदविनाभावि फलमित्यर्थः । भवति तु भवत्येव, तद्विशिष्टं फलम्, इह प्रक्रमे, आशयविशेषात् यत्र भावोऽधिकस्तत्र फलमप्यधिकमिति हृदयम् ॥ १२ ॥

आशयविशेषात् विशिष्टं फलमित्युक्तं, स एव आशयविशेषो यादृक्षः प्रशस्तो भवति तादृक्षमाह-

आगमतन्त्रः सततं, तद्भक्त्यादिलिङ्गसंसिद्धः ।

चेष्टायां तत्स्मृतिमान्, शस्तः खल्वाशयविशेषः ॥ १३ ॥

(आगमेत्यादि) आगमतन्त्र आगमपरतन्त्र आगमानुसारी; सततमनवरतं, स आगमो विद्यते येषां ते तद्वन्तस्तेषु, भक्त्यादीनि भक्तिबहुमानविनयपूजनादीनि यानि लिङ्गानि तैः संसिद्धो निश्चितः, तद्वद्भक्त्यादिलिङ्गसंसिद्धः, चेष्टायां व्यापारकरणे, तत्स्मृतिमानागमस्मृतियुक्तः, शस्तः खलु प्रशस्तो भवत्याशयविशेषः परिणामभेदः ॥ १३ ॥

एवमाशयविशेषमभिधाय तेन बिम्बकरणं समर्थयन्नाह-

एवंविधेन यद् बि-म्बकारणं तद्वदन्ति समयविदः।
लोकोत्तरमन्यदतो, लौकिकमभ्युदयसारं च ॥ १४ ॥

(एवमित्यादि) एवंविधेनाऽऽशयेन यद् बिम्बकारणं पूर्वोक्तं,तद्वदन्ति प्रतिपादयन्ति, समयविदः शास्त्रज्ञाः, लोकोत्तरमागमिकमन्यदतो लौकिकमतोऽस्मादाशयविशेषसमन्वितात् जिनबिम्बकारणाद्, अन्यद् लौकिकं वर्तते, अभ्युदयसारं च तद्वर्तते ॥ १४ ॥

लौकिकमभ्युदयसारमित्युक्तं, लोकोत्तरं तु कीदृगित्याह-

लोकोत्तरं तु निर्वा-णसाधकं परमफलमिहाश्रित्य।
अभ्युदयोऽपि हि परमो, भवति त्वत्रानुषङ्गेण ॥ १५ ॥

लोकोत्तरं तु पुनर्निर्वाणसाधकं मोक्षसाधकं, परमफलमिहाश्रित्य प्रकृष्टफलमङ्गीकृत्याऽभ्युदयोऽपि हि स्वर्गादिः, परमः प्रधानो भवति त्वत्रानुषङ्गेण भवत्येवात्र प्रसङ्गेन, न मुख्यवृत्त्या ॥ १५ ॥

प्रधानानुषङ्गिकप्रतिपत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह-

कृषिकरण इव पलालं, नियमादत्रानुषङ्गिकोऽभ्युदयः।
फलमिह धान्यावाप्तिः, परमं निर्वाणमिव बिम्बात् ॥ १६ ॥

कृषिकरण इव,पलालं प्रतीतं,नियमादत्र जिनबिम्बकारणे,आनुषङ्गिकोऽभ्युदयः स्वर्गादिः फलमिह दृष्टान्ते, धान्यावाप्तिः सस्यलाभः, परमं निर्वाणमिव बिम्बात् धान्यनिर्वाणावाप्त्योः साम्यं दर्शयति। षो० ७ विव०।

जिनबिम्बस्य तावद्विशिष्टलक्षणलक्षितस्य प्रसादनीयस्य वज्रेन्द्रनीलाञ्जनचन्द्रकान्तसूर्यकान्तारिष्टकर्केतनविद्रुमसुवर्णरूप्यचन्दनोपलमृदादिभिः सारद्रव्यैर्विधापनम् । यदाह-

"सन्मृत्तिकाऽमलशिलातलरूप्यदारु-
सौवर्णरत्नमणिचन्दनचारु बिम्बम्।
कुर्वन्ति जैनमिह ये स्वधनानुरूपं,
ते प्राप्नुवन्ति नृसुरेषु महासुखानि ॥ १ ॥"

तथा-

"पासाईआ पडिमा, लक्खणजुत्ता समत्तलंकरणा।
जह पल्हायइ मणं, तह णिज्जरमो विआणाहि"॥१॥ ध०२ अधि०।

प्रतिमाश्च वास्तुशास्त्रोक्तविधिनिष्पन्नाः सुलक्षणा अत्राभ्युदयगुणहेतवः। यतः-

"अन्यायद्रव्यनिष्पन्ना, परवास्तुदलोद्भवा।
हीनाधिकाङ्गा प्रतिमा, स्वपरोन्नतिनाशिनी ॥ १ ॥
मुहनक्कनयणनाही-कडिभंगे मूलनायगं चयइ।
आहरणवत्थपरिगर-चिंधाउहभंगें पूइज्जा ॥ २ ॥
वरिससयाओ उड्ढं, जं बिंबं उत्तमेहिं संठविअं।
विअलंग वि पूइज्जइ, तं बिंबं निक्कलं न जओ ॥ ३ ॥
बिंबपरिवारमज्झे, सेलस्स य वन्नसंकरं न सुहं।
समअंगुलप्पमाणं, न सुंदरं होइ कइया वि ॥ ४ ॥
इक्कंगुलाइपडिमा, इक्कारस जाव गेहें पूइज्जा।
उड्ढं पासाएँ पुणो, इअ भणिअं पुव्वसूरीहिं ॥ ५ ॥
निरयावलिसुत्ताओ, लेवोवलदंतकट्ठलोहाणं।
परिवारमाणरहिअं, घरम्मि नो पूअए बिंबं ॥ ६ ॥
गिहपडिमाणं पुरओ, वलिवित्थारो न चेव कायव्वो।
निच्चं न्हवणं तिसंझं, मज्जणयं भावओ कुज्जा" ॥ ७ ॥

प्रतिमा मुख्यवृत्त्या सपरिकराः सतिलकाद्याभरणाश्च कारयितव्याः, विशिष्य च मूलनायकः,तथैव विशेषशोभाजननितविशेषपुण्यानुबन्धिपुण्यादिसंभवात्। उक्तं च-" पासाईआ पडिमा" इत्यादि प्रागुक्तम्। अथैवंनिष्पन्नस्य बिम्बस्य सद्यः प्रतिष्ठा विधातव्या। यदुक्तं षोडशके-"निष्पन्नस्यैवं खलु, जिनबिम्बस्योदिता प्रतिष्ठा तु। दशदिवसाभ्यन्तरतः, सा च त्रिविधा समासेन ॥ १ ॥ " इत्यादि। बृहद्भाष्येऽपि-"वत्तपइट्ठा एगा, खित्तपइट्ठा महापइट्ठा य । एगचउवीससत्तरि-सयाण सा होइ अणुकमसो ॥ १ ॥ " प्रतिष्ठाविधिश्च सर्वाङ्गीणतदुपकरणमीलननानास्थानश्रीसङ्घगुर्वाह्वानकारणप्रौढप्रवेशमहादितत्स्वागतकरणभोजनवसनप्रदानादि सर्वाङ्गीणं सप्रकारेण बन्दिमोक्षकारणमारिनिवारणाऽवारितसत्रवितरणसूत्रधारसत्कारणस्फीतसङ्गीतावभिनवाद्भुतोत्सवावतारणादिरष्टादशस्नात्रकारणादिश्च प्रतिष्ठाकल्पादेर्ज्ञेयः। ध० २ अधि०।

(२६) अथ तत्प्रतिष्ठाविधिमभिधातुमाह-

णिप्फण्णस्स य सम्मं, तस्स पइट्ठावणे विही एस।
सुहजोएण पवेसो, आयतणे ठाणठवणा य ॥ १६ ॥

निष्पन्नस्य च सिद्धस्य पुनः,सम्यक् यथावत्,इदं पदं प्रतिष्ठापन इत्यनेन, निष्पन्नस्येत्यनेन वा संबध्यते । तस्य जिनबिम्बस्य, प्रतिष्ठापने संस्थापने, विधिर्विधानम्, एष वक्ष्यमाणः। तमेवाह-शुभयोगेन साधकचन्द्रनक्षत्रादिसंबन्धेन प्रशस्तमनःप्रभृतिव्यापारेण वा, प्रवेशः प्रवेशनं, बिम्बस्य कर्त्तव्य इति शेषः। आयतने भवने, स्थानस्थापना च उचितस्थानन्यासश्च, बिम्बस्यैव। इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

तथा-

तेणेव खेत्तसुद्धी, हत्थसयादिविसया णिओगेण।
कायव्वो सक्कारो, य गंधपुप्फादिएहि तहिं ॥ १७ ॥

तेनैव शुभयोगेन, क्षेत्रशुद्धिर्भूमिशोधनं, हस्तशतादिर्विषयो गोचरो यस्याः शुद्धेः सा हस्तशतादिविषया,आदिशब्दाद् बहुतरविषया,अल्पतरविषया वा। इयं च समन्ततो द्रष्टव्या, शोधनीयं च तत्रास्थिमांसाशुच्यादिद्रव्यमिति । नियोगेनावश्यंतया, कार्येति गम्यम्। तथा कर्तव्यो विधेयः, सत्कारश्च गन्धपुष्पादिभिः प्रतीतैः, आदिशब्दाद् धूपादिग्रहः। तस्मिन् जिनभवने, प्रतिष्ठावसरे च, इति गाथार्थः ॥ १७ ॥

दिसि देवयाण पूजा, सव्वेसिं तह य लोगपालाणं।
ओसरणकमेणऽण्णे, सव्वेसिं चेव देवाणं ॥ १८ ॥

दिग्देवताऽऽदीनामिन्द्रादीनाम्, पूजाऽर्चनं,सर्वेषां समस्तानाम्, तथा चेति समुच्चये, लोकपालानां सोमयमवरुणकुबेराणां,शक्र-

संबन्धिनां पूर्वादिदिक्षु क्रमेण व्यवस्थितानां,क्रमेणैव तु खड्गद-एडपाशगदाहस्तानामिति, अवसरणक्रमेण समवसरणन्यायेन द्वितीयप्रकरणवर्णितेन, अन्येऽपरे सूरयः, सर्वेषां चैव समस्तानामेव, देवानां सुराणाम्, पूजा कार्येत्याहुरिति शेषः। इति गाथार्थः॥ १८॥

अथ किमेषामसंयतानां पूजादि क्रियत इत्याह—

जमहिगयबिंबसामी, सव्वेसिं चेव अब्भुदयहेऊ।
ता तस्स पइट्ठाए, तेसिं पूयादि अविरुद्धं ॥ १९ ॥

यद्यस्मादधिकृतबिम्बस्वामी, जिनपतिरित्यर्थः। सर्वेषामेव समस्तानामपीन्द्रादिदेवानाम्, अभ्युदयहेतुः कल्याणनिमित्तम्, तत्तस्मात्, तस्याधिकृतबिम्बस्वामिनः, प्रतिष्ठायाम्, तेषां दिक्देवतादीनाम्, पूजादि पूजासत्कारप्रभृति क्रियमाणम्, अविरुद्धं संगतमेव, इति गाथार्थः॥ १९॥

साहम्मिया य एए, महिड्ढिया सम्मदिट्ठिणो जेण।
एत्तो च्चिय उचियं खलु, एतेसिं एत्थ पूजादी॥२०॥

साधर्मिकाः समानधार्मिकाः,आर्हतत्वात्तेषाम्। एते दिग्देवतादयः, तथा महर्द्धिका महेश्वराः, तथा मिथ्यादृशोऽपि साधर्मिका उच्यते भवन्तीत्याह-सम्यग्दृष्टयः सम्यग्दर्शनधराः, येन कारणेन, (एतो च्चिय त्ति) अत एव कारणत्रयादेव, उचितं खलु सङ्गतमेवेति, एतेषां दिग्देवतादीनाम्, अत्र प्रतिष्ठाऽवसरे, पूजादि पूजासत्कारप्रभृति। इति गाथार्थः॥ २०॥

तत्तो सुहजोएणं, सट्ठाणे मंगलेहिँ ठवणा उ।
अहिवासणमुचिएणं, गंधोदगमादिणा एत्थ॥ २१ ॥

ततो दिग्देवताऽऽदिपूजानन्तरम्, शुभयोगेन प्रशस्तचन्द्रनक्षत्रलग्नादिसंबन्धेन, स्वस्थानेऽधिवासनोचितदेशे, मङ्गलैर्मङ्गलविशेषैः, चन्दनादिभिर्वा। स्थापना तु न्यासश्च, बिम्बस्य विधेयेति गम्यम्। ततश्चाधिवासनमधिवासनं वा, शुद्धिविशेषापादनेन बिम्बप्रतिष्ठायोग्यताकरणं प्रतिष्ठाकल्पप्रसिद्धम्, उचितेन योग्येन, गन्धोदकादिना सकलभद्रकल्योषिमिश्रजलप्रभृतिना, आदिशब्दात्कषायमृत्तिकाऽऽदिपरिग्रहः, अत्र प्रतिष्ठायाम्। इति गाथार्थः॥ २१॥

तथा-

चत्तारि पुराणकलसा, पहाणमुद्दाविचित्तकुसुमजुया।
सुहपुराणचत्तचउतंतु-तुगोत्थया होंति पासेसु॥ २२ ॥

चत्वारश्चतुःसंख्याः,पूर्णकलशा घटा जलपरिपूर्णा अव्रणाश्च, प्रधानमुद्रया रूप्यसुवर्णरत्नस्वरूपया विचित्रकुसुमैश्च नानाविधपुष्पैर्युता युक्ता ये ते तथा। शुभपूर्णचत्वत्चतुस्तन्तुकावस्तृताः, पूर्ण सूत्रकुक्कुटिकापूरितं, यच्चत्वं तर्कुः, तस्य संबन्धि यच्चतुस्तन्तुकं तन्तुकचतुष्टं तत्तथा। शुभं च तच्चित्वं पूर्णचत्वचतुस्तन्तुकं चेति समासः,तेनावस्तृता आच्छादिताः कण्ठदेशेषु ये ते तथा, भवन्ति, विधेया इति शेषः। पार्श्वेषु चतसृषु दिक्षु, पुरस्तात्प्रतिष्ठाप्यप्रतिमायाः, इति गाथार्थः॥२२॥

किं चान्यत्-

मंगलदीवा य तहा, घयगुलपुराणा सुभिक्खुभक्खा य।
जवबारयवरणपस-त्थिगादि सव्वं महारम्मं॥ २३ ॥

मङ्गलदीपा माङ्गल्यप्रदीपाः, चः समुच्चयार्थः, तथैति तेनैव प्रकारेण, घृतगुडपूर्णाः घृतगुडसमन्विता भवन्ति,तत्र तथा शुभाः प्रशस्ता इक्षव इक्षुयष्टिखण्डानि, भक्ष्याणि च खण्डखाद्यकादीनि, येषु दीपेषु ते तथा। चः समुच्चये। अथवा-स्वतन्त्राण्येव शुभेक्षुभक्ष्याणि च भवन्ति। "सुभेक्खुभक्ख त्ति" पाठान्तरम्। तत्र शुभा इक्षवो वृक्षाश्च कदल्यादयः तथा यववारकाः शरावादिरोपितयवाङ्कुराः, वर्णकश्चन्दनं श्रीखण्डादि, स्वस्तिकः प्रसिद्ध एव, वर्णकस्य वा स्वस्तिका वर्णकस्वस्तिकास्ते आदिर्यस्य नन्दावर्त्तादिवस्तुजातस्य तत्तथा। सर्वं समस्तम्, महारम्यमतिरमणीयं,भवति, तत्र विधेयमित्यन्वयः। इति गाथार्थः॥ २३॥

मंगलपमिसरणाइं, चित्ताइं रिद्धिविद्धिजुत्ताइं।
पढमदियहम्मि चंदण-विलेवणं चेव गंधड्ढं॥ २४ ॥

मङ्गलप्रतिसरणानि मङ्गलकङ्कणानि, चित्राणि विचित्राणि, ऋद्धिवृद्धियुक्तानि ऋद्धिवृद्ध्यभिधानौषधीसनाथानि, प्रथमदिवसे आद्यदिने, अधिवासनादिने इत्यर्थः। चन्दनविलेपनमेव च मलयजानुलेपनमेव च, गन्धाढ्यं कर्पूरकस्तूरिकादिगन्धैः पूर्णं विधेयम्, इति गाथार्थः॥ २४॥

चउणारीओमिणणं, णियमा अहिगासु णत्थि उ विरोहो।
णेवत्थं च इमासिं, जं पवरं तं इहं सेयं॥ २५ ॥

चतुःसंख्या नार्यः स्त्रियश्चतुर्नार्यस्ताभिर्मङ्गल्याभिः, (ओमिणणं ति) अवमानं प्रोङ्खणकं लोकशास्त्रसिद्धम्, चतुर्नार्यवमानं भवति तत्र कर्त्तव्यम्। नियमादवश्यंतया, अधिकासु चतसृभ्योऽर्गलतरासु, नास्ति तु न भवत्येव, विरोधः शास्त्रबाधः, नेपथ्यं च वेषः, आसामवमानकारिणीनां नारीणां, यत्प्रवरं यत्प्रधानं प्रशस्तं च, तदिहावमानप्रस्तावे, श्रेयः कल्याणभूतं समाश्रयणीयं च, इति गाथार्थः॥ २५॥

ननु प्रवरनेपथ्यस्य रागहेतुत्वात्कथं श्रेयस्त्वमित्याह-

जं एयवइयरेणं, सरीरसक्कारसंगयं चारु।
कीरइ तयं असेसं, पुराणणिमित्तं मुणेयव्वं॥ २६ ॥

यत्प्रवरनेपथ्यादि, एतद्व्यतिकरेण जिनबिम्बप्रतिष्ठासंबन्धेन, शरीरसत्कारसंगतं देहभूषानुगतं, चारु शोभनम्, क्रियते विधीयते, धार्मिकजनेन। तत्तदशेषं सर्वम्, पुण्यनिमित्तं शुभकर्मनिबन्धनम्, (मुणेयव्वं ति) ज्ञेयं, सत्पक्षपातरूपत्वात्परिणामस्येत्यर्थः। श्रेय एव तासां नेपथ्यविशेषः, इति गाथार्थः॥ २६॥

अथ कुतस्तत्पुण्यनिमित्तमित्याह-

तित्थगरे बहुमाणा, आणाआराहणा कुसलजोगा।
अणुबंधसुद्धिभावा, रागादीणं अभावा य॥ २७ ॥

तीर्थकरे जिने, बहुमानात्पक्षपातात्, तथा आज्ञाऽऽराधनादाप्तोपदेशानुपालनात्, कुशलयोगात् प्रशस्तव्यापारात् शास्त्रोक्तत्वेन। अनुबन्धशुद्धिभावात् सातत्येन कर्मक्षयोपशमेनात्मनो निर्मलत्वसद्भावात्, रागादीनां रागद्वेषप्रभृतीनाम्, अभावात् अविद्यमानत्वात्, रागाऽऽद्यभावश्चाज्ञापरतन्त्रत्वादेव, चशब्दः समुच्चये, पुण्यनिमित्तं प्रवरनेपथ्यादि विज्ञेयमिति प्रकृतम्; इति गाथार्थः॥ २७॥

ऐहलौकिकमेवावमानफलमाह-

दिक्खियजिणोमिणणओ, दाणाओ सत्तिओ तहेयम्मि।
वेहव्वं दारिद्दं, च होंति ण कयाति नारीणं ॥ २८ ॥

दीक्षितजिनावमानतोऽधिवासितजिनप्रोक्षणकाद् लोकप्रसिद्धात्, तथा दानाद्वित्तवितरणात्, शक्तितः शक्तिमाश्रित्य, यथाशक्तीत्यर्थः। तथा तेन प्रकारेण प्रोक्षणकोद्देशलक्षणेन, एतस्मिन् जगवति विषयभूते, वैधव्यं मृतभर्तृकत्वम्, दारिद्र्यं च दौर्गत्यं च, भवति जायते, न कदाचिन्न जातुचित्, नारीणां स्त्रीणां प्रोक्षणककारिणीनाम्, इति गाथार्थः ॥ २८ ॥

अधिवासनगतं विध्यन्तरमाह-

उक्कोसिया य पूजा, पहाणदव्वेहिँ एत्थ कायव्वा।
ओसहिफलवत्थसुव-ण्णमुत्तरयणाइएहिं च ॥ २९ ॥

उत्कर्षिका उत्कर्षवती, चशब्दः पुनरर्थः, पूजा पूजनमर्हद्बिम्बस्य। प्रधानद्रव्यैः प्रवरपूजाङ्गैश्चन्दनागरुकर्पूरपुष्पादिभिः, अत्राधिवासनावसरे, कर्तव्या विधेया, ओषधिफलवस्त्रसुवर्णमुक्तारत्नादिकैश्च प्रतीतैरेव, नवरमोषध्यो व्रीह्यादयः, फलानि नालिकेरदाडिमादीनि। इति गाथार्थः ॥ २९ ॥

चित्तबलिचित्तगंधे-हिँ चित्तकुसुमेहिँ चित्तवासेहिँ।
चित्तेहिँ विऊहेहिं, भावेहिं विहवसारेण ॥ ३० ॥

चित्रबलिचित्रगन्धैः, पूजा कर्तव्येति प्रकृतम्। तत्र चित्रा नानाविधा बलय उपहारा गन्धास्तु कोष्ठपुटपाकादयः। चित्रकुसुमैर्विचित्रपुष्पैः, चित्रवासैः सुगन्धिद्रव्यचूर्णरूपैर्वस्त्वन्तरवासकस्वभावैः, चित्रैर्विविधैः, (विऊहेहिं ति) व्यूहै रचनाविशेषैः, भावैश्च रचनागतैः प्रक्रीडितप्रमुदिताश्लिष्टितादिभिर्भक्तिसारैर्वा, विभवसारेण विभूत्युत्कर्षेण, इति गाथार्थः ॥ ३० ॥

अथ कस्मादेवमत्यादरः पूजायां विधीयत इत्याह-

एयमिह मूलमंगल, एत्तो चिय उत्तरा वि सक्कारा।
ता एयम्मि पयत्तो, कायव्वो बुद्धिमंतेहिं ॥ ३१ ॥

एतदुत्कृष्टपूजादिकम्, इह जिनबिम्बविषये, मूलमङ्गलमादिकल्याणम्, ततः किमित्याह-(एत्तो चिय त्ति) इत एव मूलमङ्गलात्, उत्तरेऽप्युत्तरकालभाविनोऽपि सत्कारा अधिकृतबिम्बपूजाविशेषा भवन्ति, निमित्तभूतत्वात् मूलमङ्गलस्य। 'ता' इति। यस्मादेवं तत्तस्माद्, एतस्मिन् मूलमङ्गले उत्तरोत्तरसत्कारहेतौ, प्रयत्न उद्यमः, कर्तव्यो विधेयः, बुद्धिमद्भिर्धीमद्भिः, इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

पूजायनन्तरं यत्कर्त्तव्यं तदाह-

चितिवंदनथुतिवुड्ढी, उस्सग्गो साहु सासणसुराए।
थय सरण पूय काले, ठवणा मंगलगपुव्वा उ ॥ ३२ ॥

चैत्यवन्दना प्रतीता कर्तव्या, स्तुतिवृद्धिः प्रवर्धमानस्तुतिपाठरूपा विधेया, उत्सर्गः कायोत्सर्गो विधेयः, साधु यथा भवति, असंमूढतयेत्यर्थः। कस्या आराधनायेत्याह- शासनसुरायाः प्रवचनदेवतायाः, स्तवस्मरणं चतुर्विंशतिस्तवानुचिन्तनं, कायोत्सर्गे कार्यम्। अथवा--चतुर्विंशतिस्तवः पठनीयः, स्मरणं चेष्टगुर्वादीनामिति। ततः पूजा पूजनं विधेया, जिनबिम्बस्य, प्रतिष्ठाकारकस्य वा। स्तवस्मरणपूजापदयोश्चानुस्वाराश्रवणं, ह्रस्वता च प्राकृतत्वादिति। ततः काले लग्नस्याभिमतांशे, स्थापना प्रतिष्ठा जिनबिम्बस्य, मङ्गलपूर्वा तु पञ्चनमस्कारपूर्वैव, मङ्गलान्तरपूर्वैव वा कर्त्तव्या, इति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

पूया वंदणमुस्स-ग्गपारणा जावथेज्जकरणं च।
सिद्धाचलदीवसमु-द्दमंगलाणं च पाढो उ ॥ ३३ ॥

ततः पूजा पुष्पादिभिरर्चनं प्रतिष्ठितबिम्बस्य विधेया, ततो वन्दनं चैत्यवन्दनं विधेयम्, तत उत्सर्गः कायोत्सर्गो निरुपसर्गनिमित्तं विधेयः, प्रतिष्ठादेवताया इत्यन्ये। ततः पारणा परिसमाप्तिः तस्यैव विधेया। भावस्थैर्यकरणं च चित्तस्थिरतासंपादनम्, भावेन वा आशीर्वचनहेतुभूतेन प्रतिष्ठास्थैर्यकरणं च विधेयम्। अत एवाह-सिद्धाचलद्वीपसमुद्रमङ्गलानां च सिद्धाद्युपमोपेतमङ्गलगाथानां वक्ष्यमाणरूपाणाम्, पाठोऽभिधानं विधेयः, तुशब्दो गाथापूरणार्थः, इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

सिद्धादिमङ्गलान्येवाह-

जह सिद्धाण पतिट्ठा, तिलोगचूडामणिम्मि सिद्धिपदे।
आचंदसूरियं तह, होउ इमा सुप्पतिट्ठ त्ति ॥ ३४ ॥

यथा यद्वत्, सिद्धानां निर्वृतानां, प्रतिष्ठा अवस्थानम्, त्रिलोकचूडामणौ त्रिभुवनशिरोरत्नकल्पे, सिद्धिपदे निर्वाणरूपे आस्पदे, आचन्द्रसूर्यं चन्द्रसूर्यौ यावत्, तथा तत्, भवतु अस्तु, इयमधिकृता, सुप्रतिष्ठा शोभनावस्थानम्, इतिशब्दः परिसमाप्तौ, इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

शेषा मङ्गलगाथा अतिदेशत आह-

एवं अचलादीसु वि, मेरुप्पमुहेसु होंति वत्तव्वं।
एते मंगलसद्दा, तम्मि सुहनिबंधणा दिट्ठा ॥ ३५ ॥

एवमनेनैव सिद्धमङ्गलन्यायेन, अचलादिष्वपि अचलद्वीपसमुद्रेष्वपि, न केवलं सिद्धविषय एव। किंभूतेष्वचलादिषु?, मेरुप्रमुखेषु मेरुजम्बूद्वीपलवणोदधिप्रभृतिषु, भवति जायते, वक्तव्यं भणनीयं, तथाविधगाथाभिधानद्वारेण। तथाहि-

" जह मेरुस्स पइट्ठा, जम्बूदीवस्स मज्झयारम्मि।
आचंदसूरियं तह, होउ इमा सुप्पइट्ठ त्ति ॥ १ ॥
जम्बूदीवपइट्ठा, जह सेसयदीवमज्झयारम्मि।
आचंदसूरियं तह, होउ इमा सुप्पइट्ठ त्ति ॥ २ ॥
जह लवणस्स पइट्ठा, सव्वसमुद्दाण मज्झयारम्मि।
आचंदसूरियं तह, होउ इमा सुप्पइट्ठ त्ति ॥ ३ ॥ "

एवमन्या अपि मङ्गलगाथा न विरुद्धा इति। अथ कस्मादेताः पठ्यन्ते इत्यत्र कारणमाह-एते अनन्तरोक्ताः सिद्धादयो, मङ्गलशब्दाः माङ्गल्यध्वनयः, तस्मिन् जिनप्रतिष्ठावसरे, शुभनिबन्धनाः शुभहेतवः, दृष्टा निश्चिताः समयज्ञैः, इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

शुभनिबन्धनत्वमेवैतेषां समर्थयन्नाह-

सोउं मंगलसद्दं, सउणम्मि जहा उ इट्ठसिद्धि त्ति।
एत्थं पि तहा सम्मं, विण्णेया बुद्धिमंतेहिं ॥ ३६ ॥

श्रुत्वा आकर्ण्य, मङ्गलमित्येवंरूपो मङ्गलभूतो वा विजयसिद्ध्यादिशब्दो मङ्गलशब्दस्तम्, शकुने शकुनविषये, यथा तु यद्वदेव, इष्टसिद्धिरभिमतार्थनिष्पत्तिः, भवतीति गम्यम्, इत्ये तत्,

ज्ञायत इति शेषः । अत्रापि प्रतिष्ठायामपि, न केवलं शकुनविषय एव; तथा तद्वादिष्टसिद्धिः, सम्यग्यथावत्, विज्ञेया ज्ञातव्या, बुद्धिमद्भिर्मतिमद्भिः, इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

इहाऽऽचार्यान्तरमतमाह–

अन्ने उ पुन्नकलसा–दिठावणे उदहिमंगलादीणि ।
जंपंतऽन्ने सव्व–त्थ जावतो जिणवरा चेव ॥ ३७ ॥

अन्ये त्वपरे पुनः सूरयः,पूर्णकलशादिस्थापने पूर्णकलशमङ्गलदीपानां न्यासे, उदधिमङ्गलादीनि समुज्ज्वलनमङ्गलप्रभृतीनि, जल्पन्ति भणन्ति,पठनीयतयेति । अन्येऽपरे पुनः,सर्वत्र सर्वप्रयोजनेषु प्रतिष्ठागतेषु, भावतः परमार्थतः, मङ्गलमिति गम्यम् । जिनवरा एव जिनेन्द्रा एव, न मङ्गलान्तरमतस्तन्नामैव सर्वत्र ग्रहीतव्यम् । इति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

प्रतिष्ठाऽनन्तरं यद्विधेयं तदाह--

सत्तीएँ संघपूजा, विसेसपूजाउ बहुगुणा एसा ।
जं एस सुए भणिओ, तित्थयराऽणंतरो संघो ॥३७॥

शक्त्या यथाशक्तीत्यर्थः, सङ्घपूजा चतुर्वर्णश्रीश्रमणसङ्घाभ्यर्चनं, विधेया, यस्माद्विशेषपूजातो धर्माचार्यादितद्विशेषार्चनायाः सकाशात्,बहुगुणा महाफलेत्यर्थः । एषा सङ्घपूजा, एतदपि कुत इत्याह-यद्यस्माद्, एषोऽयं सङ्घः श्रुते सिद्धान्ते, भणितोऽभिहितः, तीर्थकरेभ्योऽनन्तरो द्वितीयस्थानवर्त्ती तीर्थकरानन्तरः, पूज्यत्वेनेति शेषः । अथवा-अविद्यमानमन्तरं विशेषो यस्य सोऽनन्तरः, तीर्थकराणामनन्तरस्तीर्थकरतुल्य इत्यर्थः । तेषामपि तस्य पूज्यत्वात् । अथवा–तीर्थकरोऽनन्तरो यस्मात्स तथा, सङ्घपूर्वकं हि तीर्थकरस्य तीर्थकरत्वम् । सङ्घ इति संबन्धितमेव, इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

अमुमेवार्थं समर्थयन्नाह–

गुणसमुदाओ संघो, पवयण तित्थं ति होंति एगट्ठा ।
तित्थयरो वि य एणं, णमए गुरुभावतो चेव ॥३६॥

गुणसमुदायोऽनेकप्राणिस्थज्ञानादिगुणसमूहः, (संघो त्ति) सङ्घ उच्यते । तस्य च प्रवचनं तीर्थमिति चैतौ शब्दौ, प्रवर्त्तेते, एकार्थावभिधायौ । यद्यपि प्रकृष्टं प्रशस्तं वा वचनं प्रवचनं द्वादशाङ्गी, तथा तरन्ति येन भवोदधिमिति तीर्थं, द्वादशाङ्ग्येव,तथाऽप्याधाराधेययोरभेदविवक्षणात्प्रवचनं तीर्थं च सङ्घ उच्यत इति, ततश्चानपेक्षितपुरुषादिभावतया गुणसमुदायरूपताया एवापेक्षणात् । तीर्थकरोऽपि च जिनोऽपि च,आस्तामितरजनः, एतं सङ्घम्, नमति वन्दते, धर्मकथाऽऽरम्भे–"नमो तित्थस्स" इति भणनात् । कुत इत्याह–गुरुभावतः " गुरुत्वं गुणात्मकत्वात " इत्येवंरूपो यो भावोऽध्यवसायः स गुरुभावस्तस्मात् । अथवा–गुरुभावतो गुरुत्वाद्गौरवार्हत्वात्, चैवेत्यवधारणार्थः, इति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

अथ तीर्थकरनमनीयत्वं सङ्घस्यागमेन दर्शयन्नाह–

तप्पुव्विया अरिहया, पूजितपूया य विणयकम्मं च ।
कयकिच्चो वि जह कहं, कहेति णमते तहा तित्थं ॥४०॥

तत्पूर्विका तीर्थहेतुका, तीर्थं च सङ्घः, (अरिहय त्ति) अर्हता तीर्थकरत्वं प्रवचनवात्सल्यादिलभ्यत्वात्तस्याः । तथा पूजितस्य सतः पूज्यैर्या सङ्घस्य पूजा सा पूजितपूजा,सा च प्रवर्त्तां, पूजितपूजकत्वाल्लोकस्य । तथा विनयकर्म्म च वैनयिककृत्यं च, कृतज्ञताधर्मगर्भं कृतं भवतु, विनयमूलो धर्म्म इत्याविष्करणार्थम्, इत्येवं कारणत्रयान्नमति तीर्थमिति योगः । अथ कृतकृत्यस्य किं तीर्थनमनेनेत्यत आह–कृतकृत्योऽपि निष्ठितार्थोऽपि, आस्तामितरः, यथा यद्वत्, कथां धर्म्मदेशनाम्, कथयति करोति, नमति प्रणमति, तथा तद्वत्, तीर्थं सङ्घं, तीर्थकरनामकर्मोदयादौचित्यप्रवृत्तेरिति गाथार्थः ॥ ४० ॥

तदेव–

एयम्मि पूजियम्मि, णऽत्थि तयं जं ण पूजियं होइ ।
भुअणे वि पूयणिज्जं, ए गुणट्ठाणं ततो अन्नं ॥ ४१ ॥

एतस्मिन् सङ्घे पूजिते सति, नास्ति नःविद्यते, तत्कत्पूज्यम, यन्न पूजितमर्चितं भवति, सर्वमेव पूजितं भवतीति भावः। कुत एतदेवमित्याह–भुवनेऽपि लोकेऽपि, पूजनीयं पूज्यम, न नैव, गुणस्थानं गुणास्पदं, ततः सङ्घात, अन्यदपरमस्ति, इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

अथ सङ्घैकदेशपूजैव कर्त्तुं शक्या, न सङ्घपूजा, तस्य सकलसमयक्षेत्राश्रयत्वादित्याशङ्क्याऽऽह–

तप्पूयापरिणामो, हंदि महाविसयमो मुणेयव्वो ।
तद्देसपूयणम्मि वि, देवयपूयादिणाएण ॥ ४२ ॥

तत्पूजापरिणामः सङ्घपूजनाध्यवसायः, " संघमहं पूजयामि " इत्येवंरूपः, हन्दीत्युपप्रदर्शने, महाविषयो बृहद्गोचरः, मकारः प्राकृतत्वात, (मुणेयव्वो त्ति) ज्ञातव्यः, तद्देशपूजनेऽपि सङ्घैकदेशार्चनेऽपि, अपिशब्दः परोक्ताऽभ्युपगमसूचनार्थः । कथमेतत्सिद्धमित्याह–दैवतपूजादिज्ञातेन देवतार्चनप्रभृत्युदाहरणेन । यथा हि-दैवतस्य राज्ञो वा मस्तकपादाद्येकदेशपूजनेऽपि तत्पूजापरिणामाद्दैवतादिः पूजितो भवति, एवमेकदेशपूजनेऽपि सङ्घः पूजितो भवति, इति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

सङ्घपूजामेव गाथात्रयेण स्तुवन्नाह–

आसन्नसिद्धियाणं, लिंगमिणं जिणवरेहिँ पन्नत्तं ।
संघम्मि चेव पूया, सामन्नेणं गुणणिहिम्मि ॥ ४३ ॥
एसा उ महादाणं, एस च्चिय होति भावजण्णो त्ति ।
एसा गिहत्थसारो, एस च्चिय संपयामूलं ॥ ४४ ॥
एत्तीएँ फलं णेयं, परमं णेव्वाणमेव णियमेण ।
सुरणरसुहाइँ अणुसं–गियाइँ इह किसिपलालं व ॥४५॥

आसन्नसिद्धिकानां समासन्नीभूतनिर्वृतीनां, जीवानाम् । लिङ्गं चिह्नम, इदमेतत, जिनवरैः तीर्थकृद्भिः, प्रज्ञप्तमुक्तम्, यतः किमित्याह–सङ्घे श्रीश्रमणसङ्घे, चैवशब्दोऽवधारणार्थः । स चोत्तरत्र संभन्त्स्यते, पूजाऽर्चना, कथम् ?, सामान्येनैव, न तु परिचयस्वाजन्यादिविशेषेण, विशेषापेक्षया हि गुणानामुपसर्जनभावो भवति, स्वाजन्यादिविशेषस्यैव च प्रधानता स्यादिति । गुणनिधौ ज्ञानादिगुणरत्ननिधाने, गुणनिधानत्वादिति भावः, इति ॥४३॥ एषा तु इयमेव सङ्घपूजा,महादानमुत्तमविश्राणनम् । एषैव च, भवति जायते, भावयज्ञः परमार्थयागः, इतिः समाप्तौ, एषा संघपूजा गृहस्थसारो गृहिणां सार इव सारः सर्वस्वम् , ईप्सितार्थसाधकत्वात् । गृहस्थधर्म्मसारो वा । एषैव च संपन्मूलं श्रीकारणम् ॥४४॥ एतस्याः सङ्घपूजायाः, फलं साध्यम्, ज्ञेयं

ख्यातव्यम्, परमं प्रधानम्, निर्वाणमेव निर्वृत्तिरेव, नियमेनाव-श्यन्तया, सुरनरसुखानि प्रतीतानि, आनुषङ्गिकाणि प्रासङ्गि-कानि, न परमाणीत्यर्थः । इह सङ्घपूजायां, फलविचारे वा, किं-वदित्याह-कृषौ कर्षणे पलालं बुसं कृषिपलालं तदिव तद्वदिति गाथात्रयार्थः ॥ ४५ ॥

सङ्घपूजाप्रकरणमुपसंहरन्नाह-

कयमेत्थ पसंगेणं, उत्तरकालोचियं इहऽसं पि ।
अणुरूवं कायव्वं, तित्थुन्नतिकारगं णियमा ॥ ४६ ॥

कृतमलम्, अत्र प्रतिष्ठाऽधिकारे, प्रसङ्गेन प्रसङ्गभणितेन, पूजावि-षयेण । उत्तरकालोचितं प्रतिष्ठोत्तरसमयानुरूपम्, इह प्रति-ष्ठापर्वणि, अन्यदप्युक्तातिरिक्तमपि, अमारिघोसणादि । अनुरूप-मुचितम्, कर्त्तव्यं विधेयम्, तीर्थोन्नतिकारकं प्रवचनप्रभाव-नाकारि, नियमादवश्यंतया । इति गाथार्थः ॥ ४६ ॥

उचिओ जणोवयारो, विसेसओ णवरि सयणवग्गम्मि ।
साहम्मियवग्गम्मि य, एयं खलु परमवच्छल्लं ॥ ४७ ॥

उचितो योग्यः, जनोपचारो लोकपूजा सामान्यतो विधेयः, विशेषतो विशेषेण, नवरं केवलम्, स्वजनवर्गे स्वकीयलोके, प्रत्यासन्नतरत्वात्, साधर्म्मिकवर्गे च स्वजनातिरिक्तसमानधा-र्म्मिकजने च, धर्मबहुमानात् विशेषत इति प्रकृतम् । कस्मादेव-मित्याह-एतत्खलु एतदेव, पाठान्तरेणैवं खलु, इत्थमेवेत्यर्थः । प्रतिष्ठोद्देशकृतोपचाररूपम् । परमवात्सल्यं प्रधानगौरवं च, स्व-जनसाधर्मिकाणाम्, इति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

अट्ठाहिया य महिमा, सम्मं अणुबंधसाहिता केइ ।
अन्ने उ तिन्नि दियहे, णिओगओ चेव कायव्वा ॥४८॥

अष्टाह्निका अष्टदैवसिकी, चशब्दः समुच्चये, महिमा महो-त्सवः, महिमाशब्दश्च स्त्रीलिङ्गोऽपि दृश्यते । सम्यग्भावतः, सा-ह्यनुबन्धसाधिका पूजाविच्छेदगमिका भवतीति केचिदाचार्या वदन्ति । अन्ये त्वपरे पुनराचार्याः, त्रीन् दिवसान् यावत् महिमा । नियोगत एव नियमेनैव, चैवशब्दोऽवधारणार्थः । कर्त्तव्या विधेया इति गाथार्थः ॥ ४८ ॥

तत्तो विसेसपूया-पुव्वं विहिणा पमिस्सरोम्मुयणं ।
भूयबलिदीणदाणं, एत्थं पि ससत्तिओ किं पि ॥४९॥

ततो महिमाऽनन्तरम्, विशेषपूजापूर्वं प्राक्तनदिनापेक्षया वि-शिष्टतरार्चनपुरःसरम्, विधिना शास्त्रोक्तेन, साम्प्रदायिकेन वा । प्रतिसरोन्मोचनं कङ्कणमोचनं विधेयम् । तथा भूतबलिः प्रेतोपहारः पत्रपुष्पफलाक्षताद्यः सुरभिगन्धोदकोन्मिश्रः सि-क्तान्नप्रक्षेपरूपः, दीनदानं कृपणेभ्योऽनुकम्पावितरणं, ततः प-दद्वयस्य समाहारद्वन्द्वः । अत्रापि कङ्कणमोचने, न केवलं प्र-तिष्ठानन्तरमेवेत्यपिशब्दार्थः । स्वशक्तितः स्वकीयं चित्तवित्त-सामर्थ्यमाश्रित्य, किमपि प्रतिष्ठाऽवसरापेक्षया स्तोकम्, इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

अथ प्रकरणार्थोपसंहारार्थमाह-

तत्तो पमिदिणपूया-विहाणओ तह तहेह कायव्वं ।
विहितागुट्ठाणं खलु, भवविरहफलं जहा होति ॥ ५० ॥

ततः कङ्कणोन्मोचनानन्तरम्, प्रतिदिनपूजाविधानतोऽनुदिव-सार्चनकरणेन, तथा तथा तेन तेन प्रकारेण, विचित्ररूप-तयेत्यर्थः । इह जिनबिम्बे प्रतिष्ठिते सति, कर्तव्यं विधेय-म्, विहितानुष्ठानं पूजावन्दनयात्रास्नानादि, खलुरवधारणे, स चोत्तरत्र संभन्त्स्यते । भवविरहफलमेव संसारवियोगसा-धकमेव, यथेति तथाशब्दस्य वीप्सायां प्रयुक्तत्वाद्यथाश-ब्दोऽपि वीप्सायामेव द्रष्टव्यः, तेन यथा यथा येन येन प्र-कारेण भवति जायत इत्युपदेशः, इति गाथार्थः ॥ ५० ॥ पञ्चा० ८ विव० । इति प्रतिष्ठाविधिः । ध० । षो० ।

श्रावककृतबिम्बप्रतिष्ठाविधिः-

दव्वत्थओ त्ति केई, बिंबपइट्ठं भणंति सड्ढस्स ।
तह कप्पे भणियमिणं, सम्म पइट्ठवणवयणाओ ॥

द्रव्यं वासकुसुमधूपकषायमृत्तिकातैलोन्मीलनकारि लक्षणम्, तत्प्रधानः स्तवो द्रव्यस्तवो, भावप्रधानत्वान्निर्देशस्य, ततो द्रव्य-स्तवत्वात् कारणात्, इतिहेतौ, स च दर्शित एव । केचनैके, बिम्बप्र-तिष्ठां सर्वज्ञप्रतिनिधेस्तद्गुणाध्यारोपलक्षणां, भणन्ति जल्पन्ति, श्राद्धस्य श्रावकस्य । अयं तेषामाशयः-यतिधर्मो हि भावस्त-वप्रधानः, स च प्रतिष्ठायां क्रियमाणायां पूर्वोक्तद्रव्यव्यापारणतो न सम्यग् जाघटीति, तथा प्रकारेण, कल्पे छेदग्रन्थविशेषे, भणितं प्रतिपादितम्, इदं प्रतिष्ठाविधानं, सम्यक् प्रतिष्ठापनवचनात्-"सावओ कोइ पढमं जिणपडिमाए पइट्ठवणं करेइ" त्ति वचना-त् । श्रावकः कश्चित्प्रथमम् आद्यं, जिनप्रतिमाया जिनमूर्तेः, प्रति-ष्ठापनं प्रतिष्ठां, करोति विदधाति । गाथायां च प्रथमकरो-त्यादिशब्दानुपादानं छन्दोवशात् न कृतं, सूचनाच्च सूत्रस्येति । अतः स्थितमेतत्-कारणद्वयाद्युक्तलक्षणात् श्रावक एव प्रति-ष्ठां करोति, न साधुरिति ।

साम्प्रतं पूर्वपक्षार्थी प्रथमपक्षस्य परिहारं दातुका-मस्तदनुष्ठानेनैव चोत्तरं गाथाऽर्द्धेनाऽऽह-

सयमामिलाण दामं, खिवंति सड्ढीण खंधदेसम्मि ॥

स्वयमात्मना, अम्लानां सार्द्रां, दाम मालां, क्षिपन्त्यक्षापयन्ति, श्राद्धीनां श्राविकाणां, स्कन्धदेशे ग्रीवायाम् । अयमभिप्रायः-यदि द्रव्यस्तवभीतैर्यतिभिः प्रतिष्ठा न क्रियते, किमित्युपधान-विधौ मालाऽऽरोपणं विधीयते ?, अम्लानादित्वेनास्यापि सा-ध्वनुचितद्रव्यस्तवत्वात्, इदमपि कर्तुं न युज्यत इति ।

एवमुक्तः परः स्वमतस्थित्यर्थं यद्वदिष्यति, तत् तृतीयपादेनाह-

अह सत्थे भणियमिणं, ति

अथेत्याचार्यवचनानन्तर्यार्थम्, शास्त्रे महानिशीथाख्ये, भ-णितमुक्तम्, इदं मालारोपणविधानम्, इतिर्हेतावतो विधी-यत इति ।

अस्यापि न्यायत उत्तरं चरमपादेनाऽऽह-

तत्थिमा जुत्ति वत्तव्वा ॥

तत्र शास्त्रभणने, (इमा त्ति) इयं वक्ष्यमाणा, युक्तिरवितथभ-णितिः, वक्तव्या वाच्येति गाथार्थः ।

तामेवाह-

सत्थं पि बहुमयं ते, रइयं जं पुव्वसूरिपवरेहिं ।
ताणाऽऽयरणं भणु मू-ढ ! होइ गरुअं विसेसेण ॥

शास्त्रमेव महानिशीथादिलक्षणम्, अपिशब्द एवकारार्थः स च दर्शित एव; बहुमतमतीवाभीष्टं. ते तव. रचितं कृतं, यत यस्मात्, पूर्वसूरिप्रवरैश्चिरन्तनाचार्यप्रधानैः, तेषामाचार्यवृन्दारकाणाम्, आचरणं चेष्टितं,तन्वितथक्रमायां,मूढ ! मन्दमते !, भवति जायते, ग्राह्यं स्वीकर्त्तव्यं, विशेषेणाऽऽदरेण । इदमत्र तत्त्वम्यदि तव पूर्वाचार्यवचनं शास्त्रस्थितं प्रमाणं, ततस्तच्चेष्टितं विशेषतः कर्तुं युज्यते, न हि ते अनुचितं कुर्वन्ति, अत्र बहुवचनप्रक्रमेऽपि यदेकवचनेन निगमनं कृतं, तद् "धह्नादेशेऽपि एकादेशः" इति वचनाद् अदुष्टं मन्तव्यम्, एवमन्यत्रापीति गाथार्थः ।

अत्र यदि परो ब्रूयात्-न मम तदाचरितं प्रमाणम्-
तत्तत्साधनाय गाथाऽर्द्धमाह-

असढेहि समाइन्नं, इच्चाइवयणओ तयं सिद्धं ।

अशठैरमायिभिः, समाचीर्णमासेवितम्, इत्यादिवचनत एवंप्रभृतिभणनात्,तकं तत् पूर्वाचार्यानुष्ठितं,सिद्धं प्रतिष्ठितम्।आदिग्रहणादेवं दृश्यम्-"जं कत्थइ केणइ वा, असावज्जमणुचिअं तेण । अनिवारियमन्नेहिं,वहुमणुमयमेवमायरियं"॥१॥ सुगमं च । एतश्च पराभिप्रायमभ्युपगम्यास्माभिरुक्तम्, वस्तुतस्तु द्रव्यस्तव एवेयं बिम्बप्रतिष्ठा न भवति, निरवद्याचार्यमन्त्राद्यनुष्ठानपूर्वकाजिनगुणाध्यारोपणेन भावस्तवत्वादस्याः । किं च-आचार्यप्रतिष्ठाकरणे श्रीमदुमास्वातिवाचकसमुद्रसूरिहरिभद्राचार्यादिरचिताः प्रतिष्ठाकल्पा दृश्यन्ते, श्रावकप्रतिष्ठाकरणविधौ तु न किमपि दृश्यते विधानम्, ततः कथं ते तां कुर्वन्तु ?,मा वा भवतु, यदि श्रावकेण कुत्रचित् कदापि च कृता भवति भवद्वचनात्पूर्वप्रतिष्ठा, ततो युज्येतेदमपि वक्तुम् । यदप्युच्यते-अष्टापदजैनालये कृता भविष्यति, तदपि युक्तं स्यात् यदि साधुव्युच्छित्तौ निष्पन्नं तत्स्यात् । किञ्चावश्यकचूर्ण्यां तत्करणविधिः सर्वः प्रतिपादितो, न तु साधुना श्रावकेण वा प्रतिष्ठा कृतेत्युक्तम् । यच्च संप्रतिराजनि राजनिर्मापितानार्यदेशचैत्येषु साध्वभावात्कृता भविष्यति, तत्रापि पश्चात्कृतैः साधुभिः प्रतिष्ठा कृता भविष्यतीत्ये , तदपि वक्तुं शक्यते, तस्मात्किमेभिः कुशकाशावलम्बनैरिति ? ।

द्वितीयविकल्पशोधनायोत्तरार्द्धमाह-

कप्पम्मि वि जं भणियं, तं अणुजाणाहिगारम्मि ।

कल्पेऽपि न केवलं प्रथमविकल्पेन तव न किञ्चित्समीहितं जातं, द्वितीयेनापि नेत्यपिशब्दार्थः, यद् वचनं भणितं तद्वचनमनुयानाधिकारे रथस्य पृष्ठतोऽनुव्रजनेन प्रतिष्ठाधिकार इति गाथार्थः ।

अस्यैवार्थस्य सुखावगमार्थं संबन्धपूर्वकमिदानीं कल्पोक्तं तदक्षरैर्लिख्यते। तत्र रथयात्रादौ प्रभूतजनसम्मर्दात् कुलेषु साधुभिर्न प्रवेष्टव्यम् उत्सर्गतः, किं कारणम् ? , गच्छतां मार्गे ईर्याशुद्धिर्न भवति, भक्तादिशुद्धिश्च न भवति, प्राप्तानां च तत्स्थाने श्रावकादिलोकैरवरुद्धानि गृहाणि भवन्ति ततो देवगृहेऽपि स्थातव्यं स्यात् , तथा स्त्र्यादिसंघट्टनतो रागद्वेषौ स्यातामेवमाद्यर्थप्रतिपादिका विस्तरेण द्वारगाथा प्रतिपादिता, सा चाऽत्र ग्रन्थविस्तरभयान्न लिखिता ।

अपवादमाह-

इमेहिं पुण कारणेहिं पविसियव्वं, जइ ण पविसइ , तो चउगुरुयं पच्छित्तं । काणि य कारणाणि ?-

" चेइयपूया राया-णिमंतणं सन्निवाइखवगधम्मकही ।
संकियपत्तपभावण-पविसित्तिकज्जा य उड्डाहो " ॥ १ ॥

चेइयपूया रायानिमंतणं च दो वि दारे एगट्ठे ।

वक्खाणेइ पविसंते इमे गुणा भवंति-

"सद्धावुड्डी रन्नो, पूयाए थिरत्तणं पभावणया ।
पडिघाओ य अणत्थे, अत्था य कया हवइ तित्थे " ॥ १ ॥

रन्नो सद्धा वड्डिया भवइ, चेइयपूया थिरीकया हवइ, तीर्थं प्रभावितं भवति, ये चाऽर्हच्छासनप्रत्यनीका बहुजने दोषान् ख्यापयन्ति,एवंविधानामनर्थानां प्रतिघातः कृतो भवति। आस्था नाम-स्वपक्षाणामर्हत्कृते तीर्थे बहुमानत्वमुत्पादितं भवति ।

निमंतणं सन्नि त्ति सावगा वाई, एए दो वि
दारे एगिट्ठे वक्खाणेइ-

" एमेव य सन्नीण वि, जिणाण पडिमासु पढमपट्ठवणे ।
मा परवाई विग्घं, करेज्ज वाई तओ वि सई " ॥ १ ॥

कंठा । सावओ कोइ पढमं जिणपडिमाए पट्ठवणं करेइ णाइएगिठ्ठेण । इमे गुणा परवाइनिग्गहं दट्ठुं-

"तवधम्माण थिरत्तं, पभावणा सासणे य बहुमाणो ।
अभिगच्छंति य विग्घा, पूयाए सपक्खसेयाए" ॥१॥

कंठा । (सेयाए त्ति) अविग्घेण पूआए,कयाए सपक्खस्स इहलोए एयं सेयं-इहलोए असिवाई उवद्दवा न हवंति, परलोए तित्थयरपूयाए दरिसणविसुद्धी तव्वत्तिया भवइ ।

खवग त्ति दारमियाणिं-

"आयाविंति तवस्सी, ओभावणया परप्पवाईणं ।
जे इ परिसा वि महिमं, उवेंति कारिंति सड्ढा य" ॥१॥

(कारिंति सड्ढायं त्ति) जइ परिसा तवस्सिणो उवेंति, तओ सावगा महिमं करिंति, कारविंति य ।

इयाणिं धम्मकहि ति दारं-

"आयपरसमुत्तारो, तित्थविवड्ढी य होइ कहयंतो।
अन्नोन्नाभिगमेण य, पूयाथिरया सबहुमाणो" ॥१॥

इयाणिं संकियं ति दारं-

"निस्संकियं च काहिइ, उभए जं संकियं सुयहरेहिं" ।

पत्तदारमियाणि-

"अव्वोच्छित्तिकरं वा, लज्जइ पत्तं दुपक्खाओ " ॥१॥

पभावणदारमियाणि-

जाइकुलरूवधणबल-संपन्ना इड्डिमंत निस्संका ।
जयणाजुत्ता य जई-एमेव तित्थं पभासिंति" ॥१॥

उक्तं च-

" प्रावचनी धर्मकथी, वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च ।
जिनवचनरतश्च कविः, प्रवचनमुद्भावयन्त्येते" ॥१॥
"जो जेण गुणा गहिओ, जेण गुणा वा न सिज्झए जं तु ।
सो तेण धम्मकज्जे, सव्वत्थामं न दावेइ" ॥१॥

इयाणिं पविसित्तिदारं-

"साहम्मियामयाणं, खेमासिवाणं व लज्जइ पवित्तिं ।
गच्छंति हिताइं वा, होहिंति न वा वि अत्थइ वा" ॥१॥

इयाणिं कज्जदारं-उड्डाहदारे-

"कुलमाईणं कज्जइ, इमाहिं सलिंगिणो य सरिसस्सा।
जं लोगविरुद्धाइं, करिंति लोगुत्तराइं वा" ॥१॥

समाप्ता द्वारगाथा ।

अत्र संक्षिप्तद्वारेणैव प्रयोजनं तदर्थं व्याख्यानायाऽऽह-

तत्थ य पढमं उवणं, पढमं एसणं भणंति समयविऊ ।

पुव्वं पइट्ठियाए, रहम्मि अणुयाणअहिगारा ॥

तत्र संक्षिप्तव्याख्याने, चः पुनरर्थः, प्रथमं स्थापनं प्रथमं स्थासमारोपणमिति यावत्, भणन्ति जल्पन्ति, समयविदः सिद्धान्तज्ञाः, पूर्वं प्रथमं,प्रतिष्ठितायाः,कस्यसनम्?, रथे जिनस्यन्दने, अनुयानाधिकारात् मङ्गलग्रहणाद्धेतोरिति गाथार्थः ।

स्यान्मतं, कथमिदं ज्ञायते यदुक्तास्यायमर्थो न पुनर्मयोक्त

अत आह-

जइ पुण पइट्ठअत्थो, हवेज्ज तो महुरणयरिगेहेसु ।
मंगलपडिमाणं पि हु, तुम्ह मया पावइ पइट्ठा ॥

यदि पुनरिति पराभिप्रायात् स्थाऽसमानार्थः, प्रतिष्ठालक्षणोऽर्थोऽभिधेयो, भवेत् जायेत, ततो मथुरानगरीगेहेषु मथुराभिधानपत्तनसदनेषु, मङ्गलप्रतिमानामपि, न केवलं तव संमतानामित्यपिशब्दार्थः । 'हुः' पूरणे । युष्माकं भवतां, मतादभिप्रायात्, प्राप्नोति प्रतिष्ठा, न च निष्पादिता भवति भवत्संमता, अत्र प्रतिष्ठाशब्दस्य विद्यमानत्वादित्यभिप्रायः । मङ्गलप्रतिमाश्चेह ता उच्यन्ते यासामकरणे गृहस्योपद्रवादिकं भवति, यथा तु देशरूढ्या गृहद्वारस्योपरि विनायकमूर्तिः वास्तुविद्योपदेशाच्च क्रियते । तथा मथुरायां गृहे गृहे पार्श्वनाथजिनप्रतिमा ब्राह्मणादिभिरपि गृहद्वारस्योपरि कार्यन्ते । यदि न क्रियन्ते, ततो गृहाणां पतनादिकं भवति । तथा च तत्रैव कल्पे भणितं मङ्गलचैत्यप्ररूपणावसरे-" महुराए नयरीए, जिणपडिमाउ गिहे गिहे पइट्ठविज्जंति " प्रतिष्ठाप्यन्ते न्यस्यन्ते इति भवतोऽपि सम्मतं, न हि तासां मिथ्यादृष्टिभिस्तव मतसंमतं प्रतिष्ठाविधानं क्रियते । एतदिहाकूतम्-प्रतिष्ठाशब्दस्यात्र न्यसनमेव वाच्यम् । किं च-प्रथमशब्दस्य नैरर्थक्यं प्राप्नोति, नह्येकस्या एव प्रतिमाया द्वितीया प्रतिष्ठा क्रियते,येन तद्व्युच्छित्तये प्रथमशब्दोपादानं क्रियते । अस्मत्पक्षे तु प्रथमं रथारोपणं संभवत्येव । पूज्यास्तु व्याचक्षते-अत्र करोतेर्भणनेऽपि कारापणं द्रष्टव्यम् । ततश्च साधुभ्यः सकाशात् श्रावकः प्रतिष्ठां कारयतीत्यर्थः । यथोमास्वातिवाचककोक्तायामस्याम्-"जिनभवनं जिनबिम्बं,जिनपूजां जिनमतं च यः कुर्यात् । तस्य नरामरशिवसुख-फलानि करपल्लवस्थानि॥१॥"अत्र कुर्यादित्युक्तेऽपि कारयेदिति द्रष्टव्यं, न हि श्राद्धः स्वयं जिनमन्दिरं तत्प्रतिमां वा करोति । एवमत्रापि प्रथमशब्दसाफल्यं त्वेवं कथयन्ति-तेन श्रावकेण प्रथममेव प्रतिमा कारिता निष्पाद्यमाना सापायं तेषां दूषणं स्थाने स्थाने प्रतिपादितमेवेति गाथार्थः ।

एवं भणित्वा प्रतिपद्यमानसापायदूषणमाह-

तह कासहद्दसिरिसि-श्रीमालसच्चउरविंत्रमाईणं ।
अपमाणयं कुणते-हिँ तेहिँ अप्पा भवे खित्तो ॥

तथेति दूषणान्तरसमुच्चयार्थः, काशह्रदश्रीमालसत्यपुरविन्ध्यादीनां, तत्र काशह्रदं नगरमासापल्लिपत्तनादूरवर्त्ति, श्रीमालं सांप्रतं यत् भिन्नमालमिति रूढम् । सत्यपुरम्, तत्रस्थराजबलदर्पभञ्जनलब्धमाहात्म्यश्रीमहावीरजिनसदनमधिरूतम, तत एषां द्वन्द्वः,तेषु बिम्बानि सर्वज्ञप्रतिमाः । आदिशब्दाच्छत्रुञ्जयगिरिमहातीर्थाऽश्वावबोधमहातीर्थमोढेरपुरमथुरार्बुदगिरिस्तम्भनस्थादिपरिग्रहः,तासाम् । तदिह हृदयम्-एताः साधुभिः प्रतिमाः प्रतिष्ठिताः, तथा च काशहृदीयजिनस्तोत्रे पठ्यते-"नमिविनमिकुलान्वयिभि-र्विद्याधरनाथकालिकाचार्यैः । काशहृदशङ्खनगरे, प्रतिष्ठितो जयति जिनवृषभः॥१॥" शेषास्तु सर्वजिनप्रतिमाः । अप्रमानताम्-आचार्यप्रतिष्ठितत्वेना विधिप्रतिमा एता इति प्ररूपणतो मुग्धजनैर्भावसारतदर्चनौचित्यलक्षणां, कुर्वद्भिः विदधानैस्तैः श्रावकप्रतिमाप्रतिपादनपरैरात्मा जीवो भवे संसारे क्षिप्तः प्रगुन्नः । इति गाथार्थः ।

ननु किमेतावता एतावान् दण्डो भवति?, भवत्येवेत्यस्यार्थस्य साधनाय सिद्धान्तोक्तमाह-

कप्पुत्तमेवमाई, अवि पडिमासु वि तिल्लोयणाहाणं ।
पडिरूवमकुव्वंतो, पावइ पारंचियं ठाणं ॥

कल्पस्य छेदग्रन्थस्योक्तं संवादकवचनम्, एवमेतावान् विशेषस्तत्र 'अन्नं वा' इत्यादौ गाथायां पठ्यते तीर्थकराशातनाधिकारे । एवमादिः पूर्वोक्तप्रकारः,अपीति संभावने । संभवत्येवैतत्-प्रतिमास्वपि जिनमूर्त्तिष्वपि, न केवलं साक्षाद्भावतीर्थकृतामित्यपिशब्दार्थः । प्रतिरूपं यथोक्ताशातनादिवर्ज्जनमकुर्वन्नविदधानः, प्राप्नोति लभते, पाराञ्चिकं प्रायश्चित्तं (ठाणमिति) तिष्ठन्त्यस्मिन्निति कर्माणि प्रायश्चित्तानावरणत इति स्थानं कर्मधारयः कर्मभिश्च भवः अतः सिद्धमिदम्-"तेहिं अप्पा भवे खित्तो त्ति" किं च-आचाराङ्गनिर्युक्त्यां दर्शनविशुद्धिं वर्णयता श्रुतकेवलिना भणितम्-चिरन्तनचैत्यवन्दने दर्शनशुद्धिर्भवति । तच्चेदम्-

" तित्थगराण भयवओ, पवयणपावणिअऽइसइड्ढीणं ।
अभिगमणनमणदरिसण-कित्तणसंपूअणत्थुवणा ॥ १ ॥
जम्माऽभिसेयनिक्खम-णचरणनाणुप्पयाणणिव्वाणे ।
दियलोयभवणमंदर-नंदीसरभोमणगरेसु ॥ २ ॥
अट्ठावयमुज्जंते, गयग्गपयधम्मचक्के य ।
पासरहावत्तं चिय, चमरुप्पायं च वंदामि ॥ ३ ॥
गणियनिमित्ता जुत्ती, संदिट्ठी अवितहं चेयं ।
.................., पुण पच्चइगा इमे अत्था ॥ ४ ॥
गुणमाहप्पं इसिना-मकित्तणं सुरनरिंदपूया य ।
पोराणचेइयाण य, इय एसा दंसणे होइ " ॥ ५ ॥

चिरन्तनचैत्यानि च पूजयतो दर्शनशुद्धिर्भवति, न केवलं पूर्वगाथोक्तं कुर्वतः, अतः स्थितमिदं-चिरन्तनचैत्यानामवर्णवादादि न कार्यम् । ननु किमेवं बहुश्रुतवचनसन्दर्भश्रवणेऽपि ते एवंभूतं प्रतिपादयन्ति?। उच्यते-विकृत्यादर्थाः ।

तथा चोक्तं व्यवहारे यथाच्छन्दलक्षणं कथयता-" सच्छंदमइविगप्पियं काउं तं पन्नवेइ, तओ तस्स गुणेणं विगईओ लहइ, सा य पडिच्छंदा सुहं इच्छइ । तेण य सच्छन्दकप्पिएण पडिविएणं समाहिओ समाणो पूईं जाति इत्थिमाइगारवेहिं सरइ " इत्यादि, एतच्चायतनेष्वप्यधिकारेषु यथासंभवं योज्यमिति गाथार्थः ।

इदानीं पूर्वोक्तार्थनिगमनगर्भं जीवोपदेशमाह-

जह समयण्णू जंपत्ति, मुणसु तह जीव ! समयवयणाइं ।
पुव्वुत्तदोसजाल-स्स जेण नो भायणं होसि ॥

यथा येन प्रकारेण, समयज्ञाः सिद्धान्तविदः , जल्पन्ति वदन्ति , (मुणसु) जानीहि , तथा तेन प्रकारेण, न स्वमत्यनावाधेन, जीव ! आत्मन् !, समयवचनानि सिद्धान्तवाक्यानि, यैः पूर्वोक्तदोषजालस्य भवपातादिदूषणव्रातस्य,

येन कारणेन , नो नैव , भाजनं पात्रं , भवसि जायसे । इति गाथार्थः । जीवा० १ अधि० । द्वा० ।

पार्श्वस्थकृतचैत्यं न पूज्यम्-

सावयजणस्स धम्म-स्सा फसए के वि विंति चेइहरे।
पासत्थाईविहिए , नो सक्काराइयं कुज्जा ॥

श्रावकजनस्य धर्मस्य दानादेः "फसए त्ति" देशीभाषया प्रकाः केऽप्यके, ब्रुवते भणन्ति, चैत्यगृहे जिनसदने, पार्श्वस्थादिविहिते अवसन्नादिकृते, नो नैव, सत्कारादिकं वस्त्राभरणपूजादिकं , कुर्याद्विधेयादिति गाथार्थः ।

अन्यच्च त एव यद्वदन्ति तत्सोत्तरं गाथया आह-

ते वि हु तट्ठाणाओ, सइ सत्तीए निगासणिज्जाओ ।
नेयं पि सुविहियाणं , जुज्जइ वोत्तुं जओ भणियं ॥

तेऽपि पार्श्वस्थादयो, यैर्देवकुलानि कारितानीति शेषः आशातनाकारित्वात्तेषामित्याशयः । हुस्तथैव, तत्स्थानात् देवकुलादेः, सत्यां विद्यमानायां, शक्त्यां सामर्थ्ये,निष्काशनीया एव, न नैव, इदमपि पूर्वोक्तं, सुविहितानां साधूनां, युज्यते घटते, वक्तुं भणितुं, यतो भणितं तदनन्तरगाथायां भणिष्यतीति गाथार्थः ।

तदेव गाथापञ्चकेनाह-

ववहारछेयगंथे, ओसन्नविहारिणीएँ वइणीए।
कारवियं चेइहरं, तत्थ य तप्पेरियजणेहिं ।
विहिले सक्कारम्मी, महिए वट्टंतयम्मि पत्ते य ।
विहरंती तत्थ पवि-त्तिणी उ पत्ता तहिं सा उ ॥ २॥
अप्पुज्जमिती भणिया, अत्थि न वा कोइ एइ चेइहरे ।
सुस्सूसयरो जंपइ, नऽत्थि च्चिय भणइ गुरुणी उ ॥३॥
लज्जमिउं नो कुज्जइ, अविज्जमाणम्मि तम्मि तुह भद्दे ! ।
होइ अभत्ती जम्हा, इय करणे चेइयाणं ति ॥ ४ ॥
अह पुण अविज्जमाणे, सुस्सूसयरे उ उज्जमा विंति ।
तो पच्छित्तं भणियं, पयरं ववहारगंथम्मि ॥ ५ ॥

सुगमाः । तथा च व्यवहारे भणितम्-

" अणुसट्ठ उज्जमंती, विज्जंते चेइयाण सारवए।
पमिवज्जंते गरुया, अणवट्ठप्पा अभत्तीए " ॥

ननु तेषां तत्करणपुण्यं भवति, न वेत्याह-

"होउ व मा होउ व तिए , पुण्णं तक्कारयाण सव्वन्नू ।
जाणति ते ववहारउ, ओजस्साई इमं वयणं "॥

सुबोधा ।

तदेवोक्तं गाथाद्वयेनाऽऽह-

" समयपवित्ती सव्वा, आणावज्झ त्ति भवफला चेव ।
तित्थयरुद्देसेण वि , न तत्तओ वा तदुद्देसा " ॥

तथा छेदग्रन्थे भणितम्-

"दुब्भिगंधमलस्सावि, तणुरप्पेसहाणिया ।
उभओ वाउवाहे वा, ण चिट्ठति न चेइए " ॥

सुगमा ।

श्रावकाणां पुनस्तत्र किमित्याह-

सड्ढाण पुणो चेइय-हरं तु जह तह व होउ निप्फन्नं ।
पूइज्जं तप्फलयं, पयमेयं आगमन्नूणं ॥

श्रावकाणां श्राद्धानां, पुनश्चैत्यगृहं जिनसदनं, तुः पूरणे । यथा तथा वा पार्श्वस्थादिकृतम्, श्रावकादिकृतं वा, भवतु, निष्पन्नं तन्निष्ठां गतं, पूज्यमानमर्च्यमानं, फलदमीप्सितकारि, मतमेतत्तु सम्मतमिदम्, आगमज्ञानां सिद्धान्तविदामिति गाथार्थः ॥

इति विदिते आत्मनः शिक्षामाह-

रे जीव ! जीववच्छ-ल्लकारओ तं सि जइ फुडं ता मा ।
वारेसु सावयजणे, इय पूयंते उ चेइहरे ॥

रे जीव ! भो आत्मन् ! जीववात्सल्यकारको भव्यप्राण्युपकारकर्त्ता, त्वमसि भवसि, यदि स्फुटं प्रकटं, ततो मा वारय निषेधय, श्रावकजनान् श्राद्धलोकान्, इत्येवं, पूजयतोऽर्चयमानान् , तुः पूर्ववत्, चैत्यगृहान् जिनमन्दिराणीति गाथार्थः । जीवा० ३ अधि० । उक्ता प्रतिष्ठा, तदनन्तरं च यात्रा वक्तव्या भवति " जिणभवणबिंबठावण-जत्ता पूयाइ सुत्तओ विहिणा " इति द्रव्यस्तवक्रमायाततत्वाज्जिनयात्राऽत्र वक्तव्या । (सा च ' अणुजाण ' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे उक्ता, यात्राविषयं दानद्वारं च प्र० भा० ' अणुकंपा ' शब्दे ३६० पृष्ठे च गतम्)

(२७) अथ जिनपूजा प्रोच्यते-

नमिऊण महावीरं, जिणपूजाए विहिं पवक्खामि ।
संखेवओ महत्थं, गुरूवएसाऽणुसारेणं ॥ १ ॥

नत्वा प्रणम्य, महावीरं वर्द्धमानजिनम्, जिनपूजाया अर्हदर्चनस्य, विधिं विधानम्, प्रवक्ष्यामि भणिष्यामि, संक्षेपतः समासतः। विस्तरतस्तु पूर्वसूरिभिरेव तस्योक्तत्वात्, एवं तर्हाल्पार्थं तद्भविष्यतीत्याशङ्क्याह-महार्थं बृहदभिधेयम्, बृहत्प्रयोजनं वा । स्वयमुत्प्रेक्षितमेतदित्याशङ्क्याऽनादेयमिदं मा भूदित्याह-गुरूपदेशानुसारेणाऽऽचार्यशिक्षाऽनुवर्त्तनेनेति गाथार्थः ॥ १ ॥

अथ पूजाविधिभणने किं प्रयोजनमित्याह-

विहिणा उ कीरमाणा,सव्व चिय फलवती भवति चेट्ठा ।
इहलोइया वि किं पुण, जिणपूया उभयलोगहिया ॥२॥

विधिनैव यथोचितविधानेनैव , तुशब्द एवकारार्थः , क्रियमाणा विधीयमाना , सर्वैव समस्ताऽपि , फलवती साध्यसाधिका , भवति जायते , चेष्टा क्रिया , ऐहलौकिक्यपीहलोकप्रयोजनाऽपि, कृष्यादिकाऽपीत्यर्थः। किं पुनरिति विशेषद्योतनार्थः, सुतरामित्यर्थः। जिनपूजाऽर्हदर्चनम् , किंभूता ?, उभयलोकहिता इहलोकपरलोकयोर्हितकरीति। उभयलोकहितत्वाद्विशेषतो जिनपूजा विधिनैव विधीयमाना फलवती भवति, ततस्तद्विधिः प्ररूपणीयो भवतीति गाथार्थः ॥ २ ॥

अथ विधिमाह-

काले सुइभूएणं, विसिट्ठपुप्फाइएहिँ विहिणा उ ।
सारथुइथोत्तगरुई, जिणपूजा होइ कायव्वा ॥ ३ ॥

काले समये, वक्ष्यमाणस्वरूपे। कर्त्तव्येति संबन्धः । तथा शुचिभूतेन भूतशब्दस्य प्रकृतिमात्रार्थत्वात् शुचिना , अथवा-भावप्रत्ययस्य सुतस्य दर्शनाद् भूतशब्दस्य प्राप्त्यर्थत्वाच्च शुचितां प्राप्तेन । अथवा-शुचिश्चासौ भूतश्च संवृतः प्राणी वा शुचि-

भूतः, तेन विशुद्धिमतेत्यर्थः । तथा विशिष्टपुष्पादिभिः प्रधानसुमनःप्रभृतिभिः करणभूतैः । आदिशब्दार्थं स्वयमेव वक्ष्यति । तथा विधिना वक्ष्यमाणविधानेनेति , तुशब्दः समुच्चयार्थः , तथा सारस्तुतिस्तोत्रगुर्वी प्रधानस्तुतिस्तोत्रमहती, स्तुतिश्चैकश्लोकप्रमाणा, स्तोत्रं तु बहुश्लोकमानम्, जिनपूजाऽर्हदर्चनं,भवति वर्त्तते, कर्त्तव्या विधेया । इति द्वारगाथासमासार्थः ॥३॥ पञ्चा० ४ विव० ।

सम्यक् स्नात्वोचिते काले, संस्नाप्य च जिनान् क्रमात् ।
पुष्पाहारस्तुतिभिश्च, पूजयेदिति तद्विधिः ॥ ६१ ॥

उचिते जिनपूजाया योग्ये, कालेऽवसरे, सम्यग् विधिना, स्नात्वा स्वयं स्नानं कृत्वा,च पुनर्जिनानर्हत्प्रतिमाः, संस्नाप्य सम्यक् स्नपयित्वा, क्रमात् पुष्पादिक्रमेण, न तु तमुल्लङ्घ्य, पुष्पाणि कुसुमानि, पुष्पग्रहणं च सुगन्धिद्रव्याणां विलेपनगन्धधूपवासादीनामङ्गन्यसनीयानां च वस्त्राभरणादीनामुपलक्षणम् । आहारश्च पक्वान्नफलाक्षतदीपजलघृतपूर्णपात्रादिरूपः, स्तुतिः शक्रस्तवादिसद्भूतगुणोत्कीर्तनरूपा , ततो द्वन्द्वः, ताभिः,पूजयेदिति । तस्य चैत्यपूजनस्य विधिरिति क्रियाकारकसंबन्धः । ध० २ अधि० ।

अथ जिनपूजायां कालः किमित्याश्रीयते इत्याह–

कालम्मि कीरमाणं, किसिकम्मं बहुफलं जहा होइ ।
इय सव्व च्चिय किरिया,णियणियकालम्मि विण्णेया ॥४॥

काले प्रावृडादिसमये, निजे इति शेषः । क्रियमाणं विधीयमानम् , कृषिकर्म क्षेत्रकर्षणक्रिया , बहुफलं प्रभूतधान्यादिसाधकम्, यथा येन प्रकारेण , भवति जायते , इत्येतेनैव प्रकारेण, (सव्व च्चिय त्ति) सर्वाऽपि समस्ताऽप्यास्तां जिनपूजा, क्रिया कर्म, निजनिजकाले स्वकीयस्वकीयावसरे, क्रियमाणा बहुफलेति शेषः । विज्ञेया ज्ञातव्या भवति इति । अतो जिनपूजायाः करणे कालः समाश्रयणीयः । इति गाथार्थः ॥ ४ ॥

अथ पूजाकालं विशेषतो दर्शयन्नाह–

सो पुण इह विण्णेओ, संझाओ तिण्णि ताव ओहेण ।
वित्तिकिरियाविरुद्धो, अहवा जो जस्स जावइओ ॥ ५ ॥

स इति यः सर्वक्रियासु बहुफलनिबन्धनत्वेन प्रागुपदिष्टोऽसौ कालः , पुनरिति विशेषप्रतिपादनार्थः , इह जिनपूजायां विषये, विज्ञेयो ज्ञातव्यः , किंभूत इत्याह–सन्ध्याः कालवेलाः, तिस्रस्त्रिसंख्याः, तावदिति वक्ष्यमाणापवादिककालापेक्षया प्रथमोऽयमिति क्रमभावसूचनार्थः । ओघेन सामान्येन, उत्सर्गत इत्यर्थः । अथापवादमाह–वृत्तिर्जीवनं, तदर्थाः क्रियाः कर्माणि राजसेवावाणिज्यादीनि, तासामविरुद्धोऽबाधको वृत्तिक्रियाविरुद्धः ; अथवेति विकल्पार्थः । ततश्चापवादत इत्युक्तं भवति । यः पूर्वाह्णादिः, यस्य राजसेवकवाणिज्यकादेः, (जावइओ त्ति) यत्परिमाणो यावान् , स एव यावत्को मुहूर्तादिपरिमाणः, स तस्य तावत्कः पूजाकालो भवति; न पुनः सन्ध्यात्रयरूप एवेति गाथार्थः ॥ ५ ॥

अथ किमर्थमापवादिककालप्ररूपणमित्याशङ्क्याऽऽह–

पुरिसेणं बुद्धिमया, सुहवुड्ढिं भावओ गणंतेणं ।
जत्तेणं होयव्वं, सुहाणुबंधप्पहाणेण ॥ ६ ॥

पुरुषेण नरेण, नरग्रहणं चेह प्रायः पुरुषस्य प्राधान्यात् । अथवा–पूः शरीरं, तत्र शयनात्पुरुषो जीवः, तेन बुद्धिमता धीमता, बुद्धिमानेव हि औचित्येन वर्तत इति बुद्धिमद्ग्रहणम् । किंकुर्वता तेनेत्याह–शुभवृद्धिं कल्याणोपचयं, सुखवर्द्धनं वा । भावतः परमार्थतः, गणयताऽऽमनोऽन्विच्छता सता, किमित्याह–यत्नेनाऽऽदरेण,भवितव्यं भाव्यम् । शुभानुबन्धप्रधानेन कुशलाविच्छेदपरेण, यथा कल्याणसन्तानो वर्धते , तथा यत्नो विधेयः । वृत्तिक्रियाविरुद्धसमये च पूजासेवनेनासौ व्यवच्छिद्यते ; अतः पूजायामापवादिककालः समाश्रीयते ; इति गाथार्थः ॥ ६ ॥

अथ कथमापवादिककालानाश्रयणे शुभसन्तानव्यवच्छेदः स्यात् ?, वृत्तिव्यवच्छेदादिति ब्रूमः । एतदेवाह–

वित्तीवोच्छेयम्मि य, गिहिणो सीयंति सव्वकिरियाओ ।
निरवेक्खस्स उ जुत्तो, संपुण्णो संजमो चेव ॥ ७ ॥

वृत्तिव्यवच्छेदे जीविकाविघाते, वृत्तिक्रियाविरुद्धपूजाकालाश्रयणे कृते ; चशब्दो विशेषद्योतकः पुनश्शब्दार्थः; तस्य चैवं भावना–वृत्तिक्रियाविरुद्धकालाश्रयणे वृत्तिव्यवच्छेदो भवति । वृत्तिव्यवच्छेदे पुनः किमित्याह–गृहिणो गृहस्थस्य, सीदन्ति न प्रवर्तन्ते , सर्वक्रिया धर्मलोकाश्रिताः समस्तव्यापाराः । अथ सीदन्तु ताः सकलकलमषविमोषपरपरममुनिपदपङ्कजपूजनप्रवृत्तस्य किं ताभिरित्यत्राह–निरपेक्षस्य तु वृत्तिनिस्पृहस्य पुनः, पुरुषस्य । युक्तः सङ्गतो विधेयतया, संपूर्णः सर्वविरतिरूपतया परिपूर्णः । संयमश्चैव साधुधर्म एव साधोरिवान्यथा सर्वथा निरपेक्षत्वासिद्धेरिति गाथार्थः । ७ ॥

अथ कालद्वारं निगमयन्नाह–

तासिं अविरोहेणं, आभिग्गहिओ इहं मओ कालो ।
तत्थावोच्छिण्णो जं, णिच्चं तक्करणभावो त्ति ॥ ८ ॥

तत्तस्मात्तासां वृत्तिक्रियाणां,तासां वा, अविरोधेनानाबाधया, अभिग्रहश्चैत्यवन्दनमकृत्वा मया न भोक्तव्यं, न वा स्वप्तव्यमित्यादिरूपो नियमः प्रयोजनमस्येत्याभिग्राहिकः , इह जिनपूजायां विषये, मतो विदुषां सम्मतः, कालोऽवसरः , अथ कथमभिमतोऽसौ, यतोऽभिग्रहेण बलात्तत्र काले पूजायां प्रवर्ततेऽसौ,स्वरसप्रवृत्तिरेव च गुणकरीत्याशङ्क्याऽऽह–तत्राभिग्रहे सति,अविच्छिन्नोऽत्रुटितः यद्यस्मात्,नित्यं प्रतिदिनम्, तत्करणभावः पूजाविधानाध्यवसायो भवति , तत्परिणामाव्यवच्छेदस्य चाव्यवच्छिन्नपुण्यबन्धहेतुत्वादभिमत एवाभिग्राहिकः पूजाकाल इति भावः । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थः ॥ ८ ॥ उक्तं कालद्वारम् ।

अथ शुचिद्वाराभिधानायाऽऽह–

तत्थ सुइणा दुहा वि हु, दव्वे ण्हाणेण सुद्धवत्थेण ।
भावे उ अवत्थोचिय–विसुद्धवित्तिप्पहाणेण ॥ ९ ॥

(तत्थ त्ति) शुचिभूतेनेति यत् द्वारमुक्तं तत्रेदमुच्यते, शुचिना शुचिमता प्राणिना, द्विधाऽपि द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्याम् , आस्तामेकधा इत्यपिशब्दार्थः । 'हु' शब्दः समुच्चये, तत्प्रयोगश्च दर्शयिष्यते । जिनपूजा कर्त्तव्येति प्रक्रमः । द्वैविध्यं च द्रव्यभावापेक्षम्,एतदेवाऽऽह- द्रव्ये द्रव्यशौचविषये, स्नातेन जल-

क्षालितदेहेन, देशतः सर्वतो वा । तत्र देशतो विहितकरचरणमुखादिशौचेन, सर्वतस्तु जलक्षालितसर्वशरीरेणेति । तथा शुक्लवस्त्रेण च शुचिनिवसनोत्तरीयवाससा च सितवस्त्रेण,भावे तु भावशौचे पुनर्विषयभूते, अवस्थोचिता देशकालविशिष्टावस्थापेक्षया स्वभूमिकायोग्या, विशुद्धा निरवद्यप्राया, वृत्तिर्जीविका, तया प्रधानः शोभनो यः, सा वा प्रधाना यस्य, स तथा, तेन न्यायोपात्तवित्तयुक्तेनेति भावः। न्याय एव हि भावतः शौचं, कर्म्ममलपटलक्षालनजलकल्पत्वात्तस्य । इति गाथार्थः ॥ ६ ॥ पञ्चा० ४ विव० । (श्रावकस्य स्नानविधिरन्यत्र विस्तृतः)

" कृत्वेदं यो विधानेन, देवताऽतिथिपूजनम् ।
करोति मलिनारम्भी, तस्यैतदपि शोभनम् ॥ " ॥ १ ॥
विधानेन विधिना, अतिथिः साधुः, मलिनारम्भी गृहस्थः ।

द्रव्यस्नानस्य शोभनत्वे हेतुमाह-

" भावशुद्धेर्निमित्तत्वा-त्तथाऽनुभवसिद्धितः ।
कथञ्चिद्दोषभावेऽपि, तदन्यगुणभावतः " ॥ २ ॥ युग्मम् ।

दोषोऽप्कायविराधनादि, तस्माद्दोषादन्यो गुणः सद्दर्शनशुद्धिलक्षणः । यदुक्तं-"पूआए कायवहो, पमिकुट्ठो सो उ किंतु जिणपूआ । सम्मत्तसुद्धिहेउ, त्ति भावणीआ उ णिरवज्जा ॥ १॥ " अन्यत्राप्युक्तम्-द्रव्यस्नानादिके यद्यपि षट्कायोपमर्दादिका काचिद्विराधना स्यात्, तथापि कूपोदाहरणेन श्रावकस्य द्रव्यस्नवः कर्तुमुचितः । यदाहुः-" अकसिणपवत्तयाणं, विरयाविरयाण एस खलु जुत्तो । संसारपयणुकरणे, दव्वत्थए कूवदिट्ठंतो ॥ १ ॥ " इदमुक्तं भवति-यथा कूपखननं श्रमतृष्णाकर्दमोपलेपादिदोषदुष्टमपि जलोत्पत्त्यावनन्तरोक्तदोषानपोह्य स्वोपकाराय परोपकाराय च किल भवतीत्येवं स्नानादिकमप्यारम्भदोषमपोह्य शुभाध्यवसायोत्पादनेन विशिष्टाशुभकर्मनिर्जरणपुण्यबन्धकारणं भवति । इह केचिन्मन्यन्ते पूजार्थं स्नानादिकरणकालेऽपि निर्मलजलकल्पशुभाध्यवसायस्य विद्यमानत्वेन कर्दमलेपादिकल्पपापाभावाद्विषममिदमित्थमुदाहरणम्, ततः किञ्चेदमित्थं योजनीयम्-"यथा कूपखननं स्वपरोपकाराय भवति एवं स्नानपूजादिकं करणानुमोदनद्वारेण स्वपरयोः पुण्यकारणं स्यादिति, न चैतदागमानुपाति, यतो धर्म्मार्थप्रवृत्तावप्यारम्भजनितस्याल्पपापस्येष्टत्वात्,कथमन्यथा भगवत्यामुक्तम्-"तहारूवं वा समणं वा माहणं वा पमिहयपच्चक्खायपावकम्मं अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणं पाणं खाइमं साइमं पमिलाभेमाणे भंते ! किं कज्जइ ?। गोयमा ! अप्पे पावे कम्मे बहुआरिआ से णिज्जरा कज्जइ "। तथा ग्लानप्रतिचरणानन्तरं पञ्चकल्याणकं प्रायश्चित्तप्रतिपत्तिरपि कथं स्यादिति पञ्चाशकवृत्तौ तत्सूत्रमपि-" ण्हाणाइ वि जयणाए, आरंभवओ गुणा य नियमेणं । सुहभावहेउओ खलु, विण्णेअं कूवणाएण ॥ १ ॥ " इत्यलं प्रसङ्गेन । एवं च देवपूजाद्यर्थमेव गृहस्थस्य द्रव्यस्नानमनुमतं, तेन द्रव्यस्नानं पुण्यायेति यत्प्रोच्यते तन्निरस्तं मन्तव्यम् । भावस्नानं च शुभध्यानरूपम्, यतः—" ध्यानाम्भसा तु जीवस्य, सदा यच्छुद्धिकारणम् । मलं कर्म समाश्रित्य , भावस्नानं तदुच्यते ॥१॥ " इति । कस्यचित्स्नाने कृतेऽपि यदि गण्डमूत्रादि स्रवति, तदा तेनाङ्गपूजां स्वपुष्पचन्दनादिभिः परेभ्यः कारयित्वाऽग्रपूजा भावपूजा च स्वयं कार्या,वपुरपावित्र्ये प्रत्युताशातनासंभवेन स्वयमङ्गपूजाया निषिद्धत्वात् । उक्तं च-"निःशूकत्वादशौचेऽपि, देवपूजां तनोति यः । पुष्पैर्भूपतितैर्यश्च, भवतः श्वपचाविमौ ॥१॥" इति । तत्र स्नानानन्तरं पवित्रमृदुगन्धकाषायिकाद्यंशुकेनाङ्गरूक्षणं तथा पोत्तिकमोचनपवित्रवस्त्रान्तरपरिधानादियुक्त्या क्लिन्नाङ्घ्रिभ्यां भूमिमस्पृशन् पवित्रस्थानमागत्योत्तरामुखः संव्ययते दिव्यं नव्यमकीलितं श्वेतांशुकद्वयम् । यतः-

" विशुद्धं वपुषः कृत्वा, यथायोगं जलादिभिः ।
धौतवस्त्रे वसीत द्वे, विशुद्धे धूपधूमिते " ॥ १ ॥

लोकेऽप्युक्तम्-

न कुर्यात्सन्धितं वस्त्रं, देवकर्माणि भूमिप ! ।
न दग्धं न तु वै छिन्नं, परस्य तु न धारयेत् ॥ २ ॥
कटिस्पृष्टं तु यद्वस्त्रं, पुरीषं येन कारितम् ।
समूत्रमैथुनं वाऽपि, तद्वस्त्रं परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥
एकवस्त्रो न भुञ्जीत, न कुर्याद्देवताऽर्चनम् ।
न कञ्चुकं विना कार्या, देवार्चा स्त्रीजनेन तु " ॥ ४ ॥

एवं हि पुंसां वस्त्रद्वयं,स्त्रीणां च वस्त्रत्रयं विना देवपूजनादि न कल्पते, धौतवस्त्रं च मुख्यवृत्त्याऽतिविशिष्टं क्षीरोदकादिकं श्वेतमेव कार्यम् । उदायननृपराज्ञीप्रभावतीप्रभृतीनामपि धौतांशुकं श्वेतं निशीथादावुक्तं दिनकृत्यादावपि-" सेअवत्थनिअंसणो त्ति" क्षीरोदकाद्यशक्तावपि दुकूलादिधौतिकं विशिष्टमेव कार्यम् । यदुक्तं पूजाषोडशके-"सितशुभवस्त्रेण"इति । तद्वृत्तिर्यथा-सितवस्त्रेण च शुभवस्त्रेण च, शुभमिह शुभ्रादन्यदपि पट्टयुग्मादि रक्तपीतादिवर्णं परिगृह्यते इति, "एगसाडिअं उत्तरासंगं करेइ" इत्यागमप्रामाण्यादुत्तरीयमखण्डमेव कार्यम्,न तु खण्डद्वयादिरूपं,तच्च वस्त्रद्वयं भोजनादिकार्ये न व्यापार्यं,प्रस्वेदादिनाऽशुचित्वापत्तेः, व्यापारचैलमेव व्यापार्यं, परसत्कमपि च प्रायो वर्ज्यं, विशिष्य च बालवृद्धस्त्र्यादिसत्कं, न च ताभ्यां प्रस्वेदश्लेष्मादि स्फेटनीयं, व्यापारितवस्त्रान्तरेभ्यश्च पृथग् मोच्यमिति सम्यग् स्नात्वेत्यंशः प्रदर्शितः । अथ जिनं संस्थाप्येत्यंशः प्रदर्शनीयः, तत्र जिनस्नपनादित्रिविधश्च समस्तपूजासामग्रीमेलनपूर्वकः । सा चेयम् । तथाहि-शुभस्थानात्स्वयमारामिकादिकं सुमूल्यार्पणादिना संतोष्य पवित्रभाजनाच्छादनहृदयाग्रस्थकरसंपुटधारणादिविधिना पुष्पाद्यानयेत्, वैश्वासिकपुरुषेण वाऽऽनाययेत्, जलमपि च तथा, तथोष्ठपुटोत्तरीयप्रान्तेन मुखकोशं विदध्यात् । यतो दिनकृत्ये-" काऊण विहिणा ण्हाणं, सेअवत्थनिअंसणो । मुहकोसं तु काऊणं, गिहबिंबाणि पमज्जए"॥१॥ त्ति । तमपि च यथासमाधि कुर्यान्नासाबाधे तु नापि । यतः पूजापञ्चाशके-"वत्थेणं बंधिऊ णासं अहवा जहासमाहीए" । एतद्वृत्तिर्यथा-वस्त्रेण वसनेन,बद्ध्वा आवृत्य, नासां नासिकाम् । अथवेति विकल्पार्थो यथासमाधि समाधानानतिक्रमेण,यदि हि नासाबन्धे असमाधानं स्यात्तदा तामबध्वापीत्यर्थः । सर्वं यत्नेन कार्यमित्यनुवर्त्तते इति, युक्तिमच्च मुखे वस्त्रबन्धनं, भृत्या अपि स्वामिनोऽङ्गमर्दनश्मश्रुरचनादिकं कुर्वन्ति । यदुक्तम्-" वंचित्ता कासवयो वयणं अट्ठगुणपोत्तीए । पत्थिवमुवासए खलु, वित्तिनिमित्तं सया चेव" ॥१॥ त्ति । ध० २ अधि० ।

स्नानादौ यतना-यतनया विहितस्य स्नानादेः शुभभावहेतुत्वं प्रागुक्तम्, अथ यतनां स्नानगतां शुभभावहेतुतां च यतनाकृतां स्नानस्य दर्शयन्नाह-

भूमीपेहणजलछा-णणाइ जयणा उ होइ ण्हाणाओ ।

एत्तो विसुद्धभावो,अणुहवसिद्धो च्चिय बुहाणं ॥११॥

भूमेः प्रेक्षणं च स्नानभुवः प्राणिरक्षार्थं चक्षुषा निरीक्षणं, जलच्छाणनं च पूतरकपरिहारार्थं नीरगालनमादिः प्रमुखं यस्य व्यापारवृन्दस्य तद्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणनादि। आदिशब्दान्मक्षिकारक्षणादिग्रहः। तत्किमित्याह-यतना प्रयत्नविशेषः, तुशब्दः पुनरर्थः। तद्भावना चैवम्-स्नानादि यतनया गुणकरं भवति, यतना पुनर्भूमिप्रेक्षणजलच्छाणनादिर्भवति वर्त्तते । केत्याह-स्नानादावधिकृते, देहशौचविलेपनजिनाऽर्चनप्रभृतिनि च, इह च प्राकृते ओकाराश्रुतेरभावात् (पहाणाओ) इत्येवं पठ्यत इति। (एत्तो त्ति) कुतः पुनर्यतनाविहितस्नानादेर्विशुद्धभावः शुभाध्यवसायोऽनुभवसिद्ध एव स्वसंवेदनप्रतिष्ठित एव, बुधानां बुद्धिमताम्, अनेन च शुभभावहेतुत्वादित्यस्य पूर्वोक्तहेतोरसिद्धताशङ्का परिहृता, इति गाथार्थः ॥ ११ ॥

आरम्भवतो यतनया स्नानादि गुणायेति यत् प्रागुक्तं, तत्र कश्चिदाह-आरम्भवानपि यद्यधिकतरपापभीरुतया धर्मार्थं स्नानादि न करोति, तदा न गुणमुत्पश्याम इत्याशङ्क्याऽऽह-

अण्णत्थारंभवओ, धम्मेऽणारंभओ अणाभोगो।
लोए पवयणखिंसा, अबोहिबीयं ति दोसा-य ॥ १२ ॥

अन्यत्राधिकृतस्नानादेरपरत्र विविधदेहगेहादिकर्म्मसु, आरम्भवतो भूतोपमर्दनकारिणः सतो देहिनो, धर्मे धर्म्मविषये, जिनादिनिमित्तमित्यर्थः। (अणारंभओ त्ति) अनारम्भ एवानारम्भको, भूतोपमर्दनपरिहारः। किमित्याह-अनाभोगो ज्ञानाभावो वर्त्तते, अनाभोगकार्यत्वादनारम्भस्य। अथवा-अनारम्भतोऽनारम्भाद्नाभोगो ऽवसीयते। ज्ञानाभाव एव हि शास्त्रानुमतोऽपि जिनार्चनादिगत आरम्भोऽकृत्यतयाऽवभासते। तथा लोके शिष्टजने, तन्मध्य इत्यर्थः। प्रवचनखिंसा जिनशासनाश्लाघा-"पूजाविधानाप्रतिपादनपरं जिनशासनम्, अन्यथा कथमार्हताः शौचादिव्यतिरेकेणापि जिनं पूजयन्ति " इत्यादिरूपा भवति। सा चाबोधेर्जन्मान्तरे जिनधर्माप्राप्तेर्बीजमिव बीजं हेतुरबोधिबीजम् । इत्येतावनन्तरोक्तौ दोषौ दूषणे भवतः। चशब्दोऽनाभोगापेक्षया समुच्चयार्थः । अथ वा-दोषाय प्रवंप्रातिलक्षणाय तदबोधिबीजं संपद्यते । इतिशब्दः समाप्तौ। ततो द्रव्यतः स्नातेन शुद्धवस्त्रेण च जिनपूजा विधेयेति स्थितमिति गाथाऽर्थः ॥ १२ ॥

अथ भावशौचानाश्रयणे दोषाभिधानायाऽऽह-

अविसुद्धा वि हु वित्ती, एवं चिय होइ अहिगदोसा व ।
तम्हा दुहा वि सुइणा, जिणपूजा होइ कायव्वा ॥१३॥

अविशुद्धा अवस्थाया औचित्येन सावद्या, अपिशब्दो भिन्नक्रमः। हुशब्दो वाक्यालङ्कारे, वृत्तिरपि जीविकाऽपि, न केवलं स्नानाद्यभाव एव। (एवं चिय त्ति) एवमेवानेनैव प्रकारेण, स्नानादिद्रव्यशौचाकरणप्रदर्शितेन, भवति संपद्यते, अधिकदोषा तु द्रव्यशौचाभावापेक्षया प्रचुरदूषणैव । यतोऽनाभोगादयो द्रव्यशौचाभावोक्ता दोषास्तावदशुद्धवृत्त्यां भवन्त्येव, अन्ये च राजनिग्रहादयो भवन्ति, अन्यायरूपत्वात्तस्याः। अथ शुचिभूतेनेत्येतद्द्वारोपसंहाराय (तम्ह त्ति) यस्मात् द्रव्यशौचभावशौचाभावे एते दोषा भवन्ति, तस्माद्धेतोः, द्विधाऽपि द्रव्यभावभेदात्प्रकारद्वयेनाऽपि, आस्ताम् एकप्रकारेण। शुचिना शुचिभूतेन, जिनपूजाऽर्हदर्चनम्, भवति वर्त्तते, कर्त्तव्या विधेयेति गाथार्थः ॥ १३ ॥ उक्तं शुचिभूतेनेति द्वारम् ।

अथ विशिष्टपुष्पादिभिरित्येतद्द्वारप्रतिपादनायाऽऽह-

गंधवरधूवसव्वो-सहीहिँ उदगाइएहिँ चित्तेहिं ।
सुरहिविलेवणवरकुसु-मदामबलिदीवएहिं च ॥ १४ ॥
सिद्धत्थयदहिअक्खय-गोरोयणमाइएहिँ जहलाभं ।
कंचणमोत्तियरयणा-इदामएहिं च विविहेहिं ॥१५॥ युग्मम्।

द्वारगाथायां पुष्पादिभिरित्येवं द्वारस्य निर्दिष्टत्वाद् गन्धेत्यादि न युक्तम् । अत्रोच्यते-पुष्पादिभिरित्यत्रादिशब्दस्य प्रकारार्थत्वेन पुष्पादिभिः पुष्पप्रकारैरिति व्याख्यानान्न दोषः। वरधूपः प्रधानधूपो, गन्धवरो वा गन्धप्रधानो धूपः कृष्णागरुप्रभृतिगन्धयुक्तिप्रसिद्धः, सर्वौषध्यो लोकरूढाः, एतेषां द्वन्द्वः। ताभिर्जिनपूजा भवति, कर्त्तव्येत्यनेन द्वारगाथोक्तेन योगः। तथोदकादिभिर्जलप्रभृतिभिरादिशब्दादिक्षुरसघृतदुग्धादिपरिग्रहः। चित्रैर्विविधैः, एभिः पुनः पूजा जिनबिम्बस्य स्नपनद्वारेण पुरतः स्थापनाद्वारेण यथारूढि स्यात्, उभयथाऽपि पूजात्वेनाविरुद्धत्वात्। अथ जीवाभिगमादिषु इक्षुरसादीनां पूजात्वेनाप्रदर्शितत्वान्न युक्तं तेषामादिशब्दोपादानव्याख्यानम्, नैवम्, जीवाभिगमाद्यप्रदर्शितानामपि बलिदीपगोरोचनादीनामिहोक्तत्वेन तदुपदर्शितस्य पूजाविधानस्याव्यापकत्वात्। अत एव जीवाभिगमे नन्दापुष्करिणीजलेन स्नानोक्तावपि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्त्यां नानाविधजलैर्मृत्तिकातुवरादिद्रव्यैश्च स्नपनमुक्तम् । अथ घृतादिभिः स्नपनं न युक्तं,विगन्धित्वात्तेषां को वा किमाह, यतो यानि गन्धादिभिः सुन्दराणि घृतादिद्रव्याणि शोभावहानि कर्तृद्रष्टॄणां भावोल्लासकारीणि , तैरेव च तद्विधेयम्। यतो वक्ष्यति-"जह रेहति तह सम्मं,कायव्वमणण्णचेट्ठेणं"ति। तथा सुरभिविलेपनं सुरभिश्रीखण्डाद्यनुलेपनं, वरकुसुमदामानि प्रधानपुष्पमालाः, बलिरुपहारः, दीपकः प्रदीपकः, एतेषां द्वन्द्वोऽतस्तैः। चशब्दः समुच्चये। सिद्धार्थकाः सर्षपाः, दधि च प्रतीतम्, अक्षताश्च तन्दुलाः, दध्यक्षतं, गोरोचना गोपित्तजाः; एषां द्वन्द्वोऽतस्तदादिभिरेतत्प्रभृतिभिः, आदिशब्दाच्छेषमङ्गल्यवस्तुपरिग्रहः। यथालाभं यथासंपत्ति। काञ्चनमौक्तिकरत्नादिदामकैश्च कनकमुक्ताफलमाणिक्यमालाभिश्च, विविधैर्बहुप्रकारैरिति गाथाद्वयार्थः ॥ १४-१५ ॥

अथ कस्माद्विशिष्टपुष्पादिभिरेव पूजा विधीयते इत्याशङ्क्याह-

पवरेहिँ साहणेहिं, पायं भावो वि जायए पवरो ।
ण य अण्णो उवओगो, एएसि सयाण लट्ठयरो ॥१६॥

प्रवरैरुत्कृष्टैः, साधनैः पूजाकारणद्रव्यैः, प्रायो बाहुल्येन, कस्यापि क्लिष्टकर्म्मणः प्रवरसाधनैरपि न जायते प्रवरभावस्तस्यान्यस्यातिशुभकर्मणः प्रवरद्रव्याणि विनैव प्रवरभावो जायते, इत्येतदर्थसूचनाय प्रायोग्रहणम्। भावोऽध्यवसायोऽपि, न केवलं द्रव्याण्येव प्रवराणीत्यपिशब्दार्थः। जायते संपद्यते, प्रवरः प्रधानोऽशुभकर्मक्षयहेतुः। भवति च द्रव्यविशेषाद्भावविशेषः। यदाह-"गुणभूइट्ठे दव्व-म्मि जेण मित्तो हियत्तणं भावे। इय वत्थूओ इच्छति. ववहारो निज्जरं विउलं॥१॥" इत्येकं प्रवरद्रव्योपादाने कारणम्। अथ कारणान्तरमाह-न चैव,

चः समुच्चये, अन्यो जिनपतिपूजातोऽपरः, उपयोगो विनियोगस्थानम्, एतेषां प्रवरसाधनानाम्, सतां विद्यमानानाम्, लघुतरः प्रधानतरो भवति। यदाह-"देहः पुत्रः कलत्रं वा, संसारायैव सत्कृतः। वीतरागस्तु भव्यानां, संसारोच्छित्तये भवेत् ॥ १ ॥ " इत्यतः प्रवरपुष्पादिभिः पूजा विधेया, इति गाथार्थः ॥ १६ ॥

अमुमेवार्थं भावयन्नाह-

इहलोयपारलोइय-कज्जाणं पारलोइअं अहिगं।
तं पि हु भावपहाणं, सो वि य इय कज्जगम्मो त्ति॥१७॥

ऐहलौकिकपारलौकिककार्ययोर्वर्तमानभवपरभवप्रयोजनयोः साध्ययोर्मध्ये, पारलौकिकं पारभविकम्, अधिकं प्रधानतरं, विशेषतस्तस्य साधनीयत्वात्, तदसाधने बहुतमानर्थसंभवात्। पारलौकिककृत्यं च जिनपूजेत्यतो नान्यदुपयोगस्थानं लघुतरं प्रवरसाधनानामिति। तत्र च यत्प्रधानं तद्दर्शयितुमाह-(तं पि हु त्ति) तत्पुनः पारलौकिकं कार्यम्। भाव आत्मपरिणामः प्रधानः साधकतयोत्तमो यस्मिँस्तद्भावप्रधानं, शुभभावसाध्यम्। अतोऽसौ भावविशेषो विशिष्टपारलौकिककार्यार्थिना समाश्रयणीय इति हृदयम्। यदि भावप्रधानं ततः किमित्याह-(सो वि य त्ति) स पुनः पारलौकिककार्यहेतुभूतो भावः इति कार्यगम्य इत्येवंविधमनन्तरोक्तं यत्कार्यं भावस्य कृत्यं पूजार्थं प्रवरपुष्पाद्युपादानरूपं, तेन यो गम्यो निश्चेतव्यः स इति कार्यगम्यः, इतिशब्दः समाप्तौ। इदमुक्तं भवति-परलोकसाधनहेतुभूतशुभभावकार्यत्वात्प्रवरसाधनोपादानस्य शुभभावं सफलयद्भिस्तद्विधेयं भवति, इति गाथार्थः॥ १७ ॥

अथाधिकृतद्वारं निगमयन्नाह-

ता नियविहवऽणुरूवं, विसिट्ठपुप्फाइएहिँ जिणपूजा।
कायव्वा बुद्धिमया, तम्मी बहुमाणसारा य ॥ १८ ॥

(ता इति) यस्मात्प्रवरसाधनैः प्रवरो भावो भवतीत्युक्तं, तत्तस्माद्धेतोर्निजविभवस्य स्वकीयविभूतेरनुकूलं स्वभावो यस्य पूजाकरणस्य तन्निजविभवानुरूपम्। कर्त्तव्येति क्रियाया विशेषणमिदम्। विशिष्टपुष्पादिभिरुक्तस्वरूपैः, जिनपूजाऽर्हदर्चनम्, कर्त्तव्या विधेया, बुद्धिमता धीमता। बुद्धिमानेव ह्युपादेयोपादानतमो भवतीति बुद्धिमतेत्युक्तम्। तथा तस्मिन् जिने बहुमानसारा प्रीतिप्रधाना। तद्यथा-"अनुपकृतपरहिततः, शिवदस्त्रिदशेशपूजितो भगवान्। पूज्यो हितकामानां, जिननाथो नाथताहेतुः"॥१॥ चशब्दः पूर्वोक्तविशेषणापेक्षया समुच्चयार्थः, इति गाथार्थः ॥ १८ ॥ पञ्चा० ४ विव०।

अथ विधिद्वारनिरूपणायाऽऽह-प्रमार्जितपवित्रावयवेऽसंसक्तशोधितजात्यकेसरकर्पूरादिमिश्रश्रीखण्डं संघर्ष्य भाजनद्वये पृथगुच्चारयेत्। तथा संशोधितजात्यधूपघृतपूर्णप्रदीपाऽखण्डचोक्षादिविशेषाक्षतपूगफलविशिष्टानुच्छिष्टनैवेद्यहृद्यफलनिर्मलोदकभृतपात्रादिसामग्रीं संयोजयेदेवं द्रव्यतः शुचिता। भावतः शुचिताऽनुरागद्वेषकषायैरैहिकामुष्मिकस्पृहाकौतुकव्याक्षेपादित्यागेनैकाग्रचित्तता। उक्तं च-

"मनोवाक्कायवस्त्रोर्वी-पूजोपकरणस्थितेः।
शुद्धिः सप्तविधा कार्या, श्रीअर्हत्पूजनक्षणे" ॥ १ ॥

एवं द्रव्यभावाभ्यां शुचिः सन् गृहचैत्ये-

"आश्रयन् दक्षिणां शाखां, पुमान् योषिदवक्षिणाम्।

यत्नपूर्वं प्रविश्यान्त-र्दक्षिणेनाङ्घ्रिणा ततः ॥ २ ॥
सुगन्धिमधुरैर्द्रव्यैः, प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः।
वामनाड्यां प्रवृत्तायां, मौनवान् देवमर्चयेत्" ॥ ३ ॥

इत्याद्युक्तेन नैषेधिकीत्रयकरणप्रदक्षिणात्रयचिन्तनादिकेन च विधिना देवताऽवसरप्रमार्जनपूर्वं शुचिपट्टकादौ पद्मासनासीनः पूर्वोत्सारितद्वितीयपात्रस्थचन्दनेन देवपूजासत्कचन्दनभाजनाद्वा पात्रान्तरे हस्ततले वा गृहीतचन्दनेन कृतभालकण्ठहृदुदरतिलको रचितकर्णिकाङ्गदहस्तकङ्कणादिभूषणः चन्दनचर्चितभूषितभुजो लोमहस्तकेन श्रीजिनाङ्गान्निर्माल्यमपनयेत्। निर्माल्यं च-"भोगविणट्ठं दव्वं,निम्मल्लं बिंति गीअत्था"। इति बृहद्भाष्यवचनात् यज्जिनबिम्बारोपितं सच्छिद्धार्यीभूतं विगन्धं जातं दृश्यमानं च निःश्रीकं न भव्यजनमनःप्रमोदहेतुस्तन्निर्माल्यं ब्रुवन्ति बहुश्रुता इति सङ्घाचारवृत्त्युक्तेश्च भोगविनष्टमेव,न तु विचारसारप्रकरणोक्तप्रकारेण ढौकिताक्षतादेर्निर्माल्यत्वमुचितम्, शास्त्रान्तरे तथा दृश्यमानत्वादक्षतादिकमत्वाच्च, तत्त्वं पुनः केवलिगम्यम्। वर्षादौ च निर्माल्यं विशेषतः कुन्थ्वादिसंसक्तं पृथग् पृथग् जनानाक्रम्य शुचिस्थाने त्यज्यते, एवमाशातनाऽपि न स्यात्। स्नात्रजलमपि तथैव, ततः सम्यक् श्रीजिनप्रतिमाः प्रमार्ज्य उच्चैः स्थाने भोजनादावव्यापार्यपवित्रपात्रे संस्थाप्य च करयुगधृतशुचिकलशादिनाऽभिषिञ्चेत् च पूर्वं घुसृणादिमिश्रं कार्यं, यतो दिनकृत्ये-"घुसिणकप्पूरमीसं, काउं गंधोदगं वरं। तओ भुवणनाहस्स, पहावेइ भत्तिसंजुओ"॥१॥ घुसृणं कुङ्कुमं, कर्पूरो घनसारस्ताभ्यां मिश्रं, तुशब्दात्सर्वौषधिचन्दनादिपरिग्रह इति तद्वृत्तिः। स्नपनकाले च-"बालत्तणम्मि सामिअ, ! सुमेरुसिहरम्मि कणयकलसेहिं। तिअसासुरेहिँ ण्हविओ, ते धन्ना जेहिँ दिट्ठो सि" ॥१॥ इत्यादि विचिन्त्य पूजाक्षणे च मुख्यवृत्त्या मौनमेव कार्यं,तदसक्तौ सावद्यं त्याज्यमेव,अन्यथा नैषेधिकीकरणनैरर्थक्यापत्तेः,कण्डूयनाद्यपि हेयमेव। यतः-"कायकंडूअणं वज्जे, तहा खेलविगिंचणं। थुइथुत्तभणणं च, पूअंतो जगबंधुणो ॥१॥ " ततः सुयत्नेन बालककूर्चिकां व्यापार्यैकेनाङ्गरूक्षणेन सर्वतो निर्जलीकृत्य द्वितीयेन च धूपितमृदूज्ज्वलेन तेन मुहुः २ सर्वतः स्पृशेत्, एवमङ्गरूक्षणद्वयेन सर्वप्रतिमा निर्जलीकार्या। यत्र स्वल्पोऽपि जलक्लेदस्तिष्ठति, तत्र २ श्यामिका स्यादिति सा सर्वथा व्यपास्येत, न च पञ्चतीर्थीचतुर्विंशतिपट्टकादौ मिथः-

" ...., सूरिआभदेवस्स।
जीवाभिगमे विजया-पुरीएँ विजयाइदेवाणं ॥ १ ॥
भिंगाइलोमहत्थय-लूहणया धूवदहणमाईअं।
पडिमाणं सकहाणय-पूआए इक्कयं भणिअं ॥ २ ॥
निव्वुअजिणंदसकहा-सग्गसमुग्गेसु तिसु वि लोएसु।
अन्नोन्नं संलग्गा, ण्हवणजलाईहिँ संपुडा ॥ ३ ॥
पुव्वधरकालविहिआ, पडिमाई संति केसु वि पुरेसु।
वत्तक्खा१ खेत्तक्खा २ महक्खया, ३ गंथें दिट्ठा य॥४॥"
(गंथें दिट्ठ त्ति) ग्रन्थे प्रतिष्ठाषोडशकादौ दृष्टा। (ध०)
" मालाइआधराण वि, धुव्वणजलाई फुसेइ जिणबिंबं।
पुत्थयपत्ताईण वि, उवरुवरिं फरिसणाईअं ॥ ५ ॥
ता नज्जइ नो दोसो, करणे चउवीसवट्टयाईणं।
आयरणाजुत्तीओ, गंथेसु अदिस्समाणत्ता ॥ ६ ॥"

बृहद्भाष्येऽप्युक्तम्-

" जिणरिद्धिदंसणत्थं, एगं कारेइ कोइ भत्तिजुओ।

पायडिअपाडिहेरं, देवागमसोहिअं चेव ॥ १ ॥
दंसणनाणचरित्ता-राहणकज्जे जिणत्तिअं कोइ ।
परमिट्ठिनमोक्कारं, उज्जमिउं कोइ पंच जिणा ॥ २ ॥
कल्लाणतवमहत्था, उज्जमिउं भरहवासभावि त्ति ।
बहुमाणविसेसाओ, कोइं कारिंति चउवीसं ॥ ३ ॥
उक्कोसं सत्तरिसयं, नरलोए विहरइ त्ति भत्तीए ।
सत्तरिसयं पि कोई, बिंबाणं कारइ धणड्डो ॥ ४ ॥ "

तस्मात्त्रितीर्थीपञ्चतीर्थीचतुर्विंशतिपट्टादिकारणं न्याय्यमेव दृश्यते, तथा सति तत्प्रक्षालनाद्यपि निर्दोषमेव, अङ्गरूक्षणं हस्तादि च पृथक् भाजनस्थशुद्धजलेन क्षाल्यं,न तु प्रतिमाक्षालनजलेन, चन्दनादिवत् । इति जिनस्नपनविधिः ।

अथ पूजाविधिः—

पूजा चाङ्गाग्रभावभेदात् त्रिधा । तत्र स्नपनमङ्गपूजैव,ततः " अंह्रि २ जानु २ करां ६ सेषु, ८ मूर्द्ध्नि ९ पूजां यथाक्रमम " इत्युक्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्सृष्टया नवाङ्गेषु कर्पूरकुङ्कुमादिमिश्रगोशीर्षचन्दनान्यर्चयेत् । केऽप्याहुः-पूर्वं भाले तिलकं कृत्वा नवाङ्गपूजा कार्या । श्रीजिनप्रभसूरिकृतपूजाविधौ तु-"सरससुरहिचंदणेणं देवस्स दाहिणजाणुदाहिणखंधनिडालवामखंधवामजाणुलक्खणेसु पंचसु हिअपहिं सहत्थेसु वा अंगेसु पूअं काऊण पच्चग्गकुसुमेहिं गंधवासेहिं च पूएइ " इत्युक्तम् । ततः सद्वर्णैः सुगन्धिभिः सरसैरभूपतितैर्विकाशिभिरशाटितदलैः प्रत्यग्रैश्च प्रकीर्णैर्नानाप्रकारग्रथितैर्वा पुष्पैः पूजयेत् । पुष्पाणि च यथोक्तान्येव ग्राह्याणि । यतः—

" न शुष्कैः पूजयेद्देवं, कुसुमैर्न महीगतैः ।
न विशीर्णदलैः स्पृष्टै-र्नाशुभैर्नाऽविकाशिभिः ॥ १ ॥
कीटकोशापविद्धानि, शीर्णपर्युषितानि च ।
वर्जयेदूर्णनाभेन, वासितं यदशोभितम् ॥ २ ॥
पूतिगन्धीन्यगन्धीनि, अम्लगन्धीनि वर्जयेत् ।
मलमूत्रादिनिर्माणा-दुच्छिष्टानि कृतानि च " ॥ ३ ॥

सति च सामर्थ्ये रत्नसुवर्णमुक्ताभरणरौप्यसौवर्णपुष्पादिभिश्चन्द्रोदयादिविचित्रदुकूलादिवस्त्रैश्चाप्यलङ्कुर्यात् । एवं चान्येषामपि भाववृद्ध्यादि स्यात् । यतः " पवरेहिँ साहणेहिं, पायं भावो वि जायए पवरो । न य अन्नो उवओगो, एएसि सयाण लट्ठयरो "॥१॥त्ति । श्राद्धविधिवृत्तौ-"ग्रन्थिम १ वेष्टिम २ पूरिम ३ संघातिम ४ रूपचतुर्विधप्रधानाम्लानविध्यार्नीतशतपत्रसहस्रपत्रजातीकेतकचम्पकादिविशिष्टपुष्पैर्माला १ मुकुट २ शिरस्कं ३ पुष्पगृहादि विरचयेदिति विशेषः । चन्दनपुष्पादिपूजा च तथा कार्या यथा जिनस्य चक्षुर्मुखाच्छादनादि न स्यात्, सश्रीकताऽतिरेकश्च स्यात्, तथैव द्रष्टॄणां प्रमोदवृद्ध्यादिसंभवात् । अन्योऽप्यङ्गपूजाप्रकारः कुसुमाञ्जलिमोचनपञ्चामृतप्रक्षालनशुद्धोदकधाराप्रदानं कुङ्कुमकर्पूरादिमिश्रचन्दनविलेपनाङ्गीविधानगोरोचनमृगमदादिमयतिलकपत्रभङ्गयादिकरणप्रमुखो भक्तिचैत्यप्रतिमापूजाधिकारे वक्ष्यमाणो यथास्थं ज्ञेयः । तथा जिनस्य हस्ते सौवर्णबीजपूरनालिकेरपूगीफलनागवल्लीदलनाणकमुद्रिकादिमोचनं कृष्णागुर्वादिधूपोत्क्षेपसुगन्धवासप्रक्षेपाद्यपि सर्वमङ्गपूजायामन्तर्भवति । तथोक्तं बृहद्भाष्ये-" एहवणविलेवणआहर-णवत्थफलगंधधूवपुप्फेहिं । कीरइ जिणंगपूआ , तत्थ विही एस नायव्वो " ॥ १ ॥ त्ति । तत्र धूपो जिनस्य वामपार्श्वे कार्य इत्यङ्गपूजा । ततो घृतपूर्णप्रदीपैः शाल्यादितन्दुलाक्षतैर्बीजपूरादिनानाफलैः सर्वैर्नैवेद्यैर्निर्मलोदकभृतशङ्खादिपात्रैश्च पूजयेत् । तत्र प्रदीपो जिनस्य दक्षिणपार्श्वे स्थाप्यः, अक्षतैश्चाखण्डै रौप्यसौवर्णैः शालेयैर्वा जिनस्य पुरतो दर्पण १ भद्रासन २ वर्द्धमान ३ श्रीवत्स ४ मत्स्ययुग्म ५ स्वस्तिक ६ कुम्भ ७ नन्द्यावर्त्त ८ रूपाष्टमङ्गलानालेखयेत् । अन्यथा वा ज्ञानदर्शनचारित्राराधननिमित्तं सृष्टया पुञ्जत्रयेण पट्टादौ विशिष्टाक्षतान् पूगादिफलं च ढौकयेत् । नवीनफलागमे तु पूर्वं जिनस्य पुरतः सर्वथा ढौक्यं, नैवेद्यमपि सति सामर्थ्ये कूराद्यशनशर्करागुडादिपानफलादिखाद्यताम्बूलादिस्वाद्यान् ढौकयेत् । नैवेद्यपूजा च प्रत्यहमपि सुकरा, महाफला च धान्यस्य च विशिष्य, आगमेऽपि राद्धधान्यस्यैव प्रतिपादनात्; यत आवश्यकनिर्युक्तौ समवसरणाधिकारे " कीरइ बलीति, " निशीथेऽपि—"तओ पभावईए देवीए सव्वं बलिमाई काउं भणिअं-देवाहिदेवो वद्धमाणसामी तस्स पडिमा कीरओ त्ति वाहिओ कुहाडो दुहा जायं पिच्छइ सव्वालंकारविभूसिअं भगवओ पडिमं" निशीथपीठेऽपि-[बलि त्ति] "असिवोवसमनिमित्तं कूरो किज्जइ " । महानिशीथेऽपि तृतीयाध्ययने-"अरिहंताणं भगवंताणं गंधमल्लपईवसंमज्जणोवलेवणविचित्तबलिवत्थधूवाईएहिं पूआसक्कारेहिं पइदिणमब्भच्चणं पकुव्वाणा तित्थुत्थप्पणं करामो त्ति"। ततो गोशीर्षचन्दनरसेन पञ्चाङ्गुलितलैर्मण्डलालेखनादि पुष्पप्रकराऽऽरात्रिकादिगीतनृत्यादि च कुर्यात् । सर्वमप्येतदग्रपूजैव;यद्भाष्यम्-" गंधव्वनट्टवाइअ-लवणजलारत्तिआइ दीवाई । जं किच्चं तं सव्वं,पि ओअरइ अग्गपूआए "।१। इत्यग्रपूजा । भावपूजा तु जिनपूजाव्यापारनिषेधरूपतृतीयनैषेधिकीकरणपूर्वं जिनाद्दक्षिणदिशि पुमान्, स्त्री तु वामदिशि, आशातनापरिहारार्थं जघन्यतोऽपि संभवे नवहस्तमानादसंभवे तु हस्तहस्तार्द्धमानादुत्कृष्टतस्तु षष्टिहस्तमानादवग्रहाद् बहिः स्थित्वा चैत्यवन्दनां विशिष्टस्तुत्यादिभिः कुर्यात् । आह च-"तइआ उ भावपूआ, ठाउं चिइवंदणोचिए देसे । जहसत्ति चित्तथुइथुत्तमाइणा देववंदणयं ॥१॥ " निशीथेऽपि-"सो उ गंधारसावओ थयथुईहिं थुणंतो तत्थ गिरिगुहाए अहोरत्तं निवसिओ"। तथा वसुदेवहिण्डौ-" वसुदेवो पच्चूसे कयसमत्तसावयसामाइआइनिअमो गहिअपच्चक्खाणो कयकाउस्सग्गथुइवंदणो त्ति" । एवमनेकत्र श्रावकादिभिरपि कायोत्सर्गस्तुत्यादिभिश्चैत्यवन्दना कृतेत्युक्तम् । (ध०) (स्तुतिभेदनिरूपणम् ' थुइ ' शब्दे वक्ष्यते)। तन्नृत्याद्यग्रपूजायामुक्तं भावपूजायामप्यवतरति; तच्च महाफलत्वान्मुख्यवृत्त्या स्वयं करोत्युदायननृपराज्ञी प्रभावती यथा । यन्निशीथचूर्णिः-"पभावई ण्हाया कयबलिकम्मा कयकोउअमंगला सुक्किल्लवासपरिहिआ० जाव अट्ठमी चउद्दसी सुअभत्तिरागेण य सयमेव राओ नट्टोवयारं करेइ, राया वि तयाणुवित्तीए मुरयं वाएइ " इति । पूजाकरणावसरे चार्हतश्छद्मस्थकेवलित्वसिद्धत्वावस्थात्रयं भावयेत् । यद्भाष्यम्-" ण्हवणच्चगेहिँ छउमत्थवत्थपडिहारगेहिँ केवलिअं । पलिअंकुस्सग्गेहि अ, जिणस्स भाविज्ज सिद्धत्तं ॥ १ ॥ " स्नापकैः परिकरोपरिघटितगजारूढकरकलितकलशैरमरैश्चंकैश्च तत्रैव घटितमालाधारैः कृत्वा जिनस्य छद्मस्थावस्थां भावयेत् । छद्मस्थावस्था त्रिधा-जन्मावस्था १, राज्यावस्था २, श्रामण्यावस्था च ३ । तत्र स्नपनकारैर्जन्मावस्था १, मालाधारै राज्यावस्था २, श्रामण्यावस्था भगवतोऽपगतकेशश्मश्रुमुखदर्शना-

त्सुकानैव, प्रातिहार्येषु परिकरोपरितनकलशोभयपार्श्वघटितैः पत्रैः कङ्केल्लिः १, मालाधारैः पुष्पवृष्टिः २, वीणावंशकरैः प्रतिमोभयपार्श्ववर्तिभिर्दिव्यो ध्वनिः ३, शेषाणि स्फुटान्येव। इति भावपूजा। अन्यरीत्याऽपि पूजात्रयं बृहद्भाष्याद्युक्तं यथा—

"पंचोवयारजुत्ता, पूआ अट्ठोवयारकलिआ य।
रिद्धिविसेसेणं पुण, नेआ सव्वोवयारा वि ॥ १ ॥
तत्थ य पंचुवयारा, कुसुमऽक्खयगंधधूवदीवेहिं।
कुसुमक्खयगंधपई-वधूवनेवेज्जफलजलेहिँ पुणो ॥ २ ॥
अठविहकम्मदलणी, अठुवयारा हवइ पूआ।
सव्वोवयारपूया, न्हवणऽच्चणवत्थभूसणाईहिं ॥ ३ ॥
फलबलिदीवाईहिं, नट्टगिआरत्तिआहिं ति ॥"

शास्त्रान्तरे चानेकधाऽपि पूजाभेदा उक्ताः सन्ति।

तद्यथा–

" सयमाणयणे पढमा, बीआ आणावणेण अन्नेहिं।
तइआ मणसा संपा-मणेण वरपुप्फमाईणं " ॥ १ ॥

इति कायवाङ्मनोयोगितया करणकारणानुमतिभेदतया च पूजात्रिकम्। तथा-" पूअं पि पुप्फामिसथुइपडिवत्तिभेअओ चउव्विहं पि जहासत्तीए कुज्जा "। ललितविस्तरादौ तु पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यमित्युक्तं, तत्राऽऽमिषमशनादिभोग्यवस्तुप्रतिपत्तिः, पुनरविकलाप्तोपदेशपरिपालना इत्यागमोक्तं पूजाभेदचतुष्कम्।

तथा–

" दुविहा जिणिंदपूआ, दव्वे भावे अ तत्थ दव्वम्मि।
दव्वेहिं जिणपूआ, जिणआणापालणं भावे " ॥ १ ॥

इति भेदद्वयेऽपि। तथा सप्तभेदा यथा–

" न्हवण विलेवण अंग-म्मि चक्खुजुअलं च वासपूआए।
पुप्फारुहणं माला-रुहणं तह वन्नयारुहणं ॥ १ ॥
चुन्नारुहणं जिणपुं-गवाण आहरणारोहणं चेव।
पुप्फगिहपुप्फपगरो, आरत्ती मंगलपईवो ॥ २ ॥
दीवो धूवुक्खेवो, नेवज्जं सुहफलाण ढोअणयं।
गीअं नट्टं वज्जं, पूआभेआ इमे सतरा "॥ ३ ॥

एकविंशतिभेदास्त्वनुपदमेव वक्ष्यमाणा ज्ञेयाः। एते सर्वेऽप्यङ्गादिपूजात्रये सर्वव्यापकेऽन्तर्भवन्ति।

अङ्गादिपूजात्रयफलं त्वेवमाहुः–

"विग्घोवसामगेगा, अब्भुदयसाहणी भवे बीआ।
निव्वुइकरणी तइआ, फलया उ जहत्थनामेहिं ॥ १ ॥"

सात्विक्यादिभेदैरपि पूजात्रैविध्यमुक्तं यतो विचारामृतसंग्रहे–

"सात्विकी राजसी भक्ति-स्तामसीति त्रिधाऽथवा।
जन्तोस्तत्त्वादभिप्राय-विशेषादर्हतो भवेत् ॥ १ ॥
अर्हत्सम्यग्गुणश्रेणि-परिज्ञानैकपूर्वकम्।
अमुञ्चता मनोरङ्ग-मुपसर्गेऽपि भूयसि ॥ २ ॥
अर्हत्संबन्धिकार्यार्थं, सर्वस्वमपि दित्सुना।
भव्याङ्गिना महोत्साहात्, क्रियते या निरन्तरम् ॥ ३ ॥
भक्तिः शक्त्यनुसारेण, निःस्पृहाशयवृत्तिना।
सा सात्विकी भवेद्भक्ति-र्लोकद्वयफलावहा ॥ ४ ॥
यदैहिकफलप्राप्ति-हेतवे कृतनिश्चया।
लोकरञ्जनवृत्त्यर्थं, राजसी भक्तिरुच्यते ॥ ५ ॥
द्विषदां यत्प्रतीकारकृते, या कृतमत्सरम्।
दृढाशयं विधीयेत, सा भक्तिस्तामसी मता ॥ ६ ॥
रजस्तमोमयी भक्तिः, सुप्रापा सर्वदेहिनाम्।
दुर्लभा सात्विकी भक्तिः, शिवावधिसुखावहा" ॥ ७ ॥

अत्र च प्रागुक्तमङ्गाग्रपूजाद्वयं चैत्यबिम्बकारणयात्रादिश्च द्रव्यस्तवः। यदाह–

"जिणभवणबिंबठावण-जत्तापूआइ सुत्तओ विहिणा।
दव्वत्थओ त्ति नेओ, भावत्थयकारणत्तेणं ॥ १ ॥
निच्चं चिअ संपुआ, जइ वि हु एसा न तीरए काउं।
तह वि अणुचिठिअव्वा, अक्खयदीवाइदाणेणं ॥ २ ॥
एगं पि उदगबिंदु, जह पक्खित्तं महासमुद्दम्मि।
जायइ अक्खयमेअं, पूआ वि हु वीअरागेसु ॥ ३ ॥
एएणं बीएणं, दुक्खाइ अपाविऊण भवगहणे।
अच्चंतुदारभोए, भोत्तुं सिज्झंति सव्वाजिआ ॥ ४ ॥
पूआए मणसंती, मणसंतीए अ उत्तमं झाणं।
सुहझाणेण य मुक्खं, मुक्खे सुक्खं निराबाधं" ॥ ५ ॥ इति।

पूजादिविधिसंग्राहकं प्रसिद्धोमास्वातिवाचककृतं प्रकरणं चैवम्–

" स्नानं पूर्वाऽऽमुखीभूय, प्रतीच्यां दन्तधावनम्।
उदीच्यां श्वेतवस्त्राणि, पूजा पूर्वोत्तरामुखी ॥ १ ॥
गृहे प्रविशतां वाम-भागे शल्यविवर्जिते।
देवताऽवसरं कुर्यात्, सार्द्धहस्तोर्द्धभूमिके ॥ २ ॥
नीचैर्भूमिस्थितं कुर्याद्, देवताऽवसरं यदि।
नीचैर्नीचैस्ततो वंशः, संतत्याऽपि सदा भवेत् ॥ ३ ॥
पूजकः स्याद्यथा पूर्व-उत्तरस्याश्च संमुखः।
दक्षिणस्या दिशो वर्ज्यं, विदिग्वर्जनमेव हि ॥ ४ ॥
पश्चिमाभिमुखं कुर्यात्, पूजां जैनेन्द्रमूर्त्तये।
अन्यत्र संततिच्छेदो, दक्षिणस्यां न सन्ततिः ॥ ५ ॥
आग्नेय्यां तु यदा पूजा, धनहानिर्दिने दिने।
वायव्यां संततिर्नैव, नैर्ऋत्यां च कुलक्षयः ॥ ६ ॥
ऐशान्यां कुर्वतां पूजां, संस्थितिर्नैव जायते।
अंह्रि २ जानु २ करां ६ सेषु, मूर्द्ध्नि ९ पूजा यथाक्रमम् ॥ ७ ॥
श्रीचन्दनं विना नैव, पूजा कार्या कदाचन।
भाले कण्ठे हृदम्भोजो-दरे तिलककारणम् ॥ ८ ॥
नवभिस्तिलकैः पूजा, करणीया निरन्तरम्।
प्रभाते प्रथमं वास-पूजा कार्या विचक्षणैः ॥ ९ ॥
मध्याह्ने कुसुमैः पूजा, संध्यायां धूपदीपकृत्।
वामांशे धूपदाहः स्या-दग्रतूरं तु सन्मुखम् ॥ १० ॥
अर्हतो दक्षिणे भागे, दीपस्य विनिवेशनम्।
ध्यानं तु दक्षिणे भागे, चैत्यानां वन्दनं तथा ॥ ११ ॥
हस्तात्प्रस्खलितं क्षितौ निपतितं लग्नं क्वचित्पादयो-
र्यन्मूर्द्धोपगतं धृतं कुवसनैर्नाभेरधो यद् भृशम्।
स्पृष्टं दुष्टजनैर्घनैरभिहतं यद् दूषितं कीटकै-
स्त्याज्यं तत्कुसुमं दलं फलमथो भक्तैर्जिनप्रीतये ॥ १२ ॥
नैकपुष्पं द्विधा कुर्याद्, न छिन्द्यात्कलिकामपि।
चम्पकोत्पलभेदेन, भवेद्दोषो विशेषतः ॥ १३ ॥
गन्धधूपाक्षतैः स्रग्भिः, प्रदीपैर्बलिवारिभिः।
प्रधानैश्च फलैः पूजा, विधेया श्रीजिनेशितुः ॥ १४ ॥
शान्तौ श्वेतं तथा पीतं, लाभे श्यामं पराजये।

मङ्गलार्थे तथा रक्तं, पञ्चवर्णं च सिद्धये ॥ १५ ॥
पञ्चामृतं तथा शान्तौ , दीपः स्यात् सघृतैर्गुणैः ।
वह्नौ लवणनिक्षेपः , शान्त्यै तुष्ट्यै प्रशस्यते ॥ १६ ॥
खण्डिते संधिते छिन्ने, रक्ते रौद्रे च वाससि ।
दानपूजातपोहोम-संध्यादि निष्फलं भवेत् ॥ १७ ॥
पद्मासनसमासीनो , नासाऽग्रन्यस्तलोचनः ।
मौनी वस्त्रावृतस्योऽयं, पूजां कुर्याज्जिनेशितुः ॥ १८ ॥
स्नात्रं विलेपनविभूषणपुष्पवास-
धूपप्रदीपफलतन्दुलपत्रपूगैः ॥
नैवेद्यवारिवसनैश्चमराऽऽतपत्र-
वादित्रगीतनटनस्तुतिकोशवृद्ध्या ॥ १६ ॥
इत्येकविंशतिविधा जिनराजपूजा ,
ख्याता सुरासुरगणेन कृता सदैव ।
खण्डीकृता कुमतिभिः कलिकालयोगा-
द्यत्प्रियं तदिह भाववशेन योज्यम् ॥ २० ॥ " इति ।

एवमन्यदपि जिनबिम्बवैशिष्ट्यकरणचैत्यगृहप्रमार्जनसुधाधवलनजिनचरित्रादिविचित्रचित्ररचनसमग्रविशिष्टपूजोपकरणसामग्रीरचनपरिधापनिकाचन्द्रोदयतोरणप्रदानादिसर्वमङ्गादिपूजायामन्तर्भवति ; सर्वत्र जिनभक्तेरेव प्राधान्यात् । गृहचैत्योपरि च धौतिकाद्यपि न मोच्यं, चैत्यवस्त्रअपि चतुरशीत्याशातनाया वर्जनीयत्वात् । अत एव देवसत्कपुष्पधूपदीपजलपात्रचन्द्रोदयादिना गृहकार्यं किञ्चिदपि न कार्यमेव, नापि स्वगृहचैत्यढौकितचोक्षपूगीफलनैवेद्यादिक्रियोत्थद्रव्यं व्यापार्यम् । चैत्यान्तरे तु स्फुटं तत्स्वरूपं सर्वेषां पुरतो विज्ञाप्यारोप्यम्, अन्यथाऽर्पणे च मुधा जनप्रशंसादिदोषप्रसङ्गः । गृहचैत्यनैवेद्यव्यापारिकस्य मुख्यवृत्त्या मासदेयस्थाने न देयं, शक्यभावे च आदावेव नैवेद्यार्पणेन मासदेयोक्तौ तु न दोषः । इति पूजाविधिः । ध० २ अधि० ।

प्रस्तावितद्वारमेवोपदर्शयन्नाह-

सारा पुण थुइथोत्ता, गंभीरपयत्थविरइया जे उ ।
सब्भूयगुणुक्कित्तण-रूवा खलु ते जिणाणं तु ॥ २४ ॥

साराणि प्रधानानि, पुनःशब्दो विशेषद्योतनार्थः । तत्रैवमुक्तिः स्तुतिस्तोत्रैर्गुर्वी पूजा कर्त्तव्या ; साराणि पुनस्तानि कानीत्युच्यते, यानि त्वित्येतस्येह दर्शनाद्यान्येव गम्भीरैरतुच्छैः, पदानां शब्दानामर्थैरभिधेयैर्विरचितानि दृब्धानि गम्भीरपदार्थविरचितानि । तद्यथा-" पमिवणणचरिमतणुणो, अइसयलेसं पि जस्स दट्ठूणं । भवदुत्तमणा जायं-ति जोइणो तं जिणं नमह " ॥ १ ॥ 'जे उ त्ति' व्याख्यातमेव । अतुच्छपदार्थयुक्तान्यपि कानिचिदसद्भूतगुणकीर्त्तनरूपाणि स्युः । यथा-

क्षेमाय मर्त्यजगतस्तल एव शङ्के,
शाकम्भरीनृप ! गतं न भवद्यशोभिः ।
गायन्ति तानि यदि तत्र भुजङ्गयोषाः,
दोषः शिरांसि धुनुयाच्च मही स्थिरा स्यात् " ॥ १ ॥

इत्येतद्व्यवच्छेदायाऽऽह-सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनरूपाणि विद्यमानगुणग्रहणस्वभावान्येव, खलुरवधारणे, तानि स्तुतिस्तोत्राणि, जिनानां तु आप्तानामेव । तद्यथा-" आणा जस्स विलइया , सीसे सव्वेहिं हरिहरेहिं पि । सो वि तुह झाणजलणे, मयणो मयणं व पविलीणो " ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ २४ ॥

अथ कथं स्तुत्यादिप्रधानपूजाया गुर्वीत्वमित्यत्रोच्यते, स्तुत्यादीनां कुशलपरिणामहेतुत्वादेतदेवाऽऽह—

तेसिं अत्थाहिगमे, णियमेणं होइ कुसलपरिणामो ।
सुंदरभावा तेसिं, इयरम्मि वि रयणणाएण ॥ २५ ॥

तेषां सारस्तुत्यादीनामर्थाधिगमेऽभिधेयाऽवगमे सति, नियमेनावश्यंभावेन, भवति जायते, कुशलपरिणामः शुभाध्यवसायः, अर्थाधिगमस्य प्रायः कुशलपरिणामकारकत्वादिति भव्यस्तोतॄणामिति गम्यते । एवं तर्ह्यर्थाधिगमवतामेव स्तुत्यादिभिर्गुर्वी पूजा स्यान्नान्येषामित्यत्रोच्यते-सुन्दरभावात् शुभभावत्वात्, तेषां स्तुत्यादीनाम्, इतरस्मिन्नपि तदर्थानवगमेऽपि,आस्तां तदर्थाधिगमे, कुशलः परिणामो भवतीति प्रकृतम् । अथ कथमिदमवसीयते इत्याह-रत्नज्ञातेन माणिक्योदाहरणेन, यथा रत्नमज्ञातगुणमपि सुन्दरस्वभावतया गुणकरमेवमेतान्यपीति गाथार्थः ॥ २५ ॥

अधिकृतमेव ज्ञातं ज्ञापनीये योजयन्नाह-

जरसमणाई रयणा, अन्नायगुणा वि ते समिंति जहा ।
कम्मजराई थुइमा-इया वि तह जावरयणाओ ॥ २६ ॥

ज्वरशमनादीनि ज्वरापहारप्रभृतीनि, आदिशब्दाच्छूलशमनादिग्रहः, रत्नानि माणिक्यानि, अज्ञातगुणान्यपि रोगिभिरविदितज्वरादिशमनसामर्थ्यान्यपि, न केवलं ज्ञातगुणान्येव तान् ज्वरादिरोगान् शमयन्ति नाशयन्ति, यथा येन प्रकारेण,सुन्दरकपताल तथैव,कर्मज्वरादीन् कर्मलक्षणज्वरादिरोगान् स्तुत्यादीन्यपि स्तुतिस्तोत्राण्यपि, न केवलं रत्नान्येव, (तह इति) अत्रोत्तरस्यावधारणार्थस्य तुशब्दस्य संबन्धात्,तथैव तेनैव प्रकारेण, किंभूतानि स्तुत्यादीनि ?, भावरत्नानि पारमार्थिकमाणिक्यानि, शमयन्तीति प्रकृतमिति गाथार्थः ॥ २६ ॥

सारस्तुतिस्तोत्रद्वारनिगमनम्, तथा यदुक्तम्-" सारथुइथोत्तसहिया, व तह य चिइवंदणाउं ति" । पञ्चा० ४ विव० ।

पूजा अविच्छेदतोऽस्य कर्तव्येत्युक्तं सैव स्वरूपतोऽभिधीयते कारिकाद्वयेन-

स्नानविलेपनसुसुग-न्धिपुष्पधूपादिभिः शुभैः कान्तम् ।
विभवानुसारतो यत्, काले नियतं विधानेन ॥ १ ॥
अनुपकृतपरहितरतः, शिवदस्त्रिदशेशपूजितो भगवान् ।
पूज्यो हितकामाना-मिति भक्त्या पूजनं पूजा ॥२॥

स्नानं गन्धद्रव्यसंयोजितं, स्नात्रं वा,विलेपनं चन्दनकुङ्कुमादिभिः,सुष्ठु सुगन्धिपुष्पाणि जात्यादिकुसुमानि । तथा सुगन्धिधूपो गन्धयुक्तिप्रतीतः, तदादिभिरपरैरपि शुभैर्गन्धद्रव्यविशेषैः, कान्तं मनोहारि, विभवानुसारतो विभवानुसारेण, यत् पूजनमिति संबन्धः । काले त्रिसंध्यं स्ववृत्त्यविरुद्धे वा, नियतं सदा,विधानेन शास्त्रोक्तेन ॥ १ ॥ उपकृतमुपकारो, न विद्यते उपकृतं येषां ते इमेऽनुपकृताः, अकृतोपकारा इत्यर्थः । ते च ते परे च तेभ्यो हितं तस्मिन् रतोऽभिरतः, प्रवृत्तोऽनुपकृतपरहितरतो निष्कारणवत्सलः, शिवं ददातीति शिवदस्त्रिदशानामीशास्तैः पूजितो, भगवान् समग्रैश्वर्यादिसंपन्नः, पूज्यः पूजनीयो, हितकामानां हिताभिलाषिणां, सत्त्वानामित्येवंविधेन कुशलपरिणामेन, भक्त्या विनयसेवया, पूजनं पूजोच्यते ॥२॥

तामेव भेदेनाऽऽह-

पञ्चोपचारयुक्ता, का चिच्चाष्टोपचारयुक्ता स्यात् ।
ऋद्धिविशेषादन्या, प्रोक्ता सर्वोपचारेति ॥ ३ ॥

पञ्चोपचारयुक्ता पञ्चाङ्गप्रणिपातरूपा, का चिच्चाष्टोपचारयुक्ता स्यात् अष्टाङ्गप्रणिपातरूपा, ऋद्धिविशेषादन्या ऋद्धिविशेषो दशार्णभद्रादिगतः, तस्मादपरा प्रोक्ता, सर्वोपचारेति सर्वैः प्रकारैरन्तःपुरहस्त्यश्वरथादिभिरुपचारो विनयो यस्यां सा सर्वोपचारा ॥ तत्राद्या-" दो जाणू दोषि करा, पंचमयं होइ उत्तमंगं तु " । एवमेभिः पञ्चभिरुपचारयुक्ता, अथवा–आगमोक्तैः पञ्चभिर्विनयस्थानैर्युक्ता । तद्यथा-"सच्चित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अच्चित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए एगसाडिएणं उत्तरासंगेणं चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं मणसा एगत्तीभावकरणेणं " ॥ द्वितीया त्वष्टभिरङ्गैः शरीरावयवैरुपचारो यस्याम् । तानि चामून्यङ्गानि- "सीसमुरोयरपिट्ठी,दो बाहू ऊरुया य अट्ठंगा ।" तृतीया तु देवेन्द्रन्यायेन, यथोक्तमागमे–" सव्वबलेणं सव्वसमुदएणं सव्वविभूईए सव्वविभूसाए सव्वायरेणं " इत्यादि ॥ ३ ॥

इयं च यादृशेन वित्तेन कार्या पुरुषेण च तदाह—

न्यायार्जितेन परिशो–धितेन वित्तेन निरवशेषेयम् ।
कर्त्तव्या बुद्धिमता, प्रयुक्तसत्सिद्धियोगेन ॥ ४ ॥

न्यायार्जितेन न्यायोपात्तेन,परिशोधितेन भावविशेषात्,वित्तेन द्रव्येण,निरवशेषा सकलेयं पूजा, कर्तव्या करणीया, बुद्धिमता प्रज्ञावता, प्रयुक्तसत्सिद्धियोगेन प्रयुक्तः वर्तितः सत्सिद्धियोगः सत्साधनव्यापारो येन स तथा ॥ ४ ॥

कीदृक्प्रयत्नेन पुनः पुंसा करणीयेयमित्याह-

शुचिनाऽऽत्मसंयमपरं, सितशुभवस्त्रेण वचनसारेण ।
आशंसारहितेन च, तथा तथा भाववृद्ध्योच्चैः ॥ ५ ॥

शुचिना द्रव्यतः स्नानेन देशसर्वस्नानाभ्यां, देशस्नानं हस्तपादमुखप्रक्षालनं, सर्वस्नानं शिरसा स्नातत्वे सत्यागमप्रसिद्ध्या भावतः शुचिना भावस्नानेन, विशुद्धाध्यवसायेनेत्यर्थः । आत्मसंयमपरम्-आत्मनः शरीरस्य संयमः संवृताङ्गोपाङ्गेन्द्रियत्वं तत्परं तत्प्रधानं यथा भवत्येवं पूजा कर्त्तव्या । सितशुभवस्त्रेण सितवस्त्रेण शुभवस्त्रेण च, शुभमिह सितादन्यदपि पट्टयुग्मादि रक्तपीतादिवर्णं परिगृह्यते, वचनसारेणाऽऽगमप्रधानेन, आशंसारहितेन च-इहपरलोकाद्याशंसाविकलेन च,तथा तथा भाववृद्ध्योच्चैर्येन येन प्रकारेण पुष्पवस्त्रादिविरचनागतेन भाववृद्धिः संपद्यते तेन तेन प्रकारेणेत्यर्थः ॥ ५ ॥

प्रतिष्ठाऽनन्तरं पूजा प्रस्तुता, सा च पुष्पामिषस्तोत्रादिभेदेन बहुधा, तत्र पुष्पादिपूजामभिधाय स्तोत्रपूजां कारिकाद्वयेनाऽऽह-

पिण्डक्रियागुणगतै–र्गम्भीरैर्विविधवर्णसंयुक्तैः ।
आशयविशुद्धिजनकैः, संवेगपरायणैः पुण्यैः ॥ ६ ॥
पापनिवेदनगर्भैः, प्रणिधानपुरस्सरैर्विचित्रार्थैः ।
अस्खलितादिगुणयुतैः, स्तोत्रैश्च महामतिग्रथितैः ॥ ७ ॥

पिण्डं शरीरमष्टोत्तरलक्षणसहस्रकलितं,क्रिया समाचारप्रवृत्तिं, तच्च सर्वातिशायि दुर्वारपरीषहोपसर्गसमुत्थभयविजयित्वेन,गुणाः श्रद्धाज्ञानविरतिपरिणामादयो जीवस्य सहचारिणोऽविनाभूताः सामान्येन, केवलज्ञानदर्शनादयस्तु विशेषेण, तद्गतैस्तद्विषयैस्तत्प्रतिबद्धैः,गम्भीरैः सूक्ष्ममतिविषयभावाभिधायिभिरन्तर्भावप्रवर्तितैश्च , विविधवर्णसंयुक्तैर्विचित्राक्षरसंयोगैश्छन्दोलङ्कारवशेन,आशयविशुद्धिजनकैर्भावविशुद्ध्याऽऽपादकैः, संवेगपरायणैः-संवेगः संसारभयं, मोक्षाभिलाषो वा,परमयनं गमनं येषु तानि परायणानि, संवेगे परायणानि संवेगपरायणानि,तैः पुण्यहेतुत्वात् पुण्यानि,तैः॥६॥ पापानां रागद्वेषमोहकृतानां, स्वयंकृतत्वेन निवेदनं परिकथनं,तद्गर्भो हृदयान्तर्गतभावो येषां तानि तैः पापनिवेदनगर्भैः, प्रणिधानमैकाग्र्यं, तत्पुरःसरैः, उपयोगप्रधानैरिति यावत् । विचित्रार्थैर्बहुविधार्थैः, अस्खलितादिगुणयुतैरस्खलितममिलितमव्यत्याम्रेडितमित्यादिगुणयुक्तैरभिव्याहारमाश्रित्य स्तोत्रैश्च स्तुतिविशेषैश्च, महामतिग्रथितैः महाबुद्धिपुरुषविरचितकाव्यैः, इयं पूजा कर्तव्येति पश्चात्संबन्धनीयम् ॥ ६–७ ॥

कथं पुनः स्तोत्रेभ्यः पूजा भवतीत्याह—

शुभभावार्थं पूजा, स्तोत्रेभ्यः स च परः शुभो भवति ।
सद्भूतगुणोत्कीर्त्तन–संवेगात् समरसाऽऽपत्त्या ॥ ८ ॥

(शुभेत्यादि) शुभभावार्थं पूजा शुभभावनिमित्तं पूजा, सर्वाऽपि पुष्पादिभिः स्तोत्रेभ्यः स्तुतिभ्यः, स च भावः, परः प्रकृष्टः, शुभो भवति शुभहेतुर्जायते, एवं च पुष्पवस्त्रादीनामिव स्तोत्राणामपि प्राक्तनाध्यवसायापेक्षया शुभतरपरिणामनिबन्धनत्वेन पूजाहेतुत्वं सिद्ध्यति । कथं पुनः स्तोत्रेभ्यः शुभो भाव इत्याह–सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनसंवेगात् , सद्भूतानां विद्यमानानां तथ्यानां च गुणानां ज्ञानादीनां यत्कीर्त्तनं तेन संवेगो मुक्त्यभिलाषस्तस्मात् , समरसापत्त्या समभावे रसोऽभिलाषो यस्यां सा समरसा, सा चासावापत्तिश्च प्राप्तिरभिमतिरभिगम इत्यनर्थान्तरम् । तया हेतुभूतया समरसापत्त्या परमात्मस्वरूपगुणज्ञानोपयोगरूपया, परमार्थतस्तद्भवनेन तदुपयोगानन्यवृत्तितया स्तोत्रेभ्य एव शुभो भावो भवतीति तात्पर्यम् ॥ ८ ॥

अधुना अन्यथा पूजाया एव भेदत्रयमाह-

कायादियोगसारा, त्रिविधा तच्छुद्ध्युपात्तवित्तेन ।
या तदतिचाररहिता, सा परमाऽन्ये तु समयविदः ॥९॥

(कायेत्यादि) कायादयो योगाः कायादीनां वा, तत्सारा तत्प्रधाना,त्रिविधा त्रिप्रकारा पूजा–काययोगसारा,वाग्योगसारा, मनोयोगसारा च, तच्छुद्ध्युपात्तवित्तेन तेषां कायादियोगानां शुद्धिः कायादिदोषपरिहारः, तयोपात्तं यद्वित्तं तेन करणभूतेन, या तदतिचाररहिता शुद्धयतिचारविकला, सा परमा प्रधाना पूजा, अन्ये तु समयविदः अपरे त्वाचार्या इत्थमभिदधति ॥ ९ ॥

कायादियोगसारा त्रिविधा पूजेत्युक्तं तदेव त्रैविध्यमाह-

विघ्नोपशमन्याद्या, गीताऽभ्युदयप्रसाधिनी चान्या ।
निर्वाणसाधनीति च, फलदा तु यथार्थसंज्ञाभिः ॥१०॥

(विघ्नेत्यादि) विघ्नानुपशमयतीति विघ्नोपशमनी, आद्या का-

यथोगसारा, गीता कथिता. अभ्युदयं प्रसाधयतीत्यभ्युदयप्रसाधनी चाम्याऽपरा वाग्योगप्रधाना, निर्वाणं साधयतीति निर्वाणसाधनीति च मनोयोगसारा. स्वतन्त्रा वा त्रिविधा, फलदा तु फलदैवैकैका यथार्थसंज्ञाभिरन्वर्थाभिधानैः ॥ १० ॥

तिसृष्वपि यद् भवति तदाह–

प्रवरं पुष्पादि सदा, चाद्यायां सेवते तु तद्दाता ।
आनयति चान्यतोऽपि हि, नियमादेव द्वितीयायाम्॥११॥
त्रैलोक्यसुन्दरं यद्, मनसाऽऽपादयति तत्तु चरमायाम् ।
अखिलगुणाधिकसद्यो–गसारसद्ब्रह्मयागपरः ॥ १२ ॥

प्रवरं प्रधानं, पुष्पादि पुष्पगन्धमाल्यादि, सदा च सर्वदैव, आद्यायां प्रथमायां, सेवते तु सेवते एव ददात्येव, तद्दाता तस्याः पूजायाः कर्त्ता दाता, आनयति च वचनेनाऽन्यतोऽपि हि क्षेत्रान्तरात् प्रस्तुतं पुष्पादि, नियमादेव नियमेनैव, द्वितीयायां पूजायाम ॥११॥ त्रैलोक्यसुन्दरं त्रिषु लोकेषु प्रधानं, यत् पारिजातकुसुमादि नन्दनादिवनगतं, मनसाऽन्तःकरणेन, आपादयति संपादयति, तत्तु तदेव, चरमायां निर्वाणसाधन्यां, तद्दातेत्यत्राप्यभिसंबध्यते । अयमेव विशिष्यते–अखिलैर्गुणैरधिकं सद्योगानां सद्धर्मव्यापाराणां सारं फलकल्पमजरामरत्वेन धर्मस्य सारोऽमरत्वमिति तत्त्वम् । सद्योगसारं यत् सद् ब्रह्म परमात्मस्वरूपं, तस्य यागो यजनं, पूजनं तत्र तत्परस्तत्प्रधानः प्रस्तुतस्तद्दाताऽखिलगुणाधिकसद्योगसारसद्ब्रह्मयागपर उच्यते ॥ १२ ॥ षो० ९ विव० ।

अक्षतादिपूजास्तत्र दृष्टान्ताश्च । जिनप्रतिमापूजाविधिमाह–

कुसुमऽक्खयधूवेहिं, दीवयवासेहिँ सुंदरफलेहिं ।
पूया घयसलिलेहिं, अट्ठविहा तस्स कायव्वा ॥ २४ ॥

कुसुमाक्षतधूपैः पुष्पशाल्याद्यखण्डतन्दुलकृष्णागुरुसारधूपैः, दीपः प्रदीपो, गन्धाः सुगन्धिसारद्रव्यनिष्पन्नानेकभेदभिन्नाक्तैः, सुन्दरफलैः पवित्रसुगन्धिमनोहरातिवर्णाढ्यनारङ्गबीजपूरकादिभिः, पूजा सपर्या, घृतं सर्पिः, उपलक्षणं चैतत्–समस्तनैवेद्यपक्वान्नादेः । सलिलं जलं, ताभ्याम्, अष्टविधाऽष्टभेदा । उपलक्षणं चैतत्–काञ्चनरत्नवप्रादेः । तस्य मिथ्यामिथ्यादिभेदभिन्नजिनभवनमध्यगतप्राग्वर्णितस्वरूपाध्यारोपणसद्भावार्हद्बिम्बस्य कर्त्तव्या कार्या भवतीति गाथार्थः ॥ २४ ॥

अथैतस्या एवाष्टविधपूजायाः फलोपदर्शनप्रतिबद्धानि ग्रन्थान्तरोपरिचितानि भविकजनात्यन्तादरातिशयोत्पादनार्थं सन्ति कथानकानि । दर्श० । (तानि च ग्रन्थगौरवभयादत्र न प्रदर्शयामः । तद्दिदृक्षुणा दर्शनशुद्धिग्रन्थो निरीक्ष्यः)

"गन्धैर्माल्यैर्विनिर्यद्बहुलपरिमलैरक्षतैर्धूपदीपैः,
सान्नाय्यैः प्राज्यभेदैश्चरुभिरुपहितैः पाकपूतैः फलैश्च ।
अम्भःसंपूर्णपात्रैरिति हि जिनपतेरर्चनामष्टभेदां,
कुर्वाणा वेश्मभाजः परमपदसुखस्तोममाराल्लभन्ते" ॥ १ ॥

न च जिनबिम्बानां पूजादिकरणे न काचित्फलप्राप्तिरिति वाच्यम्, चिन्तामण्यादिभ्य इव तेभ्योऽपि फलप्राप्त्यविरोधात्।

यदुक्तं वीतरागस्तोत्रे श्रीहेमसूरिभिः–

"अप्रसन्नात्कथं प्राप्यं फलमेतदसङ्गतम् ।
चिन्तामण्यादयः किं न,फलन्त्यपि विचेतनाः"? ।१। ध०२अधि०।

(स्नात्रविधिः) राजादिना कार्या विधिना जिनपूजा–

ततो विधिना जिनगृहे त्रिविधप्रतिमाऽपेक्षया भक्तिचैत्यरूपे, पञ्चविधचैत्यापेक्षया तु निश्राकृतेऽनिश्राकृते वा गत्वा विधिना जिनस्य भगवतः पूजनं पुष्पादिभिरभ्यर्चनं, वन्दनं स्तुतिर्गुणोत्कीर्त्तनमित्यर्थः । तच्च जघन्यतो नमस्कारमात्रमुत्कर्षतश्चैर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वकशक्रस्तवादिभिर्दण्डकैरिति । अत्र विधिना जिनगृहे गमनमुक्तम् । तद्विधिश्च यदि राजा महर्द्धिकस्तदा–" सव्वाए इड्ढीए सव्वाए जुईए सव्वबलेणं सव्वपोरिसेणं " इत्यादिवचनात् प्रभावनानिमित्तं महर्द्ध्या देवगृहे याति । अथ सामान्यविभवस्तदौद्धत्यपरिहारेण यथाऽनुरूपामम्बरं बिभ्रत् मित्रपुत्रादिपरिवृतो याति; तत्र गतश्च पुष्पताम्बूलादिसचित्तद्रव्याणां परिहारेण १, किरीटवर्जशेषाऽऽभरणाद्यचित्तद्रव्याणामपरिहारेण २, एकैकपृथुलवस्त्रोत्तरासङ्गः; एतच्च पुरुषं प्रति द्रष्टव्यम्; स्त्री तु सविशेषप्रावृताङ्गी विनयावनततनुलतेति ३, दृष्टे जिनेन्द्रे अञ्जलिबन्धं शिरस्यारोपयन्–"नमो जिणाणं" इति भणनप्रणमने ४। अयमपि सद्वाचारवृत्तौ स्त्रीणां निषिद्धः। तथा च तत्पाठः–"एकशाटकोत्तरासङ्गकरणं जिनेन्द्रदर्शने शिरस्यञ्जलिबन्धश्चेति द्वौ पुरुषमाश्रित्योक्तौ; स्त्री तु सविशेषप्रावृताङ्गी विनयावनततनुलतेति" ॥ तथा चागमः–" विणओणयाए गायलट्ठीए " त्ति । तावता शक्रस्तवपाठादावप्यासां शिरस्यञ्जलिन्यासो न युज्यते, तथाकरणेऽङ्गदादिदर्शनप्रसक्तेः। यत्तु–"करयल०जाव कट्टु एवं वयासी " इत्युक्तं द्रौपदीप्रस्तावे, तद्भक्त्यर्थं न्युञ्छनादिवदञ्जलिभ्रमणसूचनपरं, न तु पुरुषैः सर्वसाम्यार्थं, न च तथा स्थितस्यैव सूत्रोच्चारव्यापनपरं वा, अन्यदपि नृपविज्ञपनादावप्यादौ तथा भणनात्, इत्याद्युक्तप्रायं परिज्ञाव्यमत्रागमाविरोधेनेति; मनसश्चैकाग्र्यं कुर्वन्निति पञ्चविधाभिगमेन नैषेधिकीपूर्वं प्रविशति। यदाह–" सच्चित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए १, अच्चित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए २, एगल्लसाडएणं उत्तरासंगेणं ३, चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं ४, मणसो एगत्तीकरणेणं ति" ५ । राजादिस्तु चैत्यं प्रविशँस्तत्कालं राजचिह्नानि त्यजति । यतः–" अवहट्टु रायककुआ–इँ पंचवररायककुआइं । खग्गं छत्तोवाणह, मउडं तह चामराओ अ ॥ १ ॥ " अग्रद्वारे प्रवेशे मनोवाक्कायैर्गृहव्यापारो निषिध्यते इति ज्ञापनार्थं नैषेधिकीत्रयं क्रियते, परमेकैवैषा गण्यते, गृहादिव्यापारस्यैकस्यैव निषिद्धत्वात्; कृतायां च नैषेधिक्यां सावद्यव्यापारवर्जनमेव न्याय्यम्; अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः । यतो दिनकृत्ये–"मिहो कहाओ सव्वाओ, जो वज्जेइ जिणालए । तस्स निसीहिआ होइ, इइ केवलिभासिअं"॥१॥ इति । ततो मूलबिम्बस्य प्रणामं कृत्वा सर्वं हि प्रायेणोत्कृष्टं वस्तु श्रेयस्कामैर्दक्षिणभाग एव विधेयमित्यात्मनो दक्षिणाङ्गभागे मूलबिम्बं कुर्वन् ज्ञानादित्रयाराधनार्थं प्रदक्षिणात्रयं करोति ।

उक्तं च–

" तत्तो नमो जिणाणं, ति भणिअ अद्धोणयं पणामं च ।
काउं पंचंगं वा, भत्तिब्भरनिब्भरमणेणं ॥ १ ॥
पूअंगपाणिपरिवा–रपरिगओ गहिरमहुरघोसेणं ।
पढमाणो जिणगुणगण–निबद्धमंगलथुत्ताइं ॥ २ ॥
करधरिअजोगमुद्दो, पयपाणिरक्खणाउत्तो ।
दिज्जा पयाहिणतिगं, एगग्गमणो जिणगुणेसु ॥ ३ ॥

गिहचेइएसु न घमइ, इअरेसु वि जइ वि कारणवसेणं ।
तह वि न मुयइ मइमं, सया वि तक्करणपरिणामं ॥ ४ ॥ "

प्रदक्षिणादाने च समवसरणस्थचतूरूपं श्रीजिनं ध्यायन् गर्भागारदक्षिणपृष्ठवामदिक्त्रयस्थबिम्बत्रयं वन्दते; अत एव सर्वस्यापि चैत्यस्य समवसृतिस्थानीयतया गर्भगृहबहिर्भागदिक्त्रये मूलबिम्बनाम्ना बिम्बानि कुर्वन्ति। एवं च-"वर्जयेदर्हतः पृष्ठम्" इत्युक्तोऽर्हत्पृष्ठनिवासदोषोऽपि चतुर्दिक्षु निवर्त्तते,ततश्चैत्यप्रमार्जनपोतकलेख्यकादिवक्ष्यमाणयथोचितचिन्तापूर्वं विहितसकलपूजासामग्रीको जिनगृहव्यापारनिषेधरूपां द्वितीयां नैषेधिकीं मुखमण्डपादौ कृत्वा मूलबिम्बस्य प्रणामत्रयपूर्वकं पूर्वोक्तविधिना पूजां कुरुते ।

यद्भाष्यम्-

" तत्तो निसीहिआए, पविसित्ता मंडवम्मि जिणपुरओ ।
महिनिहिअजाणुपाणी, करेइ विहिणा पणामतिगं ॥ १ ॥
तयणु हरिसुल्लसंतो, कयमुहकोसो जिणिंदपडिमाणं ।
अवणेइ रयणिवसिअं, निम्मल्लं लोमहत्थेणं ॥ २ ॥
जिणगिहपमज्जणंतो, करेइ कारेइ वा वि अन्नेणं ।
जिणबिंबाण पूअंतो, विहिणा कुणई जहाजोगं "॥ ३ ॥

अत्र च विशेषतः शुद्धगन्धोदकप्रक्षालनकुङ्कुममिश्रगोशीर्षचन्दनविलेपनाङ्गीरचनगोरोचनमृगमदादिपत्रभङ्गकरणनाना--जातीयपुष्पमालारोपणचीनांशुकवस्त्रपरिधापनकृष्णागुरुमिश्र - कर्पूरदहनानेकदीपोद्योतनस्वच्छाखण्डाक्षताष्टमङ्गलालेखन -- विचित्रपुष्पगृहरचनादि धेयं; यदि च प्राक् केनापि पूजा कृता स्यात्तदा विशिष्टान्यपूजासामग्र्यभावे तां नोत्सारयेत्; भव्यानां तद्दर्शनजन्यपुण्यानुबन्धिपुण्यबन्धस्यान्तरायप्रसक्तात् , किं तु तामेव विशेषयेत् ।

यद् बृहद्भाष्यम्-

" अह पुव्वं चिअ केणइ, हविज्ज पूआ कया सुविहवेण ।
तं पि सविसेससोहं, जह होइ तहा तहा कुज्जा ॥ १ ॥
निम्मल्लं पि न एवं, भण्णइ निम्मल्ललक्खणाभावा ।
भोगविणट्ठं दव्वं, निम्मल्लं बिंति गीअत्था ॥ २ ॥
इत्तो चेव जिणाणं, पुणरवि आरोवणं कुणंति जहा ।
वत्थाहरणाईणं, जुगलिअकुंडलिअमाईणं ॥ ३ ॥
कहमन्नह एगाए, कासाईए जिणिंदपडिमाणं ।
अट्ठसयं लूहंता, विजयाई वण्णिआ समए " ॥ ४ ॥

एवं मूलबिम्बस्य विस्तरपूजानन्तरं सृष्ट्या सर्वापरबिम्बपूजा यथायोगं कार्या, द्वारबिम्बसमवसरणबिम्बपूजाऽपि मुख्यबिम्बपूजाद्यनन्तरं गर्भगृहनिर्गमसमये कर्त्तव्या संभाव्यते, न तु प्रवेशे, प्रणाममात्रं त्वासन्नार्चादीनां पूर्वमपि, एवमेव तृतीयोपाङ्गादिसंवादिन्यां सङ्घाचारोक्तविजयदेववक्तव्यतायामित्थमेव प्रतिपादनात् ।

तथाहि-

" तो गंतु सुहम्मसहं, जिणस्स कयदंसणम्मि पणमित्ता ।
उग्घाडित्तु समुग्गं, पमज्जए लोमहत्थेणं ॥ १ ॥
सुरहिजलेणिगवीसं, वारा पक्खालिआऽणुलिंपित्ता ।
गोसीसचंदणेणं, ता कुसुमाईहिँ अच्चेइ ॥ २ ॥
तो दारपडिमपूअं, सहासु हम्माइसु वि करइ पुव्वं ।
दारच्चणाइ सेसं, तइअउवंगाउ नायव्वं " ॥ ३ ॥

तस्मान्मूलनायकस्य पूजा सर्वेभ्योऽपि पूर्वं सविशेषा हि कार्या।

उक्तमपि-

" उचिअत्तं पूआए, विसेसकरणं तु मूलबिंबस्स ।
जं पडइ तत्थ पढमं, जणस्स दिट्ठी सह मणेण ॥ १ ॥ "

शिष्यः-

" पूआवंदणमाई, काऊणेगस्स सेसकरणम्मि ।
नायगसेवगभावो, होइ कओ लोगनाहाणं ॥ २ ॥
एगस्सायरसारा, कीरइ पूआऽवरेसिँ थोवयरी ।
एसा वि महावन्ना, लक्खिज्जइ निउणबुद्धीहिं ॥ ३ ॥

आचार्यः--

नायगसेवगबुद्धी, न होइ एएसु जाणगजणस्स ।
पिच्छंतस्स समाणं, परिवारं पाडिहेराई ॥ ४ ॥
ववहारो पुण पढमं, पइट्ठिओ मूलनायगो एसो ।
अवणिज्जइ सेसाणं, नायगभावो न उ णतेणं ॥ ५ ॥
वंदणपूआबलिढो-अणेसु एगस्स कीरमाणेसु ।
आसायणा न दिट्ठा, उचिअपवित्तस्स पुरिसस्स ॥ ६ ॥
जह मिम्मयपडिमाणं, पूआ पुप्फाइएहिँ खलु उचिआ ।
कणगाइनिम्मिआणं, उचिअतमा मज्जणाई वि ॥ ७ ॥
कल्लाणगाइ कज्जा, एगस्स विसेसपूअकरणा वि ।
नावन्नापरिणामो, जह धम्मिजणस्स सेसेसु ॥ ८ ॥
उचिअपवित्तं एवं, जहा कुणंतस्स होइ नावन्ना ।
तह मूलबिंबपूआ, विसेसकरणे वि तं नऽत्थि ॥ ९ ॥
जिणभवणबिंबपूआ, कीरंति जिणाण नो कए किं तु ।
सुहभावणानिमित्तं, बुहाण इयराण बोहत्थं ॥ १० ॥
चेईहरेण केई, पसंतरूवेण केइ बिंबेणं ।
पूआए सया अन्ने, अन्ने बुज्झंति उवएसा ॥ ११ ॥ "

इति पूर्वं मूलबिम्बपूजा युक्तिमत्येवेत्यलं प्रसङ्गेन। सविस्तरपूजाऽवसरे च नित्यं विशेषतश्च पर्वसु त्रिपञ्चसप्तकुसुमाञ्जलिप्रक्षेपादि पूर्वं भगवतः स्नात्रं विधेयम् ।

तत्रायं विधिः योगशास्त्रवृत्तिश्राद्धविधिवृत्तिलिखितः-

प्रातः पूर्वं निर्माल्योत्सारणं प्रक्षालनं संक्षेपपूजा आरात्रिकं मङ्गलप्रदीपश्च , ततः स्नात्रादिसविस्तरद्वितीयपूजाप्रारम्भे देवस्य पुरः सकुङ्कुमजलकलशः स्थाप्यः ।

ततः-

" मुक्ताऽलङ्कारसारं सौम्यत्वकान्तिकमनीयम् ।
सहजनिजरूपनिर्जित-जगत्त्रयं पातु जिनबिम्बम् " ॥१॥
इत्युक्त्वाऽलङ्कारोत्तारणम् ।
" अवणिअकुसुमाहरणं, पयइट्ठिअमणोहरच्छायं ।
जिणरूवं मज्जणपी-ढसंठिअं वो सिवं दिसउ" ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा निर्माल्योत्तारणम् । ततः प्रागुक्तकलशक्षालनं, पूजा च । अथ धौतधूपितकलशेषु स्नात्रार्हसुगन्धिजलक्षेपः, श्रेण्या तेषां व्यवस्थापनं, सद्वस्त्रेणाच्छादनं च,ततः स्वचन्दनधूपादिना कृततिलकहस्तकङ्कणहस्तधूपनादिकृत्याः श्रेणिस्थाः श्रावकाः कुसुमाञ्जलिहस्ताः पाठान् पठन्ति ।

तत्र-

" सयवत्तकुन्दमालइ-बहुविहकुसुमाइँ पंचवन्नाइं ।
जिणनाहन्हवणकाले, दिंति सुरा कुसुमंजलीहत्था ॥ ३ ॥ "
इत्युक्त्वा देवस्य मस्तकेषु पुष्पारोपणम् ।

" गंधाइड्डियमहुअर-मणहरझंकारसद्दसंगीआ।
जिणचलणोवरि मुक्का, हरउ तुह कुसुमंजली दुरिअं" ॥१॥

इत्यादिपाठैः प्रतिगाथादिपाठं जिनचरणोपरि श्रावकेण कुसुमाञ्जलिपुष्पाणि क्षेप्याणि, सर्वेषु कुसुमाञ्जलिपाठेषु तिलकपुष्पपत्रधूपादिविस्तरो ज्ञेयः। अथोदारमधुरस्वरेणाधिकृतजिनजन्माभिषेककलशपाठः, ततो घृतेक्षुरसदुग्धदधिसुगन्धिजलपञ्चामृतैः स्नात्राणि, स्नात्रान्तरालेषु च धूपो देयः, स्नात्रकालेऽपि जिनशिरः पुष्पैरशून्यं कार्यम्।

यदाहुर्वादिवेतालाः श्रीशान्तिसूरयः-

" आस्नात्रपरिसमाप्ते-रशून्यमुष्णीषदेशमीशस्य।
सान्तर्द्धानाद् धारा-पातं पुष्पोत्तमैः कुर्यात्" ॥१॥

स्नात्रे च क्रियमाणे निरन्तरं चामरसंगीततूर्यादिघामम्बरः सर्वशक्त्या कार्यः, सर्वैः स्नात्रे कृते पुनरकरणाय शुद्धजलेन धारा देया।

तत्पाठश्चायम्-

" अभिषेकतोयधारा, धारेव ध्यानमण्डलाग्रस्य।
भवभवनभित्तिभागान्, भूयोऽपि भिनत्तु भागवती ॥१॥ "

ततोऽङ्गरूक्षणविलेपनादिपूजा प्राक्पूजातोऽधिका कार्या, सर्वप्रकारैर्धान्यपक्वान्नशाकविकृतिफलादिभिर्बलिढौकनं, ज्ञानादिरत्नत्रयाश्रयस्य लोकत्रयाधिपतेर्भगवतोऽग्रे पुञ्जत्रयेणोचितं स्नात्रपूजादिकं पूर्वश्रावकैर्वृद्धलघुव्यवस्थया, ततः श्राविकाभिः कार्य,जिनजन्ममहेऽपि पूर्वमच्युतेन्द्रः परिवारयुतः, ततो यथाक्रममन्ये इन्द्राः स्नात्रादि कुर्वन्ति, स्नात्रजलस्य च शेषावत् शीर्षादौ क्षेपेऽपि न दोषः संभाव्यः।

यदुक्तं हैमश्रीवीरचरित्रे-

" अभिषेकजलं तत्तु, सुरासुरनरोरगाः।
ववन्दिरे मुहुः सर्वा-ङ्गीणं च परिचिक्षिपुः ॥१॥ "

श्रीपद्मचरित्रेऽप्येकोनत्रिंशे उद्देशे आषाढशुक्लाष्टम्या आरभ्य दशरथनृपकारिताष्टाह्निकाचैत्यस्नात्रमहाधिकारे-

" तं णहवणसंतिसलिलं, नरवइणा पेसिअं सभज्जाणं।
तरुणवलयाहि नेउं, बूढं चिअ उत्तमंगेसु ॥ १॥
कंचुइहत्थोवगयं, जाव य गंधोदयं चिरावेइ।
ताव य वरगा महिसी, पत्ता सोगं च कोहं च ॥ २ ॥
सा कंचुइणा कुद्धा, अहिसित्ता तेण संतिसलिलेणं।
तिव्वाविय माणसग्गी, पसन्नहिअया तओ जाया" ॥ ३ ॥

बृहच्छान्तिस्तवेऽपि शान्तिपानीयं मस्तके दातव्यमित्युक्तम्। श्रूयतेऽपि जरासन्धमुक्तजरयोपद्रुतं स्वसैन्यं श्रीनेमिगिरा कृष्णेनाराद्धनागेन्द्रात्पातालस्थश्रीपार्श्वप्रतिमां शङ्खेश्वरपुरे आनाय्य तत्स्नपनाम्बुना जिनदेशनासद्मनि नृपाद्यैः प्रक्षिप्तं, क्रूरकूपं बलिमर्धपतितं देवा गृह्णन्ति, तदर्द्धार्द्धं नृपः, शेषं तु जनाः, तत्सिक्थेनाऽपि शिरसि क्षिप्तेन व्याधिरुपशाम्यति, षण्मासाँश्चान्यो न स्यादित्यागमेऽपि, ततः सद्गुरुप्रतिष्ठितः प्रौढोत्सवानीतो दुकूलादिमयो महाध्वजः प्रदक्षिणात्रयादिविधिना प्रदेयः, सर्वैर्यथाशक्ति परिधापनिका च मोच्या। अथाऽऽरात्रिकं समङ्गलदीपमर्हतःपुरस्ताद्दुद्योत्यम्, आसन्नं च वह्निपात्रं स्थाप्यम्। तत्र लवणं जलं च पातयिष्यते।

" उवणेउ मंगलं वो, जिणाण मुहलालिजालसंवलिआ।
तित्थपवत्तणसमए, तिअसविमुक्का कुसुमवुट्ठी " ॥ १ ॥

इत्युक्त्वा प्रथमं कुसुमवृष्टिः।

ततः-

" अब्भहपमिअभगपसरं, पयाहिणं मुणिवइं करेऊणं।
पडइ सलोणत्तणल-ज्जिअं च लोणं हुअवहम्मि" ॥ १ ॥

इत्यादिपाठैर्विधिना जिनस्य त्रिः पुष्पलवणजलोत्तारणादि कार्यं, ततः स्तुत्वा पूजयित्वा आरात्रिकसधूपोत्क्षेप उभयतः उच्चैः सजलधारं परितः श्राद्धैः प्रकीर्यमाणपुष्पप्रकरं-

" मरगयमणिघडिअविसा-लथालमाणिक्कमंडिअपईवो।
ण्हवणयरकरुक्खित्तो, भमउ जिणारत्तिअं तुम्हं" ॥ ४४ ॥

इत्यादिपाठपूर्वं प्रधानभाजनस्थं सोत्सवमुत्तार्यते त्रिवारम्।

यदुक्तं त्रिषष्टीयादिचरित्रे-

" कृतकृत्य इवाथाऽप-सृत्य किञ्चित्पुरन्दरः।
पुरोभूय जगद्भर्तु-रारात्रिकमुपाददे ॥ १ ॥
ज्वलद्दीपविभा तेन, चकासामास कौशिकः।
भास्वदोषधिचक्रेण, शृङ्गेणेव महागिरिः ॥ २ ॥
श्रद्धालुभिः सुरवरैः, प्रकीर्णकुसुमोत्करम्।
भर्तुरुत्तारयामास, ततस्त्रिदशपुङ्गवः" ॥ ३ ॥

मङ्गलप्रदीपोऽप्यारात्रिकवत्पूज्यते-

" कोसंबिसंठिअस्स य, पयाहिणं कुणइ मउलिअपईवो।
जिण! सोमदंसणे दिण-यरु व्व तुह मंगलपईवो ॥ १ ॥
भामिज्जंतो सुरसुं-दरीहिँ तुह नाह! मंगलपईवो।
कणयायलस्स नज्जइ, भाणु व्व पयाहिणं दिंतो" ॥ २ ॥

इति पाठपूर्वं तथैवोत्तार्यते,देदीप्यमानो जिनचरणाग्रे मुच्यते, आरात्रिकं तु विध्याप्यते, तेन न दोषः, प्रदीपारात्रिकादि च मुख्यवृत्त्या घृतगुडकर्पूरादिभिः क्रियते, विशेषफलत्वात्।

लोकेऽप्युक्तम्-

" पुरः प्रज्ञातदेवस्य, कर्पूरेण तु दीपकम्।
अश्वमेधमवाप्नोति, कुलं चैव समुद्धरेत्" ॥ १ ॥

अत्र मुक्ताङ्कारेत्यादिगाथाः श्रीहरिभद्रसूरिकृताः संभाव्यन्ते, तत्कृतसमरादित्यचरित्रग्रन्थस्यादौ-"उवणेउ मंगलं वो," इति नमस्कारदर्शनात्। एताश्च गाथाः श्रीतपापक्षादौ प्रसिद्धा इति न सर्वा लिखिताः,स्नात्रादौ सामाचारीविशेषेण विविधविधिदर्शनेऽपि न व्यामोहः कार्यः,अर्हद्भक्तिफलस्यैव सर्वेषां साध्यत्वात्। गणधरादिसामाचारीष्वपि भूयांसो भेदा भवन्ति, तेन यद्यद् धर्माद्यविरुद्धमर्हद्भक्तिपोषकं तत्तन्न केषामप्यसंमतम्। एवं सर्वधर्मतत्त्वेष्वपि ज्ञेयम्। इह लवणारात्रिकाद्युत्तारणं संप्रदायेन सर्वगच्छेषु परदर्शनेष्वपि च सृष्टौ च क्रियमाणं दृश्यते।

श्रीजिनप्रभसूरिकृतपूजाविधौ त्वेवमुक्तम्-

" लवणाईउत्तरणं, पलित्तयं सूरिमाइपुरिसेहिं।
संहारेण अणुन्ना-यं समए सिट्ठिअं सम्मं" ॥ १ ॥ इति।

स्नात्रकरणे च सर्वप्रकारसविस्तरपूजाप्रभावनादिसंभवेन प्रेत्य प्रकृष्टफलं स्पष्टं, जिनजन्मस्नात्रकर्तृचतुःषष्टिसुरेन्द्राद्यनुकारकरणादि चात्रापीति स्नात्रविधिः। ध० २ अधि०।

विवसनैः सहाभरणविषयकः शास्त्रार्थः-

यदपि भगवत्प्रतिमाया न भूषा आभरणादिभिर्विधेयेति स्वाग्रहावष्टब्धचेतोभिर्दिगम्बरैरुच्यते, तदप्यर्हत्प्रणीताऽऽगमापरिज्ञानस्य विजृम्भितमुपलक्ष्यते, तत्करणस्य शुभभा-

वनिमित्ततया कर्मक्षयाबन्धकारणत्वात्। तथाहि-भगवत्प्रतिमाया भूषणाद्यारोपणं कर्मक्षयकारणं कर्तुर्मनःप्रसादजनकं,कुङ्कुमाद्यालेपनवत्। न च व्रतावस्थायां भगवता भूषणादेरनङ्गीकृतत्वात् न तत्प्रतिकृतौ तद्विधेयं, समज्जनाङ्गरागपुष्पादिधारणस्यापि तथावस्थायां भगवताऽनाश्रितत्वान्न सत् तत्र विधेयं स्यात्। अथ मेरुमस्तकादिषु तदभिषेकादाविन्द्रादिभिस्तस्य विहितत्वात् अस्मदादिभिरपि कृतानुकरणादिभिः प्रयोजनैस्तत्तत्र विधीयते, तर्हि तत एवाऽऽभरणादिभिर्विभूषादिकमपि विधेयम्, कृतानुकरणादेः समानत्वात्। एवमन्यदप्यागमबाह्यं स्वमनीषिकया परपरिकल्पितमागमयुक्तिप्रदर्शनेन प्रतिषेध्यं, न्यायदिशः प्रदर्शितत्वात्। तदेवमनधीताश्रुतयथावदपरिज्ञातागमतात्पर्या दिग्वाससः एवाशाडां विगोपयन्तीति व्यवस्थितम्। सम्म० ३ काण्ड।

विधिधप्रतिमाऽर्चनम्-

प्रतिमाश्च विविधास्तत्पूजाविधौ सम्यक्त्वप्रकरण इत्युक्तम्-

" गुरुकारिआइ केई, अन्ने सयकारिआइ तं बिंति ।
विहिकारिआइ अन्ने, पडिमाए पूअणविहाणं ॥ १ ॥"

गुरवो मातृपितृपितामहादयः,तैः कारितायाः केचित्, अन्ये स्वयं कारितायाः, विधिकारितायास्त्वन्ये प्रतिमायाः, तत्पूर्वाभिहितं, पूजाविधानं ब्रुवन्ति, कर्त्तव्यमिति शेषः। अवस्थितपक्षस्तु-गुर्वादिकृतत्वस्यानुपयोगित्वान्ममत्वाग्रहरहितेन सर्वप्रतिमा अविशेषेण पूजनीयाः। न चैवमविधिकृतामपि पूजयतस्तदनुमतिद्वारेणाऽऽज्ञाभङ्गलक्षणदोषाऽऽपत्तिः, आगमप्रामाण्यात्।

तथाहि श्रीकल्पबृहद्भाष्ये-

" निस्सकडमनिस्सकमे, चेईए सव्वहिं थुई तिन्नि ।
वेलं व चेइआणि अ, नाउं इक्किक्किआ वा वि ॥ १ ॥ "

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते।अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि च ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्या ॥ १ ॥

अयं चैत्यगमनपूजास्नात्रादिविधिः सर्वोऽपि ऋद्धिप्राप्तमाश्रित्योक्तः,तस्यैवैतावद्योगसंभवात्। अनृद्धिप्राप्तस्तु श्राद्धः स्वगृहे सामायिकं कृत्वा केनापि सह ऋणविवादाद्यभावे ईर्याद्युपयुक्तः साधुवच्चैत्यं याति, स च पुष्पादिसामग्र्यभावाद् द्रव्यपूजायामशक्तः सामायिकं पारयित्वा कायेन यदि पुष्पग्रथनादि कर्त्तव्यं स्यात् तदा तत् करोति। न च सामायिकत्यागेन द्रव्यस्तवस्य करणमनुचितमिति शङ्क्यम्, सामायिकस्य स्वायत्ततया शेषकालेऽपि सुकरत्वाच्चैत्यकृत्यस्य च समुदायायत्तत्वेन कादाचित्कत्वात्,द्रव्यस्तवस्यापि शास्त्रे महाफलत्वेन प्रतिपादनाच्च।

यतः पद्मचरित्रे-

" मणसा होइ चउत्थं, छट्ठफलं उट्ठिअस्स संभवइ ।
गमणस्स पयारम्भे, होइ फलं अट्ठमोवासो ॥ १ ॥
गमणे दसमं तु भवे, तह चेव दुवालसं गए किंचि ।
मज्झे पक्खुववासो, मासुववासं च दिट्ठम्मि ॥ २ ॥
संपत्तो जिणभवणे, पावइ छम्मासिअं फलं पुरिसो ।
संवच्छरिअं तु फलं, दारुद्देसट्ठिओ लहइ ॥ ३ ॥
पायक्खिणेण पावइ, वरिससयं तं फलं तओ जिणे महिए ।
पावइ वरिससहस्सं, अणंतपुण्णं जिणे थुणिए ॥ ४ ॥

सयं पमज्जणे पुण्णं, सहस्सं च विलेवणे ।
सयसाहस्सिआ माला, अणंतं गीअवाइअं " ॥५॥ इति ।

प्रस्तावे च तस्मिन् क्रियमाणे विशेषपुण्यलाभः ।

यदागमः-

" जीवाण बोहिलाभो, सम्मद्दिट्ठीण होइ पियकरणं ।
आणा जिणिंदभत्ती, तित्थस्स पभावणा चेव " ॥ १ ॥

एवमनेके गुणाः, ततस्तदेव कर्तव्यम, यदुक्तं दिनकृत्ये-

" एवं तु त्रिहिओ सव्वो, रिद्धिमंतस्स देसिओ ।
इअरो निअगेहम्मि, काउं सामाइयं वयं ॥ १ ॥
जइ न कस्सइ धारेइ, न वि वाओ वि विज्जए ।
उवउत्तो सुसाहु व्व, गच्छए जिणमंदिरे ॥ २ ॥
काएण अत्थि जइ किंचि, कायव्वं जिणमंदिरे ।
तओ सामाइअं मोत्तुं, करेज्ज करणिज्जए ॥ ३ ॥ "

अत्र च सूत्रे विधिना जिनस्य पूजनं वन्दनं चेत्युक्त्वा दशत्रिकादिचतुर्विंशतितमद्वारैर्भाष्याद्युक्तः संपूर्णो वन्दनाविधिरुपलक्षितः। ध० २ अधि०। ('चेइयवंदण' शब्दे व्याख्यास्यते चैत्यवन्दनम्। अष्टपुष्पीपूजा 'अट्ठपुप्फी' शब्दे प्रथमभागे २४५ पृष्ठे व्याख्याता । ' आसायणा ' शब्दे द्वितीयभागे ४७० पृष्ठे चैत्यस्योत्कृष्टमध्यमजघन्या आशातना उक्ताः)

जिनेन्द्रस्य पुरतः सिद्धबलिविधानम्-

अमलियछेयग्गंथा, केइ निसेहंति सिद्धबलिकरणं ।
तं पि न जुत्तं जम्हा, भणिअं कप्पाइचुन्नीसु ॥१॥

अमलितच्छेदग्रन्था अनभ्यस्तोच्छाल्लाः, केऽपि निषेधयन्ति, सिद्धबलिकरणं जिनेशबिम्बस्य पुरतो राद्धबलिविधानं,तदपि न युक्तं न सङ्गतं, यस्माद् भणितमुक्तं कल्पादिचूर्णौ, आदिशब्दादावश्यकचूर्णिपरिग्रह इति गाथार्थः ॥१॥

तदुक्तमेवार्थत आह-

तं सित्थं जस्स सिरे, दिज्जइ पसमंति तस्स वाहीओ ।
पुव्वुप्पन्ना उ नवा, न हुंति अन्ना तु छम्मासं ॥२॥

तत्सर्वज्ञाग्रे बलिकृतगृहीतं, सिक्थं जनप्रतीतं,यस्य चेदनिर्दिष्टनाम्नः, शिरसि मस्तके, दीयते स्थाप्यते, प्रशाम्यन्ति उपशमं यान्ति,तस्य शिरसि सिक्थविधातुः,व्याधयो रोगाः,किंविशिष्टा इत्याह-पूर्वोत्पन्नाश्चिरप्ररूढाः; नवा नूतनाः,न भवन्ति न जायन्ते, अन्ये पूर्वविलक्षणाः, कियत्कालं यावदित्याह-षण्मासं जनप्रतीतम्। तथा च तत्रैवं त आहुः-"जं तंदुलाण सित्थं देवमच्चू रायमच्चू वा" इत्यादि यावत् "तं तु सित्थं जस्स मत्थए छुब्भइ, तस्स पुव्वुप्पन्ना वाही उवसमति " इत्यादि। अयमभिप्रायः-यदि राद्धं न स्यात् तत्सिक्थमिति नाभणिष्यत्। न च सिक्थं लवमात्रमिति वाच्यं, तत्रस्थग्रन्थव्याहतेः। तथाहि-तत्र "दुब्बलिखंडिय" इत्यादिसर्वं निष्पादनाविधिं प्रतिपाद्योक्तं तत्र " सिद्धबलिं काऊण त्ति " अत्र सिद्धशब्देन रन्धनमेव वाच्यं, न पुनरनिष्पन्नं, विधेः सर्वस्य पूर्वं प्रतिपादितत्वात्, तस्मात् स्थितमत्र सिद्धो बलिः सर्वज्ञपुरतो विधीयते उत्सर्गेण इति गाथार्थः। जीवा० १० अधि०।

(२८) अथ डुङ्गरपुरस्थसंघकृतप्रश्नानां हीरविजयकृतोत्तराणि-जिनप्रतिमानां तान्येवाभरणानि प्रतिदिनं परिधाप्यन्ते, अथ तेषां निर्माल्यता कथं न भवति ? , इत्येतदाश्रित्य शास्त्रमध्ये

एवं कथितमस्ति यद्भोगविनष्टं द्रव्यं तद् निर्माल्यमिति, तेनाभरणानां भोगविनष्टत्वाभावेन निर्माल्यता न भवतीति ज्ञेयमिति । २ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

परचैत्यवन्दनोन्मोके-

तपापक्षीयः श्राद्धः स्वकीयेषु परकीयेषु वा चैत्येषु वन्दनादि करोति, तत्र स्वकीयेषु यथा लाभस्तथा श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽदिष्टेषु परकीयेष्वपि लाभ एव ज्ञातोऽस्ति, न तु पापम् । १४ प्र० । ही० १ प्रका० ।

काजकोद्धरणम्-

अन्यच्च चतुर्मासकमध्ये जिनगृहे देववन्दनं साधूनां श्राद्धानां च काजकोद्धरणपूर्वकमेव युक्तिमत् ॥४॥ जिनगृहे रात्रौ नाट्यादिविधेर्निषेधो ज्ञायते । यत उक्तम्-" रात्रौ न नन्दिर्न बलिः प्रतिष्ठा, न स्त्रीप्रवेशो न च लास्यकीला ॥ " इत्यादि । किं च क्वाऽपि तीर्थादौ तत्क्रियमाणं दृश्यते, तत्तु कारणिकमिति बोध्यम् । ५ प्र० । ही० २ प्रका० ।

प्रतिमानां चक्षुरादिकरणम्-

जिनप्रतिमानां चक्षुरादिसंयोजनमाश्रित्य ये निपुणाः श्राद्धाः सन्ति तैः रालतैले मेलयित्वा चूर्णो वर्त्तयित्वा तद्रसेन चक्षुरादि संयोजयन्ति, न तूष्णलाक्षारसेन; तथाकरणे आशातनादोषप्रसङ्गादिति । २ प्र० । ही० ३ प्रका० ।

साधारणप्रासादे प्रतिमाः-

साधारणप्रासादे प्रतिमायां कार्यमाणायां ग्रामनाम्ना प्रतिमा विलोकयते,उत सङ्घराशिनाम्ना ?,यदि सङ्घराशिनाम्ना,तदा सर्वग्रामसङ्घानामेकमेव राशिनाम विद्यते, तेन यथा युक्तं भवति तथा प्रसाद्यमिति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र साधारणप्रासादे प्रतिमायां कार्यमाणायां ग्रामनाम्ना प्रतिमा विलोक्यत इति युक्तं ज्ञायते इति । २५ प्र० । ही० ४ प्रका० ।

गुर्वाज्ञया चैत्यपूजा-

चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वतां तेषां तपागणसंबन्धी शक्तिमान् श्राद्धः सांनिध्यम, माध्यस्थ्यम, विकारं वा भजते, तदा लाभो भवति, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-चैत्यादिधर्मकार्यं कुर्वतां तेषां श्रीपरमगुरुपादैरादेयतयाऽऽदिष्टचैत्यादिधर्मकार्ये सांनिध्यकरणमायाति सुन्दरं, तदितरकार्ये तु माध्यस्थ्यमेव, न तु क्वापि वैपरीत्यकरणेन विरोधोत्पादनं श्रेयसे । ही० १ प्रका० ।

रात्रावारात्रिकम्-

श्राद्धानां रात्रौ जिनालये आरात्रिकोत्तारणं युक्तं, न वा ?, इति प्रश्ने, उत्तरम्-श्राद्धानां जिनालये रात्रौ आरात्रिकोत्तारणं कारणे सति युक्तिमद्, नान्यथा ॥ १ ॥ ही० २ प्रका० ।

कायोत्सर्गस्थितजिनप्रतिमानां चरणादिपरिधापनविचारः-

कायोत्सर्गस्थितजिनप्रतिमानां चरणादिपरिधापनं युक्तं, नवेति प्रश्ने, उत्तरम्-जिनप्रतिमानां चरणादिपरिधापनं तु सम्प्रति न व्यवहारेण युक्तियुक्तं प्रतिभाति । ही० २ प्रका० ।

आरात्रिकमङ्गलप्रदीपविचारः-

आरात्रिकमङ्गलप्रदीपः सृष्ट्या संहारेण वोत्तार्यते, तदुत्तारणपाठश्च क इति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र जिनप्रतिमाग्रे आरात्रिकमङ्गलप्रदीपः सृष्ट्योत्तार्यते, न तु संहारेण, पूर्वाचार्यप्रणीतग्रन्थमध्ये कानि संहारोत्तारणस्याप्यक्षराणि सन्ति, परमिदानीं श्राद्धविधिजिनप्रभसूरिकृतपूजाप्रकरणयोः सृष्टयैवोत्तारणमुक्तमस्ति, तेन तथैव क्रियते । तदुत्तारणगाथा च-

" मरगयमणिघमियविसा-लथालमाणिक्कमंमियपईवो ।
न्हवणयरकरुक्खित्तो, भमउ जिणाऽऽरत्तियं तुम्हं " ॥४४॥

ही० ४ प्रका० । (चैत्यायतनं कारितवत्या निर्ग्रन्थ्याः ज्ञाताचारायां वक्तव्यं 'सयाचार' शब्दे अस्मिन्नेव भागे ७१८ पृष्ठे वक्तम्) (गामशब्दे अस्मिन्नेव भागे ८६८ पृष्ठे तद्विवेके जिनप्रतिमानां ग्रावग्रामत्वम्) (भरते चतुरशीतिजिनप्रतिमाः ' जिनपडिमा ' शब्दे वक्ष्यन्ते)

(२६) प्रकीर्णकरूपा वार्त्ताः । चतुर्विंशतिकापट्टविचारः-

चउवीसवट्टयाई, पमिमा उ जिणाण केइ वारिंति ।
तं पि ण जुत्तं जम्हा, एए दोसा पसज्जंति ॥१॥

चतुर्विंशतिपट्टकादौ, आदिशब्दाज्जिनत्रयादिपरिग्रहः । प्रतिमा जिनप्रतिकृतीः, जिनानां तीर्थकृतां, केऽपि, न सर्वे । वारयन्ति निषेधयन्ति, नैताः तैः क्रियन्त इत्यर्थः । तदपि, न केवलं पूर्वोक्तमित्यपेरर्थः; नेति निषेधे , युक्तं सङ्गतं, यस्मादेते वक्ष्यमाणाः, दोषा दूषणानि, प्रसज्यन्ते भवन्तीति गाथार्थः ॥१॥

तानेवाह-

पुव्वायरणाभंगो, जिणाण आसायणा विपमिवत्ती ।
सच्छाभंगो मुद्धा-ण होंति एमाइया दोसा ॥ २ ॥

पूर्वाचरणाभङ्गः-वृद्धोः काजादियं प्रवृत्तिस्तस्या विनाशः,जिनानां सर्वज्ञानाम्, आशातना पूर्वकथितप्रकारेण विप्रतिपत्तिर्विरोध । एको भणति-मदीया श्रेष्ठा प्रतिष्ठा; अन्यश्च मदीयेत्येवं लक्षणा । श्रद्धाभङ्गो भक्तिनाशश्च, मुग्धानां मन्दमतीनाम्; तेह्येवमध्यवस्यन्ति-हा किमस्माभिर्मन्दभाग्यैर्विधिमजानद्भिरेवं प्रतिष्ठा कारितेति । भवन्ति जायन्ते, एवमादय उक्तप्रकारादयः, आदिग्रहणात् तद्बहुमानपूजाद्यभावाख्याः । चकारोऽत्र प्राकृतात्लुप्तो द्रष्टव्य इति गाथार्थः ॥२॥

सूत्रेणैव संबद्धां गाथामाह-

किंचऽत्थ अत्थि जुत्ती, वि पयमहरिभद्दसूरिवयणाओ ।
तं भणणं तिविहा खलु, होइ पइट्ठा जिणिंदाणं ॥ ३ ॥

किञ्चेत्यभ्युच्चये,अस्ति विद्यते,अत्र चतुर्विंशतिपट्टकादिकरणे, युक्तिरपि घटमानवाक्यमपि,न केवलमादरणेत्यपिशब्दार्थः । प्रकटहरिभद्रसूरिवचनात् प्रसिद्धहरिभद्राभिधानाचार्यभणनात्;तदेवार्थत आह-तत्पुनर्भणनमिदं वक्ष्यमाणम्-त्रिविधा त्रिप्रकारा,खलुर्वाक्यालङ्कारे,भवति, प्रतिमाप्रतिष्ठा जिनगुणारोपलक्षणा, जिनेन्द्राणां मुनीशानामिति गाथार्थः ॥३॥

तदेव त्रैविध्यमाह-

पढमा वत्तिपइट्ठा, खेत्तपइट्ठा पुणो भवे बीया ।
तइया महापइट्ठा, तासिं वक्खाणमेवं तु ॥ ४ ॥

प्रथमाऽऽद्या, व्यक्तिप्रतिष्ठा,क्षेत्रप्रतिष्ठा पुनर्भवेद् द्वितीया,महाप्रतिष्ठा तृतीया,तासां प्रतिष्ठानां व्याख्यानं विवरणम्,एवं वक्ष्यमाणप्रकारमेव, तुरेवकारार्थः, स च दर्शित इति गाथार्थः ॥४॥

तदेव गाथाद्वयेनाऽऽह-

हवति विसेसो एग-स्स जा उ पमिमा भवे जिणिंदस्स ।
खेत्ते भरहे उसभा-इयाण सव्वाण बीया उ ॥ ५ ॥
सव्वेसु वि खेत्तेसुं, जित्तियमित्ता भवंति तित्थयरा ।
सत्तरसयसंखाए, महापइट्ठा इमा भणिया ॥ ६ ॥

सुगमे । यत एवम् अत उक्तिप्रत्युक्तिगाथामाह-

तो णज्जइ चउवीस-इयाएँ करणं अह विभिन्नकरणे वि ।
सहलं हविज्ज सच्चं, वित्ताइअभावकरणेव ॥ ७ ॥

तस्माद् ज्ञायते चतुर्विंशतिपट्टकादेः करणं विधानम्, आदिशब्दात् शेषप्रतिष्ठाग्रहः । तिकारवकारौ अत्र प्राकृतलक्षणेन लुप्तौ । अथेति पराभिप्रायदर्शकः, तेन चतुर्विंशतिपट्टकरणं, विभिन्नकरणेऽपि पृथक् निष्पादनेऽपि, न केवलमेकत्र विधानेऽपि, इत्यपिशब्दार्थः । सफलं चारितार्थं भवेत्, सत्यमवितथं, किं तु वित्ताद्यभावात् द्रव्यापरिपूर्णात्, आदिशब्दात्कस्यचिदेव समाधानादिपरिग्रहः, करणं विधानम्, एवमुक्तप्रकारेण, अनुस्वारश्चात्र लुप्तो दृश्यः, पूर्वोक्तार्थसंवादस्तु उक्तषोडशाख्यप्रकरणोक्तश्लोकैरेभिर्बोद्धव्यः-

"व्यक्त्याख्या खल्वेका, क्षेत्राख्या चापरा महाख्या च ।
यस्तीर्थकृत् यदा किल, तस्य तदाऽऽद्येति समयविदः ॥२॥
ऋषभाद्यानां तु तथा, सर्वेषामेव मध्यमा ज्ञेया ।
सप्तत्यधिकशतस्य तु, चरिमेह महाप्रतिष्ठेति "॥ ३ ॥
"भावरसेन्द्रात्तु ततो, महोदयाद् जीवतास्वरूपस्य ।
कालेन भवति परमा-ऽप्रतिबद्धा सिद्धकाञ्चनता ॥८॥
वचनानलक्रियातः, कर्मेन्धनदाहतो यतश्चैषा ॥
इतिकर्त्तव्यतयाऽतः, सफलैषाऽप्यत्र भावविधौ " ॥ ६ ॥

इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

अत्रैवार्थे अन्यमतमुत्क्षिप्य परिहरन्नाह—

जं पि अहरुत्तरेणं, करणा आसायणं भणंतऽन्ने ।
तं पि न जुत्तं सव्वे, तुल्लगुणा जेण तित्थयरा ॥ ८ ॥

यदपि अधरोत्तरेण आधाराधेयरूपेण,करणाद्विधानात्,आशातनां ज्ञानादिश्रुटिरूपां, भणन्ति वदन्त्यन्येऽपरे, तदपि न केवलं पूर्वोक्तं, नेति निषेधे, युक्तं सङ्गतं, यस्मात्सर्वे समस्ताः, तुल्य-गुणा अहीनातिरिक्तगुणाः, तीर्थकराः सर्वज्ञाः । सर्वज्ञप्रतिमाकरणे तु विप्रतिपत्तिरेव नास्त्यतो न तत्करणं प्रति विचार इति गाथार्थः ॥ ८ ॥

एवं स्थिते जीवोपदेशमाह-

मइमोहं ता मा कुण-सु जीव ! वंदसु जिणिंदपडिमा उ ।
जह तह पइट्ठिया उ, इच्छंतो सासयं सोक्खं ॥९॥

प्रकटार्थो । नवरं शाश्वतसौख्यं निर्वाणसातमिति गाथार्थः । चतुर्विंशतिपट्टकादिविचारः समाप्तः । जीवा० ८ अधि० ।

(चौरहृतचैत्यद्रव्यं क्रीतं न कल्पते) पुनरन्यथा परः प्रश्नयति—

चेइयदव्वं विभवा, करेज्ज कोई नरो सयट्ठाए ।
समणं वा सोवहियं, विक्केज्जा संजयट्ठाए ॥६१॥

चैत्यद्रव्यं चौराः समुदायेनापहृत्य तन्मध्ये कश्चिन्नर आत्मीयेन भागेन स्वयमात्मनोऽर्थाय मोदकादि कुर्यात्, कृत्वा च संयतानां दद्यात् । यो वा संयतार्थाय श्रमणं सोपधिकं विक्रीणीयात्, विक्रीय च तत्प्रासुकं वस्त्रादि संयतेभ्यो दद्यात् ।

एयारिसम्मि दव्वे, समणाणं किं णु कप्पई घेत्तुं ।
चेइयदव्वेण कयं, मोल्लेण व जं सुविहियाणं ॥६२॥
नेणपामिच्चा लोए, विगरहिया उत्तरे किमंग ! पुणो ।
चेइयजइपडिणीए, जो गेण्हइ सो वि हु तहेव ॥६४॥

एतादृशेन द्रव्येण,गाथायां सप्तमी तृतीयार्थे,यत् आत्मार्थं कृतं तत् श्रमणानां किं नु ग्रहीतुं कल्पते ? । सूरिराह-यत् चैत्यद्रव्येण, यच्च वा सुविहितानां मूल्येनात्मार्थं कृतं, तद्दीयमानं न कल्पते । किं कारणमिति चेत् ?, उच्यते-स्तेनानीतस्य प्रतीच्छा प्रतिग्रहणं, लोकेऽपि गर्हिता, किमङ्ग ! पुनरुत्तरे,तत्र सुतरां गर्हिता, यतश्चैत्ययतिप्रत्यनीके चैत्ययतिप्रत्यनीकस्य हस्तात् यो गृह्णाति, सोऽपि, हु निश्चितं, तथैव चैत्ययतिप्रत्यनीक एव । व्य० ६ उ० । (जिनप्रातिहार्याणि स्वस्थाने)

(३०) व्यन्तरायतनम्—

व्यन्तरायतने, यथा राजगृहे गुणशिलकम् । नि० १ वर्ग । स० । चम्पानगर्यां बहिः पूर्वस्मिन् पूर्णभद्रम् । नि० १ वर्ग । ज्ञा० । सू० प्र० । चं० प्र० । विपा० । आमलकल्पायामाम्रशालवनम् । "आमलकप्पाए णयरीए दाहिणपुरच्छिमे अंबसालवणे चेइए । " चैत्यं संज्ञाशब्दत्वाद्देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धं, ततस्तदाश्रयभूतं यद् देवताया गृहं, तदप्युपचाराच्चैत्यं, तच्चेह व्यन्तरायतनं द्रष्टव्यं, न तु भगवतामर्हतामायतनम् । रा० ।

तद्वर्णकश्चैवम्-

चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरच्छिमे दिसिभाए पुण्णभद्दे णामं चेइए होत्था । चिराईए पुव्वपुरिसपण्णत्ते पोराणे सद्दिए वित्तिए (कित्तिए)णायए सच्छत्ते सज्झए सघंटे सपडाग-पडागाइपडागमंडिए सलोमहत्थे कयवेयद्दिए लाउल्लोइयमहिए गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितले उवचियचंदणकलसे चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभाए आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावे पंचवण्णसरस-सुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्क-धूवमघमघंतगंधुद्धयाभिरामे सुगंधवरगंधगंधिए गंधवट्टिभूए णडणट्टगजल्लमल्लमुट्ठियवेलंबयपवगकहगलासकआइ-क्खगलंखमंखतूणइल्लतुंबवीणियभुयगमागहपरिगए बहुजणजाणवयस्स विस्सुयकित्तिए बहुजणस्स आहुस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे दिव्वे सच्चे सच्चोवाए सन्निहियपाडिहेरे जागसहस्सभागपडिच्छए बहुजणो अच्चेइ आगम्म पुण्णभद्दं चेइयं, से णं पुण्णभद्दे चेइए एक्केणं महया वणसंडेणं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ते ॥

चम्पायां नगर्याम्, (उत्तरपुरच्छिम त्ति) उत्तरपौरस्त्ये, उत्तरपूर्वायामित्यर्थः । (दिसिभाए त्ति) दिग्भागे, पूर्णभद्रं नाम चैत्यं व्यन्तरायतनम् (होत्थेत्ति) अभवत् । (चिराईए पुव्वपुरिसपण्णत्ते) चिरं चिरकालम्, आदिर्निवेशो यस्य तच्चिरादिकम् । अत एव पूर्वपुरुषैरतीतनरैः प्रज्ञप्तमुपादेयतया प्रकाशितं पूर्वपुरुषप्रज्ञप्तम् । (पोराणे त्ति) चिरादिकत्वात्पुरातनं (सद्दिये त्ति) शब्दप्रसिद्धः स संजातो यस्य तच्छब्दितम् । (वित्तिए त्ति) वित्तं द्रव्यं तदस्ति यस्य तद्वित्तिकं, वृत्तिं वाऽऽश्रितलोकानां ददाति यत्तद्वृत्तिकम् (कित्तिए त्ति) पाठान्तरं तत्र जनेन कीर्तितं, समुत्कीर्तितं वा (णायए त्ति) न्यायनिर्णायकत्वात्

न्यायज्ञः । तथा ज्ञातसामर्थ्यमनुभूतं तत्प्रसादेन लोकेनेति । सच्छत्रं सध्वजं सघण्टमिति व्यक्तम् (सपडागपडागाइपडागमंडिए) सह पताकया वर्त्तत इति सपताकं, तत्र तदेकां पताकामतिक्रम्य या पताका सा अतिपताका, तया मण्डितं यत्तत्तथा । वाचनान्तरे-(सपडाए पडागाइपडागमंडिए त्ति)(सलोमहत्थे) लोममयप्रमार्जनकयुक्तम् (कयवेयद्दिए) कृतवितर्दिकं, रचितवेदिकम् । (लाउल्लोइयमहिए)"लाइयं" यद् भूमेः छगणादिनोपलेपनम् । (उल्लोइयं) कुड्यमालानां सेटिकादिभिः संमृष्टीकरणं, ततस्ताभ्यां महितमिव महितं पूजितं यत्तत्तथा । (गोसीससरसरत्तचंदणदद्दरदिण्णपंचंगुलितले) गोशीर्षेण सरसरक्तचन्दनेन च दर्दरेण बहुलेन चपेटाप्रकारेण वा दत्ताः पञ्चाङ्गुलहस्तका यत्र तत्तथा (उवचियचंदणकलसे) उपचिता निवेशिताः चन्दनकलशा मङ्गलघटा यत्र तत्तथा । (चंदणघडसुकयतोरणपडिदुवारदेसभाए) चन्दनघटाश्च सुष्ठु कृततोरणानि च द्वारदेशभागं प्रति यस्मिँस्तच्चन्दनघटं सुकृततोरणप्रतिद्वारदेशभागं, देशभागाश्च देशा एव । (आसत्तोसत्तविउलवट्टवग्घारियमल्लदामकलावे) आसक्तो भूमौ संबद्धः, उत्सक्त उपरि संबद्धः विपुलो विस्तीर्णः वृत्तो वर्तुलः (वग्घारिओ त्ति) प्रलम्बमानः माल्यदामकलापः पुष्पमालासमूहो यत्र तत्तथेति (पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुप्फपुंजोवयारकलिए) पञ्चवर्णेन सरसेन सुरभिणा मुक्तेन क्षिप्तेन पुष्पपुञ्जलक्षणेनोपचारेण पूजया कलितं यत्तत्तथा (कालागुरुपवरकुंदुरुक्कतुरुक्कधूवमघमघंतगंधुद्धुयाभिरामे) कालागुरुप्रभृतीनां धूपानां यो मघमघायमानो गन्ध उद्भूत उद्भूतस्तेनाभिरामं यत्तत्तथा । तत्र (कुंदुरुक्कं ति) चीडा (तुरुक्कं ति) सिल्हकं (सुगंधवरगंधगंधिए) सुगन्धा ये वरगन्धाः प्रवरवासास्तेषां गन्धो यत्रास्ति तत्तथा । (गंधवट्टिभूए) सौरभ्यातिशेषाद्गन्धद्रव्यगुटिकाकल्पमित्यर्थः । " नमनट्टेत्यादि " पूर्ववन्नवरमिह-' भुयगा ' भुजङ्गाः, भोगिन इत्यर्थः । भोजका वा तदर्चका मागधा भट्टा इति । (बहुजणजाणवयस्स विस्सुयकित्तिए) बहोर्जनस्य पौरस्य जानपदस्य च जनपदभवलोकस्य विश्रुतकीर्तिकं प्रतीतख्यातिकम् । (बहुजणस्स आहुस्स त्ति) आहितुर्दातुः । क्वचिदिदं न दृश्यते । (आहुणिज्जे त्ति) आहवनीयं सम्प्रदानभूतम् (पाहुणिज्जे त्ति) प्रकर्षेण आहवनीयम् (अच्चणिज्जे) चन्दनगन्धादिभिः (वंदणिज्जे) स्तुतिभिः । (नमंसणिज्जे) प्रणामतः (पूयणिज्जे) पुष्पैः (सक्कारणिज्जे) वस्त्रैः (सम्माणणिज्जे) बहुमानविषयतया (कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे) कल्याणमित्यादि बुद्ध्या विनयेन पर्युपासनीयं, तत्र कल्याणमर्थहेतुर्मङ्गलमनर्थप्रतिघातहेतुः, दैवतं देवः, चैत्यमिष्टदेवताप्रतिमादि दिव्यं प्रधानं (सच्चे) सत्यं, सत्यादेशत्वात् (सच्चोवाए) सत्याभिलाषं सत्यसेवं, सेवायाः सफलीकरणात् (सण्णिहियपाडिहेरे) विहितदेवताप्रातिहार्यम् । (जागसहस्सभागपडिच्छए) यागाः पूजाविशेषाः, ब्राह्मणप्रसिद्धाः, तत्सहस्राणां भागमंशं प्रतीच्छति अभ्यर्थत्वात् यत्तत्तथा । वाचनान्तरे-(जागभागदायसाहस्सपडिच्छए) यागाः पूजाविशेषाः, भागा विंशतिभागादयो, दायाः सामान्यदानानि, एषां सहस्राणि प्रतीच्छति यत्तत्तथा । " बहुजणो " इत्यादि सुगमं, नवरम्-" पुणरवि चेइयं " इत्यत्र द्विर्वचनं भक्तिसंभ्रमविवक्षयेति ।

(सव्वओ समंता इति) सर्वतः सर्वदिक्षु, समन्ताद्विदिक्षु । औ० । स्वनामख्याते सन्निवेशविशेषे, यत्र पूर्वभवे भगवान् वीरस्वामी, अग्न्याद्यो नाम्ना जातः । आ० चू० १ अ० । आ० म० । ग्रामादिप्रसिद्धे महावृक्षे, जनानां सभास्थतरौ, चिताचिह्ने, जनसभायां, यज्ञस्थाने, जनानां विश्रामस्थाने च । वाच० । क्षेत्रप्रत्युपेक्षणायाम्, वृ० १ उ० ।

जिनालये जिनदृष्टौ स्वस्य तिलके क्रियमाणे किं पटान्तरं क्रियते, न वेति प्रश्ने, उत्तरम्-अत्र पटान्तरं विना तिलके क्रियमाणे किं पटान्तरं क्रियते । ६६ प्र० । सेन० १ उल्ला० ।

जेसलमेरुनगरे मेदिनीकूट्टे चोपाश्रयमध्ये श्रीहीरविजयसूरिप्रतिमाया मस्तकस्योपरि श्रीवीरप्रतिमाऽस्ति, तस्मात्समुपाश्रयं केचन चैत्यं कथयन्ति, तत्र किमुत्तरमिति प्रश्ने-उत्तरम्-यथा श्राद्धानां गृहस्य जिनप्रतिमासत्त्वेऽपि न चैत्यत्वं तथाऽत्रापीति ज्ञेयम् । ३५ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

श्रीहीरविजयसूरीश्वरप्रसादितद्वादशजल्पपट्टकमध्ये अवन्दनीयचैत्यत्रयं विनाऽन्येषां सर्वेषां चैत्यानि वन्दनपूजनयोग्यानि कथितानि सन्ति, किन्तु केचन तन्निषेधं ब्रुवन्तः श्रूयन्ते, तत्कथमिति प्रश्ने, उत्तरम्-केवलश्राद्धप्रतिष्ठितचैत्य१-द्रव्यलिङ्गिद्रव्यनिष्पन्नचैत्य२-दिगम्बरचैत्यानि ३ विना सर्वेषां चैत्यानि वन्दनार्हाणि पूजार्हाणि च ज्ञेयानि, अथ च पूर्वोक्तानि निषिद्धान्यपि चैत्यानि साधुवासक्षेपेण वन्दनपूजनयोग्यानि भवन्तीति, अन्यथा परपक्षकृतग्रन्था अप्यमान्या भवेयुः । तथा भव्यपार्श्वस्थादिदीक्षिताः साधवः केवलिनश्चावन्दनीयाः स्युः, तथा चासमञ्जसमापद्येत, यतस्तत्कृतस्तोत्रादिग्रन्था आत्मीयपूर्वाचार्यैरङ्गीकृताः सन्ति, पार्श्वस्थादिदीक्षितसाधवश्च वन्दनीयतया शास्त्रे प्रोक्ताः सन्तीति स्वयमेव ध्येयमिति । १०४ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

चेइयकम-चैत्यकृत-न० । वृक्षस्याधो व्यन्तरादिस्थानके, आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ० । स्वाभिमतचैत्यालयसंपादने, प्रति० ।

चेइयखंभ-चैत्यस्तम्भ-पुं० । जिनसक्थ्याश्रयतनरूपे स्तम्भे, यथा सुधर्मायां सभायां माणवको नाम चैत्यस्तम्भः, तत्र वज्रमयेषु सिक्ककेषु वज्रमयेषु समुद्गकेषु बहूनि जिनसक्थीनि निक्षिप्तानि तिष्ठन्ति । सू० प्र० १८ पाहु० । रा० । जी० ।

चेइयजत्ता-चैत्ययात्रा-स्त्री० । शृङ्गारितप्रवररथे जिनप्रतिमां संस्थाप्य समहं स्नात्रपूजादिपुरस्सरं समस्तनगरे पूजाप्रवर्तनादिरूपायां रथयात्रायाम्, ध० ३ अधि० । स्था० । (सा च 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे दर्शिता)

चेइयट्ठ-चैत्यार्थ-पुं० । जिनप्रतिमानां प्रयोजने, प्रश्न० ३ सम्ब० द्वार ।

चेइयणुइ-चैत्यनुति-स्त्री० । देववन्दने, ध० ३ अधि० ।

चेइयथूभ-चैत्यस्तूप-पुं० । सिद्धायतनस्य प्रत्यासन्ने स्तूपे, चित्ताह्लादके च । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

तासि णं मणिपेढियाणं उप्पि पत्तेयं पत्तेयं चेइयथूभा पण्णत्ता । तेणं चेतियथूभा दो जोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं, दो जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं सेया संखंककुंददगरयअमतमहितफेणपुंजसन्निकासा सव्वरयणामया अच्छा० जाव पडिरूवा, तेसि णं चेइयथूभाणं उप्पि अट्ठट्ठ-

मंगलगा बहुकिण्हचामरज्भया पमत्ता छत्तातिच्छत्ता। तेसि णं चेतियथूभाणं चउदिसिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। ताओ णं मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमयाओ जाव तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चत्तारि जिणपडिमाओ जिणुस्सेहपमाणमित्ताओ पलियंकणिसण्णाओ थूभाभिमुहीओ सन्निक्खित्ताओ चिट्ठंति। तं जहा–उसभवद्धमाणचंदाणणवारिसेणा। तेसि णं चेतियथूभाणं पुरओ तिदिसिं पत्तेयं पत्तेयं मणिपेढियाओ पण्णत्ताओ। (जी०) जेणेव चेइयथूभे तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छंतित्ता लोमहत्थगं गेण्हंति, गेण्हंतित्ता चेइयथूभं लोमहत्थएणं पमज्जंति, पमज्जंतित्ता दिव्वाए उदगधाराए सरसेणं पुप्फारुहणं आसत्तोसत्त० जाव धूवं दलयंति। जी० ३ प्रति०।

चेइयदव्व–चैत्यद्रव्य–न०। जिनद्रव्ये, जिनार्थं सङ्गृहीते द्रव्ये, दर्श०।

अधुना जिनद्रव्यभक्षणादिद्वारं प्रतिपादयन् गाथाचतुष्टयमाह–

जक्खेइ जो उवेक्खेइ, जिणदव्वं तु सावओ।
पण्णाहीणो भवे जो उ, लिप्पई पावकम्मुणा ॥ ५४ ॥
आयाणं जो भंजइ, पडिवन्नं धणं ण देइ देवस्स।
नस्संतं समुवेक्खइ, सो वि हु परिभमइ संसारे ॥ ५५ ॥
चेइयदव्वं साहारणं च जो दुहइ मोहियमईओ।
धम्मं व सो न जाणइ, अहवा बद्धाउओ नरए ॥ ५६ ॥
चेइयदव्वविणासे, तद्दव्वविणासणे दुविहभेए।
साहू उवेक्खमाणो, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥ ५७ ॥

भक्षयति यः स्वयमात्मसात्करोति, उपेक्षते अन्येन विलुप्यमानं, जिनद्रव्यम्, तुशब्दः समुच्चयार्थः। ततः श्रावकोऽन्यो वा यथा भद्रकप्रत्यनीकादिः, प्रज्ञाहीनो भवेद् यः, तुशब्दोऽपिशब्दार्थः। ततः प्रज्ञाहीनतया जिनभवनादौ प्रवर्तमानो यदि द्रव्यं प्रणश्यति, तदा सोऽपि लिप्यते श्लिष्यते पापकर्मणा, पातकेनेत्यर्थः। ततः सम्यगागमविधिं विज्ञाय सर्वत्र प्रवर्तितव्यम्। तथाऽऽदानं राजाऽमात्यादिना विहितमाभाव्यं, यो भनक्ति विलुम्पति, प्रतिपन्नं चाभियमेनोपेतम्, इतरथा वा पूजादिनिमित्तम्–यथाऽहमेतद् दास्यामि, धनं द्रव्यं, तस्य वा ऽदीयमाने सति सामर्थ्ये, समुपेक्षते–किमेभिः स्वजनादिभिः प्रकोपितैरित्याशयवानुपेक्षां विधत्ते, सोऽपि, न केवलं पूर्वोक्ताः, हुशब्दस्यैवकारार्थत्वादसावपि, जिनाज्ञाऽकरणात्, परिभ्रमति पर्यटति संसारे, तथा चैत्यद्रव्यं, साधारणं च सर्वसामान्यं द्रुह्यति मोहितमतिकः, धर्मं वा स न जानाति, बद्धायुष्को वा नरके, चैत्यद्रव्यविनाशे प्रतिमानिष्पत्तिनिमित्तं यत् तदुपचाराच्चैत्यद्रव्यं, तद्विनश्यति। तद्द्रव्यविनाशने द्विभेद इति, तस्य चैत्यसंबन्धित्वेन द्रव्यं तद्द्रव्यं पूजादिकसकलप्रयोजनयोग्यं, परिभुक्तनिर्माल्यद्रव्यं च, तस्मिन् द्विभेदेऽपि, विनश्यति सति, साधुरपि सर्वसम्बरतः सामर्थ्यवानुपेक्षां कुर्वन्ननन्तसंसारिको भणितः प्रतिपादित आगमे। यत उक्तम्–"सचरित्तऽचरित्तीणं, पयं सव्वेसि कज्जं ति।" इति गाथाचतुष्कसंक्षेपार्थः ॥ ५७ ॥ व्यासार्थं कथानकादवसेयम्। दर्श० १ तत्त्व। द्वा०। (तच्च कथानकं 'जिणदव्व' शब्दे वक्ष्यते)

जिनद्रव्योत्पादवर्णनम्–

नियथंतरायमगणिय–मेमे जंपंति कुगहगहगहिया।
जिणपडिमाणं पूया, पुप्फाईएहिँ कायव्वा ॥ १ ॥
वत्थाईएहिँ नो पुण, जेणं तद्दव्वभक्खणे को वि।
पडिही भवंधकूवे, अम्हनिमित्तं इयमईए ॥ २ ॥

निजकान्तरायमगणित्वाऽविभाव्य, एके केचन, भकारोऽलाक्षणिकः, जल्पन्ति वदन्ति। अयमाशयः–एवं भणन्तं महदन्तरायो भवति। किंविशिष्टाः?, कुग्रहग्रहग्रहीता अबोधिपिशाचस्वीकृताः, जिनप्रतिमानां सर्वज्ञप्रतिकृतीनां, पुष्पादिभिः कुसुमवासादिभिः, पूजा, कर्तव्या विधेया, वस्त्रादिकैर्वसनालङ्कारादिभिः, नो नैव पुनः, येन तद्द्रव्यभक्षणे वस्त्रादिविनाशने, कोऽप्यनिर्दिष्टनामा, पतिष्यति भवान्धकूपे संसारविषमावटे, अस्मन्निमित्तमस्मत्कारणम्, इतिमत्या अनेन बोधेनेति गाथाद्वयार्थः ॥ १–२ ॥

एतन्निराकरणार्थं गाथाद्वयमाह–

आगममग्गुत्तिन्नो, इय बोहा जेण सुविहियजणो वि।
बहु मन्नइ सक्कयं, वत्थाइपूयणं बहुहा ॥ ३ ॥
सक्कारवत्तियाई–वयणेणं सो उ वत्थमाईहिं।
भणिओ तो तक्करणं, तहा य ववहारउत्तं च ॥ ४ ॥

आगममार्गोत्तीर्णः सिद्धः तपोऽविभ्रष्ट इत्येवं बोधात् येन सुविहितजनोऽपि सुसाधुलोकोऽपि, न केवलमन्य इत्यपेरर्थः। बहु मनुतेऽनुमोदते, श्राद्धकृतं श्रावकविहितं, वस्त्रादिपूजनं वसनालङ्काराद्यभ्यर्चनं, बहुधाऽनेकधा ॥ ३ ॥ सत्कारप्रत्ययमित्यादिवचनेन, स पुनः सत्कारो, वस्त्रादिभिः, मकारः पूर्ववत्, भणित उक्तः। तथा चोक्तम्–"मल्लाइएहिँ पूया, सक्कारो पवरवत्थमाईहिं। अन्ने विवज्जओ इह, दुहा वि दव्वत्थओ एसो" ॥ १ ॥ ततस्तत्करणं सत्कारविधानं, तथा च परं व्यवहारोक्तं च छेदग्रन्थभणितमिति गाथाद्वयार्थः ॥ ४ ॥

तदेवाह–

लक्खणजुत्ता पडिमा, पासाइया समत्तलंकारा।
पल्हायइ जह य मणो, तह निज्जरणो वियाणाहि ॥ ५ ॥

लक्षणयुक्ता परिपूर्णाङ्गादिसहिता, प्रासादिका द्रष्टृणामतिप्रमोदजनिका, समस्तालङ्कारा निःशेषभूषणा, प्रह्लादयति सुखयति, यथा येन प्रकारेण, मनः, तथा तेन प्रकारेण, निर्जरा कर्मनिर्जरालक्षणा, ओ इति निपातः पादपूरणार्थो, विजानीहि बुध्यस्व, समस्तालङ्कारभणनाद्वस्त्रमतव्यवच्छेद इति गाथार्थः ॥ ५ ॥

सूत्रेणैव विहितपातनां गाथामाह–

किं च जइ एव भीरू, तुम्हे ता मा करेह चेइहरं।
पडिमाओ पूयं पि हु, होहिंति जओ इमे दोसा ॥ ६ ॥

किञ्चाऽभ्युच्चये, यद्येवमित्थमस्मन्निमित्तं कर्मबन्धो मा भवत्विति भीरवः, (तुम्हे त्ति) यूयं, ततो, मेति निषेधे, कुरुत विधत्त, चैत्यगृहं जिनमन्दिरम्, प्रतिमाः

जिनबिम्बानि, पूजामपि सपर्यामपि, 'हुः' पूरणे, भविष्यन्ति उत्पत्स्यन्ते, यतो यस्मात्, अमी वक्ष्यमाणाः, दोषा दूषणानि, इति गाथार्थः ॥ ६ ॥

तानेवाऽऽह-

भज्जज्ज व अवणेज्ज व, कोई तुम्हाण कम्मबंधो उ।
तम्हा बुज्झह पुन्नं, पावं वा नियय परिणामा ॥ ७ ॥

भञ्जयेद् विनाशयेद् वाऽपनयेत् स्थानान्तरे कुर्यात्; वाशब्दौ समुच्चयार्थौ, उपलक्षणत्वाद् मठादिकं वा तदुपरि विदध्यात्, कोऽप्येकः, ततः (तुम्हाण त्ति) युष्माकं भवतां, कर्म्मबन्ध एव ज्ञानावरणीयाद्युपश्लेषः, तुरेवकारार्थो, भवविभ्रमित्वादिति हृदयम्। तस्माद् बुध्यध्वं जानीत, पुण्यं शुभकर्म्म, पापं तद्विपरीतं, वाशब्दः समुच्चये। निजकपरिणामात् स्वाभिप्रायादिति गाथार्थः ॥ ७ ॥

परिणाममेव व्यक्तीकुर्वन्नाह-

दंतस्स पुन्नमउलं, भक्खंतस्स य पुणो महापावं।
कुसलेयरभावाओ, एवं चिय जिणमढाइसु वि ॥८॥

ददतः प्रयच्छतः, अन्यस्य जिनाय वस्त्रादीति शेषः। पुण्यं शुभमतुलमनन्यसदृशं, भक्षयतश्च पुनरश्नतो, महापापं गुरुकिल्बिषम्, कुशलेतरभावात् प्रधानेतरान्तःकरणात्, एवमित्थम्, जिनमठादिष्वपि सर्वज्ञमन्दिरप्रतिमादिकरणादिष्वपीति गाथार्थः॥८॥

व्यतिरेकमाह—

जइ पुण तह कायव्वं, जह दव्वं नेव होइ चेइहरे।
ता कह सहलं वयणं, एयं सिद्धंतसुपसिद्धं ॥६॥

यदि पुनस्तथा कर्त्तव्यं यथा नैव भवति द्रव्यं चैत्यगृहे, ततः कथं सफलं चरितार्थं वचनम्, एतत्-उपदेशपदपठितम्; अर्थतः सिद्धान्तसुप्रसिद्धमिति गाथासंक्षेपार्थः ॥ ६ ॥

तदेव गाथात्रयेणाऽऽह-

जिणपवयणविड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं।
रक्खंतो जिणदव्वं, परित्तसंसारिओ होइ ॥ १० ॥
जिणपवयणविड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं।
वड्ढंतो जिणदव्वं, तित्थयरत्ताइयं लहइ ॥ ११ ॥
जिणपवयणविड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं।
भक्खंतो जिणदव्वं, अणंतसंसारिओ होइ ॥ १२ ॥

सुगमाः। अयमाशयः-स्वमते जिनद्रव्याभावात्कथं रक्षणवर्द्धनभक्षणसंभवः। तथा तत्रैव दर्शनशुद्धिप्रथमतत्त्वे-

चेइयदव्वं साहा-रणं च जो दुहइ मोहियमईओ।
धम्मं च सो न जाणइ, अहवा बद्धाउओ नरए ॥ ५६ ॥
चेइयदव्वविणासे, तद्दव्वविणासणे दुविहभेए।
साहू उविक्खमाणो, अणंतसंसारिओ भणिओ ॥५७॥"

तथा पञ्चकल्पे भणितम्-" जया पुण पुव्वपदत्ताणि खेत्तहिरण्णाणि दुप्पयचउप्पयाई जइ भंगं वा वेडं वा चेइयाणं लिंगत्था वा चेइयघराओ जिणदव्वोऽयं ति रायभडाई वा भेदेज्जा, तया सव्वनियमसंपउत्तो वि साहू जइ न मोएइ, तया तस्स सुद्धी न हवइ, आसायणा य भवइ"। एतच्च कथं सार्थकं, किं च-कृतकत्वाद्देवगृहभङ्गकाले तद्द्रव्याभावात्कथं पुनरुद्धारः क्रियते इति ॥ १२ ॥

सूत्रसंबद्धां गाथामाह—

अन्नं चाऽसुहतरयं, कुणंतओ वि हु सुहाओ भावाओ।
पावइ पुण्णं सल्लु-द्धरो व्व वीरस्स किं तु सुहं ॥१३॥

अन्यच्चापरं चाशुभतरकमतिशयानिष्टं, कुर्वाणो विदधानो, 'हुः' पूरणे, शुभात्प्रशस्तात्, भावादन्तःकरणात्, प्राप्नोति लभते, पुण्यं शुभं, शल्योद्धारवत् श्रवणकीलिकापनेतृवत्, वीरस्य चरमतीर्थकरस्य, किं तु पुनः, शुभं प्रशस्तम्। अयमाशयः-येन कीलिका भगवच्छ्रवणात् निष्कासिता, तेन महती व्यथोत्पादिता, येन तु क्षिप्ता, तेन स्तोकतरा, परं शुभेतराशयादेकस्य स्वर्गोऽपरस्य नरक इति गाथार्थः ॥ १३ ॥

इत्थमवस्थिते जीवोपदेशमाह—

सुपसत्थवत्थकणया- इवत्थुवित्थाररेहिरं पडिमं।
कारावसु देसंतो, रे जिय ! जई महसि मइट्ठं ॥ १४ ॥

सुप्रशस्तानि अतिशयरम्याणि, तानि च तानि वस्त्रकनकादिवस्तूनि च सचामीकराबङ्कारकर्पूरादिद्रव्याणि, तेषां विस्तारः प्रपञ्चस्तेन "रेहिरं ति" देशीभाषया शोभमानां, प्रतिमां जिनबिम्बं, कारय विधापय, दिशन् धर्म्मकथां कुर्व्वन्, रे जीव ! भो आत्मन् ! यदि महसि वाञ्छसि, मत्यर्थं चित्ताऽभिप्रेतम्। अयमाशयः-जिनवस्त्रादिनिवारणान्तरायकर्म्मवशः अभीष्टभावस्तव न भविष्यति, इति गाथार्थः ॥१४॥ जीवा० २८ अधि०।

समर्थः सन् चैत्यद्रव्यग्रामनिवारयन् विसंभोग्यः-

अहुणा चेतिनिमित्तं, जं कायव्वं तगं वोच्छं।
जो देइ चेतियाणं, खेत्तहिरण्णे व गामगावादी ॥
लग्गंतस्स वि जतिणो, तिकरणसोही कहं णु भवे ?।
भण्णति इत्थ विभासा, जो एयाइँ सयं वि मग्गेज्जा ॥
तस्स ण होती सोही, अह कोति हरिज्ज एयाइं।
तत्थ करेंत उवेहं, जा सा भणिता तु तिगरणविसोही ॥
सा य ण होति अभत्ती-ए तस्स तम्हा णिवारेज्जा।
सव्वत्थामेण तहिं, संघेणं होति लग्गियव्वं तु ॥ पं०भा०।

चेइयपरिवाडी-चैत्यपरिपाटी-स्त्री०। जिनयात्राक्रमवर्णने, ध० २ अधि०। कल्प०। (चैत्यपरिपाटीकरणादिमहोत्सवः 'अणुजाण' शब्दे प्रथमभागे ३६७ पृष्ठे उक्तः)

चेइयभत्ति-चैत्यभक्ति-स्त्री०। चैत्यादिभक्तौ, आव० ३ अ०। ('आलंबण' शब्दे द्वितीयभागे ३१२ पृष्ठे विस्तर उक्तः)

चेइयमह-चैत्यमह-पुं०। चैत्यमहोत्सवे, आचा०२श्रु०१ अ०२ उ०।

चेइयरुक्ख-चैत्यवृक्ष-पुं०। वरूपीठवृक्षेषु येषामधस्तात्तीर्थकृतां केवलान्युत्पन्नानि। स०। ('चेइयरुक्खं चलेज्जा' इत्यादि 'मणुस्सलोय' शब्दे वक्ष्यते)

भवनपतीनां दश चैत्यवृक्षाः-

एएसि णं दसविहाणं भवणवासीणं देवाणं दस चेइयरुक्खा पण्णत्ता। तं जहा-
" अस्सत्थसत्तवन्ने, सामलिउंबरसिरीसदहिवन्ने।
वंजुलपलासवप्पा-यए य कणियाररुक्खे य ॥ १ ॥"

असुरकुमारादीनां क्रमेणाश्वत्थादयश्चैत्यवृक्षा ये लिखायतवादिद्वारेषु श्रूयन्ते ।

व्यन्तराणामष्टौ-

एएसि णं अट्ठएहं वाणमंतराणं देवाणं अट्ठ चेइयरुक्खा पएणत्ता । तं जहा-

" कालंबो उ पिसायाणं, वडो जक्खाण चेइयं ।
तुलसी भूयाण भवे, रक्खसाणं च कंडओ ॥ १ ॥
असोगो किंनराणं च, किंपुरिसाणं च चंपओ ।
नागरुक्खो भुयंगाणं, गंधव्वाणं तु तिंदुओ ॥ २ ॥ "

तेषां चैत्यवृक्षाः मणिपीठिकानामुपरिवर्तिनः सर्वरत्नमया उपरि छत्रध्वजादिभिरलङ्कृताः सुधर्मादिसभानामग्रतो ये श्रूयन्ते ते एत इति संभाव्यन्ते । ये तु-" चिंधाइ कलंबझए; तुलस वडे तह य होइ खट्टंगे । आसोएँ चंपए वा, नागे तह तुंदुए चेव " ॥ १ ॥ त्ति । ते चिह्नभूता एतेभ्योऽन्य एवेति " कालंबो उ " इत्यादि श्लोकद्वयं कराठ्यम । स्था० ८ ठा० ।

वाणमन्तराणां चैत्यवृक्षमानं, वर्णकश्चैवम्-

वाणमंतराणं देवाणं चेइयरुक्खा अट्ठ जोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं पएणत्ता । स० १ सम० । जी० । तासि णं मणिपेढियाणं उप्पिं पत्तेयं पत्तेयं चेतियरुक्खा पएणत्ता । ते णं चेतियरुक्खा अट्ठजोयणाइं उड्ढं उच्चत्तेणं अट्ठजोयणं उव्वेहेणं दो जोयणाइं खंधा अद्धजोयणं विक्खंभेणं छज्जोयणाइं विडिमा बहुमज्झदेसभाए अट्ठजोयणाइं आयामविक्खंभेणं सातिरेगाइं अट्ठजोयणाइं सव्वग्गेणं पएणत्ताइं । तेसि णं चेतियरुक्खाणं अयमेतारूवे वएणावासे पएणत्ते । तं जहा-वइरामयमूलरययसुपइट्ठियविडिमा रिट्ठामयविपुलकंदा वेरुलियरुचिलक्खंधा सुजायवरजायरूवपढमगविसालसाला णाणामणिरयणविविहसाहप्पसाहवेरुलियपत्ततवणिज्जपत्तवेंटा जंबूणयरत्तमउयसुकुमालपवालपल्लववरंकुरग्गधरा विचित्तमणिरयणसुरभिकुसुमफलभरणमियसाला सच्छाया सप्पभा ससिरिया सउज्जोया अमयरससमरसफला अहियणयणमणणिव्वुतिकरा पासाईया दरिसणिज्जा अभिरूवा पडिरूवा । ते णं चेइयरुक्खा अन्नेहिं बहूहिं तिलयलवयछत्तोवगसिरीससत्तवन्नदहिवन्नलोद्धधवचंदणनीवकुडयकयंबफणसतालतमालपियालपियंगुपारावयरायरुक्खनंदिरुक्खेहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता । ते णं तिलय० जाव नंदिरुक्खा मूलवंतो कंदवंतो० जाव सुरम्मा । ते णं तिलया० जाव नंदिरुक्खा अन्नेहिं बहूहिं पउमलयाहिं० जाव सामलयाहिं सव्वओ समंता संपरिक्खित्ता । ताओ णं पउमलताओ० जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ० जाव पडिरूवाओ । तेसि णं चेतियरुक्खाणं उप्पिं अट्ठट्ठमंगला बहवे कएहचामरज्झया० जाव पडिरूवा । तेसि णं चेतियरुक्खाणं पुरओ पत्तेयं२ मणिपेढियाओ पएणत्ताओ । ताओ मणिपेढियाओ जोयणं आयामविक्खंभेणं अद्धजोयणं बाहल्लेणं सव्वमणिमईओ अच्छाओ० जाव पडिरूवाओ ॥

तेषां च चैत्यवृक्षाणामयमेतावद्रूपो वर्णावासः प्रज्ञप्तः। तद्यथा-"वइरामयेत्यादि । " वज्राणि वज्रमयाणि मूलानि येषां ते वज्रमूलाः, तथा रजता रजतमयी सुप्रतिष्ठिता विडिमा बहुमध्यदेशभागे ऊर्द्ध्वं विनिर्गता शाखा येषां ते रजतसुप्रतिष्ठितविडिमाः, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः समासः। "रिट्ठामय" इत्यादि । रिष्टमयः कन्दः, तथा वैडूर्यो वैडूर्यरत्नमयो रुचिरः स्कन्धो येषां ते तथा, ततः पूर्वपदेन कर्मधारयः समासः । " सुजात " इत्यादि । सुजातं मूलद्रव्यशुद्धं वरं प्रधानं यद् जातरूपं तदात्मका प्रथमका मूलभूता विशाला शाला शाखा येषां ते सुजातवरजातरूपप्रथमकविशालशाखाः। "णाणामणिरयण" इत्यादि । नानामणिरत्नानां नानामणिरत्नात्मिका विविधाः शाखाः प्रशाखा येषां ते तथा, तथा वैडूर्याणि वैडूर्यमयाणि पत्राणि येषां ते तथा, तपनीयानि तपनीयमयानि पत्रवृन्तानि येषां ते तथा, ततः पूर्ववत् पदद्वयमीलनेन कर्मधारयः । जाम्बूनदा जाम्बूनदनामकसुवर्णविशेषमया रक्ता रक्तवर्णा मृदवो मनोज्ञाः सुकुमाराः सुकुमारस्पर्शा ये प्रवाला ईषदुन्मीलितपत्रभावाः, पल्लवाः संजातपरिपूर्णप्रथमपत्रभावरूपाः, वराङ्कुराः प्रथममुद्भिद्यमाना अङ्कुराः, तान् धरन्तीति जाम्बूनदरक्तमृदुसुकुमारप्रवालपल्लवाङ्कुरधराः। क्वचित्पाठः-" जंबूणयरत्तमउय" इत्यादि । तत्र जाम्बूनदानि रत्नानि, मृदूनि अकठिनानि, सुकुमाराणि अकर्कशस्पर्शानि, कोमलानि मनोज्ञानि, प्रवालपल्लवाङ्कुरा यथोदितस्वरूपाः, अग्रशिखराणि च येषां ते तथा । " विचित्तमणिरयण " इत्यादि । विचित्रमणिरत्नानि विचित्रमणिरत्नमयानि यानि सुरभीणि कुसुमानि फलानि च तेषां भरेण नमिता नम्राः शालाः शाखा येषां ते तथा, सती शोभना छाया येषां ते सच्छायाः, तथा सती शोभना प्रभा कान्तिर्येषां ते सत्प्रभाः, अत एव सश्रीकाः; सह उद्द्योतेन वर्तते मणिरत्नानामुद्द्योतभावेन सोद्द्योताः, अमृतरससमरसानि फलानि येषां ते अमृतरससमफलाः। अधिकमतिशयेन नयनमनोनिर्वृतिकराः, "पासाईया " इत्यादि विशेषणचतुष्टयं प्राग्वत् । " ते णं चेइयरुक्खा" इत्यादि । ते चैत्यवृक्षा अन्यैर्बहुभिस्तिलकलवकच्छत्रोपगशिरीषसप्तपर्णदधिपर्णलोध्रकधवचन्दननीपकुटजकदम्बपनसतालतमालप्रियालप्रियङ्गुपारापतराजवृक्षनन्दिवृक्षैः सर्वतः समन्तात् संपरिक्षिप्ताः। " ते णं तिलगा" इत्यादि । ते तिलका यावन्नन्दिवृक्षा मूलवन्तः कन्दवन्त इत्यादि वृक्षवर्णनं प्राग्वत् तावद् वक्तव्यं यावदनेकशकटरथयानशिबिकास्यन्दमानिकाप्रतिमोचनाः सुरम्या इति । "ते णं तिलगा" इत्यादि । ते तिलका यावन्नन्दिवृक्षा अन्याभिर्बहुभिः पद्मलताभिः नागलताभिरशोकलताभिश्चम्पकलताभिश्चूतलताभिर्वनलताभिर्वासन्तिकालताभिरतिमुक्तकलताभिः कुन्दलताभिः श्यामलताभिः सर्वतः समन्तात् सम्परिक्षिप्ताः। " ताओ णं पउमलयाओ० जाव सामलयाओ निच्चं कुसुमियाओ" इत्यादि लतावर्णनं तावद् वक्तव्यं यावत् "पडिरूवाओ" इति । व्याख्या चास्य पूर्ववत् । " तेसि णं " इत्यादि । तेषां चैत्यवृक्षाणामुपरि अष्टावष्टौ मङ्गलकानि बहवः कृष्णचामरध्वजा इत्यादि पूर्ववत्तावद् वक्तव्यं यावद् बहवः सहस्रपत्रहस्तकाः सर्वरत्नमया यावत् प्रतिरू-

पका इति। "तेसि णं" इत्यादि । तेषां चैत्यवृक्षाणां पुरतः प्रत्येकं प्रत्येकं मणिपीठिकाः प्रज्ञप्ताः ताश्च मणिपीठिका योजनमायामविष्कम्भाभ्यामर्द्धयोजनं बाहल्येन सर्वात्मना मणिमय्य अच्छा इत्यादि प्राग्वत् । जी० ३ प्रति० ।

चेइयवंदण-चै(च्य)त्यवन्दन-न०। स्त्री०। चित्तस्य भावाः कर्माणि वा "वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च" ॥५।१।१२३॥ (पाणि०) इति ष्यञि चैत्यानि जिनप्रतिमाः,ता हि चन्द्रकान्तसूर्यकान्तमरकतमुक्ताशैलादिरत्ननिर्मिता अपि चित्तस्य भावेन कर्मणा वा साक्षात्तीर्थकरबुद्धिं जनयन्तीति चैत्यान्यभिधीयन्ते । तेषां वन्दनं स्तवनं कायवाङ्मनःप्रणिधानं चैत्यवन्दनम् । प्रव० १ द्वार । चित्तं प्रस्तावात् प्रशस्तं मनस्तद्भावश्चैत्यं, तद्धेतुत्वाज्जिनबिम्बा अपि चैत्यानि, कारणे कार्योपचारात् । तेषां वन्दना पूर्वोक्तशब्दार्था चैत्यवन्दना ।

उक्तं च-

" चित्तं मणो पसत्थं, तब्भावो चेइय त्ति तज्जणगं ।
जिणपडिमाओ तेसिं, वंदणमभिवायणं तिविहं ॥ १ ॥ "

यद्वा-चितेर्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यम्, तच्च संज्ञाशब्दत्वात् देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धम् । चूर्णौ तु-'चिती' संज्ञाने, काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा संज्ञानमुत्पद्यते । यथा अर्हदादिप्रतिमेति । शेषं प्राग्वत् । ननु भावार्हदादीनामप्येवं वन्दना क्रियते, तत्कथं चैत्यवन्दनेत्युच्यते ? । सत्यम्-प्रायेणास्याश्चैत्याग्रे करणात् ।

तथा च बृहद्भाष्यम्-

"जावजिणप्पमुहाण वि, सव्वेसि वि जइ वि वंदणा तह वि ।
चेइयअग्गे काउं, तीरेई वंदणा तेणं ॥ २ ॥
जिणबिंबाभावे पुण, ठवणा गुरुसक्खिया वि कीरंति ।
चिइवंदण चिय इमा, तत्थ वि परमिट्ठिठवणाओ ॥ ३ ॥
अहवा जत्थ व तत्थ व, पुरओ परिमिट्ठिठवणाओ ।
कीरइ बुहेहिँ एसा, नेया चिइवंदणा तम्हा " ॥ ४ ॥

करणत्रिकेण देवप्रणिधाने, संघा० १ प्रस्ता० ।

विषयसूची-

(१) अधिकारसंग्रहः ।
(२) दश त्रिकाणि ।
(३) नैषेधिकीत्रयम् ।
(४) तत्र भुवनमल्लकथानकम् ।
(५) पूजात्रिकम् ।
(६) भावनाः ।
(७) त्रिदिङ्निरीक्षणवर्जने गन्धारश्रावककथानकम् ।
(८) स्तुत्यक्षराणि ।
(९) मुद्रात्रिकप्ररूपणम् ।
(१०) प्रणिधानम् ।
(११) अभिगमः ।
(१२) चैत्यवन्दनदिक् ।
(१३) अवग्रहः ।
(१४) त्रिविधवन्दना ।
(१५) स्तुतिविचारः ।
(१६) चैत्यवन्दनविधिः ।
(१७) जघन्यवन्दनाविचारः ।
(१८) अपुनर्बन्धकादयोऽधिकारिणः ।
(१९) अधिकारिता ।
(२०) नमस्कारद्वारम् ।
(२१) संपद्द्वारम् ।
(२२) प्रणिपातदण्डके वाराः ।
(२३) चतुर्विंशतिस्तवः ।
(२४) सिद्धस्तुतिः ।
(२५) श्रुतस्य स्तुतिः ।
(२६) वीरस्तुतिः ।
(२७) वैयावृत्त्ये स्तुतयः ।
(२८) द्वादश अधिकाराः ।
(२९) शरणीयद्वारम् ।
(३०) जिनद्वारम् ।
(३१) यो यत्र स्तूयते ।
(३२) येऽधिकारा यत्संमताः स्तुतयः संस्कृतकाव्यानि ।
(३३) षोमश आकाराः ।
(३४) स्तोत्रलक्षणम् ।
(३५) कतिवेलाश्चैत्यानि वन्देत ।
(३६) चैत्यवन्दनकरणविधिः ।
(३७) प्रकीर्णकवार्ताः ।

(१) तद्विधिं विभणिषुरधिकारसङ्ग्रहमाह-
इह च प्रतिदिनानुष्ठेयं चैत्यवन्दनादिकं संघस्याचारविधिं वक्ष्यामीत्युक्तम् । तत्र तावत्-

" साहूण गिहत्थाण य, सव्वाणुट्ठाणमूलमक्खायं ।
चिइवंदणमेव जओ, ता तम्मि वियारणा जुत्ता " ॥ १ ॥

इति वचनात् " सामाइयचिएहिं चि, चउवीसं पुव्वया चेव" इत्यावश्यकचूर्णिवचनाच्च, प्रथमं चैत्यवन्दनाविधिं विभणिषुर्भाष्यकारः शास्त्रमुखापरपर्यायं तद्द्वारगाथाचतुष्टयमाह-

दहतिय १ अहिगमपणगं, २
दुदिसि ३ तिहुग्गह ४ तिहा ड वंदणया ५ ।
पणिवाय ६ नमुक्कारं ७,
वण्णा सोलसयसीयाला ८ ॥ २ ॥

इह सामान्येन साधुश्रावकादिबहुसमानजिनभवनप्रवेशादिसमयविधीयमाननैषेधिक्यादिप्रणिधानपर्यवसानसकलचैत्य - वन्दनाविधानप्रतिपादनप्रधानं त्रिःसंस्थानकनिबद्धं दशत्रिकारूयं प्रथमद्वारम्-(दहतिय त्ति) दशेति दशसंख्यानि त्रिकाणि नैषेधिकीत्रयादिरूपाणि यत्र द्वारे तद्दशत्रिकम् । वक्ष्यति च-"तिन्नि निसीही" इत्यादि । अत्र च सर्वत्र विभक्तिलोपादिकं प्राकृतलक्षणवसादवसातव्यम् ।१। पुनः ऋद्ध्यभिमानाद्धिप्राप्तश्राद्धानधिकृत्य विशेषतश्चैत्यादिप्रवेशविध्यभिधायकं द्वितीयमभिगमद्वारम्- (अहिगमपणगं ति) अभिगमानां चैत्यादिप्रवेशे विधिविषयद्वारं, शेषाणां पञ्चकमभिगमपञ्चकम् । भणिष्यति च-"सचित्तदव्वओ ज्झाण" इत्यादि । २ । प्रविश्य जिनगृहे विहितयथोचितनैषेधिक्यादिकरणैर्नरनारीगणैर्भावपूजादिविधित्सया स्वस्वोचिता दिग् ज्ञेयेति तृतीयं दिग्द्वारम्-(दुदिसि त्ति) द्वे वामदक्षिणलक्षणे दिशौ काष्ठे क्रमशः स्त्रीपुंसयोर्योग्यतया वन्दनामधिकृत्य समाहृते वर्णिते वा यत्र तद् द्विदिग् । अभिधास्यति च-"वंदंति जिणे दाहिण" इत्यादि ।३। वामेतरदिक्स्थैश्च तैर्जिनात् कियत् दूरे वन्दना विधेयेति दिगनन्तरं चतुर्थमवग्रहद्वारम्-(तिहुग्गह त्ति) त्रिधा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदात् त्रिप्रकारोऽवग्रहो मूलबिम्बवन्दनास्थानाद्यन्तरालभूभा-

गरूपः । गदिष्यति च-" नवकरजहन्न " इत्यादि ॥ ४ ॥ उक्तरूपा च गृहस्थैश्च कियद्भेदा वन्दना कार्येति तद्भेदानभिधाय चैत्यवन्दनाद्वारम्-(तिहा उ वंदण य त्ति) त्रिधा जघन्यादिभेदात्त्रिभेदा । केत्याह-वन्दनेति । "भामा सत्यभामेति" न्यायात् चैत्यवन्दना पूर्वोक्तशब्दार्था । प्रतिपादयिष्यते च-"नवकारेण जहन्ना" इत्यादि । तुशब्दो विशेषणार्थः । तेन ग्रन्थान्तरप्रसिद्धजघन्यादिभेदान्नवधाऽपि, एवमवग्रहोऽपि शास्त्रान्तरोक्तो द्वादशधाऽवसातव्यः । एतच्चोपरिष्टाद् दर्शयिष्यते ॥५॥ चैत्यवन्दना च प्रायः प्रणिपातपूर्वा निरूपितेति तत्स्वरूपनिरूपकं षष्ठं प्रणिपातद्वारम्-(पणिवाय त्ति) प्रणिपातः प्रणामः, स चात्रोत्कृष्टतः पञ्चाङ्गो ज्ञातव्यः, नाऽष्टाङ्गः । तस्य प्रवचनेऽप्रसिद्धत्वात् । अधेष्यन्ति च-" पणिवाओ पंचंगो " इत्यादि ॥६॥ कृतप्रणिपातैश्च प्रथमतो नमस्कारा भणनीयाः, अतः सप्तमं नमस्कारद्वारम्-(नमुक्कार त्ति) नमस्कारो जिनगुणोत्कीर्त्तनपरा वचनपद्धतयो, मङ्गलवृत्तानीति यावत् । ते चात्रोत्कृष्टतः पुरुषानाश्रित्याष्टोत्तरं शतं ज्ञेयम् । निरूपयिष्यति च-" सुमहत्थनमुक्कार " इत्यादि ॥७॥ नमस्काराश्च वर्णात्मका इति वर्णसंख्याद्वारमष्टमम्-वर्णेत्यादि । यद्वा-सर्वमप्यनुष्ठानमहीनातिरिक्ताक्षरं करणीयं, विपरीते दोषसंभवात् । तथा चागमः-

" अहिए कुणालकइणो, हीणे विज्जाहराइदिट्ठंता ।
बालाउराण ओयण-भेसज्जाविवज्जओ उभए ॥ १ ॥ "

अहीनाद्यक्षरत्वं च वर्णसंख्यापरिज्ञाने सति भवतीत्यष्टमं वर्णसंख्याद्वारम्-(वन्ना सोलसयसीयाल त्ति) वर्णा अक्षराणि, ते च सामान्यतोऽत्र चैत्यवन्दनाधिकारे नमस्कारक्षमाश्रमणादिषु नवसु स्थानेष्वपुनरुक्ता ध्रुवं भणनीयाश्च षोडशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि ज्ञातव्याः ।

तथाहि-

" अमसट्ठि ६८ अडवीसा २८,
नवनउअसयं च १९९ दुसयसगनउया २९७ ॥
दोगुणतीस २२९ दुसट्ठा २६०,
दुसोल २१६ अडनउयसअ १९८ दुवन्नसयं १५२ ॥ १ ॥
इअ नवकार १ खमासम-
ण २ इरिय ३ सक्कत्थवाइदंमेसु ८ ।
पणिहाणेसु य ९, अडरु-
त्तवन्नसोलसयसीयाला ॥ २ ॥ "

यदिह नवकारादिवर्णपरिसंख्यानं तत्तदादिमूलत्वात्सर्वधर्म्मस्येति ज्ञापनार्थम् । एवं पदादिष्वपि वाच्यम् ।

इगसीयसयं तु पया, सगनउई संपयाउ पण दंडा ।
बारसऽहिगार चउ वं-दणिज्ज सरणिज्ज चतुहजिणा ॥

वर्णैश्च पदानि स्युरिति वर्णद्वारानन्तरं नवमं पदद्वारम्-" इगसीय " इत्यादि । एकाशीत्यधिकं शतं पदान्यत्रौघतो नमस्कारादिस्थानसप्तके ज्ञातव्यानि । तुर्विशेषणे । विशेषश्चायम्-यद्यपि " क्षमाश्रमण, जे य अईया सिद्धा " इत्यादिगतान्यतिरिक्तान्यपि पदान्यप्यत्र सन्ति तथाऽपि पूर्वबहुश्रुतैः संपदादिकं किमपि कारणान्तरमधिकृत्यैव पदानि स्वस्वभाष्यादिषूक्तानीति तन्मार्गानुगामितयाऽस्माभिरप्यत्रैतावन्त्येव तान्युक्तानि, नाधिकानीति । तथा चोक्तं लघुभाष्ये—

" नव बत्तीस तित्तीसा, ति चत्त अडवीस सोल वीस पया ।
मंगलइरिया सक्क-त्थयाइसुं एगसीइसयं ॥ १ ॥ "

एवमन्यत्रापि न्यूनाधिकत्वे कारणं वाच्यम ॥ ९ ॥ द्वित्र्यादिभिश्च पदैः संपदो भवन्तीति दशमं संपद्द्वारम्-(सगनउइसंपयाइउ त्ति) सप्तनवतिसंपदोऽर्थविश्रामस्थानानि साङ्गत्येन पद्यते परिच्छिद्यतेऽर्थो याभिरिति व्युत्पत्तेः, संगतार्थपदपङ्क्तय इत्यर्थः । ताश्चैव सप्तसु स्थानेषूच्यन्ते—

" अट्ठ नवट्ठय अ-ट्ठवीस सोलस य वीस वीसामा ।
मंगल इरिआ सक्क-त्थयाइदंडेसु सगनउई " ॥ २ ॥

तुशब्दो नामस्तवादिषु प्रायो विशेषार्थपरिच्छेदार्थः, परिच्छेदाभावेऽपि संगतपदत्वेन-" पायसमा ऊसासा " इतिवचनाच्च सामान्येन संपदो विश्रामस्थानानि ज्ञेयानीति विशेषयति ॥ १० ॥ संपदश्च दण्डकादिका अत एकादशं दण्डकद्वारम्-(पणदंड त्ति) यथोक्तमुद्राभिरस्खलितं भण्यमानत्वाद् दण्डा इव दण्डाः, सरला इत्यर्थः । ते चात्र पञ्च शक्रस्तवादयः । प्रतिपादयिष्यति च-"पण दंडा सक्कत्थय" इत्यादि । यदत्र वन्दनाया एव दण्डकाः परिज्ञापिताः नान्येषां, तदस्या एवात्र मुख्यतया प्रस्तुतत्वादिति । एवमधिकारादिष्वपि वाच्यम ॥११॥ दण्डेषु चैकद्व्यादिका अर्थाधिकाराः सन्तीति तत्संख्याख्यापकं द्वादशमधिकारद्वारम्-(बारसऽहिगार त्ति) अधिकारा भावार्हदाद्यालम्बनविशेषस्थानानि, ते च द्वादश दण्डकपञ्चके भवन्ति । अभिधास्यति च-"दो इग दो पंच य" इत्यादि ॥१२॥ अधिकाराश्चाधिकार्यविनाभाविनः, आधेयाभावे आधारव्यपदेशाभावात्, घृताद्यभावे घृतघटादिव्यपदेशाभाववत् । अतोऽधिकारिण आलम्बनापरपर्याया अत्र ज्ञेयाः । ते च द्विधा, वन्दनीयस्मरणीयभेदात् । तत्र प्रथमं सामान्यतः सकलवन्दनीयप्रतिपादकं त्रयोदशं वन्दनीयद्वारम्-(चउवंदणिज्ज त्ति) चत्वारो वक्ष्यमाणा जिनादयोऽत्र वन्दनीयाः प्रमाणाचोयर्हाः । निरूपयिष्यति च-"चउवंदणिज्जं जिणमुणिसुयसिद्ध त्ति" ॥ १३ ॥ अधिकारप्रस्तावादेव चतुर्दशं स्मरणीयद्वारम्-(सरणिज्ज त्ति) स्मरणीयाः क्षुद्रोपद्रवविद्रावणादितद्गुणानुचिन्तनादिनोपबृंहणीयाः; सूचनीया इति यावत् । यद्वा-स्मरणीयाः प्रमादादिना विस्मृतं तत्करणीयं तत् तत् सङ्घादिकार्यं च ज्ञापनीयाः । अथवा-सारणीयाः प्रभावनादौ । तत्र हि ते कार्ये प्रवर्तनीयाः, ते चात्राधिकारितया सम्यग्दृष्टयो देवा ज्ञातव्याः, तेषामेव स्मरणाद्यर्हत्वात् । अर्हदादीनां तु वन्दनीयत्वेन प्रागुक्तत्वात् स्मारणादिकर्तृत्वाच्च । भणिष्यति च-"इह सुरा य सरणिज्ज त्ति" ॥ १४ ॥ एवं च सामान्येनाधिकारिण उक्ता इति विशेषतस्तदभिधानार्थं पञ्चदशं जिनद्वारम्-(चतुह जिण त्ति) । अथवा जिनादयोऽत्र वन्दनीया इत्युक्तम्, जिनाः कतिविधा इति तद्भेदोद्भावकं पञ्चदशं जिनद्वारम्-(चउह जिण त्ति) जिना दुर्वाररागाद्यन्तरवैरिवारजेतारः, ते च चतुर्धा वक्ष्यमाणनामजिनादिभेदेन चतुःप्रकाराः । वक्ष्यति च-" चउह जिणा नाम " इत्यादि ॥ १५ ॥

चउरो थुई निमित्त-ऽट्ठ बार हेऊ य सोल आगारा ।
गुणवीस दोस उस्स-ग्गमाण थुत्तं च सगवेला ॥

जिनादयः स्तुत्यादिभिः स्तूयन्ते इति जिनद्वारानन्तरं षोडशं स्तुतिद्वारम् । सङ्घा० । (ताः कति दीयन्तेऽत्र विचा-

रोऽस्मिन्नेव शब्देऽग्रे करिष्यते) कायोत्सर्गानन्तरं स्तुतयो दीयन्त इत्युक्तम् । अथोत्सर्गा एवात्र किमर्थं क्रियन्त इति तत्फलनिरूपकं सप्तदशं निमित्तद्वारम्-(निमित्तऽट्ठ त्ति) निमित्तानि प्रयोजनानि, फलानीति यावत् । अष्टौ अष्टसंख्यानि, इदमत्र हृदयम्-संपूर्णायामस्यां क्रियमाणायां पापक्षपणादीन्यष्टौ फलानि भवन्तीति । प्रतिपादयिष्यति च-" पावक्खवणत्थमिरिया " इत्यादि । यदत्रैर्यापथिकया अपि फलमुपदर्शि तदीर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्विकैव परिपूर्णचैत्यवन्दनेति प्रतिपादनार्थम् । एवं तद्धेतुप्रमाणवर्णादीनामपि निरूपणे कारणं वाच्यम् ॥ १७ ॥ फलाष्टकार्थं कायोत्सर्गाः कार्या इत्युक्तानि, तत्र न कारणमन्तरेण कार्यप्ररोहसंभावना, बीजेन विनाऽङ्कुरप्रादुर्भावाभाववदिति निमित्तद्वारानन्तरमष्टादशं हेतुद्वारम्-(बार हेऊ य त्ति) हेतवश्च फलसाधनयोग्यानि कारणान्यत्र वक्ष्यन्ते । यथा-" तस्स उत्तरीकरण " इत्यादि । चशब्दो निमित्तहेतुभिः कश्चित्कथंचन कतिचिन्मन्यत इति वाचनान्तरप्रदर्शनार्थः । तच्चाग्रे दर्शयिष्यते । इति निमित्तहेतुभिः कृतोऽप्युत्सर्गो नाकारैर्विना निरतिचारः शक्यः पालयितुमित्याकारद्वारमेकोनविंशतितमम्-(सोल आगार त्ति) षोडश आकारा अपवादाः कायोत्सर्गकरणे ज्ञातव्याः । वक्ष्यति च-" अनुच्छयाइ बारस " इत्यादि ॥१९॥ कृते चोत्सर्गे दोषा वर्ज्या इति विंशतितमं दोषसंख्याद्वारम्-(गुणवीस दोस त्ति) एकोनविंशतिर्दोषाः कायोत्सर्गस्थैर्वर्जनीयाः । अभिधास्यति च—" घोडगलय " इत्यादि ॥ २० ॥ कियन्तं च कालमेवमुत्सर्गः कार्य इत्येकविंशं प्रमाणद्वारम्-(उस्सग्गमाणु त्ति) कायोत्सर्गप्रमाणमत्र ज्ञेयम् । वक्ष्यति च-" इरिओस्सग्गपमाण " इत्यादि ॥ २१ ॥ चैत्यवन्दना हि स्तुतिस्तवादिस्वरूपा, तत्र स्तुतयो वन्दनामध्ये दीयमानत्वात् तद्द्वारं षोडशमुक्तम् । स्तवस्तु वन्दनापर्यन्तभावी, " चेइयाइं वंदिज्जंति, तओ पच्छा संतिनिमित्तं अजियसंतित्थओ परियट्टिज्जइ । " इत्यावश्यकचूर्णिवचनात्, तथैव सकलसङ्घेन क्रियमाणतया करणविधौ समायातत्वाच्च । तथा चावश्यकवृत्तावप्युक्तम्-" चेइआइं वंदिज्जंति, तओ संतिनिमित्तं अजियसंतित्थओ कड्ढिज्जइ " इत्यतो द्वाविंशं स्तवद्वारम्-(थुत्तं ति) स्तोत्रं चतुःश्लोकादिरूपम्-" चउसिलोगाए परेणं थओ भवइ " इति व्यवहारचूर्णिवचनात् तदत्र भणनीयम् । वक्ष्यति च-" गंभीरमहुरसद्दं " इत्यादि । चशब्दो विशेषकः । तेनात्र पदैकश्लोकादिकं भगवद्गुणोत्कीर्त्तनपरं चैत्यवन्दनायाः पूर्वं भण्यते, ततो मङ्गलवृत्तापरपर्याया नमस्कारा इत्युच्यन्ते । यद्भाष्यम्-

" अट्ठामसयं चेया-लि उच्च पढिऊण सुकइवद्धारं ।
मंगलसेसाइं तउ, पणिवायथयं पढइ सम्मं ॥१॥ "

इति पूर्वं भणनीयत्वादेव नमस्काराणां तद्द्वारं पूर्वं सप्तममुक्तम् । यत्तु कायोत्सर्गानन्तरं भण्यते तत स्तुतय इति रूढाः, चैत्यवन्दनापर्यन्ते च स्तोत्रमिति, अयमेव चैतेषां परस्परं विशेषः ; अन्यथा भगवत्कीर्त्तनरूपतया सर्वेषामप्येषामेकस्वरूपापत्तेः । भणितं चागमे त्रितयमप्येतत्-नमस्कारस्तुतिस्तवा इति । तथा चोत्तराध्ययनसूत्रम्-"थयथुइमंगले णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? । थयथुइमंगलेणं नाणदंसणचरित्ताणि, बोहिलाभं च जणयइ । नाणदंसणचरित्तसंपन्नेणं जीवे अंतकिरियं कप्पविमाणोववत्तिअं आराहणं आराहेइ । " इत्यादि विमर्शनीयमिदं सूक्ष्मधियेति ॥ २२ ॥ इयं च चैत्यवन्दना दिनमध्ये कियन्तो वारानोघतो विधेयेति वेलाप्रमाणप्ररूपकं त्रयोविंशतितमं द्वारम्-(सगवेल त्ति) सप्तवेलाः सप्तवारान् दिनान्तरोघतोऽपि वन्दना कार्येति । कथयिष्यति च-" पडिक्कमणे चेइयजिणमचरिम " इत्यादि ॥ २३ ॥

दसआसायणचाओ, एवं चिइवंदणाइठाणाणि ।
चउवीसदुवारेहिं, दुसहस्सा हुंति चउसयरा ॥

चैत्यवन्दनां विदधता विशेषत आशातनाः परिहार्या इति चतुर्विंशतितममाशातनाद्वारम्-(दसआसायणच्चाओ त्ति) दशानामाशातनानाम्-

" जिणभवणम्मि अवन्ना, पूयाइअणायरो तहा भोगो ।
दुप्पणिहाणं अणुचिय-वित्ति आसायणा पंच ॥१॥ "

इति बृहद्भाष्योक्ताऽवज्ञादिपञ्चप्रकाराऽऽशातनाऽन्तर्वर्तिभोगाभिधानतृतीयाऽऽशातनाभेदानां ताम्बूलपानीयादीनां,त्यागः परिहारः कार्यो, जिनगृह इत्युपस्कारः । वक्ष्यति च-" तंबोलपानभोयण " इत्यादि । एतासां चोपलक्षणत्वात् , तुलादण्डन्यायेन वा मध्यग्रहणेनाऽऽद्यन्तयोरपि ग्रहणाच्चतुरशीत्युत्तरभेदावज्ञादिरूपं पञ्चप्रकाराऽप्याशातना वर्ज्येति । एतच्च एतद्द्वारव्याख्याऽवसरे भणिष्यामः । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण चैत्यवन्दनायां स्थानानि भवन्तीति योगः । कैः?, चतुर्विंशतिद्वारैः । तत्राद्यगाथायामष्टौ, द्वितीयस्यां सप्त, तृतीयायामष्टौ, चतुर्थ्यामेकं द्वारमिति । कियन्ति स्थानानि भवन्तीत्याह-द्वौ सहस्रौ चतुःसप्तत्यधिकौ । तत्राद्यद्वारे त्रिंशत् , द्वितीये पञ्च, तृतीये द्वौ, चतुर्थे त्रीणि , पञ्चमे त्रीणि , षष्ठे एकम् , सप्तमे एकम् , अष्टमे षोडशशतानि सप्तचत्वारिंशदधिकानि, नवमे एकाशीत्यधिकं शतम् , दशमे सप्तनवतिः, एकादशे पञ्च , द्वादशे द्वादश , त्रयोदशे चत्वारि , चतुर्दशे एकम् , पञ्चदशे चत्वारि , षोडशे चत्वारि , सप्तदशे अष्टौ , अष्टादशे द्वादश , एकोनविंशतितमे षोडश , विंशतितमे एकोनविंशतिः, एकविंशतितमे एकम्, द्वाविंशतितमे एकम्, त्रयोविंशे सप्त, चतुर्विंशतितमे दश । सर्वे मिलिताश्चतुःसप्तत्यधिकसहस्रा भवन्तीति द्वारगाथाचतुष्टयार्थः । सङ्घा० १ प्रका० ।

(२) दश त्रिकाणि-

अथ "यथोद्देशं निर्देशः" इति न्यायात् प्रथमं द्वारं व्याचिख्यासुः दशत्रिकप्रचिकटयिषया शास्त्रप्रतिमुखरूपाणि प्रतिद्वाराणि चिरन्तनगाथाद्वयेनाऽऽह-

तिन्नि निसीही तिन्नि य,पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामा ।
तिविहा पूया य तहा , अवत्थतियभावणं चेव ॥

तिस्रो नैषेधिक्यो गृहादिव्यापारपरिहाररूपाः, जिनगृहादिस्थाने प्रविशता कर्त्तव्या इति क्रियाऽध्याहारः। एवमन्यत्रापि-"यश्च निम्बं परशुना, यश्चैनं मधुसर्पिषा। यश्चैनं गन्धमाल्याद्यैः, सर्वस्य कटुरेव सः ॥१॥ " इत्यादिवद् यथाऽनुरूपा क्रियाऽध्याहार्येति प्रथमं त्रिकम् ॥१॥ तिस्रश्च प्रदक्षिणा दातव्याः,तत्र प्रकर्षेण सर्वासु दिक्षु विदिक्षु च परिभ्रमतां दक्षिणमात्मनो दक्षिणाङ्गभागवर्त्ति मूलबिम्बं ज्ञानादित्रयानुकूल्यकृते यत्र प्रतिपत्तौ सा प्रदक्षिणेति द्वितीयं त्रिकम् ॥ २ ॥ त्रयश्च प्रणामाः प्रकर्षेण

शीर्षादिना भूस्पर्शादिलक्षणेन त्रामा नमनानि प्रह्वीभावा जिनस्याग्रे विधेयाः, नमस्कारकरणकाले भक्त्यतिशयख्यापनार्थं त्रीन् वारान् शिरोनमनादि विधेयं,न त्वेकमपि वारमित्येवशब्दो नियुक्तः । यदागमः-" तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि नमेइ" त्ति ॥ ३ ॥ शिरसा त्रिर्भूमिं स्पर्शयतीत्यर्थः। एकः चशब्दः समुच्चये, द्वितीयस्तु विशेषणे । स चैकाङ्गादिकमपि प्रणामं कुर्वद्भिर्भूम्याकाशशिरःप्रभृतिष्वपि सर्वत्र शिरःकराञ्जल्यादि त्रिःपरावर्तनीयमिति विशिनष्टि । एवं च-"पणिवाओ पंचंगो " इत्यप्युच्यमानं न विरुध्यते , प्रणिपातभेदाङ्गव्यक्तिख्यापनपरत्वात्तस्याः । यद्वा-भूमौ जानुन्यासशिरःस्पर्शशिरोऽञ्जलिकरणरूपास्त्रयः प्रणामाः शक्रस्तवादौ विधेयाः । उक्तं च-" वामं जाणुं अंचेइ " इत्यादि । अथवा-अञ्जलिबन्धोऽर्द्धावनतता, पञ्चाङ्गश्चेति। अत्रैव वक्ष्यमाणलक्षणास्त्रयः प्रणामा इति तृतीयं त्रिकम् ॥३॥ त्रिविधा च त्रिप्रकारा अङ्गाग्रभावाऽऽत्मिका पुष्पामिषस्तुत्यादिनिर्माण्यस्वभावा पञ्चप्रकाराऽष्टप्रकारसर्वप्रकाररूपा वाऽत्रैव वक्ष्यमाणस्वरूपा पूजाऽर्चा विधेया।तथेत्यागमादुक्तनीत्या तदुक्ताशेषतत्पूजाभेदानामत्रान्तर्भावरूपया । उक्तं चैतच्चूर्णौ-"तिविहा पूया पुप्फेहिं नेवज्जेहिं थुईहिं, सेसभेया इत्थ चेव पविस्संति त्ति "। यद्वा-तथेति " सयमाणयणे पढमा " इत्यादिस्थानान्तराप्रसिद्धाऽनेकधापूजात्रयाणां व्यापकः, तानि चाग्रे दर्शयिष्यामः । इति चतुर्थं त्रिकम् ॥ ४ ॥ अवस्थात्रिकस्य छद्मस्थकेवलिसिद्धत्वरूपस्य, भावनं पुनः पुनश्चिन्तनं, "भावयेद् ज्योतिरान्तरमिति" वचनात्। पिण्डस्थपदस्थरूपातीतध्यानकृते कर्त्तव्यमेवेति, एवशब्दोऽवधारयति । तथैव पिण्डस्थादिध्यानसिद्धेस्तदर्थत्वाच्च सर्वस्याऽपि सद्धर्मानुष्ठानोपक्रमस्य, रूपस्थध्यानं तु दर्शनमात्रादपि सिद्ध्यति । उक्तं च"-पश्यति प्रथमं रूपं, स्तौति ध्येयं ततः पदैः। तन्मयः स्यात्ततः पिण्डे, रूपातीतः क्रमाद्भवेत् ॥१॥" इति पञ्चमं त्रिकम् ॥ ५ ॥

तिदिसिनिरक्खणविरई, पअजूमिपमज्जणं च तिक्खुत्तो ॥

वन्नाइतियं मुद्दा-तियं च तिविहं च पणिहाणं ॥

तिसृणामूर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपाणां वामदक्षिणपाश्चात्यलक्षणानां वा दिशां, निरीक्षणस्यालोकस्य विरतिर्वर्जनं, विदध्यात् । तत्रानुपयोगे वन्दनस्यानादरत्वादिदोषप्रसङ्गात्, यस्यां दिशि तीर्थकृद्बिम्बं तत्संमुखमेव निरीक्ष्येतेत्यर्थः । यदागमः-" भवणेकगुरुजिणिंदपडिमासु विणिवेसियनयणमाणसेण० जाव चेइए वंदियव्वे " षष्ठं त्रिकम् ॥ ६ ॥ पदभूमेर्निजचरणन्यासभूमेः , सत्त्वादिरक्षार्थं सम्यग् चक्षुषा निरीक्ष्य प्रमार्जनं च त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान् कुर्यात् । उक्तं चागमे-" जेइ तिन्नि वारा उ चलणाणं हिट्ठभं भूमिं न पमज्जिज्जा, तो पच्छित्तं " इति सप्तमं त्रिकम् ॥ ७ ॥ वर्णादित्रिकं चैत्यवन्दनागताक्षरार्थालम्बनरूपया परिज्ञानं सम्यगुच्चारचिन्तनाभेदेण एव एकाग्रतां मनसश्चिन्तयेत्। इत्यष्टमं त्रिकम्॥८॥ मुद्राणां हस्ताद्यङ्गविन्यासविशेषलक्षणानां त्रयं च योगमुद्राजिनमुद्रामुक्ताशुक्तिमुद्रात्मकं सूत्रपाठसमकभावितया मूलमुद्रात्रयरूपं समस्तप्रत्यूहव्यूहव्यपोहार्थं,सकलसमीहितसंपादनार्थं च,यथा महामान्त्रिको मन्त्रादि स्मरन् वज्रमुद्राकुष्टीमुद्रादिका मुद्राः प्रयुङ्क्ते , तथा चैत्यवन्दनासूत्रोच्चारावसरेऽवश्यं सत्यापनीयत-या ज्ञातव्यम् , तदविनाभावित्वात्सूत्रोच्चारस्य , "थयपाढो होइ जोगमुद्दाए " इत्यादिवचनात् । इदृश्च समुद्दं सूत्रपाठोऽन्यत्राऽपि मन्त्रभेदादौ, परममन्त्रवेदादिकल्पं च सर्वं जिनागमसूत्रम्। "कस्स वि स परममंतो" इति। "अट्ठारस पयसहस्सी उ वेओ " इत्यादिवचनात् अञ्जलिमुद्रापञ्चाङ्गीमुद्रादयस्तु अत्र न परिज्ञाताः, उत्तरमुद्रारूपत्वात्तासामनियतत्वात्, सूत्रपाठसमये अनुपयुज्यमानत्वात् , तथाऽनुक्तत्वात् । सूत्रोच्चारकालात्पूर्वापरकालभावित्वाद्विनयविशेषदर्शनमात्रफलत्वाच्चेत्यादिविवद् अत्र परिज्ञेयमिति नवमं त्रिकम् ॥ ९ ॥ त्रिविधं च त्रिभेदं चैत्यवन्दनामुनिवन्दनाप्रार्थनाभेदात् प्रणिधानं, चैत्यवन्दनाऽवसाने विदध्यादिति शेषः। तथा चागमः-"वंदइ नमंसइ" त्ति सूत्रस्य वृत्तिः-वन्दते ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनाविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेति दशमं त्रिकम् । इति प्रतिद्वारगाथाद्वयसमासार्थः ॥ १० ॥ उक्तो दशत्रिकाक्षरार्थः । संघा० १ प्रस्ता० । प्रव० । दर्श० ।

(३) नैषेधिकीत्रयम् । अथ भावार्थं उच्यते-तत्र प्रथमं नैषेधिकीत्रिकं भावयन् भाष्यकृदाह-

घरजिणहरजिणपूजा-वावारच्चायओ निसीहितिगं ।

अग्गदारे मज्झे, तइया चिइवंदणासमए ॥

गृहं च मन्दिरम्,उपलक्षणत्वादापणादिपरिग्रहः।जिनगृहं च देवगृहम्, जिनपूजा च पुष्पादिभिर्जिनाभ्यर्चनं, तेषां व्यापारस्तत्कार्यकारणाश्चिन्तनादिलक्षण आरम्भः,तस्य त्यागाद्वर्जनाद् नैषेधिकीत्रयं पूर्वोक्तशब्दार्थं, यथार्थनामकं भवतीति गम्यते।तत्र प्रथमा नैषेधिकी-अग्रद्वारे वलानकप्रवेशसमये विधेया। द्वितीया तु मध्ये मुखमण्डपादौ । तृतीया पुनश्चैत्यवन्दनाविधानसमये । इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्त्वयम्-जिनभवनादिबहिर्भूतगृहहट्टादिगतक्रयविक्रयादिव्यवहाररूपसावद्यारम्भविधाननिषेधनिष्पन्ना प्रथमा नैषेधिकी, सा चाग्रद्वारे जिनभवनवलानके वक्ष्यमाणपञ्चविधाऽभिगमविधानपुरस्सरं प्रविशता भुवनमल्लनरेन्द्रवत्कार्या स्यात्। यदुक्तं भाष्ये-

" पंचविहाभिगमेणं, पविसंतो वलाणए निसिहितिगं ।
कुज्जा बहि वावारं, न काहमिन्हि ति भावितो ॥ १ ॥ "

अत्र मनोवचःकायैर्गृहादिव्यापारो निषेध्य इति ज्ञापनार्थमुक्तम् । (निसिहितिगं कुज्ज त्ति) परमेकैवैषा गण्यते, जिनगृहादिबहिर्भावितयैकरूपस्यैव गृहादिव्यापारस्य निषिद्धत्वात् । तथा च लघुभाष्यम्-" तग्गुवयणमाणसाणं, निसीहबिलया निसीहियाति त्ति " ।

अत्र भुवनमल्लनरेन्द्रकथानकं चैवम्-

"कुसुमपुरी अत्थि पुरी, बहुचउरयणाहि पगयउरयणं ।
पगहरिं भूरिइरिद्धिं, परिहवइ अमरनयरिं जा ॥ १ ॥
हेमप्पहो हरि व्व, तत्थऽत्थि निवो गवाहिवो स जओ ।
भज्जा य तस्स रंभा, पुत्तो पुण भुवणमल्लु त्ति ॥ २ ॥
सूरो रणम्मि सोमो, नयम्मि वक्को रिउम्मि जो उ बुहो ।
सत्थम्मि मईए गुरू, नीईए कई अघे मंदो ॥ ३ ॥
कइया निवं सहत्थं, विन्नी विन्नवइ देव ! बहि एगो ।
पुरिसो दट्ठुं इच्छइ, पहुं कहेइ न अ सो अप्पं ॥ ४ ॥
मुंच त्ति निवुत्ते जा, मुक्को पत्तो य रायदिट्ठिपहं ।

ता हसिअ निवो भणई, किं अप्पं करइ ! गोवेसि ॥ ५ ॥
सो भणइ कयपणामो, पहु ! कीरउ मेऽवयारणं करहो ।
कइ चिरदिट्ठो ओल-क्खिओ मि नामं च सरियं मे ॥ ६ ॥
भणइ निवो उवयारी, वीसरसी तुमं जमप्पिया तुमए ।
रंभा दिवे विवाहे, थविय कणयपाउया मज्झ ॥ ७ ॥
इय संभासिय पुट्ठो, आगमणपओअणं निवेण इमो ।
भणइ पहु ! अत्थि सिरिसे-णनिवइधूया रयणमाला ॥ ८ ॥
सा कुंदरयणमाला, सुरयणमाल व्व वरगुणसमेया ।
जो कुणइ राहवेहं, स मे वरो इय कयपयन्ना ॥ ९ ॥
राया तु भुवणमल्लं, इच्छइ स भयणिसुअं वरं न वरं ।
कुमरोगिरमवमन्नइ, जाणंतो कुमरकोसल्लं ॥ १० ॥
इअ पेसिओ निव ! इहं, ता कुमरो तिच्चवेअ यऽविलंवं ।
नियदंसणामयणं, सिरिसेणनरिंदमणनयणे ॥ ११ ॥
नियइ निवो गणयमुहं, तो स भणइ पवरमज्ज जुत्तदिणं ।
चिंतइ निवो धुवा कुम-रभद्दसेणी सविहलग्गा ॥ १२ ॥

यत उक्तम्–

लघुस्थानान्यविघ्नानि, संभवत्साधनानि च ।
कथयन्ति पुरः सिद्धिं, कारणान्येव कर्मणाम् ॥ १३ ॥
मणपवणसउणपरियण-अणुकूलत्तेण तो भुवणमल्लो ।
चंपापुरिअभिमुहं, चलिओ चउरंगबलकलिओ ॥ १४ ॥
सिद्धत्थपुरसमीवे, जा पत्तो ता नरेहिँ तप्पहुणा ।
बिन्नत्तो जह कीरउ, वीर ! सरवणे इहावासो ॥ १५ ॥
तत्थावसिअ कुमारो, नियइ वणं विम्हिओ समंता जा ।
ता पिच्छइ हयमयरद्द-सुहमसमूहं समूहमितं ॥ १६ ॥
किमियं ति कुमरपुट्ठा, भणंति सिद्धत्थपुरनिवनरा ते ।
न मुणेसु परं संभा-विज्जइ सिरिमूलदेवनिवो ॥ १७ ॥
जं तुम्हागमइत्तणं-समया स भमइ खणं पि ।
वरिससमं ति इमे जा, कहंति ता चिन्तवइ वित्ती ॥ १८ ॥
सिद्धत्थपुरनिवो पहु !, गयउत्तिओ पयहिँ एइ त्ति ।
तो कुमरो अत्थइ जा, पत्तो ता स भत्ति नहिं ॥ १९ ॥
अइरूवविजियमारं, दट्ठु कुमारं घस त्ति धरणिवडो ।
मुच्छावसा स पमिओ, हा हा सद्दो पुणुच्छलिओ ॥ २० ॥
कुमरेण ससंभममह, चंदणसेयाइणोवयारेण ।
संलद्धचेयणो किं, बाहइ तुम्हं ति सो पुट्ठो ? ॥ २१ ॥
ओणयवयणो न देइ, उत्तर नियइ बलिरदिट्ठीए ।
कंडुअइ स य कण्णं, पायंगुट्ठेन लिहइ भुवं ॥ २२ ॥
किमियं ति कुमरपुट्ठो, सिरिसेहरमंतिनंदणो सीहो ।
कुमरवयं सो साहइ, पहु ! इह न मुणिज्जइ किं पि ।
नवरं इओ अदूरे, गम्मिअउ देव ! जेण वरणाणी ।
सिरिअभयघोससूरी, समागओ अत्थि इह जो उ ॥ २४ ॥
मेरु व्व महियजलही, सूरो विव निहयविसमतक्खरणो ।
दोसुम्मूलणरसिओ, रवि व्व हारु व्व पवरगुणो ॥ २५ ॥
सव्वपरिग्गहरहिओ, विरइयसारंगसंगहो सययं ।
विहियसयलक्खविजओ, पगसंसारभयभीओ ॥ २६ ॥
तो कुमरो सो य निवो, गंतूणं तत्थ नमिय सूरिपए ।
उवविसइ उचियठाणे, तो सिरि कहइ इय धम्मं ॥ २७ ॥
लहिउं सुदुलहं पुर-भवाइसामग्गिमित्थ भवहरए ।
सद्दंसणपरिभट्ठा, मा दुहिया भमह कुम्म व्व ॥ २८ ॥
हरपरिमियत्तणा अवि, लहिज्ज ससिदंसणाइ सो कुम्मो ।
न उ पुण वि जओ बोहिं, भवऽणंतत्ता अकयसुकओ ॥ २९ ॥
ता सोतुमिमं सम्मं, अरिहं देवो सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपणत्तं तत्तं, इत्थ पहाणं ति कुणह मई ॥ ३० ॥

भणियं च—

मुत्तूण जिणं मुत्तू-ण जिणमयं जिणमए वि ए मुत्तुं ।
संसारकत्थधारं, चिंतिज्जं तं जगं सेसं ॥ ३१ ॥
सद्दंसणसुद्धिकए, कायव्वा वंदणा जिणाण सया ।
तिनिसीहाइदसगं, तत्थ य नेयं जहा विहिणा ॥ ३२ ॥
अह भणइ भुवणमल्लो, भयवं ! कह मुच्छिओ ममं दट्ठुं ।
स मयणरमणिवियारे, कहं व पुरिसो वि कुणइ इमो ? ॥ ३३ ॥
भणइ गुरू भद्द ! पुरा, सीहपुरे आसि रयणसारनिवो ।
गंग व्व सुई सुदया, तस्स पिया मयणरेह त्ति ॥ ३४ ॥
आलियविलीयविरत्ते, कइआइ निवम्मि साऽणुरत्ता वि ।
उव्वंधेऊण मया, अवमाणदुहं असहमाणा ॥ ३५ ॥

जओ—

अलियावयायअभिद्द-मीययजीवस्स सुद्धहियस्स ।
होइ वहं तस्स पुणो, चंदणरससीयलोऽग्गी वि ॥ ३६ ॥
देवच्चणदाणदया-इसुहभावा उ सा इहुप्पण्णा ।
सिद्धत्थपुरे सुंदर-निवधूआ मूलनक्खत्ते ॥ ३७ ॥
अह सहसा कालगओ, राया जं मे इमीइ तो कुणई ।
सुमइअमच्चो पयडिय-पुत्तत्तं रज्जअभिसेयं ॥ ३८ ॥
मरिऊण रयणसारो, जाओ सि तुम इहागए दिट्ठे ।
पइपुव्वभवब्भासा, एई एए सरिउ नेहो ॥ ३९ ॥
किं मइ इमम्मि पीई, पत्तं ति इमेइ विमरिसंतीए ।
जाए जाईसरणे, तं जायं जं तए पुट्ठं ॥ ४० ॥
भुत्तं संसारसुहं, नाउं दइयस्स नेहपरिणामो ।
दिट्ठो मालवदेसो, खद्धा मंमा य अग्घाणा ॥ ४१ ॥
इइ भणइ मूलदेवो, मुणिवइवयणा उ जायवेरग्गो ।
पमिवज्जइ पव्वज्जं, रज्जं दाउं कुमारस्स ॥ ४२ ॥
कुमरो पुण संमत्तं, गिण्हइ चिइवंदणाइनियमजुयं ।
अह गुरुणा गुरुकरुणा-परेण एवं स अणुसिट्ठो ॥ ४३ ॥
लब्भंति सुरसुहाइं, लब्भंति नरिंदपवररिद्धीओ ।
न उणो सुबोहिरयणं, लब्भइ मिच्छत्ततमहरणं ॥ ४४ ॥
जह गहगणाण गयणं, आहारो रोहणो य रयणाणं ।
सिंधूण जहा जलही, तह सयलगुणाण संमत्तं ॥ ४५ ॥
जह उवसमो मुणीणं, चाउव्विहविणयसीलमित्थीणं ।
तह सम्मत्तं गिहिणो, जइणो वि विभूसणं परमं ॥ ४६ ॥
ता मा कासि पमायं, सम्मत्ते सव्वदुक्खनासणए ।
जं सम्मत्तपइट्ठा-इँ नाणतवविरियचरणाइं ॥ ४७ ॥
इत्थं ति भणिय कुमरो, तो भत्तो कयत्थमप्पाणं ।
बहु बहुमाणं नमिउं, गुरुपयपउमं गओ सिबिरं ॥ ४८ ॥
सिद्धत्थपुरे गंतुं, सुमइअमच्चं तहिं ठविय रज्जे ।
चलिओ पुरओ पत्तो, अडविं कालिंजरं जाओ ॥ ४९ ॥
खग्गाभिघायभज्जं-तमत्तमायंगवियडकुंभयडा ।
विलसिरसकुंतसरत्त-क्कायया संगरधर व्व ॥ ५० ॥
तत्थ दसजोअणंते, आवासी य जाव वरुणनइतीरे ।
कुमरो नियइ वणाइं, ता पिच्छइ रिसहजिणभवणं ॥ ५१ ॥
तो तत्थ निसीहितिगं, काउं जा पविसइ नियइ ताव ।
जिणपूयवावडाओ, अमरीओ भत्तिनमिराओ ॥ ५२ ॥
अह दट्ठुं निप्पमिमं, कणगमयं रिसहसामिणो पडिमं ।
कुमरो वियसियवयणो, वंदिअ विहिणा थुणइ एवं ॥ ५३ ॥

विश्वत्रयैकदर्शन !, सहस्रदर्शननतक्रम ! जिनेन्द्र ! ।
सयणंतपत्तदंसण !, अणंतदंसण ! चिरं जयसु ॥ ५४ ॥
पूर्वाकृतसुकृतानां, पूर्वाशीलितविशुद्धशीलानाम ।
अविहियतवाण पुव्विं, न होइ तुह दंसणं चेव ॥ ५५ ॥
भवशतकृतमपि पापं, त्वद्दर्शनतो विलीयते नाथ ! ।
हिमभूअं पि घयं, तुअं जहा जलिरजलणाओ ॥ ५६ ॥
समयोऽयमेव शस्यः, सलक्षणोऽसौ क्षणस्तदहरनघम ।
पक्खो वि सो सपक्खो, जयबंधव ! दीससे जत्थ ॥ ५७ ॥
त्वद्गुमदृष्टे वाञ्छा, दृष्टे त्वयि नाथ ! विरहजं दुःखम् ।
इय जइ दुहा वि न सुहं, तहा वि तुह दंसणं होउ ॥ ५८ ॥
पूर्वार्जितसुकृतकृतं, ज्ञाविश्रुभनिबन्धनं हरति चैनः ।
इय कालत्तयसुहयं, जिणाण तुह दंसणं दुलहं ॥ ५९ ॥
स्वामिन् ! स्वदर्शनं कुरु, तथा यथा स्यात्पुनर्न तदभावः ।
जच्चंधवेयणाओ, चक्खुक्खयवेयणा दुसहा ॥ ६० ॥
नामाऽपि नाथ ! यस्ते, वरमन्त्रसधर्म कीर्तयति तस्य ।
मिच्छादंसणदोसो, लहु नासइ किं परं भणिमो ? ॥ ६१ ॥
य इति जिन ! त्वामन्यू-नदर्शनान्यूनदर्शनं नौति ।
स विशुद्धदर्शनः श्रय-ति सत्वरं सर्वदर्शित्वम ॥ ६२ ॥
इय थोउं चेइयं जा, सविम्हयं नियइ सव्वओ कुमरो ।
ता पिच्छइ पच्छिमदिसि, कमललला‌मं च पुक्खरिणिं ॥ ६३ ॥
गंतुं तत्थ जलेणं, महुरेणं सीयलेण विमलेणं ।
गुरुवयणेण व अप्पं, सोहिय जा विस्समइ सुत्थो ॥ ६४ ॥
ता गुंजाहलहारो, सलसइसालाकरो हलिहनिहो ।
एगो समागओ त-त्थ वानरो वानरीजुत्तो ॥ ६५ ॥
स मणुयगिराइ कुमरं, पणमिय भणइ पहु ! असरणसरण ! ।
सुदय ! पवणसुदक्खिण, ! कुमर ! मह सुणसु विरतंतं ॥ ६६ ॥
इह अरवीइ सया वि हु, वानरजूहाहिवत्तमासी मे ।
एसा य वल्लहा तह, पाणेहि वि वल्लहा निच्चं ॥ ६७ ॥
तं मह जूहं इण्हिं, घणंतरगयस्स वानरेण बला ।
अवहरिओ अत्तेणं, तं तु समत्थो वि णिग्गहिउं ॥ ६८ ॥
नवरं न देइ मह ते-ण उज्झिउं नेहकायरा एसा ।
अहमवि इमं न सक्के-मि इत्थ एगागिणिं मुत्तुं ॥ ६९ ॥
संपइ तुमं महायस !, मणनयणूसवकरो सुबंधु व्व ।
परउवयारिक्कपरो, दिट्ठो पुण्णोदएण मए ॥ ७० ॥
ता जाव अहं रिउवा-नरं लहुं निहणिऊण एमि इहं ।
ता नेहभीरु एसा, निरुद्दवा गउ तुह पासे ॥ ७१ ॥
इय भणिय तई मुत्तुं, गओ इमो चिंतए तओ कुमरो ।
कह मणुअगिरा एसो, वयइ पवण इव मईपुव्वं ॥ ७२ ॥
बलिअरिउणा पियं जा, निहयं न सुणामि ता मम वि जुत्तं ।
मरणं ति भणिय कुमर-स्स वानरी पडइ वाविं तो ॥ ७३ ॥
न हु मह इमीइ सरणा-गयाइ मरणं उविक्खिउं उचिअं ।
इय ताइ कड्ढणत्थं, झंपावइ तत्थ जा कुमरो ॥ ७४ ॥
ताव न वावि न जलं, न वानरी तत्थ किं तु अप्पाणं ।
वरमणिमयपासाए, पल्लंकगयं नियइ कुमरो ॥ ७५ ॥
अह अ नियंता कुमरं, जिच्चा गंतुं कहंति मंतीणं ।
ते वि हु सन्निहियबला, तं कयजत्ता गवेसंति ॥ ७६ ॥
आगम्मनाग एगो, अह कुमरं पइ पयंपइ इहं भो ! ।
मा किं पि चिंतियऽन्नं, कारणओ तं मयाऽऽणीओ ॥ ७७ ॥
को तं किमाणिओ हं, इअ कुमरुत्ते नरो भणइ सुणसु ।
अमिअगई असुरोऽहं, कीलाभवणं च मह एयं ॥ ७८ ॥
कइआ दइआसहिओ, उज्जिंते समए केवलिं नंतुं ।
चलिओ निएमि मग्गे, जोगिअमिक्कं मसाणंते ॥ ७९ ॥
रत्तंदणकयतिलयं, परिहियमिगचम्ममच्चिसत्तयच्छुव्वं ।
कलिणाहिजोगपट्टं, मिलहत्तं गरुयहुंकारं ॥ ८० ॥
तस्सऽग्गे जलिरानिल-कुंडं वामम्मि कन्नगं चेव ।
रुयमाणिं रत्तंदण-लित्तं कणवीरमालिल्लं ॥ ८१ ॥
तं जा खिविही जलणे, स मए ता तज्जिओ अरे पाव ! ।
असमंजसमिअ काउं, कत्थिरिंह वच्चसि हयास ! ॥ ८२ ॥
तो सो भीओ कन्नं, मुत्तु नट्ठो दया इमे मुक्को ।
पत्तो अहं पि रेवय-गिरिम्मि तं वालिअं गहिउं ॥ ८३ ॥
तत्थ सुरिसुमइकेवलि-मुणिणो कमकमलममलमहं ।
पणमित्ता आसीणो, सुणामि इय देसणं अणहं ॥ ८४ ॥
" कोहो अप्पीइकरो, उव्वेयकरो य सुगइमिहलणो ।
वेराऽणुबंधजणणो, जणणो वरगुणगणग्गणस्स ॥ ८५ ॥
कोहंधा निहणंति य, पुत्तं मित्तं गुरुं कलत्तं च ।
जणयं जणिं च अप्पि, पि निग्घिणा किं च ण कुणंति ॥ ८६ ॥
कोहऽग्गीपज्जलिओ, न केवलं रुहइ अप्पणो देहं ।
संताविइ य परं पि हु, पहवइ परजम्मविणासाय ॥ ८७ ॥
ता कोहमहाजलणो, विज्झवियव्वो खमाजलेण सया ।
अगह दुसहं दुक्खं, देइ जह इमीइ बालाए ॥ ८८ ॥ "
जयवं कोहवसेणं, इमीइ पत्तं दुहं कहं ति मया ।
पणमिय पुट्ठो स कहे-इ केवली असुर ! निसुणोहि ॥ ८९ ॥
कयमंगलापुरीए, धणसिट्ठिसुया उ बालविहवाऽऽसी ।
जयसुंदरी ति तीसे, जत्तिजुया भायरा पंच ॥ ९० ॥
जिट्ठस्स पुणो भज्जा, न वट्टए तीइ सह सया सम्मं ।
तं परिणावइ अन्नं, कन्नं सा मच्छरिल्लमणा ॥ ९१ ॥
तीइ कयं अं किं पी, दूसइ तह डुहइ कडुवयणेहिं ।
गयलज्जा संमुहमु-त्तरं दयइ भाउजाया वि ॥ ९२ ॥
जिणभवणमागयाओ, वि परुप्परविलियभासणेण इमा ।
अन्नाण वी निसीहिय-भंगाइं कुणंति विकहतए ॥ ९३ ॥
जओ—
जो होइ निसिद्धप्पा, निसीहिया तस्स भावओ होइ ।
अनिसिद्धस्स निसीहिय, केवलमित्तं भवइ सद्दो ॥ ९४ ॥
मिहो कहाओ सव्वाओ, जो वज्जेइ जिणालए ।
तस्स निस्सिहिया होइ, इइ केवलिभासियं ॥ ९५ ॥
इय अट्टवसट्टाओ, परुप्परं दो वि कलहमाणाओ ।
विज्जूए दड्ढाओ, मरिउं, जायाओं बग्घीओ ॥ ९६ ॥
पुव्वब्भासा अन्नु-अदंसणा जायतिव्वरोसाओं ।
जुज्झिय मरिउं तत्तो, पत्ताओं तइयनरयम्मि ॥ ९७ ॥
तत्तो उवट्टिय गय-वरम्मि पुव्वभवविहियसुकयवसा ।
भाउज्जायाजीवो, जाया सिरिसूरनिवजाया ॥ ९८ ॥
तीसे गब्भे धुयत्ता-इ नणंदजिओ उ उप्पन्नो ।
अरइ मणसंतावं, उव्वेयं जणइ अइगरुअं ॥ ९९ ॥
विहिएसु वि तप्पारण-हेउसएसुं न जाव सा पमिया ।
तो जाया पयमेउं, मय त्ति दासीए छड्डुविया ॥ १०० ॥
तद्दिवसपसूयाए, तीए पुण अप्पियाएँ धूयाए ।
तत्थ य पालिज्जंती, सा बाला वड्डिया पत्तो ॥ १०१ ॥
कीलंती डिंभेहिं, अहऽन्नया जोगिएण भोलविउं ।
अइरुद्दमंतसाहण-हेउं नीया मसाणे सा ॥ १०२ ॥
जा छिविही सा जलणे, ता तुमए मोइउं इहाणीआ ।
इअ नाउं भो अप्पा, कसाइयव्वो न थोवं पि ॥ १०३ ॥

भणियं च—

अणथोवं वणथोवं, अग्गीथोवं कसायथोवं च ।
न हु भे विस्ससिअव्वं, थोवं पि हु तं बहुं होइ ॥ १०४ ॥
दासत्तं देइ अणं, अइरा मरणं वणो विसप्पंतो ।
सव्वस्स दाहमग्गी, दिंति कसाया भवमणंतं ॥ १०५ ॥
सा जणइ सरियजाई, भयवं ! सव्वं पि मेऽणुभूयमिणं ।
ता इण्हि कुण करुणं, जहा वि जह होमि निस्संगा ॥ १०६ ॥
भणइ मुणी गिहिधम्म-स्स इण्हि उचिया तुमं जओ अत्थि ।
पुव्वकयदेवपूया-इसुकयसंभूयभोगफलं ॥ १०७ ॥

जओ—

देवच्चणेण रज्जं, भोगा दाणेण रूवमभयाणं ।
सोहग्गं सीलेणं, तवेण मणवंछिया सिद्धी ॥ १०८ ॥
सा भणइ तुम्ह सव्वं, पच्चक्खं नाह ! नवरि मज्झ कहं ।
अविरयसुराण मज्झ-हुयाइ निव्वहिइ गिहिधम्मो ॥ १०९ ॥
तो केवलिणा भणियं, भद्दे ! कालिंजराइ अमरवीए ।
सिरिरिसहनाहभवण-म्मि तुज्झ पूयं रयंतीए ॥ ११० ॥
हेमप्पहरायसुओ, तत्थ समागच्छिही भुवणमल्लो ।
जिणनमणत्थं विहिणा, काउं निस्सीहियातियगं ॥ १११ ॥
तेण समं रज्जसुहं, माणित्ता पालिउं च गिहिधम्मं ।
पमिवज्जिय पव्वज्जं, लहिही अइराऽमरट्ठाणं ॥ ११२ ॥
अह तीए गिहिधम्मे, पमिवन्ने नमिअ केवलिस्स मए ।
इच्छाए णं विहियं, विजयपयम त्ति से नामं ॥ ११३ ॥
अह कुमर ! अज्ज एसा, जाव गया चेइयम्मि पूयत्थं ।
ता कयनिसीहियतिगो, जिणनमणत्थं तुमं पत्तो ॥ ११४ ॥
निस्सीहियं कुणंतं, दट्ठु इमा सूरीहिं भणिय त्ति ।
जो केवलिणा कहिओ, धुवं इमो भुवणमल्लो सो ॥ ११५ ॥
अह ताहिँ वाविमुहं, काउ एवंचं तुमं इहाऽऽणीओ ।
ता तिइ पाणीगहणे-ण कुणसु मह पत्थणं सहलं ॥ ११६ ॥
कुमरो भणइ पमाणं, आएसो नवरि गम्मउ वलम्मि ।
न विरहिओ परियणो, दुहेण गमिही खणं पि जओ ॥ ११७ ॥
आरोविउं विमाणे, कुमरं सिविरम्मि नेइ जा असुरो ।
ता सहसा उज्जोअं, हट्ठु सचिवाइणो बिंति ॥ ११८ ॥
नो तुं पि ता तए जा, हरिओ जेण कुमरो तओ क्खोहं ।
चइयह वहसज्जा सा-हसस्स दइवो वि न हु किं पि ॥ ११९ ॥

यतः-

सत्त्वैकतानमनसां, स्फूर्जदूर्जस्वितेजसाम ।
दैवोऽपि शङ्कते चैषां, किं पुनर्मानवो जनः ॥ १२० ॥
इय ते जा साडोवा, हुंति सुणंति त्ति ताव अमरगिरं ।
सत्तप्पहाण अवितह-भिहाण जय सिरिभुवणमल्ल ॥ १२१ ॥
परउवयारपरायण, पुरिसेसुं तुज्झ दिज्जए लेहा ।
पसुमित्तस्स वि कज्जे, गणेसि पाणे तिणसमाणे ॥ १२२ ॥
इय सुणिय जायहरिसा, ते ओयरियं विमाणओ कुमरं ।
पणमंति तयं असुरं, देवीसहियं तु तुट्ठमणा ॥ १२३ ॥
तो सो असुरो हिट्ठो, कुमरेण विवाहए तयं धूयं ।
सप्पणयं भणइ तहा, वच्छे सुण मज्झ वयणमिणं ॥ १२४ ॥
निर्व्याजा दयिते ननान्दृषु नता श्वश्रूषु नम्रा भवेः,
स्निग्धा बन्धुषु वत्सला परिजने स्मेरा सपत्नीष्वपि ।
पत्युर्मित्रजने सनर्मवचना, खिन्ना च तद्वेषिषु,
स्त्रीणां संवननं ननूचितमिदं चित्तौषधं भर्तृषु ॥ १२५ ॥
आमं ति तीइ वुत्ते, असुरो सप्पियस्स भुवणमल्लस्स ।
वत्थाभरणाइ बहुं, दाउं पत्तो सठाणम्मि ॥ १२६ ॥
कुमरो वि तओ चलिओ, पत्तो चंपाइ तमह वुत्तंतं ।
सिरिसेणनिवो सोउं, इय चिंतइ हरिसिओ हियए ॥ १२७ ॥
तम्मि कुले उप्पत्ती, सो विणओ तं कलासु कोसल्लं ।
सोको वी पुण एभा-रपगारिसो अत्थ पयस्स ॥ १२८ ॥
जेणं लीला इच्चिय, धुवं करिस्सिही राहवेहं ति ।
निच्चुयहियओ राया, कुमरं संठवइ वरभुवणे ॥ १२९ ॥
अह सज्जिअ राहावे-हमंमवे रयणथंभसोहिल्ले ।
मंचोवरि वरसीहा-सणोवविट्ठेसु निवईसु ॥ १३० ॥
कुमरो असुरऽप्पियए, वरवत्थआहरणभूसियसरीरो ।
परिहारदंसियम्मि, णिवसइ सीहासणे रम्मे ॥ १३१ ॥
इत्तो य रयणमाला, कुमरी सियसिचयसारलंकारा ।
सिवियारूढा पत्ता, तत्थुवविठ्ठा पिउच्छंगे ॥ १३२ ॥
अह सिरिसेणनिवेणं, भणियं भो भो निवा ! निवइपुत्ता ! ।
जो राहमिणं विंधइ, सो कन्नाए इमाइ वरो ॥ १३३ ॥
जा मंमवमज्झे सुदि-ढकणयथंभोवरि अहोवत्ता ।
वरकंचणपुत्तलिया, ठविया तीसेउ हिट्ठम्मि ॥ १३४ ॥
चउ चउ चक्काई दा-हिणेण वामेण वेगभरियाइं ।
तेसिँ अहो भूमीए, तिलभुआ कुंमिया ठविया ॥ १३५ ॥
तत्थ पमिबिंबयाए, पंचालीए अहो नियंतेण ।
विंधेयव्वा वाम-च्छितारिया सावहाणेण ॥ १३६ ॥
तह इह पत्ताण मए, सव्वेसिं खत्तियाण नामाइं ।
भुज्जेसु लिहावेउं, मिम्मयगोलेसु खित्ताइं ॥ १३७ ॥
ठवियाइँ ताइ इह सा-यकुंभकुंभम्मि संति कहुंते ।
अम्हं पुरोहियम्मी, गोलो किर नीहरइ जस्स ॥ १३८ ॥
सो राहावेहम्मी, ववसायं कुणइ इय ववत्थ त्ति ।
तत्थ पुरोहियहत्थे, अह पढमे गोलए चलिए ॥ १३९ ॥
नामम्मि वाइए तह, अउज्झनयरीएँ पहु जस्स अंगरुहो ।
मयरद्धयकुमरो व-ट्ठिऊण सकरे करेइ धणुं ॥ १४० ॥
पुव्वभणिएण विहिणा, मुक्को वि हु अप्पाडिउ अयरम्मि ।
सुचरणमुणिहियए इव, भग्गो मयरद्धयस्स सरो ॥ १४१ ॥
एवं राहावेहे, विहियारंभेसु खत्तिअवरेसु ।
उट्ठेइ भुवणमल्लो, कुमरो इह अवसरे पत्ते ॥ १४२ ॥
सज्जीकयधणुगुणो, अंतरमह लहिय मुक्कअसमसरो ।
राहावेहं साहइ, गंठीभेयं व भव्वजिओ ॥ १४३ ॥
जयतालादाणपरे, जणम्मि कुमरेण हट्ठतुट्ठमणो ।
तो सिरिसेणनरिंदो, परिणावइ रयणमालं तं ॥ १४४ ॥
कयसंमाणे अन्ने, नियनियठाणे निवे विसज्जेइ ।
कुमरो वि कइवि दिवसे, सुहेण तत्थेव ठाऊण ॥ १४५ ॥
सिरिसेणनिवमणुन्नवि-य बहुयपरिवारपणइणीसहिओ ।
पत्तो नियम्मि नयरे, पिऊण पणमेइ पयपउमं ॥ १४६ ॥
भुत्तुत्तरं च सीहो, कुमरवयंसो कहेइ सव्वं पि ।
रण्णो जं जह वित्तं, ता जाव इहागओ कुमरो ॥ १४७ ॥
धम्मात्थिणा अह निवेणा-हूय कयाइ सव्वदंसणिणो ।
पुट्ठा धम्मं तेहि उ, कहिए चिंतइ इमं राया ॥ १४८ ॥
जत्थ न विलयाविराओ, न संगवाओ जिएसु विणिवाओ ।
किह हुज्ज सो वि धम्मु-त्ति चिंतिउं ते विसज्जेइ ॥ १४९ ॥
कहइ कुमारो इच्छा, धम्मं जइ णाउ ताय ! जइणो वि ।
ता पुच्छय मुणिणो र-क्खियसंगिगयसंगाजियऽणंगा ॥ १५० ॥

निवआएसा तो वि-त्तिणा उ खुड्डो समाणिओ पगो ।
स निवेणुत्तो खुड्डय !, जइ धम्मं मुणसि ता कहसु ॥ १५१ ॥
ता सो अक्खुहियमणो, धम्मरहस्सं इमं ति जंपमाणो ।
सुक्कुल्लमट्टिगोलय-दुगं निवग्गे खिवइ कुड्डे ॥ १५२ ॥

राजा—

खुड्डय ! इय खुड्डम्मि, धम्मरहस्सं न किं पि बुज्झामो ।

क्षुल्लकः—

नरवर ! ता पगमणो, सुण भणियं जमिह गोलेहिं ॥ १५३ ॥
उल्लो सुक्को य दो बूढा, गोलया मट्टिया मया ।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो वि लग्गई ॥ १५४ ॥
एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्कगोलए ॥ १५५ ॥
विम्हइयमणो निवई, मुणिसत्तम ! सुट्ठु उवइट्ठं ।
इय थोऊणं तह नमि-य खुड्डयं तो विसज्जेइ ॥१५६॥
अह बीयदिणे राया, रज्जं दाऊण भुवणमल्लस्स ।
सिरिअभयघोसगुरुणो, पासे दिक्खं पवज्जेइ ॥ १५७ ॥
हेमप्पहरायरिसी, दुवालसंगीसु पत्तसूरी उ ।
बोहइ रवि व्व वसुहा-सरसीए भवियसरसिरुहे ॥ १५८ ॥
अह निवइभुवणमल्लो, पयाविओ चेव विजियरिउमल्लो ।
साहम्मियवच्छल्लं, करेइ वंदेइ जिणचंदे ॥ १५९ ॥
पवयणपभावणपरो, तिन्निनीसीहीपमुक्खसुयविहिणा ।
पविसिय चेइहरेसुं, अच्चाओ जिणाण अच्चेइ ॥ १६० ॥
रहजत्तपत्तसोहं, अट्ठाहियमहमहणीयजणमोहं ।
सयलं पि णियं रज्जं, सुणइ सुराणं पि कयच्छुज्जं ॥ १६१ ॥
तत्थाऽऽगयहेमप्पह-गुरुणो वयणं सुणो वि कइया वि ।
पुत्तम्मि ठविय रज्जं, विजयपक्कायाए संजुत्तो ॥ १६२ ॥
पडिवज्जइ पव्वज्जं, निसेहिइं तिविहसव्वसावज्जं ।
अब्भसइ दुविहसिक्खं, सो मुणिसीहो भुवणमल्लो ॥ १६३ ॥
इच्छा मिच्छा तहका-र आवसी तह निसीहिया पुच्छा ।
पमिपुच्छच्छंदेण निमं-तणा य उपसंपया दसमा ॥ १६४ ॥
इय सामायारिपुरो, निसेहिइं सयलअंतरारिवलं ।
तो स निसेहियकिरिओ, सिवं गओ सविजयपक्कागो ॥१६५॥

श्रुत्वेतिवृत्तमनिवृत्तवरेण्यपुण्य-
पण्याऽऽपणं भुवनमल्लनरेश्वरस्य ।
त्रैकालवित्त्रिजगदीशजिनस्य गेहे,
नैषेधिकीत्रिककृतौ कृतिनो ! यतध्वम्" ।१६६। सङ्घा० १ प्रस्ता०।

अथ वक्षानकप्रवेशसमयविहितनैषेधिकीत्रयानन्तरं जिनदर्शने "नमो जिनेभ्यः" इति भणित्वा प्रणामं च कृत्वा सर्वं हि प्रायेणोत्कृष्टं वस्तु कल्याणकामैर्दक्षिणभाग एव विधेयमित्यात्मनो दक्षिणाङ्गभागे मूलबिम्बं कुर्वन् ज्ञानादित्रयाराधनार्थं प्रदक्षिणात्रयं करोति । उक्तं च-

"तत्तो नमो जिणाणं, ति भणिय अद्धोणयं पमाणं च ।
काउं पंचंगं वा, भत्तिभरनिब्भरमणेणं ॥ १ ॥
पूअंगपाणिवा-रपरिगओ गहिरमहुरघोसेणं ।
पढमाणो जिनगुणगण-निबद्धमंगलथुत्तीइं ॥ २ ॥
करधरियजोगमुद्दो, पए पए पयणिरक्खणाउत्तो ।
दिज्जा पयाहिणतिगं, पगग्गमणो जिणगुणेसु" ॥३॥

अवि य-

मुत्तूण जं किंचि वि देवकज्जं, नो अन्नमट्ठं तु विचिंतइज्जा ।
इत्थीकहं भत्तकहं विवज्जा, देसस्स रन्नो न कहं कहिज्जा ॥१॥
मम्माणुवेहं न वइज्ज वक्कं, न जम्मकम्माणुगयं विरुद्धं ।
नालीयपेसुन्नसुकक्कसं वा, थोवं हियं धम्मपरं लविज्जा ॥२॥
गिहचेइएसु न घडइ, इयरेसु वि जइ वि कारणवसेण ।
तह वि न मुंचइ मइमं, सया वि तक्करणपरिणामं ॥३॥

यथा च चैत्येषु भावार्हत्त्वमारोप्य शक्रस्तवपाठः, पञ्चविधाभिगमश्चेति भावार्हत्प्रतिपत्तिर्विधीयते, तथा तत्र प्रदक्षिणात्रयमपि दातव्यं, दत्ताश्च तिस्रः प्रदक्षिणा विजयदेवेन निजराजधानीसिद्धायतने, व्याख्यातं चैतत्तृतीयोपाङ्गजीवाभिगमविवरणे श्रीहरिभद्रसूरिभिः । तथा अमिततेजःखेचरेश्वरचैत्यगृहे चारणश्रमण्यां ताः प्रदत्ताः, बालचन्द्रया च विद्याधर्या वैताढ्योपरितने सिद्धायतने कृताः, वसुदेवेन हरिकूटपर्वतोपरितनसिद्धायतने विहिताः । एतच्च सर्वं वसुदेवहिण्डौ प्रतिपादितम् । सङ्घा० १ प्रस्ता० । (हरिकूटादिसम्बन्धो 'वसुदेव' शब्दे)

जिनगृहप्रवेशे प्रणामत्रिकम्-

प्रदक्षिणात्रयानन्तरं च देवगृहलेपकपोतकपाषाणादिघट्टापनकर्मकरसारादिकरणेत्यादिजिनगृहविषयव्यापारपरम्पराप्रतिषेधरूपां द्वितीयां नैषेधिकीं मध्ये मुखमण्डपादौ कृत्वा मूलबिम्बसंमुखं प्रणामत्रिकं करोति ।

यद्भाष्यम्-

"तत्तो निसीहियाए, पविसित्ता मंमवम्मि जिणपुरओ ।
महिनिहियजाणुपाणी, करेइ विहिणा पणामतियं ॥ १ ॥
तयणु हरिसुल्लसंतो, कयमुहकोसो जिणिंदपडिमाणं ।
अवणेइ रयणिवसियं, निम्मल्लं लोमहत्थेणं ॥ २ ॥
जिणगिहपमज्जणंतो, करेइ कारेइ वा वि अन्नेणं ।
जिणबिंबाणं पूयं-तो विहिणा कुणइ जहजोगं ॥ ३ ॥
अह पुव्वं चिअ केणइ, हविज्ज पूया कया सुविहवेण । "

तां च विशिष्टान्यपूजासामग्र्यभावे नोत्सारयेत्, भव्यानां तद्दर्शनजन्यपुण्यानुबन्धिपुण्यानुबन्धस्यान्तरायप्रसङ्गात् ।

किं तु-

" तं पि सविसेससोहं, जह होइ तहा तहा कुज्जा ॥ ४ ॥
निम्मल्लं पि न एवं, भन्नइ निम्मल्ललक्खणाभावा ॥
भोगविणट्ठं दव्वं, निम्मल्लं बिंति गीयत्था " ॥ ५ ॥

यज्जिनबिम्बारोपितं सद्विच्छायीभूतं विगन्धिसंजातं दृश्यमानं च निःश्रीकतया न भव्यजनमनःप्रमोदहेतुस्तन्निर्माल्यं ब्रुवन्ति बहुश्रुताः ।

एवमङ्गपूजां वक्ष्यमाणां चाग्रपूजां कृत्वा चैत्यवन्दनां चिकीर्षुस्त्वेवंविधं निर्माल्यमेवं च नैवेद्यं निर्णयो न काऽपि दृश्यते ।

" इत्तो चेव जिणाणं, पुणरवि आरोवणं कुणंति जहा ।
वत्थाहरणाईणं, जुगलियकुंडलियमाईणं ॥ ६ ॥ "

नैवं चेत्—

" कहमन्नह एगाए, कालाईए जिणिंदपडिमाणं ।
अट्ठसयं लूहंता, विजयाई वन्निया समए " ॥ ७ ॥

आगमेऽर्हदर्थसार्थसमानयनादिरूपो जिनपूजाविषयोऽपि सावद्यव्यापारो देववन्दनाऽवसरे न कार्यः, यथोचितदिग्वग्रहस्थस्तृतीयां जिनपूजाकरणव्यापारपरित्यागरूपां नैषेधिकीं करोति । पुष्पफलपानीयनैवेद्यप्रदीपप्रमुख एव " सव्वत्थव' तिवारं, सिराइ नमणे पणामतियं ।" यद्वा भावितम्-" तिन्नि निसीही तिन्नि य पयाहिणं " इत्यर्थः । तत्र यदुक्तम्-" करेइ

विहिणा पणामतियं ति । " तत्प्रणामस्वरूपनिरूपिकेयं गाथा- "अंजलिबंधो अद्धो-णओ य पंचंगओ य तिपणामो" । अञ्जलिबन्धरूप इत्यस्यायमर्थः-स्वाभ्यादिदर्शनविज्ञापनादिसमये भक्तिकृते करद्वययोजनेति त्रिकद्वयम् । संप्रति "तिन्नि चेव पणामेत्ति " तृतीयं त्रिकं भावयन्नाह-"अंजलिबंधो गाहा" प्रक्षेपा सोपयोगा चेति व्याख्यायते-इहैकः प्रणामोऽञ्जलिकरणं, शीर्षादौ वा अञ्जलिना करणं, तत्र च परिभ्रम्य विज्ञापनाकृते मुखादिप्रदेशे संस्थापनम् । यथाऽऽगमः " चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहणं । " तथा-" अंजलिमउलियहत्थे तित्थयराभिमुहे सत्तट्ठपयाइं अभिगच्छइ। "तथा-" सिरसावत्तं दसनहं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी।" तथा-"सिरसावत्तं दसनहं मत्थए अंजलिं कट्टु जएणं विजएणं वद्धावेइ, वद्धावित्ता एवं वयासी " इत्यादि । उपलक्षणमेतदेकहस्तस्याप्यूर्ध्वीकरणादेः, गौरवार्हप्रतिपत्तये तथाकरणस्य लोके दर्शनात् । अन्यस्त्वर्द्धावनतरूप कर्ध्वादिस्थानस्थितैः किञ्चिच्छिरोनमनं शिरःकरादिना भूपदादिस्पर्शनं चेत्यादिस्वरूपः । उक्तं चागमे—" आलोए जिनपडिमाणं पणामं करेइ । "

तथा बृहद्भाष्ये-

" तत्तो नमो जिणाणं, ति भणिय अद्धोणयं पणामं च ।
काउं पंचंगं वा, भत्तिब्भरनिब्भरमणेण ॥ १ ॥ " त्ति ।

एकाङ्गादि चतुरङ्गान्तं प्रणामम्, उपलक्षणमिदम्-अङ्गानि न सर्वाणि,प्रकृताङ्गमध्यादङ्गान्यवनतानि यत्र प्रणामे सोऽङ्गावनत इति व्युत्पत्तेः । अपरस्तु पञ्चाङ्गः पञ्च न चत्वार्यपि, अङ्गानि जानुद्वयादीनि भूस्पृष्टानि यत्र स पञ्चाङ्गः। उक्तं च-

" दो जाणू दुन्नि करा , पंचमगं होइ उत्तमंगं तु ;
संमं संपणिवाओ , नेओ पंचंगपणिवाओ " ॥ १ ॥

एते त्रयः प्रणामाः सर्वत्र वा भूम्याकाशशिरःप्रभृतिषु उक्तप्रणामेषु वा प्रणामकरणकाले त्रीन् वारान् शिरःकराञ्जल्यादेर्नमनावर्त्तनादिना प्रणामत्रिकं भवति कर्त्तव्यं, विजयदेववत् । विशेषविषयस्त्वत्र एव द्वारावसरव्याख्यानतो, बहुश्रुतपर्युपास्तेश्च ज्ञातव्यः ॥ सङ्घा १ प्रस्ता० । प्रव० (पूर्व—सूचितविजयदेवसम्बन्धोऽन्यत्र)

(५) उक्तम्-" तिन्नि निसीही तिन्नि य, पयाहिणा तिन्नि चेव य पणामे " त्ति त्रिकत्रयम् । संप्रति चतुर्थं पूजात्रिकं सकलगाथयाऽनेकधा भावयन्नाह-

अंगग्गभावभेया, पुप्फाहारत्थुईहिं पूयतिगं ।
पंचोवयार अट्ठो-वयार सव्वोवयारा वा ॥

अङ्गं च जिनप्रतिमागात्रम्, अग्रं च तत्पुरोभागः, भावश्च चैत्यवन्दनागोचर आत्मनः परिणामविशेषः। कैः कृत्येत्याह-पुष्पाहारस्तुतिभिर्यथाक्रममिति गम्यम् ।

यदुक्तं बृहद्भाष्ये-

" अंगग्गि पुप्फपूआ, आमिसपूआ जिणग्गओ बीया।
तईया थुइथुत्तगया, तासि सरूवं इमं होई " ॥

चैत्यवन्दनाचूर्णावप्युक्तम्—" तिविहा पूआ पुप्फेहिं नेविज्जेहिं थुईहिं य, सेसभेया इत्थ चेव पविसंति त्ति ।" उत्तराध्ययनेषु पुनरेवम्-" तित्थयरा भगवंतो, तस्स चेव भत्ती कायव्वा, सा पूआ वंदणाईहिं हवइ, पूयं पि पुप्फामिसथुईपडिवत्तिभेयं चउव्विहं पि जहासत्तीए कुज्ज त्ति" ललितविस्तरादौ तु-पुष्पामिषस्तोत्रप्रतिपत्तिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यमिति । सङ्घा०१ प्रस्ता०। (एताश्चैत्यशब्दे दर्शिता अपि विस्तरभिया तत्रानुक्ता अपि सङ्घास्ताः सङ्घाचाराद्वसेयाः) त्रिदिग्निरीक्षणविरतिः-यस्यां दिशि तीर्थकृत्प्रतिमा तत्संमुखमेव निरीक्षणं विधेयं,न पुनरन्यादिक्त्रयसंमुखं, चैत्यवन्दनस्यानादरतादिदोषप्रसङ्गात् । यथा चैत्यवन्दनं कर्तुकामेन सत्त्वादेः रक्षणनिमित्तं सम्यक् चक्षुषा निरीक्ष्य निजचरणनिक्षेपभूमेः प्रमार्जनं त्रिवारं विधेयं, तच्च गृहिणा वस्त्राञ्चलेन, यतिना तु रजोहरणेनेति ।

" वर्णादितियमिति " विवृणोति-

" वन्नत्थालंबणओ, वन्नाइतियं वियाणेज्ज त्ति " ।

वर्णा अकारककारादयः,अर्थः शब्दाभिधेयम्,आलम्बनं प्रतिमादिरूपमेतस्मिन् त्रितये उपयुक्तेन भवितव्यम् ।

तत्रालम्बनं यथा-

" अष्टाभिः प्रातिहार्यैः कृतसकलजगद्विस्मयः कान्तकान्तिः,
सिञ्चन् पीयूषपूरैरिव सदसि जनं स्मेरदृष्टिप्रपातैः ॥
निःशेषश्रीनिदानं निखिलनरसुरैः सेव्यमानः प्रमोदा-
दर्हन्नालम्बनीयः स्फुरदुरुमहिमा वन्दमानेन देवान् ॥ १ ॥ "

" मुद्दातियं चेति " व्याचष्टे-

" जिणमुद्दजोगमुद्दा, मुत्तासुत्ती उ तिन्नि मुद्दाओ त्ति " ।

जिनमुद्रा, योगमुद्रा, मुक्ताशुक्तिमुद्रा चेति मुद्रात्रयं ज्ञातव्यम्। प्रव० १ द्वार ।

(६) उक्तम्-" तिविहा पूया य तह त्ति " चतुर्थं पूजात्रिकम् । पूजां च कुर्वतो भगवतोऽवस्थात्रिकं भावनीयमिति पञ्चमं त्रिकं पर्यायत्र्याहमाह-

भाविज्ज अवत्थतियं, पिंडत्थपयत्थरूवरहियत्तं ।
छउमत्थ केवलित्तं, सिद्धत्तं चेव तस्सऽत्थो ॥

भावितार्था ।ननु च-"पिण्डस्थं च पदस्थं च,रूपस्थं रूपवर्जितम् । ध्यानं चतुर्विधं ज्ञेयं,संसारार्णवतारकम्"॥१॥इति चतुर्धा ध्यानवेदिभिर्ध्यानमुच्यते। अत्र त्ववस्थात्रिकेण ध्यानत्रयमुक्तमतोऽत्र चतुर्थं ध्यानं कथं स्यात्?। उच्यते-रूपस्थध्यानं हि जिनबिम्बादिदर्शनतः प्रथममेव संजायते । यत उक्तम्-" पश्यति प्रथमं रूपं, स्तौति ध्येयं ततः पदैः । तन्मयः स्यात्ततः पिण्डे, रूपातीतः क्रमाद्भवेत् ॥१॥ " इति स्यादेव यथोक्तध्यानसिद्धिः । सङ्घा० १ प्रस्ता० । [अवस्थात्रयभावना सङ्घाचाराद् विस्तरेण ज्ञेया] प्ररूपिता सिद्धावस्था, तत्प्रतिपादनेन च निरूपितमवस्थात्रिकभावनमिति पञ्चमं त्रिकम् । तच्च दिक्त्रयालोकनवर्जनेन सम्यक् स्यादित्यतः " तिदिसिनिरिक्खणविरइ " त्ति षष्ठत्रिकस्वरूपनिरूपणार्थं गाथामाह-

उड्ढाहो तिरियाणं, तिदिसाण निरिक्खणं चइज्जऽहवा।
पच्छिमदाहिणवामा-ण जिणमुहन्नत्थदिट्ठिजुओ ॥

प्रक्षेपा सुगमा च । नवरं तुर्यपदस्येयं भावना-

" आलोयबलं चक्खुं, मणुओ तं दुक्करं थिरं काउं ।
रूवेहिँ तहिं खिप्पइ, सभावओ वा सयं चलइ ॥ १ ॥
तह वि हु नामियगीवो, विसेसओ दिसितियं न पेहिज्जा ।
तत्थुवओगाभावे, दंसणपरिणामहाणी उ ॥ २ ॥ "

उक्तं च महानिशीथे-" भुवणेक्कगुरुजिणिंदपडिमाविणिवेसिय-

नयणमाणसेण धन्नो हं सपुण्णो हं ति जिणवंदणाए सहलीकयजम्मु त्ति मन्नमाणेण विरइयकरकमलंजलिणा हरियतणबीयजंतुविरहियभूमीए निहिओजयजाणुणा सुपडिफुडसुविदियनीसंकजहत्थसुत्तत्थोभयं पए पए भावमाणेणं० जाव चेइए वंदियव्वे "। सङ्घा० १ प्रस्ता० । ध० ।

(७) गन्धारश्रावककथा-

" वेयड्ढगिरिस्स समा-सन्ने गंधारजणवए ।
गंधसमिद्धे नयरे, गंधारो नाम सावओ ॥ १ ॥
सो उ पव्वइउकामो पव्वइएहिं दुक्खेण तित्थाइं नमिउं ति त्ति सव्वतित्थयराणं जम्मणनिक्खमणनाणुप्पत्तिनिव्वाणभूमीओ दट्ठुं निग्गओ ।

तत्थ-

जम्मपुरि दो वि णीया, सावत्थी दो अउज्झ कोसंबी ।
वाणारसि चंदउरी, कायंदी भद्दिलपुरं च ॥ २ ॥
सीहपुरचंपकंपि-ल्लकउज्झरयणउर ति गयपुरमिहिला ।
रायगिहमिहिलसोरिय-पुर वाणारसी य कुंडपुरं ॥ ३ ॥
उसभस्स पुरिमताले, नाणं वीरस्स जंभियाएँ बहीं ।
नेमिस्स रेवए व य, नाणो सेसाण जम्मपुरे ॥ ४ ॥
अट्ठावयम्मि उसभो, वीरो पावाएँ रेवए नेमी ।
चंपाएँ वासुपुज्जो, सम्मेए सेसजिण सिद्धा ॥ ५ ॥

इति तित्थाइं दट्ठुं पडिनियत्तो जाव पव्वयामि त्ति ताहे वेअड्ढगिरिगुहाए उसहाइसव्वतित्थयराणं सव्वरयणचिचइयाओ कणगपडिमाओ साहुसगासे सुणित्ता ताओ दच्छामि त्ति तत्थ गओ, तत्थ देवयाराहणं करित्ता विहाडियाओ पडिमाओ, तत्थेगो सावगो थयत्थुईहिं थुणंतो अहोरत्तं निवसिओ "। इति निशीथे ।

तत्र स्तोत्रम्-

" नम्राऽऽखण्डलमौलिमण्डलमिलन्मन्दारमालोच्छलत्सान्द्रामन्दमरन्दपूरसुरभीभूतक्रमाम्भोरुहान् ।
श्रीनाभिप्रभवप्रभुप्रभृतिकाँस्तीर्थङ्करान् शङ्करान् ,
स्तोष्ये साम्प्रतकाललब्धजननान् भक्त्या चतुर्विंशतिम् ॥१॥
नन्द्यान्नाभिसुतः सुरेश्वरनतः संसारपारं गतः ,
क्रोधाद्यैरजितं स्तुवेऽहमजितं त्रैलोक्यसंपूजितम् ।
सेनाकुक्षिभवः पुनातु विभवः श्रीसंभवः शंभवः,
पायान्मामभिनन्दनः सुवदनः स्वामी जनानन्दनः ॥ २ ॥
लोकेशः सुमतिस्तनोतु विनतश्रेयःश्रियं सन्मतिर्दम्भद्रोः कलभं मदेभशरजं प्रस्तौमि पद्मप्रभम् ।
श्रीपृथ्वीतनयं सुपार्श्वमभयं वन्दे विलीनामयं ,
श्रेयस्तस्य न दुर्लभं शशिनिभं यः स्तौति चन्द्रप्रभम् ॥ ३ ॥
बोधिं नः सुविधे ! विधेहि सुविधे ! कर्म्मद्रुमौघप्रभो,
जीयादम्बुजकोमलक्रमतलः श्रीमान् जिनः शीतलः ।
श्रीश्रेयांसजयः स्फुरद्गुणचयः श्रेयःश्रियामाश्रयः ,
संपूज्यो जगतां श्रियं वितनुतां श्रीवासुपूज्यः सताम् ॥ ४ ॥
मोक्षं वो विमलो ददातु विमलो मोहाम्बुवाहानिलोऽनन्तोऽनन्तगुणः सदा गतरणः कुर्यात्क्षयं कर्म्मणः ।
धर्म्मो मे विपदक्ष्युतं शिवपदं दद्यात्सुखैकास्पदं,
शान्तिस्तीर्थपतिः करोतिव्रजगतिः शान्तिं कृतान्तःक्षितिः ॥५॥
कुन्थुर्मेघरवो भवाद्‌वतु वो मानेभकण्ठीरवो ,
भक्त्या नम्रनरामरं जिनवरं प्रातःस्मरं नौम्यरम् ।
श्रीमल्लेखनतक्रमोज्झिततमो मल्लेऽस्तु तुभ्यो नमो,
विश्वार्च्यौ भवतः स पातु भवतः श्रीसुव्रतः सुव्रतः ॥ ६ ॥
लोभाम्भोजनमेश्वरोपम ! नमे ! धर्मे धियं धेहि मे,
वन्देऽहं वृषगामिनं प्रशमिनं श्रीनेमिनं नेमिनम् ।
श्रीमत्पार्श्वजिनं स्तुवेऽस्तवृजिनं दान्तान्तकुर्याजिनं,
नौमि श्रीत्रिशलाऽङ्गजं गतरुजं मायालताया गजम् ॥ ७ ॥
इत्थं धर्म्यवचोवितानरचितं वर्यं स्तवं सुव्रतः,
सद्धर्मद्रुमसेकसंवरसुचां भक्त्याऽर्हतां नित्यशः ।
श्रेयःकीर्तिकरं नरः स्मरति यः संसारमाकृत्य सोऽतीतार्त्तिः परमे पदे चिरमितः प्राप्नोत्यनन्तं सुखम् ॥ ८ ॥

(कर्तृनामगर्भाष्टदलकमलम्)

जिन तव गुणकीर्त्ते विश्वविघ्ने सुकीर्ते,
विगलदपरकीर्त्तेर्यैर्फिरा धर्मकीर्त्तेः ।
सितकरसितकीर्तेः सुद्धधर्मैककीर्ते ।
स्तुतिमहमाचिकीर्ते तक्षितानङ्गकीर्ते ॥ १ ॥
जय वृषभ जिनाभिष्टूयसे निस्तनाभिर्जैमिमरविसनाभिर्यैः सुपर्वाङ्गनाभिः ।
नुम इह किल नाभिक्षोणिभृत्सूनुनाभिहृतभुवनमनाभिः, क्षान्तिसंपत्कनाभिः ॥ २ ॥
प्रकटितवृषरूप त्यक्तनिःशेषरूपप्रभृतिविषयरूप ज्ञानविश्वस्वरूप ।
जय चिरमसरूपः पापपङ्काम्बुरूप,
त्वमजित निजरूपप्राप्तसज्ज्ञातरूपः ॥ ३ ॥
जय मदगजवारिः संभवान्तर्भवारिप्रजजिद्‌हितवारिश्रीर्न केनाप्यवारि ।
यदधिकृतभवारि ध्वंस नः श्रीभवारिः,
प्रशमशिखरिचारिप्राणमद्दानवारिः ॥ ४ ॥
अकृतशुभनिवारं योऽत्र रागादिवारं,
सुविनतमघवारं संचरद्दुःखवारम् ।
मदनदहनवारं दोलितान्तर्भवारं,
नमत सपरिवारं तं जिनं सर्वदाऽरम् ॥ ५ ॥
तव जिन ! सुमते न प्रत्यहं लब्धतेन,
स्तुतिरिति सुमतेन कृत्तमो निष्कृतेन ।
यदिह जगति तेन द्राग् मया संमतेन,
ध्रुवमितदुरितेन श्रीश ! भाव्यं हितेन ॥ ६ ॥
परिहृतनृपसद्म श्रीजिनाधीश पद्मप्रभ सद्‌गुणपद्मच्छन्न तपोहंसपद्म ।
त्वदखिलभविपद्मव्रातसंबोधपद्म,
स्वजनगतविपद्यत्वेतु शर्माङ्कपद्म ॥ ७ ॥
दुरितमिभगमोहं पूर्विकाचर्यक्रमो हन्त्यसमतमशमोऽहङ्कारजिद् यः समोहम् ।
कृतकरणदमो हन्तास्तलोभं तु मोहं,
मतिहृतमसमोऽहं तं सुपार्श्वं तमोहम् ॥ ८ ॥
समतृणमणिभावः ज्ञातनिःशेषभावः,
प्रहतसकलभावप्रत्यनीकप्रभावः ।
कृतमदपरिभावः श्रीशचन्द्रप्रभाव,
द्विजपतितभाव त्यक्तकामस्वभाव ॥ ९ ॥
जिनपतिसुविधे यः स्याद्यदाज्ञाविधेयप्रवहण इह धेयः प्रस्फुरद्भागधेयः ।
त्रिजगदभिधेय श्लाघ्यसन्नामधेय,
भयति शुभविधेयस्तम्भसद्रूपधेय ॥ १० ॥

य इह निहतकामं मुक्तराज्यादिकामम्,
प्रणतसुरनिकामं त्यक्तसङ्गोगकामम्।
नमति स निजकामं प्राप्यते त्वां प्रकामं,
श्रयत कृतमकामं सार्विका श्रीः स्वकामम् ॥ ११ ॥
विषमविशिखदोषा वारिवारप्रदोषा,
प्रतिविशति सदोषाऽप्यस्य किं कालदोषा।
य इह वदनदोषापार्श्विषाऽङ्काग्निदोषा,
तनुकमलमदोषा श्रेयसा शस्तदोषा ॥ १२ ॥
कृतकुमतपिधानं सत्वरत्नाविधानं,
विहितदमविधानं सर्वलोकप्रधानम्।
असमशमनिधानं शं जिनं संदधानं,
नमत सङ्कपधानं वासुपूज्याभिधानम् ॥ १३ ॥
नवदवजलवाहः कर्मकुम्भाज्यदाहः,
शिवपुरपथवाहस्त्यक्तलोकप्रवाहः।
विमलजयसुवाहः सिद्धिकान्ताविवाहः,
शमितकरणवाहः शान्ततृष्णव्ययवाहः ॥ १४ ॥
जिनवरविनयेन श्रीविशुद्धाशयेन,
प्रवरतरनयेन त्वं नतोऽनन्त ! येन ॥
नविकमलचयेन स्फूर्जदूर्जस्वनेन,
द्विरदगतिनयेन तेन भाव्यं नयेन ॥ १५ ॥
जडिमरविसधर्मं प्रोक्तदानादिधर्मं,
विदितनिखिलधर्मं न्यक्कृताप्राङ्गधर्मं।
जय जिनवरधर्मं त्यक्तसंसारिधर्मं,
प्रतिनिगदितधर्मं ऊर्ध्वमुख्यार्थधर्मं ॥ १६ ॥
यदि नियतमशान्तिं नेतुमिच्छोपशान्तिं,
समभिलषत शान्तिं तद् द्विधा दत्त शान्तिम् ॥
विहितसकलशान्तिं जन्मतोऽप्यात्तशान्तिं,
नमत विगतशान्तिं हे जनाः ! देवशान्तिम् ॥ १७ ॥
ननु सुरवरनाथ ! त्वं सदाऽनाथनाथ,
प्रथितविगतनाथः किं त्वहं कुन्थुनाथ ! ॥
प्रकुरु जिन ! सनाथ ! स्वां यथाऽऽद्योपनाथ।
प्रणतविबुधनाथ ! प्राज्यसिद्धिष्यनाथ ! ॥ १८ ॥
अवगमसवितारं विश्वविश्वेशितारं,
तनुरुचिजिततारं सद्दयासान्द्रतारम्।
जिनमजिनमतारं भव्यशोकावतारं,
यदि पुनरवतारं संसृतौ नेच्छतारम् ॥ १९ ॥
अनिशमिह निशान्तं प्राप्य यः सन्निशान्तं,
नमति शिवनिशान्तं मल्लिनाथं प्रशान्तम्।
अधिपमिह विशान्तं श्रीमता चावशान्तं,
श्रयति दुरितशान्तं प्रोज्झ्य नित्यं च शान्तम् ॥ २० ॥
नमत तमथवा सत्प्रोल्लसच्चुरुवासः,
परिहृतगृहवासस्यांशके यस्य वासः।
विहितशिवनिवासः प्रत्तमोहप्रवासः,
स मन इह नवासः सुव्रतो मेऽध्युवास ॥ २१ ॥
समनमयत वालः शास्त्रवान् योऽप्यबाल-
प्रकृतिरसितवालः स्रस्तरुग्व्रक्कवालः।
जयतु नमिरवाज्ञः सोऽधरास्तप्रवालः,
श्वसितविजितबालः पुण्यवल्लयालवालः ॥ २२ ॥
जिन मदनमुने मे नानिशं नाथ नेमे,
निरुपमशमिनेमे ये न तुल्यं विनेमे।
निकृतिजलधिनेमेः सीरमोहद्रुनेमे,
प्रणिदधति न नेमे ते नरा अप्यनेमे ॥ २३ ॥
अहिपतिनृपपार्श्वे छिन्नसंमोहपार्श्वे,
दुरितहरणपार्श्वे संनमद्यक्षपार्श्वम्।
अशुभतमनुपार्श्वे न्यक्कृतामञ्जुपार्श्वे,
वृजिनविपिनपार्श्वे श्रीजिनं नौमि पार्श्वम् ॥ २४ ॥
त्रिदिशविहितमानं सप्तहस्ताङ्कमानं,
दलितमदनमानं सद्गुणैर्वर्द्धमानम्।
अनवरतममानं क्रोधमत्यस्यमानं,
जिनवरमसमानं संस्तुवे वर्द्धमानम् ॥ २५ ॥
विगलितवृजिनानां नौमि राजिं जिनानां,
सरसिजनयनानां पूर्णचन्द्राननानाम् ॥
गजवरगमनानां वारिवाहस्वनानां,
हृतमदमदनानां मुक्तजीवासनानाम् ॥ २६ ॥
अविकलकलतारा प्रीणतार्थांशुतारा-
भवजलनिधितारा सर्वदा विप्रतारा ॥
सुरनरविनतारा त्वार्हतीगीर्वितारा-
दनवरतमितारा ज्ञानलक्ष्मीं सुतारा ॥ २७ ॥
नयनजितकुरङ्गीमिन्दुसङ्घोचिरङ्गी-
मिह कुलमनुरङ्गीकृत्य चिन्तातरङ्गी।
स्मृतिरिह सुचिरं गीर्देवतां बस्तरङ्गी,
कुरुत इममरङ्गीत्यादिहृद्बन्धुरङ्गी ॥ २८ ॥"

(इति द्विवर्णमितांह्रियत्यष्टकस्तुतयः)

"तस्स निम्मलरयणेसु न मणागमवि लोभो जाओ, देवया चिं-तेइ-अहो माणुसमलुद्धं ति। तुट्ठा देवया, बूहि वरं भणंती नव-ट्ठिया। तओ संवेगेण लवियं-नियत्तो हं माणुस्सएसुं कामभोगे-सु किं वरेण कज्जं ति। अमोहं देवयादरिसणं ति भणित्ता देवया अट्ठसयं गुलियाणं जहाचिंतियमणोरहाणं पणमेइ, तओ य निग्गओ। सुयं च णेण-

"वीयभए नयरे वी, सव्वालंकारभूसिया दिव्वा ॥
देवावयारिया सा, एगा मणतोसिणी पडिमा।
तं पडिमं दच्छामि त्ति, तत्थ गओ वंदिया पडिमा ॥४१॥
तत्थ गओ स गिलाणो, जाओ पडिचारिओ य कुज्जाए।
अट्ठसयं गुलियाणं, तीए दाउं स पव्वइओ ॥ ४२ ॥
अह एगगुलियभक्खण-पभावओ सा सुवन्नाभा।
जाया तप्पभिइजणे, सुवन्नगुलिय त्ति विक्खाया ॥ ४३ ॥
भक्खिउ बीयगुलियं, चिंतइ सा मे पिउ व्व एस निवो।
सेसा गोहसमा तो, मह भत्ता हवउ पज्जोओ ॥ ४४ ॥
सो देवयाणुभावा, तीइऽणुरत्तो विसज्जए दूयं।
सा भणइ दंसउ निवं, पज्जोयस्साह सो गंतुं ॥ ४५ ॥
नलगिरिमारुहिय इमो, निसि पत्तो तत्थ तीइ अभिरुइओ।
जियपडिमं सह गिण्हसु, पडि तहा अन्नहा नेव ॥ ४६ ॥
अह गंतु सो सनयरं, पडिरूवं काउ तो तहिं पत्तो।
तं मुत्तुं जियपडिमं, दासिं गहिउं गओ सपुरिं ॥ ४७ ॥
गोसे स करी सोउं, नट्ठमए चेडियं अवहडं च।
कुविओ उदायणनिवो, जा जोयावेइ जियपडिमं ॥ ४८ ॥
तो तम्मिलणे पुव्वं, मल्लं दट्ठुं दसमउडबद्धनिवसहिओ।
पज्जोयनिवस्सुवरिं, चलिओ काले निदाघम्मि ॥ ४९ ॥
पत्तो मरुम्मि सिन्ने, भिसं तिसापीडिए मरइ राया।
झ त्ति पभावइदेवं, स विउव्वइ पुक्खरतिगं तो ॥५०॥

तहिँ नहिँ पाउं सलिलं, सुत्थे सिन्ने सुरो गओ सपयं।
राया उदायणो वि हु, उज्जेणिपुरं कमा पत्तो ॥ ५१ ॥
तत्थ उदायणरन्नो, अवंतिनाहस्स दूयवयणेण।
अचिरा परप्परेणं, रहसंगरसंगरो जाओ ॥ ५२ ॥
तयणु धणुद्धरपवरो रहमारूहिउं उदायणो पत्तो।
गुणटंकारमुदारं, कुणमाणो समरभूमीए ॥ ५३ ॥
नयरद्वाजेयमुद्दा-यणं निवं नलगिरिं चमिय पत्तो।
रणनुवि पज्जोओ पुण, बलवंते का नणु पइन्ना? ॥ ५४ ॥
नलगिरिगयमारूढं, तं दट्ठुमुदायणो भणइ रुट्ठो।
पाविट्ठ! भट्ठसंधो-सि तह विणट्ठोऽसि रे धिट्ठ! ॥ ५५ ॥
इय भणिय मंमलाए, रएण नीओ रहं निवो समामंतो।
निसियसरेहिँ विंधइ, वीसुं करिणो पयतलाइं ॥ ५६ ॥
तो लहु हत्थी पडिओ, धरिऊण उदायणेण पज्जोओ।
मम दासीवइदासो, त्ति अंकिओ कोवविवसेणं ॥ ५७ ॥
गंतुं तओ विदिसाए, अत्थि य देवाहिदेवपडिमं जा।
उप्पाडइ नरनाहो, ता भणइ सुरो अहो भूव! ॥ ५८ ॥
मा नेसु इओ पमिमं, वीयभए पंसुवुट्ठवो होही।
तो राया सविसाओ, नमिय तयं सपुरमभिचलिओ ॥ ५९ ॥
बुट्ठीइ सिवनइतमे, खलिओ सिविरं निहित्तु तत्थ ठिया।
काऊण धूलिवप्पे, दस वि निवा तस्स रक्खट्ठा ॥ ६० ॥
अह पज्जुसणादिवसे, कयउववासे उदायणे सूओ।
पत्थइ पज्जोयनिवं, का तुह कारी उ रसवइ त्ति ॥ ६१ ॥
सो चिंतइ नूणमिणं, मारिउकामो विसाइणा तत्तो।
जंपेइ सूय किरइ, किमज्ज मे विसू य आहारो? ॥ ६२ ॥
सूओ जंपइ सामी न, उ सपरियरो य भत्तट्ठी।
जं अज्ज पज्जुसवणा, तो तुह साहेमि आहारं ॥ ६३ ॥
सो आह साह तुमए,जेण मिणं मज्ज सारियं सूय!।
अज्जुववासो मज्झ वि, जं पियरो मह परमसड्ढो ॥ ६४ ॥
तं सूओ साहइ नं-तुदायणे सो वि भणइ जाणमिम।
से सड्ढत्तं जाणइ, धुत्तो पुण वइसगं काउं ॥ ६५ ॥
काराइ ठीइ एय-म्मि जारिसे तारिसे वि न हु सुद्धा।
मह होइ पज्जुसवणा, इय तं मुंचेइ नरनाहो ॥ ६६ ॥
दाउं अवंतिदेसं, स महप्पा कुणइ तेण खामणयं।
दासंकगोवणट्ठा, वियरइ कणगपट्टं च ॥ ६७ ॥
तप्पभिइ पट्टबद्धा, निवा पुरा आसि मउमबद्ध त्ति।
वित्ते वरिसारत्ते, उदायणो नियपुरं पत्तो ॥ ६८ ॥
जे लाभत्थी वणिया, समागया तत्थ ववहरणहेउं।
तेहिँ चिअ वसमाणं, तं खायं दसपुरं नयरं ॥ ६९ ॥
इउ य मह निव्वाणं, निसाए गोयम! पाल्लइ निवो अवंतीए।
होहि पालिलयह सो, अणुअ उदाइनिवमरणे ॥ ७० ॥
पालइ रज्जं सट्ठिए-ण पणसयं नवएह नंदाणं।
नव मोरियऽठ्ठसयं स-त्तवरिस पूसमित्तस्स ॥ ७१ ॥
बलमित्तभाणुमित्ताऽण सट्ठि नरवाहणस्स चालीसा।
तेर निव गद्दभिल्ले, कलिकालए उणियसगे चउरो ॥ ७२ ॥
सुन्नमुणिवेयजुत्ता, जिणकाला विक्कमो वरिससहो।
धम्माइच्चा चत्ता, नाइलसगवीसनाहडे अट्ठ ॥ ७३ ॥
तह चि धुंधुमार तिस लहु-विक्कमाइब्बारसयचरिसे।
दस कुवलमित्त अंधो, हेयवंसी असीनेओ ॥ ७४ ॥
अह जिणपडिमं नाइल-निवो निसाए कयाइ पूअंतो।
बहि आगए सुअ सुगे, दट्ठु निमओ कुट्ठर साह ॥ ७५ ॥
वरसु वरं ति सुरुत्तो, भणइ भया हुजमिह पसट्ठोऽहं।
होही एवं ति परं, मिच्छत्तं गच्छिही तित्थं ॥ ७६ ॥
जं अट्ठकयाइ तुमं, पूयाइ विणगत्त त्ति सुणु सुरा।
क त्ति गया अह भूरइ, निवो बहुं कट्ठु विहियं मे ॥ ७७ ॥
भाइलसामी तु तओ, पलिव्दमज्ज वि समत्थि अवंतीए।
जियपडिमुप्पत्ति पइ-ण्णगाउ सेसं तु नायव्वं ॥ ७८ ॥
इह निसि थुईहि वंदण-देवयकरकणयगुलियरज्जाइं।
भणियं अवियद्दियट्ठा, तिदिसिं अण्णाइ पुण पगयं ॥ ७९ ॥
गान्धारश्रावकस्येति वृत्तं,
चित्ते श्रुत्वैकाग्रतो सन्निमित्तम्।
नित्यं भव्याः! भव्यभावेन देवान्,
वन्दध्वं भो त्रिप्रवेक्षोऽझनेन" ॥ ८० ॥
इति त्रिदिशिनिरीक्षणवर्जने गन्धारश्रावकसंबन्धः। सङ्घा० १ प्र०।
भावितं "तिदिसि निरिक्खणविरइ" त्ति षष्ठं त्रिकम्। सप्तमस्य तु त्रिकस्य "पयभूमिपमज्जणं च तिक्खुत्तो" इत्यस्यैवं भावना-सर्वमपि धर्मानुष्ठानं दयाप्रधानमेव क्रियमाणं सफलतां धत्ते। आह च-"पठितं श्रुतं च शास्त्रं, गुरुपरिचरणं च गुरु तपश्चरणम्। घनगर्जितमिव विजलं, विफलं सकलं दयाविकलम्" ॥ १ ॥ इति। तथा-"जयणा उ धम्मजणणी, जयणा धम्मस्स पालणी चेव। तह बुड्ढिकरी जयणा, एगंतसुहावहा जयणा" ॥ १ ॥ इति। सङ्घा० १ प्रस्ता०।

से भयवं! केणं अट्ठेणं एवं वुच्चइ, जहा णं पंचमंगलं महासुअक्खंधमहिज्जित्ता णं पुणो इरियावहियं अहीए?। गोयमा! जो णं एस आयासेणं जया गमणागमणाई परिणामपरिणए अणेगजीवपाणभूयसत्ताणं अणुवउत्तए सत्ते संघट्टणं अवद्दावणं किलामणं काऊणं अणालोइय अपडिकंते चेव असेसकम्मक्खयट्ठाए किंचि चिइवंदणसज्झायज्झाणाइएसु अभिरमेज्जा,तया से एगग्गचित्ता समाही हवेज्जा, न वा जओ णं गमणागमणाइअणेगअन्नवावारपरिणामासत्तचित्तयाए केइ पाणी तमेव भवंतरमट्टदुहट्टज्झवसिए कंचि कालं खणं विरत्तेज्जा, ताहे तं तस्स फलेणं विसंवएज्जा, जया पुण कहिं वि अन्नाणमोहपमायदोसेणं सहसा एगिंदियाईणं संघट्टणं परितावणं वा कयं हवेज्जा, तया य पच्छा हा हा हा दुट्ठु कयमम्हेहिं ति य घणरागदोसमोहमिच्छत्तअन्नाणंधेहिं अदिट्ठपरलोगपच्चवाएहिं कूरकम्मा निग्घिणेहिं ति परमसंवेगमावन्ने सुपरिफुडं आलोएत्ता णं निंदित्ता णं गरिहित्ता णं पायच्छित्तमणुचरित्ता णं निसल्ले अणाउलचित्ते असुहकम्मक्खयट्ठा किंचि आयहियं चेइवंदणाई अणुट्ठिज्जा, तया तयट्ठे चेव उवउत्ते से हवेज्जा, तया तस्स णं परमेगग्गचित्तसमाही हवेज्जा, तया चेव सव्वजगजीवपाणभूयसत्ताणं अहिट्ठफलसंपत्ती भवेज्जा, ता गोयमा! णं अप्पडिक्कंताए इरियावहियाए न

कप्पइ चेव काउं किंचि चिइवंदणसज्झायज्झाणाइयं फलासायमभिकंखुगाणं, एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जहा णं गोयमा ! सुत्तत्थोभयं पंचमंगलं थिरपरिचियं काऊणं तओ इरियावहियं अहीए ॥ महा० ३ अ० ।

दशवैकालिकद्वितीयचूलिकावृत्तौ तु ईर्यापथिक्या प्रतिक्रमणं विना न कल्पते किमपि कर्तुमिति, इत्यागमप्रामाण्यादीर्यापथिकीपूर्वमेव सर्वमपि धर्मानुष्ठानमनुष्ठेयम , इत्थमेव चित्तोपयोगेनानुष्ठानस्य साफल्यभणनात् । अन्यथा प्रायश्चित्तैकाग्रतायाः अप्यभावात् सूत्रप्रामाण्याच्च पुष्कलिना शङ्खं प्रति श्रावकचन्द्रमस्यापि तथैव विधानाच्च । संघा० १ प्रस्ता० । अथ चेर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वकं चैत्यवन्दनमिति पूर्वमुक्तं,तच्च युक्तं, यतो महानिशीथे-" इरिआवहिए अपडिक्कंताए न किंचि कप्पइ चेइअवंदणसज्झायाऽऽवस्सयाइ काउं " इति । अन्या अपि प्रतिक्रमणादिक्रिया एतत्प्रतिक्रमणपूर्विकाः शुद्ध्यन्ति ।

यतो विवाहचूलिकायाम्-

" दिव्विहि कुसुमसेहर, सुच्चइ विवाहिगारमज्झम्मि ।
ठवणायरिअं ठविउं,पोसहसालाएँ तो सोही ॥ १ ॥
उम्मुक्कभूसणो सो, इरिआइपुरस्सरं च मुहपुत्ति ।
पडिलेहिऊण तत्तो, चउव्विहं पोसहं कुणइ ॥ २ ॥ " त्ति ॥

तथाऽऽवश्यकचूर्णावपि-"तत्थ ढंढरो नाम सावओ सरीरचिंतं काऊण पडिस्सयं वच्चइ, ताहे तेण पूरएण लिम्नि निसीहिआओ कयाओ, एवं सो इरिआई दल्लूरेण सरेण करेइ" त्ति । तथा च-" ववहारावस्सयमहानिसीहभगवईविवाहचूलासु पडिक्कमणचुन्निमाइसु पढमं इरिआपडिक्कमणं" इत्याद्युक्तेरतः प्रथममीर्यापथिकीसूत्रं व्याख्यायते । तच्च-" इच्छामि पडिक्कमिउं" इत्यादि " तस्स मिच्छामि दुक्कडं " इत्यन्तम । ध० २ अधि० । एवमालोचनाप्रतिक्रमणरूपं द्विविधं प्रायश्चित्तं प्रतिपद्य कायोत्सर्गलक्षणप्रायश्चित्तेन पुनरात्मशुद्ध्यर्थमिदं पठति-" तस्स उत्तरीकरणेणं" इत्यादि "ठामि काउस्सग्गं" इति पर्यन्तम । ध० २ अधि० । सं० । संपूर्णकायोत्सर्गश्च--" नमो अरिहंताणं " इति नमस्कारपूर्वकं पारयित्वा चतुर्विंशतिस्तवं संपूर्णं पठति । ध० २ अधि० । " पयभूमिपमज्जणं च तिक्खुत्तो " इति सप्तमत्रिकभावार्थः ।

(८) स्तुत्यक्षराणि । अथ वर्णादित्रयमित्यष्टमं त्रिकं गाथापूर्वार्द्धेन भाष्यकृद्विवृण्वन्नाह-

वन्नतिअं वन्नत्था-लंबणमालंबणं तु पडिमाई ।

वर्णत्रिकमुच्यते,किमित्याह-वर्णार्थालम्बनानि, तत्र वर्णाः स्तुतिदण्डादिगतान्यक्षराणि, ते च स्फुटसपदच्छेदसुविशुद्धान्यूनातिरिक्ता उच्चार्याः । यदवादि भाष्ये-

" थुइदंडाई वन्ना, उच्चरियव्वा फुडा सुपरिसुद्धा ।
सरवंजणाइभिन्ना, सपयच्छेया उचियघोसा ॥ १ ॥ "
अर्थश्च तेषामेवाभिधेयः, स यथापरिज्ञानं चिन्त्यः ।

न्यगादि च-

" चिंतेयव्वो सम्मं, तेसिं अत्थो जहापरिन्नाणं ।
सुन्नहियस्स मिहरिहा, उत्तमफलसाहगं न भवे ॥ १ ॥ "

आलम्बनं तु स्वयमेव भाष्यकृद् व्याख्यानयति-" आलम्बणं तु पडिमादीनि" आलम्बनं पुनर्देवान् वन्दमानस्य चन्द्रनरेन्द्रस्येवाश्रयणीयं,किं तद् प्रतिमादि; आदिशब्दाद् भावार्हदादिपरिग्रहः ।

यदभाणि-

" भावारिहंतपमुहं, सरिज्ज आलंबणं पि दंडेसु ।
अहवा जिणबिंबाई, जस्स पुरो वंदणाइ त्ति" ॥ १ ॥ सङ्घा० १ प्रस्ता० । [अत्र चन्द्रनरेन्द्रकथा सङ्घाचाराद्वसेया]

(९) अथ नवमं मुद्रात्रिकं नामतो गाथोत्तरार्द्धेनाऽऽह-

जोगजिणमुत्तसुत्ती-मुद्दाभेएण मुद्दतियं ।

मुद्राशब्दः पृथग् योज्यते, ततश्च योगमुद्राजिनमुद्रामुक्ताशुक्तिमुद्राभेदान्मुद्रात्रिकं भवतीत्यर्थः ।

आसां स्वरूपमाह-

अन्नुन्नंतरिअंगुलि-कोसागारेहिँ दोहिँ हत्थेहिं ।
पिट्टोवरि कुप्परसं-ठिएहिँ तह जोगमुद्द त्ति ॥ १२ ॥

उभयकरयोर्मिलनेन परस्परमध्यप्रविष्टाङ्गुलिभिः कृत्वा पद्मकुड्मलाकाराभ्यां द्वाभ्यां हस्ताभ्यां, तथा उदरस्योपरि कुहणिकया व्यवस्थिताभ्यां, योगो हस्तयोर्योजनविशेषः, तत्प्रधाना मुद्रा योगमुद्रा इत्येवं स्वरूपा भवतीति गम्यम ॥ १२ ॥

चत्तारि अंगुलाइं, पुरओ ऊणाइ जत्थ पच्छिमओ ।
पायाणं उस्सग्गो, एसा पुण होइ जिणमुद्दा ॥ १३ ॥

चत्वार्यङ्गुलानि स्वकीयान्येव पुरतोऽग्रतस्तथा ऊनानि किञ्चिच्चत्वार्येवाङ्गुलानि यत्र मुद्रायां पश्चिमतः पश्चाद्भागे, एवं पादयोरुत्सर्गः, परस्परसंसर्गत्यागोऽन्तरमित्यर्थः । एषा पुनर्भवति जिनानां कृतकायोत्सर्गाणां सत्का, जिना वा विघ्नजेत्री मुद्रा जिनमुद्रेति ॥ १३ ॥ भवति च यथा स्थानस्थापितमुद्रात्रयचैत्यवन्दनाकरणतोऽत्रामुत्रापि विघ्नसङ्घातविघातः; उक्तं चैत्यवन्दना पञ्चाशकवृत्तौ ॥

मुत्तासुत्तीमुद्दा, जत्थ समा दो वि गब्भिया हत्था ।
ते पुण निडालदेसे, लग्गा अन्ने अलग्ग त्ति ॥ १४ ॥

मुक्ताशुक्तिरिव मुद्रा हस्तविन्यासविशेषो मुक्ताशुक्तिमुद्रा, सा चैवं समावन्योन्यान्तरिताङ्गुलितयाऽविषमौ द्वावपि न त्वेको गर्भितावित्र गर्भितावुन्नतमध्यौ, न तु नीरन्ध्रौ, चिपिटावित्यर्थः । हस्तौ, तौ पुनरुभयतोऽपि सोल्लासौ करौ भालमध्यभागेन लग्नौ संबद्धौ कार्यावित्येके सूरयः प्राहुः अन्ये पुनस्तत्रालग्नावित्येवं वदन्ति, नेत्रमध्यभागवर्त्याकाशसङ्गतावित्यर्थः ॥ १४ ॥

आसां विषयविभागमाह -

पंचंगो पणिवाओ-थयपाढो होइ जोगमुद्दाए ।
वंदण जिणमुद्दाए, पणिहाणं मुत्तसुत्तीए ॥ १५ ॥

पञ्चाङ्गानि जान्वादीनि विवक्षितव्यापारवन्ति यत्र स पञ्चाङ्गप्रतिपातः प्रणामः प्रणिपातदण्डकः । पाठस्यादाववसाने च कर्त्तव्यतया, स चोत्कर्षतः पञ्चागः कार्यः । यदुक्तमाचाराङ्गचूर्णौ-" कइ नमंति सिरपंचमेणं काएणं " ति । यत्पुनः " वामं जाणुं अंचेइ" इत्याद्युक्तं,तत्प्रभुत्वादिकारणाश्रितत्वाच्च यथोक्तविधिबाधकतया प्रभवितुमर्हति , चरितानुवादत्वाच्च । यद्यपीह पञ्चाङ्गः प्रणिपात इत्युक्तम , तथापि पञ्चाङ्गमुद्रया प्रणिपातः कार्य इति द्रष्टव्यम; मुद्राणामेवाधिकृतत्वात् । युक्तं च पञ्चाङ्गया अपि मुद्रात्वमङ्गविन्यासविशेषरूपत्वात् , योगमुद्रादिवदिति । आह-नन्वेवम-" मुद्दातियं" इति उक्ते संख्याविघातप्रसङ्गः,नैतदेवम,अभिप्रायापरि

ज्ञानात् । उक्तं हि प्राक् योगमुद्रादयो ह्येवं परिसंख्याताः, सूत्रोच्चारभावितया मूलमुद्रात्रयरूपत्वात् । मुकुटाऽञ्जलिपञ्चाङ्गीमुद्रादयस्तु प्रणामकरणकालभावित्वेनोत्तरमुद्रारूपत्वाच्च परिज्ञाताः, उत्तरमुद्रात्वं चासां सूत्रोच्चारसमये समकमनुपयुज्यमानत्वात्तथाऽनुक्तत्वादनियतत्वात् सूत्रोच्चारकालात्पूर्वापरकालभावित्वात् । यदपि-" करयलपरिग्गहियं सिरसावत्तं दसनहं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी " इत्युक्तं दृश्यते, तदपि सूत्रोच्चारस्यादौ विनयविशेषदर्शनं परं, न पुनस्तथास्थितस्यैव सूत्रोच्चारख्यापनपरम् । अन्यथाऽपि नृपादीनां भगवत्यादौ तथा प्रतिपत्तेर्भणनात्, तथास्थितस्य विज्ञापनादेरदर्शनात्पूर्वकालभाविविधिवाचिनः कृत्वेत्यत्र क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरकालभाविविध्यन्तरसूचकत्वाच्च अक्षिणी निमील्य हसतीत्यादिवत्तुल्यकर्तृकत्वायोगान्निमील्यादौ क्त्वास्तवग्रहणात् । किंच-यद्येवंस्थितस्यैव सूत्रपाठः क्रियेत, ततोऽपिहितमुखत्वेन धर्मरुचिसाध्व्यादीनामपि सावद्यभाषाऽऽपत्तिः । तथा च भगवत्यामुक्तम्-" सक्केणं भंते ! देविंदे देवराया किं सावज्जं भासं भासइ, अणवज्जं भासं भासइ ? । गोयमा ! सावज्जं पि भासं भासइ,अणवज्जं पि भासं भासइ । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ, जहा णं-सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ, अणवज्जं पि भासं भासइ ?। गोयमा ! जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं अणिज्जुहित्ता णं भासं भासइ, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया सावज्जं भासं भासइ । जाहे णं सक्के देविंदे देवराया सुहुमकायं निज्जुहित्ता णं भासं भासइ, ताहे णं सक्के देविंदे देवराया अणवज्जं भासं भासइ । से एएणं अट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ, जहा णं-सक्के देविंदे देवराया सावज्जं पि भासं भासइ, अणवज्जं पि भासं भासइ " । तस्मान्मुकुटाञ्जलिमुद्रादीनां विनयविशेषदर्शनफलत्वेन सूत्रोच्चारकालात्पूर्वापरकालभावितया च न योगमुद्रादीनामिव मूलमुद्रारूपत्वम् । ततश्च "मुद्दातियं" इति न यथोक्तसंख्याविघातः,पर्युपास्या इत्यर्थं बहुश्रुताः । यच्च चरितानुवादे जीवाभिगमादिषु विजयदेवादिभिः "आलोए जिणपडिमाणं पणामं करेइ" । तथा-"वामं जाणुं अंचेइ,दाहिणं जाणुं धरणितलंसि निहट्टु तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ " त्ति एकाङ्गश्चतुरङ्गश्च प्रणामः कृतो दृश्यते,तन्मध्यमप्रणामत्वादर्द्धावनताख्यद्वितीयप्रणामान्तर्दृष्टव्यमिति, भावितार्थं चैतत्प्रणामत्रयव्याख्याऽवसरे । तथा स्तवपाठः शक्रस्तवादिभणनं , भवति कर्त्तव्य इति शेषः । योगमुद्रया पूर्वोक्तस्वरूपया । तत्र चायं विधिः-इह साधुः श्रावको वा चैत्यगृहादावेकान्ते प्रयतः परित्यक्तान्यकर्तव्यः सकलसत्त्वानपायिनीं भुवं निरीक्ष्य परमगुरुप्रणीतेन विधिना त्रिः प्रमृज्य च क्षितितलनिहितजानुयुगलः करकमलसत्यापितयोगमुद्रं प्रणिपातदण्डकं पठतीति । यदुक्तं महानिशीथतृतीयाध्ययने-" भुवणेक्कगुरुजिणिंदपडिमाविणिवेसियनयणमाणसेण धन्नोऽहं सपुन्नोऽहं ति जिणवंदणाए सहलीकयजम्मु त्ति मन्नमाणेण विरइयकरकमलंजलिणा हरियतणबीयजंतुविरहियभूमीए निहिअोभयजाणुणा सुपरिफुडसुविदियनिस्संकजहत्थसुत्तत्थोभयं पए पए भावेमाणेणं० जाव चेइए वंदियव्वे " त्ति । तत्रैव चोक्तम्-" सक्कत्थयाइयं चेइयवंदणयं ति । " यत्पुनर्ज्ञाताधर्म्मकथादिषु धर्मरुचिसाध्व्यादिचरितानुवादे भणितम्-"पुरत्थाभिमुहे संपलियंकनिसन्ने करयले" इत्यादि, तदशक्त्यादिकारणाश्रितम्, न पुनः "भूमिनिहिअोभयजाणुणा " इत्यादिविधिबाधाविधायी भवति, चरितानुवादविहितत्वात् । चरितानुवादविहितानि हि नोत्सर्गोत्सर्गविधिवादस्य बाधकानि साधकानि वा भवितुमर्हन्ति, कारणाश्रितत्वेन द्वितीयपदान्तर्वर्तित्वात्तेषाम्,अन्यथा वा यथाऽऽम्नायं सुधीभिः समाधेयम् । तथा वन्दनम्-"अरिहंतचेइयाणं" इत्यादिदण्डकैः प्रसिद्धैर्जिनबिम्बादीनां जिनमुद्रया पूर्वोक्तशब्दार्थया विघ्नजेत्या कर्त्तव्यं भवति, दौपद्यादिवत् । तथा च षष्ठाङ्गे-" तए णं सा दोवई रायवरकन्ना० जाव धूवं डहइ, वामं जाणुं अंचेइ, करयल० जाव कट्टु एवं वयासी-नमोऽत्थु णं० जाव संपत्ता णं वंदइ, नमंसइ । " अत्र जीवाभिगमोक्तं विवरणम् । ततो विधिना प्रणामं कुर्वन् प्रणिपातदण्डकं पठति-"नमोऽत्थु णं अरिहंताणं" इत्यादि, यावत् "नमो जिणाणं जियभयाणं" इति । दण्डकार्थश्चैत्यवन्दनाविवरणादवसेयः । "वंदइ नमंसइ" त्ति । वन्दते ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेति । "परिग्गहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलिं कट्टु एवं वयासी-नमोऽत्थु णं अरिहंताणं" इत्यादि । ततोऽस्य पाठे विविधविधिदर्शनात् सर्वेषां च प्रमाणग्रन्थोक्तत्वेन विनयविशेषकृतत्वेन च निषेद्धुमशक्यत्वात् । योगमुद्रयाऽपि शक्रस्तवपाठो न विरुध्यते, विचित्रत्वाद् मुनिमतानाम् । न चैतानि परस्परमतिविरुद्धानीति वाच्यम्, सर्वैरपि विनयस्य दर्शितत्वात् इत्यलं प्रसङ्गेन । तथा वन्दनम्-" अरिहंतचेइयाणं " इत्यादिदण्डकपाठेन जिनबिम्बादिस्तवनं जिनमुद्रया । इयं च पादाश्रिता, दण्डकानामपि स्तवरूपत्वात्, योगमुद्राऽपि स्तवसङ्गतैव, सा च हस्ताश्रिता, अत उभयोरप्यनयोर्वन्दने प्रयोगः ।

उक्तं च-

" उट्ठिय जिणमुद्दंचिय-चलणो करधरियजोगमुद्दो य ।
जिणवयणनिहियदिट्ठी, ठवणे जिणदमयं पढई ॥ १ ॥ "

तथा प्रणिधानं-" जय वीयराय " इत्यादि यथेष्टप्रार्थनारूपं, यद्यस्य तीव्रसंवेगहेतुरिति यावत्, तीव्रसंवेगाद्धि अत्राऽशुभाविनी विशुद्धयोगसंप्राप्तिः, तच्च मुक्ताशुक्त्या, मुद्रया कार्यमिति शेषः । सङ्घा० १ प्रस्ता० । ल० । पञ्चा० । दर्श० । ध० । (अत्र धर्मरुचिद्रौपदीकथाऽन्यत्र)

(१०) प्रणिधानम्-

उक्तं मुद्रात्रिकमिति नवमं त्रिकम् । संप्रति " तिविहं च पणिहाणं" इति दशमं त्रिकं गाथापादत्रिकेणाऽऽह-

पणिहाणतिगं चेइय-मुणिवंदणपत्थणासरूवं वा ।
मणवइकाएगत्तं ,

यदिह मुक्ताशुक्त्या मुद्रया क्रियते, तदेतत्प्रणिधानत्रिकम् । किमित्याह-चैत्यमुनिवन्दनाप्रार्थनास्वरूपम् । अत्रापृथक् वन्दनाशब्दयोगात् प्रथमं प्रणिधानं चैत्यवन्दनारूपम्-" जावंति चेइआइं " इत्यादि । द्वितीयं मुनिवन्दनालक्षणम्-"जावंति के वि साहू" इत्यादि । तृतीयं प्रार्थनास्वरूपम्-"जय वियराय" इत्यादि ।

उक्तं च बृहद्भाष्ये-

"अन्नं पि तिप्पयारं, वंदणयपरं तज्जाविपणिहाणं ।
जम्मि कए संपुन्ना, उक्कोसा वंदणा होइ ॥ १ ॥
चेइयगय साहुगयं, नेयव्वं तह य पत्थणारूवं ।

एयस्स पुण सरूवं, सविसेसं उवरि वुच्छामि ॥ २ ॥ "

ननु यदेतत्प्रणिधानत्रिकमुक्तं तत्किल वन्दनाऽवसाने विधीयते "अन्नं पि तिप्पयारं वंदणयपरं तभावि" इत्यादिभाष्यवचनात्। ततः शेषा वन्दना प्रणिधानरहितेति प्राप्तमित्याशङ्कयाऽऽह-"चेइय त्ति।" अथवा द्वितीयमपि प्रणिधानत्रिकमस्ति यत्समस्तचैत्यवन्दनायां विधीयते। किं तदित्याह-मनोवचःकायानामैकाग्र्यम्, अकुशलरूपाणां निवर्त्तनम्, समाधिः रागद्वेषाभावोऽनन्योपयोगितेति यावत्। आह च-

" इह पणिहाणं तिविहं, मणवइकायाण जं समाहाणं।
रागद्दोसाभावो, उवओगित्तं न अन्नत्थ ॥ १ ॥
एअं पुण तिविहं पि हु, वंदंतेणाऽऽइओ उ कायव्वं।
चिइवंदणमुणिवंदण-पत्थणरूवं तु पज्जंते ॥ २ ॥ "

अत्र चेयं भाष्योक्ता भावना-

" चिंतइ न अन्नकज्जं, दूरं परिहरइ अट्टरुद्दाइं।
एगग्गमणो वंदइ, मणपणिहाणं हवइ एयं ॥ १ ॥
विगहाविवायरहिओ, वज्जंतो सूयडडुरं सद्दं।
वंदइ सपयच्छेयं, वाया पणिहाणमेयं तु ॥ २ ॥
पेहंतमपज्जंतो, उड्डाणनिसीयणाइयं कुणइ।
वावारंतररहिओ, वंदइ इय कायपणिहाणं " ॥ ३ ॥

पञ्चाशकेऽप्युक्तम्-

" सव्वत्थ वि पणिहाणं, तग्गयकिरियाऽभिहाणवन्नेसु।
अत्थे विसए य तहा, दिट्ठंतो छिन्नजालाए ॥ १ ॥ "

अस्या अर्थः-सर्वत्रापि समस्तायामपि चैत्यवन्दनायां, न केवलं तदन्त एव प्रणिधानं कार्यं, नरवाहणनरेन्द्रवत्। क्व विषये?, तद्गताश्चैत्यवन्दनागताः, क्रिया मुखस्थगनमुद्रान्यासादिकाः, तासु, तथा अभिधानानि पदानि, वर्णा अक्षराणि, तेषु तेषु, तथाऽर्थोऽर्हदादिपदाभिधेयः, तस्मिन्, विषयो वन्दनागोचरो भावार्हदादिः, दृष्टिगोचरो वा चैत्यबिम्बप्रभृतिकः, तस्मिन्, तथाशब्दात् "जय वीयराय" इत्यादिप्रार्थनायामपि, 'दिट्ठंतो छिन्नजालाए' इति तुर्यपदस्यैव भावना। प्रेरकः प्राह-

" वन्नाइसु उवओगो, जुयवं कह घमइ एगसमयम्मि।
दो उवओगा समए, केवलिणो वि हु न जं इट्ठा ॥१॥ "

आचार्यः-

" कमसो वि संभवंता, जुगवं नज्जंति ते वि जिन्ना वि।
चित्तस्स सिग्घकारि-त्तणेण एगत्तभावाओ " ॥ २ ॥

अत्र दृष्टान्तश्छिन्नज्वालया उल्मुकेन। यथा हि तद्भ्राम्यमाणं छिन्नज्वालमपि शीघ्रतया चक्राकारं प्रतिभासते। यद्वा-

" केवलिणो उवओगो, वच्चइ जुगवं समत्थनेवसु।
छउमत्थस्स वि एवं, अभिन्नविसयासु किरियासु ॥ ३ ॥ "

तथा चागमः-

" भिन्नविसयं निसिद्धं, किरियादुगमेगया न एगम्मि।
जोगतिगस्स वि भंगिय-सुत्ते किरिया जओ जणिया ॥ ४ ॥
मणसा चिंतइ भंगे, वयसा उच्चरइ लिहइ काएण।
एवं जोगतिगस्स वि, भंगिअसुत्तम्मि वावारे" ॥५॥ सङ्घा० १ प्रस्ता०। प्रव०।

प्रणिधानफलम्-

फलति चैतदचिन्त्यचिन्तामणेर्भगवतः प्रभावेन। सकलशुभानुष्ठाननिबन्धनमेतत्, अपवर्गफलमेव प्रणिधानं, तल्लक्षणयोगादिति दर्शितम्। असङ्कृतासक्तचित्तव्यापार एष महान्। न च प्रणिधानादृते प्रवृत्त्यादयः। एवं कर्त्तव्यमेवैतदिति प्रणिधानप्रवृत्तिविघ्नजयफलविनियोगानामुत्तरोत्तरभावात् आशयानुरूपः कर्मबन्ध इति। न खलु तद्विपाकतोऽस्यासिद्धिः स्यात्; युक्त्यागमसिद्धमेतत्। अन्यथा प्रवृत्त्याद्ययोगः, उपयोगाभावादिति। न अनधिकारिणामिदम्। अधिकारिणश्चास्य य एव वन्दनाया उक्ताः। तद्यथा-एतद्बहुमानिनो विधिपरा उचितवृत्तयश्चोक्तलिङ्गाः एव। प्रणिधानलिङ्गं तु विशुद्धभावनादि। यथोक्तम्—

" विशुद्धभावनासारं, तदर्थार्पितमानसम्।
यथाशक्ति क्रियालिङ्गं, प्रणिधानं मुनिर्जगौ ॥ १ ॥ "

इति स्वल्पकालमपि शोभनमिदं, सकलकल्याणाक्षेपात्, अतिगम्भीरोदाररूपमेतत्, अतो हि प्रशस्तभावलाभाद्विशिष्टक्षयोपशमादिभावतः प्रधानधर्मकार्यादिलाभः। तथास्य सकलोपाधिशुद्धदीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवनेन श्रद्धाचार्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञावृद्धया न हि समग्रसुखभाक् तदङ्गहीनो भवति, तद्वैकल्येऽपि तद्भावहेतुकत्वप्रसङ्गात्। न चैतदेवं भवतीति योगाचार्यदर्शनं, सेयं भवजलधिनौः प्रशान्तवाहितेति परैरपि गीयते। अयमप्रतत्ज्ञापनफलः सदुपदेशो हृदयानन्दकारी परिणमत्येकान्तेन। ज्ञाते त्वस्यगमनमेव भावतः अनाभोगतोऽपि मार्गगमनमेव। सदन्धन्यायेनेत्यप्यात्माचिन्तकाः। तदेव शुभफलप्रणिधानं पर्यन्ते चैत्यवन्दने तदन्वाचार्यादीनभिवन्द्य यथोचितं करोति, कुर्वन्ति वा कुग्रहविरहेण। ल०। (नरवाहननरेन्द्रवृत्तं सङ्घाचारग्रन्थादवसेयम्) इत्युक्तं प्रतिधानत्रिकमिति दशमं त्रिकम्॥

अथ श्रोतुं त्वरमाणः शिष्यः प्राह-अत्र तावद्भगवद्भिः षडेव त्रिकाणि व्याख्यातानि, शेषाणां तु का वार्त्तेत्याशङ्काशङ्कुसमुद्धरणाय गाथाचतुर्थपादमाह-

सेसतियऽत्थो उ पयम त्ति ॥१६॥

शेषत्रिकाणां प्रदक्षिणात्रिकप्रणामत्रिकदिग्त्रयनिरीक्षणविरतित्रिकत्रिःपदभूमिप्रमार्जनत्रिकलक्षणानामर्थस्तु पुनः, प्रकटः सुगम एवेति। भाष्ये नोक्तं, विवृतौ तु यथाप्रस्तावं भावितमेवेति समाप्तानि दशाऽपि त्रिकाणि।

एषां चैव कारणफले लघुभाष्योक्ते—

" कम्माण मोहणीयं, जं बलियं तिसंठाणणिबद्धं।
तक्खवणट्ठा एयं, तिगदसगं होइ नायव्वं ॥ १ ॥
इय दहतियसंजुत्तं, वंदणयं जो विगतिकालं।
कुणइ नरो उवउत्तो, सो पावइ सासयं ठाणं ॥ २ ॥ "

इति व्याख्यातं दशत्रिकाख्यं प्रथमद्वारम्। सङ्घा० १ प्रस्ता०।

(११) अभिगमः-

अत्र च प्राक् साधुश्रावकादिः सामान्येनेत्याद्युक्तं, तत्र चैत्यादिवन्दितुकामः श्रावकः कश्चिन्महर्द्धिको भवेत्, श्रीषेणनृपादिवत्; कश्चित्सामान्यविभवः श्रीपतिश्रेष्ठीवत्। तत्र यदि राजादिस्तदा "सव्वाए इड्ढीए सव्वाए दित्तीए सव्वाए जुईए परियणसहिए सव्वपोरिसेणं" इत्यादिवचनात् प्रभावनानिमित्तं महर्ध्या चैत्यादिषु याति। अथ सामान्यविभवस्तदौद्धत्यादिपरिहारेण लोकोपहासं परिहरन् व्रजति। तत्र च चैत्ये प्रविशन् पञ्चविधाभिगमं करोतीत्येतत्संबन्धायातः द्वितीयाभिगमः।

" पणग त्ति " द्वारं विवृण्वन्नाह-

सचित्तदव्वउज्झण-मचित्तअणुज्झणं मणेगत्तं ।
इगसाडिउत्तरासं-गु अंजली सिरसि जिणदिट्ठे ॥१७॥

सचित्तद्रव्याणां स्वाङ्गाश्रितानां कुसुमताम्बूलादीनामुज्झनं परित्यागः । १ । अचित्तानां कटककुण्डलकेयूरहारादीनां, द्रव्याणामित्यत्रापि योज्यम । अनुज्झनमपरित्यागः । २ । मनएकाग्र्यम-रागद्वेषाभावेन मनःसमाधिः, अनन्योपयोगितेति यावत् । ३ । एकशाटक उत्तरासङ्गः । ४ । एकशाटको देशान्तरप्रसिद्धः । उत्तरासङ्गो यदुपरितनं वस्त्रं, प्रावरणवस्त्रमित्यर्थः । उक्तं चाचाराङ्गचूर्णौ-" एगसाडो यदुक्तं भवति एगपावरणु त्ति, तेन कृत्वोत्तरासङ्गम् उत्तरियकरणं । " कल्पचूर्णावप्युक्तम्—" उत्तरिज्जं नाम पावरणं । " क्वचिच्च " उत्तरिज्जं नाम पंगुरणं " इति पाठः । एवं च-" परेण पंगुरणवत्थेण उत्तरासंगो किज्जइ त्ति भणियं होइ । " अनेन च निवसनवस्त्रेणोत्तरासङ्गकरणनिषेधमाह, निवसनवसनस्यान्तरीयशब्दवाच्यत्वात् । तथा च कल्पनिशीथचूर्णिः-"अंतरिज्जं नाम नियसणं ति । " एकग्रहणं पुनरुत्तरासङ्गेऽनेकवस्त्रनिषेधार्थं,न तु सर्वथोपरितनप्रावरणवस्त्रस्य । एवं च परिहितैकवस्त्रो द्वितीयेन वस्त्रेण उत्तरासङ्गं कुर्यादित्युक्तं भवति । यदुक्तं पञ्चाशकवृत्तौ-एकेन चोपरितनवस्त्रेण कृतोत्तरासङ्ग इति । मार्कण्डेयपुराणेऽप्युक्तम्—नैकवस्त्रेण भुञ्जीत, न कुर्याद्देवताऽर्चनम् । " इत्यादि । एतौ च पुरुषमाश्रित्योक्तौ, स्त्री तु विशेषप्रावृताङ्गी विनयावनततनुः । तथाचाऽऽगमः-" विणओणया एगचेलडिइ त्ति" । वृद्धसंप्रदायात्तु संप्रति स्त्रीणां कञ्चुकं विना देवार्चादि कर्तुं न कल्पते । तथाऽन्यैरप्युक्तम्-" न कञ्चुकं विना कार्या, देवार्चा स्त्रीजनेन तु । " इति । " अंजलि त्ति " अञ्जलिबन्धश्च कार्यः शिरसि मस्तके, जिनदृष्टे जिनबिम्बदर्शने सतीति गाथार्थः ॥ १७ ॥

इय पंचविहाऽभिगमो, अहवा मुच्चंति रायचिंधाई ।
खग्गं छत्तोवाणह-मउमं चमरे च पंचमए ॥ १८ ॥

इति पूर्वोक्तप्रकारेण, पञ्चप्रकारोऽभिगमो भवति । उक्तं च श्रीपञ्चमाङ्गे-"पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छइ । तं जहा-सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए १ अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए २ एगसाडएणं उत्तरासंगकरणेणं ३ चक्खुप्फासे अंजलिपग्गहेणं ४ मणसो एगत्तीभावकरणेणं ५ " ति । क्वचित्तु " अचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए " त्ति पाठः, तत्राचित्तानां छत्रादीनां, व्यवसरणेन व्युत्सर्जनेनेत्यर्थः । अन्यत्राप्युक्तम्-

" पुप्फतंबोलमाईणि, सचित्ताणि विवज्जए ।
छत्तवाहणमाईणि, अचित्ताणि तहेव य ॥ १ ॥ "

एतदर्थप्रतिपादनार्थमाह-" अहवा " इत्यादि । यद्वा-यो महर्द्धिको राजादिश्चैत्यं प्रविशति स पञ्चविधाऽभिगमसमये राजचिह्नान्यपि मुञ्चतीत्यत आह-" अहवा " इत्यादि । अथवा विकल्पान्तरसूचको, न केवलं सचित्तान्येव द्रव्याणि मुच्यन्ते, किं तर्ह्यचित्तान्यपि द्रव्याणि मुच्यन्ते, दूरीक्रियन्ते । कानि ?, राजचिह्नानि राजलक्षणानि । तान्येवाह-खड्गः कृपाणः । १ । छत्रमातपत्रः । २ । उपानहौ पादुके । ३ । मुकुटं किरीटम् । ४ । चामराः बालव्यजनानि ५ पञ्चमका इति । तथा च सिद्धान्तः-" अहवड्डु रायककुहाइं पंचवररायककुहभूयाइं 'खग्गं छत्तोवाणह-मउडं तह चामराओ य " त्ति । सङ्घा० १ प्रस्ता० । प्रव० । (अत्र श्रीवेणनृपतिश्रीपतिश्रेष्ठिकथे सङ्घाचाराज्ज्ञातव्ये) प्ररूपितमभिगमपञ्चकविधिरिति द्वितीयं तत्प्ररूपणेन च प्रदर्शितो जिनभवनादिप्रवेशविधिः ।

(१२) चैत्यवन्दनदिक् । सम्प्रति चैत्यवन्दनाकरणविधिरुच्यते-तत्र यैर्यद्दिक्संस्थैश्चैत्यवन्दना विधेया तत्प्रतिपादनाय तृतीयं दिग्द्विगिति दिग्द्वारं गाथापूर्वार्द्धेनाऽऽह-

वंदंति जिणे दाहिणदिसि-ट्ठिया पुरिस वामदिसि नारी ।

वन्दन्ते स्तुवन्ति प्रणमन्ति च,जिनान् जिनप्रतिमाः, दक्षिणदिशि मूलबिम्बदक्षिणदिग्भागस्थिताः, पुरुषप्रधानत्वाद् धर्मस्य,तथा वामदिशि मूलबिम्बवामदिग्भागे स्थिता नार्यो वन्दन्ते,जिनानित्यत्रापि योज्यमिति ह्यौत्सर्गिकम् । विधिप्रधानमेव च विधीयमानं सर्वमपि चैत्यवन्दनादि धर्मानुष्ठानं महाफलं भवेत् । अन्यथा सातिचारतया श्रीदत्ताया इव कदाचिदनर्थमपि जनयेत् । आह च-" धर्मानुष्ठानवैतथ्या-त्प्रत्यपायो महान् भवेत् । रौद्रदुःखौघजनको,दुःप्रयुक्तादिवौषधात् ॥१॥" इति । अत एव चाविधिनाऽस्य विधाने सातिचारत्वात् प्रायश्चित्तमप्युक्तमागमे । तथा च महानिशीथसप्तमाध्ययनसूत्रम्-" अविहीए चेइयाइं वंदिज्जा तस्स णं पायच्छित्तं उवइसिज्जा, जओ अविहीए चेइयाइं वंदमाणो अन्नेसिं असद्धं जणइ इइ काऊणं । " अपि च-इदमेव चावैतथ्येन विशुद्धधर्मानुष्ठानकरणं श्रद्धालोर्लक्षणम् । तथा चोक्तम्-

" विहिसारं चिअ सेवइ, सिद्धालू सत्तिमं अणुट्ठाणं ।
दव्वाइदोसनिहओ, विपक्खवायं वहइ तम्मि ॥१॥ " त्ति ।

ललितविस्तरायामप्युक्तम्—एवं हि कुर्वता आराधितं वचनं, बहुमतो लोकनाथः, परित्यक्ता लोकसंज्ञा, अङ्गीकृता लोकोत्तरा प्रवृत्तिः, समासादिता धर्मचारितेति । अतोऽन्यथा विपर्ययः; आलोचनीयमिदं सूक्ष्मधियामेव, शास्त्रोक्तमुपदेशमुल्लङ्घ्य पुरुषमात्रप्रवृत्तोऽपरोऽपि हितानुपायः स्यात् । ननु तर्हि चैत्यवन्दनादिविधिरेवादौ गतानुगतिरूपः स्यात् । नैवम् । यत उक्तम्--अपवादोऽपि सूत्रानाबाधया गुरुलाघवालोचनपरोऽधिकदोषनिवृत्त्या शुभाशुभानुबन्धिमहासत्त्वासेवित उत्सर्गभेद एव, उत्सर्गस्थानापन्नत्वेनोत्सर्गफलहेतुत्वात् । यदागमः-

" उस्सग्गाविक्ख विअ-स्स पासिद्धि उभयस्स निग्गं च ।
इअ अन्नुन्नावेक्खा, उस्सग्गऽववायं दो तुल्ला " ॥ १ ॥

अत एवोक्तम्-

" अविहिकया वरमकयं, असूयवयणं भणंति समयन्नू ।
पायच्छित्तं अकए, गुरुयं वि तहा कए लहुयं ॥ १ ॥ "

न पुनः सूत्रबाधया गुरुलाघवचिन्ता, किन्त्वभावेन । तद्धि परमगुरुलाघवकारि क्षुद्रसत्त्वविजृम्भितं संसारश्रोतसि कुशकाशावलम्बनप्रायमहितमिति भाव्यम् । सर्वथा निरूपणीयं प्रवचनगाम्भीर्यं यतितव्यमुत्तमनिदर्शनेष्विति श्रेयोमार्गः ॥ सङ्घा० २ प्रस्ता० । ध० । (अत्र श्रीदत्ताकथा सङ्घाचारादवसेया)

(१३) अवग्रहः-

संप्रति द्विदिक्स्थितैरपि मूलबिम्बस्य कियत्यवग्रहे देवा

वन्दनीया इत्याशङ्कायां चतुर्थमवग्रहद्वारं गाथो-
त्तरार्द्धेनाऽऽह-

नवकर जहन्नु सट्ठिक-र जिट्ठ मज्झुग्गहो सेसो ॥१९॥

मूलबिम्बात् नवहस्तान् जघन्योऽवग्रहः. जघन्यत उच्छ्वासनिः-श्वासादिजनिताऽऽशातनापरिहाराय नवहस्तबहिःस्थितैः देववन्दना कार्या । षष्टिहस्तान् ज्येष्ठ उत्कृष्टोऽवग्रहः, तत्परत उपयोगसंभवाद् मध्यो मध्यमः, शेषो नवकरेभ्य ऊर्द्ध षष्टेरर्वाक्, अवग्रहो मूलबिम्बवन्दनास्थानाभ्यन्तरालभूभाग इति । अन्यैः पुनर्द्वादशधाऽयमुक्तः । तथा च पञ्चस्थानकेऽभिहितम्-

"उक्कोससट्ठिपन्ना, चत्तार तिसा दसऽ पणदसगं।
दस नव ति दु एगऽद्धं, जिणुग्गहं बारसाविभेयं" ॥१॥

एतावता चार्द्धहस्तादारभ्य षष्टिहस्तेभ्यश्चार्वाक् गृहचैत्ये चैत्यगृहे वा यथा जिनबिम्बस्याऽऽशातना न भवति तथा यथासमयमवग्रहबहिःस्थितैरमिततेजःखचरेश्वरवद्देववन्दना कार्येत्युक्तं भवति । सङ्घा० २ प्रस्ता० । (अमिततेजःखेचरेश्वरकथा सङ्घाचारादवसेया) निगदितं त्रिधाऽवग्रह इति चतुर्थं द्वारं, तद्भणनेन च प्रदर्शितः चैत्यवन्दनाकरणविधिः । सङ्घा० २ प्रस्ता० ।

(१४) त्रिविधा वन्दना—

संप्रति कतिप्रकारा चैत्यवन्दनेत्याशङ्कायां तत्स्वरूपाभिधित्सया "तिहाउ वंदणय त्ति" पञ्चमं द्वारं बिवृण्वन्नाह-

नवकारेण जहन्ना, चिइवंदण मज्झ दंमथुइजुयला ।
पणदंमथुइचउक्कग-थयपणिहाणेहिँ उक्कोसा ॥

नमस्कारेण अञ्जलिबन्धशिरोनमनादिलक्षणप्रमाणमात्रेण । यद्वा-"नमो अरिहंताणं" इत्यादिना । अथवा-"पुरवरकवाडवच्छे, फलिहभुए दुंदुहिथणियघोसे । सिरिवच्छंकियवच्छे, वंदामि जिणे चउव्वीसं" ॥१॥ इत्यादिनैकेन श्लोकादिरूपेण नमस्कारेणेति, जातिनिर्देशाद्वा बहुभिरपि नमस्कारैः । अभिधास्यति च-"सुमहत्थनमुक्कारा इगदुग" इत्यादि । यद्वा-नमस्कारेण प्रणिपातापरनामतया प्रणिपातदण्डकेनैकेनेति यावत्, जघन्या स्वल्पा, पाठक्रिययोरल्पत्वात्, चैत्यवन्दना, भवति इति गम्यम् ।

एतावता-

"एगनमुक्कारेणं, चिइवंदणया जहन्नयजहन्ना ।
बहुहि नमुक्कारेहि य, नेया उ जहन्नमज्झमिआ ॥ १ ॥
सक्कत्थयंता, जहन्नउक्कोसिया मुणेयव्वा" ॥

इति त्रिविधोक्ता जघन्यवन्दना व्याख्याता । ईर्यापथिकीनमस्कारोऽपि प्रणिधानान्तेनापि शक्रस्तवेन जघन्यचैत्यवन्दनेति तात्पर्यार्थः । सङ्घा० २ प्रस्ता० । पञ्चा० । ध० ।

(१५) स्तुतिविचारः—

एतावताऽप्यवस्थात्रयभावनासिद्धैतदर्थमेव चात्र शक्रस्तवान्ते-"जे य अइया" इत्यादिगाथापाठात् । उक्तं च लघुभाष्ये-

"जे यऽइआ सिद्धा, जे य भविस्संति णागए काले ।" "जे यऽइआ गाहाए, बीयहिगारेण दव्वअरिहंते ।
पणमामि भावसारं, छउमत्थे तिसु वि कालेसु ॥१॥"

एषाऽपि यदैकदण्डकस्तुत्यादिसहिता स्यात्तदा मध्यमा भवतीयत आह-"मज्झ दंडथुइजुयला" मध्या मध्यमाश्च जघन्योत्कृष्टाः, पाठक्रिययोस्तथाविधत्वात् । दण्डकश्च-"अरिहंतचेइयाणं" इत्यादिरेकस्तुतिश्च श्लोकादिरूपा प्रतीता चूलिकात्मिका एका तदन्त एव या दीयते । ते एव युगलं युग्मं यस्यां सा दण्डस्तुतियुगला, चैत्यवन्दनेत्यत्राऽपि योज्यं घण्टालालान्यायेन । एतच्च-"चेइअदंमगथुइएगसंगया सव्वमज्झिमिया" । तथा-"नमुक्काराई चियवंदणगपुइमज्झिमजहन्ना" इत्याद्युक्तितो व्याख्यातम्, अन्यथा-"सक्कत्थवाइयं चेइयवंदणं" इत्यागमोक्तप्रामाण्यात् शक्रस्तवोऽप्यत्रादौ भण्यते । तथा च बृहद्भाष्येऽपि-"मंगलसक्कत्थयचिइ-दंडगथुइहिँ मज्झमज्झिमिया" । अथवा दण्डश्च चैत्यस्तवरूप एकः स्तुतियुगलं च वक्ष्यमाणनीत्या चूलिकेतरस्तुतिद्वयरूपं यत्र सा दण्डस्तुतियुगला । चैत्यदण्डकः कायोत्सर्गेन-तदीयमानश्लोकादेकचूलिका स्तुतिः-"लोगस्सुज्जोयगरे" इत्यादि । सङ्घा० २ प्रस्ता० ।

(१६) अथ चैत्यवन्दनविधिमाह--

निस्स (कम) मनिस्सकमे वा, वि चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि ।
वेलं व चेइयाणि व, णाउं इक्किक्कया वा वि ॥

निश्राकृते गच्छप्रतिबद्धे, अनिश्राकृते च तद्विपरीते, चैत्ये सर्वत्र तिस्रः स्तुतयो दीयन्ते । अथ प्रतिचैत्यं स्तुतित्रये दीयमाने वेलाया अतिक्रमो भवति, भूयांसि वा तत्र चैत्यानि, ततो वेलां चैत्यानि वा ज्ञात्वा प्रतिचैत्यमेकैकाऽपि स्तुतिर्दातव्येति । बृ०१उ० ।

"णवकारेण जहण्णा, दंडगथुइजुअलमज्झिमा णेया ।
संपुण्णा उक्कोसा, विहिणा खलु वंदणा तिविहा ॥ २ ॥"

(इति वन्दनपञ्चाशकद्वितीयगाथायाम्) संपूर्णा परिपूर्णा, सा च प्रसिद्धदण्डकैः पञ्चभिः स्तुतित्रयेण प्रणिधानपाठेन च भवति, चतुर्थस्तुतिः किलार्वाचीनेति । किमित्याह--उत्कृष्टत इत्युत्कर्षा उत्कृष्टा । इदं च व्याख्यानमेके-

"तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोगिआ ।
ताव तत्थ अणुण्णायं, कारणेण परेण वि" ॥१॥

इत्येतां कल्पभाष्यगाथां "पणिहाणं मुत्तसुत्तीए" इति वचनमाश्रित्य कुर्वन्ति ॥ पञ्चा० ३ विव० । इति व्याख्यानात् तास्वतस्रोऽपि ध्रुवाध्रुवस्तुतिभेदेन द्वे भवतः, ते च युगलशब्देनोच्येते इति स्तुतियुगलं स्तुतिचतुष्टयमुक्तम् । तथा तुलादण्डवद् मध्यग्रहणादाद्यन्तयोरपि ग्रहणमिति न्यायादिह यथाऽऽदौ शक्रस्तवचैत्यदण्डककायोत्सर्गादि नियतं भण्यते तथाऽन्तेऽपि चतुर्थकायोत्सर्गस्तुत्यन्ते शक्रस्तवादि ध्रुवं भणनीयं, करणविधौ तथायातत्वात् । उक्तं च पञ्चवस्तुके-

"सेहमिह वामपासे, ठवित्तु तो चेइए पवंदंति ।
साहूहि समं गुरवो, थुइवुड्ढी अप्पणा चेव" ॥१॥

आचार्या एव छन्दःपाठाभ्यां वर्द्धमानाः तुतीर्ददति । "वंदिय पुण छिआणं, गुरुणा ता वंदणं समं दाउं । सेहो भणइ इच्छाकारेणं संदिसावेह" ॥१॥ वन्दित्वा द्वितीयप्रणिपातदण्डकावसाने । तथा ललितविस्तरायां चतुर्थकायोत्सर्गसूत्रस्तुतीव्योख्यायोक्तं, व्याख्यातं सिद्धेभ्य इत्यादिसूत्रं, पुनः संवेगभावितमतयो विधिनोपविश्य पूर्ववत्प्रणिपातदण्डकं पठित्वा स्तवपाठं पूर्ववत् । चतुर्थकायोत्सर्गसूत्रस्तुतिस्तु-सूत्राद्युक्तत्वादवश्यमेव भणनीया । तथा च ललितविस्तरायामुक्तम्-केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति न तत्र व्याख्यानं क्रियते । अयमर्थः-अन्या २ अपीति उक्तानुक्तादिसंग्रहरूपत्वेनात्र पञ्चमदण्डके तत्तत्पाठेऽपि सूत्रसन्धानादिदोषानापत्तेः ।

सङ्घा० २ प्रस्ता० । ल८ । ध० । न च तत्र नियमः-एका द्वे तिस्र इत्यादि । क्षेत्रकालाद्यपेक्षया क्वाऽपि तीर्थे कासाञ्चित्पाठादित्यनियतत्वात् तद्व्याख्यानाभावः । एतावता यदत्र व्याख्यातं च तन्नियमेन भणनीयमिति प्रतिपादितम् । व्याख्यातं च सिद्धाधिकृततीर्थेशस्तुतिवत्सूत्रतया नियमभणनीयत्वेन-" वेयावच्चगराणं" इत्यादि चतुर्थकायोत्सर्गसूत्रस्तुत्यादि । तत्र यथा एवमेतत् "सिद्धाणं " इत्यादि पठित्वोपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति, " वेयावच्चगराणं " इत्यादिकायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत्, स्तुतिश्च , नवरमेषां वैयावृत्त्यकराणां तथा तद्भावबृद्धिरित्युक्तप्रायः प्रशंसितः, प्रस्तुतकार्याय प्रोत्सहत इति प्रसिद्धमेवेत्यर्थः। तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात्तच्छुभसिद्धाविदमेव वचनं सूत्रं ज्ञापकम् । न चासिद्धम्, एतदभिचारकादौ मन्त्रवादे तथेक्षणात्, सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्तितव्यमित्यैदम्पर्यमस्य। एषा ध्रुवं भणनीया चतुर्थी चूलिकास्तुत्यन्ता पञ्चमदण्डकरूपा । तृतीया सूत्रस्तुतिः संपूर्णा चैत्यवन्दनाचूलिका वाऽप्येतदन्तं व्याख्यायोक्तम् । यथा-" सिद्धत्थयदंडयविवरणं संमत्तं"। तथा पाक्षिकचूर्णौ-"विरइपमिवत्तिकाले चिइवंदणमाइणोवयारेण आवस्सं अहासंनिहियदेवयासंनिहाणम्मि भवइ, अतो देवसाक्खियं भणियं । " इहाऽपि वन्दनामध्ये देवाद्युपचारः तत्कायोत्सर्गस्तुत्यादि विना कोऽन्य इति पाक्षिकाद्यागमोक्तत्वान्नियतसुदृष्टिदेवताकायोत्सर्गस्तुत्यादि " सिद्धाणं बुद्धाणं " इतिनाम्न्यास्तृतीयसूत्रस्तुत्या अन्तेऽवश्यं भणनीयम् । वक्ष्यमाणाऽऽदिसंग्राहिकत्वादस्याः सिद्धस्तवापरनाम्न्याः सूत्रस्तुतेः । एवैव चैवंसूत्ररूपसुदृष्टिस्मरणाभिधद्वादशाधिकारान्ता पञ्चमदण्डक उच्यते।

भणितं च-

" इह ललिअवित्थरावि-त्तिमाइवक्खायसुत्तअणुसारा ।
सुत्तुत्त नवऽहिगारा, दुद्दस इगारस सुताचरणा ॥ १ ॥ "।
आवश्यकचूर्णिकारादिबहुश्रुतसंमता इत्यर्थः ।

आह च-

"आवस्सगचुण्णीए, जं भणियं सेसया जहिच्छाए ।
तेणं उज्जंताइ वि, अहिगारा सुअमया चेव ॥ १ ॥ "
एतावता भाष्यान्तरोक्तजघन्यादिभेदा मध्यमाऽपि व्याख्याता।

तथा बृहद्भाष्ये-

"उक्कोसा तिविहा वि हु, कायव्वा सत्तिओ उभयकालं ।
सेसा पुण उज्जेया, चेइयपमिवाडिमाईसु ॥ १ ॥ "।

भणितं च कल्पभाष्ये-"निस्सकडमनिस्सकड" इत्यादि । एवं प्रागुक्तयुक्त्या-"निस्सकड" इति गाथया मध्यमा चैत्यवन्दना भणिता दण्डकस्तुतियुगलपाठरूपेति स्थितम् । अन्यत्राप्युक्तम्-

"चिइवंदणं तु नेयं, सुत्तत्थुवओगओ समाहीए ।
अक्खलिआइगुणजुअं, दंडगपंचगसमुच्चरणं ॥ १ ॥ "

नैवं चेत्ततोऽन्त्यकायोत्सर्गादिवदादिशक्रस्तवकायोत्सर्गाद्यभणनीयं स्यात् , " निस्सकम " इत्यादावनुक्तत्वात् । एवं चान्यत् स्तुतिस्तोत्रप्रणिधानादि सर्वमप्यभणनीयं प्राप्नोति, भवता चैत्यमध्ये उक्तयुक्तेरेव । उक्तं च-

" जइ इसिअमित्तं चिय, जिणवंदणमणुमयं सुएहुं तं ।
थुइथुत्ताइपवित्ती, निरत्थिआ हुज्ज सव्वाऽवि ॥ १ ॥ "।
परिभाव्यमत्र सम्यक् कुग्रहविरहेण । यदागमः-
"जं जह सुत्ते भणिअं, तहेव तं जइ विआरणा नऽत्थि ।
किं कालिआणुओगो, दिट्ठो दिट्ठिप्पहाणेहिं ॥ १ ॥ "

इह च सर्वत्राप्यादौ प्रथममीर्यापथिकी प्रतिक्रमितव्या । तथा चागमः-" ता गोअमा ! णं अप्पमिक्कंताए इरिआवहिआए न कप्पइ चेव किंचि चिइवंदणसज्झायज्झाणाइअ फलासायमभिकंखुगाणं । " दशवैकालिकेऽपि द्वितीयचूलिकायाम्-" अभिक्खणं काउस्सग्गकारि " इति सूत्रस्य वृत्तिः-अभीक्ष्णं गमनागमनादिषु कायोत्सर्गकारि भवेत् । ईर्यापथप्रतिक्रमणमकृत्वा न किञ्चिदन्यत्कुर्यात्, तदशुद्धताऽऽपत्तेरिति भावः । यदि परमप्रोत्कृष्टशब्दवर्जिते बहुश्रुतसमाचारितां निरुम्भति, नान्यादिति ॥ उक्ता सप्रभेदा मध्यमाऽपि वन्दना । इयमेव च स्तवप्रणिधानादिपर्यन्तोत्कृष्टा भवतीति । उक्तं च बृहद्भाष्ये-" उक्कोसजहन्ना पुण, सच्चियसक्कत्थयाइएजंता "। एतदर्थप्रतिपादनायाऽऽह-" पणदंडथुइचउक्कगथुयपणिहाणेहिँ उक्कोसा " त्ति पञ्चार्द्धं पञ्चभिर्दण्डकैः शक्रस्तवादिसुदृष्टिकायोत्सर्गपर्यन्तैः स्तुतिचतुष्केन वन्दनाऽनुशास्तिस्तुतिरूपचूलिकास्तुतिचतुष्टयेन द्वितीयदण्डकादिकायोत्सर्गचतुष्कान्तदातव्येन स्तवेन जघन्यतोऽपि चतुःश्लोकादिमानेन " चउसिलोगाइपरेणं थओ भवइ त्ति " व्यवहारचूर्णिभणितात् द्वितीयशक्रस्तवान्ते भणनीयेन तदादौ भण्यमानस्य नमस्कारताऽऽपत्तेः; प्रणिधानैश्च वक्ष्यमाणस्वरूपैर्वन्दनान्ते विधेयैरुत्कृष्टा संपूर्णा चैत्यवन्दनेत्यत्रापि योज्यम् । उक्तं च चैत्यवन्दनाचूर्णौ-" सक्कत्थयाइदंमग-पंचगथुइचउक्कगपणिहाणकरणाओ उक्कोसा " त्ति । तथाऽऽन्यत्र-

" सक्कत्थयाइदंमग-पणगथुइचउक्कथुत्तपणिहाणा ।
संपुन्ना चेइअवं-दणाउ इवई जओ भणियं ॥
दुब्भिगंधमलस्सा वि, तणुरप्पेसणाणिया ।
उभओ वाउवहो चेव,तेण ठंति न चेइए ॥
तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइआ ।
ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण वि " ॥

एतयोर्भावार्थः-साधवश्चैत्यगृहे न तिष्ठन्ति । अथवा-चैत्यवन्दनान्त्यशक्रस्तवाद्यनन्तरं तिस्रः स्तुतीः श्लोकत्रयप्रमाणाः प्रणिधानार्थं यावत्कर्षन्ते, प्रतिक्रमणानन्तरमङ्गलार्थं स्तुतित्रयपाठवत् । तावच्चैत्यगृहे साधूनामनुज्ञातं निष्कारणं, न परतः ।

शान्तिसूरीयभाष्येऽप्युक्तम्—

" दंमगपंचगथुइजुय-लपाठपणिहाणसहिअउक्कोसा ।
अहव पणिवायदंमग-पंचगजुअविहिजुआ चेसा " ॥

प्रथममतं चैवम् । उक्तात् "तिन्नि वा कड्ढई जाव"इत्यादि भावार्थः प्रागुक्त एव । सिद्धादिश्लोकत्रयमात्रान्तपाठे तु संपूर्णवन्दनाया भाव एव, प्रथमस्तुतिश्लोकत्रयपाठानन्तरं चैत्यगृहेऽवस्थानानुगतेन प्रणिधानासद्भावात् । भणितं चागमे वन्दनान्ते प्रणिधानम् । यथा-" वंदइ नमंसइ " त्ति सूत्रवृत्तिः-वन्दते ताः प्रतिमाश्चैत्यवन्दनविधिना प्रसिद्धेन, नमस्करोति पश्चात्प्रणिधानादियोगेनेति । वन्दनान्ते तिस्रस्तुतयोऽत्र प्रणिधानरूपा ज्ञेयाः । सर्वथा परिज्ञाव्यमत्र पूर्वापराविरोधेन प्रवचनगाम्भीर्यं मुक्त्वाऽभिनिवेशमिति । यद्वा-पञ्चदण्डकैर्द्विरुक्तैरिति गम्यम् । स्तुतिचतुष्केण स्तुतियुगलद्वयगतेन एकैकयुगले वन्दनाऽनुशास्तिस्तुतिरूपस्तुतिद्वयगणनेन युगलद्वये स्तुतिचतुष्टयभावात्, शेषं प्राग्वत्, उत्कृष्टा वन्दना इति ।

उक्तं च-

" जा थुइजुगलदुगेणं, दुगुणियचिइवंदणाइ पुणो ।

उक्कोसमज्झिमा सा, ".................." ।
अथवा-पञ्चदण्डकैः शक्रस्तवरूपैः स्तुतिचतुष्केण प्रागुक्तनीत्या स्तुतियुगलद्वयगतेन शेषं प्राग्वदुत्कृष्टा वन्दना । भणितं च—
" ...., उक्कोसुक्कोसिया य पुण नेया ।
पणिवायपणगपणिहा-णतियगथुत्ताइँ संपुन्ना ॥
सक्कत्थओ य इरिआ, दुगुणिअचियवंदणाइ तह तिन्नि ।
कतपणिहाणसक्क-त्थओ य इय पंच सक्कथया ॥ "
एतावता " तिहा उ वंदणा " इत्याद्यद्वारगाथागततुशब्दसूचितं नवविधत्वमप्युक्तं द्रष्टव्यम् ।
उक्तं च बृहद्भाष्ये—
" चिइवंदणा तिभेया, जहन्निआ मज्झिमा य उक्कोसा ।
इक्किका वि तिभेया, जहन्नमज्झिमियउक्कोसा ॥
नवकारेण जहन्ना, इच्चाई जं च वन्निआ तिविहा ।
नवभेयाणमिमेसिं, नेयं उवलक्खणं तं तु ॥
एसा नवप्पयारा, आइन्ना वंदणा जिणमयम्मि ।
कालोचियकारीणं, अणुग्गहाणं सुहा सव्वा ॥ " रत्नसारनरेन्द्रवत् ।
"बहुभेया पुण एसा, भणिय त्ति बहुस्सुएहिँ पुरिसेहिँ ।
संपुन्नमवायंतो, मा कोइ चइज्ज सव्वं पि ॥ "
भणियं च—
"विसिकिरियाविरोहो, अववायनिबंधणं गिहत्थाणं ।
किरिअंतरकाला वि-क्खयाइभावो सुसाहूणं ॥
अहवा चिइवंदणया, निच्चा इअर त्ति होइ दुविहा तु ।
निच्चा उ उभयसंझं, इयरा चेइअगिहाईसुं ।
निच्चा संपुन्न च्चिअ, इयरा जहसत्तिओ य कायव्वा ।
तव्विसयमिमं सुत्तं, मुणंति गीआ उ परमत्थं ॥
उप्पन्नसंसया जे, सम्मं पुच्छंति नेव गीयत्थे ।
चुक्कंति सुहमग्गा, ते पल्लवगाहिपंमिच्चा" ॥
किं च—
"गीयत्था विहिरसिया, संविग्गतमा य सूरिणो पुरिसा ।
कह ते सुत्तविरुद्धं, सामायारिं परूवंति " ॥१॥ संघा० २ प्रस्ता० ।
(अत्र पूर्वसूचितरत्नसारनरेन्द्रकथा संघाचाराज्ज्ञातव्या)

(१७) जघन्यवन्दनाविचारः—

इह च केचिन्मन्यन्ते शक्रस्तवमात्रमेव वन्दनं श्रावकस्य युक्तं, जीवाभिगमादिषु तन्मात्रस्यैव तस्य देवादिभिः कृतत्वेन प्रतिपादितत्वात्, ततस्तदाचरितप्रामाण्यात्तदधिकतरस्य च गणधरादिकृतसूत्रेऽनभिधानाच्च शक्रस्तवातिरिक्तं तदस्तीति । अत्रोच्यते—यदुक्तमाचरितप्रामाण्यादिति । तदयुक्तम् । यतो यदिदं जीवाभिगमादिसूत्रं तद्विजयदेवादिचरितानुवादपरमेवेति, न ततो विधिवादरूपाधिकृतवन्दनाच्छेदः कर्तुं शक्यः । तेषां ह्यविरतत्वात्प्रमत्तत्वाच्च तावदेव तत्र युक्तम्, तदन्येषां पुनरप्रमादविशेषवतां विशेषभक्तिमतां तदधिकत्वेऽपि न दोषः । यदि पुनराचरितमवलम्ब्य प्रवृत्तिः कार्या, तदा बह्वन्यदपि कर्तव्यं स्याद्विधेयतयाऽङ्गीकृतमपि वर्जनीयं स्यादिति । यच्चोक्तम्-तदधिकतरस्यानभिधानादिति । तदयुक्तम् । "तिन्नि वा कड्ढई जाव, थुईओ तिसिलोइआ । " इत्यादिव्यवहारभाष्यवचनश्रवणात् । साध्वपेक्षया तदिति चेत्, नैवम् । साधुश्रावकयोर्दर्शनशुद्धेः कर्तव्यत्वाद्दर्शनशुद्धिनिमित्तत्वाच्च वन्दनस्य तथा संवेगादिकारणत्वादशठसमाचरितत्वाज्जीतलक्षणस्येहोपपद्यमानत्वात्-

चैत्यवन्दनभाष्यकारादिभिरेतत्करणस्य समर्थितत्वाच्च तदधिकतरमपि न्याय्यमित्यलं प्रसङ्गेन । ध० २ अधि० ।
अथ वाचनान्तरोक्तत्रैविध्यादिप्रदर्शनपरं भव्यजनानुग्रहाय किञ्चिदुच्यते—
" अन्ने बिंति इगेणं, सक्कथएणं जहन्नवंदणया ।
इगदुगतिगेण मज्झा, उक्कोसा चउहिँ पंचहिँ वा ।
इत्थसयाओ मज्झे, इरिआवहिआ-अभावओ दुन्नि ।
एवं उक्कोसाए, चउरो सक्कत्थए नेया ॥ २ ॥
भणिऊण नमुक्कारे, सक्कत्थयदंडयं अपरिऊणं ।
इरिअं पडिक्कमंते, दो चउरो वा वि पणिवाया ॥ ३ ॥
इरिआए पुव्वं वा, पणिहाणंते व सक्कथयभणणे ।
दुगुणचिइवंदणंते, व हुंति सक्कत्थया तिन्नि ॥ ४ ॥
इगवारवंदणे पुव्व पच्छ सक्कत्थएहिँ ते चउरो ।
दुगुणिअवंदणए वा, पुव्विं पच्छा व सक्कथए ॥ ५ ॥
सक्कत्थओ अ इरिया, दुगुणियचिइवंदणाइ तह तिन्नि ।
सुत्तपणिहाणसक्क-त्थओ य इय पंच सक्कथया ॥ ६ ॥
पाढाकिरियाणुसारा, भणिआ चिइवंदणा इमा नवहा ।
तिविहाऽहिगारिभावा, तिहा वि सा इय भवे नवहा" ॥ ७ ॥
संघा० २ प्रस्ता० ।

अधिकारिभेदाद् वन्दनाभेदाः । अथ प्रकारान्तरेण वन्दनायास्त्रैविध्यमाह—

अहवा वि भावभेया, ओघेणं अपुणबंधगाईणं ।
सव्वा वि तिहा णेया, सेसाणमिमी ण जं समए ॥३॥

अथवाऽपीति निपातः पूर्वोक्तप्रकारापेक्षया प्रकारान्तरत्वद्योतनार्थः । भावभेदात्परिणामविशेषाद् गुणस्थानकविशेषसंभवात्प्रमोदमात्ररूपात् वन्दनाऽधिकारिजीवगतात् त्रिधा विज्ञेयेति संबन्धः । ओघेन सामान्येनाविवक्षितपाठक्रियाऽल्पत्वादितयेत्यर्थः । केषामित्याह—अपुनर्बन्धकादीनामपुनर्बन्धकप्रभृतिकानां वन्दनाधिकारिणां, तत्रापुनर्बन्धको व्याख्यातपूर्वः, आदिशब्दादविरतसम्यग्दृष्टिदेशसर्वविरतग्रहः । सर्वाऽपि नमस्कारादिभेदेन जघन्यादिप्रकारा अपि, आस्तामेका काचिदिति । तत्रापुनर्बन्धकस्य जघन्या, तत्परिणामस्य विशुद्ध्यपेक्षया जघन्यत्वात्, अविरतसम्यग्दृष्टेर्मध्यमा, तत्परिणामस्य विशुद्धिमङ्गीकृत्य मध्यमत्वात् । सामान्यविरतस्य तूत्कृष्टा, तत्परिणामस्य तथाविधत्वादेवेति । अथवाऽपुनर्बन्धकस्यापि त्रिधा, प्रमोदरूपभावत्रैविध्यात्, एवमितरयोरपीति । अथापुनर्बन्धकादीनामिति कस्मादुक्तम् ?, मार्गाभिमुखादेरपि भावभेदसद्भावादित्यत्राह-शेषाणामपुनर्बन्धकादिव्यतिरिक्तानां सकृद्बन्धकमार्गाभिमुखमार्गपतिततदितरमिथ्यादृशाम् । (इमी ति) इयमधिकृता भावभेदेन भेदवती वन्दना । पाठादिभेदवती तु स्यादपि, न नैव यद्यस्मात्, समये सिद्धान्ते, प्रणितेति शेषः । तेषां तद्योग्यताविकलत्वादिति गाथार्थः । पञ्चा० ३ विव० । ध० ।
(१८) अपुनर्बन्धकादीनां स्वरूपमभिहितम्, अथ तेषामेव भाववन्दनायामधिकारितां शेषाणां चानधिकारितां दर्शयन्निदमाह—

एतेऽहिगारिणो इह, ण उ सेसा दव्वओ वि जं एसा ।
इयरीएँ जोगयाए, सेसाण उ अप्पहाण त्ति ॥ ७ ॥

एतेऽनन्तरोक्तस्वरूपा अपुनर्बन्धकादयः, अधिकारिणः तद्यो-

ग्यत्वेनाधिकारवन्तः, इह भावत्रन्दनायां, न तु शेषाः न पुनरपुनर्बन्धकादिभ्योऽपरे, मार्गाभिमुखमार्गपतितसकृद्बन्धकतदन्यमिथ्यादृशोऽधिकारिण इति प्रकृतम् । कुत एतदेवमित्याह–द्रव्यतोऽपि भावव्यतिरेकेणापि, आस्तां भावतः, यद्यस्मात्कारणात्, एषा वन्दना, द्रव्यवन्दनाऽपीत्यर्थः। इतरस्या भावतो वन्दनायाः, योग्यतायाम् अर्हतायां, सत्यां भवति नान्यथा; अतः कथं शेषा भाववन्दनाधिकारिणो भवन्तीति । ननु भाववन्दनाया अयोग्यतायामपि केषाश्चिद् द्रव्यवन्दनेष्यते, अतः कथमुक्तं भाववन्दनाऽनर्हाणां द्रव्यवन्दनाऽपि न भवतीत्यत्राह–शेषाणां तु शेषाणां पुनरपुनर्बन्धकादिभ्योऽन्येषां सकृद्बन्धकादीनाम्, अप्रधानाऽनुत्तमा द्रव्यवन्दना भवति,न तु प्रधाना, भाववन्दनाया अकारणत्वात्तस्याः । इदमुक्तं भवति-द्रव्यशब्दो योग्यतायामप्राधान्ये च वर्त्तते, तत्र शेषाणां भाववन्दनायोग्यत्वेन या प्रधाना द्रव्यवन्दना सा न भवति । तदयोग्यतया त्वप्रधानद्रव्यवन्दना स्यादपि । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इति गाथार्थः ॥ ७ ॥

अथ यदुक्तं शेषाणामप्रधानेति तत्समर्थनार्थमाह–

ण य अपुणबंधगाओ, परेण इह जोगया वि जुत्त त्ति ।
ण य ण परेण वि एसा, जमभव्वाणं पि णिद्दिट्ठा ॥८॥

न च नैव,अपुनर्बन्धकादुक्तस्वरूपात्,परेण परतः, सकृद्बन्धकादीनामित्यर्थः । इह भाववन्दनायां, योग्यताऽप्यर्हताऽपि,आस्तां भाववन्दना, युक्ता संगता, संसारभूयस्त्वात्तेषाम् । इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । तथा न च नैव, न परेणापि न परतोऽपि, सकृद्बन्धकादेरप्येषा द्रव्यवन्दना भवति, भवत्येवेत्यर्थः । कुत एतदेवमित्याह–यद्यस्मात्कारणात्, अभव्यानामपि सिद्धिगमनायोग्यानामपि,आस्तां सकृद्बन्धकादीनाम् । निर्दिष्टा निदर्शिता आगमे । आर्हतदीक्षासाध्यस्य ग्रैवेयकोपपातस्यानन्तशो भव्यानामुक्तत्वात् , अतः शेषाणां भाववन्दनाऽनर्हत्वेन द्रव्यवन्दनाया अभावत्वात्,तस्याश्च तेषामुक्तत्वादप्रधाना सेति स्थितम् । इति गाथार्थः । पञ्चा० ३ विव० ।

(१६) अधिकारिता–

यद्येवमुच्यतां के पुनरस्याधिकारिण इति ?। उच्यते–एतद्बहुमानिनो विधिपरा उचितवृत्तयश्च । न हि विशिष्टकर्मक्षयमन्तरेणैवंभूता भवन्ति । क्रमोऽप्यमीषामयमेव,न खलु तत्त्वत एतद्बहुमानिनो विधिपरा नाम,भावसारत्वाद्विधिप्रयोगस्य,न चायं बहुमानाभावे इति, न चामुष्मिकविधावप्यनुचितकारिणोऽन्यत्रोचितवृत्तय इति विषयभेदेन तदौचित्याभावात्, अप्रेक्षापूर्वकारिविजृम्भितं हि तत्, तदेतेऽधिकारिणः परार्थप्रवृत्तेर्लिङ्गतोऽवसेयाः; मा भूदनधिकारिप्रयोगे दोष इति । लिङ्गानि चैषां तत्कथाप्रीत्यादीनि । तद्यथा–तत्कथाप्रीतिः, निन्दाऽश्रवणम्, तदनुकम्पा,चेतसो न्यासः,परा जिज्ञासा, तथा गुरुविनयः, सत्कालापेक्षा, उचितासनं,युक्तस्वरता, पाठोपयोगः, तथा लोकप्रियत्वम्,अगर्हिता क्रिया,व्यसने धैर्य,शक्तितस्त्यागः,लब्धलक्षत्वं चेति । एभिस्तथाधिकारितामवेत्यैतदध्यापने प्रवर्त्तेत,अन्यथा दोष इत्युक्तम् । आह–क इवानधिकारिप्रयोगे दोष इति?।उच्यते–स ह्यचिन्त्यचिन्तामणिकल्पमनेकभवशतसहस्रोपात्तानिष्टदुष्टाष्टकर्मराशिजनितदौर्गत्यविच्छेदकमपीदमयोग्यत्वादवाप्य न विधिवदासेवते,लाघवं चास्यापादयति,ततोऽविधिसमासेवकः कल्याणमिव महदकल्याणमासादयति । उक्तं च–"धर्मानुष्ठानवैतथ्यात्प्रत्यपायो महान् भवेत् । रौद्रदुःखौघजनको, दुःप्रयुक्तादिवौषधात्" ॥१॥ इत्याद्यतोऽनधिकारिप्रयोगे प्रयोक्तृत्वमेव न स्वतः तदकल्याणमिति लिङ्गैः तदधिकारितामवेत्यैतदध्यापने प्रवर्त्तेत । एवं हि कुर्वता आराधितं वचनं,बहुमतो लोकनाथः,परित्यक्ता लोकसंज्ञा,अङ्गीकृतं लोकोत्तरयानं,समासेविता धर्मचारितेति । अतोऽन्यथा विपर्यय इत्यालोचनीयमेतदतिसूक्ष्मभावेन । न हि वचनोक्तमेव विधानमुल्लङ्घ्याऽपरो हिताद्युपायः,न चानुभवाभावे पुरुषमात्रप्रवृत्तेरतथेष्टफलसिद्धिः। अपि च–लाघवापादनेन शिष्टप्रवृत्तिनिरोधतस्तद्विघात एव । अपवादोऽपि सूत्राबाधया गुरुलाघवालोचनपरोऽधिकदोषनिवृत्त्या शुभः शुभानुबन्धी महासत्त्वसेवित उत्सर्गभेद एव । ननु सूत्रबाधया गुरुलाघवचिन्ताभावेन हितमहितानुबन्ध्यसमञ्जसं परमगुरुलाघवकारि क्षुद्रसत्त्वविजृम्भितमिति । एतदङ्गीकरणमप्यनात्मज्ञानां संसारसरित्स्रोतसि कुशकाशावलम्बनमिति परिभावनीयम् । सर्वथा निरूपणीयं प्रवचनगाम्भीर्यं, विलोकनीया तन्त्रान्तरस्थितिः, दर्शनीयं ततोऽस्याधिकत्वम्, यतितव्यमुत्तमनिदर्शने इति श्रेयोमार्गः, व्यवस्थितश्चायं महापुरुषाणां क्षीणप्रायकर्मणां विशुद्धाशयानां भवाबहुमानिनाम् अपुनर्बन्धकादीनामिति । अन्येषां पुनरिहानधिकार एव, क्षुद्रदेशनाऽनर्हत्वात् । क्षुद्रदेशना हि क्षुद्रसत्त्वमृगयूथसन्त्रासनसिंहनादः, ध्रुवस्तावदतो बुद्धिभेदः, तदनु सत्त्वलेशचलनं, कल्पितफलाभावापादनात् अशस्तमहामोहवृद्धिः, ततोऽधिकृतक्रियात्यागकारी संत्रासः,भवाभिनन्दिनां स्वानुभवसिद्धमप्यसिद्धमेतदचिन्त्यमोहसामर्थ्यादिति । न खल्वेतानधिकृत्य विदुषा शास्त्रसद्भावः प्रतिपादनीयो, दोषभावादिति । उक्तं च–"अप्रशान्तमतौ शास्त्र-सद्भावप्रतिपादनम् । दोषायाभिनवोदीर्णे, शमनीयमिव ज्वरे ॥१॥" इति कृतं विस्तरेण, अधिकारिण एवाधिकृत्य पुरोहितान्, अपक्षपातत एव निरस्येतरात् प्रस्तुतमभिधीयत इति । ल० ।

"एएहिं लिंगेहिं, नाऊणऽहिगारिणं तओ सम्मं ।
चिइवंदणपाढाइ वि, दायव्वं होइ विहिणा उ ॥ १७ ॥

भणियं च–

अत्थो विहिकहणं च, अत्थउ चिइवंदणाइदूरेण ।
पाढो वि तओ देई, अहिगारिणि अपुणबंधाई ॥ १८ ॥
दिन्ना उ अणहिगारिणि, अविहिअवन्नाइसेवणा जस्स ।
दुपउत्त ओसहं पि व, होइ अकल्लाणजणगं ति ॥ १९ ॥
तम्हा उ अपुणबंधग, अविरयविरएहि होइ कायव्वा ।
विहिउचियवित्तिबहुमा–णभत्तिकलिएहिँ सयकालं ॥२०॥
साहूहिँ गिहत्थेहि य, अणघ चिट्ठेइ जलयत्तकालिएहिं ।
जहसंभवं गहाहिं, कयजिणपूयोवयारेहिं ॥ २१ ॥
तह दव्वभावभेया, दुहा इमा दव्वओ पुणो दुविहा ।
अपहाणा य पहाणा, होऊ भाविस्सिह पहाणा ॥ २२ ॥
तत्थ पहाणा एसा, होऊ पुण बंधगाईणं ।
अपहाणं चिअ सेसा–ण इत्थ सइबंधगाईणं ॥ २३ ॥
ता उण सइबंधगाणं, मग्गाभिमुहाण मग्गवडिआणं ।
इयराण वि अपहाणा, चिइवंदण दव्वओ होइ ॥ २४ ॥
उवओगअत्थचिंतण, गुणरायाइ बहुविम्हओ चेव ।
लिंगाण विहिअभंगो, भावे दव्वे विवज्जइओ ॥ २५ ॥
वेलाविहाणतग्गय–मणतणुवयणाणि तह य लिंगाणि ।

रोमंचभाववुड्डी इ जावचिइवंदणाइ भवे ॥ २६ ॥
सुत्ते एगविह च्चिय, भणिआ लोऽणेगसाहणमजुत्तं ।
इय थूलमई कोई, भन्नइ सुत्तं इमं सरिउं ॥ १५ ॥
तिन्नि वा कड्डई जाव, थुईओ तिसिलोइआ ।
ताव तत्थ अणुन्नायं, कारणेण परेण वि ॥ १६ ॥
भणई गुरु तं सुत्तं, चिइवंदणविहिपरूवगं न भवे ।
निक्कारणजिणमंदिर-परिभोगनिवारगत्तेण ॥ १७ ॥
जं वासद्दो पयडो, पक्खंतरसूयगो तहिं अत्थि ।
संपुन्नं वा वंदइ, कड्डइ वा तिन्नि उ थुईओ ॥ १८ ॥
एसो वि हु भावत्थो, संभाविज्जइ इमस्स सुत्तस्स ।
तो अन्नत्थं सुत्तं, अन्नत्थ न जोइउं जुत्तं ॥ १९ ॥

किं च-

अह इत्तियमित्तं चिय, जिणवंदणमणुमयं सुयहुं तं ।
थुइथुत्ताइपवित्ती, निरत्थिया हुज्ज सव्वा वि ॥ २० ॥

अन्यच्च-

गीयत्था विहिरसिया, संविग्गतमा य सूरिणो पुरिसा ।
कह ते सुत्तविरुद्धं, सामायारिं परूविंति ॥ २१ ॥
अहवा चिइवंदणया, निच्चा इयर त्ति होइ दुविहा उ ।
निच्चा उ उभयसंझं, इयरा चेइयगिहाईसु ॥ २२ ॥
निच्चा संपुन्न च्चिय, इयरा जहसत्तिओ वि कायव्वा ।
तव्विसयमियं सुत्तं, मुणंति गीया उ परमत्थं ॥ २३ ॥
सम्ममवियारिऊणं, सओ य परओ य समयसुत्ताइं ।
जो एवयणं वि गोवइ, सो नेओ ह बहुसंसारी ॥ २४ ॥
दूसमदोसा जीवो, जं वा तं वा भिसंतरं एप्प ।
चेइयबहु कराणिज्जं, थोवं पामिवज्जइ सुहेण ॥ २५ ॥
इक्कं न कुणइ मूढो, सुयमुद्दिसिउ नियकुबोहम्मि ।
जणमन्नं पि पवत्तइ, एवं बीयं महापावं ॥ २६ ॥
उप्पन्नसंसया जे, सम्मं पुच्छंति नेव गीयत्थे ।
चुक्कंति सुद्धमग्गा, ते पल्लवगाहिपंडिच्चा ॥ २७ ॥
बहुभेया पुण एसा, भणिय त्ति बहुस्सुएहिं पुरिसेहिं ।
संपुन्नमयाणंतो, मा कोइ चइज्ज सेसत्थं ॥ २८ ॥ "

इत्याद्यभिहितं त्रिधा वन्दनेति पञ्चमद्वारम् ।
तत्र जघन्या वन्दना प्रणिपातनमस्कारैरित्युक्तमतस्तावत्
प्रणिपातस्वरूपाभिधित्सया षष्ठं द्वारं गाथापूर्वार्द्धे-
नाऽऽह-

पणिवाओ पंचंगो, दो जाणू करदुगुत्तमंगं च ।

अथवा प्राक् "अंजलिबंधो अद्धो-णओ य पंचंगओ य तिपणामा ।" इति जघन्यादिभेदेन प्रणामत्रयमुक्तम् । तत्र तृतीयः प्रणामः किमेकाङ्गादिपञ्चप्रकारः, उत भूस्पर्शाङ्गपञ्चलक्षण इति जिज्ञासायां तद्व्यक्त्यर्थमिदमाह । यद्वा-ननु लोकेऽष्टाङ्गप्रणामोऽपि श्रूयते, तत्कथं पञ्चाङ्ग एव उत्कृष्ट इत्याशङ्कायां जिनसमयप्रसिद्धासिद्ध्यर्थमेवमभिधीयते-प्रणिपातः प्रणामः, पञ्चाङ्गः पञ्चाङ्गानि शरीरावयवा नम्राणि यत्र स पञ्चाङ्गप्रणामः, सुरेन्द्रदत्तकुमारवत् । पञ्चभिरङ्गैर्भूमिः स्पर्शनीयेत्यर्थः । तथा चोक्तमाचाराङ्गचूर्णौ-"कहं नमंति सिरपंचमेणं काएणं ति ।" कानि तानीत्याह-द्वे जानुनी अष्टावती, करद्विकं हस्ततलद्वयं, उत्तमाङ्गं च मस्तकं चेति शिरःप्रभृत्येकाङ्गयोगतः । यद्वा-प्रणिपातः पञ्चाङ्गः पञ्चप्रकारः, एतेन सिद्धान्ताप्रसिद्धत्वादित्यष्टाङ्गो न्यषेधि । उक्तं च भाष्ये-" एवं अट्ठोवयारं, भणंति अट्ठंगमेव पणिवायं । सो पुण एतद्दसिद्धं, न इ अइन्निष्ठो जिणमयम्मि ॥१॥ " इति एकाङ्गादिभेदात् । यदुक्तम्-

" एकाङ्गः शिरसो नामे, स द्व्यङ्गः करयोर्द्वयोः ।
त्रयाणानमने त्र्यङ्गः, करयोः शिरसस्तथा ॥ १ ॥ "
चतुर्णां करयोर्जान्वो-र्नमने चतुरङ्गकः ।
शिरसः करयोर्जान्वोः, पञ्चाङ्गः पञ्चमो मतः " ॥२॥ सङ्घा० २ प्रस्ता० । (सुरेन्द्रदत्तकथाऽन्यत्र)

(२०) इति भणितं प्रणिपात इति षष्ठं द्वारम् । संप्रति
नमस्कार इति सप्तमं द्वारं गाथोत्तरार्द्धेनाऽऽह-

सुमहत्थ नमुक्कारा, इग दुग तिग जाव अट्ठसयं ॥२१॥

सुमहार्थाः-शोभनो वैराग्यादिजनको महाँश्च श्लाघ्योपमारूपकक्रियागुप्तकयमकानुप्रासविरोधालङ्कारादिगोचरो विचित्रोऽतिशायधर्मो येषां ते सुमहार्थाः, नमस्कारा मङ्गलवृत्तानि । कियन्तश्चैते भण्यन्ते इत्याह-एको द्वौ त्रयो यावदुत्कर्षतोऽष्टोत्तरं शतम् । तथा चागमः-" अट्ठसयविसुद्धगंधजुत्तेहिं अत्थजुत्तेहिं अपुणरुत्तेहिं महावित्तेहिं संथुणइ । " विजयकुमारवत् । (संघा०) इत्युक्तं नमस्कार इति सप्तमं द्वारम् । एवं च भणितं चैत्यवन्दनास्वरूपम् । सङ्घा० ३ प्रस्ता० ।

सम्प्रति चैत्यवन्दनासूत्रार्थावसरः-
(२१) संपद्द्वारम्-

अक्षराणि च पदसंपत्कृतानीत्यतोऽक्षरपदसंपदिति द्वारत्रयम् । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । (पञ्चपरमेष्ठिसूत्रसंपदो ' णमुक्कार ' शब्दे) ईर्याप्रतिक्रमणसूत्रमारभ्यात्र दर्शयिष्यन्ते—साम्प्रतमीर्यापथिकी व्याख्यायते, पाठक्रमायातत्वात् । ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरं च सकलस्याऽपि चैत्यवन्दनादेर्धर्मानुष्ठानस्योक्तत्वात् ; इत्थमेव च चित्तोपयोगेनानुष्ठानस्य साफल्यत्वात्, अन्यथा प्रायश्चित्तैकाग्रताया अभावात् सूत्रप्रामाण्याच्च । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । पूर्वमप्येवोक्तम्-एवं च सिद्धान्ताद्युक्तत्वादीर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्विकैव चैत्यवन्दना चैत्यायाता । वृद्धाः पुनरेवमाहुः-उत्कृष्टा चैत्यवन्दना ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरैव कार्येति । ईर्यापथिकी च क्षमाश्रमणपूर्विका प्रतिक्रम्यते, इति तदक्षरसंख्याप्रतिपादकसमार्थकं गाथापादमाह—

पणिवायअक्खराइं, अट्ठावीसं-

इह प्रणिपातशब्देन क्षमाश्रमणमुच्यते, प्रायस्तत्पूर्वकत्वात्, तस्मात्तत्र प्रणिपाते क्षमाश्रमणेऽष्टाविंशतिरक्षराणि । तथा च तत्सूत्रम्-" इच्छामि खमासमणो वंदिउं जावणिज्जाए निसीहियाए मत्थएण वंदामि " ॥ सङ्घा० ३ प्रस्ता० । तदनन्तरम्-" उड्ढिउ असंभंतो, तिविहं पायंतरं पमज्जित्ता । जिणमुद्दंचियचलणो, इरियावहियं पडिक्कमइ " ॥ १ ॥ तत ईर्यापथिक्या वर्णपदसंपत्प्रतिपादनाय गाथापादत्रयमाह-

तह य इरियाए ।
नवनउयअक्खरसयं, दुतीसपयसंपया अट्ठ ॥२३॥

तथा ईर्यापथिक्यां नवनवत्यधिकमक्षराणां शतम् । " ठामि काउस्सग्गं " इति यावत् । एतदन्तत्वादष्टम्याः संपदः । उक्तं

च-" अट्ठमी तस्स उत्तरी" इत्यादि, "ठामि काउस्सग्गं" इति पर्यन्तमिति। परतः कायोत्सर्गदण्डकत्वान्न तद्वर्णसहितानि तु त्रीणि शतानि चत्वारिंशदधिकानि भवन्ति। उक्तं च-"नव-नवइसया इरिया-वहिआए होइ वन्नपरिमाणं । उस्सग्गवन्नसहिआ. ते तिन्नि सया उ चालीसा ॥१॥" अपरे तु-" मिच्छा मि दुक्कडं" इति पर्यवसानं " वन्नाणं सत्तरसयं" इति भणन्ति। तथाऽत्र द्वात्रिंशत्पदानि, अष्टौ संपदो महापदानीति ॥

अथ यस्यां संपदि यावन्ति पदानि सन्ति तत्संख्या आद्यपदपरिज्ञाने च शेषपदानि सुखेन ज्ञायन्ते, इत्याद्यपदानि च ईर्यापथिकीसंपदां प्रतिपिपादयिषुराह—

दुग दुग इग चउ इग पण,इगरस छग इरियसंपयाइ पया।
इच्छाइरिगमपाणा, जे मे एगिंदि अभि तस्स ॥ ३४ ॥

द्वे च द्वे चेत्यादि द्वन्द्वः। ततो द्विद्व्येकचतुरेकपञ्चैकादशषट्पदानि यासु ताश्च ता ईर्यापथिकीसंपदश्च "ते लुग्वा" ॥३।२।१०८॥ इति पदपथिकीशब्दयोर्लोपः,तासामाद्यपदानि। यथा इच्छा च, इरिश्चेत्यादिद्वन्द्वः इत्यक्षरघटना। एवमन्यत्रापि कार्या। भावार्थस्त्वयम्-इच्छेतिवर्णद्वयसूचिताऽऽद्यपदा " इच्छामि १ पडिक्कमिउं २ " इति पदद्वयपरिमाणा प्रथमा संपत् । इरीत्यक्षरद्वयघटिताद्यपदा " इरियावहिआए १ विराहणाए २ " इति पदद्वयनिष्पन्ना द्वितीया संपत् । गमेत्याद्यक्षरद्वयलक्षणा-" गमणागमणे " इत्येकपदैव तृतीया संपत् । "पाणे त्ति" द्विवर्णवपर्यादिमपदा "पाणक्कमणे बीयक्कमणे हरियक्कमणे ३ ओसा उत्तिंगपणगदगमट्टीमक्कडासंताणासंकमणे ४" इति पदचतुष्टयनिष्टङ्किता चतुर्थी संपत् । " जे मे " इत्याद्यव्यञ्जनद्वयव्यञ्जिता " जे मे जीवा विराहिया " इत्येकपदपरिमिता पञ्चमी संपत् । ' एगिंदीति ' अक्षरसूचिताऽऽद्यपदा-" एगिंदिया १ बेइंदिया २ तेइंदिया ३ चउरिंदिया ४ पंचिंदिया ५ " इति पदपञ्चकपरिनिष्ठिता षष्ठी संपत् । 'अभीति' वर्णद्वयवर्णिताद्यपदा " अभिहया १ वत्तिआ २ लेसिआ ३ संघाइआ ४ संघट्टिआ ५ परियाविआ ६ किलामिआ ७ उद्दविआ ८ ठाणाओ ठाणं संकामिया ९ जीविआओ ववरोविआ १० तस्स मिच्छा मि दुक्कडं ११ " इत्येकादशपदपरिच्छिन्ना सप्तमी संपत् । " तस्स त्ति " आद्यपदालिङ्गिता " तस्स उत्तरीकरणेणं १ पायच्छित्तकरणेणं २ विसोहीकरणेणं ३ विसल्लीकरणेणं ४ पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ५ ठामि काउस्सग्गं। " इतिपदषट्कघटिताऽष्टमी संपत् । परतः कायोत्सर्गसूत्रत्वाद्भाष्यान्तरेऽन्यपदालिङ्गनेनास्या एतदन्तभणनाच्च । उक्तं च-" जीवा विराहिया पं-चमी उ पंचिंदिया भवे छट्ठी। मिच्छा मि दुक्कडं स-त्तमी अट्ठमि ठामि काउस्सग्गं ॥१॥" एवं चासां पदैः परिगणनमर्थसाकल्येन यथार्थतापरिज्ञानात् । उच्यते-"अब्भुवगमो १ निमित्तं २, ओहे ३ यरहेउ ४ संगहे ५ पंच । जीव ६ विराहण ७ पडिकम-णभेयओ तिन्नि चूलाए ॥१॥ " अस्या अर्थ उक्तानुसारेणोन्नेयः। वाचनान्तराणि त्वर्थसाकल्याभावेन यादृच्छिकानि चेति मत्वोपेक्षितानि । अत्र चैवं बृहद्भाष्योक्तो विधिः-" संनिहिअं भावगुरुं, आपुच्छित्ता खमासमणपुव्वं। इरिअं पडिक्कमिज्जा, ठवणा जिणसरिकयं इहरा ॥ १॥ " ननु जिनबिम्बस्यापि पुरतः स्थापनाचार्यः स्थापनीयः, तीर्थकरे सर्वपदभणनात् तद्बिम्बेऽपि सर्वपदस्थापना अवसीयत एव।

उक्तं च व्यवहारभाष्ये-

" आयरियग्गहणेणं, तित्थयरो इत्थ होइ गहिओ अ।
किं न भवइ आयरिओ, आयारं उवइसंतो य ॥
निदरिसणमित्थ जह सं-दपण पुट्ठो य गोअमो भयवं ।
केण तुहं सिट्ठं ति य, धम्मायरिएण पच्चाह ॥
स जिणो जिणाइसइओ, सो चेव गुरू गुरुवएसाओ ।
करणाय विणयणाउं, सो चेव मतो उवज्झाओ ॥ " इति ।

आचाराङ्गचूर्णावप्युक्तम्-"आयरिया तित्थयरा गुणे आयरिय असंजमए" त्ति । सूत्रचूर्णिः-"आयरिया तित्थयर त्ति।" संघा० ३ प्रस्ता०। ईर्याप्रतिक्रमणसूत्रमत्रैव प्रागुक्तम् (अत्र स्कन्दकमुनिकथानकं सञ्चाचाराज्ज्ञेयम्) ई० प्र० अनन्तरम्-एतदर्थश्चैत्यस्तवदण्डके अभिधास्यते-" इरियउस्सग्गपमाणं,पणवीसुस्सास " इति वचनात् पञ्चविंशत्युच्छ्वासपूरणार्थं " चंदेसु निम्मलयरा " इत्यन्तं चतुर्विंशतिस्तवं मनसा विचिन्त्य " नमो अरिहंताणं" इति भणन् कायोत्सर्गं पारयित्वा पुनश्चतुर्विंशतिस्तवं सकलं वाचोच्चरति। सङ्घा० ३ प्रस्ता० । " नमोऽत्थु णं अरिहंताणं भगवंताणं " इत्यादि। (अस्य व्याख्या अर्हदादिशब्देषु)

तत्र शक्रस्तवसंपदां पदसंख्यामाद्यपदानि च प्रतिपिपादयिषुराह-

दु ति चउ पण पण दु चउ ति, पयसक्कत्थयसंपयाइपया।
नमुआइगपुरिसो लो-गुअभयधम्मऽप्पजिणसव्वं ॥३५॥

अक्षरघटना प्रागुक्तानुसारेण कार्या। भावार्थः पुनरयम्-" नमोऽत्थु णं अरिहंताणं " इत्याद्यपदा पदद्वयप्रमाणा प्रथमा संपत् । " आइगरेणं " इत्यादिपदत्रयनिष्पन्ना द्वितीया । २ । " पुरिसुत्तमाणं " इत्यादिपदचतुष्कचर्चिता तृतीया । ३ । " लोगुत्तमाणं " इत्यादिपञ्चपदपूरिता चतुर्थी । ४ । " अभयदयाणं " इत्यादिपदपञ्चकपरिमाणा पञ्चमी । ५ । " धम्मदयाणं " इत्यादिपदपञ्चकनिष्पन्ना षष्ठी । ६ । " अप्पडिहय " इत्यादिपदद्वयनिर्वर्तिता सप्तमी । ७ । " जिणाणं " इत्यादिपदचतुष्टयघटिताऽष्टमी । ८ । " सव्वन्नूणं " इत्याद्यत एकत्रिकपरिकलिता "जियभयाणं" इति पर्यन्ता नवमी संपत् । ९ ।

अथास्यैव वर्णादिसंख्यार्थं गाथापूर्वार्द्धमाह-

दोसयनउआ वन्ना, नव संपय पय तिसीस सक्कथए ।

द्वे शते सप्तनवत्यधिके, वर्णा अक्षराणि, शक्रस्तवदण्डके इति योगः। " सव्वे तिविहेण वंदामि " इति यावत्; एतदन्तस्यैव वर्णवृद्धिसम्प्रदायेन प्रणिपातदण्डकतया रूढत्वात्। तथा च चैत्यवन्दनाचूर्णौ-"तिविहेण वंदामि"इत्येतदन्तं व्याख्याय भणितम्-" सक्कत्थयं विवरणं सम्मत्तं "। श्रीलघुभाष्येऽप्युक्तम्-

" दो दो चउ चउ तिसया, सग नवइ तिसनवइ अप्पहिआ ।
अडतीसा छायाला, दंडेसु जहक्कमं वन्ना " ॥ १ ॥

अस्यार्थः स्थापनातोऽवसेयः। तथा नव संपदः, पदानि च त्रयस्त्रिंशत् शक्रस्तवे। सङ्घा० ३ प्रस्ता०। ध०। प्रव०।

भरतचरिते तु तस्य चक्ररत्ने उत्पन्ने-

" सो विणयमो नयगओ, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो ।
वंदइ अभित्थुणंतो, इमाहि महुराहिँ वग्गूहिँ ॥४६॥
लाभा हु ते सुलद्धा, जं सि तुमं धम्मचक्कवट्टीणं ।
होहिसि दस चउ इसमो, अ पच्छिमो वीरनामो त्ति ॥४७॥
एवं एहं थोऊणं, काऊण पयाहिणं च तिक्खुत्तो ।

आपुच्छिऊण पियरं, विणियानयरिं अह पविट्ठो ॥ ४८ ॥
श्रुत्वैवं भरताधिपेन विहितां द्रव्यार्हतो वन्दनां,
श्रीनाभिप्रभवप्रभोर्वचनतश्चाष्टापदे स्थापनाम् ।
तद्वो भव्यजनास्त्रिकालमनिशामेषां सदा वन्दनां,
कुर्वीध्वं प्रतिमाश्च भावजनिताध्यारोपतो यत्नतः" ॥ ४९ ॥

तदेवं द्रव्यार्हतां नमस्करणीयत्वात् भाष्यकारादिभिः समर्थितत्वादावश्यकचूर्णिकृद्व्याख्याततार्थत्वात्संवेगादिकारणत्वात्सम्यक्त्वनैर्मल्यहेतुत्वाद् अशठबहुश्रुतपूर्वाचार्यचरितत्वात् जीतकल्पानुपातित्वाच्च युक्तः " जे य अईया " इतिगाथेति । एष द्रव्यार्हद्वन्दनार्थं द्वितीयोऽधिकारः । शक्रस्तवविवरणं समाप्तमिति चूर्णिः । एवं शक्रस्तवाख्यप्रथमदण्डकेन भावद्रव्यार्हतोऽभिवन्द्य स्थापनार्हद्वन्दनार्थमुत्थाय साधुः श्रावको वा चैत्यस्तवदण्डकं विधिवद्भणति । उक्तं च-

" उट्ठिय जिणमुद्दंचिय-चलणो विहियकरजोगमुद्दो य ।
चेइयगयथिरदिट्ठी, ठवणाजिणदंडयं पढइ " ॥ १ ॥ सङ्घा० ३ प्रस्ता० ।

(२२) प्रणिपातदण्डके वाराः—

एताभिर्नवभिः संपद्भिः प्रणिपातदण्डक उच्यते, तत्पाठानन्तरं प्रणिपातकरणात् । सङ्घाचारवृत्तौ तु-आदावन्ते च त्रीन् वारान् प्रणिपातः कर्त्तव्यः । तथा च तद्ग्रन्थः-"कहं नमंति सिरपंचमेणं काएणं " इत्याचाराङ्गचूर्णिवचनात् पञ्चाङ्गप्रणामं कुर्वता " तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसइ " इत्यागमात् त्रीन् वारान् शिरसा भूमिं स्पृष्ट्वा भूमिनिहितजानुना करधृतयोगमुद्रया शक्रस्तवदण्डको भणनीयः, तदन्ते च पूर्ववत् प्रणामः कार्यः, इति । तजन्मादिषु स्वर्विमानेषु तीर्थप्रवृत्तेः पूर्वमपि शक्रोऽनेन भगवतः स्तौतीति शक्रस्तवोऽप्युच्यते । अयं च प्रायेण भावार्हद्विषयो, भावार्हदध्यारोपाच्च स्थापनार्हतामपि पुरः पठ्यमानो न दोषाय ।

" तित्तीसं च पयाइं, नवसंपयवन्नदुसयवासट्ठा ।
भावजिणत्थयरूवो, अहिगारो एस पढमो त्ति" ॥१॥

अतोऽनन्तरं त्रिकालवर्त्ति द्रव्यार्हद्वन्दनार्थमिमां गाथां पूर्वाचार्याः पठन्ति-

"जे य अईया सिद्धा, जे य भविस्संऽणागए काले ।
संपयइ य वट्टमाणा, सव्वे तिविहेण वंदामि " ॥१॥ कण्ठ्या।

ननु कथं द्रव्यार्हन्तो नरकादिगतिं गता अपि भावार्हद्वन्दनार्हा इति चेत् ? । उच्यते-सर्वत्र तावन्नामस्थापनाद्रव्यार्हन्तो भावार्हदवस्थादि व्यवस्थाप्य नमस्कार्या इति द्रव्यार्हद्वन्दनार्थोऽयं द्वितीयोऽधिकारः । ध० २ अधि० । संघा०-"जे य अईआ सिद्धा" इति गाथा, साऽप्यवश्यं भणनीया शक्रस्तवान्ते, पूर्वैर्महाश्रुतधरैरभिहितत्वात्, न पुनरौपपातिकादिषु, " नमो जिणाणं जियभयाणं" इति पर्यन्तस्य शक्रस्तवस्य पठितत्वाच्चेयं गाथाऽस्माभिः स्वयं भण्यते, इति कुबोधाऽऽग्रहग्रस्तमानसैर्नवनवानन्यविकल्पकल्पनकुशलैराधुनिकैरिव क्वचिन्न पठनीया, प्राक्तनैरशठैरनभिमानैः गीतार्थैः सूरिभिरादृतस्य एतस्यादरणीयत्वादिति । प्रव०१ द्वार । तदेवमसौ साधुः श्रावको वा यथोदितं पठन् पञ्चाङ्गप्रणिपातं करोति । भूयश्च पादपुञ्छनादिनिषण्णो यथा भव्यस्थानवर्णार्थालम्बनगतचित्तः सर्वाक्षराणि यथाभूतान्यसाधारणगुणसंगतानि भगवतां दुष्टालङ्कारविरहेण प्रकृष्टशब्दानि भाववृद्धये परयोगव्याघातवर्जितेन परिशुद्धामापादयन् योगवृद्धिमन्येषां सद्विधानतः सर्वज्ञप्रणीतवचनोन्नतिकराणि भावसारं परिशुद्धगम्भीरेण ध्वनिना तु निभृताङ्गः सम्यगनभिभवन् गुरुध्वनिं तत्प्रवेशात् अगणयन् दंशमशकादीन् देहे योगमुद्रया रागादिविषपरममन्त्ररूपाणि महास्तोत्राणि पठति । एतानि च तुल्यान्येव प्रायशोऽन्यथा योगघातः, तद्रूपस्य तत्परश्रवणम् । एवमेव श्रुतविसलाभः तद्व्याघातोऽन्यथेति योगाचार्याः । योगसिद्धिरेवात्र ज्ञापकं द्विविधमुक्तम्-शब्दोक्तमर्थोक्तं च । तदेतदर्थोक्तं वर्तते, शुभविपलाभार्थत्वाद्वन्दनाया इति । एवं च सति तत्र किञ्चिदुच्यते परैरुपहासबुद्ध्या प्रस्तुतस्यास्यादरतापादनाय । अलमनेन कृपणकवन्दनाकालादकल्पेनाभाविताभिधानेन, उक्तवदभाविताविधानायोगात्, स्थानादिगर्भतया भावसारत्वात् । तदपरस्यागमबाह्यत्वात् । पुरुषप्रवृत्त्या तु तद्बाधायोगात् । अन्यथाऽतिप्रसङ्गादिति न किञ्चिदेतत् । एवंभूतैः स्तोत्रैर्वद्यमाणप्रतिज्ञोचितं चेतोभावमापाद्य पञ्चाङ्गप्रणिपातपूर्वकप्रमोदवृद्धिजनकानभिवन्द्याचार्यादिना गृहीतभावः सहृदयनटवत् अधिकृतभूमिकासंपादनार्थं चेष्टते, वन्दनासंपादनाय स चोत्तिष्ठति, जिनमुद्रया पठति चैतत्सूत्रम्-'अरिहंतचेइयाणं' इत्यादि । संपदः । ल० ।

तत्रास्य संपत्कृतपदसंख्यापरिज्ञानार्थमाह—

दु दु सग नव तिय अट्ठ-च्छप्पय चिइसंपया पया पढमा ।
अरिहं वंदण सद्धा. अन्न सुहुम एव जा ताव ॥

अक्षरघटना प्राग्वत् । भावार्थस्त्वयम्-" अरिहंतचेइयाणं " इत्यादिपदद्वयप्रमाणा प्रथमा संपत् । " वंदणवत्तियाए " इत्यादिपदषट्कपरिमाणा द्वितीया संपत् । " सद्धा " इत्यादि सप्तपदपरिमाणा तृतीया संपत् । "अन्नत्थ ऊससिएणं" इत्यादिपदनवकनिर्मिता चतुर्थी संपत् । " सुहुमेहिं " इत्यादिपदत्रययुता पञ्चमी संपत् । " एवमाइएहिं " इत्यादिषट्पदपूरिता षष्ठी संपत् । " जाव अरिहंताणं " इत्यादिपदचतुष्कमित्यादि सप्तमी संपत् । " ताव कायं " इत्यादिपदषट्घटिताऽष्टमी इति । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । प्रव० । ध० ।

(२३) चतुर्विंशतिस्तवः-

" अरिहं वंदण सद्धा, अन्न सुहुम एव जा ताव ।
अट्ठसंपयतेआला, पयवन्ना दुसयतीसऽहिआ ॥ १ ॥"

एष स्थापनार्हद्वन्दनाख्यस्तृतीयोऽधिकारः, द्वितीयो दण्डकः कायोत्सर्गश्चाष्टोच्छ्वासमानः । न त्वत्र ध्येयनियमोऽस्ति, कायोत्सर्गान्ते च यद्येक एव, ततः " नमो अरिहंताणं " इति नमस्कारेण पारयित्वा यस्य चैत्यवन्दनां कुर्वन्नास्ति, तत्र यस्य भगवतः संनिहितं स्थापनारूपं तस्य स्तुतिं पठति । अथ बहवः, तत एक एव स्तुतिं पठति । अन्ये तु कायोत्सर्गस्थिता एव शृण्वन्ति यावत् स्तुतिसमाप्तिः । ततः सर्वेऽपि नमस्कारेण पारयन्तीति, तदनन्तरं तस्यामेवावसर्पिण्यां ये भारते वर्षे तीर्थकृतोऽभूवन्, तेषामेवैकक्षेत्रनिवासादिना आसन्नोपकारित्वेन कीर्त्तनाय चतुर्विंशतिस्तवं पठति, पठन्ति वा-" लोगस्सुज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे । अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली"॥१॥ ध०२ अधि०। द्वा०। यदुक्तं कीर्तयिष्यामीति तत्कीर्त्तनं कुर्वन्नाह-

" उसभमजिअं च वंदे, संभवमभिणंदणं च सुमइं च ।

पउमप्पहं सुपासं, जिणं च चंदप्पहं वंदे ॥ १ ॥
सुविहिं च पुप्फदंतं , सीअल सिज्जंस वासुपुज्जं च ।
विमलमणंतं च जिणं, धम्मं संतिं च वंदामि ॥ २ ॥
कुंथुं अरं च मल्लिं, वंदे मुणिसुव्वयं नमिजिणं च ।
वंदामि ऽरिट्ठनेमिं, पासं तह वद्धमाणं च" ॥३॥ ध० २ अधि०।
कीर्त्तनं कृत्वा चेतःशुद्ध्यर्थं प्रणिधानमाह-
" एवं मए अभिथुआ, विहूयरयमला पहीणजरमरणा ।
चउवीसं पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयंतु" ।१। ध०२अधि०।

तत्र प्रथममस्य लाघवार्थं च श्रुतस्तवादेरस्यैकयैव गाथया संपदादिप्रमाणमाह-

नामथयाइसु संपय-पयसम अडवीस सोल्ल वीस कमा ।
अदुरुत्त वन्न दोसय, दुसयं सोलऽट्ठनउय सयं ॥

नामस्तवश्चतुर्विंशतिस्तवः , आदिशब्दात् श्रुतस्तवसिद्धस्तवग्रहः। एषु दण्डकेषु,संपदो विश्रामाः,पदसमाः दण्डकादिचतुर्थभागसमानाः, यावन्ति पदानि तावन्त्य एव संपदः। तत्र अष्टाविंशतिर्नामस्तवे, एकश्लोकगाथाषट्कमानत्वात् । षोडश श्रुतस्तवे , गाथाद्वयवृत्तद्वयत्वात् । विंशतिः सिद्धस्तवे , गाथापञ्चकप्रमाणत्वात् । क्रमेण यथाक्रमं , तथा अद्विरुक्ता अपुनरुक्ता ये एकवेलया गणितास्ते पुनर्न गण्यन्ते । इति भावः । वर्णा अक्षराणि , दण्डकत्रये क्रमेण भवन्ति । तत्र द्वे शते षण्णवत्यधिके नामस्तवदण्डके , " सव्वलोए " इत्यक्षरचतुष्कस्याक्षेपात् । अग्रेतनवर्णानाम् अर्हच्चैत्यस्तवे गणितत्वादद्विरुक्ता इति प्रतिज्ञाताच्च । एवमग्रेऽपि भाव्यम् । १ । तथा द्वे शते षोडशाधिके श्रुतस्तवदण्डके, " सुयस्स भगवओ त्ति " सप्ताक्षरसहितगणनात् दण्डकान्तःपातित्वादेषाम् । तथा अष्टनवत्यधिकं शतं सिद्धस्तवदण्डके, " सम्मदिट्ठी समाहिगराणं " इतियावत् पञ्चाधिकारप्रमाणत्वात् पञ्चमदण्डकस्य " सिद्धत्थए पंच अहिगारा " इति वचनात् । शेषभावना प्राग्वत् । संघा० ३ प्रस्ता०।

(२४) सिद्धस्तुतिः-

" कित्तिय वंदिय महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा ।
आरुग्ग बोहिलाभं, समाहिवरमुत्तमं दिंतु ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० । ल० ।

" चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।
सागरवरगंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" ॥१॥ ध०२अधि०। ल०। सङ्घा०। नामाऽर्हद्वन्दनाधिकाररूपश्चतुर्थोऽधिकारस्तृतीयो दण्डकः। एवं चतुर्विंशतिस्तवमुक्त्वा सर्वलोक एवार्हच्चैत्यानां वन्दनाद्यर्थं कायोत्सर्गकरणायेदं पठति, पठन्ति वा-" सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सग्गं " इत्यादि, " वोसिरामीति " यावत् । ध० २ अधि० । ल० । नवरं सर्वलोके ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्रूपे , त्रैलोक्य इत्यर्थः । तत्रोर्द्ध्वलोके सौधर्म्मादिस्वर्गगतविमानेषु। यथा-" वत्तीसलक्खचेइयं सोहम्मे" (इत्यादि 'चेइय' शब्दे अस्मिन्नेव भागे१२४२पृष्ठे गतम्) व्याख्या पूर्ववत्, नवरं सर्वश्चासौ लोकश्च अधऊर्द्ध्वतिर्यग्भेदः,तस्मिंस्त्रैलोक्य इत्यर्थः । अधोलोके हि चमरादिभवनेषु,तिर्यग्लोके द्वीपाचलज्योतिष्कविमानादिषु , ऊर्द्ध्वलोके सौधर्मादिषु सन्ति वाऽर्हच्चैत्यानि । ततश्च मौलचैत्यं समाधिकारणमिति मूलप्रतिमायाः प्राक् स्तुतिरुक्ता । इदानीं सर्वे अर्हन्तस्तद्गुणा इति सर्वलोकग्रहः। तदनुसारेण सर्वतीर्थकरसाधारणा स्तुतिः । अन्यथा अन्यकायोत्सर्गे अन्या स्तुतिरिति न सम्यक्, अतिप्रसङ्गात्। इति सर्वतीर्थकराणां स्तुतिरुक्ता। एष सर्वलोकस्थापनार्हत्स्तवरूपः पञ्चमोऽधिकारः।

इदानीं येन ते भगवन्तः तदभिहिताश्च भावाः स्फुटमुपलभ्यन्ते, तत्प्रदीपस्थानीयं सम्यक् श्रुतमर्हति कीर्तनं तत्राऽपि तत्प्रणेतॄन् भगवतस्तत्प्रथमं स्तौति-

" पुक्खरवरदीवड्ढे , धायइसंडे य जंबुदीवे य ।
भरहेरवयविदेहे, धम्माइगरे नमंसामि" । ध० २ अधि०। ल०।
एवं श्रुतधर्मादिकराणां स्तुतिरुक्ता , एष षष्ठोऽधिकारः ।

इदानीं श्रुतधर्मस्याऽऽह-

" तमतिमिरपडलविद्धं-सणस्स सुरगणन-रिंदमहिअस्स ।
सीमाधरस्स वंदे, पप्फोडिअमोहजालस्स " ॥ १ ॥
ध० २ अधि० । ल० ।

इत्थं श्रुतमभिवन्द्य तस्यैव गुणोपदर्शनद्वारेणाप्रमादगोचरतां प्रतिपादयन्नाह-

" जाईजरामरणसोगपणासणस्स,
कल्लाणपुक्खलविसालसुहावहस्स ।
को देवदाणवनरिंदगणच्चिअस्स,
धम्मस्स सारमुवलब्भ करे पमायं॥१॥" ध०२ अधि०। संघा०।

यतश्चैवमतः-

" सिद्धे भो पयओ णमो, जिणमए नंदी सया संजमे,
देवं नागसुवन्नकिन्नरगण-स्सब्भूअभावच्चिए ॥
लोगो जत्थ पइट्ठिओ जगमिणं तेलुक्कमच्चासुरं,
धम्मो वड्ढउ सासओ विजयओ धम्मुत्तरं वड्ढउ " ॥ १ ॥ ध० २ अधि०। ल०। सङ्घा० ।

(२५) श्रुतस्य स्तुतिः-

प्रणिधानमेतन्मोक्षबीजकल्पं परमार्थतो नाशंसारूपमेवेति प्रणिधानं कृत्वा श्रुतस्यैव वन्दनाद्यर्थं कायोत्सर्गार्थं पठति, पठन्ति वा-" सुअस्स भगवओ करेमि काउस्सग्गं " इत्यादि, " वोसिरामीति " यावत् । ध० २ अधि० । नवरं श्रुतस्येति प्रवचनस्य सामायिकादिचतुर्दशपूर्वपर्यन्तस्य , भगवतः समग्रैश्वर्यादियुक्तस्य , सिद्धत्वेन समग्रैश्वर्यादियोगः; न ह्यतो विधिप्रवृत्तः फलेन वञ्च्यते, व्यापाश्च सर्वप्रवादाः, एतेन विधिप्रतिषेधानुष्ठानपदार्थाविरोधेन च वर्त्तन्ते । स्वर्गकेवलार्थिना तपो ध्यानादि कर्त्तव्यम् , " सर्वे जीवा न हन्तव्याः" इति वचनात्। "समितिगुप्तिशुद्धा" क्रिया, "असपत्नो योगः" इतिवचनात्। 'उत्पादविगमध्रौव्ययुक्तं सत्' । एवं "द्रव्यमनन्तपर्यायमर्थः" इति वचनादिति कायोत्सर्गप्रपञ्चः प्राग्वत् । तथैव च स्तुतिः, यदि च परं श्रुतस्य समानजातीयवृन्दकत्वात् । अनुभवसिद्धमेतत् । तत्स्थानात् चलति समाधिरन्यथेति प्रकटम् । ऐतिह्यं चैतद्देवमतो न साधनीयमिति । ल० ।

ततः कायोत्सर्गकरणं पूर्ववत्पारयित्वा श्रुतस्य स्तुतिं पठति-

" सुअनाणत्थयरूवो, अहिगारो होइ एस सत्तमओ ।
इह पयसंपयसोलस, नमुत्तरा वन्न दुन्नि सया ॥ १ ॥ " ध० २ अधि० । संघा० । व्याख्यातं 'पुष्करवरद्वीपार्द्धे' इत्यादि सूत्रम् । पुनरनुष्ठानपरम्पराफलभूतेभ्यः तेभ्यस्तथाभावेन तत्क्रियाप्रयोजकेभ्यश्च सिद्धेभ्यो नमस्करणायेदं पठति , पठन्ति वा-" सिद्धाणं " इत्यादि सूत्रम् । ल० । ध० । सङ्घा० । एष सिद्धस्तुतिरूपोऽष्टमोऽधिकारः ।

(२६) इत्थं सामान्येन सर्वसिद्धनमस्कारं कृत्वा आसन्नोपकारित्वाद्वर्त्तमानतीर्थाधिपतेः श्रीमन्महावीरवर्द्धमानस्वामिनः स्तुतिं करोति—

" जो देवाण वि देवो, जं देवा पंजली नमंसंति ।
तं देवदेवमहिअं, सिरसा वंदे महावीरं " ॥१॥

ध० २ अधि० । ल० ।

इत्थं स्तुतिं कृत्वा पुनः परोपकारायाऽऽत्मभाववृद्धये च फलप्रदर्शनपरमिदं पठति-

" इक्को वि नमुक्कारो, जिणवरवसहस्स वद्धमाणस्स ।
संसारसागराओ, तारेइ नरं व नारिं व " ॥१॥ ध० २ अधि० ।

ल० । संघा० । एष नवमोऽधिकारः । एतास्तिस्रः स्तुतयो गणधरकृतत्वान्नियमेनोच्यन्ते । केचित्तु अन्या अपि स्तुतीः पठन्ति । यदाहावश्यकचूर्णिकृत्-" सेसा जहिच्छाए त्ति । "

ता यथा-

" उज्जिंतसेलसिहरे, दिक्खा नाणं निसीहिआ जस्स ।
तं धम्मचक्कवट्टिं, अरिट्ठनेमिं नमंसामि " ॥१॥

कण्ठ्या, नवरं (निसीहिअ त्ति) सर्वव्यापारनिषेधाद् नैषेधिकी युक्तिः । एष दशमोऽधिकारः ।

"चत्तारि अट्ठ दस दो, अ वंदिया जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु " ॥ १ ॥

(परमट्ठनिट्ठिअ त्ति) परमार्थेन, न कल्पनामात्रेण, निष्ठिता अर्था येषां ते तथा । शेषं व्यक्तम् । एष एकादशोऽधिकारः । ध० २ अधि० । संघा० ।

(२७) वेयावच्चस्तुतिः-

एतास्तिस्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते, केचित्तु अन्या अपि पठन्ति, न तत्र नियम इति, न तद्व्याख्यानक्रिया । एवमेतत्पठित्वोपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति-" वेयावच्चगराणं, संतिगराणं सम्मद्दिट्ठिसमाहिगराणं करेमि काउस्सग्गं " इत्यादि, यावद् " वोसिरामि । " व्याख्या पूर्ववत् । नवरं वैयावृत्यकराणां प्रवचनार्थं व्यापृतभावानां यक्षाम्बाकूष्माण्ड्यादीनां शान्तिकराणां क्षुद्रोपद्रवेषु सम्यग्दृष्टीनां सामान्येनान्येषां समाधिकराणां स्वपरयोस्तेषामेव स्वरूपमेतदेवैषामिति वृद्धसंप्रदाय एतेषां संबन्धिनम् । सप्तम्यर्थे वा षष्ठी । एतद्विषयम्, एतान् वाऽऽश्रित्य करोमि कायोत्सर्गमिति, कायोत्सर्गविस्तरः पूर्ववत् स्तुतिश्च; नवरमेषां वैयावृत्यकराणां तथा तद्भाववृद्धेरित्युक्तप्रायम् । तदपरिज्ञानेऽप्यस्मात्ततः शुभसिद्धाविदमेव वचनं ज्ञापकम् । न चासिद्धमेतत्, अभिचारकादौ तथेक्षणात् सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्तितव्यमित्यैदम्पर्यमस्य । तदेतत् सकलयोगबीजं वन्दनादिप्रत्ययमित्यादि न पठ्यते, अपि त्वन्यत्रोच्छ्वसितेनेत्यादि, तेषामविरतत्वात् । सामान्यप्रवृत्तेरित्थमेवोपकारदर्शनाद् वचनप्रामाण्यादिति व्याख्यातं ' सिद्धेभ्यः ' इत्यादि सूत्रम् । ल० ।

अथ बृहद्भाष्यम्-

" पारिय काउस्सग्गो, परमिट्ठीणं च कयनमुक्कारो ।
वेयावच्चगराणं, देइ थुई जक्खपमुहाणं ॥ १ ॥
संवेगभावियमणो, वंदिय संनिहियचेइआणेवं ।
अवसेसचेइयाणं, वंदणपणिहाणकरणत्थं ॥ २ ॥
पुव्वविहाणेण पुणो, भणिउं सक्कत्थयं तओ कुणइ ।
जिणचेइयपणिहाणं, संविग्गो मुत्तसुत्तीए ॥ ३ ॥ "

" जावंति चेइयाइं " इत्यादि । यावन्ति यत्प्रमाणानि, चैत्यानि आधाराधेयरूपत्वेन जिनानां गृहाणि, बिम्बानि च । क ?, ऊर्ध्वाधश्च तिर्यग्लोके च । तत्र जिनगृहाण्येवम्-

" सगकोडिलक्खविसयरि, अहो अ तिरिए दुतीसपणसयरा ।
चुलसिलक्खा सगनवइ, सहस्सतेविसुवरिलोए " ॥ १ ॥

प्रतिमास्तु-

" तेरसकोडिसयाको- डिगुणनवइसट्ठिलक्ख अहलोए ।
तिरिअं तिलक्ख तिणवइ, सहस्सपडिमा दुसयचत्ता ॥ २ ॥
बावन्न कोडिसयं, चउ णउई लक्खसहस्स चउआला ।
सत्तसया सट्ठिजुया, सासयपडिमा उवरिलोए ॥ ३ ॥ "

किमित्याह-सर्वाणि तानि वन्दे । यथा-

" सव्वे वि अट्ठकोडी, लक्खा सगवन्नदुसयअडनउया ।
तिहुयणचेइअ वंदे, असंखदहिदीवजोइवणे ॥ ४ ॥
पन्नरसा कोडिसया, कोडीबायाललक्ख अडवन्ना ।
अडतीससहस्स वंदे, सासयजिणपडिम तिअलोए ॥ ५ ॥ "

कथम् ? । इह स्वस्थाने सन् तिष्ठन् तत्र ऊर्ध्वलोकादिषु सन्ति विद्यमानानि ।

" सक्कथएण इमिणाए, एयाइं चेइआइँ वंदामि ।
बियसक्कत्थयभणणे, एयं खु पओयणं भणियं ॥ ६ ॥
पुणरुत्तं पि न दुट्ठं, दव्वत्थमिणं जिणागमन्नूहिं ।
जिणगुणथुइरूवत्ता, कम्मक्खयकारणत्तेणं ॥ ७ ॥
जह विसविघायणत्थं, पुणो पुणो मंतसुमरणं सुहयं ।
तह मिच्छत्तविसहरं, विन्नेयं वंदणाइ वि ॥ ८ ॥
तत्तो य भावसारं, दाऊणं थोत्तवंदणं विहिणा ।
साहुगयं पणिहाणं, करेइ एयाए गाहाए" ॥ ९ ॥

" जावंति केइ साहू । " इत्यादि । यावन्तः केचित् उत्कृष्टतो, जघन्यतश्च । यथा-

" नवकोडि सहस्स साहू, उक्कोसं केवली उ सयकोडी ।
वंदे दुकोडि केवलि, दुकोडि सहस्स मुणिजहन्नं ॥ १ ॥

लोकविरुद्धेत्यादि । साधवः । क ?, भरतैरवते महाविदेहे च, पञ्चदशकर्मभूमिष्वित्यर्थः । किम् ?, सर्वेषां तेषां प्रणतो नम्रः, त्रिविधेन कायवाङ्मनोभिः त्रिदण्डविरतानां मनोदण्डादिरहितानां, भावसाधूनामित्यर्थः ।

" तत्तो अतत्तचित्तो, जिणिंदगुणवंदणेण भुज्जो वि ।
मुक्कइनिबद्धं सुद्धं, थयं च थुत्तं च उच्चरइ ॥ १ ॥
सक्कयभासाबद्धो, गंभीरत्थो थओ निविक्खाउ ।
पाइयभासाबद्धं, थुत्तं विविहेहिँ छंदेहिं ॥ २ ॥
चिइवंदणाकिइकिच्चो, पमोयरोमंचचिंचयसरीरो ।
इट्ठफलपत्थणपरं, इय पणिहाणं कुणइ तइयं " ॥ ३ ॥

सङ्घा० २ प्रस्ता० । नवरं स्तुतिवैयावृत्यकराणां, पुनस्तेनैव विधिनोपविश्य पूर्ववत्प्रणिपातदण्डकं पठित्वा मुक्ताशुक्तिमुद्रया प्रणिधानं कुर्वन्ति । यथा-

" जय वीयराय जगगुरु, होउ ममं तुह पभावओ भयवं ।
भवनिव्वेओ मग्गा-णुसारिआ इट्ठफलसिद्धी ॥ १ ॥
लोगविरुद्धच्चाओ, गुरुजणपूआ परत्थकरणं च ।
सुहगुरुजोगो तव्वय-णसेवणा आभवमखंडा ॥ २ ॥"

ध० २ अधि० ।

चैत्यवन्दनसमाप्तौ यद्विधेयं तदाह–

एयस्स समत्तीए, कुसलं पणिहाणमो उ कायव्वं ।
तत्तो पवित्ति–विग्घज–य–सिद्धि तह य त्थिरीकरणं ॥२९॥

एतस्यानन्तरोक्तचैत्यवन्दनस्य, समाप्तौ, अवसरस्य पुनःशब्दार्थस्य तुशब्दस्येह संबन्धाद्विहायां पुनः, कुशलं शुभम, न तु भवहेतुपदार्थप्रार्थनादिवदशुभम । प्रणिधानं प्रार्थनागर्भमैकाग्र्यम, 'ओ' इति निपातः पादपूरणार्थः । तुशब्दः सम्बन्धित एव, कर्त्तव्यं विधेयम । अथ कस्मादिदं कर्त्तव्यम् ? । अत्रोच्यते-यस्मादितः सत्प्रवृत्त्यादयो भवन्तीत्येतदेवाह, ततः प्रागुक्तप्रणिधानात्,प्रवृत्तिः सत्कर्मव्यापारेषु प्रवर्त्तनं,भवति हि जातमनोरथानां शक्तौ सत्यां तदुपाये प्रवृत्तिरिति । तथा विघ्नजयो मोक्षरूपपथप्रवृत्तप्रत्यूहस्य जघन्यमध्यमोत्कृष्टस्याशुभभावरूपस्य प्रणिधानजनितशुभभावान्तरेणाभिभवः, तथा सिद्धिर्विघ्नजयात्प्रस्तुतधर्मव्यापाराणां निष्पत्तिः,एतस्य च प्रवृत्त्यादिपदत्रयस्य समाहारद्वन्द्वः। (तह य त्ति)तथैव,समुच्चयार्थश्चायम। (थिरीकरणं ति) स्वगतपरगतधर्मव्यापाराणां स्थिरीकरणं स्थिरत्वाधानमिति,अतः प्रवृत्त्यादीनि वाञ्छता प्रणिधानमवश्यं करणीयं, तदभावे प्रवृत्त्याद्यसिद्धेरिति गाथार्थः ॥ २९ ॥

ननु प्रणिधानं प्रार्थनारूपत्वान्निदानवत्परिहार्यं स्यात, नैवं,कुशलमितिविशेषणेन तस्य निदानरूपतया व्यपोहितत्वात, अकुशलस्यैव निदानत्वात् । इदं च विशेषणफलमनवधारयतो मन्दमतिशिष्यस्य निदानत्वाऽऽशङ्काव्यपोहायाऽऽह–

एत्तो चिय ण णियाणं, पणिहाणं बोहिपत्थणासरिसं ।
सुहभावहेउभावा, णेयं इहराऽपवित्ती उ ॥ ३० ॥

(एत्तो चिय त्ति) यत एव कुशलं, प्रवृत्त्यादिहेतुर्वा,अत एव कारणात,न नैव,निदानमार्त्तध्यानविशेषो भवति । किं तत् ?,प्रणिधानं चैत्यवन्दनावसानकृत्यं, निदानस्याकुशलत्वात्प्रवृत्त्याद्याशयविशेषानुत्पादकत्वाद्वा । तर्हि किंभूतमिदमित्याह-बोधिप्रार्थनासदृशम् "आरोग्गं बोहिलाभं" इत्यादिप्रार्थनातुल्यं; यथा बोधिप्रार्थनं न निदानं तथेदमपीत्यर्थः । कुत एतदेवमित्याह–शुभभावहेतुभावात्प्रशस्ताध्यवसायस्य कारणत्वात् । यथा हि बोधिप्रार्थनं शुभभावहेतुरेवमिदमपि, ज्ञेयं ज्ञातव्यम । निदानरूपत्वे चास्य यत्स्यात्तदाह-इतरथाऽन्यथा,निदानरूपतायामित्यर्थः । अप्रवृत्तिस्तु अप्रवर्त्तनमेव,चैत्यवन्दनान्ते प्रणिधानस्याकरणमेव स्यात्, निदानस्यागमे निषिद्धत्वादिति गाथार्थः ॥३०॥

अथ भवत्वस्याप्रवृत्तिः को दोषः ?, इत्याशङ्कां परिहरन्नाह–

एवं तु इट्ठसिद्धी, दव्वपवित्ती उ अएणहा णियमा ।
तम्हा अविरुद्धमिणं, णेयमवत्थंतरे उचिए ॥३१॥

एवं तु काक्वा ध्येयम् एवं पुनः प्रणिधानप्रवृत्तौ पुनः, इष्टसिद्धिरभिमतार्थनिष्पत्तिर्भवति, अन्यथा प्रणिधानस्य परिहार्यतायां प्रणिधानशून्यं ह्यनुष्ठानं द्रव्यानुष्ठानमेवेति नियमादवश्यंभावेन (तम्ह त्ति) यस्मादिष्टार्थसिद्धिनिबन्धनं प्रणिधानं तस्माद्धेतोः, अविरुद्धं संगतम,इदं प्रणिधानम्, ज्ञेयं ज्ञातव्यम । किं सर्वावस्थासु ?, नेत्याह-अवस्थान्तरे भूमिकाविशेषे, उचिते प्रणिधानस्य योग्ये, अप्राप्तप्रार्थनीये गुणावस्थायामप्राप्ततत्प्रकर्षावस्थायां वेति भावना । इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

प्रणिधानकरणविधिमाह–

तं पुण संविग्गेणं, उवओगजुएण तिव्वसद्धाए ।
सिरणमियकरयलंजलि, इय कायव्वं पयत्तेणं ॥ ३२ ॥

तदिति प्रणिधानम , पुनरिति विशेषद्योतने , संविग्नेन मोक्षार्थिना, भवभीतेन वा । उपयोगयुतेनावहितमनसा, तीव्रश्रद्धया आत्यन्तिक्या सदनुष्ठानकरणरुच्या, अनेन च मानसो विधिरुक्तः । अथ शारीरं विधिमाह-शिरसि मस्तके, नमितो निवेशितः, करतलयोर्हस्तयोरञ्जलिर्हस्तविन्यासविशेषो यत्र करणे तत्तथा । कर्त्तव्यमित्येतत्क्रियाविशेषणमिदम, इति अनेन च वक्ष्यमाणेन पाठक्रमेण प्रयत्नेनादरेणेति, गाथार्थः ॥ ३२ ॥ पञ्चा० ४ विव० । ल० । 'जय वीयराग' संघा० । अत्र वर्णसंख्या ।

अथ प्रणिधानत्रिकवर्णसंख्याख्यापनाय गीतिगाथाप्रथमपादमाह–

पणिहाणि बावनसयं, ... ।

(पणिहाणि त्ति) जातावेकत्वं, ततश्च त्रिप्रणिधानेषु द्विपञ्चाशदधिकं शतं, वर्णानां भवति । तत्र "जावंति" इत्यादिजिनवन्दनारूपे प्रथमे प्रणिधाने पञ्चत्रिंशत् 'जावंति के' इत्यादिके द्वितीये मुनिवन्दनालक्षणेऽष्टत्रिंशत, "जय वीराय" इत्यादि गाथाद्वयात्मके तृतीये प्रार्थनास्वरूपे त्वेकोनाशीतिः, सर्वमिलिते द्विपञ्चाशं शतमिति । एषा च चैत्यवन्दना गुरुलघुवर्णपरिज्ञानमन्तरेण क्रियमाणा न विशुद्धा स्यात् । आह च–" गुरुलघुभेदज्ञानं, न विद्यते यस्य सर्वथा चित्ते । स विचक्षणोऽपि रक्षां, न व्रतभेदस्य कर्तुमलम " ॥१॥ किं च–व्यञ्जनभेदादर्थभेदोऽर्थभेदे च नाभीष्टसिद्धिः, प्रत्युतानर्थप्राप्तिः स्यात् , कुणालकुमारवत् । ततोऽवश्यं गुरुलघुत्वं वर्णानां ज्ञातव्यम । एकस्य च परिज्ञाने द्वितीयं सुखेन परिज्ञायते ।

तत्र बाहुल्यात् गुरुवर्णसंख्याख्यापनार्थं गीतिगाथापादत्रयमाह–

........................, कमेसु सग ति चउवीस तित्तीसा ।
गुणतीस अट्ठवीसा,चउतीसि तितीस बार गुरुवन्ना ।२०।

(व्याख्याऽस्या अन्यत्र)सङ्घा० ३ प्रस्ता० (अत्र कुणालकुमारकथा सङ्घाचाराद् ज्ञातव्या)

दण्डकस्तवमानम् " वन्ना सोलस सगनउ-इ संपया क अ-सीयाला । इगसीयसयं तु पया, सगनउई संपयाओ य ॥ " त्ति "अट्ठमनयमदसमेति" द्वारत्रयम ।

सम्प्रति "पणदंडे" इत्येकादशद्वारगाथापूर्वार्द्धेनाऽऽह —

पण दंडा सक्कत्थव–चेइयनामसुयसिद्धथय इत्थं ।

दण्डकाः प्रागुक्तशब्दार्थाः,ते च पञ्चाऽत्र चैत्यवन्दनायां, गुणसागरनृपतिवत सत्यापनीयाः । तत्र प्रथमो दण्डकः शक्रस्तवः "नमोऽत्थु णं" इत्यादि, "सव्वे तिविहेण वंदामि" इत्येतदन्तः । यतश्चैत्यवन्दनाचूर्णौ चैतत्सर्वं व्याख्याय भणितम्—" एवं पणिवायदंडगं भणित्ता तओ पंचंगपणिवाइयं करेइ " त्ति । १ । द्वितीयश्चैत्यस्तवः "अरिहंतचेइयाणं" इत्यादि ।२। तृतीयो नामस्तवः "लोगस्सुज्जोयगरे" इत्यादि । ३ । चतुर्थः श्रुतस्तवः "पुक्खरवरदीव" इत्यादि ।४। पञ्चमस्तु दण्डकः सिद्धस्तवरूपः "सिद्धाणं बुद्धाणं" इत्यादि, यावत् "अप्पाणं वोसिरामि" इत्येतत्पर्यन्तः। तथा श्रीहरिभद्रसूरिपूज्यैर्ललितविस्तरायामेतदन्तं व्याख्याय भणितम ।

यथा-व्याख्यातं सिद्धेभ्य इत्यादि सूत्रमिति । संघा० ३ प्रस्ता०। इत्याद्यभिहितं "पणदंड" इत्येकादशं द्वारम् । (अथ कुम्भकारनृपकथा सङ्घाचाराद् ज्ञातव्या)

(२८) अथ द्वादशाधिकाराः । साम्प्रतं "बार अहिगार" त्ति द्वादशं द्वारं गाथोत्तरार्द्धेनाऽऽह—

दो एग दो दो पंच य, अहिगारा बारस कमेण ॥३०॥

पूर्वार्द्धोक्त इत्थशब्द इहापि संबध्यते, ततश्च (इत्थ त्ति) एषु दण्डकेष्वधिकाराः स्तोतव्यविशेषाः प्रस्तावविशेषाः,अधिक्रियन्ते समाश्रियन्ते, वन्दनां कर्तुकामैरिति व्युत्पत्तेः । ते च द्वादश क्रमेण भवन्ति । तत्र प्रणिपातदण्डके द्वावधिकारौ, एकोऽर्हच्चैत्यस्तवदण्डके, द्वौ नामजिनस्तवदण्डके, द्वौ श्रुतस्तवदण्डके, पञ्च सिद्धस्तवदण्डके च ।

एतानेवाद्यपदोल्लिङ्गनया दर्शयति—

नमु जेइ य अरिहं लो—गसव्वपुक्खतमसिद्धजोदेवा ।
उज्जि चत्ता वेया—वच्चग अहिगारपढमपया ॥ ३१ ॥

इह सर्वत्र पदैकदेशे पदसमुदाय उपचरितव्यः। ततश्च—"नमोऽत्थु णं" इति भावार्हद्वन्दनाख्यस्य प्रथमाधिकारः प्रथमम । एवमन्यत्रापि यथान्यायं प्रयोज्यम ॥१॥ " जे य अईया सिद्धा " त्ति द्वितीयस्य ॥ २ ॥ " अरिहंतचेइयाणं " इति तृतीयस्य ॥ ३ ॥ "लोगस्स उज्जोयगरे" इति चतुर्थस्य ॥ ४ ॥ " सव्वलोए अरिहंत त्ति" पञ्चमस्य । "पुक्खरवरदीव" इति षष्ठस्य ॥ ६ ॥ " तमतिमिरपडल " इति सप्तमस्य ॥ ७ ॥ "सिद्धाणं बुद्धाणं" इत्यष्टमस्य ॥ ८ ॥ " जो देवाण वि " इति नवमस्य ॥ ९ ॥ " उज्जितसेलसिहरे " इति दशमस्य ॥ १० ॥ " चत्तारि अठ्ठदेसे " इत्येकादशस्य ॥ १० ॥ " वेयावच्चगराणं " इति द्वादशस्य । एतानि किमित्याह--अधिकाराणां प्रागुक्तशब्दार्थानां, प्रथमपदान्युल्लिङ्गनपदानि इत्यर्थः । संघा० ३ प्रस्ता० । ध० ।

इत्युक्तं " बार अहिगार " त्ति द्वादशं द्वारम ।

सम्प्रति "चउ वंदणिज्ज" त्ति त्रयोदशं द्वारं समधिकपूर्वार्द्धपदेनाऽऽह—

चउ वंदणिज्ज जिणमुणि—सुयसिद्धा इह ………… ।

चत्वारो वन्दनीयाः मङ्गलोत्तमशरणविधायित्वेन कर्त्तव्यप्रणामाद्यर्हाः । के ते ?, इत्याह—जिना अनुपदवक्ष्यमाणस्वरूपाः, मुनयश्च साधवो गच्छगतादिभेदभिन्नाः, आचार्योपाध्याययोरप्यव्यभिचारात्साधुग्रहणाद् ग्रहः ।

उक्तं च—

" साहत्तणुट्ठिया जं, आयरियाई तओ य ते साहू ।
साहुग्गहणेण गहियं, ……………………" ॥ १ ॥

श्रुतं च अङ्गानङ्गप्रविष्टम, सिद्धा क्षपिताशेषकर्माणः । इहेति संपूर्णचैत्यवन्दनायां, जिनशासने वा । यद्वा—त्रैलोक्येऽपीति ॥ सङ्घा० ३ प्रस्ता० । (अत्र सुमतिकथा सङ्घाचाराद्वसेया) इत्युक्तं चत्वारो वन्दनीया इति त्रयोदश द्वारम ।

(२९) शरणीयद्वारम्—देवस्तुतिः । सम्प्रति "सरणिज्ज" त्ति चतुर्दशं द्वारं गाथाचतुर्थपादेनाऽऽह—

……………, (इह) सुरा य सरणिज्जा ॥३२॥

इहशब्दः पूर्वद्वारे संयोजितोऽपि डमरुकमणिन्यायेनात्रापि संबध्यते । ततश्च इहेति संपूर्णचैत्यवन्दनायां क्रियमाणायां, सुराश्च सुर्यश्चेति "पुरुषः स्त्रिया" ॥३।१।१२६॥ इत्येकशेषे सुराः,ते चात्र यक्षाम्बाप्रभृतयः सम्यग्दृष्टिदेवता ज्ञातव्याः, न त्वर्हन्तः, तेषां प्राग्वन्दनीयत्वेनाभिहितत्वादनुशासकत्वात्सारकत्वाच्च । एते च किमित्याह—(सरणिज्ज त्ति) स्मरणीयास्तत्तद्गुणानुचिन्तनोत्कीर्त्तनादिनोपबृंहणीयाः, स्तवनीया इत्यर्थः । श्लाघ्यश्च जिनप्रवचनस्थः स्वल्पगुणोऽपि, सम्यग्दृष्टिप्रशंसायाः कर्मक्षयकारणत्वात् । उक्तं च—" गुणपगरिसबहुमाणो, कम्मक्खयकारणं जेण ॥ " इति । नैवं चेत् तदोत्तरोत्तरसंयमस्थानवर्त्तिभिः साधुभिर्जघन्यजघन्यतरादिसंयमस्थानवर्त्तिनः साधवोऽप्यनुपबृंहणीयाः स्युः, तैः सुनियमादिसुदृढाः श्रावकाः, न चैतदागमे दृष्टमिष्टं वा, यद्गुणिनां गुणा न प्रशंस्याः, दर्शनमालिन्याद्यवाप्तेः ।

आह च—

" नो खलु अप्परिवडिए, निच्छओ अमलिए व सम्मत्ते ।
होइ तओ परिणामो, जत्तो अणुवबूहणाई य" ॥१॥ त्ति ।

देशविरतानां वा अविरतसम्यग्दृष्टयः श्राद्धाः सत्काराद्यर्हा न स्युः, तथा च सति, "तम्हा सव्वपयत्तेणं, जो नमुक्कारधारओ । सावओ सो वि दट्ठव्वो, जहा परमबंधवो" ॥१॥ इत्याद्यपार्थकं स्यात् । एवं च सकलागमव्यवहारलोपाद्विमर्शनीयमिदं सूक्ष्मधियेति । यद्वा—स्मारणीयाः स्मारणादिषु प्रेरणार्हाः । तत्र "पम्हट्ठे गाहा ।" अयमर्थः—वैयावृत्यादिकारका गीयन्ते, तत्र चानादरता भवता तत्किं स्वकृत्यमपि विस्मृतम, न युक्तमत्र प्रमादयितुम , दुर्लभा हि पुनरियं सामग्री,दुःखदः प्रमादारिः, दुरन्तो भवोदधिविनिपातः, स्वनामैवं सत्यापयेत्यादिव्यक्तयार्थगर्भतद्विशेषणद्वारेण स्मारणादि क्रियते । अथवा—सारणीयाः सङ्घादिकृते वैयावृत्यप्रभावनाद्यावुभयलोकसुखावहे प्रेरणार्हास्तत्करणशक्तियुक्तत्वात्तेषाम् । इदमुक्तं भवति—"यदाऽमुकं सङ्घे प्रभावनादि करिष्येऽथ तदहममुकं कायोत्सर्गादिकं पारयिष्यामि" इत्यादिना सुदर्शनप्रिया मनोरमा इव तत्र तत्र सङ्घकृत्ये प्रवर्त्तयितव्यम । अथवाऽयं निशीथचूर्ण्युक्तो विधिः—"पुव्वं अणुसट्ठी किज्जइ, थुइ त्ति भणियं होइ, " अणुसट्ठी थुइ त्ति एगट्ठे " त्ति भाष्यवचनात् । " साहु कयं ते एवं वुच्चइ, जहा—चंपाए सुभद्दा नागरजणेण अणुसट्ठा—धण्णा सपुण्णा सि त्ति, तओ उवालंभो दिज्जइ—सा णूणं ववएसपया ण कीरइ त्ति वुत्तं भवइ, पच्छा से उवग्गहो किज्जइ" ।

भणियं च—

"दाणे दवावणे का—रणे य करणे य कयमणुण्णाए ।
ववहियमणुवहियं वा, जाणाहि उवग्गहं एयं " ॥१॥ इति ।

सङ्घा० ३ प्रस्ता० । (अत्र सुदर्शनश्रेष्ठिप्रियामनोरमाकथा भावनीया सङ्घाचारात्) इति निगदितं " सुरा य सरणिज्ज-त्ति " चतुर्दशं द्वारम ।

(३०) जिनद्वारम । अथ " चउह जिणा " त्ति पञ्चदशं द्वारं विभावयिषुर्गाथोत्तरार्द्धमाह—

चउह जिणा नामठव—णदव्वभावजिणभेएणं ॥

चतुष्प्रकारा जिनाः । कथमित्याह—" नाम " इत्यादि । जिनशब्दो पृथक् पृथक् संबध्यते । ततश्च नामजिनस्थापनाजिनद्रव्यजिनभावजिनभेदेन नामजिनादिप्रकारेणेति ।

एताननेकभेदान् विभावयिषुराह—

नामजिणा जिणनामा,ठवणजिणा पुण जिणिंदपडिमाओ।

दव्वजिणा जिणजीवा,भावजिणा समवसरणत्था ॥३३॥

नामैव नामप्रधानतया वा जिना नामजिनाः। कानीत्याह-जिनः, अर्हन्, पारगत इत्यादि नामानि। यद्वा-जिनानां तीर्थकृतां नामानि "उसभ अजित" इत्यादीनि। स्थापनया लेप्यकर्मादिरूपया जिना स्थापनाजिनाः,जिनेन्द्राणां प्रतिमाः,बिम्बानीत्यर्थः। पुनःशब्दोऽक्षादिन्यस्तनिकारस्थापनाजिनपरिग्रहार्थः । द्रव्यं दलिकं भूतभाविभावकारणं, तदाश्रित्य जिना द्रव्यजिनाः, येऽर्हत्पदवीं प्राप्य सिद्धाः,ये च तां प्राप्स्यन्ति। सङ्घा० ३प्रस्ता०। (अत्रेश्वरनरेन्द्रकथा सङ्घाचाराद् ज्ञातव्या)उक्त "चउदजिण"त्ति पञ्चदशं द्वारम्। एवं च द्वारे उक्ता द्वादशाऽधिकाराः । त्रयोदशचतुर्दशपञ्चदशेतिद्वारत्रयेऽधिकारिणश्च प्रतिपादिताः ।

(३१)अथ यत्राधिकारे यः स्तूयते तत्प्रतिपादनाय गाथात्रयमाह-

पढमऽहिगारे वंदे, भावजिणे बीययम्मि दव्वजिणे ।

इगचेइयठवणजिणे, तइएँ चउत्थम्मि नामजिणे ॥३४॥

प्रथमे आद्ये शक्रस्तवरूपेऽधिकारे स्तोतव्यविशेषस्थाने, वन्दे सद्भूतगुणोत्कीर्त्तनेन स्तवीमीति भावजिनान् भावार्हतश्चतुस्त्रिंशदतिशयादिमत्त्वमर्हद्धर्मं प्राप्तानुत्पन्नकेवलज्ञानान् समवसरणस्थाँस्तीर्थकृत इत्यर्थः। तत्रैव संपूर्णाईन्त्वभावात्। भणितं च-"भावजिणा समवसरणत्थ"त्ति। तथा द्वितीये "जे य अईय" त्ति गाथालक्षणेऽधिकारे, वन्दे इति सर्वत्रापि योज्यम्। द्रव्यजिनान् द्रव्यार्हतोऽष्टमहाप्रातिहार्यादिकां तीर्थकृल्लक्ष्मीं प्राप्य सिद्धाः,ये च तस्मिन्नन्यस्मिन्वा भवे तां प्राप्स्यन्ति, न च तदानीं प्राप्तवन्तस्तानर्हत्वद्रव्यान्, जिनजीवानित्यर्थः।

उक्तं च-

"भूतस्य भाविनो वा,भावस्य हि कारणं तु यल्लोके।

तद्द्रव्यं तत्त्वज्ञैः, सचेतनाचेतनं कथितम्" ॥ १ ॥

तथा एकचैत्यस्थापनाजिनान्-यत्र देवगृहादौ चैत्यवन्दनं कर्त्तुमारब्धं तत्र स्थापितानि यानि जिनबिम्बानीत्यर्थः, तृतीये "अरिहंतचेइयाणं" इति दण्डकरूपे; तथा चतुर्थे चतुर्विंशतिमपि जिनात्मके नामजिनान् जिननामानि । अस्यामवसर्पिण्यां भरतक्षेत्रवर्तितयाऽऽसन्नत्वादिनोपकारित्वाच्चतुर्विंशतिमपि जिनाश्नामोत्कीर्त्तनेन स्तौमीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

तिहुयणेँ ठवणजिणे पुण, पंचमए विहरमाण जिणछट्ठे ।

सत्तमए सुयनाणं, अट्ठमए सव्वसिद्धथुई ॥३५॥

त्रिभुवने-ऊर्द्धाधस्तिर्यग्लोके,स्थापनाजिनान् शाश्वताशाश्वतचैत्यस्थापिताऽर्हत्सिद्धप्रतिमारूपान्, पञ्चमके "सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं" इति कायोत्सर्गदण्डकलक्षणेऽधिकारे, वन्दे इति योज्यम्। अत्र चार्हत्सिद्धप्रतिमारूपानिति प्रकारान्तरसूचकपुनःशब्दाद् व्याख्यातम्, भणितं चावश्यकचूर्णिकारेण सिद्धप्रतिमानामपि वन्दनपूजनादि। तथा च प्रतिक्रमणाध्ययने-"सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं" इति दण्डकचूर्णिः। " जे सव्वलोए सिद्धाइ अरिहंता चेइयाणि य तेसिं चेव " प्रतिकृतिलक्षणानि, 'चिती ' संज्ञाने, संज्ञानमुत्पद्यते काष्ठकर्मादिषु प्रतिकृतिं दृष्ट्वा " जहा अरिहंतपडिमा एस त्ति, " सिद्धादिप्रतिमेत्यर्थः। अन्ये भणन्ति-" अरिहंता तित्थयरा तेसिं चेइयाणि, अरिहंतचेइयाणि " अर्हत्प्रतिमेत्यर्थः । अत्र च अन्ये भणन्ति-" अरहंता तित्थयरा " इत्यादिभणता चूर्णिकृता पूर्वव्याख्याने सिद्धप्रतिमाः पृथग् स्पष्टं निर्दिष्टाः, अन्यथा द्वितीयव्याख्यानं निष्फलं स्यात् । एवं च सिद्धप्रतिमासिद्धौ तासां वन्दनपूजाद्यपि करणीयमायातम्,तत्प्रत्ययं च कायोत्सर्गाद्यपि। उक्तं चैतदावश्यकचूर्णौ। तथाहि-पूज्यत्वात् तेषां पूजनार्थं कायोत्सर्गं करोमि, श्रद्धादिभिर्वर्द्धमानैः सद्गुणसमुत्कीर्त्तनपूर्वकं कायोत्सर्गस्थाने पूजनं करोमीत्यर्थः। "जहा कोइ गंधचुण्णवासमल्लाइएहिं" समभ्यर्चनं करोतीति। "एवं सक्कारवत्तियाए सम्माणवत्तियाए विभासियव्वं, नवरं सक्कारो जहा वत्थाभरणाइ त्ति सक्कारणं संमाणो संमं मणणं ति"। एतावता च सिद्धप्रतिमानामप्यग्रे " अरिहंतचेइयाणं " इत्यपि दण्डकः पाठाय संगच्छते, शब्दार्थयोरत्रापि समानत्वात् । पर्युपास्या इहार्थे बहुश्रुताः। यथा श्रीजिनभद्रगणिक्षमाश्रमणैरपि विशेषावश्यके साक्षेपं स्थापिता सिद्धपूजा।

तथा च—

" कुज्जा जिणाण पूया, परिणामविसुद्धिहेउओ निच्चं ।

दाणादओ व मग्ग-प्पभावणाओ य कहणं व ॥१॥ "

कार्या जिनसिद्धपूजास्तत्परिणामविशुद्धिहेतुत्वात्, दानादिक्रियावत् । अथवा-कार्या जिनसिद्धपूजा मार्गप्रभावनात्मकत्वात्, धर्मकथावत् ॥ १ ॥

चोदकः-

" पूया फलप्पया नो, तहं च कोवप्पसायविरहाओ ।

जिणसिद्धा दिट्ठंतो, बेहं च मयं निवाईया ॥ २ ॥ "

आचार्यः-

" कोवप्पसायरहियं, पि दीसए फलयमन्नपाणाइ।

कोवप्पसायरहिय,त्ति निप्फला तो अणेगंतो ॥१॥" इत्यादि। पूजिता च मरुदेवा स्वामिनी प्रथमसिद्ध इति कृत्वा देवैः,कारिताश्च सिद्धप्रतिमा भरतेनाऽष्टापदोपरि एतयोः(संघा० ३प्रस्ता०।) तथा विहरमाणजिनान् षष्ठे पञ्चदशकर्मभूमिषु विहारं कुर्वाणान्, सूत्रार्थकथनपरायणान् भावार्हत इत्यर्थः । उक्तं च-" पढमे छट्ठे नवमे, दसमे एगारसे य भावजिणे "। वन्दे इति प्रकृतम्। ते च जघन्यतो विंशतिरुत्कृष्टतः सप्तविंशतिर्भवन्ति।

आह च-

" सत्तरिसयमुक्कोसं, जहन्नओ विहरमाणजिणवीसं ।

जम्मं पइ उक्कोसं, वीसं दस हुंति उ जहन्न त्ति ॥ १ ॥ "

आवश्यकचूर्णौ तु द्रव्यार्हन्तोऽन्यत्र व्याख्याताः। तथा चोक्तम्-"उक्कोसपएणं सत्तरि तित्थयरसयं, जहन्नपएण वीसं तित्थयरा, एए ताव एगकाले भवंति, अईया अणागया अणंता, ते तित्थगरे नमंसामि त्ति "। षष्ठे-" पुक्खरवरदीवड्ढे " इतिगाथात्मकः। तथा सप्तमे-" तमतिमिर " इत्यादिस्वरूपे श्रुतज्ञानमङ्गानङ्गप्रविष्टं सिद्धान्तं, वन्दे इति पूर्वगाथातो योज्यम्। तथाऽष्टमके " सिद्धाणं बुद्धाणं " इतिगाथायां सर्वेषां तीर्थसिद्धातीर्थसिद्धादिभेदभिन्नानां नामस्थापनादिरूपाणां वा सिद्धानां क्षपितकर्मांशानां स्तुतिः, क्रियत इति गम्यम् ॥ ३५ ॥

तित्थाहिववीरथुई, नवमे दसमे य उज्जयंतथुई ।

इगदसमे अट्ठावय, सुदिट्ठिसुरसुमरणा चरिमे ॥३६॥

तीर्थाधिपस्य वर्त्तमानतीर्थस्य प्रवर्तकत्वान्नाथस्य, वीरस्य वर्द्धमानस्वामिनः, स्तुतिर्विधीयते, आसन्नतरतया महोपकारित्वात् नवमेऽधिकारे " जो देवाण वि " इत्यादिगाथाद्वयरूपे । तथा दशमे च " उर्जितसेल " इतिगाथाप्रमाणे, " उज्जयंत त्ति " तात्स्थ्यात्तद्व्यपदेश इति

न्यायात् उज्जयन्तपर्वतालङ्करणस्य श्रीनेमिनाथस्य स्तुतिर्विधीयते, चशब्दो विशेषकः, तेनायं जिनस्तुतित्वात् दर्शनविशोधकात्कर्मक्षयादिकारकत्वात् संवेगादिकारणत्वात् अशठसमाचरितत्वात् बहुबहुश्रुतानिवारितत्वात् जीतव्यवहारानुपातित्वात् भाष्यकारादिभिः व्याख्यातत्वात् आवश्यकचूर्णिकृतोऽप्यनुमतत्वात् अनिषिद्धत्वात्पारम्पर्यागतस्वार्थस्य स्वमत्या निषेद्धुमशक्यत्वात् निषेधे निह्नवमार्गानुपातित्वात् आज्ञाप्रकारत्वाच्च इत्यतो युक्तमेवायमधिकारः। एवमग्रेतनोऽपि। तथा एकादशे चत्वारि "अट्ठदस" इतिगाथास्वरूपे, "अट्ठावय" त्ति सूचनात् अष्टापदपर्वतोपरि भरतनिर्मापितवर्त्तमानचतुर्विंशतिजिनस्तुतिः क्रियते, निगमनार्थत्वादस्येति। यद्वा- "अट्ठावय त्ति" उपलक्षणं, तेनान्यत्रगा अपि जिना अनया गाथया वन्द्यन्ते। तत्र यथेयं वृद्धैर्व्याख्याता तथा भव्यानां भाववृद्धये किञ्चिद्दर्श्यते-

"चत्तारि अट्ठ दस दो, य वंदिआ जिणवरा चउव्वीसं।
परमट्ठनिट्ठियट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु" ॥ १ ॥

दाहिणदुआरे चत्तारि, पच्छिमे अट्ठ, उत्तरे दस, पुव्वओ दो य, एवं अट्ठावए चउवीसं जिणवरा वंदिज्जंति। अन्ने भणंति- उवरिममेहलाए चत्तारि, मज्झिमाए अट्ठ, हिट्ठिमाए दस दो य, मिलियाओ चउवीसं जिणपडिमाओ अट्ठावए वंदिज्जंति, चत्ता अरओ जेहिं ते चत्तारओ पयविसेसेणं अट्ठ ८ दस १० दो य २ एवं वीसं २०। चतुःशब्दो विशेषणापेक्षार्थेषु यथायोगं योज्यौ। "एए सम्मेयपव्वए वंदिया परमट्ठेण उवयारेण निट्ठियट्ठा" समाप्तप्रयोजनाः, सिद्धाः शिवं गताः, 'षिधू' गत्यामिति वचनात् २ "चत्तारि एवं पुव्वं च अट्ठदससु मिलिया १८ दोयत्ती जाया" स्वर्गपा इन्द्रा इत्यर्थः, "तेहिं वंदिया चउव्वीसं भइया, लद्धा पंच, ते अट्ठारस मेलिया तेवीसं, एएसिं तुज्झे वंदिज्जंति, कहं परा पहाणा मा लच्छी समोसरणाइया, तत्थ ठिया, समोसरिया इत्यर्थः। निट्ठियट्ठा संपन्नफला केवलनाणसंपत्तीए।" यदागमः- "जस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावे मुण्डभावे अण्हाणए अदंतधवणे" इत्यादि, सिद्धाः शास्तारो बभूवुः, मङ्गलभूताश्च, 'षिधू' शास्त्रमाङ्गल्ययोरिति वचनात्। "चउहिं अट्ठगुणिया ३२, दोहि य दस २० मिलिय बावन्ना, नंदिसरजिणा य वंदिज्जंति, चसद्दा मयंतरे पुण वीसं, अहवा चउरहिया वीसं, एए नंदिसरसोहम्मेसाणिंदग्गमहिसीरायहाणीसु संति, मयंतरे पुण चउवीसं, परं अट्ठसाहिया ३२। एवं नंदिसरे दीवे ५२। २० वा, रायहाणिसु १६। ३२ वा, परमट्ठेण" न वर्णनामात्रेण, "निट्ठिया" निष्ठां प्राप्ता, आस्था आस्थानं, रचनेत्यर्थः। येषां ते तथा, सिद्धा नित्याः, अपर्यवसानस्थितिकत्वात्। "चत्तारि जंबुद्दीवे अट्ठ धायइसंडे दस नवरं दो य रहिया पुक्खरवरद्धे, एवं वीसं जिणा संपइ जहन्नओ विहरमाणा वंदिज्जंति, जम्मं पइ उक्कोसओ वा" चतुःशब्दो प्राग्वत्। "परमट्ठनिट्ठियट्ठा" भाविनि भूतवदुपचारात् सिद्धाः प्रख्याता भव्यैरुपलब्धगुणसंदोहत्वात्। "चत्ता अरी जेहिं ते चत्तारि "कज्जमाणे कडे" इति वचनात्। "के अरी अट्ठ कम्माणि, के चत्तारि दस ते उ दो य ति दुहिं भेएहिं हुंति जहन्ना जम्मपयभरहेरवयदसगविहरमाणजिणजेयहिं"। चः पूरणे। (उव्वीसं ति) उर्वीशाः पृथ्वीस्वामिनः, शेषं प्राग्वत्। ६ "अट्ठदसहि गुणिया ८० सा दोहि गुणिया १६०, सेसं पुव्वं वा, एवं सव्वविहरमाणजिणवंदिया ७ अट्ठ, अट्ठहि गुणिया ६४ दस, दसहिं १००, तओ चत्तारि दो य दो य, सव्वे मेलिया जायं सप्ततिशतम् १७०। एए पन्नरस कम्मभूमी उक्कोसओ विहरमाणा वंदिज्जंति ८ अट्ठ दस १८ चउहिं गुणिया ७२, एएहिं तिन्नि चउवीसीओ भवंति, ताओ य इह भरहे अतीयाऽणागयवट्टमानचउवीसगा तिगस्स रूवा तित्थयरा वंदिज्जंति ९ चत्तारि अट्ठमीलिया १२, ते य दस गुणिया १२०, एए पंचचउवीसिओ पंचसु भरहेसु वट्टमाणाओ वंदिज्जंति १०, अट्ठदसहिं गुणिया ८०, ते चेव दस मिलिया ९०, सा चउहिं गुणिया ३६०, एए पन्नरस चउवीसीओ पंचसु भरहेसु कालत्तयसंभवाओ वंदिज्जंति ११, एए चेव तिन्नि पगारा। जहा-७२। १२०। ३६०। दोहिं गुणिज्जंति, जाया १४४। २४०। ७२०। चउवीसी किज्जंति, जाया य ६। १०। ३०। चउवीसीओ ताओ कमसो पुव्वभणियअत्थेण भरहेरवएसु समग्गं वंदिज्जंति १२। अणुत्तरेसु १ गेविज्जेसु २ कप्पेसु ३ जोइसिएसु य ४, एवं उड्ढं चत्तारि भेया, अहो य वंतरेसु अट्ठभेएसु अट्ठ ८ दसभेएसु भुवणवासीसु दस १० महियले सासयअसासयभेया दो य २। एवं तिहुयणे जिणाययणेसु चउवीसं जिणवरा वंदिया १३। जहा पुण जंबुद्दीवे ६३५, धायइसंडे १२७२, पुक्खरवरद्धे १२७६, मणुयलोयबाहिं ९२, तिरियलोए वा सव्वसंखाए ३२७५, चेइयसयाइं, ताइं सयमेव तहा नियनियसंखाए आणिऊणं वंदियव्वाणि।" विस्तरभयाच्च नोच्यन्ते। "एवं अणेगहा एगारसमे अहिगारे जिणवरा वंदिज्जंति ११।" तथा सुदृष्टिसुराणां सम्यग्दृष्टिदेवतानां स्मरणात् तत्प्रवचनादिविषयवैयावृत्यादिकार्यविधानोपयोगप्रभृतिगुणगणानुचिन्तनोत्कीर्तनादिनोपबृंहणा। यथा धन्याः पुण्यवन्तो लब्धजीवितादिफला भवन्तो, यदेवं सदनुष्ठानोद्यताः, युक्तमेवेदं भवादृशां, सुस्थानविनियोगफलत्वात्संपदः।

उक्तं च-

" तं नाणं तं च विन्नाणं, तं कलासु य कोसलं।
सा बुद्धी पोरिसं तं च, देवकज्जेण जं वए " ॥ १ ॥

इत्यादिप्रशंसाद्वारेण तत्कृत्यप्रोत्साहनेत्यर्थः। अथवा-स्मारणा सङ्घादिविषये प्रमादिनां तदर्थीभूतवैयावृत्यादितत्कृत्यानां संस्मारणम्, चरमे द्वादशेऽधिकारे "वेयावच्चगराणं" इत्यादिकायोत्सर्गकरणं, तदीयस्तुतिदानपर्यन्ते क्रियते इति शेषः। औचित्यप्रवृत्तिरूपत्वात् धर्मस्य, अवस्थानरूपव्यापाराभावे गुणाभावापत्तेः। यतः-

"औचित्यमेकमेकत्र, गुणानां कोटिरेकतः।
विषायते गुणग्रामः, औचित्यपरिवर्जितः" ॥ १ ॥

अपि च-अनौचित्यप्रवृत्तो महानपि "मथुराक्षपकवत् कुबेरदत्तायाः" भवत्यल्पानामपि प्रत्युच्चारणादिभाजनम्।

आह च-

" आ रङ्कात् भूपतिं यावदौचित्यं न विदन्ति ये।
स्पृहयन्तः प्रभुत्वाय, खेलनं ते सुमेधसाम् ॥ १ ॥ "

इदमत्र तात्पर्यम्-सर्वदाऽपि स्वपरावस्थानुरूपया चेष्टया सर्वत्र प्रवर्त्तितव्यमिति। उक्तं च-सदौचित्यप्रवृत्त्या सर्वत्र प्रवर्त्तितव्यमित्यैदंपर्यमस्येति। (मथुराक्षपककुबेरदत्तादेर्योः संबन्धः सद्धाचाराद् ज्ञेयः)

(३२) येऽधिकारा यत्सम्मताः। अथ येऽधिकारा यत्प्रमाणेन भण्यन्ते तदसंमोहार्थं प्रकटयन्नाह-

नव अहिगारा इह ललि-यवित्थरावित्तिमाइ अणुसारा।
तिन्नि सुयपरंपरया, बीओ दसमो इगारसमो ॥ ३७ ॥

इह द्वादशस्वधिकारेषु मध्ये,नव अधिकाराः-प्रथमतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमनवमद्वादशस्वरूपाः,या ललितविस्तराख्या चैत्यवन्दनामूलवृत्तिः, तस्या अनुसारेण तत्र व्याख्यातसूत्रप्रामाण्येन,भण्यन्त इति शेषः। तथा च तत्रोक्तम्-एतास्तिस्रः स्तुतयो नियमेनोच्यन्ते, केचित्त्वन्या अपि पठन्ति, न च तत्र नियम इति न तद्व्याख्यानक्रिया,एवमेतत्पठित्वा उपचितपुण्यसंभारा उचितेषूपयोगफलमेतदिति ज्ञापनार्थं पठन्ति-"वेयावच्चगराणं"इत्यादि। अत्र च एता इति " सिद्धाणं बु० १ जो देवाण वि० २ इक्को वीति० " ३। अन्या अपीति-" उज्जिंतसेल० १, चत्तारि अट्ठ० २ तथा-जे य अईया " इत्यादि ३। अत एवाऽत्र बहुवचनं संभाव्यते, अन्यथा द्विवचनं दद्यात्। पठन्तीति-" सेसा जहिच्छाए " इत्याद्यवश्यकचूर्णिवचनादित्यर्थः। न च तत्र नियम इति, न तद्व्याख्यानक्रियेति तु प्रणन्तः श्रीहरिभद्रसूरिपादा एवं ज्ञापयन्ति-यदत्र यदृच्छया भण्यते तन्न व्याख्यायते, यत्पुनर्नियमतो भणनीयं तद्व्याख्यायते, व्याख्यातं च " वेयावच्चगराणं " इत्यादि सूत्रम्। तथा चोक्तम्-एवमेतत्पठित्वेत्यादि, यावत् पठन्ति " वेयावच्चगराणं " इत्यादि। ततश्च स्थितमेतद् यदुत " वेयावच्चगराणं " इत्यप्यधिकारोऽवश्यं भणनीय एव,अन्यथा व्याख्यानासंभवात्। यदि पुनरेषोऽपि वैयावृत्यकराधिकार उज्जयन्ताद्यधिकारवत्कैश्चिद्भणनीयतया यादृच्छिकः स्यात्तदा "उज्जिंतसेल" इत्यादिगाथाद्वयमपि न व्याख्यायेत, व्याख्यातश्च नियमभणनीयसिद्धादिगाथाभिः सहायमनुषिक्तसंबन्धेनेत्यतोऽत्रुटितसंबन्धायातत्वात् सिद्धाद्यधिकारवदनुस्यूत एव भणनीयः। यथाक्रमेण तत्र व्याख्यातं सूत्रमिति चेत्, एवं तर्हि हन्त सकलचैत्यवन्दनाक्रमाभावप्रसङ्गः, तत्रैवास्या एवं क्रमस्य दर्शितत्वात्। तदन्यत्र तथा व्याख्यानाभावाद् व्याख्यानेऽप्येतदनुसारित्वात्तस्य पश्चात्कालप्रभवत्वाद् नव्यकरणस्य तु सुन्दरस्याऽपि भवनिबन्धनत्वात् तत्रोक्तस्य तूपदेशायाततया स्वच्छन्दकल्पिताभावादिति परिभावनीयं बहुश्रु माध्यस्थ्यमनसा, विमर्शनीयं सूक्ष्मधिया, विचिन्तनीयं सिद्धान्तरहस्यं, पर्युपासनीयं श्रुतवृद्धानां प्रवर्त्तितव्यम्, असदाग्रहविरहेण यतितव्यं निजशक्त्याऽऽनुकूल्यमिति। एवं च द्वितीयदशमैकादशवर्जिताः शेषाः प्रथमाद्या द्वादशपर्यन्ता नव अधिकारा उपदेशायातललितविस्तराव्याख्यातत्वात्तत्र सिद्धा इति सिद्धम्। आदिशब्दात्पाक्षिकसूत्रचूर्ण्यादिग्रहः। तत्र सूत्रम्-" देवसक्खियं" इति। अत्र चूर्णिः-" विरइपमिवत्तिकाले चिइवंदणाइणोवयारेण अवस्सं अहासंनिहियदेवयासंनिहाणम्मि भवइ,अओ देवसक्खियं भणियं " इति। अयमत्र भावार्थः-तावद्गणधरैर्दार्ढ्यार्थं पञ्चसाक्षिकं धर्मानुष्ठानं प्रतिपादितं, लोकेऽपि व्यवहारदार्ढ्यस्य तथा दर्शनात्। तत्र देवा अपि साक्षिण उक्ताः, ते च चैत्यवन्दनाद्युपचारेणासन्नीभूताः साक्षितां प्रतिपद्यन्ते; चैत्यवन्दनामध्ये च तेषामुपचारः कायोत्सर्गस्तुतिदानादिना क्रियते, अन्यस्य तत्रासंभवादश्रुतत्वाच्च, ततश्चैवमायातं, तथा चैत्यवन्दनामध्ये देवकायोत्सर्गादि करणीयमेव, अन्यथा तत्रान्यतदुपचाराभावे देवसाक्षिकत्वासिद्धेः, चूर्णिकारेण तथैव व्याख्यातत्वान्निश्चीयते चैतत् " देवसक्खियं " इति सूत्रप्रामाण्यात्। एवमेव पूर्वापरविरोधाभावादुक्तं च सूत्रत्वं ललितविस्तरायामप्यस्य। तथा चोक्तम्-व्याख्यातं "सिद्धेभ्यः" इत्यादि सूत्रमिति। तथा इदमेव वचनं ज्ञापकमिति, वचनं सूत्रं च पर्यायौ। एवं च सूत्रसिद्धा अप्येते नव अधिकारा इति सिद्धम्। ननु च ज्ञातं तावत् प्रथमतृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमद्वादशेति नवाधिकाराः, एवं सिद्धान्ताद्यनुसारेण भण्यन्ते,परं भवद्भिः "बार अहिगार" इति प्राक् प्रतिज्ञातम्, ततः शेषाः कुतः प्रामाण्यात् पठ्यन्ते, इत्याशङ्क्याऽऽह-"तिन्नि सुय" इत्यादि। त्रयोऽधिकाराः पुनः (सुय त्ति) "ते सुम्वा" ॥३।२।१०८॥ इति पूर्वपदस्य बहुशब्दस्य लोपात् बहुश्रुताः,तेषां पारम्पर्येण गीतार्थपूर्वाचार्यसंप्रदायेन भण्यन्ते, पारम्पर्यागतस्यार्थस्य सुमत्या निषेधयितुमशक्यत्वात्, तन्निषेधे निह्नवमार्गानुयानापत्तेः। उक्तं च द्वितीयाङ्गनिर्युक्तौ-"आयरियपरंपरए-ण आगयं जो उ अप्पबुद्धीए। कोवेइ छेयवाई, जमालिनासं स नासिहिइ " ॥ १ ॥ त्ति। अशठाचरितेन च आज्ञारूपत्वात्, तथाऽपि निषेधे जिनाशातनाप्रसङ्गाच्च। तथा च कल्पभाष्यम्-" आयरणा वि हु आणा, अविरुद्धा चेव होइ आण त्ति। इहरा तित्थयरासा-यण त्ति तल्लक्खणं चेयं ॥ १ ॥ " इत्यादि। अथवा-(सुयपरंपरय त्ति) यथा श्रुतस्य व्याख्यानं निर्युक्तिः, ततोऽपि भाष्यचूर्ण्यादयः, एवं श्रुतपारम्पर्येण। अयमर्थः-यथा सूत्रे चैत्यवन्दना ततः श्रुतस्तवं यावदुक्तो,निर्युक्तौ तु " सिद्धाण सुई किइकम्मं" ति श्रुतस्तवस्योपरि सिद्धस्तुतिर्भणिता। चूर्णौ तु सिद्धस्तुतेरप्युपरि श्रीवीरस्तुतिद्वयं व्याख्याय भणितम्-" जहा एए तिन्नि सिलोगा भन्नंति, सेसा जहिच्छाए " त्ति। ततश्च यथा निर्युक्त्यादिव्याख्याताः सिद्धादिगाथास्तिस्रो भण्यन्ते, तथा उज्जयन्ताद्यपि भण्यते, चूर्णिकारेणाऽनिषिद्धत्वादिच्छाद्वारेणानुज्ञातत्वाच्च। तथा हि-" सेस त्ति " अनेन उज्जयन्तादिगाथास्तित्वं प्रतिपादितम्, असतो भणनाभावात्। " जहिच्छाए " इत्यनेन तु वन्दनकरणेच्छावतां " उज्जित " आदिगाथाभणने स्वाभिमतत्वं दर्शयति, अनभिमतस्येच्छाऽयोगात्। येषां हि उज्जयन्तादि वन्दितुमिच्छातिशयः,ते भणन्तु नाम, उज्जयन्तादिगाथाभणनतया कर्मक्षयहेतुत्वात् प्रवृत्तिरित्यर्थः। अथ के ते त्रयोऽधिकारा एवं श्रुतपारम्पर्येण भण्यन्ते, इत्याह-" बीओ " इत्यादि द्वितीयः " जे य अईया " इत्यादिरूपः, दशमः " उज्जित " इत्यादिलक्षणः, एकादश " चत्तारि " इत्यादिस्वरूपः। एते त्रय इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अमुमेवार्थं भाष्यकृत्स्पष्टयन्नाह-

आवस्सयचुण्णीए, जं भणियं सेसया जहिच्छाए।
तेणं उज्जिंताइ वि, अहिगारा सुयमया चेव ॥ ३८ ॥

आवश्यकचूर्णौ प्रतिक्रमणाध्ययने,यद्यस्माद्भणितमिदम्,तद्भणितमेव दर्शयति-(सेसया जहिच्छाए) भणन्तीति प्रकृतम्। शेषाः " सिद्धाणं०१ जो देवाण वि०२ इक्को वि०३" इति गाथात्रयोऽन्या गाथा " उज्जिंतसेल " इत्यादिका यदृच्छया भण्यन्ते। या या इच्छा यदृच्छा। अयमर्थः-यस्य यस्य भावेनातिशयतो नेमिनाथादि वन्दितुं वाञ्छा वर्त्तते,स भणतु नामैता गाथाः, न दोषः,सं-

वेगादिकारणत्वेन दर्शनविशुद्धिहेतुत्वात्तस्याश्च मोक्षाङ्गतया कर्त्तव्यत्वात् । मोक्षस्य चाक्षेपेण प्राप्तुमिष्टत्वात्तदर्थमेव च सकलधर्म्मानुष्ठानप्रवृत्तेः, यतश्चैवं शेषा गाथाश्चूर्णिकृता भणितास्तेन कारणेनेदं निश्चीयते-यदुत पूर्वोक्ता नवाधिकारास्तावत्सूत्रसिद्धा एव । येऽपि चोज्जयन्तादयोऽधिकाराः, तेऽपि श्रुते चूर्ण्यादिरूपे श्रुतविवरणे पदेऽपि पदसमुदायोपचाराद् मता एव अभिमताः, इच्छायां भणितत्वात्, अनभिमते सता प्रवर्त्तयितुं योगाभावात् । अन्यथाऽनाप्तत्वप्रसङ्गात् अनिषिद्धत्वाच्च ॥ ३८ ॥

आह-" चत्तारि " इत्यत्रादिशब्देन " चत्तारि " इत्येकादश एवाधिकारा अनुमीयन्ते, क्रमानुविरुद्धत्वाच्च पुनर्द्वितीयः, तस्यान्यत्र पाठादतः स कथं भण्यते ?, इत्याशङ्क्याह-

बीओ सुयत्थयाई, अत्थओ वणिओ तहिं चेव ।
सक्कथयंते पढिओ, पुव्वायरिएहिँ पयडत्थो ॥३९॥

न केवलं दशमैकादशावधिकारौ चूर्णिकारभणितत्वात् भण्येते, किं तु द्वितीयोऽपीत्यपिशब्दः " जे य अईया " इत्यादिलक्षणोऽप्यधिकारः, श्रुतस्तवस्य चतुर्थदण्डकस्य, आदौ "पुक्खरवरदी० " इतिगाथायामर्थतोऽर्थमाश्रित्य वर्णितो व्यावर्णितः, तत्रैव आवश्यकचूर्णावेव । अयमत्र भावार्थः-द्वितीयाधिकारार्थो द्रव्यार्हद्वन्दना, सा च तत्र भणिता । तथाहि-" उक्कोसपयपणं सत्तरं तित्थयरसयं, जहण्णपयएं वीसं तित्थयरा, एए ताव एगकालेणं भवंति । अईया अणागया अणंता, ते तित्थयरे नमंसामि " इति । एवं चूर्णिव्याख्यातार्थस्वरूपत्वेन चूर्ण्युक्त एवायमपीति भण्यते । ननु यद्येवं चूर्ण्युक्तार्थतयाऽयं भण्यते, तर्हि तत्रैव भण्यतां, किमन्यत्र पाठेनेत्याह-शक्रस्तवान्ते प्रणिपातदण्डकानन्तरं, पठितो भणितः, पूर्वाचार्यैः पूर्वैरनुयोगकृद्भिः, शक्रस्तवान्तेऽस्य स्थानात्, भावार्हद्वन्दनाऽनन्तरं द्रव्यार्हद्वन्दनायाः क्रमप्राप्तत्वात् प्रथमाधिकारेऽपि नवमसंपदि किञ्चित्तद्भणनात्, अस्य तु तद्विस्तरार्थत्वादित्थमेव च बहुभव्योपकारदर्शनात्, भावप्राधान्याश्रयेण च पश्चानुपूर्व्या चैत्यवन्दनायाः प्रारम्भः, तस्या अप्यागमेऽनुज्ञातत्वात् । श्रुतस्तवादौ त्वस्य पाठे अनानुपूर्व्या अप्यसंभवात्, तन्मध्यपाठेऽपि व्यत्याम्रेडितदोषप्रसङ्गात्, शक्रस्तवान्तभणने तु दोषासंभवात्, दण्डकान्तेऽन्यस्यापि स्तुतिस्तवादेर्भणनादित्येवं निर्दोषत्वेन पूर्ववृद्धैः शक्रस्तवान्तेऽयं पठितः, तथैव च भण्यते, वृद्धाचरितस्य जीतव्यवहाररूपत्वात् । उक्तं च-" जीयं ति वा करणिज्जं ति वा आयरणिज्जं ति वा एगट्ठा " ।

तथा-

" वत्तऽणुवत्तपवत्तो, बहुसो आसेविओ महाणेण ।
एसो य जीयकप्पो, पंचमओ होइ ववहारो ॥१॥
वत्तो नामं इक्कसि, अणुवत्तो जो पुणो बिइयवारं ।
तइयट्ठाणपउत्तो, सुपरिग्गहिओ महाणेण " ॥२॥ इति ।

वृत्त एकदा नवो जातः पात्रबन्धग्रन्थादिवदित्यादि । तथा प्रकटार्थः सुगमार्थः, कृत इति शेषः । बालादीनामप्येवं शुभभाववृद्धेः । चूर्ण्युक्तमर्थं हि केचिदेव जानते, एवं तु पाठे मन्दमतीनामपि भवति । यथा वयं त्रिकालभाविनो जिनाननुना वन्दामहे, ततश्च सुलभ एव शुभभाववृद्धिः, बोधिनिमित्तत्वात्तस्याः । इत्यलं प्रसङ्गेन ॥ ३९ ॥

एवं द्वादशाधिकारस्वरूपं निरूप्य तद्भणनेन तात्पर्यार्थं प्ररूपयन्नाह-

असढाइण्णऽणवज्जं, गीयत्थअवारियं ति मज्झत्था ।
आयरणा वि हु आण, त्ति वयणं तु सुबहु मन्नंति ॥४०॥

अशठेन निर्मायेन, एतेन चास्याविप्रतारकत्वमाह, ' आ ' इति मर्यादया, सूत्रोक्तया गुरुलाघवचिन्तयेत्यर्थः । अनेन चाचीर्णकर्तुः प्रमाणत्वं दर्शयति, अगीतार्थस्य प्रमाणत्वायोगात्, आचरितस्य तु सूत्रानुसारित्वं गुरुलाघवचिन्तया कृतस्य सूत्रेण सह पूर्वापरविरोधाभावात् । चीर्णं चरितं, देशकालाद्यपेक्षया गुणानुविधायित्वेन बहुभव्योपकारीति कृत्वा अशठाचीर्णम्, तथा अनवद्यं निर्दोषं, जिनस्तुत्यादिरूपतया कर्मक्षयहेतुत्वात् । तथा गीतार्थैस्तदन्यैस्तत्कालवर्त्तिभिर्न निवारितं, शोभनत्वादेव दर्शनादिविशोधकत्वात् जिनस्तुत्यादेः । इति एवं, यत् बहुबहुश्रुतं, संविग्नपूर्वाचार्यसंमतमित्यर्थः । ततः सुबहु मन्यन्ते, इतिगाथान्ते संबन्धः । के इत्याह-मध्यस्थाः कुग्रहकलङ्काकलुषितचेतोवृत्तित्वेन रागाद्यस्पृष्टाः ।

उक्तं च-

"जो न वि वट्टइ रागे, न वि दोसे दुण्ह मज्झयारम्मि ।
सो हवइ मज्झत्थो, सेसा सव्वे अमज्झ त्ति" ॥१॥

अन्यथा धर्मानर्हत्वात् । आह च-

" रत्तो दुट्ठो मूढो, पुव्विं वुग्गाहिओ य चत्तारि ।
एए धम्मअणरिहा, अरिहो पुण होइ मज्झत्थो " ॥१॥ इति ।

आचरणाऽपीति-न केवलं सूत्रोक्तमात्रमेवाज्ञा, किं तु आचरणाऽपि संविग्नगीतार्थाचरितमपि, आज्ञैव, हुरेवार्थे, सूत्रोपदेश एव, अतीर्थानुवृत्तिजीताख्यपञ्चमव्यवहाररूपत्वात् ।

आह च-

"बहुसुयकमाणुपत्ता, आयरणा धरइ सुत्तविरहे वि ।
विज्जाए वि पईवे, नज्जइ दिट्ठं सुदिट्ठीहिं ॥ १ ॥
जीवियपुव्वं जीवइ, जीविस्सइ जे उ धम्मियजणम्मि ।
जीयं सि तेण भण्णइ, आयरणा समयकुसलेहिं ॥ २ ॥
तम्हा अनायमूले, हिंसारहिएऽसुया ण जणणीया ।
सूरिपरंपरपत्ता, सुत्तं च पमाण आयरणा ॥ ३ ॥ "

इत्येवं, यद्वचनं सूत्रम् । तथा च कल्पनिर्युक्तिः-

" आयरणा वि हु आणा, अविरुद्धा चेव होइ आण त्ति ।
इहरा तित्थयरासा-यण त्ति तल्लक्खणं चेयं ॥१॥
असढेण समाइण्णं, जं कत्थइ केण इ असावज्जं ।
न निवारियमन्नेहिं, बहु मणुमयमेवमाइज्जं " ॥ २ ॥ इति ।

तस्मात्तद्वचनप्रामाण्यात्, सुष्ठु याथातथ्यपूर्णाधिक्येन बहु मन्यन्ते भावसारं प्रतिपद्यन्ते, "बहुमानो मानसी प्रीतिः" इति वचनात् । यत उक्तम्-

"अवलंबिऊण कज्जं, जं किंची आयरंति गीयत्था ।
थोवावराह बहुगुण, सव्वेसिं तं पमाणं ति" ॥१॥

यतः-

" संविग्गा विहिरसिया, गीयत्थतमा उ सूरिणो पुरिसा ।
न य ते सुत्तविरुद्धं, सामायारिं परूविंति" ॥ २ ॥

अवि य-

जं बहु खायं दीसइ, न य दीसइ कह वि भासियं सुत्ते ।
पमिसेहो वि न दीसइ, मोणं वि य तत्थ गीयाणं ' ।३। इत्यादि ।

सांप्रतम् " चउरो थुइ " त्ति षोडशं द्वारं विवृण्वन्नाह-

अहिगयजिण पढमथुई, बीया सव्वाण तइय नाणस्स ।
वेयावच्चगराण उ, उवओगत्थं चउत्थथुई ॥ ४१ ॥

यस्य मूलबिम्बादेः पुरतश्चैत्यवन्दना कर्तुमारभ्यतेऽसावधिकृतजिन उच्यते । तमाश्रित्य प्रथमा स्तुतिर्दातव्या, तन्नामादिगर्भा, सामान्येन जिनगुणोत्कीर्त्तनपरा चेत्यर्थः । उक्तं च ललितविस्तरायाम् । अत्रैव वृद्धा वदन्ति-यत्र किलाऽऽयतनादौ वन्दनं चिकीर्षितं, तत्र यस्य भगवतः संनिहितं स्थापनारूपं, तं पुरस्कृत्य प्रथमः कायोत्सर्गः स्तुतिश्च, तथा शोभनभावजनकत्वेन तस्यैवोपकारित्वादिति ॥ १ ॥ तथा द्वितीया स्तुतिः सर्वेषां जिनानां प्रायो बहुवचनादिगर्भा, सर्वजिनसाधारणेत्यर्थः । अन्यथाऽन्यकायोत्सर्गेऽन्या स्तुतिरिति न सम्यक्, अतिप्रसङ्गादिति,तथा तृतीया स्तुतिर्ज्ञानस्य श्रुतज्ञानमाहात्म्यवर्णनपरेत्याम्नायः । तथा च ललितविस्तराया ऐतिह्यमेतादिति वृत्तिः । पञ्जिकासंप्रदायश्चायम्-यदुत तृतीया स्तुतिः श्रुतस्येति ३ । चतुर्थी स्तुतिः पुनर्वैयावृत्यकराणां यक्षाम्बाप्रभृतीनां सम्यग्दृष्टिदेवतानाम्, किमर्थमित्याह-उपयोगार्थं स्वकृत्येषु तेषां सावधानतानिमित्तं,भवति च गुणोपबृंहणतस्तद्भाववृद्धिः,ततश्च स्वार्थकारित्वोपयुक्तता।जगत्प्रसिद्धमेतत्-यत्प्रशंसा तत् सोत्साहं कार्यकरणादर इति । तुशब्दो विशेषः,तेन याः श्रुताङ्गीशासनदेवतादिविषया स्तुतयस्ताः सर्वा अपि चतुर्थस्तुतौ निपतन्ति, गुणोपबृंहणद्वारेण तासामप्युपयुक्ततादिफलत्वात्, स्तुतियुगलेषु तथानिबन्धनात् गुणोत्कीर्त्तनाख्यद्वितीयस्तुतिरूपत्वात् । तथाहि-जिनज्ञानस्तुतिवन्दनाद्यात्मकत्वादेका गण्यते, वैयावृत्यकरादिस्तुतयस्तु द्वितीया,गुणोत्कीर्तनादिरूपत्वात् । एवमेव च युगलस्वसिद्धेः,भावितं चैतत्प्रथमे वन्दनाद्वारे । अत एव कचिद्युगले चतुर्थी स्तुतिः,सर्वे यक्षाम्बिकेत्यादिवैयावृत्तिकराणां कापि च भूयासुः, सर्वदा देवा देवीभिरित्यादि सामान्यतः सर्वदेवतानां,कुत्रापि गौरी सैरभेति विद्यादेवतानाम् । अन्यत्र-"निष्पङ्कव्योमनील" इति देवविशेषविषया, एकत्र 'विकटदशना' इति देव्या एव,कुत्रचिच्च-"आमूलालोलधूली" इत्यादि श्रुतदेवताया इत्यादि । परिभावनीयमिदं सूक्ष्मधिया कुग्रहग्रहविहरेण,कायोत्सर्गविषयेऽपि बहु विमर्शनीयम् । यतो दैवसिकावश्यकमध्ये सामान्यतो वैयावृत्यकरान् विमुच्य केवलश्रुतदेवतादेः कायोत्सर्गकरणम्,पाक्षिकादौ तु भुवनदेव्यादेः, दीक्षादौ तु शासनदेव्यादीनामपीत्यलं प्रसङ्गेन । तत्त्वं तु परमर्षयो विदन्तीति । सङ्घा० ।

स्तुतयः संस्कृतकाव्यानि--

"जिनं यशःप्रतापाक-पुष्पदन्तं समन्ततः ॥
संस्तुवे यत्क्रमौ मोह-पुष्पदन्तं समन्ततः ॥ १ ॥
प्रातस्तेऽङ्घ्रिद्वयी येन, सरोजास्यसमा नता ।
तस्यास्तु जिनधर्मोघ, सरोजास्यसमानता ॥ २ ॥
वन्दे देवं च्युतोत्पत्ति--क्षतकेवलनिर्वृतिम् ।
विश्वार्चितच्युतोत्पत्ति-नुतकेवलनिर्वृतिम् ॥ ३ ॥
चतुरास्यं चतुःकायं, चतुर्धा वृषसेवितम् ।
प्रणमामि जिनाधीशं, चतुर्धा वृषसेवि-तम् ॥ ४ ॥
जिनेन्द्रानञ्जनश्यामान्, कल्याणाद्रिमिप्रभान् ।
चतुर्विंशतिमानोऽस्य, कल्याणाद्रिमप्रभान् ॥ ५ ॥
विलोक्य विकचाम्भोज--काननं नाभिनन्दनम् ।
द्रष्टुमुत्कायते कोऽपि, काननं नाभि नन्दनम् ॥ ६ ॥
भवानिशं सदा यस्या-जितनिष्कोपनायति ।
श्रहितो निहितं स्वाभा-जितनिष्कोपनायति ॥ ७ ॥
सनातनाय सेनाऽङ्क-भवशम्भवसंभवः ।
भगवन् ! प्रविकानाम-भवशंभवसंभवः ॥ ८ ॥
दुष्कृतं मे मनोहंस--मानसस्याभिनन्दन ! ।
श्रीसम्बरधराधीश !, मानसस्याऽभिनन्दन ! ॥ ९ ॥
त्वां नमस्यन्ति येऽङ्कस्थपद्मपद्मप्रभेश ! ते ।
त्रैलोक्यस्य मनोहारि, पद्मपद्मप्रभे शते ॥ १० ॥
.... ,.................. ।
.... ,.................. ॥ ११ ॥
सद्भक्त्या यः सदा स्तौति, सुपार्श्वमपुनर्भवम् ।
सोऽस्तजातिमृतिर्याति, सुपार्श्वमपुनर्भवम् ॥ १२ ॥
सहर्षा ये समीक्षन्ते, मुखं चन्द्रप्रभाङ्क ! ते ।
विदुः सकलसौख्यानां, सुखं चन्द्रप्रभं गते ॥ १३ ॥
सदा स्वपादसंलीनं, सुविधे ! सुविधेहि तम् ।
येन ते दर्शनं देव !, सुविधे सुविधे हितम् ॥ १४ ॥
यथा त्वं शीतल ! स्वामिन्, सोमः सोमामनोहरः ।
भव्यानां न तथाऽऽनाति, सोमः सोमामनोहरः ॥ १५ ॥
तं वृणोति स्वयंभूणुः, श्रेयान् संबहुमानतः ।
जिनेशं नौति यो नित्यं, श्रेयांसं बहुमाऽऽनतः ॥ १६ ॥
वाक्यं यस्तव शुश्राव, वासुपूज्य ! सनातन ! ।
भवे कुर्यात्तमोदाव-वाः सुपूज्य ! सनातन ! ॥ १७ ॥
कस्य प्रमोदमन्यत्र, विमलात्परमात्मनः ।
हृदयं भजते देवा-द्विमलात्परमात्मनः ॥ १८ ॥
दृष्ट्वा त्वान्तरजि-द्भावपराजितमनोभवम् ।
भविनां नाप्यतामेत्य, पराजितमनोऽभवम् ॥ १९ ॥
श्रीधर्मेण क्षमाराम-प्रकृष्टतरवारिणा ।
सनाथोऽस्मि तृषावल्ली-प्रकृष्टतरवारिणा ॥ २० ॥
त्वया द्वेधाऽरिवर्गो यत्-पादौ श्रीशान्तिनाथ ! ते ।
.... , श्रीशान्तिनाऽथ ते ॥ २१ ॥
वीतरागं स्तुवे कुन्थुं, जिनं शंभुं स्वयंभुवम् ।
सरागत्वात्पुनर्नान्यं, जिनं शंभुं स्वयं भुवम् ॥ २२ ॥
विजिग्ये लीलया येन, प्रद्युम्नो भवतादर ।
भविनां भवनाशाय, प्रभुं नो भवतादर ॥ २३ ॥
स स्यान्मल्लेन मल्लोऽसा, मल्लस्य प्रतिमल्यते ।
क्रमो मनसि यो मोह-मल्लस्य प्रतिमल्यते ॥ २४ ॥
बिभर्त्ति सर्वदा यस्ते, स सुव्रतसमुन्नतिम् ।
समासादयते स्वामिन् !, स सुव्रत ! समुन्नतिम् ॥ २५ ॥
दृष्ट्वा समवसृत्यन्तर्नमि ! तं चतुराननम् ।
पश्येत्कोऽजितसन्धिं मां, नमितं चतुराननम् ॥ २६ ॥
श्रीनेमिनाथमानौमि, समुद्रविजयाङ्गजम् ।
हेलानिर्जितसंप्राप्तां, समुद्रविजयां गजम् ॥ २७ ॥
शिवार्थी सेवते ते श्री-पार्श्व ! नालिककोमलौ ।
न क्रमावनिशं नम्र-पार्श्वनालिककोमलौ ॥ २८ ॥
वरिवस्यति यः श्रीम-न्महावीरं महोदयम् ।
सोऽश्नुते जितसंमोह-महावीरं महोदयम् ॥ २९ ॥
श्रीसीमन्धरतीर्थेशं, सादरं नुत निर्जरम् ।
योऽज्ञानं विदधे भस्म, सादरं नुतनिर्जरम् ॥ ३० ॥
यैर्वन्द्यतेऽर्हतो भार--नैरावतविदेहकान् ।
प्राप्यते प्रवरोदर्का-नैरावतविदेहकान् ॥ ३१ ॥

सप्ततिशतं जिनाना-मुत्कृष्टपदवर्त्तिनाम ।
वन्दे मनुष्यलोकेऽह-मुत्कृष्टपदवर्त्तिनाम ॥ ३२ ॥
श्रीमन्नन्दीश्वरद्वीपे, प्रतिमाप्रणताच्युताः ।
द्विपञ्चाशति चैत्येषु, प्रतिमाप्रणताच्युताः ॥ ३३ ॥
यथात्मनीच्छसि स्थान-मकृत्रिममकृत्रिमम ।
जैनबिम्बव्रजं तद्वै-मकृत्रिममकृत्रिमम ॥ ३४ ॥
ये जिनेन्द्राननमस्यन्ति, साम्प्रतातीतभाविनः ।
दुष्कृतात्ते विमुच्यन्ते, साम्प्रतातीतभाविनः ॥ ३५ ॥
परात्मानो जिनेन्द्रा ये-र्नीयन्ते मानसं प्रति ।
पदं यान्ति जगन्मान-नीयं ते मानसं प्रति ॥ ३६ ॥
सोऽस्तु मोक्षाय मे जैनो, नयसंगत आगमः ।
अपि यं बुध्यते विद्वो, नयसंगत आगमः ॥ ३७ ॥
त्वं नामाज्ञानभिद्धर्म-कीर्तये श्रुतदेवते ।
यत्र कोऽपि तदग्रे स्व-कीर्त्तये श्रुतदेव ! ते ॥ ३८ ॥
यक्षाम्बाद्याः सुराः सर्वे, वैयावृत्यकरा जिने ।
भद्रं कुर्वन्तु सङ्घाय, वैयावृत्यकराजिने" ॥ ३९ ॥
उक्तं " चउरो थुइ " त्ति षोडशं द्वारम् ॥४१॥

निमित्तार्थं ४ स्तुतिः-

अधुना " निमित्तठ " त्ति सप्तदशं द्वारं विवृण्वन्नाह-

पावखवणत्थइरिया-इ वंदणवत्तियाइ छनिमित्ता ।
पवयणसुरसरणत्थं, उस्सग्गो इय निमित्तट्ठं ॥४२॥

पापानां गमनागमनादिसमुत्थानां, क्षपणार्थं निर्घातनार्थम, ईर्यापथिक्याः, कायोत्सर्ग इति योगः । यदागमः-"गमणागमणविहारे, सुत्ते वा सुमिणदंसणे राओ । नावा नइसंतारे, इरियावहियाएं पडिकमणं" ॥ १ ॥ गमनागमनादिसमुत्थपापक्षयरूपं फलमीर्यापथिक्याः कायोत्सर्गाद्भवतीति । तथा वन्दनप्रत्ययादीनि षट् निमित्तानि फलानि येभ्यस्ते, तथा त्रय उत्सर्गा इति शेषः । वन्दनपूजनसत्कारसंमानबोधिलाभनिरुपसर्गेति षट् फलानि चैत्यवन्दनादिकायोत्सर्गेभ्यः स्युः ।

तत्र—

" सुमरणपुव्वनमणाइसु-भमणवइतनुपवित्ति वंदणयं ।
पुप्फाईहिं पूयण-मिह वत्थाईहि सक्कारो ॥ १ ॥
संमाणो मणपीई-इ विणयपडिवत्ति बोहिलाभो उ ।
निव्वजिणधम्मसंप-त्ति निरुवसग्गो उ निव्वाणं ॥ २ ॥
अरिहाइवंदणीपॅसु, जं पुन्नफलं हवेउ तं मज्झ ।
उस्सग्गाउ च्चिय त-प्फलेहिं बाहि तउ वि सिद्धो" ॥ ३ ॥

तथा प्रवचनसुराः सम्यग्दृष्टयो देवाः, तेषां स्मरणार्थं वैयावृत्यकरेत्यादिविशेषणद्वारेणोपबृंहणार्थं क्षुद्रोपद्रवविद्रावणादिकृते तत्तद्गुणप्रशंसया प्रोत्साहनार्थमित्यर्थः। यद्वा-तत्कर्त्तव्यानां वैयावृत्यादीनां प्रमादादिना श्लथीभूतानां प्रवृत्त्यर्थम, अश्लथीभूतानां तु स्थैर्याय च स्मारणा ज्ञापना, तदर्थं, सारणार्थं वा, प्रवचनप्रभावनादौ हितकार्ये प्रेरणार्थम्। किम् ?, उत्सर्गः कायोत्सर्गः, चरम इति शेषः। इत्येतानि निमित्तानि प्रयोजनानि फलानि इति यावदष्टौ, चैत्यवन्दनाया भवन्तीति शेषः । इह च यद्यपि वैयावृत्यकरादयः स्वस्मरणाद्यर्थं क्रियमाणं कायोत्सर्गं न जानते, तथाऽपि तद्विषयककायोत्सर्गकर्तुः श्रीगुप्तश्रेष्ठिन इव विघ्नोपशमादिषु शुभसिद्धिर्भवत्येव, आप्तोपदिष्टत्वेनाव्यभिचारित्वात् । यथा स्तम्भनीयादिनिष्परिज्ञानेऽप्याप्तोपदेशेन स्तम्भनादिकर्मकर्तुः स्तम्भनाद्यभीष्टफलसिद्धिः ।

उक्तं च चूर्णौ-

"तेसिमविन्नाणे वि हु, तव्विसउस्सग्गओ फलं होइ ।
विग्घजयपुन्नबंधा-इकारणं मंतनायएणं " ॥१॥ इति ।

ज्ञापयति चैतदिदमेव कायोत्सर्गप्रवर्त्तकम् "वेयावच्चगराणं" इत्यादि सूत्रम्, अन्यथाऽभीष्टफलसिद्धौ प्रवर्त्तकत्वायोगात् । उक्तं च ललितविस्तरायां तत्परिज्ञानेऽप्यस्मात् तच्छुभसिद्धाविदमेव वचनं ज्ञापकमिति । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । (अत्र श्रीगुप्तश्रेष्ठिकथा सङ्घाचारादवसेया)

इत्युक्तं " निमित्तठ त्ति " सप्तदशं द्वारम ॥४२॥

चतुर्हेतुकद्वारम " तस्स उत्तरीकरणेणं " इति । साम्प्रतं " वारहेओ य " त्ति अष्टादशं द्वारं व्याख्यानयन्नाह-

चउ तस्स उत्तरीकर-णपमुह सद्धाइया य पण हेऊ ।
वेयावच्चगरत्ता-इ तिन्नि इय हेउ बारसगं ॥ ४३ ॥

चत्वारो हेतवः, तस्योत्तरीकरणप्रमुखाः " तस्स उत्तरीकरणेणं विसोहिकरणेणं विसल्लीकरणेणं " इति रूपाः, कायोत्सर्गसिद्धये भवन्तीति शेषः ।

तत्र-

"तस्सालोयणपमिकम-णमाइणा सोहियाइयारस्स ।
उत्तरकरणाईहिं, हेऊहिं करेमि उस्सग्गं ॥ १ ॥
पमिबंधपलेवाई, जह साहागाएं सोहियवणस्स ।
हाणाइ गयमलस्स व, जहा विसेसाइ सक्कारो ॥ २ ॥
आलोयणाइणा तह, सुद्धऽइयारस्स उत्तरीकरणं ।
कीरइ पच्छित्तेण व, जह सगडरहंगगेहाणं ॥ ३ ॥
पच्छित्तं पुण तस्स-मालक्खणं पंचमं इह विसोही ।
अइयाराण अभावो, मायाएं विणा विसल्लत्तं" ॥ ४ ॥

तथा श्रद्धादिकाः-"सद्धाए मेहाए धिईए धारणाए अणुप्पेहाए वड्ढमाणी " इत्यात्मकाः पञ्च हेतवः ।

तत्र-

"सद्धा नियाभिलासो, न परागुग्गइलाभिओगाई ।
मेहा हेओपादे-यवुद्धिपटुया न य जमित्तं ॥ १ ॥
मेहा वा मज्जाया, जिणभणिया नासमंजसत्त पि ।
मणपणिहाणा पीई, धिई न रागाइआउलया ॥ २ ॥
धारण अरिहाइगुणा-विस्सरणं न उण सुन्नचित्तत्तं ।
अणुपेहा अत्थाई-चिंता न पवित्तिमित्तं तु ॥ ३ ॥
पंचसु वि इमेसु पुढो, संवज्जइ वड्ढमाणय त्ति जहा ।
सद्धाई वड्ढमाणी-इ वासि उस्सग्गमिच्चाई ॥४॥
इय पाढो लाभकमा, एसि सद्धासईइ जइ महा ।
तो विधिई इच्चाई, वुड्ढी वि इमाण एमेव ॥५॥
कारणरहियं कज्जं, घमाइयं जह न सिज्झइ कया वि ।
इय सद्धाईहि विणा, काउस्सग्गस्स न हु सिद्धी " ॥६॥

तथा वैयावृत्यकरादयश्च त्रयो हेतवः ।

उक्तं च-

"पवयणवेयावच्चं, पवयणसंतिं च पवयणसमाहिं ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, करिंति जे तेसिमुस्सग्गं ॥ १ ॥
पवयणवेयावच्चा-इवत्तियाईहि ठामि हेऊहिं ।
अविरयभावा तेसिं, न उ वंदणवत्तियाईहिं ॥ २ ॥
वेयावच्चं संघा-इरक्खणापमुहकिच्चमिह संति ।

उवसग्गाइविणासो, मणाइँ दुहवारणसमाहि" ॥ ३ ॥

(सक्काइ य त्ति) चशब्दादुत्तरीकरणाद्याः पापक्षपणादिफलेर्यापथिक्यादिकायोत्सर्गस्य,सामान्येन श्रद्धाद्या वन्दनादिप्रत्ययस्य, वैयावृत्त्यकृत्यादयस्तु सुदृष्टिसुस्मरणादिफलोत्सर्गस्येति ज्ञेयम । सङ्घा०३ प्रस्ता०। (अत्र सुदर्शनकथा संघाचाराद् ज्ञातव्या) इति प्ररूपितम् "वारहेओ य" त्ति अष्टादशं द्वारम् ।४३।

(३३) इदानीं "सोल आगार" त्ति एकोनविंशतितमं द्वारमाविष्कुर्वन्नाह-

अन्नत्थआइ वारस, आगारा एवमाइया चउरो ।
अगणी -पणिंदिछिंदण-बोहियखोभाइ मक्को य ॥४४॥

"अन्नत्थ त्ति" भणनात् "अन्नत्थुस्ससिएणं," आदिशब्दात् "नीससिएणं" इत्यादि ग्रहः, यावत् "दिट्ठिसंचालेहिं ति"।

एतदर्थः-

"अन्नत्थयवावारे, काउस्सग्गं करेमि इय जोगो ।
ऊससियं सासगहो, नीससियं सासमोक्खो य ॥
पयडा खासखुयं जं-भमुहुए वायणीसग्गो ।
.... अहो वाओ ॥
भमलीइ अकम्हाओ, भमंतमहिदंसणं व निवडं वा ।
पित्तोदयाउ मुच्छा, विचेयणत्तं भमणरहियं च ॥
सुहुमाऊससियाओ-म्मुक्कं पायाइअंगसंचारो ।
खेले कफाइअंते, दिट्ठीइ निमेसमाईया ॥
ऊसासाइनिरोहे, मरणाई तेण सुहुम ऊससइ ।
पवणमसग्गाइरक्खण-हेऊ सासाइसु य हत्थो ॥
उड्डुयवायनिसग्गे-सु सद्दजयणा वि भमलिमुच्छासु ।
निवसइ विग्गहणभया, रोमुकंपाइतुनिवारा" ॥

एते च द्वादश आकाराः कायोत्सर्गापवादप्रकाराः साक्षात् सूत्रे प्रतिपादिताः । तथा-(एवमाइय त्ति) "एवमाइएहिं" इति पदेन चत्वारः सूचिताः । तानेवाह-"अगणि" इत्यादि । अग्निर्विद्युद्दीपादिस्पर्शनम्, प्रदीपनकमन्ये, पञ्चेन्द्रियैर्नरमार्जारादिभिश्छन्दनं स्वस्य कायोत्सर्गालम्बनस्य च गुर्वादेरन्तराले द्रुतोऽतिक्रमणं,बोधिका मानुषचौराः,क्षोभः सुराष्ट्रकृतः, आदिशब्दाद् बन्दिकराजभयभीतिपातादिग्रहणम्, दष्टश्च सर्पादिना स्वः परो वा साध्वादिः, चशब्दात्सर्पादिरेव संमुखमासन्नं वाऽऽगच्छति ।

अत्र यतना-

"फुसणम्मी गहणाढ्ढि-दणे अ तह तग्गहत्थकरणाई ।
चारयपलायणाई, बोहियखोभाइएक्केसु" ॥१॥

उभयेऽपि मीलिताः षोमश । संघा० ३ प्रस्ता० ।

(अत्र नरसुन्दरनृपतिदृष्टान्तः सङ्घाचाराद् ज्ञातव्यः) (कायोत्सर्गे दोषाः "काउस्सग्ग" शब्देऽस्मिन्नेव भागे ४२६ पृष्ठे उक्ताः । उच्छ्वासमानमपि ४२४ पृष्ठे उक्तम्)

(३४) स्तोत्रलक्षणम्-

इदानीं "थुत्तं च" त्ति द्वाविंशं द्वारमाविष्कुर्वन् गाथोत्तरार्द्धमाह—

गंभीरमहुरसद्दं, महत्थजुत्तं हवइ थुत्तं ॥

गम्भीरा व्यङ्ग्यार्थान्योक्तिवक्रोक्तिकठोरोक्त्यादिगर्भाः, मधुराः सुश्लिष्टाक्षराः शब्दा यत्र तत्तथा । यद्वा-मधुरो मालवकैशिक्यादिग्रामरागानुगतः शब्दः स्वरो यत्र । सङ्घा० ३ प्रस्ता० । (अत्र विजयश्रेष्ठिकथा सङ्घाचारादवसेया)

प्ररूपितम् "थुत्तं च" इति द्वाविंशं द्वारम् ।

(३५) कतिवेलाश्चैत्यानि वन्देत-साम्प्रतं "सगवेल" त्ति त्रयोविंशं द्वारं प्रकटयन्नाह-

पडिक्कमणे चेइयजिम-णचरिमपडिक्कमणसुयणपडिबोहे ।
चिइवंदण इइ जइणो, सत्त उ वेला अहोरत्ते ॥ ४५ ॥

यतेः साधोः,इति पूर्वोक्तरीत्या, अहोरात्रमध्ये सप्त वेला जघन्यतोऽपि चैत्यवन्दना कर्त्तव्यैव, अन्यथाऽतिचारसंभवात्तदकरणे प्रायश्चित्तस्य भणनादागमप्रामाण्यात् अधिके त्वनिषेधः। पर्वादिषु विशेषतो वन्दनाभणनात्, प्रतिषेधे प्रायश्चित्तापत्तेश्च। तथा चाऽऽगमः-"जेणं चेइए वंदमाणस्स वा संथुवेमाणस्स वा पंचप्पयारं च सज्झायं पयरेमाणस्स वा विग्घं करिज्जा पच्छित्तं"। एतच्च तुशब्दो विशेषयति, तत्र (पडिक्कमणे त्ति) प्राभातिकावश्यकावसाने एका चैत्यवन्दना । तथा च मूलावश्यकटीका-" तओ तिन्नि थुईओ जहा थुत्तं, नवरमप्पसद्दगं दिंति, जहा घरकोइलाइसत्ता न उट्ठंति, तओ देवे वंदंति, तओ बहुवेलं संदिसावंति त्ति" ॥ (चेइय त्ति) द्वितीया चैत्यवन्दना चैत्यगृहवेलायां भक्तादिग्रहणार्थमुपयोगकरणपूर्वमित्यर्थः । उक्तं च महानिशीथे सप्तमाध्ययने यतिदिनचर्याप्रस्तावे-"चेइएहिं अवंदिएहिं उवओगं करिज्जा पच्छित्तं। " तथा मूलावश्यके कायोत्सर्गनिर्युक्तिवृत्त्योर्दिवसातिचारालोचनार्थमुक्तम्-

" काउस्सग्गं मोक्खप-हदेसिओ जाणिऊण तो धीरा ।
दिवसाइयारजाणण-ट्ठयाइ ठायंति उस्सग्गं ॥ १ ॥ "

मोक्षपथस्तीर्थंकरस्तदुपदेशकत्वेन कारणे कार्योपचारात्

साम्प्रतं यदुक्तं दिवसातिचारज्ञापनार्थमिति, तत्रोच्यते-विषयद्वारेण तमतिचारं दर्शयन्नाह-

"सयणासणन्नपाणे, चेइयजइसिज्जकायउच्चारे ।
समिई भावणगुत्ती, वितहायरणे अईयारो" ॥१॥

(चेइय त्ति) चैत्यवितथाचरणे सत्यतिचारः, चैत्यविषयं च वितथाचरणमविधिना वन्दनकरणे अकरणे चेत्यादि। (जइ त्ति) यतिवितथाचरणे सत्यतिचारः, यतिविषयं च वितथाचरणं यथार्हं विनयाद्यकरणमिति। एषा च त्रिकालचैत्यवन्दनामध्ये प्राभातिकसंध्याकालवन्दनोच्यते । यतो यतिनामपि दिवामध्ये त्रिसंध्यं चैत्यवन्दनाया अवश्यं कर्त्तव्यतयोक्तत्वात्। तथा महानिशीथसूत्रम्-" गोयमा! जे केइ भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिया पभिईओ अणुदियहं जावज्जीवाभिग्गहणं सुविसत्थतत्तनिब्भरे जहुत्तविहीए सुत्तत्थमणुसरमाणे अणुन्नमणे एगग्गचित्ते तग्गयमणस्स सुहज्झवसाए थयथुईहिं न तिकालियं चेइए वंदिज्जा,तस्स णं पायच्छित्तं उवइसिज्जा" ॥ (जिमण त्ति) चैत्यवन्दनां कृत्वा भोक्तव्यम् । तथा चोक्तम्-"चेइयाहिं साहूहि य अवंदिएहिं पडिक्कमिज्जा पच्छित्तं"। एषा च मध्याह्नचैत्यवन्दना गण्यते। (चरिम त्ति) संवरणप्रत्याख्यानानन्तरं देवान् वन्देत। उक्तं च-"संचरित्ता णं चेइयस्स साहूणं वंदणं न करिज्जा, तो पच्छित्तं" एषा सायं सन्ध्या चैत्यवन्दनायां निपतति । एवं च दिवामध्ये त्रिकालवन्दना यतिनां भवति । (पडिक्कमण त्ति। दैवसिकप्रतिक्रमणात्पूर्वं देवा वन्दनीयाः। तथा च महानिशीथे-"चिइवंदणपडिक्कमणगाहा।" तथा "चेइएहिं अवंदिएहिं पडिक्कमिज्जा पच्छित्तं" (सुवण त्ति) देवान् वन्दित्वा

र्त्तव्यं, नान्यथा। यदागमः-"चेइएहिं अवंदिएहिं जाव संथारम्मि ठाइज्जा पच्छित्तं" ॥ (पमिबोहे त्ति) प्रभाते प्रतिबुद्धः सन् देवादीन् वन्देत। उक्तं च-"इरिया कुसुमिणमग्गो, जिणमुणिवंदण तहेव सज्झायं" इति ॥ ७ ॥ एवं च साधूनाश्रित्य वेलासप्तकनियता चैत्यवन्दना प्रदर्शिता ॥४७॥

अथ गृहस्थानाश्रित्याऽऽह-

पमिकमओ गिहिणो वि हु, सगवेला पंचवेल इयरस्स ।
पूयासु तिसंझासु य, होइ तिवेला जहन्नेण ॥ ४६ ॥

प्रतिक्रामत उभयसन्ध्यमावश्यकं कुर्वाणस्य, गृहिणः श्रावकादेः, सप्तवेलाश्चैत्यवन्दना भवन्त्यहोरात्रमध्ये। यथा-द्वे द्वयोरावश्यकयोः, द्वे च स्वापावबोधयोस्त्रिकालपूजाऽनन्तरं तथा जघन्येन च तिस्रश्चेति सप्त। अपिः संभावने। संभाव्यते ह्येतदेवम्। अन्यथाऽऽवश्यककरणे षट् स्वापादिसमयावन्दने पञ्चादिरपि,प्रभूतदेवगृहादौ वा अधिका अपि। पञ्चवेला इतरस्याप्रतिक्रामतः। यथाऽपिस्वापावबोधयोस्तिस्रः तत्प्रतिसंध्यं पूजानन्तरं,तथा जघन्येन श्रावकस्य तिस्रो वेलाश्चैत्यवन्दना भवति, कर्त्तव्येति शेषः। कथम्?, त्रिसंध्यासु यास्तिस्रः पूजास्तासु, तदनन्तरमित्यर्थः। एतेन श्राद्धस्य त्रिकालपूजाऽप्यावेदिता, चशब्द उक्तानुक्तसमुच्चयार्थः। तेन यदाऽपि पूजा न संभवति तथाऽपि वेलात्रयं देवा वन्दनीयाः, तथा या पूर्वाह्णे गृहचैत्यचैत्यगृहादिषु वन्दनास्ताः प्रातःसंध्यावन्दनायां निपतन्ति, तदनन्तरं मध्याह्निक्यां, ततस्तु प्रदोषसंध्यायाम्। यथा चागमः-"भो भो देवाणुप्पिया! अज्जप्पभिईए जावजीवं तिकालियं अणुतावलेगग्गचित्तेणं चेइए वंदियव्वे इणमेव भो मणुयत्ताओ असुइअसासयखणभंगुराओ सारं ति,तत्थ पुव्वण्हे ताव उदगपाणं न कायव्वं जाव चेइए साहू य न वंदिए, तहा मज्झण्हे ताव असणकिरियं न कायव्वं जाव चेइए न वंदिए,तहा अवरण्हे चेव तहा कायव्वं जहा अवंदिएहिं चेइएहिं नो सिज्जालयमइक्कमिज्ज त्ति।" सङ्घा० ३ प्रस्ता०। "संवरित्ता णं चेइयसाधूणं वंदणं ण करेज्जा पुरिमड्ढं" महा० ७ अ०(अत्र कान्तिश्रीकथानकं संघाचाराद् ज्ञातव्यम्) चैत्यगृहे आशातना 'आसायणा' शब्दे द्वि० भा० ४७० पृष्ठे वक्ताः)(अत्र प्रभावतीदेवीकुमारनन्दिकथा स्वस्थानोक्ता द्रष्टव्या) इति प्ररूपितं "दस आसायणाओ" त्ति चतुर्विंशतितमं द्वारं, तन्निरूपणेन च प्रदर्शितम् "एवं चिइवंदणाइं ठाणाइं चउवीसदुवारेहिं दुसहस्साइं हुंति चउसयर" त्ति प्राक् प्रतिज्ञातं सप्रपञ्चमपि चैत्यवन्दनाविधानम्।

(३६) साम्प्रतं चैत्यवन्दनाकरणविधिप्रदर्शनार्थमाह—

"इरिअं १ नमुक्कारं २ नमोऽत्थु ३ अरिहंत ४ थुइ ५ लोग ६ सव्व ७ थुइ ८ पुक्ख ९ थुइ १० सिद्धा ११ वेया १२ थुइ १३ नमोऽत्थु १४ जावंति १५ थय १६ जयवीय० १७ इति। तत्र "ता गोयमा! णं अपमिक्कंताए इरियावहियाए न कप्पइ चेव किंचि चिइवंदणसज्झायं काउं फलमभिकंखुगाणं" इत्यागमप्रामाण्यात्। "इरिय त्ति" प्रथममैर्यापथिकीप्रतिक्रमणे तत्कायोत्सर्गे च "चंदेसु निम्मलयर" त्ति यावत् नामस्तवस्य पञ्चविंशत्युच्छ्वासमानं कृत्वा "नमो अरिहंताणं" इति भणतः पारयित्वा मुखेन सकलोऽपि चतुर्विंशतिस्तवो भणनीय इति वृद्धाः। ततः क्षमाश्रमणपूर्वम् "इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! चैत्यवन्दनं करोमीति भणित्वा "नमुक्कार" त्ति-

"श्यामौ नेमिमुनी उभौ विमलतः षट् पञ्च नाभेयतः,
श्रेयोवीरसुपार्श्वशीतलनमीवैरोचिषः षोडश।
द्वौ चन्द्रप्रभसद्विधी सितरुची द्वौ पार्श्वमल्ली सिती,
द्वौ पद्मप्रभवासुपूज्यजिनपौ रक्तौ विरक्तौ स्तुवे ॥ १ ॥
देवेन्द्रादिभिरार्हितो नरहितः स्तौम्यर्हतः सन्मुदा,
विद्यानन्तसुखाद्यनन्तसुगुणैः सिद्धान् समृद्धान् सदा।
आचार्यान् यतिधर्मकीर्त्तितसमाचारादिचारून् महोपाध्यायान् श्रुतधर्मघोषणपरान् साधून् विधेः साधकान् ॥ २ ॥
अर्हन्तो मम मङ्गलं विदधतां देवेन्द्रवन्द्यक्रमाः,
विद्यानन्दमयास्तु मङ्गलमलं कुर्वन्तु सिद्धा मयि।
मह्यं मङ्गलमस्तु साधुनिकरे सद्धर्मकीर्त्तिस्थितौ,
मङ्गल्यं श्रुतधर्मघोषणपरं धर्मं सुहृग्भिः श्रये" ॥ ३ ॥

इत्यादिरूपा यथारुचि यथाप्रस्तावमेकद्व्यादिनमस्कारा भणनीयाः। ततः "कहं नमंति सिरपंचमेणं काएण" इत्याचाराङ्गचूर्णिवचनात् पञ्चाङ्गं प्रणामं कुर्वता "तिक्खुत्तो मुद्धाणं धरणितलंसि निवेसेइ" इत्यागमात् त्रीन् वारान् शिरसा भूमिं स्पृष्ट्वा "नमोऽत्थु णं तिहुवणिक्कगुरुजिणिंदपडिमाविणिवेसियनयणमाणसेण धन्नोऽहं सपुन्नोऽहं ति जिणवंदणाए सहलीकयजम्मु त्ति मन्नमाणेण विरइयमउलियंजलिणा हरियतणबीयजंतुविरहियभूमीए निहिअभयजाणुणा सुपरिफुडसुविदियनीसंकजहत्थसुत्तत्थोभयं पए पए भावेमाणेणं जाव चेइए वंदिज्ज" त्ति। तथा-"सक्कत्थयाई चेइयवंदणं," महानिशीथे तृतीयाध्ययनोक्तविधिप्रामाण्याद् भूनिहितोभयजानुना करधृतयोगमुद्रया शक्रस्तवदण्डको भणनीयः। तदन्ते च पूर्ववत् प्रणामं कृत्वा समुत्थाय जिनमुद्राञ्चितचरणो योगमुद्रया "अरिहंतचेइयाणं" इत्यादि चैत्यस्तवदण्डकं पठति।

उक्तं च-

"उट्ठियजिणमुदंचिय-चरणो करधरियजोगमुद्दो य।
चेइयगयथिरदिट्ठी, ठवणजिणदंडयं पढइ" ॥१॥

कायोत्सर्गेऽष्टोच्छ्वासा "अट्ठ सेसेसु" त्ति वचनात् अष्टोच्छ्वासपूरणार्थमिष्टसंपदं नवकारं चिन्तयित्वा तं पारयति। ततः "थुइ त्ति" अधिकृतजिनस्तुतिं ददाति।

तत्रायं बृहद्भाष्योक्तो विधिः-

"अट्ठुस्सासपमाणा, उस्सग्गा सव्व एव कायव्वा।
उस्सग्गसमत्तीए, नवकारेणं तु पारिज्जा ॥ १ ॥
परमिट्ठिनमुक्कारं, सक्कयभासाइ पुण भणइ पुरिसो।
चरिमाइमथुइपढणं, पाइयभासाइ वि न इत्थी ॥ २ ॥
जइ एगो देइ थुई, अहऽणेगो ता थुई पढइ एगो।
सेसा उस्सग्गट्ठिआ, सुणंति जा सा परिसमत्ता ॥ ३ ॥
बिंबस्स जस्स पुरओ, पारद्धा वंदणा थुई तस्स।
चेइयगेहे साम-अवंदणे मूलबिंबस्स ॥ ४ ॥
अत्थि य पुरिसथुईए, वंदइ देवे चउव्विहो संघो।
इत्थी थुईए दुविहो, समणीओ साविया चेव ॥ ५ ॥"

ततः "लोग त्ति" "लोगस्सुज्जोअगरेणं" भणता "सव्व त्ति" "सव्वलोए अरिहंतचेइयाणं" इत्यादिना प्राग्वत् कायोत्सर्गः क्रियते, पारयित्वा "चउथुइ त्ति" द्वितीया स्तुतिः सर्वजिनाश्रिता दीयते, ततः "पुक्खर त्ति" "पुक्खरवरदीवड्ढे" दण्डको भणनीयः, तत्कायोत्सर्गानन्तरं च "थुइ त्ति" तृतीया स्तुतिः सिद्धान्तसत्का भणनीया। ततः "सिद्ध त्ति" "सिद्धाण" इत्यादि भणित्वा

"वेय त्ति" "वेयावच्चगराणं" इत्यादिना कायोत्सर्गः कार्यः, ततः "थुइ त्ति" वैयावृत्यकरादिविषयैव चतुर्थी स्तुतिर्दीयते, ततः प्राग्वत् प्रणामपूर्वकं जानुद्वयं भूमौ विन्यस्य करधृतयोगमुद्रया "नमोऽत्थु" त्ति पुनः शक्रस्तवदण्डको भणनीयः, तदन्ते प्रणामं कृत्वा "जावंति" त्ति सर्वजिनवन्दनाप्रणिधानरूपा "जावंति चेइयाइं" इत्यादिगाथा भणनीया। उक्तं च पञ्चवस्तुके-वन्दित्वा द्वितीयप्रणिपातदण्डकावसाने इत्यादि। ततः क्षमाश्रमणं दत्त्वा "जावंति केइ साहू" इत्यादिना द्वितीयं मुनिवन्दनास्वरूपं प्रणिधानं करणीयं, पुनः क्षमाश्रमणं दत्त्वा "इच्छाकारेण संदिसह भगवन्! स्तवनं भणितुम्" इति भणित्वा स्तोत्रं भणनीयम्, ततो मुक्ताशुक्तिमुद्रया "जय वीयराय" इत्यादि तृतीयं प्रार्थनालक्षणं प्रणिधानं विधेयमिति। "पणदंमथुइचउक्कग-थुइपणिहाणेहि उक्कोस" त्ति प्रागुक्तक्रमप्रतिपादिका गाथा भणनीया। उक्तं चाक्षरार्थः।

अथ भाष्यकृत् सद्गुरुबहुमानातिशयतः स्वगुरुनामज्ञापनागर्भं प्रकृष्टफलदर्शनद्वारेण निगमयन्नाह-

सव्वोवाहिविसुद्धं, एवं जो वंदए सया देवे।
देविंदविंदमहियं, परमपयं पावइ लहुं सो ॥५०॥

सर्वे श्रावकादिविषया ऋद्धिमदनृद्धिमद्गोचरा देशकालाद्यनुगता द्रव्यस्तवभावस्तवस्वरूपा वन्दनीयस्तवनीयादिविषयप्रणिधानलक्षणाश्च उपाधयो धर्मानुचिन्ताश्चिन्ताः "उपाधिर्धर्मचिन्तनम्" इतिवचनात्, न पुनः सावद्यैहिकप्रयोजनविषयाः, लोके स्वभावसिद्धा हि ते, इति नोपदेशपराः, अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्। न हि मलिनः स्नायात्, बुभुक्षितो वाऽश्नीयादित्यत्र तत्। परमं च तत्पदं च परमपदं, तीर्थकरपदवीमित्यर्थः।

यदागमः-

"सामंतो चक्कहरं, चक्कहरो सुरवइत्तणं कंखे।
इंदो तित्थयरत्तं, तित्थयरे पुण तिजयसुहए ॥१॥
तम्हा जं इंदेहि वि, कंखिज्जइ एगचक्खुक्खेहिं।
इय साहुरायहियए-हिँ वसमं तं न संदेहो" ॥२॥

प्राप्नोति समासादयति, लघु शीघ्रं, स यथोपाधिचैत्यवन्दनाकर्त्ता।

उक्तं चागमे-

"जो पुण वुहउव्विग्गो, सुहतणहालू अलि व्व कमलवणे।
थयथुइमंगलजस्स-इवावमो हु ण मुणे किं पि ॥१॥
भत्तिब्भरनिब्भरो जिण-वरिंदपायारविंदजुगपुरओ।
भूमिनिहुवियसिरो, कयंजलीवावमो भत्तो ॥२॥
इक्कं पि गुणं हियए, धरिज्ज संकाइसुद्धसंमत्तो।
अक्खलियवयनियमो, तित्थयरत्ताइ सो सिज्झे" ॥३॥

ततश्च यावत्तीर्थकरत्वं स्यात्तावन्मेघरथवच्चक्रीन्द्रत्वाद्यनुभवति। अथवा परमपदं मुक्तिपदं, परमज्ञानादिचतुष्टययोगात्, शेषं प्राग्वत्।

तथा चागमः-

"नामं पि सयलकम्म-मलकलंकेहिँ विप्पमुक्काणं।
तियसिंदच्चियचलणा-ण जिणवरिंदाण जो सरइ ॥१॥
तिविहकरणोवउत्तो, खणे खणे सीलसंजमुज्जुत्तो।
अविराहियवयनियमो, सो वि हु अइरेण सिज्झिज्जा ॥२॥"

सङ्घा० प्रस्ता० पञ्चा०। (मेघरथकथा सङ्घाचाराद् ज्ञातव्या)

अथ शुद्धवन्दनस्यैव मोक्षहेतुत्वम्। अथ शुद्धवन्दनैव मोक्षहेतुरिति दर्शयितुमाह-

इत्तो उ विन्नाणाओ, अणादिभवदव्वलिंगओ चेव।
णिउणं णिरूवियव्वा, एसा जह मोक्खहेउ त्ति ॥३१॥

इतस्मात्सादेवानन्तरोक्तात्, विज्ञानात्प्रथमकरणस्योपरि शुद्धवन्दना भवतीत्येवं लक्षणात्, तथा अनादिभवे निष्प्राथम्यसंसारे, यानि द्रव्यलिङ्गानि, भावविकलत्वेनाप्रधानप्रव्रजितादिनेपथ्यवरणलक्षणानि तानि, तथा तेभ्यस्ततोऽनादिभवद्रव्यलिङ्गतः, चशब्दः समुच्चये, एवशब्दोऽवधारणे, स चान्यत्र योक्ष्यते। निपुणं सुनिश्चितं यथा भवतीत्येवं निरूपयितव्या पर्यालोचनीया। कथम्?, यथेति यद्वत्, एषा एवैव शुद्धवन्दनैव, नेतरा, मोक्षहेतुर्निर्वाणबीजम्। अथवा इत एव विज्ञानादनादिभवद्रव्यलिङ्गतश्च यस्मादियममोक्षहेतुरपि स्यादतस्तथा निरूपयितव्या। एषा वन्दना यथा मोक्षहेतुः स्याच्छुद्धा विधेयेत्युपदेशः। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। अयमभिप्रायः-प्रथमकरणाद्यनन्तरे अनादिभवद्रव्यलिङ्गेषु चेयमनन्तशोऽवाप्ताऽपि न मोक्षहेतुर्जाता, अशुद्धत्वात्, अतोऽधुना तथा निरूपणीयेयं यथा मोक्षहेतुः स्यात्, शुद्धा विधेयेति भावः। इति गाथार्थः ॥ ३१ ॥

अनादिभवद्रव्यलिङ्गत इत्यनेनानन्तशः प्राप्तिरस्या उक्ता, सा चाशुद्धाया एव, न तु शुद्धाया इत्येतद्दर्शयितुमाह-

णो भावओ इमीए, परो वि हु अवड्ढपोग्गला अहिगो।
संसारो जीवाणं, हंदि पसिद्धं जिणमयम्मि ॥ ३२ ॥

नो नैव, भावतः शुद्धाध्यवसायतः, शुद्धायामित्यर्थः। (इमीए त्ति) अस्यां वन्दनायां सत्यां, परोऽप्युत्कृष्टोऽपि, आस्तामितरः। हुशब्दोऽलङ्कारे। (अवड्ढपोग्गल त्ति) इह पुद्गलशब्देन भीमादिन्यायेन पुद्गलपरावर्तोऽभिप्रेतः, ततश्चार्द्धं पुद्गलपरावर्तस्येत्यर्द्धपुद्गलपरावर्तः। अप इत्यपकृष्टः किञ्चिन्न्यूनोऽर्धपुद्गलपरावर्तोऽपार्धपुद्गलपरावर्तः। तस्मादधिकोऽर्गलः, संसारो, जीवानां जन्तूनां, भवतीति गम्यम्। कथमिदं सिद्धमित्याह-हन्दीत्युपप्रदर्शने। प्रसिद्धं प्रख्यातं, जिनमतेऽर्हत्सिद्धान्ते। यदाह-"कालमणंतं च सुए, अद्धापरियट्टओ य देसूणो। आसायणबहुलाणं, उक्कोसं अंतरं होइ ॥१॥" इति। अतो द्रव्यत एषाऽऽसीत्, अनादौ भवे निरर्थिका चेति गाथार्थः ॥ ३२ ॥

प्रकृतार्थं निगमयन्नाह—

इय तंतजुत्तिओ खलु, णिरूवियव्वा बुहेहिँ एस त्ति।
ण हु सत्तामेत्तेणं, इमीएँ इह होइ णेव्वाणं ॥ ३३ ॥

इत्यनन्तरोक्तायास्तन्त्रयुक्तेस्तन्त्रयुक्ति आगमाश्रितोपपत्तिमाश्रित्य, अथवा-तन्त्रं युक्तिं चाऽऽश्रित्य, खल्विति वाक्यालङ्कारे, निरूपयितव्या आलोचनीया, मोक्षहेत्वहेतुत्वाभ्याम्। बुधैर्विद्वद्भिर्निर्वाणार्थिभिरित्यर्थः। एषा अनन्तरोक्ता वन्दना। इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ। अथ कस्मान्निरूपणमस्या उपदिश्यत इत्याह-न हु नैव, सत्तामात्रेण सद्भावेनैव, (इमीए) अस्या वन्दनायाः, इह वन्दनाविचारे, भवति जायते, निर्वाणं निर्वृतिः, किं तु शुद्धयाऽनया तत् जायते; अतस्तस्यां यतितव्यमिति हृदयम्। इति गाथार्थः ॥ ३३ ॥

इहैव वन्दनायाः शुद्धाशुद्धत्वविचारे अभ्युच्चयमाह-

किं चेह छेयकूडग-रूवगणायं भणंति समयविऊ ।

तं तेसु चित्तभेयं, तं पि हु परिभावणीयं तु ॥ ३४ ॥

किञ्चेत्यभ्युच्चयार्थः, इहशब्दोऽन्यत्र संभन्स्यते, छेकश्चासौ शुद्धः, कूटकश्च कथञ्चिदशुद्धश्छेककूटकः, स चासौ रूपकश्च छेककूटकरूपकः, स एव, तस्य वा, ज्ञातं निदर्शनं, छेककूटकरूपकज्ञातं, तद् भणन्ति वदन्ति, समयविदः सिद्धान्तवेदिनो भद्रबाहुस्वामिप्रभृतयः, तन्त्रेष्वावश्यकनिर्युक्त्यादिशास्त्रेषु । तथाहि-" रुप्पं टंकं विसमा-हयक्खरं तइयरूवओऽछेओ । दोण्हं पि समाओगे, रूवो छेयत्तणमुवेति ॥१॥ "चित्रभेदं बहुप्रकारं, चतुर्विकल्पमित्यर्थः । इह स्थाने यदिति शेषो दृश्यः, तदपि छेककूटकरूपकज्ञातमपि, न केवलं द्रव्यलिङ्गग्रहणानन्त्येनाशुद्धत्वमस्या भावनीयमित्यपिशब्दार्थः॥ हुशब्द एवकारार्थो, भिन्नक्रमश्चेति । इहेति वन्दनायां, परिभावनीयमेव पर्यालोचयितव्यमेव, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ, इति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

चित्रभेदमित्युक्तं, तदेव दर्शयन्नाह-

दव्वेणं टंकेण य, जुत्तो छेओ हु रूवगो होइ ।

टंकविहूणो दव्वे, वि ण खलु एगंतछेओ त्ति ॥ ३५ ॥

द्रव्येण रूप्यसुवर्णादिनोचितेन, टङ्केन च चित्रविशेषेण च, युक्तः समन्वितो यः स छेक एव विशुद्ध एव, हुशब्द एवकारार्थः, रूपको द्रम्मो, भवति वर्त्तते इत्येको भेदः । तथा टङ्कविहीन उचितचित्रविकलो यः स द्रव्येऽपि रूप्यादावप्युचिते सति, न खलु नैव, एकान्तच्छेकः सर्वथा विशुद्धः, टङ्काभावेन देशतः कूटत्वात् । इतिशब्दो द्वितीयभेदप्ररूपणासमाप्त्यर्थः । इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अथ तृतीयभेदमाह-

अदव्वे टंकेण वि, कूमो तेण वि विणा उ मुद त्ति ।

फलमेत्तो एवं चिय, मुद्धाण पयारणं मोत्तुं ॥ ३६ ॥

अद्रव्ये रूप्याद्युचितद्रव्याभावे सति, टङ्केनाऽपि चित्रविशेषेणापि युक्तः, आस्तां टङ्काभावे इत्यपिशब्दार्थः ! कूटोऽशुद्ध एव रूपको भवतीति प्रक्रमः । अथ चतुर्थमाह-तेनापि टङ्केनापि, अपिशब्दात् द्रव्येणाप्युभयाभाव इत्यर्थः । विना तु वियुक्तः पुनः । रूपको मुद्रेति चिह्नमात्रमिति व्यपदिश्यते । अथोपदर्शितरूपकचतुष्टयस्य फलमतिदेशात आह-फलमिष्टार्थप्राप्तिलक्षणं प्रयोजनम,इतोऽनन्तरोक्ताच्चतूरूपकात्, एवमेव रूपकस्वरूपवदेव भवति । तच्च क्रमेण पूर्णमीषदपूर्णं विवक्षितफलाभावः,सर्वथा फलाभावश्चेति। किमन्यद्व्यातिकिञ्चिदपि फलं न भवतीत्यत्राह-मुग्धानां मूढानां,प्रतारणं वञ्चनं, मुक्त्वा विरहय्य, अन्यत् फलं न भवति, तत्पुनर्भवतीति । अथवा-सामान्यतो दृष्टान्तयोजनामाह-(एत्तो त्ति) वन्दनायाः सकाशादिति ।अतिप्रसङ्गं वारयन्नाह-" मुद्धेत्यादि " । रूपकात्प्रतारणं स्याद्वन्दनायास्तु नेति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

आद्यव्याख्यापक्षे पातनैवम, अथ तेनैव फलेन तत्फलवद्भविष्यतीत्याह-

तं पुण अणत्थफलदं, णेहाहिगयं जमणुवओगि त्ति ।

आयगयं चिय एत्थं, चिंतिज्जइ समयपरिसुद्धं ॥३७॥

तत्पुनर्मुग्धप्रतारणलक्षणं रूपकान्यजनककद्वयजन्यं फलं,किमित्याह-अनर्थफलकम् अनर्थफलदं वा स्वपरयोरपकाररूपफलदायकम् । अत एव न नैव,इह रूपकविचारे, अधिकृतं प्रस्तुतम् । किमिति नाधिकृतमित्याह-यद्यस्मात्, अनुपयोगि निष्प्रयोजनं, न हि सतामनर्थफलदेन परप्रतारणेन प्रयोजनमस्ति। इतिशब्दः समाप्तौ । तर्हि किमिहाधिक्रियत इत्याह-आत्मगतमेव स्वविषयमेव, क्रायकलभ्यमित्यर्थः। न तु परविषयं प्रतारणादि, आयगतं वा रूपकविनिमयेन योऽभिप्रेतवस्तुलाभस्तत्फलमेव,अत्र रूपकविचारे, चिन्त्यते विचार्यते, समयपरिशुद्धं शिष्टव्यवहारविशुद्धं,न त्वसद्व्यवहारगतं परप्रतारणमपीति । व्याख्यान्तरे त्वेवम्ननु वन्दनातोऽपि प्रतारणं दृश्यत आह-(तं पुणेत्यादि) "नेह त्ति" नात्र वन्दनालक्षणे दार्ष्टान्तिकेऽधिकृतम् । (आयगयं चिय त्ति) जीवविषयमेव (समयपरिसुद्धं त्ति) आगमानुगतं मोक्षादि, शेषं तथैवेति गाथार्थः ॥ ३७ ॥

एवं दृष्टान्तं सफलमभिधाय दार्ष्टान्तिकं सफलमाह -

अथवा-सामान्यतो दार्ष्टान्तिकयोजनामभिधाय विशेषतस्तामेवाह---

भावेणं वन्नादिहिँ, चेव सुद्धेहिँ वंदणा छेया ।

मोक्खफला चिय एसा, जहोइयगुणा य णियमेणं ॥३८॥

भावेनापुनर्बन्धकाद्युचितश्रद्धाभक्तिरूपेण द्रव्योपमेन, वर्णादिभिरेव वाक्तरप्रवृत्तिभिरेव टङ्ककल्पैः,आदिशब्दात्कृतक्रियाऽऽलम्बनादिग्रहः। चैवशब्दो व्याख्यात एव। शुद्धैर्निरवद्यैः करणभूतैः, या वन्दना, सा छेका शुद्धा प्रथमरूपकोपमा, किंफलेयमित्याह-मोक्षफलैव निर्वाणप्रयोजनैव प्रधानफलापेक्षया, न पुनः संसारफलेति । एषा वन्दना ऐहलौकिकफलापेक्षया, पुनरियं किंविधेत्याह--यथा येन प्रकारेणोदितोऽभिहितस्तथैव गुणः फलं यस्याः सा यथोदितगुणा, यथोचितगुणा वा । गुणश्चायम-"पावं इमीएँ जले, ण होइ इहलोगिया वि हाणि त्ति" चशब्दः समुच्चये । नियमेनावश्यन्तयेति गाथार्थः ॥ ३८ ॥

अथ द्वितीयरूपकयोजनामाह-

भावेणं वन्नादिहिँ, तहा उ जा होइ अपरिसुद्ध त्ति ।

बीयगरूवसमा खलु, एसा वि सुह त्ति णिद्दिट्ठा ॥३९॥

भावेनोक्तपरिणामेन द्रव्योपमेन, युक्तेति शेषः । तथाशब्दस्य समुच्चयार्थस्येह संबन्धात, तथा वर्णादिभिरक्षरप्रभृतिभिः। तुशब्दः पुनरर्थः तस्य चैवं संबन्धः-या पुनर्वन्दना, भवति वर्तते । अपरिशुद्धा सदोषा, इत्येवंप्रकारा, द्वितीयरूपसमा द्रव्ययुक्तटङ्कविहीनरूपकतुल्या, खलुर्वाक्यालंकारे, एषाऽप्यसावपि, न केवलमाद्यरूपकसमा । शुभा प्रशस्ता, मोक्षाभ्युदयफलसाधकत्वात् । इतिशब्दः उपप्रदर्शने । निर्दिष्टा तीर्थकरादिभिरभिहिता, भावप्राधान्यात । आह च--"क्रियाशून्यश्च यो भावो, भावशून्या च या क्रिया । अनयोरन्तरं ज्ञेयं, भानुखद्योतयोरिव ॥ १ ॥ " इतिगाथार्थः ॥ ३९ ॥

अथ रूपकचरमभङ्गकद्वययोजनामाऽऽह-

भावविहूणा वन्ना-इएहिँ सुद्धा वि कूमरूवसमा ।

उभयविहूणा णेया, मुद्दप्पाया अणिट्ठफला ॥ ४० ॥

भावविहीना अपुनर्बन्धकाद्युचितश्रद्धानभक्तिरहिता या सा,

वर्णादिभिरक्षरप्रभृतिभिः, शुद्धाऽपि निरवद्याऽपि,आस्तां सावद्या, कूटरूपसमा रूप्यरहितटङ्कयुक्ततृतीयरूपकतुल्या, तथा उभयविहीना भाववर्णादिशुद्धिरहिता या सा, ज्ञेया ज्ञातव्या, मुद्राप्राया मुद्राकल्पा । चरमभङ्गकद्वयस्यापि फलमाह-अनिष्टफला अनभिमतप्रयोजनाऽनर्थफलेति यावत् । इति गाथार्थः॥४०॥

इयं चान्त्यभङ्गकरूपवन्दना केषां किंफला च विशेषेण भवतीत्याह-

होइ य पाएणेसा, किलिट्ठसत्ताण मंदबुद्धीणं ।
पाएण दुग्गइफला, विसेसओ दुस्समाए उ ॥ ४१ ॥

भवति च संपद्यते पुनः, प्रायेण बाहुल्येन, प्रायोग्रहणमक्लिष्टसत्त्वानामपि कदाचिदनुपयोगावस्थायामियं भवतीति ख्यापनार्थम् । एषा अनन्तरोक्ता रूपकचरमभङ्गकरूपोपमिता, वन्दना प्रायः क्लिष्टसत्त्वानां संक्लेशबहुलजीवानां, क्लिष्टं वा सत्त्वं येषां ते तथा तेषां, मन्दबुद्धीनां जडधियां मिथ्यात्वोपहतत्वात् । तथा प्रायेण बाहुल्येन, प्रायोग्रहणं च केषाञ्चिन्मुद्राप्रायाऽपि सती सा संपूर्णवन्दनाहेतुत्वेन सुगतिफलाऽपि भवतीति ज्ञापनार्थम् । दुर्गतिफला कुदेवत्वादिप्रयोजना, विशेषत इत्यत्रोत्तरस्य पुनःशब्दार्थस्य तुशब्दस्य संबन्धाद्विशेषेण पुनः, दुःषमायां दुःषमाकाले कालदोषादेव, इति गाथार्थः ॥ ४१ ॥

इहैवाऽर्थे मतान्तरमाह-

अन्ने उ लोगिग च्चिय, एसा णामेण वंदणा जइणी ।
जं तीइ फलं तं चिय, तीए ण उ अहिगयं किंचि ॥४२॥

एके तावदियमनिष्टफलेत्याहुः । अन्ये तु अपरे पुनराचार्याः साक्षादनर्थफलतामपश्यन्तोऽस्याः प्राहुः-यदुत लौकिक्येव सामान्यलोकसंबन्धिन्येव, न पुनर्जैनी । एषाऽनन्तरोक्ता, अन्त्यभङ्गकद्वयवन्दना । नन्वर्हद्वन्दनेतीयं प्रसिद्धा,न शिवादिवन्दनेत्यतः कथं नार्हतीत्याह-नाम्ना अभिधानेनैव, न तु फलतः । वन्दना चैत्यवन्दना,जैनी जिनसंबन्धिनी । अथ कथमिदमवसीयते इत्याह-यत इति वाक्यशेषः । यदिति यदेव तस्या लौकिकवन्दनायाः फलं साध्यं तदेव नान्यत्तस्या अन्त्यभङ्गकद्वयगतजैनवन्दनायाः, न तु न पुनरधिकृतं प्रस्तुतं जिनवन्दनोचितं मोक्षादि । अथवाऽधिकमर्गलतरं लौकिकवन्दनापेक्षयेति, किञ्चित्किमप्यल्पीयोऽपीति गाथार्थः ॥ ४२ ॥

एतस्यैवाचार्यान्तरमतस्याऽभ्यनुज्ञानार्थमाह-

एयं पि जुज्जइ च्चिय, तदणारंभाओ तप्फलं व जओ ।
तप्पच्चवायभावो, वि हंदि तत्तो ण जुत्त त्ति ॥ ४३ ॥

एतदप्यनन्तरोक्तमाचार्यान्तरमतेन कुवन्दनाया लौकिकत्वमपि, न केवलमस्मदुक्तमनिष्टफलत्वमेव । युज्यत एव घटत एव । तत्रोपपत्तिमाह-तदनारम्भाज्जैनवन्दनाऽनासेवनात् । अन्त्यवन्दनाद्वये हि अपुनर्बन्धकादिभावाभावाज्जैनवन्दनाया अनारम्भ एव, तत्फलमिव जैनवन्दनाऽऽराधनाजन्यस्वर्गापवर्गसंप्राप्तिक्षुद्रोपद्रवहान्यादिलक्षणफलमिव यतो यस्माद्धेतोः, तस्या जैनवन्दनाया अविधिकृतायाः सकाशात्प्रत्यपाया उन्मादरोगधर्मभ्रंशलक्षणा अनर्थास्तत्प्रत्यपायाः, तेषां भावस्तत्प्रत्यपायभावः । सोऽपि, अपिशब्दादिष्टार्थभावोऽपि, हन्दीत्युपप्रदर्शने, ततः कुवन्दनातः, अथवा-(तत्तो त्ति) तत एव जैनवन्दनाऽनारम्भादेव, अवधारणं चेह काकुपाठात्प्रतीयते । न युक्तो न घटमानः स्यात्, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्तौ । इदमुक्तं भवति--यथा जैनवन्दनाऽनारम्भान्मुद्राप्रायवन्दनायामिष्टफलं न युक्तम्,एवं जैनवन्दनाऽनारम्भादेव तज्जन्यानर्थोऽपि न युक्तः स्यात्, दृश्यते च मुद्राप्रायवन्दनायामनर्थाभावः यतो अतोऽसौ जैनी न भवत्यपि तु लौकिक्येवेति गाथार्थः ॥ ४३ ॥

अमुमेवार्थं भावयन्नाह-

जमुभयजणणसहावा,एसा विहिणेयरेहिँ ण उ अन्ना ।
ता एयस्साभावे, इमीएँ एवं कहं बीयं ? ॥४४॥

यद्यस्माद्धेतोरुभयजननस्वभावा इष्टानिष्टार्थोत्पादनबीजकल्पा, एषा जैनवन्दना । अथ कथमेकैवोभयजननस्वभावेत्याह-[विहिणेयरेहिं ति] विधानेन क्रियमाणेनेष्टफला, इतरैरविधिभिस्तु प्रत्यपायफला । लौकिक्यप्येवंभूतेति चेदित्यत्राह-न त्वन्या न पुनरपरा, लौकिकीत्यर्थः । लौकिकत्वादेव । ततः किमित्याह-(ता इति) यत एवं तत्तस्मादेतस्य प्राग्दृष्टान्तीकृतस्येष्टफलस्याभावेऽभवने, अस्यां द्विविधकुवन्दनायाम, एवममुना न्यायेन विधीतराभ्यां सत्फलप्रत्यपायजनकत्वलक्षणेन, कथं केन प्रकारेण, न कथञ्चिदित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्यपायलक्षणं फलमित्यर्थः । अतः सुष्ठूक्तं तत्फलमिव तत्प्रत्यपायभावोऽपि न युक्त इति । यत्र च प्रत्यपायोऽपि न भवति, सा जैनी न भवतीति । अथवा तस्मादेतस्येष्टानिष्टफललक्षणस्योभयस्याभावोऽस्यां कथं बीजमिव बीजं जैनीत्वं,जैनी ह्यर्थानर्थबीजम । अथवा-कथं बीजं कथमपुनर्बन्धकादित्वं, तद्धि वन्दनाजन्यार्थानर्थबीजम, अतो बीजाभावादेषा लौकिक्येवेति युक्तमेव । इति गाथार्थः ॥ ४४ ॥

इदमेव निगमयन्नाह-

तम्हा उ तदाभासा, अन्ना एस त्ति णायओ णेया ।
मोसाभासाणुगया, तदत्थभावा-णिओगेणं ॥ ४५ ॥

यस्मादस्याः प्रत्यपायाभावाज्जैनीत्वं नास्ति, तस्माद्धेतोः । तुशब्दोऽवधारणे । तस्य च प्रयोगो दर्शयिष्यते । तदाभासा जैनीसदृशी,जिनादिशब्दानामुपायनादन्यैव लौकिक्येव, एषा अधिकृतदुर्वन्दना,इतिशब्द उपप्रदर्शने,न्यायत उपपत्त्या, न्यायश्चानन्तरगाथोक्त एव, ज्ञेया ज्ञातव्या, पुनः किंभूतेत्याह-स्वाभाषानुगता असत्यवादान्विता । कथमित्याह-तदर्थे वन्दनाऽभिधेयवस्तुनि, भावस्य सच्छ्रद्धानाद्यध्यवसायस्यानियोगोऽव्यापारस्तदर्थभावानियोगः,तेन । यदा हि-" ठाणेणं मोणेणं झाणेणं" इत्यादिपदानि तदर्थे भावमनियुञ्जानः समुच्चारयति, तदा मृषावाद एव स्यात्, ध्यानादीनामसंपादनात् । अथवा-तदर्थाभावाद्वन्दनाप्रयोजनाभावान्नियोगेनावश्यंतया, इति गाथार्थः ॥ ४५ ॥

एवं तावदन्त्यभङ्गकद्वयगतवन्दना फलत उक्ता, अथाद्यभङ्गकद्वयगतवन्दनाया अभव्यानां दुर्लभताप्रतिपादनायाऽऽह-

सुहफलजणणसहावा, चिंतामणिमाइए वि णाभव्वा ।
पावंति किं पुणेयं, परमं परमपयबीयं ति ॥ ४६ ॥

शुभफलानामभिमतप्रयोजनानां, विशिष्टाभ्युदयादीनां सुखलक्षणफलानां वा, जननमुत्पादनं,स्वभावः स्वरूपं येषां ते तथा, तान्,चिन्तामण्यादिकानपि चिन्तारत्नप्रभृतिकानपि,आदिशब्दात्

कल्पद्रुमादिपरिग्रहः । मकारस्त्वागमिकः । अपिशब्दार्थं तूत्तरार्द्धेन वक्ष्यति, न नैव,अभव्या अयोग्याः , प्राप्नुवन्त्यासादयन्ति, किं पुनरिति पदमप्राप्तिविशेषद्योतकं,सुतरां न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। एतां वन्दनाम्,परमां प्रधानामाद्यजङ्घकद्वयगताम्, परमपदबीजं निर्वाणहेतुम् , इतिशब्दो हेत्वर्थः । तेन परमामेतां परमपदबीजत्वादिति । समाप्त्यर्थो वाऽयमिति गाथार्थः ॥४६॥

अभव्यास्तावदिमां न प्राप्नुवन्ति, भव्या अपि न सर्व एवेति दर्शयन्नाह–

भव्वा वि एत्थ णेया, जे आसन्ना ण जाइमेत्तेणं ।
जमणाइ सुए भणियं, एयं ण उ इट्ठफलजणगं ॥ ४७ ॥

भव्या अपि योग्या अपि , अभव्यास्तावदयोग्या एवेत्यपिशब्दार्थः । अत्र परमवन्दनाप्राप्तौ, ज्ञेया ज्ञातव्याः, य एव केचिदासन्नाः , परमपदस्येति गम्यम् । व्यतिरेकमाह–न जातिमात्रेण न जात्यैव, भव्या इति प्रक्रमः । कुत एतदेवमित्याह–यद्यस्मादनादिकालीनं,श्रुते सिद्धान्ते,भणितमुक्तम्, एतद्भव्यत्वं, न तु न पुनर्विद्यमानमपीष्टफलजनकमभिमतार्थसाधकं , मोक्षप्रापकमित्यर्थः । सर्वभव्यानां निर्वाणाप्राप्तेरिति गाथार्थः ॥ ४७ ॥

तत्र ये तावदेतां विधिना सेवन्ते, तद्विधिं वा श्रद्दधति , ते आसन्नभव्याः, ये तु तां न द्विषन्ति तेऽप्यासन्ना एवेति दर्शयन्नाह–

विहिअपओसो जेसिं, आसन्ना ते वि सुद्धिपत्त त्ति ।
खुद्दमिगाणं पुण सु–द्धदेसणा सीहणायसमा ॥ ४८ ॥

विधौ विधाने सम्यक्करणे,वन्दनाया इति प्रक्रमः । प्ररूप्यमाणे अप्रद्वेषोऽमत्सरो, माध्यस्थ्यं भवति । येषां भव्यानाम् , आसन्ना निकटवर्तिनः, परमपदस्येतिगम्यम् । तेऽपि,न केवलमासेवाश्रद्धानवन्त एवेति । कुत एवमित्याह–शुद्धिप्राप्ता अवाप्तक्लिष्टकर्मक्षयोपशमा इति कृत्वा , न हि क्लिष्टकर्मणां मार्गं प्रति माध्यस्थ्यमपि जायते । एतदेव दर्शयति—क्षुद्रमृगाणां क्लिष्टकर्मसत्त्वहरिणानां, पुनःशब्दो विशेषणार्थः, शुद्धदेशना विशुद्धप्रज्ञापना, विधिविषय उपदेश इत्यर्थः । सिंहनादसमा केशरिशब्दतुल्या, त्रासहेतुत्वादनिष्टेत्यर्थः। इति गाथार्थः ॥४८॥

एवं वन्दनां प्रति विध्यविध्योः फलमुपदर्श्य विधेर्विधेयतामुपदिशन्नाह–

आलोचिऊण एवं , तंतं पुव्वावरेण सूरिहिं ।
विहिजत्तो कायव्वो, मुद्धाण हियट्ठया सम्मं ॥ ४९ ॥

आलोच्य विमृश्य, एवं पूर्वोक्तन्यायेन , तन्त्रं प्रवचनं , कथमित्याह–पूर्वश्च तन्त्रस्य पूर्वो भागोऽपरश्च तस्यैवापरो भागः , पूर्वापरं, तेन, सप्तम्यर्थे वा एनप्रत्यये सति पूर्वपरेणेति स्यात्, पूर्वापरभागयोरित्यर्थः, तयोरविरोधेनेति यावत् । अनेन चालोचनमात्रस्य व्यवच्छेदः, तस्य तत्त्वावबोधासमर्थत्वादिति सूरिभिराचार्यैः , पण्डितैर्वा , विधौ विधाने वन्दनागते वेलाद्याराधनरूपे,यत्न उद्यमो विधियत्नः , स कर्त्तव्यो विधातव्यः । विमुक्तालस्यैः स्वयं वन्दना कार्या , अन्यैरपि विधिनैव सा विधापयितव्या इत्यर्थः। किमर्थमेतदेवमित्याह–मुग्धानामव्युत्पन्नबुद्धीनाम्, हितं श्रेयः , तद्रूपो योऽर्थो वस्तु स हितार्थः, तस्मै हितार्थाय । सम्यगविपरीततया, यदा हि गीतार्था विधिना स्वयं वन्दनां विदधति , अन्यांश्च तथैव विधापयन्ति, तदा मुग्धबुद्धयोऽपि तथैव प्रवर्तन्ते, प्रधानानुसारित्वात् मार्गाणाम् । आह च–"जो उत्तमेहिँ मग्गो, पहओ सो दुक्करो न सेसाणं। आयरियम्मि जयंते, तयणुचरो केण सीएज्जा " ॥ १ ॥

तथा–

"जे जत्थ जया जइया, बहुस्सुया चरणकरणउज्जुत्ता ।
जं ते समायरंती , आलंबणतिव्वसद्धाणं ॥ १ ॥"

(जय त्ति) दुःषमादौ (जइय त्ति) दुर्भिक्षादाविति । तथा प्रवृत्ताश्च ते वन्दनाराधनजन्यं हितमासादयन्ति,तद्विराधनाजन्यप्रत्यपायेभ्यश्च मोचिता भवन्तीति । अयं चोपदेशोऽसमञ्जसतया स्वयं वन्दनां विदधानांस्तथाऽनवाप्तापुनर्बन्धकाद्यवस्थेभ्यस्तथाविधजिज्ञासादितल्लिङ्गविकलेभ्यो जनेभ्यस्तां प्रयच्छतः सूरीन् वीक्ष्याचार्येण विहितः । एवं हि तत्प्रवृत्तौ तेषामन्येषां चाऽनर्थोऽसमञ्जसक्रियाजन्या च शासनाऽपभ्राजना मा भूदित्यभिप्रायेण । इति गाथार्थः ॥ ४९ ॥

उपदेशशेषमाह–

तिव्वगिलाणादीणं, भेसजदाणाइयाइँ णायाइं ।
दट्ठव्वाइँ इहं खलु, कुग्गहविरहेण धीरेहिं ॥ ५० ॥

टीका सुगमा । पञ्चा० ३ विव० ।

(३७) अत्र हीरविजयसूरिकृतप्रश्नोत्तरकदम्बकम्–

स्वकीयेतरकल्पे देवाश्चैत्यानि वन्दन्ते,न वा ?। देवा यदा स्वकीयेतरकल्पे यान्ति, तदा तत्रत्यचैत्यवन्दननिषेधो ज्ञातो नास्तीति । ही० ४ प्रका० ।

चैत्यालये चैत्यवन्दनकरणम् ईर्यापथिकीप्रतिक्रमणपुरस्सरमेव, अन्यथाऽपि वा ? । चैत्यालये ईर्यापथिकीपुरस्सरं चैत्यवन्दनकरणविषये एकान्तो नास्तीति ज्ञायते । ही० ३ प्रका० ।

शीतोष्णकालयोर्गृहस्थानां जिनालये देववन्दनं काजोद्धरणपूर्वकं, किं वा प्रमार्जनेन?। शीतोष्णकालयोर्गृहस्थानां जिनालये देववन्दननिमित्तं काजोद्धरणस्य नियमो नास्ति, तेन यदि कश्चित् करोति तदा करोतु । ही० २ प्रका० ।

गृहस्थाचारधरो यतिवेषवान् प्रतिक्रमणं कर्तुकामः किं सामायिकग्रहणपूर्वकं करोति , अथवा चैत्यवन्दनतः ? । गृहस्थाचारधरो यतिवेषवान् मुख्यवृत्त्या सामायिकग्रहणं कृत्वा प्रतिक्रमणं करोति ॥ ही० ४ प्रका० ।

सप्तदशभेदपूजादौ श्रीजिनगृहे चैत्यवन्दनं कृत्वा यदोपविश्यते तदा किमीर्यापथिकीप्रतिक्रमणपूर्वकमेवान्यथा वेति प्रश्ने, उत्तरम्–मुहूर्त्ताद्यवस्थानसंभावनायामैर्यापथिकी प्रतिक्रम्यते, अन्यथा तु यथाऽवसरमिति। ३६४ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

श्राविका जिनालये चैत्यवन्दनां विधायोर्ध्वं स्थिता सत्येकनमस्कारकायोत्सर्गं कृत्वा चैकां स्तुतिं कथयत्येतद्विधिः क्वास्तीति प्रश्ने , उत्तरम्–एतद्विधिर्भाष्यावचूरिमध्ये चैत्यवन्दनाधिकारे कथितोऽस्ति , परमेतद्विधिकरणप्रवृत्तिरधुना श्राविकामध्ये न दृश्यत इति । २६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

अथ पं० सत्यसौभाग्यग० कृतप्रश्नः , तदुत्तरं च । यथा— उत्कृष्टचैत्यवन्दनाविधावुत्तरोत्तरं स्तुतयो वर्णैर्वृद्धा विधीयन्ते, न स्वल्पा इति रूढिः सत्याऽसत्या वेति प्रश्ने, उत्तरम्–उत्कृष्टचैत्यवन्दनविधावुत्तरोत्तरं स्तुतयः प्रायो वर्णैर्वृद्धा एव विधेया इति परम्परा वर्तते, तेन रूढिः सत्यैवावसीयते, परम्परामूलं तु नमोऽस्तु वर्धमानायेत्यस्याधिकारे " ताओ अ थुईओ एगसिलोगादिवड्डिआओ पयक्खराईहिं वा सरेण वा वड्ढंतेण

तिन्नि भणिऊणं " इत्याद्यावश्यकचूर्ण्यक्षरदर्शनमिति संभाव्यत इति । ४०२ प्र० । सेन० ३ उल्ला० ।

चेइयवास–चैत्यवास–पुं० । जिनालये, यतीनामावासे, दर्श० ।

अथ यद्यपि स्वाधव्याख्यानेनार्वाक्तिनैर्नानुज्ञातं, तथाऽपि तत्र प्रासुकैषणीयस्तत्र निवसतां को दोष इत्याह–

दुग्गंधमलिणवत्थ–स्स खेलसंघाणजल्लजुत्तस्स ।
जिणभवणे नो कप्पइ, जइणो आसायणाहेओ ॥

दुष्टो गन्धो दुरभिगन्धो यस्यासौ दुर्गन्धः, मलिनानि वस्त्राणि यस्यासौ मलिनवस्त्रः, दुर्गन्धश्चासौ मलिनवस्त्रश्च दुर्गन्धमलिनवस्त्रः,तस्य खेलो निष्ठीवनं, सिङ्घानो नासिकामलम्, जल्लो देहप्रभवपङ्कः, एभिर्युक्तस्य समन्वितस्य, जिनभवने तीर्थकृद्वेश्मनि, न कल्पते, अवस्थानं कर्तुमिति शेषः। कस्येत्याह–यतेः साधोः, न तु गृहस्थस्य, तस्य स्वत एव गृहस्थत्वेन निश्वासासंभवात्, इतरस्य तु प्रवृत्तिदर्शनतो निषिध्यते इति। किमर्थमित्याह–आशातनाहेतोराशातना सर्वधर्मद्दानिर्मा भूदिति । अयमत्र भावार्थः–यस्य हि भगवतो चैत्यगृहे देवा आशातनाभीरुतया संवृतात्मानो विशन्ति, तत्र कथं मलाविलशरीराणां मुक्तदेहप्रक्षालनाराहितानां सदोर्ध्वाधःसमीरणप्रचारवतां स्नानताम्बूलविलेपभोगराहितानां निवसितुं युज्यत इति , प्रकिञ्च कथं कृता स्यादिति । यत एवोक्तम्–" जइ वि न आहाकम्मं, कत्तिकयं तह विवज्जियं ते हु । भत्ती खलु कोइ कया,इहरा आसायणा परमा ॥१॥" ननु यदुत्पन्नसकलावरणविरहितकेवलवलावलोकितविश्वविश्वस्वभावानां भावार्हतामवग्रहे सर्वसाधूनां निर्जराऽस्ति, तत्किं स्थापनार्हतामवग्रहे तिष्ठतां कर्मबन्ध इति प्रयोगश्चान्वायुज्यते।स्थापनाऽर्हदवग्रहे यतेर्निवासः कर्तुं निर्जरासंभवात्, भावार्हदवग्रहनिवासिसाधुवदित्यत्रोच्यते । यदुक्तं भावार्हतामित्यादि , तत्रान्य एव भावार्हतां कल्पः, स्थापनार्हतामन्य एवेति । तथा भगवतां भावार्हतां सर्वसम्वराऽऽरूढत्वादेव सुसाधव एव समस्तमपि वैयावृत्यं प्रकुर्वन्ति,भक्तपानादिकं च प्रयच्छन्ति,न तु गृहस्थाः, तथा तन्निमित्तनिवासादिकं न विधीयते । अन्यच्च–गृहस्था अपि पूजोपचारकृते तेषां वस्त्राभरणपुष्पविलेपनस्नानं कुर्वन्ति अतो भावार्हत्कल्पत्वान्निषेधाभावाच्च युक्तमेव भावार्हदवग्रहावस्थानम्।तथा यदुक्तम्–प्रयोगश्चेत्यादि, तत्र निर्जराहेतोरसिद्धत्वात् । असिद्धता चास्य स्थापनार्हत्कल्पभेदात् तथा, यथा हि साधवो वैयावृत्यादिकं प्रत्यनधिकारिणः, एवं तदवग्रहावस्थानं प्रत्यपि, शास्त्रानिषिद्धाचरणाच्च । यत उक्तम्–" देवस्स य परिभोगो, अणंतजम्मे य दारुणविवागो । जं देवभोगभूमिसु,वुड्ढी न हु वट्टइ चरित्ते ॥१॥" प्रयोगश्च जिनभवनावस्थानं साधूनामयुक्तमेवेति, पापहेतुत्वात्, सावद्यानुष्ठानवदिति गाथार्थः ॥ दर्श० ३ तत्त्व० ।

चेइयसण्णिवेस–चैत्यसन्निवेस–पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्राष्टमे भवे वीरजिनः वष्ठिलकपूर्वायुरग्निद्योतो नाम विप्रस्त्रिदण्डी भूत्वा मृतो नवमे सुरो जातः । कल्प० २ क्षण ।

चेइयसिहराइ–चैत्यशिखरादि–त्रि० । जिनभवनशिखरकलशध्वजप्रभृतिषु, पञ्चा० १२ विव० ।

चेइयहर–चैत्यगृह–न० । देवसदने, (जी०) जिनमन्दिरे, जी० १ प्रति० ।

चेट्ठण–स्थान–न० । अवस्थाने, व्य० ४ उ० ।

चेट्ठा–चेष्टा–स्त्री० । क्रियायाम, पञ्चा० ४ विव० । व्यापारकरणे, षो० ७ विव० । पराक्रमे, पं० सं० ५ द्वार ।

चेड–चेट–पुं० । पादमूलिके, औ० । भ० । दासे, कल्प० ३ क्षण । कुमारके, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

चेडग–चेटक–पुं० । हैहयकुलजाते स्वनामख्याते वैशालिकापुराधिपतौ, आ० क० । आ० चू० । विशे० । कल्प० । (' सेणिय ' शब्दे सर्वा वक्तव्यता) (चेल्लणा श्रेणिकस्य भार्या बभूव चेति 'चेल्लणा' शब्दे १३३६पृष्ठे वक्ष्यते) "समणे भगवं महावीरे भगवओ माया चेमगस्स भगिणी भोई ।" आचू० १ अ० । चेटकेन द्वाविशौ रचितौ, कूणिकेन सह रथमुशलमहाकण्टकशिलासंग्रामनामानौ संग्रामौ कृतौ । भ० ७ श० ६ उ० ।

चेडरूव–चेटरूप–त्रि० । कुमारकल्पे, सू० १ उ० ।

चेडिय–चेष्टित–न० । चेष्टायाम् , औ० । सकाममङ्गप्रत्यङ्गोपाङ्गदर्शनादौ , जी० ३ प्रति० ।

चेडियाचक्कवाल–चेटिकाचक्रवाल–न० । दासीसमूहे, " चेडियाचक्कवालवरिसधरथेरकंचुइज्जमहत्तरयविंदपरिखित्ता " चेटीचक्रवालेनाऽर्थात् स्वदेशसम्भवेन वर्षधराणां वर्धितकरणेन नपुंसकीकृतानामन्तःपुरमहल्लकानाम । भ० ६ श० ३३ उ० । दशा० ।

चेडी–चेटी–स्त्री० । दास्याम , आ० म० प्र० । बाले, दे० ना० ३ वर्ग ।

चेत्त–चैत्र–पुं० । चैत्रीपूर्णिमाघटिते मासे, चित्रानक्षत्रान्विता पूर्णिमा चैत्री । चित्रान्वितायां पूर्णिमायाममायां च । स्त्री० । जं० ७ वक्ष० । चं० प्र० । " चेत्तस्स पुण्णिमाए पउमाभजिणस्स चित्तार्हि " आ० म० प्र० ।

चैत्त–त्रि० । शिल्पिचित्तगते, षो० ८ विव० ।

चेत्तगण–चैत्रगण–पुं० । चैत्रगच्छे, बृ० ६ उ० ।

" श्रीजैनशासननभस्तलतिग्मरश्मिः,
श्रीपद्मचन्द्रकुलपद्मविकाशकारी ।
स्वज्योतिरावृतदिगम्बरडम्बरोऽभूत,
श्रीमान् धनेश्वरगुरुः प्रथितः पृथिव्याम् ॥ ७ ॥
श्रीमच्चैत्रपुरैकमण्डनमहावीरप्रतिष्ठाकृत–
स्तस्माच्चैत्रपुरप्रबोधतरणिः श्रीचैत्रगच्छोऽजनि " ॥

बृ० ६ उ० । ग० ।

चेय–चेतस्–न० । अन्तःकरणे, दशा० ५ अ० १ उ० । मनसि, स्था० ६ ठा० २ उ० ।

चेयकड–चेतःकृत–न० । जीवस्वरूपभूतया चेतनया बद्धे, जीवानां किं चेतःकृतानि कर्माणि, अचेतःकृतानि कर्माणि वा ? । भ० ।

जीवा णं भंते ! किं चेयकडा कम्मा कज्जंति, अचेयकडा कम्मा कज्जंति ? । गोयमा ! जीवा णं चेयकडा कम्मा कज्जंति, णो अचेयकडा कम्मा कज्जंति ।

" जीवा णं " इत्यादि । (चेयकडा कम्म त्ति) चेतश्चैतन्यं, जीवस्वरूपभूतचेतनेत्यर्थः । तेन कृतानि बद्धानि चेतःकृतानि कर्माणि । (कज्जंति त्ति) भवन्ति । भ० १६ श० २ उ० ।

चेयण-चेतन-पुं० । सचित्ते, व्य० १ उ० । सूत्र० । जीवे, स्था० ४ ठा० ४ उ० । विशे० । (भूतधर्म एव चैतन्यमिति लौकायतिकानां मतम् ' आता ' शब्दे द्वितीयभागे १८० पृष्ठे उपपाद्य खण्डितम्)

चेयणत्त-चेतनत्व-न०। मनसि अनुभूतौ, षष्ठा० ११ अष्टा० ।

चेयणा-चेतना-स्त्री० । संज्ञाने, उपयोगे, अवधाने , आव० ६ अ० । ("आता" शब्दे द्वितीयभागे १८० पृष्ठे अभौतिकत्वासिद्धिरुक्ता) करणे च । अत एव " सेज्जं ठाणं वा जाहिं चेइए" यत्र चेतयते, ' चिती ' संज्ञाने, अनुभवरूपतया विजानाति, वेदयते इत्यर्थः । अथवा-चेतयते करोति इति, धातूनामनेकार्थत्वात् । आ० म० द्वि० । आचा० ।

चेयण्ण-चैतन्य-न० । साकारनिराकारोपयोगे , षष्ठा १५ अष्टा० ।

चेर-चर्य-न० । चरणे, नि० चू०१ उ०। ('बंभचेर' शब्दे व्याख्या)

चेल-चैल-न० । वस्त्रे , आव० १ अ०। नि० चू० । दश० । प्रश्न० । आचा० । स्था० । बृ० । उत्त० । ज्ञा० । औ० । सूत्र०। कल्पादौ, व्य० ७ उ०।

चेलकण्ण-चैलकर्ण-पुं० । वस्त्रकर्णे, आचा०२ श्रु०१ अ०७ उ० ।

चेलकरण-चैलकरण-पुं० । चेलैकदेशे, दश० ४ अ० ।

चेलगोल-चैलगोल-न० । वस्त्रात्मके कन्दुके , सूत्र० १ श्रु० ४ अ० २ उ० ।

चेलट्ठ-चैलार्थ-न० । वस्त्रार्थे , बृ० ३ उ० ।

चेलपाय-चैलपात्र-न० । वस्त्रनिर्मितपात्रे, आचा० २ श्रु० १ अ० १ उ० ।

चेलपेडा-चैलपेटा-स्त्री०। वस्त्रमञ्जूषायाम, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । नि० । तं० ।

चेलपोट्टलिया-चैलपोट्टलिका-स्त्री० । चेलानि वस्त्राणि तेषां पोट्टलिका इव सुसंगृहीताः सुरक्षिताः। तस्याम, दशा०१०अ०।

चेलुंप-देशी-मुशले, दे० ना० ३ वर्ग ।

चेलुक्खेव-चैलोत्क्षेप-पुं० । तीर्थकृद्भक्तिकार्यदर्शनाद्देवकृते प्रमोदभरेण वस्त्राणामूर्ध्वक्षेपे, रा० । आ० क० । कल्प० । स्था० ।

चेल्लअ-चेल्लक-पुं० । शिष्ये, " चेल्लओ भणति मिच्छा मि दुक्कडं " । दश० १ अ० । " चेल्लगं रिंदेज्जा " । आ० चू० ४ अ० ।

चेल्लणा-चेल्लणा-स्त्री० । चेटकराजस्य दुहितरि, आ० चू० ४ अ० । दश० । श्रेणिकमहाराजस्य भार्यायाम, आ० म० प्र० ।

चेल्लणापास-चेल्लणापार्श्व-पुं०। टिंपुरीनगर्यां दक्षिणे स्वनामपूजितपार्श्वनाथप्रतिमायाम, ती० १ अ० । (तत्कल्पः ' टिंपुरी ' शब्दे वक्ष्यते)

चेल्लय-चेल्लक-पुं० । आरण्ये जीवविशेषे, आचा० २ श्रु०१ अ० ५ उ० । दीप्यमाने, ती० ३३ कल्प ।

चेव-चैव-अव्य० । च-एव-समासः । समुच्चयमात्रे, स्था०२ठा० १ उ० । दर्श० । पञ्चा० ।.

चोअअ-चोदक-त्रि० । प्रेरके, अनु० ।

चोइज्जंत-चोद्यमान-त्रि० । परेण पृच्छ्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० । शिष्यमाणे, व्य० ७ उ० । नोद्यमाने, सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ३ उ० ।

चोइय-चोदित-त्रि० । प्रेरिते, सूत्र० १ श्रु० ५ अ० १ उ० । उत्त० । शिक्षे, दश० ९ अ० २ उ० ।

चोक्ख-चोक्ष-त्रि० । शुद्धे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । शुचीकृते, बृ० १ उ० । परमशुचीभूते, कल्प० ५ क्षण । अपनीताशुचिद्रव्ये, भ० ९ श० ३३ उ० । अशुचिद्रव्यापगमात् (प्र० ११ श० ९ उ०) विवक्षितमलापनयनात् (औ०) लेपशिक्थाद्यपनयनेन (भ० ३ श० १ उ० । ज्ञा० । विपा० । आ० चू०) पवित्रे, रा०। " आयंते चोक्खे परमसुइभूए " विमलदेहनेपथ्ये, " अम्हे चोक्खा चोक्खायारा सुई सुईसमायारा औ० ।

चोक्खवत्थ-चोक्षवस्त्र-न०। रजकपार्श्वाद्धतोज्ज्वलीकारितवस्त्रे, बृ० १ उ० ।

चोक्खा-चोक्षा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां परिव्राजिकायाम, या हि दानशौचधर्मोनाख्यातवती तीर्थकृन्मल्लिपराजिता काम्पिल्यनगरे जितशत्रुं राजानं तद्वृत्तं संदिष्टवती । ज्ञा० ८ अ० । (' मल्लि ' शब्देऽस्या कथा)

चोक्खायार-चोक्षाचार-त्रि० । निरवद्यव्यवहारे, औ० ।

चोग्गुण-चतुर्गुण-त्रि० । " न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले " ॥ ८ । १ । १७१ । इति वा ओत् । चतुरावृत्तेऽर्थे, प्रा० १ पाद ।

चोज्जपसंगि (न्)-चौर्यप्रसङ्गिन्-त्रि० । चौर्यप्रसक्ते, ज्ञा०१ श्रु० १८ अ० ।

चोज्ज-चौर्य-त्रि० । कर्मणि, " कम्मं ति वा रहं ति वा चोज्जं ति वा कलुसं ति वा वेज्जं ति वा वेरं ति वा । " नि० चू० २० उ० । काष्ठहारादिके अधमकर्मणि, सूत्र० २ श्रु० २ अ० ।

चोत्तीस-चतुस्त्रिंशत्-स्त्री० । चतुरधिकायां त्रिंशत्संख्यायाम, " चोत्तीसं बुद्धवयणातिसेसा पण्णत्ता " । रा० ।

चोत्थ-चतुर्थ-त्रि० । " न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले " ॥८ । १ । १७१॥ इति सूत्रेण वा ओत्वम् । चतुःसंख्यापूरणे, प्रा० १ पाद ।

चोदग-चोदक- त्रि० । पृच्छके, " आयरिओ भणइ-हे चोदग! अकाले तुमं पढंतो अतिसिरिमिच्छसि ?, " नि० चू० १ उ० ।

चोद्दसपुव्वि (ण्)–चतुर्दशपूर्विन्–पुं० । सम्पूर्णश्रुतधरे, उत्त० ५ अ० । आ० म० । नं० । स्था० । नि० चू० । ("चउद्दसपुव्वि" शब्देऽत्रैव भागे १०५६ पृष्ठे वृत्तमुक्तम्)

चोद्दसमभत्त–चतुर्दशभक्त–न० । उपवासषट्के, पञ्चा० १६ विव० ।

चोद्दसी–चतुर्दशी–स्त्री० । " न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्थ-चतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले" । ८ । १ । १७१ ॥ इति सूत्रेण वा ओत् । अमायाः पूर्णिमायाश्च पूर्वतिथौ, प्रा० १ पाद ।

चोप्पड–म्रक्ष्–धा० । संम्रक्षणे (चोपड़ना) "म्रक्षेश्चोप्पडः" । ८ । ४ । १९१ । इति म्रक्षेः 'चोप्पड' आदेशः । "चोप्पडइ" म्रक्षते । प्रा० ४ पाद ।

चोप्पाल–चतुष्पाट–न० । मत्तवारणे, जं० २ वक्ष० । जी० । नि० चू० ।

चोय–त्वक्–स्त्री० । हीरच्छल्लीरूपे वृक्षावयवे, " चोयं तु होति हीरो, सगलं पुण तस्स बाहिरा छल्ली" । नि० चू० १६ उ० । ज्ञा० । प्र० । सू० । प्रश्न० । जं० । गन्धद्रव्यविशेषे, आ० म० प्र० । अनु० । जी० । रा० । 'चोओ' इत्युपलविशेषे, अनु० ।

चोयग–चोदक–पुं० । त्रि० । प्रश्नं चोदयतीति चोदकः । नं० । पीलितेक्षुच्छोटिके, आचा० २ श्रु० १ अ० १८ उ० । प्रपप्रश्न-कारिणि, व्य० १ उ० । सूत्र० । गन्धद्रव्यविशेषे, जी० ३ प्रति० । त्वक्–न० । ऊल्ल्याम्, आचा० २ श्रु० ७ अ० २ उ० ।

चोयणा–चोदना–स्त्री० । प्रेरणे, ध० २ अधि० । प्रोत्साहकरणे, व्य० १ उ० । आ० म० । चक्रवालसामाचारीं ग्राहयतो नोदनायाम्, बृ० १ उ० । वैदिकविधिवाक्ये, सम्म० १ काण्ड । (" चोदनालक्षणो धर्मः " इति मीमांसका 'सद्द' शब्दे निराकरिष्यन्ते)

चोयणिज्जाससार–चोयनिर्यासंसार–पुं० । चोयनामगन्धरस-प्रधाने आसवे, जी० ३ प्रति० । जं० ।

चोयपुड–चोयपुट–पुं० । चोयनामगन्धद्रव्यपुटे, रा० । पत्रादि-मये त्वग्भाजने, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० ।

चोयाल–चतुश्चत्वारिंशत्–स्त्री० । चतुराधिकायां चत्वारिंशति, प्रज्ञा० २ पद ।

चोयासव–चोयासव–पुं० । चोयसारनिष्पन्ने आसवे, जी० ३ प्रति० ।

चोर–चौर–पुं० । स्तेने, ध० २ अधि० । प्रश्न० । सूत्र० । गवादि-हारिणि, बृ० १ उ० । चौरशब्दोऽन्यत्र तस्करे रूढो दाक्षिणात्या-नामोदने, स्था० । अनु० ।

चोरग्गाह–चौरग्राह–पुं० । चौरग्राहके राजपुरुषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चोरद–चौरद–पुं० । हरीतकवनस्पतिभेदे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चोरपउर–चौरप्रचुर–त्रि० । दोषभेदे, यत्र बहवश्चौरा उपद्रव-न्ति । व्य० ३ उ० ।

चोरप्पओग–चौरप्रयोग–पुं० । चौराणां प्रयोजनं व्यापारणं चौरप्रयोगः । हरत यूयमिति हरणक्रियायाः प्रेरणा । अथवा-चौराणां प्रयोगा उपकरणानि कुशिकाकर्त्तरिकाघर्घरिकादीनि, तेषामर्पणं विक्रयणं वा उपचाराच्चौरप्रयोगः । किमधुना यूयं निर्व्यापारास्तिष्ठथ । यदि भवतां भोजनादि नास्ति, तद्ददामि, भवदानीतमोषस्य वा यदि विक्रायको न विद्यते तदाऽहं तं विक्रेष्ये इत्येवंविधवचनैश्चौराणां व्यापारणे, प्रव० ६ द्वार ।

चोरसंघ–चौरसङ्घ–पुं० । पदातिरूपचौरसमूहे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

चोराग–चौराक–पुं० । स्वनामख्याते सन्निवेशे, यत्र प्रतिमास्थि-तभगवतस्तपःप्रभावाद् गोशालो मण्डपं ददाह । आ० म० द्वि० ।

चोराणीय–चौरानीत–त्रि० । चौरैरानीते कनकवसनादौ, तच्च मूल्येन मुधिकया वा प्रच्छन्नं गृह्णतस्तृतीयाणुव्रतमतिचर्यते । प्रव० ६ द्वार ।

चोरिअ–चौर्य–न० । "स्याद् भव्यचैत्यचौर्यसमेषु यात्" । ८ । २ । १०७ । इति यात्पूर्वं इत् । प्रा० ४ पाद । स्तेये, स्था० ३ ठा० ४ उ० । अदत्तादाने, स्था० १ ठा० १ उ० ।

चोरिक्क–चौरिक्य–न० । चोरणं चौरिका, सैव चौरिक्यम् । प्रथमे गौणादत्तादाने, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

चोरिय–चौरिक–त्रि० । परद्रव्यापहारके, प्रव० ४१ द्वार । आ० म० । प्रणिधिपुरुषे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चोरिया–चोरिका–स्त्री० । चोरणे, प्रश्न० १ आश्र० द्वार ।

चोल–चोल–पुं० । देशभेदे, तद्राज्यसम्पादके ऋषभदेवपुत्रे, कल्प० ७ क्षण । ती० ।

चोल–पुं० । पुरुषचिह्ने, प्रव० ६१ द्वार । ध० ।

चोलअ–चोलक–न० । चूडोपनयने, बालकप्रथममुण्डने, प्रश्न० २ आश्र० द्वार । आ० म० ।

सम्प्रति चूलाद्वारमाह-

विहिणा चूलाकम्मं, बालाणं चोलयं नाम ।

चूला नाम विधिना शुभनक्षत्रतिथिमुहूर्त्तादौ च धवलमङ्गलेपदे-वतापूजास्वजनभोजनादिलक्षणेन बालानां चूलाकर्म्म, तदपि सदा प्रवृत्तम् । आ० म० प्र० ।

चोलपट्ट–चोलपट्ट–पुं० । चोलस्य पुरुषचिह्नस्य पट्टः प्रावरण-वस्त्रं चोलपट्टः । प्रव० ।

इदानीं चोलपट्टकप्रमाणप्रतिपादनायाऽऽह-

दुगुणो चउग्गुणो वा, हत्थो चउरंस चोलपट्टो उ ।

थेरजुवाणट्ठा वा, सण्हे थुल्लम्मि य विभासा ॥५२०॥

द्विगुणश्चतुर्गुणो वा कृतः सन् यथा हस्तप्रमाणश्चतुरस्रश्च भवति, तथा चोलस्य पुरुषचिह्नस्य पट्टः प्रावरणवस्त्रं चोप-लपट्टः कार्यः । किमर्थं द्विगुणश्चतुर्गुणो वेत्याह-(थेरजुवा-णट्ठ त्ति) क्रमेण स्थविराणां यूनां च साधूनामर्थाय प्र-योजनाय स्थविराणां द्विहस्तः, तदिन्द्रियस्य प्रबलसामर्थ्याभा-वादल्पेनाप्यावरणात्, यूनां च चतुर्हस्तश्चोलपट्टकः करणी-य इति भावः । (सण्हे थुल्लम्मि य विभास त्ति) श्लक्ष्णे स्थूले च चोलपट्टे विभाषा विविधा भाषा, अयं भेदो-यदुत

स्थविराणां श्लक्ष्णः करणीयः, तदिन्द्रियस्य स्पर्शेन चोलपट्टस्योपघाताभावात्, यूनां तु स्थूल इति। प्रव० ६१ द्वार।

किमर्थमसौ चोलपट्टकः क्रियत इत्यत आह—

वेउव्व वाउडे वा, हियए अइखद्ध पजणणे चेव।
तेसिं अणुग्गहत्था, लिंगुदयट्ठा य पट्टो उ ॥ ४५ ॥

यस्य साधोः प्रजननं वैक्रियं भवति, विकृतमित्यर्थः। यथा दाक्षिणात्यपुरुषाणां चोपार्थं विध्यते प्रजननं, तच्च विकृतं भवति। ततश्च तत्प्रसादनार्थमनुग्रहाय चोलपट्टकः क्रियते, तथा अप्रावृते कश्चित् वातिको भवति, वातेन तत्प्रजननम् उच्छूनं भवति, ततश्च तदनुग्रहाय अनुज्ञातः। तथा-ह्रीको लज्जालुः कश्चिद्भवति तदर्थं ते (खद्धं ति) बृहत्प्रमाणं स्वभावेनैव कस्यचित् प्रयोजनं भवति। ततश्चैतेषामनुग्रहार्थं, तथा लिङ्गोदयार्थं कदाचित् स्त्रियं दृष्ट्वा लिङ्गस्योदयो भवति। अथवा-तस्या एव स्त्रिया लिङ्गं दृष्ट्वा उदयश्च लिङ्गस्य भवति, तं प्रति अभिलाषो भवतीत्यर्थः। ततश्चैतेषामनुग्रहार्थं चोलपट्टकग्रहणमुपदिष्टम् ॥४५॥ ओघ०। ध०। प्रव०। आचा०। पं० व०।

चोलुक्क–चौलुक्य–पुं०। स्वनामख्याते वंशे, यत्र श्रीकुमारपालादयो जज्ञिरे। ती० ५ कल्प।

चोलो–देशी–वामने, दे० ना० ३ वर्ग।

चोल्लोवणग–चौल्लोपनक–न०। चूडाधारणे, ज० ११ श० ११ उ०।

चोल्लग–चोल्लक–पुं०। परिपाटीभोजने, उत्त० ३ अ०। आ० म०। मानुषत्वदुर्लभत्वे चोल्लकदृष्टान्तः। तत्र चोल्लको ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिमित्रकल्याणभोजनम्। आ० म० द्वि०।

चोवत्तरि–चतुःसप्तति–स्त्री०। चतुरधिकसप्ततिसंख्यायाम्, स० ७२ सम०।

चोव्वार–चतुर्वार–पुं०। "न वा मयूखलवणचतुर्गुणचतुर्थचतुर्दशचतुर्वारसुकुमारकुतूहलोदूखलोलूखले" ॥ ८ ॥ १ । १७१ ॥ इति वा ओत्। चतुरावृत्ते, प्रा० १ पाद।

इति श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–
श्रीमद्भट्टारक–जैनश्वेताम्बराचार्यश्रीश्री १००८ श्री
विजयराजेन्द्रसूरिविरचिते अभिधानराजेन्द्रे
चकारादिशब्दसङ्कलनं समाप्तम्।

छकार

छ-छ-पुं० । छो-कः । छदने , सर्पे, छागे, शाकिधरे, छेदे , सूते, प्रवाले, मन्त्रस्य विभागे , अक्षरविभागे , आच्छादने, धाल्विबे च । न० । निर्ये, निर्मले च । त्रि० । एका० । सूर्ये, सोमे , नैर्मल्ये , छेदे, स्वच्छे, ज्ञातरि, छन्दानुवर्तिनि, पुं० । निम्नगायाम , गिरायाम, स्त्री० । एका० । " छ त्ति य दोसाण छायणे होइ " आ० म० द्वि० । ' छ ' इत्ययं वर्णो दोषाणामसंयमयोगलक्षणानामाच्छादने भवति । आ० म० द्वि० । छेदनकर्तरि, तरले, त्रि० । गृहे, न० । वाच० ।

षट्–त्रि० । एकाधिकपञ्चसंख्यायाम, बृ० ६ उ० । " छएहं मासाणं । " ज्ञ० १ श० ८ उ० ।

छत्र–क्षत–न० । " छोऽक्ष्यादौ " । ८ । २ । १७ ॥ इति क्षस्य छः । व्रणे , प्रा० २ पाद ।

छइअ–क्षयित–त्रि० । क्षयमापन्ने, "छोऽक्ष्यादौ" । ८ । २ । १७। इति क्षस्य छः । प्रा० २ पाद ।

छइपुत्त–छायापुत्र–पुं० । छायासुते, सोऽप्रतिष्ठाने नरके उत्पन्नः। जी० ३ प्रति० ।

छउम–छद्मन्–न० । छादयतीति छद्म । छादयति ज्ञानादिकं गुणमात्मन इति छद्म । पं० सं० १ द्वार । कर्म० । प्र० । छाद्यत्यात्मस्वरूपं यत्तत् छद्म । स्था० २ ठा० १ उ० । छाद्यते केवलज्ञानं केवलदर्शनं चात्मनोऽनेनेति छद्म । ग०१ अधि० । दर्श० । स्था० । " पद्मछद्ममूर्खद्वारे वा " ॥ ८ । २ । ११२ ॥ इति दस्य उत्वम् । प्रा० २ पाद । पिधाने , तच्च ज्ञानादीनां गुणानामाच्छादकत्वाज्ज्ञानावरणादिलक्षणं घातिकर्मचतुष्टयम । आव० ४ अ० । आ० म० । शठत्वे, आवरणे , स० १ सम० । म० । उपधौ, छद्मनि , मायायाम , दश० ए अ० । ज्ञानावरणदर्शनावरणमोहनीयान्तरायकर्मोदये सति तस्मिन् केवलस्यानुत्पादात् तदपगमानन्तरं चोत्पादात् । कल्प० ४ क्षण ।

छउमत्थ–छद्मस्थ–पुं० । छद्मनि तिष्ठति इति छद्मस्थः । आ०म० प्र० । छद्मनि ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति छद्मस्थः । आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० । पं० सं० । कर्म० । स्था० । उत्त० । छद्मनि स्थितः छद्मस्थः । नि० चू० २ उ० । निरतिशयज्ञानयुक्ते , औ० । पञ्चा० । नि० चू० । अर्वाग्दर्शि, द्वा०१६ द्वा० । अकेवलिनि, आव० ४ अ० । सकषाये , स्था० ५ ठा० १ उ० । अतीन्द्रियज्ञानाभाववति, जी० १ प्रति० । प्रज्ञा० (छद्मस्थो मनुष्यो निर्जरापुद्गलानां मानत्वादि न जानातीति तु " निज्जरापोग्गल " शब्दे वक्ष्यते) (छद्मस्थो मनुष्यो केवलीभूत्वैव सिद्ध्यतीति उक्तं " केवलि " शब्देऽस्मिन्नेव भागे ६५२ पृष्ठे) (तीर्थकृतां छद्मस्थपर्यायाः " तित्थयर " शब्दे वक्ष्यन्ते) (पञ्चभिः स्थानैः छद्मस्थः परीषहं सहते इति " परिसह " शब्दे वक्ष्यते)

षट् स्थानानि छद्मस्थो न जानाति-

छ ट्ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ,ण पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायमधम्मत्थिकायं आगासं जीवमसरीरपडिबद्धं परमाणुपोग्गलं सद्दं, एयाणि चेव उप्पण्णणाणदंसणधरे अरहा जिणे० जाव सव्वभावेणं जाणइ, पासइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं० जाव सद्दं ॥

छद्मस्थो विशिष्टावध्यादिविकलो न त्वकेवली, यतो यद्यपि धर्माधर्माकाशान्यशरीरं जीवं च परमावधिर्न जानाति, तथाऽपि परमाणुशब्दौ जानात्येव, रूपित्वात्तयोः, रूपिविषयत्वाच्चावधेरिति । एतच्च सूत्रं सविपर्ययं प्राग्व्याख्यातप्रायमेव, इति छद्मस्थस्य धर्मास्तिकायादिषु ज्ञानशक्तिर्नास्तीत्युक्तम् । स्था० ६ ठा० ।

छद्मस्थः सर्वभावेन सप्त स्थानानि न जानाति-

सत्त ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणइ, न पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं अहम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं जीवं असरीरं परमाणुपुग्गलं सद्दं गंधं, एयाणि चेव उप्पन्नणाणे० जाव जाणइ, पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं० जाव गंधं । स्था० ७ ठा० ।

सप्तभिः स्थानैर्हेतुभूतैश्च छद्मस्थं विजानीयात्-

सत्तहिं ठाणेहिं छउमत्थं जाणेज्जा। तं जहा-पाणे अइवाएत्ता भवइ, मुसं वदित्ता भवइ, अदिन्नमाइत्ता भवइ, सद्दफरिसरसरूवगंधे आसादेत्ता भवइ, पूयासक्कारमणुवूहेत्ता भवइ, इमं सावज्जं ति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवइ, णो जहा वादी तहा कारी यावि भवइ।

" सत्तहिं ठाणेहिं " इत्यादि सप्तभिः स्थानैः हेतुभूतैः छद्मस्थं जानीयात् । तद्यथा-प्राणानतिपातयिता तेषां कदाचित व्यापादनशीलो भवति । इह च प्राणातिपातनमिति वक्तव्येऽपि "धर्मधर्मिणोरभेदात" अतिपातयितेति धर्मी निर्दिष्टः, प्राणातिपातनात् छद्मस्थोऽयमित्यवसीयते, केवली हि क्षीणचारित्रावरणत्वान्निरतिचारसंयमत्वाच्च कदाचिदपि प्राणानामतिपातयिता भवतीति, इत्येवं सर्वत्र भावना कार्या । तथा मृषावादिता भवति, अदत्तमादाता ग्रहीता भवति, शब्दादीनां स्वादयिता भवति, पूजासत्कारं पुष्पार्चनवस्त्राद्यर्चने अनुबृंहयिता परेण स्वस्य क्रियमाणस्य तस्यानुमोदयिता, तद्भावे हर्षकारीत्यर्थः । तथेदमाधाकर्मादि सावद्यं सपापमित्येवं प्रज्ञाप्य तदेव प्रतिसेविता भवति, तथा सामान्यतो नो यथावादी तथाकारी, अन्यथा अभिधायान्यथा कर्ता भवति, चाऽपीति समुच्चये । स्था० ७ ठा० ।

अष्टौ स्थानानि छद्मस्थो न जानाति-

अट्ठ ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणइ, न पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं० जाव गंधं वायं,एयाणि चेव उ...

एणनाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली जाणइ, पासइ० जाव गंधं वायं ॥

" अट्ठ ट्ठाणेत्यादि " व्याख्यातं प्राग्, नवरं यावत्करणात् "अधम्मत्थिकायं जीवमसरीरपडिबद्धं परमाणुपुग्गलं सद्दं " इति दृश्यमिति। एतान्येव जिनो जानातीति । आह च-"एयाणि" इत्यादि सुगमम्। स्था० ८ ठा० ।

दश स्थानानि छद्मस्थो न जानाति-

दस ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं न जाणइ,न पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं० जाव वायं, अयं जिणे भविस्सइ वा, न भविस्सइ, अयं सव्वदुक्खाणमंतं करिस्सइ वा, ण वा करिस्सइ, एयाणि चेव उप्पण्णनाणदंसणधरे जाणइ, पासइ० जाव अयं सव्वदुक्खाणमंतं करिस्सइ वा, न करिस्सइ ॥

छद्मस्थ इह निरतिशय एव छद्मस्थोऽन्यथाऽवधिज्ञानी परमाण्वादि जानात्येव । (सव्वभावेणं ति) सर्वप्रकारेण स्पर्शरसगन्धरूपज्ञानेन घटमिवेत्यर्थो धर्मास्तिकायम्, यावत्करणाद् धर्मास्तिकायमाकाशास्तिकायं जीवमशरीरप्रतिबद्धं परमाणुपुद्गलं शब्दं गन्धमिति । अयमित्यादि द्वयमधिकमिह, तत्रायमिति प्रत्यक्षज्ञानसाक्षात्कृतो जिनः केवली भविष्यति, न वा भविष्यतीति नवमं, तथाऽयं " सव्व "इत्यादि प्रकटं, दशममिति । एतान्येव छद्मस्थानवबोध्यानि सातिशयज्ञानादिरशज्जिनो जानातीति।आह च-" एयाइं " इत्यादि । यावत्करणात्-"जिणे अरिहा केवली सव्वण्णू सव्वभावेणं जाणइ, पासइ । तं जहा-धम्मत्थिकायं" इत्यादि यावद्दशमं स्थानं, तच्चोक्तमेवेति । स्था० १० ठा० ।

पञ्च स्थानानि छद्मस्थः सर्वभावेन न जानाति, न पश्यति-

पंच ठाणाइं छउमत्थे सव्वभावेणं ण जाणइ,ण पासइ। तं जहा-धम्मत्थिकायं अधम्मत्थिकायं आगासत्थिकायं जीवं असरीरपडिबद्धं परमाणुपोग्गलं, एयाणि चेव उप्पण्णनाणदंसणधरे अरहा जिणे केवली सव्वभावेणं जाणइ, पासइ, धम्मत्थिकायं० जाव परमाणुपोग्गलं ॥

" छउमत्थ " इत्यादि सुगमं, नवरं छद्मस्थ इहावध्याद्यतिशयविकलो गृह्यते, अन्यथा अमूर्तत्वेनाधर्मास्तिकायादीनजानन्नपि परमाणुं जानात्येवासौ मूर्तत्वात्तस्याऽथ सर्वभावेनेत्युक्तम्, ततश्च तं कथञ्चिज्जानन्नपि अनन्तपर्यायतया न जानातीति, एवं तर्हि संख्यानियमो व्यर्थः स्याद्घटादीनां सुबहूनामर्थानामकेवलिना सर्वपर्यायतया ज्ञातुमशक्यत्वादिति । [सव्वभावेणं ति] साक्षात्कारेण श्रुतज्ञानेन त्वसाक्षात्कारेण जानात्येव जीवमशरीरप्रतिबद्धं देहमुक्तं, परमाणुश्चासौ पुद्गलश्चेति विग्रहः, द्व्यणुकादीनामुपलक्षणमिदम् । स्था० ५ ठा० ३ उ० । " छन्तव्यं कस्य संमोहः, छद्मस्थस्य न जायते । " आव० ६ अ० । भ० ।

छउमत्थकालिय-छद्मस्थकालिक-पुं० । " छउमत्थकालियाए त्ति " प्राकृतत्वात् स्त्रीत्वम् । छद्मस्थकाले, स्था० १० ठा० ।

छउमत्थखीणकसायवीयरागदंसणारिय-छद्मस्थक्षीणकषायवीतरागदर्शनार्य-पुं० । वीतरागदर्शनार्यभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

छउमत्थमरण-छद्मस्थमरण-न० । छद्मस्थानां सतां मरणे, "मणपज्जवबोहिनाणी, सुतमन्नाणी मरंति जे समणा । छउमत्थमरणमेयं, " उत्त०नि० १ अ० । मनःपर्यायनिर्देशो विशुद्धिकृतप्राधान्यमङ्गीकृत्य चारित्रिण एव, तदुपजायत इति स्वामिकृतप्राधान्यापेक्षया वा, एवमवध्यादिष्वपि यथायोगं स्वधियैव हेतुरभिधेयः । उत्त० ५ अ० ।

छउमत्थवीयराय-छद्मस्थवीतराग-पुं० । छद्मानि आवरणरूपरूपे अन्तराये च कर्मणि तिष्ठतीति छद्मस्थोऽनुत्पन्नकेवलज्ञानदर्शनः, स चासौ वीतरागश्च, उपशान्तमोहत्वात् क्षीणमोहत्वाच्च विगतरागोदय इत्यर्थः । स्था० ७ ठा० । "छउमत्थवीयरागेणं मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मपयडीओ वेएइ । तं जहा-णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं वेयणियं आउयं नामं गोयमंतराइयं । " एकादशद्वादशगुणस्थानवर्तिनि जीवे, उत्त० २ अ० ।

छउमत्थावक्कमण-छद्मस्थापक्रमण-न० । ६ त० । छद्मस्थानां सतां गुरुकुलाभिनिर्गमने, भ० ए श० ३३ उ० ।

छउमत्थावत्था-छद्मस्थावस्था-स्त्री० । छद्मस्थावस्था त्रिधा-जन्मावस्था, राज्यावस्था, श्रामण्यावस्था च । छद्मस्थकाले, ध० २ अधि० ।

छउलुग-षमुलूक-पुं० । षडुलूकगोत्रे पुरुषे, " छउल्लुगो य गोत्तेणं तेण छउलुओ त्ति जीवो । " आ० चू० १ अ० । वैशेषिकमतप्रवर्तके रोहगुप्ते, विशे० ।

ननु रोहगुप्त इत्येवास्य नाम, तत्कथं षडुलूक इत्यसकृत् प्रागुक्तोऽसावित्याह—

नामेण रोहगुत्तो, गोत्तेणालप्पए स चोलूओ ।
दव्वाइछप्पयत्थो-वएसणाओ छउलूओ त्ति ॥ २ ॥

नाम्नाऽसौ रोहगुप्तो, गोत्रेण पुनरुलूकगोत्रसंभूतत्वादसावुलूक इत्यालप्यते, द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायलक्षणषट्पदार्थप्ररूपणेन तु षट्पदार्थप्रधान उलूकः षमुलूक इत्ययं व्यपदिश्यत इति । विशे० । उत्त० । आ० म० । स्था० । कल्प० ।

छंद-छन्द-पुं० । छन्दनं छन्दः । अभिप्राये, ध० २ अधि० । प्रश्न० । प्रश्न० । दश० । आव० । आ० चू० । ज्ञा० । सूत्र० । आचा० । स्था० । उत्त० । गुरोरभिप्राये, आ० म० प्र० । परानुवृत्त्या भोगाभिप्राये, आचा० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । स्वकीयाऽभिप्रायविशेषे, स्था० १० ठा० । " छंदेणं अज्जो तुब्भं छंदेणं ति " स्वाभिप्रायेण यथेष्टमित्यर्थः । ज्ञ० १ श्रु० ८ अ० । गुर्वादेशं विनैव प्रवर्तने, उत्त० ४ अ० । स्वग्रामे, व्य० १ उ० । दश० । आयासे, नि० चू० १ उ० । अनालोचितपूर्वापरविषयाऽभिलाषे, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० । आयनाऽभिलाषे, इन्द्रियाणां स्वविषयाऽभिलाषे वा । सूत्र० १ श्रु० १० अ० । वशे, उत्त० ४ अ० ।

उपदेशान्तरमाह-

छंदेण पले इमा पया, बहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलिंति माहणे, सीउण्ह वयसाऽहियासए ॥ ५५ ॥

(छंदेणेत्यादि) छन्दोऽभिप्रायः, तेन तेन स्वकीयाभिप्रायेण कुमतिगमनैकहेतुना इमाः प्रजा अयं लोकः, तासु गतिषु प्र-

लीयते । तथाहि-छागादिवधमपि स्वाभिप्रायग्रहग्रस्ता धर्मसाधनमित्येवं प्रगल्भमाना विदधति । अन्ये तु सङ्घादिकमुद्दिश्य दासीदासधनधान्यादिपरिग्रहं कुर्वन्ति । तथाऽन्ये मायाप्रधानैः कुक्कुटैरसकृदुत्प्रेक्षमाणश्रोत्रस्पर्शनादिभिर्मुग्धजनं प्रतारयन्ति । तथाहि-" कुक्कुटसाध्यो लोको, न कुक्कुटतः प्रवर्तते किञ्चित् । तस्माल्लोकस्याऽर्थे, पितरमपि सकुक्कुटं कुर्यात् ॥ १ ॥ " तथेयं प्रजा बहुमाया कपटप्रधाना । किमिति-यतो मोहोऽज्ञानं तेन, प्रावृताऽऽच्छादिता, सदसद्विवेकविकलेत्यर्थः । तदेवमवगम्य (माहणे त्ति) साधुर्विकटेन प्रकटेनाऽमायेन कर्मणा मोक्षे संयमे वा प्रकर्षेण लीयते प्रलीयते, शोभनभावयुक्तो भवतीति भावः । तथा शीतं च उष्णं च शीतोष्णम्, शीतोष्णे वा, अनुकूलप्रतिकूलपरीषहाः, तान् वाचा कायेन मनसा च करणत्रयेणाऽपि सम्यगधिसहेत इति ॥२२॥ सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

छन्दस्-पुं० । न० । "वाऽव्ययर्थवचनाद्याः"। ८ । १ । ३३ । इति प्राकृते वा पुंस्त्वम् । वेदस्य चतुर्थेऽङ्गे, आव०३ अ० । आ०चू० । अनु० । पद्यवचनलक्षणे शास्त्रे, औ० । कल्प० । सूत्रे, उत्त० ४ अ० । दासससतिकलाभेदे, कल्प० ७ क्षण । वाच० । आचा० ।

छंदणा-छन्दना-स्त्री०। छदि सम्वरणे इत्यस्यानेकार्थत्वात् कुरु ममानुग्रहं, परिभुङ्क्ष्व ममेदमित्येवं पूर्वानीताशनादिपरिभोगविषये साधूनामुत्साहनायाम्, अनु० । पूर्वगृहीतेनाशनादिना साधूनामभ्यर्थनायाम् , वृ० १ उ० । पञ्चा० ।

अथ च्छन्दनामाह-

पुव्वगहिएण छंदण, गुरुआणाए जहारिहं होति ।
असणादिणा उ एसा, णेयेह विसेसविसय त्ति ॥३४॥

पूर्वगृहीतेन छन्दनाऽवसरापेक्षया प्राक्कालोपात्तेन, अशनादिनेति योगः । या निमन्त्रणा, सेति गम्यम् । छन्दना भवतीति योगः । कथं ?, गुर्वाज्ञया, न रत्नाधिकादेशेन, स्वातन्त्र्येण, तत्रापि यथाऽर्हं बालग्लानादितद्योग्यानतिक्रमेण ।

यदाह-

" इयरो संदिसह त्ति य, पाहुणखमए गिलाणसेहे य ।
अह राइणियं सव्वे, उ चियत्तेणं निमंतिज्जा ॥ १ ॥ "

(इयरो त्ति) मण्डल्यनुपजीवी (चियत्तेणं ति) प्रीत्या, भवति स्यात् । अशनादिना अशनपानकप्रभृतिना, तुशब्दः पुनरर्थः । स च भिन्नक्रमः । ननु किं सर्वेषां साधूनामियं विधेयेत्याशङ्क्याऽऽह-एषा तु इयं पुनः छन्दना, ज्ञेया ज्ञातव्या, इह सामाचारीविषये, विशेषविषया साधुविशेषगोचरा, न तु सामान्यतः, इतिशब्दो वाक्यार्थसमाप्ताविति गाथार्थः ॥ ३४ ॥

विशेषविषयतामेवास्या दर्शयन्नाह-

जो अत्तलद्धिओ खलु, विसिट्ठखमगो व पारणाइत्तो ।
इहरा मंमलिभोगो, जतीण तह एगभत्तं च ॥ ३५ ॥

यः साधुः, आत्मन एव सत्का लब्धिर्भक्तादिलाभो यस्यासावात्मलब्धिकः, खलुरेवकारार्थः, तस्य च य एवेत्येवं प्रयोगो दृश्यः, विशिष्टक्षपको वा अष्टमादितपस्वी वा सन्, वाशब्दो विकल्पार्थः । (पारणाइत्तो त्ति) पारणकवान् भोक्ता असहिष्णुत्वादिना मण्डल्या बहिर्भोजनकारीति हृदयम् । असौ छन्दनां करोति, अन्येषामिति प्रक्रमः। उक्तविपर्ययमाह-इतरथा अन्यथा आत्मलब्धिकत्वादिकारणं विना मण्डलीभोगः साधुमण्डल्यामेव भोजनं, यतीनां साधूनां, भवति । तथेति वाक्यान्तरोपक्षेपार्थः । एकभक्तं च एकाशनकं च, अतः पूर्वगृहीतभक्ताद्यभावात् छन्दना नास्ति, चशब्दः समुच्चयार्थः । इति गाथार्थः ॥ ३५ ॥

अथाऽऽत्मलब्धिकादिरात्मोपयोग्येव भक्तादि
ग्रहीष्यतीत्यधिकस्य तस्याभावात् कथं
छन्दनां करिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह-

णाणादुवग्गहे सति, अहिगे गहणं इमस्सऽणुण्णायं ।
दोण्ह वि इट्ठफलं तं, अतिगंभीराण धीराण ॥ ३६ ॥

ज्ञानाद्युपग्रहे साधुगतज्ञानप्रभृतिगुणोपष्टम्भे, सति भवति, अधिके स्वपोषातिरिक्ते, भक्तादौ विषये, ग्रहणमुपादानम्, अधिकग्रहणमिति पाठान्तरम् । अस्य लब्धिकादेरनुज्ञातमनुमतं, जिनैः । कस्मादेवमित्याह-द्वयोरपि छन्दकच्छन्दनीययोः साध्वोरिष्टं वाञ्छितं फलं साध्यं यस्य तदिष्टफलं, तच्छन्दनागतं भक्तस्य दानं ग्रहणं वा, किं सर्वत्र, नेत्याह-अतिगम्भीरयोरतीवातुच्छाशययोः धीरयोराशङ्कावर्जितयोर्बुद्धिमतोर्वा; तत्र दायकस्य गम्भीरतागुणोपष्टम्भाभिप्रायात् कर्मनिर्जरार्थित्वात् कीर्तिप्रत्युपकारस्वाजन्याद्यनपेक्षत्वाच्च ग्रहीतुः पुनरयं कर्मक्षयभाग् भवतु । मम च स्वाध्यायाद्यविच्छेदोऽस्तु, इत्येवमभिप्रायात् । धीरता तु दातुर्ममोदरापूर्तिर्भविष्यतीति भयत्यागात्, ग्रहीतुः पुनः प्रतिदातव्यं भविष्यतीत्याशङ्काया अभावादिति गाथार्थः ॥ ३६ ॥

ननु यद्यसौ गृह्णाति तदैव दातुर्दानस्येष्टफलता ज्ञानाद्युपष्टम्भनाद् नान्यथेत्याशङ्कायामाह-

गहणे वि णिज्जरा खलु, अग्गहणे वि य दुहा वि बंधो य ।
भावो एत्थ णिमित्तं, आणासुद्धो असुद्धो य ॥ ३७ ॥

ग्रहणेऽपि छन्दकसाधूनां दीयमानस्य भक्तादेरादानेऽपि, आस्तां दाने, निर्जरा खलु, कर्मनिर्जरणमेव भवति । तथा अग्रहणेऽपि चानादानेऽपि च, अपि चेति समुच्चये, निर्जरैव, दातुरिति प्रक्रमः । तथा द्विधाऽपि प्रकारद्वयेऽपि ग्रहणाग्रहणरूपे, बन्धश्च कर्मबन्धश्च भवति, चशब्दो निर्जरापेक्षया समुच्चयार्थः । अथ कस्मादेवमित्याह-भाव आत्मपरिणामः, अत्र निर्जरायां, बन्धे च ; निमित्तं कारणं, न ग्रहणाग्रहणमात्रम् । अथ कथं भाव एव परस्परविरुद्धस्य कार्यद्वयस्य निमित्तं भवतीत्याह-आज्ञया आप्तवचनेन, शुद्धोऽनवद्यो, न स्वाभिप्रायत इत्याज्ञाशुद्धः ; अशुद्धश्च सदोषः, आज्ञयैवागमाभिप्रायेणेत्यर्थः । क्रमेण निर्जराबन्धयोर्निमित्तमिति प्रक्रमः । उक्तं च-" परमरहस्समिसीणं, समत्तगणिपिडगझरियसाराणं । परिणामियं पमाणं, निच्छयमवलंबमाणाणं " ॥ १ ॥ तथा-" इच्छेज्ज न इच्छेज्ज व, तह वि य पयओ निमंतए साहू । परिणामविसुद्धीए, उ निज्जरा होइऽगहिए वि " ॥ १ ॥ इति गाथार्थः ॥ ३७ ॥ पञ्चा० १२ विव० । जीत० । स्था० । ग० । ध० । आ० म० । वृ० । प्र० । उत्त० ।

छंदणिरोह-छन्दोनिरोध-पुं० । छन्दोऽवशस्तस्य निरोधः । स्वच्छन्दतानिरोधे, उत्त० ४ अ० । गुर्वादेशं विनैव प्रवर्तनं छन्दस्तस्य निरोधो निवारणम् । गुर्वाज्ञया प्रवर्तने, उत्त० ३ अ० ।

छंदरागाभिणिविट्ठ-छन्दोरागाभिनिविष्ट-त्रि०। छन्दः स्वाभिप्रायः, रागो नाम स्नेहरागादिः, तत्राभिनिविष्टः । छन्दोरागप्रत्ययेऽनदर्शि , दशा० ५ अ० ।

छंदा-छन्दा-स्त्री० । छन्दात् स्वकीयादभिप्रायविशेषाद् गोविन्दवाचकस्येव सुन्दरीनन्दनस्येव वा परकीयाद्वा भ्रातृवशभवदत्तस्येव या सा छन्दा । प्रव्रज्याभेदे, स्था० २ ठा० २ उ० ।

गामेगे चोर पडिया, वत्थहिरन्नादि गिण्हितुं ते य ।
संपट्ठिते य पल्लिं, रूववती माहेल्लिया जणति ॥
किं न हरह महिलाओ, चोरा चिंतिंति इत्थिया महिला ।
णेतुं पल्लीवइणो, उवणीया तेण पमिवन्ना ॥
तीऍ भवो सयणेणं, जणितो किं वंदिगं ण मोएसि ।
गंतूण चोरपल्लिं, थेरीओ लग्गए पयओ ॥
किं ओलग्गसि पुत्ता, चोरेहिं भारिया इहाणीया ।
विरहे तीऍ कहेंती, इहागतो तुज्झ जत्त त्ति ॥
कहिए तु चोरअहिव-म्मि पउत्थे जणति अज्ज रत्तीए ।
पविसतु चोरअहिवो कं-पविट्ठे सेणावतीआओ ॥
हेट्ठाऽसंदिपवेसो, चोराहिवं भणति वुत्ति इणमो तु ।
जदि एज्ज मज्झ जत्ता, तस्स तुमं किं करिज्जासि ? ॥
चोराहिवाऽऽह सका-रइत्तु तुम दिज्ज तो करे भिउडिं ।
आह तती चोरहिवो, दारे थंभम्मि उल्लेहिं ॥
वज्झेहिं वेढिज्जा, तुट्ठा सच्चे ति हेट्ठसंदीए ।
णीणातुं चोरहिवो, खंभे वज्झेहिं वेढेइ ॥
सुणएण खइयवज्झे, पासित्ता एं व चोरअहिवस्स ।
अह असिणा छेत्तूणं, सीसं गहि इत्थिओ भणति ॥
णीणिज्जंती सीसं, चोरहिवस्सा तु सा गहेतूणं ।
गालंतीओ रुहिरं, अहिगछतो मग्गतो तस्स ॥
जाहे जातब्भासं, ताहे सीसं तयं पमोत्तूणं ।
दसिया वी राइणिया, सामेंती जाति चिंधट्ठा ॥
जाहे पणिट्ठिताइं, ताहे तणपूलियाउ बंधंति ।
बंधंति अवएकंती, पुणो पुणो मग्गतो सा तु ॥
गोसे य पभायम्मी, सेणहिवं धाइयं ततो दट्टुं ।
लग्गा कुढेण चोरा, पासंति य ताणि चिंधाणि ॥
रुहिरदसगा दियाइं, अणिच्छिया णिअइ त्ति मन्नंता ।
तुरियं धावे कुढिया, ताणि वि य पत्तागकालम्मि ॥
पंथस्स गए पासे, तियाणि कुढिएहिं जाव दिट्ठाणि ।
तं खीलेहिं विताडिय, महिलं घेत्तूण ते पगता ॥
ते चोरा तं णेउं, चोराहिवजातिगस्स उवणेंति ।
सा तेणं पडिवन्ना, चोराहिवपट्टबंधम्मि ॥
इतरो वि खीलएहिं, विताडिओ अरथती उ अमवीए ।
जूहाहिवणिज्जूढो, अह एति अणीहुतो ताहियं ॥
तो कहितो दट्ठूणं, काहि सच्चे एस दिट्ठपुव्वो त्ति ।
चिंतेऊणं सुचिरं, संभरिजाणियगजाती तु ॥
अहमेतस्स तिगिच्छी, आसि विसल्लोसहीऍ तं सोए ।
सा रोहणीऍ पतओ, संरोहित्ता वणे तस्स ॥
लिहितवखरा अणिहुओ, सोऽहं विज्जो तवासि पुव्वभवे ।
संभारियसंभिन्ना, एतो उ तो वाणरो कहते ॥
तह जूहा निज्जूढो, साहज्जं मज्झ कुणसु वरमित्त ! ।
आमं ति तेण जणितो, जूहं गंतूण ते लग्गा ॥
दोण्ह विसेसमणातुए, ण वि कासी य सो हु साहज्जं ।
एको जुत्तविलुत्तो, लिहति ततो अक्खरा पुरतो ॥
किं साहज्जं न कतं, पुरिसाइ ण जाण दोण्ह वि विसेसं ।
तो तुट्ठो वाणरतो, वणसालं अप्पणो विलए ॥
लग्गे सेगपहारे-ण मारितुं चोरपल्लिमतिगंतु ।
रत्तिं मारिय चोरा-हिवं तु तं गेण्हितुं इत्थिं ॥
सग्गामं आणेत्ता, इत्थिं उवणेतु सयणवग्गस्स ।
वेरग्गसमाजुत्तो, धिरत्थु इत्थीहिं जे भोगा ॥
मज्झत्थं अत्थंतं, सयणो जंपति तु झायसे किं तु ।
किं वाऽसि कज्जकामो, जणती कह अप्पणो छंदं ॥
थेराणं ति य धम्मं, सोउं पव्वज्जमज्झुवेसी य ।
एसा छंदा जणिता, ... । पं० भा० ।
पं० चू० ॥

छंदाणुवट्टय-छन्दोऽनुवर्तक-पुं० । छन्दोऽनुवर्तिनि,ज्ञा० १ श्रु०२ अ० । सूत्र० ।

छंदाणुवत्तण-छन्दोऽनुवर्तन-न० । अभिप्रायाराधने,देशकालदाने,कटकादौ विशिष्टनृपतेः प्रस्तावदाने,दश०१ अ०१ उ०। स०।

छंदाणुवत्तय-छन्दोऽनुवर्तक-पुं० । " छंदाणुवट्टय " शब्दार्थे, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० । सूत्र० ।

छंदाणुवत्ति (ण्)-छन्दोऽनुवर्तिन्-त्रि० । गुरोश्छन्दानुवर्तिनि, गुरोरभिप्रायानुयायिनि, गुरोरभिप्रायानुवर्तिनि, ग० २ अधि० ।

छंदाणुवत्तिता-छन्दोऽनुवर्तिता-स्त्री०। छन्दो गुरूणामभिप्रायः, तमनुवर्तते आराधयतीत्येवंशीलश्छन्दोऽनुवर्ती, तद्भावश्छन्दोऽनुवर्तिता । विनयभेदे, व्य० ।

संप्रति छन्दोऽनुवर्तितामाह-

कालसहावाणुमया, आहारुवहीउवस्सया चेव ।
नाउं ववहरइ तहा, छंदं अणुवत्तमाणो उ ॥

आहारं पिण्डः,उपधिः कल्पादिः, उपाश्रयो वसतिः, एते कालस्वभावानुमता इति, अनुमतशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । कालानुमता ये यस्मिन् काले सुखहेतुतया मताः, प्रकृतिः स्वभावः । स चार्थादिह गुरोः प्रतिगृह्यते । तदनुमताः तदनुकूताः, तान्, तथा ज्ञात्वा छन्दो गुरोरभिप्रायमनुवर्तमानो व्यवहरितं संपादयति । एष छन्दोऽनुवर्तिताविनयः । व्य० १ उ० ।

छंदिय–छन्दित–त्रि० । अनुज्ञाते, ओघ० ; निमन्त्रिते, नि० चू० २ उ० ।

छन्दित्ता–अव्य० । निमन्त्रयित्वेत्यर्थे, दश० १० अ० ।

छंदोणिबद्ध–छन्दोनिबद्ध–न० । पद्ये, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० ।

छंदोवणीय–छन्दोपनीत–त्रि० । छन्दः स्वाभिप्रायः इच्छामात्रम्, अनालोचितपूर्वापरविषयाभिलाषो वा, तेन छन्दसोऽपनीतः "आरंभमाणा विणयं वयंति, छंदोवणीया अज्झोववण्णा" । अभिप्रायानुवर्तिनि, आचा० १ श्रु० १ अ० ७ उ० ।

छंमुह–षण्मुख–पुं० । "ङञणनो व्यञ्जने" । ८ । १ । २५ । इति णकारस्यानुस्वारः । प्रा० १ पाद । "स्यमोरस्योत्" । ८।४। ३३१ । इति अकारस्योकारः । प्रा० ४ पाद । "षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः" । ८ । १ । २६५ । इति षस्य छः । कार्तिकेये, प्रा० १ पाद ।

छक्क–षट्क–त्रि० । षट्परिमाणमस्येति षट्कः । षट्परिमिते, उत्त० १ अ० । आव० । नि० चू० । पिं० ।

षट्कप्ररूपणामाह–

नामं ठवणा दविए, खेत्ते काले तहेव भावे अ ।
एसो उ छक्कगस्स, निक्खेवो छव्विहो होइ ॥२२१॥ दश०नि० ।

तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यषट्कं षट् द्रव्याणि सचित्ताचित्तमिश्राणि । पुरुषकार्षापणालङ्कृतपुरुषलक्षणानि, क्षेत्रषट्कं षडाकाशप्रदेशाः, षड् वा भरतादीनि, कालषट्कं षट् समयाः, षड् वा ऋतवः । तथैव भावे चेति भावषट्कं, षड् भावा औदयिकादयः । अत्र च सचित्तद्रव्यषट्केनाधिकार इति गाथाऽर्थः ।

आह–अत्र छाद्यनभिधानं किमर्थम् ? । उच्यते–एकषडभिधानत आद्यन्तग्रहणेन तद्ग्रहणेरिति व्याख्यातं षट्कपदम् । दश०४अ० ।

छक्कजीवणिगाय–षट्जीवनिकाय–पुं० । दशवैकालिकस्य तृतीयेऽध्ययने, दश० ।

जीवाहारो भण्णइ, आयारो तेणिमं तु आयातं ।
छज्जीवणियज्झयणं, तस्सऽहिगारा इमे होंति ॥२२२॥

जीवाधारो भण्यते आचारः, तत्परिज्ञानपालनद्वारेणेति भावः । येनैतदेवं, तेनेदमायातम् अवसरप्राप्तं, किं तदित्याह–षड्जीवनिकाध्ययनमत्रान्तरे अनुयोगद्वारोपन्यासावसरः । तथा चाह–तस्य षड्जीवनिकाध्ययनस्य, अर्थाधिकारा एते भवन्ति वक्ष्यमाणलक्षणाः । इति गाथार्थः ॥ २२२ ॥

तानाह––

जीवाजीवाहिगमो, चरित्तधम्मो तहेव जयणा य ।
उवएसो धम्मफलं, छज्जीवणियाएँ अहिगारा ॥२२३॥

जीवाजीवाभिगमो जीवाजीवस्वरूपम्, अभिगम्यतेऽस्मिन्निति अभिगम इति कृत्वा, स्वरूपे च सत्यभिगम्यत इति भावः । तथा चारित्रधर्मः प्राणातिपातादिनिवृत्तिरूपः, तथैव यतना च पृथिव्यादिष्वारम्भपरिहारयत्नरूपा, तथा उपदेशः–यथाऽऽत्मा न बध्यते इत्यादिविषयः । तथा धर्मफलमनुत्तरज्ञानादि, एते षड्जीवनिकाया अधिकाराः । इति गाथार्थः ॥ २२३ ॥

अत्रान्तरे गत उपक्रमः । निक्षेपमधिकृत्याऽऽह–

छज्जीवणियाए खलु, निक्खेवो होइ नामनिप्फन्नो ।
एएसिं तिण्हं पि उ, पत्तेयपरूवणं वोच्छं ॥ २२४ ॥

दश० नि० ४ अ० । आ० म० ।

छक्कट्ठय–षट्काष्ठक–न० । गृहस्य बाह्यालन्दके षड्दारुके, आ० १ श्रु० १ अ० ।

छक्कम्म–षट्कर्म–न० । पुं० । यजनादिषट्कर्मसु, स्था० ५ ठा० ३ उ० । यजनं, याजनम्, अध्ययनम्, अध्यापनं, दानं, प्रतिग्रहश्चेति । नि० चू० १३ उ० ।

छक्कम्मणिरय–षट्कर्मनिरत–त्रि० । यजनादिषट्कर्मनिरते, स्था० ५ ठा० ३ उ० । नि० चू० ।

छक्कल्लाणगवाइ(ण्)–षट्कल्याणकवादिन्–त्रि० । श्रीमहावीरस्वामिनः षण्णां कल्याणकानां वादिनि खरतरगच्छीये, कल्प० १ क्षण । (तेषामुपपत्तिः 'कल्लाणग' शब्देऽत्रैव भागे ३८४ पृष्ठे निराकृता)

छक्कसमज्जिय–षट्कसमर्जित–त्रि० । षट् प्रमाणमस्येति षट्कं वृन्दं, तेन समर्जिताः पिण्डिताः षट्कसमर्जिताः । षट्कवृन्देनोत्पद्यमानेषु, ये एकत्र समये समुत्पद्यन्ते, तेषां राशिः षट्प्रमाणो यदि स्यात् तदा ते षट्कसमर्जिता उच्यन्ते । भ० २० श० १० उ० । (अत्र दण्डकः 'उववाय' शब्दे द्वि० भा० ९२१ पृष्ठे उक्तः)

छक्काय–षट्काय–न० । षण्णां कायानां समाहारः षट्कायम् । संथा० । षट्कायेषु, ते यथा षट्कायाः, पृथ्वीजलानलवायुवनस्पतिभेदात् । पृथ्वीकायजलकायानलकायवायुकायवनस्पतिकायत्रसकायलक्षणा इत्यर्थः । प्रव० १५२ द्वार । दश० । स्था० । सूत्र० ।

छक्कायपमद्दण–षट्कायप्रमर्दन–पुं० । पृथिव्याद्यारम्भके, पञ्चा० १५ विव० । पृथिव्याद्युपमर्दके, दश० १० अ० ।

छक्कायमुक्कजोग–षट्कायमुक्तयोग–त्रि० । षट्कायेषु मुक्तो योगो यतनालक्षणो व्यापारो याभिस्ताः षट्कायमुक्तयोगाः । षट्कायारम्भनिरतेसु, ग० ३ अधि० ।

छक्कायवग्गहत्था–षट्कायव्यग्रहस्ता–स्त्री० । षट्काययुक्तहस्तायाम्, पिं० ।

छक्कायवह–षट्कायवध–पुं० । षण्णां कायानां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसलक्षणानां वधो हिंसा । षट्कायहिंसायाम्, पं० सं० ३ द्वार ।

छक्कायविराहणा–षट्कायविराधना–स्त्री० । षट्कायविराधनायाम्, अष्टमप्रतिमावाही यथा षट्कायविराधना न भवति तथा परिवेषयति तदा निषेधो ज्ञातो नास्तीति । ६० प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

छक्कायसमारंभ–षट्कायसमारम्भ–पुं० । षण्णां कायानां भूदकाग्निवायुवनस्पतित्रसरूपाणां समारम्भे परितापने, ध० २ अधि० ।

से भयवं किं णं अहेणं आउतेउमेहुण त्ति अबोहिदायगे समक्खाए ? । गोयमा ! णं सव्वमवि छक्कायसमारंभे महापावट्ठाणे किं तु आउकायसमारंभेणं अणंतसत्तोवघाए, ते-

छकायसमारंभेणं अणंतसत्तोवघाए मेहुणासेवणेणं तु संखे-ज्जसत्तोवघाए घणरागदोसमोहाणुगए,एत्थ अप्पसत्थज्झ-वसायत्तमेव जम्हा णं एवं तम्हा उ गोयमा ! एएसिं सं-सारपासेवणं परिज्ञोगादिसु वट्टमाणे पाणी पढममहव्वयमेव ण धारेज्जा, ते य अजावे अवसेसमहव्वयसंजमाणुट्ठाणस्स अभावमेव जम्हा,तम्हा सव्वहा विराहिए समाणे,जओ एवं तओ णं पवित्तियसंममायणासिज्जेणा व गोयमा ! तं किंपि कम्मं न बंधिज्जा, जेणं तु नरतिरियकुमाणुसेसु अणंत-हुत्तो पुणो ह धम्मो त्ति अक्खराइं सिमिणे वि णं अल-जमाणं परिजमिज्जा, एएणं अट्ठेणं आऊतेऊमेहुणे अ-बोहिदायगे गोयमा ! समक्खाय त्ति ॥ महा० ५ चू० ।

छग-छग-न० । पुरीषे, ओघ० ।

छगण-छगण-न० । गोमये, पञ्चा० १३ विव० । नि० चू० ।

छगणपीअय-छगणपीतक-न०। गोमयपीतके, नि० चू० १२ उ०।

छगणियचार-छगणिकजार-न० । गोमयक्षारे, ओघ० ।

छगणिया-छगणिका-स्त्री० । गोमयप्रतरे, अनु० ।

छगल-छगल-पुं० । छागे, औ० । आ० म० । प्रव० । प्रश्ना० । प्रश्न० ।

छगलय-छगलक-पुं० । पशुविशेषे, अनु० ।

छगलगगलवालग-छगलकगलबालक-पुं० । शास्त्राध्ययनवि-कलेषु, यद्वा-छगलकस्य गलं ग्रीवां वलयन्ति मोटयन्ति । छगलकग्रीवामोटकेषु, मुण्डितेषु सत्सु कुटुम्बिषु सौद्धोदनीये-षु, पिं० ।

छगलपुर-छगलपुर-न० । नगरभेदे, यत्र शकटो जन्मान्तरे छागलिको जातः । स्था० १० ठा० । विपा० ।

छगलिका-छगलिका-स्त्री० । अजायाम, प्रव० ८३ द्वार ।

छगुणकालग-षड्गुणकालक-पुं०। षड्निर्गुणितकालके पुद्गले, स्था० ६ ठा० । नि० चू० ।

छगुणलुक्ख-षड्गुणरूक्ष-पुं० । षड्गुणरूक्षे पुद्गले, स्था० ६ ठा० ।

छगुरु-षड्गुरु-पुं० । अशीत्यधिके उपवासानां शते, उपवासत्र-ये च । षड्गुरुशब्देन शतमशीत्यधिकमुपवासानामुच्यते स्म, साम्प्रतकाले तु तद्विपरीतेनैव षड्गुरुशब्देनोपवासत्रयमेव सं-केत्यते, जीतकल्पव्यवहारानुसारात् । स्था० ५ ठा० १ उ० ।

छगोयरहिंडग-षड्गोचरहिण्डक-पुं०। गोरिव चरणं गोचरः। यथा गौरुच्चावचतृणेषु मुखं वाहयँश्चरत्येवं यदुच्चावच-गृहेषु साधोर्भिक्षार्थं चरणं स गोचरः, ततः षड्भिर्गोचरैर्हिं-एडत इति षड्गोचरहिण्डकः । पेटाऽर्द्धपेटागोमूत्रिकापतङ्ग-वीथिकासंबुकावृत्तागत्वाप्रत्यागताख्यैः षड्भिर्गोचरैर्हिण्डके, पञ्चा० १८ विव० ।

छच्छर-झर्झर-पुं० । झर्झ-झरत् । " चूलिकापैशाचिके तृती-यतुर्ययोराद्यद्वितीयौ " । ८ । ४ । ३२५ । इति झकारस्य छकारः । प्रा० ४ पाद । " झाँझ " इतिख्याते वाद्यभेदे, पटहे, कलियुगे, नदभेदे, गद्यभेदे, स्त्री० । ङीप् । वाच० ।

छज-राज-धा० । स्वा० उ० । " राजेरग्घछज्जसहरीररेहाः " । ८ । ४ । १०० । इति राजेश्छज्जादेशः । दीप्तौ, प्रा० ४ पाद ।

छज्जा-छाद्या-स्त्री० । छाद्यते उपरि स्थग्यते इति छाद्या । स्थग-नके ' ढकन ' इतिख्याते , रा० ।

छज्जिया-छाद्यिका-स्त्री० । छाद्या एव छाद्यिका । रा० ।

छज्जीवणिकाय--षड्जीवनिकाय-पुं० । षट् च ते पृथिव्यप्तेजो-वायुवनस्पतित्रसस्वभावा जीवाश्च, तेषां निकायः । पृथिव्या-दिजीवषट्के, दर्श० ३ तत्त्व । षड्जीवनिकायप्रतिपादकमध्यय-नं षड्जीवनिकायाध्ययनम । विपा० २ श्रु० १ अ० । दशवै-कालिकस्य तृतीयेऽध्ययने, तत्र षड्जीवनिकायाध्ययनोक्तजी-वाजीवाभिगमस्यैकदेशमाश्रम ।

सुअं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु छज्जी-वणिया नामऽज्झयणं समणेणं जगवया महावीरेणं कास-वेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अ-ज्झयणं धम्मपन्नत्ती ।

श्रूयते तदिति श्रुतं, प्रतिविशिष्टार्थप्रतिपादनफलं वाग्योगमात्रं भगवता निसृष्टमात्मीयश्रवणकोटरप्रविष्टं क्षायोपशमिकभावप-रिणामाविर्भावकारणं श्रुतमित्युच्यते । श्रुतमवधृतमवगृहीतमि-ति पर्यायाः । मयेत्यात्मपरामर्शः । आयुरस्यास्तीति आयुष्मा-न् । कः कमेवमाह-सुधर्मास्वामी जम्बुस्वामिनमिति । तेनेति भु-वनभर्तुः परामर्शः, भगः समग्रैश्वर्यादिलक्षण इति । उक्तं च-" ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना " ॥ १ ॥ सोऽस्यास्तीति भगवाँस्तेन भगवता, वर्द्धमानस्वामिनेत्यर्थः । एवमिति प्रका-रवचनः शब्दः । आख्यातमिति केवलज्ञानेनोपलभ्यावेदितं,कि-मत आह-इह खलु षड्जीवनिकायनामाध्ययनमस्तीति वा-क्यशेषः । इहेति लोके प्रवचने वा, खलुशब्दादन्यतीर्थकृत्प्रवच-नेषु च षड्जीवनिकायेति पूर्ववत्, नामेत्यभिधानम, अध्ययन-मिति पूर्ववदेव । दश० ४ अ० । तत्र इह खलु षड्जीवनिकायिका नामाध्ययनमस्तीत्युक्तम । अत्राह-एषा षड्जीवनिकायिका केन प्रवेदिता प्ररूपिता वेत्यत्रोच्यते-तेनैव भगवता, यत आह-" स-मणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुअक्खाया सुपन्नत्ते त्ति । " सा च तेन श्रमणेन महातपस्विना भगवता समग्रैश्वर्यादियुक्तेन महावीरेण,शूर वीर विक्रान्ताविति कषाया-दिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीरः उक्तं च-" विदारयति यत्क-र्म, तपसा च विराजते । तपो वीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृतः ॥ १ ॥ " महाँश्चासौ वीरश्च महावीरः, तेन महावीरेण, काश्यपेनेति काश्यपसगोत्रेण,प्रवेदिता नान्यतः, कुतश्चिदाकर्ण्य ज्ञाता,किं तर्हि स्वयमेव केवलाऽऽलोकेन प्रकर्षेण वेदिता प्रवेदि-ता, विज्ञातेत्यर्थः । तथा स्वाख्यातेति सदेवमनुष्यासुरायां पर्ष-दि सुष्ठु आख्याता स्वाख्याता,तथा सुप्रज्ञप्तेति सुष्ठु प्रज्ञप्ता यथै-वाख्याता तथैव सुष्ठु सूक्ष्मपरिहारासेवनेन प्रकर्षेण सम्यगासे-वितेत्यर्थः । अनेकार्थत्वाद् धातूनां ज्ञपिरासेवनार्थः, तां चैवं-भूतां षड्जीवनिकायिकां श्रेयो मेऽध्येतुं, श्रेयः पथ्यं हितं ममे-त्यात्मनिर्देशः । छान्दसत्वात्सामान्येन ममेत्यात्मनिर्देश इत्यन्ये, ततश्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुम् , अध्येतुमिति पठितुं श्रोतुं भाव-यितुम । कुत इत्याह-अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिः "निमित्तकारणहेतुषु

सर्वासां विभक्तीनां प्रायो दर्शनम्" इति वचनात् हेतौ प्रथमा । अध्ययनत्वात् अध्यात्मानयनात् चेतसो विशुद्ध्यापादनादित्यर्थः। एतदेव कुत इत्याह-धर्मप्रज्ञप्तेः प्रज्ञपनं प्रज्ञप्तिः,धर्मस्य प्रज्ञप्तिः धर्मप्रज्ञप्तिः,ततो धर्मप्रज्ञप्तेः कारणाच्चेतसो विशुद्ध्यापादनाच्च श्रेय आत्मनोऽध्येतुमिति । अन्ये तु व्याचक्षते-अध्ययनं धर्मप्रज्ञप्तिरिति पूर्वोपन्यस्ताध्ययनस्यैवोपादेयतयाऽनुवादमात्रमेतदिति।

शिष्यः पृच्छति-

कयरा खलु सा छज्जीवणिया णामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, सुअक्खाया, सुपन्नत्ता सेयं मे अहिज्जिउं धम्मपन्नत्ती ॥

सूत्रमुक्तार्थमेवानेनैतद्दर्शयति-विहायाभिमानं संविग्नेन शिष्येण सर्वकार्येष्वेव गुरुः प्रष्टव्य इति ।

आचार्य आह-

इमा खलु सा छज्जीवणिया नामऽज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया, सुअक्खाया, सुपन्नत्ता, सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयणधम्मपन्नत्ती ।

सूत्रमुक्तार्थमेवानेनाप्येतद्दर्शयति-गुणवते शिष्याय गुरुणाऽप्युपदेशो दातव्य एवेति ।

तं जहा-पुढविकाइया आउकाइया तेउकाइया वाउकाइया वणस्सइकाइया तसकाइया । दश०४ अ० । आचा० । (पृथिव्यादीनां व्याख्या स्वस्वस्थाने । षड्जीववधकारिणामभावादिदर्शविषयादितन्निवृत्तिकारिणां संपूर्णमुनिभावप्रदर्शनमन्यत्र वक्ष्यते ; "दोहिं जीवनिकायेहिं" आव० ४ अ० ।

साम्प्रतं चारित्रधर्मस्तत्रोक्तसंबन्धमेवेदं सूत्रम्—

इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभिज्जा, नेवऽन्नेहिं दंडं समारंभाविज्जा, दंडं समारभंते वि अन्ने न समणुजाणामि जावज्जीवाए ॥ १२ ॥

सर्वे प्राणिनः परमधर्माण इत्यनेन हेतुना एतेषां षण्णां जीवनिकायानामिति " सुपां सुपो भवन्ति " इति वचनात् सप्तम्यर्थे षष्ठी । एतेषु षट्सु जीवनिकायेषु अनन्तरोदितस्वरूपेषु नैव स्वयमात्मना दण्डं संघट्टनपरितापनादिलक्षणं समारभेत प्रवर्तयेत् , तथा नैवान्यैः प्रेष्यादिभिर्दण्डमुक्तलक्षणं समारम्भयेत्, कारयेदित्यर्थः। दण्डं समारभमाणानप्यन्यान् प्राणिनो न समनुजानीयात्, नानुमोदयेदिति विधायिकं भगवद्वचनम् यतश्चैवमतो यावज्जीवमित्यादि , यावद् व्युत्सृजामीत्यादि इत्येवमिदं सम्यक् प्रतिपद्येत इत्यैदंपर्यम्, पदार्थस्तु जीवनं जीवः । यावद्जीवो यावज्जीवम्-आप्राणोपरमादित्यर्थः ।

किमित्याह-

तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि, न कारवेमि,करंतं वि अन्ने न समणुजाणामि,तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि, गरिहामि, अप्पाणं वोसिरामि ॥ १३ ॥

त्रिविधं त्रिविधेनेति तिस्रो विधा विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविधः, दण्ड इति गम्यते । तं त्रिविधेन करणेन, एतदेवोपन्यस्यति-मनसा, वाचा,कायेन, एतेषां स्वरूपं प्रसिद्धमेव । अस्य च करणस्य कर्म उक्तलक्षणो दण्डः, तं वस्तुतो निराकार्यतया सूत्रेणैवोपन्यस्यन्नाह-न करोमि स्वयं, न कारयाम्यन्यैः, कुर्वन्तमप्यन्यं न समनुजानामीति, तस्य भदन्त ! प्रतिक्रमामीति । तस्येत्यधिकृतो दण्डः संबध्यते, संबन्धलक्षणा अवयवलक्षणा वा षष्ठी । योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डः, तस्य संबन्धिनमतीतमवयवं प्रतिक्रमामि, न वर्तमानमनागतं वा, अतीतस्यैव प्रतिक्रमणात् । प्रत्युत्पन्नस्य संवरणादनागतस्य प्रत्याख्यानादिति । भदन्तेति गुरोरामन्त्रणम् । भदन्त ! भवान्त ! भयान्त ! इति साधारणा श्रुतिः । एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रतिपत्तिः साध्वीति ज्ञापनार्थम् , प्रतिक्रमामीति भूतदण्डाद् निवर्तेऽहमित्युक्तं भवति । तस्माच्च निवृत्तिर्यत्तदनुमतेर्विरमणमिति । तथा निन्दामि गर्हामीत्यत्रात्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा । जुगुप्सोच्यते-आत्मानमतीतदण्डकारिणमश्लाघ्यं व्युत्सृजामीति विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्दः, उच्छब्दो भृशार्थः , सृजामीति त्यजामि । ततश्च विविधं विशेषेण वा भृशं त्यजामि व्युत्सृजामि इति । आह-यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रस्यैदंपर्यम् , न प्रत्युत्पन्नसंवरणमनागतप्रत्याख्यानं चेति । नैतदेवम् । न करोमि इत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति । (दश०)

महार्था षड्जीवनिकायिकेति विधिनोपसंहरन्नाह-

इच्चेअं छज्जीवणियं, सम्मद्दिट्ठी सया जए ।
दुल्लहं लहित्तु सामन्नं, कम्मुणा न विराहिज्जासि ।
इति बेमि ॥ २ए ॥

इत्येतां षड्जीवनिकायिकाम् अधिकृताध्ययनप्रतिपादितार्थरूपां, न विराधयेदिति योगः । सम्यग्दृष्टिर्जीवः तत्त्वश्रद्धावान् सदा यतः सर्वकालं प्रयत्नपरः सन्, किमित्याह-दुर्लभं लब्ध्वा श्रामण्यं दुष्प्रापं प्राप्य श्रमणभावं षड्जीवनिकायसंरक्षणैकरूपं, कर्मणा मनोवाक्कायक्रियया प्रमादेन न विराधयेत् न खण्डयेत् , अप्रमत्तस्य तु द्रव्यविराधना यद्यपि कथञ्चिद् भवति, तथाऽप्यसावविराधनैवेत्यर्थः । एतेन "जले जीवाः स्थले जीवाः, आकाशे जीवमालिनि । जीवमालाकुले लोके, कथं भिक्षुरहिंसकः ? ॥ १ ॥" इत्येतत्प्रत्युक्तम् , तथा सूक्ष्माणां विराधनाभावाच्च । ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

अधिकृताध्ययनपर्यायशब्दप्रतिपादनायाऽऽह
निर्युक्तिकारः--

जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपन्नत्ती ।
तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मे य एगट्ठा ॥ २ए७ ॥

जीवाजीवाभिगमः, सम्यग् जीवाजीवाभिगमहेतुत्वात्, एवमाचारश्चैवाचारोपदेशत्वात्, धर्मप्रज्ञप्तिर्यथावस्थितधर्मप्रज्ञापनात् , ततश्चारित्रधर्मस्तन्निमित्तत्वात्, चरणं चरणविषयत्वात् , धर्मश्च श्रुतधर्मस्तत्सारभूतत्वात् एकार्थिका एते शब्दा इति गाथार्थः । अन्ये त्विदं गाथासूत्रमनन्तरोदितं सूत्रस्याधो व्याख्यानयन्ति, तत्राप्यविरुद्धमेव । उक्तोऽनुगमः । साम्प्रतं नयास्ते च पूर्ववदेव । दश० ४ अ० ।

छज्जीवणिकायवह-षड्जीवनिकायवध-पुं० । षड्जीवनिकायानां पृथिवीकायाप्कायतेजस्कायवायुकायवनस्पतिकायत्रसकायलक्षणषड्विधप्राणिगणानां वधे विनाशे, पा० ।

छज्जीवणिकायसंजम–षड्जीवनिकायसंयम–पुं० । षणां जीवनिकायानां पृथिव्यादिलक्षणानां संघट्टनादिपरित्यागे, प्रति० । "छसु जीवनिकायसु, जे बुहे संजते सया । सो चेव होति विण्णेयो, परमत्थेणाचि संजए ॥ १ ॥" दश० १ अ० ।

छट्ठ–षष्ठ–त्रि० । षणां पूरणः । षष्-रुट्-थुक् च । "कगटडतदपशषस ̆क ̆पामूर्ध्वं लुक्" ॥ ८ । २ । ७७ ॥ इति षस्य लुक् । प्रा० २ पाद । येन षट् सङ्ख्या पूर्यते तस्मिन्, स्त्रियां ङीप् । वाच० । एकस्मिन्नहनि एकं भक्तं विधाय पुनर्दिनद्वयमभुक्त्वा चतुर्थेऽह्न्येकभक्तमपि विधत्ते, ततश्चाद्यन्तयोरेकभक्तादिनयोर्भक्तद्वयं मध्यदिवसयोश्च भक्तचतुष्टयमित्येवं षणां भक्तानां परित्यागात् षष्ठं भवतीति । षष्ठभक्ते, "अदुवा अट्ठमेणं दसमेणं छट्ठेणमेगया भुंजे" । आचा० १ श्रु० ९ अ० ४ उ० । तथा षष्ठकरणशक्त्यभावे पञ्चम्युपवासः पञ्चम्यां विधीयतेऽथवा पर्युषणाचतुर्थ्यामिति प्रश्ने, पर्युषणायामुपवासे कृतेऽपि शुद्धयति हीरविजयसूरिप्रसादितप्रश्नोत्तरसमुच्चयेऽपि तथैवोक्तत्वादिति । ८१ प्र० । सेन० २ उल्ला० ।

छट्ठंग–षष्ठाङ्ग–न० । ज्ञाताधर्मकथाऽध्ययननाम्नि अङ्गे, प्रति० ।

छट्ठतव–षष्ठतपस्–न० । पाक्षिकायां षष्ठं विधाय वीरषष्ठमध्ये क्षिप्यते,पाक्षिकोपवासस्तु स्वाध्यायादिना पूर्यते तदा स षष्ठस्तन्मध्ये आयाति,न वेति प्रश्ने,अल्पशक्तिमता यदि पाक्षिकषष्ठो वीरषष्ठमध्ये क्षिप्यते,तदा स आयाति पाक्षिकं तप उपवासादिना पृथग् त्वरितं पूर्यते इति । ३६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

छट्ठपारणग–षष्ठपारणक–न० । वीरषष्ठपारणके ह्यनशनादि विधीयते किं वा यथाशक्त्येति प्रश्ने , यथाशक्त्या विधीयत इति । ३७ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

छट्ठभत्त–षष्ठभक्त–न० । षष्ठं भक्तं भोजनं वर्जनीयतया यत्र तत् षष्ठभक्तम् । उपवासरूपे तपसि, तत्र उपवासद्वये चत्वारि भक्तानि वर्ज्यन्ते, एकाशनेन च तदारभ्यते तेनैव च निष्ठां यातीत्यत्र षड्भक्तवर्जनरूपं तदिति । इयं चाहोरात्रिकी दिनत्रयेण याति,अहोरात्रस्यान्ते षष्ठभक्तकरणात् । यदाह–"अहोराइया तिहिं पव्वा छट्ठं करेइ त्ति" धर्म० ३ अधि० । पञ्चा० ।

छट्ठभत्तिय–षष्ठभक्तिक–पुं० । दिनद्वयमुपोषिते, प्रश्न० १ संव० द्वार ।

छट्ठाण–षट्स्थान–न० । षट्स्थानाख्ये षष्ठेऽध्ययने, स्था० ६ ठा० । षणां स्थानानां वृद्धौ, हानौ च । प्रव० ।

संप्रति 'छट्ठाणवुड्ढिहाणि त्ति' षष्ठ्यधिकद्विशततमं द्वारमाह–

वुड्ढी वा हाणी वा, अणंतअस्संखसंखभागेहिं ।
वत्थूण संखअस्सं–खऽणंतगुणणेण य विहेआ ॥४३२॥

अनन्तासंख्यातसंख्यातभागैः संख्यातासंख्यातानन्तगुणनेन च वस्तूनां पदार्थानां वृद्धिर्वा हानिर्वा विधेया । इह हि षट्स्थानके त्रीणि स्थानानि भागेन भागहारेण वृद्धानि हीनानि वा भवन्ति, त्रीणि च स्थानानि गुणेन गुणकारेण "भागो तिसु गुणणा तिसु" इति वचनात् । तत्र भागहारेऽनन्तासंख्यातलक्षणः क्रमो, गुणकारे च संख्यातासंख्यातानन्तलक्षण इति । अयमर्थः–सर्वविरतिविशुद्धिस्थानादीनां वस्तूनां वृद्धिर्वा हानिर्वा चिन्त्यमाना षट्स्थानगता प्राप्यते । तद्यथा–अनन्तभागवृद्धिः, असंख्यातभागवृद्धिः, संख्यातभागवृद्धिः, संख्यातगुणवृद्धिः, असंख्यातगुणवृद्धिः, अनन्तगुणवृद्धिश्च । एवं हानिरपि, तत्र किञ्चित्सुगमत्वात् सर्वविरतिविशुद्धिस्थानान्येवाश्रित्य लेशतो भाव्यते । इह हि सर्वोत्कृष्टादपि देशविरतिविशुद्धिस्थानात्सर्वजघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानमनन्तगुणम् । अनन्तगुणता च सर्वत्रापि षट्स्थानकचिन्तायां सर्वा जीवानन्तकप्रमाणेन गुणकारेण द्रष्टव्या । इयमत्र भावना–सर्वजघन्यमपि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानं केवलिप्रज्ञाछेदनकेन छिद्यते,छित्वा च निर्विभागाः भागाः पृथक् क्रियन्ते;ते च निर्विभागाः भागाः सर्वसंकलनया विभाज्यमाना यावन्तः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागाः सर्वजीवानन्तकरूपेण गुणकारेण गुण्यमाना जायन्ते,तावत्प्रमाणाः प्राप्यन्ते । अत्राप्ययं भावार्थः—इह किलासत्कल्पनया सर्वोत्कृष्टस्य देशविरतिशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा दश सहस्राणि १०००० सर्वजीवानन्तकप्रमाणश्च राशिः शतं, ततस्तेन शतसंख्येन सर्वजीवानन्तकमानेन राशिना दशसहस्रसंख्याः सर्वोत्कृष्टदेशविरतिविशुद्धिस्थानगता निर्विभागा भागा गुण्यन्ते, जाता दश लक्षाः १०००००० । एतावन्तः किल सर्वजघन्यस्यापि सर्वविरतिविशुद्धिस्थानस्य निर्विभागा भागा भवन्ति । एते च सर्वजघन्यचारित्रसत्कविशुद्धिस्थानगतनिर्विभागा भागाः समुदिताः सन्तः सर्वजघन्यसंयमस्थानं भण्यते, तस्मादनन्तरं यद् द्वितीयं संयमस्थानं तत्पूर्वस्मादनन्तभागवृद्धम् । किमुक्तं भवति?–प्रथमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया द्वितीयसंयमस्थानेन निर्विभागा अनन्ततमेन भागेनाधिका भवन्तीति, तस्मादपि यदनन्तरं तृतीयं तत्ततोऽनन्तभागवृद्धम् । एवं पूर्वस्मात् पूर्वस्मादुत्तरोत्तराणि निरन्तरमनन्तभागवृद्धानि संयमस्थानानि, अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि वाच्यानि, एतानि च समुदितानि संयमस्थानान्येकं कण्डकं कण्डकं नाम समयपरिभाषया अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणा संख्याऽभिधीयते । उक्तं च—"कंडं ति इत्थ भन्नइ, अंगुलभागो असंखेज्जो ।" तस्माच्च कण्डकात्परतो यदनन्तरं संयमस्थानं तत्पूर्वस्मादसंख्येयभागाधिकम् । एतदुक्तं भवति–पाश्चात्यकण्डकसत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षया कण्डकादनन्तरसंयमस्थाननिर्विभागभागगताः प्रदेशा असंख्येयतमेन भागेनाधिकाः प्राप्यन्ते । ततः पराणि पुनर्यान्यन्यानि संयमस्थानानि अङ्गुलमात्रक्षेत्रासंख्येयभागगतप्रदेशराशिप्रमाणानि तानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धान्यवसेयानि । एतानि च समुदितानि द्वितीयं कण्डकं, तस्य च द्वितीयकण्डकस्योपरि यदन्यत् संयमस्थानं तत्पुनरपि द्वितीयकण्डकस्य सत्कचरमसंयमस्थानगतनिर्विभागभागापेक्षयाऽसंख्येयभागवृद्धं, ततो भूयोऽपि ततः पराणि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि भवन्ति , ततः पुनरप्येकमसंख्येयभागवृद्धं संयमस्थानम्, एवमनन्तभागाधिकैः कण्डकप्रमाणैः संयमस्थानैर्व्यवहितान्यसंख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावन्ति अपि कण्डकमात्राणि भवन्ति, चरमादसंख्येयभागाधिकसंयमस्थानात्पराणि यथोत्तरमनन्तभागवृद्धानि कण्डकमात्राणि संयमस्थानानि वाच्यानि, ततः परमेकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं, ततो मूलादारभ्य यावन्ति स्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तेनैव

क्रमेणाभिधाय पुनरप्येकं संख्येयभागाधिकं संयमस्थानं वाच्यम, इदं च द्वितीयं संख्येयभागाधिकं स्थानं, ततोऽनेन क्रमेण तृतीयं वाच्यम । अमूनि चैवं संख्येयभागाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति, ततस्तेनैव च क्रमेण भूयोऽपि संख्येयभागाधिकस्थानप्रसङ्गे संख्येयगुणाधिकमेकं स्थानं वक्तव्यं, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति भूयोऽपि तथैव वाच्यानि, ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं स्थानं वाच्यम, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वाच्यानि, ततः पुनरप्येकं संख्येयगुणाधिकं स्थानम,अमून्यप्येवं संख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति । ततस्तेनैव क्रमेण पुनः संख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽसंख्येयगुणाधिकस्थानं वाच्यम, ततः पुनरपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागतिक्रान्तानि तावन्ति तथैव भूयोऽपि वाच्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं संयमस्थानं, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य तावन्ति संयमस्थानानि तथैव वाच्यानि, ततः पुनरप्येकमसंख्येयगुणाधिकं वाच्यम , अमूनि चैवमसंख्येयगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद् वाच्यानि, यावत्कण्डकमात्राणि, ततः पूर्वपरिपाट्या पुनरप्यसंख्येयगुणाधिकस्थानप्रसङ्गेऽनन्तगुणाधिकं संयमस्थानं वाच्यम, ततो भूयोऽपि मूलादारभ्य यावन्ति संयमस्थानानि प्रागुक्तानि तावन्ति तथैव वाच्यानि, ततो भूयोऽप्येकमनन्तगुणाधिकं स्थानम, ततः पुनरपि मूलादारभ्य तावन्ति स्थानानि तथैव वाच्यानि, ततः पुनरप्येकमनन्तगुणाधिकं स्थानम्, एवमनन्तगुणाधिकानि संयमस्थानानि तावद्वाच्यानि यावत्कण्डकमात्राणि भवन्ति, ततो भूयोऽपि तेषामुपरि पञ्चवृद्ध्यात्मकानि संयमस्थानानि मूलादारभ्य तथैव वाच्यानि, यत्पुनरनन्तगुणवृद्धिस्थानं तन्न प्राप्यते, षट्स्थानकस्य परिसमाप्तत्वात् । इत्थंभूतान्यसंख्येयानि कण्डकानि समुदितानि एकं षट्स्थानकं भवति । अस्माच्च षट्स्थानकादूर्ध्वमुक्तक्रमेणैव द्वितीयकं षट्स्थानकं तिष्ठति । एवमेव च तृतीयम् । एवं षट्स्थानकान्यपि तावद्वाच्यानि यावदसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानि भवन्ति । उक्तं च-"छट्ठाणगअवसाने, अन्नं छट्ठाणयं पुणो अन्नं। एवमसंखा लोगा, छट्ठाणाणं मुणेयव्वा " ॥ १ ॥ अस्मिंश्च षट्स्थानके यादृशोऽनन्ततमो भागोऽसंख्येयतमः संख्येयतमो गृह्यते,यादृशस्तु संख्येयोऽसंख्येयो न ततो वा गुणकारः सन्निरूप्यते, तत्र यदपेक्षयाऽसंख्येयानन्तगुणवृद्धता, तस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागो ह्रियते.हृते च भागे यल्लब्धं सोऽनन्ततमो भागः,तेनाधिकमुत्तरं संयमस्थानम्.किमुक्तं भवति?-प्रथमस्य संयमस्थानस्य ये निर्विभागा भागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति ये लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागैर्भागैर्द्वितीयभागसंयमस्थाने निर्विभागा भागा अधिकाः प्राप्यन्ते, द्वितीयसंयमस्थानस्य ये विभागास्तेषां सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यावन्तो लभ्यन्ते तावत्प्रमाणैर्निर्विभागभागैरधिकास्तृतीये संयमस्थाने निर्विभागा भागाः प्राप्यन्ते, एवं यद्यत्संयमस्थानमनन्तभागं वृद्धमुपलभ्यते तत्र पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य सर्वजीवसंख्याप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद्यल्लभ्यते तावत्प्रमाणेन अनन्ततमेन भागेनाधिक्यमवगन्तव्यम् । असंख्येयभागाधिकानि पुनरप्येवं पाश्चात्यस्य २ संयमस्थानस्य सत्कानां निर्विभागभागानामसंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेन राशिना भागे हृते सति यद् यल्लभ्यते स सोऽसंख्येयतमो भागस्ततस्तेनासंख्येयतमेन भागेनाधिकान्यसंख्येयभागाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयभागाधिकानि त्वेवम्-पाश्चात्यस्यासंयमस्थानस्योत्कृष्टेन संख्येयेन भागे हृते सति यल्लभ्यते स संख्येयतमो भागः,ततस्तेन तेन संख्येयतमेन भागेनाधिकानि स्थानानि वेदितव्यानि । संख्येयगुणवृद्धानि पुनरेवम्-पाश्चात्यस्य संयमस्थानस्य ये ये निर्विभागा भागास्ते ते उत्कृष्टेन संख्येयमानेन राशिना गुण्यन्ते , गुणिते च सति यावन्तो भवन्ति तावत्प्रमाणानि संख्येयगुणाधिकानि स्थानानि द्रष्टव्यानि । एवमसंख्येयगुणवृद्धान्यनन्तगुणवृद्धानि च भावनीयानि , नवरमसंख्येयगुणवृद्धौ पाश्चात्यस्य २ संयमस्थानस्य निर्विभागा भागा असंख्येयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणेनासंख्येयेन गुण्यन्ते, अनन्तगुणवृद्धौ तु सर्वजीवप्रमाणेनानन्तकेनेति । अयं च षट्स्थानकविचारः स्थापनां विना मन्दबुद्धिभिः सम्यगवबोद्धुं न शक्यते, सा च स्थापना कर्मप्रकृतिपदेभ्यः प्रतिपत्तव्या , विस्तरभयात्तु नेह प्रदर्श्यते, केवलं कियन्तमपि स्थापनाशून्यार्थं स्थापनाप्रकारं प्रकाशयामः । तथाहि-प्रथमं तावत् तिर्यक्पङ्क्तौ चत्वारो बिन्दवः स्थाप्यन्ते, तेषां च कण्डकमिति संज्ञा,सर्वेषामपि चैतेषामन्योन्यमनन्तभागवृद्ध्या वृद्धिरवसेया । ततस्तेषामग्रतोऽसंख्यातभागवृद्धिसंज्ञक एककः स्थाप्यते , ततो भूयोऽपि चत्वारो बिन्दवः, तत एकक इत्यादि तावदवसेयं यावद्विंशतिर्बिन्दवः, चत्वारश्चैकका जाताः, तदनु संख्यातभागवृद्धिसंज्ञको द्विकः स्थाप्यते। ततः पुनरपि विंशतिः बिन्दवः,चत्वारश्चैककाः, ततो द्वितीयो द्विकः । एवं विंशतेर्विंशतेर्बिन्दूनामन्तराऽन्तरा चतुर्णां चतुर्णामेककानामवसाने तृतीयचतुर्थावपि द्विकौ क्रमेण स्थाप्यौ । तदनु भूयोऽपि चतुर्थद्विकस्याग्रे विंशतिर्बिन्दवः, चत्वारश्चैककाः । एवं च जातं बिन्दूनां शतम् , एककानां विंशतिश्चत्वारश्च द्विकाः । अत्रान्तरे चतुर्णां बिन्दूनामग्रतः संख्यातगुणवृद्धिसंज्ञिकप्रथमस्त्रिकः संस्थाप्यते,ततः पुनरपि बिन्दूनां शतादेककानां विंशतेर्द्विकानां चतुष्टयात्तु परतो द्वितीयस्त्रिकः स्थाप्यते। एवं बिन्दूनां शते २ , एककानां विंशतौ, द्विकानां चतुष्टये चतुष्टयेऽतिक्रान्ते तृतीयचतुर्थावपि त्रिकौ स्थाप्यौ , तदनु चतुर्थत्रिकस्याप्यग्रे बिन्दूनां शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चतुष्टयं स्थाप्यते, ततो जातानि पञ्च शतानि बिन्दूनां, शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चत्वारश्च त्रिकाः । अत्रान्तरे चतुर्णां बिन्दूनामग्रतोऽसंख्यातगुणवृद्धिसंज्ञिकः प्रथमचतुष्कः स्थाप्यते, ततो भूयोऽपि पञ्च शतानि बिन्दूनां शतमेककानां विंशतिर्द्विकानां चत्वारश्च त्रिकाः प्रागिव स्थाप्यन्ते। ततो द्वितीयश्चतुष्कः स्थाप्यः । एवं बिन्दूनां शतपञ्चके एककानां शते द्विकानां विंशतौ त्रिकाणां चतुष्टये चतुष्टये चातिक्रान्ते तृतीयचतुर्थावपि चतुष्कौ क्रमेण स्थाप्यौ । ततश्चतुर्थचतुष्कस्याग्रे पञ्चमचतुष्कयोग्यं दलिकं स्थापयित्वा अनन्तगुणवृद्धिसंज्ञिकः प्रथमः पञ्चको न्यस्यते । एवमनेनैवानन्तरोक्तेन क्रमेण द्वितीयतृतीयचतुर्था अपि पञ्चका न्यसनीयाः । ततश्चतुर्थपञ्चकस्याग्रे पञ्चमपञ्चकयोग्यं दलिकं लिख्यते , नव पञ्चकाः स्थाप्यन्ते । ते आद्यन्तयोः प्रत्येकं बिन्दुचतुष्टयेन प्रथमं षट्स्थानं समाप्यते, यदा पुनः प्रथमानन्तरं द्वितीयं षट्स्थानकं स्थापयितुमिष्यते, तदा तदपेक्षया प्रथमं पृथक्

चत्वारो विग्रहः स्थाप्यन्ते, तदनन्तरमेककादिः सर्वोऽपि पूर्वोक्तो विधिः क्रमेण कर्तव्य इति । सांप्रतमङ्कानां बिन्दूनां च सर्वसंख्या कथ्यते-तत्रैकस्मिन् षट्स्थानके चत्वारः पञ्चका भवन्ति, ततः पञ्चभिर्गुणयेदिति करणवशाच्चतुर्णां पञ्चकानां पञ्चभिर्गुणने लब्धा विंशतिश्चतुष्का। एतेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धं शतं त्रिकाणाम् १०० । एतेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धानि पञ्चशतानि द्विकानां ५००, तेषामपि पञ्चभिर्गुणने लब्धानि पञ्चविंशतिशतानि एककानां २५०, तेषामपि च पञ्चभिर्गुणने लब्धानि द्वादश सहस्राणि सार्द्धानि बिन्दूनाम् १२५०० । इयमेकस्मिन् षट्स्थाने सर्वसंख्या। एवं शेषेऽपि षट्स्थानकेषु प्रतिपत्तव्यमिति ॥ प्रव० २६० द्वार ।

छट्ठितंत--षष्टितन्त्र--न० । षष्टिः पदार्था यस्मिन् शास्त्रे तन्त्यन्ते तत् षष्टितन्त्रम् । सांख्यशास्त्रे, "समस्तां किल येऽर्थाः,तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।" तच्च मरीचिशिष्येण कपिलेन ब्रह्मलोके कल्पे देवत्वेनोत्पन्नेन कथितमिति समयविदः । आ० म० प्र० । (इति 'काविल' शब्देऽस्मिन्नेव भागे ३०६ पृष्ठे उक्तम्)

छट्ठी-षष्ठी--स्त्री० । षण्णां पूरणी । षष्-मट्-थुट्-ङीप् । तिथिभेदे, ज्यो० ३ पाहु० । विशे० । द० प० । विभक्तिभेदे, नं० । स्वस्वामिभावसंबन्धे, तस्यास्य गतस्य प्रत्यादेरिति । अनु० । स्था० । आ० म० । आचा० । षष्ठी द्विविधा दृष्टा-भेदषष्ठी, अभेदषष्ठी चेति । तत्र भेदषष्ठी, यथा-देवदत्तस्य गृहम् । अभेदषष्ठी, यथा-तैलस्य धारा, शिलापुत्रकस्य शरीरकमिति । ओघ० ।

छट्ठोवास-षष्ठोपवास-पुं० । प्रथमदिवसोपवासं चतुर्विधाहारं कृत्वा द्वितीयदिने त्रिविधाहारोपवासं करोतीत्येवं कृतषष्ठो वीरषष्ठमध्ये आयाति,न वेति प्रश्ने,आभ्यामुपवासाभ्यां पृथक्कृताभ्यां निष्पन्नषष्ठो वीरषष्ठमध्ये नायाति,यत एकेन त्रिंशदधिका द्विशतषष्ठाः तपउच्चरणवेलायां संबद्धा उच्चार्यन्ते, आलोचनामध्ये सषष्ठ आयातीति ॥ ६६ प्र० । सेन० ४ उल्ला० ।

छड-त्यज-धा० । भ्वा०-पर०-सक०-अनिट् । हानौ, दाने च । वाच० । 'छमति' त्यजति । संथा० । "सुविदिया सरीरं पि छमंति" संथा० । 'ण परिछड्डेज्जा' सर्वं भुञ्जीत, न परित्यजेत् । आचा० २ श्रु० १ अ० ६ उ० ।

छडमक्खर-देशी-स्कन्दे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छडा-छटा-स्त्री० । छो-अटन्-किच्च। दीप्तौ, परम्पराभ्यां च । वाच० । "आसिक्त उदकच्छटया" । आ० म० प्र० । विद्युति, दे० ना० ३ वर्ग ।

छडिय-छटित-त्रि० । कण्डिते, छटिकया छटितानां तण्डुलानाम् । आ० म० प्र० ।

छड्ड-मुच-धा० । तु०-मुचादि०-उभ०-सक०-अनिट् । त्यागे, वाच० । "मुचेश्छड्डावहेडमेल्लोस्सिकरेअवंणिलुञ्छधंसाडाः" । ॥ ८ । ४ । ९१ ॥ इति मुञ्चतेः छड्डादेशः । 'छड्डइ' । प्रा० ४ पाद । "छड्डेउ गामं पविट्ठिओ" । आ० म० प्र० । "छड्डेउ कामाए सामी पविट्ठो" । आ० म० प्र० । त्याजने, विशे० ।

छर्द्-धा० । चुरा०-उभ०-सक०-सेट् । वमने, वाच० "छड्डिज्जा" छर्दि विदध्यात् । आचा० २ श्रु० १ अ०२ उ० ।

छड्डण-छर्दन-न० । पुं० । छर्द-णिच्-ल्युट् । मदनवृक्षे, निम्बवृक्षे च। भावे ल्युट्-वमने, वाच० । छर्दने, रूपादिरूप्यप्रयोगकृते, विपा० १ श्रु० ८ अ० । उत्सर्गे, आव० ५ अ० ।

छड्डाविय-मोचित-त्रि० । मोचनं प्रापिते, "गहीया सा तं वेउं छड्डाविया" आ० म० द्वि० ।

छर्दापित-मोचिते, सू० १ उ० ।

छड्डि-छर्दि (र्दी)-स्त्री० । छर्दयति । छर्द-हेतौ णिच् इन् । वमनरोगे "सम्मर्द्दवितर्दिविच्छर्दिछर्दिकपर्दमर्दितेर्दस्य" । ८ । २ । ३६ । इति र्दस्य ड्डः । प्रा० २ पाद ।

अथातः छर्दिप्रतिषेधमध्यायं व्याख्यास्यामः-

"अतिद्रवैरतिस्निग्धै-रहृद्यैर्लवणैरपि ।
अकाले चातिमात्रैश्च, तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥
श्रमात्तथात्यथोद्वेगा-दजीर्णात् कृमिदोषतः ।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायाः, तथाऽतिद्रुतमश्नतः ॥
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यै-र्द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ।
छादयन्नाननं वेगै-रर्दयन्नङ्गभञ्जनैः ॥
निरुच्यते छर्दिरिति, दोषो वक्त्रं प्रधावितः ।
दोषानुदीरयन् वृद्धा-नुदानो व्यानसंगतः ॥
ऊर्ध्वमागच्छति भृशं, विरुद्धाहारसेविनाम् ।
हृल्लासोद्गाररोधौ च, प्रसेको लवणस्तनुः ।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं, वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥
प्रच्छर्दयेत् फेनिलमल्पमल्पं,
शूलार्दितोऽत्यर्दितपार्श्वपृष्ठः ।
श्रान्तः सघोषं बहुशः कषायं,
जीर्णेऽधिकं साऽनिलजा वमिस्तु ॥
योऽमुं भृशं वा कटुतिक्तवक्त्रः,
पीतं सरक्तं हरितं वमेद् वा ।
सदाहचोषज्वरवक्त्रशोष-
मूर्च्छान्विता पित्तनिमित्तजा सा ॥
यो हृष्टरोमा मधुरं प्रभूतं,
शुक्लं हिमं सान्द्रकफानुविद्धम् ।
अभक्तरुग्गौरवसादयुक्तो,
वमेद् वमी सा कफकोपजा स्यात् ॥
सर्वाणि रूपाणि भवन्ति यस्यां,
सा सर्वदोषप्रभवा मता तु ।
बीभत्सजा दौर्हृदजाऽऽमजा च,
याऽसात्म्यतो वा कृमिजा च या हि ॥
सा पञ्चमी तां च विभावयेत्तु,
दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ।
आमाशयोत्क्लेशभवाश्च सर्वा-
स्तस्मात्हितं लङ्घनमेव तासु ॥
शूलप्रहृल्लासबहुत्वा, कृमिजा च विशेषतः ।
कृमिहृद्रोगतुल्येन, लक्षणेन च लक्षिता ॥
क्षीणस्योपद्रवैर्युक्तां, सासृक्पूयां सतन्द्रिकाम् ।
छर्दि प्रसक्तां कुशलो, नारभेत चिकित्सितुम् ॥
वमीषु बहुदोषासु, छर्दनं हितमुच्यते ।
विरेचनं वा कुर्वीत, यथादोषोच्छ्रयं भिषक् ॥
संसर्गाश्चानुपूर्व्येण, यथास्वं भेषजाय तान् ।
लघूनि परिशुष्काणि, सात्म्यान्यन्नानि वा चरेत् ॥

यथास्वं च कषायाणि, ज्वरघ्नानि प्रयोजयेत् ।
कासः श्वासो ज्वरो हिक्का, तृष्णा वैचित्यमेव च ।
हृद्रोगस्तमकश्चैव, ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः ॥ " तत्रार्थे,
" आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वा-
श्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात् ॥ " वाच० । आचा० २ श्रु० २ अ० १ उ० ।

छड्डिकुमार-छर्दिकुमार-पुं० । अजुक्तभोगिनि, सू० १ उ० ।

छड्डिणिरोह-छर्दिनिरोध-पुं० । वमनाभिघाते, छर्दिनिरोधे कुष्ठोत्पत्तिः । पं० चू०

छड्डित्तु-छर्दयित्वा-अव्य० । परित्यज्येत्यर्थे, व्य० २ उ० ।

छड्डिय-छर्दित-न० । परिसाटिमति दशमे एषणादोषे, पञ्चा० १३ विव० । ग० । स्था० । छर्दितं दीयमानस्याशनादेः पृथ्वीकायादिसंसक्तादि छर्दितं सता दश एषणादोषाः । जीत० । पिं० ।

अथ छर्दितद्वारमाह—

सचित्ते अचित्ते, मीसग तह छड्डणे य चउभंगो ।
चउभंगे पडिसेहो, गहणे आणाइणो दोसा ॥

छर्दितमुज्झितं, त्यक्तमिति पर्यायाः । तच्च त्रिधा । तद्यथा-सचित्तमचित्तं, मिश्रं च । तदपि च कदाचित् छर्द्यते सचित्ते सचित्तमध्ये, कदाचिदचित्ते, कदाचिद् मिश्रे, तत एवं छर्दितानां सचित्ताचित्तमिश्ररूपाणामाधारभूतानामाधेयभूतानां च संयोगतश्चतुर्भङ्गी भवति । अत्र जातावेकवचनम् । ततो यदर्थास्तिस्रश्चतुर्भङ्ग्यो भवन्ति । तद्यथा-सचित्तमिश्रपदाभ्यामेका, सचित्ताचित्तपदाभ्यां द्वितीया, मिश्राचित्तपदाभ्यां तृतीया, तत्र सचित्ते सचित्तं छर्दितं, मिश्रे सचित्तं, सचित्ते मिश्रं, मिश्रे मिश्रमिति प्रथमा । सचित्ते सचित्तम्, अचित्ते सचित्तं, सचित्ते अचित्तम्, अचित्ते अचित्तमिति द्वितीया । मिश्रे मिश्रं, अचित्ते मिश्रं, मिश्रे अचित्तं, अचित्तेऽचित्तमिति तृतीया । सर्वसंख्यया द्वादश भङ्गाः । सर्वेषु च भङ्गेषु सचित्तः पृथिवीकायमध्ये छर्दित इत्यादिरूपतया स्वस्थानपरस्थानाभ्यां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद् विकल्पाः, ततः षट्त्रिंशत् द्वादशभिर्गुणितानि जातानि चत्वारि शतानि, द्वात्रिंशदधिकानि । एतेषु च सर्वेषु भङ्गेषु प्रतिषेधो भक्तादिग्रहणे निवारणं, यदि पुनर्ग्रहणं कुर्यात्तत आज्ञादयः-आज्ञाऽनवस्थामिथ्यात्वविराधनारूपा दोषाः । इह आद्यन्तग्रहणेन मध्यस्यापि ग्रहणमिति न्यायादौद्देशिकादिदोषदुष्टानामपि भक्तादीनां ग्रहणे आज्ञादयो दोषा द्रष्टव्याः ।

संप्रति छर्दितग्रहणे दोषानाह—

उसिणस्स छड्डणे दें-तओ व डज्झेज्ज कायदाहो वा ।
सीयपमाणम्मि काया, पडिए महुबिंदु आहरणं ॥

उष्णस्य द्रव्यस्य छर्दने समुज्झने, ददमानो वा भिक्षां, दह्येत भूम्याश्रितानाम्, वा अथवा कायानां पृथिव्यादीनां दाहः स्यात् शीतद्रव्यस्य भूमौ पतने भूम्याश्रिताः कायाः पृथिव्यादयो विराध्यन्ते । अत्र पतिते मधुबिन्दूदाहरणम्-"वैतपुरं नाम नगरं, तत्राभयसेनो नाम राजा, तस्यामात्यो वारत्रकोऽन्यदा त्वरितमचपलमसंभ्रान्तमेषणासमितिसमितो धर्मघोषनामा संयतो भिक्षामटन् तस्य गृहं प्राविशत्, तद्भार्या च तस्मै भिक्षादानाय घृतखण्डसंमिश्रपायसभृतं स्थालमुत्पाटितवती ? । अत्रान्तरे च कथमपि ततः खण्डसंमिश्रो घृतबिन्दुर्भूमौ निपतितः, ततो भगवान् धर्मघोषो मुक्तिपदैकनिहितमानसो जलधिरिव गम्भीरो मेरुरिव निष्प्रकम्पो वसुधेव सर्वसहः शङ्ख इव रागादिभिर्निरञ्जनो महासुभट इव कर्मरिपुविदारणनिबद्धकक्षो भगवदुपदिष्टभिक्षाग्रहणविधिविधानकृतोद्यमो भिक्षेयं छर्दितदोषदुष्टा, तस्मान्न मे कल्पते, इति परिभाव्य ततो निर्जगाम । वारत्रकेण चामात्येन मत्तवारणस्थितेन दृष्टो भगवान् निर्गच्छन् । चिन्तयति च स्वचेतसि—किमनेन भगवता न गृह्यते स्म मे गृहे भिक्षेति, एवं यावच्चिन्तयति तावत्तु भूमौ निपतितं खण्डयुक्तं घृतबिन्दुं मक्षिकाः समागत्याऽऽश्रियन् । तासां च भक्षणाय प्रधाविता गृहगोधिका, गृहगोधिकाया अपि विघाताय प्रतिधावितः सरटः । अस्यापि च भक्षणाय प्रधावति स्म मार्जारी, तस्या अपि च वधाय प्रधावितः प्राघूर्णकः श्वा, तस्यापि च प्रतिद्वन्द्वी प्रधावितोऽन्यो वास्तव्यः श्वा, ततो द्वयोरपि तयोः शुनोरभूत्परस्परं कलहः, ततः स्वस्वसारमेयपराभवदुर्मनस्कतया प्रधावितयोर्द्वयोरपि तत्स्वामिनोरभूत्परस्परमतुलं युद्धम् । एतच्च सर्वं वारत्रकामात्येन परिभावितं, ततश्चिन्तयति स्वचेतसि-घृतादेर्बिन्दुमात्रेऽपि भूमौ निपतिते यत एवमधिकरणप्रवृत्तिरत एवाधिकरणभीरुर्भगवान् घृतबिन्दुं भूमौ निपतितमवलोक्य भिक्षां न गृहीतवान् । अहो सुदृष्टो भगवतो धर्मः, को हि नाम भगवन्तं सर्वज्ञमन्तरेणेत्थमनपायिनं धर्ममुपदेष्टुमीशः, न खल्वन्धो रूपविशेषं जानाति, एवमसर्वज्ञोऽपि नेत्थं सकलकालमनपायं धर्ममुपदेष्टुमलम्, तस्माद्भगवानेव सर्वज्ञः, एवमेव जिनो देवता, तदुक्तमेवानुष्ठानं मयाऽनुष्ठातव्यमित्यादि विचिन्त्य संसारविमुखो मुक्तिवनिताऽऽश्लेषसुखलम्पटः सिंह इव गिरिकन्दराया निजप्रासादाद्विनिर्गत्य धर्मघोषस्य साधोरुपकण्ठं प्रव्रज्यामग्रहीत् । स च महात्मा शरीरेऽपि निःस्पृहो यथोक्तभिक्षाग्रहणादिविधिसेवी संयमानुष्ठानपरायणः स्वाध्याये भावितान्तःकरणो दीर्घकालं संयममनुपाल्य जातप्रतनुकर्मा समुच्छलितदुर्निवार्यवीर्यप्रसरः, क्षपकश्रेणिमारुह्य घातिकर्मचतुष्टयं समूलघातं हत्वा केवलज्ञानलक्ष्मीमासादितवान्, ततः कालक्रमेण सिद्ध इति । उक्तमेषणाद्वारम् । पिं० । उत्त० । आचा० । प्रव० । छर्दिते प्रायश्चित्तं पुरिमार्द्धम् । जीत० ।

छड्डेउ-छर्दयित्वा-अव्य० । अपरिष्ठाप्येत्यर्थे, व्य० १ उ० ।

छण-क्षण-पुं० । क्षणोति दुःखम् । क्षण-अच् । उत्सवे, इन्द्रोत्सवादिके महे, भ० ९ श० ३३ उ० । " छणो अत्थ विसिट्ठं असणपाणं उवसाहिज्जति । " नि० चू० १६ उ० । दे० ना० ३ वर्ग । क्षणु हिंसायाम् । क्षणनं क्षणः हिंसनम् । यत् किमपि प्राण्युपघातकारि तस्मिन् कर्मणि, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

छणंत-क्षणवत्-त्रि० । क्षणति, क्षणन्तमन्यञ्च समनुजानीत । आचा० १ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

छणण-क्षणन-न० । हिंसने, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

छणपय-क्षणपद-न० । हिंसापदे प्राण्युपमर्दजनिते, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

छणवय-क्षणपद-न० । ' छणपय ' शब्दार्थे, आचा० १ श्रु० २ अ० ६ उ० ।

छण्ण-छन्न-त्रि० । छद्-चुरा०-क्तः । आच्छादिते,निर्जने, रहसि, न० । वाच० । व्याप्ते, रा० । अव्यक्तस्वरे, ध० ;२ अधि० । अप्रकाशे, नि० चू० १ उ० । दर्भादिभिराच्छादिते, आचा० १ श्रु० २ अ० २ उ० । कल्प० । प्रच्छन्ने, अतिलज्जालुतयाऽव्यक्तवचने, भ० २५ श० ६ उ० । मायायाम् , तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात् । सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० । षष्ठे आलोचनादोषे, "छण्णं तह आलोए, अह नवरं अप्पणा सुणइ ।"इति । स्था०१० ठा० । प्रच्छन्नम आलोचयति । किमुक्तं भवति ?-लज्जालुतामुपदर्श्यापराधानल्पशब्देन तथाऽऽलोचयति यथा केवलमात्मैव शृणोति, न गुरुरित्येष षष्ठ आलोचनादोषः । व्य० १ उ० । "जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा णियंठिया । " 'छणु' हिंसायाम् । हिंसाप्रधाने, तद्यथा-वध्यतां चौरोऽयम्, लूयन्तां केदाराः, दम्यन्तां गोरथका इति । यदि वा (छण्णं ति) प्रच्छन्नं यल्लोकैरपि प्रच्छाद्यते तत्सत्यमपि न वक्तव्यम, इति । सूत्र० १ श्रु० ६ अ० ।

छण्णउइच्छेयणदायरासि-षण्णवतिच्छेदनदायराशि-पुं० । यो राशिरर्द्धेनार्द्धेन विद्यमानः षण्णवतिवारान् छेदं सहते, पर्यन्ते सकलमेकस्वरूपं पर्यवसितं भवति । तस्मिन्, प्रज्ञा० १२ पद । (एष च ' सरीर ' शब्दे दर्शयिष्यते)

छण्णंग-छन्नाङ्ग-न० । स्त्रीणां कुक्षकुचोरुप्रभृतिषु गुप्ताङ्गेषु, बृ० १ उ० ।

छण्णपय-छन्नपद-न० । कपटे, मातृस्थाने, गुप्ताभिमाने, सूत्र० १ श्रु० ४ अ० १ उ० ।

छण्णपयोपजीवि(ण्)-छन्नपदोपजीविन्-त्रि० । मातृस्थानोपजीविनि, सूत्र० २ श्रु० ६ अ० ।

छण्णमाय-छन्नमातृक-त्रि० । प्रच्छन्नमातृके, तं० ।

छण्णय-छन्नक-पुं० । जन्मान्तरशकटजीवे,स्था० १० ठा० । व्य० ।

छण्णसामत्थ-छन्नसामर्थ्य-त्रि० । परलिङ्गग्रहणेनाऽऽच्छादितस्वस्वरूपे, व्य० १ उ० ।

छण्णाम-षण्नामन्-न० । षण्णामर्थानामभिधायके शब्दे, अनु० ।

से किं तं छन्नामे ? । छन्नामे छव्विहे पण्णत्ते । तं जहा-उदइए उवसमिए खइए खओवसमिए परिणामिए संनिवाइए ॥

" से किं तं छन्नामे " इत्यादि । अत्रौदयिकादयः षट् भावाः प्ररूप्यन्ते । तथा च सूत्रम्-" उदइए " इत्यादि । अत्राह-ननु नाम्नि प्रक्रान्ते तदभिधेयानामर्थानां भावलक्षणानां प्ररूपणमयुक्तमिति । नैतदेवम् । नामनामवतोरभेदोपचारात्तत्प्ररूपणस्याप्यदुष्टत्वात्, एवमन्यत्रापि यथासंभवं वाच्यम् । अनु० ।

छण्णाल-षण्नाल-न० । त्रिकाष्ठिकायाम्, औ० ।

छण्णालिय-षण्नालिक-न० । त्रिकाष्ठिकायाम्, भ० २ श० १ उ० । ज्ञा० ।

छत्त-छत्र-न० । 'छद्' अपवारणे । आतपं छादयति इति छत्रं प्रसिद्धम । तदाकारो योगोऽपि छत्रम । तस्मिन्, सू० प्र० १२ पाहु० । रा० । प्रश्न० । अष्टत्रिंशे ३७ ह्रासप्रतिपुरुषकलाभेदे, जं० २ वक्ष० । नवमे चतुर्दशरत्नभेदे, प्रव० । छत्रं चक्रवर्तिहस्तसंस्पर्शप्रभावसंजातद्वादशयोजनाऽऽयामविस्तरं सत् वैताढ्यनगोत्तरविभागवर्त्तिम्लेच्छानुराधितमेघकुमाराद् वृष्टाम्बुभरनिरसनसमर्थनं च भवति, सहस्रकाञ्चनशलाकापरिमण्डितं निर्व्रणप्रशस्तकाञ्चनमयोदरूदण्डं वस्तिप्रदेशे पञ्जरविराजितं राजलक्ष्मीचिह्नमर्जुनाऽभिधानपाण्डुरस्वर्णप्रत्यवस्तृतपृष्ठदेशं शारदसंपूर्णपूर्णिमामृगाङ्कमण्डलमनोहरं तपनाऽऽतपवातवृष्टिप्रभृतिदोषक्षयकारकम् । प्रव० २१२ द्वार । प्रज्ञा० । आतपत्रे, षो० १५ विव० । आ० म० । पञ्चा० । सूत्र० । आचा० । भ० । अनु० । उत्त० । छात्रे, आ० म० प्र० । नि० चू० ।

छत्रवर्णक एवं दृश्यते-

"अब्भपडलपिंगलुज्जलेण" अभ्रपटलमिव मेघवृन्दमिव बृहच्छायाहेतुत्वात् अभ्रपटलं, पिङ्गलं च कपिशं सुवर्णकञ्चिकानिर्मितत्वात् उज्ज्वलं निर्मलं यत्तत्तथा । अथवा-अभ्रमभ्रकं पृथिवीकायपरिणामविशेषः, तत्पटलमिव पिङ्गलं चोज्ज्वलं च तत्तथा, तेन । "अविरलसमसहियचंदमंडलसमप्पभेणं" अविरलं घनशलाकाबन्धेन, समं तुल्यं शलाकायोगेन (साहिय त्ति) संहतमनिम्नोन्नतशलाकायोगात् चन्द्रमण्डलसमप्रभं च यद्दीप्त्या तत्तथा, तेन । "मंगलसयभत्तिच्छेयविचित्तियखिंखिणिमणिहेमजालविरइयपरिगयपेरंतकणगघंटियापयलियकिणिकिणिकिणितसुतिसुहसुमहुरसद्दालसोहिएणं" मङ्गलाभिर्माङ्गल्याभिः, शतभक्तिभिः शतसंख्यविच्छित्तिभिः, छेकेन निपुणेन शिल्पिना, विचित्रितं यत्तत्तथा, किङ्किणीभिः क्षुद्रघण्टिकाभिः,मणिहेमजालेन च रत्नकनकजालकेन विरचितेन कृतेन, विशिष्टरतिदेन वा, परिगतं परिवेष्टितं यत्तत्तथा, पर्यन्तेषु प्रान्तेषु कनकघण्टिकाभिः प्रचलिताभिः किणिकिणायमानाभिः श्रुतिसुखसुमधुरशब्दवतीभिश्च ' आल ' प्रत्ययस्य मत्वर्थीयत्वात्, शोभितं यत्तत्तथा । ततः पदत्रयस्य कर्मधारयोऽतस्तेन । "सप्पयरवरमुत्तदामलंबंतभूसणेणं" सप्रतराणि आभरणविशेषयुक्तानि यानि वरमुक्तादामानि वरमुक्ताफलमालाः (लंबंत त्ति) प्रलम्बमानानि तानि भूषणानि यस्य तथा, तेन । "नरिंदवामप्पमाणरुंदपरिमंडलेणं" नरेन्द्रस्य तस्यैव राज्ञो व्यामप्रमाणेन प्रसारितभुजयुगलमानेन रुन्दं विस्तीर्णं परिमण्डलं वृत्तभागो यस्य स तथा, तेन । " सीयायववायवरिसविसदोसविनासणेन " शीतातपवातवृष्टिविषजन्यदोषाणां शीतादिलक्षणदोषाणां विनाशनं यत्तत्तथा, तेन । "तमरयमलबहलपडलधाडणप्पभाकरेण" तमोऽन्धकारं, रजो रेणुर्मलः प्रतीतः, एषां बहुलं घनं, यत् पटलं वृन्दं तस्य धाटनी नाशनी या प्रभा कान्तिस्तत्करणशीलं यत्तथा,तेन । अथवा-रजोमलतमोबहुलपटलस्य धाटने प्रभाकर इव यत्तत्तथा । "उउसुहसिवच्छायसमणुबद्धेणं" ऋतौ२कालविशेषे, सुखा सुखहेतुः ऋतुसुखा,शिवा निरुपद्रवा,छाया आतपवारणलक्षणा, तया समनुबद्धमनवच्छिन्नं यत्तत्तथा,तेन । "वेरुलियदंडसज्जिएणं ति" वैडूर्यमयदण्डे सज्जितं वितानितं यत्तथा, तेन । "वइरामयवत्थिनिउणजोइयअट्ठसहस्सवरकंचणसलागनिम्मिएणं " वज्रमय्यां वस्तौ शलाकानिवेशनस्थाने, निपुणेन शिल्पिना, योजिताः संबन्धिताः, (अट्ठसहस्स त्ति) अष्टोत्तरसहस्रसंख्याः या वरकाञ्चनशलाकाः, ताभिर्निर्मितं यत्तथा, तेन । "सुनिम्मलरययसुच्छएणं ति" सुनिर्मलो रजः, तस्य संबन्धी सुच्छदः शोभनप्रच्छादनपटो यत्र तत्तथा, तेन ।

" निउणोवियमिसिमिसिंतमणिरयणसूरमंडलवितिमिरकरनिग्गयग्गपडिहयपुणरवि पच्चापमंतचंचलमरीइकवयविणिमुयंतेणं " निपुणेन शिल्पिना, निपुणं वा यथा भवति एवम्-(उविय त्ति) परिकर्मितानि (मिसिमिसिंत त्ति) दीप्यमानानि यानि मणिरत्नानि तानि मणिरत्नानि, तथा सूरमण्डलादादित्यबिम्बात्, ये वितिमिरा हतान्धकाराः करनिर्गताः किरणविनिर्गताः, तेषां यान्यग्राणि तानि प्रतिहतानि निराकृतानि, पुनरपि प्रत्यापतन्ति च प्रतिवर्तमानानि यस्माच्चञ्चलमरीचिकवचात्तत्तथा । अथवा-सूरमण्डलाद् वितिमिरकराणां निर्गतानामग्रैः प्रतिहतं पुनरपि प्रत्यापतच्च तच्च तच्चञ्चलमरीचिकवचं च चपलरश्मिपरिकर इति समासः । निपुणोचितमिसिमिसायमानमणिरत्नानां यत्सूरमण्डलवितिमिरकरनिर्गताग्रप्रतिहतं पुनरपि प्रत्यापतच्चञ्चलमरीचिकवचं यत्तत्तथा, तद्विनिर्मुञ्चता विसृजता " सपडिदंडेणं " आतिप्रारिकतया एकदण्डेन दुर्वहत्वात् सप्रतिदण्डेन " धरिज्जमाणेणं आयवत्तेणं विरायंते " इति व्यक्तम् । अधिकृतवाचनायां तु चतुश्चामरबालवीजिताङ्ग इति व्यक्तम् । औ० । छत्रवन्मध्ये उन्नतं उत्तमाङ्गं यासां ताः । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

छत्तंतिया-छत्रान्तिका-स्त्री० । छत्रवत्त्वाद् राजरूपे पर्षद्भेदे, बृ० १ उ० । ("परिसा" शब्दे एतत्स्वरूपं वक्ष्यते)

छत्तक-छत्रक-न० । आतपवारणे, प्रश्न० ४ सम्ब० द्वार । एतन्मदीयं तावच्छत्रकादि गृहाण । आचा० २ श्रु० ३ अ० २ उ० ।

छत्तकार-छत्रकार-पुं० । छत्ररचनाशीले शिल्पिभेदे, अनु० ।

छत्तधारपडिमा-छत्रधारप्रतिमा-स्त्री० । जिनप्रतिमानामुपरि छत्रधारिण्यः प्रतिमायाम्, जी० ।

तत्स्वरूपम्-

तासि णं जिणपडिमाणं पच्छित्तो पत्तेयं पत्तेयं छत्तधारपडिमाओ पण्णत्ताओ । ताओ णं छत्तधारपडिमाओ हिमरययकुंदेंदुप्पगासाइं कोरिंटमल्लदामाइं धवलाइं आयवत्ताति सलीलं ओहारिमाणीओ ओहारिमाणीओ चिट्ठंति ।

तासां जिनप्रतिमानां पृष्ठत एकैका छत्रधारप्रतिमा हेमरजतकुन्देन्दुप्रकाशं सकोरिण्टमाल्यदामधवलमातपत्रं गृहीत्वा सलीलं धरन्ती तिष्ठति । जी० ३ प्रति० ।

छत्तपडागा-छत्रपताका-स्त्री० । छत्रेण सहिता पताका छत्रपताका, छत्रोपरि वा पताका छत्रपताका । तस्याम्, औ० । भ० । ज्ञा० ।

छत्तपलासय-छत्रपलाशक-न० । " कयंगला " कृताङ्गलानगर्या स्वनामख्याते चैत्ये, भ० २ श० १ उ० ।

छत्तभंग-छत्रभङ्ग-पुं० । छत्रस्य भङ्गो यत्र । नृपनाशे, वैधव्ये, अस्वातन्त्र्ये च । वाच० । स्था० ।

छत्तमग्ग-छत्रमार्ग-पुं० । यत्र छत्रमन्तरेण गन्तुं न शक्यते तस्मिन् मार्गे, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० ।

छत्तय-छत्रक-पुं० । छत्रमिव कायति कै-कः । वृक्षे, मत्स्यरङ्गे, पक्षिणि च । स्वार्थे कः । छत्रे,न० । वाच० । आतपत्रे, आचा०२ श्रु०६ अ०१ उ० । भ० । सूत्र० ।

छत्तरयण-छत्ररत्न-न० । चक्रवर्तिनामत्युत्कृष्टे छत्रे, स्था० ७ ठा० । स० । जं० । (वर्णकोऽस्य 'भरत' शब्दे विजययात्राधिकारे)

छत्तल-षट्तल-न० । षट् तलानि यत्र तत्षट्तलम् । मध्यस्तम्भषट्कयुक्ते, अनु० । स्था० ।

छत्तलक्खण-छत्रलक्षण-न० । षट्त्रिंशत्तमे अष्टत्रिंशत्तमे कलाभेदे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । सूत्र० । स० । औ० ।

छत्तसंठिया-छत्रसंस्थिता- स्त्री० । छत्रस्येव संस्थितं संस्थानं यस्याः सा । छत्राकारसंस्थिते पदार्थे, चं० प्र० ४ पाहु० ।

छत्तहर-छत्र (धा) धर-पुं० । छत्रं धरति धारयति वा अच्-अण्-वा । छायाकरणाय नियुक्ते दासभेदे, वाच० । आ० म० द्वि० ।

छत्तहार-छत्रधार-पुं० । ' छत्तहर ' शब्दार्थे, आ० म० द्वि० ।

छत्ता-छत्रा-स्त्री० । स्वनामख्यातायां नगर्याम्, यत्र पूर्वभवे श्रीमहावीरस्वामी जितशत्रुनृपतेर्भद्रादेव्या नन्दनो नाम कुमार उत्पन्न इति । आ० म० प्र० ।

छत्ताइच्छत्त-छत्रातिच्छत्र-न० । छत्रमतिक्रम्य छत्रं छत्रातिच्छत्रम् । स्था० ७ ठा० । स० । रा० । सू०प्र० । छत्राद् लोकप्रसिद्धाद् एकसंख्याकादतिशायीनि छत्राणि उपर्यधोभागेन द्विसंख्यानि त्रिसंख्यानि वा छत्रातिच्छत्राणि । रा० । जी० । आ० म० । छत्रं प्रसिद्धं, तदाकारो योगोऽपि छत्रं, छत्रात् सामान्यरूपात् उपर्यन्यान्यच्छत्रभावतोऽतिशायि छत्रं छत्रातिच्छत्रम् । सू०प्र०१२ पाहु० । रा० । उपर्युपरि स्थिते आतपत्रे, जी० ३ प्रति० । चं० प्र० । रा० । चन्द्रेण युज्यमाने दशसु योगेषु षष्ठे योगे, सू० प्र० १२ पाहु० । रा० ।

छत्तागारुत्तमंगदेस-छत्राकारोत्तमाङ्गदेश-न० । छत्राकार उत्तमाङ्गरूपो देशो येषां ते छत्राकारोत्तमाङ्गदेशाः । जी० ३ प्रति० । तथाविधशिरस्केषु युगलिकमनुष्येषु, छत्राकारोत्तमाङ्गदेशः, उन्नतत्वसाधर्म्यात् । औ० ।

छत्तातिच्छत्तसंठाणसंठिय-छत्रातिच्छत्रसंस्थानसंस्थित-त्रि० । छत्रमतिक्रम्य छत्रं छत्रातिच्छत्रं, तथासंस्थानमाकारोऽधस्तनं छत्रं महदुपरितनं लघिष्ठं तेन संस्थितं छत्रातिच्छत्रसंस्थानसंस्थितम् । महदधस्तनोपरितनलघौ, स्था० ७ ठा० ।

छत्ताय-छत्राक-न० । छत्रातिच्छत्रेव कायति कै-कः । शिलीन्ध्रे, जालवर्बुरकके, पुं० । गौरादित्वात् ङीष् । राज्ञायाम्, स्त्री० । वाच० । स० ।

छत्तार-छत्रकार-पुं० । छत्रनिर्मापके शिल्पिभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

छत्ति (न्)-छत्रिन्-त्रि० । छत्रमस्यास्तीति छत्री । छत्रयुक्ते, अनु० ।

छ त्ति छकारपविभत्ति-छ इति छकारप्रविभक्ति-न० । पुं० । छकारवर्णस्वरूपवर्णाकृतिनाट्यभेदे, रा० ।

छत्तिया-छत्रिका-स्त्री० । छत्राएर्याम्, कल्प० ७ क्षण ।

छत्तिवण्ण-सप्तपर्ण-पुं० । सप्त सप्त पर्णान्यस्य प्रतिपर्वम् । वाच० । " सप्तपर्णे वा " । ८ । १ । ४९ । इति द्वितीयस्यात इत्वं वा । प्रा० १ पाद । " षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः " । ८ । १ । २६५ । इत्यादेर्वर्णस्य छः । प्रा० १ पाद ।

छातिमवृक्षे, " सप्तपर्णो व्रणश्लेष्म—वातकुष्ठास्रजन्तुजित् । दीपनः श्वासगुल्मघ्नः, स्निग्धोष्णस्तुवरः स्मृतः " ॥ १ ॥ खर्जूलतायाम् , स्त्री० । ङीप् । " द्राक्षादाडिमखर्जूर-मृदिताम्रं सशर्करम् । लाजाचूर्णं समध्वाज्यं, सप्तपर्णमुदाहृतम् " ॥ १ ॥ उक्ते खाद्यभेदे, न० । वाच० ।

छत्तीस–षट्त्रिंशत्–स्त्री० । षडधिका त्रिंशत् । शाक० । संख्याभेदे, तत्संख्याऽन्विते च । वाच०। "छत्तीसा पठाणेहिं, जो होति परिणिट्ठितो । अलमत्थो तारिसो होई, ववहारं ववहरित्तए " ॥१॥ व्य० १० उ० । "एए खरपुढवीए, भेया छत्तीसमाहिया "। उत्त० १ अ० । प्रज्ञा० ।

छत्तोय–छत्रौकस्–न० । कुहुणभेदे, प्रज्ञा० १ पद ।

छत्तोवग–छत्रोपक–पुं० । वृक्षभेदे, रा० ।

छत्तोह–छत्रौघ–पुं० । वृक्षभेदे, प्रज्ञा० १ पद । भ० ।

छद्दण–छर्दापन–न० । त्याजने, छर्दापनं नाम तद् छलादपि साधुपार्श्वादन्यत्र तं शवं परित्यजेयुः । बृ० ६ उ० ।

छद्दसहा–षट्दशधा–अव्य० । षोडशप्रकारे, व्य० ४ उ० ।

छद्दी–देशी—शय्यायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

छदोसविप्पमुक्क–षड्दोषविप्रमुक्त–न०। षड्भिर्दोषैर्विप्रमुक्ते गेये, ते च षट् दोषा अमी–"भीयं दुयमुप्पिच्छं " उत्तालकाकस्वरमनुनासं च । उक्तं च–"भीयं दुयमुप्पिच्छमु–त्तालं कमसो मुणेयव्वं । काकस्सरमणुनासं, छद्दोसा होंति गेयस्स " ॥१॥ जी० ३ प्रति० । रा० ।

छधणुसहस्स–षड्धनुःसहस्र–न० । क्रोशत्रये,स्था० ६ ठा० ।

छण्णउइ–षण्णवति–स्त्री० । षडधिकनवतिसंख्यायाम्, तत्संख्यान्विते च । त्रि० । वाच० । ज्यो० ।

छप्पइया–षट्पदिका–स्त्री० । यूकायाम्, आव० ६ अ० । महा० । आ० म० । नि० चू० ।

छप्पएसिय–षट्प्रदेशिक–पुं० । प्रदेशषट्निष्पन्ने पुद्गलस्कन्धे, "छप्पएसिया णं खंधा अणंता पण्णत्ता" । स्था० ६ ठा० ।

छप्पएसोगाढ–षट्प्रदेशावगाढ–पुं० । षट्सु आकाशप्रदेशेषु अवगाढे पुद्गले , " छप्पएसोगाढा पोग्गला अणंता " स्था० ६ ठा० ।

छप्पण्ण–षट्पञ्चाशत्–त्रि० । षडधिकाः पञ्चाशत् । शाक० । संख्याभेदे, तत्संख्यान्विते च । वाच० । "छप्पण्णं गणहरा होत्था । " स० ५६ सम० ।

छप्पतिगिल्ल–षट्पादिकावत्–त्रि० । यस्य षट्पादिकाः प्राचुर्येण सम्मूर्च्छन्ति । तस्मिन् षट्पदिकाऽऽवृते, बृ० ३ उ० ।

छप्पद–षट्पद–पुं० । " षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः " । ८ । १ । २६५ । इति षस्य छः । भ्रमरे,स्त्रियां ङीप् । यूकायाम् । वाच० । षट्पदैः भ्रमरैः परिभुज्यमानानि कमलानि,उपलक्षणमेतत्–कुमुदानि च,यासु ताः षट्पदपरिभुज्यमानकमलाः। जी० ३ प्रति० । रा० । जं० । औ० । को० । कल्प० । नि० चू० ।

छप्पय–षट्पद–पुं० । ' छप्पद ' शब्दार्थे , प्रा० १ पाद ।

छप्पुरिमा–षट्पुरिमा–स्त्री० । षड्वारप्रस्फोटनात्मिकायां प्रत्युपेक्षणायाम् , तत्र वस्त्रस्य चक्षुषा निरूप्यार्वाग्भागं त्रयः पुरिमाः कर्तव्याः । तथा परावर्त्यापरभागं निरूप्य पुनरपि त्रयः पुरिमाः कर्तव्याः। एवमेतेषु पुरिमाः षट्वाराः,प्रस्फोटनानीत्यर्थः। ओघ० । नि० चू० । ध० । स्था० ।

छप्पुलओ–देशी–सप्तच्छदे , दे० ना० ३ वर्ग ।

छमा–क्षमा–स्त्री० । क्षम-अङ् । " क्षमायां कौ " । ८ । २ । १८ । इति क्षस्य छः । लाक्षणिकस्याऽपि क्ष्मादेशस्य छः । प्रा० २ पाद । " क्ष्माश्लाघारत्नेऽन्त्यव्यञ्जनात् " । ८ । २ । १०१ । एषु संयुक्तस्य यदन्त्यं व्यञ्जनं तस्मात्पूर्वोऽद् भवति इत्यदागमः । पृथिव्याम्, प्रा० २ पाद ।

छमासम–क्षमासम–त्रि० । पृथ्वीसमे, द्वा० २६ द्वा० ।

छमी–शमि–(मी)–स्त्री०। शम-इन्-वा ङीप् । वाच०। "षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः " । ८ । १ । २६५ । इति शस्य छः । प्रा० १ पाद । (खेजडी) वृक्षभेदे, वाच० । " शमी तिक्ता कटुः शीता,कषाया रेचनी लघुः। कफकासभ्रमश्वास-कुष्ठार्शः-कृमिजित्स्मृता " ॥ १ ॥ वाच० ।

छम्माणि–षण्मानि–पुं० । स्वनामख्याते ग्रामे,यत्र गोपेन श्रीमहावीरस्वामिनः कर्णयोः कटकशलाके प्रवेशिते । कल्प० ६ क्षण । आ० चू० । आ० म० ।

छम्मास–षण्मास–पुं० । मासषट्कात्मके कालपरिमाणविशेषे, पञ्चा० १० विव० । प्र० । सू० प्र० ।

छम्मासिय–षाण्मासिक–न० । षष्ठे मासे भवः ठञ् । मृतस्य एकाहोनषष्ठमासे कर्तव्ये श्राद्धभेदे,"आद्यं षाण्मासिके तथेति" स्मृतिः । एकाहन्यूनषण्मासे तस्य विधानम् । वाच० । आचा०। नि० चू० । आ० चू० ।

छम्मासियभिक्खुपडिमा–षाण्मासिकाभिक्षुप्रतिमा–स्त्री०। षण्मासपरिमाणे साधुप्रतिज्ञाविशेषे, तत्र हि षण्मासान् यावत् षट् दत्तयो भक्तस्य, षमेव च पानकस्येति । औ०।

छम्मुह–षण्मुख–पुं० । श्रीविमलजिनस्य यक्षे, स च श्वेतवर्णः शिखिवाहनो द्वादशभुजः फलचक्रबाणखड्गपाशाक्षसूत्रयुक्तदक्षिणपाणिषट्को नकुलचक्रधनुःफलकाङ्कुशाभययुक्तवामपाणिषट्कश्च । प्रव० २६ द्वार ।

छय–क्षत–त्रि० । पीडिते, सूत्र० १ श्रु० २ अ० २ उ० ।

छरियगइ–छुटितगति–त्रि० । मायया लोकावर्जनाय मन्दगामिषु, बृ० १ उ० ।

छरु–त्सरु–पुं० । त्सर-उन् । खड्गमुष्टौ, जं० २ वक्ष० । प्रश्न० । औ० । जी० । तं० ।

छरुप्पवाय–त्सरुप्रवाद–पुं० । एकषष्टिकलायाम्, जं०२ वक्ष० । ज्ञा० । छुरिकादिग्रहणोपायजाते, प्रश्न० ५ आश्र० द्वार । त्सरुः खड्गमुष्टिः, तदवयवियोगात् त्सरुशब्देनाऽत्र खड्ग उच्यते । अवयवे समुदायोपचारः, तस्य प्रवादो यत्र शास्त्रे तत् त्सरुप्रवादम् । खड्गशिक्षाशास्त्रे, जं० २ वक्ष० । औ०।

छरुय–त्सरुक–पुं० । मुष्टिग्रहणस्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० ।

छल–छल–धा० । कृतौ, सक० सेट्-छलयति । वाच० । " छलिज्जति " नि० चू० १ उ० । " अकाले पढमाणो पंतदेवयाए

छलिज्जइसि।" नि० चू० १ उ०। "छलिज्जसि" छल्यसे। पं० व० २ द्वार।

छल–न०। व्याजे, यथार्थगूहने, कूटयुक्त्यादिना तन्मर्यादयाऽस्खलने, शाठ्ये, कापट्ये, वाच०। वचनविघाते, स्या०। तत्त्रिधा–वाक्छलम्, सामान्यच्छलम्, उपचारच्छलं चेति। तत्र साधारणे शब्दे प्रयुक्ते वक्तुरभिप्रेतादर्थादर्थान्तरकल्पनया तन्निषेधो वाक्छलम्। यथा–नवकम्बलोऽयं माणवक इति नूतनविवक्षया कथिते परः संख्यामारोप्य निषेधति–कुतोऽस्य नव कम्बला इति ?। संभावनयाऽतिप्रसङ्गिनोऽपि सामान्यस्योपन्यासे हेतुत्वारोपणेन तन्निषेधः सामान्यच्छलम्। यथाऽहो नु खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसंपन्न इति ब्राह्मणस्तुतिप्रसङ्गे कश्चिद्वदति–संभवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपदिति, तच्छलवादी ब्राह्मणत्वस्य हेतुतामारोप्य निराकुर्वन्नभियुङ्क्ते–यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसंपद्भवति, तर्हि व्रात्येऽपि सा भवेत्। व्रात्योऽपि ब्राह्मण एव इति। औपचारिके प्रयोगे मुख्यप्रतिषेधेन प्रत्यवस्थानम् उपचारच्छलम्। यथा–मञ्चाः क्रोशन्ति इत्युक्ते परः प्रत्यवतिष्ठते–कथमचेतना मञ्चाः क्रोशन्ति ?, मञ्चस्थास्तु पुरुषाः क्रोशन्ति इति। स्या०। बृ०। आ० म०। विपा०। अनु०। अथ छलम्–अर्थविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्येरिति। तत्रार्थविशेषे विवक्षितेऽभिहिते वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। यथा–नवकम्बलोऽयं देवदत्तः। अत्र च नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः। विग्रहे च विशेषो, न समासे। तत्रायं छलवादी नव कम्बलोऽस्येत्येतद्भवताऽभिहितमिति कल्पयति, न चाऽयं तथेत्येवं प्रतिषेधयति। तत्र छलमित्यसदर्थाऽभिधानम्। तद्यदि छलं न तर्हि तत्त्वं, तत्त्वं चेन्न तर्हि छलं, परमार्थरूपत्वात्तस्येति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

छलंस–षडस्र–न०। षट्कोटिके, स्था० ८ ठा०।

छलण–छलन–न०। प्रक्षेपणे, आचा० २ श्रु० ३ अ० १ उ०।

छलणा–छलना–स्त्री०। व्यापादने, सा च द्विधा–द्रव्यतो, भावतश्च। द्रव्यतश्छलना खड्गादिभिः, भावतः परीषहोपसर्गाद्यैः। व्य० २ उ०। आ० चू०। आव०। ('परिहार' शब्दे व्याख्यास्यते)

छलायतन–षडा (छला) यतन–न०। आयतनषट्कयुक्ते, "आईसु छलायतणं च कम्मं।" छलायतनं छलं, नवकम्बलो देवदत्त इत्यादिकमाहुरुक्तवन्तः। चशब्दादन्यच्च दूषणाऽऽभासादिकम्। तथा कर्म च एकपक्षद्विपक्षादिकं प्रतिपादितवन्त इति। यदि वा–षडायतनानि उपादानकारणानि आश्रवद्वाराणि श्रोत्रेन्द्रियादीनि यस्य कर्मणस्तत् षडायतनं कर्मेत्येवमाहुरिति। सूत्र० १ श्रु० १२ अ०।

छलिय–छलित–न०। शृङ्गारकाव्ये, बृ० १ उ०। व्यंसितेऽनर्थे प्रापिते, ज्ञा० १ श्रु० ८ अ०। सिण्टिते, तस्करसंज्ञायाम्, तत्करणे साधोः प्रायश्चित्तं चतुर्थम्। जीत०। आव०।

छल्ली–छल्ली–स्त्री०। अभ्यन्तरवल्कले, स्था० ४ ठा० १ उ०। प्रज्ञ०। आ० म०। जं०। ज्ञा०। दे० ना० ३ वर्ग।

छवडी–देशी–चर्मणि, दे० ना० ३ वर्ग।

छवि–छवि (वी)–स्त्री०। छ्यति आसारं छिनत्ति, तमो वा। छो–वि–किच्च वा ङीप्। शोभायां, कान्तौ च। वाच०। कल्प०। शरीरे, ध० २ अधि०। प्रश्न०। आव०। स्था०। आचा०। त्वचायाम्, जी० ३ प्रति०। स्था०। त्वग्योगादौदारिकशरीरं, तद्वती नारी, तिरश्ची वा, तद्वान्नरस्तिर्यङ् वा छविरित्युच्यते। स्था० ४ ठा० १ उ०। वल्लचवलकादिफले, दश० ७ अ०। अलङ्कारविशेषे, अनु०। आ० म०।

छविकर–छविकर–पुं०। षष्ठे प्रशस्तमनोविनयभेदे, स्था० ७ ठा०।

छविच्छेय–छविच्छेद–पुं०। गौणप्राणातिपातव्रतस्यातिचारविशेषे, ध० २ अधि०। भरतचक्रवर्तिकाले प्रवर्तितायां चतुर्थ्यां दण्डनीतौ, सा च–"छविच्छेयाइ भरहस्स" छविच्छेदादिका, आदिशब्दाच्छिरःकर्तनादिपरिग्रहः। "पलितोपमऽट्ठभागे, सेसम्मि य कुलगरुप्पत्ती।" इति वचनात् तत्र पल्योपमं किलासत्कल्पनया चत्वारिंशद्भागं परिकल्पते, तस्याऽष्टमो भागः पञ्च च विधिं परिभाव्य प्रवर्तिता, सा गुरुतरापराधविषया चतुर्थी छविच्छेदादिका। आ० म० प्र०। आव०। ध०। पञ्चा०। ध० र०। स्था०। आ० चू०। प्रव०। उत्त०। ध०। प्रश्न०।

छविच्छेयण–छविच्छेदन–न०। अवयवकर्तने, प्रश्न० १ आश्र० द्वार।

छवित्ताण–छवित्राण–न०। देहचर्माच्छादने, उत्त० ५ अ०।

छविदोस–छविदोष–पुं०। छविरलङ्कारविशेषस्तेजस्विता वा। तद्रहिते, विशे०। अनु०। आ० म०।

छविपत्त–छविप्राप्त–त्रि०। छविं जाते, स्था० २ ठा० ३ उ०।

छविपव्व–छविपर्व–न०। छविसन्धिबन्धने, स्था०।

दोण्हं छविपव्वा पण्णत्ता। तं जहा–मणुस्साणं चेव, पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं चेव ॥

(दोण्हं छविपव्व त्ति) द्वयानामुभयेषां (छवि त्ति) मतुब्लोपात् छविमन्ति त्वग्वन्ति (पव्व त्ति) पर्वाणि संधिबन्धनानि छविपर्वाणि। क्वचित् "छवियत्त" त्ति पाठः। तत्र छवियोगात् छविः, स एव छविकः, स चासौ (अत्त त्ति) आत्मा च शरीरं छविकात्मेति। "छविपत्त" त्ति पाठान्तरे छविः प्राप्ता, जातेत्यर्थः। गर्भस्थानामिति सर्वत्र संबन्धनीयः। स्था० २ ठा० ३ उ०।

छविमंत–छविमत्–त्रि०। त्वग्वति, स्था० २ ठा० ३ उ०।

छवियत्त–छविकात्मन्–पुं०। छवियोगात् छविः, स एव छविकः, स चासौ आत्मा च शरीरम्। छवियुक्ते, स्था० २ ठा० ३ उ०।

छवियाइ–छविकादि–न०। स्निग्धत्वग्द्रव्ये, मुक्ताफलरक्ताशोकादिके, सूत्र० २ श्रु० ६ अ०।

छव्वग–छवक–न०। पटलिकादिरूपे भाजने, पिं०। आचा०।

छव्विहकालगुणकम्मजुत्त–षड्विधकालगुणकर्मयुक्त–त्रि०। षड्विधस्य कालस्य ऋतुषट्करूपस्य कालस्य ये गुणाः कार्याणि तैः क्रमेण परिपाट्या संगतं यत्तत्तथा। षडृतुकार्यपरिपाट्या युक्ते, प्रश्न० ४ आश्र० द्वार।

छव्वीस–षड्विंशति–स्त्री०। षडधिकायां विंशतौ, आव० ४ अ०।

छसमयट्ठिइय-षट्समयस्थितिक-पुं० । समयषट्कस्थायिनि पुद्गले, स्था० ६ ठा० ।

छसीइसत्थ-षडशीतिशास्त्र-न० । देवेन्द्रसूरिविरचिते षडशीतिसंख्यागाथाप्रमाणे कर्मग्रन्थे, (कर्म०)

" यद्भाषितार्थलवमाप्य दुरापमाशु,
श्रीगौतमप्रभृतयः शमिनामधीशाः ।
सूक्ष्मार्थसार्थपरमार्थविदो बभूवुः,
श्रीवर्द्धमानविभुरस्तु स वः शिवाय ॥ १ ॥
निजधर्माचार्येभ्यो, नत्वा निष्कारणैकबन्धुभ्यः ।
श्रीषडशीतिकशास्त्रं, विवृणोमि यथागमं किञ्चित्" ॥ २ ॥

तत्रादावेवाभीष्टदेवतास्तुत्यादिप्रतिपादिकामिमां गाथामाह-

"नमिय जिणं जियमग्गण-गुणठाणुवओगजोगलेसाओ ।
बंधऽप्पबहूभावे, संखिज्जाई किमवि वुच्छं ॥ १ ॥"

जिनं नत्वा, जीवस्थानादि वक्ष्ये इति संबन्धः । कर्म०४ कर्म० ।

छाइओ-देशी-मातरि, दे० ना० ३ वर्ग ।

छाइल्ल-छायावत्-पुं० । " आलिवल्लोल्लालवन्तमन्तेत्तेरमणा मतोः " । ८ । २ । १५६ । इति मतोरिल्लादेशः । छायायुक्ते, प्रा० २ पाद । सदृशे, इने, सरूपे, प्रदीपे च । दे० ना०३ वर्ग ।

छाउमत्थियसमुग्घाय-छाद्मस्थिकसमुद्घात-पुं० । समुद्घातभेदे, स० ।

संप्रति कति छाद्मस्थिकाः समुद्घाता इति निरूपणार्थमाह-

कति णं भंते ! छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता ? । गोयमा ! छ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए तेयसमुग्घाए आहारसमुग्घाए । प्रज्ञा० ३६ पद ।

छद्मस्थोऽकेवली, तत्र भवाश्छाद्मस्थिकाः,समेकीभावेनोत्प्राबल्येन च घातानि निर्जरणानि समुद्घाताः, वेदनादिपरिणतो हि जीवो बहून् वेदनीयादिकर्मप्रदेशान् कालान्तरानुभावयोग्यानुदीरणेनाकृष्योदये प्रक्षिप्यानुभूय निर्जरयति आत्मप्रदेशैः संश्लिष्टान् शातयतीत्यर्थः । ते चेह वेदनादिभेदेन षडुक्ताः । तत्र वेदनासमुद्घातः-असातवेद्यकर्माश्रयः । कषायसमुद्घातः-कषायाख्यचारित्रमोहनीयकर्माश्रयः । मारणान्तिकसमुद्घातः-अन्तर्मुहूर्तशेषायुष्ककर्माश्रयः । वैकुर्विकतैजसाहारकसमुद्घाताः शरीरनामकर्माश्रयाः । स० १ सम० ।

अथ कति केषां छाद्मस्थिकास्समुद्घाता इति-
चतुर्विंशतिदण्डकक्रमेण निरूपयति-

नेरइयाणं भंते ! कइ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता ?। गोयमा ! चत्तारि छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए ।

नैरयिकाणामाद्याश्चत्वारो वेदनादिसमुद्घाताः, तेषां तेजोलब्ध्याहारकलब्ध्यभावतस्तैजससमुद्घाताहारकसमुद्घातासंभवात् ।

असुरकुमाराणं पुच्छा ?। गोयमा ! पंच समुग्घाया छाउमत्थिया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए वेउव्वियसमुग्घाए तेयसमुग्घाए ।

असुरकुमारादीनां सर्वेषामपि देवानामाहारकसमुद्घातवर्जाः शेषाः पञ्च समुद्घाताः , तेजोलब्धिसंभवात्तैजससमुद्घातस्याऽपि संभवात् । यस्त्वाहारकसमुद्घातः, स तेषां न संभवति, चतुर्दशपूर्वाधिगमाभावतो भवप्रत्ययाच्च तेषामाहारकलब्ध्यभावात् ।

एगिंदियविगलिंदियाणं पुच्छा ? । गोयमा ! तिन्नि छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेयणा० कसाय० मारणंतिय०, नवरं वाउकाइयाणं चत्तारि समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणा० कसाय० मारणंतियस० वेउव्वियसमुग्घाए ॥

वायुकायवर्जैकेन्द्रियविकलेन्द्रियाणामाद्या वेदनाकषायमरणलक्षणाः त्रयः समुद्घाताः , तेषां वैक्रियाहारकतेजोलब्ध्यभावतः तत्समुद्घातासंभवात् । वायुकायिकानां पूर्वे त्रयो वैक्रियसमुद्घातसहिताश्चत्वारः , तेषां बादरपर्याप्तानां वैक्रियलब्धिसंभवतो वैक्रियसमुद्घातस्यापि संभवात् ।

पंचिंदियतिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ?। गोयमा ! पंच समुग्घाया पन्नत्ता । तं जहा-वेदणा० कसाय० मारणंतिय० वेउव्वियसमु० तेयगसमुग्घाए ॥

पञ्चेन्द्रियतिर्यग्योनिकानामाहारकसमुद्घातवर्जाः शेषाः पञ्च छाद्मस्थिकाः समुद्घाताः, यस्त्वाहारकसमुद्घातः स तेषां न संभवति,चतुर्दशपूर्वाधिगमाभावतस्तेषामाहारकलब्ध्यसंभवात् ।

मणुस्साणं कइ छाउमत्थिया समुग्घाया पन्नत्ता ?। गोयमा ! छ छाउमत्थिया समुग्घाया पण्णत्ता । तं जहा-वेदणासमुग्घाए कसायसमु० मारणंतियसमु० वेउव्वियसमु० तेयगसमु० आहारगसमुग्घाए ॥

मनुष्याणां षमपि मनुष्येषु सर्वभावसंभवात्, तदेवं यावन्तो येषां छाद्मस्थिकाः समुद्घातास्तावन्तः तेषां निरूपिताः । प्रज्ञा० ३६ पद । भ० ।

छाओ-देशी-बुभुक्षिते, कशे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छागल-छागल-त्रि० । अजासंबन्धिनि,कुतपश्छागलकिट्टजम् । स्था० ५ ठा० २ उ० ।

छागलतक्क-छागलतक्र-न० । अजादधिनिष्पन्नतक्रे, तं० ।

छाण-छादन-न० । दर्भादिमये पटले, भ० ७ श० ६ उ० ।

"सव्वंभ्वेते रजते रजमये पुञ्जनीनामुपरि कवेल्लुकानामध आच्छादने, जी० ३ प्रति० ।

छाणविच्छुय-छगणवृश्चिक-पुं०।चतुरिन्द्रियभेदे,जी०१ प्रति०।

छाणी-छगणी-स्त्री० । गोमयपिण्डे, पञ्चत्रिंशत्तमे आशातनाभेदे , ध० २ अधि० ।

छाणं-देशी-धान्यादिमलने, गोमये, वस्त्रे च । दे० ना०३ वर्ग ।

छाय-छात-त्रि० । छो-क्तः । छिन्ने , दुर्बले , वाच० । बुभुक्षिते, ओघ० । ज्ञा० । व्य० ।

छायण-छादन-न० । दर्भादिना आच्छादने, ग० १ अधि० । आचा० । सूत्र० । प्रश्न० ।

छाया-छाया-स्त्री० । छो-णः । पचादित्वादच् । छ्यति छिनत्ति वाऽऽतपमिति छाया । उत्त० १ अ० । आतपाभावे, प्रतिबिम्बे, सूर्यपत्नीभेदे, संज्ञाप्रतिकृतौ, कान्तौ च । पालने,

मत्कोचे, पङ्क्तौ, कात्यायन्याम्, वाच० । दीप्तौ, औ० । प्रज्ञा० । स० । रा० । प्रभायाम्, जं० २ वक्ष० । नि० चू० । स० । शोभायाम्, औ० । शरीरशोभायाम्, " छाउज्जोइयंगमंगा " । जं० ३ वक्ष० । छायया शरीरप्रभया उद्द्योतितमङ्गमङ्गम् अङ्गप्रत्यङ्गं येषां ते तथा । जी० ३ प्रति० । शरीरप्रभायाम्, तं० । प्रतिबिम्बे, उत्त० २ अ० । स्था० । समुदायशोभायाम्, जी० ३ प्रति० । आतपाविरुद्धे पुद्गलपरिणामे, सूत्र० १ श्रु० १ अ० १ उ० । उत्त० । छाया वृक्षादीनाम् । स्था० २ ठा० ४ उ० । ज्ञा० । औ० । आदित्यकरावरणजनितायामदीप्तौ, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

छायामानम्-

ता अवड्ढपोरिसीणं छाया दिवसस्स किंगए वा,सेसे वा ?। ता तिभागे गए वा,सेसे वा। ता पोरिसीणं छायाए दिवसस्स किं गए वा,सेसे वा ?। ता चउब्भागगए वा, सेसे वा । ता दियड्ढपोरिसीणं छाया दिवसस्स किं गए वा, सेसे वा ?। ता पंचभागगए वा,सेसे वा । एवं अ- द्धपोरिसीणं छाया-पुच्छा ?। दिवसस्स भागं छोढुं २ दिवसस्स वागरणं० जाव। ता अद्धअउणसट्ठिपोरिसीया छाया दिवसस्स किं गए वा, सेसे वा ?। ता एकुणवीससयभागे गए वा,सेसे वा । ता अउणसट्ठिपोरिसीणं छाया दिवसस्स किं गए वा, सेसे वा ?। ता वीससयभागगए वा, सेसे वा। सातिरेगअउणसट्ठिपोरिसीणं छाया दिवसस्स किं गए वा,सेसे वा ?। ता नत्थि किं वि गए वा, सेसे वा।

"ता अवड्ढे " इत्यादि । अपगतमर्द्धं यस्याः सा अपार्द्धा, सा चासौ पौरुषी च अपार्द्धपौरुषी, छाया, पुरुषस्योपलक्षणत्वात् सर्वस्यापि प्रकाश्यस्य वस्तुनोऽर्द्धप्रमाणा छाया । एवमुत्तरत्राप्युपलक्षणव्याख्यानं द्रष्टव्यम्, दिवसस्य किंगते कतितमे भागे गते, शेषे वेति कतितमे भागे शेषे भवति ?। भगवानाह-"ता" इत्यादि । ता इति पूर्ववत्, दिवसस्य त्रिभागे गते भवति,दिवसस्य त्रिभागे वा शेषे । " ता " इत्यादि, पौरुषी पुरुषप्रमाणा, प्रकाश्यस्य वस्तुनः प्रमाणा इत्यर्थः । छाया किंगते कतितमे भागे,शेषे वा भवति ?। भगवानाह-दिवसस्य चतुर्भागे गते,शेषे वा । इयं च दिवसस्य चतुर्भागे गते,चतुर्भागे शेषे वा प्रकाश्यस्य वस्तुनः स्वप्रमाणभूता छाया अन्यत्र ग्रन्थान्तरे सर्वाभ्यन्तरमण्डलमधिकृत्योक्ता । तथा च नन्द्यध्ययनचूर्णिग्रन्थः-"पुरिस त्ति संकु पुरिससरीरं वा, ततो पुरिसे निप्फन्ना पोरिसी, एवं सव्वस्स वत्थुणो यदा स्वप्रमाणा छाया भवति तदा पोरिसी हवइ, एयं पोरिसियमाणं उत्तरायणस्स अंते, दक्खिणायनस्स आइए एकं दिणं भवइ,अतो परं अट्ठ एगसट्ठिभागा अंगुलस्स दक्खिणायणे वड्ढं ति, उत्तरायणे हस्सं ति, एवं मंडले मंडले अन्नपोरिसी " इति । तत इदं सकलमपि पौरुषीविभागे प्रमाणप्रतिपादनं सर्वाभ्यन्तरं मण्डलमधिकृत्यावसेयम् । तथा-ता इति पूर्ववत्, द्व्यर्द्धपौरुषी सार्द्धपुरुषप्रमाणा छाया दिवसस्य किं भागे कतितमे भागे गते भवति, किं शेषे वा कतितमे भागे शेषे ?। भगवानाह-" ता " इति पूर्ववत्, दिवसस्य पञ्चमे भागे गते वा भवति, शेषे वा पञ्चमे भागे । 'एवं' इत्यादि । एवमुक्तेन प्रकारेणमर्द्धपौरुषीम् अर्द्धपुरुषप्रमाणां छायां क्षिप्त्वा २,पृच्छा पृच्छासूत्रं द्रष्टव्यम् (दिवसस्स भागं ति) पूर्वपूर्वसूत्रापेक्षया एकैकदिवसमधिकं दिवसस्य भागं क्षिप्त्वा २ व्याकरणमुत्तरसूत्रं ज्ञातव्यम् । तच्चैवम्-"विपोरिसीणं छाया किं गए वा, सेसे वा ?। ता छब्भागगए वा, सेसे वा। ता अड्ढाइज्जपोरिसीणं छाया किं गए वा, सेसे वा ?। ता सत्तभागगए वा, सेसे वा " इत्यादि । एतच्च तावत्, यावत् "ताउ गुणसट्ठि" इत्यादि सुगमम् । सातिरेकैकोनषष्टिपौरुषी तु छाया दिवसस्य प्रारम्भसमये,पर्यन्तसमये वा ?। तत आह-"ता नऽत्थि किं वि गते वा, सेसे वा " इति ।

संप्रति छायाभेदान् व्याचष्टे-

तत्थ खलु इमा पणवीसतिविहा छाया पन्नत्ता । तं जहा- खंभच्छाया रज्जुच्छाया पागारच्छाया पासायच्छाया उवगच्छाया उच्चत्तच्छाया अणुलोमच्छाया पडिलोमच्छाया आरुभिया उवहिया समावभिट्ठया खीलच्छाया पंखच्छाया पुरओ उदग्गा पच्छिउदग्गा पुरिसकंठभागोवगया पच्छिमकंठभागोवगया छायाणुवादिणी छाया छायच्छाया विकंपवेहा कडसमच्छाया गोलच्छाया ।

" तत्थ " इत्यादि । तत्र तस्यां छायायां विचार्यमाणायां खल्वियं पञ्चविंशतिविधा छाया प्रज्ञप्ता । तद्यथा-"खंभच्छाया" इत्यादि प्रायः सुगमम् । विशेषव्याख्यानं चामीषां पदानां शास्त्रान्तरात्, यथासंप्रदायाद्वा वाच्यम् ।

'गोलच्छाया' इत्युक्तम्, ततस्तामेव गोलच्छायां भेदत आह-

तत्थ खलु इमा अट्ठविहा गोलच्छाया पण्णत्ता । तं जहा-गोलच्छाया अवड्ढगोलच्छाया गोलगोलच्छाया अवड्ढगोलगोलच्छाया गोलावलिच्छाया अवड्ढगोलावलिच्छाया गोलपुंजच्छाया अवड्ढगोलपुंजच्छाया ।

" तत्थ " इत्यादि । तत्र तासां पञ्चविंशतिच्छायानां मध्ये खल्वियं गोलच्छाया अष्टविधा प्रज्ञप्ता । तद्यथा-गोलच्छाया गोलमात्रस्य या छाया, अपार्द्धस्य अपार्द्धमात्रस्य गोलस्य छाया अपार्द्धगोलच्छाया, गोलैर्बहुभिर्मिलित्वा यो निष्पादित एको गोलस्तस्य छाया गोलगोलच्छाया । अपार्द्धमात्रस्य गोलगोलस्य छाया अपार्द्धगोलगोलच्छाया । गोलानामावलिः गोलावलिस्तस्य छाया गोलावलिच्छाया, अपार्द्धा या गोलावलिच्छाया अपार्द्धगोलावलिच्छाया, गोलानां पुञ्जो, गोलोत्कर इत्यर्थः, तस्य छाया गोलपुञ्जच्छाया, अपार्द्धस्य गोलपुञ्जस्य छाया अपार्द्धगोलपुञ्जच्छाया । चं० प्र० ६ पाहु० । (छायाया द्रव्यत्वसिद्धिः ' तम ' शब्दे वक्ष्यते)

छायागइ-छायागति-स्त्री० । छायामनुसृत्य तदुपष्टम्भेन वा समाश्रयितुं गतौ, प्रज्ञा० ।

से किं तं छायागती ?। छायागती जेणं हयच्छायं वा गयच्छायं वा नरच्छायं वा किन्नरच्छायं वा महोरगच्छायं वा गंधव्वच्छायं वा रहच्छायं वा छत्तच्छायं वा उवसंपज्जित्ता णं गच्छति, सेत्तं छायागती ॥

छायागतिः-छायामनुसृत्य तदुपष्टम्भेन वा समाश्रयितुं गतिः छायागतिः । प्रज्ञा० १६ पद ।

छायाघाय–छायाघात–पुं० । प्रभापरिभ्रंशे, बृ० १ उ० ।

छायातो–छायातस्–अव्य० । छायाया इत्यर्थे, " छायातो सी-यंति " छायातः शीतकाले शीतमिति कृत्वा सीदन्ति । दशा० ७ अ० ।

छायापास–छायापार्श्व–पुं० । हिमाचलस्थायां श्रीपार्श्वनाथप्र-तिमायाम्, हिमाचले छायापार्श्वो मन्त्राधिराजः श्रीस्फुलिङ्गः १७। ती० ४५ कल्प ।

छायापासणाह–छायापार्श्वनाथ–पुं० । माहेन्द्रपर्वतस्थायां पार्श्वनाथप्रतिमायाम्, माहेन्द्रपर्वते छायापार्श्वनाथः ८ । ती० ४५ कल्प ।

छायालीस–षट्चत्वारिंशत्–स्त्री० । षडधिकचत्वारिंशत्सं-ख्यायां, तत्संख्याऽन्विते च । जी० ३ प्रति० । प्रज्ञा० ।

छायासमणुबद्ध–छायासमनुबद्ध–पुं० । छायया युक्ते, रा० ।

छायोवग–छायोपग–पुं० । छायामुपगच्छतीति छायोपगः । बहु-लच्छाये वृक्षे, तद्वत् अनुवर्तनापायसंरक्षणादिना सत्त्वोपेते स-व्ये पुरुषजाते च । स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

छायोवय–छायोपग–पुं० । ' छायोवग ' शब्दार्थे, स्था० ४ ठा० ३ उ० ।

छार–क्षार–त्रि० । क्षर—ज्वला०—वा णः । क्षरणशीले, लवण-रसे, धूर्ते, लवणे, पुं० । गुडे, टङ्कणे, सर्जिकाक्षारे, पुं० । वि-मलवणे, यवक्षारे च । वाच० । भूतौ, ओघ० । भस्मनि, आव० ४ अ० । ज्ञा० । आ० म० । बृ० । परस्परमग्निपरिणा-मिते इन्धने, नि० चू० १ उ० । "अभिणवरुक्खं अपुंजकयं छारो भण्णति " नि० चू० ३ उ० । मात्सर्ये, न० । जी० ३ प्रति० ।

छारयं–देशी–इक्षुशल्के, मुकुले च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छारिय–क्षारिक–न० । भस्मनि, भ० ५ श० २ उ० ।

छारो–देशी–अच्छभल्ले, दे० ना० ३ वर्ग ।

छाल–छाग–पुं० । "छागे लः" । ८ । १ । १९१ । छागे गस्य लो भवति । प्रा० १ पाद । " छस्य श्चोऽनादौ " । ८ । ४ । २९५ । मागध्यामनादाविति पर्युदासाच्छस्य श्चो न । अजे, प्रा० ४ पाद ।

छाव–शाव–पुं० शव–घञ् । " षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादे-श्छः " । ८ । २ । २६५ । इति शस्य छः । प्रा० २ पाद । शिशौ, स्वार्थे कस्तत्रैव । शवस्येदम् अण् । शवसंबन्धिनि, त्रि० । "त्रि-रात्रं शावमाशौचम् " इति स्मृतिः । वाच० ।

छावग–शावक–पुं० । शिशौ, सूत्र० १ श्रु० १४ अ० ।

छावण–छादन–न० । दर्भादिभिराच्छादने, बृ० १ उ० । आचा० । नि० चू० ।

छावपोयग–शावपोतक–पुं० । शाव एव अतिलघुत्वात्पोतः पो-तकः शावपोतकः । शिशौ, व्य० १ उ० ।

छासी–देशी–तक्रे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छाहा–छाया–स्त्री० । "छायायां होऽकान्तौ वा" । ८ । १ ।२४९। इति यस्य हः । प्रा० १ पाद । ' छाया ' शब्दार्थे, दश० १ अ० ।

छाही–देशी–गगने, दे० ना० ३ वर्ग ।

छि–छि–स्त्री० । छो–बा किः गर्हायाम्, वाच० । छले, पुं० । " छिः पुंसि प्रोच्यते छले, " एका० ।

छिंडिया–छिण्डिका–स्त्री० । अपवादे, ध० २ अधि० ।

' अणारं ति ' विवृण्वन्नाह–

रायाभिओगो य गणाभिओगो,
बलाभिओगो य सुराभिओगो ॥
कंतारवित्ती गुरुनिग्गहो य,
छ छिंडियाओ जिणसासणम्मि ॥ ६७३ ॥

तत्राभियोजनमनिच्छतोऽपि व्यापारणमभियोगः, राज्ञो नृपतेरभियोगो राजाभियोगः; गणः स्वजनादिसमुदायः, तस्या-भियोगो गणाभियोगः; बलं बलवतो हठप्रयोगः, तेनाभियोगो बलाभियोगः; सुरस्य कुलदेवतादेरभियोगः सुराभियोगः, का-न्तारमरण्यम्, तत्र वृत्तिर्वर्तनं निर्वाहः कान्तारवृत्तिः। यद्वा–का-न्तारमपि बाधाहेतुत्वादिह बाधात्वेन विवक्षितं, ततः कान्तारेण बाधया वृत्तिः प्राणवर्तनरूपा कान्तारवृत्तिः, कष्टेन निर्वाह इति यावत् । गुरवो मातापितृप्रभृतयः । यदुक्तम्–" माता पिता कलाचार्य, एतेषां ज्ञातयस्तथा । वृद्धा धर्मोपदेष्टारो, गुरुवर्गः सतां मतः " ॥१॥ तेषां निग्रहो निर्बन्धः। तदेताः षट् छिण्डिका अपवादाः, जिनशासने भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यम्–प्रतिपन्नसम्य-क्त्वस्य परतीर्थिकवन्दनादिकं यत् प्रतिषिद्धं तद्राजाभियो-गादिभिरेतैः षड्भिः कारणैः भक्तिवियुक्तं द्रव्यतः समा-चरन्नपि सम्यक्त्वं नातिचरतीति । प्रव० १४८ द्वार ।

छिंडी–छिण्डी–स्त्री० । वृत्तिछिद्ररूपायां छिण्डिकायाम्, ज्ञा० १ श्रु० २ अ० ।

छिंदित्ता–छित्त्वा–अव्य० । द्विधा कृत्वेत्यर्थे, स्था० ३ ठा० २ उ० । आचा० । क्षुरप्रादिना कूष्माण्डकमिव शतशः खण्डीकृत्ये-त्यर्थे, भ० १४ श० ८ उ० ।

छिंदिय–छित्त्वा–अव्य० । 'छिंदित्ता' शब्दार्थे, ठा० ३ ठा० २ उ० ।

छिंदियव्व–छेत्तव्य–अव्य० । द्वैधीकरणे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

छिंपक–छिम्पक–पुं० । वस्त्रेषु नानाजातीयमुद्राकर्तरि जातिवि-शेषे, स्था० ८ ठा० ।

छिक्क–स्पृष्ट–न० । "मलितोभयच्छिक्कुत्ताऽऽरुधपदातेर्मइलावह-सिपिच्छिक्काढत्तपाइक्कं" । ८ । २ । १३८ । इति 'छिक्क' आदेशः । प्रा० २ पाद ।

छिक्का–छिका–स्त्री० । छिक् इत्यव्यक्तं शब्दं करोति । क्षुते, वाच० । छिक्कते, आ० म० द्वि० । रात्रौ छिक्कायां प्रायश्चित्त-मुपस्थापनम् । महा० ७ अ० ।

छिक्किय–छिक्कित–न० । क्षीत्कृतौ, नि० चू० १ उ० ।

छिक्कोअणो–देशी–असहने, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिक्कं–देशी–स्पृष्टे, क्षुते च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छिच्छइ–पुंश्चली–स्त्री० । पुंसो भर्तुः सकाशाच्चलति पुरुषान्तरं गच्छति । अच्–गौरा० ङीष् । पुंसोऽन्त्यलोपे अस्परे खयि हस्तस्य संयुक्तानां सः । बा० स० । श्चुत्वम् । " गोणादयः " । ८ । २ । १७४ । इति निपातः पुंश्चलीशब्दस्य ' छिच्छइ ' आदेशः । प्रा० २ पाद । असत्यां स्त्रियाम्, उपचारात्पारदारिके पुरुषे-ऽपि, पुं० । वाच० ।

छिच्छि–धिक्धिक्–अव्य० । वीप्सायां द्वित्वम् । " गोणादयः " । ८ । २ । १७४ । इति धिग्धिगित्यस्य स्थाने 'छिच्छि' इत्यादेशो निपातनात् । प्रा० २ पाद । निन्दायाम् , एतद्योगे निन्दावाचकाच्छब्दाद् द्वितीया । "धिक् धिक् शक्राजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा । " वाच० ।

छिच्छिकार–धिक्धिक्कार–पुं० । पुनःपुनर्धिक्कारे, स्था० ५ ठा० ३ उ० ।

छिज्ज–छेद्य–न० । छेत्तुं योग्ये, सूत्र० २ श्रु० ५ अ० ।

छिज्जउं–छेत्तुं–अव्य० । द्विधा कर्तुमित्यर्थे, तं० ।

छिज्जमाण–छिद्यमान–त्रि० । खड्गादिभिः अवच्छ्यमाने, उपा० ७ अ० । छिद्यमानं छिन्नम् । भ० १ श० १ उ० । प्रश्न० । विपा० ।

छिड्ड–छिद्र–न० । छिद्–रक् । छिद्र–अच् वा । दूषणे, गर्ते, अवकाशे, ज्योतिषोक्ते लग्नतोऽष्टमस्थाने, वाच० । प्रवेशद्वारे, प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । नि० चू० । राजव्यापारविरहत्वे, विपा० १ श्रु० २ अ० । अल्पपरिवारत्वे, विपा० १ श्रु० १ अ० । छिद्रश्छेदनस्यास्तित्वाच्छिद्रम् । भ० २ श० २ उ० ।

छिड्डगुम–छिद्रगुम–पुं० । फाणिते , नि० चू० १३ उ० ।

छिड्डघाति–छिद्रघातिन्–पुं० । छिद्रे अवसरे घ्नन्तीत्येवंशीला ये ते तथा । तत्यवसरे घातकारिषु , प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । "छिड्डे परिसेवति" । " छिड्डाते पुणो लोए चोप्पालए अएणंति " नि० चू० १ उ० ।

छिड्डपाणि–छिद्रपाणि–पुं० । सत्तविधपात्रनिर्योगसमन्विते जिनकल्पिके, आचा० २ श्रु० १ अ० ३ उ० ।

छिण्ण–छिन्न–त्रि० । छिद्–क्तः । कृतच्छेदने, लूने, अवच्छेदे, वाच० । त्रुटिते, आतु० । निराकृते, आ० म० द्वि० । आचा० । अपनीते, सूत्र० १ श्रु० ८ अ० । अपगते, उत्त० २ अ० । विभक्ते, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । विपा० । " वाहच्छिण्णा व गद्दभा " । छिन्नाः कर्षितास्त्रुटिताः । सूत्र० १ श्रु० ३ अ० ४ उ० । त्रोटिते, सूत्र० १ श्रु० ११ अ० । छिद्यते इति छिन्नम् । वस्त्रादीनां सूचकादिना दशने, उत्त० १५ अ० । द्विधा कृते, तं० । आचा० । उत्त० । प्रश्न० । विपा० । औ० । निर्धारिते, वृ० १ उ० । जारे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिण्णकहंकह–छिन्नकथंकथ–त्रि० । छिन्ना अपनीता कथं कथमपि या कथा रागकथादिका विकथारूपा येन स छिन्नकथंकथः । यदि वा कथमिच्छितमरणप्रतिज्ञां निर्वहिष्ये इत्येवंरूपा या कथा सा छिन्ना येन स छिन्नकथंकथः । दुष्करानुष्ठानविधायिनि, आचा० २ श्रु० ८ अ० ६ उ० ।

छिण्णगंथ–छिन्नग्रन्थ–त्रि० । छिन्नो ग्रन्थो धनधान्यादिः, तत्प्रतिबन्धो वा येन सः । छिन्नस्त्यक्तो हिरण्यादिग्रन्थो येन स तथा । निर्ग्रन्थे, स्था० ६ ठा० । आ० । कल्प० । प्रश्न० ।

छिण्णच्छेय–छिन्नच्छेद–त्रि० । छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन स छिन्नच्छेदः । प्रत्येकं कल्पितपर्यन्ते, नं० ।

छिण्णच्छेयणअ–छिन्नच्छेदनय–पुं० । यो नयः सूत्रं छेदेन छिन्नमेवाभिप्रैति, न द्वितीयेन सूत्रेण सह संबन्धयति तस्मिन्नयविशेषे, यथा–"धम्मो मंगलमुक्किट्ठं " इति श्लोकम् । तथा ह्ययं श्लोकः छिन्नच्छेदनयमतेन व्याख्यायमानो न द्वितीयादीन् श्लोकानपेक्षते, नापि द्वितीयादयः श्लोका इममुम् । अयमत्राभिप्रायः–तथा कथञ्चनाप्यमुं श्लोकं पूर्वसूरयः छिन्नच्छेदनयमते व्याख्यान्ति स्म , यथा न मनागपि द्वितीयादिश्लोकानामपेक्षा भवति, द्वितीयादीनपि श्लोकान् तथा व्याख्यानयन्ति स्म , यथा न तेषां प्रथमश्लोकस्यापेक्षा, तथा सूत्राण्यपि यथायथाभिप्रायेण परस्परं निरपेक्षाणि व्याख्यान्ति स्म स छिन्नच्छेदनयः । छिन्नो द्विधाकृतः पृथक्कृतः छेदः पर्यन्तो येन स छिन्नच्छेदः, प्रत्येकं कल्पितपर्यन्त इत्यर्थः । स चासौ नयश्च छिन्नच्छेदनयः । नं० । आ० म० । स० ।

छिण्णच्छेयणइय–छिन्नच्छेदनयिक–त्रि० । छिन्नछेदनयोऽस्त्यस्य "अतोऽनेकस्वरात्" ॥ ७ । २ । ६ ॥ इतीकप्रत्ययः । छिन्नच्छेदनयवति, यथा दृष्टिवादे ऋजुसूत्रादीनि द्वाविंशतिः सूत्राणि छिन्नच्छेदनयिकानि । नं० । स० ।

छिण्णजाला–छिन्नज्वाला–स्त्री० । इन्धनस्याभिस्त्रुटितार्चिषि, पञ्चा० १३ विव० ।

छिण्णऽद्धाणंतर–छिन्नाध्वान्तर–न० । पथिभेदे, यत्र ग्रामनगरपल्लीप्रजिकानां किञ्चिदेकतरमपि नास्ति, सर्वथैव शून्यत्वात् । वृ० १ उ० ।

छिण्णपुव्व–छिन्नपूर्व–त्रि० । पूर्वं द्विधा कृते , उत्त० १६ अ० ।

छिण्णबंधण–छिन्नबन्धन–पुं० । छिन्नमपनीतं बन्धनं कषायात्मकं येन स छिन्नबन्धनः । ममत्वरहिते, सूत्र० २ श्रु० ८ अ० । व्य० ।

छिण्णमडंब–छिन्नमडम्ब–न० । अनासन्नवसत्यन्तरे, " छिण्णमडंबं णाम जस्स गामस्स णगरस्स वा उग्गढे सव्वासु दिसासु अण्णो गामो णऽत्थि गोकुलं वा तच्छिन्नमडंबं, तं च असेव्वं भवति " नि० चू० १० उ० ।

छिण्णरुह–छिन्नरुह–पुं० । छिन्नः सन् रोहति । रुह–कः । तिलकवृक्षे, गुडूच्याम्, स्त्री० । स्वर्णकेतक्याम् , शल्लक्यां च । स्त्री० । वाच० । छिन्ना गृहादानीतं शुष्कतादवस्थां प्राप्तमपि जलादिसामग्रीं प्राप्य गुडूच्यादिवत्पुनरपि यत्प्ररोहति तच्छिन्नरुहम् । तदेतैर्लक्षणैः साधारणं शरीरं ज्ञेयमनन्तकायिकमित्यर्थः । प्रव० ४ द्वार । प्रज्ञा० ।

छिण्णसोय–छिन्नशोक–त्रि० । नष्टशोके, ओघ० । प्रश्न० ।

छिन्नस्रोतस्–त्रि० । छिन्नान्यपनीतानि स्रोतांसि संसारावतरद्वाराणि यथाविषयमिन्द्रियवर्तनानि प्राणातिपातादीनि वा आश्रवद्वाराणि येन सः । सूत्र० १ श्रु० १५ अ० । स्रोतो द्विविधम्–द्रव्यस्रोतो, भावस्रोतश्च । तत्र द्रव्यस्रोतो नद्यादिप्रवाहः । भावस्रोतश्च संसारसमुद्रपात्यशुभो लोकव्यवहारः, स छिन्नो येन स तथा । त्रुटितद्रव्यभावप्रवाहे, प्रश्न० ५ सम्ब० द्वार । औ० । सूत्र० । उत्त० ।

छिण्णाल–छिन्नाल–पुं० । तथाविधदुष्टजातौ , " छिण्णाले छिंदई सेल्लिं " उत्त० २७ अ० । वृ० । जारे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिण्णावाय–छिन्नापात–त्रि० । छिन्नोऽपगत आपातोऽन्योऽन्यत आगमनात्मकोऽर्थार्जनस्य येषु ते छिन्नापाताः विविक्ते-

षु मार्गेषु , उत्त० २ अ० । व्यवच्छिन्नसमागमेषु, वृ० ४ उ० । छिन्ना आपाताः सार्थगोकुलादीनां यस्यां सा तथा । स्था० ४ ठा० २ उ० । व्यवच्छिन्नसार्थघोषाद्यापातासाम , भ० १५ श० १ उ० ।

छित्त-क्षेत्र-न० । स्थाने, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

स्पृष्ट-न० । " क्तेनाप्फुण्णादयः " । ८ । ४ । २५८ । इति स्पृष्ट इत्यस्य ' छित्त ' आदेशः । प्रा० ४ पाद । दे० ना० ३ वर्ग ।

छित्तर-छित्वर-न० । वंशादिमये छादनाधारभूते किलिञ्जे, भ० ८ श० ९ उ० ।

छिद्द-छिद्र-न० । रन्ध्रे, भ० १२ श० ४ उ० । प्रज्ञा० । आव० । तं० । अल्पपरिवारत्वे, विपा० १ श्रु० ६ अ० । पं० सू० । " खलः सर्षपमात्राणि, परच्छिद्राणि पश्यति । आत्मनो बिल्वमात्राणि, पश्यन्नपि न पश्यति ॥ १ ॥ " उत्त० ३ अ० । लघुमत्स्ये, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिद्दपेहि (ण्)-छिद्रपेक्षिन्-पुं० । छिद्राणि प्रमत्ततादीनि प्रेक्षते इति । पाराञ्चितयोग्यप्रमत्ततादिरूपप्रतिसेवनाकर्तरि, स्था० ५ ठा० १ उ० ।

छिन्द-छिद्-धा० । द्वेधीकरणे, " छिदिभिदो न्दः " । ८ । ४ । २१६ । इति छिदेर्दस्य ' न्द ' आदेशः " छिन्दइ " छिनत्ति । प्रा० ४ पाद ।

छिन्दावण-छेदन-न० । वनस्पत्यादीनामन्यैश्छेदने, ' छपणं ' प्रायश्चित्तं चतुर्थमाचामाम्लमेकाशनकं निर्विकृतिकं वा । महा० ७ अ० ।

छिप्प-स्पृश-धा० । तुदा० पर० सक० अनिट् । स्पर्शे, वाच० । " स्पृशेश्छिप्पः " । ८ । ४ । २५७ । स्पृशतेः कर्मभावे ' छिप्प ' आदेशो वा भवति, क्यलुक् च । ' छिप्पइ ' स्पृश्यते । प्रा० ४ पाद ।

छिप्प-देशी-न० । भिक्षायां, पुच्छे च । दे०ना०३ वर्ग । विपा० ।

छिप्पंत-क्षिप्यमाण-त्रि० । तूर्यभेदे, आ० चू० १ अ० ।

छिप्पंती-देशी-व्रतभेदे । उत्सवे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छिप्पतूर-क्षिप्रतूर्य-न० । द्रुतं वाद्यमाने तूर्ये, ज्ञा० १ श्रु० १६ अ० । " छिप्पतूरेणं वज्जमाणेणं " विपा० १ श्रु० २ अ० ।

छिप्पदूर-देशी-गोमयकरणे विषमे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिप्पोल्ली-छिप्पोल्ली-स्त्री० । बर्करादिलेण्डे, नि० चू० १ उ० ।

छिरा-शिरा-स्त्री० । " शिरायां वा " । ८ । १ । २६६ । शिरा शब्दे आदेशः । प्रा० १ पाद । नाडीषु, शिरा नाड्यः । भ० ६ श० ३३ उ० ।

छिलिय-सिण्टित-न० । सीत्कारकरणे,प्रश्न० ३ आश्र० द्वार ।

छिल्लवण-पलाशवन-न० । मथुरास्थे पलाशवने, ती० ९ कल्प ।

छिव-स्पृश-धा० । प०-सक०-अनिट् । स्पर्शे, "स्पृशः फासफंसफरिसछिवछिहालुंखालिहाः " । ८ । ४ । १८२ । इति स्पृशतेः ' छिव ' आदेशः । प्रा० ४ पाद । श्लक्ष्णे, ज्ञा० १ श्रु० ९ अ० । ' छिवन्ति ' छुपन्ति धारयन्ति, हस्ताञ्जलिभिरिति गम्यते । प्रश्न० ४ आश्र० द्वार ।

छिवण-स्पर्शन-न० । छुपने, जीवा० १७ अधि० ।

छिवा-छिपा-स्त्री० । श्लक्ष्णचर्मकशायाम्, विपा० १ श्रु० ६ अ० ।

छिवाडिआ-छेदपाटी-स्त्री० । वल्लादिफलिकायाम,अं०१ वक्ष० ।

छिवाडियपोत्थय-छेदपाटीपुस्तक-न० । "छिवाडिए ताहे । तणुपत्तूसियरूवा, होइ छेवाडी बुहा वेंति ॥ ४ ॥ दीहो वा हस्सो वा, जो पिहुलो होइ अप्पबाहल्लो । तं मुणिय समयसारा, छिवाडिपोत्थं भणंतीह ॥ ५ ॥ " (छिवाडिप त्ति) तनुभिः पत्रैरुच्छ्रितरूपः किञ्चिदुन्नतो भवति छेदपाटीपुस्तक इति । स्था० ४ ठा० २ उ० ।

छिविअ-देशी-न० । इक्षुखण्डे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिविऊण-स्पृष्ट्वा-अव्य० । स्पर्शं कृत्वेत्यर्थे, महा० ७ अ० ।

छिव्व-देशी-न० । कृत्रिमे , दे० ना० ३ वर्ग ।

छिह-स्पृश-धा० । प०-तुदा०-सक०-अनिट् । स्पर्शे, "स्पृशः फासफंसफरिसछिवछिहालुंखालिहाः" । ८ । ४ । १८२ । इति स्पृशेः ' छिह ' आदेशः । प्रा० ४ पाद ।

छिहली-छिहली-स्त्री० । शिखायाम् , वृ० ४ उ० । आव० ।

छिहंम-शिखाग्र-न० । मयूरशिखायाम , ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

छिहंडअ-देशी-न० । दधिसरे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छिहंडि(ण्)-शिखण्डिन्-पुं० । शिखण्डोऽस्त्यस्य इति । मयूरे, वाच० । शिखापति, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० ।

छिहा-स्पृहा-स्त्री० । स्पृह-कः । "इत्कृपादौ" । ८ । १ । १२८ । कृपा इत्यादिषु शब्देष्वादेर्ऋत इत्वं भवति इति इत्वम् । प्रा० १ पाद । "स्पृहायाम्" । ८ । २ । २३ । स्पृहाशब्दे संयुक्तस्य छो वा भवति इति छः । प्रा० २ पाद । सर्पघातिनी (कङ्कालिका) वृक्षे, कण्टकार्याम्, स्त्री० । गौरा० ङीष् । वाच० ।

छी-श्री-स्त्री० । बिल्ववृक्षे , वृत्तलक्ष्म्याम् , एका० ।

छीय-क्षुत-न० । क्षवणं क्षुतम् । "क्षोऽक्ष्यादौ" । ८ । २ । १७ । इति छः । प्रा० २ पाद । " ईः क्षुते " । ८ । १ । ११२ । इति आदेरुत ईत्वम् । प्रा० २ पाद । छिक्कायाम् , नि० चू० १ उ० । ला० । आ० म० । आ० चू० । आव० । नं० । विशे० ।

छीयमाण-क्षुवत्-पुं० । क्षुतं कुर्वति,आचा०२ श्रु० २ अ० ३ उ० ।

छीण-क्षीण-त्रि० । क्षि-क्तः । " क्षः खः क्वचित्तु छझौ " । ८ । २ । ३ । इति क्षस्य छः । प्रा० २ पाद । दुर्बले, क्षामे च । वाच० ।

छीर-क्षीर-पुं० । न० । क्षि-क्रन्-दीर्घश्च । 'घस'अदने-इरन् किच्च उपधालोपे, चर वा अर्द्धर्चा० । वाच० । " क्षोऽक्ष्यादौ " । ८ । २ । १७ । इति क्षस्य छः । प्रा० २ पाद । दुग्धे, जले, सरलद्रवे, वाच० ।

छीरविरालिया-क्षीरविमालिका-क्षीरविदारिका-स्त्री० । क्षीरमिव शुभ्रा विदारी । श्वेतभूमिकूष्माण्डे, वाच० । क्षीरप्रधाना विदारी । शुक्लकृष्णयोर्भूमिकूष्माण्डयोः, वाच० । जीवा० । प्र० ।

छीरल-क्षीरल-पुं० । भुजपरिसर्पविशेषे, प्रश्न०१ आश्र० द्वार ।

छु-छु-अनुकरणशब्दः । दुष्टजीवनिवारणे, बृ० १ उ० ।

छुई-देशी-बलाकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

छुंछुमुसय-देशी-रणरणके, दे० ना० ३ वर्ग ।

छुंदं-देशी-बहुनि, दे० ना० ३ वर्ग ।

छुक्कारण-धिक्कारण-न० । धिक्कारे, पुनः पुनर्धिक्कारे च । बृ०२ उ० ।

छुच्छुकरंत-छुच्छुकुर्वत्-त्रि० । छुच्छुगितिशब्देन कुक्कुरान् निवारयति, आ० म० द्वि० । आचा० ।

छुज्जमाण-क्षुद्यमान-त्रि० । पीड्यमाने, संथा० ।

छुट्ट-छुटित-त्रि० । मुक्ते, आव०४ अ० ।

छुड्डिया-क्षुद्रिका-स्त्री० । आभरणविशेषे, प्रश्न०५ सम्ब० द्वार ।

छुण्ण-क्षुण्ण-त्रि० । क्षुद-क्तः । "छोऽक्ष्यादौ" । ८ । २ । १७ । इति क्षस्य छः । प्रा०२ पाद । अभ्यस्ते, विहते, चूर्णीकृते च । वाच० । पिष्टे, संथा० । आचा० ।

छुण्णाछुण्ण-क्षुण्णाक्षुण्ण-त्रि० । पिष्टापिष्टे, संथा० ।

छुत्त-छुप्त-त्रि० । स्पृष्टे, आचा०१ श्रु०१ अ०४ उ० । सूत्र० ।

सुप्त-न० । स्वप-भावे क्तः । संप्रसारणम् । निद्रायाम्, शयने, सुषुप्तौ, कर्तरि-क्तः । निद्रिते, त्रि० । वाच० ।

छुद्दहीर-देशी-न० । शिशौ, विधौ च । दे० ना०३ वर्ग ।

छुन्द-आक्रम-पुं० । आ-क्रम-घञ्-अवृद्धिः । "आक्रमेरोहावोत्थारच्छुन्दाः" । ८ । ४ । १६० । इत्याक्रमेः 'छुन्द' आदेशः । प्रा० ४ पाद । बलेनातिक्रमणे, वाच० ।

छुप्प-क्षुप्-धा० । तुदा०-पर०-सक०-अनिट् । "गमादीनां द्वित्वम्" । ८ । ४ । २४६ । गमादीनामन्त्यस्य कर्मभावे द्वित्वं वा भवति, तत्सन्नियोगे क्यस्य च लुक्, इति पस्य द्वित्वम् । 'छुप्पइ-छुविज्जइ' क्षुप्यते । प्रा० ४ पाद ।

छुप्पंत-क्षिपत्-त्रि० । प्रक्षिपति, नि० चू०१ उ० ।

छुमा-क्षमा-स्त्री० । क्षमौ, दश० १ चू० ।

छुर-छुर-धा० । तुदा०-पर०-सक०-सेट् । छुरति, अच्छुरीत्, चुच्छोर, छुरितः । लेपने, वाच० । चुरा०-पर०-सक०-सेट् । छोरति, अच्छोरीत्, चुच्छोर । छेदे, वाच० ।

क्षुर-पुं० । क्षुर-कः, क्षु-रक् वा । "छोऽक्ष्यादौ" । ८ । २ । १७ । इति क्षस्य छः । प्रा० २ पाद । नापितास्त्रे, पश्वादीनां शफे, (खुर) कोकिलाक्षे, गोक्षुरे, महापिण्डीतके, बाणे च । खट्वादिपादुकायाम्, वाच० ।

छुरघरय-क्षुरगृहक-न० । नापितस्य चर्मोर्णादिमये क्षुरकर्तर्याद्याधारे उपकरणे, नि० चू० १ उ० ।

छुरमड्डि-देशी-क्षुरहस्ते, दे० ना० ३ वर्ग ।

छुरमुंम-क्षुरमुण्ड-पुं० । क्षुरमुण्डितशिरसि, पञ्चा०१० विव० ।

छुरिया-छुरिका-स्त्री० । छुर-छेदे, स्वार्थे कः, टापि अत इत्वम् । स्वनामख्याते अस्त्रभेदे, वाच० । आचा० । आ० म० । उत्त० । मृत्तिकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

छुह-क्षिप-धा० । दिवा० पर० सक०-अनिट् । "क्षिपेर्गलत्थाडक्ख-सोल्लपेल्लणोल्लछुहहुलपरीघत्ताः" । ८ । १४३ । इति क्षिपेः 'छुह' आदेशः । 'छुहइ' । प्रा० ४ पाद । प्रेरणे, वाच० । 'छुहइति' प्रवेशयति । व्य० १ उ० । 'छुहंति' प्रक्षिपन्ति । आ० म० प्र० ।

छुहा-क्षुधा-स्त्री० । "छोऽक्ष्यादौ" । ८ । २ । १७ । इति क्षस्य छः । प्रा० २ पाद । बुभुक्षायाम्, पं० सू० ३ सूत्र । आ० म० । उत्त० । "पंथसमा नऽत्थि जरा, दारिद्दसमो य परिभवो नऽत्थि । मरणसमं नऽत्थि भयं, छुहासमा वेयणा नऽत्थि" ॥ १ ॥ गच्छा० २ अधि० । "क्षुधार्त्तः शक्तिमान् साधु-रेषणां नातिलङ्घयेत् । अदीनो व्याकुलश्चरेत् ॥ १ ॥" आ० म० द्वि० ।

सुधा-स्त्री० । "षट्शमीशावसुधासप्तपर्णेष्वादेश्छः" । ८ । १ । २६५ । इति सस्य छः । प्रा० १ पाद । अमृते, लेपन (कलीचून) द्रव्ये, वाच० ।

छुहिअ-देशी-लिप्ते, दे० ना० ३ वर्ग ।

छूढ-क्षिप्त-त्रि० । क्षिप-क्तः । "वृक्षक्षिप्तयो रुक्खछूढौ" । ८ । २ । १२७ । इति क्षिप्तस्य 'छूढ' आदेशः । प्रा० २ पाद । "न दीर्घानुस्वारात्" । ८ । २ । ९२ । दीर्घानुस्वाराभ्यां लाक्षणिकाभ्यामलाक्षणिकाभ्यां च परयोः शेषादेशयोर्द्वित्वं न भवति । प्रा० २ पाद । प्रेरिते, त्यक्ते, विकीर्णे, अवज्ञाते, रागद्वेषादिवशाद्विषयाऽऽसक्तचित्ते, वायुरोगग्रस्ते च । वाच० । नि० चू० । व्य० । उत्त० ।

छेओ-देशी-अन्ते, देवरे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छेओवट्ठावण-छेदोपस्थापन-न० । छेदेन पूर्वपर्यायनिरोधेन उपस्थापनमारोपणं महाव्रतानां यत्र तच्छेदोपस्थापनम् । संयमभेदे, पञ्चा० ११ विव० । अनु० । "छेत्तूण उ परियागं, पोराणं तो ठविंति अप्पाणं । धम्मम्मि पंचजामे, छेओवट्ठावणे स खलु" ॥ पं० भा० ।

छेओवट्ठावणिय-छेदोपस्थापनिक (नीय)-पुं० । छेदस्य पूर्वपर्यायस्योपस्थापनं च व्रतेषु यत्र तच्छेदोपस्थापनम् । तदेव छेदोपस्थापनिकम् । तेवा विद्यते यत्र तच्छेदोपस्थापनिकम् । अथवा-पूर्वपर्यायच्छेदेन उपस्थाप्यते आरोप्यते यन्महाव्रतलक्षणं चारित्रं तच्छेदोपस्थापनीयम् । तदपि द्विधा-अनतिचारं, सातिचारं च । तत्रानतिचारम्-यदित्वरसामायिकस्य शिष्यकस्यारोप्यते पार्श्वनाथसाधोर्वा पञ्चयामधर्मप्रतिपत्तौ । सातिचारं-यन्मूलप्रायश्चित्तप्राप्तस्येति । इहापि गाथे—

" परियायस्स उ छेओ, जत्थोवट्ठावणं वएसु च छेदो ।
छेदोवट्ठावणमिह, तमणइयारेतरं दुविहं ॥ १ ॥
सेहस्स निरइयारं, तित्थंतरसंकमेव तं होज्जा ।
मूलगुणघाइणो सा-इयारमुभयं च ठियकप्पे" ॥ २ ॥

प्रथमपश्चिमतीर्थयोरित्यर्थः । स्था० ५ ठा० २ उ० । भ० । पञ्चा० । अनु० । विशे० । उत्त० । कर्म० । पं० सं० । स्था० । आ० म० ।

अथ छेदोपस्थापनाय साधूनां कल्पस्थितिमाह—

दसठाणठितो कप्पो, पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
एसो धुतरयकप्पो, दसठाणपतिट्ठितो होति ॥

दशस्थानस्थितः कल्पः पूर्वस्य च पश्चिमस्य च जिनस्य तीर्थक-

रस्य, छेदोपस्थापनीयसाधूनां मन्तव्यः । तदेवम् एष धूतरजाः कल्पो दशस्थानप्रतिष्ठितो भवति ।

तान्येव दश स्थानानि दर्शयति–

आचेलकुद्देसिय–सिज्जायररायपिंडकितिकम्मे ।

वतजेट्ठपडिकमणे, मासप्पज्जोसवणकप्पो ॥

आचेलक्यमौद्देशिकं शय्यातरपिण्डो राजपिण्डकृतिकर्मव्रतानि (जेट्ठ त्ति) पुरुषज्येष्ठो धर्मप्रतिक्रमणं मासकल्पः पर्युषणाकल्पश्चेति द्वारगाथासमासार्थः । बृ० ६ उ० । विशे० । स्था० । आव० । औ० ।

छेओवट्ठावणियचरित्तलद्धि– छेदोपस्थापनिकचरित्रलब्धि – स्त्री० । छेदे प्राक्तनसंयमस्य व्यवच्छेदे सति यदुपस्थापनीयं साधावारोपणीयं तच्छेदोपस्थापनीयम्, पूर्वपर्यायच्छेदेन महाव्रतानामारोपणमित्यर्थः । तच्च सातिचारमनतिचारं च । तत्रानतिचारं यदित्वरसामायिकस्य शिक्षकस्यारोप्यते, तीर्थान्तरसंक्रान्तौ वा । यथा–पार्श्वनाथतीर्थाद्वर्द्धमानस्वामितीर्थे संक्रामतः पञ्चयामधर्मप्राप्तौ । सातिचारं तु–मूलगुणघातिनो यद् व्रतारोपणं तच्च तच्चारित्रं च छेदोपस्थापनीयचरित्रं, तस्य लब्धिः छेदोपस्थापनीयचरित्रलब्धिः चरित्रलब्धिविशेषे, भ० ८ श० २ उ० ।

छेज्ज–छेद्य–त्रि० । छेत्तुं योग्यः कर्मणि योग्यार्थे ण्यत् । भेत्तुं योग्ये, " शीर्षच्छेद्यमतोऽहं स्याम् " उद्भिः । वाच० । पत्रच्छेद्यादौ ग्रथितभेदे, दश० २ अ० ।

छेमा–देशी–शिखायाम्, नवमालिकायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेंडी–देशी–लघुरथ्यायाम्, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेत्त–क्षेत्र–न० । " क्षोऽक्ष्यादौ " । ८ । २ । १७ । इति संयुक्तस्य छः । प्रा० २ पाद । स्थाने, ओघ० । रा० ।

छेत्तरं–देशी–जीर्णे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेत्तसोवणय–देशी–न० । क्षेत्रजागरणे, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेत्ता–छेतृ–त्रि० । छेदकर्तरि, छेत्ता भवति कर्णनासाविकर्तनतः । आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

छेत्तुमण–छेत्तुमनस्–त्रि० । उन्मूलयितरि, आचा० १ श्रु० २ अ० १ उ० ।

छेधो–देशी–स्थासके, चौरे च । दे० ना० ३ वर्ग ।

छेभओ–देशी–स्थासके, दे० ना० ३ वर्ग ।

छेय–छेक–पुं० । छो–वा–मेकन् । गृहाशक्ते मृगपक्ष्यादौ, नागरविदग्धे, त्रि० । विदग्धप्रिये शब्दालङ्कारूपे अनुप्रासभेदे, मत्तायां स्त्रियाम्, स्त्री० । वाच० । प्रयोगज्ञे, ज्ञा० १ श्रु० १ अ० । अनु० । ज्ञ० । उपा० । निपुणे, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० । ज्ञा० । प्रश्न० । रा० । औ० । जी० । दक्षे, आ० म० प्र० । विशे० । ज्ञा० । जं० । " छेयलाघवपहारसाधिया " छेका दक्षा लाघवप्रहारेण दक्षतायुक्तघातेन साधिता निर्मिता यैस्ते तथा । प्रश्न० ३ आश्र० द्वार । अवसरज्ञे, कल्प० ३ क्षण । विघ्नपरिहारदक्षे, कल्प० २ क्षण । जीवा० । आ० म० । अवसरज्ञे सप्ततिकलापण्डिते, औ० । " इय च्छेयओ इति " छेका इत्येवमुपलभ्यमानाद्भुतप्रकारेण, एवमन्यत्रापि छेकाः प्रशस्तकाः प्रस्तावज्ञाः कलापरिमता इति वृद्धा व्याचक्षते । उपा० ७ अ० ।

छेद–पुं० । छिद्–भावे घञ्, अच्–वा । छेदने, छेदके, नाशके, " छेदं गुणं गुणं छेदम् " इति लीलावती । कर्मणि घञ् । खण्डे, त्रि० । खण्डार्थस्य तु त्रिलिङ्गत्वेन स्त्रियां गौरा० ङीष्, ततो नित्यमर्हति ठञ्, छेदिकम् । नित्यच्छेदार्हे वेतसादौ, वाच० । पर्यन्ते, नं० । प्रश्न० । विनाशे, आ० म० द्वि० । विभजनार्थे, मण्ड० । करपत्रादिभिः पाटने, आव० ६ अ० । आचा० । तपसा दुर्दमस्याहोरात्रपञ्चकादिना क्रमेण श्रमणपर्यायच्छेदने, पञ्चा० १६ विव० । ध० । "मासेसु पंचराया–इ पज्जायछेदणं छेदो" । ग० १ अधि० । यस्मिन् पुनरापतिते प्रायश्चित्ते संदूषितपूर्वपर्यायदेशावच्छेदः शेषपर्यायरक्षानिमित्तं व्याध्यादिसंदूषितशरीरैकदेशच्छेदनमिव शेषशरीरावयवपरिपालनाय क्रियते भवे छेदार्हत्वाच्छेदः । व्य० १ उ० ।

संप्रति लाघवमपेक्षमाणश्छेदार्हमपि प्रायश्चित्तमत्रैव विषये प्रतिपादयति–

एएसिं अण्णयरं, निरंतरं अतिचरेज्ज तिक्खुत्तो ।

निक्कारणमगिलाणे, पंच उ राइंदिया छेदो ॥

एतेषामनन्तरोदितानां रात्रिन्दिवपञ्चकप्रायश्चित्तविषयाणां स्थानानामन्यतरस्थानमग्लानो निष्कारणं यो निरन्तरमतिचरेत् त्रिःकृत्वस्त्रीन् वारान्, तदा तत्पर्यायस्य छेदः क्रियते पञ्च रात्रिन्दिवानि, अपञ्चलक्षणमेतत्–येष्वनन्तरोदितेषु स्थानेषु मासलघुकानि प्रायश्चित्तान्युक्तानि तेषामन्यतरस्थानमग्लानो निष्कारणं यदि निरन्तरं त्रीन् वारान् अतिचरति, तदा तत्पर्यायस्य छेदो मासिक इति द्रष्टव्यम् । व्य० १ उ० । सप्तमे प्रायश्चित्ते, स्था० ४ ठा० १ उ० । आव० ।

छेयकर–छेदकर–पुं० । अप्रशस्तमनोविनये, औ० । आचा० ।

छेयकूडगरूवग–छेककूटकरूपक–पुं० । छेकश्चासौ कुरुः कूटकश्च कथञ्चिदशुद्धश्छेककूटकः, स चासौ रूपकश्च छेककूटकरूपकः । शुद्धाशुद्धमुद्रायाम्, वन्दनायाः शुद्धाशुद्धविचारे, पञ्चा० ३ विव० । (छेककूटकरूपकदृष्टान्तः ' चेइयवंदण ' शब्देऽस्मिन्नेव भागे १३३२ पृष्ठे द्रष्टव्यः)

छेयगंथ–छेदग्रन्थ–पुं० । उत्सारकशास्त्रे, जीवा० ११ अधि० । जीतकल्पनिशीथादौ, प्रव० १० द्वार । ते च षट्–निशीथं, महानिशीथं, दशाश्रुतस्कन्धो, बृहत्कल्पः, व्यवहारः पञ्चकल्पश्चेति । ह्री० २ प्रका० ।

छेयण–छेदन–न० । ' छिद् ' भावे ल्युट् । द्विधा करणे, ज्ञा० १ श्रु० १७ अ० । अनु० । उत्त० । प्रश्न० । परिच्छेदकारिवचसि, बृ० १ उ० । जीवत एव हृदयोत्कर्तने, दशा० ६ अ० । बृ० । नि० चू० । उत्तरोत्तरशुभाध्यवसायारोहणात् स्थितिह्रासजनने, आचा० १ श्रु० ८ अ० ८ उ० । " एगे छेयणे " छेदनं शरीरस्यान्यस्य वा खड्गादिना । स्था० १ ठा० १ उ० ।

छेयणग–छेदनक–न० । शस्त्रादौ, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । राशेरर्द्धीकरणे, अनु० । अब्जीवभेदे, सूत्र० २ श्रु० ३ अ० । सूक्ष्मावयवे, बृ० १ उ० ।

छेयबुद्धि–छेकबुद्धि–स्त्री० । निपुणबुद्धौ, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

छेययर–छेदकर–पुं० । व्यवच्छेदकारिणि, पञ्चा० ३ विव० ।

छेयवाइ (ण्)–छेकवादिन्–पुं० । निपुणोऽहमित्येवं वादिनि पण्डिताभिमानिनि, सूत्र० १ श्रु० १३ अ० ।

छेयसारहि [न्]-छेकसारथिन्-पुं० । प्राजितरि, आ० ।

छेयसुत्त-छेदसूत्र-न० । कल्पाऽऽदौ, आ० म० द्वि० । महा० ।

(छेदसूत्रयुक्तिगणिकास्तु 'वोच्छिन्ति' शब्देऽग्रे वक्ष्यन्ते)

" परिणाम अपरिणामा, अइपरिणामा य तिविह पुरिसा उ ।
णातूण छेदसुत्तं, परिणामगे होंति दायव्वं ॥ " पं० भा० ।

('अइपरिणामग' शब्दे प्रथमभागे ४ पृष्ठे चैतद् व्याख्यातम्)

छेयसुद्धि-छेदशुद्धि-स्त्री० । पदे पदे तद्योगक्षेमकारिक्रियोपदर्शने, ध० १ अधि० । विधिप्रतिषेधयोरबाधकस्य सम्यक् तत्पालनोपायभूतस्यानुष्ठानस्योक्तौ, हारि० १ अष्ट० ।

तत्स्वरूपं यथा-

तत्संभवपालनाचेष्टोक्तिश्छेद इति । तयोर्विधिप्रतिषेधयोरनाविर्भूतयोः संभवः, प्रादुर्भूतयोश्च पालना रक्षारूपा, ततस्तत्संभवपालनार्थं या चेष्टा भिक्षाऽटनाऽऽदिबाह्यक्रियारूपा, तस्या उक्तिः छेदः । यथा-कषशुद्धावप्यान्तराशुद्धिमाशङ्कमानाः सौवर्णिकाः सुवर्णगोलिकाऽऽदेः छेदमाद्रियन्ते, तथा कषशुद्धावपि धर्मस्य छेदमपेक्षन्ते, स च छेदो विशुद्धबाह्यचेष्टारूपो, विशुद्धा चेष्टा सा, यथासम्भवापि विधिप्रतिषेधावबाधितरूपो स्वात्मानं लभेते, लब्धाऽऽत्मानौ चातीचाररहितयोरपवादविरहितौ उत्तरोत्तरां वृद्धिमनुभवतः, सा यत्र धर्मे चेष्टा सम्यगुक्ता प्रोच्यते, स धर्मः छेदशुद्ध इति । ध० १ अधि० ।

" वज्झाणुट्ठाणेणं, जेण न बाहिज्जए तयं णियमा । संभवइ य परिसुद्धं, सो पुण धम्मम्मि छेउ त्ति " ॥१॥ स्था० ३२ श्लो० टी० ।

छेदमधिकृत्याऽऽह-

सइ अप्पमत्तयाए, संजमजोएसु विविहभेएसु ।
जा धम्मिअस्स वित्ती, एअं बज्झं अणुट्ठाणं ॥ ७२ ॥

सदा अप्रमत्ततया हेतुभूतया, संयमयोगेषु कुशलव्यापारेषु, विविधभेदेष्वनेकप्रकारेषु, या धार्मिकस्य साधोः वृत्तिर्वर्तना, एतद् बाह्यमनुष्ठानमिहाधिकृतमिति गाथार्थः ॥ ७२ ॥

एएण न बाहिज्जइ, संजवइ अ तं कुणं पि निअमेण ।
एयवयणेण सुद्धो, जो सो छेएण सुद्धो त्ति ॥ ७३ ॥

एतेनानुष्ठानेन न बाध्यते, संभवति च वृद्धिं याति, तद् द्वयमपि विधिप्रतिषेधरूपं नियमेन एतद्वचनेन यथोदितानुष्ठानोक्त्या शुद्धो य आगमः स छेदेन शुद्ध इति गाथार्थः ॥ ७३ ॥

इदेवोदाहरणमाह—

जह पंचसु समिईसुं, तीसु अ गुत्तीसु अप्पमत्तेण ।
सव्वं चिय कायव्वं, जइणा सइ काइगाई वि ॥ ७४ ॥

यथा पञ्चसु समितिष्वीर्यासमित्यादिरूपासु, तिसृषु च गुप्तिषु मनोगुप्त्यादिरूपासु, अप्रमत्तेन सता सर्वमेवानुष्ठानं कर्तव्यं यतिना साधुना, सदा, कायिकाऽऽद्यपि, आस्तां तावदन्यदिति गाथार्थः ॥ ७४ ॥

तथा—

जे खलु पमायजणगा, वसहाई ते वि वज्जणिज्जा उ ।
महुअरवित्तीएँ तहा, पाढेयव्वो अ अप्पा णो ॥७५॥

ये खलु प्रमादजनकाः परम्परया वसत्यादयः, आदिशब्दात् स्थानदेशपरिग्रहः, तेऽपि वर्जनीया एव सर्वथा, मधुकरवृत्त्या हरिकुसुमपीडापरिहारेण, तथा पालनीय एवाऽऽत्मा, नो काले ज्ञेयं इति गाथार्थः ॥ ७५ ॥

अत्र व्यतिरेकमाह-

जत्थ उ पमत्तयाए, संजमजोएसु विविहभेएसु ।
नो धम्मिअस्स वित्ती, अणणुट्ठाणं तयं होइ ॥ ७६ ॥

यत्र तु प्रमत्ततया हेतुभूतया, संयमयोगेषु संयमव्यापारेषु, विविधभेदेषु विचित्रेष्वित्यर्थः । नो धार्मिकस्य तथाविधयतेः, वृत्तिर्वर्तना, अननुष्ठानं वस्तुस्थित्या तद्भवति, तत्कार्यासाधकत्वादिति गाथार्थः ॥ ७६ ॥

एएणं बाहिज्जइ, संभवइ अ तं दुगं न णिअमेण ।
एअवयणाविवेओ, जो सो छेएण नो सुद्धो ॥ ७७ ॥

एतेनानुष्ठानेन बाध्यते, संभवति च वृद्धिमुपगच्छति च, तद् द्वयं विधिप्रतिषेधरूपं न नियमेन, एतद्वचनोपेत इत्थंविधानुष्ठानवचनेन युक्तो य आगमः स छेदेन प्रस्तुतेन न शुद्ध इति गाथार्थः ॥ ७७ ॥

अत्रैवोदाहरणमाह-

जह देवाणं संगी-अगाइकज्जम्मि उज्जमो जइणो ।
कंदप्पाई करणं, असब्भवयणाभिहाणं च ॥ ७८ ॥

यथा देवानां संगीतकाऽऽदिकार्यनिमित्तमुद्यमो यतेः प्रव्रजितस्य । यथोक्तम्-"संगीतकेन देवस्य, प्रतराऽऽवरणाबाधः । तस्मीस्यर्थमतो यत्नः, तत्र कार्यो विशेषतः ॥१॥ " तथा कन्दर्पाऽऽदिकरणं मुखेपाऽऽदिना, तथाऽसभ्यवचनाभिधानं च -अज्ञपातकोऽहमित्यादि । एवं किल तद्वेदनीयकर्मक्षय इति गाथार्थः ।

तह अन्नधम्मियाणं, उच्छेओ भोअणं गिहे गंतं ।
असिधाराइ अ एअं, पावं वज्झं अणुट्ठाणं ॥ ७९ ॥

तथा अन्यधार्मिकाणां तीर्थान्तरीयाणामुच्छेदो विनाशः । यथोक्तम्-"अन्यधर्मस्थिताः सत्त्वाः, असुरा इव विष्णुना । उच्छेदनीयास्तेषां हि, विधिकोपेन विद्यते ॥१॥ " इति । ततो भोजनं गृह एवैकान्तं तदनुग्रहाय, तथा असिधाराऽऽदिकष्टं प्रकृष्टेन्द्रियजयाय, एतत्पापं पापहेतुत्वाद्, बाह्यमनुष्ठानमशोभनमिति गाथार्थः ॥ ७९ ॥ पं० व० ३ द्वार ।

छेयसुय-छेदश्रुत-न० । छेदश्रुतानि कल्पव्यवहाराऽऽदीनि । तेषु, व्य० १ उ० । (छेदश्रुतानि श्रमणयोऽपि व्याख्यास्यन्तीति 'आलोयणा' शब्दे द्वितीयभागे ४७८ पृष्ठे उक्तम् । श्रावकाः छेदसूत्राणि न पाठयितव्या इति श्रावकपाठनाधिकारे व्याख्यास्यते)

छेयायरिय-छेकाचार्य-पुं० । शिल्पाऽऽचार्ये, म० ७ श० ६ उ० । रा० ।

" छेयायरियरइयपयमइकप्पणाविगप्पेहिं छेको य न पुणो "

आचार्यः शिल्पोपदेशदाता, तस्योपदेशाद् मतिर्बुद्धिः, तस्या या कल्पनाविकल्पाः कल्पितभेदास्ते तथा तैः । भ० ७ श० ६ उ० ।

छेयारिह-छेदार्ह-न० । यथा शेषाङ्गरक्षार्थं व्याधिदूषितमङ्गं छिद्यते, एवं व्रतशेषपर्यायरक्षार्थमतीचारानुमानेन दूषितः पर्यायो यत्र छिद्यते तच्छेदार्हः । जी० न० । पर्यायच्छेदयोग्ये सप्तमे प्रायश्चित्ते, स्था० १० ठा० ।

इदानीं छेदार्हप्रायश्चित्तं गाथात्रयेणाऽऽह-

तवगव्विओ तवस्स य, असमत्थो तवमसद्दहंतो य ।
तवसा च जो न दमइ, अइपरिणाम-प्पसंगी य ॥ ८० ॥

सुबहुत्तरगुणभंसी, छेयावत्तिसु पसज्जमाणो य ।
पासत्थाई जो वि य, जईण पडितप्पओ बहुसो ॥८१॥

इति

श्रीमत्सौधर्मबृहत्तपागच्छीय–कलिकालसर्वज्ञकल्प–सर्वतन्त्रस्वतन्त्र

जैनश्वेताम्बराचार्य श्री श्री १००८ श्री भट्टारक–

श्रीमद्विजयराजेन्द्रसूरीश्वरमहाराजविरचिते

शब्दसङ्ग्रहनामके " श्री अभिधानराजेन्द्रकोषे "

तृतीयो भागः समाप्तः